

अनुवादक—

पं. जिनदास पार्श्वनाथ फट्ठकुले,  
न्यायतीर्थ सोलापूर.

प्रकाशक—

भर्मेचीर रावजी सव्याराम दोगी,  
फतवणगावही सोलापूर.



मुद्रक—

बंशीधर उदयराम पंडित

“श्रीधर” पावर प्रेस,

८६ भवानी पेठ सोलापूर

वीरसंवत् २४६२ क्रांतिक शु॥ ५ शुक्रवार

ता. १ नवंबर १९३५

कीमत १४ रुपये.







# प्रस्तावना.



यह महान् ग्रंथ मूलाराधना अथवा भगवती आराधना इस नाम से प्रसिद्ध है जैसे मुनिओं के ग्रन्थों में आचार विशेष को मूलगुण कहते हैं, वैसे मोक्षप्राप्ति के लिये रत्नत्रय प्रधान कारण होनेसे उसको मूल कहते हैं इस मूलभूत रत्नत्रय की प्राप्ति जिससे होती है ऐसे उपायों को आराधना कहते हैं इस ग्रंथमें मूलभूत रत्नत्रय की प्राप्ति होने के उपायोंका सविस्तर वर्णन किया है अतः इसको मूलाराधना यह अन्वर्थ नाम दिया गया है. अत एव पं आशा धरजीने इस ग्रंथ का मूलाराधना इस नाम से उल्लेख कर के उसके ऊपर मूलाराधनादर्पण नाम की पञ्जिका लिखी है.

प्रस्तुत ग्रंथके निर्माता ऋषियुगव शिवकोट्याचार्यजीने ' भगवती आराधना ' ऐसा भी इस महान् ग्रंथ का नाम करण किया है 'आराधना भगवती एवं भक्त्यै वणिगदा संती' इस गायार्द्धके द्वारा उपर्युक्त नामकरण का सुलसा होजाता है.

जैसे पूज्य, पूजक, पूजा और पूजा फल ऐसे चार विभाग जिनपूजन प्रतिपादक ग्रंथोंमें किये गये हैं वैसे इस ग्रन्थमें भी आराध्य, आराधक, आराधना और आराधनाफल इन प्रकारणोंका वर्णन आचार्यने किया है

रत्नत्रयामाराध्यं मन्व्यस्त्वारोधको विशुद्धात्मा  
आराधाना ह्युपायस्तत्फलमभ्युदयमोक्षौ स्तः ॥

रत्न अमूल्य चीज है और उससे इष्टपदार्थ की प्राप्ति होती है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र्य रत्न के समान अमूल्य हैं उनसे जीवों को स्वर्गादि मोक्षान्त फल प्राप्त होते हैं अतः आचार्य इनको रत्नत्रय यह सार्थक नाम देते हैं यह रत्नत्रय आराध्य है. निर्मल परिणामवाले मन्व्य जीवको आराधक कहते हैं गृहस्थ व सुनि-चर्य जिनके परिणाम निर्मल हैं वे इस रत्नत्रय को प्राप्त कर लेते हैं अतः उनको आराधक कहते हैं. जिन उपायोंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है ऐसे उपायोंको आराधना कहते हैं. जैसे धार्मिकों में चात्सल्यभाव रखना, उनके अवर्णवादको हटाना धार्मिकों को कोई तकलीफ देना होगा तो-उसका निराकरण करना वगैरे उपाय करनेसे सम्यग्दर्शनादि रत्नोंकी

प्राप्ति होती है इस रत्नत्रय की आराधना करनेसे अम्युदय और मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती है. इन सब बातोंका इस ग्रंथमें वर्णन किया है

प्रस्तावना

रत्नत्रय आराध्य है वैसा तपभी आराध्य माना है परंतु उसका चारित्र्यमें अन्तर्भाव होनेसे रत्नत्रय ही आराध्य है ऐसा सिद्ध होता है जिस ने सुखिया स्वभावको छोड़ दिया है वही चारित्र्यको धारण करता है अर्थात् अनशनादि बाह्य तपश्चरण करने की प्रवृत्ति करनेवाला साधु चारित्र्यमें उत्साहयुक्त होता है जिससे उसके पापोंका नाश होता है. चारित्र्यके परिणामोंको अर्थात् विनयादि तपोंको चरित्रकी वृद्धि करनेवाले होनेसे आचार्य चारित्र्यमें ही अन्तर्भूत करते हैं. यदि तपको अलग गिनाया जाय तो आराध्य पदार्थ चार होते हैं

इन चार आराध्य पदार्थोंकी आराधना उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण इन उपायोंसे होती है सम्यग्दर्शनादिकोंको अतिचारोंसे अलिप्त रखना अर्थात् उनमें दोष उत्पन्न न होने देना उद्योतन है. आत्मामें बारंबार सम्यग्दर्शनादिकोंकी परिणति होते जाना उद्यवन कहते हैं परीपहादिक प्राप्त होनेपर भी स्थिरचित्त होकर सम्यग्दर्शनादिकोंसे च्युत न होना इसको निर्वहण कहते हैं. अन्य कार्योंमें चित्त लगनेसे यदि सम्यग्दर्शनादिक तिरोहित होनेपर पुनः उपायोंसे उनको पूर्ण करना इसको साधन कहते हैं आमरण सम्यग्दर्शनादिकोंको निर्दोष धारण कर अन्यजन्ममें उनको पोहोचाना निस्तरण है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन चारोंकी उन्नति होनेके लिये उपयुक्त पाचोकी आवश्यकता है ही प्रत्येक में उद्योतादिक पाच उपाय मान लेनेसे २० वीस भेद होते हैं अतः यह आराधना उद्योतनादिक बीस मुजाओंको धारण करनेवाली अम्बिकादेवी है ऐसा श्री अमितागति आचार्यने आराधनास्तबनमें वर्णन किया है वह योग्य ही है ऐसा हम समझते हैं

इस भगवती आराधनाग्रंथसे आराधकके मरणोंका विस्तृत विवेचन किया है. ऐसा वर्णन अन्यत्र इतना विस्तारयुक्त नहीं है प्रस्तुत ग्रंथमें मरणके १७ सत्रह प्रकारोंका विवेचन है उसमें भी पंडितपंडित मरण, पंडितमरण, बालपंडित मरण, बालमरण और बालबालमरण इन मरणोंमें आद्यके तीन मरण ही श्रेष्ठ गिने हैं क्योंकि इनमें समाधि मरण अर्थात् सहेखना मरण सिद्ध होता है यह सहेखना मरण रत्नत्रयकी आराधनासे युक्त होनेसे भव्यजीव इसक आश्रय लेकर ससारण्जर को तोड़कर मुक्त होते हैं

मुनिओंके सहेखना मरणका अर्थात् भक्तप्रत्याख्यान मरणका आचार्य शिवकोटीजीने ४० चालिस अधिकारोंमें

इतना योग्य वर्णन किया है कि जिसका विवेचन सुननेसे और वाचनेसे उनकी विशालबुद्धिके विषयमें मन साश्चर्यान्वित होता है, इन सब बातोंका अनुक्रमणिकासे खुलासा होगा।

अब हम श्रीशिवकोटि आचार्यके विषयमें थोड़ासा कथन करते हैं प्रस्तुत ग्रन्थकी २१६५ वीं गाथामें श्री शिवकोटि आचार्यने आर्य जिननदिगणी, आर्य सर्वगुप्तगणी तथा आर्य मित्रनदिगणी इन आचार्योंके पास मैने श्रुत और उसके अर्थका अध्ययन किया है ऐसा चलेख किया है, अनंतर २१६६ वीं गाथामें पूर्वाचार्योंके बनाये हुए शालोंसे थोड़ा थोड़ा अर्थ संगृहीत करके हस्तरूपी पात्रमें भोजन करनेवाले अर्थात् दिगंबर मुनि ऐसे मैने- शिवार्यने यह आराधना नामक महाशाल रचा है । इस नाम से ग्रंथकार अपना परिचय देते हैं, श्री पं आशाधरजी 'सिवज्जेण शिवकोट्याचार्येण मतेति लक्षयति' सिवज्ज इस शब्दका शिवकोटि आचार्य ऐसा अर्थ निकालते हैं, सिवज्ज यह शब्द नामका एक देश बतलाता है नार्मैकदेशो नाम्भ्यपि प्रवर्तते इस नियम के अनुसार शिवकोटि आचार्य इतना पूर्ण नाम सिवज्ज शब्दसे सूचित करते हैं ऐसा अवगत होता है इस आराधना शालकी रचना शिवकोटि आचार्यने ही की है ऐसा ग्रंथांतरसे भी सिद्ध होता है महापुराण के कर्ता श्री, जिनसेन आचार्य शिवकोटिके विषय में ऐसा विधान करते हैं:—

शीतीभूत जगद्यस्य वावासाध्य चतुष्टयम् ॥

मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिमुनीश्वरः ॥ ४९ ॥ महापुराण पर्व १ ला

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप रूप जो चार प्रकार का मोक्षमार्ग है उसकी आराधना जिसके वचनोंसे भव्यजीव करके कर्मसत्तापसे रहित होते हैं अर्थात् अपने निराकुल शात आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर लेते हैं वे शिवकोटि आचार्य महाराज हम लोगोंका रक्षण करें, इस श्लोकमें चार प्रकारके आराधनाओंका स्वरूप विस्तृत शिवकोटि आचार्यने भगवती आराधनामें कहा है ऐसा खुलासा होता है अतः 'सिवज्ज' यह नार्मैकदेश शिवकोट्याचार्य का ही वाचक है ऐसा व्यक्त होता है

शिवकोटि आचार्यने 'रत्नमाला' नामक श्रावकाचार का वर्णन करनेवाला छोटासा ग्रन्थ लिखा है श्रीश्रुत-सागरजीने घट्पाण्डु की टीका के एक स्थलमें इस रत्नमाला का श्लोक उद्धृत किया है वह इस प्रकार—तथा चोक्तं शिवकोटिनाचार्येण—

चर्मपात्रगतं तोयं घृतं तैलं ग्रजयेत् ॥  
नवनीतप्रसूनादिशाकं नाद्यात्कदाचन ॥

यह रत्नमालाग्रथ किसी भट्टारकका बनाया होगा, शिवकोट्याचार्यका नहीं है ऐसा पं नाथुराम प्रेमीजी लिखते हैं तथा उसकी सिद्धिके लिये वे इस प्रकार कहते हैं. रत्नमाला ग्रथमें मुनिराज इस पवम कालमें वन में न रहकर गाव शहर वगैरेह स्थानोंमें जो जिनमंदिर हैं उनमें रहे ऐसा लिखते हैं तथा वसति का ग्रामसे दूर नहीं होनी चाहिये इत्यादि विस्तीर्ण चर्चन खुद भगवती आराधनामें भी आया है अतः इसमें शिथिलाचारका पोषण कैसे हो गया ?

इम कलिकालके मुनिकोंको समाधिमरण सध जाय इस हेतुसे शिवकोट्याचार्यजीने भक्तप्रत्याख्यान मरणका ही मुख्यतासे भगवती आराधनामें निरूपण किया है इंगितीमरण और पादोपगमनमरणका इस कलिकालमें निषेध किया है. अतः वसविकामें रहनेकी जो आज्ञा शिवकोटि आचार्यने दी है वह समंतभद्रादि प्राचीन आचार्योंके ग्रंथों में भी पायी जाती है. इसमें शिथिलाचार नहीं है

रत्नमाला ग्रथमें नीचे लिखे दो श्लोक गृहस्थके स्नानप्रकरणमें आये हैं—

पापाणोत्स्फुटित तोयं घटीयत्रेण ताडितम् ॥ सद्यः सन्तप्तवापीनां प्रासुकं जलमुच्यते ॥  
देवर्षीणां प्रशौचाय स्नानाय च गृहार्थिनाम् । अप्रासुक पर चारि महातीर्थजमप्यदः ॥

पापाणके ऊपर जोरसे गिरनेवाला जलप्रपातका पानी, घटीयत्रसे ताडित जल, गरम वावडियोंका जल ये प्रासुक हैं मुनि इस जलसे शौचक्रिया कर सकते हैं तथा इस जलमें गृहस्थ स्नान कर सकते हैं.

परंतु नाथुरामजी प्रेमी कहते हैं कि यह वर्णन किसी भट्टारक महाराजने ही किया होगा शिवकोट्याचार्यका नहीं हो सकता है परंतु हम ऐसा कहते हैं कि यह कथन शिवकोट्याचार्यने ही किया है और इसमें शिथिलाचार नहीं है. जैसा उपर्युक्त वर्णन शिवकोटि आचार्यने किया है इसी प्रकारका वर्णन अमितगति आचार्यने भी सुभाषित-रत्नसंदोह ग्रथमें चारित्रके प्रकरणमें किया है. शिवकोटिआचार्य के समान अमितगति आचार्य भी भट्टारक नहीं थे. एकादश समय कमंडलुमें गरम जल नहीं हो तो उपरि श्लोकवर्णित जलसे मुनि शौचक्रिया कर सकते हैं.

अर्थात् जो जिनमंदिर बनवाते हैं उनको स्वर्गमें विमानकी प्राप्ति होती है, तथा जो आराधना ग्रन्थपर टीकायें रचते हैं उनको समाधिभरणकी प्राप्ति होती है

श्री अपराजितसूरिका कालनिर्णय करनेमें हम असमर्थ हैं क्योंकि अभी इनके अस्तित्वकालका निर्णय इतिहासज्ञोंको भी ठीक मालूम नहीं हुआ है

श्री पं. आशाधरजी जैनधर्मप्रभावक महाकवि हो गये हैं, इनका काल विक्रमका १३ वा शतक निर्णीत है, इन्होंने अनेक जैन साहित्यके ग्रन्थ बनाये हैं इनका साहित्य बहुत मौलिक वं गभीर है इनके समान उद्भट विद्वान् गृहस्थोंमें बहुत बिरला हुए हैं, इनका यहां वर्णन करनेका कारण यह है कि इन्होंने भगवती आराधना ग्रन्थपर मूलाधनादर्पण नामकी पंखिका टीका रची है यह टीका संक्षिप्त है, इसलिये प्रत्येक अध्ययक अन्तमें वे 'पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवर्ण मूलाधनादर्पण' ऐसा न्देष करते हैं अर्थात् इन्होंने कठिन पदोंका गुलासा करके उनके प्रतिपाद्य विषयका निर्णय किया है जो टीका श्लोकके अथवा गायक के संपूर्ण पदोंका गुलासा न कर कुछ पदोंका-कठिन पदों का स्पष्टीकरण करती है उस टीकाको पंखिका या पंचिका टीका कहते हैं सुलभ गायकोंका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता न होनेसे 'स्पष्टम्' इतना ही लिखकर वे आगे चले गये हैं यह टीका किस समय बनाई गई है इसका खुलासा उन्होंने ग्रंथके अन्तमें स्वप्रशस्तिमें जरूर किया होगा परंतु इस टीकाकी जो प्रति हमको मिली है उसमें प्रशस्ति पूर्ण नहीं है इससे हम खुलासा करनेमें असमर्थ हैं पंडितजीकी टीका बहुत विद्वत्पूर्ण है, उन्होंने इस टीकामें अनेक श्लोक अन्य जैन ग्रन्थोंके विषयका गुलासा करनेके लिये दिये हैं

भगवती आराधनापर अनेक आचार्योंने टीकायें और निबंध लिखे हैं, पंडितजीने तीन चार टीकायें तथा तीन चार निबंधोंका आश्रय लेकर अपनी टीका रची है, आचार्य जयनंदि, प्राकृत टीकाके कर्ता [ नाम ज्ञात नहीं है ] श्रीचंद्राचार्यकृत भगवती आराधनाका टिप्पणक, विदग्धश्रीतिवर्धनी नामक ग्रन्थ, विजयाचार्यकृत विजयोदया टीका, श्री अमितगत्याचार्यकृत श्लोकरूप भगवती आराधना, ऐसे अनेक ग्रंथोंका आश्रय लेकर प्रस्तुत टीका पंडितजीने लिखी है इससे पंडितजीकी अन्वेषण करनेवाली बुद्धिका परिचय पाठकगण को मालूम पड़ेगा, पंडितजीने इस महान्ग्रन्थके विषयोंका खूब मनन करके अपनी टीका आठ आश्यासोमें विभक्त की है यह टीका आठ हजार श्लोक प्रमाण होगी ऐसी हमारी धारणा है

ऐसा था। वे दोनों शैवधर्मके परमोपासक थे। स्वामी समंतभद्राचार्यके उपदेशमें ये दोन भाई जैन मुनि हो गये ऐसा कान्ता-प्रसादजीने वीरपाठावलीमें लिखा है। आराधना क्या कोयमें भी-इनकी कथा मिलती है तथा श्री नेमिचन्द्र कविने शिवकोटि आचार्यने भगवती आराधनाकी रचना की है ऐसा उद्धृत भी किया है।

शिवकोटी आचार्यके प्रस्तुत ग्रंथपर श्रीअपराजित सूरिजी विजयोदया टीका, श्री. पं. आशाधरजीकी मूलाराधना दर्पण टीका, शिवजीलालजी भावार्थ दीपिका टीका, है इनमेंसे अपराजित सूरिजी विजयोदया टीका, और पं. आशाधरजी की मूलाराधना दर्पण पंजिका ये दोन टीकायें तथा श्री अमितामति आचार्यके भगवती आराधनाके प्रलेख गायिका जिसमें अभिप्राय आया है ऐसे श्लोक इतने ग्रंथ इस भगवती आराधनाके साथ जोड़ दिये हैं।

विजयोदया टीका श्रीअपराजित सूरिने रची है यह टीका बहुत विस्तृत है। उसकी श्लोक मंगला लगभग सोलह हजार होगी हमने आचार्य अपराजित सूरिजी प्रशस्ति ग्रंथ में जोड़ दी है। उन में पाठकगणको आचार्य का परिचय होगा श्री अपराजित सूरिका ही दूसरा नाम विजयान्तर्ग अथवा श्रीविजय ऐसा है। पं. आशाधरजीने मूलाराधना दर्पण नामकी टीका लिखी है उसमें अनेक स्थलोंमें 'इसा गायी श्रीविजयो नेच्छति' अर्थात् यह गायी भी विजयाचार्य क्षेपक समझते हैं " श्रीविजयाचार्यस्तु मिश्र्यात्वमेवामतिचारं नेच्छति । तथा च तदुपयोगे " मिश्र्यात्वमश्रद्धानं तत्सेवाया मिश्र्यादृष्टिरेवासौ इति नातिचरता " अर्थात् श्रीविजयाचार्य मिश्र्यात्वही सेवा करना यह सम्पद्दर्शनका अतिचार नहीं है अर्थात् उसमें तो श्रद्धान अर्थात् सम्पद्दर्शन नष्ट ही होता है ऐसा कहते हैं। ऐसा छितकर आगे पं. आशाधरजीने खुद विजयोदया टीकाका उस अभिप्रायका उनका वाक्य भी दिया है। यह वाक्य इसी ग्रंथके १४४ पृष्ठपर पाठकगण देख सकते हैं। इसही प्रकार कभी श्रीविजयके बदले केवल 'टीकाकार' इस शब्दका भी पं. आशाधरजी प्रयोग करते हैं जैसे " टीकाकारस्तु ' सामान्यमृतैः विशेषमृतिः कर्मतया निर्दिष्टा तथा गोप्येयं पृष्टमिच्छाचष्टे " यह पंक्ति १८८ पृष्ठ पर छपी है। इन प्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है कि श्री विजयाचार्य अन्य कोई नहीं है श्री अपराजितसूरि ही है।

अपराजित सूरिने भगवती आराधनाकी स्वकृत टीकाका विजयोदया ऐसा नाम दिया है उसी प्रकार दशवैकालिक ग्रंथपर भी इन्होंने टीका रची है। और उसका नाम भी यही श्रीविजयोदया टीका ऐसा ही दिया है। इसी ग्रंथमें पृष्ठ ११९६ में खुद आचार्यजीने ' दशवैकालिकटीकाया श्री विजयोदयाया प्रपत्तिता उद्गमादिशेषा इति नेह

प्रपंच्यते' ऐसा उल्लेख किया है. इस तरहके प्रमाणोंसे अपराजित सूरि और श्रीविजयाचार्य एकही हैं ऐसी हमारी धारणा है

प. नाथुराम प्रेमीजी इस टीकाका विनयोदया यह नाम अधिक अन्वर्थक है ऐसा समझते हैं. वे कहते हैं कि, मुनिओंके आचारमें विनयाचार प्रधान है अत एव इसका नाम विनयोदया होना चाहिये. परंतु यह युक्ति जोरदार नहीं है ग्रंथकार जिस समय जिस विषयका वर्णन करते हैं उस समय उस विषयको मुख्य कर अन्य विषयको गौण कर देते हैं अर्थात् विनयको जैसी उन्होंने मुख्यता दी है वैसी स्वाध्याय, वैयावृत्य वगैरह विषयोंके वर्णनमें भी मुख्यता दी है अतः जैसा विजयोदया नाम होना चाहिये वैसे इतर विषयोंकी भी प्रधानता होनेसे अन्यनामकी भी क्यों मुख्यता नहीं मानी जायगी फिर वे कहते हैं कि यदि आचार्यका नाम श्रीविजय या तो टीकाका भी श्रीवि-सुल्यता नहीं मानी जायगी फिर वे कहते हैं कि यदि आचार्यका नाम श्रीविजय या तो टीकाका भी श्रीवि-जया ऐसा होता परंतु उसके साथ उदय शब्द जोड़ना उपयुक्त नहीं है ऐसा कहना भी हमें युक्तियुक्त मालूम नहीं होता

हरिचंद्र कवीने धर्मनाथ तीर्थकरका चरित्र लिखा है और उसका नाम उन्होंने 'धर्मशर्माभ्युदय' ऐसा रक्खा है इस नामसे तो अतभिज्ञ लोगों को यह काव्य है और इसमें धर्मनाथ जितेश्वरका चरित वर्णन किया है ऐसा बोध होना कठिन हि 'पंडेया परतु इस चरितके पठनसे पाठकोंको धर्म, शर्म-सुख, और अभ्युदय-स्वर्गादि संपत्ति प्राप्त होगी ऐसे विचारसे कविने उसको उपर्युक्त लंबाचौड़ा नाम दिया है और धर्मनाथ के चरितका भी बोध हो जाता है उसी प्रकार विजयोदया इस शब्दसे टीकाकार के नामके साथ पाठकोंको कर्म के ऊपर विजय और आत्मोन्नतिकी प्राप्ति होगी ऐसा अभिप्राय सूचित होता है अतः विजयोदया यह नाम अन्वर्थक ही है. निरर्थक नहीं है. ऐसी हमारी धारणा है

अपराजितसूरिने विस्तृत टीका लिखकर भव्यों को आराधना का वास्तविक स्वरूप समझा दिया है इस टीकाका मनन करनेसे वास्तविक आत्मशान्ति प्राप्त होगी

आराधना ग्रंथपर जो टीका लिखते हैं उनको समाधिमरण की प्राप्ति होती है ऐसा श्रीदेवसेन आचार्यजीने सावधधम्मसंगह नामक ग्रन्थमें विधान किया है. वह इस प्रकार—

जिणमवणं कारावियं लब्भइ सग्गि विमाणु ॥

अह टिक्क आराहणह होइ समाहिहि ठाणु ॥ १९३ ॥ पृष्ठ ५९ ॥



अर्थात् जो जिनमंदिर बनवाते हैं उनको स्वर्गमें विमानकी प्राप्ति होती है, तथा जो आराधना ग्रन्थपर टीकायें रचते हैं उनको समाधिमरणकी प्राप्ति होती है

श्री अपराजितसूरिका कालनिर्णय करनेमें हम असमर्थ हैं क्योंकि अभी इनके अस्तित्वकालका निर्णय इतिहासज्ञोंकी भी ठीक मात्तूम नहीं हुआ है

श्री पं. आशाधरजी जैनधर्मप्रभावक महाकवि हो गये हैं, इनका काल विक्रमका १३ वा शतक निर्णीत है, इन्होंने अनेक जैन साहित्यके ग्रन्थ बनाये हैं, इनका साहित्य बहुत प्रौढ व गंभीर है इनके समान उद्भट विद्वान् ग्रन्थोंमें बहुत विरला हुए हैं, इनका यहा वर्णन करनेका कारण यह है कि इन्होंने भगवती आराधना ग्रन्थपर मूला-राधनादर्पण नामकी पञ्चिका टीका रची है यह टीका संक्षिप्त है, इसलिये प्रत्येक अध्ययकके अन्तर्गत् वे 'पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवर्णे मूलाराधनादर्पणे' ऐसा उल्लेख करते हैं अर्थात् इन्होंने कठिन पदोंका खुलासा करके उनके प्रतिपाद्य विषयका निर्णय किया है जो टीका श्लोकके अर्थों गायकोंके संपूर्ण पदोंका खुलासा न कर कुछ पदोंका-कठिन पदों का स्पष्टीकरण करती है उस टीकाको पञ्चिका या पंचिका टीका कहते हैं सुलभ गायकोंका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता न होनेसे 'स्पष्टम्' इतना ही लिखकर वे आगे चले गये हैं यह टीका किस समय बनाई गई है इसका खुलासा उन्होंने ग्रंथके अन्तमें स्वप्रशस्तिमें ज़रूर किया होगा परंतु इस टीकाकी जो प्रति हमको मिली है उसमें प्रशस्ति पूर्ण नहीं है इससे हम खुलासा करनेमें असमर्थ हैं पंडितजीकी टीका बहुत विद्वत्पूर्ण है, उन्होंने इस टीकामें अनेक श्लोक अन्य जैन ग्रन्थोंके विषयका खुलासा करनेके लिये दिये हैं

भगवती आराधनापर अनेक आचार्योंने टीकायें और निबंध लिखे हैं, पंडितजीने तीन चार टीकायें तथा तीन चार निबंधोंका आश्रय लेकर अपनी टीका रची है, आचार्य जयनंदि, प्राकृत टीकाके कर्ता [ नाम ज्ञात नहीं है ] श्रीचंद्राचार्यकृत भगवती आराधनाका टिप्पणक, विदग्धप्रीतिवर्धनी नामक ग्रन्थ, विजयाचार्यकृत विजयोदया टीका, श्री अमिताभगत्याचार्यकृत श्लोकरूपं भगवती आराधना, ऐसे अनेक ग्रंथोंका आश्रय लेकर प्रस्तुत टीका पंडितजीने लिखी है इससे पंडितजीकी अन्वेषण करनेवाली बुद्धिका परिचय पाठकगण को मात्तूम पड़ेगा, पंडितजीने इस महान्ग्रन्थके विषयोंका खूब मनन करके अपनी टीका आठ आध्यासोंमें विभक्त की है यह टीका आठ हजार श्लोक प्रमाण होगी ऐसी हमारी धारणा है

यह टीका विजयोद्या टीकाके नीचे दी है अर्थात् इस ग्रन्थ में प्रथमतः शिवकोट्याचार्य की गाथा अनंतर अमितागति आचार्यका समानार्थक श्लोक, तदनंतर विजयोद्या टीका और मूलाराधनादर्पण टीका, इन के अनंतर विजयोद्या टीकाका हिंदी अनुवाद ऐसा क्रम है

भगवती आराधनाका हिंदी अनुवाद श्री ५ सदासुखजी का भी प्रसिद्ध हुआ है उसमें श्री विजयोद्या टीकाका उन्होंने कितनेक स्थलोंमें आश्रय लिया है कितनेक स्थलोंमें इस टीका के विषयों वे संदेहयुक्त हैं उनको यह टीका श्रुताम्बराचार्य कृत है ऐसा भ्रम हुआ है परंतु वह कोरा भ्रम ही है उलटा इस टीकामें श्रुताम्बरोंके आचारादि ग्रंथों के वक्ष्यपत्रादि ग्रंथों का जोरदार संबन्ध है पाठक टीका तथा उसका अनुवाद पढ़कर मशयनिवृत्त अवश्य होंगे।

आजतक किसी भी जिनवाणीभक्त ने भगवती आराधना की संस्कृत टीकाये प्रकाशित नहीं की थी यह न्यूनता जानकर जिनवाणीभूषण श्रीमान् धर्मवीर सखाराम दोशीने विपुल धनव्यय कर यह सटीक ग्रन्थ प्रकाशित किया है इसके लिये वे अतीव धन्यवादके पात्र हैं श्री धर्मवीर रायसाहेब का जैन ग्रंथका प्रकाशनकार्य आजकलका नहीं है करीब तीस वर्षसे उन्होंने यह प्रकाशन कार्य सतत चालू रक्खा है, स्वाद्धाभूषण स्व, ५ रक्षाप्या भरमाप्या नित्येने प्रथमतः शालिवाहन शक १८३० में महापुराणका अनुवाद महाराष्ट्र भाषामें प्रसिद्ध किया, उन्होंने प्रस्तावनामें श्री रावजी सखाराम-दोशी इन्होंने हमारे इस प्रकाशनके कार्यमें दो तीन वर्षसे साहाय्य दिया है इस लिये वे धन्यवादके पात्र हैं ऐसा उल्लेख किया है

परमपूज्य श्री शतिसागर आचार्यजीने इस महान् ग्रंथको प्रकाशित करने के लिये श्री धर्मवीर रायसाहेबको प्रेरणा की थी महाराजकी आज्ञा गुरुभक्तशिरोमणि रायसाहेबने मस्तकपर धारण कर तथा दो वर्षके पूर्व श्री ० शुद्धर विमलसागरजी के सान्निध्यमें शोलापुरमें विजयोद्या टीकाका हमने यहकी संपूर्ण दि जैन जनता के साथ स्वाध्याय किया था श्री शु विमलसागर महाराजकी भी प्रेरणासे तथा खुद उनकी अभिरुचीसे भी यह ग्रंथ उन्होंने प्रकाशित किया है।

जैनधर्मकी प्रभावता तथा उसका सत्यस्वरूप जैन ग्रंथके प्रकाशनसे प्रगट होता है ऐसा प्रशंसनीय विचार इनके हृदयमें सदैव विराजमान है, इस विचार की प्रेरणा सतत होनेसे आजतक सैकड़ों ग्रंथोंका सेठ साहेबने प्रकाशन किया है

सेठजीके इस प्रशंसीय उद्योगकी कोत सहृदय मनुष्य प्रशंसा न करेगा तथा उनको हर्षसे धन्यवाद न देगा ? प्रस्तुत महान ग्रंथ सेठजीके सुगुणजन्यती अर्थात् वर्षवृद्धि महोत्सवके लिये जो श्री महावीर जिनधिवप्रतिष्ठा इस सालमें हुई उस समय बड़े समारोहके साथ प्रकाशित करनेका सेठजीका विचार था परंतु उस समय मुद्रणकार्य पूर्ण न हो सका इस लिये कार्विक शुद्ध पंचमीके दिन इसका प्राणप्रतिष्ठापूर्वक प्रकाशन किया गया है

इस महान् ग्रन्थके प्रकाशनके लिये पूना भाडारकर प्राच्य विद्यासंशोधक संस्थाने अपराजितसूरिकृत विजयोदया टीकाकी दो प्रति भेज दी थी उन प्रतियोंसे हमने प्रेसकॉपी तयार की ये दो प्रति प्रायः शुद्ध और सुवाच्य थी इस मस्थाने ये पुस्तकें भेजकर हमको अत्यंत उपकृत किया है अतः हम उसको अन्तःकरणसे धन्यवाद देते हैं

श्री ऐ प सरस्वती भवन सुवर्द्ध से हमको श्रीमान् प रामप्रसादजी शास्त्रीने मूलाराधनादर्पण पूर्वार्ध पाच आध्यास पूर्ण यह ग्रंथ और श्री अभितगति आचार्यकृत सस्कृत श्लोकानुवादरूप भगवती आराधना ग्रन्थ ऐसे दो ग्रंथ भेजे थे इन दो ग्रंथोंका हमको अतिशय साहाय्य मिला अभितगति भगवती आराधनाके प्रथमके १९ श्लोक मूल ग्रन्थमें नहीं थे परंतु वीसवे श्लोकसे आगे ग्रंथ पूर्ण है हमने अन्यत्र इसके प्रारंभके १९ श्लोक प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न किया था परंतु प्राप्त नहीं हुए इन दो ग्रंथोंको भेज कर हमको प. रामप्रसादजी शास्त्रीने बहुत उपकृत किया है वे हमेशा ऐसा साहाय्यदान हमको करते हैं अतः आपके हम अत्यंत आभार पूर्वक धन्यवाद मानते हैं

कारंजसे मूलाराधना दर्पण पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध श्रीमत रतनलाल नरसिंगसा राज्ज इन्होंने भेजा था परंतु पूर्वार्ध में प्रारंभका प्रथमपत्र नहीं है चौदहवे पत्रसे १९ वे पत्रतक ६ पत्र नहीं हैं तथा ३१ वा पत्र नहीं है अतः हमको इस पूर्वार्धका विशेष उपयोग नहीं हुआ वंचर्द्ध सरस्वती भवनसे प्राप्त हुये प्रतीसे हमको पूर्ण साहाय्य हुआ उत्तरार्धमें भी प्रारंभके दो पत्र हैं तदनंतर तीसरे पत्रसे १४ वे पत्रतक १२ पत्र नहीं है अतः उत्तनी टीका हम नहीं छपा सके अन्तिम प्रशस्ति भी पूर्ण नहीं है, अतः प्रशस्ति हम पूर्ण प्रगट न कर सके

यह पुस्तक श्रीमत रतनलाल नरसिंगसा राज्जने भेज दी थी मूलाराधनादर्पण की हस्तलिखित प्रति भेजकर हमपर जो उपकार इन्होंने किये हैं उनके लिये आभार मानना हम आवश्यक कर्तव्य समझते हैं और मानते हैं

इस भगवती आराधना ग्रन्थका संशोधन मैंने मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार किया है तथा विजयोदया टीकाक हिंदी भाषामें अनुवाद किया है सराठी भाषा मेरी मातृभाषा है, अतः इस हिंदी अनुवादमें लिंग, विभक्ति वगैरहोंक

व्याकरण शुद्ध प्रयोग न होने से बहोतसी झूले होजाना नितरा सम्भवनीय है तथा भावांतर मे भी अज्ञानवश प्रमाद रहे होंगे

विजयोदया टीकामें दशस्थितिकरके विषयका विवेचन करते समय अपराजित सूरीने आचारागादि श्रुता-वर ग्रन्थोंके जो प्राकृत भाषाके श्लोक दिये हैं उनका मराठी अनुवाद करके श्री. प्रो ए. एन. उपाध्यायजीने मेरी प्रार्थना-से भेज दिया था उसका मैंने हिंदी अनुवाद किया है अतः श्री प्रोफेसरसाहेबका मैं अतिशय आभारी हूँ.

सज्जन पाठकवर्ग तथा विद्वद्गर्गको मेरी सवितय यह प्रार्थना है कि इस संशोधन, अनुवाददि कार्य में रहे हुए दोषोंका संशोधन करके मेरेको उपकृत वनावे

जैन साहित्यकी सेवा मेरे द्वारा आजन्म होती रहे ऐसी श्रीजिनैन्द्रदेवसे प्रार्थना करके मैं यह प्रस्तावना पूर्ण करता हूँ

जिनवाणीका तुच्छ सेवक--

जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले.

ता. १-११-३५

वीर स० २४६२ कार्तिक शुद्ध ५ मी.

# हिंदी अनुवादके अनुसार भगवती आराधनाके मुख्य विषयोंकी सूची.

विषय

विषयनाम	पृष्ठसंख्या	विषयनाम	पृष्ठसंख्या
१ मंगलपूर्वक आराधना वर्णनकी प्रतिज्ञा	७	१५ मरणसमयमेंही रत्नत्रयाराधना करनी चाहिये ऐसी	६८
२ आराधनाका स्वरूप और वह किसको होती है.	१५	शिष्यकी शकाका उत्तर	६८
३ आराधनाके दो भेद	२०	१६ सदैव रत्नत्रयाराधना करना चाहिये इसका	७०
४ मिथ्यादृष्टि सम्यग्ज्ञानका आराधक नहीं है	३०	सदृष्टान्त तुलासा.	७०
५ चारित्र्याराधनामें तप आराधनाका अन्तर्भाव.	३३	१७ अन्तर्मुखमें रत्नत्रयकी आराधना करनेसे भी सुक्ति	
६ अतिसंक्षेपकी अपेक्षासे चारित्र्याराधनामें ही इतर		मिलेगी अतः सर्वदा रत्नत्रयाराधन क्यों करना	
आराधनाओंका अन्तर्भाव.	४०	इसका उत्तर.	८४
७ ज्ञानाराधना और दर्शनाराधनाका चारित्र्याराधनामें		१८ मरणके सत्रह भेदः	९१
अन्तर्भाव	४६	१९ पाच प्रकारके मरणोंका वर्णन.	१०६
८ चारित्र्याराधनामें तप आराधनाका अन्तर्भाव	५०	२० दर्शनाराधनाका वर्णन	११९
९ यथाख्यात चारित्र्यका स्वरूप और फलका वर्णन	५४	२१ सम्यग्दृष्टि जीवका वर्णन	१२२
१० दुःख दूर करना यह ज्ञानका फल है इसका उद्घाटन—		२२ किनके सूत्र प्रमाणभूत माने जाते हैं.	१२६
युक्त वर्णन	५७	२३ अविपरीत अर्थका निरूपण करनेवालेका, लक्षण	१२८
११ कर्मका नाश होनेसे युक्तिफल मिलता है.	५८	२४ आत्मसम्यक्स्वीभी आराधक है	१३०
१२ मरणसमयमें आराधनाकी विराधना करनेसे अनंत		२५ जीवद्रव्यके ऊपर श्रद्धान करना चाहिये.	१३२
संसारकी प्राप्ति.	६१	२६ आत्मवादिकोंकाभी श्रद्धान करना चाहिये.	१३५
१३ रत्नत्रयमें स्थिर होकरभी संक्लेश परिणाम उत्पन्न		२७ थोडासा अश्रद्धान और चहुनसा श्रद्धान करने—	
होनेसे होनेवाली हानि.	६३	वाला मिथ्यादृष्टि है.	१३८
१४ आराधनाओंका विशिष्ट फल	६६	२८ मिथ्यादृष्टिका स्वरूप	१३९

- २९ तत्त्वश्रद्धान न करनेसे होनेवाली हानि  
३० मंसारसे डरनेवाला भव्य जीव कैसा विचार  
रखता है  
३१ सम्यग्दर्शनके पांच अतिचारोंका वर्णन  
३२ सम्यग्दर्शनको निर्मेल बनानेवाले गुणोंका वर्णन  
३३ दर्शनविनयका वर्णन  
३४ जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट सम्यक्त्वारोधनाके  
स्वामी  
३५ जघन्य सम्यक्त्वारोधनाका प्रभाव तथा सम्यक्त्व  
लाभमाहात्म्य  
३६ मिथ्यात्वके प्रकार और उनसे होनेवाली हानि  
३७ मिथ्यात्वके आश्रयसे अहिंसादिक गुण भी  
दोष होते हैं  
३८ व्रतशील्युक्त मिथ्यात्वीका भी ससारभ्रमण होता  
है  
३९ भक्तप्रत्याख्यान मरण व उसके भेद  
४० अर्हाधिकारका वर्णन ( भक्त प्रत्याख्यान मरणके  
योग्य व्यक्ति )  
४१ भक्तप्रत्याख्यानके लिये जो अयोग्य है उसका  
वर्णन  
४२ लिंगाधिकारका वर्णन और अपवादलिका  
वर्णन

- ४३ उत्सर्ग लिंगका विशेष वर्णन  
४४ अपवाद लिंगीकी शुद्धता कैसी होती है,  
४५ केशलोच न करने में दोष और लोचमें गुण  
४६ शरीरसमत्वयागका वर्णन  
४७ पिच्छिकासे क्या क्या कार्य करने चाहिये तथा  
पिच्छिकाका लक्षण  
४८ जिनवचनका अध्ययन करनेसे प्राप्त होनेवाले  
सद्गुणोंका विस्तृत वर्णन  
४९ विनयका २३ गाथाओंमें विस्तीर्ण वर्णन अर्थात्  
विनयके सर्व भेदोंका वर्णन २६०  
५० समाधि अधिकारका विस्तारसे कथन ३१२  
५१ अनियत विहारके दर्शनविशुद्ध्यादि गुणोंका वर्णन ३२५  
५२ परिणाम अधिकारका आठ गाथाओंमें वर्णन ३५२  
५३ उपाधित्यागका ९ गाथाओंमें वर्णन ३७६  
५४ भावश्रुति और द्रव्यश्रुतिका सविस्तर कथन ३८८  
५५ संकलेशभावनाके कंठर्पादि भेदोंका वर्णन ३९७  
५६ संकलेशरहित भावनाओंका वर्णन ४०५  
५७ बाह्य व अभ्यंतर मल्लेखनाका वर्णन ४२३  
५८ अनेशनादि बाह्यतर्पणोंका सविस्तर वर्णन ४२५  
५९ वसतिके उत्पादनादिदोषोंका वर्णन ४४७  
६० निर्द्वैच्छु यतीके तपका वर्णन ४५६  
६१ मल्लेखनाके उपायोंका वर्णन ४६८

६२ कपायसंस्लेखनाका वर्णन	४७९	८१ प्रतीच्छाधिकार	७३९
६३ एलाचार्यकी स्थापना	४९२	८२ आलोचना शुद्धधिकार	७४३
६४ क्षमणाधिकार	४९४	८३ सामान्यविशेषालोचनाका स्वरूप	७५२
६५ गण और एलाचार्यको आचार्यका उपदेश	४९६	८४ संश्लेषमरणमें दोष और श्लयोद्धारमें गुण	७५८
६६ वैयद्युक्तके १५ गुणोंका वर्णन	५२४	८५ आलोचना कव और किस स्थानमें करना योग्य है	७६८
६७ आर्थिकासगति त्याग	५४३	८६ आलोचनाके गुण और दोषोंका स्वरूपवर्णन	७७६
६८ दुर्जनसंगति त्याग	५५३	८७ द्वापदिक बीस अतिचार कारणके प्रकारोंका वर्णन	८१५
६९ सुजनसगतीका माहात्म्य	५५७	८८ आलोचना करने के अनंतर गुरुके कर्तव्यका वर्णन	८२१
७० परगणचार्यधिकार	५७०	८९ योग्ययोग्यवसतिकाका विचार	८३४
७१ मार्गनिरूपणाधिकार	५९०	९० संस्तरोंका वर्णन	८४०
७२ निर्यापककाचार्यका अन्वेषण करनेके लिये निकले हुए आचार्यका कार्यक्रम	५९३	९१ परिचारकोंका स्वरूप	८४७
७३ निर्यापकचार्यके आचारत्वादि आठगुणोंका वर्णन	६०७	९२ आक्षेपण्यादि कथाओंका स्वरूप	८५३
७४ दशविधकल्पोका वर्णन	६१८	९३ परिचारकोंके भिन्न भिन्न कर्तव्य	८५७
७५ अल्पज्ञ आचार्यका आश्रय करनेसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका वर्णन	६५९	९४ संस्लेखना करनेवाले मुनिका दर्शन सबको लेना चाहिये.	८७०
७६ अवपीढक आचार्य क्षपकके दोष शहर निकासते हैं.	६९९	९५ आहार प्रकाशन प्रकरणका विवेचन	८७५
७७ उपसंपद अधिकारका वर्णन	७२५	९६ हानिप्रकरण का स्वरूपकथन	८७९
७८ परीक्षाधिकारका वर्णन	७३४	९७ पानकोंके प्रकारका वर्णन	८८२
७९ प्रतिलेखधिकार	७३६	९८ तीन प्रकारके आहारोंका त्याग क्षपक करता है.	८८६
८० पृच्छाधिकार	७३८	९९ चार प्रकारके संघका क्षमापण विधि	८८९
		१०० क्षमणाधिकार वर्णन	८९१

१०१ आचार्य का क्षपकको उपदेश	८९५	१२२ मानकपाय के त्यागका विस्तीर्ण उपदेश	१२२२
१०२ मिथ्यात्व त्यागनेका उपदेश	८९८	१२३ भोगनिवृत्तिके त्यागका उपदेश	१२३४
१०३ सम्यक्त्वभावनाका उपदेश	९०६	१२४ अवसन्नादि मुनियोंका वर्णन	१२७०
१०४ जिनभक्ति माहात्म्य वर्णन	९१३	१२५ इन्द्रियक्रपायों की दुष्टताका उपदेश	१२८५
१०५ नमस्कार वर्णन	९१६	१२६ पाचो इन्द्रियोंमे मनुष्यको दुःखउपश्र होता है	१३११
१०६ ज्ञानोपयोगका वर्णन	९२३	१२७ कोपदोषत्याग वर्णन	१३१४
१०७ अहिंसा महाव्रत पालनका विस्तीर्ण उपदेश	९३२	१२८ मानदोषत्याग वर्णन	१३२२
१०८ सत्यमहाव्रतका सविस्तर विवेचन	९६३	१२९ मायादोषत्याग वर्णन	१३२७
१०९ आचार्य महाव्रतके उपदेशका सविस्तर कथन	९७९	१३० लोभदोष वर्णन	१३३०
११० ब्रह्मचर्य महाव्रतका वर्णन	१०२५	१३१ क्रोधविलजय वर्णन	१३४८
१११ कीकथात्यागका उपदेश	१०५७	१३२ मानविजय वर्णन	१३५४
११२ अशुचिस्वरूप, देहकी अपवित्रताका वर्णन	१०९७	१३३ मायाजय वर्णन	१३५७
११३ शुद्धसेवाका उपदेश	११०७	१३४ लोभ विजयवर्णन	१३६०
११४ स्त्रीससर्गदोषोंका वर्णन	११२३	१३५ निद्राजयवर्णन	१३६४
— ११५ परिग्रहत्याग महाव्रत वर्णन		१३६ निर्जसनिमित्त तपमें क्षपक को प्रेरणा	१३६९
११६ महाव्रतकी निरुक्ति, रात्रिमुक्ति त्यागादिक महाव्रतके संरक्षक हैं.		१३७ उपदेश सुन्तेपर क्षपकका वक्तव्य	१३८६
११७ मनोगुप्ति वागुप्तिओंका वर्णन	११८५	१३८ सारणानामक अध्यायका वर्णन	१३९०
११८ कायगुप्ति स्वरूप	११७९	१३९ क्षपकको पुन उपदेश	१४०१
११९ इयांसमित्यादि पाचसमितिओंका वर्णन	११८३	१४० परीपहसहन करनेवालोंके उदाहरण	१४१८
१२० प्रत्येकव्रतोंके पाच पाच भावनाओंका वर्णन	११८७	१४१ नरकगतिके दुःखका विचार करने के लिये क्षपकको प्रेरणा	१४२९
१२१ मायाभिध्यात्व निदान इन शक्तियोंके त्यागका उपदेश	१२०५	१४२ तिर्यग्गतिदुःखवर्णन	१४४६
	१२१४	१४३ मनुष्यगतदुःख वर्णन	१४५३
		१४४ देवगतदुःख वर्णन	१४५९



- १४५ कर्मोदय से औपधादिकों का वैफल्य  
 १४६ प्रतिज्ञामंग करना मरणसे भी अनिष्ट है  
 १४७ आहारलेपटा पाच पापोंका कारण है  
 १४८ समर्तोंका वर्णन  
 १४९ आर्तध्यान और रौद्रध्यानका वर्णन  
 १५० ध्यानका प्रकार और धर्मध्यानका वर्णन  
 १५१ अधुवादि बारह अनुप्रेक्षाओंका वर्णन  
 १५२ शुभलध्यानका वर्णन  
 १५३ लक्ष्म्याविशुद्धिका वर्णन  
 १५४ आराधना और विराधनाओंके फलोंका वर्णन  
 १५५ अवसत्रादि पंच मुन्याभासोंका वर्णन  
 १५६ निपद्याका वर्णन  
 १५७ अयोग्य संयममें क्षपकमरण होनेमें जागरणादिक  
 करना चाहिये  
 १५८ आराधकागत्याग वर्णन

- १४६५ १५९ अविचारभक्त त्यागवर्णन १७६२  
 १४८० १६० इगिनीमरणका विस्तारसे वर्णन १७७४  
 १४८६ १६१ प्रायोगमनमरणका वर्णन १७९१  
 १५०९ १६२ बालपटितमरणका वर्णन १७९८  
 १५३१ १६३ ध्यानके बाह्य परिकरोंका वर्णन १८०४  
 १५३४ १६४ सम्यग्मार्गाति प्रकृतिओंके क्षपणका वर्णन १८०५  
 १५४८ १६५ अनियुक्तवाद्गुणस्थान में प्रकृतिओंका क्षपण वर्णन १८०७  
 १६८१ १६६ केवलज्ञानका वर्णन १८१७  
 १७०० १६७ सिद्धोंके परमस्वार्थका वर्णन १८४१  
 १७१० १६८ ग्रंथकार शिवकोट्याचार्यका अन्तिम वक्तव्य १८५०  
 १७२६ १६९ श्रीमदपराजित सूरिकृत प्रशस्ति १८५४  
 १७३८ १७० श्रीमदशाधरसूरिकृत आराधनास्तवादि १८५५  
 १७४० १७१ श्रीमदमितगति प्रशस्ति १८६३  
 १७५३ १७२ आराधनास्तवनम् १८६५

इति विषयसूची समाप्ता.

श्री शिवकोटि आचार्यकृत भगवती आराधना. इसमें अपराजितसुरिकृत संस्कृत टीका और पं आशाधरजीकृत संस्कृत टीका और श्री अभिनवगति आचार्यकृत संस्कृत श्लोक और प श्री. जिनदास पार्थनाथ फडकुले सोलापूरवालोंकी हिंदी टीका सहित यह ग्रन्थ छपाया गया इसके लिये जिन्होंने सहायता दी उन महाशयोंकी शुभ नामावलि—



७०१ श्री पूज्य आचार्य शतिसागर दिगम्बर जैन प्रथमाला

सागवाडा

७०१ श्री पूज्य आचार्य शतिसागर ग्रंथमाला

५० श्री जिनसेन भट्टारक कोल्हापुर

५० स्व लक्ष्मीसेन भट्टारक ”

५० संयभक्त शिरोमणि शेठ पुनमचंद घासीलाल मुंबई

५० मेधा कस्तुरचंद मल्लुचंद अक्कलकोट

१० शहा देवचंद रामचंद सोलापूर

५० श्री रतनवाई देवचंद ऋजगीकर

५० सौ केशरवाई अ हिराचंद रामचंद वळसगकर

५० श्री ब्र कंकुवाई कारजा

५० शहा माणिकचंद अमीचंद B A सोलापूर

५० ब्र रत्नमावाई सोलापूर

५० गंगूवाई पदमशी करकंयकर

५० माणिकवाई कस्तुरचंद निवर्गीकर.

५० सौ० चतुरवाई मोतीचंद शहा

५० शहा गुलाबचंद सखाराम सोलापूर

५० सौ० राजुवाई गवजी दोशी

५० सौ० नवलवाई गुलाबचंद दोशी

५० सौ० कस्तुरवाई वालचंद हिराचंद दोशी

५० शेठ गाधी शिवलाल मल्लुचंद पंढरपूर

५० रा' मेधा माणिकचंद पानाचंद निमगाव

५० रा. शेठ रामचंद धनजी दावडा नातेपुते

५० ब्र राजुवाई अ. गोतमचंद वारामती

५० रा काळप्पा आपणाजी लेंगडे शाहपुर वेळगाव

५० शा माणिकचंद मोतीचंद आळद

५० रा वळवंत ग्यानोवा दोले आळद.

५० रा. जिवराज हिराचंद शहा आळद

५० जोतीराम दलुचंद पंढरपूर,

५० नरसिंगा धोंडी चिंघवाहे इचलकरंजी व श्री. जिन-

गौडा आपगौडा पाटील

राचंद जयचंद निमगाव

- ५० श्री. कंकुवाई अ रामचंद दोशी निमगांय  
 ५० श्री. चतुरावाई अ मोतीचंद गांधी चि  
 ५० श्री जिवराज माणिकचंद मेथा निमगा  
 ५० शेट नथुराम तलकचंद दोशी  
 ५० श्री वेणीचंद रामचंद तथा निमगाव  
 ५० श्री. हिराचंद दाजी शहा.  
 ५० श्री मैनावाई फुलचंद दोशी फलटणकर व गोतमचंद  
 मोतीचंद करमाळेकर  
 ५० रा शहा गुलाबचंद सुरचंद आळंद,  
 ५० शहा नानचंद सुरचंद आळंद  
 ५१ शेट लीलाचंद हेमचंद हिगोळी.  
 ५० मोतीचंद हरीचंद शहा नळदुर्गे  
 ५१ स्व. सौ चंद्रभागावाई दत्तात्रय मोहीकर  
 ५० मोनीचंद उरगचंद फलटणकर पुना.  
 ५० भाऊ नेमणा दुर्गे कुरुदवाड  
 ५० श्री वालुवाई अ. दलुचंद हिवरेकर  
 ५० कुदनलाल जयचंदलाल मदारीपूर  
 ५० दुलीचंद रतनलाल  
 ५० श्री अमीचंद दलुचंद शहा मुंबई  
 ५० श्री रोडमल मेघराज सुमारी

१४६५/१५१ अचिचारभत्तवीरचंद कोदरजी गांधी फलटण.

५० श्री माणिकवाई द्विधी मुम्बई.

दुर्नमोहन मुंबई

रतचंद दीपचंद नागपुर

- ५० सौ० चतुरावाई अ हिराचंद अमीचंद गांधी उस्मानाबाद  
 ५० शेट हरीचंद खुशालचंद मोडनिंव  
 १०० शेट भूपाल आप्पा जिरगे  
 ५० लक्ष्मण भरमप्पा आरवाडे सागली  
 ५० रतनवाई अ. माणिकचंद.  
 १०० जिऊवाई अ मोतीचंद करजगीकर.  
 ५० आवलवाई कळसकर  
 ५० मोतीचंद रावजी पराडेकर  
 ५० शेट वनशीलाल गगाराम नादगाव.  
 ५० शेट मनराज गोकुळचंद कोपरगाव.  
 ५० शेट शहा परमचंद मोतीचंद करकव  
 ५० व जिऊवाई अ जिवनचंद विजापुर  
 ५० मोतीलाल ल्हीला मुंबई  
 १० श्री व. जिवराज गौतमचंद दोशी सोलापूर.  
 ५० श्री विश्वारीलाल कठनेरा जैन मुंबई  
 २५ श्री गांधी नानचंद अमीचंद पंढरपूर  
 २५ श्री लिळाचंद रावजी कोठारी आळंद



# मूलाराधना

## ( अपरनाम—भगवती आराधना )

टीकाद्वयोपेता हिन्दीभाषानुवादसहिता च ।



अथ अपराजितमूर्कृता विजयोदया टीका । १ ।

दर्शनज्ञानचारित्रतपसामाराधनाया स्वरूप, विकल्प, तदुपाय, साधकान्, सहायान्, फलं च प्रतिपादयितुमुद्यतस्यास्य शास्त्रस्यादौ मङ्गलं यस्य श्रोतॄणां च प्राप्त्यकार्यप्रत्यूहनिराकृतौ क्षम शुभपरिणाम विदधता तदुपायभूतयमराचि गाथा—

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणाफलं पत्ते॥

वादिता अरहते वोच्छं आराहणं कमसो ॥ १ ॥

सिद्धाब्जगात्रप्रसिद्धांश्चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तान् ॥

वदित्वार्हतो वक्ष्याम्याराधनां क्रमशः ॥ १ ॥

१ सिद्धे०—सिद्धे जयप्पसिद्धे इत्यादिका । अत्रान्ये कथयन्ति । “ निवृत्तविषयरागस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्य क्षीणायुषस्साधकस्यापराधनविधानावबोधनार्थमिदं शास्त्रं ” तस्याविग्रमसिद्ध्यर्थमियं मङ्गलस्य कारिका गाथेति । असंयत-

सम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयतादयोऽप्याराधका एव । तत्किमुच्यते निवृत्तविपर्ययस्य निराकृतसकलपरि-  
ग्रहस्येति । न ह्यसंयतसम्यग्दृष्टेः सयतासंयतस्य वा निवृत्तविपर्ययगता, सकलग्रन्थपरित्यागो वास्ति । क्षीणायुष इति  
कानुपपन्न । अक्षीणायुषोऽप्याराधकता दर्शयिष्यति सर्वं । 'अणुलोमा वा सत्तु चारित्तविणासया ह्रवे जस्से' इति ।

शास्त्रान्तरे पञ्चानां गुरुणां नमस्क्रिया प्रारभ्यते । तत्र चार्हातामोपादानमादौ । इह तु पुनर्द्वयोरेव नमस्कारो  
विपर्ययश्च । तत्किंकृतं वैधर्म्यमिति ? अत्रोच्यते अन्यथाप्रवृत्तावस्ति - कारणं । इह द्विप्रकाराः सिद्धसाधक-  
भेदेन जीवाः । अर्हतां सिद्धानां चात्साराधनाफलत्वात्, आचार्यदीनां त्रयाणां साधकानामनुग्रहाद्येवं शास्त्र प्रस्तूयत  
इति सिद्धानां मङ्गलत्वेनोपादानं युक्तं, नेतरेषामधिक्रियमाणत्वात्तेषामिति भाष्यपरिहारौ केपाचित । तावत्सङ्गताविव  
लक्ष्येते । तत्र चाद्यस्य निवेद्यतेऽयुक्तता । किमर्थं नमस्कारः क्रियते शास्त्रादिषु ? आविष्मप्रसिद्धये । कथं निहन्ति  
विष्ममसौ ? स हि वक्तुः श्रोतुर्वा भवेत् ? उभयस्यापि निबन्धनमन्तरायः, 'विष्मकरणमन्तरायस्य' [त स्] इति वचनात् ।  
पञ्चप्रकारोऽसौ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां विष्मकरणभेदेन, तत्र वक्तुर्दानान्तरायस्सम्पादयति प्रत्युहं, त्रिविधस्य हि  
दानस्य प्रतिवाधको दानान्तरायः । ज्ञानलाभं विहन्ति श्रोतुर्लाभान्तरायस्तदायत्तो विष्म' कथं तस्मिन्सति न भवेत् सत्यपि  
नमस्कारे, यथा वीजसालिलवसुधराधर्मेराश्मिकरसंघाताधीनजन्मा व्रीह्याद्यङ्कुरः स्वहेतुसामन्त्यां भवत्यनूनाया सन्निहि-  
तेऽपि सालतमालादौ तथेहापि । अथैव द्रुपे अन्तरायोऽनुभप्रकृति । स च शुभपारेणामोन्मूलितरसप्रकर्षं स्वकार्यं  
निष्पादयितुं नालमिति । यद्येवं शुभपारेणाममात्रस्योत्रापयोगस्तथा सति सिद्धादिगुणानुरागः सर्व एवोपयोगी विघ्न-  
निराचिकीर्ततस्तत्र कस्मात् प्रेक्षापूर्वकारिणः क्रमाश्रयणमन्याय्य ? उपेयात्मलाभहेतुत्वमात्रनिबन्धनमुपायानुपायत्वं, तद्यत्र-  
यत्रास्ति तस्य तस्योपायता तेन सर्व एवाहर्दादिगोचरा गुणानुरागास्तगुर सरवाक्कायक्रिया अनादृतक्रमा भवन्ति ।  
वाङ्मिदुतफलप्रसाधना एकैकरूपायहवोऽपि । इमाभानुपूर्वीमन्तरैरेण सिद्धिः साध्यस्यान्याथा न विद्यत इति यत्र  
तत्राश्रयते उपायक्रमः । यथा घटं सिसाधयिष्यतो मृन्मर्देनपिण्डकरणचक्रारोपणादयः । युगपदेकैकचक्रप्रवृत्तिर  
संभावित्वेकस्य वक्तुरिति नान्तरायकतया क्रमाश्रयणं तत्र च कामचारः । तथाहि, सिद्धं सिद्धद्वानं  
दाणमणोवमसुहृदगयाणमिति । शासनगुणानुस्मरणमेव केवलं । क्वचित्तीर्थकृत्स्वपि वीरस्वामिन एव प्रथमं नमस्क्रिया ।  
एष सुरासुरमणुसिद्धवदेव धोवयादिकम्ममलं । पणमाभि वद्धुमाणं तित्यं धम्मस्स कत्तारं ॥

ससे पुण तित्थये ससब्बसिद्धे विसुद्धसब्बावे । समणे य णाणदंसणचरिसत्तववीरियायारे । इति  
क्वाचिदेकप्रघट्टेन,  
इदंसद्विदिदाण तिरुअणहिदमधुरविसदवक्काणमिति ।

क्वचिजीवगुण एवानाश्रितार्हद्विस्वामिशेषो निरूपित "धम्मो मङ्गलमुक्किट्ट" मिति ।  
एवं सति वैचित्र्ये का विपर्ययाशङ्का ? यच्चोक्तं साधकानुग्रहाधिकारे सिद्धात्मनामेव मङ्गलत्वनाधिकारो युक्त  
इति । इदं पर्यनुल्लोऽयं श्रुतसाधकार्यमुत यद्येवं सकलस्य धृतस्य सामाधिकारिदेर्लोकविन्दुसारान्तस्यादौ मङ्गलं

कुर्वीद्विगणधरै 'गमो अरहताणमित्यादिना कथं पञ्चानां नमस्कारं कृतं ? तेन सूत्रविरोधिनी व्याख्या अनेनापि च सूत्रेण विरुध्यते । 'वदिता अरहते ? इति अहंतामुपादानात् । तेऽपि सिद्धा इति चेत् पृथगुपादानानर्थक्यं । अथैकदेशसिद्धास्त इति पृथगुपात्ता आचार्यादयोऽपि किं नोपात्तास्तेषामप्येकदेशसिद्धतास्ति । एकदेशसिद्धताया अहंतामप्यापराधकत्वे सत्युपादानं खव्याख्यानिविरोधमाधत्त इति ॥ 'सिद्धे' सिद्धान् 'जगत्प्राप्तिसिद्धे' जगति प्राप्तिसिद्धान् 'चतुर्विधाराधणाफलं' चतुर्विधाराधनाफलं 'पस्ते' प्राप्तान्, वदिता 'वदिता' अहंते । 'वोच्छ' वक्ष्यामि 'आराधणं' आराधना 'कमसो' क्रमशः ॥

सिद्धशब्दस्य चत्वारोऽर्थः । नामस्थापनाद्व्यभावा इति । तत्र नामसिद्धं क्षायिकं सम्यक्त्व, ज्ञानं दर्शनं, वीर्यं, सुखमता, अतिशयवतीमवगाहना, सकलवाधारहितता चानपेक्ष्य सिद्धशब्दप्रवृत्तेर्निमित्तं कस्मिंश्चिद्व्यवृत्त सिद्धशब्दः । ननु स्वरूपनिष्पत्तिः सिद्धशब्दस्य प्रवृत्तेर्निमित्तं न सम्यक्त्वादय इति चेत् सत्यं, व्यावर्णितयत्किंचिन्न्यूनतमरूपं, निष्पत्तिर्निमित्तं गृह्यत एव । पूर्वभावप्रज्ञप्तिनयोपेक्षया चरमशरीरादुप्राप्तविषयो य आत्मा क्षीरादुप्राप्तविषयो य संस्थानव-त्तामुपगतः, शरीरापायेऽपि तमात्मानं चरमशरीरात् किंचिन्न्यूनतमप्रदेशसमवस्थानं बुद्धावारोप्य तदेवेद-मिति स्थापिता मूर्तिः स्थापनासिद्धः । सिद्धरूपप्रकाशानपरिज्ञानपरिणतिसामर्थ्याध्यासित आत्मा आगमद्रव्यसिद्धः । नोआगमद्रव्यसिद्धलेधा ज्ञायकशरीरभावितद्वयतिरिक्तेभेदात् । ज्ञायकशरीरसिद्ध-सिद्धाभूतद्वयस्य शरीरं भूतं भवत् भावि वा । भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो जीवो भाविसिद्धः । तद्व्यतिरि-क्तमसमवि, कर्मनोक्तमणो सिद्धत्वस्य कारणत्वाभावात् । सिद्धाभूतगतद्वितस्वरूपसिद्धज्ञानमगमभावसिद्धः । क्षायिकज्ञानवर्श-नोपपुक्तः परिप्राप्ताव्यावाधस्वरूपाश्रयिष्णुशिवस्थो नोआगमभावसिद्धः । स इह गृह्यते । ननु सामान्यशब्दस्यान्तरेण प्रकरणं विशेषणं वाऽभिमतार्थद्वयिता दुरुवगमा ? अत एव विशेषणमुपात्तं चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तामिति । सम्यक्त्वं केवलज्ञानवर्शने सकलकर्मविनिर्मुक्ततेति चतुर्विधं, चतुर्विधया आराधनायाः फलं साध्यं तत्प्राप्तिरत्नम् । सम्यक्त्ववर्शनादि-रूपेण समवस्थानं । ततोयमर्थः- 'फलं पस्ते' इत्यस्य क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानदर्शननिर्वेषोपकर्मेविनिर्मुक्तारूपेणाव-स्थितानिति । जगति आसन्नभव्यजीवलोके समीचीनश्रुतज्ञानलोचने प्रसिद्ध्यन् प्रतीतात् विदितान् । 'अरहंते' इत्यत्र च शब्दमन्तरेणापि समुच्चयार्थो गतिः । पृथिव्यसेजोवायुराकाशं कालो दिग्गतामा मन इति द्रव्याणीत्येवं यथा । निहृतमोहनीया । तथाऽस्तज्ञानवर्शनावरणात् अतिशयितपूजामाज इत्ययमर्थोऽनेन 'अरहंते' इत्यनेनोक्तः । अनुगतार्थत्वाद्द्विभक्तिं संक्षया-यथा सर्वनामशब्दोऽङ्गीकृतशब्दार्थसंज्ञाभावमुपयाति । अथवा 'जगत्प्राप्तिसिद्धे' इति अहंता विशेषणं, यतः पञ्चकल्याणस्थानेषु विष्णुत्रयेणाधिगता महात्मानः, नैवमितरे सिद्धाः । सर्वस्यैव हि वस्तुनः कथंचित्प्रतीतत्वे सति अप्रतीतस्य कस्यचिद्व्यवहार-प्रसिद्धश्रद्धानुमुपात्तप्रकर्षमिति गम्यते । यथाऽभिस्वरूपाय कन्या देयेति । तेनायमर्थो जगति प्रसिद्धतमानिति । अहंतामेव प्रतीततरत्वमुक्तेन क्रमेण । अनधिगतमयोजनः श्रोता न यतते श्रवणेऽध्ययने वा । परोपकारसंपादनाय चेदं प्रसूयते मया, ततः प्रयोजनं प्रकटयामीत्याह 'वोच्छं आराधणं' मिति । एतेनाराधनास्वरूपावगमनं प्रयोजनं शास्त्रश्रवणान्द्रवतीत्यावेदितम् ।

नन्वाराधनास्वरूपावगमनं पुरुषार्थः । पुरुषार्थो हि प्रयोजनं, पुरुषार्थश्च सुखं दुःखनिवृत्तिर्वा, न चानयोरन्यतरताऽस्य । अयमस्याभिप्रायः, यो येनार्थनार्थो स तत्प्राप्तये तदीयमुपायमधिगंतुमुपादेयं वा यतेत । येन प्रयुक्तः क्रियाया प्रवर्तते तत्प्रयोजनं, ज्ञानेन प्रयुज्यते श्रवणादिक्रियायामुपयोगिनस्तुपरिज्ञानं प्रयोजनं भवतु, आराधना तु कथमुपयोगिनी? सकलसुखरूपकेवलज्ञानपरमाव्यावाधतां जनयतीत्युपयोगिनी । तथा चोक्तं चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तामिति । ततोऽयमर्थः, अनन्तज्ञानादौफलोन्निमित्ताराधनाऽवबोधनार्थमिदं शास्त्रमारभ्यत इति साध्यमाराधनास्वरूपज्ञानं साधनमिदं शास्त्रमिति साध्यसाधनरूपसंबन्धोऽपि शास्त्रप्रयोजनयोरत एव वाग्याह्वयते । अभिधेयभूतास्तु चतस्र आराधनाः । ग्राह्यामिदं शालं प्रयोजनादिव्रयसमान्वितत्वात् व्याकरणादिवर्धते । एवमनया मङ्गलं प्रयोजनादिव्रयं च सूचितं । 'कमसो' क्रमेण पूर्वशास्त्रनिगदितेन, एतेन स्वमनीषिकाचर्चितमिदं न भवति । आसवचनानुसारितया प्रमाणमिदमाख्यातं भवति । 'पुञ्चसुत्राणं' इति वाक्यशेषोपादित्यं लभ्यते ॥

अथ श्रीमदाशाधरकृतं मूलाराधनादर्पणम् । २ ।

नत्वाहृतः प्रबोधाय मुग्धाना विवृणोन्महम् ॥

श्रीमूलाराधनागूढपदान्याशाधरोऽर्थतः ॥ १ ॥

तत्रादौ ऐदंयुगीनश्रमणेपयुज्यमानप्रवचननिष्पदाभूतमाधुर्यस्तत्र भवान् शिवकोट्याचार्यवर्ये शिष्टाचारं प्रमाणायितुं मंगलपुरःसरस्तुपदेश्य वस्तु निर्दिशन् श्रोतृप्रवृत्त्यंगतया च प्रयोजनादिव्रयमवबोधयन् 'सिद्धे' इत्यादि सूत्रं चतुर्विंशतिगाथमयीठिकाग्रथमावयवभूतमासूत्रयामास ॥

एतदर्थः कथ्यते यथा-चोच्छं वक्ष्यामि । प्रतिपादयिष्याम्यहं प्रथकारः । कां आराधनां ? आराध्यते सेव्यन्ते स्वार्थप्रसाधकानि क्रियते सम्यग्दर्शनादनि मोक्षसुखार्थिभिरनयेत्याराधना आराध्यमिष्ट आराधकव्यपारः । उपजातसम्यग्दर्शनादिपरिणामस्यात्मनस्तद्गतातिशयवृत्तितिर्यः ॥ तथा चोक्तम्—

रत्नत्रयमाराध्यं भव्यस्त्वारोधको विशुद्धात्मा ॥

आराधना क्षुपायस्तत्फलमभ्युदयमोक्षो स्तः ॥

ता । केन ? कमसो क्रमशः । पुञ्चसुत्राणिमित्यध्याहारात्पूर्वसूत्रक्रमेणेत्यर्थः ॥ एतेन गुरुपूर्वक्रमायातामाराधनामह वक्ष्यामि, न स्वमनीषिकाचर्चितामिथुक्तं रयात् ॥ किं कृत्वा ? वदित्वा वदित्वा प्रणम्य स्तुत्वा वा । कान् ? सिद्धे

सिद्धान् । किंविशिष्टान् ? पत्ते प्राप्तान् । किं तत् ? चञ्चलविविध्याश्चतुर्विधया आराधनायाः फलं साध्य क्षायिकसम्यक्त्वकेवलज्ञानदर्शनानि सर्वकर्मनिर्मोक्षश्चेति चतुष्टयं तद्रूपेण समवास्तितानित्यर्थः ॥ एतेन नामादिसिद्धाष्टक्यवच्छेदान्नोआगमभावसिद्धाः संगृह्यन्ते ॥ नामादिनिक्षेपपक्षया हि नवंधा सिद्धाः संभवन्ति । कर्मनोक्तकर्मेणोः सिद्धत्वस्य अकारणत्वेन तद्व्यतिरिक्तस्यासम्भवात् । तथाहि-नामसिद्धाः, स्थापनासिद्धाः, आगमद्रव्यसिद्धाः, भाविनोऽशरीरनोआगमद्रव्यसिद्धाः, भविष्यद्भयकशरीरनोआगमद्रव्यसिद्धाः, भविष्यद्भयकशरीरनोआगमद्रव्यसिद्धाः, भाविनोऽशरीरनोआगमद्रव्यसिद्धाः, आगमभावसिद्धाः, नोआगमभावसिद्धाश्चेति ॥ अत एव सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिरपामतिशयेनाशरीरत्वलक्षणेनास्तीति 'अर्श आदेर' इत्यनेन अप्रत्ययेऽन्वयतया सिद्धशब्देऽपि व्युत्पत्त्याः ॥ एव तर्ह्येते धूर्तोपदिष्टाविवरादिगताद्भुतभाववल्लोके केनाप्यनुपलब्धत्वाद्भूतितामश्रद्धेया भविष्यति इति अनाश्वासनिसासार्थमाह-पुनः किंविशिष्टान् ? 'जयप्पसिद्धे' जगत्यासन्नभयवल्लोके समीचीनज्ञानलोचने प्रतीतान् । कतिपयजनसंवेद्यानित्यर्थः । एतेन लोकोत्तरत्वादित्युल्लेखमेतत्तत्त्वमस्तदधिगमाय सुतरा यत्नो युक्तुभिः कर्तव्य इत्यावेद्यते । न केवलं तान्वदित्वा किं तर्हि 'अरहन्ते' अर्हन्तश्च वंदित्वा । अरिहन्नाद्रजोरहस्यहन्नाच्च परिप्राप्तानंतचतुष्टयस्वरूपाः संतः शक्रादिकृतामतिशयवर्ती पूजामहन्तीत्यर्हन्त इति निरुक्तसिद्धमपि तल्लक्षणं स्फुटीकर्तुं जयप्पसिद्धे इत्यत्रापि योग्यः । जगल्लोकः प्रकल्पेणालोकयुक्तत्वेन साक्षाद्भावेन च सिद्धं निर्णीतं यैरेभ्यश्च सदैवदिव्यवच्छेदेन भव्यैर्जगति च तेषु महाकल्याणस्थानेषु प्रसिद्धाः प्रतीताः ये तान् लोकलोकसाक्षात्कारिणस्तदुपदेशकान्भुवनत्रयप्रतीताश्चेत्यर्थः ॥ अत्र सर्व एव अर्हदविगुणानुरागाः शुभपरिणामत्वादशुभकर्मप्रकृतीनां रसप्रकर्षमुन्मूल्य चाछितार्थप्रसाधनाय प्रभवन्तीति, प्रेक्षापूर्वकारिणः पूर्वाचार्याः स्वस्य ज्ञानदानावराय, श्रोतॄणां च ज्ञानलाभातराय निराकर्तुं कृता निजनिजशास्त्रारंभेऽर्हदादीनां समस्तानां व्यस्तानां वा कामचारेण भंगलं उपात्तवन्तः प्रतीयन्ते । इत्यस्य शास्त्रस्यादौ स्वपरविघ्नविघाताय प्राक् सिद्धाः पञ्चाचार्यन्तो ग्रंथकृता नमस्कृताः । भवति चात्र श्लोकः—

नेष्टं विहन्तुं शुभभावभयप्रसक्तपुत्रः प्रसुरन्तरायः ॥

तत्कामचारेण गुणानुरागान्नत्यादिरिष्टार्थकृदहंदादेः ॥

किंच, यो यद्गुणार्थी ग्रंथकृत् सिद्धान्प्रथमं नमश्चकार, तस्याप्युपायोपदेशव्यवृत्तया च पञ्चादहंतोऽपि । तथा चोक्तं—



अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः । प्रभवति स च शास्त्रान्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ॥

इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादप्रवृत्तेर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥

अतश्च सामर्थ्यलब्धत्वात् पुण्यमुत्पाणमिति नोक्तं ॥ तथा क्षिप्रं मोक्षार्थिनां मुक्तात्मान एव परमार्थतो भक्तव्या इत्युपदेष्टुं प्राक् सिद्धिस्तुतिः कृता ॥ तथा चोक्तं—

सपयत्यं तित्थयरं अधिगद्वुद्धिस्स सुतरोइस्स ॥

दूरतरं गिण्वाणं संजमतघरं पउत्तस्स ॥

तम्हा णिवुदिकामो गिस्संगो गिस्समो य भविय पुणो ॥

सिद्धेसु कुणदि मत्ती गिण्वाणं तेण पप्पोदि ॥

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् ॥

यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यताम् ॥

इत्यस्य शास्त्रस्य ग्राह्यत्वप्रसिद्धये प्रयोजनमाकर्ण्यतां । येन क्रियाया प्रयुज्यते तत्प्रयोजनमिति शास्त्रश्रवणादिक्रियाया ज्ञानेन प्रयुज्यते इति तदेव शास्त्रस्य प्रयोजनं । शास्त्रश्रवणादेर्ज्ञानं मे जानिष्यत इति हि तत्र प्रवर्तते । तदस्य शास्त्रस्य मुख्यमाराधनास्वरूपं ज्ञानं प्रयोजनं, आनुपंगिक तु तद्विकल्पाद्विज्ञानमपि । ज्ञानाधाराधनायाः स्वरूपविकल्पतदुपायसाधकसहायफलानां पण्णामप्यनेन शास्त्रेणाभिधास्यमानत्वात् ॥ भवति चात्र श्लोकः—

शास्त्रं लक्ष्मविकल्पास्तदुपायः साधकस्तथा ॥

सहाया फलमित्याह ज्ञानाधाराधनाविधेः ॥

तत्परिज्ञानात्पुनः सम्यक्त्वाधाराधनाया प्रवर्तमान सकलमुखस्त्वभावं केवलज्ञानं, परमावबोधत्वं च प्राप्नोतीति परंपरया तदुभयमप्यस्य शास्त्रस्य प्रयोजनं । वस्तुतः मुखस्य दुःखनिवृत्तेर्वा पुरुषेणाध्यमानत्वात् तत्स्वरूपादिपदकस्य शास्त्रस्य चाभिधानाभिधेयभावलक्षणः सवध । आराधनाया अनंतज्ञानादेश्च साध्यसाधनभावस्वभावः । तत्पर्यं च 'बोच्छ आराधणा' मिति त्रुवाणेन सूरिणा सूचितं लक्ष्यते । ततो ग्राह्यमिदं शास्त्रं प्रयोजनाद्वित्रयसमन्वितत्वात् ॥

अथ हिंदी भाषानुवादः ।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य और तप इनके आराधनाका स्वरूप, इस आराधनाके विकल्प अर्थात् भेद, और उपाय, साधक, सहायक तथा आराधनाका फल इतनी बातोंका यह भगवती आराधनाशास्त्र विवेचन करेगा। अर्थात् इतने विषयोंका इस शास्त्रमें खुलासा किया है।

इस शास्त्रके प्रारंभमें स्वतंत्रके तथा श्रोताओंके प्रारब्ध कार्यमें उत्पन्न होनेवाले विघ्नोंके परिहारमें समर्थ ऐसा मंगल और शुभ परिणाम करनेवाले श्री शिवकीटि आचार्यजीने उसके उपायभूत यह ऊपरकी गाथा रची है।

यहां पर कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं—पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे जिसका प्रेम हट गया है, संपूर्ण परिग्रहोंका जिसने त्याग किया है, जिसकी आयु क्षीण हुई है, ऐसे साधकको आराधनाका विधान समझानेके लिए यह शास्त्र आचार्य महाराजने लिखा है। साधकके आराधनासाधनमें निषिद्धता हो यह हेतु मनमें धारणकर आचार्यने उपर्युक्त मंगलश्लोक रचा है। इस विचारसरणीका खंडन आचार्य इसप्रकार करते हैं—असंयतसम्पदटि, संयतासंयत, प्रमत्त-संयत, अग्रमत्तसंयत वगैरह गुणस्थानोंके धारक पुरुष आराधक हैं ही अतः पंचेन्द्रिय विषयोंसे जो पराङ्मुख है, जिसने सर्व परिग्रह तजे है, तथा जिसकी आयु क्षीण हुई है ऐसे साधकके लिए यह शास्त्र रचा है यह कहना अनुचित है। क्योंकि असंयत सम्पदटि तथा संयतासंयत जब संपूर्ण विषयोंसे विरक्त नहीं है, तथा वे सर्व परिग्रह त्यागी भी नहीं हैं। तो भी वे आराधक माने गये हैं। क्षीणायु व्यक्ति ही आराधक हो ऐसा कहना भी योग्य नहीं है। क्यों कि 'अणुलोमा वा सत्तु चारित्तविणासया हवे जस्स' इस सूत्रसे अक्षीणायु व्यक्ति भी आराधक होता है यह सिद्ध होता है। अर्थात् कुटुंबादिक बांधव जिसके चारित्र्य धर्मका नाश करनेके लिये उद्यमी हुए हों अथवा कोई शत्रु चारित्र्यसे भ्रष्ट करनेके लिए उतारू होगया हो तो उस समय अक्षीणायु भी आराधक होता है। इसका आचार्य आगे खुलासा करेंगे ही ।

ग्रन्थ—अनेक शास्त्रोंमें पंच परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है। तथा अर्हत्परमेष्ठिको प्रथम नमस्कार लिखा है परंतु इस आराधना शास्त्रमें अर्हत् और सिद्ध ऐसे दोही परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है और वह भी विपरीत प्रकारसे किया है। अर्थात् प्रथम सिद्ध परमेष्ठिको नमस्कार करनेके अनंतर अर्हत्परम देवको नमस्कार किया है। ऐसे विपरीत क्रमका क्यों आश्रय किया है ?

उत्तर—विपरीत क्रमका आश्रय करनेमें यह कारण है—इस शास्त्रमें सिद्ध और साधक ऐसे दो प्रकारके जीव कहे हैं. अर्हत और सिद्ध परमेष्ठि आराधनाका फल पाङ्के हैं अतः वे सिद्ध जीव हैं. आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठि ये तीनों भी साधक माने गये हैं इन साधकोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए इस शास्त्रकी रचना की है. अतः सिद्धोंकी मंगलरूपसे स्वीकार कर उनको आचार्यने प्रथम नमस्कार किया है, यह योग्यही हुआ. आचार्य यदि तीन परमेष्ठिओंको वंदन नहीं किया है क्योंकि वे आराधनाके अधिकारी हैं. उन्होंने आराधना फलकी प्राप्ति नहीं की है. ऐसा किसी विद्वानोंका भाष्य व परिहार है. परंतु ये दोनों भी अंसंगत सरीखे मालूम पड़ते हैं. ग्रथ-मतः यहां भाष्यकी अयुक्तता आचार्य दिखाते हैं—

शास्त्रादिकोंमें नमस्कार क्यों करते हैं ? यदि निर्विघ्न रीतीसे शास्त्रकी सिद्धि होवे इस हेतुसे नमस्कार करते हैं ऐसा कहोगे तो हम आपसे ऐसा पूछते हैं कि वह केसा विघ्नपरिहार करता है ? विघ्न श्रोताको अथवा वक्ताको होता है क्या ? विघ्न दोनोंको भी होता है तथा अन्तराय कर्म उसका कारण है. 'विघ्नकरणमन्तरायस्य' ऐसा आचार्य उमास्वामीका वचन भी है. इस अन्तराय कर्मके दान, लाभ, भोग, उपभोग, व वीर्य इन पांच कार्यों में विघ्नकारण होनेसे पांच प्रकार है. जब वक्तामें दानांतराय कर्म उपस्थित होता है उससमय वह उसको विघ्न करता है. अर्थात् वक्ता उससमय शास्त्ररचना करनेमें असमर्थ होता है. दानान्तराय कर्म आहारदान, वसतिकादान और शास्त्रदान ऐसे तीन दानोंमें विघ्न करता है, अतः दानान्तराय कर्म ज्ञानलाभका घात करता है. श्रोताको लाभान्तराय कर्म हो तो वह शास्त्रलाभ-शास्त्रश्रवणलाभ होने नहीं देता. नमस्कार करनेपर भी यदि अन्तराय कर्म उदयमें आया हो तो शास्त्र रचना तथा श्रवणलाभ क्यों नहीं होते ? इस प्रश्नका उत्तर यह है—शाल्यंकुर उत्पन्न होनेमें शालिवीज, जल, जमीन, सूर्यके किरण इतने कारण होते हैं. यह सर्व समग्री पूर्ण रहनेपर भी, यदि साल तमालादि वृक्ष मौजूद हो तो शाल्यंकुर उत्पन्न नहीं होता. प्रकृत प्रकरणोंमें भी ऐसा ही समझना चाहिए. अर्थात् वक्ता और श्रोताओंने नमस्कार किया हो तो भी अन्तराय कर्म होनेसे प्रस्तुत कार्य करनेमें वे समर्थ नहीं होते हैं.

यहपर यदि आप ऐसा कहोगे—“यद्यपि अन्तराय अशुभ कर्मप्रकृति है, परंतु शुभ परिणाम उत्पन्न होनेसे उसका विघ्न करनेका उत्कट रस नष्ट हो जानेसे वह विघ्नरूपी स्वकार्य करनेमें असमर्थ हो जाता है” तो

शुभ परिणाम मात्र ही प्रस्तुत प्रसंगमें उपयोगी होते हैं ऐसा सिद्ध हुआ. अतः सिद्धादि परमेश्विओंके गुणोंमें अनुराग करना यह सर्व विघ्न दूर करनेके लिए आवश्यक है ऐसा सिद्ध हुआ. विद्वान् पुरुष शास्त्रप्रारम्भमें अर्हदादिकोंको क्रमपूर्वक नमस्कार करते हैं. "ऐसा आपने जो भाष्य किया था वह अयोग्यसा ज्ञात होता है.

वस्तु प्राप्त होनेमें अथवा प्राप्य वस्तुका जन्म होनेमें जो कारण लगते हैं वे उपाय हैं. जहां जिस कारणसे प्राप्य वस्तु प्राप्त हो वह वहां उपाय समझना चाहिए. अतः सर्व ही अर्हदादिविषयक गुणानुराग तथा तत्पुनःसर वचन और शरीरकी चेष्टायें क्रमयुक्त ही होती हैं ऐसा नियम नहीं है. एकैक उपाय भी इष्टफल प्राप्तिके लिये सहायक हो सकता है. ऐसे बहुतसे उपाय हैं जो एकैक भी इष्टफल प्राप्तिमें सहायक होते हैं. अतः ऐसे स्थानोंपर क्रमका आश्रय करनेकी आवश्यकता नहीं होती है.

जहां क्रमसे उपायोंका आश्रय करनेसे कार्यसिद्धि होती है वहां उपायक्रमका शरण लेना चाहिए. जैसे घट बनानेकी इच्छा हो तो मट्टीका मर्दन करना, पिंड करना, चाकपर उसको आरुढ़ करना वगैरे उपाय क्रमसे ही करने पड़ेंगे. अन्यथा घटोत्पत्ति न होगी. वक्ताके मुखसे एक समयमें एक ही शब्द निकलेगा. अनेक वचनोंकी प्रवृत्ति होना असंभव है. इस वास्ते शब्द क्रमसे ही मुखसे निकलेंगे. अतः नमस्कार वचनमें वक्ताकी स्वेच्छाही मुख्य रहेगी. नमस्कार विषयमें स्वेच्छाप्रवृत्ति शास्त्रोंमें प्रायः देखी गई है. यहां आचार्य उसके थोड़ेसे उदाहरण देते हैं. यथा—'सिद्धं सिद्धद्वानं ठाणमणोवमसुहगयणं' अर्थात् जो अनुपम सुखको प्राप्त हुए, कृतकृत्य, ऐसे अहंत्वसे-ष्टिओंका शासन अनादि है, तथा वह सिद्धीका कारण है. इस श्लोकांशमें जिनशासनके गुणोंका हि केवल स्मरण किया है. क्वचित् शास्त्रमें चोवीस तीर्थक्षेत्रोंमेंसे ग्रथमतः वीर तीर्थक्षेत्र को ही नमस्कार किया है. यथा—एस सुरासुर मणुसिंद इति । यहा श्री कुंदकुदाचार्यजीने क्रमस्मरणका उल्लेखन किया है. पंचास्तिकाय समथसारमें सामान्यतः संपूर्ण जिनेश्वरोंका स्मरण किया है । क्वचित् शास्त्रमें अर्हदादिकोंको नमस्कार न करके केवल जीवगुणका ही स्मरण किया है. जैसे—'धम्मो मंगलसुक्खिद्वामिति' । इस तरहसे देखा गया तो नमस्कारके विषयमें अनेक प्रकार होनेसे विपरीत पना की शंका लेना व्यर्थ है ।

"साधकोंके उपर अनुग्रह करनेके लिये यह शास्त्र है अतः इसमें सिद्धपरमेश्विओंकी ही मंगलरूपता है" ऐसा कहना भी अयुक्त है । हम यहां ऐसा पूछ सकते हैं कि—सिद्धिोंको चाहनेवाले साधकोंपर अनुग्रह करनेका अधि-

कार होनेसे यहां सिद्धोंको नमस्कार किया है अथवा श्रुतसाधकों पर अनुग्रह करनेका अधिकार होनेसे सिद्धोंको वंदन किया है ? दूसरा पक्ष मानेंगे तो भी आपका मत सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि, सामायिकसे लेकर लोक-विंदुसार पर्यंत जितना द्वादशांग है उसकी रचना गणधरोने की है, उसके प्रारंभमें गणधरोने 'णमो अरहंताणं' इत्यादि वाच्योच्चार करके पंचपरमेष्ठिओंको नमस्कार किया है । यह भी आपके मतव्यक्ते विरुद्ध है । यतः पंचणमोकार रूप मंगलमें प्रथम अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार किया है, अनंतर सिद्ध परमेष्ठीको किया है । परन्तु "सिद्धे जयप्पसिद्धे" इस मंगल-गाथामें प्रथमतः सिद्ध परमेष्ठीको अनंतर अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार किया है । यदि अहर्त्परमेष्ठी भी सिद्ध ही है ऐसा कहोगे, तो सिद्धपरमेष्ठिओंका 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' इस वाक्यसे स्मरण किया ही है फिर अहर्त्परमेष्ठीका सिद्धवरूपसे स्मरण करना व्यर्थ होता है ।

यदि अहर्त्परमेष्ठी एकदेशसिद्ध है इस वास्ते उनको पृथक् नमस्कार किया है ऐसा कहोगे, तो आचार्य आराधक हैं ही तो भी, उनका ग्रहण क्यों नहीं किया यह प्रश्न उपस्थित होगा, एकदेश सिद्ध होने पर अहंत भी होगा, अतः इतने विवेचनका यहां यह अभिप्राय है कि, यह ग्रंथ रचनेवाले आचार्य श्री शिवकोटिकी यहां क्रम विवक्षा नहीं है, अतएव उन्होंने प्रथम सिद्ध परमेष्ठीको, अनंतर अहर्त्परमेष्ठीको नमस्कार किया है, यहां संक्षिप्त गायार्थ इस प्रकार है—

जिन्होंने चार आराधनाओंका फल प्राप्त किया है, जो जगतमें असिद्ध हुए हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी-ओंको, तथा सिद्धके समान जिनको चार आराधनाओंका फल मिला है ऐसे जगत्प्रसिद्ध अहर्त्परमदेवको भी वंदन कर मैं ( श्री शिवकोट्याचार्य ) क्रमशः—पूर्वाचार्य प्रणीत शास्त्रोंके अनुसार इस आराधना ग्रंथको कहता हूं अर्थात् भगवती आराधना नामक ग्रंथकी रचना करता हूं.

'सिद्धे जयप्पसिद्धे' इस गाथामें जो सिद्ध शब्द आया है उसके नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव ऐसे चार अर्थ हैं. इन अर्थोंका विशेष विवेचन इस प्रकार है—

१ नाम सिद्ध—क्षायिक सम्बन्धदर्शन, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, वृक्षमता, संसारवास्थामें प्राप्त न होनेवाली अवगाहन-शक्ति तथा सर्व वाधाओंसे रहितपना ऐसे गुणोंकी अपेक्षा न करके सिद्धशब्दकी प्रवृत्तिके निमित्त किसी

व्याक्तिमें सिद्ध शब्दकी प्रवृत्ति होना वह नाम सिद्ध है।

शंका-स्वरूपकी उत्पत्ति सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तीका निमित्त होता है; सम्यक्त्वादिगुण सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तीका निमित्त नहीं होते हैं। फिर यहाँपर सम्यक्त्वादिगुणोंको सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तीका निमित्त क्यों बताया इस शंकाका उत्तर आचार्यने ऐसा दिया है—

२ ठीक है। सम्यक्त्वादि गुणोंके स्वरूपकी निष्पत्ति निमित्तसे हो जाती है, ऐसा हम मानते ही हैं, पूर्वभाव प्रज्ञप्ति नयकी अपेक्षासे अर्थात् सिद्धत्व प्राप्त होनेके कालमें अन्तिम शरीरमें प्रविष्ट जो आत्मा वह दूषणमिले हुये पानीके समान शरीराकार था। वहाँ आत्मा शरीरका नाश होनेपर भी अन्तिम शरीरसे किंचित् न्यून आत्म-प्रदेशोंकी आकृतिसे युक्त है, ऐसा बुद्धिमें आरोपण कर 'वही यह है' ऐसा समझकर स्थापन की गई जो मूर्ति उसको स्थापना सिद्ध कहते हैं।

३ आगम द्रव्यसिद्ध-सिद्धोंका स्वरूप प्रकट करनेवाले ज्ञानकी परिणतीके सामर्थ्यसे युक्त जो आत्मा उसको आगम द्रव्य सिद्ध कहते हैं। अर्थात् जिस आत्माके ज्ञानमें सिद्धोंका स्वरूप जाननेका सामर्थ्य प्राप्त हुआ है परंतु वर्तमान अवस्थामें वह सिद्धोंको नहीं जानता है, ऐसे ज्ञानसे युक्त आत्माको आगमद्रव्यसिद्ध कहते हैं।

४ नो आगमः द्रव्यः सिद्धः-इनके ज्ञायक शरीर, भावि तथा तदवधारितः ऐसे तीन भेद हैं।

५ ज्ञायक शरीरः सिद्धः-सिद्धोंके स्वरूपका प्रतिपादक ऐसे सिद्ध प्राप्त शास्त्रको जाननेवाले जीविका भूतकालीन, भविष्यकालीन व वर्तमान कालीन जो शरीर वह सिद्ध स्वरूप जाननेमें जीविको मदत करता है अतः ऐसे त्रिकालगोचर शरीरको ज्ञायक शरीरः सिद्ध कहते हैं।

६ जिस आत्मको भविष्यकालमें सिद्धत्वपर्याय प्राप्त होगा वह आत्मा भाविसिद्ध है।

७ तदवधारितसिद्ध यह भेद होता नहीं। क्योंकि, कर्म और नोकर्म ये सिद्धत्वके कारण नहीं हैं। कर्म, नोकर्म जबतक जीवके साथ रहेंगे तबतक सिद्धत्व प्राप्त नहीं होता।

८ आगमः भाविसिद्ध-सिद्धप्राप्तमें जो सिद्धोंका स्वरूप लिखा है उसको वर्तमान कालमें जाननेमें उपयुक्त हुए ज्ञानको आगमभावासिद्ध कहते हैं।

९ नो आगमभावासिद्ध-धार्मिक ज्ञान दर्शनसे युक्त, अव्याबाध स्वरूपको प्राप्त हुआ, लोक शिखरमें

विराजमान, जो शुद्धात्मा वह नो आगमभावसिद्ध है. यहां नो आगमभावसिद्धको ही सिद्ध समझना चाहिए. शंका-प्रकरण अथवा विशेषणके विना सामान्य शब्दकी अभीष्टार्थमें प्रवृत्ति है यह समझना कठिन बात है. अतः सामान्य सिद्ध शब्दसे नो आगम भावसिद्धका ग्रहण यहां कैसा हो सकेगा ?

उत्तर-अतएव आचार्य महाराजने 'चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तम्' यह विशेषण देकर यहां नो आगमभाव सिद्धका ही ग्रहण करना योग्य है ऐसा प्रकट किया है. सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन, व संपूर्णकर्मरहितता यह चार आराधनाओंका फल है. अर्थात् सम्यग्दर्शनादिगुणोंसे परिपूर्ण होना-तद्रूप होना यह आराधनाका फल है. फलं पत्ते-क्षायिक सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, दर्शन व सर्व कर्मोंसे मुक्ता ऐसे स्वरूपसे सिद्ध परमात्मा युक्त होगये है. यह आराधनाका फल उनको मिल गया.

अरहंत भी जगत्प्रासिद्ध-जगत्प्रसिद्ध है. निर्दोष इस्तज्ञानरूपी नेत्रको 'धारण करनेवाले आसन भव्य जीवरूप जगतमें अरहंत प्रसिद्धि पाचुके हैं अतः वे जगत्प्रसिद्ध है. अरहंते इस शब्दके आगे 'च' शब्दकी योजना नहीं की है तो भी यहां समुच्चयार्थ समझ लेना. च शब्दके विना भी समुच्चयार्थका बोध होता है. उसका उदाहरण यह है- 'पृथिव्येजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन' इति इस वाक्यमें च शब्दके विना सर्व द्रव्योंका वैशेषिक मतवालोंने संग्रह किया है.

मोहनीय कर्म नष्ट करनेसे, तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म दग्ध करनेसे जो इंद्रादिकोंके द्वारा विशिष्ट पूजाको प्राप्त हुए हैं ऐसे जिनेश्वरोंको अरहंत यह अन्वर्थ नाम प्राप्त हुआ है. जैसे सर्वनाम शब्द समस्त शब्दार्थोंकी संज्ञा हो जानेंसे अन्वर्थ है.

अथवा 'जगत्प्रासिद्धे' यह अर्हत्परमेष्ठीका विशेषण समझना चाहिए. क्योंकि गर्भ जन्मादि इतर पंचकल्याण स्थानोंमें त्रैलोक्यके द्वारा वे महात्मा सेवित होते हैं. ऐसे इतर सिद्धपरमेष्ठी सेवित नहीं हैं. कोई भी वस्तु किसी प्रकारसे प्रसिद्ध होती ही है. अप्रासिद्ध ऐसी कोई वस्तु नहीं है अतः जगत्प्रासिद्धे यह अर्हन्तका विशेषण व्यर्थ दीखेगा. परंतु व्यर्थ नहीं है. जैसे 'अभिरूपाय कन्या देया' रूपवानको कन्या देनी चाहिये ऐसा इस वाक्यका अर्थ है. परंतु रूप रहित कोई पुरुष जगतमें रहता ही नहीं. सभी पुरुषोंमें रूपगुण रहताही है अतः यह वाक्य व्यर्थ होता है ऐसा नहीं. अभिरूप इसका अर्थ विशिष्टरूपवान् अर्थात् सुंदर पुरुष ऐसा करनेसे

व्यर्थता नष्ट होती है, उसी तरह 'जगन्प्रसिद्ध' इस अर्हन्तके विशेषणका प्रसिद्धतम ऐसा अर्थ समझना चाहिए इस विशेषणसे अर्हत्परमेष्ठि की ही अधिकतर प्रसिद्धि सूचित की गई है,

जबतक श्रोताको प्रयोजनका ज्ञान होता नहीं तबतक वह शास्त्र श्रण करनेमें अथवा उसका अध्ययन करनेमें प्रयत्न नहीं करेगा इस वास्ते पर्योपकार करनेके लिए उक्त हुवा में यह शास्त्र रच रहा हूं, अतः 'म शास्त्र रचनेका प्रयोजन प्रगट करता हूं ऐसा आशय मनमें धारण करनेवाले आचार्य ' वोच्छं आराहणमिति ' इस वाक्यसे प्रयोजन कहते हैं, आराधनाके स्वरूपका ज्ञान होना यह प्रयोजन है तथा यह प्रयोजन श्रोताको इस शास्त्रके सुननेसे प्राप्त होगा ऐसा अभिप्राय ' वोच्छं आराहणं ' इस वाक्यसे झलकता है ।

शुका—आराधनाका स्वरूपपरिज्ञान होना यह पुरुषार्थ नहीं है, पुरुषार्थको प्रयोजन कहते हैं । सुख अथवा दुःख निवृत्तिको पुरुषार्थ कहते हैं । आराधनाका स्वरूप ज्ञान होना यह सुखरूप अथवा दुःखकी निवृत्ति एतद्वृत्ति नहीं है अतः स्वरूपावगमन प्रयोजन नहीं है, इसका खुलासा हम इस तरह करते हैं—

जो जिस प्रयोजनको चाहता है वह उसको प्राप्त करनेके लिए उसके उपाय जाननेका प्रयत्न करता है । अथवा प्राप्य वस्तु मिलानेका प्रयत्न करता है । जिसके द्वारा प्रयुक्त होकर कार्यमें मनुष्य प्रयुक्त होता है उसको प्रयोजन कहते हैं । आत्मा ज्ञानके द्वारा शास्त्रश्रवणादि क्रियाओं में प्रयुक्त होता है अतः उपयोगिवस्तुका ज्ञान होना यह प्रयोजन कह सकते हैं ।

शुका—परन्तु आराधना तो कुछ उपयोगिनी नहीं है अतः उसका ज्ञान कर लेना आवश्यक नहीं है ।

उत्तर—यह आराधना अनंत सुखरूप केवलज्ञान व परम अव्याघातता इन गुणोंको उत्पन्न करती है अतः यह आराधना अमश्व उपयोगी है, अतएव सिद्ध और अर्हत वे महापुरुष चार प्रकारके आराधनाओंका फल प्राप्त कर चुके हैं ऐसा आचार्य कहते हैं, अनंत ज्ञानादिफल देनेवाली आराधनाका स्वरूप भव्योंको ज्ञात हो जाय इस हेतुसे प्रेरित होकर आचार्य इस शास्त्रकी रचना करते हैं, यह शास्त्र आराधना स्वरूपका ज्ञान उत्पन्न करता है अतः यह साधन है तथा आराधनाज्ञान साध्य है, शास्त्र और प्रयोजन इन दोनोंमें साध्यसाधन संबंध है यह मी ' चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तम् ' इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है, यह शास्त्र चार आराधनाओंका वर्णन करता है अतः इसको अभिधायक-प्रतिपादक कहते हैं, सम्यग्दर्शनादि आराधना इस शास्त्रमें वर्ण्य-अभिधेय है अतः इन



दीनोंमें प्रतिपाद्य प्रतिपादक अभिविध्याभिधायक संबंध है. अतः इस शास्त्रमें प्रयोजन, संबंध न क्लृप्तिर्देश होनेसे व्याकरणादि शास्त्रवत् यह आराधना शास्त्र श्रोतवर्गसे ग्राह्य ही है. ग्रंथकी प्रथम गाथांमे मंगल न प्रयोजनादि तीन बातोंकी भी आचार्य महोदयने सूचित किया है. यह शास्त्र पूर्वाचार्यके वचनानुसार रचा गया है इस लिये यह प्रमाण है. प्रथम गाथामें 'कमसो' ऐसा शब्द आया है. उसका योग्य संबंध मिलानेके लिए "पुन्यसुपाणं" यह वाक्य शेष अध्याहृत लेना चाहिये.

विजयोदया-का भाराधना कस्य वा ? न ह्याराधयान्परिक्लामेनात्मभूताराधना शक्या प्रतिपत्तुं ह्यसोकायामाह-

उज्जोवणमुज्जवणं गिज्वहणं साहणं च गिच्छरणं ।

दंसणणाणचरित्तं तवाणमारहाणा भणिदा ॥ २ ॥

२ उज्जोवण- उज्जोवणमुज्जवणमित्यादिकं. 'उज्जोवणं' उद्योतनं शङ्काविनिवर्तनं सत्यकस्वाराधना भूत-  
निरूपिते वस्तुनि किमित्यं भवेन्न भवेदिति समुपजातायाः शङ्कायाः सशयप्रतिसंज्ञिताया अपाकृतिः । कथं ? हेतुबलेन  
आसवचनेन वा समुपजाताया इत्यभेदेवमिति निश्चित्या । यच्च यस्य विरोधि यत्रोपजातं तत्र नेतरदास्यदं श्रमाति, यथा  
शीतस्पर्शनाकान्ते शिशिरकरे उष्णता । विरोधे च निश्चयज्ञानं संशीतिर्विरोधता च नियोगतस्तद्भावे तत्रैतत्स्य तदा अभवनात्  
वक्ष्यामः काश्चादीनां स्वरूपं तन्निरासकम् च प्रस्ताये । अनिश्चयो घेपरीत्यं वा शान्तस्य मलं, निश्चयेनानिश्चयव्युदाहः । यथाथे-  
तया वैपरीत्यस्य निरासो ज्ञानस्योद्योतन । भावनाविरहो मलं चारिष्यस्य तासु भावनासु वृत्तिरुद्योतनं चारिष्यस्य । तपसोऽ-  
संयमपरिणामः कलङ्कतया स्थितस्तस्यापकृतिः संयमभावनया तपस उद्योतनं । उत्कृष्टं यवनं उद्यवत । ननु मिश्रणं युष्मकृते-  
रर्थः, मिश्रणं च संयोगता । तथा हि-गुडमिश्रा धाना इति कथिते गुडेन सम्युक्ता इति प्रतीयते । सयोगश्च विभिन्नयोरर्थयोर-  
प्राप्तयोः प्राप्तिनं च दर्शनादयोऽर्थान्तरभूता आत्मनस्तद्रूपविकल्परूपाभावात् । तत्कथं दर्शनाविभिरात्मनो मिश्रणमिति ? उच्यते.  
विशेषवाच्योऽपि सामान्योपलक्षणतया वर्तते, यथा काकैर्यो रक्ष्यतां सर्पिरित्यत्रोपघातकसामान्यमेवार्थः । काकशब्दस्य  
प्रतीतस्तद्रस्तसंबन्धसामान्यमत्र यवनशब्दाभिधेयं । असहृदर्शनाविपरिणतिरुद्यवत । निराकुल बहूने धारणं निर्वहणं, परी-  
पद्माद्युपनिपातेऽप्याकुलतामन्तरेण दर्शनाविपरिणतौ वृत्तिः । उपयोगान्ते रणान्ताहिताना दर्शनादिपरिणामानां निष्पादनं  
साधन । भवान्तरप्रापण दर्शनादीना निस्तरणम् । एवमारधनाशब्दस्थानेकार्थवृत्तिताया यथायसरं तत्र तत्र व्याख्या  
कार्या । अत्रान्ये व्याचक्षते-निस्तरणशब्दः सामर्थ्यावाची स प्रत्येक संबध्यते उद्योतनाविभिरुद्योतनादीना तद्दर्शनादिभि-  
भ्रतुर्भिरपि यथासत्त्वेन संबन्धः । उद्योतनं मरणकाले प्रागवस्थाया उत्कर्षेण निर्मलीकरणं अविशेषेन दर्शनाराधनेत्यादिना

क्रमेण । त एवं पर्यनुयोज्याः । किमत्र ज्ञानादीना निर्मलीकरणमिष्टमनिष्टं वा । इष्टं चेद्दर्शनैव किमिति संबध्यते निर्मलीकरणं ? उत्कर्षेण यवनमपि सर्वपापिष्यते । अनाकुलं बहूनमपि साधारण । किमुच्यते यतगुणितसमितीना निश्चयेनानाकुलं बहूनमिति ? न च निस्तारणशब्दात्सामर्थ्यं प्रतीयते । उद्योतनं सामर्थ्यं, उद्यवनं सामर्थ्यमित्यादिषु न च कश्चिदर्थः । अविज्ञेयमिति कथमयमर्थो लभ्यते उज्जोवणपदशब्देऽनुपात्तो, मरणकालश्च कः ? मनुष्यमवपदार्थयविनाशसमयो मरणकालसमयेन यद्युच्यते । न तत्र भावनोत्कर्षः, मारणान्तिकसमुद्भाते परिणाममाप्नुयात् । अत्र भावनाकालो मरणकालशब्देनोच्यते सोऽनुपात्तः । प्रकृतश्च कथमिह लभ्यते । भावनाकालगतव्यापारकथनयेद् शास्त्रं प्रस्तुतमिति लभ्यत इति चेत्, न तथाऽसूचितत्वात् । ' वंसण-पाणचरित्तवाणमुज्जोवणमारोहणा भणिया ' ' दंसणणाचरित्तवाणुज्जयणमारोहणा ' इति, इति प्रत्येकमभिसंबन्धोऽत्र कार्यः । अन्यथा समासेन निर्देशं कुर्यात् ।

का आराधना कस्य वेत्तुयोगे सत्याह—

मूलारा० दर्पणम्— उज्जोवणमित्यादि । दर्शनादीना प्रत्येकमुद्योतनादिपंचक्रमाराधना चतुर्विधा भणित ।

जिनैरिति संबंधः ॥ तत्र उद्योतनं दर्शनादीना निर्मलीकरणं ॥ तन्मला यथा—

शंकादयो मला दृष्टव्येत्यासानिश्चर्यो मतेः ।

युक्तस्य भावनात्यागस्तपसः स्यात्संयमः ॥

उज्जवर्णं उत्कृष्टं यवनं भिश्रणं असह्यस्परिणतिः । जिब्वहणं परीपद्वाद्युपनिपातेऽपि निराकुलं ज्ञानादिनिर्पेक्षं वा बहूनं धारणं । साहणं साधनं उपयोगान्तेरणान्तर्दिधानां निष्पादनं । नित्यं नैमित्तिकं वा किञ्चित्कुर्वता व्यवहितस्य सन्त्यदर्शनाद्यन्यतमस्य पुनरुपायप्रयोगात्सम्पूर्णकिरणमित्यर्थः । निच्छरणं भवान्तरापाणं । निस्तारो मरणान्तप्रापणमि-  
त्यर्थः । दंसणेत्यादि । दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानं, ज्ञानं स्वार्थनिर्णयः, चरित्रं प्रापादननिमित्तक्रियोपरमः, तपः इन्द्रियसन-  
सोर्नियमानुष्ठानम् ॥

अथ हिंदी भाषानुवादः ।

२ आराधिका ज्ञान-दानेसे आराधनाका स्वरूप ज्ञात होता है. अतः आराधना क्या चीज है तथा वह किसकी होती है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य कहते हैं—

उद्योतन—शंकाकांक्षादि दोषोंको दूर करना यह उद्योतन है इसको सम्यक्चाराधना कहते हैं. द्वादशगंमें जीवादित्त्वोंका जो स्वरूप कहा हुआ है वह यही है अथवा अन्य है ऐसी जो शंका मनमें उत्पन्न होती है—जिमको संशय भी कहते हैं उसको अपने हृदयसे दूर करना इसको उद्योतन कहते हैं. जैनसिद्धांतकी अविरुद्ध युक्तियों द्वारा और आश्रमवचनसे जीवादिक वस्तुओंका यही स्वरूप है ऐसा ही है ऐसा निश्चय करके संशयादिक दोषोंको दूर करना चाहिए. जो जिसकी विरुद्ध चीज जहां नहीं उत्पन्न होती है उससे उलटी वस्तु वहां नहीं रह सकती. जैसे शीतस्पर्शसे युक्त चंद्रमे उसकी विरोधी उष्णता अपने पैर नहीं जमा सकती. संशयके विरुद्ध निश्चय है वह जहां उत्पन्न होता है वहां संशय कैसे रहेगा ? निश्चयसे विरोध करता हुआ वह संशय विलुप्त टिक नही सकता. शंकाकांक्षादिक दोषोंका स्वरूप और उनका निरासन आगे दर्शनाराधनाके प्रकरणमें आचार्य स्वयं लिखेंगे ही.

निश्चय न होना अथवा उल्टा ज्ञान होना यह ज्ञानका मूल है जब निश्चय होता है तब अनिश्चय नहीं रहता है. यथार्थ वस्तुज्ञान होनेमें विपरीतता चली जाती है. यह ज्ञानका उद्योतन है अर्थात् ज्ञानके अनिश्चय विपर्यासादि दोष दूर करना ज्ञानका उद्योतन है,

भावनार्थोंका त्याग होना चारित्र्यका मूल है. अर्थात् भक्तनाओंमें तत्पर होना ही चारित्र्यका उद्योतन होता है. असंशय परिणाम होना यह तपका कलंक है. संयम भावनार्थोंमें तत्पर रहकर उस कलंको दृष्टाकर तपश्चरण निर्मल बनाना यह तपका उद्योतन है.

उद्यव्रत—उत्कृष्टं व्रतं उद्यव्रतं अर्थात् उत्कृष्ट मिश्रण होना उद्यव्रत है आत्माकी सम्पददर्शनादरूप परिणति होना उद्यव्रत शब्दका अर्थ है.

शंका—उद्पूर्वकं यु घातुसे उद्यव्रत शब्द बना है. उसका मिश्रण ऐसा अर्थ है. मिश्रण और संयुक्तपना दोनो समनार्थक हैं जैसे गुडसे मिश्रित घाना है. अर्थात् गुडसंयुक्त घाना है ऐसा अमिश्रण होता है. विभिन्न पदार्थ आपसमें मिल जाना उसको संयोग कहते हैं परन्तु सम्पददर्शनादिक गुण आत्मासे भिन्न नहीं है. आत्मा तद्रूप है. वह उससे विकल नहीं है अर्थात् सम्पददर्शनादिसे भिन्न उसका और रूप नहीं है. अर्थात् सम्पददर्शनादिकसे उमका संयोग होना यह उद्यव्रतका अर्थ यहां योग्य नहीं दीखता

उत्तर—विशेष शब्दसे जो विशिष्ट अर्थ कहा गया है वह भी उपलक्षणसे सामान्य अर्थ रूप भी माना जाता

है, जैसे 'काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः' अर्थात् कौबोंसे घृतका रक्षण करो, यहाँ कौवा शब्द विशिष्टार्थवाचक होने पर भी उसका उपधातक सामान्य ही अर्थ अनुभवमें आता है, अर्थात् घृतको बिगाड़नेवाले सब माणियोंका काक शब्द वाचक हो जाता है, वैसा यहाँपर उद्यवन शब्दका सामान्य संबंध ऐसा अर्थ समझना अर्थात् वारंवार सम्यग्दर्शन गुणोंसे आत्मा परिणत होजाना यह उद्यवन शब्दका अर्थ है।

निर्वहण — सम्यग्दर्शनादिगुणोंको निराकुलतासे धारण करना, अर्थात् परीपहादिक प्राप्त हो जानेपर भी व्याकुलचित्त न होकर दर्शनादि परिणतीमें तत्पर रहना, उससे च्युत न होना यह निर्वहण शब्दका अर्थ है।

साधन—अन्य कार्यके तरफ ज्ञानोपयोग लगनेसे तिरोहित हुए दर्शनादिपरिणामोंको उत्पन्न करना, अर्थात् नित्य कार्य तथा नैमित्तिक कार्य करनेमें चित्त लगनेसे तिरोहित हुए सम्यग्दर्शनादिकोमेंसे किसी एकको पुनः उपायोंके प्रयोगसे संपूर्ण करना उसको साधन कहते हैं।

निस्तरण—अन्यभवमें सम्यग्दर्शनादिकोंको पोहोचाना, अर्थात् आमरण निर्दोष पालन करना जिससे वे अपने साथ अन्य जन्ममें भी आसकेंगे।

आराधना शब्द अनेकार्थमें रूढ होनेसे प्रकरणानुसार अविरुद्ध व्याख्या करनी चाहिये।

अब यहाँ दूसरे विद्वान ऐसा कहते हैं—निस्तरण शब्दका सामर्थ्य ऐसा अर्थ है, तथा इस शब्दका उद्योतन, उद्यवन इत्यादि शब्दोंके साथ संबंध करना चाहिये, तथा उद्योतनादिकोंका दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप इनके साथ यथाक्रम संबंध करना चाहिये, अर्थात् दर्शनका उद्योतके साथ, ज्ञानका उद्यवनके साथ, चारित्रका निर्वहणके साथ तथा तपका साधनके साथ संबंध करे, दर्शनोद्योत—पूर्वावस्थापेक्षासे भी मरणकालमें निर्विघ्नतया सम्यग्दर्शन अधिक निर्मल करना यह दर्शनाराधना समझनी चाहिये, इत्यादिरूपसे अन्यविद्वान् व्याख्यान करते हैं, इस विवेचनपर आचार्य निम्न प्रकारसे विचार करते हैं।

यहाँ आपको ज्ञानादिकोंको निर्मल करना इष्ट है या अनिष्ट है ? यदि इष्ट है तो दर्शनके साथ ही उद्योतनका क्यों संबंध जोड़ते हैं ? अर्थात् ज्ञानादिकोंके साथ भी उद्योतका संबंध जोड़ देना चाहिये, उद्यवनका भी सर्विके साथ संबंध करना चाहिये, निर्वाह अर्थात् निराकुल धारण करना इसका भी दर्शनादिक चारोंके साथ संबंध जोड़ना

चाहिये. व्रत, गुप्ति, सामितिओंको निश्चयसे निर्विघ्न धारण करना अर्थात् चारित्रिके साथ ही निर्वहिका संबंध करना चाहिये ऐसा कहना अनुचित है. निस्तरण शब्दका सामर्थ्य ऐसा अर्थ है ऐसा आप कहते हैं परंतु उसको उद्योतन, उधवन्, निर्वह इत्यादिकोंके साथ जोड़नेसे कुछ प्रयोजन सिद्ध होता नहीं. मरणकालमें निर्विघ्नतया सम्यग्दर्शन निर्मल करना उसको उद्योतन कहते हैं ऐसा आप कहते हैं परंतु उज्जोवण वगेरह शब्दोंका 'निर्विघ्नतया' ऐसा अर्थ नहीं है. आप मरण काल कानसा समझते हैं ? मनुष्यभव पर्यायका नाश होनेका जो समय उसको यदि मरणकाल समझते हो तो अयुक्त है. कारण मरणकालमें भावनाका उत्कर्ष होता नहीं. मारणात्मिक समुद्रातमें परिणाम मंद होते हैं. यदि मरणकाल शब्दसे भावना कालका अर्थ समझना चाहिए ऐसा कहोगे तो उसका यहां कुछ प्रयोजन नहीं है. तथा वह अमकृत होनेसे उसका यहां कुछ प्रयोजन नहीं है.

भावनाकालकी श्रवृत्ति कैसी होती है इसका विवेचन करनेके लिए इस शास्त्रकी रचना हुई है अतः भावनाकालका यहां ग्रहण हो जाता है ऐसा कहोगे तो योग्य नहीं है. 'दंसणणाणचरित्ततवाणुज्जवणमाराहणा भणिया' इस वाक्यमें उज्जवण शब्दका प्रत्येकसे संबंध करना चाहिये 'उज्जोवणमुज्जवणं' इस भाषा में उज्जवणादिक शब्द समाप्त रहित लिखे हैं अतः दर्शनादिकोंके साथ उद्योतनादिकका प्रत्येकका संबंध होता है ऐसा समझना अर्थात् सम्यग्दर्शनका उद्योत, ज्ञानका उद्योत, चारित्रका उद्योत तथा तपका उद्योत. इसी तरह उधवनादि शब्दोंका भी सबके साथ संबंध समझना चाहिये. अन्यथा आचार्य उद्योतादिकोंका समासपूर्वक उल्लेख कर सकते थे.

किं चतुर्विधैवाराधनेत्याशङ्कयामाह—

दुविहा पुण जिणवयणे भणिया आराहणा समासेण ॥  
सम्मत्तम्मि य पढमा विदिया य हवे चरित्तम्मि ॥ ३ ॥

विजयोदया— दुविहा समासेण दुविधा आराधणा भणिया इति पदसंबन्ध. आवरणमोहज्याजिनाः । ज्ञानदर्शनावरणजयात्सर्वज्ञा. सर्वदर्शन । मोहपराजयाहीतरागद्वेषा. । सर्वज्ञाना सर्वदर्शना चीतरागद्वेषाणा वचनं जिनवचनं । एतेन असत्यवचनकारणाभावात् ग्रामाण्यमाख्यातामात्मस्य । वक्तुरज्ञानाद्रागद्वेषाभ्या वा प्रवृत्तं वच.

अथयथार्थोक्तवोधेनदप्रामाण्यमारकृच्छति । तत्र च 'समासेण' सक्षेपेण 'दुविधा' द्विप्रकारा 'भणित्वा' कथिता 'आराद्वणा' आराधना । का प्रथमा आराधना का छित्तिरित्येत आह—'सम्मत्तस्मि य पट्ठा' श्रद्धानविवयया प्रथमापराधना । 'विधिया य' द्वितीया च 'हवे' भवेत् 'चरित्तस्मि' चारित्रविषया आराधना । दर्शनेचारित्राचारनयोः प्रथमद्वितीयव्यपदेशः उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति । केचिच्च दर्शनपरिणामोत्पत्त्युत्तरकाले हि चारित्रपरिणाम उत्पद्यत इति प्राथम्य दर्शनपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति । अस्मत्तत्त्वस्यतादिकं तु परमिति । श्रद्धानविवरित्तिपरिणामयोर्गुणपदव्याप्ति प्रादुर्भाव, श्रद्धानववतो वा असंयतस्य पञ्चाद्विरतिरुपजायते । तत्किमुच्यते, उत्पत्त्यपेक्षयेति । असंयतसम्यग्दर्शनां कुतः कर्मो येन तत्पेक्षया प्रथमद्वितीयव्यपदेशश्चेति स्यात् । उत्पत्त्यपेक्षया तत्रोक्तं पञ्च नियमः । अथागमे पौर्वापर्यपेक्षया 'असंजदसम्मादिद्विसंयदासयदापमत्तसयदा' इति वचनात् । तदेव वचन किमर्थं कर्ममाश्रित्य प्रवृत्तमुत नान्तरियकतया ? न तावदस्ति परिणामाना भियोगभवीक्रमः । यदि स्यान्न यौगपद्य कदाचित्स्यात् । दृश्यते च सम्यग्दर्शित्यतासंयता इति चैकदा । अयं नानेक वचनमेकः प्रयोक्तुं क्षमत इति वक्तुमिच्छानुविधायो क्रमः सूत्रविवक्षाकृतं प्राथम्यं द्वितीयता चेति वाच्यं न गुणस्थानापेक्षयेति । किं चोपजातदर्शनादिपरिणामस्यात्मनस्तद्वतातिशयवृत्तिसाराधना साऽत्र प्रस्तुता । तत्र च प्राथम्यं द्वितीयता वा, तत्किमुच्यते उत्पत्त्यपेक्षया गुणस्थानापेक्षया चेति । अस्य स्वस्त्योपोद्धातेमेवमपरे वर्णयन्ति । अस्मिन् शास्त्रे किमयमेव निश्चयश्चतुर्विधेवाराधनेति, उतान्योऽपि विकल्पः संभवतीति ? अस्तीत्याहेति तदयुक्तम् । 'दंसणणचरित्ततवाणमाराधणा भणिया' इत्यतीतकालाभिधानक्रियातः प्रतीयते नास्य शास्त्रस्य व्यापार इति । यद्यस्य व्यापारः शास्त्रस्य वचनमिष्टः स्यात् 'भणदि' इति वृत्तात् । 'जिणवयणे भणिया दुविद्वा आराधणा' इति वचनात् । सक्षेपनिरूपणापि तत्रैवेति नेह सक्षेपवाच्यम् । वस्तु बहुपत्त्यस्त दुरवगमं मन्दबुद्धीनामिति । तदनुग्रहाय स्वत्पत्त्यपेक्षयासः । स सक्षेपस्त्रिप्रकारः । वचनसक्षेपोऽर्थसक्षेपस्तुभ्यसक्षेपश्चेति । वचनवहुत्वस्यार्थनिश्चयो न जायते जडानामिति वचन सक्षिप्यते । अर्थस्तु समपञ्च पञ्च । अनुयोगद्वारादीना वहूनामुपन्यासमकृत्वा दिङ्मात्रोपन्यास प्रस्तुतत्पत्त्यर्थसक्षेपः । वचनानि तु बहुनि । तस्योभयसक्षेपः पाञ्चात्यः । द्विविधाराधनेति वचनसक्षेपो नार्थसक्षेपः । ज्ञानस्याराधना तपसश्च विद्यमानापि न वचनेनोच्यते । परमुक्तैवावबोधयितुं शक्यत इति ।

मूलारा० दर्पणम्—एवं आराधनाया भेदनिरूपणद्वारेण स्वरूपं दर्शनाद्विषयभेदाच्चातुर्विध्यं चानुशिष्येदानीं संक्षेपात्तद्वैविध्यमनुशास्ति—

जिणवयणे जिनाना वीतरागसर्वज्ञाना वचने प्रमाणभूत आगमे । प्रथमं विस्तररुचिविनियाशयवशाच्चातुर्विधाराधनाभिहिता । पञ्चात्सक्षेपपरुचिशिष्यापेक्षया सा द्विप्रकारा कथिता । ज्ञानेन दर्शनस्य, तपसा च चारित्रस्य अविना-

भावात्तत्र तथोरन्तर्भावनात् । तत एव चारित्र्यस्य संक्षेपः । स हि संक्षिप्तार्थमतिवलिशिष्यानुग्राह्य । स्वल्पस्यो  
पन्यासो वचनार्थोभयभेदोन्नेया । श्लोकः

यत्रालयेकत्वन्योन्योपादिद्वारैरर्थः प्रपंच्यते ॥

संक्षेप उक्तेः सौर्थस्य दिङ्मात्रोक्तिद्वन्द्वयोः ॥

सम्पत्तन्मि तत्त्वश्रद्धानविषये इत्यर्थः । पदमा सम्यक्त्वाराधनाया सत्यामेव ज्ञानाराधनापूर्वकत्वेन चारि-  
त्राराधनायाः संभवात् ॥

क्या आराधनाके चार ही भेद हैं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी—जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं । एक सम्यक्त्वमें आराधना अर्थात् सम्यक्त्वा-  
राधना तथा दूसरी चारित्र्यमें आराधना अर्थात् चारित्र्याराधना.

विशेष—आवरण व मोहको जीतनेसे अर्हत्परमेष्ठिको जिन कहते हैं. ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्मको जीतनेसे  
वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हुये हैं. मोहनीय कर्मको परास्त करनेसे वे रागद्वेष रहित हो चुके हैं. अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी,  
रागद्वेष रहित ऐसे अर्हत्परमदेवके वचनको जिनवचन कहते हैं. जिनेश्वरके वचनमें असत्य वचनके कारण नहीं पाये  
जाते हैं अतः उनका वचन अर्थात् जिनागम प्रमाण है । चक्का यदि अज्ञानी अथवा रागद्वेषयुक्त हो तो उससे निकला  
हुवा वचन असत्यवस्तुका वर्णन करनेवाला होनेसे प्रमाण नहीं है. प्रमाणरूप जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो  
भेद कहे हैं. श्रद्धानको विषय करनेवाली पहिली आराधना है तथा दूसरी आराधना चारित्र्यको विषय करती है ।

दर्शनाराधना और चारित्र्याराधना को क्रमसे प्रथम तथा दूसरी आराधना ऐसे नाम उत्पत्ति की अपेक्षासे  
तथा गुणस्थानों की अपेक्षासे प्राप्त हुए हैं. आत्मा प्रथम सम्यग्दर्शन परिणामसे परिणत होता है तदनंतर  
उत्तरकालमें उसमें चारित्र्य परिणाम उत्पन्न होता है. अतः दर्शनाराधना प्रथम कही है. असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान  
प्रथम हो जाता है, नंतर प्रमत्तसंयतादिक गुणस्थान आत्माको प्राप्त होते हैं ऐसा कोई विद्वान् कहते हैं ।

श्रद्धान तथा विरति परिणामोंकी युगपत्कालमें—एकसमयमें भी उत्पत्ति होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन और  
चारित्र्य परिणाम एककालमें भी उत्पन्न होते हैं. अथवा श्रद्धानवान् जीवको पश्चात् भी विरतिपरिणाम हो जाते हैं ।

अतः उत्पत्तिकी अपेक्षासे प्रथमता द्वितीयता क्यों कही जाती है ? जो असंयत सम्यग्दृष्ट्यादिजीव है उनका अपेक्षासे क्रमघटना कैसी होगी ? जिससे उसमें प्रथम द्वितीयता आजावे, उत्पत्तिकी अपेक्षासे यदि कहोगे तो हमने उस विषयमें नियम कहा ही है ।

अब आगममें जो प्रथम वचन कहे है और जो नंतर कहे हैं उनकी अपेक्षा लेकर हम प्रथम तथा द्वितीयकी कल्पना करते हैं क्योंकि आगममें 'असंजदसमादिद्वीसंयदासंयदापमत्तसंयदा' ऐसा क्रमपूर्वक उल्लेख है, यह भी कश्ना योग्य नहीं है, हम इस विषयमें आपको ऐसा पूछते हैं कि, वह आगमका वचन क्रमका आश्रय लेकर क्यों प्रवृत्त हुवा है ? क्या क्रमके साथ आगम वचनका अविनाभाव है ? परिणाम क्रमसे ही होने चाहिये ऐसा नियम नहीं है, अन्यथा सम्यग्दर्शनरूप तथा विरतिरूप परिणाम एक समयमें किसी कालमें भी नहीं होंगे, परंतु एक कालमें सम्यग्दृष्टि और संयतासंयतरूप परिणाम अनुभवमें आजाते हैं, यदि एक वक्ता एक समयमें एकही शब्द बोल सकता है, अनेक शब्दोंका उच्चारण नहीं करता है अतः वक्ताके इच्छानुकूल वचन-क्रम है तो परिणामोंमें वचनकृत ही क्रमता सिद्ध हो गई गुणस्थानापेक्षया वहां क्रम नहीं रहा । यदि सम्यग्दर्शनादि परिणाम जिसमें उत्पन्न हुए हैं ऐसे आत्माकी सम्यग्दर्शनदिकोंमें अतिशय एकरूपता होनाही आराधना है, और ऐसी आराधनाही प्रस्तुत प्रकरणमें समझनी चाहिये और उसमें प्रथमता या द्वितीयता है ऐसा यदि कहोगे तो, उत्पत्तिकी अपेक्षासे और गुणस्थानकी अपेक्षासे प्रथमता और द्वितीयताका प्रतिपादन क्यों किया ?

दूसरे आचार्य इस सूत्रका उपोद्घात इस प्रकार लिखते हैं— इस आराधनाशास्त्रमें आराधनाके चार प्रकारही हैं ऐसा निश्चय है ? अथवा अन्य भी विकल्प यहां माना गया है ? हां दूसरा भी विकल्प है ऐसा कहोगे तो यह आपका कहना अयोग्य है, 'दंसंज्ञाणचरित्तवाणमारधणा भणिया' अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप इन्होंकी आराधना कही है यहां भूतकालकी क्रिया कही गई है अतः सिद्ध होता है कि यह इस शास्त्रका व्यापार नहीं है । यदि यह इस शास्त्रका व्यापार होता तो वह 'भणिया' इस शब्द प्रयोगके स्थानपर 'भण्णादित्ति' अर्थात् कहते हैं ऐसा प्रयोग करता, परंतु 'जिणवयणे भणिया दुविहा आराहणा' जिनासममें आराधना दो प्रकारकी कही है ऐसा वचन है अतः संक्षेपसे आराधना कहनेके लिए भी इस शास्त्रका व्यापार नहीं है, संक्षेपसे विवेचन करनेका भी व्यापार आगममेंही है,



वस्तुका विस्तृत विवेचन मंदबुद्धि जन नहीं समझते है उनके उपर अनुग्रह करनेके लिए वस्तुओंका स्वरूप विवेचन होता है. उसके तीन भेद है—वचनसंक्षेप, अर्थसंक्षेप व उभयसंक्षेप । यदि वचनका विस्तार हो जाय तो मंदबुद्धि जनको अर्थनिश्चय नहीं होता इसलिए वचनोंका जिसमें संक्षेप हो परंतु पदार्थका विस्तार किया गया है उसको वचन संक्षेप कहते है. अनुयोग, प्रमाण, नय, निक्षेप वगैरे वस्तुका विवेचन करनेके उपाय है. इन सर्वोंके द्वारा विवेचन न करके प्रस्तुत विषयकी केवल दिशा दिखाना उपको अर्थसंक्षेप कहते है. इसमें वचन तो बहुत रहते है. परंतु अनुयोगादिकोमेंसे किसी एकका आश्रय लेकर दिङ्मात्र वर्णन रहता है. उभय संक्षेपमें अर्थ व उसका शब्दों द्वारा विवेचन दोनों भी संक्षिप्त होते है उसको उभय संक्षेप कहते हैं. चारो आराधनाओंका स्वरूप दो आराधनामें जहां किया जाता है वह वचन संक्षेप ही है. अर्थसंक्षेप नहीं है. यहां ज्ञानकी और तप की आराधना विद्यमान है तो भी वह वचनोंके द्वारा उक्त नहीं है. दर्शनाराधना तथा चारित्राराधना इनके मुखसे ही उनका स्वरूप प्रगट कराना शक्य है.

दंसणमाराहंतेण णाणमाराहिदं भवे णियमा ॥

णाणं आराहंतस्स दंसणं होइ भयणिज्जं ॥ ४ ॥

विजयोदया—दंसणमाराहंतेण दर्शनाराधनायां कथिताया शानाराधनापि शक्यते प्रतिपत्तुम् । अग्न्यायनयनचोदनायां पत्तिरिह कथम् ? द्वाप्यविनाभावोदित्याचष्टे ‘दंसणमाराधतेण’ । अत्रापरे सगन्धमारम्भयन्ति गाथाया । यदि द्विविधा आराधना आराधयन्ति चेच्चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्ता सिद्धा इति प्रतिज्ञा दीयते इत्योसंग्रहात् इति चेत् नास्मिन्नपि विकल्पे तयोरपि संग्रहार्थम् । कथं ‘दंसणमाराधतेण’ इति प्रतिज्ञा दीयते इति । अत्र प्रतिज्ञाशब्देन किमुच्यते ? साध्यनिर्देशात् प्रतिज्ञेति तावन्न गृहीतम् । चतुर्विधाराधनाफलप्राप्तत्वस्येह साध्यता नास्ति । सिद्धमेव हि चतुर्विधाराधनाफलप्राप्तत्वमनूयत इति । यथाम्युपगतिं प्रतिज्ञा सा किं नोपपद्यते ? चतस्रः आराधनास्तासां च फले ते प्राप्तवन्तस्ततः सत्यभ्युपगन्तव्ये कथमभ्युपगमामुपपत्तिः ? चतुर्विधेत्युक्तवन्त द्विविधेति कथं न विरुद्धमिति पूर्वपरव्याहतिरिति चोद्यते । तथा यत्रोद्यमेव चोद्यते समासेन द्विविधेति वचनात्, प्रपञ्चनिरूपणया चतुर्विधा तत्को विरोध तेन विरोधपरिहाराय चागत्यं गाथा । ‘दंसणं’ श्रद्धानं रुचिः, ‘आराधतेण’ आराधयता, ‘णाणं’ सम्पन्नानं, ‘आराधिदं’

आराधितं 'हवे' भवेत् 'नियमा' निश्चयेन । यस्य हि यद्विषया श्रद्धा तस्य कथंचिदप्यज्ञाते न सा भवति । न हि निर्विषया सचि प्रवर्तते । बुद्धिपरिगृहीतवस्तुविषया श्रेष्ठ्यविनाभावः श्रद्धाया ज्ञानेन । अत्र परा व्याख्या—आत्मनो विषयान्तरपरिणामवृत्तिज्ञानं तदावरणक्षयोपशमजनितम् । भूय्यावरणानामे तोयजनमवत् । तद्वत्विशुद्धिः प्रसन्नता अभिगच्छि-  
श्रद्धा श्रुतिनिरूपितार्थविषया सत्यमावना दर्शनं । न च दर्शनमोहोपशमश्चोपशमनिमित्तं तोयाश्रयपंकामात्रे जलप्रसादवत् । तस्मिन्पराध्यमाने ज्ञानसिद्धिरवश्यमाविनी निराश्रयधर्मस्य केवलसिद्धयभावाद्भिति । तत्रेदं परीक्ष्यते, विषयाकारपरिण-  
तिरात्मनो यदि स्यात्परस्मान्धस्पर्शोद्यत्प्रकृता स्यात्तथा च—

‘अरसमरुच्यमागध अव्यक्तं चेदणगुणमसह’  
इत्यनेन विरोधः । विरुद्धं नीलपीतादिपरिणामो नैकत्र युज्यते । एकदा आकारद्वयवेदनप्रसंगश्च । बाह्यस्यैक-  
नीलादिविश्रान्तमपरं विज्ञानगतविशुद्धिं प्रसन्नता आमिरुचि श्रेष्ठेति वा समीचीनं गदितम् चैतन्यस्य धर्मः श्रद्धा-  
नम् । ननु ज्ञानस्य ज्ञानधर्मत्वे क्षायोपशमिकज्ञानविनाशो कथमवस्थितिर्दर्शनस्य । न हि धर्मिणि विनष्टे धर्मस्यावस्थितिः ।  
चैतन्यमविनाशि तदश्रयं तदिति चेत् शान्तस्य धर्मता नश्यति । किं च यो यस्य धर्मः स तस्य स्वरूपम् । न चास्यस्य  
धर्मिणो रूप धर्मोन्तस्तस्य प्रभवति । न हि बलाकायाः शुक्लता कुन्दकुसुमस्य कदाचन । एव मतेः प्रसन्नता श्रुतावेर्न  
स्यात् । श्रुतवेर्वा प्रसन्नता मतेरुच्यते । एवं ज्ञानभेदे तद्वैबलाया अपि प्रसत्तेर्भेद इति क्षायिकया का वर्ता न तस्या-  
प्रत्ययायाः प्रादुर्भूतिः प्रलयो वा ।

न हि दर्शनमोहोदयं विना दर्शनस्याभावो युज्यते । यदि स्यादर्शनमोहनीयकल्पना अघट्यमाना भवेत् । अथ  
याथात्म्यविषया श्रद्धा आत्मनि प्रतिबंधकसद्भावोद्भवेति, तदपये उद्बुद्धति, यदि प्रतिबंधकारि किंचिन्न स्यात् । आत्मनि  
परिणामिनि सति किमिति । सदा न भवेत् ? अतस्परिणामत्वे नात्मनि कदाचिदपि भवेत् । तत् अनुभवसिद्ध्यासो सह-  
कारिकारणानामसाध्यादात्मा श्रद्धानरूपेण न परिणमते । न तु किंचित्यतिबंधकमस्येति चेत् किं तत्सदृकारि  
यस्याभावादनुत्पत्तिः श्रद्धायाः । अन्यव्यतिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभाव सर्व एव तावतरेण हेतुता प्रतिशामानत  
एव कस्यचित्सा वस्तुवितायामनुपयोगिनीति प्रतिबंधकसद्भावानुमानमगमेऽभिमतं तावदसति न गच्छते । किंचित् श्रुतप्र-  
रूपितार्थविषया सत्यमावेनेति वा सन्नद्धम् । अथध्यादिनिरूपितार्थविषया सत्यमावना किं न दर्शन ? अवध्यादिकमपि  
वस्तुयाथात्म्यसस्पर्शं । अथ श्रुतग्रहण समीचीनज्ञानोपयोगोपलक्षणमिति मन्यसे भवतु । अलमिति प्रसंगेन—

“समत्तण्णणंदसणवीरियसुहमं तेहव अवगहणं ॥

अगुरुलुमुमव्वानाहमठ्ठुणा होन्ति सिद्धण ॥”

इत्यनेन च व्याख्या विरुध्यते । गुणान्तरत्वेन उपन्यासात्तुपपत्तेः । क्षायिकश्रयोपशमिक्रयोर्भेदोऽस्ति वा न  
वा ? यदि नास्ति भावपञ्चकनिरूपणाकारिणा आगमेन विरोधः ? अयं अस्ति भेदपरिणामः ? परिणामान्तरस्य स्वरूपं न  
भवति । परिणामरुच्यस्य परिणामिसरूपता न्याय्या ॥ यो भिन्नप्रतिबंधकापयजन्यो, न तावन्वोऽन्यस्य धर्मधर्मिणो

यथा अवाधिकेबले मिश्रप्रतिबंधकापायजन्ये, तथा न ज्ञानदर्शने ॥ ज्ञानाराधना चारित्राराधनेति द्वैविध्यं कस्मान्नोपपन्नं इत्यत्र चोद्ये प्रतिविधानायाह—

‘गणमाराधतेण दंसणं होइ भयणिज्जं’ ज्ञानशब्दः सामान्यवाची संशये, विपर्याये, समीचीने च द्रुतः । संशयज्ञानं, विपर्यासज्ञानं, सम्यग्ज्ञानमिति प्रयोगदर्शनात् । ते न ज्ञाने परिणत आत्मा नियोगतस्तत्त्वश्रद्धाने विपरिणमत पवेति न नियोगोऽस्ति । मिथ्याज्ञानपरिणतस्य तत्त्वश्रद्धाया अभावात् । ततो ज्ञानस्य दर्शनाविनाभावित्वस्याभावात् न ज्ञानाराधनोक्त्या दर्शनाराधनावगुं शक्येति न तथा संक्षेपाभिधानमगमे प्रकातमिति भावार्थः । ‘गण’ ज्ञानं ॥ ‘आराधतेण’ आराधयता । ‘दंसण’ दर्शनं । ‘होइ’ भवति । ‘भयणिज्जं’ भजनीय विकल्पं । अत्र दंसणशब्देन दर्शनविययमाराधनमुच्यते । ततोऽयमर्थः दर्शनाराधना भाल्येति भजनीयतया अविनाभावित्वाभावः सूचितः । सम्यग्ज्ञाने आराधिते भवत्याराधिता, मिथ्याज्ञानाराधनायां नैति भजनीयता ॥ अथवा ज्ञानाराधना चारित्राराधनेति च शक्यते सकृन्नु ।

ननु यस्य येनाविनाभावस्तदुक्तौ तस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता अग्न्यातयनोक्तौ शरावाद्यान्यतमपात्रमात्रप्रतिपत्तिवत् । इह पुनः सक्रयमित्याहः—

मूलारा दंसणमित्यादि—दर्शनं हि श्रद्धानं तल्ल अज्ञाते वस्तुनि न स्यादित्यविनाभावः श्रद्धाया ज्ञानेन । ततः साष्टकं सूत्रे तत्त्वश्रद्धानाराधनाया सम्यग्ज्ञानमाराधितमवश्यं स्यादिति । आराहतेण आराधयता उद्योतनाद्यतिशयेषु वर्तयता । अयं ज्ञानाराधना चारित्राराधना चेति द्वैविध्यं कस्मान्नोपपन्नं सूत्रे इत्यत्राह—गणमित्यादि । ज्ञानमत्र सामान्य । दंसणं दर्शनविपर्याधना, भयणिज्जं विकल्पं । इदमत्र । तात्पर्यं—सम्यग्ज्ञाने आराधिते सति सम्यक्त्वमाराधितं भवति न मिथ्याज्ञाने इत्यविनाभावमाभावात् ज्ञानाराधनाया दर्शनाराधना माध्या । ननु तर्हि सम्यग्ज्ञानाराधनोक्तौ सम्यक्त्वाराधना बोधयितुं शक्यते इति सा कस्मान्नोच्यते इति चेत् ज्ञानस्य सम्यगिति व्यपदेशे सम्यक्त्वमुखप्रेक्षितया प्राधान्याभावात् ॥

हिंदी—सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वाले निश्चयसे ज्ञानाराधना करते हैं. परंतु ज्ञानाराधना करने वालेको दर्शनकी आराधना होती है अथवा नहीं.

विशेष—आचार्यने दर्शनाराधनाका वर्णन किया है इससे ही ज्ञानाराधनका भी ग्रहण हो जाता है । जैसे

किसी मनुष्यको अभि लानेके लिये आज्ञा की तो वह सरावमें विना कहे भी अभि लाता है, सरावमें अभि लावो ऐसा कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती है, आधारके विना अभि नहीं लासकते अतः पात्र लेकर अभि लावो ऐसा नहीं कहने पर भी पात्रका बोध हो ही जाता है। परंतु सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वालेको ज्ञानकी भी आराधना कैसे होगी यह समझमें नहीं आता है- इस शंकाका उत्तर यह है कि, सम्यग्दर्शन और ज्ञान इन दोनोंमें अविनाभाव संबंध है अर्थात् सम्यग्दर्शनकी जो व्यक्ति आराधना करेगी वह जरूर ज्ञानाराधक होती ही है।

यहां कोई आचार्य इस गाथाका संबंध ऐसा जुड़ानेका प्रयत्न करते है, यदि दो प्रकारकी आराधना कहते हो तो 'चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्ताः सिद्धाः' 'चार प्रकारकी आराधनाओंका फल सिद्धोंको प्राप्त हुआ है' यह प्रतिज्ञा नष्ट होती है, क्योंकि आपने दर्शनाराधना और चारित्राराधना ऐसी दोही आराधनायें कही हैं, और प्रथम गाथामें सिद्ध परमेष्टीको चार आराधनाओंका फल प्राप्त हुआ ऐसी आपने प्रतिज्ञा की है, वह चरितार्थ नहीं होती यह दोष अर्थात् प्रतिज्ञाहानि नामका दोष यहां आता है, इसका उत्तर-आराधनाके दो भेद माननेसे भी दोष नहीं है, क्योंकि हमने दर्शनाराधना तथा चारित्राराधनामें क्रमसे ज्ञानाराधना और तप आराधनाका संग्रह किया है, अतः हमारी प्रतिज्ञा नष्ट नहीं होती है, प्रतिज्ञा शब्दसे आपका क्या अभिमत है ? यदि साध्यका वर्णन करना यह प्रतिज्ञा है ऐसा कहोगे तो यह योग्य नहीं है चार प्रकारके आराधनाओंका फल सिद्ध परमेष्टीको प्राप्त हुआ है यह बात यहां साध्यरूप नहीं है, क्योंकि, जो असिद्ध है वह वस्तु साध्य मानी जाती है, सिद्धोंको चार आराधनाओंका फल प्राप्त हुआ है यही बात फिरसे आचार्यने यहां कही है, यदि चार आराधनाओंका फल सिद्धोंको प्राप्त हो गया है ऐसा मानना यह प्रतिज्ञा है, ऐसा कहोगे तो यह क्या युक्ति संगत नहीं है ? चार आराधनाओंका फल उनको प्राप्त हुआ है यह मान्य करने योग्य है इसको नाकबूल करना कैसा योग्य होगा ?

पूर्व गाथामें आराधनाके चार भेद कहे हैं अब यहां उसके दो भेद आप कहते हैं यह पूर्वापर विरुद्ध नामका दोष हुआ, इसका उत्तर यह है कि, संक्षेपसे आराधनाके दो भेद हैं व विस्तृत वर्णनकी अपेक्षासे चार भेद होते हैं अतः इसमें कोनसा विरोध है ? अतः यह गाथा विरोधपरिहार करनेके लिए आचार्यने रची है ऐसा समझो।

सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेसे सम्यग्ज्ञानका आराधन अवश्य होता है, जिस पुरुषको जिस विषयकी

श्रद्धा होती है उसको यदि उस विषयमें किसी प्रकारसे अज्ञान होगा तो श्रद्धा नहीं होगी. श्रद्धा रुचि अविषयमें नहीं होती. अर्थात् पदार्थका स्वरूप समझ लेनेपर उसमें मनुष्यको श्रद्धा उत्पन्न होती है. बुद्धीके द्वारा जिस वस्तुको जान लिया वह वस्तु श्रद्धाका विषय होती है. अतः श्रद्धाका ज्ञानसे अविनाभाव है ऐसा समझना चाहिए.

इस गाथापर दुसरी व्याख्या है वह इस प्रकार है—आत्माका पदार्थकार परिणामन होना यह ज्ञान है. जैसे भूमीका आवरण हट जानेसे पानी उत्पन्न होता है. वैसा ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो जानेसे ज्ञान उपजता है. ज्ञानमें जो विशुद्धि, प्रसन्नपना, अभिरुचि रहती है उसको श्रद्धा-सम्यग्दर्शन कहते हैं. यह आगममें कहे हुए पदार्थोंको विषय करता है. अर्थात् आगम कथित पदार्थ सत्य है ऐसी भावनाको सम्यग्दर्शन कहते हैं. जैसे तलाव में कीचड़ नष्ट होनेसे पानीमें स्वच्छता दीवती है. वैसे दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम, क्षय, वा क्षयोपशम होनेसे जो ज्ञानमें निर्मलता उत्पन्न होती है उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं. ऐसे सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेसे अवश्य ज्ञान प्राप्ति हो जायगी. जिसका आधार नहीं होगा उसकी सिद्धि नहीं होती है. दर्शन ज्ञानका धर्म है. ज्ञान उसका आश्रय है.

उपर्युक्त विवेचनका आचार्य खंडन करते हैं—

यदि ज्ञान विषयके आकारसे परिणामेगा तो वह स्पर्श, रस गंध वर्णात्मक होगा. ऐसी अवस्था हो जानेपर “ज्ञान रस, रूप, गंध रहित है. वह दृष्टि गोचर नहीं होता अर्थात् अमूर्तिक है. शब्द रहित तथा आत्माका गुण है” ऐसा आगममें ज्ञानका वर्णन किया है, वह विरुद्ध होगा. तथा एक पदार्थमें विरुद्ध ऐसे नील व पीत परिणाम नहीं रह सकते हैं. एक समयमें दो आकारोंका अनुभव आवेगा. एक बाह्य पदार्थका आकार व दूसरा ज्ञानाकार ऐसे दो आकारोंका संवेदन होगा.

ज्ञानमें जो निर्मलता, प्रसन्नता अभिरुचि है उसको श्रद्धा कहना यह भी अयुक्त है. क्योंकि, श्रद्धा चैतन्यका धर्म है, वह ज्ञानका धर्म नहीं है. यदि ज्ञानका धर्म कहोगे तो क्षयोपशमिक ज्ञानका नाश हो जाने पर श्रद्धाका-सम्यग्दर्शनका भी नाश मानना पड़ेगा. धर्मिका नाश हो जानेसे धर्मिका नाश होना अनिवार्य है. चैतन्य विनाश रहित है और सम्यग्दर्शन उसके आश्रयसे रहता है ऐसा यदि मानोगे तो वह ज्ञानका धर्म है ऐसा आपका कहना व्यर्थ है.

जो जिसका धर्म होता है वह उसी वस्तुका स्वरूप है ऐसा समझना चाहिये. एक वस्तुका धर्म उस वस्तुसे भिन्न ऐसे अन्य वस्तुका धर्म नहीं हो सकता. बगुलाका सफेदपना कुंद पुष्पका नहीं होता है. इसी तरहसे भक्ति-ज्ञानकी प्रसन्नता उसकीही होती है वह श्रुतादि ज्ञानकी नहीं होती है. श्रुतादि ज्ञानकी प्रसन्नता भक्तिज्ञानकी नहीं होती है. अतः ज्ञानमें भिन्नता होनेसे उनमें रहनेवाली प्रसन्नतायें भी भिन्न भिन्नही माननी पड़ेगी. सम्यग्दर्शन क्षायेपशयका धर्म मानोगे तो धार्मिक सम्यग्दर्शनकी सिद्धि नहीं होगी वह नया न उत्पन्न होगा न विनाश पावेगा. दर्शनमोहनीय कर्मके उदय विना सम्यग्दर्शनका अभाव नहीं होता है, यदि होगा तो दर्शनमोहनीय कर्मकी कल्पना व्यर्थ हो जाती है.

पदार्थके यथार्थ विषयपर जो श्रद्धा होती है उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं. वह प्रतिबंधक कारण उपस्थित होने पर उत्पन्न नहीं होता है. यदि उसका विनाश हो तो वह उत्पन्न होता है. यदि प्रतिबंधक कारण कोई न होगा और आत्मा सदा परिणमनयुक्त है ऐसा कहोगे तो सम्यग्दर्शन हमेशा क्यों न उत्पन्न होता है ? यदि आत्मा परिणमनशील नहीं है तो कभी भी आत्मामें सम्यग्दर्शन न होगा. अतः सहकारि-कारणोंका साम्निध्य न होनेसे आत्मा सम्यग्दर्शनरूप परिणत नहीं होता है. उसको जगतमें कोई भी प्रतिबंधक कारण नहीं है ऐसा यदि कहोगे तो यह युक्ति संगत नहीं है. ऐसा कोनसा सहकारिकारण है कि जिसके न होनेसे श्रद्धाकी उत्पत्ति नहीं होती है ? अर्थात् जिस सहकारिकारणके सद्भावसे श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिसके न होनेसे उत्पन्न नहीं होती ऐसा कोनसा सहकारिकारण है ? जगतमें पदार्थका संपूर्ण कार्यकारणभाव अन्य व्यतिरेकसे जाना जाता है. अन्यव्यतिरेकके विना कोई पदार्थ किसीका कारण भानना केवल प्रतिज्ञामात्र ही है. ऐसी प्रतिज्ञा वस्तुके विचार समयमें कुछ भी उपयोगी नहीं है.

आगममें प्रतिबंधक कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है ऐसा खुलासा है. जैसे सहकारिकारण नहीं होनेसे कार्यसिद्धि नहीं होती वैसे प्रतिबंधकका सद्भाव होनेसे भी कार्य होता नहीं. सहकारिकारण होते हुए प्रतिबंधककारणोंका अभाव होगा तो कार्य उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं होगा. अतः प्रतिबंधकके सद्भावमें कार्य नहीं होता है यह मानना पड़ेगा.

श्रुतज्ञानसे जाने गये पदार्थोंपर ये पदार्थ सत्य हैं ऐसी श्रद्धा होना उसको ही सम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा

समझना भी अयोग्य है, क्योंकि अवध्यादिज्ञानसे जाने गए पदार्थोंपर सत्यभावना होती है उसको भी सम्यग्दर्शन मानना चाहिये, अवाधिज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान भी वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ही जानते हैं अतः वहां जो सत्यभावना होती है वह भी सम्यग्दर्शन है ऐसा मानना चाहिये, यदि 'श्रुत शब्दसे' सर्व प्रकारके सम्यग्ज्ञानका ग्रहण होता है क्योंकि यहां श्रुत शब्द, उपलक्षण चाची है, ऐसा कहोगे तो योग्य ही है, अतः अब इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है.

सम्मत्तपाण दंतसण इस गार्थमें सिद्धोंके आठ गुणोंके नाम बताये हैं, उसमें सम्यक्त्व गुण प्रथम लिखा है परंतु आप तो सम्यग्ज्ञानका धर्म बता रहे हैं, अतः सम्यग्दर्शन आपके मतसे गुण नहीं है यह सिद्ध होता नहीं, अतः आपका कहना इस गार्थके विरुद्ध है.

क्षायिक सम्यग्दर्शन तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन इसमें आप भिन्नता मानते हैं या नहीं ? यदि भेद नहीं है तो पांच भावोंका वर्णन करने वाले आगमसे आपका कहना विरुद्ध होता है, यदि भेद मानोगे तो एक परिणाम दुसरे परिणामका स्वरूप नहीं होता यह कबूल करना पड़ेगा, अर्थात् क्षायिक परिणाम और क्षायोपशमिक परिणाम परस्पर एक दुसरेके स्वरूप हो नहीं सकते, जितने परिणाम हैं वे परिणामीका स्वरूप होते हैं यह मानना न्यायसंगत है, अर्थात् जीव परिणामी है तथा उसके ज्ञानादिक गुण परिणाम हैं, परंतु ज्ञानको परिणामी मानकर सम्यग्दर्शनको उसका परिणाम स्वरूप मानना अन्याय्य है.

जो परिणाम भिन्न भिन्न प्रतिबंधक कारण नष्ट होनेसे उत्पन्न होते हैं वे अन्योन्य धर्म धर्मताको नहीं प्राप्त होते हैं, जैसे अवधि ज्ञान व केवल ज्ञान ये दोन ज्ञान अपने अपने प्रतिबंधक कारणोंका अभाव होनेसे उत्पन्न होते हैं अतः उनका अन्योन्य धर्म धर्मभाव नहीं है वैसे ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें धर्म धर्मभाव नहीं है, ज्ञानाराधना और चारित्राराधना ऐसी दो आराधना क्यों नहीं मानी है, ऐसे प्रश्नपर आचार्यका यह उत्तर है—

“ज्ञानकी आराधना करने वालेको सम्यग्दर्शन आराधना होती है नहीं मी होती है.”

यहांपर ज्ञानशब्द सामान्यवाचक भी है और संशय, विपर्यय तथा सम्यग्ज्ञानवाचक भी है, अर्थात् संशय ज्ञान, विपर्यय ज्ञान, सम्यग्ज्ञान ऐसे ज्ञानके भेद देखे जाते हैं, अतः ज्ञानमें परिणत हुआ आत्मा निश्चयसे तत्त्व श्रद्धानमें परिणत होगा ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि वह मिथ्याज्ञानपरिणत हो तो उसमें तत्त्वश्रद्धाका अभाव

रहेगा, इसवास्ते ज्ञान दर्शनका अविनाभावी है ऐसा सिद्ध नहीं होता, ज्ञानाराधनसे दर्शनाराधनाका स्वरूप नहीं जाना जाता है, इसलिए ज्ञानाराधनामें सम्यग्दर्शनाराधना अन्तर्भूत नहीं होती है ऐसा आगममें कहा है,

सम्यग्ज्ञानकी आराधनाके साथ सम्यक्त्वाराधनाका अविनाभाव है, परंतु मिथ्याज्ञानकी आराधनाके साथ सम्यक्त्वाराधना नहीं रहती है, अतः वह भजनीय है ऐसा आचार्यने युक्तियुक्त कहा है, सम्यग्ज्ञानके साथ अवश्य सम्यग्दर्शन रहता है अतः सम्यग्ज्ञानमें सम्यग्दर्शनाराधना क्यों अन्तर्भूत नहीं की गई है इसका उत्तर ऐसा है— ज्ञानको समीचीनपना प्राप्त होनेमें सम्यग्दर्शन ही कारण है अतः उसकी मुख्यता होनेसे सम्यग्दर्शनाराधना तथा चारित्राराधना ऐसे आराधनाके संक्षेपसे दो भेद किये हैं,

ननु च ज्ञानमतरेणापि दर्शनं वर्तते, यतो मिथ्यादृष्टिरपि ज्ञानस्याराधको भवति । अतो ऽ विनाभावाभाव इत्यत आह—

सुद्धयया पुण गाणं मिच्छादिद्विस्स वेति अण्णाणं ।

तम्हा मिच्छादिद्वी गाणस्साराहवो णेव ॥ ५ ॥

विजयोदया-शुद्धनया पुनः । अनंतधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमधर्मपरिच्छेदस्तदविनाशविधिमैवलप्रसूतो नयः । तथा चोक्तम् । “उपपत्तिचलादर्थपरिच्छेदो नयः” इति ॥ शुद्धो नयो येषां ते शुद्धनयाः । निरपेक्षनयनिरासाय शुद्धविशेषणम् । नित्यमेव सर्वथा क्षणिकमेवेति ये परिच्छेदास्ते विपर्यासरूपास्तथाविधस्य प्रतिपक्षधर्मान्येकस्य वस्तुनि रूपस्याभावात् सापेक्षं रूपं निराकाक्षतारूपेण दर्शयतः प्रत्ययस्य अतस्मिंस्तदिति ज्ञान भ्रान्तमिति भ्रान्तता । तद्वोपरहितता शुद्धता । तथा हि-कृतकत्वेन अनित्यतामेव वस्तुनः प्रत्येति ज्ञानं न तत्सर्वथा वस्त्वित्यं, नित्यानित्यात्मकत्वात्सकलस्य । यदि हि नित्यमेव स्यात् क्रियमाणतानुरूपहेतुकदवकेनायुक्ततास्य स्यादतो नित्य भवत्येव च न भवतीति दृश्यप्रतिपत्त्यः ॥ शुद्धा नया येषां प्रतिपत्तृणां ते शुद्धनयाः । पुण पुनः । गाणं ज्ञानमित्यभिमतं परस्य । मिच्छादिद्विस्स मिथ्यादृष्टेः । वेति द्रुवते । अण्णाणं अज्ञानं इति । न ज्ञानशब्दः सामान्यवाची किंतु यथार्थप्रतिपत्तिरेव ज्ञानशब्दमभिधेयति । ज्ञायते मन्यते अर्थः परिच्छिद्यते येन तज्ज्ञानं । वस्त्वन्यभूतं च रूपमादर्शयता नार्थः परिच्छिद्यते तस्मान्न मिथ्याज्ञानं ज्ञानशब्दस्यार्थः, तदज्ञानमित्येव ग्राह्यम् ॥ ननु च—

“गदि इंदिये च काये जोणे वेदे कसाय णाणे य ॥  
संजमंदसणलेस्सा भविया सम्मतत्सणि आहारे ॥”



इत्यत्र ज्ञानशब्दः सामान्यवाची, सत्यं, ह्यतिशेनमिति व्युत्पत्तौ सा निरूपणा सामान्यशब्द इति ॥ तद्वा तस्मात् । मिच्छादिद्वौ तत्त्वत्रयज्ञानरहितः । गणनस्सारधको ण होदिस्सि पदघटना । ज्ञानं नाराधयतीत्यर्थः ॥

अत्रापरा व्याख्या—यदुक्तं अज्ञाने दर्शनाभाव इति किं, तदज्ञानं कस्य भवतीति ? तत् इदं सूत्रं इति । तदति-  
पेक्षं । किं तदज्ञानमित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं न सूत्रेऽस्ति । मिथ्याज्ञानलक्षणप्रतिपादनपरमिथ्यादृष्टिसंविधिज्ञानत्वमेव  
अज्ञानलक्षणमित्युभयोरपि प्रतिवचनमिति विकल्प्यते । एवमपि 'तद्वा न मिच्छादिद्वि' इति सूत्रे मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानस्यापराध-  
कत्वाभावेमेव सूत्रकार उपसंहरति । तत्परित्यज्यासूत्रितमुपादेयमिति केयं स्वतंत्रता ।

ननु च ज्ञानमंतरेणापि दर्शनं वर्तते यतो मिथ्यादृष्टिरपि ज्ञानस्याराधको भवति । गतानुगतिकत्वेन लोकानां  
श्रद्धामात्रेणैव प्रवृत्तिप्रतीतिरतो ज्ञानेन दर्शनस्याविनाभावभाव इत्यत्राह—

मूलारा०—सुद्वगणया । अनंतधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमधर्मपरिच्छेदस्तदविनाभावधर्मपरिच्छेदवत्प्रसूतो नयः । शुद्धाः  
प्रतिपक्षसापेक्षतया निर्दोषा नया धेपा प्रमातॄणां ते शुद्धनयास्तीर्यकरदेवादयः । गणन परस्याराध्यतया इष्टं  
ज्ञानं । वेति ब्रुवते । आपणाणं ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्तुत्वं येन तज्ज्ञानं न ज्ञानमज्ञानं अयथार्थपरिच्छेदकं मिथ्येत्यर्थः ।

ज्ञानके विना भी सम्यग्दर्शन होता है क्यों कि मिथ्यादृष्टि भी ज्ञानके आराधक देखे गये है. अतः ज्ञान  
के साथ दर्शनका अविनाभाव नहीं है. इस आक्षेपका उत्तर आचार्य कहते हैं—

हिंदी अर्थः—वस्तु अनंत धर्मात्मक है अर्थात् वस्तुमें एकत्व, अनेकत्व, नित्यपना, अनित्यपना, अस्तित्व नास्तित्व,  
प्रमेयत्व वगैरह अनंत धर्म हैं. अतः वस्तुको अनंत धर्मात्मक कहते हैं. ऐसे वस्तुमेंसे किसी एक धर्मको जो  
मुख्यतासे जानता है तथा उससे भिन्न अविनाभावी धर्मको जो गौण समझता है ऐसा जो ज्ञान उसको नय कहते  
हैं. 'उपपत्तिवलादर्थपरिच्छेदो नय इति' अर्थात् शुक्तीके आश्रयसे पदार्थको जान लेना उसको नय कहते हैं ऐसा  
पूर्वाचार्योंने कहा है. वस्तुके एक धर्मकोही वस्तु समझनेवाला तथा वस्तुके अन्य धर्मकी जो अपेक्षा रखता नहीं  
ऐसे ज्ञानको मिथ्यानय कहते हैं. जैसे वस्तु सर्वथा क्षणिकही है. सर्वथा नित्यही है, एकही है इत्यादि रूपसे वस्तुका  
प्रतिपादन करनेवाला ज्ञान मिथ्यानयरूप है. इस मिथ्या नयका निरसन करनेके लिए आचार्यने गाथामें 'सुद्व  
गणया' ऐसा शब्द रख दिया है. मिथ्यानय प्रतिपक्षरूप धर्मकी अपेक्षा नहीं करते हैं. अर्थात् वस्तुका सर्वथा

एकांत रूपसे विवेचन करते हैं, परंतु प्रतिपक्ष धर्मकी अपेक्षा न करनेवाला ऐसा वस्तुका स्वरूपही नहीं बन सकता, अर्थात् परस्पर प्रतिपक्षी धर्मोंसे वस्तु सदाही युक्त रहती है, जैसे वस्तुमें एकत्व धर्म रहता है उसी तरह अनेकत्व भी धर्म रहता है, जैसे अस्तित्व धर्म वस्तुमें विद्यमान है वैसे नास्तित्व धर्मभी विद्यमान है, अतएव वस्तु इन दोनों विरुद्ध धर्मोंको अपनेमें स्थान देती हुई अपनी अनंत धर्मात्मकता जाहीर करती है, इस तरह वस्तुमें सापेक्षता है, परंतु जो ज्ञान सापेक्ष वस्तुको निरपेक्षरूप बताता है वह ज्ञान भ्रान्त है, जैसे देवदत्तको जो कि जिनदत्तरूप नहीं है जिनदत्त समझना, ऐसी भ्रान्तता मिथ्यानयमें रहती है, सच्चे सापेक्षनयमें नहीं रहती है, अतः उसको शुद्ध नय कहते हैं। मिथ्यानय वस्तुमें कृतकता धर्म दीखने पर उसको सर्वथा अनित्य ही मानने लगता है परंतु वस्तु सर्वथा अनित्य नहीं है किंतु नित्यानित्यात्मक है, यदि सर्वथा वस्तु नित्यही होती तो उसमें जो कार्य करना हो उसको अनुकूल कारण प्राप्त करनेका प्रयत्न व्यर्थ होगा, क्योंकि, कारणोंकी प्राप्ति होनेपर भी वस्तु पूर्वरूप छोड़कर कार्यरूपता धारण नहीं करेगी अतः वस्तु सर्वथा नित्य भी नहीं है। वस्तु नित्यानित्य है ऐसा अनुभवही योग्य है,

इस विवेचनका अभिप्राय यह है कि, साक्षात् वस्तुका अनुभव करा देनेवाले शुद्धनय जिनके है ऐसे तीर्थकरादिक महापुरुष मिथ्यादृष्टि लोगोंके ज्ञानको अज्ञान कहते हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं दिखाता है, इस वास्ते वह 'ज्ञान' इस नामको अपात्र है, उसको अज्ञान ही कहना चाहिये, यद्यपि ज्ञान शब्द सामान्यवाची होनेसे यथार्थ अथार्थ रूप दोनों ज्ञानोंको ज्ञान कह सकते हैं तथापि मिथ्या-दृष्टीका जो ज्ञान है वह अथार्थ स्वरूपको दिखानेवाला होनेसे उसके लिए प्रयुक्त ज्ञान शब्दका अर्थ अज्ञान ऐसा ही करना चाहिये,

यहां शकाकार ऐसा कहता है—'गृह इंदिये च काये' इस गाथामें जो ज्ञान शब्द है उसका क्या अभिप्राय है ? क्या उसको सामान्य शब्द कहते हैं ?

उत्तर—वहां ज्ञान शब्द की 'ज्ञातिज्ञानम्' ऐसी निरुक्ति है, वहां पदार्थको जानना ऐसा सामान्य अर्थ अभिमत है, मिथ्या या सच्चे ज्ञान की विवेक्षा वहां नहीं है,

जो मिथ्यादृष्टि है वह तत्त्व श्रद्धानरहित होनेसे सम्प्रज्ञानका आराधक नहीं है, ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है,

इस गाथापर कोई विद्वान् ऐसी व्याख्या लिखते है। पिछलेक गाथाओं 'अज्ञान होनेसे दर्शनाराधनाका अभाव होता है, ऐसा जो कहा है वह अज्ञान क्या चीज है तथा वह किसको होता है? ऐसे प्रश्नका उत्तर देनेकेलिये 'सुध्दणया पुण णाणं' यह गाथा आचार्यने रची है ऐसा कोई विद्वान् कहते है। परंतु यह उनका कहना युक्तिशून्य है, 'वह अज्ञान क्या चीज है, इस प्रश्नका मिथ्याज्ञानका लक्षण कहनेवाला उत्तर उपर्युक्त सूत्रमें आचार्यने नहीं दिया है। मिथ्यादृष्टिका जो ज्ञान है वही अज्ञान लक्षण है ऐसा दोनों प्रश्नोका उत्तर आचार्यने दिया है ऐसी आपने कल्पना की है। 'तम्हा ण मिच्छदिष्ठी' इस सूत्रमें मिथ्यादृष्टिजन ज्ञानके आराधक नहीं होते है इस अभिप्रायका ही उपसंहार किया है ऐसा समझना चाहिए, परंतु वह अभिप्राय छोड़ करके सूत्रमें न दिखाया हुवा अभिप्राय समझ लेना अयोग्य है।

चारित्र्याराधना कथ्यते । चतुर्थ्यां आराधनायाः प्रतिपत्तिक्रमं दर्शयन्नाह—  
संयमसमाराहतेण तवो आराहिओ हवे णियमा ॥  
आराहतेण तवं चारित्तं होइ भयणिज्जं ॥ ६ ॥

विजयोदया-संयमसमाराहतेण संयम इत्यनेन शब्देन इह चारित्र्यमित्युच्यते । कर्मवृत्तिनिमित्तक्रियाम्य उपरम संयमः । स च चारित्रं । तथा चाभ्यचारि- 'कर्मदाननिमित्तक्रियोपरमो ज्ञानवत्तच्चारित्रमिति' । सजमं चारित्रं आराधतेण आराधयता । तवो तपः । आराधितो आराधित । हवे भवेत् । णियमा अवश्यमेव । कथं ? इह अनशनं नाम अशन-त्यागः । स च त्रिप्रकारः । मनसा भुजे, भोज्याभि, भोजने व्यापृतस्यानुमतिं करोमि । भुजे, भुंक्त्व, पचनं कुर्विति वचसा । तथा चतुर्विधस्याहारस्याभिसंधिपूर्वकं कायेनादानं, हस्तसंशया प्रवर्तनं अनुमत्तिसूत्रं कायेन । पूतासा मनोवाक्याय-क्रियाणा कर्मोपादानकारणाना त्यागोऽनशनम् चारित्रमेव । योगत्रयेण वृत्तिकारिण्या भुजिक्रियायां दर्पवाहिन्या निराकृति अवमोदर्यम् । तथा आहारसंशया जयो वृत्तिपरिसख्यान । रसगोचरगार्ह्यत्यजनं त्रिधा रसपरित्याग । कायसुखा-भिलाषत्यजन कायकेश । चित्तव्याकुलतापराजयो विविकशयनासनं । स्वरुतापराधगृह्यत्यजनं आलोचना । स्वरुता-वशुभयोगात्प्रातिनिवृत्ति प्रतिक्रमण । तदुभयोर्जनं उभय । येन यत्र वा अशुभोपयोगोऽभूत्तद्विराक्रिया, ततो परासन विविक । देहे ममत्वनिरास कायोत्सर्ग । तपोऽनशनादिक यथा भवति चारित्रं तयोक्तमेव । असंयमजुगुप्सायमेव प्रव्रज्याह्वानं छेद । मूलं पुनश्चारित्रादानं । ज्ञानदर्शनचारित्रतपसामतीचारा अशुभक्रिया- । तासामपोहत्त चिनय , चारित्रस्य कारणानुमननं वैयावृत्त्य ॥

हिंदी अर्थ—जिन्होंने द्वारा कर्मका ग्रहण होता है ऐसे मन, वचन व शरीरके द्वारा हेनेवाली क्रियाओंका त्याग-परिहार करना उसको चारित्र कहते हैं। प्रस्तुत गाथामें जो संयम शब्द है वह चारित्रका वाचक है। अन्य आचार्योंने भी चारित्रका लक्षण 'कर्मादानामिभक्तिर्योगरमो ज्ञानवत्चारित्रं, इति' ऐसा कहा है। इसका भी अभिप्राय ऊपरके समानही है। जो चारित्रिकी आराधना करते हैं उनको नियमसे-जबदय तपकी भी आराधना ही जाती है। इस आराधनाका स्वरूप निम्नप्रकारसे समझना चाहिये।—

अनशन—चार प्रकारके आहारोंका त्याग करना इसको अनशन कहते हैं। यह अनशन तीन प्रकारका है। मैं भोजन करूं, भोजन कराऊ, भोजन करनेवालेको अनुमति देऊ इस तरह मनमें संकल्प करना। मैं आहार लेता हूं, वूं भोजन कर, तुम पकाओ ऐसा बोलना। चार प्रकारके आहारको संकल्पपूर्वक शरीरसे ग्रहण करना। हाथसे इपारा करके दूसरोंको ग्रहण करनेमें प्रवृत्त करना। आहार ग्रहण करनेके कायमें शरीरसे सम्मति देना ऐसी जो मन, वचन, कायकी कर्मग्रहण करनेमें निमित्त होनेवाली क्रियायें उनका त्याग करना उसको अनशन कहते हैं। यह चारित्र ही है। वृत्ति करनेवाला, दर्प उत्पन्न करनेवाला ऐसा जो आहार उसका मन, वचन, कायके तीन योगोंसे त्याग करना अवमोदर्थ है। अर्थात् स्वयं पेट पूर्ण भरेगा इतना आहार मैं ग्रहण करूंगा, कराऊंगा, करनेवालेको सम्मति मगान करूंगा ऐसे मन वचन शरीरके संकल्पका त्याग करना इसको अवमोदर्थ कहते हैं। आहारकी अभिलाषाको जीतना—इतने धर्मों, गह्रिमें आहार मिलेगा तो लेऊंगा इत्यादि प्रवृत्ति करके आहारा भिलाषाको जीतना इसको वृत्तिपरिसंन्यान कहते हैं। रसविषयकी लंपटताको मन वचन शरीरके संकल्पसे त्यागना रसपरित्याग नामका तप है। शरीरको सुख मिले ऐसी भावनाको त्यागना कायहेय तप है। चित्तमें उत्पन्न हुई व्यग्रताको भगा देना अर्थात् चित्त व्याकुल न हो इमलिये स्त्री, पुरु, पण्ड विवाजित एकात्म स्थानमें सोना बंटना इसको विविक्षान्यासन कहते हैं।

अपने द्वारा हुए अपराधोंको छिपानेकी कोशिस न करना, अपराध हो गया तो शीघ्र उसका निवेदन करना यह आलोचना तप है। स्वतः के द्वारा किये गये अशुभ योगसे परावृत्त होना अर्थात् भरे अपराध भिन्ना होवे ऐसा कह कर पश्चात्ताप करना प्रतिश्रमण है। अपराधोंको न छिपाना तथा अशुभ योगोंसे परावृत्त होना वह तदुभय तप है। जिस जिस पदार्थके अवलंबसे अशुभ परिणाम होते हैं उनको त्यागना अथवा उनसे स्वयं दूर होना यह विविक

तप है, देहमेंसे ममत्व-स्नेह दूर करना कायोत्सर्ग तप है, अन्तर्बुद्धिको तप कहते हैं, यह तप दीर्घको नाश करनेके लिए गुरुते दिया हुआ प्रायश्चित्त स्वरूप है, असंयमसे तिरस्कार उत्पन्न होवे इस लिये दीक्षाको दिन कम करना छेद तप है, पुनः दीक्षा देना उसको मूल तप कहते हैं, ये सब प्रायश्चित्त तपके भेद हैं, अष्टम क्रियायें ज्ञान दर्शन चारित्र्य तप इनके अतीचार हैं, इनको हटाना विनय तप हैं, चारित्र्यके कारणोंको सम्मति देना इसको वैयावृत्य कहते हैं, अर्थात् जिन कारणोंसे चारित्र्यकी वृद्धि होगी ऐसे कारणोंसे मुनीश्वरोंकी सेवा करना, अर्थात् संयमोपकरण पिंडी, कमंडलु, ज्ञानोपकरण शाला, आहार, औषध वगैरह वस्तुओंसे उपकार करना यह सब वैयावृत्य हैं, स्वाध्याय और ध्यान भी चारित्र्यकी वृद्धि करनेवाले तप हैं, अंग पूर्वादि शास्त्रोंको पढ़ना स्वाध्याय तप है, शुभ विषयमें एकप्रय चित्र करना ध्यान है, अविरति, प्रमाद, कर्मायोंका त्याग स्वाध्याय करनेसे तथा ध्यान करनेसे होता है इस वास्ते वे भी चारित्र्यरूप हैं, अतः सब तपोंका चारित्र्याराधनामें अन्तर्भाव होता है अतः दर्शनाराधना व चारित्र्याराधना ऐसे आराधनाके दो भेद माने हैं,

अज्ञानादिकोफ-आहारादिकोफ यद्यपि त्याग क्रिया तो भी अविरतिका त्याग नहीं होता है क्योंकि, आहारादिकोफ त्याग करनेवाले भी असंयत दीर्घ पढ़ते हैं, ऐसा आशय मनमें धारण कर आचार्य ऐसा कहते हैं- जो तपकी आराधना करते हैं वे चारित्र्याराधना करते हैं अथवा नहीं, अर्थात् तप करनेवाला पापोंसे विरक्त होकर चारित्र्य धारण करनेवाला होता है अथवा नहीं भी, परंतु चारित्र्य धारण करनेवाला नियमसे विरतिपूर्वक तप करता है अतः चारित्र्यमें तपका अन्तर्भाव होता है, परंतु तपमें उद्युक्त हुआ पुरुष असंयमका परिहार करेगा वा न करेगा,

इस भाषापर दूसरे विद्वान् आपना आगे दिखाया हुआ अभिप्राय प्रगट करते हैं-

“चारित्र्याराधनामें तप आराधनाकी सिद्धि अवश्य होती है ऐसा कहा गया है, वह कैसा ? ऐसा प्रश्न होनेपर ‘संयममाराधनेण’ ऐसा सूत्रोपेक्ष्यत किया है” ऐसा जो अन्य विद्वान् कहते हैं, वह युक्ति संगत नहीं दीखता है, क्योंकि आचार्यने ‘चारित्र्याराधनामें तप आराधनाकी सिद्धि होती है’ ऐसा वाक्य सूत्रमें कहा नहीं है, तो आप उन्होंने कहा है ऐसा क्यों कहते हैं ? यदि ‘विदिया य इवे चरित्मि’ इस वचनके द्वारा उन्होंने कहा है ऐसा कहोगे तो यह कहना अशब्दार्थ है, अर्थात् ‘चारित्र्याराधनामें तप आराधनाकी सिद्धि होती है’ ऐसे शब्द भाषामें नहीं हैं, शब्दोंके द्वारा जो अनुभव आवेगा उसकोही ‘कहा गया है’ ऐसा कहना चाहिये,

यादि वे कह चुके हैं तो फिर ने पुनः कैसे कहेंगे ? अब वह कैसा ? ऐसा प्रश्न करना भी अशुभ है । क्योंकि खत्रमे चारित्र्य सिद्धिमें हठर आशयनासिद्धिके नामका उपन्यास-विवेचन नहीं किया है । और समस्त प्रतिमानों अन्नको अथवा मद्यप्य प्रसक्तों वस्तुका स्वरूप ज्ञान नहीं होता है । इस वास्ते वह कैसा ? ऐसा युक्तिप्रश्न भी यहाँ पढ़ना योग्य नहीं है ।

यहाँ मयमके विषयमें और जो विवेचन अन्य विद्वानोंने किया है वह भी योंन्य नहीं दर्शित—<sup>११</sup> नेता प्रकारके चारित्र्यमें सर्वथा प्रयत्न करना यह मयम है यह मयम वाल तपने अत्यन्तर तप त्रय गुणस्थान होता है तब प्राप्त होता है, उसके बिना होता नहीं, अतएव मयम वाल य अत्यन्त तपमें गुणस्थान होता है ऐसा मानना होगा । यह संयमका स्वरूप विवेचन योग्य नहीं है, तैसा प्रकारके चारित्र्यमें प्रयत्न करना उनको संयम कहने है ऐसा मयम शब्दका अर्थ नहीं है, अपने जो अभिप्राय कहा है उसमें मयम शब्दका प्रयोग किया है ऐसा कहा भी हमारे देखने सुननेमें नहीं आया है, शब्दका अर्थ यह था प्रयोग जानने निर्दिष्ट होता है फलु तैसा प्रकारके चारित्र्यमें प्रयत्न करना यह मयम है ऐसा शब्दप्रयोग कहा भी आया नहीं है,

‘ विदित्वा य हवे चरित्त्वम् ’ इत प्रथम चारित्र्य शब्द सामान्यमात्र ही है फलु आप ‘ सफलचारित्र्य ’ ऐसा चारित्र्य शब्दका विशिष्टार्थ क्यों कहते हैं ? सामासिक, छन्दोपस्थापनादि नमस्त चारित्र्यभेदोंको चारित्र्याशयना कहते हैं ‘ पण्डितपण्डितमरण खणिकमाया मर्तव्य केवलिको ’ इत मयम पथा न्यातचारित्र्य नामकना इनका ओग वर्णन करेंगे, वाल तपके मेरकात्त गुत्त ऐसे अत्यन्तर तपके बिना मयम नहीं होता है यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वाल तपके आशयविना भी यदि भगवतके शिष्य भरणराज वगैरे भगव चमचर्तिके पुत्र अन्त-मुहर्तमें रत्नवयसो पाकर मोक्षको गवे हैं ऐसा आशयमें प्रसिद्ध उल्लेख है,

ननु तपस्यायत्तनिर्भरानुश्रमोप निर्भरानुपगच्छन्ति सति फलाधि यदा नि देशाप्यपगतानि नयन्ति नया स्वारथ्यरूप निर्वाणमुपजायते ततो निर्वाणस्य पाराज निर्जैर्य, तस्याथ सपादक तपस्ततो मुक्त दशानाशयना तप शाराधना चेति द्विविधा आशयमेति यदिद्वि स्वरूपकथा, तपो निर्जरा मुर्धन्यगुण करोति सति धारिद्रे सपरस्परानिधि नान्यथेति प्रदर्शयति—

सम्मादिद्विस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि ॥

होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्चुदगांव तं तस्स ॥ ७ ॥

विजयोदया—सम्मादिद्विस्स वि हत्थादिना । सम्मादिद्विस्सवि तत्त्वार्थश्रद्धानवतोऽपि । अविरदस्स असंप्रतस्य । न तवो तपः । महागुणो गुणशब्दोऽनेकार्थवृत्तिः । रूपदयो गुणशब्देनोच्यन्ते ऋषिधया—रूपरसगंधस्पर्शस्वभापरिमाणानि, पृथक्त्व, सयोगविभागो, परत्वापरत्वावुद्भय, सुखदुःखेच्छाद्वेयप्रयत्नादयः क्रियावद्गुणसमवायिकारणं द्रव्यं हत्थसिन्धवे गृहीता ॥ गुणभूता वयमत्र नगरे इति अत्र प्रधानवाचीयस्य गुणस्य भावादिति विशेषण वर्तते । गुणोऽनेन हृत इत्यत्र उपकारार्थं वृत्तिः । इह उपकारे वर्तमानो गृह्यते । महागुण, उपकारोऽस्तीति महागुण । होदि भवति । क्रिया वैव हि भाव्यते निषेध्यते वा इति वचनात् । न तु भवनाक्रिया सवध्यते । तयो न भवति महोपकारमिति । एतदुक्तं भवति कर्मनिर्भूतं कर्तुमसमर्थं तपः सप्रगृह्येत्प्राप्तसंयतस्य पुनितरस्य अस्मति सवरे प्रतिसमयमुपवीचमानकर्मसंहते का मुक्तिः ? ननु सत्यपि संयमे विना निर्जरा न निवृत्तिरिति । शक्यमेवमप्यभिधातुं 'सम्मादिद्विस्स वि अकटतवो भावणाविसेसस्स न चारित्तं महागुण होदित्ति' । सत्यमेवमेतत् चारित्र्यप्राप्त्याविशेषात् इयं चोदना । अस्मिन्निवृत्तनीत्यत्र छेत्तारमंतरेण अस्मिन्नेव संपद्यते छिद्रं, तथा तदीयतैर्दृश्यगौरवकाटिभ्यतिशयनिरूपणवाछया तस्यैव स्वातंत्र्यं निगद्यते । एवमिहापीति न दोष । ऊत ? यस्मात् होदि खु हत्थिण्हाण होदि भवति । खु शब्द एवकारार्थः, स हत्थिण्हाणमित्यनेन सवधनीयः । हत्थिण्हाणमेवेति । यथा हस्ती कातोऽपि न नैर्मल्यं वहति पुनरपि करावर्जित पाशुपटलमलिनतया 'तद्वत्तपसा निर्जोणोऽपि कर्माशो बहुतरादान असयममुखेनेति मन्यते । दृष्टान्तान्तरमाच्यते—चुंदच्चुदगाव मथनचर्मपालिकेव तद्वत्सयमहीन तपः । दृष्टतद्व्योपन्यासः किमर्थं इति चेत् । अपगताद्बहुतरोपादान कर्मणाऽसयमनिमित्तस्येति प्रदर्शनाय हस्तिस्तानोपन्यासः । अर्द्रतनुतया बहुतरनुपादत्ते रजः । वधरहितता निर्जरा स्वाश्रयं प्रापयति नेतरा वधसहभाविनीति । किमिव मथनचर्मपालिकेव । सा हि वधसहित मुक्तिं वर्तयति । अत्रान्ये व्याचक्षते—कालभेदमनपेक्ष्य शुद्धिमशुद्धिं च दर्शयता प्रथम उपातः । तदयुक्तं सकलकर्मपापयो हि शुद्धिः, अशुद्धिश्च कर्मणा सहवृत्तिः, तत्रासती शुद्धिः कथमादृश्यते कर्मोशापगममात्रतः शुद्धिर्वा या मुक्तिः सा कस्य न विद्यते ? फलं दत्त्वा प्रयाण्यतमनः कर्मपुद्गलस्फुटः । यच्चोक्तं यदा तु कालभेदेन वैधर्म्यमाशङ्क्यते वधनशानतनयोरेकसमयत्वात् इति ततो द्वितीयो दृष्टातः । रज्जुवेष्टननिर्गमनयोरेककालत्वादिति तदप्यसारं । न हि वेष्टमुपग्री कन्या इत्यत्र एवमाशङ्का संभवति, सदा संपू-र्णमाननं वामलोचनायाः निशानाश्रयस्य कदाचिदेव पूर्णता ततोऽनुमानमिति साधारणधर्ममात्रावलंबन एवोपमानोपमेय भावः, वधभर्यं तूपमानोपमेययोरस्ति अन्यथा उपमानमिदं उपमेयमिति भेदो निरास्पदः । अपि च उपमेयस्यातिशय प्रदर्शयितुमेवोपमानं प्रवृत्तं ॥ न त्वेकस्योपमानस्यानुकताद्वेष्टितरदुपादीयते इति युक्तम् ।

ननु मुक्तैः कारणं निर्जरेव तत्कारणं च तप इति सम्यक्त्वाराधना तप आराधना चेति संक्षिप्य वक्तुं युक्तं । तत्र सत्प्रकारिणि चारित्र्ये सत्त्वेव निर्व्यग्राणुगुणाया निर्जरायास्तपसा कर्तुं शक्यत्वात् । तदेवाह—

मूलारा—सम्भादिदृष्टस वि । तत्त्वश्रद्धानवतोऽपि किं पुनर्मिथ्यादृष्टेरित्यतिशयोऽपिष्यव्यर्थः । अविरदस्स हिसादिषु विषयेषु च प्रवर्तमानस्य । गहागुणो धनलोपकारं कर्मनिर्मूलनमर्थमित्यर्थः । संयमदीनस्य सवराभावे प्रतिक्षणमपरापर-कर्मसंप्रातोपादानान्मुक्तिर्न स्यादिति भावः । एतच्चारित्रस्य प्राधान्यविषयश्लाघामेवोच्यते । यथा “मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यसि ॥” इति तपस प्राधान्यविवक्षया । तु भेदविवक्षया इवार्थे अभेदविवक्षया वा एवार्थे । हस्तिस्तानमिव असंयतस्य तपो भवतीति चेन्न ॥ यथा हस्ती स्तातः सन्नार्द्रतनुतया स्वकारापितं रजो बहुतरमादत्ते तथा तपसा निर्जीर्णकर्मभोऽसंयमापितं कर्म पुनर्मुक्त्यादिलपटतया बहुतरमादत्ते इत्यर्थः ॥ चुंदुद्रगं वंध्यनचर्मगालिकेव । तं तत्तपः । तस्स सम्म्यग्दृष्ट्यविरतस्य । यथा वेष्टनसहस्यवेष्टनं कुर्माणा आकर्षणचर्मवद्भिक्षा अभिषेजनस्य स्वर्थं न करोति तथा वंध्यसहभाविविर्ता निर्जरा कुर्वचपोऽसंयतस्य भोऽं न करोतीत्यर्थः । अत्र हस्तिस्ताननापगतद्रुहतरस्यापादनं चर्मवद्भिक्षया च वंध्यसहभाविन्या निर्जराया स्वारस्याभावाद् दृश्यते । उपमेयगताविशयफलत्वादृष्टत्वात्तरोपन्यासस्त्य । ये तु चुदद्विदकर्मोति पठन्ति तेषामिदं व्याख्या युतं मानकसेविकादियोग्यं काष्ठं छिदन्ति चिकीर्षिवत्स्वचतुगुणभावेन कुंततीति चुंदादिच्छदाकारास्तेषा कर्म व्यापारश्चर्म-वद्भिक्षया अभिषेपरिधमणं । तद्यथा रुशब्देन यथाधेनोभयत्र संबधाय । शेषं पूर्ववत् ॥

निर्जरा तपके आधीन है तथा विद्यमानकर्म इस तपके प्रभावसे क्रमसे निर्जाणि होता है, जब संपूर्ण कर्म निःशेष हो जाता है तब स्वास्थ्य रूप मोक्ष प्राप्त होता है, अतः मोक्षका कारण निर्जरा ही है, वह निर्जरा तपसे होती है, अतः दर्शनाराधना व तपआराधना ऐसी दो आराधनाओंका वर्णन करना योग्य है ऐसी शंका होनेपर संवरको उपय करनेवाला चारित्र्य सहायक होनेसे हि तप मुक्तीकी साधक ऐसी निर्जरा उत्पन्न कर सकता है अन्यथा नहीं ऐसा उच्चर निम्न लिखित गायामें देते हैं—

हिंदी अर्थ—जीवादि तत्त्वोपर जिसकी श्रद्धा है ऐसे अविरत अर्थात् असंयमी पुरुषका तप महान् उपकार करनेवाला नहीं होता है, वह उसका तप हाथीके खान नमान होता है, जैसे हाथी नदीमें खान करता है परंतु फिर तटपर आकर अपने बंदने सर्वांगपर धूलि फेंकता है वैसे असंयत सम्म्यग्दृष्टि कर्म निर्जाणि करता हुआ भी



असंयमके द्वारा बहुत कर्मका ग्रहण करता है. अथवा लकड़ीको छिद्र पादनेवाला चर्मी जैसा छेद पादने समय दोरी बांधकर घुमाते हैं उस समय उसकी दोरी एक तरफसे ढिली होती हुई भी दूसरी तरफसे उसको दृढ़ बद्ध करती है वैसे सम्यग्दृष्टीका पूर्ववद्ध कर्म निर्गोप होता हुआ उसी समय असंयम द्वारा नवीन कर्म बांध जाता है. अतः असंयत सम्यग्दृष्टीको तप आराधना नहीं होती है. इसलिये तप आराधनामें चारित्रााराधना अंतर्भूत नहीं होती है ऐसा समझना चाहिये.

विशेष—गाथामें 'महागुणो' ऐसा शब्द है. यहां गुणशब्दके अनेक अर्थ होते हैं. जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श इनको भी शब्दमें गुणसंज्ञा है. गुणोंकी संख्या दिखानेवाला ह्मन इसप्रकार है. 'रूपसर्गंधस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वद्वयः सुखदुःखेच्छाद्वेयप्रयत्नादयः' क्वचिद् गुणका अर्थ मुख्य ऐसा भी होता है. जैसे—'गुणीभूता वयमत्र नगरे' अर्थात् इस नगरमें हम प्रधान-मुख्य हैं. यहां गुण शब्दकी प्रधान अर्थमें वाच्यकता है. क्वचित् गुण शब्दका अर्थ उपकार ऐसा होता है. जैसे 'गुणोज्जेन कृतः' अर्थात् इसने उपकार किया. प्रकृत गाथामें गुणशब्दका अर्थ उपकार ऐसा समझना चाहिये. अविरत सम्यग्दृष्टिका भी तप महागुण नहीं होता है अर्थात् वह कर्म निर्मूलन करनेके लिये समर्थ नहीं होता है. पुनः जो मिथ्यादृष्टि है उसका तप शुक्तिकेलिये कैसा कारण होगा ? उसको संवर न होनेसे प्रतिसमय नया कर्म आता ही रहेगा अतः उसको शुक्ति नहीं होगी.

याका—संयम प्राप्त भी हो गया तो भी कर्मनिर्जरा न होनेसे शुक्ति नहीं प्राप्त होगी. अथवा ऐसा भी कह सकते हैं—जिसने तपका अभ्यास किया नहीं है ऐसे सम्यग्दृष्टीको भी केवल चारित्र महोपकारक नहीं होता है. अर्थात् संवरसाहित निर्जराको उत्पन्न नहीं करता है.

उत्तर—आपका कहना ठीक है. परंतु यहां चारित्रिकी मुख्यता है अतः चारित्र न होनेसे शुक्ति प्राप्त नहीं होगी ऐसा कहा है. जैसे 'असिद्धिच्छन्नसि' अर्थात् तरवार काटती है. इस वाक्यका विमर्श करेंगे तो ऐसा महत्त्व होगा कि, छेदनेवाले पुष्पके बिना केवल तरवार ही स्वयं छेदनकार्य नहीं करेगी परंतु तरवारकी तीक्ष्णता, काटित्व्य वगैरे गुणातिशयको देखकर उसमें छेदनकार्य करनेका कर्तृत्व आरोपित करके तरवार तोड़ती है ऐसा कहते हैं. वैसे चारित्रिका वर्णन करनेकी मुख्यता होनेसे चारित्रिके बिना तप महोपकारक संवर निर्जराका उत्पादक

नहीं होते हैं ऐसा कह सकते हैं।

असंयत सम्यग्दृष्टिका तप हस्तिस्नानके समान है, जैसे हाथी तालाबमें स्नान कर निर्मल होता है परंतु आपसी सुहाके द्वारा धूलको शरीरपर फेरकर अपनेको मलिन करता है। तद्वत् तपके द्वारा कर्माश निर्जोर्ण हो गया तो भी असंयमसे सम्यग्दृष्टि बहुत कर्मसमुदायको ग्रहण करता है।

आचार्य दुसरा दृष्टान्त मंथन चर्मपालिकाका देते हैं। उसका विवेचन किया है। आचार्यने दो दृष्टान्त कथों दिये हैं ? इसका खुलासा इस प्रकार है। सम्यग्दृष्टिने पूर्वमें जितनी कर्म निर्जरा की है उससे भी अधिक कर्म उसको असंयमसे वंध जाता है, यह खुलासा करनेके लिये हस्तिस्नानका दृष्टांत दिया है। हाथी स्नानसे गीला होता है अतः बहुत धूलिका संग्रह उसके अंगपर हो जाता है, उसही प्रकारसे सम्यग्दृष्टिको बहुत कर्मबंधन होता है, जो निर्जरा बंध रहित होती है वही स्वास्थ्य अर्थात् मोक्षप्रदान करती है। परंतु बंधके साथ होनेवाली कर्म निर्जरा शुक्तिका कारण नहीं होती है इसका स्पष्टीकरण करनेके लिये आचार्यने मंथन चर्मपालिकाका दृष्टान्त दिया है वह बंध सहित शुक्तिको दिखाती है।

यहां दूसरे विधान ऐसा कहते हैं—“कालभेदकी अपेक्षा न करके शुद्धि और अशुद्धिको दिखानेकी दृष्ट्यासे आचार्यने प्रथम उदाहरण—हस्तिस्नानका माथामें लिखा है।” परंतु यह उनका अभिप्राय शुक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि, संपूर्ण कर्माका नाश होना यह शुद्धि है व कर्म सहितवस्थाही अशुद्धि है जब शुद्धि है वही नहीं तो आचार्य उसको हस्तिस्नानका उदाहरण देकर भी कैसे दिखा सकते हैं। यदि कुछ कर्म नष्ट होना उसको शुद्धि या शुक्ति कहोगे तो ऐसी शुद्धि किस प्राणीमें न मिलेगी ? अर्थात् ऐसी शुद्धि प्रत्येक प्राणीमें विद्यमान है, कारण प्रत्येक प्राणीके कर्मस्बंध उसको फल दे देकर खिरतेही हैं, अतः ऐसी शुद्धि मिलना असंभव नहीं है, वह तो सुलभ ही है।

और भी जो उन विद्वानोंने कहा है ‘जहां कालभेदका आश्रय लेकर दो धर्म रहते हैं वहां उन धर्मोंमें भिन्नता—विरुद्धता दीखती है, परंतु कर्मबंध होना व उसकी निर्जरा होना ये दो धर्म एक समयमें होते हैं अतः ये विरुद्ध नहीं हैं, इस वास्ते यहा दुसरा दृष्टांत मंथन चर्मपालिकाका दिया है, यहाँ रज्जुसे मंथनदंड वेष्टित भी हो जाता है और शुक्त भी हो जाता है, ये दोन क्रियायें एक समयमें होती हैं

अतः इसमें वैधर्म्य नहीं है, यह कहना भी असार है, 'चंद्रमुखी कन्या' इस उदाहरणमें ऐसी वैधर्म्यकी शंका उपस्थित नहीं होती, कन्याका मुख हमेशा पूर्ण ही रहता है, परंतु चंद्रकी पूर्णता कदाचित् होती है, सदा नहीं होती अतः अनुमानसे मुख और चंद्रमें साधारण धर्म-आवृत्तकत्व, सुदृशता इत्यादिका आशय लेकर उपमानोपमेय भाव रहता है, मुख और चंद्रमें वैधर्म्य है ही अन्यथा चंद्र उपमान है व मुख उपमेय है यह भेद ही उत्पन्न नहीं होता, उपमेयमें विशेषता दिखानेके लिये ही उपमान प्रवृत्त होता है, उपमानको छोड़कर दूसरेका ग्रहण कोटि नहीं करते हैं, तात्पर्य—मंथनचर्मपालिका का उदाहरण देनेका कारण इतनाही यहा समझना चाहिये कि, उचितसम्बन्धिका तप असंयमपूर्वक होनेसे कर्मबंध और निर्जीवाका कारण है, वैधर्म्य दिखानेके लिये आचार्यने यह उदाहरण नहीं दिया है,

संक्षेपस्य प्रकारान्तराख्यानयाह—

अहवा चारित्तराहणा आराहियं हवइ सव्वं ॥

आराहणाए सेसस्स चारित्तराहणा भज्जा ॥ ८ ॥

विजयेदया—अहवेति । एकद्वयादित्वेन रथेयानख्येयाननरूपेण हि जैमी निरूपणा ॥ चरति याति तेन हितमार्ति अहितनिवारण चेति चानिध, चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारिय सामार्थिकादिक, तस्याराधनाया तत्परिणती नत्या आराधित निष्पादित । हवइ भवति । सव्व सर्वे ज्ञान दर्शन तपश्च, प्रकारकास्तस्य सर्वशब्दोऽत्र प्रवृत्तः । यथा सर्वमोक्षन मुक्ते इति ब्रह्मिद्याद्वयनप्रकारकास्तस्य मुक्तिविधयः कर्मव्यन प्रतीयेत । एवमित्यादि मुक्त्युपायप्रकारणा ज्ञानादीना सामस्त्यमाख्ययते । चारित्र्याराधनं केवल्यनेन गाथाद्धनं कथितम् । अत्रेयमाश्रय—कस्मादेत्यन्त्यनिरूपणाराधनायाश्चारित्र्य-सुरेतैव क्रियते नान्यसुरजनस्यत आह—आराधणाए आराधनाया । सेसस्स देशस्य । ज्ञानदर्शनतपसा अन्यतमास्त्य । चारि-त्तराधणा । भज्जा भाज्या विकार्या । कथं अक्षयतसम्बन्धविधयेति ज्ञानदर्शनयोगाराधको नेतरयोः । मिथ्याहस्तिवचन-नद्वन्द्वयतोऽपि न चारित्र्यमाराधयति । फलित्वेन ज्ञानादीनि चारित्र्यमपि संपादयतीति नायिनमभिवृता इतराराध-नाया चारित्र्याराधनाया इति न तन्मुखेनैकत्वानिरूपणेति भावः ॥ ननु आधिक्यवृत्तराजस्तस्य फलत्वराराधनाया, आधिक्यजाना-धनाया च इतरेषामाप्याराधना निर्यागत सम्भवति तत्किमुच्यते ज्ञानाराधनाया चारित्र्याराधना भज्येति ? धर्मोपदा-निकज्ञानदर्शनोपदयेतदुक्त इति धेयम् । अत्रान्येषा व्याख्या "चारित्तराधणाए इत्यत्र चारित्र्यशब्देन सच्चारित्र्यमुपात्त । तथा सहर्शनातयकप्रानिर्कृपितकामप्रव्ययनेन प्रयत्नवृत्तिरूप तस्मिन्नाराधनमिति दोषसिद्धिर्भवत्येव । कथं ? सज्जानकाय चारित्र्य सज्जान च दर्शनाद्धितं कार्यं हि कारणाविनाभावित्व प्रयुक्त इति साधुपपत्ता ।" प्रतिप्रामात्रेण हि सद्ब्रमिदमव-

स्थितं, एतत्साराधनाय सूत्रद्वयमुत्तरं यत्र हि सूत्रकारो तच्चित्रधनं वदति । आत्मन प्रतिज्ञातस्य तत्र व्याख्यातुरवसरो निवधनाख्याने यत्र तु स एव वदति तत्र तदेव व्याख्यातुमवगन्तव्यमिति व्याख्याक्रमः शास्त्रेण । न चेदमन्तनं प्रति-  
विधानमस्मिन्निति स्वयमेवोपदेश्यते । ' कादम्बिमिणमकान्द्रव्यसि णाट्टणं होदि परिहारो, इत्यत्र निरूपयिष्यति यतः  
सूत्रकारः । किं च उत्तरसूत्रानुष्ठानमस्मा व्याख्याया चारित्राराधनामुख्यैर्नैकवाराधनेति प्रतिनिपादयिषितं । तच्च स-  
प्रति विधानं प्रतिपादयितुं कोऽवसर उत्तर गाथाया । इतराराधनान्तर्भावकारिण्याश्चारित्राराधनाया निरूपणाया  
चारित्रस्वरूपाख्यानाय उत्तरगाथायातेति कथमनवसर इति चेत् यथेवं दर्शनाराधनायां क्षान्ताराधनामन्तर्भाव इत्य-  
मानाया दर्शनस्वरूपं किं नोच्यते सूत्रकारेण ? स्वेच्छेति चेन्न न्यायानुगमिनां शास्त्रकाराणां न्यायानुपेतच्छा भूयुक्ता ।

इदानीं परमसंक्षेपादेकधैवाराधना स्थादिति दर्शयति—

मूलारा-चारित्राराहणाए-चरन्ति यन्ति तेन हि तन्नाभिमाहितनिवारणं चेति, चर्यते सेव्यते सङ्गिस्तदिति वा चारित्रं  
सामायािकदिकं । तत्परिणतौ सत्या आरहिदं निव्यादितं । सत्त्वं ज्ञानं दर्शनं तपश्च । सेसस्त ज्ञानादित्रयस्य भज्जा भाज्या  
विकल्पाः । तद्यथा-असंयतसम्यग्दर्शिनदर्शनयोराराधको भवति नेतरयोः । मिथ्यादृष्टिरनशनादितपस्युद्यतोऽपि न  
चारित्रमाराधयति । कश्चित्सुनः ज्ञानादीनि चारित्रमपि संपादयति । ततो न ज्ञानादिमुख्यैकत्वसुकमाराराधनाया इति भावः ।  
एतच्च क्षायिकवीतरागसम्यक्त्वान्तेवैवल्लानाञ्चान्द्यत्र बोध्यम् ॥

हिंदी अर्थ-चारित्रकी आराधना करनेसे सर्व आराधनाओंकी आराधना होती है। परंतु दर्शनादि आराधनासे  
चारित्रकी आराधना होगी या नहीं भी होगी।

विशेषार्थ—एक, दोन, तीन, संख्यात, असंख्यात अनंत रूपसे श्री जिनेश्वरके मतमें वस्तुका वर्णन होता है।  
अतः वस्तुका अतिशय संक्षेप व विस्तार पूर्वक विवेचन जैन ग्रंथमें पाया जाता है। जिससे जीव हितको प्राप्त होते हैं  
अथवा अहितका निवारण करते हैं उसको आचार्य चारित्र कहते हैं। अथवा सज्जन जिसका आचरण करते हैं, सेवन करते हैं  
उसको चारित्र कहते हैं इस चारित्रके सामायिक वर्णने भेद हैं। ऐसे चारित्रकी आराधनामें जब आत्मा तत्पर होता है  
है तब इसमें तन्मयता होनेसे ज्ञान, दर्शन, तप ऐसी सर्व अर्थात् तीनों आराधनायें आराधी जाती हैं। अर्थात् इन  
तीनोंकी भी प्राप्ति होती है; यहाँ प्रकार व संपूर्णता ऐसे दो अर्थोंमें सर्व शब्दका प्रयोग किया है, जैसे 'सर्व  
भोदनं भुंक्ते' अर्थात् "ब्रीही वर्गरे जितने शालीके भेद हैं उतने सर्व भेदसहित शालीका भाव खाता है।" इस

वाक्यमें सर्व शब्दका प्रकार ऐसा अर्थ है, इसी तरह यहांभी मोक्षोपायके प्रकार जो ज्ञान, दर्शन तप हैं वे यहां 'सर्व' इस शब्दसे संगृहीत होते हैं, एक चारित्राराधनामें सब आराधनाओंका अन्तर्भाव हो जाता है।

शंका—चारित्रको मुख्यता देकर ही क्यों आराधनाका एकत्व आप दर्शाते हैं ? अन्य आराधनाकी मुख्यता देकर आराधनाकी एकता आपने क्यों नहीं दिखायी है ?

इस प्रश्नका उत्तर—इतर आराधना-ज्ञान, दर्शन तप इनमेंसे किसी एक आराधनाकी मुख्यता होने पर भी चारित्राराधना भाज्य ही है अर्थात् इतराराधना प्राप्त होगी परंतु चारित्राराधना प्राप्त होगी अथवा नहीं होगी, इसका खुलासा-असंयत सम्यग्दृष्टि ज्ञान और दर्शन ऐसी दोन आराधनाओंका आराधक है, जब आराधकको सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है तब उसके ज्ञानमें भी सम्यग्दर्शनके साथ सम्यक्पना प्राप्त होता है, अतएव वह सम्यग्दृष्टि दर्शन ज्ञानका आराधक है, मिथ्यादृष्टि जीव अनजानादि तपोमें उद्धुक्त होकर भी चारित्राराधक नहीं होता, कोई सम्यग्दृष्टि जीव व्रतसहित होनेसे ज्ञानादि तीन आराधनाओंका आराधक होता है चारित्रका भी, अतः चारित्राराधनाका इतर आराधनाओंमें अविनाभाव नहीं है, जहां चारित्राराधना है वहां चारोहि आराधनायें है ही परंतु जहां अन्य आराधनायें हैं वहां यह चारित्राराधना रहे या न रहे, अतः चारित्रकी मुख्यतासे आचार्यने सवका अन्तर्भावकरके एक चारित्राराधनाही कही है।

शंका—क्षायिकवीतराग सम्यक्त्वााराधना और क्षायिकज्ञानाराधना ऐसे दो आराधनाओंमें वाकीकी तप और चारित्राराधनायें निश्चयसे अन्तर्भूत होती हैं अतः शेष आराधनाकी प्राप्ति हुई तोभी चारित्राराधना भाज्य है ऐसा क्यों कहा है,

उत्तर—क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शनकी अपेक्षासे हमारा उपर्युक्त कथन समझना चाहिये, अर्थात् जहां जहां क्षायोपशमिक ज्ञान व दर्शन है वहां चारित्र होता ही है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञान व दर्शन चतुर्थ गुणस्थानसे शुरू होते हैं, इस गुणस्थानमें अविरतिपरिणाम होनेसे चारित्राराधना नहीं है अतः आचार्यका कथन किस अपेक्षासे है यह ध्यानमें आया होगा।

प्रकृत गायधर अन्य विद्वानोंका आगे लिखा हुआ व्याख्यान है—चारित्तराधणाएँ “ इस गायधरमें चारित्र शब्दका अर्थ सच्चारित्र ऐसा समझना चाहिये, सम्यग्दर्शन युक्त व सम्यग्ज्ञान निरूपित ऐसा जो आचरण

क्रम उससे च्युत न होकर दृढ़ रहनेका जो प्रयत्न उसको चारित्र्य कहते हैं, अर्थात् आगममें जो धर्माचरणके क्रमका उल्लेख किया है उसके उपर श्रद्धा रखकर उसका स्वरूप समझ लेनेके अनंतर उस आचरणक्रमसे च्युत न होकर उसमें दृढ़ रहना यह सच्चारित्र्यका लक्षण है, ऐसे चारित्र्यकी आराधना करनेसे ज्ञान, दर्शन, तप इनकी आराधना अवश्य होती है, चारित्र्य सम्पन्नज्ञानका कार्य है, और ज्ञान भी सम्पन्नदर्शनके प्रभावसे हितकारक होता है, कार्य हमेशा कारणसे अविनाभावी होता है, जो कार्य उत्पन्न होता है वह २ कारणपूर्वक ही होता है, कारणके विना होता ही नहीं है, चारित्र्य ज्ञान व दर्शनका कार्य है व सम्पन्नदर्शन ज्ञानके साथ अविनाभावी है, उनके विना चारित्र्यकी उत्पत्ति होती ही नहीं, अतः चारित्र्याराधनामें सब आराधनाओंका प्रवेश हो जाता है, ” यहाँ आचार्य उनके व्याख्यानकी अष्टकता दिखाते हैं,

आपने जो सच्चारित्र्यके कारण और लक्षण बताये हैं उनकी यहाँ आवश्यकता नहीं है, इस भाष्यमें तो फक्त चारित्र्य की प्रतिज्ञा ही अर्थात् नामोल्लेख ही किया है, इस प्रतिज्ञाका स्पष्टीकरण और उसके कारणोंका उल्लेख प्रश्नकारने आगेकी दोन भाषाओंमें स्वयं किया है अतः उन स्थलोंमें व्याख्याकारको कारणोंका विवेचन करनेका अवसर है, ऐसा ही व्याख्याक्रम शास्त्रमें सुना जाता है, ‘कादम्बमिषणमकादम्बवत्ति णादूण होदि परिहरो’ इस भाष्यमें चारित्र्यका लक्षण आचार्य कहेंगे, परंतु आपने उत्तर सूत्रानुष्ठान इस व्याख्यानमें किया है, इस भाषास्वरूपमें चारित्र्या-राधनाकी मुख्यतासे एक ही आराधना है यह प्रतिपाद्य विषय है, इसलिये उत्तरभाष्य का विषय यहाँ प्रतिपादन करनेका अवसर कैसा है ? इतर आराधनाका अन्तर्भाव अपनेमें करनेवाली चारित्र्याराधनाका निरूपण करते समय चारित्र्यके स्वरूपका वर्णन करनेके लिये उत्तर भाष्य है अतः यह हमारा विवेचन ठीक है ऐसा भी आप नहीं कह सकते, अन्यथा ज्ञानाराधनाको अपनेमें प्रविष्ट करनेवाली दर्शनाराधना है अतः सम्पन्नदर्शन का स्वरूप वर्णन सूत्रकारने क्यों नहीं किया ? यदि कहेंगे जैसा उन्होंने चाहा वैसा वर्णन किया है तो यह उत्तर योग्य नहीं है, क्योंकि न्यायका अनुसरण करनेवाले शास्त्रकारकी न्यायविरुद्ध इच्छा रहना ठीक नहीं है, अतः इतने विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि आचार्य का उद्देश इतर आराधनाओंका चारित्र्याराधनामें अन्तर्भाव करना यही है, चारित्र्यका व सम्पन्नदर्शनका लक्षण लिखनेका उनका उद्देश नहीं था,

कथं चारित्र्याधानाया कथिताया इतरासां प्रतिपत्तिरविनाभावात् तावज्ज्ञानदर्शनायाधानयोः सन्तर्भाव इत्यु-  
 सारग्राह्याय, पूर्वोद्धेत कथयति—

कायव्यभिणमकायव्यपत्ति णाऊण होइ परिहारो ॥

तं चेव हवइ णाणं तं चेव य होइ सम्मत्तं ॥ १ ॥

कायव्य कर्तव्यं । इण इदं । अकायव्यपत्ति अकर्तव्यमिति । णाडूण ज्ञान्ता । हवदि भवति । परिहारो परिवर्जनं  
 चारित्र्यमिति शेष । कर्तव्यकर्तव्यपरिहृतं पूर्वं तदुत्तरकाल अकर्तव्यपरिहरण यत्तच्च चारित्र्यमिति सूत्रार्थः ॥ ननु परि-  
 हार इत्यत्र परिहारो वर्जनार्थः । तथा हि—परिहरति सर्गमित्यत्र सपं वर्जयतीति गम्यते । ततश्च यद्वर्जनीयं तत्परिधानमेव  
 वर्जनमुपयुज्यते तत एव वक्तव्य—अकायव्यपत्ति णाडूण हवदि परिहारो इति, कायव्यमित्येतत्किमर्थमुपलभ्यते ? कर्तव्यपरिधान  
 क्रमेण एवोपयुज्यते इति ॥ अत्र प्रतिविधीयते—कायव्यभिणमिति णाडूण हवदि परिहारो इति पदघटनेका, अकायव्यभिणमिति  
 णाडूण हवदि परिहारो इत्यपर्याप्तत्रायाया पदघटनताया परिशब्दः, समताद्वावहृति । यथा परिधावतीत्यत्र हि समताद्वावहृति  
 गम्यते । हरतिरुपादानवचनं । तथाहि प्रयोग—कथितिका हरति—कथितिकमुपादत्ते इति यावत् । मनसा, वचसा, कायेन  
 कर्तव्यस्य च स्वरहृतीरुपादानं शुभित्समिति धर्मादुपदेशापरीपदृजयाना उपादानं चारित्र्यमिति वाक्यार्थः । आकायव्यपद्वहृतिवो  
 देशे परिणामास्ते न कर्तव्या, न निवर्त्यस्तेषां परिहरणं परिवर्जनं चारित्र्यमिति स्वधर्मीयम् । परिहार्यं एव परिज्ञानमंत-  
 र्णेषां तत्परिहारो दृश्यते । यथा शस्त्रजनाध्यासित देशं परिहरति कश्चित्त्र तेषां अवस्थानं अप्रतिपद्यमानोऽपि मार्गा-  
 न्तरागामी, एवमज्ञातव्यपि परिहार्यं परिहरदिति विनाभावितेति चेदयमभिप्रायः । सूत्रे—सामान्यशब्दा अपि विशेषमेवविधेयी  
 दृश्यते । तथा हि—गोशब्दो गोत्वसामान्यगीकरणेन प्रवृत्तो गोनर्हंतव्या, गोस्त्वदा न स्पष्टव्या इत्यादौ विशेषमेवविधेयी  
 करोति ॥

महति गोमडले गोपालकमासीनिमेत्य कश्चित्तुच्छति गौर्दृष्टा भवतीति । अत्र चाप्ये गोशब्दस्त्वभिमेवताकांक्षी  
 स्वस्तिमर्तो वा प्रत्याययति । एवमेव परिहारशब्दः परिर्वर्जनसामान्यगोचरोऽपि नियतानेकपरिहार्यविषये परिहरणं  
 प्रयुक्तः । न च नियोगमात्रव्यनेकपरिहार्यविषयं परिहरणं असंश्लक्ष्णं तत्परिहारणीयाः । तत्कथं परिहरद्वज्ज्ञानं । ननु ज्ञानचारित्र्ययोरपि-  
 यमां, कथया, अष्टुभाश्च योगाः प्रत्येकमेकविकल्पाः सततं परिहरणीयाः । तत्कथं परिहरद्वज्ज्ञानं । ननु ज्ञानचारित्र्ययोरपि-  
 नाभाविता धातया । 'नाडूण होदि परिहारो' इत्यनेन श्रद्धानाविनाभावितेत्याशकायमाह—तं चेव हवइ इत्यादिक । तं चे-  
 व तदेव चेतन्यं । हवइ भवति, णाणं ज्ञानं । तं चेव य तदेव च हवइ भवति, सम्मत्तं तत्त्वश्रद्धानं चेति चेतन्यद्वयार्था-  
 व्यतिरेकात् ज्ञानदर्शनयोरेकता ख्याता । ततो ज्ञानाविनाभाविता कथनेन श्रद्धानस्यापि  
 कथितैव भवति । चारित्र्यमेव ज्ञानदर्शने इति कल्पनाया 'नाडूण हवइ परिहारो' इति पूर्वं ज्ञानं  
 पश्चात्परिहारः इति । अत्र भेदोपन्यासः सूत्रकारस्य श्रवणमात्रः स्यात् । तं चेवेति नपुंसकलिङ्गनिर्देशश्च न स्यात् ।

स्ते चैव ह्यत्र पाणं प्रति यत्कस्य भवति परिष्काराद्वत्स्य पूर्तिगन्तात् । अथवा कर्तृत्ववशं तेष्वपि त्रयानि मत्तयर्भेदयाना मि व्यादर्शयते, भान, अस्तयम, कथाया, योग इत्यर्थात् परिष्काराच्चानिधमिन्नेत्यतिशयार्थं परिगृहीतं 'त चैव परिष्कृत्य सामान्यं चारित्र्यं, कृतं दर्शनं इत्यप्यभेदवति । चारित्र्याध्यायनामयोगे नन्द्यादिनाऽनित्यमस्तस्याध्यायनाप्रकारस्यान्तर्धानतया चारित्र्याध्यायनं कथ्यते सूत्रार्थः ॥

चारित्र्याध्यायनाया ज्ञानदर्शनयोगोऽन्त्ययोगः तावदर्शयति—

कायव्यभिक्त्यादि । अत्र द्वे पदपठने । तन्नेका । इयं गुणस्यादिकं । कायव्यं कर्तव्यं नैष्ठिकारणत्वात् इति पाठश्च ज्ञात्वा निश्चित्य अर्थज्ञानस्य । परि संगन्तवान्नतोपायाद्येष्टोऽसौ इत्युपादानं कर्तव्यस्य गुणसमिधिवर्गोऽनुदेशा परीषद्वज्जयरूपस्य भवति ॥ संप्रतिष्ठा इत्येतत्प्रादिषु अथ इत्यतिक्रमज्ञानार्थं । द्वितीया त्विर्यं । इदं सिद्ध्यादर्शनादिक अकर्तव्यं आत्मव्यवर्तिन्यधनत्वात् । इति निश्चित्य योगज्ञानस्य परिष्कारं परिचर्जनं नैष्ठिकस्य निष्कारार्थानिष्ठ्या-  
ज्ञानासंयमप्रमादकथाद्यधुमयोगालक्षणास्य भवति । अत्र द्वाविधिं द्वावपि प्रकाराभिर्योगालक्षणायां संशयनिर्णयं । अथानन्दम गतीत्यत्र दृष्टसाया पादपूरणे वा क । पादुगेवम पदकाटिच्छर्तुर्वादिभि इत्यान्त्यागाम्यार्थान्ध्रं भवमानस्त्विति संशय निर्णयं । तत्र कर्तव्योपादानमनैष्ठिकपरिचर्जनं योगयोगेव चारित्र्यं । यं चैवत्येव । तदेव ज्ञानदर्शनोपादिसादिष्वपि प्राप्तिपरिष्कारपरिणतं चैवत्ययोगेव द्रव्याध्यायवतिरेकाप्र भानं दर्शनं च नैष्ठिकस्य धिनाभाप्यप्रादेशस्य ज्ञानदर्शनान्ध्यामिदं चारित्र्येऽन्त्यमार्गस्त्वयोः ॥

चारित्र्याध्यायनाके कथनमेव इतर आराधनाश्रोका भानं प्रेक्षा द्वे ज्ञाता हे इत्यत्र उत्तर अधिनाभाप्य ही देवाः अर्थात् अधिनाभाप्य होनेसे शेष आराधनाश्रोका चारित्र्यमेव अन्तर्भाव हो जाता है. तत्र ज्ञान योग दर्शनाका अन्तर्भावे आगमनी माया के पूर्वाद्देशे दिखाने है.

हिंदी अर्थ—यह करने योग्य कार्य है ऐसा भान होनेके अनन्तर अकर्तव्य का त्याग करना यह चारित्र्य है ऐसा इस ध्वजका अर्थ है.

शंका—गाथामें परिष्कार शब्द है उसका त्याग करना, छोड़ना ऐसा अर्थ होता है. जैसे 'परिष्कारति तपः' इस वाक्यमें सपर्यया परिहार करना है, उनसे दूर होना है. ऐसा परिहारति धातुका अर्थ है. अतः जो पदार्थ वर्जने



करने योग्य है उसका ज्ञान होना ही वर्जनके लिये उपयुक्त है. अतः यहां ऐसा समझना चाहिये कि जो अकार्य है उसको समझकर छोड़ देना यह ही चारित्र्य है. करने योग्य क्या है उसको जाननेकी कुछ जरूरत नहीं है. अतः 'कादव्यमिदि णादूण हवदि परिहारो' ऐसा आचार्यका लिखना व्यर्थ है.

उत्तर—इस गायिका पदसंबंध ऐसा समझना 'कायव्यभिणिचि णादूण हवदि परिहारो' ऐसा प्रथमतः पद संबंध समझना चाहिये. 'अकादव्यभिणिचि णादूण हवदि परिहारो, ऐसा दूसरी बार पदसंबंध करना चाहिये.

पहिले पदसंबंधका विवेचन—परिहार इस शब्दका अर्थ ऐसा समझना. परि-चारो तरफ. जैसे 'परि धावति' यहा समंतात् चारो तरफ, धावति दौड़ता है. ऐसा अर्थ होता है. उसी तरह परिहार शब्दमें परि इस उपसर्गका चारो तरफ ऐसा अर्थ होता है. हथातुका अर्थ इस प्रकरणमें ग्रहण करना ऐसा है. अर्थात् सर्व तरफसे ग्रहण करना ऐसा परिहार शब्दका अर्थ यहां समझना. जैसे 'परिहरति कंचालिकां' अर्थात् कंचालको ग्रहण करता है. उसी तरह संवरको उत्पन्न करनेवाले गुप्ति, समिति, धर्म, अनुश्रेषा, परीयहजय ऐसे कर्तव्यको-करने योग्य कायको परिहरति सर्व तरफसे अर्थात् मन, वचन, कायसे ग्रहण करना यह चारित्र्य है ऐसा प्रथम पदसंबंधका अर्थ है. आस्रव और बंधके कारण ऐसे कार्य अर्थात् आत्माके परिणाम कर्तव्य नहीं है उनका परिहार-त्याग करना चाहिये. अर्थात् यहां ऐसे अयोग्य कर्तव्यका त्याग करना चारित्र्य कहलाता है. जो पदार्थ त्याज्य है उसका ज्ञान न होने पर भी त्याग हो जाता है. जैसे कोई मनुष्य शत्रुजन जहां रहते हैं ऐसे देशका त्याग करता है. अर्थात् शत्रुका बहा अस्तित्व न जानता हुआ भी शत्रुमदेशका त्याग कर अन्य मार्गसे चला जाता है. वैसे यहां भी त्याज्य पदार्थका ज्ञान नहीं हो तो भी उसका त्याग करना चाहिये.

शंका—त्याज्य पदार्थको त्याज्य समझकर त्याग होता है ऐसा अविनाभाव यहां नहीं रहा. क्योंकि उसका स्वरूप समझे बिना भी त्याग होता है.

उत्तर—आचार्यका यह अभिप्राय है—सामान्य शब्द की भी विशेषमें प्रवृत्ति होती है—जैसे 'गौर्न हन्तव्या' गौर्न स्पष्टव्या, इस वाक्यमें गोवध नहीं करना चाहिये. गायको स्पर्श नहीं करना चाहिये इन वाक्योंमें गोशब्द सामान्य है. परंतु विशेष अर्थमें भी इसकी प्रवृत्ति होती है. यथा—गार्हपत्यके समूहमें भाला बैठता था उसके पास जाकर कोई मनुष्य 'मेरी गौ तुने देखी है क्या? ऐसा पछोने लगा. इस वाक्यमें गोशब्द विशिष्ट गायका वाचक

है ऐसा मानना पड़ेगा। इसी तरह प्रकृत प्रकरणमें परिहार शब्द त्यागसामान्य को विषय करता हुआ भी निषेध निश्चित ऐसे त्याज्य विषयके त्यागमें प्रयुक्त समझना चाहिये। निषेध ऐसे अनेक त्याज्य विषयोंका त्याग उनका वारंवार ज्ञान हुए बिना अशक्य है, अतः त्याज्य पदार्थके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कपाय, अनुभवयोग ऐसे अनेक भेद हैं, तथा इनके भी अनेक विकल्प हैं, उनका सतत त्याग करना चाहिये, परंतु अहंको इसके भेद प्रभेद ज्ञात न होनेसे वह उनका क्रैसा त्याग करेगा ?

शंका-ज्ञानचारित्रका अविनाभाव है यह 'पादूण होदि परिहारो' इस वाक्यसे अनुभवमें आता है अर्थात् पदार्थका ज्ञान होनेके अनन्तर चारित्र होता है, परंतु श्रद्धानका चारित्रिके साथ अविनाभाव नहीं है।

उत्तर—जो ज्ञान अथवा जो दर्शन है वे दोनों भी चैतन्यरूप होनेसे अविनाभाव युक्त ही हैं, अर्थात् चैतन्यही ज्ञान है और चैतन्यही दर्शन है, द्रव्यार्थिक नयसे ज्ञान और दर्शनमें चैतन्यरूपता होनेसे एकरूपता-अभिन्नपना है, अतः जैसा चारित्रिका ज्ञानसे अविनाभाव है वैसा सम्यग्दर्शनके साथ भी है, क्योंकि सम्यग्दर्शन ज्ञानसे अभिन्न है, चारित्र ही ज्ञान और दर्शन है ऐसी कल्पना करनेसे पूर्वमें ज्ञान नंतर चारित्र होता है अर्थात् प्रथम वस्तुका स्वरूप वह हेय है या ग्राह्य है इसका निर्णय होता है तदनंतर ग्राह्यका स्वीकार व त्याज्यका त्याग एतत्स्वरूपी चारित्र होता है, ऐसी जो छत्रकारकी भेद कल्पना उपर प्रदर्शित की है वह, चारित्र ही ज्ञान दर्शनमय है ऐसी कल्पनाके आगे केशी टिकेगी, यहा विरुद्धता दीप उत्पन्न होगी तथा 'तं चेव' ऐसा जो नपुंसकलिङ्ग शब्द है वह योग्य न होगा, कारण परिहार शब्दके साथ उसका संबंध आनेसे 'सो चेव हवइ णाणं' ऐसा कहना पड़ेगा, क्योंकि परिहार शब्द पुष्टिही है, अथवा कर्तव्य क्या चीज है, अकर्तव्य कोनसी वस्तु है इसका जब ज्ञान हो जाता है तब अकर्तव्य-मिथ्यादर्शन, ज्ञान, असंयम, कपाय, और योग इनका परिचयान होना उसको चारित्र कहते हैं ऐसा माननेसे जो परिहरण सामान्य चारित्र है वही ज्ञान, चारित्र एक ही है अतः चारित्रा-राधनामें ही भेद वादीको अभिमत-मान्य ऐसा जो आराधनाका प्रकार है वह अन्तर्लीन हो जाता है, इस वास्ते चारित्राराधना एक ही है ऐसा सन्नार्थ समझना चाहिये।

चारित्र्याधनायामंतर्भावे ज्ञानदर्शनाप्राप्त्यनुरेव निगदितो न तपस आराधनाया इत्यत आह—

चरणमि तमि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होई ॥

सो चैव जिणोहिं तवो भणिदो असढं चरंतस ॥ १० ॥

विजयोदया-चरणमि चारित्र्ये । तमि एतस्मिन् । अकर्तव्यपरिहारेण । जो य उज्जमो उद्योग । आउंजणा य उपयोगश्च । जिणोहिं तवो होदिस्ति भणिदो इति पदघटना । चरणोद्योगोपयोगवैव तपो भवतीति जिने हतकर्मरिपराजव्यरक्तमिति यावत् । हतसुखपरिहारो हि चारित्र्ये प्रयत्ने न सुखासक्तचित्तस्ततश्च पाह्यानि तप्यासि चारित्र्यप्रारंभं प्रति परिकरता उपयान्तीति । तथा च वक्ष्यति ' बाहिरत्वेण होदि खु सव्या सुहृत्सीलदा परिश्रमा ' इति । तथा स्वाध्यायद्वयतमावना पञ्चविधा तत्र वर्तमानश्चारित्र्ये परिणतो भवति । तथा च वक्ष्यति ' सुवभाषणपु पाण दसणतवसंजमं च परिणमदि ' त्ति परिणाम एव उपयोगः । ' हतातिचारजुगुप्सपुसपुर सर वचनमालोचनेति ' अकर्तव्यपरिहारेणोपयोग कथं न चारित्र्य ? हतातिचारस्य यतैस्तदतिचारपरदाहमुद्यतो योगत्रयेण हा दुष्ट हत चित्तितमनुमत्तं चेति परिणामः प्रतिक्रमणम् । उभयं चरणोपयोगः । एवमतिचारानिमित्तद्वयक्षेत्रादिकान्मनसा अपगतैस्तत्र श्रनाहतिविवेकः । इति उपयोगता विवेकश्च । दुस्त्यज्जशरिणममत्वनिवृत्तिर्भवेद् शरीर न भवति नाहमस्येति भावना सा च परिग्रहपरित्यागोपयोग एवेति चारित्र्यं । तपसोऽनशानादेश्चारित्र्यपरिकरतोक्तैव । सातिचारं चारित्र्यमच्चारित्र्यमेवेति बुद्ध्या निश्चित्यात्मनो न्यूनतापादनं, क्रियास्व-भ्युत्थानादिकासु असंयमपरिहारेण ' बुत्तेश्चारित्र्यपरिकर ' । पुनः प्रवज्यादानमपि चारित्र्योपयोग एवेति । विनयस्तु पञ्च प्रकारः ज्ञानदर्शनाविनयो ज्ञानदर्शनपरिकरतया तदुपयोगरूपतया च ज्ञानदर्शनाभ्यासभेदात्तद्वैव चारित्र्याराधनांतर्भावः ।

इद्विविधस्य रागद्वेषयो कृपायाणा च परित्यागः, अयोग्यवाङ्मायक्रिययास्त्यागः, ईर्ष्यादिषु निरवध्या च श्रुतिश्चारित्र्योपयोग एवेति चारित्र्यविनयस्यान्तर्भावः । तयोऽधिके तपसि च भक्तिः, अनासादना च परेया तपो-विनयः, त विना सुतपसोऽभावात् तपसः परिकरता । अस्य परिकर हि तपश्चारित्र्यस्य परिकर । उपयोगो वा नान्यथास्तिता मन्यते । असद चरतः स्याच्छाब्दमन्तरेण वर्तमानस्य भवेत्तथा चतुर्विधा, द्विविधा, एकविधा वा आराधना स्यात् कसाश्च निरूप्यते ॥ पुरुषो हि प्रेक्षापूर्वकरी प्रयोजनायत्तचेष्टः सति प्रयोजने तत्साधनाय प्रयत्ने नान्यथा, तत्कथमियमाराधना व्याख्या प्रयोजिता श्रवणस्थोत्पत्ताशकया, निर्वाणसुखस्यान्यावाधाधामकस्य पुरुषार्थ-स्थोपायत्वप्रदर्शनेन आराधनान्याख्या तदर्शनेनसुप्रयोगिनी इत्येतत्प्रतिपादनायोत्तरप्रवधः । अथवा व्यावर्णिताविकल्पया वा आराधना तस्या चेष्टा कर्तव्येत्येताद्व्यानायोत्तरसूत्राणि, तथा चोपसद्वारः ' काद्वच्चा खु तदर्थं आदिहिदना वेसिणा चेष्टा ' इति ॥

चारित्र्ये तपसोऽन्तर्भावो भाव्यते ।

मूलारा—उज्जमो उद्यमः । आइंजणा उपयोगः अनुष्ठानमित्यर्थः । सो चेव आपे प्राकृते वचनादिबन्धन-  
यस्य बहुलं दर्शनात् । सो इत्यनेन उद्यमायोजने परामुभयेते । तेन ते एव चरणोद्योगोपयोगावेत्यर्थः । असदं अशाक्यं ।  
चरंतरस्य प्रवर्तमानस्य मायाहीनमनुष्ठानं कुर्यात्, इत्यर्थः । त्यक्तसुर एव हि चारित्र्ये प्रयतते इति । तदुद्यमस्तावाद्वाहं  
तपो भवति तदारंभे परिकरत्वात् । चारित्र्यपरिणामोऽन्तरंगं तपो भवति । प्रायश्चित्तादीनां दुष्कृतिनिराकृतिपरत्वेन  
तद्व्यतिरेकात् । आर्या—

त्यक्तमुखोऽन्वशनादिभिरुत्सहते वृत्त इत्ययं क्षिपति ॥

प्रायश्चित्तादीत्यापि चरणोन्तर्भवति तप उभयम् ॥

वृत्तं वा—

कृतमुखपरिहारो बाह्वे यच्चारित्र्ये

न मुखनिरतचित्तस्तेन बाह्व तपः स्यात् ॥

परिकर इह वृत्तोपक्रमेणात्र पापं

क्षिपत इति तदेवेत्यस्ति वृत्ते तपोऽन्तः ॥

चारित्र्याराधनमेव ज्ञान और दर्शनका ही अन्तर्भाव आपने दिखाया है तपका नहीं दिखाया इस शंकाका  
उत्तर आचार्य आगे की गाथामें देते हैं—

अर्थ—चारित्र्यमें जो उद्योग और उपयोग किया जाता है जिनेंद्र भगवान् उसकोही तप कहते हैं, यह  
तप आराधना जिसने मायाका त्याग किया है उसको होती है, अर्थात् माया-कपटाचरणका त्याग कर चारित्र्यमें  
उद्योग करना तथा उसमें उपयोग लगाना यही तप है, ऐसा इस गाथाका भावार्थ है,

विशेषार्थ—अकर्तव्य अर्थात् मिथ्यात्वादिकका त्याग करनेमें जो प्रयत्न करना उसको यहां उद्योग कहते  
हैं, जिसने मुखसात्तिको छोड़ा है वह ही चारित्र्यमें प्रयत्न करता है, ऐसे प्रयत्नशील मुनिराजको बाह्व तप चारित्र्य-  
प्रारंभ करनेके लिये सहायप्रदान करता है, अर्थात् अन्यानादि बाह्व तप चारित्र्यका सहकारी परिकर है, इस बाह्व  
तपके पालनेसे मुनिवर्षकी सब प्रकारकी सुखासात्ति नष्ट होती है, यही अभिप्राय “वाहिरतवेण होदि खु सव्वा

सुहृत्सालदा परिचिता ” इस गाथाके प्ररूपणमें आचार्य महाशय आगे कहेंगे. स्वाध्याय और श्रुतभावनके जो पांच भेद हैं उसमें जो हमेशा परिणति करता है वह चारित्र्यमें परिणत हो जाता है. श्रुतभावनके प्रभावसे आत्माका ज्ञान, दर्शन, तप और संयम ये पक्षावस्थाको प्राप्त कर लेते हैं. “सुदभावणाए णाणं दंसण तव संजमं च परिणमदि” इस गाथामें श्रुतभावनकी महती आचार्य आगे कहेंगे. ज्ञान, दर्शन, तप आदिमें परिणति होनाही उपयोग है. चारित्र्य-चरण करते समय जो अतिचार्य होते हैं उसकी पश्चात्तापपूर्वक विंदा करना यह आलोचना है. आलोचनामें अकर्तव्यको परिहार करनेमें आत्माका उपयोग लगता है अतएव ऐसे उपयोगको चारित्र्य कहना अयोग्य नहीं है. जब मुनिको चारित्र्य पालते समय दोष लगते हैं तब मन वचन योगसे भेने हा ! दुष्ट कार्य किया कराया व करने वालोंको अनुमोदन दिया, यह अयोग्य किया ऐसा उनके आत्माका परिणाम हो जाता है. और उस समय वे अतिचार्यसे पराङ्मुख होते हैं अतः ऐसे आत्मपरिणामोंको प्रतिक्रमण कहते हैं. आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनोंके मेलको उभय कहते हैं. अतिचार्यको कारणीभूत ऐसे द्रव्य, क्षेत्र और कालादिकसे मनसे पृथक् रहना अर्थात् दीपोत्पादक द्रव्यादिकोंका मनसे अनादर करना यह विवेक है. यह भी आत्माका परिणामही है. जिसका त्याग करना कठिन है ऐसे शरीरसे ममत्व दूर करना अर्थात् यह शरीर मेरा नहीं है और न मैं शरीररका स्वामी हूं ऐसी जो भावना उसको व्युत्सर्ग कहते हैं. अर्थात् परिग्रहत्यागके प्रति जो उपयोग है उसको व्युत्सर्ग कहते हैं. यह प्रतिक्रमणादिरूप परिणाम चारित्र्यरूप है. अनशनादिक तप चारित्र्यके परिकर हैं ऐसा उपर कहा है. अतिचार्यसहित चारित्र्य अचारित्र्य है ऐसा बुद्धीसे निश्चित कर आत्मामें चारित्र्यकी वृद्धि करना, वदना करना, खदे होना इत्यादि क्रियाओंमें असंयमका परिहार करके प्रवृत्त होना यह सब चारित्र्यका परिकर है. मुनिव्रत लेना अर्थात् दीक्षा धारण करना यह भी चारित्र्योपयोग है. विनयकुं प्राच प्रकार हैं. ज्ञान विनय और दर्शन विनय ये ज्ञान व दर्शनके सहायक हैं. और उनके प्रति उपयोगरूप होनेसे ज्ञान और दर्शनसे ये अभिन्न हैं. पांचो हंदिओंके स्वर्ग्य रसादिक विषयोंका त्याग तथा रागद्वेषका और कर्पायोंका त्याग इनका चारित्र्याशयनामें अंतर्भाव होता है. अयोग्य वचन और शरीरकी अयोग्य चेष्टाओंका त्याग करना, जाना, बोलना, आहार लेना पदार्थोंका ग्रहण करना इत्यादि कार्योंमें पापरहित प्रवृत्ति करना ये सब चारित्र्योपयोग हैं. अतः इस चारित्र्य विनयका चारित्र्यमें अंतर्भाव होता है. जो तपसे श्रेष्ठ हैं ऐसे मुनिओमें तथा तपव्यापों आदर रखना, किसीकी

अवहेलना न करना यह सब तपोविनय है, इसके बिना तपश्चरणमें श्रेष्ठता नहीं आती है, अतः यह तप आराधनाका परिकर है, तथा यह तप आराधना चारित्र्याराधनाका परिकर है, कपटका त्याग करके जो तप किया जाता है वही तप आराधना है,

इस प्रकार चार प्रकारकी, दोन प्रकारकी, एक प्रकारकी आराधना कही है, ये आराधनाके भेद अथवा समग्र आराधना कारण के बिना कहना योग्य नहीं है, क्योंकि पुरुष बुद्धिसे विचार कर कार्य करता है तथा उसका प्रयोजन किसी कार्य करनेसे सिद्ध होता दीर्घेणा तो वह उसको करनेके लिये प्रयत्न करता है, अथवा प्रयोजन सिद्धीके लिये उसके साधनोंका संग्रह प्रयत्नसे करता है, प्रयोजन सिद्ध होनेकी संभावना नहीं दीखनेपर वह कार्य करनेसे हट जाता है, अतः यह आराधना पुरुषको श्रवण कार्यमें कैसी उद्युक्त करेगी ? ऐसे प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

किसी प्रकारकी बाधा जिसमें नहीं है ऐसा मोक्षका सुख प्राप्त कर लेना यह आत्माका इष्ट प्रयोजन है, उसके सिद्धिका उपाय यह आराधना ही है, अतः इस आराधनाका विवेचन निर्वाणसुखेच्छु भव्योंका अवश्य उपयोगी होगा, ऐसा उद्देश मनमें धारण कर आचार्य आगेका प्रबंध कहते हैं, अथवा चार, दोन, एक ऐसे भेद जिसके ग्रंथकारने बताये हैं ऐसे इस आराधनामें मोक्षसुखेच्छु भव्योंको प्रवृत्ति करना योग्य है, इसके निरूपणके लिये यह उत्तर प्रबंध है, इसवास्ते आत्माहितका अन्वेषण-शोध करनेवाले भव्यात्माका मुक्तिसुखके लिये इसमें प्रवृत्ति करना अवश्य कार्य है इसलिये ग्रंथकारने “कादव्या सु तदर्थं आदहिदग्ने-सिणा चेद्धा” ऐसा उपसंहार किया है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य इन तीनोंमें कौन मुख्य है ऐसा प्रश्न किया जाने पर आचार्य चारित्र्य की मुख्यता दिखानेके लिये उत्तर गाथा कहते हैं ऐसा कितनेक विद्वान कहते हैं परंतु यह उनका कहना अयोग्य है,

अन्येऽत्र व्याचक्षते ज्ञानदर्शनचारिष्वे किं प्रधानमिति चोद्ये चारित्र्यमावाप्त्यव्यापनायोत्तरस्त्वमिति तदुक्तम् ।

पाणस्त दंसणस्त य सारो चरणं हवे जहाखादं ॥

चरणस्त तस्त सारो णिव्याणमणुत्तरं भणियं ॥ ११ ॥

विजयोत्पत्त्या—‘पाणस्स दंसणस्स य सारो चरण जहावाद्’ इत्युक्ते ज्ञानदर्शनार्थं प्रधानं चारित्र्य इति प्रतीतेरुपपत्तेः । अयमात्मनि कर्मापायनिमित्तास्ति वा न वा ? यदि नास्तीत्युच्यते सूत्रविरोधः ‘सम्प्रत्यदर्शत्वात्-चारित्र्याणि मोक्षमार्गं’ इति सूत्रमवस्थितम् । अथोपायवतिस्ति ? परार्थतया गुणत्वं अयामिति का प्रधानता चारित्र्यस्य ? ज्ञानदर्शने चारित्र्याथं चारित्र्य तु न तदर्थमिति वक्तुं अयुक्तम् । ज्ञानदर्शनयोः साध्यत्वाच्च उपायवत्या चारित्र्यस्य चारित्र्य तदर्थमिति तस्य किमित्यप्रधानता न भवति ? न हि चारित्र्यमतेरणे क्षाधिकं ज्ञानं, क्षाधिकं वीर्यं रागादभ्यस्य स्वोपजायते । तस्मात्प्रायः क एव उत्तरप्रवचकम् । इदं सूत्रं यथाख्यातचारित्र्यस्वरूपं तत्फलं च गदितुं शक्यते । ‘पाणस्स दंसणस्स य सारो’ सारशब्दोऽप्रातिशयितगुणवचनः । तथा प्रयोगः—

पदमच्च य विगलियमच्छेणेण सुयणेण गदियसारमिम् ।  
दोस मोत्तूण खलो मेक्खं कव्वमिम् किं अण्ण ॥

प्रथममेव साधुजनेन विगलितमात्सर्येण शुद्धीतेऽतिशयितगुणे काव्ये दोषं मुफत्वा खलं किमन्यद्गृह्णाति इति गाथाार्थः ॥  
ज्ञानदर्शनयोरतिशयितरूपं किं तन्मोहनीयजन्यकलकरहितं, चरणं चारित्र्यं । हवे भवेत् । जहावाद् यथाख्यातः । तथा चोक्तः—

“चारितं खलु धम्मो धम्मो जो सो सम्मोति णिहिट्ठो ॥  
मोहफल्लोद्विहणो परिणमो अप्पणो य समो ॥”

इति ॥ “मोहो द्विविधो दर्शनमोहश्चारित्र्यमोहश्च । तत्र दर्शनमोहन्य अथक्कान् शकाकाक्षाविचिकित्सान्यदपि प्रशसासत्स्वरूपं । चारित्र्यमोहजन्यो रगद्वेषौ तदनुनिमयं ज्ञानं दर्शनं च यथाख्यातचारित्र्यमित्युच्यते” इति सूत्रार्थः । चरणस्स चारित्र्यस्य, तस्स तस्य, यथाख्याताख्यस्य । सारो अतिशयितं फलं साध्यसाधनलक्षणसवधानिमित्तं । एतं पृष्ठो तेन साध्यफलं लब्धं, सारशब्दस्तु तस्यातिशयमाचष्टे । ततोऽयमर्थो ज्ञातं यथाख्यातचारित्र्यस्य फलमतिशयितमिति । किं तत् निव्याणं निर्वाणं विनाशः, तथा प्रयोगः—निर्वाणं प्रदीपो नष्ट इति यावत् । विनाशसामान्यमुपपादय वर्तमानोऽपि निर्वाणशब्दः चरणशब्दस्य निर्जातकर्मशान्तसामर्थ्याभिधायिनः । प्रयोगात्कर्मविनाशगोचरो भवति । स च कर्मणा विनाशो द्विप्रकारः, कतिपयः प्रलयः सकलप्रलयश्च । तत्र द्वितीयपरिग्रहमाचष्टे—अणुत्तरमिति न विद्यतेऽन्यं दुत्तरमाधिकं अस्मादित्यनुत्तरः । अणुत्तर उक्तं पदवचनं इति शेषः । अथवा ज्ञानशक्तानयोः फलं दुःखहेतुक्रियापरिहारः यस्तस्मात् फलं तत्र सन्निहितो हेतुस्तत्तद्व्यापाराराधनाया इतरेतरान्तर्भाव इत्यायातम् । इदं सूत्रं ‘पाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहावाद्’ इति ॥ पापक्रियादुःखहेतु तत्परिहारश्च असति ज्ञाने शब्दत्वे वा न संभवति, क्वचिन्नमनसो रंजनं अप्रीतिर्वा पापक्रियाभिभवकर्मसंस्मरणं चिरंतननिरासं च विद्येति चरणमदो युक्तमुच्यते ‘चरणस्स तस्स सारो णिव्याणमणुत्तर’ इति ।

१ खपुस्तके यदत्र च फलमिति पाठः । २ खपुस्तके इतरान्तर्भाव इति ।

उक्तविकल्पया आराधनायाः परमपुरुषार्थं फलमिति दर्शयितुं तत्फलत्वात्तत्र स्वहितैषिणा चेष्टितव्यमिति च वक्तुं गाथात्रयं सूत्रयस्तत्रादौ तत्साधकतमत्वाद्यथाख्यातचारित्र्यस्य स्वरूपं फलं च वक्तुमिदमाह—

मूलरा-सारोऽतिशयितं रूपं । रागाद्वेपरहिते ज्ञानदर्शने एव यथाख्यातं नाम यथोक्तभागे वा चारित्र्यं भवति इत्यर्थः । सारो अतिनयित फलं तस्येवत्र साध्यसाधनसंबंधे पृथिविधानात् । णिव्वाणं विनाशोऽर्थार्त्कर्षणा मेव । अणुत्तरं न विद्यते अन्यदुत्तरमधिकमस्मादित्यनुत्तरं । यथाख्यातचारित्र्यस्य परमशुक्तिः फलमित्यर्थः ।

अर्थ—रागाद्वेपरहित ऐसे ज्ञान व दर्शन ही यथाख्यात चारित्र्य है, ऐसा आगममें कहा है, अर्थात् यथा-ख्यात चारित्र्य यह रागाद्वेपरहित ऐसे ज्ञान दर्शनका उत्कृष्ट सार है, इस यथाख्यात चारित्र्यका फल निर्वाण-मोक्ष है, सर्व कर्म आत्मासे हट जाना ही मोक्ष है, यह चारित्र्यका सर्वोत्कृष्ट फल है, ऐसा इस गाथाका संक्षेपार्थ है, विशेषार्थ—‘ज्ञान और दर्शनका सार फल यथाख्यात चारित्र्य है’ इस वाक्यसे ज्ञान और दर्शनसे यथा-ख्यात चारित्र्य श्रेष्ठ है ऐसा अर्थ कोई विद्वान मानते हैं परंतु यह मानना असंगत है, हम उनको पृछते हैं कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य तीनोंको कर्मका नाश करनेमें निमित्तता है या नहीं ? यदि ये तीनों भी निमित्त नहीं है, ऐसा कहोगे तो “सम्पदार्जनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गाः” इस छत्रके साथ विरोध आवेगा, क्योंकि यह छत्र ज्ञानादिको कर्मनाश करनेमें निमित्त समझता है, यदि ये तीनों भी मोक्षके उपाय हैं ऐसा कहोगे तो तीनों भी उत्कृष्ट पदार्थ होनेसे सबको ही गुणपना प्राप्त हुवा, अतः चारित्र्यकी प्रधानता कैसी समझी जायगी ? ज्ञान और दर्शन चारित्र्य प्राप्तिके लिये हैं परंतु चारित्र्य उनकी प्राप्तिके लिये आवश्यक नहीं है यह कहना भी योग्य नहीं है, हम तो ज्ञान और दर्शन चारित्र्यसे प्राप्त हो जाते हैं अतः चारित्र्य साधन और ज्ञान दर्शन साध्य हैं ऐसा समझते हैं, क्योंकि चारित्र्यके बिना क्षयिज्ञान-केवलज्ञान और क्षयिक वीतराग सम्भवत्व प्राप्त नहीं होते, हैं अत यह छत्र चारित्र्यकी मुख्यता वतानेके लिये नहीं है, किंतु यथाख्यातचारित्र्यका स्वरूप और उसका फल प्रदर्शित करनेके लिये है ऐसा समझना चाहिये, णाणस्स दंसणस्स य सारो’ यहाँ सार शब्द उत्कृष्ट गुण इस अर्थमें उपयुक्त हुवा है, इसका उदाहरण आचार्य लिखते हैं—

“जिसने मत्सरदोषका त्याग किया है ऐसे सज्जनने कान्यका सार भाग अर्थात् उत्कृष्ट गुण ग्रहण



करनेपर दुर्जनको द्वेषोंके सिवाय काव्यमें और कौनसी वस्तु प्राप्त होगी ? यहां सार शब्दका उत्कृष्ट गुण ऐसा अर्थ किया है. प्रकृत विषयमें भी वही अर्थ करना योग्य है,

मोहनीय कर्मसे उत्पन्न हुए दोष जिसमें तिलमात्र भी नहीं है ऐसा यथाख्यात चारित्र ही ज्ञान और दर्शनका उत्कृष्ट स्वरूप है.

रागद्वेषरहित जो आत्माकी समावस्था उसको चारित्र कहते हैं. मोहका उदय न होनेसे परिणामोंमें जो निर्मलता पायी जाती है उसीको समावस्था कहते हैं. हम समावस्था को धर्म कहते हैं. इसीको ही चारित्र कहते हैं. इस विषयमें 'चारित्र खलु धम्मो' यह गाथा प्रसिद्ध है—

दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ऐसे मोहकर्मोंके दो भेद हैं. उसमें दर्शनमोहके उदयसे जीवादितत्त्वों पर अश्रद्धान उत्पन्न होता है. इसके शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टिसंस्तव ऐसे उत्तर भेद हैं. चारित्र मोहसे रागद्वेष होते हैं. इस दो प्रकारके मोहकर्मोंसे अलिप्त ऐसा श्रद्धान और ज्ञान ही यथाख्यात चारित्र है. ऐसा 'णाणस्स दंसणस्स य' इस गाथाका अभिप्राय है.

यथाख्यात चारित्रिका अतिशय फल निर्वाण है. निर्वाण शब्दका विनाश ऐसा अर्थ है. जैसे—'निर्वाणः प्रदीपो नष्ट इति यावत्' दीप निर्वाण हुवा, नष्ट हुवा, यहां निर्वाण शब्दका सामान्य अर्थ नाश ऐसा है. तो भी प्रकृत विषयमें चारित्रमें जो कर्मनाश करनेका सामर्थ्य है उसका प्रयोग यहां निर्वाण शब्दसे किया है. अर्थात् कर्मका नाश करना यह चारित्रिका फल है. कर्मका नाश दो प्रकारका है. १ थोड़े कर्मोंका नाश २ सर्व कर्मोंका नाश. 'पिण्डाणमणुत्तरं भणियं' अर्थात् अनुत्तर शब्दका निर्वाण शब्दसे संबध होनेसे सर्व कर्मोंका नाश ही यहां अभिप्रेत—इष्ट है. यही यथाख्यातका सर्वोत्कृष्ट फल है ऐसा आगममें प्रतिपादन किया है

अथवा दुःखकी कारण ऐसी क्रियाओंका परिहार होना यह ज्ञान और श्रद्धाका फल है. जहां फल रहता है. वहां उनका कारण भी रहता है जैसे घट कार्य है तो उसके साथही मट्टी रूप कारण भी रहता है. उसी तरह जहां चारित्ररूपी फल अर्थात् दु खोंके कारणोंका परिहार एतत्स्वरूपी फल है उस आत्मामें चारित्रके हेतुरूप अर्थात् फलको उत्पन्न करनेवाले ज्ञान और श्रद्धान भी रहतेही हैं. अतः चारित्राराधनामें ज्ञान और दर्शनाराधनाका अंतर्भाव होता है ऐसा सिद्ध हुवा.

जिवनी पापयुक्त क्रियायें हैं वे सब दुःख उत्पन्न करती हैं इसका जब आत्माको ज्ञान हो जाता है व अद्वान हो जाता है तब आत्मा ऐसी दुःख कारक क्रियाओंका त्याग करता है. परंतु ज्ञान व अद्वान न हो तो ऐसी क्रियाओंसे आत्मा विरक्त नहीं होता. ऐसी क्रियाओंमें उसको आनंद होता है व कल्याणकारक क्रियाओंमें वह अभीति रखता है. जब ज्ञान दर्शन युक्त चारित्रकी आत्माको प्राप्त होती है तब वह चारित्र नवीन कर्म आत्मामें नहीं आने देता व पूर्व बद्ध कर्मकी निर्जरा करता है. अतः इस चारित्रका उत्कृष्ट फल कर्मका पूर्ण विनाश करना ऐसा आचार्यका कहना योग्य ही है.

यज्ञान दुःखहेतुनिराकरणफलमित्यस्यान्वयप्रसाधनाय दृष्टन्माह—

चक्षुस्स दंसणस्स य सारो सप्पादिदोसपरिहरणं ॥

चक्षू होइ णित्थं दट्ठूण विले पडंतस्स ॥ १२ ॥

विजयोदया—चक्षुस्स दंसणस्स य सारो इति । चक्षुस्स चक्षुषः । इत्येन्द्रियमिह चक्षुरिति गृहीत निर्दु-  
तिरुपकरणं च तज्जन्यत्वादरूपगोचर विधान दर्शनं तस्य सवधितयोन्यते । ततोऽयमर्थो जायते—चक्षुर्जन्यायाः प्रतीतेः  
सारो फल किं सप्पादिदोसपरिहरण सर्वकटकदीनां स्वर्शानादिक्रियायाः दुःखदायिन्याः परिहारः स्वर्पादिभिः सपाद्य-  
रणात् स्वर्शानमक्षणादिकः क्रियाविशेषः स्वर्पादिदोष इत्युच्यते, तस्य परिहरणं परिचर्जनं, ततोयं वाक्यार्थः—यज्जनं  
तदुःखनिराकरणफलं यथा चक्षुर्जन्यस्वर्पादिगोचरज्ञानं स्वर्पादिसर्वशानमक्षणादिपरिहरणफलमिति । चक्षुर्शानमिह  
चक्षुश्चयते चक्षुःप्रसृत ज्ञानं । होदि भवति । णिरय निरर्थक । दट्ठूण दृष्ट्वा ज्ञात्वा विलादिकमग्रतः स्थितं,  
विलग्रद्वणमुपलक्षण उपधातकारिणाम् । पडतस्स पततः पुरुषस्य । अत्रापरा व्याख्या—ज्ञानादर्शनाद्यारमोपकारिरे-  
विरुफलदायिचारित्र इत्युक्तं । ननु ज्ञानमिष्टानिमिष्टमार्गोपदर्शि तद्व्युक्त ज्ञानस्योपकारित्वमभिधातुं इति चेन्न ज्ञानमज्येष्ठे  
प्रायसिद्धिः, यतो ज्ञाने प्रबुद्धिहीन असत्तम । अत्र वस्तुनि दृष्टान्तदर्शनेन निगमयति—चक्षुस्स दंसणस्स य इति ।  
ज्ञानदर्शनाभ्यामपि चारित्रस्यात्मोपेकान्तिता कसिन्मन्त्रे निगदिता येनोक्तमित्युच्यते । अतीतसूत्र इति चैतन्मिथ्या  
पाणस्स दंसणस्स य सारो चरण द्वे जडाब्धादे । इत्यतो वाक्यार्थिकं ज्ञानदर्शनाभ्या चारित्रमेवोपकारीत्यय प्रत्ययो  
जायते ? एवमिति तदनुभवविरुद्धमाचरतीत्युपेक्ष्यते, न चैतक्ययुक्तमित्युच्यते । किंच तस्य सूत्रस्य या पातनिका कृता  
ज्ञानदर्शनाचारित्र्येभ्यु किं प्रधानमित्यत्र प्रश्ने, प्रधानस्य निरूपणार्थं सूत्रमित्यनया च विरुध्यते । ' चरणस्स तस्स सारो  
णिज्वाणमणुत्तर भणिय ' इत्युक्त चारित्रस्य समतारूपस्य फलमशेषकर्माणाय इत्युक्तं ॥

यज्ञानं तद्दुःखतिराकरणफलं यथा चक्षुर्ज्ञानमित्यन्वयदृष्टान्तं प्रकृते वर्णयन्नाह—  
मूलरा-चक्षुस्स वंसणरस-चक्षुर्ज्ञानस्य सारो फलं । सप्पादिदोसपरिहरणं । सर्पादीना भुजंगकीटकादीना  
दोपो दुःखहेतुः सर्वानभक्षणदिक्रिया तस्य परिवर्जनं । चक्षुः चक्षुर्ज्ञानं, गिरत्थं निष्फलं । विले गवादादुपपातहेतौ ॥

दुःखोक्तं कारणोक्तो दूर करना यह ज्ञानका फल है इसका अन्यय सिद्ध करनेके लिये आचार्य दृष्टांत  
कहते हैं—

हिंदी अर्थ—नेत्र और उससे होनेवाला जो ज्ञान उसका फल सर्वदृश्य, कंटकव्यथा इत्यादि दुःखोंका परिहार  
करना यह है, परंतु जो विलादिक देवकर भी उसमें गिरता है उसका नेत्रज्ञान व्यर्थ है,

विशेषार्थ—यहां चक्षु शब्दका अर्थ द्रव्यचक्षु ऐसा है, इस चक्षुके निर्वृत्ति और उपकरण ऐसे दो भेद हैं,  
उत्सेधांगुलके असंख्येयभागममाण नेत्रोद्विग्रावरणक्षयोपशमविशिष्ट ऐसे आत्ममदशोकी जो नेत्राकार रचना होती है  
वह चक्षुकी अभ्यंतर निर्वृत्ति समझना चाहिये, नेत्राकार आत्ममदशोके उपर जो पुद्गलकी रचना होती है उसको  
ब्रह्म निर्वृत्ति कहते हैं, निर्वृत्तिरूप चक्षुके संरक्षणके लिये जो कृष्ण शुद्ध मंडल तथा पापनी चौरों रचना है वह  
उपकरण है, अर्थात् उपर्युक्त निर्वृत्ति और उपकरणरूप नेत्रको द्रव्यचक्षु कहते हैं, इस चक्षुसे उत्पन्न होनेवाले  
ज्ञानको यहादर्शन कहते हैं, दुःखनिराकरण करना यह ज्ञानका फल है, जैसे सर्पकंटक इत्यादि दुःखकारणोंका चक्षुसे  
उत्पन्न हुआ ज्ञान, सर्पादिदृश्य, कंटकादिव्याथाका परिहार करता है, अर्थात् ऐसे दोषोंसे मनुष्यको अलग रखना  
यह नेत्रज्ञानका फल है, उसी तरह दुःखोत्पादक संसारकारणोंका परिहार करना यह सम्यग्ज्ञानका फल है,

यहां दूसरी व्याख्या ऐसी है, “ज्ञान और दर्शनसे भी आत्माका अधिक हित करनेवाला विशिष्टफलदायी  
चारित्र्य है” ऐसा मत गाथार्थों कहा है, परंतु यहां ऐसी शंका उत्पन्न होती है—

“ज्ञान इष्ट मार्ग कोनसा और अनिष्ट मार्ग कोनसा है यह दिखाता है, अतः वह उपकार करता है ऐसा  
कहना योग्य है,” यह कहना योग्य नहीं है, ज्ञानमात्रसे इष्ट सिद्धि नहीं होती, कारण प्रवृत्तिहीन ज्ञान नहींके  
समान है, जैसे नेत्रसे ज्ञान होकर भी वह यदि कुत्रेमें गिरते रुंचे पुरुषको नहीं बचाता है तो वह व्यर्थ है,

यहां आचार्य उपर्युक्त व्याख्याकारको प्रश्न करते हैं—

“ज्ञान और दर्शनसे भी चारित्रिका आत्माके ऊपर अधिक उपकार है” ऐसा किस गाथामें कहाँ है ? पूर्व गाथामें कहाँ है ऐसा आप कहते हैं परन्तु यह आपका कहना मिय्या है.

‘पाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं देवे जहात्ताद’ इस वाक्यमें ज्ञान और दर्शनसे भी चारित्रिकी उपकारी है ऐसा अनुभव आता है क्या ? हां आता है ऐसा कहोगे तो वह अनुभवसे विरुद्ध होनेसे उसकी उपेक्षा करनी चाहिये. यदि वह अनुभव विरुद्ध नहीं है ऐसा कहोगे तो ‘कहा है’ ऐसा क्यों कहा ? और भी श्रुतिके कारण ऐसे ज्ञान, दर्शन और चारित्रि इन तीनोंमें कौन प्रधान है ? ऐसा प्रश्न होनेपर प्रधानका निरूपण करनेके लिये यह स्रज है ऐसा जो शीर्षक आपने लिखा है वह भी आपके उपर्युक्त निरूपणसे विरुद्ध है.

कर्मापायो हि कथं पुरुषार्थः दुःखनिवृत्तिः सुखं चाभिमतं फलमित्यरेकार्या प्रधानपुरुषार्थस्य अस्त्रित्वाथा-  
व्यपगतमरूपस्य सुखस्य निवंधनतयापययोगितामाचष्ट कर्मापायस्य—

णिव्वाणस्स य सारो अन्वावाहं सुहं अणोवमियं ॥

कायन्वा हु तददुहं आदहिदग्गोसिणा चेद्धा ॥ १३ ॥

विजयोदय—णिव्वाणस्स य सारो इति । निरवशेषकर्मापायस्य सारः फलं । अन्वावाहं कर्मजन्यसकल-  
दुःखापाय. कारणभावो कार्यस्य अनुत्पत्ते. । अणोवमियं उपमातीत । फादन्वा कर्तव्या । चेद्धा चेष्टा । तददुहं  
अन्वापायसुखायर्थम् । आदहिदग्गोसिणा आत्महितं सुगयता । क चेष्टा कार्या ? आराधनाया मृतावनतिचारज्ञानदर्शन  
चारित्र्यपरिणतिरूपाया । कस्मात् ?

निर्वाणफलमाह—

मूलारा—अन्वावाहं निर्दुःखं दुःखदेतूनामशेषकर्षणं प्रपद्यत् । तत एव अणोवमियं अनौपम्य । स्वर्गादि  
सुखाना कर्माधीनतया सन्वापायत्वात् । तददुहं अन्वापायसुखार्थम् । आदहिदग्गोसिणा आत्महितान्वेषिणा । चेष्टा  
अनुष्ठानं । प्रकृतत्वान्मरणे ज्ञानदर्शनचारित्र्यतयःपरिणतिरूपयामाराधनायामिति योज्यं ।

‘चरणस्तु तस्मात् सारो णिव्यापमणुत्तरं भणियं’ इस सूत्रसे समतारूप चारित्रिका संपूर्ण कर्मका नाश होना यह फल है ऐसा पूर्व गाथामें कहा है. परंतु कर्मका नाश होना यह पुत्रार्थ कैसा ? दुःखका नाश होना तथा इष्ट सुखकी प्राप्ति होना यही फल मानना योग्य है. ऐसी शंकाका आचार्य इस प्रकार उत्तर देते हैं—जिसमें तिलमात्र भी बाधा नहों है ऐसे पुत्रार्थ रूपी सुखकी प्राप्ति होनेमें सर्व कर्मका नाश होना यह कारण है अतः वह उपयोगी है ऐसा विवेचन ग्रंथकार करते हैं—

हिंदी अर्थ—कर्मसे उत्पन्न हुए समस्त दुःखोंका अभाव होना यह संपूर्ण कर्मके नाशका फल है. कर्मही सर्व दुःखोंका जनक है अतः जब कर्मका पूर्ण क्षय होता है तब दुःखका लेश भी नहीं रहता है. कारणके नाशसे कार्यका नाश होना यह योग्य ही है. अतः यह दुःखभाव अर्थात् सुख अनुपम है उपमा रहित है. आत्माहितका शोध करनेवाले सुष्ठु जनकोंको मरण समयमें ज्ञान दर्शन और चारित्र्यमें निरतिचार परिणीति करना चाहिये. क्योंकि,

जह्मा चरित्तसारो भणिया आराहणा पक्वणम्मि ॥

सव्वस्स पक्वणस्स य सारो आराहणा तह्मा ॥ १४ ॥

विजयोदया—जह्मा यस्मात् चरित्तसारो चारित्र्यस्य ज्ञाने दर्शने प्रयत्नानिद्वयौ च प्रयत्नस्य चरणं प्रवृत्तिः परिणतिरिह चारित्र्यशब्देन गृहीता, ततोऽयमर्थो लब्ध. सार फलमिति । भणिया कथिता । आराहणा आराधना । मृतौ अर्नातचारजत्रयता । पक्वणम्मि प्रोच्यते इष्टेष्टप्रमाणाविरहेन जीवाद्य. पक्वार्थं अनेनास्मिन्नेति प्रवचनं जिनगम स्मृतिम् । अतिशयवत्ता प्रकृताया आराधनाया उपसहरस्युत्तरार्द्धेन सव्वस्स इत्यादिना । सव्वस्स समस्तस्य । पक्वणस्स जिनगमस्य । सारो अतिशयः । आराहणा आराधना व्यापणितरूपा । तम्हा तस्मात् । य शब्द पक्वकारार्थः स चाराध नाशब्दपरतो द्रष्टव्यः । आराधनेव सार इति ।

अन्यत्र व्याख्या—यद्विदुर्लोकं फलं पतञ्जलिमात्रादुत विशिष्टज्ञायते इत्याह—जह्मा चरित्तसारो इति । किं पतञ्जलिकायां गाथाया सव्वदस्युपयाति न चेतीत्यत्र श्रोतारः प्रमाण । कस्मात् ? अतिशयवत्तया राधनागमऽभिहितता यस्मात्—

कस्मात् ?

मूलारा—चरितसारो चरित्रस्य जीवद्वयस्थामाविनिरतिचाररत्नत्रयप्रयत्नस्य सारः फलं । आराहणा मरणे निरतिचाररत्नत्रयपरिणति । पक्वण्णिम प्रकर्षेण द्रष्टुप्रमाणाविरोधेन उच्यते प्रतिपाद्यन्ते जीवादयो भावा अनेन अस्मिन्नेति प्रवचनं जिनागमस्तास्मिन् । सारोऽतिशयः । आराहणा आराधनैव च शब्दस्य एवकारार्थस्यात्र संबन्धनात् ॥

हिंदी अर्थ—प्रत्यक्ष च परोक्ष प्रमाणोंके अनुसार जीवादिक पथाथोंका जिसने अथवा जिसमें विवेचन किया है ऐसे जिनागममें ज्ञान, दर्शन और पापोंका परिहार रूपी चारित्र इन तीनोंमें जो पूर्ण उद्यमशील हुआ है उसको आराधना रूप फल प्राप्त होता है. अतः संपूर्ण जिनागमनका आराधनाही सार है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट फल है.

यहां दुसरी व्याख्या ऐसी है—उपरकी गाथामें जो फल कहा है वह चारित्रमात्रसे मिलता है या विशिष्ट चारित्रसे ? उत्तर विशिष्ट चारित्रसे मिलता है—

जम्हा चरितसारो इस छत्रके उपर जो शीर्षक आपने लिखा है उसका अभिप्राय गाथाके अभिप्रायसे मिलता जुलता है या नहीं इसमें हम श्रोताओंको ही प्रमाण समझते हैं. क्योंकि आगममें आराधना सर्वोत्कृष्ट फलरूप है ऐसा कहा है.

सुचिरमवि णिरदिचारं विहरिता णाणदंसणचरित्ते ॥

मरणे विराधयित्ता अपणंतसंसारिओ दिट्ठो ॥ १५ ॥

विजयोदया—सुचिरं अतिचिरकालमपि । णिरदिचार अतिचारमंतरेण । विहरिता विहृत्य । क ? णाणदंसण-चरित्ते ज्ञाने श्रद्धाने समताया च । मरणे भवपर्यायविनाशकाले । विराधयित्ता रत्नत्रयपरिणामान्चिनादय मिथ्यादर्शने ज्ञाने उत्तरमे परिणतो भूत्वा । अपणतससारिओ अनन्तभवपर्यायपरिवर्तने उद्यत । दिट्ठो दृष्ट । देशानं पूर्वकोटीकालं अनतिचाररत्नत्रयप्रयुक्तानामपि मरणकाले तत प्रच्युतानां सुकम्पभावं सत्सारे चिरपरिश्रमणकथनव्याजने दर्शयति सूत्रकार ।

कस्मादतिशयवत्तया मरणे आराधनागमेऽभिहितेति चेत् यस्मात्—

मूलरा—सुचिरमपि अष्टवर्षानपूर्वकोटिकालमपि । विहरिता परिणतो भूत्वा मरणे भवपर्यायनिनाशे वर्तमान इति शेषः । विराहवियता—रत्नवयपरिणतिं विनाशय मियथाज्ञानासंयमेषु परिणतो भूत्येत्यर्थः । अन्ततसंसारिओ अन्ततभव पर्यायपरिवर्तने उद्यतः ॥

हिंदी अर्थ—चिरकालपर्यंत भी ज्ञान दर्शन और चारित्र्यमें निरतिचार प्रवृत्ति कर मनुष्यभव छोड़नेके समयमें यदि रत्नत्रय परिणामसे यह जीव अष्ट होगा अर्थात् रत्नत्रयपरिणामोंका नाश कर मियथादर्शन, ज्ञान और असंयममें परिणत होगा तो अन्ततसंसार युक्त हो जाता है अर्थात् अन्ततभवके पर्याय धारण करनेवाला होता है, जिन्होंने देशोन पूर्व कोटिकाल पर्यंत निरतिचार रत्नत्रयका पालन किया परंतु मरणसमयमें वे उससे अष्ट होगाये तो उनको श्रुक्तिका अभाव होता है यह संसारमें चिरकाल परिश्रमणके कथनके निमिचित्से आचार्यने दिखाया है.

अनुपगतमिध्यात्वस्य अविचलितचारित्र्यस्यापि परीपहपरिभवादुपगतसंक्षेपस्य महती संख्यतिरिति भयोप-  
दर्शनेन संक्षेप परित्याज्य इति निगदति सूत्रकारः ।

समिदीसु य नुत्तीसु य दंसणणाणे य णिरट्ठिचारणं ॥  
आसादणवहुलाणं उक्कस्सं अंतर्तं होई ॥ १६ ॥  
अमितिगतिआरा— समितिणुसिंसंज्ञानदर्शनादित्रयेश्विनाम् ॥  
प्रवर्तितापवादानां जायते महदंतरम् ॥ १९ ॥

विजयोदया—समिदीसु य इत्यादिना अन्ये व्याचक्षते—“ उक्कस्यानतसंसारस्य प्रमाणप्रतिपादनाय आयाता गाथा, अनतस्यानतविकल्पत्वात् अनतविशेषः प्रतिपादनीयः ” अस्या व्याख्याया उक्कस्स अंतर होदीत्येतावदुपयुज्यते । इतरस्य वचनसदृशस्य अनर्थकत्व प्रसज्यते इति । समिदीसु य सम्प्रगयनादिषु अयान समितिः, सम्प्रक्षुप्तक्षानिहृपितक्रमेण गमनादिषु वृत्ति समितिः । साधययोगेभ्य आत्मनो गोपन मुक्तिः । वस्तुयाथात्म्यशब्दान दर्शन । अप्रतीमिध्या-

त्वकलंकस्यात्मनो वस्तुतत्त्वपरिच्छिन्नं मत्पादिश्रयोपशामिकं दानं । क्षयिके सति दाने आसन्नताया असंभवः । मोहजन्मत्वात्सङ्क्षेपशस्य, मोहस्य च केवलक्षान्तिन्यत्ते प्रागेव विनष्टत्वात् । तथा चोक्तं—'मोहदृश्याज्ञानदर्शानावरणान्तराश्रयाच्च केवलम्' इति । वीतरागासम्पत्तयश्च नैव गृहीतम् । मोहप्रलयमन्तरणं वीतरागता नास्तीति । ईर्ष्यासमितेरतिचारः । मंदालोकगमनं, पदविन्यासदेशस्य सम्प्रयानालोचनम्, अन्यनतीचिन्तादिकम् । इदं वचनं मम गदितुं शुकं न वेति श्रुनालोच्य भाषणं, अज्ञात्वा वा । अत एवार्क 'अपुष्टो दुःखं नासेज्ज नासमाणस्स अंतरे' इति अपुष्टं श्रुतधर्मतया मुनि अपुष्ट इत्युच्यते । भाषासामितिकप्रवर्तनमिदं मौनं गृहीतम् इत्यर्थः । एवमादिर्को भाषासमिन्त्यतिचारः । उद्गमादिदोषं गृहीतं भोजनमनुभवनं चवस, कथितं वा प्रशंसा, तं सहवास, क्रियानु प्रवर्तनं वा एषणासमितेरतीचारः । अद्वैतव्यस्य, स्थाप्यस्य वा अनालोचनं, क्रिमव जंतव सन्ति न सति वेति दुःप्रमाजंनं च आदाननिक्षेपणसमिन्त्यतिचारः । कायभूभ्यप्रशोधनं, मलसंपातदेशानिरूपणादि, पवनसनिवेदादिनकरादिपूक्रमेण वृत्तिश्च प्रतिष्ठपानासमिन्त्यतिचारः ॥ असमाहितचित्तवृत्तया फायक्रियानिवृत्तिः फायगुहंरतिचारः । एकपदादिस्थानं वा जनसत्वरणदेशे, अष्टाभ्युपानाभिनिविष्टस्य वा निश्चलता । अमातासप्रतिधियाभिमुपतया वा तद्वाराधनतयापुत इवावस्थानं । सचित्तभूमौ संपततु संपततः अशेषु महति वा पाते हस्तिषु, रोषाह्वा द्युपलवृष्णी अवस्थानं निश्चला स्थितिः कायोत्सर्गः । फायगुतिरित्यसिन्यक्षेपं शरीरममताया अपरित्यागः कायोत्सर्गदोषो वा फायगुहंरतिचारः । रागादिसाहित्वा स्थाप्येव वृत्तिमनोगुहंरतिचारः । शकाकांशविचित्रितसान्पद्यप्रशसासत्सत्वाः सम्प्रदर्शनातीचाराः । द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिमंतरणं श्रुतस्य पठनं श्रुतातिचारः । अक्षरपदादीनां न्यूनतत्करण, अतिवृद्धिकरणं, विपरीतपार्यापर्यव्यनविपरीतार्थनिरूपणा प्रथार्थयोवैपरीत्य अनी क्षानातिचाराः । उक्तातिचारादिगमो निरतिचाराता चादि-आदीनाम् । मरणकाले रतत्रयपरिणामायावै दोष उक्तः ॥

रत्नत्रयसुखस्थायि मरणे परीषद्भावाद्दुःपगतसंक्षेपशस्य महती संसृतिरिति भयोपदर्शनेन संक्षेपशस्य परित्याज्यता वक्तुमाह—

मूलाश्रान्नवननत्स्थानत्तविफलपत्वाद्दुःकस्यानंतसंसारस्य प्रमाणप्रतिपादनार्थं गाथेयमित्यन्ये ज्ञाप्यक्षेत्रे । तदद्युक्तं । तत्र उक्तसं अंतरे ह्येदि इत्येतावन्मात्रस्योपयोगित्वात् इतरस्य वचनसंदर्भस्य अनर्थकत्वप्रसंगात् । पूर्वगाथायां संवाङ्गाथेयमिति जयनंदिपादा । समीक्षु—सन्मयश्रुतनिरूपितक्रमेण गमनादिप्यनमिति प्रयुज्जि समिति ।

१ ख पुस्तके अपुष्टश्रुतधर्मतया मुनिरपुष्ट इति पाठः





विशेष—यहां कोइ आचार्य उपर्युक्त गायार्थों, 'अनंतसंसारिओ होदि', ऐसा शब्द आया है उसका खुलासा करनेके लिये यह गाथा है ऐसा कहते हैं, अनंतसंख्याके अनंत विकल्प होते हैं अतः उपर्युक्त अनंत संसारका प्रमाण दिखानेके लिये यह गाथा है ऐसा कोइ आचार्योंका कथन है परन्तु यह अयुक्त है, यदि इतना ही अभिप्राय होता तो 'उत्कस्सं अंतरं होदि' इतना ही वाक्य उपयुक्त है ऐसा समझकर गायार्थके तीन चरण व्यर्थ हैं ऐसा मानना पड़ेगा, अतः पूर्व गायार्थका स्पष्टीकरण और सत्यताका समर्थन करनेके लिये यह गाथा है अर्थात् संक्षेप परिणाम रखनेका फल दिखानेका उद्देश्य इस गायार्थमें ग्रंथकर्ताने लिखा है ऐसा समझना चाहिये.

गमन, भाषण, आहार, वस्तु रखना, उठा लेना, मलयुग्मादिक क्षेपण करना ऐसे कार्योंमें श्रुतज्ञानमें आगममें जैसी प्रवृत्ति करनेका वर्णन किया है वसीहि प्रवृत्ति रखना उसको समिति कहते हैं, अर्थात् प्राणि हिंसा न हो, उनका संरक्षण हो इस तरहसे प्रवृत्ति करना वह समिति है.

मनवचनकायकी अष्टुम प्रवृत्तीसे आत्माको दूर रखना अर्थात् अष्टुम प्रवृत्तीको छोड़ देना यह गुप्ति है. जीवादितत्त्वोंपर यथार्थ श्रद्धान करना सम्प्रदर्शन है, जिससे मिथ्यात्वदीप दृष्ट गया है ऐसे जीवको वस्तुके स्वरूपका जो ज्ञान होता है वह सम्प्रज्ञान है, उसके यहां मति, श्रुत, अवाधि, मनः पर्यय ऐसे चार भेद मानने चाहिये, ये ज्ञानभेद क्षययोग्यात्मिक हैं, क्षायिकज्ञानमें आसादना नहीं रहती है, क्योंकि, मोहजन्य संकेशपरिणाम और मोहकर्म केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पूर्व ही नष्ट होते हैं, 'मोहक्षयाज्ञानदर्शनावरणान्तरायधयाच्च केवलं' ऐसा सूत्रकार उभास्वामीका भी वचन है, इसवास्ते यहां केवलज्ञानका ग्रहण नहीं किया है, वीतराग सम्प्रपक्त्वका भी यहां ग्रहण नहीं किया है क्योंकि वह भी मोहका नाश हुये बिना होता नहीं.

ईर्ष्यासमितीके अतिचार—ईर्ष्यके भेदभक्त्यायमें गमन करना, जहा पांव रखना हो वह जगह नेत्रसे अच्छी तरहसे न देखना, इतर कार्यमें मन लगाना इत्यादि.

भाषासमितीके अतिचार—यह भाषण बोलना योग्य है अथवा नहीं इसका विचार न कर बोलना, वस्तुका स्वरूपज्ञान न होनेपर भी बोलना, ग्रंथान्तरमें भी 'अपुष्टो दु पा भासेज्ज भासमाणस्स अंतरे' कोइ मनुष्य बोल रहा है और अपनेको प्रकरण, विषय मालूम नहीं है तो वीचित्र बोलना अयोग्य है, जिसने धर्मका स्वरूप सुना

नहीं अथवा धर्मस्वरूपका जिसको पूर्णतया ज्ञान नहीं है ऐसे मुक्तिको अशुद्ध कहते हैं। भाषासामितिका क्रम जो जानता नहीं वह मोन धारण करे ऐसा यहां अभिप्राय समझना, इस तरह भाषासामितिके अतिचार है।

एषणासमितीके अतिचार—उद्गमादि दोषोंसे सहित भोजन लेना, मनसे, वचनसे ऐसे आहारको सम्मति देना, उसकी प्रशंसा करना, ऐसे आहारकी प्रशंसा करनेवालोंके साथ रहना, प्रशंसादि कार्यमें दूसरोंको प्रवृत्त करना,

आदाननिक्षेपणसमितीके अतिचार—जो चीज लेनी है अथवा रखनी है वह लेते समय अथवा रखते समय इसमें जीव है या नहीं इसका खयाल—ध्यान नहीं रखना, तथा अच्छी तरहसे जमीन व वस्तु स्वच्छ न करना, प्रतिष्ठापन समितीके अतिचार—शरीर व जमीन पिच्छिकासे न पीछना, मलमूत्रादिक जहां क्षेपण करना है वह स्थान न देखना,

मनकी एकाग्रता विना शरीरकी चेष्टायें बंद करना काय शुक्तिका अतिचार है, जहां लोक भ्रमण करते हैं ऐसे स्थानमें एक पाव उपर कर खड़े रहना, एक हाथ ऊपर कर खड़े रहना, मनमें अशुभ संकल्प करते हुए अनिश्चल रहना, आसामास—हरिहरादिक की प्रतिमाके सामने मानो उसकी आराधना ही कर रहे हैं इस ढंगसे खड़े रहना या बैठना, सचित्त जमीनपर जहां कि बीज अंकुरादिक पड़े है ऐसे स्थलपर रोपसे, वा दपसे निश्चल बैठना अथवा खड़े रहना, ये कायशुक्तीके अतीचार हैं, कायोत्सर्गको भी शुक्ति कहते हैं अतः शरीरममताका त्याग न करना, किंवा कायोत्सर्गके दोषोंको न त्यागना ये भी कायशुक्तीके अतिचार हैं, रागादिविकार सहित स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना, मनोशुक्तिके अतिचार हैं,

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि मशंसा, संस्वव ये पांच सम्प्रपदार्थनके अतिचार हैं, इसका खुलासा आगे आचार्य करेंगे,

द्रव्य शुद्धि, काल शुद्धि, भाव शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि इन शुद्धिओंके विना शास्त्रका पठन करना यह श्रुतातिचार है, अक्षर, शब्द, वाक्य, चरण इत्यादिकोंको कम करना, बड़ना, पीछेका संदर्भ आगे लाना, आगेका पीछे करना, विपरीत अर्थका निरूपण करना, ग्रंथ व अर्थमें विपरीतता करना ये सब ज्ञानातिचार हैं, संदेह, विपर्यय, अनध्यवसाय ये भी ज्ञानके अतिचार हैं, उपर्युक्त अतिचारोंसे सामितिशुद्ध्यादिक रहित होनेसे कारिजादिकोंमें निर्मलता आती है।

इदानीमाराधनाफलतिशयव्यापनायह—

दिष्टा अणदिमिच्छादिद्वौ जह्मा स्वणेण सिद्धा य ॥

आराहया चरितस्स तेण आराहणा सारो ॥ १७ ॥

चारिआराधने सिद्धाश्चिरमिध्यात्त्वभावितानाः ॥

क्षणादृष्टा यतः सूत्रे चारिआराधना ततः ॥ २० ॥

विजयोदया—दिष्टा इत्यादिक । दिष्टा दृष्टा उपलब्धाः । अणदिमिच्छादिद्वौ अनादिमिध्यादृष्टयः । भइणादयो राजपुत्रास्त्रिष्वेव भवेज्जसताम्पापन्नाः अत एवानादिमिध्यादृष्टयः प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रया । जह्मा यस्मात्क्षणेन क्षणग्रहण कालस्याल्पत्वोपलक्षणार्थम् अन्यथा क्षणस्याल्पकालतया कर्मशातनस्य कर्तुमशक्यत्वात् सकलकर्मशातनपुरस्सरं सिद्धत्वमेव न स्यात् । सिद्धा य सिद्धाश्च परिप्राप्ताशेषपद्मानादिस्वभावाः, चराब्देन निरस्तद्रूप्य भावकर्मसंहृतयश्च, दृष्टा आराधनासिंहादकाः । चरितस्स चारित्रस्य । चारित्रग्रहण रत्नत्रयोपलक्षणं । एतेन चारिआराधनां स्तौति इत्येतद्रथाख्यानं निरस्तं । चारिआराधनारत्तवनस्य नायं प्रस्ताव । आयुरंते रत्नत्रयपरिणतिरिह प्रकृता स्तोतुं, किमुच्यते चारिआराधना स्तौतीति ।

एवं मरणसमये रत्नत्रयविराधनाया दोषं प्रकाशयेदानीं तदाराधनायाः फलातिशय प्रकाशयन्ति—

मूलारा—अणादमिच्छाद्वौ अनादिकालं मिध्यात्वोदयोद्रेकाश्रित्यत्तिरोद्वयार्थमनुभूय भरतचार्किणः पुत्रा भूत्वा भद्रवि-  
वर्द्धनादयस्त्रयोर्विशत्यधिकनवशतसंख्याः पुरुषैवपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः स्वणेण अल्पकालेनैव सिद्धा य  
सिद्धा संप्राप्तानंतज्ञानादिरवभावाश्चन्द्राग्निरत्तद्रूप्यभावकर्मसंहृतयश्च । चरितस्स रत्नत्रयस्य । तेण तेन कारणेन  
आराहणा आयुरंते रत्नत्रयपरिणतिः । सारो सर्वान्वरणाना परमाच्चरणम् ।

मरणकालमें रत्नत्रयपरिणति न होनेसे दीर्घकालपर्यंत संसारअमण करना पड़ता है इस दोषका वर्णन  
क्रिया, अथ आराधनाके फलका माहात्म्य कहनेके लिये ग्रंथकार कहते हैं—

हिंदी अर्थ—चारित्रकी आराधना करनेवाले अनादि मिथ्यादृष्टी जीव भी अल्पकालमें संपूर्ण कर्मोंका नाश करके मुक्त हो गये ऐसा देखा गया है. अतः जीवोंको आराधनाका अपूर्व फल मिलता है, ऐसा समझना चाहिये.

भावार्थ—अनादिकालसे मिथ्यात्वका तीव्र उदय होनेसे अनादिकाल पर्यंत जिन्होंने नित्य निगोदपर्यायका अनुभव लिया था ऐसे नज्दों तैवीस जीव निगोदपर्याय छोड़कर भरत चक्रवर्तिके भद्रविवर्धनादि नाम धारक पुत्र उत्पन्न हुए थे. उनको आदिभगवानके समवसरणमें द्वादश्यांग वाणीका सार सुननेसे वैराग्य होगया. ये राजपुत्र इसही भवमें त्रसपर्यायको प्राप्त हुये थे. इन्होंने जिनदीक्षा लेकर रत्नत्रयाराधनासे अल्पकालमें ही मोक्ष लाभ किया. अर्थात् मरणसमयमें इन्होंने रत्नत्रयकी विराधना नहीं की इसलिये उनको आराधनाका उत्कृष्ट फल—मोक्ष प्राप्त हुआ. ऐसे अनादि मिथ्यादृष्टियोंका भी रत्नत्रयसे सर्व कर्म नष्ट होता है व अनंत ज्ञानादिगुणरूप सिद्धत्व प्राप्त होता है.

गाथामें 'चारित्तस्स य आराहया' यह शब्द है. चारित्रका अर्थ यहां रत्नत्रय ऐसा समझना चाहिये. अतः 'चारित्राराधनाकी स्तुति करते हैं' ऐसा कोई व्याख्यान करते हैं उनका खंडन हो गया. क्योंकि यहां चारित्राराधनाका महत्त्व वतानेका प्रसंग नहीं है. आयुके अंतमें रत्नत्रय परिणामकी विराधना नहीं करना चाहिये यह अभिप्राय इस गाथामें कहा है. अतः 'चारित्राराधनाकी स्तुति करते हैं' ऐसा व्याख्यान करना योग्य नहीं है.

'सद्वस्स पवयणस्स सारो मरणे आराहणा हवदि विट्ठा' इति यदुच्यते, यस्मिन्नेव काले मरणं तस्मिन्नेव काले रत्नत्रयपरिणतेन भाव्य हितार्थिना अव्यदा किमिति चारित्रे तपसि च मयास. क्रियते इति शिष्यशेकामुपपन्नस्यति सूत्रकारः—

जदि पवयणस्स सारो मरणे आराहणा हवदि विट्ठा ॥

किं द्वाइं सेसकाले जदि जददि तवे चरित्ते य ॥ १८ ॥

सुतावाराधनासारो यदि प्रवचने मतः ॥

किमिदानीं सदा यत्नश्चतुरंगे विधीयते ॥

विजयोदया—जदि पवयणस्स इत्यादिना । पवयणस्स प्रवचनस्य । सारो अतिशय इति । मरणे आयुरते । आराहणा आराधना रत्नत्रयपरिणतिः । जदि दिष्टा इति पदसंघ. यद्युपलब्धा । हवदि भवेत् । किदई किमिदानीं । सेसकाले मरणकालादन्य. कालः शेषकालस्तत्र जददि प्रयतनं क्रियते । क तवे तपसि । चरिसे सामादिकादिके सावद्यक्रियापरिहारात्मके । चराय्वात् शानदर्शनयोश्च । एतदुक्तं भवति—ग्रहणकालादिषु भावित-रत्नत्रयस्यापि मरणे तदभावे यदि न सिद्धि, अकृतभावनस्यापि मृतौ रत्नत्रयसाधिव्यात्सा सिद्धिर्वादि भवति मरण-कालवर्तिरत्नत्रयमेव निर्वाणहेतुरित्यापन्नं ततश्च शेषकाले प्रयासो विफल इति । अस्योत्तरं—मरणे वा विरा-धाना सा महती संसृतिमावहति । अन्यदा जातायामपि विराधानायां मृतिकाले रत्नत्रयोपगतौ संसारोच्छिन्नचिर्मवत्त्वेव ततो मरणकाले प्रयत्न कार्य इत्यस्माभिरुपन्यस्तं । इतरकालदृष्टं तु रत्न-त्रयं सेवरनिर्जयोर्धातिकर्मणा च क्षयकारणनिमित्तं इतीष्यत एव । तथा चोक्तं— 'सम्यग्दृष्टिआवकाविरतानंतवियोज-कदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक्षीणमोहजिना क्रमशो ऽसंख्येयगुणनिर्जरा.' इति एतेषामसंख्यतगुणनिर्जरा-सम्यग्दर्शनदिगुणनिमित्तात्कथमफलता ?

अत्राह शिष्यः—

मूलरा—ईं दाईं किमिदानीं । सेसकाले मरणकालादन्यत्र ग्रहणशिक्षाप्रतिषेवनाभावनासंश्लेखनाफालेखि-त्यर्थः । जदिज्जदि यत्ताः क्रियते । चरित्ते य च शब्दाज्ज्ञाने दर्शने च । इदमत्र तात्पर्यं ग्रहणादिषु भावितेऽपि रत्नत्रये मूलावभाविने यदि सिद्धिर्न स्यादन्यदा तदभावनेऽपि मरणे तत्परिणतौ सा स्यात्तदा सान्यदा सुधैव भवेत् । मरणकाल-वर्तिन एव रत्नत्रयस्य निर्वाणहेतुत्वापत्तेः । अत्रोच्यते—मृतौ विराधना महती संसृतिमावहत्यन्यदा पुनर्जातायामपि तस्या मच्चरमदेहस्य अशुभकर्मणा संवरनिर्जरयोश्चरमदेहस्य च पातिकर्मक्षयेऽपि निमित्तमित्यतेऽत एव । तथा चोक्तं—सम्यग्दृ-ष्टिआवकाविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽ संख्येयगुणनिर्जराः ॥ इति । तदचोद्यमचोदि त्वया ।

सर्वं द्वादशांका सार आराधना है. ऐसा आपने कहा है. अतः मरण कालमेंहि हितार्थी पुरुषको रत्नत्रयकी आराधना करना योग्य है. अन्य कालमें चारित्र और तपमें क्यों प्रयास किया जाता है. ऐसी शिष्यकी शंका आगेके गाथामें आचार्य प्रगट करते हैं—

हिंदी अर्थ—आश्वामिका सार ऐसी रत्नत्रयपरिणति मरण कालमें यदि होती हुई देवी जाती है तो मरणकालमें भिन्न कालमें अर्थात् दीक्षा ग्रहण, शिक्षा ग्रहण, गण पोषण, आत्म संस्कार इत्यादि कालमें चारित्र और तपश्चरणमें मयत्न करनेकी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् अनशननादिक तप, सामायिकदिक चारित्र और सम्पन्नान, सम्पन्नदर्शन इनमें प्रवृत्ति करना व्यर्थ है, दीक्षा, शिक्षा वगैरे कालमें रत्नत्रयकी आराधना करने पर भी मरणकालमें यदि रत्नत्रयकी आराधना न हो तो सिद्धिप्राप्ति नहीं होती है, और यदि अन्यकालमें रत्नत्रयमाधना नहीं की और मरणकालमें रत्नत्रयाराधनासे मोक्ष प्राप्त हो गया तो मरणकालीन रत्नत्रयही मोक्षका कारण है ऐसा सिद्ध होता है, अतः श्रेयकालमें रत्नत्रयाराधना करना निष्फलही है, प्रयास मात्रही है.

इस शंकाका उत्तर—मरणसमयमें रत्नत्रयकी विराधना करनेसे विराधकको दीर्घ कालतक संसारमें अमण करना पड़ता है. परंतु दीक्षादि कालमें विराधना हो गई हो तो भी मरण कालमें रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जानेसे संसारका नाश हो जाता है अतः मरणकालमें रत्नत्रयमें परिणति करनी चाहिये ऐसा हमारा अभिप्राय है. इतर कालमें रत्नत्रयाराधना की तो वह विफल नहीं होती है. उससे कर्मका संवर और निर्जरा होती है. तथा धाति कर्मका क्षय करनेमें वह निमित्त हीगी ऐसा हम समझते हैं. “सम्पन्नदृष्टिश्चावकविरतानंतविभोजकदर्शनमोह क्षयकोपशान्तमोहक्षयकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः” सम्पन्नदृष्टि, श्रावक, विरत इत्यादिक व्यक्तियोंको सम्पन्नदर्शनादि गुणोंसे उत्तरोत्तर असंख्यात गुण रूपसे निर्जरा होती है ऐसा ह्यत्रकार उमास्वाम्याचार्य कहते हैं. अतः दीक्षा शिक्षादि कालमें रत्नत्रयाराधना व्यर्थ नहीं है. क्षाधिक सम्पन्नदर्शन, ज्ञान, चारित्र यह सब साध्य इतर कालीनमाधनासे भी प्राप्त होते हैं अतः व्यर्थ नहीं है. अतः तुम्हारे प्रश्नके अनुसार भी शंकाका परिहार करना शक्य है. यही बात आगेके भाष्यमें दिखाते हैं—

क्षायिकं सम्पन्नकत्वं ज्ञानं चारित्र्यं च यत्साध्यं तदपिलभवाप्यत एव इतरकालवृत्तयपि भावनया । तदेव चोद्यं चोद्यते इति चेतसि कृत्वा सूरिक्षोद्यानुसारेणपि परिहर्तुं शक्यते इत्याचोष्टे ॥

आराहणाए कज्जे परिपम्मं सव्वदा वि कायव्वं ॥

परिपम्मभाविदस्स हु सुहसज्झाराहणा हेइ ॥ १९ ॥

परिकर्म विधातव्यं सर्वद्वाराधनार्थिना ॥  
सुसाध्याराधना तेन भावितस्य प्रजायते ॥ २२ ॥

विजयोदया—आराहणाय कञ्जे इति । आराधनाशब्दः सम्यग्दर्शनादिपरिणामसंक्षिप्तमनाश्रितकालभेदां प्रतिपादयितुं उच्यतेऽपि मरणे विराधयिषा इत्यथ मरणकालविशेषस्य प्रस्तुतत्वात् प्रकरणाजुरोधेन तद्विषयायामेवाराधनायां प्रवृत्तो गृह्यते । ततोऽयमर्थः—मृतिकालगोचररत्नत्रयसंक्षिप्तार्थं परियमं परिकर्म परिकर । सत्त्वदा सर्वासिन्नपि काले—ग्रहणकालः, शिक्षाकालः, प्रतिसेवनाकालः, सङ्ख्येयनाकालश्च । सर्वदादेन गृह्यते । करणज्जं अवश्यकरणीय । कृतोऽयं निवेद्योप इत्याद्यं क्प्याह—परिकर्मभाविदस्स खु परिकरेण भावितस्यैव खु शब्दोऽवधारणार्थः । सुखसत्त्वा इति सुखेन ह्येशमंतेरण साध्या भवति । का आराधना आराधना मृतिगोचरा ॥

तथापि वदनुसारेणापि परिहर्तुं शक्यते इतीदमुच्यते ।

मूलरा—आराहणाय कञ्जे—मृतिकालगोचररत्नत्रयसंक्षिप्तार्थं । परियमं—परिकरः सम्यक्त्वाद्यनुष्ठानं । सत्त्वदा वि—दीक्षाशिक्षागणपोषणात्मसंस्कारसङ्ख्येयनाकालेषु । करणज्जं अवश्यमेव कर्तव्यम् । हु एवार्थं परिकर्मभा-वितस्यैवेत्यर्थः । येन हि यत्साध्यं तेन तत्पूर्वं परिकरो निवेद्यः ।

हिंदी अर्थ—मण्यसमयमें रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये सम्यग्दर्शनादि काराणकलापकी अवश्य प्राप्ति कर लेना चाहिये, अर्थात् दीक्षा, शिक्षा, गणपोषण, आत्मसंस्कार, सङ्ख्येयना इत्यादिकालमें सम्यग्दर्शनादिककी प्राप्ति कर लेना कर्तव्य है, जिसने दीक्षादिकालमें सम्यग्दर्शनादिकों की अच्छी भावना—अभ्यास की है उसको मरणसमयमें विना ह्येशके रत्नत्रयाराधना सिद्ध होगी.

येन हि यत्साध्यं तेन पूर्वं तस्य परिकरोऽनुष्ठेय इत्यमु अर्थं दृष्टातवलेन साधयितुमुच्चरसूत्रम् । तथा च वदंति 'दृष्टातसिद्धाद्युभयोर्विवादे साध्य प्रसिद्धयेत्' इति ।

जह रायकुलपद्मश्री जोगं णिच्चमवि कुण्ड परिकर्मं ॥  
तौ जिदकरणी जुद्धे कम्मसमत्यो भविस्सदि हि ॥ २०



राजन्य सर्वदा योग्यां विदधानः परिक्रियाम् ॥  
राज्ञो जितशमीभूतः समरे जायते यथा ॥ २३ ॥

विजयोदया—जह यथा । राजकुलपसदो राजपुत्रः । जोग योग्यं । प्रहरणक्रियायः परियम्भं परिकर्म परिकर । णिष्मवि समरकालात्पाकप्रतिदिवसमपि । कुणदि करोति । तो तव । पश्चात् । जिदकरणो क्रियते रूपादिगोचरा विस्मय एभिरेति करणानि द्रष्टव्याण्युच्यते कचित्करणशब्देन । अन्यत्र क्रियानिष्पत्तौ यदतिशयितं साधक तत्करणमिति साधकतममाश्रमुच्यते । पयचित्तु क्रियासामान्यवचनं यथा इहृष्ट् करणे इति । अत्र क्रियावाची युहीत । जितशब्दश्च स्ववशीकरणवृत्तिस्तथा जितभार्य, स्ववशीकृतभार्य इति गम्यते । तेनायमर्थः स्ववशीकृताक्रिय सन् युद्धे युद्धे समरे । कम्मसमर्थो कर्मसमर्थः । कर्मशब्दो उक्तार्थः । मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकरायैर्ब्रह्मप्रतिपत्तिरसायैर्ध्यासितानि क्रियते इति कर्माणि क्षान्तावरणदीनि । कर्तुं क्रियया व्यापकत्वेन विवक्षितमपि कर्म, यथा कर्मणि द्वितीयेति । तथा क्रियावचनोऽपि अस्ति, किं कर्म करोषि ? का क्रियामित्यर्थः । इह क्रियावाची युहीत । सा चात्र क्रियाञ्चयनप्रहरणताडनादिका तस्या, समर्थो भविस्सति समर्थो भविष्यामीति ॥ यो युक्ताधिवर्तुं याछति स तत्परिकर्मणि प्राह प्रयतते, यथा रिपून्निहन्तुकामो हननकर्मोपायं अस्त्रशिक्षा करोति इत्येतावानर्थोऽनया गायया दर्शितः ।

कोऽत्र दृष्टान्त इति चेदुच्यते—

सूलरा—जोगं युद्धयोग्यं । णिच्चमवि युद्धकालात्पाक् प्रतिदिवसमपि । परियन्म शस्त्राद्यभ्यासं । तो पश्चात् । जिदकरणो स्ववशीकृतक्रियः सन् । कम्मसमर्थो व्यवहारादिकार्यक्षमः । भविस्सति अहं भविष्यामीति मत्वा ।

जिस पुरुषको जो कार्य सिद्ध करना है वह उसके कारण कलापका संग्रह करे इस अर्थको दृष्टांत चलसे सिद्ध करनेके लिये आगेका श्लोक है, बाढी प्रतिपदीके विवादसमयमें दृष्टांतके द्वारा साधकी सिद्धि होती है, इस न्यायसे प्रस्तुत आराधनाकी सिद्धिके लिये आचार्य दृष्टांतप्रदर्शन करते हैं—

हिंदी अर्थ—जैसा राजपुत्र शस्त्रविद्याके साधनभूत कारणसामग्रीका नित्य अभ्यास करता है अर्थात् युद्धके पूर्वकालमें दररोज शस्त्रोंका अभ्यास करता है, उसके प्रभावसे वह शस्त्रविद्यामें पूर्ण स्वाधीनक्रिय होता है, अर्थात्-निपुण होता है जिससे युद्धमें लक्ष्यभेद, शब्दभेदादिकार्य करनेमें वह समर्थ होता है, उसी तरह शुनि भी आराधनाश्रका हमेशा अभ्यास करनेसे मरणकालमें रत्नत्रय सिद्ध करेंगे।

विशेष—गाथमें जिदकरणो यह शब्द है. यहां करण शब्दके अनेक अर्थ हैं. रूपादि विषयको ग्रहण करनेवाले ज्ञान जिनसे उत्पन्न होते हैं वे करण हैं. अर्थात् करण शब्दका इन्द्रिय ऐसा अर्थ होता है. इन्द्रियोंसे रूपादिक पदार्थोंका ज्ञान उत्पन्न होता है. कार्य उत्पन्न करनेमें कर्ताको जो अतिशय सहायक होता है उसको भी करण अर्थात् साधकतम कहते हैं. जैसे देवदत्त कुल्हाड़ीसे लकड़ी काटता है. कुल्हाड़ीके बिना लकड़ीका काटना देवदत्तसे असंभव है अर्थात् लकड़ी काटनेमें देवदत्तको कुल्हाड़ी अतिशय मदत करती है अतः वह करण साधकतम कहलावेगी. करण शब्दका यहां कहां सामान्यक्रिया ऐसा भी अर्थ माना है. यथा डुकृञ् करणे. प्रस्तुत प्रकरणमें करण शब्दका क्रिया ऐसा अर्थ इष्ट है. 'जित' शब्दका जर्थ अपने तावेमें रखना, पूर्णहस्तगत करना ऐसा है. जैसे—जितभार्यः स्ववशीकृतभार्यः अर्थात् जिसने पत्नीको अपने स्वधीन रक्खा है ऐसा मनुष्य. प्रस्तुत प्रकरणमें 'जिदकरणो स्ववशीकृतक्रियः' अर्थात् शत्र्वादिभ्यो घुमाना, लब्धमेव करना इत्यादि क्रियाओंमें निपुण उसमें न डुकर्नेवाला ऐसा समझना चाहिये. 'कम्मसमत्थो' इस समस्त शब्दमें कम्म शब्दके अनेक अर्थ हैं जैसे—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कर्मायुक्त द्वारा जो ज्ञानादिक गुणोंको प्रतिबद्ध करनेके सामर्थ्यसे युक्त क्रिये जाते हैं उनको कर्म कहते हैं. अर्थात् ज्ञानावरणादिको कर्म कहते हैं. कर्ताकी होनेवाली क्रियाके द्वारा जो व्याप्त होता है उसको कर्मकारक कहते हैं. कर्मकी व्याकरण शास्त्रमें द्वितीया होती है. जैसे सूत्र—'कर्मणि द्वितीया' 'घटं करोति देवदत्त' इस वाक्यमें देवदत्त कर्तृत्व क्रियासे घटको व्यापता है. अर्थात् घट कर्तृत्वक्रियासे व्याप्य होता है. कर्म शब्दका 'क्रिया' ऐसा भी अर्थ है. यहां कर्म शब्द क्रियावाची समझना. जैसे 'किं कर्म करोषि' तू कोनसा कार्य करता है ? 'कम्मसमत्थो' इसका अर्थ—छुट जाना, प्रहार करना, ठोकना इत्यादि कर्म शब्दका अभिप्राय यहां समझना चाहिये.

जो जिस कार्यको साधनेकी इच्छा रखता है वह उसके साधनभूत सामग्रीमें प्रथम प्रयत्न करता है. जैसे शत्रुको मारनेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य मारनेकी साधन भूत शस्त्र विद्या पढ़ता है उसी तरह मुनि भी आराधनाओंका अभ्यास करके मरण कालमें रत्नत्रयकी प्राप्ति कर लेते हैं.

इदानीं हेतोः पक्षमभ्योजनयाह—

इय सामण्यं साधू वि कुणदि णिम्ममवि जोगपरियम्मं ॥

तो जिदकरणो मरणे झणसमत्थो भविसंति ॥ २१ ॥

आमण्यं सर्वदा कुर्वन्परिकर्म प्रजायते ॥

आश्वस्त (अभ्यस्त) करणः साधुधर्मान्शक्तो भूतो तथा ॥ २४ ॥

विजयोदया—इय सामण्यमिति । इय एव । सामण्यं समणस्स भावो सामण्य समता इत्यभिप्रेयुका निरुक्तिमन्नाहुः । भवतोऽस्मादभिधानमत्यर्थे इति भावशब्देन द्रव्यशब्दस्य ह्युक्तं निवृत्तं ततो गुण उच्यते । तथा चोक्तम्—यस्य गुणस्य भावादद्रव्ये शब्दनिवेशात्तदभिधाने त्वत्ताविति । ततोऽत्रापि समण इत्यस्य शब्दस्य जीवे प्रभृत्तो किं निमित्तं गुण समता क जीविते, मरणे, लाभेऽलभे, सुखे, दुःखे, यशुः, रिपौ च एतेषु राग क्वाचि-त्कचिद्देवश्चासमातता, तदुभयाकरण जीवितोद्विस्वरूपपरिभ्रान्तं समचिन्तता । अर्थयाय्यत्स्यग्राहित्वेन जीवितोद्विषययाणां भ्रान्तानां समता । जीवितं नाम प्राणधारणं तदायुरायत्तं न ममेच्छया वर्तते, सत्यामपि तस्य प्राणानामनवस्थानात् । सर्वं हि जगदिच्छति प्राणानामनपाय न च तेऽवतिष्ठन्ते । मरणं नाम इन्द्रियादिप्राणभ्यो विनाम आत्मनः । तथा चोक्तम् । मृद् प्राणस्यागे इति । त्यागे हि वियोग आत्मनः, सकाशात्प्राणानां पृथग्भावः । स चायु संश्रितानां पुद्गलानां अशेषमालनात् । अत्र द्रव्योद्दिश्याणा उपधातकशरादिद्रव्यसंपाताद्भवाद्विषयस्य चोपयोगस्य विनाशः विपश्चक्ष्णाविरणोदयात् । तदुदयादेव च लब्धेरभावः । वीर्यान्तराद्योदयान्निविधवलप्राणहानिः । मुखस्य नासि-कायाश्च पिधानात् श्लेष्मादिनावरोधात् उच्छ्वासासन्निभासहातिः । अग्निमतस्य लाभो लाभान्तरायक्षयोपशमात् । अलाभस्तदुदयात् । सुखं नाम प्रीति सङ्घोदयात् अभिलषितविषयसाक्षिभ्यात् । इ ख तु बाधात्मकमसङ्घोदयोद्वेतुक्रम् । वंधवो नाम न निवृत्ता सन्ति केचन । ससृता परिश्रमत उपकारयोक्षा हि ते यदि त एव अन्यदा ह्यता-पकारा इति किन्नारय १ अरयोऽपि कदाचिदुपपादितानुग्रहा इति किं न वंधवः १ अपि च जैह्वस्य सर्वांसयम-भूलस्य हेतुतया सन्मार्गाप्रतिवधकारितया च ते महाशयवः । किं च पुण्योदयादेव सपद्यते सकल सुख । सुख-हेतुवस्तुसाक्षिभ्य च । विपुण्यस्य न ते किञ्चिदपि कर्तुं क्षमा । न च कुर्वन्ति । तथा हि—मातर त्यजति पुत्र-सा च सुतं । तथाऽसत्यसद्वेयोदये न कश्चित्कचिद्व्यपकार करोति । बाह्या हि शयवो नाभ्यतरकर्मणि असति पीडामुपजनयन्ति । इत्येवमृता सर्वत्र समचिन्तता सामण्य । साधू वि साधुरपि । कुणदि करोति । णिम्ममवि नित्यमपि सर्वदापि । जोगपरिपक्वमं योगशब्दोऽनेकार्थः । 'योगनिमित्तं ग्रहण' इत्यात्मप्रदेशपरिस्पदं

१ एय पुस्तके निमित्तभूतः इति पाठः ।

प्रविधयर्वाणसहायमाचष्टे । कृत्स्नसंबंधमाश्रयचन ' अस्यानेन योग ' इति । कच्चिद्व्यानवचनः यथा ' योगस्थित ' इति । इदं परिगृहीत । ततो ध्यानपरिकरं करोतीति यावत् । रागद्वेषमिध्यातवासोभ्रष्ट अर्थयाथात्म्यस्पर्शो प्रतिनिवृत्त विषयतरसंचारं क्षान ध्यानमित्युच्यते । अभावितसमानभावोऽयमिध्यातवस्तुसद्भाषश्च ध्यातुं न क्षमते इति भावः । ततो तत् पश्चाज्जितकरणो इत्यत्र करणशब्दः अंतःकरणे मनसि वर्तते ततोऽयमर्थः । स्ववशीकृतचित्तोऽहं मरणे भयपर्यायनाशवेलायां क्षाणसमय्यो ध्यानस्यैकाग्रचित्तानिरोधस्य । ध्यानशब्दोऽत्र प्रयासध्यानिविषये प्राप्नोना शुभ-योर्नारकतिर्यगातिनिर्वर्तनप्रयण्यो । योगे परिकर्मणि स्वतन्त्रः प्रवृत्तत्वात् अयत्नसाध्यता । धर्मशुद्ध्योर्निर्वर्तने समत्यो शकः भविस्सति भविष्यामीति ॥

यो यच्चिकीर्यति स तत्परिकर्मणि प्राक् प्रयतते । यथा रिपुञ्जिघासुस्तद्धननिःक्रययोगयायामकाशिक्षायामिति दर्शयित्वा इदानीं हेतोः पक्षधर्मत्वयोजनायाह—

मूलारा—इय एवं । सामण्यं जीवितमरणादिषु समानस्य भावस्तत् समचरितत्वं, श्रामण्यं वा चारित्रमित्यर्थः । जोगपरियन्मं सद्धयानपरिकरं तथा चोक्त—

संगत्यागः कपायाणा निग्रहो व्रतधारणं ॥

मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजननम् ॥

जिदकरणो स्ववशीकृतमनः । करणं क्षान्तःकरणम् । स्ववशीकृतचित्तेन्द्रिय इति वा ग्राह्यम् । ज्ञाणसमत्यो धर्मशुक्लध्यानसमर्थः ॥

यही आशय आगेकी गाथामें आचार्य स्पष्ट करते हैं—

हिंदी अर्थ—जीवित, मरण, लाभ, अलाभ, यश, मित्र, सुख, दुःख इन चीजोंमें रागद्वेष रहित होना इसको समता कहते हैं, यह समता ध्यानारम्भ करनेमें सहायक होती है, जो ऐसी समता होमग्रा धारण करते हैं, जिन्होंने मन और इंद्रियोंको अपने आधीन रक्खा है अर्थात् जो जितेंद्रिय और जितचित्त हैं वे साधु मरणसमयमें दुर्गाति अर्थात् नरक तिर्यगतिको दूर करनेवाले ऐसे धर्म व शुक्ल ध्यान करनेमें समर्थ होंगे, विशेषार्थ—जीवित, मरण, लाभ, अलाभ इत्यादिको जो आत्मा रागद्वेष रहित है उसको समान कहते

हैं, ऐसे समान आत्माका जो स्वभाव उसको सामान्य अर्थात् समता कहते हैं, 'समान' इस शब्दकी प्रवृत्ति जीवमें होनेका कारण समता है, अर्थात् जिसमें समता है उसको समान कहते हैं, जीवित मरण, लाभ अलाभ, सुख दुःख, बंधु व शत्रु इनमें अर्थात् जीवित, लाभ, सुख, बंधु इनमें रागभाव करना और मरण, अलाभ, दुःख और शत्रु इनमें द्वेष-अप्रीति रखना यह असमानता है, इस असमानताका त्याग करना ही समता है, जीवित मरण इत्यादिकोका यथार्थ स्वरूप समझनाही समता है, परंतु उसमें प्रीति व अप्रीति करना यह समानता नहीं है, इंद्रियादि प्राणोंको धारण करना यह जीवित शब्दका अर्थ है, परंतु इंद्रियादिप्राणोंका अस्तित्व आयुक्रमके आधीन है, वह आयु जब तक रहेशी तब तक जीवित ठिक सकता है, वह जीवित भरे आधीन नहीं है, क्योंकि जीवितेच्छा होकर भी प्राण चले जाते हैं, सर्व जगत्के प्राणी हमेशा प्राण रहे ऐसी इच्छा करते हैं परंतु आयुका वियोग होनेसे प्राणोंका निर्गमन होता ही है उसको वे रोकनेमें असमर्थ हैं,

२ मरण—इंद्रियादि प्राणोंसे आत्माका अलग हो जाना मरण है, अर्थात् प्राणोंका त्याग होना मरण है, 'मृद् प्राणरथाग्रे' ऐसा मृद् धातुका अर्थ है, प्राणोंका त्याग अर्थात् आत्मासे प्राणोंका वियोग होना, आत्मासे उनका अलग होना, आयुक्रम संपूर्ण गल जानेसे प्राणोंका वियोग होता है, विष, शस्त्र, बाण इत्यादि, प्राणहारक पदार्थोंका संयोग होनेसे द्रव्येन्द्रियोंका नाश होता है, ज्ञानोपयोग दशोपयोग ये भाव प्राण हैं, विष शस्त्रादिकोंका संयोग होनेसे ज्ञानदर्शनादि आवरण कर्मका उदय होता है, जब इन कर्मोंका उदय होता है तब लब्धिका विनाश हो जाता है, वीर्यान्तराय कर्मका उदय होनेसे कायबल, वचनबल, और मनोबल इनका नाश होता है, सुख वंद करनेसे, नाक वंद करनेसे तथा श्लेष्मादिकोंसे उच्छ्वासनिश्वास प्राण नष्ट होते हैं,

लाभांतराय कर्मका क्षयोपशम होनेसे श्रृष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, तथा लाभांतरायका उदय होनेसे अलाभ होता है, प्रीतिरूप परिणामको सुख कहते हैं यह प्रीति परिणाम जीवमें साता वेदनीय कर्मके उदयसे होता है, श्रृष्ट पदार्थ साध होनेसे मनुष्यको आनंद होता है, अंतरंग कारण साता वेदनीयका उदय और बहिरंग कारण श्रृष्ट वस्तुकी प्राप्ति इन दोनोंसे जीवमें प्रीति उत्पन्न होती है,

पीडा रूप परिणामको दुःख कहते हैं, वह असाता वेदनीय कर्मके उदयसे जीवमें प्रगट होता है, संसारमें भ्रमण करनेवाले जीवके कोई नियत बांधव नहीं है, जिसके उपर यह जीव उपकार करता है वह

जीव उपकारकर्ताका वंशु होता है, यदि जीव अपकार करे तो वही वंशु शत्रु हो जानेमें देर नहीं लगती, शत्रुओंके उपर भी यदि हम अनुग्रह-उपकार करेंगे तो वे भी हमारे वंशु होते हैं, स्नेह सर्व असेवमका मूल कारण है, इस स्नेहके भी-वंशु कारण होते हैं, अर्थात् वंशु असेवमके कारण हैं, ये वांधवगण सन्मागमं ग्रहण ह्ये जीवके विरोधी बन जाते हैं, अतः ये वाधव महाशत्रु हैं ऐसा समझना, पुण्यके उदयसेही जीवको सुखदायक पदार्थोंका संयोग होने पर भी सुख नहीं होता है, असाता वेदनीय कर्मका उदय हो तो पुत्र माताका त्याग करता है, अथवा माता भी पुत्रको त्यागती है, यदि असाता वेदनीय कर्मका उदय न होना तो कोई भी अपने उपर अपकार नहीं करेगा, यदि अंतरंगमें असाता वेदनीय कर्मका उदय न हो तो बाह्य शत्रु जीवको कुछ भी पीछा नहीं दे सकेगा, इस तरह विचार करना यह समता है, यह समता योगपारिकर्म है अर्थात् शुभध्यान-धर्मध्यान और शुद्धध्यान उत्पन्न होनेमें कारण है, योगपारिकर्म इस समस्त शब्दमें जो योग शब्द है उसके अनेक अर्थ हैं, जैसे-‘योगनिमित्तं ग्रहणं’ यहाँ मनोवर्गणा, वचनवर्गणा व कायवर्गणा इनके आश्रयसे जो आत्मप्रदेशोंमें चंचलता उत्पन्न होती है वह योग शब्दसे वाच्य होती है, योग शब्दका संबंध ऐसा भी अर्थ होता है, जैसे-‘इसका इसके साथ योग है, अर्थात् संबंध है, योग शब्द कहीं कहीं ध्यानवाचक भी है, जैसे ‘योगस्थितः’ अर्थात् मुनि ध्यानमें स्थिर है, प्रस्तुत प्रकरणमें योगका अर्थ ध्यान ऐसा मानना चाहिये, राग द्वेष, और मिथ्यात्वसे रहित, पदार्थके यथार्थ स्वरूपको स्पर्श करने-वाला अर्थात् जाननेवाला तथा विषयांतरसे दृढकर एक विषयमें ही स्थिर होनेवाला ऐसे ज्ञानको ध्यान कहते हैं, जिसने समताका अभ्यास नहीं किया है, और जिसको वस्तुका सत्यस्वरूप ज्ञात नहीं हुआ है ऐसा पुरुष ध्यान करनेमें असमर्थ है ऐसा समझना चाहिये, जिसने अंतःकरण वश किया है, वह मुनि मनुष्यपर्यायका नाश होनेके समयमें अर्थात् मरणकालमें धर्मशुद्ध ध्यानमें मैं समर्थ होऊंगा ऐसा समझकर हमेशा समताका अभ्यास करता है, यद्यपि गाथां ‘उद्घाणसमस्तथो’ इस समस्त शब्दमें ध्यान शब्द सामान्य ध्यानका वाचक है तथापि यहाँ प्रशस्त ध्यानका वाचक समझना चाहिये, अर्थात् धर्म व शुद्ध ये दोन ध्यान प्रशस्त है तथा आर्त और रौद्र ये दो ध्यान अशुभ है,

कृतपरिकरो राजपुत्रो व्यथनादिकास्तु क्रियास्तु उपगतकौशलं । क्रिया मदरणादिकं संयाय यथाफलं प्राप्नोति इति परबुद्धरागाध्यायचे—

जोगामाविदकरणो सत्तु जेदूण जुद्धरगमि ॥

जह सो कुमारमहो रज्जवडायं बला हरदि ॥ २२ ॥

कृतयोग्यक्रियो युद्धे जगतीपतिदेहजः ॥

आदत्ते चिद्धिपो जित्वा बलाद्राज्यध्वजं यथा ॥ २५ ॥

विजयेदया—जोगामाविद इत्यनया । जोगामाविकरणो परिकर्मणा असह्यव्यवर्तितव्यधनताडनमदरणादिक्रिय । अभाषित इत्यत्राह भुक्तार्थं प्रयुक्त । तथा च प्रयोग—आधुमिति भुक्त धुमेन परिपूर्णमित्यर्थ । सत्तु शब्द । जेदूण जित्वा । जुद्धरगमि युद्धार्थं संस्कृतो देशो जुद्धरगमित्युच्यते तत्र । जह यथा । सो स भावतत्त्वा । कुमारमहो प्राणिना कालहतोऽवस्थाविशेषो कृतिव्य कुमारस्य नाम । तद्योगाजपुत्र, कुमार स एव महो । रज्जपडाना राज्यध्वज । बला बलात्कारेण । हरदि हरति । यथाति ॥

प्राक् परिकर्मभावनायाः फलं दृष्टान्ते मदर्थं दार्ष्टान्तिके योजयितुं गान्धाद्रयमाह—

मूलारा—जोगामाविदकरणो योग्यया परिकर्मणा भावितमसकृत्प्रवर्तितं करणं व्यथनादिनिम्ना येन । जुद्धरगमि युद्धार्थं संस्कृते देशे । रज्जपडायां राज्यध्वजं । बला बलात्कारेण । हरदि गृह्णाति प्रत्यानयतीत्यर्थः ।

जिसने शस्त्रविद्याकी सामग्रीका खूब अभ्यास किया है ऐसा राजपुत्र लक्ष्यवेधादिक क्रिया करनेमें चतुर हो जाता है, और शत्रुको मारकर अथवा पकड़कर राज्यादिकका फल प्राप्त कर लेता है यह आगेकी गान्धार्मि आचार्य कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—लक्ष्यवेध, ताडन, महार करना इत्यादि क्रिया करनेमें अतिशय चतुर, तरुण, पहिलवानके समान शक्तिशुक्त ऐसा राजपुत्र युद्ध करनेके मदानमें शत्रुको जीतकर जैसे बलात्कारसे राज्यध्वजको हरण करता है, उसी तरह सुनि भी मोहरिपुको जीतकर बलात्कारसे आराधनापाताका हर लेता है, ऐसा आगेकी गान्धार्मि आचार्य कहते हैं, उपयुक्त गान्धा दृष्टान्त रूप है—दार्ष्टान्तिक गान्धा यहा आचार्य कहते हैं.

दर्शान्तिके योजयितुं उत्तरगाथाभाह—

तह भाविदसामण्णो मिच्छादी रिवू विजेदूण ॥

आराहणापढायं हरइ सुसंथारंगमि ॥ २३ ॥

साधुभाविताचारिणो गृहीते संस्तराह्वे ॥

आराधनाध्वजं जित्वा मिथ्यात्वादिविषमत्तथा ॥ २४ ॥

विजयोदया—तह भाविदसामण्णो इति । तह तथैव राजपुत्रवदेव । भाविदसामण्णो भावितसमानभावः । पुत्रमिति शेषः । मिच्छतादी मिथ्यात्वात्समकपायाद्युभयोना इत्येतान् । रिवू रिपू । विजेदूण श्रेष्ठं जित्वा । विशब्दो श्रेष्ठार्थं प्रयुक्तः । यथा विबुद्धो मह्यं श्रेष्ठं बृह इति यावत् । अथवा विजेदूण नानाप्रकारं जित्वा यथा विचित्रमिति नानाविधमिति यावत् । एकान्तमिथ्यात्वं, संशयमिथ्यात्वं, विपर्ययमिथ्यात्वं इत्यनेकधा मिथ्यात्वपरिणामाः स्थिताः । तथैकान्तमिथ्यात्वं नाम वस्तुनो जीवदिनित्यत्वमेव स्वभावो न चानित्यत्वादिकः । असद्व्यवस्था सतो नित्ये वा अनित्यता भवति । न चासत् उत्पत्तिरिति स्याद्भगवत्कृष्णमादिकं किं नोपजायते ? असत्त्वाविशेषे ककुक्षुमर्दधटदेव घटादिक उपजायते न विपर्ययमादिकं इत्यत्र न नियामकं हेतुं पश्याम । न च सद्भिन्नद्वये विनाशो ह्यसत्त्वं, भावाभावौ हि परस्परपरिहारास्थितिलक्षणौ नैकता यातः । न भावाऽभावो भवति, इत्यमसत्त्वे उत्पत्तिरित्ययोस्मावाहितसत्त्वैवावतिष्ठते इत्येकं मिथ्यात्वं एतस्य ज्ञय उच्यते—न नित्यतैव वस्तुनो रूपं, अनित्यताया अपि प्रमाणसमधिगम्यत्वात् । रागद्वेषमिथ्यात्वसंशयविपर्ययादीनां आत्मनि सतां पञ्चादनुभवमतिष्ठायितमसत्त्वमनुभवोपनीतं च सत्त्वं प्रागनुभूतानामित्यनित्यता पुन्रलद्वयस्यापि भेदादेर्वर्णन्यथाभावः । आत्मफलादीनां रूपरसगन्धान्यथाभावश्च प्रत्यक्षप्राप्तोऽशक्यपण्डवः, तथातुमानप्राप्तश्च—यत्सत्तत्सर्वं नित्यानित्यात्मकं यथा घटस्त्वत्तथा च जीवादिकं सदिति । कारणानां प्रतिनियतजननसम्भावकार्यत्वात् । घटादेर्जनकानि सन्ति इत्युत्पत्तिः न न वा । यद्यस्ति न विरोधः, न चेतस्वार्तमकता । न ह्यभावो नाम भावादस्य । अपि तु भावान्तरस्यैव रूपान्तरम् । ततोऽनुक्तो नित्यत्वैकान्तवाद इति । एवमुक्तया तत्त्वशब्दया पराभूयते नित्यमेवेति मिथ्यात्वम् । तथा क्षणिकमेवपार्थ क्रमेण वा कुर्याद्युगादेव वा ? न तावत्क्रमेण कार्यत्वलाभास्य कारणसम्भावसाधिव्यमभ्यपराधीनत्वात् । सर्वं कार्यमादुर्भूतिहेतुनां सामर्थ्यानां सदा साक्षिभ्यत्वात् कुतः कार्यणां क्रमः । समर्थहेतुभावेऽप्यभावे न तत्रत्य कार्यं स्यात् । यथा सन्निहितेऽपि यवबीजे ऽनुपजायमानस्य शाक्यहेतुस्य न यवबीजकार्यता । युगपत्करोति चेत् द्वितीयादौ



क्षणेऽक्रिञ्चिकरता स्यात् च तथा दृश्यते । इत्थं नित्ययस्तुलक्षणस्य कार्यकालित्वस्याभावात्, अतिये सद्भावात् क्षणिकमेवेत्यध्यवसायो मिथ्यात्वमेव तस्य अय उच्यते—सत्य सर्वथा नित्ये वस्तुलक्षणे नास्त्युक्त्या नीत्या नित्याऽ-नित्यात्मके तु सम्भविनी कार्यकारिता । एकान्तेन क्षणिकमेव वस्तुनो यदि रूप कार्यकारिता नास्ति । एकस्य वस्तुन एकमेव रूप नापरमिति प्रतिष्ठानात् । एवमन्यत्रापि बोधः एकान्तिमिथ्यात्वजयः । संशयमिथ्यात्वं वस्तुस्वरूपान्वय-रणात्मक तस्य जयः कश्चिच्चित्तयानित्यात्मका सर्वे भावा इति भावनाया । विपर्ययमिथ्यात्वं हिंसाया दुर्गतिव-र्तिन्या स्वर्गादिहेतुतावसितिष्ठानम् । अहिंसायाश्च प्रत्यययहेतुति पतस्य जयः । परोक्षस्योपायोपेयभावस्य अप-त्यक्षत्वात् । अनुमानस्य च प्रत्यक्षपृष्ठभावीनस्तत्रावृत्ते । आगमः सर्वज्ञेन निरस्तरागद्वेषेण प्रणीत उयेयोपायत्वस्य व्यापकः आध्ययणीयः । कपिलदीनानामसर्वज्ञतया न तत्प्रणीत आगमोऽदृष्टमतिपत्तादुपायः । तदसर्वज्ञता दृष्टेष्टप्रमाण-विरुद्धवचनतया रथ्यापुरुषवत् । नित्यस्तु शब्दो न विद्यते । यदि स्यात्सर्वस्य नित्यतया पुरुषयोपादुपश्लिष्टतास्तीति प्रमाण्य भवेत्ततो जिनागमेन हिंसाया दुःखहेतुत्वप्रतीतिर्विपर्ययमिथ्यात्वमसिद्धिः तस्य जयः अविपर्ययत्वज्ञानेन । आरा-धणापडायं आराधनापताका । हरीदृष्टास्ति । सुसधाररगमि । शोभनसत्त्वरगे उद्गमादिदोषानुपहृता शोभनता ॥

मूलारा—भाविदसामणो भागभ्यस्तसमभावः । मिच्छतादी मिथ्यात्वासंयमकपाद्युभयोगात् । विजेदूण भृशं-विचित्रं वा प्रतिदृश्य । आराधणापहृत्यं आराधनैव पताका त्रिजगत्परमैश्वर्यचिन्हं तां मिथ्यात्वादिशब्दहतां । यदि वा आराधनायाः पताका इन्द्रादिनिर्मितपूजायैश्वर्यविशयसंपत् । सुसधाररगमि उद्गमादिदोषानुपहृते संस्तररंगे ।

हिन्दी अर्थ—तस्या राजपुत्रके समान श्रुति भी समताकी चारचार भावना करके मिथ्यात्व, असंयम, कपाय, अनुभूत मन वचन, कायकी प्रवृत्तियां इन शब्दोंको अच्छी तरह जीतकर—नाना प्रकारसे इनका पराभव कर उद्गमादि दोषोंसे रहित ऐसे संस्तरका आश्रय कर आराधना पताकाका हण बलात्कारसे करते हैं.

विशेष स्पष्टीकरण—नाना प्रकारसे मिथ्यात्वादियशब्दोंको श्रुति कैसे जीतते हैं. इसका वर्णन यहाँ लिखते हैं—मिथ्यात्व परिणामके एकांत मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व ऐसे अनेक भेद हैं. एकांत मिथ्यात्वका स्वरूप—जीवादिक वस्तु सर्वथा नित्य ही हैं, उसमें अनित्यत्वादिक धर्म नहीं हैं, यदि असत् पदार्थ उत्पन्न हो जाय और सत्पदार्थका नाश हो जावे तो अनित्यता वस्तुका स्वरूप है ऐसा मानना योग्य होगा. परंतु असत् कभी उत्पन्न नहीं होता है. यदि वह भी उत्पन्न होगा तो आकाशपुष्प, और खरगोशका सीमा भी क्यों न उत्पन्न होगा ? क्योंकि

ये भी तो असत् ही है। आकाशपुष्प असत् है तथा घटादि भी उसके समान असत् ही है तो आकाश पुष्पसे घटादिक अथवा घटादिकसे आकाश पुष्प बनते हैं ऐसा मानना पड़ेगा। घटादिकसे घटादिक ही उत्पन्न होते हैं और आकाशपुष्पादिसे आकाशपुष्पादिक ही बन जाते हैं ऐसा माननेमें कुछ निधामक कारण हमको नहीं दीखता है।

सत्पदार्थका नाश होता है यह मानना भी अयोग्य है। विनाश असद्रूप है। अर्थात् अभाव रूप है। सत्पदार्थ विनाशके उलटा है अर्थात् भावरूप है। जहाँ भावात्मक पदार्थ रहता है वहाँ अभावात्मक पदार्थ नहीं रह सकता। अतः भावपदार्थ और अभावपदार्थ एकस्वरूपताको प्राप्त नहीं होते हैं। अर्थात् वे भिन्न भिन्न स्वरूपके धारक हैं। भावपदार्थ कभी अभावरूप नहीं होता है, असत् पदार्थसे उत्पाद और नाश दोनों भी सिद्ध नहीं होते हैं। अतः नित्यता ही पदार्थका स्वरूप समझना चाहिये। पदार्थ अनित्य ही मानना यह एक मिथ्यात्व है। ऐसे मिथ्यात्वका समताकाशप्रत्यास करनेवाले श्रुतिराज पराजय करते हैं।

अब नित्यता ही वस्तुस्वरूप है ऐसा मानना भी मिथ्यात्व है यह दिखाने हैं—नित्यता ही वस्तुस्वरूप है यह कहना भी श्रुतिक्रियुक्त नहीं है। आत्मामें प्रथमतः रागद्वेष, मिथ्यात्व, संशयविपर्यय वगैरे अशुद्धस्वरूपके द्योतक विकार दीखते हैं परंतु नंतर इसका अभाव होता है। यह सबके अनुभवमें आनेवाली बात है। यदि आत्मा सर्वथा नित्य ही मानोगे तो उसमेंसे रागद्वेषादिक कभी भी नष्ट होंगे ही नहीं। तथा जो विकार पूर्वमें अनुभवमें आये नहीं थे वे कभी भी उत्पन्न न अतः वस्तु नित्य माननेसे ये बातें नहीं बनेंगी। मेधादिक पुद्गलद्रव्योंमें जो पूर्वक्षणमें वर्ण था वह अनंतर समयमें नहीं रहता दूसरा ही वर्ण नजरमें आता है। आम्रफलादिकोंमें कच्ची अवस्थामें हरा रंग, अर्धपक अवस्थामें लाल पीला रंग और पकावस्थामें पीलापना आता है यह सब प्रत्यक्ष ग्राह्य बातें हैं। इन बातोंको मानना ही पड़ेगा। अनुमानसे भी वस्तु कश्चित् नित्यानित्यात्मक है यह सिद्ध होता है। जो जो सत्पदार्थ हैं वे सब नित्यानित्यात्मक है जसा घट, अर्थात् घटके समान सभी जीवादिक पदार्थ सत् है अतएव वे नित्यानित्यात्मक हैं।

कारणोंमें प्रतिनियत कार्य ही उत्पन्न करनेका स्वभाव है अतः उनसे विशिष्ट ही कार्य उत्पन्न होते हैं, जैसे स्रुतिपुंडसे घट ही होता है पटोत्पत्ति नहीं होती है। अतएव खर विषाणादिकसे घटादिक सत्पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं होती है। जैनमतमें भाव और अभावमें परस्पर विरोध है नहीं। अर्थात् वस्तुमें एक ही समयमें

अस्तित्व और नास्तित्व दोनों भी धर्म पाये जाते हैं, जैसे वस्तुमें रूपरसादिक धर्म रहते हैं उसीतरह अपर पदार्थके स्वरूपका अभाव भी उसमें रहता है या नहीं ? यदि दूसरे पदार्थके स्वरूपका अभाव है ऐसा कहोगे तो भावाभावत्व एक पदार्थमें अविरुद्ध रूपसे रहता है ऐसा सिद्ध हो चुका, यदि दूसरे पदार्थ का भी स्वरूप पदार्थमें मानोगे तो प्रत्येक वस्तु सर्वात्मक है ऐसा मानना पड़ेगा, घट पदार्थ स्वस्वरूपसे शुक्त तो है ही परंतु पटादिस्वरूपता भी उसको आवेगी और ऐसा होनेसे यह घट ही है ऐसा कहते समयमें पट ही है ऐसा भी कहनेका प्रसंग आवेगा अतः वस्तुके निश्चित स्वरूपका लोप होगा.

वस्तुमें जो अभाव माना गया है वह भावसे भिन्न है नहीं, अर्थात् भावान्तरको ही अभाव कहते हैं, वस्तु स्वस्वरूपसे जैसी भावात्मक मानी है वैसी परस्वरूपसे अभावात्मक भी मानी है अतः प्रत्येक वस्तु भावाभावात्मक है, अतः नित्यधैकान्तवाद अयुक्त है, ऐसी तत्त्वश्रद्धा करनेसे वस्तु नित्य ही है यह सिद्धात्त्व पराजित होता है.

सर्वथा क्षणिक वस्तुमें कार्य करनेका सामर्थ्य ही नहीं रहता है, वह पहिले क्षणमें उत्पन्न होकर नष्ट होती है अतः कार्य कब करेगी, क्षणिक वस्तुकी उत्पत्ति भी पूर्व क्षणिक वस्तुसे यदि होती तो कार्यकारिता उसमें है ऐसा मान सकते थे, परंतु सर्व पूर्व क्षणिक वस्तुओंमें कार्यकारण भाव नहीं है, तथा प्रत्येक क्षणिक वस्तु एक समयके बाद निश्चयसे यदि नष्ट होती ही है तो उसको कार्य करनेके लिये अवसर ही नहीं रहा, अतः वस्तु क्षणिक है यह मानना अयुक्तियुक्त है.

नित्य भी पदार्थ कार्य नहीं कर सकता है, वह यदि कार्य करेगा तो क्या क्रमसे करेगा अथवा एकदम करेगा ? ऐसे दो प्रश्न यहां उपस्थित होते हैं, क्रमसे कार्य उत्पन्न करेगा यह अपका कथन योग्य नहीं है, क्योंकि कि कार्य का जन्म होना कारण में विद्यमान जो स्वभाव है उसके आधीन है और नित्य पदार्थमें कार्य उत्पन्न करनेका स्वभाव सदा ही विद्यमान होनेसे सदाही कार्य होते रहेंगे अतः कार्यमें क्रम कैसा रहेगा ? एकदम सब कार्य होंगे, यदि हेतुमें सामर्थ्य होता हुआ भी कार्य न होगा तो कभी भी न होगा, अथवा वह उसका कार्य है ऐसा मानना योग्य नहीं है, जैसे यवबीज समीप होते हुए भी उत्पन्न न होनेवाले शाल्यंजुनको यव बीज कारणरूप नहीं मानते हैं वैसे नित्यपदार्थ कार्यके प्रति कारण नहीं होगा, यदि सर्व कार्य शुभपत् नित्य

पदार्थसे हो जाते हैं तो प्रथम समयमें ही उससे सब कार्य हो जानेसे द्वितीयादि समयमें वह अकिंचित्कर होगा, परंतु पदार्थ द्वितीयादि क्षणमें भी कार्य करता हुआ दृष्टिगोचर होता है अतः वह सर्वथा नित्य है ऐसा मानना अनुचित है, नित्यवस्तुमें कार्य करनेका स्वभाव नहीं दीखता है वह अनित्यमें है अतः वस्तु क्षणिक ही है यह श्रद्धालु करना भी मिथ्यात्व ही है, ऐसे मिथ्यात्वका समाधाकारक मुनि पराजय करते हैं, सर्वथा नित्य व अनित्य पदार्थोंमें कार्य करनेका स्वभाव नहीं है परंतु कथांचित् नित्यानित्य पदार्थोंमें कार्य करनेका स्वभाव अवश्य होनेसे वह कार्य करता हुआ दीखता है, यदि क्षणिकता ही वस्तुका स्वरूप है तो वह कार्य नहीं करेगी क्योंकि उसका एक ही रूप रहेगा, उसमें पूर्वस्वरूप नष्ट होकर दुसरा स्वरूप नहीं आता है, इसी तरह नित्यमें भी समझना चाहिये,

संशय मिथ्यात्वका स्वरूप—वस्तुस्वरूपका जिसमें निश्चयही नहीं होता है उसको संशय मिथ्यात्व कहते हैं अर्थात् वस्तु नित्य है ? अथवा अनित्य है ? वा नित्यानित्यात्मक है ? ऐसा अनिश्चय रहता है, ऐसे मिथ्यात्वका पराभव मुनिराज वस्तु नित्यानित्यात्मक है ऐसा निश्चय करके करते हैं, जगत्के समस्त पदार्थ कथांचित्यानित्यात्मक हैं, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे वस्तु अपने स्वरूपको नहीं छोड़ती है, जीवका चैतन्य जीवको कभी छोड़ता नहीं है, वह हमेशा उसमें रहताही है अतः जीवको नित्य कह सकते हैं, मनुष्यत्व देवत्वादि पर्याय सदा स्थिर रहते नहीं, मनुष्यत्व नष्ट होकर जीव देव, नारकी, तिर्यच ऐसी पथियों धारण करता है, अतः पर्यायकी अपेक्षासे वह अनित्य भी है, अतः उसको नित्यानित्य समझना योग्य है, जीवके समान अजीव—पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, काल ये पदार्थ भी नित्यानित्यात्मक हैं,

विपर्यय मिथ्यात्वका स्वरूप—हिंसा दुर्गतिमें अग्रण काराती है, तथापि वह स्वर्गादि सुखके लिये कारण होती है ऐसा निश्चय ज्ञान होना यह विपर्यय मिथ्यात्व है, अहिंसा दुःख देनेमें कारण है ऐसा समझना विपरीत मिथ्यात्व है, ऐसे मिथ्यात्वका पराजय मुनि करते हैं, हिंसा स्वर्गप्राप्तिमें कारण होती है अतः हिंसा कारण है और स्वर्गप्राप्ति होना उसका कार्य है ऐसा कहना योग्य नहीं है, जिसको लोक धर्म हेतुसे मारते हैं उसको अत्यंत दुःख होता है, तिलमात्र भी उस प्राणीमें शोचता उस समय रहती नहीं है, अतः उस प्राणीको तथा मारनेवालेको स्वर्ग लाभ होना नितात असंभव है, दयाक्षमादि-गुणही स्वर्गादि सुखके लिये कारण होते हैं, हिंसाही यदि स्वर्गके लिये

कारण हो तो व्याघ्रादि हिंस्र प्राणीही मरणोत्तर स्वर्गादि सुखको प्राप्त होंगे. अतः हिंसा स्वर्गदायिनी है यह मानना अयोग्य है.

स्वर्ग व मोक्षकी भाषिके उपाय व स्वर्गादिक उपेय इन दोनोंका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है. अनुमानसे भी इनका स्वरूप नहीं जाना जाता है क्योंकि वह भी प्रत्यक्षके बिना उत्पन्न होता नहीं. आगमसे उपाय और उपेयका ज्ञान होता है अतः आगमका आश्रय लेना ही योग्य है. वह आगम जिसने रामद्वेषका नाश किया है ऐसे सर्वज्ञ जिनेश्वरने रचा है. अतः वह ही स्वर्गादिके उपाय और उपेय सुखादिकका प्रतिपादन करता है.

कपिलादिक अन्यमत प्रणेताकपि असर्वज्ञ थे अतः उनका आगम अष्ट पदार्थोंका ज्ञान करानेमें उपाय हो नहीं सकता. कपिलादिकके वचन मत्प्रस और अनुमादिक प्रमाणोंसे विरुद्ध हैं अतः वे रथ्यापुरुषके समान अममाण हैं.

शब्द नित्य है यह कहना भी योग्य नहीं है यदि वे नित्य हैं तो सर्व शब्द नित्य होनेसे पुरुषोंके राम-द्वेषादि दोषोंसे वे अलिप्त होनेसे प्रमाण मानने पड़ेंगे. जितनागमसे हिंसा दुःखोत्पत्तिके लिये कारण है ऐसा अनुभव आता है अतः हिंस्रको सुखका कारण समझना विपरीत मिथ्यात्व है. इस विपरीत मिथ्यात्वका सत्यज्ञानसे मुनि-राज पराभव करते हैं. मिथ्यात्व, असंयम, कपाय ऐसे शत्रुओंको जीतकर वे बलात्कारसे आराधनापत्राका हरण करते हैं.

चिरमभावितरत्नत्रयणमतसुहृत्कालभावनता सिद्धिरिच्यते तार्कं चिरमवनयेत्यस्योच्चरमाचरे—

पुव्यमभाविदजोगो आराधेज्ज मरणे जादि वि कोई ॥

खण्णुगदिठ्तो सो तं खु पमाणं ण सव्वत्थ ॥ २४ ॥

यद्य भावितयोगोऽपि कोऽप्याराधयते मृति ॥

तत्प्रमाणं न सर्वत्र रथाणुमूलनिधानवत् ॥ २७ ॥

पुव्य पूर्व मरणकालात् । अभाविदजोगो अभावितपरिकर । आराधेज्ज आराधयेत् । किं मरणं रत्नत्रयानुगत-मवपर्यायप्रत्यय । जादि वि यद्यपि । कोई कश्चित् । खण्णुगदिठ्तो स्थणुदृष्टान्त । सो स. । तं खु तदेव । अकत-

परिकरस्य कस्यचिद्वत्तत्रयसमापन्नं । सत्त्वत्य सर्वत्र । ण प्रमाणं न प्रमाणं । अर्थव्यानमत्र वाच्यम् ।  
एवं पीठिका समाप्ता ॥

मूलरा—आराहेज्ज मरणं रत्नत्रयानुगत भवपर्यायप्रलयं कुर्यादित्यर्थः । खणुणादिद्वंद्वो सो स्याणुद्वयान्तः सः । तं खु । तदेव अकृतपरिकर्मणः कस्यचिन्मरणे रत्नत्रयपरिणमनं । सत्त्वत्य सर्वत्र सर्वेषु । न प्रमाणं न गमकं । यो यो जीवः स स सर्वोऽपि अकृतपरिकर एव मरणसमाधिमुपेयात् । यथा कश्चित् प्रासद्धो जीव इति न्याप्तेरभावात् ।

‘पूर्वमभावितयोग्यो यथाव्याराधयन्मूर्तो कश्चित् ॥

स्थाणौ निधानलाभो निदर्शनं नैव सर्वत्र ॥

पीठमास्तनमिव समस्तग्रंथार्थसंग्रहस्थाधारभूतत्वात् । श्लोकः

त्यक्त्वा संगं सुधीः सान्ध्यसमभ्यासवशाज्जवं ।

समादि मरणे लब्ध्वा हन्त्यल्पयति वा भवम् ॥

इति मूलाराधनादर्पणे पीठिकाप्रतिष्ठा ।

जिन्होंने बहुतकालपर्यंत रत्नत्रयाराधन नहीं किया है अर्थात् अन्तर्हृदयैर्कालपर्यन्त ही आराधन किया है उनको भी मोक्षलाभ होनापा है, अतः चिरकालरत्नत्रय भावनाकी आवश्यकता नहीं है ऐसे प्रश्नका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—मरणकालके पूर्व अर्थात् दीक्षा, शिक्षा वर्गरे समयमें रत्नत्रयके साधनभूत कारणोंका किसी जीवने आराधन नहीं किया हो परंतु मरणसमयमें उसने रत्नत्रयकी आराधना की हो तो भी यह स्थाणुद्वयान्तके समान हो गया, रत्नत्रयके साधन विना यदि किसी विरले मुनिको मरण समयमें रत्नत्रयाराधना होनेसे यह सार्वत्रिक नियम नहीं हो सकता, जैसे किसी विरले अंधको स्तंभसे टकरानेसे नेत्रलाभ हुआ और स्तंभ गिरनेपर उसके नीचे रक्त्वा हुआ निधि उसको दीख पड़ा परंतु तमाम अंध जनको इसी उपायसे निधिलाभ होगा यह समझना नितांत

भूलभरा समक्षना चाहिरे. अत. इस दृष्टातके अनुसार रत्नत्रयाराधना मरणसमयमें किसी एकादे मनुष्यको हो गई हो तो सर्वत्र यह नियम प्रमाणश्रुत नहीं है.

पीठिका समाप्त.

मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहिं जिणवयणे ॥

तत्थ वि य पंच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ॥ २५ ॥

विस्तरेणागमोक्तेषु मध्ये सप्तदशस्वरूपम् ॥

मरणान्यत्र पंचैव कथयामि समासतः ॥ २८ ॥

विजयोदया—मरणान्पनेकप्रकाराणि इति शास्त्रान्तरे निर्दिष्टानि । तेष्विह निरूप्याणीभानीति निरूपयितुं इदमुत्तरं सूत्रं मरणाणीति । मरणं विनाशो विपरिणाम इत्येकोऽर्थः । तच्च मरणं जीवितपूर्वम् । जीवितं स्थितिरविनाशोऽवस्थितिरिति यावत् । स्थितिपूर्वको विनाशः । यदस्थितिक तत्र विनश्यति यथा वज्रासुतः । तथा च स्थितिरद्वित वस्तु क्षणिकवादिनिरूप्यं । जीवितं जन्मपुरोगं । अनुत्पन्नस्य स्थित्यभावात् । तत उत्पत्तिर्विनाशो भौतव्यं च सर्वेषां रूपणि । अस्या च प्रक्रियाया मरणं नामोत्पन्नपर्यायविनाशः । देवत्वं, तिर्यक्तत्वं, नारकत्वं, मनुष्यत्वं, इत्यमीषा पर्यायाणा प्रध्वंस इह मरणशब्दवाच्यः । अथवा प्राणपरित्यागो मरणं । तथा चाभ्यधायि-भृद् प्राणत्याग इति । एवमेव प्राणग्रहणं जन्म, प्राणाना धारण, जीवितं । प्राणा क्षिविधा इव्यप्राणा भावप्राणाश्च । तत्र द्रव्यप्राणा इन्द्रियाणि, बल, उच्छ्वास, आयुरित्येतानि पुद्गलद्रव्याणि । भावप्राणा ज्ञानदर्शनचारित्र्याणि एतत्प्राणापेक्षया लिङ्गाना जीवितः । तत्रायुर्द्विभेदं अन्नयुग्मेवायुरिति च । भवधारण भवयुग्मेव शरीरं तच्च प्रियते आत्मन आयुकोदयेन । ततो भवधारणमायुष्काव्य कर्म तदेव भवयुगिरुच्यते । तथा चोक्तम्—

देहो भवोऽस्ति उच्चदि धारिज्ज्ञ आउमेण य भवो सौ ।

तो उच्चदि भवधारणमाउत्तकम्म भवाउति ॥

इति आयुर्वैशेनैव जीवो जायते जीवति च आयुष एवोदयेन । अन्यस्यायुष उदये सति मृतिमुपैति पूर्वस्य चायुष्कस्य विनाशो ।

१ मृत् प्राणत्यागो इति य पुस्तके पाठः । २ स्व-आत्मनेति ।

तथा चोक्तम्—

आजगवसेण जीवो जायति जीवति य आजगमसुदये ।  
अण्णाजगदये वा मरति य पुञ्चाजगसे वा ॥ इति ॥

अद्वैताद्वेन काल उच्यते । आजगमसुदयेन द्रव्यस्य स्थितिः, तेन द्रव्याणां स्थितिकाल अद्वैत्युपरिच्यते इत्यर्थः-पक्षेया द्रव्याणामनाद्यानिधनं भवत्यद्वयम् । पर्यायार्थपक्षेया चतुर्विधं भवत्यनाद्यानिधनं, साद्यनिधनं, सनिधनमनादि, सादिसनिधनमिति । चैतन्यरूपादिमत्त्वगतिस्थितिरित्यादिसामान्यपक्षेया अनान्यानिधना स्थिति । केवलक्षणादि-कालां साद्यनिधनता । भवत्यस्य अनादिसनिधनता, सादिसनिधनता कोपादीनाम् । अथवा द्रव्यद्वैतकालभावात्-स्थित्य चतुर्विधा भवति स्थिति । एतस्याद्वैत्युपो वक्ष्येन भवधराण्युपो निरूपणा भवति । अत्र साक्षितात्मा कर्मणा पुद्गलद्रव्यतया आद्य स्थितेन द्रव्यस्थितेरत्यतान्यथात्वं । अथवा अनुभूयमानाद्यु संक्षमपुद्गलगलने मरणं । तानि मरणाणि । सत्तरस सप्तदश । दैसिदानीं कथितानि । तिर्यकरोहि तीर्थकर । जिणवयणे जिनानां वचने । ननु तीर्थक-रैवकालि इत्यनेनैव गतं किं जिनवचनग्रहणेन ? नैव दोषः । जिनशब्देन गणधरा उच्यन्ते । अंतरेण चशब्दः समुच्चया-र्थगति । तत्राय संबंध-जिनवचने च किं सप्तदशमरणाणि । एतेन तीर्थकलो गणधराश्च मरणाधिकस्यानुपपादितवन्त । तदुभयवचनसिद्ध प्रमाणमविवशंकीर्यामत्येतदाचष्टे १ अर्वाचिमरण २ तद्भवमरण ३ अर्वाधिमरण ४ आदिअताय ५ बालमरणं ६ पांडितमरणं ७ आसणमरणं ८ बालपंडित ९ ससल्लमरणं १० बलायमरणं ११ वोसट्टमरण १२ विष्णाणस-मरण १३ तिद्धपुट्टमरणं १४ भत्तपच्चफळाणं १५ पाजगमणमरणं १६ इतिणीमरणं १७ केवलिमरण चेति । तेषां सारूपता यथागतं संक्षेपतो निरूप्यते ॥

वीचिशब्दस्तरणाभिधायी इह तु वीचिरिव वीचिरिति । आयुष उदये वर्तते । यथा समुद्रादौ वीचयो नैरत-येणोद्गच्छन्ति एवं क्रमेण आयुष्कार्यं कर्म अनुसमयमुदेति इति तदुदय अर्वाचिशब्देन भण्यते । आयुष अनुभव-जीवितं, तच्च प्रतिसमयं जीवितभगस्य मरणं । अतो मरणमपि अथ अर्वाचिम्, उदयादनंतरसमये मरणमपि वर्तते इति । तदनुसारावीचिकामरण अनान्यानिधनं भव्यता । ननु सिद्धान्तमेव मरणं विच्छित्सिमुपयाति नेतेरेयं ते च न भव्या । भवि-प्राप्तिरद्वैतपर्याया हि भव्या । सिद्धास्त्यधिगतसिद्धत्वपर्यायास्ततः किमुच्यते भव्यानामनादिसनिधनमिति । ' भवियाणाम-अभव्यानां पुनरुदये प्रति सामान्यापेक्षयाऽवीचिकमनादिनिधनं । भवपेक्षया क्षत्राद्यपेक्षया च सादिकं । चतुर्णामायु-ष्काणां मध्ये द्वयोरेवपि सत्कर्मता तथापि एकस्यैवायुष उदयः । द्वयोः प्रकृत्यो सत्कर्मता सदा भवति । उच्यते-तिर्य-हमनुप्रायुष्कयोः सर्वैरायुष्के, सदा सत्कर्मता देवनारकायुष्कयोस्तिथेर्मानवायुष्काभ्यां सत्कर्मता । भवतु नभौपा सत्क-र्मैववस्था । द्वयोरायुष्कमद्वैत्यो, किं तदुपपुदुदयः ? अत्रोच्यते—अनुभूयमानप्रकृतिस्थितानामुपरि इतरस्यायुषो निर्णेको-यतस्ततो न युगपदायुष्कमद्वैत्योदयः । किं च यसादिकस्य जीवस्य द्वयोर्भवयोर्भित्तयोर्वा न संभवः । भव गति च



प्रयोज्य अपेक्ष्य आयु उदयो नात्यथा ततो नायुष्कदयोऽप्य' । एवमेकस्यायुष्कर्मण प्रकैव प्रकृतिरद्वैतकस्यात्मनस्त-  
स्मादेकैकायुष्कप्रकृतिगलनरूपमेव सृतिमुपैति । तदेतद्व्यकृतिमरणं ।

भवधारणकारणत्वपरिणताना पुद्गलना अहादात्मप्रदेश्यवस्थितिरत्युच्यते । आत्मन कपायपरिणाम  
सहकारी पुद्गलना स्तिगद्यताया । परिणामिकारण तु तदेव पुद्गलद्वयं । सा चेया स्थितिरैकादिकैकोचरा देनोनत्रय-  
स्थिरास्तान्तरूपमाणा यावन्त समयास्तावद्देश उत्कर्षस्थितिः । अंतर्मुहूर्तभवा परा । तस्या वीचय इव क्रमेणावस्थि-  
तया विनाशादात्मनो भवति स्थित्यावीचिकामरणं ।

भवात्तरप्राप्तिरस्मत्तरोपपद्यपूर्वभावविगमन तद्भवमरणं । तत्त्यनतश्च प्राप्तं जीवेनेति ज्ञातव्य तेन तद्भवमरण  
न दुर्लभम् ।

अनुभवावीचिकामरणमुच्यते—कर्मपुद्गलना रस अनुभव इत्युच्येत, स च परमाणुषु पोढा वृद्धिहानि-  
रूपेण आवीच्य इव क्रमेणावस्थितस्य प्रलयोऽनुभवावीचिमरण ।

आयुःसंक्षिताना पुद्गलना प्रदेशा जगन्मनिरपेकादारभ्य एकादिबुद्धिक्रमेणावस्थितवीचय इव तेषा गलनं  
प्रदेशावीचिकामरण ।

अवाधिमरणं नाम कथ्येत—यो यादृश मरण सांप्रतमुपैति तादृगेव मरणं यदि भविष्यति तदवधिमरणं ।  
तद्विद्वतिषं देशावधिमरण सर्वावधिमरण इति ।

तत्र सर्वावधि मरण नाम यदायुर्यथाभूतमुदेति सांप्रतं प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैस्तयाभूतमेवायु प्रकृत्या-  
दिविशिष्टं पुनर्येनाति उदेष्यति च यदि तत्सर्वावधिमरणं ।

यत्सांप्रतमुदेत्यायुर्यथाभूत तथाभूतमेव यथाति देशतो यदि तद्देशावधिमरणं । एतदुक्तं भवति देशत सर्वतो  
वा साहच्येन विरोधित मरणमवधिमरणमिति । सांप्रतेन मरणेनासाहच्यमगति यदि मरणमाद्यंतमरणं उच्यते, आदि-  
प्राप्तेन सांप्रतं प्राथमिक मरणमुच्यते तस्य अतो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्यंतमरणं अभिधीयते । प्रकृति  
स्थित्यनुभवप्रदेशैर्यथाभूतैः सांप्रतमुपैति सृतिं तथाभूता यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यंतमरण ।

वालमरणमुच्यते—वालस्य मरण वालमरण, स च वाल, पंचप्रकार अव्यकवाला, व्यक्वादावाला, ज्ञानवाला,  
दर्शनवाला, चारित्रवाला इति । अव्यक्त, शिष्ट, धर्माधर्मकामकार्याणि यो न वेति न च, तदाचरणसमर्थदारीरः सोऽ-  
व्यक्वाला । लोकवेदसमव्यवहारान्यो न वेति शिशुवासी व्यवहारावाला । भिष्याद्वयः सर्वथा तत्त्वअज्ञानरहिता  
दर्शनवाला । वस्तुयाथात्म्यग्राहिशानन्तूना ज्ञानवाला । अचारित्रा प्राणभूतश्चारित्रवाला । एतेषा वालानां मरणं  
वालमरणं । एतानि च अतीते काले अनतानि । अनंतप्राप्त सृतिभिमा प्रपद्यते । इह दर्शनवालो गृहीत. नेतरवाला.  
कथं ? यस्मात्सम्यग्देशैरितरवालात्वे सत्यपि दर्शनपंडितताया, सद्भावपण्डितमरणमेवेत्यते ।

दर्शनवालास्य पुन, सक्षेपगतो द्विविधं मरणमिष्यते । इच्छया प्रवृत्तमनिच्छयेति च । तयोरायमग्निता धूमेन,

शस्त्रेण, विप्रेण, उदकेन, महत्प्रपतेन उच्छ्वासनिरोधेन, अतिशीतोष्णपतेन, रज्ज्वा, श्लेषा, लुपा, जिह्वोत्पादनेन, चिरब्रूहादरसेवनया बाला मृतिं दौकन्ते, कृतश्चिह्नसिन्धुसाल्मीवितपरिस्थानौपिण, काले अकाले वा अथ्यवसानादिना यन्मरणं जिजीविषो. तद्वितीयं । एतैर्वालयमरणदुर्गतिगामिनो भ्रियन्ते । विषयव्यासकदुःख्य. अज्ञानपटलवयुंष्टिता रससातगुरुकाः । बहुतीव्रपापकर्मास्त्रवद्वाराण्येतानि बालमरणाणि जातिजरामरणव्यसनपापानक्षमाणि ॥

पण्डितमरणमुच्यते—व्यवहारपण्डितः, सम्यक्त्वपण्डितः, ज्ञानपण्डितश्चारित्र्यपण्डितः इति सत्त्वारो विकल्पा । लोकेवदसमयव्यवहारनिपुणो व्यवहारपण्डितः, अथवाऽनेकशाल्यज्ञः शुश्रूषादिशुद्धिगुणसमन्वितः व्यवहारपण्डितः, क्षाधिकेण क्षायोपशमिकेनौपशमिकेन वा सम्यग्दर्शनेन परिणतः दर्शनपण्डितः । महादिपंचमकारसम्यग्ज्ञानेषु परिणत ज्ञान इह पुनर्तं ज्ञानदर्शनचारित्र्यपण्डिताना अधिकांशः । व्यवहारपण्डितस्य सिध्दादौ बालमरण यथा भवति सम्यग्दृष्टे स्तदेव दर्शनपण्डितमरण भवति । नरके, भवनेषु, विमानेषु, ज्योतिषकेषु, बानव्यतरेषु, द्वापसमुद्रेषु च ज्ञानपण्डितमरणाणि च तेवेव । मनुष्यलोके एव केवलमनःपर्ययज्ञानपण्डितमरण भवति ।

ओसण्णमरणमुच्यते—निर्वाणमार्गप्रस्थितात्संयतसार्थाद्यो हीन प्रच्युतः सोऽभिधीयते ओसण्ण इति । तस्य मरण ओसण्णमरणमिति । ओसण्णप्रद्वेणेन पार्थ्वस्था, स्वच्छद्रा, कुशीला संसकाश्च गृह्यन्ते । तदा चोक्तम् ॥

पासतथो सच्छद्रो कुशील संसत होंति ओसण्ण ॥  
जं सिद्धिपण्डिदादो ओहीण साधु सत्थादो ॥

के पुनस्ते ? अस्मिन्निद्या, रसेव्यासका, दुःखभीरवः सदा दुःखकातरा, कणयेषु परिणता, संज्ञावशना, पाप-शुताभ्यासकारिणः, त्रयोदशविधासु क्रियाखलसा, सदा संक्लिष्टचेतसा, भक्ते उपकरणे च प्रतिवद्धा, निमित्तमवर्षापथ योगोपजीविनः, गृहस्ववैधावृत्यकरा, गुणहीना गुप्तिषु समितितु चानुद्यता मंदस्वेना दशमकोरे धर्मे अकृतबुद्धयः शवलचारिजा आसन्ना इत्युच्यते । एवंभूता सती मृत्वा वराका भवसहस्रेषु अमन्ति । इ ज्ञानि भुक्त्वा भुक्त्वा पार्थ्वस्य रूपेण सुचिरं विहृत्यान्त आत्मतः शुद्धिं कृत्वा यदि मृतिमुपैति प्रशस्तमव मरणं भवति ।

सम्यग्दृष्टेः संयतसंयतस्य बालपण्डितमरण यतोऽसाधुभयरूपो बालः पण्डितश्च । स्पृहलकृताप्याणातिपातादेर्विर-मणलक्षणा चारित्र्यमस्ति दर्शनं वा ततश्चारित्र्यपण्डितो दर्शनपण्डितश्च कृतश्चित्समदसंयममदनिवृत्त इति चारित्र्यबालः । तच्च बालपण्डितमरणं गर्भेषु पर्याप्तकेषु तिष्ठेत् मनुजेषु भवति । दर्शनपण्डितमरणं तु तेषु देवनारेकेषु ।

सशाल्यमरणं द्विविधं यतो द्विविधं शाल्यं इत्यशाल्यं भावशाल्यमिति । मिथ्यादर्शनमायानिदानशाल्यानां कारणं कर्म इत्यशाल्यं । इत्यशाल्येन सह मरणं पंचाना स्यावराणा भवति असंज्ञाना ज्ञसानां च । ननु इत्यशाल्यं सर्वत्रास्ति तत्किमुच्यते स्यावराणामिति । भावशाल्यविनिर्मुक्त इत्यशाल्यमपेक्ष्यते । एतदुक्तं—सम्यक्त्वान्तिचारणा दर्शनशाल्यत्वात्स रम्यदर्शनस्य च स्यावरेषु अथावात् ज्ञसेषु च विकर्षेन्द्रियेषु । इदमेव स्यादनागते काले इति, मनसः प्रणिधानं निदान ।



तिहता इति प्रज्ञाप्रसक्तस्य मरणं प्रज्ञावशार्तमरणमुच्यते । व्यापारे क्रियमाणे मम सर्वत्र लाभो जायते इति लाभ मानं आचयतो मरणं लाभवशार्तमरणम् । तपो मयातुष्टियते अन्यो मत्सदृशश्चरणे नास्ति इति संकल्पयतस्तपोमानवशार्त मरणं भवति । माया पंचविकल्पा निकृतिः, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणिधि प्रतिकुञ्जनीमिति । अतिसंयतनकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वचना निकृति उच्यते । सद्गतं प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्तेन्यादिदोषे प्रवृत्तिरपधिसंज्ञिता माया । अर्थेषु विसंवाद, स्वहस्तनिश्चिद्व्यापहरणं, दूषणं, प्रशंसा वा सातिप्रयोग, । प्रतिक्रमद्रव्यमानकरणानि, उन्नातिरिक्तमानं, संयोजनया द्रव्यविनाशानमीति प्रणिधिमाया । आलोचनं कुर्वतो दीपविनिर्मुहं प्रतिकुञ्जनामाया । एवंविधमायावशार्तमरणं । उपकरणेषु, भक्षणक्षेत्रेषु, शरीरे, निवासस्थानेषु च इच्छां मूर्च्छां च वहतो मरणं लोभवशार्तमरणं । हास्यरत्यतिशोकमयजुगुप्साखीपुंखपुंसकवेदे मूढमतेर्मरणं नोकपायवशार्तमरणं । नोकपायवशार्तमरणमुपगतो जायते मनुजतिथेयानिषु, अमुरेषु, कंदेषु, किलिपिकेषु च मिथ्यादृष्टेर्तदेवं बालमरणं भवति । दर्शनपण्डितोऽपि अविरतसम्प्रवृद्धि संयतासंयतोऽपि वशार्तमरणमुपैति तस्य तद्दालपंडितं भवति दर्शनपण्डितं वा । अमतिचिद्धे अननुज्ञाते च द्वे मरणे । विष्णुणसं गिद्धपुष्टिमितिसंज्ञिते कृते प्रवर्तते । जुर्मिक्षे, कांतरे, डुरचरे, पूर्वशशुभये, डुष्टपुभये, स्तेनमये, तिर्यगुपसर्गं एकाकिन, सोढुमशक्ये प्रज्ञावतनाशादिचारित्रदूषणे च जाते संविभ्रं, पापभीरु, कर्मणमुदयमुपस्थित ज्ञात्वा तं सोढुमशकः तत्रिस्तरणस्यास्त्युपाये सावधकरणभीरु, विराधान-मरणभीरुश्च एतास्मिन् कारणे ब्रूते कालेऽमुषिम् । किं भवेत्कुशलमिति गणयतो यदुपसर्गमयत्रासितः संयमाङ्ग-इयामि ततः संयमभ्रष्टो दर्शनादपि न वेदनामसंक्षिप्त, सोढुं उत्सहेत ततो रत्नत्रयाराधनाच्युतिर्मीमति निश्चित मतिनिर्मायश्चरणदर्शनविमुक्त, श्रुतिमान्, ज्ञानसहायऽतिदानः, अर्हदन्तिके, आलोचनामासाद्य कृतशुद्धि, सुलक्ष्य, प्राणा-पाननिरोधं करोति यच्चद्विष्णुणसं मरणमुच्यते । शस्त्रग्रहणेन यद्भवति तद्विद्धपुष्टमित्युच्यते । मरणविकल्पसंभव-प्रदर्शनमिदं सर्वत्र कर्तव्यतयोपदिश्यते । प्रायोपगमनमीतिणीमरणं भक्तप्रत्याख्यातं इत्येतान्येवोत्तमानि पूर्वपुरुषे, प्रव-र्तितानि । एवं दिङ्मात्रेण पूर्वार्गमाजुसारि सप्तदशमरणव्याख्यानमत्रोपक्रान्तं ।

अथाह शिष्य । आधुःसंज्ञकपुल्लगलनं मरणमिष्यते तत्किञ्च सप्तदशप्रकारं । तदिह कतिधा भवद्भिरभि-  
धास्यते ? आराधनागुगतमरणस्यैवैह शास्त्रे विधेयत्वेनोक्तत्वात् । तद्वाक्याजुसारितया सूरिरिदमाह—

मूलारा—सत्तरस सप्तदश । जिणवयणे जिना इह गणधरास्तेषां वचनं तद्रचितं सूत्र तस्मिन् । अयमर्थः—  
न केवलं तीर्थकर्तृर्मरणानि सप्तदश देशितानि यावता गणधरैरपि स्वसूत्रे तानि तावन्त्येवोपनिबद्धानि । उच्यते वाक्ये च  
शब्देऽत्र योज्यः । तस्यैव तेज्यपि तीर्थकरोपदिष्टगणधरोपनिबद्धेषु सप्तदशमरणेषु मध्ये पंचविधसंग्रहेण—पचाना  
प्रकाराणां संक्षेपेण । एतेनैदं युगीनविधेयजानाजुरोधेन प्रशस्ततररूपतया कृतेतररूपता गताति पंच मरणाण्यहं वदस्यामीति

प्रतिज्ञा सुरेर्लक्ष्यते । मरणं चात्रात्रभूयमानाद्यु पुद्गलालनं मरणभेदस्मरणार्थमिदमार्याद्वयमवधार्य—

आवर्चितद्रवत्वध्यायंतसंश्लक्ष्यगृह्यप्रमृती ॥

त्रिप्रासव्युत्सृष्टबलाकासंछिद्रयमरणानि ॥ १ ॥

षिष्टुषिष्टुषिष्टुषिष्टुपद्धितमृतीः सभकोज्ज्वनेगिनीमरण ॥

प्रायोपयमनपद्धितपद्धितमरणे च सप्तदश विधात् ॥ २ ॥

१ तत्र प्रतिक्षणमायुःक्षय आवर्चिमरणं । समुद्रान्धुपु वीचीनामिव आयुःपुद्गलाणु रसाना प्रतिसमय मुद्गुषोद्भूय विलयनात् । २ भुज्यमानाद्युपश्वरमसमये मरणं तद्भवमरणं ३ यादृशेन मरणेन पूर्वं मृतस्तादृशेनैव मरण-मवधिमरणं । ४ देशतः सर्वतो वा प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशस्तद्वयेन अवधीकृतेन विशेषितत्वात् । प्रकृतिस्थित्यनुभव प्रदेशैर्देशतः सर्वतो बान्यादृशैर्भेदणमाद्यंतमरणं । आदेः प्रथममरणस्थान्तो विनाशो यास्मिन्त्युत्तरमरण इति व्युत्पत्तेः । ५ मायानिदानिमिव्यात्तलक्षणशक्त्यसमेतस्य मरणं सशक्त्यं मरणं । ६ हस्तिकलेवरादिषु प्रविश्य मरणं गृह्यप्रमरणं ७ व्याणतिरोष कृत्वा मरणं त्रिप्रासमरणं । ८ दर्शितज्ञानचारित्राणे त्यक्त्वा मरणं व्युत्सृष्टमरणं ९ पार्श्वस्थरूपेण मरणं बलाकामरणम् । १० दर्शितज्ञानचारित्र्ये संकलेशं कृत्वा मरणं संछिद्रयमरणं । शेषसप्तकस्य लक्षणानि स्वयमेवाचार्याग्ने वक्ष्यति ।

हिन्दी अर्थ—श्रीजिनेश्वरोंने जिनागममें मरणोंके सतरह प्रकार कहे हैं, उसमेंसे संग्रह करके मैं ( शिवकोठ्याचार्य ) पांच मरणोंका स्वरूप कहता हूँ ।

विशेषार्थ—मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम ये एकार्थ वाचक अर्थात् मरणके वाचक शब्द हैं मरणके पूर्व में प्राणीका जीवन पर्याय होता है अनंतर मरण पर्याय होता है ऐसे दो पर्याय जीवमें होते हुए देखे जाते हैं, जीवन पर्यायकेही स्थिति, अविनाश, अवस्थिति ऐसे नाम हैं, जिस पदार्थकी स्थिति होती है वही पदार्थ नष्ट भी होता है, जिसकी स्थिति ही नहीं उसका नाश भी नहीं होता है, जैसे वंध्यामुतकी स्थिति नहीं है अतः उसका नाश भी नहीं है, स्थितिरहित वस्तु क्षणिकवादि बौद्धोंने मानी है, वे सर्वथा वस्तु क्षणिक मानते हैं, जीवन जन्म पूर्वक ही रहता है, जो चीज उत्पन्न हुई नहीं उसकी स्थिति भी नहीं रहती है, अतः नाश, उत्पत्ति और ध्रौव ये तीन

अवस्थायें संपूर्ण पदार्थोंकी होती हैं, ऐसी यदि प्रक्रिया माने तो उत्पन्न हुए पर्यायका जो नाश उसकोही मरण कहना चाहिये, देवपना, मनुष्यपना, तिर्यचपना, और नारकपना इन पर्यायोंका नाश होना यह यहाँ मरण शब्दका वाच्यार्थ है, अथवा प्राणोंका त्याग वह मरण शब्दका अर्थ है, अत एव 'मृद् प्राणत्यागो' ऐसा मृ धातुका अर्थ धातुपाठमें है, उसी तरह प्राणोंको ग्रहण करना यह जन्म शब्दका अर्थ है, अर्थात् प्राण धारण करना यह जीवित है, प्राणोंके द्रव्यप्राण व भावप्राण ऐसे दो भेद हैं, स्पर्शनादिक पांच इंद्रिया, मनावल, वचनवल और कायवल आसोच्छ्वास और आयु ऐसे दस भेद द्रव्य प्राणोंके हैं, ये द्रव्यप्राण पुद्बलात्मक हैं, ज्ञान, दर्शन, चास्त्रि ये भावप्राण हैं, भावप्राणोंकी अपेक्षासे सिद्धोंमें जीवित माना गया है,

आयुष्यके दो भेद हैं पहिला भेद अद्वायु और दूसरा भेद भवायु, भवधारण करना वह भवायु है, शरीरको भव कहते हैं, इस शरीरको आत्मा आयु कर्मके उदयका साहाय्य प्राप्त करके धारण करता है, अतः शरीर धारण करनेमें असमर्थ ऐसे आयुर्कर्मको भवायु कहते हैं, इस विषयमें अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं,

देहको भव कहते हैं, वह भव आयु कर्मसे धारण किया जाता है, अतः भवधारण करनेवाले आयु कर्मको भवायु ऐसा कहते हैं, आयु कर्मके उदयसे ही उसका जीवन स्थिर है, और जब प्रसृत आयु कर्मसे भिन्न अन्य आयु कर्मका उदय होता है तब यह जीव मरणावस्थको प्राप्त होता है, मरण समयमें पूर्वार्थका विनाश होता है,

इस विषयमें पूर्वार्थार्थ ऐसा कहते हैं—

अद्वायुके विषयमें विवेचन—अद्वा शब्दका काल ऐसा अर्थ है, और आयु शब्दसे द्रव्यकी स्थिति ऐसा अर्थ समझना चाहिये, द्रव्योंका जो स्थितिकाल उसको अद्वायु कहते हैं, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे द्रव्योंका अद्वायु अनाद्यनिधन है अर्थात् द्रव्य अनादि कालसे चला आया है और वह अनंत कालतक अपने स्वरूपसे व्युत्पन्न होगा इसलिये उसको अनादि अनिधन भी कहते हैं, पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जब विचार करते हैं तो अद्वायुके चार भेद होते हैं, वे इस प्रकार हैं—१ अनाद्यनिधन २ साद्यनिधन ३ सनिधन अनादि ४ सादि सनिधनता,

क्षैतन्यपदिकगुण, रूपादिकगुण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व इत्यादि सामान्य धर्मोपेक्षया द्रव्योंकी अनाद्य-

निधन स्थिति है अर्थात् उपर्युक्त धर्म द्रव्योंमें अनादिकालसे विद्यमान हैं और इनका कभी भी नाश होता नहीं। अतः इनकी अनाद्यनिधन स्थिति विद्वानोंने मानी है। जीवमें मध्यमगुण, अनादिकालसे हे परंतु मुक्तीके समयमें उसका नाश होता है अतः वह अनादि और सनिधन है।

कोप, हर्षादिविकार सादि और सनिधन हैं। अर्थात् वे चार चार उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं। केवलज्ञानादिक गुण सादि हैं परंतु वे कभी नष्ट नहीं होते, अतएव वे सादि और अनिधन हैं।

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय लेकर अद्वायुके चार भेद होते हैं। अद्वायुके आश्रयमें भवधारणरूप आयुका निरूपण होता है। आयुसंज्ञक जो कर्म हैं वे पुद्गलद्रव्यस्वरूप ही हैं। अतः आयुःस्थिति द्रव्यस्थितिसे भिन्न नहीं है।

अथवा जीव जिसका अनुभव ले रहा है ऐसे आयुसंज्ञक पुद्गल आत्मासे नष्ट होना वही मरण है। अतः आयुःस्थितिमें द्रव्यस्थिती अत्यंत भिन्न नहीं है। आयुर्कर्म भी पुद्गल द्रव्य है अतः आयुकी स्थितीको अद्वा काल-द्रव्यस्थिति ऐसा भी कह सकते हैं। आयुर्कर्म नष्ट होना यह मरण है ऐसा उपर कह चुके हैं। इस मरणके तीर्थिकरोंने जिनवचनमें सतरह प्रकार कहे हैं।

शंका—तीर्थिकरोंने मरणके १७ प्रकार कहे हैं इतना कहनेसे भी अभिप्राय ध्यानमें आता है 'जिनवचनमें' ऐसे अधिक शब्दकी क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—आपकी शंका ठीक है। जिन शब्दका यहां गणधर ऐसा अर्थ समझना चाहिये, भाषाओं में च शब्द नहीं है तो भी उसके बिना भी समुच्चार्य माना जाता है। यहां ऐसा संबंध करना चाहिये, तीर्थिकरोंने मरणके सतरह प्रकार कहे हैं और गणधरोंके वचनमें अर्थात् उनके रचित स्त्रोत्रोंमें भी मरणके सतरह प्रकार कहे हैं। अतः दोनोंके वचन प्रमाण अर्थात् शंकाके स्थान नहीं हैं। सतरह मरणोंके नाम इस प्रकार हैं—१ आवीचिमरण २ तद्भवमरण ३ अवधिमरण ४ आदि अंतियमरण ५ बालमरण ६ पंडितमरण ७ ओसणमरण ८ बालपंडित मरण ९ सशस्त्रमरण १० बलाकामरण ११ वोसट्टमरण १२ विषाणसमरण १३ पिण्डपुट्टमरण १४ भक्तप्रत्यारब्धान मरण १५ केवलमरण ।

आगमके अनुसार इनका संक्षेपसे यहां वर्णन करते हैं।

१ आशीर्वाचमरण—वीचि शब्दका अर्थ 'तरंग' ऐसा होता है। तरंगके समान जो आशु कर्मका प्रतिसमय उदय आता है उसका भी यहां वीचि शब्दसे आचार्य उल्लेख करते हैं। जैसे नदी समुद्र इत्यादिकोमें निरंतर लहरें उछलती हैं वैसे आशु कर्म प्रतिसमय उदयमें आता है, अतएव उसके उदयको आशीर्वाच कहते हैं। आशुका अनुभव लेना वह जीवित है, वह जीवित प्रति समयमें रहता है, प्रत्येक समयका जीवित नष्ट होना यह मरण है, अतः प्रति समयके मरणको भी यहां वीचि कहते हैं। आशुके अनंतर मरण भी प्रतिसमय होता रहता है अतः वह मरण 'आशीर्वाच मरण' ऐसे नामसे प्रसिद्ध है, यह आशीर्वाच मरण भव्य जीवोंके प्रति अनादि और सनिधन है, भव्यको जब मोक्षप्राप्ति होती है तब यह मरण नष्ट हो जाता है अतः इसको सनिधन कहते हैं, मोक्षके पूर्वमे सनिधन है, मरण या इसकी अपेक्षासे उसे अनादि भी कहते हैं, अतः यह मरण भव्योकी अपेक्षासे अनादि सनिधन है।

शंका—सिद्धोंको ही मरण नहीं है उनके जन्म मरणका नाश हो चुका है परंतु सिद्धसे व्यतिरिक्त जीवोंको हमेशा मरण है ही, सिद्ध जीवको भव्य भी नहीं कहना चाहिये। जिनको भविष्य कालमें सिद्धत्व पर्याय प्राप्त होगा उनकोही भव्य कहते हैं, सिद्धोंको तो सिद्धत्व पर्याय मिल चुका है अतः उनको भव्य कहना योग्य नहीं है, सिद्धोंकी अपेक्षासे ही आशीर्वाच मरण अनादि सनिधन है, भव्योकी अपेक्षासे वह अनादि और सनिधन ही समझना चाहिये।

उत्तर—'सविधाणमणादियं मरणं आशीर्वाचं सणिधणं च' अर्थात् भव्योका आशीर्वाच मरण अनादि और सनिधन है ऐसा आगममें कहा है, जिसने भव्यत्वपर्याय प्राप्त किया था वही यह द्रव्य है ऐसी अपेक्षासे भव्योका मरण अनादि सनिधन है ऐसा कह सकते हैं, अर्थात् सिद्धोंको भी भूतपूर्व नयकी अपेक्षासे भव्य कहते हैं,

अभव्योकी अपेक्षासे यह आशीर्वाच मरण अनादि अनिधन है, अर्थात् प्रतिसमय उनको आशुका उदय रहता ही है, भव्यकी अपेक्षासे अथवा क्षेत्रकी अपेक्षासे यह मरण सादि कहते हैं,

आशु कर्म के चार भेद हैं, उसमें यद्यपि प्रत्येक गतिमें दो आशुकी सत्ता रहती है तो भी एकही आशुका उदय रहता है अर्थात् जिस गतिमें यह प्राणी उत्पन्न होता है उस गतिके अनुकूल आशुकाही उदय होता है,



परंतु दो आयु कर्म एक साथ रह सकते हैं,

तिर्यंचाद्य और मनुष्यायुके साथ सर्व आयुष्यकी सत्ता रहती है, अर्थात् तिर्यंच जीवको देवाय, नरकाय, मनुष्याय, तिर्यंचाय ऐसे आयुमेंसे कोई भी आयुका वंध हो सकता है इस लिये सर्व आयुकी सत्ता रहती है ऐसा आचार्य कहते हैं, इसी तरह मनुष्यायुके साथ भी—सब आयुकी सत्ता रहती है, देव आयु और नरकायुके साथ तिर्यंचायु और मनुष्यायु की ही सत्ता रह सकती है, अतएव देव नारकी नहीं होता और नारकी भरकर देव नहीं होता, देव भरकर तिर्यंच अथवा मनुष्य ही होगा, नारकी भी भरकर तिर्यंच अथवा मनुष्यगतीमें ही उत्पन्न होगा,

शंका—दो आयुष्यों की एक समयमें सत्ता रहती है यह हम मानते हैं परंतु एकदम दो आयुओंका उदय होता है क्या ?

उत्तर—जिस आयुकी प्रकृति और स्थिति अनुभवमें आ रही है उसके उपर इतर आयुके निपेक रहते हैं, अर्थात् पूर्वायुकी प्रकृति और स्थिती पूर्ण अनुभवमें आकर समाप्त होनेपर नंतर दूसरे आयुका उदय होता है, अतः एकदम दो आयुष्योंका उदय होता नहीं, आपके प्रश्नका उत्तर अन्य प्रकारसे भी दे सकते हैं—

एक जीवको युगपत् दो भव अथवा दो गतिओंका संभव नहीं है, भव और गति की अपेक्षासे आयुका उदय होता रहता है, इनकी अपेक्षाका उल्लंघन कर आयुका कभी उदय होता नहीं ऐसा नियम है, एक आत्मामें एक ही आयु कर्म की प्रकृती का उदय एक भवमें आता है, इसलिये एक एक आयु की प्रकृति गालित होनेसे आत्मा मरणावस्थाको प्राप्त होता है, इसको प्रकृतिमरण कहते हैं,

भवको धारण करनेमें कारण ऐसे पुद्गलोंमें स्निग्धता रहती है अतः वे पुद्गल आत्माके प्रदेशोंमें संचद्र होकर रहते हैं, उसको स्थिति कहते हैं, आत्मामें कपाय परिणाम है, वह पुद्गलोंमें स्निग्धता लानेमें सहकारि कारण है, स्निग्धताका उपादान कारण तो वे पुद्गल ही हैं परंतु कपाय न हो तो पुद्गलकी स्निग्धता व्यक्त होती नहीं अतः उसकी व्यक्तीमें कपाय सहकारी कारण माने गये हैं, यह पुद्गल द्रव्यकी स्थिति एक समयसे लेकर बढ़ती है, देशोन तृतीय सागरोंके जितने समय होते हैं उतने भेदवाली जो स्थिति हैं उसको उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं, अंतर्ग्रहते परिमाणवाली स्थिति जघन्य स्थिति है, इन स्थितियोंकी तरंगोंके समान क्रमरचना है, इनका

क्रमसे नाश होनेसे आत्माको स्थित्यावीचिक मरण की भाँति होती है,

अनुभवावीचिमरणका स्वरूप—कर्म पुद्गलोंका जो रस अनुभवमें आता है उसको अनुभव कहते हैं, यह अनुभव कर्मपुद्गलोंके परमाणुओंमें छह प्रकारकी दानि रूपतासे तथा छह प्रकारकी वृद्धिरूपतासे हीन होता और बढ़ता है, क्रमसे रहे हुए, इस अनुभवका तरंगोंके समान क्रमसे नाश होता है, इसको अनुभवावीचिक मरण कहते हैं,

प्रदेशावीचि मरणका स्वरूप—आणुसंज्ञक पुद्गलोंके प्रदेश जघन्य निषेकसे प्रारंभ करके एक दो तीन इत्यादि वृद्धिक्रमसे तरंगके समान नष्ट हो जाते हैं उसको प्रदेशावीचिक मरण कहते हैं, इस तरह आवीचिकामरण का विवेचन हुआ ।

२ तद्भवमरणका स्वरूप—पूर्वभवका नाश होकर उत्तर भवकी प्राप्ति होना वह तद्भवमरण है यह मरण इस जीवने अनन्त बार प्राप्त किया है, यह मरण इस जीवको दुर्लभ नहीं है,

३ अवाधिमरणका स्वरूप—जो प्राणी जिस तरहका मरण वर्तमानकालमें प्राप्त करता है, वैसे ही मरण यदि आगे भी उसको प्राप्त होगा तो ऐसे मरणको अवाधिमरण कहते हैं । इस मरणके देशावाधिमरण और सर्वाधिमरण ऐसे दो भेद हैं, सर्वाधिमरणका स्वरूप—प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशों सहित जो आयु वर्तमानसमयमें जैसी उदयमें आती है वैसे ही आयु फिर प्रकृत्यादि विशिष्ट बंधकर यदि उदयमें आवेगी तो उसको सर्वाधि मरण कहते हैं ।

देशावाधिमरणका स्वरूप—जो आयु वर्तमानकालमें प्रकृत्यादि विशिष्ट होकर जैसी उदयमें आती है, वैसे ही आयु यदि किसी अंशमें सद्य होकर बंधेगी और आगेके कालमें—भविष्यकालमें उदयमें आवेगी तो उसको देशावाधिमरण कहते हैं, अभिप्राय यह है कि कुछ अंशमें अथवा पूर्णरूपसे सादृश्य जिसमें पाया जाता है, ऐसा अवधिसे विशिष्ट अर्थात् जिसमें पूर्ण सादृश्य मर्यादित हुआ है अथवा जिसमें कुछ हिस्सेमें सादृश्यकी मर्यादा है और कुछ हिस्सेमें नहीं ऐसे मरण को अवाधिमरण कहते हैं ।

आद्यतमरण—वर्तमानकालमें जैसा मरण जीवको प्राप्त हुआ है वैसे अर्थात् सद्यमरण आगे प्राप्त न होना उसको आद्यन्तमरण कहते हैं, यहा आदि शब्दसे वर्तमानकालीन प्रथम मरण ऐसा अर्थ समझना चाहिये ।

ऐसे मरणका उत्तर मरणमें नाश होना उसको आद्यतमरण कहते हैं; प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेशोंसे युक्त ऐसे अशुका नाश होनेसे वर्तमानकालमें जैसा मरण प्राप्ति हुआ है ऐसा ही सदृश मरण आगे जीवको यदि प्राप्त न होगा तो उसको आद्यतमरण कहते हैं।

५ बालमरणका स्वरूप—बालका-अर्थात् अज्ञानी जीवका जो मरण उसको बालमरण कहते हैं। बालजीवके पांच भेद हैं, उनके नाम यथा-अव्यक्तबाल, व्यवहारबाल, ज्ञानबाल, दर्शनबाल और चारित्रबाल।

अव्यक्तबाल—अव्यक्त शब्दका अर्थ छोटा लड़का ऐसा होता है, अर्थात् जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका स्वरूप जानता नहीं और इन चार पुरुषार्थोंका आचरण करनेमें जिसका शरीर असमर्थ है ऐसे बालको अव्यक्तबाल कहते हैं।

व्यवहार बाल—लोकव्यवहार, वेदका ज्ञान, शास्त्रज्ञान, जिसको नहीं है वह व्यवहार बाल है।

दर्शन बाल—तत्त्वार्थ श्रद्धा जिनको बिलकुल नहीं है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन बाल है।

ज्ञान बाल—जीवादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान जिनको नहीं है वे ज्ञान बाल हैं।

चारित्र बाल—चारित्रहीन प्राणीको चारित्र बाल कहते हैं। ऐसे पांच बालोंका जो मरण उसको बाल मरण कहते हैं, ऐसे बाल मरण अनंतवार भूतकालमें इस जीवने प्राप्त किये हैं। अनंत जीव इस मरणको प्राप्त होते हैं, यहां दर्शनबालका प्रकरण ही प्रस्तुत है, इतर बालोंका विवेचन करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। सम्प्रगृहीतमें इतर बालकत्वका सद्भाव है तो भी सम्प्रदर्शनकी माप्ति होनेसे वह दर्शनपंडित कहा जाता है, अतः सम्प्रदर्शन सहित उसका मरण होनेसे उसके मरणको पंडित मरण ही कहते हैं।

दर्शनबालके मरणके संक्षेपसे दो भेद हैं, इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त।

इच्छाप्रवृत्त मरण—अग्निसे, धूमसे, शस्त्रके द्वारा, विपरी, पानीसे, पर्वतपरसे कूदनेसे, श्वासोच्छ्वास रोकनेसे, अति शीतोष्णके पड़नेसे भूक और प्याससे, जिन्हाको उखाड़नेसे, प्रकृतिके विरुद्ध ऐसे आहारका सेवन करनेसे, इत्यादि कारणोंसे जीवनका त्याग करनेकी इच्छासे जो प्राण त्याग करते हैं वे इच्छाप्रवृत्त मरण करनेवाले दर्शन बाल हैं, योग्य कालमें अथवा अकालमें ही मरनेका अभिप्राय धारण न करते हुए भी दर्शन बालोंको जो मरण आता है वह अनिच्छाप्रवृत्त मरण है, जीनकी इच्छा होते हुए भी जो मरण आता है वह

अनिच्छा प्रवृत्त मरण है।

जो दुरीतिको जानेवाले हैं, जिनका चित्त विषयोंमें आसक्त हुआ है, जिनके हृदयमें अज्ञानांधकार छाया हुआ है, जो ऋद्धिमें आसक्त हुये हैं, रसोंमें आसक्त हुये हैं, और सुखका अभिमान रखते हैं अर्थात् मैं बड़ा सुखी हूँ, मेरेको ही अच्छे अच्छे पदार्थ खानेको मिलते हैं, और मैं बड़ा श्रीमंत या इत्यादिक रूप तीन गारवोंसे जो युक्त हैं, ऐसे जीव ऊपर कहे हुए चाल मरणसे मरते हैं, इन चालमरणोंसे बहुत तीव्र पाप कर्मके आसव जीवमें आते हैं, ये चालमरण जरा, मरण वगैरह संकटोंमें जीवाको फेकते हैं।

पंडित मरणका कथन करते हैं—

१ व्यवहार पंडित २ सम्पत्त्य पंडित ३ सम्पन्नज्ञान पंडित ४ चारित्र्य पंडित ऐसे पंडितके चार भेद हैं, लोक, वेद, समय इनके व्यवहारोंमें जो निपुण है वे व्यवहार पंडित हैं, अथवा जो अनेक शास्त्रोंके ज्ञानकार हैं, श्रुत्या, श्रवण, धारणादि बुद्धिके गुणोंसे जो युक्त हैं उनको व्यवहार पंडित कहते हैं, दर्शन पंडित—जिनको क्षायिक सम्पन्नदर्शन, अथवा औपश्रयिक सम्पन्नदर्शन वा क्षायोपश्रयिक सम्पन्नदर्शन हैं वे जीव दर्शन पंडित हैं।

ज्ञानपंडित—मर्यादा पांच प्रकारके सम्पन्नज्ञानसे जो परिणत है उनको ज्ञानपंडित कहते हैं।

चारित्र्य पंडित—सामायिक, छंदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सक्षमसांप्रदाय, यथाख्यात ऐसे चारित्रिके पांच भेद हैं, उनमेंसे किसी एक चारित्रिके धारक जो हैं उनको चारित्र्यपंडित कहते हैं, यहां ज्ञानपंडित और चारित्र्य पंडितोंका ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि व्यवहारपंडित मिथ्यादृष्टि होता है इसलिये उसका मरण चालमरणमें समाविष्ट होता है, और ज्ञानादिपंडितोंका मरण पंडितमरणमें अन्तर्भूत होता है ऐसा समझना चाहिये, नरकमें भवनवासिदेवोंके स्थानोंमें, स्वर्गवासिदेवोंके तथा ज्योतिर्वासिदेवोंके विमानोंमें व्यंतरोंके निवास स्थानोंमें, द्वीप और समुद्रोंमें दर्शनपंडितका मरण होता है।

ज्ञानपंडितोंका मरण भी उपर्युक्त स्थानोंमें होता है परंतु जिनको मन-पर्यय प्राप्त हुआ है ऐसे ज्ञानपंडित और जिनको केवलज्ञान हुआ है ऐसे ज्ञानपंडित इनका मनुष्य लोकमें ही मरण होता है।

अवसन्नमरणका वर्णन—रत्नत्रयमार्गोंमें विहार करनेवाले मुनिओंका संघ जिसने छोट दिया है ऐसे मुनिको

अवसन्न कहते हैं और उसके मरणको अवसन्नमरण कहते हैं, अवसन्न शब्दसे पार्थस्य, स्वच्छंद, कुशील और संसक्त ऐसे अष्ट मुनिओंका भी ग्रहण होता है, इनका वर्णन—

पार्थस्य, स्वच्छंद, कुशील, संसक्त और अवसन्न ये पांच प्रकारके मुनि रत्नत्रयमार्गमें विहार करनेवाले मुनिओंका त्याग करते हैं, अर्थात् स्वच्छंदसे चलते हैं, ये मुनि ऋद्धीमें आसक्त होते हैं, रसोंमें आसक्ति रखते हैं, दुःखसे डरते हैं, हमेशा सुखको चाहते हैं, कर्मायामें परिणत होकर आहारादि, संज्ञाके आधीन रहते हैं, जिससे पाप उत्पन्न होता है ऐसे कुशास्त्रोंका अभ्यास करते हैं, ३ मुक्ति ५ समिति और ५ महाव्रत ऐसे तेरह प्रकारकी क्रियाओंमें आलसी रहते हैं, इनके परिणामोंमें हमेशा संक्षेप रहा करता है, आहारके पदार्थ और पिंडी, कर्मफलत्वादिक उपकरणोंमें इनका चित्त आसक्त होता है, निमित्त शास्त्र, मात्र शास्त्र, औपध इनका कथन कर ये उपजीविका करते हैं, गृहस्थोंका वैयावृत्त्य करते हैं, उत्तरगुणासे रहित होते हैं, गुप्ति और समितिमें इन की तत्परता नहीं रहती है, इनका मन संसारदुःखोंसे भययुक्त होता नहीं है, उत्तम क्षमादिक दशधर्मोंमें ये प्रेम नहीं करते हैं, इनके चारित्र्यमें दोष लगते हैं, ऐसे मुनिओंको अवसन्न कहते हैं, ये मुनि मरकर हजारों भवमें भ्रमण करते हुए दुःखोंको बारंबार भोगते हैं, यदि पार्थस्यरूपसे चिरकाल विहार कर अंतमें उन्होंने अपनी शुद्धि की होगी तो वे प्रशस्तमरणको प्राप्त होते हैं.

जो सम्मग्नदृष्टि होकर संयमासंयम अर्थात् अणुव्रत धारण करता है वह श्रावक बाल पंडित कहा जाता है, उसके मरण का नाम बाल पंडित मरण ऐसा है, यह श्रावक बाल और पंडितत्व ऐसे दोनों भावोंसे युक्त होनेसे इसको बाल पंडित कहते हैं, रघूल हिंसादिक पंच पापोंका त्याग इसने किया है, तथा सम्मग्नदर्शन का धारक भी है, अतः यह चारित्र्य पंडित और दर्शन पंडित है, परंतु ब्रह्म असंयमसे निवृत्त नहीं है, ब्रह्म हिंसादि पापोंका त्यागी न होनेसे इसमें बालत्व भी है अतः इसको बालपंडित कहना अनर्थ है, यह बाल पंडित मरण गर्वजप्यास ऐसे तिर्यंच और मनुष्योंमें होता है, देव और नारकी जीवोंमें नहीं होता, क्योंकि वे केवल दर्शन पंडित ही हैं, दर्शनपंडितमरण उपर्युक्त तिर्यंच, मनुष्य, देव और नारकी जीव इनमें होता है.

सश्रवणमरणके दो भेद हैं क्योंकि श्रवणके द्रव्यश्रवण और भावश्रवण ऐसे दो भेद माने हैं, मिथ्यादर्शन मया, निदान ऐसे तीन श्रवणोंकी जिनसे उत्पत्ति होती है ऐसे कारणभूत कर्मोंको द्रव्यश्रवण कहते हैं, इनके

उदयसे जीवमें जो मायारूप, निदानरूप और मिथ्यात्वरूप परिणाम होते हैं वे भावशाल्य हैं. पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति इन पांच स्थावरोंके मरणको द्रव्यशाल्यमरण कहते हैं. असंज्ञि ऐसे त्रस जीव भी इसी मरणसे मरते हैं.

शंका—द्रव्यशाल्य सर्व त्रस स्थावर प्राणिओंमें है ही ? तो स्थावरोंमें ही वह है ऐसा आप कहते हैं यह योग्य नहीं है.

उत्तर—भावशाल्यसे रहित केवल द्रव्यशाल्यकी अपेक्षासे हमने ऐसा कहा है. सम्भवत्त्वमें दर्शनशाल्यसे अतिचार उत्पन्न होते हैं. सम्पादार्थन स्थावर जीवोंमें और विकलेन्द्रियोंमें नहीं उत्पन्न होता है.

मेरेको भविष्यत्कालमें ऐसी ऐसी वस्तु मिलनी चाहिये ऐसा मनका संकल्प होना उसको निदान कहते हैं. यह असंज्ञिजीवोंमें मन न होनेसे नहीं होता है.

रत्नत्रयमार्गको दूषण लगाना, मार्गका नाश करना, मिथ्यामार्गका निरूपण करना, रत्नत्रयमार्गमें चलने-वाले लोगोंका बुद्धिभेद करना ये सब मिथ्यादर्शनशाल्यके प्रकार हैं.

निदानके प्रयास, अप्रयास और भोगकृत ऐसे तीन भेद हैं. परिपूर्ण संयमकी आराधना करनेकी इच्छासे जन्मातरमें मेरेको पुरातन प्राप्त हो, उत्तम कुल, उत्तम दृढ दायीर इत्यादि सामग्री प्राप्त हो ऐसी मार्यना करना प्रयासनिदान है. कथायसे प्रेरित होकर आगेके जन्ममें कुलरूपादिकोंकी प्रार्थना करना अप्रयासनिदान है. अथवा क्रोधांध होकर अपने शत्रुको मैं उत्तर भवमें मार सकूं ऐसी इच्छा रखना जैसे वशिष्ठमुनीने उग्रसेन राजाका नाश करनेकी इच्छा की थी. वह वशिष्ठमुनि मरकर कंस हुआ था उसने अपने पिताका राज्य छीन लिया था और उसको कारागृहमें कैद किया था. यह अप्रयासनिदानका उदाहरण है.

भोग निदान—इस लोकमें तथा परलोकमें—स्वर्गादिकमें मेरेको अच्छे २ भोग इस व्रताचरणसे मिलने चाहिये ऐसा मनमें संकल्प करना वह भोगनिदान है. यह भोगनिदान असंयतसम्पन्नदृष्टि व संयतासयत अर्थात् श्रावकको होता है. ये जीव भोगनिदानसे मरते हैं. इसको भोगनिदान मरण कहते हैं.

मायाशाल्यमरण—पार्थस्य, कुशील, संसक्त वर्गोंरे अष्ट मुनीके रूपसे चिरकाल तक विहार करके जो मुनि मरणसमयमें भी दोषोंकी आलोचना क्रिये बिना ही मरते हैं उनका वह मरण मायाशाल्यमरण समझना

वाहिदे, यह मायाश्रव्यमरण मुनि, श्रावक, और असंयतसम्पत्तिप्रदिको प्राप्त होता है.

बलाय मरण—बलाका मरण—देववेदनादिक नित्यनैमित्तिक क्रिया करनेमें अलसी-प्रमादयुक्त, विनय, वेयावृत्य वगैरे कार्योंमें आदरभाव न रखनेवाला, व्रत, समिति और गुप्ति इनके पालनमें अपनी शक्ति छिपाने वाला, धर्मके स्वरूपका विचार करनेके ममय मानो नींद लेनेवाला, और ध्यान, नमस्कारादिसे दूर भागनेवाला ऐसे मुनीके मरणको बलाकामरण कहते हैं, उपर्युक्त कार्योंमें अनुपयुक्त रहनेवाले मुनि इस मरणसे मरते हैं, सम्पत्कृत्यपंडित, ज्ञानपंडित, चारित्र्यपंडित ऐसे लोक इस मरणसे मरते हैं, इनके सिवाय अन्य भी इस मरणसे मरते हैं, अवसन्नमरण और सशाल्यमरणका स्वरूप पीछे कह चुके हैं उसमें नियमसे बलाय मरण होता है.

ओसट्टमरण—जिसने शल्यरहित और संसार दुःखसे भयभीत होकर चिरकाल रत्नत्रयका पालन किया है, जिसने समाधिभरणके लिये संस्तरका आश्रय लिया है, ऐसा मुनि यदि शुभोपयोगको छोड़ दे तो शुभभाव उसमें नहीं रह सकेगा उसको आर्तध्यान और रौद्रध्यान घेर लेगा, ऐसी अवस्थामें मुनीका यदि मरण होगा तो उसको वसट्टमरण कहते हैं, इस मरणके १ इंदियवसट्टमरण २ वेदनावसट्टमरण, ३ कसायवसट्ट मरण ४ नोक्कायवसट्टमरण ऐसे चार भेद हैं.

इंदियवसट्टमरण—स्पर्शानादिक पांच इंद्रियोंके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द ऐसे पांच विषय हैं, इन विषयोंकी अपेक्षासे इस मरणके पांच भेद होते हैं, जैसे—स्पर्शेन्द्रियवसट्टमरण, रसनेन्द्रियवसट्टमरण इत्यादि, देव, मनुष्य, तिर्यच, और अजीव पदार्थ इनके द्वारा किये गये तत्, वितत्, घन, और सुषिरशब्दोंमें—यदि ये मनोहर हो तो उनमें आसक्त होकर, अमनोहर हो तो उनमें द्वेषयुक्त होकर जो मरण होता है उसको ओत्रेन्द्रियवसट्टमरण कहते हैं, अन्न, पान, स्वाद्य और लेह्य ऐसे चार प्रकारके सुंदर और अमुंदर आहारमें क्रमसे आसक्त और द्वेष युक्त होकर मरना यह रसनेन्द्रिय वसट्टमरण है, पर्वोक्त देव, मनुष्य, तिर्यच और अजीव पदार्थ इनके गंधमें आसक्त या द्वेषयुक्त होकर मरना यह घ्राणेन्द्रियवसट्टमरण है, उपर्युक्तपदार्थोंके रूपमें या आकृतियोंमें आसक्त अथवा द्वेषयुक्त होकर मरना नेत्रेन्द्रिय वसट्ट मरण है, इनही पदार्थोंके स्पर्शमें आसक्त या छिष्ट होकर मरना स्पर्शेन्द्रिय वसट्ट मरण है, इन सब मरणोंका इंद्रियानिद्रिय वसट्ट मरण ऐसे एक नामसे उल्लेख करते हैं.

वेदनावसट्ट मरण—इस मरणके सातवेदनावशात् मरण और असातवेदनावशात् मरण ऐसे दो भेद हैं.

शारीरिक और मानसिक वेदनासे पीड़ित होकर अर्थात् उनमें एकप्रचिच होकर, दुःखसे मूढित होकर जो मरण होता है वह असातवेदनावधार्त मरण है। शारीरिक और मानसिक सुखोंमें अतुरक्त होकर जो आर्त ध्यानासे मरण होता है वह सातवेदनावधार्त मरण है।

कपायवधार्त मरण—कपायके चार भेद होनेसे इस मरणके भी चार भेद होते हैं। स्वतः में, दूसरेमें अथवा उभयत्र उत्पन्न हुआ जो क्रोध मरणको कारण हो जाता है वह क्रोधकपायवधार्त मरण है। मानवधार्त मरण—इसके आठ भेद हैं। कुल, रूप, बल, शस्त्रज्ञान, ऐश्वर्य, लाभ, प्रज्ञा-बुद्धि व तप इन्हीं उत्पन्न हुए अभिमानके नशेमें मरण होना मानवधार्त मरण है। १ विरूपाव, विशाल और उत्कर्षको प्राप्त हुए कुलमें उत्पन्न हुआ है ऐसे अभिमानमें जो मरण होता है वह कुलमानवधार्त मरण है।

२ मेरी पाँचों इंद्रिया निव्यंग हैं, मेरा शरीर संपूर्ण अवयवोंसे युक्त है, मैं तेजस्वी हूँ, नवीन यौवनेमें मेरा शरीर युक्त है, मेरा सौंदर्य ममल लोकांक अंत कणको दर लेता है ऐसी भावनामें जो मरण होता है वह रूप-मानवधार्त मरण है।

३ मैं वृक्ष और पर्वतोंको भी उखाड़नेमें समर्थ हूँ, बड़े बड़े योद्धा मेरे आश्रयमें रहते हैं, बहुतेरे मित्र भी मेरेको सहाय प्रदान करते हैं। ऐसा स्वमीय बलका अभिमान करते करते मरण होना वह बलभिमान-वधार्त मरण है।

मैं बड़े परिचारका मालिक हूँ, बहुत लोगोपर मेरी हुकूमत चलती है ऐसे ऐश्वर्यके मानसे उन्मत्त होकर जो मरण होता है वह ऐश्वर्यमानवधार्त मरण है।

५ मैंने लोक व्यवहार, वेद, अनेक मत इनके सिद्धान्त शास्त्रोंका अध्ययन किया है ऐसे शास्त्रज्ञानके अभिमानमें चूर होकर मरण करना यह श्रुतमानवधार्त मरण है।

६ मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, सर्व विषयोंमें बिना रुकावटके प्रवेष्ट करती है ऐसे बुद्ध्याभिमानके वशमें आकर मरण होना वह मज्ञामानवधार्त मरण है।

७ व्यापारमें मेरेको हमेशा लाभही होता है ऐसा लाभके अभिमानमें मत्त होकर जो मरण होता है वह लाभमानवधार्त मरण है। ८ मैं तप करता हूँ, मेरे समान तप करनेवाला कोई नहीं है ऐसे अभिमानमें आकर



जो मरण होता है वह तपोमानवशर्त मरण है.

मायाके पांच प्रकार हैं. निष्कृति, उपधि, साति प्रयोग, प्राणिधि और प्रातिकुंचन. १ धनके विषयमें अथवा किसी कार्यके विषयमें जिसको अभिलाषा उत्पन्न हुई है ऐसे मनुष्यका जो फलानेका चातुर्य उसको निष्कृति कहते हैं २ अच्छे परिणामको ढककर धर्मके निमित्तसे चोरी वगैरे दीप्योंमें प्रवृत्ति करना वह उपधिसंज्ञक माया है. ३ धनके विषयमें असत्य बोलना, अपने हाथमें किसीने रखनेकेलिये द्रव्य दिया हो तो उसका कुछ हिस्सा हरण करना, दूषण लगाना, अथवा प्रशंसा करना वह सातिप्रयोग माया है. ४ हीनाधिक कीमतकी सट्टा वस्तुयें आपसमें मिलाना, तोल और मापके सेर पसेरी वगैरह साधन पदार्थ कम जादा रखकर लेन देन करना, सच्चे और झूटे पदार्थ आपसमें मिलाना. यह सब प्राणिधि माया कहते हैं. ५ आलोचना करते समय अपने दीप लियाना यह प्रातिकुंचन माया है. ऐसे मायाके प्रकार करते हुए जो मरण होता है उसको मायावशर्तमरण कहते हैं.

उपकरण पिंडी, कर्मबहु आदिक, भक्तपान—आहारके और पीनेके पदार्थ, शरीर, निवासस्थान इत्यादिकोमें इच्छा—ममत्त्व रखते हुए जो मरण होता है वह लोभवशर्तमरण कहते हैं.

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इनसे जिसकी बुद्धि मूढ़ हो गई है ऐसे मनुष्यका जो मरण वह नोकापायवशर्त मरण है.

जो प्राणी वशार्तमरण को प्राप्त होते हैं वे मनुष्य और त्रिषंघोंमें जन्म धारण करते हैं. तथा असुर, कंदर्पजातिके देव, किहिविध देव इनमें वशार्तमरणसे मिथ्यादृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं. इनके इस मरणको बालमरणमें अन्तर्भूत कर सकते हैं. दर्शन पीडित भी, अविरत सम्पन्नदृष्टि, और संयतासंयत जीव भी वशार्तमरणको प्राप्त होते हैं. उनका यह मरण बालपीडित मरण अथवा दर्शन पीडित मरण समझना चाहिये.

विप्राणसमरण और शुद्धशुद्ध ऐसे नाम जिनके हैं ऐसे दो मरणोंका शास्त्रोंमें निषेध नहीं है और इनकी अनुज्ञा भी नहीं है.

दुष्कालमें, अथवा दुर्लभ्य ऐसे जंगलमें, पूर्वकालके शत्रुका भय उपस्थित हुआ हो ऐसे समयमें, दुष्ट राजासे भीति उत्पन्न हुई हो, चोरसे भय उत्पन्न हुआ हो, तिर्यचका उपसर्ग हो रहा हो, एकाकी स्त्रयं सहन करनेमें असमर्थ होनेसे, द्रमहयतका नाश वगैरके द्वारा चारित्र्यमें दीप लगनेका प्रसंग आया हो तो संसारमीर,

पापोंसे डरनेवाला, कर्मका उदय इस समय उपस्थित हुआ है ऐसा जानकर उसको सहन करनेमें अमर्ष्य होता है, ऐसे संकटोंसे पार पड़ने का उपाय उसको नहीं दीखता है तो भी पापकार्यसे बह दूरता है, आत्माका घात करनेवाले मरणोंसे भयवृक्त होता है, उपर्युक्त कारण उपस्थित हो जानेपर अब मेरा कुछाल होगा क्या ऐसा वह मनमें विचार करता है—यदि मैं इस उपसर्गके भयसे पीड़ित हो जाऊँ तो मेरा संयम नष्ट होगा और मेरा मत्प्रपदार्शन भी नष्ट होगा, इस उपसर्गसे जो वेदना हो रही है वह सहन करते समय परिणामोंमें संश्लेश होगा ही, अब मेरी रत्नव्यापाराधना नष्ट होगी—न टिकेगी ऐसा जब उसको निश्चय होता है उस समय निष्कपट होकर चारित्र्य और दर्शनेमें विशुद्धता धारण कर धैर्यवृक्त होता है, ज्ञानका सहाय लेकर निदानरहित होता है, अर्हन्तके समीप आलोचना करके विशुद्ध होता है, निर्मल लेशव्याधारी वह पुरुष अपने ध्यासोल्लिखका निरोध करता हुआ प्राण त्याग करता है, ऐसे मरणको विप्राणस मरण कहते हैं,

उपर्युक्त कारण उपस्थित होनेपर शस्त्रग्रहण करके जो प्राणत्याग किया जाता है वह शुद्धपट्ट मरण है,

इस तरह मरणके जितने विकल्प संभवीय थे वे कहे हैं, ऐसे मरणोंसे प्राणी प्राणत्याग करते हैं, प्रायोपनयन मरण, इंगिनी मरण, और भक्तप्रत्याख्यान मरण ऐसे तीन मरणही उत्तम हैं, पूर्व कालीन महापुरुषोंने इनकी ही प्रवृत्ति चलायी है, हमने संक्षेपसे आगमका अतुल्य मरण करके सतरा प्रकारके मरणका विवेचन किया है,

एतेषु सप्तदशसु पञ्च मरणानि श्व सक्षेपतो निरूपयेष्यामीति प्रतिप्रानेन कृता । कानि तानि पञ्च मरणानि श्रुत्वाहाकाया नामनिर्देशाय गाथाभाद—

पंडिपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चैव ॥

बालमरण चउत्थ पंचमयं बालबालं च ॥ २६ ॥

पंडितं पंडित्तादिरथं पंडितं बालपंडितम् ॥

चतुर्थं मरणं बालं बालबालं च पंचमम् ॥ २७ ॥

विजयोदया—पंडितपंडितमरणमित्यादि । ननु भवपर्यायप्रत्यये मरणं यदि गृह्यते तस्य को भेदो भव-  
पर्यायस्य अनेकत्वात् मरणं तद्विनाशः कथं न भिद्यते इति । मनुष्ये पंचमकारतदुपपन्ना अनतत्वात् । एक-  
जीवगतस्यापि भवपर्यायस्य नानाजीवोपेक्षाया कोऽवसरः पचत्वस्य । प्राणिनः प्राणेश्वरो विद्योक्तो मरणं इति यदि  
चेत्तदेकविधमेव सामान्यतः । प्राणभेदोपेक्षेयति चेद्देशप्रकारतापद्यते । उदयप्राप्तकर्मपुद्गलगलनं मरणं इति यदि  
गृह्यते प्रतिसमयं गलनश्च पचता । गुणभेदोपेक्षया जीवान्पंचधा व्यवस्थाप्य तत्संबन्धेन पंचविधं मरणमुच्यते ।  
अत्रान्या व्याख्या—प्रशस्ततम, प्रशस्ततरं, ईष्यप्रशस्तं, अविशिष्ट, अविशिष्टतरं इति पंडितपंडितमरणा-  
दीनि केचिद्व्याचक्षते । पंडितशब्दः प्रशस्तमित्यसिद्ध्यर्थे क प्रयुक्तो दृष्टो येनेवं व्याख्यायते ? किं च श्रानमांतरा-  
ननुगतं चेद व्याख्यातं ।

वक्त्रहारे सम्मत्ते णणे चरणे य पंडितस्स तदा ।

पंडितमरणं भणितं चतुर्विधं तत्त्वमवति हि ति ॥

इति वक्त्रा चतु मकाराः पंडिता उपदर्शिताः । तेषां मध्ये अतिशयितं पांडित्यं यस्य ज्ञानदर्शनचारित्र्येषु स  
पंडितपंडित इत्युच्यते । एतत्पांडित्यप्रकर्षरहितं पांडित्यं यस्य स पंडित उच्यते । व्याख्यातं बाल्यं पांडित्यं च यस्य  
स भवति बालपंडित तस्य मरणं बालपंडितमरणं । यस्मिन्न संभवति पांडित्यं चतुर्णामप्येक असौ बालः । स्वर्गो न्यूनो  
बालबालः तस्य मरणं बालबालमरणं ।

कानि तानि पंचमरणानीत्यनुयोगे गुणभेदोपेक्षया जीवान्पंचधा व्यवस्थाप्य तत्संबन्धेन मरणपंचकनिर्देशार्थमाह—  
मूलारा—पंडितपंडितमरण—भवपर्यायविनाशः । निरुक्तिगम्यत्वात्तत्रैषा लक्षणस्यावचनम् । तथा हि—

सुतवे सम्मत्ते वा णणे चरणे य पंडितं जन्म ॥

पंडितमरणं भणितं चतुर्विधं तद्विदूहि जग ॥

एवंविधचतुर्विधपंडितानां मध्ये अतिशयितं पांडित्यं यस्य ज्ञानदर्शनचारित्र्यपस्तु स पंडितः संपूर्णशायिकज्ञा-  
नादित्यर्थः । ततोऽन्यः पंडित प्रमत्तसंयतादि । पंडा हि रत्नत्रयपरिणता बुद्धिः संजाता अस्त्यति पंडितः । अत एव  
संयतासंयतो बालपंडित इत्युच्यते । कुतश्चिदसूक्ष्मादसंयमादनिवृत्तत्वाद्बालसतोऽन्यत्र रत्नत्रये परिणतबुद्धि-  
त्वाच्च पंडितः, बालश्चासौ पंडितश्च बालपंडितः । यतश्च सर्वत्रासंयतोऽसंयतसम्यग्बुद्धिस्तातो यथोक्तपांडित्यविशुक्लत्वाद्बाल  
इत्युच्यते । दर्शनज्ञानद्वये सत्यपि सर्वथा चारित्र्यरहितत्वात् । अत एव मिथ्यादृष्टिर्बालबाल इत्युच्यते सम्यक्त्वस्याप्यभावेन  
प्राप्तव्याख्यातीक्ष्ण्यत्वात् । पंडितं पंडितमरणं संज्ञैकदेशेनापि तद्व्यवहारदर्शनात् भीमादिवत् एवमुत्तरत्रापि बोध्यं ।

तत्राद्यानि त्रीणि मरणाणि सुगतिगमननियतानिमित्तत्वाज्जिना सुवन्ति नेतरद्द्वयं तद्विपरीतत्वात् ॥ तथा चान्यस्मादानीय सूत्रे पठन्ति—

पंडितपंडितमरणं च पंडित वालपंडितं चैव ॥

एदाणि तिणि मरणाणि जिणा णिचं पससंति ॥

सतरा प्रकारके मरणोंमेंसे पांच प्रकारके मरणोंका संक्षेपसे मैं वर्णन करूंगा ऐसी ग्रंथकारने प्रतिज्ञा की है वे पांच मरण कौनसे हैं ? ऐसी शंका होनेपर मरणका नाम निर्देश करनेके लिये आचार्य गाथा कहते हैं—  
हिन्दी अर्थ—पंडितपंडितमरण, पंडितमरण, वालपंडितमरण, वालमरण और वालवालमरण ऐसे पांच मरण हैं.

विशेषार्थ—‘भवपर्यायप्रलयो मरणं, मनुष्यादिभवके पर्यायका नाश होना वह मरण है ऐसा यदि मरणका लक्षण करोगे तो भवपर्याय अनेक प्रकारके हैं उनका नाश होना यह भी मरण है ऐसा मानना पड़ेगा. पर्यायोंका नाश और मरण इसमें कुछ विशेषता अनुभवमें न आवेगी. यदि भवपर्याय अनेक है और उन सबका ही नाश होना मरण माना जाता है अतः पर्यायका नाश और मरण इनमें अंतर है ऐसा कहोगे तो मनुष्यमें मरणके पंच प्रकारोंकी संभावना न होगी. क्योंकि एक जीवका भी भवपर्याय अनंतरूपका होता है. नाना जीवोंकी अपेक्षा से तो मरणके पांच प्रकार नितरां सिद्ध न होंगे.

‘प्राणिनः प्राणैर्यो वियोगो मरणं’ प्राणोंसे प्राणीका अलग होना मरण है ऐसा यदि लक्षण करोगे तो सामान्यकी अपेक्षासे एकही मरण सिद्ध होगा. मरणके पांच प्रकार सिद्ध न होंगे. प्राणभेदकी अपेक्षासे मरणभेद-मानोगे तो मरणके दश भेद होंगे. ‘उदयप्राप्तकर्मपुद्गलालनं मरणं’ उदयमें आये हुए कर्मपुद्गलका खिरना वह मरण है ऐसा यदि कहोगे तो कर्मपुद्गल प्रतिसमयमें खिरते हैं अतः मरणके पांच प्रकार सिद्ध नहीं होते हैं. गुणभेदकी अपेक्षासे जीवोंके पांच प्रकार होते हैं अतः गुणोंके संबंधसे मरणके पांच भेद हम मानते हैं ऐसा यदि कहोगे तो यह कहना सशुक्ति है.

यहां दूसरे विद्वान् अन्य तरहसे व्याख्या लिखते हैं—

“ पंडितपंडित मरण प्रशस्ततम है, पंडितमरण प्रशस्ततर, बालपंडित मरण ईश्वरप्रशस्त-श्रीवासा प्रशस्त है. बालमरण और बालबालमरण क्रमसे अविशिष्ट और अविशिष्ट तर है ” ऐसी व्याख्या करते हैं. परंतु पंडित शब्द प्रशस्त इस अर्थमें किस प्रकरणमें प्रयुक्त किया हुआ उन्हींमें देखा है ? जिससे वे ऐसा व्याख्यान करते हैं. दूसरे आगमका आशय न लेकर यह व्याख्यान किया गया है.

आगमान्तरमें व्यवहार, सम्प्रत्यदर्शन, ज्ञान और चारित्र्य इसमें जो पंडित हैं ऐसे जीवोंका जो मरण वह पंडितमरण है ऐसा कहा है. उसके चार प्रकार हैं. जैसे-व्यवहारपंडित मरण, सम्प्रत्यक्षपंडितमरण, ज्ञानपंडित मरण, और चारित्र्यपंडित मरण. व्यवहारादिक अर्थोंमें आगमान्तरमें पंडित शब्दका प्रयोग किया हुआ है. परंतु प्रशस्ततम, प्रशस्ततर वगैरे अर्थोंमें प्रयोग नहीं देखा गया है.

ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यमें जिनका अत्यंत पांडित्य है वे पंडितपंडित हैं. इस तरहका पांडित्यका नकर्ण ज्ञानादिकोंमें जिनका नहीं है अर्थात् जिनमें ज्ञानादि विषयक पांडित्य अल्प है वे पंडित हैं. जिसका विवेचन पूर्वमें कर चुके हैं. बाल्य और पांडित्य जिनमें हैं वे बालपंडित हैं. जिनमें चार प्रकारके पांडित्योंमेंसे एक भी पांडित्य नहीं है वे बाल हैं. तथा सबसे जवन्म जो वह बालबाल है. इन सबके मरणोंको क्रमसे पंडितपंडित मरण, पंडितमरण, बालपंडित मरण, बालबाल मरण ऐसे नाम हैं.

पंडितपंडितमरणे स्त्रीणकसाया मरंति केवल्लिणो ॥

विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण ॥ २७ ॥

विज्ञातव्यमयोगानां तत्र पंडितपंडितम् ॥

देशसंयतजीवानां मरणं बालपंडितम् ॥ ३० ॥

विजयोदया—पंडितपंडितमरणं स्त्रीणकसाया मरंति केवल्लिणो । सामान्यमृतोर्विशेषमृति. कर्मतया निर्देष्टुं पंडितपंडितमरणमिति । यथा गोपेय पुष्ट । स्त्रीणकसाया कथयन्ति हिंसन्ति आत्मानमिति कथया । कथया-शब्देन वनस्पतीनां त्वक्षुषमूलफलरस उच्यते । स यदा वस्त्रादीनां वर्णमन्याया संपादयति एव जीवस्य क्षमा-

मार्दवाज्वसंतोपाख्यगुणान्तिनाश्यान्थया व्यवस्थापयंतीति क्रोधमानमायालोभा. कपाया इति भण्यते । क्षीणा. कपाया येन ते क्षीणकपाया । इत्युक्तमर्थेण कपायवेदनीयानां विनाशात्तन्मूला अपि भावकपाया. प्रलयमुपगता इति क्षीणकपाया इति भण्यते । केवलमसहाय ज्ञानं इंद्रियाणि मन.प्रकाशादिकं च नोपेत्य गुणपदशेषद्रव्यपर्याय सयगाकेवलितो मरणस्यासम्भवादयोगेकेवलितो ग्रहण । अत्रान्ये क्षीणकपाया श्रुतेकेवलितश्चेति व्याचक्षते । तेषां तद्व्याख्यानमसमंजस । श्रुतशब्दमन्तरेण केवलिशब्दस्य कचिद्व्यापामे समस्तश्रुतरत्नवत्यपि प्रयोगादर्शनात् । प्रसिद्धं शब्दार्थसम्भयो यदि स्यात् कथंचिदन्त्योऽर्थो व्याख्येयः स्यात् । संभवति प्रतीत्यै कथं तत्परित्याग । अपि च पांडित्यप्रकर्ष. क्षाधिकक्षानदर्शनचारिघापेशस्तत्र सन्निहितो न श्रुतकेवलितः । विरदाविरदा जीवा स्थूलकृता-स्माणातिपातादेव्योवृत्ता. इति विरता. सूक्ष्माद्याव्यावृत्तेरविरता. । विरता यदि कथमविरता अविरताश्चेत्कथं विरताः इति विरोधाशंका न कार्या । विरतत्वाविरतत्वयोः अर्पणामेवाहिरोधो नास्पदं वञ्चति । यथा द्रव्यपर्यायोपेशे निस्थानित्यत्वे एकद्रव्याधिकरणे एकसिद्धापि समये न विरोधमुपयातः । अथवाऽप्रत्याख्यानवरणानां क्षयोपशमे सति स्थूलान्माणातिपातादेर्विरतोऽस्मि न सूक्ष्मादित्येक एव परिणाम उपजायते । विरोधश्च नाम अनेकाधिकरणः यथा शीताणस्पृशार्दीना । द्रव्यभावप्राणधारणजीवा इति निरूप्यते । तदियं तृतीयेन । मरणेण मरणेन । अथाहरेव तृतीयता न संयतास्यतत्त्वस्य तत्किमुच्यते तृतीयेनेति ? मरणस्य तु सामान्यापेक्षायां एकत्वमेवेति न तृतीयता । विशेषोपेक्षाया च अतीतानां च अनतत्वादानगतानां चातिबहुत्वसंभवात् । अबोच्यते सूत्रनिर्दिष्टक्रमापेक्षया तृतीयता आह्वया ।

मरणानां स्वाभिविशेषनिर्णयार्थं नाथान्नयं विवक्षुरादौ प्रशस्ततमप्रशस्त्यमरणद्वयनिर्देशार्थमाह—  
मूलार।—मह्निदपंहिमरणं—पंहिद पंहितपंहितमरणोनेत्यर्थः । आर्पेत्वाह्मिकविपर्यय । आर्पेत्वाह्मते सर्वे

विषयो विकल्पते इत्याभिधानात् । X टीकाकारस्तु सामान्यमृत्युः विशेषमृत्युः कर्मतया निर्दिष्टा तथा गोपोयं पुष्टमिलाचष्टे । अथवा मरंति प्राप्नुवन्ति इति व्याख्येयं धातूनामनेकार्थत्वात् । एवमुत्तरत्राणि सर्वत्र व्याख्यातव्यम् । रीणि-कसाया—कपन्ति हिंसन्ति शुद्धाचिद्विबर्तलक्षणप्राणैर्वियोजयन्त्यात्मानमिति कपाया द्रव्यक्रोधादयः अथवा वनस्पतीना-त्तन्मूलफलश्रीतो रसविशेषः कपायः । कपाय इव कपायः क्रोधादिः वस्त्रादीना वर्णस्वेव जीवस्य क्षमादिगुणानां अन्य-थात्वसंपादकत्वात् । कपायशब्देन चात्र कपायोदयजनितगामिभयवसंस्कारकः कर्मास्तवकारणमात्मप्रदेशपरिस्फंदे-  
+ टीकाकार अपराक्षितसूति.

माला । केवलज्ञानस्य मोहादिकर्मनिर्मुलनमूलत्वेन केवलिनः क्षीणकषायत्वविशेषणस्य निकलत्वात् । किं च मरण-  
करणात् क्षीणकषया इत्यनेन अयोगा निश्चीयते सयोगकेवलिनानां मरणसंभवात् । क्षीणा विश्वेष्टं गताः कषया येन्यस्ते  
'क्षीणकषायवेदनीयाः' तत्त्वादेव च विनष्टवन्मूलभावकषया' मरंति द्रव्यप्राणास्त्यजन्ति । सिद्धान्तोपाधि सत्ताचैतन्य  
वोधादिस्वभावप्राणधारणत्वलक्षणजीवस्वभावविशेषात् । तथा चोक्तम्—

जोसि जीवसहावो णहि अत्तावो वि सव्वहा तस्स ॥  
वे होनित्ति भिण्णदेहा सिद्धा चिचिगोचरमदीदा ॥

केवलिणो करणादिसहायकनिरपेक्षतया युगपन्निःशेषद्रव्यपर्यायसाक्षात्करणसमर्थं ज्ञानं वेपा नित्यमस्ति  
वे केवलिनः । विरदाविरदा एकस्मिन्नेव समये स्थूललाघाणातिपातादेर्नार्हुत्ताः सूक्ष्माच्चाव्यावृत्ताः आकाः इत्यर्थः ।  
जीवा, पुत्रया, न प्रधानं । साध्या हि प्रधानस्य मरणमिच्छन्ति । तद्विषेण बालपंडितेन ।

जिनके मरणको पंडितपंडित मरण ऐसी संज्ञा है वे पंडितपंडित कौन है ? अर्थात् पंडितपंडित किनको  
कहते हैं ऐसे प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी अर्थ—पंडितपंडित मरण, पंडितमरण और बालपंडित मरण इन तीन मरणोंकी जिनेंद्र देव  
नित्य प्रशंसा करते हैं, क्षीणकषाय केवली भगवान् पंडितपंडित मरणसे मरते हैं, अर्थात् केवलिके मरणकी पंडित  
पंडित ऐसी संज्ञा है, विरताविरत जीवके मरणको बालपंडित मरण ऐसा नाम है.

नाथार्थ—'पंडितपंडितमरणं रथीणकसाया मरंति केवलिणो' इस वाक्यमें 'मरंति' इस सामान्य-  
मरणरूप क्रियाका 'पंडितपंडितमरणं' यह विशेष मरण कर्मरूपसे प्रतिपादन किया है, जैसे 'गोपोपं पुष्टः' अर्थात्  
बैल जैसा पुष्ट रहता है वैसे यह आदमी पुष्ट है जैसे यहां पुष्टिसामान्यका गोपोपं यह कर्मसरीला विशेषण है उसी  
तरह सामान्य मरणका ही पंडितपंडितमरण यह एक विशेष प्रकार समझना चाहिये.

जो आत्माका घात करते हैं वे कषाय हैं, अतएव कषायशब्द की निरुक्ति आचार्य 'कषयन्ति हिंसन्ति  
आत्मानमिति कषयाः' ऐसी कहते हैं, अथवा वृक्षांकी छाल, मूल, पत्ते और फलोंका जो रस निकलता है

उत्सर्को भी कपाय कहते हैं, वह रस जैसा वस्त्रादिकोका वर्ण अन्यथा करता है, उसी तरह क्रोध, मान, माया और लोभ ये कपाय जीवके उत्तम क्षमा, विनय, सरलपना, और निस्पृहपनाको अन्यथा करते हैं, उनका नाश करते हैं, अतः इन क्रोधादिकोंका 'कपाय' यह नाम अन्वर्थक है।

कपायके द्रव्यकपाय और भाव कपाय ऐसे दो भेद हैं, क्रोध, मान, माया लोभ इन कपायवेदनीय कर्मको द्रव्यकपाय कहते हैं, और इनके उदयोस आत्माकी क्रोध मान माया लोभरूप परिणति हो जाती है वह भावकपाय है, केवली भगवानके द्रव्यकपाय और भावकपाय दोनों भी नष्ट हो चुके हैं अतः वे क्षीणकपाय इस अन्वर्थ नामसे युक्त हुए हैं, इंद्रियां, मन और प्रकाशादिक वस्तुओंकी अपेक्षाके विना शुभाप-एकदम संपूर्ण द्रव्योंकी विकालवर्ती पर्यायि जाननेमें जो ज्ञान समर्थ होकर समस्त पदार्थोंमें प्रवृत्त होता है वह केवल ज्ञान है, यह ज्ञान केवल अर्थात् असहाय है, इंद्रियादिकोंकी मदद न लेकर स्वयं अपने सामर्थ्यसे पदार्थोंको जानता है अतः इसको केवल-असहाय ऐसा कहते हैं, ऐसा माहात्म्यशाली ज्ञान जिनको हैं वे मुनि केवली अर्थात् केवल ज्ञानी कहे जाते हैं, केवली यह शब्द सयोग केवली और अयोग केवली दोनोंमें रूढ है तो भी यहां केवली शब्दसे अयोगकेवलीका ही ग्रहण करना चाहिये, इसका भी कारण यह है कि-सयोगकेवलि गुणस्थानमें मरण नहीं होता है अतः अयोग केवलीका ही केवली शब्दसे ग्रहण होता है।

कोई २ विद्वान् केवली शब्दका अर्थ क्षीणकपाय गुणस्थानवर्ती मुनि और श्रुतकेवली ऐसा करते हैं, परंतु ऐसा अर्थ करना अयोग्य है, श्रुत शब्द केवली शब्दके पूर्वमें जोड़ देनेसे ही श्रुतकेवली ऐसा अर्थ होना, श्रुतशब्द रहित केवली शब्दका किसी भी आगममें समस्तश्रुतरूपी रत्न धारण करनेवाले श्रुतकेवलीके विषयमें प्रयोग किया है ऐसा देखनेमें आया नहीं, प्रसिद्ध शब्दका अर्थ प्रकरणमें यदि असंभवरूप मात्स्म्य पडेगा तो अन्यार्थ की कल्पना की जा सकती है, यहां तो प्रसिद्ध अर्थ ही योग्य जंचता है, अतः श्रुतकेवली ऐसा है अर्थ निकालने की अपेक्षा नहीं है, दूसरा कारण यह भी है कि, पांडित्यका प्रकर्ष केवलज्ञानियोंमें ही होता है अन्यत्र श्रुतकेवल्यादिकर्म नहीं है, अतः पांडित्यपांडित केवली भगवानको ही कहते हैं, केवली भगवानमें क्षाधिकज्ञान, क्षाधिक दर्शन और चारित्र रहते हैं यह पांडित्यप्रकर्ष केवलीमें है, परंतु यह श्रुतकेवलीमें नहीं है, अतः केवली शब्दका अर्थ श्रुतकेवली ऐसा समझना योग्य नहीं है,



विरताविरत जीवोंके मरणको बालपंडित मरण कहते हैं. श्रावक स्थूल हिंसादि पांच पापोंसे विरक्त रहते हैं अतः उनको विरत कहते हैं. क्षत्रपापोंका वे त्याग नहीं कर सकते हैं इसलिये उनको अविरत भी कह सकते हैं.

शंका—यदि श्रावकोंको आप 'विरत' ऐसा कहना चाहते हो तो उनको अविरत मत कहो, यदि अविरत कहोगे तो विरत कहना अनुचित है ?

उत्तर—विरतत्व और अविरतत्वमें विवक्षाभेदसे विरोध नहीं. जैसे एकही पदार्थको द्रव्यापेक्षासे और पर्यायापेक्षासे एकसमयमें नित्यानित्य समझते हैं. अर्थात् द्रव्यरूप आधारमें एक समयमें नित्य और अनित्य ऐसे दो धर्म रहते हैं. वैसे अप्रत्याख्यानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होनेसे मैं स्थूलयातकोंसे विरक्त हुआ हूं क्षत्रपातकोंसे नहीं ऐसा एकही परिणाम गुणपद उत्पन्न होता है. इसलिये विरताविरतत्वमें विरोध नहीं है. जहां एक पदार्थमें दो धर्म यदि अनुभव में आते हैं तो वहां विरोध कैसा ? विरोध अनेक आधारमें रहता है. जैसे शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श एक आधार में नहीं रहता.

विरताविरत जीव द्रव्य प्राण और भावप्राणोंके धारक है अतः वे जीव हैं. ये विरताविरत तृतीय मरणसे बालपंडित मरणसे मरते हैं. यहां तृतीय शब्द वस्तुके परिणामगणनामें यदि उपयुक्त है ऐसा कहोगे तो गणनाके समय विरताविरतजीवको द्वित्व या त्रित्व भी प्राप्त होगा. तृतीय शब्दसे तिसरा गुणस्थान ऐसा अर्थ मानोगे तो सम्यग्निष्ठ्यादृष्टिको तृतीयपना प्राप्त होगा. संयतासंयतको तीसरेपना प्राप्त न होगा. अतः 'तृतीयेन' ऐसा कहना योग्य नहीं है. यदि मरणकी अपेक्षासे तृतीयता मानते हो तो मरण सामान्यापेक्षासे एक ही है उसको तृतीयता नहीं है. विशेषमरणापेक्षासे तृतीयता मानोगे तो भूतकालमें अनंतमरण हो चुके हैं और भविष्यकालमें भी बहुत होंगे अतः विशेषमरणापेक्षासे भी तृतीयता सिद्ध नहीं होती.

उत्तर—स्वप्नमें कहे हुए क्रमकी अपेक्षासे मरणकी तृतीयता ग्रहण करनी चाहिये. अर्थात् पहिला मरण पंडितपंडितमरण, दुसरे मरणको पंडितमरण कहते हैं. और तिसरा मरण बालपंडित इस नामका है.

अथ के पंडितपंडिता येणं मरणं पंडितपंडितमरणं इति भण्यते इत्यारकायामाह—

पंडितपंडितमरणं च पंडितं बालपंडितं चैव ॥

एवमिह तिष्ठिण मरणाणि जिह्वा णिच्चं पसंसीति ॥ २८ ॥

निःश्रेयससुखादीनां आसन्नीकरणक्षमं ॥

आदिमं जायते तत्र प्रशस्तं मरणत्रयम् ॥ ३१ ॥

विजयोदया—पंडितपंडितमरणं च पंडितं बालपंडितं चैव इति । विरताविरतपरिणामविशेषनिर्देशादेव जीव द्रव्यस्य गते जीवा इति सूत्रे वचनमपार्थक्यमिति चेन्नानर्थक । मतातरनिवृत्तिपरत्वात् । सांख्य हि प्रकृतिधर्मता मरण-स्थानुपययान्ति पुरुषस्य सर्वथा नित्यत्वात् । तच्चथा न, उत्पादव्ययधौव्यात्मकत्वादात्मनः । अत्रोच्यते—पंडितपंडितमरण-पादनातर पंडितमरणं तदुल्लेख्य तृतीयस्य स्थानित्यं कस्यात्पदार्थते क्रमोल्लेखने प्रयोजनं वाच्यम् । इति चेदुच्यते—उल्लेखजघन्य पंडितत्वमध्यवृत्तिपंडितत्वमिष्येतदाख्यातु उभयावधिप्रदर्शनं क्रियते । अथवा पंडितमरणे बहुवचक्यमस्तीति तत्स्थान्या-स्तिकं व्यवस्थाप्य अल्पवचक्यतया बालपंडितमेव प्राग्व्यत्वात् ।

शंका—विरताविरतपरिणामविशेषसे ही आवक जीव है ऐसा समझमें आता है तो भी 'विरदाविरदा जीवा' इसमें जीवशब्दका ग्रहण व्यर्थ है, उत्तर—जीव शब्द गायामें दिया है उसका उद्देश्य मतांतर निराकरण करनेके लिये है, सांख्य मरण प्रकृतिका धर्म है ऐसा समझते हैं, वे पुरुषको—आत्माको सर्वथा नित्य समझते हैं, परंतु वह समझना योग्य नहीं है, आत्मा उत्पाद, व्यय और औच्य इन तीन स्वरूपोंसे युक्त है अतः वह सर्वथा नित्य नहीं है.

शंका—पंडितपंडित मरणके अनंतर पंडितमरणका वर्णन करना योग्य था परंतु वह उल्लेखन कर तिसरे मरणके स्वामी आपने क्यों बताये ? क्रमका उल्लेखन करनेमें आपका क्या हेतु है ?

उत्तर—उल्लेख पंडितत्व और जघन्य पंडितत्व इनके बीचमें जो है सो मध्यम पंडितत्व है ऐसा दिखानेके अभिप्रायसे उपर्युक्त कथन है, अर्थात् उत्तम पंडितत्व और जघन्य पंडितत्वके विवेचनसे मध्यम पंडितत्व बिना कहे सिद्ध होता है, अथवा पंडितमरणके विषयमें प्रथमकर बहुत बिलारयुक्त लिखनेवाले हैं, इस वास्ते उसको आचार्य अलग रखते हैं और थोडासा विवेचन करनेकी इच्छासे बालपंडितत्वका प्रथम आचार्यने उल्लेख किया है.

कतिविध पंडितमरणं किं स्वामिकं वा इत्यरेकाया इयं गाथा—

पाद्योपगमणमरणं भक्तपइण्णा य इणिणी चेव ॥

तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥ २९ ॥

पाद्योपगमनं भक्तप्रतिज्ञाभिनिणीमृति ॥

वदन्ति पंडितं त्रेधा योगिनो युक्तिचारिणः ॥ ३२ ॥

विजयोदय—पाद्योपगमणमरण इत्यादि । पादाभ्यामुपगमनं दौकन तेन प्रवर्तते मरणं पाद्योपगमनमरण । इतरमरणयोरपि पादाभ्यामुपगमनमस्तीति त्रैविध्यत्रुपपत्तिरिति चेन्न मरणविशेषे बह्व्यमाणलक्षणे कृदिक्रमेणाय प्रवर्तते, कृदौ च क्रिया उपादीयमाना शब्दव्युत्पत्त्यर्थेव । यथा गच्छतीति गौरिति शब्दव्युत्पत्तौ क्रियमाणायामपि गमनक्रियाफटुतास्तीति गोशब्देन न मद्भिष्यादयो भण्यते । अथवा पाउन्नगमणमरण इति पाठः । भवातकरणप्रयोग्य सहनन सस्थाने च इह प्रयोग्यशब्देनोच्यते । अस्य गमनं प्राप्ति, तेन कारणभूतेन यन्निर्वस्य मरणं तदुच्यते पाउन्नगमणमरणमिति । भण्यते सेव्यते इति भक्त, तस्य पइण्णा त्यागो भक्तपइण्णा । इतरयोरपि भक्तप्रत्याख्यानसमयेऽपि कृदिवशान्मरणविशेषे एव शब्दोऽयं प्रवर्तते । इणिणी शब्देन इंगितमात्मनो भण्यते स्वाभिप्रायाजुसारेण स्थित्वा प्रवत्यमान मरणं इणिणीमरणं । त्रिविह विविध विप्रकार । पंडितमरण कस्य तद्भवति ? साहुस्स साधो जहुत्तचारिस्स यथा येन प्रकारेण उक्तं श्रुते तथा चरितुं शील यस्य साधोस्तस्येति यावात् । सदाचारं सर्वं एव जन संयतोऽसंयतश्च लोके साहुशब्दवाच्यः, इति संयतपरिग्रहार्थं यथोक्तचारित्वविशेषणं कृतम् ॥

प्रशस्ततरपंडितमरणस्य भदोनप्रकरणत्वाभिने निरूपयति ।

मूला—पाउन्नगमणमरणं—पादाभ्यामुपगमनं दौकनं संवाजिगंल योग्यदेशात्साश्रयणं । तेन प्रवर्तितं मरणं पाद्योपगमनमरणं स्वपरवैयाहृत्यनिरपेक्षं प्राणत्याग उच्यते कृदिवशात् । यदा पाउन्नगमणमरणं इति पाठस्तदा प्रायोग्यस्य भवान्त्तरकरणयोग्यस्य संवेदनस्य संस्थाननस्य च गमनेन प्राच्या निर्वर्त्य मरणं प्रायोग्यगमनमरणं । प्रायोग्यगमनमित्यपीदं च्यते प्रायस्य संन्यासबदनशनस्योपगमनेन साध्यत्वात् । प्रायोपवेशनमिति चैतदाख्यायते । भक्तपइण्णा भण्यते दंशस्त्रित्यर्थमिति भक्तमाहारः तस्य प्रतिज्ञा प्रत्याख्यानं त्यागः । भक्तप्रतिज्ञा स्वपरवैयाहृत्यसापेक्षं मरणं । इणिणी शब्देन इंगितमात्मनोऽभिप्रायो भण्यते स्वाभिप्रायाजुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इणिणीमरणं । अत्र णत्वं नेच्छति १५

केचित् । यत्पुनः स्वैवावृत्तिसापक्षमेव । जहुत्तचारिस्स । येन प्रकारेण उक्तं श्रुते तेन चरितुं शीलं यस्य तस्य यथोक्त-  
चारिणः संयतस्येत्यर्थः ।

आश्वासः  
१

पंडितमरणके कितने भेद हैं और उसके स्वामी कितने हैं ऐसी शंकाका उत्तर आगेकी गाथा  
देती है—

हिंदी अर्थ—आगममें जिस प्रकारसे चारित्रिका वर्णन है वैसा स्वयं आचरण करना यह जिनका  
शील है अर्थात् आगमसे अविरुद्ध चारित्रि जो धारण करते हैं ऐसे मुनिराजका पंडितमरण पादोपगमनमरण, भक्त  
प्रतिज्ञा मरण और इंगिती मरण ऐसे तीन भेदयुक्त हैं। अर्थात् निरतिचार मुनिराजके मरणके भेद उपर्युक्त गाथामें  
तीन कहे हैं।

विशेषार्थ—पादोपगमन मरण इसका शब्दार्थ—‘पादान्यासुपगमनं दौर्जनं तेन प्रवर्तितं मरण पादोपगमनं’  
अपने पावोंके द्वारा संघसे निकलकर और योग्य प्रदेशमें जाकर जो मरण किया जाता है वह पादोपगमन मरण है।  
इस मरणको चाहनेवाले मुनिराज अपने शरीरका वेयावृत्त्य स्वयं भी नहीं करते हैं और इतर मुनियोंके द्वारा भी  
स्वशरीरकी शुश्रूषा नहीं कराते हैं, ऐसे मरणको पादोपगमन मरण कहते हैं।

शंका—इतर मरणमें भी पावोंके द्वारा संघसे मुनिराज अन्त्य चालकर मरण करते हैं अतः इतर मरणोंको  
भी यही नाम प्राप्त होनेसे पंडितमरणके तीन भेद नहीं ठहरेगे ऐसी शंकाका उत्तर इस तरह है—पादोपगमन मरण  
यह नाम रुढिका आशय लेकर विशिष्ट मरणमें ही आचार्यने प्रयुक्त किया है। इस पादोपगमन मरणका स्वरूप  
आगे ग्रंथकार स्वयं कहेगे, रुढीमें जो शब्दकी निरुक्ति-व्युत्पत्ति करते हैं उसका मतलब वह शब्द किस धातुको  
कोनसा प्रत्यय जोड़नेसे बन गया यह दिखानेका होता है, जैसे ‘गच्छतीति गौः’ ऐसी गो शब्दकी व्युत्पत्ति है,  
इसमें गमनक्रियाका कर्तृत्व इसमें व्यक्त होता है, एतावता गो शब्दसे माहिषी, अथ वगैरह प्राणी गो शब्दका अर्थ  
नहीं माना जाता है, वैसे प्रकृत विषयमें पादोपगमन यह शब्द विशिष्ट मरणका वाचक माना जाता है, तथा वह  
मरण भक्तप्रतिज्ञा और इंगितीमरणसे भिन्न ही है ऐसे समझना चाहिये।

अथवा नाथोंमें ' पाओगमगमणमरण ' ऐसा भी पाठ है, उसका ऐसा अभिप्राय है—भवका अंत करने ऐसे संस्थान और संहननको प्रायोग्य कहते हैं, ऐसे संहनन और संस्थान की प्राप्ति होना यह प्रायोग्य गमन है, अर्थात् विशिष्ट संहनन और विशिष्ट संस्थानवाला ही प्रायोग्यगमन मरणका अंगीकार करता है,

भक्तप्रतिज्ञामरण—भक्त शब्दका अर्थ आहार है और प्रतिज्ञा शब्दका अर्थ त्याग होता है अर्थात् आहारका त्याग कर मरण करना वह भक्तप्रतिज्ञामरण है, यह मरण स्वपरंषयादृत्य की अपेक्षासे होता है, अर्थात् इस मरणमें सहेचनधारक की परिचारक मुनि शुश्रूषा करते हैं तथा वह भी अपनी शुश्रूषा करता है, यद्यपि आहारका त्याग इंगिनीमरण और प्रायोग्यगमन मरणमें भी होता है तो भी इसको ही रूढ़ीसे भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं, अर्थात् स्वपरंषयावृत्यकी अपेक्षा करके जो मरण किया जाता है वह भक्तप्रतिज्ञामरण है, ऐसे विशिष्ट मरण को ही भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं,

इंगिनी मरण—स्वाभिप्रायको इंगित कहते हैं, अपने अभिप्रायसे युक्त होकर स्वयं ही स्वतः की शुश्रूषा कर जो मरण किया जाता है, वह इंगिनी मरण है, परिचारक मुनिकी शुश्रूषा इसमें क्षपक मुनि चाहते नहीं हैं, — यथोक्त चारित्रिका पालन करनेवाले मुनिके ऐसे तीन मरण कहे हैं इन मरणोंको सामान्य रीतीसे पंडित मरण कहते हैं,

इतरयोर्वालमरणवालथोरित्यनयो स्वाभित्यसूचनार्थगाथा—  
अविदसम्मदिट्ठी मरंति वालमरणे चउत्थप्पि ॥  
मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए वालवालप्पि ॥ ३० ॥

— सदाचारसे प्रवर्तनेवाले सब संयत अथवा असंयत जगतमें साधु कहे जाते हैं, परंतु यहा मुनियोंका ही ग्रहण होवे इस हेतुसे ' जधुत्तचारिस्स ' यह साधुका विशेषण करके यथोक्त चारित्र पालनेवाले मुनिका ही ग्रहण किया है

भजते मरणं बालं सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥

मिथ्यात्वाङ्गुलितस्वान्तो बालबालमपास्तधीः ॥ ३३ ॥

विज्ञयोदया—अविरदसम्मादिद्वी इति प्रसिद्धार्थत्वात् व्याख्येय । अत्रावसरे इदं चोद्यमाशंक्यते । वोचंलं आराधणं कमसो इति प्रतिज्ञातं । सा च द्विप्रकारा दर्शनाराधना चारिवाराधना चेति । तद्व्याख्यानमङ्गत्वा मरण-विकल्पस्तत्त्वानित्यं कस्माद्विदियते । प्रस्तुतपरित्यागमप्रस्तुताभिधानं च न क्षमते विद्वांसः । अत्रोच्यते—न अप्रस्तुतं अतर्निदिष्टं मरण । आराधनाङ्गुलतमरणस्यैवेह शास्त्रेऽपि व्येक्येनेष्टत्वात् । आराधनगुणश्च आराधकमतरेणासम्भवात् । स्वाभी च निर्देष्टव्य एवेति सूरेरभिप्रायः ॥

अप्रशस्याप्रशस्यतरमरणद्वयस्याभिर्नौ निर्दिशति—

मूलारा—अविरदसम्मादिद्वी इति ।

नो इदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ॥

जो सद्वदि जिणुतं सम्मादिद्वी अविरदो सो ॥ १ ॥

मिच्छादिद्वी य ।

मिच्छतं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ॥

ण य धम्मं रोवेदि हु मडुर खु रसं जहा जरियो ॥ २ ॥

बालमरण और बालबालमरणके स्वाभी कोन होते है यह विषय आचार्य विशद करते है, हिंदी अर्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि जीव चौथे बालमरणसे मरते है अर्थात् अविरतिसम्यग्दृष्टिके मरणको शंकाकार ऐसी शंका करता है—‘वोचंलं आराधणा कमसो’ ग्रंथकारने ‘मैं क्रमसे आराधनाओंका विवेचन करूंगा’ ऐसी प्रतिज्ञा की है, वह दर्शन आराधना और ज्ञानाराधना ऐसी दो प्रकारकी है, इनका विवेचन तो ग्रंथकारने किया ही नहीं परंतु मरणके विकल्प और उसके स्वाभीओंका ही विवेचन किया है ऐसा करना अयोग्य है, प्रस्तुत विषयका त्याग करके अप्रस्तुत विवेचन करना बुद्धिमानोंको सहन नहीं होता है, इस शंकाका परिहार आचार्य करते है—

प्रथकारने अप्रस्तुत विषयका विवेचन किया नहीं है, बीचमें जो मरणके विकल्पका विवेचन किया है वह अप्रस्तुत नहीं है, आराधनाके साथ मरणका संबंध है, अतएव इस शास्त्रमें उनका उल्लेख आचार्यको करना पड़ा है, आराधना आराधकके विना होती नहीं, आराधक आराधनाका स्वामी है, अतः उसका उल्लेख करना न्यायप्राप्त ही है, इस तरह आचार्यने शंकापरिहार किया है,

अत एव प्रस्तुता प्राथमिकीं दर्शनाराधना आचरे—

तत्थोवसमियसमत्तरवडयं खवोवसमियं वा ॥

अराहंतस्स भवे सम्मत्ताराहणा पढमा ॥ ३१ ॥

प्राथमिकीं क्षाधिकीं दृष्टिं वैदिकीमपि च त्रिधा ॥

समाराधयतः पूर्वां सन्यक्त्वाराराधनेष्यते ॥ ३४ ॥

विज्ञयेदथा—तथोवसमियसमत्तरादिना । अथवा अतरसुवनिर्दिष्टं शालमरणव्याख्यानें प्रस्तुता प्राथमिकीं सन्यक्त्वाराराधना पुरस्कृत्य प्रवर्तते इत्यत आह—तत्थोवसमियसमत्त । अथवा सम्यग्दर्शनविशेषस्य कस्यचिदेव आराधना उत सर्वस्यत्याशका । कुतः संदेह ? आचार्यमतभेदेन पदानामर्थेद्विविध्यात्सामान्यं पदानामभिधेय । पदांशुतायसामान्य-निर्भासप्रतीत्युपपत्तेर्न हि गमित्यत पदांशुकला कृष्णा शबलाभिति वा प्रतीति, खडा मुडा इति वा जायते । यच्च पदोपल-ब्धिकार्यभूताया बुद्धौ न प्रतिभाति तत्कथं शब्दस्याभिधेयता गतुमुत्सहते । अप्रतीयमातस्याप्यर्थत्वे अयमेवास्याथो नान्य इतीय व्यवस्था न स्यात् । तेन सामान्यमेवार्थ इति । अन्ये तु मन्यते त्यागोपादानोपेक्षारूपा हि लोकव्यवहृतिस्तत्र पुमांस प्रवर्तयितुं शब्दा प्रयुज्यते । दुःखसाधन यत्तत्प्रयुज्यते । सुखसाधनमुपादीयते । तदुभयस्यासंपादकमुपेक्ष्यते । विशिष्टमव वा वस्तु सुखादीना संपादक । तथाहि—श्रीवस्त्रांगधमाल्यादिक अतिशयितमेवादातु उत्सहन्ते । इ यसाधनं चास्मनिकदवर्त्येव फटकादिकं परिजिह्वीयन्ति । तेन शब्देनापि तदर्थेना तथाभूतमेव वस्तु प्रतिपाद्यमित्यभ्युपगान्तव्य अतो विशेष' पदानामर्थः । इति साहचर्यानामनेकविशेषवर्तिना पदानामेकपदप्रयोगाद्यदि नाम विशेषो न प्रतीयते नैतवता विशेषस्याभिधेयताह्वानि, पदानतरसमवधाने विशेषप्रतीतेरनुभवसिद्धित्वात् इति ।

जेनानामुभय पदार्थ । पदानामुभयत्र प्रतीत्युत्पत्ते, तथाहि—न हि स्याः प्राणिन प्राणिसामान्य परिह्रायत्वेन प्रतीयते । देवदत्तमानयेत्युक्ते पुरुषविशेषमवगच्छन्ति । ततो न ज्ञायते 'समस्तमि य' इत्यत्र सामान्य सम्यक्त्व गृहीत उत तद्विशेष इति तेन तत्संदेहनिवृत्ति क्रियते । तस्य तेषु सम्यक्त्वेषु । उवसमियसमत्त अर्न्ततदुवांशिकोपमानमाया लोभाना सम्यक्त्वमिध्यात्वसम्बन्धिध्यात्वाना च सत्त्वनामुपशमादुपजातं तत्त्वश्रद्धानं औपशमिक सम्यक्त्वं ।

तासामेव सप्तप्रकृतीना क्षयादुपजातवस्तुयाथात्म्यगोचरा श्रद्धा क्षायिकं दर्शन । तासामेव कासां चिदुपशमात् अन्यासां च क्षयादुपजातं श्रद्धातं क्षायोपशमिकं । वा राब्द-प्रत्येकं संवध्यते । औपशमिक वेत्यादिना क्रमेण । आराधयतस्स आराधयत । ह्येव भवेत् । सम्मत्ताराद्विषया सम्यक्त्वापराधना । पढमा प्रथमा । “अविरदस्ममादिद्वी मरीति बालमरणे” इत्युक्तं । तत्राविरतद्रष्टुं सम्यग्दृष्टिर्विशेषत्वेनोपात्त । प्रतीतेन हि विशेष्येण भाव्यम् । तथाभावादीतीतपदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभाव इति ।

एवमाराराधनायाः स्वरूपलभफलविशेषसिद्ध्यर्थं स्वाभिमरणविशेषप्राप्तयेदानीं प्रस्तुता प्राथमिकीं दर्शना राधनामभिवर्धते —

मूला०—तच्छ तत्र । तेषु आगमप्रसिद्धेषु त्रिषु सम्यक्त्वेषु मध्ये यत्किंचिदेकमाराधयतः सम्यक्त्वापराधना भवेत् इति पदघटना । ह्यवसमियसम्भन्तमित्यादि अनन्तानुबन्धिचतुष्कमभिव्यात्ससम्यङ्मिथ्यात्ससम्यक्त्वाना उपशमाज्जातं विपरीताभिनिवेशाविक्रमात्मस्वरूपलक्षणं वत्त्वार्थश्रद्धात औपशमिकं । तेषामेव क्षयात् क्षायिकं । तेषामेव च पण्णासु दयासावलक्षणे क्षयेऽनुदयप्राप्ताना सन्मात्रावस्थितिलक्षणे चोपशमे तथा सम्यक्त्वदेशधातिसपद्धकोदये सत्सुत्यसं सम्यक्त्वं क्षायोपशमिक । श्लोका—

पाकादेशासम्यक्त्वप्रकृतैरुदयक्षये ॥

शमे च वेदके पण्णासगण्डं मलिनं च ॥ १ ॥

दृढयष्टिरिवान्यक्त्वस्थानां करतले स्थिता ॥

स्थान एव स्थित कं प्रमगाढं वेदकं तथा ॥ २ ॥

स्वकारितेऽर्हैश्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते ॥

अन्यस्यासाविति आन्यन्मोहाच्छ्रद्धादोऽपि चेष्टते ॥ ३ ॥

तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्वकर्मणः ॥

मलिनं मलसंगेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ॥ ४ ॥

लसत्केशोलभालासु जलमेकमिव स्थितम् ॥

नानास्त्रीयविशेषेषु चलयतीति चलं यथा ॥ ५ ॥



समेऽप्यनंतशक्तित्वे सर्वेषामर्हत्वमय ॥

देवोऽस्मै प्रमुनेयोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ॥ ६ ॥

जीवके बिना आराधना होती ही नहीं अतएव प्रथम सम्पददर्शनाराधनाका आचार्य वर्णन करते हैं—  
हिन्दी अर्थ—जीवके भ्रष्टमें बालमरणका वर्णन किया है, उस मरणका स्वाामी सम्पददर्शन आराधनाका आराधन करनेवाला जीव है, अतः बालमरणका सम्पददर्शनके साथ संबंध सिद्ध है, उपश्रामसम्पत्त्व, श्राधिक सम्पत्त्व और श्रायोपश्रामिक सम्पत्त्व इन तीन आराधनाओंमें किसी भी सम्पददर्शनकी आराधना करनेवाला सम्पत्त्वाराधक कहा जाता है,

विशेषार्थ—यहां शंकाकारकी शंका यह है—सम्पददर्शनके सर्व भेदोंकी आराधना करनेवाला सम्पददर्शनाराधक है ? अथवा कोई एक सम्पददर्शनकी भी आराधना करनेवाला आराधक होता है ? यहां ऐसी शंका क्यों होती है ऐसा कोई पूछेगा तो उसका उत्तर शंकाकारने इस तरह दिया है—आचार्योंके मतभेदसे शब्दके दो अर्थ माने गये हैं, अर्थात् कोई आचार्य शब्द सामान्य अर्थके वाचक है ऐसा कहते हैं, और दूसरे कोई आचार्य उसका विशेष अर्थ वाच्य होता है ऐसा मानते हैं, अर्थात् सम्पददर्शन इस शब्दका सामान्य अर्थ सम्पददर्शन सामान्य ऐसा है ऐसा किसीका मत है और विशेष सम्पददर्शन ही सम्पददर्शन शब्दका वाच्य है ऐसे अन्य आचार्योंका मत है, अतएव हमने उपर्युक्त शंकाकी है ऐसा शंकाकारने अपनी शंकाका समर्थन किया है,

आचार्य क्रमशः दोनोंके मतोंका दिग्दर्शन करके अनंतर शब्दका अर्थ जैनमतसे क्या होता है इसका निरूपण करेंगे, प्रथमतः शब्दका सामान्य ही अर्थ है इस मतका निरूपण करते हैं—

शब्द सुनने पर अर्थसामान्यका ही अनुभव आता है, जैसे किसीने गौ लाये ऐसा वाक्य कहा इस वाक्यके सुननेसे सुननेवालेको काली गाय, चितकवरी गाय, वा सफेद रंगकी गाय ऐसा ज्ञान नहीं होता है, किंतु गोसामान्यका ही उसको बोध होता है, शब्दका अवगण करनेके अनंतर जो अर्थ बुद्धीमें झलकता नहीं वह शब्दका अर्थ कैसे माना जायगा ? बुद्धीमें न झलकनेवाला भी अर्थ यदि माना जायगा तो अमुक शब्दका अमुक ही अर्थ होता है ऐसी अर्थव्यवस्था नहीं होगी, अर्थात् गोशब्दका अर्थ जैसा गाय होता है वैसा भैंस, घोड़ा वगैरे भी

उनके अर्थ होंगे, अतः सामान्य पदार्थ ही शब्दका वाच्य होता है यह मत मानना चाहिये.

विशेष पदार्थ ही शब्दका अर्थ है ऐसे मतका विवेचन इस प्रकार है—जगत्तम लोक किसी पदार्थका ग्रहण करते हैं, किसीका त्याग करते हैं और किसीकी उपेक्षा करते हैं ऐसा व्यवहार देखनेमें आता है. इस व्यवहारमें प्रयत्न करनेके लिये शब्दोंका प्रयोग किया जाता है. जो दुःखका कारण है वह वस्तु छोड़ते हैं, जो सुखकर होती है वह चीज लोक लेते हैं. जिससे सुख और दुःख दोनों भी उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसी चीजसे लोक उपेक्षा करते हैं अतः विशिष्ट वस्तु ही सुख या दुःखकी उत्पादक मानी जाती है. जैसे स्त्री, वस्त्र, गंध पुष्पमाला वगैरे पदार्थ विशेषरीतीसे सुख साधक हैं ऐसा समझकर लोक इनका ग्रहण करते हैं. जो दुःखके कारण हैं ऐसे समीपस्थ कंटक शत्रु वगैरे पदार्थोंका त्याग करनेकी इच्छा करते हैं. शब्दके द्वारा भी ऐसे ही पदार्थोंका विवेचन होता है ऐसा समझना चाहिये. अर्थात् शब्दका अर्थ सामान्यपदार्थ नहीं है किंतु विशेष ही समझना चाहिये. अनेक पदार्थोंमें रहनेवाला सादृश्य एक शब्दके द्वारा उल्लेखित होता है अतः शब्दका विशेष पदार्थ अर्थ नहीं है ऐसा मानना अयोग्य है. जैसे गो शब्द समस्त सदृश गायोंमें प्रयुक्त होता है अतः गो शब्दका विशेष पदार्थ वाच्य नहीं है, ऐसा कहना अयोग्य है. उस गो शब्दका दूसरे शब्दसे जब संबंध होता है तब विशेष पदार्थका उससे अनुभव अवश्य होता है. शब्दका विशेष पदार्थ ही वाच्य है ऐसा विशेष वादियोंका मत है.

सामान्य पदार्थ और विशेष पदार्थ दोनों शब्दके द्वारा प्रतीत होते हैं ऐसा जैनियोंका मत है—उसकी सिद्धि आचार्य करते हैं—‘न हिंस्याः प्राणिनः’ अर्थात् ‘प्राणिओंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये’ इस वाक्यमें प्राणि शब्द संपूर्ण प्राणिओंका वाचक है. दुसरा वाक्य ‘देवदत्तमानस्य’ देवदत्तको लक्ष्यो यहाँ देवदत्त शब्द पुरुष विशेषका वाचक है. अर्थात् शब्द सामान्य और विशेष दोनों पदार्थोंके वाचक हैं ऐसा जैनियोंका मत है.

अतः प्रस्तुत विषयमें—सम्यक्त्वाधनामें क्या सामान्य सम्यक्त्वका ग्रहण करना चाहिये ? अथवा उसके विशेषका ग्रहण करना चाहिये ? ऐसी शंका उपस्थित होती है. उसका आचार्यने इस प्रकार निरसन किया है—  
सम्यग्दर्शनके उपशम सम्यग्दर्शन, क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ऐसे तीन भेद हैं. इनमेंसे किसी भी सम्यग्दर्शन की जो आराधना करता है उसको पहिली सम्यक्त्वाधना होती है.

औपचारिक सम्यग्दर्शन—अनंतानुबंधि क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और

सम्यग्भिमित्यात् ऐसे सात कर्म प्रकृतिओंका उपग्राम होनेसे जो तत्त्वोंके उपर अद्वान होता है उसको 'औपग्रामिक सम्यग्दर्शन' कहते हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व—उपर्युक्त सात प्रकृतियोंका क्षय होनेसे जो जीवादि सात तत्त्वोंके उपर अद्वान होती है वह क्षायिक सम्यक्त्व है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—इन सात प्रकृतियोंमेंसे किसी प्रकृतियोंका उपग्राम और अन्य प्रकृतियोंका क्षय होनेसे जो तत्त्वअद्वान होता है वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है।

'अविरतसम्मादिष्टी मरंति बालमरणे' ऐसा पूर्वमें कहा है, अर्थात् उनके मरणको बालमरण कहते हैं। अविरत सम्यगदृष्टि इस सामासिक शब्दमें अविरत शब्द विशेषणरूप है और सम्यगदृष्टि यह शब्द विशेष्य है, यह विशेष्य प्रसिद्ध है, अर्थात् तत्त्वार्थ अद्वान करनेवालेको सम्यगदृष्टि कहते हैं यह बात सुप्रसिद्ध है, प्रसिद्ध पदार्थोंमें विशेषण विशेष्यभाव होता है।

तस्मात्कीदृशीजीवोऽभिधेय सम्यगदृष्टिशब्दस्येति प्रश्नस्योत्तरमाह—

सम्मादिष्टी जीवो उवइडं पवयणं तु सइहइ ॥

सइहइ असम्भावं अयाणमाणो गुरुणियोगा ॥ ३२ ॥

मन्यते दर्शितं तत्त्वं जन्तुना शुभदृष्टिना ॥

पूर्वं ततोऽन्यथापिदमजानानेन रोच्यते ॥ ३५ ॥

विजयोदया—सम्मादिष्टी जीवो इत्यनया । अत्रैवं पदघटना 'उवइडं पवयणं तु सइहइ यो जीवो सो सम्मादिष्टी' इति । उवइडं उपदिष्ट कथित । ननु उपपूर्वो दिशितव्यारणक्रिय । तथाहि प्रयोगः—'उपदिष्टा वर्णा उच्चारिता इति । सत्यम्, समुच्चारणक्रियस्त्वत्रैव वर्तते नान्यत्र इत्यत्र न निवधनं किंचित् । यथा गा दोमिष इत्यादिषु सास्नादिमति दृष्टप्रयोगोऽपि गोशब्दो वागादिषु अपि वर्तते एवमिहापीति किं न गृह्यते ? उपदिष्टमपि किं न वेत्ति इत्यादौ कथितमिति प्रतीतिरुपजायते सा कथ्यमापास्यते । प्रायोग्यवृत्तिसमाधिगम्यो हि शब्दार्थः । प्रोच्यन्ते जीवादय पदार्था अनेनास्मिन्निति वा प्रवचनं जिनागमः । प्रकर्षश्चोक्त दृष्टेष्टप्रमाणविरोधिता वस्तुशालात्म्यानुसारीता च । प्रवचनवाच्योऽर्थः साहचर्य-त्ववचनमिति स्पष्टयते । तु शब्दः एवकारार्थः । स च क्रियापदात्परतो द्रष्टव्यः । व्याख्यातं जैनगमार्थं यः श्रद्धयात्येव न

तु श्रद्धयाति इत्यथोपाख्यचछेद' । स जीवः सम्मानदिष्टी सम्म्यग्दृष्टिशब्दवाच्य इति प्रतीतपदार्थकत्वमादर्शितं । सहृद्वि श्रद्धानं करोति । असम्भावमपि असत्यमप्यर्थं । अथाणमाणो अनवगच्छन् । किं ? विपरीतमनेनोपदिष्टमिति । गुरोर्व्याख्यातुरस्यामर्थ इति कथनानियुज्यते प्रतिपत्त्या श्रोता अनेन वचनेन इति नियोगः कथनं । सर्वज्ञप्रणी- तस्यागमस्यार्थ- आचार्यपरंपराया अविपरीत- श्रुतोऽवधृतश्चानेन स्मरिणा उपदिष्टो ममेति सर्वज्ञज्ञाया खचिरस्या- स्तीति । आद्याखचितया सम्म्यग्दृष्टिर्भवत्येवेति भावः ।

ननु अविरदसम्मादृष्टी इत्युक्तं तत्र कीदृगजीवः सम्म्यग्दृष्टिः स्यात् इति पृष्ठः सन् आचष्टे—

मूला०—पचयणं जिनागमः तद्वाच्योऽर्थः साहचर्यादिह प्राह्यः । तु एवार्थे । स जीवः सम्म्यग्दृष्टिर्भवति यः उपदिष्टं प्रवचनं श्रद्धयात्येवेति संबन्ध । यो ज्ञानावरणोदयवशात्स्वयं तत्समजानन्तुशोनियोगादसंज्ञावं श्रद्धन्ते सोऽपि तदैव सम्म्य- ग्दृष्टिः स्यादित्युत्तरार्द्धेन दर्शयते ॥ असम्भावं असत्यमप्यर्थं प्रकृतत्वादागमवाक्ये । अथाणमाणो सिद्ध्या अनेन उपदिष्ट- मिति अजानन् । गुरणियोगा गुरोर्व्याख्यातुर्नियोगादस्यागमवाक्यस्य अयमर्थ इति कथनात् । नियुज्यते निवर्तं संबध्यते श्रोता अनेनेति नियोगः कथन । इदमत्र तात्पर्यं—सर्वज्ञोक्त्वस्यागमस्यार्थो गुरुपर्वकमेण सम्म्यक् श्रुतोऽवधृतश्चानेनार्चा- र्णोपदिष्टो ममेति सर्वज्ञज्ञाया खचिरस्यास्तीति आद्याखचितया सम्म्यग्दृष्टिस्तदाख्येय भवत्येव ॥

कोनसा जीव सम्म्यग्दृष्टि शब्दका वाच्य होता है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—  
हिंदी अर्थ—गुरुने कहे हुए आगमका अर्थात् जीवादि पदार्थोंके स्वरूप का जो श्रद्धान करता है वह

गुरुय सम्म्यग्दृष्टि है, गुरुके वचनोंको प्रमाण मानकर जीवादिके असत्य स्वरूप में विश्वास रखता हुआ भी वह गुरुय सम्म्यग्दृष्टि ही है, क्योंकि सर्वज्ञप्रणीत आगमका अर्थ आचार्यपरंपरासे अविपरीत ऐसा गुरुने सुना है और हृदयमें धारण कर उसका ही उपदेश उसने मेरेको किया है ऐसा ममज्ञकर वह जीवादि पदार्थोंपर विश्वास रखता है अतः असत्यस्वरूप सत्य मानता हुआ भी वह जीव सम्म्यग्दृष्टि ही है ऐसा इस भाषाका अभिप्राय है, विशेषार्थ—गाथामें 'उवहृद्वे-उपदिष्टं' ऐसा शब्द है, यह शब्द उप पूर्वक दिष्ट धातुसे बना हुआ उच्चार- रण करना इस अर्थमें प्रसिद्ध है और आप इसका अर्थ 'कहा हुआ' ऐसा करते हैं परंतु इस अर्थमें प्रयोगवाक्य दीखते नहीं हैं 'उपदिष्टा वर्णा उच्चारिता इति' यहां उपदिष्टका अर्थ वर्ण उच्चारणे नये हैं ऐसा किया है, यह

हुई शंका अब इस का उत्तर सुन लीजिये—उच्चारण करना इस अर्थमें ही उपदिष्ट शब्दका प्रयोग है अन्य अर्थमें नहीं है ऐसा सिद्ध करनेके लिये आपके पास कुछ भी प्रमाण नहीं है।

जैसे 'गा दोषिव' इस वाक्यमें गोशब्दका अर्थ गाय ऐसा होता है अर्थात् गाय इस अर्थमें गोशब्द का प्रयोग जैसा होता है उसी तरह वाणी, स्वर्ग, पृथ्वी इत्यादि अर्थोंमें भी गोशब्दका प्रयोग देखा जाता है, उसी तरह उपदिष्टशब्द का प्रयोग अन्वार्थ में भी होता है, जैसे 'उपदिष्टमपि किं न वेचि' इस वाक्यमें उपदिष्ट शब्द 'कथितं' कहा हुआ इस अर्थमें है ऐसा अनुभव आता है, इसको मानना पड़ेगा ही, जिस शब्दका जो अर्थ प्रकरणादि से योग्य मालूम होता है वही उस शब्दका अर्थ समझना चाहिये,

गाथामें जो पचयण शब्द है उसका खुलसा इस प्रकार है—जिसके द्वारा जीवादिक पदार्थ कहे जाते हैं अथवा जिसमें जीवादिक पदार्थ कहे हैं उसको प्रवचन कहते हैं अर्थात् जिनेश्वरके आगमको प्रवचन कहते हैं, प्रवचन शब्दकी निश्चित आचार्य इस प्रकार कहते हैं—'प्रोच्यन्ते जीवादयः पदार्था अनेन आस्मिन्निति वा प्रवचनं जिनागमः' जिनेश्वरके वचनमें प्रकर्षता अर्थात् उत्कृष्टता आनेका कारण यह है कि उनके वचन दृष्टप्रमाणोंसे अर्थात् प्रत्यक्षा-नुमानादि प्रमाणोंसे अविरुद्ध सिद्ध होते हैं, और वे वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अनुसरण करनेवाले हैं, ऐसे प्रवचनके द्वारा जो जीवादि पदार्थ कहे गये हैं उनको भी साहचर्यसे अथवा अभिप्रेयाभिधायकसंबंध होनेसे 'प्रवचन' कह सकते हैं।

गाथामें जो तु शब्द है उसकी 'सहृद्' इस क्रियापदके आगे योजना करनी चाहिये, अर्थात् विवेचित जिनागमके जीवादि अर्थोंमें जो श्रद्धान करता ही है वह सम्पगृह्णति है ऐसा आभीमाय उससे व्यक्त होता है,

यह सम्पगृह्णति जीव असत्य पदार्थका भी श्रद्धान करता है परंतु वह तब तक असत्य पदार्थके उपर श्रद्धान करता है जब तक वह शुरूने मेरेको असत्य पदार्थका स्वरूप कहा है यह नहीं जानता है, जब तक वह असत्य पदार्थका श्रद्धान करता है तबतक उस शुरूने आचार्यारंपरके अनुसार जिनागमके जीवादितत्त्वका स्वरूप कहा है और जिनेंद्र भगवानकी आज्ञा प्रमाणभूत माननी चाहिये ऐसा भाव हृदयमें रखता है अतः उसके सम्पगृह्णनमें हानि नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि नहीं भिना जाता है,

सर्वज्ञकी आज्ञाके ऊपर उसका श्रेम रहता है, वह आज्ञास्मिन् होनेसे सम्पगृह्णति ही है, ऐसा इस गाथाका भाव है।

किमेव विपरीतं प्रतिपद्यमानोऽपि सर्वदा सम्यग्दृष्टिरेव ? नेत्याह—

सुतादो तं समं दूरसिज्जंतं जदा ण सद्वद्वि ॥

सो चेव हवइ मिच्छादिद्वी जीवो तदो पडुदि ॥ ३३ ॥

दश्यमानं यदा सम्यक् अदधाति न सूत्रतः ॥  
तमर्थं स तदा जीवो मिथ्यादृष्टिर्निगद्यते ॥ ३६ ॥

विजयोदया—सुतादो इति । सुतादो सूत्रात् । त आत्मना विपरीतं गृहीतमर्थं । समं सम्यक् अविपरीतरूपेण । दूरसिज्जंतं दूर्यमानं प्रकृत्यमाण अन्येन आचार्येण । जदा यदा यस्मिन्काले । न सद्वद्वि न अदधाति । सो चेव स एव सम्यग्दृष्टितयोक्तः । मिच्छादिद्वी हवइ मिथ्यादृष्टिर्भवति । आप्ताश्चाश्रद्धानवकल्पात् अर्थयायात्प्याश्रद्धानाश्च । तदो ततः । पडुदि प्रवृत्ति आरभ्य । असंदिग्धसूत्रातरदर्शिताथार्थाश्रद्धानादारभ्येति यावत् ।

किमेव विपरीतं प्रतिपद्यमानोऽपि सर्वदा सम्यग्दृष्टिरेव नेत्याह—

मूलरा—सुतादो सूत्राद्विपरीतप्रतिपद्यमानमभिहितमगममाश्रित्येत्यर्थः । तं प्रथमगुरुपदशेन मिथ्याप्रतिपन्नमर्थं समं दूरसिज्जंतं अन्येन गुरुणाऽविपरीतं प्रकृत्यमाणं । सो चेव स एव सम्यग्दृष्टितयोक्तो मिथ्यादृष्टिर्भवति । आप्ताश्चाश्रद्धानवकल्पादर्थयायात्प्याश्रद्धानाश्च । तदो पडुदि । असंदिग्धसूत्रातरदर्शिताथार्थाश्रद्धानादारभ्य ।

क्या जीवादि पदार्थोका विपरीत स्वरूप मानता हुवा भी यह हमेशा सम्यग्दृष्टि ही रहता है अथवा नहीं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी अर्थ—‘तुमने पदार्थोका विपरीत अर्थ जाना है उसका अद्धान छोड़ दो और हमने जो पदार्थोका सच्चा स्वरूप कहा है उसके ऊपर अद्धान करो । ऐसा आचार्योके कहने पर भी जब वह आपना आपह नहीं छोडेगा तो तबसे वह मिथ्यादृष्टि समझा जायगा । आचार्योने प्रमाणशून्य ऐसे गणधरादिकोके रचे हुए आगमसे जीवादिकोका स्वरूप बताया था तो भी उसका उस आसाज्ञाके ऊपर अद्धान नहीं रहनेसे और अर्थोके यथार्थ स्वरूप पर अद्धान न होनेसे वह मिथ्यादृष्टि ही समझा जाता है ।

सुनादो त सम्मं दससिञ्जत इत्युक्तं केन रचितानि सूत्राणि प्रमाणभूतानीत्यत आह—

सुतं गणधराधिदं तदेव पत्तेयबुद्धकहिय च ॥

सुदकेवल्लिणा कहिय अभिण्णदसपुत्तिगाधिदं च ॥ ३४ ॥

झेयं प्रत्येकबुद्धेन गणेयेन निवेदितं ॥

श्रुतकेवल्लिना सूत्रमभिन्नदशपूर्विणं ॥ ३७ ॥

विजयोदया—सुतं गणधराधिदं इति । सुतं सूत्र । गणधरेन द्वादशगणा उच्यते । तान्धारयन्ति इति गणधरा । दुर्गातिप्रस्थिता हि तेन रत्नत्रयोपदेशेन धारयन्ते ते सत्त्वविधाहिसुगता । उक्तं च—

बुद्धितवयियुत्त्वणोसधिरसवलं च अपन्नीण ॥

सत्त्वविधं दृष्टिपत्ता गणधरदेवा णमो तेसि ॥

इति । तै' गथिदं प्रथितं सहचर्यं । केवल्लिमिषयविष्टं अर्थं ते हि प्रवृत्तं । तयामधायि—'अरण्यं फट्ठन्ति अरुहा गेयं गेयति गणधरा तेसि' इति । तदेव तथैव । पत्तेयबुद्धगाधिदं च प्रत्येकबुद्धगाथितं च । श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् परोपदेशमत्तेरणाधिगतज्ञानातिशया प्रत्येकबुद्धा । सुदकेवल्लिणा समस्तश्रुतधारणा कथितं वेति । अभिन्नदसपुत्त्विकाधिदं च । दशपूर्वाण्यधीयमानस्य विद्याबुधभादस्यां ह्युल्लकविद्या महाविद्याश्च अंगुष्ठप्रसेनाद्याः प्रक्षत्त्यादयश्च तैरतस्य रूपं प्रदश्यं, सामर्थ्यं स्वकर्माभाप्य पुर स्थित्वा आश्वासयता किमस्माभिः कर्तव्यमिति तिष्ठति । तद्वचः श्रुत्वा न भवतीमिरसा कं साध्यमस्तीति ये वदन्ति अचलितचिन्तास्ते अभिन्नदशपूर्विणः । एतेषामभ्यस्तमेन प्रथितं सूत्रं प्रमाण । प्रमाणेन केवल्लेन श्रुतेन वा शुद्धीतमर्थं अरकादिपटा सतो यदुपदिशति ततस्तद्वचसां प्रमाण्यं इति भावः । प्रमाणपरिदृष्टार्थगोचरं अरक-द्विष्टवस्तुप्रभव वचं प्रमाणं । यथा पितुररकादिदृष्टस्य स्वप्रत्यक्षगोचरं वचः घटोप रस्य इति । तथा च गणधरादीनां वचं प्रमाणं परिदृष्टार्थगोचरं । अरकादिदृष्टवस्तुप्रभव ।

केन रचितं सूत्रं प्रमाणं स्यादित्यत्राह—

गणहरकधिदं—गणा द्वादश यत्पादयो जिनैर्दसभ्याः । गणान्वारयन्ति दुर्गातिमार्गानिमभ्याश्रद्धानादेर्विनिवृत्त्य शिवमार्गे सन्त्यगदर्शनादौ स्थापयन्तीति इति गणधरा सप्तविधार्द्धिप्राप्ता धर्माचार्याः । पत्तेयबुद्धा—एक केवलं परोपदेशनिरपेक्षं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषं प्रतीत्य बुद्धाः संप्राप्तज्ञानातिशया, प्रत्येकबुद्धाः । सुदकेवल्लिणा समस्तश्रुतधारिणा । अभिन्नदसपुत्तिव—इश पूर्वाणि चत्वारपूर्वादिविद्याबुद्धानां ज्ञान्येया सन्तीति दशपूर्विणः । अभिन्ना विद्याभिरप्रचया

चित्तचारित्रास्ते च ते दश पूर्वपञ्च । विद्यानुवादपाठे स्वयमागतद्वादशशतविद्याभिरचलितचारित्रा इत्यर्थः ।

‘सुचादो ते समं दसिज्जंतं’ ऐसा उपरकी गायामें वाक्य आया है परंतु प्रमाणभूत सूत्रोंकी रचना किन्हीं की है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

हिंदी अर्थ—गणधराचित्त आगमको सूत्र कहते हैं, प्रत्येकबुद्ध ऋषियोंके द्वारा रचे गये आगमको भी सूत्र कहते हैं, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वधारक आचार्योंके रचे हुए आगम ग्रंथको भी सूत्र कहते हैं, विशेषार्थ—गणके चारा प्रकार हैं, चौदापूर्वके ज्ञाता मुनि, विक्रियाऋद्धिके धारक मुनि, अवाधिज्ञानी मुनि, मत्तःपर्यवज्ञानी मुनि, वाद करनेवाले मुनि वगैरे चारा गण उनको रत्नत्रयधर्मका उपदेश देकर जो दुर्गतीसे बचाते हैं उनको गणधर कहते हैं, गणधरोंको सात ऋद्धियां प्राप्त होती हैं, उनके नाम इसप्रकार हैं—

बुद्धि, तप, विक्रिया, औपधि, रस, बल और अक्षीण ऐसे सात ऋद्धिको प्राप्त हुए गणधरोंको मेरा नमस्कार है—गणधरोंने रचे हुए आगमको सूत्र कहते हैं, केवलियोंने कहा हुआ अर्थ गणधर ग्रथित करते हैं, इस विषयमें ‘अर्थ कहंति अरुहा गंध गंधन्ति गणहरा तेसि’ अर्थात् केवल भगवान जो अर्थ कहते हैं उसका गणधर देव आगममें ग्रथन करते हैं, प्रत्येकबुद्ध ऋषियोंने रचे हुए शार्त्तोंको भी सूत्र कहते हैं, श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे गुरुपदेशके विना जिनको सार्वत्रिय ज्ञान होता है ऐसे महर्षियोंको प्रत्येकबुद्ध कहते हैं, द्वादशगणश्रुत ज्ञानको धारण करनेवाले महर्षियोंको श्रुतकेवलि कहते हैं, उनका कहा हुआ जो आगम वह भी सूत्र है, अभिन्नदशपूर्वके ज्ञाननेवाले आचार्योंके रचे हुए शास्त्रको भी सूत्र कहते हैं, दशपूर्वोंका अध्ययन करते समय विद्यानुवादमें जिनका वर्णन है ऐसी अंगुष्ठप्रसेनादि छुछक विद्या व प्रज्ञप्त्यादि महाविद्या इन आचार्योंके पास आ जाती है तथा वे आपना रूप दिखकर सामर्थ्य और अपने कर्मका स्वरूप कहती हैं, आगे खड़े होकर है प्रभो ! हमे कोई कार्य करनेकी आज्ञा दीजिये ऐसी प्रार्थना करती हैं, उनका मापण सुनकर आपसे हमारा कुछ कार्य नहीं है ऐसा जो ऋषि निश्चलचित्त होकर बोलते हैं, उनको अभिन्नदशपूर्वधर महर्षि कहते हैं उपर्युक्त कहे हुए ऋषियोंके आगमोंको सूत्र कहते हैं,

प्रत्यक्षादिक प्रमाणांके द्वारा, केवलज्ञानके द्वारा और श्रुतज्ञानके द्वारा जाना हुआ वस्तुका स्वरूप रागद्वेष



रहित होकर उपर्युक्त महर्षि प्रतिपादन करते हैं इसलिये इनके वचनोंमें प्रमाणता रहती है.

जैसे राग द्वेप छोड़कर पिता अपने लड़केको इस घटका रक्षण करो ऐसे वचन कहा है, उसका वह कहना जैसा प्रत्यक्ष गोचर है और प्रमाण है उसी तरह रागद्वेपरहित होकर प्रमाणोंके द्वारा देखा हुआ जीवादिपदार्थ का स्वरूप महर्षिओंने कहा है अतः वह प्रमाण मानना चाहिये, गणधरादिक महर्षि रागद्वेपरहित और महाज्ञानी थे. उन्होने सब पदार्थोंका प्रमाणोंके द्वारा निर्णय किया था अतः उनके आगत प्रमाण माननेमें हर्ज नहीं है.

भवतु नामैषा अन्यत्तेभन प्रणीत सूत्र प्रमाणं तदर्थकथन तु को विपरीत करोति को वाऽविपरीतमित्यरेकाया आविपरीतार्थकथनकारिणे लक्ष्यममाहोचरया भाषया—

निहिदृत्यो संविगो अच्युवदेसेण संकणिज्जो हु ॥

सो चैव मंदधम्मो अच्युवदेसमि भजणिज्जो ॥ ३५ ॥

प्राप्तार्थश्चारुचारिञ्च; शंकयते न महामना; ॥

शंकयते मंदधर्माऽसौ कुर्याणस्तत्त्वदेशानाम् ॥ ३६ ॥

विजयोदया—निहिदृत्यो संविगो गृहीत आत्मसात्कृतो उच्यारितोऽर्थः सूत्रस्य येन स' गृहीतार्थं अवधृतस्य आर्थं इति यावत् । संविगो सत्साराद्द्रव्यमवधारत् परितर्तनात् भयमुपपात । विपरीतोपदेशे रागात्कोपभा अनतकाल संसारपरिभ्रमण मम मित्यादौ, सतो भविष्यतीति य. समय । अच्युवदेसे अर्थस्याभिधेयस्य सूत्राणामुपदेशे । न संकणिज्जो नैवाशाम्य' । खु शब्द एवकारार्थः । सो चैव स एव च गृहीतार्थः । मंदधम्मो धर्मशब्दश्चारिचवाची चारितं खलु धर्मो धम्मो जो सो समोति निहिदो' इति वचनात् । ततो मंदचारिञ्च इत्यर्थः । अच्युवदेसमिह सूत्रार्थव्याख्यानं ? भयणिज्जो भाज्य । यदि सूत्रानुसारि शुफस्तनुगतं वा तद्व्याख्यानं ग्राह्यमन्यथा नेति यावत् ।

प्रमाणपरिदृष्टार्थगोचरत्वेन रागद्वेपानुपहतवृक्षप्रभवत्वेन च पित्रादिवाक्यवत्प्रमाणभूतस्यापि सूत्रस्यार्थं यो यथावत्कथयति तं लक्षयति—

गीदृत्यो—सम्भगुत्तरुपदेशादवधारितसूत्रार्थः । संविगो रागाद्वा द्वेपद्वा सूत्रार्थमन्यथोपदिशतो मम मित्यादृष्टः सतोऽनंतकालं संसारे परिभ्रमण भविष्यतीति भयमापन्नः । अच्युवदेसे सूत्रार्थव्याख्यानाविषये । ण संकणिज्जो खु ।

नैव शंकनीय । यं यथायं व्याचष्टे सूत्रार्थं स तथैवेति मन्त्रव्ययः । सो वैव गीतार्थ एव । मंदधम्मो सातिचारचारित्रः । भयणिज्जः भाज्यः । यदि सूत्राजुसारी शुक्तियुक्तं वा तद्व्याख्यानं ततो ब्राह्मं नान्यथेत्यर्थः ।

इन महर्षिभेदोंमें किसीके भी वनाये हुए सूत्र हम प्रमाण मानते हैं, परंतु इनका अर्थका कथन करनेवालोंमें हम किसीको सत्यार्थ प्रतिपादन करनेवाला समझे और किसीको न समझे ? ऐसी शंकाका निरसन करते हैं, प्रथमतः अविपरीत पदार्थका विवेचन करनेवालेका लक्षण आगेकी गाथासे कहते हैं—

हिंदी अर्थ—जिसने सूत्रका अर्थ समीचीनरूपसे जान लिया है, तथा जिसके अंतःकरणमें कर्मबंधरूप, द्रव्यसंसार और भावरूप कषाय, मिथ्यात्वादिरूप-भावसंसारसे भय उत्पन्न हुआ है ऐसे व्यक्तिद्वारा कहा हुआ सूत्रार्थ निःसंशयचित्त होकर प्रमाण मानना चाहिये, यदि रागभावसे अथवा क्रोधसे मैं विपरीत उपदेश करूंगा तो अनंतकालपर्यंत मिथ्यादृष्टियुक्त ऐसे भेदको संसारमें भ्रमण करना पड़ेगा ऐसा जिसके मनमें भय है उसको संविन्न कहते हैं, उसको सूत्रार्थके कहनेमें प्रमाणता है, परंतु जिसका चारित्र मंद है उसको सूत्रार्थनिरूपणमें प्रमाण मानना विकल्पनीय है, अर्थात् यदि उसका व्याख्यान सूत्राजुसार और शुक्तियुक्त हो तो ग्रहण करना चाहिये, वैसे न हो तो ग्रहण करना नहीं चाहिये.

किमधिगतसप्रपंचवचनार्थो भूत्वा श्रद्धावान् स एव च सत्यग्रदृष्टि, स एव सत्यपक्त्वात्पाथकः इत्यारोकाया-  
माह अन्वोप्यस्तीति—

धम्मा धम्मागासाणि पोगला कलद्वव जीवे य ॥  
आणाए सहहन्तो समत्ताराहओ भणिदो ॥ ३६ ॥

सिद्धाः संसारिणो जीवाः प्रयाताः सिद्धिभेकधा ॥  
आज्ञया जिननाथानां श्रद्धेयाः शुद्धदृष्टिना ॥ ३९ ॥

विजयोदया—धम्माधम्मागासाणिचि-जीवपुद्गल्यो. स्वावस्थिताकाशदेशान्तर प्रतिगति. परिरूपदपर्याय परप्रयोगत स्वभावतो वा विद्यते । अन्वेया निष्क्रियतेति न गतिरस्ति । अनयोर्गतिपर्यायस्य बाह्यं नतिहेतुत्वं

संक्षिप्तं गुणं धारयतीति धर्मः । तं न धारयतीत्यधर्मः । यद्यपि जीवादिष्वपि अस्ति गतिहेतुतायाः साधारण्यं तथापि न तत्र धर्मस्य दृष्टिः । प्रतिनियतविषया रूढयः इत्युक्तमेव । अथवा स्थितेरदरासीनहेतुत्वादधर्मः । न च जीवादीनां स्थितेरदरासीनहेतुत्वमस्ति । तोषतादुभावपि असख्यातप्रदेशो एकतामेवोद्बुद्धन्तौ सूक्ष्मौ निश्चितौ रूपदिष्टौ । आकाशा अनंतप्रदेशाभ्यासितं सर्वेषां अवकाशावानसामर्थ्येति । पुद्गलास्तु कपरसमाधस्यदर्शवत् अणु-स्केषरूपमेवोद्बुद्धिविधा । कालो निश्चयेतरविकल्पः । जीवा उपयोगात्मका । एतानर्थान् । आप्णाय आश्रया । आशानां स्वावधारण चेदं । आश्रयैव पदं द्रव्याणि सन्तीति श्रद्धातव्यं भवतीति आश्रयचनवलेनैव श्रद्धानं करोति । निक्षेपनयादि-मुखेन प्रवृत्त्याधिगत्या सोऽपि सम्पत्कत्वस्याराधकः ।

१० धर्माधर्मनभःकालपुद्गलाब्जनिर्देशितात् ॥

आज्ञया अर्धधानोऽपि दर्शनाराधको मतः ॥ ३९ ॥

किं प्रमाणादिमुखेन सप्रपञ्चं प्रवचनार्थमाधिगन्त्य श्रद्धानः सम्पत्कत्वस्याराधकः स्यादुक्तान्योऽप्यस्ति इति

अथाह—

मूलारा—धम्मा इत्यादि—जीवपुद्गलयोः साधारण्येन गतिनिमित्तं धर्मः । तयोरेव साधारण्येन स्थितिहेतु-रधर्मः । सर्वेषामवकाशादायकं आकाशम् । रूपिण पुद्गलाः । वर्तनालक्षणः कालः । चेतनालक्षणो जीवः । एतान्येव गुणपर्यायत्वाद्द्रव्याणि । आश्रयापि पदद्रव्याणि संति इत्याश्रयचनवलेनापि श्रद्धानः सम्पत्कत्वमाराधयतीत्युक्तः । दृष्टं—

सर्वेषां युगपद्गतिस्थितिपरीणमावगाहन्यथा—

योमाद्वसतदन्यकालागगनान्यात्मा त्वहंप्रत्ययात्

सिद्धयेत्सर्वस्य परस्य वाक्यप्रसूततो भूतैर्त्तवतः पुद्गल—

स्ते द्रव्याणि पदेव पर्यायगुणात्मानं कथञ्चिद्भुवाः ॥

१० उपरके पेज १२८ की गाथा नं. ३६ के नीचे जो श्लोक आया है वहा यह श्लोक आना चाहिये था और आगेकी गाथा नंबर ३७ के आगे गाथा नं. ३६ के नीचे वाला श्लोक आना चाहिये । गलतीसे ये उलटे लगा गये हैं । इसलिये यह श्लोक यहापर लगा दिया गया है । पाठक सुधार कर पढेंगे ऐसी आशा है ।

सविस्तर अभिप्रायचन और उसके अर्थको जानता हुआ जो उसके ऊपर श्रद्धा रखता है क्या वही सम्य-  
नदृष्टि है ? वही सम्यक्त्वाराधक है ? ऐसी शंका होनेपर आचार्य अन्य भी सम्यग्दृष्टि होता है ऐसा आगेकी  
गाथामें उत्तर कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, पुरल, काल, व जीव इन छह द्रव्योंको जिनेश्वरकी आज्ञासे  
श्रद्धान करनेवाला आत्मा सम्यक्त्वका आराधक होता है.

विशेषार्थ—जीव और पुरल ये दो पदार्थ जहां रहे हैं ऐसे आकाशप्रदेशसे प्रदेशांतरमें दूसरेके निमित्तसे  
अथवा स्वभावतः गमन करते हैं. इन दो ही द्रव्योंमें क्रियावत्त्व धर्म है. परंतु धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन  
द्रव्योंमें क्रिया नहीं है. जिनेंद्र भगवान इनको निष्क्रिय कहते हैं. जीव और पुरलद्रव्यमें एक स्थानसे दूसरे  
स्थानमें गमन किया होनेमें धर्मद्रव्य कारण माना गया है. अर्थात् धर्मद्रव्यमें गतिहेतुत्व यह धर्म है. अधर्म  
द्रव्यमें स्थितिहेतुत्व धर्म है. इसके निमित्तसे जीव और पुरलमें स्थिरता आती है. यद्यपि जीव पुरलदि भी गतिके  
लिये कारण होते हैं तो भी धर्मद्रव्यकाही यह असाधारण स्वभाव है अतः जीव पुरलको ' धर्म ' ऐसी संज्ञा प्राप्त  
नहीं होती है. रूढि नियतविषयमेंही प्रवृत्त होती है. ऐसा पूर्वमें कह चुके हैं. धर्मद्रव्य जैसा जीवपुरलके गतिमें  
उदासीन कारण है वैसा जीव गतिमें उदासीन नहीं है. वह दूसरेको गतिकार्यमें प्रेरक होता है. इस लिये उदासीन  
रूपसे गतिहेतुत्व धर्मद्रव्यमेंही है अन्यत्र नहीं है.

अधर्मद्रव्य जीव पुरलके स्थिरतामें उदासीन कारण है. उदासीनरूपसे स्थितीको हेतु हो जाना यह  
स्वभाव अधर्मद्रव्यके सिवाय अन्यद्रव्यमें नहीं पाया जाता है. धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके असंख्यात प्रदेश हैं.  
परंतु इनके ये प्रदेश आपसमें मिलकर एकताको प्राप्त हुये हैं. ये द्रव्य सूक्ष्म, निष्क्रिय और रूप, रस, गंध, स्पर्श  
इन गुणोंसे रहित अर्थात् अमूर्त हैं.

आकाश द्रव्य अनंत प्रदेशी है. संपूर्ण द्रव्योंको अवकाश देनेका सामर्थ्य इसमें है. पुरल रूप, रस, गंध,  
स्पर्श इन गुणोंसे युक्त रहता है. उसके अणु व स्कंध ऐसे दो भेद हैं. कालके व्यवहारकाल व निश्चयकाल ऐसे  
दो भेद हैं. जीव ज्ञान व दर्शनोपयोगमय है. ऐसे छह द्रव्योंका जिनेश्वरकी आज्ञासे जो श्रद्धान करता है वह  
सम्यक्त्वाराधक है. तथा जो निश्चेष नय वर्णरहका आन्य करके जीवादि पदार्थोंका स्वरूप समझकर श्रद्धान करता  
है वह भी सम्यक्त्वका आराधक है.

जीवद्रव्यविषय नियोगतः शब्दानं कर्तव्य इत्येतदव्याख्यानयोश्चरणाया—

संसारसमावण्णा य छविह्वा सिद्धिमस्सिदा जीवा ॥

जीवणिकाया एदं सद्विद्वत्त्वा हु आणण ॥ ३७ ॥

सिद्धाः संसारिणो जीवाः प्रयाताः सिद्धिमेकधा ॥

आज्ञाया जिननाथानां अद्वेयाः शुद्धदृष्टिना ॥ ४० ॥

विजयेद्यथा—संसारं चतुर्गतिपरिभ्रमणं । समावण्णा समाप्ता दोभनाशोभनशरीरप्रहणभोचनारभ्युद्यताः, स्वययोगत्रयानीतपुण्यपापौदयजनितसुखदुःखानुभवानिरताः, असंस्थावरकर्मोदयापादितप्रसंस्थावरमावाः, विविच्रमति-  
ज्ञानावरणोद्वेयन तत्क्षयोपशमविशेषण च एकंद्रिया, विकलेंद्रिया, समश्रोत्रेन्द्रिया, पर्याप्त्यपर्याप्तिकर्मोदयनिर्वर्तितपद्दवि-  
धपर्याप्त्यस्तादितरे च, पुष्टिव्यादिशरीरभारोद्धनचतुरारः, आयुरारण्यप्रकृतिवधनशुल्लालगण्डवधनपराधीनदृश्यः । नववि-  
कल्योगेनिसमाश्रयोपजाततनुव्यासकनुद्धयः, । जराडाकिनीपीतिकपरकाः, मृत्युदुर्गारंभूरशानिस्पातचक्रितचेतस-  
ससारिणः, छान्विधा पदप्रकारा पुष्टिव्यादिशरीरसंबंधतः । सिद्धिं सम्प्रपत्त्वकेवलक्षानदर्शनवीर्याव्यावाधत्त्वपरमसूक्ष्म-  
त्वावगाहनदिस्वरूपनिष्पत्तिम् । अस्मिदा आश्रिताः । जीवा जीवाः । ननु जीव प्राणधारणे इति वचनात् । जीवति  
प्राणनधारयति इति जीव । प्राणाश्चेन्द्रियादयः कर्मनिर्वर्त्या, पुद्गलस्कषधधारणभूतेषु कर्मस्वसत्सु न विद्यन्ते ततः कथं  
सिद्धानां जीवतेति ? नैव दोषः, द्विविधाः प्राणा, द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्चेति । द्रव्यप्राणा श्चन्द्रियादयः कर्महेतुकाः । भाव-  
प्राणास्तु ज्ञानदर्शनादयः । न ते कर्मानिमित्तका । कर्मभावे प्रसृतेः । तेन भावप्राणधारणात् जीवता न्याय्या सिद्धाना ।  
अथवा यदेव कृतप्राणधारणं वस्तु तदेवमिति प्रत्यभिज्ञोपदर्शितमेकत्वमाश्रित्य जीवव्यपदेशः सिद्धानाम् । अथवा जीव-  
शब्दश्चेतनावति रूढशब्दः । रूढौ च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थैव तत्समवेदं पि तदुपलक्षणमृहीतं सामान्यमाश्रित्य वर्तते एव ।  
यथा गच्छतीति गौरिति व्युत्पादितोऽपि गोशब्दोऽसत्यामपि गतौ स्थिता गौरिर्नपणेत्यत्र वर्तते । गमनेनाश्रयेणोपलक्षि-  
तस्य गौत्वस्य सद्भावात् । एवं प्राणधारणोपलक्षितचेतव्याश्रयज्जीवशब्दस्य सिद्धेऽप्युक्तिः । जीवणिकाया जीवसमूहाः ।  
सद्विद्वत्त्वा यु शब्दातव्याः एव । आणण आसानामाप्तावलात् ।

जीवाशब्दाने मुक्तिसंसारविषयपरिप्राप्तित्यागार्थ्यासावुपपत्तेरिति भावः । यदि नाम धर्मादिद्रव्यापरिक्षा-  
नात् परित्थानसहचारिशब्दानोत्पन्नं तथापि नासौ मिथ्यादृष्टिर्दर्शनमोहोदयस्य अशब्दानपरिणामस्याक्षानविषयस्या-  
भावात् । न हि शब्दानस्यानुत्पत्तिरशब्दान इति गृहीतः । शब्दानादन्यदशब्दान इदमिति श्रुतनिरूपितेऽवधि ।

ॐ यह श्लोक पञ्च १२८ की ३६ वीं गाथा के नीचे गलतीसे लगा गया है वस्तुतः यहा ही चाहिये ।

उनका चित्त मययुक्त हो जाता है। ऐसे ये संसारी जीव पृथिवी, हवा, इत्यादि रूपसे छह प्रकारके हैं।

जिनको सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, अनंतशक्ति, अव्याघाधता, सुहृमता, अवगाहन, अगुरुलघुता ऐसे आठगुणोंकी प्राप्तिरूपी श्रुति प्राप्त हो गई है वे सिद्ध जीव हैं।

शंका—जीव घातूका अर्थ प्राणधारण करना है। 'जीवति प्राणान्धारयति इति जीवः' अर्थात् जो इंद्रियादि प्राणोंको धारण करता है वह जीव है ऐसी जीव शब्दकी निरुक्ति है। इंद्रियादिक प्राणोंकी उत्पत्ति कर्मसे होती है। परंतु सिद्धोंको कर्म नहीं है अतः सिद्धोंमें जीवत्व कैसा मानोगे ?

उत्तर—द्रव्य प्राण और भाव प्राण ऐसे प्राणोंके दो भेद हैं। इंद्रियां, आशु श्वासोच्छ्वास और काय चल, मनोबल और वचनबल ये द्रव्यप्राण हैं। ज्ञानदर्शन वगैरह भावप्राण हैं द्रव्यप्राण कर्मसे उत्पन्न होते हैं, वैसे भावप्राण कर्मसे उत्पन्न नहीं होते हैं। कर्मोंका अभाव होनेपर उनका जन्म होता है। सिद्धोंको भावप्राण हैं अतः वे जीव हैं यह सिद्ध हो चुका। अथवा जिन्होंने संसारावस्थामें द्रव्यप्राण धारण किये थे वेही अब सिद्ध बने हैं ऐसे प्रत्यभिज्ञानसे उनमें एकत्वसिद्धि होती है इस लिये एकत्वके आश्रयसे हम सिद्धोंको भी जीव कह सकते हैं। अथवा जीव शब्दकी चेतनावान प्राणीमें रूढी है। अर्थात् जीव यह शब्द रूढि शब्द है। रूढ शब्दमें क्रिया व्युत्पत्तीके लिये ही होती है। इस लिये वह क्रिया वहां नहीं भी हो तो भी उपलक्षणसे ग्रहण किये हुए सामान्यके आश्रयसे उस शब्दकी प्रवृत्ति होती है। जैसे 'गच्छतीति गोः' इस निरुक्तिसे बनाया हुआ भी गोशब्द गमन क्रिया न होनेपर भी अर्थात् वैठी हुई वा खड़ी हुई गौमें भी प्रवृत्त होता है। क्योंकि अनित्यगमनक्रियासे युक्त गोत्वका गौमें सद्भाव है और गोशब्द उपलक्षणसे गोत्वका वाचक होता है। उसी तरह प्रकृत विषयमें ज्ञान धारणासे उपलक्षित चैतन्यके आश्रयसे जीव शब्दकी सिद्धोंमें प्रवृत्ति होती है। संसारी और मुक्त ऐसे जीवसमूहोंपर जिनज्ञासे श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा इसका अभिप्राय है। जीवके विषयमें यदि श्रद्धा नहीं हो तो श्रुतिके साधनभूत रत्नत्रयकी प्राप्ति करना और संसारवर्धक मिथ्यात्वादि कारणोंका त्याग करना यह सब प्रयासमात्रही होगा।

यद्यपि धर्मादि द्रव्योंका ज्ञान न होनेसे ज्ञानके साथ होनेवाली श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तो भी वह सम्यग्दृष्टिही है, मिथ्यादृष्टि नहीं है। क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान जो कि अज्ञानको विषय करता है वह यहां नहीं है। मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान वह अरुचि रूप है अर्थात्

सविस्तर आत्मवचन और उसके अर्थको जानता हुआ जो उसके ऊपर श्रद्धा रखता है क्या वही सम्यग्दृष्टि है ? वही सम्यक्त्वाराधक है ? ऐसी शंका होनेपर आचार्य अन्य भी सम्यग्दृष्टि होता है ऐसा आगेकी गाथामें उक्त कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल, व जीव इन छह द्रव्योंको जिनेश्वरकी आज्ञासे श्रद्धान करनेवाला आत्मा सम्यक्त्वका आराधक होता है।

विशेषार्थ—जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ जहां रहे हैं ऐसे आकाशप्रदेशसे प्रदेशांतरमें दूसरेके निमित्तसे अथवा स्वभावतः गमन करते हैं, इन दो ही द्रव्योंमें क्रियावत्त्व धर्म है, परंतु धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्योंमें क्रिया नहीं है, जिनेंद्र भगवान इनको निष्क्रिय कहते हैं, जीव और पुद्गलद्रव्यमें एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमन क्रिया होनेमें धर्मद्रव्य कारण माना गया है, अर्थात् धर्मद्रव्यमें गतिहेतुत्व यह धर्म है, अधर्म द्रव्यमें स्थितिहेतुत्व धर्म है, इसके निमित्तसे जीव और पुद्गलमें स्थिरता आती है, यद्यपि जीव पुद्गलादि भी गतिके लिये कारण होते हैं तो भी धर्मद्रव्यकाही यह असाधारण स्वभाव है अतः जीव पुद्गलको 'धर्म' ऐसी संज्ञा प्राप्त नहीं होती है, रुढि नियतविषयमेंही प्रवृत्त होती है ऐसा पूर्वमें कह चुके हैं, धर्मद्रव्य जैसा जीवपुद्गलके गतिमें उदासीन कारण है वैसा जीव गतिमें उदासीन नहीं है, वह दूसरेको गतिकार्यमें प्रेरक होता है, इस लिये उदासीन रूपसे गतिहेतुत्व धर्मद्रव्यमेंही है अन्यत्र नहीं है।

अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलके स्थिरतामें उदासीन कारण है, उदासीनरूपसे स्थितीको हेतु हो जाना यह स्वभाव अधर्मद्रव्यके सिवाय अन्यद्रव्यमें नहीं पाया जाता है, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके असंख्यात प्रदेश हैं, परंतु इनके ये प्रदेश आपसमें मिलकर एकताको प्राप्त हुये हैं, ये द्रव्य सूक्ष्म, निःक्रिय और रूप, रस, गंध, स्पर्श इन गुणोंसे रहित अर्थात् अमूर्त हैं।

आकाश द्रव्य अनंत प्रदेशी है, संपूर्ण द्रव्योंको अवकाश देनेका सामर्थ्य इसमें है, पुद्गल रूप, रस, गंध, स्पर्श इन गुणोंसे युक्त रहता है, उसके अणु व स्कंध ऐसे दो भेद हैं, कालके व्यवहारकाल व निश्चयकाल ऐसे दो भेद हैं, जीव ज्ञान व दर्शनोपयोगमय है, ऐसे छह द्रव्योंका जिनेश्वरकी आज्ञासे जो श्रद्धान करता है वह सम्यक्त्वाराधक है, तथा जो निश्चय नय वगैरहका आश्रय करके जीवादि पदार्थोंका स्वरूप समझकर श्रद्धान करता है वह भी सम्यक्त्वका आराधक है।

जीवद्रव्यविषयं नियोगतः श्रद्धानं कर्तव्यं इत्येतदाख्यानयोत्तरगाथा—

संसारसमावण्णा य छव्विहा सिद्धिमस्सिदा जीवा ॥

जीवणिकाया एदुं सद्धहिदव्वा हु अण्णाए ॥ ३७ ॥

❧ सिद्धाः संसारिणो जीवाः प्रयाताः सिद्धिमेकधा ॥

आज्ञया जिननाथानां श्रद्धेयाः शुद्धदृष्टिना ॥ ४० ॥

विजयोदया—संसार चतुर्गतिपरिभ्रमणं । समावण्णा संप्राप्ता' शोभनाशोभनशरीरग्रहणमोचनश्रुयता; स्वययोगत्रयानीतपुण्यपापोदयजनितसुखदुःखानुभवानिरता., । प्रसस्यावरकर्मोदयापादितप्रसस्थावरभावा; विचित्रमति-  
ज्ञानावरणोदयेन तत्क्षयोपशमविशेषेण च एकोदिया, विकलैर्द्विया, समग्रेन्द्रिया, पर्याप्तपर्याप्तिकर्मोदयनिर्वर्तितपद्मि-  
धपर्याप्तयस्तदितरे च, पृथिव्यादिशरीरभारोद्धहनचतुरा, आयुराख्यमृकृतिधनंशृगलागाढबंधनपराधीनदृत्तयः । नववि-  
कलयोत्तिसमाश्रयोपजाततनुव्यासक्तबुद्धयः, । जराडाकिनीपीतारूपरक्ता., मृत्युदुर्वारं क्रूरशानिसपातचक्रितचेतस-  
संसारिणः । छविधा पद्मकारा पृथिव्यादिशरीरसंबधतः । सिद्धि सत्यस्त्वकेवलज्ञानदर्शनवीर्याव्याधाधत्वपरमसूस्म-  
त्वावगाहनादिवस्वरूपनिष्पत्तिम् । अस्सिदा आश्रिता । जीवा जीवाः । ननु जीव प्राणधारणे इति वचनात् । जीवति  
प्राणान्धारयति इति जीव । प्राणाश्चैन्द्रियादयः कर्मनिर्वर्त्या पुद्गलस्कंधधारणभूतेषु कर्मस्वसत्सु न विद्यन्ते तत' कथं  
सिद्धाना जीवतेति ? नैव दोषः, द्विविधा प्राणा द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्चेति । द्रव्यप्राणा इन्द्रियादयः कर्महेतुका । भाव-  
प्राणास्तु ज्ञानदर्शनादयः । न ते कर्मनिमित्तका । कर्मभावे प्रसूते । तेन भावप्राणधारणात् जीवता न्याय्या सिद्धानां ।  
अथवा यदेव कृतप्राणधारण वस्तु तदेवमिति प्रत्यक्षिषोपदेशितमेकत्वमाश्रित्य जीवव्यपदेश सिद्धानाम् । अथवा जीव-  
शब्दश्चेतनावति रूढशब्दः । रूढौ च क्रिया व्युत्पत्त्यर्थेव तदसमवेऽपि तदुपलक्षणगृहीतं सामान्यमाश्रित्य वर्तते एव ।  
यथा गच्छतीति गौरिति व्युत्पादितोऽपि गोशब्दोऽस्त्यपि गतौ स्थिता गौर्नपणेत्यत्र वर्तते । गर्मेनाभ्रवेणोपलक्षि-  
तस्य गोवस्य सद्भावात् । एवं प्राणधारणोपलक्षितचेतन्याश्रयाज्जीवशब्दस्य सिद्धेऽपि दृष्टिः । जीवनिजाया जीवसमूहा ।  
सद्धहिदव्वा तु श्रद्धातन्या एव । आण्णए आत्मानमाज्ञाबलात् ।

जीवाश्रद्धाने मुक्तिसंसारविषयपरिप्राप्तित्यागार्थ्यासानुपत्तेरिति भावः । यदि नाम धर्मादिद्रव्यापरिक्षा-  
नात् परिक्षानसहचारिश्रद्धानं नोत्पन्नं तथापि नासौ मिथ्यादृष्टिर्दर्शनमोहोदयस्य अश्रद्धानपरिणामस्याज्ञानविषयस्या-  
भावात् । न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धानं इति गृहीतं । श्रद्धानादन्यदश्रद्धानं इदमिथमिति श्रुतनिरूपितेऽरुचिः ।

❧ यह श्लोक पत्र १२८ की ३६ वीं गाथा के नीचे गलतीसे लग गया है वस्तुतः यहाँ ही चाहिये ।



जीवद्रव्य नियमेन श्रद्धेयं तदश्रद्धाने मुक्तिरसंभूतिश्रान्तित्यागार्थप्रयासानुपपत्तेरित्यनुशासितुमाह—

समावण्णा-प्राप्ताः शोभनाशोभनशरीरग्रहणमोचनाभ्युद्यताः ।

यिकमेदात् । अस्मिदा आश्रिताः । शिकया निकायाः समूहाः । आणाए आपानामाज्ञाबलात् । यद्यपि च ज्ञानावरणोदया द्धमोदरज्ञाने सति तच्छ्रद्धानं नोत्पद्यते तथापि नासौ मिश्रयादृष्टिदर्शनमोहोदयजन्यस्य अश्रद्धानस्य ज्ञातव्यश्रद्धेयविषयं स्याभावात् । न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धानं किं तर्हि ? श्रद्धानादन्यदिदमित्यमिति श्रुतिरूपितेऽर्थेऽरुचिः ।

जीवद्रव्यके उपर नियमसे श्रद्धान करना चाहिये इसके विवेचनके लिये उत्तर गाथा आचार्य कहते हैं—  
हिंदी अर्थ—इस जगत्में चार गतिमें भ्रमण करनेवाले जीवोंके छह प्रकार हैं, पृथिवी, हवा, पानी, अग्नि, वनस्पति ये पांच स्थावर काय जीव हैं, द्वीन्द्रियादि जीवोंको त्रसकाय जीव कहते हैं, ऐसे छह भेद संसारी जीवके हैं, जिन्होंने ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका नाश करके मुक्ति प्राप्त की है वे जीव सिद्ध हैं, जिनेश्वरकी आज्ञासे इस जीवनिर्कायपर श्रद्धा करनी चाहिये.

विशेषार्थ—पदकायके जीव संसारमें चार गतियोंमें भ्रमण कर रहे हैं, उनको शुभाशुभ कर्मके उदयसे शुभाशुभ शरीर मिलते हैं तथा नष्ट होते हैं, कभी कभी स्वतःके मनोयोग, वचनयोग और काययोगसे पुण्य कर्मबंध हो गया तो उनको सुख मिलता है, और यदि पापबंध हुआ तो दुःखानुभवमें उनको प्राप्तपर्याय खतम करनी पड़ती है, त्रसकर्मके उदयसे द्वीन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रियतकके प्राणिओंमें उनका जन्म होता है, और स्थावरकर्मके उदयसे वे पृथिवी, हवा वगैरह प्राणिओंमें जन्म धारण करते हैं, विचित्र मतिज्ञानावरणके उदयसे और उसके क्षयोपशमविशेषसे उनको एकेन्द्रिय, विकलेंद्रिय और पंचेन्द्रियावस्था प्राप्त होती है, पर्याप्ति नाम कर्मके उदयसे यथायोग्य चार, पांच और छह पर्याप्ति प्राप्त होती हैं, यदि अपर्याप्ति नाम कर्मका उदय आवे तो अपर्याप्त बनते हैं, पृथिव्यादि शरीरोंको धारण करनेमें ये सब संसारी जीव चतुर हैं, आधुनाम कर्मरूप बड़ीसे जबड़ जानेसे पराधीन हो गये हैं, सचित्तयोनित्वादि नष्ट योनियोंसे उत्पन्न हुए शरीरमें इनकी मति आसक्त हो गई है, जरा-वृद्धावस्थारूप डाकिनी इनका रूप और रक्त पीनेमें चतुर रहती है, मृत्युरूपी अनिवारणीय वज्रपातसे

इनका चित्त भयशुक्त हो जाता है. ऐसे ये संसारी जीव पृथिवी, हवा, इत्यादि रूपसे छह प्रकारके हैं.

जिनको सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतशक्ति, अव्यावाधता, स्वस्थता, अवगाहन, अगुरु-लघुता ऐसे आठगुणोंकी प्राप्तिरूपी श्रुति प्राप्त हो गई है वे सिद्ध जीव हैं.

शंका—जीव धातूका अर्थ प्राणधारण करना है. 'जीवति प्राणान्धारयति इति जीवः' अर्थात् जो इंद्रियादि प्राणोंको धारण करता है वह जीव है ऐसी जीव शब्दकी निरुक्ति है. इंद्रियादिक प्राणोंकी उत्पत्ति कर्मसे होती है. परंतु सिद्धोंको कर्म नहीं है अतः सिद्धोंमें जीवत्व कैसा मानोगे ?

उत्तर—द्रव्य प्राण और भाव प्राण ऐसे प्राणोंके दो भेद हैं. इंद्रियां, आयु श्वासोच्छ्वास और काय बल, मनोबल और वचनबल ये द्रव्यप्राण हैं. ज्ञानदर्शन बगैरह भावप्राण हैं द्रव्यप्राण कर्मसे उत्पन्न होते हैं. वेसे भावप्राण कर्मसे उत्पन्न नहीं होते हैं. कर्मोंका अभाव होनेपर उनका जन्म होता है. सिद्धोंको भावप्राण हैं अतः वे जीव हैं यह सिद्ध हो चुका. अथवा जिन्होंने संसारवस्थामें द्रव्यप्राण धारण किये थे वेही अब सिद्ध बने हैं ऐसे प्रत्यभिज्ञानसे उनमें एकत्वसिद्धि होती है इस लिये एकत्वके आश्रयसे हम सिद्धोंको भी जीव कह सकते हैं. अथवा जीव शब्दकी चेतनावान प्राणीमें रूढी है. अर्थात् जीव यह शब्द रूढि शब्द है. रूढ शब्दमें क्रिया व्युत्पत्तीके लिये ही होती है. इस लिये वह क्रिया वहां नहीं भी हो तो भी उपलक्षणसे ग्रहण किये हुए सामान्यके आश्रयसे उस शब्दकी प्रवृत्ति होती है. जैसे 'गच्छतीति गौः' इस निरुक्तिसे बनाया हुआ भी गोशब्द गमन क्रिया न होनेपर भी अर्थात् वैठी हुई वा खड़ी हुई गौमें भी प्रवृत्त होता है क्योंकि अनित्यगमनक्रियासे युक्त गोत्वका गौमें सद्भाव है और गोशब्द उपलक्षणसे गोत्वका वाचक होता है. उसी तरह प्रकृत विषयमें प्राण धारणासे उपलक्षित चैतन्यके आश्रयसे जीव शब्दकी सिद्धिमें प्रवृत्ति होती है. संसारी और श्रुत ऐसे जीवसमूहोंपर जिनाज्ञासे श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा इसका अभिप्राय है. जीवके विषयमें यदि श्रद्धा नहीं हो तो श्रुतिके साधनभूत रत्नत्रयकी प्राप्ति करना और संसारवर्धक मिथ्यात्वादि कारणोंका त्याग करना यह सब प्रयासमात्रही होगा.

यद्यपि धर्मादि द्रव्योंका ज्ञान न होनेसे ज्ञानके साथ होनेवाली श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तो भी वह सम्यग्दृष्टिही है, मिथ्यादृष्टि नहीं है. क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान जो कि अज्ञानको विषय करता है वह यहां नहीं है. मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान वह अरुचि रूप है अर्थात्

यह वस्तुस्वरूप इस तरहसे है ऐसा जो आगममें कहा गया है, उस विषयमें अरुचि होना यह मिथ्यादर्शनरूप अश्रद्धान है, और प्रकृत विषयमें ऐसी अश्रद्धा नहीं है, यहां जीवादिकका ज्ञान नहीं है परंतु जिनेश्वरके प्रतिपादित जीवादि तत्त्व सन्ध्ये हैं ऐसी मनमें प्रीति-रुचि उत्पन्न होती है यह विशेषता समझनी चाहिये,

श्रद्धातत्त्व्य प्रकारांतरेणापि निर्दिष्टं उत्तरगाथा—पूर्वं सर्वद्रव्यविषयश्रद्धानमुक्तं, पश्चादतिशयप्रतिपादनार्थं जीवद्रव्यविषया श्रद्धा निरूपिता अनंतरगाथया । इह तु आस्रवादयोऽपि श्रद्धातव्या इति सूच्यते—

आस्रवसंस्वरणिज्जरवंधो मुक्त्वो यं पुण्णपावं च ॥

तह एव जिणाणाए सद्धहिदव्वा अपरिसेसा ॥ ३८ ॥

आस्रवं संस्वरं बंधं निर्जरां मोक्षमंजसा ॥

पुण्यं पापं च सद्धट्टिः अहधाति जिनाज्ञया ॥ ४१ ॥

विजयोदया—अस्रवसंस्वरणिज्जर । आस्रवत्यनेनेत्यास्रव । आस्रवत्यागच्छति जायते कर्मत्वपर्यायं 'पुद्गलानां येन कारणभूतेनात्मपरिणामेन स परिणाम आस्रव' । ननु कर्मपुद्गलानां नान्यतः आगमनमस्ति यमाकाशप्रदेशमाश्रित आत्मा तत्रैवावस्थिता पुद्गला अनतप्रदेशिनः कर्मपर्यायं भजन्ते । 'पर्यक्लिप्तोवगाढ' मिति चचनात् तत् किमुच्यते आगच्छतीति ? न दोष । आगच्छन्ति द्वौकन्ते क्षानावरणादिपर्यायमित्येवं ग्रहीतव्यं । न देशान्तरपरिस्पंद इहागमन विवक्षित । तेन तत्प्रदोषनिन्द्यमात्सर्यान्तरायासादोषघातादयः जीवपरिणामाः कर्मत्वपरिणतेः पुद्गलानां साधकतमत्या विवक्षिताः आस्रवशब्देनोच्यन्ते । अथवा आस्रवण कर्मेतापरिणतिः पुद्गलाना आस्रव इत्युच्यते । सन्निवृत्ते संरुध्यते मिथ्या देशनादि परिणामो येन परिणामातेण सम्यग्दर्शनादिना, गुण्यदिना वा स संस्वर' । निर्जीयते निरस्यते यया, निर्जेरणं वा निर्जरा । आत्मप्रदेशस्थं कर्म निरस्यते यया परिणत्या सा निर्जरा । निर्जेरणं पृथग्भवत्वं विच्छेपणं वा कर्मणा निर्जरा । मोक्ष्यतेऽस्यते येन मोक्षणमात्रं वा मोक्ष । निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिकक्षानदर्शनयथाव्यावृत्तचारित्र्यसंश्रितेन अस्यते स मोक्ष' । विच्छेपो वा समस्तानां कर्मणा । वध्यते अस्त्यतेऽप्रीक्रियन्ते कर्मणद्रव्याणि येन परिणामेन आत्मन स वंध । अथवा वध्यते परवशतामापाद्यते आत्मा येन स्थितिपरिणतेन कर्मणा तत्कर्म बंध' । पुण्यं नाम अभिमतस्य आपकं । पाप नाम अनभिमतस्य आपकं । इह वंधशब्देन जीवपरिणाम एव गृहीतः । न कर्म एव, पृथक् पुण्यपापग्रहणात् । ननु केन परिणामेन जीवपुद्गलयोरैवातर्भाव आस्रवादीना जीवपुद्गलत्वश्रद्धानस्य पूर्वमुपन्यस्तत्वात् किमर्थं सिद्धं सूत्रमिति नैप दोष' । विनेयाशयवैचित्र्यादेशनाभेद आगमवाक्येषु । तत श्रद्धा तत्र सर्वत्र कार्येति चोदितं भवति । अश्रद्धानं न मनागपि कार्यम् ।

आस्रवादितत्त्वं जीवपुद्गलोऽप्यर्थविशेषत्वात्तच्छ्रेयस्त्वनिरूपणाया श्रेयतया निरूपितमपि विनेयाशयवै-  
चित्र्यवशात् पृथक् श्रेयतया निर्दिष्टमाह—

भूलाश्रयः—आस्रवः—आस्रवन्त्यागच्छन्ति ज्ञानावरणादिकर्मभावं तद्योग्या. अन्तर्प्रदेशिनः समानदेशस्थाः पुद्गला येन  
सिध्यतादृशीनादिना तत्प्रदोषनिहवादिना वा विघ्नकारणं तेन जीवपरिणामेन स आस्रवः । अथवा आस्रवणमालव ।  
पुद्गलानां कर्मत्वपरिणतिः । तथा चोक्तं—

अत्ता कुणदि सदावं तत्थगदा पुग्गला सहावेहिं ॥

गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥

संवरः—संवरिते निरुध्यते आस्रवो येन सम्यग्दर्शनादिना, गुट्यादिना वा जीवपरिणामेन स संवरः । संवरणं  
संवरः । ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यानां पुद्गलानां तद्भावः—परिणतिनिवारणं । गिज्जरः—निर्जीर्यते आत्मप्रदेशादेकदेशेन  
पृथक् क्रियते कर्म यथा जीवपरिणत्या सा । अथवा निर्जरणं निर्जरा । कर्मणामेकदेशेन संक्षयः । वंधो—बन्धतेऽस्त्वन्तरी-  
क्रियते कर्मद्रव्याणि येन स्थितिपरिणामेन आत्मनः स बंधः । अथवा बध्यते परवशतामापाद्यते आत्मा येन स्थिति  
परिणामेन कर्मणा तत्कर्म बंधः । यदि वा बंधनं बंधः, जीर्वकमणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशः । मोक्खो मोक्षयतेऽस्यते  
आत्मनः पृथक् क्रियते समस्तानि कर्माणि येन संपूर्णरत्नत्रयलक्षणेनात्मपरिणामेन स मोक्षः । अथवा मोक्षयते  
विरुध्यते जीवो येन नीरसीभूतेन कर्मणा । तच्छादितफलदानसाप्त्यर्थं कर्म मोक्षः । यदि वा मोक्षण मोक्षः जीव  
कर्मणोरात्यंतिको विरूपः । पुण्णपार्वं—पुण्यं सद्देवशुभायुर्नामिगोत्राणि अतोऽन्यत्कर्म पापं । पृथगनयोर्भेदहणादिह बंध  
शब्देन जीवपरिणाम एव गृहीतो लक्ष्यते । न कर्म नापि बंधनक्रिया । अपरिसेसा सप्तापि ।

श्रद्धाके विषयका विवेचन प्रकारांतरसे आचार्य करते हैं—प्रथमतः सर्व द्रव्य श्रद्धानके विषय कहे हैं.  
अनंतर महत्त्व दिखानेके लिये जीव द्रव्यकी श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा कहा. अथ प्रस्तुत गाथाओं आस्रवादि  
तत्त्वोंपर भी श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा आचार्य कहते हैं—

हिंदी अर्थ—आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, पुण्य और पाप ऐसे वाक्योंके पदार्थोंपर भी जिनभगवानकी  
आज्ञासे श्रद्धान करना चाहिये.

विशेषार्थ—आत्माके जिस परिणामसे पुद्गलद्रव्य कर्मरूप बनकर आता है उस परिणामको आस्रव कहते हैं, अर्थात् आत्मपरिणाम पुद्गलमें कर्मवस्था उत्पन्न होनेमें निमित्त हुआ अतः आत्मपरिणामको आस्रव-भावस्रव कहते हैं, और पुद्गलकी कर्मरूप परिणतिको द्रव्यास्रव कहते हैं।

शंका - कर्मपुद्गलोंका अन्य स्थानसे आगमन नहीं होता है, जिस आकाशप्रदेशमें आत्मा है उसी आकाशप्रदेशमें अनंतप्रदेशी पुद्गल द्रव्य भी है, और वह कर्मस्वरूप बन जाता है, 'एषस्वित्तोवगाढ' ऐसा कर्मपुद्गलके विषयमें आचार्य वचन कहते हैं अर्थात् कर्म और आत्मा एक प्रदेशवगाही है ऐसा शास्त्र वचन है इस लिये आप पुद्गलद्रव्य आत्मामें आकर कर्मरूपता धारण करता है ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर - आपकी शंका ठीक है यहां पुद्गलद्रव्य आता है इसका अभिप्राय ऐसा समझना चाहिये 'आगच्छति दौकन्ते ज्ञानावरणादिपर्यायमित्येवं ग्रहीतव्यम्' अर्थात् जीवमें पुद्गल आते हैं—ज्ञानावरणादि पर्यायको प्राप्त होते हैं, ऐसा अभिप्राय यहां समझना चाहिये, देशान्तरसे आकर पुद्गल कर्मवस्था धारण करते हैं ऐसा कहनेका हमारा आशय नहीं है।

अतः प्रदोष, निन्दव मात्सर्यादिक जीवके परिणाम पुद्गलकीकर्मरूप परिणति होनेमें साधकतम हैं, अर्थात् जीवके मात्सर्यादिक परिणाम होनेसेही पुद्गल कर्मरूप होता है अन्यथा होताही नहीं, जीवपरिणाम करण रूप है, करणरूपपरिणामकी मुख्यता जब मानी जाती है तब उस परिणामकोही आस्रव कहते हैं, अथवा 'आस्रवणं कर्मतापरिणतिः पुद्गलानां आस्रवशब्देनोच्यते' पुद्गलोंकी कर्मरूप परिणतिमें भी आस्रव शब्दका व्यवहार किया जाता है, इसको द्रव्यास्रव कहना चाहिये।

संवर - जिस सम्यग्दर्शनादि परिणामोंसे अथवा गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिपह जय इत्यादि परिणामोंसे मिथ्यादर्शनादि परिणाम रोके जाते हैं वे रोकनेवाले परिणाम संवर शब्दसे कहे जाते हैं, अर्थात् सम्यग्दर्शनादि परिणाम वा गुप्त्यादिपरिणामोंको आचार्य संवर कहते हैं, उसको ही भाव संवर कहना चाहिये, निर्जरा—आत्माके जिन परिणामोंसे आत्मामें कर्म झड़ जाता है उसको निर्जरा कहो, अर्थात् आत्मामें प्रदेशोंमें जो कर्मवद्ध हो चुका है वह जिस परिणामोंके द्वारा वहांसे अलग किया जाता है ऐसे परिणामोंका नाम निर्जरा है, अथवा कर्मका आत्मामें अलग हो जाना वह भी निर्जरा है।

मोहोदयाकुलस्तत्त्वं तथ्यमुक्तं न रोचते ॥

१

अंतुरक्तमनुक्तं वा विपरीतं तु रोचते ॥ ४३ ॥

विजयोदया—मोहोदयेणेति । मोहोदयेण न सद्वद्दि सो मिच्छादिहीति । मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा दर्शनमोहनीयाख्य कर्म मयेन तुल्यवीर्यम् । यथा मद्यमासेव्यमानं अपाटव प्रज्ञाया वैपरीत्यं च सपादयति ।

मिथ्यादृष्टेः किं लक्षणमित्याह—

मूलाराः—मोहोदयेण—मद्यमिव प्रज्ञा मोहयति, अपाटवं वैपरीत्यं वा यो नयति, मोहते येन वा स मोहो मिथ्यात्वकर्म तस्योदयः सदकारिसाम्प्रित्यादप्रतिवद्धा त्वकार्ये प्रवृत्तिः । पवर्णं वस्तुयाथात्म्य । असद्भावं अतत्त्वं । अत्र साध्याहारत्वात्सूत्राणामित्य पदघटना । यो जीवो मोहोदयेन कारणेन सम्यग्गुरुपदिष्टं न श्रद्धते सद्भाव पुनः उपदिष्टमनुपदिष्टं वा श्रद्धाति स मिथ्यादृष्टिरित्यर्थः । तथा च मूलं सूक्ष्ममन्वालययते—

मिच्छतं वेदन्तो जीवो विवरीयदंसणो होदि ॥

ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥

‘मिच्छादिद्वी मुण्येव्वा’ अर्थात् अल्पभी अश्रद्धा करनेवाला मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये ऐसा आपने कहा है परंतु उसका स्वरूप हमको मालूम नहीं है ऐसी आशंका होनेपर आचार्य मिथ्यादृष्टिका स्वरूपनिरूपण करनेके लिये गाथा कहते हैं—

हिंदी अर्थ—दर्शन मोहनीयकर्मका उदय होनेसे यह जीव कहे हुए जीवादि पदार्थोंके सबे स्वरूपपर श्रद्धान करता नहीं है परंतु जिसका स्वरूप कहा है अथवा कहा नहीं ऐसे असत्य पदार्थोंके ऊपर वह श्रद्धान करता है, जैसे मदिराका पान करनेसे मनुष्यके बुद्धीमें मंदता आती है और वह पदार्थका स्वरूप उलटा जान लेता है वैसे यह दर्शनमोहनीयकर्म भी मदिराके समान शक्तिको धारण करता है, यह कर्म आत्माको मोहयुक्त करता है इसलिये असत्य पदार्थोंको वह सत्य समझकर उसमें श्रद्धा करता है, अथवा पदार्थका स्वरूप जानता नहीं है.

१ सपुस्तके—मोहोदयेणेति—साध्याहारत्वात्सूत्राणा अध्याहारेणैवं पदघटना । जो जीवो इति ।

नैकमप्यक्षरं येन रोच्यते तत्त्वदर्शितम् ॥

स शेषं रोचमानोऽपि मिथ्यादृष्टिरसंशयम् ॥ ४२ ॥

विजयोदया—पदमक्खरं इति । पदशब्देन पदशब्दस्य सद्वकारी पदस्यार्थ उच्यते । अक्खर च इति स्वल्पशब्दो-  
पलक्षणं स्वल्पमप्यर्थं शब्दश्रुतं वा । जो य' । ण रोचेदि न रोचते । सुत्तणिदिठं पूर्वोक्तप्रमाणनिर्दिष्टम् । सेसं इतरश्रुतार्थं  
श्रुतांशं । रोचंतोऽपि । मिच्छादिद्वी मिथ्यादृष्टिरिति । मुणेदब्बो ज्ञातव्यः । महति कुडे स्थितं वद्वपि पयो यथा विपकणि-  
का द्रूपयति । एवमश्रद्धानकणिका मलिनयत्यतममिति भावः ।

बहुतरं श्रद्दघतोऽल्पस्याश्रद्धाने किं मे मिथ्यादृष्टित्व स्यादित्याशा न कार्यो, बृहत्कुण्डसंभृतक्षीरस्य विप  
कणिकाप्रक्षेपेणेव तत्त्वाश्रद्धानकणिकाप्यात्मनो दूष्यत्वादिति शिक्षा प्रयच्छन्नाह—  
मूलाराः—पदं, पदस्यार्थं साहचर्यात् । अक्खरं स्वल्पमप्यर्थं शब्दश्रुतं वा ।

हम बहुताँपर श्रद्दा करते हैं और थोड़ेकी अश्रद्दा करते हैं तो हम मिथ्यादृष्टि कैसे होंगे ऐसी शंका नहीं  
करना चाहिये. इसका खुलासा आचार्य करते हैं—

हिंदी अर्थ—सुत्रमें कहा हुआ एक पदका अर्थ और एक अक्षरका भी अर्थ जो प्रमाण भूत मान कर  
श्रद्दा नहीं करता है वह बाकीके श्रुतार्थको या श्रुतांशको प्रमाण मानता हुआ भी मिथ्यादृष्टिही है  
ऐसा समझना चाहिये. बड़े पात्रमें रखे हुए बहुत दूधको भी छोटीसी विपकणिका विगाडती है. इसी तरह  
अश्रद्दाका छोटासा अंश भी आत्माको मलिन करता है ऐसा समझना चाहिये.

मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यमित्युक्तं स एव न ज्ञायते एवंस्वरूप इत्यांशकायां मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्था  
माथा—

मोहोदयेण जीवो उवइठं पवयणं ण सदहदि ॥  
सदहदि असब्भावं उवइठं अणुवइठं वा ॥ ४० ॥

मोहोदयोऽकुलस्तत्त्वं तथ्यमुक्तं न रोचते ॥

१ जंतुस्तुक्तं वा विपरीतं तु रोचते ॥ ४३ ॥

विजयोदया—मोहोदयेणेति । मोहोदयेण न सदृहदि सो मिच्छादिद्वीति । मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा मोहो दर्शनमोहनीयाख्य कर्म मयेन तुल्यवीर्यम् । यथा मधमासेव्यमानं अपाटव प्रज्ञाया वैपरीत्य च सपादयति ।

मिथ्यादृष्टेः किं लक्षणमित्याह—

मूलारा—मोहोदयेण—मयामिव प्रज्ञा मोहयति, अपाटवं वैपरीत्यं वा यो नयति, मोहते येन वा स मोहो मिथ्यात्वकर्म तस्योदयः सहकारिसान्निध्यादप्रतिबद्धा स्वकार्ये प्रवृत्तिः । पवणं वस्तुयाथात्म्य । असद्भावं अतत्त्वं । अत्र साध्याहारत्वात्सूत्राणामित्य पदघटना । यो जीवो मोहोदयेन कारणेन सन्त्यगुरूपदिष्टं न श्रद्धते सद्भाव पुन उपदिष्टमनुपदिष्टं वा श्रद्धयति स मिथ्यादृष्टिरेष्टव्यः । तथा च मूले सूक्तमन्याख्यायते—

मिच्छतं वेदन्तो जीवो विवरीयंदसणो होदि ॥

ण य धम्मं रोचेदि हु महुंरं खु रसं जहा जरिदो ॥

‘मिच्छादिद्वी मुण्येव्वा’ अर्थात् अल्पभी अश्रद्धा करनेवाला मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये ऐसा आपने कहा है परंतु उसका स्वरूप हमको मात्थम नहीं है ऐसी आशंका होनेपर आचार्य मिथ्यादृष्टिका स्वरूपनिरूपण करनेके लिये गाथा कहते हैं—

हिंदी अर्थ—दर्शन मोहनीयकर्मका उदय होनेसे यह जीव कहे हुए जीवादि पदार्थोंके सबे स्वरूपपर श्रद्धान करता नहीं है परंतु जिसका स्वरूप कहा है अथवा कहा नहीं ऐसे असत्य पदार्थोंके ऊपर वह श्रद्धान करता है, जैसे मदिराका पान करनेसे मनुष्यके बुद्धीमें मंदता आती है और वह पदार्थका स्वरूप उलटा जान लेता है वैसे यह दर्शनमोहनीयकर्म भी मदिराके समान शक्तिको धारण करता है, यह कर्म आत्माको मोहयुक्त करता है, इसलिये असत्य पदार्थोंको वह सत्य समझकर उसमें श्रद्धा करता है, अथवा पदार्थका स्वरूप जानता नहीं है.

१ स्वपुस्तके—मोहोदयेणेति—साध्याहारत्वात्सूत्राणा अध्याहारणैवं पदघटना । जो जीवो इति ।



मिच्छन्तं वेदन्तो जीवो विवरीयदंसणो होदि ॥

ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ ४१ ॥

मिथ्यात्वं वेदयन्नङ्गी न तत्त्वे कुरुते रुचिम् ॥

कस्मै पित्तज्वरात्ताय रोचते मधुरो रसः ? ॥ ४४ ॥

विजयोदया—एवं मिथ्यात्वस्य कर्मत्वकल्पितस्य उदयः सन्निहितसहकारिकारणस्य स्वकार्यजनने प्रति-  
बद्धवृत्तिस्तेनोदयेन कारणेन निरूपितं वस्तुयाथात्म्यं न श्रद्धात् अतत्त्व तु कथितं अकथितं वा श्रद्धात् । वस्तु-  
याथात्म्याश्रद्धाने को दोषो येन कारणेन निरूपित वस्तुयाथात्म्यं न श्रद्धात् । अतत्त्वं तु कथितं अकथितं वा श्रद्धात् ।

हिंदी अर्थ—मिथ्यात्व कर्मका अनुभव लेनेवाला यह जीव विपरीत श्रद्धावाला बन जाता है, उसको जैन-  
धर्मका स्वरूप अच्छा मालूम नहीं होता है, जैसे ज्वरपीडित मनुष्यको मधुर भी खाँडका रस कटु ज्ञात होता है,  
जब सहकारिकारणोंकी मदद मिथ्यात्व कर्मकी मिलती है तब वह अपना कार्य करनेमें कटिबद्ध होता है, अ-  
र्थात् वस्तुका यथार्थ स्वरूप वतानेपर भी जीव इस कर्मके उदयसे उसपर श्रद्धान नहीं करता है, और अतत्त्वके  
उपर उसका स्वरूप कबो अथवा न कबो श्रद्धा हो जाती है, वस्तुके यथार्थ स्वरूप पर अश्रद्धा होनेसे अतत्त्वमें  
श्रद्धा हो जाती है यह दोष उत्पन्न होता है,

वस्तुयाथात्म्याश्रद्धाने को दोषो येन तत्प्रतिपक्षश्रद्धानभावनाया तदपास्यते इत्याशंकायां अश्रद्धानकृतदोषमा-  
हृतस्यव्यापनार्था गायथा—

सुविहियमिमं पवयणं असद्वहन्तेनिमेण जीवेण ॥

बालमरणाणि तीदे मदाणि काले अणंताणि ॥ ४२ ॥

अनेनाश्रद्धानेन जिनवाक्यमनेकशः ॥

बालबालमृतिः प्राप्ताः कालेऽन्तीते ( यतोऽङ्गिना ) ॥ ४५ ॥

विजयोदया—सुविहिदमिति । सुष्ठु विहित कृत पूर्वोपरविरोधदोषपरहितवस्तुयाथात्म्यग्राहिविशानकारणं ।  
इमं इदं । पवयण प्रवचनं । असद्वहतेण अश्रद्धानेन । इमेण अनेन । जीवेण जीवेन । एवमत्र पदसंबन्धः । बालमरणाणि

अंगंताणि भद्रानि तीदे काले इति । बालमरणान्यन्तानि अतीतकाले श्रुतानि । ननु मिथ्याहृष्टैर्मरण बालबालमरणं तत्किमुच्यते बालमरणानीति । बालत्व नाम सामान्यं बालबालेऽपि चित्रते इति बालमरणानीत्युक्तं ।

तत्त्वाश्रद्धाने को दोषो येन तत्सम्यक्त्वभावनाया निरस्यते इत्याह—

मूलरा-सुविहिदं—दृष्ट्याविरुद्धं पूर्वापरविरोधरहितं वा । केचित्तु सुविहिद इति पठति । हे सुचरित्र इति व्याख्यानयति च । इमं इदं गुरुपर्वक्रमायातं । इमिणा अनेन स्वसंवेदनसिद्धेन । बालमरणानि बालबालमरणानि बालत्वसामान्यस्य बालबालेऽपि विद्यमानत्वात् । तीदे अतीते । सदाणि श्रुतानि प्राप्तानि धातूनामनेकार्थत्वात् ।

वस्तुके यथार्थं स्वरूपं श्रद्धा न करनेसे कोनसा दोष उत्पन्न होता है. कि जिसको यथार्थ श्रद्धान की भावनाके द्वारा दूर करना पडता है. ? ऐसी शंका होनेपर अश्रद्धानसे उत्पन्न हुए दोषका माहात्म्य वर्णन करनेके लिये उत्तर गाथा कहते हैं—

हिंदी अर्थ—यह जिनागम पूर्वापरविरोधादिदोषरहित है, और वस्तुके यथार्थस्वरूपका ग्रहण करनेवाले ज्ञानको उत्पन्न करता है, परंतु ऐसे आगमके ऊपर अश्रद्धान करनेसे इस जीवने अतीत कालमें-भूतकालमें अनंत बालबालमरण किये हैं. शंका-मिथ्यादृष्टीके मरणको बालबालमरण कहते हैं और आप उसके मरणको बालमरण कहते हैं.

उत्तर—बालत्व नामका सामान्य धर्म बालबालमरणमें भी विद्यमान है इसलिये उसको बालमरण कहते हैं.

कीदृशी तर्हि मति कार्यो ससारभीरुणा—

गिगंगं पञ्चयणं इणमेव अणुत्तरं सुपरिसुद्धं ॥

इणमेव मोक्खमगोत्ति मदी कायव्विया तम्हा ॥ ४३ ॥

इदमेव वचो जैनमनुत्तममकल्मषम् ॥

निर्यथं मोक्षवर्त्तेति विधेया धिषणा ततः ॥ ४६ ॥

विजयोदया—गिगंगं पञ्चयणं । ग्रन्थेति स्वयस्ति दीर्घाकुर्वन्ति संसारमिति श्रया । मिथ्यादर्शनं, मिथ्या-

ज्ञान, असंयमः, कपाया, अशुभयोगत्रयं चेत्यमी परिणामाः । मिथ्यादर्शनाच्चिक्कान्तं किं सम्यग्दर्शनं । मिथ्याज्ञानाच्चिक्कान्तं सम्यग्ज्ञानम् । असंयमात्कपायभ्योऽशुभयोगत्रयाच्च निक्कान्तं सुचारित्रं तेन तत्त्वयमिह निर्ग्रन्थशब्देन भण्यते । पञ्चगुणं प्रवचनस्येदं अभिधेयं । इणमेव इदमेव अनुत्तरं न विद्यते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादिति अनुत्तरम् । सुपरिशुद्धं सुष्ठु परिशुद्धं । इणमेव इदमेव । मोक्षस्वप्नगोचि कर्मणा निरवशेषपापयस्योपाय इति । मदी बुद्धिः । कायविव्या कर्तव्या । तन्हा तस्मात् । यस्मादेवंभूतायामसत्या मत्या दुःखमरणप्रसिरतीतकाल इव भविष्यत्यपि काले भविष्यतीति ।

भगवन्व्यद्येवं तर्हि संसारभीरुणानेन कीदृशी मति कर्तव्येत्यत्राह —

मूलारा—णिगंथमित्यादि—ग्रथंति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रंथा मिथ्यादर्शनादयः । तत्र मिथ्यादर्शना चिक्कान्तं सम्यग्दर्शनं, मिथ्याज्ञानात्सम्यग्ज्ञानं, असंयमकपायाशुभयोगेभ्यश्च सम्यक्चारित्रं इति । रत्नत्रयमत्र निर्ग्रन्थ शब्देनोच्यते ॥ पावयण—भावचन प्रवचनस्य विनागमस्य अभिधेयं केवलप्रज्ञानमित्यर्थः । अन्ये तु निःसंग प्रवचनमिति प्राधान्येन व्याचक्षते । इणमेव सुपरिशुद्धं इदमेव सुष्ठु समन्ताच्चिदोपं सत् । अनुत्तरं लोकोत्तमं । ' केवलपण्णत्तो धम्मो लोकोत्तमो, इति वचनात् । मदी मतिरभ्युपगमः । कादविव्या कर्तव्या । तन्हा तस्मात् । यत् एवंविधां मतिं कुर्वता अनेन जीवेन दुःखैकमये भवणीवे अनादिकालं भ्रान्तमिति भावः ।

संसारसे इरनेवाले मनुष्यको अपने मनमें कैसे विचार करने चाहिये इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी अर्थ—जो संसारको गूँथते हैं अर्थात् जो संसारकी रचना करते हैं, जो संसारको दीर्घकाल तक रहनेवाला करते हैं उनको ग्रंथ कहना चाहिये। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कपाय, अशुभ योगत्रय अर्थात् अशुभ मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन परिणामोंको आचार्य ग्रंथ ऐसा नाम देते हैं। मिथ्याश्रद्धा जब हट जाती है तब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। मिथ्याज्ञान नष्ट हो जानेसे सम्यग्ज्ञान पैदा होता है, असंयम, कपाय और अशुभ तीन योग इनसे रहित जो चारित्र उसको सम्यक्चारित्र कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको अर्थात् रत्नत्रयको आचार्य निर्ग्रन्थ यह संज्ञा देते हैं। यह निर्ग्रन्थ ही अर्थात् रत्नत्रय ही जगत्में सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है। इससे भी उत्कृष्ट पदार्थ बुरासा कोई भी नहीं है। यह पदार्थ पूर्ण निर्दोष है। यही मोक्ष है। अर्थात् इससे ही संपूर्ण कर्मोंका नाश होगा। ऐसा मनमें सदा विचार करना चाहिये, इस तरहका विचार

यदि न हो तो जेमे भूतकालमें जन्ममरणके दुःख इस जीवको भोगने पड़े थे ऐसे ही दुःख भविष्यत्कालमें भी अवश्य भोगने पड़ेंगे।

तच्च सम्यक्त्वं निरतिचारं गुणोज्ज्वलितं भावनीयं इत्येतद्वाच्ये उत्तरप्रबन्धेन तत्रातिचारनिवेदनार्थोत्तरगाथा—

सम्मत्तादीचारा संका कंखा तहेव विदिगिछा ॥

परदिदृठीण पसंसा अणायदणसेवणा चेव ॥ ४४ ॥

शंकाकांक्षाचिक्त्तिसान्यदृष्टिशंसनसंस्तवाः ॥

सदाचारैरतीचाराः सम्यक्त्वस्य निवेदिताः ॥ ४७ ॥

विजयोदया—सम्मत्तादीचारा अद्धानस्य दोषाः । संका शंका, संशयप्रत्ययः । किं स्विदित्यनवधारणात्मकः । स च निश्चयप्रत्ययाश्रयं दर्शनं मलिनयति । ननु सति सम्यक्त्वे तदतिचारो युज्यते । संशयश्च मिथ्यात्वमावहति । तथाहि मिथ्यात्वभेदेषु संशयोऽपि गणितः ।

‘संसद्दमभिगहिदं अणभिगहिदं च त तिविधं’ इति । सत्यपि संशये सम्यग्दर्शनमस्त्येवेति अतिचारता युक्ता । कथं ? श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषाभावात्, उपदेष्टुरभावात्, तस्य वा यत्ननिपुणता नास्ति, तन्निर्णयकारिश्रुतवचनानुपलब्धे, अभावाद्वा, काललब्धेरभावाद्वा यदि नाम निर्णयो नोपजायते । तथापि तु इदं यथा सर्वविदा उपलब्धं तथैवेति अद्भ्येद्वमिति भावयत कथं सम्यक्त्वहानिः ? एवंभूतअद्भ्यारहितस्य को वेति किमत्र तत्त्वमिति अदृष्टेषु कपिलादिषु सर्वज्ञतैव दुरवधारा, अयमेव सर्वविशेतर इति आगमशरणाया को वस्तुयाथात्थानुसारी को वा नेति संशय एवेति यत्तत्त्वाश्रद्धानं संशयप्रत्ययोपनीतत्वात्तत्संशयमिथ्यात्वमित्युच्यते । अथद्धानरूपतैव लक्षणं मिथ्यात्वस्य यथा वक्ष्यति ‘तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तन्नाण होवि अत्थान’ इति । अन्यथा मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च भेदो न भवेद्, भेदश्च स्फुटो वाक्यान्तरे ‘मिच्छाणमिच्छादंसण मिच्छाचारित्तादो पडिविरदोमीति’ । किं च छद्मस्थाना रज्जूरगस्थाणुरुपादिषु किमियं रज्जूरगाः, स्थाणु पुरुषो वा किमित्यनेकः संशयप्रत्ययो जायते इति ते सम्यग्दृष्ट्यस्तु ।

काक्षा गाढ्यं आसक्तिः, सा च दर्शनस्य मलं । यथेवं आहारे काक्षा, स्त्रीवस्त्रगंधमाल्यालंकारादिषु वाऽस्यतसम्यग्दृष्टेर्विरताविरतस्य वा भवति । यथा प्रमत्तसंयतस्य परिपक्वाकुलस्य भक्ष्यपानादिषु काक्षा संभवतीति सातिचारदर्शनता स्यात् । तथा भव्यानां सुखकांक्षा अस्त्येवैत्यत्रोच्यते न काक्षामात्रमतीचारः किं तु दर्शनाद्भूताद्भूतान्द्वेषपूजायास्तपसश्च जातेन पुण्येन ममेदं कुलं, रूपं, विषय, स्त्री-पुत्रादिकं, शत्रुमर्दनं, स्त्रीत्वं, पुंस्त्वं वा सातिशय स्यादिति कांक्षा इह गृहीता एषा अतिचारो दर्शनस्य ।

विचिकित्सा जुगुप्सा मिथ्यात्वासयमादिषु जुगुप्सायाः प्रवृत्तिरिति चारः स्यादिति चेत् इहापि नियतविषया जुगुप्सेति मतातिचारत्वेन । रत्नत्रयणामन्यतमे तद्वति वा कोपादिनिमित्ता जुगुप्सा इह गृहीता । ततस्तस्य दर्शनं, ज्ञानं, चरणं वाऽशोभनमिति । यस्य हि इदं भद्रं इति श्रद्धानं स तस्य जुगुप्सां करोति । ततो रत्नत्रयमाह्वान्या-रुचिर्युज्यतेऽतिचारः ।

परदिष्टीणं पसंसा परशब्दोऽनेकार्थवाची । नापरो ग्राम पाटलिपुत्रादित्यादौ । तथा क्वचिदन्यार्थे, परे आचार्या अन्ये इत्यर्थः । तथा इष्टार्थे, पर धाम गत इष्टमिति यावत् । इह तु अन्यवाची । द्वष्टि श्रद्धा रचि' परा अन्या द्वष्टि श्रद्धां येपा ते परदृष्ट्यः । तत्त्वदृष्ट्येपक्षाया अतस्त्वदृष्टिरन्या तेपा प्रशसा स्तुतिः ।

अणायदणसेवणा चेच-अनायतनं पद्विंधं मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्ट्यः, मिथ्याज्ञानं, तद्वन्तः, मिथ्याचारित्र्य मिथ्याचारित्र्यवन्त इति तत्र मिथ्यात्वमश्रद्धानं तत्सेवाया मिथ्यादृष्टिरेवासौ नातिचारता । मिथ्यादृष्टीना तु सेवा बहु मननं तेपा । मिथ्याज्ञानसेवा नाम निरेषक्षयदर्शनोपदेश इदमेव तत्त्वमिति श्रद्धानमुत्पादयामि श्रोतृणामिति क्रियमाणो मिथ्याज्ञानिभि सह सवासः । तत्र अतुरागो वा तदनुवृत्तिर्वा तत्सेवा । मिथ्याचारित्र्यं नाम मिथ्या-ज्ञानिनामाचरणं तत्रानुवृत्तिर्द्वयलभाद्यपेक्षया द्रव्यालभोद्येतु वा सागत्यादिक एतेपा सम्यक्स्वातिचाराणा वज्जं ।

एवं उत्पन्नं सम्यक्त्वमतिचारपरिहारेण भाव्यमानं महात्म्यं लभते इति सम्यक्स्वातिचारान्निर्दिशति —

मूलारा- शंका — संशयप्रत्ययः किं त्विदित्यन्वधारणात्मकः । स चेह ज्ञानावरणकर्मोदयमात्रप्रवृत्तौ विवक्षितो, न मिथ्यात्वकर्मोदयनिमित्तस्तस्यैव निश्चयप्रत्ययाश्रयं दर्शनं प्रति महत्त्वोपपत्तेर्नतरस्य । तस्य सदर्शनोपमर्दानात्मक मिथ्यादर्शनविकल्पात्मकत्वेनाग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । तथाहि-इदं वस्तुजातं सर्वज्ञानं यथादृष्टं तथैवेति प्रतिपाद्यमानस्यैव यदा स्वस्य श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषाभावात्, उपदेशकविरहात्तस्य वा सतोऽपि वचनचातुर्यवैधुर्योन्नियण्यकारि श्रुतवचनानुपलब्धेर्वा, काललब्धेरभावाद्वा किमिदमीदृशं वा अन्यदन्यार्थं वा तत्त्वमिति सशयः स्यात्तदा दर्शनस्यातिचारः शक्येति व्यपदिश्यते । यदा पुनरदृष्टेषु सर्वज्ञतैव दुरवधारा अयमेव सर्वज्ञो नेतर इति आगमशरणतायामपि आगमेपु को वस्तुयाथात्म्यानुसारी को वा नेति मिथ्यात्वकर्मपाकपातं ज्यात्सशयमभिनिवेशमानस्य तत्त्वाश्रद्धानमुदेति । तदा संशयप्रलयोपनीतत्वात्तत्संशयमिथ्यात्वमित्युच्यते । न च संशयोऽस्तीत्येतवैतव दर्शनस्यातीचारो वाच्यः ? किं तर्हि प्रवचनं गोचराया चलन्त्या प्रतीतौ सत्यामन्यथा छद्वास्थाना समदृष्टीना रञ्जूरगास्थाणुरुपादिषु किमयं रञ्जुरत सर्पः, स्थाणु-पुरुषो वा किमित्येनैक संशयप्रत्ययो जायते । इति निःशंकत्वं सुदुष्करं स्यात् । तथा अत्राणभयमपि शंकां केचिदाहुः ।

तथा चोक्तम्—अहमेको न मे कश्चिदस्ति त्राता जगत्रये ॥

इति व्याधिप्रजोऽन्तर्निभीतिं शका विदुः पराम् ॥ १ ॥

कंसा आकाश्या । सा चेह प्रतिनियतविपर्यय आशा । न तु सार्वत्रिकी, अन्यथा असंयतसम्यग्दृष्ट्यादेरपि स्त्रीष्वालकारभक्तपानादिकमभिलपत सम्यक्त्वमालिन्यमनुपप्येत । ततो दर्शनत्रतदानदेवार्चनतपोजनितपुण्यमाहात्म्या-  
त्कुलं, रूपं, वित्तं, स्त्रीपुत्रादिकं, शत्रूपमर्दनं, स्त्रीत्वं, पुंस्त्वं वा सातिशयं मे भूयादित्याशंसनं दर्शनस्य मलः स्यात् इति  
मंतव्यम् ।

विविर्गिष्ठा—विचिकित्सा जुगुप्सा । सापि चेह सम्यक्त्वादीनामन्यतमे तद्वति वा कोपादिनिमित्ता न सार्वत्रिकी,  
इतरथा मिथ्यात्वासंयमादिजुगुप्साया प्रवर्तमाना सम्यग्दृष्टीना सकलं कुर्वशनत्वं स्यात्ततो न तस्य दर्शनं, ज्ञानं, चरणं  
वा शोभनं, तद्वानभद्रकः । इति च द्वेपपूर्विका मनोवृत्तिर्विचिकित्साख्यो दर्शनदोष एपितव्यः ॥

परविट्टीण परा तत्त्वगोचराया दृष्टेरन्या अतत्त्वगोचरा दृष्टि श्रद्धानं येपा ते परदृष्टयः सीमासकृतापससाख्य-  
सौगतादयः । अथवा परा अनेकातदृष्टेरन्या दृष्टयः एकान्तदृष्टय परसमया वेदन्यायाशादयः । पसंसा स्तुतिर्मनो-  
वाकायैः सत्कारः ।

अणायदणसेवणा—आयतनं सम्यग्दर्शनादियुणोद्योतनाद्यागमं तन्वति दृष्टक् कुर्वन्ति इति आयतनानि सम्य-  
ग्दर्शनादीनि त्रीणि । तद्वन्तश्च त्रयस्तेभ्योऽन्यानि अनायतनानि पट्—मिथ्यात्वं, मिथ्याज्ञानं, मिथ्याचारित्रं, मिथ्यादृष्टि-  
र्मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्री चेति । तस्सेवा तत्र मिथ्यात्वस्य सेवा तत्परिणामयोप्यद्रव्याद्युपयोगः, ता च कुर्वन् सम्य-  
क्त्वं निर्मूलयिष्यतीति द्रव्यतो मिथ्यादृष्टिरेवासौ इति कथं न सम्यक्त्वातिचारवान् । अतीत्य चरणं ह्यतिचारो माहात्म्या  
पकर्पोऽज्ञतो विनाशो वा । श्रीविजयाचार्यन्तु मिथ्यात्वसेवामतिचारं नेच्छति । तथा च तदुभयो “मिथ्यात्वमश्रद्धानं  
तस्सेवाया मिथ्यादृष्टिरेवासविति नातिचारता” इति । मिथ्यादृष्टिसेवा नाम एकान्तश्रृङ्खलाना बहुमननं । मिथ्याज्ञानसेवनं  
पुनरिदमेव तत्त्वमिति श्रद्धानस्तुत्यादयामि श्रोतुणामिति क्रियमाणो निरपेक्षनदर्शनोपदेशः । मिथ्यज्ञानिसेवा मिथ्या-  
ज्ञानिभिः सह संवासस्तत्रादुरागस्तत्रानुद्युत्तिर्वा । मिथ्याचारित्रसेवा द्रव्यलाभायेपेक्षया मिथ्याज्ञानिनामाचरणस्यानुवर्तन  
मिथ्याचारित्रिसेवा पंचाम्रिसावक्रादिषु संगत्यादिकं, एताः पंच सम्यक्त्वातिचाराः शंकादयः पंच त्याज्याः । सम्यक्त्वारण-  
घर्करिति सम्वधः सामर्थ्योत्सिद्धो बोद्धव्यः ।

मम्यगदर्शन निरतिचार और गुणोंमें उज्ज्वल करनेका अभ्यास करना चाहिये। इसका आचार्य निम्नारमें वर्णन करते हैं। प्रथमतः मम्यगदर्शनके अतिचारोंका वर्णन करते हैं—

हिंदी अर्थ—शंका, संशय, निचिक्त्वा, परदृष्टिशंका व अनायतनतन एमें मम्यस्वके पांच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—वस्तुका स्वरूप यह है अथवा यह है ऐसा अनिश्चयात्मक जो ज्ञान उभको शंका करने है। यह शंका निश्चयज्ञानका प्राश्रय करनेवाले मम्यस्वको मलिन करती है।

शंका—यदि मम्यगदर्शन हो तो उसका शंका अतिचार मानना योग्य है। परंतु मंगय मिथ्यापनाको धारण करता है अर्थात् संशय स्वयं मिथ्यात्व ही है मिथ्यात्वोंके भेदोंमें आचार्योंने मंगयकी भी गणना की है। संशयित, अभिग्रहित और अनभिग्रहित ऐसे मिथ्यात्वके तीन भेद हैं, 'ऐमें प्रागममें उल्लेख पाये जाते हैं।

उत्तर—आपका कहना ठीक है। मंगयके मन्त्रांमें भी मम्यस्व रहताही है। अतएव मंगयको अनिचार-पना मानना युक्तियुक्त है। इसका स्पष्टीकरण ऐसा है—अपनेमें श्रुतज्ञानावर्णीय रूपका त्रिशिष्टशयोपशम न होना, विद्वान् उपदेशरुका अभाव रहना, अथवा उपदेशक होकर भी उसमें अनचातुर्यका अभाव रहना, मंगय दूर करनेवाले आगमके वचन न मिलना, अथवा उसका अभाव रहना, फललब्धिकी प्राप्ति न होना इत्यादि कारणोंमें वस्तुस्वरूपका निर्णय नहीं होता है। तो भी जैसा सर्वज्ञ जिनेश्वरने वस्तुस्वरूप जाना है वह वैसाही है ऐसी में श्रद्धा रखता हूं ऐसी भावना करनेवाले भव्यके मम्यस्वकी ज्ञानि कैसी होगी अर्थात् शंका नामके अनिचारमें उसका मम्यगदर्शन समल होगा परंतु नष्ट न होगा।

उपर्युक्त श्रद्धामें जो रहित है वह हमेशा मंगयाकुलही रहता है। वास्तविक तत्त्वस्वरूप क्या है ? उनको कौन जानता है कुछ निर्णय कर नहीं सकते ऐसी उसकी मति रहती है। फणिल, मुद्र मंगरे मंगज थे इसका निर्णय नहीं होता है। यदि अहंन् सर्वज्ञ होता है फणिलादि सर्वज्ञ नहीं होते हैं ऐसा मानकर आगमके द्वारा निर्णय मानना भी वह मंगयमिथ्यात्वी कबूल नहीं करता है। कौनसा आगम मस्तुके यथार्थस्वरूपका प्रतिपादन करता है और कौनसा नहीं यह भी निर्णीत नहीं है अर्थात् आगमके विषयमें भी मंगय है ऐसा मंगयमिथ्यात्वो रहेगा। इसलिये उसकी तत्त्वके उपर अश्रद्धा मंगयज्ञानमें महित होनेमें यह संशय मिथ्यात्वही है। तत्त्वोंके उपर अश्रद्धा होना यह

मिथ्यात्वका लक्षण है इसका आगे आचार्य विवेचन करेंगे। इस संशयमिथ्यात्वमें सबे तत्त्वके प्रति अरुचि भाव रहता है। यह मिथ्यात्व मिथ्याज्ञानसे भिन्न वस्तु है। 'मिच्छाणण मिच्छाचारिणादो पडिविरो मीति' अर्थात् मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र इनसे मैं विरक्त हुवा हूं, इस वाक्यसे मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन ये भिन्न चीजें हैं ऐसा सिद्ध होता है।

छन्नस्थोंको भी दोरी, सर्प, खंड, मनुष्य इत्यादि पदार्थोंमें यह रज्जू है? या सर्प है? यह खूट है या मनुष्य है इत्यादि अनेक प्रकारका संशय उत्पन्न होता है। तो भी वे सम्यग्दृष्टि ही है, इतने विवेचनका सारांश यहां ऐसा समझना चाहिये—

मिथ्यात्व कर्मके उदयसे सर्वत्र संशयरूपही तत्त्वोंमें अरुचि पैदा होती है; इस अरुचिको संशयज्ञानका सहाय मिलता है इसलिये इसको संशयमिथ्यात्व कहते हैं। आगमकथित जीवादिक पदार्थोंमें ज्ञानावरणकर्मके उदयसे और सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयसे जो यह वस्तु स्वरूप है या यह है ऐसी जो चंचल मति होती है उसको शंका अतिचार कहते हैं यह अतिचार सम्यग्दर्शनकों मलिन बनाता है इस लिये यह अतिचार है। दोरी, साप, पुरूप, खूट इत्यादिकोंमें जो संशय होता है वह यदि अतिचाररूप माना जावेगा तो सम्यग्दर्शनका निःशक्तितांगही दुर्लभ हो जायगा।

कांक्षा—इष्ट पदार्थोंपर जो आसक्ती अथवा लंपटता होती है उसको कांक्षा कहते हैं। यह कांक्षा सम्यग्दर्शनका अतिचार है।

शंका—यदि कांक्षाको अतिचार कहते हो तो आहारमें अभिलाषा उत्पन्न होती है। स्त्री, वस्त्र, अत्तर, पुष्पहार, अलंकारादिकोंमें असंयत सम्यग्दृष्टिको और विरताविरत अर्थात् अहिंसाद्युन्नत पालनेवालोंको अभिलाषा उत्पन्न होती है। छठे गुणस्थानवर्ती सुनीकोभी जब वे धुआदि परीपहोंसे व्याकुल होते हैं तब आहारमें, पेयपदार्थोंमें अभिलाषा उत्पन्न होती है। इसलिये उनके सम्यग्दर्शनमें भी यह अतिचार उत्पन्न होगा। सभी भव्योंको सुखोंकी इच्छा रहेगी ही अतः इच्छाको अतिचार मानना युक्तियुक्त है नहीं।

उत्तर केवल इच्छाको अतीचार हम भी मानते नहीं। किंतु इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे, दानके सामर्थ्यसे, देवपूजा और तपश्चरणके शक्तीसे मेरेको जो पुण्य उत्पन्न हुवा है उससे कुल, रूप, ऐश्वर्य, स्त्री पुत्रादिक,



शत्रुका नाश, ऐसे सर्वोत्कृष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति हो. सातिशय स्त्रीपना, माहात्म्यशुक्त पुरुषपना मेरेको प्राप्त हो ऐसी अभिलाषा रखना सम्यग्दर्शनका अतिचार है ऐसा यहां समझना.

विचिकित्सा - जुगुप्सा, तिरस्कार इनको यदि अतिचार कहोगे तो मिथ्यात्व, असंयम इत्यादिकोंमें जुगुप्सा-तिरस्कार होता है वह भी अतिचार है ऐसा मानना पड़ेगा.

उत्तर—यहां भी कांक्षाके समान जुगुप्साका विषय नियत समझना चाहिये. अर्थात् नियत विषयसंबंधी जुगुप्साही अतिचार है ऐसा समझना चाहिये.

रत्नत्रयमेंसे किसी एकमें अथवा रत्नत्रयधारकोंमें कोपादिकसे जुगुप्सा होना यहां सम्यग्दर्शनका अतिचार है. इस जुगुप्साके वश होकर सम्यग्दृष्टि जीव अन्य भव्यके ज्ञान, दर्शन वा आचरणका तिरस्कार करता है. जिसमें ये सम्यग्दर्शनादिक निरतिचार है ऐसे पुरुषका वह तिरस्कार करता है. अतः ऐसी जुगुप्सासे रत्नत्रयके माहात्म्यमें अरुचि होनेसे इसको अतिचार समझना योग्य है.

परदृष्टिप्रशंसा अतिचार-यहां पर शब्दके अनेक अर्थ हैं, जैसे 'नापरोः ग्रामः पाटलिपुत्रात् पाटलिपुत्रसे और दुसरा गांव नहीं है. यहां अपर शब्द अन्य वाची है. 'परे आचार्या' अन्ये आचार्याः' अर्थात् दूसरे आचार्य यहां 'पर' शब्दका अर्थ 'अन्य' ऐसा समझना. इष्टार्थमें भी पर शब्दका प्रयोग होता है जैसे परं धाम गतः अर्थात् इष्ट स्थानको वह चला गया. प्रस्तुत प्रकरणमें पर शब्द अन्यायवाची है. तत्त्वदृष्टीसे-पारमार्थिक दृष्टीसे विपरीत दृष्टि जिनकी है ऐसे सांख्य, बौद्ध, जैमिन्यादि मतके विद्वानोंको परदृष्टि कहते हैं. उनकी प्रशंसा करना यह सम्यग्दर्शनका मूल है.

अनायतनसेवना - अनायतनके छह भेद हैं. अर्थात् मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि जन, मिथ्याज्ञान, मिथ्या ज्ञानी, मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्रवान्. इन छहोंमेंसे मिथ्यात्व अनायतनका अर्थ अतत्त्वश्रद्धान् ऐसा होता है. यदि भव्य जीव मिथ्यात्वकी सेवा करेगा तो वह मिथ्यात्वीही होगा, सम्यग्दर्शनही उसका नष्ट हो गया ऐसा समझना चाहिये. इसलिये 'मिथ्यात्व' यह सम्यग्दर्शनका अतिचार नहीं है. वह अनाचार है. मिथ्यादृष्टिसेवा - मिथ्यादृष्टियोंको अच्छा समझकर उनका आदर करना. मिथ्याज्ञानसेवा-मिथ्यामतके तत्व अच्छे हैं ऐसी भावना श्रोतवर्गके मनमें मैं उत्पन्न करूंगा ऐसा विचार करके नयाँकी अपेक्षा छोड़कर मिथ्यात्वका उपदेश करना.

मिथ्याज्ञानिसेवा—मिथ्याज्ञानियोंके साथ सहवास रखना, उनमें प्रेम रखना, उनका अनुसरण करना. मिथ्याचारित्र—मिथ्याज्ञानियोंका आचरण देखकर वैसा स्वयं आचरण रखना, उसका अनुसरण करना. उनसे द्रव्य लाभ होगा इस अपेक्षासे उनका सहवास करना ऐसे सम्यक्त्वेक अतिचारोंका त्याग करना चाहिये.

गुणान्दर्शनविशुद्धिकारिणो निरूपयति—

उवगूहणठिदिकरणं वच्छल्लुपभावणा गुणा भणिदा ॥

सम्मत्तविसोधीए उवगूहणकारया चउरो ॥ ४५ ॥

उपवृंहः स्थितीकारो वत्सलत्वं प्रभावना ॥

चत्वारोऽस्मी गुणाः प्रोक्ताः सम्यग्दर्शनवर्द्धकाः ॥ ४८ ॥

विजयोदया—उवगूहणमित्यनया । उपगूहण नाम वर्द्धन । वृह वृद्धि वृद्धाविति वचनात् । धात्वर्थानुवादी चोपसर्गः उप इति । स्पष्टेनाश्राम्येण श्रोत्रमनःप्रीतिदायिना वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनप्रवर्णेन यमोपदेशेन परस्य तत्त्वश्रद्धानवर्द्धन उपगूहण । सर्वजनविस्मयकारिणीं शतमखप्रमुखगीर्वाणसमिति विरचितोपचितिसदृशा पूजा सपाद्य दुर्धरतपो योगाद्युद्योनेन वा आत्मनि श्रद्धास्थिरीकरणम् ।

जीवादीनि द्रव्याणि तत्सामान्यविशेषरूपाध्यासितानि उत्पादव्ययधौब्यरूपमकानि प्रतिसमयमिति जिते सम्यग्भारणं पवमेव नान्यथा श्रद्धये जिनाना मत । न हि जिना चीतरागा विदितसिखेवद्यतया याथातथ्या कृपापरिगता. विपरीतमुपदिशतीति भावनया स्थिरीकरण अस्थिरस्य रत्नत्रये स्थिरतापादन । मिथ्यात्वाभिमुखस्य सम्पन्द-प्रेरस्थिरस्य मिथ्यात्व मूलमेव तदनुभवत कर्मादान, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाया हि बंधहेतव । तद्वन्धहेतुरु चान्तसत्सारपरिभ्रमण चतुरशीतियोनिशतसदृशेषु । सदृशेन तु विचित्रायातनासकटभयप्रक्षयिन्योर्नैकतियगगतिवर्तिन्योर्वज्रागलीभूत । शतमखमनुष्यलोक्रयोरन्यूनमान्यरूपमोगादिसंपत्सपादनचतुर क्रमेण निर्वाणमपि प्रयच्छति । ततो दुःखजलवाहिनीं मिथ्यादृष्टिकुल्ल्यामुल्लंघय, प्रतिपद्यस्व जैनीं दृष्टिमिति तत्र स्थिरताकरणम् । तथा सम्यग्ज्ञानभावनाया च प्रमादिनमलसं दृष्ट्वा पवमसौ वक्तव्यः । ज्ञानं हिताहितप्रकाशनपट्ट, तदतरेण हितमजानत. कथं तत्र दृष्टिरिदं तपरिहरो वा । हिताहितप्राप्तिपरिहारौ विना न सुखाधिगमदुःखविश्लेषौ । तदर्थमेव चाय प्राक्षो जन क्लिश्यति । तत्पचविधस्वाध्यायत्यागं मा कृथा' इति ज्ञाने स्थिरीकरण । अथवा अनधिगतसुदार्थनिश्चयस्य तत्र निश्चयसंपादन । अस्मद्भावनात्मनः स्थिरीकरण । चारित्रात् प्रच्यवमानं दृष्ट्वा हिसादिसावधक्रियाया प्रवर्तमाना इहैव दुःखभाजो दृश्यन्ते,

तथा परं हन्तुमुद्यत' स्वयं तेनैव वा हन्यते प्राक्कतनामिवैर्वैशुभिर्वादीणैर्वै' । परचाशुभां गतिसुपति । दुःखदाय्यसद्वैद्यं च वध्नाति । अलीकं धुवन्निहैव धंयुजनस्यापि विद्वेभ्योऽविश्वास्यश्च भवति किं पुनरत्यस्य । जिह्वां चोत्पादयति क्रुद्धा बलिन । परत्र च मूकता यास्यति इत्येवमाद्यसयमगतदोषप्रत्याप्य नीरोगना, दीर्घजीवन, सौख्यं, प्रियवचनादिकं गुणमुपदिश्य अर्हिसादित्रताचरणफलं चारित्र्ये स्थिरीकरणम् । असंयमदोषं संयमगुणं वा पुनः पुनः स्मृत्वात्मन स्थिरीकरणं ।

धर्मस्थेषु मातरि पितरि भ्रातरि चानुरागो वात्सल्यं, रत्नत्रयादरो वात्मनः । प्रभावना माहात्म्यप्रकाशन रत्नत्रयस्य तद्धता वा ।

एवमतिचारनिरासेन विशुद्धस्य सम्यग्दर्शनस्य वृद्धिकारिणो गुणानुपदिशति:-

मूलारा-उवगूहण — स्वयमकलंकस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयवाच्यवानिरासः । टीकाकारास्तु उवगूहणेत्यस्य 'उपवृहणं-वर्द्धनं' मित्यर्थमकथयत् । तच्च परस्य स्पष्टाग्राम्यश्रवणमनःप्रीतिकरतत्त्वप्रकाशनपर्यभोपदेशेन तत्त्वश्रद्धानस्फारीकरणं । स्वस्य च शक्तानिर्मितसपर्यासोदयपूजाविशेषेण, दुर्द्धरतपोयोगानुष्ठानेन, जिनेन्द्रोपज्ञश्रुतज्ञानातिशयभावनाया वा श्रद्धानवर्द्धन ॥

ठिदिकरणं स्वस्य परस्य वा सम्यक्त्वाद्यन्यतमाश्रय्यवमानस्य पुनस्तत्रैव युक्तिबलाद्दृढमवस्थापनम् । तथाहि-दैवात्ममादाद्या मिथ्यात्वमभिपततमात्मानं स्वसंवित्त्या परं वा तदनुस्वरुपवाक्चेष्टाभ्या निश्चित्यैवं ब्रूयात् । 'मा स्म भोः दुस्सहदु सोर्भिन्निकव्यतिकीर्णसंसारणवपरिवर्तनैकार्यक्रमनिर्माणसूत्रधारे सुदुर्निवारेऽस्मिन्मिथ्यात्वमहोवैरिणि पुनर्व्यतिपजः । परिष्वजस्य सरभसमर्पदानंदसंदोहमुन्मुद्रयन्ती निःसीममुत्सर्वस्वपर्यवसानविलासा सम्यग्दृष्टिं प्रेयसीमिव । मा स्म विस्मरस्तास्ताश्चतुर्गतिथातनायातुधानी । एवं दूषणगुणगणाविष्करणेन श्रुतज्ञानभावनाया प्रमाद्यंतं चारित्राद्धरयन्तं स्वं परं वा पुनस्तत्रैव स्थिरीक्रियात् ।

वच्छल्ल—धर्मस्थेषु धेनोः स्ववत्स इव स्नेहः, स्वस्य च रत्नत्रयेऽनुरागः ॥ पहावणा-रत्नत्रयस्य तद्धता च माहात्म्यप्रकाशनं ॥ उवगूहणकारया वृद्धिकराः अत एव सेव्या इति प्रतिपत्तव्यम् ॥

अत्र आचार्य सम्यग्दर्शनको वृद्धिगत करनेवाले गुणोंका वर्णन करते हैं--

हिंदी अर्थ--उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये चार गुण सम्यक्त्वको निर्मल करनेवाले और उसको बढ़ानेवाले हैं.

विशेषार्थ—उपगृहण-उपगृहण अथवा उपवृंहण ऐसे इस गुणके दो नाम हैं. उपवृंहण इसका अर्थ बढ़ाना ऐसा होता है. 'बृह बृहि वृद्धौ' इस धातूसे वृंहण शब्दकी उत्पत्ति होती है. उप इस उपसर्गके योगसे बृह धातूका अर्थ बढ़ला नहीं है. स्पष्ट, अग्राम्य, कान और मनको प्रसन्न करनेवाला, वस्तुकी यथार्थता भव्योंके आगे दर्पणके समान दिखानेवाला, ऐसे धर्मोपदेशके द्वारा तत्त्वश्रद्धान बढ़ाना यह उपवृंहण गुण है.

उपवृंहण—ईंद्र प्रमुख देवोंके द्वारा जैसी महत्त्वयुक्त पूजा की जाती है वैसी जिनपूजा करके अपनेको जिनधर्ममें, जिनभक्तिमें स्थिर करना, अथवा दुर्धर तपश्चरण वा आतापनादि योग धारण करके अपने आत्मामें श्रद्धा गुण उत्पन्न करना इसको भी उपवृंहण कहते हैं.

स्थितिकरण—जीवादिक पदार्थ सामान्य और विशेष धर्मोंसे युक्त हैं अर्थात् चेतनत्व, स्पर्शादिमत्त्व, गतिमें हेतु होना इत्यादि विशेष धर्म और अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, इत्यादि सामान्य धर्मोंसे युक्त हैं. जीवादि छोड़ो द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य यह स्वरूप सदाही प्रतिसमय रहता है ऐसा जिनोपदेश है और वह त्रिकुल सच्चा है ऐसी मेरी श्रद्धा है. मैं इससे उलटी श्रद्धा धारण नहीं करूंगा. जिनेश्वर वीतराग है अर्थात् रागद्वेष, क्षुधा तृषादि अठारह दोषोंसे वे पूर्ण अलिप्त हैं. उनमें संपूर्ण पदार्थ जाननेवाला ज्ञान है. अतः वे कभी भी विपरीत उपदेश नहीं देते हैं. भव्यजीवोंका संसारसे उद्धार करनेका प्रयत्न करनेवाले जिनभगवान् क्या वस्तुका विपरीत स्वरूप कहेंगे ? ऐसी भावनाओंसे अपनेको जैन धर्ममें स्थिर करना यह स्थिति करण है.

जो भव्य रत्नत्रयमें चलिता हुआ हो तो उसको फिर रत्नत्रयमें स्थिर करना चाहिये. जो सम्यग्दृष्टि भव्य सम्यग्दर्शनसे अष्ट होकर मिथ्यात्वी वननेके स्थितिमें आरहा हो तो फिर उसको सम्यग्दर्शनमें स्थिर करना चाहिये.

“मिथ्यात्वही कर्मग्रहण करनेका मूल कारण है. मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और योग ये कर्मबंधन के कारण हैं. इन कारणोंसे जीवको अनंत संसारमें भ्रमण करना पड़ता है. चौरासी लक्ष योनियोंमें इन ही कारणोंसे जीव भ्रमण करता है. परंतु जब जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है तब नानाप्रकारकी यातनाओंकी उत्पत्ति करनेवाली तिर्यग्गति और नरकगति टल जाती है. अर्थात् सम्यग्दर्शन धारण करनेवाला मनुष्य तिर्यचोंमें और नरकोंमें उत्पन्न नहीं होता है. स्वर्गलोकके और मनुष्यलोकके अनुपम भोग, मान्यता, सौख्य वगैरह उत्कृष्ट पदार्थ

यह सम्यग्दर्शन जीवोंको अर्पण करता है. और अन्तमें यह जीवोंको मोक्ष भी प्रदान करता है. अतः दुःखरूपी जल जिसमें बहता है ऐसी मिथ्यादर्शनरूपी नदीको तू लांघकर जैनधर्मको धारण कर " ऐसे उपदेशसे मिथ्यादर्शनसे हटा कर लोकोंको जैनधर्ममें स्थिर करना चाहिये. यह भी स्थितिकरण है.

जो भव्य सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनेमें प्रमादी और अलसी बन गया है उसको सम्यग्ज्ञानमें आगे लिखे हुए वचनोंसे स्थिर करना चाहिये—ज्ञान ही हित और अहितका स्वरूप दिखानेमें प्रवीण है. विना ज्ञानके मनुष्योंको हित और उसके उपायोंका स्वरूप अवगत नहीं होता है. इसलिये वह अहितसे हटकर हितमें प्रवृत्ति नहीं कर सकेगा. जबतक जीव हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार न करेगा तबतक उसको सुख न मिलेगा और वह दुःखोंसे मुक्त न होगा. सर्व विद्वान लोक सुखकी प्राप्ति के लिये ओर दुःख दूर करनेके लिये ही प्रयत्न करते हैं. सुख प्राप्ति के लिये हे भव्य ! तू पांच प्रकारका स्वाध्याय कर. उसका त्याग करनेसे तेरी आत्मोन्नति नहीं होगी. ऐसे उपदेशसे उसको सम्यग्ज्ञानमें स्थिर करना चाहिये. अथवा जिसको आगमके सूत्रार्थका निश्चय नहीं हुआ हो तो उसको उसका परिज्ञान कर देना चाहिये.

सम्यग्ज्ञानका धारंवार अभ्यास करके स्वतः भी उसमें स्थिर होना चाहिये. चारित्रिसे भ्रष्ट होते हुए भव्यको देखकर उसमें उसको स्थिर करनेके लिये यह उपदेश उपयुक्त है—  
हिंसा, चोरी, असत्य बोलना इत्यादि पापोंमें जो मनुष्य प्रवृत्त होते हैं उनको इस लोकमेंही बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं. दुसरोंको मारनेका प्रयत्न करनेवाला मनुष्य स्वयं दुसरोंसे मारा जाता है. जो पूर्वकालमें उसके मित्र अथवा संबंधी थे वे भी उसके बैरी बनते हैं. पाप करनेवाले मनुष्य मरकर अशुभ गतिको अपनाने हैं. पापोंमें असाता वेदनीय कर्म बंधता है.

जो अदमी झूट बोलते हैं उनके बंधुगण भी शत्रु बनते हैं. वे भी उसके ऊपर विश्वास नहीं रखते हैं. फिर दूसरे शत्रु अविश्वास रखनेवाले होंगे इसमें आश्चर्यही क्या है. असत्य बोलनेवालेकी जिह्वा कुछ बलिष्ठ लोक उखाड़ देते हैं. झूट बोलनेका फल यह है कि वे परलोकमें गूंगे हो जाते हैं. इस तरहमें असंयमके दोष वतलाकर हिंसादिक पाप न करनेवाले भव्यगण नीरोग, दीर्घजीवी, सुंदर, प्रिय और मधुरभाषी होते हैं. प्रिय वचनदिक गुण उनको प्राप्त होते हैं. ऐसा उपदेश करना चाहिये.

अथवा असंयमके दोष और संयमके गुणोंका बार बार स्मरण कर चारित्र्यमें स्वतःको स्थिर करना चाहिये, यह सब स्थितिकरण गुणका विवेचन हुआ.

वात्सल्य—धार्मिक लोगोंपर और माता, पिता, आता इनके ऊपर प्रेम रखना यह वात्सल्य गुण है. अथवा रत्नत्रयमें आदर करना यह भी वात्सल्य है.

प्रभावना—रत्नत्रयका और उसके धारक श्रावक और मुनिगणका महत्त्व बतलाना यह प्रभावना गुण है. ऐसे गुणोंसे सम्यक्त्व दृढ़िगत होता है.

दर्शनविनयप्रतिपादनार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

अरहंतसिद्धचेदय सुदे य धम्मे य साधुवगे य ॥

आयरिय उवज्झाए सुपवयणे दंसणे चावि ॥ ४६ ॥

जिनेशसिद्धचैत्येषु धर्मदर्शनसाधुषु ॥

आचार्येऽध्यापके संघे श्रुते श्रुततपोधिके ॥ ४९ ॥

विजयोदया—अरहंत इत्यादिकम् । अरिहनाद्रजोदननाद्वहस्याभावादतिशयपूजाहृत्वाच्चाघिगताहृदय-पवेशा नोआगमभावाद्वहन्त इह गृहीता' । न नामाहंन, निमित्ताभावोऽपि पुरुषाकराभियुक्ताहृदयपवेश. । अहंता प्रति-विधानि सोऽपमित्यभिसवधावहृदयपदेशमाजि पूजातिशयाहृत्वेपि अरिहतनादिगुणासमवाप्तेह गृह्यन्ते । आगमद्वय-हृद्वहृत्स्वरूपव्यावर्णनपरप्राप्ततत्त्वोऽनुपयुक्तस्तदर्थेऽन्यत्र व्यापृत । ज्ञापकशरीराहृद्व्याम तत्प्राप्ततत्त्वस्य त्रिकालगोचर शरीरं । यस्मिन्नात्मनि अरिहननादयो भविष्यति गुणा स भाव्यहंन । तीर्थकरनामकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्याहंन । अहृद्व्यावर्णन परप्राप्ततत्त्वयोऽहंभिर्मांसो बोध आगमभावाहंन । एतेषु अरिहननादिगुणानामभावात् नेहार्हच्छब्देन ग्रहणम् ।

एवं नामसिद्ध' अलब्धसकलतामस्वरूपे सिद्धशब्द । यस्य वा निमित्तनिरपेक्षा सिद्धसंज्ञा । स्थापनासिद्धा इति तत्प्रतिविधानि उच्यन्ते । ननु सशरीरस्यात्मन. प्रतिविक्ं युज्यते, अशरीराणा तु शुद्धात्मना सिद्धाना कथ प्रतिविक् समव ? पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया शरीरमनुगतो य आत्मा सयोगकेवलीतरो वा न शरीरादिभक्तु शक्यते । विभागो हि शरीरात्संसारिता न स्यात् । अशरीर. संसारी चेति विरुद्धमेतत् । तत् शरीरसंस्थानवच्चिदात्मापि संस्थानवानेव संस्थानवतोऽव्यतिरिक्तत्वाच्छरीरस्थात्ववत् । स एव चायं प्रतिपन्नसम्यक्त्वाद्यप्रगुण इति स्थापनासंभव. । आगम द्रव्यसिद्ध. सिद्धप्राप्ततत्त्व सिद्धशब्देनोच्यते अनुपयुक्त. । सिद्धश्राश्रुतज्ञस्य शरीरं शापकशरीरं । भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो

भाविस्सिद्धः । व्यतिरिक्तः सिद्धो न संभवति । सिद्धत्वं न कर्मकारणम् इति सकलकर्मापायेहेतुका सिद्धता । पुद्गलद्रव्यस्य तदुपकारिणोऽसंभवाद्योक्तमिस्त्राभावः । सिद्धश्रुतानुसारिसिद्धज्ञानपरिणत आगमभावसिद्धः । निरस्तभावद्रव्यकर्ममलकलङ्कपरिश्राप्तसकलक्षयिकभाव नोआगमभावसिद्धः स इह गृहीतो न इतरे सकलात्मस्वरूपप्राप्त्यभावात् । चेदिय चैत्य प्रतिविंब इति यावत् । कस्य ? प्रत्यासत्तेः श्रुतयोरेवाहंस्सिद्धयोः प्रतिविंबग्रहणं । अथवा मध्यप्रक्षेपः पूर्वोत्तरगोचरस्थापनापरिग्रहार्थस्तेन साध्वादिस्थापनापि गृह्यते ।

श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाज्जातं वस्तुयाथात्म्यग्राहि श्रद्धानानुगतं श्रुतं अंगपूर्वप्रकीर्णकभेदभिन्नं, तीर्थकरश्रुतकेवल्यविभरणचित्तो वचनसदमो वा, लिप्यक्षरश्रुतवा ।

धर्मशब्देन चारित्रं समीचीनमुच्यते । ज्ञानदर्शनाभ्यामनुगतं सामार्यिकादि पंचविकल्पम् । दुर्गतिप्रस्थितजीवधारणात्, शुभे स्थाने वा दधाति इति धर्मशब्देनोच्यते । अथवा

‘ खंती महच अज्जव लाधव तव संजमो अकिंचणदा ॥

तह होदि बम्भचेरं संधं चागो य दस धम्मा ॥

इति सूत्रातरनिर्दिष्टधर्मपरिग्रहः । क्रोधनिमित्तसास्त्रिच्येऽपि कालुष्याभावः क्षमा स्नेहकार्याद्यनपेक्षः । जात्याद्यभिमानाभावो मानदोषानपेक्षश्च दृष्टकार्यानपाश्रयो मार्दवम् । आरुघ्रान्तद्रव्यसत्त्वद्रुक्ताभावः आर्जवमित्युच्यते । द्रव्येषु ममेदं भावमूलो व्यसनोपनिपातः सकल इति ततः परित्यागो लाघवं । अशानाविपरित्यागात्मिका क्रिया अनेपेक्षितदृष्टफला द्वादशविधा तप । इन्द्रियविपर्ययरागेद्वेषाभ्या निवृत्तिरिन्द्रियसंयमः । पट्वजीवनिकायवाधाऽकरणदपरः प्राणि संयमः । अकिंचनता सकलग्रन्थत्यागः । ब्रह्मचर्यं नवविधब्रह्मपालन । सता साधूनां हितभाषणं सत्यम् । संयतप्रायोग्याहारादिदानं त्यागः । एते दशधर्माः ।

साधयन्ति रत्नत्रयमिति साधवस्तेषां वर्गः समूहः । तस्मिन्वस्तुयाथात्म्यग्राह्याने परिणतिर्ज्ञानाचारः । तत्त्वश्रद्धानपरिणामो दर्शनाचारः । पापक्रियानिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । अनशनादिक्रियासु वृत्तिस्तप आचारः । सशक्त्यनिगूढनरूपा वृत्तिज्ञानादौ वीर्याचार एतेषु पंचस्याचारेषु ये वर्तन्ते परांश्च वर्तयन्ति ते आचार्योः । रत्नत्रयेषु उद्यता जिनगमार्थं सम्यगुपदिशति ये ते उपाध्यायाः । उपेत्य विनयेन दौकित्वा अधीयते श्रुतमस्मादित्युपाध्यायः ।

पवयणे प्रवचने । ननु श्रुतशब्दः प्रवचनवाची तत पुनरुक्ता ? रत्नत्रयं प्रवचनशब्देनोच्यते । तथा चोक्तम्— ‘ पाणदसणचरित्तेभंग पवयणमिति ’ अथवा श्रुतज्ञानं श्रुतमित्युक्तं पूर्वमिह तु प्रोच्यते जीवादयः पदार्था इति शब्दश्रुतमुच्यते । दसणे सम्यग्दर्शने च ॥ ४६ ॥

दर्शनविशुद्धिविषुद्धयर्थं तद्विनयं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—चेरियप्रतिविंबानि मध्ये पाठादहंदादीना पंचानामपि । सुदे भावश्रुते ज्ञानात्मके । धम्मं चारित्रे, उत्तमक्षमादौ वा । पवयणे रत्नत्रयेऽथवा द्रव्यश्रुते शब्दात्मके लिप्यक्षरे वा ॥

दर्शनविनयका विवेचन आचार्य दो गाथाओंसे करते हैं—

हिंदी अर्थ—अरहंत, सिद्ध, अर्हत् और सिद्धोंकी प्रतिभार्ये, श्रुतज्ञान, जिनधर्म, आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेशी, रत्नत्रय, आगम और सम्यग्दर्शन इनमें मक्ति, पूजा, करना. इनमें अन्यमतीयोंने आरोपित किये दोषोंको हटाना, इनका महत्त्व बताना, इत्यादि बातोंसे दर्शनविनय होता है.

विशेषार्थ—जिन्होंने अरिहहनन किया अर्थात् मोहनीय कर्मका नाश किया, रजोहनन अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणको नष्ट किया, रहस्यहनन अर्थात् अन्तराय कर्मका घात किया तथा इन्द्रादिकोंके द्वारा जो सातिशय पूजाको प्राप्त हुए इस लिये जो नो आगमभाव निक्षेपसे अर्हन्त इस नामको प्राप्त हुए हैं उनकोही प्रकृत विषयमें अर्हत् समझना चाहिये. चार धातिकर्मोंका नाश होनेसे जिनको अर्हत्की अवस्था साक्षात् प्राप्त हो गई वेही यहां अर्हन्त माने हैं. केवल जो नामसे ही अर्हत् हैं वे यहां अर्हन्त नहीं समझे जायेंगे. निमित्त न होनेपरभी मनुष्यके प्रयत्नसे जिसमें अर्हत् ऐसा नामकरण विधि होता है उसको नामर्हत् कहते हैं. अर्हन्त की प्रतिभामें वही यह अर्हत् है ऐसे संकल्पसे जो स्थापना की जाती है वह 'स्थापनार्हत्' है. स्थापनारूप अर्हत् में पूजातिशय होनेपर भी अरिहननादि गुण अर्थात् मोहनीयादि चार धातिकर्मोंका नाश करनेका गुण नहीं है. अतः स्थापनार्हत् भी प्रकृत विषयमें उपयुक्त नहीं है. अर्हन्तके स्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रका जिसको अच्छा ज्ञान है परंतु उस तरफ जिसका सांग्रत उपयोग नहीं लगा है, दुसरे तरफ जिसका चित्त लगा है ऐसे पुरुषको द्रव्यनिक्षेपसे अर्हत् कहते हैं. अर्हत्के स्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रको जाननेवाले विद्वानका जो त्रिकालवर्ती शरीर वह शायकशरीर अर्हत् है. जिस आत्मामें भाविकालमें अरिहननादिक अर्हन्तके गुण उत्पन्न होंगे ऐसे आत्माको सांप्रतमें अर्हत् कहना यह भावि अर्हत् है. तीर्थंकरनामकर्मको तद्द्रव्यतिरिक्त अर्हत् कहते हैं. अर्हन्तके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका ज्ञान जिसको है और वर्तमान कालमें वह ज्ञान अर्हत्स्वरूपका विचार कर रहा हो तो उसको आगममावाहर्न कहते हैं. नो आगममावाहर्नत्के शिवाय नामादि अर्हन्तोंमें अरिहननादि गुणोंका अभाव है अत एव नामादि अर्हन्तोंका यहां ग्रहण नहीं किया है.

सिद्धोंके भी नामसिद्ध, स्थापनासिद्ध वगैरे भेद हैं. जिसको सिद्धस्वरूप प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे मनुष्यको नामसिद्ध कहते हैं. उसका सिद्ध यह नाम गुणादिनिमित्तोंके बिना केवल व्यवहारार्थ रखवा गया है.



सिद्धोंके प्रतिविम्बोंको स्थापनासिद्ध कहते हैं.

यहां शंका—शरीरसहित आत्माका प्रतिविंब अर्थात् प्रतिमा मानना योग्य है. परंतु जिनके शरीरका अभाव है, जो शुद्धात्मस्वरूपको प्राप्त हो गये हैं ऐसे सिद्धोंकी प्रतिमा मानना अर्थात् प्रतिमामें सिद्धोंका आरोप करना यह कैसा न्यायसंगत है ?

उत्तर—पूर्वभावप्रज्ञापनयकी अपेक्षासे सिद्धोंकी प्रतिमामें स्थापन कर सकते हैं. अर्थात् जो वर्तमान कालमें सिद्ध हैं वेही पूर्वकालमें शरीरसहित सयोगकेवली थे अतः उनकी अपेक्षासे सिद्धोंमें भेद न मानकर प्रतिमामें सिद्धोंकी स्थापना हो सकती है. सयोगकेवली अथवा इतर आत्मा शरीरसे विभिन्न नहीं होता है. यदि सयोग केवलीको देहसे विभिन्न मानोगे तो सयोगकेवलीको संसारिता नहीं हैं ऐसा मानना पड़ेगा. अशरीर माननेसे संसारी व अशरीरता यह परस्पर विरुद्ध है. अतः शरीरकी आकृतीके समान चिदात्मा भी आकृतिमान समझना चाहिये. जैसी शरीरकी आकृति रहती है उसी तरह चिदात्मा सिद्धकी भी आकृति रहती है. इस लिये शरीरके समान चिदात्मा सिद्ध भी संस्थानवान्-आकृतिवान् है. शरीरस्थ आत्मा जैसा अपने संस्थानसे आकृतिसे अभिन्न है वैसा युक्तात्मा भी अपने संस्थानसे अभिन्न है. अतः प्रतिमामें सम्यक्त्वादि अष्ट गुणोंसे विराजमान वही सिद्ध थे है ऐसा संकल्प कर सकते हैं. अतः सिद्धोंमें स्थापनाका संभव होता है.

आगमद्रव्यसिद्ध—सिद्धप्राभृतके ज्ञाता परंतु संग्रति अनुपयुक्त ऐसे विद्वानको आगमद्रव्यसिद्ध कहते हैं. सिद्धप्राभृतके ज्ञाताका जो शरीर वह ज्ञायकशरीर है. जिसको भविष्यत्कालमें सिद्धावस्था प्राप्त होनेवाली है ऐसा आत्मा भाविसिद्ध है.

व्यतिरिक्त सिद्धकी संभावना नहीं है. क्योंकि जैसे तीर्थकरनामकर्मसे अर्हत्पर्याय प्राप्त होता है वैसे सिद्धपर्याय किसी कर्मके उदयसे होता नहीं है. वह संपूर्ण कर्मके नाशसे होता है. इसलिये व्यतिरिक्तसिद्ध यह भेद नहीं है. कोई पुद्गलद्रव्य भी सिद्धत्वपर्यायका उत्पादक है नहीं इसलिये नोकर्मसिद्ध यह भी भेद नहीं है.

सिद्धप्राभृतके अनुसार सिद्धोंका स्वरूप जाननेवाले ज्ञानसे परिणत आत्माको आगमभावसिद्ध कहते हैं.

संपूर्ण द्रव्यकर्म और भावकर्ममल जिनका नष्ट हो चुका है. अनंतज्ञानादि सर्व क्षायिकभाव जिनको

प्राप्त हो गये हैं. उनको नो आगममात्र सिद्ध कहते हैं. इसी सिद्धका प्रकृतविषयमें ग्रहण किया है. इतर सिद्धोंका ग्रहण नहीं किया है क्योंकि इतर सिद्धोंमें संपूर्णतया आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं हुई है.

३ चेदिय-चैत्य अर्थात् प्रतिमा चैत्य शब्दसे प्रस्तुत ग्रंथमें अर्हत और सिद्धोंके प्रतिमाओंका ग्रहण समझना चाहिये. अथवा यह मध्यग्रंथ है. इसलिये पूर्वविषय और उत्तर विषयक स्थापनाका यहां ग्रहण होता है. अर्थात् पूर्वविषय तो अरहत और सिद्ध है ही. उत्तर विषय श्रुत, शास्त्र, धर्म, साधुपरमेष्ठी, आचार्य, साधु वगैरह हैं. इनका भी यहां संग्रह होता है. इनकी भी स्थापनाप्रतिमा होती है.

४ श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ग्रहण करनेवाला सम्यग्दर्शन सहित जो ज्ञान वह श्रुतज्ञान है. इस ज्ञानके आचारांगदि चार अंग, उत्पाद पूर्वोदि चौदा पूर्व, और सामा-यिकादि चौबीस प्रकीर्णक अर्थात् अंगबाह्य ऐसे इसके भेद हैं इसकी रचना तीर्थकर, श्रुतकेवली, गणधर और आरातीय आचार्य इन्होंने की है.

५ धर्म-सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अनुसरण करने वाला सम्यक् चारित्र यहां धर्म शब्दका अर्थ है. इस धर्मके सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, और यथाख्यात ऐसे पांच भेद हैं. दुर्गतिको जानेवाले जीवको जो धारण करता है अर्थात् उसका उद्धार करता है और शुभ इंद्रादिपदवीपर जो स्थापन करता है वह धर्म है ऐसी धर्मशब्दकी व्याख्या है. अथवा—  
क्षमा, मार्दव, अर्जव, शौच, तप, संयम, आर्कित्य, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग ऐसे दश धर्म अन्य ग्रंथमें कहे हैं उनका भी यहां धर्म शब्दसे संग्रह करना चाहिये.

१ क्षमा—क्रोधके निमित्त-कडुवचन, निंदा वगैरे उपस्थित होनेपर भी मनमें कष्टयत्ता उत्पन्न न होने देना. किसीके साथ अपनी मित्रता होती है तब क्रोधके कारण उपस्थित होनेपर भी मन कष्टयत्ता न होने देना यह कुछ क्षमा नहीं समझी जाती है. अथवा अपना कार्य सिद्ध होने तक मनुष्य क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी शान्ति धारण करता है यह भी सच्ची क्षमा नहीं है. परंतु स्नेहादिकी अपेक्षाविना जो शान्तिभाव मनमें धारण करना वही क्षमा है.

२ मार्दव—जाति, कुल, तप इत्यादिका अभिमान न होना वह मार्दव है. मैं अभिमान करूंगा तो लोक

भेदपर रह होंगे अथवा मेरे ऐहिक कार्योंमें बाधा उपस्थित होगी ऐसी भीतीसे मान न करना यह सच्चा मार्ग नहीं है, किंतु मान करनेसे आत्मा पतित होता है, मानसे नीचगतिमें अग्रण करना पड़ेगा ऐसी भावना हृदयमें धारण कर मार्गधर्मका पालन करना चाहिये,

३ आर्जव—दोरीके दो छोर एकदकर स्वीचनेसे वह सरल होती है उसी तरह मनमेंसे कष्ट दूर करनेपर वह सरल होता है अर्थात् मनकी सरलताको आर्जव कहते हैं,

४ लाघव—धनादि वस्तुओंमें ये मेरे हैं ऐसी अभिलाषबुद्धिही सर्व संकटोंमें मनुष्यको गिराती है इस ममत्वको हृदयसे दूर करनाही लाघव अर्थात् शौच धर्म है,

५ तप—अन्न, पान, लेख इनका त्याग करना, रसोंका त्याग करना, दाता पात्र इत्यादिकोंका नियम करना यह सब तप है, इस लोकमें अपनी कीर्ति हो, अपनेको लोक पूजे इत्यादि अभिलाषा छोड़कर बारह प्रकारका तप करना चाहिये,

६ संयम—इंद्रियोंके स्पर्शादि इष्ट व अनिष्ट विषयोंसे अपने मनको हटाना, इष्ट वस्तुमें रागभाव रखना, अनिष्ट वस्तुसे द्वेष करना यह इंद्रिय असंयम है, इनसे निवृत्त होना यह इंद्रियसंयम है, पंच स्थावर और त्रसजीव इनको बाधा देनेसे विरक्त होना यह ग्राणिसंयम है,

७ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना यह आर्किचन्य धर्म है,

८ नष्ट प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करना यह ब्रह्मचर्य है,

९ सुनि और उनके भक्त अर्थात् श्रावक इनके साथ आत्महितकर भाषण बोलनायह सत्य धर्म है,

१० सुनिओंके लिये योग्य ऐसे आहार, अभय—वसतिका और शास्त्र ये चीजें देना यह त्याग धर्म है, ऐसे धर्मके दश भेद कहे,

जो रत्नत्रयको साधते हैं ऐसे सुनिराजको साधु कहते हैं,

१ वस्तुके यथार्थ स्वरूप जाननेवाले ज्ञानमें परिणति होना यह ज्ञानाचार है,

२ तत्त्वश्रद्धानमें परिणति होना यह दर्शनाचार है,

३ हिंसादि पांच पापक्रियाओंसे विरक्त होना चारित्राचार है,

४ अनशनादि क्रियाओंमें प्रवृत्ति रहना तप आचार है.

५ अपनी शक्तीके अनुसार ज्ञान दर्शन चारित्रादिकमें प्रवृत्ति करना वीर्याचार है.

ऊपर कहे गये पांच आचारोंमें जो स्वयं उद्युक्त होते हैं और शिष्योंको उद्युक्त करते हैं वे मुनि आचार्य कहलाते हैं.

जो रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करते हैं और जिनेन्द्र भगवानका कहा हुआ अर्थ शिष्योंकी अविरुद्धतासे कहते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठि हैं. 'उपेत्य विनयेन दौकित्वा अधीयते श्रुतमस्मादिति उपाध्यायः' अर्थात् विनयसे आकर जिनसे शिष्यमुनि आगमार्थका पठन करते हैं ऐसे मुनिराजको उपाध्याय परमेष्ठि कहते हैं.

प्रवचन—शंका—श्रुत शब्द प्रवचनवाची है उसका खुलासा किया गया है. प्रवचनका अर्थ श्रुत होता पुनरपि यहां श्रुतका ग्रहण करनेसे पुनरुक्तता दोष आया. उत्तर—प्रवचन शब्दका अर्थ यहां रत्नत्रय है. 'णाण दंसणचरित्तमेगं पवयणं' ऐसे आगम वाक्यसे रत्नत्रयको प्रवचन कहते हैं यह सिद्ध होता है. अथवा श्रुतज्ञानको श्रुत कहना चाहिये ऐसा पूर्वमें कहा है. यहां 'श्रोव्यते जीवादयो येनेति' जिनके द्वारा जीवादि पदार्थोंका विवेचन किया जाता है वह प्रवचन है अर्थात् शब्दात्मक श्रुतको यहां प्रवचन कहते हैं.

अरहंत, सिद्ध, इनके और आचार्यादिकोंके प्रतिर्विच, श्रुतज्ञान, धर्म, साधुवर्ग, आचार्य, उपाध्याय, शब्द श्रुत और सम्यग्दर्शन इनमें भक्ति, पूजा प्रशंसा वगैरे करना यह संक्षेपसे दर्शन विनय है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है. ॥ ४६ ॥

भक्ती पूया वण्णजणणं च णासणमवण्णवादस्स ॥

आसादणपरिहारो दंसणविणओ समासेण ॥ ४७ ॥

भक्तिः पूजायशोवादौ दोषावज्ञा तिरस्क्रिया ॥

समासेनैव निर्दिष्टो विनयो दर्शनाश्रयः ॥ ५० ॥

विजयोदया—का भक्ती पूजा ? अर्हदादिगुणानुरागो भक्ति. । पूजा द्विप्रकारा द्रव्यपूजा भावपूजा चेति । गन्धपुष्पधूपक्षतादिदान अर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्यपूजा । अमृत्यानप्रदक्षिणीकरणप्रणमनादिका कायक्रिया च । वाचा गुणसत्त्वन च भावपूजा मनसा तद्गुणानुसरणं ।

वर्णलक्षणं वर्णशब्दः कचिद्रूपवाची शुक्लवर्णमानय शुक्लरूपमिति । अक्षरवाची कचिद्यथा मिलो वर्णसमासाय इति । कचित् ब्राह्मणादौ यथात्रैव वर्णानामधिकार इति । कचियशसि वर्णार्थो ददाति । तथा इत्यान्यनतरर्थो गृहीत । तेन अर्हदादीना यगोजननं विदुषा परिपदि । अन्येषामविश्वेदेतिनां दृष्ट्यविरुद्धचनताप्रदर्शनेन निवेद्य तत्संवादिवचनतया मद्भूताप्रख्यापनं भगवतां वर्णजननम् ।

चैतन्यमात्रसमवस्थानरूपे निर्वाणे नापूर्वातिशयप्राप्तिरस्ति । यत्नमन्तरेण सर्वात्मसु चैतन्यस्य सदा स्थिते । विशेषरूपरहितत्वादसच्चैतन्यं संपुण्यवत् । प्रकृतेरच्यतनाया मुक्तिरनुपयोगिनी । किं तथा यद्धया मुक्त्या वा फलमात्मन ? अनया विद्या कापिलमते सिद्धता दुरुपपादा ॥ बुद्ध्यादिविशेषयुगलरहितता सिद्धताऽन्येषां । आत्मनोऽचेतनता कसचेतनोऽभिलपति । विशेषरूपशून्य वा कथमात्मन सत्ता ? नैव चासावात्मा पराभ्युपगतः बुद्ध्यादियुगलरहितत्वाद्भूतवत् । रागादिभेदासाधारणं चित्तमेव मुक्तिशब्देनोच्यते इत्यत्र चित्तमत्यन्तासाधारणरूपं । यथेकं चिद्रूपं नेतरिति तस्य स्वभावोऽनिरूप्य । असाधारणस्वरूपशून्य यत्तदसद्यथा—नमस्तामरसं । असाधारणरूपशून्यं च विवक्षिताच्चिदादन्यदिति । एवं मतान्तरे निरूपितानां सिद्धानामधटमानत्वाद्वाधाकारिसकलकर्मलेपनिर्दहनसमुपजाताचलस्यास्यसमवस्थिताः । अतन्तद्धानात्मकेन मुखेन संगृता सिद्धा इति तन्माहात्म्यकथनं सिद्धानां वर्णजननं ।

यथा बीतरागद्वेषाखिलोकचूलाभरणयोर्दृढदादयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपयान्ति । तद्वदेतान्यपि तदीयानि प्रतिविधानि । बाह्यद्रव्यालवनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते । यथात्मनि मनोज्ञमनोक्षविषयसाक्षिध्याद्वा गेद्वेगौ स्यपुत्रसदृशदर्शनं पुत्रस्मृतेरालवनं । पयमर्हदादियुगाशुस्मरणनिर्गन्धं प्रतिविधेयं । तथाशुस्मरणं अभिनवाशुभमकृतेः सवरणे, प्रत्ययशुभकर्मोदने, गृहीतशुभप्रकृत्यनुभवस्फारीकरणे, पूर्वोपात्ताशुभप्रकृतिपटलरसापन्नासे च द्धममिति सकलाभिममतपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति चैत्यमहत्ताप्रकाशनं चैत्यवर्णजननमिति ।

केवलज्ञानवदशेषजीवादिद्रव्ययाथात्म्यप्रकाशनपटु, कर्मधर्मनिर्मूलोचतशुभमध्यानवन्दनमलयायमानं । स्वपरसमुद्धारणनिरताविनेयजनताविचित्रार्थनीयं, प्रतिवद्धाशुभास्रव्यं, अग्रमस्तथायाः संपादकं । सकलाविकलप्रत्यक्षज्ञानधीजं, दर्शनवरणयोः समीचीनयोः प्रवर्तकं इति निरूपणा श्रुतवर्णजननम् ।

उखात्रातुं, सुखं वातुं, निधीनां चाधिपत्ये स्थापयितुं, स्वचक्रविक्रमानमितसकलभूपालेस्वचरणवद्धमरुत्चक्राश्चक्रालङ्घनान्पादयो पातयितुं, सुरयिलासिनीचेतः समोद्भावह, तदीयविलुप्तपापीनलोचनरागमभिवर्धयितुं, हर्षभरपत्न्यशोदिभ्रस्राद्रोमाचक्रकुम्भाचरितुं, उद्यतां रूपशोभामंदिरा सपादयितुं, अतिशयिताणिमादियुगमसाधनां, सामानिकादिसुरसहस्रायुयानोपनीतमहत्तां, सततप्रत्ययशुभयतालिगिता सुभगतालतारोहयष्टिम्, अनेकसमुद्रविदुगणनागगणितायु स्थितिं, मेरुकुरुसुरसारिकुलाचलादिगोचरस्वच्छाविहारचतुरा, सुरांगनापृथुलनितिविवाधरकठिननिविडसमुद्रतकुचतटक्रीडालोकनस्पर्शनादिक्रियोपयोगामितमीतिविस्मितां, शतमखतामखदेने झटिति घटयितुं, विरूपताजनीजराङ्गकिनीनामगोचरा शोकवृकानुल्लंघितां, विपद्वायान्लाशिषाभिरनुपप्लुता, रोगोरगेरदृष्टवपुणं, यममहिपबुं

रात्राडिता, भीतिवराहसमितिभिर्गुह्यलिखिता, सकृदशतशरभैरनभ्यासिता, प्रियवियोगचण्डुडरीकेरसेविता, अनर्घ्यसु-  
खरत्नप्रभवभूमिं निर्भूतिं प्रापयितुं समर्थो जिनप्रणीतो धर्म इति धर्मस्वरूपकथन धर्मेवर्णनजननम् ॥

उन्नाटिताप्रियवचनमुखरदुर्भेदवधुसमितिशुलला, दुस्तरतरससारावर्तविरपरिश्रमणचकितसेवपथुद्वया,  
अनित्यभावनावहितचेतस्तया निरस्तशरीरद्विणाद्विगोचरा, तु खसहितसपातरक्षाक्षमस्यापरस्य जिनप्रणीता  
दर्शनाभावात् तमेव शरणमित्युपगताः । ज्ञानरत्नप्रदीपप्रभाप्रकरनिर्मूलितभुवनभवनान्तर्लोनाज्ञानध्यानतस्ततय,  
कर्मणामादाने, तत्फलानुभवने, तन्निर्मूलने च वयमेकका एवेति कृतविनिश्चितय, असाधारणचेतन्याद्विलक्षणोपनीतभे-  
दोपेक्षयाऽन्ये यमभितरद्वयकलापादित्यन्तभावनयामासक्ता, सुखदुःखयोररुतादरद्वेया, सदसद्वेदोदयकर्मनिमित्तसत्त्वेन  
ममाद्वितमनमिमं चापेक्षते इति उपकाराणकारयोरद्वयव प्रणेता, किं कुर्वन्तीति मत्वा स्वजनपरजनविवेकिनश्चसुका, समंतादुपसर्ग  
उपचरितत्वात् । अनुग्रहनिग्रहयोः परे चराक्ता, किं कुर्वन्तीति मत्वा स्वजनपरजनविवेकिनश्चसुका, समंतादुपसर्ग  
महोरौखार्यवीर्यवज्ज्या अव्यविचलद्वृत्तय, क्षुत्पिपासादिपरीपहमहारतिसरस्मससपातेऽप्यदीनासक्लिष्टचेतोवृत्तय,  
त्रिगुप्तिगुप्तिमुपाश्रिता, अनशनादितपोराल्यपालनोद्युक्तमतय, धृतानूनव्रतकथचा, गृहीतशीलवेदा, उद्गीर्णयाना-  
तिनिश्चितमंडलाग्रा, कर्मोत्प्लूतनासाधनोयता साधव इति साधुमाहात्म्यप्रकाशन साधुवर्गवर्णजनन ।

मुक्ताह्वारपयोधरनिशाकरवासराधीश्वरकल्पमहीकहादय इव प्रत्युपकारानोपेक्षानुग्रहव्यापृता, निर्वाणपुरपरिप्रा-  
पणक्षमे मार्गे निर्मले स्थिता, परानपि विनतान्विनेयान्प्रवर्तयन्तः, आयतातिथवलशानपटुलदर्शनपक्ष्मलेक्षणा, कुलीना,  
विनता, विमया, विमाना, विरागा, विशाल्या, विमोहा, वचांसि तपसि महसि चाऽद्वितीया इव भूषण सूर्य इति सूरिवर्ण  
जननम् ।

अधिगतश्रुतार्थयाथातथ्यवाच्यवाचकाङ्गुरुपव्याख्याना, निरस्तनिद्रातन्त्रीप्रमादा, सुचरिता, सुशीला, सुमे-  
धास, इत्याध्यापकवर्णजनन ।

रत्नत्रयालामादन्तकाल अयमनादिनिघनोऽपि भव्यजीवराशिननिर्वाणपुरमुपैति तल्लभे च सकला. सपद-  
सुलभा. इति मार्गवर्णजनन ।

मिथ्यात्वपटलविपाटनपटीयसी, ज्ञाननैर्मल्यकारिणी, अशुभगतगमनप्रतिघंवविधायिनी, मिथ्यादर्शनविरो-  
धिनीति निगदन् समीचीनदृष्टेर्वर्णजननम् ।

सर्वस्वतावीतरागते नाहति विद्येते रागादिभिरविद्यया च अनुगताः समस्ता एव प्राणमृत इत्यादिर्ह-  
तामवर्णवद् ।

स्त्रीवल्लगधमाल्यालंकारादिविरहिताना सिद्धाना सुखं न किञ्चिदतीन्द्रियाणां । तेषां समधिगतौ न नि-  
बन्धनमस्ति किञ्चिदिति सिद्धार्णवाद् ।

सकल्पनभिर्यमर्हक्षेप सिद्ध. इत्यचेतनस्य व्यवस्थापनायामपि दारिकाणां कृत्रिमपुत्रकथ्ययह्निरिव न  
मुख्यवस्तुप्राप्तोद्भव फलं लभ्यते । न प्रतिथियादिस्था अर्हदादयः प्रतिविधानमर्हदादित्वमिति

चेत्यावर्णवादः ।

पुरुषकृतत्वाद्दशदण्डिमादिवाक्यवदयथार्थता नार्तीद्रियं वस्तु पुंसो ज्ञानगोचरं, अज्ञातं चोपदिशतो वच कथं सत्यं ? तदुद्गतं च ज्ञानं कथं समीचीनमिति श्रुतावर्णवादः ।

दुर्गतिप्रतिबन्धं स्वर्गादिकं च फल विधत्ते धर्म इति कथमदृष्टं श्रद्धीयते ? न हि सन्निहितकारणस्य कार्यस्यानुद्भवोऽस्ति यथाकुरस्य । सुखप्रदायी चेद्धर्मः स्विनपत्यनंतर सुखमात्मनः किं न करोति इति धर्मावर्णवादः । अहिंसादिव्रतपालनोद्यता. साधवः, सुरयोऽध्यापकाश्चेत्यन्ते । अहिंसाव्रतमेवैषां न युज्यते पद्मजीवनिकायाकुले लोके वर्तमानाः कथमहिंसकाः स्युः ? केशोल्लुचनाविभिः पीडयता च कथं नात्मबन्धः ? अदृष्टमात्मनो विषय, धर्म, पापं, तत्फलं च गदतां कथं सत्यव्रतम् ? इति साध्वर्णवादः । एवमितरयोरपि ।

विरुद्धानां एकत्र धर्माणामसंभवात् विरुद्धाभिमतधर्माधिकरणैकवस्तुज्ञापनं न सम्यक् । 'तदभिरुचेनं समीचीनता विपर्ययज्ञानानुगतत्वात्पुण्योदकश्चैव, मिथ्याज्ञानानुगतत्वाच्चरणमपि न सम्यक् । उरगप्रत्ययवल्लद्रज्जुपरिद्वार इवेति प्रवचनावर्णवादः ।

एतेषामवर्णवादानामसंभवप्रदर्शनं । पुरुषत्वाद्दृष्ट्यापुरुषवत् सर्वज्ञो वीतरागो वा न भवत्यर्हन् इति साधनमनुपपन्नं । असर्वज्ञतामवीतरागतां चान्तरेण पुरुषता नोपपद्यते इत्यन्यथानुपपत्तेरभावात् । जैमित्त्यादयो न सकलवेदार्थज्ञा पुरुषत्वादविपालयन् इति शक्यं वक्तुम् । सर्वज्ञतावीतरागतासिद्धिश्चान्यत्र निरूपितेति नेह प्रतन्यते । दुःखप्रतीकारार्थं वस्तु मूढानां सुखसाधनव्यवहारः । शरीरायासमात्रत्वाच्च, कामिनीसमागमसुखं । वैरूच्यनाशनैर्वस्त्रादिभिर्न कृत्यं सिद्धाना । अशरीराणां सकलदुःखापायरूप सुखं अविकलमनंतज्ञानात्मकं तेजस्वस्थितं । श्रुत निवधनं तदधिगमे । शुभोपयोगनिमित्ततार्हदादीनामिव प्रतिर्विवानामिति न बुद्ध्येत्येक्षिता ॥

मूलारा—भस्ती—भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागः । पूया पूजा सा च द्वेधा द्रव्यभावमेवात् । तत्र द्रव्यपूजा अर्हदादीदुद्दिश्य गंधाक्षतादिदानं । भावपूजा कार्येन अभ्युत्थानप्रदाक्षिणीकरणप्रणामादिका । वाचा गुणस्त्वन । मनसा गुणानुस्मरणं ॥ वणजणर्ण—विदुषा परिपदि यशोजननं गुणकीर्तनमिति यावत् । तत्र सुगतादीना दृष्टष्टविरुद्धवचनता-प्रकाशेनानासर्वज्ञत्वं प्रज्ञाप्य तत्संवाविचनतया महत्त्वप्रख्यापनमर्हता वर्णजननं ।

एवं परमतग्रसिद्धान् सिद्धानपोह्य जिनमतेन तत्स्वरूपनिरूपणं सिद्धाना वर्णजननं । तथा हि—न तावत्साख्योक्ता सिद्धता घटते । चैतन्यमात्रावस्थानरूपे निर्वाणे पुंसोऽपूर्वातिशयप्रेमभावात् न ससारिभ्यः कचिद्दिशेष्टस्तद्रूपमुक्तेः सर्वेषामयत्नसिद्धतया सदा सत्वात् । चैतन्यमात्रस्य ज्ञेयकारपरिच्छेदे पराहमुत्तस्य विशेषरूपपरहितत्वादसत्त्वं खपुष्यवत् । न च अकृतेर्वैद्वल्यवन्मुक्तेरपि किंचित्फलमात्मनः । नापि वैशेषिकोक्ताना

ज्ञानादिगुणानां अत्यन्तान्मुक्तिर्भुक्तिर्युक्ता । न खलु कश्चित् स्वगुणस्य सतो विनाशाय सचेताः प्रयतते, किं तर्ह्यतिशयाधानाय । किं पुनश्चेतनस्य विशेषलक्षणशून्यस्य चात्मनः कथं सत्ता उपप्लवत् ? तथाहि-नासौ वैशेषिकाभ्युपगत आत्मा आत्मदुःखयादिगुणरहितत्वादश्मवत् । नापि बौद्धमतो निराक्षवर्चित्यतिलक्षणो मोक्षः श्रोतुं श्रमते । चित्तक्षणो हि रागादिक्लेशवासनारहितो यदि प्राक्तनात्सालवचित्तक्षणादुत्पद्येत तर्हि कुतस्तस्य निराक्षवत्त्वं ? निराक्षवात्-स्मात्तस्योत्पत्तो तु तस्यापि कुतो निरावलम्बत्वमित्यनवस्था । न च पूर्वेण सर्वथा नष्टेन परो जन्येत मृतेन पित्रा पुत्रवत् । नापि ब्रह्माद्वैतवादिकल्पितनिर्वाण प्रमाणं । ते हि यथा घटविघटने घटाकाशमाकाशीभवति तथा देहोच्छेदात्सर्वं प्राणी परं ब्रह्मणि लीयते इति तल्लक्षणमाचक्षते । तदसत् । निस्तरौकरूपपरमब्रह्मणः कुतश्चित्प्रमाणादसिद्धत्वात्, भेदस्यैव सकलप्राणिना निरावाधबोधे प्रकाशमानत्वात् । अमेदस्य तन्निरोधस्य स्मरणप्रतीतिः । एवं मतान्तरोक्तानां सिद्धान्ता अध दम्बदुःसारसंसारकारणकर्मनिर्मूलनोन्मीलितानिर्मूलनिश्चलविश्वदार्शिकीचिद्रूपसमवस्थानलक्षणं स्वारथ्यमास्थिताः अनन्त-ज्ञानात्मकैः सुतेन सतृप्ताः सिद्धा इत्यादि तद्गुणकीर्तनं सिद्धवर्णजननं ।

चेत्यवर्णजननं यथा—अर्हदादीनां शातरूपत्ववीतरागत्वाद्विगुणानुस्मरणादपूर्वपपनिरोधोऽभिनवपुण्याल्लवण, पुण्योदयस्फारीभावः, पापेदयापकर्षश्च स्यात् । तच्च तत्प्रतिविम्बदर्शनादुत्पद्यते । पुत्रसदृशदर्शनात्तद्गुणस्मरणवत् । बाह्य-द्रव्यालम्बनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामः स्यात् इष्टानिष्टार्थसांनिध्याद्रागद्वेषवत् । अथवा अर्हदादिप्रतिरूपदर्शनात्तद्रूप समर्थे, ततश्च तद्गुणः ॥ तथा चोक्तं—भूपावेपायुयत्यानी विद्यादमदयापरं ॥ रूपमेव तवाचेष्टे धीरदोषविनिग्रहम् ॥ तदेवमर्हदादिवत्तच्चैत्यान्यपि शुभोपयोगहेतुतया सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वादुपासनीयानि इति चैत्यमहत्ताप्रकाशनं तद्वर्णजननं ।

श्रुतज्ञानं हि केवलज्ञानवद्विश्वतत्त्वावभासि, कर्मनिर्मूलनोद्यतशुभध्याननिदानं, स्वपरसमुद्धरणानिरतविनयजनता प्रार्थनीयं, प्रतिबद्धशुभाक्षवं, अप्रमत्ततायाः संपादकं, सकलविमलप्रत्यक्षज्ञानवीजं, समीचीनदर्शनचरणप्रवर्तकमिति निरूपणं श्रुतवर्णजननं ॥

चतुर्गतिदुःखात्वातुं, निरातंकातिशयितदीर्घकालोपलभितं सुखं दातुं, सकलसाम्राज्यं स्वर्गोधिप्राज्यं चाधिकतुं, सुंदरनागैर्द्रान्पादयोः पातयितुं, समवसरणादिवहिरंगानंतज्ञानाद्यंतरंगंक्षमीलक्षणा जीवन्मुक्तिं, सम्यक्त्वाद्यष्टगुणलक्षणा-मात्यंतिकीं परममुक्तिं च संपादयितुं समर्थो विनश्रणीत एव धर्मो नान्य इति धर्ममहिमल्यापनं धर्मवर्णजननम् ॥





श्रिद्धिशुद्धिरिति सर्वे पुरुषाः सर्वदा रागादिदोषदूषिताः अत एवातीन्द्रियं वस्तु न कश्चिज्जानाति । अज्ञातं च उपदिशतो न वचः सत्यं, तद्भूतं च ज्ञानं मिथ्यैवेत्यादि. श्रुतस्य ॥

श्रीतोष्णसर्वत्वपरस्परविरुद्धानामस्तित्वादिधर्माणामेकत्र वस्तुन्यस्यभावात् विरुद्धाभिमतभयोधिकरणैकवस्तुस्त्वापनं न सम्यक् । नापि तच्छ्रुतानं मृगतृणोदकश्रद्धानवन्मिथ्याज्ञानानुगचात्रापि चरणं रज्जौ सर्पप्रत्ययात्तत्परिहारवत् अस-  
त्यज्ञानपूर्वक इत्यादिः प्रवचनस्य ॥ यदा तु प्रवचनशब्देन द्रव्यश्रुतमुच्यते । तदेदं जैनानां शाखं शब्दशास्त्रविरोधिः  
म्लेच्छभाषानिवद्ध, लोफशास्त्राप्रसिद्धत्वाद्विवक्षितार्थप्रतिपादनासमर्थमित्यादि ॥ दर्शनवर्णवादस्तु रत्नत्रयवर्णवा-  
दान्तर्गत एव । पृथग्दर्शनस्योपादानं तु विशिष्टतद्भूतयादिगोचरत्वमूचनार्थं । अर्हदाद्यवर्णवादपरिहारस्तु यथाशास्त्रं प्रति-  
पत्तव्यः ॥ आसादना अवज्ञा ॥ अर्हदादिषु दशस्वपि भक्त्यादयः पंचापि सम्यक्त्वस्य विनयो माहात्म्याधायकत्वात् । इति  
गाथाद्वयसंग्रहार्थः ॥

हिंदी अर्थ—अर्हदादिगुणोंमें प्रेम करना भाक्ती है. पूजाके द्रव्यपूजा और भावपूजा ऐसे दो भेद हैं.  
अर्हदादिकोंके उद्देश्यसे गंध, पुष्प, धूप, अक्षतादिक समर्पण करना यह द्रव्यपूजा है. तथा उठ करके खड़े होजाना,  
तीन प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना वगैरे शरीरक्रिया करना, वचनोंसे अर्हदादिकोंके गुणोंका स्तवन करना यह  
भी द्रव्यपूजा है. मनसे उनके गुणोंको चिंतन करना यह भावपूजा है.

वर्णजनन—वर्ण शब्दके अनेक अर्थ हैं. वर्ण-शुक्लादिक वर्ण, जैसे 'शुक्लवर्णमानय' अर्थात् सफ़ेत  
रंगको लाओ. वर्ण शब्दका अर्थ अक्षर ऐसा भी होता है 'सिद्धो वर्णसमान्माय.' वर्णोंका समुदाय अनादि  
कालसे है. वर्ण शब्दका अर्थ ब्राह्मणादिक ऐसा भी है. यथा 'अत्रैव वर्णानामधिकारः' इस कार्यमें ही ब्राह्मणादिक  
वर्णोंका अधिकार है. यहांपर वर्ण शब्दका 'यश' ऐसा अर्थ माना जाता है. जैसे 'वर्णाथी ददाति' यशकी काम-  
नासे देता है. प्रस्तुत 'वर्णजनन' इस शब्दमें वर्ण शब्दका अर्थ यश ऐसा समझना चाहिये.

अर्हदादि परमेष्ठिओंका चिदानोंकी समाप्ति यशोगान करना, उनका महत्त्व बताना इसको 'वर्णजनन'  
कहते हैं.

कपिल, बुद्ध, ईश्वरादिक सर्वज्ञ नहीं थे, उनके वचन प्रत्यक्ष अनुमानादिकोंसे विरुद्ध-वाधित होते हैं  
ऐसा सिद्ध करके अर्हदादिकोंके वचन युक्ति और आगमसे अविरुद्ध हैं ऐसा सिद्ध करना, इस रीतीसे उनको महत्ता

प्रकट करना यह अर्हदार्थिकोंके वर्णजनन हैं. आत्मको जब मोक्ष प्राप्त होता है तब वह अपने चैतन्यमें स्थिर होता है ऐसा सांख्य कहते हैं. मुक्तात्माका चैतन्य फक्त स्वस्वरूपको जानता है. बाह्य पदार्थको वह जानता ही नहीं-ऐसा उनका मत है. परंतु यह मत युक्तिसिंघाधित होता है. प्रयत्नके बिना ही सर्व आत्मामें चैतन्य मदा विराजमान है ही. वैसा ही यदि मुक्तमें भी होगा तो उसका विशेषरूप संसारी आत्माके चैतन्यस्वरूपसे भिन्न नहीं है ऐसा मानना पड़ेगा. अर्थात् मुक्तात्माके चैतन्यमें कुछ अपूर्वता है नहीं ऐसा सिद्ध हो गया. जिसमें कुछ अपूर्वता नहीं रहती है वह चीज इतर वस्तुसे अपना भिन्नपना सिद्ध नहीं कर सकनेमें खण्ड्यके समान असत् ही समझनी चाहिये ।

प्रकृतितत्त्व अचेतन होनेमें उममें मुक्तिकी कल्पना करना फिजूल है. वह मैं वद हूं अथवा मुक्त हुआ हूं ऐसा जानती ही नहीं. अतः कापिलके-सांख्यके मतमें मुक्तावस्था आत्माकी सिद्ध हो नहीं पाती.

बुद्ध्यादि विशेष गुणोंमें रहित मोक्ष है ऐसा वैशेषिकोंका मत है परंतु वह भी मसुचित नहीं है. आत्मामें अचेतनताकी कल्पना फोन सचेतन प्राणी करेगा ? अर्थात् आत्मामें ज्ञान है यह बात बाल गोपालतक स्वीकारते हैं. यदि मुक्तावस्थामें आत्माका ज्ञान नष्ट हो गया तो वह अपनी सिद्धिके लिये किमका आश्रय करेगा ? अर्थात् ज्ञान यह आत्माका विशेष लक्षण हैं. उसके बिना उमकी सत्ता ही नष्ट हो जाती है. जैसे भस्ममें ज्ञान न होनेसे उसको कोई आत्मा नहीं कहते हैं वैसे ही मुक्तात्मा ज्ञानशून्य हो जानेसे अपना आत्मत्व खो चुके हैं ऐसा मानना पड़ेगा.

रागद्वेषादि द्वेषोंको उत्पन्न करनेवाला वामनाओंसे रहित जब ज्ञान हो जाता है तब वह मुक्त माना जाता है ऐसा बौद्धोंका मत है. यहां हम उनको पूछते हैं कि, यदि वह ज्ञान अत्यंत अभाधारण रूप और एक ही है, दूसरे पदार्थ ज्ञानके समान अभाधारणरूपके धारक नहीं है ऐसा कहेंगे तो दूसरे पदार्थोंका स्वरूप वर्णन करने लायक नहीं है ऐसा निश्चित हो गया. जो जो वस्तु असाधारण स्वरूपसे रहित है वह वह आकाशगुण्यके तुल्य अभावरूप माननी पड़ेगी.

इस रीतिमें अन्यमतमें सिद्धोंका स्वरूप सिद्ध होता नहीं. अतः बाधक सकलकर्मका नाश हो जानेमें अविनाशी आत्मस्वरूपको जो प्राप्त होगये हैं वे सिद्ध परमेष्ठी हैं. वे अनंत ज्ञानरूपसुरामें तृप्त हुये हैं. ऐसा उनका माहात्म्यकथन करना यह सिद्धमाहात्म्यवर्णन है.

जैसे जिनके रागद्वेष नष्ट हुये हैं जो त्रैलोक्यचूडामणि हैं ऐसे अर्हदादिक भव्योंको 'शुभोपयोग उत्पन्न होनेमें कारण हो जाते हैं, वैसे उनके प्रतिबिम्बभी शुभोपयोग उत्पन्न करते हैं, बाह्य पदार्थके आश्रयसे शुभ वा अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं, आत्मामें इष्टानिष्ट पदार्थका साभिध्य होनेसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, अपने पुत्रके समानही दुसरेका सुंदर पुत्र देखनेसे अपने पुत्रकी याद आती है, इसीतरह अर्हदादिकोंके प्रतिबिम्ब देखनेसे अर्हदादि परमेष्ठिओंके गुणोंका स्मरण हो जाता है, इस स्मरणसे नवीन अशुभ कर्मका संवर होता है, नवीन शुभ कर्मोंका आगमन होता है, जो शुभप्रकृति ग्रहण की गई है उसमें वृद्धि होती है, पूर्वमें ग्रहण की हुई अशुभ प्रकृतियोंका रस क्रम करनेमें समर्थ होता है, इसलिये समस्त इष्टपुरुषार्थकी सिद्धि करनेमें प्रतिबिम्ब हेतु होते हैं, अतः उनकी उपासना अवश्य करनी चाहिये, इस तरहसे चैत्यकी महत्ता प्रकाशित करना यह चैत्यवर्ण जनन है.

श्रुतज्ञानवर्णजनन—श्रुतज्ञान केवलज्ञानके समान संपूर्ण जीवादि द्रव्योंके यथार्थ स्वरूपका प्रकाशन करनेमें समर्थ है, कर्मरूपी उष्णताको नष्ट करनेके लिये उद्युक्त हुवा जो शुभ ध्यानरूपी चंदनवृक्ष उसको यह श्रुतज्ञान मलयपर्वतके समान है, स्वतःका और भव्यजीवोंका उद्धार करनेमें तत्पर ऐसे विद्वान लोगोंके द्वारा यह ज्ञान आराधन योग्य है, यह अशुभ कर्मके आसवोंकी उत्पत्ति होने नहीं देता है, इस श्रुतज्ञानसे आत्माका प्रमाद नष्ट होता है, सकल और विकल ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें यही कारणभूत है, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्यकी इससेही प्रवृत्ति टिक सकती है, इस तरहसे श्रुतज्ञानके महत्त्वा कथन है.

धर्मवर्णजनन—यह जैनधर्म दुःखोंसे जीवको बचाता है, सुख देनेमें समर्थ है, नवनिधी और चौदह रत्नोंका अधिपति करता है, जिन्होंने अपने चक्ररत्नसे संपूर्ण भूगोचरी राजे, विद्याधर नृप और गणवद्भ देव वंश किये हैं ऐसे चक्रवर्ती भी इस धर्मके प्रभावसे नम्र होकर चरणोंपर नमस्कार करते हैं इसके प्रभावसे इंद्र पदवी प्राप्त होती है, यह पदवी देवांगनाके चित्तको लुप्तमानेवाली है, उसके पंचलभस्म्यके तुल्य नेत्रोंमें प्रेम उत्पन्न करती है, हर्षसे शरीरमें रोमांच उत्पन्न करती है, इस पदवीके धारक देवमें धर्मके प्रसादसे सर्व देवोंसे भी अधिक महत्त्वशाली अणिभामहिमादिक ऋद्धि प्राप्त होती है, हमेशा इंद्र तारुण्यसे युक्तही रहता है, उसका शरीर सौंदर्यरूपी लताके आरोहणके लिये थड़ीके समान होता है, इंद्रका आयुष्य अनेक सागरोंके जलविंदुओंकी गणना

तुल्य चडा रहता है, अर्थात् अनेक समुद्रोंमें जलविंदु जैसे अगणित रहते हैं पैसा इंद्रका आयुष्य अनेक मागोंपरम रहता है, वह इंद्र मेलपर्वत, ऊर्ध्वभूमि [ देवकुल और उन्नतकुल भोगभूमि ] गंगादि महानदियां, हिमवदादि कुल पर्वत, इत्यादि स्थानोंमें खेच्योमें विहार करता है, देवांगनाओंके विशाल नितंबर, अधोष्ठ, रुठिन, ऊंचे आंग विशाल ऐसे स्तनतट इनके साथ वह क्रीडा करता है, उनको अपलोकिन और स्पर्श करके बहुत आनंद लुटता है, ऐसी महत्त्वशालिनी इंद्रपदवी इस जिनधर्मके प्रसादमें समुप्य प्राप्त कर सकता है.

इस जिनधर्मके प्रसादमें मोक्षकी भी प्राप्ति होती है. कुरुपता उत्पन्न करनेवाली दृष्टारस्या रूप डाकिनी इस अभिनय ज्ञानमय मोक्षको स्पृश नहीं करती है, शोकस्त्री दृक मोक्षभूमिमें प्रवेश नहीं करते हैं, यह भूमी विषविरूप दामाश्रीकी ज्वालाओंमें अलस रहती है, रोगस्त्री दृष्ट गर्भ उमरे गरीरको दंग नहीं करते हैं, यह मोक्षभूमि यममहिर्गके शृंगमें अवडित रहती है, भीतिस्त्री प्रगह्वोंमें उक्रीर्ग जाती नहीं है, संक्लेश परिणामस्त्री शरभ इसमें वास नहीं करते हैं, मियावियोगस्त्री हृत् व्याघ्रोंमें यह रहित है, यह अनुपम सुररूप रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली स्वनी भूमि है, ऐसी मोक्षभूमि जिनधर्मके प्रसादमें भव्य जीव पा सकते हैं, इन तरह धर्मका साहाय्यरुचन करना यह धर्मापन्नजनन है.

माधुर्य वर्णजनन-प्रियवचन गोलनेमें चतुर ऐसे मधुगण दुर्ध्व शृंगलाके समान हैं, परंतु माधुर्य इन चंगुललाको झटसे तोड़ते हैं, दुस्तर मंगारस्त्री भोगोंमें चिरकालतक ध्रमण करनेमें उनका हृदय भययुक्त रहता है, हमेशा अनित्य भावनामें उनका चित्त आसक्त रहनेमें शरीर, धन, वंगर पदार्थोंमें वे आसक्ति नहीं रखते हैं, यह जिनधर्म ही मेंकड़ो दुःखोंमें हमारा रक्षण करता है, इसको छोड़कर दुःख कोई भी इसको दुःखोंमें छुड़ानेवाला नहीं है ऐसा मनमें विचार कर उसके ही शरणमें जाते हैं, श्रीसाधुपरमेश्वरी ज्ञानस्त्री रत्नदीपककी प्रभामें जगद्गुपी शुद्धमें छिपकर बड़े हुए अज्ञानांधकारको मगाते हैं, कर्मोंको ग्रहण करना, उनके फलोंको चखना और उनको निर्मूलन करना इन कार्योंमें हमको कोई महाप्य नहीं कर सकता है, हमको ही ये कार्य करने पड़ते हैं, ऐसा अपने मनमें निश्चित करते हैं, अमाधारणचतुष्य हमारा लक्षण है इससे हम इतर अजीपादि पदार्थोंसे भिन्न हैं ऐसी भावना कर इतर द्रव्योंसे वे अपनेको सर्वथा भिन्न भाते हैं, वे सुखमें आदर तथा दुःखमें द्वेष करते नहीं हैं, यदि वेमें मातापेदनीय कर्म होगा तो अन्यजन सेग आदर करेंगे यदि नहीं होगा तो सेग वे द्वेष करेंगे अतः में

ही अपने ऊपर उपकार या अनुपकार करता हूँ, शुभ या अशुभ कर्म उत्पन्न करनेमें मैं स्वतंत्र हूँ, अनुग्रह और निग्रह अन्य लोक करते हैं यह मानना औपचारिक है, ये लोक दीन हैं ये कुछ करने धरनेमें समर्थ नहीं हैं ऐसा विचार कर ये मेरे बंधुगण हैं, ये मेरे शत्रु हैं ऐसी भावनाको वे हृदयसे दूर करते हैं, जिनका सामर्थ्य अनिवार्य है ऐसे उपसर्गरूपी सपास धिरे हुए भी वे तिलमात्र भी घबड़ाते नहीं हैं, क्षुधा, तृणादिपरीपहरूपी शत्रु बड़े जोरसे आक्रमण करते हैं, तथापि वे दीन होकर मनमें संकेशयुक्त नहीं होते हैं, वे तीन गुप्तिरूपी गुप्ती-का आश्रय लेते हैं, अनशनादितपोराज्यका पालन करनेमें उद्युक्त होते हैं, संपूर्ण महाव्रतरूप कवचको धारणकर हाथमें शीलरूपी ढाल लेते हैं, म्यानसे बाहर निकाली हुई ध्यानरूपी तरवार वे अपने हाथमें लेकर कर्मशत्रुकी सेना जीतते हैं, इस तरहसे साधुपरमेष्ठीका माहात्म्य प्रगट करना यह साधुवर्णजनन है.

आचार्यवर्णजनन — मोतिओंका हार, मेघ, चंद्र, सूर्य, कल्पवृक्ष वगैरे पदार्थ ग्रन्थुपकारकी अपेक्षा न करके ही उपकार करते हैं, आचार्यपरमेष्ठी भी उनके समान परानुग्रह करनेमें सदा उद्युक्त रहते हैं, वे निर्वर्णनगरी के प्रति ले जानेवाले निरतिचार चारित्ररूपी मार्गका स्वयं अवलंबन करके नम्र हुए ऐसे शिष्यादिक भव्य जीवों को भी उस मार्गमें प्रवृत्त करते हैं आचार्य निर्मल ज्ञान और विशालदर्शनरूपी पक्ष्मल नेत्रोंसे सब पदार्थोंको जानते हैं और देखते हैं, वे कुलीन, नम्र, निर्भय, अभिमानरहित, रागद्वेष रहित, माया, मिथ्यात्व, निदानरहित और मोहरहित होते हैं, वचनोंमें, तेजोंमें, तपमें वे अद्वितीय होते हैं, वे जगतके अद्वितीय अलंकार हैं, इस तरह आचार्यवर्णजनन समझना.

उपाध्यायवर्णजनन — उपाध्याय परमेष्ठी अच्छी तरहसे आगमके ज्ञाता होते हैं, वे जीवादि पदार्थोंका यथार्थ वर्णन करते हैं, शब्द और अर्थके वाच्यवाचक संबंधका निर्दोष विवेचन करते हैं, वे निद्रा, आलस्य और प्रमादका त्याग किये हुये हैं, निरतिचार चारित्रिके धारक, शील संपन्न और सम्यग्ज्ञान संपन्न होते हैं, यह उपाध्याय वर्णजनन है.

मार्गवर्णजनन — रत्नत्रयही मोक्षका मार्ग है, इसका लाभ जीवको यदि न हो जायगा तो अनादि ब अविनश्यर ऐसी यह भव्यजीवराशि मोक्षपुरीकी प्राप्ति नहीं कर सकेगी, जब उसका लाभ होता है तब जगतकी सर्व संपत्ति इस जीवकी प्राप्त होती है, यह मार्गवर्ण जनन है.

सम्यग्दर्शन वर्णजनन—सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वपटलको नष्ट करके सम्यग्ज्ञानमें निर्मलपना लाता है, नरक तिर्यचादि अशुभ गतिमें जानेसे रोकता है, यह मिथ्यादर्शनका शत्रु है ऐसा वर्णन करना यह सम्यग्दर्शन वर्णजनन है,

गुणवान ऐसे पंच परमेष्ठीओंमें जो दोष नहीं है वे दोष निकालना उसको अवर्णवाद कहते हैं, ऐसे अवर्णवादका निराकरण करनेसे दर्शनविनय होता है, अब अवर्णवादका वर्णन करते हैं—

वीतरागता और सर्वज्ञपना अर्हन्तमें नहीं है, जगतमें संपूर्ण प्राणी रागद्वेष और अज्ञानसे धिरे हुए ही देखे जाते हैं ऐसा कहना यह अर्हत्का अवर्णवाद है,

स्त्री, वस्त्र, इत्र वगैरे सुगंधी पदार्थ, पुष्पमाला और वस्त्रालंकार येही सुखके कारण हैं, इन पदार्थोंका अभाव होनेसे सिद्धोंको सुख नहीं है, सुख इंद्रियोंसे प्राप्त होता है, परंतु सिद्धोंको स्पर्शादि इन्द्रियां नहीं हैं अतः वे सुखी नहीं हैं, ऐसा कहना यह सिद्धावर्णवाद है,

जैसे छोटी छोटी कन्यायें गुड़ी यह मेरा चालक है ऐसा व्यवहार करती हैं, परंतु जैसे साक्षात् बालक गोदमें लेनेसे उनको सुख मिलेगा वैसे गुड़ीसे नहीं मिलता है वैसेहि ये अर्हन्त है वे सिद्ध परमेष्ठि हैं ऐसी अचेतन पदार्थमें स्थापना करके उपासना की तो भी समवसरणमें साक्षात् विराजमान अर्हन्तकी पूजा करनेसे जो फल मिलता है वह नहीं मिलेगा, मूर्तमें अर्हत् सिद्ध वगैरे पूज्य पुरुष वास नहीं करते हैं, क्योंकि उनके गुण मूर्तमें दीखते नहीं हैं, ऐसा कहना चैत्यावर्णवाद है,

श्रुतावर्णवाद—जैसे नदीके तीरपर दस दाडिम गिरे हैं हे लडको ! मागो ऐसा कहनेवाले पुरुषका वाक्य जैसा असत्य है वैसे आगम भी पुरुषकृत होनेसे असत्य है अप्रमाण है, पुरुषको अतींद्रिय वस्तुओंका ज्ञान होता नहीं है, और अज्ञात वस्तुका यदि वह उपदेश करेगा तो उसके उपदेशमें प्रमाणता कैसी आवेगी ? उसके उपदेशसे लोगोंको जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह भी प्रमाण कैसा माना जायगा ? अतः आगमज्ञान प्रमाण नहीं है ऐसा कहना यह श्रुतावर्णवाद है,

धर्मावर्णवाद—धर्म दुर्गतिसे प्राणीको बचाता है, और स्वर्गादिफल देता है यह कहना ही है, ये सब बातें परोक्ष हैं, प्रत्यक्ष नहीं है, अतः इनके ऊपर विश्वास रखना कैसा योग्य होगा ? जिसके कारण मौजूद रहते हैं वह

वस्तु उत्पन्न होती है जैसे बीज होनेसे अङ्गुरोत्पत्ति होती है, यदि धर्म सुखदायक है तो वह उत्पन्न होनेके अनंतर ही सुख क्यों उत्पन्न नहीं करता है, ऐसा कहना यह धर्मावर्णवाद है,

साधु, आचार्य और उपाध्याय ये सर्व मुनिराज अहिंसाव्रतका पालन करते हैं ऐसा जैनलोक कहते हैं परंतु इन मुनिओंका अहिंसाव्रत युक्तीसे सिद्ध होता नहीं, ये सर्वमुनि पांच स्थावरजीव व और त्रस जीवके समुदायमें विहार करते हैं, इसलिये ये अहिंसक कैसे होंगे ? ये साधु केशलोच, उपवासादिके द्वारा आपने आत्माको दुःख देते हैं इसलिये इनको आत्मवधका दोष क्यों न लगेगा, पाप और पुण्य दृष्टिगोचर होते नहीं है तो भी ये मुनि उनका और उनके नरक, स्वर्गादिफलोंका वर्णन करते हैं, उनका यह विवेचन झूठा होनेसे असत्य बोलनेका दोष उनसे होता है, इत्यादि कहना यह साधु अवर्णवाद है, इसी तरह आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठीका भी अवर्णवाद समझना चाहिये,

प्रवचनावर्णवाद—एक वस्तुमें परस्पर विरुद्ध स्वभाव नहीं रहते हैं, तो भी एक वस्तुमें उनकी कल्पना करना यह युक्ति संगत नहीं है, जो मनुष्य एकवस्तुमें विरुद्ध स्वभाव रहते हैं ऐसी श्रद्धा करता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, क्योंकि उसके श्रद्धाने विपरीत ज्ञानका अनुसरण किया है, जैसे मृगवृष्णामें की गई श्रद्धा मिथ्याज्ञानका अनुसरण करनेवाली होनेसे मिथ्या मानी जाती है, जैनलोगोंका चारित्र भी मिथ्याज्ञानका अनुसरण करता है अतः वह भी सच्चा नहीं है, दोरीमें सपकी आंति होनेसे जैसे रज्जुका त्याग हो जाता है, इस त्यागके समान ही मिथ्या-ज्ञानसे होनेवाला चारित्र भी आंत है, इत्यादि कहना प्रवचनावर्णवाद है,

अब उपर्युक्त अवर्णवादोंका असत्यपना संक्षेपमें दिखाते हैं, अर्हन् पुरुष होनेसे रास्तेसे जानेवाले प्रवासीके समान सर्वज्ञ और वीतराग नहीं है यह कहना असत्य है, क्योंकि असर्वज्ञपना व रागद्वेषीपना इनसे पुरुषत्वका अविनाभाव नहीं है, जैनलोक भी जैमिनी, बुद्ध वगैरह पुरुष भी मोडियोंको पालनेवाले मनुष्यके समान हैं ऐसा कह सकेंगे, अर्हन् सर्वज्ञ और वीतराग है इस बातका विवेचन अन्य न्यायग्रंथोंमें होनेसे हम यहां करते नहीं, जो पदार्थ केवल दुःख प्रतीकारार्थ ही है उनमें मूढ़ लोक सुखसाधनता मानते हैं, स्त्रीके साथ संभोग करना यह वास्तविक सुख नहीं है, क्योंकि स्त्रीको भोगते समय शरीरको बहुत आयासयुक्त करना पड़ता है अतः उसको सुख कहना



यह सोलह आना झूट है, कुरुपताको मिटानेवाले वस्त्रादिकोंकी सिद्धपरमेष्ठीको विलकुल आवश्यकता नहीं है, वे सिद्ध भगवान् शरीररहित हैं, अशरीर आत्मामें सकल दुःखोंका नाश होना यही सुख है, यह पूर्ण, अनंत और अनंतज्ञानात्मक है, आत्मामें रहा हुआ श्रुतज्ञान जीवादि पदार्थोंको जाननेमें निमित्त होता है जैसे अरहंत और आचार्यादिक शुभोपयोगके लिये कारण हैं वैसे उनके प्रतिर्विष भी शुभोपयोगके लिये कारण हैं, यह संक्षेपसे अवर्णयादका निरसन हुआ.

एवं दंसणमारहंतो मरणे असंजदो यदि वि कोवि ॥

सुविमुद्धतिव्वलेस्सो परित्तसंसारिओ होइ ॥ ४८ ॥

मृतावाराराधयन्नेवं निश्चरिओऽपि दर्शनं ॥

प्रकृष्टशुद्धलेइयाको जायते स्वल्पसंसृतिः ॥ ५१ ॥

विजयोदया—एवमित्यनया गाथया असंयतसम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वमाराधयत. फलमाचष्टे एवमिति पूर्वोक्तपरां मर्यादां । नैर्ग्रन्थमेव मोक्षमार्गः प्रकृष्ट इति । श्रद्धधाना 'शकादिकमपाकुर्वन्ति उपचृद्धणादिभिः । सम्यक्त्वस्य शुद्धिं वर्ययन्समीचीनं दर्शनविनयं संपादयन् । दंसणं श्रद्धानं । आराधन्तो निष्पादयन्मरणे भवंपर्ययप्रव्युत्तिकाले । असंजदो यदि वि यद्यप्यसंयतः । सुविमुद्धतिव्वलेस्सो कथायातुरंजिता योगवृत्तिलेइया, सा षोढा प्रविभक्ता कृष्णनीलकापोत्तेजोऽप्यशुक्लेश्वरमेवेन । तत्राशुभलेइयानिरासार्थं सुविशुद्धग्रहणं । तीव्रग्रहणं परिणामप्रकर्षोपादानाय । सुविशुद्धा तीव्रा लेइया यस्य सुविशुद्धतीव्वलेइयः । परित्तसंसारिओ अल्पचतुर्गतिपरिवर्तः । होदि भवति । अल्पसंसारता सम्यक्त्वापराधनायाः फलत्वेन दर्शिता ॥

एवंविधसम्यक्तत्त्वापराधनायाः फलमाचष्टे—

मूलारा—आराहंतो निष्पादयन् । सुविशुद्धातिव्वलेस्सो सुविशुद्धतीव्वलेइय. विशुद्धा शुभा तीव्रा परिणामप्रकर्षवती लेइया कथायातुरंजिता योगप्रश्रुतिर्यस्य सः । परित्त परिमितः । सम्यक्त्वत्पराधनायाः स्वल्पसंसारत्वमित्यर्थः ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेवाले असंयत सम्यग्दृष्टीको कोनसा फल मिलता है इसका इस गाथामें आचार्यने उल्लेख किया है. उपगृह्ण, वात्सल्य, स्थितिकरण और प्रभावना ये सम्यग्दर्शनके चार गुण हैं इनसे सम्यग्दर्शन शंकादिदोषोंसे रहित हो जाता है. सम्यग्दर्शनमें विशुद्धि

बढ़ जाती है, और दर्शनविनयकी प्राप्ति होती है, सम्यक्त्वकी आराधना करनेवाला कोई जीव यद्यपि असंयत सम्यग्दृष्टि होगा तथापि वह विशुद्ध और तीव्र लेख्याका धारक होनेसे अल्पसंसारी होता है, क्रोधादि कषायोंसे अनुरंजित योगकी प्रवृत्तिको लेख्या कहते हैं, उसके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल ऐसे छह भेद हैं, कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेख्यायें अशुभ हैं, यहां उत्तर तीन लेख्याओंका ग्रहण समझना चाहिये, जिसके तीन शुभ लेख्याके तीव्र निर्मल परिणाम हैं वह सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शनकी आराधनासे चतुर्गतिमें थोड़ा भ्रमण करके मुक्त होता है, अल्प संसार रह जाना यह सम्यग्दर्शनाराधनाका फल है ऐसा यहां समझना चाहिये.

सदृहया पत्तियया रोचय फांसतया पवयणस्स ॥

सयलस्स जेण पदे समत्ताराहया होंति ॥

रोचका जंतवो भक्त्या स्पर्शकाः प्रतिपादकाः ॥

आगमस्य समस्तस्य सम्यक्त्वााराधका मताः ॥ ५२ ॥

संवादार्य व्याख्यातृभिः सूत्रे पठिता गाथा यथा—

सदृहया पत्तियया रोचय फांसतया पवयणस्स ॥

सयलस्स जे णरा ते सम्मत्ताराहया होंति ॥

मूलारा—सदृहया श्रद्धानकारकाः मनसा । पत्तियया प्रीतिर्भूतः इदमेवोत्तममिति वचनेन । रोचय रुचियुक्ताः नखच्छोटिकाः । फांसतया अनुष्ठातारः

अर्थ—जो जीव जीवादितत्त्वोंके प्रतिपादक आगमपर मनसे श्रद्धान करते हैं, जो जिनकथित तत्त्व ही सर्वोत्कृष्ट है ऐसा वचनके द्वारा उच्चार करके श्रद्धान करते हैं, अर्थात् अन्तःकरणमें उत्पन्न हुवा श्रद्धानपरिणाम वचनके द्वारा व्यक्त करते हैं, जो चुटकीके द्वारा अर्थात् करतलघनिके द्वारा अपना तत्त्वश्रद्धान प्रगट करते हैं, तथा जो अपना तत्त्वश्रद्धान कार्य करके-धर्मप्रभावना-जिनपूजा, दान इत्यादिके द्वारा प्रगट करते हैं, वे सब जीव सम्यग्दर्शनके आराधक हैं ऐसा मानना चाहिये.

तत्त्वश्रद्धानपरिणामः कतिभेदः किं फलं इत्यस्य प्रतिवचने उत्तरप्रबंधं । तत्र भेदप्रतिपादनायाह—

तिविहा समत्ताराहणा य उक्कस्समज्झिमजहण्णा ॥

उक्कस्साए सिज्झदि उक्कस्ससुसुक्कलेस्साए ॥ ४९ ॥

उत्कृष्टा मध्यमा हीना सम्यक्त्वाराधना त्रिधा ॥

उत्कृष्टलेदयया तत्र सिद्धयच्युत्कृष्टया तया ॥ ५३ ॥

विजयोदया—तिविहा त्रिविधा । समत्ताराहणा सम्यक्त्वाराधना । उक्कस्समज्झिमजहण्णा उत्कृष्टमध्यम-  
जयन्या चेति । तत्र उक्कस्साए उत्कृष्टया सम्यक्त्वाराधनया । सिज्झदि सिध्यति निर्धृतिमुपैति । उत्कृष्टशुक्कलेश्यासहितया ।

सम्यक्त्वाराधनाया भेदनिर्देशपूर्वकं उत्कृष्टभेदस्य फलमाचष्टे—

मूलारा—स्पष्टम् ।

तत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम कितने तरहके हैं ? उनसे क्या फल मिलता है ? इसका उत्तररूप आगेका  
विषय लिखते हैं, ग्रथमतः सम्यक्त्वाराधनाके भेद दिखाते हैं—

अर्थ—सम्यग्दर्शनाराधनाके उत्कृष्टाराधना, मध्यमाराधना व जघन्याराधना ऐसे तीन भेद हैं, उत्कृष्ट  
शुक्कलेश्यासहित जीवको उत्कृष्ट सम्यक्त्वाराधनाके प्रभावे सुक्तिसुख प्राप्त होता है.

सेसा य हुंति भवसत्त मज्झिमाए य सुक्कलेस्साए ॥

संखेज्जा ऽसंखेज्जा वा सेसा भवजहण्णाए ॥ ५० ॥

भवन्त्यन्ये भवाः सप्त मध्यया मध्यलेदयया ॥

संख्याता वाप्यसंख्याता हीनया हीनलेदयया ॥ ५४ ॥

विजयोदया—सेसा अवशिष्टा । हुंति भवन्ति । किं भवा मनुष्यत्वादिपर्यायाः । कृति सत्त सत्त । मज्झिमाए  
य सम्यक्त्वाराधनया । सुक्कलेस्साए शुक्कलेदयया मध्यमया वर्तमानस्येत्युभाभ्यां मध्यमशब्दस्य संबंधो व्याख्येयः ।  
संखेज्जा संख्याता असंख्याता वा सेसा शेषा भवन्ति भवाः । जहण्णाए जघन्यसम्यक्त्वाराधनया मृत्तिसुपेतस्य ।

मध्यमजघन्ययोः फलमाह—

मूलारा—मञ्जिमाए—मध्यमया इदमुभयत्र योज्यं । तेन मध्यमशुक्ललेखायां वर्तमानस्य मध्यमया सम्यक्त्वा राधनया मृतिमुपगतस्यावशिष्टाः सप्तभवाः स्फुरित्यर्थः । संखेज्जा इत्यादि संख्याता असंख्याता वा भवन्ति शेषा भवा जघन्यया मृतस्येत्यर्थः । अन्ये तु संखेज्जाभंखेज्जा भवा य इति पठित्वा भवाश्रेत्यत्र च शब्देन अनंत इति समुच्चिन्वन्ति । वयं तु वा शब्दात् ।

अर्थ—मध्यम शुक्ल लेखाका आश्रय करके जो जीव मध्यम सम्यक्त्वाराधना करते हैं वे सात भव धारण करके मोक्षको प्राप्त करते हैं। जघन्य सम्यक्त्वकी आराधनासे जो मरण करते हैं वे जीव संख्यात अथवा असंख्यात जन्म धारण करके मोक्ष हस्तगत करते हैं।

उक्तास्तिन्न आराधना. कस्य भवन्ति इत्यस्योत्तरमाह गाथया—

उक्कस्ता केवलिणो मज्झिमया सेससम्मदिट्ठीणम् ।

अविरदसम्मादिट्ठिस्स संकिलिडरस हु जहण्णा ॥ ५१ ॥

तत्र केवलिनो वर्या मध्या सा शेषसदृशाम् ॥

असंयतस्य सदृष्टेर्हीनं संक्लिष्टचेतसः ॥ ५५ ॥

विज्ञयोदया—उक्तप्रा सम्यक्त्वाराधना भवति । कस्य केवलिणो केवलिनः । केवलमसद्वायं ज्ञानं । इन्द्रियाणि, मनः, प्रकाशोपदेशादिक वानपेक्ष्य वृत्तेः । प्रत्यक्षसाध्यादे आत्मकारणत्वादसाहायतास्तीति केवलत्वप्रसंग स्यादिति चेन्न कूटेर्निराकृतशेषज्ञानावरणस्योपजायमानस्यैव बोधस्य केवलशब्दब्रूते । केवलशब्दो यद्यपि सामान्येन केवलद्वये प्रवृत्त स्तथापीह अयोगिकेवलिश्रद्धान् इत्यन्यत्र मरणाभावात् ॥

उक्तप्रा कथं सम्यक्त्वाराधनाया इति चेत् इह द्विविधं सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वं धीतरागसम्यक्त्वं चेति । रागो द्विविधः प्रशस्तरागः अप्रशस्तराग इति । तत्र प्रशस्तरागो नाम पचगुरुषु, प्रवचने च वर्तमानस्तद्गुणानुरागतमकः । अप्रशस्तो रागो द्विविधः इन्द्रियविषयेषु मनोबोधेषु जायमानः । आप्तमासेषु, तत्प्रणीते सिद्धाते, तन्निरूपिते मार्गे, तत्स्थेषु वा प्रवर्तमानः दष्टिरागः इति । तत्र प्रशस्तरागसहितानां श्रद्धान् सरागसम्यग्दर्शनं । रागद्वयराहितानां क्षीणमोहावरणानां धीतरागसम्यग्दर्शनं । तस्याराधना उक्तप्रा रागमलाभावात् । अशेषत्रिकालगोचरवस्तुयात्मात्म्यग्राहिसरलज्ञानं सद्व्यचारित्वाच्च ।

मज्झिमगा मध्यमिका सम्यक्त्वाराधना भवति । सेससम्मदिट्ठीणं उपयुक्तेतरवचनः शेषशब्दः इति केवल-

भ्यो येऽन्येऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यादयस्ते परिगृह्यन्ते शेषदाष्टेन ।

तत्रापवादमाह—अधिरदसम्माविष्टिस्स असंयतसम्यग्दृष्टे । जहण्णा जघ्नया सम्यन्त्वाराधना भवति । किं सर्वस्य ? नेत्याह—सकिल्हट्ठस्स सेकिल्हट्ठस्य परीपहव्याकुलचेतसः इति यावत् ।

का सम्यक्त्वाराधना कस्य स्यादित्याह—

मूलारा—उक्कस्स उत्तुप्पट्ठा प्रशस्तेतररागात्कर्ममलविलयान्निखिलवस्तुयाथात्म्यप्राप्तिः कलज्ञानसहचरितत्वाच्च । अर्थादयोगकेवलिनस्तस्यैव मरणसम्भाव्यपरमोत्तुप्पट्ठलेइयासंस्कारव्यवहरणानुसरणाच्च । पूर्वप्रयोगादाविद्धकुलालचक्रवदिति सूत्रकारवचनात् । सेसा असंखिण्टसम्यग्दृष्ट्यादि । संकिल्हट्ठस्स परीपहव्याकुलमनस ।

कहीं हुई ये तीन आराधनायें किस जीवको प्राप्त होती है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं.

अर्थ—उत्कृष्ट सम्यक्त्वकी आराधना अयोगकेवलीको होती है, मध्यम सम्यग्दर्शनाराधना चाकीके सम्यग्दृष्टी जीवोंको होती है. परंतु परीपहोंसे जिसका मन उद्धिन्न हुआ है ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टीको जघन्य सम्यक्त्वाराधना प्राप्त होती है.

विशेषार्थ—असहाय ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं. शंका-इंद्रिया, मन, प्रकाश और उपदेशादिकोंका सहारा न लेकर फक्त आत्माके आश्रयसे अत्राधि व मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होते हैं. इस लिये उनको भी केवलज्ञान क्यों नहीं कहते हो ? उत्तर—अवध्यादिक ज्ञानको केवलज्ञान नहीं कहते हैं. जिसने सर्व ज्ञानावरणकर्मका नाश किया है ऐसे ज्ञानको ही केवलज्ञान वह शब्द रूढ है अन्य ज्ञानोंमें केवल शब्दकी रूढी नहीं है.

केवलि शब्द सामान्यसे सयोगकेवली और अयोगकेवली इन दोनोंमें प्रवृत्त है तो भी यहां केवली शब्दसे अयोग केवलीकाही ग्रहण होता है. सयोगकेवलीकी अवस्थामें मरण होताही नहीं.

केवलीका सम्यग्दर्शन उत्कृष्ट कैसा ? उत्तर—सम्यग्दर्शनके सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन ऐसे दो भेद हैं. रागके भी प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग ऐसे दो भेद हैं. पंच परमेष्टी, और जितानाममें जो गुणानुराग उत्पन्न होता है उसको प्रशस्तुराग कहते हैं. अप्रशस्तरागसे मनोहरविषयोंमें जो प्रेम उत्पन्न होता है वह पहिला अप्रशस्त राग है. और बुद्ध, कपिलदिक् आत्माभास और उनके सिद्धान्त, उनके द्वारा प्ररूपे हुए कुमार्ग तथा कुमार्गस्थ लोक इनके विषयमें हुआ जो अनुराग वह दुसरा अप्रशस्त राग है. प्रशस्तरागसहित जीवोंका जो

सम्यग्दर्शन वह् साराग सम्यग्दर्शन है, जिनके प्रशस्त और अप्रशस्त दोनो ही राग नष्ट हो गये हैं अर्थात् मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म जिनका नष्ट हो गया है उनके सम्यग्दर्शनको वीतराग सम्यग्दर्शन कहते हैं, केवली भगवानको उत्कृष्ट सम्यग्दर्शनाराधना होती है, क्योंकि संपूर्ण रागरूपी मल उनका नष्ट हुआ है, तथा त्रिकालवर्ती संपूर्ण पदार्थोंका यथार्थस्वरूप जाननेवाला ज्ञान सम्यग्दर्शनका साथी है, इसलिये भी केवली भगवानकी सम्यग्दर्शनाराधना सर्वोत्कृष्ट है, अविरतसम्पृष्टथादिक सम्यग्दर्ष्टि जीवोंकी सम्यग्दर्शनाराधना मध्यम दर्जेकी है, जो परीपहोसे व्याकुलचित्त हो गये हैं ऐसे अविरत सम्यग्दर्ष्टी जीव जघन्याराधक हैं ऐसा समझना चाहिये.

जघन्यसम्यक्त्वाराधनामाहात्यं कथयति—

संखेज्जमसंखेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्ठुणं ।

दुक्खक्खयं करंते जे सम्मत्तेणणुमरंति ॥ ५२ ॥

संख्यातामप्यसंख्यातामनुसृत्यापि संसृतिम् ॥

मृत्युकालेऽनुगच्छन्तो जीवाः सिध्यन्ति दर्शनम् ॥ ५३ ॥

विजयोदया—संखेज्जमसंखेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्ठुणं परिभ्रम्य । दुक्खक्खयं दु खक्षयं । करंति कुर्वन्ति । के जे । सम्मत्तेणणुमरंति सम्यक्त्वेन सह मृत्तिमुपयान्ति । नत्वियं जघन्या सम्यक्त्वाराधना तस्यां च मृत्युसस्य संसारकलो निरूपित एव । 'संखेजं वा असंखेजं वा सेसा जहण्णाण' इति तत्पुनरुक्ता स्यादिति । न, उक्तस्यार्थस्याविशेषेण भूयोऽभिधानं पुनरुक्तमिति, इह तु विशेषाभिधानमस्ति 'दुक्खक्खयं करंति' ।

जघन्यसम्यक्त्वाराधनामाहान्यमाह—

मूलरा—गुणं वा । वा शब्दादन्तं चेत्यर्थः । अणुसरित्ठुणं । परिभ्रम्य । अणुसरित्ता मरणे प्रतिपद्य । करंति इत्यादि ॥ एतद्विशेषव्यापनार्थत्वादस्योक्तार्थत्वेऽपि न दोषः ।

जघन्य सम्यक्त्वाराधनाकी विशेषता आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—जिनका सम्यक्त्वके साथ मरण होता है वे जीव संख्यात या असंख्यातभवतक संसारदुःखोंका क्षय करके मोक्षकी प्राप्ति कर लेते हैं.

शंका—इस जघन्यसम्यक्त्वाधनाका काल पूर्वमें 'सखेज्जा संखेज्जा वा सेसा जहण्णाए' इस गाथा-धर्म कहा है. वही अभिप्राय प्रस्तुत गाथामें पुनः आप कहते हैं इस लिये यहां पुनरुक्ति दीप आता है. समाधान-आपका कहना ठीक है. कहे गये अथकीही बार बार कहना वह पुनरुक्तिदीप है. परंतु यहां सम्यक्त्वाधनाकी विशेषता कही है इस लिये पुनरुक्ति दीप नहीं है. सम्यक्त्वाधनक दुःखोंका क्षय करके मुक्त हो जाता है यह विशेष-पता इस गाथामें आचार्यने दिखायी है अतः यहां पुनरुक्ति नहीं है.

सम्यक्त्वलाभमाहात्म्यनिवेदनाय गाथा—

लद्धूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालमवि जे परिवडंति ॥  
तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासद्धा ॥ ५३ ॥  
मुहूर्तमपि ये लब्ध्वा जीवा मुंचन्ति दर्शनम् ॥  
नानंतानंतसंख्याता तेषामद्धा भवस्थितिः ॥ ५७ ॥

इति बालमरणं समाप्तम् ॥

विजयोदया—लद्धूण लब्ध्वा । सम्मत्तं तत्त्वश्रद्धानं । कियत्कालं ? मुहुत्तकालमवि अंतर्मुहूर्तमात्रमपि ॥  
जे ये परिवडंति सम्यक्त्वात्प्रच्यवन्ति । अनंतानुबंधिनामुदयात् । तेसि तेषां सम्यक्त्वात्प्रच्युत्य  
मिथ्यात्वं गतानां । संसारवासद्धा संसारवसनकालोऽनंतो भवत्येवेति, तु शब्द एवकारार्थोऽत्र संबन्धने नेयः । अनंतानंत-  
ग्रहणं कुर्वता अनंतकालपरिभ्रमणसद्भावसूचनं कृतम् ॥ इति बालमरणम् ॥

मूलारा—तु एवार्थे । मुहुत्तकालं अन्तर्मुहूर्तमात्रं । परिवडंति । सम्यक्त्वात्प्रच्यवन्ते अनंतानुबंधिनामन्यतमो-  
दयात् । अनंतानंतो । अनंतस्तु स्यादिति भावः । अद्धा काल । इति बालमरणं प्रकरणम् ।

सम्यक्त्वके लाभका माहात्म्य कहते हैं.

अर्थ—जो जीव सम्यग्दर्शनको मुहुर्तकालपर्यंतभी प्राप्त करके अनंतर छोड़ देते हैं वे भी इस संसारमें  
अनंतानंत कालपर्यंत नहीं रहते हैं. अर्थात् उनको अर्द्धपुल्लपरिवर्तन कालतकही फिरना पड़ता है. इससे जादा  
कालतक वे भवभ्रमण करते नहीं.

॥ बालमरण प्रकरण समाप्त हुआ. अब बालबाल प्रकरणका वर्णन करने हैं.

मिथ्यादेर्देशनस्याभावात् तस्याराधकः स्यात् ज्ञानचारित्र्योः परिणत इति तयोराधकः स्याद्वितीया शंकायाः  
पाकजुमाह—

जे पुण सम्मत्ताओ पम्भट्ठा ते पमाददोषेण ॥  
भामन्ति दुब्भवा वि हु संसारमहण्वे भीमे ॥ ५४ ॥ क्षेपकगाथा ।  
जो पुण मिच्छादिट्ठी दढचरित्तो अदढचरित्तो वा ॥  
कालं करेज्ज ण हु सो कस्सहु आराहओ होदि ॥ ५५ ॥  
संयतोऽसंयतो वा यो मिथ्यात्वकलुपीकृतम् ॥  
विदधात्यधमः कालं कस्याप्याराधको न सः ॥ ५६ ॥

विजयोदया—जो पुण मिच्छादिट्ठी । य पुनर्मिथ्याहृष्टिस्तत्त्वश्रद्धानरहितो । य पुनर्दढचरित्तो अदढचरित्तो वा दढचारित्रो वा अदढचारित्रो वा । कालं करेज्ज मृतिमुपेयात् । सो स । ण खु नैव । कस्सइ कस्यचिदपि । आराधगो आराधको भवति । सम्यक्त्वमंतरेण सम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्र्ये न स्तः । इति रत्नत्रये कस्यचिदपि नाराधक इति ग्राह्यम् । अन्यथा मिथ्यादर्शनादीनामाराधक एवासौ इति कृत्वा न कस्यचिदपि इत्ययुक्तं स्यात् ॥

अथ मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वाभावात्तदनाराधकोऽपि ज्ञानचारित्रपरिणत्या त्रिविमाणस्तदाराधकः स्यादित्याशंका-  
पनोदार्थं आह—

मूलारा—कस्सवि रत्नत्रयमध्ये कस्यचिदपि सम्यक्त्वं विनान्ययोरपि अभावात् ।  
मिथ्यादृष्टि सम्यग्दर्शनं न होनेसे सम्यग्दर्शनका आराधक नहीं है, तो भी ज्ञान और चारित्र्यमें वह परिणत होनेसे उनका आराधक होगा इस शंकाको दूर करते हैं—

अर्थ—अनंतानुबंधीके उदयसे प्रमाद दोष उत्पन्न होकर जो जीव सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो जाते हैं, अर्थात् जो मिथ्यात्वी होते हैं वे इस भयंकर संसारसमुद्रमें पडकर अनंत कालतक कुत्सितभव धारण करते हुये असम्यक् करते हैं,

अर्थ—तत्त्वार्थश्रद्धानरहित जो मनुष्य अर्थात् मिथ्यादृष्टी दढचारित्रका धारक हो अथवा शिथिलचारित्र्यी



हो वह यदि मरेगा तो किसी भी आराधनाका धारक नहीं है, अभिप्राय यह है कि उसको सम्यग्दर्शन नहीं है, सो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उसके बिना उसको कैसे प्राप्त होंगे ? अतः रत्नत्रयमेंसे वह किसीका भी आराधक नहीं है, यदि वह मिथ्यादर्शनादिकोंका आराधक है, ऐसा मानो तो 'ण हु सो कस्स हु आराहणो होदि' 'वह किसी भी आराधनाका आराधक नहीं है' यह वचन मिथ्या कहना पड़ेगा.

अथ को मिथ्यादृष्टिर्न मिथ्यात्ववान् । अथ तदेव मिथ्यात्वं नाम किं कतिविधं इत्यत आह—

तं मिच्छन् जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं ।

संसइयमभिगग्हियं अणभिगग्हियं च तं तिविहं ॥ ५६ ॥

जिनैरभाणि मिथ्यात्वं तत्त्वार्थानामरोचनम् ॥

इदं सांशयिकं जंतोर्गृहीतमगृहीतकम् ॥ ५९ ॥

तत्र जीवादितत्त्वानां कथितानां जिनेश्वरैः ॥

विनिश्चयपराचीना इष्टिः सांशयिकी मत्ता ॥ ६० ॥

परोपदेशसंपन्नं गृहीतमभिधीयते ॥

निसर्गसंभवं प्राज्ञैर्मिथ्यात्वमगृहीतकम् ॥ ६१ ॥

विजयोदया—तं तत् । मिच्छन् मिथ्यात्वं । होदि भवति । जं यत् असद्दहणं अश्रद्धानं । कस्य तच्चाणं अत्थाणं तत्त्वार्थानामनंतद्रव्यपर्यायात्मकाना जीवादीना । अर्थस्य तत्त्वविशेषणमनर्थकम् । अतत्त्वरूपस्याभावात् इति चेन्न । मिथ्याज्ञानोपदर्शितस्य नित्यत्वक्षणीकत्वाद्यान्यतमधर्ममात्रात्मकस्यातत्त्वरूपसंभवात् । तस्य भावस्तत्त्व तत्त्वशब्दो भाववचन' । भाववत्वमर्थशब्दो ब्रवीति । ततोऽनयोर्भिन्नाधिकरणभूतो कथं समानाधिकरणेति न दोषः । भाववदव्यतिरिक्ताद्रावस्य तत्त्वशब्दोऽर्थ एव वर्तते इति । तथा च प्रयोगः—

तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनमिति । अथवाप्यधिकरणतेव । अर्थाना जीवादीना यानि तत्त्वानि अविपरीतानि रूपाणि तेषामश्रद्धानं यत्तन्मिथ्यात्वं इति संबंधः क्रियते । ससंयुक्तं संशयितं किंचित्तत्त्वमिति । तत्त्वानवधारणात्मकं सशयज्ञानसद्वचारि अश्रद्धानं संशयितं । न हि सद्विज्ञानस्य तत्त्वविषयं श्रद्धानमस्ति इदमिथ्यमेवेति । निश्चयप्रत्यय-सहभावित्वात् श्रद्धानस्य । अभिगग्हिद्व यद्देशाभिसुख्येन गृहीतं स्वीकृतं अश्रद्धानं अभिगृहीतमुच्यते । एतदुक्तं भवति । न संति जीवादीनि द्रव्याणि इति गृहाण सति जीवादीनि नित्यायेवेति यदा परस्य वचनं श्रुत्वा

जीवादीनां सत्ये अनेकांतात्मकत्वे चोपजातं अश्रद्धानं अरुचिरिर्मथ्यात्वमिति । परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयादुपजायते यदश्रद्धानं तदनभिपृहीत मिथ्यात्वं ॥

यद्वान्मिथ्यादृष्टिः स्यात्तन्मिथ्यात्वं किं कतिविधं चेत्तत्राह—

मूलारा—तच्छाण अत्याणं अनंतद्रव्यपर्यायात्मकाना जीवादीना, अथवा अर्थाना यानि तत्त्वानि अविपरीतानि रूपाणि तेपा । संसर्गं किं संग्रथताया मुक्तिर्निर्मथताया वेत्यादि तत्त्वानवधारणात्मको दर्शनमोहोदयनिमित्त । प्रत्ययः संशयः । तेन सहचरित तत्त्वाश्रद्धानं संशयित, संशयः संजातोऽस्येति व्युत्पत्तेः । न हि संदिहानस्य तत्त्वश्रद्धानमस्ति । इदमित्यमेवेति निश्चयसहभावित्वात्तस्य । अभिग्राहिदं । परोपदेशादाभिमुख्येन स्वीकृतं परोपदेशजं इत्यर्थः । तथा हि—न संति जीवादीनि इति गृह्णण । संति वा तानि, नित्यान्येवेत्यादि परवचः श्रुतवतो यदा तेषां सत्ये अनेकांतात्मकत्वे वा अश्रद्धानं स्यात्तदाभिपृहीतमित्युच्यते । तच्चतुर्द्धा—क्रियावाधादिमतभेदात् । ते यथा—

असिदिसदं किरियाणं अकिरियाणं च होदि चुलसीदि ॥

सत्तुही अण्णाणी वेणइयाणं च होदि वसीस ॥

अणभिग्राहिदं परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयाज्जातं ।

जिसको आप मिथ्यादृष्टि कहते हैं उसका क्या स्वरूप है ? तथा मिथ्यात्वके कितने भेद हैं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—अनंत द्रव्यपर्यायोंसहित जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है, इस मिथ्यादर्शनके संशयमिथ्यात्व, अभिग्रह मिथ्यात्व और अनभिग्रह मिथ्यात्व ऐसे तीन भेद हैं.

विशेषार्थ—गाथामें 'तच्छाणं होइ अत्थाणं' ऐसा वाक्य है उसमें अर्थ शब्दका 'तत्त्व' यह विशेषण व्यर्थ मालूम होता है, क्योंकि जीवादिक अर्थ तत्त्वरूपही रहते हैं, अतत्त्वरूप-मिथ्यारूप नहीं होते हैं, इस शंकाका उत्तर आचार्य देते हैं,

मिथ्याज्ञानीओने जीवादि पदार्थ सर्वथा नित्यही हैं अथवा अनित्यही हैं, एकही हैं, अनेकही हैं ऐसा उपदेश किया है. परंतु वस्तु सर्वथा नित्यादि एक एक धर्ममय हैं ऐसा सिद्ध नहीं होता है, अतः एकेक धर्मात्मकही वस्तुस्वरूप समझना मिथ्यात्व है, एक एक धर्मात्मक वस्तु अतत्त्व है, उससे व्यावृत्ति करनेके लिये 'तत्त्व' यह विशेषण ग्रंथकारने जोड़ दिया है.

यहाँ गज मूढ आसक्त है. जो पदार्थ जिसे चक्षुषेण गिह्यता है, व उर स्थाने गन्तव्ये पर  
कलना है. जेने जेना आत्मास स्वल्प है इन्द्रिये क्षेमा आना ऐक्यस्मिन् म्ता है. ऐक्ये मा  
मानका यक्त है. अर्थान् स्वनास्ते घाग रमेसां पदार्थो भासत म्ता है. ए मूढ यो ह्ये म्ता है  
दोनों मूढ भिन्नाभिरुपनि है तः इहरी नमानासिगता ह्यो म्ता ?

[illegible]

अथवा मित्रावर्यना माननंगेभी हट्ट कानि नहीं है, इतन्वित् भीतिदि रत्नकोरुं दो पक्ष स्थान नृणा  
स्वल्प णेगा अभिप्राय पिद्वारिरगणा माननंगं मित्त रोपा है.

मंडायितमिभ्यान्-जिनमें चोरा नही है ऐसे मंडायमानों मेंसे मिथ्यान् रुते हैं जिससे पदार्थों के ध्वस्तता निभय नहीं है अर्थात् जो पक्ति राजपुरुष हवी है उनही के दिक्कता स्वरूप पैला ही है अन्य नहीं है ऐसी मन्त्राविरक्त मन्त्री भद्रा नही है, नीतिविज्ञानों पर मन्त्री भद्रा होती है न उनका नियमान् भ्रमन म्हा ही है.

अभिगृहीतमिव सान्—सन्तुके उद्वेगमें जीसादित्तोपर से चपड़ा पड़ा क्षोभी है  
मिव्यान् है, जीसादित्तन नहीं है, अथवा 'अभिनय ही है, या निग ही है ऐसा सुनोरा  
जीसादिकों के अन्विन्यमें अथवा उनके अनेक गर्भोंमें अथवा क्षोभी है, यह अभिगृहीतमिवान है,  
अन्विगृहीतमिवान—

यह अनभिगृहीतमिथ्यात्व है।  
 यथा—द्वैतमिथ्यात्व—द्वैतक उपपन्न तत्ता क्षा ता भवदान मिथ्या त्वं हे उदगो हो तात है।

मिथ्याग्नौ रामादप्यव्ययनायाद—

ॐ वि अहिमाद्विगुणा मरणे मिच्छताद्वुगिग होति ॥

तौ नमः कुरुगङ्गाधियागं न दुष्टं तौ अकला ॥ ५७ ॥

अहिंसादिगुणाः सर्वे व्यर्थं मिथ्यात्वभाविने ॥  
कटुकैऽलाबुनि क्षीरं सफलं जायते कुतः ॥ ६२ ॥

विजयोदया—जे वि हिंसा नाम प्रमादवत्. प्राणेभ्यो वियोगकरणं प्राणिनस्ततो निवृत्तिरहिंसा । अस-  
दमिथानाद्विरति सत्यम् । अदत्तादानाद्विरतिरस्तेषु । मैथुनाद्विरतिब्रह्म । ममेद भावो मोहोदयजःपरिग्रहः । ततो  
निवृत्तिरपरिग्रहता । एते अहिंसादयो गुणा परिणामा धर्म इत्यर्थः ।

ननु सहस्रबुधो गुणा इति वचनात् चैतन्याभूर्तित्वादीनोमेवात्मनः सहस्रबुधं गुणता । हिंसादिभ्यो विरतिपरि-  
णाम. पुनः कादाचित्कत्वात् मनुष्यत्वादिक्रोधादिवर्त्याया इति चेन्न गुणपर्ययवदव्यमित्यादाबुभयोपादाने अवतर-  
भेदोपदर्शनेतदयथा ' गोवलीवर्द्धम् ' इत्युभयोरुपादाने पुनरुक्तापरिहृतये स्त्रीगोशब्दवाच्या इति कथनमेकस्यैव गुण  
शब्दस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनता ॥

अहिंसादयश्च ते गुणा. अहिंसादिगुणाः । मिच्छतकडुगिदा मिथ्यात्वेन तत्त्वाश्रदानेन । कडुगिदा कटुकता  
कडुकतां गता । इति भवति । कदा मरणे मरणकाले इति । अफला भवति । कस्य मिथ्यात्वकटुकताहिंसादिगुणस्यात्मन ।  
किमिव ? दुर्द्धव क्षीरमिव । कीदृग्भूतं ? कडुअदुद्धियगद कटुकालावृणतम् यथा अफलं फलरहितं । पिताद्युपशमन  
प्रीतिरित्यादिकं यत्फल क्षीरस्य प्रतीतिं तेन फलेन अफलं जातम् । यथा क्षीरं भाजनदोषोदेवं मिथ्यात्ववत्यात्मनि स्थिता  
अहिंसादिगुणा स्वसाध्येन फलेन अफलवन्तः पंचानुत्तरविमानवासित्वं लौकतिकत्वमित्याद्यभ्युदयफलमिह गृहीतं ।  
अहिंसादयो न स्वीचितफलातिशयदायिनः । दुष्टभाजनस्थितत्वात् कटुकालावृणतपयोचदिति सूत्रार्थः ॥

मिथ्यात्वमाहात्म्यं कथयति—

मूलारा—गुणा धर्मोः । ननु च सहस्रबुधो गुणा इति वचनात्तैत्वन्यामूर्तेत्वादीनोमेवात्मना सह सदा लब्धवृत्तीनां  
गुणत्वं न्याय्यं, न त्वहिंसादीनां कादाचित्कत्वेन मनुष्यादिवत्तत्क्रोधादिवद्वा तेषां पर्यायत्वादिति चेन्न ' गुणपर्ययवद्द्रव्यमि-  
त्यादाबुभयोपादानेऽवान्तरभेदोपदर्शनेतदयथा गोवलीवर्द्धमित्युभयोपादाने स्त्री गोशब्दवाच्येति कथनं । एकस्यैव तु गुणश-  
ब्दस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनता । कडुगिदा कटुकता दूषिताः । स्वीचितफलातिशयदानेऽन्याकृतसामर्थ्या इत्यर्थः । तस्मै  
मिथ्यात्वकटुकताहिंसादिगुणस्यात्मनः । कडुदोद्धियगदं कटुकतुल्यकास्थितं । कदमिति पाठे कृतं प्रक्षिप्तमित्यर्थः । हवे  
भवति । अहलं—पंचानुत्तरविमानवासित्वं लौकान्तिकत्वाद्यभ्युदयलक्षणफलरहिताः । प्रीतित्वपित्तानुपशमनादिफलरहितं च ॥

परोपदेशमिभुखेन इति खपुस्तके पाठः ।

मिथ्यात्वके दोषोंका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये आत्माके गुण हैं परंतु मरणसमयमें यदि ये गुण मिथ्यात्वसे युक्त हो जायेंगे तो कड़वी तुंभीमें रक्खे हुए दूधके समान व्यर्थ होते हैं, फलरहित होते हैं,

विशेषार्थ—कपाययुक्त होकर ग्राणीके ग्राणोंका नाश करना हिंसा है, इस हिंसासे विरक्त हो जाना अहिंसा मानी जाती है, ग्राणीको दुःख देनेवाले भापणसे विरक्त होना सत्य है, अन्यजनोंके द्वारा नहीं दी गई वस्तु ग्रहण करना अचौर्यव्रत है, मैथुनके त्यागका नाम ब्रह्मचर्य है, तथा यह घनादिक मेरा है ऐसा संकल्प मोहकर्मके उदयसे होता है उसको परिग्रह कहते हैं, उससे निवृत्त होना अपरिग्रह—परिग्रहत्याग कहलाता है, ये अहिंसादिगुण आत्माके परिणाम हैं अर्थात् धर्म हैं,

शंका—गुण द्रव्यके साथ हमेशा रहते हैं, 'सहस्रुवो गुणाः' ऐसा गुणके विषयमें आगमका वचन है, चैतन्य, अमूर्तित्व ये ही आत्माके गुण हैं ये गुण कभी आत्मासे अलग नहीं होते हैं, इनको ही गुण कहना चाहिये, परंतु हिंसादिकोंसे जो विक्तरूप परिणाम हैं वे कादाचित्क हैं—अर्थात् वे परिणाम मनुष्यपना, क्रोधादिकोंके समान सदाही आत्मामें रहते नहीं हैं, अतः उनको गुण कहना योग्य नहीं,

इस शंकाका उत्तर—'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' इस सूत्रमें दोनोंका ग्रहण किया है अर्थात् गुण और पर्यायको ग्रहण किया है, यहाँ गुणशब्द उपलक्षणवाचक समझना चाहिये, अर्थात् वह ज्ञानादिगुणोंके समान अहिंसादिधर्मोंका भी वाचक है, जैसे 'गोबलीवर्दम्' इस शब्दोंसे एक ही गोका दो शब्दोंसे ग्रहण करनेसे एकको व्यर्थता अर्थात् पुनरुक्तता आती है वह दूर करनेके लिये गोशब्दका अर्थ गाय करना पड़ता है, उसी तरह 'अहिंसादि गुणा' इस गाथाके शब्दसे यहाँ धर्ममात्रको गुण कहा है ऐसा समझना चाहिये,

कड़ तुंभीमें रक्खा हुआ दुग्ध पित्तोपशमन करना, माधुर्य इत्यादि गुणोंसे हाथ धो बैठता है, अर्थात् पात्र के दोपसे दूधमें जैसे अफलता आती है वैसे ही मरणकालमें अहिंसादिगुण यदि मिथ्यात्वसे युक्त हो जायेंगे तो उनसे आत्माको विजय वैजयंतादि पंचानुत्तरोमें जन्म होना, लौकान्तिकदेवत्व प्राप्त होना ऐसे २ सातिशय फल प्राप्त नहीं होते हैं, मिथ्यात्व दूषित अहिंसादिकोंसे फल फलातिशय मिलता नहीं है ऐसा भी नहीं है प्रत्युत वे आत्मामें रहकर महादोषोंको भी उत्पन्न करते हैं,

न केवलं फलतिशयाकारित्वे अहिंसादिगुणानां अपि तु मिथ्यात्वकटुकिते स्थिता दोषानपि कुर्वन्ति इत्याचष्टे—

जह भेसजं पि वोसं आवहइ विसेण संजुदं संतं ॥

तह मिच्छत्तविसजुदा गुणा वि दोसावहा होति ॥ ५

सर्वे दोषाय जायन्ते गुणा मिथ्यात्वदूषिताः ॥

किमौषधानि निघ्नन्ति सविषाणि न जीवितम् ॥ ६३ ॥

विजयोदया—यथा भेसजं पि इति स्पष्टतया न व्याख्यायते । मिच्छत्तविसजुदा मिथ्यात्वेन विषेण संयद्धा गुणा वि गुणा अपि अहिंसादयो गुणा अपि । दोसावहा दोषावहा संसारे चिरपरिभ्रमणदोषमावहन्तीत्यर्थः । अथवा मिथ्याद्वेषेण गुणा पापाद्यधि स्वल्पमिन्द्रियसुखं दत्त्वा बह्वारम्परिग्रहादिषु आसक्तं नरके पतयन्ति इति दोषावहाः । दृष्टान्तप्रदर्शनेन इत्यनिवृत्तिं प्राप्तिश्च मिथ्यात्वमाहात्म्याच्च भवतीति प्रमाणेन दर्शयितुं गाथाद्वयमायातम् ।

न केवलं मरणे मिथ्यात्वदूषिता अहिंसादयः फलतिशयाद्वश्यन्ति किं तर्हि दोषमपि कुर्वन्ति इत्याह—

मूलारा—आवहइवि करोति । दोसावहा संसारे चिरभ्रमणकारिणः । अथवा मिथ्याद्वेषेण गुणा स्वल्पमिन्द्रियसुखं दत्त्वा बह्वारम्परिग्रहादिव्वास्तकं कृत्वा नरके पतयन्ति इति दोषावहाः ॥

उन दोषोंका आचार्य एवं प्रकारसे वर्णन करते हैं—

अर्थ—औपद्य यद्यपि गुण करनेवाला होता है तथापि वह यदि विषमिश्रित होगया हो तो वह दोषयुक्त होता है, अर्थात् उसके सेवनेसे मनुष्यकी हानि होती है, उसी तरह अहिंसादिगुण जब मिथ्यात्वसे युक्त होते हैं तब वे गुण होते हुए भी संसारमें दीर्घकालतक परिभ्रमण करानेवाले दोषोंकी धारण करते हैं, अथवा मिथ्यादृष्टिके ये अहिंसादिगुण पापानुबन्धी स्वल्प इन्द्रियसुखकी जीवको प्राप्ति कर देते हैं, परंतु उसको बहुत आरंभ और परिग्रहोंमें आसक्त करके नरकमें ले जाते हैं अतः ये मिथ्यात्वदूषित अहिंसादिगुण दोषोंको उत्पन्न करते हैं, ऐसा समझना चाहिये, विषमिश्रित औषधसे आरोग्यका लाभ होता नहीं वैसे मिथ्यात्वयुक्त अहिंसादिगुणोंसे जीवको मोक्ष प्राप्त होता नहीं ऐसा समझना चाहिये.

दिवसेण जोयणसयं पि गच्छमाणो सगिच्छिदं देसं ॥

अण्णंतो गच्छंतो जह पुरिसो णेव पाउणदि ॥ ५९ ॥

निर्वृतिं संयमस्योऽपि न मिथ्याहृष्टिरश्रुते ॥

जवनोऽप्यन्यतो यायी किं स्वेष्टं स्थानमृच्छति ॥ ६४ ॥

विजयोदया—इत्यनेन प्रकृष्टगमनसामर्थ्याद्धर्ममाख्यातम् । अण्णतो गच्छंतो इत्यनेन तन्मार्गप्रवृत्तत्वात् इत्ययं हेत्वर्थो दर्शितः । तेन इष्टं देशं न प्राप्नोतीति साध्यधर्मो हृष्टान्तेनोपदर्शितः । सगिच्छदं देसं जह पुरिसो णेव पाउणदि । इत्यनेन हृष्टान्त उपदर्शितः ।

मिथ्याहृष्टिर्नैवेष्टं प्राप्नोति तन्मार्गादृष्टित्वाद्यः स्वप्राप्यस्य मार्गं न वर्तते नासौ तस्याप्नोति । यथा दक्षिणमथुरातः पाटलिपुत्रं प्राप्तुमिच्छुर्दक्षिणा दिशं गच्छन्निति प्रमाणेनाभिमतनिर्वृति प्राप्तिमितिवंधकत्वमपि सिध्यात्वस्य दर्शयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—सगिच्छिदं स्वेष्टं । अण्णंतो अन्यत्र । पाउणदि प्राप्नोति ।

अर्थ—एक दिनमें सौ योजन भी गमन करनेवाला आदमी यदि वह अपने इष्ट स्थानसे विलकुल उलटी दिशाको गमन करने लग जाय तो जैसे वह कभी भी आपने स्थानको प्राप्त न होगा उस तरह मिथ्यात्वसे युक्त अहिंसादिगुण जिसके हो वह पुरुष कभी भी मुक्तिपदको प्राप्त होनेवाला नहीं है. यह निश्चित समझना चाहिये.

धणिदं पि संजमतो मिच्छादिष्टो तहा ण पावेई ॥

इष्टं णिवुद्धमगं उगगेण तवेण जुत्तो वि ॥ ६० ॥

विजयोदया—धणिदं पि नितरामपि । सज्जमान्तो चारित्रे वर्तमानोऽपि । उग्गेण तवेण जुत्तोवि उग्रेण तपसा युक्तोऽपि, नैव निर्वृतिं प्राप्नोति इत्यनेन साध्यधर्माख्यानम् । मिच्छादिष्टो इत्यनेन साध्यधर्मि दर्शितम् । एव प्रमाणरचना कार्या—

मिथ्याहृष्टिर्नैवेष्टं प्राप्नोति तन्मार्गादृष्टित्वात् । यः स्वप्राप्यस्य मार्गं न प्रवर्तते न स तमभिमत प्राप्नोति । यथा

१ बलमाख्यातं इति यमुत्तके ।

दक्षिणमधुरात' पाटलिपुत्रं प्राप्नुमिच्छु दक्षिणां दिशं गच्छन्ति । गिबुदिं निर्वृतिं । अथवा अग्र्या । अथवा निर्वृतिस्तुष्टि र्गया मनसो निर्वृतिर्मनस्तुष्टिरित्यर्थः । निर्वृतेर्मगमुपायं क्षायिकज्ञानचारित्राख्यम् । स्पष्टतया न प्रतिपदव्याख्या कृता ॥

मूलारा—धणिदं अत्यर्थः । पि संजमतो संयमं कुर्वन्नपि । इदं गिबुदिमगं क्षायिकरत्नत्रयाख्यं मुक्तिमार्गः । अथवा इष्टा गच्छितां निर्वृतिं तुष्टिं । अग्न्या प्रधानभूता । अनंतसुखमित्यर्थः ।

अर्थ—मिथ्यादष्टि मनुष्य चारित्रिका पालन अच्छी तरहसे करेगा और उग्रतप भी तपेगा तो भी उसको इच्छित मोक्षमार्गकी प्राप्ति कभी भी नहीं होगी.

जैसे कोई आदमी पाटलिपुत्र नगरको जानेकी इच्छा रखता हुआ दक्षिणमधुरासे दक्षिणदिशाके तरफ ही चलने लगा अब चलो वह कभी पाटलिपुत्र शहरको पोहोच सकता है ? उसी तरह यह मिथ्यादष्टिजीव भी मोक्षमार्गमें न होनेसे स्वस्थान-मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकता. मोक्षका मार्ग क्षायिकज्ञान, यथाव्ययत चारित्र ये है. मिथ्यादष्टिको इनकी प्राप्ति नहीं होती है ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

व्रतेन शीलैः तपसा वा युक्तोऽपि मिथ्यात्वदोषाच्चिरं ससारे परेश्रमति इतरस्मिन्नत्रादिहीने किं वाच्यमिति दर्शयति—

जस्स पुण मिच्छदिट्ठिस्स णत्थि सीलं वदं गुणो चावि ॥

सो मरणे अप्पाणं कहं ण कुणइ दीहसंसारं ॥ ६१ ॥

न विच्यत्ते व्रतं शीलं यस्य मिथ्यादृशः पुनः ॥

न कथं दीर्घसंसारमात्मानं विदधाति सः ॥ ६५ ॥

विजयोदया—स्वल्पापि मिथ्यात्वविषयकणिक्ता कुत्सितासु योनिषु उत्पादयति क्रमास्ते वाच्यं सर्वस्य जिनदृष्ट्या श्रद्धाये । इति गाथाया अर्थः ॥

भगवन्मार्गं व्रतादियुक्तोऽपि मिथ्यादृष्टिर्द्विं ससारे भ्राम्यति तर्हि मरणे व्रतादिरहितोऽसौ कीदृक्फलभाजन-मात्मानं कुर्यादित्यत्राह—



शीलं व्रतपरिरक्षणं । वदं हिंसादिभ्योऽभिप्रायकृता विरतिः । गुणो ज्ञानादिः । कहेत्यादि । कह कथं । अनन्ता-  
नन्तसंसारमव्यत्मानं करोतीति भावः ।

व्रत, शील और तपश्चरण धारण करता हुआ भी यह जीव यदि मिथ्यादृष्टि हो तो मिथ्यात्वदोषसे  
चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता है. यदि वह व्रतादिकोंसे भी रहित हो तो अवश्य संसारमें भ्रमण करेगा ही  
यही अभिप्राय सूत्रकार गाथामें कहते हैं.

अर्थ--जो मिथ्यादृष्टि शील, व्रत और गुणोंसे रहित है वह मरणके अनन्तर दीर्घ संसारी क्यों न होगा ?  
अवश्य होगा.

एकं पि अक्खरं जो अरोचमाणो मरेज्ज जिणादिठं ॥

सो वि कुजोणिणिवुडो किं पुण सव्वं अरोचन्तो ॥ ६२ ॥ ✓

अरोचित्वाज्जिनाख्यातं एकमप्यक्षरं मृतः ॥

निमज्जति भवाम्भोद्यौ सर्वस्यारोचको न किम् ॥ ६६ ॥

विजयोद्या--पङ्कमपीत्यस्य बाल्यालमरणप्रवृत्तस्य भव्यस्य सख्याता, असंख्याता, अनन्ता वा भवन्ति भवा ।  
अमव्यस्य तु अनन्तान्ता । मिथ्यादर्शनदोगमाहात्म्यसूत्रं संसारमहत्ताख्यापनेन क्रियतेऽनया गाथा ॥

जिनदृष्टस्यैकस्याप्यक्षरस्याश्रद्धाने कुयोनिपूतपतिः स्यात्किं पुनः समस्तस्यापि श्रुतस्येत्याह--

मूलारा-कुजोणिणिवुडो कुत्तितयोननिममो भवति ।

अर्थ--जिनेश्वरने उपदेशा हुआ एक अक्षरपर भी जो मनुष्य श्रद्धान नहीं करेगा वह भी कुयोनिभयमें  
चिरकाल भ्रमण करेगा. तो जो संपूर्ण जिनवचनोंको अमान्य समझता है उसको तो संसारमें अनन्तकाल तक भ्रमण  
करना पड़ेगा ही यह अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है. अल्प भी मिथ्यात्वरूप त्रिपकाणिकाका सेवन करनेसे  
जीवको कुयोनीमें भ्रमण करना पड़ता है जिनभगवानने कहा हुआ समस्त जीवादिक पदार्थोंका उपदेश जो जीव  
अप्रमाण समझकर अश्रद्धान करता है उसके लिये तो कहना ही क्या रहा ? ऐसा इस गाथाका भाव है.

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति बालबालमि ॥  
 सेसा भवस्स भवा णंताणंता अभवस्स ॥ ६३ ॥  
 संखेयेयाः संखेयसंखेयेया बालबालमृतौ भवाः ॥  
 भव्यजंतोरनंता वा परस्य गणनातिगाः ॥ ६७ ॥  
 अनंतेनापि कालेन प्रभज्य भवपंजरं ॥  
 सिद्धयन्ति भविनो भव्या नाभव्यास्तु कदाचन ॥ ६८ ॥

इति बालबालमरणम् ।

विजयोदया—बालबाल गद् संखेज्जा संखेज्जा वा इत्यनया ।  
 इदानीं भव्याभव्ययोर्भवेयतावधारणेन मिथ्यात्वमरणमाहात्म्यं कथयतिः—  
 मूलारा—स्पष्टं । बालबालमरणम् ।

बाल्येनापि यदि त्यजन्नयमसूत्रं सारधोरणं वि ॥  
 दीर्घं भ्रान्त्यति चेतनस्त्यजति कस्तुह्यवत्येन तान् ॥  
 इत्यश्रान्तमनुसरस्त्रिनवचःपीयूषमन्नामिमं ॥  
 भक्त्यागमुपेतु जीवितधनायाशाचरैर्दुर्लभम् ॥

— इत्याशाधारानुसृतग्रंथसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे बालमरणद्वयप्रपंचप्ररूपणो नाम प्रथम आश्वासः ॥

अर्थ—जो भव्यजीवि बालबाल मरणसे देहत्याग करता है उसको संख्यात, असंख्यात अथवा अनंत जन्म मरण करने पडते हैं, और अभव्य अनंतानंत जन्ममरण धारण करता हुआ सदाही संसारमें भ्रमण करता है, इस गाथासे मिथ्यात्वदोषका माहात्म्य सूचित होता है.

सप्तदशमरणविकल्पेषु पंचमरणान्यत्रोच्यते इति प्रतिज्ञातं । तत्र यत्पण्डितमरणं तत्पायोपगमनमरणमिति नी-  
 मरण भक्तप्रत्याख्यानमिति त्रिविकल्पं सूचितं । तत्र भक्तप्रत्याख्यानं प्राग्वर्णनीयमिति दर्शयति सूत्रकारः स्वयमेव संयंघं  
 उत्तरप्रवधस्य—

पुत्रं ता वणेशिं भक्तपङ्कणं पसत्यमरणेषु ।

उत्सर्पणं सा चेव हु सेसाणं वणणा पच्छा ॥ ६३ ॥

भक्त्यागः प्रशस्तेषु मध्ये मृत्युषु वर्ण्यते ॥

आदावद्यभवत्येन शेषवर्णनमग्रतः ॥ ६० ॥

विजयोदया—पुत्रं पूर्वं ग्रथं तावत् । वणेशिं वर्णयिष्यामि । भक्तपङ्कण भक्तप्रत्याख्यानम् । पसत्यमरणेषु प्रशस्तमरणेषु व्याख्येयेषु निर्धारणलक्षणा चेय मसमी यथा-रूणा गोषु सपञ्चरीरतेमिति समुदाया-देकदेशस्य पृथकरण निर्धारणं । प्रशस्तमरणममुदायात् अवयविकात् भक्तप्रत्याख्यानं पृथग्यनस्थाप्यते । पूर्वव्याख्येयत्वेन एतत्कालप्रयोगत्वेन गुणेनेति मन्यते । उत्सर्पणं नितरा वाह्येन याचदित्यर्थः । मरण सा चेव भक्तप्रत्याख्यानमृतिरेव । साध्याहारत्वात्सर्वस्वपदाना । पद्दहि काले इति वाक्यशेष कार्यं ।

संहननविशेषसमन्विताना इतरमरणद्वयं । न च महाननविशेषा वज्रदग्धभनाराचादयः अद्यत्वेऽऽग्निमन्ध्रेणे संति गणाना । सेसाणं शेषयो प्रायोगमनस्य इतिनीमरणस्य च । वणणा कथनं । 'पच्छा' इति शेषः । यदि ते वर्तयितु इदानीतनाममार्गं किं तदुपदेशेनेति चेत् तत्स्वरूपपरिगणनात्सम्पत्तानं । नच मुमुक्षूणामुपयोग्येवेति ।

### द्वितीय आश्वासः ।

हित्वा चालमृतित्रयं शतपुनर्जन्मानभिन्दन्मृतिम् ॥

पाडित्येन परं मुमुर्षुरपि तन्मृत्यो कलिकलेशतः ॥

मध्येऽपि प्रतिबद्धशक्तिमवधार्योत्तमानमत्राय या

धन्यो विदति वर्णयिष्यत इयं भक्तप्रतिज्ञामृतिः ॥

अपि च—ज्ञेन योग्यतयादाय लिङ्गं पीतश्रुतामृतं ॥

विनीतः स्ववश्याते निर्मूर्च्छं विहरेद्दराम् ॥

अथैह क्षेत्रे ऐदंयुगीना

न्याख्यातुमुपक्रमते ।

मूलारा—पुत्रं ग्रथं । ता तावत् । वणेशिं वर्णयिष्यामि । भक्तपङ्कणं भक्तप्रत्याख्यानं । पसत्यमरणेषु पंडित-

न्याख्यातुमुपक्रमते ।

मरणभेदेपु प्रायोपगमनमरणादिषु त्रिषु व्याख्यातेषु मध्ये । कुत एतदित्याह—उत्सृणुमित्यादि । हु यस्मादेतस्मिन्काले अत्र क्षेत्रे जातना साधूना । उत्सृणुं मरणं । सा चेव सैव भक्तप्रतिज्ञैव संभवति । प्रायोपगमनादिसाधनोचितसंहनन-विशेषाभावात् । सर्वत्र सूत्रातिरिक्तानि पदानि साध्याहारत्वात्सूत्राणामिति मंतव्यानि ॥ ननु यद्येह साधूना भक्त-प्रत्याख्यानमेव स्यात्तर्हि तरे किं न वर्ण्य इत्यत्राह । सेसाण ऽपयोः प्रायोपगमनस्येद्विनीमरणस्य च । वर्णणा व्याख्यानं । पच्छा पश्चात्कर्तव्या भवतीति संबधः ॥ नन्वेते यद्यद्य साधूनामसाध्ये तत्किमेतयोरत्रोपदेशेनेति चेद्वृत्तमस्तत्स्वरूपोपदेशा-त्तत्र सम्यग्ज्ञानं स्यात्तच्च मुमुक्षूणामुपयोग्येवेति ॥

मरणोंके सत्रह प्रकार हैं उसमेंसे पांच मरणोंका यहां हम वर्णन करेंगे ऐसी आचार्यने प्रतिज्ञा की है. पांच मरणोंमेंसे जो पंडितमरण नामका भेद है उसके प्रायोपगमनमरण, इंगिनीमरण, भक्तप्रत्याख्यानमरण ऐसे तीन भेद हैं. इनमें भक्तप्रत्याख्यानमरणका वर्णन ग्रथमतः आचार्य करते हैं. आगे जो विषय प्रतिपादन किया जावेगा उसका संबध यहां दिखाते हैं—

हिंदी अर्थ—प्रशस्त मरणोंमेंसे ग्रथमतः आचार्य भक्तप्रत्याख्यान नामक मरणका वर्णन करेंगे यह मरणही इस कालमें अतिशय उपयुक्त है. यहां प्रशस्तमरणोंका समुदाय अवयवी है और भक्तप्रत्याख्यानानादिभेद अवयव है. जहा निर्धारण होता है अर्थात् अनेक वस्तुओंमेंसे एकाद वस्तुको अलग करके दिखाना पडता है उसको निर्धारण कहते हैं. जैसे—गाईओंमेंसे काली गाय बहुत दूध देती है. यहां अनेक गाईयोंमेंसे काली गायका पृथक्करण किया है. उसी तरह प्रशस्तमरणके भेदोंमेंसे भक्तप्रत्याख्यान मरणका पृथक्करण किया है. क्योंकि वह ही इस कालमें अत्युपयुक्त है. वज्रपमनाराच संहनन, वज्रनाराच वगैरह उत्तम संहननके धारक जीवोंको इंगिनीमरण प्रायोपगमनमरण ऐसे मरण उपयुक्त माने गये हैं. इस पंचम कालमें वज्रपमनाराचादि उत्तम संहननके धारक जीव यहां भरतक्षेत्रमें उत्पन्न नहीं होते हैं. अतः भक्तप्रत्याख्यान मरणकाही प्रथम विस्तृत वर्णन आचार्य यहां करेंगे. अनंतर इंगिनी वगैरे दो मरणोंका वर्णन करेंगे.

यदि इंगिन्यादि दो मरणोंके लिये इस कालमें शरीरही योग्य नहीं है तो उन मरणोंका वर्णन करना निश्चरयोजन है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि—उनके स्वरूपोंका ज्ञान होनेसे सम्यग्ज्ञान होता है, और वह मुमुक्षु लोगोंको उपयोगी है.

कतिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानमित्यारोकायामाह—

दुविहं तु भक्तपञ्चस्त्राणं सविचारमग्न अविचारं ॥  
सविचारमणागोदे मरणे सपरकमस्स हवे ॥ ६५ ॥

सवीचारमवीचारं भक्तत्यागं द्विधा विदुः ॥

शक्यश्चिरायुषामाद्यस्तन्त्रान्योऽन्यस्य कथ्यते ॥ ७० ॥

विजयोदया—दुविहं तु भक्तपञ्चस्त्राणं द्विविधमेव भक्तप्रत्याख्यान । सविचारमग्न अविचारं इति । विचारणं नानागमनं विचार । विचारेण वर्तते इति सविचारं । एतदुक्तं भवति । वक्ष्यमाणार्हलिंगादिविकल्पेन सहितं भक्तप्रत्याख्यानं इति । अविचारं वक्ष्यमाणार्हदिनानाप्रकाररहितं । भवतु द्विविध । सविचारभक्तप्रत्याख्यानं कस्य भवति इत्यस्योत्तरं । सविचार भक्तप्रत्याख्यान अणागोदे सहसा अनुपस्थिते मरणे चिरकालमाविनि मरणे इति यावत् । सपरकमस्स सहपराक्रमेण वर्तते इति सपराक्रमस्तस्य भवे भवेत् । पराक्रमः उत्साहः । एतेनैव सहसोपस्थिते मरणे पराक्रमरहितस्य अविचारभक्तप्रत्याख्यानं भवतीति लभ्यते यतो विचारभक्तप्रत्याख्यानं अस्य अस्मिन्काले इति सूत्रे नोक्तं ॥

कतिविकल्पं भक्तप्रत्याख्यानं स्यादित्यत्राह—

मूलारा—सविचारं अर्हत्यादिभेदसहितं । विधिपूर्वकपरगणगमनलक्षणं विचारेण सह वर्तमानत्वात् । अविचारं परगणसंक्रमणलक्षणविचाररहितं । तत्राद्यं कस्य स्यात् इत्यत्राह—अणागोदे चिरकालभाविति । सपरकमस्स वलयुक्तस्य । एतेनैव सहसोपस्थिते मरणे वलहीनस्य अविचारं भवेदिति लभ्यते इति तत्तथा सूत्रे नोक्तम् ॥

भक्तप्रत्याख्यानके भेदोंका वर्णन आचार्य करते हैं,

हिंदी अर्थ—भक्तप्रत्याख्यान मरणके सविचारभक्तप्रत्याख्यान और अविचारभक्तप्रत्याख्यान ऐसे दो भेद कहे हैं, उसमेंसे जो गृहस्थ अथवा मुनि उत्साह वलयुक्त है और जिसका मरणकाल सहसा उपस्थित हुवा नहीं है, अर्थात् जिसको दीर्घ कालके अनंतर मरण प्राप्त होगा ऐसे साधुके मरणको सविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं, जिसको सामर्थ्य नहीं है और मरणकाल एकदम उपस्थित हुवा है ऐसे पराक्रमरहित साधुके मरणको अविचारभक्तप्रत्याख्यान मरण कहते हैं, नाना प्रकारसे चारित्र्य पालना, चरित्रमें विहार करना विचार है, इस विचारके अर्ह, लिंग वगैरे चालिस प्रकार हैं उनका विवेचन ग्रंथकार आगे करेंगेही.

तयो. कस्य भक्तप्रत्याख्यानस्य अनेन शालेण निरूपणेत्याशंकायां आह—  
सविचारभक्तपञ्चक्खवाणस्सिणमो उवक्कमो होइ ॥  
तत्थ य सुत्तपदाइं चत्तालं होति गेयाइं ॥ ६६ ॥

भक्तत्यागं सवीचारं मृत्युं तत्र विचक्षुणा ॥

चत्वारिंशद्विबोध्यानि सूत्राणीमानि धीमता ॥ ७१ ॥

विजयोदया—सविचारभक्तपञ्चक्खवाणस्स इति सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य । इणमो अयं । उवक्कमो व्याख्यानप्रारंभ । होदि भवति । तत्थ य तत्र च भक्तप्रत्याख्याने । सुत्तपदाइ सूत्रपदानि । स्तेऽयं, सूत्रयतीति वा सूत्रं । सूत्राणि च तानि पदानि च सूत्रपदानि । चत्तालं चत्वारिंशत् । होति भवन्ति । गेयाइं ज्ञातव्यानि ।

इदानीं सविचारस्य भक्तप्रत्याख्यानस्य व्याख्यानं भक्तनपूर्वकं अर्हदादिभेदसूत्रेयत्ता निर्दिशति ।

मूलारा—इणमो अयं । उवक्कमो व्याख्यानप्रारंभः । तत्थ य तत्र सविचारभक्तप्रत्याख्याने । सुत्तपदाइ सूत्राणि च तानि पदानि च न वाक्यानि । चत्तालं चत्वारिंशत् ।

हिंदी अर्थ—अब यहाँसे आचार्य सविचारभक्तप्रत्याख्यानमरणका स्पष्टीकरण करनेके लिये प्रारंभ करते हैं. इस मरणके वर्णन करनेमें चालिस सूत्र जानने लायक हैं. जो अर्थकी उत्पन्न करते हैं अर्थात् प्रकृत विषयकी सूचना करते हैं ऐसे वाक्योंको सूत्र कहते हैं. ऐसे सूत्र इस मरणका विवेचन करनेवाले चालीस हैं.

तानि सूत्रपदानि गायत्र्यनुष्ठयनियद्धानि—

अरिहे लिंगे सिक्खा विणय समाधी य अणियदविहारे ॥

परिणामोविधिजहणा सिदी य तह भावणाओ य ॥ ६७ ॥

प्रस्तावना, अर्ह, लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि, अनियतविहार, परिणाम, उपधियाग, अति, भावना, सल्लेखना, दिक्, क्षमण, अनुशिष्टि, परगणचर्या, मार्गणा, सुस्थित, उपसर्पण, निरूपण, प्रतिलेख, पृच्छा, एकसंग्रह, आलोचना, गुणदोष, शय्या, संस्तर, निर्यापक, प्रकाशन, हानि, प्रत्याख्यान, क्षामण, क्षपणा, अनुशिष्टि, सारणा, कवच, समता, ध्यान, लेउया, फल, आराधकत्यागलक्षणानि चत्वारिंशत्सूत्राणि ॥ ७२ ॥

विजयोदया—अरिहे अहं योग्यः । सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्यार्थं योग्यो नेति प्रथमोऽधिकारः । कर्तव्यापारा  
लिङ्गादयः कर्तृपुरःसरा भवंतीति प्रागेव लिङ्गशिक्षादिभ्यो योग्यकर्तृनिर्देशः सूत्रे कृत अरिह इति । शिक्षादिक्रियाया  
भक्तप्रत्याख्यानक्रियागभूताया योग्यपरिकरमादर्शयितुं लिङ्गोपादानं कृतम् । कृतपरिकरो हि कर्ता क्रियासाधनयोद्योग  
करोति लोके । तथा हि घटादिकरणे प्रवर्तमाना दृढवद्धकक्षा कुलाद्या दृश्यते । ज्ञानमंतरेण न विनयादयः कर्तुं  
शक्यन्ते इति तेभ्यः प्राङ् निर्देशमर्हति शिक्षा । यथावसरमितरकममादर्शयिष्यामः । लिङ्गशब्दश्चिह्नवाची । तथाहि  
वक्ष्यति । 'चिह्न करण' इति । सिम्वा शिक्षा श्रुतस्य अध्ययनमिह शिक्षाशब्देनोच्यते । तथा च वक्ष्यति । 'जिण-  
वयण कलुसहर अहो य रत्ती य पढिदव्वमिति' । विनय मर्यादा तथा हि-ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया  
वक्ष्यते । समेकीभावे वर्तते तथा च प्रयोगः—

संगतं घृतमित्यर्थं एकीभूतं तैल एकीभूतं घृतमित्यर्थः । समाधान मनस एकाग्रताकरणं शुभोपयोगे शुद्धे वा ।  
अनियतक्षेत्रावास' अनियतविहार' । तद्भाव' परिणाम इति चचनासस्य जीवादेर्द्वयस्य क्रोधादिना दर्शनदिना वा  
भवनं परिणाम इति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि यते' स्वेन कर्तव्यस्य कार्यस्यालोचनमिह परिणाम इति गृहीतम् ।  
उपाधिः परिग्रहः तस्य जहणा त्यागः । सिद्धो य श्रिति निधेयिणः सोपानमिति यावत् । भावनाभ्यासः तत्र असकृत्प्रवृत्तिः ॥

तत्सूत्रोद्देशार्थं गाथाचतुष्टयमाचष्टे—

मूलारा—अरिहे अहं । सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य योग्यः । लिङ्गादिव्यापाराणां योग्यं कर्तारं विना असंभ-  
वादस्य तत्पूर्वमुपन्यासः । लिङ्गे लिङ्गं चिन्हं । शिक्षादिक्रियाशेषणा कर्तुः परिकरभूतत्वादस्य तेभ्यः प्राग्निर्देशः । शिक्षा  
श्रुताध्ययनं । ज्ञानं विना विनयादीनां कर्तुमशक्यत्वात् । ततः पूर्वमुपन्यासः शिक्षायाः । यथावसरं चान्येषां कर्म दर्शयि-  
ष्यामः । विनय विनयः मर्यादा, ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया वक्ष्यते । उपस्तिर्वा विनयः । समाही  
समाधानं मनस एकाग्रताकरणं शुभ उपयोगे शुद्धे वा । अनियतविहारो अनियतक्षेत्रावासः । परिणामो स्वकार्यपर्या  
लोचनं । उवधिजहणा परिग्रहत्यागः । सिद्धि श्रितिः शुभपरिणामश्रेण्यारोहणं । भावणा अभ्यासः । प्रक्रममादसकलेश  
परिणामानां ।

इन सूत्रोंका आचार्य चार गाथाओंसे वर्णन करते हैं,

हिंदी अर्थ—अरिह-अहं, लिङ्ग, शिक्षा, विनय, समाधि, अनियतविहार, परिणाम, उवधिजहणा—उपाधि-  
त्याग, श्रिति और भावना ऐसे दस सूत्रोंके नाम इस गाथामें कहे हैं। इन सूत्रोंका संक्षेपसे विवरण इस प्रकार है

अरिह—अर्ह-सविचारभक्तप्रत्यास्थानके लिये कोन योग्य होता है इसका वर्णन अर्ह सूत्रसे किया जाता है यह प्रथमाधिकार है. लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि वगैरहको धारण करने लायक जो व्यक्ति है उसको अर्ह कहते हैं. योग्यता हो तो लिंग, शिक्षा, विनयादि गुण रह सकते हैं. अन्यथा नहीं.

लिंग—शिक्षा, विनय, समाधि वगैरह क्रिया भक्तप्रत्यास्थान की साधनसामग्री है. उस सामग्रीका यह लिंग योग्य परिकर है यह सूचित करनेके लिये अर्हके अनंतर लिंगका विवेचन किया है. सर्व परिकरसामग्री जुटनेपर जैसे कुंभकार घटनिर्माण करता है वैसे अर्ह-योग्य व्यक्ति भी साधनसामग्रीसे युक्त होकर सहेखनादि कार्य करनेके लिये सन्नद्ध होता है. लिंग शब्द चिन्हका वाचक है.

शिक्षा—ज्ञानोपार्जन करना. विना ज्ञानके विनयादिक कार्य करना शक्य नहीं है. अतः विनयादिकका वर्णन करनेके पूर्व शिक्षाधिकारका वर्णन करते हैं.

शास्त्राध्ययन करना यह शिक्षा शब्दका अर्थ है. जिनेश्वरका शास्त्र पाप हरण करनेमें निपुण है अतः उसको दिनरात पढना चाहिये ऐसा ग्रंथकार आगे स्वयं कहेंगे.

विनय—मर्यादा, ज्ञानादिभावनाकी व्यवस्था ज्ञानादिका विनय करनेसे होती है ऐसा आगे कहेंगे. समाधि - मनको एकाग्र करना. सम् शब्दका अर्थ एकरूप करना ऐसा है. जैसे घृत संगत हुवा है. तेल संगत हुवा है अर्थात् एकरूप हुवा है. मनको शुभोपयोगमें अथवा शुद्धोपयोगमें एकाग्र करना यह समाधि शब्दका अर्थ समझना.

अणियदविहार—अनियत ग्राम, पुरादिक स्थानोंमें रहना. परिणाम—‘सद्भाव. परिणाम.’ ऐसा पूर्वाचार्यका वचन है अर्थात् जीवादिकपदार्थ क्रोधादिक विकारोंसे अथवा सम्यग्दर्शनादिक पर्यायोंसे परिणत होना यह परिणाम शब्दका सामान्यार्थ है. तथापि यहाँ शार्तकी अपने कर्तव्यका हमेशा ख्याल रहना परिणाम शब्दका प्रकरण संगत अर्थ समझना चाहिये.

उपधिजहणा—परिग्रहका त्याग करना.

सिद्धी—श्रुति अर्थात् शुभपरिणामसे उत्तरोत्तर परिणामोंकी उन्नति होना. उत्तरोत्तर उत्कृष्ट भावनाओंको अभ्यास करना इसको भावना कहते हैं.



संछेहणा दिसा खामणा य अणुसिद्धि परगणे चरिया ॥  
मरगण सुठिठय उवसंपया य पडिछा य पडिलेहा ॥ ६८ ॥

विजयोदया—संछेहणा सम्यक्त्तनूरणं । दिसा परलोकदिगुपदर्शनपरं । सूरिणा स्थापित भवता दिश मोक्ष-  
वर्तन्याश्रयमुपदिशति यः सूरिः स दिशा इत्युच्यते । खामणा क्षमाग्रहणं । अणुसिद्धि सूत्रानुसारेण शासनम् । परगणे  
अन्यसिन्नाणे चरिया चर्या प्रवृत्तिः । मरगणमात्मनो रत्नत्रयविशुद्धिं समाधिमरण वा संपादयितुं क्षमस्य सूररन्वेणं । परगणे  
सुद्धिदो सुस्थितः परोपकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक् स्थितः सुस्थितः आचार्यः । उपसंपया आचार्यस्य ढौकनं । पडिछा  
परिक्षा । गणस्य, परिचारकस्य, आराधकस्य, उत्साहशक्तेश्च आहारगतभिलाष त्यन्तुमयं क्षमो नेति । पडिलेहा आराधनाया  
व्याक्षेपेण विना सिद्धिर्भवति न वा राज्यस्य देशस्य ग्रामनगरादेस्तत्र प्रधानस्य वा शोभन वा नेति एव निरूपणम् ॥

मूलरा—संछेहणा सम्यक्कृच्छरीकरणं अर्थात्कार्यकपायणाम् । दिसा एलाचार्यः सधाधिपतिना यावजीवमा-  
चार्यकदागेन स्वपदे प्रतिष्ठितः स्वसमानगुणप्राप्तः स्वशिष्य इत्यर्थः । खामणा परस्परक्षमापणा । अणुसिद्धि सूत्रानुसारेण  
शिक्षादानं । परगणे चरिया अन्यस्मिन्संघे गमनं । मरगण आत्मनो रत्नत्रयशुद्धिं, समाधिमरणं च संपादयितुं क्षमस्य  
सूररन्वेणं । सुठिठ परोपकारकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक् स्थितः सुस्थितः आचार्यः । उवसंपा आचार्यस्य आत्मसमर्पणं ।  
पडिच्छा परीक्षा क्षपकस्य मनोज्ञाहारलौत्यगोचरा । पडिलेहा आराधनानिर्विघ्नसिद्धयर्थं देवतोपदेशाष्टागनिमित्तादिगवेणं ।

हिंदी अर्थ—संछेहणा, दिशा, क्षामणा, अणुसिद्धि, परगणचर्या, मार्गणा, सुस्थित, उपसंपदा, परीक्षा,  
प्रतिलेखन ऐसे दस सूत्रोंका विवरण इस तरह समझना चाहिये,

संछेहना—शरीर और कपार्योंको कृश करना. दिशा—आचार्यों अपने स्थानपर स्थापित किया हुआ  
पदवीका त्याग करके अपने पदपर स्थापा हुआ और आचार्यके स्थिर करता है. संधाधिपति आचार्यने यावजीव आचार्य  
शिष्य उनको दिशा अर्थात् बालाचार्य कहते है. खामणा—अन्योन्य क्षमाकी याचना करना. अणुशिष्टि—आगमके  
अविरुद्ध उपदेश करना.

परगणचर्या—अपना संघ छोडकरके अन्यसंघमें गमन करना. मरगण—रत्नत्रयकी विशुद्धि करनेमें  
समर्थ अथवा समाधिमरण करनेमें समर्थ ऐसे आचार्यका शोध करना. यह मार्गणा सूत्र है. सुठिठ—परोपकार  
करनेमें तथा सक्तीय आचार्य पदवीके लायक कार्य करनेमें प्रवीण गुरुको सुस्थित कहते हैं.

उपसंपदा—आचार्यके चरणमूलमें गमन करना. पडिच्छा—गण, शुश्रूषा करनेवाले मुनि, समाधिभरणाराधक, उत्साहशक्ति, आहारकी अभिलाषा, इत्यादिककी परीक्षा करना. पडिलेहा—आराधनामें यदि विघ्न उपस्थित हो तो आराधनाकी सिद्धि नहीं होती है. अतः उसकी निर्विघ्नताके लिये राज्य देश, गांव, नगर वगैरहका शुभ होगा या अशुभ होगा इसका अवलोकना करना.

आपुच्छा य पडिच्छणमेगस्सालोयणा य गुणदोसा ॥

सेज्जा सथारो वि य णिज्जवग पयासणा हाणी॥ ६९

विजयेदया—आपुच्छा प्रतिप्रश्नः । किमयमस्माभिरुगुहीतव्यो न वेति संघप्रश्नः । पडिच्छणमेगस्स प्रति चारकैरन्यनुष्ठातस्यैकस्य संग्रह आराधकस्य । आलोयणा य स्वापराधनिवेदनं गुरूणामालोचना । गुणदोसा तस्या गुणा दोषा । सेज्जा शय्या वसतिरित्यर्थः । आराधकायासगृहमिति यावत् । सथारो वि य सस्तरश्च । णिज्जावगा निर्यापका आराधकस्य समाधिसहाया । पयासणा चरमाहारप्रकाशनम् । हाणी क्रमेणाहारत्यागं ह्यतिः ।

मूलारा—आपुच्छा किमयमस्माभिरुगुहीतव्यो न वेति संघं प्रति प्रश्नः । पडिच्छणमिक्कस्स संघानुमतनैकस्य क्षपकस्य स्वीकारः । आलोयणा गुरोः स्वदोषनिवेदनं । गुणदोसा गुणा दोषाश्च प्रत्यासत्तेरालोचनाया एव । सेज्जा शय्या वसतिरित्यर्थः । सथारो संस्तरः । णिज्जवग निर्यापकाः आराधकस्य समाधिसहाया । पयासणाचरणं आहारप्रकटनं । हाणी क्रमेणाहारत्यागः ।

हिंदी अर्थ—आपुच्छा, पडिच्छण, आलोयणा, गुणदोस, सेज्जा, संथार णिज्जवग, पयासणा च हाणि ऐसे दस सूत्र भक्तप्रत्याख्यानके उपयोगी हैं.

आपुच्छा—यह आराधक भक्तप्रत्याख्यान करनेके लिये आया है इसके ऊपर अनुग्रह करना योग्य है या नहीं है ऐसा संघको प्रश्न करना अर्थात् उनकी अनुज्ञा प्राप्त करना. पडिच्छण—प्रतिचारक मुनिओंकी स्वीकारता मिलनेपर एक आराधकता ग्रहण करना. आलोयण—गुरूके आगे अपने पूर्वापराच कहना.

गुण दोसा—आलोचनाके गुण और दोषोंका वर्णन करना. सेज्जा—समाधिभरण साधनके लिये आराधककी योग्य वसतिका—निवास स्थान. संथार—संस्तर—अर्थात् आराधकके लिये आगमोक्त शय्या. णिज्जवग—आराधकको समाधिभरण साधनेमें सहायता करनेवाले आचार्यादिक.

पयासणा-अन्तिम आहारको दिखाना. हाणी-क्रमसे आहारका त्याग करना.

पचकव्वाणं खामण खमणं अणुसट्टिसारणाकवचे ॥

समदाज्झाणे लेस्सा फलं विजहणा य पेयाइं ॥ ७०

विजयोदया-पचकव्वाणं प्रत्याख्यानं त्रिविधाहारस्थः । खामणं आचार्यदीना क्षमाग्रहणं । खमणं स्वस्यान्य भूतापराधक्षमा । अणुसट्टि अनुशासनं शिक्षणं निर्यापकस्याचार्यस्य । सारणा दु खामिभवान्मोहमुपगतस्य निश्चेतनस्य चेतनाप्रवर्तना सारणा । कवचे यथा कवचस्य शरशतनिपातदु खनिवारणक्षमता एवमचार्येण निर्यापकेन धर्मोपदेशश्च-  
तुर्गतिपरिग्रामेण दुःसहानि दुःखानि ननु कर्मपरवशतया भुक्तानि निष्फलानि । इदं पुनर्दुःखसहने निर्जरायै प्रवर्त्यमा-  
ने सकलदुःखान्तं सुखमप्यतीन्द्रियमचलमनुपममव्यावाघातमकं संपादयिष्यतीति क्रियमाणो दुःखनिवारणसामान्यात् कवच-  
शब्देनोच्यते । यथा शौर्यप्रचिख्यापयिषया माणवके सिंहशब्दः प्रयुज्यमानः शौर्यादिगुणाध्यासितं देवदत्तमवगमयति ।  
समदा समभावः । जीवितमरणलामालभसयोगविप्रयोगसुखदुःखादिषु रागद्वेषयोरकरणं । ज्ञाणे ध्यानं एकाग्रचित्ता-  
निरोधः । लेस्सा लक्ष्या कयायानुरजिता योगप्रवृत्तिलक्ष्या । फलं साध्यं परिप्राप्य आराधनायाः । विजहणा आराधकस्य  
शरीरत्यागः ।

मूळारा - पचकव्वाणं त्रिविधाहारत्यागः । खामणा आचार्यदीना क्षपकेन क्षमाग्रहणं । खमणं क्षपणं पाप-  
कर्मनिर्जरणमित्यर्थः । अनुसिट्ठि निर्यापकाचार्येण अपराधकस्य शिक्षणं । सारणा दुःखामिभवान्मोहं गतस्य चेतनाप्रापणा ।  
कवचे धर्मोपदेशेन दुःखनिवारणं । समदा जीवितमरणादिषु रागद्वेषयोरकरणं । ज्ञाणे एकाग्रचित्तानिरोधः । लेस्सा  
कयायानुरजिता योगप्रवृत्तिः । फलं आराधनासाध्यं । विजहणा आराधकशरीरत्यागः ।

हिंदी अर्थ-पचकव्वाण, सिवाय जलके तीन प्रकारके आहारोंका त्याग करना.

खामण खमणं-आचार्यादिकोंको क्षमाकी याचना करना. तथा दूसरोंके किये हुए अपराधोंकी क्षमा करना.  
अनुसिट्ठि- आचार्यका समाधिभरणके लिये उद्युक्त हुए मुनिराजको उपदेश देना.

सारणा-दुःखोंसे पीडित होनेपर मोहको प्राप्त हुये, बेसुध हुए आराधकको सचेत करना.

कवच-जैसे कवच-चिलखत शेरको चाण पडनेपर उत्पन्न होनेवाले दुःखोंसे वीर पुरुषको बचाता है.  
वैसे आचार्यने किया हुआ धर्मोपदेश आराधकको दुःखोंसे बचाता है. चतुर्गतीमें पूर्वभवमें आराधकके आत्माने

दुःसह दुःखोंका अनुभव किया है। परंतु वह सब व्यर्थ हुआ। वह दुःखका सहन कुछ आत्मकल्याणकारी नहीं हुआ। परंतु हे आराधक ! इस समय जो दुःख तेरे द्वारा सहा जा रहा है वह तेरे कर्मकी निर्जरा करेगा, वर्तमान दुःखोंका नाश करके अतीन्द्रिय, निश्चल, उपमारहित, बाधारहित सुख देगा इस रीतीसे कहा हुआ आचार्योंका उपदेश आराधकके दुःखोंका नाश करनेवाला होनेसे कवचके तुल्य है। अतः इसको कवच यह नाम देना योग्य ही है। जैसे किसी तेजस्वी बालकका शौर्यगुण सूचित करनेके लिये उसमें जैसे सिंह शब्दका आरोपण करते हैं वैसे यहां भी कवचके गुणोंका अच्यारोपण उपदेशमें करके उसको कवचशब्दसे गौरवित किया है।

समता - जीवित, मरण, लाभ, हानि, संयोग, वियोग, सुख और दुःख इनमें रागद्वेषोंका त्याग करके उपेक्षाबुद्धि धारण करना।

ज्ज्ञाण—अन्य पदार्थोंसे चित्तप्रवृत्ति हटाकर एक विषयमें उसको नियुक्त करना। लेश्या-मन वचन और शरीरके व्यापार कषाययुक्त होना। फल—आराधनासे प्राप्त हुवा साध्य उसको फल कहते हैं।

विजहणा—आराधकका शरीर त्याग। इस तरह भक्त प्रत्याख्यानके चालीस अधिकारोंकी संक्षेपसे निरुक्तिमात्र कही गई है। अब एकैक अधिकारका सविस्तर वर्णन आचार्य यहांसे करेंगे।

प्रथमतः अर्हाधिकारका वर्णन करते हैं।

तत्रार्हनिरूपणयोत्तरा गाथा—

वाहिव्व दुप्पसज्झा जरा य समणजोगहणिकरी ॥

उवसग्गा वा देवियमाणुसत्तेरिच्छया जस्स ॥ ७१ ॥

रोगो दुरुत्तरो यस्य जरा आमण्यहारिणी ॥

तिर्यग्भिर्मर्मानवैदेवरूपसर्गाः प्रवर्तिताः ॥ ७३ ॥

विजयोदया—वाहिव्व । अब चैव पदघटना । वाहिव्व दुप्पसज्झा सो अरिहो होइ भक्तपटिण्णाप इति । व्याधिर्वा दु प्रसाध्य । क्लेशेन मद्धता सयमप्रचयापहेन चिकित्स्य यस्य विद्यते सोहो भक्तप्रत्याख्यानं कर्तुं । जीर्यति विनश्यति रूपवयोवलप्रभृतयो गुणा यस्यामवस्थाया प्राणिनं सा जरा । सामणजोगहणिकरी आभ्यति तपस्यतीति

श्रमण', तस्य भावः श्रमण्यं श्रमणशब्दस्य भुक्ति प्रवृत्तिनिमित्तं तप क्रिया श्रमण्यं, तेन योग' संघ' माध्यमाद्यनलक्षण-स्तस्य हानि विनाशं करोति या सा जरा यस्य सोर्हति भक्तप्रत्याख्यान विधातुं ।

जरापसारितशरीरवल शरीरलसाधेयु कारयेद्येषु न वर्तिमुत्पदते । अथवा समणो समानमणो सम-णस्स भावो सामणं क्वचिदप्यननुगतरागेद्वयता समता सामणशब्देनोच्यते । वस्तुयाथाग्यावहितचेतस्तया योग' संघो ध्यानयोग इति यावत् । वस्तुयाथाख्यावयोचो निश्चलो य स ध्यानमिग्यते । जरापरिछुत्तयोधस्य ध्यानं विनश्यति । ततो ध्यानयोगविनाशकारिणी जरा यस्य सोर्हति भक्तं त्यक्तुम् । अथवा सामणं समता, युज्यं-तेऽनेन निर्जरायिन इति योगः, तपसः योगशब्दस्तपसि कायेकेशाल्ये रूढ सोऽय गृहीत । 'आदावणादिजो-गधारिणो अणागारा' इत्युक्ते. आतापनादितयोध्याग्नि इति प्रतीयते ॥

द्वंद्वे अल्पस्वरत्यायोगशब्दस्य पूर्वनिपातप्रसंग इति चेत् न अभ्यर्हितत्वान्समताया' सामण इत्यस्य पूर्वनिपात इति मन्यते, पूर्वजोऽभ्यर्हितमिति वचनात् । न हि समताग्न्यात्तपसो त्रिपुला निर्जन भवति । ततस्तपसो निर्जरादेतुता परवशेति प्रधानं समता ।

उचसगा या उपद्रवा वा 'देवियमाणुमतेरिक्खिणा' देवेनरेस्तिर्यग्मिद्वय प्रवर्तिता यस्य मोर्हति भक्तप्रत्याख्यान इति सवच । चतुर्विधत्वादुपसर्गस्य त्रिविधोपदेशः कथमिति ? अत्रोच्यते-उपसर्गो वा इति या शब्द समुच्चयार्थोऽसौ 'देवियमाणुमतेरिक्खिणा वा इति संनंथनीयस्तेनचेतनोपसर्गसमुच्चय क्रियते ॥

अधुना गाथापदकेनाह्लक्षणमाह-

मूलारा-वाहीन व्याधिर्वा । दुप्पसज्जा महत्ता कुंशेन संयमप्रचयापहेन चिकित्थ' । औपथादिना निराकुंभ शक्यो वा । सामणजोग श्रान्यति तपस्यतीति श्रमणस्तस्य भावः श्रमण्यं तपश्चरणं तेन योगः साध्यमाधनभानलक्षणः संबन्धः । अथवा सामान्येन क्वचिदप्यनुगतरागेद्वयतया योगो ध्यानं । अथवा सामणं समता जोग आतापनादि तो । उचसगा वा ग्य वा शब्दोऽनुक्तसमुच्चये तेन अचेतनकृताश्रेति लभ्यते ॥

हिंदी अर्थ—जिमको संयमसमुदायका नाश करनेवाला और महाप्रयत्नसे चिकित्सा करने योग्य रोग हुआ है वह मुनि भक्तप्रत्याख्यानमरणके योग्य है. अर्थात् जिस रोगको दूर करनेके लिये मंयमको छोडना पड़ेगा और महाह्मशसे भी जिसके नाशकी संभावना नहीं है ऐसे रोगसे पीडित होनेपर मुनिवर्य भक्तप्रत्याख्यानके लिये योग्य माने जाते हैं. प्राणिओंके रूप, बल, वय वगैरे गुणोंका नाश वृद्धावस्था आनेसे होता है. यह वृद्धावस्था जम अतिशय बढ़ती है तब मुनि तप-क्रिया करनेमें असमर्थ हो जाते हैं. ऐसी परिस्थितिमें वे भक्तप्रतिज्ञामरणके लिये योग्य समझे गये हैं. वृद्धावस्था प्राप्त होनेसे शरीरकी ताकत नष्ट होती है. कायह्मश तप शरीरमें बल

होनेसेही हो सकता है, अन्यथा नहीं है, अतः वृद्धावस्था श्रामण्ययोगकी हानि करनेवाली है, किसी भी इष्टानिष्ठ विषयमें रागद्वेषरहित मनोवृत्ति होना ही समता है, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाननेमें चित्तकी एकाग्रता होनाही योग अथवा ध्यान कहते हैं, जब वस्तुके यथार्थ ज्ञानको निश्चलता प्राप्त होती है तब उसको ध्यानसंज्ञा प्राप्त होती है, बुढ़ापेसे ज्ञानमें अस्थिरता आती है तब ध्यानका विनाश होता है, अर्थात् ध्यानका नाश करनेवाली वृद्धावस्था शरीरको जब जर्जर करती है तब छुनिराज भक्तभातिज्ञाभरणसे देहोत्सर्ग करते हैं, सामान्ययोग इस शब्दका अर्थ इस तरहसे भी आचार्य करते हैं—समता शब्दका अर्थ उपर लिखा है, निर्जरार्थी सुनि जिससे संयुक्त होते हैं वह योग है अर्थात् यहां कायक्लेशको योग कहना रूढ है, आतापनादिकायक्लेशतपको योग कहते हैं यह बात प्रसिद्ध ही है, 'आदावणादिजोगधारिणो अणगार' आतापनादि योगोंको धारण करने-वाले सुनियोंको अणगार कहते हैं ऐसा आगममें कहा है, जराजर्जरित होनेसे उपर्युक्तयोग धारण करनेमें शरीर समर्थ नहीं रहता है,

✓ 'सामण जोग' इस शब्दसमूहमें योग शब्द अल्पस्वारयुक्त होनेसे द्वंद्व समासमें उसको प्रथम नियुक्त करना चाहिये, इस प्रश्नका उत्तर यह है कि, समता अर्थात् सामण्य प्रधानरूप है, महच्चयुक्त है, जिसमें महत्त्व रहता है उसको द्वंद्व समासमें प्रथम नियुक्त करते हैं, समतारहित केवल तप विपुल निर्जराका कारण नहीं होता है, अतः तपश्चरणमें निर्जराहेतुता स्वयं नहीं है किंतु वह समताका साहाय्य पाकर होती है,

देवोंका उपद्रव, मनुष्यकृत उपद्रव तथा तिर्यचकृत उपद्रव इन उपद्रवोंमेंसे किसी भी उपद्रवसे निष्प्रतीकार पीडा हो जानेसे सुनि भक्तप्रत्याख्यान भरणके योग्य माने जाते हैं,

उपसर्गके चार भेद हैं, परंतु तीन उपसर्गकाही यहां उल्लेख क्यों किया है ?

उत्तर—'उपसर्गा वा' इस गार्थोक्त शब्दोंमें 'वा' शब्द समुच्चयार्थक समझना चाहिये, अतः अचेतन उपसर्गका भी यहां समुच्चय होता है,

अणुलोमा वा सत्तु चारित्तविणासया हवे जस्स ॥

डुब्भिक्खे वा गाढे अडवीए विप्पण्हो वा ॥ ७२ ॥

अनुकूलैर्गृहीतो वा वैरिभिर्दुत्तहारिभिः ॥

योऽटव्यां पतितो घोरे दुर्भिक्षे च दुरुत्तरे ॥ ७४ ॥

विजयोदया—अणुलोमा वा अनुकूला वा शत्रवः । चारित्तविणासगा चारित्रं पापक्रियानिवृत्तिः तस्य विनाशका । वंधवो हि स्नेहान्मिथ्यात्वदोषात् स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्रं विनाशयितुं उद्यताः अनुलोमत्वे शत्रुत्वविरोधिप्रातिकूल्ये समवस्थिता हि भवन्ति शत्रवस्तत्किमुच्यते अणुलोमा वा सच्च इति ? प्रियवचनभाषणादनुलोमता अहितेऽसंयमे प्रवर्तनाद्विदितस्य संयमधनस्य विनाशनात् शत्रवो भवन्ति । अथवा अनुलोमा बंधवः सच्च वा शत्रवश्चेति ससुच्यते वा शब्दसमुच्चयार्थत्वात् । देविगमाणुसतेरिक्कसा उवससा जस्स इति वचनात् अनुकूलशत्रुकृतोऽप्युपसर्गः संगृहीत एव किमर्थं पुनरुच्यते 'अणुलोमा वा' इति पुनरुक्ता । तत्र हि सूत्रे मनुष्योपसर्गो नाम बंधनताडनधिलंघनादिकः शरीरोपद्रवः परकृतो गृहीतः । इह तु जिह्वोत्पाटनादिकं कुर्मो यदि भ्रामण्यं न त्यजसीति खलीकरणं वस्तुमिष्टम् ।

दुर्भिक्षे वा दुर्भिक्षे वा । आगाढे दुरुत्तरे महति अशनिपातमिव सर्वजनगोचरे । अर्हति प्रत्याख्यातुं ।

अडवीर अटव्या महत्यां व्यालमृगाकुलाया मार्गोपदेशिजनरहिताया दिक्सूढः पापाणकंटकबहुलतया दुःप्रचारायां । विषण्णहो वा विषण्णहो वा अहर्तीति संबंधः ॥

मूलारा—अणुलोमा वाधवादयः । स्नेहान्मिथ्यात्वदोषात्स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्रं विनाशयितुमुद्यताः स्युः । अनुलोमत्वं चैषा प्रियभाषणमात्राच्छत्रुत्वं च संयमधनविनाशनादसंयमविप्रवर्तनाच्च ॥ अथवा शत्रवोऽत्र जिह्वोत्पाटनादिकं तव कुर्मो यदि न यतित्वं त्यजसि इति खलीकारिणो वैरिणः । तेऽपि यस्य चारित्रघातका इति ब्राह्मं ।

पूर्वसूत्रे मनुष्योपसर्गस्तु बंधनलज्जनताडनादिरुपात्तः । आगाढे दुरुत्तरे । विषण्णहो मार्गविमूढमनाः ।

हिंदी अर्थ—अनुकूल शत्रु जिसके चारित्रका नाश करनेके लिये उद्युक्त हुए हो वह मुनि अपने पाप क्रियाओंका त्यागरूपी चारित्रिके रक्षणार्थं भक्तप्रत्याख्यानमरण करनेके लिये योग्य माना गया है, अभिप्राय यह है कि, बंधुगण स्नेहवश होकर अथवा मिथ्यात्व दोषसे किंवा यह स्वपोषण करेगा इत्यादि लोभसे प्रेरित होकर जिसके चारित्रिका नाश करनेके लिये उद्यमी हो जाते हैं वह मुनि समाधिमरण धारणाकेलिये योग्य है, उपद्रव करनेवाले बंधु शत्रु क्यों माने जाते हैं यह ऊपर दिखाया है, वे प्रिय भाषण करते हैं अतः उनको बंधु अर्थात् अनुलोम कह सकते हैं परंतु अकल्याणकारक असंयममें वे जीवको प्रवृत्त करते हैं और हितकारक संयमधन का नाश करते हैं अतः वे शत्रु हैं,

शंका—‘देविगमाणुसतेरिक्वगा उपसर्गा जस्य’ अर्थात् देवकृत, मनुष्यकृत, त्रियंस्कृत उपसर्गों मेंसे मनुष्यकृत उपसर्ग एक उपसर्ग है ऐसा पिछली गाथा में लिखा है. शत्रुकृत उपद्रव अथवा बंधुकृत उपसर्ग भी मनुष्यकृत उपसर्ग में अन्तर्भूत होता है अतः पुनः इस गाथा में शत्रु व बंधुकृत उपसर्ग का वर्णन क्यों किया है ?

उत्तर—पूर्व गाथा में मनुष्योपसर्ग का खुलासा इस प्रकार समझना चाहिये—बंधन, ताड़न, वृक्षशाखासे लटकाना इत्यादि शरीरोपद्रव जो परके द्वारा किये जाते हैं उनकी मनुष्योपद्रव कहना चाहिये. इस सूत्र में बंधु वा शत्रुकृत उपद्रव का अभिप्राय यह है—यदि तुम अपना सुनिपना न छोड़ोगे तो तुम्हारी जिद्द हम निकालेंगे. इत्यादि शब्दों के द्वारा उपद्रव करना ऐसे उपद्रव उपस्थित होने पर सुनि समाधिभरणका स्वीकार करते हैं.

विद्युत्पात के समान भयंकर और जिसमें जीनेकी संभावना नहीं है ऐसा दुष्काल आपडनेपर भी सुनि भक्तप्रत्याख्यान के लिये योग्य हैं. कारण ऐसे दुष्काल में अन्न मिलता ही नहीं, अतः चारित्रिनाश न हो इस हेतुसे उनको सल्लेखना करना योग्य है. जिससे उनके धर्मका रक्षण होगा.

जिसमें क्रूर प्राणी हैं और जिसमेंसे पार पाडनेवाला मार्गोपदेशक भी नहीं है ऐसे जंगल में सुनि दिग्भ्रम हो जाते हैं. तथा वह जंगल पापण कंटकादिकोंसे व्याप्त होनेसे सुनिओंको उसमें विचरना अशक्य सा मालूम हो तो वे ऐसी अवस्थामें प्रत्याख्यान करनेके लिये योग्य हैं.

चक्रं व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स ॥

जंघावलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिंदुं वा ॥ ७३ ॥

दुर्बलौ यस्य जायेते श्रवणौ चक्षुषी तथा ॥

विहरंतु न समर्थौ यो जङ्घावलविवर्जितः ॥ ७५ ॥

विजयोदया—चक्षुः व चक्षुर्वा । चक्षुः शब्दार्थशयतीति चक्षुः । दुब्बल दुर्बल अल्पशक्तिः सूक्ष्मवस्तुदर्शनाक्षमं । जस्स यस्य । होज्ज भवेत् । सोदं व श्रोत्र वा श्रूयते शब्द उपलभ्यते येन तत् श्रोत्रम् । दुब्बल शब्दोपलब्धिजननसामर्थ्यविकल । सोप्यहति । जंघावलपरिहीणो जंघावलपरिहीनो । जो य । ण समत्थो न शक्नोति । विहरिंदु वा गंतु वा सोप्यहति ॥



मूलारा—दुन्वलं सूक्ष्मनिरीक्षणक्षमं । दुन्वलं शब्दश्रवणशक्तिविकलं ॥ विहरिदुं गंतुमागंतुं वा ॥  
हिंदी अर्थ—जिसकी आंखें कमशक्तिकी हो जानेसे सूक्ष्म वस्तु देखनेमें असमर्थ हो गयी हैं, जिसके कानोंका शब्द सुननेका सामर्थ्य नष्ट हो गया है, तथा जिसके पावोंकी चलेनेकी शक्ति नष्ट हो गई हो वह मुनि भी भक्तप्रत्याख्यानके लिये योग्य है।

अण्णम्मि चावि एदारिसंमि आगाढकारणे जादे ॥

अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदो वा ॥ ७४ ॥

दुर्वारं कारणं यस्य जायतेऽन्यदपीदृशम् ॥

भक्त्यागमृतेयोंग्यः संयतोऽसंयतोऽपि सः ॥ ७६ ॥

विजयोदया—अण्णंमि चावि अन्यस्मिन्नपि उकादस्मात् । आगाढकारणे आगाढे कारणे जादे जाते । पद्म-  
रिसम्मि उक्ककारणसइदो । भत्तपइण्णाए अरिहो होदि विरदो अविरदो वा इति पदघटना । प्रत्याख्यानस्याहो  
भवति विरत अविरतो वा ॥

मूलारा—विरदो यतिः । अविरदो श्रावकः ।

हिंदी अर्थ—उपर कहे हुए कारणोंसे अन्य भी तत्सदृश कारण यदि तीव्रतया उपस्थित हुए हो ऐसे समयमें मुनि अथवा गृहस्थ प्रत्याख्यानके योग्य समझे जाते हैं।

अनईसूचनयोत्तराथा—

उत्सरइ जस्स चिरमवि सुहेण सामणमणदिचारं वा ॥

णिज्जावया य सुलहा दुब्भिवक्खभयं च जदि णत्थि ॥ ७५ ॥

प्रवर्तते सुखं यस्य आमण्यमपदूषणम् ॥

दुर्भिक्षान्नभयं योग्या दुरापा न च सूरयः ॥ ७७ ॥

विजयोदया—उत्सरदि नितरा प्रवर्तते । जस्स यस्य । चिरमवि चिरकालमपि । किं सामणं चरित्रं । सुहेण  
अक्केशेन । अणदिचार वा । निरतिचारं । चारित्रविनाशभयाद्यं अतीतेषु कारणेषु सत्सु प्रत्याख्यानयोगं करोति ।

तच्चेत्ययतंते निरतिचारमहोदो नैव भक्तप्रत्याख्यानमर्हति । इदानीमहं यदि न त्यागं कुर्यां निर्यापका पुनर्न लप्स्यन्ते सूर्यस्तदभावे नाहं पंडितमरणमाराधयितुं शक्नोमि इति यदि भयमस्ति भक्तप्रत्याख्यानाहं एव ।

अहंप्रसंगादायातमनर्हं तन्मुखेन वा पुनरहेमव लक्षयितुं गायद्द्वयमाह—

मूलारा—उत्सरदि नितरा प्रवर्तते । गिब्जावया पंडितमरणाराधनासहकारिणः सूर्यः । सुलहा तत्कालेभ्युत्तर कालेऽपि सुग्रापाः । दुष्टिभक्त्यभयं अग्रे धान्यक्षयाद्विक्षा विना चारित्रहानिर्मे भविष्यतीति भीतिः ।

प्रत्याख्यानमरणके लिये अयोग्य कोन है इसका खुलासा —

अर्थ—जिस मुनीश्वरका चारित्रपालन निरतिचार होता है और आयासके बिना होता है वह भक्त प्रत्याख्यानके लिए अयोग्य है, अथवा सछेखनाके साधक निर्यापक आचार्य सुलभ हो तथा दुर्भिक्षका भय यदि न हो तो ऐसे समयमें मुनि समाधिमरण धारण न करे, अभिप्राय यह है कि, उपर्युक्त गायार्थोंमें कहे हुए कारण आपडने-पर भरे चारित्रका नाश होगा ऐसा समझकर मुनि भक्तप्रत्याख्यान करते हैं और यदि वे कारण नहीं हो तो मुनि भक्तप्रत्याख्यानमें प्रयत्न नहीं करते हैं, इस समय यदि मैं भक्तप्रत्याख्यान न करूंगा और आगे यदि निर्यापक आचार्य मेरेको न मिलेंगे तो उनके अभावसे मैं पंडितमरण न साध सकूंगा ऐसा यदि भय हो तो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यानके योग्यही है ऐसा समझना चाहिए, यदि निर्यापकाचार्य सुलभ हो और भविष्यकालमें दुर्भिक्षकी भीती न हो तो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यानके लिये अयोग्य समझना चाहिये,

यदि च सुलभा निर्यापका अनागतदुर्भिक्षभयं च यदि न स्यान्न भवत्यहः इति कथयति ।—

तत्स ण कप्पदि भत्तपइण्णं अणुवड्ढिदे भये पुरदो ॥

सो मरणं पच्छित्तो होदि हु सामणणिव्विण्णो ॥ ७६ ॥

नासावर्हति संन्यासमहष्टे पुरत्तो भये ॥

मरणं याचमानोऽसौ निर्विण्णो वृत्ततः परम् ॥ ७८ ॥

इति अर्हाभिधेयं सूत्रम् ॥

त्रितयोदया—तस्स तस्य । ण रूपदि भक्तपरणं न योग्य प्रयाख्यान भक्त्य । मये पुरडो अणुवट्टिं भये पुरस्तादनुपस्थिते । सो स । निगतिचात्रासण्य सुलभनिर्यापक अनुपस्थितदुर्भिक्षभय । मरणं कृति । ऐच्छन्तो प्रार्थयमान । गुशब्द पवकारार्थ । पत्रमसो सभावनीय नामणणिट्ठिगण पव होदित्ति । आमण्याभिनिंण पव संभवतीति । ननु च अरिहेति अहं एव सूचितो नानहं, तन्निमर्थमस्ववित्त्याग्या क्रियते सूत्रकारेण ? अहंप्रसंगादायतमिति केचित् । अनहंमपि लक्षणतया अनहंत्य सूत्रितं इति वा न दोष । स्वपरभाषाभागे नयावीना-त्मलाभत्वात्सर्वस्वत्वा इति मन्यते ॥ अरिहोत्ति गदम् ॥

मूलारा—ण कप्पदि योग्यो न भवति । अणुवट्टिं अदौकिते ॥ सु इत्यादि आमण्यनिनिंण पत्र । अहं । सूत्रतः ॥ १ ॥ अंकतः ॥ ६ ॥

यही अभिप्राय आगेकी गाथामें आचार्य कहते हैं—

हिंदी अर्थ — जिसके चारित्र्यमें निरतिचारता है, निर्यापकाचार्य जिसको सुलभतामें मिलते हैं, दुर्भिक्षकी भीति जिसको उपस्थित नहीं हुई है ऐसा भी मुनि यदि मरणकी इच्छा करेगा तो वह मुनि चारित्र्यसे विरक्त हुआ है ऐसा समझना चाहिये.

शंका—‘अरिहेति’ इस सूत्रसे अहंकाही वर्णन करना चाहिये सूत्रकारने क्यों सूत्रके विरुद्ध अनहंका भी निरूपण किया है ? इसका समाधान—अहंके प्रसंगसे अनहंका भी वर्णन सूत्रकारने किया है ऐसा कोई समाधान करते हैं.

स्वस्वरूपकी अपेक्षासे जो वस्तु है वही परस्वरूपकी अपेक्षासे अवस्तु होती है. ऐसी सर्व वस्तुओंकी व्यवस्था है. अतः अहं जैसे अपने लक्षणसे अहं है उसी तरह अनहं भी अहंके उलटा होनेसे अनहं माना जाता है अनहं सर्वथा अभावरूप नहीं है. जितने पदार्थ है ये सभी नयसे मिट्ट होते हैं, अतः अनहंका भी लक्षण आचार्यने लिखा है वह अयोग्य नहीं है.

भक्तप्रत्याख्यानके लिये जो अहं-योग्य है उस मुनिको भक्तप्रत्याख्यानके लिये उचित सामग्री रूप लिंगका वर्णन आचार्य आगेकी गाथाओंमें करते हैं.

भक्तप्रत्याख्यानाहस्य तत्प्रत्याख्यानपरिकरभूतलिंगनिरूपणं उत्तरार्मिर्गोथामि क्रियते—

उत्सर्गियलिंगकदस्स लिंगमुत्सर्गियं तयं चेव ॥

अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसर्गियं लिंगं ॥ ७७

तदौत्सर्गिकलिंगानां लिंगमौत्सर्गिकं परं ॥

अनौत्सर्गिकलिंगानामपीदं वर्णयते जिनेः ॥ ७९ ॥

विजयोद्या—उत्सर्गियलिंगकदस्स उत्कर्षेण सर्जेन त्याग सकलपरिग्रहस्य उत्सर्गः । उत्सर्गे त्यागे सकल ग्रंथपरित्यागे भव लिंग औत्सर्गिक । किं करोति क्रियासामान्यवचनोऽत्र सुज्यर्थो ग्राह्य । तेनायमर्थः औत्सर्गिकलिंग-स्थितस्य भक्तप्रत्याख्यानानभिलाषवत् । तं चेव उत्सर्गिण लिंग तदेव प्राक् गृहीतं लिंग औत्सर्गिकम् । अववादियलिंगस्स वि यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः, अपवादो यस्य विद्यते इत्यपवादिकं परिग्रहसहितं लिंगं अस्येत्यपवादिकं लिंगं भवति । वाक्यशेषे कृत्वा एवं पदसंबन्ध कार्यः । जर पसत्थलिंगं जर यदि प्रशस्तं शोभनं लिंगं मेहनं भवति । चर्मरहितत्वं, अतिदीर्घत्वं, स्थूलत्व, असकृदुत्थानशीलतेत्येवमादिदोषरहितं यदि भवेत् । पुंस्त्वलिंगता इह गृहीतेति कीजयोरपि लिंगशब्देन ग्रहणं । अतिलंबमानतादिदोषरहितता । प्रशस्ततापि तयोर्युद्घीता ॥

अथ गाथाद्विविशत्या भक्तप्रत्याख्यानाहस्य तत्परिकरभूतं लिंगं व्याचष्टे ।

मूलारा—उत्सर्गियलिंगकदस्स उत्कर्षेण सर्जेनमुत्सर्गः सकलपरिग्रहत्यागः । तत्र भवमौत्सर्गिकं तच्च तल्लिंगं च तत्र कृतं स्थितः तस्य यतेर्भक्तं त्यक्तुमिच्छोः । तयं चेव तदेव प्राग्गृहीतमेव भवेत् । अववादियलिंगस्स । यतीनां अपवादहेतुत्वादपवादः परिग्रहः सोऽप्यास्तीत्यपवादिकं लिंगं यस्य सोऽपवादिकलिंगः सप्रबंधविह्व आर्यादिस्तस्यापि भक्तं त्यक्तुमिच्छोरौत्सर्गिकमेव लिंगं वर्णितम् । यदि निश्चर्मत्वातिदीर्घत्वस्थूलत्वासकृदुत्थानशीलत्वाद्विदोषरहितं, धृषणौ चातिलंबमानतादिदोषवर्जितौ स्याताम् ॥

हिंदी अर्थ—उत्सर्ग-संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना यह उत्सर्ग है, अर्थात् संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग जब होता है उस समय जो चिन्ह मुनि धारण करते हैं उसको औत्सर्गिक लिंग कहते हैं, अभिप्राय यह है कि, जिस मुनीने संपूर्ण परिग्रह छोड़कर पूर्ण नयता धारण की है उसके लिंगको-नयताको औत्सर्गिक लिंग कहते हैं, जब वह भक्तप्रत्याख्यान धारण करता है तब भी उसका नयता ही लिंग रहेगा।

यतीको परिग्रह अपवादका कारण होता है अतः परिग्रहसहित लिंगको अपवादिकलिंग कहते हैं,

अर्थात् अपवादलिंगधारक गृहस्थ जब भक्तप्रत्याख्यानके लिये उद्युक्त होता है तब उसके पुरुषलिंगमें यदि दोष न हो तो औत्सर्गिक लिंग-नग्नता धारण कर सकता है, गृहस्थके पुरुषलिंगमें चर्म न होना, अतिशय दीर्घता, चारोंवर चेतना होकर ऊपर उठना ऐसे दोष यदि हो तो वह दीक्षा लेनेके लायक नहीं है, उसी तरह उसके अंड भी यदि अतिशय लंबे हो, बड़े हो तो भी गृहस्थ नग्नताके लिये अयोग्य है, परंतु एवं दोषविशिष्ट भी गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यानके समय एकान्तादिकमें सर्व परिग्रहका त्याग करके नग्न रह सकता है,

जिसको उपर्युक्त दोष है वह औत्सर्गिक लिंगका धारक नहीं होता है इस नियमका अपवाद कहते हैं—

औत्सर्गिक लिंग न भवत्येवेत्यपवादमाह—

जस्म वि अव्वभिचारी दोसो तिठ्ठाणिगो विहारस्मि ॥

सो वि हु संथारगवो गेण्हेज्जोस्सुगियं लिंगं ॥ ७८ ॥

यस्य त्रिस्थानगो दोषो दुर्निचारो विरागिणः ॥

लिंगमौत्सर्गिकं तस्मै संस्तरस्थाय दीयते ॥ ८० ॥

विजयोदया-जस्म वि यस्यापि । अव्वभिचारी अनिराकार्यो । दोसो दोषः । तिठ्ठाणिगो स्थानव्यभव भेदने चूपणयोश्च भवः औपधादिनानपसार्य । सोऽपि खु शब्द एवकारार्थः, स च गेण्हेज्ज इत्यनेन सवधनीयः । गृण्हीयादेव किं ? उस्सगिग लिंग औत्सर्गिक अचेलतालक्षण । क विहारस्मि विहारे वसतौ, सथारगवे संस्तरारूढ संस्तरारोहणकाले । एव संस्तरारूढस्यैव औत्सर्गिक नान्यत्रेत्याख्यातं भवति ।

अप्रशस्तालिंगौत्सर्गिकं लिंगं न भवत्येवेत्यपवादमाह—

मूलारा—अव्वभिचारो औपधादिना निराकर्तुमशक्य । तिठ्ठाणिओ त्रिपु स्थानेषु भेददृष्टपणयोश्च भवः । स च कुरंडो लिंगे दुश्चर्मत्वं स्ववधत्वं च । विहारस्मि वसतौ । खु एवार्थे । संस्तरगत एव गृण्हीयादेवेत्यर्थः । उस्सगियं अचेलता लक्षणं ॥

हिंदी अर्थ — जिसके उपर्युक्त तीन दोष औपधादिकोंसे नष्ट होने लायक नहीं है वह वसतिकामें जब संस्तरारूढ होता है तब पूर्ण नग्न रह सकता है, संस्तरारोहणके समयमेंही वह नग्न रह सकता है अन्य समयमें उसको मना है,

अपवादलिंगस्थानां प्रशस्तलिंगानां सर्वपामेव किमौत्सर्गलिंगेत्यस्यामारेकाया आह—

आवसधे वा अप्पाउगगे जो वा महद्विओ हिरिमं ॥

मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ॥ ७९ ॥

समृद्धस्य सलज्जस्य योग्यं स्थानमविंदतः ॥

मिथ्याहक्प्रचुरजातेरनौत्सर्गिकमिष्यते ॥ ८१ ॥

विजयोद्या—आवसधे वा निवासस्थाने । अप्पाउगे अप्पायोग्ये अविविके । अपवादिकलिंग हवदित्ति शेषः । जो वा महद्विगो महर्दिक । हिरिमं न्हीमान् लज्जावान् । तस्यापि होज्ज अपवादिक लिंग । मिच्छे वा मिथ्याहट्टो । सजणे स्वजनौ ऋधुवर्गौ । होज्ज भवेत् । अपवादिकलिंग सचेललिंग ॥

इदानीमपवादिकलिंगस्यानां प्रशस्तलिंगानामपि येषामौत्सर्गिकं लिंगं न स्यात्तानाह—

मूलारा—आवसधे निवासस्थाने । अप्पाउगगे जनसंकुलत्वादयोग्ये । महद्विगो महर्दिकः । हिरिमं न्हीमान् लज्जावान् । मिच्छे मिथ्याहट्टो ॥

जिनके पुरुषलिंगमें दोष नहीं है ऐसे अपवादलिंगस्थित सभी लोक औत्सर्गिकलिंगधारी हो सकते हैं क्या ? इस प्रश्नका उत्तर—

हिंदी अर्थ—जो श्रीमान्, लज्जावान् है तथा जिसके ऋधुगण मिथ्यात्वयुक्त है ऐसे व्यक्तिने एकान्त रहित वसतिकामें सबखही रहना चाहिये.

पूर्वनिर्दिष्टौत्सर्गलिंगस्वरूपनिरूपणार्थोत्तरगथा—

अचेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं ॥

एसो हु लिंगकप्पो चटुब्बिहो होदि उस्सग्गे ॥ ८० ॥

औत्सर्गिकमंचेलत्वं लोचो व्युत्सृष्टदेहता ॥

प्रतिलेखनमित्येवं लिंगमुक्तं चतुर्विधम् ॥ ८२ ॥

विजयोद्या—अचेलकमिति । अचेलक्क अंचेलता । लोचो केशोत्पादनं हस्तेन । वोसट्टसरीरदा य व्युत्सृष्टशरीरता च । पडिलिहणं प्रतिलेखनं । एसो हु एषः । लिंगकप्पो लिंगविकल्पः । चटुब्बिहो चतुर्विधः भवति । उस्सग्गे औत्सर्गिकसन्निते लिंगे ।

औत्सर्गिकलिंगस्वरूपं निरूपयति—

मूलारा—आचेलकं वक्षाग्रभावं । नैर्ग्रन्थमित्यर्थः । लोचो हस्तेन केशोत्पादनं ॥ वोसट्टं व्युत्सृष्टं त्यक्तं असंस्कारं इत्यर्थः । लिंगकण्ठो लिंगविधिः ॥

पूर्वमे नाममात्रसे कहे हुए उत्सर्गलिंगका स्वरूप कहते हैं—

हिंदी अर्थ—संपूर्ण वस्त्राका त्याग अर्थात् नग्नता, लोच- हाथसे केश उत्पादना, शरीरपरसे ममत्व दूर करना अर्थात् कायोत्सर्ग करना, तथा पडिलिहून-अतिलेखन प्राणिदयाका चिह्न-मयूरपिच्छिका हाथमें धारण कराना इस तरह चार प्रकारका औत्सर्गिक लिंग है,

अतीताभिर्गन्थाभिः पुरुषाणां भक्तप्रत्याख्यानाभिलाषिणां लिंगविकल्पोऽभिदृष्टनिश्चयः । अधुना स्त्रीणां तदर्थिनीनां लिंगमुत्तरया गायया निरूप्यते—

इत्थीवि य जं लिंगं दिष्टं उत्सर्गियं व इदं व ॥

तं तह होदि हु लिंगं परिचमुवाधिं करेतीए ॥ ८१ ॥

विजयोदया—इत्थीवि य स्त्रियोऽपि । जं लिंगं यल्लिंगं । दिष्टं दण्डं आगमेऽभिहितं । उत्सर्गियं व औत्सर्गिकं तपस्विनीनां । इदं व आधिकारणं । तं तदेव । तस्य भक्तप्रत्याख्याने । होदि भवति । लिंगं तपस्विनीनां प्राक्तनम् । इतरासां पुंसांमिव योज्यम् । यदि महर्द्धिका लज्जावती मिथ्यादृष्टिस्वजना च तस्याः प्राक्तनं लिंगं विविक्ते आवसथे, उत्सर्गलिंगं वा सकलपरिग्रहत्यागरूपं । उत्सर्गलिंगं कथं निरूप्यते स्त्रीणामित्यत आह—तं तत् उत्सर्ग-लिंगं । तस्य स्त्रीणां होदि भवति । परितं अल्पं । उवाधि परिग्रहं । करेतीए कुर्वत्याः ।

अधुना भक्तप्रत्याख्यानार्थिनीनां स्त्रीणां लिंगं निर्दिशति ॥

मूलारा—इच्छीए वि स्त्रिया अपि । उत्सर्गियं दिष्टं आगमेऽभिहितं ॥ परिचमुवाधिं करेतीए परिग्रहमल्पं कुर्वत्या इति योज्यं । औत्सर्गिकं तपस्विनीनां सादकमात्रपरिग्रहेऽपि तत्र ममत्वपरित्यागादुपचारतो नैर्ग्रन्थव्यवहरणा-नुसरणात् । इदं अपवादिकं आधिकारणा तथाविधममत्वपरित्यागाभावादुपचारतोऽपि नैर्ग्रन्थव्यवहारानवतारात् ॥ तच्छ तत्र भक्तप्रत्याख्याने सन्न्यासकाले इत्यर्थः । लिंगं तपस्विनीनामयोगस्थाने प्राक्तनं । इतरासां पुंसांमिवेति योज्यम् । इदमत्र तात्पर्यं—तपस्विनी मृत्युकाले योग्ये स्थाने वक्ष्यमात्रमपि त्यजति । अन्या तु यदि योग्यं स्थानं लभते । यदि च

महर्षिका सलज्जा मिथ्यात्वप्रचुरसातिअ न तदा पुंवद्वरुमपि मुंचति ॥ नो वेत्तालिंगनैव क्रियते । तथा चोक्तं—  
यदौत्सर्गिकमन्यद्वा लिंगं दृष्टं सिन्याः श्रुते ॥  
पुंवत्तद्विष्यते दृष्टुकाले खल्पीकृतोपधे ॥

यहांतक भक्तप्रत्याख्यानकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंका दो प्रकारका लिंगभेद—उत्सर्ग लिंग और अपवादलिंग आचार्यने कहा है, अब भक्तप्रत्याख्यानेच्छु स्त्रियोंका लिंग आगेकी गाथासे कहते हैं—

हिंदी अर्थ—परमागममें स्त्रियोंका अर्थात् आर्थिकाओंका और श्राविकाओंका जो उत्सर्गलिंग और अपवादलिंग कहा है वही लिंग भक्तप्रत्याख्यानके समय समझना चाहिये, अर्थात् आर्थिकाओंका भक्तप्रत्याख्यानके समय उत्सर्गलिंग विविक्तस्थानमें होना चाहिये अर्थात् वह भी युनिवत् उस समय नग्नरूपता धारण कर ऐसी आगमाज्ञा है, परन्तु श्राविकाका उत्सर्ग लिंग भी है और अपवादलिंग भी है, यदि वह श्राविका संपत्तिवाली अथवा लज्जावती होगी अथवा उसके बांधवगण मिथ्यात्वी हो तो वह अपवादलिंग धारण करे अर्थात् पूर्ववैयमेंही रहकर भक्तप्रत्याख्यानसे मरण करे, तथा जिस श्राविकाने अपना परिग्रह कम किया है वह एकान्त वसतिका—स्थानमें उत्सर्गलिंग—नग्नता धारण कर सकती है,

नन्वहंस्य रत्नत्रयभावनाप्रकरणेन मृतिरूपयुज्यते किममुना लिंगविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह—

जत्तासाधणाचिह्नकरणं खु जगपच्वयादठिदिकरणं ॥

गिहभावविवेगो वि य लिंगगहणे गुणा ह्येति ॥ ८२ ॥

यात्रासाधनगार्हस्थ्यविवेकात्मस्थितिक्रिया ॥

परमो लोकविश्वासो गुणा लिंगमुपेयुपः ॥ ८३ ॥

विजयोदया—जत्तासाधणाचिह्नकरणं यात्रा शरीरस्थितिहेतुभूता मुक्तिक्रिया । तस्या साधनं यद्विगजातं चिह्नजातं तस्य करणं । न हि शुद्धस्वरोपेण स्थितो गुणीति सर्वजनताधिगम्यो भवति । अज्ञातगुणविशेषाश्च दान न प्रयच्छति । ततो न स्याच्छरीरस्थिति । असत्या तस्यां रत्नत्रयभावनाप्रकरणं क्रमोपेक्षीयमानो न स्यात् । विना ते न मुक्तिरित्यभिलाषितकार्यसिद्धिरेव न स्यात् । गुणवत्तायाः सूचनं लिंगं भवति । ततो दानादिपरपरया कार्यसिद्धिर्भवतीति भावः । अथवा यात्रासाधनो गतिवचनः यथा देवदत्तस्य यात्राकालोऽयम् । गतिसामान्यवचनादयमं शिवगतोवेव धर्तते,



दारकं पश्यसीति यथा । यात्रायाः शिवगतेः साधनं रत्नत्रयं तस्य चिह्नकरणं ध्वजकरणं ।

जगपद्भ्यादधिदिकरणं जगच्छब्दोऽन्यत्र चेतनाचेतनद्वयसंहतिवचनो 'जगनैकावस्यं युगपदखिलानत विपयम्' इत्येवमादौ । इह प्राणिविशेषवृत्ति । यथा—'अर्हतखिजगद्वंधान्' इति । प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः । क्वचिज्ज्ञाने वर्तते यथा 'घटस्य प्रत्ययो' घटश्चान इति यावत् । तथा कारणवचनोऽपि 'मिथ्यात्वप्रत्ययोऽनंत संसार' इति गदिते मिथ्या त्वेहेतुक इति प्रतीयते । तथा श्रद्धावचनोऽपि 'अयं अत्रास्य प्रत्ययः' श्रद्धेति गम्यते । इहापि श्रद्धावृत्तिः । जगत श्रद्धेति । ननु श्रद्धा प्राणिधर्मः अचेतनादिक शरीरधर्मोऽपि लिंग तत्किमुच्यते 'लिंग जगत्प्रत्यय' इति । सकलसगपरिहारी मार्गो मुक्तः इत्यत्र भव्याना श्रद्धा जनयति । लिंगमिति जगत्प्रत्यय इत्यभिहितं । न चेत्सकलपरिग्रहयागो मुक्तिर्लिंगं किमिति नियोगतोऽनुष्ठीयते इति ।

आदधिदिकरण आत्मनः स्वस्य अस्थिरस्य स्थिरतापादनं । क ? मुक्तिवर्त्येति व्रजने । किं मम परित्यक्तवस- नस्य रेगेण, रोपेण, मानेन, मायया, लोभेन वा । वसनाग्रेसरा' सर्वा लोकेऽलङ्क्रिया तच्च निरस्तं । को मम रागस्या- वसर इति । तथा परिग्रहो निबधनं कोपस्य । तथा हि-पित्रा सुतो शुभ्यते धनार्थितया ममेद भवति तवेदमिति । तत्किं मनेन स्वजनवैरिणा रिक्येन, लोभे, आयास, पापं, दुर्गतिं च वद्वयता इति सकल परित्यक्तो वसनपुरःसर' परिग्रहो रोप- विजितये । हसति च मा परं साधवो रोपमुपयातं । कैयमवसनाता मुमुक्षो कायमस्य कोपहुताशन ज्ञानजलसेनपरि वृद्धतपोवनविनाशनवद्धाविभ्रम इति । तथा च माया धनार्थिभि प्रयुज्यते सा च तिर्यग्गतिं प्रापयतीति भीत्वा मायोन्मूलनायैवेदमनुष्ठित ।

गिहिभावविवेगोवि य गृहित्वात्पृथग्भावो दर्शितो भवति ॥

नन्वहस्य रत्नत्रयभावनाप्रकरणेन मृतिरुपयुज्यते किममुना लिंगविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह—

मूलारा—जन्तेत्यादि—जत्ता साहजचिह्नकरणं । यात्रा—मुत्तंगरत्नत्रयप्रकरणं देहस्थितिहेतुराहार, शिवगतित्वां यात्रा तस्याः साधनं गुणातिशयः । तस्य चिह्नकरणं ज्ञापकं, संयमध्वजीभूतं वा लिंगमाचेलक्यादि स्यात् । तथा जगत्- क्षयादधिदिकरणं जगतो भव्यलोकस्य प्रत्ययो नैर्गन्ध्यादेव मुक्तिरिति प्रतीतिः श्रद्धेति यावत् । तथा आत्मनो यत्यात्मनः कपायोदयवशान्मुक्तिमार्गाञ्जलतः स्थितिः सूत्रास्थिरता जगत्त्रयश्चात्मास्थितिश्च तयोः करणं संपादनं तल्लिङ्गं भवति । तथा गिहिभावविवेगो गार्हस्थ्यपृथग्भावस्तदुपदर्शकत्वाह्णिगमपि । तथा चोक्तं । आचेलक्यादिलिङ्गेन हि गृहस्थत्वं ल्यक्तं, अनेन मया चेति ज्ञाप्यते । लिङ्गेत्यादि मुमुक्षुणा गृहमाणे आचेलक्यलिङ्गे यथोक्ताश्चात्रो गुणाः स्वपरोपकारिणो यमो भवन्ति इत्यर्थः ।

जो भक्तप्रतिज्ञायोग्य है उसको रत्नत्रयभावनाका ग्रहण करके मरण करना योग्य है उत्सर्गलिंग अथवा अपनादलिंग धारण करके भक्तप्रत्याख्यान मरण करना चाहिये ऐसा हठ क्यों ? इस प्रश्नका उत्तर—

हिंदी अर्थ—उत्सर्गलिंग अर्थात् नयता यह यात्राका साधन है अर्थात्—शरीर स्थिर रहनेके लिये कार-  
णीभूत जो आहार उसकी प्राप्ति होनेके लिये कारणरूप चिन्ह है, गृहस्थवेपसे ही यदि भिक्षु भी रहने लगे  
तो ये गुणी है ऐसा नहीं समझे जायेंगे तथा उनका आदर न होगा, गृहस्थवेपसे उनके विशिष्ट गुण  
ज्ञात न होनेसे गृहस्थ उनको दान नहीं देंगे, दान न मिलनेसे उनके शरीरकी स्थिरता न होगी, शरीर-  
स्थिरताके बिना रत्नत्रयभावनाका प्रकर्ष कैसे होगा? रत्नत्रयके प्रकर्षसे ही मुक्ति प्राप्ति होती है, उसके  
बिना वह न मिलेगी, अतः अभिलषितकार्य अर्थात् मुक्तिप्राप्ति गृहस्थवेपसे होती नहीं, अतः यह नयता  
गुणीपनाका सूचक चिन्ह है, इस नयतागुणसे दानादिकार्यपरम्पराकी सिद्धि होती है.

अथवा यात्रा शब्द सामान्य गतिवाचक है जैसे 'देवदत्तस्य यात्राकालोऽयम्' अर्थात् यह  
देवदत्तका गमनकाल है यहाँ यद्यपि यात्राशब्द सामान्य गतिवाचक है तो भी प्रस्तुत प्रकरणमें वह शि-  
न-गति-मोक्षगमन इस अर्थमें रूढ समझना चाहिये, 'दारकं पश्यसि' इस वाक्यमें दारकशब्दका सामान्य  
अर्थ लडका ऐसा होनेपर भी जो लडकेको देख रहा था उसका ही वह लडका है ऐसा अभिप्राय सिद्ध  
होता है उसी तरह 'जत्तासाधणचिन्हकरणं' इस शब्दसमुच्चयका अर्थ यात्राका अर्थात् मोक्षगतिका साधन जो  
रत्नत्रय उसका नयता यह लिंग ध्वजके समान है.

इस लिंगमें जगत्प्रत्ययता यह गुण है, 'जगत्प्रत्ययः' अर्थात् सर्व जगत्की इसके ऊपर  
श्रद्धा होती है, जगत् शब्दका चेतनचेतनरूप संपूर्ण द्रव्यसमूहको जगत् कहते हैं ऐसा अन्य प्रकरणमें  
अर्थ होगा, 'जगन्नेकावस्थं युगपदखिलानंतविषयम्' अर्थात् चेतनचेतनरूपी इस जगत्की एक अवस्था नहीं  
है, यह संपूर्ण और अनंतपर्यायोंको धारण करने वाला है, परंतु प्रस्तुतप्रकरणमें जगत् शब्दका अर्थ प्राणिविशेष  
ही लेना चाहिये जैसे 'अर्हतस्त्रिजगद्ध्वान्' अर्थात् इंद्र, देव, मनुष्य व भिहादितिर्यंच ऐसे विशिष्टप्राणियोंसे  
वंदनीय जिनेश्वरको हम नमस्कार करते हैं, यहाँ जगत् शब्दका विशिष्टप्राणी ऐसा अर्थ होता है, प्रत्ययशब्दके  
भी अनेक अर्थ हैं, जैसे 'घटस्य प्रत्ययः' घटका ज्ञान यहाँ प्रत्यय शब्दका ज्ञान ऐसा अर्थ होता है, तथा प्रत्यय  
शब्द कारणवाचक भी है जैसे 'मिथ्यात्वप्रत्ययः अनंतः संसारः' अर्थात् इस अनंतसंसारको मिथ्यात्व कारण है  
प्रत्यय शब्दका श्रद्धा ऐसा भी अर्थ होता है जैसे 'अयं अत्रास्य प्रत्ययः' इस मनुष्यकी इसके ऊपर श्रद्धा है, यहाँ  
प्रस्तुत प्रकरणमें प्रत्यय शब्दका श्रद्धा यह अभीष्ट अर्थ है.

साधुकी नग्नता देखकर उनमें सब जगत्का श्रद्धान होता है ऐसा जगत्प्रत्यय इस शब्दका अभिप्राय समझ लेना चाहिये.

शंका—श्रद्धा प्राणिओंका धर्म-स्वभाव है और अचेलतादिक शरीरका धर्म है अतः लिंगका जगत्प्रत्यय यह विशेषण कैसा उपयुक्त है ?

उत्तर—संपूर्ण परिग्रहका त्याग ही मुक्तिका मार्ग है ऐसी नग्नता देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती है अतः लिंगका यह विशेषण सार्थक है संपूर्ण परिग्रहत्यागही मुक्तिका लिंग यदि नहीं होता तो नियोगसे क्यों उसकी आराधना की जाती है ?

नग्नतामें 'आदिदिकरण' इस नामका एक गुण है. स्वतःमें अस्थिरपनाको निकालकर स्थिरपना उत्पन्न करना यह आदिदिकरण इस शब्दका अर्थ है. मुक्तिमार्गमें प्रयाण करनेमें स्थिर होना ऐसा इसका अभिप्राय है. इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—मुनि विचार करते हैं—मैंने वस्त्रका त्याग किया है अतः अब राग, द्वेष, अभिमान, माया और लोभ इनसे मेरा क्या प्रयोजन है ? वस्त्रही इच्छा ही अलंकारदिकी इच्छाको उत्पन्न करती है. अर्थात् वस्त्र यदि पास होवे तो अलंकारादिक भी मेरेको मिलेंगे तो अच्छा ही होगा ऐसी इच्छा होती है. मैंने वस्त्र ही फेंक दिया है अब रागभावनसे मेरा क्या प्रयोजन है ऐसा विचार करते हैं. तथा परिग्रह कोपोत्पत्तिका कारण है. धनकी आवश्यकता पड़ने पर पुत्र भी अपने पितासे लड़ता है. यह धन मेरा है यह धन तेरा है इस रीतिसे झगडा करता है. अतः स्वजनोंमें वैर उत्पन्न करने वाले धनको लेकर मैं क्या करूँ ? यह परिग्रह लोभ, आयास, पाप व दुर्गतिको उत्पन्न करते हैं. इसी वास्ते मैंने वस्त्रमण्डल समस्त परिग्रहको कोपको जीतेनके लिये छोड दिया है. मैं यदि रोपवश होऊँ तो मेरेको इतर साधु हसेंगे. वे कहेंगे देखो इनकी नग्नता और देखो इनका कोपनिनि ! यह कोपानि ज्ञानजलसे सींचा और वृद्धिगत हुआ ऐसे तपस्वी वनका नाश करनेके लिये तयार हुआ है. धनवान लोक हमेशा कपट व्यवहार करते हैं, वह उनको तिर्यग्गतीमें पटकता है. अतः ऐसे घोर कपटसे डरकर इसका नाश करनेके लिये ही मैंने यह मुनिपना धारण किया है. ऐसा विचार मुनि मनमें करते हैं. अतः नग्नता आत्मस्थितिकारण गुणको उत्पन्न करती है ऐसा कहना योग्य है. इस नग्नता से मुनि गृहस्थोंसे भिन्न है ऐसा भी व्यक्त होता है.

गंथच्चाओ लाघवमप्पडिलिहणं च गदभयत्तं च ॥

संसज्जणपरिहारो परिकम्मविवज्जणा चेव ॥ ८३ ॥

परिकर्मभयग्रन्थसंसक्तिप्रतिलेखनाः ॥

द्योभमोहमदक्रोधाः समस्ताः सन्ति वर्जिताः ॥ ८४ ॥

विजयोदया—गंथच्चाओ परिग्रहत्यागः । लाघवं हृदयसमारोपितशैल इय भवति परिग्रहवान् । कथमिदमन्ये भ्यश्चौरोदिभ्यः । पालयाभि इति दुर्धरचित्तलेदविगमालुधुता भवति ।

अप्पडिलिहणं वसनसहितलिगधारिणो हि वञ्छाखंडादिकं शोधनीयं मद्वत् । इतरस्य पिच्छादिमात्रं । परिकम्मविवज्जणा चेव । याचनसीवनशोषणप्रक्षालनादिरजेको हि व्यापार स्वाध्यायध्यानविघ्नकारी अचेतलस्य तत्र तथेति परिकर्मविवर्जनं ।

गदभयत्तं भयरहितता । भयव्याकुलचित्तस्य न हि रत्नप्रयधटनायामुद्योगो भवति । सवसनो यतिर्वल्लेपुयू कालिक्षादिसम्पूर्जनजीवपरिहारं विधातुं नार्हति । अचेतस्तु तं परिदृतीत्याह—संसज्जणं परिहारो इति ।

परिसहअधिवासणा चेव । शीतोष्णदंशमशर्काविपरीपहजयो युज्यते नमस्य । वसनाच्छादनवतो न शीतोदिविवाधा येन तत्सहनपरीपहजयः स्यात् । पूर्वोपासकर्मनिर्जरायै परिगोढव्याः परीपहाः इति वचनाभिर्जरायैभिः परिगोढव्या परीपहा ॥

एवं सामान्यतो लिङ्गगुणानभिधायेदानीं लिङ्गविशेषस्याचेतकस्य गुणान्नायात्रोपदिशति ।

मूलारा—संगवाओ परिग्रहत्यागः शरीरेऽपि तिर्यग्मत्वमित्यर्थः । लाघवं कथमिदं चौरादिभ्यो रक्षेयमिति दुर्द्धरक्षोपायचित्तालेदविगमालुधुता, कर्मलुधुत्वं वा । अप्पडिलिहणं वञ्छुर्लिपच्छादिना वञ्छादेर्निरीक्षणशोधनयाभावः । गदभयत्तं चौरादिभ्यश्चासत्याभावः । संसज्जण यूकादिसंभूच्छेदनं । परियम्मं प्रक्षालनादिसंस्कारः ।

अर्थ—ग्रंथत्याग, लाघव, अप्रतिलेखन, गतभयत्व, संसर्गपरिहार, परिकर्मविवर्जन एते गुण मुनिलिंगमें समाविष्ट हुये हैं ।

ग्रंथत्याग—मुनिलिंगधारण करनेसे परिग्रहत्याग होता है, लाघव—परिग्रहवान् मनुष्यको परिग्रह छातीपर रक्खे हुये पर्वतके समान बहुत कष्टप्रद होता है, परंतु जो परिग्रहरहित है उसको अपने ऊपरसे बड़ा भारी परिग्रहका बोझा उतर गयासा मालूम होता है, अतः मुनिलिंगमें लाघवगुण है यह सिद्ध होता है, इस परिग्रहका मैं

चौरादिसे कैसा रक्षण कहं ऐसी चिन्ता निष्परिश्रमीकी होती नहीं. अतः तद्विषयक खेदका नाश होनेसे लघुता गुण प्राप्त हो जाता है.

अप्रतिलेखन—जो सवस्त्रालिङ्ग धारण करते हैं उनको वस्त्रखंडादिको बहुत शोधना पड़ता है परंतु मयूरपिच्छादिमात्र परिग्रह जिनके पास है उनको बहुत सोधनेकी आवश्यकता नहीं रहती है. अतः अप्रतिलेखन गुण उनको प्राप्त होता है.

परिकर्मवर्जना—यक्षके विषयमें याचना करना, उसको सीना, धूपमें सुखाना, जलसे धोना, वगैरे. अनेक क्रियायें करनी पड़ती है. तब ध्यान, स्वाध्यायादि कार्यमें विघ्न उपस्थित होता है. परंतु जो मुनि अंचल है वस्त्रका त्यागी है उसको याचनादिकार्य करना नहीं पड़ता है अतः उसके ध्यानस्वाध्यायादि क्रियायें निर्विघ्न पार पड़ती हैं.

गतभयत्व - निर्वस्त्रमुनीश्वरको परिग्रहाभाव होनेसे भय रहता नहीं भयसे जिसका चित्त व्याकुल हो उठा है उसकी रत्नत्रयमें प्रवृत्ति होती नहीं. सवस्त्र मुनि वस्त्रमें युकादिसम्पूर्ण जीवनका परिहार करनेसे असमर्थ होता है. परंतु वस्त्रराहित मुनि उन जीवोंको परिहार कर सकता है.

परिग्रहाधिवासना—नेत्रन मुनि शीत, उष्ण, दंशमशकादि परिग्रह सहन करते हैं. परंतु वस्त्रवेष्टित यति शीतादि वाधा होती नहीं. अतएव वे शीतादिपरिग्रह विजयी नहीं हैं. पूर्वोपाजित कर्मकी निजरा करनेके लिये परिग्रह सहन करने चाहिये ऐमा आगममन्त्र है इसलिये निजरायी मुनिओने परिग्रह सहन करने चाहिये.

विस्सासकरं रूपं अणादरो विसयदेहसुखेसु ॥  
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव ॥ ८४॥

अङ्गाक्षार्थसुखत्यागौ रूपं विश्वासकारणम् ॥  
परीषहसहिष्णुत्वमर्हदाकृतिधारणम् ॥ ८५ ॥

विजयोदया—विस्सासकरं रूपं विश्वासकारि जनानां रूपं अचेष्टतात्मकं । एवं असंगा नैतेऽन्यद्वृक्षन्ति नापि परोपघातकारि शस्यग्रहण प्रच्छन्नमात्र संभाव्यते । विरूपेषु चामीषु नास्वदीया. स्त्रियो रागमसुवधन्तीति विश्वासः ॥

अणादरो विसयदेहसुखेषु । विषयजनितेषु शरीरसुषुप्तेषु भेताकारस्य किं मम धामलोचनाविलोकितेन । तासां कलगीतश्रवणेन । तामिर्भुगुत्सनीयशरीरस्य का वा रतिकीडिते भावना चैवानादर । अथवा शरीरसुखे विषयसुखे चानादर । विषयसुखव्यतिरेकेण न शरीरसुखं, नाम किंचिदिति चेत्—शरीरदुःखाभाव शरीरसुखं । इन्द्रियविषयसन्निधानजनिता प्रीतिर्विषयसुखमिति महाननयोर्भेद ॥

सब्वत्य सर्वस्मिन्देहे । अप्पवसदा आत्मवशता । स्वेच्छया आस्ते, गच्छति, शेते वा । इहासनादिकरणे इदं मम विनश्यति वस्त्विति तदनुरोधकृता परतत्रता नास्ति सयतस्य । परिग्रहविनाशभीरुरात्मनोऽन्येऽपि उद्रमादिदोषोपहृते प्राणिसयमविनाशकारिणि वा आसनस्थानशयनादिक सपादयति । जसस्थावरवाधामावहता धर्मेना व्रजति । एतद्दोषपरिहारोऽसंगस्य भवति ॥

परिसह अधियासणा चेय पूर्वोपात्तकर्मनिर्जारार्थेना यतिना सोढव्या. परीपद्वा. नियोगेन शुदादयो यायाविशेषा. द्वाविंशतिप्रकाराः । तत्रायं सामान्यवचनोऽपि परीपद्वाश्च प्रकरणदेचलाख्यात्तदुत्तरपरिपद्वाच्यचिन्नाश्च । तेन नान्यशीतोष्णदशमशकपरीपद्वासहनमिह कथितं भवति । सचेलस्य हि समावरणस्य न तादृशी शीतोष्णदशमशकजनिता पीडा यथा अचेलस्येति मन्यते ॥

मूलारा—विस्सासकरं एवमसगा एते कथमन्यस्य किमपि ग्रहीष्यन्ति । न च परोपघातकारि शस्त्रादिकमत्र प्रच्छन्न संभाव्यते । प्रेताकारेषु नास्मात्कामिन्यो रागमदुवर्जन्ति इति जनाना विश्वासकरणशीलं । विसयदेहसोक्त्वेषु विषयेभ्यः स्त्रीकटाक्षनिरीक्षणादिभ्यो जातेषु देहस्याल्हादनेषु । किं मे प्रेताकारस्य आसा कटाक्षनिरीक्षणेन, कलगीतश्रवणेन, तन्निन्दनस्य वा तद्वामिश्रणया, तद्रत्या वेत्यादिभावनया अनावरोऽनासक्तिः । यदि वा सौख्येज्वाल्हादनाकारेषु, देहसौख्ये च दुःखनिवृत्तिरूपे चानादरः प्राप्यनाकाक्षा । सन्वत्य अप्पवसदा सर्वस्मिन्देहे स्वेच्छया आगमाविरोधेनासनशयनगमनादिप्रवृत्तिः । परिसहअधियासणा परीपद्वाणामाचेलक्योचिताना नान्यशीतोष्णदशमशकदीनानामधियासना अध्यासना वा सहनं तददुःखेनापि नाभिभवन्मित्यर्थः ।

अर्थ—निर्वृत्ताही विश्वास उत्पन्न करनेवाली है इसको कोई हरण करते नहीं. निर्वृत्त सुनीके पास शस्त्रादिक छिपे हुए नहीं रह सकते हैं. अर्थात् शस्त्रादि परोपघातक वस्तु उनके पास रहती भी नहीं हैं अतः उनके ऊपर लोगोंका विश्वास उत्पन्न होता है. वस्त्ररहित होनेसे विरूप दीखनेवाले सुनिऑपर हमारी स्त्रिया मोहित नहीं होती हैं. अतः उनपर वे लोग विश्वास करते हैं.

अनादर—परिग्रहका त्याग करनेसे विषयजनित सुखोंसे आदर नष्ट होता है. मैं प्रेतके समान हूं अतः

स्त्रियोंकी तर्फ देखना मेरेको योग्य नहीं है। उनका मधुर गीत सुनना योग्य नहीं है, मेरा शरीर ग्लानि उत्पन्न करनेवाला है अतः उससे उनके साथ रतिक्रीडा करना क्या योग्य है? इस तरह भावनाओंसे अनादरगुण उत्पन्न होता है। अथवा इस निर्वहतासे शरीरसुखमें व विषयसुखमें अनादर उत्पन्न होता है।

विषयसुखको छोड़कर शरीरसुख भिन्न पदार्थ नहीं है इस प्रश्नका उत्तर इस तरह समझना। शरीरके दुःखोंका अभाव होना शरीरसुख कहलाता है व इंद्रियोंके विषयोंसे जो मनमें प्रेम आब्हाद उत्पन्न होता है वह विषयसुख है। इस प्रकार इन दोनोंमें महान्भेद है।

सर्वत्र आत्मवशता—यह गुण भी प्राप्त होता है। मुनीके पास कोई परिग्रह न होनेसे वे स्वेच्छासे बैठते हैं, जाते हैं तथा सोते हैं। बैठने उठनेमें मेरी असुख वस्तु नष्ट हुई, असुख वस्तु मेरेको चाहिये इस प्रकारकी चिन्ता उनको होती नहीं। अतः परिग्रहविषयक परतंत्रतासे वे छूट गये हैं। मेरे परिग्रहका विनाश हो जायगा ऐसी भीति यदि मुनीको उत्पन्न हो जावेगी तो वे अपनेको अयोग्य तथा उद्गमादिदोषोंसे सहित, प्राणिसंयमका नाश करनेवाले ऐसे आसन शयनादिकोंका संपादन करेंगे। परिग्रहको चोरादिक हरण करेंगे इस भीतीसे त्रस स्थावर जीवोंको जिसमें दुःख पोहोचिगा ऐसे मार्गसे वे जावेगे। परंतु जो परिग्रहरहित हैं ऐसे मुनिराज उपर्युक्त दोषसे अलिप्त रहते हैं।

परिसह अधिआसणा—पूर्वकर्मकी निर्जरा करनेकी इच्छा जिनको है ऐसे मुनीको परीपह सहन करनेकी चाहिये। धुआदिक चावीस परिपह हैं। यद्यपि परिपह शब्द सामान्यतया प्रयुक्त किया है तो भी यहां अचेत्वका प्रकरण होनेसे उनके अनुरूप परिपहोंका ग्रहण हो जाता है। इस लिये नयता, शीत, उष्ण, दंशमशक, इतने परिपहोंकी सहन करना चाहिये ऐसा अभिप्राय सिद्ध हुआ। जैसी निर्वहमुनीको शीत, उष्ण, दंशमशकोंसे पीडा होती है वैसी वस्त्र ओढ़े हुए मनुष्यको होती नहीं है।

अचलताया गुणान्तरसञ्चनाय गायाम्—

जिणपडिरूवं विरियायारो रागादिदोसपरिहरणं ॥

इच्चवेवमादिवहुगा अच्चलक्के गुणा होति ॥ ८५ ॥

स्ववशत्वमदोषत्वं धैर्यवीर्यप्रकाशनम् ॥

नानाकारा भवन्त्येवमचैल्लत्वे महागुणाः ॥ ८६ ॥

विज्ञानोद्घा—जिणपडिरूव जिनाना प्रतिदेव चेद अचेल्लिंग। ते हि मुमुक्षो मुक्त्युपायज्ञा यदगृहीतवन्तो  
लिंग तदेव तदर्पिता योग्यमित्यभिप्रायः। यो हि यद्ग्री विवेकवान् नालो तदनुपायमादत्ते यथा घटाद्यो तदुत्थित्यवमादी-  
भूतगर्भी च यत्किं चेल्लं गृह्णाति मुक्तेरनुपायत्वात्। यच्चात्मनोऽभिप्रायस्योपायस्तद्विद्योगत उपादत्ते यथा चक्रादिकं तथा  
भगिणी जनेल्लता तदुपायता वा अचेल्लताया जिनावरणादेव भ्रानद्वर्शनाचार्योपिब।

श्रीमद्भि जनेल्लता तडुपायता वा अचेल्लताया जिनाचरणोदेव शानद्वर्शनाचार्योसिख ।  
 निरियायारो वीर्यतरायश्रयोपशमजनितसामर्थ्यपारिणमो वीर्ये, तदविगूहनेन रत्नत्रयवृत्तिर्वीर्याचार ।  
 न च गेचधिपापासरेष्वेक स च प्रवर्तितो भवति । अचेल्लतामुद्धताऽशक्यचेलपलित्यागस्य कृतवान् । परिअहल्यागो  
 किं भन्नां दानं मधालपरित भवेत् शकोऽपि यदि न परिहरेत् ।

[illegible][illegible]

अनेकतमों और भी गुण में गढ़ भगोशी गाथासे सूचित होता है—

[illegible]



करते हैं जैसे घटार्थी चक्रादिक कारणोंको ग्रहण करते हैं, उसी तरह मुनिगण भी मुक्तिका उपाय जो अचेलता उस का अंगीकार करते हैं, इस अचेलताको जिनेश्वरोंने मुक्तिका उपाय है ऐसा समझकर धारण किया था. जैसे जिनेश्वरोंने ज्ञानाचार और दर्शनाचार धारण किये थे वैसे उन्होंने अचेलता भी धारण कीथी.

वीर्याचार—अचेलतासे वीर्याचार गुणकी प्राप्ति होती है. वीर्यान्तरायकर्मका क्षयोपशम होनेसे जो आत्मा में सामर्थ्यपरिणाम उत्पन्न होता है उसको वीर्य कहते हैं. इस वीर्यको न छिपाकर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करना वीर्याचार है. ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार व वीर्याचार ऐसे आचारोंके पाँच भेद आगे ग्रंथकार कहेंगे ही. जिसने अचेलता धारण की है उसने अशक्य वस्त्रत्यागको शक्य करके दिखाया है. यदि वस्त्रत्याग मुनिओंने नहीं किया तो परिग्रहत्याग नामका पाँचवा महाव्रत उन्होंने पाला नहीं है ऐसा समझना चाहिये. सामर्थ्य होकर भी वस्त्रका त्याग न करनेसे परिग्रहत्याग महाव्रत कैसे पाला जायगा.

रागादिदोष परिहरण—यह भी गुण अचेलतासे ही मिलता है. वस्त्रका लाभ होनेसे उसमें आसक्ति हो जाती है. उसकी प्राप्ति न होनेसे मनमें क्रोध वर करता है. वस्त्र मिलनेसे वह वस्त्र मेरा है ऐसी मोहभावना उत्पन्न होती है. अथवा ओढनेके पहरनेके वस्त्रोंमें मृदुपना, दृढता वगैरे गुण देखकर प्रेम उत्पन्न होता है तथा उसके कठोरस्पर्श, जल्दी फट जाना इत्यादिक दोष अनुभवमें आनेसे उससे द्वेष उत्पन्न होता है. वस्त्रका त्याग करनेसे ये सर्व रागादि दोष नहीं रहते हैं. अर्थात् अचेलताके धारण करनेसे पूर्व गाथाओंमें कहे हुए सब महागुण मुनिराज को मिलते हैं. वस्त्रका त्याग करनेसे याचना दोष नष्ट होता है. दीनता और संकल्पपरिणाम विलीन हो जाते हैं.

पुनरप्यचेलतामाहात्म्यं सूचयत्युत्तरगाथा—

इय सब्वसमिदकरणो ठाणासणसयणगमणकिरियासु ॥

णिगिणं गुत्तिमुवगदो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥ ८६ ॥

सम्यक्कपवृत्तानिःशोफज्यापारः समित्तेन्द्रियः ॥

इत्थमुत्तिष्ठते सिद्धौ नागन्यगुप्तिमाधिष्ठित ॥ ८७ ॥

विजयोदया—इय एव । सव्वसमिदकरणो सम्यगितानि प्रवृत्तानि समितानि, क्रियते रूपाद्युपयोग एभिरिति करणानि इन्द्रियाणि, समितानि च तानि करणानि च समितकरणानि, सर्वाणि च तानि समितकरणानि च सर्वसमेत करणानि, सर्वसमितकरणान्यस्येति सर्वसमितकरणः । रागद्वेषरहितता भावेन्द्रियाणा प्रवृत्तिः समीचीना तस्याश्च अचेलता निवर्धनं । रागादिविजयाय गृहीतासंगत्वात्कथमिव रागादौ प्रेक्षावाच्यतेत ।

ठाणसणसयणगमणकिरियाणु एकपादसमपादादिका स्थानक्रिया, उत्कटासनादिका आसनक्रिया, दंडायत-शयनादिका शयनक्रिया । सूर्याभिमुखगमनादिका गमनक्रिया एतासु । पग्गहिददरं प्रगृहीततरं । परक्कमदि चेष्टते । क ? निगिणं नम्रता । गुत्तिं गुत्तिं । ज्वगदो उपगत प्रतिपन्न । कृतवसनत्यागस्य शरीरे नि स्पृहस्य मम किं शरीरतणेन तपसा निर्जरामेव कर्तुं उत्सहते इति । तपसि यतते इति भावः ॥

आंचेलक्यप्रतिपन्नो यति. समितिपरत्वेनैकपादादिस्थानादिदुष्करानुष्ठानेन च तितरामुत्सहते इति पुनरांचेलक्य-माहात्म्यं प्रकाशयति ॥

मूळारा—सव्वसमिदकरणो सर्वेष्विष्टानिष्टविषयेषु शमितानि रागद्वेषोद्भवरहितानि कृतानि करणानि इन्द्रिया-णि येन । अथवा सर्वत्र समितानि श्रुतानिरूपितक्रमेण प्रवृत्तानि इर्यादिकाः क्रिया यस्य । ठाणेत्स्यदि स्थान-क्रिया एकपादसमपादादिका । शयनक्रिया दंडायतस्वापादिका । गमनक्रिया सूर्याभिमुखव्रजनादिका तासु गिगिणं नम्रतां । गुत्तिं गुत्तिं रक्षा रत्नत्रयस्य । पग्गहिददरं प्रगृहीततरं सुदृढ इत्यर्थः । परक्कमदि पराक्रमते चेष्टते । त्यक्तवन्नस्य देहेऽपि निर्ममस्य मे किं शरीरतणेन तपसा निर्जरामेव कर्तुमुत्सहेऽहमिति यथोक्तस्थानादिदुष्करकायश्चेशलक्षणे तपसि यतत इति भावः ॥

पुनः अंचेलताके महत्ताको आगेकी गाथा दिखाती है—

अर्थ—इस अंचेलताके प्रभावसेही मुनिराजकी स्पर्शनादि पांचों इंदियां रूपादिक विषयोंमें समितियुक्त प्रवृत्ति करती हैं. अर्थात् उनके इन्द्रियोंकी स्पर्शादि विषयोंमें रागद्वेषरहित प्रवृत्ति होती है. अंचेलता रागादिकोंको जीतनेके लिये हि मुनियोंने ग्रहण की है अतः वे रागादि विकारोंमें कैसे प्रवृत्त होंगे ? अंचेलता धारण करनेसे ही वे एक पावसे खड़े होना, समपाद रखकर कायोत्सर्ग करना, इत्यादिरूप स्थानक्रिया, उत्कटासनादिकोंको आसन-क्रिया कहते हैं. दंडके समान शयन करना, एक पार्श्वसे शयन करना इत्यादिक शयनक्रिया, सूर्याभिमुख गमन करना इत्यादिक गमनक्रिया इत्यादिकार्योंमें खूब प्रवृत्ति करते हैं. वस्त्रत्याग करनेवाले व गुप्तिको पालनेवाले मुनि

शरीरसे प्रेम दूर करते हैं। वे निःस्पृह होकर शरीरको खुद करनेमें क्या प्रयोजन भिन्न होगा। मैं तपश्चरणके द्वारा कर्मको निर्जीर्ण करूंगा ऐसा विचार करके तपश्चरणमें यत्न करते हैं।

आश्रामः

२

अपवादलिंगसुपगत किमु न शुद्धयत्येवत्याशकाया तस्यापि शुद्धिरनेन क्रमेण भवनीत्याद्यष्टे-

अववादियलिंगकदो विसयासत्ति अगृहमाणो य ॥

पिन्दुणगरहणजुत्तो सुञ्जटि उवार्ध परिहरतो ॥ ८७ ॥

आपवादिकलिंगोऽपि निन्दागार्होपरायणः ॥

जन्तुरच्छादकः, उक्तेः संगत्यागी विगुह्यति ॥ ८८ ॥

इत्येवेलम् ॥

विजयोदया—अचेलकं गदं। अववादियलिंगकदो नि अपवादलिंगस्योऽपि। करोति स्थानान्ययुक्तिरित् परिगृहीतः। तथा च प्रयोग —

एवं च कृत्वा एवं च स्थित्वेत्यर्थः। सुञ्जटि शुध्यति च। कर्ममत्वापायेन शुद्ध्यति। कीदृह सन् य स्वां सत्ति शार्कै। अगृहमाणो अगृहमानः सन्। उवार्ध परिग्रहं। परिहरतो परित्यजन् योगचरणेण। निन्दणगरहणजुत्तो मरुत्प-  
रिग्रहत्यागो मुक्तमार्गो मया तु पातकेन वलपान्नादिकं परित्यज् परीपहमीरणा गृहीत इत्यनसंतापो निदा। गार्होपे-  
रा एव कथ्यते। ताभ्या युक्तः निन्दागार्हक्रियापरिणत इति यावत्। एवमेवेलता व्यापणित्तगुणा मूलतया गृहीता ॥

यद्येवमाचेलव्यगतस्य शुद्धिस्तर्ह्येववादलिंगगतः शुद्ध्यति न वा यदि शुद्ध्यति तत्कृतेन क्रमेणेति पुनश्चुन्तं  
तं प्रत्याह—

मूलारा—अववादियलिंगगदो अपवादिकलिंगस्यो आर्योदिरित्यर्थः। अपि य अपि च। कोपीनादिग्रन्थानपि  
शुद्ध्यति किं पुनर्नैर्ग्रन्थवर इत्यपिचेत्यस्यार्थः। सगसत्ति निजसामर्थ्यं। निदन् मर्मसंगत्यागो जिनोपहं युक्तिमार्गो  
मया पुनः पापेन परीपहमीरणा वलपान्नादिकं गृहीत इत्यंतःमतापरुणा निदा। गरहण निदंश्च गुर्वोदिमाभिकेत्यर्थः।  
उवार्ध परिहरतो त्यक्तमशक्ततया परिगृहीतेऽपि वलपदो निर्भमो भवन्नित्यर्थः।

अपवादलिंग धारण करनेवाले आर्यादिक अर्थात् ऐलरूदिक शुद्ध नहीं होते हैं क्या? ऐसा प्रश्न होनेपर  
उनकी भी शुद्धि आगे कहे गये क्रमसे होती है ऐसा आचार्य कहते हैं।

२२२

अर्थ—अपवादलिंगधारी ऐलकादिक भी अपनी चारित्रधारणशक्तीको न छिपाता हुआ कर्ममल निकल जानेसे शुद्ध होता है, क्योंकि वह अपनी निंदा व गद्दी करता है और मन, वचन व शरीर ऐसे तीन योगपूर्वक परिग्रहक त्याग करता है, संपूर्ण परिग्रहका त्याग करना ही युक्तिका मार्ग है, परंतु मेरेको परीपहोका डर होनेसे पापोदयसे मैंने वस्त्र पात्रादिक परिग्रहका ग्रहण किया है ऐसी मनमें पश्चात्तापपूर्वक वह निंदा करता है, तथा गुर्वदिकोंके समीप अपनी निंदा करता है, वह निंदा और गद्दी ऐसे दो परिणामोंसे युक्त होकर परिग्रह स्वल्प करता जाता है अतः उसके पूर्वकर्मकी निर्जरा होकर आत्मशुद्धि होती है, इस तरह अचेलताके गुणोंका वर्णन किया, यह अचेलता मुनियोंके अट्टाईस मूलगुणोंमेंसे एक मूलगुण है।

केशलोचाकरणे के दोषा यात्परिहर्तुं लोचोऽनुष्ठीयते इत्यारकाया दोषप्रतिपादनायोचरं गाथाद्वयम्—

केसा संसज्जंति हु गिष्पडिकारस्स दुपरिहारा य ॥

सयणादिसु ते जीवा दिट्ठा आंगंतुया य तथा ॥ ८८ ॥

संस्काराभावतः केशाः संसृच्छन्ति निरन्तरम् ॥

विशन्त्यागन्तवो जीवा दूरक्षा शयनादिसु ॥ ८९ ॥

विजयोदया—केसा केश । संसज्जति खु खुशब्द एवकारार्थः । यूकालिक्षोत्पत्तेराधारभावमुपव्रजन्त्येव । कस्म केशा ? गिष्पडियारस्स निष्कान्त प्रतीकारात् निष्पत्तीकार । प्रतीकारशब्द सामान्यवचनोऽपि संसजनस्य प्रकृतत्वात् ससजनप्रतिकार एव द्युत्तो गृह्यते । तैलाभ्यंगंधादिप्रक्षेपजलप्रक्षालनादिक्रियामकुर्वत इत्यर्थः । ते च संसृच्छन्तनामुपगता यूकादय । दु परिहारा य दु येन परिह्रियन्ते । क सयणादिसु शयनं शय्योपगमन, शिरसा कस्यचिद्वचनं । निद्रासुद्वितलोचनस्य पतन परवशस्य सतः आदिशब्देन गृह्यते । बाधा जीवेभ्यः कथंचिदन्यदेशकालस्वभावाभेदात् । ततः बाधाया दुष्परिहाराया जीवा एव दुष्परिहारा एव भवन्तीति मन्यते । अन्यथा हस्तेनापनेतुं शक्या कथं दुष्परिहारा स्यु । न केवलं तत्रोपघा एव दुष्परिहारास्तथा तैनेव प्रकारेण जीवा आंगंतुका य अन्यत आगताश्च कीटान् दयश्च । पतेन हिंसादोष आह्वयतः ॥

मूलारा—केसा संसज्जंति खु यूकालिक्षोत्पत्तेराधारभावमुपव्रजन्त्येव । गिष्पडियारस्स स्नानादिप्रतीकारमकुर्वतः । दुपरित्यादि—स्वाध्यायादिविब्रजस्य शिलातलादौ संवेदनं, आदिशब्देन शिरसा कस्यापि वृष्टमनं, निद्रासुद्वितलोचनस्य

परवशस्य सतः पतनं वा, तेषु वर्तमानेन यतिना ते केशसम्पूर्यन्ति नो जीवा बाधा गच्छती दुष्परिहारा रक्षितुमशक्याः ।  
विट्ठा प्रतिपन्नाः । न केवलं त एव अपि त्वांगुकाश्च कीटकादयस्तथा दुष्परिहारा दृष्टाः । एतेन हिसादोष उक्तः ।

केशलोच नहीं करनेसे कोनसे दोष उत्पन्न होते हैं ? जिनका परिहार करनेके लिये मुनिगण लोच करते हैं ? ऐसी शंका होनेपर लोच न करनेसे जो दोष हो जाते हैं उनका दो गाथाओंसे आचार्य वर्णन करते हैं.

अर्थ—तेल लगाना, अभ्यंगस्नान करना, सुगंधित पदार्थोंसे केशोंका संस्कार करना, जलसे धोना इत्यादि क्रियायें न करनेसे केशोंमें यूका और लिखा ये जन्तु उत्पन्न होते हैं जब इनकी उत्पत्ति केशोंमें होती है तब इनको वहाँसे निकालना बड़ा कठिन काम है.

वे लिखादिक जंतु चटाइ वगैरहमें घुस जाते हैं. मस्तकसे यदि किसी पदार्थका आश्रय लिया हो तो उसमें उनका प्रवेश होता है जब निद्रा आती है तब मस्तकसे वे नीचे गिरते हैं. अन्य देशकालस्वभावभेदसे उत्पन्न हुए प्राणियोंसे इन लिखादि जंतुओंको बाधा भी पोहोचती है । अन्य देश, काल, स्वभावसे यह बाधा भी भिन्नाना बड़ा कठिन काम है. बाधाका दुष्परिहार होनेसे जीव भी दुष्परिहार होते हैं ऐसा कह सकते हैं. अन्य स्थलसे कीटादिक जीव आकर भी वे वहाँ ठहरते हैं उनको निकालते समय वे मर जानेसे हिसादोष उत्पन्न होगा.

जूराहिं य लिक्स्वाहिं य बाधिज्जंतस्स संकिलेसो य ॥

संघट्टिज्जंति य ते कंडुयणे तेण सो लोचो ॥ ८९ ॥

संक्रुशः पीड्यमानस्य यूकालिक्षेण दुःसहः ॥

पीड्यते तब कंठूतौ यतो लोचस्ततो मतः ॥ ९० ॥

विजयोदया—जूराहिं य यूकाभिश्च । लिक्स्वाहिं य लिक्षभिश्च । बाधिज्जंतस्स बाध्यमानस्य यते. । संकिलेसो य संक्रुशश्च । जायते इति शेषः । स च क्रुशोऽनुभ्रमरिणाम्. पापास्त्रयः । पूर्वोपात्तकर्मपुद्गलरसाभिवर्द्धननिपुणः । अथवा बाधिज्जंतस्स भक्ष्यमाणस्य संकिलेसो य दुःख वा । तथा चोक्त—क्लिश्व विवाचेने इति । एतेनात्मविराधनादोष सूचित । अथ तद्भक्षणं असहमान कंठूयति तत्र दोषमाह—सघट्टिज्जंति य सघट्ट्यते ते यूकादयः । आपंगुकाश्च कंडूयणे कंठूकरणे । तेन दोषेण हेतुनासो आगमदष्ट लोच. कियते इति शेषः । प्रदक्षिणावतं केशशमथुचिपय हस्तांगुलीभिरिव सपाद्य द्वित्रिचतुर्मासगोचरः ॥

मूलरा—सर्किलेसो दुष्परिणामः, सततदुःखं वा । एतेनात्माबिराधनादोषः सूचितः । संघट्टिजंति संघट्टयंते पीडयंते यूकायाः कीटायाश्च । सो आगमदृष्टः केशश्मश्रुविषयो । द्वित्रिचतुर्मासगोचरः प्रदक्षिणावर्तो हस्तागुलीभिरिव संपाद्य इत्यर्थः ।

अर्थ—जुं और लिखाओंसे पीडित होने पर मनमें नवीन पापकर्मका आगमन कराने वाला अशुभ परिणाम—संक्लेश परिणाम होजाता है, तथा इस परिणामसे पूर्ववद्रूपापकर्ममें अधिक अनुभव—रस बढ जाता है, इन जीवोंके द्वारा भक्षण किये जानेपर शरीरमें दुःख होता है, अतः इससे आत्मविराधना होती है, जब इनके दंश करनेसे असह्य वेदना होती है तब मनुष्य मस्तक खुजाता है, मस्तक खुजानेसे जुं लीख आदिक जंतुओंका परस्पर मर्दन होकर नाश होता है, ऐसे दोषोंसे वचनेक लिये मुनिगण आगमके अनुसार केशलोच करते हैं, मस्तक, दाढ़ी और मूछके केशोंका लोच हाथोंकी अंगुलियोंसे करते हैं, दाहिने बाजूसे आरंभकर बाये तरफ आवर्त रूप करते हैं, इस लोचकी उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य मर्यादा दो मास, तीन मास और चार मासकी है, ऊपर लोच नहीं करनेसे होनेवाले दोष दिखाये हैं,

एवं लोचकरणे दोषानुद्भाव्य लोचे गुणव्यापनाय गाथात्रयमुत्तरम्—

लोचकदे मुंडत्तं मुंडत्तं होइ णिव्वियारत्तं ॥

तो णिव्वियारकरणो पगहिदुदरं परक्कमदि ॥ १० ॥

मुंडत्तं कुर्वतो लोचमस्यतो निर्विकारिता ॥

प्रकृष्टां कुरुते चेष्टां वीतरागमनास्ततः ॥ ११ ॥

विजयोदया—लोचकदो लोच कृत स्थितः लोचकृतः सप्तमीति योगविभागात्समासः । तस्मिन् लोच कृते लोचस्थिते इति केचित् । अन्ये तु वदन्ति लोचगदे इति पठन्ते, लोच गतः प्राप्तः लोचगतः तस्मिन्निति । अथवा कृतशब्दो भावसाधनः ततः सल्लक्षणा सप्तमी लोच एव कृत तस्मिन् । लोचक्रियायां सत्यां । मुंडत्तं मुंडशिरस्कृता नाम भवति । न मुंडशिरस्कृता मुक्त्तुपायो गुणोऽतनव्रयत्वादसत्याभिधानवत् तत्किमुक्तेनानुपयोगिना गुणेनेत्याशंकाया आह—मुंडत्ते होदि णिव्वियारत्त इति । मुंडत्ते मुडनाया सत्या । होदि भवति । णिव्वियारत्त निर्विकारता । विकारो विक्रिया सलीलगमनश्रुगारकथाकटाक्षेक्षणादिक । तस्माद्विप्लान्तः तत्राप्रवृत्तः निर्विकारः, तस्य भावः निर्विकारता निर्विकारो भवति इति

यावत् । तो ततः णिविवियारकरणो विकाररहितक्रियः । पण्णद्विददरं प्रवृत्तितरं । परक्कमदि चेष्टते कारणत्रये इति शेषः रत्नत्रयोद्योगः परंपरया लोचस्योपयोगः समोख्यतोऽनया गाथया । नम्रस्य मुंडस्य सविश्रमं गमनादिकं जनो दृष्ट्वा हसति, शोभते तरामियमस्य विलासिता पडकस्य वामलोचनाविलास इवेति मन्यमानो निरस्तविकारो मुक्कये केवलं घटते इत्यभिप्रायः ॥

एवं लोचकरणे दोषानुक्त्वा तत्करणे गुणान्वक्तुं गाथात्रयमाह—

मूलारा—लोचकदे लोचस्य करणे सीत । णिविवियारत्तं सलीलगमनइसनशृंगारकथाकटाक्षानिरीक्षणादिलक्षणविकार-रहितत्वं । णिविवियारकरणे वीतरागगमनादिक्रिय सत् । परक्कमदि शुभमनोवाक्कायव्यापारे प्रवर्तते इत्यर्थः । एतेन लोचः परंपरया रत्नत्रयोपयोसी भवतीत्युक्तं प्रतिपत्तव्यम् ॥

अत्र लोचके गुणोंका वर्णन आचार्य तीन गाथाओंसे करते हैं—

अर्थ—लोच करनेपर ही शिरोमुंडन हुवा ऐसा माना जाता है, शंका शिरोमुंडन करना अर्थात् लोच करना मुक्तिका उपाय नहीं है क्योंकि यह रत्नत्रय नहीं है, अतः लोच करना व्यर्थ है, इससे कोई गुणविशेष उत्पन्न नहीं होता है, इस शंकाका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं—शिरोमुंडन होनेपर निर्विकार प्रवृत्ति होती है, अर्थात् केशलोच किया हुआ साधु लीलासे गमन करना, शृंगारिक कथायें कहना, कटाक्षसे अवलोकना—तिरछी नजरसे देखना, इत्यादिक विकारभावसे प्रवृत्ति नहीं करता है, इस निर्विकारप्रवृत्तिसे वह मुक्तिके उपायभूत रत्नत्रयमें खूब उद्योगशील बनता है, अतः लोच परंपरया रत्नत्रयमें प्रवृत्ति होनेके लिये कारण होता है ऐसा इस गाथासे सिद्ध हुवा, नम्र और मुंडितमस्तक में यदि हावभावसे गमन करूंगा और इधर उधर कटाक्षपात करते चढ़ूंगा तो मेरेको देखकर लोग हसंगे और च्छाँकें विलासके समान इस हिजडेका यह विलास शोभा पाता है ऐसा कहेंगे ऐसा मनमें विचार करके साधु संपूर्ण विकारभावोंको त्याग करके केवल मुक्तीके लिये प्रयत्न करते हैं, ऐसा अभिप्राय समझना.

अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि ॥  
साधीणदा य णिहोसदा य देहे य णिम्ममदा ॥ ९१ ॥

दम्यमानस्य लोचेन हृषीकार्थेऽस्य नाग्रहः ॥  
स्वाधीनत्वमदोपत्वं निर्ममत्वं च विग्रहे ॥ ९२ ॥

विजयोदया—अप्या दमिदो होदि वशीकृतो भवति । कस्य? आत्मन एव । केन कारणेन? लोपण केशोत्पादनेन । दुःखभावनया निग्रहीतदर्पं सर्व एव शातो भवति यथा वलीवद्विरिति मन्यते ।

सुखे य सुखे च । सग आसक्तता । नोपयाति । सुखमेव सुखलपट जन करोति । दुःखेऽन्तर्भाव्यमाने दुःखसक्तिर्ह-  
न्यते सुखोपयोगमूलात्तदभावात् । थीजाभावेऽङ्कुर इव । इन्द्रियसुगवान्सुखशब्देनोच्यते तत्रासक्तो हिंसादिषु प्रवर्तते ।  
तेन परिग्रहान्मूलात्सुखासगाद्व्याधृतेः सवर एवेति मुकेर्भवेत्युपायः । आभेनवास्त्रवनिरोधमन्तरेण का नाम निर्जरा? तस्या  
वा सत्या का मुक्तिरिति भावः ॥

साधीणदा य स्ववशता च केशासक्तो हि जनोऽवश्य शिरोम्रक्षणे, सम्मर्दने, प्रक्षालने, तच्छोपणे च प्रवर्तते । स  
चाय व्यापारो विघ्नमावहति स्वाध्यायादे ।

निर्दोसदा य निर्दोपता च । या सवोपक्रिया सा न कार्यो यथा स्तेयादिका । निर्दोपात्तबुद्धीयते यथानशानादिका ।  
तथा चैयमदोषा लोचक्रिया ।

देहे य देहे च । निममदा ममेदबुद्धिरहितता अनेन सौचार्यो धर्मो भावितो भवतीत्युक्तं भवति । प्रकृष्टा  
लोभनिवृत्ति शौच, शरीरलोभनिवृत्ति शौच । शरीरलोभनिवृत्ति सफललोभनिष्ठाक्रियाया मूल । शरीरोपकृतये यशु-  
वनादिष्वस्य लोभः । धर्मश्च सवरदेतुः, गुत्तिसाभितिधर्मानुप्रेक्षापरिपहजधैरिति यचनात् ॥

मूलारा—दमिदो दर्पं निगृह्य वलीवईवद्वशीकृतो भवत्यात्मन एव । सुहे विपयोत्ये सुखे । संगं आसक्तिं  
दुःखभावनया सुखासक्तिहान्युपलब्धेः । सार्धेणदा शिरोम्रक्षणादिपारतंत्र्याभावात् स्वाध्यायादौ स्वातंत्र्यं । निहोसदा  
अनशानादिक्रियावहोचक्रियानिर्दोषत्वं रत्नत्रयोपयोगित्वात् ।

अर्थ—जैसे वल वगेरह पशु उनको दुःख देनेसे उन्मत्ताहीन होकर शांत होते हैं वैसे केशलोच करनेसे  
और दुःख सहन करनेकी भावनासे आत्माका दमन होता है, वह शांत होता है इसीलिये मुनि लोच करके अपने  
आत्माको स्वश करते हैं, सुखोंमें वे आसक्ति नहीं रखते हैं, क्योंकि सुख मनुष्य ग्राणीको सुखलपट बनाता है  
दुःखका विचार करनेसे उसकी भावना करनेसे सुखासक्ति नष्ट होती है, सुखकी भावना करनेसे ही सुखासक्ति पैदा  
होती है, परंतु वह भावना नष्ट होनेसे वीजके अभावसे अंकुर जैसे अपने अस्तित्वको नहीं रखता जैसे सुख भी  
अपना अस्तित्व नहीं रख सकता है, इन्द्रियसुखोंके पछि दौड़नेवाला मनुष्य उनमें आसक्त होकर हिंसादिक पापकार्य  
करता है, इन्द्रियसुखकी ग्राप्तिके लिये आरंभ परिग्रह मूल कारण हैं, अतः ऐसे सुखसे परावृत्त होनेसे संवर होता



है, यह संवर ही मुक्तीका उपाय है, जवतक नवीन कर्मोंका निरोध न होगा तवतक निर्जरा होकर भी कुछ आत्माका कल्याण न करेगी, अर्थात् संवर पूर्वक निर्जरा ही मुक्तीका उपाय है.

लोचसे स्वाधीनता गुण प्राप्त होता है, केओपर जो प्रेम करता है वह मस्तक धोनेमें, केशप्रक्षालन करनेमें, उनको सुखानेमें, प्रयत्न करता है, इसके इन कृत्योंसे स्वाध्याय ध्यानादिकोंमें विघ्न उपस्थित होता है, अतः वह इन कृत्योंमें लगनेसे पराधीन हुवा है ऐसा समझना चाहिये, लोच करनेसे उपर्युक्त कृत्य नहीं करने पड़ते हैं तथा स्वाध्यायादिक स्वकृत्योंमें लगनेसे वह स्वाधीन कहा जाता है.

लोच करनेसे निर्दोषता गुण मिलता है, चोरी करना, झूठ बोलना यह सदोष किया है, मुनिराज अनश-नादिक निर्दोष क्रिया जैसी करते हैं वैसा लोच भी निर्दोष क्रिया होनेसे वे इस क्रियाको भी करते हैं.

लोचसे देहममता नष्ट होती है, यह देह मेरा है ऐसी भावना नष्ट होती है, तथा लोचसे शौचधर्मकी प्राप्ति होती है, प्रकृष्ट लोभकी निवृत्ति होना शौच है, शरीरपरसे लोभ नष्ट होगया तो समस्त लोभोंके प्रकारोंका नाश होता है, शरीरके उपकारके लिये ही वंशु घनादिकोंके ऊपर लोभ उत्पन्न होता है.

इन लोभोंका नाश होनेसे शौचधर्म संवरका कारण होता है, क्योंकि गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, और परीपह जय संवरके कारण हैं ऐसा पूर्वाचार्य कहते हैं.

आणक्खिखदा य लोचेण अप्पणो होदि धम्मसद्धा च ॥  
उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च ॥ १२ ॥  
आत्मीया दर्शिता अद्धा धमं लोचं वितन्वता ॥  
भावितं सकलं दुग्गं दुइचरं चरितं तपः ॥ १३ ॥

इति लोचः ॥

विजयोदया—आणक्खिखदा य होदि आदर्शिता भवति । लोचेण लोचेन । का ? धम्मसद्धा धर्मं चारिजे अज्जा । कस्य ? अप्पणो आत्मन । महती धर्मस्य अद्धाऽन्यथा कथमिवं दु सह क्लेशमारभते इति । आत्मनो धर्मश्रद्धाप्रकाशनेन परस्मापि धर्मश्रद्धाजननोपवृद्धण कृत भवति । सोऽयमुपवृद्धणस्यो गुणो भावितो भवति । उग्गो तवो य उग्र च तप

कायक्लेशालय दुःखातराणि च सहते ॥ लोच' तथैव व्यावर्णितगुणवत् ॥ दुःखस्स दुःखस्य  
भावेयम् दुःखान्तराणि च सहते । दुःखसहनांश्च जरी भवत्यशुभकर्मणा ॥ लोचोत्ति गदं ॥  
मूलारा-आणक्खिदा आनक्षिता । गल्ल द्दर्शन इत्यस्य प्रयोगः । आदर्शितित्यस्य प्रयोगः । उगो तवो उग्रं-  
तपः कायक्लेशुल्य ॥

अर्थ--मुनि लोच करते हैं उससे उनकी धर्मके-चारित्रिके ऊपर बड़ी भारी श्रद्धा व्यक्त होती है, यदि  
उनमें-चारित्र्यं श्रद्धा न होती तो वे इतना दुःख सह कैसे क्यों करते ? वे अपनेमें धर्मश्रद्धा प्रगट करते हैं अतः  
अन्य जनोंमें भी उनकी धर्मश्रद्धा देखकर धर्मिके प्रति श्रद्धा चढ़ जाती है, अतः लोचके द्वारा उपवृंहण नामका  
गुण भी प्राप्त होता है, लोच करनेवाले मुनि उग्रतप अर्थात् कायक्लेश नामका तप करके होनेवाला दुःख सहते  
हैं, जो लोच करते हैं उनको दुःख सहनेका अभ्यास हो जाता है अतः वे अन्य दुःखके प्रसंग आने पर डरते नहीं  
शांततासे सहन करते हैं, दुःख सहन करनेसे अशुभ कर्मकी निर्जरा होती है,

व्युत्पद्यशरीरताभिधानयोत्तर' प्रबंध -

सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणाणि गहकेसमंसु संठप्पं ॥

दंतोठकणमुहणासियच्छिभमुहाइं संठप्पं ॥ ९३ ॥

न भरुदन्तौष्ठकर्णाक्षिन्खेकेशादिसंस्कृतिम् ॥

मजन्त्युद्वर्त्तनं स्नानं नाभ्यङ्गं ब्रह्मचारिणः ॥ ९४ ॥

विजयोदया—सिण्हाणम्भगुव्वट्टणाणि वज्जेदिति पदवट्ठना स्नानाभ्यजनोद्वर्त्तनानि ॥ गहकेसमंसुसंठप्पं नख-  
केशाश्मश्रुसंस्कारं च वर्जयति । अन्तेरणापि चशब्दं समुच्चयार्थप्रतीति ॥ पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा  
मन इति द्रव्याणि इत्यत्र यथा ॥ दंतोष्ठकणमुहणासियच्छिभमुहादि संठप्पं वज्जेदिति पदरचना ॥ द्तानामोष्ठयो , कर्णयो  
मुखस्य, नासिकाया, अक्षणोर्भुवोरादिग्रहणात्पाणिपादादीना च संस्कृतिं परिहरति ॥

स्नानमेकप्रकारं शिरोमात्रप्रक्षालनं, शिरो मुक्त्वा अन्यस्य वा गात्रस्य, समस्तस्य वा । तत्र शीतोदकेन क्रियते  
स्थावराणा व्रसाना च वाधामाभूदिति । कद्दमवालुकादिमर्द्दनाजलक्षोभणात्तच्छरीराणा च वनस्पतीना पीडात-मत्स्यदंडुर  
सुकुम्भव्रसाना च स्नानं निवार्यते । उण्णोदकेन स्नायादिति चैत्र, तत्र व्रसस्याववाधावस्थितेव । भूमिदरीचिवरस्थितानां  
पिपीलिकादीनां मृते, तरुणट्टणपल्लवाना चोण्णावुभिस्ताना दुःखासिका महती जायते । तथा क्षारतया धान्यरसादीना ।

न चास्ति प्रयोजनं स्नानेन सप्तधातुमयस्य देहस्य न शुचिता शक्या कर्तुं । ततो न शौचप्रयोजनं । न रोगापहतये रोग-  
परीपहसद्वनाभावप्रसंगात् । न हि भूपयै विरगत्वात् ।

धृततैलादिभिरभ्यञ्जनमपि न करोति प्रयोजनाभावादुक्तेन प्रकारेण धृतादिना क्षारेण स्पृष्टा भूम्यादिजंतवो  
वाध्यन्ते । त्रसाश्च तत्रावलग्न्याः ।

उद्धर्त्तने इतस्ततः पततां व्याधात । मूलत्वक्फलपत्रादेि पेण्णे, दलेन च महानसयम् । निर्वर्तनविलेखनघर्षण-  
रंजनादिको नरवसंस्कारः । ओष्ठमलापकर्षणं तद्रागकरण वा ओष्ठसंस्कारः । केशसंस्कारो हस्तघर्षणेन मसृणतासंपादनं,  
तथा इमश्रूणामपि । दंतमलापकर्षणं तद्रजनं वा दंतसंस्कारः । ह्रस्वयोर्लंबवतापादनं । दीर्घयोर्द्विह्रस्वकरण । तन्मलनिरा-  
सोऽलकारग्रहणं कर्णसंस्कारः । मुखस्य तेज संपादनं लेपेन मंत्रेण वा मुखसंस्कारः । अक्ष्णोः प्रक्षालन अंजनं अक्षि-  
संस्कारः । विकटोत्थितानां रोम्णा उत्पाटन आतुलोम्यापादनं । लंबयोरुधतीकरणं, भ्रूसंस्कारः । शोभार्थं हस्तपादादि-  
प्रक्षालनं, औपधिविलेपादिर्वासंस्कार आदिशब्देन गृहीतः ।

अधुना व्युत्सृष्टशरीरताब्यालिंगविकल्पव्याख्यानाय गाथात्रयमाह—

मूलारा-सिंहण स्नानं । अञ्चंगं तैलादिना स्निग्धत्वापादनं । उन्वट्टण जलादिच्छुतमसूरादिषिष्टादिना देहस्ये-  
तस्ततो मर्दनं । मंसु इमश्रु कूर्च इत्यर्थः । संठपं संस्कारं । मसुहादि आदिशब्देन हस्तपादादि । तत्र लेखनकर्तनघर्षणरंज-  
नादिको नखसंस्कारः । हस्तघर्षणेन मसृणताकरणं केशदमश्रुसंस्कारः । मलापनयनरंजनादिको दन्तौष्ठसंस्कारः । जह्वीकरण  
लंबीकरणमलापकर्षणभरणादिकः कर्णसंस्कारः । लेपेन मंत्रेण वा तेजःसंपादनं मुखसंस्कारः । अंतर्मलोमापनोदादिको  
नासासंस्कारः । प्रक्षालनाजनादिको नेत्रसंस्कारः । विकटोत्थितानां रोम्णा केशानामुत्पाटनं आतुलोम्यापादनं च । भ्रुवोरेव  
वा लंबयोरुन्ननीकरणं भ्रूसंस्कारः । शोभार्थं प्रक्षालनमौपधिलेपनादिकं च हस्तपादादिसंस्कारः ।

व्युत्सृष्ट शरीरता शरीर परसे समत्वभाव दूर करना अर्थात् कायोत्सर्ग करना यह भी लिंगका एक  
प्रकार है इसका वर्णन करनेके लिये उचर प्रबंध आचार्य कहते हैं—

अर्थ—मुनिगण जलस्नान, अभ्यंगस्नान और शरीरको उवटन लगाना इनका त्याग करते हैं। वे  
नखोंका संस्कार, केशोंका संस्कार और दाढ़ी मूँछोंका संस्कार इनका त्याग करते हैं। दांत, ओठ, कान, नाक,  
मुँह, आँखें और मोँहें आदिका भी वे कभी संस्कार नहीं करते हैं। आदि शब्दसे हाथ और पावोंका संस्कार भी वे  
नहीं करते हैं ऐसा समझना।

विशेष—स्नानके अनेक प्रकार हैं, जलसे केवल मस्तक धोना, अथवा मस्तक छोड़कर अन्य अवयवको

धोना अथवा समस्त अवयवोंको धोना. परंतु त्रस और स्थावर जीवोंको बाधा न होवे इसलिये मुनि शीतलजलेसे स्नान नहीं करते हैं. स्नानके जलसे क्रीचड होता है, वालुकादिकोंके मर्दनसे जलकायिक जीवोंका घात होता है. वनस्पति जीवोंको बाधा पोहोचती है. मत्स्य, मेंडक, और द्रुक्ष्म त्रसोंको बाधा पोहोचती है अतः मुनिगण शीत जलसे स्नान नहीं करते हैं. यदि वे थंडे पानीसे स्नान नहीं करते हैं तो गरम पानीसे क्यों नहीं करते हैं? इस प्रश्नका उत्तर यह है-गरम जलसे स्नान करनेसे भी त्रसस्थावर जीवोंको बाधा होती ही है जमीनके छिद्रोंमें, बड़े बड़े विलोंमें यह पानी प्रवेश करेगा तो वहांके चीटी वगैरह प्राणिओंको बाधा अवश्य होगी ही. गरम पानीसे घास, कोमल अंकुर संतप्त होकर महान्कटी होते हैं. गरम पानीसे धान्योंका रस नष्ट हो जाता है.

मुनिओंको जलस्नानकी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि, जलस्नानसे सप्त धातुमय देह पवित्र नहीं होता है. इस वास्ते शुचितोकेलिये स्नान करना भी योग्य नहीं है. रोगपरिहार करनेके लिये भी स्नानकी आवश्यकता नहीं है. यदि वे स्नान करेंगे तो रोगपरीपह सहन करना व्यर्थ होगा. शरीर सौंदर्य युक्त होनेकेलिये भी वे स्नान नहीं करते हैं क्यों कि वे वीतराग है.

मुनि धी, तैल इत्यादिकोंसे अभ्यंगस्नान भी कुछ प्रयोजन न होनेसे करते नहीं हैं. घृतादि क्षारपदार्थोंका स्पर्श होनेसे भूमि वगैरहमें रहनेवाले जन्तुओंको पीडा होती है. भूमिपर चिपके हुए त्रस जीव इधर उधर होते हैं. गिरते हैं तब उनको एकस्थानसे दूसरे स्थानपर जाते समय बाधा पोहोचती है.

वृक्षोंके मूलभाग, छाली, फल, पत्ते इत्यादिकोंका चूर्ण करनेमें, पीसनेमें महात् असंयम होता है. नव निकालना, घिसना, रंगाना इत्यादि कार्यको नखसंस्कार कहते हैं. ओठोंका मल निकालना. उनको रंगाना अधिक लाल दीखने लायक बनाना यह ओष्ठसंस्कार है. हाथोंके द्वारा घर्षण करके स्निग्धता उत्पन्न करना यह केश संस्कार है. दाढ़ी और मूंछोंपर मी हात चार चार फेरकर स्निग्धता उत्पन्न करना यह श्मश्रुसंस्कार है. कान न्हस्व हो तो उनको दीर्घ करना, दीर्घ हो तो उनको छोटे बनाना, उसमें से मल दूर करना, उनको अलंकारोंसे भूषित करना यह कर्णसंस्कार है. कुछ उबटन वगैरे पदार्थ लगाकर मुहको तेजस्वी बनाना. अथवा मंत्रके द्वारा मुहको तेजस्वी करना यह मुखसंस्कार है. अखि स्वच्छ धोना, वे अंजनसे आंजना यह नेत्रसंस्कार है. जो केश इधर उधर तिरछे ऊगे हैं उनको निकाल देना, दीर्घ केशोंको न्हस्व करना, उन्नत बनाना यह भोहोंका संस्कार है.

सुंदरता बड़े इसलिये हाथ और पाय, वगैरे धोना, औषधादि विलेपन करना यह हस्तपादादिसंस्कार है, ऐसे सब देहसंस्कारोंका मुनि त्याग करते हैं. इससे वे शरीरके ऊपर स्नेह रहित हैं यह सिद्ध होता है, शरीर स्नेह छोड़ना यह भी मुनिलिंगका एक भेद है.

वज्जेदि बंभचारी गंधं मल्लं च ध्रुववासं वा ॥

संवाहणपरिमहणपिणिट्ठणादीणि य विमुत्ती ॥ ९४ ॥

न स्कन्धकुट्टनं वासं माल्यं धूपविलेपनम् ॥

कराभ्यां मलनं चूर्णं चरणाभ्यां च मर्दनम् ॥ ९५ ॥

विजयोदया—गंध कस्तूरिकादिकं । मल्लं माल्यं चतुष्पकारं । ध्रुवं कालागुर्वदिकं । वासं सुखवासं च जातिफलादिकं । अनेकसुरभिद्रव्यमिथ वा । संवाहणं हस्ताभ्या मलनं । चरणावमर्दनं परितः । परिमर्दनं । असकुट्टनं उन्नतिं दाढ्यं च कर्तुं यत्तत्पिणिदमित्युच्यते । एतत्सर्वं वर्जयति प्रयोजनाभावाद्धिसाप्रवृत्तेऽथ । क ? ब्रह्मचारी अब्रह्म निवृत्तिपरो यतिः ।

मूलारा—मल्लं माल्यं पुष्पमाला । गंधं जातिफलादिना सुखवासनं । संवाहणं हस्ताभ्या मर्दनं । परिमहणं पादाभ्यां मर्दनं । पाण्धणादीणि अंसयोरुन्नतिं दाढ्यं च कर्तुं कुट्टनं पणिधणमित्युच्यते । पुटपुटीत्यन्वे । आदिशब्देन काष्ठपालिकां सुकुचदिकादिमर्दनम् । विमुत्ता विमुक्ता निर्प्रिया इत्यर्थः । न हि ब्रह्मचारिणां स्नानादिना प्रयोजनमस्ति स्वभावतोऽशुचैः कायस्य शोधाद्यितुमशक्यत्वात् नाग्न्यलोचाभ्या च वीभत्सस्यासंपाद्यारामणीयकत्वात् । तेन भृत्यादिस्थत्रसंस्थावरप्राणि हिंमारागादिप्रसंगश्च ।

अर्थ—ब्रह्मचर्य धारकने कस्तूरी वगैरे सुगंध वस्तुओंका त्याग करना चाहिये. पुष्पमाला, रत्नमाला मुक्तमाला, सुवर्णमाला इनका त्याग करना चाहिये. कालागरु, तगर वगैरहका धूप भी त्यागना चाहिये. मुखको सुगंधित करनेवाले जायफल, इलायची, लवंगादि पदार्थ छोड़ने चाहिये. हाथोंसे अंग चूटना, पाजोंसे अंग रगड़ना, पुष्ट दूद करनेके लिये त्राधुमर्दन करना इत्यादि कार्य भैथुनसेवाके त्यागी मुनिवर्य छोड़ देते हैं.

किं ब्रह्मव्रतस्य कुर्वन्ति स्नानादिपरित्यागा. येन तद्भूताचरणश्रियस्तदनुष्ठाने यतन्ते इत्यारोकायामाह—

जह्विलिक्तो देहो लुप्तलो लोचकद्विविडबीभत्सो ॥

जो रूढणक्खलोमो सा गुत्ती वंभचेरस्स ॥ ९५ ॥

या रूक्षा लोचबीभत्सा सर्वाङ्गणिमला तनुः ॥

सा रक्षा ब्रह्मचर्यस्य प्ररूढनखलोमिका ॥ ९६ ॥

इति व्युत्सृष्टदेहता ॥

विजयोदया—जह्विलिक्तो देह इति । देहो गुत्ती वंभचेरस्स इति पदघटना । देह शरीरं । गुत्ती गुप्ति रक्षा । कीटक । जह्विलिक्तो वनीभूतमुपपुंरि प्रचितं शरीरमल जह्वशब्देनोच्यते । तेन विलिक्तो विलिप्तः देह । स्नानादित्यागात् । लुप्तलो रूक्षस्पर्श स्नानादिविरहादेव लोचकद्विविडबीभत्सो लोचकरणविकृतबीभत्स । जो यो देह रूढणक्खलोमो दीर्घाभूतनखप्रच्छाद्यदेशलोमान्वित । सेति गुप्ति ॥ सामानाधिकरण्यात् स्त्रीलिंगत्वात् ॥ कस्य ? वंभचेरस्स ब्रह्मचर्यस्य ॥

स्नानादित्यागस्य फलमाह—

मूळारा—जह्व वनीभूतमुपपुंरि प्रचितं शरीरमलं जह्व इत्युच्यते । सर्वाङ्गणिमलो वा जह्वः । लोचकद्विविडबीभच्छो लोचकद्वं लोचकृतं लोचकरणं तेन विग्रहो विकृतो वैरूप्यं नीतोऽत एव बीभत्सो जुगुप्साविषयः । रूढणक्खलोमो दीर्घाभूतनखप्रच्छाद्यदेशादिलोमकः । गुत्ती गुप्तिः रक्षा । आरूढा रूढवैराग्यकरत्वात् ।

ब्रह्मव्रतधारक मुनि स्नानादिकोका त्याग करते हैं, यह सत्य है, परन्तु स्नानादिकोका त्याग करनेसे ब्रह्मव्रतमें क्या विशेषता होती है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—स्नानादिकोका त्याग करनेसे यत्किं देहपर वार वार मल जम कर दृढ होता है, अर्थात् इस तरहसे मल संचित होनेपर उनके ब्रह्मचर्यका रक्षण होता है, स्नानत्यागसे और मलसंचय होनेसे देहकी स्निग्धकांति नष्ट होकर वह रूखी बनती है, लोच करनेसे देह बीभत्स दीखता है, नखसंस्कार न करनेसे नख बढ़ कर लंबे होते हैं और गुप्तप्रदेश केशोंसे ढक जाता है, अतः स्नानादिकार्य न करनेसे ब्रह्मचर्यका रक्षण होता है, यह सिद्ध होता है, 'व्युत्सृष्ट शरीर' यह प्रकरण समाप्त हुआ.

प्रतिलेखनसाध्यप्रयोजनाख्यानायोत्तरगाथाद्वयम्—यस्य येन हि संवन्धो दूरस्थमपि तस्य तत् इत्यनेन क्रमेण संवन्ध-

वोसदृसरीरं गदं ।

इरियादाणनिखेवे विवेगठाणे निसीयणे सयणे ॥

उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणा उंटणामरसे ॥ ९६ ॥

आसने शयने स्थाने गमने मोक्षणे ग्रहे ॥

आमर्शेनपरामर्शप्रसारार्ककुञ्चनादिषु ॥ ९७ ॥

विजयोदया—इरियादाणे पडिलेहणेण पडिलेहिज्जदित्ति एवं सर्वत्र । ईर्याया गमने व्रजत' स्वपादनिक्षेपदेशे यदि दुप्परिहारा' स्यु' पिपीलिकादयोऽथवा प्राक् पादावलग्रजसो विरुद्धयोर्निर्वा भूमिक्तरा जल प्रवेष्टव्यं यदि पडिलेहणेण प्रतिलेखनेन पडिलेहिज्जदित्ति निराक्रियते त्रसादिक । आदाने ग्रहणे ज्ञानचारित्रसाधनाना । निक्षेवे विवेके । ज्ञानसंयमोपकरणाना निक्षेपे स्थापनाया । यन्निक्षिप्यते यत्र च तदुभयप्रमार्जनं कार्यं । शरीरमलाना उच्चारणादीना विवेके उत्सर्जने वा कर्तरि प्रदेश । सा च भूर्यद्ययोग्या प्रमार्जनीया । ठाणे निसीयणे सयणे स्थाने आसने च शयने च शयनक्रियायां । उव्वत्तणपरिवत्तणपसारणा उंटणामरसे । उव्वत्तण उत्तानशयनं । परिवत्तण पार्श्वोत्तरसंचारं, पसारणं प्रसारण हस्तपादादीना । आउंटणं संकोचनं । स्पर्शक्रिया आमरसशब्देनोच्यते ॥

अधुना प्रतिलेखनाख्यालिंगभेदस्य साध्यमभिधातुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—इरिया ईर्या गमनमित्यर्थः । तदादौ प्रतिलेखनेन पिंलादिना त्रसादिकमपसार्यते । तथाहि— मार्गे गच्छतः संयतस्य स्वपादनिक्षेपदेशे पिपीलिकादयो दुष्परिहारा यदि स्युरिदि वा प्राक्पदावलग्रजसो विरुद्धयोर्निरुत्तराभूमिर्वा गंतव्या, जलं वा प्रवेष्टव्यं तदा तत्पिपीलिकारजःप्रभृति लेखनेन निराक्रियते । एवमादाने ज्ञानसंयमाद्युपकरणग्रहणे, निक्षेपे तत्स्थापनाया, विवेके विष्णूत्राद्युत्सर्गे, स्थाने वट्टीभावे, निस्सयणे निपीदने उपवेशने, सयणे स्वापे, उव्वट्टणे उत्तानशयने, परिवट्टणे पार्श्वोत्तरसंचारे, पसारणे हस्तपादादिप्रसारणे, आउट्टणे तेषामेव संकोचने, आमासे आमर्शे स्पर्शनक्रियाया, अन्यत्राप्येवविधे कर्मणि अवश्यकार्ये यतिरप्रमत्तलसादिकं प्रतिलिखेत् ।

प्रतिलेखनसे शुनि कोनसा प्रयोजन सिद्ध करते हैं इसका वर्णन आगेकी दोन गाथाओंसे आचार्य करते हैं:—  
जिसका जिसके साथ संबंध है वह चीज दूर भी हो तोभी वह उसकी ही मानी जाती है. इस न्यायसे ' प्रतिलेखन ' यह लिंगका अन्तिम भेद है अर्थात् पहिले तीन भेदोंके अनंतर होनेसे इसको दूर कह सकते हैं

तथापि लिंगसेही इसका संबंध है अतः यह उसका ही संबंधी है ऐसा कह सकते हैं.

अर्थ—देववंदनाके लिये जब मुनि जाते हैं तब बहुत सावधान होकर सूर्यके प्रकाशमें गमन करते हैं. जाते समय जहां वे पांव रखना चाहते हैं उस जमीनपर यदि कीटी वगैरे जन्तु दुष्परिहार्य होंगे तो उनको मृदु पिच्छिकासे दूर करके आगे पांव रखकर गमन करते हैं. अथवा पूर्व भूमीसे आगेकी जमीन यदि भिन्न स्वभाव-रंग वर्णरहसे युक्त होगी तो मुनि प्रथम पिच्छिकासे पावोंकी धूल हटाकर उसमें प्रवेश करते हैं. यदि पानीमें प्रवेश करना हो तो प्रथम पिच्छिका अपने शरीरपर फेरकर वहांके त्रसजीव हटाते हैं और तदनंतर जलमें प्रवेश करते हैं. ज्ञान और चारित्रिके साधन शास्त्रादिको ग्रहण करते समय वे पिच्छिकासे साफ करके ग्रहण करने चाहिये. जब ज्ञानचारित्रिके शास्त्रादिक साधन जमीनपर रखना हो तो पिच्छिकासे जमीन और शास्त्रादिक साफ करके रखना चाहिये. और अलग अलग रखते समयमें भी पिच्छिकासे उनको स्वच्छ करना चाहिये.

शरीरके मलमूत्रादिक जहां फेकना हो उस स्थानको पिच्छिकासे साफ करनेसे वहांके त्रस जीव बिना बाधाके दूर हो सकते हैं. जब मुनि बैठते हैं. खड़े हो जाते हैं, सो जाते हैं, अपने हाथ और पांव पसारते हैं, संकोच लेते हैं, जब वे उत्तानशयन करते हैं, एक बाजूसे दूसरी बाजूपर मुड़कर सोते हैं तब अर्थात् इतने कार्य करते समय वे अपना शरीर पिच्छिकासे स्पर्श करते हैं ऐसा करनेसे शरीरपर त्रसजीव हो तो वे बिना तकलीफके दूर होते हैं. और मुनिओंका आचारक्रम भी इस कृत्यसे पाला जाता है.

पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं च होइ. सगपक्खे ॥

विस्सासियं च लिंगं संजदपडिरुवदा चेव ॥ ९७ ॥

स्वपक्षे चिहुमालम्ब्यं सायुना प्रतिलेखनम् ॥

विश्वाससंयमाधारं सायुलिङ्गसमर्थनम् ॥ ९८ ॥

विजयोक्त्या—चिण्हं च होदि विद्वता भजते । सगपक्खे स्वप्रतिज्ञायां । सर्वजीवदया हि यते. पक्षः । विस्सासियं च विश्वासकारि च जनानां । लिंगं प्रतिलेखनाख्यं कथमयमतिस्फुर्माङ्कुंध्यादीनपि परिहर्तुं शुद्धीतप्रतिलेखनोऽस्मा-



णिउणं विउलं सुद्धं णिकाचिदमणुत्तरं च सव्वहिदं ॥  
जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पढिद्वं ॥ ९९ ॥  
निपुणं विपुलं सुद्धं निकाचितमनुत्तरं ॥  
पापच्छेदि सदा धेयेयं सार्वीयं वाक्यमार्हतम् ॥ १०० ॥

विजयोदया—निउणं जीवादीनर्थान्प्रमाणनयानुगतं निरूपयतीति निपुणं । सुद्धं पूर्वोपरविरोधपुनरुक्तावि-  
द्यात्रिशदोपवर्जितत्वात् शुद्धं । विपुलं निक्षेपः, पदार्थैः, निकृतिः अनुयोगद्वारं, नयञ्चेति अनेकविकल्पेन जीवादीनर्थान्सि-  
प्रपञ्चं निरूपयतीति विपुलं । अयेगाढत्वादिकाचितं अर्थनिश्चितं । अनुत्तरं च न विद्यते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादित्यनुत्तरं ।  
परेण वचनानि पुनरुक्तानि, अनर्थकानि, व्याहतानि, प्रमाणविरुद्धानि च तेभ्य इदमुत्तरं तदसंभविगुणत्वात् । सव्वहिदं सर्वं  
प्राणिहितं । अन्येषां मतानि केवाचिदेव रक्षां सूचयति 'जिघांसन्तं जिघांसीयात् न तेन ब्रह्महा भवेत्' इत्युपदेशात् ।

“यन्नार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥

यन्नो हि भूतैः सर्वेषा तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ १ ॥

“अग्निदो गत्तद्वैव शरूपाणिर्धनापहः ॥

“आततायिनमायातमपि वेदातविद् द्विजम् ॥

जिघांसत जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥”

जिघांसत जिघांसीयात् न तेन ब्रह्महा भवेत्' इत्युपदेशात् ।

कलुसहरं द्रव्यकर्मणा ज्ञानावरणादीना अदानादेर्भवमलस्य च विनाशनात् कलुसहर । अतो य रत्तीय पट्टिय-  
चमित्यनेन अनारतं अध्ययन सूचित ।

अथैव चतुर्द्धां लिङ्गं व्याख्याय साप्रतं क्रमप्राप्ता शिक्षां व्याख्यातुं त्रयोदशभिर्गोथाभिरुपक्रमते । तत्र तावलि-  
पथ्यनय गृहीतर्लिङ्गं मुमुक्षु प्रेरयितुमाह —

मूलारा.—निउणं निपुणं म्ममार्थनिरूपकं

रुक्तादिद्वात्रिशदोपविरहितत्वात् । विउलं निपुणं निक्षेपकार्थनिरुक्तयुगोद्धारत्तैर्जीवाण्यर्थानां प्रपञ्चकत्वात् ।  
णिकाचिद् निकाचितत्वादर्थोवगाढ । अनुत्तरं नास्त्युत्तरमुत्कृष्टमन्यदस्मादित्यनुत्तरं । परवचसां प्रमाणविरुध्यत्वादि  
दोषदुष्टतया तदसंभविगुणत्वात् । सव्वहिदं सर्वप्राणिहितं मतातराणां केवाचिदेव रक्षासूचकत्वात् । तथा च तद्व्यञ्जः—

यन्नार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥

यज्ञो हि भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञो यघोऽवघः ॥

अग्निदो गरुदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ॥

क्षेत्रदारहरश्चोति पठेते आततायिनः ॥

आततायिनमायातमपि वेदागविद् द्विजम् ।

जिघासत जिघासीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥

कछुसहरं द्रव्यभावकर्ममलापहम् ।

अत्र शिक्षाधिकारका आचार्य विस्तृत वर्णन करते हैं ।

अर्थ—श्री जिनेश्वरका वचन जीवादि नव पदार्थोंका प्रमाण और नयके आश्रयसे वर्णन करता है, अतः उसको निपुण विशेषण है, जिनवचन शुद्ध है क्योंकि उसमें पूर्वापरविरोधादि वचीस दोष विलकुल नहीं हैं, वह विपुल है अर्थात् नाम स्थापनादि निक्षेप, प्रतिज्ञा हेतु उदाहरणादि अनुमानके अंग, शब्दका व्याकरण द्वारा धातु प्रत्यय विभक्ति इत्यादि रूपसे स्पष्टीकरण, सत्संख्यादिक अनुयोग और नैगम संग्रहादिक नय ऐसे अनेक विकल्पोंसे जीवादिक अर्थोंका सविस्तर विवेचन करता है, अतः उसको विपुल कहते हैं, जिनवचनका प्रत्येक शब्द अर्थसे गाढ़ भरा हुआ है अतः उसको निरुचि कहते हैं, जिनवचनको छोड़कर अर्थात् इससे बढकर उल्लूक किसीका भी वचन नहीं है इसलिये यह अनुत्तर है, अन्यमतोंके वचन पुनरुक्त हैं, अनर्थक-अर्थहीन और पूर्वापरविरोधयुक्त हैं, प्रमाणाविरुद्ध हैं परंतु जिनवचनमें ये दोष नहीं हैं इसलिये यह वचन अनुत्तर है, इस वचनमें सर्व जीवोंका कल्याण करना यह गुण है, इतरोंके मत सर्व जीवोंका रक्षण नहीं करते हैं थोड़े जीवोंका ही वे रक्षण करते हैं ' जिघासन्तं जिघासीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ' ' अपनेको मारनेके लिये आवेगा उसको मारना चाहिये इस कृत्यके करनेसे वह मारनेवाला ब्रह्मघाती नहीं होता है, '

यज्ञार्थं पशवः सृष्टा इत्यादि-ब्रह्मदेवने यज्ञ करनेके लिये पशु उत्पन्न किये हैं, यज्ञ सर्वको ऐश्वर्य देता है अतः यज्ञमें प्रणिवध करना हिंसा नहीं है वह अहिंसा ही है,

अग्निदो गरुदश्चैत्यादि-जो मनुष्य अग्निदेवारा दूसरोंके घर जलाता है, जो अन्नमें विष देकर मारता है, जो शस्त्रसे मारता है, जो धन हरण करता है और जो खेत और दूसरेकी स्त्री हरण करता है ऐसे छे प्रकारके

लोकोंको आततायी कहते हैं, ये आततायी लोक यद्यपि वेद जानने वाले ब्राह्मण जातिके भी हो तो भी वे मारनेकी इच्छा रखते हैं अतः उनको मारना चाहिये उनको मारनेसे ब्रह्महत्याका दोष लगता नहीं है, इत्यादिरूप अन्यमतोंके वचन हैं, ये सब वचन सर्व प्राणिओंकी रक्षाके सूचक नहीं हैं.

जिनेश्वरका वचन कलुषहर है अर्थात् ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, अज्ञानादिक भावकर्मरूपी मलका नाश करता है, इसलिये इसका हमेशा अध्ययन करना चाहिये.

जिनवचनशिक्षाया गुणान्सहस्य कथयति--

आदहिदपदृण्णा भावसंवरो णवणवो य संवेगो ॥

णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च ॥ १०० ॥

गद्यम्—सर्वभावहिताहितावोधोपरिणामसंवरप्रत्यग्रसंवेगरत्नत्रयस्थिरत्नतपोभावना-परदेशकत्वलक्षण गुणाः सप्त संपद्यन्ते जिनवचनशिक्षया ॥१०१॥

विजयोदया—आदहिदपदृण्णा आत्महितप्रतिज्ञानं । इन्द्रियसुखं अहितं हितमिति गृह्णन्ति जनाः । उ सप्रती-कारमात्र तत् । अत्यकालिक, पराधीनं, रागदुःखक्रांति, दुर्लभं, भयावहं, शरीरायासमात्रं, अशुचिशरीरसंस्पर्शनज । तत्रास्य बालस्य सुखबुद्धिः । निःशेषदुःखापयजनित स्वास्थं अचल सुगमिति न वेत्ति । जिनवचोऽभ्यासात्त्वधिगच्छति । भावसंवरो भावः परिणाम तस्य संवरो निरोधः । ननु परिणाममतेरेण न द्रव्यास्यास्ति क्षणमानमप्यवस्थानं तत्किमुच्यते भावसंवर इति । परिणामविशेषवृत्तिरिह भावशब्द इति मन्यते । तथा वक्ष्यति—

‘सज्ज्ञायं कुब्धतो पंचेदीसबुद्धो इति’ अशुभकर्मोद्दाननिमित्तपरिणामग्रहणमिह सरागोपेक्षया । धीतरागाणां तु केषांचिच्छुद्धोपयोगनिमित्ततया पुण्याश्रवपरिणामसंवरोऽपि ग्राह्य । णवणवो य प्रत्यग्रः प्रत्यग्रः । संवेगो धर्मे श्रद्धा जिनवचनाभ्यासादुपजायते । णिक्कंपदा निश्चलता । क रत्तवये । तवो स्वाध्यायाख्य तपश्च । भावणाय भावना च गुप्तिना । परदेसिगत्तं च परेयामुपदेशकता च ॥

कलुमहरं द्रव्यभावकर्ममलापहम् ।

मूलारा—आदहिदपरिणाम आत्माहितपरिज्ञानं अत्रात्मशब्देनोपलक्षणाजीवादीवदिपदार्थो गृह्यन्ते । तथा हितशब्देन हितमहितं च तथैवोत्तरागमार्थस्योपपत्तेः । भावसंवरो भावोऽत्र सरागापेक्षया पाप

कर्मादानहेतुः परिणामस्तस्य संवरो निरोधः । वीतरागणां केषाचिच्छुद्धोपयोगनिमित्ततया गुण्यालवपरिणामसंवरोपि ग्राह्यः । संवरो धर्मैः श्रद्धा । अत्र संसारभीरुतालक्षणसंवेगकारणको धर्मोऽपि संवेगशब्देन गृह्यते । कारणे कार्योपचारात् । निष्कंपदा रत्नत्रये निश्चलत्वं । तवो स्वाध्यायाख्यं तबः । भावणा मुमितत्परता । परदेसगतं परेषामुपदेशकर्तृत्वं । एते सप्त गुणा जिनवचनाभ्यासाज्जायन्ते इति संबंधः ।

जिनवचनके अध्ययनसे कोनसे गुण प्राप्त होते हैं इसका वर्णन आचार्य संक्षेपसे करते हैं—

अर्थ—आत्मोके हितका ज्ञान जिनवचनसे होता है—लोक अहितकर इंद्रियसुखको हितकर समझते हैं, यह सुख दुःखका केवल प्रतीकार ही है, अल्पकालतक ही रहता है, तदनंतर उसका नाश होता है, इंद्रियों और पदार्थोंके यह आधीन है, रागभावको उत्पन्न करके आत्माको कर्मसे चढ़ करता है, दुर्लभ है, दुर्गतीका भय उत्पन्न करता है, शरीरके आयाससे वह उत्पन्न होता है, अपवित्र शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न होता है, ऐसे इंद्रियसुख में अज्ञ जीवोंको सुखबुद्धि हो रही है, संपूर्ण दुःखोंका नाश होनेसे उत्पन्न होनेवाला, आत्मामें हमेशा रहने वाला, निश्चल ऐसे आत्मसुखको अज्ञान सुख समझते नहीं हैं, परंतु जिनवचनके अभ्याससे भव्यजीवोंको आत्मिक सुखका ज्ञान होता है, इसलिये जिनवचनमें आत्महितप्रतिज्ञा नामका गुण है यह सिद्ध हुआ,

भावसंस्वर—यह दूसरा गुण है, शंका-भाव-पदार्थका परिणमन-संवर-निरोध अर्थात् पदार्थोंका परिणमन होना बंद पडना ऐसा भावसंस्वरका अर्थ होगा, परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि पदार्थमें यदि परिणमन होना बंद होगा तो वह एक क्षणतक भी अपना अस्तित्व न रख सकेगा, अतः भावसंस्वर जिनवचनका गुण मानना योग्य नहीं है, उचार—यहां भावशब्दका अर्थ आपने जो किया है वह नहीं है, अशुभ कर्मका आसव जिनसे होता है ऐसे पापपरिणामोंका-विचारोंका त्याग करना यह भावसंस्वरका अर्थ यहां प्रस्तुत है, ससारी जीव अशुभ परिणामोंको जिनवचनके अध्ययनसे त्यागते हैं, अतः जिनवचनमें भावसंस्वर नामका गुण है ऐसा आचार्य कहते हैं, वीतराग अवस्थाको प्राप्त हुए मुनिओंको जिनवचन शुद्धोपयोगके लिये कारण होता है, अतः वीतराग मुनीकी अपेक्षासे पुण्यास्रवके लिये कारण जो परिणाम उनका संवर होना भावसंस्वर शब्दसे कहा जाता है,

जिनवचनका प्रतिदिन अभ्यास करनेसे नवनव संवेग नामक गुणका लाम होता है, अर्थात् जिनधर्ममें गाढ श्रद्धा

उत्पन्न होती है, इस जिनवचनके अभ्यासे रत्नत्रयमें निश्चलता प्राप्त होती है, स्वाध्याय नामक तपकी सिद्धि होती है, गुप्तिओंमें भावना होती है और भव्योंको उपदेश देनेका सामर्थ्य पैदा होता है.

आदहिदपइण्णा इत्थस्य व्याख्यान माथोत्तरा—

पाणेण सव्वभावा जीवाजीवासवादिया तधिगा ॥

णज्जदि इहपरलोए अहिदं च तथा हियं चेव ॥ १०१ ॥

सर्वे जीवादयो भावा जिनशासनशिक्षया ॥

तत्त्वतोऽत्रावबुध्यन्ते परलोके हिताहिते ॥ १०२ ॥

विजयोदया—पाणेण ज्ञानेन । सव्वभावा सर्वे पदार्थाः । जीवाजीवादिगा जीवाजीवासव्यवधंसंवरनिर्जरा-  
मोक्षाः । तधिगा तथ्यभूता । णज्जति ज्ञायन्ते । तथा तेनैव प्रकारेण । इहपरलोए इह परसिञ्च लोके । अहिदं अहितं ।  
हिदं हितं चैव । ननु च आदहिदपइण्णा इत्यत्र हितस्यैव हि संचितत्वात् जीवादिपरिज्ञानं असूचितं कथं व्याख्यायते  
पूर्वममिहितं हितमनुक्त्वा ? अत्रोच्यते—आत्मा च हितं च आत्महिते तयोः परिज्ञानं इति गृहीतं । न चात्मनो हितमिति ।  
ततो युक्तं व्याख्यातं । एवमपि जीव एव निर्दिष्ट इत्यजीवाद्युपन्यास कथं ? आत्मशब्दवस्तूपलक्षणत्वादपेक्षः । जीवाजी-  
वासवधसंवरनिर्जराभोक्षास्तत्त्वं इत्यत्र सूत्रे आदौ निर्दिष्टो जीवः प्रसिद्धस्तेनोत्तरोपलक्षणं क्रियते । अथवा “ जादं संयं  
समत्तं णाणमणंतयविथियव विमलं । रहिदं तु उग्गहादिहिं सुहति पयतिथ भणियं ” इति वचनात् अनतज्ञानरूपं सुखं  
यदि हितमिति गृहीतं, तथापि चेतनाया जीवत्वाच्चैतन्यवस्थास्वरूपात् केवलस्यावस्थानात् आत्मा ह्यातव्य एव ।  
मोक्षस्तु कर्मणा तदपायतयाधिगतव्यः । तत्परिज्ञानमजीविदनिश्चितं न भवति । पुत्रलानामेव द्रव्यकर्मत्वात् तद्वियोगस्य  
मोक्षत्वात् । स च मोक्षो बंधपुरस्सरः । न ह्यसति बंधे मोक्षोऽस्ति । स च बंधो नास्त्यास्त्रये । मोक्षस्य चोपायो सवर-  
निर्जरे । अहित इति यदि तु स गृह्यते तदैहलोकिकमनुभवसिद्धमेव । किं तत्र जिनवचनेन ? अहितकारणं यद्यहितमु-  
च्यते तत्कर्म तच्चात्राजीववचनेन आक्षिप्तं । अथ हिंसादयः परंपराकारणत्वेन दुःखस्यावस्थिताः अहितशब्देनोच्यन्ते ।  
तथाप्ययुक्तं आसवेऽन्तर्भूतत्वात् । अत्रोच्यते—अनुभूतमपि दुःखं असिञ्चमनि जडमतयो विस्मरत्यत एव सन्मार्गं न  
होक्ते । तेषां स्थितिर्जन्यते जिनवचनेन मनुजभवापदा प्रकटनेन । जुगुप्सिते कुले प्रादुर्भूतिर्विचित्रास्तत्र रोगोरावदानज-  
निता विपदाः । निर्द्विगताः, दुर्मगताः, अवधुताः, अनाथता, प्रायित्प्रविणपरगनालभधूमच्चजनिर्दग्धचित्ताः, द्रविणवतां  
कुत्सितप्रेमणकरणं, तथापि तेषां आक्रोशनिर्भस्तेनताडनादीनि परवशतामरणादीन्येवमादिना, इह लोके हितं दान-  
तपं प्रभृतिकं हितकारणं हित इति यदा गृह्यते ‘ हितमारण्यमप्यध ’ इति यथा । यतो दानादिकं कुशलकर्मणि धर्तमाना  
जनैः स्तूयते बंधते । उक्तं च—

दानेन तिष्ठति यथासि लोके । दानेन वैराग्यमपि यान्ति नारायम् ॥

परमोऽपि बहुत्वमुपैति दानात्सत्सुदानं सततं प्रवेयम् ॥

इन्द्रचक्रधरादयोऽपि प्रणतिमायान्ति तपोद्रविणानाम् । परलोके अहित भवान्तरमाविदुःखं नरकगतौ हि, तिर्यक्त्वं च, परलोके हितं निर्धुतिस्तुखं, तदेतत्सकलं अवबोधयति जैनी भगवती भारती ॥

आत्महितपरिज्ञा व्याचष्टे—

मूलारा—तद्विधा तथाभूताः—

आत्महितप्रतिज्ञा नामके गुणका वर्णन—

अर्थ—ज्ञानके प्रभावसे जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ऐसे सात पदार्थोंका सत्य स्वरूप जाना जाता है, तथा इसके सामर्थ्यसे इहलोकमें और परलोकमें हिताहितका भी परिज्ञान होता है.

शंका—आदहिदपइणा इस शब्दमें हितकाही परिज्ञान करलेना सूचित किया गया है. जीवादिकोंका परिज्ञान उपर्युक्त शब्दसे सूचित नहीं होता है. अतः पूर्वमें कहे हुए हितका स्वरूप प्रथम कहकर ही इतरोंका स्वरूप कहना चाहिये था. यह तो आपका असूचित कथन हुआ ?

उत्तर—आत्महितप्रतिज्ञा इस शब्दका अर्थ ऐसा समझना—यहां इंद्रसमास है अर्थात् 'आत्मा च हितं च आत्महिते' ऐसा आत्महित शब्दका विग्रह होता है. अर्थात् आत्मा और हित इन दोनोंका जो ज्ञान उसको आत्म-हितप्रतिज्ञा कहते हैं. 'आत्मनो हितं' आत्माका हित ऐसा पण्डितपुरूप समास यहां समझना भूल है.

शंका—आत्महितप्रतिज्ञासे जीवके हितका ज्ञान होना ही अभीष्ट रहा. अजीवादिकोंके ज्ञानकी आवश्यकता न रही ?

उत्तर—आत्मा शब्द उपलक्षणआत्मक है अतः उसके साथ अजीवादिकोंका भी ग्रहण कर सकते हैं. 'जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरासोक्षास्तत्त्वं' इस सूत्रमें प्रथम जीवका निर्देश किया है. इसलिये वह प्रसिद्ध है. प्रसिद्धके साथ अप्रसिद्धकाभी उपलक्षणसे ग्रहण होता है अतः अजीवादिकका भी आत्महितप्रतिज्ञा इस शब्दसे ग्रहण कर सकते हैं.

अथवा केवलज्ञान अनंत पदार्थों को जानता है, वह स्वयं कर्मका नाश करके उपपन्न हुआ है, पूर्णताको प्राप्त हुआ है, विस्तीर्ण है और कर्ममलसे रहित होनेसे निर्मल है. अवग्रह, ईहा वगैरे विकल्पोंसे

रहित और सर्वथा सुखमय है, ऐसा केवलज्ञानका आचार्य स्वरूप कहते हैं, सुखपदार्थ ज्ञानरूप ही है, वह आत्मा का वास्तविक हित है, अतः वह यहां हितशब्दसे संगृहीत होता है, तथापि चेतना यह जीवका स्वरूप है व चैतन्य रूप अवस्था है, उसको जाननेके लिये आत्माको जानना आवश्यक है, कर्मोंका संपूर्ण नाश होना ही मोक्ष है, उसका स्वरूप अजीव पदार्थको जाने विना समझमें आ नहीं सकेगा, सूक्ष्म पुद्गल ही द्रव्यकर्मरूप बनता है, उसका नाश होनाही मोक्ष है, मोक्ष बंधपूर्वक होता है, यदि कर्मबंध न होगा तो मोक्ष किसको होगा, अर्थात् जो आत्मा कर्म बद्ध है वही कर्मोंका नाश कर स्वतः मुक्त हो जाता है, वह बंधभी कर्मसबके विना होता नहीं, संवर और निर्जरा मोक्षके उपाय है।

अहित शब्दका अर्थ यदि दुःख ऐसा है तो वह इहलोकसंबन्धी दुःख अनुभवसिद्ध है ही उसको जतला-नेकेलिये जिनवचनकी क्या आवश्यकता है ? अहितका जो कारण है वह यदि अहित शब्दका वाच्य है तो कर्म ही अहितका कारण है ऐसा मानना पड़ेगा, उस कर्मका इस ही गाथामें अजीव शब्दसे ग्रहण किया है, यदि हिसादिक दुःखके परंपरा कारण हैं और वे अहित शब्दसे संगृहीत होते हैं ऐसा कहते हो तो वह भी कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि हिसादिक कारणोंका आसवमें अन्तर्भाव होता ही है, इस शंकाका उत्तर आचार्यने इस प्रकार दिया है—

अनुभवमें आया हुआ भी दुःख अज्ञान भूल जाते हैं इसीलिये सन्मार्गिके प्रति गमन नहीं करते हैं, ऐसे लोगोंको जिनवचन दुःखोंकी स्मृति दिलाता है, अर्थात् वह मनुजभवमें क्या क्या आपदायें आती हैं उनको दिखलाता है, जैसे—जुगुप्सितकुलमें—हीन कुलमें उत्पत्ति होती है, और वहां नानाविध रोगरूपी सर्पिक दंशसे अनेक आप-त्तियां उपस्थित होती हैं, दारिद्र्य, कुरूपता, बंधुरहितपना, अनाथपना, ये अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं, इच्छित धनकी प्राप्ति होना, परांगनाका लाम न होनेसे मनमें झुरना, श्रीमान लोगोंके द्वारा कुत्सित कार्य करनेकी आज्ञा होना, उनकी गालियां सुनना, उनके द्वारा किया गया अपमान, पीटे जाना, परवशता इत्यादि दुःखोंको सहन करना पड़ता है, इत्यादि दुःखोंका स्वरूप जिनवचन अज्ञ जीवोंको बतलाता है।

जैसे अरण्यकी वनस्पतिजन्य औषधि हित करती है वैसे इस लोकमें दान, तप वर्गह कार्य हितके कारण हैं अतः उसको हित कहते हैं, दानादिक पुण्यकार्यमें जो तत्पर रहते हैं उनकी लोक स्तुति और वंदना करते हैं, आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—

दान देनेसे जगतमें दाताकी कीर्ति चिरस्थायी होती है. दानमें वैरका नाश होता है. शत्रु भी मित्रताको प्राप्त होता है. अतः सज्जनोंन हमेशा दान देना चाहिये.

तत्परी धन जिनके पास है उनको इंद्र चक्रवर्ती वगेरह महापुरुष वंदन करते हैं. हिंसादिक पाप करनेसे परलोकमें दुःख भोगना पड़ता है. अर्थात् नरकगतीमें नरकावस्थामें दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है. तिर्यग्गतिमें पशु होकर दुःख सहना पड़ता है. दानादिकसे परलोकमें हित होता है. अन्तमें मोक्षसुख मिलता है. इन सब हिताहितोंका जिनश्ररकी पूज्य वाणी वर्णन करती है.

आत्महितापरिक्षाने दोषमाचष्टे—

आदहिदमयाणतो मुञ्चदि मूढो समादियदि कम्मं ॥  
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥ १०२ ॥

हिताहितमजानानो जीवो मुञ्चति सर्वथा ॥

मूढो गृह्णाति कर्माणि ततो भ्राम्यति संसृतौ ॥ १०३ ॥

विजयोदया—आदहिदमयाणतो आत्महितमव्युपमान । मुञ्चदि मुञ्चति । अहित हितमिति प्रतिपद्यते मोहं । को दोष इत्यत आह—मूढो मोहयान् समादियदि समादत्ते । कम्मं कर्मसामान्यशब्दोप्ययं अशुभकर्मवृत्तिग्राहकः । कर्म ग्रहणे को दोष इत्यत आह—कम्मणिमित्तं कर्महेतुक, जीवः परीदि परिभ्रमति । किं ? भवसायरम् भवसमुद्रं अणंतं अनन्तम् ॥

आत्महितापरिक्षाने दोषमाचष्टे—

मूलरा —समादियदि समादत्ते समन्तान्मनोवाक्कायैरादत्ते गृण्हति । कम्मं कर्म मोहहेतुकत्वादशुभ । परीदि पर्येति परिभ्रमतीत्यर्थः ।

आत्मा और हितका यदि ज्ञान न हो तो क्या दोष उत्पन्न होगा इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जिसको आत्माका और हितका स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ है वह जीव मोहित होता है अर्थात् अहितको हित मानता है, मोहसे वह अनंत संसारमें भ्रमण करनेवाले अशुभ कर्मका बंध कर लेता है. तात्पर्य—



मोहयुक्त जीव हिताहित न समझकर अशुभ कर्मसे बद्ध होता है. और वह कर्म जीवको अनंत संसारमें घुमाता है. अतः संसारसे छुटकारा पानेकेलिये आत्मा और हितका परिज्ञान कर लेना आवश्यक है.

आत्महितपरस्योपयोगमादर्शयति—

जाणंतस्मादहिंदं अहिदणियत्ती य हिदपवत्ती य ।  
होदि य तो से तम्हा आदहिदं आगमेदव्वं ॥ १०३ ॥  
हितादानाहितत्यागौ हिताहितविबोधने ॥  
यतस्ततः सदा कार्यं हिताहितविबोधनम् ॥ १०४ ॥

विजयोदया—जाणतस्स जानत । आदहितं आत्महितं । अहिदणियत्ती य अहितनिवृत्तिश्च । हिदपवत्ती य हिते प्रवृत्तिश्च । होदि य भवति च । तो तत् हितक्षानात्पश्चात् । तस्मा तस्मात् आदहिदं आत्महित । आगमेदव्वं शिक्षितव्यम् । अत्र चोद्यते—ननु आत्महितक्षस्य हिते प्रवृत्तिर्भवतु, अहितात्रिवृत्ति कथं ? अहितक्षोऽहिताक्षिवर्तते, हितमहितं च भिन्नमेव । यद्यतो भिन्न न तस्मिन्नावगते तदन्यदवगतं भवति । यथा—यान्तेऽवगते न मकर, भिन्नं च हितादहितं तस्माद्विद्वोऽहितं अजानन् कथमहितात्रियोगतो निवर्तते ? अत्रोच्यते—सर्वमेव वस्तु स्वपरभावभावोभयाधीनात्मलाभं यथा घट पृथु-लोदराद्याकारात्मक पटादिरूपतयाऽग्राह्य, अन्यथा विपर्ययस्यं तज्ज्ञानं भवेत् । एवमिहापि हितविलक्षणमहितं अजानता तद्विलक्षणता हितस्य न ज्ञाता भवेत् । अतो हितक्षोऽहितमपि वेत्तीति युक्ता निवृत्तिस्ततः शिक्षाया अशुभभावसंवरहेतुत्वं प्रतिपद्यामेहे ।

आत्महितपरिज्ञानस्योपयोगमादिशति—

मूलारा—अहिदणियत्ती अहितात्रिवृत्तिः । न चैव शंक्यं आत्महितक्षस्य कथमहितात्रिवृत्तिस्तत्स्वरूपपरिज्ञानात् । हितं हि अहितविलक्षणं अतस्तज्ज्ञानत्रहितमपि जानात्येवान्यथा हितक्षानस्याप्यसंभवात्पटाद्यपरिज्ञाने तद्विलक्षणघटापरि-ज्ञानवत् । तो ततो हिताहितक्षानात्पश्चात् । से तस्य हिताहितमपि जानात्येव । अन्यथा प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थिनः कर्तुः आगमेदव्वं आगमयितव्यं शिक्षितव्यमित्यर्थः ।

आत्महित साधनेमें उद्युक्त हुए प्राणीका उपयोग बताते हैं—  
अर्थ—जो जीव आत्माके हितको पहिचानता है वह अहितसे परावृत्त होकर हितमें प्रवृत्ति करता है. इस

वास्ते हे भव्यजन हो ! आत्महितका आप परिज्ञान करलो.

यहां शंका—जो आत्महित जानता है उसकी हितमें प्रवृत्ति होती है यह कहना योग्य है परंतु जो अहित के स्वरूपको जानता ही नहीं है तो वह उससे कैसे परावृत्त हो सकेगा. जो अहितज्ञ है वही उससे परावृत्त होगा. हित और अहित ये दोनों चीजें भिन्न हैं जो जिससे भिन्न है वह यदि जाना जायगा तो उससे भिन्न अन्य भी कैसा जाना जावेगा ? जैसे वानरका ज्ञान होनेसे मगरका ज्ञान नहीं होता है. वैसे हितसे अहित भिन्न है. अतः हितको जाननेवाला अहितको न जाननेसे अहितसे कैसे परावृत्त होगा ?

उत्तर—सर्व ही वस्तु स्वभावसे उत्पन्न होती है और परभावसे अनुत्पन्न मानी जाती है. अर्थात् स्वस्वरूप की अपेक्षासे प्रत्येक वस्तु भावात्मक है. वही वस्तु परकी अपेक्षासे अभावात्मक भी है. जैसे बड़ा पेट, शंखाकृति गला इत्यादि स्वस्वरूपसे घट पदार्थ जाना जाता है. यदि वह घट परस्वरूपसे भी जाना जायगा तो वह जानना ' विपरीतज्ञान ' है. अतः घटको जाननेके समयमें ही घट पट नहीं है ऐसा भी ज्ञान होता है. हितको जानते समयमें ही अहित भी हितसे उलटा है यह जाना जाता है. यदि हितके विलक्षणरूप अहितको न जाना जायगा तो हितका ज्ञान नहीं होगा. इसलिये हितज्ञ जीव अहितको भी जानता है ऐसा समझना चाहिये अतः वह अहितसे परावृत्त होता है.

सज्ज्ञायं कुर्वन्तो पंचिन्द्रियसुखो तिगुत्तो य ॥

हवदि य एयगमणो विणएण समाहिदो भिक्खू ॥ १०४ ॥

स्वाध्यायं पञ्चशः कुर्वस्त्रिगुप्तः पंचसंयुतः ॥

एकाग्रो जायते योगी विनयेन समाहितः ॥ १०५ ॥

विजयोदय—सज्ज्ञाय स्वाध्यायं पंचविध वाचनाप्रभानुप्रेक्षामनायधर्मपदेशेन । तत्र निरवद्यस्य ग्रंथस्याध्यायन तदर्थभिधानपुरोग वाचना । संद्वेहनिवृत्तये निश्चितयलाधानाय वा सन्नर्थविषय प्रश्न । अवगतार्थानुप्रेक्षणं अनुप्रेक्षा । आत्मतयो गुणता । आक्षेपणी, त्वेक्षपणी, संवेजनी, निर्वेदनीति चतस्र कथास्तासा कथनं धर्मोपदेशः । तं स्वाध्याय कुर्वन् । पंचिन्द्रियसुखो होदि पंचेन्द्रियसंयुतो भवति । ननु निष्ठातस्य पूर्वेनिष्ठातस्तद्वृत्तपंचेन्द्रिय इति भवितव्यम् ? सत्यं । ' जातिकालसुखादिभ्य परवचनम् ' इत्यनेन पंचेन्द्रियजातिवृत्तिरिति जातिवचन । ततो निष्ठातः परतः प्रयुज्यते इति मन्यते । इन्द्रियमनेकप्रकारद्वयेन्द्रिय भावेन्द्रियं इति इह तु रूपाण्युपयोगा इन्द्रियशब्देनोच्यते । तेनायमर्थः स्वाध्या-

यात्रिरुद्धरूपाद्युपयोगो भवति इति । रूपाद्युपयोगिनरोधे किं फलं ? रागाद्यप्रवृत्तिः । मनोक्षामनोद्धरूपाद्युपयोगावलंबनौ रागद्वेयौ । न ह्यनवबुध्यमानो विषयः स्वसत्तामात्रेण तौ करोति । सुप्तेऽन्यमनस्के वा रागादीनां विषयसन्निधावप्य-दर्शनात् ।

“ गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्द्रियाणि जायते ॥

ततो विसयगगहणं ततो रागो व दोसो वा ॥ ”

इति वचनाच्च । कथं स्वाध्याये प्रवर्तमान । विणयेण समाहिदो ज्ञानविनयेन समन्वितो भूत्वा यः स्वाध्यायं करोति । तिरुत्तो य होदि । तिरुभिर्गुप्तिभिर्गुप्तद्वज भवति । मनसोऽप्रशस्तरागाधनवलेपात्, अनृतरुक्षपरु-यर्कशस्त्वानपरदुष्पणादावव्यापृतेः, हिंसादौ शरीरेणाप्रवृत्तेश्च, एयगमणो य होदि भिक्खू इति पदघटना—एकमुखांत करणश्च भवति भिक्षुः स्वाध्याये रतं । एतदुक्तं भवति—ध्याने प्रवृत्तिमव्यासादयतीति । न ह्यकृतथुतपरिचयस्य धर्मशु-क्लध्याने भवितुमर्हति । अपायोपायभयविपाकलोकाविचयादयो धर्मध्यानेभेदाः । अपायादिस्वरूपज्ञानं जिनवचनबलादेव ‘ शुक्ले चाद्ये पूर्वविद ’ इत्यभिहितत्वाच्च ॥

शिक्षाया अशुभभावसंवरहेतुत्वं विवृण्वन्नाह—

मूलारा—सज्झायं वाचनादिपंचविध स्वाध्यायं । पंचिदियसंबुद्धो पंचापि इन्द्रियाणि संवृतानि यथास्वमिष्टा-निष्टविषयेभ्यो व्यावर्तितानि येन । तिरुत्तो निगृहीताशुभमनोवाक्कायव्यापारः । एयगमणो एकाग्रमनाः ध्यानप्रवृत्तिमानपि स्यादिति भावः । विणएण समाहिदो अष्टविधज्ञानविनयेन संयुक्तः सन्स्वाध्यायं कुर्वन्निति संवचं ।

जिनवचनका अध्ययन करनेसे अशुभभावोंका संवर होता है इसका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—वाचना, प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे स्वाध्यायके पांच भेद हैं, जिसके पढनेसे और पढानेसे पापासत्र न होंगे ऐसे ग्रंथको और उसके अर्थको पढा देना वाचना स्वाध्याय है, प्रश्न—जो आगमका विषय मनमें निश्चित किया है उसमें विशेष दृढताके लिये अथवा संशय दूर करनेके लिये सूत्रार्थवियक प्रश्न आगमज्ञको पूछना, अनुप्रेक्षा—जो विषय जान लिया है उसका मनमें चिंतन करना, आम्नाय—पढा हुवा विषय बार बार धोकरना, धर्मोपदेश—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी, और निर्वेजनी ऐसी चार धर्मकथार्यें हैं, उनका भव्योंको उपदेश देना, यह पांच तरहका स्वाध्याय करनेसे पांचो इन्द्रियां संयम युक्त होती हैं, अर्थात् रूपादि विषयों प्रति ये दौहती नहीं, इन्द्रियसंयमसे नये रागद्वेष आत्मामें उत्पन्न नहीं होते हैं, इष्ट रूपादि वस्तुओंके तरफ जब इन्द्रियां प्रवृत्त

होती है तब रागविकार पैदा होता है, अनिष्टरूपादि विषयोंसे द्वेष उत्पन्न होता है, इष्टानिष्ट पदार्थ समीप होनेपर भी यदि उनके तरफ इन्द्रियोंका उपयोग न लगेगा तो वे पदार्थ केवल अपने अस्तित्वमात्रसे जीवमें रागद्वेष उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होते हैं, जिस समय आत्माका दूसरे तरफ मन चल जाता है अथवा वह सोता है उस समय इन्द्रिय विषय समीप होनेपर भी रागद्वेष उत्पन्न नहीं होते हैं,

शंका—निष्ठाप्रत्ययात शब्दके साथ जब समास होता है तब वह शब्द समासमें प्रथम प्रयुक्त होता है अतः 'संवृतपंचेन्द्रिय' ऐसा समस्त शब्द बनेगा, 'पंचेन्द्रियसंवृतः' यह समास शोण्य नहीं है,

उत्तर—'जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम्' इस सूत्रसे पंचेन्द्रिय शब्द जातिवाचक होनेसे समास करते समय आरंभमें पंचेन्द्रिय शब्दका प्रयोग किया है, अनंतर निष्ठाप्रत्ययांत संवृत शब्द जोड़ देनेसे 'पंचेन्द्रिय संवृत' ऐसा समस्त शब्द हुआ है, इन्द्रियशब्द जातिवाचक है, इन्द्रियके द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ऐसे दो भेद हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द ये इन्द्रियोंके विषय हैं, अपने अपने विषयोंके तरफ उपयोग लगना यह भावेन्द्रिय है, स्वाध्याय करनेसे इन्द्रियनिरोध होता है और इन्द्रियनिरोधसे रागादिक विकार उत्पन्न नहीं होते हैं,

चतुर्गतिमें भ्रमण करनेवाले इस जीवको देह प्राप्त होता है, देहकी प्राप्ति होनेसे इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं, वे अपने अपने विषयको ग्रहण करती हैं, अतः विषयग्रहणसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं,

जो मुनि ज्ञानविनयपूर्वक स्वाध्याय करता है वह त्रिगुप्तिधारक होता है अर्थात् उसका मन अग्रशस्त रागद्वेषादिकोंसे अलिप्त रहता है उसके मुखसे असत्य, रूक्ष, कठोर, कर्कश, स्वस्तुतिपर और परद्रूपणात्मक वाणी बाहर आती नहीं, हिंसादि कार्योंमें उसका देह प्रवृत्ति करता नहीं, इस रीतिसे त्रिगुप्ति धारक वह मुनि एक विषयके तरफ अपने मनको स्थिर करके ध्यानमें तत्पर हो जाता है, स्वाध्याय करनेसे श्रुतज्ञानमें परिचय होता है, जब श्रुतज्ञानके साथ यतीका परिचय होता है तब धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है, अपायविचय, उपायविचय, भवविचय, लोकविचय, विपाकविचय वगैरह धर्मध्यानके भेदोंका ज्ञान जिनवचनके सामर्थ्यसे होता है, आगममें 'शुक्लं चाद्ये पूर्वविदः' अर्थात् चौदह पूर्वोंका श्रुतज्ञान जिसको है ऐसे मुनिराजको धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है ऐसा कहा है,

प्रत्यग्रसंवेगप्रभवक्रममाचष्टे—

जह जह सुदमोगाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु ॥

तह तह पल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसङ्गाए ॥ १०५ ॥

अहृष्टपूर्वमुच्चार्यमभ्यस्यति जिनागमम् ॥

यथा यथा यतिर्धमे प्रहृष्यति तथा तथा ॥ १०६ ॥

विजयोदया—जह जह यथा यथा । सुदं ध्रुतं ओगाहदि अवगाहते । शब्दध्रुताभिधेयमधिगच्छतीति यावत् । अदिसयरसपसरं अतिशयरसप्रसरं समयातरेषु अनुपलब्धोऽर्थोऽतिशयितो रसः । शब्दस्य हि रसोऽर्थः तस्य सारत्वात् आम्राफलादिरस इव । प्रसरशब्देन प्राचुर्यमतिशयितार्थस्य सूचयति । ततोऽयमर्थोऽस्य—अतिशयाभिधेयबहुलं श्रुतमिति । ननु प्रवाविनोऽपरेऽपि स्वसमयमेव प्रशंसन्ति । प्रत्यक्षेणानुमानेन च विरुद्धमर्थस्वरूपं केवलं नित्यत्वमनित्यता वा निरूपयतामागमानां नातिशयार्थप्रसरता । प्रमाणातरस्वाद्यागमार्थोऽतिशयितो भवति नापर । असुदपुव्वं तु अश्रुतपूर्वमेव । ननु भव्यानामभव्याना च कर्णगोचरतामायात्येव श्रुतं किमुच्यतेऽश्रुतपूर्वमिति ? अर्थश्रुताभिधेयापरिज्ञानाच्छब्दमात्रं श्रुतमप्यश्रुतं इति गृह्यते । तदव्ययुक्तं अर्थोपयोगस्यापि असंभवं ज्ञातत्वात् । अयमभिप्रायः श्रद्धानसहचारिवोधाभावाच्छ्रुतमप्यश्रुतमिति । तह तह पल्हादिज्जद तथा तथा प्रहृष्टमुपैति । नवनवसंवेगसङ्गाए प्रत्यग्रतरधर्मश्रद्धया । ननु च संसारान्नीरता संवेगः ततोऽयमर्थः स्यादसंबन्धः । न दोषः । संसारभीरुताहेतुको धर्मपरिणामः । आशुधनिपातभीरुताहेतुककवचग्रहणवत् । तेन संवेगशब्दः कार्ये धर्मे वर्तते ॥

श्रुतावगाहनस्य नवनवसंवेगनिमित्तत्वं प्रतनोति—

मूलारा—उगाहदि अवगाहते शब्दसमयादर्थसमयमधिगच्छति ॥ १०३ ॥

नवीन संवेग भी स्वाध्यायेसे प्राप्त होता है इसका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—जिनेश्वर के शब्दात्मक श्रुतज्ञानमें अन्य मतोंमें अप्राप्य ऐसा अर्थ भरा हुआ है, जैसा आप्र फलमें रस भरा हुआ रहता है वैसा ही शब्दात्मक श्रुतज्ञानमें सर्वोत्कृष्ट अर्थ भरा हुआ है, यह अर्थरस अन्यमत के शब्दात्मक कुश्रुतमें भरे हुए अर्थकी अपेक्षासे अधिक उत्कृष्ट है,

शंका—जैसे आप अपने मतकी प्रशंसा करते हो वैसे अन्यमती भी आपने ही मतकी प्रशंसा करते हैं, अतः आपके मतकी विशेषता कैसी सिद्ध होगी ?

उत्तर-अन्यमतमें कहा हुआ जीवादिक पदार्थोंका स्वरूप प्रत्यक्ष और अनुमानसे बाधित है, जीवादि पदार्थ सर्वथा नित्य ही है अथवा अनित्य ही है ऐसा उनके आगममें कहा हुआ है, पदार्थ सर्वथा नित्य वा अनित्य सिद्ध नहीं होते हैं, उनका नित्यानित्यपना सिद्ध होता है, जो वस्तुस्वरूप एक प्रमाणसे सिद्ध होता है वही अन्य प्रमाणसे भी सिद्ध हो तो वह वस्तु सातिशय मानी जाती है, और यदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध हुआ वस्तु स्वरूप अनुमानादिकसे बाधित होता है तो वह वस्तु सातिशय नहीं है, अस्तु, यह जिनप्रतिपादित शब्दश्रुतज्ञान पूर्व कालमें इस जीवने कभी सुना नहीं है.

शंका—भव्य अथवा अभव्य जीवोंके कर्णपथ पर यह शब्द श्रुत आयाही होगा अतः आप इसको अश्रुतपूर्व नहीं कह सकते हैं, इस शंकाका कोई ऐसा समाधान करते हैं.

“जो शब्द सुने उनके अर्थके तरफ ध्यान नहीं दिया अथवा उनका अर्थ ज्ञात नहीं हुआ तो वह अश्रुतपूर्व ही है” यह समाधान भी योग्य नहीं है, शब्दात्मक श्रुत सुनकर उसके अर्थको भी अनेकवार जान लेते हैं तथापि वह अश्रुतपूर्व ही समझना चाहिये, उपर्युक्त शंकाका परिहार इस प्रकार समझना चाहिये—शब्दात्म श्रुत सुनकर उसके अर्थ को भी समझ लिया परंतु उसके ऊपर यदि श्रद्धा नहीं है तो वह सब सुनकर और जान लेने पर भी अश्रुतपूर्व ही समझना चाहिये, इस शब्दश्रुतके अध्ययनसे अपूर्व अर्थोंका ज्ञान होता है, और उत्तरोत्तर संवेग-धर्मश्रद्धा बढ़नेसे मनमें बड़ा आनंद उत्पन्न होता है, संवेग शब्दका अर्थ संसारभीरुता ऐसा होता है परंतु उपर्युक्त अर्थ असंबद्ध दिखता है ऐसी शंका भी ठीक नहीं है, जैसे भरे अंगपर शस्त्रप्रहार होगा इस भयसे चीरपुरुष कवच धारण करता है अर्थात् शस्त्रप्रहारभय यह कवच धारण करनेका हेतु है वैसे संसारभीरुता यह कारण है और उससे उत्पन्न हुई धर्मश्रद्धा कार्य है, यहां आचार्यने संवेग शब्द कार्यरूप धर्मश्रद्धामें रूढ किया है ऐसा समझना चाहिये.

निष्कपताख्यानायाह—

आयापायविदण्हू दंसणणाणतवसंजमे ठिच्चा ॥

विहरदि विसुङ्गमाणो जावज्जीवं दु णिक्कंपो ॥ १०६ ॥

शुद्धया निःकंपनो भूत्वा हेयादेयविचक्षणः ॥  
रत्नत्रयात्मके मार्गे यावज्जीवं प्रवर्तते ॥ १०७ ॥

विजयोदया—आयापायविषणू वृद्धिहानिक्रमश्च । प्रवचनाभ्यासादेवं रत्नत्रयाभिवृद्धिं एवं तथा हानिरिति शुद्धिसुपयान् । जावज्जीव जीवितकालावधि । तु शब्दोऽन्तं नेय । गिष्कपो दु विनिष्कपो निश्चल एवेति यावत् । निःशंकितत्वादिना दर्शनस्य वृद्धिः, शकादिना हानिः । अर्थव्यंजनतदुभयशुद्धया स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानवृद्धिः । अनुपयोगादपूर्वार्थाग्रहणाच्च ज्ञानहानिः । तथा चोक्तम्—“पुण्यगृहं पि गाणं सकुड्भ विजृज्जोगिस्स” इति । तपसो द्वादशविधस्य वृद्धि संयमभावनया वीर्योविनिगूहनात् ज्ञानोपयोगात् । हानिः पुनस्तद्विपर्ययाद्विहकार्योसंगाद्वा । सम्यक् पापक्रियाभ्य उपरमः संयमः । पापक्रियाश्चाशुममनोवाकाययोगाः तेन चारित्र्यं संयमः । ‘पापक्रियानिपुत्तिश्चारित्रं इति वचनात् । तस्य संयमस्य वृद्धिः पंचविंशतिभावनाभिर्द्धानि । तासां भावनाना अभावेन । श्रुताग्रिना ज्ञानादीनां गुणदोषं वा न वेत्ति । अस्मात्तदगुणः कथं गुणानुपबृंहयेत् । अविवर्तितदोषो चा न तास्त्यजेत् । तेन शिक्षायामावरः कार्यः ।

श्रुताभ्यासादर्शनादिषु निष्कपता प्रकाशयति—

मूलारा—आयापायविषणू वृद्धिहानिक्रमश्च । विहरदि प्रवर्तते प्रकृतत्वादर्शनादावेव । विषुज्जमाणो विशुद्धिं गच्छन् । तु गिष्कपो । बुरेवार्थे भिन्नक्रमः । निश्चल एवेत्यर्थः । तथाहि—निःशंकितत्वादिना दर्शनस्य वृद्धिः शकादिना हानिः । अर्थव्यंजनतदुभयशुद्धया स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानस्य वृद्धिरनुपयोगादपूर्वार्थाग्रहणाच्च हानिः । तपसो वृद्धिः संयमभावनया वीर्योविनिगूहनोपयोगाच्च । हानिः पुनस्तद्विपर्ययाद्विहकार्योसंगाच्च । संयमस्य वृद्धिर्वाङ्मनोऽनुमीर्योदानेत्वादिनवसूच्या निर्दिष्टाभिः प्रतिनियतेतरभावनाभिस्तदभावे च हानिः ।

स्वाध्यायसे निष्कपता गुणकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन—

अर्थ—स्वाध्याय करनेसे मुनिराजको हानि और वृद्धिका ज्ञान होता है, अर्थात् आगमका अभ्यास करनेसे रत्नत्रयमें वृद्धि कैसी होती है और उसके अभावमें कैसी हानि होती है ऐसा जाननेवाले मुनीश्वर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चारित्र और तपमें स्थिर होकर आभरण विशुद्ध परिणामको धारण करनेवाले होकर निश्चलरूपसे रत्नत्रयमें विहार करते हैं, सम्यग्दर्शनके निःशंकितत्वादि गुण आगमाभ्यास करनेसे बढ़ते हैं, आगमाभ्यासके अभावमें शंकादिक दोष उत्पन्न होनेसे सम्यग्दर्शनकी हानि होती है, अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि, उभयशुद्धि, चौराह ज्ञान विनयके आठ प्रकार हैं, इनका आश्रय लेकर श्रुतज्ञानमें मन यदि एकाग्र होगा तो सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि होगी अन्यथा

श्रुतज्ञानमें एकाग्रता न होनेसे और अपूर्व जीवादिपदार्थका स्वरूप न जाननेसे सम्यग्ज्ञानकी हानि होती है। 'पुञ्जगदिदं पि णाणं संकुडइ विजुत्तजोगिस्स' 'सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति पूर्वकालमें हो चुकी हो तो भी अभ्यास छोड़ देनेसे तथा अपूर्व पदार्थोंका ज्ञान कमानेका प्रयत्न न करनेसे वह पूर्व ज्ञान संकुचित होता है" ऐसा आगमवचन है। संयमकी भावनासे तपकी वृद्धि होती है। अपनी शक्ति न छिपाना, ज्ञानाभ्यासमें तत्पर रहना, ऐहिक कार्योंमें अनासक्त रहना यह भी तपोवृद्धिके लिये कारण है। और इसके विरुद्ध प्रवृत्ति करनेसे तपमें हानि होती है। पापक्रियाओंसे विरक्त होना यह संयम है। मन, वचन और शरीर इन तीन योगोंकी अशुभ प्रवृत्तिका त्याग करना चारित्र्य है। पाप क्रियानिवृत्तिश्चारित्र्य' ऐसा आगमका वचन है। प्रत्येक अहिंसादिव्रतोंकी पांच पांच भावनायें हैं। ऐसी पच्चीस भावनाओंके अभ्याससे चारित्र्यकी उन्नति होती है। भावनाओंका अभ्यास न करनेसे चारित्र्य हानिके मार्गका आश्रय करता है। श्रुतका अभ्यास न करनेसे ज्ञानादिकोंके गुण दोषोंका परिज्ञान होता नहीं। गुणोंका ज्ञान न होनेसे मुनि उनको उन्नति शिखर पर नहीं ले जा सकते। दोषोंका ज्ञान न होगा तो उनका वे कैसा त्याग कर सकेंगे। अत एव ज्ञानाभ्यासमें आदर करना चाहिये।

जिनवचनशिक्षा तप इत्येतदुच्यते—

वारसविहम्मि य तवे सब्भंतरवाहिरे कुसलदिट्ठे ॥

ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं ॥ १०७ ॥

तपस्यभ्यन्तरे बाह्ये स्थिते द्वादशधा तपः ॥

स्वाध्यायेन समं नास्ति न भूतं न भविष्यति ॥ १०८ ॥

विजयोदया—वारसविहम्मि य द्वादशप्रकारे । तवे तपसि । सब्भंतरवाहिरे सहाभ्यंतरयाह्याभ्या वतंते इति साभ्यंतरयाद्यं । बाह्यमभ्यन्तर वा तपो मुक्त्वा किमन्यत्तपो नाम यत्ताभ्या सह वर्तते इत्युच्यते ? तप सामान्य विशेषे सह वर्तते इत्युच्यते । अजाधदत्तत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च अभ्यन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातोऽल्पस्वरूपद्वि वाह्याशब्दात् । कुसलदिट्ठे ससार., संसार-कारणं, वधो, वेधकारण, मोक्षस्तदुपाय इत्यत्र वस्तुनि ये कुशला सर्वविद्वत्सैरुपदिष्टे । सज्झायसम स्वाध्यायेन सदृश । तवोकम्मं तप क्रिया । ण वि अत्थि नैवास्ति । ण वि य नैव । होहिदि भविष्यति । नाप्यासीदिति कालत्रयेऽपि स्वाध्याय-सदृशस्यान्यस्य तपसोऽभाव कथ्यते । अत्र चोद्यते—स्वाध्यायोऽपि तपो अनशनाद्यपि तपो बुद्धरेविशेषात् कर्मतपनसा-



शुद्ध्या निःकंपनो भूत्वा हेयादेयविचक्षणः ॥  
रत्नत्रयात्मके मार्गे यावज्जीवं प्रवर्तते ॥ १०७ ॥

विजयोदया—आयापयविषणू वृद्धिहानिक्रमश्च । प्रवचनाभ्यासादेव रत्नत्रयाभिबुद्धिः एवं तथा हानिरिति यो जनति असौ, दसण्णणतवसंजमे श्रद्धाने, ज्ञाने, तपसि, संयमे वा । टिच्चा स्थित्वा । विहरदि प्रवर्तते । विसुज्झमाणो शुद्धिसुपयान् । जावज्जीव जीवितकालावधि । तु शब्दोऽन्ते नेय । णिक्कपो तु विनिष्पक्कपो निश्चल एवेति यावत् । नि शं-कितत्वादिना दर्शनस्य वृद्धिः, शंकादिना हानिः । अर्थव्यजनतदुभयशुद्ध्या स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानवृद्धिः । अनुप-योगादपूर्वार्थाग्रहणाच्च ज्ञानहानिः । तथा चोक्तम्—“पुण्यगद्धिं पि णाणं संकुडइ विजुत्तजोगिस्स” इति । तपसो द्वादश-विधस्य वृद्धिः संयमभावनया वीर्याविनिगूहनात् ज्ञानोपयोगात् । हानिः पुनस्तद्विपर्ययाद्वैदिककार्यसंगाद्वा । सम्यक् पाप-क्रियाभ्य उपरम संयमः । पापक्रियाश्चाशुभमनोवाक्काययोगाः तेन चारित्र्यं संयमः । ‘पापक्रियानियुक्तिश्चारित्र्यं इति वचनात् । तस्य संयमस्य वृद्धिः पंचविंशतिभावनाभिर्हानिः तासां भावनानां अभोवेन । श्रुतादिना ज्ञानादीना गुणदोषं वा न वेत्ति । अज्ञातगुण’ कथं गुणानुपवृद्धयेत् । अवितदोषो वा न तास्त्यजेत् । तेन शिक्षायामादरः कार्यः ।

श्रुताभ्यासादर्शनादिषु निष्कपता प्रकाशयति—

मूलारा—आयापयविषणू वृद्धिहानिक्रमश्च । विहरदि प्रवर्तते प्रकृतत्वादर्शनादावेव । विसुज्झमाणो विशुद्धि गच्छन् । तु णिक्कपो । दुरेचार्ये भिन्नक्रमः । निश्चल एवेत्यर्थः । तथाहि—निःशंकितत्वादिना दर्शनस्य वृद्धिः शंकादिना हानिः । अर्थव्यजनतदुभयशुद्ध्या स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानस्य वृद्धिरनुपयोगादपूर्वार्थाग्रहणाच्च हानिः । तपसो वृद्धिः संयमभावनया वीर्याविनिगूहनोपयोगाच्च । हानिः पुनस्तद्विपर्ययाद्वैदिककार्यसंगाच्च । संयमस्य वृद्धिर्वाङ्मनोगुतीर्या-वनेत्यादिनवसूत्र्या निर्दिष्टाभिः प्रतिनियतेतरभावनाभिस्तदभावे च हानिः ।

स्वाध्यायसे निष्कपता गुणकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन—

अर्थ—स्वाध्याय करनेसे सुनिराजको हानि और वृद्धिका ज्ञान होता है, अर्थात् आगमका अभ्यास करनेसे रत्नत्रयमें वृद्धि कैसी होती है और उसके अभावमें कैसी हानि होती है ऐसा जानेवाले सुनीश्वर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चात्रि और तपमें स्थिर होकर आभरण विशुद्ध परिणामको धारण करनेवाले होकर निश्चलरूपसे रत्न-त्रयमें विहार करते हैं, सम्यग्दर्शनके निःशंकितत्वादि गुण आगमाभ्यास करनेसे बढ़ते हैं, आगमाभ्यासके अभावमें शंकादिक दोष उत्पन्न होनेसे सम्यग्दर्शनकी हानि होती है, अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि, उभयशुद्धि, वैरीरह ज्ञान विनयके आठ प्रकार हैं, इनका आश्रय लेकर श्रुतज्ञानमें मन यदि एकाग्र होगा तो सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि होगी अन्यथा

श्रुतज्ञानमें एकाग्रता न होनेसे और अपूर्व जीवादिपदार्थका स्वरूप न जाननेसे सम्यग्ज्ञानकी हानि होती है, 'पुण्यगहिंदं पि गाणं संकुडहं विभुत्तजोगिस्स' 'सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति पूर्वकालमें हो चुकी हो तो भी अभ्यास छोड़ देनेसे तथा अपूर्व पदार्थोंका ज्ञान कमानेका प्रयत्न न करनेसे वह पूर्व ज्ञान संकुचित होता है" ऐसा आगमवचन है, संयमकी भावनासे तपकी वृद्धि होती है, अपनी शक्ति न छिपाना, ज्ञानाभ्यासमें तत्पर रहना, ऐहिक कार्योंमें औना-सक्त रहना यह भी तपोवृद्धिके लिये कारण है, और इसके विरुद्ध प्रवृत्ति करनेसे तपमें हानि होती है, पापक्रियाओंसे विरक्त होना यह संयम है, मन, वचन और शरीर इन तीन योगोंकी अशुभ प्रवृत्तिका त्याग करना चारित्र्य है 'पाप क्रियानिवृत्तिश्चारित्रं' ऐसा आगमका वचन है, प्रत्येक अहिंसादिव्रतोंकी पांच पांच भावनायें हैं, ऐसी पञ्चीस भावनाओंके अभ्याससे चारित्र्यकी उन्नति होती है, भावनाओंका अभ्यास न करनेसे चारित्र्य हानिके मार्गका आश्रय करता है, श्रुतका अभ्यास न करनेसे ज्ञानादिकोंके गुण दोषोंका परिज्ञान होता नहीं, गुणोंका ज्ञान न होनेसे मुनि उनको उन्नति शिखर पर नहीं ले जा सकते, दोषोंका ज्ञान न होगा तो उनका वे कैसा त्याग कर सकेंगे, अत एव ज्ञानाभ्यासमें आदर करना चाहिये.

जिनवचनशिक्षा तप, इत्येतदुच्यते—

बारसविहस्मि य तवे सभंस्तरबाहिरे कुसलदिष्टे ॥

ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं ॥ १०७ ॥

तपस्यभ्यन्तरे बाह्ये स्थिते द्वादशधा तपः ॥

स्वाध्यायेन समं नास्ति न भूतं न भविष्यति ॥ १०८ ॥

विजयोदया—बारसविहस्मि य द्वादशप्रकारे । तवे तपसि । सभंस्तरबाहिरे सद्वाभ्यन्तरस्वाह्याभ्या वतंते इति साम्भ्यंतरायां । ण वि अत्थि तपो मुक्त्वा किमन्यत्तपो नाम यत्ताभ्या सह वर्तते इत्युच्यते ? तप सामान्यं विशेषैः सह वर्तते इत्युच्यते । अजाद्यतत्वात् अभ्यहित्वान्च अभ्यन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातोऽल्पस्वरूपादपि बाह्यशब्दात् । कुसलदिष्टे ससार; संसार-कारणं, बंधो, बंधकारण, मोक्षस्तदुपाय इत्यत्र वस्तुनि ये कुशला सर्वविदूतैरुपदिष्टे । सज्झायसमं स्वाध्यायेन सदृशं तथोक्तं तप क्रिया । ण वि अत्थि नैवास्ति । ण वि य नैव । होहिदि भविष्यति । नाप्यासीदिति कालत्रयेऽपि स्वाध्याय-सदृशस्याभ्यस्य तपसोऽभाय कथ्यते । अत्र चोद्यते—स्वाध्यायोऽपि तपो अनशनाद्यपि तपो बुद्धेरविशेषात् कर्मतपनसा-

मध्यस्थाविशेषात् । किमुच्यते स्वाध्यायसदृशं तपो नेति ? कर्मनिर्जराहेतुत्वातिशयोपेक्षया सदृशमन्यत्तपो नैवास्तीत्यभिप्रायः । तपो नाम किमात्मपरिणामो भवेत् या न आत्मपरिणामत्वे कथं कस्यचिद्वाहता? अनात्मपरिणामत्वे न निर्जरां कुर्यात् घटादिवदित्यत्रोच्यते -आत्मपरिणाम एव तपः कथं तद्धि वाहता ? वाह्या सदर्ममार्गोद्ये जना. तैरप्यवगम्यत्वात् वाह्यमित्युच्यतेऽनशनानि । वाह्यैर्वाचरणात् । सन्मार्गज्ञा अभ्यंतराः । तदवगम्यत्वात् घटादिवत्तैराचरितत्वाद्वा वाह्याभ्यंतरमिति स्वरभिप्रायः ॥

तीर्थोपात्तश्रुतस्यैव स्वाध्यायाख्यं तपः स्यादतस्तन्माहात्म्यमभिष्टौति—

मूलारा—सम्भंतरवाहिरे अभ्यंतराः सन्मार्गज्ञास्तदधिगम्यत्वात्तैराचरितत्वाद्वा प्राधान्येनान्तर्द्रव्याश्रितत्वाद्वा तपोऽभ्यन्तरमुच्यते । वाह्याः सन्मार्गविहिर्भूताः तदवगम्यत्वात्तैराचरितत्वाद्वा प्राधान्येन वाह्यद्रव्याश्रितत्वाद्वा वाह्यं तपः । अभ्यंतरं च वाह्यं च अभ्यंतरवाह्ये सह ताभ्या वर्तमानं तपः सामान्यापेक्षया तथोक्तम् । कुसलदिष्टे सर्वज्ञोपदिष्टे । न वि य । अत्र च शब्दान्नाप्यासीत् इति ग्राह्यम् । सज्ज्ञायसमं कर्मनिर्जराहेतुत्वातिशयापेक्षया कालत्रयेऽपि स्वाध्यायेन तुल्यं नान्यत्तपोऽस्तीत्यभिप्रायः ॥ ध्यानस्य तस्मादुच्छृष्टत्वेऽपि तत्पूर्वकत्वादप्राधान्यमत्र विवक्षितं ॥

जिनवचनका शिक्षण लेना यह तप है ऐसा आचार्य कहते हैं.

अर्थ—संसार और उनके कारण, बंध और उसके कारण, मोक्ष और उसके उपाय इनको जाननेवाले गण-धरादिक आचार्य द्वारा प्रकारके वाह्य और अभ्यंतर तपश्चरणोंमें स्वाध्याय नामका तप ही ऐसा है कि जिसके बराबरी करनेवाला दूसरा तप पूर्व कालमें हुआ नहीं और आगे न होगा व संग्रति-वर्तमानकालमें नहीं है ऐसा निरूपण करते हैं. अर्थात् तीनो कालमें भी स्वाध्यायके समान दूसरा तप जगतमें है ही नहीं.

गार्थामे 'सम्भंतरवाहिरिम्मि' ऐसा समस्त शब्द है. इसका अर्थ अभ्यंतर व वाह्य तपसे युक्त तप ऐसा होता है. यहां अभ्यंतर तप और वाह्य तप इन दोनोंको छोड़कर तिसरा तप है ही, नहीं तो अभ्यंतर और, वाह्य तपसे युक्त तप ऐसा अर्थ करना अनुचित है ? इस शंकाका उत्तर—तपरूप सामान्य वाह्य और अभ्यंतर तप ऐसे विशेषोंसे युक्त होनेसे 'सम्भंतरवाहिरिम्मि' यह तपका विशेषण योग्य है.

शंका—स्वाध्याय भी तप है और अनशनादिक भी तप ही है दोनोंमें भी कर्मको संतप्त करनेका सामर्थ्य है अतः स्वाध्यायके समान अन्य तप नहीं है यह कहना क्या उचित है ? उत्तर—स्वाध्याय तप ! करनेसे

जितनी कर्म निर्जरा होती है उतनी अन्य तप करनेसे होती नहीं है अतः अन्य तप इसके समान नहीं है ऐसा कहना क्या अयोग्य है ?

शंका—तप यह आत्माका परिणाम है या नहीं ? यदि तप आत्मपरिणाम रूप है तो कुछ तप अम्यंतर है और कुछ तप बाह्य है ऐसे भेद मानना अयोग्य है. यदि उनको आत्मपरिणामात्मकता नहीं है तो वे घटादिकके समान बाह्यही मानने चाहिये फिर अन्तरंग तप रहाही नहीं ?

उत्तर—तप यह आत्माका परिणाम है तो तपको बाह्यपना किस रीतसे समझे ? सद्धर्म मार्गसे जो जन अलग हुए हैं अर्थात् जैनधर्म धारण न करनेवाले ऐसे मिथ्यात्वी लोकको ' बाह्य ' कहते हैं. वे भी जो तपश्चरण करते हैं वह बाह्य तप है. अर्थात् अनशन अवमोदर्य वगैरह तपको बाह्य तप कहते हैं. अथवा बाह्य-गृहस्थ उनके द्वारा जिनका आचरण किया जाता है ऐसे अनशनादि तपको बाह्य कहते हैं. सन्मार्ग भुक्तिमार्ग-रत्नत्रय इसको जाननेवाले मुनि जिसका आचरण करते हैं ऐसे तप ' अम्यंतर तप ' इस शब्दसे कहे जाते हैं. ऐसा आचार्यका अभिप्राय है.

प्रतिश्रामात्रेण स्वाध्यायस्यान्यतयोभ्योऽतिशयितता न सिद्ध्यतीति मन्यमानं प्रति अतिशयसाधनायाह—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ॥

तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ १०८ ॥

छट्ठमदसमदुबालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही ॥

तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥ १०९ ॥

बहीभिर्भवकोटीभिर्यदज्ञानेन हन्यते ।

हंति शानी त्रिभिर्युस्तत्कर्मोन्तमुद्धततः ॥ १०९ ॥

षष्ठाष्टमाविभिः शुद्धिरज्ञानस्यास्ति योगिनः ॥

शानिनो बलमानस्य प्रोक्ता बहुगुणा ततः ॥ ११० ॥

विजयोदया—जं यत् । अण्णाणी सम्यग्ज्ञानरहितः । कम्मं कर्म । खवेदि क्षपयति । भवसदसहस्सकोडीहिं भव-  
शतसहस्रकोटिभिः । त तत् कर्म । णणी सम्यग्ज्ञानवान् । तिहिं गुत्तो त्रिगुत्तियुक्त । खवेदि क्षपयति । अंतोमुहुत्तेण  
अन्तर्मुहूर्तमात्रेण । इति कर्मशतनसामर्थ्यं तपसोऽन्यस्य न विद्यते इत्ययमतिशयः । स्वाध्यायस्य ॥

अर्थवादमात्रमेतद्बिषयतीति परो मा मंस्तेति ह्यदिति कर्मशतनशक्तिक्षणतदेतिशयसमर्थनार्थमिदमाह—  
मूलरा—अण्णाणी सम्यग्ज्ञानरहित ।

अनशनमात्रतपोबद्धाग्रहस्य प्रबोचनाय ततोऽतिशयिता शक्तिं स्वाध्यायस्य प्रख्यापयन्नाह—

मूलरा—छट्टेत्यादि—पटं द्वावुपवासौ, अष्टमं त्रयो, दशमं चत्वारो, द्वादशं पंच, उपलक्षणतपक्षोपवासाद्योऽपि ।  
बहुगुणदरिया बहुगुणतरा । होल्ल भवेत् । जिमिदस्स भोजनं कुर्वतः । णणिस्स स्वाध्यायपरिणतस्य । इमा गाया टीकाकारो  
न मन्यते । पूर्वगाथोक्तविरिक्त्यर्थस्य अनयानभिधानात् ॥

केवल प्रतिज्ञासे स्वाध्यायकी अन्य तपसे विशिष्टता सिद्ध नहीं होती है ऐसे समझनेवालोंके लिये आचार्य  
स्वाध्याय तपकी महत्ता दिखाते हैं—

अर्थ—सम्यग्ज्ञानसे रहित जीव लक्षावधि कोटि भवोंमें जितने कर्मोंका क्षय करने में समर्थ होता है  
ज्ञानी जीव तीन गुप्तिओंसे युक्त होकर अन्तर्मुहूर्त मात्र कालमें शीघ्र उतने कर्मोंका क्षय करता है । अभिप्राय यह है  
कि, स्वाध्याय तपको छोड़कर अन्य तपमें शीघ्र कर्मका नाश करनेका सामर्थ्य नहीं है । यह स्वाध्याय, तपका  
अतिशय है । दो, तीन, चार, पांच उपवाससे पक्षोपवास, मासोपवास वगैरह उपवास करनेवाले सम्मज्ञानरहित  
मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा भोजन करनेवाला, स्वाध्याय तपमें तत्पर ऐसा सम्यग्दृष्टि परिणामोंकी जादा विशुद्धि  
कर लेता है । तात्पर्य यह है कि, सम्यग्दृष्टि जीवको सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानका भी साहाय्य मिलनेसे वह  
यद्यपि थोड़ासा तपश्चरण करता है तो भी विषयवासनासे रहित होनेसे अपने आत्माको उत्तरोत्तर अधिकाधिक  
निर्मल परिणामोंसे विशुद्ध करता है । उसका कर्म उत्तरोत्तर असंख्येय गुणित पद्धतीसे निर्जीर्ण होता है । और  
उसको बंध कम २ होता जाता है । परंतु मिथ्यादृष्टिजीव विषयवासनाके बश होकर तप करता है । श्रद्धा व सम्य-  
ग्ज्ञानके आधारपर उसका तप अधिष्ठित नहीं है अतः उसका आत्मा सम्यग्दृष्टिके समान विशुद्ध नहीं होता है ।

स्वाध्याये उद्यतो गुप्तिभावनायां प्रवृत्तो भवति तत्र च वृषस्य रत्नत्रयाराधनं सुखेन भवति इत्युत्तरगाथया

सज्ज्ञायभावणाए य भाविदा ह्येति सव्वगुत्तीओ ॥

गुत्तीहिं भाविदाहिं मरणे आराधओ होदि ॥ ११० ॥

स्वाध्यायेन यतः सर्वा भाविताः सन्ति गुप्तय ॥

भवत्याराधना मूलौ गुप्तीनां भावने सति ॥ १११ ॥

विजयोदया—मनोवाकाव्यव्यापारा. कर्मदानहेतव. सर्व एव व्यावर्तते स्वाध्याये सति, ततो भाविता भवन्ति गुप्तय । कृताभिमततादियोगत्रयनिरोधश्च रत्नत्रय एव घटते इति सुखसाध्यता । अनन्तकालाभ्यस्ताशुभयोगत्रयस्य कर्मोदयसहायव्यावर्तनमतिदुष्करं स्वाध्यायभावनेव क्षमा कर्तुमिति भाव । सज्ज्ञायभावणाए य स्वाध्यायभावनया वा । भाविदा भाविताः । ह्येति मयन्ति । सव्वगुत्तीओ सर्वगुप्तय । गुत्तीहिं गुप्तिभि । भाविदाहिं भाविताभि । मरणे मरणकाले । आराधगे रत्नत्रयपरिणामाराधनपरः । होदि भवति ॥

स्वाध्यायभावना विना अनादिकालाभ्यस्तमशुभयोगत्रयं कर्मोदयसहायमन्येन केनापि व्यावर्तयितु न शक्यते इत्युपदेष्टुमाचष्टे—

मूलारा—आराधको रत्नत्रयाराधनापरः ।

स्वाध्यायमे तत्परं मुनि गुप्ति भावनार्थं प्रवृत्तिं करता है. जब गुप्तिमें वह तत्पर होता है तब उसको रत्न-त्रयकी आराधना सुखसे होती है. यही अभिप्राय आगे की गाथा कहती है—

अर्थ—स्वाध्याय करनेसे कर्मको ग्रहण करने वाली मन वचन और शरीरकी सर्व प्रवृत्तियां बंद होजाती हैं. इनके बंद होनेसे गुप्तियोंका अभ्यास मुनि कर सकते हैं. शरीरादिकके द्वारा स्वयं कार्य करना, दूसरोंके द्वारा कराना और स्वयं कार्य करने वालोंको सम्मतिप्रदान करना इन तीन योगोंका निरोध रत्नत्रयकी प्राप्तिसे होजाता है यह रत्नत्रय स्वाध्यायसे मुनि स्वतःमें प्रगट करते हैं. मन वचन शरीरकी प्रवृत्तियां अर्थात् तीन प्रकारके अशुभ योग और उनको मिलनेवाला कर्मका सहाय्य ये सब स्वाध्यायके बलसे नष्ट होते हैं. अभिप्राय यह है कि, स्वाध्याय से सर्व गुप्तियां मिल जाती हैं. गुप्तियां प्राप्त होनेसे मरणकालमें आत्मा रत्नत्रयका आराधक होता है.

स्वाध्यायभावनास्तः परस्योपदेशको भवन् इतरोऽन्यः कमुपकारं परस्य संपादयेदित्यस्य परस्योपदेशकत्वे किमस्यायातमित्यत्राह—

मूलाराधना

२५८

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छद्दीवणा भक्ती ।

होदि परदेसगत्ते अब्बोच्छिन्ती य तित्थस्स ॥ १११ ॥

जिनाज्ञा स्वपरोत्तरा भक्तिर्वत्सल्यवर्द्धनी ॥

तीर्थप्रवर्तिका साधोज्ञानतः परदेशना ॥ ११२ ॥

इति शिक्षासूत्रम् ॥

त्रिजयोद्ग्राह—आदपरसमुद्धारो आत्मन परस्य वा उद्धरणमुद्दिश्य व्यापृतं स्वाध्याये स्वकर्मण्यपि साधयति । परेपामप्युपयुक्तानां । आणा “श्रेयोर्थिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः” इत्याशा सर्वविदा, सा परिपालिता भवतीति शेषः । वच्छद्दीवणां वात्सल्यप्रभावना परेपामुपदेशकत्वे कृता भवति । भक्ती भक्तिश्च कृता भवति जिनवचने तदभ्यासात् । होदि भवति । परदेसगत्ते परेपामुपदेष्टृकत्वे सति । अब्बोच्छिन्ती य अब्बुच्छित्तिश्च । तित्थस्स तिस्रु चिहुदित्ति तित्थ मोक्षमार्गः श्रुत वा । श्रुतमपि रत्नत्रयनिरूपणे व्यापृतत्वात् तत्रस्य भवति । ततोऽयं अर्थः—श्रुतस्य मोक्षमार्गस्य वा अब्बुच्छित्तिरिति ॥ सिक्खा गदा ॥

एवं स्वाध्यायभावनाप्रवृत्त्या त्रिगुप्तिभावनया मरणकाले सुखप्राप्त्यभ्याराधनां प्रदर्शयदानीं परोपकारोऽपि स्वोपकारकरं वितः स्वाध्यायपरस्य परोपदेशकत्वे सति भवतीत्युपदिशति—

मूलारा—आदपरसमुत्तारो आत्मनः । परस्य च संसारदुःखादुद्धरणमेतस्य स्वाध्याये प्रवृत्तः स्वस्यैव परेपामप्युपयुक्तानां कर्मणि शातयतीति तात्पर्यं । अण्णं श्रेयोर्थिना जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव हितोपदेश इति सर्वविदामाज्ञा सा परिपालिता भवतीति शेषः । भक्ती रत्नत्रयवचनविषयति शेषः । परदेसगत्ते परेपामुपदेशकत्वे सति । तित्थस्स श्रुतस्य मोक्षमार्गस्य वा ॥ शिक्षा । सूत्रतः ३ । अकतः १३ ॥

स्वाध्याय भावनार्थे आसक्तं मुनि इतरांको कोनसा उपदेश देता है तथा दूसरांको उपदेश देनेसे इसको क्या लाभ होता है ? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—स्वाध्याय करनेवाले मुनि परोपदेश देकर आगे लिखे हुए गुणगुणोंको प्राप्त कर लेते हैं. परोपदेशक मुनि सामायिकादिक आवश्यक कर्मके द्वारा खुदकी संसारसे मुक्ति कर लेता है और आवश्यकममे तत्पर इतर

श्रुतिओंको उपदेशदानसे संसारसे छुड़ाता है, अतः आत्मपरसमुद्धार यह गुण परोपदेशकपनसे श्रुतिको मिलता है, आज्ञागुण—“जिनमतपर प्रीति रखनेवाले मोक्षेच्छु श्रुतिओंके निधमसे हितोपदेश करना चाहिये” ऐसी श्रीजिनेश्वरकी आज्ञा है उसका पालन धर्मोपदेश देनेसे होता है,

वात्सल्य प्रभावना—परोपदेशसे वात्सल्य और प्रभावना इन गुणोंका लाभ होता है, अर्थात् साधर्मिक बांधवोंपर प्रेम व्यक्त होता है तथा उनका अज्ञानांधकार दूर करनेसे प्रभावना गुण भी प्राप्त होता है,

भक्ति—जिनवचनका अभ्यास करके परोपदेश करनेवाले श्रुतिका जिनवचनमें अनुराग प्रगट होता है, अव्युच्छिन्ति—‘तिसु चिह्नदिति तिर्य’ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंमें रहने वाला जो मोक्षमार्ग उसको त्रिस्थ किंवा तीर्थ कहते हैं, अथवा जिनागम भी तीर्थ है क्योंकि वह भी रत्नत्रयका वर्णन करनेमें तत्पर रहता है, उस को त्रिस्थ अथवा तीर्थ कहते हैं, धर्मोपदेशदानसे श्रुत और मोक्षमार्गकी परंपरा टिक सकती है, शिक्षाका प्रकरण समाप्त हुआ,

लिंगग्रहणानंतर ज्ञानसंपत्ति' कार्यो, ज्ञानसंपत्ति वर्तमानेन विनयोऽनुष्ठानव्य । स च पंचप्रकार इत्याह—

विणओ पुण पंचविहो णिहिट्ठो णाणंदसणचरित्ते ॥

तवविणवो य चउत्थो चरिमो चरिमो उवयारिओ विणओ ॥ ११२ ॥

विनयो दर्शने ज्ञाने चारित्रे तपसि स्थितः ॥

उपचारे च कर्तव्यः पंचधापि मनीषिभिः ॥ ११३ ॥

विजयोदया—विनयत्यपनयति यत्कर्माशुभं तद्विनय । तथा वक्त—“जह्मा विणेदि कम्मं अट्टविहं चाउत्ता मोक्खो य ” इति । पुण पट्ठात् जिनवचनाभ्यासोत्तरकाल । पंचविहो पंचप्रकारः । णिदिट्ठो निर्दिष्ट । णाणंदसणचरित्ते विनयलक्षणैः सप्तमी । ज्ञानदर्शनचारित्रविषय ॥ तवविणवो य तपसि विनयश्च ॥ चउत्थो चतुर्थः । चरमो अन्त्यः ॥ उवयारिओ विणयो उपचारविनयश्चेति ॥

अर्थेण लिंगमात्राय समभ्यस्तश्रुतेन तत्फलभूतो मोक्षागतया विनयोऽनुष्ठेयः इति तत्प्रपंचार्थं गाथाश्रयोविंशति-माविशति ॥ तत्र तावन्निरुक्तिगम्य विनयस्य सामान्यलक्षणं विषयभेदात्तद्भेदाश्च निर्दिष्टमाह—

मूलारा-विणओ-अशुभकर्माणि विनयत्यपनयतीति विनय' । इति निरुक्तिगम्यमपि तल्लक्षण श्लोकेनोच्यते—



हिताहितासिद्धित्यर्थं तदंगानां सदाजमा ॥

यो माहात्म्योद्भवे यत्नः स मतो विनयः सताम ॥

पुण शिक्षानंतराम् ।

लिंगधारण करनेपर ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये. ज्ञानसंपत्ति धारण करनेवालोंने विनय अवश्य करना चाहिये. वह विनय पांच प्रकारका है—

अर्थ—‘विनयत्यपनयति यत्कर्म अशुभं तद्विनयः’ जो अशुभ कर्मको विनयति अर्थात् दूर करता है, नष्ट करता है ऐसे कर्तव्यको विनय कहते हैं. आगममें विनयके विषयमें ऐसा कहा है. ‘जह्ना विणेदि कम्मं अट्ठ-विहं चाउरंग मोक्खो य’ अर्थात् जो आठ प्रकारके ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश करता है और मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद और योग जिसके कारण है ऐसे संसारसे जो आत्माको छुड़ाता है वह विनय है.

विनयकी निरुक्ति आचार्योंने इस तरहसे कही है. इस विनयके पांच प्रकार हैं ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपोविनय और उपचारविनय.

ज्ञानभेदानाच्चे—काले स्वाध्यायवाचनकालाविह कालशब्देन गृह्यते । अन्यथा कालमन्तरेण कस्यचिदपि वृत्त्य-भावात् कालग्रहणमनर्थकं स्यात् । भवतु नाम कालविशेष. कालशब्दवाच्य. तथापि नासौ विनयो न कर्म व्यपनयतीति, यदि व्यपनयेत्सर्वस्याकर्मवत्तां प्राप्नुयात्—

काले त्रिणये उवधाने बहुमाणे तहे व णिण्हवणे ॥

वंजण अत्थ तदुभये विणओ णाणम्मि अट्ठविहो ॥ ११३ ॥

ज्ञानीयो विनयः काले विनयेऽवग्रहे मतः ॥

बहुमानेऽनपहृत्यां न्यंजनेऽर्थे द्वयेऽष्टधा ॥ ११४ ॥

विजयोदया—काले इति सप्तम्यंतं पदं । तेन वाक्यशेषपुरस्सररोऽयं सूत्रार्थो जायते । साध्याहारत्वात् सर्वे सूत्राणां । काले अध्ययनमिति । परिवर्जनीयत्वेन निर्दिष्टं कालं संस्थापर्वदिग्दाहोल्कापातादिकं परिहृत्याध्ययनं कर्म विन-यति इति । विणए इति प्रथमान्त विनय. श्रुतश्रुतधरमाहात्म्यस्तवनं श्रुतश्रुतधरमकिरिति यावत् ।



उपेक्षणे अवग्रहविशेषः यावदिदमनुयोगाद्वारं समाप्यते तावदिदं मया न भोक्तव्यमिदं वानशनादिकं करिष्यामीति संकल्पः । बहुमाणे शुचैः कृताञ्जलिपुटस्याव्याक्षिप्तचित्तस्य सादरमभ्ययनं । अणिणहवणे अन्यतः श्रुतमधीत्यान्यस्य गुरोः कथनं निह्वन गुरोरपलापस्तद्विपर्ययः । पंचमो विनयः । वज्रजन्तुतदुभये सुद्धी इत्यध्याहार्य । तेन व्यंजन-शुद्धिर्यशुद्धिः शब्दार्थोभयशुद्धिरित्यमी त्रयो ज्ञानभेदाः । तत्र व्यंजनशुद्धिर्यथेक्तसूत्रपठनं । अर्थशुद्धिः सम्यक्सूत्रार्थ-निरूपणा । तदुभयशुद्धिर्यथोक्तं सूत्रं पठतः सम्यक्तदर्थप्रतिपादनं । कश्चिद्वि सूत्रं विपर्यस्यति तदर्थं तु सम्यगव्याचष्टे । अन्यस्तु सूत्रं सम्यगधीयानोऽपि तदर्थमन्यथा कथयति । अपरः पुनः सूत्रमर्थं च विपर्यस्यतीति पुरुषभेदापेक्षया तत्रय-परिहारेण ज्ञानविनयभेदत्रयमुपपद्यते । अष्टविहो अयमष्टप्रकारो ज्ञानाभ्यासपरिकरो 'जज्ञा विणेदि कम्मं अट्टविहं तेण विणको सो' इति वचनादष्टविधं कर्म विनयतीति विनयो ज्ञानविषय इति सुरेरभिप्रायः ।

ज्ञानविनयके भेद कहते हैं—

अर्थ—काल, विनय, उपधान, बहुमान, अर्निह्व, व्यंजन, अर्थ, तदुभय ऐसे ज्ञानविनयके आठ भेद हैं। कालविनय—यहां कालशब्दसे स्वाध्यायकाल यह अर्थ समझना चाहिये। अन्यथा कालके बिना कोई भी पदार्थ अपना अस्तित्व रखनेमें असमर्थ है अतः काल शब्दके ग्रहणको वैयर्थ्य आवेगा। कारण काल तो हमेशा ही रहता है उसका उल्लेख करनेकी कुछ भी जरूरत नहीं थी अतः काल शब्दसे स्वाध्यायकालका अर्थात् कालविशेषका यहां ग्रहण किया है।

शंका—कालशब्दसे विशिष्ट कालका ग्रहण करे तो भी कुछ हर्ज नहीं है। परंतु उसको विनय क्यों कहना चाहिये ? क्योंकि वह अशुभ कर्मको दूर नहीं करता है। यदि वह अशुभ कर्मको दूर करेगा तो सर्व प्राणि मात्र कर्मरहित हो जावेंगे।

उत्तर—यहां काल शब्द सप्तम्यंत समझना चाहिये तथा उसके आगे 'अध्ययन' यह शब्द जोड़ देना चाहिये। सर्व सूत्र संक्षेपमें रचे जाते हैं अतः ऊपरसे भी कुछ शब्द जोड़ने पड़ते हैं। 'काले' इसका मतलब 'काले अध्ययन' ऐसा समझना चाहिये। संध्याकाल, पूर्वकाल, दिशादाह, उल्कापात इत्यादि वर्जनीय कालका परिहार करके अन्य कालमें यदि स्वाध्याय, व्याख्यान, पठन, भजनादिक करनेसे अशुभ कर्म नष्ट होता है।

विनय—श्रुतज्ञान और श्रुतधर अर्थात् श्रुतकेवली इनके माहात्म्यका स्तवन करना. अर्थात् श्रुतभक्ति पहना चाहिये.

उपधान.—विशेष नियम धारण करना. जबतक यह अनुयोगका प्रकरण समाप्त होगा तबतक मैं उपवास करनेवा अथवा दो उपवास करूँगा इस तरहसे संकल्प करना यह विनय अशुभ कर्मको दूर करता है.

बहुमानविनय—पवित्रतासे, हाथ जोड़कर, मनको एकाग्र करके बड़े आदरसे अध्ययन करना.

अनिह्वं—अपलाप करना निह्व है. एक आचार्यके पास अध्ययन करके अन्य आचार्यका नाम लेना यह निह्व है ऐसे दोषका त्याग करना अनिह्वविनय है.

व्यंजन, अर्थ, तदुभय विनय—शब्दको व्यंजन कहते हैं. शब्दका जो वाच्य वह अर्थ है. जैसे मनुष्य शब्दका वाच्य आदमी ऐसा होता है. शब्द और उसके अर्थको तदुभय कहते हैं. गाथामें वंजण, अत्य, तदुभय इन शब्दोंमें द्वंद्वसमास किया है. सर्व द्वंद्वसमास विभाषासे एकवचनयुक्त होता है इस व्याकरणके नियमानुसार 'वंजण अत्य तदुभये' इस समासमें एकवचन किया है.

शंका—यहाँ अर्थ शब्द स्वरादि च अल्पस्वर युक्त होनेमें वंजण इस शब्दके पूर्व उसका निवेश होना चाहिये. इस शंकाका उत्तर ऐसा है—'सर्वतोऽभ्यर्हितं पूर्वं निपतति' इस परिभाषासे वंजण—शब्द अभ्यर्हित अर्थात् महत्त्वयुक्त होनेसे वही अर्थशब्दके पूर्वमें प्रयुक्त किया है. व्यंजनको अर्थात् शब्दको महत्त्व—प्राधान्य म्माँ है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि शब्दके द्वारा हम दूसरोंको समझा सकते हैं और स्वयं शब्दश्रुतादिके सहारेमे पदार्थका यथार्थ स्वरूप जान लेते हैं.

व्यंजनशुद्धि—गणधरादि आचार्योंने वचन दोषोंसे रहित सूत्रोंका निर्माण किया है उनको दोष रहित पठना व्यंजन शुद्धि है. शब्दोंको कोई भी ज्ञान नहीं कहते है अतः शब्दोंकी शुद्धि ज्ञानविनयमें कैसी अन्तर्भूत कर सकोगे ऐसी शंका यहाँ उपस्थित होती है. इसका उत्तर इस मुख है—शब्दके द्वारा ही हम वस्तुको जान लेते हैं. ज्ञानोत्पत्तिके लिये शब्द कारण हैं. समस्त श्रुतज्ञान शब्दके भितीपर ही खड़ा हुवा है अतः शब्दोंको 'ज्ञायतेऽनेन' इस विग्रहसे ज्ञान कह सकते हैं.

अर्थशुद्धि—अर्थशब्दमें हम क्या समझे ? अर्थशब्द व्यंजनशब्दके समीप होनेसे शब्दोंका उच्चार

होनेपर मनमें जो अभिप्राय उत्पन्न होता है वह अर्थशब्दका भाव है, अर्थात् गणधरादिरचित सूत्रोंके अर्थको यहां अर्थ समझना चाहिये, अर्थशुद्धिका अर्थ इस मुजब समझना—विपरीतरूपसे सूत्रार्थके निरूपणमें अर्थ ही आधार भूत है अतः ऐसी निरूपणा अर्थशुद्धि नहीं है, किंतु यथार्थरूपसे जो सूत्रार्थका विवेचन होता है वही अर्थ शुद्धि है संशय, विपर्यय अनध्यवसायादि दोषोंसे रहित सूत्रार्थनिरूपणको अर्थशुद्धि कहते हैं,

शंका—सूत्रार्थनिरूपण भी शब्द श्रुत है इसलिये अविपरीतनिरूपण भी व्यंजनशुद्धि ही है, उसको अर्थशुद्धि समझना भूल हैं, इस शंकाका उत्तर—

शब्द श्रुतके वाक्योंका जो अविपरीत उच्चार किया जाता है वह व्यंजनशुद्धि है, और उन वाक्योंका जो अविपरीत रूपसे अर्थ समझाया जाता है वह अर्थशुद्धि है अर्थात् वाक्योंके शब्दोंका स्पष्ट उच्चार, दीर्घ-ह्रस्वादि-कको ध्यानमें लाकर जो उच्चारण किया जाता है वह व्यंजनशुद्धि है, और उनका अभिप्राय व्रतनेके लिये जो अविपरीत शब्दोच्चार किया जाता है वह अर्थशुद्धि है,

ज्ञानश्रुतमें जो अर्थकी सत्यताका अनुभव आता है वही अर्थशुद्धि है,

तदुभयशुद्धि—व्यंजनकी शुद्धि और उसके वाच्य अभिप्रायकी जो शुद्धि है वह उभयशुद्धि है, शंका—उपर व्यंजनशुद्धि और अर्थशुद्धि इन दोनोंका स्वरूप आप कह चुके हैं उनमें ही इसका भी अन्तर्भाव हो सकता है, इन दोनोंको छोड़कर तदुभय शुद्धि नामकी तीसरी शुद्धि है नहीं, अतः ज्ञानविनयके आठ प्रकार सिद्ध नहीं होते हैं,

उत्तर—यहां पुरुषभेदोंकी अपेक्षासे निरूपण किया है

खुलासा—जैसे कोई पुरुष सूत्रका अर्थ तो ठीक कहता है परंतु सूत्रको विपरीत पढ़ता है ठीक पढ़ता नहीं, दीर्घोच्चारके स्थानमें ह्रस्वोच्चार इत्यादि दोषयुक्त बोलता है ऐसा दोषयुक्त पढ़ना नहीं चाहिये इस वास्ते व्यंजन-शुद्धि कही है, दूसरा कोई पुरुष सूत्रको ठीक पढ़लेता है, परंतु सूत्रार्थ का विपरीत निरूपण करता है यह भी योग्य नहीं है इसका निराकरण करनेके लिये अर्थशुद्धि कही है, तीसरा अदमी सूत्रमी विपरीत पढ़ता है और उसका अर्थ भी अटसंठ कहता है, इन दोनों दोषोंको दूर करनेके लिये तदुभयशुद्धिको भिन्न मानना चाहिये, ज्ञानाभ्यासके ये आठ प्रकार आठ प्रकारके कर्मोंको आत्मासे दूर करते हैं इसलिये इनको विनयशब्दसे संबोधन करना सार्थक है ऐसा आचार्योंका अभिप्राय है,

दर्शनविनयसूचनपरोत्तरगाथा—

उपगूहणादिया पुवुत्ता तह भत्तियादिया य गुणा ॥

संकादिवज्जणं पि य णेओ सम्मत्तविणओ सो ॥ ११४ ॥

उपवृंहदित्तात्पर्यं भक्त्यादिकरणोद्यमः ॥

सम्यक्त्वविनयो ज्ञेयः शङ्कादीनां च वर्जनम् ॥ ११५ ॥

विजयोदया—उपगूहणादिगा उपवृहणादिका । उपवृहण, स्थितिकरणं, वात्सल्यं, प्रभावना चेत्येते । पुवुत्ता पूर्वाचार्यरुक्ता । पूर्वोक्ता । अस्मात् सूत्रात्पूर्वेण च सूत्रेण “उपगूहणादिकरणं वच्छेदपभावाणा भणिदा” इत्यनेनोक्ता । पूर्वोक्ता । पूर्वोक्तौ या सम्मत्तविणयो सम्यक्त्वविनय इति संबन्धीय । तद्य भत्तियादिगा य गुणा तथा भक्त्यादिकाश्च गुणा विनयस्तथा ते तत्प्रकारेण अचस्थिता । इति । अर्हदादिविषया भक्त्यादिगुणा इति यावत् । संकादिवज्जणं पि य शंकादिवर्जनं च । चशब्दः पादपूरणः । णेओ ज्ञेयः ॥ सम्मत्तविणयो सम्यक्त्वविनय इति । उपवृहणादीनां भक्त्यादीनां च गुणाना बहुत्वात् तेयमेव च विनयत्वात् समत्तविणया इति वाच्यमिति चेत्, विनयसामान्यापेक्षया तस्यैकत्वादिक-वचनेन पदसंस्कार कृतो न निर्वर्तते । न च पदातरवाच्यपेक्षया बहुत्वमस्तीत्येतावता अत्रतिपदिता सुदुत्पद्यते । तथा च प्रयोगः वृक्ष एव वनमिति ॥

सम्यक्त्वविनयं निर्विशति—

मूलाराधना—स्पष्टम् ।

दर्शनविनयकीं सूचना करनेवाली गाथा—

अर्थ—उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ऐसे सम्यग्दर्शनके चार गुण पूर्वाचार्योंने कहे हैं तथा इस ग्रंथके कर्ताने भी पीछे ‘उपगूहणादिकरणं वच्छेद पभावाणा गुणा भणिदा’ इस गाथामें इनका वर्णन किया है । अर्हदादिकी भक्ति, पूजा, वर्णजनन वगैरह गुणोंका भी वर्णन पीछे विशदतया किया है । इन सर्वोक्तो दर्शनविनय कहते हैं । शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परदृष्टिमंशसा व अनायतनसेवन ऐसे सम्यग्दर्शनके पांच दोष हैं इनका त्याग करना यह भी दर्शनविनय है ।

शंका—उपगूहणादिगुण, भक्त्यादिगुण इनकी संख्या बहुत है और ये ही दर्शनविनयके स्वरूप है अतः गाथामें ‘सम्मत्तविणओ’ ऐसा एकवचनका प्रयोग अयोग्य है । ‘सम्मत्तविणया’ ऐसा बहुवचनमें प्रयोग होना चाहिये ।

उत्तर—विनयसामान्यकी अपेक्षासे सम्यक्त्वविनयको एक समझकर 'समचविणओ' यह एकवचनमें प्रयोग किया है. अतः एकवचनरूप किया हुआ पदसंस्कार अब बदलता नहीं है.

चारित्रविनयनिरूपणाय गाथा—

इंद्रियकसायपणिधानं पि य गुत्तीओ चेव समिदिओ ॥

एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो ॥ ११५ ॥

कुर्वतः समितीगुप्तीः प्रणिधानस्य वर्जनम् ॥

चारित्रविनयः साधोर्जायते सिद्धिसाधकः ॥ ११६ ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायपणिधानं पि य. इदं आत्मा तस्य लिंगमिंद्रियं । यत्करणं तत्कर्तुमद्यथा—परशु । करणं च चक्षुरादिकं । तेनास्य कर्त्ता केनाचिद्भाव्यमिति । तच्च द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियमिति । तत्र द्रव्येन्द्रियं नाम निर्वृत्युपकरणो मस्त्रिकादिसंस्थानो यः शरीरावयव. कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्वृतिः । उपक्रियतेऽनुशुद्धते ज्ञानसाधनमिन्द्रियमेनेत्युपकरण अक्षिपन्नशुक्लरुणतारकादिकं । भावेन्द्रियं नाम ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषोपलब्धिः, द्रव्येन्द्रियनिमित्तरूपाद्युपलब्धिश्च । इदं इंद्रियशब्देन मनोऽक्षरूपादिसान्निध्येन रागकोपादुगुरूपादिनिर्भासा प्रतीतयो गृहीता । कर्पेति । ईसति आत्मक्षेत्रमिति कपाया । अथवा तर्कणां वात्कलरस. कपायः, कपाय इव कपाय इत्युपमाद्वारेण क्रोधादौ वर्तते कपायशब्द उपमार्थः । यथा कपायो वस्त्रादेः शौक्ल्यशुद्धिमपनयति, निराकर्तुं चाशक्यस्तद्वादात्मनो ज्ञानदर्शनशुद्धिं विनाशयति, आत्मावलग्नश्च दुःखेनापोह्यते इति । यथा वा पटादेः स्पर्शं करोति कपायस्तद्देव कर्मणा स्थितिप्रकर्षमात्मनि निदधाति क्रोधादि । इन्द्रियाणि च कपायाश्च इन्द्रियकपायाः । इन्द्रियकपाययोः अमणिधानं अनाक्षेप. आत्मनो व्यावर्णितेन्द्रियकपायापरिणतिः । गुप्ती चेव गुप्तयश्च संसारकारणादात्मनो गोपनं गुप्तिः ।

संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावमवपरिवर्तनस्य कारणं कर्म ज्ञानावरणादि तस्मात्संसारकारणादात्मनो गोपनं रक्षा गुप्तिरित्याख्यायते । भावे किं, अपादानसाधनो वा, यतो गोपनं सा गुप्तिः । गोपयतीति कर्तृसाधनो वा क्तिन् । शब्दार्थव्यवस्थेयम् । किं स्वरूपं तस्या इति चेत् । सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । कायवाङ्मन.कर्मणां प्राकाम्याभावो निग्रहः, यथेष्ट-चारिताभावो गुप्तिः । सम्यगिति विशेषणात्पूजापुरस्सरा क्रियां संयतो मद्दानयमिति यश्चक्षानपेक्ष्य चारलौकिकमिंद्रियसुखं वा क्रियमाणा गुप्तिरिति कथ्यते । इति सूरयो व्यवस्थिताः । रागकोपाभ्यां अनुपश्रुता नोऽइंद्रियमतिः मनोगुप्तिरिति वृत्ते । एवं चायं वक्ष्यति सूत्रकारो 'जा रागादिण्यिच्छी मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ति' मिति । अनृतपक्षयककेश-मिथ्यात्वासंयमनिमित्तवचनानां अवक्लृता वागुप्तिः । अप्रमत्ततया यदप्रत्यवेक्षिताप्रमाजितभूभागेऽवक्रमणं, द्रव्यातरादाननिक्षेपशयनासनक्रियाणा अकरणं कायगुप्तिः. कायोत्सर्गो वा ।

समिदीबो समितय । प्राणिपीडापरिहाराद्वरत सम्यगयनं प्रवृत्तिः समितिः । सम्यग्विशेषाणाञ्जीविका-  
यस्वरूपज्ञानश्रद्धानुरस्सरा प्रवृत्तिर्गृहीता । ईश्वरपूजनादिशेषोत्सर्गाः पंचसमितयः । “ईर्यादिसमितीना वाक्काय-  
गुप्तिभ्या अविशेषस्ततो भेदेनोपादानमनर्थकं, प्राणिपीडाकारिण्या कायक्रियाया निवृत्तिः कायगुप्ति, ईर्यादिसमितयश्च  
तथाभूतकायाक्रियानिवृत्तिरूपाः” अत्रोच्यते—निवृत्तिरूपा गुप्तयः प्रवृत्तिरूपाः समितयः इति भेदे विशिष्टा गमनभाषणा-  
भ्यवहृरणग्रहणनिर्देशपणोत्सर्गक्रियाः समितय इति उच्यन्ते । एतौ एव । चरित्तविण्णो चारित्रविनयः । समासदो  
संक्षेपतः । णादन्वो द्वातव्यः । होदि भवति ।

इंद्रियकपायाप्राणिधानं मनोगुप्तिरेव किमर्थं पृथगुच्यते ? सत्यम् । वाक्कायगुप्त्योरेव गुप्तीबो इत्यनेन परिग्रहः ।  
अथवा रागद्वेषमिष्यात्वाद्यशुभपरिणामविरहो मनोगुप्तिः सामान्यमूता । इन्द्रियकपायाप्राणिधानं तद्विशेषः । सामान्यविशे-  
षयोश्च कथंचिद्देवान् पौनरुक्त्यं । मनोगुप्तावन्तर्भूतस्यापि इन्द्रियकपायाप्राणिधानस्य भेदेनोपादानं चारित्रार्थिनोऽवश्यं  
परिहार्थत्वव्यापनार्थं वा ।

ननु त्रयोदशविध चारित्र्यं पंच महाव्रतानि, पंच समितयः, तिस्रो गुप्तय इति । ततः समितीना गुप्तीनां  
चारित्र्ये चारित्रविनय इति कथं भेदेनाभिधानं ? व्रतान्येधान्यत्र चारित्रशब्देनोच्यते । तेषां परिकरत्वेनावस्थिता गुप्तयः  
समितयश्चेति सूत्रकारस्याभिप्रायः । तथा चोक्तमन्यैः ‘कर्मादानानिमित्तक्रियाभ्यश्च विरति अहिंसादिभेदेन पंचप्रकारा  
गुप्तिसमितिचित्सारसंक्षेपो भवति । कश्चारित्रविनयन्यास इति चेत् पंचविंशतिभावनाः । ‘तत्स्यैर्याथं भावनाः पंच  
पंचेति’ निरूपिताः ॥

चारित्रविनयं निरूपयति—

मूलाराधना—इन्द्रियकसायप्राणिधानं इह इन्द्रियशब्देन मनोज्ञामनोऽज्ञरूपादिसान्निध्यं रागद्वेषानुगतरूपादि-  
निर्मासाः प्रतीतयो गृहीताः । कृपायाश्च भावक्रोधादयः तेष्वप्राणिधानसपरिणतिरत्नम इन्द्रियकपायाप्राणिधानं । कसा-  
यप्राणिधानमित्यत्र शकं च्छादित्वात्पररूपं । अन्ये तु प्राणिधानशब्देनात्र निरोधं व्याचक्षते । इन्द्रियकपायनिरोध इत्यर्थः ।  
तस्य च मनोगुप्तावन्तर्भूतस्यापि भेदेनोपादानं चारित्रार्थिनोऽवश्यकार्यत्वव्यापनार्थं । चारित्रशब्देन चात्र व्रतान्येष्टानि  
तेषां च परिकरत्वेनावस्थिता गुप्तयः समितयश्चेति सर्वं सुस्थम् । अन्यैस्तु पंचविंशतिभावनाश्चारित्रविनय उक्तः ॥

चारित्रविनयनिरूपणं करनेके लिये आचार्य आगेकी गाथा कहते हैं—

अर्थ—आत्माको इंद्र कहते हैं, इस इंद्रका जो चिह्न अर्थात् आत्माका स्वरूप पहिचाननेका जो साधन  
वह इंद्रिय है, यह इंद्रिय करण है, जो जो करण होता है वह कर्तासे युक्त रहता है, क्योंकि कर्ताको क्रिया करने  
में जिसेसे साहाय्य मिलता है वह करण है, इस करणके बिना कर्ता क्रिया नहीं कर सकता है, जैसे देवदत्त जब



लकड़ी तोड़ता है तब वह कुल्हाड़ीका साहाय्य लेता है, विना कुल्हाड़िके वह लकड़ी नहीं काट सकता है, इसलिये जैसे देवदत्त कर्ता और कुल्हाड़ी करण है वैसे आत्मा कर्ता है क्योंकि वह पदार्थोंको जाननेकी क्रिया करता है और इंद्रियां पदार्थ जाननेमें आत्माको साहाय्य करती हैं इसलिये वे करण हैं, यहां इंद्रियोंके द्रव्येन्द्रिय और भाव इंद्रिय ऐसे दो भेद कहे हैं,

द्रव्येन्द्रिय—मस्तर, श्वनाल, सुरपा इत्यादि पदार्थोंके आकारके समान नेत्र, कर्ण, जीभ वगैरे द्रव्येन्द्रियोंका आकार है, वे निवृत्ति और उपकरणसे युक्त रहती हैं, और वे शरीरके अवयवरूप मानी गयी हैं, तात्पर्य यह है कि, आत्माके प्रदेश इन्द्रियाकार हो जाना यह अभ्यंतरनिवृत्ति है, और उसके ऊपर पुद्गलोंकी जो इन्द्रियाकार रचना होती है वह बाह्यनिवृत्ति है, निवृत्तियोंका जिससे रक्षण होता है वह उपकरण है, उसके भी दो भेद हैं, बाह्य उपकरण व अभ्यंतर उपकरण, जैसे नेत्रमें तारका, काला और सफेद जो भाग है वह अभ्यंतर उपकरण है, अक्षिपत्र—पापनी, भोंहें वगैरह बाह्योपकरण है, ज्ञानके साधनभूत इंद्रियोंको जो सहायप्रदान करते हैं उसको उपकरण कहते हैं, यह द्रव्येन्द्रियका स्वरूप है,

भावैन्द्रिय—आत्मामें ज्ञानावरण कर्मका जो विशिष्ट क्षयोपशम प्रगट हुवा है वह तथा द्रव्येन्द्रियके सहायसे रूपादिकोंका जो ज्ञान होता है वह भावैन्द्रिय है,

यहां मनचाहे रूपादि पदार्थोंका सान्निध्य होनेसे जो रागद्वेषसहित ज्ञान होता है वह इंद्रियशब्दका अर्थ है,

कपाय—'कपन्ति हिंसन्ति आत्मक्षेत्रं इति कपायाः' जो आत्माका घात करते हैं वे कपाय हैं, क्रोधादिक विकार आत्माका अहित करते हैं अतः उनको कपाय कहते हैं, अथवा दृष्टोंकी छालीसे जो रस निकलता है उसको कपाय कहते हैं, वह चिकण होनेसे वस्त्रमें लगनेपर निकलता नहीं है, उपयुक्त उपमाके द्वारा क्रोधादिकोंको भी कपाय कहते हैं,

जैसे कपायरस वस्त्रको लगनेपर उसका सफेदपना, स्वच्छता नष्ट होते हैं और वह रस भी वस्त्रसे निकालना अशक्य है, वैसे क्रोधादिकपाय भी आत्मामें ज्ञान और दर्शनगुणकी निर्मलताको नष्ट करते हैं, और इन कपायोंका आत्मामें साथ संबंध होनेपर वहांसे बड़े कष्टसे दूर होसकते हैं, जैसे कपायरससे वस्त्रादिकोंमें छूटा

आती है, वैसे ये क्रोधादि कपाय आत्मामें ज्ञानावस्थादि कर्मको स्थिर करते हैं, अर्थात् कपायसे ही कर्मकी काल-स्थिति बढ़ती है, ऐसे कपाय और इंद्रियोंमें मनकी एकाग्रता न होने देना चाहिये अर्थात् इंद्रियोंके विषयमें प्रवृत्ति होनेसे आत्मामें राग द्वेष उत्पन्न होजाते हैं, वे न होने दें, रागद्वेषरूप परिणति आत्मामें न होना यह इंद्रिया प्राणिधान है, और कपायवश न होकर आत्मामें ज्ञानशुद्धि और दर्शन शुद्धि कायम रखना यह कपायप्राणिधान है.

गुप्ति—संसारके कारणोंसे आत्माका रक्षण करना यह गुप्ति है, द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भावपरिवर्तन और भवपरिवर्तन ऐसे संसारके पांच भेद हैं ( इसका आगे ग्रंथकार वर्णन करेंगे. ) ज्ञानावस्थादि कर्म समूह संसारका कारण है, इससे आत्माका रक्षण करना यह गुप्ति है, 'संसारकारणादात्मनो गोपनं गुप्तिः' यह गुप्तिका लक्षण है, 'भावे क्तिः' इस सूत्रसे भाव अर्थमें क्ति प्रत्यय जोड़ देनेसे गुप्ति यह शब्द सिद्ध हुआ है, अथवा अपादानकारकमें भी इस गुप्तिशब्दकी सिद्धि होती है, 'यतो गोपनं सा गुप्तिः' अर्थात् संसारकारणोंसे आत्माका बचाव करना यह गुप्ति है, किन्वा कर्ता कारकमें भी यह शब्द सिद्ध होता है, 'गोपयतीति गुप्तिः' आत्मा ही संसारकारणोंसे अपनेको बचाता है अतः आत्मा ही गुप्ति है, यहां कर्तृकारकमें गुप् धातुके आगे क्तिन् प्रत्यय जोड़ देनेसे गुप्ति शब्द सिद्ध होता है, इस रीतीसे गुप्तिशब्दके अर्थका विवेचन किया है.

गुप्तिका स्वरूप क्या है? उत्तर—'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः' शरीर, वचन और मनकी यथेष्ट प्रवृत्तिको रोकना यह गुप्ति है, सम्यक् यह विशेषण योगनिग्रहका है, यह महान् तपस्वी है ऐसा समझकर लोक मेरी पूजा करेंगे, मेरी सर्वत्र कीर्ति फैलेगी, ऐसी अपेक्षा मनमें धारण करके जो योगनिग्रह किया जाता है अथवा पारलौकिक सुखकी इच्छासे जो योगनिग्रह किया जाता है उसका निषेध करनेकेलिये सम्यक् यह विशेषण योगनिग्रह शब्दके पीछे जोड़ा है, उपर्युक्त इच्छाओंका त्याग करके जो गुप्ति पाली जाती है वह संवरका कारण होती है अन्यथा नहीं, ऐसा आचार्योंका उपदेश है.

मनोगुप्ति—राग और क्रोधसे अलिप्त ऐसे मानसिकज्ञानको मनोगुप्ति कहते हैं, ग्रंथकार भी आगे 'जा रागादिणियची मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती' इस सूत्रमें मनोगुप्तीका लक्षण कहेंगे, मनमें जो रागादि विकार उत्पन्न होते हैं उनका नियमन करना मनोगुप्ति है ऐसा समझना चाहिये.

वचनगुप्ति—असत्य, मनको दुःखित करनेवाली और कठोर वाणीको मुंहसे न निकालना. तथा मिथ्यात्व और असंयम उत्पन्न करनेवाली वाणी मुंहसे न निकालना वचनगुप्ति है.

कायगुप्ति—सावधान होकर देखभाल न की हुई जमीनपर तथा न झाड़ी हुई अप्रासुक्त जमीनपर गमन करना, उससे वस्तु उठा लेना, रखना, सोना बैठना इत्यादि क्रियाओं का त्याग करना यह कायगुप्ति है अथवा शरीरपरसे ममत्व छोड़ना—अर्थात् कायोत्सर्ग करना यह भी कायगुप्ति है. ये तीनों गुणियां भी चारित्रविनय हैं.

समिति—प्राणिओंको पीड़ा न होवे ऐसा विचार करके दयाभावसे अपनी सर्व प्रवृत्ति जो करता है वह साधु समितिधारक माना जाता है. 'प्राणिपीडापरिहारदरवतः सम्यग्यनं प्रवृत्तिः समितिः' यह समितीका लक्षण है. इस लक्षणमें जो समितिका सम्यक् यह विशेषण है उसका भाव ऐसा है—जीवोंके भेद और उनके स्वरूप के ज्ञानके साथ श्रद्धान गुण सहित जो पदार्थ उठाना, रखना, गमन करना, बोलना इत्यादिक प्रवृत्ति की जाती है वही सम्यक् है. ईयासमिति, भायासमिति, एणसमिति, आदाननिक्षेपसमिति और एयणसमिति ऐसी पांच समितियां हैं.

शंका—ईयादिसमितियोंकी वागुप्ति और कायगुप्ति इन दोनोंसे कुछ विशेषता नहीं है. अतः दोनोंको अलग अलग दिखाना व्यर्थ है. प्राणिओंको पीड़ा करनेवाली प्रवृत्तियोंका त्याग करना यह कायगुप्ति है. और ईयादि समितियोंमें भी प्राणिपीडा करनेवाली देह प्रवृत्तियां त्यागी जाती हैं. अतः दोनोंमें अविशेषता ही मालूम होता है.

उत्तर—गुप्तियां निवृत्तिरूप होती हैं और प्रवृत्तिरूप क्रियाओंको समिति कहते हैं ऐसा दोनोंमें विशेष है. प्राणिपीडापरिहारपूर्वक गमन करना, बोलना, आहार लेना, कोई चीज उठाना, रखना मलमूत्र त्यागना इन सब क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना समिति है. इस प्रकार चारित्र विनय संक्षेपसे समझलेना चाहिये.

शंका—इंद्रिया और कर्णयोका अप्रणिधान मनोगुप्तिरूप ही है इसलिये उनका पृथक् कथन क्यों किया है ? उत्तर—वचनगुप्ति और कायगुप्ति इनका ही गुप्तिरूपसे ग्रहण किया है ऐसा समझो. अथवा रागद्वेष, मिथ्यात्व वगैरह अशुभ परिणामोंका त्याग करना यह मनोगुप्ति है. यह सामान्य है और इंद्रिय कर्णयोकी तरफ आत्माका झुकाव न होना अर्थात् इंद्रियकर्णयूरूपपरिणति आत्माकी न होना यह उसका विशेष है. सामान्यसे विशेष सर्वथा भिन्न नहीं है. कथंचिद्धिन्न है. अतः यहां पुनरुक्तिदोष नहीं है. अर्थात् मनोगुप्तिसे

यदि इंद्रियकपायापरिणति संवत्सा समानरूप होती तो यहां एक ही विषय दुहराया जानेसे पुनरुक्ति दोष आता परंतु सामान्य और विशेषतासे यहां वह दोष नहीं है. मनोगुप्ति यहां सामान्यरूप है और इंद्रियकपायापरिणति विशेषरूप है अतः पुनरुक्ति दोष यहां नहीं है.

इंद्रियकपायापरिणति विशेषात्मक होनेसे मनोगुप्तिमें अन्तर्भूत होती है तथापि उसको भिन्नरूपतया दिखानेका प्रयोजन यह है कि, चारित्रका निर्दोष पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले इंद्रियविषय और कपाय-परिणति इनका त्याग करें.

शंका—चारित्रिके तैरा प्रकर हैं—पांच महाव्रत, पांच समिति, और तीन गुप्ति समिति और गुप्ति भी चारित्रात्मक ही है अतः उनको चारित्रविनय कहते हैं. परंतु समिति और गुप्तिको आप यहां चारित्रसे भिन्न दिखाते हैं क्या यह युक्ति संगत है ?

उत्तर—आचार्योंने अन्य ग्रंथोंमें पांच महाव्रतोंको ही चारित्र कहा है. गुप्ति और समिति ये महाव्रतरूप चारित्रिके परिकर है ऐसा इस ग्रंथकारका अभिप्राय है. अन्य आचार्योंने इस विषयमें ऐसा कहा है “ कर्मदान निमित्तक्रियास्यश्च विरतिरहिंसादिभेदेन पंचप्रकारा गुप्तिरसमितिर्विस्तारसंक्षेपो भवति ” मन, वचन और शरीर की क्रिया ही कर्मग्रहण करनेमें निमित्त है. इस क्रियासे विरक्त होना चारित्र है, चारित्रिके अहिंसा, सत्य, अर्चय, इत्यादिरूपसे पांच भेद है. यह संक्षेपरूप चारित्र है. और गुप्ति समिति इस भेदसे वह विस्ताररूप है.

इस चारित्रविनयकी स्थिरता पचीस भावनाओंसे होती है. ‘ तत्सैथ्यर्थ भावनाः पंच पंच ’ अर्थात् प्रत्येक व्रतकी स्थिरता होवे एतदर्थ पांच पांच भावनाएं आचार्योंने कही हैं.

पणिघाणं पि य दुविहं इंद्रियं णोइंदियं च बोधव्वं ॥

सद्दादि इंद्रियं पुण कोघाईयं भवे इदरं ॥ ११६ ॥

प्रणिघाणं द्विधा प्रोक्तमिंद्रियानिंद्रियाश्रयम् ॥

शब्दादिविषयं पूर्वं परं मानादिगोचरम् ॥ ११७ ॥

सद्वरसरूवगंधे फासे य मणोहरे य इयरे य ॥  
जं रागदोसगमणं पंचविहं होदि पणिधानं ॥ ११७ ॥

उक्तं शब्दे रसे रूपे स्पर्शे गंधे शुभेऽशुभे ॥

रागद्वेषविधानं यत्तदाद्यं प्रणिधानकम् ॥ ११८ ॥

णोद्विदियपणिधानं कोधो माणो तधेव माया य ॥

लोभो य णोकसाया मणपणिधानं तु तं वज्जे ॥ ११८ ॥

मानमायामदकोधलोभमोहादिकल्पनम् ॥

अनिद्रियाश्रयं ज्ञेयं प्रणिधानमनेकधा ॥ ११९ ॥

इन्द्रियमनःप्रणिधानपरिहारद्वारेण चारित्रविनयं प्रपंचयितुं गाथात्रयमाह—

मूलारा—प्रणिधानं आत्मनः परिणामोऽत्र नैद्रियादिनिरोधः । सदादि—मनोक्लामनोद्दशब्दादिविषयरागद्वेष-  
परिणतिः ।

मूलारा—पंचविधं—श्रोत्रादीनामिष्टानिष्टशब्दादिविषयभेदात् ।

मूलारा—णोकसाया हास्यत्यरातिशोकमयजुगुप्साक्षीवेदुषेदनपुंसकवेदाः । तं तद्विद्विधमैन्द्रियिकमानसं च  
प्रणिधानं । वज्जे वर्जयेत् । चारित्रविनयार्थंति शेषः । एतदपि गाथात्रयं टीकाकारो नेच्छति ॥

इन्द्रिय और मन वश करनेसे चारित्रविनय होता है. इस चारित्रविनयका तीन गाथाओंमें आचार्य  
वर्णन करते हैं—

अर्थ— प्रणिधानके इन्द्रियप्रणिधान और मोहइन्द्रियप्रणिधान ऐसे दो भेद हैं. आठ स्पर्श, पांच रस, दो गंध, पांच वर्ण और शब्द ये इष्ट और अनिष्ट ऐसे दो प्रकारके हैं. इनसे आत्मा में रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है. इसको इन्द्रियप्रणिधान कहते हैं स्पर्शतैन्द्रियप्रणिधान, रसतैन्द्रियप्रणिधान, घ्राणैन्द्रियप्रणिधान, चक्षुर्तैन्द्रिय-  
प्रणिधान, और श्रोत्रैन्द्रियप्रणिधान ऐसे पांच भेद हैं.

क्रोध मान, माया-कपट, लोभ, हास्य, रति-उत्सुकता, अराति-तिरस्कार, शोक, मय, जुगुप्सा-अन्यके

दोष प्रकट करना व अपने दोष छिपाना, स्त्रीवेद-पुरुषाभिलाषा, पुरुषवेद-स्त्रीकी अभिलाषा होना, नपुंसकवेद-दोनो-के साथ रमण करनेकी इच्छा होना, इन सर्व मनके परिणामोंको नोइंद्रिय प्रणिधान कहते हैं. चारित्रविनयेच्छु श्रुतिराज इन दो प्रणिधानों का त्याग करते हैं. इन दो प्रणिधानोंको जिन्होंने जीता है उनको चारित्रविनयका शीघ्र लाभ होता है. टीकाकार अपराजित स्त्रि उपर्युक्त तीन गाथाओं को शेषक समझते हैं.

तपोनिरूपणार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

उत्तरगुणउज्जमणे समं अधिआसणं च सट्ठाए ॥

आवासयाणमुचिदाण अपरिहाणी अणुस्सेओ ॥ ११६ ॥

परीषहसहिष्णुत्वं अद्वोत्तरगुणोद्यमः ॥

योग्यावश्यकसंबंधे हान्युत्सेधनिराकृतिः ॥ ११७ ॥

विजयोदया—सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यामुत्तरकालमाविवात्सयम. उत्तरगुणशब्देनोच्यते । न हि श्रद्धान ज्ञानं चातरेण सयम प्रवर्तते । अजानत श्रद्धानरहितस्य वाऽसंयमपरिहारो न संभाव्यते । तेनायमर्थः—संयमोद्योततपसो निर्जराद्विदुता सति संयमे, नान्यथेति तपसः संयम. परिकर. तथा चाहुः ‘संजमहीणं च तव जो कुणइ गिरत्थय कुणइ’ इति । समम सम्यक् । संकेशा इैन्य चातरेण । अधियासणं सहनं क्षुधादे ।

अनशानावमोर्दर्थवृत्तिपरिसंस्थानेषु क्षुत्तृड्जनितवेदनया अव्याकुलता, कथमिदमुद्रदहामीति वा अदीनता । भक्तपानयोर्भनसोऽप्रणिधानं, अग्नि पित्रामीति वा भक्तकथापरित्यागः, तत्कथनानादरः इतस्तत्थापरिवर्तनं । क्षुधा दृषा वा बाधितोऽस्मीति एवं वचनं सहनं, अथवा भोजनदिवसे याचाया अकरण । श्रातोऽस्म्युपवासेन रूक्ष भोक्तुं न शक्नोमि । क्षीरघृतशरादिक दातव्यमिति वचनेन याचाया अकरणं । मनसा वा यदिदं लभ्यते भद्र स्यात् इति वाऽप्रार्थना । कायसंक्षया वा क्षीरादिदानेऽद्वसितायमानमुल्लासः । शीतरूक्षाद्याद्वारदाने वा अकुपिताननता । अलामेऽपि लाभदलामो मे पर तपोवृद्धिरिति सकल्पेनालाभपरीषद्वसहनं वा । अथवा लौकिकाना धर्मस्थाना वा सत्कारपुरस्कारकरणे तपसि महति वर्तमानोऽप्यहमेतेषा न पूजित इति कोपसंभ्रंशाकरणं । सत्कारपुरस्कारपरीषद्वसहनं वा ।

रसपरित्याग कृतवत. रसवदाहारकथादर्शनोपजायमानतदादरनिवारणं रसपरित्यागजाताशरीरसतापक्षमा वा सहनं । आतापयोगधारिणो धर्मोद्युपनिपाते असंश्लिष्टचित्ता तत्प्रतीकारवस्तुषु अनादरश्च सहन । जनविचिक्रेशे चित्तत पिशाचव्यालमुगाद्यवलोकनादिकृतभीतिव्युदासोऽरतिविजयश्च सहन । \* प्रायश्चित्तमाचरतोऽपि महदिदं दत्तं गुरुणा बलावलं ममानिरूप्येति कोपाकरणं, प्रायश्चित्तकरणजनितश्रेमेण वा असंश्लिष्टतासहनः । ज्ञानविनये वर्तमानस्य

\* अयं पाठः कपुस्तके नास्ति । खपुस्तकदुद्धृत्य संयोजितोऽत्र ।

क्षेत्रकालशुद्धिकरणे ममैव नियोजयति इति कोपनिरासो वा, तद्वत्प्रमे वा असंकेलशब्द सहनं । दर्शनविनये अभ्युद्यतस्य सन्मार्गात्प्रव्यवमानस्य स्थिरकरणं महानयासः, स्वचेतसोपि ऋजुतापादनमतिदुष्करं किमग पुन परस्ये त्यसंकल्पः सहनं । पुरस्कृतचारिविनिनयस्य ईयादिसमितयो दुष्करा । जीवनिक्पायकुले जगति कियंतः परिहृत् शक्यते ? निपुणतर प्रतिपदन्यासं जीवावलोकने तत्परिहृत् च कियद्गन्तुं शक्यते ? तथा प्रवर्तमानं वाभन्ते तरामातपादय । नवकोटिपरिशुद्धा भिक्षा क लप्स्यते खेलेषु कृतक्षता वेति मनसोऽप्यप्रणिधानं चारिविनिनय । तपोविनयमुपगतस्यानशानादितपो ऽनुष्ठानातिशयस्य मम स्वल्पमसंशमं अग्रासुकोदकपानेन, अशुद्धभिक्षाग्रहणेन वा जातं तप एवोनूलयतीति असंकल्पनं सहनं । असंकुदभ्युत्थानं, अनुयमनं, प्रेपणकरणं, उपकरणशोधनादिकं वा कः कर्तुं शक्नोति प्रतिदिनमित्यनभिधिंरुपचारविनयसहनं ।

सद्गु य अद्वा च । क तपसि । तपसा संपाद्यमुपकारमात्मनोऽवलोक्य बुद्ध्या । तपो हि प्रत्याजं कर्म संवृणोति, चिरार्जितानां कर्मणं मिर्जरामापादयति, इंद्रचक्रलाछनादिसंपदोऽप्यानयति । समीचीनस्य तपसोऽप्लाभोदेव जननमरणावर्तसहनं, असुखाकुले भवांभोधौ पर्यटनं ममासीदभविष्यति इति तपस्यनुरागः कार्यः ।

आवासगणं आवश्यकानां । ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासगं इति व्युत्पत्तावपि सामायिकादिव्येवायं शब्दो वर्तते । व्यधिद्वैर्यल्यादिना व्याकुलो भण्यते अवश परवश इति यावत् । तेनापि कर्तव्यं कर्मेति । यथा आशु गच्छतीत्यश्व इति व्युत्पत्तावपि न व्याघ्रादौ वर्तते अश्वशब्दोऽपि तु प्रसिद्धिवशात् तुरग एव । एवमिहापि अवश्यं यत्किंचन कर्म इतस्तत् परावृत्तिराक्रदनं, पूत्करणं वा न तद्भण्यते ॥ अथवा आयासकाना इत्यपमर्थः आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति कृत्वा सामायिकं, चतुर्विंशतिस्त्वो, बंदना, प्रतिक्रमणं, प्रत्याख्यानं, व्युत्सर्गं, इत्यमीया ।

तत्र सामायिकं नाम चतुर्विधं नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन । निमित्तनिरपेक्षा कस्यचिज्जीवादेरध्याहिता संज्ञा सामायिकमिति नामसामायिकम् । सर्वसावधानिबृत्तिपरिणामवता आत्मना एकीभूतं शरीरं यत्तदाकारसाहचर्यात्तवेवेदमिति स्थाप्यते यच्चिप्रुत्तादिकं तत्स्थापनासामायिकम् । आगमद्रव्यसामायिकं नाम श्रुतस्याद्यं सामायिकं नाम ग्रंथः, तदर्थज्ञो यः सामायिकाख्यात्मपरिणामप्रत्यवभासः प्रत्ययरूपेण सांप्रतमपरिणतः आत्मा । नो आगमद्रव्यसामायिकं नाम यन्नविकल्पं क्षायकशरीरभावितादयतिरिक्तभेदेन । सामायिकक्षस्य यच्छरीरं तदपि सामायिकज्ञानकारणं, आत्मेव शरीरमंतरेण तस्याभावात् । यस्य हि भावाभावौ नियोगतो यदुत्करोति तत्तस्य कारणमिति हेतुफलव्यवस्था वस्तुषु । तत् प्रत्ययसामायि कस्य कारणत्वाच्छरीरं त्रिकालगोचरं सामायिकशब्दवाच्यं भवति । चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषसहायो य आत्मा भविष्यत्सर्वसावध्ययोगनिबृत्तिपरिणामः सोऽभिधीयते भाविसामायिकशब्देन । चारित्रमोहनीयाख्यं कर्म परिप्राप्तक्षयोपशमावस्थं नो आगमद्रव्यं तद्व्यतिरिक्तकर्म । सामायिकं नाम प्रत्ययसामायिकं । नो आगमभावसामायिकं नाम सर्वसावध्ययोगनिबृत्तिपरिणाम । अयमिह गृहीतः ।

चतुर्विंशतिसंख्याना तीर्थकृतमत्र भारते प्रभुत्तानां शृणभादीना जिनवरत्वादिगुणज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा चतुर्विंशतिस्तदनपठनक्रिया नो आगमभावचतुर्विंशतिस्तव इह गृह्यते ।

यंदत्ता नाम रत्नत्रयसमन्वितानां यतीना आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविराणां गुणातिशयं विज्ञाय श्रद्धापुःसरेण अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन द्विविधं विनये प्रभृतिः । प्रत्येकं तयोरेकेभेदता । कर्तव्यं केन, कस्य, कदा, कासिन्कतिवारानिति । अभ्युत्थानं केनोपदिष्टं, किंवा फलमुद्दिश्य कर्तव्यं ? पूर्वमेव विनय कर्तव्यतयोपदिष्ट सर्वजिते कर्मभूमिषु सदा मानकगय-भंगः ॥ गुरुजने बहुमानं, तीर्थकारणा आक्तासंपादनं, श्रुतधर्मोपाधनक्रिया भावशुद्धिरार्जवं, तुष्टिं च फलमपेक्ष्य तेन तत्क्रियते । अमानिना, सविज्ञेन, अनलसेनाशयेनानुग्रहकारिणार्यैना, परगुणप्रकाशनोद्यतेन संघवत्सलेन । असंयतासंयतस्य वा नाभ्युत्थानं कुर्यात्, पार्श्वस्थपंचकस्य वा । रत्नत्रये तपसि च नित्यमभ्युद्यतानां अभ्युत्थानं कर्तव्यं कुर्यात् । सुखशील-जनेऽभ्युत्थानं कर्मबंधनिमित्तं प्रमादस्थापनोपबृंहणकारणात् । सविद्यजनं प्रति क्रियमाणमभ्युत्थान निर्जराणिमित्तं विरति-स्थापनोपबृंहणकारणात् । वाचनानुयोगं वा शिक्षयत अवमरत्नत्रयस्याभ्युत्थातव्यं तन्मूलेऽध्ययनं कुर्वद्भिः सर्वैरेव । वसते, कायभूमितः, भिक्षातः, चैत्यात्, गुरुसकाशात्, ग्रामातराद्वा आगमनकालेऽभ्युत्थातव्य । गुरुजनद्वयं यदा निष्क्राम-ति निष्क्राम्य प्रविशति वा तदा तदा अभ्युत्थानं कार्यं । अनया विंश यथागममितरद्वयानुगतव्यम् ।

दुरुजदं जह्वाजदं वारसावत्समेव य ।

चतुस्सिर तिसुद्धं च किदिकम्म पडंजए ॥

इत्यादिक. प्रयोगविनयः ।

प्रातिक्रमणं प्रतिनिवृत्तिं मोढा भिद्यते-नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन । अयोग्यनाम्नामनु-च्चारण नामप्रतिक्रमणं । तर्हि दारिणा सामिणी इत्यादिकमयोग्यं नाम । आत्ताभासानामच्चर्च, त्रसस्थावराणां रूपाणि, लिखितान्युत्कीर्णानि वा स्थापनाशब्देनैव गृह्यते । तत्राप्ताभासप्रतिभाया पुरःस्थिताया यदभिमुखतया कृताजलिपुटता, शिरोवन्ति, गंधविभिरभ्यर्च्येन च न कर्तव्यम् । एव सा स्थापना परिहृता भवति । त्रसस्थावरस्थापनानामविनाशनं, अमर्दनं, अताडनं वा परिहारः प्रतिक्रमणं । वास्तुक्षेत्रादीनां दशप्रकाराणा उद्गमोत्पादनैपणादोपद्रुष्टाना वसतीना, उपकर-णानां, भिक्षाणां च परिहरणं, अयोग्यानां चाह्वारादीनां, गृहेर्देयस्य च कारणानां सङ्गेशेदूता वा निरसनं द्रव्यप्रतिक्रमणं । उदककर्हमत्रसस्थावरनिचितेषु क्षेत्रेषु गमनाविर्जनं क्षेत्रप्रतिक्रमणं । यस्मिन्वा क्षेत्रे वसतो रत्नत्रयह्वानिर्भवति तस्य वा परिहारः, तच्च किं ? क्षानतपोवृद्धैरन्यथासितं । रात्रिसंध्याशयस्वाध्यायावस्यकनलेषु गमनागमनाद्विद्यापारा-करणात् कालप्रतिक्रमणं । कालस्य दुष्परिहार्यत्वात्कालाधिकरणव्यापारविशेषाः । कालसाहचर्यात्कालशब्देन गृहीताः । मिथ्यात्वमसंयम, कपय, राग, द्वेषः, संज्ञा, निदानं, आतरेडमित्यादयोऽभ्युमपरिणामाः, पुण्यास्त्रयभूताश्च शुभपरिणामाः इह भावशाब्देन गृह्यन्ते, तेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमण इति केषांविद्यथाव्यानं । चतुर्विधमित्यपरे । निमित्तनिरपेक्षं कस्य चित्रात्मत्वेन नियुज्यमान प्रतिक्रमणमित्यभिधानं नामप्रतिक्रमणं ॥ अशुभपरिणामानां विशिष्टजीवद्रव्यानुगतशरीराकार-

१ भट्टि दारिणा सामिणी इति सपुस्तके ।



सादृश्योपेक्षया चित्रादिरूपं स्थापितं स्थापनाप्रतिक्रमणं ॥ प्रमाणनयान्निक्षेपादिभिः प्रतिक्रमणावश्यकस्वरूपसूत्रानुपयुक्तं प्रत्ययप्रतिक्रमणकारणत्वात् आगमद्रव्यप्रतिक्रमणशब्देनोच्यते । नो आगमद्रव्यप्रतिक्रमण त्रिविधं । क्षायकशरीरभावित-द्रव्यतिरिक्तभेद । यथात्मा कारणं प्रतिक्रमणपर्यायस्य, तथा तदीयमपि शरीरं विकालगोचरमिति प्रतिक्रमणशब्दवाच्यं भवति । चारित्र्यमोहक्षयोपशमसामान्ये भविष्यप्रतिक्रमणपर्याय आत्मा भाविप्रतिक्रमणं । क्षयोपशमावस्थामुपगतः चारित्र्यमोह नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तमर्थं प्रतिक्रमणं । प्रतिक्रमणप्रत्यय आगमभावप्रतिक्रमण । मिच्छाणान-मिच्छादंसणमिच्छाचारिणादो पडिविरदोमिति एव स्वरूपज्ञानं । अशुभपरिणामदोषमवबुध्य श्रद्धया तत्प्रतिपक्षपरि-णामवृत्तिर्नो आगमभावप्रतिक्रमण ॥

सामायिकस्य प्रतिक्रमणस्य च को भेदः ? सावद्ययोगनिवृत्तिः सामायिकं । प्रतिक्रमणमपि अशुभमनोवाक्कायनि-वृत्तिरेव तत्तत्तत् पडावद्युक्तव्यवस्था ?

अत्रोच्यते—सर्वं सावज्जोणं पञ्चकस्वामीति वचनाद्विसादिभेदमनुपादाय सामान्येन सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिः सामायिकं । विसादिभेदेन सावद्ययोगविकल्पं कृत्वा ततो निवृत्तिः प्रतिक्रमण । तथा च सूत्र—

“ मिच्छत्तपडिक्कमणं, तेहेव असंजमपडिक्कमणं, कसापसु पडिक्कमणं, जोगेसु अ अप्पसत्थेसु ” इति वचनादि-ति केचित्परिहरान्ते ।

इदं त्वन्याय्यं प्रतिविधानं । योगशब्देन वीर्यपरिणाम उच्यते । स च वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितत्वात् क्षायोपशमिको भावस्ततो निवृत्तिरशुभकर्मदाननिमित्तयोगरूपेण अपरिणतिरतमन सामायिकं । मिथ्यात्वासंयमकपा-याश्च दर्शनचारित्र्यमोहोदयजा औदयिकाः । मिथ्यात्वं तत्त्वाश्रद्धान्तरूपं, असंयमो हि हिंसादिरूप । क्रोधादयस्तु परस्परतो मिथ्यात्वादसंयमोन्वाचानुभवसिद्धवैलक्षण्यरूपाः । ये मिश्रहेतुस्वरूपास्ते नैक्यमापद्यन्ते यथा शालियवगोधूममादिधान्यं । मिश्रहेतुस्वरूपाश्च मिथ्यात्वासंयमकपायाः । तेभ्यो विरतिव्यावृत्तिः प्रतिक्रमण । सावद्ययोगमात्रनिवृत्तिः सामायिकमिति भेदो भिन्नानयोः । भेदमेवाश्रित्यामीपां परिणामानां ' चतुपञ्चयाण वंधो इति सूत्रमवस्थितं । अन्यथा योगविकल्पत्वे मिथ्यात्वादीनां चतुःसंस्था न न्याय्या योगेन सह ।

प्रत्याख्यानं नाम अनागतकालविषया क्रिया न करिष्यामि इति संकल्पः । तच्च नामस्थापनाप्रव्यक्षेत्रकाल भावविकल्पेन पङ्क्तिः । अयोप्यं नाम नोच्चारयिष्यामीति चिन्ता नामप्रत्याख्यानं । आसामासानां प्रतिमा न पूजयिष्या-मीति, योगवयेण असंस्थावरस्थापनापीडां न करिष्यामीति प्रणिधानं मनसः स्थापनाप्रत्याख्यानं । अथवा अर्हददीनां स्थापनां न विनशयिष्यामि, नैवानादरं तत्र करिष्यामि इति वा । अयोग्याहारोपकरणद्रव्याणि न ग्रहीष्यामीति चिन्ता-प्रवधो द्रव्यप्रत्याख्यानं । अयोग्यानि चानिष्टप्रयोजनानि, संयमहानि संक्षेपं वा सपदायति यानि क्षेत्राणि तानि त्यक्ष्यामि इति क्षेत्रप्रत्याख्यानं । कालस्य तु परिहार्यत्वात् कालसाध्याया क्रियाया परिद्धताया काल एव प्रत्याख्यातो भवतीति ग्राह्य । तेन संध्याकालादिष्वध्ययनगमनादिकं न संपादयिष्यामीति चेत् कालप्रत्याख्यानं । भावोऽशुभपरिणामः तं न

निर्वर्तयिष्यामि इति सकल्पकरणं भावप्रत्याख्यान । तद्विधिवं मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानमिति । ननु च मूलगुणा व्रतानि तेषां प्रत्याख्यान निरासो भविष्यत्कालविषयश्चेन्न स संवर्धनाय कार्यः, सवर्धनमवश्यमनुष्ठीयते इति उत्तरगुणानां कारणत्वात्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते । मूलगुणशब्दः मूलगुणश्च सः प्रत्याख्यानं च तत् इति । व्रतोक्तकालभावितादनादिकं उत्तरगुण इति उच्यते । उत्तरगुणश्च स प्रत्याख्यानं च तद्विति उत्तरगुणप्रत्याख्यान । तत्र संयतानां जीवितावधिकं मूलगुणप्रत्याख्यान । संयतासंयतानां अणुव्रतानि मूलगुणव्रतव्यपदेशाजि भवति तेषां द्विविध प्रत्याख्यान अल्पकालिक, जीवितावधिकं चेति । पक्षमासपक्षमासादिरूपेण भविष्यत्काल सावधिकं कृत्वा तत्र स्थूल-हिंसानृतस्तेयव्रह्मपरिग्रहाश्चात्रित्यामि इति प्रत्याख्यानमल्पकालकम् ।

आभरणमवर्धं कृत्वा न करिष्यामि स्थूलहिंसादीनि इति प्रत्याख्यानं जीवितावधिकं च । उत्तरगुणप्रत्याख्यानं संयतसंयतानां संयतयोरपि अल्पकालिक जीवितावधिकं वा । परिशुद्धीतसयमस्य सामायिकादिकं अनशनादिकं च वर्तते इति उत्तरगुणत्वं सामायिकादेस्तपसश्च । भविष्यत्कालोचराशनादित्यागामकत्वात्प्रत्याख्यानत्व । सति सम्यक्त्ये चैतदुभयं प्रत्याख्यानं जीवनिकाय हिंसादिस्वरूपं च शक्त्वा श्रद्धाय सर्वतो देशतो वा हिंसादिविरतिर्वर्तते व्रत । तथा चोक्तं—'निःशल्यो व्रती' इति ।

मिथ्यादर्शनशाल्यं,॥ प्रायाशाल्यं, निदानशाल्यं चेति त्रिविधं शाल्यं तेभ्यो निष्क्रान्तं निःशल्यं । सावधारण चेन्द्रनिःशल्य एव व्रतीति । तेन सशाल्यव्रतित्वा निरस्ता भवति । न च असति श्रद्धाते मिथ्यात्वशाल्यनिवृत्तिः । न च जीवाद्यपरिहानं मन्त्रेण श्रद्धानस्यास्ति सम्भव इति ज्ञानदर्शनवत् एव व्रतितो सूत्रकारेण ख्यता । तथावश्यकेऽप्युक्तम्—

“पञ्चवदाणि जदीर्णं अणुव्यवाह च देसविरदाने”

“ण हुसम्मत्तेण विणा तो सम्मत्तं पढमदाए”

इति हिंसादिप्रवर्तनपर भाषितमिति क्रिया. पंचापि सराग्निभोजनाः प्रत्याचष्टे यतिस्त्रिधा मनोवाक्कायविकल्पेन कृतकारितानुमैतयवर्जनीव ।

सम्यग्दृष्टिस्वगारी मूलगुणं उत्तरगुणं वा स्वशक्त्या गृह्णाति परिमितकाल यावज्जीव वा । आत्मना प्रा-  
फकृत हिंसादिकं हा दुष्टं कृत, हा दुष्टं सकल्पित । वचो वा हिंसादिप्रवर्तनपरं भाषित इति निंदागद्वाभ्या दूषयन्वर्त-  
मानं चासंयमं कृत क्रियमाणत्वायमसदृश न करिष्यामि इति मनसि कुर्वन्प्रत्याख्याता भवति ॥

अगारिणा विरतिपरिणामविकल्पो निरूप्यते । स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतविकल्पाद्विविक्-  
त्यक मनोवाक्कायविकल्पैर्न त्यजति । मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं न करोमि, तथा वचसा कायेनेति त्रिविधं कृतम् ।  
मनसा स्थूलकृत प्राणातिपातादिकं न कारयामि, तथा मनसा स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं नानुजानामि, तथा वचसा कायेन  
चेति त्रिभेद कारितमनुमननं च ॥ एव नवाविधं स्थूलकृतप्राणवधादिकं त्यन्मुशक्तोऽगारी ।

१ पाठोऽयं कपुस्तके नास्ति एतुस्तकात्संयोजितोऽयम् ।

तथा मनोवाग्भ्यां स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं कृतकारितानुमतिविकल्पात्त्रिविधं कर्तुमशक्तो मनसा न करोमि, न कारयामि, नानुजानामि । वचसा करोमि, न कारयामि नानुजानामि इति ॥ कायेन कृतकारितानुमताविकल्पान् न हिंसादींश्च न समर्थो विद्वानु तथा च सूत्रं—

न ह्यु तिविधं निविधेण य दुविधेकविधेण वापि विरमेज्ज इति ॥

कथं तर्ह्यगारी विरतिमुपैति ॥ अत्रोच्यते ॥ कृतकारितविकल्पाद्विप्रकारं हिंसादिकं मनोवाक्कायैस्त्यजति ॥ वाचा कायेन वा हिंसादिविषय कृतकारित त्यजति ॥ कायेन एकेन वा कृतं कारितं त्यजति ॥ अत एवेकं 'दुविधं पुण तिविधेण य दुविधेकविधेण वा विरमेज्ज' इति । अथवा हिंसायाः स्वयं करणं एकं मनोवाक्कायैस्त्यजति ॥ नाहं मनसा वाचा कायेन स्थूलकृतप्राणातिपातादिकं पंचकं करोमीति ॥ अभिसंधिपूर्वकं विस्मरणं करोति । वाक्कायाग्ना वा स्वयं करणं त्यजति कायेनैकेन वा ॥ तथा चोक्तम्—'एकविधं निविधेण वापि विरमेज्ज' ॥ एवमेते व्रतविकल्पा भाविष्यन्तालविषयतयानुयुज्यमानाः प्रत्याह्वानविकल्पाः भवन्तीत्यत्रोपन्यासः ॥

कायोत्सर्गो निरूप्यते—कायः शरीरं तस्य उत्सर्गस्त्यागः उपलब्धधिष्ठानैर्द्विधावयवकः कर्मनिर्वर्तितः पुद्गल-प्रचयविशेष औदारिकारव्य इह कायशब्देन गृहीतः । इतरत्र उत्सर्गस्यासंभवात् वक्ष्यमाणस्य ।

ननु च आधुप्यो निरवशेषगलेन आत्मा शरीरमुत्सृजति नान्यदा तत्किमुच्यते कायोत्सर्ग इति ।

आत्मशरीरयोरेकस्य प्रदेशानुपवेशिनोरधुर्वशत्वेन अनपाधिविषेऽपि शरीरे अशुचित्वं सप्तधातुरूपतया संस्कारपरिष्करणं इत्यादिमान्संप्रधार्य दोषोद्भेदं मम नाहमस्येति संकल्पवत्तदादराभावात्कायस्य त्यागो घटत एव । यथा प्राणेश्योऽपि प्रियतमा कृतापराधावस्थिता ह्येकस्मिन्दिरे त्येकमुच्यते तस्यामनुरागाभावान्मभेदं भावव्यावृत्तिमपेक्ष्य एव मिद्वापि । किं च कायापायसन्निपातेऽपि अपायनिराकरणाभिलाषास्याभावात् । यो यदपायनिराकरणानुत्सर्गस्त्येन तत्परित्यक्तं यथा वसनादिकं परिहृतं । शरीरापायनिराकरणानुत्सर्गश्च यतिस्मादुच्यते कायत्यागः ।

तत्र शरीरनिःस्पृहः, स्थाणुरिवोद्ध्वकायः, प्रलवितभुजः, प्रशस्तथ्यानपरिणतोऽनुन्नमितानतकायं, परीपद्मानुप सर्गोश्च सहमानः, तिष्ठविर्जन्तुके कर्मापायिभिलाषी विविके देशे ।

अन्तर्मुहूर्तं कायोत्सर्गस्य जघन्यः कालः, वर्षमुत्कृष्टः । अतिचारनिवृत्तये कार्योत्सर्गो बहुप्रकारा भवन्ति । रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसंवत्सराद्या बहुप्रकारा भवन्ति । रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसंवत्सरादिकालगोचरातिचारभेदापेक्षया । सायंकौच्छ्वासा शतकं, प्रत्युपसि पंचाशात्, पक्षे त्रिशतानि, चतुर्षु मासेषु चतु शतानि, पंचशतानि संवत्सरे उच्छ्वासानां । प्रत्युपसि प्राणिवधादिषु पंचसतीचारेषु अष्टशतोच्छ्वासाभाजः कालः कार्योत्सर्गः । कायोत्सर्गे कृते यदि शस्यते उच्छ्वासास्य स्खलनं वा परिणामस्य उच्छ्वासाप्रक्रमधिकं स्थातव्यं ।

उत्थितोत्थितं, उत्थितनिविष्टम्, उपविष्टोत्थितं, उपविष्टोपविष्टं इति चत्वारो विकल्पाः । धर्मे शुक्ले वा परिणतो यस्तिष्ठति तस्य कायोत्सर्गः उत्थितोत्थितो नाम । द्रव्यभावोत्थानसमन्वितत्वादुत्थानप्रकर्षः उत्थितोत्थितशब्दे-

नोच्यते । तत्र द्रव्योत्थानं शरीरं स्थानुवदृष्ट्वै अविवलमवस्थानं । ध्येयैकवस्तुनिष्ठता ज्ञानामयस्य भावस्य भावोत्थानं । आर्तरीन्द्रयोः परिणतो यस्तिष्ठति तस्य उत्थितनिपण्णो नाम कायोत्सर्गः । शरीरोत्थानादुत्थितत्वं शुभपरिणामोद्गतितरूपस्योत्थानस्याभावाभिपण्ण इत्युच्यते । अत एव विरोधाभावो भिन्ननिमित्तत्वादुत्थानास्तनयोः एकत्र एकदा । यस्त्वासीन एव धर्मशुक्लध्यानपरिणतिमुपैति तस्य उत्थितनिपण्णो भवति परिणामोत्थानात्कामानुत्थानाच्च । यस्तु निपण्णोऽशुभमध्यानपरस्तस्य निपण्णनिपण्णकः । कायाशुभपरिणामाभ्या अनुत्थानात् ।

दैवसिक्काद्यनीचार रत्नत्रयगतं मनसा विमुक्ष्य इदं मया दुष्टं कृत प्रमादिनेति संचित्य पञ्चाद्धर्मे शुक्ले वा ध्याते प्रयतितव्यम् ।

कायोत्सर्गं प्रपन्नं स्थानदोषान्परिहरेत् । के ते इति चेदुच्यते । १ तुरग इव कुंटीकृतपोदेन अवस्थानम् २ लतेवेतस्तत्तत्स्थलतोऽवस्थान ३ स्तम्भवत्स्तब्धशरीरं कृत्वा स्थान । ४ स्तम्भोपाश्रयेण वा कुड्याश्रयेण वा मालावलम्ब-  
शिरसा वावस्थानम् । ५ लघिताधरतया, स्तनगतहृष्ट्या वायस इव इतस्ततो नयनोद्धर्तनं कृत्वावस्थानम् । ६ खलीना-  
वपीडितमुखहृद्य इव मुखचालन सपादयतोऽवस्थानं । ७ युगावष्टव्यवलीवर्द्ध इव शिरोऽध पातयता । ८ कपित्थ-  
फलप्राद्वीच विकशिक्कराल, संकुचितागुलिपचकं वा कृत्वा ॥ ९ शिरश्चालन कुर्वन् १० मूक इव हुकार संपाद्यावस्थानं  
११ मूक इव नासिकया वस्तूपदर्शयता वा ॥ १२ अंगुलिस्फोटनं १३ मूर्धनतन वा कृत्वा १४ शरवधूरिच  
स्वकौपीनेदेशाच्छादनपुरोग १५ शृङ्खलावद्धपाद इवावस्थान ॥ १६ पीतमदिर इव परवशगतशरीरो वा  
भूत्वावस्थान इत्यमी देपा ॥

ध्यावर्णितानामावश्यकाना अपरिद्धाणिर्द्धानिर्तनं कार्या ॥ अणुस्सेगो अधिकोनाकरणं च ।

तपोविनयप्ररूपणाय गाथाद्वयमाह—

मूलरा-६त्तरगुणज्जामो श्रद्धानज्ञानोत्तरकालभावित्वादुत्तरगुणः संयमः, तत्र उद्यमः । तपसो हि सति संयमं निर्जराहेतुत्व नान्यथेति तत्परिकरः संयमः । तथा चाहुः—“संयमहीणं च तवो जो कुणह णिरत्थयं कुणइ” इति । सम्मं सम्यक् संश्लेशदैव्याभ्या विना । अधियासर्गं सहनं क्षुधादेरिति शेषः । सद्वा श्रद्धा तपस्यनुराग इत्यर्थः । आवासयाणं आवश्यकानां सामाधिकचतुर्विंशतिस्तवधनप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानफायोत्सर्गलक्षणाना अवश्यकार्याणाम् । उचियाण उचितानां, योग्याणां, यथोक्तानामित्यर्थः । अपरिह्राणि अन्यूनात् । अणुस्सेगो अनुत्सेकः, अधिक्वेन करणं ।

तपका निरूपण करनेके लिये आगेकी दो गाथायें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—सम्यग्दर्शन और सम्पगज्ञानके अनंतरकालमें चारित्रिकी उत्पत्ति होती है इसलिये चारित्रिको-संयम को उत्तरगुण कहते हैं. श्रद्धान और ज्ञानके विना संयम होता नहीं. जिसको ज्ञान नहीं है और जो श्रद्धानरहित है

वह असंयमका त्याग नहीं करता है, यहाँ इस विवेचनका यह अभिप्राय है कि, संयमका उद्योत करनेवाला तपश्चरण निर्जराका कारण होता है, अर्थात् संयमपूर्वक तप हो तो कर्मकी निर्जरा होती है अन्यथा नहीं होती है, इसलिये संयम तपका परिकर है, इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं “ संजमहीर्णं च तपो जो कुणह् पिरत्थयं कुणह्” सयमरहित तप जो व्याक्ति करता है वह व्यर्थ ही क्लेश करता है,

संयमका उद्योत करनेके लिये मनमें संकेश परिणामोंको उत्पन्न न करते हुए क्षुधादि वाधाओंको सहना चाहिये, उपवास, ज्मोदर, वृत्तिपरिसंख्यान इन तपोंको करते समय भूख प्यासकी वेदनासे मनमें व्याकुलता न होनी चाहिये, अथवा यह तपश्चरण मैं कैसा धारण करूँ ऐसी कायरता छोड़ देनी चाहिये, आहारके और पानके पदार्थोंमें मनको चलित न करना चाहिये, मैं यह पदार्थ भक्षण करूँगा यह पदार्थ पी लूँगा ऐसे मुहसे कथा न करें तथा उस कथासे अनादर करें, उपवाससे थका हुआ इधर उधर लोटना छोड़दे, मैं क्षुधासे पीडित हुआ हूँ, प्याससे मेरेको कष्ट हो रहा है ऐसा वचन न बोलें अथवा आहारके दिन याचना न करें,

मैं उपवाससे थक गया हूँ इसलिये यह रूखा भोजन मैं नहीं खा सकता हूँ, मेरेको दूध, घी, खांड वगैरह पदार्थ आप देवें ऐसी वचनसे याचना नहीं करनी चाहिये, अथवा यदि यह पदार्थ मिले तो बहुत अच्छा होगा ऐसा मनमें भी विचार न लाना चाहिये, शरीरपर भी इस विचारका कुछ बिन्द्व व्यक्त न होना चाहिये, जैसे दाता क्षीरादि पदार्थ देने लगा तो मुख हास्यसे मण्डुलित होना, थंडा और रूख आहार देता हो तो मुखपर कोप प्रगट होना, इस तरह क्षुधादिक परीपह सहन करने चाहिये,

आहारादिककी प्राप्ति न होनेपर भी लाभकी अपेक्षा अलामसे ही मेरे तपकी वृद्धि होती है ऐसा मनमें विचार करता हुआ अलाम परीपह सहन करना चाहिये, लोकव्यवहारज्ञ और धार्मिक जन तप और तपस्विओंका बड़ा आदर करते हैं, मैं बड़ा कठिन तप करता हूँ तो भी ये लोक मेरा आदर करते नहीं है, यह विचार मनमें लाकर कोपसे संकेशपरिणामके वश न हो जाना चाहिये, अथवा सत्कारपुरस्कार परीपह सहन करना चाहिये,

रसका यदि परित्याग किया है तो रसयुक्त आहारकी कथाके तरफ अपने मनको न लगावें, रसयुक्त पदार्थका अवलोकन होनेसे उस विषयके आदरभावको दूर हटाना चाहिये, रसोंका त्याग करनेसे यदि देहमें दाह उत्पन्न हो तो सहन करना चाहिये,

आतापनयोग धारण करते समय सूर्यकिरणसे, स्वेदसे बहुत कष्ट होनेपर भी मन संकष्ट न होने देना चाहिये, और उनका प्रतीकार करनेवाले वस्तुओंमें आदर भी नहीं करे,

जहां लोगोंका आना जाना नहीं है ऐसे एकान्तस्थानमें प्रवेश किया हो और वहां पिशाच अथवा दुष्ट व्याघ्रादि पशुओंका उपद्रव होनेपर भी मनमें भयभीत न होना चाहिये और अरतिपरीषद् सहन करना चाहिये, प्रायश्चित्तका आचरण करते समयमें भी गुरने मेरे बलाबलका विचार न करके बड़ा प्रायश्चित्त दिया है ऐसा विचार कर मनमें क्रोध न उपजावें, प्रायश्चित्त करते समयमें होनेवाले क्लेशको सहकर संकष्ट परिणाम न होने देवें

ज्ञानविनयके कार्य में प्रवृत्त हुये मेरे को ही क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि करनेके लिये गुरु नियुक्त करते हैं, दूसरों को इस कार्यमें नहीं लगाते ऐसा विचार कर कोप नहीं करना चाहिये और ज्ञानविनयके कार्यमें श्रम हुआ तो भी सहन करना चाहिये,

दर्शनविनयमें तत्पर रहनेवाले मुनिवर्यने सन्मार्गसे श्रष्ट हुए व्यक्तीको सन्मार्गमें पुनः स्थिर करना चाहिये, ऐसे कार्यमें महान् परिश्रम करने पडने पर भी खेद न मानना चाहिये, स्वतःका चित्त वक्रविचारयुक्त हुआ हो तो उसको भी संधि मार्गपर लाना बड़ा दुष्कर कार्य है तो अन्य व्यक्तीको सन्मार्गमें स्थिर रखना क्या सुलभ है ? ऐसा मनमें विचार न करना चाहिये, अर्थात् स्थिरीकरणकार्यमें होनेवाले परिश्रमको सहन करना अपना कर्तव्य समझना चाहिये,

चारित्रविनयमें सदा ही तत्पर रहकर ईयादिसमितिगां पालनी चाहिये, ये समितिगां बड़ी दुष्कर हैं, जगमें सर्वत्र जीव मेरे हैं अतः जीवहिंसाका कैसे परिहार हो सकेगा ? प्रत्येक पांव रखते समय अच्छी तरहसे देख माल करने पर भी जीवोंका दर्शन और उनका परिहार होना अशक्य है, इससे तो इष्टस्थान पर जाना ही न होगा, ईयासमितिसे चलते समय सूर्यकी उष्णता, कंठकादिकसे बाधाये होती हैं, ऐसे विचार मनमें लाकर संकलशपरिणाम नहीं बनाना चाहिये,

जैसे दुष्टपुरुषमें कृतज्ञता गुण पाना दुर्लभ है वैसे ही नउ प्रकारसे विशुद्ध आहार पाना कठिन है, ऐसा मनमें कभी भी विचार न करे, यह सब चारित्रविनय है,

मैंने तपोविनय धारण किया है, अनशननादिक तप केरनमें मैं हमेशा तत्पर रहता हूं, अप्रासुक पानी

पीनेसे तथा अशुद्ध भिक्षा ग्रहण करनेसे जो पाप उत्पन्न होता है उसको मेरा तप भस्म कर डालेगा ऐसा मनमें संकल्प नहीं करना चाहिये।

बारबार ऊठना, गुरुओंके पीछे गमन करना, उनकी आज्ञा शिरोधारण करना, उपकरणोंकी सोधना पोछना वगैरे उपचारविनय है। ये कार्य दररोज करनेकी यह आपत् व्यर्थ ही पीछे लगी है। ऐसा मनमें विचार न करें। बड़े आनन्दसे उपचारविनयका पालन करें।

तपश्चरणमें श्रद्धा रखना यह भी तपोविनय है। तपश्चरणके द्वारा आत्मपर उपकार होता है यह अपने बुद्धिस जानकर तपके उपर श्रद्धा करनी चाहिये। तपश्चरणसे नवीन कर्मका संवर होता है। और पूर्वकालमें बंधा हुआ कर्म निर्जर्णि होकर आत्मासे छूट जाता है। तप जीवोंको इंद्रपदवी, चक्रवर्तिपद वगैरे लोकपूज्य पद अर्पण करता है। उच्छुद्ध तपके अलाभसे ही जीवको संसारसमुद्रमें जन्ममरण के आवर्तमें घूमना पड़ता है। दुःखोंसे भरे हुए इस भवसमुद्रमें तपके अभावसे ही मैंने भ्रमण किया है और करुणा। ऐसा विचार करके तपमें प्रेम करना चाहिये।

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ऐसी छह आवश्यक क्रियायें हैं। ये क्रियायें शास्त्रमें जैसी कही हैं वैसा उनका आचरण करना चाहिये। उसमें न्यूनता न होवें। यदि होगी तो तपोविनयमें न्यूनता आवेगी।

‘ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासयति वोधव्वा’ ऐसी आवश्यक शब्दकी निरुक्ति है। व्याधि-रोग अशक्तपना इत्यादि विकार जिसमें है ऐसे व्यक्तिको अवश कहते हैं। ऐसे व्यक्तिको जो क्रियायें करना योग्य हैं उनको आवश्यक कहते हैं। जैसे ‘आशु गच्छतीत्यश्वः’ अर्थात् जो शीघ्र दौड़ता है उसको अश्व कहते हैं। अर्थात् व्याघ्रादिक कोई भी प्राणी जो शीघ्र दौड़ सकते हैं वे सभी अश्वशब्दसे संशुद्धीत होते हैं। परंतु अश्वशब्द प्रसिद्धिके वश होकर घोड़ा इस अर्थमें ही रूढ है। वैसे अवश्य करने योग्य जो कोई भी कार्य है वह आवश्यक शब्दसे कहा जाना चाहिये जैसे-लौटना, करवट बदलना, किसीको बुलाना वगैरह कर्तव्य अवश्य करने पड़ते हैं परंतु आवश्यक शब्द यहां सामायिकादि क्रियाओंमें ही प्रसिद्ध है।

अथवा आवासक ऐसा शब्द मानकर ‘आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनि इति आवासका’ ऐसी भी निरुक्ति करते हैं। अर्थात् जो आत्मामें रत्नत्रयका निवास करते हैं उनको आवासक कहते हैं। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव,

वन्दना, प्रतिक्रमण, ग्रन्थस्थान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक क्रिया हैं—उसमेंसे सामायिक क्रियाका वर्णन आचार्य कहते हैं —

सामायिकके चार भेद हैं—नामसामायिक, स्थापनासामायिक, द्रव्यसामायिक और भावसामायिक।  
नामसामायिक—जाति, गुण, क्रिया वगैरह निमित्तोंके बिना किसी भी जीवादि पदार्थोंका सामायिक ऐसा नाम रखना

स्थापनासामायिक—सर्व पापोंका त्याग करनेवाले परिणामसे परिणत ऐसे आत्मासे एकरूप हुए शरीरका जो आकार सामायिक करते समय होता है वैसा ही आकारसादृश्य जिनमें है ऐसे चित्र, फोटो वगैरह पदार्थमें यह सामायिक है ऐसी स्थापना करना यह स्थापनासामायिक है।

आगमद्रव्यसामायिक—अंगवाह्य श्रुतज्ञान का सामायिक नामका आद्य ग्रंथ है उस ग्रंथका अर्थ जो जानता है अर्थात् सामायिक रूप आत्मपरिणामका अनुभव जिसको आ बुझा था परंतु सांप्रत जो सामायिकरूपज्ञानसे परिणत नहीं हुवा है वह व्यक्ति आगमद्रव्यसामायिक है।

नो आगमद्रव्यसामायिकके ज्ञायकशरीर, भावि और तत्त्वतिरिक्त ऐसे तीन भेद हैं। सामायिकको जाननेवाले आत्माका जो शरीर है वह भी आत्माके समान सामायिकका ज्ञान होनेमें कारण है। क्यों कि शरीरके बिना आत्माको ज्ञान होता नहीं है। जो पदार्थ जिसके सद्भावमें रहता है या उत्पन्न होता है और जिसके अभावमें उत्पन्न नहीं होता है वह उत्पन्न होनेवाला पदार्थ उसका कार्य समझना चाहिये। शरीरके बिना सामायिकका ज्ञान आत्मा स्वयं अपनेमें धारण नहीं कर सकता है। अतः वह ज्ञान शरीरका कार्य माना जाता है। अर्थात् ज्ञान और शरीरमें हेतुफलव्यवस्था है ऐसा यहां समझना चाहिये। ज्ञानरूप सामायिकका शरीर कारण होनेसे त्रिकालस्थित वह शरीर सामायिक शब्दसे वाच्य होता है।

भाविसामायिक—चारित्र्यमोहनीय कर्मके विशेष क्षयोपशमसे आत्मां भविष्यत्कालमें जो सर्व सावद्य योगसे निवृत्त करनेवाला परिणाम होगा उसको भावि सामायिक कहते हैं।

तत्त्वतिरिक्त नो आगमद्रव्यसामायिक—क्षयोपशमरूप अवस्थाको प्राप्त हुए चारित्र्य मोहनीय कर्मको जो कि सामायिकके प्रति कारण है वह नो आगमद्रव्य तद्वयतिरिक्त सामायिक है।



नो आगमभावसामायिक—संपूर्ण सावद्योगोंसे विरक्त ऐसे आत्माके परिणामको नो आगमभाव सामायिक कहते हैं। यही सामायिक प्रकृत विषयमें ग्राह्य है।

आगमभावसामायिक—सामायिक शास्त्रका ज्ञान जिसका सांप्रतमें उपयोग हो रहा है,

चतुर्विंशतिस्तव — इस भरतक्षेत्रमें वर्तमानकालमें वृषभनाथसे महावीर तक चौबीस तीर्थंकर होगये हैं। उनमें अर्हन्तपना वगैरे अनंतगुण हैं। उनको जानकर तथा उनके ऊपर श्रद्धान रखते हुये उनकी स्तुति करना यह चतुर्विंशतिस्तव है।

वंदना — रत्नत्रयधारक यति, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, वृद्धसाधु, इनके उत्कृष्ट गुणोंको जानकर श्रद्धा सहित होता हुवा अभ्युत्थान और प्रयोग ऐसे भेदसे दो प्रकारके विनयोंमें प्रवृत्ति करना यह वंदना आवश्यक है। इस अभ्युत्थान और प्रयोगके और भी अनेक भेद हैं।

यह वंदना कार्य किसको करना चाहिये, किसके प्रति करना चाहिये, किस समयमें और कितने बार करना चाहिये ? अभ्युत्थान—उठकर आदरसे खड़े होना यह कर्तव्य किसने बताया है ? तथा किस फलकी अपेक्षा करके यह करना चाहिये ? पूर्वकालमें कर्मभूमीमें विनयको कर्तव्य कर्म समझकर सर्व जिनेश्वरोंने उसका उपदेश दिया है यह कर्तव्य करनेसे मानकपायका नाश होता है। बहुमान करनेका श्रेय मिलता है। अथवा गुरुजन विनय करनेवालोंको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। तीर्थंकरोंकी आज्ञा हमने शिरोधार्य क्री है ऐसा सिद्ध होता है। इस विनयसे ज्ञान और धर्मकी आराधना होती है। परिणामोंमें निर्मलता, निष्कपटता और संतोष ये फल प्राप्त होते हैं। इन फलोंकी प्राप्ति लिये यह कर्तव्य वंदना करनेवालोंको करना चाहिये। विनय करनेवाला गर्वरहित, संसारभीरु, आलस्यरहित स्वभावयुक्त, अनुग्रहकी इच्छा रखनेवाला, अन्य व्यक्तियोंके गुण प्रकाशित करनेवाला, संघवत्सल, एवंविधगुणविशिष्ट होना चाहिये। सुनिओंको श्रावकके आनेपर उठकरके खड़े होना योग्य नहीं है, अथवा पार्श्वस्थादि अष्ट सुनिओंका आगमन होनेपर भी उठना योग्य नहीं है, जो सुनि रत्नत्रयमें, और तपश्चरणमें तत्पर हैं वे आनेपर अभ्युत्थान करना योग्य है। जो सुनि रत्नत्रयमें, और आचारमें शिथिल हो गये हैं उनके आनेपर उठ करके खड़े हो जानेसे कर्मबंध होता है। सुखशीलोंका विनय करनेसे प्रमाद उत्पन्न होता है। और जादा प्रमादी वनानेका साधन हो जाता है।

संसारभीरु सुनिओंके आनेपर अभ्युत्थान करना चाहिये। उससे अशुभ कर्मकी निर्जरा होती है, संसार

भरिता स्थिर और दृढ़िगत होती है, जो ग्रंथ और अर्थको पढ़ता है अथवा सदादि अनुयोगोंका शिक्षण देता है वह व्यक्ति यदि अपनेसे रत्नत्रयसे हीन है तोभी उसके आनेपर उठकर खड़े होना चाहिये, जो जो उसके पास अध्ययन करते हैं वे सर्वजन उठकर खड़े होंगे, वसतिकास्थानसे, कायभूमीसे (?) भिक्षा लेकर लौटते समय, जिनमंदिरसे आते समय, गुरुके पाससे आते वस्तु अथवा ग्रामांतरसे आते समय उठना चाहिये, गुरुजन जब बाहर जाते हैं अथवा बाहरसे आते हैं, तबतब अस्थुत्थान करना चाहिये, इसी प्रकारसे इतर बातें भी जाननी चाहिये.

पंचनमस्कारोच्चारण करते समय प्रथमतः भूमिपर हाथ जोड़कर एक नमस्कार करना चाहिये, तथा चतुर्विंशतिस्तवनके प्रारंभमें ही नम्र होकर एक नमस्कार करना चाहिये, प्रत्येक दिशामें तीन आवर्त कर एक नमस्कार करना चाहिये, ऐसा करनेसे चार दिशाओंमें चार नमस्कार और बारा आवर्त होते हैं. ( हमने इसका अर्थ संक्षेपसे लिखा है, इसका खुलासा मूलाचार ग्रंथमें पडावश्यकाधिकार की १०४ गाथामें वसुनंदि आचार्यने किया है पाठकगण वहां देख लेंगे. )

अब प्रतिक्रमणका विवरण करते हैं—

अशुभ प्रवृत्तीसे निवृत्त होना प्रतिक्रमण है, उसके छह भेद हैं, जैसे नामप्रतिक्रमण, स्थापनाप्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण, और भावप्रतिक्रमण, अयोग्य नामोंका उच्चारण न करना यह नाम प्रतिक्रमण है, भर्तृदारिका, स्वामिनी इत्यादिक अयोग्य नामोंका उच्चार न करना यह नामप्रतिक्रमण है.

स्थापना प्रतिक्रमण—आत्माभास-हरिहरादिकोंकी प्रतिमायें, त्रस और स्थावरोंके चित्र, जो कि रंगके द्वारा लिखे गये हैं अथवा पापण, लकड़ी इत्यादिकोंमें उकिये गये हैं इन सबको स्थापना कहते हैं, आत्माभासकी प्रतिमाके आगे खड़े होकर हात जोड़ना, मस्तक नम्र करना, उनकी गंधादिद्रव्योंके द्वारा पूजा करना यह कार्य नहीं करना चाहिये, इस प्रकारके स्थापनाका त्याग होनेसे स्थापना प्रतिक्रमण होता है, अथवा त्रसजीवोंकी वा स्थावरजीवोंकी जो स्थापनायें होती हैं उसका नाश न करना, मर्दन न करना, ताड़न न करना, यह भी स्थापना प्रतिक्रमण है.

द्रव्यप्रतिक्रमण—वास्तु, क्षेत्र, क्षेत्र, घनथान्यादि दशप्रकारके परिग्रहोंका त्याग करना, उद्गम, उत्पादनादि

दोपयुक्त वसतिका, उपकरण व आहार इनका त्याग करना, जो आहारादिक पदार्थ अयोग्य हैं, अभिलाषाको अधिकतासे उत्पन्न करते हैं, जिनसे उन्मत्तता और संक्लेशपरिणाम बढ़ते हैं ऐसे आहारादिकोंका त्याग करना यह सब द्रव्यप्रतिक्रमण है।

क्षेत्रप्रतिक्रमण—पानी, कीचड़, त्रसजीव, स्थावर जीव इनसे व्याप्त हुए प्रदेशोंमें जाने आनेका त्याग करना। अथवा जिसमें अपने रहनेसे रत्नत्रयधर्मकी हानि होगी ऐसे प्रदेशोंका त्याग करना यह भी क्षेत्रप्रतिक्रमण है, जहाँ ज्ञानवृद्ध व तपोवृद्ध मुनि रहते नहीं हैं ऐसे स्थानोंको त्यागना यह क्षेत्रप्रतिक्रमण है।

कालप्रतिक्रमण—रात्रौ, तीनों संध्यासमयोंमें, स्वाध्याय काल, और सामायिकादि आवश्यक क्रियाओंके कालोंमें जाना आना वगैरे क्रियाओंका त्याग करना यह कालप्रतिक्रमण है।

काल तो सदा ही रहता है उसका त्याग हो नहीं सकता परंतु उस कालमें होनेवाली क्रियाओंका वह काल आधार है उसके साहचर्यसे उन क्रियाओंको भी काल कहते हैं।

भावप्रतिक्रमण—मिथ्यात्व, अमंथम, कपाय, रागद्वेष, संज्ञा, -आहार, भय, परिग्रह और मैथुनकी अभिलाषा, निदान और आर्तध्यान, रौद्रध्यान इत्यादिक अशुभपरिणाम व पुण्यासुखके कारणभूत अशुभपरिणाम इन सबोंको यहाँ भाव कहते हैं, उनसे निवृत्त होना भावप्रतिक्रमण है ऐसा किसी आचार्यका मत है, कोई आचार्य प्रतिक्रमणके चार भेद कहते हैं-

नामप्रतिक्रमण—द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति इत्यादि निमित्तोंके बिना ही किसीका प्रतिक्रमण ऐसा नाम रखना वह नाम प्रतिक्रमण है।

स्थापना प्रतिक्रमण—विशिष्ट जीव द्रव्यके शरीराकारकी सदृशताकी अपेक्षासे चित्रादिकोंमें अशुभ परिणामोंकी स्थापना करना वह स्थापना प्रतिक्रमण है।

आगमद्रव्यप्रतिक्रमण—प्रमाण, नय, निक्षेप वगैरहके द्वारा प्रतिक्रमणावश्यक ग्रंथका स्वरूप जो जानता है परंतु वर्तमानकालमें प्रतिक्रमणके सूत्रोंमें उसका उपयोग लगा नहीं है, परंतु आगमिकालमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानरूप प्रतिक्रमणका जो कारण है ऐसे जीवको आगमद्रव्यप्रतिक्रमण कहते हैं।

नौ—आगमद्रव्यप्रतिक्रमणके तीन भेद हैं, ज्ञायकशरीर, मावि और तद्वयतिरिक्त, जैसे प्रतिक्रमण-

पर्यायको आत्मा कारण है वैसे उस आत्माका शरीर भी प्रतिक्रमणपर्यायको कारण है. इसलिये उसका त्रिकालगोचर शरीर भी प्रतिक्रमणशब्दसे वाच्य होता है.

भावप्रतिक्रमण—चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयोपशमका साविध्य होनेसे जो आगे प्रतिक्रमणपर्याय धारण करेगा वह आत्मा भाविप्रतिक्रमण है.

नो - आगमद्रव्यव्यतिरिक्त प्रतिक्रमण—क्षयोपशमावस्थाको प्राप्त हुवा जो चारित्रमोहकर्म वह तद्रय-तिरिक्त प्रतिक्रमण है.

प्रतिक्रमणका जो ज्ञान वह आगमभावप्रतिक्रमण है मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र इनसे मैं विरक्त हुआ हूं ऐसा जो ज्ञान आत्मामें उत्पन्न होता है वह आगमभावप्रतिक्रमण है.

अशुभपरिणामोंके दोष जानकर और श्रद्धा कर उसके उलटे परिणामोंसे आत्मा जब परिणत होता है तब वह नो आगमभावप्रतिक्रमण है.

प्रश्न—सामायिक और प्रतिक्रमणमें क्या भेद है ? सावधमनवचन कायकी प्रवृत्तियोंसे विरक्त होना यह सामायिकका लक्षण है. और अशुभ मनोवाकायकी निवृत्ति होना यह प्रतिक्रमण है अर्थात् प्रतिक्रमण और सामायिक इनमें कुछ भी भेद नहीं है इसलिये छह आवश्यक क्रियाओंकी व्यवस्था कैसी होगी ? इस प्रश्नका उत्तर कोई विद्वान इस प्रकार देते हैं—

‘सर्व सावद्योगोंका मैं त्याग करता हूं’ ऐसा वचन अर्थात् प्रतिज्ञा सामायिकमें की जाती है. हिंसा-दिकोंके भेद पृथक् न ग्रहण कर सामान्यसे सर्व पापोंका त्याग करना सामायिक है. और हिंसा, असत्य वगैरे भेदोंसे सावद्योगके विकल्प करके उससे विरक्त होना प्रतिक्रमण है. इस विषयके सूत्र का अभिप्राय यह है कि—मिथ्यात्वका त्याग करना, असंयमका अर्थात् उसके प्रभावसे उत्पन्न होनेवाले अतिचारोंका त्याग करना, कर्पायोंका तज्जनित अतिचारोंका त्याग करना तथा अग्रस्त मनोवाकाय विषयक व्रततिचारोंका त्याग करना यह भाव प्रतिक्रमण है. इस रीतीसे उपरके प्रश्नका कोई विद्वान उत्तर देते हैं परंतु यह उनका उत्तर अयोग्य है.

योग शब्दसे वीर्यपरिणाम ऐसा अर्थ होता है. वह वीर्यपरिणाम वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशममें उत्पन्न

होता है, इसलिये वह क्षायोपशसिक्त भाव है, ऐसे योगसे निवृत्त होना यह सामायिक है अर्थात् अशुभकर्मका ग्रहण करनेवाले योगरूप आत्मा की परिणति न होना यह सामायिक शब्दका अर्थ है।

मिथ्यात्व, असंयम और कषाय ये दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे आत्मा में उत्पन्न होते हैं, अतः ये भाव औदार्यिक हैं, मिथ्यात्व-तत्त्वों में श्रद्धान न करना, असंयम-हिंसादि पंच पापोंको असंयम कहते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ ये परिणाम परस्परसे और मिथ्यात्व असंयमसे विलकुल भिन्नस्वरूप हैं ऐसा अनुभवमें आता है, जिसके कारण भिन्न रहते हैं वे पदार्थ एकस्वरूपके नहीं होते हैं, जैसे शाली और गेहूँओंके कारण भिन्न होनेसे वे एक नहीं हैं, वैसे ही मिथ्यात्व, असंयम और कषाय इनके हेतुओंमें भी भिन्नता होनेसे ये परस्पर तो भिन्न हैं, ऐसे परिणामोंसे विरक्ति होना यह प्रतिक्रमण कहा गया है, सावधयोगमात्रसे निवृत्त होना सामायिक है, ऐसा दोनोंमें बड़ा भेद-विशेष है।

इन परिणामोंके भेदोंका आश्रय कर 'बुद्धपञ्चयाण वंधो' यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है, यदि योगके ही चार भेद माने जाते तो योगके साथ मिथ्यात्वादिकोंकी चार संख्या मानना न्याय्य नहीं होता।

प्रत्याख्यान आवश्यक—भविष्यकालीन क्रिया में नहीं करूंगा ऐसा संकल्प करना यह प्रत्याख्यान आवश्यक है यह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऐसे विकल्पसे छह प्रकारका है, अयोग्य नामका मैं उच्चार नहीं करूंगा ऐसे संकल्पको नामप्रत्याख्यान कहते हैं, आत्माभासके-हरिहरादिकोंकी प्रतिमाओंकी मैं पूजा नहीं करूंगा, मनसे, वचनसे और कायसे त्रस और स्थावर जीवोंकी स्थापना मैं पीडित नहीं करूंगा ऐसा जो मानसिक एकाग्र रूप संकल्प वह स्थापना प्रत्याख्यान है, अथवा अर्हदादि परमेष्ठिओंकी स्थापनाका-उनकी प्रतिमाओंका मैं नाश न करूंगा, अनादर नहीं करूंगा, यह भी स्थापना प्रत्याख्यान है।

द्रव्यप्रत्याख्यान—अयोग्य आहार, उपकरण वगैरह पदार्थोंको मैं ग्रहण न करूंगा ऐसा संकल्प करना, क्षेत्रप्रत्याख्यान—अयोग्य व जिनसे अनिष्ट प्रयोजनकी उत्पत्ति होगी, जो संयमकी हानि करेंगे अथवा संकेशपरिणामोंको उत्पन्न करेंगे ऐसे क्षेत्रोंको मैं त्यागूंगा ऐसा संकल्प करना यह क्षेत्रमत्याख्यान है, कालप्रत्याख्यान—कालका त्याग करना शक्य ही नहीं है, इसलिये उस कालमें होनेवाली क्रियाओंको त्यागनेसे कालका ही त्याग होता है ऐसा यहां समझना चाहिये, अर्थात् संध्याकाल, रात्रिकाल वगैरह समयमें

अध्ययन करना, आना जाना इत्यादिकार्य में नह। करूंगा ऐसा संकल्प करना कालप्रत्याख्यान है।  
 हैं। मूलगुण प्रत्याख्यान—भाव-अशुभपरिणाम उनका मैं त्याग करूंगा ऐसा संकल्प करना। इसके दो भेद  
 संकल्प संवरको चाहनेवाले यदि करें तो कर्मसंवर होगा ही नहीं। संवरको चाहनेवालोंको व्रतका अवश्य पालन  
 करना चाहिये अतः मूलगुणप्रत्याख्यान होता नहीं है।

उत्तर—उत्तरगुणोंको कारण होनेसे व्रतोंमें मूलगुण यह नाम प्राप्त है। मूलगुणरूप जो प्रत्याख्यान वह  
 मूलगुणप्रत्याख्यान है। अर्थात् यहां पृथित्युपुरुष समास नहीं है। कर्मधारय समास है। अतः उपर्युक्त शंकाका  
 परिहार हुआ। व्रतोंके अनंतर जो पाले जाते हैं ऐसे अनशनादि तपोंको उत्तरगुण कहते हैं। उत्तरगुणप्रत्याख्यान इस

शब्दमें भी कर्मधारय समास ही है। 'उत्तरगुणश्च सः प्रत्याख्यानं च तदिति उत्तरगुणप्रत्याख्यान' मूलगुणप्रत्याख्यान आमरण कहते हैं। गृहस्थ मूलगुणप्रत्याख्यान अल्प-  
 संयत अर्थात् पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक उसके अणुव्रतोंको मूलगुण कहते हैं। पक्ष, छह माहिने इत्यादिरूपसे भविष्यत्कालकी  
 कालिक और जीवितावधिक ऐसा दोन प्रकारका कर सकते हैं। पक्ष, छह माहिने इत्यादिरूपसे भविष्यत्कालकी  
 मर्यादा करके उसमें स्थूल हिंसा, अस्वत्, चोरी, मैथुनसेवन, और परिग्रह ऐसे पंचपातक में नहीं करूंगा ऐसा  
 संकल्प करना यह अल्पकालिक प्रत्याख्यान है। मैं आमरण स्थूल हिंसादिपापोंको नहीं करूंगा ऐसा संकल्प कर  
 उनका त्याग करना यह जीवितावधिकप्रत्याख्यान है।

उत्तरगुणप्रत्याख्यान तो सुनि और गृहस्थ जीवितावधि और अल्पावधि भी कर सकते हैं। जिसने संयम  
 धारण किया है, उसको सामायिकादिक, और अनशनादिक भी रहते हैं अतः सामायिकादिकोंको और तपको  
 उत्तरगुणपना है। भविष्यत्कालको विषय करके अशनादिकोंका त्याग किया जाता है। अतः उत्तरगुणरूप यह  
 प्रत्याख्यान है ऐसा माना जाता है। सम्यक्त्व यदि होगा तभी यह दो तरहका प्रत्याख्यान सुनि और गृहस्थोंको  
 माना जाता है। यदि सम्यग्दर्शनके साथ यह प्रत्याख्यान न होगा अकेला ही होगा तो वह प्रत्याख्यान इस  
 नामको नहीं पाता है।

जीवनिकाय और हिंसादिकोंका स्वरूप जानकर और उनके ऊपर श्रद्धा कर यदि सर्व प्रकारसे अथवा एकदेशसे हिंसादिकोंका त्याग करनेपर उस त्यागको व्रतसंज्ञा प्राप्त होती है, यही अभिप्राय 'निःशल्यो व्रती' इस सूत्रमें है, मिथ्याशल्य, मायाशल्य और निदानशल्य ऐसे तीनशल्य हैं, ऐसे तीनशल्योंसे जो रहित है वही निःशल्य है, निःशल्यको ही व्रती कहना चाहिये, जो शल्यसहित है वह व्रती नहीं है, यदि जीवादि पदार्थोंपर श्रद्धा न हो तो मिथ्यात्वशल्यका त्याग नहीं हो सकता, जीवादिपदार्थोंका ज्ञान यदि न होगा तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान युक्त प्राणीको ही व्रतिपना प्राप्त होता है ऐसा सूत्रकारने कहा है, यही अभिप्राय आवश्यक नामके ग्रंथमें भी कहा है—

“मुनिजोंके अहिंसादि पंचमहाव्रत और श्रावकोंके पांच अणुव्रत ये सम्यग्दर्शनके विना नहीं होते हैं, इसलिये प्रथमतः आचार्योंने सम्यक्त्वका वर्णन किया है।”

मुनिराज मनसे, वचनसे और शरीरसे हिंसादिक पाप कार्य स्वयं नहीं करते, न कराते और न अनुमोदन देते हैं, यावज्जीव नउ प्रकारसे पापोंका त्याग करते हैं, परंतु सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मूलगुण अथवा उत्तरगुण अपनी शक्यनुसार ग्रहण करता है और यावज्जीव किंवा अल्पकालपर्यंत पालता है, मैंने पूर्वकालमें हिंसादिक कार्य किये, हाय मैंने यह दुष्ट कार्य किया, मैंने दुष्ट संकल्प किये और मैंने हिंसादि मृदुचिकर माषण किया, यह मैंने अयोग्य किया है इस प्रकार निंदा और गद्गर्के द्वारा वर्तमान कालीन असंयम बुरा समझता है, पूर्वमें जैसा असंयम मैंने किया था अथवा अब जो असंयम मृदुचि हुई ऐसी असंयम प्रवृत्ति मैं आगामिकालमें नहीं करूंगा, इस रीतीसे वह श्रावक पापोंका प्रत्याख्यान करता है।

अब गृहस्थोंके हिंसादि त्यागरूप परिणामोंके विकल्पोंका विवरण करते हैं—

स्थूल हिंसादिक पांच पापोंको कृत, कारित, अनुमत ऐसे तीन विकल्पोंसे तथा मन, वचन और शरीरके विकल्पोंसे त्याग नहीं करते हैं, उनका क्रम—मैं मनसे स्थूल हिंसादिक पांच पाप नहीं करूंगा, तथा वचनसे और शरीरसे भी नहीं करूंगा, यह कृतके तीन भेद हैं, मनके द्वारा मैं स्थूल हिंसादिक पांच पाप नहीं करारूंगा, तथा वचन और शरीरके द्वारा भी नहीं करारूंगा, ये कारितके तीन भेद हैं, मनके द्वारा स्थूल हिंसादि पापोंको सम्मति मैं नहीं देऊंगा, वचन और शरीरके द्वारा भी मैं सम्मति नहीं देऊंगा इस तरहसे तीन प्रकारकी सम्मति

हैं, परंतु गृहस्थ नहीं रहते हैं।

मन और वचनके द्वारा स्थूल हिंसादिक पापोंको कृत, कारित, अनुमतीके विकल्पाँसे विरक्त परंतु शरीरके द्वारा हिंसादिक पापोंका कृतकारितानुमति विकल्पपूर्वक त्याग करनेमें असमर्थ रहते हैं। क्यों कि वे गृहकायोंसे विरक्त द्वारा मैं स्थूल पातक नहीं करूंगा, नहीं कराउंगा और अनुमति नहीं देउंगा, तथा वचनके द्वारा भी स्थूल पातक नहीं करूंगा, नहीं कराउंगा और अनुमति नहीं देउंगा इस प्रकार हिंसादिकका त्याग कर सकता है। इस विषयमें ऐसा सूत्र है—‘ण खु विविधं तिविधेण य दुविधेकविधेण वापि विरमेज्ज’ इति।

गृहस्थ किस प्रकारसे विरक्त होता है ? इस ग्रन्थका उचार आचार्य लिखते हैं—कृत और कारितविकल्पसे मन वचनकायके द्वारा वे हिंसादिक त्यागते हैं, अथवा शरीरके द्वारा और वाणीके द्वारा हिंसादिविषयक कृतकारितका त्याग करते हैं। इसीलिये इस विषयमें पूर्वोक्ताने आगेका सूत्र कहा है—‘दुविधं पुण तिविधेण य दुविधेकविधेण वापि विरमेज्ज’

अथवा मनवचन और शरीरके द्वारा स्थूलहिंसादिक पाप फक्त स्वयं में नहीं करूंगा ऐसा संकल्पपूर्वक व्रत ग्रहण करता है। किंवा वचन और शरीरके द्वारा ही पांच पापोंको स्वयं नहीं करता है अथवा केवल शरीरसे ही स्वयं हिंसादिकोंका कृतरूपसे त्याग करता है। अर्थात् मैं शरीरके द्वारा ही पांच पातक नहीं करूंगा। ऐसा व्रत लेता है। इस विषयका सूत्र ऐसा है—‘एकविधं तिविधेणापि विरमेज्ज’

इस रीतीसे जो व्रतोंके विकल्प होते हैं इनको भविष्यत्कालका विषय करनेसे प्रत्याख्यानके विकल्प उत्पजते हैं। जैसे—मैं मन, वचन और शरीरके द्वारा कृत, कारित और अनुमोदनोँसे आगेके कालमें हिंसादिकोंका त्याग करूंगा इत्यादि।

कायोत्सर्गका निरूपण करते हैं—  
कायोत्सर्ग—काय शब्दका अर्थ शरीर होता है। और उत्सर्ग शब्दका अर्थ त्याग होता है। अर्थात् शरीरका त्याग करना यह कायोत्सर्ग शब्दका समग्र अर्थ हुआ। पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानको आधारभूत इंद्रिय-रूपी अवयवोंसे जिसकी रचना हुई है ऐसा कर्मनिर्मित औदारिक नामका जो विशिष्ट पुद्गलसमुदाय वह यहां



काय शब्दसे गृहीत होता है, अर्थात् औदारिकशरीरको यहा 'काय' कहते हैं क्योंकि इतर वैक्रियिकादि शरीरोंमें उत्सर्ग-त्यागका संभव सिद्ध नहीं होता है, औदारिक शरीरसे ही चारित्र पाला जाता है, इससे ही मनुष्य मोक्षको हस्तगत करते हैं अतएव इसमें ही उत्सर्गकी संभावना है, अन्यत्र नहीं है, इस उत्सर्गका आगे खुलासा लियेंगे,

शंका—जब आयुर्कर्म पूर्ण निकल जाता है तभी आत्मा शरीरको छोड़ती है, अन्यसमयमें नहीं, इसलिये अन्यसमय कायोत्सर्ग नामकी आवश्यक क्रिया कैसी होगी ?

उत्तर—आत्माके और शरीरके प्रदेश परस्परोंमें मिलजानेसे जवतक आयुर्कर्म है तवतक आत्मासे शरीरका विछोह नहीं होगा तोभी शरीर सप्तधातुओंसे बना हुआ है, अत्यंत अपवित्र शुक्र और शोणितोंसे इसकी उत्पत्ति हुई है अतः यह अशुचि है, तथा यह अनित्य, विनाशशील, असार, दुःखका हेतु है, इस शरीरपर समता करनेसे जीवको अनंत कालतक संसारमें भ्रमण करना पड़ेगा, इत्यादिक शरीरदोषोंका विचार कर यह शरीर मेरा नहीं है और मैं इसका स्वामी नहीं हूं ऐसा संकल्प मनमें पैदा हो जानेसे शरीरपर प्रेमका अभाव होता है, उससे शरीरका त्याग सिद्ध होता है, जैसे प्राणसे भी प्रियपत्नीने यदि कुछ अपराध किया हो तो वह पतिके साथ एक ही घरमें रहती है तो भी पत्नीका प्रेम उसपरसे हट जानेसे वह त्यागी गई है ऐसा कह सकते हैं, क्यों कि यह मेरी है यह समत्वभावना पुरुषके हृदयसे नष्ट हुई है, वैसे यहां शरीरपरसे समत्व भाव हटनेसे कायोत्सर्ग-शरीरका त्याग सिद्ध होता है,

शरीरका नाश होनेका कारण उपस्थित होनेपर भी नाशको हटानेकी अभिलाषा कायोत्सर्ग नामक आवश्यक क्रिया करते समय मुनिवर्यमें नहीं होती है, जो जिसके नाशके कारण हटानेमें उत्सुक नहीं हैं उसने वह त्यागा है ऐसा समझना चाहिये जैसे वस्त्रादिकोंका त्याग, शरीरके अपायकारणको हटानेमें यति निरुत्सुक रहते हैं इस लिये उनका कायत्याग योग्य ही है, कायोत्सर्ग करनेवाले मुनि शरीरपर निश्चुह होकर संभके समान खड़े हो जाते हैं, अपने दो बाहु जानु तक लंबे रखते हैं, और प्रशस्तध्यानमें निमग्न होते हैं, अपने ऊपरके शरीरको वे उभर और नम्र भी नहीं रखते हैं अर्थात् वे छातीको आगे जादा उठाते नहीं हैं अथवा नीचे उनका शरीर जादा झुकता भी नहीं है, कर्मका नाश करनेकी इच्छा रखते हुए वे निर्जन्तुक एकान्त स्थानमें उपसर्ग सहन करते हैं,

कायोत्सर्गका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल एक वर्षका है. रात्रिकायोत्सर्ग, दिनकायोत्सर्ग, पक्ष, मास, चारमास, संवत्सर ऐसे कायोत्सर्गके बहुत भेद हैं. अतिचार नष्ट होनेके लिये ये कायोत्सर्ग किये जाते हैं. रात्रि, दिवस, पंधरादिन, महिना, चारमहिने, वर्ष इत्यादि समयमें जो व्रतमें अतिचार लगते हैं उनको दूर करनेके लिये ये कायोत्सर्ग किये जाते हैं. सायंकालमें सो उच्छ्वास और प्रातःकालमें पचास उच्छ्वास किये जाते हैं. एक पक्षमें तीनसो श्वासोच्छ्वास, चारमहिनेमें चारसो और वर्षमें ५०० पांचसो कायोत्सर्गका काल कहा है. प्राणि-हिंसादि पांच प्रकारके अतिचारोंमेंसे जो कोई अतिचार होगा तब एकसो आठ उच्छ्वास करने चाहिये. कायोत्सर्ग करनेपर यदि श्वासोच्छ्वास करते समय उनकी यदि संख्या ध्यानमें न रही है अथवा परिणामोंमें स्वलन हुवा हो तो आठ उच्छ्वास काल तक अधिक कायोत्सर्ग करना चाहिये.

कायोत्सर्गके १ उत्थितोत्थित, २ उत्थितानिविष्ट, ३ उपविष्टोत्थित ४ और उपविष्टोपविष्ट ऐसे चार भेद कहे हैं.

१ धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यानमें परिणत होकर जो खड़े होकर कायोत्सर्ग करते हैं उनका वह उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग है. शरीर और आत्माके परिणाम दोनों भी उन्नत है यहां उनका उन्नतिप्रकर्ष दिखानेके लिये 'उत्थितोत्थित' शब्दका प्रयोग किया है. उसमें शरीर सबके समान स्थिर खड़ा हुआ है यह द्रव्योत्थान कहा जाता है. तथा ज्ञान स्थिर होकर ध्येय वस्तुमें एकाग्र होता है उसको भावोत्थान कहते हैं.

आर्तध्यान और रौद्रध्यानमें परिणत होकर जो खड़ा होता है उसके कायोत्सर्गको उत्थितानिविष्ट कायोत्सर्ग कहते हैं. शरीरसे वह खड़ा है अतः उसको उत्थित कहते हैं. परंतु शुभपरिणामरूप उत्थानका अभाव होनेसे निषण्ण कहते हैं. उत्थितावस्थाका और आसनवस्थाका भिन्न भिन्न कारण होनेसे यहां उत्थित और उपविष्टमें विरोध नहीं है.

जो मुनि बैठकर ही धर्म और शुक्लध्यानमें लवलीन होता है उसका उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग है. परिणाम उसके उन्नतशील है परंतु शरीरसे वह उठकर खड़ा नहीं हुआ है, जो मुनि बैठा हुआ है और अशुभध्यान कर रहा है वह निषण्णनिषण्ण कायोत्सर्गशुक्त समझना चाहिये. वह शरीरसे बैठा हुआ है और परिणामोंसे भी उत्थानशील नहीं है.

दिवस, रात्रि, पार्श्विक, चातुर्मासिक, वार्षिक रत्नत्रय संवन्धी जो अतिचार होयये हो उनका मनसे स्मरण करना चाहिये. अनंतर मेने ग्रामादवश होकर यह दृष्ट कार्य किया है ऐसा चिन्तन कर धर्म अथवा शुक्लध्यानमें प्रयत्न करना चाहिये. कायोत्सर्ग धारण करनेवाले मुनियोंने उत्थित कायोत्सर्ग दोषोंका त्याग करना चाहिये. उन दोषोंका स्वरूप इस प्रकार है—

१ जैसे घोड़ा आपना एक पांव थोडासा अकड़ लंगडा करके खड़ा हो जाता है वैसे खड़ा होना २ घेली जैसी इधर उधर चंचल होकर हिलती है वैसे खड़ा कायोत्सर्ग करते समय हिलना. ३ संवेके समान शरीर ताठ करके खड़े होना ४ खंवेके आथयसे, भित्रीके आधारसे अथवा मस्तरुकी ऊपरके पदार्थका आश्रय देकर खड़े होना. ५ अग्ररोष्ठ लंबा करके और स्तनके तरफ दृष्टि देकर कौवेके समान ट्टीकी उतस्ततः फेकना. ६ लगामसे पीडित होकर घोड़ा जैसे मुखको हिलाता है वैसे मुखको हिलाता हुआ खड़े होना ७ घेलके मानपर जू रखनेमे वह अपनी मान नीचे करता है वैसे मान नीचे करता हुआ खड़े होना. ८ कैथका फल फरुडेनेवाला मनुष्य हाथका तलभाग जैसे पसरता है वैसे करतल पमारकर खड़े होना. ९ हाथके पांचो अंगुलिया मंडुचित करके खड़े हो जाना. १० गूंगामनुष्य जैसे हुंकार करता है वैसे खड़े होकर हुंकार करना. अथवा गूंगा आदमी जैसे नारुके तरफ हाथ उठाकर वस्तुको दिखाता है वैसे खड़े होकर वस्तुको हाथसे दिखाना, चुटकी बजाना, मोहे देनी करना, मोहे नचाना. अर्थात् खड़े होकर उपर्युक्त दोषसहित कायोत्सर्ग करना. १४ भीलकी ली जैसी अपने गुप्तप्रदेशको हाथसे ढकती है वैसे कायोत्सर्गके समयमें करना. १५ जिसके पाव बेंडीसे जकड़े हुये हैं ऐसे मनुष्यके समान खड़े रहना. १६ मद्यपान किये हुए मनुष्यके समान शरीरको इधर उधर झुकाता हुआ खड़े होना ऐसे कायोत्सर्गके दोष हैं. इन छह आवश्यक कर्मोंमें हानि नहीं करनी चाहिये तथा इनमें घटवढ भी नहीं करनी चाहिये.

भत्ती तवोधिगंमि य तवस्मि य अहीलणा य सेसाणं ॥

एसो तवस्मि विणओ जहुत्तचारिस्स साधुस्स ॥ ११७ ॥

तपस्तपोऽधिके भक्तिर्यच्छेषाणामहेडनं ॥

स तपोविनयोऽवाचि ग्रंथोक्तं चरतो यतेः ॥ ११८ ॥

विजयोदया—भक्ती भक्ति । घटननिरीक्षणविमर्शसदेन अभिव्यज्यमानोऽन्तर्गतोऽनुरागः । तवोऽधिगमि । तपोऽधिकं च तवमि य सम्यक्तपसि, तद्वति च, भक्तिरिति यावत् । तच्च सम्यग्ज्ञानदर्शनसंयमादुत्तं । अहीलणा य अपरि-  
भवश्च । सेसाण शेषाणा । तपसा न्यूनानामात्मनः । ज्ञानश्रद्धानवरणवर्ता परिभवे ज्ञानदीन्येव परिभूतानि भवति । ततो बहु-  
मानाभावो ज्ञानातिचारः, वात्सल्याभावो दर्शनातिचारः । सातिचारज्ञानदर्शनस्य चारित्र्यमशुद्धं इति, महाननर्थ इति भावः ।  
एसो एष व्यावर्णितपरिणामसमूह उत्तरगुणोद्योगादिकः । तवमि तपसि तपोविषय । विणको विनयः जधुत्तचारिस्स  
श्रुतनिरूपितक्रमेणाचरतः । साधुस्स साधो ।

मूला—तवोद्विगमि आत्मनः सकाशात्तपसाधिके माधो । अहीलणा अपरिभवः । सेसाणं आत्मनः  
सकाशात्तपसा न्यूनाना । एसो यथोक्तः परिणामसमूहः ।

अर्थ—तपसे अधिक अर्थात् अपनेसे श्रेष्ठ ऐसे मुनिओंका दर्शन होनेपर सुखमें प्रमत्तता आनंद वगैरह  
उत्पन्न होकर मनका अनुराग गुण प्रकट होना यह भक्ति है । यह भक्ति तपोधिक मुनि और तपमें करनी चाहिये,  
सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और संयमपूर्वक जो तप किया जाता है वही सम्यक् तप है । इससे उलटा तप मंवर और  
निर्वराका साधन न होकर संसारभ्रमणका साधन होता है, जो मुनि अपनेसे तपसे हीन है, न्यून है परंतु जो  
ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र्यसंपन्न हैं उनकी अवहेलना कदापि नहीं करनी चाहिये उनकी अवहेलना करनेसे  
ज्ञानादिक सद्गुणोंका तिरस्कार होता है, ज्ञानादिकका बहुमान न होनेसे ज्ञानमें अतिचार दोष उत्पन्न होता है,  
अवहेलनासे वात्सल्यगुणका नाश होकर दर्शनमें सदेपता पैदा होती है, ज्ञान और सम्यग्दर्शन अशुद्ध होनेपर  
चारित्र्य भी अशुद्ध हो जाता है, यह तो महा अनर्थ हुवा ऐसा समझना चाहिये, पूर्व गाथाओं और इस गाथामें कहे  
हुए गुणोंका पालन करनेसे शास्त्रके अनुसार आचरण करनेवाले साधुको तपोविनयकी प्राप्ति होती है ।

उपचारनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

काइयवाइयमाणसिओत्ति ति विधो हु पंचमो विणओ ॥

सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो चव पारोक्खो ॥ ११८ ॥

कायिको वाचिकश्चैतः पंचमो विनयस्त्रिधा ॥

सर्वोप्यसौ पुनर्द्वेधा प्रत्यक्षेतरभेदतः ॥ ११९ ॥

विजयोदया—कादृगवाद्गमाणसिगोत्ति पदसंबंध. । पंचमो विनयस्त्रिप्रकारः । कायेन, मनसा, वचसा च निर्वर्त्यते इति । सो पुण सच्चो स पुनस्त्रिप्रकारोऽपि विनयः । दुविधो द्विविध । पञ्चमो चैव प्रत्यक्ष । परोक्षश्चेति ।

उपचारिकविनयं गाथादृशकेनोपविशति—

मूलारा—पञ्चकस्यो प्रत्यक्षः संनिहितगुर्विद्विपयत्वात् । परोक्षो परोक्षः ।

उपचार विनयका निरूपण करनेवाली गाथा—

अर्थ—उपचारविनयके कायिक विनय, वाचनिक विनय, और मानसिक विनय ऐसे तीन भेद हैं. शरीरसे, वचनसे, और मनसे ये तीनो विनय किये जाते हैं इसलिये इनको कायिक विनय इत्यादि नाम प्राप्त हुए हैं. ये कायिकविनयादि तीनो विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रकारके हैं.

तत्र प्रत्यक्षकायिकविनयप्रदर्शनाय गाथाचतुष्टयमुत्तरम्—

अवमुष्टाण किदियम्मं णवसणं अंजली य मुंडाणं ॥

पच्चुग्गच्छणेसत्तो पच्छिद्द अणुसाधणं चैव ॥ ११९ ॥

संभ्रमो नमनं स्ररेः कृतिकर्नजलिक्रिया ॥

सम्मृगं यानमायाति यात्यनुव्रजनं पुनः ॥ १२० ॥

विजयोदया—अवमुष्टाण अभ्युत्थान गुर्वादीना प्रवेशति क्रमण्यो । किदियम्मं णवसण, वंदना, शरीरावनतिश्च । अंजली य कृताजलिपुटता च । मुंडाण शिरोवनतिश्च । पच्चुग्गच्छणं प्रत्युद्गमन । आसीने स्थिते वा गुरौ । पच्छिद्द अणुसाधणं चैव स्वय गच्छत. दूरात्परिदृश्य निभृतकरचरणस्यावनतगात्रस्य गमन, सहगमे वा पुष्टत. स्वशरीरमात्रप्रमाणभूमगेन त परिदृश्य गमन ।

प्रत्यक्षकायिकविनयनिवेदनाय गाथाचतुष्टयमाह—

मूलारा—अवमुष्टाण गुर्वादीना प्रवेशनिष्क्रमणयोः सम्मुखमुत्थानं । किरियम्मं वंदना । णमणं शरीरावनतिः । अंजली कस्तुकुलीकरणम् । मुंडाण शिरोवनतिः । अथवा मुंडाना मस्तकदीनां सम्बन्धी अंजलिः मस्तके कृताजलिपुटस्येत्यर्थः । पच्चुग्गच्छण प्रत्युद्गमनमभिसुखगमनमित्यर्थः । एते आगच्छति सति गुरौ, मान्यमुनौ वा । पदिशदस्स चलितस्य

गुर्वादेः । अणुसाहणा अनुव्रजनं । टीकाकारस्तु पच्छिदसंसाहणा इति पठति, व्याख्याति च, आचार्योपाध्यायादिभिः प्रार्थितस्य मनसाभिलषितस्य सम्यक्प्रसाधनं अनाक्रान्तस्वार्थीगितेनैवावगम्येति ।

प्रत्यक्षकार्याविकारिका आचार्य चार गाथाओंमें वर्णन करते हैं—

अर्थ—गुरुजन, तपोधिक महर्षिं वगैरह पूज्यपुनि आनेपर अथवा प्रयाण करते समय स्वयं बड़े आदरसे उठना चाहिये, वंदना करना चाहिये और शरीरमें नम्रता लानी चाहिये, हात जोड़ने चाहिये, और मस्तकसे नमन करना चाहिये. तथा वे बैठ गये अथवा खड़े हुए हैं तो उनके पास जाना चाहिये, स्वागत करना चाहिये. जब गुरु आदिक पूज्यपुनि प्रयाण करते हैं तब उनके पीछे थोड़े अन्तरसे हाथ और पावोंका चलेते समय शब्द न होवे इस प्रकार शरीर नम्र करके शांतिसे गमन करना चाहिये. यदि साथ जानेका प्रसंग आवे तो स्वशरीरमात्र—प्रमाण भूमीका अन्तर छोड़कर उनके अंगका अपने अंगको स्पर्श न होगा इस रीतीसे गमन करना चाहिये.

णीचं ठाणं णिचं गमणं णिचं च आसणं सयणं ॥

आसणदाणं उवगरणदाणमोगासदाणं च ॥ १२० ॥

नीचं यानमवस्थानं नीचं शयनमासनं ॥

प्रदानमवकाशस्य विष्टरस्योपकारिणः ॥ १२१ ॥

विजयोदया—णीयं च आसणं नीचैरासनं । शृणुतः स्वहस्तपादध्वासादिभिरुपद्रुतो यथा न भवति गुर्वादि-स्तथासनं । अग्रतोऽभिमुखं मनागपस्त्य धामपाद्वेऽनुदत्तस्योपवसनतोऽसमागस्य चासनं । आसने गुरादुपविष्टे स्वयं भूमा-धासनं च । सयणं च णीयमिति पदघटना । नीचैः शयनमिति यावत् । अनुत्तरे देशे शयनं, गुरुनाभिप्रमाणमाश्रमाग्रे वा स्वशिरो भवति यथा तथा शयनं । हस्तपादादिभिर्वा यथा न घट्यते गुर्वादिः । आसणदाणं आसितुमिच्छति इत्यवगम्य निरूप्य चक्षुषा प्रमार्जनयोग्यं न वेति, पञ्चात्मतिलेखनेन लाघवमार्गवदिगुणान्वितेनातिशयकैः प्रमाज्यं भूभागं पीठादिकं वा आसनदानं । उपकरणदानं ज्ञानसंयमौ उपक्रियेते अनुगृह्येते येन तदुपकरणं पुस्तकादि ग्रहंतुमभिप्रेतं तस्य दानं । अथवा उद्रमोत्पादनेपणादिदोषैरुदृष्टस्य सुप्रतिलेखनस्यात्मना लब्धस्य उपकरणस्य दानं । आगासदाणं च अवकाशदानं च शीतार्त्तस्वार्थस्थितनिवातावकाशदानं, उष्णार्द्रितस्य शीतलस्थानदानं, ग्रामनगरादिस्वावासस्थानदानं वा ।

१ अनुव्रते देशे इति पाठः स्वपुस्तके ।

मूलाराधना—गीचं ठाणं नीचैः स्थानं गुर्वादौ मान्यस्थाने जङ्गीभूते निविष्टे वा ततोऽन्यत्र तस्य वामपार्श्वे पृष्ठदेशे वा शिष्येणावस्थानं कर्तव्यमित्यर्थः । गीचं गमणं आसीने स्थिते वा गुरौ स्वयं गच्छतः शिष्यस्य तं दूरात्परिहृत्य नि-  
भृतकरचरणस्य अवनतगात्रस्य गमनं । सहगमने वा पृष्ठतः स्वशरीरमात्रभूभागेन तं परिहृत्य गमनं । गीचं च आसण च-  
शब्दोऽप्युत्तरत्र योज्यः । नीचैरुपवेशनं, पृष्ठतः स्वहस्तपादश्चासद्युपद्रववर्जनमुपवेशनम् । अग्रतोऽभिमुखं मनागपस्तु-  
त्य वामपार्श्वे अनुद्धतस्य मनागवनतोत्तमागत्य चोपवेशनम् ।

आसने गुरावनुपविष्ट स्वयं भूमावासनं वा । शयनं च नीचमिति पदघटना । अनुव्रते देशे शयनं गुरुनाभि-  
मात्रप्रमाणभूभागे वा स्वाशिरो यथा भवति तथा शयनं वा हस्तपादादिघट्टणवर्जं । आसणदाण आसितुमिच्छन्तं  
गुर्वादिकं ज्ञात्वा भूभागं पीठादिकं च प्रमार्जनयोग्यं न वेति-चक्षुषा निरूप्य प्रतिलेखनेन च त्रिः शनैः प्रसृज्य तत्र  
भूभागे प्रसृष्टपीठदेः स्थापनं । ज्वंगरणादानं योग्यस्य गुस्तकादेर्गुर्वादिना जिघृक्षितस्य स्वयं वा संपादनं । ओगास्तदाणं  
अवकाशानं शीतार्त्तस्य स्वाधिष्ठितनिवातस्थानदानं, उष्णात्तस्य स्वशीतलस्थानं, ग्रामनगरादौ स्वनिवासस्थानदानं वा ।

अर्थ—अपने हाथ, पांव, श्वासोच्छ्वासादिकोंसे गुरु आदि मुनिजनोंको उपद्रव न होगा इस पद्धतीसे  
उनके पीछे बैठना चाहिये. गुरुजनोंके सम्मुख बैठना हो तो उनके वामपार्श्व बैठना चाहिये. उद्धततारहित, अपना  
मस्तक किंचित नम्र कर बैठना चाहिये. गुरु आसनपर विराजमान होनेके अनंतर स्वयं जमीनपर बैठना  
चाहिये. गुरु जहां सोये हैं उसके ऊपरकी जमीनपर शिष्यका शयन करना अनुचित है. गुरुके माभितक जो  
जमीनका परिमाण होगा उतनी जमीन छोड़कर नचि सोना चाहिये अर्थात् दीड, पौन दो हाथका अंतर छोड़कर  
नीचले भूमीपर उनके चरण तरफ अपना मस्तक करके शिष्य शयन करे. अथवा अपने हाथ, पांव इत्यादिकोंसे  
गुरुको धक्का न लगोगा इस रीतीसे शयन करना योग्य है. जब गुरुकी बैठनेकी इच्छा दीखेगी तब जमीन और  
आसन वगैरह प्रमार्जन करनेके योग्य हैं वा नहीं यह आखोंसे देखकर नंतर हलकी और कोमल पीछीके द्वारा  
जमीन अथवा चटाई वगैरह स्वच्छ करके गुरुको देना चाहिये. ज्ञान और संयमका जिससे उपकार-वृद्धि होगी ऐसे  
शास्त्र, पीछी वगैरह इनको उपकरण कहते हैं. शास्त्रमें जो उपकरण मुनिओंको ग्रहण करनेमें दोष नहीं है वह गुरुओंको  
यदि उनकी इच्छा हो तो प्रदान करना चाहिये. उद्गम उत्पादनादिदोषोंसे रहित जो अच्छीतरह प्रमार्जित हो  
सकते हैं ऐसे चाहिये. यदि गुरु शीतसे पीड़ित हुए हो तो अपना निर्वात स्थान उनको दें. यदि गुरुको उष्णतासे

वाया हुई होगी तो उनको शीतल स्थान रहनेके लिये देना चाहिये. अथवा ग्राममें वा नगरादिकोंमें जहां अपना रहनेका स्थान होगा वह गुरुओंको देना चाहिये.

पडिरूवकायसंफासणदा पडिरूवकालकिरिया य ॥

पेसणकरणं संथारकरणमुवकरणपडिलिहणं ॥ १२१ ॥

देशकालवयोभावधर्मयोग्यक्रियाकृतिः ॥

करणं प्रेषणादीनामुपधेः प्रतिलेखनं ॥ १२२ ॥

विजयोदया—पडिरूवकायसंफासणदा कायस्य सस्यर्शनं कायसंस्पर्शनं । प्रतिकरणं कायस्य संस्पर्शनं प्रति-  
रूपकायसंस्पर्शनं तस्य भाव. प्रतिकरणकायसंस्पर्शनता । गुर्वोदशरीरानुक्कल संस्पर्शनमिति यावत् ।

अयं चात्र क्रम —मनागुपसृत्य स्थित्वा तदीयेन पिच्छेन कायं त्रिः प्रमृज्य आगंतुकीववाधापरिहारीपयुक्त-  
सादर स्वबलानुरूप यावद्याहर्ममर्दनसदृस्तावदेव मर्दनं कुर्यात् । उष्णाभितस्य यथा शैत्यं भवति तथा स्थोच्छीतासंस्य  
यथौष्ण्य तथा ।

पडिरूवकालकिरिया य कालकृतोऽवस्थाविशयो बालत्वादीह कालशब्देनोच्यते कालप्रभवत्वात् । तेन  
बालत्वाद्यनुरूपधेयावृत्त्यक्रियेति यावत् । पेसणकरणं गुर्वोदिभिरात्मस्य । संथारकरणं तुणफलकादिकसस्तरणक्रिया ।  
उवकरणपडिलिहणं गुर्वादीनां शानसयमोपकरणप्रतिलेखनं अस्तमनवेलाया आवित्योद्गमने च ।

मूलारा—पडिरूवकायसंफासणदा गुर्वोदे शरीरस्यानुक्कलं स्पर्शनम् । अयं चात्र क्रमः—मनागुपसृत्य स्थित्वा  
तदीयेन पिच्छेन तत्कायं त्रिः प्रमृज्य आगंतुकीववाधापरिहारीपयुक्तः सादरः स्वबलानुरूपं यावत्सुखं मर्दयेत् ।  
उष्णात्तस्य यथा शैत्यं स्याच्छीतात्तस्य च यथोष्णं स्यात्तथा स्थोत् । पडिरूवकालकिरिया कालशब्देनात्र कालकृतो  
बालत्वश्रवस्याविशयो विवक्षित । ततो बालत्वाद्यनुरूपं वैयावृत्त्यं कुर्यादित्यवतिष्ठते । पेसणकरणं आज्ञात्मस्य कार्यस्य  
निष्पादनं । संथारकरणं तुणफलकादिसंस्तरणक्रिया । उवगरणपडिलिहणं । गुर्वादीनां पुस्तकादेरस्तमनवेलायामा-  
दित्योद्गमने च प्रमार्जनम् ।

पडिरूवकायसंफासणदा इति—

अर्थ—गुरु वगैरह मुनिओंके शरीरानुक्कल मर्दन करना यह भी कायिक विनय है. इस विषयमें ऐसी



पद्धति है—थोड़ा गुरुके नजदीक खड़े होकर उनके पीछीसे उनका शरीर तीनवार पौछना चाहिये. आंगतुक जीवोंको बाधा न होगी इस रीतीसे उन जीवोंको हटाना चाहिये. और बड़े आदरसे गुरु जितना मर्दन सह सकेंगे उतना ही शरीरका मर्दन करना चाहिये. यदि उष्णतासे गुरु पीडित हो तो उनकी उष्णतापीडा दूर होकर जैसे उनको शीतलाभ होगा वैसे अंगमर्दन करना चाहिये. शीतपीडित गुरुके अवयवोंमें उष्णता उत्पन्न होनेतक उनका शरीरमर्दन करना चाहिये. बालपना, वृद्धपना वगैरह अवस्था देहमें कालके द्वारा होती है. उस उस अवस्था के योग्य वैयावृत्य करके दुःखपरिहार करना चाहिये. गुरुओंने जो आज्ञा की होगी वह सफल करना चाहिये. गुरुओंको सोनेके लिये वृणका विछाना करना, लकड़ीका फलक सोनेके लिये रखना, चटाई विछाना यह कर्तव्यभी कायिक विनयमें अन्तर्भूत है. गुरुदिकोंके ज्ञानके उपकरण शास्त्र, संयमके उपकरण पिछी, कमंडलवादिककी स्वर्यास्त समय और स्वर्योदय के समय स्वच्छता करनी चाहिये.

इच्चेवमादिविणओ उवयारो करिदे सरिरेण ।

एसो काइयविणओ जहारिहो साहुवग्गम्भि ॥ १२२ ॥

व्यापारः कियते नित्यं यः कायेनैवमादिकः ॥

कायिको विनयोऽवाचि साधूनां स यथोचितः ॥ १२३ ॥

विजयोदया—उपचारिकविनय. । शेषं सुगमं ।

मूलारा—जहारिहो यथोचितः ।

अर्थ—गुरुजनोंमें योग्यताके अनुसार इत्यादि प्रकारका विनय शरीरके द्वारा करना चाहिये. यह सब कायिक उपचारविनयका विस्तार दिखाय है. १२३

कायिक उपचारविनयका विस्तार दिखाय है. १२३

वाचिकविनयनिरूपणार्थं गाथाद्वयम्—

पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च महुरं च ॥

सुत्ताणुवीचिवयणं अणिटुरमकक्कसं वयणं ॥ १२३ ॥

पूजासंपादकं वाक्यमग्निदुरमकर्कशम् ॥  
अक्रियावर्णकं श्रव्यं सत्यं सूत्रानुवीचिकं ॥ १२४ ॥

विजयोदया—पूयावयण पूजापुरस्सरं वचनं भट्टारक इदं शृणोमि, भगवन्निदं कर्तुमिच्छामि शुभदुःखेत्यादि । हिदभासणं च गुर्वादीना यद्विदं लोकद्वयस्य तस्य भाषणं । मितभाषणं यावता विविदिपितार्थप्रतिपत्तिर्भवेति तावदेव वक्तव्यं न प्रसक्तानुप्रसक्त । मधुर च श्रोत्रप्रियं । सुत्तानुवीचिवयणं सूत्रानुवीचिवचनं । भाषासमित्याधिकारे यानि वाच्यानि निर्दिष्टानि वचांसि तेषां कथनं । अग्निदुरं अग्निदुरं परचित्तपीडाकृतावनुयातं । अकर्कशं वयणं अकर्कशं वचनं अपरुषमिति यावत् ।

वाचिकवित्तयं गथाद्वयेनाह—

मूलारा—पूयावयण पूजावचनं । भट्टारक इदं शृणोमि, भगवन्निदं कर्तुं इच्छामि भवदाहयेत्यादि । भिदभासणं यावता विवक्षितार्थस्य प्रतीतिः स्यात्तावन्मात्रस्यैव जल्पनं । मधुर कर्णप्रियं । सुत्तानुवीचिवयणं भाषासमित्याधिकारोक्तवचोभाषणम् । अग्निदुरं यन्मनःकदर्थनं न । अकर्कशं अपरुषं चित्तसुखदं वा ।

वाचिकविनयका निरूपण दो गथाओंसे आचार्य करते हैं,

अर्थ—आदरपूर्वक भाषण करना वह पूजावचन कहा जाता है, जैसे हे पूज्य भट्टारक मैं सुन रहा हूँ, हे भगवन् मैं आपकी आज्ञासे यह कार्य करना चाहता हूँ, हित भाषण—गुर्वादिकोंका इहपरलोकमें हित होगा ऐसा भाषण करना चाहिये, मित भाषण—जितना बोलनेसे अपने मनका अभिप्राय गुर्वादिकों जान सके उतना ही बोलना इससे जादा और अग्रासंगिक न बोलना, जो भाषण बोलना हो वह कर्णमधुर शास्त्रके अतिरुद्ध होना चाहिये, भाषा समितीके अधिकारमें जिन भाषणोंका उल्लेख किया है वेहि बोलने चाहिये, अग्निदुरभाषण दूसरोंके मनको दुःखित न कर देना, अकर्कश—कठोरता जिसमें नहीं है ऐसा भाषण उपर्युक्त भाषण बोलना वचनविनय है, १२४

उवसंतवयणमग्निहृत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं ॥

एसो वाइयविणओ जहारिहो होदि कादब्बो ॥ १२४ ॥

उपशांतमगार्हस्थ्यं हितं मितमहेडनम् ॥

योगिनो भाषमाणस्य विनयोऽवाचि वाचिकः ॥ १२५ ॥

विजयोदया—उवसंतवयणं प्रशांतरागकोपः उपशांतः । तस्य वचनं उपशांतवचनं । विरागस्य विरोपस्य च यद्वचस्तदेव भाष्यं । अगिहृत्यवयणं गृहस्थ्या मिथ्यादृष्टयोऽसंयता अयोग्यवचनविकल्पानभिज्ञास्तेषां यद्वचनं न भवति । तस्य अभिधानं । अकिरियं पदकर्मव्यावर्णनपरं यन्न भवति । अहीलण परानवक्षाकारि । एसो व्यावर्णितवचनव्यापारः । वाचिगविणक्तो चाग्विनयो । जघारिहं यथार्हं । होदि कादव्वो कर्तव्यो भवति ।

मूलारा—उवसंतवयणं विरागविरोपवचन । अगिहृत्यवयणं गृहस्थ्या मिथ्यादृष्टयोऽसंयताः योग्यवचनविकल्पानभिज्ञास्तद्वचनानभिधानं । अकिरियं कृप्याद्याभ्रवर्णनशून्य । अहीलणं अवज्ञाधिक्षेपहीनं ।

अर्थ—उपशांतवचन—जिसके राग और कोप शांत हुवे हैं ऐसे व्यक्तीको 'उपशान्त' कहते हैं, उपशांत का जो भाषण उसके उपशांत वचन कहते हैं, अर्थात् रागद्वेषरहित लोक जो भाषण करते हैं वही भाषण बोलना चाहिये, अगृहस्थ वचन—गृहस्थ अर्थात् मिथ्यादृष्टि और असंयमी लोक वे कोनसा भाषण बोलने योग्य हैं कोनसा योग्य नहीं है कुछ जानते नहीं हैं ऐसे लोगोंके सरीखा भाषण न बोलना चाहिये, अर्थात् योग्य भाषणको अगृहस्थ वचन कहते हैं, अक्रियवचन—अस्ति, मपि, कृप्यादि पदकायोंमें प्रवृत्त करनेवाला भाषण जीवनाधिके लिये हेतु है, ऐसे भाषणका त्यागकर जीवोंका रक्षण करनेवाला भाषण बोलना चाहिये,

अहीलनवचन—दुसरीकी अवज्ञा करनेवाला वचन नहीं बोलना चाहिये इस प्रकारके यथायोग्य वचन बोलना यह वाचनिक विनय है

मानसिकविनयं निरूपयति—

पापविसोत्तिय परिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो ॥

णायव्वो संखेवेण एसो माणस्सिओ विणओ ॥ १२५ ॥

हितप्रियपरीणामं चिदधानस्य मानसः ॥

पापास्त्रवपरीणामं मुंचतो विनयो मतः ॥ १२६

विजयोदया—पापविसोत्तिगपरिणामवज्जणं पापशब्देन अशुभकर्मण्युच्यते । स्रोतः प्रवाहः स्रोत इव अविच्छेदेन प्रवृत्तेः । कर्मणि अपि पापविस्रोत शब्देन उच्यते । पापविस्रोत प्रयोजनाः परिणामा एतेषां वर्जनाः । इह गुरुविनयस्य प्रस्तुतत्वात् गुरुविषयोऽशुभः परिणामः । आत्मनो यथेष्टचारित्वनिवारणजनितक्रोधः । अविनीततादर्शनदनुग्रहाभावमपेक्ष्य नाभ्यापयति । पूर्ववन्न मया सह संभाषणं करोति इति वा क्रोधः । गुरुविनये आलस्यं, गुरुं प्रत्यवज्ञा,

निंदा, संभ्रम, तत्पर्यतिकूलवृत्तिरित्येवमादय । पियहिदे य परिणाम । गुरोर्यत्प्रियं तस्मै यद्धितं आत्मने वा तत्र परिणामः । पादव्यो ज्ञातव्य । सर्वेषां समासेन । एतो एष । माणस्सिगो मानसिकः । विण्णो विनयः ।

मानसविनयमाह—

मूला—पापविमोक्षिय परिणामवज्जणं । पापान्यशुभकर्माणि तान्येव विशिष्टं स्रोतं । प्रवाहः अविच्छेदेन प्रवृत्तः । पापविमोक्षः प्रयोजनं चेपा ते पापविमोक्षिकाः ते च ते परिणामाश्च । ते चेह गुरुविपयास्तद्विनयस्य प्रसुत्वात् । आत्मनो यथेष्टचारित्वनिवारणजनितं क्रोधो अविनीतादर्शनादनुग्रहाभावमपेक्ष्य मा नाध्यापयति पूर्ववत् । मया सह संभाषणं न करोतीति वा क्रोधो । गुरुविनये आलस्यं, गुरु प्रत्यवज्ञा, निन्दनमसंयमस्तत्प्रतिकूलवृत्तित्येवमादयः । पिय-हिदे गुरोर्यक्षिय स्वस्मै च यद्धित तस्मिन् ।

अर्थ—जिससे पापसमुदायका जलहृथवाहके समान अरण्डरूपसे आगमन होगा ऐसे परिणामोंको अपने हृदयमें मानसिक विनय पालन करनेवाले मुनिओंने उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये, यहा गुरुविनयका प्रकरण है इसलिये गुरुविपयका अंशुभं परिणाम मनमें उत्पन्न न होने देवें

गुरु जब शिष्यको स्वैराचार देखते हैं तब वे उसका 'निवारण' करते हैं ऐसे समयमें शिष्य अपना मन यदि क्रोधसंतप्त करेगा तो अशुभ कर्मका आसर्ग होने लगेगा " शिष्यकी उद्विग्नता देखकर गुरु उनपर अनुग्रह नहीं करते हैं, तब मेरेको गुरु पढाते नहीं हैं, पूर्वके समान मेरेसे संभाषण नहीं करते हैं ऐसे विचार कर गुरुविपयक क्रोध शिष्यके मनमें उत्पन्न होता है, यह पापगमनका कारण होता है ऐसा समझकर छोड देना चाहिये, गुरु-विनयमें आलस्य करना, गुरुकी अवज्ञा करना, निंदा करना, उनका आदर न करना, उनके विरुद्ध चलना ये सब कुचेष्टायें छोड देंनी चाहिये गुरुको जो प्रिय लगे और-जिससे उसका हित होगा, स्वयंका भी जो हित करेगा ऐसा परिणाम-संकल्प मनमें उत्पन्न करना चाहिये, इस तरहसे मानसिक विनयका संक्षेपसे वर्णन किया है.

इय एतो पच्चक्खो विण्णो पारोक्खिओ वि जं गुरुणो ॥

विरहम्मि, विवट्ठिज्झइ आणाण्हिसचरियाए ॥ १२६ ॥

इत्ययं विनयोऽध्यक्षः परोक्षः स मतो गुरोः ॥

अप्रत्यक्षेऽपि या वृत्तिराज्ञानिर्देशार्थयोः ॥ १२७

विजयोदया—इय एवं । एसो एयः । पञ्चकवो प्रत्यक्षो विनयः । सन्निहितगुरुविनयत्वात् । परोक्षिबगो चि गुरोः परोक्षे क्रियमाणोऽपि विनयः । कोऽसाविति चेदाह—गुरुणो विरुद्धमि विवद्विज्जद गुरोर्विरेद्धेऽपि, यक्रियते । आणानिदेसचरियाए । आश्वायाम्—इत्यमेव भवता कार्यं मुमुक्षुणा न कदाचनेत्यमिति यन्निर्दिश्यते तदाज्ञानिर्देशः । ‘वदुंतगो विहारो दंसणणाचरणेसु कादव्वो’ । इत्येवमादिसदृशः ।

एव त्रिधा प्रत्यक्षविनयं निरूप्य परोक्षविनयं व्याचष्टे—

मूला रा—पारोक्षिगो गुरो परोक्षे क्रियमाणः । आणानिदेसचरियाए । आश्वायामित्यमेव त्वया मुमुक्षुणा कार्यं, न कदाचनेत्यं इति यन्निर्देशस्तच्चर्याया गुरोः सामान्यविशेषोपदेशानुष्ठाने इत्यर्थः ।

इय एसो पञ्चकवो इति—

अर्थ—इस प्रकार प्रत्यक्षविनयका वर्णन किया। अब परोक्षविनयका वर्णन करते हैं— गुरुके परोक्षमें किया जानेवाला जो विनय उसको परोक्षविनय कहते हैं, जैसे तुम मुमुक्षु हो इसलिये तुम आगमके अनुसार आचरण करो, विरुद्धाचरण कभी भी मत करो ऐसी गुरुकी आज्ञा गुरुके परोक्ष भी यथार्थ रीतीसे पालन करना परोक्ष विनय है। ‘वदुंतगो विहारो दंसणणाचरणेसु कादव्वो’ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपरत्न-त्रयमें उत्तरोत्तर अधिकरूपसे प्रवृत्ति करो ऐसा गुरुका उपदेश उनके परोक्षमें भी पालन करना यह परोक्ष विनय है,

न गुरुष्वेव विनयः कार्य इति प्रहीतव्यं, एतेष्वपि विनयः कर्तव्य इत्याह—

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवगगे ॥

विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १२७ ॥

संयतानां गृहस्थानां आर्थिकाणां यथायथम् ॥

विनयः सर्वदा कार्यः संसारान्तं गियासुना ॥ १२८ ॥

विजयोदया—राइणिय अराइणिणसु यथा रत्नानि कुल्लमानि अभिलाषितदानक्षमाणि तथैव सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र्याभि रत्नशब्दवाच्यानि श्रद्धानादिपरिणामेनोत्कृष्टेन वर्तमानः । रायणिय इत्युच्यते । आत्मनो न्यूनरत्नत्रया अरायणिया । अथ वा रादिणिग ऊमरादिणिगेषु ज्येष्ठकनिष्ठव्रतेषु च श्रेणं सुगमं ।

एतेष्वपि च विनयोऽभिधेय इत्यधुनाभिधत्ते—

मूलारा—रादिणिगऊमरादिणिगेषु । रादिणिमा आत्मनः सकाशाद्रन्तत्रयेणाधिकाः समा वा साधवः । ऊमरादि-  
णिगा अवमराधिकाः आत्मनः सकाशान्मनूरन्तत्रयाः । रातिकाश्च अवमरातिकाश्च तेषु तपसैकरात्रादिना ज्येष्ठकनि-  
श्रेष्ठित्यन्ये ।

फक्त गुरुका ही विनय करना चाहिये ऐसा नहीं समझना परंतु मुनि, आर्थिका, श्रावकवर्गका भी विनय  
यथायोग्य करना चाहिये ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—जैसे रत्न दुर्लभ होते हैं परंतु उनकी प्राप्ति होने पर उनसे अभिलषित पदार्थ मिलते हैं, वैसे  
सम्पददर्शन, ज्ञान और चारित्र दुर्लभ हैं इसलिये इनको रत्नत्रय कहते हैं, यह रत्नत्रय जीवोंका अभिलषित पदार्थ  
जो मोक्ष वह देता है, रत्नत्रयरूप परिणाम जिसके उत्कृष्ट है ऐसे मुनिको 'रायणिय' ऐसा नाम है, अपने  
से जिस मुनिका रत्नत्रय न्यून है वह मुनि 'अरायणीय' इस नामका धारक है, अथवा जिसके अपनेसे श्रेष्ठत्रत  
है और जिनके अपनेसे न्यून त्रत है उनको भी उपर्युक्त शब्दोंका क्रमसे प्रयोग कर सकते हैं, अर्थात् उपर्युक्त  
मुनिओंका उनके योग्यतानुसार आदर करना चाहिये, आर्थिकार्यों और गृहस्थवर्ग इनका भी यथायोग्य विनय  
करना चाहिये.

विनयामावे दोषमाचष्टे-दोषप्रकटनेन भयमुत्पाद्य विनये दृढता कर्तुम्—

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा गिरत्थिया सब्वा ॥

त्रिणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सब्वकल्लणं ॥ १२८ ॥

विनयेन विना शिक्षा निष्फला सकला यत्तेः ॥

विनयों हि फलं तस्याः कल्याणं तस्य चिन्तितम् ॥ १२९ ॥

विजयोदया—विणएण विप्पहूणस्स विनयरहितस्य यत्ते । हवदि-सिक्खा गिरत्थिया सर्वशिक्षा निष्फला । किं  
शिक्षायाः फल इत्यारेक्य आह—विणओ सिक्खाए फलं व्यावर्णितं पचप्रकारो विनयः शिक्षाया फल । तस्य विनयस्य  
किं फलं ? पुरायथो हि फलमित्याशङ्क्याह-विणयफलं सब्वकल्लणं सर्वमभ्युदयनिश्रेयसस रूप कल्याणस्थानमा-  
नैश्वर्यादिकं श्रेष्ठियसुखं च ।

विनयफलं गाथाचतुष्टयेन व्याचिख्यासुर्विनयाभावे दोषप्रकाशनेन भयमुत्पाद्य विनये नृढता कर्तुमाह—  
शूलारा—सव्वकल्लणं सर्वमभ्युद्यनिःश्रेयसरूपं कल्याणं स्थानमानैश्वर्यादिकमिन्द्रियानिन्द्रियमुल्लं च ।

विनयके अभावसे कोनसे दोष उत्पन्न होते हैं. अर्थात् दोषप्रकटनसे भय उत्पन्न करके विनयमें नृढता उत्पन्न करते हैं.

अर्थ—जो मुनि विनय नहीं करता है. उसकी मव शिक्षा व्यर्थ होती है. क्योंकि उक्त पांच प्रकारका विनय शिक्षाका फल है. यदि शिक्षामे विनयकी प्राप्ति न हुई तो शिक्षाकी प्राप्ति करना व्यर्थ ही है. जैसे शिक्षाका फल विनय है वैसे विनयका फल क्या है ? पुरुषार्थ उत्साह फल है ऐसा किमीने उत्तर दिया. तब आचार्य कहते हैं कि नहीं यह उत्तर नहीं है. किंतु पंचकल्याणिकोंकी प्राप्ति होना, ऐश्वर्य प्राप्त होना, इन्द्रियसुखकी प्राप्ति होना ये सब विनयके फल हैं.

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं ॥

विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य ॥ १२९ ॥

विमुक्तिः साध्यते येन येन आमण्यं येन वर्धते ॥

स्वरिराराध्यते येन येन संघः प्रसाध्यते ॥ १३० ॥

विनयेन विना तेन निर्युतिं यो यियासति ॥

तरंहेन विना मन्ये स तित्तिर्यति वारिधिं ॥ १३१ ॥

विजयोदया—विणओ मोक्खद्दारं यथा द्वारमभिमतदेशप्राप्तेरुपायस्तद्वत् मोक्षस्य निरुपेक्षकमापायस्य प्राप्यामुपायो विनय इति मोक्षद्वारमित्युच्यते । निरूपितेषु पंचप्रकारेषु विनयेषु अनवरत प्रवर्तमानो हसंयमं परिहर्तुं शक्नोति नापर । इन्द्रियकषाययोरप्रणिधानं यदि न स्यात् कथमिन्द्रियसंयमः प्राणिसंयमो वा भवति ? तवो तप ज्ञाना-  
दिविनयशून्यं अनशनादिकं न कर्मे तपतीति विनयहेतुकं तपस्त्वमिति मत्वोच्यते विनयात्तप इति । णाणं ज्ञानं च विनयहेतुकं । अविनीतो हि ज्ञानं न लभते । विणएण विनयेन । वाराधिज्जइ वाराध्यते स्ववशे स्याच्यते । आयरिओ आचार्यः । सव्वसंघो य सर्वेभ्यः संघः ।

शूलारा—मोक्खद्दारं यथा द्वारमभिमतदेशप्राप्तेरुपायस्तद्वन्मोक्षप्राप्तेर्विनयो यथोक्ते विनये सत्येव कर्मापायसंभवात्

अर्थ—जैसे दरवाजा इच्छित देशकी प्राप्तिका उपाय है वैसे संपूर्ण कर्मका नाशरूप जो मोक्ष उसकी प्राप्तिका विनय उपाय है, अतः विनय मोक्षका द्वार है ऐसा आचार्य कहते हैं, उक्त पांच प्रकारके विनयोंमें जो हमेशा प्रवृत्ति करता है वह असंयमका त्याग करनेमें समर्थ होता है, विनय न करनेवाला मनुष्य उद्धत होकर असंयमी बनता है, इसलिये विनयसे संयमकी प्राप्ति होती है, इंद्रियोंके विषयसे और कषायपरिणतीसे यदि आत्मा नहीं हटेगा तो इंद्रियसंयम और प्राणिसंयमकी रक्षा कैसी होगी ? ज्ञानविनय, दर्शनविनय वगेरह विनयोंसे शून्य अनशनदि तप कर्मको पीडित नहीं कर सकता है, इसलिये विनय तपका कारण है ऐसा आचार्य कहते हैं, विनयसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है, अविनयी मनुष्यको ज्ञानका लाम होता नहीं विनय करनेवालेपर आचार्य प्रसन्न होते हैं, सर्व संघ भी उसके वश होता है.

आचार्यजीदक्षगुणदीवणा अत्तसोधि णिज्झंझा ॥

अज्जव महव लाघव भत्ती पल्लदकरणं च ॥ १३० ॥

कल्याचारपरिज्ञानं दीपनं मानभंजनम् ॥

आत्मशुद्धिरवैचित्र्यं मैत्री मार्दवमार्जवम् ॥ १३१ ॥

विजयोदया—आचार्यजीदक्षगुणदीवणा—रत्नत्रयाच्चरणनिरूपणपरतया प्रथममंगमाचारेऽशब्धनोच्यते । आचारशास्त्रानिर्दिष्टं क्रमः आचारजीदशब्देन उच्यते । कल्प्यते अभिधीयते येन अपराधानुरूपो दंडः स कल्पस्तस्य गुण उपकारस्तेन निर्वर्त्यत्वात् । अन्योः प्रकाशनं आचारजीदक्षगुणदीवणा । एतदुक्तं भवति—कायिको वाचिकश्च विनयः प्रवर्तमानः, आचारशास्त्रानिर्दिष्टं क्रमं प्रकाशयति । कल्पोऽपि विनयं विनाशयतो दंडयतो विनयं निरूपयति । तद्व्याख्यं प्रवर्त्यते इति कल्पसंपाद्य उपकारः प्रकटितो भवति इति केयं चिद्वाख्यानं । अन्ये तु वदन्ति । कल्प्यते इति कल्पं योग्यं कल्प्या गुणाः, कल्प्यगुणा । आचारक्रमस्य कल्प्यानां च गुणानां प्रकाशनं । आचारजीदक्षगुणदीवणाशब्देनोच्यते । श्रुताराधना चारित्राराधना च कृता भवतीत्येतद्वाख्यात अनेनेति ।

अत्तसोधिणिज्झंझा विनयपरिणतिरात्मशुद्धेर्ज्ञानदर्शनवतीतरगात्मिकाया निमित्तमिति आत्मशुद्धिरुच्यते । अथवा ज्ञानादिविनयपरिणतिः कर्ममलापायलभ्यत्वात् शुद्धिरुच्यते आत्मनः पकापायलभ्या जलादिशुद्धिरिव । वैमनस्याभावो णिज्झंझा । विमनस्को भवति विनयहीनो गुर्वविभिन्नशुश्रूषमाणः ।



अज्ञवं आर्जवं नाम ऋजुमार्गवृत्तिः, शास्त्रनिर्दिष्टं वा चरणं ऋजु ! मद्वा अभिमानत्यागो माह्वं परगुणाविशेषे विनीतो भवति । इति विनयेन च अभिमाननिरासः कृतो भवति । प्रह्लादकरणमित्युच्यते । येषां विनयः कियते तेनां सुखं संपादितं भवति । विनीतो हि निर्भर्त्सनाद्यभावात्सुखी भवति । बाधाभावे एव सुखव्यवहारो लोके ।

मूलारा — आचारेत्यादि आचारशास्त्रनिर्दिष्टः क्रमः आचारजीदः । कल्पगुणः प्रायश्चित्तशास्त्रे कृत उपकार-लक्षणात्मशुद्धिमित्वात् । अन्ये तु कल्पा योग्या गुणा इत्याहुः । अतसोधि आत्मशुद्धिर्विषयपरिणतेर्ज्ञानदर्शनवीतरगता-आर्जवं नाम ऋजुमार्गवृत्तिः शास्त्रनिर्दिष्टं वाचरणं ऋजुः । मद्वा विनीतस्याचार्यादिषु न्यस्तभारत्वात्सुखं स्यात् । अज्ञवं काशनेन च विनयो ह्यभिमानं निरस्यति । लाघवं विनीतस्य आत्मनो वा प्रह्लादकरणं । जनमाक्षिपयत्वात् । प्रह्लादकरण परेषां स्वस्य वा प्रकृष्टसुखोत्पादनम् ।

अर्थ — रत्नत्रयके आचारका निरूपण करनेवाले पहिले अंगका 'आचार' यह नाम है, आचारशास्त्रमें कहे हुए क्रमको आचारजीद कहते हैं, जिसमें अपराधानुरूप दंडका विधान कहा है उस शास्त्रको कल्पशास्त्र कहते हैं, इससे जो उपकार उत्पन्न होता है उसको कल्पगुण कहते हैं, इस कथनका यह अभिप्राय है—किया जानेवाला कार्यात्मक और वाचिक विनय आचारशास्त्रके क्रमको प्रकाशित करता है, अर्थात् कल्पशास्त्रके भयसे साधु विनय करने वाला संपादित उपकार मंगट हो जाता है, ऐसा कोई आचार्य व्याख्यान करते हैं, दूसरे आचार्यका व्याख्यान इस प्रकार है—योग्य गुणोंको कल्पगुण कहते हैं, आचारका क्रम और कल्पगुण अर्थात् योग्य गुण इनका जो प्रकाशन करना उसको 'आचारजीदकल्पगुणदीपणा' ऐसा कहते हैं, अर्थात् विनय करनेसे श्रुतकी आराधना और चारित्रिकी आराधना सिद्ध होती है, ऐसा सब समझना चाहिये, विनयसे आत्मशुद्धि और निर्द्वेष ऐसे दो गुणोंकी प्राप्ति होती है, विनयसे ज्ञानदर्शनरूप आत्मशुद्धि

होती है, ज्ञानविनयपरिणति और दर्शनविनयपरिणति कर्ममलका नाश होनेसे प्राप्त होती है, अतः ज्ञानविनयपरिणति और दर्शनविनयपरिणतिको ही आत्माकी शुद्धि कहते हैं, कीचडका नाश होनेसे जलादिकोंकी जैसी शुद्धि-निर्मलता होती है वैसी कर्ममलका नाश होनेसे आत्मामें ज्ञानविनयादि शुद्धि उत्पन्न होती है, विनयसे वैमनस्य नष्ट होता है, जो विनय नहीं करता है उसके ऊपर गुरुका अनुग्रह नहीं होता है जिससे उसमें वैमनस्य उत्पन्न होता है, विनयसे क्रजुगुण-सरलता प्रगट होती है, अथवा जो विनय करता है वह शास्त्रनिर्दिष्ट आचरण करता है यह सिद्ध होता है, विनय करनेसे अभिमानका नाश होता है, अर्थात् मार्दवगुण प्रगट होता है, दूसरोंके उत्कृष्ट गुणोंमें श्रद्धा उत्पन्न होनेसे, और गुणोंका महत्त्व प्रगट करनेसे तथा विनयसे अभिमानका नाश होता है, विनयसे लाघवगुण प्राप्त होता है, विनीतमुनि आचार्यादिकोंपर अपना भार सौंपता है, अर्थात् जो कुछ कार्य करता है वह आचार्यकी कृपासेही मैं यह कार्य कर सका हूँ ऐसा समझता है, अतः विनय लाघवगुणका मूल है, विनयी मनुष्यके ऊपर सर्व ही भक्ति करते हैं, विनयसे दूसरे पुरुषों को उत्कृष्ट आनंद की प्राप्ति होती है और खुद को भी आनंद होता है, जो विनय नहीं करता है, लोक उसकी निर्भर्त्सना करते हैं अतः अविनयी मनुष्य हमेशा दुःखी रहता है, विनयी की कोईभी निंदा-निर्भर्त्सना नहीं करता है अतः वह सुखी है उनको कोई बाधा नहीं देता है, बाधाके अभावमें ही सुखकी लोक कल्पना करते हैं,

किञ्ची मेत्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणो ।

तित्थयरारणं आणा गुणानुमोदो य विणयरुणा ॥ १३१ ॥

भक्तिः प्रल्हादं कीर्तिर्लाघवं गुरुगौरवं ॥

जिनैद्राज्ञा गुणश्रद्धा गुणा वैनयिका मत्ताः ॥ १३२ ॥

विनयं न विना ज्ञानं दर्शनं चरितं तपः ॥

कारणेन विना कार्यं ज्ञायते कुत्र कथ्यताम् ॥ १३३ ॥

समस्ताः संपदः सर्वो विधाय वषाचर्तिनीः ॥  
चिन्तामणिर्वाभीष्टं विनयः कुरुते न किम् ॥ १३४  
इति विनयः ॥

विजयोदय—किन्ती विनीतोऽयमिति संशब्दने कीर्तिः । मेरी परबो दुःखानुपलब्धिभाषो मेरी । परस्पर दुःखे नैवेच्छति विनीत इति । भाणस्स भंजणं मानस्य भंगः । ननु मारदवशब्देनाभिहित एव मानभंगः पूर्वसूत्रे सतः पौनरुक्त्यं इत्युच्यते भाणस्स भंजणं परस्स इति शेषः एकस्य विनयदर्शनात् परोऽपि स्वं मानं जहाति । गतालुगतिको हि प्रायेण लोकः । गुणसन्निभालयागो गुणो अन्वया किमित्ययं विनयं करोतीति । गुरुबो हि बहुमात्याः कृता भवन्ति विनयेनेत्याह—गुरुभागे यं यदुगाणो इति । विनयसुरविशारो तीर्थकृता आसा संपादिता भवन्ति । शत्रुद्विषित मूलारा—किन्ती विनीतोऽयमिति संशब्दने कृतं भवति इति केचित् । गुणेषु भव्यानातिदु कर्त्तुं कृतो भवती हि मानभंग एकस्य विनयदर्शनात्परोऽपि स्वमानं त्यजति । गतालुगतिकत्वालोक्तस्य । गुणरस भंजणं परस्स विनीत इति । अर्थ—जो भुनि गुरुजनोका विनय करते हैं उनकी 'ये भुनि नम है' परी कीर्ति भुगर्गे फैलती है, जो विनयगुणसे मानका नाश होता है अर्थात् वह किसी को भी दुःख होने परी अधिलाग रसता नहीं है, वर्णन हो चुका पुनः इस गायामें वर्णन करनेसे पुनरुक्ति दोष यथा हुआ है, उपा—'भाणस्स भंजण' इना सम्बन्धि आगे 'परस्स' यह शब्द जोड़ देना चाहिये, अर्थात् एक मनुष्य विनय करता हुआ है, उससे ही गायभंगका त्याग को विनय करता है क्योंकि लोक प्रायः गतालुगतिक होते हैं, लोक भी ऐसा मानमें रागमते हैं कि गुरुजनोका आदर होता है, विनय करनेसे तीर्थकरोकी आसा जातीपाली है तीर्थकरोने गुरुजनोका विनय करता

चाहिये ऐसी भव्योंको आज्ञा की है. गुणी लोगोंका विनय करनेसे उनके गुणोंको अपनी सम्मति है ऐसा सिद्ध होता है अर्थात् दूसरोंके सम्यग्दर्शनादि गुण दीखनेपर विनयवान जन हर्षयुक्त होते हैं. यह हर्षित होना गुणानुमोदनको सूचित करता है. ये सब ऊपर कहे हुये विनयके गुण हैं.

विनयव्याख्यानानंतरं समाधितिरुपणार्थं उत्तरप्रबंध.। योग्यस्य, शुद्धीर्तलिंगस्य, ज्ञानभावनोद्यतस्य, ज्ञाने निरूपिते विनये वर्तमानस्य, रत्नत्रयमनस, सम्यगाराधनं न्याय्यमित्यधिकारसंबंधोऽनुगतव्य.। चेतः समाहितं कीदृक् तस्य वा समाहितस्य किं फलमिति चोचद्वयप्रतिविधोद्यनार्थो गाथा विणयसिगदं ॥

चित्तं समाहिदं जस्स होज्ज वज्जिदविसोत्तिनं वासियं ।

सो वह्दि गिरदिचारं सामण्णधुरं अपरिसंतो ॥ १३२ ॥

समाहितं मनो यस्य वदयं त्यक्ताशुभास्त्रवम् ॥

उत्थते तेन चारित्रमश्रान्तेनापदूषणम् ॥ १३५ ॥

विजयोदया.—चित्तं समाहिदं जस्स जस्स चित्तं वज्जिदविसोत्तिगं वसियं समाहिदं इति पदघटना । यस्य चेतः परित्यक्ताशुभपरिणतिप्रसरं वशावर्तिं च यत्र नियुक्ते तत्रैव तिष्ठति, तच्चित्तं समाहितमिति ग्राह्यम् । अन्यैरेवं विचार्यते । किमिदं चित्तं नाम ? मन इति चेदद्रव्यमनो भावमनश्चेति तदिद्वयप्रकारं, कस्येह ग्रहणं? न तावत् द्रव्यमनं पुद्गलत्वादसंभविनी कर्मोदानिमित्ततया कर्मपरिणतिरिति । वज्जिदविसोत्तिगमिति । विशेषणमसंभवीति । न च तद्वशवत्यो-त्मनः तेन भावमनो गृह्यते । नोऽद्रियमति' सा रागादिसहभाविनी । तद्वहिता चास्तीति युज्यते वज्जदि विसोत्तिगं इति विशेषणं । वसिगमिति च तस्या घटते । नो इद्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमवत् आत्मनो वशेन नो इद्रियमतिवर्तते । तथा हि रागकोपप्रभयु स्वादयो नटादीना वशेन परिणामा वर्तते तत्कार्यपुलकादिदर्शनेनानुमीयमाना । तद्वदेव नोऽद्रिय-मस्तिरपि आत्मेच्छया क्वचिदेवावल्लासुभूयते इति । सो सः समाहिदचित्तो वह्दि धारयति । तथा च प्रयोगः—विनयं वहति धारयति इति गम्यते । निरदिचारं निरतिचारं निर्वोषं । सामण्णधुरं रागकोपापप्लुतचित्तं. समण इत्युच्यते । तथा च नैरुक्तका वदन्ति 'समणो' समणो इति समणस्स भावो सामणं तच्च किं समानता चारित्रं । तस्य मारं कीदृश निरतिचारं निर्मलं । अपरिसंतो अश्रान्तश्चारित्रमारोहह न फलं समाहितचित्तस्येत्याख्यात भवति । अनिभृतमनस्ताया दोषाख्यानाव्यजेन निभृतं मनः कार्यमिति दृढयत्युत्तरगाथया । कश्चित्कचिदुज्जयिनीस्यं दक्षिणापथाभिमुखमाह अत्यधान्य. शुद्धजनवहुलो द्रमिलवेशः इति । स एवमुक्तं प्रत्येति अयं जनपदं सुमिश्र. सुजनधिवास. इति ।

अथ योग्यस्य, गृहीतमुक्त्युपायलिंगस्य, ज्ञानभावनोद्यतस्य, विनये वर्तमानस्य, रत्नत्रये मनसः सम्यग्वाधानं न्याय्य-  
मित्युपदेष्टुं गाथादशकमादिशति तत्र तावच्चेतः समाहितं कीदृक् तस्य वा समाहितस्य किं फलमिति प्रश्ने मतीदमाह ।

मूलारा—चित्तं भावमनः । तल्लक्षणं यथा—गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानमात्मनो भावमनः । तद्विमुख-  
स्यास्यैवानुग्राही पुद्गलोच्चयो द्रव्यमनः ॥ १ ॥ वज्जियविसोत्तिगं वर्जितविशोक्तं वर्जितानि निरुपाणि स्रोतासि पापास-  
वकारणाशुभपरिणामप्रवाहा येन तत्परित्यक्ताशुभपरिणतिप्रसरमित्यर्थः । वसग वशवर्ति । यत्र निर्युक्ते तत्रैव तिष्ठतीत्यर्थे  
एतद्विशेषणोपेतं समाहितमित्युच्यते । सामण्यधुरं चारित्र्यमारं । अपरित्तो अश्रान्तः ।

विनयके निरूपणके अनंतर आचार्य समाधिनिरूपण करते हैं, जो समाधिमरणकेलिए योग्य है, जिसने  
सुनिर्लिङ्ग धारण कर ज्ञानाभ्यासेन विनयगुण धारण किया है, जिसका मन रत्नत्रयमें लीन हुआ है उसको  
आराधना करना योग्य है, ऐसा आगेके अधिकारके लिये पूर्व संबंध ध्यानमें रखना योग्य है, इसके अनंतर एकाग्र  
अन्तःकरणका क्या स्वरूप है ? उसका फल क्या है ऐसे दो प्रश्नोंका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—जिसके चित्तने अशुभ विचारपरिणतिको छोड़ा है, जो वश हुआ अर्थात् जिस पदार्थमें उसको  
नियुक्त करते हैं वहा ही वह स्थिर होता है तो वह चित्त समाहित हुआ है ऐसा समझना चाहिये, अन्य आचार्य  
मनका एवं विचार करते हैं—चित्त किसको कहते हैं ? यदि मनको चित्त कहते हो तो उसके द्रव्यमन और भावमन  
ऐसे दो भेद हैं, यहां कौनसा मन समाहित होता है ऐसा हम समझें ? द्रव्यमन तो समाहित होता नहीं क्योंकि  
वह पुद्गलस्वरूपी है, वह कर्मका ग्रहण करनेमें यद्यपि निमित्त कारण है तथापि स्वयं वह रागद्वेषादि कर्मरूप  
परिणतीको प्राप्त होता नहीं है, इसलिये द्रव्यमनका 'वज्जिदविसोत्तिगं' यह विशेषण नहीं है, क्योंकि पुद्गल मन  
अर्थात् द्रव्यमन आत्माके वशमें रहनेवाला ज्ञान वह रागद्वेषादि विकारके साथ रहनेवाला और न रहनेवाला ऐसे दो भेदोंसे युक्त  
माने मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान वह रागद्वेषादि विकारके साथ रहनेवाला और न रहनेवाला ऐसे दो भेदोंसे युक्त  
है, अतः भावमनका ही 'वज्जिदविसोत्तिगं' यह विशेषण समझना युक्तियुक्त है, वासिगं यह भी विशेषण उसमें  
ही जुड़ता है,

नोद्विगमतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे नोद्विगमतिज्ञान आत्माके वश होकर रहता है, इसका  
सुलासा इस प्रकार समझना—नट, वैश्या, नर्तकी वगैरोंके हावभाव, नृत्यादि कार्य देखनेपर प्रेम, क्रोध, मय,

दुःखादिक परिणाम आत्मामें उत्पन्न होते हैं और इनका अनुमानज्ञान शरीरमें रोमांच, सुखमें विकास, म्लानि इत्यादि कार्यके दीखनेपर होता है, वैसे नोइंद्रियमतिज्ञान आत्मेच्छासे किसी एक पदार्थमें एकाग्र होता हुआ अनुभवमें आता है.

जिसका मन एकाग्र और वश है ऐसा शुनि रागकोपादि विकारोंसे रहित, निरतिचार चारित्रिको न थका हुआ यावज्जीव धारण करता है, चारित्रभार धारण करना यह एकाग्रचित्तका फल है, बिना एकाग्र चित्तके चारित्र धारण नहीं होता है.

आगेकी गाथायें चंचल मनसे होनेवाले दोषोंका वर्णन करती हैं, उस वर्णनसे मनको निश्चल करना चाहिये यह अभिप्राय उत्तर गाथाओंका व्यक्त होता है, उदाहरणके द्वारा यही अभिप्राय आचार्योंने पुष्ट किया है जैसे—उज्जयिनीका कोई आदमी—दक्षिणादिशके तरफ जानेको उद्यत हुआ, उसको देखकर कोई पुरुष कहता है 'द्रमिल देशमें घान्य थोडा है, और क्षुद्रलोक वहां अधिक हैं तो उस पुरुषके वचनका अभिप्राय यह निकला कि उज्जयिनीदेशमें सुभिक्षता है और यहाँके लोक सज्जन हैं, वैसे चंचल मनके दोषवर्णनसे मनको निश्चल करना चाहिये ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये.

चालणिगयं व उदयं सामणं गलइ अणिहुदमणस्स ॥

कायेण य वायाए जदि वि जधुत्तं चरदि भिक्खू ॥ १३३ ॥

नित्तवाविव पानीयं चारिअं चलेचेत्तसः ॥

वचसा वपुषा सम्यक् कुवत्तोऽपि पलायते ॥ १३६ ॥

विजयोदया—चालणिगयं व उदयं उदकमिव चालुनीगतं । सामण्य सामान्यं सुमानभावो । गलइ गलति । कस्स अणिहुदमणस्स अनिभृत चेतो यस्य । कायेण य वायाए कायेन च वचसा च । जदि वि चरदि यद्यपि चरति प्रवर्तते सिद्धः । जधुत्तं यथाशालेणोक्त । तथा वाकायाध्यामाचरतोऽपि मनोनिभृतताभावे श्रामण्यं नश्यतीत्यर्थः ।

तस्माच्चित्त-समाधानं कार्यमित्युपलक्ष्य—  
चलचित्तस्वपुण्यापनव्याजन मनःस्थैर्यं कार्यतया प्रापयति—  
मूलारा—अणिहुदं चल ।

अर्थ—जिस सुनिका चित्त चंचल है उसका चारित्रि चालिनीमें डाला हुआ पानी उसमेंसे जैसे निकल जाता है रहता नहीं वैसे नष्ट होता है, यद्यपि वह साधु शरीरसे और वचनसे शास्त्रोक्त चारित्रि पालन करता है, शरीर और वचनसे चारित्रि पाले तो भी यदि साधुका चित्त स्थिर नहीं हो तो वह नष्ट होता ही है, अतः चित्त-की चंचलता नष्ट कर उसमें स्थैर्य लानेका साधुओंको प्रयत्न करना चाहिये,

मनसो दुष्टता प्रपञ्चोपविश्य तदेवंभूत मनो यो निगृह्णाति तस्य श्रामण्यं भवति समानभावो नेतरस्येत्ये-  
तदुत्तरप्रपञ्चोच्यते तदौरात्म्यप्रकाशानार्थं गाथापचक्रम—

बाहुभामो व मणो परिधावइ अट्टिदं तह संमंता ॥  
सिगं च जाइ दूरं पणो परमाणुदवं वा ॥ १३४ ॥  
परितो ज्ञाट्ठते [ धावते ] चेतश्चरण्युरिव चंचलम् ॥  
परमाणुरिव क्षिप्रं दूरं यात्यनिवारितम् ॥ १३७ ॥

विजयोदया—बाहुभामो इत्यादिक । बाहुभामो व चात्येव । मणो मन । परिधावइ । धावति परितर्यक । प्रलपित इति यथा । अट्टिद इति क्रियाविशेषणं अस्थित भावति । क्वचिद्विषयेऽनवस्थितिराव्यता मनस । तह संमंता तथा समतात् । दूरं पि दूरमपि । सिगं च जाइ शीघ्रं याति । मणो मन । परमाणुदवं वा परम प्रकृत्यो अणुः सूक्ष्म परमाणु, स एव द्रव्यं गुणपर्यायगमनात् तदिव । एतेन क्वाटिती दूरस्थितविषयग्रहण तस्य दौरात्म्यमावेदितं ।

क्रमशोऽनवस्थितत्वक्षतिदूरस्थितविषयग्राहितात्मत्वाभिचिर्भित्ताप्रवर्तनाशुनाशित्ववस्तुसदसद्रूपनिराकरण-मनसो दीप्य गाथापंचकेन न्याचष्टे—

मूलारा—बाहुभामो न वातावलीव वातावलीतुल्यं । अट्टिदं क्वचिदपि विषये अनवस्थितं यथा भवति । परमाणुदवं मनसो क्षतिदूरस्थितविषयग्रहणलक्षणदौरात्म्योपलक्षणार्थमिदं भवति ।

आगे पांच गाथाओंसे मनकी दुष्टता आचार्य दिखाते हैं, कुछ मनका जो निग्रह करते हैं, उनका चारित्रि निर्दोष पला जाता है, अन्य साधुका चारित्रि निर्दोष नहीं पल सकता यह विषय विस्तारसे आचार्य दिखाते हैं—  
अर्थ—बड़े जोरसे बहने वाली वायु किसी भी स्थानमें स्थिर नहीं रहती है, चारों तरफ दौड़ती है, मन भी किसी भी विषयमें स्थिर नहीं होता है, गुणपर्यायोंसे युक्त परमाणुद्रव्य जैसा एक समयमें बहुत दूर जाता है

वैसा मन भी एक विषयको छोड़कर अतीव दूरके विषयको भी ग्रहण करता है, मनकी दूरके विषयको भी तत्काल ग्रहण करनारूप दुष्टता इस गाथासे आचार्यने प्रदर्शित की है,

अंधलथबहिरमूवो व्व मणो लहुमेव विप्पणासेइ ॥

दुम्बो य पडिणियत्तंदु जो गिरिसरिदसादं वा ॥ १३५ ॥

वाङ्मिताभिमुखं स्वान्तं निषेद्धं केन शक्यते ॥

नगापगापयो निम्ने प्राप्तं (तद्रध्यते) कथम् ॥ १३८ ॥

न मूको यधिरोऽन्धो वा ब्रूते शृणोति पश्यति ॥

वस्तु हेयमुपादेयं विषयाकुलितं मनः ॥ १३० ॥

विकल्पैर्विविधैर्लोकं पूरयित्वा मलीमसैः ॥

मेघधृन्दमिव स्वान्तं क्षणेनैव विनश्यति ॥ १४० ॥

विजयोदया—अधलयवहिरसूओ व्य मणो हवइ इति शेषः । अधवद्वधिरवन्मूरुवन्व भवति मन । कदाचित्कथचित्कचिद्विप्रये सक मन सबिहितमपि विप्रयं न पश्यति, न शृणोति, न ब्रवीति, इति । ननु चसुरादेः कर्तृता दर्शनादौ न मनसस्तत्संबद्धानि न किञ्चित्पश्यति, न शृणोति वक्ति वा ? उच्यते—मनस करणस्य कर्तृता परशुविच्छन्सीति यथा । एतदुक्तं भवति—द्रष्टव्ये जीवादिके, श्रोतव्ये जिनवचनादिके, स्वपरहितवाक्ये च कदाचिदप्रवृत्तिर्भवेत्तुमुत्प्रेतेति । यथा श्रुत्यो दुष्ट इत्युच्यते स्वाभिनो नियुक्ते कर्मण्यप्रवर्तमानः । एवं मनोऽप्यात्मना नियुक्तेऽप्याप्रेतेऽपि भवः । ललुमेव विष्णणासिद्धि य आशु विनश्यति च । अनित्यतादोषतस्तु याथात्म्यग्राहिणो मनसः नो इन्द्रियमते दुःख अशक्यं । पङ्क्तिनियचेतु जं प्रतिनिवर्त्तयितुं यदन्यभूतरूपग्रहणे भूतरूपनिरासे च प्रवृत्त ताभ्या निवर्तयितुं न शक्यं रगादिस्वहचारित्वात् प्रतिनिवर्त्तयितुं । किमिव गिरिसिद्धिसोदन्व नदीप्रवाह इव ।

मूलारा—अंधलयवहिरमूखोव अंधवधिरमूकवद्भवति कदाचित्कथंचिद्विषये सक्तं मनः संनिहितमपि विषयं न पश्यति, न शृणोति, न त्रवीति इत्यर्थः । अत्र सर्वत्र चक्षुरादिकर्तृकेऽपि दर्शनादौ मनसः करणस्य कर्तृत्वमुक्तं बृक्षच्छिदायां परशोऽगिव आत्मना च जीवादिके द्रष्टुमिष्टं जिनवाक्ये, श्रोतुमिष्टे स्वपरहिते च, वक्तुमिष्टं नियुज्यमानस्य मनसः कदाचिदप्रवृत्तिरेव दृष्टता स्वामिना भृत्यस्य यथा निर्दिष्टे कर्मणि । लढुमेव विष्णुणासेदि य आश्वेव विनश्यति च । एतेन वस्तु-याथात्म्यमाहिणश्चित्तस्यातित्यत्वदोष उक्तः । दुःखो य दुर्खं च अशक्यमित्यर्थः । पण्डितियेत्तेदु जं प्रतिनिवर्तयितुं वस्तुन्य-



भूतरूपग्रहणे भूतरूपनिराकरणे च प्रवृत्तं

सरिदसोद्वेग पर्वतनदीप्रवाह इव ।

अर्थ—अंधा, बहिरा और गूंगेके समान दुष्ट मनका स्वभाव है, किसी समयमें किसी प्रकारसे व किसी विषयमें आसक्त हुआ मन समीपस्थित भी दूसरे विषयको देखता नहीं है, सुनता नहीं और बोलता भी नहीं है, शंका—देखना, सुनना और बोलना इस क्रियाका कर्तृत्व नेत्र, कर्ण और जिह्वाके तरफ है, मन तो इन क्रियाओंका कर्ता नहीं है, वह सर्वदा भी किसी विषयको देखता नहीं है, सुनता नहीं है, और बोलता भी नहीं है, उत्तर—मन यद्यपि करण है तो भी उसमें कर्तृताका आरोप किया है जैसे 'परशुश्छिनत्ति' कुन्हाड लकड़ी काटती है, यहां कुन्हाड छेदन किया करनेमें देवदत्तको सहाय करती है अतः करण है, तो भी उसके तीक्ष्ण तादि गुणोंकी प्रशंसामें उसको कर्तृपद मिला है, वैसे मनमें पदार्थोंको जाननेकी उत्कटता होनेसे इतर इंद्रियोंको उनके विषयमें वह सहाय्यता देता है तो भी उसमें कर्तृत्वका अध्यारोपण किया जाता है, अभिप्राय यह है—कि जीवादिक पदार्थ अवलोकनके योग्य हैं, जिनवचनादिक सुननेके योग्य हैं, स्पर्शहित करनेवाले वाक्य भी सुनने योग्य हैं परंतु इस मनकी उनमें कदाचित् प्रवृत्ति नहीं होती है, यह इसकी दृष्टता है, जैसे मालिकने किसी कार्यमें प्रेरणा नोकर यदि उस कार्यको न करेगा तो उसको द्रष्ट कहते हैं वैसे मनभी आत्माने नियुक्त कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता है अतः वह दुष्ट मनका यथार्थ स्वरूप ग्रहण करता हुआ भी उससे जल्दी हटता है, यह मन वस्तुका वहांसे शीघ्र हटता है अर्थात् वस्तुका यथार्थ स्वरूप ग्रहण करता हुआ भी उससे जल्दी हटता है, यह मन वस्तुका जो सत्य स्वरूप है उसको ग्रहण न कर असद्रूपको ग्रहण करता है, उसमेंसे उसको हटाना अतीव कष्टकर कार्य है अर्थात् मनको सद्रूपके ग्रहण करानेमें असद्रूपसे हटानेमें कोई प्रयत्न करेगा तो उसको बड़ा कष्ट होगा, जैसे पर्वतपरसे बहनेवाली नदीका प्रवाह हटाना अतीव दुष्कर है वैसे मन भी रागद्वेषादि विकारोंसे युक्त होनेपर उसको असत् से हटाकर सत् में प्रवृत्त करना बड़ा कठिन कार्य है

तत्तो दुक्खे पंथे पाडेदु दुद्धओ जहा असो ।  
वीलणमच्छेज्ज मणो णिग्घेत्तुं दुक्करो धाणिदं ॥ १३६ ॥

न प्रवर्तयितुं मार्गे दुष्टो वाजीव शक्यते ॥

ग्रहीतुं शक्यते चेतो न मत्स्य इव वीलिनः ॥ १३९ ॥

विजयोदया—तत्तो तस्मात्प्रतिनिवर्तनात् । दुष्क्रे दुष्करे पंथे । पाडेदुं मार्गे पातयितुं किमिव । दुष्करो जहा अस्सो दुष्टोऽतिव्यालो यथैवाश्वः । एतेन दुष्करमार्गोविपातित्वदोषः प्रकटितः । वीलणमच्छोब्ध मसृणतरेदेहमत्स्य इव । घणिदं दुष्करो णिधेचुं नितरां दुष्कर ग्रहीतुं मन । एतेन दुरवग्रहता ख्याता ।

मूलारा—तत्तो अशक्यप्रतिनिवर्तनत्वात् । दुष्कस्य दुःशकं । पाडेदुं नेतुं । वीलणमच्छोब्ध मसृणतरेदेहमत्स्य इव । णिधेचुं ग्रहीतुं । घणिदं अत्यर्थम् ।

अर्थ—यदि मनुको अयोग्य विषयसे हटाया जावे तो जैसा दुष्ट अश्व दुःखदायक मार्गमें मनुष्यको गिराता है वैसे दुःखदायक कुमार्गमें यह जीवको गिराता है। इस गाथासे दुष्करमार्गोविपातित्व नामका मनका दोष प्रगट होता है, जिसका देह अतिशय स्निग्ध है ऐसा वीलण मत्स्य हाथसे नहीं पकड़ सकते हैं वैसे यह मन भी ग्रहण करना दुष्कर कार्य है इससे दुरवग्रहता नामका दोष मनमें रहता है यह आचार्यने दिखाया है।

जरस य कदेण जीवा संसारमणंतयं परिभमंति ॥

भीमासुहगदिवहुलं दुक्खसहस्साणि पावंता ॥ १४० ॥

यस्य दुःखसहसाणि भजंते वशवर्तिनः ॥

संसारसागरे घोरे वंअम्यन्ते शरीरिणः ॥ १४० ॥

विजयोदया—जस्स य यस्य च । कदेण करोति क्रियासामान्यवाची इह चेष्टवृत्तिर्गृहीतस्तेनायमर्थः यस्य मनसश्चेष्टितेन जीवा संसारं पंचविधं परावर्तं परिभ्रमन्ति । अणंतगं अनंतप्रमाणवच्छिन्नं । भीमासुहगदिवहुलं । भयावद्वाद्युभनस्काद्विगतिमबुं । दुक्खसहस्साणि शारीराणंतुकमानसस्वामाधिकाख्यानि प्रत्येकमेनेकविकल्पानि । पावंता प्राणुवंतो जीवाः । एतेन चतुर्गतिपरावर्तमूलतदोषः प्रकटितः ।

मूलारा—कृपेण चेष्टितेन ।

अर्थ—इस मनकी दृष्ट प्रवृत्तीसे जीवको पाच प्रकारके परिवर्तनसहित इस अनादि अनंत संसारमें शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक हजारों दुःख सहन करने पड़ते हैं। यह संसार अशुभ नरकादिगतिओंसे भरा है इसमें शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक दुःखोंके अनेक प्रकार इस जीवको प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि, यह मनही चतुर्गतिमें भ्रमण करनेका मूल कारण है।

जाह्नि य वारिदमेत्ते सव्वे संसारकारया दोसा ॥

णासंति रागदोसादिया हु सज्जो मणुस्सस्स ॥ १३८ ॥

संसारकारिणो दोषा रागद्वेषमदादयः ॥

जीवानां यस्य रोधेन नश्यति क्षणमात्रतः ॥ १४१ ॥

विजयोदया—जह्नि यसिञ्च मनसि । वारिदमेत्ते वारित एव । मात्रग्रहणं वारणादन्त्यं निराकर्तुमुपात्तं । मनो निवारणदेव । रागदोसादिया रागद्वेषादयः । णासंति छु नश्यत्येव । सज्जो सद्य तवानीमेव । संसारकारया परावर्त-  
पंचकस्य संपादनोद्यता ।

मूलारा—वारिदमित्ते वारित एव ।

अर्थ—इस मनको रोकने मात्रसेही पंच परावर्तनात्मक संसारकी उत्पत्ति करनेवाले राग, द्वेष, मोह वगैरह दोष तत्काल नष्ट होते हैं।

इय दुट्ठयं मणं जो वारेदि पडिठ्वेदि य अकंपं ॥

सुहंसकप्पपयारं च कुणदि सज्जायसाण्हिदं ॥ १३९ ॥

तदुट्ठं मानसं येन निवार्याशुभट्टितः ॥

प्रवृत्तशुभसंकल्पं स्वाध्याये क्रियते स्थिरम् ॥ १४२ ॥

विजयोदया—इय । एव व्यावर्णितरूपेण । दुट्ठयं दुष्टक दुष्टं । मणं । मनो जो वारेदि यो निवारयति रागादिभ्यः । पडिठ्वेदि य प्रतिष्ठापयति च श्रद्धान्तरिणमावौ । अकंपं निश्चल । क्रियाविशेषमेतत्

तस्स सामणं होदि । यक्ष्यमाणेन संवधं । सुभसंकप्पपयारं जो कुणदि तस्स सामणं होदित्ति संवधनीय । शुभ-  
सकल्प तस्सिन्नकृष्टश्चारी गमनं प्रवृत्तिर्यस्य मनसस्तच्छुभसकल्पप्रचार मनो य करोति । सज्जायसण्हिदं वज्जी  
कुणदि तस्स सामण इति संवध । सम्यगध्ययनं स्वाध्याय दुतचिलंवितादिदोपरहितत्व अर्थव्यजनशुद्धिश्च सम्पक्कव ।  
स पुन. पचप्रकार वाचनाप्रश्नानुपेक्षाज्ञायथमोपदेशेभ्येदेन ।

प्रश्नस्य कथं स्वाध्यायता ? प्रश्नो हि त्रयेऽर्थे वा सशयच्छेदाय इत्यभेदेतदिति निश्चितार्थवलाधानाय वा प्रच्छन्न ।  
तर्हि यदृच्छायग्रहमर्थं वा सोऽधीते अध्ययनप्रवृत्त्यर्थत्वात् । प्रश्नेऽध्ययनव्यपदेशः इदमतिमार्थं दातुमिच्छति इव ।  
अथवा किमिदमेव पठितव्यमिति । अधीत एव ग्रन्थे सविद्वान् । अर्थसर्वेहेऽपि किमस्य वाक्यस्य पदस्य वायमर्थ-  
इति । यद्वाच्यते एवं निश्चितवलाधानेऽर्थे प्रश्ने योज्यम् ।

अनुपेक्षा कथं स्वाध्याय ? अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुपेक्षा अन्तर्जल्यरूपमध्ययनमस्त्येव तथापीति  
मन्यते ।

द्योपपरिशुद्ध श्रुतं परावर्त्यमानं आज्ञाय स्वाध्यायो भवत्येव ।

आक्षेपणी, विक्षेपणी, सचेजनी, निर्वेदनी चेति कथाश्चतसस्तासासुपदेशो धर्मोपदेश स च स्वाध्याय-  
पतस्सिन्वाध्याये सम्यक् निहितं निश्चितं मनो य. करोति इत्यर्थः ।

अत्रैव पदघटना अस्याहृत कृत्वा । इयं दुष्टक मणो सो वारेदि अंकप पडिद्वेदि य जो मण सुभसंकप्पपया  
रमेव कुणदि सज्जायसण्हिदं काऊण इति । एव दुष्टं मन स वारयति निश्चल प्रतिष्ठापयति वा । यो मन. शुभसकल्प  
प्रचारमेव करोति । स्वाध्याये सन्निहितं कृत्वेति सूत्रार्थः । तस्येत्थंभूतस्य श्रामण्य समानता वा भवति ।

एव प्रवर्धेन मनसो दुष्टता प्रकाश्य तददोष्टप्रकारिण. फलं गाथात्रयेणाह—

मूलारा-परिटुवेदि श्रद्धानसंयमादौ प्रतिष्ठापयति । सुहसंकप्पपयार । शुभपरिणामप्रचारं । शुभसंकल्पेज्व  
हृदादिभक्तिजीवदयादिषु प्रचारः प्रवृत्तिर्यस्य । अत्रायं सूत्रार्थः । स्वाध्याये सम्यक् निश्चितं कृत्वा यो मनः शुभप्रवृत्ति-  
क्रमेव करोति स तथा दृष्टं वारयति निश्चलं प्रतिष्ठापयति चैतत्तस्यैव च समाहितादिगुण श्रामण्यं भवतीति सन्बन्धः ।

अर्थ--उपयुक्तं दुष्टं प्रवृत्तिं करेनेवाले मनको जो रागादि विकारोंसे हटाता हुआ सम्यग्दर्शनादिपरिणा-  
मोंमें दृढ स्थिर करता है उस मुनिको समता भाव प्राप्त होता है जो मुनि अपने मनको शुभविचारोंमें प्रवृत्त करता  
है और स्वाध्यायमें तत्पर करता है उसको समताभावकी प्राप्ति होती है.

विशेषार्थ-स्वाध्याय करते समय शास्त्रकी पंक्तिया जल्दीसे अथवा अतिमदरीतीसे नहीं पढ़ना चाहिये. अर्थ-  
शुद्धि और व्यंजन शुद्धि के तरफ ध्यान देना चाहिये. इस तरह जो-शास्त्र पढ़ना वह स्वाध्याय है, स्वाध्यायके वाचना

प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे पांच भेद हैं.

प्रश्नको स्वाध्याय क्यों मानना चाहिये ? ग्रंथ और अर्थमें संशयका नाश करनेकेलिये अथवा इस पदार्थका ऐसाही स्वरूप है अन्य नहीं है इत्यादि रूपसे जो स्वयं निश्चय किया होगा उसको पुष्टि लानेकेलिये जो विद्वानोंको पूछना वह प्रश्न है. ग्रंथम स्वाध्याय करनेवाला यहच्छासे जान लेता है अथवा अर्थका पठन करता है. प्रश्न करना भी स्वाध्याय ही है क्योंकि प्रश्न अध्ययनमें प्रवृत्ति करनेके लिये कारण है. जैसे जिस काष्ठसे इंद्रकी प्रतिमा बनाना है उसको हम द्रव्यनिक्षेपसे इंद्रप्रतिमा कहते हैं. वैसे प्रश्न भी स्वाध्याय करनेमें जीवको प्रेरणा करेगा अतः उसको स्वाध्याय कहना कुछ अशुचित नहीं है. अथवा पदे हुए ग्रंथमें भी क्या यह शास्त्र इस रीतिमें पढ़ना चाहिये ! अथवा अन्य प्रकारसे पढ़ना चाहिये ऐसा यदि ग्रंथमें संशय उत्पन्न हुआ हो किंवा अर्थमें यदि संशय हो तो इस पदका अथवा इस वाक्यका क्या यह अर्थ है ? इस तरहसे पूछना यह प्रश्न स्वाध्यायको कारण होनेसे स्वाध्याय कहा जाता है. अथवा जो निश्चित किया है ऐसे अर्थमें और दृढ़ता उत्पन्न करनेकेलिये जो प्रश्न किया जाता वह भी स्वाध्याय को कारण होनेसे स्वाध्याय ही है.

अनुप्रेक्षाको स्वाध्यायपना कैसा ? जाने हुये पदार्थका मनके द्वारा बार बार चिंतना करना अनुप्रेक्षा है. यह अन्तर्जल्परूप होनेसे इसमें भी स्वाध्यायपना है ही. उच्चारणसे शुद्ध जो शास्त्रको बार बार चोखना उसको आम्नाय कहते हैं. यह भी स्वाध्याय है. ओक्षणी, विक्षणी, संवेजनी. निर्वेजनी, ऐसी चार कथाओंका भव्योक्त सामने कथन करना धर्मोपदेश है यह भी स्वाध्याय है, ऐसे पांचो प्रकारके स्वाध्यायोंमें जिसने अपने मनको संलग्न किया है उसको श्रामण्यप्राप्ति होती है. अर्थात् अपने मनको जो साधु स्वाध्यायमें स्थिर करके रागद्वेषादिसे उसको दृढता है. शुभसंकल्पोंमें स्थिर करता है उसकोही श्रामण्य प्राप्ति है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय जानना चाहिये.

जो विय विणिप्पडंतं मणं णियत्तेदि सह विचारेण ॥

णिग्गह्दी य मणं जो करेदि अदिलब्भियं च मणं ॥ १४० ॥

अभितो धावमानं तद्विचारेण निवर्त्यते ॥

निगृह्य क्रियते चित्तं दुर्वृत्त इव लज्जितम् ॥ १४३ ॥

विजयोदया—जो वि य यश्चापि । विणिप्यत वि शब्दो नानार्थः । निर इत्युपसर्गो वहिर्भावे पङ्क्तिर्गन्तार्य । ततोऽयमर्थोऽस्य पदस्य विचित्रं वद्विर्निर्गच्छन्निवर्त्येदिति । ननु च सत्यव्यतरे कस्मिंश्चित्तपेक्षो भवति वहिर्भावस्ततः किम् ? अभ्यतरमिह गृहीतं रत्नत्रय, कथमस्याभ्यतरता ? आत्मनो निजस्वरूपमिति । रागकोपादयस्तु चारित्र्यमोहोदयजाभावाः परिणामा बाह्या मिथ्यात्वकपायादिभेदेन विचित्रास्तदभिमुखतया प्रवृत्ते । नियतेति सह विचारेण जो इति शेषः ।

कोऽसौ विचार ? उच्यते—इदं तत्त्वाश्रद्धानं, इयं च हिंसादिपरिणतिरयं वा क्रोधादिको भावो मया परिणामि कारणभूतेन निर्वर्त्यमानो जातिजराभरणपरिणामरूपान्तसंसारकारणानां कर्मणा मूलोत्तरप्रकृतिभेदेन संख्यातासंख्या तविकल्पानां, स्थितिविधेयमात्मप्रदेशेऽप्यवस्थानरूप, तीव्रमध्यमंदूषाश्रद्धानां संयमकपायपरिणामनिर्वर्तनसामर्थ्यमनुभववाच्यं च निर्वर्त्येति । तानि चात्मप्रदेशस्थान्यन्तपक्षेषु पुत्रस्त्वयद्रव्याणि सन्निहितद्रव्यक्षेत्रकालभावभावसहायापेक्षया पुनरपि मिथ्यात्वादिपरिणाममापादयन्ति । न हि सन्निहितविकलकारणसमूहस्य अनुत्पत्तिर्न संभाव्यते । तेन चाश्रद्धानादिपरिणामेन तथैव कर्मणामादानं, आत्मानां स्थितिः, सामर्थ्यातिशयः इत्यादिका परंपरता । तयान्तकालपरिभ्रमणमिति महानयमनर्थो मम भविष्यतीति, एवभूतेन विचारेण मनो निवर्त्येति यस्तस्य श्रामण्यमिति संवधः । केरेदिपिगह्वदि य मण जो यो मनो निगृह्यति हा दुष्टं चित्तितमिदमिति निदागर्हाभ्यां तस्य श्रामण्यमिति संवधः । केरेदि अदिलज्जियं च मणं, करोत्यतीव लज्जापरं यो मनः । कथं संसारमहितं तत्कारणभूतान्परिणामान्मुक्तिं तदुपायांश्च भावानधिगच्छतः श्रद्धानस्य तत्परिणामव्यपोहनाद्यभेदं गृहीतनिग्रयलिङ्गास्य चित्तियमनुकृति, निरूपयति, अतिव्रीडा मनसो जनयति ।

एवं वहिरंगयोगेन समाधिसिद्धिमनुशिष्यातरंगयोगेन तामनुशासति—

मूलारा—विणिप्यतं विनिप्यतत् विनाशार्थं, नि वहिर्भावे प्रतिगमने । रत्नत्रयात्प्रच्युत्य विचित्रेषु शुद्धचिद्रूपाद्विर्भूतेषु रागादिषु गच्छदित्यर्थः । सह विचारेण, वर्तमान इति शेषः । अयं मिथ्यात्वाद्विदुर्विपाककर्मणा कारण, तानि च दुरंतसंसारदुःसफलानि, ततोऽस्मान्निवृत्तिर्न श्रेयसीत्येवं प्रायो विमर्शश्चात्र विचारः । पिगिह्वदि हा दुष्टं चित्तितं इति निदागर्हाभ्यां निगृह्यति । अनशनादिदुष्करतपोऽनुष्ठानद्वारेण क्षपितदुर्विकल्पशक्तिकं करोति वा । अदिलज्जिदं एवं गृहीतलिङ्गस्य मम कथमीदृक्चित्तां करोमीति निरूपणेनातिमात्रं लज्जा नीतम् ।

अर्थ—जो मुनि अनेक प्रकारसे बाहर धुमेनवाले मनको विचारोंके द्वारा आत्मामें लगाता है, जो साधु अपनी

निंदा और गद्गर् करके मनका निश्रह करता है और उसको लज्जित करता है उसको ही श्रामण्यकी सिद्धि होती है विशेषार्थ—विणिप्पदंतं इस शब्दका अर्थ इसप्रकार है, वि शब्दका नाना, अनेक ऐसा अर्थ है, निस्प् यह उपसर्ग है, 'बाहर' बाह्य यह निस् उपसर्गका अर्थ है, 'पडि' घातु गमन करना इस अर्थका वाचक है, विणिप्पदंतं इस पदका समुच्चयार्थ 'नाना प्रकारसे बाहर जानेवाले मनको वापिस आत्मामें लौटाना चाहिये' यह है, शंका—यदि अम्यंतर कोई चीज हो तो उसकी अपेक्षासे बाह्य पदार्थकी सिद्धि होगी, यहां अम्यंतर चीज कोनसी है ? उत्तर—यहां रत्नत्रयको अम्यंतर वस्तु कहते हैं, इसको अम्यंतर वस्तु क्यों कर कहना चाहिये ?

उत्तर—यह रत्नत्रय आत्माका स्वरूप है अतः इसको अम्यंतर कहना चाहिये, रागद्वेषादिक विकार चारित्र मोहके उदयसे होते हैं अतः वे बाह्य वस्तु हैं, मिथ्यात्व कषाय वर्गोह भेदोंसे राग द्वेषादिकोंमें विचित्रता आती है इन विकारोंके तरफ मनकी प्रवृत्ति हुई हो तो उसको वहांसे हटाकर आत्मामें प्रवृत्त करना चाहिये,

जिनके साहाय्यसे मनको आत्माभिमुख कर सकते हैं ऐसे विचार कोनसे हैं इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है— मैं यदि तत्त्वोंपर अश्रद्धान करूं, यदि हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना इत्यादि पापरूप परिणति मेरेमें हो जावेगी, यदि क्रोध, मान, मायादिक मेरेमें उत्पन्न होंगे तो चार प्रकारके कर्मबंध उत्पन्न होंगे, जन्मजरामरणरूप अनंतसंसारके कारणभूत कर्मोंका प्रकृतिबंध मेरे आत्मप्रदेशोंमें होगा, इस कर्मके मूल प्रकृतिभेद आठ हैं, उत्तर प्रकृतिभेद संख्यात असंख्यातो होते हैं, कर्म आत्मामें आकर स्थिर होना स्थिति बंध है, अश्रद्धान, असयम, कषाय इत्यादि परिणामोंमें तीव्रता, मध्यमता, मंदता, उत्पन्न करनेवाला जो कर्मका सामर्थ्य उसको अनुभवबंध कहते हैं, अश्रद्धानादि परिणामोंसे चार प्रकारके कर्मबंध जीवमें होंगे, आत्माके समस्त प्रदेशोंमें अनंतानंत प्रदेशयुक्त पुद्गल-संकंघरूप यह कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावोंका साहाय्य प्राप्तकर नवीन मिथ्यात्व, असंयम, कषयादि परिणामोंको उत्पन्न करते हैं, जिसके समस्त कारण इकट्ठे होते हैं वह कार्य अवश्य होता है, इस न्यायसे कर्मकी द्रव्य, क्षेत्र, कालादि सामग्री मिलनेपर वह मिथ्यात्वादि परिणामोंका अवश्य उत्पन्न करेगा ही, अश्रद्धानादि परिणामोंसे जीव कर्मका स्वीकार करता है, स्वीकृत कर्म आत्मामें स्थिर होता है, और अपना प्रभाव दिखाता है, फिर नवीन कर्मबंध होनेसे जीवको अनंतकालतक संसारमें त्रमण करना पड़ेगा यह बड़ा भारी अनर्थ होगा, इस विचारसे जो मनको बाह्य मिथ्यात्वादि परिणामोंसे हटाकर आत्मामें स्थिर करेगा उसको ही मुनिपनाकी सच्ची प्राप्ति होती है,

हाय 'मैंने मनमें दृष्ट विचार किये हैं' ऐसा बोलकर जो अपनी निंदा और गद्गर् करता है उसको श्राम-  
प्यसिद्धि होती है। जो मनको लज्जित करता है उसको भी श्रामण्यलाभ होता है "हे मन अकल्याण करनेवाले  
संसारको, उसको बढ़ानेमें कारणभूत रागद्वेषादि परिणामोंको, मुक्ति और उसके उपायोंको तू जानता है, श्रद्धान  
करता है, अश्रद्धानादि परिणामोंका नाश करनेके लिये ही तूने निर्ग्रथ लिंग धारण किया है इसलिये उलटे विचार  
रखना क्या तेरेको योग्य दीखता है' इस विधिसे जो मनको लज्जित करता है उसको समताकी प्राप्ति होती है

दासं व मणं अवसं सवसं जो कुणदि तस्स सामणं ॥

होदि समाहिदमविसोत्थियं च जिणसासणाणुगदं ॥ १४१ ॥

अवशं क्रियते वदयं येन दास इव व्रतम् ॥

श्रामण्यं निश्चलं तस्य सर्वदाप्यवतिष्ठते ॥ १४४ ॥

इति समाधिसूत्रम् ।

विजयोदया—अवसं दासं व मण सवसं जो कुणदि इति पदसबंधः । दासं व चेटीपुत्रं अवशवर्तितं यथा  
काश्चिद्दलात्सवशा करोत्येवमधीतजिनवचन आत्मनो मनो निरवग्रहतया प्रवृत्तं अशुभपरिणामप्रसेदे यदि नाम तथापि  
यलात्ताभिमत्स्योभिमतशुभभावपरपरानुकूलतया य. स्थापयति जैनमतामृतास्वावकारितस्तामर्थ्यातिशयस्तस्य सामण्यं  
समानता होदि भवति । समाहिदं एकमुखं । अविसोत्थिगं दूरपरपुत्रविश्वरूपशुभपरिणामप्रवाह । जिणसासणाणुगदं  
संपादितद्रव्यभावकर्मकरपरामभाना यच्छासन-शिष्यते जीवादय' पदार्थो अनेनास्मिन्नेति शासनं आगमस्तेनानुगतम् ।  
मूलारा—समाहिदं एकमुखं शुद्धस्वचिद्रूपमात्रालम्बनमित्यर्थः । अविसोत्थिगं निवृत्तपापक्षवपरिणाम ॥

समाधिः । सूत्रतः ५ । अंकतः । १० ॥

अर्थ—जैसे कोई समर्थ मनुष्य उन्मत्त नोकरको बलात्कारसे अपने आधीन रखता है वैसे जिनागमका  
जिसने अभ्यास किया है ऐसा यति भी स्वच्छंदी होकर अशुभपरिणामोंके प्रवाहमें पड़े हुए मनको निंदा, निर्भर्त्सना कर  
बलात्कारसे अपने वश रखता है इष्ट ऐसे शुभ परिणामोंमें उसको स्थिर करता है, यतिको जैनमतामृतका आस्वा-  
दन करनेसे ही मनको वश करनेका विशिष्ट सामर्थ्य प्राप्त होता है, इसकी प्राप्ति होनेसे समानताका लाभ मुनिको



होता है, जिनानामके अभ्याससे मनकी दृष्टि विषयमें एकाग्रता होकर अशुभ परिणामसे व्यावृत्ति होती है, अर्थात् अशुभपरिणामोंकी उत्पत्ति मनमें नहीं होती है जिन्होंने द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि और भावकर्म—रागद्वेषादिकोका पराभव किया है ऐसे जिनस्वरके आगमका ही वह मन हमेशा अनुगामी बनता है, जीवादिक पदार्थोंका जिसमें अथवा जिसके द्वारा उपदेश किया जाता है उसको शासन कहते हैं, जिनश्चरने जीवादि पदार्थोंका उपदेश करने वाला शासन—आगम भव्य जीवोंके हितार्थ कहा है, इस आगमका अभ्यास कर मुनिवर्य अपने अवश मनको वशकर समताकी—रागद्वेषके अभावकी प्राप्ति कर लेते हैं,

योग्यस्य गृहीतमुक्त्युपायार्थिणस्य श्रुतशिक्षापरस्य पञ्चविधविनयवृत्तेः स्ववशीकृतमनसः अनियतवालो युक्तः ।  
कस्तत्र गुणः ? इत्यारेकायां समाधिगतस्य अनियतविद्यारगुणप्रकटनार्थं उत्तरस्त्वं—

दंसणसोधी ठिदिकरणभावणा अदिसयत्तकुसलत्तं ॥  
खेत्तपरिमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होति ॥ १४२ ॥  
द्वट्ठिशुद्धिस्थिरिकारौ भावना शास्त्रकौशलम् ॥  
क्षेत्रस्य मार्गणा साधोगुणा नित्यविहारिणः ॥ १४५ ॥

विजयोदया—दंसणसोधी दर्शनशुद्धि । इतिर प्रेक्षणे इति पठितोऽपि धातु श्रद्धानार्थवृत्तिरिह गृहीत । धातूनामेनेकार्थत्वात् । तथा च सूत्र—‘तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्’ इति जिनागमनिरूपितार्थविषयश्रद्धानमिह दर्शनशब्देन भण्यते । तस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं । ठिदिकरण स्थितिकरणं रत्नत्रयपरिणामस्यात्मनोऽनपायपरिणाम । तस्य करण स्थितिकरणं । भावणा भावना अभ्यास पुनर्बुद्धि । अदिसयत्तकुसलत्त अतिशयितेवर्थेषु निपुणता । खेत्तपरि-मग्गणा चि य क्षयति निवसंति तस्मिन्निति क्षेत्र ग्रामनगरादिकं क्षेत्रं । तस्य अन्येपणा च । अनियतस्थानवसने गुणा होति भवति ।

अर्थैवं स्ववशीकृतमनसो मुनेरनियतविद्यारो दर्शनविशुद्धि इत्यादि गुणपञ्चककारकत्वेन युक्त इति द्वादशभिर्गाथाभिः प्रकाशयति—

मूलारा—भावणा परिपक्वसाहनं । अणियदवासे अनियतस्थानवसने ।

जो समाधिमरणकोलिये योग्य है, जिसने मुक्तिके उपायभूत ऐसे लिंगको धारण किया है, जो शास्त्राध्ययन करनेमें तत्पर हैं; पाँचों प्रकारका विनय करनेवाले, अपने मनको वश रखनेवाले ऐसे मुनिओंके लिये ग्रामनगरादिक अनियत क्षेत्रमें निवास करना योग्य है।

अनियत क्षेत्रमें निवास करनेसे कोनसे गुणोंकी प्राप्ति होती है? ऐसी शंका होनेपर समाधिकों प्राप्त अर्थात् मनकी एकरूपताको धारण क्रिये हुए मुनीश्वरके अनियत विहारके गुण आगेकी माथामें आचार्य दिखाते हैं

अर्थ—अनियत स्थानमें निवास करनेसे मुनिओंको जिन गुणोंकी प्राप्ति होती है उसका खुलासा—मुनिओंके सम्पददर्शनमें निर्मलता प्राप्त होती है. अर्थात् जिनागममें कहे हुए जीवादि सप्त तत्त्वोंपर निर्मल श्रद्धान उत्पन्न होता है. स्थितिकरण—मुनिओंके रत्नत्रय परिणाममें स्थिरता आती है. वह किसीसे बाधित नहीं होता है अनियत वाससे पुनः पुनः रत्नत्रयमें अभ्यास होता है—प्रवृत्ति होती है. जीवादिक पदार्थोंके सूक्ष्म अर्थका प्रतिपादन करनेमें चतुरता आती है, अनियत वास करनेसे कोनसा क्षेत्र अर्थात् ग्रामनगरादि समाधिमरण करनेके लिये योग्य है इसका भी ज्ञान होता है. अर्थात् दर्शनादि, स्थितिकरण, भावना, अतिशयार्थ कुशलता और क्षेत्रपरिभाषणा इतने गुणोंकी प्राप्ति अनियत वाससे होती है ॥ १४३ ॥

दसगजसुद्धी इत्येतत्पदव्याख्यानकारिणी माथा—

जम्मणअभिणिक्खवणं णाणुप्पत्ती य तित्थणिसहीओ ॥

पांसंतस्स जिणाणं सुविसुद्धं दंसणं होदि ॥ १४३ ॥

विशुद्धं दर्शनं साधोजीयते पश्यतोऽर्हताम् ॥

जन्मनिष्क्रमणज्ञानतीर्थचिह्ननिबिद्धिकाः ॥ १४६ ॥

विजयोदया—जम्मण जन्माभिनवशरीरग्रहणं तद्यस्मिन्क्षेत्रे जातं तदिह साहचर्याज्जन्मशब्देनोच्यते । शुद्धीतशरीरस्य वात्मनो जन्म, जनन्दुदपद्यत्र निष्क्रमणं जातं तद्वा । अभिणिक्खवणे रत्नत्रयामिमुख्येन गृहाद्विर्गमनं यस्मिन्क्षेत्रे तदिह निष्क्रमण । णाणुप्पत्ती य केवलज्ञानावरणक्षयात् सर्वोपायात्प्रग्रहणक्षमं यत्केवलं तदिह ज्ञानमिति गृहीत । सामान्यशद्धानामपि विशेषवृत्तिः प्रतीतैव । तस्य ज्ञानस्योत्पत्तिर्यस्मिन् क्षेत्रे तदिह साहचर्यात् णाणुप्पत्ती य शब्देनोच्यते । तित्थं विण्हं । तीर्थमिह समवसरणं गृह्यते । तंरति तस्मिन्भव्या. पापवि-

नाशार्थिनः इति । तस्य चिह्नतया स्थिता मानस्तम्भा । निषिद्दीपो निषिद्दीप्येतिवृत्तिर्यस्यां भूमौ सा निषिद्दीप्युच्यते । एतज्जन्मादिस्थानं ध्रुवेन प्रागवगतं । पासतस्स पश्यतः । कस्स जिणणं जिनानां सुविमुद्धं सुमुद्धं विमुद्धं । देवस्यं श्रद्धानं । द्वोदि भवति । एतदुक्तं भवति—

देशांतरातिथिः जिनानां जन्मादिस्थानदर्शनात्महृती श्रद्धोत्पद्यते । यथा कांचिद्व्याचर्यमानरूपां विलासिनीं परोक्षामगवत्य परस्य वचनेन जाताभिलाषस्तस्यां दर्शनेनपथमुपजातायां श्रद्धाविशयौ जायेते इति ।

अथवा यदा तीर्थकृतः संभवति तदा अनियतविहारो यतिर्जिनानां ज्ञानत्रयचारिणां अवाप्तस्वर्गावतरण-पूजाविशयानां जन्माभियेककल्याणं भुवनमवतोलनं ततो विज्ञानापनयनोद्यतं, सुधापानमिव सकलप्राणभृद्दारोग्यविधादि, सुरविलासिनीर्नतनमिव सकलजगदानन्ददायि, म्रियवचनमिव मनःप्रसादकारि, पुण्यकर्मैव अगण्यपुण्यवितरणप्रवीणं, लक्ष्मीपारिचारिकाभिः साध्यं संसंभ्रमं ईक्षितं, गुह्यकामप्रकीर्णनिकसुरभिमसूनकरणांधानुभ्रमङ्गरुतकोलाहलं । अनारतप्रहृतमंगलभेरीभंगभास्वन्भिर्भरितभुवनविवर्दं, सुरवधूतर्तनजिगीषयेव सौधशिखरगनुत्य-त्पत्यप्रपंचवर्णपताकाविलासिनीकं, हरिविष्टप्रचलनोपनीतसाध्यसनवसुरवल्लभारमसकंठग्रहप्रीतिविकासिसुख-शतमखसुखं, संभ्रमोत्थितकृतांजलिपुटसुरपरिवारसदराकर्ण्यमानवज्रभृदाहं, भेर्योच्चानाहृतपुरुहूतप्रमुखसक-लगीर्वाणचक्रं, परस्परसंघर्षपृहीतोत्तरवैक्रियिकेदवधूतनाग्याप्तपवनपथदेशं, जन्माभियेकसमयप्रयाणसंपा-दनायातपौलोमीभूदुरच्वानचकितहंसीविलासविराजमानराजमंदिरांगणं, पेरवतावतीर्णप्रसारितवज्रिवज्रधनभुजा-मंगलं, सुरकरप्रहारप्रसरदुंदुभिभेरीध्वानसन्निभश्रसिहनादवधिरितविशालाशामुखं, प्रहृतनैकप्रया-

णकपटद्वगभीरधीराचवं, असकलशशिकरावदातचमररुहविक्षेपक्षवलभिन्निर्कुण्वजिनावलोकनव्यग्रसुराग्रमद्विधीकं, श्वेतातपवजलधरघटावखरुदनभोमंडलं, विदुदायमानपताकाकुलं, इन्द्रनीलमयसोपानप्रयायिसुरपूतनं, सुरगजदत्तसरोलिनलग्नाभिविधायिनर्तकीसलीलपद्व्यासं, श्रुतीताम्रमंगलदेवीसहस्रपुरोयानं, देवप्रतीहारदूरा-पसार्थप्राणभृद्भारमरणं, आत्मरक्षदेवसहस्रसंपाद्यमानरक्षाविधानं, नर्तनव्यग्रदभुतविग्रहायेसरभूतं, प्रदक्षिणीकृतसुरा-चलं, आरूढसुरगिरिशिखरायमाणसिंहासनं, तदेवकुमारपरंपरानीतश्रीरचारिधिजलमरुकताभियेकं, पौलोमीरचितवाला-नुरूपमंडनं, स्तवव्यापूतद्वैतालिकसहस्रं, सुराधिपरचितजन्मोत्सवर्तनं, जन्माभियेककल्याणं पश्यति तस्य पश्यतो ।

शमिन्निष्क्रमणं वा जिनानामीहृक् तदिति वर्ण्यते । सर्वे एव जिनः समधिगतोदीरितजन्माभियेककल्याणा, शतमखशासनस्थसादरधनदोपनीयमानदिव्योचितागरागवसनभो जनवाहनलंकारसंपत्संदोहा, मनोमुक्कलीडासंपादन-चतुरदेवकुमारपरिवाराः, केचित्सुरातनपुण्यपरिपाकोदयाचलोन्नतविराजमानारकसहस्रचक्ररविसाहाय्ये, अमयेयुज-विक्रमेण वशीभूताशेषमागधप्रमासादिदेवैः, विद्याधरभूमिपालसंहतय, सुरकुमारीरूपयवनविभ्रमापहसनचतुरानेकद्वान्नि-शदेवीसहस्ताननारविंदविकसनोद्यताः, पाकशासनप्रद्वितनर्तिकां नृत्तावलोकनविनोदाः, सादराकर्णितकिन्नरादिदेवगाधव-गीता, कालमहाकालादिनवनिधिमभवः, प्रत्येकेदेवसहस्रपरिपाल्यमानवक्त्रादिवचदुर्देशरत्नानुयाताः, द्वात्रिंशत्सहस्रमुकुट-चद्वशातकुंभघटितमौलितटमकारिकास्थितरत्नप्रदीपलीभ्रकरेणानवरत्नमन्यमानपादपीठा, देवकुमारोपनीयमानोपायन-

विलोकनैकव्याघ्रा', मनुजभोगाग्रेसरं सुखमेवेदेनानुभवन्ति । अपरेऽपि मडलीकमहामडलीकपदमुपगता' ।

पुनस्तीर्थंकरनामकर्मदयात् चारित्र्यमोहक्षयोपशमप्रकर्षेदनुमतादनादि कालावलम्बपरफर्मरजोविधूननाव-  
चक्षकस्या इयमन्त प्रतिदधति । ऋथ मोहस्य बलवत्ता येनास्मान् यथ्यक्षीक्रियमाणदुस्तससारसिर्दाधिपतिभयददु खा-  
वर्तान् प्रवर्तयत्यारम्भपरिग्रहयो । अणिमाद्यप्रगुणसप्तक, अपदमापदो, अभिलाषस्याविषयम्, अपराभराणा कुशाग्री  
यबुद्धीनामपि बलीभिवामगोचर, वचसामप्रत्युह, अपराधीन, अनाद्यादितान्युत्तरारसं, अहर्मिद्रसुखं चिरतरमनुभूतव  
तामसाकं केयमुक्तञ्च मनुजभोगसपदि, खलजनमैत्रीव विचित्रदु सायुधविधानोद्यताया चलाया च पुण्यसमितिरेव  
परायत्तवृत्तौ, कुकविकृतिरिवात्यार्थसंग्रहाया, दूरभव्यस्य मुक्तिपदवीगतिरिव अनेकप्रत्युद्भूतिहताया अनतकाल-  
परिमुक्ताया इति ।

तदैव च ब्रह्मलोकातावासादधिगतलौकान्तिकव्यपदेशाः, शखावदातनवः, स्वावधिज्ञानलोचनेनानबलोभ्य  
स्वयरोत्तारणावच्छपरिकरता जिनाना, महविद कार्ये अनेकभयानुग्रहकर भगवता प्रारब्धं, अस्माभिरपि पतदनुमंतव्यं ।  
पूज्यपूजाव्यतिक्रमश्च स्वार्थशकारीति सुरपथादवर्तीयं स्वाभिन. पुरस्तात्सवहुमानमवस्थिता एव विज्ञापयन्ति—

मह्यारका ! उचित एवायमुद्योगो भवता कल्पमदीरहा इव प्रत्युपकारनिरपेक्षा, जगदनुग्रहकारिणो महान्तः,  
मिथ्यात्वतिमिरावगुंठितज्ञानलोचनतया विनेयजनराशिकपथप्रस्थानोऽसकृत्कुगतिगतपतितो नि.सर्तुमभिलपन्नपि  
असमर्थं क्लिश्यति । स च भवत्यायतदृढसमीचीनदृष्टिरज्यावरुण युष्मदुपदर्शितातिप्रगुणविशालमुक्तिमार्गद्वैकनाद-  
नंतज्ञानात्मकेन सुखेन सुखी भवत्वित्यभिधाय गतेषु सारस्वतादिषु ।

जिननिर्वेदसमीरणादोलितहृदयिषुरो हरि ग्रणिघानप्रवर्तितवधिलोचनाधिगनगुरुभारभ्यमाणकार्यं, सिंहास-  
नत संसंभ्रममुत्थाय, स्वाभिसमवस्थितदिग्गभिमुख गत्वा सप्तपदमात्र, ललाटतटविन्यस्तेन प्रवृद्धनलिनदलच्छायापद्मासिना,  
अंकुशकुलशदिलक्षणोद्भासिना, दक्षिणेन कोणालकृतमौलिरत्नप्रभावतुरमवनम्य शिर सलील नम सद्धर्मतीर्थप्रवर्तनोद्य-  
तेभ्यः शरणागतविनेयत्रणकारिभ्योऽलौकिकनयनेभ्यो जिनैभ्य इत्यभिधाय, पुरो धायद्वेरीधयानाधिभिर्द्वेदिति विदितका-  
र्थेण, समुदितावन्तेन, स्वनायकपुरोयायिना, विचित्रातपत्रशस्त्रवस्त्रविभूषणवाह्नोज्ज्वलेन भीर्वाणचक्रेणानुगम्यमान-  
सौधर्मः सह नरामरेन्द्र, चमररुहद्विपरिप्रेष्टेतातपत्रादिपरमेश्वरलालनमखिलमपहाय प्रतीद्वारनिवेदितागमनस्तदाक्षयाशु  
धर्मचक्रलालनातिक्रमवाप्य सवहुमानप्रणामभारभृते स्म ।

ततो जिनात्सादरावलोकनप्रसादमालोचितमुपलभ्य विज्ञापन करोति । समालोक्ययमायातोऽच्युताधिपुर सर-  
शकलोकौ मह्यारकाणा परितिष्कमपरिचर्यामुपपादयितुमना अवगतमुक्तिमार्गोप्यय स्वाधीतज्ञानात्मकान्तिसुखानुभवलप  
नोऽपि, अवधीरित्तिद्वियसुखखेदोऽपि, अपारिप्राप्तसंयमधातिकर्मक्षयोपशम, न चारित्र्ये प्रवर्तते, न परान्प्रवर्ततेतुमीहते ।

१ मोहस्य महत्ता इति पाठः ख पुस्तके ।

सुविशुद्धज्ञानदर्शनोऽपि विना समीचीनं चारित्र्यं तपश्च, कर्माणि निरवशेषं क्षपयितुं घटते । अनेकसमुद्रगणनायु-  
स्थितितया दीर्घसंसारी वराकोऽसदादिं ह्रिष्यति । उत्थातुमभिलषन्नपि दारको यथा पतत्येवमपि जनश्चारित्र्या  
भिलाष्यपि तद्वोढुमसमर्थेऽस्तिष्ठति । यूय पुनर्विदितवेदितव्या क्षयोपशमपरिग्रहसिद्धिं परिणामाः, पूज्यतमा !  
जन्मारेऽस्माकमपीदृशी वीतरागता सकलारभपरिहृष्यत्यागद्योग्यविनेयजनेपकार शक्तिश्च भवत्प्रसादादस्यानुमननाच्च  
भवतु । सजीकृतमिदं विमान आनीतमलं करोतु देवः इत्युपरतवचालि सुराधिपे हृष्यविपादपरवहां क्षातिवर्गं अंतःपुराणि  
परिवारं चावलोक्य कृपया जिना वदन्ति ।

चिरसंवासादल्पकोपकारापेक्षया जनस्थानुरागे भवति । तदनुसारी कोपस्ताभ्या दुरंतकर्मदानं ततो भवति  
मेमदंभावः सर्वदुःखाना मूलमपनेतुमर्हति विद्वान् । न हि कस्यचित्काचिन्मित्रं, धनं, शरीरं वानपाय्यस्ति । पात्रसमिता-  
हि वंधवः, परिवारा, धनं च पुनरर्जते विनाशे च महतीमानयति दुःखसिका । तदधिभिरन्यैश्च सह विरोधं कारयति ।  
तृणां प्रकर्षचतीमादधाति लवणजलपीतिमिव । वामलोचना पुनः सुरा इव चित्त मोहयन्ति । व्यलीकरोदनहसनेन  
चाटुभिश्च पुंसामल्पसत्त्वाना चेत खववशीकुर्वति । चर्ममयपुत्रिकासु, चपलासु, सध्याभ्युदावलीवास्थिरागसु, माया-  
जननीषु, मृपचोरीनायिकासु, सुगतिवज्रार्गलयष्टिषु कोऽनुराग प्रस्थावताम् ? शरीरं पुनरिदमेनेकाशुञ्चिनिधानं, कचार-  
पुंजवत्याणभूतामनपायी भार । महारोगनागाना वल्मीकीभूत, जराव्याघ्रीनिवासविलं, नेव बडचमेवेष्टितलोष्टवदन्ति  
सारं बहिर्मेनोदरं, गुण पुनरत्र एक एव धर्मसहायता । निरिन्द्रीक्रोतासीवानवस्थितानि यौवनानि । तृणाग्निज्वाला  
इव संपदः क्षणमात्रं दृष्टनद्या । इत्थमवगम्य मा कृथा वृथा प्रमाद जननरत्नाकरपारसमनाय कुरुतोद्योगं । मर्य-  
णीयोऽस्माभिः प्रमादात्कृतोपप्राद्य इति ।

भगवद्भारतीसमन्तरं सुरकुमारकरप्रहृता समंततो दुदुभयो ध्वनति । सकल च जगदिद्रुप्रमुखं जयध्व-  
निमुखारं जायते । समतात्पुरतरण्य सविलासं नृत्तमारभते । जगन्नायश्च त्रिलोकभूषणा धवलदुङ्कलपरिधानाः पर-  
मशुक्लेश्वर्या निर्भृतिरसंफल्येव मुक्ताकांठिकाव्याजोनेपगतयालंकृतग्रीव विरागाणामपि मुखरागकरणे पाटवं न-  
पश्यतेति दर्शयद्भयाभिव कुडलाभ्या विराजमानपुर्णमसृणंगंडस्थला । वृत्तं प्रिय येना चेन्नोवसर इतीवोपगतो न  
कटकद्वयेनाश्लिष्टप्रकोष्ठाः । यत्रामीयामतिशयरत्नाभिमानाः तत्पश्यामः स्थित्वोच्चैरितीवोत्तमागस्थेन मुकुटारत्नक-  
लापेन शोभमानः निर्वाणपुरगोपुरमिव विमानं प्रविशन्ति ।

ततः शतमुखयुग्मवाहस्कंधोत्थितेन सवेदीकचतुर्निकायामरसप्तानीकपरिवृत्तेन गत्वा अवतीर्य रम्यतेम देशे  
उत्तराभिमुखा, कृतसिद्धन्तमस्कृतयः मुकुटादिकं क्रमेण अलंकारादिकं अपनयन्ति । परित्यक्तोभयसकलग्रंथा परिगृह्यन्ति  
योगत्रयेण रत्नवयमित्यभूतं च परित्यक्तमण पश्यत ।

णाणुप्यस्ति ज्ञानोत्पत्तिश्चैवेतऽवबुध्यते सकलमर्थयाथात्म्यमेनेति ज्ञानं इति केवलमुच्यते । तस्योरगसिर-  
वतारितमोहनीयमारणां, योगवासावाधीश्वरनिर्भूलितज्ञानदृगवावरणतमसा, उत्खातान्तरायविपविटपिनां, वीतक्रमम-

नपेक्षितकरणचेष्टमन्यस्तसंशीतिकं, दुरीकृतविपर्यासं केवलमुत्पद्यते । तस्य फलस्य दर्शनाज्जिनमणीते मांगं अपनी—  
तशकादिकलका श्रद्धोत्पद्यते । फलार्थी तद्वत्स रोचते दृष्टसामर्थ्य इति किं चित्रम् ?

देशातरातिथेः साधोः कथं दर्शनशुद्धिं स्यादित्याशंका निराकरोति—

मूलारा—जन्मण, जन्म अभिनवशरीरग्रहणं, जनन्युदरनिष्क्रमणं वा यत्र क्षेत्रे जातं तदत्र जन्मशब्देनोच्यते  
साहचर्यात् । उत्तरवाप्ययमेव न्यायो शोध्यः । अद्विग्नस्वमणे रत्नत्रयाभिमुख्येन गृहाद्द्वहिगमनं वा यस्मिन् क्षेत्रे तत् ।  
तित्तयं तरन्ति तस्मिन्मन्याः पापनाशार्थिन इति तीर्थमिह समवसरणं । जन्मणिक्रमणोपपत्ती तिस्थचिण्डे ति क-  
त्पाठः । तत्र तीर्थस्य समवसरणस्य चिन्हानि मानस्तंभा गृहान्ते । निसिधी योगवृत्तियस्या भूमौ सा निसिधीत्युच्यते ॥

दर्शनशुद्धि गुणका वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—अनियत स्थानोंमें विहार करनेवाले मुनिओंके सम्यग्दर्शनमें तीर्थंकरोंके जन्मादि स्थानोंका दर्शन  
होनेसे निमलता प्राप्त होती है.

जन्म—नवीन शरीर ग्रहण करना. जिस क्षेत्रमें जन्म होता है उसको भी साहचर्यसे जन्म कहते हैं.  
अथवा जिसने नवीन शरीर धारण किया है ऐसा आत्माभी जन्म शब्दसे वर्णित होता है. अथवा माताके उदरसे बाहर  
आनेकी क्रिया जिस स्थानपर हो वह स्थान भी जन्म शब्दसे गृहीत करना चाहिये अर्थात् जिस क्षेत्रपर जिन-  
श्वरका जन्म हुआ है ऐसे क्षेत्रोंको जन्मक्षेत्र कहते हैं. अभिनिष्क्रमण—रत्नत्रयके अभिमुख होकर गृहका त्याग कर  
जिस स्थानपर तीर्थंकर गमन करते हैं उस स्थानको अभिनिष्क्रमण कहते हैं.

ज्ञान—केवलज्ञानावरण कर्मके क्षयसे मंपूर्ण पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जाननेवाला केवलज्ञान यहाँ  
ज्ञान शब्दका वाच्य है. सामान्य शब्दभी प्रकरणके अनुसार विशेषार्थको जतलाते हैं. अतः यहाँ ज्ञानशब्दने केवल  
ज्ञान समझना चाहिये. केवलज्ञानावरणीय कर्मके क्षयसे संपूर्ण पदार्थोंका यथार्थस्वरूप ग्रहण करनेवाला जो ज्ञान  
उत्पन्न होता है वही ज्ञान इस प्रकरणमें संगृहीत किया है क्योंकि ज्ञान यह शब्द यद्यपि सामान्य है तो भी  
विशेषमें समझना चाहिये. यह केवलज्ञान जिस क्षेत्रमें होता है उसको भी ज्ञानके साहचर्यसे 'ज्ञानोत्पत्ति' यह नाम है.

तीर्थ—चिन्ह. तीर्थ इस शब्दका अर्थ इस प्रकरणमें समवसरण ऐसा होता है. पापका नाश करनेकी इच्छा  
रखनेवाले भव्य जीव समवसरण में जाकर संसारोत्तीर्ण होते हैं अतः समवसरणको तीर्थ कहना योग्य ही है. अमुक

स्थानमें भगवानका समवसरण आया था यह समझनेकेलिये चिन्हरूप जो मानस्तंभ स्थापन करते हैं वह यहां तीर्थ शब्दका अभिप्राय समझना चाहिये, अर्हदादिकोंके व मुनिराजके समाधि स्थानको निषिद्धिका कहते हैं, जन्मादि स्थानोंको मुनिराज प्रथम शस्त्रोंसे जानते हैं और अनंतर उनकी वंदना करनेके लिये जाते हैं, तब उनका सम्यग्दर्शन अतिशय निर्मल हो जाता है अर्थात् मुनिराज हमेशा अनेक देशोंमें भ्रमण करते हैं तब वहां के जन्मादिस्थानोंका दर्शन कर अतिशय श्रद्धालु होते हैं, जैसे कोई आदमी किसी सुंदर स्त्रीका स्वरूप वर्णन करता है तब कोई श्रोता वह वर्णन सुनकर परीक्षरूपसे उसका परिज्ञान कर लेता है और उसको देखने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, यदि वह स्त्री उसको दृष्टिगोचर होती है तो उसके विषयमें उसको महती श्रद्धा उत्पन्न होती है, वैसे आगमसे जन्मादि स्थानोंको जानकर जब मुनि उनको साक्षात् देख लेते हैं तब उनको महाश्रद्धान उत्पन्न होता है, अथवा जब तीर्थ-कर उत्पन्न होते हैं तब अनियत विहार करने वाले यति उनके जन्मादिक कल्याणोंको साक्षात् जानकर अपने सम्यग्दर्शनमें निर्मलता उत्पन्न करते हैं,

अब यहां तीर्थकरोंके जन्मादि कल्याणकोंका विस्तारसे टीकाकार अपराजित क्षरिने वर्णन किया है, उस का भावार्थ हम यहां लिख देते हैं,—

तीर्थकर तीनज्ञानके धारक रहते हैं, जब स्वर्गमें उनका आवुष्य समाप्त होता है तब वे माताके उदरमें आते हैं इंद्रादिदेव आकर उनका गर्भमहोत्सव करते हैं, तीर्थकरका जन्माभिषेक महोत्सव भुवनरूपगृहमें जमा हुवा अज्ञानरूप अंधकारको नष्ट कर देता है, अमृतके पानसे प्राणिओंको आरोग्यलभ होता है वैसे जन्म महोत्सवसे संपूर्ण प्राणी रोगमुक्त होजाते हैं

देवांगनाओंका नृत्य देखनेस जैसा आनंद होता है वैसा इसके अवलोकनेसे भी सर्व जगत् आनंदमय होता है, त्रियवचनके समान यह महोत्सव मन में प्रसन्नता उत्पन्न करता है, प्रशस्त पुण्यके समान यह अगणित पुण्यको समर्पण करता है, लक्ष्मी अपने परिचारिकाओंके साथ इस उत्सवको आश्रयसे देखती है, शुद्धक जातीके देव आकाशमेंसे पुष्पवृष्टि करते हैं, तब चारो तरफसे भौरों आकर गुंजारव करते हैं, इस उत्सवके समय नगरे और शहरोंकी ध्वनि सतत हुवा करती है, इनके ध्वनिसे जगतका अवकाश भर जाता है, देवांगनायें नृत्य करती हैं, मानो उनको जीतनेके लिये ही सौधोंके शिरवर्गोंकी पचरंगयुक्त पताकार्यें भी नृत्य करती हैं, जन्माभिषेकोत्सवके

समय आसन कंषित होनेसे देवांगनायें भीतीसे इंद्रोको आलिङ्गन देती हैं तब उनका मुख हृषसे कमलतुल्य प्रफुल्लित होता है।

इंद्र जब जन्माभिषेक करने का कार्यक्रम देवोंको सुनाता है तब वे आदरसे अपने हाथ जोड़कर उसकी आज्ञा मानते हैं, नगारेकी ध्वनि सुनकर सर्व इंद्र और सामानिकादिक देव भी एकत्र होकर सौधमंदिरके पास जाते हैं, परस्पर की ईर्ष्यासे देव वैक्रियिक शरीर धारण कर आकाशमार्गसे प्रयाण करने लगते हैं, जिनवालकका जन्माभिषेकोत्सव करनेके लिये जब इंद्राणी राजभवनमें आती है तब उसके नूपुरोंका ध्वनि सुनकर राजहंसी राजभवन के अंगणमें सविलास गमन करती है।

ऐरावतसे उतरकर जब इंद्र जिनवालकको ग्रहण करनेके लिये अपने हाथ पमारता है तब दुंदुभि मेरी ध्वनीके सिंहादसे सब दिशायें शब्दमय होती है, प्रणाम करते समय अनेक पटहोंका गंभीर और घोर शब्द होता है।

इंद्र अपने हाथमें अष्टमी चंद्रके समान शुभ्र चामर लेकर प्रभुके ऊपर होरते हैं तब जिनवालकको देव-नेके लिये इंद्रोकी दीर्घां उत्कंठित होती हैं सफेत छत्ररूप मेघोंसे आकाश व्याप्त होता है, त्रिजली के समान पीरखनेवाली पताकाओंसे आकाश व्याप्त होता है, इंद्रनीलमणिओंमें रचे हुये सोपानोपर पांच रखकर देवोंका सैन्य आगे गमन करता है, ऐरावत हाथी के दंतपंक्तिओंके सरोवरमें कमलोंपर देवांगनायें लीलासे पदनक्षेप कर नृत्य करती हैं, हजारों देवी अष्टमंगल धारण कर आगे गमन करती हैं।

उस समय द्वारपाल देव शुद्ध देवोंको हटाते हैं, आत्तरथ जातीके हजारों देव अपने ऊपर पड़ा हुआ रक्षा का कार्य एकाग्रता से करते हैं, इस रीतीसे देव मेरु पर्वतके सर्मांग जाकर उसको प्रदक्षिणा देते हैं, तदनन्तर मेरुपर्वतके ऊपर शिखरके समान ऊंचे सिंहासनपर इंद्र प्रभुको विराजमान करता है, अनेक देव समूह क्षीर समुद्र का जल लाते हैं तब इंद्र प्रभूका अभिषेक करता है इसके अनंतर इंद्राणी प्रभूको बालक योग्य अलंकारों से भूषित करती है, हजारों इंद्रके माटदेव प्रभूकी स्तुति करते हैं, उस समय इंद्र भी आनंदसे नृत्य करते हैं, इस तरहका जन्माभिषेक कल्याण देखनेसे यतिओंका सम्यग्दर्शन दृढ़ होता है।



अब दीक्षाकल्याणिकोत्सवका वर्णन करते हैं—

संपूर्ण जिनेश्वरोंका जन्माभिकोत्सव होता ही है, इंद्रकी आज्ञासे कुंजर बड़े आदरसे दिव्य और योग्य ऐसे उवटन, वस्त्र भोजन, यान, वाहन, अलंकार वगैरह वस्तु प्रभूको समर्पण करता है. मनके अनुकूल क्रीडा करनेवाले देवकुमारसमुदाय भक्तीसे प्रभूकी सेवा करते हैं. कितनेक तीर्थकरोंका पूर्वपुण्य उदयमें जत्र आता है तब उनको चक्ररत्नकी प्राप्ति होती है. यह चक्ररत्न हजारों स्वर्गके समान चमकीले आरोसे युक्त होता है. इसके साहाय्यसे और अपने बाहुपराक्रमसे तीर्थकर समस्त प्रसास, मागधादि देवोंको, विधारराजाओंको और भूगोचरी भूपतिओंको वश करते हैं. देवांगनाओंके समान, रूप, तारुण्य और विलासयुक्त, उपहास करनेमें चतुर ऐसी वत्सीस हजार पट्टरानियोंके सुलकमलोंको चक्रवर्तित्वको प्राप्त हुए वे तीर्थकर विकसित करते हैं. इंद्रसे भेजी गयी अस्त्रराओंका नृत्य अवलोकन करके अपने मनका विनोदन करते हैं. बड़े आनंदसे किन्नर गंधर्वादि देवोंका गायन सुनते हैं. काल महाकालाधिक नवनिदिओंकी उनको प्राप्ति होती है. चक्रवर्तिके चौदह रत्नोंका हजार हजार देव रक्षण करते हैं. वत्सीस हजार सुकुटवद्ध भूपाल अपने सुवर्णराचित किरीटके अग्रभागपर मकरिकामें बैठायें हुए रत्नरूपी दीपपत्तिसि चक्रवर्तीका चरणयुगल पूजते हैं. देव कुमारके द्वारा लाए हुए उपहारोंको देखनेमें वे एकाग्रचित्त हो जाते हैं ऐसे वे चक्रवर्ती मनुष्योंको जो भोग प्राप्त होते हैं उससे भी सर्वोत्कृष्ट भोगोंको पुण्योदयसे प्राप्त कर लेते हैं. ये भोगोंके पदार्थ उनको बिना प्रयत्नसे ही प्राप्त होते हैं. कितनेक तीर्थकर मंडलीक, महामंडलीक पदको प्राप्त होकर उत्कृष्ट भोगोंका अनायास भोग लेते हैं ।

जब तीर्थकर नामकर्मका उदय होता है और चारित्रमोह कर्मका अपकर्ण होता है तब अनादिकालसे आत्माके साथ बंधे हुए स्वतःके और इतर जीवोंके कर्मोंका नाश करनेकेलिए कटिवद्ध हो जाते हैं और मनमें इस प्रकार विचार करते हैं—

बड़े कष्टसे जिसका अंत आता है ऐसे संसाररूपी समुद्रमें दुःखरूपी मोहरोंका हमको खूब ज्ञान है, अनुभव है, तो भी हमसरीखे भी लोग इस मोह के फंदेमें पड़े हुए हैं अतः यह मोहकर्म महाबलवान है. हमको भी इसने आरंभ और परिग्रहोंमें खूब फसाया है हमने अणिमामाहिमादिक आठ गुणोंकी संपत्तीसे परिपूर्ण, आपत्तीका अविषय, अभिलाषाओंसे दूर, जिनकी बुद्धि कुशाग्रके समान तीक्ष्ण है ऐसे इंद्रादिक भी

जिसको अपने ज्ञानसे जाननेमें असमर्थ हैं, जो वचनके अविषय है, अपराधीन है, जिसमें कभी न्यूनताका अनुभव आता ही नहीं है, ऐसा अहर्भित्तिका सुख भी हमने बहुकालतक भोगा है, अतः मनुष्योंके तुच्छ संपत्ति सुखमें क्यों उत्कण्ठित हो रहे हैं यह मनुजभोगसंपदा दुष्ट जनकी भेत्त्रीके समान विचित्र दुःखोंका संबंध उत्पन्न करती है, चंचल है, पुण्यका समूह जैसा पूर्व कर्मके अधीन होता है वैसे यह भोग संपदा भी पराधीनही है, कुक्कीकी कृतिमें अल्प ही अर्थ भरा रहता है वैसे इस मनुजसुखमें अल्प प्रयोजनही सिद्ध होता है, दूर भव्य जीवका मुक्तिमार्ग जैसे अनेक विघ्नोंसे रुका रहताही वैसा यह मनुजसुख भी अनेक विपत्तिओंसे घिरा हुआ है, यह मनुजवैभव अनंतकालतक मैने भोगा है।

इसप्रकार प्रभु वैराग्यभावनामें लीन हुये हैं ऐसे समयमें ब्रह्मस्वर्गसे शंखके समान शुभ्रदेह जिनका है ऐसे लौकांतिक देव जिनेश्वर भगवान अपनेको और भव्य जनकों ससारसमुद्रसे निकालनेके लिये उद्युक्त हुए है ऐसा अवधिज्ञानरूप नेत्रसे जानकर प्रभुके पास आते हैं, और अनेक भव्य जीवोंपर जिससे अनुग्रह होगा ऐसा यह महाकार्य प्रभुने अपने हाथमें लिया है, आपके इस कार्यमें हम लोगोंकी भी सम्मति है, पूज्य पुरुषोंकी पूजा का उल्लंघन करनेसे स्वार्थहानि होती है अर्थात् इष्ट स्वर्गादि संपदाकी प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा मनमें विचार कर वे लौकांतिक देव आकाशसे नीचे उतरकर प्रभुके पास महा आदरसे बैठकर प्रभुकी इसप्रकार प्रार्थना करते हैं—

हे मङ्गारक ! आपका यह उद्योग प्रशंसनीय है, कल्पवृक्ष प्रत्युपाकारकी अपेक्षा न रखकर जगतपर अनुग्रह करते हैं, हे प्रभो आप महापुरुष है अतः आपभी कल्पवृक्षके समान जगत पर अनुग्रह करो।

विनय अर्थात् भव्य जीवोंके ज्ञानरूपी लोचन मिथ्यात्वरूपी तिभिरोगमें व्याप्त होगये हैं, अतः वे खोटे रास्तेपर जा रहे हैं और कुमतिरूप खड्डोंमें गिर रहे हैं, कुमतिरूप गड्ढेसे निकलनेकी इच्छा मनमें होते हुये भी असमर्थ होनेसे क्लेश पाने लगे हैं दीर्घ और दृढ़ ऐसे निर्दोष सम्यग्दर्शनरूपी डोरेसे आप उनको कुगतिमेंसे निकालकर आपके दिवाले हुये विशाल मोक्षमार्गपर स्थिर करो जिससे वे अनंतज्ञानात्मक सुखकी प्राप्ति होनेसे सुखी होंगे, इस प्रकार स्तुति करके सारस्वतादिक लौकांतिकदेव अपने स्थानको चले जाते हैं।

भगवानके वैराग्यरूपी वायुसे इंद्रका सिंहासन कंपित होता है, तब प्रभु महाकार्यका प्रारंभ करनेका विचार कर रहे हैं ऐसा इंद्र अवधिज्ञानसे जानकर सिंहासनसे बड़े आदरसे नीचे उतरकर प्रभु जिस दिशामें मुहक

बैठे हैं उस दिगोके तरफ मात पाद परिसित भूमीतक चला जाता है. अपने मन्त्राकार पितामह के समलङ्करी शक्तिको हंसनेमाला, अंशुला, मन्त्रादिक शुभ लक्षणोंमें मनाङ्ग दीपनेमाला, ऐसे अपने दक्षिण हाथमें स्त्रियदत्ते रत्नों में श्रुषित अपना मस्तक नीचे झुकाकर मद्रर्मनीयको चलोनेमें उद्युक्त, अगणानव भव्योक्तिका अग्रण करनेमाले और अपूर्व ज्ञानरूपी नेत्रके धारक ऐसे जिनअंगको भोग नमस्कार हो ऐसा उचोनेचार इन्द्र करना है तब नगारके ध्वनिमें सब देवोंको प्रभूके कार्यका ज्ञान होता है. सब एकत्र होते हैं. अपने अपने म्यामीके अंगों में देव प्रयाण करते हैं. नानाप्रकारके छत्र, शब्द, अलंकारोंमें मज्ज होकर श्रेष्ठ देवा मोयमेंद्रके नक्षत्र जाने हैं. मये इन्द्र और इतर राजा लोकोंके साथ इन्द्र राजादेके पास जाता है. तब चामर, बिहामन, अञ्जलिकादि राजचिह्नको छोडकर दरवाजेके पास खडा होता है. द्वारपालकी अंदर प्रवेश करनेकेलिये अनुया मिलनेपर धामचक्रमें मुगोभित ऐसे भगवानके पास जाकर उनको बहुमानमें ग्रणाम करता है. जिनचार प्रभु उदी प्रगज्जाने देयगे हैं तब इन्द्र इस प्रकार प्रभुको विज्ञापन करता है-

हैं मङ्गारक! आपका दीक्षा कल्याणविधि करनेकेलिये अन्युनेन्द्रके साथ मा इन्द्र आये हैं. हमको युक्तिमार्ग का स्वरूप मालूम हैं इन्द्रिय मुख सेदम्बरूप होनेमें उगमे हम उदासीन हैं, जनातरु अनेन मुखानुभन प्राप्त करनेके लिये हम उद्यत भी है परंतु मंयमवाति रुमेका द्योपशुम न होनेसे चारित्र धारण करनेमें-म्वयं चारित्रमें प्रयुति नहीं करते हैं और अन्य भव्योक्तो भी प्रयुत नहीं करते हैं. यद्यपि हमको विद्युद ज्ञान और सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होगयी है तो भी निर्दोष चारित्र और तपके बिना हम संपूर्ण कर्मोंका नाश करनेमें असमर्थ है. हमारा आयुष्य अनेक मागरीका होनेमें हम दर्पियंमारी हैं. अतः हम को ब्रह्मोत्त खेद होता है. ऊटकर सहे होनेकी अभिलाषा रखता हुआ भी मालक जैसे गिर पडता है जैसे चारित्र की अभिलाषा रखते हुये भी उसको हम धारण करनेमें असमर्थ हैं.

हे भगवन्! आप ज्ञातव्य वस्तुयें मय जानचुके हैं. मोहनीय रुमेके शयोपशुममें आपमें त्यागरूप परिणाम उत्पन्न हुये हैं. आप हमारे लिये मर्माच्छुष्ट पूज्य है पूर जन्ममें मंणूणी आरंभ और परियहोका त्याग करने से जैसी आपका अपूर्व वीतरागता और सर्व भव्य जीर्णोपर उपकार करनेकी शक्ति प्राप्त हुई है जैसी वीतरागता और उपकार शक्ति हमको भी अन्य जन्मोंमें मिले ऐसी अभिलाषा रखते हैं. आपके दीक्षाकल्याणके

कार्यमें हम सहायुभूति रखते हैं अतः हमको इस सहायुभूति का उपयुक्त फल मिले ऐसी हम इच्छा रखते हैं, हे भगवान् ! हम यह विमान सज्ज करके लाये हैं, इसके उपर आप आरोहण करो, ऐसा बोलकर जब सौधर्मेन्द्र मीन धारण करता है तब संपूर्ण ज्ञातिवर्ग, अंतःपुर और परिवारके समस्त लोक हर्ष और विषादयुक्त हुये, उन सब लोगोंको हर्ष विषादयुक्त देखकर जिनेश्वर इस प्रकारसे बोलते हैं—

हे जनहो ! चिरकालीन सहवाससे जो अल्प उपकार लोक अन्योन्यमें करते हैं उससे अन्योन्यमें अनु-राग उत्पन्न होता है, तथा जहां अनुराग-प्रेम उत्पन्न होता है वहां द्वेष भी उत्पन्न होता है, इस प्रेम और क्रोधसे अर्थात् रागद्वेषोंसे दुरंत कर्मबंधन होता है, इन सब आपत्तिओंका मूलकारण यह मेरा है, मे इसका स्वामी हूं ऐसा समत्वभाव है, यह सर्व दुःखोंका आद्यकारण है, विद्वान् पुरुषने इस समत्वभावको फेंक देना चाहिये, किसीका मित्र अथवा, धन वा शरीर ये पदार्थ कायमेक टिकनेवाले नहीं हैं, सर्व वंधुगण, परिवार जन लड़्डु उडानेमें खूब सहायता करते हैं धन कमानेमें बड़ा दुःख होता है, यह धन धनेच्छु लोगोंके साथ बखेड़ा उत्पन्न करता है, तीव्र लोभको बढ़ाता है, जैसे खारा पानी पीने वालेको अधिक प्यास लगती है वैसे धन तुण्णा—

—लोभको उत्तरोत्तर अधिक रूपसे बढ़ाता है.

स्त्रिया मदिराके समान अन्तःकरणको मोहित करती हैं, असत्य रोना, हसना और असत्य प्रार्थनाओंके द्वारा धैर्यरहित लोगोंके मनको शीघ्र हरलेती है, स्त्रिया चर्मसे बनी हुई पुतलियां हैं, वे स्वभावसे चंचल होती हैं संघ्याकालकी मेघपंक्ति जैसी अस्थिर रागभावसे युक्त हैं, संघ्याकालके अनंतर विलीन होता है वैसे स्त्रियोंका प्रेम अल्पकालमें नष्ट होता है, वे दूसरेपर प्रेम करने लगती हैं, वे क्रपटकी मातायें हैं, असत्यभाषणरूप दूतीकी व स्वाभिनी हैं, और सुगतिकी प्राप्तिको बज्रांगला के समान प्रतिबंध करनेवाली हैं, ऐसी स्त्रियोंमें बुद्धमान पुरुषोंको प्रेम करना क्या उचित है ?

यह शरीर अनेक अपवित्र पदार्थोंका स्थान है, जैसे कूड़े कचरेमें एक भी पवित्र पदार्थ नहीं रहता है वैसे शरीरमें सब रक्त, मांस, मलमूत्रादिक अपवित्र ही पदार्थ भरे हुये हैं, प्राणिओंको यह शरीर कभी नष्ट होनेवाले भारके समान है, अर्थात् जवतक इस जीवको मोक्ष प्राप्त न होगा तवतक इस शरीरका बोझा इसको हमेशा धारण करना पड़ेगा ही, यह शरीर महारोगरूपी सर्पोंके लिए बामीके समान है, जरारूपी व्याघ्रिका रहनेका यह स्थान

है, चर्मके टुकड़ोंसे वेष्टित भट्टीके डेलके समान नेत्र अंदर तो निःसार और ऊपरसे मनोहर टाखते हैं, ऐसे शरीरमें एक ही गुण है, वह यह है कि, वह धर्मसाधनकेलिए सहाय करता है।

पर्वतपरसे बहनेवाली नदीके प्रवाहके तुल्य जीवन आस्थिर है, तिनकेकी अग्निज्वाला उत्पन्न होकर जल्दी नष्ट होती है वैसे संपत्ती भी प्राप्त होकर शीघ्र नष्ट होती है, शरीर संपदा और तारुण्यका स्वरूप जानकर हे जनहो आप प्रमादको छोड़ दो, जन्मसमुद्रके दूसरे किनारे की प्राप्ति करने के लिए उद्योग करो, प्रमादमें हममें जो अपराध हुये होंगे उनकी आप क्षमा करो,

ऐसा तीर्थंकर का भाषण होनेके अनंतर सुरकुमारों द्वारा देव दुंदुभि शब्द करने लगते हैं, इंद्रमुख सकल जगत् उस समय जय जय कर करता है, चारों तरफ देवांगनयें सुंदर नृत्य करती है उस समय त्रैलोक्य को अलंकार सदृश प्रभु शुक्लेश्याके समान श्वेतवस्त्र पहनेते हैं, मानो मुक्तिकी दूतीही है ऐसी रत्नमालाको धारण कर वे अपना गला सुशोभित करते हैं, विरक्त पुरुषोंके भी मुखपर हम रागभाव उत्पन्न करनेमें हम चतुर हैं, हमारा चतुरपना देखो ऐसा कहकर अपनी मानो चतुरता दिखानेवाले ऐसे कुंडलोंके द्वारा प्रभूके दो लिग्घ और सुंदर कपोल अपूर्व शोभाको धारण करने लगे, यदि प्रभूको वृत्त-चारित्र प्रिय है तो इस समय प्रभूको हमसे प्रयोजन है क्यों कि हम भी वृत्त है अर्थात् वृत्त-गोल हैं ऐसा अभिप्राय मानो धारण कर प्राप्त हुए कटकौसे-कर कंकणोंसे प्रभूके हाथ आश्लिष्ट होगये, जिनमें प्रभूकी महारबकी कल्पना है वे कितने सुंदर हैं हम भी उच्च स्थानमें रहकर देखेंगे मानो ऐसे अभिप्रायसे ही मस्तकपरके मुकुटके रत्नसमुदायसे प्रभु शोभने लगे, इस तरह भूषणालंकृत होकर भगवाने निर्वाणपत्तनका मानो गोपुर ही है ऐसे विमानमें प्रवेश किया,

तदनंतर इंद्रोंने वह विमान अपने कंधेपर धारण किया, देवांगना, चतुर्णिकायके देव और सातम्भकार का देवैस्य इनसे वेष्टित होकर प्रभु रम्यतम देशमें जाकर विमानसे उतरे, उत्तर दिशाको मुखकर सिद्धको नमस्कार कर मुकुटादिक अलंकार क्रमसे अंगपरसे उतरते हैं,

बाह्याभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग कर मनवचन कायसे रत्नत्रयका स्वीकार करते हैं, इस तरहका दीक्षा कल्याणिक देखनेसे मुनिओंका सम्पददर्शन निर्मल होता है,

संपूर्ण पदार्थोंका स्वरूप जिससे जाना जाता है उसको ज्ञान कहते हैं, यहां केवल ज्ञानको ज्ञान कहते

हैं उसकी उत्पत्ति इस प्रकारसे होती है.

जिन्होंने मोहनीय कर्मका भार फेक दिया है, शुक्लध्यानरूपी सूर्यके सहाय्यसे जिन्होंने ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूप अंधकार नष्ट किया है, अन्तराय कर्मरूप विषवृक्षको जिन्होंने निर्दलित किया है ऐसे भगवानको केवलज्ञान उत्पन्न होता है. वह ज्ञान क्रमरहित, इंद्रियोंकी प्रवृत्तिसे रहित, और संशय विपर्ययज्ञानसे रहित होता है. इस केवलज्ञानसे मोक्षफलकी प्राप्ति होती है. केवलज्ञानकल्याण देखनेसे जिनप्रणीत मोक्षमार्गमें शंकादि दोषरहित श्रद्धा उत्पन्न होती है. जिनको मोक्षफलच्छा है वे स्वययुक्त अथवा जन्मकल्याणादिकोंसे युक्त तीर्थकरा-दिकोंपर उनके सामर्थ्य देखनेसे श्रद्धान करते हैं.

एवमनियतविद्वारे दर्शनशुद्धिस्वार्थमुपदर्श्य परोपकार स्थिरीकरणं प्रकटयति—

संविग्नं संविगगाणं जणयदि सुविहिदो सुविहिदाणं ।

जुत्तो आउत्ताणं विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं ॥ १४४ ॥

संविग्नो वृत्तसंपन्नः शुद्धलेदयस्तपोधनः ॥

देशान्तरातिथिः साधुः संवेजयति तद्रतं ( तद्रतान् ) ॥ १४७ ॥

विजयोदया-संविग्नः संसारभीरुता । जणयदि जनयति । कः ? सुविहिदो सुचरिताना । सविगगाणं संविगगाणा । जुत्तो अनशनाविधे तपसि युक्तः । आउत्ताणं योगचाराणा । विसुद्धलेस्सो विशुद्धलेदयः । सुलेस्साण सुलेदयानां च । सम्यक् चारित्रतपसोः शुद्धलेदयाया च प्रवर्तमान दृष्ट्वा सर्वेऽपि सुचारित्रा' सुतपस, शुद्धलेदया यतयः अतिशयवर्ती संसारभीरुतां प्रापयते । न वयमतीव संसारभीरवः, यथाय भगवान् अत एव नञ्चारित्र तपश्च सातिचार इति मन्यमाना' ।

पयमनियतविद्वारे दर्शनशुद्धिं स्वार्थमुपदर्शयदानीं स्थितिकरणं परार्थमुपदर्शयति—

मूलारा—संवेगं संसारभीरुता । जणयदि वर्द्धयति । जनिरिह स्वरूपतिशयोक्त्यादन्तार्थो न स्वरूपविर्भावार्थः । संवेगस्य प्रागपि सद्भावात् । सुविहिदो सुचरितः । अनशनादिके तपसि समाहित । आउत्ताणं योगधारिणाम् । अनियतविद्वारसे दर्शनविशुद्धि होती है. अब सार्धार्थिक स्थिरीकरण भी इससे होता है यह दिखाते हैं—

अर्थ—अनियतविद्वारी मुनि उत्तमचारित्र धारक होनेसे उनको देखकर सर्व मुनि उत्तम चारित्रधारक

होते हैं. इनकी संसारभीरुता देखकर वे भी संसारभीरुताको प्राप्त होते हैं. इनकी अनशनादि तपश्चरणोंमें निमग्नता देखकर अन्य मुनि भी वैसे बनते हैं. विशुद्ध लेख्यके धारक ऐसे इन मुनिओंको देखकर वे भी अपने परिणाम विशुद्ध करते हैं. यह फायदा अनियत विहारसे होता है. इस लिये मुनिओंको अनियतविहारी बनना अवश्य योग्य है. अभिप्राय यह है कि, अनियतविहारी मुनिर्वर्गकी सम्यक्चारित्र और तपमें प्रवृत्ति देखकर सर्व उत्तम चारित्र युक्त, महातपस्वी और विशुद्धलेख्य धारक यति भी संसारभयकी उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त होते हैं. जैसा ये महामुनि अतिशय संसारभीरु हैं वैसे संसारभीरु हम नहीं हैं. इसलिये हमारा तप और चारित्र अतिचारसहित है ऐसा मनमें विचार कर अन्य साधु भी संसारभीरु, महा तपस्वी, सच्चारित्रधारक और विशुद्धलेख्यवान् बनते हैं. अतः अनियत विहारसे साधुओंपर उपर्युक्त उपकार होता है यह सिद्ध होता है.

उत्तरगाथया एतदाचष्टे न केवलं अतिशयितचारित्रतयोगुण एव परं संविमं करोति किंतु एवंभूतोऽपि इत्याचष्टे—

पियधम्मवज्जभीरु सुत्तथविसारदो असढभावो ॥

<sup>१</sup>संवेगाविदि य परं साधू णियदं विहरमाणो ॥ १४५ ॥

प्रियधर्माशयः साधुरागमार्थविचक्षणः ॥

अमनवद्यवित्रस्तः संविमं कुरुते परम् ॥ १४८ ॥

विजयोदया—प्रियधम्मवज्जभीरु प्रिय उत्तमक्षमादिधर्मो यस्य, यश्चावयस्य पापस्य भीरु । सुत्तथविसारदो सूत्रार्थयोनिरूपणः, । असढभावो शास्त्ररहित । संवेगाविदि य परं संविमं करोति । साधू साधु । णियदं सर्वकालं विहरमाणो देशातरातिथि ।

न केवलं सम्यक्चारित्रतपोविशुद्धलेख्यावृत्तिस्तथाभूतानन्यान्साधून्तिसंविमान्करोत्यपि त्वेवंभूतोऽपि—  
मूलारा—वज्जभीरु पापभीरुः । संविगावेदि संविमं करोति । णियदं सर्वदा ।

जिसका तप व चारित्र गुण उत्कृष्ट है वही मुनि अन्य मुनिओंमें संसारभीरुत्व उत्पन्न कर सकता है ऐसा नहीं है किंतु अन्य गुणवालाभी संसारभीरुता उत्पन्न कर सकता है इसी बातका वर्णन आगेकी गाथा करती है.

अर्थ — जिसका उत्तम क्षमादि दशधर्मोंपर अतिशय प्रेम है, पापसे जो भयभीत है, जो सूत्र और अर्थमें निपुण है, जिसमें कपट तिलमात्र भी नहीं है वह अनियत विहारी साधु हमेशा देशांतरका अतिथि बनता है अतः उसके उपर्युक्त गुणोंको देखकर अन्य साधुभी संसारसे भयभीत होते हैं.

पूर्वगाथाया परस्थिरीकरण प्रतिपाद्य उत्तरयात्मानमपि स्थिरयति इत्यभिधत्ते—

संविगदरे पासिय पियधम्मदरे अवज्जभीरुदरे ॥

संयमवि पियथिरधम्मो साधू विहरंतओ होदि ॥ १४६ ॥

अवद्यभीरुःसंविग्नः प्रियधर्मतरेक्षणे ॥

अवद्यभीरुः संविग्नः प्रियधर्मतरोऽस्ति सः ॥ १४७ ॥

विजयोवया—विदियणं । सविग्नतरं इत्यादिकया । असकृत्यंचविधपरवर्तनिरूपणादित्तचेतस्तयोपगतदागमनभयातिशया सविग्नतरा । अभिनवकर्मनिरोधं चिरतनगलनं करोति, अभ्युदयनिःश्रेयससुखानि च प्रयच्छति सुचरितो धर्म इति । धर्मस्य फलमाहात्म्ये अनारतं चेतःसमाधानात्प्रियधर्मतरा, स्वल्पमप्यशुभयोगानामवसरादानादवद्यभीरुतरा । स्वयमात्मना प्रियस्थिरधर्मतरा । अतरेणाप्यतिशायिकप्रत्ययमतिशयार्थगतिरत्र 'अभिरूपाय कन्या देयेति' यथा प्रियस्थिरधर्मतर' इति । अपिशब्देन सविग्नतर, अवद्यभीरुतरश्चेति ग्राह्यम् ।

एवं नानादेशविहारिणः परस्थिरीकरणं धर्मोऽभिधाय स्वस्थिरीकरणमाह—

मूलारा—पासिय हट्टा । पियथिरधम्मो अंतरेणाप्यतिशायिकं प्रत्ययमतिशयार्थगतिरत्र । अभिरूपाय कन्या देयेति यथा । तेन प्रियस्थिरधर्मतर इति बोध्यम् । अथवा पियदधम्मो इति पाठः । प्रियतरधर्मेत्यर्थः । अपिशब्देन संविग्नतरोऽवद्यभीरुतरश्चेति ग्राह्यम् । तथान्येऽप्युक्तुः ।

अवद्यभीरुः संविग्नः प्रियधर्मतरेक्षणे ।

अवद्यभीरुः सविग्नः प्रियधर्मतरोऽस्ति सः ॥

पूर्व गाथायें परस्थिरीकरण दिखाया है अब आगेकी गाथायें आनयत विहारी साधु स्वयको भी गुणों स्थिर करता है यह दिखाते हैं.



अर्थ—अन्य देशोंमें रहनेवाले साधुओंका दर्शन होनेसे अनियतविहारी साधु भी उनके समानही हो जाता है. वार वार पांच प्रकारके संसारका निरूपण श्रवण करनेसे मन व्यथित होकर जिनको संसारसे अत्यंत भय उत्पन्न हुआ है ऐसे साधुओंका दर्शन होनेसे अनियतविहारी साधु भी संसारसे अधिक भययुक्त होता है. धर्मका आचरण करनेसे नवीन कर्मोंका निरोध अर्थात् संवर होता है, पूर्ववद्ध कर्म निर्जोर्ण होकर आत्मासे अलग होते हैं. यह जिनधर्म अर्थात् मुनिधर्म स्वर्गादिसुख और मोक्षसुख जीवोंको देता है ऐसा धर्मका फल और उसका माहात्म्य सुनकर उसमें जिनका मन हमेशा अधिक रुचि रखता है ऐसे मुनिवर्यको प्रियधर्मतर कहते हैं. उनको देखनेसे विहारी यति भी धर्ममें प्रगाढ रुचि रखता है. जो थोड़ेसे अशुभयोगोंको अपने आत्मामें उत्पन्न होने नहीं देते ऐसे मुनिओंको अवद्य भीरुतर कहते हैं. ऐसे साधुओंको देखकर अनियत विहार करनेवाला साधु धर्म पर अतिशय प्रेम करता है और उसमें अधिक स्थिर होता है. जैसे 'अभिरूपाय कन्या देया' रूपवानको कन्या देनी चाहिये. यहाँ सर्व मनुष्य रूपयुक्तही होते हैं कोईभी मनुष्य रूपरहित नहीं होता है. अतः 'अभिरूपाय कन्या देया' इस वाक्यका 'अधिक सुंदर पुरुषको कन्या देनी चाहिये' ऐसा अभिप्राय है. वैसे 'प्रियस्थिरधर्मा, इसका 'प्रियस्थिरधर्मतरः' ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये. अर्थात् अनियत विहार करनेवाला साधु अधिक प्रिय और अधिक स्थिर धर्मको धारण करनेवाला होता है

भावना व्याचष्टे—परीपहसहनमिह भावनेत्युच्यते—

चरिया छुहा य तण्हा सीदं उण्हं च भाविदं होदि ॥

सेज्जा वि अपडिबद्धा विहरणेणाधिआसिया होदि ॥ १४७ ॥

शीतातपश्रुधातृष्णानिषद्याद्याः परीषद्वाः ॥

यतिनाटाव्यमानेन समस्ता सन्ति भाविताः ॥ १५० ॥

विजयोदया—चरिया चर्योजन्य दुःखमिह चर्येति गृहीत । उपनहान्येन वा अकृतपादरक्षस्य, गच्छतो निशितशर्करापापाणकंटकादिभिस्तुद्यमानचरणस्य, उण्णरज सतसमादस्य, वा यहुः ख तस्यानुभवमसक्केणेन चर्याभावना । छुहा य अपरिचिते देशे सयत्तै पूर्वमनध्यासिते अल्पधान्यसग्रहे प्रयोग्याया अलाभात् भिक्षाया समुपजाता शुद्धेदना

सोढा भवति । चिरमेकत्र वसतो जनः परिचयादाक्रिययाढा भिक्षा प्रयच्छतीति न मदान्तरिग्रम । सीद उण्ह च शीतोष्णस्पर्शज दुःख इह शुश्रूते । तन्नुभवन् सहेयारहितभाविना सोढं भवति । सेज्जा य शय्या च वसति । अपडिवद्धा ममेदं भावरहिता । अधियासिदा सोढा भवति । विहरणेण विविधदेशगमनेन ।

भावना भावयति—

मूलार्थः—चरिया गमनजन्यं दुःखमित्यर्थः । छुधा अपरिचिते देशे संयतौ, पूर्वमनध्यासिते अल्पधान्यसंग्रहे च योग्यभिक्षाया अलासादुपजाता छुद्धेदना । सीदं शीतस्पर्शनजं दुःखं । अधियासिया असंकलेशेन सोढा । मेज्जा वसतिः । अपडिवद्धा ममेदंभावरहिता ।

भावना—परीपह सहन करना यह भावना शब्दका अर्थ है,

इसका विवेचन इस प्रकार है—

अर्थ—चर्या—चर्यासे उत्पन्न हुए दुःखको चर्या कहते हैं, जूता अथवा अन्य पदार्थसे जिसने अपने पावोंका रक्षण नहीं किया है, तथा गमन करते समय तीक्ष्ण शर्करा, पत्थर, कांटे इत्यादिकोंके द्वारा जिसके चरण व्यथित हो रहे हैं, उष्णधूलीसे जिसके पैर संतप्त हुए हैं, ऐसे मुनिको जो दुःख उत्पन्न होता है वह मुनि विना संकेश परिणामसे सहन करते हैं, यह चर्या भावना है,

छुधा भावना—जहां मुनियोंने निवास नहीं किया था ऐसे अपरिचित तथा अल्प धान्य के संग्रहसे युक्त देशमें योग्य भिक्षा न मिलनेसे जो भूखसे वेदना होती है वह सहन करना छुधाचर्या कहलाती है, बहुत दिन-पर्यंत एकस्थानमें ही निवास करनेसे सब श्रावकोंके साथ परिचय होता है इस लिये वहां भिक्षा मिलनेमें महान परिश्रम नहीं होता है, संकेश परिणाम न करके शीतसे और उष्णसे होनेवाले दुःखोंको सहन करना यह शीतोष्ण चर्या है, वसतिकोके ऊपर भी यह मेरी है ऐसा ममत्वभाव उत्पन्न नहीं होता है, अनियत विहार करनेसे ये उपर्युक्त फायदे होते हैं,

पाणादेसे कुसलो पाणादेसे गदाण सत्थाणं ॥

अभिलाव अत्थकुसलो होदि य देसप्पवेसेण ॥ १४८ ॥

शृण्वतो श्रुतिस्मरिणां व्याख्यां नानार्थदर्शिनीम् ॥  
देशांतरातिथेः साधोरस्ति सूत्रार्थकौशलम् ॥ १५१ ॥

गाणादेसे कुसलो गाणादेसे गदाण सत्याणं ॥

अहिलव अत्यकुसलो होदि य देसप्पवसेण ॥ १ ॥  
इति गाथा सूत्रे क्षिप्ता मन्तव्या ।

अपराजितसूरि और पं. आशाधजीने इस गाथाकी टीका नहीं लिखी है. वे इसको क्षेपक समझते हैं. अर्थ— अनेक देशमें विहार करनेसे झुथाभावना, चर्चाभावना इत्यादि भावनाओंका पालन होता है. अर्थात् झुथादि परीपह सहन करनेका अभ्यास होता है. अनेक देशोंका परिज्ञान होता है. अनेक देशोंमें जो मुनिओं के भिन्न भिन्न आचार हैं उनका ज्ञान होता है. नाना भाषाओंमें जीवादि पदार्थोंका स्वरूप प्रतिपादन करनेका चातुर्य प्राप्त होता है. इतने गुण अनियत विहारमें हैं.

अतिशयार्थकुशलताख्यं गुणं कथयति—

सुत्तत्यथिरीकरणं अदिसयिदत्थाण होदि उवलल्ली ॥  
आयरियदंसणेण दु तह्मा सेविञ्ज आयरियं ॥ १४९ ॥  
चिनिष्कमप्रवेशादिसमाचारविचक्षणः ॥  
सूरीणां बहुभेदानां जायते पादसेवया ॥ १५२ ॥

विजयोदया—सुत्तत्यथिरीकरणं अल्पवर्णस्वनं, अभिधेयविषयसंशयाकारि सारार्थवद्भ्यंतरीकृतोत्पत्तिकं, प्रमाणात्प्रदर्शितवस्तुतया विरुद्धानुपदर्शनेन निर्दोषं इत्येतदुपलक्षितं सूत्रं तत्सार्थो दाख्य वाह्य आतरो वा अर्थः, तयो. सूत्रार्थयो. स्थिरीकरणं इत्यमेवेदं सूत्रं शब्दत, अभिधेयं चास्येदेवेति यत्नेन । अदिसयिदत्थाण अतिशयिताना सूत्रार्थाना उवलल्ली उपलब्धि । होदि भवति । प्रमाणनयनिर्देशोपेक्षितत्वा अनुयोगद्वारेण विरूप्यमाण. सूत्रार्थो अतिशयितो भवति । आचार्याणां व्याख्यातृणां दर्शनेन मतभेदेन । केचिन्निक्षेपमुल्लेख सूत्रार्थमुपपादयत्यपरे नैगमादिविचित्रनयानुसारेण, अन्ये सदाद्यनुयोगोपन्यासेन । अपरे 'अदिसयसत्याणं होइ उवलल्ली' इति पठन्ति । तत्रायमर्थः—अतिशयभृताना शास्त्राणां प्रत्यग्राणामरातीथै. सूत्रिभिः कृताना चिन्तनाना उपलब्धिर्भवति ।

अनित्यविहारिणोऽतिशयार्थकुशलत्वगुणलब्धिमाह—

मूलारा—सुत्तत्यथिरीकरणं अत्याक्षरमर्थसंवेदाकारिसारार्थवद्भ्यन्तरीकृतोपपत्तिकं प्रमाणान्तरदर्शितवस्तुतद्रूपविरुद्धानुपदेशनेन निर्दोषमित्येतद्गुणसहितं सूत्रं, तस्यार्थो बाह्योऽन्तरो वा तयोः स्थिरीकरणमित्यभेदेदं सूत्रं शब्दतोऽभिधेयं चास्त्येदमेवेति । अदिसयिदत्थाण विशिष्टार्थानां प्रमाणनयनिष्कर्षेर्निरूपक्यनियोगद्वारेण च निरूप्यमाणः सूत्रार्थो ह्यतिशयितः स्यात् । अदिसयसच्छणेत्यपरे पठन्ति, तत्रायमर्थोऽतिशयभूतानां शाकाणां प्रत्यग्राणभरातीयसूरिकृतानां चिरंतनानामेव वा प्रचरद्रूपाणां । उवलद्धी क्षप्तिः प्राप्तिर्वा । आयरियदंसणेण व्याख्यातुमतभेदेन । केचिद्धि निक्षेपमुलेनैव सूत्रार्थमुपपादयन्त्यपरे नयानुसारेणान्ये सदाद्यनुयोगोपन्यासेन च । अत्र—

अतिशयार्थं कुशलता नामक गुणका वर्णन—

अर्थ—जिसमें अल्पवर्णोंकी रचना है, प्रतिपाद्य विषयमें संशय उत्पन्न न हो इस रीतीसे सारयुक्त अर्थका जो निरूपण करता है, जिसमें प्रत्येक पद साथ ही है, निरर्थक एक भी पद जिसमें नहीं है, प्रमाणांतरसे जो वस्तुका स्वरूप दिखाया होगा उससे विरुद्धस्वरूपका प्रतिपादन जिसमें नहीं है, अर्थात् पूर्वपरार्थसंचद्धतादि दोषोंसे जो दूर है उसको सूत्र कहते हैं, अर्थात् सूत्रमें उपयुक्त गुण हो तो वह सूत्र निर्दोष समझना चाहिये, इस सूत्रस्थ शब्दरचनाविषयोंको अर्थ निकलता है वह बाह्यार्थ है, और प्रत्येक शब्दकी उपयुक्तता ध्यानमें आनेपर जो विशेष अर्थ तथा सुसंबद्धता अनुभवमें आती है उसको अन्त्यंतरार्थ कहना चाहिये, इस सूत्रमें जो शब्द हैं वे विलकुल ठीक हैं और इसका वाच्यार्थ यही है ऐसा जो प्रतिपादन करना उसको सूत्रार्थस्थिरीकरण कहते हैं, देशांतरमें विहार करनेसे सुनिर्दोषको यह गुण प्राप्त होता है अनियत विहार करनेसे प्रमाण, नय, निक्षेप, अनुयोग इन उपायोंके द्वारा सूत्रार्थका निरूपण करनेकी पद्धति भी मालुम होती है, व्याख्यान करनेवाले आचार्योंका मतेभेद अनुभवमें आता है कितनेक आचार्य निक्षेपका आश्रय लेकर सूत्रार्थका विवेचन करते हैं, कोई नैगमादि नयोंकी नानाविधता ध्यान में रखकर उनके आश्रयसे सूत्रार्थविवेचन करते हैं, अन्य आचार्य सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन इत्यादि अनुयोगोंके द्वारा सूत्रार्थ कहते हैं ऐसी नानापद्धतिओंका परिज्ञान देश विहारसे होता है, 'अदिसयसत्थाणं होइ उवलद्धी' ऐसा भी पाठ है, इसका अर्थ इस प्रकार है—

आरातीय आचार्य—श्रुतकेवलीके अनंतर जो आचार्य उत्पन्न हुए हैं उनको आरातीय आचार्य कहते हैं, अर्थात् आरातीय और प्राचीन आचार्योंने रचे हुये शास्त्रोंका भी ज्ञान होता है.

प्रकारातरेण अतिशयायकुशलत्वमाख्यातुमीहते—

णिक्खवणपवेसादिसु आयरियाणं बहुप्पयाराणं ॥

सामाचारीकुसलो य होदि गणसंपवेसेण ॥ १५० ॥

विजयोदया—णिक्खवणपवेसादिसु इत्यनया गाथया । आयरियाण आचार्याणा । बहुप्पयाराणं बहुविधानं । केचिदाचार्याः चरणक्रममवगच्छन्ति । परं सहचरणात् । अपरे पुन शालनिगदितमेव । अन्ये तुडुमयद्वा । इति बहुप्रकारता । एव अनेकप्रकाराणा गणसंपवेसेण गणप्रवेशेन निःक्रमणप्रवेशादिकास्तु क्रियास्तु । कुसलो य होदि । कुशलश्च भवति । कः ? समाचारी ते यथा आचरति तथा प्रवर्तमान । स्वावासदेशानिर्गन्तुमिच्छता शीतलाहुष्णाद्वा देशाच्छरीरप्रमार्जनं कार्यं, तथा विशतापि । किमर्थं ? शीतोष्णजंतुनामावाधापरिहाराय अथवा श्वेतरक्तगुणास्तु भूमिषु अन्यस्या निःक्रमेण अन्यस्याश्च प्रवेशने प्रमार्जनं कटिप्रदशादय कार्यं । अन्यथा विरुद्धयोनिसंक्रमेण पृथिवीकायिकानां तद्भूमिमागोत्पन्नानां त्रसानां चावाधा स्यात् । तथा जलं प्रविशता सचिन्ताचित्तरजसो पद्मादिषु लग्नयोश्चिरास । यावच्च पादौ शुष्यतस्तावन्न गच्छेज्जलांतिक एव तिष्ठेत् । महतीनां नदीनां उत्तरेण आराद्रगे कृतसिद्धवंदनः यावत्परकुल-प्राप्तिस्तावन्मया सर्वं शरीरभोजनमुपकरणं च परित्यक्तमिति गृहीतप्रत्याख्यान समाहितचित्तो द्रोण्यादिकमारोहेत्, परकुले च कायोत्सर्गेण तिष्ठेत् । तदतिचारव्यपेक्षार्थं । एवमेव महत् । कातारस्य प्रवेशनि क्रमणयो । तथा भिक्षानिमित्तं गृह प्रवेष्टुकामः पूर्वं अवलोकयेत्किमित्र वलीवर्द्धा, महिष्य, प्रसूता वा गाव, दुष्टा वा सारमेया, भिक्षाचरा श्रमणा सन्ति न सन्तीति । सन्ति चेन्न प्रविशेत् । यदि न विन्यति ते यत्नेन प्रवेश कुर्यात् । ते हि भीता यतिं वाचते स्वयं वा पलायमाना त्रसस्थावरपीडा कुर्यु । क्लिश्यंति, महति वा गर्तादौ पतिता मृतिमुपेयुः ।

गृहीतभिक्षाणां वा तेषा निर्गमने गृहस्थैः प्रत्याख्यान वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा प्रवेष्टव्यं । अन्यथा ब्रह्म आयाता इति दातुमशक्ता कस्मैचिदपि न दद्यु । तथा च भोगातराय' कृतः स्यात् । कुद्धा परे भिक्षाचरा निर्भर्त्सनादिरु कुट्टे-रस्माभिराशया प्रविष्टं गृह किमर्थं प्रविशतीति । अन्ये भिक्षाचरा यत्र स्थित्वा लभन्ते भिक्षा, यत्र वा स्थिताना गृहिण प्रयच्छन्ति तावन्मात्रमेव भूमागं यतिः प्रविशेन्न गृहाभ्यन्तर । गृहिभिस्तिष्ठ प्रविशेत्यभिहितोऽपि नात्रकारं प्रविशेन्नस-

स्थावरपीडापरिहृतये । तद्वद्भारकाद्युल्लघने कुप्यन्ति च गृहिणः । [ एलक वेत्स वा नातिक्रम्य प्रविशेत् । भीताः पलायनं कुर्नुरात्मानं वा पातयेयुः ] ।

धारमप्यायमविक्षमहीनं प्रविशतः गात्रपीडासकुचिततागस्य विवृताधोभागस्य वा प्रवेश इष्ट्या कुर्यति हसति वा । आत्मविराधना मिथ्यात्वावाधना च । द्वारपार्श्वस्थजतुपीडा संग्रामहर्ने शिफ्याबलवितभाजनानि वा अनिरूपित-प्रवेशी वा अभिहति । तस्मादूर्ध्वं तिर्यक्चावलोक्य प्रवेष्टव्य ।

तदानीमेव लिप्ता, जलसेकादौ, प्रकीर्णहरितकुसुमफलपल्लाशादिभिर्निरतरा, सचित्तमृत्तिकावर्तौ, छिद्रवद्बुल्ला, विचरत्तसजीवा, गृहिणा भोजनार्थं कृतमडलपरिहारा, देवताद्युपिता निकटीभूतनानाजनामतिकस्थानशयनामासीनशयितपुरुषा, मूत्राक्षपुरीषादिभिरुपहृता भूमिं न प्रविशेत् ।

सयमविराधना मिथ्यात्वावाधना च परिहर्तुं भुक्त्वा निर्गच्छन्नपि शनैरीवानयनतो वदमानं प्रति इत्त-योग्याशीर्वादौ निर्गच्छेत् । तथा भिक्षाकाल, बुभुक्षाकाल च ज्ञात्वा गृहीतावग्रह, ग्रामनगरादिकं प्रविशेशीर्वासमिति संपन्नः । भोजनकालपरिमाणं ज्ञात्वा ग्रामादिभ्यो नि सरेत् । जिनायतनं, यतिनिवासं वा प्रविशन्प्रदक्षिणीकुर्वाञ्चि-सीधिकाशब्दप्रयोगं च । निर्गंतुकाम आसीदधिकेति । आदिशब्देन परिगृहीतास्थानभोजनगमननादिक्रिया । तत्रापि यत्नो यतीना । तं सकल वेत्ति गुरुकुलवासी सूत्रार्थशोध, न मयाचारक्रमं सूत्रार्थो वाच्यसकाशे ज्ञातव्य इत्यभि-मानं न वहेत् ।

प्रकारतरेणातिशयकुशलार्थत्वं व्याख्यातुमाह--

मूलारा--गिक्सवणपवेसादिसु वसतिदत्तगृहादेर्निष्क्रमणे प्रवेशे आदिशब्देन स्थानभोजनशयनासनादिक्रियासु । बहुप्यप्याराणं केचिद्वि सूर्यश्चरणत्रममशाश्रित एवावागच्छन्ति, परे सहाचरणात् । अपरे पुनः शास्त्रोक्तमेव । अन्ये तं दुर्भयक्षाः इति बहुप्रकारता । सामाचार्यीकुरुल्लो निष्क्रमणादिषु यत्तेषां स्म्यगाचरणं समानुष्ठानं वा तत्र प्रवीणः । एतत्प्रपञ्चस्तु टीकाया द्रष्टव्यः ।

अर्थ--अनिशत विहार करनेवाला साधु अनेकगणोंमें प्रवेश कर अनेक आचार्योंसे वसतिकाम और दातांके घर आदिकोंमें प्रवेश करना और वहाँसे गमन करना, स्थान, भोजन, शयन, नगरे क्रियाओंका स्वरूप जानकर कुशल होता है. अतः साधुओंको विहार करना चाहिये. कितनेक आचार्य अन्यमुनिओंके आचरणसे आचाराका क्रम जानते हैं. कोई आचार्योंको शास्त्रोक्त आचार और अन्य मुनिओंका आचार दोनोंका स्वरूप माछूम

१ अर्थ पाठः कपुस्तके नास्ति खपुस्तकादुद्धृत्य संयोजितः ।

रहता है. इस लिये आचार्योंके अनेक प्रकार होते हैं. आचार्य जिस तरहसे आचारमें प्रवृत्ति करते हैं वह सब स्मरणमें रखकर वैसा आचरण करता हुआ देशांतरविहारी साधु आचारमें कुशल हो जाता है. उस आचारक्रमका टीकाकार अपराजितस्वरि वर्णन करते हैं—

वसतिकासे बाहर जानेकी साधुको जब इच्छा होती है तब वह शीतलस्थानसे अथवा उष्णस्थानसे बाहर जानेके पूर्वमें अपने सर्व अंग पिच्छिकासे साफ करे जब वह साधु वसतिका में प्रवेश करेगा उस समयमें भी अपना अंग पिच्छिकासे साफ कर ही वसतिकामें प्रवेश करे. यह अंग पोछनेकी क्रिया करनी चाहिये. क्यों ? इसका सत्तर यह है—

शीत और उष्ण जंतुओंको बाधा न हो इसलिये शरीर प्रमार्जन पिच्छिकासे करना पड़ता है. अथवा सफ़त भूमि या लालरंगकी भूमिमें प्रवेश करना हो अथवा एक भूमिसे निकलकर दूसरे भूमिमें प्रवेश करना हो तो कटिप्रदेशसे नीचेतक सर्व अवयव पिच्छिकासे प्रमार्जित करना चाहिये ऐसी क्रिया नहीं करनेसे विरुद्ध योनि संक्रमसे पृथ्वीकायिक जीव और त्रसकायिक जीवोंको बाधा होगी. जलमें प्रवेश करने के पूर्वसमय साधु पांव हाथ, वगैरह अवयवों में लगे हुए साबुन और अचिच धूली को अपनी पिच्छिकासे दूर करे. अनंतर जलमें प्रवेश करे जलसे बाहर आनेपर जब तक पांव न सख जावेंगे उतनेकालतक वह जलके समीप ही खड़ा हो जावे पांव सखने पर आगे विहार करे. बड़ी नदीओंकी उलंघन कर यदि जानेका प्रसंग आवे तो नदीके प्रथम तटपर सिद्धवंदना कर जबतक दूसरे तटकी प्राप्ति न होगी तबतक मने शरीर, भोजन और उपकरणका त्याग किया है ऐसा मत्प्राप्त्यान स्वीकारना चाहिये. मनमें एकाग्रता धारण कर नौका वगैरह पर आरुढ़ होवे. दूसरे तटपर पोहोचनेके अनंतर उसके अतिचार नाशार्थ कायोत्सर्गसे खदे होना चाहिये. प्रवेश करनेपर अथवा वहासे बाहर निकलनेपर भी यही आचार करना चाहिये.

भिक्षाके लिये श्रावकके घरमें प्रवेश करते समय प्रथमतः इस घरमें वैल, भैंस, प्रसूत गाय, दूध कुत्ता, भिक्षा मांगनेवाले साधु हैं या नहीं यह अवलोकन करे यदि न होंगे तो प्रवेश करे. अथवा उपर्युक्त प्राणी साधुके प्रवेश करनेसे भययुक्त न होवे तो यहांसे सावध रहकर प्रवेश करे. यदि वे प्राणी भययुक्त होंगे तो उनसे यतीको बाधा होगी. इधर उधर वे प्राणी दौड़ेंगे तो त्रसजीविका, स्थावरोंका नाश होगा. अथवा साधुके प्रवेशसे उनको डेरा

होगा, किंवा भागते समय गङ्गुमें गिरकर मृत्युवश होंगे जिन्होंने भिक्षा ली है ऐसे अन्यसाधु घरसे बाहर निकलते हुये देखकर अथवा गृहस्थोंके द्वारा उनका निराकरण किया हुआ देखकर वा सुनकर तदनंतर प्रवेश करना चाहिये यदि मुनिवर्ष इसका विचार न कर श्रावकगृहमें प्रवेश करें तो बहुत लोक आये है ऐसा समझकर दान देनेमें असमर्थ होकर किसी को भी दान न देंगे. अतः विचार के बिना प्रवेश करना लाभान्वयका कारण होता है. दूसरे भिक्षा मांगनेवाले पाखंडी साधु जैन साधु प्रवेश करनेपर हमने कुछ मिलनेकी आशासे यहां प्रवेश किया है यह मुनि क्यों यहां आया है ऐसा विचार मनमें लाकर निर्भर्त्सना तिरस्कारादिक करेंगे. इतर भिक्षा मांगनेवाले साधु जहां खड़े होकर भिक्षा माग करते हैं. अथवा जिस स्थानमें ठहरे हुये साधुको गृहस्थ दान देते हैं उतने ही भ्रूददेशतक साधु प्रवेश करें गृहके अर्थांतर भागमें प्रवेश न करें. गृहस्थोंने तिष्ठो, प्रवेश करो ऐसा कहने पर भी अधिकारमें साधुको प्रवेश करना उचित नहीं. अन्यथा त्रस स्थावर जीवोंका नाश होगा. द्वारादिकोंका उल्लंघन कर जानेसे गृहस्थ कुपित होंगे घरमें बकरा जयवा गायका बछड़ा हो तो उसको लाघकर प्रवेश न करे. अन्यथा वे डरके मारे पलायन करेंगे वा साधुको गिरा देंगे. दीर्घता व चौड़ाईसे रहित द्वारमें प्रवेश करनेसे शरीरको व्यथा होगी, अंगोंको संकुचित करके जाना पड़ेगा. नीचे के अवयवोंको पसारकर यदि साधु प्रवेश करेगा तो गृहस्थ कुपित होंगे अथ हास्य करेंगे. इससे साधुको आत्मविराधना व मिथ्यात्वाराधना होगी. संकुचित द्वारसे गमन करते समय उसके समीप रहनेवाले जीवोंको पीडा होगी, अपने अवयवोंका मर्दन होगा. यदि ऊपर साधु न देखे तो सीके में रखे हुये पात्रोंको धक्का लगेगा अतः साधु ऊपर और चारो तरफ देखकर प्रवेश करे.

तत्काल लेपी गई, पानी के छिडकावसे गीली, हरा तृण, पुष्प, फल, पत्रादिक जिसके उपर फेले हुए हैं ऐसी, सचित्र मट्टिसे युक्त, बहुत छिद्रोंसे युक्त, जहां त्रस जीव फिर रहे हैं, जहां गृहस्थों के भोजनके लिये रंगावली रची है, देवताओंकी स्थापनासे युक्त, अनेक लोक जहा बैठे हैं, जहां आसन और शय्या रखे हैं, जहां लोक बैठे हैं और सोये हैं, जो मूत्र, रक्त, विष्ठादिस अपवित्र वनी है ऐसी भूमिमें साधु प्रवेश न करे. अन्यथा उस के संयममें विराधना होगी व मिथ्यात्वाराधनाका दोष लगेगा.

साधू भोजन कर जब निकलेगा तब धीरे धीरे गमन करे. नम्र होकर चले. नमस्कार करनेवालोंकी योग्य आशीर्वाद दें. इस तरह स्वस्थानगमन करें.



भिक्षाका समय, और धुआका समय जानकर कुछ वृत्तिपरिमेल्यानादि नियम ग्रहण कर ग्राम या नगरमें ईर्ष्यासमितीसे प्रवेश करे। भोजनकालका प्रमाण जानकर ग्रामादिकमें निरुल्लेख, निमंदिन अथवा यतिका निवास अर्थात् व्रतिका - मठ इनमें प्रवेश कर प्रदक्षिणा करे। उस समय निसीधिका शब्दका उच्चारण करे और जब वहाँमें लोटते समय अभीधिका शब्दोच्चारण करे। इसी तरह स्थान, भोजन, श्रयण, गमनादि क्रिया करते समय भी मुनिकोंको प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिये। सब आचारक्रम में जानता हूँ, मैं गुरुकुलवासी हूँ, मूलका अर्थ मैं जानता हूँ। आचारक्रम अथवा मूलार्थ अन्यसे जाननेकी मेरेको जरूरत नहीं है। ऐसा अभिमान न धारण करे।

शिक्षायामुद्योगपरो भवेदित्याह—

कंठगदेहिं वि पाणेहिं माहुणा आगमो हु कादब्बो ॥

सुत्तस्स य अत्थस्स य सामाचारी जय तेहव ॥ १५१ ॥

कर्तव्या यत्नतः शिक्षा प्राणैः कंठगतैरपि ॥

आगमार्थसमाचारप्रभृतीनां तपस्विना ॥ १५३ ॥

विजयोद्या—कंठगदेहिं धीत्यादिना । कठगते प्राणै सह वर्तमानेनापि मातुना आगमशिक्षा कर्तव्येय सद्यस्यार्थस्य सामाचारस्य ।

कंठगदेहिं वि पाणेहिं साहुणा आगमो हु कादब्बो ।

सुत्तस्स य अत्थस्स य सामाचारी जय तेधेव ॥ २ ॥

मूलारा—इत्येवापि गाथा क्षिप्तैव ।

अनियतवास करनेवाले मुनीने आगमाम्नास करना चाहिये—

अर्थ—प्राणकंठमें आगये हो तो भी मुनिका आगमका अध्ययन करना अवश्य कार्य है, जेम् वह सूत्र

अर्थ व आचारोंका अध्ययन करता है वैसे आगमका भी अध्ययन करे।

संजदजणस्स य जहिं फासुविहारो य सुलभवुत्ती य ॥

तं खेत्तं विहरंतो णाहिदि सल्लेहणाजोगं ॥ १५२ ॥

प्रासुकं सुलभाहारं संयतैर्गोचरीकृतम् ॥

सल्लेखनोचितं क्षेत्रं पश्यत्यनियतस्थितिः ॥ १५४ ॥

विजयोदया—संजदजण इत्यादिना । अस्यमार्गिदिसादीन्नात्वा श्रद्धाय च तेभ्य उपरतो व्यावृत्त सम्यगत सयतः इत्युच्यते तस्य संयतजनस्य । जसि यस्मिन्क्षेत्रे । फासुविहारो य प्रासुक विहरण जीववाधारहितं गमन अत्रसहरित्यहुलवाद्युदोदककर्मत्वाच्च क्षेत्रस्य । सुलभवुत्ती य सुलेनाकेशेन लभ्यते वृत्तिराहारो यस्मिन्क्षेत्रे । तं खेत्तं तत्क्षेत्रं । णाहिदि ज्ञास्यत्यात्मनः परस्य वा । सल्लेहणाजोगं सम्यक्कायकययतनूकरणं सल्लेखना तस्या योग्य । कः? विहरन्तो देशातराणि भ्रमन् ।

क्षेत्रपरिमार्गणमाह—

मूलारा—फासुविहारो जीववाधारहित गमनं । त्रसहरितोदककर्ममाथबहुलत्वात् । णाहिदि ज्ञास्यति ।

आनियतविहारी साधूने क्षेत्रका अवलोकन करना चाहिये. इस विषयका विवेचन करते हैं—

अर्थ—असमरूप हिंसादि पापोंका स्वरूप जानकर तथा श्रद्धाकर उनसे जो मुनि परावृत्त होते हैं और अपनेको अहिंसादिकोंमें प्रयत्नशील करते हैं उनको संयत—संयमी मुनि कहते हैं. ऐसे संयमी मुनिको प्रासुक विहार करने योग्य क्षेत्रका अवलोकन करना योग्य है. जहां गमन करनेमें जीवोंको बाधा नहीं होगी, जो त्रस जीव और वनस्पतिओंसे रहित है. जहां बहुत पानी और क्रीचड़ नहीं है ऐसा क्षेत्र प्रासुक है. मुनियोंकेलिए विहार योग्य है. जिस क्षेत्रमें मुनियोंको सुलभतासे आहार मिलेगा वह क्षेत्र अपनेको और अन्य मुनियोंको सल्लेखना योग्य है शरीर और कयायोंको संकल्य परिणामोंका त्याग कर शास्त्रोक्त विधिंके अनुसार कृपा करना सल्लेखना है. देशांतरमें विहार करनेवाले मुनीने इस प्रकार क्षेत्रमार्गणा करनी चाहिये.

न देशातरभ्रमणमात्रादनियतविहारी भवति कित्वेवंविध इत्याचष्टे—

वसधांसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णिज्जणे ॥

सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अपणियदविहारो ॥ १५३ ॥

आवके नगरे ग्रामे वसताबुपधौ गणे ॥

सर्वत्राप्रतिबद्धोऽस्ति योगी देशांतरातिथिः ॥ १५५ ॥

इति अनियतविहारसूत्रम् ।

विजयोदया—चर्चसु य इत्यादिना—यस्यतिषु उपकरणेषु । ग्रामे नगरे गणे श्रावकजने च । सर्वत्र अप्रतिबद्धः । ममेदं वसत्यादिकं ग्रामस्य स्वासीति संकल्परहितः अनियविहारी भवति इति संक्षेपतः प्रतिपत्तव्यः ॥ विहारो नगरो ।

न देशांतरभ्रमणमात्रादनियतविहारी कित्वेवंविधो भवन्नित्याह—

मूलारा—सण्णिज्जणे श्रावकलोके । अपडिबद्धो ममेदमहस्य स्वासीति संकल्परहितः । अनियतविहारः । सूत्रतः ॥ ६ ॥ अंकतः ॥ १२ ॥

जैर्नी दीक्षामास्थितोऽभ्यस्तशास्त्र ।

श्रेयोमार्गे सार्यवाहायते यः ॥

कीर्तिव्याप्ताशाधरः सौजगमेदेऽ ।

भ्युद्यन्भीतिः सद्गतेः शश्वदीष्टे ॥

इत्याशाधरानुस्यूतग्रंथसंदर्भे मूलाराधनावर्णने पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवर्णे ग्रहणशिक्षणप्रतिसेवनाविधिप्रकाशनो नाम द्वितीय आश्वासः ॥ २ ॥

देशांतरमे भ्रमण करनेमात्रसेही साधु अनियत विहारी कहा जाता है ऐसा नहीं किन्तु अन्य प्रकारसे भी वह अनियत विहारी कहा जाता है. उसीका खुलासा करते हैं—

“ अर्थ—वसुतिका, उपकरण, गांव, नगर, स्वसंघ, श्रावकलोक इन सर्वोमें जो ममत्वरहित है अर्थात् ये

मेरे हैं और मैं इनका स्वामी हूं ऐसा मनमें कभी संकल्प जो साधु नहीं करता है वह भी अनियतविहारी है ऐसा संक्षेपसे कहा जाता है.

विहार अधिकारका वर्णन समाप्त हुआ.

अनियतवासादनंतरं परिणाम प्रतिपादयितुं उत्तरगाथा—

अणुपालिदो य दीहो परियाओ वायणा य मे दिण्णा ॥

णिप्पादिदा य सिस्सा सेयं खलु अप्पणो काटुं ॥ १५४ ॥

पर्यायो रक्षितो दीर्यं वितीर्णा वाचना मया ॥

शिष्या निष्पादिताः श्रेयो विधातुमनुचितम् ॥ १५५ ॥

विजयोदया—अणुपालिदो य अनुपालितश्च सूत्रानुसारेण रक्षितः । दीहो दीर्यः चिरकालप्रवृत्तिः । परियाओ पर्यायः, ज्ञानदर्शनवारिजतपोरूप । वायणा वि वाचनापि । मे मया । दिण्णा दत्ता । निप्पादिदा य सिस्सा निष्पादिताश्च शिष्या । सेयं श्रेयं हितं । अप्पणो काट आत्मन कर्तुं जुक्त इति शेषः । एतदुक्तं भवति । ज्ञानदर्शनचारित्र्येषु चिरकालं परिणतोऽसि । सूत्रानुसारेण परेश्यश्च निरवयवार्थदानं च कृतं । शिष्याश्च न्युत्पन्नाः समुत्ताः । एव स्वपरोपकारक्रियया गतः कालः । इतः प्रभृत्यात्मन एव हितं कर्तुं न्याय्यमिति चेत् प्रणिधानं इदं परिणामशब्देनोच्यते । तथा चोक्तम्—

अपहिय कायव्व जइ सक्कइ परिहिय च कायव्वं ॥

अपहियपरिहियावो अप्पहिदं सुदु कादव्व ॥

तृतीय आश्वासः ।

कर्तुं केवलमात्मने हितमपोहाशेषवाशग्रहम् ।

श्रेयःसंततिवर्तिचित्परिणतिर्युक्तस्तपस्यन् श्रुते ॥

सर्वैकत्वधृतिग्रन्थविधुतत्रासान्यसंगोभिरक् ।

कार्यं प्रायदुताक्षितैरुपगयीमभ्येदु सल्लेखनाम् ॥

अथ गाथाष्टकेन परिणामं प्रणेब्यन् तथाभावितश्रामण्यस्य स्वाहितैककरणीयताप्रणिधानमाह—

मूलारा—परियाओ व्यवहारस्तरत्रयरूपः पर्यायः । मे मया । सेओ हितं । खलु अप्पणो स्वत्येव परोप-  
कारस्य पूर्व कृतत्वात् । काउं कर्तुम् । युक्मिति शेषः ।

उक्तं च—अप्पहिय कायव्वं जइ सकइ परिहिंदं च कायव्वं ।

अप्पहियपरहियादो अप्पहिंदं सुहु कादव्वं ॥

अनियतवासके अनंतर परिणामका प्रतिपादन करनेके लिये उत्तरगाथा कहते हैं—

अर्थ—मैंने बहुतकालपर्यंत ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप मुनिपर्यायका पालन किया है। मैंने शिष्यों को वाचना भी दी है अर्थात् ग्रंथ और अर्थ दोनोंका भी स्वरूप अच्छी तरहसे समझा दिया है। शिष्य पढ़ाये हैं। बहुत शिष्य तयार किये हैं। अब इस समय अपना कल्याण करना योग्य है। अभिप्राय यह है कि, ज्ञान, दर्शन और चारित्रिका मैंने चिरकालतक पालन किया है। निर्दोष ग्रंथ और अर्थ समझाकर शिष्य व्युत्पन्न किये हैं। इस रीतीसे स्वपरोपकार करनेमें मैंने दीर्घ काल बिताया है। अब यहांसे मैं अपना ही हित करनेके लिये प्रयत्न करूंगा। इसरीतीसे मनकी एकाग्रता करना इसको परिणाम कहते हैं।

अपना हित करना ही श्रेयस्कर है इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

अपना हित करना चाहिये। शक्य हो तो परका भी हित करना कर्तव्य है परंतु आत्महित और परहित इन दोनोंमेंसे कौनसा मुख्यतया करना चाहिये ऐसा ग्रंथ उपस्थित होनेपर अवश्य ही उत्तम प्रकारसे आत्महित करना चाहिये।

किण्णु अधालंदविधी भत्तपइण्णिणी य परिहारो ॥

पादोवगमणजिणकप्पियं च विहरामि पडिवण्णो ॥ १५५ ॥

343

32

गृहे प्रचलिते न चलन्ति चलन्ति वा । गोचर्योमप्राप्तायां तृतीयपौरुष्यां द्विगन्धूतमध्वानं गच्छन्ति । यदि गमन-  
गृहे महावातेन वर्षादिना जातं समतीतगमनकाल एव तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिका, व्यालमृगाद्या यथापतति ततोऽप-  
व्याघातो महावातेन वर्षादिना जातं समतीतगमनकाल एव तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिका, व्यालमृगाद्या यथापतति ततोऽप-  
सर्पन्ति न वा । पादे कटकाले, चक्षुषि रजःप्रवेशे वा, अपनयन्ति न वा । दृढधृतिका मिथ्यात्वचर्याराधनामात्मवि-  
राधनामवस्था दोषान्वा तस्मात्परिहरन्ति न वा । तृतीयपौरुष्या भिक्षार्थमवतरति । कृपणवनीपकपशुपक्षिगणे अपगते  
पंचमी पिंडेण कुर्वन्ति मौनं च । एका, द्वे तिस्रश्चतस्र पंच वा गोचर्यो यत्र क्षेत्रे तत्रालोदिकयोगं प्रवर्तयन्ति । यस्मा-  
त्पणिपात्रमोजी मिथ्याराधना न वर्जयति तस्माद्वेपमलेपं वा मुक्त्वा तत्प्रक्षालयन्ति । धर्मोपदेश कुर्वन्त तत्प्रवर्तयन्ति  
चछामि भगवता पादमूले इत्युक्ता अपि न मनसपि चाछन्ति । किं पुनर्वचसा कायेन । इतरे तत्सदाया धर्मोपदेश  
कृत्वा सशिवं मुडित वा गणाधिपतयेऽर्पयन्ति ।

क्षेत्रत सप्ततिशतधर्मक्षेत्रेषु भवति । कालतः सर्वदा । चारित्र्यतः सामायिकच्छेदोपस्थापनयोः । तीर्थतः  
सर्वतीर्थकृता तीर्थेषु । जन्मनि त्रिशद्वर्षजीविताः । श्रामण्येन एकोनविंशतिवर्षाः । श्रुतेन नवदशपूर्वधरा । वेदतः  
पुमासो नृपसकाश्च । लेख्यातः पञ्चशुक्लेख्या । ध्यानेन धर्मध्याना । सस्थानतः पद्मविधेयव्यतरसस्थाना देशोन-  
सप्तदस्तादि यावत्पचधनुःशतो त्वेधा । कालतो भिन्नमुद्धतोद्गुणपूर्वकोटिकालस्थितयः । विक्षियाचारणताक्षीरास्त्रावि-  
त्वाद्यश्च तेषा जायते । विरागताया न सेवन्ते । गच्छविनिर्गतालद्विविधेरेय व्याख्यातः ।

गच्छप्रतिबद्धालद्वकविधिरुच्यते—गच्छाग्निर्गच्छन्तो वहिः सक्तोशयोजने विहरन्ति । सपराक्रमो गणधरो  
ददाति क्षेत्राद् बहिर्गवार्थपदं । तेष्वपि समर्थो आगत्य शिक्षा गृह्णन्ति । एको द्वौ त्रयो वा परिक्षानधारणागुणसमप्रा-  
गुरुसकाशमायान्ति । कृतप्रतिग्रश्चकार्यो स्वक्षेत्रे भिक्षाग्रहणं कुर्वन्ति । अपराक्रमस्तु गणधरो गच्छे सूत्रार्थपैर्यो  
कृत्वा अग्रोद्यानं गत्वा यत्नेन दद्यात्यर्थपदं । अथवा स्वोपाश्रय एव गणधरो अत्यापसरण कृत्वा एकस्मै उपदिशति ।  
यदि गच्छेक्षेत्रातरं गण अथालद्विका अपि गुर्वनुहृणा याति क्षेत्रं । गच्छनिवासिनः क्षेत्रप्रतिलेखनार्थं प्रयतते तदा  
तत्र मार्गेण द्वौ अथालद्विकौ यातः । व्याख्यातोऽयमथालद्विविधिः ।

परिहार उच्यते—जिनकल्पस्यासमर्थो परिहारसयमभरं वोढुं समर्थः आत्मनो बल वीर्यमायु प्रत्यचा-  
थाश्च क्षात्वा ततो जिनसकाश उपगत्य कृतविनयाः प्राजल्य पृच्छन्ति “परिहारसंयम मतिपतुमिच्छामो गुणमाकमा-  
क्षया” इति तच्छ्रुत्वा यथा ज्ञानमनुत्तरं उपजायते विप्रो वा ताविवारयति । निवृष्टास्तु यतीन्द्रेण संयताना कृतनि शल्या  
प्रशस्तमवकाशमुपगता, लोच कृत्वा सुनिश्चिता गुरुणा कृतालोचना व्रतानि विशुद्धानि कुर्वन्ति । परिहारसंयमा-  
भिमुखाना मध्ये एकं सूर्योदये स्थापयन्ति कल्पस्थितं गुरुत्वेन । सच प्रमाण तस्य गणस्य । स चालोचना श्रुत्वा शुद्धिं  
करोति । कल्पस्थितमाचार्यं मुक्त्वा शेषाणामर्द्धं अग्रे परिहारसंयमं गृह्णन्ति इति परिहारिका भण्यन्ते । शेषास्ते-  
पामनुपरिहारिका । पश्चात्संयमग्राहिणः अनुपरिहारिका भण्यन्ते । एवं कल्पस्थिते सति ये पश्चात्परिहारसंयमार्थमात्मा-  
नमुपपृष्टास्तानपि स्वगणे प्रक्षिपति गणी । यावद्भिरूतो गणः तावत्प्रमाणं गण कृत्वा परिहारिकाननुपरिहारिकाश्च व्य-

घस्थापयति । तेन परिहारसंयम निविशमाना अनुपरिहारिकाश्च एको द्वौ बहवो वा भवन्ति । जदि तिणिण, गणी विदिओ परिहारसंयमं पडिवणो, तदिओ अनुपरिहारगो हवे । जदि पंच एको कण्णद्धिदो, वो परिहारसंजम पडिव-  
ज्जति । तेसिमणुपरिहारगा पत्तेगं । इतेर जदि एगो कण्णद्धिदो, तिणिण परिहारगा, इदरे तिणिण अनुपरिहारगा । जदि-  
णव एगो कण्णद्धिदो, चत्तारि परिहारगा, चत्तारि अनुपरिहारगा । छहिं मासेहिं परिहारीणिविहा हवति । ततो पच्छा  
अनुपरिहारी परिहारं पट्टयेदि । तेसिं णिविहुपरिहारी हवतेणुपरिहारगे ते पुण छहिं मासेहिं णिविहाइं भवन्ति । तु  
कण्णद्धिदो पच्छा परिहार पडिवज्जदि । तस्सेगो अनुपरिहारी एगो कण्णद्धिदो वि । असोविअ छहिं मासेहिं णिविहुप-  
रिहारगो अट्टारसमासा ते एव होंति पमाणंदा ।

लिंगादिकस्तेषामाचारो निरूप्यते—एकौपधिक अवसानं लिंग परिहारसंयताना । वसतिमाहारं च मुक्त्वा  
नान्यद् गृह्णन्ति वृणफलकपीठकटकादिक । सयमार्थं प्रतिलेखनं गृह्णति । त्यक्तदेहाश्च चतुर्विधानुपसर्गान्सहन्ते । दृढधृतयो  
निरतार ध्यानावहितचित्ता । अस्ति नो बलवीर्यं सर्वगुणसमग्रता च । एवभूता अपि यदि गणे वसामो वीर्याचारो न  
प्रवर्तित स्यादिति मत्वा त्रय, पंच, सप्त, नव वैपणा निर्यान्ति । रोगेण वदनयोपद्रुताश्च तत्प्रतिकारं च न कुर्वन्ति ।  
प्रायोपयमाहारं मुक्त्वा, वाचनां प्रश्न परिवर्तना मुक्त्वा सूत्रार्थपौलषीष्वपि सूत्रायमेवानुप्रेक्षन्ते । एव यमाष्टकेऽपि  
निरस्तानिद्रा ध्यायन्ति । स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिकाश्च क्रिया न सन्ति तेषा । यस्माज्ज्मशानमष्टेऽपि तेषा न  
ध्यानं प्रतिपिच्छ । आवश्यकानि यथाकालं कुर्वति । कालद्वये कृतोपकरणशोधना अनुज्ञाय देवकुलादिषु वसन्ति ।  
अनिर्ज्ञायमानस्वाभिकेषु यस्येदं सोऽनुष्ठानं न करोतु इति विशति । आसीधिका च निपीधिका च निष्क्रमणे प्रवेशे च  
संपादयति । निर्देशकं मुक्त्वा इतेर दशविधे समाचारे वर्तते । उपकरणादिदान, ग्रहण, अनुपालनं, विनयो, वदना  
संछापकच्च न तेषामस्ति संघेन सह । गृहस्यैरन्यल्लेगिभिश्च वीर्यमानं योग्यं गृह्णन्ति । तैरपि न श्रेयोऽस्ति संभोगः ।  
तेषा त्रयाणा पंचाना, संज्ञाना, नवानां परस्परेणास्ति संभोगः ।

कण्णद्धिदो शुक्लपी मुजणसंघाडदाणगहणे वि ॥

संवासवदणालावणादि भुंजन्ति अण्णोण्ण ॥

संवासवदणोपावदण अनुपालणाहि परिहारि ॥

अणुपरिहारी भुजदि निवसमाणो वदणसंवासावावणाहिं ॥

कण्णद्धिदं भुंजदि अणुपरिहारिं पि गहणासंवाठावणाहिं ॥

तु णिव्विसमाणो णिव्विसमाणं संवासदो ण अण्णेण ॥

कण्णद्धिदो भुंजदि संवासणुपासणभिराहिं । कण्णद्धिदेषुक्लपी वदिता वेति घम्मलाहोत्ति । गारात्थि  
अण्णत्तिरथी अण्णत्तिरथीहिं निदिसंतो पत्तसुणी को सत्त्वे वि विणय अण्णोण्णं गणं वादति दहूण व सोदूण व जत्थ ह  
साधम्मिगो वसदि खेतो तं ण पससति । खेतं कुवो हू णो वदणादीगं ॥ एवं कल्लोक्कः क्रमः सर्वोत्तुंगंतव्य ।



मौनाभिप्रहरतास्तिष्ठो भाषा. मुक्त्वा प्रष्टव्याहृतिमुशाकर्णो। प्रश्ने च प्रवृत्ता च मार्गस्य शंकीतस्य वा योग्यायोग्यत्वेन शय्याधरगृहस्य, वसतिस्वामिनी वा प्रश्नः । ग्रामाद्वह्निः इमशानं, शून्यगृहं, देवकुलं; गुहा वा आगंतुकगृहं, तरुकोटः वा अनुष्णापत्येकवारं । कस्त्वं, कुतो वागच्छसि, गमिष्यसि वा क देशं, कियच्चिरमत्र वसतिर्युयं कतिजना इति प्रश्ने श्रवणोऽहमित्येकमेव प्रतिवचनं प्रयच्छन्ति । इतरत्र तूष्णींभावः । इतोऽवकाशादपसर्पणं कुरु, स्थानमिदं प्रयच्छ, परिपालय गृहमित्येवमादिको वाग्व्यापारो यत्र तत्र न वसन्ति । गोचर्या यद्यपर्याप्ता तृतीययमे गन्तुतिद्वयं यान्ति । वर्यमहावातादिभिर्द्यदि व्याधातो गमनस्य अतीतगमनकालास्तत्रैव तिष्ठति । व्याघ्रादिव्यालागमने यदि ते भद्रा युगमात्र अपसर्पति । दुष्टान्वेषदमत्रमपि न चलन्ति । नेत्रयोर्धूलिप्रवेशो कंटादिविद्धे वा स्वयं न निराकुर्वन्ति । परे यदि निराकुर्वन्तूष्णीमवतिष्ठन्ते । तृतीययाम एव नियोगतो भिक्षार्थं गच्छन्ति । यत्र क्षेत्रे पदगोचर्या अनुपलब्धा भवन्ति तत्क्षेत्रमावाप्तप्रयोग्य शेषमयोग्यमिति वर्जयन्ति ।

क्षेत्रं, तीर्थं, कालश्चारित्र्यं, पर्यायं, श्रुतं, वेदं, लेइया, ध्यानं, संहननं, संस्थानं, आयामो गात्रस्य, आयुः, लब्धयः, अतिशयज्ञानोत्पत्तिः, सिद्धिरित्येते नियोगा इहागुगंतव्याः । क्षेत्रतः भूतैरावतयोः, प्रथमपादश्चात्ययोः तीर्थे, उत्सर्पिणी-अवसर्पिण्याः कालतः, छेदोपस्थापनाप्रवादाचारित्र्यतः, प्रथमतीर्थैकरकाले देशोनपूर्वकोटीकायकालः । विशतिवर्षाप्रशतवर्षे कालः पादचात्यतीर्थे । जन्मतस्त्रिशद्वर्षाः पर्यायतः एकोनविंशतिवर्षाः । श्रुतेन दशपूर्विणं, वेदेन पुरुषवेदां, लेइया-तस्तेज पद्मशुक्लेइयाः, धर्मध्यानपरा ध्यानतः, आद्यत्रिकसंहनना पदकान्यतरसंस्थानाः । सप्तहस्तादिपंचधनुः शतायताः । अष्टादशमासा पूर्वकोटी वा आयुः । चारणताहारासिद्धिः, विक्रियाहाराद्विंश लब्धयः । अवधिमनःपर्ययं केवलं वा योगसंमानौ प्राप्नुवन्ति । सिद्धयन्ति वा परेया । संक्षेपतः परिहारविधिवर्णना ।

जिनकस्यो निरूप्यते—जितरागद्वेषमोहा, उपसर्गपरिपह्वास्विगसद्वा, जिना इव विहरंति इति जिनकल्पिका एक पवत्यतिशयो जिनकल्पिकानां । इतरो लिंगादिराचारः प्रोयेण व्यावर्णितरूप एव ।

क्षेत्रादिभिर्निरूप्यते—सर्वधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति जिनकल्पिका । जिनः सर्वदा । सामाधिकच्छेदोपस्थापने वा चारित्र्यतः । सर्वतीर्थेषु तीर्थतः । जन्मना त्रिशद्वर्षाः । श्रामण्यत एकात्रविंशतिवर्षाः । नवदशपूर्वधारिणः । तेजःपद्मशुक्लेइया । धर्मशुक्ल्याना । प्रथमसंहनना, पदस्वन्यतरसंस्थाना । सप्तहस्तादिपंचधनुः शतायामा । भिक्षन सुद्धतीविन्यूना पूर्वकोटि कालः । विक्रियाहाराचारणताक्षीरास्त्रावित्वादिक्वाश्च तपसा लब्धयो जायन्ते । विरागास्तु न सेवन्ते । अवधिमनःपर्ययं केवलं वा प्राप्नुवन्ति केचित् । केवलिनस्ते नियमेन सिध्यन्ति ।

स्वर्हितैकपरो सुसुक्षुर्वीचाराणुरोधेन नानाविधानपरमार्थयोग्यानाचरणविधीविमृश्य स्वातुरूपे यत्र मतिविधौ तदुपेष्टुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—अधालदविधिं, अधालंविधिस्मृषीणामुच्छाचरणं । तद्वत्परिहारं जिनकल्पं च । एषां च स्वरूप-

निर्णयार्थेभिर्दं पूर्वनिबन्धानुसारेण किञ्चिन्निरूप्यते । अथाऽलंढविधिर्द्विधा, गच्छवित्तिगतगच्छप्रतिबद्धमेदात् । तत्र तावद्गच्छवित्तिगताऽलंढविधिः । परिहारसंयममाचरितुमसमर्थो अथाऽलंढविधियुगपत्तामाख्यः, पंच सप्त, नव, वा ज्ञानदर्शनसंपन्नास्तीव्रसंवेगमापन्ना, धर्माचार्यपादगृहनिवासिनोऽवधृतात्मसामर्थ्या, विदितायुःस्थितयो, धर्मोचार्थं विज्ञापयन्ति । भगवन्निच्छामोऽथाऽलंढकसंयमं प्रतिपनुमिति । तच्छ्रुत्वा सूरिः समग्रगुणाननुजानाति । ततस्ते शुभे देशे स्थित्वा कृत्वलोचा गुरुणामालोचनां कृत्वा कृतव्रतारोपणा अविरोदते सूर्यं कल्पस्थितमेकं गणस्यालोचना श्रोतुं, व्रतविशुद्धिं च विधातुमुद्यतं स्थापयन्ति स एव प्रमाणं गणस्य । आत्मना सह यावन्तो गणाभ्रिगतास्तावन्त एव तस्याने स्थापयितव्या गणे । तदाचारो निरूप्यते । अथाऽलंढसंयतानां लिंगमौत्सर्गिकमेव । कायस्थित्यर्थमाहारं वसतिं कर्मदंडं प्रतिखेपनं च ते गृह्णति । शेषं परिग्रहं त्यजति । धृतिपायबलिनश्चेत्परीपद्वादीनसहन्ते । अन्यथा चेत्ततः पूर्वमेवापसरंति । रोगेणाभिधातेन वा जनिता वेदनां न प्रतिशुर्वति । यदा तपसातिभ्रान्तौस्तदा सद्वायदहस्ताबलंवनं कुर्वति । अहोरात्रं न स्वपन्ति । यद्यधिका निद्रा तदा रात्रौ स्वपति च । स्वाध्यायकाले प्रतिलेखनादिक्रियास्तथा न सन्ति । इमंशान्तमध्येऽपि तेया ध्यानमप्रतिषिद्धमेव । आवश्यकेषु ते ग्रयतन्ते । उपकरणप्रतिलेखनं कालद्वयेऽपि कुर्वति । सस्वामिकेषु देवकुलादिषु तत्स्वाभ्यनुज्ञया वसति । अनिर्ज्ञातस्वामिकेषु यस्येदं सोऽनुज्ञा करोत्वित्यभिप्राय वसति । संहसतिचोरे जातेऽशुभपरिणामे वा मर्या मे दुर्कृतमिति निवर्तते ।

इच्छाभिच्छाकरी य तथाकारो य आसियाणिसिद्धी ॥

आपुच्छा पेदिपुच्छा छेदणसणिमैतणा य उव्वसंपा ॥

इत्येवं दशविधे समाचारे प्रवर्तते । संघेन सह तेषां दानं, ग्रहणं, अनुपालनं, विनियः, सहभोजनं च नास्ति । कारणमेतस्य केवाचिदेक एव संलापः कार्यः । यत्र सधर्मा तत्क्षेत्रं न प्रविशन्ति । मौनोवग्रहंनिरता अपि पंथानं, शंकि-तव्यद्रव्यं, शय्याधरगृहं वा पृच्छन्ति । ग्रामाद्वर्धिरागन्तुकागारे कल्पस्थितेनानुज्ञाते वसति । पशुपक्षिप्रमुखैर्वन्न ध्यानविधयस्ततोऽपयान्ति । को भवान् कुत आयातः, कुत्र प्रस्थितः, कियन्त कालं अत्र भवता स्थेयं, कति यूयमिति पृष्टा भ्रमणोऽहमित्येव प्रतिबन्धनमेकमेव प्रयच्छति । अपसरतः स्थानादवकाशं मे प्रयच्छ, परिपालय गृहमित्यादिको जनजल्पो यत्र तत्र न वसति । बहिरपि वसता, यदि भवति ततोऽपयान्ति । स्वावासगृहे प्रज्वलिते न चलन्ति । चलन्ति

वा । यदि कंटकादिकं लभ्य, चक्षुषि वा धूल्यादिकं प्रविष्टं स्फेद्यन्ति न स्फेद्यन्ति वा । व्याघ्रादिका, व्यालशृगाद्या वा यथापतन्ति ततोऽपसर्पन्ति न वा । एका द्वे, तिस्रश्चतस्रः पंच वा गोचर्यो यत्र क्षेत्रे तत्राथालदकयोगं प्रवर्तयन्ति । तृतीययामे प्रविष्टगोचर्यो कालखामालामेऽपि गव्यूतिद्वयं गच्छन्ति । यदि गमनव्याघातो महावातेन वर्षादिना वा जातस्तदा तत्रैव तिष्ठन्ति । यदि कोपि तेषां पार्श्वे दीक्षा याचते उदा मनसापि नेच्छन्ति । इतरे तत्सहाया धर्मोपदेशं कृत्वा सशिल्वं मुंडितं वान्येषामाचार्योणा तं नीत्वा समर्पयति । सर्वेषु धर्मक्षेत्रेषु सर्वदा भवन्ति । सामायिकं छेदोपस्थापना वाचरन्ति । जन्मतार्क्षिशद्वर्षाणि भोगान्मुक्त्वा श्रामण्येनैकोनविंशतिवर्षावदशपूर्विणः पुंवेदा, नपुंसकेवेदा वा पद्मशुक्लेइया वा धर्मध्यातिनः, षट्संहनेषु संस्थानेषु चैकतरसंहननसस्थाना देशोनसप्तहस्तादि यावत् पंचशतोत्सेया अथालंदककालतो जघन्येन भिन्नशुद्धौतुःस्थितयः, उत्कर्षेण गतवर्षोनपूर्वकोटिस्थितिकाः । क्षीरस्वादादितपोलब्धरीरपि सरागमसेवमानाश्च भवन्ति । एवं गच्छविनिर्गताथालंदकविधिव्यख्यातः ।

गच्छप्रतिवद्धाथालंदकविधिरुच्यते । गच्छान्निर्गच्छतो वद्धिः सक्त्रोशयोजने विहरन्ति । सपराक्रमो गणधरः क्षेत्राद्बहिर्गत्वा तेभ्यो ददात्यर्थपदम् । तेऽपि समर्थो आगत्य शिक्षा गृह्णन्ति । एको, द्वौ, त्रयो वा परिज्ञानधारणागुणसमग्रा गुरुसकाशमायान्ति । कृतप्रतिप्रशकार्योः स्वक्षेत्रे गत्वा भिक्षा गृह्णन्ति । अपराक्रमस्तु गणधरो गच्छे सूत्रार्थपौरुषीं कृत्वा अप्रोधान गत्वा यत्नेन ददात्यर्थपदं । अथवा स्वोपाश्रय एव गणधरोऽन्यापसारणं कृत्वा एकस्मै उपदिशति । यदि गच्छेत्क्षेत्रांतरं गणस्तदाथालदिका अपि गुर्वनुज्ञया गच्छन्ति । यदा गच्छनिवासिनः क्षेत्रप्रतिलेखनार्थं प्रयतन्ते तदा तत्र मार्गेण द्वावथालंदिकौ यात इति ।

परिहार उच्यते । जिनकल्पस्यासमर्थोः परिहारसंयमभारं वोढुं समर्थो आत्मनो धीर्यमायुः प्रत्यवायांश्च ज्ञात्वा ततस्तीर्थकरपादमूलमुपगम्य पृच्छन्ति भगवन्परिहारसंयममाचरितुमिच्छामो वयमिति । ततो चेपा ज्ञानमनुत्तरमुपजायते विप्रो वा तेभ्योऽन्ये तीर्थकरेणानुमता लोचं कृत्वा गुरुणामालोच्य ज्ञतशुद्धिं कुर्वन्ति । परिहारसंयममाभिमुखानां भव्ये एकमाचार्यं कल्पस्थितं स्थापयन्तीति परिहारका भण्यन्ते । तेषां शेषाः पञ्चात्परिहारसंयमं गृह्णन्तीत्यनुपरिहारका उच्यन्ते । यावन्तो गणान्निर्गतास्तावन्तो जना न कर्तव्याः । तेऽपि यत्र पंच सप्त नव वा भवन्ति । यदि पुनः केचिन्त्परिहारसंयमार्थिन आयान्ति तदा तेऽपि गणमध्ये प्रसेप्तव्या आवन्तव । यदि त्रयः एको गणी, द्वितीयः परिहारसंयमं प्रतिपन्नः, तृतीयोऽनुपरिहारको भवति । एवं पण्मासैः परिहारसंयत परिहारसंयमे निविष्टो भवति । ततोऽनुपरिहारी

परिहारं गृण्हाति । सोऽपि पण्मासे परिहारे निविष्टो भवति । ततः कल्पस्थित आचार्योऽनुपरिहारकनामा परिहारं प्रतिपद्यते । सोऽपि पण्मासे परिहारे निविष्टो भवति । एवमष्टादशमासाः परिहारप्रवेशेने त्रयाणा मुनीनां भवति । एवं पंचाना, सप्ताना, नवानामपि वक्तव्यम् ।

इदानीं परिहारसंयतानामाचार उच्यते । वसतिमाहारं प्रतिक्षणं च गृह्णाति । शेषं परिग्रहं च त्यजति । गृहस्थैरन्यालिंगिभिर्वा दीयमानं योग्यं प्रतिगृह्णाति । उत्पन्नचतुर्विधोपसर्गान्सहन्ते । रोगाभिभूता अपि प्रतीकारं न कुर्वन्ति । वाचनादिषु पौरुषीष्वपि सूत्रार्थेभवानुप्रेक्षन्ते । आषड्यकानि यथाकालं कुर्वन्ति । अहोरात्रेऽपि निरस्तनिद्राः । स्वाध्यायकाले प्रतिलेखनादिक्रियास्तोषां न सन्ति । ध्यायन्ति च निरन्तर यतः इमशानेऽपि ध्यानं न प्रतिषिद्धं । कालद्वयेऽयुपकरणानि शोधयन्ति । संवेन सह वंदना, भोजनं, संभाषणं नास्ति । तेषा परस्परमस्ति । भाषात्रयादन्यत्र मौनव्रतितनः । वृतीययामे गोचर्या प्रविश्य लाभालाभेऽपि गव्यूतिद्वयं गच्छन्ति । वर्षमहावातादिना यदि गमनव्याधातो जायते तदा ते निष्कान्तगमनकालास्तत्रैव वसन्ति । व्याघ्रव्यालमुग्रादयो यदि भद्रास्तदा युगमात्रमपसरन्ति । अथा दुष्टास्ते पदमपि न लंघन्ते । अक्षिणि घूलिप्रवेशे पादे च कंटकवेधे जाते स्वर्यं न स्फेदयन्ति । परस्फेदने तु तूष्णीका । क्षेत्रतः सर्वधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति । तीर्थतः सर्वतीर्थेषु । कालतः सर्वदा । चारित्र्यतः सामायिकच्छेदोपस्थापनिका । जन्मर्तुल्लिखद्वर्षाणि भोगभोजिनः । तपसैकोनविंशतिवर्षकाः । श्रुतेन नवदशपूर्विणः । वेदेन पुरुषवेदाः । लेइयातः शुभत्रिलेखः । ध्यानतो धर्मध्यानिनः संहननतश्चादित्रिकसंहनना । संस्थानतः पडेकतरसंस्थानाः । उत्सेधतः सप्तहस्त्रादिपंचदशतयायताः । परिहारकालतो जघन्येनाष्टादशमासायुष्का । उत्कर्षेण गतवर्षाणाः पूर्वोक्त्यायुष्काः । क्षीरत्यादादितपोमाहात्म्योत्पन्नद्विंशतिवरागतया न सेवन्ते । शीतोष्णकुंठ्वादिंस्त्रयभूत्या गमनाभावादुत्क्षितैकपादेन पण्मासं तिष्ठन्ति । मतिश्रुतावधिज्ञानिनः योगसमार्तो केवलं वाप्नुवन्ति । एवं परिहारसंयमविधिर्भणित ॥

जिनकल्पो निरूप्यते जितरागद्वेषमोहा । परिपहोपसर्गोद्वेगसहा जिना इव विहरन्ति इति जिनकल्पिता । ते च एकविहारिणः । पूर्वोक्तपरिहारसंयताचारलक्षणसमग्रा । अयं तु विशेषो धर्म्यशुक्लध्यानिनस्ते जघन्येनाभिन्नुह्वर्णयुष्काः अवधि मनःपर्ययं, केवलं वा प्राप्नुवन्ति ।

अर्थ—अथातः विधि, भक्तप्रतिज्ञा, इगिनीमरण, परिहारविशुद्धिचारित्र्य, पादोपगमनमरण आर जिनकल्पावस्था इनमेसे कोनसी अवस्थाका आश्रय कर मैं रत्नत्रयमें विहार करूं ऐसा विचार करके साधुको धारण

करने योग्य अवस्था धारण करके समाधि मरण करना चाहिये. अब आलंदविधि का स्वरूप टीकाकार कहते हैं—  
परिणाम, सामर्थ्य गुरुके द्वारा अनुमति मिलना, प्रमाण, स्थापना, आचार मार्गणा और अथालंद मास कल्प इनका वर्णन इस प्रकरणमें आवेगा.

जिनको आगमार्थका स्वरूप ज्ञात हुआ है, अपना मुनिवस्थाका कर्तव्य जिन्होंने किया है, परिपक्व और उपसर्गको जीतनेमें जो समर्थ हैं, अपना बल और वीर्य जिन्होंने व्यक्त किया है, ऐसे मुनि क्या हम आलंद विधि धारण कर सकते हैं या श्रयोपगमनविधि धारण कर सकते हैं ऐसा विचार मनमें करते हैं परिहार विधि धारण करनेमें असमर्थता मालूम करनेपर अथालंदविधीको धारण करते हैं. अथालंदविधीका स्वीकार करनेकी इच्छा रखनेवाले तीन, पांच, सात अथवा नउ मुनि जो कि ज्ञान और दर्शन संपन्न हैं, तीव्र संसारभीरुताको धारण करते हैं, धर्माचार्यके चरण कमलका आश्रय करते हैं, जिनको अपने सामर्थ्यका ज्ञान है, अपनी आयुष्य स्थिति-जिनको मालूम हो चुकी है, धर्माचार्यको प्रार्थना करते हैं. हे भगवन् ! हम अथालंदविधीका आश्रय लेना चाहते हैं. धर्माचार्य उनकी विज्ञप्ति सुनकर जो धैर्यहीन, शरीरसामर्थ्यहीन हैं, जिनके परिणामोंमें अतिशयपना नहीं है उनकी त्यागकर, धैर्यादिगुणविशिष्ट मुनिओंको अनुज्ञा देते हैं. गुरुसे परवानगी मिलनेपर गुरुके साथ वे प्रशस्त स्थानमें ठहरकर लोच करते हैं. गुरुके सामने दोषोंकी आलोचना करते हैं 'आलंदविधीके व्रतोंका अपनेमें आरोपण करते हैं. द्वयोदयके अनंतर थोड़े समयमेंही कल्पस्थित मुनिओंमेंसे एकको जो कि गणकी आलोचना सुननेके लिये और व्रतशुद्धि करनेके लिये उद्यत है, स्थापना करते हैं. वह ही गणके लिये प्रमाणभूत माना जाता है. अपनेको साहाय्य करनेवाले जितने मुनि गणसे निकले हैं उतने मुनि संघमें उनके स्थानमें स्थापन करने चाहिये. अब इन मुनिओंका आचारक्रम कहते हैं—

अथालंद विधिको पालनेवाले मुनि औत्सर्गिक लिंग धारण करते हैं. अर्थात् नग्नही रहते हैं. देहोपकारार्थ आहार, वसतिका, कर्मण्डलु और पिच्छिकाका आश्रय लेते हैं. वाकी सब परिग्रहका त्याग करते हैं. तृण, चटाई, फलक वगैरह उपाधिका त्याग करते हैं. प्राणिसंयमका रक्षण करनेके लिये और जिनरूपताका संपादन करनेके लिये पिच्छिका धारण करते हैं. यदि धैर्य और बलसे रहित न होंगे तो अन्य ग्रामको जाते समय, 'मठादि भूमीके तरफ गमन करते समय, आहार लेते समय, बैठते समय, प्रति लेखन नहीं करते हैं अर्थात् पिच्छिकासे शरीरस्पर्शन नहीं

कर आलंदविधि करनेवाले मुनिओंका यह स्वरूप दिखाया है.

अब गच्छप्रतिवद्वालंदकविधिका विवेचन करते हैं-

गच्छसे निकलकर बाहर एक गोजन और एक कोसपर ये मुनि विहार करते हैं. शक्तिमान आचार्य क्षेत्रके बाहर जाकर उनको अर्थपदका अध्ययन कराते हैं. अथवा आलंदविधि करनेवालोंमेंसे समर्थ मुनि आकर उनके पास अध्ययन करते हैं. एक, दो या तीन मुनि जो कि परिज्ञान, धारणा वगैरह गुणोंसे परिपूर्ण हैं वे गुरुके पास आते हैं. प्रजनका कार्य करनेपर अपने क्षेत्रमें जाकर आहार ग्रहण करते हैं. शक्तिरहित आचार्य गच्छमें सूत्रार्थ पौरुषी करके गांवके निकट वनमें जाकर यत्नसे अर्थपदका अध्यापन करते हैं. अथवा अपने आश्रय स्थानमें ही वे इतर शिष्योंकी दूर करके एकको पढ़ाते हैं. यदि गच्छ क्षेत्रांतरको चला जायगा तो आलंदविधि करनेवाले मुनि भी आचार्यकी अनुज्ञा लेकर क्षेत्रांतरको जाते हैं. जब गच्छनिवासी क्षेत्रकी शुद्धि करनेका प्रयत्न करते हैं अर्थात् कोनसा क्षेत्र योग्य है इसका यदि अन्वेषण करते हैं तो आलंदविधि करनेवाले दो मुनि भी उस क्षेत्रमें मार्गसे जाते हैं. इस प्रकार यह अर्थालंदविधिका विवेचन पूर्ण हुआ.

अब परिहारविधिका विवेचन करते हैं-

जिनकल्पको धारण करनेमें असमर्थ ऐसे मुनिराज परिहारसंयमका मार धारण करते हैं, अपनी शक्ति, वीर्य, आयुष्य, उपसर्गादिक विघ्न जानकर वे जिनन्द्र भगवान्के पास जाते हैं. विनय कर और हात जोड़ कर हे भगवान् ! हम आपकी आज्ञासे परिहारसंयम धारण करनेकी इच्छा करते हैं. उनका यह मापण मुन कर जिनकी उत्कृष्ट ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होगा अथवा जिनको विघ्न उपस्थित होगा उनको जिनभगवान् रोकते हैं. जिनको जिनभगवानने आज्ञा दी है वे मुनि निःशल्य होकर प्रशस्त स्थानमें जाकर लोच कर, उत्तम निश्चयसे गुरुके पास आलोचना करते हैं और व्रतोंको विशुद्ध करते हैं. परिहार संयमके अभिमुख हुए मुनिओंमेंसे एकको स्यादिय में कल्पस्थित आचार्य पदवीपर स्थापन करते हैं. वह उस गणमें प्रमाण माना जाता है. वह गणकी आलोचना सुनकर शुद्धि करता है.

कल्पस्थित आचार्यको छोड़कर शेष मुनिओंमें अर्धमुनि प्रथम परिहारसंयम ग्रहण करते हैं. और बाकी के मुनि नंतर परिहारसंयमको ग्रहण करते हैं अतः उनको अनुपरिहारक कहते हैं. इस रीतिसे जो पीछेसे संयम

ग्रहण करनेकेलिये आचार्यके पास आते हैं उनको भी अपने गणमें स्वीकारते हैं। जितने मुनिओंसे गण कम उतने प्रमाणका गण करके उसमें परिहारक और अनुपरिहारककी व्यवस्था करते हैं। इसलिये परिहारसमयमें प्रवेश करनेवाले अनुपरिहारक मुनि एक दो और तीन होते हैं।

यदि तीन मुनि गणमें होंगे तो एक गणी है, दुसरा मुनि परिहार संयमको स्वीकार करनेवाला होता है और तिसरा अनुपरिहारी होता है। यदि गणमें पांच मुनि होंगे तो एक कल्पस्थित आचार्य, दो मुनि परिहार संयमके धारक और दो मुनि अनुपरिहारक समझने चाहिये। यदि सात मुनि होंगे तो उसमें एक गणी, तीन परिहारसमयी और तीन अनुपरिहारक मुनि होते हैं यदि नौ मुनि हो तो एक गणी चार परिहारक मुनि और चार अनुपरिहारी मुनि समझने चाहिये। छहमास होनेके बाद अनुपरिहारी मुनि परिहारसंयम में पूर्ण प्रविष्ट होता है। नंतर अनुपरिहारी परिहार संयमको ग्रहण करता है। वह भी छह माससे परिहारमें निविष्ट होता है। तदनंतर कल्पस्थित आचार्य जो कि अनुपरिहार तथा परिहारक होता है। वह भी छहमासके अनंतर परिहारमें निविष्ट होता है। इस रीतीसे तीन मुनिओंको परिहारके प्रवेशमें प्रमाणसे अठारहमास परिहार चरित्रमें लगते हैं।

अब परिहार संयत मुनिओंका लिंगादिक आचार क्रम कहते हैं—  
परिहार संयतमुनि वसति और आहारको छोड़कर अन्यका स्वीकार नहीं करते हैं। तृण, फलक, आसन, चटाई आदिक संयमके लिये ग्रहण करते हैं पिच्छिका भी संयमके लिये पास रखते हैं। शरीरसे प्रेम हटाकर चार प्रकारके उपसर्ग सहन करते हैं। उनमें दृढ धैर्य होनेसे वे ध्यानमें निरंतर निमग्न रहते हैं। हमारेमें बलवीर्य और सर्व गुण हैं तथापि यदि हम गणमें निवास करेंगे तो हम वीर्याचार आचरणमें कैसा ला सकेगे ऐसा समझकर वे तीन, पांच, सात अथवा नौ एण्णके लिये-आहारके लिये जाते हैं। (१) रोगसे और वेदनासे पीडित होनेपर भी उसका इलाज नहीं करते हैं। अयोग्य आहारको छोड़ देते हैं। वाचना, प्रच्छन्ना, और परिवर्तन रूप स्वाध्यायको छोड़ स्वार्थ पौरुषीमें भी (१) स्वार्थकाही वारवार अनुमनन करते हैं इस रीतीसे आठों ग्रहोंमें भी निद्राका त्याग कर ध्यान करते हैं। चिंतन करते हैं। स्वाध्याय कालमें प्रतिलेखनादि क्रिया अर्थात् पिच्छिकासे अंग पोछना वगैरह क्रियायें इनको नहीं होती है। क्योंकि ज्ञानमें भी उनको ध्यानका निषेध नहीं है। यथाकालमें आवश्यक क्रियायें वे करते हैं। सायंकाल-सूर्यास्त समय और सूर्योदयके समयमें उपकरणोंको शुद्ध

करते हैं, शरीरसंस्कारको छोड़ देते हैं, और परिणहों को सहते हैं, हमारमें संयमाचरण करनेके लिये योग्य मनोबल है ऐसा विचार कर तीन ग पांच मुनि मिलकर प्रवृत्ति करते हैं, रोगसे अथवा आघातसे वेदना उत्पन्न हो तो उसका इलाज नहीं करते हैं, तपसे जब अतिशय थक जाते हैं, तब अपने सहायकोंका हस्त-हाथका आश्रय लेते हैं, वाचना पृच्छानादिकोंका वे त्याग करते हैं, अहोरात्रमें कदाचित् भी नहीं सोते हैं, एकाचिच होकर ध्यानमें प्रयत्न करते हैं, यदि बलात् निद्रा आ जावे तो वे प्रतिज्ञा नहीं करते हैं अर्थात् मैं सोउंगीही नहीं ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करते हैं, अर्थात् रात्रमें सोते भी हैं स्वाध्यायकालमें प्रतिलेखनादि क्रिया उनको नहीं है, इमशानमें भी उनके लिये ध्यानका निषेध नहीं है, सामायिकादिक अवश्यकोंमें वे प्रयत्न करते हैं, प्रातःकाल और सायंकालमें पिच्छिका कर्मडल इनका वे संशोधन करते हैं, जिनमंदिर, वसतिका वगैरह सस्वामिक हो अर्थात् उनके कोई मालिक हो तो उनकी अनुज्ञासे वे उनमें रहते हैं, यदि इनकें स्वामीका पता मालूम न हो तो जिसके ये जिनमंदिरादिक हैं वे हमको ठहरनेकी अनुज्ञा देवे' ऐसा कहकर उनमें ठहरते हैं सहसा अतिचार वा अशुभ परिणाम हो गया तो 'मिथ्या मे दुष्कृतं' ऐसा बोलकर अतिचार व अशुभपरिणामसे निवृत्त होते हैं, दश प्रकारके समाचारोंमें वे प्रवृत्ति करते हैं उनकी संयके साथ दान, ग्रहण, विनय, आपसमें बोलना ये क्रियायें नहीं होती हैं, किसी कार्यकी अपेक्षासे उनमेंसे एक मुनि भाषण करते हैं, जिस क्षेत्रमें सधर्मा मुनि होंगे उस क्षेत्रमें वे प्रवेश करते नहीं है, मौनका नियम होते हुए भी वे रास्ता पूछते हैं, किसी पदार्थमें शंका उत्पन्न हुई हो तो उसके निराकरणार्थ प्रश्न करते हैं, वसतिकाका जो स्वामी है उसके घरका पता पूछते हैं, - इस तरह तीन विषयोंमें ही वे बोलते हैं, गांवके बाहर जहां प्रवासी लोक ठहरते हैं ऐसे स्थानमें कल्पस्थित मुनि यदि अनुज्ञा दे तो ठहरते हैं, पशु, पक्षी वगैरह प्राणियोंसे जहां ध्यानमें विघ्न होता है वह स्थान वे छोड़ते हैं, आप कोन हैं? आप कहाँसे आये हैं? आप कहाँ जा रहे हैं, आप यहां कितने समयतक ठहरेंगे, आप कितने मुनि हैं ऐसा पूछने पर मैं श्रमण अर्थात् मुनि हूं इतना एक ही प्रत्युत्तर देते हैं, अथवा इतर मुनि मौन धारण करते हैं, इस स्थानसे हटो, मेरेको यहां रहनेके लिये स्थान दो, मेरे घरका रक्षण करो, इस तरहसे यदि कोई गृहस्थादिक उनको बाहर ठहरते हुये भी बोले तो वहांसे भी वे चले जाते हैं, जिसमें वे ठहरें हैं उस घरको यदि आग लगी तो वे वहांसे गमन नहीं करते हैं, अथवा गमन करते हैं, आहार यदि नहीं मिला तो तीसरे प्रहरमें दो गव्यूति प्रमाण मार्ग वे जाते हैं, यदि बड़े वायुसे, महावृष्टिसे



गमनमें रुकावट उपस्थित हो तो वहाँ ही ठहरते हैं आगे जाते नहीं। व्याघ्र वगैरह प्राणी अथवा दुष्ट पशु यदि रास्तेमें आये तो उस रास्तेसे हट जाते हैं अथवा हटते नहीं है। पावमें यदि कांटा चुभ गया, आत्ममें यदि धूलिके कण गये तो वे निकालते हैं अथवा नहीं भी। दृढ धैर्ययुक्त ऐसे वे मुनि मिथ्यात्वचर्यापराधना व आत्मविराधना और अन्य दोषोंका परिहार करते हैं अथवा नहीं हैं। तृतीययाममें भिक्षाके लिये वे उतरते हैं-आते हैं। कृपण, याचक, पशु पक्षी, ये सब चले जानेपर आहार लेनेकी इच्छा करते हैं और मौन धारण करते हैं। एक, दोन तीन, चार अथवा पांच गोचर्या जिस क्षेत्रमें होती है उस क्षेत्रमें आलंढिका योग करते हैं। [ जिससे पाणिपात्रमें भोजन करनेवाला मिथ्यात्वका त्याग नहीं करता है। उससे लेपाहार अथवा अलेपाहार का भक्षण कर उसका वे प्रक्षालन करते हैं [ इसका अभिप्राय ध्यानमें आता नहीं है। ]

धर्मोपदेश करनेसे यदि कोई पुरुष आपके चरणमूलमें मैं दीक्षा लेनेकी इच्छा करता हूँ ऐसा कहे तो भी उसको दीक्षा देनेका विचार वे मनसे भी करते नहीं फिर वचन और शरीर के द्वारा वे उसको क्यों दीक्षा देंगे ? उनको सहाय करनेवाले अन्य मुनि धर्मोपदेश देकर शिखासाहित अथवा मुंडन जिसने किया है ऐसे उस पुरुषोंको आचार्यके सन्निध ले जाते हैं।

क्षेत्रकी अपेक्षासे ये अथालंद विधि करनेवाले मुनि एकसो सत्तर कर्मभूमिमें होते हैं। कालकी अपेक्षासे देखा जाय तो हमेशा होते हैं। चारित्रकी अपेक्षासे इनको सामायिक और छेदोपस्थान ऐसे दो चारित्र होते हैं- तीर्थकी अपेक्षासे सर्व तीर्थकरोंके तीर्थमें ये उत्पन्न होते हैं। जन्मसे तीस वर्ष तक भोगों की भोगकर मुनि अवस्था में उन्नीस वर्ष तक रहते हैं अनंतर अथालंदक विधिको धारण करते हैं। ज्ञानकी अपेक्षासे इनको नो या दस पूर्वोंका ज्ञान रहता है। वेदकी अपेक्षासे ये पुरुषवेदी वा नपुंसकवेदी रहते हैं। लेख्याकी अपेक्षासे ये पद्म व शुक्ल लेख्याके धारक होते हैं ध्यानकी अपेक्षासे ये धर्मध्यानी होते हैं, संस्थानकी अपेक्षासे छहो संस्थानोंमेंसे किसी एक संस्थानके धारक होते हैं। इनके शरीरका प्रमाण कुछ कम सात हाथसे पाँचसे धनुष्यतक रहता है। कालकी अपेक्षासे जघन्य आयुष्य भिन्नमूर्त और उत्कृष्ट आयुःस्थिति आलंदक विधि धारण करनेके पूर्व जितना आयुष्य व्यतीत हुआ है वह पूर्व कोटिमें कम करना यह उत्कृष्ट स्थिति समझनी चाहिये। उनको विक्रियाश्रद्धि, चारणश्रद्धि क्षीरासावित्वश्रद्धि इत्यादि श्रद्धियां प्राप्त होती हैं परंतु विराग होनेसे उनका सेवन नहीं करते हैं। गन्धसे निकल

करते हैं- जिनमंदिरादिकोंमें अनुज्ञा लेकर वे रहते हैं, जिनके स्वामीका परिज्ञान नहीं है ऐसे मंदिरोंमें जिनके ये स्थान हैं वे यक्षादिक हमको आज्ञा दें ऐसा बोलकर वहां निवास करते हैं, असीधिका व नियधिकता ये दोन विधि बाहर निकलनेके और अंदर प्रवेश करनेके समय करते हैं, निर्देशको छोडकर बाकीके दश प्रकारके समाचारोंमें वे श्रुति करते हैं, उपकरणादिकोंको देना, और ग्रहण करना, अनुपालन करना, विनय करना, वंदना करना, अन्योन्य संभाषण करना इन बातोंका संघके साथ वे त्याग करते हैं, गृहस्थ अथवा अन्य लिंगियोने साधुओंने योग्य वस्तु दी तो वे लेते हैं, परंतु उनके साथ भी विनय, वंदना वगैरे बातें वे नहीं करते हैं, तीन, पांच, सात और नो ऐसे उन मुनियोंका दानादि विधि परस्पर होता है.

कम्पट्टिदोणुकपीइति—कल्पस्थित आचार्य और परिहार संयम पालनेवाले दुसरे मुनि इनका परस्पर व्यवहार होता है अर्थात् सहायता देना, ग्रहण करना, एक स्थानमें निवास करना, वंदना करना और परस्पर बोलना ये विधि होते हैं. जो पीछेसे परिहार संयम धारण करते हैं वे अनुपरिहारी हैं. वे परिहारीके साथ संवास, वंदना, विनय, अनुपालना ये विधि करते हैं. अनुपरिहारी परिहारसंयममें पूर्ण प्रवेश करनेवाले छुनिओंके साथ वंदना, संवास संभाषण ये विधि करते हैं. कल्पस्थित आचार्य मुनि अनुपरिहारीके साथ ग्रहण, संवास स्थान ये विधि करते हैं.

परिहारसंयममें पूर्ण प्रवेश करनेवाले मुनि अपने साधर्मिके साथ अर्थात् परिहारसंयम पूर्ण धारण करने-वालोंके साथ संवास ही विधि करते हैं दूसरा विधि नहीं करते हैं. कल्पस्थित आचार्य इतर मुनिके साथ रहते हैं व प्रसन्नतासे भाषण करते हैं कल्पस्थितको जब अनुकल्पी वंदन करते हैं तब कल्पस्थित धर्मलाभ ऐसा कहते हैं. गृहस्थ अन्य धर्मी साधुओंको मार्गका संशय हो तो पूछते हैं व गणके साथ बोलते हैं, जहां साधर्मिक मुनि रहते हैं उनको देखकर अथवा सुनकर उनके क्षेत्रकी प्रशंसा नहीं करते हैं, तो वंदनादिक क्यों करेंगे ? [ इन गाथाओंका अर्थ संपूर्ण तथा ध्यानमें नहीं आता है भूल हुई होगी. पाठक सुधार लें. ] इस रीतीसे कल्पोक्त सर्व कार्य जानना चाहिये.

ये परिहार संयमी तीन भाषाओंको छोडकर मौनव्रतको धारण करते हैं. किसीने प्रश्न पूछा तो उसका संदेह दूर करना, धर्मकार्यमें अनुज्ञा देना और स्वयं प्रश्न करना ऐसी तीन भाषाये वे बोलते हैं. विहार करते समय मार्गके

विषयमें शंका हो जैसे यह मार्ग कहां चला जाता है इसका यदि निर्णय न हो तो, उपकरणादिक योग्य है या अयोग्य है इसका निर्णय होनेके लिये, और श्रद्धाधरका घर और वसतिकाके स्वामी इस विषयमें वे प्रश्न करते हैं. (वसतिकाको बनानेवाला, उसकी मरम्मत करानेवाला और यहां आप ठहरो ऐसा कहकर वसतिका देनेवाला इन तीनोंको श्रद्धाधर कहते हैं.) ग्रामके बाहर, श्मशानमें, शून्य घरमें, देवगृहमें, गुहामें, प्रवासी रहनेके घरमें अर्थात् धर्मशालामें और झाड़के पोलमें एकबार अजुआ लेकर रहते हैं-आप कौन हैं, आप कहांसि आये हैं, आप किस देशको जानेवाले हैं. यहां आप कितने दिन ठहरेंगे, आप कितने जन हैं. ऐसे प्रश्न करनेपर मैं मुनि हूं ऐसा एक ही उत्तर वे देते हैं. अन्यसमयमें वे मौन धारण करते हैं. इस स्थानसे तुम चले जाओ, हमको यह जगह दो, इस घरकी संभालो ऐसा यदि कोई भाषण करे तो उस स्थानमें वे रहते नहीं हैं. तीसरे प्रहरमें आहारको जाते हैं उस समय शिक्षा मिले अथवा न मिले हमेशा दो गव्युत्तितक विहार करते हैं. दृष्टि, जोरसे बहेनेवाली हवा इत्यादिकोसे यदि बाधा हो जहां तक गमन किया है वहां ही ये स्थिर रहते हैं. व्याघ्रादि प्राणी, दुष्ट वैल वगैरह पशु आनेपर यदि वे भद्र हो तो चार हात जमीन वे पीछे हटते हैं. यदि दुष्ट हो तो एक पैर भी ये हटते नहीं. वहां ही स्थिर खड़े होते हैं नेत्रोंमें धूल यदि गई हो अथवा पावमें यदि कांटा चुभ गया हो तो स्वयं वे मुनि निकालते नहीं हैं. यदि दूसरे कोई पुरुष निकाले तो मौनसे रहते हैं तीसरे प्रहरमें ही नियमसे शिक्षाको जाते हैं. जिस क्षेत्रमें छह शिक्षा अपुनरुक्त होती हैं वह क्षेत्र रहनेके लिये योग्य समझते हैं. बाकीका क्षेत्र अयोग्य समझते हैं.

क्षेत्र, तीर्थ, काल, चारित्र, पर्याय, श्रुत, वेद, लेख्या, ध्यान संहनन, संस्थान शरीरकी दीर्घता, आयुष्य, लब्धि, अतिशय ज्ञानोत्पत्ति और सिद्धि इतने नियोग यहां वर्णन करने योग्य हैं ऐसा समझना चाहिये

ये मुनि क्षेत्रकी अपेक्षासे भरत और ऐरावत क्षेत्रमें होते हैं. तीर्थकी अपेक्षासे पहिले तीर्थकर व अन्तिम तीर्थकरके समय होते हैं. कालकी अपेक्षासे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें होते हैं. चारित्रकी अपेक्षासे उनको छेदोपस्थापना चारित्र होता है. प्रथम तीर्थकरके समयमें इनके शरीरकी अवस्था देशोनर्पव कोटी रहती है, और अन्तिम तीर्थकरके समयमें एकसो बीस वर्षकी अवस्था होती हैं. जन्मतः तीस वर्षतक भोगोपभोगका सुख-अनुभव लेकर मुनिपर्यायमें उन्नीस वर्ष व्यतीत होते हैं. इनको दशपूर्विका ज्ञान होता है. वेदसे ये पुरुषवेदी होते हैं लेख्याकी अपेक्षासे इनको तेजो लेख्या, पञ्चलेख्या और शुक्ल लेख्या होती है. ध्यानकी अपेक्षासे उनको धर्मध्यान

होता है. इनको पहिले तीन संस्थान होते हैं. और छहों संहननोंमेंसे कोई एक संहनन होता है. इनके देहकी अवगाहना सात हाथसे लेकर पांचसो धनुष्यपर्यंत होती है. इनका आयु अठारह मास अथवा पूर्व कोटी होता है. उनको चारण ऋद्धि, आहारक ऋद्धि अथवा विक्रिया ऋद्धि और आहारक ऋद्धि होती है. योगसमाम्पत्तिके अनंतर अवधि-ज्ञान, मनःपर्यय अथवा केवल ज्ञान उत्पन्न होता है इस तरह परिहार संयमका विधि कहा है.

### जिनकल्पका निरूपण—

जिन्होंने राग द्वेष और मोहको जीत लिया है, उपसर्ग और परीपहल्पी शत्रुके वेगको जो सहते हैं और जो जिनेन्द्र भगवानके समान विहार करते हैं ऐसे मुनिओंको जिनकल्पी मुनि कहते हैं इतनी ही विशेषता इन मुनिओंमें रहती है. वाकी सब लिंगादिक आचार प्रायः जैसा पूर्वमें वर्णन किया है वैसा ही इनका भी समझना चाहिये.

क्षेत्रादिकोंके द्वारा इनका वर्णन करते हैं—

सर्वधर्म क्षेत्रोंमें ये जिनकल्पी मुनि होते हैं. कालकी अपेक्षासे ये मुनि सर्व कालमें होते हैं ये सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्रके धारक होते हैं. तीर्थकी अपेक्षासे सर्व तीर्थकोंके तीर्थमें इनकी उत्पत्ति होती है. जन्मसे तीस वर्षतक भोगोंको भोगते हैं. तदनंतर उन्नीस वर्ष तक मुनिपर्यायमें रहकर अनंतर जिनकल्पी मुनि होते हैं. इनको नो या दश पूर्वोंका ज्ञान होता है. इनको तेजोलक्ष्या, पीतलक्ष्या, और पञ्चलक्ष्या ये लेख्यायें होती हैं. धर्म-ध्यान और शुक्लव्यानमें लीन रहते हैं इनका श्रवण संहनन वज्रपभनाराच नामका होता है. छहसंस्थानोंमेंसे कोई एक संस्थान होता है. इनके देहका आयाम सात हाथको आदिलेकर पाचसो धनुष्य पर्यंत होता है. इनका जघन्य आयुष्य भिन्नमुहूर्तादिक रहता है. और उत्कृष्ट आयुष्य कुछ कम पूर्व कोटि वर्षका होता है. इनको विक्रिया, आहारक, चारण और क्षीरास्त्रावित्तादिक ऋद्धि होती है परंतु ये वीतराग होनेसे उनका उपयोग करते नहीं. इनकी अवधिज्ञान और मनः पर्यज्ञान होता है. कितनोंहीको केवलज्ञान भी होता है. जो केवली होते हैं वे नियमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

पथमथालंदादिकं प्रतिपद्य चारित्रविधिं मयोत्साहं कर्तव्यः इति विचारयति—

एवं विचारायिक्ता सदि माहृष्ये य आउगे असदि ॥

अणिगूहिद्वयलविरिओ कुणदि मदिं भत्तवोसरणे ॥ १५६ ॥

सत्येव स्मृतिमाहात्म्ये विचार्य सति जीविने ॥

भक्त्यागे मतिं धत्ते चलवीर्यनिगूहकः ॥ १५८ ॥

विजयोदया—एव विचारयिक्ता-एवमुक्तेन प्रकरणे । विचारयिक्ता विचार्य । सदिमाहृष्ये य स्मृतिमाहात्म्ये च । असदि आउगे आयुष्यसति दीर्घे । अणिगूहिद्वयलविरिओ असच्चतुस्रसहायं वीर्यं आहारव्याग्रामाभ्यां कृतं चण्डं । कुणहं करोति । मद् भति । भत्तवोसरणे । भज्यते सेव्यते इति भक्त आहार । नस्य त्यागं आहारेण समयस्ता-धनेन शरीरस्थितिं चिरं कृत्वा स्वपरोपकारः कृतः । आयुष्ये न शरीरमवस्थातुमलमाहारग्रहणेऽपि । तेन स्वाज्यो मयाहार इति भावोऽस्य । अत एव सूत्रकारेणैवमुक्तं दीर्घो पस्त्रिावो इति । अवशिष्टकालालयताख्यपनाय न केवलमायुषोऽल्पता एव भक्त्यागमते, कारण, अपि तु अन्यदीपति ।

मूलारा—सदि माहृष्ये स्मृतिमाहात्म्ये । जह्वा चरित्तसारो इत्यादिजिनागमरहस्योपदेशश्रवणाहितसंस्कारो द्वेषवशान्तरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सङ्गेषना करिष्यामि इत्थंमूलायाः स्मृतेमाहात्म्ये स्फारीभावे सति । न परमत्रैव । असदि आयुष्यसति च । ईपत् सत् असत् तस्मिन् असति । अल्पे सतीत्यर्थः ।

इस रीतीसे अथालंदादिक विधीको जानकर चारित्र धारण करनेमें मेरेको उत्साह करना योग्य है इसका विचार मुनि करते हैं—

अर्थ—उपर कहे हुए अथालंदादि चारित्रविधि का विचार कर चारित्र धारण करना ही आगम पढ़नेका सार है, मैं मरणसमयमें अवश्य सङ्गेषना धारण करूंगा इस तरहका स्मृतिमाहात्म्य यदि आत्मामें स्फुरायमान होगा तो मुनि आहारका त्याग करनेमें बुद्धि लगाते हैं, अपना आयुष्य अब दीर्घ नहीं है यह भी

जब उसको मालुम पड़ता है तो वह आहारका त्याग करनेमें मतिको उद्युक्त करता है, उस समय आहार और व्यायामसे प्राप्त किया हुआ बल वह छिपता नहीं है धर्म साधनको सहायता प्रदान करनेवाले आहारसे मैंने शरीर धारण कर चिरकाल तक स्वपरोपकार किया है परंतु जब आयुष्य थोड़ा रहता है तब शरीर, आहार ग्रहण करनेपर भी ठिक नहीं सकता है, इस लिये मेरेको अब आहारका त्याग करनाही योग्य है, ऐसा वह मुनि विचार करता है, दीर्घकालतक मैंने यह मुनिपर्याय धारण किया है अब आयुष्य अल्प रहा है, यह आहार त्यागका कारण है ।

पुनर्वुत्ताण्णदरे सहेहणकारणे समुप्पण्णे ॥

तह चेव करिज्ज मदि भत्तपइण्णाए णिच्छयदो ॥ १५७ ॥

संन्यासकारणे जाते पूर्वोक्तान्यतमे सति ॥

करोति निश्चितं बुद्धिं भक्तत्यागे तथैव सः ॥ १५९ ॥

विजयोदया—पुनर्वुत्ताण्णदरे पूर्वमुक्तानां 'वाहीव दुष्पसज्जा' इत्यादीना मध्ये अन्यतरस्मिन् । सहेहणकारणे सम्यक् कायकमायतनकरण सहेखना तस्याः कारणे वा । समुप्पण्णे समुपस्थिते । तह चेव तथैव च । यथा लप आयुषि करोति भक्त्यागे मति । तथैव णिच्छयदो भत्तपइण्णाए मदि करेज्ज । निश्चितो भक्तप्रत्याख्याने मतिं कुर्यात् । पतद्वाथादय सूत्रकारवचनम् ।

न केवलमायुषोऽल्पतैव भक्त्यागमते कारणमपि तु तदन्यदपि इति वक्ष्यन्नाह—

मूलारा—यथा आयुष्यल्पे तथैवात्रापीत्यर्थः ।

आयुष्यकी अत्यल्पता ही आहार त्यागके प्रति कारण है ऐसा नहीं है किंतु और भी कारण है—

अर्थ— इसी ग्रंथमें आहारत्यागके दुसरे भी कारण पूर्वमें बताये हैं 'वाही व दुष्पसज्जा' इत्यादि गाथामें कारणोंका उल्लेख किया है, जैसे असाध्य व्याधि होनेपर आहारका त्याग करना चाहिये वगैरह इन कारणोंमेंसे कोई कारण उपस्थित होनेपर सहेखना करनी चाहिये, शास्त्रोक्त विधि की अनुसार शरीर और कषायोंको कृश करना सहेखना है जैसे अल्पायुष्य रहनेपर आहार त्याग करनेमें अपनी बुद्धि लगानी चाहिये उसी तरह

पूर्वोक्त कारण उपस्थित होने पर भी निश्चयसे भक्तप्रत्याख्यानमें—आहारक्रे त्यागमें अपनी मतिको मुनि लगावें, उपर्युक्त दो गाथाओंमें सूत्रकारने अपना अभिप्राय व्यक्त किया है.

आराधकस्य मन प्रणिधानं प्रदर्शयति—

जाव य सुदी ण णस्सदि जाव य जोगा ण मे पराहीणा ॥

जाव य सद्धा जायदि इंदियजोगा अपरिहीणा ॥ १५८ ॥

योगा यावन्न हीयने यावन्नश्यति न स्मृतिः ॥

अद्धा प्रवर्तने यावद्यावदिंद्रियपाटवम् ॥ १६० ॥

विजयोदया—जाव य सुई ण णस्सदि यावत्स्मृतिर्न नश्यति । रत्नत्रयापराधनागोचरा अनुभूतविषयग्राहिणी तदित्यभूतमिति प्रवर्तमाना स्मृतिरित्युच्यते मतिज्ञानविकल्पः । वस्तुयाथास्त्यश्रद्धानं, दर्शनं तद्याथास्त्यावगमो ज्ञानं, समता चारित्रमिति । श्रुतेनावगते परिणामत्रये यदुपजायते सातिज्ञानं तद्विद्व स्मृतिरित्युच्यते । स्मृतिमूलो व्यवहारः, स्मृतौ नष्टया न स्वादिति, स्मृतिसद्भावकाल एव प्रारभ्या मया सङ्ग्रेहनेति चिंत्यम् । जाव य यावच्च । जोगा योगा आतापनादयः । ण मे पराहीणा न मे परायत्ता शक्तिकैकल्यात् । विचित्रेण तपसा निर्जरा विपुला कर्तुकामस्य मम तपोऽतिचारे सा न भवतीति यावन्निरतिचारं इदं तपस्तावत्सङ्ग्रेहनां करोमीति कार्यं चिन्ता । जाव य सद्धा जायदि यावच्चद्धा जायते रत्नत्रयमाराधयितुं । ताव यम मे काउमिति वक्ष्यमाणेन संबंधः । उपशमकालकरणलब्धयो हि दुर्लभाः प्राणिना सुदुर्दो विज्ञास इव । मूलं ता श्रद्धाया, न च विनष्टा सा पुनर्लभ्यते । न च तामंतेरेणातिशयवतामाहारात्याग सुखेन संपद्यते । इंदियजोगा इंद्रियाणां चक्षुरादीनां रूपादिभिर्विषयैः संबद्धा अपरिहीणा हीना न भवति । दृक्श्रोत्रेन्द्रियाणामपाटवे दर्शनश्रवणभ्यां परिहार्योऽसंयमः कथं परिनिह्यते । दृष्ट्वा श्रुत्वा स इदमयोग्यमिति वेत्ति नान्यथा ।

आराधकस्य प्रणिधानं प्रदर्शयन् गाथाचतुष्टयमाह—

मूलारा—सदी स्मृतिः । सा चेह रत्नत्रयापराधनागोचरा । स्मृतिसद्भावकाल एव प्रारभ्या मया सङ्ग्रेहनेति भावः । जोगा आतापनादयः । पराहीणा परायत्ताः स्युः शक्तिकैकल्यात् । यावन्निरतिचारं तप इति भावः । सद्धा रत्नत्रयापराधने रुचिः । जायदि उदितोदिता भवति । उपशमकालकरणलब्धयो हि दुर्लभा इति भावः । इंदियजोगा चक्षुरादीनां इंद्रियादिभिः सह संवधाः । दर्शनश्रवणमूलो ह्यसंयमत्यागः ।

आराधकके चित्तकी एकाग्रताका वर्णन करते हैं.

अर्थ—रत्नत्रयाराधनाको विषय करनेवाला, अनुभूत विषय जो रत्नत्रय उसको जाननेवाला, और जिसमें 'वह' इस शब्दसे ज्ञानाकार प्रदर्शित किया जाता है ऐसे ज्ञानको स्मृति कहते हैं यह स्मृति मतिज्ञानका एक भेद है. वस्तुके यथार्थ स्वरूपपर श्रद्धान होना उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानलेना सम्यग्ज्ञान है. और रागद्वेषभावस्वरूप समताको चारित्र्य होना उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं. इस रत्नत्रयका शास्त्रोंसे स्वरूप जाननेपर सम्यग्दर्शनरूप, सम्यग्ज्ञानरूप और चारित्र्य रूप तीन प्रकारके परिणाम आत्मामें उत्पन्न होते हैं. इस परिणामत्रय संबंधी जो स्मरणात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है उसको इस प्रकारके परिणाम आत्मामें उत्पन्न होते हैं. जितना जगत्का व्यवहार चल रहा है उसको स्मृतिही कारण है. स्मृतिका नाश होनेपर जगद्व्यवहार नष्ट होगा. यह बात ध्यानमें रखकर स्मृतिज्ञान है तबतक ही मेरेको सहेखना धारण करना योग्य है ऐसा विचार करना चाहिये. जबतक मेरेमें आता-पनादि योग धारण करनेका सामर्थ्य मौजूद है तबतक मैं सहेखना करूंगा. शक्ति कम हो जानेसे आतापनादि योग में कर नहीं सकूंगा तब सहेखना मेरेद्वारा निमाना काठिन हो जावेगा. शक्तिरहित होनेपर नाना प्रकारके तपोसे मैं कर्मको निर्जीर्ण करूंगा ऐसी इच्छा करना व्यर्थ ही है. क्यों कि उस समय मेरे द्वारा जो तप किया जावेगा उसमें अतिचार उत्पन्न होंगे. तपमें अतिचार लगनेपर सहेखना कैसी सिद्ध होगी? अतः जबतक निरतिचार तप करनेमें मेरा सामर्थ्य है तबतक मैं सहेखना धारण करनेके लिये 'उद्युक्त होऊँ' ऐसा मनमें विचार करना चाहिये. जबतक रत्नत्रयाराधन करनेमें मन श्रद्धायुक्त-उत्साहयुक्त है तबतक मैं सहेखना धारण करनेमें समर्थ होऊँगा ऐसा विचार साधु करे. प्राणिओंकी उपशमलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि इनकी प्राप्ति होना दुर्लभ है. विद्वान् मित्र जैसे प्राप्त होना दुर्लभ है ये तीन लब्धियाँ श्रद्धाके मूलकारण हैं. श्रद्धा विनष्ट हो गई तो फिर उनकी प्राप्ति होना अतिशय दुर्लभ है. श्रद्धाके विना अतिशययुक्त मनुष्य भी आहारका त्याग सुखसे नहीं कर सकता है. जबतक इन्द्रियाँ अपने विषयको ग्रहण करनेमें समर्थ हैं तबतक सहेखना धारण करना योग्य है. नेत्र और कर्ण अपने विषयको ग्रहण करनेमें असमर्थ होनेपर देखनेसे और श्रवण करनेसे जो असंयमका परिहार होता है वह कैसा होगा ? देखकर और सुनकर यह अयोग्य है ऐसा मुनि जानेंगे अन्यथा नहीं.



जाव य खेमसुभिक्षं आयरिया जाव गिज्जवणजोगेगा ॥

अत्थि तिगारवरहिद्दा पाणचरणदंसणविसुद्धा ॥ १५९ ॥

क्षेमं यावत्सुभिक्षं च संति नष्टास्त्रिगारवाः ॥

यावन्निर्यापका योग्या रत्नत्रितयसुस्थिताः ॥ १६१ ॥

विजयोदया—जाव य खेमसुभिक्षं यावच्च क्षेमसुभिक्ष, स्वचक्रोपद्रवस्य व्याधेर्मर्याश्चाभावः क्षेम इत्युच्यते । प्रचुरधान्यता सुभिक्षत्वम् । एतदुभयमन्तरेण दुर्लभा निर्यापका, तानन्तरेण वतुष्काराधना । आयरिया जाव आचार्यो यावत् । अत्थि सन्ति । कीदृग्भूता गिज्जवणजोगेगा निर्यापकत्वयोग्या । तिगारवरहिद्दा गारववरहिता ऋद्धिरस सातगुरुका ये न भवन्ति । ऋद्धिप्रियो ह्यसंयतमपि जने निर्यापकत्वेन स्थापयति । स्वयं च नासंयमभीरुर्भवति । असंयमकारणं अनुमननं च न परिहरतीति । रसासातगुरुकौ क्लेशासहौ आराधकस्य शरीरपरिकर्म कथं कुरुत ? किं स्वयं सरागो वैराग्यं परस्व संपादयत्येवेति न नियोगोऽस्ति । पाणचरणदंसणविसुद्धा ज्ञानचारित्र्यदर्शनेषु विशुद्धा निर्मलाः । जीवादियाथात्म्यगोचरता ज्ञानस्य विशुद्धिः । दर्शनस्यापि समीचीनज्ञानसहभाविता, अरक्तदिष्टता च चारित्र्यशुद्धिः । शुद्धज्ञानवरणदर्शनशुद्धा ज्ञानदर्शनचारित्र्यशुद्धा भण्यते । यथा प्रकृष्टशुक्लशुणयोगाच्छुक्लतम इत्युच्यते पटादिः ॥

मूलारा—क्षेमं स्वचक्रपरचक्रोपद्रवमारिगदाद्यभावः । सुभिक्षत्वं प्रचुरधान्यता । तद्द्वयं हि विना निर्यापका दुर्लभाः स्युः । गिज्जवणजोगेगा गिज्जवण संसारणवैर्यानिर्गतः प्रयोजकत्वं । तत्र योग्याः समर्थ्याः । तिगारवरहिद्दा ऋद्धिरससातगुरुका ये न स्युः । ऋद्धिप्रियो ह्यसंयतमपि जने निर्यापकत्वेन स्थापयति । स्वयं वा नासंयमाहिमेति । नाप्यसंयमकारिणीमनुमतिं त्यजति । रससातगुरुकौ तु क्लेशासहौ कथमाराधकस्य कायपरिकर्म कुरुत ।

अर्थ—जवतक देशमें क्षेम और सुभिक्ष है तबतक शरीरक। त्याग करना मेरे लिए योग्य अवसर है, अपने देशके सैन्यसे उपद्रव न होना, और किसी रोगसे और मारी रोगसे देश पीडित न होना ऐसी अवस्थाको क्षेम कहते हैं, और देशमें धान्यकी समृद्धि होना सुभिक्षता है, देशमें ये दोनो परिस्थितियाँ जवतक हैं तबतक सखेखना धारण करना श्रेयस्कर है, क्षेम और सुभिक्षताके अभावमें निर्यापकाकी प्राप्ति होना दुर्लभ होता है इसलिए सखे-

१ इत आरभ्य 'ताव तमं' 'एवं सदि परिणामो' 'संजम साधणमेत्त' इति गाथात्रयं सन्याख्यं खपुत्तके नष्टमिति ।

खनाके लिए इन तीनोंकी आवश्यकता है. इन तीनोंका अभाव होनेपर रत्नव्यापारघना और तपःपराधनाकी सिद्धि होना दुर्लभ है. निर्यापकत्वके योग्य आचार्य जबतक देशमें विद्यमान हैं तबतक संश्लेषना करना चाहिए. ऋद्धिगारव, रसगारव, और सातगारव इनसे रहित आचार्य हो तो उनसे संश्लेषना की सिद्धि श्रुति कर सकते हैं. जिनको ऋद्धि प्रिय है ऐसे आचार्य असंयत पुरुषको भी निर्यापक पदमें स्थाप्येंगे. स्वयं भी असंयमसे मययुक्त न होंगे असंयमके कारणभूत अनुमोदनका उनसे परिहार होना असंभवनीय होता है जो आचार्य रसप्रिय और सुखप्रिय हैं वे स्वयं क्लेश सहन करना नहीं चाहते हैं. अतः वे आराधकके देहकी शुश्रूषा कैसे करेंगे ? स्वयं सरागी आचार्य आराधकमें वैराग्यके भाव उत्पन्न करेंगे यह निश्चय नहीं है. जो आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को निरतिचारतया पालते हैं उनसे ही आराधककी संश्लेषना संवेगी जो जीवादि पदार्थोंके यथार्थस्वरूप को पहिचानता है वही ज्ञान विशुद्ध समझना चाहिये. दर्शन भी सम्पन्नज्ञान का साथी होता है. रागद्वेषका अभाव होनेसे चारित्र्यमें निर्मलता आती है. अर्थात् निर्मल रत्नव्यापारक आचार्य से ही आराधक संश्लेषना धारण कर सकता है अन्यथा नहीं.

ताव खमं मे काण्डं सरिणिक्खेवणं विदुपसत्थं ॥

समयपडायाहरणं भत्तपइण्णाणियमज्जणं ॥ १६० ॥

तावन्मे देहनिक्षेपः कर्तुं युक्तो बुधेहितः ॥

भक्त्यागो मतः सूत्रे व्रतयज्ञो ध्वजग्रहः ॥ १६२ ॥

विजयोदया—ताव खम मे काण्डं । तावद्युक्त कर्तुं मम । किं ? सरिणिक्खेवणं शरीरनिक्षेपणं शरीरत्यजनं । विदुपसत्थं विद्वज्जनस्तुतं आत्महितत्वात् । समयपडायाहरणं समयं सिद्धात तस्मिन् कीर्तिता पताका आराधना पताकेव पताका उपमार्थः । यथा पताका वस्त्रादिरचिता जयादिकं प्रकटयति । एवमियं आराधनापि भवनिर्मुक्तं प्रकटयति । तस्या हरणं ग्रहणं । भत्तपइण्णं भक्तप्रत्याख्यानं निष्कमज्जणं व्रतयज्ञं । ननु शरीरत्यागोऽप्य, अन्यज्ज्ञानं, श्रद्धान, तपःसु परिणतिरन्यान्यद्वयत्यजनं, अग्राणि च व्रतानि तत्कथं सामानाधिकरूपानिर्देशः ? अत्रोच्यते—प्रत्येकमभिसवधः कार्यः । तव खमं मे काण्डं इत्यनेन शरीरनिक्खेवण इत्यादीना । ततोऽयमर्थः—शरीरत्यजन, समयदर्शनादिपरिणमनं, भक्तप्रत्याख्यान, व्रतयज्ञश्च तावत्कर्तुं अयुक्तमिति ।

मूलारा—खमं क्षमं युक्तं । निष्कलेवणं त्यजनं । विदुपसत्य विद्वज्जनसस्युतं स्मृतिवत्तात् । समयपडाया-  
हरणं पताकेव पताका आराधनोच्यते । भाविन्या मुक्तेर्जयश्रियः प्रकटनात् । समये सिद्धान्ते कीर्तिता पताका तस्या  
हरणं ग्रहणं । नियमजणं व्रतयज्ञं शरीरत्यजन । सम्यग्दर्शनादिपरिणमनं भक्तप्रत्याख्यानं । व्रतयज्ञश्च तावत्कर्तुं युक्ता ।  
किंविशिष्टास्तौ ? शरीरनिष्कलेवणं देहममत्वत्यागहेतुकत्वात् । पुनः किंविशिष्टा समयपडायाहरणं । मरणे आराधना  
परिणतेस्तत्साध्यत्वात् । अत एव सा व्रतयज्ञः समीहितार्थसाधकं व्रतम् ।

अर्थ—उपर्युक्त कारणोंका सद्भाव होनेपर शरीरका त्याग करना मेरेको योग्य है और यह आत्महितका  
करनेवाला होनेसे विद्वज्जन इसकी प्रशंसा करते हैं, यह शरीरका त्याग अर्थात् सल्लेखनाराधना आगममें जयपता-  
काके समान माना है, जैसे पताका वस्त्रादिसे रची जाती है और वह जयादिकको व्यक्त करती है वैसे यह आरा-  
धना भी संसारसे मुक्तता की सूचक होती है, उपर्युक्त कारण के सद्भावमें शरीरका त्याग करना मानो हाथमें आ-  
राधना पताका धारण करना है, यह भक्तप्रत्याख्यान अर्थात् आहारत्याग व्रतयज्ञ है, शंका—शरीरत्याग भिन्न  
है, ज्ञानगुण भिन्न है श्रद्धा, चारित्र और तपमें परिणति ये बातें भी भिन्न ही हैं और आहार का त्याग करना  
उनसे भिन्न है और व्रत भी भिन्न है अतः भक्तप्रत्याख्यानके साथ इनकी समानाधिकरणता कैसी सिद्ध होगी ?  
' ताव खमं मे क्राउं ' इस वाक्यसे शरीरनिष्कलेवणं इत्यादिकोंका संवन्ध करना चाहिये ऐसा करनेसे समानाधिकर-  
णता सिद्ध होगी इसका अभिप्राय यह है—जवतक उपर्युक्त कारणोंका सद्भाव न होगा तवतक शरीरत्याग,  
सम्यग्दर्शनादिरूपसे परिणमन, आहारोंका त्याग और व्रतयज्ञ करना अयोग्य होगा.

व्यावर्तितस्य परिणामस्य गुणमाहात्म्यं क्रथनयोत्तरगाथा—

एवं सदिपरिणामो जस्स दढो होदि निच्छिदमदिस्स ॥  
तिव्वाए वेदणाए वोच्छिज्जदि जीविदासा से ॥ १६१ ॥  
एवं स्मृतिपरीणामो निश्चितो यस्य विद्यते ॥  
तीवायामपि बाधायां जीविताशास्य नश्यति ॥ १६३ ॥  
इति पर्यायसूत्रम् ॥

विजयोदया—एव सदिपरिणामो व्याघर्जितस्थितिपरिणामो यस्मात्तज्ज्ञानमेव परिणामः । जस्स वढो होज्ज यस्य स्युतेढो भवेत् । निच्छिद्यमदिस्स निश्चितमते । करिष्याम्येव शरीरनिक्षेपण इति कृतनिश्चयस्य । जीविदासा वोच्छिज्जइ जीविते आशा व्युच्छिद्यते । तिब्बण वेदुणाए तीत्रायामपि वेदनायामुदीर्णया एतत्पतीकार कृत्वा जीवामीति चिंता न भवति । से तसेति जीविताशाव्युच्छेदो गुणं सूचितः । परिणामं गद ।

मूलारा—सदिपरिणामो स्थितिपरिणामः । निच्छिद्यमदिस्स करिष्याम्येव कायत्यागादिकमिति कृतनिश्चयस्य ।

जीविदासा एतत्पतीकारं कृत्वा जीवामीति चिंता । से तस्य । परिणामः । सूत्रतः । ७ । अकतः ८ ॥

जिसका वर्णन पूर्व गाथामें किया है ऐसे परिणामके गुणमहात्म्यका वर्णन इस गाथामें आचार्य कहते

॥

अर्थ—मैं शरीरका त्याग करूंगा ही ऐसा जिसने निश्चय किया है उस छुनिका स्मृति परिणाम उपर्युक्त विचारसे दृढ हो जाता है, तब तीव्र वेदना उत्पन्न होनेपर भी इसका इलाज कर मैं पुनः जीर्जगा ऐसी चिंता उसके मनमें उत्पन्न नहीं होती है, उसकी जीनेकी इच्छा नष्ट होती है, अतः इस स्मृति परिणाममें जीविताशका नाश करनेवाला गुण है ऐसा समझना चाहिए, परिणाम गुणका वर्णन हुआ,

उवाधि जहण इति पदं व्याचष्टे प्रवधेन—

संजमसाधणमेत्तं उवाधि मोत्तूण मेसयं उवाधि ॥

पजहदि विसुद्धलेस्सो साधू मुत्ति गवेसन्तो ॥ १६२ ॥

उपधिं मुंचतेऽशेषं मुक्त्वा संयमसाधकम् ॥

मुमुक्षुर्गुण्यन्मुक्तिं शुद्धलेश्यो महामनाः ॥ १६४ ॥

विजयोदया—संजमसाधणमेत्तं-संयम साध्यते येनोपकरणेन तावन्मात्रं कर्मण्डुपिच्छमात्रं । उवाधि परिग्रहं मोत्तूण मुक्त्वा । सेसयं अवशिष्टं । उवाधि अवशिष्टं । उपधिर्नाम पिच्छान्तरं कर्मण्डुल्वन्तरं वा तदानीं संयमसिद्धौ न करणमिति संयमसाधनं न भवति । येन सांप्रत संयमं साध्यते तदेव संयमसाधनं अथवा ज्ञानोपकरणं अवशिष्टोपधि-रुच्यते । पजहइ प्रकरणं योगत्रयेण त्यजति । विसुद्धलेस्सो विसुद्धलेश्यः । साधू साधुः । मुत्ति मुक्तिं कर्मणामपायं । गवेसन्तो सुगयन् लोभकपयोपणाननुरंजिता योगवृत्तिरिद्ध विसुद्धलेश्या शुधीता । सा परिग्रहत्यागे प्रवर्तयत्यात्मान-मिति ॥

अथोपधित्यागमारोधस्य विधेयतया गाथानवकेनोपदिशति तत्र चादौ द्रव्यौपधित्यां गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—संजमसाहणभेत्तं कर्मण्डलुपिच्छमात्रं । सेसयं पिच्छान्तरकर्मण्डल्वन्तररूपं । तदानीमन्यस्य संयमसाधनत्वामावात् । अथवा पुस्तकादिकं श्रेयशब्देनोच्यते । पञ्चदशियोगत्रयेण त्यजति । विसुद्धलेस्सो लोभकपायाननुराजितयोगप्रवृत्तिकः ॥

उपधि व जहण इन दो पदोंका आगेके ग्रंथसे ग्रंथकार वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिस उपकरणसे संयम साध्य होता है उतना ही परिग्रह छोड़कर चाकीका परिग्रह विशुद्ध लेख्यावान् और कर्मके अपायाका अन्येषण करनेवाला साधु योगत्रयसे छोड़ता है, तात्पर्य—सल्लेखनाके समय साधुकी योगप्रवृत्ति लोभकपायसे अनुरजित नहीं होती है, अतः वह एकही पिच्छिका और एकही कर्मण्डलु रखता है, क्योंकि उससे हि उसका संयमसाधन होता है, दूसरा कर्मण्डलु और दूसरी पिच्छिका उसको संयमसाधनमें कारण नहीं है, जिससे सल्लेखना के समयमें संयम सिद्ध होता है वही संयमसाधक है, अवशिष्ट ज्ञानोपकरण शास्त्र भी उस समय परिग्रह माना गया है, उनका भी वह साधु त्याग करता है उसकी निर्लोभवृत्ति उस समय सर्व परिग्रहोंका त्याग कराती है

वसत्यादिकं तर्हि त्याज्यतया नोपविश्रमिति आशक्तिं तत्त्यागमुपदिशति—

अप्पपरियम्म उपधिं बहुपरियम्मं च दोवि वज्जेइ  
सेज्जा संथारादी उस्सग्गपदं गवेसंतो ॥ १६२ ॥

साधुर्गवेषयन्मुक्तिं शुद्धलेख्यो महामना ।  
विमुंचत्युपधिं सर्वमल्पानल्पपरिक्रियम् ॥ १७४ ॥

विजकोक्ष्या—अप्पपरियम्म उपधिं अल्पपरिकर्म निरीक्षणप्रमार्जनविधूनादिकं यस्मिन्तं परिग्रहं । वहु

महत् परिकर्म यत्र तं च । दो वि श्रावपि वज्रोर्षि वज्रयति मनोयाकाये । सेज्जासंथारादी वसतिसंस्तरादिकं । उस्सगपदं उस्सज्जनं त्यागः तदेव पदं । परिग्रहत्यागपदान्वेषणकारीति यावत् । गाथाद्वयेनातिक्रान्तेन द्रव्योपधित्यागो व्याख्यात । इयता परिसमाप्त परिग्रहत्यागः ।

मूलारा—परियम्मं निरीक्षणप्रमार्जनविधून्ननाविकम् । उस्सगपदं परिग्रहपरित्यागस्थानं ।

संस्तर वगैरह त्याज्य है ऐसा नहीं कहा होगा ऐसी शंका की जाने पर आचार्य उनके त्यागका उपदेश करते हैं—

अर्थ—जिसमें अल्प परिकर्म है अर्थात् निरीक्षण करना, स्वच्छ करना, झटकना इत्यादि किया जिसमें थोड़ी कठनी पड़ती है और जिसमें उपर्युक्त क्रिया अधिक करनी पड़ती है ऐसे दो प्रकारके भी परिग्रह मन, वचन और कायसे साधु त्यागते हैं. क्योंकि परिग्रहत्यागका वे अन्वेषण करनेमें तत्पर रहते हैं. इस लिये वसतिका और शय्याका भी त्याग वे करते हैं

पंचविहं जे सुद्धि अपाविदूण मरणमुवणमन्ति ॥

पंचविहं च विवेगं ते खु समाधिं ण पवेन्ति ॥ १६४ ॥

औत्सर्गिकपदान्वेषी शय्यासंस्तरकादिकम् ॥

पंचधा शुद्धिमप्राप्य ये विवेकं च पंचधा ॥ १६५ ॥

विपद्यन्ते समाधिं ते लभन्ते न विमोहिनः ।

विजयोदया—पंचविहं जे सुद्धि इत्यादिना किं प्रतिपाद्यते पूर्वमसूचितमिति । अत्रोच्यते—योग्योपादनेन वा योग्यत्यागस्तत्परिहार इत्युपधित्याग एवाख्यायते उत्तरार्धेनापि ॥ पंचविह पंचप्रकारा । सुद्धि शुद्धि । अपाविदूण अप्राप्य । जे ये । मरण मूर्ति । उवणमति प्राप्नुवन्ति । पंचविह च विवेकं परिहरण पृथग्भावं अप्राप्य मृतिसुपयान्ति । खु शब्द एवकारार्थः. स च क्रियापदात्परतो योज्य । समाधिं न प्राप्नुवन्त्येवेति । उपधिरित्यागमात्रे समाध्यभावो दोष आख्यातः ।

मूलारा—सुद्धि नैर्मल्यं । उवणमन्ति प्राप्नुवन्ति । विवेगं श्रयग्भावं । अन्वयेनाह—

अर्थ—पांच तरहकी शुद्धिको प्राप्त न करके जो साधु मरण करते हैं, तथा पांच प्रकारके विवेककाभी

आश्रय न लेकरही जो साधु मरते हैं वे समाधिको प्राप्त होते नहीं हैं, 'पंचविहं जे सुद्धि' इत्यादि सूत्रसे कोनसा विषय आचार्य कहते हैं ? पूर्वमें न कहा हुआ विषय दिखाते हैं क्या ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं, योग्यका ग्रहण करना ही अयोग्यका त्याग है, अतः आगेके सूत्रोंसे भी परिग्रह त्यागका ही वर्णन किया है ऐसा समझना।

पंचविहं जे सुद्धि पत्ता णिखिलेण णिच्छिदमदीया ॥

पंचविहं च विवेगं ते हु समाधिं परमुवेति ॥ १६५ ॥

शुद्धिं ये पंचधा प्राप्ता ये विवेकं च पंचधा ॥

सर्वत्र निश्चितस्वान्ताः समाधिसुपयान्ति ते ॥ १६७ ॥

विजयोदया--के समाधिं प्राप्नुवतीत्यत्र आह-पंचविह पंचविधां जे सुद्धि पत्ता ये सुद्धि प्राप्ता । णिखिलेण साकल्येन । णिच्छिदमदीया निश्चितमतय । पंचविह पंचविध च विवेग विवेकं ते हु समाधिं परमुवेति । ते स्फुटं समाधिं परमुपयाति ।

मूलार--णिखिलेण साकल्येन ।

अर्थ--समाधि किनको प्राप्त होती है इसका उत्तर आचार्य महाराजने इस माथामें दिया है--जो साधु पूर्णतया निश्चित मतिको प्राप्त हो गये हैं अर्थात् शरीरत्याग करनेका जिन्होंने हठ निश्चय किया है, जिन्होंने पांच प्रकारकी शुद्धिका और पांच प्रकारके विवेकका आश्रय किया हैं वे समाधिको प्राप्त होते हैं, उपाधिका यदि त्याग न किया हो तो समाधिकी-भनकी एकाग्रताकी प्राप्ति नहीं होती है

का पया पंचविधा शुद्धिरित्याह--

आलोयणाए सेज्जासंथारुवहीणं भत्तंपणत्स ॥

वेज्जावच्चकरण य सुद्धी खलु पंचहा होइ ॥ १६६ ॥

शुद्धिरालोचना शब्दया संस्तरोपधिरामिनी ॥

वैयावृत्त्यकराहारपानजाता च पंचधा ॥ १६८ ॥

विजयोक्त्या—आलोचनायां अलोचनायां शुद्धिः । शय्यासंस्तरयोः यो शुद्धिः, उपकरणशुद्धिः, भक्तपानशुद्धिः, वैद्यावृत्त्यकरणशुद्धिरिति पंचविधा । मायाशृणारहितता अलोचनाशुद्धिः । मनोगतवक्रता माया । व्यलीकता चास्ती मृषा । मायाकपाय स च परिग्रहः, 'चचारि तद् कसाया' इति वचनात् । मृषा कथं परिग्रहः इति चेत् उपधीयते अनेन-त्युपधिरिति शब्दव्युत्पत्तौ उपधीयते उपादीयते कर्म अनेन व्यलीकेनेत्युपधिरित्युच्यते । यत्र यस्यादरः कर्महेतौ तत्सर्वमुपधेरेवेति भावः । उद्गमोत्पादनैवपणवोपरहितता ममेदं इत्यपरिग्राह्यता च वसतिसंस्तरयोः शुद्धिस्तामुपगतेन उद्गमादिदोषोपहृतयोर्वसतिसंस्तरयोस्त्यागः कृत इति भवत्युपधित्यागः । उपकरणदीनामपि उद्गमादिरहितता शुद्धिस्तस्या सत्या उद्गमादिदोषदुष्टानां अमयमसाधनानां ममेव भावमूलानां परिग्रहणं त्यागोऽस्त्येव । संयतवैयावृत्य-क्रमक्षता वैद्यावृत्त्यकारिशुद्धिः सत्या तस्या असंयता अक्रमक्षाश्च न मम वैद्यावृत्त्यकरा इति स्वीक्रियमाणास्त्यक्ता भवन्ति । कथं पंचधाशुद्धिरित्याह—

मूलारा—मायाशृणारहितता अलोचनायाः शुद्धिः । उद्गमादिदोषरहितत्वं ममेदमित्यपरिग्राह्यता च वसति संस्तरौपक्रमणादीनां । संयतत्वं क्रमक्षता च वैद्यावृत्त्यकराणां । मायादित्यागश्चांतरंगसगत्याग एव ।

अर्थ—अलोचनाकी शुद्धिः, शय्या और संस्तरकी शुद्धिः, उपकरणोंकी शुद्धिः, भक्तपानशुद्धिः, वैद्या-वृत्त्यकरण शुद्धिः ऐसी शुद्धि पांच प्रकारकी है.

अलोचना शुद्धिः, माया और असत्यभाषणका त्याग करना यह अलोचनाशुद्धि है. मनमें कपट विचार रहना यह माया है असत्य भाषणको मृषा कहते हैं. माया यह एक कपाय है और वह परिग्रह है. 'चचारि तद् कसाया' इस वचनसे मायामें कपायपना सिद्ध है. असत्य भाषणको परिग्रह कैसे समझना ? उत्तर—असत्य भाषण भी उपधि-परिग्रह है क्योंकि 'उपधीयते उपादीयते कर्म अनेन व्यलीकेनेत्युपधिरित्युच्यते' इस असत्य भाषणसे कर्मग्रहण होता है अतः इसको भी उपधि परिग्रह—ऐसा नाम अन्वर्थक है. कर्मग्रहणको कारणभूत जिस पदार्थमें जिसका आदर है वह सर्व उसके लिये उपधि ही है.

वसतिसंस्तर शुद्धिः—उद्गम, उत्पादन, एषणा दोषोंसे रहित होकर यह मेरा है ऐसा भाव वसतिका मैं और सस्तरमें होना यह वसतिसंस्तर शुद्धि है. इस शुद्धिको जिसने धारण किया है उसने उद्गम उत्पादनादिदोष युक्त वसतिका और सस्तरका त्याग किया है ऐसा समझना चाहिये. इसलिये इसमें भी उपधित्याग सिद्ध हुआ है. परिधीकर्मबन्ध नगरे उपकरण भी उद्गमादिदोषरहित हो तो वे शुद्ध हैं. उद्गमादि दोषोंसे अशुद्ध उपकरण असंयमके



साधन हो जाते हैं। उसमें ये मेरे हैं ऐसा भाव उत्पन्न होता है अतः वे परिग्रह हैं। उनका त्याग करना यह उपकरण शुद्धि है।

वैयावृत्यकरणशुद्धि—साधुजनकी वैयावृत्यकी पद्धति जान लेना यह वैयावृत्य करनेवालोंकी शुद्धि है। यह शुद्धि होनेसे असंयत लोक अक्रमज्ञ लोक ये मेरा वैयावृत्य करनेवाले नहीं हैं ऐसा समझकर त्यागो जाते हैं।

अहवा दंसणणचरित्तसुद्धी य विणयसुद्धी य ॥

आवासयसुद्धी वि य पंच वियप्पा हवदि सुद्धी ॥ १६७ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रिनिनयावश्यकाश्रया ॥

अथवा पंचथा शुद्धिविधेया शुद्धशुद्धिना ॥ १६९ ॥

विजयोदया—अहवा अथवा दंसणणचरित्तसुद्धी य, विनयसुद्धी य, आवासयसुद्धी चि य आवश्यक-शुद्धिश्चेति पंचविकल्पा हवदि सुद्धी शुद्धिर्मवति । निःशंकितत्वाद्विगुणपरिणतिर्दशेनशुद्धि तस्यां सत्या शंकाकाक्षविचि-क्तितादीनां अशुभपरिणामाना परिग्रहणां त्यागो भवति । काले पठनमित्यादिका ज्ञानशुद्धि, अस्यां सत्या अकालपठनाद्या-क्रिया ज्ञानावरणमूला परित्यक्ता भवति । पंचविंशतिभावनध्मारित्रशुद्धिः सत्यां तस्या अनिगृहीतमनःप्रचारादिशुभपरि-णामोऽप्यंतरपरिग्रहस्त्यक्तो भवति । इष्टफलानपेक्षिता विनयशुद्धिः । तस्या सत्यामुपकरणदिलोभो निरस्तो भवति । मनसावययोगनिवृत्तिः जिनगुणानुराग वंशमानश्रुतादिगुणानुवृत्ति, कृतापराधविषया निंदा, मनसा प्रत्याख्यानं, शरी-रासारानुपकारित्वभावना, चेत्यावश्यकशुद्धिरस्या सत्या अशुभयोगो जिनगुणाननुराग श्रुतादिमाहात्म्येऽनादरः, अपरा-धाशुल्का, अप्रत्याख्यानं, शरीरममता चेत्यभी दोषाः परिग्रहनिराकृता भवन्ति ।

तमेव प्रकारांतरेणाह—

मूलारा— दंसण इत्यादि निःशंकितत्वाद्विगुणपरिणतिर्दशेनशुद्धिस्तस्या सत्या शंकाद्यशुभपरिणामाना परिग्रहणा त्यागः स्यात् । एवं ज्ञानचारित्र्योरेषि । इष्टफलानपेक्षता विनयशुद्धिस्तस्या सत्यां उपकरणादिलाभा-लामो निरस्तः स्यात् । सावद्ययोगनिवृत्तिर्जिनगुणानुरागो, वंशमानश्रुतादिगुणानुवृत्तिः, कृतापराधविषया निंदा, मनसा प्रत्याख्यानं, शरीरासारानुपकारित्वभावना चेत्यावश्यकशुद्धिरस्या सत्यामशुभयोगादयो भावदोषाः परिग्रहा निरस्ता भवन्ति ।

अर्थ—अथवा दर्शनशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, चारित्रशुद्धि, विनयशुद्धि और आवश्यकशुद्धि ऐसी पांच प्रकारकी शुद्धि है।

दर्शनशुद्धि—निःशक्ति वगेरह गुणोंकी आत्मामें परिणति होना यह दर्शनशुद्धि है यह शुद्धि होनेसे शंका, कांक्षा, विचिकित्सा वगेरह अशुभ परिणामरूपी परिग्रहोंका त्याग होता है।

ज्ञानशुद्धि—योग्य कालमें अध्ययन करना, जिससे अध्ययन किया है ऐसे गुरुका और शास्त्रका नाम न छिपाना इत्यादिरूप ज्ञानशुद्धि है। यह शुद्धि आत्मामें होनेसे अकालपठनादिक क्रिया जो कि ज्ञानावरण कर्मो-त्सवको कारण है त्यागी जाती है।

चातुर्विधशुद्धि—प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावनायें हैं, पांच व्रतोंकी पच्चीस भावनायें होती हैं इनका पालन करना यह चरित्रशुद्धि है। इन भावनाओंका त्याग होनेसे मन स्वच्छंदी होकर अशुभपरिणाम होते हैं। ये परिणाम अम्यंतर परिग्रहरूप हैं। व्रतोंकी भावनाओंसे अम्यंतर परिग्रहोंका त्याग होता है।

विनयशुद्धि—कीर्ति, आदर इत्यादि लौकिक फलोंकी इच्छा छोड़कर साधर्मिकजन, गुरुजन इत्यादिकोंका विनय करना यह विनयशुद्धि है, इसके होनेसे उपकरणादि लोभका अभाव होता है।

आवश्यकशुद्धि—सावधयोगोंका त्याग, जिनगुणोंपर प्रेम, वंद्यमान आचार्यादि गुणोंका अनुसरण करना, किये हुए अपराधोंकी निंदा करना, मनसे अपराधोंका त्याग करना, शरीरकी असारता और अपकारीपनाका विचार करना यह सब आवश्यक शुद्धि है। यह शुद्धि होनेपर अशुभ योग, जिन गुणोंपर अंभ, आगम, आचार्यादि पूज्य पुरुषोंके गुणोंपर अप्रीति, अपराध करने परभी मन में पश्चात्ताप न होना, अपराध का त्याग न करना, और शरीरपर ममता करना ये दोष परिग्रहका त्याग करनेसे नष्ट होते हैं।

पंचविधविवेकप्रख्यापनायोद्यता गाथा-

इंदियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स ॥

एस विवेगो भणित्थो पंचविधो दब्बभावगदो ॥ १६८ ॥

विवेको भत्तपानांगकषायाक्षोपधिअत्तः ॥

पंचधा साधुना कार्यो द्रव्यभावगतो द्विधा ॥ १७० ॥

विजयोदया-इन्द्रियकसाय इति । इन्द्रियविवेकः, कषायविवेकः, भक्तपानविवेकः, उपधिविवेकः, वेदविवेकः इति विवेक पंचप्रकारो निरूपितः पूर्वगमेषु । स पुनः पंचप्रकारोऽपि द्विविधः । द्रव्यकृतो भावकृत इति । रूपादिविवेये चक्षुरादीनामादरेण कृतेन वा अप्रवर्तनं । इदं पश्यामि शृणोमीति वा । तथा तस्या निविडकुचतटं पश्यामि, नितवरोम-राज्जि वा विलोकयामि, पृथुतरं जघनं स्पृशामि, कलं गीतं सावधानं शृणोमि, मुखकमलपरिमलं जिघ्रामि । विवाधरं समा-स्वादयामि इति वचनानुच्चारण वा द्रव्यत इन्द्रियविवेकः । भावत इन्द्रियविवेको नाम जातेऽपि विषयविषयसंबंधे रूपादि-द्रव्यतः कषायविवेको नाम कृतेन वाचा चेति द्विविधः । भूलतासंकोचनं, पाटलेक्षणता, अधरावमर्दनं, शूलनिकटीकर-ण, इत्यादिकाव्यव्यापाराकरणं । हन्मि, ताडयामि, शूलमारोपयामि इत्यादिवचनाप्रयोगश्च । परपरिमवादिनिमित्तचित्तकलं-उन्नमनं, उच्चासनारोहणादिक च यन्मानसूचनपरं तस्य कायव्यापारस्याकरणं । मत्तः को वा श्रुतपाराग सुचरित सुत-पोथनश्चेति वचनप्रयोगश्च । तथा मानकषायविवेकोऽपि वाक्कायाभ्या द्विविधः । गात्राणां स्तब्धताकरणं, शिरस्य मायाविवेको द्विप्रकारः । अन्यं श्रुत इवाव्यस्य यद्वचन तस्य त्यागो मायोपदेशस्य वा, मायां न करोमि न कारयामि, नाभ्युपगच्छामि इति वा कथनं वाचा मायाविवेकः । अन्यत्कुर्वत इवान्यस्य कायेनाकरण कायतो मायाविवेकः । लोभ हस्तसंज्ञया निवारणं, शिरश्चालनया वा एतस्य कायव्यापारस्य अकरणं कायेन लोभविवेकः । शरीरेण वा द्रव्यानुपादानं पतन्मदीयं वस्तुग्राह्यादिकं वा अहमस्य स्वामीति वचनानुच्चारणं वा लोभविवेकः । तदुपादानादुपादानं दिति वचनं वा । ममेदंभावरूपमोहजपरिणामापरिणतिर्भावतो लोभविवेकः । नाहं कस्यचिदीशो न च मम किंचि-विवेकं विवेचयतिः—

मूलारा—रूपादिषु चक्षुरादीना रागेण द्वेषेण वा अप्रवर्तनमिदं पश्यामीत्यादिरूपेणान्तर्विकल्पेन वागव्यापा-रेण वा द्रव्यत इन्द्रियविवेकः । भावतस्तु जातेत्यक्षार्थयोगे रूपादिज्ञानस्य भावेन्द्रियाभिधानस्य रागद्वेषाभ्या विवेचनं तत्सहचारिरूपादिविषयमानसज्ञानापरिणतिर्वा । द्रव्यतः कषायविवेको द्वेषा कृतेन वाचा च । तत्र सुकुट्याद्यकरणं कायिको, हन्मीत्याद्यनुच्चारणं च वाक्विको द्रव्यतः क्रोधविवेकः । भावतस्तु परपरिमवादिनिमित्त चित्तकलंकाभावः । तत्र गात्रस्तब्धताद्यकरणं कायिकः । मत्तः कोऽन्यः श्रुतपारागमीत्याद्यभाषणं च वाक्विको द्रव्यतो मानविवेकः । भावतस्तत्स्वतेभ्योऽहं प्रकृष्ट इति मनसाहंकारवर्जनं । मायाविवेको वाक्कायाभ्या द्विविधः । स चान्यं श्रुत इवान्यस्य यद्वचनं तस्य त्यागो, मायोपदेशस्य वा माया न करोमि न कारयामि, नाभ्युपगच्छामि इति वा कथनं

वाचिकः । अन्यत् कुर्वत इवान्यस्य कार्याकरणं कायिकः । द्रव्यतो लोभविवेको यत्रास्य लोभस्तदुद्दिश्य कराप्रसारणादिकः कायेन । भवेदमित्याद्यवचनं वाचा । भावस्तु भवेदभावरूपोद्दृष्टपरिणामापरिणतिः । वैयावृष्यकैः सहसंवासाः, कायेन मा कुर्वन् वैयावृत्यं मया लप्ता यूयमिति वचनं वाचा तद्विवेकः ।

पाँच प्रकारके विवेकोंका वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—इंद्रियविवेक, कर्मायविवेक, भक्तपानविवेक, उपधिविवेक, देहविवेक ऐसे विवेकके पाँच प्रकार पूर्वगममें कहे हैं.

यह विवेक द्रव्यविवेक और भावविवेक ऐसा दो प्रकारका है.

इंद्रियविवेक—रूपादि विषयोंमें नेत्रादिक इंद्रियोंकी आदरसे अथवा कोपसे प्रवृत्ति न होना. अर्थात् यह रूप मैं देखता हूँ. शब्द मैं सुन रहा हूँ. इस रीतीसे प्रवृत्ति न होना. मैं उसके काठिन कुचतट—स्तन देखता हूँ, मैं उस स्त्रीके नितंबको तथा वक्षस्थलके उपरकी रोमपंक्ति देखता हूँ. उसके विस्तृत जघनका स्पर्श करता हूँ. उसका मधुर गायन सावधान होकर सुनता हूँ. उसके मुखरुमलका सुगंध नाकसे ग्रहण करता हूँ. उसके अधरोष्ठका रस पीता हूँ. ऐसे वचनोंका उच्चारण न करना यह द्रव्यतः इंद्रियविवेक है.

भावइंद्रिय विवेक—स्पर्शादि विषय और स्पर्शनादि इंद्रिय इनका संबंध होने पर भी जो रूपादिका ज्ञान होता है उसको उपयोगात्मक भावेन्द्रिय कहते हैं. यह ज्ञान होकर भी रागद्वेषसे भिन्न रहना इसको भावेन्द्रिय विवेक कहते हैं. रागद्वेषसे युक्त ऐसी रूपादि विषयमें मानसिक ज्ञानकी परिणति न होना अर्थात् रूपादिकोंका ज्ञान होकर भी मन रूपादि विषयोंमें रागरूप अथवा द्वेषरूप परिणत न होना यह भी भावेन्द्रिय विवेक है. द्रव्यतः कर्माय विवेकके शरीरसे और वचनसे दो भेद होते हैं. भौहें संकुचित करना, नेत्र लाल होना, ओष्ठदंश करना, शस्त्र हाथमें लेना, इत्यादि शरीरकी प्रवृत्ति न होना कार्याविवेक होता है.

मैं मारूंगा, ठोक्का, शूलपर चढ़ाऊंगा इत्यादि वचनोंका प्रयोग न करना यह वचन विवेक है दूसरोंका परामर्श करना, वगैरह के द्वेषपूर्वक विचार मनमें न लाना यह भावक्रोधविवेक है.

मानकपायविवेक भी वचन और शरीरके निमित्तसे दो प्रकारका है. शरीरके अवयव ताठ करना, मस्तकको ऊँचा करना, उच्चासन पर चढ़ना वगैरह कृत्य मानस्रचक है, शरीरके द्वारा ऐसी क्रिया न करना. मेरेसे

अधिक शास्त्र प्रवीण कौन है ? मेरेसे अधिक चारित्रिका पालन किससे होता है ? मैं ही अच्छा तपस्वी हूं ऐसा मुखसे वचनप्रयोग न करना मैं इन मुनिज्योति उत्कृष्ट हूं ऐसा मनके द्वारा अभिमानको छोड़ना यह भाव मान कपाय विवेक है.

वचन और शरीरके निमित्तसे मायाविवेक दो प्रकारका है. एक विशिष्ट व्यक्तिके विषयमें बोलता हुआ भी मानो अन्यके विषयमें ही बोल रहा हूं ऐसा दिखाना यह वचनसे माया है ऐसी मायाका त्याग करना अथवा कपटका उपदेश न करना, किंवा मैं माया न करूंगा न कराउंगा, करनेवालोंको अनुमतिदान नहीं करूंगा इत्यादि वचनको वाचाभायाविवेक कहते हैं.

शरीरसे एक कार्य करता हुआ भी मैं अन्यही कर रहा हूं ऐसा दिखाना यह शरीरकी माया है. इस मायाका त्याग करना कायभायाविवेक है.

लोभ कपाय विवेक— जिस पदार्थ में लोभ है उसके तरफ अपना हाथ पसारना, जहाँ वह पदार्थ है वह स्थान सुरक्षित रखना, यदि कोई मनुष्य उस वस्तु को लेनेकी इच्छा करता हुआ दीर्घ तो शरीरसे निषेध करना, हाथ की सहनानी से मना करना अथवा मस्तक को हिलाकर निषेध करना इत्यादिक शरीराक्रिया न करना यह कायलोभ विवेक है. शरीरसे द्रव्य को न उठाना यह भी कायलोभ विवेक है. यह मेरी वस्तु है, मेरे ग्राम घर वगैरह पदार्थ मेरे हैं. मैं इनका स्वामी हूं ऐसा वचनोच्चार न करना यह भी वाचलोभविवेक है. मैं किसीका स्वामी नहीं हूं. मेरी कुछ भी वस्तु नहीं ऐसा वचनोच्चार करना यह भी वाचा लोभ विवेक है. यह मेरा है ऐसी जो मोहसे उत्पन्न होनेवाली परिणति वह भावलोभ है परंतु इस परिणति को न होने देना यह भाव लोभविवेक है.

अहवा सररिसेब्जा संथारुवह्णिण भत्तपाणस्स ॥

वेज्जावच्चकरण य होइ विवेगो तहा चेव ॥ १६९ ॥

सोऽथवा पंचधा शय्यांसत्तरोपधिगोचरः ॥

वैयाधृत्यकराहारपानविग्रहसंश्रयः ॥ १७१ ॥

विजयोद्या—अह्वा अथवेति । विवेक प्रकाशतेतिवेद्यते । शरीरसेजासंयत्तवर्द्धीमत्तपाणस्तस्य शरीर-  
विवेक । वसतिसंस्तरविवेकाद्युपकरणविवेक, भक्तपानविवेक । वेजावद्यकरण य वैद्याव्यकरणां च विवेको  
भवति । तद्वा चेव तथैव द्रव्यभावाभ्या इति यावत् । तत्र शरीरविवेके शरीरेण निरूप्यते । संसारिण शरीराद्वि-  
वेक कथमिति चेत् । शरीरेण स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रव्यापरिहरणं । शरीर उपद्रवन्त नर तिर्यच देव वा न हस्तेन  
निवारयति । मा कृथा ममोपद्रवमिति दशमशकवृद्धिक्मुजगसाग्मेयादीन् हस्तेन, पिच्छाद्युपकरणेन, दंडादिभिर्वा नाप-  
सारयति । छत्रपिच्छकटकप्रावरणादिना वा न शरीररक्षा करोति । शरीरपीडा मा कृथा इत्याद्यवचनं । मां  
पालयेति वा, शरीरमिदमन्यदचेतनं चैतन्येन सुखदुःखसंवेदनेन वाऽविशिष्टमिति वचनं वाचा विवेक । वसति-  
संस्तरयोर्विवेको नाम कायेन वसतावनासनं प्रागध्युपिताया । संस्तरे वा प्राक्तने अशयनं अनासनं । वाचा त्यजामि  
वसतिसंस्तरमिति वचनं । कायेनोपकरणानामनादानं, अथापनं क्वचिदरक्षा च उपधिविवेक । परित्यक्तानीमानि  
ज्ञानोपकरणानीनि इति वचनं वाचा उपधिविवेक । भक्तपानयोरनाशनं वा कायेन भक्तपानविवेक । एवंभूतं भक्तं  
पानं वा न शुद्धमिति इति वचनं वाचा भक्तपानविवेक । वैद्याव्यकरा. स्वशिर्याद्यो ये ये तेषां कायेन विवेक-  
नै सद्वासवास । मा कृथा वैद्याव्युत्तर इति वचनं, मया त्यक्ता यूयमिति वचनं । सर्वत्र शरीरादौ अजुरागस्य भवेदं  
भावस्य वा मनसा अकरणं भावविवेक ॥

तमेव पुनर्भयवरेणाह—

मूलारा—द्रव्यभावाभ्यामित्यर्थः । तत्र द्रव्यतस्तावत् । स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवापरिहरणं शरीरविवेकः ।  
शरीरपीडा मम मा कृथा इति मा पालयेति वा अवचनं । शरीरमिदमन्यदचेतनमित्यादि वचनं वा वाचिकः । एवं कायेन  
प्रागध्युपिताया वसतावनासनं संस्तरे वा प्राक्तनेऽशयनमनासनं वा । वाचा त्यजामि संस्तरमिति वचनं च शय्यासंस्तर  
विवेकः । कायेनोपकरणानामनादानमथापनं क्वचिदरक्षा च । वाचा परित्यक्तानीमानि मयेति वचनं चोपाधिकविवेकः ।  
भक्तपानयोरनाशनमपानं च कायेन भक्तपानविवेकः । एवंभूतं भक्तं पानं च न गृह्णामि इति वचनं वाचा तद्विवेकः ।  
सर्वत्र शरीरादौ अजुरागस्य भवेदं भावस्य वा मनसा अकरणं भावविवेकः ।

अर्थ—विवेकके दूसरे प्रकारसे भी पांच भेद हैं वे इस प्रकार—शरीरविवेक, वसतिसंस्तरविवेक, उपकरण  
विवेक, भक्तपानविवेक और वैद्याव्युत्तरकर विवेक इन पांच भेदोंमें प्रत्येकके द्रव्य और भाव ऐसे दो दो भेद होते  
हैं.

शरीरविवेक—अपने शरीरको कुछ उपद्रव होने लगा तो वह अपने शरीरसे दूर न करना, शरीरको  
उपद्रव देनेवाले मनुष्य, तिर्यच अथवा देवको अपने हाथसे दूर न करना, मेरेको उपद्रव मत करो ऐसा कह कर डास

मच्छर, विच्छु, सर्प, कुत्ते वगैरह प्राणिओंको वह हस्तसे दूर करता नहीं है. पिच्छिकादि उपकरणसे अथवा दंडादिकोसे हटाता नहीं है. छत्र, पिच्छिका, चट्टाई, प्रावरण वगैरहसे वह अपने शरीरकी रक्षा नहीं करता है शरीरको तुम पीडा मत करो इत्यादिवचन वह कहता नहीं है. अथवा मेरा रक्षण करो ऐसा वचन वह कहता नहीं है. यह शरीर आत्मासे भिन्न है, अचेतन है, यह चेतन्यसे अथवा सुखदुःखानुभवनसे अधिशिष्ट है अर्थात् रहित है यह वाचा विवेक है.

वसतिसंस्तरविवेक—जिस वसतिकामें पूर्व कालमें निवास किया था उसमें निवास न करना, पूर्व संस्तरमें—शय्यामें न सोना, अथवा न बैठना, मैं वसतिका और संस्तरका त्याग करूंगा ऐसा बोलना. उपकरण विवेक—शरीरके द्वारा उपकरणोंको ग्रहण न करना, उनको स्थापन न करना, और उनका रक्षण न करना, यह उपधिविवेक है. मैंने ज्ञानोपकरणादिक उपकरणोंका त्याग किया है ऐसा वचन बोलना. यह वाचा उपधिविवेक है.

भक्तपान विवेक—आहार और पीनेके पदार्थ भक्षण नहीं करना यह शरीरके द्वारा भक्तपानविवेक है. इस तरहका आहार और पानी मैं ग्रहण न करूंगा, ऐसा वचन बोलना यह वाचा भक्तपानविवेक है.

वैयावृत्यकर विवेक—वैयावृत्य करनेवाले जो अपने शिष्यादिक हैं उनका शरीरसे त्याग करना अर्थात् उनके साथ सहवास छोड़ देना. तुम मेरी वैयावृत्य मत करो. मैंने तुम्हारा त्याग किया है ऐसा वचनके द्वारा बोलना

सर्व शरीरादिक पदार्थोंपरसे प्रेमका त्याग करना अथवा ये मेरे हैं ऐसा भाव छोड़ देना यह भावविवेक है.

गरिमहगरित्यागक्रम उपदिशति—

सन्वत्थ द्वावपज्जयमसिसंगविजडो पणिहिदुप्पा ॥

णिप्पणयपेमरागो उवेज्ज सन्वत्थ समभावं ॥ १७० ॥

समस्तद्रव्यपर्यायममतासंगवर्जितः ॥

निःप्रेमस्नेहरागोऽस्ति सर्वत्र समदर्शनः ॥ १७२ ॥

इति उपधित्यागसूत्रम् ॥

विजयोदया—सब्वत्थ इत्यादिना—सर्वत्र देशे । पणिहिदप्पा प्रणिहितात्मा प्रकर्षेण निहित निक्षिप्त वस्तुया-  
थात्प्यज्ञाने आत्मा येन स प्रतिनिहितात्मा । दब्बपज्जयममत्तिसगविजडो दब्बेयु जीवपुद्गलेयु तत्पर्यायरूपेषु च मम-  
तारूपो य सग परिग्रहस्तेन परित्यक्तः । प्रणय स्नेह, प्रेम प्रीति, राग आसक्तिः क्व द्रव्यपर्यायेषु जीवद्रव्ये पुत्रदार-  
मित्रादौ, तेषा नीरोगत्वधनवत्त्वादौ पर्याये, आत्मनो वा देवत्वे, चक्रवर्तित्वेऽहमिन्द्रत्वे वा, तथा शरीरे आहारादिके  
भोगसाधने, तदीयरूपरसगंधस्पर्शपर्यायेषु वा, एतेभ्यः परिणामेभ्यो निर्गतो निष्पण्यपेमराग इत्युच्यते । उब्बज्ज प्रति  
पद्येत । समभाव समचित्तता द्रव्ये पर्याये वा रागक्रोपावतरेण तत्स्वरूपग्रहणमात्रप्रवृत्तिर्ज्ञानता समन्वित्तता ॥  
उवधी गदा ॥

परिग्रहपरित्यागक्रममुपदिशति—

मूलारा—सब्वत्थ सर्वत्र देशे । दब्ब इत्यादिद्रव्येषु जीवपुद्गलेषु । तत्पर्यायेषु च यो ममतारूपः संगस्तेन विजडो  
परित्यक्तः । पणिहिदप्पा प्रकर्षेण निहितो निक्षिप्तो वस्तुयाथात्म्यज्ञाने आत्मा येन । निष्पण्यपेमरागो निर्गतस्नेहप्रीत्यास-  
क्तिः । प्रकृतत्वाजीवद्रव्ये पुत्रादौ तत्पर्याये नीरोगत्वधनित्वादौ । आत्मनो वा देवत्वादौ । तथा शरीरे आहारादिके भोग-  
साधने तद्रूपरसादौ वा । उब्बज्ज प्रतिपद्येत ॥ उपधिलागः सूत्रतः । ८ । अंकतः ९ ॥

अब परिग्रहका त्याग करनेका क्रम दिखाते हैं.

अर्थ—सर्व देशमें जिसने अपने आत्माको वस्तुका सत्पस्वरूप जाननेमें एकाग्र किया है. अर्थात् जो  
जीवादिपदार्थोंको जाननेमें तत्पर हैं. जिसने जीव पुद्गलादिक द्रव्य और उनके देव मनुष्यादि पर्याय और स्पर्श  
रसादि पर्याय इनमें ममताका त्याग किया है. अर्थात् जीव पुद्गलादि द्रव्योंके पर्यायोंमें जिसने रागद्वेषरूप परि-  
ग्रहका त्याग किया है. स्नेह, प्रीति और आसक्ति इनको जिसने अपने हृदयसे निकाला है. अर्थात् जीवद्रव्य जो  
पुत्र, स्त्री, मित्र इनके नीरोगता, धनीपना इत्यादिमें जिसको स्नेह नहीं है, प्रीति नहीं है और आसक्ति नहीं है  
ऐसा साधु सर्व द्रव्य और पर्यायोंमें समचित्त होता है अथवा स्वतःके देवपना, चक्रवर्तिपना और अहमिन्द्रपना  
इत्यादि पर्यायोंमें भी वह प्रेम, स्नेह और आसक्तिका त्याग करता है. तथा शरीरमें, आहारादिक भोगसाधनके



पदार्थोंमें उनके रूप, रस, गंध, स्पर्शादि पर्यायोंमें भी जिसने प्रेम, स्नेह और आसक्ति करना छोड़ दिया है ऐसा सत्पुरुष द्रव्योंमें और उनके पर्यायोंमें रागद्वेषका त्याग कर समताभावका स्वीकार करता है।  
पदार्थोंको जाननेके समय रागरूप और द्वेषरूप परिणति छोड़कर केवल पदार्थोंको जानना ही समता है।  
उपाधि नामक प्रकरण समाप्त हुआ।

परिशुद्धपरित्यागादनन्तरोऽधिकारः श्रितिर्नाम, एतद्व्याख्यातुकामः श्रितिशब्दस्यार्थद्वयं व्याचष्टे भावश्रिति-  
द्रव्यश्रितिरिति, अप्रकृतं श्रितिशब्दार्थं निराकर्तुमिष्टं दर्शयितुम्—

जा उवरि उवरि गुणपडिवत्ती सा भावदो सिदी होदि ॥

दव्वसिदी गिस्सेणी सोवाणं आरुहंतस्स ॥ १७१ ॥

उपर्युपरि शुद्धेषु गुणेष्वारुह्यते यया ॥

भावश्रितिरभाष्येषा विशुद्धा जीववासना ॥ १७३ ॥

मंदिरादिषु तुंगेषु सुखेनारुह्यते यया ॥

द्रव्यश्रितिर्भूता प्राज्ञैः सा सोपानादिलक्षणा ॥ १७४ ॥

विजयोदया—जा या । उवरि उवरि उपर्युपरि गुणपडिवत्ती गुणप्रतिपत्तिः । ज्ञानश्रद्धानसमानभावानां प्रवृत्तानां उपर्युपरि गुणानात्तथाभूतानामेव प्रतिपत्तिर्या सा । भावदो भावेन । सिदी होदि श्रितिर्भवति । परिणाम सेवेति यावत् । अथ का द्रव्यश्रिति ? अस्योत्तरमाह—दव्वसिदी श्रीयते इति श्रितिः । द्रव्यं च तत् श्रितिश्च सा द्रव्यश्रिति । यदाश्रीयते द्रव्यं निश्चयणीसोपानादिकं तदपि श्रितिशब्दोच्यते । आरुहंतस्स आरोहन्तः ॥

अर्थैवं लक्ष्मणहिरंगान्तरंगसेनेन सुसुखेणोपर्युपरि विशुद्धपरिणामसेवा विधातव्येति गाथापट्केनोपदेष्टुमाह—  
भावश्रितिद्रव्यश्रितिरिष्टान्तस्फुटीकृतस्वरूपा निरुपयन्निदमाह—

मूलारा—उवरीत्यादि—ज्ञानश्रद्धानसमानभावानां गुणानां प्रवृत्तानामुपर्युपरिगुणानां तथाभूतानामेव प्रतिपत्तिः परिणति । भावदो सिदी भावेन परिणामेन श्रितिः परिणामसेवेति यावत् । दव्वसिदी श्रीयत इति श्रितिः द्रव्यं च तच्छिद्-  
तिश्च सा द्रव्यश्रितिः । आरुहन्तस्स प्रासादमिव मोक्षमारोहन्तश्चटत ।

‘परिग्रहोंका त्याग करना’ इस अधिकारके अनंतर अति नामक अधिकार है इसका वर्णन करनेके प्रथम अति शब्दके भावअति और द्रव्य अति ऐसे दो अर्थ करते हैं। अति शब्दके अमकृत अर्थका निराकरण कर इदार्थ दिवानेके लिये भावअति और द्रव्यअति ऐसे दो प्रकार आचार्यने दिखाये हैं।

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और समानभाव अर्थात् चारित्र्य इन गुणोंकी गुणितरूप उत्तरोत्तर उन्नतावस्थाको प्राप्त करलेना यह भावरूप अति है अर्थात् अपनेमें रत्नत्रयका दिन प्रतिदिन उत्तरोत्तर विकाशही करते जाना उसको भावअति कहना चाहिये। और कोई उच्चस्थानमें स्थित पदार्थ लेना चाहे तो निश्रेणी का अवलंबन लेकर एक एक सोपानपंक्ति क्रमसे जो चढ़ना वह द्रव्यअति है।

अनयोः का या गृहीतेत्यत्राह—

सच्छेहणं कर्तेतो सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण ॥

भावसिदिमारुहिचा विहरेज्ज सररीणिव्विण्णो ॥ १७२ ॥

द्रव्यअतिं परित्यज्य भावअतिमधिअत्तिः ॥

चारित्र्ये चेष्टतां शुद्धे त्यक्तुकामः कलेवरम् ॥ १७५ ॥

विजयोदया—सच्छेहणं सच्छेहणं करंतो कुर्वन् । सव्व सुहसीलय सर्वा सुखभावना आसनशयनभोजनादिविषया । पयहिदूण प्रकर्षेण त्यक्त्वा योगप्रयेणेति यावत् । भावसिदिमारुहिचा श्रद्धानाद्विपरिणामसेवा प्रतिपद्य विहरेज्ज प्रवर्तेत । सररीणिव्विण्णो शरीरनि स्पृहः । किमनेन शरीरेण, सुलभेनासारेण, अशुचिना, कृतघ्नेन, भारेण रोगाणामाकरेण, जरामरणप्रतिहतेन तु राविघायिनेति ॥

प्रथमसुखरसिकेन निर्वेदमुल्यवर्णयितुं भावअतिमाश्रित्य प्रवर्तितव्यमित्यनुशास्ति ॥

मूलारा—सुहसीलदं भोजनासनशयनादिविषया सुखभावना । पयहिदूण प्रकर्षेण योगत्रयेण त्यक्त्वा भावसिदिमारुहिचा श्रद्धानाद्विपरिणामसेवा प्रतिपद्य । विहरेज्ज प्रवर्तेत । सररीणिव्विण्णो किमनेन शरीरेण सुलभेन, निःसारेण, अशुचिना, कृतघ्नेन, भारेण, रोगाणामाकरेण, जरामरणप्रतिहतेन, दुःखविघायिनेति वेदस्पृहापिच्छान्तः ।

दो अतिओंमेंसे प्रकृत विषयमें कौनसी अति ग्रहण की है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य कहते हैं।

अर्थ—संछेखना करनेवाले साधुने सब सुखभावको छोड़ना चाहिये अर्थात् आसन, शयन और भोजन वगैरह विषयोंमें मन, वचन और शरीरसे आसक्ति का त्याग करना चाहिये. तथा श्रद्धानादिपरिणामों का लेकर विहार करना चाहिये. अर्थात् रत्नत्रयमें हमेशा प्रवृत्त होना चाहिये. शरीरपर विरक्ति को बढ़ाना चाहिये. यह शरीर प्रत्येक जन्ममें मिलता है इसलिये सुलभ है, निःसार है, रक्तादि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है अतः अपवित्र है. मिए पदार्थों से पुष्ट करनेपर भी यह आत्माको रोगादिसे कष्ट देता है. अतः कृतघ्न है. भारस्वरूप है, नाना प्रकारके रोगोंने इसमें अड़्डा जमाया है, जरा और मरण से पीडित है और दुःखदायक है ऐसे दोषपूर्ण शरीरसे विरक्त होकर रत्नत्रयमें साधु विहार करें.

द्ववसिद्धिं भावसिद्धिं अणिओगवियाणया विजाणंता ॥

ण खु उट्टुगमणकज्जे हेडिछपदं पसंसंति ॥ १७३ ॥

द्रव्यभावश्रितिज्ञानाः संत्युत्तरपदोद्यताः ॥

न ह्यधोऽधः प्रशंसंति पदमूर्ध्वं चियासवः ॥ १७६ ॥

विजयोदया—द्ववसिद्धिं भावसिद्धिं अणिओगवियाणया विजाणंता इत्यस्मिन्स्वेत्रे पदघटना। उट्टुगमणकज्जे हेडि-  
लपदं ण खु पसंसंति ऊर्ध्वगमने कार्ये अधोऽधःपादनिक्षेपं नैव प्रशंसन्ति। विजाणता विशेषेण जानंते। का द्ववसिद्धिं  
भावसिद्धिं च द्रव्यभावश्रित्योः स्वरूपं उपादेयश्रितिक्षाना इति यावत्। न केचले श्रितियात्रक्षा किंतु अणुओगवियाण  
या अनुयोगशब्दं सामान्यवचनोऽपि इह चरणानुयोगवृत्तिवृद्धीतत्वेनायमर्थ आचारंगम्ब। अथवा चतुर्विधानुयोगम्ब।  
श्रुतमाद्यात्म्यवत्। न भ्रासति। एतदुक्तं भवति—शुभपरिणामवता तदतिशय एव प्रवर्तितव्यं, न जघन्यप्रवृत्ति निपति-  
तव्यं, यतोऽतिशयितयुतक्षानलोचना यतयो निवृत्ति जघन्यपरिणामान्। कुतो? मंदयमानशुभपरिणाम क्रमेण न  
बहुलविशालकर्मतिमिरम्पाकर्तुमर्हति नाराभिमुख प्रदीप इव अशुभपरिणामसंततैर्मूलं भवति। तेन कर्मणां स्थिति-  
रनुभवश्च प्रकर्षयुवैति ततो व्यवस्थिता सैव दीर्घसंसारिता। समीचीनक्षानमास्तप्रेरित शुभपरिणामानल प्रकृत्यमाणो  
विशोपितकर्मपादपरसस्तमुन्मूलयतीति ॥

ऊर्ध्वगत्पृथ्वीमधिष्ठितशुभपरिणामस्य तदतिशय एव प्रतिपत्तितत्त्वज्ञैः श्लाघ्यत इत्यावेदयति।

मूलारा—अणिओगवियाणया ह्यनुयोगज्ञाः । वियाणंता विशेषेण हेयोपादेयतालक्षणेन लक्षयन्तः । हिट्ठिपदं अधोघ.पदनिक्षेपं जघन्यतापरिणामप्रवाहपतनं च । मंडायमानशुभपरिणामो ह्यशुभपरिणामनिपतनात्कर्मणा स्थित्यनुभावो प्रकर्षयति ।

अर्थ—द्रव्यश्रुति और भावश्रुतिको जानने वाले अनुयोगज्ञ आचार्य ऊपर जानेके लिये नीचे नीचेके स्थानमें पदनिक्षेप करना प्रशंसनीय समझते नहीं हैं.

भावार्थ—‘अनुयोगवियाणया’ इस पदमें अनुयोग शब्द सामान्यवाचक है तो भी चरणानुयोगका वाचक समझना चाहिये. अतः ‘अनुयोगवियाणया’ इस पदका अर्थ आचार्यगके जाननेवाले विद्वान् ऐसा समझना चाहिये. अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगके ज्ञाता ऐसा भी अर्थ होता है. चार अनुयोगके ज्ञाता श्रुतके माहात्म्य को जाननेवाले आचार्य ऊपर जानेके लिये नीचे नीचे पदनिक्षेप करते जाना प्रशंसनीय नहीं समझते हैं. अभिप्राय यह है कि, शुभ परिणाम युक्त साधुओंको उस परिणामोंकी वृद्धि करनेकाही प्रयत्न करना चाहिये. उत्तरोत्तर अशुभ अथवा जघन्य परिणामों के प्रवाहमें नहीं बह जाना चाहिये, उल्टा श्रुतज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करने वाले आचार्य जघन्य परिणामोंकी निंदा करते हैं

जिसके शुभ परिणाम उत्तरोत्तर मंद हो रहे हैं वह यदि क्रमसे विपुल और बड़ा कर्मरूपी अंधकार कैसा नष्ट करनेमें समर्थ होगा ? प्रत्युत वह नाशके समुख हुए दीपके समान कर्मरूप अंधकारको बढानेमें सहायकही होगा. मंद होनेवाले शुभपरिणाम अशुभ परिणामोंकी उत्पत्तिमें कारण बनते हैं. ऐसे परिणामोंसे कर्मका स्थितिविध और अनुभागबंध पुट होता है. और दीर्घ संसार में भ्रमण करना पडता है. सम्यग्ज्ञानरूपी वायुसे भेरा गया शुभ-परिणामरूप अग्नि जब बढता जाता है तब वह कर्मरूपी वृक्षको रसहीन बनाकर उसको धराशायी कर देता है. अर्थात् कर्मोंका नाश करता है.

धितरेपायस्थानपरिहाराव्यानायोत्तरगाथा—

गणिणा सह संलाओ कज्जं पइ सेसएहि साहूहि ॥

मोणं से मिच्छजणे भज्जं सण्णीसु सज्जणे य ॥ १७४ ॥

गणिनैव समं जल्पः कार्यार्थं यतिभिः परैः ॥  
कुदृष्टिभिः समं मौनं शान्तैस्त्वैश्च विकल्प्यते ॥ १७७ ॥

विजयोदया—गणिणा सह सावधारणमिदं गणिनैव सह । संलावो प्रश्नप्रतिवचनप्रबंध, नान्यैः सह चिन्तनभाषणं कार्यं । आचार्येण सह संलापः शुभपरिणामस्य हेतुरित्यनुज्ञायते । इतरं तु प्रमादितो यत्किंचिद्ब्रुवन्तोऽशुभपरिणामं विदध्या । कज्जं पदं कार्यं सं प्रति । सेसगेहिं सार्धं शैषैः साधुभिः संभाषणं कार्यं, न प्रबंधरूपा कथा कार्यो । भोणे मौनमेव । से तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारूढस्य । भिच्छजणे मिथ्यादृष्टिजने । स्वार्थे वदपरिकरस्य किं तेनादुपकारिणं हितोपदेशादिना । भजं भाल्य विकल्प्य मौनं । सण्णीसु मिथ्यादृष्टिबन्धुपुत्रातेषु । सजणे य स्वजने च । मिथ्यादृष्टौ अस्यामवस्थायामदीय वचनं श्रुत्वा सम्यग्दर्शनादिकमिमे गृह्णतीति यद्यस्ति संभावना द्रव्याद्धर्मं न चेन्मौनमेव ॥

इदानीं शुभभावश्रितेरुपचयापचयनिमित्तप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रतिपत्त्यर्थं आह—

मूलारा—गणिणा आचार्येणैव । संलावो प्रश्नोत्तरप्रबंधरूपा संकथा कर्तव्या । शुभपरिणामैकनिमित्तत्वात् । कज्जं पदं कार्यं स्वमुद्दिश्य । शेषसाधुभिः सह संभाषणमात्रं कार्यं न प्रबंधरूपा कथा । ते हि प्रमादितया यत्किंचिद्ब्रुवन्तोऽशुभपरिणामं विदध्याः । से तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारूढस्य । भिच्छजणे मिथ्यादृष्टिलोके अर्थात् कुरे । सण्णीसु संज्ञिषु शिक्षालापोपदेशानां ग्राहकेषु मिथ्यादृष्टिष्वपि उपशान्तेषु इत्यर्थः । सजणे स्वजने ज्ञातिलोके मिथ्यादृष्टौ । अस्यामवस्थायामदीय वचनं श्रुत्वा सम्यक्त्वादिकमिमे गृह्णन्तीति संभावना यद्यस्ति तदा धर्मं ब्रूयान्नो चेन्मौनमेव कुर्यादिति तात्पर्यं । तथा चान्ये पठन्ति—

गणिनैव समं जल्पः कार्यार्थं यतिभिः परैः ।  
कुदृष्टिभिः समं मौनं शान्तैस्त्वैश्च विकल्प्यते ॥

भावश्रितिके अपाय स्थानोंका त्याग करना चाहिये ऐसा आचार्य उत्तर गाथामें कहते हैं।  
अर्थ—संछेखना धारण करनेवाले मुनियोंको आचार्यके साथही भाषण करना चाहिये अर्थात् प्रश्नोत्तर रूप भाषण करना चाहिये। अन्य मुनियोंके साथ बहुत कालतक भाषण करना अकल्याण करनेवाला है। आचार्यके साथ किया हुआ भाषण शुभपरिणामका हेतु होता है। इतर प्रमादी मुनि कुछमी बोलकर संछेखना धारकके मनमें अशुभ परिणामोंकी उत्पत्ति कर देंगे कुछ कार्यके लिये इतर साधुओंके साथ अल्प भाषण करना चाहिये। जो मिथ्या दृष्टि है उसके साथ बोलना ही निषिद्ध है। मौन धारण करना ही श्रेयस्कर है। संछेखनाधारक आत्महित करना ही मुख्य

कार्य समझता है, मिथ्यादृष्टि मनुष्याँको हितोपदेशादिक यदि वह करेगा तो उससे उसका कुछ फायदा नहीं है वह शुभपरिणामोंपर चढा हुआ है, मिथ्यात्वियोंको उपदेश देनेसे उसके स्वार्थमें क्षति पोहोचिगी, अतः उसको मिथ्यात्वीके साथ बोलना निषिद्ध है, जो मिथ्यादृष्टि तो है परंतु मंदकपायी है ऐसे पुरुषके साथ वह बोले अथवा न भी बोले और जो स्वजन हैं उनके साथ भी वह बोले अथवा न बोले, मिथ्यादृष्टि जन जब मंदकपायी होते हैं, तब मेरा वचन सुनकर सम्यग्दर्शन अणुव्रतादिक धारण करेंगे ऐसी यदि संभावना होगी तो उनके साथ बोलना चाहिए अन्यथा न बोलना ही श्रेयस्कर होगा।

उपगतशुभपरिणामस्य प्रवृत्तिक्रममाचष्टे—

सिद्धिमारुहितु कारणपरिभुतं उवधिमणुवाधिं सेज्जं ॥

परिकम्मादिउवहदं वज्जित्ता विहरदि विदण्हू ॥ १७५ ॥

कार्याय स्वीकृतां शय्यां विसुच्याचारपंडितः ॥

परिकर्मवर्तो वृत्ते वर्तते देहनिस्पृहः ॥ १७८ ॥

विजयोदया—सिद्धिमारुहितु शुभपरिणामश्रेणिमारुह्य । कारणभुक्त किंचित्कारणमुपविश्य श्रुतग्रहण, परेषा वा श्रुतोपदेश, आचार्यादिवैयावृत्यादिक, वा परिभुत व्यवहृतं । उवाधिं परिग्रहमौषधं अतिरिक्तज्ञानसयमोपकरणानि वा । अनुपाधिं इत्यपरिग्रहं । अन्वत्रेपदं वृत्ति अनुदरा कन्येति यथा । कोसावनुपधिरत्त आह—‘सेज्ज सेविज्जदि जदिणा’ इति व्युत्पत्तौ वसतिरुच्यते, तेन सेज्जं वसति । परिकम्मादिउवहदं यतयोऽत्र वसंतीति प्रमार्जनप्रलेपनादिपरिकर्मणा उपहृतं अयोग्य । वज्जित्ता वर्जयित्वा । विहरदि आचरति । विदण्हू क्रमश्च ॥

उपगतशुभपरिणामस्य प्रवृत्तिक्रममाचष्टे—

मूलारा — सिद्धिमारुहितु शुभपरिणामश्रेणिमारुह्य । कारणपरिभुतं कारणेन श्रुतग्रहणशिष्योपदेशाचार्यवेद्यावृत्त्यादिप्रयोजनेन व्यवहृतं । उवाधिं परिग्रहमौषधं, अतिरिक्तयुक्तकादिकं वा । अनुवाधिं सेज्जं वसतिलक्षणमीपत्यग्रिग्रहं । परिकम्मादिउवहदं यतय उपवसन्तीति क्रियमाणेन सम्मार्जनप्रलेपनादिसंस्काराभेण अयोग्यं । विहरदि तपश्चरति । विदण्हू क्रमश्चः ।

शुभपरिणामयुक्त मत्पुरुषका आचरण क्रम दिसाते हैं—

अर्थ—शुभ परिणामरूप नमस्कीपर चढकर आचरण का क्रम जाननेवाले साधु शान्त पटना, दूसरोंको शास्त्रोपदेश देना, आचार्योंका वैयावृत्य करना इत्यादि कारणांके उद्देश्यमें जो परिग्रह मंग्रहीत किया था अथवा आपध व तदतिरिक्त ज्ञानोपकरण और संयमोपकरण मंग्रहित किया था उसका त्यागकर निहाय करे तथा जो इत्यपरिग्रह अर्थात् वसतिकामभी त्याग करे इसमें यति निवास करेगें इस हेतुमें आडरुग स्वच्छ करना लेपना वगैरह कियाओंसे जो दूषित है उस वसतिकामो भी वह मुनि न्याय कर विहाय करता है अथान् तपश्चरण करता है.

श्रित्यन्तरं किं करोतीत्यत्राह—

तो पच्छिममि काले वीरपुग्मिसेविद्यं परमधोर ॥

भक्तं परिजाणतो उवेदि अब्भुज्जदविहार ॥ १७६ ॥

दुश्चरं पश्चिमे काले भक्तत्वागं सिपेविद्युः ॥

धीरेर्निपेवितं वाहं चतुरंगे प्रवर्तते ॥ १७७ ॥

इति श्रितिसूत्रम् ॥

विजयोदया—तो नव्या श्रिते । पच्छिममि काले पश्चिमे काले । वीरपुग्मसेविद्यं वीर पुल्लेराजग्नि । परमधोर अतिदुष्करं । भक्त परिजाणतो आहार परित्यक्तुकाम । उवेदि उपेति । किं अब्भुज्जदविहार सम्यग्दर्शनादिपरिणामादि मुन्ये उद्यत ॥ स्वीदी ॥

एवंविधश्रित्यन्तरं किं करोतीत्यत्राह—

मूलार—तो तस्याः । परिजाणतो परित्यक्तुकामः । आहारं त्यजन्नित्यर्थः । उवेदि आश्रयति । अब्भुज्जदविहारं रत्नत्रयमिमुख्येनोक्तमाचरणं ॥ श्रितिः । सूत्रतः ९ । अंकतः ६ ॥

श्रितिके अनंतर साधु कोनभी किया करते हैं इसका वर्णन करते हैं.

अर्थ—उस श्रितिके अनंतर अंतकालमें वीरपुरुषोंके द्वारा आचरण किया गया, अतिशय दृढकर ऐसे आहार का त्याग करने की इच्छा करनेवाला मुनि सम्यग्दर्शनादिपरिणामोंमें उद्युक्त होता है.

कीदृगसावभ्युद्यतो विहार इत्यभावये—

इत्तिरियं सव्यमणं विधिणा वित्तिरिय अणुदिसाए दु ॥

जहिदूण संकिलेसं भावेइ असंकिलेसेण ॥ १७७ ॥

समप्यानुदिशं सर्वं गणं संक्लेशवर्जितः ॥

कियंतं कालमात्मानं गणी भावयते तराम् ॥ १८० ॥

विजयोदया—इत्तिरिय कियत कालस्य । सव्यगण सयनाना, आर्थिकाणां, श्रावकाणां, इतरासां च समिति । वित्तिरिय दत्त्वा । कथं विधिणा विधिना । कथं सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य स्वयं वहि स्थित्वा 'एष निरति-चाररत्नत्रय' आत्मानं शुष्मानपि समर्थं संसारसागरादुद्धर्तुं, अनुज्ञातश्च मया सूरिरयमिति तत एतदुपदेशानुसारेण भवद्भिः प्रवर्तितव्य इति । अणुदिसाए दु अनुपस्थादर्थं विशिर्विधाने शुरो पश्चादिशति विधत्ते चरणक्रमं यं सोमिधीयते अणुदिसाशब्देन । जहिऊण त्यज्त्वा । संकिलेस संक्लेश परोपकारसंपादनायासं । भावेइ भावयति । असंकिलेसेण न विद्यते संक्लेशोऽस्मिन्नित्यसंक्लेश शुभपरिणामस्तेन भावयति वासयति आत्मानं ॥

अथ कीदृगसावभ्युद्यतो विहार इत्यत्र प्रश्ने पंचविशत्या गाथाभिरुत्तरयति ।

मूलारा—इत्तिरियं स्तोत्रकालं । वित्तिरिय दत्त्वा । अणुदिसाएदु । जहिदूण संकिलेसं भावेइ असंकिलेसेण । अनुशुरोः पश्चादिशति विधत्ते चरणक्रममित्यनुदिक् एलाचार्यस्तरै विधिना । सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य स्वयं वहि स्थित्वा एष निरतिचाररत्नत्रयत्वात्मानं शुभाश्च संसारसागरादुद्धर्तुं समर्थोऽनुज्ञातश्च मया तत सूरिरयं इति मन्यमानैरतदुपदेशानुसारेण भवद्भिः प्रवर्तितव्यमिति समर्पणक्रमेण सर्वगणं दत्वेति संबंधः । तथा चोक्तं—

आहूय गणं विधिना दत्त्वा प्रतिसूरये नियतकालम् ॥

संछिष्टा त्यक्त्वासावच्छिष्टा भावना भजते ॥

संकिलेसं परोपकारकरणायासं । भावेइ वासयत्यात्मानं संक्लेसनोद्यत इति शेषः । असंकिलेसेण नास्ति संक्लेशो वक्ष्यमाणज्ञानाविषयमायावित्त्वादिवदुर्गतितिमित्यात्मपरिणामो यस्मिन्नेन शुभपरिणामेन ।

जिसमें संक्लेखनाकी इच्छा करनेवाला उद्युक्त होता है वह विहार कैसा है इसका आचार्य वर्णन करते हैं—  
अर्थ—गुरुके पश्चात् जो मुनि चरित्रका क्रम मुनि और आर्थिकादिकोको कहता है उसको अनुदिश अर्थात् एलाचार्य कहते हैं, कुछ कालके अनंतर मुनि, आर्थिका, श्रावक और श्राविका ऐसे चतुर्विध संघको बुलाकर



संघके मध्यमें उसको विठाकर स्वयं संघके बाहर खड़े होकर यह एलाचार्य निरतिचारतनत्रय पालते है, निजका और तुम्हारा भी संसारसमुद्रसे उद्धार करनेमें समर्थ हैं, ये अत्र तुम्हारे आचार्य गुरु है ऐसी मेरी सम्मति है इस लिये इनकी आज्ञाके अनुसार ही आपकी प्रवृत्ति होनी चाहिये इतना बोलकर चतुर्विध संघका भार एलाचार्यके मस्तकपर अर्पण करना चाहिये तदनंतर दूसरोंके ऊपर उपकार करनेका आथास छोडना चाहिये और शुभपरिणामोंसे अपने आत्माको संस्कृत करना चाहिये.

त्यक्तव्यसङ्केशभावनाविकल्पस्याख्यानायाचष्टे—

जावंतु केइ संग उदीरया होति रागदोसाणं ॥

ते वर्डिजतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ॥ १७८ ॥

कंदप्पदेवविब्भिंस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा ॥

एदा हु संकिलिष्ठा पंचविहा भावणा भणिदा ॥ १७९ ॥

कांदर्पी कैत्विषी प्राज्ञैराभियोगयासुरी सदा ॥

साम्मोही पंचमी हेया संकिलिष्ठा भावना ध्रुवम् ॥ १८१ ॥

विजयोदया—कदप्प इत्यादिना गतिकर्म चतुर्विध नरकगतित्तिर्यागतिर्मनुष्यगतित्तिरिव गतिर्यत्र देवगतिर्यत्र प्रकारा असुरदेवगतिनागदेवगत्यादिप्रपञ्चन । कदर्पदेवगते, किल्विपदेवगतेरभियोग्यदेवगते, असुरदेवगते, सम्मोदेवगतेश्च कारणभूता आत्मपरिणामा । कारणेन कार्योपचारोऽन्नप्राणवत् । यथाश्रं चै प्राणा. इति । प्राणकारणेऽन्ने प्राणोपचार । कार्यगेनेन व्यपदेशेन कंदर्पशब्देनोच्यते कंदर्पभावना । किल्विपभावना, अभियोग्यभावना, असुरभावना, सम्मोहभावनाश्चेति पंचप्रकारा भावना निरूपिता सर्वविधि ।

अत्रयं गाथा मूले श्रूयते ।

मृळारा—एता टीकाकारो नेच्छति ।

त्यक्तव्यसङ्केशभावनाविकल्पानुदेष्टुमाह—

मृळारा—कंदर्पेत्यादि । अत्र कदर्पादिदेवगतीना कारणभूता आत्मपरिणामविशेषा. कंदर्पोदिशब्दैर्निविष्टाः ।

कार्य कारणोपचारात् । तेन कंदर्पभावना, किल्बिषभावना, अभियोगभावना, असुरभावना सम्बोहभावना चेति ग्राह्यं । अन्ये तु तद्धितादिमुखेन व्युत्पाद्य तां पठन्ति यथा—

काटपी कैल्वपी चैव भावना चाभियोगजा ।

दानवी चाभिसंमोहा त्याज्या पंचतयी च सा ॥

इत्थं वा—कादर्यी कैल्वपी ग्राह्यराभियोग्यासुरी तथा ।

सामोही पंचमी देया संक्लिष्टा भावना ध्रुवम् ॥

संश्लेषको उत्पन्न करनेवाली भावनाओंके विकल्प कहते हैं—

अर्थ — जगतमें परिग्रहही रागद्वेषादिकोंको उत्पन्न करते हैं इस लिये परिग्रहोंका त्यागकर निःस्पृह होकर रागद्वेषोंको जीतना चाहिये।

गतिकर्मके नरगति, तिर्य्यचगति देवगति और मनुष्यगति ऐसे चार भेद हैं। देवगतिके असुरदेवगति, नागदेव गति वगैरह अनेक प्रकार हैं कंदर्पदेवगति, किल्बिषदेवगति, अभियोगदेवगति, असुरदेवगति और सम्मह देवगति इनके प्रति कारणरूप जो संश्लेष परिणाम उनको भी कंदर्पभावना किल्बिषभावना ऐसे नाम हैं। अन्न कारण है और ग्राण कार्य है इसलिये ग्राणके कारण भूत अन्नमें कार्योपचारसे ग्राण व्यवहार होता है वैसे कि ल्विषादि देवगतिकी ग्राप्ति कर देनेमें जो संश्लेष परिणाम है, उनमें भी कार्योपचार करके कंदर्पभावना, किल्बिष-भावना इत्यादि नामोंका व्यवहार सज्जन करते हैं।

तत्र कंदर्पभावनानिरूपणयोत्तरगाथा—

कंदप्पकुक्कुआइय चलसीला णिच्चहासणकहो य ॥

विब्भान्वितो य परं कंदप्पं भावणं कुणइ ॥ १८० ॥

हास्यकांदर्पकौत्कुच्यपरविस्मयकोविद ॥

कांदर्पी भावनां दीनो भजते लोलमानसः ॥ १८२ ॥

विजयोदया—कंदर्पकुक्कुआइयचलसीलो रागोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोग कंदर्पः । रागातिशय-  
वतो हसतः परमुद्दिश्याशिष्टकायप्रयोगः कौत्कुच्यं । एवं भवतो मातरं करोमीति कंदर्पकौत्कुच्यभ्या चलसील णिच्च-  
हासणकहो य सदा हास्यकथाकथनोद्यतः । विभार्चितो य परं परं विसापयन् कुतुम् किंचिदुपदर्शं । कंदर्पं भावणं कुणदि  
कंदर्पभावना करोति । रागोद्रेकजनितहासप्रवर्तितो चाग्योग काययोग परविसयकारी वा कंदर्पभावेत्युच्यते ।  
असंस्कृतप्रवर्तमानः ।

तत्र कदर्पी निर्दिशति—

मूलरा—कंदर्पकुक्कुआइददयसीलो कंदर्पकुक्कुचायितद्वयशीलः । रागोद्रेकात्प्रहाससम्मिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः  
कंदर्पः । रागातिशयवतो हसतः परमुद्दिश्यैवं तव मातरं करोमि इति अशिष्टकायं प्रकुक्कुचारयितं । कौत्कुच्यमिति यावत्  
अव्यक्तकंठस्वरकरणमवशिष्टागावयवचालनं वेति केचित् । तद्वद्वयं शीलयति पुनः पुनः प्रवर्तयति । णिच्चहासणकहो सदा  
हास्यकथाकथनोद्यतः । विभार्चितो मंत्रद्रजालादिक्कुहप्रद्वयेतेन विस्मयं नयन् ।

कंदर्प भावनानिरूपण—

अर्थ—प्रीतिकी उत्कटतासे हास्यसहित असभ्य वचन बोलना, भंडवचन बोलना वह कंदर्पवचन है,  
रागकी आधिक्यतासे—अतिशयरागवश होकर हसकर दुसरेको उद्देश कर शरीरके असभ्य अभिनयके साथ  
असभ्य वचनोच्चार करना यह कौत्कुच्य है, जैसे तेरी माताके साथ मैं बुरा कार्य करूंगा ऐसा वचन बोलना, इन  
दो प्रकारके वचनका जो वारंवार प्रयोग करते हैं वे चलशील समझना चाहिए, जो मंत्र, इंद्रजालादि कौतुक  
दिखाकर लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करते हैं, जो हमेशा हास्य उत्पन्न हो ऐसी कथायें कहनेमें उद्युक्त रहते हैं, वे  
मुनि कंदर्पभावना करते हैं ऐसा समझना चाहिए.

किंचिपभावनाख्यानायाचष्टे—

णाणस्स केवलीणं धम्मस्साइरिय सव्वसाहूणं ॥

माइय अवणवादी खिब्भसियं भावणं कुणइ ॥ १८१ ॥

सर्वज्ञशासनज्ञानधर्माचार्यतपस्विनाम् ॥

निदापरायणो मायी कैल्यर्षी अयतेऽधमः ॥ १८३ ॥

विजयोदया—णणस्स इत्यादिकं । माई अवणवादी इलेताभ्या प्रलेक संवयनीयम् । ज्ञानमिह श्रुत परि-  
शुद्धीत श्रुतज्ञानविषया माया यस्य विद्यते स ज्ञानसंबन्धी मायावान् । ज्ञानभक्तिरहितो शास्त्राविनयवृत्तिः । केवलण केचलि-  
प्पादरवानिव यो वर्तते । तद्वर्चनाया तु मनसा तु न रोचते । स केवलिना मायावान् । धम्मञ्चारित्रं तत्र मायया  
प्रवृत्त । आचार्योणा साधूना च वचकः । खिलिपसभावण फितियपभावना । कुणइ करोति ।

मूलारा—णणस्स श्रुतज्ञानस्य, धम्मस्स चारित्रस्य । माई ज्ञानादिसंबन्धित्वेन मायावान् । तत्र श्रुतज्ञानम्-  
किरहितः सूत्रवाह्यविनयवृत्तिश्च ज्ञानमायी । तथा केवलिप्पादरवानिव यो वर्तते तत्पूजाया मनसा तु न ता रोचते अस्मा  
केवलिमायी । चारित्रानुष्ठानेषु वाह्यवृत्त्या सुतरा यतते मनसा तु वृणायापि न मन्यते योऽनौ धर्ममायी । आचार्योदीना  
वचकत्वं तन्मायी । अवणवादी श्रुतज्ञानादिषु असद्वृत्तदोषोद्भावकः ।

किलिप्य भावनाका वर्णन —

अर्थ—श्रुतज्ञानमें कपट करनेवाला अर्थात् ज्ञानमें जिसको प्रेम नहीं है परन्तु उपरसे विनय करनेवाला  
वह ज्ञानविषयक मायावी है। केमलीओंके ऊपर मानो आदर दिखानेवाला परन्तु मनमें उनकी पूजा करना जिस-  
को पसंत नहीं है। इसलिये उसको केवलिविषयक मायावी कहते हैं। चात्रि जो धर्म कहते हैं इस धर्मकी में  
अतिशय भक्ति कर रहा हूं, उसका आचरण मनसे करता हूं ऐसा लोगोंको दिखता है परंतु अन्तरंगमें वह चरित्रको  
तिनकेके बराबरीका भी मानने को तैयार रहता नहीं वह धर्ममायावी है। आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेश्वरी  
को माननेवाला उनमें दोष न होते हुये भी उनका आरोपण करनेवाला उसको आचार्यदिभायावी और अवर्ण  
वादी कहते हैं, ऐसे अशुभविचारों से मुनि किलिप्य जातिकं देवोंमें जन्म लेता है, ये देव इंद्रकी मभांमे जा नहीं  
सकते हैं, इनको बाहर ही रहना पड़ता है।

अभियोग्यभावना निरूपयत्युत्तरगथा—

मंताभिओगकोदुगभूदीयम्मं पउजदे जो हु ॥

इद्धिरससादहेदं अभिओग भावणं कुणइ ॥ १८२ ॥

मंत्रकौतुकतात्पर्यभूतिकर्मोपधादिकम् ॥

कुर्वाणो गौरवाद्यर्थमाभियोगीसुपैति ताम् ॥ १८४ ॥

विजयोदया—मंताभिद्योगकोदुग्धभूईकर्म—मंत्राभियोगक्रिया, कुतूहलोपदर्शनक्रियां, चालादीना रक्षार्थं भूति कर्म च । पयुजदे करोति य । अभियोगं भावणं कुणइ । अभियोग्यां भावना करोति । किं सर्व एव मंत्राभियोगादौ प्रवृत्तो नेत्याह । इष्टिरससादेहेदुं मंताभियोगकोदुग्धभूईकर्म जो पंडजदे सो अभियोगभावणं कुणइ ॥ द्रव्यलाभस्य, सुप्राशनस्य, सुखस्य वा हेतुं मंत्राभियोगकर्म प्रयुक्ते य. स एव अभियोग्यभावनां करोति । तेन य. स्वस्य परस्य वा आयुरादिविपरिज्ञानार्थं मंत्राभियोगं कुर्वन्, धर्मप्रभावनायं कौतुक उपदर्शयन्, वैयावृत्यं वा प्रवर्तयामीति उद्यत, ज्ञानदर्शन चारित्रपरिणामादरवर्तनाच्च दुष्यतीति भावः ।

आभियोगं लक्षयति—

मूलरा — मंत्राभियोगं कुमार्यादिपात्रे भूतावेशकरणं । कोदुग्ध अकालवृष्ट्यादिकौतूहलोपदर्शनं, वशीकरणादिकं वा । भूईकर्म चालादीना रक्षार्थं भूतिकर्म भूतिक्रीडनकर्म वा । इष्टिरससादेहेदुं द्रव्यलाभस्युपहारसुखनिमित्तं । न पुनरायुरादिविपरिज्ञानधर्मप्रभावनावैयावृत्यार्थं मंत्रादिप्रयोगं कुर्वन् रत्नत्रयादरवत्तया दुष्कृतीति भावः ॥

आभियोग्य भावना का वर्णन—

अर्थ—कुमारी वगैरहमें भूतका आवेश उत्पन्न करना, अकालमें जलवृष्टि करके दिखाना ऐसे ही आश्चर्य कारक प्रयोग करना जैसे अमावास्याके दिन आकाश में लोगों को चंद्र दिखाना इत्यादि, किसी स्त्री या पुरुषको वश करना, उच्चाटन करना इत्यादि, चालकादिकोंका रक्षण करने के लिये भूतिकर्म मंत्रप्रयोग करना अथवा भूतों की क्रीडा दिखाना ये सब क्रियायें यदि अपना ऐश्वर्य दिखानेके लिये, अथवा संपदा दिखानेके लिये, मिष्टाहारके लिये, किंवा इंद्रिय जनित सुखके लिये यदि मुनि करेगा तो उसकी यह अभि योग्य भावना कही जायगी. इस भावना के प्रभाव से जीवका जन्मवाहन जाती के देवोंमें हो जाता है. यदि कोई मुनि निजकी अथवा दूसरों की आयु वगैरे जाननके लिये मंत्रप्रयोग करेगा, धर्मप्रभावनाके लिये यदि वह कौतुककारक अकाल वृष्ट्यादिक दिखानेका अथवा इन मंत्रादिकोंसे मैं मुनिका वैयावृत्य करूंगा ऐसा अभिप्राय मनमें धारण कर यदि वह कौतुकादि करेगा तो दर्शन, ज्ञान चारित्र परिणामोंमें आदरसे प्रवृत्ति करनेवाला होनेसे दूषणीय नहीं है.

चतुर्थी भावनां ध्वनिः—

अणुबंधरोसविग्रहसंसत्तवो निमित्तपडिसेवी ॥

निष्क्रुपों निरनुक्रोशः प्रवृत्तक्रोधविग्रहः ॥

निमित्तसेवको घटो भावनामासुरीं यतिः ॥ १८५ ॥

विजयोदया—अणुबंधरोसविग्रहसंसत्तवो निमित्तपडिसेवी । रोपश्च विग्रहश्च रोपविग्रहौ अनुबंधेन रोपविग्रहौ अनुबंध-

रोपविग्रहौ अनुबंधरोपविग्रहाभ्यां संसक्त संयुद्धं अनुबंधरोपविग्रहसंसक्तं तपो यस्य स तथोक्तः । निमित्तानीवी च यः स आसुरीभावना करोति इति केचित्कथयति । अनुबद्धो भवतारानुयायी रोपो यस्य सोऽनुबंधरोपः । विग्रहेण कलेहेन संसक्तं तपो यस्य सः विग्रहसंसक्तपदशब्देन ग्रथ्यते । अनुबद्धौ रोपविग्रहौ अस्तेऽनुबद्धरोपविग्रहः । सम्यगतीवसंसक्तं संबद्धं परिग्रहेण तपो यस्य स संसक्ततपोऽभिलाषप्राच्यः । निमित्तविगराणुतावी यः निर्देयः प्राणिषु, कृत्वापि पृथ्वीया अनुतापः रहितश्चासुरीं भावनां करोति ।

आसुरीं व्याहरति—

मूलारा—अणुबद्धरोसविग्रहसंसत्तवो निमित्तपडिसेवी निमित्तविगराणुतावी आसुरियं । अनुबद्धरोपविग्रहाभ्यां नित्यप्रवृत्तक्रोधकलहाभ्यां संसक्त संयुक्तं तपो यस्य स तथाभूततपाः । अथवा अनुबद्धरोपो भवतारानुयायी क्रोधः । विग्रहसंयुक्ततपाः कलहसंयुक्ततपाः । यदि वा अनुबद्धरोपविग्रहश्चासौ संसक्ततपाइवेति ग्रंथः । संसक्तं सम्यगतीव सक्तं परिग्रहेण संबद्धं तपो यस्येति विग्रहः । निमित्तपडिसेवी । ज्योतिषाद्याजीवी । निमित्त निर्देयः । विगराणुतावी कृत्वापि पृथ्वीया पश्चात्तापमकुर्वन् ।

चतुर्थ भावना—आसुरी भावनाका वर्णन—

अर्थ—जिसका कोप अन्य मर्मे मी गमन करनेवाला है और कलह करना जिसका स्वभाव भन गया है वह मुनि रोप और कलहके साथ ही तप करता है ऐसे तपसे उसको असुरगतिकी प्राप्ति होती है, जिसका तप परिग्रहके साथ रहता है अर्थात् तप करता हुआ भी परिग्रहोंपर जिसका मोह रहता है, जो निर्देय स्वभावी है, प्राणीओंको दुःख देकर मी जिसके अन्तःकरणमें पश्चात्ताप उत्पन्न होता है, ऐसा, साधु असुरगतिमें उत्पन्न होता है, ज्योतिष, सामुद्रिक वर्गों कहकर जो मुनि आहारादिककी प्राप्ति कर लेता है वह असुरगतीको जाता है.

समोद्धभावना निरूप्यते—

उन्मग्नदेसणो मग्नदूषणो मग्नविषडिवणी य ॥

मोहेण य मोहितो संमोहं भावणं कुणइ ॥ १८४ ॥

उन्मग्नदेसको मग्नदूषको मग्ननाशकः ॥

मोहेन मोहयच्छोकं सम्मोही तां प्रपद्यते ॥ १८६ ॥

विजयोदया—उन्मग्नदेसण मिथ्यादर्शन, अविरति, वा य उपदिशति, आत्मसासानामास्तद्वर्णीताश्च हितत्वे-  
नाचरे । यो वा तत्त्वो हिंसादिक कुर्वन्नपि न प्रापेन लिप्यते । ज्ञानं हि सर्वं पापं दहति इति प्रतिपादयता हिंसादिभ्यो  
भय निराकुर्यता हिंसादिषु जीवा प्रवर्तिता भवन्ति । स एकः उन्मार्गस्योपदेशः । यक्षे प्राणिविधो न पापेय शास्त्रचोदि-  
तत्वाहनादिवत् । किं च पशवो हि यागार्थमेवावौ सृष्ट यज्ञका यजमानाः पशवश्च मन्त्रमाह्वान्यात्स्वर्गं लभते इति ।  
अयमेकः उन्मार्गोपदेशः । मग्नदूषणो सवरस्य निर्जैरायाश्च निरवशेषकर्मपायस्य वा हेतुभूताः समीचीनज्ञानदर्शनपरिणामा  
मार्ग इति उच्यते । अथवायधसुखस्य परंपराकारणत्वाच्च । तस्य मार्गस्य दूषणं नाम ज्ञानादेव मोक्षः किं दर्शनचारि-  
त्राभ्यां ? चारित्र्यमेवोपायः किं ज्ञानेनेति कथ्यन्मार्गस्य दूषको भवति । अथवा मार्गप्रत्यायनपरं धृतं मार्गस्तस्य दूषको  
यो अप्रव्याख्यानकारी । मग्नविषाडिवणी य मार्गे रत्नत्रयात्मके विप्रतिपन्नः एव न मुक्तेमार्गे इति यस्तद्विरुद्धाचरणः ।  
मोहेण य ज्ञानेन च संशयविपर्ययरूपेण । मुञ्चन्तो मुह्यन् । सम्मोहेऽसु तीव्रकामरागेषु कुस्तितेषु देवेषु उपपद्यते ।  
सम्मोहीमाह—

मूलारा—उन्मग्नदेसणा मिथ्यात्वसंयमोपदेशः । मग्नदूषणा मार्गस्य रत्नत्रयस्य दूषणा । ज्ञानादेव मोक्षः किं  
दर्शनचारित्र्याभ्यां ? चारित्र्यमेव मोक्षः किं ज्ञानेनेत्यादि विरुद्धभाषणं । अथवा मार्गप्रत्यायनपरं धृतं मार्गस्तस्य दूषणस्य  
न्याख्यानमिति ग्राह्यम् । गणदूषणेति पाठेऽपि इयं व्याख्या, उन्मार्गे देशनार्थयोगाद्यतिरपि तथोक्त एव मार्गदूषणार्थयोगेन  
अथवा उन्मग्नदेसगो मग्नदूषगो इति पाठः । मग्नविषाडिवच्छो रत्नत्रयविप्रतिपन्नः । एव न मुक्तेमार्गे इति तद्विरुद्धाचरणः ॥  
मोहेण संशयविपर्ययरूपेणाज्ञानेन ।

सम्मोह भावनाका निरूपण—

अर्थ—जो मिथ्यादर्शन और अविरतिका उपदेश करता है, हरिहरादिक और उनसे वनाये हुए कुशास्त्र  
के प्राणिओंको हितमार्ग दिखाते हैं ऐसा जो कहता है, तत्त्वज्ञ पुरुष हिंसादिक कार्य करनेसे भी पापसे लिप्त

नहीं होता है उसको पापसे दुर्गतिकी प्राप्ति होती नहीं है, क्योंकि उसका ज्ञान समस्त पापको नष्ट करता है, इस रीतीका विवेचन करके जो हिंसादि पापोंसे निर्भीक बना कर उसमें प्रवृत्त करता है वह सम्मोहभावना भाता है ऐसा समझना चाहिये यह एक उन्मार्गका उपदेशक है, और भी उन्मार्ग उपदेशका विवेचन करते हैं— शास्त्रमें आहारादिक दान पात्रको देना चाहिये ऐसा उपदेश है, वह दान जैसे पापका कारण नहीं है वैसे यज्ञमें प्राणिअर्चकी हिंसा करनेपर भी वह पापके लिये नहीं है, क्यों कि शास्त्रमें प्राणियोंका यज्ञ करनेका विधान है यज्ञके लियेहि पशु ब्रह्मदेवने उत्पन्न किये हैं, यज्ञ करनेवाला, यज्ञ करानेवाला और पशु ये सब मंत्रोंके माहात्म्यसे स्वर्ग को जाते हैं यह भी उन्मार्गोपदेश है ऐसे उपदेशसे सम्मोही देवोंमें जन्म मिलता है, संवर, निर्जरा व सफूर्ण कर्मोंका नाश करनेके लिये आत्माके सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और चारित्र्य शरण हैं, इनको आचार्य मार्ग कहते हैं, इस मार्गस परंपरासे अव्यावाय-अर्थात् दुःख रहित अनंत सुख मिलता है, परंतु ऐसे सच्चे मार्गको जो दूषण लगाता है वह मार्गदूषक है, रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग जो मन्व्योंको दिखाता है वह श्रुतज्ञान मार्ग है, उस मार्गरूप श्रुतज्ञानमें जो दूषण लगाता है अर्थात् उसकी विरुद्ध व्याख्या करता है वह जीव सम्मोही देवोंमें उत्पन्न होता है रत्नत्रयही मुक्तिका मार्ग है परंतु उसके विरुद्ध जो आचरण करता है तथा संशय, विपर्यय व अनध्यवसायात्मक ज्ञानसे जो पदार्थके सच्चे स्वरूपको पहचानता नहीं है, वह मोहित होकर जिनमें कामविकार और रागाभावकी तीव्रता है ऐसे कुत्सित देवोंमें उत्पन्न होता है.

भावनाना फलं दर्शयति भयोपजननाय—

एदाहिं भावणाहिं य विराधओ देवदुग्गादिं लहइ ॥

तत्तो बुदो समाणो भमिहिदि भवसागरमणंतं ॥ १८५ ॥

रत्नत्रयं विराध्याभिभावनाभिर्दिवं गतः ॥

भीषणे भवकांतारे चिरं धंभ्रम्यते न्युतः ॥ १८७ ॥

विजयोदया—एदाहिं भावणाहिं य एताभि भावनभि । देवदुग्गाई लहदि देवेषु दुष्टा या गतिस्ता गच्छति । विराधगे रत्नत्रयाञ्च्युत । तत्तो बुदो समाणो तस्या देवदुर्गतेश्च्युत, सन् । भमिहिदि भ्रमिष्यति भवसागरमतातीतं ।



कंदर्पादिभावनाना स्वरूपं निरूप्य सर्वगोत्यादनाय तत्फलं दर्शयति—

मूलारा—विराधगो रत्नत्रयच्युतः । समाणो समातः सन् ।

भय उत्पन्न होवे इस वास्ते इन भावनाओंका फल दिखाते हैं—

अर्थ—इन भावनाओंसे मुनि रत्नत्रयसे अष्ट होकर देवोंसे जो कुणति हैं उनको प्राप्त होते हैं, उन देवदुर्गतीसे भी च्युत होकर अनंत भवसागरमें वे भ्रमण करेंगे तात्पर्य—कांदर्पी वगैरह भावनाओंसे छुदेवपना और अनंत संसारमें भ्रमण प्राप्त होता है.

एवाओ पंच वज्जिय इणमो छट्ठीए विहरदे धीरो ॥

पंचसमिदो तिगुत्तो गिस्संगो सब्वसंगेसु ॥ १८६ ॥

पंचेति भावनास्यक्त्वा संक्विलष्टः समितो यतिः ॥

पृष्ठ्यां प्रवर्तते शुतः संविशः संगवर्जितः ॥ १८८ ॥

विजयोदया—एवाओ पंच वज्जिय एताः पंच भावनाः परित्यज्य । इणमो अयं यतिः धीर । छट्ठीए पण्ड्या भावनया । विहरदे प्रवर्तते । पण्ड्या भावनया प्रवर्तितुं एवंभूतो योग्यः इत्याचष्टे—पंचसमिदो समितिपंचकवृत्तिः । तिगुत्तो शुतिवयालंकृतः । गिस्संगो संगरहितः । सब्वसंगेसु सर्वपरिग्रहेषु ॥

ताः पंच लक्त्वा पण्ड्या यादृक् प्रवर्तते तामाचष्टे—

मूलारा—इणमो अयं यतिः । छट्ठीए, पण्ड्या असंछिष्टभावनया । विहरदे प्रवर्तते । गिस्संगो आसक्किदुक्क ।

अर्थ—इन पांच भावनाओंका त्यागकर जो धीर मुनि पांच समिति और तीन गुप्तिओंका पालन कर संपूर्ण परिग्रहोंगे निःस्पृह रहते हैं वेही छट्ठी भावनाके आश्रयसे रत्नत्रयमें प्रवृत्त होते हैं.

का सा पण्डीभावना ? अत्राचष्टे—

तवभावणां य सुदसत्तभावणेगत्तभावणे चेव ॥

धिदिबलविभावणाविय असंक्विलिद्धावि पंचविहा ॥ १८७ ॥

असंक्लिष्टतपःशास्त्रसत्त्वैकत्वधृतिश्रिता ॥

पंचधा भावना भान्या भवभ्रमणभीरुणा ॥ १८९ ॥

विजयोदया—तवभावणा तपसोऽभ्यासः । सुदृढभावणा भ्रान्तस्य भावना । सत्तभावणा अभीष्टत्वभावना । एषासम्भावणा एकत्वभावना । धिर्दिवलविभाविणा वि य धृतिवलिभावना चेति । असंक्लिष्टा वि पंचविधा असंक्लिष्टा भावनाः पंचप्रकाराः । ननु च ताः पंचभावनास्तत्र किमुच्यते 'छद्मी य भावणा चेति' असंक्लिष्टभावनात्वसामान्यापेक्षया एकतामारोप्य पक्षीत्युच्यते । विशेषरूपपेक्षया तपोभावनादिविवेकः । अत एव सूत्रकारोऽपि एकता दर्शयति 'असंक्लिष्टा वि पंचविधा' इति ।

असंक्लिष्टभावनाविकल्पादुद्दिशति—

मूलारा—सत्त अभीष्टत्वं । धिर्दिवलिभावणा । धृतिः परमप्रसन्नित्तस्या भावनाभ्यासः ।

छद्मी भावनाका वर्णन करते हैं—

अर्थ—तपका अभ्यास करना, ज्ञानका अभ्यास करना, निर्मयपनाका अभ्यास करना । मैं अकेलाही हूँ ऐसा एकपनेका अभ्यास करना और धृतिवलि भावना ऐसी पांच असंक्लिष्ट भावनाये हैं । इस गाथा में पांच भावनाओंका उल्लेख किया है तथापि छद्मी भावनासे धीरे मुनि रत्नत्रयमें विहार करते हैं ऐसा ऊपरकी गाथा में कहा है यह विरुद्ध दीखता है । उत्तर—इन पांचों भावनाओंमें असंक्लिष्टपना है—इस असंक्लिष्टत्व सामान्यकी अपेक्षासे इन पांचों भावनाओंमें एकपनेको आरोपित कर संक्लिष्ट पांच भावनाओं की अपेक्षासे यह भिन्न होनेसे इसको सामान्यतया छद्मी भावना ऐसा गाथा में कहा है । विशेषतयाकी अपेक्षासे तपोभावना, श्रुतभावना वगैरे पांच भावनाये आचार्यने कही हैं, अतः विरोध नहीं है ।

तपोभावनासमाधेः कथमुपाय इत्यत्राचष्टे—

तवभावणाए पंचैदियाणि दंतानि तस्स वसमेति ॥

इंदियजोगायरिओ समाधिकरणाणि सो कुणइ ॥ १८८ ॥

दांतान्यक्षाणि गच्छन्ति तपोभावनया वशं ॥

विधानेनेन्द्रियाचार्यः समाधाने प्रवर्तते ॥ १९० ॥

विज्ञयोदया—तवभावणाए तपोभावनया । असकृदशनत्यगेन द्रव्यभावरूपेण । पंचेंद्रियाणि पंचापि इंद्रियाणि । तस्स तपोभावनारतस्य । वसमेति वशमुपयाति । यतोऽस्मात् दंतानि निगृहीतदर्पाणि । इंद्रिययोगावरिजो इंद्रियाणा शिक्षाविधाय्याचार्योऽसौ समाधिकरणानि रत्नत्रयसमाधानक्रिया । सो सः कुण्ड करोति । एतदुक्तं भवति । दातानि इंद्रियाणि तपसा न कामरागमत्सानयति । शुद्धाद्विभिरुपद्रुतमा न वामलोचनासुरतक्रीडादौ करोत्यादरमिति प्रतीतेरिव । ननु चानशनादौ प्रवृत्तस्याहारदर्शने तद्दातेश्चणे तदासेवायां चादौ नितान्तं प्रवर्तते ततोऽयुक्तमुच्यते तपोभावनया दातान्द्रियाणीति । इंद्रियविपरगकोपपरिणामानां कर्माश्रयहेतुतया अद्वितत्त्वप्रकाशनपरिज्ञानपुरःसरतपोभावनया विषयसुखपरित्यागात्मकेन अनशनादिना दातानि भवति इंद्रियाणि । पुनः पुनः सेव्यभानं विषयसुखं रागं जनयति । न भावनोत्तरान्तर्हितमिति मन्यते ।

तपोभावना कथं समाध्यंगमित्याह—

मूलारा — तवभावणाए असकृदशनत्यगेन । दंतानि निगृहीतदर्पाणि । तस्स तपोभावनारतस्य यतोः । वसमेति वशं यान्ति । इंद्रियजोगावरिजो इंद्रियशिक्षाविधायी आचार्यः । समाधिकरणानि रत्नत्रयसमाधानार्थोः क्रियाः ।

आसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानलक्षणाः । सो तपोभावनादातवशीभूतेंद्रियः । अथवा तपोभावनया साधोः पंचेंद्रियाणि दातानि संति वशमायान्ति । स प्रसिद्ध इंद्रिययोग्याचार्यो मन्त्रश्च समाधिकारणानि करोति ॥

तपोभावना समाधीका उपाय कैसी होती है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—चारोंवार आहारका त्याग करनेसे तपोभावनामें तत्पर रहनेवाले साधुकी पांचों इंद्रियां वश हो जाती हैं, चार प्रकारका आहार छोड़ना यह द्रव्यतपभावना, है और वह आहार छोड़नेका जो मनःसंकल्प वह भावतपोभावन है, इस दो प्रकारकी तपोभावनासे इंद्रियोंका मद नष्ट होता है, तदनंतर वे आराध, कके वश होती हैं इंद्रियोंको शिक्षा देनेवाला आचार्य अर्थात् साधु रत्नत्रयमें जिनसे स्थिरता होती है, ऐसी क्रिया करता है, भावार्थ यह है कि, जब तपश्चरणसे इंद्रियोंका दमन होता है तब मनमें काम विकार उत्पन्न नहीं होता है, शुभ्रा, व्यास इत्यादिसे पीडित पुरुषके मनमें स्त्रीके साथ सुरतक्रीडा करना, आलिंगन देना वगैरह क्रियाओंमें आदर नहीं रहता है, यह बात सुप्रसिद्ध ही है,

शंका—उपवासादि तपोमें प्रवृत्त हुए पुरुषको आहारके दर्शनेसे और उसकी कथा सुननेसे, उसको भक्षण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, अतः तपोभावनासे इंद्रियोंका दमन होता है यह कहना अयोग्य है,

उत्तर—इंद्रियोंके इष्टानिष्ट स्पर्शादि विषयोंपर आत्मा सर्वा और द्वेषी जब होता है तब उसके रागद्वेष-परिणाम कर्मोपसर्जनके लिये हेतु वर्तने हैं। ये राग जीवका अहित करते हैं ऐसा सम्यग्ज्ञान जीवको वतलाता है, सम्यग्ज्ञानयुक्त तपोभावना जो कि विषयसुखोंका परित्यागरूप और अनशानादिरूप है इंद्रियोंका दमन करती है, पुनः विषयसुखका सेवन करनेसे रागभाव उत्पन्न होता है परंतु तपोभावनासे जब आत्मा संस्कृत होता है तब इंद्रियां विषयसुखके तरफ दौड़ता नहीं है।

तपोभावनारहितस्य दोषमाचष्टे उत्तरग्रन्थेन सदृशान्तोपन्यासेन—

इंद्रियसुहृत्साउलओ घोरपरीसहपराजियपरस्सो ॥

अकदपरियम्म कीवो मुञ्जदि आराहणाकाले ॥ १८९ ॥

इंद्रियार्थसुवासक्तः परीषहपराजितः ॥

जीवोऽकृतक्रियः क्लीबो मुह्यत्याराधनाविधौ ॥ १९१ ॥

विजयोदया—इंद्रियसुहृत्साउलओ इन्द्रियसुखसादलपटो। घोरपरीसहपराजिय परस्सो परीषहै, घोरे तु रहै, क्षुदादिभिः पराजितोऽभिभूतः, सम य परादसुखता गतो रत्नत्रयस्य । अकदपरियम्म कीवो अकृत, परिकर्म तप्याराधनाया येनासौ अकृतपरिकर्म । कीवो दीनः, मुञ्जइ मुह्यति विविचिताभाप्नोति । आराहणाकाले आराधनाया काले ।

तपोभावनाविहीनस्य गार्थापवकेन सदृशतोपन्यासेन दोषमाचष्टे—

मूलारा—साउलओ स्वादलपटः । परादय पराजित । परस्सो पराङ्मुखो रत्नत्रयस्य । अकदपरियम्म न कृत परिकर्म आराधनायोग्यं तपो येन । कीवो क्लीबो दीन इत्यर्थः । मुञ्जदि विविचिता याति ।

तपोभावना जिसको नहीं है उस पुरुषमें दोष उत्पन्न होते हैं, इस विषयका खुलासा दृष्टान्त देकर आचार्य करते हैं

अर्थ—जो पुरुष अर्थात् मुनि इंद्रियसुखोंका आस्वादन करनेमें लंपट हुआ है, दुःसह भूख, तहान वगैरह परीपहसे जो पीड़ित हुआ है, अतः जो रत्नत्रयसे पराङ्मुख हुआ है, जो आराधनाका रक्षण करेगा ऐसे तपको छोड़ बैठे हैं वह मुनि दीन होकर आराधनाके कालमें मोहयुक्त होता है, समाधिमरण यह आराधनाका अन्तिम

लफ है, परंतु जिसने तपश्चरण किया नहीं, जो इंद्रियसुखमें निगमन हुआ वह रत्नत्रयसे अष्ट हो कर समाधिमरणसे च्युत होता है.

अथ दृष्टान्तमाह—

जोगमकारिज्जंतो अस्सो सुहलालिओ चिरं कालं ॥

रणभूमीए वाहिज्जमाणओ जह ण कज्जयरो ॥ १९० ॥

लालितः सर्वदा सौख्यैरकारितपरिक्रियः ॥

कार्यकारी यथा नाश्वो वास्यमानो रणांगणे ॥ १९२ ॥

विजयोदया—जोगमकारिज्जंतो वाक्चालनभ्रमणलंघनादिकां शिक्षां अकार्यमाणः । अस्सो अग्यः । सुहलालिओ सुखलालितः । चिरं कालं रणभूमीय युद्धभूमौ । वाहिज्जमाणो वास्यमानः । जह ण कज्जयरो यथा कार्यं न करोति तथा यत्तिरपि ॥

मूलारा—जोगं धावनभ्रमणलंघनादिका शिक्षा । शेषं नाथात्रयं सुगमम् ।

इस विषयमें दृष्टान्त कहते हैं—

अर्थ—जैसे शब्दोंका अभिप्राय ध्यानमें रखना, चलाना, वेगसे घुमाना, क्रुद्धना, वीरह कृत्योंका अभ्यास जिससे कराया गया नहीं है, जिसको सुखसे पुष्ट किया है, ऐसे अश्वको चहुत काल व्यतीत होनेपर युद्धभूमिमें ले जानेपर वह कार्य नहीं करता है. श्वको जीतनेमें अपने स्वामीको सहायता देना दूर ही रही परंतु भयसे भाग जा कर मालिकका काम विगाड देता है वैसे यति भी—

सुगमत्वाच्च व्याख्यायते नाथात्रयम्—तत्रभावणा ।

पुव्वमकारिद्वेजोगो समाधिकामो त्था मरणकाले ॥

ण भवदि परिसहसहो विसयसुहपरम्भुहो जीवो ॥ १९१ ॥

जोगमकारिज्जंतो अस्सो दुहभावित्तो चिरं कालं ॥

रणभूमीए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्जं ॥ १९२ ॥

पुत्रं कारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले ॥  
होदि हु परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥ १९३ ॥  
अकारिततपोयोग्यश्चिरं विषयमृच्छितः ॥  
न जीवो मृत्युकालेऽस्ति परीषहसहस्तथा ॥ १९३ ॥  
विधापितः क्रियां योग्यां सर्वदा दुःखवासितः ॥  
बाह्यमानो यथा वाजी कार्यकारी रणक्षितौ ॥ १९४ ॥  
विधापितस्तपो योग्यं हृषीकार्यपराङ्मुखः ॥  
जायते मृत्युकालेऽजी परीषहसहस्तथा ॥ १९५ ॥

अर्थ—यदि पूर्व कालमें तपश्चरण नहीं किया होय तो मरणकालमें समाधिकी इच्छा करता हुआ भी परीषहको सहन नहीं करता है अतः वह विषयसुखोंमें आसक्त हो जाता है, जिससे अमरण करना, उल्लंघन करना वगैरह कार्योंका अभ्यास कराया गया है तथा जिसको धुधा, तृणा, शीत, उष्ण इत्यादि दुःखोंका विरकालतक अभ्यास कराया है, ऐसा अश्च रणभूमीमें ले जानेपर वह स्वामीके शत्रुको जीतनेका कार्य करता है, यतिने भी पूर्व कालमें यदि तप किया हो तो परीषहको सहन कर समाधिकी इच्छा करनेवाला होकर मरणकालमें विषयसुखमें वह मूर्छित-आसक्त नहीं होता है.

श्रुतमाहात्म्य प्रकटयति—

सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणवइ ॥  
तो उवओगपइण्णा सुहमच्चविदो समणेइ ॥ १९४ ॥

चतुरंगपरीणामश्रुतभावनया परः

निर्व्याक्षेपः प्रतिज्ञातं स्वं निर्वाहयते ततः ॥ १९५ ॥

विजयोदया—सुदभावणाए । श्रूयते इति श्रुतमित्यस्यां व्युत्पत्तौ शब्दश्रुतमुच्यते । तस्य भावना नाम तदर्थं विषयज्ञानासकप्रवृत्तिः । ननु शब्दश्रुतस्यासकप्रवृत्तयः श्रुतभावना स्यात्, ज्ञान ततोऽर्थान्तरं? अत्रोच्यते—श्रुतकार्ये ज्ञाने

श्रुतशब्दो वर्तते इति न दोषो वा । गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्तावपि नाश्वदौ गोशब्दो वर्तते । किंतु रूढिवशात्साक्षादि-  
मत्वेव । एवमिहपि श्रूयते इति व्युत्पादितोऽपि न सकले श्रोत्रोपलभ्ये वचनसदृशं प्रवर्तते, अपि तु स्वसम्यक् रूढिवशाद्-  
णधरोपरचिते एव । तथैव श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तज्ञाने एव वर्तते । तस्यास्य श्रुतज्ञानस्य भावनया । णाणं  
दंसप्तवसंजमं च परिणमद् समीचीनज्ञानदर्शनतप सयमपरिणतिः प्रतिपद्यते । ज्ञानभावनापरो ज्ञानपरिणतो भवतु कथमसौ  
दर्शनादौ परिणामातरे प्रवृत्तो भवति ? न हि क्रोधपरिणतो मायाया प्रवृत्तो भवतीति चेन्नैव दोषः । यद्यन्नातीर्यक  
तस्मिन्सति तद्भवत्येव तद्विकरणे यथा कृतकत्वेऽनित्यत्वं । ज्ञानं चातरेण न भवति सम्यग्दर्शनादयः । अत्रेदं चोद्यं-  
असंयतसम्यग्दर्शने ज्ञानं तस्य तप सयमौ किमुत स्तः ? संयमसद्भावे कथमसंयतता ? तस्मान्न तौ स्तः । कथमिदं सूत्रं ?  
नायमस्य सूत्रस्यार्थो ज्ञानभावनाया सत्या भवत्येव सर्व एव इति, किंतु ज्ञानभावनाया सत्यमेव भवति नासत्याम् । तपः  
संयमौ कार्यत्वेन स्थितौ चारित्र्यमोहक्षयोपशमापेक्षिणा ज्ञानेन प्रवर्त्यते, न चावश्यं कारणाणि कार्यवन्ति । धूममजनयतोऽ  
प्यग्नेर्दर्शनात् काष्ठाद्यपेक्षस्य । तो तत् ज्ञानभावनात् । उवधोगपदिण्णा ज्ञानदर्शनतप सयमपरिणामप्रवये प्रवर्तया  
म्यात्मानं इति या उपयोक्तव्यतिष्ठा ता । सुहं अक्षेणेन । समाणेदि समापयति । अच्चविदो अचलितः ॥

श्रुतभावनामाहात्म्यं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—उवधोगपदिण्ण ज्ञानादिप्रबंधं प्रवर्तयाम्यात्मानं इत्यंगीकारम् । अच्चविदो अचलितः । समाणेदि  
समापयति ।

श्रुतज्ञानभावनाका माहात्म्यं प्रकट करते हैं—

अर्थ—‘ श्रूयते इति श्रुतं ’ जो सुना जाता है उसको श्रुत कहते हैं, यदि यह श्रुत शब्दका अर्थ मानोगे  
तो शब्दोक्तो श्रुत मानना चाहिये इस श्रुतकी भावना करना अर्थात् शब्दका जो अर्थ तद्विषयक ज्ञानम वारवार  
प्रवृत्ति करना श्रुतभावना है अर्थात् शब्द सुनकर उसके अर्थका जो वारवार ज्ञान होना वह श्रुतभावना है शंका-  
शब्दश्रुतको बार बार पहना वह श्रुतभावना है, ज्ञान तो इससे भिन्न है ? उत्तर—श्रुत जो शब्द उसका कार्यरूप  
जो ज्ञान उसमें भी श्रुतशब्दकी प्रवृत्ति है, शब्दको भी श्रुत कहते हैं और उससे होनेवाले कार्यरूप ज्ञान को भी  
श्रुत कहते हैं, अतः इसमें कुछ विरोध नहीं है “गच्छतीति गोः” इस व्युत्पत्तीसे बना हुआ भी गो शब्द अर्थादि-  
कका वाचक होता नहीं, परंतु रूढीसे साक्षादिमान् जो गाय उसका ही वाचक होता है, वैसे यहां भी “ श्रूयते  
इति श्रुतं” इस प्रकारसे व्युत्पन्न किया गया शब्द कानसे सुनेगये समस्त शब्दोंमें प्रवृत्त होता नहीं है, परंतु स्वसि-  
द्धान्त की रूढीकी अपेक्षासे गणधररचित शब्दश्रुतमें ही श्रुतशब्द की प्रवृत्ति समझनी चाहिये श्रुतज्ञानावरण

कर्मका क्षयोपशम पारर जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें भी यहां श्रुत शब्द समझना चाहिये. इस श्रुतज्ञानकी भावनासे सम्यग्ज्ञान, दर्शन, तप, संयम इन गुणोंकी प्राप्ति होती है.

शंका—जो मनुष्य ज्ञानभावनामें तत्पर है वह ज्ञानमें परिणत होगा वह दर्शनादि परिणामोंमें कैसा परिणत होगा. ज्ञोधकपायसे परिणत हुआ अदमी भाषामें परिणत नहीं होता है. उत्तर—आपका यह कहना योग्य नहीं है जो जिसके साथ अविनाभावी रहता है वह उसके सद्भावमें उसके आधारमें रहेगा ही यथा जहां जहां कृत कत्व रहता है वहा वहा अनित्यत्व रहेगा ही. ज्ञानके विना सम्यग्दर्शनादिक होते नहीं है.

शंका—असंयत सम्यग्दृष्टी में ज्ञान है परंतु उसमें तप और संयम भी है क्या? यदि होंगे तो उसको असंयमी क्यों कहते हैं अतः ज्ञानके साथ तप और संयम नहीं रहते हैं अर्थात् ज्ञानके साथ उनका संवध नहीं है.

उत्तर—ज्ञानभावना होनेपर तप संयमादिक होते ही है ऐसा इस स्रक्का अभिप्राय नहीं है. परंतु तपः संयमादिक यदि उत्पन्न होंगे तो ज्ञानभावना के रहते ही उत्पन्न होंगे. अन्यथा नहीं. तप और संयम ये कार्यरूप हैं और वे चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले ज्ञानके द्वारा प्रवृत्त किये जाते हैं.

कारण अवश्य कार्यवान् होते ही है ऐसा नियम नहीं है. काष्ठादिकी अपेक्षा रखनेवाला अग्नि धूमकी उत्पन्न करेगाही ऐसा नियम नहीं है. इसलिये ज्ञानभावनासे मैं ज्ञान, दर्शन, तप संयम परिणामोंमें आत्माको प्रवृत्त करूंगा ऐसी जो उपयोग प्रतिज्ञा उसको वह मुनि एकाग्र होकर अचलित होकर अनायाससे संपूर्ण करता है.

जदणाए जोगपरिभाविदस्स जिणवयणमणुगदमणस्स ॥

सदिलोवं कांडुंजे ण चयंति परिसिहा ताहे ॥ १९५ ॥

स्वन्यस्तजिनवाक्यस्य रचितोचितकर्मणः ॥

परीपहापदः शक्ता न कर्तुं स्मृतिलोपनम् ॥१९७॥

इति द्रुतम् ॥

विजयोदया—जदणाए यत्नेन । जोगपरिभाविदस्स शुज्यते अनेन अनशनादिना निर्जरार्थं यतिरिति चाहं तप. योगशब्देनाबोध्यते । तेनायमर्थः । तपसा भावितस्मेति । जिणवयणमणुगदमणस्स जिनवचनानुगतचेतस ।



सर्विलोचं स्मृतिलोप ! रत्नत्रयपरिणामप्रबंधसंपादनोद्योगस्य स्मृतिर्या तस्या विनाशं । काउंजे कर्तुं । न चयंति न शक्नुवन्ति । के ? परिस्सद्धा शुद्धादिवेदना । तादे तद्वा । पतदुक्तमनया गाथया अभ्यस्यमानं श्रुतज्ञानं निर्मलं पटीयो भवति । पाटवाभ्यासवलेन च स्मृतिरक्षेदेन प्रवर्तते । स्मृतिमूलो हि योगो वाक्कायव्यापार इति । सुदं गदं ।

मूलारा—जदणाए यत्नेन प्रमादपरिहारेणेत्यर्थः । जोग बुज्यतेऽनेनानशनादिना निर्जरार्थे यतिरिति जोगो चाहं तपः । सविर्लोचं स्मृतिलोपं । काउंजे कर्तुं । न शक्नुवन्ति । तादे तदा मरणकाले ॥

अर्थ—अनशन अवमोदर्थ इत्यादि तप मुनिराजके कर्मकी निर्जरा करते हैं अर्थात् कर्मकी निर्जरा करनेके लिए मुनि अनशनादि तपसे जुड जाते हैं, इसलिए अनशनादि वाह्य तप को आचार्य योग कहते हैं. प्रमाद छोड कर प्रयत्नसे जो तपसे अपने आत्माको सुसंस्कृत बनाता है, जिसका मन जिनेश्वरके वचनोंमें एकाग्र हुआ है, ऐसा मुनि रत्नत्रय परिणामोंमें स्थिरता रखनेमें सतत उद्युक्त होता है अतः यदि शुद्धादि परीपहोसे वह पीडित होगया तो भी उसकी स्मृतिका नाश होता नहीं है अभिप्राय यह है कि, श्रुतज्ञानका अभ्यास करनेसे वह निर्मल और जहापोहके सामर्थ्यसे युक्त हो जाता है. जहापोहका अभ्यास बढ जानेसे जिनागममें स्मृति विना खेदके प्रवृत्त होती है. वचनकी प्रवृत्ति, शरीरकी सब प्रवृत्तियां स्मृतिपर ही निर्भर रहती है. इस तरह ज्ञानके सामर्थ्य का वर्णन किया.

सत्त्वभावनाया शुणं स्तोति उत्तरगाथया—

देवेहिं भेसिदो वि हु कयावराधो व भीमरूवेहिं ॥  
तो सत्त्वभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं ॥ १९६ ॥  
बहुसो वि जुब्भ भावणाए ण भडो हु मुज्झदि रणम्मि ॥  
तह सत्ता भावणाए ण मुज्झदि मुणी वि वोसग्गो ॥ १९७ ॥  
भीब्भयमाणेऽप्यहोरात्रं भीमरूपैः सुरासुरैः ॥  
सत्त्वभावनाया साधुं धुरि धारयतेऽखिलम् ॥ १९८ ॥

विमुक्त्युपसर्गे नो सत्त्वभावनया यतिः ॥

युद्धभावनया युद्धे भीषणेऽपि भटो यथा ॥ १९७ ॥

विजयोदया—देवदेहि देवैर्ह्यस्मितोऽपि । खु सुखं । कृतापराधोऽतिभीमरूपः । वा अथवा । तो तंत । सत्त्वभावनया सोढुःखात् । वहइ भरं गिबभो सयलं वहति भरं संयमस्य निर्भय सकलं । मृतेभीमरूपदर्शनाच्च भीतिरुप- जायते भीतस्य प्रत्युत्तरत्नत्रयस्य तदतिदुःखार्प । तद्वनवाच्या नं कर्म निमूलनं शक्यं कर्तुं । अनासादितप्रलयानि च कर्माणि विचित्रं यातयेत्यात्मार्तं । ततो भीतिरवानेकानर्थमूलमिति निश्चित्य सा प्रागेव निरसनीया । तथाहि—

मूलारा—भीसिदो भयं नीतः । दिया दिवा । राजो रात्रौ । तो तथा प्रसिद्धया पृथ्वीकायिकादिभवग्रहण- द्वारायातविचित्रदुःखपरामर्शकृतमभाषारणया । घुरं चारित्रभारं ।

मूला—नपष्टम् ।

सत्त्वभावनामें जो गुण हैं उनकी स्तुति आचार्य करते हैं—

अर्थ—वह मुनि देवोंसे त्रस्त किया गया, भयंकर व्याघ्रादिरूप धारण कर पीडित किया गया तो भी सत्त्वभावनाको हृदयमें रखकर दुःखोंको सहन कर और निर्भय होकर संयमका सपूर्ण भार धारण करता है. मरण होगा इस विचारसे और भीमरूप दर्शनेसे मनमें भीति उत्पन्न होने पर रत्नत्रयका यदि त्याग किया तो पुनः उसकी प्राप्ति होना अतिशय दुर्लभ है. रत्नत्रयकी प्राप्ति न होनेसे कर्मका नाश करना अशक्य है. कर्मोंका नाश न होनेसे वे आत्माको नाना प्रकारसे पीडा देते हैं. अतः भीति ही अनेक अनर्थोंका मूल है ऐसा निश्चय करके वह सत्त्वभावनासे प्रथम दूर करनी चाहिये.

खणुत्तावणवालणवीयणविच्छेत्तणावरोदत्तं ॥

चित्तिय दुहं अदीहं मुज्झदि णो सत्तभावविदो दुक्खे ॥ १९८ ॥

बालमरणाणि साहू सुचित्तिदूणप्पणो अणंताणि ॥

मरणे संसुट्ठिण्विहि मुज्झइ णो सत्तभावणाणिरदो ॥ १९९ ॥

विजयोदया—शुश्रूषीकायिकः सन् खननदहनविलेखनकुट्टनभंजनलोठनपेयचूर्णनादिभिर्विधां परिप्राप्तोऽस्मि । अपश्च शरीरत्वेनोपादाय घर्मेरक्षिप्रकरनिष्प्रापतेन, दहनज्वालकलपकलिततनुतया पर्वतद्वीपसमुच्चतदेशोभ्योऽन्तिवेगेन शिलाघनवसुंधरासु पतनेन, आम्बलवणक्षारादिरससमेतद्रव्यसन्निधनेन, धगधगायामोऽग्नौ प्रक्षेपणेन, तखतशिलापातेन, पादकरतलाभिघातेन, तरणोद्यताना विशालघनोर स्थलावपीडनेन, अवलोकमानमहानागतरणमज्जन-हस्तक्षोभणादिना च महती वेदना अविगतोऽस्मि ।

तथा समीरणं तनुतया परिगृह्य दुर्मगुटमशिलोचयदीना प्राणभृता नितातकाडिनकायाना चाभिघातेन समीरण-तरावमर्दनेन, ज्वलनस्पर्शनेन च दुःखासिकामनुभूतोऽस्मि ।

तथा परिगृहीताक्षिपरीरो विध्यापनेन पासुभस्मसिक्तादिप्रक्षेपणेन, मुशलमाजजलधारापातेन, दंडकाष्टादि-भिस्ताडनेन, लोष्ठपापणादिभिश्चूर्णनेन प्रमंजनेन विपदमाश्रितोऽस्मि ।

फलपलाशपल्लवकुसुमादिकायं स्त्रीकृत्य चोटनभक्षणमर्दनेपेणदहनादिभिस्तथा गुल्मलतापादपादिक तनूकृत्य छेदनेन, भेदनेनोत्पादनेन, रोहणेन, दहनेन च लेशभाजनतामुपयातोऽस्मि ।

तथा कुशुपिपीलिकादिवसो भूत्वा वेगप्रयायिरथचक्राकमणेन, खरतुर्गादिपरुषयुरसंताडनेन, जलप्रवाहप्रक-र्षणेन, दावानलेन, टुमपापणादिपतनेन, मनुजचरणवमर्दनेन, चलवता भक्षणेन च चिरं क्लिष्टोऽस्मि ।

तथा खरकरभवलीवर्दादिभावमापद्य गुरुरभारापणेनारोहणेन, वंधनेन, कर्कशतरकशादंडुशलादितडाडनेना-द्वारनिरोधनेन, शीतोष्णवातादिसंपातेन, कर्णच्छेदनेन, दहनेन, नासिकावेधनेन, विदारणेन, पश्यादिभिर्निशितासिधारा-प्रद्वारेण चिरमुपद्रुतोऽस्मि ।

तथा भग्नगदं, कुशतया व्याघ्रभिभवेन वा पतितं इतस्तत परावर्त्यमान, क्रूरतमव्याघ्रशृगालसारमेयादि-भिर्भक्ष्यमाणं, काकशृङ्गकादिभिः कवलीक्रियमाणं, तरलतरतारचाक्षियुगलं, कखातुमासीत् । ततो यतो गुरुरभारो-द्वहनजातक्वायितव्रणसमुद्भवकुमिकुलेन, काकादिभिश्चानारतमुपद्रुतोऽस्मि ।

तथा मनुजभवेऽपि करणवैकल्यादारिद्र्यादिसाध्यव्याधुपनिपातात्, प्रियालाभादप्रिययोगात्परप्रेष्यकरणादपर-परमभावात्, द्रविणजनाशया दुष्करकर्मादौनमूलपदकर्मोद्योगाच्च, विचित्रविपदमुपगतोऽस्मि ।

तथैवामरभवेऽपि दूरमपसर लघु प्रयाहि, प्रभो. प्रस्थानवेला वर्तते । प्रयाणपटह ताडय, ध्वजं धारय, हताशा देवीजन पालय, तिष्ठ स्वामिनोऽभिलषितेन वाहनरूपेण, किं विस्मृतोऽस्यनव्यपुण्यपण्यशतमखस्य दासेरतां यच्चूर्णीं तिष्ठसि । पुरो न धावसीति देवमहत्तरपरुषतरभारंतीशलाकाना ताडनेन शतमुखान्त पुरादधविधमविलोकनोद्भूताभिलापदहन-जनितसंतोषेन पण्मासावस्थितेरायुषः परियानेन च महदुदपादि दुःख । एवं नरकभवेऽपि इत्यमनतकालमनुभूतस्य मम को विपादो, दुःखोपनिपाते इति न च विपणं त्यजंति तु खानि, स्वकारणायत्तसंनिधानानि तानीति सत्वभावना ॥ यद्यशुभ-शरीरदर्शनाद्रीति सापि नो युक्ता । तानि शरीराणि असकृन्मया गृहीतानि दृष्टानि च । का तत्र परिचितेभ्यो भीतिरिति चित्तस्थिरीक्रिया सत्वभावना ।

इस सत्वभावनाका महात्म्य दो गाथाओंसे आचार्य कहते हैं।—

अर्थ—सत्वभावनाका धारक मुनि मनमें इस प्रकारसे विचार करता है— जब पृथ्वी ही मेरा शरीर थी उस समय मेरेको खोदना, जलाना, हलके द्वारा विदीर्ण करना, कूटना, फोड़ना, पीसना, चूर्ण करना इत्यादि बाधा देकर लोग मुझे सताते थे. अर्थात् पृथ्वीभूमिकवस्थामें मैंने दीर्घकालतक वचनेके द्वारा अवर्णनीय ऐसे दुःख सहे हैं. जब मैंने जलको अपना शरीर बनाया तब सूर्यके प्रचंडकिरणोंसे, अग्नि की ज्वालाओंसे मेरा शरीर अतिशय उष्ण होकर मैं बहुत वेदनायें सही पर्वतकी दरी वगैरे ऊँचे स्थानोंसे अतिवगेसे मेरा पतन नीचे कठिन शिलाओंपर होनेसे मैंने दुःख सहन किया है. खड़ा, लवण, क्षारादि रसयुक्त पदार्थों का मेरे साथ मिश्रण करके जब घग्धगायमान अग्निके उपर मेरेको संतप्त करते थे तब मेरेको असह्य दुःख होता था. वृक्षोंपरसे नीचे शिलाओंपर गिरनेसे, प्रथम देखकर अनंतर पानीमें जिसने प्रवेश किया है ऐसे बड़े हाथीका तीरना, मज्जन करना और शृंढासे जलक्षोभ करना इत्यादि कारणोंसे मेरेको महान् दुःख हुआ था.

जब जलावस्थाका त्यागकर मैंने वायुरूप शरीर धारण किया तब वृक्ष, शृङ्ग, इत्यादिकेसे धक्का पोहोचनेपर मैंने दुःखोंका अनुभव किया है जिनका शरीर अतिशय कठिन है ऐसे प्राणिओंके आघातसे और [मेरेसे भिन्न वायुसे टकरानेपर, मेरा शरीर चूर्ण-विचूर्ण होकर मैं बहुत दुःखोंका स्थान होगया था. अग्निज्वालाओंका जब मेरे शरीर से स्पश हुआ तब तो मेरे प्राणही निकल गये

जब वायुशरीरको छोड़कर अधिको शरीररूपसे ग्रहण किया, तो बहुत बार धूल, भस्म, बालू वगैरह मेरे ऊपर डालकर लोगोंने मेरेको दुःखाया, सुशलके समान जल घाराये पढ़नेपर, दंड काष्ठादिकोंसे ठोककर चूर्ण करनेसे मेरेको बहुत ही कष्टोंसे सामना करना पडा. मातीके डेले और पत्थरोंके आघातसे तथा वायुके जोरदार धक्केसे मैं दुःखविह्वल हुआ था।

जब अग्निका शरीर छोड़कर मैं फल, पुष्प, पत्र, कोयल अंकुर इनको शरीररूपसे धारण किया तब तोड़ना, खाना, मर्दन करना, दाँतोसे चबाना, अग्निपर भुजना इत्यादि प्रकारोंसे मेरेको जनताने दुःख दिया है. जब मैं झाड़, लता, छोटे पेड़ इत्यादिक रूपसे जन्मा तब छेदन करना, भेदन करना, उखाड़ना, तोड़ना एक जग-

हसे उठाकर दुसरे स्थानमें बोना, जलाना इत्यादिकोसे जो दुःख भोगने पड़े उनका वर्णन करना मेरी शक्तिके बाहर है.

जब मैंने कुंशु, धौंटी वगैरे प्राणिओंमें इंद्रिय, त्रिंद्रिय धारक होकर जन्मग्रहण किया तब वेगसे जान-वाले रथके पहियोंके नीचे दबकर प्राणविसर्जन किये है.

गधा, घोड़ा वगैरे प्राणिओंके कठिण सुरोंके ताडनसे, पानीके प्रवाहके वेगसे, जंगलके अग्निसे, वृक्ष पाषाणादिक पदार्थ अंगपर गिरनेसे, मनुष्योंके पैरोसे कुचल जानेसे, बलवान् प्राणिओंका भक्ष्य होनेसे मेरेको दीर्घकाल तक दुःख भोगने पड़े है.

तथा गधा, ऊँट, बैल, वगैरे पंचंद्रिय प्राणिओंका जन्म जब धारण किया था तब मनुष्योंने मेरे ऊपर अधिक बोझा लादकर और स्वयं चढकर बहुत खेदित किया था. दोरीसे बांधना, अधिक कर्कश चाबूक, लाठी, मुगल, इत्यादिकोसे आघात करना, आहार पानी न देना, शीत, उष्ण, वायु इत्यादिकोकी बाधा होना इत्यादि क्रोंके द्वारा मेरेको बहुत क्लेश हुआथा. कान छेदना, जलाना, नाकमें नथनी डालना, विदारण करना, कुल्हाड़ी वगैरह शस्त्रोंसे तक्षिण तरवारसे ग्रहार करना इत्यादिकोसे मनुष्योंने मेरेको अत्यंत दुख दियाथा. जिससे पांव टूटगये है, कुंश होनेसे अथवा रोगपीडित होनेसे जो गिरपड़ा है, इतस्ततः पीडा सहन न होनेसे जो तडफडाने लगा है, अत्यंत क्रूर व्याघ्र, कुत्ते, स्याल वगैरह प्राणिओंका जो भक्ष्य हो रहा है. कौवे, गंधी, बगुला इत्यादि डुट पक्षी जिसकी नोंच नोचकर खा रहे है. जिसको आखे भयके मोरे चंचल हो रही है, ऐसे समयमें कोई भी मेरा रक्षण करनेवाला न था.

अधिक बोझा लादनेसे मेरे पीटपर जखम हो कर वह क्रिमिओंसे भर गईथी उस समय कौवे वगैरे पक्षी आकर जखमका मांस नोचकर खातेथे वह बड़ाही भीषण, दुःखदायक प्रसंग था. कुछ पापोंका उपशम होनेसे मनुष्य होकर मैं जन्मा परंतु इंद्रियोंकी न्यूनता, दारिद्र्य, असाध्य रोग इत्यादिकोसे मैं बहुत दुःखी था. प्रिय पदार्थ न मिलना, अग्रिय शत्रु, विप, कंटकादिकोंका संयोग होना, दूसरोंकी नोकरी करना, शत्रुसे पराभव होना, इत्यादिक दुःखोंसे मैं बहुत ही व्याकुल हो उठता था. घन कमानेकी इच्छासे दुःखदायक कर्मसवके कारण ऐसे अस्ति मयि वगैरह पदकर्मोंमें दिन रीत प्रयत्न करता था तो भी नानाप्रकारकी विषयि आती ही थी.

कुछ शुभोदयसे देवगतीमें मेरा जन्म हुआ. परतु वहां भी, “यहांसे दूर हटो, शीघ्र चले जाव, प्रभुका आनेका समय है, उनके ग्रस्थानकी सूचना देनेवाला नगरा वजाओ. अरे यह ध्वज हाथमें पकड़कर खड़ा हो ” ।

“अरे दीन इन देवांगनाओंका रक्षण कर. स्वामी की अभिलाषा के अनुसार वाहनका रूप धारण कर. विपुल पुण्य रूपी धन जिसके पास है ऐसे इंद्रका तू दास है क्या तू यह भूल गया है? क्यों व्यर्थ खड़ा हुआ है? इंद्रके आगे क्यों भागता नहीं ” ऐसे अधिकारी देवोंके कठोर वचन सुनकर वह बहुत खेदयुक्त होता है इंद्रकी अप्सराओंका हावभाव देखकर ऐसी देवांगनायें मेरेको कब मिलेंगी यह अभिलाषा मनमें होकर मैंने देवपर्यायमें भी बहुत दुःखोंका अनुभवन किया है. इसी तरह अनंत काल दुःखानुभव करने में मेरा चला गया है अतः इस समय परीपह उपसर्गोदि दुःख आपढ़ने पर विपाद करनेसे कुछ भी फायदा नहीं है. खिन्न हुये पुरुषको क्या दुःख छोड़ देता है? नह तो अपने कारणसे उत्पन्न होता है ऐसा विचार कर सत्त्वभावनासे दुःखोंका हमला सहन करना चाहिये. यदि अशुभ, जगुप्सा उत्पन्न करनेवाले शरीरको देखकर भय उत्पन्न होता है ऐसा कहना भी युक्त नहीं है. क्यों कि खुद मैंने अशुभ शरीर असंख्यात बार ग्रहण किये हैं. और देखे हैं वे सब शरीर मेरे परिचयके हैं. परिचितोंसे भय ही कैसा उत्पन्न होगा ऐसा विचार कर मनको स्थिर करना चाहिये. मनको स्थिर करना यही सत्त्वभावना है.

जिसने बहुत बार युद्धका अभ्यास किया है. ऐसा वीरपुरुष युद्धमें मोहयुक्त नहीं होता है अर्थात् धैर्य धारण करता है वैसे सत्त्वभावनाका आश्रय लेकर मुनि भी उपसर्ग आनेपर मोहयुक्त होते नहीं मत्सुत वे धैर्य धारण कर उपसर्ग सहन करते हैं

एयत्तभाषणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा ॥

सज्जइ वेरगमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं ॥ २०० ॥

कामे भोगे गणे देहे विवृद्धैकत्वभावनं ॥

करोति निःस्पृहीभूय साधुर्वर्ममनुत्तरम् ॥ १९८ ॥

जन्म, वरा मरण कपरे दुःखोंका मैं अनंत कालते उपयोग ले रहा हूं, परंतु मेरे दुःखका कोई भी विभाग करता नहीं, मैं लकेला ही खन्मादि दुःखोंका अनुभव ले रहा हूं, जो अपने दुःखोंका विभाग करता है वह स्वयं है ऐसा समझकर मनुष्य उसकी स्वयं मानने लगता है, जो दुःखोंको हलके नहीं करता है, वह परचन है ऐसा समझता है, परंतु मैंने सुल उत्पन्न करनेवाले सावा वेदनीय कमका उदय यदि नहीं है तो दुर्जर मेरेको कदापि दुल्लो नहीं कर सकते हैं, यदि नावा वेदनीय कर्मका उदय हो तो मनु दुःखदायक न होकर सुखदायकी होगा अतः ये स्वयं है और ये परचन है

ऐसा विभाग करना व्यर्थ है. इस लिये मैं एकही हूं मेरा कोईभी संबंधी नहीं है. मैं भी किसीका नहीं हूं ऐसा विचार करना चाहिये. इस एकत्व भावनाका यह गुण है—

एकत्वभावनाका अभ्यास करनेसे मुनि कामभोगमें, शिष्यादिवगुरूप गणमें, और सुखमें आसक्ति नहीं करता है. स्वेच्छासे जिन पदार्थोंका उपभोग ले सकते हैं ऐसे पदार्थोंको कामभोग कहते हैं. जैसे आहारके और पनिके पदार्थ, स्त्री वगैरह पदार्थ इनमें ये सुखदायक हैं ऐसा संकल्प लोग करते हैं परंतु मुनि एकत्वभावनाका अभ्यास करता है अतः वह राग नहीं करता है. बाह्य द्रव्योंका संबंध होनेसे जो मनमें आल्हाद होता है उसको सुख कहते हैं. परंतु ये बाह्य पदार्थ लोभको ही उत्तरोत्तर वृद्धिगत करते हैं. लोभसे मन बहुत व्याकुल होता है. ये भोगके पदार्थ मनमें स्वास्थ्य उत्पन्न करने में असमर्थ हैं, इसलिये ये पदार्थ-कामभोग भोगने योग्य नहीं है. रत्नत्रय संपत्ति ही लोकके लिये उपयोगी है. इस भोगसंपत्तिसे हमारा कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होता नहीं है.

मेरे परिणामोंसेही मेरेको शुभाशुभ कर्मबंध होता है गण उसमें कारण नहीं है अतः उससे मेरा न कुछ विघटता है न सुधरता है.

शरीर भी अकिंचित्कर है वह खुद कुछ भी कर नहीं सकता. कर्मके आश्रयसे वह कार्यकारी दीखता है. बाह्य जीव और अजीव पदार्थ ये उपकार करते हैं, तथा अनुपकार करते हैं ऐसा उनमें संकल्प होनेसे रागद्वेषके क्रमसे निमित्त बनते हैं. अन्यथा नहीं. अतः यह संकल्पही हृदयमेंसे निकालना चाहिये शुद्ध आत्माका स्वरूप जाननेमें सतत प्रयत्न करना चाहिये. मेरा आत्मस्वरूप असहाय है ऐसा विचार करना चाहिये इसको एकत्व भावना कहते हैं. इस भावनाके माहात्म्यसे मुनि किसीमें भी आसक्त नहीं होते हैं. वैराग्य बढ़नेसे वे उत्कृष्ट चारित्रिका आश्रय करते हैं. इस वैराग्यसे संसारको वीजभूत जो परिग्रह उसका संपूर्ण त्याग होता है. व संपूर्ण कर्मोंका नाश करनेमें हेतुभूत चारित्रिकी प्राप्ति होती है. यह सब एकत्वभावनाका ही गुण है. यह एकत्वभावना अज्ञानरूप मोहको दूर करती है इसके प्रभावसे जिनकल्पी मुनि मोहरहित हुये हैं.

भयणीए विधमिज्जतीए एयत्तभावणाए जहा ।

जिणकप्पिदो ण मूढो खवओ वि ण मुज्झइ तथेव ॥ २०१ ॥



स्वसुर्विधमतां हृष्ट्वा जिनकल्पीव संयतः ॥

एकत्वभावनाभ्यासो न सुह्यति कदाचन ॥ १९९ ॥

इति एकत्वं ।

विजयोदया—यथा जिनकल्पिको जिनकल्पकं प्रपन्नो नागदत्तो नाम मुनिर्भगिन्यामयोग्यं कारयत्यामपि एकत्व-  
भावनया । न मूढो मोह न गतः । तथैव क्षपकोऽपि न सुह्यतीति गाथार्थः । एकत्वभावना ॥

मूलारा—विधस्मिज्जंतीए विडंब्यमानाया । जिणकप्पिओ जिनकल्पमाचरणविशेषं । प्रतिपन्नो नागदत्तो  
नाम मुनिः ॥

अर्थ—जिनकल्प अवस्थाको प्राप्त हुने नागदत्त नामक मुनि अयोग्य कार्यं करोनेवली अपनी चहिनपर  
मोहयुक्त नहीं हुये क्षपक मुनि भी एकत्वभावनाको बलसे मोहयुक्त नहीं होते हे ऐसा गाथार्थ है, एकत्वभावना  
समाप्त हुई,

पंचमी धृतियलभावना दु खोपनिपात अकारतरता धृति सैव बल धृतियलं तस्य भावनाभ्यास असकृद-  
कातरतया वृत्ति । तथा धृतियलभावनया दु खदपरीपहचम्बा ॥ शुध्यतीति निगदति ।—

कसिणा परीसहचमू अब्भुइ जइ वि सोवसग्गावि ॥

दुद्धरपहकरवेगा भयजणणी अप्पसत्ताणं ॥ २०२ ॥

उपसर्गमहायोधां परीपहचमूं परां ॥

कुर्वाणामल्पसत्त्वानां दुर्निवारया भयम् ॥ २०० ॥

विजयोदया—कसिणा कृत्स्ना । परीसहचमू परीपहसेना शुद्धादिद्विविधातिदुःखपृत्तेति यावत् । अब्भुइ  
आभिमुल्येनोत्तिष्ठति । जइवि यद्यपि सोवसग्गा वि चतुर्विधे उपसर्गण सह वर्तमानापि । दुद्धरपहकरवेगा दुर्धरसकटेवगा  
अल्पसत्ताणं भयजणणी अल्पसत्त्वानां भयजननी ।

मूलारा—कसिणा सर्वा । एकोनविंशतिभयव्यूहरूपि (पीष्टे) अब्भुइवि अभिमुल्यमुत्तिष्ठते । दुद्धरपहकरवेगा  
अजय्यसमर्थभयजकप्रवृत्तिभवा । अथवा दुर्धरो दुःखद स चासौ पंथाश्च दुष्करो वेगो यस्याः । पयकर मंकट इति  
टीकाया । अल्पसत्ताण अल्पसत्त्वानां भीरुणा ॥

पांचवी धृतिबलभावना है. दुःख आनेपर भी निर्भय रहना ही धैर्यका लक्षण है. इस धैर्यबलकी भावना करना अर्थात् अभ्यास करना यह धृतिबलभावनाका स्वरूप है. इस भावनाके बलसे मुनीश्वर दुःखद परीपहरूप सेनासे युद्ध करते हैं ऐसा वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—चार प्रकारके उपसर्गोंके साथ भूक, तहान, शीत उष्ण वगैरह चावीस प्रकारके दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली परीपहरूपी सेना, दुर्धर संकटरूपी वेगसे युक्त होकर जब मुनीश्वर आक्रमण करती है तब अल्पशक्तिके धारक जीवोंको बंहुत मय उत्पन्न होता है.

धिदिधिणिदवद्धकच्छो जोधेइ अणाइलो तमच्चाई ॥

धिदिभावणाए सूरु संपुणमणोरहो होई ॥ २०३ ॥

धीरतासेनया धीरो विवेकशरजालया ॥

जायते योधयन्नाशु साधुः पूर्णमनोरथः ॥ २०१ ॥

इति धृतिस्तुत्रम् ।

विजयोद्या—तं ता पृतना । जोधेइ योधयति । क्या सद्ध ? धिदिभावणाए धृतिभावनया । क ? विदिधिणिदवद्धकच्छो धृत्या नितरा वद्धकक्षः । सूरु सर । अणाइलो अनाकुलो विक्रमवान् । फलमाचष्टे तस्य । संपुणमणोरहो होइ । संपूर्णमनोरथो भवति ॥

मूलारा—धिदिधिणिदवद्धकच्छो धृतिः परमप्रसति सेवात्यर्थे वद्धा कक्षा परिवष्टनं येन । जोधेइ चोधयति । अणाइलो अनाकुल । तं ता परीपहरूपम् । अवधिदो अवाधितः निर्भरोऽक्षोभो वा । धिदिभावणाए धृतिभावनया सद्ध अथवा धृतिभावनया कर्तृभूतया ता घातयति योधयतीति व्याख्येयम् ।

अर्थ—धैर्यरूपी ऊपरका परिधान करनेका वस्त्र जिसने दृढ बांधा है ऐसा पराक्रमी शूर मुनि धृतिभावनाको हृदयमें धारण कर सफल मनोरथ होता है

एयाए भावणाए चिरकालं हि विहरेज्ज सुद्धाए ॥

काज्जण अत्तसुद्धिं दंसणणाणे चरित्ते य ॥ २०४ ॥

विधाय विधिना दृष्टिज्ञानचारित्रशोधनम् ॥

चिरं विहरतां पश्यन्त्या यतिभावनयानया ॥ २०२ ॥

इति भावनासूत्रम् ।

विजयोदया-एयाए भावणाए एतया पंचप्रकारस्या भावनया सह । चिरकालं विहरेज्ज चिरं प्रयतेत । सुद्धाण शुद्धया । काज्जण कृत्वा । अत्तसोधि आत्मशुद्धि । दंसणणाणे चरित्ते य रत्नत्रये निरतिचरो भूत्वा । एतस्यां पंचविधया असंछिष्टभावनायां क्षपक प्रवर्ततामिति शिक्षा प्रयच्छति —

मूलरा—विहरेज्ज प्रवर्तते । अत्तसुद्धि आत्मशुद्धि । भावना । सूत्रतः १०। अंकतः २५ ॥

अर्थ—इन पांच प्रकारकी शुद्ध भावनायें चिरकाल तक मनमें धारण कर मुनिराज अपने आत्माकी

शुद्धि करते हैं और समयदर्शन, ज्ञान और चारित्र्यमें निरतिचार प्रवृत्ति करते हैं.

व्यावर्णितभावनानंतरं सल्लेखनेत्यधिकारसंवधमाचष्टे—

एवं भावेमाणो भिक्खू सल्लेहणं उवक्कमइ ॥

णाणाविहेण तवसा बज्जेणब्भंतरेण तथा ॥ २०५ ॥

साधुः सल्लेखनां कर्तुमित्थं भावितमानसः ॥

तपसा यतते सम्यक् बाह्येनाभ्यंतरेण च ॥ २०३ ॥

विजयोदया—एव भावेमाणो इति एवं उक्तेन प्रकारेण भावनापर । भिक्खू सल्लेहणं सल्लेखनां तनूकरणं । उवक्कमइ प्रारभते । केन णाणाविहेण नानाप्रकरणेण । तवसा बज्जेणब्भंतरेण तथा बाह्याभ्यंतरेण तपसा च । अर्थविविधभावनापरस्य मुमुक्षोः सल्लेखना गाथावटपूज्या व्याख्यालुकाः पूर्वं तदुपक्रमोपायमुद्दिशति—

मूलारा—भावेमाणो भावयमान् । असंक्लिष्टभावना पुनः पुनः प्रवर्तयन्नित्यर्थः । उवक्कमदि प्रारभते ।

भावनाओंका वर्णन करनेपर सहेखनाधिकारका संबंध दिखाते हैं.

अर्थ—इस प्रकार पांच प्रकारकी असंक्लिष्ट भावनाओंका अभ्यास करनेवाले मुनि बाह्य अभ्यंतर चारा प्रकारके तपके द्वारा सहेखना को प्रारंभ करते हैं

भेदमकृत्वा व्यावर्णयितु अशक्या सहेखनेति भेदमाचष्टे—

सहेहणा य दुविहा अभंतरीया य बाहिरा चैव ॥

अभंतंरा कसायेसु बाहिरा होदि हु सरीरे ॥ २०६ ॥

सहेखना द्विधा साधोंतरानंतरेष्यते ॥

तत्रांतरा कषापयथा द्वितीया कायगोचरा ॥ २०४ ॥

विजयोदया—सहेहणा य दुविहा सहेखना च द्विप्रकारा । अभंतरीया य बाहिरा चैव अभ्यंतरा बाह्या चेति । अभंतरा कसायेसु अभ्यंतरा सहेखना क्रोधादिकषायविषया । बाहिरा होदि हु सरीरे । बाह्या भवति सहेखना शरीर-विषया ॥

सहेखना द्वैविध्येनाभिधत्ते—

बाह्यसहेखना गाथापंचशता प्रपंचयिष्यन्सामान्यतस्तदुपायं निर्दिशति—

मूलारा—स्पष्टम् ।

भेदके विना सहेखनाका वर्णन करना शक्य नहीं है इसलिये भेद बताते हैं.—

अर्थ—सहेखनाके अभ्यंतर सहेखना व बाह्य सहेखना ऐसे दो भेद हैं. क्रोधादि कषायोंको कृश, कृश

तर, कृशतम करना यह कषायसंश्लेषना है. इसको अभ्यंतर संश्लेषना भी कहते हैं. और शरीर उत्तरोत्तर कृश करते जाना उसको शरीरसंश्लेषना कहते हैं इसीको बाह्य संश्लेषना यह भी नाम है.

बाह्यसंश्लेषनानिरूपणार्थं उत्तरप्रबंध —

सव्ये रसे पणीदे णिज्जुहिता दु पत्तलुक्खेण ॥

अण्णदरेणुवधाणेण सद्धिहइ य अप्पयं कमसो ॥ २०७ ॥

विजयोदया—सव्ये रसे सर्वान्तरसान् । प्रकर्णे नीताः प्रणीता तान् अतिशयवत् इत्यर्थः । णिज्जुहिता त्वम् । अण्णदरेणुवधाणेण । अन्यतरेणावग्रहेण । अपर्णं आत्मानं शरीरं । कमसो क्रमशः । सद्धिहइ ननूरोति ।

मूलारा—पणीदे प्रकर्णे नीताः प्रणीताः तानतिशयवत् इन्द्रियमलवर्द्धनानित्यर्थः । णिज्जुहिता त्वम् । पत्तलुक्खेण प्राप्तकृदाहारेण । उवधाणेण अवग्रहविशेषेण । सद्धिहइ कृशीकरोति । अप्पयं स्वशरीरम् ।

अत्र बाह्य संश्लेषनाका यहाँसे विस्तृत वर्णन करते हैं—

अर्थ—इन्द्रियोंका बल बढ़ानेवाले संपूर्ण रसोंका त्याग करके और विशिष्ट नियम ग्रहण करके प्राप्त हुए रुक्षभोजनके द्वारा अपना शरीर क्षपक क्रमशः क्षीण करता है.

बाह्य तपो व्याचष्टे—

अणसण अवमोयरियं चाओ य रसाण वुत्तिपरिसंखा ॥

कायकिलेसो संज्जा य त्रिवित्ता वाहिरतवो सो ॥ २०८ ॥

असुत्तिरवमोदयं वुत्तिसंख्या रसोज्झनम् ॥

कायक्वलेशो विवित्ता च शय्या पोढा वड्ढिस्तपः ॥ २०९ ॥

विजयोदया—अणसण अनशनं । अवमोदयं अवमोदयं च । चाओ य रसाणं त्यागो रसानां । वुत्तिपरिसंखा वृत्तिपरिसंख्या । कायकिलेसो कायक्लेशः । संज्जा विवित्ता विविक्तशय्या । वाहिरतवो सो बाह्य तपस्तत् ।

वाहसस्त्रेखनोपायभूतं षोढा वाहसतो व्याख्यातुमाह—

मूलारा—ऊमोयरिय अवमोदर्यं । वृत्तिपरिसंखा धृतेराहारस्य परिमंख्यानं । विचिता शुद्धा । प्रासुकिविजन-

देशविषयेत्यर्थः । सो तत् प्रसिद्धं सल्लेखनोपायभूतम् ।

अर्थ—अनशन, अवमोदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपीरसंख्या, कायक्लेश और विविक्तशय्या ऐसे ब्राह्मतपके छह भेद हैं.

तत्र अनशनतपोभेदनिरूपणार्थं गाथा—

अद्धाणसणं सव्वाणसणं दुविह तु अणसणं भणियं ॥  
विहरंतस्स य अद्धाणसणं इदरं च चरिंते ॥ २०९ ॥  
सार्वाकालिकमन्यच द्वेधानशनमीरितम् ॥  
प्रथमं मृत्युकालेऽन्यद्वर्त्तमानस्य कथ्यते ॥ २०६ ॥

विजयोदया—अद्धाणसणं अद्धाशब्द कालसामान्यवचनोऽन्यत्रेह चतुर्थोद्विपणमासपर्यन्तो गृह्यते । तत्र यद्वन-  
शनं तदद्धाशनं सर्वानशन चेति । दुविधमणसणं तु शब्दोऽवधारणार्थं द्विप्रकारमेवानशनं । सर्वशब्द प्रकारकात्स्न्यं  
वर्तते । यथा सर्वमशं भुंक्ते । परित्यागोत्तरकालो जीवितस्य य सर्वकाल तस्मिन्नशनं अनशनत्याग सर्वानशनं । कदा  
तदुभयमित्यत्र कालविवेकमाह—विहरंतस्स य ग्रहणप्रतिसेवनकालोर्वर्तमानस्य अद्धाशनं । इतरं च इतरत् सर्वानशन ।  
चरिंते परिणामकालस्यान्ते ।

अनशनाख्यतपोभेदनिरूपणार्थं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—अद्धाणसणं अद्धाशब्दः कालसामान्यवचनोऽन्यत्रेह चतुर्थोद्विपणमासपर्यन्तो गृह्यते । तत्राहारत्यागो-  
ऽद्धाशन कालसंख्ययोपवास इत्यर्थः । सव्वाणसणं । सर्वसिन्संन्यासोत्तरकाले अनशनं अशनत्यागः । विहरंतस्स ग्रहण-  
प्रतिसेवनकालोर्वर्तमानस्य । चरियंते परिणामकालस्यान्ते मरणसमये इत्यर्थः ।

अर्थ—अद्धाशन और सर्वानशन ऐसे अनशन तपके दो भेद हैं अद्धाशब्द अन्यत्र कालवाचक है परतु  
यहां चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम ऐसे भेदोंको लेकर पणमास पर्यंत जितने अनशन तपके भेद होते हैं उन सबको अद्धाशन  
कहते हैं धारणा पारणासहित-उपवासको चतुर्थ कहते हैं अथवा उपवास यह भी संज्ञा है. दो उपवासोंको षष्ठ कहते

हैं, तीन उपवासोंको अष्टम कहते हैं, चार उपवासोंको दशम कहते हैं, ऐसे ही आगे भी समझना. संन्यास लेनेपर या-वज्जीव चारों आहारोंका त्याग करना यह सर्वानशन है ग्रहण और प्रतिसेवना कालमें अद्धानशन तप मुनि करते हैं और मरणसमयमें-संन्यास कालमें सर्वानशन तप करते हैं, दीक्षाग्रहण कर जबतक संन्यास ग्रहण किया नहीं तबतक ग्रहणकाल माना जाता है, तथा व्रतादिकोंमें अतिचार लगनेपर जो प्रायश्चित्तसे शुद्धि करनेके लिये कुछ दिन अनशनादि तप करना पड़ता है उसको प्रतिसेवना काल कहते हैं.

अद्धानशनविकल्पं प्रतिपादयति—

होइ चउत्थं छट्टमाइ छम्मासखवणपरियंतो ॥

अद्धानसणविभागो एसो इच्छाणुपुब्बीए ॥ २१० ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचषट्सप्ताष्टनवादयः ॥

उपवासा जिनैस्तत्र षण्मासावधयो मत्ताः ॥ २०७ ॥

बहुदोषाकरे ग्रामे प्रवेशो विनिवारितः ॥

संयमो वर्द्धितः पूतः कुर्वतानशनं तपः ॥ २०८ ॥

विजयोदया—अद्धानसणविभागो होइ इति पदघटना । अद्धानशनविभागो भवति । चउत्थं छट्टमाइं छम्मास-खमणपरियंतो चतुर्थपञ्चाष्टमादिषण्मासक्षपणपर्यन्तः । इच्छाणुपुब्बीए आत्मेच्छाव्रतेन । अद्धानशनविकल्प वक्तिः—

मूलारा—छम्मासखमण षण्मासोपवासाः । इच्छाणुपुब्बीए आत्मेच्छाक्रमेण ।

अर्थ—चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम वगैरह उपवासों से छह महिनो तक के उपवासों को अद्धानशनतपके भेदोंमें परिगणित करना चाहिये. ये उपवास मुनिराज अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं.

१ आत्मेच्छाक्रमेण इति खपुस्तके पाठः ।

अवमोदरियं निरूपयितुकाम' आहारपरिमाणं प्रायोवृत्त्या प्रवृत्तं दर्शयति—

बत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होइ ॥

पुरिसरस महिलियाए अट्टावीसं हवे कवला ॥ २११ ॥

आहारस्तुभ्ये पुंसां द्वात्रिंशत्कवला जिनैः ॥

अष्टाविंशतिराविष्टा योपितः प्रकृतिस्थितः ॥ २०९ ॥

विजयोदया—यत्तीस किर कवला पुरुषस्य कुक्षिपूरणो भवत्याहारः । द्वात्रिंशत्कवलमात्रः । इच्छित्वाए खिया कुक्षिपूरणो भवत्याहारः अष्टाविंशतिकवलजातानि । ततो तस्मादाहारात् । ततो ।

अवमोदर्यं गायान्द्वयेन विवञ्जुराहारप्रमाणं प्रायोवृत्त्या प्रवृत्तं प्रदर्शयति

मूलारा—किर किल । उक्तं च—

ग्रासोऽथाचि सहस्रतंदुलभितो द्वात्रिंशदेतेऽज्ञानम् ।

पुंसो वैश्वसिक स्त्रिया विचचुरास्तच्छानिरोचित्यतः ।

ग्रासं यावदथैकसिक्थमवमोदर्यं तपस्तच्चरे—

द्धर्मावश्यकयोगाधुसमतानिद्राजयाद्यासये ॥

अवमोदर्यं तपका निरूपण करनेके पूर्व आहारका प्रमाण बहुशः किस प्रकार रहता है यह दिखाते हैं—

अर्थ—पुरुषके आहारका प्रमाण बत्तीस ग्रास है इतने ग्राससे पुरुषका पेट पूर्ण भरता है स्त्रियोंके आहार

का प्रमाण अट्टाईस घास है

एगुत्तरसेटीए जावय कवलो वि होदि परिहीणो ॥

ऊमोदरियतवो सो अद्धकवलमेव सिच्छं च ॥ २१२ ॥

तस्मादेकोत्तरश्रेण्या कवलः शिष्यते परः ॥

मुच्यते यत्र तदिदमवमोदर्यमुच्यते ॥ २१० ॥



निद्राजयः समाधानं स्वाध्यायः संयमः परः ॥

हृषीकनिर्जयः साधोरवमोदर्यतो गुणाः ॥ २११ ॥

विजयोदया—एतत्तरसेहीए एककचलोत्तरथेपणा परिहीणो परिहीन । ऊमोदरियतवो अवमोदर्याख्यं तपः-  
क्रिया यावदेकसिक्थकं वा अवशिष्ट । आहारस्याल्पतोपलक्षणमिदं अन्यथा कथमेकसिक्थकमात्रभोजनोद्यतो भवेत् । ननु  
चाहारा न्यून कथं तप इत्युच्यते इति । केचित्कथयति आधूनतापरिहारस्य तपसो हेतुत्वात्तप इत्युच्यते । अवमोयरिय ॥

मूलारा—ततो इत्यादि—तस्मात्पुंस्त्रीभोजनादेकद्वयादिहानिक्रमेण यावदेकग्रासपरिहीन आहारोऽवमोदर्यं  
तप स्यात् । एयसिच्छ आहारस्याल्पतोपलक्षणमिदं अन्यथा कथमेकसिक्थकमात्रभोजनोद्यतो भवेत् । आधूनतापरिहारस्य  
तपोहेतुत्वात् एतत्तप इत्युच्यते । एतद्गुणा यथा—

निद्राजयः समाधानं स्वाध्यायः संयमः परः ॥

हृषीकनिर्जयः साधोरवमोदर्यतो गुणाः ॥

अर्थ—स्त्री और पुरुषोंका जो ग्रासका परिमाण अट्ठाईस और बत्तीस ग्रास कहा है उसमें एक ग्रास अव-  
शिष्ट रहने तक जो कम करते जाना वह सब अवमोदर्य तपही है, एक ग्रासमेंसे भी समान विभक्त किये हुये अर्द्ध  
ग्रासतक भी इस तपके भेद होते हैं, और अर्द्धग्राससे कम करते करते एक सिक्थयतक भेद होते हैं, एक कवलसे  
लेकर एक सिक्थतक जो भेद बताये हैं वे अल्पाहारका केवल उपलक्षण है क्योंकि केवल एक सिक्थ खानेके लिये  
कोन उद्युक्त होगा, शंका-न्यून आहार करना यह तप कैसा समझा जावेगा, इसका उत्तर यह है कि अभिलाषसे  
बहुत अन्न खानेका त्याग इस तपमें होता है अतः इसको तप कहते हैं,

रसपरित्यागो निरूप्यते—

चत्तारि महावियडीओ होति णवणीदमज्जमंसमहु ॥

कंखापसंगदप्पाऽसंजमकारीओ एदाओ ॥ २१३ ॥

चतस्रो शुब्धुतासक्तिदर्पासंयमकारिणीः ॥

नवनीतसुरामंसमध्वाख्या विवृतीविदुः ॥ २१२ ॥

विजयोदया—चत्वारि महावियडीयो चतस्रो महाविष्णुतय । महत्याश्चेतसो विष्णुतेः कारणत्वात् महाविष्णुतय इत्युच्यते । होति भवति । णवणीवमज्जमंसमहं नवनीत, मद्यं, मास, मधु च । कीदृश्यस्ता ? कंक्षापसंगदग्गासजमकारीओ पदावो । काक्षा गाढ्यर्थं, प्रसंग पुनःपुनस्तत्र वृत्तिः, द्योः दृष्टेन्द्रियता, असंयम. रसविषयातुरागात्मक. इंद्रियासंयमः, रसजजतुपीडा प्राणासंयमः, एतान्दोयानिमा. कुर्वन्ति ।

रसपरित्याग गाथापंचकेनाविख्यासुर्नवनीतादित्यागोऽपि रसपरित्यागाख्य तप इति गाथाद्वयेन तमेव तावद-

न्वाचष्टे—

मूला—महावियडीओ महत्याश्चेतसो विष्णुतेः कारणत्वान्महाविष्णुतयश्चित्तविकारकारिरसो इत्यर्थः । अत्र नवनीतं काक्षाकारि गाढ्यर्थकं, मद्यं प्रसंगं पुनः पुनः अगम्यगमनाविर्कं वा करोतीति प्रसंगकारि । मांसमिन्द्रियदर्पकरं । मधुरसविषयातुरागात्मकमिन्द्रियासंयमरसजजंतुपीडात्मकप्राण्यसंयमं च करोतीत्यसंयमकरं, चत्वार्यपि वा प्राणिपीडा कारीणी । वृत्तम् ।

काक्षाकृन्नवनीतमक्षमदस्तुण्मांसं प्रसंगप्रदं ।

मद्यं शौद्रमसंयमार्यसुदितं यद्यच्च चत्वार्यपि ॥

सम्भूच्छौलसवर्णजंतुनिचिवान्युच्चैर्मनोविक्रिया— ।

हेतुत्वादपि यन्महाविष्णुतयस्त्यज्यान्यतो वार्तिकैः ॥

रसपरित्याग तपकां निरूपण करते हैं—

अर्थ—मक्खन, मदिरा, मांस और शहद ये चार पदार्थ महाविष्णुति-अर्थात् अंतःकरणमें विकार उत्पन्न होने के लिये कारण हैं, ये चार पदार्थ कांक्षा-वार चार अभिलाष उत्पन्न करते हैं, इंद्रियोंको उन्मत्त करते हैं, असंयमको उत्पन्न करते हैं, इतने दोष इनके सेवनसे होते हैं, असंयमके दो भेद हैं इन्द्रियासंयम और प्राणासंयम. स्वादमें अतुराग उत्पन्न होना यह इंद्रियासंयम है, और मधादिकोंके रसमें उत्पन्न हुये प्राणिओंका भक्षण करते समय घात होना यह प्राणासंयम है.

आणामिकांक्षिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण ॥

तावो जावज्जीवं णिज्जूढाओ पुरा चेव ॥ २१४ ॥

महाविकारकारिण्यो भव्येन भवभीरुणा ॥

जिनाल्लकांक्षिणा त्याज्या यावज्जीवं पुरैव ताः ॥ २१३ ॥

विजयोदया—आणामिकांक्षिणा अत्रैवं पदघटना-त्ताओ ता महाविकृतयः । जावज्जीवं जीवितावधिकं । णिज्जूढाओ परित्यक्ताः । पुरा चेव सहेखनाकालात्पूर्वमेव । केन परित्यक्ता ? आणामिकांक्षिणा-इदमित्थं त्वया कर्तव्यमिति कथनं आह्वा । सर्वविदा आह्वता भव्याः परित्याज्या नवनीतादयः । तदासेवा असंयमः कर्मबंधहेतुरिति । अस्यामाक्षया कांक्षावता आदरवता सर्वज्ञाऽस्यदनेदिव दुरतससारमध्यपतनं ममासीद्भविष्यति च तेन तदाज्ञादर कार्ये इत्यभ्युद्यतेन । अवज्जभीरुणा अवद्यं पापं तेन । अयमर्थं पापमीरुणा । तवसमाधिकामेण तपस्येकाग्रतामभिलपता । अतो नवनीतत्यागोऽपि रसत्याग एव ।

मूलारा—आणामिकांक्षिणा नवनीताद्युपयोगो द्रव्यभावहिंसाश्रयत्वात् कर्मबंधहेतुरिति नासौ कर्तव्य इति सर्वज्ञवचस्यादरवता । तवसमाधिकामेण तपस्येकाग्रतामिच्छता । णिज्जूढाओ परित्यक्ताः । पुरा चेव सहेखनाकालात्पूर्वमेव । इसलिये—

अर्थ—श्रीजिनेश्वरने नवनीत, मद्य, मांस और मधु त्यागो ऐसी भव्योंको आज्ञा दी है, अतः आज्ञा पालनकी इच्छा रखनेवाले भव्य जीव सहेखना कालके पूर्व कालमेंही इनका त्याग करते हैं, इनका सेवन करनेसे संयम नष्ट होकर कर्मबंध करनेवाला असंयम उत्पन्न होता है, यदि मैं जिनेश्वरकी आज्ञाका आदर न करूं तो जैसा आजतक संसारमें मैंने भ्रमण किया है ऐसा आगेभी मेरको भ्रमण करना पड़ेगा, ऐसा विचार कर जिनेश्वरकी आज्ञाका आदर करना चाहिये, जिसको पापसे भय लगता है, जो तपमें एकाग्रताकी इच्छा करता है ऐसा मुनि इन पदार्थोंको त्यागे नवनीतका त्याग करना भी रसत्याग नामक तप है,

इदं तु सहेखनाकाले ममैषा त्यागो रसत्यागो गृहीत इत्याचष्टे—

खीरदधिसापितेहं गुहाण पचेगदो व सव्वेसिं ॥

णिज्जूहूणमोगाहिम पणकुसणलोणमादीणं ॥ २१५ ॥

गुडतैलदधिक्षीरसर्पिणां वर्जने सति ॥

देशतः सर्वतो ज्ञेयं तपः साधो रसोज्जनम् ॥ २१४ ॥

विजयोदया—क्षीरदधिसम्पितेऽगुडण क्षीरस्य, दध्न, धृतस्य, तैलस्य, गुडस्य, च निज्जह्ण त्यागः । कथं पतेश्चो व प्रत्येकं एकैकस्य या त्याग । सर्वेसि सर्वेषां वा क्षीरादीनां त्यागः । रसपरित्यागः । ओगाहिम पणकुसण लोणमादीनां अपूपानां, पत्रशाकानां, सूपस्य, लवणादीनां वा त्यागो रसपरित्यागः ॥

इह सहेखनाकाले क्षीरादीनामेव त्यागो रसत्यागो शुद्धीतस्तमेवाचष्टे—

मूलारा—एतेगदो एकैकस्यैव । चात्रानुक्तसमुच्चये । तेन यथायोग्यं द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वेति आहं । निज्जह्णं त्यागः । ओगाहिमा वृत्तपूरादि । पण पूर्ण पत्रशाकादि । कुशण सूपः ।

सहेखना कालमे क्षीरादिका त्याग करना रसत्याग है. आचार्य उसका वर्णन करते हैं—

अर्थ—दूध, दही, घी, तेल, गुड इन सब रसोंका त्याग करना अथवा एक एक रसका त्याग करना यह रसपरित्याग नामका तप है. अथवा पूष, पत्रशाक, दाल, नमक, वंगेरह पदार्थोंका त्याग करना यह भी रसपरित्याग नामका तप है.

अरसं च अण्वेलाकदं च सुद्धोदणं च लुक्खं च ॥

आयंबिलमायामोदणं च विगडोदणं चैव ॥ २१६ ॥

अशनं नीरसं शुद्धं शुष्कमस्वादु शीतलम् ॥

सुंजते समभावेन साधवो निज्जितेन्द्रिया. ॥ २१५ ॥

विजयोदया—अरस च स्वादुरहितं । अण्वेलाकदं च वेलातरकृतं च शीतलमिति यावत् । सुद्धोदणं च लुक्खं च शुद्धौदनं च केनचिदप्यभिन्नं । लुक्खं च रूक्षं च क्षिण्यताप्रतिपक्षभूतेन स्पर्शेन विशिष्टमिति यावत् । आयंबिलं असंस्कृतसौवीरमित्र । आयामोदणं अम्रदुरजलं सिक्थाढ्यमिति केचिद्वदन्ति । अवसावणसहितमित्यन्ये । विगडोदणं अतीव तीव्रपकं । उण्णोदकसम्मिश्रं इत्यपरे ।

मूलारा—अरसं स्वादुरहित । अण्वेलाकदं भोजनवेलाया अन्यस्या वेलाया साधितं शीतलमिति यावत् ।

सुदोदणं केवलभक्तं । आयविल असंस्कृतकालिकमिश्रभक्तं । आयाभोदणं मंडोदनं स्तोत्रजलनिकषायं वा । विगडोदणं अवपक वण्णोदककूरं वा ।

अर्थ—अरस अर्थात् स्वादुरहित पदार्थ, भोजन समयको छोडकर अन्यसमयमें पकाया हुआ अर्थात् भोजनके समयमें जो ठंडा हुआ है ऐसा पदार्थ, जिसमें घी वगैरह नहीं मिलायें हैं ऐसा भात, जिसका रूख स्पर्श है ऐसा अन्न, जैसे रोटी वगैरे रूखा पदार्थ, असंस्कृत कांजीसे मिश्र ऐसा भात, आयाभोदण—जिसमें थोडा पानी है और सिक्क जादे है ऐसा भात, बहुत पका हुआ भात अथवा गरम जल जिसमें मिला हुआ है ऐसा भात खाना चाहिये

इच्चैवमादि विविहो णायव्वो हवदि रसपरिच्चाओ ॥

एस तवो भजिदव्वो विससदो सद्धिहंतेण ॥ २१७ ॥

येऽन्येऽपि केचनाद्वारा वृज्या विकृत्तिकारिणः ॥

ते सर्वे शक्तितस्याज्या योगिना रसवर्जिना ॥ २१६ ॥

संतोषो भावितः सम्यग् ब्रह्मचर्यं प्रपालितम् ॥

दर्शितं स्वस्य वैराग्यं कुर्वाणेन रसोज्जनम् ॥ २१७ ॥

विजयोदया—इच्चैवमादिविविहो पक्वमादिविविहो नानाप्रकारो । णदव्वो हवद् रसपरिच्चाओ जातव्यः सर्वेषां रसपरित्यागः । एस तवो भजिदव्वो एतद्रसपरित्यागाख्यं तप । भजिदव्वो सेव्य । विससदो विभोगेण । सद्धिहंतेण कायसंश्लेषनां कुर्वता । चाओ रसाणं ।

मूलारा—इच्चैवमादि क्षीरादित्यागादिप्रकारपरस्सरा । विमसदो अनशनादिभ्योऽतिगयेन । सद्धिहंतेण कायसंश्लेषना कुर्वता ।

अर्थ—इत्यादि नानाप्रकारका रसपरित्याग जानना चाहिये, यह रसपरित्याग नामका तप शरीरसंश्लेषना करनेवाले मुनिको विशेषरीतीसे करना चाहिये, अर्थात् अनशनादि तपोंकी अपेक्षा यह तप अधिकतासे करना चाहिये, रसपरित्याग तपका स्वरूपवर्णन समाप्त हुआ।

शुचिपरिसंख्याननिरूपणाय गाथाञ्चतुष्टयमुत्तरम्—

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तिथं च पेलवियं ॥  
संवूकावट्टं पि य पदंगवीधी य गोयरिया ॥ २१८ ॥  
गृह्णाति प्रासुकां भिक्षां गत्वा प्रत्यगगतो यतः ॥  
शंवूकावर्तगोमूत्रपुटेषु शलभायनः ॥ २१७ ॥

विजयोदया—गत्तापच्चागदं । यया वीथ्या गतः पूर्वं तथैव प्रत्यागमनं कुर्वन्त्यदि लभते भिक्षा गृह्णाति नान्यथा । उज्जुवीहि क्रुञ्चया वीथ्या गतो यदि लभते गृह्णाति नेतरथा । गोमूत्रिकाकार भ्रमण वा सपादयन् । पेलविग वशदलादि-भिर्निष्पादित वस्त्रसुयणोदिनिक्षेपणार्थं पिधानसहितं यत्तच्चतुरस्राकारं भ्रमणं । संवूकावट्टं पि य शंवूकावर्त इव । पदंगवी-धी य पतंगमाला पतंगवीधीत्युच्यते । सा यथा भ्रमति तथा भ्रमणं । गोचर्या भिक्षायां भ्रमणं । एवभूतेन भ्रमणेन लब्धा भिक्षा गृह्णाति नान्यथेति कृतसंकल्पना वृत्तिपरिसंख्यानं ।

मूलारा—गत्तापच्चागदं । यया वीथ्यागतस्तथैव प्रत्यागच्छन्त्यदि भिक्षां लभते तदा गृह्णाति इति । उज्जुविही क्रुञ्चया प्राजलया वीथ्या मार्गेण यदि गतो लभते तदा गृह्णाति । गोमुत्तिथं । गोमूत्रिकाकार भिक्षार्थं भ्रमणं । पेलवियं पेट्टवच्चतुरस्रं भ्रमणं । संवूकावट्टं शंखावर्तवदभ्यंतरमावृत्य वहिर्भ्रमतो भिक्षाग्राहणं । पतंगवीही पतंगमालावदित-स्ततो भ्रमणं, एकस्मिन्नेव कटाक्षितगृहे गमनं वा । गोयरिया योग्यं यथाप्राप्ताहारग्रहणमित्यर्थः ।

वृत्तिपरिसंख्यान तपका निरूपण आचार्य चार गाथाओंमें करते हैं—

अर्थ—जिस मार्गसे आहारके लिये गमन कर उसी मार्गसे लौटते समय यदि आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूं ऐसी प्रतिज्ञा करना वह गतप्रत्यागत है। सरल रास्तेसे जाते समय यदि आहार मिलेगा तो आहारग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना। यह ऋजुवीधी है। वेल मूतते जाता है उस समय जो आकार रस्तेपर उत्पन्न होता है वैसा मोटा खाते हुये भ्रमण करनेवाले मेरेको यदि आहार-मिलेगा तो मैं ग्रहण करूं ऐसी प्रतिज्ञा करना इसको गोभूत्रिक कहते हैं वासके दुकड़े, लकड़ी इत्यादिसे बनाया हुआ, और जिसमें ढकन लगा हुआ है ऐसा वस्त्र सुवर्णादि रखनेका जो चार कोनोंका पदार्थ अर्थात् संदूक-पेटीके समान चतुष्कोण भ्रमण करते हुए मेरेको यदि आहार मिलेगा ते ग्रहण करूं ऐसी प्रतिज्ञा करना इसको पेलविय कहते हैं शंखके आवतोंके समान ग्रामके अंदर भ्रमण

करके जब बाहर भ्रमण करूंगा ऐसे समयमें यदि भिक्षा मिलेगी तो स्वीकारूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. यह श्रुति कावर्त है.

पक्षिओंकी पंक्ति जैसे भ्रमण करती है वैसा भ्रमण करने हुए मेरेको यदि भिक्षा मिलेगी तो आहार ग्रहण करूंगा इस प्रतिज्ञाको पतंगवीथी कहते हैं. अथवा जिम श्रावकके घरमें आहार लेनेका मनमें निचार क्रिया है वहां जाना उसको भी पतंगवीथी कहते हैं. इस प्रकारसे आहारार्थ भ्रमण करनेमें यदि भिक्षा मिलेगी ते स्वीकारूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना यह वृत्तिपरिसंख्यान तप है

पाण्ड्यगिर्यं सणभिक्षत्वा परिमाणं दत्तिवासपरिमाणं ॥

पिंडे सणा य पाणे सणा य जागूय पुगलया ॥ २१९ ॥

पाटकावसथद्वारदातृदेयादिगोचरम् ॥

संकल्पं विविधं कृत्वा वृत्तिसंख्यापरो यतिः ॥ २१८ ॥

तूनां वृष्णालना रूढा चित्रसंकल्पपट्टवा ॥

कुर्वता वृत्तिसंख्यानं परेषां दुश्चरं तप ॥ २१९ ॥

विजयोदया — पाण्ड्यगिर्यसणभिक्षत्वापरिमाण इम एव पाटक प्रविश्य लब्ध्वा भिक्षा गृह्णामि नान्यं । एतमेव पाटक पाटकद्वयमेवेति । अन्य गृहस्य परिकरतया अवस्थितो भूमिं प्रतिगामि न गृहमित्यमभिप्रायं नियम्यन्मन्युन्यते इति केचिद्वदन्ति । अपरे पाटक्यभूमिमेव प्रविशामि न पाटकगृहाणि इति सकल्प पाटकाणि वास्तवमित्युन्यते इति सूचयति । भिक्षापरिमाण एका भिक्षा द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकमिति । दत्तिग्रासपरिमाण एकेन दीयमानं ताभ्यामेवेति वास्तव्यपरिमाण । आर्त्ताताय इमपि भिक्षाया इत्यत एव ग्रामान्गृह्णामि इति वा परिमाणं । पिंडे सणा पिंडभूतेमेवादानं शृणुमि । पाणे सणाधो द्रवमदुलतया यत्पीयते अन्नं । जागूय यत्रागू । पोगलिया वा धान्यान्नेन निपाज्यणकममसूरकादीनि भक्षयामि इति ।

मूलारा — पाण्ड्यगिर्यं सणपरिमाणं । एकमेव पाटकं पाटकद्वयमेव वा प्रविश्य भिक्षाग्रहणं । निपसनपरिमाणं यन्वा अन्य गृहस्य परिकरतयावस्थिता भूमिं प्रविशामि न गृहं इत्येवंशङ्क्य भिक्षाग्रहणं निपसनपरिमाणं । अन्ये पाटकभूमिमेव प्रविशामि न पाटकगृहाणीति भिक्षासंकल्प पाटकनिपसनपरिमाणमाहुः । भिक्षापरिमाणं एकद्वयपरिवेष्टित

भिक्षाग्रहणं । दत्तिघासपरिमाणं एकैव दायकेन द्वाभ्या वा दीयमानस्य ग्रहणं दत्तिपरिमाणं । आनीतायामपि भिक्षाया इयत् एव आसान् ग्रहीष्यामि इति घासपरिमाणं । पिंडेसणाओ पिंडभूतमेव अशनं शुद्धमि न पानमिति । पाणेसणाओ-द्रवमेवाशनं शुद्धमि न पिंडमिति । जागृय यवागूः । योगालिया धान्यान्त्येव निष्पवचणकादीनि भिक्षायामिति । सिक्कमित्यन्यः ।

अर्थ—इसही पाटकमें प्रवेश कर मिली हुई भिक्षा में ग्रहण करूंगा दूसरे पाटकमें मैं आहारार्थ जाऊंगा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना. अथवा मैं एक पाटकमें अथवा दोन पाटकमें भिक्षा मिलनेपर ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना. इस घरके परिकरकी भूमीमें यदि आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूं घरमें प्रवेश न करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. इसको नियंसेण कहते हैं. पाटककी भूमिपर ही आहार मिलेगा तो मैं आहार स्वीकारूंगा परंतु पाटकके घरोंमें प्रवेश नहीं करूंगा ऐसा संकल्प करना इसको पाटकनिवसन परिमाण कहते हैं. एकदफे अथवा दो दफे जो अन्न पगोसा है उतनाही मैं ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं यह भिक्षापरिमाण है. एक दाता अथवा दोन दाताओंने दिया हुआ अन्न ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना यह दातृपरिमाण संकल्प है. दाताने देनेके लिये भिक्षा लाने पर भी इतने ही आस मैं स्वी कारूंगा इस तरह का संकल्प करना यह आसपरिमाण संकल्प है पिंडरूप जो अन्न है वही मैं ग्रहण करूंगा द्रवरूप पदार्थ ग्रहण न करूंगा ऐसा संकल्प करना यह पिंडेयणासंकल्प है द्रवरूप अन्नही मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. अपिंडेयणासंकल्प कहते हैं. खडी इत्यादि जो पतली भी नहीं और पिंडरूप भी नहीं है वह भक्षण करूं ऐसा संकल्प करना. पावटे, चना, मखर इत्यादि धान्यरूप अन्न ही मैं ग्रहण करूंगा ऐसा संकल्प करना ये सब वृत्तिपरिसंस्थान तपके भेद हैं.

संसिद्ध फलिह परिखा पुण्णोवहिदं व सुद्धगोवहिदं ॥

लेवडमलेवडं पाणयं च णिसित्थगमसित्थं ॥ २२० ॥

विजयोदया—ससिद्ध शाककुल्माषादिसद्युग्मेव । फलिह समतादवस्थितशाक मध्यावस्थितौदन । परिखा व्यजनमध्यावस्थिताद्य । पुण्णोवहिदं च व्यजनमध्ये पुष्पवालिख अवस्थितसिक्कयं । सुद्धगोवहिदं । शुद्धेन निष्पावादिभिरभिश्रेणाशेन उवहिदं सद्युग् शाकव्यजनादिक । लेवड हस्तलेपकारि । अलेवड यच्च हस्ते न सज्जति । पाणयं पान च कीटक् ? णिसित्थगमसित्थ सिक्कथरहित पान तत्सहित च ।



मूलार—संसिद्धं व्यंजनसंमिश्रं, फलिहा व्यंजनैकपादस्थितौदनं । परिखा व्यंजनमध्यस्थितकूरं । पुष्पोवहिदं पुष्पप्रकरवद्व्यंजनमध्यप्रकीर्णसिक्कथकं । सुद्धगोवहिदं शुद्धेन निष्पावाद्यसंस्पृष्टान्नोपहितं संस्पृष्टं शाकव्यं जनादिक वा । यदि वा शुद्धेन केवलेन केन जलेनोपहितं कूरं । लेवडं हस्तेलेपकारि योलादिकं । अलेवडं हस्तेलेपकारि माथितादिकं । पाणगं द्राक्षादिशोधितं पानकं । तच्च निःसिक्कथं ससिक्कथं वा । भोज्यतया कल्पयति ।

अर्थ—शाक और कुल्माप अर्थात् कुलत्थादिक धान्योसे मिश्रित अन्नको संस्पृष्ट कहते हैं इस प्रकारका अन्न यदि मिले तो आहार करूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना. फलिह—थालीके मध्यमे भात रखकर उसके चारों तरफ भाजी रखना ऐसी रचनाको फलिह कहते हैं. इस तरहकी आकृतीका आहार यदि मिले तो ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना परिखा—मध्यमें अन्न रखकर आसमंतात् व्यंजन रखना उसको परिख कहते हैं इस प्रकार का अन्न यदि मिले तो आहार करूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना

पुष्पोपहिदं—व्यंजनोके व्रीचमें पुष्पोंके समान अन्नकी रचना करना उसको पुष्पोपहित कहते हैं. ऐसी रचना किया हुआ आहार यदि मिले तो लेनेकी प्रतिज्ञा करना, जिसमें मठ इत्यादि धान्यका मिश्रण नहीं है परन्तु जिसमें भाजी और व्यंजन-चटनी वगैरे पदार्थ मिले हुये हैं उसको शुद्ध गोवहिद कहते हैं उसकी प्रतिज्ञा करना लेवड-हाथको चिपकने वाला अन्न लेनेकी प्रतिज्ञा करना-अलेवड-जो हाथको नहीं चिपकता है ऐसा आहार लेनेकी प्रतिज्ञा करना. पान-सिक्कथरहित अथवा सिक्कथसहित आहार लेनेकी प्रतिज्ञा करना.

पत्तस्स दायगस्स य अवगगहो बहुविहो ससत्तीए ॥

इच्चेवमादिविधिणा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा ॥ २२१ ॥

विजयोदया—पत्तस्स एवभूतेन भाजनैवानीतं शुद्धाभि सौवर्णेन, कसपाज्या, राजतेन सणमयेन वा । दाय-गस्स य । स्त्रियैव तत्रापि वालया, युवला, स्त्रविरया, निरलंकारया, ब्राह्मण्या, राजपुज्या इत्येवमादि अभिग्रहोऽवग्रह । बहु-विहो बहुविध । ससत्तीए ससत्तया । इच्चेवमादि एवप्रकारा विविहा विविधा । णायव्वा ज्ञातव्या । वुत्तिपरिसंख्या वृत्ति-परिसंख्या ॥

मूलारा—अभिगाहो अवग्रहः । स च पात्रम्य यथा । एवमूलेनैव सौवर्णायन्यतमेन भाजनेनानीतं शुद्धमीति ।  
दायकस्य यथा—स्त्रियैवानीतं गृहाभि तत्रापि बाल्या, युवत्या, वृद्धया, सांठकारया, ब्राह्मण्या, राजपुत्र्या वेल्येवमादिः ।

अर्थ—यदि सुवर्णपात्र, कासेका पात्र, रूपेका पात्र अथवा मट्टीकापात्र इससे दाता आहार दे तो मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना दायक—यदि स्त्री अर्थात् बालिका, तरुणी, वृद्धा इनमेंसे किसी एक विवक्षित स्त्री आहार दिया तो ग्रहण करूंगा. अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना. यदि कोई स्त्री भूषणरहित होगी अथवा ब्राह्मणी वा राजकुन्या होगी तो यदि वह आहार देगी तो मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना इत्यादि नाना प्रकारके नियम करना उसको वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप कहते हैं.

कायकेशानिरूपणयोत्तरप्रबंध.—

अणुसूरी पडिसूरी य उट्टसूरी य तिरियसूरी य ॥

उब्भागणे य गमणं पडिआगमणं च गंतूणं ॥ २२२ ॥

तिर्यगर्कमुपर्यर्कमन्वर्कं प्रतिभास्करम् ॥

याति ग्रामान्तरं गत्वा प्रत्यागच्छति वा यतिः ॥ २२० ॥

चिजयोदया—अणुसूरी पूर्वस्या दिश पश्चिमदिशागमनं करारूपे दिने । पडिसूरी अपरस्या दिश आदित्याभिमुख गमन । उट्टसूरी य उर्ध्वं गते सूर्ये गमनं । तिरियसूरी य तिर्यगवस्थितं दिनकर कृत्वा गमनं । उब्भागणे गमण स्वावस्थितग्रामादग्रामान्तरं प्रति भिन्नार्थ गमनं । पडिआगमण च गतूणं प्रत्यागमन च गत्वा स्थिति ।

कायकेशतपो गमनस्थानासनशयननिष्ठीयनादिशरीरकृशक्रमाभिधाननिष्ठेन गाथापठनेनावष्टेः—

मूलारा—अनुसूरिं अनुसूर्यं, सूर्यं पञ्चात्कृत्य यानं । पडिसूरिं सूर्याभिमुखं गमनं । उट्टसूरिं उर्ध्वं गते सूर्ये गमनं । तिरियसूरिं सूर्यं पार्श्वतः कृत्वा गमनं । उब्भागणे गमणं उद्गमनेन गमनं उद्गमनेन ग्रामाद्रामातरे उद्गेन अविश्रम्य गमनं । पडित्यादि ग्रामातारं गत्वा पुनस्तत्रैवागमनम् ।

कायकेशानिरूपणार्थ आगेका ग्रवंध लिखते हैं—

अर्थ—जिस दिन कड़ी धूप पडती है उस दिन पूर्व दिशासे पश्चिमदिशाके तरफ जाना, अनुसूरिगमन है पडिसूरी-

पश्चिमदिशासे पूर्व दिशाको जाना. अर्थात् सूर्यके सम्मुख गमन करना. उद्धरि-सूर्य जव मस्तकपर चढ़ता है ऐसे समयमें गमन करना. तिरियद्धरि-सूर्यको तिर्यक् करके गमन करना, उन्भागमेण गमणं-स्वयं उहरे हुए ग्रामसे दुसरे गांवको विश्रांति न लेकर आहारके लिये गमन करना. और जाकर स्वस्थानको आना यह सब गमनरूप कायक्लेश तप है.

स्थानयोगनिरूपणा--

साधारणं सवीचारं सणिरुद्धं तहेव वोसट्टं ॥

समपादमेगपादं गिद्धोलीणं च ठाणाणि ॥ २२३ ॥

सावट्टंभं तनूत्सर्गं ससंक्रममसंक्रमम् ॥

गुद्धोद्धुनिमवस्थानं समपादैकपादकम् ॥ २२१ ॥

विजयोदया—साधारणं प्रमृष्टस्तेभाविकमुपाश्रित्य स्थानं । सवीचारं ससंक्रम पूर्ववस्थिताद्देशादत्रापि स्थापितस्थान । सणिरुद्धं निश्चलमवस्थान । तहेव तथैव । वोसट्टं कायोत्सर्ग । समपादौ समौ पादौ कृत्वा स्थानं । एगपादं एकेन पादेन अवस्थानं । गिद्धोलीणं गुद्धस्योद्धुर्गमनमिव बाहु प्रसार्यावस्थानं ।

मूलारा—साधारणं प्रमृष्टं स्तेभादिकमवष्टभ्य स्थानं उद्धस्यावस्थानं । सवीचारं ससंक्रम । पूर्वस्थानात् स्थानातरे गत्वा प्रहरदिवसादिपरिच्छेदेनावस्थानमित्यर्थः । सणिरुद्धं निश्चलं तत्रैवावस्थानं । वोसट्टं कायोत्सर्ग । समपादं समौ पादौ कृत्वा स्थानं । एगपादं एकेनैव पादेनावस्थानं । गिद्धोलीनं गुद्धस्योद्धुर्गमनमिव बाहु प्रसार्यावस्थानम् ।

स्थानयोगका निरूपण करते हैं—

अर्थ—स्वच्छ स्तंभ वा भीत हत्यादिकोंका आश्रय लेकर खड़े होना यह साधारण कायक्लेश है. सविचार-पूर्वस्थानसे स्थानान्तरको जाकर वहां एक पहर, एकदिवस वगैरह ग्रमाणसे खड़े होना. स्वस्थानमें ही निश्चल खड़े रहना. यह संनिरुद्ध है. वोसट्टं-कायोत्सर्ग करना. समपाद-पांव भूमिपर समान रखकर खड़े होना एकपाद-एक पावसेही खड़े रहना. गिद्धोलीणं-पीथपक्षी जैसा आकाशमें उड़ते समय अपने पंख फैलाता है वैसा बाहु फैलाकर खड़े होना.

आसनयोगनिरूपणा—

समपलियंक गिसेज्जा समपदगोदोहिया य उकुडिया ॥

मगरमुह हत्थिसुंडी गोणणिसेज्जद्वपलियंका ॥ २२४ ॥

पर्यंकमर्द्धपर्यंकं वीरपद्मगवासानम् ॥

आसनं हस्तिशुंडं च गोदोहमकराननम् ॥ २२२ ॥

विजयोदया—समपलियंकगिसेज्जा सम्यक्पर्यंकनियथा । समपद स्फिक्पिंडसमकरणेनासनं । गोदोहिया गोदोहे आसनमिवासन । उक्कुडिया ऊर्ध्वं संकुचितमासन । मगरमुह मकरस्य मुखाभिव कृत्वा पादावस्थानं । हत्थिसुंडी हस्तिहस्तप्रसारणमिव एक पाद प्रसार्यासनं । इत्त प्रसार्यत्परे । गोणणिसेज्ज अद्वपलियंक गोतियथा गवामासनमिव अर्द्धपर्यंक ।

एवं स्थानयोगं निरूप्यासनयोगं निरूपयति —

मूलारा—संपलियंकगिसेज्जा सम्यक्पर्यंकासनं । समपदं स्फिक्पिंडसमकरणेनासनं । गोदोहिया गोदोहे आसनमिव पाणिन्द्रियमुक्षिप्याग्रपादाभ्यामासनम् । उक्कुडिया युताभ्या भूमिमस्पृशतः समपादाभ्यामासनं । मगरमुह मकरस्य मुखमिव कृत्वा पादावासनं । हत्थिसुंडी हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं प्रसार्यासनं । एकं हस्तं प्रसार्यत्परे । गोणणिसेज्जा जंघाद्वय संकोच्य गोरिवासनं । अद्वपलियंकं अर्द्धपर्यंकासनं गोतियथैव गवासानमिवार्द्धपर्यंकमिति व्याचष्टे ।

आसनयोगका वर्णन —

अर्थ—उत्तम पर्यंकासनसे बैठना उसको पर्यंकनियथा कहते हैं समपद—जवा और कटिभागको समान करके बैठना. गोदोहिया—गायको दोहनेके समय जैसा बैठते हैं उस पद्धतीसे बैठना उक्कुटिकासन—जमीनको स्पर्श न हो इस गीतीसे समान पावोंपर बैठना वह उक्कुटिकासन है.

मगरमुह—मगरके मुखसमान पावोंकी आकृति कर बैठना. हत्थिसुंडी—हाथी जैसे अपनी सुंडको पसारता है तद्वत् एक पांव पसारकर बैठना. एक हाथ पसारकर बैठनेको भी यही नाम है गोणिसेज्ज—गवासान और अर्द्धपर्यंकासन ये सब बैठकर कायकेश तप करनेके प्रकार हैं.

वीरासनं च दंडा य उद्धृसाई य लगडसाई य ॥  
 उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य ॥ २२५ ॥  
 समस्किगं समस्किगं कृत्यं कुवकुटकासनम् ॥  
 बहुधेत्यासनं साधोः कायक्लेशविधायिनः ॥ २२३ ॥  
 कोदंडलगडादंडशयशय्यापुरस्सरम् ॥  
 कर्तव्या बहुधा शय्या शरीरक्लेशकारिणा ॥ २२४ ॥

विजयोदया—वीरासनं जंघे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासनं । दंडवदायतं शरीरं कृत्वा शयनं । स्थित्वा शयनं च उद्धृत्वाशयीत्युच्यते । लगडसाई सकुचितगात्रस्य शयन । उत्ताणो उत्तानं शयनं । अवमस्तकशयनं एकपार्श्वशयनं च ।  
 मूलारा—वीरासनं ऊरुद्वयोपरि पादद्वयविन्यासः । जंघे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासनमिति टीकाकृत् । इतः शयन-  
 भेदानाह—दंडायदोद्धृसाई दंडवदायतं शरीरं कृत्वा शेते इत्येवं व्रतं यस्य स दंडायतशायी साधुस्तत्साहचर्यान्तच्छय-  
 नमपि तथोक्तं दंडायतशयनमित्यर्थः । एवमूर्द्धशय्यादीनामपि व्युत्पत्तिः कार्य्या, उद्ध्रीभूयशयनमूर्द्धशायी । लगडसाई  
 संकुचितकरणस्य शयनं । उत्ताणेत्यादि—उत्तानस्य शयनं उत्तानशयनं । अवमस्तकशयनमधोमुखदानं । एकपार्श्वशयनं  
 च । मडयसाई मृतकस्येव निश्चप्रं शयनम् ।

अर्थ—वीरासन—दो जघाये दूर अन्तर पर स्थापन कर बैठना. दंडायत शयन—दंडके समान शरीर दीर्घ कर सोना. खड़े होकर शयन करना लगडसायी—अवयवोंका सकोच कर शयन करना. मुंह ऊपर कर सोना वह उत्तानशयन है मस्तक नीचे करके सोना अवमस्तकशयन है और एक बाजुसे सोना वह एक पार्श्वशयन है.

अब्भावागाससयणं अणिद्रुवणा अकंडुगं चैव ॥  
 तणफल्लयसिलाम्भूमी सेज्जा तह केसलोचे य ॥ २२६ ॥  
 काष्टारमत्तूणभूशय्या दिवानिद्राविपर्ययः ॥  
 दुर्धराभ्रावकाशादियोगात्रितयधारणम् ॥ २२५ ॥

विजयोदया—अम्बावागाससयण वह्निर्निरावरणदेशे शयनं । अणिष्ठिवर्णं निष्ठीवनाकरणं । अकंदुवर्णं च अकंदूर्यनं । तणफलगसिलाभूमीसिञ्जा घृणाविपु शय्या । तद्वा तथा । केसलोयो य केशलोचश्च ।  
मूलारा—अम्बावागाससयणं वह्निर्निरावरणदेशे शयनं । इतः क्लेशातराण्याह—अणिष्ठिवर्णं निष्ठीवनाकरणं ।

अकंदुवर्णग । अकंदूर्यनं ।

अर्थ—बाह्य आवरणरहित जमीनपर शयन करना वह अम्बावाक्श शयन है, अनिष्ठीवनक—नहीं धूकना, अकंदूर्यन—अंगमें खुजली उत्पन्न होनेपर भी नहीं खुजालना, वृण, काठका फलक, शिला इत्यादिकोपर शयन करना तथा केशलोच करना,

अम्बुष्ठणं च रादो अण्हाणमदंतघोवणं चेव ॥

कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य ॥ २२७ ॥

दंतधावनकंदूर्यतिस्नाननिष्ठीवनासनम् ॥

यामिनिजागरो लोचः कायक्लेशोऽयमीरितः ॥ २२६ ॥

सुत्रानुसारतः साधो कायक्लेशं वितन्वतः ॥

चित्तिता संपदः सर्वाः संपद्यन्ते करस्थिता ॥ २२७ ॥

विजयोदया—अम्बुष्ठणं च रादो रात्रावशयनं जागरणमित्यर्थ । अण्हाणं अस्नानं । अदतघोवणं चेव दंतानाम-  
शोधनं । कायकिलेसो कायक्लेश । एसो एत । सीदुण्हादावणादी य । शीततपनमुष्णातपनमित्येवमादिक ।

मूलारा—अम्बुष्ठण रादो रात्रावप्यशयनं । वोत्राप्यर्थे भिक्षक्रमो योच्य । सीदुण्हादावणादीणि शीतेनातापेन  
च समंतात्कायस्य क्लेशनं । आदिशब्देन दृष्टिक्लेशादि ॥

अर्थ—रातमें जागरण करना, स्नान नहीं करना, दांत घौनेका त्याग करना ये सब कायक्लेशके प्रकार  
हैं, शीतकालमें कायक्लेश करना और धूपमें शरीरको क्लेश करना, इत्यादिरूपसे कायक्लेश तप अनेक प्रकार का है,

विविक्तशयनासननिरूपणा—

जतथ ण सोत्तिग अत्थि दु सहरसरूवगंधफासेहिं ॥  
सज्झायज्झाणवाघादो वा वसघी विविच्चा सा ॥ २२८ ॥

विविक्तवसतिः सास्ति यस्यां रूपरसादिभिः ॥  
संपद्यते न संक्लेशो न ध्यानाध्ययने क्षतिः ॥ २२८ ॥

विजयोदया—जतथ ण सोत्तिग यस्या वसतौ न विद्यतेऽशुभपरिणामः । सहरसरूवगंधफासेहिं शब्दरसरूपगंध-  
स्पर्श-करणभूतैः मनोबैरमनोक्षैर्वा । सा विविच्चा वसघी विविक्ता वसतिः । सज्झायज्झाणवाघादो स्वाध्यायध्यानयोर्व्या-  
धातो वा नास्ति सा विविक्ता भवति ।

विविक्तशयनासनं तपो गाथापचकेन न्याचक्षणं प्रथमं विविक्तवसतिसामान्यलक्षणमाह—  
मूलारा—विसेत्तिगा अशुभपरिणामो रागद्वेषमोहात्मकसंक्लेशरूपः । वाघादो विनाशः ।  
विविक्तशयनासनतपका वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिस वसतिकामें मनोहर और अमनोहर ऐसे स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्दोंसे अशुभ परिणाम  
नहीं होते हैं वह वसतिका रहनेके लिये योग्य है । तथा जिसमें स्वाध्याय और ध्यानमें विघ्न नहीं होता है वह वस-  
तिका मुनिओंको रहनेके लिये योग्य होती है । ऐसी वसतिकाको विविक्तवसतिका कहना चाहिये ।

वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अंतो वा ॥  
इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए सीदाए उसिणाए ॥ २२९ ॥  
अंतर्बहिर्भवां शय्यां विकटां विपमां समाम् ॥  
वांछन्नविकटां सेव्यां रामाबंधपशूज्जिताम् ॥ २२९ ॥

विजयोदया—वियडाए उद्धाटितद्वाराया । अवियडाए अनुद्धाटितद्वाराया वा । समविसमाए समभूमिसमन्वि-  
तायां विपमभूमिसमन्विताया । बहिं च वहिर्भोगे वा । अंतो वा अभ्यंतरे वा । इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए स्त्रीभिर्नपुंसकै-  
पशुभिश्च वर्जिताया वसतौ । सीदाए शीताया । उसिणाए उष्णया ।

मूलरा—वियडाए उद्धादितद्वाराया । अवियडाए अनुद्धादितद्वाराया समभूमिकाया विषमभूमिकाया वा । बहिव्व बहिव्वा । ग्रामनगरादेरिति शेषः ।

अर्थ—जिसके द्वार खुले हैं अथवा जिसके दरवाजे ढके हुये हैं जो समभूमिसहित हैं, जो विषमभूमि सहित हैं जो बाह्य भागमें है अथवा अन्तभागमें है, जो स्त्री, पुरुष और नपुंसकवर्जित है, जो शीत और उष्ण है वह वसतिका विविक्त वसतिका है

उगमउष्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए ढु ॥

वसदि असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥ २३० ॥

उद्गमोत्पादनावल्भादोषमुक्तामपक्रियां ॥

अविचिक्तजनागम्यां गृहशय्याविवर्जितां ॥ २३० ॥

विजयोदया—उगमउष्पादणएसणाविसुद्धाए उद्गमोत्पादनैयणादोषरहिताया । तत्रोद्गमो दोषो निरूप्यते । वृक्ष च्छेदस्तदानयनं, इष्टकापाक, भूमिखनन, पाषाणसिकतादिभि पूरण, धराया कुट्टनं, कर्दमकरण, कीलाना करणं, अग्निनाय-स्तापन कृत्वा प्रताड्य क्रूरचैः काष्ठपाटन, वासीभिस्तक्षण, परशुभिश्छेदन इत्येवमादिव्यापारेण पण्णा जीवनिकायानां बाधा कृत्वा खेन वा उत्पादिता, अन्येन वा कारिता वसतिराधाकर्मशब्देनोच्यते । यावन्तो दीनानां यक्षपणा आगच्छन्ति लिंगिनो वा तेषामियमित्युद्दिश्य कृता, पायडिनामेवेति वा श्रमणानामेवेति, निर्ग्रथानामेवेति सा उद्देसिणा वसदिति भण्यते । शास्त्रार्थं गृह कुर्वता अपवरक सयताना भवत्विति कृत अवोवत्त्वमित्युच्यते । आत्मनो गृहार्थमानीतैः क्राष्टादि-भिः सह यक्षुभिः श्रमणार्थमानीयात्वेन मिश्रिता यत्र गृहे तत्पूतिकमित्युच्यते । पायडिना गृहस्थाना वा क्रियमाणे गृहे पञ्चात्सयतानुद्दिश्य काष्टादिमिश्रणेन निष्पादितं वेदम मिथम् । स्वार्थमेव कृत संयतार्थमिति स्थापित उविदं इत्युच्यते । संयतः स च यावद्द्विदैरागमिष्यति तत्त्ववेशाविने गृहसंस्कारं सकलं करिष्यामः इति चेतसि कृत्वा, यत्संस्कारित वेदम तत्पाहुडिगमित्युच्यते । तदगममानुरोधेन गृहसंस्कारकालापन्दास कृत्वा वा संस्कारिता वसति प्रदीपकं वा तत्पाहुडुकृत मित्युच्यते । यद्गृह अधकारवहुलं तत्र वहुलप्रकाशसपादनाय यतीना छिद्रीकृतकुड्यं, अपाकृतफलकं, सुविन्यस्तप्रदीपकं वा तत्पाहुकारशब्देन भण्यते । द्रव्यक्रीत भावक्रीतं इति छिविधं क्रीत वेदम, सच्चित्तं गोचलीवर्दीदिकं दत्त्वा सयतार्थक्रीतं, अचित्त वा शृतगुडखडादिक दत्त्वा क्रीत द्रव्यक्रीतं । विद्यामंत्रादिदानेन वा क्रीतं भावक्रीत । अल्पमृणं कृत्वा वृद्धिसहितं अवृद्धिकं वा गृहीतं संयतेभ्य पामिच्छ उच्यते । मदीये वेशमनि तिष्ठतु भवान युष्मदीयं तावदगृहं यतिभ्य प्रयच्छेति गृहीतं परियहमित्युच्यते । कुड्याद्यर्थं कुटीरककटादिकं स्वार्थं निष्पन्नमेव यत्संयतार्थमानीतं तदभ्यह्निडमुच्यते । तद्वि-



विधमाचरितमनाचरितमिति । दूरदेशादग्रामान्तरादानीतमनाचरितं शतपदाचरितं । शृणुादिभिः, स्मृतिपेदेन, वृत्त्या, कथा-  
देनोपलेन वा स्थगितं अपनीय दीयते यत्तदुद्धिन्नं । निश्चयेणादिभिराख्या इत आगच्छतं शुष्माकमिय वसतिरिति या दीयते  
द्वितीया तृतीया वा भूमि सा मालारोहमित्युच्यते । राजामालादिभिर्मयमुपदर्श्य परकीयं यदीयते तदुच्यते अच्छेजं  
इति । अनिसृष्टं पुनर्द्विविधं । गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते वसति. यत्स्वामिनापि बालेन परवशवर्तिना दीयते सो-  
भय्यन्यनिसृष्टेति उच्यते । उद्गमद्वयोपानिरूपिता ।

उत्पादनद्वयोपानिरूप्यन्ते—पचविधाना धात्रीकर्मणा अन्यतेमनोत्पादिता वसति । काचिद्द्वारकं रूपयति, भूप-  
यति, क्रीडयति, आशयति, व्यापयति वा । वसत्यर्थेभ्योत्पादिता वसतिर्धात्रीद्वयोपदुष्टा । ग्रामान्तरादग्रामान्तराच्च देशादन्य  
देशतो वा संवधिना धात्रीमभिधायोत्पादिता इतकर्मोत्पादिता । अंगं, स्वरो, व्यंजन, लक्षण, छिन्नं, भौमं, स्वमोऽन्तरिक्ष-  
मिति पचभूतनिमित्तोपदेशेन लब्धा वसतिर्निमित्तद्वयोपदुष्टा । आत्मनो जार्ति, कुल, देश्वयं वाभिधाय स्वमाह्वान्यप्रकटनेनो-  
त्पादिता वसतिराजीवशब्देनोच्यते । भगवन्सर्वेया आहारदानाद्वसतिदानाच्च पुण्यं किमु महदुपजायते इति पृष्टो न भवती-  
त्युक्ते गृह्णिजन प्रतिक्कलवचनरुष्टो वसतिं न प्रयच्छेदिति एवमिति त्वत्तुक्कलमुक्त्वा योत्पादिता सा वणिगवा शब्देनोच्यते ।  
अग्नविधया चिकित्सया लब्धा चिकित्सोत्पादिता । क्रोद्योत्पादिता । गच्छतामागच्छतां च यतीना भवदीयमेव गृहमाश्रय-  
इतीयं धात्री दूरादेवास्माभि श्रुतेति पूर्व स्तुत्वा या लब्धा । वसनोत्तरकाल च गच्छन्ग्रशंसा करोति पुनरपि वसतिं लप्से  
इति । एव उत्पादितासंस्तवद्वयोपदुष्टा । विद्यया, मन्त्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृह्णिणं वशे स्थापयित्वा लब्धा । मूलकर्मणा वा  
भिक्षुकन्यायोनिसंस्थापना मूलकर्म । विरक्ताना अनुरागजनन वा । उत्पादनात्थोऽभिहितो द्वोप पौडशप्रकारः ॥

अथ एषणाद्वयोपान्दश ग्राह—

क्रिमिय योग्या वसतिर्निति शंकिता । तदानीमेव सिका सत्यालिप्ता सती वा छिद्रस्तजलमवाह्रेण वा, जल-  
भाजनलोठनेन वा तदानीमेव लिप्ता वा प्रक्षितेत्युच्यते । सचित्तपृथिव्या, अपा, हरिताना, धीजाना वसानां उपरि स्थापितं  
पीठफलकादिकं अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते सा पिदिता । काष्ठचेलंकटप्रावरणाद्याकर्षणं कुर्वता पुरोयायिनोपदाशि-  
ता वसति साहाय्यशब्देनोच्यते । स्तुतजातस्तुतकयुक्तगृह्णिजनेन, मत्सेन, व्याधितेन, नपुसकेन, पिशाचगृह्णीतेन, नग्नया वा-  
दीयमाना वसतिर्वीर्यकदुष्टा । स्थावरै, पृथिव्यादिभि, त्रसै पिपीलिकामच्छुणादिभि सहितोन्मिश्रा अधिकवितर्लिमात्राया  
भूमेरधिकाया अपि युवो ग्रहणं प्रमाणातिरेकद्वयोप । शीतवातातपाद्युपडवसहिता वसतिरियमिति निंदा कुर्वतो वसनं  
धूमद्वयोप । निर्वाता, विशाला, नान्युष्णा शोभनेयमिति तत्रानुराग इगाल इत्युच्यते । एवमेतैरुद्गमादिदोषैरुपहृता वसति  
शुद्धा तस्या । अकिरियाण दु प्रमाजनादिसंस्काररहिताया । असंसत्ताए जीवसमवराहिताया । पिण्यादुडियाए शय्यारहि-  
ताया । सेज्याए वसतौ । अन्तर्यहिर्वा वसद् वसति । यतिर्विबिक्कशय्यासनरतः ।

१ क पुस्तके नास्त्ययं पाठः । २ क्रोधं, मान, माया, लोभं वा प्रयुज्योत्पादिता क्रोधादिचतुष्टयदुष्टा ॥ इति

मूलाराधनार्पणदीपाया ।

मूलारा—उगमेत्यादि उद्गमोत्पादनेपाणदोपपदिताया । तत्राहारापौधवसतिसंस्तरोपकरणादिकं यतये देयमुद्रच्छ-  
ति उत्पद्यते धैर्दुर्बुः क्रियाविशेषैर्मागविरोधिभिस्ते उद्गमोदेशिकादयः पोडश । यैश्च भक्तादिकमुत्पाद्यते मार्गेविरोधिभिस्ते  
धात्र्यादयः पोडश साधोः क्रियाभेदा उत्पादना । तथा चावोचाम धर्माभ्युते—

भक्ताद्युद्गच्छत्यप्यैर्यैरुत्पाद्यते च ते ॥

दातृयत्योः क्रियाभेदा उद्गमोत्पादना. क्रमात् ॥

एते द्वात्रिंशद्व्याधाधार्मशात्वादोपत्तेन व्यपदिश्यते । भक्ताद्यर्थे यते पृथ्वीवनिकायवाधानं तत्कारणं वा भक्ता-  
दिकमेवाधार्मकेभ्युच्यते । एषणदोपास्तु शंकितादयो दंश । ते च मूलचारोक्ता यथा—

आधार्मकमुद्देशिय अज्ज्ञोवज्ज्ञे य प्रुदिभिस्ते य ॥

उविदे बलि पाहुडिष्टे पादुकारे य कीदे य ॥

पामिच्छे परियुष्टे अभिहृडमुन्मिणमालमारोहे ॥

अच्छिजे अणिसट्टे उगमदोसा दु सोलसिमे ॥

धादी दूदणिमित्ते आजीवे वणिबगे य तोर्गिछे ॥

कोही माणी मायी लोही य हवंति दश एदे ॥

पूर्वं पच्छासंधुइ विज्जामंते य चुणजोगे य ॥

उपायणा य दोसो सोलसिमो मूलकम्मो य ॥

संकिदमक्खिदणिकिखत्तपिहिद संवहरणदायगुम्मिस्से ॥

अपरिणदलित्तछोडिद एसणदोसा दु दस एदे ॥

तत्र दृक्षच्छेदष्टकापाककर्मकरणादिव्यापारेण पण्णा जीवनिकायाना वाधा कृत्वा स्वेनोत्पादि ता अन्येन वा

कारिता क्रियमाणा वानुमोदिता वसतिराधाधार्मशब्देनोच्यते ॥

१ यावन्तो दीनानाथरुपणा आगच्छन्ति लिगिनो वा तेपामियमित्युद्दिश्य कृता, पापंडिनमेवेति वा श्रवणा-

नामेव निप्रधानामेवेति सा वसतिरुद्देशिका ॥ १ ॥

२ आत्मार्यं गृहं कुर्वता अपवरक संयताना भवत्विति कृतं अज्ज्ञोवज्ज्ञमित्युच्यते ॥

३ आत्मनो गृहार्थमानीतेः काष्टादिभिः सह श्रमणार्थमानीतेनाल्पेन मिश्रता यत्र गृहे उत्पुतिकं । ४ पापं जिना गृहस्थाना वा सम्यग्विधत्वेन क्रियमाणे गृहे पश्चात्संयतामुद्दिश्य काष्टादिभिः श्रणेन निष्पादितं वेदम मिश्रं । ५ स्वार्थमेव कृतं संयतार्थमिदं इति स्थापितं ठविदं । ६ यक्षनागमातृकाकुलदेवतानर्थं कृतं गृहं तेभ्यश्च यथाम्बं वत्तं, तदुत्तावागिष्टं यतिभ्यो दीयमानं बलिस्तियुच्यते । ७ संयता इत्यङ्घ्रिर्नैरागमिष्यन्ति, तत्पवेशदिने गृहमस्कारं सकलं करिष्याम इति चेत्तसि कृत्वा यत्संस्कारित वेदम तत्पाहुडिदं । तदगमासुरोधेन गृहसंस्कारकालापन्दासं कृत्वा वा संस्कारिता वसतिः ॥ ८ यद्गृहं अंधकारबहुलं तत्र प्रकाशसंपादनाय यतीना छिद्रीकृतकुड्यमपाकृतफलकं विन्यस्तप्रदीपकं वा तत्पाहुत्कारम् । ९ गवादिना वा सचित्तेन, गुडदिना वा अचित्तेन द्रव्येण, विद्यामंत्रादिदिनेन वा भवेन क्रीतं कीट-मिल्युच्यते । अल्पमृणं कृत्वा सवृद्धिकमवृद्धिकं वा संयतार्थं गृहीतं पापमिच्छं । ११ मद्गृहे तिसृषु भवान् स्वगृहं यति-भ्य प्रयच्छेति गृहीतं परियदं ॥ १२ । कुट्टिकटकादिकं स्वार्थनिष्पन्नमेव संयतार्थमानीतं तदभिदृढं । तच्च दूरदेशा दानीतमाचरितं इतरदत्ताचरितम् । १३ इष्टकाभिर्मूर्तिपडेन कृत्वा कपाटेन वा स्थगितमपाकृत्य यदीयते तदुद्विन्नम् । १४ निःश्रेण्याग्निभिरारुह्य इत आगच्छत युष्माकमियं वसतिरिति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमिः स मालारोहं । १५ राजामात्यादिभिर्मयमुपदर्य परकीयं यदीयते तदच्छिजं । १६ गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते या च स्वामि-नापि वा बालेन परवशेन सोभय्यपि वसतिरनिच्छा एवमुद्भवेदोपाः । १७ दश ॥

१ अथोत्पादनदोषाः । दारकाणां स्वपेतनालंकरणेन, क्रीडेन, भोजनेन, स्वापेन वा धात्रीवत्कर्मणा संयतेनोत्पादिता वसतिः धात्रीदोषदुष्टा ॥ १ ॥

२ भ्रामातरादेर्लेशं संदेशं वाशं वा संपाद्योत्पादिता दूतकर्मदुष्टा । ३ अंगादिनिमित्तोपदेशादुच्छा निमित्तदुष्टा । ४ स्वस्य जालिं कुलमैश्वर्यमभिधाय माहृत्यप्रकाशनेनोत्पादिता आजीवदुष्टा । ५ भगवत्सर्वेषामाहारदानावसतिदानाद्वा किं पुण्यं जायेत उत नेति पृष्टो यदि न जायत इति त्रयीमि तत्रेप गृही रग्यो वसतिं मे न प्रयच्छेदिति सप्रथार्य तदनुकूलकथनादुत्पादिता वणिवगदुष्टा । ६ वेयकर्मणा दुष्टा चिकित्सादुष्टा । ७ क्रोधं, मानं, माया, लोभं वा प्रयुज्योत्पादिता क्रोधादिविचलुष्टदुष्टा । ८ गच्छताभागच्छता च यतीना भवदीयमेव गृहमाश्रयः इत्येषा वार्ता दूरादेवात्माभिः श्रुतेति पूर्वं सुत्वा या लब्धा सा पूर्वसंस्तवदुष्टा । वसनोत्तरकालं गच्छन्पुनरपि वसतिं लप्से इति यत्प्रशंसति सा पश्चात्संस्तवदुष्टा । एवं षोडशोत्पादना दोषाः ॥ एषणादोषाः शंकितादयो दश यथा— १ किमियं योग्या वसतिर्न वेति

शक्तिता । तदानीमेव सिक्का लिप्ता वा अक्षिता ॥ सचित्तपृथिव्यादेरुत्साना वा उपरि पीठफलकादिकं स्थापयित्वा अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते वसतिः सा निक्षिप्ता ॥ हरितकंटकसचिच्चत्तिकापिधानं आकृष्य दीयमाना मिहिता । काष्ठचेल कंटकप्रवरणाद्याकर्पणं कुर्वता पुरोयायिनोपदर्शिता वसतिः साहरणा ॥ मृतजातसंयुक्तेन, मत्तेन, नपुसकेन, पिशाचगृहीतेन नम्रया वा दीयमाना वसतिः दायकदुष्टा । स्थावरैः पृथिव्यादिभिस्त्रसैश्च पिपीलिकामत्सुणादिभिः सहितोन्मिथा । अपरिणतादिदोषत्रयं वसतौ न भवतीति न निरूप्यते । तल्लक्षणानि यथा—

तिलतुंदुलवसणोदय चणोदयतुसोदयं अविद्वृत्यं ॥

अण्णं तहविहं वा अपरिणदं गेव गेण्हेज्जो ॥

गेरुयहरिदालेण व सेही य मणोसिलामपिट्ठेण ॥

सपवालोदणलेवे ण व देयं करभायणे लिंतं ॥

बहुपरिसाढणमुल्लिख आहारो परिगलन्त दिज्जं तं ॥

छंडिय भुंजणमह्वा छंडिय दोसो हवे गेओ ॥

यथा संभवमेतेऽपि वा वसतौ योज्याः । तद्वदगारादयोऽपि चत्वारः कल्प्याः । तल्लक्षणानि यथा—

गृद्धयाद्गारोऽभ्रतो घूमो निदयोण्हिमादि च ॥

मियो विरुद्धं संयोज्य दोषः संयोजनाब्धयः ॥

सव्यजनाशनेन द्वौ पानेनैकमंशमुदरस्य ॥

शृत्वाऽभृतस्तुरीयो मात्रा तदतिक्रमः प्रमाणमलः ॥

एवं उद्गमादिदोषैरनुपहताया । तथा अकिरियाए संमार्जनादिरहिताया । असंसत्ताए जीवोत्पत्तिरहिताया । णिप्पाञ्जुडियाए उपद्रवहीनाया शय्यारहिताया वा । सेज्जाए वसतौ । अंतो यहिर्वा वसतौ यतिर्विविक्तशय्यासनस्य इति शेषः ॥

अर्थ— जो वसतिका उद्गम दोष, उत्पादना दोष और एण्णा दोषोंसे रहित है वह विविक्त वसतिका मृनि-  
आँके लिये योग्य है ऐसा समझना चाहिये. अब यहां उद्गम दोषोंका वर्णन करते हैं— १ झाड तोडकर उनको  
लाना, ईंटोंका समुदाय पक्कावना, जमीन खोदना, पाषाण, बालु, इत्यादिकोंसे खाडा भरना, जमीन को कूटना,

कीचड करना, खंवे तयार करना, अग्निसे लोह तपावना, करोंतसे लकड़ी चीरना, पटासीसे छीलना, कुन्हाडोसे छेदन करना, इत्यादि क्रियाओंसे पट्कायजीवोंको बाधा देकर स्वयं वसतिका बनाई हो अथवा दूसरोंसे बनवाई हो वह वसतिका अधःकर्म के दोपसे युक्त है।

२ जिसने दीन, अनाथ अथवा कृपण आर्वेग अथवा सर्वधर्मके साधु आर्वेग किंवा जैन धर्मसे भिन्न ऐसे साधु अथवा निर्ग्रथमुनि आर्वेग उन सबजनोंको यह वसति होगी इस उद्देशसे जो वसतिका बांधी जाती है वह उद्देशिक दोपसे दूष्ट है।

३ जब गृहस्थ अपने लिये घर बंधवाता है तब यह कोठरी संयतोंके लिये होगी ऐसा मनमें विचार कर जो बंधवाई गई वह वसतिका अब्योन्मव दोपसे दूष्ट है।

४ अपने घरके लिये लाये गये बहुत काष्ठादिकोंसे श्रमणोंके लिये लाये हुये काष्ठादिक मिश्रण कर बनवाई गई जो वसतिका वह पृतिक दोपसे दूष्ट है।

५ पाखंडि साधु अथवा गृहस्थोंके लिये घर बांधनेका कार्य शुरु हुआ था तदनंतर संयतोंके उद्देशसे काष्ठादिकोंका मिश्रण कर बनवाई जो वसतिका वह मिश्र दोपसे दूषित समझना चाहिये

६ गृहस्थने अपने लिये ही प्रथम बनवाया था परंतु नंतर यह गृह संयतोंके लिये हो ऐसा संकल्प जिनमें हुआ है वह गृह स्थापित दोपसे दूष्ट है।

७ संयत अर्थात् मुनि वे इतने दिनोंके अनंतर ओवग अतः जिस दिनमें उनका आगमन होगा उस दिनमें सब घर झाडकर, लीपकर स्वच्छ करेंगे ऐसा मनमें संकल्प कर प्रवेशदिनमें वसतिका संस्कृत करना वह पाहुडिग नामका दोप है।

पाहुडिग दोपके प्रथम चलिनामक दोपका मूलाराधना दर्पणमें ऐसा लक्षण लिखा है—यक्ष, नाग, माता, कुलदेवता इनके लिये घर निर्माण करके उनकी देकर अवशिष्ट रहा हुआ स्थान मुनिको देना यह बलि नामका दोप है

मुनि प्रवेशके अनुसार संस्कारके कालमें न्हास कर अर्थात् उनके पूर्वमें संस्कारित जो वसतिका वह प्रादुष्कृत दोपसे दूषित समझना चाहिये।

उत्पादन दीपका निरूपण—

जगतमें धात्रीक पांच प्रकार हैं. कोई धात्री बालकको स्नान कराती है, कोई उसको आभूषण पहनाती है, कोई उसका मन क्रीडाओंसे प्रमत्त रखती है, कोई उसको अन्न पानसे पृष्ट करती है, और कोई उसको सुलाती है. ऐसे धात्रीके पांच कार्यका गृहस्थको उपदेश देकर उससे यति अपने को रहनेकेलिए वसतिका प्राप्त करते हैं अतः वह वसतिका धात्रीदीपसे वृष्ट है.

अन्यग्राम, अन्यनगर, देश और अन्य देशके संवन्धी जनोंकी वार्ता श्रावकको निवेदन कर वसतिका प्राप्त करना यह दूतकर्म नामका दीप है.

अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न, और अन्तरिक्ष ऐसे निमित्तशास्त्रके आठ विषय हैं. इनका उपदेश कर श्रावकसे वसतिकाकी प्राप्ति करना यह निमित्त नामका दीप है. अपनी जाति, कुल ऐश्वर्य वगैरह का वर्णन कर अपना माहात्म्य श्रावकको निवेदन कर वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना यह आजीवनामक दीप है.

हे भगवन् सर्व लोगोंको आहार दान देनेसे और वसतिकाके दानसे क्या महान्पुण्यकी प्राप्ति न होगी ? ऐसा श्रावक का मन सुनकर यदि मैं पुण्यप्राप्ति नहीं होती है ऐसा कहूं तो श्रावक रुष्ट होकर वसतिका नहीं देगा ऐसा मनमें विचार कर उसके अनुकूल वचन बोलकर वसतिकाकी प्राप्ति करना यह वणिग दीप है.

आठ प्रकारकी चिकित्सा करके वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह चिकित्सा नामक दीप है.

क्रोध, मान, माया और लोभ दिखाकर जो वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना वह क्रोधादि चतुष्टय दीप है. जाने वाले और आनेवाले मुनिओंको आपका घर ही आश्रय स्थान है. यह वृत्तान्त हमने दूर देशमें भी सुना है ऐसी प्रथम स्तुति करके वसतिकाको प्राप्त करना यह पूर्वस्तुति नामका दीप है. निवास कर जानेके समय पुनः भी कभी रहनेके लिए स्थान मिले इस हेतुसे स्तुति करना यह पथास्तुति नामका दीप है.

विद्या, मंत्र अथवा चूर्ण प्रयोगसे गृहस्थको अपने वंश कर वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह विद्यादि दीप है. भिन्न कन्या अर्थात् भिन्न जातीकी कन्याके साथ संबंध मिला देकर वसतिकाका प्राप्त करना अथवा विरक्तोंको अशुभ करनेका उपाय कर उनसे वसतिका प्राप्त कर लेना यह मूलकर्म नामका दीप है. इस प्रकार उत्पादन नामक दीपके सोला भेद कहे हैं

लिए योग्य है. जो वसति का अच्छी तरहसे देस भाल न करके लीपी पोती है वह योग्य नहीं है. जो वसति का जीवोत्पत्ति से रहित है वह योग्य है. जिसमें कोई उपद्रव नहीं है अथवा जिसमें शय्या नहीं है. ऐसी वसतिकामें अन्दर बाहर जो सुनि रहता है वह विनित्त शय्यामन तपका धारक समझना चाहिये.

अथ का विवेका वसतिरित्यत्र—

सुणधरगिरिशुहारुक्खमूलआगंतुंगाटेवकुले ॥

अकदप्पम्भारारामधरादीणि य विविच्चाइं ॥ २३१ ॥

अन्यवेडमशिलावेडमतम्भूलशुद्धादयः ॥

विविक्ता भाषिता शय्याः स्वाध्यायध्यानवर्धिकाः ॥ २३१ ॥

विजयोदया—शय्य गृह । गिरिशुल, वृक्षमूल, आगंतुमानं चैस्म. देयकुलं । शिभागुतं केनचिदकृतं प्राग्भार-  
शब्देनोच्यते । आरामगृहं क्रीडार्थमायाताना आवासाय कृतं । एता विनित्तवसतयः ।

विविक्तवसतिभेदानाद्—

मूलारा—आगंतुगार सार्धवाह्यदिगृहं । अकदप्पम्भार अकृत्रिमशिलागृहमित्यर्थः । आराम-  
घर आरामगृहं क्रीडार्थमायाताना आवासाय कृतं । विविच्चाइं एता विनित्त वसतय इत्यर्थः ।

विविक्त वसतिकामा क्या स्वरूप है इम प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—शय्यघर, पर्वतकी गुहा, वृक्षभा मूल, देवमंदिर, व्यापारार्थं देश देशांतरोंमें फिरनेवाले व्यापारि-  
रियोंको निवास करनेके लिये बनाये हुये घर, शिलागृह, शिलाओंमें सज्ये बना हुआ घर, अकृत्रिम गृह, क्रीडा कर-  
नेके लिये आनेवाले जनोंके लिये बनाये हुए घर ये सन विनित्तवसतिकामे हैं.

अत्र वसने दोषभावमाचष्टे—

कलहो वोलो सझा वामोहो सक्को ममत्तिं च ॥

उक्षाणाज्झयणविघादो णत्थि विविच्चाए वसधीए ॥ २३२ ॥

जिस घरमें विपुल अंधकार हो तो वहां प्रकाशके लिये भित्तीमें छेद करना, वहां काटका फलक होना तो वह निकालना, उसमें दीपककी योजना करना यह पादुकार दोष है।

द्रव्यक्रीत और भावक्रीत ऐसे खरेदी किये हुए घरके दो भेद हैं गाय, बैल वगैरह सचित्र पदार्थ देकर संयतोंके लिये खरीदा हुआ जो घर उसको सचित्र द्रव्यक्रीत कहते हैं घृत, गुड, खांड ऐसे अचित्र पदार्थ देकर खरीदा हुआ जो घर उसको अचित्तक्रीत कहते हैं

विद्या, मंत्रादि देकर खरीदे हुए घरको भावक्रीत कहते हैं, अल्पक्रण करके और उसका छद् देकर अथवा न देकर संयतोंके लिये जो मकान लिया जाता है वह पामिच्छ दोषसे दूषित है।

मेरे घरमें आप ठहरो और आपका घर मुनिओंको रहनेकलिये दो ऐसा कहकर उनसे लिया जो घर वह परियष्ट दोषसे दूषित समझना चाहिये।

अपने घरकी भित्तके लिये जो स्तंभादिक सामग्री तयार की थी वह संयतोंके लिये लाना वह अभिघट नामका दोष है। इस दोषके आचरित और अनाचरित ऐसे दो भेद हैं। जो सामग्री दूर देशसे अथवा अन्यग्रामसे लायी होय तो उसको अनाचरित कहते हैं और जो ऐसी नहीं होय तो वह आचरित समझना चाहिये।

ईंट, मट्टीके पिंड, कांटोंकी वाही अथवा क्वाट, पाषाणोंसे ढका हुआ जो घर खुला करके मुनिओंको रहनेके लिये देना वह उद्भिन्न दोष है।

नर्सनी वगैरहसे चढकर आप यहां आइये आपके लिये यह वसतिका दी जाती है ऐसा कहकर संयतोंको दूसरा अथवा तीसरा मंजिला रहनेके लिये देना यह मालारोह नामका दोष है।

राजा अथवा प्रधान इत्यादिकोंसे भय दिखाकर दूसरेका गृहादिक यतिओंको रहनेके लिये देना वह अच्छेज्ज नामका दोष है।

आनिसुट दोषके दो भेद हैं। जो दानकार्य में नियुक्त नहीं हुआ है ऐसे स्वामीसे जो वसतिका दी जाती है वह आनिसुट दोषसे दूषित है। और जो वसतिका बालक और परवश ऐसे स्वामीसे दी जाती है वह भी उपयुक्त दोषदूषित समझनी चाहिए इस तरहसे उद्गमदोष निरूपण किए।



जगतमें धात्रीके पांच प्रकार हैं. कोई धात्री बालकको स्नान कराती है, कोई उसको आभूषण पहनाती है, कोई उसका मन क्रीडाओं से ग्रस्त रखती है कोई उसको अन्न पानसे पुष्ट कराती है, और कोई उसको सुलाती है. ऐसे धात्रीके पांच कार्योंमेंसे किसी भी कार्यका गृहस्थको उपदेश देकर उससे यति अपने को रहनेकलिए वस-तिका प्राप्त करते हैं अतः वह वसतिका धात्रीदीपसे दुष्ट है.

अन्यग्राम, अन्यनगर, देश और अन्य देशके संबन्धी जनोंकी वार्ता श्रावकको निवेदन कर वसतिका प्राप्त करना यह दूतकर्म नामका दीप है.

अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न, और अन्तरिक्ष ऐसे निमित्तशास्त्रके आठ विषय हैं. इनका उपदेश कर श्रावकसे वसतिकाकी प्राप्ति करना यह निमित्त नामका दीप है. अपनी जाति, कुल ऐश्वर्य वगै-रह का वर्णन कर अपना माहात्म्य श्रावकको निवेदन कर वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना यह आजीवनामक दीप है.

हे भगवन् सर्व लोगोंको आहार दान देनेसे और वसतिकाके दानसे क्या महान्पुण्यकी प्राप्ति न होगी ? ऐसा श्रावक का प्रश्न सुनकर यदि मैं पुण्यप्राप्ति नहीं होती है ऐसा कहूं तो श्रावक रुष्ट होकर वसतिका नहीं देगा ऐसा मनमें विचार कर उसके अनुकूल वचन बोलकर वसतिकाकी प्राप्ति करना यह वणिगदीप है.

आठ प्रकारकी चिकित्सा करके वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह चिकित्सा नामक दीप है.

क्रोध, मान, माया और लोभ दिखाकर जो वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना वह क्रोधादि चतुष्टय दीप है. जाने वाले और आनेवाले मुनियोंको आपका घर ही आश्रय स्थान है. यह वृत्तान्त हमने दूर देशमें भी सुना है ऐसी प्रथम स्तुति करके वसतिकाको प्राप्त करना यह पूर्वस्तुति नामका दीप है. निवास कर जानेके समय पुनः भी कभी रहनेके लिए स्थान मिले इस हेतुसे स्तुति करना यह पश्चात्स्तुति नामका दीप है.

विद्या, मंत्र अथवा चूर्ण प्रयोगसे गृहस्थको अपने वश कर वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह विद्यादि दीप है. भिन्न कन्या अर्थात् भिन्न जातीकी कन्याके साथ संबंध मिला देकर वसतिकाका प्राप्त करना अथवा विरक्तोंको अशुभ करनेका उपाय कर उनसे वसतिका प्राप्त कर लेना यह मूलकर्म नामका दीप है. इस प्रकार उत्पादन नामक दीपके सोला भेद कहे हैं

अयोग्यजनसंसर्गराटिकलकलादयः ॥

अविचित्स्थितेः संति समाधाननिष्ठदिनः ॥ २३२ ॥

प्राग्भाराकृत्रिमरामदेवतादिगृहादिषु ॥

जायते वसतः साधोः समाधानमखंडितम् ॥ २३३ ॥

विजयोदया—कलहो बोलो ममेयं वसतिस्त्वेयं वसतिरिति फलहो न केनचित् अन्यजनरोहितत्वात् । बोलो शब्दबहुलता । झंझा संकेतो । वामोहो वैचित्यं । संकरो अयोग्यैरसयते सह मिश्रण । ममत्वं च ममेदभावश्च । नारिय नास्ति । उद्घाणज्जयणविद्यादो ध्यानस्याध्ययनस्य च व्याघात । उक्त कलहदिनं विद्यते । क ? विविक्ताए वसन्धीए विवि-  
कार्या वसतौ । एकस्मिन्मये निरुद्धज्ञानसंततिर्ध्यान । अनेकप्रमेयसंचारी स्वाध्याय ।

विविक्तवसतौ वसता दोषाभावमाह—

मूलारा—कलहो ममेय वसतिस्त्वेयमिति कलिः । रोला रोलः शब्दबहुलतेत्यर्थः । झंझा संकेतं झकटक इत्येके । वामोहो वैचित्यं । संकरो असंयतैः सह मिश्रणं ॥

अर्थ—यह मेरी वसतिका है, यह तेरी वसतिका है ऐसा कलह करनेका प्रसंग निवृत्त वसतिकामें रहने वाले सुनि के ऊपर आता नहीं है एकांत वसतिकामें मनमो व्यग्र करनेवाले शब्द सुननेमें आते नहीं हैं, संकेत-परिणाम और मनकी व्यग्रताभी वहां होती नहीं है अयोग्य असयत पुरुषोंके साथ संबंध नहीं रहता है विवृत्त वसतिकाके ऊपर ममत्व रहता नहीं है, ध्यान और अध्ययनमें व्यत्यय आता नहीं ध्यान और अध्ययनमें यह फरक है—एकही विषयमें ज्ञानकी परंपरा स्थिर होना वह ध्यान है और अनेक विषयोंमें संचार करनेवाली ज्ञान-परंपराको स्वाध्याय कहते हैं.

इय सल्लीणमुवगदो सुहप्पवत्तेहिं तित्थजोएहिं ॥

पचसमिदो तिगुत्तो आदुठपरायणो होदि ॥ २३३ ॥

एवमैकाग्यमापन्नो ध्यानैः शुद्धप्रवृत्तिभिः ॥

समितः पंचभिर्गुप्तस्त्रिभिरास्ति हितोद्यतः ॥ २३४ ॥

विजयोदया—इय एवं । सलीणं एकात्मतां उवगदो उपगतः । केन ? जोगेहि योने, तपोमिथ्यैर्नैर्वा । सुहृण्व-  
चेहिं सुखप्रवृत्तैः सुयेनाक्रेशेन प्रवृत्तैः । पचसमिदो समितिपंचकोपेत । त्रिगुत्तो कृताशुभमनोवाक्कायनिरोध । आदृष्ट-  
परायणो होदि आत्मप्रयोजनपरो भवति । एतेन कथ्यते—विविक्तवसतिस्थायी यतिनिष्पत्तिद्वंद्व्याने शुभैस्तपोभिर्वा  
स्वास्थ्यमुपगतः संवरं निर्जरा च स्वप्रयोजनं सपादयति इति ।

विविक्तवसतिस्थायी निर्विघ्नध्यानादिना प्राप्तस्वास्थ्यः संवरनिर्जरे करोतीति दर्शयति—  
मूलारा—इय अनेन वसतिस्थायित्वलक्षणेन प्रकारेण । सलीग एकतमता । सुहृण्वचेहिं अक्लेशेन प्रवृत्तैः ।  
तस्य बाहो तपसि । सलीनमुपगत इति योज्यम् । जोगेहि मनोवाक्कायैर्ध्यानेर्वा । त्रिगुत्तो कृताशुभमनोवाक्कायनिरोधः ।  
आदृष्टपरायणो आत्मप्रयोजनपरः संवरनिर्जरानिष्ठः इत्यर्थः ।

अर्थ—इस प्रकार एकांत वसतिकामें निवास कर वह साधु क्लेशोंके बिना सुखसे तप और ध्यान कर  
आत्मस्वरूपमें लीन होता है. ईयासमिति योगरह पांच समितिओंका पालन करता है मन वचन और शरीरकी अशुभ  
प्रवृत्तियां रोक कर आत्मप्रयोजनमें तत्पर होता है अभिप्राय यह है कि, एकांत वसतिकामें रहनेसे मुनियोंके  
ध्यानमें और स्वाध्यायमें विघ्न उपस्थित होते नहीं हैं. तथा रागद्वेषादिक संक्लेशपरिणामोंकी उत्पत्ति होती नहीं.  
तपसे मुनि निजस्वरूपमें स्थिर होकर संवर और निर्जरारूपमें आत्माके प्रयोजनको पूर्ण रूपसे प्राप्त कर सकते हैं.  
अतः विविक्तव्य्यासन तप करना मुनियोंका परम कर्तव्य है.

संवरपूर्विका निर्जरा स्तोत्रमाह—

जो गिज्जरेदि कम्मं असंबुडो सुमहदावि कालेण ॥  
तं संबुडो तवस्सी खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ २३४ ॥  
तन्निर्जरयते कर्म संबुत्तोऽन्तमुहूर्ततः ॥  
पष्ठाष्टमादिभिः साधुस्तापसा यदसंबुतः ॥ २३५ ॥

विजयोदया—जं गिज्जरेदि कम्मं यत्कर्म निर्जरयति तपसा बाहेन । क ? असंबुडो असंबुतः अशुभयोगनितो-  
धराहितः । सुमहदावि कालेण सुख महता कालेनापि । तं तत्कर्म खवेदि क्षपयति । अंतोमुहुत्तेण अतिस्वल्पेन कालेन ।  
क ? संबुडो संबुत गुत्तिसमितिधर्मादुपेक्षणीयपहजयपरिणत । तवस्सी तपस्वी अनशानादिमान् ।

संवरपुर सरा निर्जरा गायद्वयेन स्तोत्रमाह—

मूलारा—असंबुद्धो असंबुद्धो अशुभयोगनिरोधरहित इत्यर्थः । संबुद्धो गुप्तिसमितिघर्मादुपेक्षापरीपहजयपरिणतः । तवस्ती अनशनादितपोनिष्ठः ।

संवरपूर्वक निर्जराकी ग्रंथकार स्तुति करते हैं—

अर्थ—अशुभ मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको न रोक कर बाह्यतपके द्वारा बहुतकालसे जो मुनि जितने कर्मकी निर्जरा करता है, गुप्ति, समिति, घर्म, अदुःश्रद्धादिकोभे तत्पर रहनेवाला साधु उतना कर्म अनशनादि तपोंके द्वारा अंतर्बुद्धतेमें नष्ट करता है, गुप्ति समिति इत्यादिकोंसे संवरपूर्वक विपुल कर्मकी निर्जरा होती है और केवल बाह्य तप गुप्ति समित्यादिकोंके आश्रयसे रहित होकर बहुकालसे भी उतनी निर्जरा नहीं कर सकता है.

एवमवलायमाणो भवेमाणो तवेण एदेण ॥

दोसे णिग्वाडंतो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥ २३५ ॥

एवं भावयमानः संस्तपसा स्थिरमानसः ॥

अप्रशस्नं परीणामं नाशयंश्चेष्टते तराम् ॥ २३६ ॥

विजयोक्त्वा—एवमुक्तेन । क्रमेण एतेन । तवेण भवेमाणो तपसा भावयन्नात्मानमुद्यतः । अवलायमाणो अपलायमान । कुतो दुर्धरात्तपसः । एवमवलोयमाणो इति कचित्पाठ तत्रायमर्थः—किल एवमेदेण तवेण भवेमाणो इति पदसंबंधः । एवमेतेन तपसा भावयमानः अपलोयमाणो द्रव्यकर्म विनाशयन् इति तदयुक्तः । अशब्दार्थत्वात् । दोसे दूषयति रत्नत्रयमिति दोषा अशुभपरिणामां तान् घातयन् । पग्गहिददरं नितरा । परक्कमदि चेष्टते मुक्तिमार्गं ।

मूलारा—अवलायमाणो अपलायमान दुर्धरात्तपसोऽविभ्यदित्यर्थः । भवेमाणो भावयमानः । तवेण एदेण दोसे णिग्वादंतो अशुभपरिणामान् विनाशयन् । पग्गहिदरं नितरा परक्कमदि मोक्षमार्गे चेष्टते ।

अर्थ—इस रीतीसे तपश्चरणसे आत्माको संस्कृत करनेवाला और दुर्धर तपमें जो भययुक्त नहीं हुआ है, ऐसा मुनि रत्नत्रयको दूषित करनेवाले अशुभपरिणामोंको नष्ट करता हुआ मोक्षमार्गमें महाप्रयत्नसे प्रवृत्त होता है

यतिना निर्जराधिना एवभूतं तपोऽनुष्ठेयं इति कथयति ।

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उठ्ठेदि ॥

जेण य सट्ठा जायदि जेण य जोगा ण हायति ॥ २३६ ॥

तत्तपोऽभिमतं वाछं मनो येन न दुल्लयति ॥

योगा येन न हीयंते येन अट्ठा प्रवर्तते ॥ २३७ ॥

विजयोदया—सो णाम बाहिरतवो तन्नाम वाछ तपः । किं? जेण मणो दुक्कडं ण उठ्ठेदि येन तपसा क्रियमाणेन मनो दुष्कृतं प्रति नोत्तिष्ठते । जेण य सट्ठा जायदि येन च क्रियमाणेन तपसा तपस्यभ्यन्तरे अट्ठा जायते । जेण य जोगा ण हायति येन च क्रियमाणेन पूर्वगृहीता योगा न हीयते । तत्तथाभूत तपोऽनुष्ठेयमिति यावत् । यतिना निर्जराधिना एवं भूतं तपोऽनुष्ठेयमिति कथयति—

मूलरा - दुक्कडं ण उठ्ठेदि दुष्कृतं प्रति नोत्तिष्ठते । सट्ठा अट्ठा तपस्यभ्यन्तरे रुधिः । जोगा पूर्वगृहीतव्रतविशेषाः । निर्जराक्री इच्छा रखनेवाले मुनिवर्यको जो तप करना योग्य है उसका वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिस तपके आचरणसे मन दुष्कर्मके प्रति प्रवृत्त नहीं होता है तथा जिसके आचरणसे अम्यंतर प्रायश्चित्तादि तपोमें अट्ठा होती है, जिसके आचरणसे पूर्वके धारण किये हुए व्रतविशेषोंका नाश नहीं होता है उसी तपका अनुष्ठान करना योग्य है

बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता ॥

सख्खिहिदं च सरिं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥ २३७ ॥

वाद्येन तपसा सर्वा निरस्ताः सुग्वचासनाः ॥

सम्यक्कननूततो देहः स्वः संवेगेऽधिरोपितः ॥ २३८ ॥

विजयोदया—वाद्यतपोऽनुष्ठाने गुण कथयत्युत्तरं सूत्रे । बाहिरतवेण वाद्येन तपसा हेतुभूतेन । सव्वा सुहसीलदा परिचत्ता होदि मया सुखशीलता परित्यक्ता भवति । सुखभावना राग जनयति । राग स्वयं च कर्मवधे हेतुदोषं चानयति । वधः कर्मस्थितिहेतुः सेवमर्यान्निरस्ता भवति इति मन्यते । सख्खिहिदं च शरीरं भवति । शरीरं दुःखनिमित्तं

तत्पुण्यकामस्य तनूकरणमुपाय तदनुष्ठितं भवतीति यावत् । अविदो स्थापित । आदा य स्वयं च सवेगे संसारभीरुताया । ननु च संसारभीरुता हेतुस्तपसो न तपो हेतुस्तथा; ततोऽयुक्तमभाणि सूत्रकारेण बाह्येन तपसा सवेगे स्थापित । लोकै-  
नायं सविश्वचित्त इति स्थाप्यते बाह्ये तपसि वर्तमानस्ततो युक्तमुच्यते ।

बाह्यतपोऽनुष्ठानगुणान् बाहिरतवेगेत्यादि जहसंभवेगेत्यवसान गाथाश्रुकेनाचष्टे —

मूलारा—सुहृसीलदा सुखभावना । सा हि रागं जनयति रागश्च कर्मबंध । संवेगे बाह्यं तपः कुर्वन् लोकैनायं  
संभिमचित्त इति स्थाप्यते यतस्तत एवमुक्तं । न पुनर्बाह्यं तपः संसारभीरुताया हेतुः किं तर्हि सा बाह्यतपसः ।

अर्थ—बाह्य तपसे संपूर्ण सुखरभावका त्याग होता है, अर्थात् बाह्य तप करनेसे आलस्य और सुख  
मित्रता नष्ट होती है, हमेशा सुखकी भावना करनेसे मनमें रागभाव उत्पन्न होता है रागभाव कर्मबंधके कारणभूत  
दोषोक्तो उत्पन्न करता है, बंध कर्मस्थितिका कारण है अतः बाह्य तपसे सुखशीलताका ही नाश होता है, बाह्य  
तपसे शरीरसंवेदनता होती है, शरीर दुःखका कारण है उसका त्याग करनेकी इच्छा करनेवालोंको तप शरीर  
कृश करनेमें उपाय है, अर्थात् बाह्य तप करनेसे शरीरसंवेदनको उपायकी प्राप्ति होती है, बाह्य तपसे आत्मा  
गंगाभीरुता नामक गुणमें स्थिर होता है, श्रुका—संसारभीरुता तपके लिए कारण है, ऐसा समझना योग्य नहीं  
है, इसलिये बाह्य तपसे श्रुति का चित्त संसारभयसे युक्त है ऐसा लोक समझते हैं, अतः संसारभीरुता का-  
रण है और तप कार्य है, कार्यको देखकर कारणरूप को लोक जानते हैं इस नियमका विचार करनेपर सूत्रका-  
नें गंगाभय तपका कारण है ऐसा जो कदा है वह योग्य है ऐसा सिद्ध होता है,

अंताणि हेन्द्याणि य समाधिजोगा य फासिदा ह्येति ॥  
अणिगुद्विरीयिओ जीविदतणहा य वोच्छिण्णा ॥ २३८ ॥  
अंताणिन्द्रियाणि दान्तानि स्पृष्टा योगसमाधयः ॥  
अणिगुद्विरीयिओ जीविदतणहा य वोच्छिण्णा ॥ २३८ ॥

विजयोदया—दंताणि दांतानि इन्द्रियाणि च । ह्येति भवन्ति । अनशनमवमोदयवृत्तिपरिस्थित्यानेन जिह्वा दाता भवति इति । विविक्तशय्यासनेन इतराणि इन्द्रियाणि दांतानि भवति । मनोऽन्धेन्द्रियविषयरहितायां वसतावस्थानात्तानि निगृहीतानि भवन्ति । समाधिजोगा य फासिदा ह्येति । रत्नत्रयसमाधानसवधा स्पृष्टा भवन्ति । अशनादिकं त्यजता विषयरगो निरस्तो भवति । विषयरगव्याकुलो हि रत्नत्रये न घटेते । असति तस्मिन्त्याकुलोऽशुभपरिणामैकमुखो भवति इति मन्यते । अणिगूहिद्वीरियदा अनिगूद्वीर्यता च भवति । वीर्याचारे प्रवृत्तश्च भवति । जीविदतण्हा य या जीविते तृष्णा च व्युच्छिन्नं गता । न हि जीविताशावान् अशनादिकं त्यक्तुमीहते । जीविते तृष्णावान्यात्किंचित्त्वा असंयमादिकं प्राणानेव धारयितुमुद्यतो भवति न रत्नत्रये ।

मूलारा—दंताणि अनशनादिचतुष्टयेन हि प्राधान्येन जिह्वा दाता भवति । विविक्तशय्यासनेन चेतराणि इन्द्रियाणि दान्यति । मनोऽन्धेन्द्रियविषयाणा तद्रागकोपिना विविक्तवसतौ असंभवात् । समाधिजोगा रत्नत्रयैकाग्रतासंघाः । फासिदा अनुष्ठिताः । अशनादित्यजनाद्विषयरगानिरोधेन शुभपरिणामैकमुखत्वोपपत्तेः । अणिगूहिद्वीरियदा । अनिगूद्वीर्यता वीर्याचारप्रवृत्तिश्च स्यादित्यर्थः । बोच्छिण्णा निरस्ता लक्ष्यते । न हि जीविताशावानशनादिकं त्यक्तुमीहते, किं तर्हि यत्किंचित्त्वा प्राणानेव धर्तुं उत्सहते न रत्नत्रयम् ।

अर्थ—अनशन, अवमोदय और वृत्तिपरिस्थित्या इन तीन तपोंके द्वारा जिह्वाका दमन होता है. विविक्तशय्यासन तपके द्वारा स्पर्शनादि इंद्रियोंका दमन होता है. इंद्रियोंको प्रिय ऐसे विषयोंका अभाव जिसमें है ऐसी वसतिकामें निवास करनेसे स्पर्शनादिक इंद्रियां वश होती हैं.

इन बाह्य तपश्चरणोंसे रत्नत्रयमें एकाग्रता प्राप्त होती है. आहारादिकका त्याग होनेसे विषयप्रेम नष्ट होता है. विषयोंके प्रेमसे व्याकुल हुआ मनुष्य रत्नत्रयमें स्थिर होता नहीं है. रत्नत्रयका अभाव होनेपर वह व्याकुल पुरुष अशुभ परिणामोंमें ही लीन होता है. ऐसा समझना चाहिये. बाह्यतपसे मुनिराजको अपनी आत्मिक शक्ति प्राप्ति होती है अर्थात् बाह्य तप कर मुनिराज वीर्याचारमें प्रवृत्त होते हैं. बाह्यतपके प्रभावसे मुनिराजकी जीवितकी आशा नष्ट होती है जिसका जीवितके ऊपर स्नेह है वह आहारादिकका त्याग करना पसंद नहीं करता है. जीवितार्थी मनुष्य चाहे जो असंयमादिक करके प्राण धारण करनेके लिये उद्युक्त होता है. परंतु रत्नत्रयमें प्रवृत्त नहीं होता है.

दुक्खं च भाविदं होदि अप्पडिबद्धो य देहरससुक्खे ।

मुसमूरिया कसाया विसएसु अणायरो होदि ॥ २३९ ॥

रसदेहसुखानास्था जायते दुःखभावना ॥

प्रमर्दनं कषायाणामिन्द्रियार्थेष्वनादरः ॥ २४० ॥

विजयोदया--दुःखं च भाविदं होइ दुःखं च भावितं भवति । दुःखभावेना च कथमुपयोगिनी आसक्केशेन दुःखसहने कर्मनिर्जरा जायते । क्रमेण च जायमाना निर्जरा निरवशेषस्य कर्मण्यस्योपाय इत्येवमुपयोगिनी इति मन्यते । अपि चासकृद्भाषितदुःखो निश्चलो भवति इति । ध्याने अप्पडिबद्धो य होइ अप्रतिबद्धश्च भवति । देहरससोक्खे शरीर-रससौख्ये । एतेषु त्रिषु प्रतिबद्धता समाधेर्विघ्नं स निरस्तो भवतीति भावः । मुसमूरिदा कसाया उन्मुदितः कषाया-भवन्ति । कथं अनशनादिना कषायनिग्रहं कृतो भवति । क्षमामार्दवार्जवसतोयभावनादिप्रतिपक्षभूता विनाशयन्ति कषा-याश्चेत्तरदिति चेत् अयमभिप्रायः -- अशनाद्यलामे, स्वल्पलामे, अशोभनानां वा लामे क्रोधकषाय उत्पद्यते । तथा प्रचुर-लामाद्रसवद्भिद्भालामाद्य लघ्विमानहमेति मानकषायः । आसदीयभिक्षागृहं यथान्ये न जानन्ति तथा प्रविशामीति चिन्ता मायाकषायः । अशमे रसे प्राचुर्यविशिष्टे वासक्तिलोभकषायः । तथा वसत्यप्रदाने कोपः, तद्व्यापे च मानकषायः प्राग्वत् । अन्येऽप्यागच्छतीति न मम वसतेरस्त्यकाशश्चात्रेति वचनान्मायाकषायः । अहमस्य स्वामीति लोभः । इत्थं कषायनिमि-त्तवस्तुत्यागाच्च कषायाणामवसरः इति । विसएसु विषयेषु स्पर्शनादिविषु । अणादरो होइ अनादरो भवति औदासीन्यं जायते । तदौदासीन्यात् तदादरनिमित्तं कर्मसर्वरो भवतीति भावः । अशनस्य हि शुक्लादिरूपेषु चटुस्पर्शे, सौगन्धे, रसे वा-दिरस्त्यक्तो भवति अशन त्यजता । तथा क्षीरादिकमपि त्यजता क्षीरादिरूपेषु ।

मूलारा--असंकेलेशेन हि दुःखसहने शुभकर्म संवरनिर्जरे स्यात्, क्रमेण युक्तिश्च भावितदुःखस्य च ध्याने निश्चलता स्यात् इति मन्यते । अप्पडिबद्धो देहे रसे सौख्ये वानासक्तिः स्यात्तत्र समाधिविज्ञो न स्यात् । मुसमूरि-दा दलिताः । द्रव्यक्रोधाद्युद्यनिमित्तस्य अशनादिवस्तुनस्त्यागाद्वास्तवपसा कृत्वादिलक्षणभावक्रोधादयो निरुध्यं-ते इतीदमुच्यते । वस्तुतस्तु अमादिभावनात्क्रोधादिनिग्रहः स्यात् । अयमभिप्रायोऽत्र अशनादेरलामे स्वल्पस्याशोभनस्य वा लामे क्रोध उत्पद्यते । तथा प्रचुरस्य विचित्ररसस्य वा लामाह्लिब्धिमानहमेति मानो जायते । मद्भिक्षागृहं यथान्ये न जानन्ति तथा प्रविशामि इति चिन्तया माया समुद्भवति । अशनादौ विशिष्टे आसक्केशोभः संभवतीति । तथा वसते रप्रदाने कोपस्तद्व्यापे प्राग्वन्मानोऽन्येप्यागच्छन्तीति न मे वसतिरस्त्यवकाशो वा नेति वचनान्माया । अहमस्याः स्वामीति



भावनाल्लोभः । इत्थं कपायोदयनिमित्तवस्तुत्यागान् कपायाणामवसर इति । अणादरो औदासीन्यं । ततश्च तदादरनिमित्त कर्मान्नवनिरोधः स्यादिति भावः । अशनं हि त्यजता तद्वतरसरूपगंधेष्वदादरस्त्यक्तो भवति ॥

आश्वास.

३

अर्थ—वाह्यतपोका आचरण करनेसे दुःखभावनाका अभ्यास होता है, अर्थात् संकलश परिणामोंके बिना दुःख सहन करनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है, क्रमसे होनेवाली यह कर्मनिर्जरा संपूर्ण कर्मका नाशरूप जो मोक्ष उसका उपाय होती है, अतः दुःखभावना परंपरासे मोक्षप्राप्तिका कारण होनेसे उपयोगी है ऐसा साधुगण समझें, दुःखभावनाका चारंवार चिन्तन होनेसे साधुका चित्त धर्मध्यानमें निश्चल होता है, वाह्यतपमें निसर्ग दुःख सुनिकी देह, क्षीरादि पदार्थ और सुख इन तीनोंमें आसक्ति नहीं रहेगी, यह आसक्ति रत्नत्रयमें विद्य करनेवाली होती है, अनशननादिक वाह्यतप सर्व क्रोधादि कपायोंका निग्रह करता है, शंका-तपमें कपायनिग्रह करनेका सामर्थ्य कैसा ? क्षमा, मार्दव, आर्जव और संतोष इन भावनासे कपाय निग्रह होता है क्योंकि ये कपायोंके प्रतिपक्षी हैं, वाह्यतप प्रतिपक्षी नहीं है ? इस शंकाका उत्तर—

इसका अभिप्राय यह है कि, अन्नादि पदार्थ न मिलनेसे अथवा स्वाल्प मिलनेसे, किंवा अप्रिय मिलनेसे, क्रोध कपाय उत्पन्न होता है, यदि अन्नादि पदार्थ यथेष्ट मिले और वे रसयुक्त भी हो तो मेरेको ही ऐसे अच्छे मिष्ट पदार्थ मिलते हैं इतरोको नहीं मिलते हैं ऐसा विचार मन में आनेसे मानकपाय उत्पन्न होता है, मेरा शिक्षा लेनेका स्थान अन्य साधुओंको ज्ञात नहीं होगा इस रीतिसे मैं वहा प्रवेश करूं ऐसा विचार मन में उत्पन्न होना यह मायाकपाय है, विपुल अन्न और उसके रसमें आसक्ति होना लोभकपाय है, वसतिके विषयमें भी क्रोधादि चारो कपाय उत्पन्न होते हैं, जैसे—

श्रावकने वसतिका नहीं देनेपर क्रोध उत्पन्न होता है, उसके मिलनेपर मानकपाय उत्पन्न होता है, जब दूसरे साधु आंगे तो यहा अवकाश नहीं है ऐसा वचनप्रयोग करता है जिससे मायाकपाय प्रगट होता है, इस वसतिकाका मैं मालिक हूं यह संकल्प उत्पन्न होना लोभकपाय है, इस प्रकार कपायोंको उत्पन्न करनेवाली चर्जोंका त्याग करनेसे कपायोंको मनमें स्थान नहीं मिलता है, अतः वाह्यतपसे कपायनिग्रह होता है ऐसा आचार्यने कहा है, बाह्य तपसे पंचद्रियके विषयोंमें अनादर होता है अर्थात् उनमें उदासीनता होती है, इस उदासीनतासे तपमें आदर उत्पन्न होकर कर्मोंका संवर होता है, आहारके पदार्थ शुक्लादिरूप धारक, मृदुस्पर्शयुक्त, सुगंध

सहित व रसाविशिष्ट हो तो भी उसमेंसे आहार त्याग करनेवालेका आदर नष्ट होता है, क्षीरादिकका जिसने त्याग किया है उस मुनीका क्षीरादिकमें आदरभाव नष्ट होता है.

कदजोगदाददमणं आहारणिरासदा अगिद्धी य ॥

लाभालाभे समदा तितिवखणं बंभवेरस्स ॥ २४० ॥

आहारखर्वता दांतिः समस्तत्यागयोग्यता ॥

गोपनं ब्रह्मचर्यस्य लाभालाभसमानता ॥ २४१ ॥

चिज्योदया—कदजोगदा सर्वत्यागस्य पश्चाद्भाविन । योगश्च कृतो भवति बोद्धेन तपसा । आददमणं कामनो दमनं आहारे सुखे च योऽनुरागस्तस्य प्रशमनात् । आहारणिरासदा आहारे नैराश्य संपादित प्रतिदिनं आहारागताशारित्यागभ्यासात् । सर्वकालेऽपि सुकरा भवत्याहारनिराशतेति भावः । अगिद्धी य अगुद्धिश्च अलंपटता च । क ? आहारे । न ह्याहारे गृद्धिमान्लब्धा तं त्यजति । लाभालाभे समदा लाभालाभयो समता । लाभे च सत्याहारास्य हर्षाकरणात् । अलाभे च तथाऽकोपात् । य स्वयमेव लब्धमपि त्यजति स कथमिव परेपामदाने दुर्मनीभवति । नितिकखणं वभवेरस्स ब्रह्मचर्यं च सोढं भवति । रसवदाहारात्यागादभिनवेऽसति शुक्रसंचये अनशने च संचितप्रलये सति न स्त्रीचनुरागो भवति इति भावः । तथा गलितशुक्राणा पुंसा वैमुख्य अगनासु प्रतीतेमेव ॥

मूलारा—कदजोगदा कृता योग्या परिकर्म सर्वाहारात्यागस्य पश्चाद्भाविनोऽभ्यासो येनासौ कृतयोग्यस्तस्य भावः कृतयोग्यता । कृतकरणीयता बाह्येन तपसा स्यात् । आददमणं आत्मनो दमनं आहारे सुखे वातुरागप्रशमनाद्वर्षखंडनं । आहारणिरासदा प्रतिभिनं आहाराशनिरासाभ्यासात्सर्वत्यागकालेऽपि तद्वाछासमुच्छेद सुकरः स्यादिति भावः । अगिद्धी अलापक्यमाहारे । न ह्याहारे गृद्धिमाह्वय्या तं त्यजति । समदा आहारास्य लाभे हर्षस्याकरणादलाभे च रोषस्य । यो हि स्वयमेव लब्धमपि त्यजति स कथमिव परेपामदाने दुर्मनीभवति । दाने वा दृष्यति । नितिकखणं दृष्याहारात्यागेनाभिनवस्य रेतसोऽसंचयनात् । अनशनेन च संचितस्य संहरणात् । स्त्रीचनुरागानुद्भवात् प्रतीतमेव च गलितरेतसा पुंसा बीषु वैमुख्यम् ।

अर्थ—भरण कालमें जो संपूर्ण आहारोंका त्याग करना पडता है उसका अभ्यास बाह्य तपके आचरण से होता है, इन तपोंसे आत्मदमन नामका गुण प्राप्त होता है अर्थात् आहारमें और सुखमें जो प्रेम उत्पन्न होता

है उसका तपसे प्रशमन होता है अतः आत्माका दर्प अर्थात् मद नामका दोष नष्ट होता है. इस तपसे आहारकी इच्छा का त्याग करनेका अभ्यास वृद्धिगत होता है. इस लिए आहारनिरासता नामक गुण प्राप्त होता है. और सर्व कालमें यह गुण आत्मा अपनेमें धारण करनेमें समर्थ होता है. तपसे आहार की लंपटता नष्ट होती है जो आहारमें लंपट है वह व्यक्ति आहारकी प्राप्ति होने पर उसको छोड़ना नहीं चाहता है तपसे लाभ और अलाभमें समता प्राप्त होती है. तपस्वीको आहार मिलनेपर हर्ष होता नहीं और न मिलने पर वह कुपित भी होता नहीं. जो तपस्वी प्राप्त हुआ आहार स्वयं छोड़ देता है वह यदि उसको कोई आहार न दे तो क्यों खिन्न होगा ? तपसे मुनि ब्रह्मचर्यको सहन करते हैं. रसयुक्त आहारका त्याग करनेसे नवीन वीर्यका संचय नहीं होता है और पुराना शुक्रसंचय नष्ट होता है तब स्त्रीपर अनुरागभाव नहीं होता है. जिनका शुक्र नष्ट होगया है ऐसे मनुष्य स्त्रीसे पराङ्मुख होते हैं यह वस्तुस्थिति प्रसिद्ध है.

णिह्राजओ य ददृशाणदा विमुत्ती य दप्पणिग्घादो ॥

सज्झायजोगणिग्घिग्घदा य सुहदुक्खसमदा य ॥ २४१ ॥

निद्रागृद्धिमदस्नेहलोभमोहपराजय ॥

ध्यानस्वाध्याययोर्वृद्धिः सुखदुःखसमानता ॥ २४२ ॥

विजयोदया—णिह्राजओ य निद्राजयश्च । प्रतिदिनमश्रुत रसवदाहारसेवापरस्य यदुभोजिनश्च निवाते सुख-  
स्पर्शो निरुपद्रवे च देशे शयानस्य निद्रा महती जायते, यथा परवशो निद्रेतेन इव भवत्यशुभपरिणामप्रवाहे च पतति, न  
च रत्नत्रयेण घटयति, तस्या जयो । ददृशाणदा दृढध्यानता च दुःखोपनिपाताच्चलति ध्यानादभाषितदुःखो यतिः । कृत-  
तपोभावनस्तु शुद्धादिपरीपदोपतिपातेऽपि सहते । विमुत्ती य विमुक्तिर्विशिष्टत्याग अनशनानाद्युद्यतेन शरीरेव त्यक्त  
भवति तदेव दुस्त्यज । दप्पणिग्घादो असंयमकरणो यो रूपस्तस्य निर्घातश्च कृतो भवति । सज्झायजोगणिग्घिग्घदा  
य वाचनानुप्रेक्षाम्नाययमोपदेशैरेण संचयो यस्तस्य विघ्नाभावश्च । आहारार्थं भ्रमत कथं स्वाध्याय. क्रियते ? बहुभोजन-  
नश्च उत्तान स्रगिति आसितुमप्यसमर्थः । रसवदाहारमोजीआहारोपगणा दृष्टमान इतस्ततः परावर्तते । अविधि-  
काया वसतौ वर्तमान. परेया वच शृण्वसैत. सद्ध सभाषणं कुर्वन्नाधीते । धिविक्तेदेशस्थायी पुनर्निर्व्याकुलः स्वाध्याये  
घटते । सुहदुःखसमदा य सुखेन हृष्यति दुःखेन दुःखेन इत्यति इति रागद्वेषावतरेण सुखदुःखानुभव सुखदुःखसमता । अशानं

रसाश्च सुखसाधनभूतास्त्यजता सुखे रागस्त्यक्तो भवति । क्षुदादिवेदनोपनिपाते असंकेलशात् दुःखे न च द्वेषोऽस्या स्तीति । याद्विरत्तेवण द्योदि दु इत्यनेन पञ्चस्त्रीनिदिष्टानां प्रत्येक सवधः ॥

मूलारा — णिदाजओ प्रतिदिनमभ्रतो रसवदाहारसेवापरस्य बहुभोजनश्च निवाते निरुपद्रव्ये सुखस्पर्शतले निद्रा महती जायते । यदृशानिश्चेतन इव भवति, अशुभपरिणामप्रवाहे च पतति । न च रत्नत्रयाय कल्पते । तस्या जयोऽनशना- विना क्रियते । दृढज्ज्ञानदा तपता भावितदुःखो हि परीपहनिपातेऽपि न ध्यानाद् भ्रश्यति । विशिष्टा मुक्तिरनशनादा- बुधतेन दुस्त्यजस्यापि देहस्य त्यजनात् । दम्पणिगघादो असंयमकरणे यो दर्पस्तस्य विनाशो । सञ्ज्ञाय जोगणिविगधदा । वाचनादिसर्वधविभ्रामावः । आहारार्थे भ्रमणे बहुभोजनादासनस्यापि शक्त्युपचातेन, रसवदाहारभोजनजन्यविदाहवशा- दितस्ततः परावर्तनेन, जनसंकुले तद्वचःश्रवणतत्संभाषणकरणाभ्या च स्वाध्यायभंगसंभवात् । सुहृदुःखसमदा सुखसाध- नाशनरसादित्यजनस्तुले रागादुदयात् क्षुदादिवेदनोदयेऽपि असंकेलशादुःखे च द्वेषादुद्भवात् ।

अर्थ — बाह्य तपसे मुनि निद्राको जीत लेते हैं जो प्रतिदिन भोजन करता है, रसयुक्त आहारका सेवन करनेमें तत्पर रहता है और बहुत भोजन करता है, जिसको वातरहित, सुदुस्पर्श युक्त, और निरुपद्रव ऐसे स्थानमें सोनेकी फिकिर होती है, ऐसा स्थान मिलनेपर दीर्घ कालतक खुरीटे लेता है, प्रेतके समान निर्धूल सो जाता है, अशुभ परिणाम भी उसके मनमें हुआ करते हैं और वह रत्नत्रयमें प्रवृत्त होता नहीं इस तपसे ये सर्व दोष नष्ट होकर निद्राजय नामका गुण प्राप्त होता है

तपसे ध्यानमें दृढता आती है, दुःख सहन करनेका अभ्यास होनेसे मुनि दुःखोंके प्रसंग आने पर भी ध्यानसे अष्ट नहीं होते हैं, हमेशा तपका अभ्यास करनेसे वह सामर्थ्य मुनिमें आजाता है जिससे वे भूख, तृषा वगैरह परीपह प्राप्त होने पर भी दुःखोंकी परवाह नहीं करते हैं तप करनेसे मुनिओंको विमुक्ति अर्थात् विशिष्ट त्याग नामका गुण प्राप्त होता है अनशनादिक तपश्चरणमें तत्पर मुनिअसि शरीरका त्याग किया जाता है यह शरीरका त्याग करना ही बड़ा कठिन है, तपसे दर्पनाश नामक गुण प्राप्त होता है, असंयमको उत्पन्न करनेवाला मद इस तपसे नष्ट होता है, अनशनादि तपसे वाचना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मीपदेश इन स्वाध्यायके भेदोंका संबंध आता है और उसमें विघ्न उपस्थित होते नहीं हैं, आहारके लिये भ्रमण करने वाले मुनिको स्वाध्याय करना शक्य नहीं होता है, बहुत भोजन करनेपर वह ऊपर मुल कर सोवगा, वह बैठ भी नहीं सकेगा, हमेशा रसयुक्त आहार

करनेवाले मुनिको आहारकी उष्णतासे इधर उधर लोटना पड़ेगा, बहुजन जिसमें ठहरते हैं ऐसी वसतिकामें रहनेवाला मुनि दूसरोंके वचन सुनकर उनके साथ भाषण करनेमें अपना समय बिता देगा, और अध्ययन नहीं करेगा, परन्तु जो एकांत वसतिकामें रहता है वह मुनि व्याकुलता रहित होनेसे साध्यायमें तत्पर रहता है, बाह्य तपसे सुख और दुःखोंमें समता प्राप्त होती है, अर्थात् मुनि इसके प्रभावसे सुखमें आनन्द नहीं मानते हैं और दुःखमें दुःखित नहीं होते हैं, अर्थात् सुखमें रागभाव और दुःखमें द्वेषभाव उनको नहीं होता है रागद्वेषोंके अभावमें सुखदुःखका अनुभव आता नहीं है, यही सुखदुःखसमताका स्वरूप है, आहार और रसयुक्त घी, दूध वगैरे सुख साधक पदार्थोंका त्याग करनेवाले मुनि सुखमें प्रीति नहीं रखते हैं श्रुतिदिक्से दुःख की प्राप्ति होने पर भी संकेश परिणाम उनके मनमें नहीं होते हैं अतः वे दुःखमें द्वेष नहीं रखते हैं इस प्रकार पाँच गाथाओंसे बाह्य तपके गुण आचार्यजीने कहे हैं.

आदा कुलं गणो पवयणं च सोभाविवदं हवदि सव्वं ॥  
अलसत्तणं च विजडं कम्मं च विणिद्धुयं होदि ॥ २४२ ॥  
आत्मा प्रवचनं संघः कुलं भवति शोभनं ॥

समस्तं त्यक्तमालस्यं कल्मषं विनिवारितम् ॥ २४३ ॥

विजयोदया—आदा कुलं गणो पवयणं च सव्व सोभाविवदं हवदि पवघटना । बाह्येन तपसा स्वयं कुलमात्मनो, गणं, स्वशिक्ष्यसत्तानश्च शोभामुपनीतो भवति । अलसत्तणं च अलसत्वं च । विजडं त्यक्तं भवति । दुर्धरतपःसमुद्योगात् कम्मं च विणिद्धुदं कर्म च सत्सारमूल विशेषेण निर्दूतं भवति ।

मूलारा—कुलं स्ववंशः । गणो स्वगुरुशिक्ष्यसत्तानः । सोहाविवदं शोभामुपनीतं । विजडं त्यक्तं । विणिद्धुदं विनिर्दूतं ॥

अर्थ—अपना आत्मा, अपना वंश, अपना गण अर्थात् अपने गुरुके शिष्योंकी परंपरा और जिनमत इन सबको बाह्य तपसे मुनि शोभा युक्त करते हैं बाह्य तपसे अलसीपनाका त्याग होता है, दुर्धर तपश्चरणमें प्रवृत्ति करनेसे संसारका मूलभूत कर्म भी पूर्णपणेसे नष्ट होता है.

परिमिताहारतानामक गुण प्राप्त होता है, जवणाहार शब्दका परिमित आहार ऐसा अर्थ कहते हैं, परिमित आहार करनेसे नीरोगतादिक छह गुणोंकी प्राप्ति होती है, जितने के उतने आहारको जवणाहार कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य जवणाहार शब्दका

मेत्यादिनोपसंहरति—

एव उगमउप्पादणेसणासुद्धभत्तपाणेण ॥

मिदलहुयविरसलुक्खेण य तवमेदं कुणदि णिच्चं ॥ २४५ ॥

विजयोदया—एवमेदं तवो णिच्चं कुणदिचि पक्कटना । एव व्यावर्णितरूपेण । एद एतत् वाह्यं तपः कुणदि णेति णिच्चं नित्य । उगमउप्पादणेसणासुद्धभत्तपाणेण उद्गमोत्पादनेपाणदोपरहितेन, भक्तेन पानेन च । कीदृग्भूतेन ? मिदलहुगविरसलुक्खेण परिमितेन लघुनां, विरसेन, रूपेण एवभूतं शुद्धमाहारं भुक्त्वा तप कुर्यादाशुद्धमिति भावः ।

इत्थं वाह्यतपसो गुणानाख्यायोपसंहारमाह—

मूलारा—एवं वाह्यं । कुणदि शुद्धयादिपंचगुणमेवाहारं भुक्त्वा सुसुखः तपः करोति नेतरमिति भावः ॥

अर्थ—मुनिराज उद्गम उत्पादन और एषणा इन दोषोंका त्याग कर मित, लघु, रसरहित और रूक्ष ऐसा आहार और पानके पदार्थ लेकर यह वाह्य तप नित्य करते हैं, शुद्ध आहार लेकर तप करना चाहिये, अशुद्ध आहार नहीं लेना ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

उच्छीणोच्छीणेहिं य अहवा एक्कंतवहुमाणेहिं ॥

सख्हिइ मुणी देहं आहारविधिं पयणुगितो ॥ २४६ ॥

आहारमत्पयवेवं वृद्धो वृद्धेन संयतः ॥

तपसा संलिंग्वयंगं वृद्धेनैकांततोऽथवा ॥ २४७ ॥

देहस्स लाघवं णेहलूहणं उवसमो तथा परमो ॥

जवणाहारो संतोसदा य जहसंभवेण गुणा ॥ २४४ ॥

संतोषः संयमो देहलाघवं शमवर्द्धनम् ॥

तपसः क्रियमाणस्य गुणाः सन्ति यथायथम् ॥ २४५ ॥

विजयोदया—देहस्स लाघव शरीरस्य लाघवगुणो बाह्येन तपसा भवति । लघुशरीरस्य आवश्यकक्रिया सुकरा भवन्ति । स्वाध्यायध्याने चाक्रेयसंपाद्ये भवतः । णेहस्स लूहणं शरीरलोहविनाशनं स गुणः । शरीरलोहदेव जनोऽस्यमे प्रवर्तते । शरीरमेवानर्थदेतुरिति तपोऽपि न करोति । तेनाहितं शरीरलोहो विनाशितो भवति । उवसमो तद्वा परमो तथा चोत्कृष्टोपशमो भवति रागदेवुं करे तपसि वर्तमानस्य । किं च मम रागेण उपद्रवकारिणा । सति रागे हि नवकर्मबंधो जायते । विरतनकर्मरसोपबृंहणं च । सति चेत्तं मदीयं क्लेशो निष्कलो भवेदिति मनःप्रणिधानादुपशमः । जवणाहारो-परिमिताहारता इति केचिदाचक्षते । तत्र च गुणो नीरागतादिकं । तथा चाहुर्मितादिन पद्मगुणा भजते । अपरे शरीरस्थिति मात्रादेतुराहारः जवणाहारशब्दः शरीरवाच्य इति स्थिता ।

मूलारा—लाघव स्वाध्यायादिक्रियासौकर्यकारि लघुत्वं । णेहलूहणं देहलोहोद्धि जनस्य असंयमे प्रवृत्तिः । देह-बाधाहेतुरिवमिति तपस्यपि न प्रवर्तते । तेनाहितत्वादेव ज्ञेयस्य विनाशनं । देहलोहाद्विरक्तस्य संयमो गुणः परमः । रागे हि नवः कर्मबंधश्चिरंतनश्च र्भरसोपबृंहणं च स्याद्रागादुपद्रवाचारी च द्वेषः । एवं च सत्ययं क्लेशो निष्कल इति मनःप्रणिधाना-दुत्कृष्टः । जवणाहारो परिमिताहारता तत्र चारोग्यादिगुणः । शरीरस्थितिमात्रादेतुराहारो वासो । संतोसदा संतोषः । जहसंभवेण अनशनदीना बाह्यतपोभेदाना यो येन संभवति स तेन व्याख्येय इति भावः ।

अर्थ—तपश्चरणसे देहमें लाघव गुण प्राप्त होता है, अर्थात् शरीरमें तपसे भारीपना नष्ट होता है जिससे आवश्यकतादि क्रिया सुकर होती है, स्वाध्याय और ध्यान क्लेशके विना किये जाते हैं, तपके आचरणसे शरीरस्नेह नष्ट होता है, शरीरके स्नेहसे लोक असयममें प्रवृत्त होते हैं, यह शरीर अनर्थका कारण है, इसके स्नेहमें लीन होकर तपको छोड़ बैठते हैं, मुनि दुष्कर तपमें प्रवृत्त होनेसे उनके रागादि दोषोंका उपशम होता है मुनि मनमें ऐसा विचार करते हैं—यह राग भाव उपद्रव करनेवाला है, यह रागभाव आत्मामें नवीन कर्मका बंध उत्पन्न करता है और पूर्वकर्मके रसमें वृद्धि करता है, यदि मैं रागभावको मनमें आश्रय दूंगा तो मेरा तपश्चरण व्यर्थ होगा, ऐसा विचार करके रागभावको

शान्त कर देते हैं तपसे परिमिताहारतानामक गुण प्राप्त होता है, जवणाहार शब्दका परिमित आहार ऐसा अर्थ है ऐसा कोई आचार्य कहते हैं, परिमित आहार करनेसे नीरोगतादिक छह गुणोंकी प्राप्ति होती है, जितने आहारसे शरीर रह सके उतने आहारको जवणाहार कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य जवणाहार शब्दका अर्थ करते हैं.

एवमित्यादिनोपसंहरति—

एवं उगमउप्पादणसणामुद्धमत्तपाणेण ॥

मिदलहुगविरसलुक्खेण य तवमेदं कुणदि णिच्चं ॥ २४५ ॥

विजयोदया—एवमेदं तवो णिच्चं कुणदिति पदघटना । एव व्यावर्णितरूपेण । एदं एतत् शास्त्रं तपः कुणदि करोति णिच्चं नित्यं । उगमउप्पादणसणामुद्धमत्तपाणेण उद्गमोत्पादणसणोपरहितेन, भक्तेन पानेन च । कीदृग्भूतेन ? मिदलहुगविरसलुक्खेण परिमितेन लघुना, चिरसेन, रूक्षेण एवभूत शुद्धमाहार भुक्त्वा तपः कुर्यान्नाशुद्धमिति भाव ।

इत्थं बाह्यतपसो गुणानाख्यायोपसंहरमाह—

मूलारा—एवं बाह्यं । कुणदि शुद्ध्यादिपंचगुणमेवाहारं भुक्त्वा मुमुक्षुः तपः करोति नेतरमिति भावः ॥

अर्थ—मुनिराज उद्गम उत्पादन और एयणा इन दोषोंका त्याग कर मित, लघु, रसरहित और रूक्ष ऐसा आहार और पानके पदार्थ लेकर यह बाह्य तप नित्य करते हैं, शुद्ध आहार लेकर तप करना चाहिये, अशुद्ध आहार नहीं लेना ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

उल्लोणोल्लीणेहिं य अहवा एकंतवहुमाणेहिं ॥

सल्लिहइ मुणी देहं आहारविधिं पयणुगितो ॥ २४६ ॥

आहारमल्पयन्नेवं वृद्धो वृद्धेन संयतः ॥

तपसा संल्लिखल्यंगं वृद्धेनैकांततोऽथवा ॥ २४७ ॥



विजयोदया—उद्दीणोद्दीणेहि य प्रयत्नमानेन हीयमानेन च तपसा चतुर्थं यथादिक्कमेणानशनतपोवृद्धि । एतदि कवलादिव्यूततया अवमोदयवृद्धि । एकस्य रसस्य त्रयोन्वयणाभित्यादिना क्रमेण रसपरित्यागवृद्धि । एकपाटके गृहसत्तकं, गृहत्रय वा प्रविशामीति, भिक्षाश्रावणरिमणन्यूतनकरणेन वा वृत्तिपरित्यजनगृहि । त्रिमे वागपन कृत्वा रात्रौ प्रतिमानग्रहकरणमित्यादिना कायकलशवृद्धिः । एव श्रेमे मरुति संजात क्रमेण अनशनानीना न्यूतनकरण । अथवा अथवा एतवदुद्दीणेहि एतानेन वर्धमाने तपोभि । सहिदद मन्त्रिगति । मुर्षा मुनि । हेतु । आहारमिदं वदनादि- विधि । पयणुगते ॥ अल्पीकुर्वन् ॥

प्रकारतरेण सल्लेगनोपायमाह—

मूलारा—उद्दीणोद्दीणेहि वर्द्धमानेर्हीयमानेनमनात्तिवोभिगिति शेषः । तथाहि—चतुर्थं यथादिक्कमेणानशनतस्य वृद्धिः । एककवलादिव्यूततयावमोदयस्य । एकश्रावणरिमणन्यूतनकरणेन रसपरित्यागस्य । एकपाटके सप्त पंच श्रीणि गृहाणि प्रविश्य भिक्षा गृह्णामि । ग्रामं चैकान्तित्यादिष्टानि क्रमेण गृह्णामि इत्यादि क्रमेण वृत्तिपरित्यजनस्य । दिवातापन कृत्वा रात्रौ प्रतिमायोगग्रहकरणमित्यादि विधिना कायकलशस्य । शुद्धगृहभागसमीपगिरिशुभारण्या- वसत्याश्रयेण विविक्तशय्यासनस्य च रोद्धव्या । एवं च मरुति तमे भंजाते सति अनशनानीना क्रमेण न्यूतनकरणं हानि । अहना अथवा । मंगतवृद्धिोद्दीणेहि । वर्द्धमानेरेव न हीयमानैः । आहारविधिं विहितमप्याहारं । पटणुगते प्रत- चुक्यन् अल्पीकुर्वन् इत्यर्थः ।

अर्थ—क्रमसे अनशनादि तपको बढ़ाते हुवे यतिराज अपने देहको कुछ कर शरीरमल्लसना करते हैं, उसका विवेचनक्रम इस प्रकार समझना चाहिये—एक उपवास, दो उपवास तीन उपवास इस प्रकारसे वे अनशन तप बढ़ाते हैं, मुनिओंके आहारका प्रमाण वत्तीस ग्रामोंका कहा है उनमेंमें एक ग्राम, दोन ग्राम, तीन ग्राम कमी करके अशमोदय तपकी वृद्धि करते हैं, एकसका त्याग, दो सोंका, तीन सोंका इत्यादि क्रमसे रसत्याग करते जाना यह रसपरित्याग तपकी वृद्धि है, एक गल्लीमें ही आज आहार ग्रहण करूंगा, सातघर, तीनघरमेंही प्रवेश कर आहार करूंगा, अथवा आहारके ग्रामोंका परिमाण कर आहार ग्रहण करूंगा इत्यादि रूपसे वृत्तिपरित्यजन तपमें वृद्धि समझना, दिनमें आतापन योग कर रात्रौ प्रतिमायोग धारण करनेका नियम करना, इत्यादि प्रकारसे कायकलेश तपमें वृद्धि करना, इन तपोंकी वृद्धि करनेसे जब महात्मा श्रम होता है तब वे अनशनादि तपका प्रमाण

कम कम करते हैं, अथवा सर्वथा बढते हुवे तपोसे वे आहारका प्रमाण कम करते करते देहकी सल्लेखना करते हैं.

प्रकारातरेण सल्लेखनोपायमाचष्टे—

अणुपुव्वेणाहारं संवदंतो य सल्लिहइ देहं ॥

दिवसुग्गहिणुण तवेण चावि सल्लेहणं कुणइ ॥ २४७ ॥

क्रमेण संल्लिखत्तंगमाहारं खर्वयन्त्यतिः ॥

प्रत्यहं वा गृहीतेन तपसा विधिकोविदः ॥ २४७ ॥

विजयोदया—अणुपुव्वेण क्रमेण । आहार सवदंतो य आहार न्यूनयित्वा । सल्लिहइ देहं तनूकरोति । दिवसुग्गहिणेण तवेण चावि एकैरुदिनं प्रतिगृहीतेन तपसा च, एकस्मिन्दिनेऽनशन, एकस्मिन्दिने वृत्तिपरिसंख्यानं इति । सल्लेहणं कुणइ सल्लेखना करोति ।

मूलारा—अणुपुव्वेण क्रमेण । संवदंतो ऋदासयित्वा दिवसग्गहिदेण । एकैकदिन प्रतिगृहीतेन । एकस्मिन्दिनेऽनशनमेकस्मिन्वृत्तिपरिसंख्यानं इति । अथवा संवदंतो न्यूनयन् क्रमेणाहारं कश्यति शरीरं । प्रतिदिनगृहीतेन तपसा वा सल्लेखना करोति इति व्याख्येयम् । वा शब्दस्य भिन्नक्रमस्य योजनान् । तथा चोक्तं—

क्रमेण संल्लिखत्तंगं आहारं सर्वयन्त्यतिः ॥

प्रत्यहं वा गृहीतेन तपसा विधिकोविदः ॥

अन्य प्रकारसे सल्लेखनाका उपाय कहते हैं—

अर्थ—क्रमसे आहार कमी करते करते क्षपक अपना देह कुछ करता है, दररोज जिसका नियम किया है ऐसे तपश्चरणसे अर्थात् एक दिन अनशन, दुसरे दिन वृत्तिपरिसंख्यान इस क्रमसे क्षपक सल्लेखना करता है—अपना देह कुछ करता है.

विविहाहिं एसणाहिं य अवग्गहेहिं विविहेहिं उग्गेहिं ॥

संजममविराहितो जहाबलं सल्लिहइ देहं ॥ २४८ ॥

आहारगोचरैरुन्नैरानाकारैरचग्रहैः ॥

मुमुक्षुः संलिख्यंगं संयमस्याविरोधकम् ॥ २४८ ॥

विजयोदया—विविधाहि नानामकारे । एसणाहि य भोजनैः रसवर्जितैरप्यल्ये शुष्केराचाम्ले । अवगाहि नानामकारैरचग्रहै । उगेहि उग्रै । सजममाविराधेतो संयम द्विप्रकारं अविनाशयन् । जहावलं स्वलानतिवृद्धा देहं तनूकरोति ।

मूला—विविधाहि अरसविरसाप्युष्काचाम्लादिभिः । एसणाहि आहारैः । अवगाहेहि नियमैः । आहारगोचरैः ॥

अर्थ—नाना प्रकार रसवर्जित, अल्प, रुक्ष, ऐसे आचाम्ल भोजनोसे अपने सामर्थ्यके अनुसार क्षपक भुनि देहको कृश करते हैं. नाना प्रकारके उग्र नियमोंकी प्रतिज्ञा लेकर इंद्रियसंयम और प्राणिसंयमकी विराधना नहीं करता हुआ स्वशक्तीके अनुसार क्षपक देहको क्षीण करते हैं.

संदि आउगे सदि बले जाओ विविधाओ भिक्खुपडिमाओ ॥

ताओ वि ण वाधते जहावलं सल्लिहंतस्स ॥ २४९ ॥

या भिक्षुप्रतिमाश्चिन्ना बले सति च जीविते ॥

पीडयन्ति न ताः कार्यं संलिखन्तं यथावलम् ॥ २४९ ॥

विजयोदया—सदि आउगे आपुयि सति । सदि रले सति बले । ताओ या । विविधाओ विचित्रा । भिक्खुपडिमाओ भिक्षुप्रतिमाः । ताओ वि ताश्च । ण वाधते न पीडा जनयति महुत्ती । कस्य ? जहावलं सल्लिहंतस्स यथावल तनूकुर्वत । प्रारब्धमहाक्लेशस्य योगभंगं संकेशश्च महान् जायते इति भावः ।

मूला—ण वाधते न पीडां जनयति । जहावलं यथावलं बलं विना सल्लेखना कुर्वत. प्रारब्धमहाक्लेशस्य योगभंगः संकलेशश्च महान् जायते इति भावः ॥ भिक्षुप्रतिमा इमाः ।

१ सदि आउगे इति गाथाया अनंतरं ' मासिय दुय विय ' इत्यदिरूपा गाथा मूलाराधनार्पणे दीकाऽस्ति परमत्र सा गाथा तद्दीका च अपराजित सूरिणा नोद्धिता ।

मासिय दुय तिय चउ पंचमाम् लम्मास सत्तमासीय ॥  
तिण्णे व सत्तराई दाईदिय राइपडिमाओ ॥

माथार्थः क व्यने—

आत्मानं संलिखन् धृतिकायवलवान्, महासत्त्वो, जितपरीपहः, उत्तमसंहननः क्रमेण पूरितधर्मशुक्लध्यानो सुनिरात्माधिष्ठितदेशोत्कृष्टदुर्लभाहारस्य व्रतं गृह्णाति । ईदृशमाहार यदि मासार्थ्यतरे लभेऽहं ततो भोजनं करोमि नान्य-  
थेति । तस्य मासस्यातिमैदिने प्रतिमायोगमास्ते । सा एका भिक्षुप्रतिमा । एवं पूर्वोक्ताहाराच्छतगुणोत्कृष्टदुर्लभान्यान्याभ्य-  
वहारस्यावग्रहं गृह्णाति । यावद्विचित्रं पंचपटसप्तमासाः सर्वत्रातिमदिनकृतप्रतिमायोगाः । एताः सप्त भिक्षुप्रतिमाः ।  
पुनः पूर्वाहाराच्छतगुणोत्कृष्टस्य दुर्लभस्य अन्यान्याहारस्य सप्त सप्त दिनानि वारत्रयं व्रतं गृह्णाति । एतास्त्वित्तो भिक्षु-  
प्रतिमाः । ततो रात्रिदिनं प्रतिमायोगेन स्थित्वा पञ्चाद्रात्रिप्रतिमायोगमास्ते । एते द्वे भिक्षुप्रतिमे । पूर्वमवधिमतः पर्यय-  
ज्ञाने प्राप्य पश्चात्सूर्योदये केवलज्ञानं प्राप्नोति । एवं द्वादशाभिक्षुप्रतिमायोगेन स्थित्वा पश्चाद्रात्रिप्रतिमायोगमास्ते ।  
एते द्वे भिक्षुप्रतिमे भवतः ॥

अर्थ—यदि आयुष्य हो और देहमें सामर्थ्य हो तो जिन विचित्र भिक्षुप्रतिमाओंका शास्त्रमें उल्लेख है उनका भी वह क्षपक स्वीकार करके यथाशक्ति देह को क्षीण करता है. उन प्रतिमाओंसे इस क्षपकको पीडा नहीं होती है जिसने अपने शक्तिका विचार न कर इन प्रतिमाओंको धारण किया है. उसके योगका भंग होता है और उसके मनमें महासंक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं.

अपने शरीरकी सहेखना करनेवाला, धैर्य रूपी बल और शरीरबल धारण करनेवाला, महा-  
सत्त्वसंपन्न, परीपहको जीतेनेवाला, उत्तम संहननका धारक, क्रमसे धर्मध्यान और शुक्लध्यानको पूर्ण करनेवाला मुनि स्वयं ठहरे हुए देशमें उत्कृष्ट और दुर्लभ आहारका व्रत ग्रहण करता है- अर्थात् उत्कृष्ट और दुर्लभ आहार यदि एक महिनेके अंदर भरेको मिलेगा तो मैं ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करके उस महिनेके अंतिम दिनमें वह प्रतिमा योग धारण करता है. यह एक भिक्षु प्रतिमा है.

पूर्वोक्त आहारसे शतगुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐसे भिन्न भिन्न आहारका व्रत वह क्षपक ग्रहण करता है. यह व्रत वह क्षपक दो, तीन, चार पांच, छह और सात मास तक ग्रहण करता है. ग्रंथेक महिनेके अन्तिम दिनमें

प्रतिमायोग धारण करता है ये सात भिक्षु प्रतिमाये है.

पुनः सात सात दिनोंमें पूर्वे आहारकी अपेक्षासे यत्तगुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐंम भिन्न भिन्न आहार तीन दफे लेनेकी प्रतिज्ञा करता है. आहारकी प्राप्ति होने पर तीन दोन और एक ग्रास लेता है. ये तीन भिक्षु प्रतिमाये है, तदनंतर रात्रि और दिनभर प्रतिमायोगसे खड़ा रहकर अनंतर प्रतिमायोगसे ध्यानस्थ रहता है. ये दो भिक्षु प्रतिमाये है. प्रथम अत्रधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञानकी प्राप्ति होती है अनंतर सुखोदय होनेपर वह क्षपक केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है. इस रीतीसे चारा भिक्षुप्रतिमाये होती हैं.

शरीरसंश्लेषनाहेतुपु उपन्यस्तेषु के उत्कृष्टा इत्यत्राह—

संश्लेषणा सरिरे तवोगुणविधी अणेगहा भणिदा ॥

आयंविळं महेसी तत्थ दु उक्कस्सयं विंति ॥ २५० ॥

देहसंश्लेषनाहेतुर्वहुधा वर्णितं तपः ॥

वदन्ति परमाचाम्लमार्हता यत्र योगिनः ॥ २५० ॥

विजयोदया—संश्लेषणा सरिरे शरीरसंश्लेषनानिमित्तं शरीरे संश्लेषना इत्युच्यते । तवोगुण तप संज्ञितो गुण-  
विकल्पः । अणेगहा भणिदा अनेकधा निरूपित अतीतसूत्रैः । तत्थ तत्र । महेसी महर्षयः । आयंविळं दु आचाम्लदानाख्यं  
च । उक्कस्सग उत्कृष्टमिति । वेति ध्रुवन्ति ।

शरीरसंश्लेषनाहेतुपुपन्यस्तेषु क उत्कृष्ट इत्याह—

मूलारा—संश्लेषणा संश्लेषनानिमित्तं कार्ये कारणोपचारात् । तवोगुणविधी तपःसंज्ञितो गुणविकल्पः ।  
भणिदो निरूपितोऽतीतसूत्रैः । आयंविळं वदयमाणलक्षणमाचाम्ल । महेसी महर्षयः । वेति ध्रुवते ।

शरीरसंश्लेषनाके हेतु ऊपर कहे हैं उनमेसे कौनसे हेतु उत्कृष्ट है इसका विवरण—

अर्थ—शरीरसंश्लेषनाका निमित्त जो तप उसके अनेक विकल्प पूर्वोक्त गाथाओंमें कहे हैं. उन विकल्पोंमें  
आचाम्लभोजन करना यह उत्कृष्ट विकल्प है ऐसा महर्षिगण कहते हैं.

शरीरसह्येनोपायोक्तप्रमाचाम्लाशनमित्युक्तं तत्कीदृशगतिं चोदिते आह—

छट्टमदसमदुबालसेहि भत्तेहि अदिविकट्टेहि ॥

मिदलहुग आहारं करेदि आयंविळं बहुसो ॥ २५१ ॥

पष्ठाष्टमादिभिश्चित्रैरुपवासैरतंद्रितः ॥

गृह्णाति मितमाहारमाचाम्लं बहुशः पुनः ॥ २५१ ॥

विजयोदया—छट्टमदसमदुबालसेहि भत्तेहि अदिविकट्टेहि द्विचिचतु पंचदिनोपवासे उक्तये । मिदलहुगं आहारं करेदि । परिमितं लब्धाहार करोति । आयंविळं आचाम्लं । बहुसो बहुशः ।

मूलार्वा—छट्टेत्यादि—द्वित्रिचतुःपंचदिनोपवासैः । अदिविकट्टेहि उक्तये । वियदिअट्टेहि इति पाठे विशेष-पातिकट्टेः । मिदलहुगं । परिमितं लघुं च गुणेन । आयंविळं काजिकाहारं । इदमत्र तात्पर्यं पष्ठाष्टपवासैरसंकिल्पो मि-तलब्धाहारं द्युसुख्यद्वहुशः काजिकाहारं करोति तत्सह्येनानाहुतुपूच्छप्रमाचक्षते ।

तथा चोक्तं—पष्ठाष्टमादिभक्तैरतिशयवद्विर्वेली हि भुंजानः ॥

मितलघुमाहारविधिं विदधात्यम्लाशनं बहुशः ॥

अपि च—पष्ठाष्टमादिभिश्चित्रैरुपवासैरतंद्रितः ॥

गृह्णाति मितमाहारमाचाम्लं बहुशः पुनः ॥

तथा—समोऽथ पष्ठाष्टमकैस्तपोधिकैस्ततो विकृष्टेर्देवैः शमात्मकः ॥

तथा लघु द्वादशकैश्च सेवते मितं गुदा चाम्लमनाविलो लघुः ॥

आचाम्लभोजन करना यह शरीरसह्येनानाका उत्कृष्ट उपाय है ऐसा पूर्व गाथामें कहा है. अत्र उमका विधि बतलते हैं—

अर्थ—दोन दिनका उपवास, तीन दिनका उपवास, चार दिनका उपवास, पाच दिनका उपवास ऐसे उत्कृष्ट उपवास होनेके अनंतर मित और हल्का ऐसा कांजीभोजन ही क्षपक बहुशः करता है.

भक्तप्रत्याख्यानस्यास्य वर्ण्यमानस्य कियत्काल इत्यत्रोत्तरं आह—

उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिदिहो ॥  
कालमि संपहुत्ते बारसवरिसाणि पुण्णाणि ॥ २५२ ॥  
कालो द्वादशवर्षाणि काले सति महीयसि ॥  
भक्तल्यागस्य पूर्णानि प्रकृष्टः कथितो जिनैः ॥ २५२ ॥

विजयोदया—उक्कस्सएण उत्कर्षेण । भत्तपइण्णाकालो भक्तप्रत्याख्यानकाल । जिणेहिं णिदिहो जिनैर्निर्दिष्टः । कालमि काले । संपहुत्ते महति सति । बारसवरिसाणि संपूर्णद्वादशवर्षमात्रम् ॥

महति जीवितकाले समाव्यमाने सति भक्तप्रत्याख्यानस्योत्कर्षेण कियान् काल इत्यत्रोह—  
मूलारा—कालमि काले अर्थाजीवितस्य । संपहुत्ते महति सति । अन्ये संभवन्ते इति पठित्वा संभवति सतीत्यर्थं व्याचष्टुः ॥

जिसका वर्णन चल रहा है ऐसे भक्त प्रत्याख्यान विधीका काल कितना है इस प्रश्नका आचार्य उत्तर कहते हैं—

अर्थ—आयुष्य काल अधिक होनेपर भक्त प्रतिज्ञाका अर्थात् भक्तप्रत्याख्यानका उत्कृष्ट कालप्रमाण जिनेंद्र भगवानने वारा वर्ष प्रमाण कहा है.

उक्तेषु द्वादशवर्षेषु एव कर्तव्यमिति क्रमं सल्लेखनाया दर्शयति—

जोगेहिं विचिचेहिं दु खवेइ संवच्छराणि चत्तारि ॥  
वियडी णिज्जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेदि ॥ २५३ ॥  
विचित्रैः संलिखित्यंगं योगैर्वर्षचतुष्टयम् ॥  
समस्तरसमोक्षेण परं वर्षचतुष्टयम् ॥ २५३ ॥

विजयोदया—जोगेहिं कायल्लेखे । विचिचेहिं दु विचित्रैरनियतैः । खवेदि क्षपयति । संवच्छराणि चत्तारि ।

वर्षचतुष्टयं । यत्किञ्चिद्भूत्वा । विगङ्गी णिज्जुहिता रसादीन्क्षीरादीन्परित्यज्य । चत्वारि वर्षचतुष्टयं । पुणो वि पुनरपि । सोसेदि तनूकरोति तनुम् ।

द्वादशसु वर्षेषु सल्लेखनाया इतिकर्तव्यताक्रमं गाथाद्वयेन वक्ष्यति—

मूलारा—जोगेहिं कायक्लेशैः । विचिचोहिं विचित्रैरनित्यतैरित्यर्थः । विगङ्गि क्षीरादिरसान् । णिज्जुहिता निःशेषेण त्यक्त्वा । सोसेदि शोषयति क्षुशीकरोति शरीरमिति शेषः । अन्ये ओसेदि इति पठित्वा नयतीत्यर्थं व्याचक्रुः ॥

इस द्वारा वर्षप्रमाण कालमें सल्लेखनाका कर्तव्यक्रम कैसा होता है उसका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—अनेक प्रकारके कायक्लेशोंद्वारा वह क्षपक पहिले चार वर्ष व्यतीत करता है. अर्थात् पहिले चार वर्षोंमें कायक्लेशका एक ही प्रकार नहीं रहता है. चार वर्ष समाप्त होनेपर आगेके चार वर्षोंमें वह क्षपक दूध, दही, गुड, घी वगैरह रसोंका त्याग करके पुनः शरीरको कुश करता है. इस तरह आठ वर्ष व्यतीत होते हैं.

आयं विलणि विवयडीहिं दोणिण आयं विलेण एकं च ॥

अङ्गं णादिविगट्ठेहिं अदो अङ्गं विगट्ठेहिं ॥ २५४ ॥

आचाम्लरसहाभिभ्यां वर्षे द्वे नयते यतिः ॥

आचाम्लेन विशुद्धेन वर्षमेकं महामनाः ॥ २५४ ॥

पण्मासीमप्रकृष्टेन प्रकृतेन समाधये ॥

षण्मासीं नयते धीरः कायक्लेशेन शुद्धधीः ॥ २५५ ॥

विजयोदया—आयं विलणि विवयडीहिं आचाम्लेन निर्विकल्पा च । दोणिण वर्षद्वय क्षपयति । आयं विलेण आचाम्लेनैव । एक च एक वर्ष । अङ्गं अवशिष्टस्य वर्षस्य पण्मासान् । नादिविगट्ठेहिं अत्यनुकृष्टैस्तपोभिः कथयति । अदो अङ्गं विकट्ठेहिं अतः पर पण्मासान् उत्कृष्टैस्तपोभिः ।

मूलारा—आयं विलणि विवयडीहिं आचाम्लं काजिकाहारः । निर्विकृतिः रसव्यञ्जनादिवर्जितमव्यतिकर्णमोदनादिभो जनम् । अङ्गं द्वादशस्य वर्षस्य अर्धं पण्मासानित्यर्थः । नादिविगट्ठेहिं नात्युत्कृष्टैस्तपोभिः । कथयति शरीरमिति शेषः विकट्ठेहिं उत्कृष्टे ।

अर्थ—आचाम्ल अर्थात् काजीका भोजन करना और णिविवयडी जिससे भोजनमें स्वाद उत्पन्न होता है



ऐसे साग, चटणी वगैरह पदार्थ को विकृति कहते हैं, इनसे रहित रसहीन भोजनको निर्विकृति भोजन कहते हैं, आचमल भोजन और निर्विकृति भोजन कर क्षणिक दो वर्ष विताता है, तदनंतर आचमल भोजन कर एक वर्ष व्यतीत करता है, अब अंतिम एक वर्षके प्रथम छहमासतक वह मध्यम तपोद्वारा शरीरको क्षीण करता है, और अन्तके छहो मासमें उत्कृष्ट तपोसे शरीरको कुश करता है, इस तरह अपने आयुके अन्तिम वारा वर्षोंमें वह सहे-खना करता है,

व्यावर्णितैर्नैव क्रमेण आचरितव्यमिति नियोगो न विद्यते इत्याचष्टे—

भत्तं खेत्तं कालं धातुं च पडुच्च तह तवं कुज्जा ॥

वादो पित्तो सिमो व जहा खोभं ण उवयंति ॥ २५५ ॥

द्रव्यं क्षेत्तं सुधीः कालं धातुं ज्ञात्वा तपस्यति ॥

तथा क्षुभ्यंति नो जातु वातपित्तकफा यथा ॥ २५६ ॥

विजयोदया—भत्त आहारं शाक्यबुल, रसबहुलं, कुल्माषप्रायं, निष्पावचणकादिमिश्रं, शाक्यंजनादिरहितं वा । खेत्तं अनूपजालसाधारणविकल्पं । कालं धर्मशीतसाधारणभेदं । धातुमात्मनः शरीरप्रकृतिं च । पडुच्च आश्रित्य । तह तथा । तवं कुज्जा तप कुर्याज्जिह्वा खोभं ण उवयति । यथा क्षोभं नोपयति । वादो पित्तो सिमो वा वातपित्तश्लेष्मत्रिकं । यथोक्तैर्नैव क्रमेण चरितव्यमिति नियमो नास्तीति ब्रवीति ।

मूलारा—द्रवं आहारं शाकरसभूयिष्ठं कुल्माषकलायचणकनिष्पावादिमिश्रं शाक्यंजनादिरहितं वा । खेत्तं अनूपजालसाधारणविकल्पं । कालं शीतधर्मवृष्टिभेदं । धातुं स्वशरीरप्रकृतिं । पडुच्च आश्रित्य स्रोमं प्रकोपं । उपर दो गाथाओंमें जो आचारक्रम बताया है उसके मुआफिक ही आचरण करना चाहिए ऐसा नियम नहीं है, अन्य भी प्रकार हैं ऐसा आगेकी गाथाओंमें लिखते हैं—

अर्थ—आहारके अनेक प्रकार हैं जैसे शाक जिसमें जादा है ऐसा एक आहार, घी, दूध, वगैरह जिसमें अधिक है ऐसा आहार, कुलथ्या नाम का धान्य जिसमें जादा है ऐसा आहार, निष्पाव, चना वगैरह से रहित केवल भात रोटी वगैरह आहारके अनेक प्रकार हैं, जैसे आहारके अनेक प्रकार हैं वैसे क्षेत्र भी अनेक प्रकार का है

जिसमें बहुत जल दृष्टि होती है ऐसा क्षेत्र जिसको अनूप कहते हैं, जिसमें अल्प दृष्टि होती है और जिसमें नदी के पानीसे खेती होती है ऐसे क्षेत्रको जांगल कहते हैं, जिसमें अनूप और जांगलके लक्षण मिलते हैं ऐसे देशको साधारण क्षेत्र कहते हैं, कालके शीतकाल, वर्षाकाल और उष्णकाल ऐसे भेद होते हैं, धातु—अपनी शरीरप्रकृति, अर्थात् देश, काल, अपनी शरीरकी प्रकृति इनका विचार कर वात, पित्त और श्लेष्मका क्षोभ न होगा इस रीतिसे तप करके क्षपकने शरीरसंस्लेखना करनी चाहिये.

शरीरसंस्लेखनाक्रममभिधायाभ्यतरसंस्लेखनाक्रममभिधातुं अभ्यतरसंस्लेखनया सह संबंधं कथयति—

एवं सरिरसंस्लेहणाविहिं बहुविहा वि फासैतो ॥

अञ्जवसाणविसुद्धिं खणमवि खवओ ण मुंचेज ॥ २५६ ॥

इत्थं संस्लेखनामार्गं कुर्वणेनाप्यनेकधा ॥

नैव त्याज्यात्तमसंशुद्धिः क्षपकेण पटीयसा ॥ २५७ ॥

विजयोदया—एवमुक्तेन क्रमेण । शरीरसंस्लेहणाविहिं नानाप्रकारं । फासैतो वि स्पृशन्नपि । अञ्जवसाण-  
विसुद्धिं परिणामविशुद्धिं । खवगो खणमवि ण मुंचेज्ज क्षपक. क्षणमपि न त्यजेत् ।

एवं कायसंस्लेखनाक्रममभिधाय कपायसंस्लेखनामभिधातुकाभस्तथा सह तस्याः संबंधं नित्यविधातव्यतयाभिधत्ते—  
मूलारा—‘फासैन्तो स्पृशन्नपि । अपि शब्दो भिन्नक्रमो गोज्यः । अञ्जवसाणविसुद्धिं शुद्धचिद्विधवर्तपरिणतिं ॥  
यहांतक शरीरसंस्लेखनाका क्रम आचार्य महाराजने कहा है. अब अभ्यंतर संस्लेखना—कपायसंस्लेखनाका संबंध करते हैं. प्रथम कपायसंस्लेखनाके साथ शरीरसंस्लेखनाको दिखाते हैं—

अर्थ—क्रमसे नाना प्रकारकी शरीरसंस्लेखना करता हुआ भी क्षपक शुनि अपने परिणामोंकी निर्मलताको एक क्षण भी न छोड़े. तात्पर्य यह है कि, क्षपक शरीरसंस्लेखनाके तरफ जितना ध्यान देता है उतना ही कपाय-  
संस्लेखनाके तरफ भी देवे. यदि परिणामोंमें मलिनता उत्पन्न होगी तो शरीरसंस्लेखना करना व्यर्थ होगा. इसलिये परिणामकी विशुद्धि भी क्षपकको रखनी पड़ती है.

अभ्यंतरशुद्धयभावे दोषं कथयति—

अज्झवसाणविसुद्धीए वज्झिदा जे तवं विगट्ठं पि ॥

कुब्बति बहिंहेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी ॥ २५७ ॥

भावशुद्ध्या विनोत्कृष्टमपि ये कुर्वन्ते तपः ॥

बहिर्लेश्या न सा तेषां शुद्धिर्भवति केवला ॥ २५८ ॥

विजयोदया—अज्झवसाणविसुद्धीए वज्झिदा अच्यवसानविशुद्ध्या वर्जिता. । जे ये । तवं तपः । विकट्ठं पि उत्कृष्टमपि कुर्वन्ति । बहिंहेस्सा बहिर्लेश्या पूजासत्काराद्यादितचित्तवृत्तयः । ण होइ तेसि केवला सुद्धी दोषोन्मि श्चा भवतीति शुद्धिरिति यावत् ।

अभ्यंतरशुद्धयभावे दोषमाह—

मूसारा—विकट्ठं पि उत्कृष्टमपि । बहिंहेसा पूजासत्काराद्यादितचित्तवृत्तयः । केवला अशुभकर्मस्त्रयणरहिता । सुद्धा अशुभकर्मनिर्जरा ॥

अभ्यंतर शुद्धि न होनेसे दोष उत्पन्न होता है ऐसा कथन —

अर्थ—जिनके परिणामोंमें निर्मलता नहीं है वे साधु यद्यपि उत्कृष्ट तप करते हैं तो भी पूजा, आदर, कीर्ति इनकी इच्छासे वे तप करते हैं ऐसा समझना चाहिये. इसलिये उनके परिणामोंकी शुद्धि नहीं होती. अर्थात् उनके परिणामोंकी शुद्धि दोषसाहित है ऐसा समझना जब पूजा, आदर इत्यादिकी अभिलाषा छोड़कर मुनि उत्कृष्ट तप करते हैं तब उनके परिणामोंमें निर्मलता वृद्धिगत होती है.

केवला शुद्धि. कस्य तर्हि भवतीत्याह—

अविगट्ठं पि तवं जो करेइ सुविसुद्धसुक्कलेस्साओ ॥

अज्झवसाणविसुद्धो सो पावदि केवला सुद्धिं ॥ २५८ ॥

विजयोदया—अविकट्ठं चि अनुत्कृष्टमपि तपो य' करोति । सुविशुद्धशुक्कलेदयासमन्वितं विशुद्धपरिणाम स केवला शुद्धिं प्राप्नोति इति गाथार्थः ।

तर्हि केवला शुद्धिः कस्य स्यादित्यत्राह—

मूलारा—सो इत्यादि संघसहभाविर्नो निर्जरा करोतीत्यर्थः ॥

किम मुनिके परिणाम केवल शुद्ध होते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—विशुद्धशुक्लेश्याका धारक जो मुनि वह उत्कृष्ट तप यद्यपि नहीं करेगा तो भी परिणामोंसे निर्मल होनेसे दोषरहित अर्थात् केवल शुद्धि को प्राप्त होता है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

प्रस्तुतां द्वितीया कपायसंछेदनामुक्तयाध्यवसायविशुद्धया योजयति—

अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थिप्पि ॥

अज्झवसाणविसुद्धी कसायसंछेदहणा भणिदा ॥ २५९ ॥

कपायाकुलचित्तस्य भावशुद्धिः कुतस्तनी ॥

यतस्ततो विधानव्या कपायाणां तनूकृतिः ॥ २५९ ॥

विजयोदया—अज्झवसाणविसुद्धी परिणामविशुद्धि । कसायकलुसीकदस्स कपाये. कलुपीकृतस्य । णत्थिप्पि नास्ति यस्मात् इति तस्मात् । अज्झवसाणविसुद्धी परिणामविशुद्धि । कसायसंछेदहणा भणिया कपायसंछेदनेति गदिता ॥

अव्यवसानविशुद्धया कपायसंछेदना साध्यसाधनभावेन योजयति ।

मूलारा—अज्झवसाण इत्यादि—स्वोदयनिमित्तवाह्यद्रव्यादिसान्निध्यवशाच्छब्दोद्देश्यक्रोधादिभिः क्रूरत्वादिरूपं कलुष्यं नीतस्य मुनेरव्यवसानविशुद्धिर्नास्तीति हेतोः ।

प्रस्तुत कपायसंछेदनाका परिणामविशुद्धिके साथ संबंध दिखते हैं—

अर्थ—कपायोंसे जिस मुनिका मन कलुषित हुआ है वह परिणामोंकी विशुद्धिमें दूर रहता है. और जिसके परिणामोंमें शुद्धता है वह कपायसंछेदना कर सकता है इसलिये परिणामविशुद्धिको आचार्योंने कपायसंछेदना यह नाम दिया है. इन दोनोंमें अविनाभाव है. जहां परिणामोंकी निर्मलता है वहां कपायसंछेदना है. और जहां कपाय संछेदना है वहां परिणामोंकी निर्मलता है.

शुभपरिणामप्रवाहद्वृत्तेन चतुष्कपायसंश्लेषना कृता भवति इत्यभिधाय सामान्येन चतुर्णामपि कथायाणां तन्मूकरणे उपायं प्रतिपक्षपरिणामचतुर्कं कथयति—

क्रोधं खमाए माणं च मद्वेणाज्जवं च मायं च ॥

संतोषेण य लोहं जिणहु खु चत्तारि वि कसाए ॥ २६० ॥

जेतव्यः क्षमया क्रोधो मानो मार्दवसंपदा ॥

आर्जवेन सदा माया लोभः संतोषयोगतः ॥ २६० ॥

विजयोदया—क्रोधं क्षमायेत्यादिना कपायविनाशने उपायस्तदुत्पत्तित्यागः ।

संचगवैराग्यदयादमतत्त्वज्ञानसंस्कारादिशुभपरिणामप्रवाहद्वृत्तेन कपायसंश्लेषना कृता भवति इत्यभिधाय क्रोधादीना प्रत्येकं कृशीकरणोपायं प्रतिपक्षपरिणाममाचष्टे ।

मूलारा—जिणदि स्थनिमित्तवशादुद्यतः क्रोधादीन्क्षमादिभावना कूरत्वाद्विफलदानशक्तिरहितान्करोति ॥

शुभपरिणामोक्तिं प्रवाहमें जो मुनि अवगाहन करता है उसको कपायसंश्लेषनाका लाभ होता है इस विषय का खुलासा किया. अब क्रोधादि चार कपायोंको क्षीण करनेके उपायभूत चार प्रतिपक्षरूप परिणामोंका वर्णन करते हैं—

अर्थ—हे क्षपक घृने ! तुम क्षमारूपी परिणामोंसे क्रोधको, मार्दवगुणसे मानकपायको आर्जव गुणके द्वारा मायाको और संतोषके सहारेसे लोभकपायको इस तरह चार कपायोंको जीतो.

उत्पद्यमानो हि कपायो वृद्धिसुपैतीति कथयति—

कोहस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं ॥

जो ताण कसायाणं उप्पत्तिं चेव वज्जेइ ॥ २६१ ॥

चतुर्णां स कथायाणां न वशं याति शुद्धधीः ॥

उत्पत्तिस्त्यज्यते तेषां सर्वदा येन तत्त्वतः ॥ २६१ ॥

विजयोदया—कोहस्त य अत्रैव पदघटना । जो तेसिं कसायाणमुत्पत्तिं चेव वज्जेदि यस्तेपा कयायाणामुत्पत्तिं पव परिहरति । कोघस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण, पद्दं वस कोघमानमायालोभाना स नोपैति वरा यस्तेपामुत्पत्तिमपेक्षते स तद्वशागं, कथ कयायसल्लेखना कुर्यादिति भाव ॥

अशक्यत्वादाद्रव्यादिसामग्रीवादुत्पन्नमानः कयायो वृद्धिमुपयाति इति तद्विनाशने उत्तमक्षमादिश्रयोगेण तदुत्पत्तिनिरोध एवोपाय इत्युपदिशति ॥

मूलारा—वसं द्रव्यक्रोधादिजन्यमानरूपादिलक्षणभावक्रोधादिपरिणतिलक्षणपारतन्त्र्यम् ।

उत्पन्न होनेवाले कयाय वृद्धिगत होते हैं ऐसा कहते हैं—

अर्थ—जो मुनि उन कयायोंको उत्पन्न ही नहीं होने देता है वह मुनि क्रोध, मान, माया और लोभके वश नहीं होता है, परंतु जो उनके उत्पत्तिक्षी अभिलाषा रखता है वह उनके वश हो जानेसे कयायसल्लेखना कर सकता है ?

कयायोत्पत्तिं परिहर्तुमिच्छता किं कर्तव्यमित्यत आह—

तं वरथु मोत्तब्बं जं पडि उप्पज्जेदे कसायग्गि ॥

तं वत्थुमल्लिपज्जो जत्थोवसमो कसायाणं ॥ २६१ ॥

तद्वेयं सर्वदा यत्र कयायाग्निरुदीयते ॥

यत्र शाम्यत्यसौ वस्तु तदादेयं पटीयसा ॥ २६२ ॥

विजयोदया—त वत्थु मोत्तब्ब वद्वस्तु मोक्तव्य । ज पडि उप्पज्जेदे यच्चिमित्त उत्पद्यते । कसायग्गी कयायाग्गिः । त वत्थुमल्लिपज्जो तद्वस्तूपाश्रयण कुर्यात् । जत्थ यत्रोपाश्रयणे । उवसमो कसायाण कयायाणामुपशमो भवति ॥

कयायोत्पत्तिपरिजिहीर्षुणा किं कर्तव्यमित्यत्राह—

मूलारा—जं पडि यद्वस्तु निमित्तीकृत्य । अद्वियज्जो आश्रयेत् ॥

कयायोत्पत्ति न होनेके लिये क्या इलाज करना चाहिये इसका उत्तर—

अर्थ—जिसके निमित्तसे कयायरूपी अग्नि उत्पन्न होती है वह वस्तु छोड़नी चाहिये, और जो वस्तु

कपायोंका उपशम करेगी वही वस्तु आश्रय करने योग्य है जिस वस्तुका आश्रय करनेसे कपायोंका उपशम होगा उसी वस्तुका आश्रय करना चाहिये

जइ कहवि कसायगी समुठिठदो होज्ज विज्जवेदब्बो ॥

रागहोसुप्पत्ती विज्जादि हु परिहरंतस ॥ २६३ ॥

यदुदेति कपायाग्निर्विध्यातव्यस्तदा लघुः ॥

शाम्न्यन्ति ह्याखिला दोषाः शमिते तत्र तत्त्वतः ॥ २६३ ॥

विजयोदया—जइ कहवि कसायगी यदि कथचित्कपायाग्निः । समुठिठो होज्ज समुत्थितो भवेत् । विज्जवेदब्बो विध्यापयितव्य । रागहोसुप्पत्ती रागद्वेषयोरुत्पत्तिः । विज्जादि हु खु शाम्न्यत्येव । परिहरतस्स परिहरतः । कपायाग्निः प्रशान्तिं नीयते । तद्दोषापेक्षेण न नीचजनसागत्यमिव हृदयं दहति । अशुभागोपगनामर्मेवद्विरूपानन करोति । रज इव चक्षुषो रागमानयति । महासमीरण इव तनुं कपयति । सुरापानमिव यत्किञ्चिन्निगद्यति । आविष्टग्रह इव यत्किञ्चन कारयति । समीचीनज्ञानलोचनं मलिनयति । दर्शनवनमुत्पादयति । चारित्रसर शोषयति । तप पल्लव भस्मयति । अशुभमकृतिलता स्थिरयति । शुभकर्मफलं विरसयति । प्रत्यग्रमनोमलं ढौकयति । हृदयं रुठिनयति । प्राणभृतो घातयति । भारतीमसत्या प्रवर्तयति । गुरुनपि गुणान्लंघयति । यशोधन नाशयति । परानपवादयति । महतोऽपि गुणान्स्थगयति । मैत्रीमुन्मूलयति । कृतमप्युपकारं विसारयति । अपकारमव्यापयति । महति नरकगते पातयति । दुःप्रावर्ते निमज्जयतीत्यनेकानयोवहत्त्वभावनया ।

मूलारा—विज्जादि खु शाम्न्यत्येव । परिहरतस्स तद्दोषभावनया कपायास्त्यजतः । तद्भावनया यथा—कपायो हृदयं दहति, सुखं विरूपयति । चक्षुषो रागमानयति । तनुं कृपयति । यत्किञ्चन भाषयति । यद्वा तद्वा कारयति । सम्यग्ज्ञानं मलिनयति । दर्शनमुन्मूलयति । चारित्रं चूर्णयति । तपः क्षपयति । अशुभप्रकृतिलता स्थिरयति । शुभकर्मफलं विरसयति । प्रत्यग्रमनोमलं ढौकयति । हृदयं रुठिनयति । प्राणभृतो घातयति । भारतीं वित्तयति । गुरुनपि गुणान् लंघयति । यशो नाशयति । परानपवादयति । महतोऽपि गुणान्स्थगयति । मत्रीमुत्पन्नयति । कृतमप्युपकारं विस्मरयति अपकारमध्यापयति । दुःखार्णवे निमज्जयतीति ॥

अर्थ—यदि किसी प्रकारसे कपायाग्नि ममक कर उठेगी तो उसका उपशम करना चाहिये जो

कपायग्निका परिहार करनेका प्रयत्न करता है उसके रागद्वेष्टोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, कपायोंमें कौनसे दोष भरे हैं इसका विचार कर उसका उपशमन करना चाहिये.

हुज्जनोंकी संगतीके समान ये कपाय हृदयको जलाते हैं, अशुभ अंग और उपांगोंकी रचना करनेवाले नाम कर्मके समान कपाय मुखको कुरूप करते हैं नेत्रोंमें गये धूलिके कण जैसे आंखको लाल बनाते हैं वैसे कपायसे भी वह लाल होती है, बड़े जोरसे वहनेवाले वायुके समान कपाय शरीरको कंपित करते हैं, सुरापानसे मनुष्य चाहे जो बड़बड़ता है वैसे कपायवश हुआ मनुष्य बड़बड़ता है, पिशाचग्रस्त मनुष्य के समान कुछ भी कार्य करने लगता है, यह कपाय सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रको मलिन करता है, सम्यग्दर्शनरूपी वनको उच्छ्वस्त कर देता है, चारित्ररूपी सरोवरको सुखा देता है, यह कपाय तप-रूपी कोमल कमलोंको दग्ध करता है, अशुभकर्मप्रकृतिको दृढ करता है, शुभकर्मके फलोंको रसहीन करता है, निमल मनको मलिन करता है, हृदयको निर्दय बनाता है, प्राणिओंकी हिंसा कराता है, असत्य भाषणमें मनुष्यको प्रवृत्त कराता है, बड़े बड़े गुणोंको भी लाधता है, कीर्तिरूपी धनको नष्ट करा देता है, दूसरोंकी निंदा कराता है महापुरुषोंके गुणोंको दक देता है, मंत्रीको तुडवाता है, किये गये उपकारको भुला देता है अपकारका पाठ सिरवाता है बड़े भयंकर नरकके खड्डोंमें प्राणीओंकी गिराता है, और दुखरूपी भोगोंमें डुबाता है, इस तरह यह कपाय अनेक अनर्थोंको उत्पन्न करता है ऐसी भावना मनमें कर रागद्वेष्टोंकी उत्पत्तिको न होने देना चाहिये.

रागद्वेषप्रशान्त्युपायकथनाय गाथा—

जावन्ति केइ संग उदीरया होति रागदोसाणं ॥

ते वज्जंतो जिणदि हु रागं दोसं च गिरसंगो ॥ २६४ ॥

रागद्वेषादिकं साधोः संगभावे विनश्यति ॥

कारणाभावतः कार्यं किं कुत्राप्यवतिष्ठते ॥ २६४ ॥

विजयोदया— जावन्ति केइ संग यावन्त केचन परिग्रहा. । उदीरया होति रागदोसाणं उत्पादका भवन्ति रागद्वेषयो ॥ ते वज्जंतो तान्परिग्रहाधिराकुर्वन् । जिणदि खु जयत्येव । राग दोसं च रागद्वेषो । निस्संगो नि.परिग्रह' ।



रागद्वेषयोः प्रशमोपायमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

रागद्वेषयोः प्रशमन करनेका उपाय कहनेकेलिये यह गाथा कहते हैं—

अर्थ—राग और द्वेषको उत्पन्न करनेवाले जो कोई परिग्रह हैं उनका त्याग करनेवाला मुनि निःसंग होकर उन रागद्वेषोंको जीतता ही है अर्थात् परिग्रहका त्याग कर निःसंग बनना यह रागद्वेषोंको जीतनेका उपाय है.

पवमुदयमुपयाति कयायाम्नि स चेत्यमपकारं करोत्येव उपशान्तिं नेतव्य इत्येतद्वाथात्रयोदाहरणेनोच्यते—

पडिचोदनासहणवायुभिदपडिवयणइंधणाइद्धो ।

चंडो हु कसायगी सहसा संपज्जिलेऽजाहि ॥ २६५ ॥

वाक्यासहिष्णुतावात्माप्रेरितः कोपपावकः ॥

उदेति सहसा चंडो भूरिप्रत्युत्तरेन्धनः ॥ २६५ ॥

विजयोदया— पडिचोयणा प्रतिचोदनाया. असहनमेव वात तेन क्षुभित, प्रतिवचनेधनेरिद्धः क्रूर. क्रमयाग्निः सहसा प्रज्वलति ।

एवं जोधादीना निर्जरोपायमुपदिश्यदानीं क्रोधस्य स्वार्थघ्नशकृत्वप्रकाशनद्वारेणैतरकपायाणामप्यपायभूयिष्ठानां उपदेष्टुं तस्यैवोदीरणा दिव्यात्रिणाह—

मूलारा— पडीत्यादि —प्रतिचोदनासहनवातक्षुभितप्रतिवचनेनेद्र. । प्रतिचोदना शिष्यस्याविहितप्रवृत्तिनिवारणार्थं गुरोः शिष्यावचने सति प्रतिकूलवचनं, तस्यासहनमभरणं गुरुणा, तदेव वातस्तेन क्षुभितः संघुक्षितो गुरोर्भनमि कोपाग्निः । तदनंतरं प्रतिवचनं, पुत्रुर्गुरुणा शिद्रावचने सति प्रतिकूल वचनं तदेवधनं तेनेद्रो दीप्तः । अथवा प्रतिसोदना-गुरुणा शिष्यस्य शिक्षापणं, तस्यासहनमभरणं शिष्येण, तदेव वातस्तेन क्षुभित ततः प्रतिवचनं पुनः शिष्यस्य गुरुणा शि आपणं तदेवधन तेनेद्रो दीप्त शिष्यस्य मनसि कोपाग्निः । चंडो रौद्र प्रत्यास्यानावरणोऽन्तामुर्वी चा । संपज्जलेज्जाहि संप्रज्वलेत् । तथा चोक्तम्—

वाक्यासाहिष्णुतावात्स्या भेरितः कोपपावकः ।

उदेति सहसा चंडो भूरिप्रत्युत्तरेन्धनः ॥

एवं वा तदर्थो भाव्यः ।

प्रतिवचनेधनजनितः प्रतिकूलचरणपत्रनसंचलितः ।

चंडः कपायदहनः सहसा संप्रज्वलेत्यापः ॥

कपायाग्नि उत्पन्न होकर जब अपकार करने लगता है तब आगे कहे हुए उपायसे उसका उपशमन करना चाहिये इस विषयको आचार्य तीन गाथाओंसे प्रगट करते हैं—

अर्थ—शिव्यकी अयोग्य कार्यमें प्रवृत्ति रोकनेके लिये गुरु उपदेश करते हैं, परंतु जब शिव्य प्रतिकूल उत्तर देता है तब वह गुरुको सहन नहीं होता है यह सहन न होना यही वायु है, इस वायुसे गुरुके मनमें क्रोप-रूपी अग्नि प्रज्वलित होती है परंतु पुनः गुरु शिव्यको उपदेश देते हैं शिव्य पुनः प्रतिकूल वचन बोलता है, इस प्रतिकूलवचनरूपी इंधनसे गुरुकी क्रोधाग्नि उदीप्त होती है, ऐसा होनेसे अनतानुबंधी अथवा अप्रत्याख्यानरूप कपायाग्नि प्रज्वलित होती है तदनंतर वह—

जलिदो हु कसायगगी चरित्तसारं डहेज्ज कसिणं पि ॥

सम्मत्तां पि विराधिय अणंतसंसारियं कुज्जा ॥ २१६ ॥

स दग्ध्वा ज्वलितः क्षिप्रं रत्नत्रितयकाननम् ॥

विदधाति महातापं संसारंगारसंचयैः ॥ २१६ ॥

विजयोदया—जलिदो हि कसायगगी ज्वलितश्च कपायानि । चरित्तसारं चारित्राख्यं सारं दहत्येव । सम्यक्त्वं विनाशयानतससारपरिभ्रमणे रतं कुर्यादेव ।

क्रोधस्त्रैवं संप्रज्वलितः कमपकारं करोति इत्यत्राह—

मूलारा—कसिणं पि कुत्समपि । अनंतसंसारियं अनंतभयपरिवर्तनोद्यतं गुरु शिष्यं च ।

अर्थ—चारित्ररूपी उत्कृष्ट वस्तुको जलाकर भस्म करती है, और सम्यक्त्वका नाश कर आत्माको अनन्त संसारी करती है.

तम्हा हु कसायगी पावं उपज्जमाणयं चेव ॥

इच्छामिच्छादुक्कडवंदणसल्लेण विज्झाहि ॥ २६७ ॥

जायमानः कपायाग्निः शमनीयो मनीषिणा ॥

इच्छामिध्यातथाकारप्रणिपातादिवारिभिः ॥ २६७ ॥

विजयोदया—तम्हा खु तस्मात्बहु कपायग्निः पापमुत्पद्यमानमेव प्रशमयेत् । केन “इच्छामि भगवतः शिक्षां, मिथ्या भवतु मम दुष्कृतं, नमस्तुभ्यं” इत्येवंमूलेन सल्लेखेन ॥

तर्हि स कथं शमनीय इत्यत्राह—

मूलारा—इच्छेत्यादि—इच्छामि भवता शिक्षामित्यभ्युपगमवचनं । मिच्छादुक्कडं मिथ्या विफलं भवतु मम दुष्कृतं. शुष्मच्छिक्षावचनोद्धयनलक्षणं दुराचरणमिति प्रार्थनावचनं । वंदण भगवतः प्रसीदत, नमस्तत्र भवद्भयो इत्यादि-पूजावचनं, तत्रयसल्लेखेन विज्झाहि विध्यापयेच्छिष्यः ।

अर्थ—इसलिये यह कपायाग्नि पापको अब उत्पन्न करेगी ऐसा समझकर उसके उत्पन्न होते ही अर्थात् पापवर्धक कपाय उत्पन्न होते ही हे भगवन् 'मैं आपका उपदेश शिरोधार्य समझता हूं, मेरे पातक मिथ्या होवें मैं आपको वंदन करता हूं ऐसे वचनरूप सल्लेखे शान्त करना चाहिये.

तह चेव णोकसाया सद्धिहियव्वा परेणुवसमेण ॥

सण्णाओ गारवाणि य तह लेस्साओ य असुहाओ २६८ ॥

संलिख्यं गौरवं संज्ञा नोकपाया महाभटाः ॥

समस्ता निदिता लेख्या समाधानं यता सता ॥ २६८ ॥

विजयोदया—तद्देवेषु नोक्तसाया तथैव नोक्तयायाः तन्मूर्तव्याः । परेणुवसमेण परेणोपशमेन । संज्ञा, गारवाणि, अशुभाश्च लेख्याः, हास्यरत्नपरितिशोकमयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकवेदा नोक्तयाया इत्युच्यते । आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषाः संज्ञा । क्रद्दौ तीव्राभिलाषो, रसेषु, सुखे च गारवशब्देन उच्यते ॥

कपायवत्त्वार्थप्रशंशकरत्वाविशेषाज्ञोक्तपायादीनामपि मुमुक्षोः सल्लेखनीयत्वमाख्याति—

मूलारा—नोक्तसाया हास्यरत्नपरितिशोकमयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकवेदाख्या नव । परेण उक्तेन । उवसमेण उदयोन्मूलारत्ननिग्रहलक्षणेन वैभाविकभावपृथग्भूतशुद्धत्वात्मभावनाप्रभवेन । सण्णाओ, अनादिंसतत्या प्रवर्तमाना-आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषाः । असुहाओ कृष्णनीलकपोतलक्षणाः ॥

अर्थ—कपायके समान हास्यादि नवनोक्तपायोंका भी उपशमन करना चाहिये अर्थात् नो कपाय भी क्रुश करने चाहिये. आहार, भय, परिग्रह और मैथुन इनमें अभिलाषा करना यह संज्ञाका लक्षण है. कृष्ण, नील और कपोत ये तीन अशुभ लेख्यायें हैं. हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नव नोक्तपाय हैं. क्रद्दिमें तीव्र अभिलाष होना, रसोंमें तीव्र अभिलाष होना और सुखमें आसक्ति होना इनको गारव कहते हैं. ये नोक्तपाय, संज्ञा, लेख्या और गारव उत्पन्न होते ही इनको उत्कृष्ट उपशमके द्वारा क्रुश करना चाहिये.

परिवाद्धिदेवधानो विगडसिराणहारुपासुलिकडाहो ॥

सल्लिहिदतणुसररो अङ्गप्परदो हवदि णिच्चं ॥ २६९ ॥

वार्धितावग्रहः साधुः प्रकटास्थिसिरादिकः ॥

तन्मूर्तसमस्तांगो भवत्यध्यात्मनिष्ठितः ॥ २६९ ॥

विजयोदया—परिवाद्धिदेवधानो परिवर्द्धितावग्रह. अन्येषा पाठ परिवर्द्धितावधानो परिवर्द्धितावधान । विजडसिराणहारुपासुलिकडाहो प्रकटीभूता महत्य अल्पाश्च सिरा, पार्श्वोस्थिसहस्रतय कटाक्षदेशाश्च यस्य । सल्लिहिदतणुसररो सम्यक्तनूतकृत शरीरं यस्य स. । अङ्गप्परदो अध्यत्मध्यान तत्र रत । होइ भवति । णिच्चं नित्यं ॥

कायक्लेशविशेषानुष्ठानेन क्रुशतरीकृतशरीरोऽपि विशुद्धपरिणामसंतत्या प्रवर्तमानो मुमुक्षुः संततं सद्ग्रहान निष्ठितो भवति इति कपायसल्लेखनानुविद्धकायसल्लेखनामाहात्म्यं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—परिवट्टिदेवहाणो संसारावहरहृत्कृषितमुपधानमवग्रहो येन । परिवट्टिदेवहाणो इत्यत्र पाठे परिव-  
द्धितप्रमादपरिहार इत्यर्थः । वियड प्रकटीभूता । पणहार स्नायुः । पासुलि पाथोस्थिसंहतिः । कडाहो कटाक्षदेहाः । नि-  
तंबसमीपदेश इत्यन्त्ये । सल्लिहिदत्तणुसरीरो तडुसल्लेखनारंभात्प्रागपि तपोविशेषैः कृशं यच्छरीरं तदेव तदा सम्यगवशीकृतं  
यस्य येन वा ॥

अर्थ—जिसने प्रतिदिन अनशनदि ब्राह्म तपोके नियम बुद्धिगत किये हैं; अथवा जिसने प्रतिदिन प्रमा-  
दका परिहार अधिकाधिकरूपसे बढ़ाया है, बाह्य तप करनेसे छोटी और बड़ी सिराये, शरीरकी दोनो पसवाड़े की  
हड्डियां, और नेत्रके अस्थि स्पष्ट दीख रही है, ऐसा वह क्षपक निर्दोष शरीरसल्लेखना करके अध्यात्मध्यानमें तत्पर  
होता है अर्थात् क्षपक शरीर सल्लेखनाके साथ कथाय सल्लेखना भी प्रमादका नित्य त्याग कर करता है,

एवं कदपरियम्मो सम्भंतरवाहिरिम्मि सल्लिहणो ॥  
ससारमोक्खबुद्धी सव्ववरिह्णं तवं कुणदि ॥ २७० ॥  
वाह्यामाभ्यन्तरीं कृत्वा योगी सल्लेखनामिति ॥  
संसारत्यजनाकांक्षी प्रकृष्टं कुरुते तपः ॥ २७० ॥

इति सल्लेखनासूत्रम् ॥

विजयोदया—एवं कदपरियम्मो एवमुक्तेन क्रमेण कृतपरिकर । सम्भंतरवाहिरिम्मि सल्लिहणो अभ्यन्तरसल्लेखना-  
सहितताया बाह्यसल्लेखनाया । संसारमोक्खबुद्धी संसारत्यागे कृतबुद्धि । सव्ववरिह्णं तवं सर्वभ्यस्तपोभ्यः उत्कृष्ट तपश्चर-  
ति । सल्लेखणा सम्मत्ता ।

मूलारा - संसारमुक्खबुद्धी संसारत्यागकृतमतिः । सव्ववरिह्णं सर्वभ्यस्तपोभ्य उत्कृष्टं धर्मशुद्ध्यानलक्षणं ।  
सल्लेखना सूत्रतः ११ अंकतः । ६६ ॥

अर्थ—इसतरहसे शरीर सल्लेखना और कथाय सल्लेखनामें जिसने बाह्यतपका आचरण कर अभ्यास किया  
है संसारका त्याग करनेमें जिसने अपनी बुद्धि एकाग्र की है ऐसा वह क्षपक सर्वतपोसे उत्कृष्ट तप अर्थात् उत्कृष्ट  
धर्मध्यान और उत्कृष्ट शुक्लध्यान करता है,

सहस्रानांतरं कार्यमुपदिशति—

बोडुं गिलादि देहं पव्वोढव्वमिणमसुचिमारोत्ति ॥

तो दुक्खभारभीदो कदपरियम्मो गणमुवेदि ॥ २७१ ॥

न शक्वनोम्यशुचि त्याज्यमिदं बोडुं महत्क्षयि ॥

विचिन्त्येति नपुस्त्यक्तुं गणं याति कृतक्रियः ॥ २७१ ॥

विजयोदया—बोडुं गिलादि देहं शरीरोद्धनद्वयपरिहृतं । पव्वोढव्वं इणमसुद्धमारोत्ति परित्यागाद्देहमिव अशुचि-  
भारभूतं शरीरमिति कृतचित्तं । पञ्चाहुः खमारभीदो दु खमाज्जनच्छरीराद्रीतं । कयपरिकम्मो कृतसमाधिमरणपरिकरं ।  
गण शिथ्यवृद्धं । उवेदि ढोक्ते । अन्येण पाठं 'बोडु गिलाभि देहं' इति, ते व्याख्यानयंति—शरीरं बोडुं अकृतादरोऽस्मि ।  
पव्वोढव्वमिणमसुद्धमारोत्ति परित्याज्यमिदं अशुचिभारभूतं शरीरमिति कृतनिश्चयः ।

अथैव नित्यसृत्यर्थं नवक्लोकानिमान्यते—

कपायान् ज्ञानसर्वेगाद्युपयोगेन संलिखेत् ॥

समाधिभृतये बाह्यतपसा संलिखेद्वपु ॥ १ ॥

उदयोपायमुत्तिस्तामुदयं च तुदत्सदा ॥

कपायनोकपायाणां तपस्तप्येत तत्त्ववित् ॥ २ ॥

ऋरत्वाद्यात्मनां भावक्रोधादीनां प्रवर्तिनः ॥

द्रव्यक्रोधादिपाकस्य हेतुं द्रव्यार्थकं त्यजेत् ॥ ३ ॥

उत्पित्तसूकोपहास्यादीन्भेदविज्ञानसज्जितैः ॥

जयेत्क्षमायैः सकेलशकारितच्छिक्षातनैः ॥ ४ ॥

कपायानात्मनो त्याज्यालम्बनोरीपिनोद्धतान् ॥

तदोपभावनैर्भिदाद्गुर्वोदेर्वितयादिभिः ॥ ५ ॥

निश्चिकित्सस्य कोपाद्या बर्धमानान्यथामयम् ॥

श्रुतं दृष्टं च संहृत्य द्वाधयंति भवामयम् ॥ ६ ॥

छिद्यत्तद्विहामुत्राप्यपायावधभावनैः ॥

सज्ञाश्रतप्तो दुर्लभ्यस्तिष्ठश्चासंगतागतः ॥ ७ ॥

भावयेच्छुद्धचिद्रूपं स्वात्मावं नित्यमुद्यतः ॥

रागाद्यदुःशत्रूणामनुपत्यै क्षयय च ॥ ८ ॥

निश्चयात्संविदानंदाद्वयरूपं तदस्स्यद्गम् ॥

ब्रह्मेति संवताभ्यासात्कश्चित्तुल्यमनुते ॥ ९ ॥

इत्थं कृत्वात्संस्कारं कर्षितागकपायक ॥

शिवाशाधरसंस्तुत्य सूरिपूतः स्वमुद्धरेत् ॥ १० ॥

इत्याशाधरानुसूतप्रथमं मूलाराधनादर्पणे पदप्रेमार्थप्रकाश्रीकरणप्रवणे आत्मसंस्कारसंश्लेषनाविधिवि-  
धायको नाम तृतीय आश्वासः समाप्तः ॥

अथ चतुर्थ आश्वासः ।

सुभाषितमनाः शमी स्वसदृशाय पाल्येऽर्पिते ॥

कृतसमणशासनः परगणप्रवेशयत

सुभार्ग्यं गुरुमुत्तमं विधिविदादृतस्तेन यो ।

विशोधयति सत्यं स पदमाप्नुमेवेप्सितम् ॥ १ ॥

अथ संश्लेषानन्तरणीयाचार्यकपरित्यागकमोपेदशार्थं गाथापंचकमाचष्टे—

मूलारा—बोदुमित्यादि । उवेदि उपैति ढोक्ते । कोऽसौ कदपरिमो कृतसमाधिभरणपरिकरो मुनिः । कं ?  
गणं स्वशिष्यद्वन्द्वं । किंविशिष्टः सन् । दुःखमारसीदो दुःखभाजनाच्छरीराश्रस्तः । कुतो हेतोः ? ततः इति शब्दो हेत्वर्थः ।  
यतो गिलाटि ग्लायति क्षीणहर्षो भवति । कोऽसौ ? कृतपरिकर्मा । किं कर्तुं ? बोदुं धर्तुं । किं तत् ? इणं इदं देहं । किं-  
विशिष्टं पन्वोढव्यं परित्यागाहं । कुतः असुहृद्भारोति दोषधातुमलमूलत्वादपवित्रमौदारिकत्वाद्भारभूतम् यतः

अथवा अशुचीता भारः संघातः । अन्ये तु गिलासीति पठित्वा इत्यमर्यं कथयन्ति । गिलामि देहं वोढुं अकृतादरोऽस्मि न शक्नोमि वा । यतः परित्याज्यमिदं अशुभमिति कृतनिश्चयः । तो ततः सल्लेखनान्तरं गणमुपैति ।

सल्लेखनाके अनंतर करनेके कार्यका उपदेश करते हैं—

अर्थ—यह देह अपवित्र पदार्थोंसे भरा हुआ है और भारभूत है ऐसा समझकर वह सल्लेखना करनेवाला भुनि शरीरको धारण करनेमें हर्षरहित होता है, दुःखका पात्र ऐसे शरीरसे भयभीत होकर समाधिभरणकी सामग्रीको अपनाता है, और अपने शिष्योंके पास जाता है.

सल्लेखणं कर्तौतो जदि आयरिओ हवेज्ज तो तेण ॥

ताए वि अवत्थाए चित्तेदब्बं गणस्स हिंयं ॥ २७२ ॥

अपि संन्यस्यता चिंत्यं हितं संघाय सूरिणा ॥

परोपकारिता सद्भिः प्राणान्तेऽपि न मुच्यते ॥ २७२ ॥

विजयोदया—सल्लेखणं कर्तौतो सल्लेखना कर्तुमुद्यतः । जद यदि । आयरिओ हवेज्ज आचार्यो भवेत् । तो ततः । तेण तेन । ताए वि तस्यामपि । अवत्थाए अवस्थाय । चित्तेयब्ब चित्तनीय । गणस्स गणस्य । हिंयं हितं ।

सल्लेखना कर्तुमुद्यतो द्विधा भवत्याचार्य इतरश्च । तत्र अनाचार्यः स्वचित्तविक्षेपकारण परित्यजेत् । आचार्यः पुनः गणायपि हितं चिंतयेदित्यनुशास्ति ।

मूलरा—ताएवि तस्यामपि देहत्यागोयोगलक्षणायाम् ।

अर्थ—सल्लेखना करनेके लिए उद्युक्त हुआ क्षपक यदि आचार्य पदवी का धारक होगा तो उसने उस अवस्थामें भी-क्षपककी अवस्थामें भी अपने गणके हितकी चिंता करनी चाहिए.

कालं संभावित्ता सब्बगमणुदिसं च वाहरिय ॥

सोमतिहिकरणक्खत्तविलग्गे मंगलोगासे ॥ २७३ ॥



विजाय कालसाह्य समस्तं गणमात्मना ॥

आलोच्य सहस्रं भिक्षुं सन्नर्थं गणधारणे ॥ २७३ ॥

विजयोदयः—काल गणपति आत्मन आनु नियति विचार्य । सन्नर्थं सर्वगणं अनुष्ठितं च तालाचार्यं च ।  
वाच्यं व्याटल । सोमनिष्ठं गणन च विचार्य सोमं दिने, जगणे, नक्षत्रे, तिथि । मंगलोभासे शुभे देशे ।  
गणानुपालनाय स्वयं अनुदिश प्रतिष्ठापितं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—कालं संभावित्वा आत्मन आनु स्थितिं विचार्य । वाहरिय आकाशं । मंगलोभासे शुभे देशे ।

अर्थ—अपनी आयु अभी कितनी रही है इसका विचार कर तदनंतर अपने शिष्यसमुदायको और अपने स्थानमें जिसकी स्थापना की है ऐसे बाल आचार्यको बुलाकर सौम्यतिथि, करण, नक्षत्र और लग्नके समय शुभप्रदेशमें—

गच्छाणुपालणार्थं आहोदय अत्तगुणसमं भिक्खू ॥

तो तस्मि गणविसर्गं अप्पकहाए कुणदि धीरो ॥ २७४ ॥

प्रदेशे पावनीभूते चारुल्लग्नार्थके दिने ॥

गणं निक्षिपते तत्र स्वल्पां कृत्वा कथां सुधीः ॥ २७४ ॥

विजयोदय—गच्छाणुपालणार्थं गच्छानुपालनार्थं । आहोदय विचार्य । अत्तगुणसमं आत्मनो गुणे समान ।  
भिक्खू भिक्षुं । तो तत् । तस्मि तस्मिन् । गणविसर्गं गणत्यागं । अप्पकहाए बलपया कथया । कुणदि धीरो करोति  
धीर । अन्ये तु वदन्ति अस्मन् कथयेति ।

मूलारा—आमोगिय विचार्य । अत्तगुणसमं आत्मगुणैः कृत्वा समानं । उक्तं च

ज्ञानविज्ञानसंपन्नं स्वगुरोराभिसम्मतं ॥

विनीतो धर्मशीलश्च य सोऽर्हति गुरोः पदम् ॥

तो व्याहरणानंतरं । गणविसर्गं गणत्याग । अप्पकहाए अलपया कथया ।

अर्थ—अपने गुणके समान जिसके गुण हैं ऐसा वह बालाचार्य गच्छका पालन करनेके लिये योग्य है ऐसा  
विचार कर उसपर अपने गणको विसर्जित करते हैं अर्थात् अपना पद छोड़कर संपूर्ण गणको बालाचार्यकालिये छोड़

देते हैं, अर्थात् बालाचार्य ही यहाँसे उस गणका आचार्य समझा जाता है, उस समय पूर्वाचार्य उसको थोड़ास उपदेश भी देते हैं,

किमर्थमेवं प्रयतते स्मरि. ?

अव्वोच्छित्तिणिमित्तं सव्वगुणसमोयरं तयं णच्चा ।

अणुजाणेदि दिसं सो एस दिसा वोत्ति बोधिच्चा ॥ २७५ ॥

अविच्छेदाय तीर्थस्य तं विज्ञाय गुणाकरं ॥

अनुजानाति संवोधय दिगयं भवतामिति ॥ २७६ ॥

इति दिक्सूत्रम् ।

विजयोक्त्या—अव्वोच्छित्तिणिमित्तं धर्मतीर्थस्य ज्ञानदर्शनचारित्र्यात्मकस्य व्युच्छित्तिर्मा भूदित्येवमर्थः । सव्वगुणसमोयरं सर्वगुणसमन्वितं । तंगं तत्कं णच्चा श्रुत्वा अणुजाणेदि अनुज्ञा करोति । दिस आचार्य । सो स. एप. । दिसा आचार्य । वोत्ति युष्माकमिति । बोधिच्चा बोधयित्वा ॥ दिसा समच्चा ॥

किमर्थं कथं चोत्तमाथोद्यत एलाचार्योय गणं समर्पयतीत्यत्राह—

मूलारा—अव्वोच्छित्तिणिमित्तं धर्मतीर्थस्य अविच्छेदार्थं । समोयरं समन्वितं । स्थानं वा । तंगं तं । अणुजाणेदि पालयतु भवतिमं गणं इत्यनुमन्यते । अधीच्छति वा । दिसं एलाचार्य । एस दिसा वोत्ति बोधिच्चा एप आचार्यो युष्माकमिति बोधयित्वा सानुर्कयं प्रतिपाद्य शिष्यानिति शेष । दिक् सूत्रतः १२ अंकत. ५ ॥

अर्थ—धर्मतीर्थ सम्पन्नदर्शन, सम्पन्नज्ञान और चारित्र स्वरूपी है. इसका नाश नहीं होवे, इस की परिपाटी अखंडरूपसे चलनी चाहिये इसलिये इसलिये बालाचार्यको सर्व गुणोंसे परिपूर्ण समझकर यह तुम्हारा आचार्य है ऐसा गणकी समझाते हैं. यदि पूर्वाचार्य अपने स्थानमें अपनी योग्यताके धारक शिष्यकी योजना न कर ही समाधिमरणके लिये संघतो छोड़कर चले जायेंगे तो संपूर्ण गणके रत्नत्रयधर्मका नाश होनेसे धर्मतीर्थका ही विच्छेद होगा अतः मेरे स्थानवर मैंने इस योग्य शिष्यको स्थापा है और वह अवसे तुम्हारा आचार्य है ऐसा कह कर वे सर्व गणकी धृमा मांगते हैं. इसका वर्णन इस प्रकार है. ( दिशा नामक प्रकरण समाप्त हुआ है. )

क्षमामात्रहणक्रमं निरूपयति—

आमंतेऊण गणिं गच्छस्मि य तं गणिं ठवेदूण ॥

तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्डाउलं गच्छं ॥ २७६ ॥

स फलं गणमामन्व कृत्वा गणिनिवेदानं ॥

स त्रिया क्षमयत्येवं बालवृद्धाकुलं गणं । २७६ ॥

विजयोदया—आमंतेऊण गणिं आमज्य आचार्यं । गच्छस्मि य गणे । त गणिं ठवेदूण आत्मनानुज्ञातं स्थापयित्वा, स्वयं पृथग्भूत्वा । तिविधेण रामावेदि नु स बालउड्डाउल गच्छं मनोवाक्तायैर्ग्राहयति क्षमां स बालवृद्धैः सकीर्णं गणं ॥

अथ समधिसमार्थितो सुमुक्षोः कृतात्मसंस्कारस्य सन्यवशीकृतकायकपायस्य प्रतिसूरिसमर्पितशिष्ययुद्धस्य परगणं गन्तुमनसश्चिरसंवासदोषसंभाव्यमानांतःकालुष्यफलं गणक्षमणाक्रमं गाथात्रयेणोपदिशति तत्रापि सूरोगेणक्षमण-विधिं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—तं गणपालनाय स्वयमनुज्ञातं । ठवेदूण गणमध्ये निवेदय स्वयं च पृथग्भूत्वा । समोवेदि क्षम ग्राहयति स बृहदाचार्यः ॥

अर्थ—उस नवीन आचार्यको आमंत्रणकर और उसको गणके बीचमें स्थापन कर और स्वयं अलग होकर बालमुनि, बृद्धमुनि, इत्यादिकोंसे पूर्ण ऐसे गणस्त्री मन, वचन, कायसे क्षमा मांगते हैं

जं दीहकालसंवासदाणु ममकारणेहरागेण ॥

कडुगपरसं च भणिया तमहं सव्वं खमावेमि ॥ २७७ ॥

यद्दीर्घकालसंवासममत्त्वस्नेहरागतः ॥

अप्रियं भणितं किंचित्तत्सर्वं क्षमयामि वः ॥ २७७ ॥

विजयोदया—जं दीहकालसंवासदाणु दीर्घकाल मद्द सगसेन यज्ञात ममत्वं, स्नेहो, प्रेते, गगच्छ तेन । ज यत् फडुगपरसं च भणिया कडुग परस वा वच भणिताः । त तत् गुगमन् । मन्त्र सर्वान् । ममात्रेमि क्षमा ग्राहयामि ।

१ कडुग इत्यसाधारण्य भणिता इत्येतावत्पर्यता वाक्यपंक्तिः कपुस्तके नास्ति ।

मूलारा—ममकार ममेमे इति बुद्धिः । गेहारागेण स्नेहेन प्रणयेन, रागोपायनिवारणभिलाषः कल्याणप्रापण-  
मनोरथश्च तेन । भगिदा भापिता यूयं । तं भो सबवे तत्कटुकपरुषभापणं युगमान्सर्वान्क्षमयामि तज्जनितकालुष्यरहिता-  
न्करोमीत्यर्थः ।

अर्थ—हे मुनिगण ! तुम्हारे साथ मेरा दीर्घ कालतक सहवास हुआ है इसलिये मैंने ममत्वसे, स्नेहसे, द्वेषसे  
आपको कटु और कठोर वाक्य कहे होंगे इसलिये आप सर्व मेरे ऊपर क्षमा करेंगे ऐसी आशा है, मेरे कटु कठोर  
भापणसे आपके मनमें कलुषभाव उत्पन्न हुआ होगा तो उसको त्याग कर मेरे अपराध की आप क्षमा करो

गणेन सपाद्यक्रममाचष्टे—

वंदिय गिसुडिय पडिदो तादारं सव्ववच्छलं तादिं ॥

धम्मयारियं गिययं खामेदिं गणो वि तिविहेण ॥ २७८ ॥

प्रणम्य पतितः संघस्त्रातारं वत्सलं यतिम् ॥

धर्माचार्यं निजं सर्वं सम्यक् क्षमयति त्रिधा ॥ २७८ ॥

इति क्षमणासूत्रम् ।

विजयोदया— वदिय गिसुडिय पडिदो अथिवय संकुचितपतितः । तादारं संसारदुःखात्तातारं । सव्ववच्छलं  
सर्वंगा वत्सलं । तादिं यतिं । धम्मयारियं दशविधे उत्तमक्षमादिके धर्मे खयं मवृत्तं अत्येयां प्रवर्तक । गिययं आत्मीय ।  
आत्मीय । खामेदिं गणो वि तिविहेण क्षमा ग्राहयति गणस्त्रिविधेन । खमावणा समत्ता ॥

गणेन कार्यमाणस्य क्रममाह—

मूलारा—वंदिय गिसुडिय पडिदो वंदित्वा संकुचितपतितः प्रणम्य भूतलन्त्यपंचागोभूत इत्यर्थः । तादारं  
संसारदुःखाद्वर्त्तकं । तादिं यतिं । गिययं निजं ॥ क्षमणा सूत्रतः ॥ २७३ ॥ अंकतः ३ ॥

गणने भी आचार्य क्षमाके अनंतर कोनसा विधि करना चाहिये उसका वर्णन—

अर्थ—वंदना करके भूतलपर पंचागोंका जिन्होंने स्थापन किया है अर्थात् प्रथम वंदना करके अनंतर  
पंचांग नमस्कार जिन्होंने किया है ऐसे वे गणके सर्व मुनिजन संसारदुःखसे रक्षण करनेवाले, सर्वके ऊपर प्रेम

रखनेवाले, उत्तमक्षमादिक दश प्रकारके धर्ममें स्वयं प्रवृत्त होकर गणको प्रवृत्त करनेवाले ऐसे अपने पूर्वाचार्यको मन वचन कायसे क्षमा मांगते हैं. क्षमाणा प्रकरण समाप्त हुआ.

आश्वासः

४

अनुशासननिरूपणार्थ उत्तरप्रबंधः—

संवेगजिणियहासो सुत्तथविसारदो सुदरहस्सो ॥

आदद्धचित्तओ वि हु चित्तेदि गणं जिणाणाए ॥ २७९ ॥

स सूत्रार्थरहस्यज्ञः स्वार्थनिष्ठोऽपि यत्नतः ॥

संविभ्रश्चित्तयत्येवं गणं धीरो जिनाज्ञया ॥ २७९ ॥

विजयोदया—संवेगजिणिदहासो संसारभीरुतया करणभूतया उत्पादितहासः । परिग्रहेऽस्मिन्त्यक्ते अभ्यंत-  
राश्च रागादय निमित्तापायादपयाति । तदपगमात्तन्मूलस्थितीनि कर्माणि प्रलयमुपवर्जति । तेषु नेष्टेभ्येव चतुर्गतिभ्रमं  
नक्ष्यति इति विजितहर्षः । सुत्तथविसारदो सूत्रे जिनप्रणीते तदर्थं च विसारदो निपुणः । सुदरहस्सो श्रुतप्रायश्चित्तग्रंथः ।  
आदद्धचित्तओ वि हु आत्मप्रयोजनचिन्तापरोऽपि । चित्तेदि गणं जिणाणाए जिनामाज्ञया गणचिन्ता करोति ।

अथ परगणं प्रस्थातुमुद्यतेन गुरुणा गणस्य संपाद्यमानुशासनं गाथानामेकोत्तरशतेन निरूपयति तत्र तावदुप-  
क्रममाह—

मूळारा—संवेगजणिदहासो संसारभीरुतया करणभूतयोत्पादितो हासो ह्येव येन । अस्मिन्वाहापरिग्रहे त्यक्ते  
निमित्तापायादंतरंगा रागादयोऽपगच्छन्ति, तदपगमात्तन्मूलस्थितीनि कर्माणि नश्यन्ति, तेषु च नेष्टेभ्येव चतुर्गति-  
भ्रमणं नश्यतीति संजातप्रमोद इत्यर्थः सुदरहस्सो श्रुतप्रायश्चित्तग्रंथः । चित्तेदि इति कर्तव्यतानिरूपणेन अनुगृह्णाति ॥  
उपदेशका निरूपण करनेके लिये उत्तरप्रबंध—

अर्थ—संसारसे भययुक्त होकर परिग्रहविषयक हर्षका जिन्दगेने त्याग किया है. जिनेश्वरने कहे हुये  
सूत्रोंमें अर्थात् आगममें और जीवादिक पदार्थोंमें जिन्दगेने निपुणता प्राप्त कर ली है अर्थात् जिनागम और जीवा-  
दिकपदार्थोंका जो ज्ञाता है, प्रायश्चित्त ग्रंथका जिन्दगेने श्रवण किया है. ऐसे आचार्य आत्महितकी चिन्तामें तत्पर  
होते हुये भी जिनाज्ञाकी अनुसार चतुर्विध संधकी चिन्ता करते हैं. ये आचार्य संसारसे भययुक्त होकर परिग्रहोंक

त्याग करते हैं, परिग्रहोंका त्याग होनेसे रागादिक विकार दूर होते हैं । कारण निमित्त नष्ट होनेसे उत्पत्ति होनेवाला कार्य भी नष्ट होता है । रागादिकोंका नाश होनेपर उनसे लिनका स्थितिविध आत्मामें होता है ऐसे कर्म भी नष्ट होते हैं, कर्मोंका अभाव होनेपर चार गतिओंमें जीवका भ्रमण होना बंद पड़ता है, इसलिये संवेगयुक्त आचार्य परिग्रहविषयक हर्षका त्याग करते हैं.

गिद्धमहुरगभीरं गाहुगपल्हादणिज्जपत्थं च ॥

अणुसिद्धिं देइ तहिं गणाहिवङ्गो गणस्स वि य ॥ २८० ॥

गंभीरां मधुरां स्निग्धां आद्यामानंददायिनीं ॥

अनुशिष्टिं ददात्येवं स गणस्य गणेशिनः ॥ २८० ॥

विजयोदया—णिज्जं स्नेहसहिता । मधुरं माधुर्यसमन्विता । गभीर सारथ्यवत्तया शृङ्गीतगाभीर्यो । गाहुगं प्राद्विका सुखावयोथा । पल्हादणिज्जपच्छ च । चेत प्रह्लादयिधायिनी । पत्थ पत्था हितां । अणुसिद्धिं देइ अनुशिष्टिं ददाति । तहिं तस्मिन्पूर्वोक्ते देशे काले च । गणाहिवङ्गो गणस्स वि य गणाधिपतये गणाय च ॥

कीदृशीमनुशिष्टिं कसै स ददाति इत्यत्राह—

मूलरा—गिद्धमधुरगंभीरं स्नेहला, श्रोतृहृदयप्रिया, सारथ्यवत्तया अस्पृष्टतला च । गाहुग प्राद्विका श्रद्धित्यर्थे-निश्चायनसमर्था । आद्यामित्यन्ये पठन्ति । पल्हादणिज्ज आनंदकरी । पत्थं मार्गानुगामिनीं ॥ तहिं तस्मिन्पूर्वोक्ते सौम्य-विध्यविद्युक्तकाले शुभप्रदे च ॥

अर्थ—आचार्य गणत्याग करनेके पूर्व वालाचार्य और गणको जो उपदेश करते हैं उसका ग्रंथकार इस गाथासे वर्णन करनेका प्रारंभ करते हैं—आचार्यका उपदेश, स्नेहसहित, मधुरतासे भरा हुआ, सारयुक्त अर्थसे भरा हुआ और गंभीर रहता है, उसका अभिप्राय सुखसे जाना जाता है, वह मनको आनंदित करनेवाला और हितकर होता है, आचार्य उत्तम तिथि नक्षत्रादि समयमें और उत्तम स्थानमें गण और वालाचार्य को अभंगण देकर आगे कहा हुआ उपदेश देते हैं.

वद्धुतओ विहारो दंसणणचरणेसु कायव्वो ॥

कप्पाकप्पठिदाणं सव्वेसिमणादे मग्गे ॥ २८१ ॥

रत्तन्नये विधातव्वं वर्द्धमानं प्रवर्तनम् ॥

कल्पाकल्पप्रवृत्तानां सर्वेषामागमिष्यति ॥ २८१ ॥

विजयोदया—वद्धुतगो विहारो कायव्वो वर्धमानविहार- कार्य । क ? सव्वेसि कप्पाकप्पठियाण अणागदे मग्गे सर्वेषां प्रवृत्तिनिवृत्तिस्थिताना मुक्तिमार्गे । प्रमत्तसंयतादिगुणस्थानापेक्षया विचित्रो यतिधर्म । दंसणवदसामाधिकविक्लपेन प्रवृत्तिधर्मोपि विचित्ररूप । तस्य सकलस्योपादान सर्वेषामित्यनेन । कोऽसौ मार्ग इत्याशंकायामाह-सामान्येन दंसणणचरणेसु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु चतुर्विकल्पगणोद्देशेनायमुपदेशः ।

चतुर्विधगणमुद्दिश्योपदेशमाह—

मूलारा—विहारो अनुष्ठानं । कप्पाकप्पठिदाणं योयायोग्यवस्तुप्रवृत्तिनिवृत्तिनिष्ठिताना । युष्माकं युष्माभिः कर्तव्य इत्यर्थः । अणागदे मग्गे आगमिनि रत्तन्नये मार्ग इति समान्यस्य दर्शनेत्यादिना विशेषितत्वात् ॥ तथा चोक्तम्—

रत्तन्नये विधातव्वं वर्द्धमानं प्रवर्तनम् ॥

कल्पाकल्पप्रवृत्तानां सर्वेषामागमिष्यति ॥

अर्थ—प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गमें रहनेवाले मुनि और गृहस्थोंके आगमि रत्तन्नय मार्गमें हे मुनिगण ! आप उत्तरोत्तर वृद्धिगत होने वाली प्रवृत्ति करो, तथा दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, और चारित्र्याराधनामें वृद्धिगत होनेवाली प्रवृत्ति करो.

प्रमत्त संयत्त, अप्रमत्त संयत्तादि गुणस्थानोंकी अपेक्षासे यतिधर्मके भी अनेक प्रकार होते हैं, और दर्शन, व्रत, सामायिक वगैरह विकल्पोंसे गृहस्थका प्रवृत्तिधर्म भी अनेक प्रकारका है, गाथामें 'सव्वेसि' ऐसा पद है इससे प्रवृत्ति निवृत्त्यात्मक और विकल्पसहित गृहस्थधर्म और मुनिधर्मका संग्रह होता है.

१ वद्धुतगो इत्यत आरभ्य स्थिताना एतावत्पर्यन्ता वाक्यपर्यन्तिः कपुत्सके नास्ति ।

सूर्ये कथयति—

संखित्ता वि य पवहे जह वच्चइ वित्थरेण वडुंती ॥

उदधिं तेण वरणदी तह गुणसीलेहिं वडुहाहि ॥ २८२ ॥

संक्षिप्तेहादितोऽम्भोधिं गच्छन्तीव महानदी ॥

विस्तरन्ती विधातव्या गुणशीलप्रवर्तना ॥ २८२ ॥

विजयोदया—संखित्ता वि य पवहे संक्षिप्तापि च प्रवाहे प्रवहत्यस्मादिति प्रवाह. उत्पत्तिस्थानं तत्र संक्षिप्तापि सती वरनदी । जह वच्चइ यथा व्रजति । वित्थरेण पृथुरतया । वडुंती वद्धमाना । उदधितेण यावरसमुद्रं । तह गुणसीलेहिं वडुहाहि तथा शीलगुणैस्त्व वर्धस्य ।

गणाधिपमनुशासितुं द्वादशगथाः कथयति—

मूलांश—संखित्ता वि य कृशापि । पवहे प्रवहणारंभे वज्जदि व्रजति । उदधिं तेण । समुद्रं यावत् । वडुहाहि वर्द्धस्व त्वं भो गणाधिपते ॥

बालाचार्यको आचार्यका उपदेश—

अर्थ—उत्कृष्ट नदी जहासे उत्पन्न होती है वहां छोटी रहती है परतु वह आगे गमन करते करते विस्तृत होकर समुद्रको प्राप्त होती है वैसे हे बालाचार्य ! आप भी प्रारंभमें अल्प प्रमाणसे शील, व्रत, धारण कर उत्तरोत्तर शील और गुणोंसे बढ़नेका प्रयत्न करो.

मज्जारसिदसरिसोवमं तुमं मा हु काहिसि विहारं ॥

मा णासेहिसि दोणि वि अप्पणं चैव गच्छं च ॥ २८३ ॥

मा स्म कार्पीविहारं त्वं मार्जाररसितोपमम् ॥

मा नीनशो गणं स्वं च कदाचन कथंचन ॥ २८३ ॥

विजयोदया—मज्जारसिदसरिसोवमं मार्जारस्य रसित रटन मार्जाररसित तेन सह सादृश्यं उपमा परि.



च्छेदो यस्य विद्धारस्य तन्मार्जाररसितसदृशोपमं विद्धार चरण । तुमं भवान् । मा दु काक्षिसि मा कार्यो । मार्जारस्य रसितं प्राङ्गादृक् क्रमेणापवीर्यते तद्वद्वत्त्रयभावनातिशयवती प्राक् क्रमेण मंदायमाना न कर्तव्येति यावत् । मा णत्से-  
द्विस्ती दीणिण चि अत्ताण केव गच्छे च । आत्मनो गणस्य च मा विनाश इया । प्रथममेवातिदुर्धरचारित्रतपोभावनायां प्रवृत्तो भवान् गणं च तथा प्रवर्त्यमानो नश्यति ।

मूलारा—मज्जारसिद्वमरिसोवमं मार्जाररसितेन विडालवासितेन सदृशी उपमा परिच्छेदो यस्य । यथा मार्जाररसितं प्राङ् मृदुभूय क्रमेण हीयमानं भवति, तथा रत्नत्रयभावनात्वं संपद्यते मार्कार्पोरित्यर्थः (?) ] भेत्यादि । प्रथममेव अतिदुर्धरचारित्रतपोभावनाया गण प्रवर्तयन् स्वयं प्रवृत्तः पञ्चादुश्रया तत्र मंदायमानो मात्मानं गणं च नाश-  
यित्वसि इत्यर्थः ।

अर्थ—जैसे मार्जारका शब्द प्रथम बड़ा और नंतर छोटा होता है वैसे प्रथम रत्नत्रयभावना अति शययुक्त कर अनंतर उसमें उत्तरोत्तर मंद मंदता धारण करना आपके लिये योग्य नहीं होगा, ऐसे आचरणसे आपका, संघका और दोनोंका भी नाश होगा, प्रथम ही अतिशय दुर्धर तप और चारित्र्यमें प्रवृत्ति कर गणका और अपना भी नाश कर लेना योग्य नहीं है।

जो सघरं पि पलितं गेच्छदि विऽज्ञविदुमलसदोसेण ॥

किह, सो सद्विद्व्यो परधरदाहं पसामेदुं ॥ २८४ ॥

विध्यापयति यो वेदम नात्मीयमलसत्त्वतः

परवेदमशमे तत्र प्रतीतिः कियते कथम् ? ॥ २८४ ॥

विजयोदया—जो सघरं पि यः स्वगृह अपि । दृष्टमानमालस्यात्त वांछति विध्यापयितुं कथमसौ श्रद्धातव्य-  
परकीयगृहदाहं प्रशमयितु उद्योगं करोतीति ।

मया स्वयं मंदाचरणेनापि गणश्ररणे मंदायमानो रक्षिष्यते इति च मा मंस्थास्त्वं यतः—

मूलारा—पण्डितं दृष्टमानं । पसामेदुं प्रशमयितुमुद्योगं करिष्यति । इत्युपस्कृत्य न्याख्येयम् ।

अर्थ—जो पुरुष आलसीपनसे अपने जलते हुये घरको शांत करनेका प्रयत्न नहीं करता है वह दुसरोके जलते हुये घरको शांत करनेका प्रयत्न करेगा यह कहना कैसा श्रद्धानके लायक माना जायगा?

तस्माद्भवतैवं प्रवर्तितव्यमित्याद्ये—

वज्जेहि चयणकण्ठं सगपरपक्खे तथा विरोधं च ॥

वादं असमाहिकरं विसग्गिभूदे कसाए य ॥ २८५ ॥

मुंश्च च्यवनकल्पं त्वं विरोधं स्वान्यपक्षयोः ॥

असमाधिकरं वादं कषायानभिस्सिम्भान् ॥ २८६ ॥

विजयोदया—वज्जेहि चयणकण्ठं वर्जयं अतिचारग्रकारं ज्ञानदर्शनचारित्रविषयं । अवाचनकाले अखाध्याय-काले वा पठन । क्षेत्रशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, भावशुद्धि वा विना । निहृदय, ग्रथार्थयोरशुद्धि, अवहुमानं इत्यादिको ज्ञानातिचारः । शंकाकाक्षाविक्रित्वास्तान्यदृष्टिप्रशस्तसंस्तथा; सम्यग्दर्शनातिचारा । समितिभावनासहितता चारित्र्यातिचारा । पते च्यवनकल्पेनोच्यते । सगपरपक्खे तथा विरोधं च धर्मस्थेषु, मिथ्यादृष्टिषु, च विरोधं वर्जयेत् । चेतःसमाधानविनाश-कारणं वादश्च वर्जनीयः । वादे प्रवृत्तो यथात्मनो जयः पराजयः परस्य वा भवति तदेवान्वेपते न तत्त्वसमाधानवान् । विसग्गिभूदे कसाये य । कपत्या हि क्रोधादयः स्वस्य परस्य च मृत्युं उपलभ्यति इति विषमृताः, हृदयं दहतीति दहन-भूतास्ताश्च वर्जयेत् ।

तथा चोक्तं—त्रिलोकमल्लाः कुलशीलशत्रवो ॥

मलानि दुर्मर्त्यतमानि चापि ते ॥

यशोहरा हानिकरास्तपस्विनाम् ॥

भवन्ति वैभोग्यकरा हि देहिनाम् ॥ १ ॥

न केवल ते परलोकलोपिनाः, इमं च लोकं कशयन्ति दाक्षणाः ॥

न धर्ममात्रस्य च विघ्नेहेतवो, धनस्य कामस्य च ते विघातकाः ॥ २ ॥

मूलारा—चयणकण्ठं च्यवनकल्पं सम्यक्त्वाद्यतिचारप्रकारमित्यर्थः । सगपरपक्खे धर्मस्थेषु मिथ्यादृष्टिषु च असमाहिकरं चेतःसमाधाननाशन । विसग्गिभूदे कसाये य वादे हि प्रवृत्तो यथात्मनो जयः पराजयः परस्य वा भवति तथाान्वेपते न तत्त्वसमाधानं । विसग्गिभूदे स्वस्य परस्य च मृत्युमुपलभ्यतीति विषमृत्यान्, हृदयं दहन्तीति दहनसदृशान् यतः ।

इसलिये बालाचार्यकी प्रवृत्ति कैसी होनी चाहिये इसका वर्णन ग्रंथकार करते हैं—

अर्थ—हे बालाचार्य ! ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यसंबंधी अतिचारोंका त्याग करो वाचना काल और स्वाध्यायकालको छोड़कर अन्य काल में पठन करना, अथवा स्वाध्याय करते समय क्षेत्रज्ञादि, कालशुद्धि और भावशुद्धि के बिना स्वाध्याय करना, ग्रंथको और पढ़ानेवाले गुरुको छिपाना, ग्रंथ अशुद्ध पढ़ना तथा अर्थका विवेचन अन्यथा करना, ज्ञान और ज्ञानवानोंका आदर न करना ये सम्प्रज्ञानके अतिचार हैं।

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिमंशता और संस्तव ये सम्प्रदर्शनके अतिचार हैं ( इनका खुलासा दर्शनविनयके प्रकरणमें आया है ) समितीकी भावनाओंका अभाव होना यह चारित्र्यातिचार है, इन सब अतिचारोंको व्यवनकल्प कहते हैं, इनका तुम त्याग करो, स्वरूपक्ष-जैनधर्मस्थ मुनिगण और परपक्ष मिथ्यादृष्टिजन इनमें विरोध भावका त्याग करो, मनके समाधानका नाश करनेवाले वादका भी त्याग करो, वादमें प्रवृत्त हुआ पुरुष अपना जय जिस उपाय से होगा और अन्यका पराजय जिससे होगा उसीको हंडता है, परन्तु वस्तुके सत्यस्वरूपको बतलाकर समाधान करना नहीं चाहता है, हे बालाचार्य ! आप विष और अग्निके समान ऐसे क्रोधादिकर्पायोंका त्याग करो ये कर्पाय अपनेको और दूसरोंको मारते हैं इसलिए इनको विषसमान कहते हैं, अग्निके समान हृदय को जलाते हैं अतः इनको अग्नि कहते हैं, कर्पायके विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

ये कर्पाय त्रैलोक्यमें मछुके समान हैं, कुल और शीलके शत्रु हैं जिसको आत्मासे बड़े कष्टसे दूर कर सकते हैं ऐसे मलस्वरूप हैं, ये कर्पाय तपस्विओंका यश नष्ट करते हैं और तपका घात करते हैं, इन कर्पायोंसे प्राणि-ओंको दुर्भाग्य की प्राप्ति होती है।

इस कर्पायशत्रुसे परलोकका ही नाश होता होता है ऐसा मत समझो, ये भयंकर कर्पाय इह लोकका भी नाश करते हैं केवल ये कर्पाय धर्मभाव का ही घात कर रह जाते हैं ऐसा नहीं, इनसे काम और अर्थका, भी नाश होता है।

गणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ॥

ण चाणुदि जो ठवेहुं गणमप्पाणं गणघरो सो ॥ २८६ ॥

दर्शने चरणे ज्ञाने श्रुतसारेषु यस्त्रिषु ॥

निधातुं गणमात्मानमसमर्थो गणी न सः ॥ २८६ ॥

विजयोदया—गणस्मि य । रत्नत्रये गणमात्मानं च यो न स्थापयितुं समर्थो नैवास्ौ गणधरः । न चापदि न समर्थः । बहवो मम वशवर्तिनः सन्ति पतावता भवतो गणित्वगर्वो मायुक्तिरिति भावः ।

मूलारा—चाण्दि शक्नोति ।

अर्थ—सिद्धांतके सारभूत ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र्यें जो अपनेको और गणको स्थापन करनेमें असमर्थ हैं वह मुनि गणधर पदके योग्य नहीं हैं। बहुत मुनि मेरे वश हैं इस लिये मैं गणधर हूं, आचार्य हूं ऐसा गर्व तुम्हारे मनमें कभी भी उत्पन्न नहीं होना चाहिये।

कीदृक्कहिं गणधरो भवतीति चेदेवभूत इत्याचष्टे—

गणस्मि दंसणस्मि य चरणस्मि य तीसु समयसारसु ॥

चाण्दि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधरो सो ॥ २८७ ॥

दर्शने चरणे ज्ञाने श्रुतसारेषु यस्त्रिषु ॥

निधातुं गणमात्मानं शक्तोऽसौ गदितो गणी ॥ २८७ ॥

विजयोदया—स्पष्टार्थो गथा ॥

मूलारा — स्पष्टम् ॥

अर्थ—सिद्धांतके सारभूत ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यें जो अपने को और गणको स्थापन करनेमें समर्थ हैं वही गणधर हो सकता है।

पिंडं उवाहिं सेज्जं आविसोहिय जो हु मुंजमाणो हु ॥

मूलद्वणं पत्तो मूलोत्ति य समणपेत्थो सो ॥ २८८ ॥

पिंडं उवाहिं सेज्जं उगमउप्पादणेसणादीहिं ॥  
चारिचरक्खण्हं सोधिंतो होदि सुचरित्तो ॥ २८९ ॥  
यः पिंडसुपरि शय्यां दूषणैरुद्गमादिभिः ॥  
शुद्धिंते रहितां योगी संयतः स निगद्यते ॥ २८८ ॥

विजयोदया—पिंडं आहार, उवाहिं उपकरण, सेज्जं वसति । सोधिंतो शोधयन् । उगमउप्पादणेसणादीहिं उद्गमोत्पादवर्णादिभिर्दोषैः । किमर्थं शोधयति ? चारिचरक्षणार्थं उद्गमादिदोषं परिहरति । सुसंयत इति लोके यशो मे भविष्यतीति वा, स्वसमयप्रकाशनेन लाभो मेमर्थ भवतीति वा चेतस्यकृत्वेति भाव । एवम्भूत. सुचरित्रो भवतीति यति. ॥

मूलारा—उवधिं पिंडाद्युपकरण । सोधिंतो शोधयन् । उद्गमादिदोषरहिता. कुर्वन् ।

अर्थ—आहार, पिंडी, कर्मण्डलु वगैरे उपकरण और वसतिका इनका शोधन किए बिना न करताहुआ जो मुनि इनका ग्रहण करता है वह मूलस्थान नामक दोष को प्राप्त होता है. अर्थात् वह मुनिपदसे अष्ट होता है परंतु जो आहार, उपकरण और वसतिकाको उद्गम, उत्पादन और एषणादि दोषोंसे रहित जानकर चारित्रक्षण के लिये ग्रहण करता है वह सुचरित्र माना जाता है.

एसा गणधरमेरा आयास्थान वणिण्या सुत्ते ॥  
लोगसुहाणुरादणं अप्पच्छंदो जहिच्छाए ॥ २९० ॥

समये गणिमर्यादा तेषामाचारचारिणाम् ॥  
स्वच्छंदेन प्रवर्तते लोकसौख्यानसुरिणा ॥ २८९ ॥

विजयोदया—एसा गणधरमेरा एसा गणधरमर्यादा । सुत्ते वर्णिता सूत्रे निरूपिता । केया ? आयास्थानं आचारस्थाना । पंचविधे आचारे ये स्थितास्तेषां गणिना व्यवस्था सूत्रे वर्णिता । लोगसुहाणुरादणं लोकसुवर्तिना सुखे पप्सुना च येयच्छया । असंयतजनससर्ग. सुखादरथा शास्त्रे निषिद्ध तत्र ये वन्तेते स्वेच्छया तेषां अप्पच्छंदो आत्मेच्छा एव केवला न तेषां गणधरमर्यादा सूत्रे व्यावर्णिता । अथवा लोकसुख नाम मृष्टाद्वारभोजन, यथाकामं मृदुशय्यासनं, मनोश्चे वेदमनि वसन च तत्र रताना विपयतुराणामित्यर्थ ।

मूलारा — गणधरमेरा आचार्यमर्यादा गणिव्यवस्था इत्यर्थः । आधारस्थानं आचारस्थाना गणिनामित्यर्थः । लोगसुहापुरदाणं लोकतुर्वतिना सुसेप्सूना च । अथवा लोकसुखं नाम सुष्टाहारभोजनं, यथाकामं मृदुशयनासनं, सर्वतुरम्ये वेदमनि वसनं च तत्र सक्ताना । लोगसुदीणिरदाणं लोकश्रुतिविदितादिशाखं । अप्पच्छंदो आत्मेच्छेव केवला न सुत्रोक्ता गणधरमर्यादा । जहेच्छाप यथेच्छया लोकसुसानुतानामित्यनेन संबधः ।

अर्थ—यह अच्छा संयत मुनि है ऐसा मेरा जगतमें यश फेले अथवा अपने मतका प्रकाशन करनेमें मेरे को लाभ होगा ऐसे भाव मनमें धारण न करके केवल चारित्र रक्षणार्थ ही निर्दोष आहारादिकोंको जो ग्रहण करता है वही सचरित्र मुनि समझना चाहिये.

ज्ञानाचारादिक पांच प्रकारके आचारोंमें जो स्थिर रहे हैं, अर्थात् पांच आचारोंका जो निर्दोष पालन करते हैं, उन आचार्योंकी जिनागममें उपर्युक्त मर्यादा कही है. परंतु जो लोकोंका अनुसरण करते हैं, और सुखकी इच्छा करते हैं उनका आचरण कुछ मर्यादास्वरूप माना नहीं जाता है. शास्त्रमें असंयमीलकोंके साथ संसर्ग और सुखमें आदर करना ये बातें मुनियोंके लिये निषिद्ध मानी हैं. परंतु इनमें जो अनुरक्त हैं वे स्वेच्छसे प्रवर्तते हैं ऐसा समझना चाहिये. उनकी गणधरमर्यादा हस्तमें उल्लिखित नहीं है अथवा लोकसुखका अर्थ यह भी होता है—यथेच्छ भित्तिहारका भोजन करना, मृदुशय्यापर सोना, सुंदर घरमें निवास करना, ऐसे कार्यमें रत होना इसको लोकसुख कहते हैं. जो विपयासक्त मुनि हैं वे आचार्यत्वके योग्य नहीं हैं.

सीदवेइ विहारं सुहसीलगुणेहिं जो अनुद्धीओ ॥

सो गवरी लिंगधारी संजमसारेण गिस्सारी ॥ २९१ ॥

यः शिष्यानिवादतान् दोषाणामाश्रयाय दुष्टराजि तया विनिमुद्धि भूप-  
तिरहितं हारं सुखमुल्लिखतः ॥ १

हीनः संयमसारेण लिंगधारी स केवलम् ॥ २९० ॥

विजयोदया—सीदवेदि मंद करोति । विहारं चारित्रं रत्नत्रये प्रवृत्ति । सुहसीलगुणेहिं सुयसमाधानाभ्यासे ।

जो अबुद्धीओ यो बुद्धिरहितः । सो णवरि लिंगधारी स बृथालिंगी भवति, द्रव्यालिंगं धारयति । संजमसारेण गिस्सारो संयमाख्येन इंद्रियप्राणसंयमविकल्पेन सारेण नि सारः । एतदुक्तं भवति—

उद्गमादिदोषदुष्टादिद्विधादिगणः संयमवैधुर्याल्लिंगधारणवैयर्थ्यं कथयति—

मूलारा—सीदावेदि िथिलयति । विहारं चारित्रं । सुहसीलगुणेहिं यथेष्टपिण्डादिप्रयोगमुखप्रवृत्तसमाधानाभ्यासैः । अबुद्धिगो बुद्धिरहितः । णवरि लिंगधारी बृथालिंगी न यतिर्न गणधर इति भावः । गिस्सारो दुरिद्रः ॥

अर्थ—यथेष्ट आहारादि सुखोंमें तल्लीन होकर जो अबुद्धि मुनि रत्नत्रयमें अपनी प्रवृत्ति स्थित करता है वह द्रव्यालिंगधारी मुनि है ऐसा समझना चाहिये इंद्रियसंयम और प्राणिसंयमसे वह निःसार है, इसका अभिप्राय यह है—

पिंडं उवाधि सेज्जामविसोधि यो खु मुंजमाणो हु ॥  
मूलद्वारां पत्तो बालोत्थिय णो समणबालो ॥ २९२ ॥

विजयोदया—य उद्गमादिदोषदुष्टमाहारं, उपकरणं, वसतिं वा शृण्वति तस्य नेन्द्रियसंयमः, नैव प्राणसंयमः, ततोऽसौ केवलं नम्रः । न यतिर्न गणधर इति निगद्यते ।

अर्थ—उद्गमादि दोषोंसे युक्त आहार, उपकरण, वसति का इनका जो साधु ग्रहण करता है जिसको प्राणिसंयम और इंद्रिय संयम है ही नहीं वह साधु मूलस्थानको प्राप्त होता है वह अज्ञानी है, वह केवल नम्र है, वह यति भी नहीं है और न गणधर ही है.

कुलगामणयरत्नं पयहिय तेसु कुणइ दु ममत्ति जो ॥  
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण गिरसारो ॥ २९३ ॥  
ममत्त्वं कुरुते हित्वा यो राजयं नगरं कुलम् ॥  
तस्य संयमहीनस्य केवलं लिंगधारणम् ॥ २९१ ॥

विजयोदया—कुलगामणयरत्न कुल, ग्राम, नगर, राज्यं च । पयद्विष्य परिसङ्ग । तेसु कुणवि ममतिं जो ग्रामादिषु पुनः य करोति ममता । मदीयं कुल, अस्मदीयो ग्रामः, नगर, राज्य चेति सोऽपि केवल नम । यो हि यत्र ममता करोति तस्य यदि शोभन जातं बुध्यति अन्यथा द्वेष्टि, संक्षिप्यति वा । ततो रागद्वेषोलम्बे च वर्तमान असंयतो भवतीति भावः ।

कुलादिममकारकारिणोऽपि—

मूलारा—पजाहिय त्यक्त्वा । यो हि यत्र ममता करोति तस्य शोभने जाते बुध्यति अन्यथा द्वेष्टि, संक्षिप्यति वा । रागादिमानसंयतेष्वादरवाञ्छा कथं संयतः स्यादिति भावः ।

अर्थ—जो मुनि कुल, गांव, नगर और राज्यको छोड़कर उनमें पुनः प्रेम करता है अर्थात् यह मेरा कुल है, यह मेरा ग्राम है, यह मेरा शहर है, मेरा राज्य है ऐसा संकल्प रखता है वह फल नम है, संयमसे रहित है, जो जिस पदार्थमें ममता करता है वह उसका शुभ होनेसे हर्षित होता है और अशुभ होनेसे द्वेष करता है अथवा संक्षेप परिणाम करता है इसलिये जो रागभाव, द्वेषभाव और लाभमें लीन होता है वह असंयत होता है ऐसा समझना चाहिये.

अपरिरसावी सम्मं समपासी होहि सञ्चकज्जेसु ॥

संक्ख सचक्खुं पि व सवालउड्डाउलं गच्छं ॥ २९४ ॥

त्वं कार्येष्वपरिस्वावी समददर्यखिलेष्वपि ॥

भूत्वा विधानतो रक्ष बालवृद्धकुलं गणम् ॥ २९२ ॥

विजयोदया—अपरिस्वावी गुरुरयमिति शका विद्वाय निगदितानामपराधाना प्रकटनं मा कृथाः । समपासी चेव होहि कल्लेसु कार्येषु सम्यक् समदर्श्यं च भव । सरय्व सचक्खुं पि व परिपालय खं नेत्र इव । किं सवालउड्डाउलं गच्छं सवालैवृद्धैराकीर्णं गण ।

एवं संयमशैथिल्ये दोषानुद्भाव्य गणितं गणरक्षाया नियुक्ते—

मूलारा—अपरिस्वावी आलोचितदोषाप्रकाशको भव । समपासी समदर्शी । सचक्खुं पि निजनेत्रमिव सवालवृद्धाउलं बालसहितैवृद्धैराकीर्णम् ।



अर्थ—हे बालाचार्य ! यह गुरु अपरिचाही है ऐसा समझकर शंकाको छोड़ कर यदि शिष्योंने अपने अपराध तुमको कहे तो उनको तुम प्रगट मत करो सब कारणोंमें समानदर्शी तुम होवो. और अपने नेत्रके समान बाल और वृद्धोंसहित सर्व गणका रक्षण करो.

णिवदिविहूणं खेतं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज ॥

पव्वज्जा च ण लब्भदि संजमघादो व तं वज्जो ॥ २९५ ॥

प्रव्रज्य संयमध्वंसि दूराजमपराजकम् ॥

न क्षेत्रमात्मनीनेन सेवनीयं कदाचन ॥ २९६ ॥

विजयोद्या—रूपतिर्वा यस्मिन्दुष्टो भवेत्तच्च क्षेत्रं पतित्यज । पव्वज्जा च ण लब्भदि जत्थ प्रव्रज्या च न लभ्यते यत्र क्षेत्रे । शिष्या न जायते तच्च । संजमघादो व जत्थ संयमस्य चोपघातो यत्र क्षेत्रे त वज्जो तत् त्यजेति । गणिशिक्षा ॥ गणिसिक्खा ।

साधूनामसेव्यं क्षेत्रमनुशास्ति ।

मूलारा—पव्वज्जा व ण लब्भदि । प्रव्रज्या वा न लभ्यते । यत्र शिष्या न जायते तदपि क्षेत्रं त्यज । अन्ये तु न लभ्यते दातुं कर्तुं ग्रहीतुं वेति व्याख्यान्ति ॥

अर्थ—जिस क्षेत्रमें राजा नहीं है अथवा दुष्ट राजा है उस क्षेत्रका तुम त्याग करो जहां प्रव्रज्या नहीं है अर्थात् शिष्य नहीं होंगे अथवा जहां संयमका घात होगा उस क्षेत्रका तुम त्याग करो. गणिशिक्षा अर्थात् आचार्यको जिसमें उपदेश दिया है ऐसा गणिशिक्षा नामक प्रकरण समाप्त हुआ.

गण शिक्षयन्त्युत्तरप्रबंधन—

कुणह अपमादमावासाएसु संजमतवोवधाणेसु ॥

गिस्सारे माणुस्से दुद्धहवोहिं वियाणित्ता ॥ २९६ ॥

मावश्यक कथा जातु प्रमादं (दृष्ट) वर्धके ॥  
विज्ञाय दुर्लभां बोधि निरारे मानुषे भवे ॥ २९४ ॥

विजयोदया—कुणह अपमादमावासगेसु कुरुताप्रमादमावश्यकेषु । सजमतवोवधाणेषु समयस्य, तपसश्चाश्रयेषु । अभ्याहित समय इति पूर्वनिपात । समयं विना न तप शक्नोति नतु मुक्तिमिति सामाधिकादौ प्रवर्तमानस्य स्यमो भवति । असयम त्यजतीति, सावयक्रियानिवृत्तौ मत्या कर्मणि तपतीति तपो भवति । नान्यथेति तपसोऽप्याश्रयः । निस्सारे मानुस्से साररहिते मानुष्ये अनित्यतया अशुचितया मनुजाना अमार । तत्र दुर्लभा बोधि दुर्लभा दीक्षाभिमुख्यां बुद्धि । विज्ञापित्ता गान्वा ।

इतो गणं शिक्षयति—

मूलारा—कुणध कुरुत यूयं भो यतयः । अपमादं अवधानं । उवहाण उपधानं अवग्रहविशेषः । निस्सारे अनित्यतया अशुचितया वा साररहिते । दुहमबोधि दुर्लभा दीक्षाभिमुता बुद्धिम् ।

अर्थ—हे मुनि गण ! तुम सामाधिकादि छह आवश्यकोंमें प्रमादका त्याग करो क्योंकि आवश्यकिया समय और तपका आश्रयस्थान है. संयम और तप इन दोनोंमेंसे संयमको श्रेष्ठपना है इस लिये गाथामें संयम शब्द प्रथम और तप शब्द अनंतर है. संयमके विना केवल तप मुक्तिदायक नहीं है. जत्र मुनि सामाधिकादि आवश्यकोंमें प्रवृत्त होता है तब उसको संयम प्राप्त होता है और असयम का त्याग होता है. सावयक्रियाका त्याग होने पर तप कर्मोंको संतप्त करता है तभी उसकी तप यह संज्ञा प्राप्त होती है. अन्यथा नहीं. अतः आवश्यक क्रिया तपका भी आश्रय स्थान है. यह मनुजजन्म साररहित, अनित्य, अपवित्र है. ऐसे मनुष्यजन्ममें दीक्षा ग्रहण करनेके प्रति बुद्धि होना दुर्लभ है ऐसा जानकर पडावश्यकोंमें प्रमाद कभी भी तुम मत करो.

समिदा पंचसु समिदीसु सव्वदा जिणवयणमणुगदमदीया ॥

तिहिं गारवेहिं रहिदा होह तिगुत्ता य दंडेसु ॥ २९७ ॥

संज्ञागौरवरौद्रार्तध्यानकोपादिवर्जिता ॥

समिताः पंचभिर्गुप्तास्त्रिभिर्भवत सर्वदा ॥ २९६ ॥

विजयोदया—सम्यक्प्रवृत्ता' होह भवत । पंचसु समिदीसु पंचसु समितिषु । सव्वदा सर्वदा । जिणवयणम-  
णुगदमदीणा जिनवचनमनुगतबुद्धय । तिहिं गारवेहिं रहिया गारववरहिता' । तिगुत्ता य गुत्तिवयसमन्विता. भवत ।  
क दंडेसु अशुभमनोवाक्येषु ।

मूलारा—समिदा सम्यक् प्रवृत्ता. । तिदंडेसु अशुभमनोवाक्याव्यपारेषु ।  
अर्थ—हे मुनिगण 'तुम हमेशा पांच समितिओंमें तत्पर रहो. जिनेश्वरके वचन में अपनी बुद्धि लगाओ.

अर्थात् जिनवचनके विरुद्ध अपनी बुद्धिको मत दौड़ाओ. तीन गारवसे रहित होकर तीन गुप्तिके धारक बनो. अशु-  
भ मन वचन और शरीरकी प्रवृत्तिका त्याग करो

सण्णाउ कसाए वि य अहं रुदं च परिहरह णिच्चं ॥  
दुट्ठाणि इंदियाणि य जुत्ता सव्वप्पणा जिणह । २९८ ॥  
हृषीकदन्तिनो दुट्ठान्विषयारण्यगामिनः ॥  
जिनवाक्यकुङ्कुशेनाशु वशे कुरुत यत्नतः ॥ २९९ ॥

विजयोदया—सण्णाओ सदा आहारादिविषया । कसाए वि कययानवि । अहं रुदं च अर्तं रोदं च ध्यान ।  
परिहरत निराकुरुत । णिच्च नित्य । दुट्ठाइ इदियाइ दुट्ठान्दियाणि च । जुत्ता युक्ता ज्ञानेन तपसा च । सव्वप्पणा जिणह  
सर्वशक्त्या इन्द्रियजयं कुरुत ।

मूलारा—जुत्ता ज्ञानेन तपसा च समाहिता : । सव्वप्पणा सर्वत्सना, सर्वशक्त्या ।  
अर्थ—हे मुनिगण ! आहारादि चारों-संज्ञाए, चार कृपाय, आर्तध्यान और रोदध्यान इनका तुम सदा त्याग  
करो. ज्ञान और तपसे दुष्ट इन्द्रियोंको अपने पूर्ण सामर्थ्यसे जीतो.

धणा हु ते मणुस्सा जे ते विसयाउलम्मि लोयम्मि ॥  
विहरंति विगदसंगा गिराउला णाणचरणजुदा ॥ २९९ ॥

धन्यास्ते मानवा मन्ये ये लोके विपयाकुले ॥

विचरति गतग्रथाश्चतुरगे निराकुलाः ॥ २७ ॥

विजयोदया—शृणुतां दुःते मणुस्सा अन्धास्ते मनुष्या । के ? जे विसयाउलमि लोयमि ये शब्दादिभिरा-  
कीर्ण जगति । विगदसगा नि सगा कचिदपि नियमे स्पर्शोद्दी । गिराउला निराकुला । पाणचरणजुदा ज्ञानेन चारित्र्येण  
च युता । ज्ञानचारित्र्ययुताना प्रशसा तत्रादर्जनसमर्था गणस्य ।

मूलारा — गिराउला निराकुलाः ।

अर्थ—स्पर्शादिक पाच इंद्रियविषयोसे भरे हुए हम जगत में ज्ञान और चारित्र्यमें तत्पर होकर विषयां  
में अनासक्त रहकर निःसंग वनकर निर्व्याकुल होते हुए विहार करते हैं वे मनुष्य धन्य हैं ।

सुरसूसा गुरूण चेदियभत्ता य विणयजुत्ता य ॥

सञ्ज्ञाए आउत्ता गुरुपवयणवञ्जला होह ॥ ३०० ॥

विनीता गुरुशुश्रूषाकारिणश्चैत्यभक्तयः ॥

वत्सला भवत ध्याने स्वाध्यायोद्यतचेतसः ॥ २९८ ॥

विजयोदया—सुरसूसा गुरूण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्ये । गुरैर्गुरुतया गुरुव इत्युच्यते आचार्योपाध्यायसाधवः ।  
तेषां शुश्रूषाकारिणो भवत । शुश्रूषापर्येण भाव्यं । लाभार्थिकमनोपेक्ष्य तेषां गुणेऽनुसारां कृतो भवति । गुणानुसारादर्शेन  
शुद्धितदीयत्तत्त्वयानुमननं च भवति । सुकरो क्षुण्णाय गुणयोजने अनुमननं नाम । चेदियभत्ता य चेत्यानि जिनसिद्धप्रति-  
विधानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि तेषु भक्ताः । यथा शार्ङ्गणा मित्राणां वा प्रतिकृतिदर्शनाद्वैयो रागश्च जायते । यदि नाम उपकारो-  
ऽनुपकारो वा न कृतस्तथा प्रतिकृत्या तत्कृतपकारस्योपकारस्य वा अनुसरणे निमित्ततास्ति तद्विजिनसिद्धगुणा अनंत-  
ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वधीतरागत्वादयस्तत्र यद्यपि न मतिः, तथापि तदगुणानुसरण संपादयति मादृशान् च गुणानुसरणं अनु-  
सारात्मकं ज्ञानदर्शने सन्निधापयति । ते च संवरनिर्जरे महत्तयो संपादयत । तस्मान्चेत्यभक्तिमु रयोर्गिनीं कुन्त । विगय-  
जुदा य विलय नयति कर्ममलोमिति विनयः । ज्ञानदर्शनतपश्चारित्र्यविनया उपचारविनयश्चेति पंचप्रकारे विनये युक्ता भवत ॥  
शास्त्रोक्तवाचनासाध्यायकालयोरध्ययनं श्रुतस्य श्रुतं प्रयच्छतश्च भक्तिपूर्वं कृत्वा, अवग्रहं परिगृह्य, गुरुमानं कृत्वा, निहृव  
निराकृत्य, अर्थव्यजनतदुभयशुद्धिं संपाद्य एव भाव्यमानं श्रुतज्ञानं संवर निर्जरा च करोति । अन्यथा ज्ञानवर्ण-  
स्य कारणं भवेत् ।

शंकाकांक्षादिनिरासो दर्शनविनयः । —

स च प्रयत्नेन भवद्भिः सपाद्योऽन्यथा शंकादिपरिणामा मिथ्यात्वमानयंति । दर्शनमोहनीयस्य चाक्षवा भवति । ततो मिथ्यादर्शननिमित्तकर्मवशादन्ततःसारपरिभ्रमणं दुःखमीरुणा भवता जायते । रूपरसगंधस्पर्शशब्देषु मनोव्यामनोक्षेपु सन्निहितेषु अन्ततःकालाभ्यासादालोऽप्रीतिश्च जायते । तथा कण्ठयाश्च बाह्याभ्यास्यतरे च निमित्तमाश्रित्य प्रादुर्भवन्ति । ते चोत्पद्यमानाश्चारित्र्य विनाशयन्ति । कर्मादाननिमित्तक्रियोपरयो हि चारित्र्य । रागादियश्च कर्मादाननिमित्तक्रियास्तथा अशुभमोवाक्कायक्रियाश्च कर्मादाननिमित्ता । तथा पट्टजीवनिकायवाधापरिहाराप्रतरेण गमनं । मिथ्यात्वेऽसंयमे वा प्रवर्तक वचनं साक्षात्परंपर्येण वा जीववाधाकरणं । भोजनं, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादाननिक्षेपौ शरीरमलोत्सर्गौ जीवपीडोद्घुरेता कर्मपरिग्रहनिमित्ता । क्रियाः । आसां परिवर्जनं चारित्र्यविनय । व्यवर्णिताशुभक्रियापरिवर्जनं विना चारित्र्यं नाम किमारभवता तस्मादत्रोद्योगं कुरुत ॥ अनशनादितपोजनितक्लेशसहनं तपोविनय । सति सङ्कशे महानाश्रवो भवेदरुणा निर्जिता । उपचारविनयादिनीत इति पूज्यते बुधैरन्यथा अविनीत इति नियते । किं च उपचारविनयं मनोवाक्कायविकल्पं यो न करोति, स गुरुन्मनसावजानाति, नाभ्युत्तिष्ठति, नागुगच्छति, नाजलिं करोति, न स्तौति, न विद्मंति करोति, गुरोरग्रत आसनमरोहति, याति पुरस्तेषां, निदति, परुषं वदति, आकाशेति वा स नीचैर्गोत्रं वज्जाति । तेन श्रवपाकचांडालादिकुलेषु गर्हितेषु, सारमेयश्रामसूकरादिषु वा जायते । न च रत्नत्रयं गुरुभ्यो लभते । विनीतं हि शिक्षयन्ति गुरवः, प्रयत्नेन मानयेति च ततो विनयपरा भवत । अविनये दोष विनये च गुणं महतीमवबुध्य सज्ज्याप आजुत्ता होह । शोभनं अध्ययनं स्वाध्याय । जीवादितत्त्वपरिज्ञानं, तदुपायभूतश्च ग्रंथ तस्मिन्स्वाध्याये आजुत्ता आयुक्ता भवत । निद्रा, हास्य, क्रीडा, आलस्यं, लोकयात्रा च त्यक्त्वा ॥ तथा चोक्तः—“पिहं ण बहु मणेरज्ज हांसं खेड विवज्जए ॥ जोमं समणधम्मस्स जुंजे अणलसो सदा ॥” इति ॥ गुरुपवयणवच्छेदो होह गुरुप्रवचनवत्सला भवत ॥

मूलारा — सुत्सुसगा उपासकाः । गुरुणं आचार्योपाध्यायसर्वसाधूना ॥ आजुत्ता आसकाः निद्रादिकं त्यक्त्वा भवत यूयं । उक्तं च — पिहं ण बहु मणेरज्ज हासतेदं विवज्जए । जोमं समण धम्मस्स जुंजे अणलसो सदा ॥

अर्थ — सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य इन गुणोंसे जो बड़े वन चुके हैं उनको गुरु कहते हैं. अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, और साधु ये तीन परमेशी गुरु कहे जाते हैं. हे मुनिगण ! आप इन गुरुओंकी शुश्रूषा करो. लाभ कीर्ति, आदर इनकी अपेक्षा छोड़कर हे मुनिगण आप शुश्रूषा करो. शुश्रूषासे गुणोंपर प्रेम होगा. गुणप्रेम करनेसे सम्यग्दर्शन निर्मल होता है. तथा गुरुओंकी शुश्रूषा करनेसे उनके रत्नत्रयके प्रति अपनी अनुमति है यह सिद्ध होता है अनुमतीसे परिश्रमके विना ही पुण्यकी प्राप्ति होती है.

हे मुनिगण आप अर्हन्त और सिद्धकी अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिमाओंपर भक्ति करो शत्रुओंकी अथवा

मित्रों की प्रतिमा या फोटो दीख पड़नेपर द्वेष और श्रेम उत्पन्न होता है, यद्यपि उस फोटोने उपकार अथवा अनुपकार कुछ भी नहीं किया है परंतु वह शत्रुक्रुत अपकार और मित्रक्रुत उपकारका स्मरण होनेमें कारण है, जिनद्वारा और सिद्धोंके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, सम्यग्दर्शन, वीतरागतादिक गुण यद्यपि अदृश्यतिमा और सिद्धप्रतिमामें नहीं हैं तथापि उन गुणोंका स्मरण होनेमें वें कारण होती हैं, क्योंकि अर्हत् और सिद्धोंका उन प्रतिमाओंमें सादृश्य है, यह गुणस्मरण अनुरागस्वरूप होनेसे ज्ञान और श्रद्धान को उत्पन्न करता है और इनसे नवीन कर्मोंका अपरिमित संवर और पूर्वसे बंधे हुए कर्मोंकी महानिर्जरा होती है, इसलिये आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेमें सहायक चैत्यमूर्ति आप हमेशा करो, हे मुनिद्वंद्व! आप पांच प्रकारका विनय नित्य करो, 'विलयं नयति कर्ममल इति विनयः' जो कर्ममलका नाश करता है ऐसे कर्तव्यको विनय कहते हैं इस विनयके ज्ञानविनय, दर्शनविनय चारित्रविनय तयो विनय और उपचारविनय ऐसे पांच भेद हैं, शास्त्रमें वाचना और स्वाध्याय का जो काल कहा हुआ है उसी काल में श्रुतका अध्ययन करो, श्रुतज्ञानको वतानेवाले गुरुकी भक्ति करो, कुछ नियम ग्रहण कर आदरसे पढ़ो, गुरु और शास्त्रको छिपाकर स्वयं मैने और मेरी बुद्धिसे सब श्रुतज्ञान धारण किया है ऐसा गर्व मनमें धारण करना छोड़ दो अर्थ शुद्धि, व्यंजनशुद्धि और उभयशुद्धिके साथ श्रुतज्ञानका अध्ययन करो, विनयपूर्वक अभ्यस्त हुआ श्रुतज्ञान कर्मोंका संवर और निर्जरा करता है, यदि विनय न होगा तो दोषसहित श्रुतज्ञान ज्ञानावरण कर्मका निमित्त होता है, शंका, कांक्षा, विचिकित्सा इत्यादि दोषोंको जो हटाना वह दर्शन विनय है, इसकी आप प्राप्ति करनेमें प्रयत्न करो, नहीं तो शकादिक परिणाम मिथ्यान्वको उत्पन्न करेंगे जिससे दर्शनमोहनीयके आस्रव आकर मिथ्यात्वी बनौंगे, इस मिथ्या दर्शनके निमित्तसे बंधा हुआ कर्म दुःखभीरु ऐसे तुमको अनंत कालतक संसारमें भ्रमावेगा।

इष्ट और अनिष्ट ऐसे स्पर्श रस, गंध, रूप और शब्दोंमें अनंतकालतक जीवका अभ्यास होनेसे उनमें राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं कषाय भी बाह्य कारण और अभ्यंतर कारणोंको पाकर उदयमें आ जाते हैं, उनके उदयसे चारित्रिका घात होता है, कर्मका जिन्होंने ग्रहण होता है ऐसी मानसिक, कायिक और वाचनिक क्रियाओंका अभाव होनेसे चारित्र उत्पन्न होता है, राग, द्वेष, मोह वगैरह परिणामोंसे कर्म आत्मामें आता है, तथा मन, वचन और शरीरके अशुभ व्यापारोंसे आत्मामें नवीन कर्म आता है, पानी, हवा, अग्नि, पृथ्वी और वनस्पति ये पांच प्रकारके स्थावर जीव हैं, द्वीन्द्रियादिक जीवोंको त्रसजीव कहते हैं, इन छह काय जीवोंको वाधा हो इस

रीतीसे गमन करना, मिथ्यात्वमें और असयममें जीविकी प्रवृत्ति जिससे होगी ऐसा वचन बोलना, साक्षात् अथवा परम्परासे जीविको वाधा देना. भोजन करना, कोईभी वस्तु बिना देखे, बिना पोछे, जमीनपरसे लेना और रखना, जमीनकी देखभाल किये बिना उसपर हगना, मृतना, वगैरे क्रिया करना. ये क्रियायें जीवपंडाका कारण हैं. इनका त्याग करनेसे चारित्र्य विनय होता है. अशुभ क्रियाओंका त्याग करना यह चारित्र्यका लक्षण है. परंतु जो आरम्भ क्रिया करते हैं वे चारित्र्य धारण नहीं कर सकते हैं. इस लिये हे मुनिबृंद ! आप चारित्र्यमें नित्य उद्योग करो

अनशन, अवमोदय वगैरह तपोंसे उत्पन्न होनेवाले परिश्रमोंको सहन करना यह तपोविनय है. यदि तप करते समय आत्मामें संक्लेश परिणाम उत्पन्न होंगे तो कर्मोंका महान् आसन्न होगा और निर्जरा अल्प होगी उपचारविनय धारण करनेसे विद्वान लोक यह मुनि विनयशील है ऐसा समझकर पूजा करते हैं यदि उपचार विनय मुनिमें न हो तो वह निंदाका पात्र होता है. मानसिक उपचार विनय, वाचनिक उपचार विनय और कायिक उपचार विनय ऐसे उपचार विनयके भेद हैं. इन विनयोंको जो मुनि धारण नहीं करता है, गुरुओंकी मनसे अवहेलना करता है; गुरु आनेपर उठकर खड़ा होता नहीं, वे जानेपर उनके पीछे जाता नहीं, हात जोड़ता नहीं, उनकी स्तुति और विद्वान्ति करता नहीं, गुरुक सम्मुख आसनपर चढ़कर बैठता है, उनके आगे जाता है, उनकी निंदा करता है और उनकी कठोर शब्द बोलता है, गालि देता है उसको नीचमोत्रका बंध होता है. इस कर्मके उदयसे वह मातंग, चांडाल, धीवरादि निच नीच कुलोंमें जन्म लेता है. कुत्ता, खर, वगैरह पशुओंमें वह उत्पन्न होता है. निंदा करनेवाले मुनिओं को गुरुसे रत्नत्रयका लाभ होता नहीं परंतु जो मुनि नम्रस्वभावका है, गुरु उसको मयत्नसे पढाते हैं और उसका आदर करते हैं. इसलिये हे मुनिगण ! आप विनयमें नित्य तत्पर रहो. अविनय दोषसे भरा हुआ है और विनयमें बड़े गुण निवास करते हैं ऐसा समझकर तुम स्वाध्यायमें अतृप्त रहो. शोभन अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं. जीवादि तत्वोंका स्वरूप समझलेना और उसका वर्णन करनेवाले ग्रंथको पढना यह शोभन-उत्तम स्वाध्याय है. इसमें तुम हमेशा तत्पर रहो सोना, हसना, खेलना, आलस्य, लोक व्यवहार इन बातोंको छोड़कर तुम स्वाध्याय करो. पूर्वाचार्य इस विषयमें ऐसा कहते हैं. 'मैं निद्रा को अच्छी नहीं मानता हूं. मैं हास्य' और क्रीडा का त्याग करता हूं. मैं आलस्य छोड़कर मुनिधर्मकी, योग्य क्रियाओंमें हमेशा

उद्युक्त रहूँ” हे मुनिवृद्ध ! तुम हमेशा त्रलोक्यमें महान् ऐसे सर्वज्ञ कथित आगममें प्रेम करो

दुस्सहपरीसहेहि य गामवचीकंटएहिं तिवखेहिं ॥

अभिभूदा वि हु संता मा धम्मधुरं पमुच्चेह ॥ ३०१ ॥

मा स्म धर्मधुरं त्याक्षुरभिभूता परीपहै ॥

दुस्सहैः कंटकैस्तीक्ष्णैर्ग्रामिण्यकवचोभयै ॥ ३०२ ॥

विजयोदया—दुस्सहपरीसहेहिं य तु सहै परीपहैश्च । गामवचीकंटएहिं तिवखेहिं अक्रोशवचनकंटकैस्तीक्ष्णैश्च । अभिभूदा वि य संता पराभूता अपि स्त । मा धम्मधुरं पमुच्चेह मा ऊया धर्मभारत्याग । ननु च ‘दुस्सहपरीसहेहिं य अभिभूदा मा धम्मधुरं पमुच्चेह’ इत्यनेनैव आक्रोशपरीपहसहन उपदिष्ट ? किमनेन ‘गामवचीकंटएहिं’ इत्यनेन ? । अयमभिप्रायः सूत्रकारस्य—सोढशुदादिवेदनोऽपि न सहतेऽनिष्ट वचस्ततोऽतिदुःकरमपि तत्सोढव्यं इति वरीनाय पृथगुपादानम् ।

मलारा—गामवचीकंटगोहिं ग्राम्याणामपिविकृजनाना वचनानि एव कंटकास्तैराक्रोशवचनैरित्यर्थः । सोढशुदादिवेदनोऽपि हि नानिष्टं वचनं सोढुं शक्नोति इति अतिदुःसहत्वादाक्रोशवचनस्य पृथगुपादानं । अतिदुःसहमत्याक्रोशवचनं भवाङ्कः सोढव्यमित्युपदेशार्थः ।

अर्थ—दुःसह क्षुधादिकु परीपहोसे और ग्राम्यलोगोंके तीक्ष्ण गालिवचनों से पीड़ित होते हुए भी हे मुनिगण ! आप धर्मभारका त्याग कदापि न करें ‘दुःसह परीपहोसे पीड़ित हो कर आप धर्मभार का त्याग न करें’ इन वचनोंसे हि आक्रोशपरिपह सहनका अन्तर्भाव होता है तो भी ग्राम्यतीक्ष्ण वचनोंको सहन करनेका उपदेश क्यों किया है ? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है—क्षुधादिवेदनायें सही भी जाती हैं परंतु अनिष्ट वचन सहा जाता नहीं। अतिदुःसह अनिष्ट वचन भी मुनिगण को सहना चाहिये यह दिखानेका आचार्यका अभिप्राय था इसलिये ‘गामवचीकंटएहिं तिवखेहिं’ ऐसा पृथक् वचन दिया है।



तपःसुधोग सर्वप्रयत्नेन त्यक्तालस्यैर्भवद्भिः कर्तव्य इत्युपदिशति--

तित्थयरो चटुणाणी सुरमहिदो सिज्झदव्वयधुवम्मि ॥

अणिगूहिदवलविरिओ तवोविधानम्मि उज्जमदि ॥ ३०२ ॥

धुवसिद्धिश्चतुर्ज्ञानस्तीर्थकृत्त्रिदशार्चितः ।

अनिगुह्य बलं वीर्यमुद्यतः कुरुते तपः ॥ ३०० ॥

विजयोदया--तित्थयरो तीर्थंकर तरति संसार येन भव्यास्तत्तीर्थं । कैश्चन तरंति श्रुतेन गणधरैर्वालवनभूते-  
रिति श्रुतं गणधरा वा तीर्थमित्युच्यते । तदुभयकरणत्तीर्थंकरः । अथवा 'तित्थु तिष्ठदिति तित्थ' इति व्युत्पत्तौ तीर्थ-  
शब्देन मार्गो रत्नत्रयात्मक उच्यते तत्करणत्तीर्थंकरो भवति । चटुणाणी भतिश्रुतावधिमेन पर्ययज्ञानवान् । सुरमहिदो  
सुरैश्चतु प्रकारै पूजित स्वर्गावतरणजन्माभिप्रेक्षपरिनिष्क्रमणेषु । सिद्धिदव्वयधुवम्मि नियोगभावित्यां सिद्धावप्ति ।  
तथापि अणिगूहियलविरिओ अनुपन्दुतबलवीर्यं । तवोविधानम्मि तपःसमाधाने उज्जमदि उद्योग करोति ।

तपस्युद्योगः सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यः इत्युपेण्डु गाथाष्टाविंशति आचष्टे--

मूलारा--सिज्झदव्वयधुवम्मि अवश्यंभावित्यामपि सिद्धौ सत्याम् ।

आलस्य छोडकर सर्व प्रयत्नसे तपश्चरणमें तुम उद्योग करो ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं.

अर्थ--मनि, श्रुति, अविधि और मनःपर्यय ऐसे चार ज्ञानोंके धारक; स्वर्गावतरण, जन्माभिप्रेक्ष और दीक्षा-  
कल्याणादिकोमें चतुर्गोत्राय देवोंसे जो पूजे गये हैं, जिनको नियमसे मोक्षप्राप्ति होती है, ऐसे तीर्थंकर भी अपना बल  
और वीर्य नहीं छिपाते हैं और तपमें उद्युक्त होते ही है इसलिये तुमको भी तपमें उद्योग करना आवश्यक है,  
जिसका आश्रय लेकर भव्यजीव संसारसे तीरकर मुक्तिको प्राप्त होते हैं उसको तीर्थं कहते हैं. कितनेक भव्य जीव  
श्रुतसे अथवा गणधर की सहायतासे संसारसे उत्तीर्ण होते हैं. इसलिये श्रुत और गणधरको तीर्थ कहते हैं. श्रुत  
और गणधरको भी जो कारण हैं उनको तीर्थंकर कहते हैं. अथवा 'तिसु तिष्ठदिति तित्थं' ऐसी भी तीर्थ शब्दकी  
व्युत्पत्ति है. रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गको तीर्थ कहते हैं उसको जो प्रचलित करते हैं उनको तीर्थंकर कहते हैं ऐसे  
तीर्थंकरभी यदि तप करते हैं तो अन्य एनि भी क्यों न करें ?

किं पुण अवसेसाणं दुस्त्वक्स्वयकारणाय साहूणं ॥

होइ ण उज्जमिदंवं सपच्चवायमि लेयमि ॥ ३०३ ॥

मुमुक्षूणां किमन्येषां दुःस्वक्षपणकाक्षिणाम् ॥

न कर्तव्यं तपो धोरं प्रत्यवायाकुले जने ॥ ३०१ ॥

विजयोदया—किं पुण अवसेसाण किं पुनर्नं प्रयतितव्य अवशिष्टं साधुभिः । दुस्त्वक्स्वयकारणाय दुःस्व-  
विनाशाननिमित्तं । सापथे लोके आयुष्य, शरीरस्य, बलस्य नीरोगतायाश्च विनाशो अतिद्विन्दितकाले सति, दावानलसमाने  
सुत्यावायाति, लोकवन्नमिदं अशेष भस्मसात्कर्तुं अद्य इत्यपि सुखर निमिषमात्रेणापि मृत्युरेयाच्च  
मासमर्द्धमासमृत्युक्रममयनं सवत्सरं वा प्रति वचनार्थिकारकं स्याद्यावन्नायाति मृत्युस्तावत्तपस्युद्योग  
कार्यं । न हि मृत्योर्देशनियमोस्ति । स्थल एव प्रचारी यथा शरद्वर्षादीनां । समीरणपथ एव  
ज्योतिषा, चालिल एव मीनमकरादीनां । ऋतुतमस्य पुनरस्य मृत्यो स्थले, जले, विप्रति च विहति । दहनस्य, सुवास्यते-  
र्षो सुप्राधिपते, प्रभजनस्य, शीतोष्णस्य वा, हिमान्या वा अग्नेशदेशा सति न तथा मृत्यो । यथा वा निदानमानं व्या-  
धीना पित्तानिलश्लेष्मरूप । अपमृत्यो पुनरपिलमेव निदानं । वातस्य, कफस्य, शीतोष्णयोर्वर्षादिमातृपाना शक्यः  
प्रतीकाराविधिर्न पुन ससारं मृत्यो । हिमोष्णवर्षादीनां च कालो विदितोऽस्ति न तद्वदस्य । न वा हितमस्य किञ्चिद्विद्य-  
ते । यथा राहुवदकुहरे प्रवेशो निशापते । असत्यपि मृत्युपनिपते जीवतोऽपि कुरोगाशानिभ्यो महद्द्वयं । यथा वियतो  
निपतत्युद्ध एवाशानि । आयुर्वलरूपाद्यद्वय गुणास्तावदेव यावन्नोपैति रोगो देह । यद्वृन्तलग्नस्य फलस्य तावदपातो  
यावन्न श्वसनः । व्याधौ च वाच्यमाने देहे न सुखेन शम्यते श्रेयः । ऋतुं, यथा वैश्वमिति दृष्टमिति समन्ताच्च प्रतीकारः ।  
असत्सु वा रोगेषु रागशत्रुः सुहृन्मुखाः शत्रुर्हित प्रवृद्ध यदा नरस्य चित्तं बाधते न तदा सेमऽधिकारः । पित्तोद्यो वैद्य-  
शुभप्रयोजनं प्रशाम्येदपि, रागोद्यस्य प्राण्यहितस्य हन्तुं प्रशमं सुदुर्लभः । यदैव च तस्य प्रशमोपलब्धिं पूर्वोक्तं  
प्रशान्तौ तदैव श्रेयस्कृतौ शक्तिं पित्तोपशान्तौ कार्यचित्ते च । इत्थं मृत्युर्व्याधयो राग इत्येते प्रत्यवाया जगति, तादृशे-  
तसि कृत्वा, यदा ते न संति तद्व्योमः कार्यं ।

मूलारा—किं पुण पुनर्नान्यैः साधुभिरुद्यमनीयमपि तु तपस्युद्यमं कर्तव्य एव । सपच्चवायमि आयुःशरीर-  
बलादिविनाशेनांतर्कितकालादिभाषिना महिते ।

अर्थ—अन्य मृत्तिको भी संसारदुःखोका क्षय करनेके लिये क्या प्रयत्न नहीं करना चाहिये ? अर्थात्  
उनको भी तपमें उद्योग करना अवश्य प्राप्त है. इस जगत्में मनुष्यका आयु, शरीर, बल और आरोग्यका नाश कर

होगा यह समझमें नहीं आता है। मृत्यु दावानलके समान है। वह इस संपूर्ण जगत्‌रूपी वनको कब दग्ध करेगा यह हम नहीं समझ सकते हैं। मृत्यु आज नहीं आवेगा, अथवा एकमास, अर्धमास, दो महिने, छहमास, एक वर्ष तक आवेगा नहीं ऐसा खात्रीसे वचन नहीं कह सकते हैं एक क्षणमें भी मृत्युका आगमन होगा। जन्मतक मृत्यु आता नहीं तबतक तपश्चर्याका उद्योग करना चाहिये, मृत्यु अमुक स्थानमें रहता है ऐसा उसका प्रदेश निश्चित नहीं है। गाड़ी-मोटर वगैरह स्थल परही गमन करते हैं। नैश्चयसमूह आकाशमें ही भ्रमण करते हैं। मत्स्य, मगर वगैरह जलचर प्राणी पानीमें ही फिरते हैं। परंतु अत्यंत दुःख देनेवाला यह मृत्यु स्थलमें, जलमें, आकाशमें सर्वत्र भ्रमण करता है, अग्नि, चंद्र, सूर्य, इन्द्र, ठंडा अथवा उष्ण वायु, और वर्ष समुदाय इनका जहां प्रवेश नहीं है ऐसे प्रदेश बहुत है। परंतु मृत्युका सर्वत्र अप्रतिहत संचार है। वात, पित्त और कफ ये रोग उत्पन्न होनेके कारण हैं परंतु अपमृत्युके लिये सर्व पदार्थ कारण हो सकते हैं। वात, पित्त, कफ, शीत, उष्ण, जलवृष्टि, ठंडी, धूप इनका प्रतिकार करनेके पदार्थ हैं, परन्तु इस संसारमें मृत्यु का प्रतिकार करनेवाला कोई भी पदार्थ नहीं है। शीतकाल, वर्षाकाल और ग्रीष्मकाल इनका समय रमें मृत्यु का प्रतिकार करनेवाला कोई भी पदार्थ नहीं है। तब उससे छुड़ाने वाला हितकर पदार्थ कोई नहीं है उसी तरह मृत्यु जब जीवको पकड़ता लोंगीको ज्ञात होता है। परन्तु मृत्युका आगमनसमय किसी को भी मालुम नहा रहता है। जब राहुके सुखमें चन्द्रका प्रवेश होता है तब उससे छुड़ाने वाला हितकर पदार्थ कोई नहीं है उसी तरह मृत्यु जब जीवको पकड़ता है तब उसको उससे बचानेवाला कोई नहीं है। मृत्युके बिना भी अन्य पदार्थोंसे प्राणिओंको भय उत्पन्न होता है, जैसे दुष्ट रोग, वज्रपात वगैरहसे भय उत्पन्न होता है। अशनिपात अचानक आकाशसे होता है। तद्वत् अचानक मृत्यु प्राणिको पकड़ता है आयु, बल, रूप वगैरह तबतक देहमें स्थिर रहते हैं जबतक रोगसे यह ग्रसित नहीं होता जबतक वायुका आगमन नहीं तबतक फल वृत्तमें स्थिर रह सकता है वह गिरता नहीं है जब रोगसे शरीर पीडित होता है तब सुखसे आत्महित करना नहीं होता है। जैसे अग्नीसे घर चारों तरफसे जब धिर जाता है तब उपाय करना नितरां अशक्य है। शरीर में रोग नहीं हो तो भी जब भित्रके समान दीखनेवाला रागशत्रु इस मनुष्य के चित्तको पीडित करता है तब यह मनुष्य समता धारण करनेमें असमर्थ होता है। वैद्यके अच्छे प्रयोगोंसे प्राणीका पित्तप्रकोप शांत होगा परंतु प्राणीका अहित करनेवाला रागभाव शांत होना बड़ा ही कठिन है। पित्त शांत होनेपर जैसा प्राणी स्वकार्यमें चित्त लगाता है, तथा पूर्वकर्म शांत होनेपर रागभाव शांत होकर आत्मकल्याण करनेमें मनुष्य समर्थ होता है। इस प्रकार इस जगत्‌में १

और रोग ये तप करनेमें व्यत्यय लाते हैं, ऐसा मनमें विचार कर जब ये देहमें नहीं होंगे तब तपमें उद्योग करना चाहिये.

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होह ॥

आणाए णिज्जरेत्ति य सवालउट्ठाउले गच्छे ॥ ३०४ ॥

शक्तितो भक्तितः संघे वत्सलास्ते चतुर्विधे ॥

वैयावृत्यकराः शश्वज्जिनाजानिर्जराधिनाः ॥ ३०२ ॥

विजयोदया—सत्तीए भत्तीए भक्त्या भक्त्या च । विज्जावच्चुज्जदा वैयावृत्ये उद्यता सदा होह नित्य भवत । आणाए णिज्जरेत्तिय संवक्षानामाद्या वैयावृत्य कर्तव्यमिति तदाक्षया हेतुभूतया, वैयावृत्यं हि तप तपसा निर्जरा भवतीति च । सवालउट्ठाउले सह बालैर्वर्तमाना ये वृद्धास्तेराकीर्णे गणे ॥

मूलार—आणाए वैयावृत्य कर्तव्यमिति जिनानामाज्ञया हेतुभूतया । णिज्जरेत्ति वैयावृत्यं निर्जरोहेतुभूतत्वा-  
निर्जरा इति छत्वा ॥

अर्थ—बालपुनि और वृद्ध, मुनिओसे व्याप्त ऐसे मुनिमुदायका वैयावृत्य करनेमें हे मुनिद्वंद ! तुम अपनी शक्तिसे और भक्तीसे सदा उद्यत बनो, वैयावृत्य करना यह मुनिओंका कर्तव्य है ऐसी जिनदेवकी आज्ञा है ऐसा समझकर और यह वैयावृत्य तप है तथा निर्जराका कारण है ऐसा समझकर उसके करनेमें तुम तत्पर रहो.

वैयावृत्य कर्तुमभ्युद्युक्तं प्रति इदमवशयति—

सेज्जागासणिसेज्जा उवंधी पडिलेहणाउवगंगहिदे ॥

आहारोसहवायणविकिंचणुवत्तणादीसु ॥ ३०५ ॥

उपधीनां निपद्यायाः शय्यायाः प्रतिलेखनम् ॥

उपकारोज्ञमैपज्यमलत्यागादिगोचरः ॥ ३०३

विजयोद्या—सेज्जोगासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणा उवग्गहिदे । शय्यावकाशस्य, निपद्या स्थानस्य, उपकरणानां च प्रतिलेखना, उपग्रह उपकारः । किंविषयः ? आहारोसहवायणविर्किचणुव्वत्तणादीसु योग्यस्य आहारस्य औपघस्य वा दान स्वाध्यायस्योत्सारणं अशक्तस्य शरीरमलनिरास । उवत्तणे पाश्चात्पाश्चात्तरस्योत्थापन ॥

मूलारा—सेज्जोगास शयनस्थानं । णिसेज्जा उपवेशनस्थानं । उवधी उपकरणानि । एषां प्रतिलेखना । उवग्गहिदे उपग्रहः उपकार इत्यर्थः । स चाहारादिविषयो ग्राह्यः । आहारोसह योग्यस्याहारास्यौपघस्य च दानं । वायणा व्याख्यानं । विर्किचणं अशक्तस्य कायमलशोधनम् । उवत्तण पाश्चात्पाश्चात्तरित्येत्यनम् ।

वैयावृत्य करनेके लिये उद्युक्त हुए मुनिओंको वैयावृत्यका प्रयोगविधि बतलाते हैं—

अर्थ—शयनस्थान, बैठनेका स्थान, उपकरण-पिंठी कमंडलु वगैरह इनका शोधन करना, आहार-योग्य निर्दोष आहार, निर्दोष औषध, देकर उपकार करना, स्वाध्याय करना अर्थात् व्याख्यान करना, अशक्त मुनिका मैला उठाना, उस मुनिको एक बाजुसे दूसरे बाजुपर उठाकर सुलाना बैठाना वगैरह कार्य करना यह सब वैयावृत्यका विधि है.

अद्धान तेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे ॥

वेज्जावच्चं उत्तं संगहणारक्खणोवेदं ॥ ३०६ ॥

मार्गे चोरापगाराजदुर्भिक्षमरकादिसु ॥

वैयावृत्यं विधातव्यं सरक्षासंग्रहं सदा ॥ ३०४ ॥

विजयोद्या—अद्धान तेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे अच्छना श्रेमेण श्रतातना पादादिमर्दन । स्तेनैवपद्रुयमाणाना । तथा श्वापदै, दुष्टैर्वा भूमिपालैः, नदीरोधकै मार्ग्यो च तदुपद्रवनिरास. विद्यादिभिः । ऊमे दुर्भिक्ष सुभिक्षदेशानयन । वेज्जावच्च वृत्त वैयावृत्यमुक्तम् । संगहसारस्फणोवेदं संग्रहसरक्षणायामुपेत ।

मूलारा—अद्धानं मार्गश्रेमेण श्रतातना पादादि मर्दन । तेण चौरौपद्रवनिराग्नः । एवमुत्तरज्वायुपस्कार । सावयरायणदीरोधकासिवे उपद्रव निराकार । रोधक वंदीकारः । असिवे मरके तदुपद्रवविनाशो विद्यादिभिः । ऊमे दुर्भिक्ष सुभिक्षदेशनयनं । संगह मा भैष्ट्यादि धैर्याधानपूर्वकः सम्यगंगीकारः । सारस्फणं संरक्षणं ।

अर्थ—जो मुनि रास्तेके श्रमसे थक गये उनकी पगचपी करना, हस्तमर्दन, अंगमर्दन करना, जिन मुनियोंको चोरसे उपद्रुव हुआ, दुष्ट पशुओंसे पीड़ा हुई हो, राजासे कष्ट पोहोचा होगा, नदीके द्वारा कोई मुनि रुक गये, भारी रोगसे पीडित होगये तो उनका उपद्रव विद्यादिकोंसे नष्ट करना चाहिये, यदि कोई मुनि दुर्भिक्षपीडित हुए हो तो उनको सुभिक्ष देशमें लाकर उनकी पीडाका परिहार करना चाहिये, इन सब कार्योंको वैयावृत्य कहते हैं, ऐसे कार्य करनेसे मुनियोंका संग्रह होता है, और आप डरो मत ऐसा बोलकर उनमें धैर्य उत्पन्न कर उनका अंगीकार करना चाहिये.

वैयावृत्याकरणं निंदति—

अणिगूहिदबलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण ॥

जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धस्सो ॥ ३०७ ॥

समर्थो न विघत्ते यो वैयावृत्यं जिनाज्जया ॥

अप्रच्छाद्यं बलं वीर्यमतो निर्धर्मकः सकः ॥ ३०८ ॥

विजयोदया—अनिगूहितेत्यादिना—अनिगूढवीर्यो वैयावृत्य जिणोपदिष्टं क्रमेण न करोति । शक्नोऽपि सत्र स निर्धर्मो भवति धर्माधिष्ठातो भवति इति सूत्रार्थः ।

वैयावृत्यकरणे दोषान्नाथाद्वयेनाह—

मूलारा—स्पष्ट ।

जो मुनि वैयावृत्य करता नहीं उसकी निंदा करते हैं—

अर्थ—जिसने अपना बल और वीर्य छिपाया नहीं है, और जो समर्थ है तो भी जिनेश्वरने कहे हुए क्रमसे जो वैयावृत्य करता नहीं है वह मुनि निर्धर्मा है अर्थात् धर्मसे अष्ट हुआ है ऐसा समझना चाहिये, ऐसा इस सूत्रका अर्थ है.

तित्थयराणाकोधो सुदधम्मविराधणा अणायारो ॥

अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिद होदि ॥ ३०८ ॥

आज्ञाकोपो जिनेन्द्राणां श्रुतधर्मविराधना ॥

अनाचारः कृतस्तेन स्वपरागमवर्जनम् ॥ ३०९ ॥

विजयोद्या—तित्थयराणाकोधो तीर्थकराणामाज्ञाकोप । सुदधम्मविराहणा श्रुतोपदिष्टधर्मनाशन । अणाचारो आचारभाव वैयावृत्याख्ये तपसि श्वृत्ते । अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिद होदि ॥ आत्मा साधुवर्गः प्रवचनं च त्यक्त भवति । तपस्यनुद्योगादात्मा त्यक्तो भवति, आपद्युपकाराकरणाद्यतिवर्गः, श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमश्च त्यक्त ॥

मूलारा—कोवो भग. कृतो भवतीति शेषः । सुदधम्मविराहणा श्रुतोपदिष्टधर्मविनाशः । वैयावृत्याख्ये तपस्य-प्रवृत्ते । णिज्जूहिदं तपस्यनुद्योगादात्मा त्यक्तः । आपनुपकाराकरणाद्यतिवर्गः । श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमश्च ।

अन्य दोषोंका भी वर्णन करते हैं—

अर्थ—वैयावृत्य करना चाहिये ऐसी अर्हत्परमेश्वरकी आज्ञा है परतु जो वैयावृत्य नहीं करता है उसने उनकी आज्ञाका भग किया है ऐसा समझना चाहिये. वैयावृत्य न करनेसे शास्त्रमें कहे हुए धर्मका नाश होता है. वैयावृत्य नहीं करनेसे मुनि मुनिधर्मका आचार पाल नहीं संभग इसलिये धर्मविनाश होगा अनाचार होगा क्योंकि, कोई भी वैयावृत्य नामक तपमें प्रवृत्त नहीं होगे. वैयावृत्य न करनेसे अपना, साधुवर्गका और आगमका त्याग होगा. तपश्चरणमें उद्युक्त न होनेसे आत्मका त्याग हुना, संकटमें उपकार न करनेसे यतिओंका त्याग होता है और शास्त्रोपदिष्ट वैयावृत्यका पालन न करनेसे आगमका त्याग होता है. वैयावृत्य न करनेसे ऐसे महादोष उत्पन्न होते हैं.

१ कपुस्तकं 'वैयावृत्याख्ये तपसि' इत आरभ्य अग्रेतनगाथाद्वयं तद्दीका च नोपलब्धया ।

गुणान्वैयावृत्यकरणे कथयति गाथाद्वयेन—

गुणपरिणामो सद्वा वच्छलं भक्तिपत्तलभो य ॥

संधाणं तवपूया अब्बोच्छित्ती समाधी य ॥ ३०९ ॥

विजयोदया—गुणपरिणामो यतिगुणपरिणति । सद्वा श्रद्धा । वच्छलं वात्सल्य । मत्तो भक्ति । पत्तलभो य पात्रस्य लाभ । संधाण संधान । तव तप । अब्बुच्छित्ती य तित्यस्य अब्बुच्छित्तिश्च तीर्थस्य । समाधी य समाधिश्च ।

वैयावृत्यकरणेऽष्टादशगुणान्गाद्वयेनोद्दिशति—

मूलारा—गुणपरिणामो वैयावृत्यकरणस्य वाध्यमानसाधुगुणेषु वासना । क्रियमाणवैयावृत्यस्य च साधो । सम्यक्त्वादिगुणेषु प्रबंधेन प्रवृत्तिः । पत्तलभो पात्रस्य लाभ । संधाण कुतश्चिद्विच्छिन्ना ददर्शनादीना आत्मनि पुन संयोजनं ।

वैयावृत्य करनेसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका वर्णन आचार्य दोन गाथाओंसे करते हैं—

अर्थ वैयावृत्य करनेसे इतने गुणोंकी प्राप्ति होती है—

१ गुणपरिणाम—शुनिगुणोंकी वैयावृत्य करनेवालेमें परिणति होती है, उपसर्गादिसे जिसको पीडा हुई है ऐसे सुनिके गुण मेरेको प्राप्त हो ऐसी इच्छा वैयावृत्य करनेवालेके मनमें उत्पन्न होना यह गुणपरिणति शब्दका अर्थ है २ श्रद्धा करना, ३ भक्ति ४ वात्सल्य ५ पात्रलभ-पात्र की प्राप्ति होना ६, संधान किसी कारणसे विच्छिन्न हुए सम्यग्दर्शनादिकोंको आत्मामें जोड़ देना. ७ तप ८ पूजा ९ तीर्थान्बुच्छित्ति तीर्थकी परंपरा सतत रहना अर्थात् धर्मका नाश न होने देना. १० ममाधि

आणा संजमसाखिह्छदा य दाणं च अविदिगिंछा य ॥

वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुणानि ॥ ३१० ॥

गवयम्—गुणपरिणामश्रद्धावात्सल्यभक्तिपात्रलाभसंधानतपःपूजातीर्थविच्छित्तिसमाधि-जिनाज्ञासंयमसाहाय्यदानाविचीकत्साप्रभावनासंधकार्याणि वैयावृत्यगुणा ॥ ३०७-३०८ ॥



विजयोदया—आणा संजमसाखिहदा य आझा संयमसाहाय्यं च । दाणं च दानं च । सर्वक्षोपदिष्टवैयावृत्यकरणादाज्ञा संपादिता । आज्ञासंपादनमाज्ञासंयमः । परस्य वैयावृत्यकृत उपकारः । रत्नत्रयस्य निरतिचारस्य दानं । संजम-पभावना य संयम साहाय्यमिति चार्थः । अविदिर्गिह्णा य अविचिकित्सा च । वेज्ञावच्छस्स गुणा वैयावृत्यस्य गुणाः । पभावना प्रभावना च । कज्जपुण्णाणि कार्यनिर्वहणानि च ॥

मूलारा—साखिह्निदा साहाय्यं । दाणं निरतिचाररत्नत्रयस्य संपादनं ॥

अर्थ—आज्ञासंयम, साहाय्य, दान, निर्वचिकित्सा, प्रभावना, कार्यं निर्वाहण एते वैयावृत्यके अठारह गुण हैं । सर्वज्ञने वैयावृत्य करना यह मुनिओंका कर्तव्य है ऐसी आज्ञा दी है । उनकी आज्ञाका संपादन करना चाहिये अर्थात् मुनिओंके संयममें वैयावृत्य करके उपकार करना चाहिये । संयमसाखिह्निदा संयममें सहायता करना ।

गुणपरिणामो इत्येतत्पदं व्याचष्टे—

मोहगिणादिमहदा घोरमहोवयणाए फुट्ठतो ॥

उज्झदि हु धगधगतो ससुरासुरमाणुसो लोओ ॥ ३११ ॥

दहत्ते सकलो लोको महता मोहवह्निना ॥

धग्धगित्येष कुर्वाणो महोवेदनया स्फुटम् ॥ ३०९ ॥

विजयोदया—मोहगिणा अज्ञानाग्निना । अदिमहदा अतिमहता, सकलवस्तुविषयतया महदज्ञानं तेन उज्झदि दहत्ते । घोरमहावेदनाए घोरया महत्या वेदनया । फुट्ठतो विक्षीर्यमाणः । धगधगतो धगधगायमानः । ससुरासुरमाणुसो लोको देवासुरमानुषैः सह वर्तमानो लोकः ॥

गुणपरिणामं गाथावतुष्टयेन व्याचष्टे—

मोहगिणा ममेदमहमस्येत्यादिप्रत्ययलक्षणज्ञानवह्निना । अदिमहदा सकलवस्तुविषयतया अतिविपुलेन । फुट्ठन्तो विक्षीर्यमाणः । धगधगतो धगधगायमान जाब्जत्यमान इत्यर्थः । लोको वहिरात्मप्राणिगणः ।

गुणपरिणाम इस गुणका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—यह जगत् मोहरूपी अग्नीसे अर्थात् अज्ञानरूपी अग्नीसे जल रहा है, इस अग्नीने संपूर्ण वस्तुयें

धेरली हैं इस के द्वारा सब जीव दग्ध हो रहे हैं. इससे होनेवाली घोर वेदनासे उनके अंग फुटने लगे हैं. और उनकी बड़ा ही दाह हो रहा है. इस अग्नि में केवल मनुष्य और पशु ही दग्ध हो रहे हैं. ऐसा नहीं समझना परंतु समस्त चतुर्णिकाय देव भी जल रहे हैं. तात्पर्य यह है कि जगतके समस्त जीव वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप जाननेमें असमर्थ हैं. उनमें गाढ अज्ञान घुसा है.

एदस्मि णवरि मुणिणो णाणजलोवग्गहेण विज्झविदे ॥

डाहुमुक्का होति हु दमेण णिव्वेदणा चेव ॥ ३१२ ॥

तत्र विध्यापिते सद्यो भूयसा ज्ञानपाथसा ॥

मग्ना दमपयोराराशौ सुखायते तपोधनाः ॥ ३१० ॥

विजयोक्था—एदस्मि एतस्मिन्लोके दृश्यमाने । णवरि पुन. मुणिणो णिव्वेदणा चेव होति मुनय एव निर्वेदना भवन्ति । कथं ? णाणजलोवग्गहेण ज्ञानजलोपग्रहेण । विज्झविदे नष्ट मोहाम्नौ । डाहुमुक्का दाहोन्मुक्ताः । दमेण रागद्वेष-प्रशमेन च । एतदुक्तं भवति—समीचीनज्ञानजलप्रवाहोन्मूलितान्नानवक्षिप्रसरत्वं नाम यतीनां गुणः निर्वेदनत्वं चेति ।

मूलारा—एदस्मि एतस्मिन्लोके दृश्यमाने । णवरि पुनः । णाणजलोवग्गहेण आत्मदेहादिभेदज्ञानसखिलप्रवाहेण विज्झविदे विध्यापिते । मोहमहान्नाविति शेष । अन्ये तु एदंभीत्यस्य मोक्षप्राप्तित्वयथाहुः । दमेण रागद्वेषप्रशमेन । णिव्वेदणा चेव मुनय एव निर्वेदना भवन्तीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—समीचीनज्ञानजलप्रवाहप्रसरत्वं, विवेदनत्वं च यतीनां गुणो ज्ञानानंदमयत्वं इत्यर्थः ।

अर्थ—यह सब जगत् अज्ञानाग्निसे जल रहा है परंतु मुनीश्वर ज्ञानमय जलके प्रवाहसे मोहरूपी अश्रिको बुझाकर आन्ति, संशय अनध्यवसायादि वेदनासे मुक्त हुए हैं. अर्थात् उनकी देह और आत्मा भिन्न भिन्न है ऐसा ज्ञान हुआ है. देहही मैं हूं यह आन्ति उनके हृदयसे नष्ट हो गई है. मुनिओने जितेन्द्रियता और रागद्वेषका उपशम इन उपयोगसे अज्ञानजन्य वेदनाका नाश किया है अभिप्राय यह है कि मुनि सम्यग्ज्ञानरूपी जलप्रवाहसे अज्ञानाग्नि समूल शांत कर वेदना रहित हुए हैं.

णिगहिर्दिन्द्रियदारा समाहिदा समिदसव्वचेङ्गा ॥  
धण्णा णिरावयक्खा तवसा विधुणंति कम्मरयं ॥ ३१३ ॥

निगृहीतेन्द्रियद्वारैः सर्वचेष्टासमाहितैः ।

धन्यैस्तपःसमीरेण धूयन्ते कर्मरेणवः ॥ ३११ ॥

विजयोदया—णिगहिर्दिन्द्रियदारा इन्द्रियं द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रिय इति । तत्र द्रव्येन्द्रियं पुद्गलस्कंधा आत्मप्रदेशाश्च तदाधारा । भावेन्द्रियं ज्ञानावरणक्षयोपशम इन्द्रियजनितो रूपाद्युपयोगश्च । तन्नेहोपयोगेन्द्रियं गृहीतं तन्साहचर्याङ्गागद्वेयावमनोज्ञे मनोज्ञे च विषये प्रवृत्तौ । इह पापकर्मनिमित्ततया इन्द्रियद्वारशब्देनोच्यते । तेनायमर्थः— निगृहीतेन्द्रियविययरगद्वेया इति । समाहिदा रत्नत्रये समवहितवित्ता । समिदसव्वचेङ्गा सम्यक्प्रवृत्तसर्वदा । धण्णा पुण्यवत् । णिरावयक्खा निश्चला इति केचिद्वदन्ति । अन्ये निरपेक्षा सत्कारं लाभं वानपेक्षमाणा इति कथयन्ति । तपसा विधुणंति कम्मरयं तपसा कर्मरजोविधूननं कुर्वन्ति । निगृहीतेन्द्रियत्वं, रत्नत्रयैकाग्रता, निरवयवेष्टावत्ता, सत्कारोद्दे-  
निरपेक्षता, तपसि वृत्तता, कर्मरजोविधूननं च यतिगुणः एतया ग्राथया सूचिता ।

मूलारा— णिगहिर्दिन्द्रियदारा निगृहीतेन्द्रियविषयरगद्वेयाः । समाहिदा रत्नत्रये समाहितचित्ताः । समिदा सम्यक्प्रवृत्ता । चिट्ठा ईर्ष्याभापादिप्रवृत्तिः । णिरावयक्खा निश्चला सत्कारादिनिरपेक्षा वा । अत्र जितेन्द्रियत्वं, रत्नत्रयैकाग्र-  
ता, निरवयवेष्टत्वं, सत्कारादिनिरपेक्षता, तपसि वृत्तिमत्ता, कर्मरजोविधूननं च यतिगुणाः सूचिता ॥

अर्थ—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ऐसे इन्द्रियों के दो भेद हैं. पुद्गलस्कंधाँकी इन्द्रियाकार रचना होती है और आत्माके प्रदेश भी इन्द्रियाकार बनते हैं उन दोनोंको भी द्रव्येन्द्रिय कहते हैं आत्मप्रदेशोंके आधारसे पुद्गलस्कंध रहते हैं. ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमको भावेन्द्रिय कहते हैं. और रूप रस, गंधादिकोंको जाननेकेलिय आत्माकी प्रवृत्ति होना इसको भी भावेन्द्रिय कहना चाहिये. रूपादिकोंके प्रति उपयोग होना—उनको जाननेमें उद्युक्त होना इसको यहां इन्द्रिय समझना चाहिये. अर्थात् उपयोगरूप भावेन्द्रियको यहां इन्द्रिय कहना चाहिये. क्योंकि उसके आश्रयसे जीवके राग द्वेष सुंदर और असुंदर स्पर्शादि विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं. जगत में इष्टानिष्ठ विषय में इन्द्रियां प्रवृत्त हो कर जीवको दुःखित करती हैं. अतः मुनिगण इन्द्रियोंके स्पर्शादि विषयोंमें होनेवाले रागद्वेषोंको नष्टकर रत्नत्रयमें अपने मनको एकाग्र करते हैं. और अपनी सर्व प्रवृत्तियां—चोलना, चलना, वस्तु उठाना, आहार लेना वगैरह क्रियायें प्राणिरक्षणके अभिप्रायसे करते हैं. वे अपने मनको निश्चल करते हैं. अथवा सत्कारकी, और लाभकी अपे-

क्षा वे नहीं करते हैं. अतः वे निरपेक्ष स्वभाववाचक हैं. ऐसे युनिराल धन्य है. ऐसे ही यतिनायक तपश्चरणसे कर्म-रजको आत्मासे हटाते हैं.

तात्पर्य यह है कि—जितेन्द्रियता. रत्नत्रयमें एकाग्रता, ईर्ष्यादिसमितिओंका पालन करना, सत्कारादिक श्री इच्छा न रखना, तपमें तत्पर होना, हर्मनाश करना ये यतिओंका गुण इस गाथासे आचार्यजीने सूचित किये हैं.

इय दृढगुणपरिणामो वेज्जावच्च करेदि साहुस्त ।

वेज्जावच्चेण तदो गुणपरिणामो कदो होदि ॥ ३१४ ॥

इत्थं गुणपरीणामो विद्यते यस्य निश्चितः ॥

साधूनां भव्यबंधूनां वैयावृत्यं तनोति सः ॥ ३१५ ॥

विजयोदया—इय गव दृढगुणपरिणामो यतिगुणेषु व्यावर्णितेषु दृढपरिणाम । साधुस्त वेज्जावच्चं करेद् साधोर्वैयावृत्य करोति । वेज्जावच्चेण वैयावृत्येन । तदो तेन गुणपरिणामो कदो होदि गुणपरिणाम. कृतो भवति । पतवुक्तं भवति—अस्य यतेरेते गुण, इमे नश्यति यदि नोपकार कुर्यात् इति यश्चेतसि करोति न तेषु गुणेषु परिणतो भवति । यस्य चोपकार कृतस्तस्य च गुणेषु परिणति कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैयावृत्यं इति आख्यात ॥

मूलारा—दृढगुणपरिणामो यतिगुणेषु व्यावर्णितेषु निश्चलानुरागसंस्कारः । तदो तेन तद्गुणग्रामसमग्रयतिगोचरेण । गुणे इत्यादि । एतदुक्तं भवति—अस्य यतेरेते गुणा नश्यन्ति यदि नोपकारं कुर्यामिति यश्चेतसि करोति स तेषु गुणेषु परिणतो भवति । तैर्वासितो भवतीत्यर्थः ॥ यस्य चोपकारः कृतस्तस्य गुणेषु परिणतिस्तदप्रच्युति कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैयावृत्यमित्याख्यात । उक्तं च—स्वदुःखनिर्घृणारंभाः परदुःखेषु दुःखिताः ॥ निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्षा मुमुक्षवः ॥

अर्थ—वैयावृत्य करनेसे यतिओंके गणोंमें वैयावृत्य करनेवालेके हृदयमें दृढ अनुराग उत्पन्न होता है. इसलिये वैयावृत्यसे गुणपरिणति होती है ऐसा आचार्य कहते हैं. अभिप्राय यह है कि, इस यतिराजमें जितेन्द्रियता, रत्नत्रयमें एकाग्रता, वीरदृग्गुण हैं. यदि मैं इनकी श्रुत्वा न करूंगा तो इनके ये महनीय गुण नष्ट होंगे. ऐसा जो

मन में विचार कर उनकी सेवा करता है वह मुनि उनके गुणोंमें अनुरक्त होकर वैसा गुणवान होता है, और जिसके ऊपर वैभावृत्यसे उपकार किया जाता है उसकी भी गुणोंमें परिणति होती है, अर्थात् वह अपने गुणोंसे च्युत नहीं होता इसलिये यह वैभावृत्य तप स्वीपकार और स्वीपकारके लिये कारण होता है ऐसा आचार्य कहते हैं,

जह जह गुणपरिणामो तह तह आरुहइ धम्मगुणसेहि ॥

वहुदि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसट्ठवि ॥ ३१५ ॥

यथा यथा निशं साधेर्वर्धते गुणवासना ॥

जिनेशशासने श्रद्धा परोदेति तथा तथा ॥ ३१६ ॥

विजयोदया—जह जह यथा गुणपरिणामो भवति तह तह आरुहइ धम्मगुणसेहि तथा तथाऽरोहति चारित्र-  
गुणश्रेणी । बहुवर्धते । जिणवरमग्गे जिनेन्द्रमार्गे । किं वर्धते ? नवनवसंवेगसट्ठवि प्रत्यग्रसंसारभीरुता श्रद्धापि । इह  
गुणशब्देन गुणनिर्भासः स्मार्तः प्रत्यय उच्यते । तेनायमर्थ—यथा यथा यतिगुणानां स्मरण तथा तथा चारित्रगुणानुपा-  
रोहति । विस्तृतयतिगुणो न तत्र प्रयतेते । तेना गुणानां स्मरणान्तत्र रुचिरुपजायते । गुणानुरागिणो हि भव्या । संसा-  
रभीतिः श्रद्धा च प्रवर्तमाना दृढयति यति रत्नत्रये । एतया गाथाया सूत्रिता श्रद्धा व्याख्याता । गुणानामनुस्मरणान्तत्र  
रुचिर्भवति ॥

श्रद्धा व्याचष्टे

मूलारा—गुणपरिणामो इह गुणशब्देन गुणनिर्भासः स्मार्तः प्रत्यय उच्यते । तेनायमर्थः । यथा यथा यतिगु-  
णानां स्मरणं भवति तथा तथा चारित्रगुणश्रेणिमरोहति । वर्धते च जिनवरमार्गेऽपूर्वा पूर्वसंसारभीरुत्वानुविद्धा श्रद्धा ।  
वक्तुं च —

यथा यथानिशं साधोर्वर्धते गुणवासना ॥

जिनेशशासने श्रद्धा परोदेति तथा तथा ॥

अर्थ—मुनि जैसे जैसे उत्तरोत्तर गुणोंमें परिणत अर्थात् दृढ होंगे वैसे २ वे चारित्रगुणों की नसेनीपर  
आरोहण कर अपने निर्मल स्वरूपको प्राप्त होंगे, और जिनेश्वरेके मार्गमें उत्तरोत्तर ताजी संसारभीरुताकी श्रद्धा बढे  
गी, इस गाथामें ‘गुणपरिणामो’ यह समस्त पद है इसमें गुण शब्द का अर्थ स्मरण ज्ञान ऐसा समझना चाहिये,

अतः इसका स्पष्टार्थ इस गुञ्ज है—जैसे २ यतिगुणोंका स्मरण होता है वैसे २ यति चारित्रगुणोंपर आरोहण करते हैं, परंतु जिनको यतिगुणोंका स्मरण नहीं होता है वे अपने में यतिगुण लानेका प्रयत्न नहीं करते हैं, यतिगुणोंका स्मरण होनेसे उनमें रुचि पैदा होती है, मन्व्यजीवोंका गुणोंपर प्रेम रहता है अर्थात् वे गुणोंपर प्रेम करते हैं, संसारभीतिके विषयमें उत्पन्न हुई श्रद्धा यतिको रत्नत्रयमें दृढ़ करती है, इस गाथामें श्रद्धा नामक गुणका विवेचन किया है.

द्वचौ प्रवृद्धया वात्सल्य नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्यावष्टे—

सद्भाए वद्वियाए वच्छलं भावदो उवक्कमदि ॥

तो तिब्बधम्मराओ सव्वजगसुहावहो होइ ॥ ३१६ ॥

विना गुणपरीणामं वैयावृत्यं करोति नो ॥

यतस्ततो मुसुधूणां वैयावृत्यं व्यनक्ति स ॥ ३१४ ॥

प्रवृद्धयसंसेवगं श्रद्धया वर्धमानया ॥

यतिः करोति वात्सल्यं लोकद्वयसुखप्रदम् ॥ ३१५ ॥

विजयोदया—सद्भाए वद्वियाए श्रद्धया वच्छितया । वच्छलं भावदो उवक्कमदि वात्सल्यं भावतः मनसा प्राप्तयेत । तो तत । तिब्बधम्मराओ धर्मे तीव्रो रागः । तीव्रधर्मरागो वा यतिरात्मन सकलं सुखमावहति । वात्सल्यं इत्येतद्व्याख्यात्मनया गायया ।

श्रद्धावृद्धौ च वात्सल्यं नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याह—

मूलारा— भावदो मनसा । सव्वजगसुहावहो सर्वेषु जगत्सु यत्सुखमैन्द्रियिक अतीन्द्रियं वा तदावहत्याकर्षयति

यतिः ।

गुणोंका स्मरण होनेसे रुचिगुण उत्पन्न होता है और उसके बढनेसे वात्सल्य नामक सम्यग्दर्शन गुण उत्पन्न होता है इसका वर्णन ग्रंथकार करते हैं—

अर्थ—श्रद्धागुण बढनेसे मुनि मनसे यतिओंपर वात्सल्य करते हैं, अर्थात् उनका आदरसत्कार, सेवा-दिक कार्य यथोचित करते हैं इस वात्सल्य भावसे धर्ममें तीव्र प्रेम उत्पन्न होता है, जिसका धर्मपर तीव्र अनुराग

उत्पन्न हुआ है उस श्रानिको जगतके इंद्रियजन्यसुख और अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होते हैं, इस गाथासे वात्सल्य गुणका वर्णन किया गया।

वैयावृत्यस्य 'भक्ति' नाम यो गुणस्तं व्याचष्टे—

अरहंतसिद्धभक्ती गुरुभक्ती सव्वसाहुभक्ती य ॥

आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभक्ती य ॥ ३१७ ॥

भक्तिरहंतसु सिद्धेषु धर्मस्वरिषु साधुषु ॥

वैयावृत्यकृतोत्कृष्टा पूजा भवति सेविता ॥ ३१६ ॥

विजयोदया—अरहंतसिद्धभक्ती तत्राहंतो नामातिक्रान्ते एतौये भवे दर्शनविशुद्ध्यादिपरिणामविशेषवद्भक्तीर्थ-  
करत्वनामकर्मोतिशया । स्वर्गावतरणादिपरदुरथापचमद्वाकल्याभागिनः । धातिकर्मप्रलयाधिगतसकलद्रव्यत्रिकालगो-  
चरस्वरूपावभासनपटुनिरतिशयज्ञानदर्शनमोहोन्मूलनोपजातवीतरागसम्यक्त्वाः । चारित्र्यमोहोत्पाटनलब्धवीतरागभावाः ।  
वीर्यवीतरायकर्मप्रश्रयाविभूतानंतवीर्याः । परितसमारभ्यजनोद्धरणवद्धप्रतिज्ञा । अष्टमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशय  
विशेषा ॥ सिद्धा नाम मिथ्यात्वादिपरिणामोपनीतकर्मोत्कवंचनिर्मुक्ता । अजराव्यायाधा । उपमातीतानतसुखा । जाज्वल्य  
माननिरावरणज्ञानतनव । पुरुषाकारा प्राप्तपरमासावस्था । एतयोरहंस्तिष्ठयोर्भक्तिः । गुरुशब्देनात्राचार्योपाध्यायौ गृही-  
तौ तयोर्भक्तिः । सव्वसाहुभक्ती य सर्वसाधुभक्तिश्च । आसेविता आसेविता भवति । अहंदाधुपदिष्टैवयावृत्यकरणात्तेषा  
भक्तिः कृता भवति । रत्नत्रयवतामुपकरणात्तदावतरत एव तत्र भक्तिः । पैयावृत्यं भक्तिमापादयति अहंदादिष्वित्युक्त ।  
भक्तिं गाथाद्वयेन व्याचष्टे ।

मूलारा—गुरुभक्ती आचार्योपाध्यायभक्तिः । अहंदाधुपदिष्टैवयावृत्यकरणात्तद्भक्तिं खलु कृता भवति । रत्नत्रय-  
वता चोपकारकरणात्तदावतरत एव धर्मो भक्तिः । आसेविदा वैयावृत्यं कुर्वतासकृत्कृता ।

अर्थ—अहंदाभक्ति इस जन्मके पूर्व तिसरे भवमें दर्शनविशुद्धि वगैरह विशिष्ट परिणामोंसे जिनको साति  
शय तीर्थकर नाम कर्मका बंध हुआ है, अन्यजनदुर्लभ स्वर्गावतरणादि पांच कल्याणोंके जो स्वामी हैं, धाति-  
कर्मोंका नाश कर जिनहोंने संपूर्ण द्रव्योंके त्रिकालवर्ति पर्यायोंका स्वरूप जाननेमें समर्थ ऐसे केवलज्ञान, केवल दर्श-  
नकी प्राप्ति की है, दर्शनमोहनीय कर्मका समूल नाश करनेसे जिनको वीतराग सम्यक्त्वा लाभ हुआ है, चारि-

ब्रमोहका समूल नाश कर जिन्होंने वीतरागभाव-चारित्र्यको प्राप्त किया है, वीर्यन्तराय कर्मके क्षयसे अनंतवीर्य-का लाभ जिनको हुआ है, आसक्त भक्त्योंका उद्धार करनेके लिये जिन्होंने प्रतिज्ञा धारण की है, आठ महाप्राति-हार्य और चौतिस विशेष अतिशयोंकी जिनको प्राप्ति हुई है वे अर्हन्त हैं, मिथ्यात्व, अविरति, ग्रमाद कथाय और योग इन परिणामोंसे वद्ध हुए आठ कर्मोंका जिन्होंने नाश किया है, जो जरा और मरणसे परे हैं, जिनको किसी प्रकारकी बाधा नहीं है, जिनका सुख अनुपम और अनंत है, जिनका ज्ञानरूपी शरीर अतिशय उज्ज्वल और आवरणरहित है, जो पुरुषाकार हैं, और परमात्मपदको धारण करते हैं, वे सिद्धपरमोष्ठि हैं, वैद्यावृत्यसे अर्हत् और सिद्धोंके ऊपर भक्ति होती है, गुरुभक्ति-गुरु-शब्दसे यहाँ आचार्य और उपाध्याय परमोष्ठीओंका ग्रहण होता है आचार्यभक्ति, उपाध्यायभक्ति और साधुभक्ति ये भक्तियाँ करनेका श्रेय अर्हदादिकोंसे कहा हुआ वैद्यावृत्य करनेसे मिलता है और वैद्यावृत्य करने से धर्मपर निर्मल भक्ति उत्पन्न होती है, रत्नत्रयधारक मुनिओंपर उपकार करनेसे, उनका आदर करनेसे ही उनके ऊपर भक्ति करने-का श्रेय मिलता है, वैद्यावृत्य तप अर्हदादि पंच परमोष्ठियोंमें भक्ति उत्पन्न करता है ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है

इदानीं तस्या माहात्म्यं स्तोति -

सर्वेगजगियकरणा निस्सल्ला मंदरुव्व गिक्कपा ॥

जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भयं णत्थि संसारे ॥ ३१८ ॥

अर्हद्भक्तिः परा यस्य बिभीते भवतो न सः

येनावगाहिता गंगा स किं नश्यति वह्निः ॥ ३१७ ॥

संसार-भीरुतोत्पन्ना निःशल्या मंदराचला ॥

जिनभक्तिर्दुहा यस्य नास्ति तस्य भवाङ्गयम् ॥ ३१८ ॥

विजयोदया - सर्वेगजगियकरणा संसारभीरुतोत्पन्ना । करणशब्द सामान्यवचनोऽपि उत्पत्तिक्रियावृत्तिश्च गृहीत । निस्सल्ला मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन च रहिता । मंदरुव्व गिक्कप्पा मंदर इव निश्चला । जस्स दढा जिणभत्ती यस्य जिने भक्तिर्दुहा । ण तस्स भयमत्थि संसारे तस्य भय नास्ति संसारात् । जिनशब्देनार्हदादयः । सर्वे एवोच्यन्ते । कर्मकदेशानां च जयात् घर्मोऽपि कर्मोऽप्यभिभवति इति जिनशब्देनोच्यते । द्रव्यलाभादिकामुद्दिश्य प्रवृत्तेस्तत्कथयति ।



संवेगजणियकरणा इत्यनेन संसारभयनिराकरणोपायभूता जिनभक्तिरिति आत्मा प्रवृत्तेति यावत् । वैनीयकिमिथ्यादृष्टे सर्वत्र भक्तिः प्रवर्तते इति तन्निरासाय निस्सह्या इत्युच्यते । मंदरुच्य णिक्कपा इत्यनेन सर्वकालवृत्तितत्त्वात्ता । सासादन सम्यग्दृष्टीताव्यल्पकाला न संसारान्निस्सारयतीति ॥

जिनभक्तिमाहात्म्यमभिधौति—

मूलारा—संवेगजणिदकरणा संसारभीरुतया न द्रव्यलाभादिना कुतोत्पाद्यकरणशब्दो खत्रोत्पत्त्यर्थः । निस्सह्या मिथ्यात्वभायानिदानरहिता । वैनीयकिमिथ्यादृष्टेः सर्वत्र भक्तिः प्रवर्तते इति तन्निरासार्य इदं । मंदरोच्य णिक्कपा सर्वकालवर्तिनी न सासादनसम्यग्दृष्टिवदल्पकाला । दृढा अभेद्या । जिनभक्ती जिनशब्देनान पचाव्यर्हदादय उच्यन्ते । कर्मणा-मेकदेशेन साकल्येन च जयात् । तथा धर्मोऽपि ससारे संसारात् । जिनादिभक्त्या हि सुदेवत्वसुमातुपल्लक्षणे सुखानुबन्धिन्वेव भवे भ्रान्त्यति । उक्तं च ।

संसारभीरुतोत्पन्ना निःशल्या मंदराचला ।

जिनभक्तिर्दृढा यस्य नास्ति तस्य भवाद्भयम् ॥

भक्तिके माहात्म्यका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—संसार से भय उत्पन्न करनेवाली, माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शक्तियोंसे रहित, मंदर पर्वतके समान निश्चल ऐसी जिनमें जिसकी दृढ भक्ति है उस मुनिको संसारसे भय नहीं रहता है, यहां जिनशब्द से पंच परमेश्वरोंका ग्रहण होता है, जैसे अर्हन्त और सिद्ध परमेश्वरोंने धातिकर्मका नाश किया है वैसे आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेश्वरोंने धातिकर्मका एकदेशसे नाश किया है इसलिये उनको भी जिन कहते हैं, धर्म भी कर्मोंका पराभव करता है अतः उसको भी जिन कह सकते हैं द्रव्यलाभादिककी अपेक्षा न करके की हुई जिनभक्ति कर्मनाश करती है, यह भक्ति संसारभय दूर करनेवाली है, वैनीयकि मिथ्यादृष्टीकी सर्वत्र भक्ति रहती है, उसका निरासन करनेके लिये जिनभक्ति को निस्सह्या यह विशेषण दिया है, 'मंदरुच्य णिक्कपा' यह विशेषण सर्वकाल जिन भक्ति रहती है, सासादन सम्यग्दृष्टिके समान वह अल्प कालिक नहीं है ऐसा अभिप्राय व्यक्त करता है, सासादन सम्यग्दृष्टिकी भक्ति अल्पकालही रहती है अतः उसमें संसार नाश करनेका सामर्थ्य नहीं है.

वैयावृत्यस्य पात्रलभगुणमाचष्टे—

पंचमहव्वयगुत्तो णिगहिदकसायवेदणो दंतो ॥

लब्भदि हु पत्तभूदो णाणासुदरयणणिधिभूदो ॥ ३१९ ॥

निःकषायो यतिदान्तः पात्रभूतो गुणाकरः ॥

महाव्रतधरो धीरो लभते श्रुतसागरम् ॥ ३१९ ॥

विजयोदया—पंचमहाव्वयगुत्तो पंचभिर्महाव्रतैः कृतास्त्रवनिरोध । णिगहिदकसायवेयणो निगृहीतकषाय-  
वेदन' कषायस्तु तपायत्यात्मानमिति वेदना । दंतो दातः शातरागजदोष । परिज्ञानाद्वैराग्यभावनात् प्रशातराग इति  
कृत्वा दात इत्युच्यते । लब्भदि खु पत्तभूदो लभ्यते पात्रभूत । णाणासुदरयणनिधिभूदो नानाश्रुतरत्ननिधिभूतः ॥

पात्रलभगुणमाह—

मूलारा—गुत्तो कृतास्त्रवनिरोधः । वेदणा उदयः । लब्भदि लभ्यते वैयावृत्यात् । आपन्नादारं हि सर्वोऽव्याश्रयति ।

अर्थ—अहिंसादि पांच महाव्रतोंसे बंद किया है कर्मका आगमन जिसने, कषाय आत्माको संतप्त करते हैं, अर्थात् दुःखित करते हैं, अतः जिसने कषायसे उत्पन्न होनेवाली वेदनाको शांत कर दिया है, रागभावसे उत्पन्न होनेवाले दोष जिसके शांत हुए हैं, अर्थात् ज्ञान और वैराग्यसे जिसका रागभाव शांत हुआ है, जो नानाप्रकारके श्रुतज्ञानरूपी रत्नोंका निधि है ऐसा सत्पात्र मुनि वैयावृत्य करनेसे प्राप्त होता है।

दंसणणो तव संजमे य संघाणदा कदा होइ ॥

तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो चेव ॥ ३२० ॥

दर्शनज्ञानचारित्रसंधानं क्रियते यतः

रत्नत्रयात्मके मार्गे स्थाप्येते स्वपरो ततः ॥ ३२० ॥

विजयोदया—दंसणणो दर्शनज्ञानयोः तवसंजमे य तपश्चारित्रयोश्च । संघाणदा होदि कुतश्चिन्निमित्ता-  
द्विच्छिन्नाना दर्शनादीना संधानं कृतं भवति वैयावृत्येन । तो तस्मात् तेनैव वैयावृत्यकारिणा सिद्धिमग्गे रत्नत्रये ।  
ठविदो अप्पा परो चेव स्थापित आत्मा परस्मै । अनया संधानमित्येतत्सूत्रपदव्याख्यानम् ॥

कुतश्चिन्निमित्ताद्विच्छिन्नानां दर्शनाद्रीनां संधानं वैयावृत्येन क्रियते इत्यावेदयति ।

मूलारा—तेन वैयावृत्यकारकेण ।

अर्थ—किंसी कारणसे यदि सम्यग्दर्शन और चारित्र्य तप और संयम इनमें मिश्रित हुआ हो तो वैयावृत्य के द्वारा वे पुनः जुड़ जाते हैं, इस लिए वैयावृत्य करनेवाले व्यक्तीने अपने को और जिसका वैयावृत्य किया गया है उसको मोक्षमार्गमें—रत्नत्रयमें स्थापन किया है ऐसा समझना चाहिये, इस मायासे 'संधान' इस सूत्रका व्याख्यान हुआ है.

तव इत्येतद्व्याख्यालुमाह—

वेङ्गावञ्चकरो पुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ॥

पप्फोडितो विहरदि बहुभवाधाकरं कम्मं ॥ ३२१ ॥

वैयावृत्यं तपोन्तस्यं कुर्वतानुत्तरं मुदा ॥

वेदनाश्चापदाधारा भिग्यंते कर्मभूधरा ॥ ३२१ ॥

विजयोदया—वेङ्गावञ्चकरो पुण वैयावृत्याल्ये तपसि समाधिमैकाग्रतामुपाश्रित । पप्फोडितो विहरदि विधूनयन्विहरति । बहुभवाधाकरं कम्म बहुभवेषु माया संपादयत्कर्म ।

वैयावृत्यकृत्यं तपोगुणं न्यावष्टे—

मूलारा—तवसमाधिं तपसि वैयावृत्याल्ये समाधिमैकाग्रताम् ।

अर्थ—वैयावृत्य करनेवाले मुनि वैयावृत्य नामके तपमें एकाग्र होकर अनेक भोगोंमें माया उत्पन्न करने-वाले कर्मका नाश करते हुए रत्नत्रयमें विहार करते हैं

जिणसिद्धसाहुधम्मा अणागदातीदवट्टमाणगदा ॥

तिविहेण सुद्धमदिणा सव्वे अभिपूइया होति ॥ ३२२ ॥

अथा विशुद्धचित्तेन कालत्रितयवर्तिनः

सर्वतीर्थकृतः सिद्धाः साधवः संति पूजिताः ॥ ३२२ ॥

विजयोदया—जिणसिद्धसाधुधर्मा तीर्थकृत, सिद्धा, साधवो, धर्मश्च । अणागदातीदवट्टमाणदा सर्वे त्रिकालवर्तिन । सर्वे त्रिविधेण पूजिता होति सर्वे मनोवाक्यैः पूजिता भवन्ति । सुद्धमङ्गणा शुद्धचेतसा । तीर्थकृदादयः । स्तदङ्गासंपादनात्पूजिताः, दशविधे धर्मे तपसोऽन्तर्भावद्वैयवृत्त्यस्य च तदन्तर्गतत्वाद्वैयवृत्त्ये आदरात् तत्प्रवृत्तेश्च धर्मः पूजितो भवति ॥

वैयावृत्यकारिणा त्रैकालिकजिनादीना पूजा संपाद्यते इत्युपदिशति ।

मूलारा—अभिपूजिता जिनादयस्तदङ्गासंपादनात्पूजिता भवन्ति । दशविध धर्मे तपसः सङ्गवर्द्धयवृत्यस्य च तदन्तर्गतत्वात्तदादरात्तत्र प्रवृत्तेः धर्मः पूजितो भवति ।

अर्थ—जो मुनि वैयावृत्य करता है उसने भूतकालीन, वर्तमान कालीन और भविष्यत्कालीन तीर्थकार, सिद्धपरमेष्ठी, साधु और धर्म इनका शुद्ध अन्तःकरणसे मनवचन कायसे पूजन किया है ऐसा समझना चाहिये। वैयावृत्य करना चाहिये ऐसी तीर्थकरादिकोंकी आज्ञा है उसका पालन करनेसे तीर्थकरादिकोंकी पूजा की ऐसा अभिप्राय है, उचम क्षमादि दशप्रकारके धर्ममें तपका अन्तर्भाव है और तपमें भी वैयावृत्यका अन्तर्भाव है, वैयावृत्य में आदर और उसका आचरण करनेसे धर्म का भी पूजन किया ऐसा माना जाता है,

वैयावृत्यं दशविधं आचार्योपाध्यायतपस्विशिक्षकलग्नगणकुलसद्यसाधुमनोहमेवेन । तत्राचार्यवैयावृत्यमाहात्म्यकथनायाचये—

आइरियधारणाए संघो सब्बो वि धारिओ होदि ॥

संघस्स धारणाए अब्बोच्छिची कया होई ॥ ३२३ ॥

सूरिधारणया संघः सर्वो भवति धारितः ॥

न साधुभिर्विना संघो भूहैरिव काननम् ॥ ३२३ ॥

विजयोदया—आयरियधारणाए आचार्यधारणात्, संघो सब्बो वि धारिओ होदि सर्वे संघोऽवधारितो भवति । कथं ? आचार्यो हि रत्नत्रय ग्राहयति । शृहीतरत्नत्रयास्तेषु दृढयति । अतिवाराज्ञातान्यपनयति । तदुपदेश

वलेनैव गुणसंहतिरूपता धत्ते संघो नान्यथेति संघो धारितो भवति । संघधारणया गुणमाचष्टे । संघस्स धारणाए अवोच्छिन्ती कदा होदि धर्मेतीथस्याभ्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य अभ्युच्छित्तिं कृता भवति । उपाध्यायादयः सर्व एव साधयन्ति निरवशेषकर्मपायमिति साधुशब्देनोच्यते ॥

वैयावृत्यसाध्यां धर्मेतीथस्याव्युच्छित्तिं गाथाद्वयेन व्याचिख्यासुराचार्योपाध्यायतपस्विभैक्षलग्नगणकुल-संघसाधुमनोहविषयभेदादशविधेऽपि वैयावृत्ये धर्मोपायवैयावृत्यस्यैव करणीयतमत्वरूपणार्थमिदमाह —

मूलारा—आयरियधारणाए पंचाचारावरणवंचुराचार्यस्तस्य धारणा स्वकर्मसामर्थ्यशक्तिमित्तव्यावर्तनेन स्वकर्मसामर्थ्यापादनं वैयावृत्यकरणं इति यावत् । संघो वहूना परमार्थहितसाधनाभिमुख्यपरिणतिलक्षणभावप्रत्यासत्तिरूपः समुदाय । स च प्रतिबंधकापायतारतम्यप्रवृत्तधर्मासुष्ठानभेदाच्चतुर्विधः । धारिउ । आचार्यो हि रत्नत्रयं मुमुक्षुन् ग्राह्य-ति । गृहीतरत्नत्रयांस्तत्र द्रढयति । अतीचाराज्ञातानप्यनयति । तदुपदेशपालनेनैव गुणसंहतिरूपता धत्ते संघो नान्यथे-त्याचार्यधारणात्संघो धारितः स्वरूपे व्यवस्थापितो भवति । अवोच्छिन्ती धर्मेतीथस्य अभ्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य संतत्या प्रवृत्तिः ।

वैयावृत्यके आचार्ये वैयावृत्य, उपाध्याय वैयावृत्य इत्येकं प्रकारं दश भेदः । आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी शिक्षक, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ ऐसे मुनिओंके दस भेद हैं, इन दसोंका वैयावृत्य करना योग्य है इस लिये इनकी अपेक्षासे वैयावृत्यके भी दस भेद होते हैं, उसमें आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य कहते हैं—

तेष्वन्यतमस्य साधोर्धारणायां गुणं कथयति—

साधुस्स धारणाए वि होइ तह चैव धारिओ संघो ॥

साधू चैव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो ॥ ३२४ ॥

साधुधारणया संघं सर्वो भवति धारितः ॥

न साधुभिर्विना संघो भूरुहैरिव काननम् ॥ ३२४ ॥

विजयोदया—साधुस्स धारणाए एकस्य साधोर्व्यावृत्यकरणेन धारणाया । होदि भवात् । तह चैव तथैव आचार्यधारणात् संघधारणात् । धारिदो संघो धारितो यति समुदाय ॥ कथमेकस्य धारणाया समुदायावयवयोर्भेदोदि

त्याशंकायामाह—“साधू चेव हि संघो साधुवदिरित्तो नैव संघो नामार्थान्तरभूतोऽस्ति साधुव्यतिरिक्त । कथं चित्समुदायावयवयोरव्यतिरेक इति मन्यते गाथाद्वयेनानेन । अव्युच्छित्सिर्व्याख्याता ।

सिद्धं साधयंतीति नवायुगमाध्यायादयः साधवः, अतस्तेष्वन्यतमस्यापि वैयावृत्यकरणे गुणं दर्शयति—  
मुलारा—साधुस्स उपाध्यायादीनामन्यतमस्य । तद्य चेव आचार्यधारणातः संघधारणावतः । संघो यतिसमुदायः साधुवदिरित्तो समुदायावयवयोः कथंचिदव्यतिरेकात्साधव एव संघ इति व्यवद्ध्यते ॥

उसमें आचार्यवैयावृत्यका माहात्म्य कहते हैं—

अर्थ—वैयावृत्य कर आचार्यको रत्नत्रयमें स्थिर करनेसे संघको रत्नत्रयमें स्थिर किया सरिला हो जाता है, क्योंकि, आचार्य महाराज शिष्योंको रत्नत्रय ग्रहण कराते हैं, जिन्होंने रत्नत्रयका स्वीकार किया है उनको उसमें दृढ़ करते हैं, अतिचार उत्पन्न होनेपर उनको दूर करते हैं, उनके उपदेशके माहात्म्यसे ही संघ अपनेमें गुणोंका समूह धारण कर सकता है अन्यथा वह गुणों को नहीं धारण करेगा इस लिये आचार्य को धारण करनेसे संघका भी धारण होता है संघको धारण करनेसे अशुद्ध और मोक्षसुख देनेमें कारणभूत धर्म अव्याहत रूपसे प्रचलित होता है.

उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष वगैरेह को साधु कहते हैं, क्योंकि वे संपूर्ण कर्मका नाश अर्थात् मोक्ष को साधते हैं. उपाध्यायादिक साधुओंमेंसे किसी एक साधुको रत्नत्रयमें धारण करनेमें कोनसा गुण है इसका उच्च आचार्य कहते हैं—

जैसे आचार्यका वैयावृत्य करनेसे संघका धारण होता है वैसे एक साधुको वैयावृत्य कर रत्नत्रय में स्थिर करनेसे संघका धारणा होता है अर्थात् यतिओंका समुदाय रत्नत्रयमें स्थिर होता है, एक साधुको रत्नत्रयमें स्थिर करनेसे समस्त यतिसमूह को कैसा धारण कर सकते हैं ? क्योंकि समुदाय और अवयव परस्पर भिन्न है, इसका उत्तर ऐसा है—साधु हि संघ है. साधुओंसे संघ भिन्न पदार्थ नहीं है. क्योंकि समुदाय और अवयव परस्परसे कथंचित् अभिन्न है. इसप्रकार अव्युच्छित्ति गुणका दोन गाथाओंसे विवेचन किया है.

सिद्धिसुखे चेतस एकाग्रता समाधिरित्युच्यते तदुपगृह्णं कृतं भवतीत्याचष्टे—

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तरविहीहिं विहरमाणेण ॥

जा सिद्धिसुहसमाधीं सा वि य उवगूहिया होदि ॥ ३२५ ॥

एवं गुणपरिणामप्रमुखैर्विविधैः परैः ॥

प्राप्यते वर्तमानेन समाधिः सिद्धिशर्मणा ॥ ३२६ ॥

विज्ञेयोदया—गुणपरिणामादीहिं य गुणपरिणामः, श्रद्धा, वात्सल्यं, भक्तिः, पात्रलाभः, संधान, तपः, पूजा, तीर्थान्युच्छितिः, क्रियेत्येतैः । अणुत्तरविहीहिं प्रकष्टैः क्रमैः । विहरमाणेण आचरता । जा सिद्धिसुहसमाधी सिद्धिसुखे-काग्रता । सा वि य उवगूहिया होह सात्यालिगिता भवति । कारणे ह्यादरः कार्ये समाधानमंतरेण न प्रवर्तते । न हि सात्ये ष्टे चेतस्यसति तदुपायभूतदडदिकारणकलापे जनः प्रवर्तते । इह च गुणपरिणामादय उपायाः सिद्धिसुखस्य न च सिद्धिसुखैकाग्रतामंतरेण ते युज्यते इति भावः ।

वैयावृत्त्यसाध्यसिद्धिसुखसाधनगुणपरिणामादिनवकाचरणपरेण मुमुक्षुणा सिद्धिसुखैकनिष्ठमत्तकतालक्षणः समाधिः प्राप्यत इत्यादर्शयति—

मूलारा—अणुत्तरविहीहिं उत्कृष्टक्रमैः । अवगूहिया आलिगिता । सिद्धिसुखसमाधिपरिणतो वैयावृत्त्यकरः स्यादित्यर्थः ॥ उक्तं च—

एवं गुणपरिणामप्रमुखैर्विविधैः परैः ॥

प्राप्यते वर्तमानेन समाधिः सिद्धिशर्मणा ॥

सिद्धिसुखमें चित्तकी एकाग्रता होना समाधि है. वैयावृत्त्य करनेसे उसका संरक्षण होता है इस विषयका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—गुणपरिणाम, श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, संधान, तप, पूजा और तीर्थान्युच्छिति ऐसे नउ उत्कृष्ट क्रमोंसे आचरण करने वाले मुनिके द्वारा सिद्धिसुखमें एकाग्रता नामक गुणकी प्राप्ति की जाती है. अर्थात् वैयावृत्त्य करनेवाली व्यक्ति सिद्धिसुखकी एकाग्रतामें परिणत होती है. कारणोंमें जो आदर किया जाता है वह कार्य के विषयमें एकताको करता है. अर्थात् कारणोंका संग्रह करनेसे उससे इष्ट कार्यकी सिद्धि होती है. परंतु यदि

मन में घट बनानेका विचार न होगा तो उसको बनानेके लिये दंड, चक्र, मृत्तिकादि कारणसमुदाय की प्राप्ति में जन प्रवृत्त नहीं होते हैं. प्रकृत प्रकरणमें गुणपरिणामादिक सिद्धिसुखकी प्राप्ति के उपाय हैं इस लिये वे सिद्धिसुखकी एकाग्रताको जोड़े बिना नहीं रहेंगे.

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होति ॥

णिग्गहियाणि कसारिधियाणि साखिल्लदा य कदा ॥ ३२६ ॥

जिनाङ्गा पालिता सर्वा विजित्त्य गुणहारिणः ॥

कृतं संयमसाहाय्यं कषायेन्द्रियवैरिणः ॥ ३२६ ॥

विजयोदया—अणुपालिदा य आणा अनुपालिता च आङ्गा भवति वैयावृत्यं कुर्वता । केपां ? तीर्थकुदादीना । पतेन आणा इत्येतत्सूत्रपदं व्याख्यातं भवति । संजमजोगा य पालिदा होति इत्यनेन संयमपदव्याख्या कृता संयमेन सह संबधः आचार्यादीना । पालिदा होति रक्षिता भवति । व्याख्यापद्धताना रोगपरीपद्धानसंक्षेपेन धारयितुमसमर्थाना । अथवा संयमो योगाश्च तपांसि अनशनावितपोविशेषा रक्षिता भवति । स्वस्य परेषा च करणानुमननाभ्यां स्वस्यापाक्षि-  
रासेन स्वस्थतोपजातसामर्थ्यादीनां संयमसंपादनात् । परेषा सहायता व्याचष्टे—जहा इति वाक्यशेषाव्याहारेण सूत्र-  
पदानि सयधनीयानि । यस्माभिगृहीतानि कषायैन्द्रियाणि तद्दोषोपदेशं कुर्वता तस्मात्साखिल्लदा य कदा सहायता कृता ॥

मूलरा—संजमजोगा आचार्यादीना संयमेन सह संबधं । अथवा स्वस्य परेषा च संयमो, योगश्चानशनादि-  
तपोविशेषाः । स्वस्य हि परैर्वैयावृत्यं कारयित्वा क्रियमाणं वानुमत्य स्वास्थ्यं प्राप्तं परेषामप्यापाक्षिरासेन स्ववत्संयमयोग-  
रक्षा करोति । साखिल्लदा संयमं साधयतं साहाय्यक कृतं भवति । कषायैन्द्रियोपदेशं लक्षणवैयावृत्यकारिणा । कथं ?  
यस्माभिगृहीतानि भवन्ति कषायैन्द्रियाणि तद्दोषोपदेशं कुर्वता ॥

अर्थ—जो भुनि वैयावृत्य करते हैं वे तीर्थकरादिकोंकी आज्ञा पालते हैं ऐसा समझना चाहिये “ अणु पालिदा य आणा ” इस वचनसे आज्ञा नामक सूत्रपदका व्याख्यान हुआ. ‘ संजमजोगा य पालिदा होति ’ इस वचनसे संयमपदका व्याख्यान हुआ. रोगादि आपत्तिओंसे ग्रसित होनेसे जो रोगादि परिपद्दोंको बिना संक्षेपसे धारण करनेमें असमर्थ हैं ऐसे आचार्यादिकोंकी वैयावृत्यके द्वारा शुश्रूषा करनेवाले भुनि उनको संयमसे संवद्ध कर देते हैं. अर्थात् वैयावृत्य किया जानेसे आचार्यादिक असंयमी न बनकर संयममें ही स्थिर रहते हैं. अथवा शुश्रूषासे उनके



संयम और अनशनादि तर्पका रक्षण होता है, स्वतःका वैयावृत्य दुसरोसे कराकर अथवा करनेवालोंको अनुमोदन देकर रोगादिकोसे निवृत्त हुआ साधु दुसरोकी आपत्तिओंको दूर कर स्वतःके सदृश उनके संयम और योग की रक्षा करता है. ऐसा कार्य करनेसे संयमकी सिद्धि करनेवाले मुनिओंको साहाय्य किया जानेसे साखिलता नामक गुणकी सिद्धि होती है. वैयावृत्य करनेवाला मुनि इंद्रिय और कर्मायोंके दोष आपद्ग्रस्त मुनिओंको दिखाता है तब वे इंद्रियनिग्रह और कर्मायनिग्रह करते हैं. इस लिये वैयावृत्य करनेवालेने इस कार्यमें सहाय किया ऐसा माना जाता है.

अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिगिञ्छा य दगिसिद्धा होइ ॥

पवयणपभावणा वि य णिव्वूढं संघकज्जं च ॥ ३२७ ॥

दत्तं सातिशयं दानमचिकित्सा च दर्शिता ॥

संघस्य कुर्वता कार्यं वाक्यं भावयताहताम् ॥ ३२७ ॥

विजयोदया—अदिसयदाणं दत्तं अतिशयदानं दत्तं भवति । रत्नत्रयदानात् । णिव्विदिगिञ्छा य दगिसिद्धा होइ सम्यग्दर्शनस्य गुणो निर्विचिकित्सा नाम सा प्रकटिता भवति । द्रव्यविचिकित्सा निरस्ता शरीरमलाना निराकरणाय जुगुप्सा विना । पवयणपभावणावि य प्रवचनमागमस्तदुक्तार्थानुमननात् प्रवचनप्रभावना भवति । णिव्वूढं संघकज्जं च संघेन कर्तव्यं कार्यं च निश्चयेन संपादितं भवति । एतेन कज्जणुणाणि इत्येतद्व्याख्यातम् ।

रत्नत्रयदाननिर्विचिकित्सताप्रकटनप्रवचनप्रभावनासंघकार्यनिर्वहणलक्षणगुणचतुष्टयं वैयावृत्यफलं व्याख्यलु-

भिदमाह—

मूलार—अदिसयदाणं लोकोत्तरदानं, लोकोत्तमस्य रत्नत्रयस्य व्यापत्तिव्यपनोदनेन संपादनात् । णिव्विदिगिञ्छा द्रव्यविचिकित्सानिरासः, पुरीषादिदेहमलपनयनात् । पवयणपद्मावणा आगमोक्ताथोपपन्नानान्माहात्म्यप्रकाशनं, वैयावृत्यकृता कृतं स्यात् । णिव्वूढं निश्चयेन संपादितं स्यात् ॥

अर्थ—वैयावृत्य करके आपद्ग्रस्त मुनिओंको रत्नत्रय का दान दिया जानेसे अतिशयदान नामक गुण की सिद्धि होती है. वैयावृत्य करनेसे निर्विचिकित्सा गुणकी प्राप्ति होती है. यह निर्विचिकित्सा सम्यग्दर्शनका गुण है. जुगुप्साके विना रोगी मुनीके विष्णामृत्नादि मल दूर करनेसे द्रव्यविचिकित्साका त्याग होता है, वैयावृत्य करनेसे

आगमकी प्रभावना होती है क्योंकि आगममें वैयावृत्य करनेका उपदेश किया है और वैयावृत्यकारक उसको प्रमाण मानकर वैयावृत्य करता है वैयावृत्य करनेसे संधको अपना कर्तव्यसंपादन करनेका श्रेय प्राप्त होता है. इस वचनसे 'कज्जपुण्णणि' इस पदकी व्याख्या होचुकी.

वैयावृत्यस्य फलमाहात्म्यं दर्शयति—

गुणपरिणामादीहिं य विज्जावच्चुज्जदो समज्जेदि ॥

तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं ॥ ३२८ ॥

एवं गुणाकरीभूतं वैयावृत्यं करोति यः ॥

लभते तीर्थकृत्नाम त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥ ३२८ ॥

विजयोदया—गुणपरिणामादीहिं य गुणपरिणामादिविभिः कारणभूतैः । पुण्णं तित्थयरणामकम्मं समज्जेदि । पुण्यं तीर्थकरणामकर्म समर्जयति । कीदृक् ? तिलोयसंखोभयं त्रैलोक्यसंक्षोभकारणक्षमं ॥

वैयावृत्यस्य परमं फलं तीर्थकरत्वनामकर्माख्यं परमपुण्यं दर्शयति—

मूलारा—स्पष्टम् ।

वैयावृत्यके फलका माहात्म्यं वताते हैं—

अर्थ—वैयावृत्य करनेवाला मुनि गुणपरिणाम वगैरे गुणोंकी साहाय्यतासे त्रैलोक्यको शुद्ध करनेमें समर्थ ऐसा तीर्थकर नामकर्मका पुण्य वांध लेता है.

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य ॥

अण्णहिंदो हु जायदि सज्झायं चैव कुब्बतो ॥ ३२९ ॥

लभमानो गुणानेवं वैयावृत्यपरायणः ॥

स्वस्थः संपद्यते साधुः स्वाध्यायोद्यतमानसः ॥ ३२९ ॥

स्थविरस्य प्रमाणस्य शास्त्रज्ञस्य तपस्विनः ॥

आर्थिकासंगतेः साधोरपवादो दुरुत्तरः ॥ ३३१ ॥

विजयोदया—धेरस स्थविरस्य । तवस्विस्य वि अनशनादितपस्युद्यतस्यापि । बहुसुदस्य वि बहुश्रुतस्यापि । प्रमाणभूदस्स प्रमाणभूतस्य । अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि आर्यपरिचयाज्जनपवादो भवति ।

मूलारा—तवस्विसस्य अनशनादितपस्युद्यतस्य । जणजंपणयं लोकापवादः ।

अर्थ—मुनि वृद्ध, तपस्वी, अर्थात् उपवास, अवमोदयं, रसपरित्याग वगैरे तप करनेवाला, बहुश्रुत और जनमान्य होने पर भी यदि वह आर्थिकाका सहवास करनेवाला होगा तो वह लोगोकी निंदाका स्थान वनेगाही आर्थिकाके साथ परिचय होनेस उसकी निंदा होना दुर्निवार है।

किं पुण तरुणो अबहुस्सुदो य अणुकिट्टवचरित्तो वा ॥

अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं ण पावेज्ज ॥ ३३२ ॥

न किं यूनोऽल्पविद्यस्य मंदं विदधतस्तपः ॥

कुर्याणस्यार्थिकासंगं जायते जनजल्पनम् ॥ ३३२ ॥

विजयोदया—किं पुण ण पावेज्ज जणजंपणयं किं पुनर्न प्राप्नुयाज्जनपवादं वा ? प्राप्नोति नियोगतः । केन ? अज्जासंसग्गीए आर्यगोष्ठ्या । क' ? तरुणो अबहुस्सुदो अणुकिट्टवचरित्तो य तरुणो यतिरबहुश्रुतोऽनुकृष्टतपश्चा-  
रित्रश्च ॥

मूलारा—अणुकिट्टं अनुकृष्टं । अज्जासंसग्गीए आर्यजनगोष्ठ्या ॥

अर्थ—जो तरुण है, बहुश्रुतता जिसमें नहीं है अर्थात् जिसमें हिताहितका विचार कम है, जो उत्कृष्ट चारित्रिका धारक नहीं है ऐसा यदि आर्थिकाके संसर्गसे जननिंदाको प्राप्त न होगा क्या ? अवश्य होगा। तात्पर्य यह है कि, जब विवेकपूर्ण, महान् तपस्वी और लोकभाष्यतायुक्त ऐसा मुनि भी आर्थिकाके सहवाससे अपकीर्तिका पात्र बनता है तो इतर अल्पज्ञ मुनिओंके विषयमें क्या कहना चाहिये।

जदि वि सयं थिरबुद्धी तहा वि संसंगिलद्धपसराए ॥  
अगिसमीवे व घदं विलेज्ज चित्त खु अज्जाए ॥ ३३३ ॥

आर्थिकामानसं सद्यो यतिसंगे विनश्यति ॥  
सर्पिवन्धेः समीपे हि काठिन्यं किं न मुंचति ॥ ३३३ ॥  
स्वयं साधोः स्थिरत्वेऽपि संसर्गप्राप्तघृष्टता ॥  
क्षिप्रं विभावसो संगे सा लाक्षेव विलीयते ॥ ३३४ ॥

विजयोदया—जदि वि सय थिरबुद्धी यद्यपि स्वयं स्थिरबुद्धि । तदा वि तथापि । संसंगिलद्धपसराए सस न केवलमायजिन एव परिहरणीय, किं तु—  
मूलारा—थिरबुद्धी स्थिरचित्तो यतिः । संसर्गियतिना सह गोष्ठी तथा लब्धः प्रसरश्चित्तोत्साहो यया । विलेज्ज

विलीयते ॥

अर्थ—मुनि यद्यपि स्थिर बुद्धिका धारक होगा तो भी मुनिके सहवाससे जिसका चित्त चंचल हुआ है—  
ऐसी आर्थिकाका मन अधिके समीप घी जैसा पिघल जाता है वैसे पिघलेगा इस वास्ते मुनि और आर्थिका दोनों  
कोभी अन्योन्य परिचय छोड़नाही योग्य है.

सञ्जत्य इत्थिवग्गमि अपमत्तो सया अवीसत्थो ॥  
णित्थरदि वंमचेरं तव्विवरीदो ण णित्थरदि ॥ ३३४ ॥  
अविश्वस्तोऽगनावर्गे सर्वत्राप्यप्रमादकः ॥  
ब्रह्मचर्यं यतिः शक्तो रक्षितुं न परः पुनः ॥ ३३५ ॥

विजयोदया—सञ्जत्य इत्थिवग्गमि सर्वसिद्धेव स्वीवर्गे वालाकन्याम व्यमास्थविरासुरूपविरूपेति विचित्रभेदे ।  
अपमत्तो अप्रमत्त प्रमादरहितः । सदा अवीसत्थो विश्वासरहितः । णित्थरत्थ निस्तरति वमचेर ब्रह्मचर्यं । तव्विवरीदो  
तद्विपरीतः प्रमत्तः विश्वासवाञ्छ । ण णित्थरदि न निस्तरति ॥

न केवलं आर्यो एव त्याज्या । किं तर्हि सर्वोऽपि स्त्रीजन इत्यनुशास्ति--

मूलारा--संवत्स्र बाला, कुमारी, युवतिर्मध्यमा, वृद्धा, गुरूपा, कुरूपा इत्यादिविविचित्रभेदे । अवीसत्था वि-  
श्वासरहितः । गित्थरइ मरणांतं प्रापयति ॥

अर्थ--चालिका, अविवाहित कन्या, तरुणी, मध्यम वयकी स्त्री, वृद्ध स्त्री, गुरूप स्त्री और कुरूप स्त्री  
एसे सपूर्ण स्त्रीमात्रमें मुनिको प्रमादरहित होना चाहिये। विश्वासरहित होना चाहिये, इस रीतीसे प्रवृत्ति करनेवाला  
मुनिही आजन्म अपना ब्रह्मचर्यव्रत निर्दोष पालन कर सकेगा अन्यथा नहीं। जो मुनि प्रमादी और स्त्रीजनमें  
विश्वासयुक्त है वह अपने ब्रह्मचर्यव्रतको नहीं निभा सकेगा।

आर्यतुचरणे दोष प्रकटयति--

संवत्स्रो वि विमुक्तो साहू संवत्स्र होइ अप्पवसो ॥

सो चेव होदि अज्जाओ अणुचरंतो अण्णवसो ॥ ३३५ ॥

विमुक्तः सर्वतो जातः सर्वत्र स्ववशो यतिः ॥

आर्यिकानुचरीभूतो जायतेऽन्यवशः पुनः ॥ ३३६ ॥

विजयोदया--संवत्स्रो वि विमुक्तो साहू संवत्स्र होइ अप्पवसो सर्वस्माद्वास्तुक्षेत्रादिकामुक्तः साधुः सर्वत्र  
भवति स्ववश । सो चेव स एवात्मवश । होइ भवति । अण्णवसो अनात्मवश । किं कुर्वन् ? अज्जाओ अणुचरतो आर्यो  
अनुचरन् ॥

मूलारा--संवत्स्रो वि सर्वस्माद्वास्तुक्षेत्रादिकात् । विमुक्तो व्यावृत्ताचितः । अज्जाओ आर्यिकः अणुचरंतो अनु-  
वर्तमानः ॥

अर्थ--जो साधु घर, खेत, धनधान्यादि सर्व प्रकारके परिग्रहोंसे ममत्वरहित हुआ है, वही सर्व वस्तु  
ओमेंसे अपने मनको अलग रखकर जितेंद्रिय होता है। परंतु जो मुनि आर्यिकके साथ परिचय रखता है वह  
अपनेको आत्माके शुद्ध स्वरूपमें तत्पर नहीं कर सकेगा। अर्थात् जितेन्द्रियता गुणको छोड़ बैठेगा। इसीलिये आर्य-  
काका परिचय मुनिओंके लिये निषिद्ध माना है।

खेलपडिदम्पणं ण तरदि जह मळिया विमोचेदुं ॥

अज्जाणुचरो ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं ॥ ३३६ ॥

आर्थिकावचने योगी वर्तमानो दुरुत्तरे ॥

शक्तो मोचयितुं न स्वं श्लेष्ममश्रेव मक्षिका ॥ ३३७ ॥

विजयोदया—खेलपडिदम्पण श्लेष्मपरीतमात्मान । जह ण तरह मळिया विमोचेदुं यथा न तरति मक्षिका विमोचयितु । तह अज्जाणुचरो ण तरह अण्ण विमोचेदुं तथा आर्याणुचरो न शक्नोति आत्मानं विमोचयितु ॥

मूलारा—खेल श्लेष्मा । ण तरदि न शक्नोति ॥

अर्थ—जैसे मनुष्यके कफमें अर्थात् थूकमें पड़ी हुई मक्खी उससे निकलनेमें असमर्थ होती है वैसे आर्थिकाके साथ परिचय किया हुआ मुनि भी उससे छुटकारा नहीं पाता है, अर्थात् उसका स्नेह छोड़नेमें वह असमर्थ होता है,

साधुस्स णत्थि लोए अज्जासारिस्सी खु वंधणे उवमा ॥  
चम्मेण सह अवंतो ण य सरिस्सो जोणिकसिलेस्सो ॥ ३३७ ॥

नार्या वंधेन बंधोऽन्यस्तुल्यो वृत्तच्छिदा यत्तेः ॥

वज्रलेपः स नो तुल्यो यो याति सह चर्मणा ॥ ३३८ ॥

ब्रह्मव्रतं मुमुक्षूणां स्त्रीसंसर्गेण निश्चितम् ॥

मंडूकः पद्मगेनेव भीषणेन विनाश्यते ॥ ३३९ ॥

चौराणामिव सांगत्यं पुंसा सर्वस्वरक्षिणा ॥

योगिना योषितां त्याज्यं ब्रह्मचर्यप्रपालिना ॥ ३४० ॥

इत्यार्यासंगत्यजनसूत्रम् ॥

विजयोदया—साधुरस णत्थि लोए अज्जासारिस्सी खु वंधणे उवमा । साधोर्नोस्ति लोके आर्यासंदरी वंधने

उपमा । चम्पेण सह अवैतो चर्मणा सह अपगच्छन् । न य सरिसो जोणिगसिलेसो नैव सदशः चर्मकारक्षेपः । न केवलं आयर्जनो दूरत एव परिहार्य अपि तु अन्यदपि वस्तु ॥

मूलारा—अज्जेत्यादि—अवैतो द्रव्यमुपमा उपमेयं अस्पर्यायिका सदृशं । तर्हि चर्मयोजितवज्रलेपसमवंधा मुनेरार्यिका भावीत्यतीति शंकमानं प्रत्याह । चम्पेणेत्यादि अवैतो अवगच्छन् । जोणिगसिलेसो वज्रलेप । उक्तं च—

नार्यो वंधेन वंधोऽन्यस्तुल्यो वृत्ताच्छिदा यतेः ॥  
वज्रलेपः स नो तुल्यो यो याति सह चर्मणा ॥

अर्थ—साधुके लिये आर्थिकाका सहवास ऐसा बंधन है कि उसका वर्णन करनेके लिये जगतमें दृश्यमान कोई भी बंधन उपमानरूप नहीं है, चर्मके साथ वज्रलेप भी उसके लिये उपमान नहीं है किसी चीजके ऊपर वज्रलेपके साथ चर्मका भी बंधन किया तो भी वह वस्तु उस बंधनसे युक्त होनेकी संभावना होगी परंतु आर्थिकाका परिचय ऐसा बंधन है कि उससे वह छूटना असंभव है,

अण्णं पि तहा वत्थुं जं जं साधुस्स बंधणं कुण्णदि ॥

तं तं परिहरहं तदो होहदि दढसंजदा तुज्झ ॥ ३३८ ॥

यद्यदन्यदपि द्रव्यं किंचिद्बंधनकारणम् ॥

तत्तन्निधा निराकृत्य जायध्वं दढसंयमाः ॥ ३४१

विजयोदया—अण्ण पि तहा वत्थु अन्यदपि तथाभूतं वस्तु । जं जं साधुस्स बंधणं कुण्ह यद्यत्साधोर्वंधन करोति अस्वतंत्रता करोति । तं तं परिहरहं तत्तत्परिहारे उद्योगं कुरुत । ततः वस्तुत्यागात् । होहदि दढसंजदा तुज्झ भवता दढसंयतता गुणो भवत्सेवमिति यावत् । बाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसंयमस्तस्यागे त्यक्तो भवति ॥

न केवलमार्याजन एव दूरतस्याज्योऽपि तु—

मूलारा—तथा तथाभूतमार्यिकासदृशमित्यर्थः । बंधण पारतंत्र्यं । तदो बंधनकारिवस्तुत्यागात् । होहिव भविष्यथ । दढसंजदा बाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसंयमस्तस्यागे त्यक्तो भवति । तुज्झे यूयं ॥

आर्यिकाओंका ही दूरसे त्याग करना चाहिये ऐसा नहीं परंतु इतर वस्तु भी त्यागनी चाहिये—  
अर्थ—जिस २ वस्तुसे साधु वंधा जाता है, परतंत्र होता है वह वह वस्तु हे साधुगण ! तुम छोड़नेका  
उद्योग करो. ऐसी बंधनकारक वस्तुयें छोड़नेसे तुम्हें दृढसंयमगुणकी प्राप्ति होगी बाह्यवस्तुके सहवाससे असंयम  
उत्पन्न होता है. परंतु ऐसी वस्तु तुम छोड़ दोगे तब असंयमका त्याग होगा.

पासत्यादीपणयं णिचं वज्जेह सव्वधा तुम्हे ॥

हंदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा ॥ ३३९ ॥

पार्श्वस्थासन्नसंसक्तकुशीलमृगचारिणः ॥

मलिनीक्रियते शद्वत्कज्जलेनैव संगतम् ॥ ३४२ ॥

कषायाकुलचित्तानां पार्श्वस्थानां दुरात्मनाम् ॥

सुजंगानामिव त्याज्यः संगदिच्छद्रगवेषिणाम् ॥ ३४३ ॥

विजयोदया—पासत्यादीपणयं पार्श्वस्थादिपंचक पार्श्वस्थ., अवसन्न. संसक्त., कुशीलो, मृगचरित्र इति पंच.  
तान् दूरतो निराकुरुत । अपरित्यागदोषमाह—मेलणदोसेण तम्मयदा होइ संसर्गदोरेण पार्श्वस्थादिमयता । तन्मयताप्रति-  
पत्तिकमव्यापनायाता गाथा ॥

अथ पार्श्वस्थादिसागत्यत्यागं गाथात्रयेणाह—

मूलारा—पासत्यादीपणयं पार्श्वस्थावसन्नसंसक्तकुशीलमृगचारितानां पंचकं । ते हि प्रच्छन्नमिध्याहृदयः । तथा

पासत्योसन्नकुसीलालससत्तो य होइ सच्छंदो ॥

एए पंच वि समणा जिणवयणपरम्महा भणिया ॥

हंदि जानीहि । तम्मयदा पार्श्वस्थादित्वरूपता । तल्लक्षणानि क्षपकानुशिष्टो वद्वयते सधेपतस्त्वमानि—  
वृत्तेऽलसोऽवसन्नः पार्श्वस्थो मलिनपरन्तरेऽनिष्टे ।



संसर्गो मृगचरितः स्वकल्पिते प्रकटकुचरितस्तु कुशीलः ॥

अर्थ—पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त, कुशील, मृगचारित्रि ऐसे पांच चारित्र्यभ्रष्ट मुनिओंका त्याग करो। यदि उनका संसर्ग करोगे तो उस संसर्गदोषसे आप भी उनके सरखि हो जाओगे, ये पार्श्वस्थादि मुनि प्रच्छन्न मिथ्यादृष्टि हैं

पार्श्वस्थादिसंर्गं कर्तुं वाच्छन्नपि—

लज्जं तदो विहिंसं पारंभं णिव्विसंकदं चेव ॥

पियधम्मो वि कमेणारुहंतओ तम्मओ होइ ॥ ३४० ॥

लज्जां जुगुप्सनं योगी प्रारम्भं निर्विशंकताम् ॥

आरोहन्निग्रयधर्मापि क्रमेणेत्यस्ति तन्मयः ॥ ३४४ ॥

विजयोदया—लज्जं लज्जा उपारोहति । तत् पश्चाद्विहिंसं असंयमजुगुप्सा करोति । कथमहमेवविध व्रतभंगं करोमि । दुरंतसंसारपतनहेतुमिति । पश्चाच्चारित्रमोहोदयात्परवशं पारंभं प्रारभते । कृतप्रारंभो यतिरारभपरिग्रहादियु निव्विसंरुद्धं चेव निर्विशंकतामुपैति । पियधम्मोवि धर्मेप्रियोऽपि । क्रमेणारुहंतगो क्रमेण प्रतिपद्यमानो लज्जादिकं । तम्मओ होदि पार्श्वस्थादिरूपो भवति ॥

तन्मयताप्रतिपत्तिक्रमाल्यानार्यभाह—

मूलारा—लज्जमित्यादि । धर्मप्रियोऽपि लज्जादीन् क्रमेणारोहन्पार्श्वस्थादिरूपो भवति । तथा हि पार्श्वस्थादिसंसर्गं कर्तुं बालञ्चपि लज्जामारोहति तत् पश्चाद्विहिंसं असंयमजुगुप्सा प्रतिपद्यते । कथमहं एवंविधं व्रतभंगं करोमि दुरंतसंसारपतनहेतुमिति । तदनु चारित्रमोहोदयात्परवशत्वं प्रारभते । ततश्चारभपरिग्रहादियु निर्विशंकतामुपैति । ततश्च पार्श्वस्थादिरूपो भवति ॥

उनके संसर्ग करनेसे तन्मयता कैसी आती है इसका क्रम वर्णन आचार्य दिखाते हैं—  
अर्थ—प्रथमतः पार्श्वस्थादिक मुनिओंके साथ संसर्ग रखनेमें लज्जा आ जाती है, अनंतर जुगुप्सा होती है

अथात् इस अप्रत्यक्ष व्रतका नाश करनेमें मैं कैसा उद्युक्त होऊँ, यह मेरा व्रतनाशकार्य दुःखदायक संसारमें पतनका कारण होगा। ऐसा विचार मनमें आनेसे उन पार्थस्थादिकोंके विषयमें उसको जुगुप्सा उत्पन्न होती है, नंतर चारित्र मोहकर्मका उदय होनेसे वह परवश होकर व्रतभंग करनेके लिये उद्युक्त होता है, व्रतभंग कर वह मुनि आरंभ परिग्रहादिकोंमें निःशंक होता है, यद्यपि वह मुनि पार्थस्थादिकके सहवासके पूर्वमें घर्मोग्रिय था तो भी क्रमसे लज्जा, जुगुप्सा वगैरह भावोंको प्राप्त होकर पार्थस्थादिरूप हो जाता है, यद्यपि वह शरीरसे और वचनसे पार्थस्थादिरूप नहीं है तो भी मनसे वैसा हो जाता है।

यद्यपि वाक्कायाभ्या न प्रयतते तथापि मानसीं पार्थस्थाद्विता प्रतिपद्यत इत्याचष्टे—

संविगस्सवि ससर्गीए पीदी तदो य वीसंभो ॥

सदि वीसभे य रदी होइ रदीए वि तम्मयदा ॥ ३४१ ॥

तेषु संसर्गतः प्रीतिर्विस्त्रम्भः परमस्ततः ॥

ततो रतिस्ततो व्यक्तं संविमोऽप्यस्ति तन्मयः ॥ ३४२ ॥

विजयोदया—सविगस्स वि ससारभीरोरपि यत्ते ससर्गीए पार्थस्थादिसंसर्गेण । पीदी होदि प्रीतिर्भवति । तदो य प्रीते सकाशात् । वीसभो होदि विस्त्रम्भो भवति । सदि वीसभे य रदी विस्त्रम्भे सति रतिर्भवति । पार्थस्थादिषु रदीए वि तम्मयदा सत्या च तन्मयता ॥

यद्यपि तत्संगत्या वाक्कायाभ्या न तदाचारे प्रयतते तथापि मानसीं पार्थस्थादिरूपता प्रतिपद्यते इत्याचष्टे—  
मूलारा—संसर्गीए पार्थस्थादिसंसर्गेण । वीसंभो विस्त्रास । रदी पार्थस्थादिषु संसर्गेण चित्तविश्रान्तिः ॥  
यही आशय आगे की गाथामें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—संसारभययुक्त मुनि भी पार्थस्थादिकोंके सहवाससे प्रथम प्रीतियुक्त होता है, प्रीतिके अनंतर उस विषयमें मनमें विस्त्रास होता है, अनंतर उन्होंने चित्त विश्रान्ति लेता है अर्थात् आसक्त होता है और तदनंतर वह संसारभीरु मुनि भी पार्थस्थादिमय बनता है।

संसर्गवशाद्गुणदोषो भवतोऽचेतनेष्वपीति दृष्टान्तेन बोधयति -

जइ भाविज्जइ गंधेण मट्ठिया सुरभिणा व इदरेण ॥

किह जोएण ण होज्जो परगुणपरिभाविओ पुरिसो ॥ ३४२ ॥

नानाशुभेन गंधेन मृत्तिका यदि वास्यते ॥

तदा नान्यगुणैरत्र कथ्यतां पुरुषः कथम् ॥ ३४७ ॥

विजयोद्या - जदि यदि । भाविज्जइ भाव्यते वास्यते । गंधेण गंधेन मट्ठिया मृत्तिका । सुरभिणा व इदरेण गुणै परिभावित पुरुषः ॥  
संसर्गवशाद्गुणदोषावचेतनेष्वपि स्याता किं पुनश्चेतनेष्विति दृष्टान्तावष्टभेनाचष्टे -

मूलारा - भावेज्जइ वास्यते । जोगेण संवधेन । परगुणपरिभाविदो परेणा गिष्टाना गुणैः शुभाशुभैर्धर्मैः समन्ता-  
द्वसितः ॥

संसर्गसे अचेतनपदार्थमें भी गुण और दोष उत्पन्न हो जाते हैं यही बात दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं -  
अर्थ - यदि सुगंध अथवा दुर्गंधके सहवाससे मृत्तिकाभी सुगंध अथवा दुर्गंध बनती है तो पार्श्वस्थादि-  
कोका संयोग होने पर युनि उनके गुणोंसे क्यों न तन्मय होगा ? अर्थात् होगा ही अथवा परपदार्थ यदि सुगुण  
होगा तो उससे संयुक्त होने वाला पदार्थ भी मद्गुणसंपन्न होगा और परपदार्थ यदि दुर्गुण अर्थात् दोषयुक्त  
होगा तो वह भी दोषोंसे पूर्ण होगा ही.

परगुणग्रहणमाह -

❧ जो जारिसिय मेत्ती केरइ सो होइ तारिसो चेव ॥  
वासिज्जइ च्छुरिया सा रिया वि कणयादिसंगेण ॥ ३४३ ॥

❧ मूलाराधना दर्पणमें यह गाथा तथा उसकी टीका नहीं है तथा अमितगति प्रणीत श्लोक भी नहीं

विजयोदया—दृष्टतत्वेनोपन्यस्ता सृत्तिका नुरिका च । तथा चोक्त सुरभिणा व इदरेण जातिस्तीति च ॥  
परगुणग्रहण यह पदार्थ का स्वभाव है ऐसा वर्णन—

अर्थ—ऊपर मट्टीका उदाहरण दिया है, इस श्लोकमें छुरीका उदाहरण आचार्य देते हैं, जैसे छुरी सुवर्णादिक की जिल्दई देनेसे सुवर्णादि स्वरूपकी दीवली है वैसे मनुष्य भी जिसकी भित्रता करेगा वैसा होगा अर्थात् मनुष्य दुष्टके सहवाससे दुष्ट और सज्जनसंगसे सत्पुरुष होता है.

दुज्जनसंसर्गीए पजहदि गियगं गुणं खु सुज्जणो वि ॥

सीयलभावं उदयं जह पजहदि अगिजोएण ॥ ३४४ ॥

शिष्टोऽपि दुष्टसंगेन विजहति निजं गुणं ॥

नीरं किं नाग्नियोगेन शीतलत्वं विमुंचति ॥ ३४७ ॥

विजयोदया—दुज्जनसंसर्गीए दुष्टजनसंसर्गण । पजहदि गियग गुणं खु सुज्जणो वि । विजहति स्वगुणं सुजनोऽपि । सीयलभावं जहा उदकं पजहदि शेत्त भाव यथा जहात्युदकं । अगिजोएण अग्निसंवंधेन । साधु, स्वगुणं जहात्यनलसवद्ध जलमिवेति सहजगुणत्वागे दृष्टात. ॥

दुर्जनसंगत्यागं गाथापट्केनोपदेष्टुकामो दुर्जनसंसर्गात्सुजनस्यापि सहजगुणत्यागं दृष्ट्यातेन समर्थयते—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—सज्जन मनुष्य भी दुर्जनके संगसे अपना उज्ज्वल गुण छोड़ देता है, अग्नीके सहवाससे ठंडा भी जल अपना ठंडपना छोड़कर क्या गरम नहीं होता ? यह सहजगुणके त्यागका दृष्टांत है, अर्थात् अधिके सहवाससे शीतस्वभाव का जल भी अपना स्वभाव छोड़कर गरम होता है वैसे सज्जन अपने जन्मजात निर्मल गुणांको छोड़कर दुर्जनके सहवाससे दुष्ट बनता है.

अशोभनगुणेन ससर्गात् तद्वत् स्वयमप्यशोभनगुणो भवतीति कथयति—

सुज्जणो वि होइ लहुओ दुज्जनसंमेलणाए दोसेण ॥

माला विं मोल्लगरुया होदि लहू मडयसंसिद्धा ॥ ३४५ ॥

विजयोदया—अविसर्जदो वि इत्यनया—अतीव सयतोऽपि दुर्जनकृतेन दोषेण प्राप्नोति । दोसं अनर्थं । यथोक्तक-  
कृतदोषनिमित्त अपापोऽपि ह्रस्वो हृतः ॥

दुर्जनगोष्ठ्या देहलौकिकानर्थवद्वत्त्वमाह—

मूलारा—अपावो वि अपापोऽपि निर्दोषोऽपि ॥

दुर्जनसहवाससे इहपरलोकमें अनर्थ होता है इसका दृष्टान्तपुरःसर स्पर्ष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—महान् तपस्वी भी दुर्जनके दोषोंसे अनर्थमें पड़ते हैं, अर्थात् दोष तो दुर्जन करता है परंतु फल  
सज्जनको भोगना पड़ता है, जैसे उल्लूके दोषसे निष्पाप हंसपक्षी मारा गया.

दुर्जनगोष्ठ्या दोषांतरमाचष्टे—

दुज्जणसंसर्गीए विभावितो सुयणमज्झयारमि ॥

ण रमदि रमदि य दुज्जणमज्झे वेरगमवहाय ॥ ३४९ ॥

दुष्टानां रमते मध्ये दुष्टसंगेन वासितः ॥

विदूरीकृतवैराग्यो न शिष्टानां कदाचन ॥ ३५४ ॥

विजयोदया—दुज्जणसंसर्गीए विभावितो दुर्जनगोष्ठ्या भावितः । सुजणमज्झयारमि सुजनमध्ये । ण रमदि  
न रमते । रमदि य दुज्जणमज्झे रमते दुर्जनमध्ये । वेरगमवहाय वैराग्यं परित्यज्य ॥  
दुर्जनगोष्ठ्या दोषांतरमाह—

मूलारा—वेरगमवहाय संयमं त्यक्त्वा ॥

दुर्जनसहवाससे और भी दोष होते हैं यह दिखाते हैं—

अर्थ—दुर्जनके संसर्गसे दुष्ट बना हुआ मनुष्य सुजनमें रहना अर्थात् उनकी संगति करना पसंत नहीं  
करता है, परंतु वह पुरुष वैराग्यको छोड़कर दुर्जनके समूह में बड़े आनंदसे रहता है.

सुजनसमाश्रयणे गुणख्यापनायोत्तरसूत्राणि—

जहदि य गिययं दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयरुणेण ॥  
जह मेरुमल्लियंतो काओ गिययच्छविं जहदि ॥ ३५० ॥

दुष्टोऽपि मुंचते दोपं स्वकीयं शिष्टसंगतः ॥

किं मेरुमाश्रितः काको न धत्ते कनकच्छविम् ॥ ३५१ ॥

विजयोदया—जहदि य जहति निजमपि दोपं दुर्जन. सुजनमिश्रगुणेन । यथा मेरुसमाश्रयणे काको जहाति सहजामपि छायामशोभना तद्वत्ता । सतोपि दोषा नश्यति सुजनाश्रयेण ततस्ते समाश्रयणीया इति भावः ॥

सुजनसमाश्रयणे गाथासप्तकेन गुणान्याचक्षणः सुजना समाश्रयणीया इत्युपदिशति—

मूलारा—परिकरं सागत्यं । अलियंतो आश्रयन् ॥

सुजनोका सहवास करनेसे गुणोंकी प्राप्ति होती है इस विषयका वर्णन आचार्य अनेक गाथाओंसे करते हैं, अर्थ -- दुर्जन मनुष्य सज्जनोका सहवास करके उनके गुणोंसे युक्त होता है. और अपने पूर्व दोषोंको वह छोड़ता है. इसका उदाहरण यह है कि, मेरु पर्वतका आश्रय करनेवाला कोवा अपनी स्वामाविरु मलिन क्रांतिका त्यागकर मेरुपर्वतकी सुवर्णक्रांतिका आश्रय करता है. अधिप्राय यह है कि सुजनसंगसे विद्यमान दोष भी नष्ट होते हैं. इसलिये उनका ही आश्रय करना योग्य है.

सुजनसमाश्रयणे अभ्युदयफल, पूजालाभ कथयति गाथा—

कुसुममंगंधमवि जहा देवयसेसत्ति कारिदे सीसे ॥

तह सुयणमज्झवासी वि दुज्जणो पूइओ होइ ॥ ३५१ ॥

पूजां सज्जनसंगेन दुर्जनोऽपि प्रपद्यते ॥

देवशोपा विगंधापि क्रियते किं न मस्तके ॥ ३५२ ॥

विजयोदया—कुसुममितादिका । यथा सौगन्ध्यरहितमपि कुसुमं देवताशेषेति क्रियते शिरसि तथा साधुजन मध्यवासी दुर्जनोऽपि पूजितो भवति ॥

साधुसंगेनासाधुरपि पूजा प्राप्नोति इत्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

सुजनके आश्रयसे अमृदयफल, पूजालाभ होता है इसका विवेचन—

अर्थ—निर्गंध भी पुष्प यह देवताकी शोषा है—प्रसाद है ऐसा समझकर लोक उसको अपने मस्तकपर धारण करते हैं. वैसे सज्जनोंमें रहनेवाला दुर्जन भी लोकेसे पूजा जाता है.

द्रव्यसंयमे वाक्कायनिमित्तास्त्वनिरोधरूपे प्रवृत्तिगुणं कथयति—

संविग्गाणं मज्जे अपिपयधम्मो वि कायरो वि णरो ॥

उज्जमदि करणचरणे भावणमयमाणलज्जाहिं ॥ ३५२ ॥

कातरोऽप्रियधर्माऽपि न्यक्तं संविग्रमध्यगः ॥

भीत्रपाभावनामानैदचारित्रे यतते यतिः ॥ ३५७ ॥

विजयोदया—संविग्गाणं मज्जे इत्यनया । संसारभीरूणां मध्ये वसन्त्वपि यद्यपि धर्मप्रियो न भवति । कातर-  
श्चासुखे तथापि उद्युक्ते पापक्रियानिवृत्तौ भावनया, भयेन, मानेन, लज्जया च ॥

संयतानां मध्ये निवसन्नप्रियधर्मापि संयमे यतते इत्युपदिशति—

मूलारा—चरणकरणे पापक्रियानिवृत्तौ, भावण वासना, माण अभिमानः ॥

वचन और शरीरकी प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले आसक्तका निरोध होना यह द्रव्यसंयम है. सज्जनोंके आश्र-  
यसे इस द्रव्यसंयममें प्रवृत्ति होती है यह अभिप्राय आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—कोई भ्रुनि संसारभीरु यतिओंके साथ रहकर भी धर्मपर प्रेम नहीं करते हैं. और दुःखसे, परिपह और  
उपसर्गसे भय युक्त होते हैं. तो भी भावना, भय मान और लज्जाके वश होकर पापक्रियाओंका वे त्याग करते हैं  
तात्पर्य यह है कि, सज्जनोंका सहवास आवश्य फलप्रद होता है.

संसारभीरोरपि यतेः सुजनसमाश्रयेन गुणमभिधधाति—

संविग्गोवि य संविग्गदरो संवेगमज्झयारम्मि ॥

होइ जह गंधजुत्ती पयडिसुराभिदव्वसंजोए ॥ ३५३ ॥

संविद्यः परमां कोटिं साधुः संविद्यमध्यगः ॥

गंधयुक्तिरिवायाति सुरभिद्रव्यकल्पिताम् ॥ ३५८ ॥

विजयोदया—संविद्योऽपि इत्यनया । प्रागपि संसारभीकर्जनः संविद्यमध्यनिवासी संविद्यतरो भवति । यथा गंधयुक्तिः कृतको गंध प्रकृतिसुरभिद्रव्यससर्गे सुरभितरो भवति ॥

सत्संगाद्गुणोत्कर्षप्राप्तिमाह—

मूला—गंधयुक्ति कृतको गंधः सुरभितरो भवतीति शेषः ॥ पयडिसुरभि स्वभावसुगंधि ॥

उक्तं च—संविद्यनः परमां कोटिं साधुः संविद्यमध्यगः ॥

गंधयुक्तिरिवायाति सुरभिद्रव्यकल्पिता ॥

संसारभीरु यतीको भी सुजनके संगसे गुणप्राप्ति होती है यह कथन—

अर्थ—जो मुनि प्रथमसे ही संसारभीरु है वह संसारभीरु मुनिओंके सहवासमें रहनेसे पूर्वसे भी अधिक संसारभीरु होता है. स्वभावतः सुगंधयुक्त ऐसे कस्तूरी, चंदन वगैरह पदार्थोंके सहवाससे कृत्रिम गंध पूर्वसे भी अधिक सुगंधमय बनता है.

वहव इत्येतावता चारित्र्यशुद्धा न भवद्भिः समाश्रयणीया । एक इति धा न सगुण परिहार्य इत्येतवाचष्टे—

पासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वर खु एक्को वि ॥

जं मंसिदस्स सीलं दंसणणाणचरणाणि वड्ढंति ॥ ३५४ ॥

एकोऽपि संयतो योगी वरं पार्श्वस्थलक्षतः ॥

संगमेन तदयेन चतुरंगं विवर्धते ॥ ३५९ ॥

विजयोदया—पासत्थसदसहस्सादो वि पार्श्वस्थग्रहणं चारित्र्यशुद्रोपलक्षणार्थः । चारित्र्यशुद्राच्छतसहस्रादपि अधिको वरः । संयममाश्रितस्य शील, दर्शन, ज्ञानं, चारित्र्यं च वर्द्धते, स भवद्भिराश्रयणीय इति भावार्थः ।  
यथा—इति चारित्र्यशुद्धा न भवद्भिराश्रयणीयाः एक इति सुशीलो न त्याज्य इत्युपदिशति—  
यथा—भू भूमिपारम् यमाश्रितस्य ॥



हे मुनिवृंद ! चारित्रहीन मुनि बहुत हैं ऐसा समझकर उनका आप आश्रय मत करो और सद्गुणी मुनि एकही है ऐसा समझकर उसको मत छोड़ो ऐसे अभिप्रायका कथन—

अर्थ—यहाँ पार्श्वस्थ शब्दसे चारित्रहीन मुनियोंका ग्रहण समझना चाहिये अर्थात् चारित्रहीन मुनि लक्षावधि हो तो भी एक सुशील मुनि उनसे श्रेष्ठ समझना चाहिये कारण सुशील मुनीश्वरके आश्रयसे शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य बढ़ते हैं, ऐसे ही मुनिका आप आश्रय करा ऐसा गार्थार्थ है.

संजदज्जणावमाणं पि वरं दुज्जणकदाहु पूजादो ॥

सीलविणासं दुज्जणसंसगी कुणदि ण दु इदरं ॥ ३५५ ॥

वरं संयतत प्राप्ता निंदा संयमसाधनी ॥

न त्वसंयततः पूजा शीलसंयमनाशिनी ॥ ३५० ॥

विजयोदया—संयता परिभवन्ति मामनुचरित ततः पार्श्वस्थादीनेवाश्रयामि इति न चेतः कार्यमित्याचष्टे—संजदज्जणावमाणं पि वरं संयतापमानमपि वरं । दुज्जणकदाहु पूजादो दुर्जनकृताया पूजाया । कथं ? दुज्जणसंसगी सीलविणासं कुणदि दुर्जनलसर्गः शीलविनाशं करोति । न दु इदरं न तु इतरं सयतज्जनावमानं तु नैव शीलविनाशं करोति ॥

संयता मा मंदावरणं अवमानयति ततः पार्श्वस्थादीनेवाश्रयामीति न चेतः कार्यमित्याचष्टे—  
मूलारा—स्पष्टम् ॥

चारित्रहीन मेरेको संयमी जन अपमानित करते हैं इस लिये पार्श्वस्थादि मुनियोंका आश्रय मैं करूंगा ऐसी बुद्धि है मुनिगण ! आपको करना योग्य नहीं है ऐसा अभिप्राय ग्रंथकार आगेकी गार्थामें कहते हैं.

अर्थ—संयमी तपस्विओने किया हुआ अपमान भी दुर्जनके द्वारा की गई पूजासे बहकर अच्छा है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि दुर्जनोंका सहवास शीलका नाश करता है परंतु संयमी मुनियोंका सहवास शीलका नाश नहीं करता है अतः सज्जनसहवासही श्रेयस्कर है

प्रस्तुतोपसंहारागाथा—

आसथवसेण एवं पुरिसा दोसं गुणं व पावंति ॥

तह्मा पसत्थगुणमेव आसथं अहिएज्जाह ॥ ३५६ ॥

गुणदोषौ प्रजायेते संसर्गवशतो यतः ॥

संसर्गः पावनः कार्यो विमुच्यापावन ततः ॥ ३६१ ॥

विजयोदया—आसथवसेण आश्रयवशेन । एवमुक्तेन क्रमेण । पुरिसा दोसं गुणं व पावति । पुरुषा दोषं गुणं वा प्राप्नुवन्ति । तस्मात् पसत्थगुणमेव आसथं अहिएज्जाह । तस्मात् प्रशस्तगुणमेव आश्रय आश्रयेत् ॥

प्रकृतमुपसंहरति—

मूलारा—आसथवसेण—आश्रयवशेन । अहिएज्जाह आश्रयत यूयम् ॥

प्रस्तुत प्रकरणका उपसंहार—

अथ—मनुष्यको आश्रयके वश दीप और गुणोंकी प्राप्ति होती है. इस लिये हे मुने' तुम उत्तम गुणपरिपूर्ण ऐसे ही आश्रयकी अर्थात् गुणयुक्त मुनिओंकी संगति करो:

पत्यं ह्रिदयाणिढं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ॥

कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स ॥ ३५७ ॥

वाच्यो गणस्थितः पथ्यमनभीष्टमपि स्फुटम् ॥

तत्तस्य कटुकं पाके भैषज्यमिव सौख्यदम् ॥ ३६२ ॥

विजयोदया—पत्यं ह्रिदयाणिढं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स पथ्यं हितं हृदयस्य अनिष्टमपि वदत आत्मीयगणे वसतः । कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स कट्वौषधमिवापि तन्मधुरविपाकं भवति । तस्य परस्य अनिष्टेन कथितेन किमस्माकं प्रयोजन । किन्न वेत्ति स्वयमपि इति नोपेक्षितव्यं । परोपकारः कार्यं एवेति कथयति । तथाहि—तीर्थकृतः विनियजनसंयोजनाय एव तीर्थविहारं कुर्वन्ति । महत्ता नामैवं यत्-परोपकारवद्भिरकरता ॥ तथा चोक्त—

क्षुद्रा सति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यता ।

स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेक सतामग्रणीः ॥

दुष्पूरोदरपूरणाय पिवति स्रोतःपतिं वाढवो ।

जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छिद्ये ॥

स्वगृध्यस्यानिष्टमपि पृथग्यं कथ्यमित्यनुशास्ति—

मूढारा—पर्यमित्यादि—परविप्रियणोक्तेन किमस्माकमिति स्वाश्रमवासी नोपेक्ष्यः यतः—

क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः ॥

स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ॥

दुष्पूरोदरपूरणाय पिवति स्रोतःपतिं वाढवो ॥

जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छिद्ये ॥

अर्थ—हे मुनिगण ! तुम अपने गणमें रहने वाले मुनिके साथ हितकर वचन बोलेो यद्यपि वह हृदयको अत्रिप हो तो भी हरकत नहीं है। जैसे कटुक भी औषध परिणाममें मधुर, कल्याणकारक होता है वैसे तुम्हारा भाषण उस मुनिका कल्याण करेगा। दूसरेको अनिष्ट बोलनेसे हमारा क्या ग्रयोजन सिद्ध होगा ? क्या दूसरा मनुष्य अपना हित स्वयं नहीं जानता है ? ऐसा विचार करके दूसरों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। परोपकार करनेका कार्य करना ही चाहिये। देखो तीर्थंकर परमदेव मन्व्य जनोको उपदेश देनेके लिये ही तीर्थविहार—धर्मविहार करते हैं, परोपकारके कार्यमें कमर कमना यही बड़प्पन है, किसी कविने ऐसा कहा है—

“ जगत्में अपना कार्य करने में ही तत्पर रहनेवाले मनुष्य हजारों की तादात में हैं, परन्तु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है ऐसा सत्पुरुषोंमें अग्रणी पुरुष एकाद ही है, बड़वानल अपना दुर्भर पेट भरनेकेलिये समुद्रका हमेशा पान करता है क्योंकि वह शुद्ध मनुष्य के समान स्वार्थी है, परन्तु मेघ ग्रीष्मकालकी उष्णतासे पीडित समस्त प्राणियोंका संताप मिटानेके लिये समुद्रका पान करता है, मेघ परोपकारी है और बड़वानल स्वार्थी है, ”

इतरेणापि श्रवणयोरनिष्टमपि तदग्राह्य इति कथयति—

पथ्य हिदयाणिष्ठं पि भणमाणं णरेण घेत्तव्वं ॥

पेहेदूण वि छूढं बालस्स घदं व तं खु हिदं ॥ ३५८ ॥

स्वातानिष्टमपि ग्राह्यं पथ्यं बुद्धिमता वच-

हठतः किं न बालस्य दीयमानं धृतं हितम् ॥ ३६३ ॥

इति दुर्जनसंगवर्जनम् ।

विजयोदया—हृदयस्यानिष्टमपि पथ्य नरेण बुद्धिमता ग्राह्य इति चेतो निधाय । पेहेदूण वि छूढं अवष्टभ्यापि प्रवेक्षित धृत बालानां हित भवति यथा तद्वदिति यावत् ॥

हृदयानिष्टमपि शिष्टवाक्यं हितबुद्ध्या ग्राह्यमित्युपदिशति—

मूलरा—पेहेदूण वि अवष्टभ्यापि हठादपि । छूढं सुखं प्रवेक्षितं । तं तत् । खु स्फुटं ॥

अर्थ—शिष्यादि पुनियोने कर्णको अप्रिय भी गुरुओंका भाषण ग्रहण करना चाहिये, जैसे माता बालकको पकड़कर उसके मुखमें धृत डालती है, उससे उसका हित होता है वैसे कर्णको अप्रिय भी गुरुका भाषण हि धृतके समान हितकारक होता है ऐसा समझ कर स्वीकारना चाहिये.

अप्यपसस परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा ॥

अप्याण थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि ॥ ३५९ ॥

मा छेदयन्तु स्वयशो मा कार्पुं स्वं प्रशंसनम् ॥

लघवः स्वं प्रशंसन्तो जायन्ते हि तृणादपि ॥ ३६४ ॥

विजयोदया—अप्यपसस परिहरह आत्मप्रशंसा त्यजत सदा । मा होह मा भवत । जसविणासयरा यशो-विनाशका । सन्निर्गुणे प्रख्यातमपि यशो भवता नश्यति आत्मप्रशंसया । अप्याण थोवंतो आत्मानं स्तुवन् । तणलहुहो होदि हु जणम्मि तृणवल्गुधुर्भवति सुजनमर्थे ॥

आत्मप्रशंसा यशोविनाशिनीति ता त्यजेत्यनुशास्ति—

मूलरा—थोवंतो प्रशंसयन् ॥

अर्थ-हे मुनिगण ! तुम अपनी प्रशंसा करना हमेशाके लिये छोड़ दो. अपनी प्रशंसा आपही करनेसे सत्पुरुषोंके द्वारा वर्णन किया गया तुम्हारा यश नष्ट होगा. जो मनुष्य अपनी प्रशंसा करता है वह जगतमें तृणके समान हलका होता है.

संतो वि गुणा कथंतयस्स णस्संति कंजिए व सुरा ॥

सो चेव हवदि दोसो जं सो थोएदि अप्पाणं ॥ ३६० ॥

स्वस्तवेन गुणा यांति कांजिकेनेव सीधुनि ॥

स दोषः परमस्तेषां कोपः संयमिनामिव ॥ ३६५ ॥

विजयोद्या - सतो वि विद्यमाना अपि। कथंतयस्स ममैते गुणा इति कथयत.। गुणा णस्संति गुणा नश्यति । कंजिएव सुरा सौवीरेण सुरेव । सो चेव हवइ दोसो स एव भवति दोष । ज सो थोएदि अप्पाणं यदात्मानं स्तौति स. ॥ स्वयं स्वगुणकीर्तने दोषमाह—

मूलारा - विकहंतयस्स एते मे गुणा इति कथयत । कंजिए काजिकेन । व यथा । कंजिएणेति पाठे यथेत्यध्याहारः । थोएदि स्तौति ।

अर्थ-जैसे कांजी पीनेसे मदिराजन्य उन्माद नष्ट होता है वैसे अपनी प्रशंसा अपने मुहसे करनेवाले मनुष्यके गुण नष्ट होते हैं. इस वास्ते अपनी स्तुति करना यह दोष है.

स्वगुणस्तवनाकरणे यदि ते नश्यंति तर्हि स्तोतव्या. स्युर्न तथा नश्यंति इत्याचष्टे—

संतो हि गुणा अकहंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्संति ॥

अकहंतस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो ॥ ३६१ ॥

अनुक्तोऽपि गुणो लोके विद्यमानः प्रकाशने ॥

प्रकटीक्रियते केन विवस्वानुदितो जने ॥ ३६६ ॥

विजयोद्या—संतो विद्यमानाः । अक्रहितयस्स अभाषमाणस्य । पुरिसस्स पुरुषस्य । गुणा ण वि य णस्ससति नैव नश्यति । यदि न स्वयं स्तौति स्वगुणान् प्रख्यातिमुपयातीत्येतच्च नेति वदति । अक्रहितस वि अस्तुवतोऽपि गहवङ्गणो ग्रहपतेः आदित्यस्य । णो जगविस्सुद्धो तेजो न जगति विथुतं तेजः ॥

स्वगुणास्तवने यदि ते नश्यति ततः स्तोतव्याः स्युर्न च तथा नश्यति इत्याह—

मूलारा—गहवङ्गणो आदित्यस्य ॥

अपने गुणोंकी स्तुति न करनेसे यदि उनका विनाश होगा तो उनके अविनाशार्थ उनका वर्णन करना योग्य होगा परंतु गुणवर्णन न करनेपर भी वे नष्ट नहीं होते हैं ऐसा कथन—

अर्थ—वर्णन न करने पर भी मनुष्यके गुणोंका नाश नहीं होता है यह बात अनुभव सिद्ध है, स्वगुणोंकी स्तुति न करने पर भी वे प्रख्यात होतै हैं, क्या सूर्यकी प्रशंसा न करने पर भी जगत्में सूर्यका तेज प्रसिद्ध नहीं होता है ?

आत्मन्यसता गुणाना उत्पादक स्तवनमिति वचनं न युज्यत इत्याह—

ण य जायंति असंता गुणा विकथंयस्स पुरिसस्स ॥

धंति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव ॥ ३६२ ॥

कथयमाना गुणा वाचा नासंतः सन्ति देहिनः ।

पंडका न हि जायन्ते घोषा वाक्यशतैरपि ॥ ३६७ ॥

विजयोद्या—ण य जायति असंता गुणा नैवोत्पद्यन्ते असतो गुणा । विकथयतयस्स स्तुवतः । धंति नितरा महिलायंतो व वामलोचनेव आचरन्नापि । पंडगो पंडगो चेव पंड पंडः एव भवति न युवति ॥

आत्मन्यसता गुणाना उत्पादकं स्तवनमिति युज्यत इत्याह—

मूलारा—महिलायंतो महिलेवाचरन् । पंडवो पंडः ॥

गुण नहीं होनेपर भी स्तुति करनेसे वे उत्पन्न होतै हैं यह कहना भी अयोग्य है—

अर्थ—जो पुरुष अपनी स्तुति करता है उसमें गुणोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, जैसे कोई पंड स्त्रीके

समान हावभाव करता हुआ भी स्त्री नहीं होता है, वह षंड ही रहेगा वैसे गुण अपनेमें नहीं होंगे तो क्या स्तुति करनेसे उनकी उत्पत्ति हो जावेगी ?

आश्वासः

४

संतं सगुणं किञ्चित्जंतं सुंजणो जणस्मि सोदूणं ॥

लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकिच्चणं कुज्जा ॥ ३६३ ॥

विद्यमानं गुणं स्वस्य कीर्त्यमानं निशम्य यः ॥

महात्मा लज्जते चित्ते भाषते स कथं स्वयम् ॥ ३६८ ॥

विजयोद्या—सत सगुणं किञ्चित्जंतं विद्यमानमपि स्वगुणं कीर्त्यमानं । सुंजणो जणस्मि सोदूणं साधुजनस्य मध्ये श्रुत्वा । लज्जद् व्रीडासुपैति । किह पुण कथं पुनः । सयमेव अप्पगुणकिच्चणं कुज्जा स्वयमेवात्मनो गुणकीर्तनं कुर्यात् ॥ सुजनस्यात्मगुणस्त्वनाभावं भावयति—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—सत्पुरुषोंके समुदायमें कोई पुरुष किसी सत्पुरुषके विद्यमान भी गुणोंका वर्णन करने लगा तो वह सत्पुरुष लज्जासे अधोमुख करता है कि वह क्या अपने गुणोंका स्वयमेव वर्णन करेगा ?

स्वगुणाकीर्तने गुणमाचष्टे—

अविकथंथतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजणमञ्जस्मि ॥

सो चेव होदि हु गुणो जं अप्पाणं ण थोइ ॥ ३६४ ॥

निर्गुणोऽपि सतां मध्ये सगुणोऽस्ति स्वमस्तुवन् ॥

न श्लाघते यदात्मानं गुणस्तस्य स एव हि ॥ ३६९ ॥

विजयोद्या—अविकथ्यतो अगुणो वि होइ अकीर्त्यन् स्वयमगुणोऽपि भवति । सगुणो व गुणवानिव । सुजणमञ्जस्मि सुजनमध्ये । परस्परव्याहृतमिदं वच 'अगुणस्तस्य गुण' इति एतस्यामाशङ्क्यमाह—सो चेव होदि गुणो स एव गुणो भवति । ज अप्पाणं ण थोएदि यदात्मानं न स्तौति । समीचीनज्ञानदर्शनादिगुणभावाच्चिर्गुण', आत्मप्रशंसाऽकरणेन गुणवानिति भावार्थः ॥

५६६

यदि संति गुणास्तस्य निकृष्य संति ते स्वयम् ।  
न हि कस्तूरिकांगंधः शपथेन विभाव्यते ॥

स्वगुणास्तवने गुणमाह--

मूलारा — आधिक्यतो अस्तुवन् । सगुणेव गुणवानिव । न धोल्लेष्टि न म्नीति । मयीधीनज्ञानादिगुणा-  
भावात्त्रिगुणः स्वस्तवनाकरणगुणेन गुणवानिति भावार्थः ॥

अपने गुणोंका वर्णन न करनेमें ही फायदा है इसका विवेचन आचार्य करते हैं--

अर्थ—जिसमें गुण नहीं हैं ऐसा पुरुष मज्जनमें सौन धारण कर बैठता है तब वह गुणी पुरुषके समान दीखता है, गुणरहित मनुष्य गुणवानके समान मानता यह परस्पर विरुद्ध है इस शंकाका उत्तर पंथा है--अपनी प्रशंसा नहीं करना यही सद्गुण है इसमें वह पुरुष गुणी कहा जाता है, यद्यपि उसमें सम्यग्ज्ञान, दर्शनादिगुणोंका अभाव होनेसे वह निर्गुण है तो भी स्वप्रशंसा न करना यह गुण उसमें होनेसे गुणवानके समान यह पुरुष माना जाता है, यदि मनुष्यमें गुण हो तो वे स्वयं प्रकाशित होते हैं, उनके गुणन की श्रुति भी आपश्यकता नहीं है, क्या कस्तूरीका सुगंध सौगंध खानेमें व्यक्त होता है ? नहीं वह स्वयं प्रकट होता है, वैसे गुण भी स्वयं प्रकट होते हैं.

वाय्याए जं कहणं गुणाण तं णासणं ह्वे तेसि ॥

होदि हु चरिदेण गुणाणकहणसुब्भासणं तेसि ॥ ३६५ ॥

गुणानां नाशनं वाचा क्रियमाणं निवेदनम् ॥

प्रकाशनं पुनस्तेषां श्रेष्ठयास्ति निवेदनम् ॥ ३७० ॥

विजयोदया—वाय्याए जं कहरण याया गुणानां यत्कथन । तं णामणं ह्वे तेसि । मत्प्रशंस्य तवेष्वेषां गुणानां ।  
अतिकेदि गुणाण कहरणं चरितेरय गुणाना कथनं । तेसिमुब्भासणं होदि गुणानां प्रकटनं भवति । गतमुक्तं यवति-- गुणा-  
भ्यकटयितुकासम्य यथाका कथनं गुणेष्व्यात्मनाः प्रशंसितेषु गुणप्रकाशनं इति ।

गुणानां यद्वाचा कथनं तेषां नाशनं यथु गुणेष्व्यात्मनः प्रशंसितेष्वप्यकाशनं इत्याह--



मूलारा—णासर्गं इहलोकं सौख्यसौभाग्यादिदुल्वध्रंशनेन निष्फलीकरणं । परलोके च नीचैर्गोत्रनिमित्तत्वे-  
नानिष्टफलसंपादकत्वापादनम् । उन्नावर्णं प्रकटनम् ।

अर्थ—वचनोंके द्वारा स्वगुणोंका वर्णन करना यह मानो उनका नाश ही करना है अपने शुभ आचरणसे ही गुणोंका कथन हो जाता है, शुभ आचरणसे ही गुण प्रगट होते हैं, अपने गुणोंको प्रगट करनेकी जिसको इच्छा है वह सदाचारमें संपूर्ण प्रवृत्ति करे, ऐसी प्रवृत्तिया ही उसके गुणोंका प्रकाशन करेंगी।

वायाए अकहंता सुजणो चरिदेहिं कहियगा होति ॥

विकहिंतागा य सगुणे पुरिसा लोगमि उवरीव ॥ ३६६ ॥

अजल्पंतो गुणान्वाण्या जल्पंतश्चेष्टया पुनः ॥

भवन्ति पुरुषाः पुंसां गुणिनामुपरि स्फुटम् ॥ ३७१ ॥

विजयोदया—वायाए अकहिंता वाचया अकथयंत । सुजणे साधुजनमध्ये । चरिदेहिं वि कहितगा य चरिते, प्रतिपादयन्त । सगुणे आत्मीयान्गुणान् । पुरिसाणं पुरिसा लोगमि उवरीव इति । पुरुषाणामुपरीव भवन्ति पुरुषा लोके ॥

चरितैः स्वगुणप्रकाशनस्य माहात्म्यमाह—

मूलारा—सुजणे साधुजनमध्ये । उवरीव उपरीव ।

अर्थ—जो सुजनमें वचनोंके द्वारा अपने गुणोंका वर्णन न कर केवल अपने चरित्रोंसे करते हैं वे पुरुष जगतमें सर्व पुरुषोंमें श्रेष्ठपना पाते हैं,

सगुणमि जणे सगुणो वि होइ लहुगो णरो विकल्यतो ॥

सगुणो वा अकहिंतो वायाए होति अगुणेसु ॥ ३६७ ॥

निर्गुणो गुणिनां मध्ये ब्रुवाणः स्वगुणं नरः ॥  
सगुणोऽप्यस्ति वाक्येन निर्गुणानामिव ब्रुवन् ॥ ३७२ ॥

विजयोक्त्वा—सगुणस्मि जणे गुणवति जने । सगुणो वि णरो गुणवानपि नरः । लडुगो होदि लडुर्भवति । कः ? सगुण णरो वि कट्यतो स्वगुण नरो वाचा निरूपयन् । किमिव सगुणो वा गुणवानिव । वाचा अकथ्येतो वचनेन अप्रकटयन् । अगुणेषु निर्गुणमध्ये ॥

निर्गुणानां मध्ये स्वगुणं अब्रुवन्निव गुणिना मध्ये तं ब्रुवन् गुणवानपि लघुर्भवति इत्युपदिशति—  
मूढारा—कहिंतको वाचा निरूपयन् । वा यथा । उक्तं च—

निर्गुणो गुणिना मध्ये ब्रुवाणः स्वगुणं नरः ॥  
सगुणोऽप्यस्ति वाक्येन निर्गुणानामिव ब्रुवन् ॥

अर्थ—गुणवान मनुष्योंमें गुणवान भी मनुष्य यदि अपने गुणोंका वर्णन करेगा तो वह लघु होता है, और अपने द्वारा वह अगुणवान पुरुषोंमें स्वगुणवर्णन न करेगा तो वह गुणवान है ऐसा समझना चाहिये

चरितुहिं कथ्यमाणो सगुणं सगुणेषु सोभदे सगुणो ॥  
वायाए वि कर्हिंतो अगुणो व जणस्मि अगुणस्मि ॥ ३६८ ॥

सगुणो गुणिनां मध्ये शोभते चरितैर्युगं ॥

गुणानो ब्रुवन्तैः स्वस्य निर्गुणानामिवागुणः ॥ ३७३ ॥

निर्गुणो नरः—चरितुहिं कथ्यमाणो चरितैरेव प्रकटयन् । किं सगुणं स्वगुणं । सगुणो सोभदे गुणवान् जनः । वायाए वि कर्हिंतो अगुणो व जणस्मि अगुणस्मि । निर्गुणो निर्गुणानां मध्ये शोभते चरितैर्युगं । अगुणोऽप्यस्ति वाक्येन निर्गुणमध्ये ॥

गुणानो ब्रुवन्तैः स्वस्य निर्गुणानामिवागुणः ॥ ३७३ ॥  
मूढारा—गुणानां मध्ये स्वगुणं स्वस्य गुणाश्चरितैः प्रकटयन् शोभते—  
गुणो गुणिनां मध्ये शोभते चरितैर्युगं ।

ब्रुवन्तैः स्वस्य निर्गुणानामिवागुणः ॥

अर्थ—जो सदगुणी मनुष्य अपने शुभाचरणों द्वारा अपने सदगुणोंको सदगुणी मनुष्योंमें वर्णन करता है वह शोभाको पाता है. परतु अगुण मनुष्य निर्गुणी मनुष्योंमें यदि अपने गुण वचनोंके द्वारा कहेगा तो वह शोभा नहीं पाता है.

सगणे व परगणे वा परपरिपादं च मा करेज्जाह ॥  
अच्चासादणविरदा होह सदा वज्जभीरू य ॥ ३६९ ॥  
यूयमासादनां कृध्वं मा जातु परमेष्ठिनाम् ॥  
दुरंता संसृजितोर्जायते कुर्वतो हि तां ॥ ३७४ ॥  
त्यजतांसयमं त्रेधा मुक्तिलक्ष्मीं जिघृक्षवः ॥  
सा दूरीक्रियते तेन न्याधिनेव सुखासिका ॥ ३७५ ॥  
मा ग्रहीषु परीवादं स्वसंघपरसंघयोः ॥  
संसारो वर्धतेऽनेन सल्लिनेव पादपः ॥ ३७६ ॥

विजयोदया—सगणे व परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह । आत्मीये गणे परगणे वा परापादं मा कथाः ।  
अच्चासादणविरदा य होह अत्यासादनतो विरता भवत । सदा वज्जभीरू य पापभीरवश्च भवत ॥

प्रकारातरेण शिक्षा प्रयच्छति—

मूलारा — परपरिवादं परापादं ।

अर्थ—हे मुनिगण ! आपकों अपने गणमें अथवा परगणमें अन्य मुनिओंकी निंदा करना कदापि योग्य नहीं है परकी विराधनासे आप विरक्त होकर हमेशा पापोंसे विरक्त होना चाहिये.

परनिंदया दोषमाचष्टे स्पष्टार्थं गाथा—

आयासवेरभयदुक्खसोयलहुत्तणाणि य करेइ ॥

परणिंदा वि हु पावा दोहगकरी सुयणवेसा ॥ ३७० ॥

शोकद्वेषसुखायासवैरदौर्भाग्यभीतयः ॥

विशिष्टानिष्टया पुसां जन्यन्ते परनिंदया ॥ ३७७ ॥

परनिंदया दोषानाह—

मूलारा—सुजणवेस्सा सुजनाना द्वेष्या ।

अर्थ—परनिंदासे आयास, वैर, मीति, दुःख, शोक वगैरे दोष उत्पन्न होते हैं यह परनिंदा पाप और द्रोहको उत्पन्न करती है. परनिंदा करनेवाला मनुष्य सुजनको अप्रिय होता है.

परनिंदा किमर्थ कियते गुणित्वे स्थापयितुमात्मानमिति चेत्, तन्निरपकरोति—

किञ्चा परस्स णिंदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज ॥

सो इच्छदि आरोगं परम्मि कडुओसहे पीए ॥ ३७१ ॥

उत्थापयिपुरात्मानं परनिंदां विधाय यः ॥

अपरेणौषधे पिते स नीरोगत्वमिच्छति ॥ ३७८ ॥

विजयोदया—किञ्चा परस्स णिंदं परनिंदा कृत्वा । जो अप्पाण ठवेदुमिच्छेज्ज । य आत्मानं गुणिताया स्थापयितुमिच्छेत् । सो इच्छदि स वाछति । किं आरोग नीरोगता । परम्मि कडुओसहे पीदे कडुकौपयपायिन्यन्यस्मिन् ॥

गुणवत्त्वे स्थापयितुमात्मानं परनिंदा कुर्वते. प्रत्यवायं दर्शयति ।

मूलारा—स्पष्टम् ।

स्वतःका गुणिपता सिद्ध करनेके लिये परनिंदा करते है. ऐसा कहना योग्य नहीं है—यह बात आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—जो परनिंदा करके अपनेको गुणी सिद्ध करना चाहता है वह मनुष्य दूसरोंको कड़वी औषधी पिलाकर स्वयं निरोगी होना चाहता है ऐसा मानना चाहिये जो औषधी खा लेगा वही निरोग होगा उसी तरह जो गुण प्राप्त कर लेगा वही गुणी होगा. परनिंदासे गुणी बननेका प्रयत्न करना यह उल्टे रास्तेपर चलकर स्वस्थानको पोहोचनेका प्रयत्न करनेके समान है

सत्पुरुषकर्म व्याचष्टे—

ददृष्टूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ ॥

रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजंणभएण ॥ ३७२ ॥

योऽन्यस्य दोषमाकर्ण्य चित्ते जिन्हेति सज्जनः ॥

परापवादतो भीतः स्वदोषमिव रक्षति ॥ ३७९ ॥

विजयोदया—ददृष्टूण अण्णदोस अन्यस्य दोषं दृष्ट्वा । सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ सत्पुरुषः स्वयं लज्जा-  
मुपैति । रक्खइ सयं दोस व स्वदोषमिव च रक्षति । जणजंणभयेण जननिंदाभयेन ॥  
सत्पुरुषकर्म कथयति ।

मूलारा—रक्खदि छादयति । तयं तं अन्यदोषम् ।

सत्पुरुषोका क्रम कहते हैं—

अर्थ—सत्पुरुष दूसरोंका दोष देखकर उसको ग्राह नहीं करते हैं प्रत्युत लोकनिंदाके भयसे उनके दोषोंको अपने दोषोंके समान छिपाते हैं, दूसरोंका दोष देखकर सत्पुरुष लज्जित होते हैं.

अप्यो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि ॥

उदए व तेछिबिदू किह सो जंणिहिदि परदोसं ॥ ३७३ ॥

स्वल्पोऽप्यन्यगुणो धन्यं तैलबिंदुरिवोदके ॥

विवर्द्धते तमासाद्य परदोषं न वक्ति स ॥ ३८० ॥

विजयोदया—अप्यो वि परस्स गुणो परस्य गुण, स्वल्पोऽपि । सप्पुरिसं पप्प सत्पुरुषं प्राप्य । बहुदरो होइ  
अतिमहान् भवति । उदएव तेछिबिदू उदके तैलबिंदुरिव । किह सो जंणिहिदि परदोसं कथमसौ इत्थंभूत जल्पति  
परस्य दोषं ॥

मूलारा—सप्पुरिसं पप्प सत्पुरुषं प्राप्य ।

अर्थ—अन्य मनुष्यका सत्य भी गुण सत्पुरुष ग्रहण कर उसको बड़ा बनाते हैं, अर्थात् अन्य जनोका अल्पगुण भी दीख पड़ा तो वे बहुत खुश होकर उसकी बहुत प्रशंसा करते हैं, जैसे पानीमें तेलका एक बिंदु यदि पड़ गया तो उसके आश्रयसे वह विस्तीर्ण होता है, वैसे सत्पुरुषसे प्रशंसित हुआ अन्य मनुष्यका गुण भी जगतमें फैलता है, अल्पगुणकी भी प्रशंसा करनेवाले सत्पुरुष क्या परदोषोंका कथन करेंगे ? कभी भी नहीं करेंगे.

ऐसो सबसमासो तह जतह जहा हवेज्ज सुजणम्मि ॥

तुज्झं गुणेहि जणिदा सब्वत्थ वि विस्सुदा किच्ची ॥ ३७४ ॥

ग्राह्यस्तथोपदेशोऽयं सर्वो युष्माकमंजसा ॥

यथा गुणकृता कीर्तिलोके ब्राम्ह्यति निर्मला ॥ ३८१ ॥

विजयोदया—एय सर्वस्योपदेशस्य संक्षेपः । तह जतह तथा यत्तच्च । जह हवेज्ज सुजणम्मि यथा भवेत्सुजने । तुज्झं गुणेहि जणिदा सब्वत्थ वि विस्सुदा किच्ची । युष्माकं गुणैर्जनित सर्वत्रापि विद्युता कीर्ति ॥ सर्वोपदेशसंग्रहमाह

भूलारा—सब्वसमासो सर्वस्य उपदेशस्य संक्षेपः । घेत्तव्वो ग्रहीतव्यः । सुजणम्मि सुजनमध्ये । ठक्कं च—

ग्राह्यस्तथोपदेशोऽयं सर्वो युष्माकमंजसा ।

यथा गुणकृता कीर्तिलोके ब्राम्ह्यति निर्मला ॥

अर्थ—हे मुनिगण इस संपूर्ण उपदेशका सार यह है कि, आप हमेशा इस प्रयत्नमें रहो कि जिससे आपकी कीर्ति सुजनोमें प्रसार पावेगी, और तुम्हारे गुणोंसे सर्वत्र तुम्हारा जगत्प्रसिद्ध यश फैल सके.

कासो सयताना कीर्तिरिति शक्यामुच्यते—

एस अखंडियसीलो बहुसुदो य अपरोवतावी य ॥

चरणगुणसुहिदोत्तिय धण्णस्स खु घोसणा भमदि ॥ ३७५ ॥

अनन्यतापकोऽखंडब्रह्मचर्यो बहुश्रुतः ॥

शांतीं दृढचरित्रोऽयमेषा धन्यस्य घोषणा ॥ ३८२ ॥

विजयोदया—एस अखण्डियसीलो एष अयं अखंडितसमाधि । बहुसुदो य बहुश्रुतश्च । अपरोवतावी य अपरोपतापकारी च । चरणगुणसुद्विषोत्ति य चारित्रगुणैः सुस्थितश्च इति । घणस्स खु पुण्यवतः । घोसणा भमइ यशो विचरति ॥

कासौ संयताना कीर्तिरित्यत्राह—

मूलारा—घोसणा कीर्ति ।

अर्थ—ये मुनिराज अखंडशीलके धारक हैं, इनकी ध्यानमें एकाग्रता अखंड रहती है, ये बहुश्रुत हैं, अनेक मर्तोंको ये जानते हैं, ये किसी भी प्राणीको दुःख देते नहीं हैं और चारित्रिके गुणोंमें ये स्थिर रहते हैं इस प्रकार हे श्रुतिगण ! तुझारा पुण्य—यश जगतमें विचरण करो.

एवं गुरूपदेशं श्रुत्वा गण' —

बाढत्ति भाणिदूणं एदं णो मंगलोत्ति य गणो सो ॥

गुरुगुणपरिणदभावो आणंदंसुं णिवाडेइ ॥ ३७६ ॥

इदं नो मंगलं वाढमेवमुक्त्वा गणोऽप्यसौ ॥

तोऽप्यमाणो गुणैः सुरेरानंदश्रु विमुंचति ॥ ३८३ ॥

विजयोदया—वाढत्ति भाणिदूणं वाढमित्युक्त्वा । एदं णो मंगलोत्ति एतद्भवता वचनं अस्माकं मंगलं नितरां इत्युक्त्वा । गुरुगुणपरिणदभावो गुरोर्गुणेषु परिणतचित्तः । आणंदंसुं णिवाडेइ आनदाश्रूणि निपातयति ॥ एवं गुरूपदेशं श्रुत्वा गणः कृताभ्युपगमस्तं प्रति यद्यत्करोति तद्वायाष्टकेनाचष्टे—

मूलारा—वाढंति भाणिदूणं वाढमित्युक्त्वा । एदं णो मंगलोत्ति य एतद्गुणमद्वचोऽस्माकं मंगलमिति चोक्त्वा यद्भवद्भिरुपदिष्टं तत्तदभ्युपगतमस्माभिस्तदेवास्माकं मंगलमस्त्विति, से तस्य गुरोरेषे निगद्य तद्गुणमयचित्तो गण आनंदाश्रूणि पातयति इति संवधः । उक्तं च—

बाढमिति निगद्य गणो मंगलमेतद्भृङ्गचोऽस्माकम् ॥

गुरुगुणपरिणतभावः सोऽश्रुण्यनन्दतस्त्यजति ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपका यह उपदेश हमको अतिशय मंगलकारक सुखदायक और पाप नाशक है ऐसा सुनिगण बोलते हैं और गुरुके गुणोंमें एकाग्रचित्त होकर नेत्रोंसे आनंदाश्रु गिराते हैं.

भगवं अनुगृह्यो मे ज तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे ॥

सारणवारणपडिचोदणाओ धण्णा हु पाव्वेति ॥ ३७७ ॥

अयं नोऽनुग्रहोऽपूर्वो यत्स्वांगमिव पालिताः ॥

सारणावारणादेशा लभ्यन्ते पुण्यभागिभिः ॥ ३८४ ॥

विजयोदया—भगवं अनुगृह्यो मे भगवन्नुग्रहोऽस्माकं । जं तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे यत्स्वशरीरमिव पालिता वयम् । सारणवारणपडिचोयणाओ एवं कुरुते इति शिक्षा । धण्णा हु पाव्वेति धन्या प्राप्नुवन्ति ।

मूळारा—अनुगृह्यो प्रसादो गुणार्कं । मे अस्माकं । सदेहं व स्वदेहमिव । सारणवारणपडिचोयणाओ एवं कुरु मैवं कुरु इत्यादिशिक्षा ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपने स्वदेहके समान हमारा पालन किया है. आपने हे सुनिगुण ! तुम अमुक कार्य करो और अमुक कार्य मत करो ऐसी शिक्षा दी है. ऐसी शिक्षा माग्यवतको ही मिलती है. अन्योको नहीं.

अम्हे वि खमवेमो जं अण्णाणापमादरगेहि ॥

पडिलोमिदा य आणा हिदोवदेसं करित्ताणं ॥ ३७८ ॥

क्षमयामो वयं तद्यद्रागाज्ञानप्रमादतः ॥

आदेशं ददतामाज्ञा भवतां प्रतिकूलिता ॥ ३८५ ॥

विजयोदया—अम्हे वि खमवेमो वयमपि क्षमा ग्राहयामः । जं अण्णाणापमादरगेहि 'अण्णा अज्ञानात् ।



प्रमादरागेर्हि प्रमादाद्रागाच्च । पडिलोमिदा य आणा भवतां प्रतिकूलवृत्तयो जाताः। द्विदोषवेदंस् करंताणं । आश्नां हितोपदेशं कुर्वताम् ॥

मृळारा—लमावेमो क्षमां ग्राहयित्वामो युष्मान् ॥

अर्थ—हे प्रभो ! प्रमाद, रागभाव, अज्ञान इत्यादि विकारोंके आवेशमें आकर हमने आपकी आज्ञाका लोप किया होगा. आपके हितोपदेशके प्रतिकूल हमने प्रवृत्ति की होगी. इसलिये हे प्रभो ! हम आपके पास क्षमायाचना करते हैं.

सहिदय सकणण्याओ कदा सचम्बू य लब्धसिद्धिपहा ॥  
तुज्झ वियोगेण पुणो णट्टविसाओ भविस्सामो ॥ ३७९ ॥

लब्धसिद्धिपथा जाताः सचित्तथोत्रचक्षुषः ॥  
युष्मद्वियोगतो भूयो भविष्यामस्तथाविधाः ॥ ३८० ॥

विजयोदया—सहिदय सकणण्याओ सहृदयाः सकर्णकाश्च जाताः । कदा सचम्बू य इता सलोचना. । लब्ध-  
सिद्धिपहा लब्धसिद्धिमार्गः । तुज्झ वियोगेण पुणो भवद्भयो वियोगेन पुन । णट्टविसाओ नष्टदिक्का । भविस्सामो  
भविष्यामः ॥

मृळारा—सकणण्याओ सकर्णकाश्च । कदा कृताः शुष्माभिरिति शेषः । तुज्झ भवद्भ्यः । णट्टविसागा नष्टदिक्का  
मार्गदर्शनरहिता इत्यर्थः ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपने हमको हृदययुक्त किया है. अर्थात् आपके उपदेशसे हम हिताहितका विवेक कर-  
नेमें समर्थ होगये हैं. हमको कर्णोंकी प्राप्ति हुई है. अर्थात् आपने हमको श्राव्य पदार्थ हैं. ओर हमने आपने श्राव्य  
रूप लोचन प्रदान किये हैं. हमने आपने मोक्षमार्गमें भी लगा दिया है परंतु आपका वियोग होनेसे हम पुनरपि  
दिग्भ्रम हो जायेंगे. हाय !

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि ॥  
 पवसंते य मरंते देसा किर सुण्णया होति ॥ ३८० ॥  
 सर्वजीवहिते वृद्धे सर्वलोकैकनायके ॥  
 प्रोषिते वा विपन्ने वा देशाः शून्या भवन्ति ते ॥ ३८१ ॥

विजयोदया—सव्वजयजीवहिदए सर्वस्मिञ्जगति ये जीवा तेषां हिताः । थेरे ज्ञानतपोवृद्धे । सव्वजगजीव  
 णाथम्मि सर्वजगतो जीवानां नाथे । पवसन्ते य मरन्ते प्रवासं मूर्तिं वा प्रतिपद्यमाने । देसा किर सुण्णया होति देशाः  
 किल शून्या भवन्ति ॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि ॥  
 पवसंते य मरंते होदि हु देसोघयारोव्व ॥ ३८१ ॥  
 सीलदुगुणद्धेहिं दु बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं ॥  
 पवसन्ते य मरंते देसा ओखंडिया होति ॥ ३८२ ॥

अनन्यतापिभिः सर्वैर्गुणशीलपयोधिभिः ॥  
 हीना बहुश्रुतैर्देशाः सांघकारा भवन्ति ते ॥ ३८८ ॥  
 सर्वज्ञैरिव यैर्वृद्धैर्जन्यन्ते तत्त्वनिश्चयाः ॥  
 देहनाशे प्रवासे वा तेषामंघा भवन्ति ते ॥ ३८९ ॥  
 वाक्पयैराप्यायिता लोका यैर्मैघा इव वारिभिः ॥  
 येभ्यस्ते निर्गता वृद्धास्ते देशाः सन्ति खंडिताः ॥ ३९० ॥

विजयोदया—सीलदुगुणद्धेहिं य बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं शीलद्वैर्गुणाद्वैर्बहुश्रुतैः अपरोपतापिभिः ।  
 पवसन्ते य मरन्ते मूर्तिं प्रवासं वा प्रतिपद्यमाने । देसा ओखंडिया होति जनपदा अवखंडिता भवन्ति । गतार्थोत्तरा गाथा ॥

मूलारा—थेरे ज्ञानतपोवृद्धे ॥

मूलारा—देसोघयारोव्व जनपदेऽन्धकार इव भवति । हिताहितज्ञानशून्यो भवतीत्यर्थः ॥

मूलारा—ओतखिदा अवखंडिताः वंचिता दैवेन विपर्यासितस्वार्थसिद्धिप्राया इत्यर्थः ॥  
 अर्थ—हे भगवन् ! आप सर्व जगत्के जीवोंका हित करनेवाले हैं. आप ज्ञानबुद्ध और तपोबुद्ध हैं. आप सर्व जगत्के जीवोंके स्वामी हैं. आप अव प्रवास करनेवाले हैं. अथवा संन्यासमरणका स्वीकार करनेवाले हैं ऐसे समय हमको सर्व देश शून्य दिखते हैं, तथा सर्व देश अधकारमय दीखते हैं. हे प्रभो ! आप शीलयुक्त, गुणयुक्त, और बहुश्रुत हैं. आप प्राणिओंको दुःख न देनेवाले हैं परंतु अव आप प्रवास करनेवाले हैं अथवा संन्यासमरण धारण करनेवाले हैं. ऐसे समयमें हमको सब देश खंडित दीखते हैं.

सन्वस्स दायगाणं समसुहदुक्खाण गिप्पकंपाणं ॥  
 दुक्खं खु विसहिदुं जे चिरप्पवातो वरगुरूणं ॥ ३८३ ॥

दायकानामशेषस्य स्वरिणामुपकारिणाम् ॥  
 समानसुखदुःखानां वियोगो दुःसहश्चिरम् ॥ ३९१ ॥  
 पवित्रविद्योद्यतदानपंडितैस्तनूश्रुतां तापक्षिपादनोदिभिः ॥  
 गणाधिपैर्भाति विना न मेदिनी निरस्तपंकैः सरसीव वारिभिः ॥ ३९२ ॥  
 बुधैर्न शीलै रहिता नितंविनी तपस्विदानै रहिता गृहस्थता ॥  
 गुरूपदेशै रहिता तपस्विता प्रशस्यते नित्यसुखप्रदायिनी ॥ ३९३ ॥  
 मनीषितं वस्तु समस्तमंगिनां सुरद्रुमाणाभिव यच्छतां सदा ॥  
 गुणैर्गुरूणां विरहो गरीयसां न शक्यते सोढुमपास्तरैफसाम् ॥ ३९४ ॥

इति अनुशिष्टिसूत्रम् ।

विजयोदया—सन्वस्स दायगाणं ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपोदानोद्यतानां । समसुहदुक्खाण सुखदुःखयो समा-  
 नाना । गिप्पकंपाणं परीपेहेभ्यो निश्चलानां । वरगुरूणं महता गुरूणा । चिरप्पवासो चिरकालप्रवासो वियोग । दुक्खं खु  
 विसहिदुं जे सोढुमतीव दुष्कर ॥

मूलारा—सन्वस्स ज्ञानादेः । गिप्पकंपाणं परीपेहोपसंगेषु निःक्षोभाणा । दुक्खं खु दुःखशोक एव ।

विसिद्धि ने विसोड़ुं । चिरण्वत्सो दूरदेशातरगमनं मरणं वा । इति गुणानुशिष्टिः । सूक्तः । १४ । अकतः १११ ॥  
अर्थ—जिनसे शिष्याको ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तपस्वी प्राप्ति होती है जो सुख और दुःखोंमें समान है अर्थात् रागद्वेषरहित है। परीपहोसे जिनकी ध्यानकाग्रतामें बाधा आती नहीं है ऐसे श्रेष्ठ आचार्योंका चिरकालीन वियोग सहन करना अतिशय दुष्कर है।

एवं परिसमाप्य अनुशासनाधिकार परगणचर्या निरूपयति—

एवं आउच्छित्ता सगणं अब्मुज्जदं पविहरंतो ॥

आराधणाणिमित्तं परगणगमणे मइं कुणदि ॥ ३८४ ॥

आपृच्छयेति गणं सर्वं चतुरंगमहोद्यमम् ॥

करोत्याराधनाकांक्षी गंतुं परगणं प्रति ॥ ३८५ ॥

विजयोदया—एवं आउच्छित्ता आपृच्छय । सगण स्वगण । अब्मुज्जदं पविहरंतो प्रकर्षेण रत्नत्रये प्रवर्तमान ।  
आराधणाणिमित्तं आराधनानिमित्तं । परगणगमणे मइं कुणदि परगणगमने मतिं करोति ।

अथ तथाभावितश्रमण्यस्य सहेखनापरिणतस्यापृष्टगणस्य गणिनः पुनर्ममत्वोज्जीवननिरोधेन ममाधिप्रबंध-  
सिद्ध्यर्थं परगणगमनकर्म सप्तदशभिर्गोथाभिरुपदिशति—

मूलारा—आपृच्छित्ता आपृच्छय । संवाधेत्यर्थः । अब्मुज्जदं अभ्युद्यतं उद्यमानमिमुत्त अनलसमित्यर्थः ।  
पविहरंतो प्रकर्षेण रत्नत्रये प्रवर्तमान ॥

इस प्रकार अनुशासनाधिकारकी समाप्ति करके आचार्य परगणचर्या नामक अधिकारका निरूपण करते हैं—  
अर्थ—इस प्रकार अपने गणको पूछकर अपने रत्नत्रयमें अतिशय प्रयत्नसे प्रवृत्ति करनेवाले वे आचार्य आराधनाके निमित्त परगणमें गमन करनेकी इच्छा मनमें धारण करते हैं।

किमर्थं परगणप्रवेशं करोति इत्याशंकाया स्वगणावस्थाने दोषमाचष्टे—

सगणे आणाकेवो फरुसं कलहपरिदावणादी य ॥

णिब्भयसिणेहकालुगिणज्ञानविग्धो य असमाधी ॥ ३८५ ॥

आज्ञाकोपो गणेशस्य परूपः कलहोऽसुखं ॥  
निर्भयस्नेहकारुण्यध्यानविज्ञासमाधयः ॥ ३९६ ॥

विजयोदया — सगणे आणाकोवो आत्मीयगणे आज्ञाकोप । फरसं कलहपरिदावणादी य परूपवचनं, कलहो, दुःखादीनि च । निम्बयस्नेहकारुण्यध्याणविग्रहो य निर्भयता, स्नेह, कारुण्यं, ध्यानविग्र । असमाही असमाधिश्च ॥

किमर्थमाचार्यस्तथाविधभिमुखो परसंघप्रवेश करोतीति पृच्छन्तं प्रति स्वगणवासिन आज्ञाकोपादीनव दोषा-  
नुपेष्टुमिदमाचष्टे—

मूलारा—आणाकोवो आज्ञाभंगः । परसं परूपवचनं । परिदावणा दुःखविपादस्नेहादीनि । कोलाणिग  
कारुण्यम् ॥

आचार्य परगणमें प्रवेश क्यों करते हैं ? ऐसी शंका उपस्थित की जानेपर आचार्य स्वगणमें रहनेसे  
दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा उत्तर दिया है—उन दोषोंका सविस्तर विवेचन इस प्रकार—

अर्थ—आराधनासिद्धिके लिये आचार्य यदि स्वसंघमें ही रहे तो आज्ञाकोप, कठोरवचन, कलह, दुःख,  
विपाद, खेद वगैरह, निर्भयता, स्नेह, कारुण्य, ध्यानविघ्न और असमाधि ये दोष उत्पन्न होते हैं.

उद्धाहकरा थेरा कालहिया खुडुया खरा सेहां ॥

आणाकोवं गणिनो करेज्ज तो होज्ज असमाही ॥ ३९६ ॥

परापवाचोद्यतयो जरंतः शौक्ष्या खरा युद्धपरानधीनाः ॥

आज्ञाक्षर्तिं मंशु गणे स्वकीये कुर्वन्ति स्वरसमाधिहेलुम् ॥ ३९७ ॥

विजयोदया — उद्धाहकरा थेरा अयथा सपादका स्थविरा । कालहिगा कलहकरा । खुडुगा झुलका । खरा  
सेहा परूपा अमार्गज्ञा । आणाकोव गणिणो करेज्ज आज्ञाकोप सूरें कुर्यु । तो होज्ज असमाही तस्मादाज्ञाकोपाद्भवे-  
दसमाधिः ॥

स्वगणे स्थविरादिकृतमसमाधीकरमाज्ञाकोपं दर्शयति—

मूलारा—उद्गृहकरा अयशःसंपादकाः । कालहिणा कालहिताः कलहकरा इत्यर्थः । बुद्ध्या श्रमणोपासका  
वालकाः । खरा तीक्ष्णाः । सेव्या शैक्षा मार्गानभिज्ञा इत्यर्थः । करेज्ज कुर्वुः ।

अर्थ—संघमें बुद्ध मुनि यदि अकीर्ति संपादक होवें, और शुद्धक अर्थात् शुद्धकावस्या धारण करनेवाले  
गृहस्थ यदि कलह करनेके लिये उद्युक्त होवें, अमार्गज्ञ शिष्य मुनि अर्थात् समाधिविधि न जाननेवाले शिष्य मुनि  
यदि तीक्ष्ण स्वभावके होगये तो वे आचार्यकी आज्ञाका उल्लंघन करेंगे तब आज्ञाके उल्लंघनसे आचार्यकी असमाधि  
होगी अर्थात् परिणाममें अशांतता उत्पन्न होगी, इसलिये आचार्य समाधिमरण साधनके लिये परगणमें प्रवेश  
करते हैं.

परगणवासी य पुणो अब्बावारो गणी हवदि तेसु ॥

णत्थि य असमाहाणं आणाकोवस्मि वि कदस्मि ॥ ३८७ ॥

व्यापारहीनस्य ममत्वहानेः संतिष्ठमानस्य गणेऽन्यदीये ॥

नाज्ञाविघाते विहितेऽपि सूरेतैरशौचैरसमाधिरस्ति ॥ ३९८ ॥

विजयोदया—परगणेऽप्यमी सत्येव स्थविराद्यस्तत्राप्यसमाधानं स्यादेवास्येति शंकां निरस्यति । परगणवा-  
सी य य. परगणे वसति गणी सो अब्बावारोऽव्यापार. तेसु शिक्षाव्यापाररहितः । तेन आज्ञाकोरो न विद्यते आज्ञाभंगो  
नास्तीत्यर्थः । णत्थि य असमाधाण नास्ति च असमाधि. । आणाकोवस्मि वि कदस्मि आज्ञाभंगे कृतेऽपि ममानुप-  
कारिणो वचनमिमे किमर्थं कुर्वन्ति इति चेत् प्रणिधानात् ॥

परगणेऽप्यमीषा संभवात्तथाज्ञाकोपादस्यासमाधिः स्यादेवेत्याशं कामपाकरोति—

मूलारा— अब्बावारो शिक्षाव्यापाररहितः । तेसु परगणस्थविरादिषु । तेनाज्ञाकोपो नास्तीति शेषः । विक-  
दास्मि कृतेऽपि ममानुपकारस्य वचनमिमे किमर्थं कुर्वन्तीति चेत् प्रणिधानात् ।

परगणमें भी बुद्ध मुनि, शुद्धक, अमार्गज्ञ मुनि रहते ही हैं अतः वहां भी आचार्यको असमाधि दोष  
उत्पन्न होगा ही इस शंकाका ग्रंथकार उत्तर देते हैं—

अर्थ—जब आचार्य परगणमें जाकर रहते हैं तब उस गणस्थ मुनियोंको वे उपदेश, आज्ञां करते नहीं. जिससे

उस गणके मुनिओंके द्वारा आज्ञाभंग करनेका प्रसंग आता ही नहीं, और यदि उन्होंने आचार्य की आज्ञा नहीं भी मानी तो भी आचार्य इनके ऊपर तो मैंने कुछ भी उपकार किया नहीं अतः वे मेरा वचन क्यों शिरोधार्य करेंगे ऐसा विचार कर अपने परिणामोंकी शान्तता नष्ट नहीं करते हैं इसलिये असमाधि नामक दोषकी उत्पत्ति परगण-में रहनेसे नहीं होती है, आज्ञाकोप नामक दोषका विवेचन हुआ.

आज्ञाकोपदोषं अभिधाय द्वितीयं व्याचष्टे -

खुड्डे श्रे सेहे असंबुडे दठु कुणइ वा परसं ॥  
ममकारेण भणेज्जो भणिज्ज वा तेहिं परसेण ॥ ३८८ ॥

चालान्वृद्धान्शौक्षकान्दुष्टचेष्टान् दृष्ट्वा स्मरिर्निष्ठुरं वक्ति वाक्यम् ॥  
किंचिद्भागद्वेपमोहादियुक्तास्ते वा नरुयुः संस्तवप्राप्तधाष्टर्याः ॥ ३९९ ॥

विजयोदया - खुड्डे श्रे सेहे शुल्लकान्स्थविरानमार्गक्ष्ण्डा। असंबुडे असंबुतान् असंयतान्। दठुण दृष्ट्वा। कुणदि वा परसं करोति वा परसं। ममकारेण भणेज्जो ममत्वेन वदेदा परसं। भणिज्ज वा तेहिं परसेण भण्येत वा गणी है, परसं वचः ॥

परसं व्याचष्टे -

मूलारा - असंबुडे असंबुतान् प्रमादाचरणानित्यर्थः। दठु दृष्ट्वा। कुणदि वक्ति। भणिज्जो भणेत। परसं व्रूयात् इत्यर्थः। भणेज्ज भण्येत। पसरेण प्रवर्धेन परिचयकृतधृतावष्टंभात् ॥  
अत्र दुसरा दोष कहते हैं -

अर्थ - परस्य नामक दोषका स्वरूप इस प्रकार है - शुल्लक गृहस्थ, वृद्धमुनि, और अमार्गज्ञ मुनि ये प्रमादसे आचरण करते हैं ऐसा मनमें विचार कर उनको कठोर भाषण करेंगे अथवा वे वृद्धमुनि वगैरह उनके साथ कठोर भाषण करेंगे, अपने संघमें ही रहनेसे वृद्धादि मुनिओंके साथ अधिक परिचय रहता है जिससे वे आचार्य की और आचार्य उनको कठोर भाषण करेंगे तब परस्य नामक दोष उत्पन्न होगा

कलह पूर्वार्द्धेन व्याचष्टे—

पडिचोदणासहणदाए होज्ज गणिणो वि तेहिं सह कलहो ॥

परिदावणादिदोसा य होज्ज गणिणो व तेसिं वा ॥ ३८९ ॥

वाक्पयाक्षमायामसमाधिकारी सूरैः समं तैः कलहो दुरन्तः ॥

दोपास्ततो दुःखविपादखेदा भवन्ति सर्वेष्वनिवारणियाः ॥ ४०० ॥

विजयोदया—पडिचोदणासहणदाए गुरुशिक्षासहनेन । होज्ज कलहो तेहिं सह गणिणो वि भवेत्कलहस्तेः शुल्लकादिभि सह गणिन । परिदावणादिदोसा होज्ज दुःखादिदोसा भवेयुः । गणिणो व तेसिं च गणिनस्तेषां शुल्लकादीना वा कलह ॥

कलहादिदोषद्वयं व्याख्याति—

मूलारा—पडिचोयणासहणदाए गुरुशिक्षणासहिष्णुतया । होज्ज भवेयुः ।

कलह दोषका पूर्वार्द्धमें वर्णन करते हैं—

अर्थ—स्वगणमें रहनेसे आचार्य के शिक्षावचन सुनकर शुल्लकादिक मुनि क्रुद्ध होकर उनसे लड़ेंगे अथवा शुल्लकादिकोंसे आज्ञाभंग होनेसे आचार्यका कलह होना संभवनीय है आज्ञाभंग होनेसे आचार्यके मनमें खेद, संताप वगैरह विकार उत्पन्न होंगे अथवा ये आचार्य हमको हमेशा उपदेश देते रहते हैं आज्ञा करते हैं ऐसा विचार कर शुल्लकादिक दुःख, संताप, शोकादिकसे पीडित होंगे.

परिदावणादीय इत्येतत्सूत्रपदं प्रकारांतरेणापि व्याचष्टे—

कलहपरिदावणादी दोसे व अमाउले करतेसु ॥

गणिणो हवेज्ज सगणे ममात्तिदोसेण असमाधी ॥ ३९० ॥

गणेन साकं कलहादिदोषं कुर्वत्सु वालादिषु दुर्धरेषु ॥

गणाधिपस्य स्वगणप्रवृत्तेर्ममत्वदोषादसमाधिरस्ति ॥ ४०१ ॥

विजयोदया—कलहपरिदावणादी दोसे व कलह परितापादिदोष वा । अमा कुले करनेसु गणेन सह कुर्वत्सु



धुल्लकादिषु । गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी गणिनो भवेन्न्यमतादोषेण असमाधिः ॥  
कलहादिदोषानेव प्रकारातरेण व्याचष्टे—

मूलारा—अमा गणेन सह । आकुलं वहून् । आकुलं वा । संक्षोभातकं करतेषु कुर्वन्सु धुल्लकादिषु । ममत्ति-  
दोसेण न केवलं शिक्षालंघनेन ममत्वदोषेण वा असमाधिर्भवेदिति संवधः ।

परितापादिक दुःस्वोक्ता अन्य प्रकारसे वर्णन—  
अर्थ—अथवा अपने संघमें धुल्लकादि मुनि कलह, शोक संतापादिक परस्परमें करते हुए देखकर आचा-  
र्यकी अपने गणपर ममता होनेसे चित्तकी एकाग्रता नष्ट हो जायगी. अर्थात् उनके परिणाम अशान्तिमय होंगे.

परितावणादि इत्येतत्स्वपदं अन्यथा व्याचष्टे—

रोगादंकादीहिं य सगणे परिदावणादिपत्तेसु ॥  
गणिणो हवेज्ज दुक्खं असमाधी वा सिणेहो वा ॥ २९१ ॥

परिषहैर्घोरतमैः स्वसंघं निरीक्ष्यमाणस्य निपीड्यमानं ॥  
गणे स्वकीये परमोऽसमाधिः प्रवर्तते संघपतेरवार्यः ॥ ४०२ ॥

विजयोदया—रोगातंकादीहिं य अत्यैर्मद्वृत्तिव्याध्यादिभिः । परिदावणादि पत्तेसु परितापनादि प्राप्तेषु । सगणे  
आत्मीयशिष्यवर्गे । गणिणो हवेज्ज दुःखं । आचार्यस्य भवेद्दुःखं । असमाधी वा सिणेहो वा असमाधिर्वा स्नेहो वा ।  
परितापनादिसूत्रमन्यथा व्याचष्टे—

मूलारा—रोगातंकादीहिं अत्यैर्महद्भिः व्याधिभिः । आदिशब्देन धुद्रोपद्रवादिभिः । सगणे स्वसंघं स्थितेषु  
शिष्यादिषु । दुक्खं मनस्तापः । असमाही असमाधानाय । चतुर्थ्यर्थे प्रथमाविधानात् । सिणेहो मोहः । ममत्वकृतः छेद  
इत्यर्थः । उक्तं च—

निजगणगतेषु रोगिषु परिदेवनदुःखपरितेषु पुर ।  
कारुण्यशोकमोहा भवेयुरसमाधये सूरैः ॥

इसही दोषका प्रकारान्तरसे वर्णन —

अर्थ—छोटे मोटे रोग वर्गैरह विकार संघमें फ़ैल जानेपर अपना शिष्यवर्ग दुःख संतापादिसे पीडित हुआ देखकर आचार्यको दुःख होगा, परिणामोंकी एकाग्रता नष्ट होगी, और उनमें स्नेह होगा. इसलिये समाधिभर-  
णोद्यमी आचार्य इनके परिहारार्थ अन्य संघमें जाते हैं.

तण्हादिणुसु सहणिज्जेसु वि सगणस्मि णिब्भओ संतो ॥

जाणुज्ज व सेणुज्ज य अकप्पिदं किं पि वीसत्थो ॥ ३९२ ॥

परीपहेयु विश्वस्तः स्वगणे निर्भयो भवन् ॥

याचते किंचनाकल्प्यं सेवते भापते स्फुटम् ॥ ४०३ ॥

विजयोदया—तण्हादिणुसु सहणिज्जेसु वि पिपासादिकेषु परीपहेयु सहनीयेष्वपि । सगणस्मि णिब्भओ संतो स्वगणे निर्भय सन् । जाणुज्ज व सेवज्ज य याचते वा सेवते वा । अकप्पिय अयोग्य किंचित्प्रत्याख्यातमशनं पान वा । वीसत्थो विश्वस्तः भयलज्जाविरहित ॥

निर्भयं व्याचष्टे ।

मूलारा—णिब्भओ संतो निर्भीतिः सन् सूचिः । जाणुज्ज याचत । अकप्पियं अकल्प्यं अयोग्यं । किपि प्रत्याख्यात पानमशनादिक वा । वीसत्थो विश्वस्तः । अकीर्तिभयलज्जारहितः ॥

अर्थ—समाधिभरणोद्युक्त आचार्यने व्यास, भूख वर्गैरहका दुःख सहन करना चाहिये परंतु वे अपने संघमें रहनेपर निर्भय होकर आहार, जल, वर्गैरह पदार्थोंकी याचना करेंगे. अथवा स्वयं आहारादिकोंका सेवन करेंगे अयोग्य अर्थात् जिनका त्याग किया है ऐसा भी आहार और पानके पदार्थ मय, लज्जा छोडकर खाने लग जावेंगे इस लिये उनका अपने संघमें रहना आगममें निषिद्ध माना है.

सिनेह इत्यस्य व्याख्या—

उद्धे सअंकवट्ठिय वाले अज्जाउ तह अणाहाओ ॥

पासंतस्स सिनेहो हवेज्ज अच्चतियविओगे ॥ ३९३ ॥

वालाः स्वांकोचिता इष्टा वृद्ध्या विह्वलविग्रहाः ॥

अनाथाआर्यिकाः स्नेहं जनयन्ति गुरोस्तदा ॥ ४०४ ॥

विजयोदया—उद्धे सअंकवट्ठिय इत्यादि वृद्धान्यतीन्स्वास्वद्विंतपालान् यतोस्तया आर्यिका, अनाथा पश्यतः स्नेहो भवेदात्यातिके वियोगे ।

स्नेहं व्याहरति—

मूलारा—सयकवट्ठिदे वाले सोत्संगवट्ठित्पालान् ।

अविओए सर्वथा विरहे । पुनः संगमामावात् ॥ अणाहाओ अनाथा । अञ्चन्ति-

स्नेह दोषका विवेचन—

अर्थ—वृद्ध मुनि, जिनका चाल्यावस्थासे पालन किया है ऐसे चालमुनि, अनाथ ऐसी आर्यिकाएँ इनको देखनेसे अब इनका मेर साथ अत्यंत वियोग होगा ऐसा विचार यदि स्वगणमें आचार्य रहेंगे तो आपे बिना नहीं रहेगा जिससे उनके असमाधिमरणकी संभावना होगी, अतः स्वगणमें उनका रहना निषिद्ध माना गया है।

कोलुगिण इत्येतद्व्याचष्टे—

खुड्डा य खुड्डियाओ अज्जाओ वि य करेज्ज कोलुगियं ॥

तो होज्ज उक्खणविग्घो असमाधी वा गणधरस्स ॥ ३९४ ॥

आर्यिकाः क्षुल्लिकाः क्षुल्लाः कारुण्यं कुर्वन्ते यतः ॥

ध्यानाविघ्नोऽसमाधिश्च जायते गणिनस्ततः ॥ ४०५ ॥

विजयोदया—खुड्डा य खुड्डियाओ क्षुल्लका, आर्या, कुर्णुराटन । ततो ध्यानविघ्नोऽसमाधिर्वा गणधरस्य भवतीति ॥

कारणं विवृणोति—

मूलारा—कोलुणिगं—सदैन्यमारटनं । सकरुणमारटनम् ॥

कोलुणिग दोषका विवेचन —

अर्थ—क्षुल्लक, ब्रह्मचारी वगैरह गृहस्थ, ब्रह्मचारिणी, आर्यिकाय आचार्यको समाधि मरणके लिये उद्यमी देखकर शोक करेंगे जिसको देखकर आचार्यके ध्यानमें विघ्न उपस्थित होगा और परिणाममें अज्ञाति होंगी, इसलिये आचार्यका स्वगणमें रहना निषिद्ध माना है

भत्ते वा पाणे वा सुस्तूसाए व सिस्सवग्गम्मि ॥

कुब्बंतम्मि पमादं असमाधी होज्ज गणवदिणो ॥ ३९५ ॥

गणिनः प्रैष्यशुश्रूषाभक्तपानादिकल्पने ॥

स्वगणेत्यसमाधानं शिष्यवर्गे प्रमाद्यति ॥ ४०६ ॥

विजयोदया—भत्ते वा पाणे वा भक्ते पाने वा शुश्रूषया वा प्रमादं शिष्यवर्गे कुर्वति गणपतेरसमाधिर्भवति ॥  
ध्यानवित्रासमाधिदोषो न्याचष्टे—

मूलारा—सुस्तूसाए पर्युट्ठो संवाहनादिकाया । कुब्बतम्मि कुर्वति सति । असमाधी आतं रौद्रं वा ध्याना । यदि च समाधिर्निर्विकल्पयोगः परमानन्दः स च सविकल्पकयोगलक्षणध्यानपूर्वकः । अतः शिष्यवर्गप्रमाददर्शनात् ध्यानविघातस्ततः स्वसमाध्यभावः इति पूर्वसूत्रितं दोषद्वयं व्याख्यातं प्रतिपत्तव्यम् ॥

अर्थ—आहारके पदार्थ, पानके जलादिक पदार्थ और शुश्रूषा—हस्तपादादि मर्दन वगैरह कार्योंमें यदि शिष्यवर्ग प्रमादी बने अर्थात् इन कार्योंमें यदि उन्होंने ध्यान नहीं दिया तो आचार्यके मनमें शक्तिका अभाव होगा आतं ध्यान अथवा दुर्ध्यान उत्पन्न होगा.

एद्वे दोसा गणिणो विसेसदो होति सगणवासिस्स ॥

भिक्षुस्स वि तारिसयस्स होति पाणुण ते दोसा ॥ ३९६ ॥

एते दोपाः सन्ति संघे स्वकीये खुरे. साधोन्मादृशस्यापि यस्मात् ॥

तस्मात्प्रवृत्त्वा म्वं समाधानकांक्षी धीरं संघं स प्रयात्यन्यदीयम् ॥४०॥

तारिसयस्स भिक्षोरेपि तादृशस्स उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वा भवन्ति प्रत्येण ते दोपा ॥

प्रायुक्तादोपानाचार्यम्याधिक्येन दर्शयन् उपाध्यायदेरपि स्वगणवाग्भिः प्रायोदृत्त्या तान्प्रदर्शयति—

मूलारा — विसेसदो अतिशयेन । तारिसयस्स तादृशस्य गणिमदृशस्य उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वेत्यर्थः ।

अन्यस्तु भिक्षुस्स मामान्ययेत्तादृशस्य स्वगणवाग्भिः इति न्यायपट्टे ॥

अर्थ — जो आचार्य स्वगणमें रहते हैं उनको ये दोप होंगे तथा जो आचार्यके समान उपाध्यायमुनि, तथा प्रवर्तक मुनि हैं वे भी यदि स्वगणमें ही रहेंगे तो उनको भी प्रायः इन दोषोंका संभय होगा.

एद्वे सव्वे दोसा ण होति परगणणिवासिणो गणिणो ॥

तम्हा सगणं पयहिय वच्चादि सो परगण समाधीए ॥ ३९७ ॥

भवन्ति दोपा न गणेऽन्यदीये संतिष्ठमानस्य ममत्ववर्जं ॥

गणाधिनाथस्य ममत्वदृष्टानेर्विना निमित्तेन कुतो निवृत्ति. (?) ॥४०८॥

विजयोदया—एद्वे सव्वे दोसा ण होति एते मजे दोपा न भवन्ति । परगणणिवासिणो गणिणो परगणनिवासिनो गणधरस्य । तस्मात्स्वगण परित्यज्य व्रजति परगण समाधये ॥

एतद्दोषसंभवेन ममाधिसाधकत्वात्परगणस्य गम्यत्वनुगम्यति—

मूलारा — पजहिय सर्वत्तिना त्यक्त्वा ।

अर्थ — जो आचार्य अपना गण छोड़कर परगणमें समाधि मरणके लिये प्रवेश करते हैं उनको इन दोषोंका संबंध नहीं होगा है. इस लिये आचार्य समाधिसिद्ध्यर्थ परगणका आश्रय लेते हैं.

संते सगणे अहं रोचेदूणागदो गणमिमोत्ति ॥

सब्बादरसत्तीए भत्तीए वड्डइ गणो से ॥ ३९८ ॥

गणे स्वक्कीयेऽपि गुणानुरागी सत्यस्मदीयं गणमागतोऽयम् ॥

मत्वेति भक्त्या निजया च अकत्त्या प्रवर्तते तस्य गणः स्वकृत्ये ॥ ४०९ ॥

विजयोदया—सते सगणे सत्यपि स्वगणे असद्गणे जातवचिरगतो गणमिममिति सर्वादरेण शक्त्या भक्त्या च गणो वर्तते ॥

परगणचर्यागुणान्गाथात्रयेणाह—

मूलारा—संतो सत्यपि । रोचेदूण रुचिगोचरीकृत्य । गणमिमोत्ति गणमिममिति । से तस्योत्तमसाधनार्थो-

वतस्य ।

अर्थ—स्वगणके होनेपर भी हमारे ऊपर प्रेम कर के आचार्य हमारे गणमें आये हैं ऐसा मनमें विचार कर परगणवासी धुनिसमुदाय पूर्ण आदर व सामर्थ्यसे उनकी सेवा करेके लिये कटिवद्ध हो जाते हैं अतः परगण-प्रवेश करना ही योग्य है.

गीदत्यो चरणत्यो पच्छेदूणागदस्स खवयस्स ॥

सब्बादरेण जुत्तो णिज्जवगो होदि आयरिओ ॥ ३९९ ॥

गृहीतार्थो गणी प्रार्थ्यः क्षपकस्योपसेदुषः ।

निर्यापकश्चरित्राढ्यो जायते सर्वयत्नतः ॥ ४१० ॥

विजयोदया—गीदत्यो चरणत्यो गृहीतार्थः जानी चरणस्थ । पच्छेदूणागदस्स प्रार्थयित्वागतस्य । खवगस्स क्षपकस्य । सब्बादरेण जुत्तो सर्वादरेण युक्तः । णिज्जवगो होइ आयरिओ निर्यापको भवत्याचार्य ॥

मूलारा—पत्थेदूण प्रार्थ्य । आगदस्स आश्रितस्य ॥

अर्थ—प्रार्थना करके आये हुए आचार्य को अर्थात् क्षपकका समाधिमरण साध्य करानेवाला निर्योपका-  
चार्य आगे लिखे हुए लक्षणोसे युक्त होना चाहिये. अर्थात् वह गीतार्थ जीवादि पदार्थोंका वेत्ता, ज्ञानी, चारित्र्यो-  
त्थिर, क्षपक के ऊपर पूर्ण आदर रखनेवाला होना चाहिये

संविग्गवज्जभीरुस्स पादमूलमि तस्स विहरंतो ॥

जिणवयणसव्वसारस्स होदि आराधओ तादी ॥ ४०० ॥

संविग्रस्याधभीतस्य पादमूले व्यवस्थितः ॥

अर्हदागमसारस्य भवत्याराधको यतिः ॥ ४११ ॥

इति परगणचर्यासूत्रम् ।

विजयोद्या—सविग्गवज्जभीरुस्स संसारभीरो, पापकर्मभीरोश्च तस्य गुरोः पादमूले वर्तमानो जिनवचन-  
सर्वसारस्य भवत्याराधकः । तादी यति । संते सगणे, गीदत्थो, सविग्गवज्जभीरु इत्येतत्सूत्रत्रयेण परगणे चर्याया गुणो  
व्याख्यातः ॥ परगणचर्या ॥

मूलारा—विहरंतो वर्तमानः । जिणेत्यादि जिनप्रवचनस्य सर्वस्य सारो अतिशयितं रूप आराधना तस्या  
आराधको भवतीति संबंध । तादी यति । परगणचर्या अंकत १५ सूत्रत १७ ॥

अर्थ—जो संसारसे भय युक्त है, जो पापकर्मभीरु है और जिसको जिनागमका सर्व सार मालुम हुआ है  
ऐसे आचार्य के चरणमूलमें वह यति समाधिमरणोद्यमी होकर आराधनाकी सिद्धि करता है. “ संते सगणे, गीदत्थो,  
संविग्गवज्जभीरु ” इन तीन गाथाओंसे परगणमें चर्या करना गुणयुक्त है ऐसा सिद्ध किया है. गणचर्या नामक  
प्रकरण समाप्त हुआ.

मार्गान्निरूपणार्थमुत्तरप्रबंध—

पंचच्छसत्तजोयणसदाणि तत्तोऽहियाणि वा गंतुं ॥

णिज्जावगमणोसदि समाधिकामो अणुण्णादं ॥ ४०१ ॥

पंच पट् सप्त वा गत्वा योजनानां शतानि सः ॥

निर्यापकमनुज्ञातुं समाधानाय मार्गति ॥ ४१२ ॥

विजयोदया—पचच्छसत्तजोयणसदृणि पचपदसप्तयोजनशतानि ततोऽभ्यधिकानि वा गत्वा अन्येपते निर्यापकं । शालेण अनुज्ञातं समाधिकामो यति ॥

अथ क्षेपकस्य परगणप्रवेशोदतस्य समाध्यर्थं निर्यापकाचार्यान्त्येपमाणस्य क्रमं सप्तदशभिर्गार्थाभिर्निगदति—  
तत्र तावन्मार्गणक्षेत्रपरिमाणं निर्दिशति—

मूलतरा—अणुण्णादं शालेणानुमतम् ।

मार्गणा नामकं ग्रकरणका निरूपण करनेके लिये उत्तर ग्रंथ—

अर्थ—जिसको समाधिमरणकी इच्छा है ऐसा मुनि पाचसे योजन, छत्से योजन, सातसे योजन अथवा उससे भी अधिक योजनतक विहार कर शास्त्रोक्त निर्यापकका शोध करता है.

स्पष्टार्थोत्तरगाथा—

एक व दो व तिणिं य वारसवरिसाणि वा अपरिदत्तो ॥

जिणवयणमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥ ४०२ ॥

एकद्वितीणि चत्वारि वर्षाणि द्वादशापि च ॥

निर्यापकमनुज्ञातं स मार्गयति निःश्रमः ॥ ४१३ ॥

मार्गणाकालपरिमाणं दर्शयति—

मूलरा -- तेषां अत्र वारसवरिसाणि इति निर्देशाच्चवतुरादिमंढ्यापरिश्रहो बोध्यः । अपरिसंतो अपरिविहटः अनुद्धिम इति यावत् ॥

अर्थ—समाधिमरणेच्छु मुनि एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष लेकर वारह वर्ष तक खेदयुक्त न होता हुआ जिनगमसे निर्णीत निर्यापकाचार्यका अन्यपण करता है



निर्यापकाव्येपणार्थं गच्छत' क्रममुदाहरति—

गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झेणपुच्छणाकुसलो ॥

थंडिल्लो संभोगिय अप्पडिवद्धो य सव्वत्थ ॥ ४०३ ॥

एकरात्रतनूत्सर्गः प्रश्नस्वाध्यायपंडितः ॥

सर्वत्रैवाप्रतीवंधः स्थंडिलः साधुसंयुतः ॥ ४१४ ॥

विजयोदया—गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झेण पुच्छणाकुसलो । गच्छेदेकरात्रिमवावाग्रे अथ्ययने परप्रदने च कुशल' । एकरात्रिभवा भिक्षुप्रतिमा निरूप्यते । उपवासत्रयं कृत्वा चतुर्थ्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्विहारे इमशाने वा प्राङ्मुखः, उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा भूत्वा चतुरंगुलमात्रपादातरो नासिकाग्रनिहितदृष्टिस्त्यक्तकायस्तिष्ठेत् । सुण्डु प्रणिहि चचित्तं चतुर्विधोपसर्गसहः न चलेन्न पतेत् यावत्सूर्य उदेति । स्वाध्यायं कृत्वा गन्धूतिद्वयं गत्वा गोचरक्षेत्रवसतिं गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मार्गस्तत्रसूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्या वा मंगलं कृत्वा याति एव स्वाध्यायकुशलता । प्रश्न-कुशलतोच्यते—वैत्सयतानार्थिका श्रावकाश्च, वालमध्यमवृद्धाश्च गृध्वा कृतगवेपणो याति इति प्रश्नकुशल' । यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थंडिलान्वेपणं कुर्यात् । कायशोधनार्थं संभोगयोग्य, यति, संघाटकत्वेन गृह्णीयात् । स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत् । एव स्थंडिलान्वेपणं संभोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यत्नपरः स्थंडिलसमो गो यतिरित्युच्यते । अंतरालग्रामनगरादिसन्निवेशस्थयतिगृहिसत्कारसन्मानप्राधूर्णकमकादौ सर्वत्र अप्रतिवद्धत्वात् अपण्डिवद्धो य सव्वत्थ इत्युच्यते ॥

निर्यापकाचार्यमार्गणाय गच्छत पंचधा विधिमाह—

मूलरा—एगरादियपडिमा अज्झेणपुच्छणाकुसलो एकरात्रिकप्रतिमाकुशलोऽध्ययनकुशलः, प्रच्छनकुशलश्च ।

वत्रैकरात्रिकभिक्षुप्रतिमा यथा—उपवासत्रयं कृत्वा चतुर्थ्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्विहारे इमशाने वा प्राङ्मुखः, उदङ्मुख-श्चैत्यमुखो वा भूत्वा चतुरंगुलमात्रपादातरो नासिकाग्रनिहितदृष्टिस्त्यक्तकायस्तिष्ठेत् । सुण्डु श्रीणहितचित्तश्चतुर्विधोपस-र्गसहो न चलेन्न पतेत् यावत्सूर्य उदेति । सैपा एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा । तत्र कुशल' । स्वाध्यायकशलस्तु यः स्वाध्यायं कृत्वा गोचरक्षेत्रवसतिं च गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मार्गस्तत्र सूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्या वा मंगलं कृत्वा याति । प्रश्नकुशलस्तु यत्रैत्सयतानार्थिकाश्रावकाश्च वालमध्यमवृद्धाश्च पृष्ठा कृतगवेपणो याति । थंडिलसंभोगिजदो यत्र भिक्षा कृता तत्र थंडिलं प्रासुकस्थानकायशोधनार्थमन्वेपते । समाचारात्मकः संभोगः । योग्य यति संघाटकत्वेन गृह्णीयात् । स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत् । एवं स्थंडिलान्वेपणे संभोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यस्य संघाटको भवेत् । एवं

स्थंडिलान्वेषणे समोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यत्नपरः स स्थंडिलसमोगियतिरित्युच्यते । अन्ये तु थंडिलं समोगिय इति पठित्वा स्थंडिलं दृष्टेति व्याख्याति । “अध्ययनप्रश्रवधौ निपुणोऽसर्वकारात्रिकाग्रनिमः ॥ स्थंडिलशायी यायाद-प्रतिवद्धश्च सर्वत्र ” ॥ इतरे तु स्थंडिलः स्थंडिलशायी, संभोगियुतः सधर्मयुक्त इति मत्वेदं पठेत् ॥ “एकरात्रतनूत्सर्ग-प्रश्नस्वाध्यायपंडितः सर्वत्रैत्य प्रतीग्रंथः स्थंडिलः साधुसंयतः ” ॥ अप्पडिवद्धो आसकिरहितः । सन्वत्य सर्वत्रातराल-ग्रामनगरादिसान्निवेशस्थयतिगृहसिक्तारसन्मानप्राधूर्णकभक्तादौ ॥

निर्मापक का अन्वेषण करनेके लिये निकले हुये आचार्य का कार्यक्रम व्रतते हैं —

अर्थ—एकत्रिप्रतिमाकुशल, अध्ययनकुशल और प्रश्नकुशल ऐसा वह मुनि निर्मापकाचार्य का अन्वेषण करने के लिये विहार करता है—एकत्रिप्रतिमाकुशल का स्वरूप कहते हैं—तीन उपवास करनेके अनंतर चौथे रात्रीमें ग्रामनगरादिके ब्रह्मा प्रदेशमें अथवा श्मशानमें, पूर्वदिशा, उत्तरदिशा अथवा चैत्य-जिन-प्रतिमाके सन्मुख मुखकर दोनो चैरणोंमें चार अंगुल प्रमाणका अंतर रखकर नासिकाके अग्रपर वह यति अपनी दृष्टि निश्चल करता है, शरीरपरका ममत्व छोड़ देता है अर्थात् कायोत्सर्ग करता हुआ मनको एकाग्र करता है, देव, मनुष्य, तिर्यच और अचेतन इनके द्वारा किया हुआ उपसर्ग सहन करता है, वह मुनि भयसे आगे गमन करता नहीं और नीचे गिरता भी नहीं है, अर्थात् निर्भय होकर स्वस्थानमें ही द्योदय होने तक स्थिर रहता है, यह एक रात्रिप्रतिमाकुशल है जो मुनि साध्याय कर दोन मोस गमन करता है और जहां आहार मिलेगा ऐसे क्षेत्रमें वसतिकामें जाकर ठहरता है, यदि मार्ग दूर होय तो सूत्रपौरोपी अथवा अर्थपौरोपी के समय मंगल करके आगे गमन करता है वह स्वाध्याय कुशलमुनि है.

प्रश्नकुशल मुनिका स्वरूप—चैत्य, मुनि, आर्यिका, श्रामक, बाल, मध्यम और दृढोंको पूछकर निर्माप-काचार्यका अन्वेषण करता है, जहां भिक्षा प्राप्त हो गई वहां जो स्थंडिलका अन्वेषण करता है, अर्थात् शरीर शोधन के लिये प्राप्त स्थान का अन्वेषण करता है, वह स्थंडिलशायी मुनि है, समोगकुशल—सहायता करनेवाले योग्य यतिके साथ विहार करनेवाला, किंवा योग्य यतिका आश्रय करनेवाला अथवा योग्य यतिको स्वयं मदत करनेमें जो कुशल है वह यति समोगकुशल माना जाता है, मार्गमें ग्राम, नगरादिकमें रहनेवाले यति और

गृहस्थोंके सत्कार, सम्मानमें जो मोह नहीं करता है, जो अतिथि और भक्तादिकों पर मोहयुक्त नहीं होता है ऐसे मुनिको अप्रतिवद्ध कहते हैं। निर्यापकाचार्यका शोध करनेके लिये निकले हुए मुनिका स्वरूप इस प्रकार है

आलोचनापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि अंतरा हु अमुहो हवेज्ज आराहओ होज्ज ॥ ४०४ ॥

यद्यपि प्रस्थितो मूले स्वरारालोचनापरः

संपद्यते तरां मूकस्तथाप्याराधको मतः ॥ ४१५ ॥

विजयोद्या—आलोचनापरिणदो रत्नत्रयातिचारान्मनोवाक्कायविकल्पानात्सीयान्युरोर्निवेदयिष्यामीति कृत-  
संकल्पः । सम्म आलोचनादोषान्परित्यज्य संपत्थिदो यातुमुद्यत । गुरुसगास गुरुसमीपं । जदि अंतरा खु यद्यन्तराल  
एव । अमुहो हवेज्ज पतितजिह्वो भवेत् । आराधयो होज्ज आराधको भवति ॥

सम्यगालोचयिष्यामीति प्रणिधानपरो गुरुसंमुखं चळितो दैवादंतराले एव अवचनीभूतोऽप्याराधकोऽस्तीति  
उपदिशति—

मूलारा—आलोचनापरिणदो रत्नत्रयातिचारान्मनोवाक्कायविकल्पानात्सीयान्युरोर्निवेदयिष्यामीति कृतसंकल्पः ।  
सम्मं सम्यक् आलोचनादोषं परित्यज्येत्यर्थः । संपत्थिदो यातुमुद्यत । अमुहो निर्वचनः ॥

अर्थ—मन वचन और कायके द्वारा रत्नत्रयमें जो अतिचार लगे हैं वे सब गुरुके पास जाकर मैं कहूंगा  
अर्थात् गुरुके समीप दोषोंकी आलोचना करूंगा ऐसा मनमें विचार कर जो साधु गुरुके पास जानेके लिये निकला  
परंतु यदि मार्गमें ही वह मूकावस्थाको प्राप्त हो जावे तो भी वह आराधक होता है—आराधक माना जाता है.

आलोचनापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि अतरम्मि कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०५ ॥

यद्यपि प्रस्थितो मूले स्वरारालोचनापरः

विपद्यतेऽन्तरालेऽपि तथाप्याराधकोऽस्ति सः ॥ ४१६ ॥

विजयोदया—आलोचनापरिणदो स्वापराधकथनावहितचित्त । गुरुसमीपमागच्छतो यद्यतराल एव कालं कुर्यात् । आराधगो होइ आराधको भवति ॥

आलोचनापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि आयरिओ अमुहो हवेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०६ ॥

आलोचनाप्रवृत्तस्य गच्छतः सूरिसन्निधिं ॥

यद्यप्यस्त्यमुखः सूरिस्तथाप्याराधकोऽस्ति स' ॥ ४१७ ॥

विजयोदया—तथा आलोचनापरिणत गुर्वन्तिकं प्रस्थित. आराधको भवति। यद्याचार्यो बन्तुमशक्तो जात' ॥

आलोचनापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि आयरिओ कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०७ ॥

आलोचनाप्रवृत्तस्य गच्छतः सूरिसन्निधिं ॥

यद्यपि त्रियते सूरिस्तथाप्याराधकोऽस्ति स' ॥ ४१८ ॥

विजयोदया—आचार्य कालकरणेऽप्याराधको भवति इति सूत्रार्थः ॥

तद्वन्मृतोऽप्याराधकोऽस्तीत्याह —

मूलारा—स्पष्टाः ॥

अर्थ—मैं अपने अपराधोंका स्वरूप गुरुके चरणसमीप जाकर कहूंगा ऐसा मनमें विचार कर निकला हुआ मुनि यदि मार्गमेंही मरण करे तो भी वह आराधक होता है.

अर्थ—मैं अपने अपराध परगणके आचार्य के पास कहूंगा इस अभिप्रायसे गमन करनेवाले आचार्य यदि मार्गमें ही मृकावस्थाको प्राप्त होजावे तो भी वे आराधक होते हैं. अर्थात् यदि वे व्याधिजर्जरित होकर बोलनेमें असमर्थ हो गये तो भी वे आराधक होते हैं.

अर्थ—आलोचना करनेके उद्देशसे गुरुके समीप निकले हुए आचार्य यदि मार्गमें स्वर्गवासी हो जावे तो भी वे आराधक माने जाते हैं.

कयं आराधकता तस्या ? न कृता आलोचना ? नाचरितं गुरूपदिष्टं प्रायश्चित्तमित्यादेकायामाचष्टे—

सहं उद्धरिदुमणो संवेगुब्बेगतिव्वसद्वाओ ॥

जं जादि सुद्धिहेदुं सो तेणाराहओ भवदि ॥ ४०८ ॥

संवेगोद्बेगसंपन्नः शुद्धयै गच्छत्यसौ यतः ॥

मनःशल्यं निराकर्तुं भवत्याराधकस्ततः ॥ ४१९ ॥

विजयोदया—कृतापराधानालोचनायां मायाशल्यं भवति । सति मायाशल्ये न रत्नत्रयशुद्धिरिति मत्वा शल्य-  
मुद्धर्तुमना । संवेगुब्बेगतिव्वसद्वाओ संसारभीरुता संवेग , शरीरस्याशुचितामसारता, दुःखदुःखतां चावलोक्य, तथेन्द्रिय-  
सुखानामवृत्तिकारिता, वृष्णाभिवृद्धिनिमित्ता च तत्रोद्बेगः । तौ संवेगोद्बेगौ, तीव्रा मरणकाले रत्नत्रयाराधना श्रद्धा च  
यस्य विद्यते स उच्यते संवेगुब्बेगतिव्वसद्वाओ इति । अथवा संवेगोद्बेगाभ्या प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यस्य रत्नत्रयाराध-  
नाया स एव भण्यते । जं जादि सुद्धिहेदुं यस्माच्छुद्धिनिमित्तं याति । सो तेण आराहओ होदि स तेन आराधको भवति ॥

कथमनालोचितस्याननुष्ठितगुरुकृपायश्चित्तस्याराधकत्वं स्यादित्याशंकायामाह—

मूलारा—सहं कृतापराधानालोचने सति मायाशल्यं रत्नत्रयाशुद्धिं कृतं । उब्बेग शरीरोद्बेगमुल्ले चासारत्व  
वृष्णाभिवर्द्धकत्वादितोपदर्शनादुद्बेगो वैराग्यं । तिब्बसद्वा उत्कटमारणातिकरत्नत्रयाराधनारुचिः । संवेगादित्रयं गच्छति यः  
स तथोक्तः । अथवा संवेगोद्बेगाभ्या प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यत्सेति ग्राह्यम् । सोधिहेदुं शुद्धिनिमित्तम् ॥

जिसने आलोचना नहीं की, जिसने गुरुकथित प्रायश्चित्तका आचरण नहीं किया है वह मुनि आराधक  
कैसा माना जाता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—अपराध करके भी जो आलोचना नहीं करता है वह मुनि मायावी समझना चाहिये, मायाशल्यके  
दोनेसे रत्नत्रयमें निर्मलता होती नहीं ऐसा मनमें विचार कर शल्यका उद्धार करनेका जिसने विचार किया है  
जिसके मनमें संसारभय उत्पन्न हुआ है, शरीर अपवित्र, निःसार और दुःख देनेवाला है, इन्द्रियसुख अवसिजनक  
और वृष्णा बढ़ानेवाला है, ऐसा विचार कर जो उससे उद्धिय हुआ है और जिसके मनमें रत्नत्रयविषयक श्रद्धा  
तीव्रतासे प्रगट हुई है और जो अपराध निवेदनके लिये गुरुके पास जा रहा है ऐसे मुनिकी यदि मार्गमें वचन

शक्ति नष्ट हो गई अथवा वह शक्ति मार्गमें मृत्युवश हो गया तो बिना आलोचनार्थक भी रत्नत्रयाराधक माना जाता है.

निर्यापकसूर्यान्वेपणार्थं गच्छतो गुणमाचष्टे -

आचारजीदिकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिणिज्झंक्षा ॥

अज्जवमहवलाघवतुठीपल्हादणं च गुणा ॥ ४०९ ॥

आचारजीदिकल्पानां जायते गुणदीपना ॥

गुणाः स्वशुद्धयसंश्लेशौ मार्दवाजवचतुष्टयम् ॥ ४२० ॥

विजयोदया - आचारजीदिकप्पगुणदीवणा आचारस्य जीदिसंज्ञितस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना । एतानि हि शास्त्राणि निरतिचाररत्नत्रयतोमेव दर्शयन्ति । तदर्थमेवान्वेषक प्रयतते । अत्तसोधि आत्मन शुद्धि, णिज्झंक्षा मलेशाभाव । न हि संक्लेशवानित्यं दूर प्रयातुमीहते । स्वदीपप्रकटनान्माया त्यक्ता भवत्येव, तत एव माननिरासो मार्ह्य । शरीरपरित्यागाहितबुद्धितया लाघवं । कृतार्थोऽस्मीति तुष्टिर्भवति । प्रस्थितस्य प्रल्हादन हृदयसुखं च स्वपरोपकाराभ्या गमित काल; इत उत्तरं मदीय एव कार्ये प्रधाने उद्युक्तो भविष्यामि इति चिंतया ॥

निर्यापकसूर्यान्वेपणार्थं गच्छतो गुणानाचष्टे--

मूलारा - आचारस्य जीदस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना एतानि हि शास्त्राणि रत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति । तदर्थमेव चान्वेषकः प्रयतते । णिज्झंक्षा संक्लेशाभावः । न हि संक्लेशवानित्यं दूरं प्रायतुमीहते । अज्जवं मायात्यागः । स्वदीपप्रकटनान्यथायोगात् ॥ मार्दवं माननिरासस्तत एव लाघव लोभनिर्जयः । शरीरत्यागाहितबुद्धित्वात् । तुष्टी कृतार्थोऽस्मीति प्रीतिः । पल्हादणं स्वपरोपकाराभ्या गमितः काल इत उत्तरं स्वकार्ये एवेद्युक्तो भविष्यामीति चिंतयोद्भूतं यत्सुखं । एतेषु गुणा सुर्वन्वेपणार्थं प्रस्थापितो भवन्ति ॥

निर्यापकाचार्यका शोध करनेके लिये विहार करनेवाले आचार्य के गुणोंका वर्णन--

अर्थ--निर्यापकाचार्यका शोध करनेके लिये विहार करनेसे आचारशास्त्र, जीतशास्त्र और कल्पशास्त्र इनके गुणोंका प्रकाशन होता है. ये शास्त्र निरतिचार रत्नत्रयका स्वरूप दिखाते हैं और अन्वेपक मुनि रत्नत्रय निर्मल

करनेके लिये अवश्य प्रयत्न करता है. आत्मशुद्धि अर्थात् आत्माकी शुद्धि होती है, संकेशपरिणाम नष्ट होते हैं. अथवा विहार करना हेतुशदायक है ऐसा जो समझता है वह गुरुका अन्वेषण करनेके लिये क्यों कष्ट सहेगा परंतु जिनको आराधनासिद्धि करनेकी इच्छा है वे कष्ट सह कर गुरुका अन्वेषण करते हैं. और इस कार्यमें वे कष्ट समझते नहीं. अज्जवगुण-गुरुका अन्वेषण करनेके लिये विहार करनेसे आर्जव गुणकी सिद्धि होती है अर्थात् कपटका त्याग होता है. क्योंकि गुरुका शोध कर उसके आगे अपने दोषोंको मायाका त्याग कर प्रगट करनेसे आर्जव-गुणकी प्राप्ति होती है. दोष प्रगट करनेसे अभिमानका भी परिहार होकर मार्दव गुणका लाभ होता है. शरीरका परित्याग करनेकी बुद्धि होनेसे लाघव गुणका लाभ होता है मैं कृतार्थ हो चुका ऐसा विचार मनमें आता है इससे तुष्टि गुण भी व्यक्त हुआ. गुरुका शोध करनेके लिये प्रयाण करते समय प्रव्हाद अर्थात् हृदयमें सुख उत्पन्न होता है. आजतक मैंने स्वपरोपकार करनेमें काल व्यतीत किया अब मैं आगेका सर्व काल मेरे कार्यमें ही अर्पित चार आराधनाओंकी सिद्धिमें ही व्यतीत करूंगा ऐसी चिन्तासे उसके हृदयमें सुख उत्पन्न होता है.

इत्थं गुर्वन्वेषणार्थमायात दृष्ट्वा तद्गणवासिना सामाचारकमं व्याहरति -

आएसं एज्जंतं अब्भुट्ठितं सहसा हु दट्ठणं ॥

आणासंगहवच्छेदाए चरणे य णाहुंजे ॥ ४१० ॥

आलोक्य सहसा यान्तमभ्युत्तिष्ठन्ति संयता.

आज्ञासंग्रहवात्सल्यप्रणामकृतयोऽखिलाः ॥ ४२१ ॥

विजयोदया - आपसं प्राघूर्णकं । एज्जंतं आयातं । दट्ठण दृष्ट्वा । सहसा अब्भुट्ठिति शीघ्रमभ्युत्थानं कुर्वन्ति यतयः । आणासंगहवच्छेदाए अण्डुडो समणो सुचत्थविसारदो उवासिज्ज इति जिनाज्ञासंपादनार्थं आगच्छंतं संय-हीणु । वत्सल्यतया च तस्मिन्चरणे य णाहुं च चरित्वा समाचारकमं तदीयं ज्ञातुं च अभ्युत्थानं कुर्वन्ति । क्वचित्पाठः "चरणे य णाण्डुं" इति चरणावगमनार्थं तत्र ग्राह्यम् ॥

गुर्वन्वेषणार्थमायात दृष्ट्वा तद्गणवासिभिः करणीयं समाचारकमं गाथाव्रयेण निरूपयति—

मूलारा—आएसं प्राघूर्णकं । एज्जंतं आगच्छंतं अब्भुट्ठितं अभ्युत्थानं कुर्वन्ति । वात्सल्य मुनयः । आणासंगह-

अन्धमुष्ट्या समणा सुतत्थविसारदा उवासेज्ज इति जिनाज्ञासंपदनार्थं संग्रहः । आगच्छतो मुनेः सामुख्येन प्रतिग्रहणं । चरणे य गाहुंजे तदीयचरित्र समाचारक्रमं च ज्ञातुमिति टीका । अन्येतु चरणेवणामेदुं चरणान्वनमनार्थं इति प्रतिपन्नाः ।

उक्तं च — अभ्युत्तिष्ठन्त्यध्वा दृष्टवैवागामुकं समायातं ॥

संग्रहवातसत्याज्ञाप्रणामहेतोः सुपंथमिन ॥

इस प्रकार गुरु का अन्येषण करनेके लिये आये हुए उस मुनीको देखकर परगणवासी मुनि उसके साथ कैसा वर्ताव करते हैं इस विषयका विवेचन ग्रंथकार करते हैं

अर्थ—अतीर्थ मुनि आता हुआ देखकर परगणस्थ यति सहसा शीघ्र खड़े हो जाते हैं, खड़े होजानेमें जिनाज्ञाका पालन होता है, आगत मुनिका स्वीकार होता है और वात्सल्य गुण प्रगट होता है, सूत्रार्थनिपुण मुनिकी उपासना भी ऐसे कृत्य करनेसे होती है, आगत मुनिका आचार भी इस उपायसे जाना जाता है इत्यादिका रणार्थ आगत मुनिको देखकर शीघ्र खड़े होजाना चाहिये,

आगंतुगवच्छब्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णेहिं ॥

अण्णोणचरणकरणं जाणणहेदुं परिक्षवति ॥ ४११ ॥

वास्तव्यांगंतुकाःसम्यक् विविधैः प्रतिलेखनैः ॥

क्रियाचारित्र्यवोधाय परीक्षन्ते परस्परम् ॥ ४२२ ॥

विजयोदया — आगंतुगवच्छब्वा आगतुको वास्तव्याश्च । पडिलेहाहिं तु दृष्ट्वा । अण्णमण्णेहिं अन्योन्यं । अण्णोणचरणचरणं अन्योन्यस्य चरण करणं वा । परिक्षवति परीक्षते । किमर्थं जाणणहेदुं ज्ञातुं । समितयो गुप्तमश्चरण-शब्देनोच्यते करणमित्यावश्यकानि गृहीतानि । आचार्याणामुपदेशभेदात्सामाचारोऽनेकप्रकारो दुरवगमः त ज्ञातुं सद्वावस्थानयोग्यो न वायमिति ज्ञातुं वा ॥

मूलार—वच्छब्वा वास्तव्या तत्रत्या यतय । पडिलेहाहिं तु दृष्ट्वा । अण्णमण्णाहिं अन्योन्यं । अण्णोण-चरणकरणं अन्योन्यस्य चरणकरणं गुप्तिसमितया । करणं चावश्यकानि ॥ जाणणहेदुं ज्ञातुं, सूरीणामुपदेशभेदात्सामाचारोऽनेकप्रकारो दुरवगम इति तं ज्ञातुं । सद्वावस्थानयोग्यो न वायमिति वा ज्ञातुं । अन्ये तु प्रतिलेखनैरन्योन्य



करणादिज्ञानार्थं परीक्षते इति प्रतिपन्ना ॥ तथा च तत्पाठः—आंगंतुकवास्तव्याः प्रतिलेखाभिः परस्परं यतयः ॥  
अन्योऽन्यचरणकरणज्ञाननिमित्तं परीक्षते ॥

अपि च—वास्तव्यांगंतुकाः सन्धिविविधैः प्रतिलेखनैः ॥

क्रियाचरित्रबोधाय परीक्षते परस्परम् ॥

अर्थ—आया हुआ मुनि और गणके वास्तव्य अर्थात् दोनो मुनि अन्योन्यके आचरणका प्रकार परीक्षा पूर्वक देखते हैं, आये हुए मुनिकी समिति और गुप्तियां निर्दोष हैं या सदेष्ट हैं इसका परीक्षण वास्तव्य मुनि करते हैं, आंगंतुक मुनि भी उनके समिति गुप्तियोंकी परीक्षा करता है, सामायिकादिक छह आवश्यकोंकी भी वे मुनि अन्योन्य परीक्षा करते हैं, अथवा आचार्यके उपदेशभेदसे आचार अनेक प्रकारका है, उसका परिज्ञान करनेके लिये वे अन्योन्यकी परीक्षा करते हैं अथवा आगतमुनि अपने साथ रहनेकी योग्यता रखता है या नहीं यह जाननेके लिये वे मुनि परीक्षा करते हैं.

क परीक्ष्यते इत्यत्राह—

आवासयठणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिकखेवे ॥

सज्झाए य विहारे भिक्खगहणे परिच्छंति ॥ ४१२ ॥

आवश्यके ग्रहे क्षेपे स्वाध्याये प्रतिलेखने ॥

परीक्षन्ते वचोमार्गे विभाराहारयोरपि ॥ ४२३ ॥

विजयोदया—आवासगठणादिसु अवश्यमेव सवरनिर्जराधिभि कर्तव्यानि सामायिकादीनि आवश्यकान्युच्यते तेषां स्थिति आवश्यकपरिणतिकाल । उज्जणद् जहाजाद् वारसावचमेव च । चतुस्सिर तिसुद्धमित्यादिका क्रिया आदिशब्देन गृहीता । तेषु आवश्यकस्थानादिसु । पडिलेहणवयणगहणणिकखेवे । प्रतिलेखने चक्षुषा उपकरणे वा, वचने, उपकरणाना ग्रहणे, निक्षेपे, च सज्झाए स्वाध्याये, विहारे जंघाविहारे, भिक्खगहणे भिक्षाग्रहणे च परिक्खंति परीक्षते । किमय सामायिकादीन्यावश्यकानि करोति ? कर्त्तव्यि वा यथाकालं करोति न वा ? किं वा द्रव्य-सामायिकादौ प्रवर्तते उत भावसामायिकादौ ? द्रव्यसामायिकादिक भवति सामायिकादिकं पठत, कथेन चोक्ता क्रिया कुर्वत । सावद्ययोगप्रत्याख्यते, तीर्थहृद्गुणानुसरणे, आचार्योपाध्यायादीनां वा गुणानुस्मृतौ, स्वातिचारनिर्दिगर्हयो,

प्रत्याख्येयप्रत्याख्यानं, शरीरममत्तानिरासे वा, परिणतिर्भावसामायिकादिकं । तत्र प्रवृत्तौ न वेति परीक्षा । चक्षुषा पूर्वमिदं प्रतिलेखनं योग्यं न वेति किं पश्यति न वा । उपकरणेन मुद्रुना लघुना प्रमाजनेन किं करोति न करोति वा । अथवा त्वरितं प्रमाजयति, अवपीडयति, दूरवास्यान्यातयति, प्रमाजनेन विरोधिनो जीवान्मिश्रयति । आहारामुखात्, आहारप्राद्विणो गृहीताडकक्रान्, स्वनिवासवेदस्थानं, मूर्च्छासुपगतान्यमार्जयति न वेति परीक्षा । वचने परीक्षा--परुष वच, परनिवात्मप्रशसावृत्त, आरुमपरिग्रहयो प्रवर्तकं, मिथ्यात्वसपादकं, मिथ्याज्ञानकारि, व्यलीकं, गृहस्थाना वचो वा वदति न वेति । यतो यदादेय यदा यत्र निक्षिपति तदुभयप्रमाजनेपूर्वकं किं गृह्णाति निक्षिपति वा नेति परीक्षा । काला दिशुद्धिं कृत्वा पठति किं वा न, अथवा इमं ग्रन्थ पठति, कथं वास्यायं व्याचष्टे । स्वनिवासदेशादुरे हस्तमात्रादिपरिमाणे स्थण्डिले, निर्जलके निश्चिद्रे, समे, अविरोधे मार्गजनेनानवलोभ्ये किं स्वशरीरमल त्यजति उतातो विपरीते इति विहारे परीक्षा । शिक्षाग्रहणे परीक्षा नाम आम्रयो या काचिद्विज्ञा गृह्णाति लब्धमुत्त नवकोटिपरिशुद्धामिति ॥

क क परीक्षिते इत्यत्राह—

मूलारा—आवासयठाणादिसु आवश्यकेषु सामायिकादियु, स्थानं स्थितिरावश्यकपरिणतिकाल इत्यर्थः । आदिशब्देन दुःखदं जहाजादं भारसावत्तमेव य । चक्षुस्तिरं तिसुद्धिभित्यादिकाः क्रिया गृहीताः । पण्डिलेहणा चक्षुःपिण्डा-विना प्राणिनिरूपणप्रमाजने । विहारे गमने ॥

अर्थ—संवर और निजराकी इच्छा रखनेवाले सुनिश्चयोंके द्वारा किये जानेवाले सामायिकादि कर्तव्योंको आवश्यक कहते हैं. अर्थात् सामायिकादि छह आवश्यकोंका पालन आगत मुनि योग्य समयपर करता है या नहीं इसकी परीक्षा वास्तव्य मुनि करते हैं. दो नमस्कार, चारा आवर्त, प्रत्येक दिशाके तरफ एकेक नमस्कार ऐसे चार नमस्कार, मन, वचन और कायकी शुद्धिसे करना इत्यादिक क्रियाओंका पालन यह मुनि करता है वा नहीं इसका सूक्ष्म अवलोकन वे करते हैं, नेत्रोंसे उपकरणोंका शोधन करना, सोध करके उपकरण उठाना, रखना, बोलना, स्वाध्याय करना, विहार करना, आहार ग्रहण करना इत्यादि कार्योंमें आगत मुनीकी परीक्षा] ली जाती है. यह मुनि सामायिकादि कर्तव्य करता है क्या ? योग्य कालमें करता है या नहीं ? केवल द्रव्यसामायिकादिकोंमें यह प्रवृत्त होता है या भावसामायिकादिकोंमें इसकी प्रवृत्ति है ? वचनसे सामायिकादिकका पाठ बोलना और शरीरके सामायिकादिकोंकी क्रिया करना यह द्रव्यसामायिक समझना चाहिये अशुभ योगका त्याग करना, तीर्थकरोंके गुणोंका स्मरण करना, आचार्य, उपाध्याय वगैरह पूज्य मुनिओके गुणोंका स्मरण करना, अपने व्रतमें लगे हुए अतिचारेकी निंदा व गर्हा करना, त्याज्य पदार्थोंका त्याग करना, शरीरके उपरका स्नेह छोडना इत्यादिकोंमें जो तत्परता

देखी जाती है वह सामायिकादिक आवश्यक है, इन भावसामायिकादिकोंमें इसकी परिणति है या नहीं यह वास्तव्य मुनि देखते हैं, यह स्थान प्रथम नेत्रसे देखकर स्वच्छ करता है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं मृदु पिच्छिकासे जमीन, कर्मंडलु, शास्त्र वगैरे उपकरण स्वच्छ करता है या नहीं, धीरे धीरे समार्जन करता है या त्वरित, जीवोंको उपकरणसे हटाता हुआ उनको पीडा करता है क्या ? उनको फेक देता है क्या ? अथवा विरोधी प्राणिओंको परस्पर मिश्रण करता है क्या ? जो आहारके लिये जा रहे हैं, जिन्होंने आहार ग्रहण किया है, जिन्होंने अण्डे ग्रहण किये हैं, जो अपने निवास प्रदेशमें ठहरे हुए हैं, जो मूर्च्छित होकर पड़े हैं ऐसे प्राणिओंको यह मुनि धीरेसे हटाता है या नहीं उसकी वास्तव्य मुनि परीक्षा करते हैं, आगत मुनि के वचन की भी परीक्षा करते हैं अर्थात् आगतमुनि कठोर वचन, परिनिदा स्वशंसा करता है क्या ? आश्रमपरिग्रहोंमें प्रवृत्त करनेवाला, मिथ्यात्वको उत्पन्न करनेवाला मिथ्याज्ञानको उत्पन्न करनेवाला, असत्य, और गृहस्थोंका वचन बोलता है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं, जो वस्तु जिस स्थानसे लेना है और जो वस्तु जिस स्थान पर रखना है उन वस्तुओंका प्रमार्जन करके ग्रहण निक्षेपण करता है या अन्यथा उसमें प्रवृत्ति करता है इसका वे मुनि परीक्षण करते हैं कालादिशुद्धि का विचार कर स्वाध्याय करता है वा नहीं ? अथवा इस ग्रंथका यह मुनि पठन कर किस रीतीसे अर्थ कहता है, इसकी भी परीक्षा करते हैं, विहारपरीक्षाका स्वरूप इस प्रकार है—अपने निवासस्थानसे दूर हात वगैरे प्रमाणसे युक्त, प्राणिरहि, त, छिद्ररहित, समतलयुक्त विरोधरहित, मार्गसे चलनेवाले लोक जिसको नहीं देख सके ऐसे स्थानमें यह मुनि शरीरमलका त्याग करता है ? अथवा विपरीत स्थानमें शरीरमलका विसर्जन करता है इसकी परीक्षा करते हैं, यह विहारपरीक्षा कही जाती है, मिक्षाग्रहणपरीक्षा—जो कुछ आहार मिलेगा वह ग्रहण करता है अथवा नवक्रोडि विशुद्ध आहार ग्रहण करता है इसका भी वास्तव्य मुनि विचार करते हैं

आगतुको यतिगुरुमुपाश्रित्य सविनयं सघाटकदनेन भगवन्नुप्राह्योऽस्मीति विज्ञापनां करोति । ततो गणधरेणापि समाचारको दातव्यं सघाटक इति निगवृत्ति—

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दादव्वो ॥

सेज्जा सथारो वि य जइ वि असंभोइओ होइ ॥ ४१३ ॥

देयः संघाटोऽवश्यमागताय विनत्रयम् ॥

असंस्तुतस्य यत्नेन शय्यासंस्तरकावपि ॥ ४२४ ॥

विजयोदया—आएसस्स तिरत्तं प्राधुर्णकस्य विगत्तं । णियमा संघाडओ दु दादव्वो निश्चयेन सभाटको दातव्य एव । सेज्जा सथारो वि य वसति सस्तरश्च दातव्य । जइ वि असंभोइओ होइ । यद्यप्यपरीक्षितत्वात्सद्धानां रणीयो भवति । तथापि संघाटको दातव्यो भवति । युक्ताचारश्चेत्संगृह्यते ॥

आगंतुकेन च प्रश्रयमुपाश्रित्य भगवत्संघाटकदण्डेनानुग्राहोऽस्मीति विज्ञापितो गुरुस्तस्मै सामाचारज्ञं संघाटकं दद्यात् इति ज्ञापयति—

मूलारा—दु दादव्वो दातव्य एव तुरेवायौत्र भिन्नक्रमः । असंभोइओ असंभोगिकः सामाचारिक इत्यर्थः युक्ताचारश्चेत्संग्राह्य इति भावः ॥

आगंतुकं यति गुरुका आश्रयकर हे भगवन् ! सहाय देकर आप मेरे ऊपर अनुग्रह करो ऐसी विज्ञप्ति करता है तब आचारक्रमके ज्ञाता उसको संघाटक अर्थात् सहायमदन करते हैं यही भाव आगेके गाथामें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—अतिथिरूप मुनिको नियमसे तीन दिन तक सहायप्रदान करना चाहिये, उसको वसतिक्षा और संस्तर अर्थात् चटाई देना चाहिये, यद्यपि परीक्षा होनेतक उसके साथ आचारण करना योग्य नहीं है तथापि उसको सहाय देना चाहिए, और यदि उसका आचारण योग्य दीख पडा तो गणमें उसका संग्रह करना चाहिए,

विनत्रयोत्तरकाल किं कार्यं गुरुणेत्याशक्ताया वदति—

तेण परं अवियाणिय ण होइ संघाडओ दु दादव्वो ॥

सेज्जा सथारो वि य गणिणा अविजुत्तजोगिस्स ॥ ४१४ ॥

संघाटको न दातव्यो नियमेन ततःपरम् ॥

यतेर्गुत्तचरित्रस्य शय्यासंस्तरकावपि ॥ ४२५ ॥

अवणोत्तरकालं । तु शब्द एवकारार्थे प्रवर्तते स च दादव्यो इत्येतस्मात्परतो द्रष्टव्यः । न दातव्य एव संघाटकः । सेजा किं पुनरितरस्येत्याशयः ॥

त्र्यह्वादूर्ध्वं किं कार्यमित्याह—

मूलारा—तेण गंतव्येन गणिता । परं दिनत्रयादूर्ध्वं । अविचारिय अविचार्य । संघाटकयतिना सार्द्धं अवर्तयित्वा (१) अविजुत्तजोगस्स युक्काचारस्यापि आगंतुकस्य संघाटकादिकं युक्तयोगस्यापि परीक्षा विना न दातव्यमेव किं पुनरितरस्येत्यतिशयः । यदि परीक्षां क्षमते तदा संघाटकादिकं दातव्यमिति तात्पर्यः ॥

तीन दिनके अनन्तर गुरुके द्वारा कोनसा कार्य किया जाता है इसका विवेचन करते हैं—

अर्थ—तीन दिनके अनन्तर मुनिका वचन सुनकर अर्थात् यह आगंतुक मुनि अपने गणमें आश्रय देने योग्य नहीं है ऐसा वचन सुनकर आचार्य उस आगंतुक मुनिको सहायप्रदान नहीं करते हैं, तथा वसतिका और संस्तर भी उसको नहीं देते हैं, आगंतुक मुनिका आचरण योग्य है परंतु तीन दिनमें उसकी परीक्षा नहीं हुई तो उसको भी आचार्य सहाय, वसतिका और संस्तर नहीं देते हैं,

अविचार्य तेन सहावस्थाने को दोषो येनैवं यत्नः क्रियते इत्यारेकाया दोषमाचष्टे—

उरगमउप्पादणप्सणासु सोधी ण विज्जिदे तस्स ॥

अणगारमणालोह्य दोसं संमुज्जमाणस्स ॥ ४२५ ॥

गृह्णानस्य यतेः सुरेरनिराकृतदूषणम् ॥

उद्गमोत्पादनाहारदोषशुद्धिर्न जायते ॥ ४२६ ॥

विजयोदया—उरगमउप्पादणप्सणासु उद्गमोत्पादनैपणादोषपरिहारो न विद्यते तस्य गणितः । अणगारं यतिं ।

अणालोहय शोसं अनालोचितदोषं । संयुज्जमाणस्स संगृह्णतः । उद्गमादिदोषोपहृतमाहारं वसति, उपकरणं वा सेवते य-  
यति. तेन सह संवासात् संवासानुमतिं कुर्वता नानुमतिस्सक्ता भवति इति ॥

अविचार्य तेन सहावस्थाने को दोषो येनैवं यत्नः क्रियते इत्यारेकाया दोषमाचष्टे—

मूलारा—सोधी परिहर । उद्गमादिदोषाणा त्याग इत्यर्थः । तस्स गणितः । अणगारं यतिं । संयुज्जमाणस्स  
संगृह्णतः । उद्गमादिदोषोपहृतमाहारं वसतियुपकरणं वा यः सेवते तेन सह संवासात् । संवासानुमतिं कुर्वता नानुमति-  
स्त्यक्त्वा भवतीति मन्यते ॥

समाध्यर्थं प्रश्रयेण गुरुमुपाश्रित्यागमनकारणं निवेदयति—

विणयेणुवक्कमिन्ता उवसंपज्जदि दिवा व रादो वा ॥

दीवेदि कारणं पि य विणयेण उवाठ्ठिए संते ॥

मूलारा—विणरण प्रणामादिना । उवक्कमिन्ता परगणमिति शेषः । उवसंपज्जदि उपाश्रयति । निर्योपकाचार्यमिति  
शेषः । रादो रात्रौ । दीवेदि प्रकाशयति कारण स्वागमनस्येति शेषः । अयमन्त्रार्थः—उत्तमार्थसाधनोद्यतः पररणं गत्वा  
निर्योपकाचार्यमुपाश्रयति । ततश्च दिने रात्रौ वा अवसर प्राप्य तमुपाश्रितो विनयेनागमकारणं ब्रूते । एता टीकाकारो  
नेच्छति

अर्थ—जो मुनि दोषोंकी आलोचना नहीं करता है, जो उद्गम, उत्पादना एषणा दोषोंसे युक्त आहारका,  
वसतिकाका, उपकरणका और संस्तरका सेवन करता है ऐसे मुनिके साथ जो आचार्य रहता है अथवा उसके साथ  
रहनेके लिये अन्य मुनिओंको अनुमति देता है, वह भी आंगुलक मुनिके समान दोषी समझना चाहिये, जो आंगुलक  
मुनि उद्गमादि दोषोंसे अशुद्ध हुआ है वह आलोचना भी नहीं करता है, अत एव उसको संघसे अलग करनाही  
योग्य है, उसके दोषोंको विचार न कर उसके साथ रहनेसे स्वयं भी आचार्य और संघ अशुद्ध होगा

उब्वादो तं दिवसं विस्सामित्ता गणिसुवट्ठादि ।

उद्धरिदुमणोसच्छं विदिए तदिए व दिवसस्मि ॥ ४१६ ॥

स प्रणम्य गणनायकं त्रिधा भाषते निशि दिवाथ संश्रितः ॥  
आगमस्य विनयेन कारणं सिद्ध्ये न विनयं विना क्रिया ॥ ४२७ ॥  
विश्रम्यासौ शल्यमुद्धर्तुकामः श्रान्तः स्थित्वा वासरं तं द्वितीये ॥  
तत्राचार्यं ढौकते वा तृतीये न प्रारब्धं साधवो विस्मरन्ति ॥ ४२८ ॥

इति मार्गणासूत्रम् ।

विजयोदया—उब्बादो श्रान् स्थित्वा । तं दिवसं आगतदिनं । विस्सामित्ता विश्राम्य । गणिसुवट्ठादि आचार्य-  
क्रिया । उद्धरिदुमणोसह उद्धर्तुं मनःशल्य अतिचार । विदिपे तदिपे च दिवसस्मि द्वितीये तृतीये वा दिने मार्गणापुरस्सरं  
क्रिया सर्वं मार्गणेत्युपन्यस्ता ॥

ततो द्वितीयेऽन्हि तृतीये वा स्वशल्यमुद्धर्तुं गुरुपसर्पति—  
मूलारा—उब्बादो श्रान्तः । तं दिवसं आगमनदिनं । उवट्ठादि ढौकते । उद्धरिदुमणो हृदयान्निष्कासयितुकाम-  
सहं रत्नत्रयातिचारं । अत्र मार्गणानुपगिण्यपि क्रिया मार्गणेति उपन्यस्ता । मार्गणा सूत्रतः । १६ । अंकतः १७ ॥

अर्थ—मार्गश्रमसे खिल हुआ वह आगतुक मुनि पहले दिन श्रमपरिहारार्थ विश्रान्ति लेता है तदनंतर  
दूसरे दिन अथवा तीसरे दिनमें मनमें शल्यके समान बुझनेवाले अतिचारोंका उद्धार करनेके लिये आचार्यके चरण  
समीप वह प्राप्त होता है, मार्गणापुरःसर जो जो क्रिया की जाती है वे सब मार्गणा ही कही जाती है.

कीदृग्गुण. स्मरिनेनोपाश्रित इत्याचष्टे—

आधारवं च आधारवं च व्यवहारवं पकुब्बीय ॥  
आयावायविदंसी तेहव उप्पीलगो चेव ॥ ४२७ ॥  
आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकं ॥  
आयापायहटुत्पीडी सुग्गकार्यपरिस्रवं ॥ ४२९ ॥  
विजयोदया—आधारवं च आचारवान् । आधारवं च आधारवान् । व्यवहारवं च व्यवहारवान् । पकुब्बीय  
कर्तो । तेहव आयापायविदंसी आयापायदर्शनेद्यतः । उप्पीलगो चेव । अचपीडक ॥

अथैवं समाम्ब्यर्थं कृतपरिकर्मणा तेन युसुक्षुणा कीदृगुण. सूरिरुपाश्रित इति पृष्ठः सन् गायानवत्या निर्यापका-  
चार्यगुणधामं प्रपंचयिष्यन्नादौ तदुणानष्टाद्वेष्टु गायार्द्रयमाह—

मूलारा—आचार्यं आचारवान् । पशुन्वो प्रकर्तो । आयापायपिदंसी आयापाययो रत्नत्रयस्य लाभच्छेदयो-  
र्वर्शनोद्यतः उन्पीलगो अवपीडकः ॥

जित आचार्यता आंगतुक मुनि आश्रय करता है उसमें कोनसे गुण रहते हैं इसका विवेचन—

अर्थ—आचार्य आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्तो, आयापायदर्शनीयत, और उत्पीलक  
होता है.

अपरिस्ताई गिन्वावओ य गिज्जावओ पहिदकिची ॥

गिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥ ४१८ ॥

एभिर्निर्यापकः स्वरिगुणैरष्टभिरन्वितः ॥

दातुमाराधनामीशः पृथुकीर्तिरुपेयुषे ॥ ४३० ॥

विजयोदया—अपरिस्ताई अपरिस्तायी । गिन्वावओ निर्यापक । पहिदकिची प्रथितकीर्ति. । गिज्जवण  
गुणोवेदो निर्यापनगुणसमन्वित । एरिसओ होदि आयरिओ ईदृग्भवत्पाचार्य. ॥

मूलारा—गिज्जावगो-निर्यापकः । उक्तं च—

आचारी सूरिराधारी न्यवहारी प्रकारकः ॥

आयापायदिगुत्पीडी सुखकार्यपरिस्त्रवः ॥

एभिर्निर्यापकः स्वरिगुणैरष्टभिरन्वितः ॥

दातुमाराधनामीशः पृथुकीर्तिरुपेयुषे ॥

अर्थ—आचार्य अपरिस्तायी, निर्यापक, प्रसिद्ध कीर्तिमान और निर्यापकके गुणोंसे पूर्ण होते हैं, इतने  
गुण आचार्यमें होते हैं.



आचारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं ॥

उपदिसदि य आचारं एसो आचारवं णाम ॥ ४१९ ॥

आचारी स मतः सूरिरतिचारनिराकृतं ॥

चर्यते चार्यते येन पंचाचारोऽनुमन्यते ॥ ४२१ ॥

विजयोदया—आचारं पंचविह पंचप्रकारं आचार । चरदि विनातिचारं चरति । परं वा निरतिचारे पंचविधे आचारे प्रवर्तयति । उपदिसदि य आचार उपदिशति च आचार । एसो आचारवं णाम एण आचारवान्नाम । एतदुक्तं भवति—आचारागं स्वयं चेति ग्रथतोऽर्थतद्वच, स्वयं पंचविधे आचारे प्रवर्तते प्रवर्तयति च । पंचाचारवान् इति । पंच विधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः । जीवादितत्त्वश्रद्धानपरिणतिः दर्शनाचारः । हिंसादिनिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । चतुर्विधाद्वारत्यजन, न्यूनभोजनं, वृत्ते, परिसंख्यातं, रक्षणा त्यागः, कायं संतापनं विविक्तावास इत्येवमादिकस्तथाः संक्षिप्त आचारः । स्वशाक्यनिग्रहं तपसि वीर्याचारः । एते पंचविधा आचाराः ॥

मूलारा—पंचविहं पंचविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः । जीवादितत्त्वश्रद्धानपरिणतिर्दर्शनाचारः । हिंसादि निवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । अनशनादितपश्चरणपरिणतिस्तप आचारः, तपसि स्वशक्त्यनिगूहनं वीर्याचारः । वीर्यादाचारस्य को भेद इति चेदुच्यते—सर्शनादीना निर्मलीकरणे यत्नो विनयः । निर्मलीकृत्ये तु येषु यथावीर्यं यत्न आचारः । इत्यनयोर्भेदः । श्लोकः—

सहृग्धीवृत्तपसा सुसुक्षोर्तिर्भलीकृतौ ॥

यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धे तु ॥

उपदिशति । उपदिशति च । एते तैल्लिख्यति [१] ग्रथतोऽर्थतश्चाचारंगं चेति पंचाचारोपदेशान्यथायोगात् ॥ अर्थ—जो मुनि पांच प्रकारके आचार अतिचार रहित स्वयं पालता है, और इन पांच आचारोंमें दूसरों को भी प्रवृत्त करता है, जो आचारका शिष्योंको उपदेश करता है वह आचारवत्त्व गुणका धारक समझना चाहिये अभिप्राय यह है कि जो मुनि ग्रंथ और अर्थ से आचारांगको जानता है, स्वयं पांच प्रकारके आचारोंमें प्रवृत्त होकर अन्योको भी प्रवृत्त करता है वह पंचाचारवान् कहा जाता है पांच प्रकारके स्वाध्यायोंमें प्रवृत्ति करना यह ज्ञानाचार है, जीवादितत्त्वोंपर श्रद्धान रखना दर्शनाचार है, हिंसादि पांच पापोंसे निवृत्ति रूप परिणाम रहना चा-

त्रिचाचार है. चार प्रकारके आहारोंका त्याग करना, अल्प भोजन करना, दाता, पात्र, आहार इत्यादिका परिमाण करना, रसोंका त्याग काना, शरीरको आतापनादि योग और आसनादिकसे क्लेशयुक्त करना. एकात स्थानमें रहना इन सब प्रवृत्तिओंको तप आचार कहते हैं तपश्चरणमें अपनी शक्ति नहीं छिपाना यह वीर्याचार है ऐसे आचारोंके पांच भेद हैं.

प्रकारतरेण आचारवत्त्व कथयति—

दशविहठिकल्पे वा हवेज्ज जो सुद्धिदा सयायरिओ ॥

आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो ॥ ४२० ॥

दशधा स्थितिकल्पे वा सुस्थितो गतदूषणे ॥

आचारी कथ्यते युक्तः स्वरिरागममातृभिः ॥ ४२१ ॥

विजयोदया—दशविहठिकल्पे वा दशविधे स्थितिकल्पे वा । हवेज्ज जो सुद्धिदो सया भवेद्यः सुस्थितः सदा । आयरिओ आचार । आयारव खु आचारवान । एसो एप. । पवयणमादासु आउत्तो प्रवचनमातृकासु समितिषु गुप्तिषु च आयुक्त ॥

आचारवत्त्वमेव भंग्यतरेणोपदिशति—

मूलरा—ठिकल्पे आचरणविशेषे । पवयणमादासु प्रवचनमातृषु समितिगुप्तिषु । आउत्तो कृतोद्योगः ॥

अन्य प्रकारसे आचारवत्त्व गुणका निरूपण करते हैं—

अर्थ—जो दशप्रकारके स्थितिकल्पोंमें स्थिर है वह आचार्य आचारवत्त्वगुणका धारक समझना चाहिये यह आचार्य तीन गुप्ति और समितिओंका जिनको प्रवचनमाता कहते हैं धारक होता है.

अभिहितकल्पनिर्देशार्थो गथा—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहरारायपिडकिरियम्मे ॥

जेट्टुपडिक्कमणे वि य मासं पज्जो सवणकप्पो ॥ ४२१ ॥

## अचेलकत्वमुद्दिष्टशस्येशाहारवर्जने ॥

राजपिंडविवर्जित्वं कृतिकर्मप्रवर्तनम् ॥ ३३३ ॥

विजयोदया—आचेलक्कुदेसिय चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलपरिग्रहत्याग आचेलम्यमित्युच्यते । दशाविधे धर्मे त्यागो नाम धर्मः । त्यागश्च सर्वसगविरतिरेचेलतापि सैव । तेनान्नेलो यतिस्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति । अर्किचनाख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रह । परिग्रहाथो ह्यारुभप्रवृत्तिर्निष्परिग्रहस्यासत्यारुभे कुतोऽसयम् । तथा सत्येपि धर्मे समवस्थितो भवति । पर परिग्रहनिमित्तं व्यलीकं वदति । असति वाह्ये क्षेत्रादिके अर्थतरे च रागादिके परिग्रहे न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य । ततो ग्रुवन्नेवमचेलः सत्यमेव ब्रवीति । लाघव च अचेलस्य भवति । अदत्तविरतिरपि संपूर्ण भवति । परिग्रहामिलापे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नान्यथेति । अपि च रागादिने त्यक्ते भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतम भवति । सगानिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुलपोऽहमाह्वय इत्यादिको दर्पस्त्वक्तो भवति अचेलेनेति । मार्दवमपि तत्र सन्निहितं । अजिह्वता चास्य स्फुटमात्मीय भावमादर्शयतोऽचेलस्यार्जवता भवति मायायां मूलस्य परिग्रहस्य त्यागात् । चेलविपरिग्रहपरित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगत । शब्दादिविषयेष्वासक्तो भवति । ततो विमुक्तेश्च शीतोष्णदंशमशकादिपरित्रमाः, सुरासुरोदीर्णः, सोढाश्चोपसर्गो निश्चेलतामभ्युपगच्छता । तयोऽपि घोरमनुष्ठित भवति ॥

एवमचेलत्वोपदेशेन दशविधधर्माख्यानं कृतं भवति संक्षेपेण । अथवा अन्यथा प्रक्रम्यते अचेलताप्रशंसा । संयमशुद्धिरेको गुणः । स्वेदरजोमलावलिते चेले तद्योनिकास्तदथगाश्च त्रसाः स्रक्साः स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यन्ते, ते वाध्यन्ते चेलग्राहिणा । ससक्त वल्ग तावत्स्थापयतीति चेच्छि हिंसा स्यात् । विविचने च त्रियते ससक्ताः । चेलवतः स्थाने, शयने, निपद्याया, पाटने, छेदने, वधने, वेष्टने, प्रक्षालने, सयष्टने, आतपप्रक्षेपणे च जीवाना वाधेति महानसंयमः । अचेलस्यैवविधासयमाभावात् सयमविशुद्धिः । इन्द्रियविजयो द्वितीयः । सर्पाकुले बने विद्यामंत्रादिरहितो यथा पुमान् दृढप्रयत्नो भवति एवमिन्द्रियनियमने अचेलोऽपि प्रयतते । अन्यथा शरीरविकारो लज्जनयो भवेदिति । कपयाभावाश्च गुणोऽचेलताया । स्तेनभयाद्भोमयादिरसेन लेप कुर्वन्निगूहयित्वा कथंचिन्मायां करोति । उन्मार्गेण वा स्तेनवचनां कर्तुं यायात् । गुल्मवल्ग्याद्यन्तादितो वा स्यात् । चेलदिग्ममास्तीति मानं चोद्वहेते । वलादपहरणास्तेनेन सद्द कलहं कुर्यात् । लाभाद्वा लोभं प्रवर्तते । इति चेलग्राहिणाममी दोषाः । अचेलताया पुनरित्यंभूतदोषानुत्पत्तिः । ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च । सूत्रीस्वर्कपटादिपरिमर्गणसीवनादिव्याक्षेपेण तयोर्विघ्नो भवति । निःसंगस्य तथाभूतव्याक्षेपाभावात् । सूत्रार्थपौरुषीषु निर्विघ्नता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना । ग्रंथत्यागश्च गुणः । चाहोचेलोद्विग्रथत्यागोऽभ्यन्तरपरिग्रहत्यागमूलः । यथा तुपनिराकरणमभ्यन्तरमलनिरासोपाय अतुल्यं धान्यं नियमेन शुद्धयति । भाज्या तुपस्य शुद्धिः । एवमचेलवति नियमादेव भाज्या । सचेले वीतरागेद्वेषता न गुणः । सचेलो हि मनोब्रह्मे वल्ले

रक्तो भवति । दुष्यत्यमनोक्षे । बाष्पाद्व्यालंवनौ हि रागद्वयो तावत्सति परिग्रहे न भवतः । किं च शरीरे अनावरो गुण शरीरगतादरवशेनैव हि जनोऽस्यमे परिग्रहे च वर्तते । अचेलन तु तवावरस्सक्तः, वातातपादिधासहनात् । स्ववशता च गुणः देशातरगमनावो सहायप्रतीक्षणात् । पिच्छमात्रं शरीरत्वा हि त्यक्तसकलपरिग्रहं पक्षीय यातीति । सचेलस्तु सहायपरवशमानसश्च कथं सयमं पालयेत् । चेतोविशुद्धिप्रकटनं च गुणोऽचेलताया । कोपीनादिना प्रच्छादयतो भावशुद्धिर्न ब्रायते । निद्वेलेस्य तु निर्विकारवेहतया स्फुटा विरगता । निर्भयता च गुणः । ममेद किमपहंरति चौरादयः, किं ताडयति, वक्षतीति वा भयमुपैति सचेलो, भयातुरो वा किं न कुर्यात् । सर्वत्र विश्रब्धता च गुणः । निष्परिग्रहः न किञ्चनापि शंक्ते । सचेलस्तु प्रतिमार्गायिनं अन्यं वा हृदया न तत्र विद्यास करोति । को धेत्य, किं करोति । अप्रतिलेखनता च गुणः । चतुर्दशविधं उपधिं शृङ्गतां बहुप्रतिलेखनता न तथाचेलस्य । परिकर्मवर्जनं च गुणः । उद्धेष्टनं, मोचनं, सीवनं, वधनं, रंजनं इत्यादिकमनेकं परिकर्मं सचेलस्य । स्वस्य वस्त्रप्रावरणादे स्वयं प्रक्षालनं सीवनं वा कुरिसतं कर्म, विभूषा, मूर्च्छा च । लाघवं च गुणः । अचेलोऽप्योपधिः स्थानासनगमनादिकास्तु क्रियास्तु वायुवदप्रतिवद्धो लघुर्भवति नेतरः । तीक्ष्णराचरितस्य च गुणः—सहननवलसमग्रा मुक्तिमार्गाप्रव्यपनपरा जिनाः सर्वं पयचेलो भूता भविष्यतश्च । यथा मेवादिपर्वतगताः प्रतिमास्तीर्थकरमार्गादुयायिनश्च गणधरा इति तेऽप्यचेलस्ताच्छिष्याश्च तथैवेति सिद्धमचेलत्वं । चेलपरिवेष्टितागो न जिनसदृशः । द्युत्सृष्टप्रलवभुजो निश्चलो जिनप्रतिरूपता घत्से । अतिगूढवलीर्यता च गुणः । परीपहसद्धने शक्तोऽपि सचेलो न परीपहान्सहते । एवमेतद्गुणावेक्षणादचेलता जिनोपदिष्टा । चेलपरिवेष्टिताङ्ग आत्मानं निर्ग्रथं यो चदेत्तस्य किमपरे पापडिनो न निर्ग्रथाः ? वयमेव न ते निर्ग्रथा इति बाह्यान् नाद्रियते मत्स्यश्चै । इत्थं चेले दोषा अचेलताया अपरिमिता गुणा इति अचेलता स्थितिरूपत्वेनोक्ता ।

अथैवं मन्यसे पूर्वगमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टम् तथा ह्याचारप्रणिधौ भणित—“प्रतिलिखेत्पात्रकंवलयं भ्रुवमिति । असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना भ्रुवं क्रियते” । आचारस्यापि द्वितीयाध्यायो लोकविचयो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्त—“पडिलेहणं, पादपुच्छणं, उग्राहं, कडासणं, अण्णदर उवाधिं पवेज्ज” इति । तथा चेत्येसणप “द्युत्तं तत्थ पसे हिस्सिमणे सेग वत्थ वा धारेज्ज पडिलेहणं विदिय, तत्थ पसे ज्जुमिदे वेसे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणं तदियं । तत्थ पसे परिस्सह अण्णधियासस्स तथो वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं चउत्थ” । तथा पायेसणप कथित “हिस्सिमणे वा ज्जुमिदे चावि अण्णे वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिक पादचारित्तप इति” । पुनश्चोक्तं तत्रैव —“आलायुपत्तं वा, दासगपत्तं वा मट्ठिगपत्तं वा अण्णपणं, अण्णवीजं अण्णसरिदं तथा अण्णकारं पात्रलोभे मति पडिगगहिस्समीति” । वस्त्रपात्रे यदि न प्राहो कथमेतानि सूत्राणि नीयते । भावनया चोक्तं —“चरिमं चीवरधारितेन परमेचेलके तु जिणे” इति । तथा सूत्रकृतस्य पुडरीके अध्याये कथित ‘ण कहेज्जो धम्मकह वत्थपत्तादिहेतुमिति ।

निर्देशेभ्युक्त—“कसिणाइ वत्थं वलाइं जो भिक्खु पडिगहिदि पज्जदि मासिग लहुग” इति । एवं सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलता कथं इत्यत्रोच्यते—आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणपेक्षया । भिक्षुणां ऋद्दीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्माभिलवमानवीजो वा परीपहसहने वा अक्षमः स गृह्णाति ।

नया चोक्तमाचाराने ‘सुद मे आउस्सत्तो भगवदा एवमम्भावं । इह खलु संयमाभिमुखा दुविहा इत्थीपु रिस्ता जादा भवति । त जहा—सव्वसमणणागदे णोसव्वसमणागदे चेव । तत्थ जे सव्वसमणणागदे यिगहत्थपाणिपदे सव्विदियसमणणागदे तस्स ण णो कप्पदि एगमवि वत्थं धारिल एव परिहिउं एव अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति’ तथा चोक्तं कल्पे—वरिहेतुं व होइ देहदुगुल्लति देहे जुगिदगे योरुज सियं वत्थ परिस्सहाणं व ण विहासीति” । द्वितीयमपि सूत्र कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधकं आचारे विद्यते—‘अह पुण एव जणेज्ज । उपातिकं ते हम्मतेहिं सुगडि वण्णे से अथ पडिजुणमुवार्धं पविट्ठावेज्ज” इति । हिमसमये शीतयाधासह परिगृह्य चेलं तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मे समायते प्रतिष्ठापयेदिति । कारणपेक्ष्य ग्रहणमाख्यातं । परिजीर्णविशेषोपादानादुदानामपरित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोधः । प्रक्षालनादिक्रसस्कारविरहात्परिजीर्णता वस्त्रस्य कथिता न तु दृढस्य त्यागकथनार्थं, पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रेणोक्तेति । संयमार्थं पात्रग्रहणं सिध्यति इति मन्यसे नैव, अचेलता नाम परिग्रहत्यागः पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्याग सिद्ध एवेति । तस्मात्कारणपेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणं । यद्युपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिः गृहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यमेव । तस्माद्वस्त्रं पात्रं चार्थविधकारणमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम् । यच्च भावनायामुक्तं—‘वरिस चीवरधारी तेण परमेचलगो जिणोसि । तदुक्तं विप्रतिपत्तिमुल्लुत्वात् । कथं ? केचिद्वदन्ति ‘तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलंबनकारिणा गृहीतमिति’ । अन्ये ‘पण्मासाच्छिन्नं तत्कटकशाखादिभिरिति’ । साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रं खंडलक्राहणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति । केचिद्व्रतेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेत्यपरे वदन्ति । विलंबनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति । एवं विप्रतिपत्तिबाहुल्यात् दृश्यते तत्त्वं सचेल्लिंगमकटनार्थं । यदि चेलग्रहणं जिनस्य कथं तद्विनाश इष्टः । सदा तद्वारोपितव्यम् । किं च यदि नश्यतीति ज्ञानं निरर्थकं तस्य ग्रहणं । यदि न ज्ञातमज्ञानस्य प्राप्नोति । अपि च चेलप्रक्षापना वाञ्छिता चेत् “अचेलको धम्मो पुरिमचरिमाणं” इति वचो मिथ्या भवेत् । तथा नवस्थाने यदुक्तं “यथाहमचेली तथा होउ पडिळमो इदि होक्खदिसि तेनापि विरोधः । किं च जिनानामितरेषा वस्त्रव्यापकात् वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते, यदि वस्त्रं तेनापि भवेत् । एवं तु युक्तं वक्तुम् । सर्वत्याग कृत्वा स्थिते जिने केनचिद्वस्त्रं वस्तुं निक्षिप्त उपसर्गं इति ।

इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीपहसहनवचनं परीपहसूत्रेषु । न हि सचेलं शीतादृशो वाधन्ते । इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति । “परिचत्तेसु वत्थेषु ण पुणे चेलमादिप ॥ अचेलपवरे भिक्खु जिण-रुवधरे सदा ॥ सचेलगो सुक्खो भवदि । असुक्खी चावि अचेलगो । अहं तो सचेलो होम्खासि इदि

मिम्बू ण वित्तप ॥ आचेलगस्स ल्हस्स सीद भवदि पयादा ॥ पातपं से विचित्तो अथिसिज्ज अलाइसो ॥ ण मे णि वारणं अत्थि छाइयं ता ण विज्जदि । अहं तावमिगि सेवामि इति मिम्बू ण धितप ॥ अचेलगण ल्हस्स संजइस्स तप सिसणो ॥ तणेसु असमाणस्स णं ते होदि विराधिदा ॥ पेण ताव कणेण सेवुडगतिसित दंसवाए जो सगसिद्ध किम- वा पुण दीहकप्पेहि ” ॥ एतान्युत्तराध्ययने-अचेलको य जो धम्मो जो वाय पुणहत्तरो । देसिदो वहुमाणेण पोसेण अ महप्पणा ॥ पगधम्मे पवत्ताण दुविधा लिगकप्पणा । उभयसिं पदिट्ठणमहं ससयमगदा ” इति वचनाञ्चरमतोयस्यापि अचेलता सिद्धयति ।

णगस्स य मुंडस्स य दीहलोमणखस्स य । मेहुणादो विरत्तस्स किं विभूसा करिस्सदि ॥ इति दशवैकालिका यामुक्त । एवमचेलक्यं स्थितिकल्पः ।  
अमणानुदिश्य कृतं भक्तादिकं उद्देशिगमित्युच्यते । तच्च षोडशविधं आयाकमोदिविकल्पेन । तत्परिहारा द्वितीय स्थितिकल्पः । तथा चोक्तं कल्पे—

सेलसविथमुद्देस वजेदव्वति पुरिमचरिमाणं ॥  
तिथ्यगराण तित्थे ठिदिकण्णे होदि विविओ हु ॥

सेज्जाधरशब्देन त्रयो भण्यते वसति य करोति । कृता वा वसति परेण भग्नां पतितैकदेशां वा संस्करोति । यदि वा न करोति न संस्कारयति केवलं प्रयच्छत्यत्रास्नेति । एतेषा पिंडो नामाहारः, उपकरणं वा प्रतिलेखनादिकं शय्याधरपिंडस्तस्य परिहरण तृतीय स्थितिकल्पः । सति शय्याधरपिंडग्रहेण प्रच्छन्नमयं योजयेदाहारदिकं । धर्म- फललोभाद्यो वा आहारं दातुमक्षमो, दसिदो लुब्धो वा न चासौ वसति प्रयच्छेत् । सति वसतौ आहारादाने वा लोको मा निंदति-स्मिता वसतावस्य यतयो न चातेन मदभागेन तेपाआहारो दत्त इति । यते. सेहश्च स्यादाहार वसति च प्रयच्छति तस्मिन् बहूपकारिताया । तर्हिपिंडाग्रहेण तु नोक्तदोषसम्पदो ।

राजपिंडाग्रहण चतुर्थ. स्थितिकल्पः । राजशब्देन इष्ट्वाकुप्रभृति कुले जाता । राजते प्रकृति रजयति इति वा राजा राजसदृशो महर्षिर्लो भण्यते । तस्य पिंड. तत्त्वार्थिको राजपिंडः । स विविधो भवति । आहारः, अनाहारः, उपधिरिति । तत्राहारश्चतुर्विधो भवति अशानाधिभेदेन । कृणफलकपीडादि. अनाहारः, उप- धिर्नोम प्रतिलेखन वस्त्र पात्रं वा । एवभूतस्य राजपिंडस्य ग्रहेण को दोषः इति चेत् अवोच्यते— द्विविधा दोषा आत्मसमुत्थाः परसमुत्थाः । मनुजतिर्यक्कृतविकल्पेनेति । तिर्यस्कृता द्विविधा ग्रामार- ण्यपशुभेदात् । ते द्विप्रकारा अपि क्रिभेदा दुष्टा भद्राद्वेति । हया, गजा, गावो, महिषा, मेण्डा, श्वानश्च ग्राम्या दुष्टा । दुष्टेभ्य सयतोपधातः । भद्रा पलायमानाः स्वयं दु खिता पातेन अभिधातेन वा व्रतितो मारयति वा धावनोल्ल- वनादिपरः । प्राणिन आरण्यकास्तु व्याघ्रकव्यादहोपिनो, वानरा वा राजगृहे वंथनमुक्ता यदि क्षुद्रास्तत आत्मविपत्ति-

सद्गुदिसु वि पवित्री आदिय अंतस्मि सेा पडिक्कमदि ॥

मल्लिम्मगा मण्णेति य अमल्लगाण हवे उभय ॥

इरिय गोयर सुमिणादि मव्वमाचरु मा च आचरु ॥

पुरिम चरिमेसु सव्वो सव्वं गियमा पडिक्कमदि ॥

मध्यमतीर्थकरशिष्या दृढबुद्धयः, एकाग्रचित्ताः, अमोघलक्ष्यास्तस्माद्यदचरितं तद्वर्हया शुद्ध्यति । इतरे तु चल-  
चित्ता न लक्षयन्ति स्वापराधांस्तेन सर्वे प्रतिक्रमणं उपदिष्टुं जिनाभ्या अवधोटकटप्रातन्यायेन ॥

अनुपु पदसु एकैकमेव मासेमेकत्र वसतिरयदा विहरति इत्यय नवमः स्थितिकल्पः । एकत्र चिरकालावस्थाने  
नित्यमुद्रमदोष च न परिहर्तुं क्षमः । क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुरुता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषाः ।  
पञ्जो समणकर्णो नाम दशमः । वर्षाकालस्य चतुर्थे मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः । स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा  
क्षितिः । तदा भ्रमणे महानसयमः, वृष्ट्या शीतवातपतेन वात्मविराधना । पतेदवाय्यादिषु स्थाणुकटकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जले-  
न कर्दमेन वा वाध्यत इति विशाल्याधिकं दिवसशत एकत्रावस्थानमित्यनुत्सर्गः । कारणपक्षया तु हीनाधिक वाचस्थानं,  
सयताना आपादशुद्धदशम्या स्थिताना उपरिष्ठाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिशद्विषावस्थानं । वृष्टिगुह्यता, श्रुतग्रहण, शक्य  
भाववैवाचुर्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्ट कालः । मार्ग्यो, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते  
समुपस्थिते देशातरं याति । अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति । पौर्णमास्यामापाढ्यामतिक्ताया प्रतिपदादिषु  
दिनेषु याति । यावच्च त्यक्त्वा विशानिदिवसा पतदपेक्ष्य हीनता कालस्य एव दशम स्थितिकल्पः ।

कोऽसौ दशविधः स्थितिकल्प इत्याह —

मूलारा—आचेलकं वखादिपरिग्रहाभावो नम्रत्वमात्रं वा । तच्च संयमशुद्धीर्द्रियजयकपायामावध्यानत्वाध्याय-  
निर्विघ्नतानिर्ग्रथतावीतरागद्वेषतागरीरानादरस्ववशचेतोविशुद्धिप्राप्त्यनिर्यत्स्वसर्वत्रविभ्रजत्वप्रक्षालनोद्वेष्टनादिपरिकर्मवर्ज-  
नविभूषामूर्च्छललाघवीर्थकराचरितत्वागिगूढवलवीर्यताद्यपरिभितगुणग्रामोपलंभात् स्थितिकल्पत्वेनोपदिष्टम् । तदुण-  
सर्मथंन टीकादृष्ट्या किंचिदुच्यते यथा—चेले हि स्वेदादियोनिकप्राणिना प्रक्षालनादिना वाधा स्यात् इति तत्त्यागे  
संयमशुद्धिः । लज्जनीयशरीरविकारनिरोधनाय ग्रयत्तदाह्व्यीर्द्रियजयः, चोरादिवचनाद्यमात्कपायाभावः, सूचीसूत्रकर्पटा-  
दिमार्गणासेवनाद्यभावात्स्वाध्यायध्याननिर्विघ्नता, । अभ्यंतरग्रथस्य चेलादिपरिग्रहमूलस्य त्यागः, मनोज्ञामनोज्ञवखत्यागात्  
वीतरागद्वेषता, वातातपादियाधासहनाच्छरीरेऽनादरः, देशातरगमनादौ सहायानपेक्षणात्सवशता, कौपीनादिप्रच्छादना  
करणाच्चेतोविशुद्धिप्रकटनं, चौरादिताडनादिमायाभावाभिर्भयत्व, अपहर्षस्य अर्थस्याभावात्सर्वत्र विश्रव्यता, चतुर्वश-  
विधोपकरणपरिश्राहिणा सितपदानामिव बहुप्रतिष्ठेयनत्वप्रक्षालनादिव्यासंगभारवाहित्वानि च न संवीत्यादि । उक्तं च—

मल्लने क्षालनतः कुतः कृतजलाधारंभतः संयमो ।  
नष्टे व्याकुलचित्ताय महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ।  
कौपीनेऽपि हृते परैश्च श्रमिति क्रोयः समुत्पद्यते ॥  
तन्निर्त्यं शुचि रागहृच्छमवता वरुं ककुम्भं डलयम् ॥  
अपि च — विकारे विदुषा द्वेपो नाविकारानुवर्तने ॥  
तत्र भ्रत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेपकल्मषः ॥  
नैर्दिकन्यमर्हि सा च कुतः संयमिना भवेत् ॥  
ते संगाय यदीहन्ते वत्कलाजिनवाससाम् ॥

२ उद्देशिगेत्यादि—उद्देशिकं श्रमणानुद्दिश्य कृतं भक्तादिकं । उद्देशिकं च शय्याधरराजपिंडौ च उद्देशिक शय्याधरराजपिंडा । पिंडशब्देनात्रोपलक्षणाद्भक्तवसत्युपकरणविग्रहणं । तेपामुद्देशिकादीनां त्रयाणां परिहाराख्यः स्थिति-कल्पाः स्युः । परिहारशब्दश्चात्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । तत्राधात्मिकादिकल्पेन पौडशविधोद्देशिकभक्तादित्यागाद्द्वितीयः स्थितिकल्पः । ३ शय्याधरशब्देन चात्र त्रयो गृह्यन्ते वसतेः कारकः, संस्कारकोऽत्रास्वेति संपादकश्च तत्पिंडत्यागः । सति हि तत्पिंडग्रहणे प्रच्छन्नमर्थं योजयेदहाारादिकं धर्मफललोभादिति लोकप्रवादशंका, यो वाहारं दातुमक्षमो दरिद्रो वा न चासौ वसतिं प्रयच्छेत् । सति वसतिदाने लोको मा निंदति, स्थिता वसतावस्थ यतयो न चानेन मंदभाग्येन तेपामाहारी वृत्त इत्येव वसत्यलाभः । आहारं वसतिं च प्रयच्छति तस्मिन्वहूपकारितया यतः स्नेहश्च स्यात् इति दोषाः स्युः । अन्ये पुनः शय्यागृहपिंडत्याग इति पठित्वैवं व्याचक्षते । मार्गे ब्रजता यत्र गृहे रात्रौ सुष्येते तत्रैवान्यदिने भोजनपरिहारो वसतिसम्बन्धिद्रव्यनिमित्तपिंडस्य वा त्यागः इति तृतीयः । ४ अथ राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृति कुले जातो, राजते प्रकृति रंजयतीति वा राज्ञा सन्तो महर्द्धिको भण्यते । तत्त्वामिममभक्तदिवर्जनं चतुर्थः स्थितिकल्पः । तदगृहप्रवेशो हि यतो स्वच्छं दचित्रकुर्तुं रात्रुपघातस्तद्रूपालोकनाद्वरतुरगादीनां त्रासस्तं प्रति गर्वितदामाद्युपहासोऽवरुद्धाभिः स्त्रीभिर्मैथुनसंज्ञया वाध्यमानाभिः, पुत्रार्थिनीभिर्वा वलात्तरस्य स्वगृहे प्रवेशनमुपमोर्गार्थम् । विप्रकीर्णरत्नसुवर्णादिकस्यान्यैः स्वयं चोरितस्य संयत आयात इति तत्र तच्छोरीकाध्यारोपणं । राजास्य विश्वस्तो राज्यं नाशयिष्यतीति क्रुद्धैरमात्यादिभिर्वधबंधादिकं च स्यात् । तथा आहाराविशुद्धिः क्षीरादिविच्छित्तिसेवानर्ध्वरत्नादेर्लोभाच्चोरणं, वरुक्षीदर्शनाद्रागोद्रेको, लोकोत्तरविभूतिदर्शनाच्च तन्नि-



दानकरणं संभवेत् । एतदोपाभावेऽन्यत्र भोजनासम्भवे च श्रुतव्युच्छेदपरिहारार्थं राजाभिहोऽपि न प्रतिपिध्यते ।  
५ क्रिदियस्मे कृतिकर्म, पच नमस्काराः, पडावश्यकानि, निषेधिका चेति त्रयोदश क्रियाः । गुरुविनयमहत्तरश्रूपाकरणं वा । ६ वद मूलोत्तरगुणप्रतिपालन । अचेलताया हि स्थित उद्देशिकादिष्वित्यागोद्यतो गुरुभक्तमानविनीतश्च व्रतारोपणयोग्यः स्यात् । उक्तं च—

आचेलकके य ठिदो उद्देशादी य परिहरदि दोसे ॥

गुरुभक्तिर्भं विणीदो होदि वदानं स अरिहो दु ॥

७ जेष्ठ ज्येष्ठत्वात्तापिरुग्रहस्थोपाध्यायार्थिकादिभ्यो, महत्त्वमुद्युनेन वा श्रेष्ठत्वं । ८ पडिक्कमणे ऐर्यापयिक रात्रिदिवायाक्षिचतुर्मासिकसांत्सरिकोत्तमार्थभेदात्सप्तधा कृतदोपनिराकरणं ॥ ९ मासं त्रिंशदहोरात्रमेकत्र ग्रामादौ निवासः । एकत्र हि चिरावस्थाने उद्गमादोपपरिहाराक्षमत्वं, क्षेत्रप्रातिबद्धता, शातगुरुतालसता, सौकुमार्य भावनाभावो, जातभिक्षाग्राहिता च दोषा स्युरिति टीकाया । टिप्पनके तु योगग्रहणादौ योगवसाने च तस्मिन्स्थाने मासमात्रं तिष्ठति इति मासं नाम नवमः कल्पः । उक्तं च—

पडिक्कवो लडुयत्वं न जणुवयारो ण देसविण्णणं ॥

णाणादीण अबुद्धी दोसो अविहारपक्खम्मि ॥

१० पञ्जो—ग्राहृट्काले मासचतुष्टयमेकत्रावस्थानं । स्यावरजंगमजीवाकुला हि तदा क्षितिरिति तदा भ्रमणे महानसंयमः । वृष्ट्या शीतवातपातेन चात्मविराधना । पातो वा वाप्यादिषु । स्याणुकंटकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वाधनमिति विंशत्यधिकं दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्यय उत्तमार्गः । कारणपेक्षया तु हीनमधिकं वावस्थानं । सद्यतानामापाडशुक्लदशम्याः प्रभृति स्थितानामुपरिष्ठाच्च कर्तिकपौर्णिमास्यार्क्षिदिवसावस्थानं । वृष्टिबहुलतायां श्रुतग्रहण, शक्त्पभावं वैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्यवस्थानं एकत्रोत्प्लुष्टः काल । मार्ग्य, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशातरं याति । अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भाविष्यति इति पौर्णिमास्यामापाढ्यामति क्राताया प्रतिपदादिषु दिनेषु यावच्चत्वारो दिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य । एष दशमः स्थितिकल्पो व्याख्यातः टीकाया ॥ टिप्पनके तु द्वाभ्यामाभ्या निषेधिका द्रष्टव्येति । सवणकण्ठो यतीनामाचरणभेदः । तथा चोक्तम्—

अचेलकत्वसुविष्टशय्येशाहरवर्जने ॥

राजपिंडविवर्जित्वं कृतिकर्मप्रवर्तनम् ॥

व्रतप्ररोहणाहर्त्स्वं ज्येष्ठत्वं च प्रतिक्रमः ॥

मासैकत्रस्थितिः पर्यास्थितिकल्पा देशेरिता ॥

दशकल्पोंका निर्देश-वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—आचेलक्य—चेल शब्दका अर्थ वस्त्र ऐसा होता है, परंतु यहा चेल शब्द संपूर्ण परिग्रहोंका उपलक्षण रूप है अर्थात् आचेलक्यका अर्थ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग ऐसा होता है, उत्तमक्षमादि दशधर्मों में से त्याग नामका एक धर्म है त्यागका अर्थ सर्वपरिग्रहोंसे निरुक्त होना ऐसा होता है, अचेलता, आचेलक्य इन शब्दोंका भी वही अर्थ होता है इस लिये वस्त्ररहित यति सर्वपरिग्रहका त्यागी होनेसे त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है परिग्रहरहित यति त्यागधर्मके समान अकिंचन धर्म में भी प्रवृत्त होता है लोक परिग्रहके लिये ही उद्योग, खेती, नौकरी वगैरह आरंभमें प्रवृत्ति करते हैं परंतु मुनिने सर्व परिग्रहोंका त्याग किया है इस लिये उसको आरंभका अभाव हो चुका, आरंभका अभाव होनेसे असंयम भी नष्ट होता है और सत्य धर्ममें स्थिरता आती है परिग्रहके लियेहि मनुष्य दूसरेसे असत्य भाषण चोलता है, खेत, गृह, धनादि ब्राह्मपरिग्रह और क्रोधमानादि अभ्यंतर परिग्रह जब नष्ट होते हैं तब असत्य भाषण करनेका कारण ही नष्ट होता है, जब कभी निष्पणिग्रही मुनि चोलेगा तो सत्यही चोलेगा आचेलक्यसे लाघवगुण प्राप्त होता है अचार्य महाव्रतको पूर्णविस्था प्राप्त होती है जब परिग्रहकी मनमें अभिलाषा उत्पन्न होती है तब दूसरोंका न दिया हुआ धन मनुष्य ग्रहण करता है,

परिग्रहोंका त्याग जिसने किया है वह ऐसे अकार्यमें प्रवृत्त होता ही नहीं, रागादिकोंका त्याग होनेसे परिणामोंमें निर्मलता आती है जिससे ब्रह्मचर्यका निर्दोष रक्षण होता है, ब्रह्मचर्य निर्मलतम होता है, क्रोध उत्पन्न होनेके लिये परिग्रह ही कारण है, परिग्रहोंका त्याग करनेसे क्रोध नष्ट होता है और क्षमागुण प्रगट होता है, मैं सुंदर हूं, मैं धनाढ्य हूं इत्यादि रूपका अभिमान भी परिग्रहोंका त्याग होनेपर मनमें नहीं रहता है मादव गुण भी आचेलक्यसे प्राप्त होता है, निष्कपटता भी प्राप्त होती है, कारण आचेलक्यको धारण करनेवाला मुनि मनमें जो विचार उत्पन्न हुआ होगा वह मुखसे कहता है, अतः उसको आर्जव गुणकी लब्धि होती है, परिग्रहही माया—

कपटीपनाका मूल है, ऐसे परिग्रहका त्याग करनेसे वैराग्यभाव बढ़ जाते हैं, तब मुनिराज शब्दादि पंचेन्द्रियोंके विषयमें आसक्त नहीं होते हैं, परिग्रहसे रहित होनेपर मुनि शीत, उष्ण, दंशभयकादि परिश्रम सहन करते हैं, देव दानवोंने उपसर्ग यदि किये तो भी सहन करते हैं ऐसा दुःख सहन करनेका सामर्थ्य परिग्रहोंका त्याग करनेसे ही आत्मामें प्रगट होता है, परिग्रहोंके त्यागसे घोर तपका पालन भी होता है एक अचेलत्वसे दश धर्मोंका पालन होता है ऐसा सिद्ध होता है, यह संक्षेपसे विवेचन किया,

अचेलताकी ग्रंथंसा अब दूसरे प्रकारसे आचार्य करते हैं—

आचेलक्यसे संयमशुद्धि होती है, यह पहिला गुण है, स्वेदजल और मलसे मलिन हुए वस्त्रमें स्वेदसे लिप्ता, जू वगैरह सम्मूर्च्छन जन्तु उत्पन्न होते हैं तथा वस्त्रके आश्रयसे दूसरे सूक्ष्म और स्थूल त्रस और स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं वस्त्रग्रहण करनेसे ये प्राणी पीडे जाते हैं, जीवव्याप्त वस्त्र वैसा ही रखने पर भी हिंसा होती है उसमेंसे एक एक जीव अलग करना चाहे तो वे मरते हैं, वस्त्रधारी मनुष्यको खडे होना, बैठना सोना, फाड़ना, छेद करना, बांधना, वेष्टन करना, धोना, मर्दन करना, धूपमें सुखाना इत्यादि कार्य करते समय वस्त्रगत जीवोंको बाधा पहुँचानेसे महान् असंयमकी प्राप्ति होती है, परंतु वस्त्रत्यागी मुनिको उपर्युक्त असंयमका स्पर्श भी होता नहीं है, उनका संयम निर्मल रहता है, वस्त्रत्याग करनेसे इंद्रियविजय नामक गुण प्राप्त होता है, सप्राप्ते व्याप्त वनमें विद्यामंत्रादिरहित मनुष्यको सावधानीसे रहना पड़ता है, इसी प्रकार इंद्रियोंका नियमन करनेके कार्यमें वस्त्ररहित मुनियोंको बहुत सावधानी रखनी पड़ती है वे इंद्रियनियमन करनेमें सदा दक्ष रहते हैं, यदि वे असावध रहेंगे तो लज्जास्पद शरीरविकारकी उत्पत्ति होगी, निर्वस्त्रतासे कपार्योंका अभाव होता है, जिसके पास वस्त्र है वह मनुष्य चोरके भयसे गोमयादिकके रससे वस्त्रको लिप्तकर उसको छिपाता है अर्थात् कपटप्रयोग करता है, अथवा रस्ता छोड़कर उन्मागसे चोरको फसानेके लिये जाता है, चोरको आता हुआ देखकर छोटें झुड़प, लताजाल इत्यादिकोंमें छिप कर रहता है भरे पास वस्त्रादिक हैं दूसरोंके पास वे नहीं हैं ऐसा मनमें विचारकर अभिमानी होता है, जत्ररदस्तीसे चोर हरण करनेके लिये उनारु होनेपर उसके साथ कलह करता है, वस्त्रका लाभ होनेसे लोभकपाय उत्पन्न होता है, वस्त्र ग्रहण करनेसे ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं, वस्त्र के त्यागमें इन दोषोंका सर्वथा अभाव है, वस्त्रत्यागी मुनिको ध्यान और साध्यायमें विद्यमय रहता नहीं, कारण

वह परिग्रहरहित आसक्ति रहित होता है वस्त्र समीप रखनेमें वह फटने पर उसको सीनेका विचार उत्पन्न होता है, सीनेके लिये सूची समीप रखनी पड़ेगी, कपड़ोंके तुफंड पास रखने पड़ेंगे सूई, दोरा, रुपड़ेके टुकड़े इनका अन्वेषण करनेमें चित्त व्याकुल हो जायेगा तब ध्यान स्वाध्यायमें एकाग्रता रहेगी नहीं, परंतु निःसंगुनीको ऐसी व्यग्रता नहीं रहनेमें उनके ध्यानस्वाध्याय निर्विघ्न होते हैं, वस्त्रत्यागमें सूत्रस्वाध्याय व अर्थस्वाध्यायमें निर्विघ्नता प्राप्त होती है स्वाध्याय और ध्यानका हमेशा अभ्यास होता है, इसलिये ग्रथत्याग-परिग्रहत्याग यह गुण है, जैसे तंडुलके ऊपरका छिलका निकालनेसे वह निर्मल होता है वैसे बाह्य वस्त्रादि परिग्रहका त्याग होनेसे अभ्यंतर क्रोधादि परिग्रहों का त्याग होकर आत्मा निर्मल होता है इसलिये बाह्य परिग्रहत्याग अभ्यंतर परिग्रह दूर करनेका मूल कारण है, छिलकेस अलग किया हुआ तंडुलधान्य अवश्य निर्मल होता है परंतु छिलके से युक्त तण्डुलकी शुद्धि भजनीय है इसी तरह निर्वस्त्र मुनि अवश्य निर्मल होते हैं, वस्त्ररहित मनुष्यमें रागद्वेषरहितता नामक गुण रहता नहीं है सबस्त्र मनुष्यका मन सुंदर वस्त्र दीखनेपर अनुरक्त होता है, व अपने असुंदरवस्त्रका द्वेष करने लगता है, बाह्य पदार्थोंके आश्रयसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, परंतु परिग्रह पास न रखनेसे उनकी उत्पत्ति नहीं होती है, शरीरपर अनादर करना यह गुण है, शरीरपर प्रेम करनेसे ही मनुष्य असंयममें व परिग्रहमें प्रवृत्त होता है, निर्वस्त्र मुनि वात, सूर्यका ताप, शीत वीरह से उत्पन्न हुई पीड़ायें सहन करते हैं, इस लिये वे शरीरपर निरादर रहते हैं यह सिद्ध होता है, निष्परिग्रहतासे स्वशतागुण प्राप्त होता है, देशांतरको जाते समय इस गुणके प्रभावसे किसीके सहायता की अपेक्षा नहीं रहती है, संपूर्ण परिग्रहका त्यागी वह मुनि पिच्छमात्रका स्वीकार करता हुआ पक्षीके समान विहार करता है, परंतु वस्त्रधारी मनुष्य अन्य मनुष्यकी सहायताकी अपेक्षा करता हुआ संयमका कैसा पालन कर सकता है, अर्थात् उससे संयम पालन होता नहीं

वस्त्रत्यागस मन्त्री विशुद्धि प्रगट होती है, कौपीन, वस्त्र इत्यादिकेस गुह्य आच्छादन करनेवालेकी भावशुद्धि नहीं जानी जासकती है, परंतु जो वस्त्ररहित है उसका निर्विकार देह देखकर उसका वैराग्य स्पष्टतया स्पष्ट जान सकते हैं, इसलिये अचेलतासे मनोविशुद्धि नामका गुण प्रकट होता है ऐसा समझना योग्यही है, इस अचेलतासे निर्भयता गुण प्राप्त होता है जो वस्त्ररहित है उसको यह मेरा वस्त्र चौरादिक लोक हरण करेंगे, मेरेको ठोकेंगे, बांधेंगे, ऐसी भीति उत्पन्न होती है, भययुक्त मनुष्य क्या नहीं करेगा? अचेलतासे सर्व मनुष्योंमें विश्वास

उत्पन्न होता है परिग्रहरहितको, किसीमें भी शंका उत्पन्न होती नहीं. परंतु संचल मनुष्य अपनेसाथ आनेवाले मनुष्यको अथवा किसी दुसरे मनुष्यको देखकर उसपर विश्वास नहीं करेगा. यह कीन है ? यह क्या करेगा ? ऐसी शंका उसके मनमें अवश्य उत्पन्न होगी.

अप्रतिलेखना नामक गुणभी निष्परिग्रहतासे प्राप्त होता है. चौदा प्रकारके उपाधियोंको ग्रहण करनेवाले श्वेताम्बर मुनियोंको बहुत संशोधन करना पड़ता है परंतु नग्नता धारण करनेवाले दिगंबर मुनियोंको इसकी आवश्यकता रहती नहीं.

अचेलतामें परिकर्मवर्जन नामका गुण है. उद्वेष्टन करना, अलग अलग करना, सीना, बांधना, रंगाना इत्यादिक कार्य वस्त्रसहित मनुष्यको करने पड़ते हैं. परंतु निर्वस्त्र मुनि इनसे रहित होते हैं स्वतःके पास वस्त्र प्रावरणादिक हो तो उसको धोना पड़ेगा, फटनेपर सीना पड़ेगा, ऐसे क्लृप्त कर्प्य करने पड़ते हैं. वस्त्र समीप होनेसे उससे अपनेको अलंकृत करनेकी इच्छा होती है और उसमें मोह उत्पन्न होता है.

अचेलतामें लाघव नामक गुण है. निर्वस्त्र मुनि खड़े होना, बैठना, गमन करना इत्यादिक कार्योंमें चायुके समान अप्रतिबद्ध रहते हैं. अतः उनमें लाघव गुण रहता है. सबस्त्र मनुष्यमें यह गुण रहता नहीं.

तीर्थकराचरित नामका गुणभी अचेलतामें रहता है. उत्तमसंहनन-वर्ज्यभनाराच संहनन, और विपुलशक्तिके धारक ऐसे तीर्थकर मुक्तिका मार्ग सर्व भव्योंको प्रगट करते हैं. जितने तीर्थकर हो चुके और होन-वाले हैं वे सब वस्त्ररहित होकरही तप करते हैं. मेरुपर्वत वगैरह स्थानपर जो जिनप्रतिमाएँ हैं वे और तीर्थकरोंके अनुयायि गणधरभी निर्वस्त्रही हैं. उनके सर्व शिष्यभी वस्त्ररहितही होते हैं अतः अचेलत्वं यह मुनियोंका प्रथम स्थितिकल्प सिद्ध हुआ.

जिसने आपना शरीर वस्त्रसे वेष्टित किया है वह जिनेश्वरके समान शरीरपरसे मोहका त्यागकर और आपने दो भुज नचि लंबायमान करके निश्चल हो जिनेश्वरका स्वरूप धारण नहीं करते हैं. नयतामें अपना बल और वीर्य प्रगट करना यह गुण है. परंतु जो सबस्त्र है वह सामर्थ्ययुक्त होकर भी अर्थात् परीपह सदन करनेका सामर्थ्य होनेपर भी उनको नहीं सह सकता है इतने गुणोंको देखकर श्रीजिनेश्वरने आगममें अचेलताका वर्णन किया है.

जिम्ने वस्त्रधारण किया है वह मुनि यदि अमनको निर्ग्रथ समझेगा तो पाखड़ी साधुओंको भी हम क्यों न निर्ग्रथ समझे ? हम ही निर्ग्रथ है ऐसा उनका कहना केवल कहना ही है अर्थात् युक्तिशून्य है मध्यस्थ लोक अर्थात् परीक्षक लोक उनका कहना मान्य नहीं करते हैं.

इस प्रकार वस्त्रमें अनेक दोष हैं. नग्रतामें दोष तो है ही नहीं परंतु गुणमात्र अपरिमित है इसीलिये आचार्य महाराजने अचेलता स्थितिकल्प का प्रथम निरूपण किया है.

पूर्वांगमें वस्त्रपात्रादिकोंका ग्रहण करनेका विधान मिलता है ऐसी जिनकी कल्पना है वे अपना पक्ष इस प्रकार स्थापन करना चाहते हैं.

यदि वस्त्र पात्रादिकोंका विधान नहीं है तो उसकी प्रतिलेखना निश्चयसे करनेका विधान क्यों लिखा है ? आचारग्रन्थि नामक ग्रंथमें “ प्रतिलेखे-पात्रकंगलं ध्रुवं ” इति । पात्र और कंगलको शोधना चाहिये अथात् वे निजन्तुक हैं या जन्तुसहित हैं यह देखना चाहिये. यदि जन्तुसहित हो तो वे जन्तु पिच्छिकामे दूर करने चाहिये.

आचारांगके लोकाविचय नामक दूसरे अध्यायके पांचवे उद्देशमें ऐसा वचन है — “ पडिलेहणं, पाद-पुछणं, उगहं, कडासणं, अण्णदरं उवाधिं पावेज्ज ” अर्थात् पिं ग्री, रजोहरण, कटासन-चटाइ, फलक, पादपीठ वगैरह तथा, और भी दूसरा परिग्रह ग्रहण कर सकते हैं ऐसा उल्लेख किया है. वद्वेसणा नामक प्रकरणमें इस मुजव विधान है. तत्थ एसें हिरिमणे सेगं वत्थ वा धारेज्ज पडिलेहणं विदियं । तत्थ एसें जुग्गिदे देसें दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणं तदियं ॥ तत्थ एसें परीसहं अण्णिहासस्स तगो वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं चउत्थं । इसका सारांश यह है — यह लज्जायुक्त मुनि एक वस्त्र धारण करें और प्रतिलेखनकेलिए दूसरा वस्त्र अपनेपास रखें. यह मुनि योग्य प्रदेशमें दोन वस्त्र धारण करें और प्रतिलेखनकेलिए तिसरा वस्त्र धारण करें. यदि शीतादि परीपह सहन न हो तो तीन वस्त्र धारण करें. और प्रतिलेखनकेलिए चौथा वस्त्र धारण करें.

तथा पादेसणा प्रकरणमें ऐसा कहा है ‘ हिरिमणे वा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्स ण कप्पादि वत्थादिगं पादचारिण्ण ’ अर्थात् लज्जायुक्त साधुको वस्त्रादिक रखने चाहिये जिसके लिंगमें दोष हो तो वस्त्र धारण करना योग्य है

पुनरपि उसी प्रकारमें ऐसा उल्लेख है—‘अलावुपत्त वा दारुगपत्तं वा, मड्डिगपत्तं वा अप्पपाणं, अप्प वीजं, अप्पसरिदं तथा अप्पकारं पत्तलामे सति पडिगहिस्सामि ” अर्थात् पात्र लाभ होता हो तो मैं तुम्हीका पात्र अथवा लकड़ीका पात्र किंवा मट्टीका पात्र ग्रहण करूंगा. जिसमें जीव नहीं है, बीज नहीं है और जो बड़ा नहीं है ऐसा पात्र यदि मिलेगा तो मैं ग्रहण करूंगा.

वस्त्रपात्र यदि ग्राह्य नहीं है ऐसा आगममें लिखा होता तो इन सूत्रोंका आगमोंमें उल्लेख ही नहीं आता. भावनामें भी ऐसा कहा है—“चरमं चीवरधारि तेन परमचेलगे तु जिणे ” अन्तिम तीर्थंकरके शरीरपर वस्त्र था तो भी वे अचेलक जिन थे.

सूत्र कृतांगके पुंडरीक नामक अध्यायमें भी ऐसा कहा है ‘ण कहेज्जो धम्मकहं वत्थपत्तादिहंदुमिति । वस्त्र और पात्र ग्राम करनेके उद्देशसे धर्मोपदेश नहीं करना चाहिए.

वस्त्रपात्रके विषयमें निषीध ग्रंथमें ऐसा प्रमाण है. ‘कसिणाइं वत्थकंवलाइ जो भिक्खु पडिगहिदि अप्पज्जदि मासिगं लहुगं’ इति । सर्व प्रकारके वस्त्रकंवलोंको ग्रहण करनेसे मुनिको लघुमासिक नामक प्रायश्चित्त विधि करना पड़ता है.

इस प्रकार सूत्रोंमें वस्त्र ग्रहणका विधान है. इसलिये अचेलताका-नयताका आपका विवेचन कैसा योग्य माना जायगा.

इसपर आचार्य कहते हैं— आगममें आर्थिकाओंको वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा है. और कारणकी अपेक्षासे भिक्षुओंको अर्थात् मुनियोंको वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा है. जो साधु लज्जालु है, जिसके शरीरावयव अगोच्य है अर्थात् जिसके पुरुषलिंगपर चर्म नहीं है. जिसके अंड दीर्घ हैं, अथवा जो परिपक्वहस्तन करनेमें असमर्थ है वह वस्त्र ग्रहण करता है.

आचारांगमें इस विषयमें ऐसा कहा है—“सुदं मे आउस्सत्तो भगवदा एवमबवाद् । इह खलु संयमाभि मुहा दुविहा इत्थी पुरिसा जादा हवंति । तं जहा-सब्बसमणागदे गो सव्वसमणागदे चेव । तत्थ जे सव्वसमणागदे थिरंगत्थिपाणिपादे सव्विदियसमणागदे तेस्स णं गो कप्पदि एगमापि वत्थं धारिजं, एवं परिहिउं एवं अणत्थ एगेण पडिल्लहेगेण इति ” आयुष्मान् भगवान् वीरस्वामीनि ऐसा कहा है—इस जगतमें संयमको धारण करनेवाले

स्त्री पुरुष दो प्रकारके हैं. संपूर्ण अवयवोंकी अवस्थाको प्राप्त हुए ऐसे और असंपूर्ण ऐसे दो प्रकार हैं जिनके शरीर, हाथ और पाय मजबूत हैं, जिनके शरीरकी अस्थिरचना मजबूत है, सर्व इंद्रियोंमें परिपूर्णता अर्थात् निर्दोषता है उनको एक भी वस्त्र धारण करना और पहनना अयोग्य है. मात्र उनको एक प्रतिलेखन अर्थात् पिन्डिका धारण करना योग्य है.

कल्प नामक ग्रंथमें ऐसा कहा है—हरिहेतुक व होइ देहदुगुंछति देहे जुगिदगे धारेज्ज सिंघ वत्थं परीसहाणं च ण विहासीति ॥ जिसका देह जुगुप्सायुक्त है अर्थात् जिनका पुरुषेन्द्रिय चर्मरहित है, अंडकोप दीर्घ है, जो परीपह सहनेमें असमर्थ है वह मुनि जनसमुदायमें एक श्वेत वस्त्र धारण करें कारणकी अपेक्षासे वस्त्र ग्रहण करना चाहिए इस विषय की पुष्टि करनेवाला और भी सूत्र आचार्यमें है, 'अहं पुण एव जाणेज्ज उपातिकंते केमंतेहि सुपडिवण्णे से अथ पडिजुण्णमुवधिं पडिदावेज्ज इति' इसका अभिप्राय यह है—थंहीके दिनमें जिसको जाड़ा सहन होता नहीं है ऐसे मुनिको वस्त्र ग्रहण करके जाड़ेके दिन समाप्त होनेपर और ग्रीष्म समय आनेपर जीर्ण वस्त्र छोड़ देना चाहिये. कारण की अपेक्षा से वस्त्र धारण करनेका विधान है. जीर्ण वस्त्र का त्याग करनेका विधान आगममें है इसलिये दृढवस्त्रका त्याग नहीं करना चाहिये ऐसा आगमसे सिद्ध होता है ऐसा यदि कहेगे तो वह अयोग्य है अचेलता यह मूल गुण है ऐसा आचार्यका वचन है अतः वस्त्रका त्याग करना ही चाहिये प्रक्षालन वगैरह संस्कार न होनेसे वस्त्रमें जीर्णता आती है परंतु दृढवस्त्रका त्याग करना चाहिये ऐसा कथन करनेके लिये जीर्ण शब्दका प्रयोग किया है. पात्रका भी संयमार्थ ग्रहण करना चाहिये क्योंकि सूत्रोंमें उसका भी विधान है ऐसा कहना अनुचित है

अचेलता शब्दका अर्थ सर्व परिग्रहोंका त्याग ऐसा होता है पात्र भी परिग्रह है इसलिये उसका भी त्याग करना अवश्य सिद्ध होता है. अतः कारणकी अपेक्षासे वस्त्रपात्रका ग्रहण करना सिद्ध होता है. जो उपकरण कारणकी अपेक्षासे ग्रहण किया जाता है उसका त्याग भी अवश्य कहना चाहिये इसलिये वस्त्र और पात्रका अर्थोधिकारकी अपेक्षासे सूत्रोंमें बहुत स्थानोंमें विधान आया है वह सब कारण की अपेक्षा से ही है ऐसा समझना चाहिये.

भावनामें इस विषयमें ऐसा उल्लेख है - 'वरिसं चीवरधारी तेण परमचेलणो जिणोत्ति' अर्थात् महावीर



स्वामीने एक वर्ष तक वस्त्रधारण किया था. तदनंतर उन्होंने उसका त्याग किया था. ऐसा मानना में उल्टा है. परंतु इसमें अनेक विवाद है. अर्थात् यह कहना निश्चययुक्त नहीं है. कोई उग नियम में ऐसा कहते हैं "जिस दिन महावीर स्वामीने दीक्षा धारण की उसी दिनमें महावीरस्वामीके शरीरपर जिनमे सुगंध पदार्थोंकी चर्चों की थी उसने वह वस्त्र ग्रहण किया छह महिने के बाद वह वस्त्र धुवके कांटोंमें और आखाओंमें फट गया ऐसा कोई कहते हैं. एक वर्ष और कुछ दिन व्यतीत होने पर राइलक नामक ब्राह्मण ने वह ग्रहण किया था ऐसा कोई कहते हैं. इसमें जग यह वस्त्र जमीनपर गिर गया तब स्वामीने उसकी उपयोग की ऐसा कोई विद्वान कहते हैं. सुगंधी चर्चा करने वाले मनुष्यने भगवानके ऊंचे पर वह वस्त्र रक्सा ऐसा कोई कहते हैं. इस तरह महावीर स्वामीका वस्त्र धारण अनिर्णीत है. मचेललिंगमें ऐसे अनेक संग्रह होनेसे उसमें कुछ तथ्य नहीं दीखता है.

यदि भगवानने वस्त्रग्रहण किया था तो उन्होंने उसका क्यों नाश होने दिया. उनको यह मदा धारण करना योग्य था. यदि यह वस्त्र मेरा नष्ट होगा ऐसा प्रभूको ज्ञान था तो उसका क्यों उन्होंने ग्रहण किया ? यदि उनको यह मालूम न था तो उनका अज्ञान प्रगट होता है.

यदि भगवानने वस्त्र धारण कर वह भी मुनिका लिंग है ऐसा सुचित किया है ऐसा कहो तो 'आचेलवको धम्मो पुरिमचरिमाणं' यह वचन मिथ्या होगा. अर्थात् प्रथम तीर्थंकर महावीर इन्होंने आचेलस्य धर्मे का उपदेश किया है. अर्थात् मुनिओंने संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना चाहिए यह मुनिधर्म है. ऐसा उन्होंने उपदेश किया है. यह उपदेश अमृत्य समझना होगा.

उसी तरह नवस्थानग्रन्थमें 'यथाहमेवेली तथा होउ पच्छिमो इदि होमसदिचि' श्री आदिभगवानना "मैं जैसा निर्वस्त्र हूं वैसा पश्चिम तीर्थंकर भी निर्वस्त्र ही होगा" यह वचन भी मिथ्या मानना पड़ेगा.

जैसा महावीर स्वामीका वस्त्र त्यागकाल कहा है वैसा अन्य तेजीस तीर्थंकरोंका वस्त्रत्याग काल क्यों न ही आपने दिखाया यदि वस्त्र उनको भी होता तो ऐसा कहना युक्त होता है.

सर्व परिग्रहोंका त्याग कर जिनस्वर जब ध्यान करते हैं उग समय यदि किसीने वस्त्र उनको पहनाया तो वह उपसर्ग कहलावेगा. शीत उष्ण, दशमग्रक, तुणस्पर्श वगैरह परीषद सहन करना चाहिए ऐसा वर्णन परि-

पह सूत्रोंमें किया है यह वर्णन अचेलताकी ही सिद्धि करेगा।

जो ब्रह्म धारण करेगा उसको जाड़ेसे, दंशमशकादिसे दुःख होता नहीं।

इन सूत्रोंसे अचेलताका ही निर्णय होता है, परिचयेमु वत्येसु इत्यादि गाथाओंका अभिप्राय—युनि मनमें निवार करते हैं। जब मैंने वस्त्रका त्याग किया है तो मैं फिर उसको नहीं ग्रहण करूंगा। जिसने वस्त्रका त्याग किया है वह सदा जिनरूपका धारक माना जाता है। जिसने उस्त्र धारण किया है वह सुखी होता है और वस्त्ररहित दुःखी होता है। इसलिये मैं वस्त्र धारण करूंगा ऐसा विचार भिक्षु मनमें न लावे निरस्त्र होनेसे मेरेको शीतमें दुःख होता है इसलिये मैं धूपका मेवन करूंगा ऐसी भावना भिक्षुकको मनमें नहीं करनी चाहिये और शीतादि परीपहोंको यह सहन करे, मेरे पास शीतनिवारण करनेवाला वस्त्र नहीं है इसलिये मैं अधिक सेवन करूंगा ऐसा विचार भिक्षुकको नहीं करना चाहिये

उत्तराध्ययनमें ऐसा अभिप्राय लिखा है—

जो आचेलस्य धर्म है वही पार्श्वनाथस्वामीने कहा है, परंतु एक धर्म में ही अर्थात् मुनिधर्म में ही प्रवृत्त हुए मुनियोंमें दो तरह की—सचेल धर्म और अचेल धर्म ऐसी दो कल्पनायें उत्पन्न हुई हैं, अतः मेरे मनमें संशय उत्पन्न हुआ है, इस वचनमें भी चरमतीर्थकर महावीर स्वामी के धर्म में अचेलता सिद्ध होती है दशवैकालिक ग्रंथमें ऐसा वचन है—

अभिप्राय—जो नग्न है, मुंड है अर्थात् जो केशलोच करता है, जिसके नख केश दीर्घ हैं, जिसने मैथुनका त्याग किया है ऐसे साधुको अलंकार की क्या जरूरत है।

इम प्रकार आचेलस्य कल्पका वर्णन हुआ।

उद्देशिक स्थितिकल्पका वर्णन—

मुनिके उद्देशसे किया हुआ आहार, वसतिका वगैरहको उद्देशिक कहते हैं, उसके आधारकर्मोदि विकल्प से सोला प्रकार हैं उसका त्याग करना यह द्वितीय स्थितिकल्प है, कल्पनामक ग्रंथमें इसका ऐसा वर्णन है—

अर्थात्—श्री आदिनाथ तीर्थंकर और श्री महावीरस्वामी इनके तीर्थमें सोलह प्रकारके उद्देश दोषोंका परिहार करके आहारादिक ग्रहण करना चाहिए ऐसा कहा है यह दूसरा स्थितिकल्प है

सेज्जाधर कल्पका वर्णन—

सेज्जाधर शब्दके तीन अर्थ हैं—जो वसतीकाको बनाता है वह, बनाई हुई वसतिकाका संस्कार करने-वाला, अथवा गिरी हुई वसतिकाको सुधारनेवाला, किंवा उसका एक भाग गिरगया हो तो उसको सुधारनेवाला वह एक, जो बनवाता नहीं है और संस्कार भी नहीं करता है परन्तु यहां आप निवास करो ऐसा कहता है वह, ऐसे तीनोंको शय्याधर कहते हैं. इनके आहारका, और इनके पिच्छिका, वगैरह उपकरणका त्याग करना यह तीसरा कल्प है

यदि इन शय्याधरोंके घरमें मुनि आहार लेंगे तो धर्मफलके लोभसे ये शय्याधर मुनियोंको आहार देते हैं ऐसी निंदा होगी. जो आहार देनेमें असमर्थ है, जो दरिद्री है, लोभी कृपण है वह मुनियोंको वसतिदान न देवे उसने वसतिका दान किया तो भी इस मंदभाग्यने मुनिको आश्रय दिया परंतु आहार नहीं दिया ऐसी लोग निंदा करते हैं. जो वसतिका और आहार भी देता है उसके ऊपर मुनिका स्नेह भी होना संभवनीय है. क्योंकि उसने मुनिपर बहुत उपकार किया है अतः उनके यहां मुनि आहार ग्रहण नहीं करते हैं.

राजोंके यहां आहार नहीं लेना यह चौथा स्थितिकल्प है. इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश इत्यादि कुलमें जो उत्पन्न हुआ है, जो प्रजा का पालन करना, उनको दुष्टोंसे रक्षण करना इत्यादि उपयोगसे अशुभजन करता है उसको राजा कहते हैं. राजाके समान जो महाकन्द्रीका धारक है उसको भी राजा कहते हैं, ऐसेको यहां पिंड ग्रहण करना वह राजपिंड है. इसके तीन भेद हैं—आहार, अनाहार और उपधि. अन्न, पान, स्वाद्य और स्वाद्यके पदार्थोंको आहार कहते हैं. तृण, फलक, आसन वगैरह पदार्थोंको अनाहार कहते हैं पिंडी, वस्त्र, पात्र उनको उपधि कहते हैं.

राजपिंडका ग्रहण करनेमें क्या दोष है ? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है—आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ ऐसे दोषोंके दो भेद हैं. ये दोष समुत्थ और तिर्यचोंके द्वारा होते हैं. तिर्यचों के ग्राम्य और अरण्यवासी ऐसे दो भेद हैं ये दोनों प्रकारके तिर्यच दुष्ट और भद्र ऐसे दो प्रकार के हैं घोडा, हाथी, भैंसा, मेढा, कुत्ता इनको ग्राम्य पशु कहते हैं. ये पशु राजाके घरमें प्रायः होते हैं यदि ये दुष्ट स्वभावके होंगे तो उनसे मुनियोंको बाधा पोहोचती हैं

यदि वे भद्र हो अर्थात् दुष्ट स्वभावके न हो तो वे स्वयं मुनिओंको देखकर भय से भागकर दुःखित होते हैं। स्वयं गिर पड़ते हैं अथवा धक्का देकर मुनिओंको मारते हैं। इधर उधर कुदते हैं।

नाथ, सिंह वगैरह मांसभक्षी प्राणी, वानर वगैरह प्राणी राजा के घरमें बंधनसे यदि मुक्त होगये होंगे तो उनसे मुनिका घात होगा और वे यदि भद्र होंगे तो वे इधर उधर भागने पर भी मुनिको बाधा होने की संभावना है।

मनुष्योंसे भी राजाके घरमें मुनिओंको दुःख भोगने पड़ते हैं। उनका वर्णन— राजाके घरमें तलवार, मलेच्छ, दाम, दासी वगैरह लोक रहते हैं। इन लोगोंसे राजगृह व्याप्त होनेसे वहा प्रवेश होने में कठिनाता पड़ती है। यदि मुनिने राजाके घरमें प्रवेश किया तो वहां उन्मत्त दास वगैरह लोक उनका उपहास करते हैं उनको निंद्य शब्द बोलते हैं। कोई उनको अंदर प्रवेश करने में मनाई करते हैं। कोई उनको उल्लंघते हैं। वहां अंतःपुरकी स्त्रियां यदि कामविकार से पीडित होगी अथवा पुत्रकी इच्छा उनको हो तो मुनिका जबरदस्तीसे उपभोगके लिये प्रवेश करवाती है।

कोई व्यक्ति राजाके घरके सुवर्ण रत्नादिक चोर कर यहां मुनि आया था उसने चोरी की है ऐसा दोषारोपण करते हैं। यह राजा मुनिओंका भक्त है ऐसा समझकर दुष्ट लोक मुनि वेप धारण कर राजाके यहां प्रवेश करते हैं और वहां अनर्थ करते हैं। जिससे मुनिओंको बाधा पोहोचनेकी बहुत संभावना रहती है। अर्थात् राजा रुष्ट होकर अविवेकी बनकर मुनिओंको दुःख देता है। अथवा अविवेकी दुष्ट लोक मुनिओंको दोष देते हैं उनको मारते हैं। ऐसे इतर व्यक्तियोंसे उत्पन्न हुए दोषोंका वर्णन किया है अब राजाके घरमें प्रवेश करनेसे मुनि स्वयं कोनसे दोष करते हैं इसका वर्णन करते हैं—

राजगृहमें जाकर मुनि आहार शुद्ध है या नहीं इसका शोध नहीं करेगा देखभाल न कर लाया हुआ आहार ग्रहण करता है। विकार उत्पन्न करनेवाले पदार्थ सेवन करनेसे इंगाल नामक दोष उत्पन्न होता है। अर्थात् ऐसे पदार्थ भक्षण करनेमें लंपट होजाता है। दुर्दैवसे वहांकी रत्नादिक अप्रमत्त वस्तु चुरानेके भाव उत्पन्न होकर उसको उठा लेगा अपने योग्य स्त्रीको देखकर उसमें अनुरक्त होगा। राजाका वैभव, उसका अंतःपुर, वैश्या वगैरहको देखकर निदान करेगा। ऐसे दोषोंका भ्रमत्र जहां होगा ऐसे राजाके घरमें आहारका त्याग करना चाहिये।

परंतु जहां ऐसे दोष होनेकी संभावना नहीं है वहां मुनिको आहार लेनेके लिये मनाई नहीं है, गत्यंतर न हो अथवा श्रुतज्ञानका नाश होनेका प्रसंग हो तो उसका रक्षण करनेके लिये राजगृहमें आहार लेनेका निषेध नहीं है। ग्लान मुनि अर्थात् बीमार मुनिके लिये राजपिंड यह दुर्लभ द्रव्य है, बीमारी, श्रुतज्ञानका रक्षण ऐसे प्रसंगमें राजाके यहां आहार लेना निषिद्ध नहीं है।

५ चारित्र्य संपन्न मुनिका अपने गुरुका और अपनेसे बड़े मुनिओंका विनय करना शुश्रूषा करना यह कर्तव्य है, इसको कृतिकर्म नामक स्थितिकल्प कहते हैं।

६ व्रतारोपण योग्यता नामक छद्वा स्थितिकल्प है—

जिसको जीविका स्वरूप मालुम हुआ है ऐसे मुनिको नियमसे व्रत देना यह छद्वा स्थितिकल्प है।

जिसने पूर्ण निग्रहवस्था धारण की है उद्देशिकाहार और राजपिंडका त्याग किया है, जो गुरुभक्त और विनयी है वह व्रतारोपणके लिये योग्य है।

व्रत देने का क्रम इस प्रकार है—जब गुरु बैठते हैं और आर्थिकायें सम्मुख होकर बैठती है, ऐसे समयमें श्रावक और श्राविकाओंको व्रत दिये जाते हैं, व्रत ग्रहण करनेवाला मुनि भी गुरुके बायें तरफ बैठता है तब गुरु उसको व्रत देते हैं।

व्रतोंका स्वरूप जानकर पापोंसे विरक्त होना वह व्रत है, वृत्तिकरण, छादन, संवर, विरति ये सब शब्द व्रतके वाचक हैं, यही अभिप्राय 'णाल्लण' इस गाथामें कहा है।

पहिले तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकर इन्होंने रात्रिभोजन त्याग और पंच महाव्रतोंका उपदेश किया है, ग्रामत्त योगसे प्राणी के प्राणोंका घात करना इसको हिंसा कहते हैं इस हिंसासे विरक्त होना यह प्रथम अहिंसा महाव्रत है, असत्य भाषणसे प्राणिओंको दुःख होता है ऐसा समझकर दयावान मुनि सत्य बोलते हैं, यह उनका सत्य महाव्रत है, यह मेरा है ऐसा मंफ़ल्प जिसके ऊपर है ऐसी वस्तु लेने पर लोक उस वस्तुके विरहसे दुःखित होते हैं यह देखकर दयासे उनकी वस्तु लेनेका त्याग करना यह तीसरा अर्चौर्य महाव्रत है, सरसोंसे भरी हुई नलिकामें तपी हुई लोहशलाका घुसनेसे सब सरसों जलकर भस्म हो जाती है उसी तरह योनी में पुरुषेन्द्रियका प्रवेश होने से वहाँके सर्व सूक्ष्म जीव नष्ट होते हैं, यह मैथुन रागभाव को उत्पन्न करता है, यह कर्मवधका

महान् कारण है ऐसा समझकर दयवान् मुनि उससे पूर्ण विरक्त होते हैं यह उनका चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत है। परिग्रहसे छहों प्रकारके जीवोंको बाधा पोहोचती है, यह ममत्वपरिणामक लिए कारण है। इसलिये मर्व परिग्रहोंका त्याग करना यह परिग्रहत्याग नामक पाचवा महाव्रत है।

इन व्रतोंका पालन करनेकेलिए रात्रिभोजनका त्याग करना यह छठा व्रत है अहिंसामहाव्रत सर्व जीवोंको विषय करता है, अर्थात् सर्व जीवोंपर दया करना यह अहिंसा महाव्रतका विषय है, आचार्यमहाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत ये सर्व पदार्थविषयक है, अर्थात् बाल धन धान्यादिक पदार्थोंका त्याग करनपर इन व्रतोंकी प्राप्ति होती है और वचे हुए व्रत अर्थात् सत्यमहाव्रत और ब्रह्मचर्यव्रत ये दो व्रत द्रव्योंका एकदेश विषय करते हैं, यही अभिप्राय पदमम्मि सब्जजीवा इस गाथामें आचार्योंने दिखाया है।

ज्येष्ठ नामक सप्तम स्थितिकल्पका वर्णन—

७ जिसने पांच महाव्रत धारण किये हैं, और जो बहुत वर्ष की दीक्षित है ऐसी आर्यिकासे भी आज जिसने दीक्षा ली है ऐसा मुनि ज्येष्ठ माना जाता है, पुरुष सग्रह, उपकार और रक्षण करता है जगतमें पुरुषने ही धर्मकी स्थापना की है इसलिए उसको ज्येष्ठता मानी है इसवास्ते सर्व आर्यिकाओंका मुनिका विनय करना यह कर्तव्य है।

स्त्रिया पुरुषसे कनिष्ठ मानी गई हैं, वे अपना रक्षण स्वयं नहीं कर सकती, दूसरोंसे वे इच्छी जाती है अर्थात् पुरुष जब उसकी इच्छा करता है तब वे उसका प्रतीकार करनेमें असमर्थ होती हैं, उनमें स्वभावतः भय रहता है, कम जोरी रहती है, पुरुष ऐसा नहीं है अतः वह ज्येष्ठ है, यही अभिप्राय 'जेणिच्छी हु लघुसिगा इस सूत्रमें कहा है।

८ अचेलादि कल्पमें रहते हुए मुनीको जो अतिचार लगते हैं उनके निवारणार्थ प्रतिक्रमण करना यह अष्टम स्थिति कल्प है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव ऐसे प्रतिक्रमणके छे भेद हैं अर्थात् नाम प्रतिक्रमण, स्थापनाप्रतिक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण इत्यादि छह भेद हैं।

क्रमण है

आश्वासः

४

६३२

भट्टिणी, भट्टिदारिगा इत्यादि अयोग्य नामोच्चारण करनेपर उसका परिहार करना यह नाम प्रति-  
स्थापना प्रतिक्रमण है।

असंयत, मिथ्यादृष्टि जीवोंके प्रतिविंब अर्थात् प्रतिमाकी पूजा वगैरह करनेपर उससे परावृत्त होना यह  
प्रतिक्रमण है।

द्रव्यके सचित्त, अचित्त और मिश्र ऐसे तीन भेद हैं इनका त्याग करना यह द्रव्यप्रतिक्रमण है। जहां  
त्रस स्थावर जीव बहुत हैं ऐसे क्षेत्रका त्याग करना अर्थात् जहां स्वाध्याय करनेमें, ध्यान करनेमें बाधाएं उत्पन्न  
होती हैं ऐसे प्रदेशोंका त्याग करना वह क्षेत्र प्रतिक्रमण है।

संध्याकालमें, स्वाध्यायकाल वगैरह कालोंमें आना जाना वगैरह क्रियाओंका त्याग करना यह काल  
प्रतिक्रमण है।

मिथ्यात्व, असंयम, कपाय और योग इनसे निवृत्त होना यह भाव प्रतिक्रमण है।

श्री आदि तीर्थंकर और महावीर स्वामीने प्रतिक्रमण के साथ मुनिधर्मका उपदेश किया है अर्थात् प्रति-  
क्रमण दूरीज करना ही चाहिये ऐसा उन्होंने उपदेश दिया है। परंतु बीचके वाचीय तीर्थंकरोंने अपराध होनेपर  
प्रतिक्रमण करना चाहिये ऐसा उपदेश दिया है इस प्रतिक्रमणके दैवसिक, रात्रिक, ईर्ष्यापथिक भिक्षाचर्या, पाक्षिक,  
चातुर्मासिक, सांत्वरिक और उत्तमार्थ ऐसे सात भेद हैं। श्रीआदितीर्थंकर और महावीर तीर्थंकरप्रणीत पंचवे  
धर्ममें और अन्य तीर्थंकर प्रणीत चौथे धर्ममें प्रतिक्रमण के कालभेद बताये हैं जब अतिचार लगते हैं तब प्रतिक्र-  
मण करना चाहिये अर्थात् अपने आत्माका अवलोकन करना चाहिये।

मुनिको आहारमें, ईर्ष्यापथमें, सर्व प्रकारके स्वप्न, जागृतावस्था इत्यादि समयमें जो दोष उत्पन्न होते  
हैं उनका प्रतिक्रमण करना चाहिये आदि भगवान् और महावीरके समयमें हुए मुनियोंको छोड़कर बीचके  
वाचीय तीर्थंकरके समयके मुनि जब अतिचार लगते थे तबही प्रतिक्रमण करते थे। अर्थात् आहार, दुःस्वप्न,  
ईर्ष्यापथ इत्यादिक विषयमें जब दोष लगता था तब ही वे प्रतिक्रमण करते थे। अन्यसमयमें नहीं। आहार, ईर्ष्यापथ  
अर्थात् वंदनादिकके लिये एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाना दुःस्वप्न इत्यादिकके समयमें अपनी प्रवृत्ति साति-  
चार हो या निरतिचार हो दोनों समयमें भी आद्यन्त तीर्थंकरकालीन मुनि प्रतिक्रमण करते हैं। अर्थात् दोष

लगनेपर वा न लगनेपर प्रतिक्रमण करना ही चाहिये ऐसी आद्यत तीर्थकारोंकी आज्ञा है

गद्यम तीर्थकारके शिष्योंको बुद्धि दृढ थी उनका चित्त एकाग्र रहता था. उनका अपने कार्य पर लक्ष्य दृढ बना रहता था इसलिये जो कार्य वे करते थे उसकी गहरी करते थे. परन्तु आद्यत तीर्थकारके शिष्य मोहयुक्त, चंचलचित्त होते थे अतः उनको अपराधोंका स्मरण नहीं रहता था इसवास्ते वे सबका प्रतिक्रमण करते हैं. इस विषयमें अंध घोड़ेका उदाहरण उपयुक्त है—

किसी राजाका घोड़ा अंधा होगया तब उसने वैद्यके पुत्रको औषध देने के लिए कहा. वैद्यपुत्रको औषधि माउम नहीं थी वैद्य तो अन्य गावको चला गया था अतः उसके पुत्रने घोड़े के नेत्रपर सर्व औषधियोंका प्रयोग किया. उससे घोड़े के नेत्र अच्छे होगये इसी तरह साधु भी एक प्रतिक्रमण दंडकमें यदि स्थिर चित्त न होगा दूसरेमें यदि न हो तो तीर्थमें स्थिर होगा इसलिये सर्व दंडकोंका उच्चारण करना उसके लिये योग्य है. इसमें कोई विरोध नहीं है. सर्व भी दंडक कर्मक्षय करनेमें समर्थ होते हैं

भारतैकवासितानामक नौवे स्थितिकल्पका वर्णन —  
वसतादि छहो ऋतुओंमें प्रत्येक ऋतुमें एक मासपर्यंत एकत्र पुनि निवास करते हैं. और एक मास विहार

करते हैं यह नौवा स्थितिकल्प है एकही स्थानमें बहु-चिरकाल रहनेसे उद्दमादि दोषोंका परिहार होता नहीं. वसतिकापर प्रेम उत्पन्न होता है. गुलमें लपटपना उत्पन्न होता है आलस्य आता है, सुकुमारता की भावना उत्पन्न होती है. जिन श्रावकोंके यहा आहार पूर्वमें हुआ था वहाही पुनरपि आहार लेना पडता है ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं इसलिये मुनि एकही स्थानमें चिरकाल तक रहते नहीं हैं.

पाद्य नामक स्थितिकल्पका वर्णन—

वर्षाकालके चार मासमें एकही स्थानमें रहना अर्थात् भ्रमणका त्याग करना यह पाद्य नामक दसवां स्थितिकल्प है. वर्षाकालमें जमीन स्यावर और त्रस जीवोंसे व्याप्त होती है. ऐसे समयमें पुनि यदि विहार करेंगे तो महा असंयम होगा. जलदृष्टिसे और थंड हवा बहनेसे आत्मविराधना होगी अर्थात् ऐसे समयमें विहार करनेसे मुनि अपने आचारसे च्युत हो जावेंगे वर्षाकालमें भूमि जलमय होनेसे कुवा, खड्डा इत्यादिकोंमें गिर जानेकी संभावना होती है. खूद, कंटकादिक पानसि तक जानेसे विहार करते समय उनसे बाधा होनेकी संभावना होती है.



विजयोदया—सेज्ज वसति । उवर्धि उपकरण । सथारभत्तपाण च संस्तर भत्तपानं च । असुद्धं उद्दमादिदोपोपहतं । उवक्कप्पेज्ज उपकल्पयेत् । क चयणकप्पगदो ज्ञानाचारादिकादीपञ्चयवनमुपगत । पडिचरए वा प्रतिचारकान्या योजयेत् । असंविग्गे असंविग्नान् एवमसंयमे कृते महान्कर्मवधो भविष्यति ततोऽस्माकं महती सद्यतिरेने-  
कापन्मूलेति । भयराहितान् ॥

आचारहीनश्रयणे दीपं गाथात्रयेणाह—

मूलारा चयणकप्पगदो ज्ञानवर्जनादिपु च्यवनमुपगत । उवक्कप्पेज्ज योजयेत् । असुद्धं उद्दमादिदोपोपहतं । पडिचरए प्रतिचारकान् । असंविग्गे एवमसंयमे कृतेऽस्माकं महान्कर्मवधो भविष्यति इति दीर्घसत्सुतिभयराहितान् ॥

जो आचार्य आचारवान् नहीं है ऐसे आचार्य का आश्रय करनेसे क्षपककी हानि होती है इसका खुलासा—

अर्थ—जो ज्ञानाचारादिक पांच आचारोंसे थोड़ासा भ्रष्ट हुआ है ऐसा आचार्य क्षपकको वसतिका, पिच्छादिक उपकरण, तृणादिकोंका संस्तर, आहारके पदार्थ, पीनेके पदार्थ उद्दमादि दीप सहित देगा. अर्थात् वसति वगैरह पदार्थ दीपरहित है वा नहीं इसका विचार वह न करेगा अथवा क्षपककी शुश्रूषा करनेवाले मुनि संसारभयसे युक्त है वा नहीं इसका विचार न कर वैराग्यरहित मुनिओंको क्षपककी शुश्रूषा करनेके कार्यमें नियुक्त करेगा. हम यदि असंयममें प्रवृत्ति करेंगे तो हमको महान् कर्मबंध होगा और वह हमको दीर्घकालतक संसारमें अमावेगा ऐसी भीति जिनके मनमें नहीं है उनको शुश्रूषा करनेके लिये नियुक्त करनेसे क्षपकका आत्माहित होना अशक्य ही समझना चाहिये.

सल्लेहणं पयासेज्ज गंध मल्लं च समणुजाणज्जा ॥

अप्पाउगं व कधं करिज्ज सइरं व जांपिज्ज ॥ ४२५ ॥

सल्लेखनायाः कुरुते प्रकाशनां कथामयोग्यां क्षपकस्य भाषते ॥  
स्वैरं पुरस्तस्य करोति मंत्रणं गंधप्रसूनादिविधिं च मन्यते ॥ ४२८ ॥

विजयोदया—सल्लेहण पयासेज्ज सल्लेखना प्रकाशयेत् लोकस्य । गध माल्य वातुजानीयात् । गधमाल्यान्-

यनमभ्युपगच्छेत् । अप्पाउगं च कहं कहेज्ज । अप्पायोग्यां चा कथा कयेत् । क्षपकस्याशुभपरिणामविधायिनी । सर वा स्वरं वा जपेज्ज जलेत् । आराधकस्याग्रत इदं युक्तं न वेत्यविचार्य वेदेद्वा ॥

मूलारा—सहेज्जं पयासेज्ज क्षपकस्य संन्यासविधिं लोकस्याग्रे प्रकटयेत् । समणुजाणेज्ज गंधादिकं सेवमानं क्षपकमनुमन्येत । अप्पाउगं अयोग्यं । कहं कथा । सहरं शयेष्टम् ॥

अर्थ—आचाररहित आचार्य क्षपककी सहेखना लोकमें प्रगट कर देगा. अथवा लोगोंको सुगंधित पदार्थ, और पुष्प लानेके लिए कहेगा क्षपकके परिणामोंको विवाडेने वाली कथायें कहेगा अथवा क्षपकके आगे योग्यायोग्याका विचार न कर चाहे जो ब्रह्मने लगेगा. अभिप्राय यह है कि ऐसे आचार्यको क्षपकके कल्याणकी पर्वा नहीं रहती है.

ण करेज्ज सारणं वारणं च खवयस्स चयणकरप्पगदो ॥

उदेज्ज वा महल्लं खवयस्स वि किंचणारंभं ॥ ४२६ ॥

साररत्नत्रये प्रवर्तनं सारणं, दोषेभ्यो वारणं निवर्तनमिति यावत् ॥

सारणां वारणां नास्य कुरुते च्यवनस्थितः ॥

क्षपकस्य महारंभं कंचित्कारयते गणी ॥ ४१९ ॥

विजयोदया—ण करेज्ज न कुर्यात् । किं सारणं रत्नत्रये वृत्ति । वारणं च निषेध न कुर्यात् । तेभ्य प्रच्यवमानस्य । खवगस्स क्षपकस्य । क चयणकरप्पगदो च्यवनकल्मगत । उदेज्ज वा महल्ल आरंभं कारयेद्वा महान्तं आरंभं पट्टकशाला, पूजा, विमान वा । खवगस्स वि क्षपकस्यापि किंचन ॥

मूलारा—सारणं रत्नत्रये प्रवर्तन । वारणं रत्नत्रयात्प्रच्यवमानस्य निषेध । उदेज्ज कारयेत् । किंचणारंभं कमपि पट्टकशालापूजारधिकारिकं सावद्यन्यापारं ॥

अर्थ—अष्ट आचार्य क्षपक रत्नत्रयमें प्रवृत्त होगा ऐसा उपदेश नहीं करता है. तथा यदि वह रत्नत्रयसे ने लगा तो उसमें स्थिर भी नहीं करता है. बड़ा आरंभ करावेगा अर्थात् पट्टकशाला, पूजा, विमान इत्या-

दि कार्य करनेमें लोगोंको प्रवृत्त करेगा, क्षणकाले लिए भी ऐसा ही महारम्भका कार्य करेगा, इसलिये ऐसे आचार्य के सहवाससे क्षणकाला हित होना शक्य नहीं है.

आयारत्थो पुण से दोसे सव्वे वि ते विवज्जेदि ॥

तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ ॥ ४२७ ॥

आचारस्थः पुनर्दोषान्यतः सर्वान्विमुञ्चति ॥

निर्योपकस्ततः स्मृतिराचारस्थोऽभेधीयेत ॥ ४४० ॥

इति आचारी

विजयोदया—आयारत्थो पुण आयारत्थ पुन स्मृति तान्सर्वान्वर्जयति दोषान् । तद्वा तस्मात् । शुणेषु प्रवर्तमानो दोषेभ्यो व्यावृत्तश्च । आयारत्थो आयरिओ णिज्जवओ होदि आचारस्य एवाचार्यो निर्वोपको भवति नापर । व्याख्यातमाचारवत्त्वम् । आयारत्थ ॥

निर्योपकत्वे स्मृतिमाचारवन्तं नियमयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—आचारवत्त्व गुणको धारण करनेवाले आचार्य ऊपर लिखे हुए दोषोंका त्याग करते हैं इसलिये गुणोंमें प्रवृत्त होनेवाले दोषोंसे रहित ऐसे आचार्य निर्योपक होने लायक जानना चाहिए जो आचार्य आचार्योमें प्रवृत्त हैं वे हि निर्योपक समझना चाहिए आचारवत्त्व गुणका वर्णन समाप्त हुआ

आधारवत्त्वव्याख्यानायोत्तरप्रवचन—

चोदिसदसणवपुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो ॥

कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ॥ ४२८ ॥

धीरोऽखिलांगपूर्वजो य. कालव्यवहारवित् ॥

आधारी स महाप्रज्ञो गंभीरो मंदरस्थिर ॥ ४४१ ॥

चिजयोदया—चोदसदमणवपुष्वी चतुर्दशपूर्वा दशपूर्वा, नवपूर्वा वा । महामयो महामति । सायरोच्च गभीरो सागर इव गभीर । आधारव नाम कण्ठवह्णारथारी वा कल्पवृक्षवह्णारथारी वा आधारवान् शानी । दुष्परिणामा एते मनोवाक्याविकल्पा, शुभा वा पुण्यान्नावृताः । शुद्धा वा शुभाशुभकर्मसंयोजितव, इति बोध्यति । शुभेषु शुद्धेषु वा प्रवर्त्यति श्रुतमनारतमुपदिशन्नतोऽसौ वर्गनस्य, चारित्र्यस्य, तपस्य आधारवत्वात् । मानमाधार स्तब्धानाधारवान् श्रद्धानाधारवान् ।

आधारवत्वमष्टादशभिर्गोथाभिर्व्याचिख्यासुगन्धावाधारान्तं लभ्यति—

मूलारा — कण्ठवह्णारथारी — अवधारितप्रायश्चित्तप्राप्तानुगततत्प्रयोगः । आधारवं दर्शनज्ञानचारित्र्यतपसा-मुत्पत्तिस्थितिवृद्धिरक्षादिप्राप्तत्वाधारोऽत्र ज्ञान तद्वान् सूरियारवान् । नित्यश्रुतोपदेशेन पापान्नवणकारणाशुभपरिणामेभ्यो व्यावर्त्य क्षपकस्य पुण्यान्नावे, शुभयोगत्रये, सवरनिर्जराकारणे वा शुद्धोपयोगे प्रवर्तक इत्यर्थः ।

आधारवत्त्व गुणका सविस्तर वर्णन—

अर्थ—जो चौदापूर्व, दसपूर्व अथवा नउ पूर्वोंका ज्ञाता है, जिसमें समुद्रतुल्य गंभीरता गुण है जो कल्प व्यवहारका ज्ञाता है अर्थात् जो प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता है और उसमें वताये हुए प्रयोगोंका जिसने अनुसरण किया है, अर्थात् अपराधी मुनिओंको जिसने अनेकवार प्रायश्चित्त देकर इस नियममें विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसे आचार्य आधारवत्त्व गुणके धारक माने जाते हैं, इस गुणके धारक आचार्य मनोवचन और शरीरके अशुभ परिणाम पापास्रवके कारण होते हैं, शुभ परिणामों से पुण्यकर्म आत्मामें उत्पन्न होता है और शुद्ध परिणामोंसे शुभाशुभ कर्मोंका संवर होता है ऐसा उपदेश कर शिष्योंको शुभ और शुद्ध परिणामोंमें प्रवृत्त करते हैं, हमेशा श्रुतका उपदेश करते हैं, इनका ज्ञान दर्शन, चारित्र और तपकी आधार होता है इसलिए ये आधारवत्त्व गुणके धारक माने जाते हैं.

यस्तु ज्ञानवान् भवति तदाश्रयणे दोषान्न्याचष्टे—

णासेज्ज अगीदत्थो चउरंगं तस्स लोगसारंगं ॥  
णट्ठमि य चउरंगे ण उ सुलहं होइ चउरंगं ॥ ४२९ ॥

## चतुरंगमगीनार्थो नाशयेच्छोरुपूजितम् ॥

संभृतौ लप्स्येन भूयो नाशितं तच्च दुःस्वनः ॥ ४४२ ॥

विजयोदया—णामेवज अगोदर्यो नाशयेदशुहीतमूर्ध्वार्थं । तस्म तस्य क्षपकस्य । चउरंगं चत्वारि शान्तदो नचारिचतपासि अगानि यस्य मोक्षमार्गस्थ त चतुरंग । लोके यत्सारं निर्वाणं तस्याहं उपकारकं । चतुरंग नाम यत्ति नष्टं तथापि तच्चतुरंग पुनर्लभ्यते इति शकामिमा निरम्यति । णट्टस्मि य चउरंगे कोष्टे इह ज्ञम्यनि चतुरंगे मुक्तिमार्गे । ण उ सुलहे होदि चउरंग । केच सुरंगेन लभ्यते तच्चतुरंग । विनाशितचतुरंगो भिग्यात्वपरिणत कुयोनिमुपगत कथमि लभते चतुरंग इत्यभिप्राय ॥

अज्ञाश्रयणे दोषमाह—

मूलाग—चउरंगं चत्वारि दर्शनजालचारित्रतपादंगानि यस्य मोक्षमार्गस्य तं । लोकासारंगं लोके यत्सारं व्यवहारेणैन्द्रादिपदं निश्चयेन निर्वाणं तस्यांगं साधनं । यत्ति नाम नष्टं चतुरंगं तथापि पुनर्लभ्यते इत्यग्राह-नो इत्यादि विनाशितचतुरंगो भिग्यात्वपरिणतः कुयोनिमुपगतः कथमि लभते चतुरंगमित्यभिप्रायः ॥

जो आचार्य जानी नहीं है उनके आश्रयमे दोषोत्पत्ति होती है. इस विषयका विवेचन—

अर्थ—जिसको मिद्धांतस्वर्गका ज्ञान नहीं है वह आचार्य क्षपकने चतुरंगका नाश करता है. अर्थात् यदि क्षपकने अज्ञ आचार्य का समाधिमरण के लिये आश्रय किया तो उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चारित्र और तपका नाश होता है. यह चतुरंग मोक्षमार्ग का हंतु है. यह चतुरंग व्यवहारनयमे सारभूत अर्थात् श्रेष्ठ ऐसे इन्द्रादि पदका कारण है तथा निश्चयनयमे लोकत्रयमे श्रेष्ठ ऐसे मोक्षका कारण है यह नष्ट होने पर पुनः प्राप्त होगा ऐसी शंका करना व्यर्थ है. क्योंकि जर यह नष्ट हो जायेगा तो वह मोक्षपद कैसे मिलेगा अर्थात् सम्यग्दर्शनादि-कोंका नाश होनेपर इस आत्मको भिथ्यात्त अःक कुयोनियांमे दीर्घ कालतक घुमाता है. अतः इस चतुरंगकी पुनः प्राप्ति होना अतिशय कठिण है.

---

अपकस्य चतुरंगं कथमशुहीनार्थो नाशयतीत्यारेक्यामित्थममो नाशयतीति दर्शयति—

संसारसारममि य अणंतवहुतिव्यदुक्खसालिलमि ॥

संसारमाणो दुक्खेण लहटि जीवो मणुसत्तं ॥ ४३० ॥

तह चेव देसकुलजाइरुवमारोगमाडगं बुद्दी ॥  
 सवणं गहणं सद्धा य संजमो दुल्लहो लोए ॥ ४३१ ॥  
 एवमवि दुल्लहपरंपरेण लद्धूण सजम खवओ ॥  
 ण लहिज्ज सुदी संवेगकरी अबहुस्सुयसयासे ॥ ४३२ ॥  
 सम्मं सुदिमलहंतो दीहद्धं मुत्तिमुवगमिचा वि ॥  
 परिवडइ मरणकाले अकदाधारस्स पासम्मि ॥ ४३३ ॥  
 सक्का वंसी छेतुं तत्तो उक्कट्ठिओ पुणो दुक्खं ॥  
 इय संजमस्स वि मणो विसएसुक्कट्ठिदुं दुक्खं ॥ ४३४ ॥  
 आहारमओ जीवो आहारेण य विराधिदो संतो ॥  
 अट्टदुहट्ठो जीवो ण रमदि णाणे चरित्ते य ॥ ४३५ ॥  
 सुदिपाणयेण अणुसट्ठिभोयेण य पुणो उवग्गहिदो ॥  
 तण्हाल्लुहाकिलंतो वि होदि ज्ञाणे अवक्खित्तो ॥ ४३६ ॥  
 पढमेण व दोवेण व वाहिज्जंतस्स तस्स खवयस्स ॥  
 ण कुणदि उवदेसादिं समाधिकरणं अगीदत्थो ॥ ४३७ ॥  
 संसारसागरे घोरे दुःखनक्रकुलाकुले ॥  
 दुःखतोऽट्ठाद्यमानेन प्राप्यते जन्म मानुषम् ॥ ४४३ ॥  
 देशो जातिः कुलं रूपं कल्पता जीवितं मतिः ।  
 अवर्णं ग्रहणं श्रद्धा संयमो दुर्लभो भवेत् ॥ ४४४ ॥

बहुदुर्लभसंतत्या साधुर्लब्ध्वापि संयमम् ॥  
 लभते नाज्ञसांनिध्ये देशानां घृतिवर्द्धनीम् ॥ ४४५ ॥  
 प्रयात्यापि चिरं वृत्तमश्रुताधारसन्निधौ ॥  
 अलब्धदेशनो मृत्युकाले प्रअंशते ततः ॥ ४४६ ॥  
 दोषेभ्यो वार्यते दुःखं संन्यस्तः क्रियते सुखम् ॥  
 छिद्यते सुखतो वशः कृष्यते दुःखतस्ततः ॥ ४४७ ॥  
 अयमन्नमयो जीवस्त्याज्यमानस्त्वसौ कदा ॥  
 आर्तैरौद्रकुलीभूतश्चतुरंगे न वर्तते ॥ ४४८ ॥

शिक्षान्नश्रुतिपानाभ्यां साधुराप्यायितः पुनः ॥  
 क्षुधातृष्णाभिभूतोऽपि शुद्धध्याने प्रवर्तते ॥ ४४९ ॥  
 क्षुधया तृष्णया साधोर्वीक्षितस्य ददाति न ॥  
 उपदेशमशास्त्रज्ञः सप्ताधिजननक्षमम् ॥ ४५० ॥

विजयोदया--तस्स पढमेण क्षुधा । दोषेण व पिपासया वा । याधिज्जतस्स वाध्यमानस्य तस्य । खवयस्स क्षपकस्य । कुणदि उवदेसादिं न करोत्युपदेशादिं । समाधिरुण समाधि क्रियते येनोपदेशादिना त । अग्नीदृत्यो अगृहीतार्थः ॥

एतदेव प्रबंधेन अभियत्ते--

मूलारा--संसारसागराग्नि संसारो द्रव्यादिपंचप्रकारपरिवर्तन । सागर इव दुस्तरदुःसकरत्वात् । तत्र नारकादिशरीराणा ग्रहणमोक्षणाभ्यामसकृद्वृत्तिर्द्रव्यसंसारः । चतुरशीतिलक्षसीमंतकादिनरकादिष्वतीते कालेऽनंता जन्ममरणयोर्द्वैत्तिर्भविष्यति साता भव्यानामनंता चाभव्याना क्षेत्रसंसारः । उत्सर्पिण्याः कस्याश्चिदवसर्पिण्याश्च प्रथमद्वितीयादिसमयेषु पर्यायेण जन्ममरणाभ्या वृत्तिः कालसंसारः । दशवर्षसहस्रजघन्यायुः प्रभृतिसमयोत्तरवृद्धिकमसमानपितोक्तष्टायुः स्थितिकपर्यायवृत्तिर्भवसंसारः । कपायाध्यवसायस्थानविवर्तवृत्तिर्भावसंसारः । बहुशरीरमानसागन्तु

स्वाभाविकभेदात्प्रभूतं संसरमाणो परिवर्तमानः । दुक्त्रेण इत्यादि मनुजत्वनिर्वर्तकर्मकारणपरिणामाना दुर्लभत्वान्मनुज्य-  
क्षेत्रस्याल्पत्वाच्च दुर्लभत्वं मनुज्यत्वं । साधुपुत्रे परपुत्रवचनमिव, सूर्यमंडले तम इव, चंद्रकोपे वयेव, लुब्धे सत्यवचनामिव,  
मानिनि परगुणस्तवनमिव, खियामार्जवमिव, रालेयु उपकारश्चतेव, आपाभासमतेषु वस्तुतत्त्वावबोध इव । अतिदुर्लभत्वे  
दृग्ग दृष्टान्तां सूत्रेऽनुश्रूयन्ते ॥

चुङ्गय पांसं धणं जूवा रदणानि सुमिण चक्कं वा ॥  
कुम्मं जुग परमाणुं दस दिट्ठता मणुयलंभे ॥

एते चुल्लीभोजनादिकथासंप्रदाया दग्गापि प्राकृतटीकादिषु विस्तरणोक्ताः प्रतिपत्तव्याः ॥

लब्धेऽपि कथं कथमपि मनुज्यत्वे तपोयोग्या देशादयो ययोत्तरं दुर्लभा इति ज्ञापयितुमाह—

मूलारा—तह चेव मनुजत्वामिव । दसे तपोयोग्यो हि मगवाजिनपदः । जाई जातिः मातृवंशः  
कुल पितृवंशः । रुवं प्रशस्तसंस्थानसंहननाकारः । आरोगं नीरोगत्वं । आउगं दीर्घजीवित्वं । बुद्धी इहपरलोकान्वेषण-  
परा । तवणं हिताकर्णनं । गहण सद्गुरुपदिष्टार्थविज्ञानं । सद्धा सद्गुरुपदेशविज्ञातार्थरुचिः । संयमो धर्मे प्रयतन ॥

उक्त्वा मनुज्यत्वादिदुर्लभपरंपरया लब्धसयमोऽपि अल्पश्रुतसुरिपार्श्वे संसारमयजननी देशना नासादयती-  
त्युपदिशति—

मूलारा— सुदिं आगमवर्णनम् ॥

चिरप्रवर्तितसयमोऽप्यल्पगुरुपार्श्वे त्रियमाणः सयमात्रच्यवते । मनोज्ञामनोज्ञविषयाणा सर्वत्र सदा सान्निध्या-  
द्वागद्वेपमोहपरिणामकारणातरंगचारित्रमोहात्पुण्यकर्मोदयसद्भावाच्चेति दर्शयति—

मूलारा—सम्मं प्रस्तुतकार्यानुगुण । दीहद्धं चिरंकाळं । सुत्तं प्राणेंद्रियविषयांसंयमत्यागं । उवगमिच्चा वि  
प्राज्यापि । परिवह्द्वि संयमात्रच्यवते । चारित्रं नारायणीत्यर्थः । अक्रदाधारस्म अवश्रुतस्य ॥

संयतस्यापि मनो विषयेभ्यो व्यावर्तयितुं दुर्विदग्धगुरुणा न शक्यते इति दृष्टतेन स्पष्टयति—

मूलारा—वंसी अल्पवंश । ततो गुल्मात् । उक्कट्टिदुं अवकट्टुं । पुणो पश्चात् । दुक्कं दुष्करं । न शक्तेत्यर्थः  
उक्कट्टिदुं उत्कट्टु । एतदुक्तं भवति—रागद्वेषविजये यद्यपि प्रतिज्ञा कृता तथापि कृतशरीरसहोपनस्य क्षुधादिपरीपरुपदु  
तस्य मंदवीर्यस्य श्रुतज्ञानप्रणिधानमंतरेण अल्पश्रुतसुरिपार्श्वे रागद्वेषप्रवृत्तितश्चारित्राश्रयकता न स्यात् ॥



मूलारा—आहारमओ अत्रेन निर्वृत्त इव प्राणाना तन्मूलमात् । आहारेण भोजनत्यागेन । किलामिदो ग्लानिं गतः । विराहिदो इति पाठे भोजनेन विगोहित इत्यर्थः । अट्टदुहृत्यो आर्तदुःसातुरः । अट्टदुहृत्यो इति पाठे आर्तद्विकेन आर्तरीदाभ्या ऋतः पीडितः ॥ उक्तं च—

अयमन्नमयो जीवस्त्याज्यमानोऽवसा कदा ॥

आर्तरीदाकुलीभूतश्चतुरंगे प्रवर्तते ॥

यदुश्रुतसूत्रिणा पुनः श्रुतोपदेशशिक्षाविशेषाभ्या निराकृतवृद्धुशुश्राकामः स द्वयार्नेकतानो भवतीत्युपदिशति—  
मूलारा—उवगगहिदो कृतोपकारः । अवकिप्तत्तो अव्याक्षिप्तः ॥  
कथमगीतार्थेन गुरुणा क्षुदादिना बाध्यमानो न चिन्तिष्यते इति तदाश्रयणं प्रत्याचष्टे—

मूलारा—पठमेण तृष्णापरीपहेण । दोन्वेण क्षुत्परीपहेण । उन्वाविज्जंतयस्स उत्कण्ठं पीड्यमानस्य उवदेमादिं श्रुतरहस्यनिरूपणव्रतधारणधृत्यादिप्रतीकारं । समाधिकरणं धर्म्यशुश्लध्यानसाधनम् ॥

धापरुके चतुरगका अज्ञ आचार्य कैसा नाश करता है? इम प्रश्नका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं—  
सनारसायरम्मि य इत्त गाथासे ४३७ नंबरकी पठमेण व दोन्वेण व इम गाथातकका अर्थ—

हिंदी अर्थ—यह संसारसमुद्र अनंत और तीव्र दुःखरूपी पानीसे लवालन भरा है ऐसे संसारसमुद्रमें भ्रमण करनेवाले इस प्राणीको मनुष्यजन्म कष्टसे मिलता है।

मनुष्य जन्म मिलनेपर भी उच्चम देश, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, दीर्घायुष्य, बुद्धि, शास्त्रश्रवण, ग्रहण श्रद्धा, और मंथम इनकी प्राप्ति होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

उत्तरोत्तर दुर्लभ वस्तुओंकी प्राप्ति होकर संयमकी भी प्राप्ति हो गई तो भी अल्पज्ञ आचार्यके समागमसे मंमारभय उत्पन्न करनेवाला शास्त्रश्रवण प्राप्त नहीं होता है।

योग्य कार्यमें प्रवृत्ति करनेवाली स्मृति प्राप्त होनेपर भी ओर चिरकालतक प्राणिमंथम और इंद्रियसंयमना पालन करनेपर भी अल्पज्ञ आचार्यके आश्रयसे मरणकालमें क्षपक मंथम छोड़ देता है, संयमसे अप्रय होता है, संयमकी आसाधना नहीं करता है।

वासके समुदायसे एक छोटे वासको छेद करके निकालना सुलभ है परंतु उससे उमकी उखाड़ना जैसा बहुत कठिन है वैसा इस मनकी पंचन्द्रियोंके विषयोंसे निकालकर संयममें स्थापन करना बहुत कठिन है. राग-द्वेषोंका नाश करनेकी यद्यपि प्रतिज्ञा कीथी तथापि शरीरसंछेखना जिसने की है, जो क्षुधादि परिपहोंसे पीडित है ऐसा अल्प शक्तीका धारक क्षपक श्रुतज्ञानमें एकाग्रता न होनेसे अज्ञ आचार्यके समीप रागद्वेषोंपर विजय नहीं पा सकता है. और चारित्राराधक नहीं होता है.

यह जीव आहारमय है, मानो अन्नसे ही उत्पन्न हुआ है. क्योंकि अन्न ही प्राणरक्षणका मूल कारण है. अन्नके त्यागसे यह आत्मा म्लान होता है, आर्तध्यानी होकर दुःखसे पीडित होता है. तब ज्ञान और चारित्र्यमें रममाण नहीं होता है.

श्रुतोपदेश और शिक्षाविशेषरूपी भोजनसे जिसने क्षुधा और प्यासका परिश्रम नष्ट किया है ऐसा वह क्षपक ध्यानमें एकाग्र होता है अर्थात् बहुश्रुतज्ञ आचार्यका आश्रय करनेसे क्षपककी श्रुतोपदेश और विशिष्ट उपदेश मिलनेसे क्षुधातृप्ताका परिश्रम नष्ट होता है और आत्मध्यानमें वह स्थिर होता है परंतु अल्पज्ञके आश्रयसे वह क्षुधादि परिपहोंका दुःख नहीं सहन कर सकेसे आर्तध्यानी बनता है

अगीतार्थ आचार्य क्षुधा और तृप्तिसे जब क्षपक पीडित होता है तब उसको उपदेशादिक नहीं करता है. अतः ऐसे आचार्यके आश्रयमें क्षपकको समाधि मरणका लाभ होता नहीं.

सो तेण विडज्झंतो पप्पं भावस्स भेदमप्पसुदो ॥

कलुणं कोलुणिय वा जायणकिविणत्तण कुणइ ॥ ४३८ ॥

ताभ्यां प्रपीडितो बाहं भिन्नभावस्तनुश्रुतः

रोदनं याचनं दैन्यं करुणं विदधाति सः ॥ ४५१ ॥

विजयोदया—सो तेण क्षपकस्तेन प्रयमेन द्वितीयेन वा । विडज्झंतो विविधं दह्यमान । पप्पं भावस्स भेदमप्पसुदो प्राप्य शुमपरिणामस्य भेद अल्पश्रुतः । कलुण कोलुणिय च कुणदि यथा शृण्वता ऋणा दीनता च भवति तथा करोति । जायण च कुणदि याचा वा करोति । किंविणत्तण कुणदि दीनता वा करोति ॥

अकृततृष्णादिप्रतीकारोऽल्पशास्त्रज्ञ श्रयको विपरिणतिं प्राप्य गर्हणीयक्रियाः करोतीति माथात्रयेणाह —

मूलारा—तेण तृष्णादिना । विद्वद्भूतो । विविधमुपद्रुयमाणः । पपा प्राप्य । भावस भेदं शुभपरिणामस्य विनाशं । कलुण रोदनं । कोलुणियं । परकरुणोत्पादनं किविणत्तं दैन्यम् । तथा —

अर्थ—वह क्षपक भूखसे अथवा प्याससे पीडित होकर शुभ परिणामोंको नष्ट कर देता है, वह अल्पज्ञ क्षपक सुननेवालों को दया उत्पन्न करनेवाला रुदन करता है याचना करने लगता है और दीनता व्यक्त करता है.

उकवेज्ज व सहसा वा पिण्ज्ज असमाहिपाणयं चावि ॥

गच्छेज्ज व मिच्छत्तं मरेज्ज असमाधिमरणे ॥ ४३९ ॥

पूत्तुर्यादसमाधानपानं पिवति पीडितः

मिथ्यात्वं क्षपको गच्छेद्विपद्येतासमाधिना ॥ ४४० ॥

विजयोदया—उकवेज्ज व सहसा पूत्तुर्याद्धा सहसा । पिण्ज्ज पियेद्धा । असमाधिपाणं चावि असमाधिपानकमुच्यते यत्स्वय स्थित्वा स्वहस्ताभ्या काले प्रायोग्यपानं ततोऽन्यदस्थित्वा अकाले च यत्पानं तदसमाधिपानकमुच्यते । गच्छेज्ज व मिच्छत्त मिथ्यात्व वा गच्छेत् । कपेटोऽयं धर्म किमेतेन श्रमविधायिनेति निर्दापरेण चेतसा । मरेज्ज असमाधिमरणेण असमाधिना चापि मृतिमुपेयात् ॥

मूलारा—उकवेज्ज पूत्तुर्यात् । असमाधिपाणयं यत्स्वय स्थित्वा स्वहस्ताभ्या काले प्रायोग्यपानं तत्समाधिपानकं ततोऽन्यदस्थित्वाऽकाले च पानं सूत्रार्निहितमित्यर्थः । गच्छेज्ज कपेटोऽयं धर्मः किमेतेन श्रमविधायिनेति निर्दापरेण चेतसा मिथ्यात्व प्रतिपद्येत । तथा—

अर्थ—वह क्षपक क्षुधादिकोंकी वेदनासे जोरसे चिछाने लगेगां स्वयं खड़े होकर अपने दो हाथोंमें योग्य कालमें पानयोग्य पदार्थ पीना उसको समाधि पान कहते हैं, और चेटकर अपने हाथोंसे अकालमें पान करना उसको असमाधिपान कहते हैं, अर्थात् क्षुधा तृषा पीडित होकर क्षपक सूत्रार्निहित आहार लेगा ऐसा यहां अभिप्राय समझना चाहिये, अथवा संयमसे अष्ट होकर मिथ्यात्वावस्थाको प्राप्त होगा यह सहेखना धर्म अथवा मुनिधर्म बड़ा

कष्ट देनेवाला है इससे आत्माको केवल श्रम ही होते हैं, ऐसे धर्मसे क्या प्रयोजन है ऐसी वह क्षपक निंदा करते करते मरण करेगा और असमाधिसे मरणको प्राप्त होगा।

संथारपदोऽसं वा णिबमच्छिज्जंतओ णिगच्छेज्जा ॥

कुव्वंते उड्ढाहो णिच्चुव्वमते विक्किंते वा ॥ ४४० ॥

हित्वा निर्भर्त्स्यमानोऽसौ संस्तरं गन्तुमिच्छति ॥

पूत्तुर्त्तययशस्तत्र त्याज्यमाने च जायते ॥ ४४३ ॥

विजयोदया—संथारपदोऽसं वा कुणदि संस्तर वा दुण्यति । णिबमच्छिज्जंतगो णिगच्छेज्जा रोदनं पूत्तुर्त्तययशस्तत्र त्याज्यमाने च जायते । णिच्चुव्वमते विक्किंते वा कुव्वन्तं यदि निर्भर्त्सयन्ति निर्यायात् । कुव्वंते पूत्तुर्वति सति क्षपक । उड्ढाहो अयशो धर्मस्य भवति । णिच्चुव्वमते वद्विर्निं सरणे । विक्किंते वा पृथकरणे वा । उड्ढाहो होदि धर्मदूयणो भवति । पवमगृहीताऽयं प्रतिकारानभिधो नाशयति क्षपकम् ॥

मूलारा—संथारपदोऽसं आचार्यप्रद्वेपं करोति कुणदीत्यवाहारात् । णिगच्छेज्ज नि संरेदवहिः कुव्वंतो उड्ढाहो पूत्तुर्वति सति क्षपके अयशोऽधर्मश्च भवति । णिच्चुव्वमते वद्विर्निं सरणे । विक्किंते पृथकरणे । क्षपकस्य उड्ढाहो भवतीति संबंधः । णिबमच्छिज्जंतगो णिगच्छेज्ज कुव्वंतो उड्ढिमिति पाठे निर्भर्त्स्यमानको निर्गच्छत्तुव्वन्नकीर्तिमिति व्याख्येयम् णिबमच्छुतो प्रवेश्यमानो विक्किंते हन्ति परं स्वं वेति च व्याख्येयम् ।

अर्थ—वह क्षपक संस्तरकी निंदा करेगा अथवा आचार्यकी निंदा करेगा, यदि वह क्षपक रीनेपर जोरसे चिच्छानेपर यदि उसकी निंदा की तो वह संघसे भाग जावेगा, जिससे धर्ममें अपयश होनेकी संभावना रहती है, ऐसे क्षपकको यदि संघसे पृथक् किया जावेगा तो धर्ममें दूयण लगता है, इतने विवेचनसे अल्पज्ञ आचार्य क्षपक का नाश कर देता है यह सिद्ध होता है

गृहीतार्थं पुन' किं करोतीति चेदाह—

गीदत्थो पुण खवयस्स कुणदि विधिणा समाधिकरणानि ॥

कण्णाहुदीहिं उव्वोद्वो य पज्जलइ ज्झाणग्गी ॥ ४४१ ॥

समाधानविधिं तस्य विधत्ते शास्त्रपारगः ॥

दीप्यते दीपितः कर्णाहुतिभिर्ध्यानपावकः ॥ ४५४ ॥

विजयोदया—गृहीतार्थः पुनः । खवगस्स । क्षपकस्य कुण्ठां करोति । विधिणा क्रमेण । समाधिकरणानि समाधानक्रियाः । कण्ठाहुदीहिं कर्णाहुतिभिः । उवढोददो उपगृहीतः । पञ्जलदि प्रज्वलति । ज्झाणणि ध्यानाग्निः ॥

गीतार्थः पुनः क्षपक सान्त्वयितुं यतते इत्याह—

मूलारा—समाधिकरणानि समाधानस्य साधनानि यथास्वं बाह्याभ्यात्मिकानि च । कण्ठाहुदीहिं कर्णजप हव्यद्रव्यप्रक्षेपैः । उवचेप्पन्तो उपगृह्यमाणो दीप्यमानः ।

सुत्रार्थज्ञ आचार्यं क्या करते हैं इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—सुत्रार्थज्ञ आचार्य आगमांनुसार क्षपककी समाधिभरणकी क्रिया करते हैं और उसका ध्यानरूपी अग्नि मधुर उपदेशरूपी आहुतिओंसे वृद्धिगत करते हैं, अर्थात् क्षपकको शुधादि वेदना जब पीड़ित करती है तब मधुर हितकर उपदेश देकर आचार्य उसको आर्तध्यान न होने पावे ऐसा प्रयत्न करके धर्मध्यानमें लगाते हैं

खवयस्सिच्छासंपादणेण देहपडिकम्मकरणेण ॥

अण्णेहिं वा उवाण्हिं सो समाहिं कुणइ तस्स ॥ ४४२ ॥

क्षपकेच्छाविधानेन शरीरप्रतिकर्मणा ॥

समाधिं कुरुते सम्यगुपायैरपरैरपि ॥ ४५५ ॥

विजयोदया—क्षवयस्सिच्छासंपादणेण समाधिं कुण्ठां क्षपकस्येच्छासंपादेन समाधिं करोति । यदिच्छ-  
त्यसौ तद्वत्त्वा समाधिं रत्नत्रये समवधान तस्य करोति इति यावत् । देहपडिकम्मकरणेण शरीरयाधाप्रतिकारक्रियया ।  
अण्णेहिं वा उवाण्हिं अन्यैर्वा सामवचनोपकरणदानचिरंतनक्षपकोपाख्यानविभिरुपायै समाधिं करोति ॥

गीतार्थो यथासमाधिं विधत्ते तथा दर्शयति—

मूलारा—इच्छा संपादणेण यदिच्छत्यसौ योग्यं तद्वत्त्वा रत्नत्रयसमाहितं करोतीत्यर्थः । देहपडिकम्मकरणेण शरीरवाधाप्रतीकारक्रियया ॥ तथा—

मात्रशरीराणां सम्मूर्च्छमाना जन्मस्थानानि । तत्र भोगभूमिमतद्वीपं च परिहृत्य कर्मभूमिपतितुलंभा । कर्मभूमिषु च वर्धचलितातकपारसीकविदेशपरिहारेण अगवगमगाधादेशेषु उत्पत्तिः । लब्धेऽपि देशे चाङ्गालादि कुलपरिहारेण तपो योग्ये कुले जातो । जातिर्मातृवशः । सुकुलं कथं तुलंभ इति चेदशोच्यते । जातिं, कुलं, रूपं, ऐश्वर्यं, ज्ञानं, तपो, बलं वा प्राप्य अगर्वितत्वं । अन्येऽप्येतैर्गुणैरधिक्ताः स्खुब्धयमनन, परानवज्ञाकरणं, गुणाधिक्ये नृ नीचेर्बुद्धिः । परेण पृष्टस्यापि अन्यदोषाकथनं, आत्मगुणस्यास्तवधनं, इत्येतैः परिणामे उच्चैर्गोत्रं कर्म आग्रायते । तेन कुलेषु पूज्येषु जायते । जतुरयं पुनर्न तथा प्रवर्तते जडमति । किंत्वेतद्विपरीतेषु परिणामेषु वर्तमानो नीचैर्गोत्रमेव यच्छनाति असकृत्तेन पूज्य कुलं तुलंभं । उक्तं च—

जात्या मत्तो यः कुलाद्रपि रूपादैश्वर्याद्वा ज्ञानतो वा चलाद्वा ॥  
प्राप्यार्थम्या यस्तपो वा परेषु निदायुक्तः स्तौति वात्मानमेव ॥ १ ॥  
अन्यावज्ञानादरातिक्रमाणां कर्तो मान योऽतिमात्रं विभर्ति ॥  
नीचैर्गोत्रं नाम कर्मैव बाल्याद्ब्रज्जात्युग्रं निद्रित जन्मवत्से ॥ २ ॥  
यस्तु प्राप्याप्युत्तमत्वं कुलाद्यैरन्यान्बुद्ध्या मन्यमानो विशिष्टान् ॥  
अन्यान्काश्चिन्नावजानाति धीराग्नीचैर्बुद्ध्या युज्यते बाधिकेषु ॥ ३ ॥  
पृष्टेऽप्यन्यैर्नार्मयदोषान्ब्रवीति नात्मानं वा स्तौति निर्मुक्तमानः ॥  
उच्चैर्गोत्रं नाम कर्मैव धीमान् यच्छनातीष्टं जन्मवत्से प्रजानाम् ॥ ४ ॥

इति ॥ नीरोगतापि तुलंभा । असकृदसद्वैयकर्मबंधनात् । वंशच्छेदात्ताडनान्मारणाद्वाह्निद्रोधाच्चसद्वैयमेव यच्छनाति । तथा चाश्वधापि—

अन्येषा यो दुःखमश्वोऽयुक्तां त्यक्त्वा तीव्र तीव्रसङ्केशयुक्तः ॥  
वंशच्छेदैस्ताडनैर्भारणैश्च दाहै रोधैश्चापि नित्यं करोति ॥  
सीख्य काश्चन्नात्मनो दुष्टचित्तो नीचो नीचं कर्म कुर्वन्सदैव ॥  
पश्चात्तापं तापिना यः प्रयाति यच्छनात्येवोऽप्सातेवद्यं सदैवम् ॥

रोगाभिमवाश्वद्विचेष्टः कथमेव हितोयोग कुर्यात् ॥

तथा चाभाणि—

प्राज्ञोऽप्युपात्तादिह जीवतोऽपि मद्वाभय रोगमद्वाशानिभ्यः ॥  
यथाशानिः स्वाग्निपतत्यबुद्धो रोगस्तथागत्य निहन्ति देहं ॥ १ ॥  
बलायुषी रूपगुणाश्च तावद्यावन्न रोगः समुपैति देहं ॥

फलस्य लघस्य हि जातु तन्तोस्तावन पात श्यसनो न यावत् ॥

तस्मिन्वेदं परिवाधमाने श्रेयः प्रकृतौ न सुतेत शप्यम् ॥

युद्धे समंतात् हि दशमाने शक्त प्रकृतौ पुण्योत्र किञ्चित् ॥

सदा परप्राणिघातोयतस्तदीयप्रियतमजीविनविनाशनात् प्रायेणाण्युरेव भवति । प्राणुरपदेवेन बहु-  
नि निमित्तानि । जलं, ज्वलनं, मारुतं, सर्पा, वृश्चिक्ता, रोगा उच्छ्वासनिःश्वामनिगोध, आतारालाभ, वेदनेत्येवमादीनि ।  
ततो दीर्घमायुर्न सुलभं मनुजभवे । सामान्यवचनोऽप्ययुः शत्रु दीर्घं मनुजायुषि वर्तमानो गृहीतोऽन्यथायुर्मात्रस्य संन्या-  
रिणः सुलभत्वात् । लघ्वेष्वपि देशादिषु बुद्धिबुद्धिर्भा । परलोकान्तेयणपरा बुद्धिश्च गुह्यशब्देनोच्यते न मानमात्रमात्री ।  
तद्धि सुलभं क्षानावरणेनावन्द्योद्यवीर्यस्य जलधरपटलापरकमंडलस्य छायामायमिव दिनपतेरधिपदं भवति गानम् ।  
किञ्चिन्मिथ्यात्वोदयाद्विपर्यस्तमुदेति विद्यालं । नेत्रात्मा नाम कश्चिन्कर्ता शुभाशुभयो रमणो । नापि तत्कला-  
शुभवनिरतः, नापि परलोकः प्राप्यः कर्मवशमर्तिना जडिचिदिति । तत्रायधधि-

लोको नायं नापरो नापि चात्मा धर्माधर्मा पुण्यपापे न चापि ॥

स्वर्गो ह्य केन केनायया ते श्रोता ह्य नारकाणां त्रिगाना ॥ १ ॥

बन्ध को वा कोऽथवा सोऽस्ति मोक्षो, मिथ्या सर्वं यत्रेणं निरर्थो ॥

प्राप्ता कामा सेवितव्या यथेष्टं ह्य त्यस्या दग्ने कोऽभिलाष ॥

इति । तथा चान्ये—छापवापिका स्त्री विंशतिवार्तिकं, पुमान् तयो परस्परं प्रेमपूर्वद्वान्भावविभ्रमकटाक्षकि-  
लकिञ्चित्तादिभावपूर्वकं संगोप एव स्वर्गं नान्य ।

रमीमुद्रा मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वार्थसंपत्करीं ॥

पद्मां ये प्रविहाय याति कुत्रिय स्वर्गापमोच्छ्रया ॥

तद्दोषार्थनिहत्य ते द्रुततर नदीरुता मुञ्चिता ।

कोचिद्रक्तपटीरुताश्च जटिलाः कापालिकश्चापरे ॥

तथान्येराभिहितं—जलबुद्बुदवज्जीवा, परलोकिनोऽभावात्परलोकाभाव इति च । सत्यामपि बुद्धो समीची-  
नज्ञानलोचनवता, सकलप्राणिशुद्धोचररुपापरिरक्तचेतसा लाभसत्कारपुरस्कारादिनिरपेक्षेण, चतुर्गतिपरिभ्रमणप्रभ-  
यातनासहस्रभवलोभ्य प्राणश्रुता परमात्मतुक्प्राणपुण्येन हा जनो विवेकतन मिथ्यादर्शनाद्यनुभवास्तिगामरुद्वकमिदम्-  
स्माभिर्पशुभगतिनिर्वर्तनप्रवणमपहातव्यमित्यजानानस्तेधैवासङ्गः प्रवर्तमानो नु मरत्नाकरमरारमुषविशत्यशरणो वराक-

१ फलस्य शान्तागतद्वृततन्तोः, इत्यपि पाठः क पुस्तके ।

१ 'तथा चान्ये' इदमारभ्य स्त्री मुदेति श्लोकावसानपर्यन्तो ग्रन्थः ख पुस्तके नास्ति ।

इति कृतसकल्पेन यतिजनेन संसर्गो दुर्लभः । कुतः ? दर्शनमोहोदयाज्ज्ञानावरणोदयाच्च न यतिगुणान्वयोसि श्रद्धसे वा जन' । तत एव न ढैकते यतीन् वा सुगुणमविदुस्तदुत्पन्नमुपपद्यते । अपि च चारित्र्यमोहोदयादस्यतोऽतितया प्राणिनस्ततो हिंसादिकं स्वय करोति, कारयति अनुमोदते । हिंसादिषु वर्तमानेनैव रतिं वध्नाति । न हिंसादिपरिहारोद्यतेषु । विना रतिं कथं ते ससर्गस्तत्सेवा वा । सा हि—

ससारोच्छेदकरी प्रशमकरी ज्ञानवुद्धिबुद्धिकरी ॥

कीर्तिकरी पुण्यकरी ससेवा साधुवर्गस्य ॥

दर्शनमात्रमपि सता ससारोच्छेदने भवति योज ॥

किं पुनराधिकारकृता ससेवा साधुवर्गस्य ॥

तत्सेवा यदि न स्यान्न स्याद् ज्ञानागमो विना ज्ञानात् ॥

हितकर्मप्रतिपत्तिर्न स्यान्न स्यात्तो मोक्ष ॥

साधुपमेवन यदि पारपर्येण मोक्षमानयति ॥

ह्यनि, श्रमश्च नृणा कौ साधुत्सेवमानानाम् ॥

श्रेया कथं न यतयो विदुया श्रेयोर्यिना मनुष्येण ॥

अक्षयमिह श्रेयो मुदाश्रितेभ्यः प्रयच्छन्ति ॥

इति सततमपोह्यमानमोहाविहपरलोकहितैषिणा नरेण ॥

जगदधिकतपोविभूतियुक्ता यतिवृत्तभा विनयेन सेवितव्या' ॥

यच्छच्छया जातेऽपि यतिससर्गे न गुणः न चैदितं शृणुयात् । यथा न वर्षस्य पात एव गुणो नरस्य अपि तु सुविधीजयाप । तद्वच्छूयं गुणो यतिसमीपगमनेन । तदेव श्रवण दुर्लभं कथयति । समीपमुपगतोऽपि निद्रायति ।

समीपस्थाना वचो यत्किंचिद् शृणोति, न रोचते, वा तद्धर्ममाहात्म्यप्रकाशनं मोहोदयात् । न जानाति वा मतिमाद्यादत एव तत्र नातुरागोऽस्य । अतरेण चातुरागं कथं श्रोतुमुत्सहेत् । तथा चाभाणि—

साधूना शिवगतिमार्गदेशक्राना सप्राप्तो निलयमपि प्रमादो गत् ॥

आस्ते यो जनवचनानि तत्र शृण्वन् गत्वासौ हृदमपि पक् एव मग्न ।

सत्यपि श्रवणे ग्रहणं विद्वानं तन्निरूपितस्वार्थस्य दुष्कर । सौक्ष्म्याज्जीयादिवस्तुत्वस्य कदाचिदप्यश्रुत त्वात् । ज्ञानावरणक्षयोपशममरूपभावाच्च श्रुते धर्मतत्त्वे तत्र श्रद्धा दुर्लभा । सोऽयं जिनप्रणीतो धर्मः अहिसालक्षण, सत्याधिष्ठान, परद्रव्यापहरणपरिवर्जनात्मक, नवविधब्रह्मचर्यगुप्त, परित्यक्ताशेषमूर्च्छ, विनयमूलः, समीचीनमानपुरःसरः, क्षमाभावेनार्जवसतोपगुणभूषण, नरकवर्तनीवज्रमालीभूत, तिर्यग्गतिलताकुण्डार, कठोराशनिर्दुःखाचलशिखराणां, मोहमहामयीरहोत्पादने पटुमानरिक्त्वा जरदवानलशिलासुखप्रशमनमुखरो घनाश्रय, प्रवर्षकः प्रावृषेय, भरणहरिणवि-



शसनचटुलङ्घचण्डुङ्डीक', क्रूररोमोरगाणां विनतासुताः, संपत्सुरापागाया हिमाचल', सेतुराधाशोकपंकस्य, पिता सुभन-  
तायाः, ऐश्वर्यरत्नानामाकर, कुयोनिवनविप्रनष्टाना पृथुलिशिवपुरं, इति श्रद्धानं अतिदुर्लभ दर्शनमोहोदयात् । उपशमात्  
क्षयोपशमात्, क्षयाद्वा दर्शनमोहस्य जाते पि श्रद्धाने संयमो दुर्लभतर. प्रत्याख्यानावरणोदयात् । उक्तं च—

दुर्लभ्यो भवति नरेण तत्त्वधर्मो ज्ञात्वापि प्रयतनमत्र कष्टमेव ॥

तज्ज्ञात्वा धृतिमुपलभ्य दृष्टतत्त्वा, सद्धर्मं क्षणमपि सा कृथाः प्रमादं ॥

भूत्वाय सुकरस्तरोरपि पापकार्यात् धर्मोऽसूक्ष्णमपि दुष्करो मनुष्यैः ॥

आश्चर्यं किमपि न चात्र संति मृदा. स्यादेतदधुनमिह कर्मणां गुरुत्वं ।

काक्रिण्यामपि गणयन्गुणं महान्त तदेतो श्रममनुलं करोति यत्नात् ॥

तत्त्वज्ञं सुरमनुजर्द्धिमोक्षमूले सद्धर्मं हृदयमपि स्थिरीकरोति ॥

यत्पापे भूशमहिते करोति चेष्टामालस्यं परमहिते च याति धर्मं ॥

युक्तं तद्यदि न तथा भवेत्पृथिव्या संसारं ननु पुरुष. कथं लेभेत ॥

एवमपि परपरेण दुर्लभपरपरया । लब्धूण वि लब्ध्वापि । सयमं सयम खवगो क्षपक । किं न लेभेज्ज सुदिं न  
लभते श्रुतिं । सवेगकर्तुं ससारभयजननीं । अमहुस्सुदसक्रसे अयदुश्रुतस्य सूरे पादं तस्मान्छुतवानाचार्य आश्रयणीय.  
इति प्रस्तुतेन सवध. ॥

सम्म सुदिमलभतो समीचीना श्रुतिमलभमान' । कदा मरणकाले । अयदुस्सुदसगोसे अयदुश्रुतस्य पाश्वे ।  
दिग्बद्ध चिरं कालं । मुत्तिमुवगमित्तावि मुक्तिशब्देनात्र प्राणेन्द्रियविषयासंयमत्यागं परिगृह्यते । तेनायमर्थः । चिरप्रव-  
र्तितसयमोऽपीति परिवर्द्धिं प्रच्यवते कुत ? सयमात् । संयमद्वानिकधनेन चारित्राधारनाया अभाव आल्यायते ।  
संयमात्प्रच्यवते कथमितिचेत्-मनोज्ञानमनोज्ञाना च विषयाणां सर्वत्र च सदा च मानिध्यात् अभ्यंतरकारणस्य  
कर्मणोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामा प्रादुर्भवन्तीति दुर्निवारा इति वदन्ति । सक वमी छेतु अल्पवशा वंशीत्युच्यते ।  
गाढावलग्नता हि तत्र संभवति शक्यते वशी'च्छेत्तु । ततो गुल्मात् उकट्टिदुं अयकट्टु । पुणा पश्यात् । दुस्सल दुष्करं ।  
इय एव । सजदस्स वि संयतस्यापि मन । विमपसु रूपादित । उकट्टिदु अयकट्टु । दुस्सल दुष्करं । रागद्वेषभयो व्यावर्तयितुं  
अशस्यं । एतदुक्तं भवति —रागद्वेषविजये यदि नाम प्रतिज्ञा कृता तथापि कृतशरीरसंल्लेखनस्य शुद्धादिपरीपहैरुपद्रुतस्य  
मंदवीर्यस्य न श्रुतज्ञानमणिधानं तच्चातरेण रागद्वेषप्रवृत्तेर्न चारित्राधकता स्यात् । वहुश्रुत. पुन. यथास्य रागद्वेषौ  
न जायेते तयोपदिशति भोगनिर्वृजनीं शरीरनिर्वृजनीं कथमिदं—

एकातदु खं निरयप्रतिष्ठा तिर्यक्षु देवेषु च मातुषेयु ॥  
 क्वचित्कदाचिन्नु कथञ्चिदेव सौख्यस्य सन्नात्र शरीरिणा स्यात् ॥  
 एकेन जन्मस्मृताऽप्रमेयं शरीरिणा दुःसमवाप्यते यत् ॥  
 अनन्तभागोऽपि न तस्य हि स्यात् सर्वं सुखं सर्वशरीरसंस्थ ॥  
 तत्रैकजीवः सुखभागमेक भोजनिकयतं जननार्णवेऽस्मिन् ॥  
 चर्च्यमाण परतो वराको वनेऽतिभीतो हरिणो ययैक ॥  
 भवेत्पततेषु सुखे तथापि शरीरिणैकेन समापनीये ॥  
 एकप्रसूतौ यदवाप्यते तत्किमद्वेष्टस्य विमृश्यमाणे ॥  
 अत्यल्पमप्यस्य तदस्तु तावत्तदु खराशौ पतितं तदीय ॥  
 स्यात्तद्वत् स्वदुरस यथाबु प्राप्याबुदानां लवणार्णवानु ॥  
 यच्चाप्यद् सौख्यमितीष्यतेऽत्र पूर्वोत्थदुःखप्रतिकार एव ॥  
 विना हि दुःखात्ययमप्रसूतात् न लक्ष्यते किञ्चन सौख्यमत्र ॥  
 प्रपीयते ह्येव दुःखप्रदान्त्यै क्षुब्धाशान्नायाशनमक्षयते च ॥  
 वेदमाबुवातातपवारणाय शुक्लप्रतिच्छादनमवर च ॥  
 शीतापनुत्सावरण च दृष्ट शय्या च निद्राश्रमनोदनाय ॥  
 यानानि चाव्यश्रमवारणार्थं स्नानं श्रमस्वेदमलापनुत्ये ॥  
 स्थान श्रमस्यौषधमासनं च दुर्गधनाशाय च गंधसेवा ॥  
 वैरूप्यनाशाय च भूषणानि कलाभियोगोऽरतिवाधनाय ॥  
 तथेह सर्वं परिचित्यमानं भोगमिधानं सुरमानुषाणा ॥  
 दुःखप्रतीकारनिमित्तमेव भैषज्यसेवेव रुगाहितस्य ॥  
 पितृप्रकोपेन विद्वद्भगवते द्रव्याणि शीतानि निषेवमाणः ॥  
 मन्येत भोगा इति तानि योऽन्नं कुर्वीत सोऽन्नादिषु भोगसंक्राः ॥  
 यतश्च नैकान्तसुखप्रदानि द्रव्याणि तोयममृतीनि लोके ॥  
 यतश्च दुःखप्रतिकारबुद्धिं तेषु प्रकुर्यान्न तु भोगसन्ना ॥  
 भुधाभिभूतस्य हि यत्सुखाय तदेव तृप्तस्य विषयतेऽन्नं ॥  
 उष्णादितः काक्षति यानि चेह तान्येव विद्वेषकराणि शीते ॥

वर्ष आयुष्य आदि लेकर तीन सागरोपम आयुष्यतक उसही नरकमें उत्पन्न होता है तिसरे नरकमें एक समय अधिक तीन सागरोपम से प्रारंभकर दो तीन चार पांच इत्यादि समयोंसे त्रयता द्वात्रा सात सागरोपम आयुष्यकी परिपूर्णता करता हुआ यह जीव वार वार तीसरे नरकमें ही उत्पन्न होता है। चौथे नरकमें समयाधिक सात सागर से लेकर द्वितीयादिक समयादिके क्रमसे दशसागरोपमकी समाप्ति होनेतक चतुर्थ नरकमें इस जीवने जन्म धारण किये हैं। पांचमें नरकमें एक समयाधिक दशसागरोपमायुष्यका प्रारंभ करके द्वितीयादि समयाधिकके क्रमानुसार सतरा सागरोपमायुष्यकी समाप्ति होनेतक पांचवे नरकमें इस जीवने जन्म धारण किया था। छठे नरकमें समयाधिक सतरा सागरोपमायुष्यका प्रारंभ कर दूसरा, तिसरा वगैरे समय अधिक बढ़ता हुआ त्रावीस सागरोपमायुष्य तक असंख्यात जन्म जीवने धारण किये हैं सातवें नरकमें समयाधिक त्रावीस सागरोपम आयुष्य से उत्पन्न होकर समयाधिक क्रमसे तेहतीस सागरोपमायुष्यकी समाप्ति होनेतक इस जीवने असंख्यात जन्म धारण किये हैं। इस प्रकार आयुके विकल्पोंकी धारण करते हुए इस जीवने भवसंसारमें भ्रमण किया है।

भावसंसारका स्वरूप सर्वजन मुखसे जान सकते हैं इसलिये यहा उसका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार इस संसारसमुद्रमें नानाविध तीव्र दुःखरूपी पानी है शारीरिक, मानसिक, आंगतुक व स्वाभाविक ऐसे दुःखके अनेक भेद हैं। इस संसारमें भ्रमण करने वाले इस जीवको कष्टसे मनुष्यपना प्राप्त होता है, सर्व जगतमें मनुष्य उत्पन्न होनेका क्षेत्र अल्प है और तिर्यच प्राणी सर्व जगतमें उत्पन्न होते हैं। मनुष्यपना जिससे उत्पन्न होता है ऐसे कर्मकी उत्पत्ति करनेवाले कारणभूत परिणामोंकी प्राप्ति होना कठिन है इसलिये मनुष्यत्व दुर्लभ है।

मनुष्यत्व प्राप्तिके परिणाम कोनसे है इस प्रश्नका उत्तर—

जीवोंके परिणाम मिथ्यात्व, असंयम और कषाथ ऐसे तीन प्रकारके हैं वे परिणाम भी तीव्र, मध्यम और मंद है। कारणोंमें अर्थात् कर्मोंमें तीव्र, मध्यम और मंद स्वभाव रहता है अतः उनसे उत्पन्न होनेवाले परिणामोंमें भी तीव्र, मध्यम और मंदता आती है। कारणोंमें भेद होनेसं कार्यरूप परिणामोंमें भी विचित्रता आती है। इन परिणामोंमें जो मध्यम हिंसादिपरिणाम हैं वे मनुष्यपना के उत्पादक है बालुकामें खींची हुई

रेखाके समान क्रोध परिणाम, लफडीके समान मानपरिणाम, गोभूजाकारके समान मायापरिणाम और कीच डके रंगसमान लोभपरिणाम ऐसे परिणामोंसे मनुष्यपनाकी प्राप्ति होती है। जीवघात करनेपर हा मेंने डुट कार्य किया है, जैसे दुःख वा मरण हमको अग्रिय है, संपूर्ण प्राणिओंको भी वह अग्रिय है जगतमें अहिंसा ही श्रेष्ठ व कल्याण कारिणी है, परंतु हम हिंसादिकोंका त्याग करनेमें असमर्थ हैं शूट परदोंकी कहना, दुमरोंके सदगुण देखकर मनमें द्वेष करना, असत्यभाषण करना यह दुर्जनोका आचार है, साधुओंको अयोग्य ऐसे निंदा भाषण और खोटे कामोंमें हम हमेशा प्रवृत्त हैं, इसलिये हममें सज्जनपना कैसा रहेगा? ऐसा पश्चात्ताप करना दुसरोका धन हरण करना यह शस्त्रप्रहार करनेसे भी अधिक दुःखदायक है, द्रव्यका विनाश होनेसे सर्व कुटुम्बका ही नाश होता है इसलिये मैने दूसरोका धन हरण किया यह अयोग्य कार्य किया है ऐसे परिणाम होना, हमने परस्त्री वगैरह का हरण किया यह बहुत अयोग्य कार्य हमसे हुआ, हमारी स्त्रीका किसीने हरण करने पर जैसा हमको अतिशय कष्ट होता है वैसा उनको भी होता है यह अनुभवसे प्रसिद्ध है, ऐसे परिणाम होना, गंगादि नदिया हमेशा अपना अनंत जल लेकर समुद्रमें प्रवेश करती हैं तथापि समुद्रकी वृत्ति होती ही नहीं, यह मनुष्यप्राणी भी धन मिलनेसे तृप्त नहीं होता है, इस तरहके परिणाम दुर्लभ है

सत्पुरुषके मुखमें कठोर वचन, स्वयंमंडलमें अंधकार, तीव्रक्रोधी मनुष्यमें दया, लोभी मनुष्यमें सत्यभाषण, अभिमानी मनुष्यमें परगुणोंका स्तवन, स्त्रीमें मायारहितपना, दुष्टोंमें कृतज्ञता, कपिल, चद्र वगैरह आत्माभासोंके मतमें वस्तुके सत्यस्वरूपका ज्ञान ये जैसे दुर्लभ हैं, वैसा मनुष्यत्वकी प्राप्ति होना दुर्लभ है,

देश, कुल, रूप, आरोग्य, दीर्घायु, बुद्धि, शास्त्रश्रमण, ग्रहण, श्रद्धा, और संयम ये उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं

गाण आचार्य उत्तम देशमें जन्म होना दुर्लभ है इस विषयका वर्णन करते हैं—

भोगभूमिज, भोगभूमिज, अन्तर्द्वीपज और संमूर्च्छिम ऐसे मनुष्योंके चार भेद हैं,

मार्ग प्रीतिमें पांचभरत क्षेत्र, पांच ऐरावत क्षेत्र और पांच विदेह क्षेत्र ऐसी पंधरा कर्मभूमियां हैं पांच भूमि, ११, पांच क्षत्रिय क्षेत्र, पांच देवकुल, पांच उत्तर कुल, पांच स्म्यक क्षेत्र और पांच हैरण्यवत क्षेत्र ऐसी तीस गोमान/मार्ग हैं,



उच्च कुलादिक जैसे दुर्लभ है वैसी नीरोगता अर्थात् रोगरहितदेह प्राप्त होना भी दुर्लभ है।  
प्राणिओंकी वाधना, ताड़ना, मारना, जलाना अन्न पानी न देना इत्यादि कार्यसे असातावेदनीय कर्मका तीव्र बंध होता है। इस विषयमें ग्रंथांतरमें ऐसा विवेचन आया है—

जो धूर्त्त मनुष्य दयाका त्यागकर तीव्र संक्लेश परिणामी होकर अन्य प्राणीको बांधना, तोड़ना, पीटना प्राण लेना, खानेके और पीनेके पदार्थोंसे वंचित रखना ऐसे ही कार्य हमेशा करता है। ऐसे कार्यमें ही अपनेको सुखी मानकर जो नीच पुरुष ऐसे ही कार्य हमेशा करता है। ऐसे कार्य करते समय जिसके मनमें पश्चात्ताप होता नहीं उसको निरंतर असातावेदनीय कर्मका बंध होता है जिससे उसका देह हमेशा रोगपीडित ही रहता है। तब उसकी बुद्धि व क्रियाएँ नष्ट होती हैं वह पुरुष अपने हितका उद्योग कुछ भी नहीं कर सकता है।

इस विषयमें ग्रंथांतरमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं—

वह प्राणी यद्यपि जीता है तो भी रोगरूपी महावज्रसे उसको सदा भयकी प्राप्ति होती है, जैसे आस्मा-  
शसे अरुस्मात् वज्रपात होता है वैसे अरुस्मात् रोग आकर मनुष्यको पकड़ता है जिससे उसका देह नष्ट होजाता है।

जवत्तु देह रोगसे पीडित हुआ नहीं तबतक ही देहमें सामर्थ्य, आयुष्य, सौंदर्य रहते हैं। जवत्तु हवा-  
का धक्का फलकी नहीं लगता है तबतक वह डंढलेसे संलग्न रहता है वैसेही देहमें रोगका अड्डा जम जानेपर उसके रूपादिक सम गुण वहासे प्रयाण करते हैं जैसा अग्नि जब घरको चारो ओरसे लगनेपर समर्थ पुरुष भी उस-  
मेंसे अपनी अमूल्य वस्तुओंका रक्षण नहीं कर सकता है वैसे रोगसे देह पीडित होनेपर अपना हित सुखमें करनेमें यह जीव असमर्थ होता है

जो प्राणी हमेशा परजीवोंका घात करके उनके प्रियजीवित का नाश करता है वह प्रायः अल्पायुषी ही होता है। आयुष्यका नाश होनेके बहुत निमित्त हैं—

पानी, अग्नि, वायु, सर्प, विच्छु, रोग, श्वासोच्छ्वास का रुक जाना, आहार न मिलना, और वेदना इत्यादिकोंसे आयुका क्षय होता है। इसवास्ते मनुष्यजन्म प्राप्त होनेपर भी दीर्घायुष्य की प्राप्ति होना सुलभ नहीं है।

यद्यपि आयु शुन्द सामान्यका वाचक है तथापि यहां दीर्घायुष्यका वाचक माना है अन्यथा आयुष्य मात्र तो संसारी जीवोंको सुलभ है ही.

देश, कुल, जाति, नीरोगता वगैरह की प्राप्ति होनेपर भी बुद्धिका लाम होना बड़ा कठिण है. बुद्धिका अर्थ यहांपर परलोक की प्राप्ति करा देनेवाली बुद्धि ऐसा है. अर्थात् परलोकमें इस आत्माकी हित करनेवाली बुद्धि दुर्लभ है. सामान्य ज्ञान प्राप्त होना कुछ कठिन नहीं है. जैसे मेघपटलसे आच्छादित होनेपर सूर्यका प्रकाश भूतलपर नहीं आता है. वैसे ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे आत्माकी ज्ञानशक्ति आच्छादित होती है. मिथ्यात्व कर्मका उदय होनेसे ज्ञानमें विपरीतपना होता है. अर्थात् पदार्थका सच्चा स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है. उसका विपरीत स्वरूप समझ लेता है.

आत्मा नामक कोई पदार्थ ही नहीं है. अतः वह शुभाशुभ कर्मका कर्ता है ऐसा मानना निर्मूल है शुभाशुभ कर्मसे सुख और दुःखरूपी फल उत्पन्न होता है. और यह आत्मा उसका अनुभव लेनेमें लीन होता है. यह कहना या मानना निःसार है. आत्मा पाप या पुण्य कर्मके वश होकर परलोककी प्राप्ति कर लेता है यह वचन भी मिथ्या है. इस विषयमें अन्यत्र ऐसा कहा है—परलोक नहीं है. आत्मा और पाप पुण्य नहीं है. धर्म और अधर्म नामकी चीज भी नहीं है. क्या किसीने स्वर्ग देखा है ? अथवा भयंकर दुःख देनेवाले नारकियोंके निवासस्थल भी देखे हैं ? कर्म बंध, और मोक्ष क्या चीज है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है. वध और मोक्ष न होने से तपश्चरणादिक करना व्यर्थ है. प्राप्त हुए सुंदर स्त्री वगैरह पुरुषोंका यथेच्छ सेवन करना चाहिए क्योंकि प्रत्यक्ष को छोड़कर अप्रत्यक्ष चीजोंकी अभिलाषा करना बुद्धिमानका कर्तव्य नहीं है.

इस विषयमें कोई विद्वान ऐसा कहते हैं—सोलह वर्ष की स्त्री और बीस वर्षका जवान पुरुष इनका हाव भावपूर्वक कटाक्षपात, हास्यमिश्रित भाषण और रतिक्रीडा यही स्वर्ग है इससे ओर स्वर्ग नामकी चीज ही नहीं है

यह स्त्री मकरध्वजकी जयपताका है, इससे संपूर्ण पदार्थोंकी संपत्ति प्राप्त होती है. स्वर्ग और मोक्षकी इच्छासे जो दुर्बुद्धि लोक इस स्त्रीका त्याग कर वनमें प्रयाण करते हैं वे स्त्रीका त्याग करनेके अपराधसे दंडित कर दिये जाते हैं कितनोंका मुडन किया जाता है कोइयोंको रक्तवस्त्र पहराया जाता है, कोइ जटायुक्त और कोइ

कापालिक किये जाते हैं. अर्थात् हाथ में कपालपात्र लेकर भिक्षार्थ भ्रमण करने लगते हैं. अर्थात् झुका ल्याग कर जो वनमें जाते हैं उनकी ऐसी दुर्दशा होती है. और जो उसकी आज्ञा शिरोधार्य समझकर प्रवृत्ति रस्तते हैं उनको यहां ही स्वर्ग और मोक्षका सुख मिलता है.

और भी इस विषयमें कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं—

पानीका बबूला जैसा क्षणके बाद पूर्ण नष्ट होता है. जीम भी देहका नाश होनेपर विनष्ट होते हैं. परलोकको प्रयाण करनेवाला आत्माही नहीं है तो परलोककी सिद्धि कैसी होगी ? अर्थात् जीवनात्मक पदार्थ नहीं है. इस लिये परलोकका भी अभाव है. ऐसे और इसके सदृश और भी विचार बुद्धीमें दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होजाते हैं. जीवोंमें बुद्धि तो होती है. परंतु उसने कुमार्गका आश्रय लिया है. जीवोंको यथार्थ रत्नत्रयमार्ग दिखलाने वाले सद्गुरुओंका संसर्ग मिलना बड़ा ही कठिण हो रहा है.

यतिजन अर्थात् सद्गुरु यथार्थ ज्ञानरूपी नेत्रके धारक हैं. संपूर्ण प्राणिओंमें वे दया करते हैं वे लाम की, सत्कारपुरस्कार की अपेक्षा नहीं करते हैं. चतुर्गतिओंमें संसारीजन हजारों यातनायें भोग रहे हैं यह देखकर उनके अंतःकरणसे दयाका प्रवाह बहता है. “अहो ये अज्ञजन मिथ्यादर्शनादि अशुभ परिणामोंसे अशुभ-मतिको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका बंध कर रहे हैं इन कर्मोंसे छूटनेका उपाय ये लोक जानते नहीं हैं. इससे ही ये दीन प्राणी अपार दुःखरूपी समुद्रमें प्रवेश कर दुःख भोग रहे हैं” ऐसा विचार सद्गुरु मनमें करते हैं. ऐसे सद्गुरुका संसर्ग होना दुर्लभ है.

दर्शनमोहनीय कर्म और ज्ञानावरणीय कर्मका उदय होनेसे लोक यतिके गुणोंको जानते नहीं और उनके ऊपर श्रद्धा न भी करते नहीं. इसी लिये उनके पास वे जाते नहीं जबतक सद्गुणोंका स्वरूप नहीं जाना जाता है तबतक उसका स्वीकार करनेकी प्रवृत्ति लोकोंमें नहीं दृक्वती है. चारित्र्यमोहनीय कर्मके उदयसे प्राणीकी हिंसा लोक स्वयं करते हैं, करवाते हैं और अनुमोदन देते हैं. हिंसादिक कार्योंको करनेवाले लोकोंमें प्रीति रस्वते हैं. जो हिंसादि अकार्योंको नहीं करने देते हैं उनमें लोक भ्रम करते नहीं. जब मनमें अहिंसादिक गुणयुक्तोपर प्रेमही नहीं तो उनमें संसर्ग और उनकी सेवा कैसी होगी ?



यह साधुसेवा संसारका नाश करती है, क्रोधादि अशुभपरिणामोंका उपशम करके ज्ञानको बढ़ाती है साधुसेवासे पुण्य और यश बढ़ते हैं,

सत्पुरुषोंका एक बार दर्शन भी हुआ तो वह भी संसारका नाश करनेमें कारण होता है, तो उनकी सेवा करनेकी योग्यता मिलनेपर यदि हमने उनकी सेवा की तो उससे हमारे संसारका नाश होनेमें क्या देर लगेगी ?

यदि सज्जनोंकी सेवा हम नहीं करेंगे तो हमको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होगी, ज्ञानके बिना हमको हित करनेवाले देवपूजा, स्वाध्याय वगैरह कर्मोंका स्वरूप ज्ञात नहीं होता है, अतः मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं,

साधुओंकी उपासना करनेसे यदि परम्परासे भी मोक्षकी प्राप्ति होती है तो साधुओंकी सेवा करनेवाले मनुष्योंकी क्या हानि और श्रम होगा ? अर्थात् मोक्षप्राप्ति के समान जगतमें दूसरा अनुपम लाभ है ही नहीं अतः मनुष्यने साधुओंकी सेवा श्रमकी परवा न कर करनी चाहिए,

मोक्षप्राप्तिके इच्छुक विद्वान लोग अवश्य साधूका आश्रय करें क्योंकि साधु पुरुष आश्रितजनोंको आनन्दसे अक्षय मोक्ष अर्पण करते हैं,

अभिमान और मोह दूरकर इह पर लोकमें हितको चाहनेवाले मनुष्य सतत सत्पुरुषकी विनयसे सेवा करें, क्योंकि, जगतमें सत्पुरुष तपरूपी वैभवंसे युक्त होते हैं, अर्थात् महातपस्वी जनोंकी सेवा अवश्य करनी चाहिए, दैवयोगसे भूमि सहवास प्राप्त भी हुआ परन्तु उनसे हमने हितका उपदेश नहीं सुना तो उनके सहवास का फायदा हमने नहीं लिया ऐसा ही समझना चाहिए, यदि हमने वेतमें बीज नहीं बोया और छुट्टि हुई तो उस छुट्टि से कुछ फायदा नहीं है वैसे सत्पुरुषका उपदेश हमने सुना नहीं तो उनका सहवास व्यर्थ ही हुआ ऐसा समझना चाहिए, यतीश्वरके समीप जाकर हम यदि उनका हितोपदेश सुनेंगे तो यतिसमागम सफल हुआ ऐसा समझना चाहिए, इसलिए हितोपदेश सुनना दुर्लभ है ऐसा आचार्य कहते हैं

सत्पुरुषोंका उपदेश सुननेके लिए जाकर भी कोई वहां सोते हैं, अथवा अपने पास बैठे हुए मनुष्यके साथ बातलाप करते हैं अथवा उनका वचन सुनते हैं सत्पुरुषके उपदेशके तरफ उनका लक्ष्य नहीं जाता, प्रगट किये धर्मके माहात्म्यपर मोहनीय कर्मके उदयसे उनकी अरुचि हो जाती है,

अथवा मति मंद होनेसे उनके उपदेशका रहस्य नहीं जाननेसे उनमें उसका प्रेम उत्पन्न नहीं होता है प्रेमके बिना जनमें सुननेकी उत्कंठा नहीं होती है.

इस विषयमें आचार्य ऐसा कहते हैं—

मोक्षप्राप्तिके उपायका अर्थात् रत्नत्रयका उपदेश देनेवाले आचार्य के वसतिकमें जाकर भी जो प्रमादसे अन्य लोगोंकी बातें सुननेमें अपने चित्तको एकाग्र करता है वह मूल मनुष्य सरोवरके पास जाकर भी कीचड़में फंसे हुए मनुष्य के समान समझना चाहिये.

यद्यपि सत्पुरुषके वचन सुनने पर भी उमका अभिप्राय ध्यानमें रखना दुर्लभ है. क्योंकि जीवादि वस्तुओंका स्वरूप सूक्ष्म होनेसे और वह पूर्वकालमें कभी सुननेमें नहीं आनेसे उसका अभिप्राय मनमें समझना कठिन है यद्यपि ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम विशेष होनेसे बुद्धि जीवादिकोंका स्वरूप जानेंगी, धर्मका स्वरूप जानेंगी तथापि जाने हुए जीवादिके स्वरूपमें और धर्मस्वरूपमें श्रद्धा उत्पन्न होना दुर्लभ है

यह श्रीजैनश्रका धर्म आर्हिसात्मक है यह सत्यके आधार पर है अर्थात् सत्यपना इसकी नींव है. परधन हरण न करना यह इसका स्वरूप है. नउ प्रकारसे ब्रह्मचर्य द्वारा इसका संरक्षण किया जाता है. संपूर्ण परिग्रहोंपरसे ममतव दूर करना यह इसका ध्येय है. विनय इसका मूल है. इस धर्मके आचरणसे मनुष्यको सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है. क्षमा, मृदुपना अर्थात् अभिमानका त्याग, निष्कपटपना, संतोष इत्यादि गुण इस धर्मके अलंकार हैं. यह नरकका मार्ग बंद करनेके लिये वज्रगोला के समान है. पशुगतिरूपीवेलीको काटनेके लिये यह जिनधर्म कुल्हाड़ीके समान है. दुःखरूपी पर्वतके शिखरोंको विध्वस्त करनेके लिये यह धर्म कठोर वज्रके समान है. मोहरूपी महावृक्षको सशूल उपाड़नेके लिये यह धर्म जोरदार हवाके समान है. वृद्धावस्थारूप वनकी अग्नीकी ज्वालायें बुझानेके लिये यह वर्षाकालीन वृष्टि करनेवाला मेघ है. मरणरूप हरिणका घात करनेके लिये यह धर्म वाघके तुल्य है. भयंकर रोगसर्पोंको यह गरुडके समान है. संपत्तिरूपी गंगानदीकी उत्पत्तिके लिये यह धर्म हिमपर्वत है अगाध शोकरूपी कीचड़को यह सेतु है. यह जैनधर्म सौंदर्यका पिता है. ऐश्वर्यरूप रत्नोंकी यह खान है कुयोनिवनमें भ्रमण करनेवाले प्राणिओंको यह धर्म भुक्तिनगरको लेजानेवाला है. ऐसे जिनधर्मके ऊपर श्रद्धा होना अतिशय दुर्लभ है

दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे लोक इससे ग्रंथ मोड़ते हैं, दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम जब होता है तब इस परमहितकारक धर्मपर प्राणी श्रद्धा करने लगते हैं, श्रद्धा न करनेपर भी संयम-चारित्र्यकी प्राप्ति होना अधिकही कठिन है क्योंकि प्रत्याख्यानवरणी कर्म जीवको चारित्र्यपालन करनेमें प्रतिबंध करता है, इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

मनुष्यको सत्यधर्मका स्वरूप बड़े कष्टसे मालुम होता है, ज्ञान होनेपर धर्ममें प्रवृत्ति करना उससे भी अधिक कठिन है जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप जिसने जाना है ऐसे मनुष्यको धर्मका स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना चाहिये और इस धर्मका आचरण करते समय प्रमादको छोड़ देना चाहिये एक क्षणपर्यंत भी उसका आश्रय नहीं करना चाहिये

पापकार्य करनेकी अपेक्षा धर्माचरण करना अधिक सुलभ है, परंतु एक क्षणपर्यंत भी धर्माचरण करना मनुष्यको कठिनसा दीखता है,

इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, पापकर्मके तीव्र उदयसे मनुष्य मूढ़ होते हैं, एक तुच्छ कवचीकी भी महत्त्वकी चीज समझकर यह मूढ़ मानव उसकी प्राप्तिके लिये महान्परिश्रम करता हुआ देखा जाता है,

परंतु तत्त्वज्ञ मनुष्य देव और मनुष्यका ऐश्वर्य देनेमें समर्थ मोक्षका मूल ऐसे सद्धर्म में अपना हृदय स्थिर करता है,

मूढ़ मनुष्य अहित कार्यमें ही प्रयत्न करता है, और परमहितकर धर्ममें हमेशा आलसी रहता है, यह योग्यही है, यदि मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति न करेगा तो उसका संसारमें अमण कैसा होगा?

संयमकी—सुनिधर्मकी भी जो कि परंपरा दुर्लभ है प्राप्ति हुई तो भी अल्पज्ञ गुरुके समीप सल्लेखना धारण करनेवाले सुनिको संसारसे भय उत्पन्न करनेवाला धर्मोपदेश मिलना कठिन है, इस लिये बहुश्रुतज्ञ आचार्यका आश्रय करना ही योग्य है, ऐसा इतना विवेचन करनेका अभिप्राय है,

अल्पज्ञ आचार्यसे क्षपकको उत्तम—भवोद्धारक धर्मोपदेश नहीं मिलनेसे मरणकालमें वह संयमसे अष्ट होता है—तान्पर्य यह है कि दीर्घ कालतक प्राणिसंयम और इंद्रियसंयमका पालन क्षपकने किया था परंतु मरण समयमें उससे वह अष्ट होनेसे वह चारित्र्यधानासे रहित हो जाता है, संयमसे अष्ट वह क्यों होता है इस प्रश्नका

मरनेकी अवस्थामें वह दीन पुरुष अपना मुख उधाड़कर, नेत्रोंकी टकटकी लगाता हुआ, रोनेसे जिसके नेत्रोंपर स्रजन और लालपना आगया है ऐसा होता हुआ अपनी प्राणप्यारीको छोड़कर चल बसता है।

स्फटिकमणिओंकी माला जैसा समीपके पदार्थका गुण ग्रहण करती है वैसे स्त्रियोंके शरीर समीपस्थ व्यक्तिके गुणोंका ग्रहण करता है। संव्याकालीन मेघोंकी पत्ति लालरंगमे मनोहर दीखती है परन्तु उनका यह रंग शीघ्र ही नष्ट होता है वैसे स्त्रियोंका प्रेम उत्पन्न होकर शीघ्रही विलयको प्राप्त होता है अर्थात् आज एक पुरुष पर उनका स्नेह जम जाता है तो कल वे दूसरोंपर प्रेम करोगी स्त्रीकी प्राप्ति होना भी दुर्लभ होता है। स्त्री, वस्त्र, गंध, माला वगैरह पदार्थ मिलनेपर समर्थ लोक जन-रदस्ती से हर लेते हैं इससे मन भय युक्त होता है, अर्थात् ये पदार्थ मेरे को प्राप्त हुए हैं परन्तु कोई इसको ले तो नहीं जायगा ऐसा भय मनमें उत्पन्न होता है। ऐसा भय होनेसे ये पदार्थ आत्माको सुखदायक होते नहीं इनकी प्राप्ति के लिए खेती वगैरह छह कर्म करने पड़ते हैं। इन परद्रुमोंसे संपत्तिरूपी फल प्राप्त होगा ही ऐसा नियम नहीं है और इनमें परिश्रम बहुत करना पड़ता है, इनमें हिंसादिक पापक्रिया करनी पड़ती है और ये कर्म अन्तमें दुर्गति की प्राप्ति में कारण होते हैं ऐसा उपदेश देकर बहुश्रुतज्ञ आचार्य क्षपकको भोगोंसे विरक्त करते हैं।

शरीरका भी वास्तविक स्वरूप दिखाकर आचार्य विरक्त करते हैं—

यह शरीर अपवित्रताका निधान है अर्थात् इसके संपूर्ण अवयव अपवित्र पदार्थ मे ही बने हैं, यह शरीर आत्माके ऊपर लदा हुआ मानो बोझाही है, इसमें एक भी पदार्थ सारयुक्त नहीं है यह अनेक संकटोंमे घिरा रहता है, रोगरूपी धान्यकी उत्पत्तिका यह स्थान है अर्थात् इसमें अनेक रोग उत्पन्न होते हैं वृद्धावस्थाक्षी पिशाचिनीका यह इमशानगृह है, मान्यकुलमें पैदा हुआ, विशालकीर्तियुक्त, और गुणी ऐसा भी मनुष्य दखिदी होनेपर इस शरीरका पोषण करनेके लिये नीच कर्मक'ता है, श्रीमानोंके आगे दौडता है, उनके संदेश एक स्थानमे दूसरोंको पोहोचाता है, और उनका उच्छिष्ट भोजन खाता है, इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

इस शरीरके अंदर, बाहर और मध्यमें भी कुछ भी सारभूत वस्तु नहीं है, जिसको मन स्वीकार करेगा अर्थात् जब हम देहके स्वरूपका मनसे विचार करते हैं तो उसमें कोई सारभूत पदार्थ दीखता नहीं इसवास्ते सारज्ञ विद्वान् तुच्छजनोंने कामपूर्तिके लिये पसंद किये हुए इस देह की इच्छा नहीं करते हैं।

दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे लोक इससे मुंह मोड़ते हैं। दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम जब होता है तब इस परमहितकारक धर्मपर प्राणी श्रद्धा करने लगते हैं। श्रद्धा न करनेपर भी संयम-चारित्र्यकी प्राप्ति होना अधिकही कठिन है क्योंकि प्रत्याख्यानारणी कर्म जीवकी चारित्र्यपालन करनेमें प्रतिबन्ध करता है। इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

मनुष्यको सत्यधर्मका स्वरूप बड़े कष्टसे मालुम होता है। ज्ञान होनेपर धर्ममें प्रवृत्ति करना उससे भी अधिक कठिन है जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप जिसने जाना है ऐसे मनुष्यको धर्मका स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना चाहिये और इस धर्मका आचरण करते समय प्रमादको छोड़ देना चाहिये एक क्षणपर्यंत भी उसका आश्रय नहीं करना चाहिये

पापकार्य करनेकी अपेक्षा धर्माचरण करना अधिक सुलभ है, परंतु एक क्षणपर्यंत भी धर्माचरण करना मनुष्यको कठिनसा दीखता है।

इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पापकर्मके तीव्र उदयसे मनुष्य मूढ़ होते हैं, एक तुच्छ कचड़ीको भी महत्वकी चीज समझकर यह मूढ़ मानव उसकी प्राप्तिके लिये महान्परिश्रम करता हुआ देखा जाता है। परंतु तत्त्वज्ञ मनुष्य देव और मनुष्यका ऐश्वर्य देनेमें समर्थ मोक्षका मूल ऐसे सद्धर्म में अपना हृदय स्थिर करता है।

मूढ़ मनुष्य अहित कार्यमें ही प्रयत्न करता है। और परमहितकर धर्ममें हमेशा आलसी रहता है। यह योग्यही है। यदि मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति न करेगा तो उसका संसारमें भ्रमण कैसा होगा?

संयमकी—धृतिधर्मकी भी जो कि परंपरा दुर्लभ है प्राप्ति हुई तो भी अल्पज्ञ गुरुके समीप सहेखना धारण करनेवाले मुनिको संसारसे भय उत्पन्न करनेवाला धर्मोपदेश मिलना कठिन है, इस लिये बहुश्रुतज्ञ आचार्यका आश्रय करना ही योग्य है। ऐसा इतना विवेचन करनेका अभिप्राय है।

अल्पज्ञ आचार्यसे श्रवणको उत्तम—भवोद्धारक धर्मोपदेश नहीं मिलनेसे भ्रमणकालमें वह संयमसे भ्रष्ट होता है। तात्पर्य यह है कि दीर्घ कालतक प्राणिसंयम और इंद्रियसंयमका पालन श्रवणके किया था परंतु भ्रमण समयमें उससे वह भ्रष्ट होनेसे वह चारित्र्याराधनासे रहित हो जाता है। संयमसे भ्रष्ट वह क्यों होता है इस प्रश्नका

उत्तर यह है—मनोज्ञ और अमनोज्ञ पदार्थ सर्वत्र और हमेशा रहते हैं और अन्तरंग कारण जो कर्म उसका उदय होनेसे दुर्निवार राग, द्वेष, और मोहकी उत्पत्ति होती है, जिससे वह चारित्र का त्याग कर बैठता है.

जैसे चांसके समुदायमेंसे 'छोटा चांस कुल्हाड़ीसे काट सकते हैं परन्तु वह उखाड़कर निकालना अति-शय कठिन है, वैसे संयमीका मन जब विषयोंमें आसक्त होता है तो उसमें उसको निकालना दुःसाध्य होता है अर्थात् मनमें उत्पन्न हुए राग द्वेष नष्ट करना कठिन कार्य है. इस विवेचनका यह अभिप्राय है—रागद्वयोंका पराजय करने की क्षपकने प्रतिज्ञा की थी तथापि शरीरसंछेखना करनेपर जब वह भूक्त व्यास वीरह परीपक्षसे पीडित होता है और उसको सहन करनेका सामर्थ्य कम होता है तब श्रुतज्ञानके प्रति मनकी एकाग्रता नष्ट होती है. श्रुतज्ञानमें एकाग्रता न होने से राग द्वेष उत्पन्न होते हैं और वह क्षपक चारित्राराधनासे स्थित होता है.

ऐसे समयमें यदि बहुश्रुत आचार्यका संगम प्राप्त होगा तो वे रागद्वयोंकी उत्पत्ति न होगी ऐसा उपदेश देते हैं. शरीर और भोगोंमें वैराग्य उत्पन्न होगा ऐसी कथायें उसको कहते हैं और चारित्राराधनामें उसको स्थिर करते हैं.

भोग और शरीर में वैराग्य उत्पन्न करनेवाली कथा अर्थात् उपदेश इस प्रकार है—

नरकमें नारकियोंको दुःखही दुःख है. सुखका लेश भी वहां नहीं है. तिर्यच प्राणी, देव और मनुष्य इनको किसी प्रदेशमें किसी कालमें और किसी प्रकारसे थोड़ासा सुख मिलता है

नाना कुयोनियों भ्रमण करनेवाले इस जीवने जो अपरिमित दुःख प्राप्त किया है वह इतना अधिक है कि आजतक अनेक शरीर धारण कर इसने जितना सुख प्राप्त किया है उससे वह अनंत गुणित है अर्थात् जितना सुख इस जीवने आजतक भोगा है वह भोगे हुए दुःखका अनंतवा माग भी होना कठिन है,

इस जन्मसागरमें यह एक जीव सुखके एक मागको कितने दिन भोगेगा. जैसे वनमें अतिशय भयाकुल हरिण दुःखोंसे व्याप्त होनेसे सुखका अति अल्पकाल में ही थोड़ासा अनुभव लेता है

जो सुख अन्ततमवसे भ्रमण कर यह प्राणी प्राप्त करता है उसका एक भवमें यह प्राणी कितना हिस्ता प्राप्त कर लेगा यह विचारणीय है. जैसे मेघोंका पानी लवणसमुद्रके पानीसे मिलकर खारा बन जाता है वैसे इस जीवका अत्यल्प सुख दुःखराशीमें मिलकर दुःखरूप ही होजाता है.

इसी संसारमें जिसको लोक सुख यह नाम देते हैं, वास्तविक वह सुख है ही नहीं, वह केवल पूर्वकाल में उत्पन्न हुए दुःखोंको दूर करनेका इलाज मात्र है, प्रथमतः जो दुःख उत्पन्न होता है उसके इलाजको ही सुख कहते हैं, यदि प्रथम दुःख नहीं हुआ तो सुख की कल्पना भी उत्पन्न नहीं होगी, तृष्णाका शमन करनेकेलिये मनुष्य पानी पीता है, और भूख की वेदना नष्ट करनेकेलिये भोजन करता है,

जल, हवा और सूर्यसंतापका निवारण करनेके लिये लोक घरका, गुह्यका आच्छादन करनेके लिये वस्त्रका, और निद्राका श्रम दूर करनेकेलिये शय्याका आश्रय करते हुए देखे जाते हैं, और श्रमसे उत्पन्न हुए स्वेदको हटानेका

जलस्नान करना यह उपाय है, अथवा एकस्थान में स्वस्थ बैठना यह श्रम दूर करनेका उपाय है, दुर्गंधका नाश करनेके लिये सुगंधि पदार्थोंका सेवन करना यह उपाय माना जाता है शरीरकी कुरूपता दूर करने के लिये अलंकारोंको धारण करना यह उपाय है, अरतिको हटानेकेलिये कलाओंका अभ्यास करना यह सर्व प्रतिकाररूप होनेसे इसको ही लोक सुख समझते हैं, जैसे रोगसे पीडित मनुष्य रोगजन्य दुःखका प्रतिकार करनेकेलिये औषध ग्रहण करता है, देवोंके और मनुष्योंके भोग जिनको वे सुख रूप समझते हैं वे सब दुःखका प्रतिकार करनेमें केवल निमित्तमात्र ही हैं, पित्तप्रकोपसे जिसके सर्व अंगमें दाह हो रहा है वह मनुष्य शीतपदार्थोंका सेवन करता है, उनको यदि वह अज्ञानी भोग यह नाम देगा तो वह अनादिक पदार्थोंको भी भोग नाम देगा

इस जगत्में पानी वगैरह पदार्थ सर्वथा सुख ही देते हैं ऐसी कल्पना करना भी भूलसे खाली नहीं है, इसलिये वे पदार्थ दुःखका प्रतीकार करनेवाले हैं इतना ही समझना चाहिये, उसमें भोगसंज्ञा करना योग्य नहीं है, जो अब भूखसे पीडित मनुष्यको सुखका कारण होता है वहीं तृप्तमनुष्य को विषसमान हो जाता है, उष्णतासे पीडित हुआ मनुष्य जिन चीजोंको चाहता है वे चीजें शीतकालमें दुःखदायक होती हैं, इस जीवको चक्रवर्ती के सुखसे वृत्ति नहीं होती है चक्रवर्ती अपने चक्ररत्नके प्रभावसे देव मनुष्य और विद्याधरोंको जितते हैं, उनके पास क्षयरहित नष्ट निधि रहते हैं, वे चौदह रत्नोंके स्वामी होकर दस प्रकार के भोगोंका अनुभव लेते हैं तो भी उनसे उनका मन तृप्त होता नहीं,

देव भी देवांगनाओंसे प्राप्त होनेवाले विषयसुखसे तृप्त होते नहीं हैं देवोंका आशुष्य अनेक सागरोंका

रहता है, वे आमरण तरुण ही होते हैं, वे हमेशा देवांगनारूपी लतासमूहसे घिरे रहते हैं तो भी उनको इनसे उत्पन्न होनेवाले सुखसे तृप्त होती नहीं।

देवांगनारूपी लतावनकी आचार्य इस प्रकार निरूपणा करते हैं—

स्वाभाविक अर्थात् जन्मसे ही साथ उत्पन्न हुये ऐसे दिव्य अलंकार, पुष्पमाला, दिव्यवस्त्र, दिव्य ऐश्वर्य एतद्वय स्कंधसे यह देवीलतावन सुंदर दीखता है, मन और नेत्रोंसे आल्हाद देनेवाले सौंदर्यपुष्पोंसे यह देवी-लतावन पुष्पित है।

इन लताओंको विलास रूपी मनोहरता आती है, सुकुमारतारूपी नवीन कोमल अंकुर इनकी शोभा बढ़ाते हैं ये लतायें अपने शरीरके सुगंधसे दिगंगनाओंका मुख सुगंधित करती हैं, इनका अधरोष्ठपल्लव मुंगोंके समान मनको लुब्ध बनाता है, ये लतायें कठिन, उन्नत अर्थात् पुष्ट और गोल ऐसे स्तनरूपी फलोंसे कर्मापी दीखती हैं मदनरूप दक्षिण चायुके झकोरोंसे ये डुलती हैं, सुंदर बाहुरूपी सुंदर शाखाओंसे मनोहर दीखती हैं चमकीले सुवर्ण के कमरपट्टरूपी तटसे युक्त, कामजलसे भरा हुआ, ऐसे विशाल जघन रूपी सरोवरसे ये सोहती हैं, शब्द करनेवाले नूरूपी अमरोंसे कलकल शब्द करने वाली ऐसी देवांगनारूप लताओंसे घिरे होते हुए भी देव तृप्त नहीं होते हैं, और भी अनेक भोग्य पदार्थोंसे उनका मन तृप्त होता नहीं, यदि देवोंके मन इतनी सुखसामग्री मिलनेपर भी अतृप्त ही रहता है, तो मनुष्यका मन कैसा तृप्त होगा।

तीव्रतर पुरुषवेदका जब उदय होता है तब वह अग्नीके समान मनुष्यके मनको जलाता है ऐसे समय स्त्रीसंभोगरूपी औषधसे भी उस मनकी जलन शांत नहीं होती है, स्त्रीसंभोगसे कामाग्नि अधिक ही प्रदीप्त होती है, रूप, तारुण्य, विलास, चतुरता, सौभाग्यादिकसे एकसे दूसरी अधिक, दूसरीसे तीसरी अधिक ऐसी उत्तरोत्तर अधिक २ सुंदरी स्त्रियां नजरमें आ जानेसे उनके संगमकी मनमें अभिलाषा घटती है जिससे कामवेदना पुरुषको अधिक व्याकुल करती है।

कोई स्त्रिया अपने पतिका त्याग करती हैं, अथवा मर जाती हैं अथवा बलवान पुरुष उनको हर कर ले जाते हैं, अथवा स्वयं यमके पाससे जकड़ा हुआ इच्छा न होते हुए भी स्त्रीको छोड़कर यममंदिरको जाता हैं।



मरनेकी अवस्थामें वह दीन पुरुष अपना मुख उधाड़कर, नेत्रोंकी टकटकी लगाता हुआ, रोनेमें जिनके नेत्रोंपर खून और लालपना आगया है ऐसा होता हुआ अपनी प्राणधारीको ओढ़कर चल बमना है।

स्फटिकमणिओंकी माला जैसा समीपके पदार्थका गुण ग्रहण करती है ऐसे जिवोंके शरीर समीपस्थ व्यक्तिके गुणोंका ग्रहण करता है। मध्याकालीन सेजोंकी पक्ति लालरंगमें मनोहर दीखती है परन्तु उनका यह रंग शीघ्र ही नष्ट होता है। जैसे जिवोंका प्रेम उत्पन्न होकर शीघ्रही विलयको प्राप्त होता है अर्थात् आज एक पुरुष पर उनका स्नेह जम जाता है तो कल वे दूसरोंपर प्रेम करेगी स्त्रीकी प्राप्ति होना भी दुर्लभ होता है। स्त्री, बन्ध, गन्ध, माला वगैरह पदार्थ मिलनेपर समय लोभ जन-रदस्ती से हर लेते हैं इससे मन भय युक्त होता है, अर्थात् ये पदार्थ मेरे को प्राप्त हुए हैं परन्तु कोई डपको ले तो नहीं जायगा ऐसा भय मनमें उत्पन्न होता है। ऐसा भय होनेमें ये पदार्थ आत्माको मुखदायक होते नहीं इनकी प्राप्ति के लिए खेती वगैरह छह क्रम करने पड़ते हैं। इन परक्रमोंमें संपत्तिरूपी फल प्राप्त होगा ही ऐसा नियम नहीं है और इनमें परिश्रम बहुत करना पड़ता है, इनमें हिंसादिक पापकिया करनी पड़ती है और ये कर्म अन्तमें दुर्गति की प्राप्ति में कारण होते हैं ऐसा उपदेश देकर बहुश्रुतज आचार्य क्षपकतां भोगोंमें विरक्त करते हैं। शरीरका भी वास्तविक स्वरूप दिखाकर आचार्य विरक्त करते हैं—

यह शरीर अभवित्रताका निधान है अर्थात् इसके मपूर्ण अथवा अपवित्र पदार्थ में ही बने हैं, यह शरीर आत्माके ऊपर लदा हुवा मानो मोझाही है, इसमें एक भी पदार्थ सारयुक्त नहीं है यह अनेक संकटांमें घिरा रहता है, रोगरूपी घान्यकी उत्पत्तिका यह स्थान है अर्थात् इसमें अनेक रोग उत्पन्न होते हैं बुद्धावरथारूपी पिशा-चिनीका यह श्मशानगृह है, मान्यकुलमें पैदा हुआ, पिशालकीतिपुक्त, और गुणी ऐसा भी मनुष्य दरिद्री होनेपर इस शरीरका पोषण करनेके लिये नीच कर्म करता है, श्रीमानोंके आगे दौडता है, उनके मंदिर एक स्थानमें दुमरोंका पोहोचाता है, और उनका उच्छिष्ट भोजन खाता है, इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

इस शरीरके अंदर, बाहर और मध्यमें भी कुछ भी सारभूत वस्तु नहीं है, जिसको मत स्वीकार करेगा अर्थात् जब हम देहके स्वरूपका मनसे विचार करते हैं तो उसमें कोई सारभूत पदार्थ दीखता नहीं इसवास्ते सारज विद्वान् तुच्छजनोंने कामपूतिके लिये पसंद किये हुए इस देह की इच्छा नहीं करते हैं।

इस देहमें वायुका प्रकोप होनेसे कोई रोग उत्पन्न होते हैं कोई पित्त और कफके प्रकोपसे उत्पन्न होते हैं, रोगोंके उत्पत्तिका अभ्यंतर कारण पाप है और बहिरंग कारण वातादिकोंका प्रकोप होना यह है, इन रोगोंसे यह देह पीडित होता है, दुःखोंको कारणभूत यह देह नाशवंत है ऐसा समझकर हे आत्मन् अर्थात् हे क्षपक! तू अनेक प्रकारसे धर्मसाधन कर यह देह रक्त और वीर्यके सयोगसे उत्पन्न होता है, शिथिल दृष्टिओंसे—दृष्टिरूप स्वरोंसे इस देहकी रचना हुई है स्नायुओंसे यह सर्व तरफसे जकड़ा हुआ है, शिराओंसे वेष्टित है, मांस, रक्तरूपी पानी और कीचड़से यह लिपा गया है इस देहमें रोगोंने निवास किया है, ऐसे शरीरको कौन स्पर्श करेगा, इस तरह शरीरनिर्वेजनी कथा कह कर आचार्य क्षपकको चारित्र्यमें स्थिर करते हैं,

गीदत्थपादमूले ह्येति गुणा एवमादिया बहुगा ॥

ण य होइ सकिलेसो ण चावि उप्पज्जदि विवत्ती ॥ ४४७ ॥

विजयोदया—गीदत्थपादमूले गृहीतार्थस्य बहुश्रुतस्य पादमूले । ह्येति बहुगा गुणा गीदत्थो पुण खगस्स इत्येवमादिस्त्रपचकनिर्दिष्टः । ण य होइ सकिलेसो नैव भवति संक्षेपः । ण वा पि उप्पज्जदि विवत्ती न बोत्पद्यते विपद्वत्तत्रयस्य । तस्मादाधारवानाचार्यः उपाश्रयणीयः इत्युपसंहारः । इति आधारत्वं ॥

मूलार—विवत्ती रत्नत्रयविनाशः । आधारवान् ॥

अर्थ—जो आचार्य सूत्रार्थज्ञ है उसके चरणके समीप जो क्षपक समाध्यर्थ रहेगा उसको उपर्युक्त गुणोंकी प्राप्ति होती है, उसको संक्षेप परिणाम नहीं होगा और रत्नत्रयमें कुछ बाधा भी उपस्थित नहीं होगी इस लिये आधारगुणयुक्त आचार्यका आश्रय लेनाही क्षपकके लिये योग्य है, इस प्रकार आधारवत्त्व गुणका वर्णन हुआ

व्यवहारवत्त्वरूपणयोत्तरगाथा—

पंचविहं व्यवहारं जो जाणइ तच्चदो सवित्थारं ॥

बहुसो य दिठ्ठकयपट्ठवणो व्यवहारवं होइ ॥ ४४८ ॥

जानाति व्यवहारं यः पंचभेदं सविस्तरम् ॥

दत्तालोकितशुद्धिश्च व्यवहारी स भण्यते ॥ ४४९ ॥

चिजयोध्या—पंचविदं व्यवहारं पंचप्रकारं प्रायश्चित्तं । जो जाणदि तच्चदो सवित्थारं यो जानाति तत्त्वत्तं स विस्तरं । चहुसो य दिठ्ठकदण्डवणो चडुशश्व दृष्टकृतप्रस्थापन । आचार्याणां प्रायश्चित्तदानं दृष्ट, स्वयं चान्येषां दत्त-प्रायश्चित्तं । व्यवहारव होदि व्यवहारवान् भवति । पूर्वार्द्धेन प्रायश्चित्तज्ञातता दर्शिता, कर्मदर्शनं कर्माभ्यासश्च प्रख्यापितः । अशास्त्रज्ञो यत्किंचिदाद्यात्मात्मनोऽभिलषित । न तेन, शुद्धयति, शास्त्रज्ञोऽप्यदृष्टकर्म, सुविपादमेति । ततो ज्ञान कर्मदर्शनं, कर्माभ्यास इति त्रयो गुणाः यस्य स व्यवहारवानित्युच्यते ॥

व्यवहारवत्त्वं गाथासप्तकेन वक्तुकाम प्रथमं प्रायश्चित्तज्ञानकर्मदर्शनकर्माभ्यासलक्षणगुणत्रयवन्तं व्यवहार-वन्तं निर्दिशति—

मूलारा—व्यवहारं प्रायश्चित्तं । दिठ्ठकदण्डवणो दृष्टमाचार्यैः क्रियमाणमवधारितं । कृतमात्मना, स्वस्य परस्य वा प्रयुक्तं प्रस्थापनं प्रायश्चित्तदानं येन स दृष्टकृतप्रस्थापनः । अशास्त्रज्ञो हि यत्किंचन प्रायश्चित्तं ददाति न च तेन परः शुद्धयति । शास्त्रज्ञोऽप्यदृष्टकर्मो कर्मसु विषादमेति ॥

अर्थ—पांच प्रकारके प्रायश्चित्तोंको जो उनके स्वरूपसहित सविस्तर जानते हैं, जिन्होंने प्रायश्चित्त देते, हुए अन्य आचार्योंको देखा है और स्वयं भी जिन्होंने दिया है ऐसे आचार्योंको व्यवहारवान् आचार्य कहते हैं इस गाथाके पूर्वार्द्धमें आचार्यकी प्रायश्चित्तज्ञता कही है और उत्तरार्द्धमें प्रायश्चित्त देते हुए देवना, प्रायश्चित्त देनेका अभ्यास करना इन गुणोंका उल्लेख किया है प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञान यदि न हो तो जो मनमें आया सो प्रायश्चित्त देगा अतः आचार्य प्रायश्चित्त ही होना चाहिए, चाहे जो प्रायश्चित्त देनेसे अपराधकी शुद्धि नहीं होती है प्रायश्चित्तशास्त्रका जानकार होते हुए भी यदि प्रायश्चित्त देते हुए किसीको नहीं देखनेसे प्रायश्चित्त देते समय धवडाहट पैदा होती है, इसलिए, प्रायश्चित्तका ज्ञान, प्रायश्चित्तदानदर्शन और प्रायश्चित्त देने का अभ्यास ये तीन गुण जिसमें है ऐसे आचार्य को व्यवहारवान् आचार्य कहते हैं

क. पंचविधो व्यवहारः, को वा विस्तर इत्याशंकाया तदुभयं निरूपयति—  
आगमसुद आणाधारणा य जीदेहिं हुति व्यवहारा ॥  
एदोसिं सवित्थारा परूवणा सुत्तणिदिट्ठा ॥ ४४९ ॥

व्यवहारो मतो जीदश्रुतज्ञागमधारणा ॥

एतेषां सूत्रनिर्दिष्टा ज्ञेया विस्तरवर्णना ॥ ४६ ॥

विययोदया—आगमसुद आणाधारणा य जीदेहि हुति ववहारा आगम., श्रुतं, आज्ञा, धारणा जीद इति व्यवहाराः पच । एदेसी एतेषा आगमादीना । परूवणा कीदृशी ? सवित्थारा विस्तरसहिता । सुचोणिदिष्टा सूत्रेषु चिंत नेषु निर्दिष्टा । प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामग्रतोऽकथनीयत्वाच्छास्त्रातरे च निर्दिष्टत्वादिह नोच्यते । उक्तं च—

सव्वेण वि जिणवयणं सोदब्बं सद्धिदेण पुरिसेण ॥

छेदसुदस्स दु अत्थो ण होदि सव्वेण णादब्बो ॥ इति ॥

पंचविधत्वं न्याचष्टे—

मूलारा—आगम एकादशगोक्तं प्रायश्चित्तं । सुद चतुर्दशपूर्वोक्तं । आणा स्थानातरस्थितेन अन्याचार्येण स्थानातरस्थितेन अन्याचार्येणा लोचितस्य स्वगुरुदोषस्य ज्येष्ठशिष्यस्य हस्ते प्रेषितं । धारणा एकाकी जंघावलपरिहीणः संजातदोषस्तत्रैव स्थितः पूर्वविधारितं प्रायश्चित्तं यत्करोति । जीदः द्वाप्तप्रतिपुरुषजातस्वरूपमपेक्ष्य यदुक्तं साप्रतिकाचार्य शास्त्रोक्तं जीद इत्यन्ये । वित्थारा विस्तारात् । विस्तरमाश्रित्य । परूवणा निर्णयः । सुचोणिदिष्टा सूत्रेषु चिस्तनेषु निरूपिता बोद्धव्या ।

अत्र तु नोक्ता प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामग्रतोऽकथनीयत्वात् ॥ उक्तं च—

सव्वेण वि जिणवयणं सोदब्बं सद्धिदेण पुरिसेण ॥

छेदसुदस्स दु अत्थो ण होदि सव्वेण सोदब्बो ॥

पांच प्रकारके व्यवहार कोनसे और उनका विस्तार कोनसा है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीद ऐसे प्रायश्चित्त के पांच भेद हैं इनका सविस्तर वर्णन प्राचीन आचार्यों ने सूत्रग्रंथों में सविस्तर किया है प्रायश्चित्तका वर्णन सर्व लोगोंके सामने करना योग्य नहीं है. अन्य शास्त्रातरमें इसका खुलासा किया है अतः यहाँ हम उसका निरूपण नहीं करते हैं.

अन्यत्र प्रायश्चित्त के विषयमें ऐसा उल्लेख मिलता है—

श्रद्धावान सर्व पुरुष जिणवचन सुन सकते हैं. परन्तु प्रायश्चित्तशास्त्रका अर्थ सर्व लोगोंको जानने का अधिकार नहीं है.

न्याहारवान्तौ  
गाथाद्वयम्—

परालोचितापराधस्य कथं प्रायश्चित्तं ददातीत्याशंकायां प्रायश्चित्तदानक्रमनिरूपणाय

द्रव्यं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं ॥

संघदणं परियायं आगमपुरिसं च विण्णाय ॥ ४५० ॥

द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय कालं भावकृतोद्यमम् ॥

सम्यक्संहननमुत्साहं पर्यायं पुरुषं श्रुतम् ॥ ४६२ ॥

विजयोदया—द्रव्यं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं द्रव्यमित्यादीना विज्ञायेत्यनेन संवधः । तत्र द्रव्यं त्रिविधं सचित्तमाचित्तं मिश्रमिति । पृथिवी, आपस्तेजो वायुः, प्रत्येककायः, अनंतकाया, त्रसाद्वेति सचित्तद्रव्यमित्युच्यते ॥ वृणफलकादिकं जीवैरनुस्मिञ्च अचित्तं । ससक्त उपकरण मिश्र ॥ एव त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना । वर्षासु क्रोशाद्विगमनं अर्धयोजनं वा । ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना ॥ अथवा प्रतिपिद्धक्षेत्रगमनं, विरुद्धराज्यगमनं, छिन्नाध्वगमनं, ततो रक्षणीया-गमनं । तस्यार्धौ यदातिजातः । उन्मार्गेण वा गमनं । अतः पुरप्रवेशः । अननुज्ञातगृहभूमिगमनं । इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवा ॥ आवश्यककालादन्यस्मिन्काले आवश्यककरणं । वर्षावग्रहतत्तिक्रमः । इत्यादिका कालप्रतिसेवना ॥ दर्पः, प्रमादः, अनाभोग-भयः, प्रवोपः इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिर्भावसेवा ॥ एवमपराधनिदानं ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं प्रकृतेर्द्रव्यादिकं ज्ञात्वा रसवहुलं, धान्यवहुलं, शाकवहुलं यवागूशाकमात्रं वा पानकमेव वेत्याहारे द्रव्यपरिज्ञानं ॥ प्रायश्चित्तमाचरत अनूपजागलसाधार-णक्षेत्रपरिज्ञानं । धर्मशीतसाधारणकालज्ञानं । क्षमामार्दवाजवसतोपकादिकं भावः । क्रोधादिकं वा करणपरिणामं । प्रायश्चित्तक्रियायाः परिणामं । सहवासाय । किमयः प्रायश्चित्ते प्रवृत्तः उत यशोर्थः, लाभार्थमुत कर्मनिर्जारायः इति ॥ उच्छाहः उत्साहः । संघदणं शरीरबलः । परियायं प्रवज्यकालं । आगमः । अल्प श्रुतमस्य बहु वेति । पुरिसं जातादरो भयात-रा इत्येवमादिकं विकल्पं च ज्ञात्वा ॥

प्रायश्चित्तदानक्रमं गाथाद्वयेनाह—

मूलरा—द्रव्यं सचित्तं पृथिवीकायिकादिकं । अचित्तं वृणफलकादिकं । मिश्रं संसक्तमुपकरणं । त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना ॥ खेत्तं वर्षासु साधूना क्रोशं द्विक्रोशं वा गमनं इष्टं । ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना । अथवा निपि-दक्षेत्रं विरुद्धराज्यछिद्रानुगमनं पुराननुज्ञातगृहभूमिद्रोण्यादिगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना । कालं आवश्यककालवर्षावग्रहा-द्यतिक्रमः कालप्रतिसेवा । भावः दर्पप्रमादानाभोगमयाधिका भावप्रतिसेवा । एवं द्रव्यप्रतिसेवनादिद्वारेणपराधनिदानं विज्ञायेति संबन्धः । करणपरिणामः । प्रायश्चित्तानुष्ठानपरिणतिः । किमयं सहसवासायं प्रायश्चित्ते प्रवृत्तं उत यशोऽर्थं किंवा

लभार्थं उत कर्मनिर्जार्थमिति विज्ञाय । उच्छाहं प्रायश्चित्तं प्रत्युद्योगं । संघट्टणं, शरीरवृलं । परियाय प्रव्रज्याकाल परिमाणं । आगम अल्पं श्रुतमस्य बहु वेति । पुरिसं वैराग्यपरो न वेति च विज्ञाय ॥

दुसरोने आलोचना कर कहे हुए अपगर्धोंका प्रायश्चित्त देनेका व्यवहारवान् आचार्यका क्रम दो गाथाओंसे आचार्य कहते हैं,

अर्थ—द्रव्यके सचित्तद्रव्य, अचित्त द्रव्य, और मिश्र द्रव्य ऐसे तीन भेद हैं. पृथिवी, पानी, अग्नि, हवा, प्रत्येक काय वनस्पति, अनंत काय वनस्पति और व्रसजीव इन जीवोंको सचित्त द्रव्य कहते हैं. तृणका संस्तर, फलक वगैरे पदार्थ अचित्त द्रव्य हैं जिसमें जीव उत्पन्न हुए हैं ऐसे उपकरणोंको मिश्र द्रव्य कहते हैं. ऐसे तीन प्रकारके द्रव्योंका सेवन करनेसे दोष लगते हैं.

वर्षाकालमें आधा कोस, आधायोजन मार्ग मुनि जा सकते हैं परंतु उससे अधिक वे गमन करें तो वह प्रायश्चित्तार्ह होता है यह क्षेत्र प्रतिसेवा है. जहां जाना निषिद्ध माना है ऐसे स्थानमें जाना, विरुद्धराज्यमें जाना, जहां रस्ता टूट गया है ऐसे प्रदेशमें गमन करना, यह क्षेत्रप्रतिसेवना है. उन्मार्ग से जाना, अंतःपुरमें प्रवेश करना, जहां प्रवेश करनेकी परवानगी नहीं है ऐसे गृहके जमीनमें प्रवेश करना यह क्षेत्रप्रतिसेवना है. ( ततो रक्षणीयगमनं, तस्मादद्धौ यदातिक्रान्तं ) इन पदोंका अर्थ लगता नहीं

सामायिक प्रतिक्रमणादिक छह आवश्यकोंका जो काल नियत है उसको उल्लंघनकर अन्यकालमें सामायिकादिक करना. वर्षाकालयोगका उल्लंघन करना यह कालप्रतिसेवना है, दर्प, उन्मत्तता, असावधानता, साहस, भय इत्यादिरूप परिणामोंमें प्रवृत्त होना भावप्रतिसेवना कहते हैं. इस प्रकार अपराधके कारण पदार्थोंका स्वरूप जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिये. प्रायश्चित्त देनेवालोंको आहारके पदार्थोंका भी ज्ञान होना आवश्यक है कोई आहार रसबहुल रहता है. अर्थात् उसमें रस का प्राधान्य रहता है. कोई आहार धान्यप्रचुर रहता है. किसी आहारमें शाककी मुख्यता होती है और किसीमें लापसी और शाककी मुख्यता होती है. कोई आहार पेयपदार्थरूप पतला रहता है, ऐसे आहारके पदार्थोंका भी प्रायश्चित्तदाताको ज्ञान होना चाहिये.

प्रायश्चित्त करनेवालोंको और देनेवालोंको अनूप, जांगल और साधारण इन प्रदेशोंको ज्ञान होना चाहिये. जिस देशमें पानीकी विपुलता है उसको अनूपदेश कहते हैं. वन पर्वतादिक जिसमें है और कम वृष्टि होती है उस

देशको जांगल देश कहते हैं दोनों देशोंके लक्षण जिसमें है उसको साधारण देश कहते हैं, उष्णकाल, शीतकाल और साधारणकाल इसका भी ज्ञान होना आवश्यक है।

क्षमा, माद्वेव, अर्जव, संतोषादि परिमाणोंको भाव कहते हैं, क्रोधादिक विकारोंको भी परिणाम कहते हैं प्रायश्चित्त क्रियामें परिणाम और सहवास इनका भी ज्ञान होना चाहिये, यह मुनि मेरा यश हो ऐसा अभिप्राय धारण कर प्रायश्चित्त लेनेमें प्रवृत्त हुआ है अथवा लाभके लिये किंवा कर्मनिर्जराके लिये प्रवृत्त हुआ है इत्यादि हेतु जानलेना भी आचार्य के लिये आवश्यक है प्रायश्चित्त लेनेवालेका उत्साह, शरीरसामर्थ्य, दीक्षाकाल, आगम-ज्ञान, अर्थात् यह आगमका अल्पज्ञाता है अथवा बहुज्ञाता है इत्यादिक बातोंका ज्ञान कर लेना भी आवश्यक है।

मोत्तूण रागदोसे ववहारं पठेवइ सो तस्स ॥

ववहारकरणकुसलो जिणवयणविसारदो धीरो ॥ ४५१ ॥

रागद्वेषावपाकृत्य न्यवहारविशारदः ॥

न्यवहारी ददात्यस्मै प्रायश्चित्तं विधानतः ॥ ४६३ ॥

विजयोदया—मोत्तूण त्यक्त्वा । रागदोसे रागं द्वेषं च मध्यस्थं सन्निति यावत् । ववहारं पठेवइ सो तस्स प्रायश्चित्तं ददाति स सूरिस्तस्मै । ववहारकरणकुसलो प्रायश्चित्तदानकुशलः । जिणवयणविसारदो जिनप्रणीते आगमे निपुणः । धीरो धृतिमान् ॥

मूलारा—पठेवइ ददाति ॥

अर्थ—जिनप्रणीत आगममें निपुण, धैर्यवान्, प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता ऐसे आचार्य राग और द्वेषभावना छोड़कर अर्थात् मध्यस्थ भाव धारण कर अपराधी मुनिको प्रायश्चित्त देते हैं

ब्रह्मत्वा प्रायश्चित्तग्रन्थं यो ददाति तस्य दोषं संकीर्तयत्युत्तरगाथा—

ववहारमयान्तो ववहारणिज्ज च ववहरंतो खु ॥

उस्सीयइ भवपके अयसं कम्मं च आदियदि ॥ ४५२ ॥

व्यवहारपरिच्छेदी व्यवहारं ददाति यः ॥  
अवाप्यासौ यशो घोरं संसारमवगाहते ॥ ४६४ ॥

विजयोदया—यद्यद्वारं अयाणतो प्रायश्चित्तं ग्रंथतोऽर्थतश्च कर्मतश्चाविद्वान् । ववहरणिज्जं च व्यवन्द्ध्यते अतिचारविनाशार्थिनिति व्यवहरणीयमालोचनदिकं प्रायश्चित्तं इति नवधा । ववहरतो प्रयच्छन् । उस्सीयदि अवसीदति । क भवपक्के । अजसं आदियदि अयश तुंडाचार्योऽयं यत्किंचन ददाति नाथ परं शोधयति । संसारभीक्ष्ण्यतिजनं कृथेव क्लेशा यति इति । कम्म च आदियदि वच्चाति कर्म दर्शनमोहनीयाख्यं उन्मार्गोपदेशात् सन्मार्गविनाशनाश । तस्मादक्षो न दद्यात्प्रायश्चित्तमिति सूत्रार्थः । आचार्यणात्मिय शिक्षा । वयमाचार्यो यदस्माभिर्देत्तं तदिदं कुर्विति यत्किंचन न वक्तव्यम् । श्रुतरहस्याः प्रायश्चित्तदाने यतश्चमिति ॥

शास्त्रमज्ञात्वा प्रायश्चित्तं ददतो दोषमाह —

मूलारा — अजाणतो ग्रंथतोऽर्थतः कर्मतश्चाविद्वान् । ववहरणिज्जं व्यवन्द्ध्यते अतिचारविनाशार्थिभिरजुष्टी-यते इति व्यवहरणीयमालोचनदिप्रायश्चित्तम् । ववहरतो प्रयच्छन् । उस्सीयदि अवसीदति सिद्यते । अजसं तुंडाचार्योऽयं यत्किंचन ददाति नाथ परं शोधयति संसारभीरु यतिजनं दृष्ट्या क्लेशयतीत्यकीर्तिः । कम्मं दर्शनमोहनीयाख्यं कर्म वच्चाति उन्मार्गोपदेशनात्सन्मार्गविनाशनाश । आदियदि स्वीकरोति ॥

प्रायश्चित्तके ग्रंथको जानकर प्रायश्चित्त देना यह अयोग्य है ऐसा वर्णन—

अर्थ—ग्रंथसे, अर्थसे और कर्मसे प्रायश्चित्त का स्वरूप जिसको मालूम नहीं है वह मुनि यदि आलोचनादिक नउ प्रकारका प्रायश्चित्त देने लगेगा तो वह संसारके कीचड़में फसेगा अर्थात् संसारमें भ्रमण करेगा और जगतमें उसकी अकीर्ति फैलेगी. यह तुंडाचार्य है अर्थात् चाहे जो प्रायश्चित्त मुखसे देता है कोनसा प्रायश्चित्त किस अपराधके लिये देना चाहिये इसका तो इसको कुछ भी ज्ञान यदि नहीं है तो यह मुनिओंको कैसा अपराधसे मुक्त करेगा. संसारभीरु मुनिओंको यह व्यर्थ ही क्लेश देता है. ऐसी लोकमें उसकी अकीर्ति फैलेगी मनमें जो प्रायश्चित्त देनेका विचार आया सो दिया ऐसा करनेसे जिनज्ञाका उल्लंघन हो जाता है उन्मार्गका उपदेश करनेसे व सन्मार्गका नाश करनेसे उसको दर्शनमोहनीय कर्मका बंध होता है इसप्रकार अज्ञ मुनि प्रायश्चित्त देनेका प्रयत्न न करे ऐसा आचार्य के प्रति यह उपदेश है. अर्थात् हम आचार्य हैं हमने जो प्रायश्चित्त दिया है वह तुम करो ऐसा नहीं कहना चा-



हिए, जिन्होंने प्रायश्चित्तशास्त्रको जान लिया है ऐसे आचार्य प्रायश्चित्त देते समय सावधानी रखकर प्रायश्चित्त देवे जिससे अज्ञताका दोष नहीं लगेगा.

जह ण करोदि तिगिच्छं वाधिस्स तिगिच्छओ अणिम्मोदो ॥

ववहारमयाणतो ण सोधिकामो विसुज्झेइ ॥ ४५३ ॥

व्यवहारवुधः शक्तो न विशोधयितुं परम् ॥

किं चिकित्सामजानानो रोगग्रस्तं चिकित्सति ॥ ४६५ ॥

विजयोदया—यदि नाम मुखरा मुग्धनवशिष्यजनपरिवृतत्वमात्रेणोपजाताहंकारा मुखलोकैनादृता संति सूर्यस्ते भवद्भि शुद्धयर्थं न दौकनीया. इति शिक्षयति—जह ण करोदि तिगिच्छिओ वैद्यो । अणिम्मोदो अनिपुण. । तद्वा तथा । व्यवहारमजाणतो प्रायश्चित्तमजानन्सरि । सोधिकामो रत्नत्रयशुद्धयभिलाषः । ण सोधेदि खु न शोधयत्येव ॥

ये नाम मुखरा मूर्खा बहुशिष्यपरिवृतत्वमात्रेण प्ररूढाहंकारा मूर्खलोकैनादृता संति सूर्यस्ते भवद्भिः शुद्धयर्थं नोपाश्रयणीया इति शिक्षयति—

मूलारा - तिगिच्छं प्रतिकारं । तिगिच्छओ वैद्यः । अणिम्मोदो अनिपुणतः । अनिपुणः । खु सोधेदि शोधयत्येव ।

अर्थ—जो आचार्य मुखर हैं अर्थात् वाचाल हैं मूर्ख व नवीन शिष्योंसे वेष्टित होनेसे जिनको अभिमान उत्पन्न हुआ है मूर्ख लोगोंसे जो पूजनीय हो रहे हैं ऐसे आचार्यका आश्रय हे क्षपक ! तुम अपराधशुद्धीके लिए कदाचित् भी न करो ऐसी शिक्षा इस गाथामें दृष्टान्तपूर्वक कही है वह इस प्रकार—जैसे अज्ञ वैद्य रोगका स्वरूप जानता नहीं है अतः वह अनिपुण होनेसे रोगकी चिकित्सा नहीं कर सकता है. वैसे जो जो आचार्य प्रायश्चित्त ग्रंथके जानकार नहीं है वे यद्यपि रत्नत्रयकी निर्मल करनेकी इच्छा रखते हुए भी उसको निर्मल नहीं कर सकते हैं.

तस्मा णिव्वासिद्वयं ववहारवदो हु पादमूलमि ॥

तत्थ हु विज्जा चरणं समाधिसोधी य गियमेण ॥ ४५४ ॥

ततः समीपे व्यवहारवेदिनः स्थितिविधेया श्रुपकेण धीमता ॥  
सिसिधुणा यो विसमाधिपादपौ मनीषितानेकफलप्रदायिनौ ॥ ४६६ ॥

इति व्यवहारी ।

विजयोदया—तम्हा णिव्विसिदव्व तस्मात्स्यातव्व । व्यवहारवदो खुव्वयद्वारवत्त पव । पादमूलमि पादमूले ।  
तत्थ खु तत्र व्यवहारवत्पादमूले । विज्जा विद्या ज्ञानं भवति । चरणं समाधि सोधी य चारित्र समाधिश्च शुद्धिश्च ।  
णियमेण निदचयेन भवति । व्यवहारव ॥

प्रकृतमुपसंहरति—

मूलारा—णिव्विसिदव्वं अवश्यं स्यातव्वं । व्यवहारवान् ॥

अर्थ—इसलिए श्रुपकने प्रायश्चित्तज्ञ आचार्य के पासही निवास करना चाहिए, उनके पास रहनेसे ही ज्ञानप्राप्ति होती है, चारित्रप्राप्ति होती है और ध्यानसे एकाग्रता और आत्मशुद्धि निश्चयसे होती है इस प्रकार आचार्यके व्यवहारवत् गुणका वर्णन किया है.

पशुब्धी पतद्वाचये—

जो निष्कवणपवेसे सेज्जासंथारउवधिसंभोगे ॥

ठाणणिसेज्जागासे अगदूण धिक्किंचणाहारे ॥ ४५५ ॥

प्रवेशे निर्गमे स्थाने संस्तरोपधिशोधने ॥

उद्धर्त्तने परावर्त्ते शय्यायासुपवेशने ॥ ४६७ ॥

विजयोदया—जो निष्कवणपवेसे यो य सूरि क्षपकस्य वसतेति क्रमेण प्रवेशे वा । सेज्जासंथारउवधि-  
संभोगे वसते, संस्तरस्य, उपकरणस्य शोधने । ठाणणिसेज्जागासे स्थाने, निपद्यावकाशे, अगदूणविकिंचणाहारे  
शय्याया, शरीरमलाद्वरणे, भक्त्यानदौकने च ॥

प्रकारकत्व गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा—संभोगे शोधने । निसेज्जोगासे उपवेशनावकाशे । अगदूणविकिंचणाहारे शय्याया शरीरमलापहारे  
भक्तमानदौकने च ॥

अत्र आचार्य के प्रकुर्वित्व नामक गुणका वर्णन करते हैं—

अर्थ—क्षपक जब वसतिकामें प्रवेश करता है अथवा बाहर जाता है उस समयमें, वसतिका, संस्तर, और उपकरण इनके शोधन करनेके समय में, खड़े रहना, बैठना, सोना, शरीरमल दूर करना, आहारपानी लाना इत्यादि कार्यमें जो आचार्य क्षपकके ऊपर अनुग्रह करता है उसको प्रकुर्वी कहते हैं. इत्यादिकार्यके करते समय आचार्य मनमें जुगुप्सा नहीं करते हैं.

अबमुज्जदचरियाए उवकारमणुत्तरं वि कुव्वंतो ॥

सब्बादरसत्तीए वट्ठइ परमाए भत्तीए ॥ ४५६ ॥

उत्थापने मलत्यागे सर्वत्र विधिकोविदः ॥

परिचर्याविधानाय शक्तितो भक्तितो रतः ॥ ४६८ ॥

विजयोदया — अबमुज्जदचरियाए क्षपकस्य अभ्युद्यतचर्याया उपकारं अनुग्रहं हस्तावलंबनादिक । अणुत्तरं पकुव्वंतो उत्कृष्टं प्रकुर्वन् । सब्बादरसत्तीए सर्वादिरशक्त्या । भत्तीए भक्त्या । परमाए उत्कृष्टया । वट्ठइ वर्तते । स प्रकुर्वकं स्मरिर्भवति इति संबंधः ॥

मूला — अबमुज्जदचरियाए पंडितमरणोपक्रमे । सब्बादर सर्वप्रयत्नेन ॥

अर्थ—उपयुक्त कार्यमें प्रकुर्वी गुणके धारक आचार्य हाथसं अवलंब देना वगैरह द्वारा क्षपकके ऊपर अनुग्रह करते हैं यह अनुग्रह भक्तिपूर्वक और उत्कृष्टतासे करते हैं

इय अप्पपरिस्समगणित्ता खवयस्स सब्बपडिचरणे ॥

वट्ठंतो आयरिओ पकुव्वओ णाम सो होइ ॥ ४५७ ॥

आत्मश्रममनालोच्य क्षपकस्योपकारकः ॥

प्रकारको मतः स्मरिः स सर्वादिरसंयुतः ॥ ४६९ ॥

विजयोदया—इय एवं । अपपरिस्सम आत्मपरिश्रम । अगणिता अपरिगण्य । खवयस्स आराधकस्य । सव्वपडिचणे सर्वशुश्रूषाया । वट्ठो वर्तमान । आयरिओ आचार्य । पणुवो णाम प्रकुर्वको नाम । होदि स भवति । पकुव्वीगद ॥

मूलारा—सव्वपडिचरणे सकलशुश्रूषाया । पकुव्वगो प्रकारकः ॥

अर्थ—इस प्रकार क्षपककी सर्व प्रकारकी शुश्रूषा आचार्य करते हैं, उसमें बहुत परिश्रम पढ़ने पर भी वे खिन्न नहीं होते हैं ऐसे आचार्य को प्रकुर्वी आचार्य कहते हैं, इस प्रकार प्रकुर्वी आचार्य का स्वरूप कहा है,

क्षपकशिक्षापरा गाथा—

खवओ किलामिदंगो पडिचरयगुणेण णिवुदिं लहइ ॥

तह्मा णिन्विसिदव्वं खवण पकुव्वयसयासे ॥ ४५८ ॥

निपीड्यमानः क्षपकः परीपहैः सुखासिकां याति सहायकौशलैः ॥

यतस्ततस्तेन समाधिभिच्छता निषेवणीया गुरवः प्रकारकाः ॥ ४७० ॥

इति प्रकारकः ।

विजयोदया—खवगो क्षपक । किलामिदंगो ग्लानशरीर । पडिचरयगुणेण शुश्रूषगुणेन, णिवुदिं लहइ सुरा लभते । खवणेण क्षपकेण । पकुव्वयसयासे विनयकारिण समीपे । पगुव्वीगद ॥

प्रकारकसमीपनिवासाय क्षपकं शिक्षयति—

मूलारा—गिलाभिदंगो ग्लानशरीरः । पडिचरियगुणेण प्रतिचारकोपचारेण । णिवुदिं सुखं ॥ प्रकारकः ॥

आगे क्षपकको उपदेश देते हैं—

अर्थ—रोगसे ग्रसित क्षपकशुनि आचार्यके द्वारा की गई शुश्रूषासे सुखी होता है, अतः क्षपकको शुश्रूषा करनेवाले आचार्यके पास ही रहना श्रेयस्कर है, प्रकुर्वी गुणका वर्णन समाप्त हुआ

आयोपायविदसीत्येतद्व्याख्यानायोत्तरप्रबंधः—

खवयस्स तीरपत्तस्स वि गुरुगा हौति रागदोसा हु ॥

तम्हा छुहादिण्हिं य खवयस्स विसोत्तिया होइ ॥ ४५९ ॥

अस्ति तीरं गतस्यापि रागद्वेषोदयः परः ॥

परिणामश्च संकिलष्टः क्षुत्तृष्णादिपरीषहैः ॥ ४७१ ॥

विजयोदया—खवगस्स क्षपकस्य । तीरपत्तस्स वि तीरं प्राप्तस्यापि । रागदोसा गुरुगा हौति रागद्वेषौ गुरु तीत्रौ भवत । तम्हा छुहादिण्हिं य क्षुत्तिपासादिभि परीषहैश्च कारणभूतै । खवगस्स क्षपकस्य विसोत्तिगा होइ अशुभपरिणामो जायते ॥

आयोपायविदर्शित्वं पंचदशभिर्गाथाभिः ऋययितुकामः प्रथमं गाथाचतुष्टयेन तद्वक्ष्यमाणम्—

मूलारा—गुरुगा तीत्रा । विसोत्तिगा अशुभपरिणतिः ।

आचार्य मे आयोपाय दर्शन नाम का गुण होता है उसका निरूपण करनेके लिये आगेका प्रबंध—

अर्थ—क्षपकमुनि मोक्षप्राप्ति होनेके निकट समय को प्राप्त हुआ हो अथवा मनुष्यपर्यायका का नाश होने के समयको प्राप्त हुआ हो तो भी उसके अंतःकरणमें तीव्र रागद्वेष उत्पन्न होने की संभावना होती है, क्योंकि उस समयमें उसको धृदादि तीव्र परिपक्षोंसे अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं.

थोणाइदूण पूवं तप्पडिवक्खं पुणो वि आवण्णो ॥

खवओ तं तह आलोचेदुं लज्जेज्ज गारविदो ॥ ४६० ॥

आलोचनां प्रतिज्ञाय पुनर्विप्रतिपद्यते ॥

लज्जते गौरवाकांक्षी स तां कर्तुमपास्तधीः ॥ ४७२ ॥

विजयोदया—थोणाइदूण पुव्व प्रव्रज्यादिक्रमेण तद्दिनपर्यवसान रत्नत्रयातिचारं निवेदयामीति पूर्वं प्रतिज्ञाय । तप्पडिवक्ख तस्यापराधप्रत्याख्यापनस्य प्रतिपक्षेण निवेदन । आवण्णो आपन्न प्राप्तः । खवओ त तह आलोचेउ लज्जेज्ज गारविनो क्षपकस्तमपराधं तथा त्याचरितक्रमेण गदितुं जिच्छेति संभावनागुरुः ॥

मूलारा — थोलाइदूण प्रवच्यादिवसादारभ्याथ यावत्कमेण रत्नत्रयातिचारं निवेदयामीति प्रतिज्ञाय । तद्गडिव-  
कसं तस्य अपराधनिवेदनस्य प्रतिपक्षमनिवेदनं । तं आलोचयितुमुपक्रान्तं दोषम् । तथ तथा आत्माचरितक्रमेण ।  
गारविदो आत्मसंभावनापरः ।

अर्थ—मुनिदीक्षाके कालसे आजतक जितने रत्नत्रयमें अतिचार लगे हैं वे सब गुरुके सविध में कहूंगा  
ऐसी क्षपकने प्रथम प्रतिज्ञा की थी परंतु लज्जा अथवा गर्व इत्यादि कारणोंसे अपने अतिचारोंकी आलोचना करने  
में वह हिचकता है.

तो सो हीलणभीरू पूयाकामो ठवेणइत्तो य ॥  
णिज्जूहूणभीरू वि य खवओ विनदो वि णालोचे ॥४६१॥

ततः स्वस्थापनाकारी त्यागावज्ञानभीलुकः ॥  
क्षपको गुणदोषौ नो पूजाकामो विवक्षति ॥ ४७३ ॥

विजयोदया—तो पदचात् । सो क्षपकः । हीलणभीरू ज्ञातमदीयापराधा इमे मामवजानति इति अवज्ञाभीरुः ।  
पूजाकामो य वदनाभ्युत्थान इत्यादिकाया पूजायामभिलाषवान् । सापराध न पूजयतीति । ठवणइत्तो य आत्मानं सुच-  
रितत्वे स्थापयितुकामश्च । णिज्जूहूणभीरू वि य मामिमे सापराधं त्यजतीति त्यागभीरुश्च । खवगो स्वापराध शरीरं च  
क्षपयामीति प्रवृत्तोऽपि णालोचेज्ज दोषं न कथयद्दोषमात्मनीय ॥

मूलारा—तो पदचात् । हीलणभीरू ज्ञातमदपराधा इमे मामवज्ञास्यतीत्यवज्ञाभीरुः । पूयाकामो वंदनाभ्युत्थाना-  
दिसत्कारसाक्षः । सापराधं न पूजयतीति कृतनिर्दिधः । ठवेणइत्तो आत्मानं सुचरितत्वे स्थापयितुकामः ।  
ठवेदुमिच्छंते इति पाठः आत्मानं माहृत्यै स्थापयितुमिच्छन्नित्यर्थः । णिज्जूहूणभीरू इमे सदोषं मा त्यक्ष्यतीति त्याग  
भीरुः । खवगो वि स्वापराधं शरीरं च क्षपयामीति प्रवृत्तोऽपि । ण आलोचे गुरोर्न कथयेत् ।

अर्थ—मेरे अपराध आचार्योंको ज्ञात होने पर वे मेरा तिरस्कार करेंगे ऐसी मनमें वह कल्पना  
कर बैठता है. अथवा मेरेको अन्य मुनि वंदन करे, आदर करे ऐसी उसको अभिलाषा रहती है. यदि मेरे दोष  
इनको अवगत होंगे तो ये मेरी वदना और आदर नहीं करेंगे ऐसे अभिप्रायसे भी क्षपक अपने दोषोंका निवेदन

नहीं करता है मेरा आचरण निर्दोष है यह सिद्ध करना चाहता है इस हेतुसे भी वह दोषोंकी आलोचना करनेको तैयार होता नहीं। यदि मैं अपने अपराध इनको कहूँगा तो ये मेरा त्याग करेंगे ऐसी भी भावना क्षपकके मनमें स्थान कर बैठती है, अतः वह यद्यपि अपने अपराध और शरीरका त्याग करनेके लिये उद्युक्त हुआ है तो भी गुरुको अपने दोष कहता नहीं।

तस्स अवायोपायविदंसी खवयस्स ओघपणवओ ॥

आलोचैतस्स अणुज्जगस्स दंसेइ गुणदोसे ॥ ४६२ ॥

आयापायविधिंयेन हेयोपादेयवेदिना

दिश्यते क्षपकस्यासावायापायपायदिगुच्यते ॥ ४७४ ॥

आयो रत्नत्रयस्य वृद्धिः । अपायो रत्नत्रयविनाशः ।

ततो वक्रमतेस्तस्य सामान्यालोचनाकृते ॥

आयापायदिशा वाच्यौ गुणदोषौ गणेशिना ॥ ४७५ ॥

विजयोदया—तस्स खवगस्स गुणदोसे दसेदिति पदसंबंध । तस्य अनालोचकस्य आलोचनाया गुणमितरत्र दोषं च दर्शयति । क. ? आयोपायविदंसी आयोपायचिदर्शी स्मृतिः । अपायो रत्नत्रयस्यविनाशः उपायो लाभः । उपायशब्दोऽनर्थकः इति कृत्वा रत्नत्रयस्य आउ शुद्धिलाभं तदुभयदर्शी ओघपणवगो सामान्यं प्ररूपयन् यो न कथयति स्वापराध तस्यायं दोष इति । आलोचैतस्स वि अपि शब्दोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो आलोचना कुर्वतेऽपि । अणुज्जगस्स मायावतः ॥

मूलारा—अपायो रत्नत्रयस्य विनाशः । उपायो लाभस्तौ विशेषण दर्शयति । ओघपणवगो सामान्यं प्ररूपयन् । यो न कथयति स्वापराधं तस्यायं दोषः इति प्रज्ञापक । आलोचैतस्स आलोचना कुर्वतेऽपि । अणुज्जगस्स मायावतः । गुणदोसे आलोचनाया गुणान् अनालोचनाया च दोषः ॥

अर्थ—जो क्षपक उपर्युक्त कारणोंसे दोषोंकी आलोचना करनेमें भययुक्त होता है, उसको आयोपाय दर्शन गुणके धारक आचार्य आलोचना करनेमें गुण और आलोचना न करनेसे हानि कैसी होती है इसका निरू-

पण करते हैं. अर्थात् यदि आप आलोचना न करोगे तो आपके रत्नत्रयका नाश होगा और दोषोंका निवेदन करनेसे आपको रत्नत्रयकी प्राप्ति होगी और उसमें निर्मलताभी प्राप्त होगी इस प्रकार दोष और गुण बतानेवाले आचार्योंको आयोपायविदर्शी आचार्य कहते हैं. जो क्षपक विशिष्ट अपराधोंको निवेदन न कर सामान्य अपराधोंका निवेदन करता है. और जो अपराध निवेदन करता हुआ भी मनमें मायाभाव रखता है उसके भी रत्नत्रयका नाश होता है और निष्कपटभावसे अपने सर्व दोषोंकी आलोचना करता है उसको रत्नत्रयप्राप्ति और विशुद्धि की प्राप्ति होती है.

माया अर्थात् कपट दोषोंकी उत्पत्ति करती है और यथार्थ कथन अर्थात् दीक्षाकालसे आजतक उत्पन्न हुए दोषोंका सत्यकथन गुणोंका जनक है इसलिये स्वदोषोंका आचार्यके समीप वर्णन करना चाहिये ऐसा आचार्य आगेकी गाथामें कहते हैं—

मायाया दोषयाथात्यकथन च गुण दर्शयति एव दोषप्रकटन कर्तव्यमित्याचष्टे—

दुर्वलेण लहइ जीवो संसारमहणवस्मि सामणं ॥

तं संजमं खु अबुहो णासेइ ससल्लमरणेण ॥ ४६३ ॥

दुःखतः संयमं लब्ध्वा शरीरी भवसागरे ॥

सशल्पमृत्युना सारं नाशयत्यपचेतनः ॥ ४७६ ॥

विजयोक्त्या—दुर्वलेण लहइ जीवो फलेशेन लभते जीवः । किं सामण्य श्रमण्य चारित्रं संयमं । क्व संसारमहणवस्मि चतुर्गतिपरिश्रमणमहणवे दुष्पापपातया ससारो महार्णव इव । खु शब्द णासेइ इत्यत परतो द्रष्टव्यः । त संयमं नाशयत्येवायुधः ससल्लमरणेण । यद्यपि शल्यमेनेकप्रकारं मिथ्यामायानिदानशल्यभेदेन तथापीह प्रकरणवशान्मायाशल्य गृह्यते, मायाशल्यसहितेन मरणेनेत्यर्थः । ननु समानताया प्रस्तुतत्वात् सामण्य इत्यनेन तत् परित्यज्य कथमन्यदुपन्यस्त 'त संजममिति' । अस्यायमभिप्रायः श्रमणशब्दस्य द्रव्येऽप्रवृत्तिनिमित्तं यच्छामण्य किं च तत्सयमः । तथाहि सावधानक्रियापरो नाय श्रमण इति लोको वदति । ततोऽयुक्तमेव भावशल्यमात्मन्यवस्थितमिव दोषमावहतीति दृष्टान्तमुलेन कथयति—

न केवलं प्रकारकः सन्सूरिः क्षपकस्य वाह्यमुपचारं तथा करोत्यपि त्यायापायविदर्शी सन्नाध्यात्मिकमपीत्यर्थं दोषप्रकाशनयेति तामेव प्रबंधेनाह—



मूलारा -- सामर्णं श्रामण्यं यतिधर्म । तसल्ल मायाशल्यसहितं प्रकरणवशात् ॥

अर्थ -- इस संसारका दुसरा किनारा प्राप्त होना कठिन है इस लिये आचार्य महाराज इसको समुद्रकी उपमा देते हैं. चतुर्गतिओमें श्रमण करना यही संसार है. इसमें श्रमण करनेवाले जीवोंको संयमकी प्राप्ति होना अतिशय कठिन है. परंतु दैवयोगसे ऐसे संयमकी प्राप्ति होनेपर भी मूल मनुष्य शल्यसहित मरण प्राप्त कर संयमको नष्ट करता है. मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य और निदानशल्य ऐसे शल्यके तीन भेद हैं. तथापि यहां प्रकरणवशात् मायाशल्यका ग्रहण करना चाहिए. अर्थात् मूलजन मायाशल्यसे संयमका नाश कर मरण करते हैं. ऐसा यहां अभिप्राय समझना चाहिये. शंका-गाथाके द्वितीय चरणमें समानताका उल्लेख किया है परंतु तीसरे चरणमें उसका ग्रहण न कर 'संयम' शब्दका ग्रहण किया है अतः प्रस्तुत समानताका त्याग कर अन्यका ग्रहण करना योग्य नहीं है.

उत्तर -- इसका अभिप्राय यह है कि श्रमण शब्दका अर्थ मुनि है मुनि इस अर्थमें श्रमण शब्दकी प्रवृत्ति होनेमें श्रामण्य शब्द अर्थात् समानता शब्द कारण है समानता अर्थात् श्रामण्य और संयम दोनों शब्द वाचक हैं इसीवास्ते संयमशब्दकाभी प्रयोग करना अनुचित नहीं है. 'सावधक्रियापरो नायं श्रमणः' अर्थात् पापक्रिया करनेवाला मुनि नहीं कहा जाता है ऐसा लोक बोलते हैं इसलिये आत्सर्ग्य भावशल्य रहना कपटविचार रहना अयोग्य ही है.

जह णाम दव्वसल्ले अणुद्धुदे वेदणुद्धिदो होदि ॥  
तह भिक्खू वि ससल्लो तिब्बदुहट्टो भयोव्विग्गो ॥ ४६४ ॥  
द्रव्यशल्ये यथा दुःखं सर्वांगिणव्यथोदयः ॥  
भावशल्ये तथा जन्तोर्विज्ञातव्यमनुदूते ॥ ४७७ ॥

विजयोदया -- जह णाम यथा नाम । दव्वसल्ले शरकंठकादौ अणुद्धुदे अनुदूते अनिराकृते । वेदणुद्धिदो होदि वेदनान्तो भवति । तह तथा भिक्खू वि भिक्षुरपि । ससल्लो भावशल्यवान् । तिब्बदुहिट्टो तीव्रदुःखितो भवति । भयोव्विग्गो भयेन चलो भवति । एवमनुदूतशल्यो गमिष्यामि का गतिमिति भयमस्योपजायते । एवमर्थं दृष्टान्तेनाविरोधयति ॥

मूलारा—गाम स्फुटम् । दन्वसङ्गे शरीरकंटकादौ । अणुछुदे अनुदृते । वेदणुछुदो दुःखार्त्त । ससङ्गो माया-  
बाहुल्यवान् । भवविग्नो एवमनुद्वृत्तशाल्यो गमिष्यामि का गतिमिति भयाकुलितचित्तः ॥

यह भावशाल्य दोषोंको उत्पन्न करता है. इसको ही दृष्टान्तसे आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जैसे द्रव्यशाल्य-वाण, कांटा वगैरह शरीरमें घुसने पर मनुष्य दुःखी होता है वैसे भिक्षु भी यदि  
मनमें कपट मिथ्यात्व वगैरह भावशाल्य धारण करेगा तो वह तीव्र दुःखसे पीडित होगा, और भयसे चंचल होगा.  
यदि मैं शल्यका त्याग नहीं करूंगा तो कौनसी गति मेरेको प्राप्त होगी ऐसा विचार मनमें आकर इस भिक्षुको भय  
उत्पन्न होता है.

कंटकसङ्गेण जहा वेधाणी चम्मखीलणाली य ॥

रप्पइयजालगत्तागदो य पादो सडदि पच्छा ॥ ४६५ ॥

कंटकेऽनुदृते प्राप्तो यथा त्वक्खीलनालिकां ॥

पूतिवल्मीकरन्ध्राणि प्राप्याग्निं सदति स्फुटम् ॥ ४७८ ॥

विजयोवया—कंटकसङ्गेण जहा कटकाख्येन शल्येन कारणभूतेन यथा । वेधाणी चम्मखीलनाली य व्यधन-  
चर्मकीलनालिकाश्च भवन्ति । रप्पइयजालगत्तागदो य कुथितवल्मीकच्छिद्राणि प्राप्त. स पाद पतति पदचाद्यथा ॥

एतदेव दृष्टान्तमुत्तेन समर्थयितुं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—वेधाणी व्यधापनी सुपिरमित्यर्थः । चम्मकील मांसाक्षुरः । णाली नाडी । एवास्तिन्नः प्रथम पादे  
भवन्ति । रप्पइयजालगत्तागदो कुथितवल्मीकच्छिद्राणि प्राप्तः ॥

दृष्टान्तसे उपर्युक्त अभिप्रायका स्पष्टीकरण करते हैं

अर्थ—जैसे कांटा पावमें घुसनेसे प्रथम छिद्र पड़ता है अनंतर उसमें अक्षुरके समान मांस चढ़ता है  
तदनंतर वह कांटा नाडीतक घुसनेसे पांवका मांस विघडने लगता है. जिससे उसमें बहुत छिद्र पड़ते हैं. इस प्रकार  
से वह पांव निरुपयोगी होता है.

एवं तु भावसहं लज्जागारवभण्डं पडिबद्धं ॥  
अप्यं पि अणुद्धरियं वदसीलगुणे वि णासेइ ॥ ४६६ ॥  
विचिंधं दोपमापन्नः संयमोऽनुद्धते तथा ॥

भयगौरवलज्जाभिः भावशल्ये विनश्यति ॥ ४७९ ॥

विजयोदया - एवं तु एवमेव । भावसहं परिणामशल्यं । लज्जागारवभण्डं पडिबद्धं स्वापराधनिगूहनं लज्जातो भवति । भयेन अपराधेऽक्रियते कुप्यन्ति गुरवस्त्यजंति वा मा मदद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति । सुतपा तपस्त्ययं सुसंयत इति मद्वती प्रसिद्धि सा विनश्यतीति गौरवेण च प्रतिवदमायाशल्यं । अप्यं पि अल्पमपि शल्यं अणुद्धरियं अनुद्धतं । वदसीलगुणे व्रतानि शीलानि गुणांश्च विनाशयति ॥

मूलारा - पडिबद्धं अत्यंतगर्हितं तन्मयाकृतं कथं प्रकाशयते इति लज्जया प्रच्छादितं सत्, अयं तपस्वी सुसंयत इति वा, मा मदद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति इति भयेन वा प्रच्छादितं । अप्यपि अल्पमपि ॥

अर्थ - इसी प्रकार भावशल्य भी जीवकी दुःखदायक है, भय, गर्व और लज्जासे जब अपराध छिपाते हैं तब भावशल्य उत्पन्न होता है, जैसे लज्जासे अपराध छिपाते हैं वैसे भयसे भी अपराध छिपाते हैं, अपराध कहेने पर गुरु मेरा त्याग करेगा अथवा वडा प्रायश्चित्त देगी ऐसे भयसे अपराधोका कथन करनेमें क्षपक अनाकानी करता है मैं वडा तपस्वी हूं ऐसी मेरी जगतमें कीर्ति है वह अपराध कथनसे नष्ट होगी ऐसे गर्वयुक्त विचारसे अपराध निवेदन नहीं करता है इस प्रकारसे मायाशल्य मनमें उत्पन्न होकर वह व्रत, शील, और गुणोका नाश करता है,

तो भट्टबोधिलामो अणंतकालं भवणए भमिं ॥

जम्मणमरणावत्ते जोणिसहस्साउलो भमदि ॥ ४६७ ॥

प्रअष्टवोधिलामो ज्जश्चिरकालं भवणवे ॥

जन्ममृत्युजरावर्ते जीवो भ्रमति भोषणे ॥ ४८० ॥

विजयोदया—तो पश्चात् । भट्टयोधिलाभो विनष्टदीक्षाभिमुखबुद्धिलाभः । अणंतकालं भग्नु अणंतकालं अमति ।  
क भवणवे भवणवे । भीमे भयकरे । जन्ममरणवत्ते जन्ममरणवत्ते । जोगिसहस्राउले चतुरशीतियोनिसहस्राकुले ॥

ततः किं स्यादित्याह—

मूलारा—भट्टयोधिलाहो नष्टदीक्षाभिमुखबुद्धिलाभ । अणंतकालं अर्द्धपुद्गलपरिवर्तमात्रं ॥

अर्थ—इस भावशाल्यसे दीक्षाभिमुख बुद्धिका लाभ नहीं होता है अर्थात् मैंने मुनिदीक्षा व्यर्थ ली है  
ऐसा विचार क्षपकके मनमें आता है. भावशाल्यसे यह जीव अणंतकालतक अर्थात् अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन कालतक  
चौरासी लक्षयोनियुक्त, इस भयंकर भवसमुद्रमें अमण करता है. जिसमें जन्म मरणरूपी भोवरे हैं.

तत्थ य कालमणंतं धोरमहावेदणासु जोणीसु ॥

पच्चंतो पच्चंतो दुक्खसहस्साइ पप्पेदि ॥४६८॥

तीव्रव्यथासु योनीषु पच्यमानः स संततं ॥

तत्र दुःखसहस्राणि दीनो वेदयते चिरम् ॥ ४८१ ॥

विजलोदया—तत्थ य तत्र च भवणवे । अणंतकाल दुक्खसहस्साइ पप्पेदि इति पदघटना । अणंतकालं दुःख-  
सहस्राणि अनुभवति । धोरमहावेदणासु जोणीसु पचतो धोरमहावेदनासु योनिषु पच्यमानः ॥

भवे आन्यान्तिक करोतीत्याह—

मूलारा—पच्चंतो पच्चंतो पुनः पुनरतिगल्यमानः ॥

अर्थ—इस धोर संसारसमुद्रमें अणंत कालतक जिनमें भयंकर वेदनायें हैं ऐसी कुयोनिओंमें पचते  
हुए इस क्षपकको सहस्रो दुःख भोगने पड़ते हैं

तं न खु खमं पमादा मुहुत्तमवि अत्थिदुं ससल्लेण ॥  
आयरियपादमूले उद्धरिदब्बं हवदि सल्लं ॥ ४६९ ॥

मुहूर्तमप्यतः स्थातुं सशल्येन न शक्यते ॥

आचार्यपादयोर्मूले तदुद्धर्तव्यमंजसा ॥ ४८२ ॥

विजयोदया—त तस्मात् । मुहुत्तमवि अर्थिदं ससेष्टण न खमो खु मुहूर्तमात्रमपि रत्नत्रयेण सह न शक्तं प्रमादवशाद्यति संसारभीरु । आचार्यपादयूले उक्तगुणस्याचार्यस्य पादमूले । उद्धरित्वं ह्येवं सहे शल्यमुद्धर्तव्यं भवति ।

प्रकृतमुपसंहारत्राह—

मूलारा — ण खमं न युक्तं । पमादा प्रमादवशात् ॥

अर्थ—इसलिये क्षपकको प्रमादसे एक मुहूर्त कालतक भी शल्यसहित रत्नत्रय धारण करना योग्य नहीं है, अतः संसारभयसे युक्त क्षपक आयोपायदर्शक आचार्यके पास भावशल्य का उद्धार करें.

तम्हा जिणवयणरुई जाइजामरणदुक्खवित्तत्था ॥

अज्जवमद्वणसंपण्णा भयलज्जाउ मोत्तूण ॥ ४७० ॥

जिनेन्द्रवचनश्रद्धा जरामरणभीरवः ॥

निराकृतभयव्रीडाः संपन्नार्जवमार्दवाः ॥ ४८३ ॥

विजयोदया—तस्मात् । जिणवयणरुई जिनागमे श्रद्धावंतः । जाइजामरणदुक्खवित्तत्था जतिजरामरणदुःखविकृताः । अज्जवमद्वणसंपण्णा आर्जवेन मार्दवेन युक्ताः । भयलज्जाओ भयं लज्जा वा । मोत्तूण मुक्त्वा ॥

रियतार्थमाह—

मूलारा—वित्तत्था विव्रताः । अज्जवमद्वणसंपण्णा आर्जवेन मार्दवेन व युक्ता निर्जितमायामाना इत्यर्थः ॥

अर्थ—इसवास्ते जिनेश्वरके आगममें श्रद्धा रखनेवाले जन्म, बुढ़ापा, मरण के दुःखोंसे भययुक्त, निष्कप-टता, विनय इन गुणोंसे परिपूर्ण ऐसे क्षपकको भय और लज्जा छोड़कर अपराधकथन करना योग्य है.

उप्पाडित्ता धीरा मूलमसेसं पुणब्भवल्याए ॥

संवेगजणियकरणा तरंति भवसायरमणंतं ॥ ४७१ ॥



करना पड़ता है अर्थात् संसारभ्रमण नामका महादोष उत्पन्न होता है ऐसा यदि आचार्य न दिखावे तो क्षपक मायाशक्त्यका त्याग न करेगा और निःशुल्य होकर गुणोंमें तत्पर न होगी।

तद्वा खवण्णाओपायविदंसिस्स पायमूलस्मि ॥

अप्पा णिव्विसिदब्बो धुवा हु आराहणा तत्थ ॥ ४७३ ॥

आयापायदिशस्तु समीपे स्थेयं बुद्धिमता क्षपकेण ॥

तत्राराधयते चतुरंगं नूनं विघ्नमशेषमपास्य ॥ ४८७ ॥

इति आयापायदिक् ॥

विजयोदया—तद्वा तस्मात् आयोपायदर्शित. पादसूत्रे यस्मादोपायवर्तते क्षपको गुणे च परिणमते तदुभयार्थी च । तद्वा तस्मात् खवणेण आयोपायविदंसिस्स गुणदोषदर्शिनः । पादसूत्रे । अप्पा णिव्विसिदब्बो आत्मा, स्थापयितव्यः । तत्र गुणमाचष्टे धुवा खु आराहणा तत्थ निश्चिता रत्नत्रयाराधना तत्र । आयोपायः ॥

आयापायविदर्शित्वैररात्मसमर्पणेऽवश्यंभावित्वीमारथनामभिधत्ते—

मूलारा—णिव्विसिदब्बो स्थापयितव्यः । धुवा निश्चिता ॥ आयोपायविदर्शी ।

अर्थ—इस लिये आयोपायदर्शक आचार्य के चरणोंके समीप क्षपकको रहना चाहिये वहां रहनेसे ही रत्नत्रयाराधना क्षपकको प्राप्त होती है. गुणोंकी प्राप्ति और दोषोंका नाश चाहनेवाले क्षपकको अवश्य आचार्य का आश्रय करना चाहिये.

अवपीडकत्वं व्याख्यातुकाम' संवध्नाति पूर्वैण उपायदर्शित्वेन ।—

आलोचणगुणदोसे कोई सम्मं पि पर्णाविज्जतो ॥

तिव्वेहिं गारवादिहिं सम्मं णालोचए खवाए ॥ ४७४ ॥

कदचनाकथने दोषे दोषाणां कथने गुणे ॥

वक्रात्मा कथ्यमानेऽपि नालोचयति तत्त्ववित् ॥ ४८८ ॥

विजयोदया—आलोचणगुणदोसे आलोचनाया गुणदोयान् । कोई कश्चित् । सम्मपि पणविज्जतो सम्य गव-  
बोध्यमानोऽपि । खगो गालोचप सम्म क्षपक सम्यक् न कथेत् । केन हेतुना ? तिब्बेहि गारवादिहि तीवैर्गोत्वादिभिः ।  
आदिशब्देन लज्जाभयङ्कशासद्वत् च गृह्यते

द्वादशभिर्गार्वाभिरुत्पीडकत्वं प्रपंचयित्वायोपायवित्तेनास्य संबंधमाभिषेते—  
मूलारा— विपणविज्जतो प्रज्ञाप्यमानोऽपि बोध्यमानोऽपि इत्यर्थः । गारवादिहि गारलज्जाभयङ्कशासद्वत्तैः ॥

अवपीडकत्व यह भी आचार्य का गुण है. इस गुणका आयोपायदर्शित्व गुणके साथ संबंध दिखाते हैं—  
अर्थ—आलोचना करनेसे गुण और न करनेसे दोषोंकी प्राप्ति होती है यह बात अच्छी तरहसे समझाने  
पर भी कोई क्षपक तीव्र अभिमान, लज्जा, भय, क्लेश सहन करनेकी इच्छा न होना इत्यादि कारणोंसे अपने  
दोष कहनेमें उद्युक्त नहीं होता है. तब निर्यापक आचार्य मधुरभाषण करके उसके लज्जादि विकार नष्ट करते हैं.

एवमनालोचयतोऽपि भाव प्रशस्तिं नेतव्यो निर्यापकेत्येतद्व्याचष्टे—

गिद्धं मधुरं हृदयगमं च पट्हादणिज्जमेगंते ॥

तो पट्हावेदव्यो खवओ सो पणवतेण ॥ ४७५ ॥

एकान्ते मधुरं लिगधं गंभीरं हृदयंगमम् ॥

स वाच्य. स्वरिणा वाक्यं प्रांजलीकुर्वता मनः ॥ ४८९ ॥

विजयोदया—गिद्ध स्नेहवत् । मधुरं श्रुतिस्वप्न । हृदयगमं हृदयानुप्रवेशि । पट्हादणिज्ज सुखदं । एगंते एकाते ।  
पट्हावेदव्यो शिक्षयितव्य । खवगो क्षपक । सो स । आत्मापराधं यो न कथयति । पणवतेण प्रज्ञापयता स्वरिणा ।  
गुरज्जनी हि मात्रा गित्रा च सदश, तेषा कथने कालज्जेति । अतिचारं निवेदय लज्जा, भयं, गारवं च विद्वाय ॥  
चावं प्रयत्नेन विनाशयितुमुयता । किमयश प्रययन्ति समीचीनदर्शनस्थ । मुक्तिमार्गे प्रधानस्य मलं हि तद्यतिजने  
द्रुपण । अतिचारहिमान्या हतं च रत्नत्रय कमलवन न शोभते । परनिद्रा नीवैर्गोत्रस्यास्त्रव । स्वयं च निद्यते बहुषु जन्म-  
सु निदक । परस्य मनस्तपं दुस्सह सपादयतो असद्वैद्यकर्मवयः स्यात् । साधुजनेऽपि निंदति स्वधर्मतनय  
किमर्थमय एव अयशपकेन लिपतीति । एवमेनेकानर्थान्वहपरदोषप्रकटनं क सचेतनं करोतीति ॥



एवमनालोचयतोव्यस्य भावः प्रशान्तिं नेतव्य इत्येतदाचेष्टे--

मूलारा--णिर्द्धं स्नेहयुक्तं ममत्वगर्भमित्यर्थः । मधुरं शुचिमुखं सम्मानपेशलमित्यर्थः । हिदयंगमं हृदयानुप्रेवेशि । पल्लवदिण्डं सुखदं । तो पश्चात् । पल्लवदेव्यो भावो से । संवोधनावष्टमेन तस्य भावो मनः प्रल्लादयितव्यः प्रसन्तिं नेतव्यो निर्यापकाचार्येण । श्लिग्धादिगुणं वाक्यं पणवतेण प्रज्ञापयता प्रतिपादयतेति संबध । तथा हि--आयुष्मन् ! उपलब्धसन्मार्गं रत्नत्रयैर्मन्यकरौकाघातःकरणं । लज्जां भयं गौरवं च विहाय यथाजातमतिचारं निवेदय । मातापितृकल्पस्य हि गुरुजनस्याग्रे स्वापराधं कथयता का लज्जा ? न च लज्जाप्यैकात्मिकी श्लाघ्यते । तथा च लोकः--

धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च ॥

आहारं व्यवहारं च त्यक्तलज्जः सदा भवेत् ॥ इति ॥

न च मदालोचितं दोषमेते प्रकाशयिष्यंतीति भवता अस्माज्जनात्र भेतव्यं । धर्माचार्यो हि धर्मधुराधौरेया यतीनां यतिधर्मस्य च वाच्यता निराकर्तुमुद्यताः कथमिव समाध्यर्थं उपाश्रितेन भवादृशा निवेदितं दोषं स्वस्वदोषमिव प्रकटयन्ति । सधर्मदोषप्रकटनं हि मोक्षमार्गप्रधानस्य सन्यग्दर्शनस्य दूषणं परनिन्दया च नौचैर्गोत्रं कर्म वध्यते । बहुषु जन्मसु निंदाश्च भवति, वध्नाति च निन्दकः परस्य दुःसहमन संतापसंपादने दुर्विपाकमसद्वचं । निबधे च साधुजनेन स्वधर्मभागिक्यं किमयमेवमयशःपुरीयेण लिपतीति । तदेवमेकान्त्यमूलं परदोषोद्भावनं कः सुधीर्विदधीत । न च धर्माचार्यवर्यमन्यतया त्वया दैवात्प्रमादद्वा यः कश्चित्सम्यक्त्वादीनामन्यतमेतिवारः प्रादुर्भूतस्य प्रच्छादयितुं भुञ्जात्, रत्नत्रयं हि निर्मलीकृतमेव पर महिमानमावहति प्रापयति च तत्किमपि लोकोत्तरं सनातनं पदमिति ॥

यही अभिप्राय आगेकी गाथामें है,

अर्थ--यदि क्षपक अपने अपराध नहीं कहे तो निर्यापिकाचार्य क्षपकको स्नेहयुक्त, कर्णमधुर, हृदयमें प्रवेश करनेवाला, ऐसा भाषण एकांतमें कहते हैं उसकी पद्धति इस झुजत्र समझना--हे आयुष्मन् प्राप्त हुए रत्नत्रयमें दोष नहीं लगेंगे ऐसा तुम प्रयत्न करनेमें सदा एकाग्र चित रहते हो इसलिये भय, लज्जा, और गर्व छोड़कर अपने दोष कहीं गुरुजन तो माता पिताके समान हैं उनके समक्ष अपने दोष कहनेमें लज्जा नहीं कानी चाहिये, वे गुरुजन तुम्हारे दोष स्वदोषके समान ही समझकर दूसरोंको नहीं कहते हैं, वे तो यतिधर्ममें कोई दोष लगावेगा तो दूर करनेके लिये हमेशा उद्युक्त रहते हैं, अतः वे तुम्हारी अकीर्ति होनेकी इच्छा क्या मनमें

धारण करेंगे ? यतिजनमें दोष लगानेसे सम्यग्दर्शन जो कि मोक्षमार्गमें प्रधान माना जाता है उसमें दोष उत्पन्न होता है अतिचाररूपी बर्फ के आघात से रत्नत्रय रूपी कमलवन युद्धने लगता है. परिनिदा करनेमें नीचगोत्र कर्मका आस्रव होता है तब निन्दक जन अनेक जन्ममें लोगोंमें निन्दित होते हैं. दुसरेके अंतःकरण को जो सत्ताप उत्पन्न करते हैं उनको असतावेदनीय कर्मका बंध होता है. तुम अपने धर्मको पुत्रके समान समझो और उसको अयश्वरूपी कीचड़से मलिन न करो. ऐसा करनेसे तुम्हारी निदा होगी अनेक अनर्थों को उत्पन्न करनेवाले परदोषोंको कोन विद्वान प्रकट करेंगा अर्थात् तुम अपने दोष हमारे सामने निःशक होकर बोलो. हम तुम्हारे दोष किसीके सामने प्रकट नहीं करेंगे.

णिद्धं मधुरं हिदयंगं च पल्हादणिज्जमेगंते ॥

कोइ तु पणविज्जंतओ वि णालोचए सम्मं ॥ ४७६ ॥

कथायामकथायां च दोषाणां गुणदोषयो. ॥

कथायामपि नो कश्चिदालोचयति वरूचीः ॥ ४९० ॥

विजयोदया — एव प्रज्ञापनाया सत्यामपि यो नालोचयति इत्युत्तरसूत्रार्थ ।

एवं च प्रज्ञाप्यमानोऽपि कश्चिदल्पकः स्वदोषं सम्यगनालोचयति विचित्रत्वात्पुरुषप्रभृतीनामित्युत्तरसूत्रावता-  
रार्थमिदमाह —

णिद्धं मधुरं हिदयंगं च पल्हादणिज्जमेगंते ।

कोइ तु पणवेज्जतो वि य णालोचए सम्मं ॥

मूलारा — स्पष्टम् ।

अर्थ — स्निग्ध, कर्णमधुर, हृदयमें प्रवेश करनेवाला ऐसा भाषण बोलनेपर भी कोई क्षपक अपने दोषोंकी आलोचना करता नहीं तब —

तो उप्पलिट्ठ्वा खवयस्सोप्पीलएण दोसा से ॥

वामेइ मंसमुदरमवि गदं सीहो जह सियालं ॥ ४७७ ॥

दोषमुद्रालयेन तत्स्थमुत्पीड्योत्पीडनो यतिः ॥

मांसं फंटीरवेणेव शृगालः कुर्वता भयम् ॥ ४९१ ॥

विजयोदया—तो पश्चात् । उष्णीह्रिद्व्या अवपीडयितव्या । के ? दोसा दोषा । कस्य ? से तस्य । रत्नगण्यं क्षपकस्य । केन उष्णीलपण अवपीडेकेन चूरिणा । अपसरसात्सकाशात् । किमस्माभिर्मर्धत प्रयोजन ? । यो हि स्वशरीर-लभ्रमलप्रक्षालेनेच्छ' स ढौकते काचच्छायानुसारिसलिलं सर । यो वा महारोगोरग्नस्तस्तदपनयनाभिलाषवान् स वैद्य ढौकते । एव रत्नत्रयातिचारान्निराकर्तुमभिलषता समाश्रयणीयो गुरुजनः । भवतश्च रत्नत्रयशुद्धिकरणे नैवादर किमनया क्षपकत्वविडम्बनया । न चतुर्विधाहारपरित्यागमात्राव्यक्तसंश्लेषनेय । अपि तु कपायसंश्लेषनायत्ता सवरो निर्जरा च, कपाया ह्यभिनवकर्मदाने, वधे, स्थितिविधाने चोद्यताः परिहरणीयाः । तेषु कपायेषु मायातिनिकृष्टा तिर्य-ग्योनिनिर्वर्तनप्रवीणा । ता त्वन्तुमेसमर्थस्यापि प्रविष्टस्य भवतः ससारोदयेस्तिर्यग्भववर्ते । ततो निःसरणमतिदुष्कर । वल्लमात्रपरित्यागेनैव निर्ग्रन्थताभिमानोद्वह्नमप्यसत्य, सत्वेवं तिर्यचोऽपि निर्ग्रन्था स्युः । चतुर्दशप्रकारस्याभ्यन्तर-परिग्रहस्य त्यागाद्भवनैग्रन्थं समवतिष्ठते । तदेवं हि मुक्तेरुपाय । भावनैग्रन्थस्य उपाय इति दशविधवाह्यग्रन्थत्याग-उपयोगी मुमुक्षोः । न हि जीवपुद्गलद्रव्यसन्निधानमात्राधीन कर्मपञ्च । अपि तु तन्निमित्तजीवपरिणामालंबनः । अति-चारवति दर्शनादीनि न मुक्तेरुपाय । 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गाः' इति किन्न भवत श्रुतिगोचरमायात जेतवच्च ? समीचीनता हि दर्शनज्ञानचारित्राणा निरतिचारा । सा च गुरुपदिष्टप्रायश्चित्ताचरणे । गुरुवोऽपि कृतालोचनायैव प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति । ततो भवान्दूरभयः अभव्यो वा । आसन्नभयत्वे सति किमेवं महामायाशाल्यं भवति ? । नैव यतिजनवन्दनाहोऽसि । 'समणं वदेज्ज मेधावी संजद सुसमाद्दिद' इति वचनात् । जीवितमरणयोर्लोभालभयोर्निंदा-प्रशस्योश्च समानचित्ततया समानो भवति । अतिचारनिवेदने मा निंदति न प्रशंसतीति भवता नालोच्यते । तत्कथ समानोऽसि ? कथं वा वद ?

सीदो जहा सियालं उदरमवि गदं पि मंस वामेदि सिंदो यथा शृगालमुदरप्रविष्टमपि मांसमुद्रारयति तद्ध-नमायाशाल्यमन्तर्लीन निस्सारयत्यवपीडकः ॥

सामप्रयोगेण सम्यग्मालोचयति च क्षपके दंडभेदौ प्रयोक्तव्यावित्युपदेष्टुं सदृष्टान्तमाचष्टे—

मूलारा—तो सामप्रयोगानंतरं । उष्णीलेद्वन्वा उत्पीडयितव्याः । उद्ग्राणीया अंतर्निगूढास्तान्मुलेन निःसार-णीया इत्यर्थः । तथा हि अहो स्वपराधास्फुटवादिन् अपसरारमत्सकाशात् । भिपतिभरिव निर्व्याधेः किमस्माभिर्भवतः प्रयोजनं । रत्नत्रयातिचारान्निराकर्तुमिच्छता हि गुरुवः समाश्रयणीयाः । भवतश्च रत्नत्रयशुद्धिकरणे नास्त्यादरः । तत्कि-मनया क्षपकत्वविडम्बनया ? न हि चतुर्विधाहारपरिहारमात्राया सश्लेषनेयमपि तु कपायसंश्लेषनायत्ता । तद्वत्संवरो

निर्जरा च । कपाया ह्यभिनवकर्मादाने तास्थितिविधाने च समुद्यता सुमुष्टुभिरपक्षेप्या । तेपु च माया निवृतमा तिर्य-  
ग्योनिपरिवर्तनप्रवचनत्वात् । माया च त्यक्तुमसमर्थोऽसि त्वं । प्रविष्टस्य च तिर्यग्भवावर्त संसारवारणारंभवतस्ते निःसरण  
मतिदुष्करं । वक्ष्यमात्रपरित्यागेनैव निर्ग्रथताभिमानोद्भूतं च न न्याय्यं । एवं सति हि तिर्यचोऽपि निर्ग्रथाः स्युः । चतु-  
र्दशाभ्यान्तर्ग्रथनिर्ग्रथनं हि भावनैर्ग्रथमनुशासति धर्मतीर्थश्रेणोत्तरस्तदेव च मुक्तेः सत्य उपायः । दशविधबाह्यग्रंथ-  
त्यागस्तु भावनैर्ग्रथसिद्धयंगत्वे नैवोपयोगी सुमंशोः । न खलु जीवपुद्गलद्रव्यमात्रत्यासत्तिमात्रः कर्मबंध । किं तर्हि  
तन्निमित्तकजीवपरिणामकारणकः । न चातिचारवन्ति सम्यक्त्वादीनि मुक्तेरुपायः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गे  
इति जैनं वचः किं न भवतः श्रुतिगोचरतामवातरत् । तत्र च समीचीनता दर्शनादीना निरतिचारता व्याचक्षते । सा च  
गुरुपदिष्टप्रायश्चित्ताचरणेनैव संपाद्या । गुरुश्च कृतलोचनायैव प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति । ततो भवान्दूरमन्योऽभव्य एव  
वा, कथमन्यथैवं महन्मायाशल्यं अन्तर्वहति । कथं चैवं यतिजनवन्दनामर्हसि । 'समणं वंदिज्ज मेधावी संजदं सुसमाहिदं'  
इति वचनात् । जीवितमरणयोर्लोभालामयोर्निदाशंसयोश्च समानचित्ततया समानोऽसुमन्यते । अतीचारालोचने मा  
निंदति न प्रशंसतीति भवता चालोच्यते तत्कथं समानोऽसि, कथं वा वंशः ? किं च महोपं न कश्चिच्छ्लोके जानाति किं  
त्वहमेवैको जानामीति मा मंथाः । यतोऽत्र यदा यो दोषो मूलोत्तरगुणादिगोचरी भवता कृतस्तमहं जानाम्येतेऽपि यत-  
यश्चेति । वामेदीत्यादि । सिंहे यथा शृगालमृदुरप्रविष्टमपि मांसमुद्रालयत्येवं मायाशल्यं क्षपकस्यान्तर्लानं नि सारयत्यु-  
ल्पीडक इति तात्पर्यं ।

अर्थ—अवपीडगुणधारक आचार्य क्षपकके दोषोंको जवरी से बाहर निकालते हैं जैसे सिंह सिया  
लके पेटमें भी चला गया मांस वसन करवाता है तैसे तेजस्वी अवपीडक गुणके धारक आचार्य क्षपकके दोष सब  
बाहर निकालते हैं वे उसको इस तरह भापण करते हैं—हे मुने ! तुम हमारे पास मत रहो यहाँसे हट जाओ। हमसे  
क्या तुम्हारा प्रयोजन है ? जिसको अपने शरीरका मल धो डालनेकी इच्छा है वह पुरुष कान्वके समान सुंदर स्वच्छ  
पानी जिसमें है ऐसे सरोवरमें जाता है। जो पुरुष महारोग से पीडित है वह उसका नाश करनेकेलिय वैद्यको शरण  
जाता है। वैसे जिसको अपने रत्नत्रयमें लगे हुए दोष दूर करनेकी इच्छा है वह पुरुष गुरूओंका आश्रय करता है।  
परन्तु तुमको तो रत्नत्रयको निर्मल करनेकी इच्छा है ही नहीं अतः यह क्षपकका वप व्यर्थ क्यों धारण किया है।  
चार प्रकारके आहारका त्याग करने मात्रसे संछेखना नहीं होती है, परन्तु कपयोंका त्याग करनेसे संछेखना

होती है, इस सल्लेखनासे ही संवर निर्जरा होते हैं, कपायोंसे नवीन कर्मोंका ग्रहण होता है, बंध होता है, और स्थिति होती है, अतः इनकी आत्मासे हटाना चाहिये सब कपायोंमें माया बड़ी खराब है, यह प्राणिओंको तिर्यग्योनीकी प्राप्ति करा देती है 'माया तैर्यग्योनस्य' ऐसा तत्त्वार्थशास्त्र में उल्लेख है, यदि तुम इस मायाका त्याग न करेंगे तो इस भवसमुद्रमें तिर्यगगतिके भोवरमें पड़कर खूब भ्रमण करोगे, फिर वहाँसे छूटना बड़ा ही कठिन हो जायगा, केवल ब्रह्ममात्रका त्याग करनेसे तुम अपनेको निर्ग्रथ मुनि समझ रहे हो परंतु याद रखो कि केवल ब्रह्मके त्यागसे निर्ग्रथता की प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि पशु भी निर्वह्न अर्थात् नश रहते हैं, उनको भी निर्ग्रथ मानना पड़ेगा मिथ्यात्व, क्रोधादिक चार कपाय, और हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, ऐसे चौदा अभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग करनेसे भावनिर्ग्रथताकी प्राप्ति होती है, यही मोक्षलामके लिये उपाय है, अभ्यंतर परिग्रहका त्याग बाह्य परिग्रहत्यागके लिये उपयोगी है,

केवल जीव और पुद्गलोंका साविध्य होनेसे कर्मबंध नहीं होता है, परंतु कर्मबंधनके लिये योग्य जीवपरिणामही उसके आधार हैं अतिचारयुक्त सम्यग्दर्शनादिक जीवकी मोक्षकी प्राप्ति कर देनेमें समर्थ नहीं है, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' अर्थात् रत्नत्रयकी पूर्णता होना मुक्तिप्राप्तिका उपाय है क्या यह जिनेश्वरका वचन तुमने नहीं सुना है ? ज्ञान दर्शन और चारित्रका उत्तम पालन करनेसे ही निरतिचारपना प्राप्त होता है, गुरुओंने कहे हुए प्रायश्चित्तका पालन करनेसे वह निरतिचारपना प्राप्त होता है, गुरु भी जिन्होंने अपने दोषोंकी आलोचना की है उनकोही प्रायश्चित्त देते हैं, तुम तो दूर भव्य अथवा अभव्य हो ऐसा हम समझते हैं, यदि तुम आसन्नभव्य होते तो तुमारेमें यह बड़ा मायाशय क्यों रहता ? तुम मुनिजनकेलिये वंदनीय नहीं है, समण वेदज्ज मेधावी संजंद सुसमाहित, अर्थात् जीवित और मरण, लाम और अलाम निंदा और प्रशंसामें जिसका मन समान रहता है वही समान कहा जाता है, अतिचारका निरूपण करने पर मेरी निंदा करेंगे प्रशंसा न करेंगे ऐसा तुम मनमें विचार कर रहे हो इस लिये तुमको समान मानना व्यर्थ है, इस वास्ते तुम बंध नहीं है, ऐसा भाषण करके अवपीढ़क आचार्य क्षपकके सब व्रताद्यतिचार बाहर निकलवाते हैं, उसके हृदयमें जो मायाशय बैठा था उसको बाहर निकालवाते हैं,

ईदृगवपीडको भवतीत्याचष्टे—

उज्जस्सी तेजस्सी वच्चस्सी पहिदकितियायरिओ ॥

सीहाणुओ य भणिओ जिणेहिं उप्पीलगो णाम ॥ ४७८ ॥

कंठरिच इवौजस्वी तेजस्वी भानुमानिव ॥

चक्रवर्तीव वर्चस्वी स्वरिस्तुपडिकोऽकथि ॥ ४७९ ॥

स तर्हि क्रीदगुत्पीडको भवति इति प्रश्ने सत्याह—

मूलारा—ओजस्सी बलवान् । तेजस्सी प्रतापवान् यतः सर्वोऽपि विभेति परैः स्वैवचाधृष्य इत्यर्थः ।

वच्चस्सी प्रश्नोत्तरदानकुशलः । सीहाणुगो सिंहसमानः अक्षोभ इत्यर्थः ॥

अवपीडक आचार्यका लक्षण आचार्य कहते हैं—

अर्थ—उत्पीलक गुणधारक आचार्य ओजस्वी, बलवान् और तेजस्वी प्रतापवान् होते हैं, अर्थात् उनसे स्वसंघके मुनि और परसंघके भी—मययुक्त होते हैं अर्थात् सर्व मुनिओपर वे अपना रोब जमानेवाले होते हैं, स्वसंघ और परसंघके मुनि उनकी आज्ञा नहीं उल्लंघते हैं वे वचस्वी अर्थात् प्रश्नका उत्तर देनेमें कुशल होते हैं, उनकी कीर्ति चारो दिशाओंमें रहती है वे सिंह समान अक्षोभ्य रहते हैं वे किसीको डरते नहीं हैं.

विजयोदया—यो यद्धितकामस्स त बलात्तत्र श्रवर्तयति । यथा हिता माता बाल घृतपात्रे ।

इत्येतदुत्तरसूत्रेणाचष्टे—

पिच्छेदूण रडंत पि जहा बालस्स मुहं विदारित्ता ॥

पज्जेइ धदं माया तस्सेव हिंदं विचिंतती ॥ ४७९ ॥

यथावष्टभ्य हस्ताभ्यां विदार्य वदनं घृतं ॥

बालं पाययते माता रडंतं हितकारिणी ॥ ४८३ ॥

विजयोदया—पिच्छेदूण मुह विदारित्ता धदं पज्जेदि यथा जननी बालहितचितोद्यता पूतकुर्वन्तमपि चाल अवष्टभ्य मुखं विदार्य घृत पाययति । दार्ष्टान्तिकेन योजयति ॥

शो यद्वितमिच्छति स तं बलादपि तत्र प्रवर्तयति यथा माता बालं घृतपाने इति समर्थयितुं गाथाद्वयमाह—  
 मूलारा—पेलेदूण हस्ताभ्यामवष्टभ्य । रुढतं पि पूरुवन्तमपि । पायेदि पाययति ॥  
 जो जिसका हित करना चाहता है वह उसको हितके कार्यमें बलात्कारसे प्रवृत्त करता है, जैसे हित करनेवाली माता अपने बालकको घृत पिलानेमें प्रवृत्त होती है  
 यह अभिप्राय आगेके सूत्रमें आचार्य कहते हैं,  
 अर्थ—जैसे बालकको हित करनेवाली माता बालक रोता है तो भी उसको एकड़कर और उसका मुख बलात्कारसे उधाड़कर उसको घृत पिलाती है, उत्पीडक आचार्य भी वैसी ही प्रवृत्ति करते हैं, यह बात आगेकी गाथामें आचार्य प्रकट करते हैं—

तह आयरिओ वि अणुज्जयस्स खवयस्स दोसणीहरणं ॥  
 कुणदि हिदं से पच्छा होहिदि कडु ओसहं वत्ति ॥ ४८० ॥  
 अवपीड्य तथोत्पीडी हितारोपपरायणः ॥  
 अन्तजं क्षपकं सूरिदोषं त्याजयतेऽखिलम् ॥ ४८१ ॥

विजयोदया—तह तथा । आयरिओ आचार्योऽपि । अणुज्जयस्स खवगस्स अन्तजोऽक्षपकस्य । दोसणीहरणं कुणइ मायाशाल्यनिरासं करोति । कडुगोसहं वत्ति कडुकौपधमिवा । से तस्य । पच्छाहिदं होदि पच्छाद्वितं भवतीति ॥  
 दृष्टान्तं प्रदर्श्य दाष्टीतिकेन योजयन्माह—

मूलारा—अणुज्जगस्स अन्तजोः । दोसणीहरण । मायाशाल्यनिरासं । कडुगोसहं वत्ति कडुकौपधमिविति ॥  
 अर्थ—आचार्य भी मायाचार धारण करनेवाले क्षपकको जवरदस्ती में दोषोंकी आलोचना करनेमें बाध्य करते हैं तब वह दोष कहता है कडु औपधि जैसे रोगीमनुष्य का सेवन करनेके नंतर कल्याण करती है वैसे दोषोंकी आलोचना करनेसे क्षपकका कल्याण होना है अर्थात् आलोचनासे भविष्यत्कालीन संसारपरिभ्रमणसे वह मुक्त होता है

यो न निर्भर्त्सयति दोषं दृष्ट्वापि प्रियमेव यत्किं स गुरुः शोभन इति न भवद्विर्मतव्यमित्युपदिशति—  
जिन्माए वि लिहंतो ण भइओ जत्थ सारणा णत्थि ॥

पाएण वि ताडितो स भइओ जत्थ सारणा अत्थि ॥ ४८१ ॥

भद्रः सारणया हिनो न लिहन्नपि जिहया ॥

ताडयन्नपि पादेन भद्रः सारणया युतः ॥ ४८२ ॥

विजयोदया—जिन्माए वि लिहंतो जिहया स्वादयन्नपि न भइओ नैव भद्रक । जत्थ सारणा णत्थि । यस्मिन्गुरौ दोषनिवारणा नास्ति । पाएण वि ताडितो पादेन ताडयन्नपि स भइओ स सूरिर्भद्रक । सारणा जत्थ अत्थि सारणा गुरौ यत्र विद्यते ॥

दोषं दृष्ट्वापि त्वा न निर्भर्त्सयति अपि तु प्रियमेव त्रयीति स गुरुः शोभन इति त्वया न मंतव्य इत्युपदिशति—  
मूलारा—लिहन्तो स्वादयन् प्रियवचनादिभि सुखयन्नपीत्यर्थः । सारणा दोषनिवारणा गुणप्रवर्तने वा ।

जो शिष्योके दोष देखकर भी प्रिय ही बोलता है निर्भर्त्सना करता नहीं है वह गुरु उत्तम है ऐसा है मुने । तुम मनमें मत समझो ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं—

अर्थ—जो गुरु शिष्योंको दोषोंसे निवारण नहीं करते हैं वे जिन्हासे मधुर भाषण बोले तो भी वे शिष्योंका अकल्याणही करनेवाले मानना चाहिये जो गुरु लातोंसे शिष्योंका समाचार लेता है परंतु जो दोषोंसे शिष्योंको अलिप्त रखता है वही गुरु हित करनेवाला समझना चाहिये

सारणकस्य सूरिर्भद्रताप्रकटनाय गाथा—

सुलहा लोए आदट्ठचित्तगा परहिदम्मि मुक्कधुरा ॥

आदट्ठं व परट्ठं चितंता दुल्लहा लोए ॥ ४८२ ॥

परकार्यपराचीनाः सुलभाः स्वार्थकारिणः ॥

आत्मार्थमिव कुर्वाणाः परार्थमपि दुर्लभाः ॥ ४८३ ॥

विजयोदया—सुलभा लोए आदट्ठचित्तगा सुलभा प्रचुरा । लोए लोके । आदट्ठचित्तगा स्वार्थे तत्परा । परहिदम्मि मुक्कधुरा परहितकरणे अलसा । आदट्ठ व आत्मप्रयोजनमिव । परट्ठं चितता परप्रयोजनचिंतासमुत्पत्ता लोके दुर्लभाः ॥



सारकत्वसूरिदुर्लभत्वल्यापनार्थमाह—

मूलारा—दुर्लभाः प्रचुराः । आदृष्टवितया स्वकार्यचित्तनपराः । मुक्कधुरा अलसाः आदृष्टं स्वकार्यमिव ॥  
दोषांसे निवारण करनेवाले आचार्यकी भद्रता प्रकट करते हैं—  
अर्थ—इस जगतमें अपने कार्यमें ही तत्पर रहनेवाले और परहित करनेके कार्यमें अलसी ऐसे ही लोक बहुत हैं अपने हितके समान परहितकी चिन्ता करनेवाले लोक अतिशय विरल हैं.

आदृष्टमेव चित्तेदुमुष्टिदा जे परदृष्टमवि लगे ॥

कडुय फरुसेहिं साहेति ते हु अदिदुल्लहा लोए ॥ ४८३ ॥

ये स्वार्थ कर्तुमुद्युक्ताः परार्थमपि कुर्वन्ते ॥

कटुकैः परपैर्वाक्यैस्ते तरां सन्ति दुर्लभाः ॥ ४९७ ॥

विजयोदया—आदृष्टमेव चित्तेदुमुष्टिदा आत्मीयमेव प्रयोजन चिंतयितुमुत्थिता । जेये । परदृष्टमवि परप्रयोजनमपि कडुगफरुसेहिं कटुकैः परपैः प्रवचनैः । साधेति साधयन्ति लोकैः । अतिदुल्लहा अतीव दुर्लभा ॥  
अमार्गनिवारकाणामतिदुर्लभत्वमाह—

मूलारा—उष्टिदा उद्युक्ताः । कडुगपरुसेहिं कटुकरुपरुवचनैश्चेष्टितैश्च दोषान्निवर्तयितुं प्रयुक्तैः । साधेति ज्ञापयन्ति निष्पादयन्ति वा ।

अर्थ—जो पुरुष आत्महित करनेके लिये कटिवद्ध होकर आत्महितके साथ कटु और कठोर वचन बोलकर परहित भी साधते हैं वे जगतमें अतिशय दुर्लभ समझने चाहिये.

सूरियदि नावपीडयेत् नसौ क्षपको मायाशल्यान्निवर्तत । निर्मायत्वे निरतिचाररत्नवये च गुणे न प्रवर्तत इति आचार्यसपाद्यमुपकार प्रकटीकरोति—

खवयस्स जइ ण दोसे उग्गालेइ सुहेमेव इदरे वा ॥  
ण णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥ ४८४ ॥

एवं अवपीडकतां व्याख्यायबसरप्राप्तमपरिस्त्रावितां व्याचष्टे—

लोहेण पीदमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा ॥

ण परिस्सवंति अण्णत्तो सो अप्परिस्सवो होदि ॥ ४८६ ॥

दोषो निवेदिशितो यत्र तसे तोयमिवायसि ॥

न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्त्रवः ॥ ५०० ॥

विजयोदय—लोहेण पीदमुदय व पयमव पदसंबंध । जस्स आलोचिदा दोसा ण परिस्सवति अण्णत्तो यस्से कथिता दोषा न परिस्त्रवन्त्यन्तः । किमिव लोहेण पीदमुदय लोहेन सतसेन पीतमिवोदक । सो सः । एवमूतोऽपरिस्त्रवो होदि अपरिस्त्रावी भवति ॥

अपरिस्त्राविता दशभिर्गोथाभिर्व्याकुलुकामः पूर्वं तल्लक्षणार्थमिदमाह—

मूलारा—लोहेण अर्थात् संतप्तेन । पीदं पीतमन्तर्नति । ण परिस्सवंति । न प्रकटा भवन्ति । अण्णत्तो अन्यत अन्यत्रेति यावत् । उक्तं च—

दोषो निवेदिशितो यत्र तसे तोयमिवायसि ॥

न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्त्रवः ॥

इस प्रकार अवपीडक गुणका वर्णन हुआ. अब अपरिस्त्राविता गुणका वर्णन करते हैं—

अर्थ—जैसे तपा हुआ लोहका गोला चारो तरफसे पानीका शोषण कर लेता है और वह शोषण किया गया पानी उससे बाहर निकलता नहीं वैसे क्षपकके दोष जो आचार्य सुनकर अपने मनमें ही रखते हैं अन्य जनों को इस क्षपकने ऐसे ऐसे अपराध किये थे ऐसा नहीं कहते हैं वे आचार्य अपरिस्त्रावी गुणके धारक हैं ऐसा समझना चाहिये.

दंसणणादिचारे वदादिचारे तवादिचारे य ॥

देसच्चाए विविधे सव्वच्चाए य आवण्णो ॥ ४८७ ॥

अतिचारास्तपोभृत्तज्ञानसम्यक्त्वगोचराः ॥

मनोबाह्याययोगेन जायंते त्रिविधा यतेः ॥ ५०१ ॥

सारकत्वसूरिदुर्लभत्वख्यापनार्थमाह—

मूलारा—सुलभा प्रचुराः । आदृष्टचित्तया स्वकार्यचित्तनपराः । मुक्कधुरा अलसाः आदृत्य स्वकार्यमिव ॥  
दोषोंसे निवारण करनेवाले आचार्यकी भद्रता प्रकट करते हैं—  
अर्थ—इस जगतमें अपने कार्यमें ही उत्पर रहनेवाले और परहित करनेके कार्यमें अलसी ऐसे ही लोक बहुत हैं अपने हितके समान परहितकी चिन्ता करनेवाले लोक अतिशय विरल हैं.

आदृष्टमेव चित्तदुमुष्टिदा जे परष्टमवि लोगे ॥

कडुय फरसेहिं साहेति ते हु अदिदुल्लाहा लोए ॥ ४८३ ॥

ये स्वार्थ कर्तुमुद्युक्ता परार्थमपि कुर्वते ॥

कडुकैः परपैर्वाक्यैस्ते तरां सन्ति दुर्लभाः ॥ ४९७ ॥

विजयोदया—आदृष्टमेव चित्तदुमुष्टिदा आत्मीयमेव प्रयोजनं चिंतयितुमुत्थिता । जेये । परष्टमवि परप्रयोजनमपि कडुगफरसेहिं कडुकैः परपैः प्रवचनैः । साधेति साधयन्ति लोके । अतिदुल्लाहा अतीव दुर्लभा ॥  
अमार्गनिवारकाणामतिदुर्लभत्वमाह—

मूलारा—उष्टिदा उद्युक्ताः । कडुगपरसेहिं कडुरुपरसेवचनैश्चेष्टितैश्च दोषान्निवर्तयितुं प्रयुक्तैः । साधेति स्थापयन्ति निष्पादयन्ति वा ।

अर्थ—जो पुरुष आत्महित करनेके लिये कटिबद्ध होकर आत्महितके साथ कडु और कठोर वचन बोलकर परहित भी साधते हैं वे जगतमें अतिशय दुर्लभ समझने चाहिये.

सूरियंदि नावपीडयेत् नासौ क्षणो मायाशयान्निवर्तत । निर्मायत्वे निरतिचारत्नत्रये च गुणे न प्रवर्तत इति आचार्यसपाद्यमुपकार प्रकटीकरोति—

खवयस्स जइ ण दोसे उगालेइ सुहमेव इदरे वा ॥

ण णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥ ४८४ ॥

विज्ञयोदया—दंशनणाणादिचारे य ध्वावेचारे श्रद्धानस्यातिचार शंकाकाशविचित्रिकित्सायद्यदिप्रशासासंस्तवा । श्रानस्य अतिचार' अकाले पठन, श्रुतस्य श्रुतधरस्य वा विनयाकरणं अनुयोगादीना ग्रहणे तत्प्रायोग्यग्रहणं, उपाध्याय निह्वयः, व्यजनाना न्यूनताकरण, आधिक्यकरण । अर्थस्य अन्यथाकथन वा । तपसोऽनशनोदेरातिचार । स्वयं न भुक्ते । अन्यं भोजयति, परस्य भोजनमनुजानाति मन्त्रसा वचसा कायेन च । स्वयं क्षुधा पीडित आहारमभिलषति । मनसा पारणा मम कः प्रयच्छति, क वा लप्स्यामीति जिज्ञा अनशनातिचार । रसवदाहारमतरेण परिश्रमो मम नापेति इति वा । पदजीवनिकायवाधाया अन्यतमेन योगेन धृतिः । प्रचुरनिद्रतया सख्यशकमनर्थमिदमनुष्ठित मया, संतापकारीदं ताचरित्यामि इति सकल्य अवमोदयोतिचार । मनसा बहुभोजनादर । परं बहु भोजयामीति चिन्ता । सुखं यावद्भवत स्तृप्तिरिति वचन, भुक्त मया यत्किन्युक्ते सम्यक्कृतमिति वा वचन, हस्तसङ्ख्या प्रदर्शने कठवेशमुपसृष्टय दृष्टिपरिसख्या नस्यातिचार । गृहसप्तकमेव प्रविशामि, एकमेव पाटक द्रिद्विगृहमेक । एवभूतेन दायकेन दायिकया या वत्त ग्रहीण्यामीति वा कृतसकल्य । गृहसप्तकादिकादधिकप्रवेश, पाटतरप्रवेशश्च । पर भोजयामीत्यादिक । कृतरसपत्न्यागस्य रसाति-सक्तिः, परस्य वा रसवदाहारभोजन, रसवदाहारभोजनानुमननं, यातिचार । कायकेशस्यातपनस्यातिचार' उष्णादितस्य शीतलद्रव्यसमागमेच्छा, सतापायायो मम कथं स्यादिति चिन्ता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रदेशाना स्मरण, कठोरातपस्य द्वेष, शीतलाद्देशाद्वरुणाग्रभ्रमार्जनस्य ज्ञातपप्रवेशः । आतपसंतप्तशरीरस्य वा अप्रमृष्टगात्रस्य छायाप्रवेश इत्यादिक । बृधस्य मूलमुपगतस्यापि इस्तेन, पादेन, शरीरेण वाष्कायाना पीडा । कथं ? शरीरावलम्बजलक्षणप्रमार्जनं, हस्तेन पादेन वा शिलाफलकादिगतोदकापनयनं । शृङ्गिकाद्राया भूमौ शयनं । निम्नेन जलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानम् । अद्यत्राद्दे वार्पणत कदा स्यादिति चिन्ता । वर्धते देवे कदास्योपरनः स्यादिति वा । छत्रकटकविधारण वर्णनिवारणयोस्यादिकः । तथा भ्रम्भाकशास्त्रातिचारः । सञ्चिन्ताया भूमौ ब्रह्मसहितवृत्तिसमुत्थिताया विषयवत्या शयनं । अकृतभूमिशरीरप्रमा ज्ञेयस्य हस्तपादसङ्कोचप्रसारेण, पार्श्वान्तरसञ्चरणं, कङ्कनं वा । हिमसमीरणार्था इतस्य कदैतदुपगमो भवतीति चिन्ता; ब्रह्मलादिभिरुपरिनिपतिताहिमापकर्षणं, अवदयायमदना वा । प्रचुरवातापातदेशोऽप्यमिति संकलेश' । अग्निमावरणादीनां स्मरणमित्यादिक । प्रायश्चित्तातिचारनिरूपणा—तत्रातिचार । आकर्षिय अनुमणियमित्यादिकाश्च । भूतातिचारेऽस्य मनसा अनुगुप्ता । अज्ञानतः, प्रमादात्कर्मगुरुत्वादाश्लेषादेवं अनुभूतकर्मधननिमित्तं अनुष्ठित, दुष्टं कृतमिति एवमादिक. प्रतिश्रमणातिचार । उक्तोभगतिचारसमवायस्तदुभयातिचार' । भाषतोऽपिब्रह्मको विवेकातिचारः । स्थु-त्सर्गातिचार । कुतो भवति शरीरममतायामनिवृत्तिः । अशुभप्रधानपरिणति' । कायोत्सर्गदोषाश्च तप अतिचारे उक्ता । एष छेदस्यातिचार' न्यूनो जातोऽहमिति संकलेशः, भाषतो रत्नत्रयानदान मूलातिचार सर्वो द्विप्रकार इत्याचष्टे-देशाणां विविधे देशातिचार नानाप्रकारं मनोयाकायभेदाकृतकारितानुमतविकल्पाश्च । सञ्चरणे य सर्वातिचारे च आपन्नो आपन्न ॥

सम्यक्स्वाश्रयतिचारान्विचित्रानस्याचार्याणां विश्वरूपे भिक्षुरालोचयति तत्र परिसावी यदि सूरिः स्यात्तदा बहून् दोषान्प्राप्नोति इति वक्तुं गायत्रयमाह—

मूलरा— देसच्चाए दर्शनादीनामकदेशमंगी सति । विविहे मनोवाक्कायै प्रत्येकं कृतकारितानुमननैर्नानात्वं गतान् । सव्वच्चाए सर्वात्मना दर्शनादीना भंगे । आवण्णो दर्शनाद्यतिचारान्विविधान्नाप्तो भिक्षु कथयति स्व दोषानिति उत्तराद्भेन संबंध । अन्ये पुनरेवं संबध्नन्ति । दर्शनादीनामतिचारे विविधे आवण्णे प्राप्ते सति । भिक्षु स्वदोषान्कथयति । तत्र दर्शनातिचारा शंकादयः प्रागुक्ता । ज्ञानातिचारास्तु विनयविपर्ययरूपा अकालपठनादयः संशयविपर्ययो वा । आहंसादिव्रताना वाड्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितापनभोजनानि पंचेत्योदि तत्त्वार्थोक्त भावनादानयः । तपस्यनशनादौ सापेक्षस्य तदंशभजनमतिचारः ॥ तत्रानशनस्य परं मनसा, वाचा, कायेन वा भोजयतो भुजानं वा अनुमन्यमानस्य स्वयं वा क्षुत्क्षामतयाहारमभिलषतोऽतिचार स्यात् । मनसा को मे पारणा प्रदास्यति, क वा लस्ये इति चिंता वा मुरसाहारमंतरेण परिश्रमो मय नपैति इति वा । पड्जीवनिकायवाधाया अन्यतमेन योगेन वृत्तिर्वै प्रचुरनिद्रतया संक्लेशो वा । किमर्थमिदमनुष्ठितं मया संतापकारि पुनरिदं नाचरिष्यामि इति संक्लेशो वेति । २ अवमोदर्यस्यातिचारो मनसा बहुभोजनादरः । परं बहु भोजयामीति चिंता, भुंक्ष्व यावद्भवतस्तुमिरिति वचनं । भुक्तं मया वह्निद्युके साधु कृतमिति वा वचनं । हस्तसंज्ञया वा प्रदर्शनं कठदेशमुपसृज्येति । ३ वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचारो गृहसप्तकमेव प्रविशामि इत्येवमादिंसंकरणं कृतवतः परं भोजयामीत्यभिप्रायेण तदधिकप्रवेशादिकः ॥

४ रसपरित्यागस्य रसातिसाक्तं परस्य वा संसेवदाहारभोजनाद्भोजनानुमननं चेति ।

५ विविक्कंशय्यासनस्य पूर्वोक्तलक्षणहीनवसतौ शयनासनं यथोक्तलक्षणवसतावरतिर्वेत्तादिकः ॥

६ कायक्लेशस्यातापनस्यातिचार उष्णादितस्य शीतलद्रव्यसमागमेच्छा, संतापापायो मम कथं स्यादिति चिंता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रदेशाना स्मरणं, कठोरातपद्वेषः, शीतलदेशादकृतगात्रप्रमार्जनस्यातपप्रवेशः । आतापसंतप्ताप्रमृष्टगात्रस्य छायापुत्रवेश इत्यादिकः । वृक्षमूलाधिवासस्य हस्तेन पादेन वा शरीरावलम्वलक्षणप्रमार्जनं । तद्वच्छिन्नाफलादिगतोदकापनयनं, जलाद्राया भूमौ शयनं, निम्नजलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानं, अथग्रे वृष्टिः कदा स्यादिति चिंता, वृष्टौ वा कदैतदुपरम स्यादिति वा, वृष्टिप्रतिबंधाय छत्रादिधारणं वेत्तादि । अभ्रावकाशस्य हिमवाताभ्यामुपहतस्य कदैतदुपशमः स्यादिति चिंता, वंशव्लादिभि रुपरिनिपतितहिमस्यापकर्षणमवश्यायघट्टना वा, प्रभूतवातातपदेशोऽयमिति संक्लेशोऽनित्यप्रवर्णना स्मरणमित्यादिकः ।

नियतनं न दोषेभ्यो न गुणेषु प्रवर्तनम् ॥

विषसे क्षपकः सर्वदोषमत्याजितो यतः ॥ ४९८ ॥

विजगदया—यपगमना अत्र न सुष्ठुमेव शब्दे वा दोषे न उगालेइ क्षपकस्य सूक्ष्मान् स्थूलान्या दोषान् गृह्णति गोप्राप्तयति । एते आपनो यस्तो न गिन्यन्त इति क्षपकस्तेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः स्थूलेभ्यो वा दोषेभ्यो न निवर्तेत । नैव गुणे परिभाषेत । विषयद्वन्द्वोपे गुणे पाङ्गारणितो कथमाराधकः स्यादाराधनार्थमायातोऽप्यसत्यवपीडेक ॥ उन्पीलन्ति नद । यदेतन्पीडकस्याभागे क्षपकस्यापकारमाह—

भूगारा—ततो स्थूलरक्ष्मणोभ्यः । निर्गायत्ये निरतिचारलत्रये च ॥

आचार्यं यदि कठोरं और कटु शब्द बोलकर क्षपकको व्याथित नहीं करेंगे तो वह मायाशल्यसे परावृत्त नहीं होगा। निष्कपटपना और निरतिचाररत्नत्रय पालन करना इन गुणोंमें उसकी प्रश्रुति न होगी, परंतु क्षपकको आचार्य घोषिते परावृत्त करते हैं; यह उनका महान् उपकार है यही विषय आगेकी गाथामें प्रगट करते हैं—

अर्थ—यदि आचार्य क्षपकके सूक्ष्म अथवा स्थूल दोष उसके हृदयसे बाहर निकालनेका प्रयत्न नहीं करते तो वह क्षपक गुणोंमें कभी प्रवृत्त नहीं होता दोषोंका नाशकर यदि वह गुणमें प्रवृत्त न होगा तो वह आराधक कैसा होगा ? इस वास्ते आचार्यमें अवपीटक गुण होना ही चाहिये, आचार्य इस गुणके धारक न हो तो आराधनार्थ आया द्रुणा क्षपक आराधक न होगा।

तक्षा गणिणा उन्पीलण खवयंस सव्वदो साहु ॥

ते उग्गालेवन्वा तरसेव हिदं तथा चेव ॥ ४९९ ॥

नित्गोत्तपीडि पीडयित्वा समस्तांस्तस्मादोपांस्त्याजयेत्तं हितार्थी ॥

उग्गालिध्वंसं किं विधत्ते न वैद्यः तन्वन्याथां व्याधितस्येष्टकारी ॥ ४९९ ॥

इति उत्पीडि ।

उपसंहारमाह—

भूगारा—क्षपक । उत्पीडकः ॥

अर्थ—इस लिंगे उत्पीडक आचार्यको क्षपकका हित करनेके लिये उसके सब दोष निकालना योग्य है

एवं अवपीडकतां व्याख्यायवसरप्राप्तमपरिस्त्रावितां व्याचष्टे—

लोहेण पीदमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा ॥

ण परिस्सवंति अणत्तो सो अप्परिस्सवो होदि ॥ ४८६ ॥

दोषो निवेक्षितो यत्र तत्र तोयमिवायसि ॥

न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्त्रवः ॥ ५०० ॥

विजयोदयः—लोहेण पीदमुदयं व एवमत्र पदसंबन्ध । जस्स आलोचिदा दोषा ण परिस्सवति अणत्तो यस्मै कथिता दोषा न परिस्त्रवन्यन्यतः । किमिव लोहेण पीदमुदयं व लोहेन संतप्तेन पीतमिवोदक । सो सः । एवंमूलोऽपरिस्सवो होदि अपरिस्त्रावी भवति ॥

अपरिस्त्राविता दशभिर्गोथाभिर्व्याकुर्वुकामः पूर्वं तद्वृक्षणार्थमिदमाह—

मूलारा—लोहेण अर्थात् संतप्तेन । पीदं पीतमन्तर्नति । ण परिस्सवंति । न प्रकटा भवन्ति । अणत्तो अन्यतः अन्यत्रेति यावत् । उक्तं च—

दोषो निवेक्षितो यत्र तत्र तोयमिवायसि ॥

न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्त्रवः ॥

इस प्रकार अवपीडक गुणका वर्णन हुआ, अब अपरिस्त्राविता गुणका वर्णन करते हैं—

अर्थ—जैसे तपा हुआ लोहका गोला चारो तरफसे पानीका शोषण कर लेता है और वह शोषण किया गया पानी उससे बाहर निकलता नहीं वैसे क्षपकके दोष जो आचार्य सुनकर अपने मनमें ही रखते हैं अन्य जनों को इस क्षपकने ऐसे ऐसे अपराध किये थे ऐसा नहीं कहते हैं वे आचार्य अपरिस्त्रावी गुणके समझना चाहिये, समझना चाहिये,

दंसणणाणदिचारे वदादिचारे तवादिचारे य ॥

देसच्चाए विविधे सन्वच्चाए य आवणो ॥ ४८७ ॥

अतिचारास्तपोवृत्तज्ञानसम्यक्त्वगोचराः ॥

मनोवाक्काययोगेन जायन्ते त्रिविधा यतेः ॥ ५०१ ॥

प्रायश्चित्ते आलोचनातिचाराः ' आर्कपियमित्यादिना ' वक्ष्यन्ते । प्रतिक्रमणातिचारः स्वकृतातिचारस्य मनसा अजुगुप्सा, अज्ञानतः प्रमादात्कर्मगुरुत्वाद्दालस्याद्वा इदमशुभकर्मवधनिमित्तमनुष्ठितं दुष्ट कृतमित्येवमादि जुगुप्सा । अज्ञानतः करणामावः । उक्तोभयातिचारसम्भावय उभयातिचारः । भवतोऽविवेको विवेकातिचारः । व्युत्सर्गातिचारः ऋतव-शरीरममताया अनिवृत्तिरशुभध्यानपरिणतिः कायोत्सर्गदोषाश्च । तपसः प्राप्ता एव । छेदस्यातिचारो न्यूनो जातोऽस्ति संकेलः । मूलातिचारभावतो रत्नत्रयानादानं । एवं विनयाभीना अपि सामान्यलक्षणानुसारेण यथाशास्त्रमति-चाराश्चित्या ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन और ज्ञानमें अतिचार उत्पन्न हुए हों, व्रतमें अतिचार उत्पन्न हुए हो, देशरूप अति-चार उत्पन्न हुए हो अथवा सर्व प्रकारोंसे अतिचार उत्पन्न हुए हो ये सर्व अतिचार क्षपक आचार्य के पास विधास-युक्त होकर कहे-

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ऐसे अतिचार हैं, इनका स्वरूप दर्शनविनयके प्रकरणमें लिखा है,

ज्ञानके अतिचार—अकालमें अध्ययन करना, श्रुत और श्रुतपर अर्थात् जैनसिद्धान्तज्ञाता उनका अवि-नय करना, अनुयोगादिशास्त्रोंका अध्ययन करते समय उस अध्ययन के शेष्य नियम धारण करने चाहिये परंतु वे धारण न करना, जिस उपाध्यायसे शास्त्र पढ़ लिया हो उसका नाम छिपाना अर्थात् मैं किसीके पास नहीं पढा हूं, स्वयं मेरेको शास्त्रज्ञान स्फुरित हो गया है ऐसा कहना पढते समय शब्द कम करना और जादा बढ़ाना, अर्थका कथन शास्त्रसे विरुद्ध कहना, ये ज्ञानके अतिचार हैं,

तपके अतिचारोंका वर्णन—स्वयं भोजन नहीं करता है परंतु दूसरोंको भोजन कराता है, कोई भोजन कर रहा हो तो उसको अनुमति देता है, ये अतिचार मन से वचनसे और शरीरसे करना अर्थात् तुम भोजन करो ऐसा कहना, जो भोजन कर रहा है उसको तुम अच्छा करते हो ऐसा कहना ये वचनके द्वारा अतिचार हैं, इसी प्रकारसे शरीरसे और मन से भी अतिचार लगते हैं, भूल से पीडित होनेपर स्वयं मनमें आहारकी अभिलाषा करना, मेरेको पारणा कोन देगा, किसी घरमें मेरी पारणा होगी ऐसी चिंता करना यह अनशन तप में अतिचार है



रसयुक्त आहारके बिना यह मेरा परिश्रम दूर न होगा ऐसी चिन्ता करना पदकाय जीवोंको मन वचन और शरीर इन तीन योगोंमें से किसी एक योगसे बाधा देने के लिये प्रवृत्त होना। मेरेको बहुत निद्रा आती है, और यह अवमोदर्य नामक तप मैंने व्यर्थ धारण किया है। यह संकेशदयक है, संताप उत्पन्न करनेवाला ऐसा यह तप फिर मैं कभी भी न करूँगा ऐसा संकल्प करना ये अवमोदर्य तपके अतिचार हैं।

बहुत भोजन करनेकी मनमें इच्छा रखना, दूसरोंको बहुत भोजन करनेमें प्रवृत्त करूँगा ऐसा विचार रखना, तुम वृत्ति होनेतक भोजन करो ऐसा कहना यदि वह मैंने बहुत भोजन किया है ऐसा कहे तो तुमने अच्छा किया ऐसा बोलना। अपने गले को हाथसे स्पर्शकर यहाँ तक तुमने भोजन किया है ना ? ऐसा हस्त चिह्न से अपना अभिप्राय प्रकट करना। ये सब अवमोदर्य तपके अतिचार हैं।

अब वृत्तिपरिसंख्यान तपके अतिचार—मैं सात घरोंमें ही प्रवेश करूँगा, अथवा एक पाटकमें प्रवेश करूँगा, किन्वा दरिद्री के गृहमें ही आज प्रवेश करूँगा। इस प्रकारके दातासे अथवा इस प्रकार के स्त्रीसे यदि दान मिलेगा तो लगे ऐसा संकल्प कर सात घरसे अधिक घर में प्रवेश करना, दूसरोंको मैं भोजन कराऊँगा इस हेतुसे भिन्न पाटकमें प्रवेश करना, ये वृत्तिपरिसंख्योके अतिचार हैं।

रसपरित्याग तपके अतिचार—रसका त्याग करके भी रसमें अत्यासक्ति उत्पन्न होना, दूसरोंको रसयुक्त आहारका भोजन कराना और रसयुक्त भोजन करनेकी सम्मति देना ये इस तप के अतिचार हैं।

कायक्लेशतपके आतापनयोगका अतिचार—उष्णसे पीडित होनेपर थंड पदार्थोंके संयोगकी इच्छा रखना, यह संताप मेरा कैसा नष्ट होगा ऐसी चिन्ता उत्पन्न होना, पूर्वमें अनुभवन किये गए शीतल पदार्थोंके स्थानका स्मरण होना, कठोर धूपका द्वेष करना, शरीरको पिच्छीसे स्पर्श न करके ही धूपसे शरीरसंताप होनेपर छायामें प्रवेश करना, इत्यादिक अतिचार आतापनयोगके हैं।

वृक्षमूल योगके अतिचार—इस योगको धारण करनेपर भी अपन हाथसे, पावसे और शरीरसे जलकायिक दुःख देना, अर्थात् शरीरपर लगे हुए जलकण हाथसे पीछना अथवा पावसे शिलापर अथवा फलकपर संचित हुआ जल अलग करना, गीली मट्टीकी जमीनपर सोना, जहाँ जलप्रवाह बहता है ऐसे स्थानमें अथवा खोल प्रदेशमें बैठना, वृष्टिप्रतिबंध होनेपर कब वृष्टि होगी ऐसी मनमें चिन्ता करना, वृष्टि होने

लगी तो कब इसका उपशम होगा ऐसा संकल्प करना, अथवा वृष्टिका निवारण करनेके लिये छत्र, चटाई वगैरह धारण करना।

अप्रावकाशके अतिचार-संचित जमीनपर, त्रससहित हरितवनस्पति जहां उत्पन्न हुई है ऐसे जमीनपर, छिद्रसहित जमीनपर शयन करना, जमीन और शरीरको पिच्छिकासे स्वेच्छ क्रिये विना हाथ और पाय संकुचित करके अथवा फैला करके सोना, एक बाजूसे दूसरी बाजूपर सोना अर्थात् करवट बदलना, अपना अंग खुजलाना, हवा और थंडीसे पीडित होनेपर इनका कब उपशम होगा ऐसा मनमें संकल्प करना, शरीरपर यदि बर्फ गिरा होगा तो बरसके टुकड़ेसे उसको हटाना, अथवा जलके तुपारोंको मईन करना, इस प्रदेशमें धूप और हवा बहुत है ऐसा विचार कर संकलेश परिणामसे युक्त होना, अग्नि और आच्छादन चहोंका स्मरण करना ये सब अप्रावकाशके अतिचार हैं।

प्रायश्चित्त तपके अतिचार-आकांपित, अनुमानित वगैरे दोष इस तपके अतिचार हैं। ये अतिचार होनेपर इसके विषयमें मनमें ग्लानि न करना, अज्ञानसे, प्रमादसे, तीव्र कर्मके उदयसे और आलस्यसे मीने यह अशुभकर्मका बंध करनेवाला कर्म किया है मीने यह दुष्ट कर्म किया है ऐसा उच्चारण करना प्रतिक्रमणके अतिचार हैं आलोचना और प्रतिक्रमणके अतिचारोंको उभयतिचार कहते हैं। परिणामोंके द्वारा विवेक न होना यह विवेकका अतिचार है शरीरपरसे ममता हटाना व्युत्सर्ग तप है परंतु ममत्व दूर नहीं करना यह व्युत्सर्ग तपका अतिचार है।

अशुभध्यानमें परिणमन होना और कायोत्सर्गके दोष ये तपके अतिचारमें कहे गये हैं।  
छेदके अतिचार-मैं न्यून हो गया हूँ ऐसा मनमें संकलेश करना। रत्नत्रयको भावपूर्वक ग्रहण न करना यह मूलका अतिचार है।

अतिचारके देशत्याग और सर्व त्याग ऐसे दो भेद हैं। मन, वचन, शरीर, कृत, कारित और अनुमोदन ऐसे नऊ भेदोंमें किसी एकके द्वारा सम्पददर्शनादिकोंमें दोष उत्पन्न होना ये देशत्यागातिचार है और सर्व प्रकार से अतिचार उत्पन्न होना यह सर्वत्यागातिचार है। क्षपकको इसमें अतिचार लग सकते हैं इसलिये वह गुरुके समक्ष इसमें आचोलना करें।

आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खू कहेदि सगदोसे ॥  
 कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसिं कहेदि ते दोसे ॥ ४८८ ॥  
 विव्धस्तो भापते सर्वांनाचार्याणामसौ न स' ॥ (?)  
 आचार्यो भापतेऽन्येभ्यस्तां स्तुवन् स्विदधार्मिकः ॥ ५०२ ॥ (?)

विजयोदया—आइरियाण आचार्याणा । भिच्छु । कहेदि कथयति । वीसत्थदाए विद्वासेन । किं ? सगदोसे स्वातिचारान् । कोई पुण कथित्युनरचार्येपादा । णिद्धम्मो निष्कान्तो बहिर्धृतो जिनप्रणीताद्धर्मात् । अण्णेसि अन्येभ्यः । कहेदि ते दोसे कथयति आलोचितान्दोषान् । अनेन किलायमपराध कृत इति ।

मूलारा—वीसत्थदाए विद्वासेन । कहेदि अनेन किलायमपराधः कृत इति परेभ्यः प्रकाशयति ।

अर्थ—आचार्योंके आगे कोई क्षपक विश्वास रखकर ये आचार्य मेरे दोष अन्योको नहीं कहेंगे ऐसा विश्वास रखकर कहता है, परंतु कोई आचार्य जिनप्रणीत धर्मसे बाहिर होकर इसने अमुक दोष किया है ऐसा अन्यजनोंको कहते हैं, अन्यजनोंको क्षपकके दोष कहनेवाले आचार्य जिनधर्मग्रह हो गये ऐसा समझना चाहिये क्षपक तो विश्वाससे कहता है और ये उसका भंडाफोड़ सर्व लोगोंके समक्ष करते हैं ऐसा करना जैनधर्ममें निषिद्ध माना है.

तेण रहस्सं भिंदतएण साधूतदो य परिचत्तो ॥

अण्णा गणो य संघो भिच्छत्ताराधणा चेव ॥ ४८९ ॥

रहस्यमेदिना तेन त्यक्ताः कल्मषकारिणा ॥

साधुरात्मा गणः संघो मिथ्यात्वाराराधना कृता ॥ ५०३ ॥

विजयोदया—तेण तेन । रहस्सं भिंदतएण प्रच्छाद्यालोचितदोषप्रकाशनकारिणा । साह साधु' । तदो य परि चत्तो ततस्तु परित्यक्त । स्वदोषप्रकाशने कृते मया लज्जावानय दु खितो भवति । आत्मान वा धातेयत् । कुपितो वा रत्नवय त्यजेत् । इति स्वचित्तेऽकुर्वता परित्यक्तो भवति । अण्णा परिचत्तो, गणो परिचत्तो, सघो परिचत्तो, इति प्रत्येकाभिसंबंध । भिच्छत्ताराधणा चेव मिथ्यात्वाराराधना दोषो भवति ॥

मूलारा—रहरसं प्रच्छाद्यमालोचितदोषं । भिदतण्ण प्रकाशयता । सगो स आलोचितस्वदोषः । परिचतो स्वार्थश्रृङ्खलानुपकृतः । एतत्संघातैर्यस्यं । भिच्छत्ताराधना भिव्यात्वमुत्पादितं स्थानात्मन इत्यर्थः । प्रकाशयति ॥

अर्थ—क्षपकके आलोचित दोष आचार्यको प्रकट करना योग्य नहीं हे परंतु यदि उसने प्रकट किये तो क्षपक साधुका उसने उसी समय त्याग किया ऐसा समझना चाहिये. मैं यदि इसके दोष प्रकट करूं तो यह लज्जा-वाच क्षपक अपने मनमें दुःखित होगा, यह अपना घात करेगा, क्रोधी बनकर रत्नत्रयधर्मका त्याग भी कर देगा. ऐसा विचार मनमें लाकर क्षपकके दोष कहना उनके लिये योग्य नहीं था. दोष कहनेमें आत्मत्याग, गणत्याग और संघत्याग आचार्यने किया और वे मिथ्याराधक बन गये ऐसा मानना चाहिये.

इत्थं साधु परित्यक्तो भवतीत्याद्यष्टे—

लज्जाए गारवेण व कोई दोसे परस्स कहिदोवि ॥

विप्परिणामिज्ज उधावेज्ज व गच्छाहि वा णिज्जा ॥ ४९० ॥

रहस्यस्य कृते भेदे पृथग्भूयावतिष्ठते ॥

कोपतो मुंचते वृत्तं मिथ्यात्वं वा प्रपद्यते ॥ ५०४ ॥

विजयोदया—लज्जाए लज्जया । गारवेण व गुरुतया वा । कोई कश्चित् । दोसे दोषान् । परस्स परस्मे । कद्विदो वि कथितोऽपि । विप्परिणामेज्ज पृथग्भवेत् । नाय मम गुरु. प्रियो यदि स्मार्त्तिक मदीयान्दोषाविगडति । मदीया वद्विद्यरा प्राणा गुरुयमिति या समावना सात्र नष्टेति चिंता विपरिणाम । उधावेज्ज वा लजेद्वा रत्नत्रयं दोषप्रकट-नेन कुपितः । गच्छेज्ज वा गणातर प्राविशेत् ॥

कथं साधुः परित्यक्त इत्याह—

मूलारा—गारवेण मानगुरुत्वेन । परस्स परस्य । विप्परिणामेज्ज विपरीतं परिणमेत । पृथग्भवेत् नायं ममं गुरुः । प्रियो यदि स्मार्त्तिक मदीयान्दोषाविगदेत् । मदीया वद्विद्यराः प्राणा गुरुयमिति संभावना साद्य नष्टेति चिंता हि विपरिणामः । अयमर्थः निर्यापकाचार्येण परस्मै गुह्ये कथिते सति कश्चित्क्षपको लज्जया गारवेण वा विपरिणमेत । उधावेज्ज व लजेद्वा रत्नत्रयमिति शेषः । गच्छाहि वा णिज्जा गच्छाद्वा निर्यायात् । गणाद्वा निर्गच्छेत् । गणातर प्राविशेदित्यर्थः । उधावेज्ज व गच्छेज्ज मिच्छत्तमिति पाठे ल्यजेद्वा चारित्रं गच्छेद्वा भिव्यात्वमिति व्याख्येयम् । तथा चोक्तं—

रहस्यस्य कृते भेदे पृथग्भूयावतिष्ठते ॥

कोपतो मुचते वृत्तं मिल्यात्वं वा प्रपद्यते ॥

उन्हीने साधुका त्याग किया ऐसा समझना चाहिये उसका स्पष्टीकरण—

अर्थ—आचार्य क्षपकके दोष अन्य मुनिओंको कहने पर क्षपक लज्जासे अथवा गर्वसे ये गुरु मेरेको हितकर नहीं जंचते हैं यदि ये हितकर होते तो मेरे दोष क्या अन्य जनोत्रे समक्ष थे प्रगट करते ? मैं आजतक ये गुरु मेरे बाह्य प्राण हैं ऐसा समझता था परंतु आज वह समझना निर्मूल है ऐसा अनुभव मेरेको आया है. दोषके कहनेसे गुरुके विषयमें क्षपकके उपर्युक्त परिणाम बन जाते हैं. इतना होकर ही रहता नहीं. परंतु वह क्षपक दोष प्रकट करनेसे कुपित होकर रत्नशयका त्याग करनेके लिये उद्युक्त होता है अथवा आचार्यका संघ छोड़कर अन्य संघ में प्रवेश करता है.

आत्मपरित्यागं व्याचष्टे—

कोई रहस्सभेद कदे पदोसं गदो तमायरियं ॥

उदावेज्ज व गच्छं भिंदेज्ज वहेज्ज पडिणीओ ॥ ४९१ ॥

मारयत्यथवा सूरिं साधुर्मानग्रहाकुलः ॥

संसारकाननम्रान्ति न मन्यंते हि मानिनः ॥ ५०५ ॥

विजयोदया—कोई काश्चित् । रहस्सभेद कदे रहस्यभेदे कृते । पदोसं गदो प्रद्वेष गतः । तमायरियं तमाचार्य । उदावेज्ज व मारयेत् । गच्छ भिंदेज्ज गणभेदं कुर्यात् । किमनेन सूरिणा स्नेहरहितेन, यथा ममापराध प्रकटितवान् एवं शुष्मानपि निरपराधान्दुयिष्यतीति ध्रुवन् । होज्ज पडिणीओ प्रत्यनीको भवेत् ॥

कथमात्मा परित्यक्त इत्यत्राह —

मूलारा—पदोसं प्रद्वेष । उद्धवेज्ज मारयेत् । गच्छं भिंदेज्ज गच्छ भिन्नादाचार्याङ्गणस्य भेदं कुर्यात् । यथायं विश्वस्तो ममालोचितदोषं प्रकटीकुर्यात्तथा शुष्माकमपि प्रकटयिष्यतीति ध्रुवन्नाचार्यद्वणस्य विवटन कुर्यादित्यर्थः । पडिणीओ प्रत्यनीकः प्रतिकूल इत्यर्थः ॥

आत्मपरित्याग दीपका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—आचार्य के द्वारा क्षपकके अपराध सर्वजन समक्ष प्रगट होजाने पर क्षपकके मनमें यदि द्वेष बढ गया तो वह आचार्यको मारेगा अथवा गच्छमें फूट उत्पन्न करेगा अर्थात् इस आचार्यने जैसे मेरे दीप प्रगट किये हैं वैसे वह तुम्हारे दीप भी प्रगट करेगा, निरपराधी ऐसे तुमको यह दूषण लगावेगा, यह आचार्य स्नेहरहित है इसको छोड दो ऐसा बोलकर वह सर्वसंघमें भेदभाव उत्पन्न करेगा तथा आचार्यका शत्रु बन जावेगा.

गणत्याग कथयति—

जह धरिसिदो इसो तह अम्ह पि करिज्ज धरिसणमिमोत्ति ॥

सब्बो वि गणो विप्परिणमेज्ज छंडेज्ज वायरियं ॥ ४९२ ॥

विश्वस्तो भायते शिष्यः सूरग्रे स्वदूषणम् ॥

परस्याथ पुनर्नृते सदाचारवाहिर्भवः ॥ ५०६ ॥

यथायं दूषितोऽनेन दूषयिष्यति नस्तथा ॥

इति क्रुद्धो गणः सर्वः पृथक्त्वं प्रतिपद्यते ॥ ५०७ ॥

विजयोदया—जह धरिसिदो इसो बुधा दूषितोऽयं । तह तथा । अह्म पि करेज्ज धरिसणमिमोत्ति अस्मान्दूषितान्कुर्यात् अयमिति । विपरिणमेज्ज पृथग्भवेत् । छंडेज्ज वायरिय त्येज्जद्वार्यं त्यजतीति कथ्येत तेन गणस्यैक इति पूर्वसूचित । ततोऽनयोर्न संगतिरित्यत्रोच्यते । यत एव सूरिणा द्वेषप्रत्याख्यानपरेण त्यक्तोऽसौ तत एव गणस्त्यजति ॥

कथ गणः परित्यक्त इत्यत्राह—

मूलारा—धरिसिदो दूषितः गुह्यप्रकाशेनापकृतः । छंडेज्ज त्यजेत् ।

गणत्यागका वर्णन—

जैसा आचार्यने इस क्षपकको दीप कद करके दूषित किया है वैसा यह हमको भी दूषित करेगा ही ऐसा विचार कर गण भी आचार्यके प्रतिकूल होकर उसका त्याग करेगा अथवा उससे स्वयं अलग होगा. दीपका कथन करनेवाले आचार्यने गणका त्याग किया ऐसा पूर्वमें कहा है और यहां गण आचार्य को छोड देता है ऐसा कहते

है अतः यह कथन असंगतसा दीखता है उत्तर—दोषोंका वर्णन करनेवाले आचार्यने यदि गणका त्याग किया तो वह भी आचार्यका त्याग करेगा ही. अतः इस कथनमें असंगतपना नहीं है.

संघस्त्यक्तो भवतीत्येतद्व्याचष्टे—

तह चेव पवयण सव्वमेव विप्परिणयं भवे तस्स ॥

तो से दिसावहारं करेज्ज गिज्जूहणं चावि ॥ ४९३ ॥

एतस्याचार्यकं संघो विच्छिनत्ति चतुर्विधः ॥

निर्धाटयति वा रुष्टो रोषतः क्रियते न किम् ॥ ५०८ ॥

विजयोदया—तह चेव पवयण सव्वमेव तथैव प्रवचन संघः सर्व एव प्रोच्यते रत्नत्रय यस्मिन्नि शब्दव्युत्पत्तौ संघवाची भवति प्रवचनशब्द. । विप्परिणदं विरुद्धतया परिणतं प्रवृत्तं । हवे तस्स भवेत्तस्य । तो ततः । से तस्य । दिसापहरणं करेज्ज कुर्यात् संघ । गिज्जूहणं वापि करेज्ज इति पदसंबंध । परित्यागं वा कुर्यात् ॥

कथं संघः परित्यक्त इत्यत्राह—

दूलारा—पवयणं प्रवचनशब्दोऽत्र संघवाची प्रोच्यतेऽस्मिन् रत्नत्रयमिति व्युत्पत्तेः । विप्परिणदं विरुद्धतया प्रवृत्तं । तो ततो विपरिणमनादेतोः । से तस्य रहस्यभेदकस्य । दिसापहरणं आचार्यपदभ्रंशनं । गिज्जूहणं निर्धाटनं । उक्तं च—

एतस्याचार्यकं संघो विच्छिनत्ति चतुर्विधः ॥

निर्धाटयति वा रुष्टो रोषतः क्रियते न किम् ॥

संघका त्याग भी होता है ऐसा वर्णन—

अर्थ—जिसमें रत्नत्रयका प्रवचन-उपदेश किया जाता है ऐसे जनसमुदायका नाम संघ है. अर्थात् मुनि, आर्थिका, थावक और श्राविका इनको संघ कहते हैं यह सब संघ दोष प्रगट करनेवाले आचार्य से विरुद्ध होकर उसका आचार्यपद हरण करेंगे. अथवा उसका त्याग करेंगे.

मिथ्यात्वापराधनाप्रतिपादनार्थं गाथा—

जदि धरिसणमेरिसयं करेदि सिस्सस्स चैव आयरिओ ॥

धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणेज्ज मिच्छजणो ॥ ४९४ ॥

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडंबनां ॥

धिक्त्तान्निर्धर्मकान्साधूनि विवक्ति जनोऽखिलः ॥ ५०९ ॥

विश्वासघातका एव दुष्टाः सन्ति दिगंबराः ॥

ईदृशीं कुर्वते निंदां मिथ्यात्वाकुलिता जनाः ॥ ५१० ॥

विजयोदया—जइ धरिसणमेरिसय यदि दूण पवभूत । करेदि करोति । सिस्सस्स चैव शिष्यस्यैव । क' आचार्य' । धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणिज्ज धिग्धिग् अपुट्ठधर्मान् श्रमणान् । इति भणेज्ज मिच्छजणे वदेन्मिथ्यादृष्टिर्जन ॥

मिथ्यात्वापराधनाद्वारायातं जनापवादमाह—

मूलारा--धरिसण धर्पणं विडंबना । धिद्धी धिग् धिग् । अपुट्ठधम्मो अपुट्ठधर्मान् निर्धर्मिकान् श्रमणान् दिगंबरा । तथा चोक्तम्—

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडंबनाम् ॥

धिक्त्तान्निर्धर्मकान्साधूनि विवक्ति जनोऽखिलः ॥

दोष प्रगट करनेसे मिथ्यात्वकी आराधना होगी ऐसा वर्णन—

अर्थ--यदि आचार्य दोष प्रगट कर शिष्यको दूषित करेंगे तो मिथ्यात्वी लोक ये जैनमुनि अपने धर्मको पुट नहीं बना सकते हैं, अपने हाथसे ये अपने धर्मका नाश करते हैं ऐसे वचन बोलकर धिक्कार करेंगे, इस लिये दोष प्रगट करना यह कार्य धर्मविध्वंसक है ऐसा समझना चाहिये

प्रस्तुतापरिष्कारवितोपसद्धारगाथा प्रसिद्धार्थो-

इच्चैवमादिदोसा ण होति गुरुणो रहस्सधारिस्स ॥

पुठेव अपुठे वा अपरिस्साइस्स धीरस्स ॥ ४९५ ॥



पृष्ठोऽपि यो ब्रूते न रहस्यं कदाचन ॥  
 इत्यादयो न विद्यन्ते दोषास्तस्य गणेशिनः ॥ ५११ ॥  
 इति विमुच्य रहस्यविभेदकं भजत गुह्यानिगूहकमजसा ॥  
 न हि विशुद्धहितहितवस्तवो हितमपोह्य भजंत्यहितं जनाः ॥ ५१२ ॥

इति अपरिस्त्रवः ।

विजयोदया—इच्छेवमादि दोषा इति । अणरिस्सव तु गद ॥  
 मूलाग—पुष्टे व अपुष्टे वा अपरिस्साइस्स किमनेनालोचितमिति परेण पृष्ठे मन्त्रे ऊरेऽपुष्टे वा अपरिस्त्राविणो  
 गुह्यमकथयतः । क्षीरस्म स्वरूपचेष्टादिना विकारमगच्छतः । अयमत्राभिप्रायो—य शिष्योक्तं दोषं पृष्ठोऽपुष्टो वा परस्मै न  
 वक्ति, नापीगतादिना प्रकाशयति स रहस्यधारी सूरिपरिस्त्रावीति विवृणोति विवृणोति विवृणोति विवृणोति विवृणोति इति ।  
 अपरिस्त्रावी ॥

अत्र यहां ग्रन्थत अपरिस्त्राविता गुणका उपसंहार करते हैं—

अर्थ—जो आचार्य अपरिस्त्रावि गुणके धारक हैं वे शिष्यके—क्षपकके दोष सुनकर मनमें रख लेते हैं  
 और उनको कोई पूछे वा मत पूछे वे कभी उसके दोष अन्यको कहते ही नहीं दोष प्रगट करनेसे क्या हानि  
 होती है इसका अपरिस्त्रावी आचार्य को पूर्ण ज्ञान रहता है अतः वे कभी दोषप्रगटन नामका धर्मध्वंस करने-  
 वाला कार्य नहीं करते हैं,

णिन्ववगो इत्येतत्सुत्रपदव्याख्यानयोत्तरप्रबंध—  
 संथारभत्तपणे 'यस्य येनाभिसंबधो दूरस्थस्यापि तस्य स.' इति कृत्वा—  
 संथारभत्तपणे अमणुणे वा चिरं व कीरते ॥  
 पडिचरगपमादेण य सेहाणमसंबुडगिराहिं ॥ ४९६ ॥  
 शुश्रूषकप्रमादेन शय्यायामासनादिके ॥  
 सपन्ने दीनचाक्येन शिष्यक्राणामसंघृते ॥ ५१३ ॥

विजयोदया—इति क्रियाभि पदसंबन्धोऽत्र कार्यः । संस्तर भक्तगते वा । अमणुणे अमनोक्षे । कीर्तते क्रियमाणे । कुविदो कुपितो भवेत्क्षपक मिर वा मर्यादां वा । सथारभक्तपाणे अमणुणे वा कीर्तते कुविदो हवेज्ज खवगो मेर वा भेत्तुमिच्छेज्ज । भेत्तुमिच्छेत् । चिर व कीर्तते चिराद्वा सस्तरकरणे भक्तपानानयने वा । पडिचरगपमादेन वा निर्यापकाणां वैयवृत्त्यकरणे य प्रमादस्तेन वा कुपितो भवेत् । मर्यादा वा आत्मीया भेत्तु इच्छेत् । सेट्टाणमसबुडगिराहिं अगृही-  
तार्थाना असवृताभि परयाभिर्घो कुपितो भवेत् ॥

निर्यापकत्वमेकादशभिर्गाथाभिर्न्याविख्यासुरादौ तत्तन्निमित्तसंनिधानादुत्पन्ने क्षपकस्य चित्तासंतोषे निर्यापका-  
चार्येणैवंभूतेन सत्ता तच्चित्तं निर्यापणीयमिति गाथात्रयेणाभिधत्ते—

मूलारा — अमणुणे अमनोक्षे अनभिरुपिते । चिरं व चिरेण वा शीघ्रमक्रियमाण इत्यर्थः । कीर्तते क्रियमाणे । पडिचरयपमादेण वैयवृत्त्यकराणा तत्कारणानवधानेन । सेट्टाणं दैक्षणा । असंबुडगिराहिं परयाभिः प्रतिशृङ्खलाभिर्वीरिभिः ।

जिसका जिसके साथ संबंध है वह दूर भी होगा तो भी वह संबंधी पदार्थ उसका ही माना जायगा इस नीतिके अनुसार यहां क्षपकका वर्णन करते हैं—

अर्थ—क्षपककी श्रृंषा करनेवाले परिचारक संस्तरकी रचना यदि अमनोज मनोहर-न करेंगे और खाने पीनेके पदार्थ भमनोहर होंगे तो वह क्रोधयुक्त होगा अथवा समाधिभरणके नियमोंका भग करेगा। किंवा संस्तर करनेमें शगवत्प्राप्त्यंगी तो भी वह कुपित होगा, आहार और पेय पदार्थ लानेमें देरी लग जाय तो कुपित होगा परिचारककी श्रृंषा करनेमें अलसी बन जाने पर उसको क्रोध उत्पन्न होगा। अथवा अपनी मर्यादा वह छोड़ देगा, जिनको सहेखनानिधि साधुम नहीं है ऐसे असंयमी जनके परुष-कठोर भाषणसे वह क्रोधयुक्त होगा तो उमको क्षमाधारण कर प्रसन्न करना चाहिये

सीटुण्हलुहातण्हकिल्हामिदो तिब्बवेदणाए वा ॥

कुविदो हवेज्ज खवओ मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज ॥ ४९७ ॥

वेदनायामसत्तायां क्षुत्तुण्होण्हिमहिमादिभिः ॥

क्षपकः कोपमासाद्य मर्यादां विविभित्सति ॥ ५१४ ॥

विजयोदया—सीदुण्डदुहातण्हा किलमिदो शीतेनोणेन शुघा पीडित कुपितो भवेत् । तिर्व्वेयणाए वा तीव्वेदनया वा कुपितो मयादोल्लघनच्छुभेवेत् ॥

मूलरा—किलामिदो पीडितः । मेर मर्यादां प्रतिपन्नानुष्ठानम् ।

अर्थ शीत, उष्ण, भूख और प्यास इनसे पीडित होनेसे क्षपकको क्रोध उत्पन्न होता है, अथवा रोग की तीव्रवेदनासे भी विह्वल होकर दुःख होता है और मर्यादा तोड़नेकी इच्छा करता है उस समय आचार्य उसको शांतचित्त होकर प्रसन्न करते हैं.

णिव्ववएण तदो से चित्त खवयस्स णिव्ववेदव्वं ॥

अक्खोभेण खमाए जुत्तेण पणहुमाणेण ॥ ४९८ ॥

निर्यापकेण शान्तेन शमनीयः स सूरिणा ॥

क्षमापरेण कीरेण कुर्वता चित्तनिर्वृतिं ॥ ५१५ ॥

विजयोदया—णिव्ववएण संतोषमुत्पादयता सूरिणा । तदो तत । से खवयस्स चित्त तस्य कुपितस्य मर्यादां भेत्तुमिच्छतो वा । चित्त णिव्वेदव्वं चित्त प्रशान्तिं नेय । अक्खोभेण चलनरहितेन व्यवस्थावता । खमाए जुत्तेण क्षमया युक्तेन । पणहुमाणेण प्रणमनेन । न हि रोषी मानी वा सूरि परचित्तकलक प्रशमयितु इहेते ततो निरूपयणेण भाव्यमिति भावः ॥

मूलरा—णिव्ववगेण संतोषोत्पादकेन । तदो कोपपरितिमर्यादाभेदछानतरं । णिव्ववेदव्वं प्रशमनीयं । अक्खोभेण चलनरहितेन उद्वेगमुक्तेनत्यर्थः ॥

इसही विषयको आगेकी गाथामें आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—संतोष उत्पन्न करनेवाले आचार्य अपना चित्त क्षुब्ध नहीं होने देते हैं, वे स्वयं क्षमाधारण करते हैं अभिमानका त्याग करते हैं क्योंकि रोषवाले और अभिमानयुक्त आचार्य दुसरेका मन प्रसन्न करनेमें प्रयत्न नहीं करते हैं, इसलिए आचार्य में सहायका अभाव होना चाहिये, अर्थात् निष्कण्य आचार्य ही क्षपकका क्रुद्ध मन शांत कर सकते हैं ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये

पवभूतो निर्वापयतीत्येतद्व्याचष्टे—

अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभक्ते ॥

रदणकरंडयभूदो खुण्णो अणिओगकरणम्मि ॥ ४९९ ॥

बहुप्रकारपूर्वांगश्रुतरत्नकरंडकं ॥

सर्वानुयोगनिष्णातो वक्ता कर्ता महामतिः ॥ ५१६ ॥

विजयोदया—अंगसुदे य श्रुत पुरुष मुखचरणगुणस्थानीयत्वादंगशब्देनोच्यते । आचारादिकं द्वादशविधं तस्मिन्मगश्रुते । बहुविधे नानाप्रकारे । आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय', व्याख्याप्रक्षान्त्यग इत्यादिभिर्देन । णो अंगसुदे य अगवाहो वा । बहुविधविभक्ते सामार्थिक, चतुर्विंशतिस्त्वो, वदना, प्रतिक्रमण, वैनीयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिकं, उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहार, कल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक इत्यादिना विचित्रमेवेन विभक्तो । रयणकरंडयभूदो रत्नकरंडकभूत । खुण्णो अणियोगकरणम्मि यद्यत्प्रस्तुत वस्तु तत्र तत्र सदाविकाधुनयोगयोजनाया कुशल । अनेन शानमाह्वानस्य सूचित ॥

इत्थंभूतः सुरिरव निर्वापयतीत्युत्तरप्रबंधनाह—

मूलारा—अंगसुदे अंगप्रविष्टप्रवचने । बहुविधे आचारं सूत्रकृतमित्यादिद्वादशविधे । णो अंगसुदे अंगवाहश्रुते । बहुविधविभक्ते सामार्थिकं, चतुर्विंशतिस्त्व इत्यादिना चतुर्विंशप्रकारविभक्ते । रयणकरंडयभूदो रत्नकरंडकसदृश । श्रुतरत्नाना रक्षणोपायत्वात् । खुण्णो कुशल । अणियोगकरणम्मि यद्यदुस्तु प्रस्तुतं तत्र तत्र सदाविकानुयोगयोजनाया । एतेन ज्ञानमाहात्म्यं सुरैःसूचितं ॥

आगेकी गाथमें कहे हुए गुणोंसे युक्त आचार्य क्षपकका मन प्रसन्न कर सकते हैं यह दिखते हैं—

अर्थ—श्रुतज्ञान पुरुषस्थानीय समझ करके आचारादिकों को मुख, पांव वगैरह अवयवोंके समान समझने से श्रुतज्ञान में अंगकी कल्पना घटित हो जाती है. श्रुतज्ञानके आचारादिक वारा भेद हैं जैसे आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृदश, अनुत्तरोपपादिक दश, प्रश्नव्याकरण, विपाक यत्र, दृष्टिवाद अंगवाह श्रुतज्ञानके भी बहुत भेद हैं. जैसे सामार्थिक, चतुर्विंशतिस्त्व, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनीयिक कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक, इत्यादि अनेक भेद हैं. जैसे करदमें रत्नोंको रखते हैं वैसे ये आचार्य इन आगमरत्नोंको अपने हृदयमें धारण करते हैं इसलिय ये रत्नोंके

करुण्ड के समान शोभते हैं, जो जो प्रस्तुत विषय है उसमें सत, संख्या, क्षेत्र, इत्यादि अनुयोगोंकी योजना कर उसका विवेचन करनेमें इनकी बुद्धि कुशल रहती है

वत्ता कत्ता च मुणी विचित्तसुदधारओ विचित्तकहो ॥

तहू य अपायविदण्हू मइमंपण्णो महाभागो ॥ ५०० ॥

विजयोदया—वत्ता वत्ता । कत्ता य कर्ता च विनयवैयावृत्त्ययोः । विचित्तसुदधारओ विचित्रं श्रुतं प्रथमानुयोग, करणानुयोगश्चरणानुयोगो, द्रव्यानुयोग इत्यनेन विकल्पेन । विचित्तकहो विचित्राया कथया निरूपणा अस्य स विचित्रकथः । ननु च 'अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभक्ते' इत्यनेनैव अवगतत्वात् किमेतन् 'विचित्तसुदधारओ' इत्यनेन ? नैप दोषः । पूर्वसूत्रे श्रुतकेवली निर्वापकत्वेनोक्तः । अनया तु असमस्तश्रुताचार्योऽपि एवंभूतो निर्वापको भवतीति व्याख्यायते तेन न पुनरुक्तता । तद्वदय तथा च । आपायविदण्हू रत्नत्रयातिचारज्ञः । मइसंपण्णो स्वाभाविक्या बुद्ध्या समन्वित । महाभागो स्ववशो महात्मा ॥

मूलाया—वत्ता वत्ता प्रतिपादनकुशल । कत्ता कर्ता विनयवैयावृत्त्ययोः । विचित्तसुदधारओ विशिष्टं प्रथमानुयोगादिभेदेन चित्रमाश्चर्यकारि श्रुतकेवलिनिर्यापकैरुक्तं अवधारयता । अथवा विचित्रं श्रुतं परसमयादिशालं । विचित्तकधो विचित्राया कथया निरूपकः । न हेतयो पौनरुक्त्यं शक्यं पूर्वसूत्रे हि श्रुतकेवली निर्यापक उक्तः, इदं पुनर्युगानुत्तरश्रुतधरोऽपि । आपायविदण्हू रत्नत्रयातिचारज्ञः । मइसंपण्णो स्वाभाविकबुद्धिसंयुक्तः । महाभागो स्ववशो महापुण्यो वा ।

अर्थ—ये आचार्य वक्तृत्व गुणसे युक्त होते हैं विनय और वैयावृत्य करते हैं प्रथमानुयोग, करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इस प्रकारके श्रुतज्ञानके धारक होते हैं, नाना प्रकारकी विचित्र कथायें कहने में प्रवीण रहते हैं शंका—'अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभक्ते' इस गाथामें ही वे महाज्ञानी होते हैं ऐसा सचित होता है, तो पुनः 'विचित्तसुदधारओ' यह विशेषण क्यों ग्रंथकारने गाथामें दिया है ? इसका उत्तर यह है— पूर्व गाथामें श्रुतकेवली निर्वापकाचार्य होते हैं ऐसा कहा है और इस सूत्रसे असमस्त श्रुतज्ञान जिनको है ऐसे आचार्य भी निर्वापक होते हैं ऐसा सचित होता है, इसलिये यहां पुनरुक्त दोष नहीं है, यह निर्वापकाचार्य रत्नत्रयके अतिचारोंके ज्ञाना होते हैं, स्वाभाविक बुद्धिमान् होते हैं और जितेन्द्रिय महात्मा होते हैं.

पगदे गिस्सेसं गाहुगं च आहरणहेदुजुत्तं च ॥  
अणुसासेदि सुविहिदो कुविदं सण्णिव्वेमाणो ॥ ५०१ ॥

कथानां कथने दक्षो हेयादेयविशारदः ॥

कुद्धं शास्ति यतिधीरः प्रकृतप्रतिपादकः ॥ ५१७ ॥

विनयोदया—अणुनासेदि अणुशास्ति । पगदे वक्कु प्रारब्धे वस्तुनि ॥ गिस्सेसगाहुगं समस्तमवबो धय च्चवदु शासनं करोति । आहरणहेदुजुत्तं च । दण्णतेन हेतुना च । युक्त एतस्माद्धेतोरिदमेवैतरिति युक्त्याणुशास्ति सुविहितो यति । कुविद कुपित । सण्णिव्वेमाणो सम्यक्प्रशमयन् सम्यक्प्रसादमुपनयन् ।

मूलारा—पगदे वक्कु प्रारब्धे वस्तुनि । गिस्सेसं समस्तं हेयमुपादेयं च । गाहुगं ग्राह्यं अथवा । गिस्सेसं गाहुगं समस्तावबोधकं । आहरणहेदुजुत्तं दण्णत्वेन लिंगेन चोपपन्नं एतस्माद्धेतोरिदमेवैतदिति युक्त्याणुशास्ति इत्यर्थः । कुविदं कुद्धं क्षपकयति । सण्णिव्वेमाणो सम्यक्प्रशमयन् ॥

अर्थ—जिस वस्तुका विवेचन करनेके लिये प्रारम्भ किया होगा उस वस्तुके समस्त अंगोपांगोंका स्वरूप दृष्टांत और शुक्ति देकर कहता है, इस हेतुसे इस वस्तुका ऐसा ही स्वरूप है इसके स्वरूपसिद्धिके लिये ऐसी युक्ति है इत्यादि रूपसे जो कथन करता है वह यति कुपित क्षपकको अपनी मधुर वाणीसे प्रसन्न कर सकता है.

णिद्धं मधुरं गम्भीरं मणप्पसादणकरं सवणकतं ॥  
देइ कंहं णिव्ववग्गो सदीसमण्णाहरणहेउं ॥ ५०२ ॥  
गंभीरां मधुरां अभ्यां शिष्यचित्तप्रसादिनीं ॥  
सुखकारी ददात्यस्मै स्मृत्यानयनकारिणिम् ॥ ५१८ ॥

विजयोदया—णिद्धं प्रियवचनबहुलतया स्निग्धं । मधुरं अनतिक्रोशस्तया मधुर । गंभीर अर्थगाढतया । मणप्पसादकरणं मन प्रवृद्धादविधायिनीं । सवण कत श्रुतिसुखं । देदि कथं कथा कथयति । णिव्ववग्गो निर्वापक । सदीसमण्णाहरणहेदु । स्मृतिसमानयनकारण । पूर्वोध्यस्तश्रुतार्थोचरस्मरण इह स्मृतिरिति युक्ते मतिवचनो वा । 'मति' स्मृति' संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यन्योत्तरम्' इति वचनात् । तेन बुद्धिसमायनकारणमित्यर्थः इति केचित् ।

मूलारा—सवणकर्तं श्रुतिद्वयं । देदि कथयति । कथं कथा । सदीसमण्णाहरणहेटुं स्सुत्ते' पूर्वाभ्यस्तगीतार्थगोचरस्य स्मरणस्य मतेवां समानयनकारणम् ॥

अर्थ—आचार्य बहुत प्रिय वचन होनेसे स्निग्ध, कठोराक्षर न होनेसे मधुर, बहु अर्थयुक्त होनेसे गंभीर, मनको आनंदित करनेवाली, कर्णको सुख देनेवाली, ऐसी कथा कहते हैं, जिस कथाको सुनकर क्षपकको पूर्वकाल में अभ्यस्त श्रुतज्ञानके विषयका स्मरण होगा ऐसी कथा वे कहते हैं,

णिज्जवगो इत्येत्सुवपद व्याचष्टे—

जह पक्खुभिदुम्मीए पोदं रदणभरिदं समुहम्मि ॥

णिज्जवओ धारेदि हु जिदकरणो बुद्धिसंपणो ॥ ५०३ ॥

सुखकारी दधात्येनं मज्जंतं दुस्तरे भवे ॥

पूतरत्नभूतं पोतं कर्णधार इवार्णवे ॥ ५१९ ॥

विजयोदया—जह पक्खुभिदुम्मीए यथा प्रचलिततरंगे । समुहम्मि समुद्रे । पोद पोत नावं । रदणभरिदं रत्नै-  
भरितं णिज्जवगो निर्योपक । धारेदि खु धारयति । जिदकरणो परिचितक्रिय । बुद्धिसंपणो बुद्धिसपन्न बुद्धिमान् ॥

मूलारा—पक्खुहिदुम्मीगे प्रक्षुभितोभिके । पोद प्रवहणं । णिज्जवगो निर्योपकः कर्णधार इत्यर्थ । जिदकरणो परिचितक्रियः ॥

णिज्जवगो इस सूत्रपदका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—जिसमें तरंग उछल रहे हैं ऐसे समुद्रमें नौका चलानेका जिसने खूब अभ्यास किया है ऐसा बुद्धिमान नाविक रत्नों से भरी हुई नौकाको इवनेसे रक्षण करता है,

तह संजमगुणभरिदं परिस्सहुम्मीहिं खुभिदमाइच्चं ॥

णिज्जवओ धारेदि हु महुरेहिं हिदोवदेसेहिं ॥ ५०४ ॥

शीलसंयमरत्नाढ्यं यतिनावं भवार्णवे ॥

क्षिमज्जंतो महाप्राज्ञो विभर्ति स्वरिनाविकः ॥ ५२० ॥

विजयोदया—तद् संजमगुणमस्ति तथा संयमेन गुणैश्च भस्ति संपूर्ण । संयमस्य सर्वभ्यो गुणैः प्रधानत्वात् संयमशब्दस्य पूर्वनिपात । परिसहस्रम्भीहि क्षुत्पिपासादु खानि परीप्राप्तस्य । ऊर्मय इवानुक्रमणोद्गच्छन्त्य ऊर्मिव्यप-  
देशं लभन्ते । परीप्राप्तोर्मिणि खुभिर् चलिन । आह्वयति र्थं भूतं यतिपोत ॥ जिज्ञासो धोर्गदि खु निर्यापकसुरिर्धारयति ।  
मधुरेहि द्विदोवदेसहि मधुरेहि तोपवेसो ॥

मूलारा—परीसहस्रम्भीहि परीप्राप्त ऊर्मय इवानुक्रमणोद्गच्छन्तीति कृत्वा । खुहिदं चलित । आविद्धं निर्यगभूतं  
अस्मितं वा ।

अर्थ—वैसे संयमगुणोंसे भरी हुई यह क्षपकनौका धुधा, प्यास, वोगरु तरंगोंसे क्षुब्ध होकर, तिरछी हो-  
रही है, ऐसे समयमें निर्यापकाचार्य मधुर हितोपदेशके द्वारा उसको धारण करते हैं अर्थात् उसका संरक्षण करते हैं,

धिदिवलकरमादहिद महुरं कण्णाहुदिं जदि ण देइ ॥

सिद्धिसुहमावहंती चत्ता साराहणा होइ ॥ ५०५ ॥

कर्णाहुतिं न चेदत्ते धृतिस्थामकरीं गणी ॥

आराधनां सुवाहर्त्रां जहाति क्षपकस्तदा ॥ ५०६ ॥

विजयोदया—धिदिवलकरं धृतिवल्कारिणीं स्पृष्टे स्वैर्यं धृतिस्तस्या अवष्टम्भकारिणी । आदहिदं आत्म-  
हिता । मधुरं मधुरा । कण्णाहुदिं कर्णाहुति । जदि ण वेदि यदि न दद्यात् । सिद्धिसुखानयनकारिणी आराहणा चत्ता  
होदि त्यक्ता भवति ।

मूलारा—धिदिवलकरं स्पृष्टिस्वैर्यावष्टम्भकारिणीं । कण्णाहुदिं कर्णयोराहुतिर्दोम इव संतर्पकत्वात् । कर्णजप-  
मित्यर्थः । आवहन्ती कुर्वती ॥

अर्थ—निर्यापकाचार्य की वाणी धैर्य उत्पन्न करती है, आत्मके हितका वर्णन करती है मधुर और  
कर्णालहदक होती है, आचार्य यदि ऐसे वाणीका उपयोग न करेंगे तो मुक्तिसौख्यकी प्राप्ति करनेवाली आराधना-  
ओंका क्षपक त्याग करेगा,



प्रस्तुतोपसंहाराया—

इय णिव्ववओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदायरिओ ।

होइ य किन्ती पधिदा एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स ॥ ५०६ ॥

क्षपकस्य सुखं दत्ते कुर्वन्त्यो हितदेशनाम् ॥

निर्योपकं महाप्राज्ञं तमाहुः सुखकारणम् ॥ ५२२ ॥

ददाति शर्म क्षपकस्य सूरिर्निर्योपकः सर्वमपास्य दुःखम् ॥

यतस्ततोऽसौ क्षपकेण सेव्यः सर्वे भजन्ते सुखकारिणं हि ॥ ५२३ ॥

इति सुखकारी ।

विजयोदया—इय एव । णिव्ववओ निर्योपकः । खवगस्स क्षपकस्य । णिज्जावओ होदि निर्योपको भवति ।

सदायरिओ सदाचार्यो निर्योपकत्वगुणसमन्वित क्षपकस्योपकारी भवतीत्युक्त्वा स्वार्थमपि तस्य सूत्रदर्शयति । होदि य

किन्ती पधिदा भवति च कीर्तिः प्रथिता । एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स आचारवत्त्वादिभिर्गुणैर्युक्तस्य ॥

प्रकृतसुखसंहारार्थकरणद्वारेण निर्योपकस्य स्वार्थविद्धिं दर्शयति—

मूळारा—पहिदा ग्रथिता प्रख्याता । एदेहिं आचारवत्त्वादिभिरेष्टाभिः ॥ निर्योपकः ॥

प्रस्तुत प्रकरणक्री उपसंहार गाथा—

अर्थ—

इस प्रकारसे क्षपकका मन आल्हादित करनेवाले आचार्य निर्योपक होसकते हैं अर्थात् निर्योपकत्व

गुणधारक, आचार्य क्षपकका समाधिभरण साध सकते हैं. आचारवत्त्वादि गुणोंका यहां तक वर्णन किया इन

गुणोंसे परिपूर्ण आचार्य की जगतमें कीर्ति फैल जाती है जैसे इन गुणोंसे आचार्य क्षपकके ऊपर उपकार करते

जैसे इन गुणोंसे उनका उज्ज्वल यश भी जगतमें वृद्धिगत होता है.

इय अट्टगुणोवेदो कसिणं आराधणं उवविधेदि ॥

खवगो वि तं भयवदी उवगूहदि जादसंवेगो ॥ ५०७ ॥

शिवसुखमनुपममपरुजममलं व्रतवति शमवति हितकृति सकलं ॥

वितरति यत्तिपतिरिति गुणकलितः शमयमदमयमुनिजनमहितः ५२४

गुणैरमीभिः कलितोष्टभिर्जनैः समेत्य (?) कीर्तिः शशिरश्मिनिर्मलाम् ॥  
आराधनासिद्धिरांगनासखीं ददाति सूरिः क्षपकाय निश्चितम् ॥ ५२५ ॥

इति सुस्थितः

विजयोदया—इय एव । अदृगुणोवेदो आचारवानित्याद्याद्युणोपेत सूरि । कसिण कृत्स्ना । आराधण आराधना । उवविधेदि दौकयति । खगो वि क्षपकोऽपि । त ता भगवतीं सकलवाधापनयनमाहात्म्यवतीं । उवगूहृदि आलिगति । जादसवेगो उत्पन्नससारभीरुत्व । सुष्टिद सम्मतम् ॥

यथोक्तगुणसूरः सकलाराधनासंपादकत्वं भवभीतस्य च क्षपकस्य तदालिगनमुपदिशन्नाह—

मूलरा—उवविधेदि उपढौकयते । भयवर्दीं सकलवाधापनयनमाहात्म्यवतीम् । उवगूहृदि आलिगति ॥  
सुस्थितः । सुव्रत ॥ १७ ॥ अंकत ॥

अर्थ—इस प्रकार आठ गुणोंसे पूर्ण आचार्यका आश्रय करनेसे क्षपकको चार प्रकारकी आराधना प्राप्त होती है, और जिसको ससारभय उत्पन्न हुआ है ऐसा वह क्षपक भी संपूर्ण वाधाओंका नाश करनेवाली, अपूर्व माहात्म्ययुक्त भगवती-वंद्य आराधनाको आलिगन देता है.

एव सुष्टिद इत्यतद्व्याख्योत, इत उत्तरं उवसंपा इत्येतद्व्याख्यायते—

एवं परिमगित्ता गिज्जवयगुणेहि जुत्तमायरियं ॥

उवसंपज्जइ विज्जाचरणसमगो तगो साहु ॥ ५०८ ॥

निर्यापकं गुणोपेतं मार्गेयित्वातियत्तनत् ॥

उवसंपत्यसौ सूरिर्जानचारित्रमार्गकः ॥ ५२६ ॥

विजयोदया—एवं परिमगित्ता अन्विष्य । कं आयरिय आचार्य । कीदृग्भूत ? गिज्जवयगुणेहि निर्यापकगुणैराचारवत्त्वादिभि समन्वित । उवसंपज्जइ ढौकते । क ? तगो स । साहु साधु । कीदृग्भूत ? विज्जाचरणसमत्यो ज्ञानेन चारित्र्येण समग्र संपूर्ण ।

अथैवं निर्यापकाचार्यं सम्पत्कपरीक्ष्य तस्मै स्वं समर्पयतः क्षपकस्य गाथापट्केनेतिर्कृतव्यताक्रममुपदिशति—  
मूलरा—परिमगित्ता अन्विष्य । उवसंपज्जइ उपतर्पति आश्रयतीत्यर्थः । तगो मः । उत्तमार्थोच्यतः ॥

अर्थ—इस प्रकार समग्र ज्ञान और चरित्रका धारक वह क्षपक आचारवत्वादि आठ गुणोंसे पूर्ण आचार्यका शोधकर उनका आश्रय करता है.

गुरुकुले आत्मनिसर्ग उवसपानाम समाचार । तत्कम निरूपयति—

तिर्यणसव्वावासयपडिपुणं तस्स किरिय किरियम्मं ॥

विणएणमजलिकदो वाइयवसमं इमं भणदि ॥ ५०९ ॥

कृतिकर्म विधायासौ एरिपूर्णं त्रिमुद्धितः ॥

आचार्यगृहभं वक्ति मस्तकारोपितांजलिः ५२७ ॥

विजयोदया—तिर्यणसव्वावासयपडिपुणं किरिय तस्स किरियम्मं । तस्य निर्यापकस्य सूरं कृतिर्म वदनां कृत्या । कीदृश तिरियणसव्वावासयपडिपुण मनोवाक्कायात्मसर्वविशयकप्रतिपूर्णं सामायिक, चतुर्विंशतिस्त्वो वदना, प्रतिकरण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, इत्येते मनोवाक्कायविक्रमेण विविधा पडावश्यकसंज्ञिता । मनसा सर्वसावद्य योगनिवृत्ति, वचसा सर्वं सावज्जजोगं पक्कळामि इति वचनं । कायेन सावद्यक्रियाननुष्ठान, मनसा चतुर्विंशति तीर्थकृता गुणानुसरण 'लोगस्सुज्जोययेर' इत्येवमादीना गुणाना वचन । ललाटाविन्यस्तकस्युकुलता विनेभ्य कायेन । वदनीयगुणानुसरणं मनोवदना । वाचा तद्गुणमाहात्म्यप्रकाशानपरवचनोच्चारण । कायेन वदना प्रदक्षिणीकरण कृतानतिश्च । मनसा कृतानतिचाराधिबृत्ति । हा दुष्कृतमिति वा मन प्रतिकमण । सूत्रोच्चारण वाक्यमतिकमण । कायेन तदनाचरण कायप्रतिकमण । मनसातिचारादीना ऋरिण्यामि इति मन प्रत्याख्यान । वचसा तद्वाचरिण्यामि इति उच्चारण । कायेन तद्वाचरिण्यामि इत्ययीकार । मनसा शरीरे ममेवभावनिवृत्ति मानस कायोत्सर्ग । प्रलम्भुजस्य, चतुरगुलमात्रपादातरस्य निरुचलावस्थान कायेन कायोत्सर्ग । कायापायनिरासमकृत्वा एकांते गुणवासीते प्रसन्नचेतसि शनैरगस्य शरीरं भूमिं च प्रतिलेख्य अदूरे असमीपे आसित्वा कृताजलि भगवन्कृतिकर्मवदनामिच्छामीति आलोच्य अनुज्ञात शनैरुत्थाय मूर्धन्यस्तकर अविलम्बितमनुदुत्तं समाधिक पठेत् । सूत्रानुगत, अविचल, अविहृत स्थित कृतकायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्त्ववममिधाय सूरिणानुरक्तमन्त गुरुस्तवन पठेत् इत्येया कृतिर्मवदना । वंदनोत्तरकाल विणपण विनयेन अजलि मन्त्रो मुकुलीकृताजलि । वाइयवसम आचार्यगृहभ । षण इद । भणदि ब्रवीति इति ॥

गुरुकुले आत्मनिसर्ग उपमपत्राम समाचारस्तक्रमं निरूपयति—

मूलारा—तिर्यणसव्वावासयपडिपुणं मनोवाक्कायकृताचार्यक्रियापरिपूर्णं, आचार्यक्रिया चात्र सिद्धयोग्या-

चार्यशास्त्रिमकथः । इत्यमेव श्रीचंद्रमुनिश्रुतिनिबन्धे व्याख्यानात् । किदिकम्मं वंदनां । अंजलिक्कदो मुकुलीकृताजलिः  
वायगवसदं वाचकद्वयमं आचार्यप्रधानं । इण इदं वदयमाणं वेत्ति ब्रवीति ॥

गुरुकुलमें आपना आत्मसमर्पण करना यह उपसंपा शब्दका अभिप्राय है, अतः इस उपसंपा समाचारका  
क्रम आचार्य दिखते हैं—

अर्थ— मन, वचन और शरीरके द्वारा सर्व सामायिकादि छह आवश्यक कर्म जिसमें पूर्णताको प्राप्त हुए  
हैं ऐसा कृतिकर्म कर अर्थात् वंदना करके विनयसे हाथ जोड़कर श्रेष्ठ आचार्य को क्षपक आगे लिखे हुए सूत्रके  
अनुसार विज्ञप्ति करता है—

सामायिक, चतुर्विंशतिस्त्व, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक क्रियाएं  
मनोयोग, वचनयोग और काययोग को निर्मल करके करने चाहिये, अर्थात् प्रत्येक आवश्यकके योगके संबंधसे  
तीन तीन भेद होते हैं, मनके द्वारा सर्व पापयोगोंका त्याग करना, सर्व सावधयोगोंका मैं त्याग करता हूँ ऐसा  
वचनसे उच्चार करना, शरीरसे सर्व सावध क्रियाओंका त्याग करना ऐसे सामायिकके तीन भेद होते हैं, मनसे  
चोबीस तीर्थकरोंके गुणोंका स्मरण करना, वचनसे ' लोयस्सुज्जोयये ' इत्यादि श्लोकोंमें कही हुई तीर्थकर स्तुति  
बोलना, ललाटपर हाथ जोड़कर जिनेंद्र भगवान को नमस्कार करना ऐसे चतुर्विंशति स्तुतीके तीन भेद होते हैं,

वंदना करने योग्य गुरुओंके गुणोंका स्मरण करना यह मनोवंदना है, वचनोंके द्वारा उनके गुणोंका  
सहस्र प्रगट करना यह वचनवंदना है, और प्रदक्षिणा, करना, नमस्कार करना यह कायवंदना है, किये हुए अति-  
' वारोंका मनसे त्याग करना यह मन-प्रतिक्रमण है हाथ हाथ मैने पापकार्य किया है ऐसा मनसे विचार  
करना यह मनःप्रतिक्रमण है, प्रतिक्रमणके सूत्रोंका उच्चार करना यह वाक्य प्रतिक्रमण है, शरीरके द्वारा दुष्कृत्यों  
का आचरण न करना यह कायकृत प्रतिक्रमण है,

मनसे मैं अतिचारोंको भविष्यकालमें नहीं करूंगा ऐसा विचार करना यह मनःप्रत्याख्यान है वचनसे  
अतिचार मैं भविष्यमें नहीं करूंगा ऐसा बोलना अर्थात् भविष्यकालमें मैं अतिचार नहीं करूंगा ऐसा कहना यह  
वचनप्रत्याख्यान है, शरीरके द्वारा भविष्यकालमें अतिचार नहीं करना यह कायप्रत्याख्यान है यह शरीर मेरा नहीं  
है ऐसा मनमें विचार करना अर्थात् शरीरपर मनसे प्रेम दूर करना यह मनःकायोत्सर्ग है, मैं शरीरका त्याग

एवं कृते स्वनिक्षेपे ततो ब्रूते गणेश्वरः ॥

निर्विघ्नमुत्तमार्थं त्वं साधयस्व महामते ॥ ५३१ ॥

विजयोदया—एव कवे गिसने स्वभावत्यागे कृते । केण तेण सुविहिदेण तेन सुचारितेन क्षपकेण । वायओ मणइ सुरिदेति । अण्यार त्यक्तभावागारत्वादनगारः तस्य संवोधनं । उत्तमहुं उत्तमं प्रयोजनं रत्नत्रयं द्रव्यं । साधेहि साधय । तुमं त्वं । अविग्घेण अविघ्नेन ।

आचार्य आह—

मूलारा—गिसने आत्मभारत्यागे । उत्तमहुं उत्कृष्टप्रयोजनं रत्नत्रय । साधेहि साधय संपूर्णकुरु । तुमं त्वं ॥

अर्थः—इस प्रकार जब क्षपक अपना अभिप्राय आचार्यके पास जाकर व्यक्त करता है तब “हे मुने तुमने बाह्य और अर्न्ततर परिग्रहोका त्याग किया है, इसलिये अब तुम निर्विघ्नतासे उत्तम प्रयोजन जो रत्नत्रय उसको सिद्ध करो.

धण्णोसि तुमं सुविहिद एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ ॥

संसारदुक्खमहणीं धेत्तुं आराहणपडायं ॥ ५३३ ॥

धन्यं स त्वं वंदनीयो बुधानां । साधो ! बुद्धिनिदिचिता चास्तमोहः ॥  
यस्यासन्नाराधनां सिद्धिदूती तीक्ष्णां जन्मारागशस्त्रीं ग्रहीतुम् ॥ ५३२ ॥

विजयोदया—धण्णोसि तुमं पुण्यवानसि भवान् । सुविहिद तेण परिसओ जस्स णिच्छओ जाओ । उपल-  
क्षणपरं मनोक्षाहारग्रहणे ईदृग्यस्य निश्चयो जात । संसारदुक्खमहणी संसारे चतुर्गतिपरिभ्रमणे यानि तु खानि तन्मर्दनो  
द्यता । धेत्तु ग्रहीतुं । आहारणापडागं आराधनापताकां । रत्नत्रयाराधनया कर्मोण्यपयान्ति । तदपगमात्तदुःखनिवृत्ति-  
प्रति भावः । उपसया ॥

सुरिराराधकं प्रोत्साहयति—

मूलारा—संसारदुक्खमधणीं चतुर्गतिभ्रमणक्लेशविनाशोद्यता । रत्नत्रयाराधनया हि कर्मोण्यपगच्छन्ति  
तदपगमाच्च तदुःखनिवृत्तिरिति भावः ।

अर्थ— हे क्षपक तुम बड़े पुण्यवान हो, क्योंकि, चतुर्गतिओमें घुमानेवाले इस संसारमें उत्पन्न होनेवाले

दुःखोंका नाश करनेवाली आराधनापताका हाथमें ग्रहण करनेका तुमने निश्चय किया है. इस रत्नत्रयरूप आराधनासे कर्मोंका नाश होता है. कर्मोंका नाश होनेपर दुःखका अभाव होता है.

अच्छाहि ताम सुविहिद वीसत्यो मा य होहि उव्वादो ॥  
पडिचरएहिं समंता इणमठं संपहारेमो ॥ ५१४ ॥  
महामते ' तिष्ठ निराकुलः स्वं प्रयोजनं यावदिदं त्वदीयं ॥  
समं सहायैरधारया मस्तत्त्वेन कृत्यं हि परीक्ष्य सद्भिः ॥ ५३३ ॥  
इति उपसर्पणसूत्रम् ।

विजयोदया—अच्छाहि ताव सुविहिद आस्त्व तावद्यते । वीसत्यं विश्वस्तं । मा य होहि उव्वादो व्याकुलितचित्तो मा च भू । पडिचरगेहिं समं प्रतिचारकै. सह । इणमठं इदं प्रयोजन । संपहारेमो संप्रधारयामः । उवसंपा निरूपिता ।

सूरिः क्षपकमाश्रयमाह—

मूलारा—अच्छाहि आस्त्व तिष्ठ । वीसत्यो विश्वस्तः । उव्वादो व्याकुलितचित्तः । इणमठ इदं प्रयोजनं तव । संपहारेमो पर्यालोचयामः ॥ उवसंपत् ॥ सूत्रतः ॥ १८ ॥ अंकत ॥ ६ ॥

अर्थः—हे क्षपक ! अब तुम निःशंक होकर हमारे संघमें ठहरो. अपने मनमेंसे खिन्नताको दूर भगाओ. हम प्रतिचारकोंके साथ तुमारे विषयमें अवश्य विचार करेंगे. इस प्रकार उपसंपाधिकार समाप्त हुआ.

इत उत्तरं पडिच्छा इति सूत्रपदव्याख्या—

तो तस्स उत्तमे करणुच्छाहं पडिच्छदि विदण्हू ॥  
खीरोदणदवुगहदुण्णए समाधीए ॥ ५१५ ॥  
आचार्यः करणोत्साहं विज्ञातुं तं परीक्षते ॥  
जिघृक्षविचिकित्साभ्यामुत्तमार्थं समाधये ॥ ५३४ ॥  
इति परीक्षणम् ।

विजयोदया—तो पश्चात् । तस्स तस्य क्षपकस्य । उत्तमष्टे करणुच्छाहं रत्नत्रयाराधनाक्रियोत्साहं । पडिच्छदि परीक्षते । विदण्ह मार्गः । खीरोदणद्वुगहदुगुणणए क्षीरोदनद्वयग्रहणं मनोबाह्वायग्रहणोपलक्षणं । जुगुप्सापरेण समाधीण समाधिनाह्वारगतं लौल्यमस्य किं विद्यते न वेति परीक्षते । इयमेका परीक्षा । समधिणिमित्तं पडिच्छा ।

अयं धूरिः किमाहारेऽयं लौल्यमस्ति न वेति समाध्यर्थं परीक्षते इत्येकया गायया सूत्रयति—

मूला—विदण्ह मार्गः । खीरोदणद्वुगहदुगुणणए क्षीरोदनद्वयं मनोबाह्वारोपलक्षणं तस्य अवग्रहो ग्रहणं तत्र विचिकित्सा निदा तथा । अथवा उत्तुष्टो ग्रह उद्ग्रह आसक्तिः मनोबाह्वारासक्तिर्निदाभ्यामित्यर्थः । समाधीण समाधिनिमित्तं । उक्तं च—

तत्तोनन्तमार्ये परिणमवृद्धिपरीक्षणत्सूरिदारवोध ।

दृव्यादिसद्रव्यरनोपयोगे रत्या जुगुप्सा विधिना समार्थो ॥

परीक्षा । सूत्रतः ॥ १९ ॥ अंकतः ॥ १ ॥

इसके आगे पडिच्छा नामक सूत्रपदकी व्याख्या लिखते हैं—

अर्थ—मार्गज्ञ आचार्य यह क्षपक रत्नत्रयाराधनाकी क्रिया करने में उत्साही है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं, यह क्षपक समाधिभरणके लिये उद्युक्त हुआ है परंतु दूधमात वगैरह मनोहर मिष्ट आहारोंमें यह अभिलाषी है या उसे विरक्त है इसका भी आचार्य निर्णय करते हैं, यह समाधिके निमित्त परीक्षा है

खवयस्सुवर्सपणस्स तस्स आराधणा अविकखेवं ॥

दिव्वेण णिमित्तेण य पडिलेहदि अप्पमत्तो सो ॥ ५१६ ॥

आराधनागतं क्षेमं क्षपकस्य समीयुषः ॥

दिव्येन निःप्रमादोऽसौ निमित्तेन परीक्षते ॥ ५१६ ॥

निजयोदया—सवर्गसं क्षपकस्य उवसंपणस्स अन्तर्मातृकमुपाश्रितस्य । तस्स तस्य । आराधणा अविक्रमेव आराधनाया अविशेषं । पडिलेहदि परीक्षते । क ? सो स सुनिर्निर्वाणः । अप्पमत्तो अप्रमत्त । केण दिव्वेण देवतोपदेशेन । णिमित्तेण निमित्तेन वा इयमेका परीक्षा ।

अथ स्वपादमूलमुपाश्रितस्य क्षपकस्याराधनानिर्विघ्नना राज्यादिकं च परीक्ष्य स्वीकारं करोतीति प्रतिलेसा गायह्वयेनोपदिशति—

मूलारः—आराधना अवच्छेदं आराधनाया अव्याक्षेपं निर्विघ्नतां । दिव्येण देवतोपदेशेन, निमित्तेण य 'अंगं संरं वंजण लक्ष्णं च छिण्णं च भोमं सिमिण्णतरिकरं' इत्यष्टांगनिमित्तेन वा पडिलेहदि परीक्षते निरूपयति वा ।  
अर्थ—हमारे संघका इस क्षपकने समाधिफलिये आश्रय लिया है इसकी समाधि निर्विघ्न समाप्त होगी या नहीं इस विषयका भी आचार्य देवताके उपदेशसे अथवा शुभाशुभ निमित्तोंसे निर्णय करलेते हैं. यह एक परीक्षा है

रज्जं खेचं अधिवदिगणमप्याणं च पडिलिहित्ताणं ॥

गुणसाधणो पडिच्छदि अप्पडिलेहाणु बहुदोसा ॥ ५१७ ॥

तं गृह्णति मार्गवेदी गणं स्वं राज्यं क्षेत्रं भूमिपालं निरूप्य ॥

साधुं सुरेगृह्णतो निःपरीक्षं चित्रा दोषा दुर्निचारा भवन्ति ॥ ५१६ ॥

इति निरूपणम् ।

विजयोदया—रज्जं खेचं अधिवदिगणमप्याणं च राज्यं, क्षेत्रं, देश ग्रामनगरादिकं अधिपतिं गणमात्मनं च । पडिलिहित्ताण परीक्ष्य । गुणसाधणो गुणान्तरमप्यादीन् साधयति य सूरि स पडिच्छदि प्रतिगृह्णाति । क ! क्षपकं । अन्यत्र गुणसाधणं इति पाठ गुणान्साधयितु उद्यतं साधुं प्रतिगृह्णाति । अप्पडिलेहाणु उक्ताया परीक्षाया अभवे । बहुदोसा सा बहुवो दोषा भवन्ति के ते इति चेदुच्यते । निरस्ताद्वारगृह्णो न वेति यदि न परीक्षित, आहारे दुष्णावाञ्चकदिनं तेमेव चित्तयतीति कथमारोचक स्यात् । क्षुत्पिपासापरीपहावप्यभासहानावृत्तुर्वन् धर्मद्रूपण कुर्यात् । आराधनाया व्याक्षेपो भवति न देयपरीक्ष्य यदि त न त्याजयति तस्यापि न कार्यसिद्धिः स्वयं च निधत्ते जनेन । राज्यक्षेत्रादीना शुभाशुभ परीक्षा येन कृता सोऽशुभं चेत्पश्यति तस्य राज्यक्षेत्रादिकं अप्यदुद्दिश्य त गृहीत्वा याति । तथा च तस्यो पकारको भवति । अपरीक्षाया तु राज्यादिभ्यो स च क्षपक स्वयं च क्लिश्यति । गणस्य चोपद्रव यदि पश्यति, आत्मनो वा न प्रारभते कार्य । अपरीक्षितकारी सूरिनं तस्योपकारको न चात्मन इति दोषा ॥

भाविसमाधिनिर्णयार्थं परीक्षान्तरमिदं—

मूलारः—येन देशग्रामनगरादिक । अद्विदिं अधिपतिं राजानं । गण संघ । अप्याणं आत्मशरीरं । पडिलिह-  
णाण परीक्ष्य । गुणसाधणो सम्यक्त्वादिगुणसंपादक. सूरि. गुणसाधणमिति पाठे गुणान्साधयितुमुद्यतं क्षपकं । पडि-



च्छदि प्रतिगृण्णाति । अप्पडिलेहाए उकायाः परीक्षाया अभवे बहुदोसा वहवोऽसमाधिकरा दोषाः स्यु । तथा हि—  
 निरस्ताहावृण्णो न वेति यदि न परीक्षित तदा आहारे तुणावात्रक्तदिवं तमेव चितयति इति कथमारोपक- स्यात् ।  
 क्षुत्पिपासापरीपद्वावष्टभासहनात्प्लुर्वन् धर्मदूषणं च कुर्यात् । आराधनाया ज्याक्षेपो भविष्यति न वेत्सरीस्य यदि ते  
 त्याजयति । तदपि न कार्यसिद्धिः । स्वयं च निचये जनेन । राज्यादीना शुभाशुभपरीक्षा येन कृता सोऽशुभं वेत्स्य  
 स्यति तदा शुभं राज्यादिकमुद्दिश्य तं गृहीत्वा गच्छति तथा च तस्योपकारक स्यात् । अपरीक्षाया तु राज्यादिश्रेयो च  
 क्षपकः स्वयं च मरिः क्लिश्यते गणस्य चोपद्रवं यदि पश्यति स्वयं वा तदा न प्रारभते कार्य । तदपरीक्षितकारी सूरिनं  
 तस्योपकारको नापि स्वस्येति ॥ प्रतिष्ठेरा ॥ सूत्रतः । २० । अंकतः २ ॥

अर्थ—राज्य, गाँव, गृह, वगैरह स्थान, राजा, गण और स्वयं इन सबकी परीक्षा कर समाधिके लिये  
 क्षपकका स्वीकार करते हैं यदि राज्यादिक क्षपककी समाधिमाघनेके लिये अनुकूल हो तो सम्यक्त्वादि गुणोंको  
 सिद्ध करनेवाले आचार्य सम्यक्त्वादि गुणोंको सिद्ध करनेके लिये उद्युक्त हुए क्षपकका स्वीकार करते हैं. यदि इनकी  
 परीक्षा बिना करे ही क्षपकका स्वीकार करनेपर बहुदोष उत्पन्न होते हैं

आचार्य प्रथम क्षपककी वह आहारमें लपट है या नहीं इस का परीक्षण करते हैं

यदि वह आहारलपट होगा तो रातदिन आहारकाही चिंतन करेगा फिर वह आराधक कैसा होगा ?  
 क्षुधा परीपह, प्यासका दुःख सहन करनेमें असमर्थ होकर जोर जोरसे चिंछाएगा और धर्मको दूषण देगा.

क्षपकके आराधनामें विघ्न उत्पन्न हो गया न होगा इसका निर्णय यदि नहीं किया तो, क्षपकका विघ्न  
 उपस्थित होनेपर त्याग करेगा जिससे उसकी कार्य मिद्धि होगी नहीं और आचार्यकी भी निंदा होगी.

इस क्षपकके समाधिकार्यसे राज्यादिकका शुभ होगा या अशुभ होगा इसका भी परीक्षण आचार्य  
 करते हैं राज्यादिकका अशुभ होगा ऐसा दीखनेपर उस राज्यादिकका त्याग कर अन्य राज्यादिकका  
 आश्रय आचार्य लेते हैं. तब अन्य राज्यको भी वह समाधिकार्य हितकर होता है यदि शुभा  
 शुभकी परीक्षा नहीं की तो राज्यग्रंथ हो जानेपर क्षपकको संक्षेप होगा और आचार्यको भी संक्षेप होगा  
 यदि गण और स्वत को इससे उपद्रव होगा ऐसा मालुम हुआ तो इस कार्यका प्रारंभ नहीं करते हैं. परीक्षा  
 न कर प्रवृत्ति करनेसे क्षपकको च खुद आचार्यकी भी हानि होगी.

परीसान्तरे आपुच्छा इत्येतत्सूत्रपदं व्याख्ये—

पडिचए आपुच्छिय तेहिं णिसिद्धं पडिच्छेदे खवयं ॥

तेसिमाणापुच्छाए असमाधी होज्ज तिण्हं पि ॥ ५१८ ॥

आपुच्छय क्षपकं सूरियुह्माति प्रतिचारकैः ।

अनुज्ञातमपुच्छायां त्रयाणां मनसः क्षतिः ॥ ५३७ ॥

इति पृच्छा ।

विजयोदया—आपुच्छा । पडिपरए प्रतिचारकान्यतीन । आपुच्छिय आपुच्छय रत्नत्रयाराधने अस्मानय सहायत्कामयन् प्राधूर्णको यति । साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणं च तीर्थकरनामकर्मणो मूलमिति भवद्भिरवगतमेव, ततो ब्रूत किमस्माभिरयमनुग्राह्यो न वेति, परार्थवन्तः परार्थबद्धपरिकरा हि प्रायेण लौकिका अपि किमुत यतयः । सकल-मासकमव्यलोकं संसारपंकानुसरादगाधादुचारयितुमुद्यतः । ‘अप्यहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहिंयं च कायव्वमिति’ धवनां च । एतदनुग्राह्ययोगः किं कार्यं इति प्रष्टव्यं इति कथयति । तेहिं परिचारकैः । णिसिद्धं निष्ठुं अभ्युपगतं । पडि-च्छेदे इति पृष्टमिति । खवयं क्षपकं । तेस्विमणापुच्छाए परिचारकाणामपरिप्रेक्षे तु । असमाधी होज्ज तिण्हं पि सूरैः क्षप-कस्य संशयश्च ऽ असमाधि संक्षेपो भवेत् । अस्माभिरयमपरिगृहीत इति विनये वैयावृत्ये वा अनुयोगादीना मम न भवति । तत्रापि इति क्षपकस्य संक्षेपो भवति । गुरोरपि संक्षेपो भवति, मयास्योपकारे प्रारब्धे सहायभावमिमे नोप-यसि पृष्टमिति । परिचारकाणां च संक्षेपो यदुज्जमसाध्यं कार्यमस्मान्गुरुर्ननुमोदयति । न बलावलमस्माकं परीक्षते इति ॥

अथ न सिद्धिरसहायस्येति सप्ताधिमारेणे गुणवत्तमं सहकरिणमपेक्ष्य क्षपकस्यात्मानं समर्पितवतः समाधिसिद्धिः, तत्रैतुष्ययुक्तेन दिव्यनिमित्तबलेन च सुनिमित्तबलेन च सुनिरूप्य स्वरहितकरणचणो निर्घोषकाचार्यस्तत्प्रतिप्रदणार्थं स्वराजमापृच्छयमेकया गाथया निरूपयितुमिष्टमाह —

मूढारा—आपुच्छिय आपुच्छय । तत्प्रभो यथा—अयं प्राधूर्णकः साधुः समाधिमारेणऽस्मान्सहकारिणः कामयते । साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणं च तीर्थकरनामकर्मणः कारणमिदं भवद्भिः सुनिश्चितमेव । ततो ब्रूत किमस्माभि रयं अनुग्राह्यो न वेति । परार्थबद्धपरिकरा हि प्रायेण लौकिका अपि, किमु यतयः । सकलमासप्रमव्यलोकं दुःखान्धेरुत्तार-यितुमुद्यतः । ‘अप्यहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहिंयं च कायव्वं’ इति वचनादेतदनुग्राहे उद्योगोऽवश्यकरणीय एवेति । णिसिद्धं निष्ठुमभ्युपगतं । असमाधी संक्षेपः ॥ तिण्हं पि सूरैः, क्षपकस्य, संघस्य च । तत्र मयास्योपकारे प्रारब्धे सहायभावमिमे नोपयान्तीति सूरैः संक्षेपः । अस्माभिरयमपरिगृहीत इति विनये वैयावृत्ये वा परिचारेकेष्वप्रवर्तमानेषु मम

न किं चिच्छुर्वन्ति किमिहाहमायात इति क्षपकस्य संक्लेशः । बहुजनसाध्यमिदं कार्यं न चास्मान्गुरुनुमोवयति नापि बलावलमसाकं विचारयति इति परिचारकाणां संक्लेशः ॥ आपृच्छा सूत्रतः २१ अंकतः १ ॥

परीक्षाके अनन्तर आपृच्छा नामक ध्वजपदका व्याख्यान करते हैं—

अर्थः—रत्नत्रयकी आराधना करनेके कार्यमें सहायक चाहता हुआ यह क्षपक अपने संघमें आया है, साधुके उपश्रयणदिकोंमें आया हुआ विद्वद् दूर करना और उसकी शुश्रूषा करना तीर्थंकर नामकर्म बंध होनेमें कारण है यह बात आपको विदित ही है । इस लिये आये हुये इस अतिथिको हम अनुग्रह-साहाय्य करे वा न करे इस विषयमें आप्रश्नी जो सम्मति होगी सो कहो—जगतमें इतर लोक भी परोपकार करनेमें उद्यमी दीखते हैं, हम तो मुनि हैं, संपूर्ण अस्वभावियोंको संसाररूपी कीचड़से-जिससे निकसना बड़ी कठिन है और जो अगाध है-निकालनेमें हमको हमेशा उद्युक्त रहना चाहिये, 'आत्महित करना चाहिये और शक्य हो तो परहित भी करना चाहिये' इस वचनके अनुसार इस क्षपकके ऊपर अनुग्रह करना चाहिये क्या? ऐसा आचार्यके पूछने पर यदि परिचारकोंने अनुग्रह करनेमें सम्मति दी तो आचार्य क्षपकको अंगिकारते हैं यदि परिचारकोंको विनापूछे ही क्षपकका आचार्यने स्वीकार किया तो आचार्य, क्षपक और परिचारक तीनोंको भी असमाधि होगी अर्थात् संक्षेपपरिणाम होगा हमने तो इसका स्वीकार किया नहीं है ऐसा समझकर परिचारक क्षपकका विनय करना, शुश्रूषा करना वगैरे कार्यमें उद्यमी न होनेसे मेरी एक शक्ति नहीं करते हैं ऐसा मनमें विचार कर क्षपक संक्षेपयुक्त होगा मैंने उपकार करनेकी इच्छासे इसको संघमें रख लिया है परंतु परिचारक इस कार्यमें सहायक नहीं होते हैं इस विचारसे गुरुके मनमें भी संक्षेप होगा, समाधिभरण सिद्धि करना यह कार्य बहुत जनकी सहायतासे होनेवाला है परंतु गुरुने हमको विनापूछे ही इस क्षपकका स्वीकार किया है हमारे सामर्थ्य असामर्थ्यका उन्हेने विचारही नहीं किया है ऐसे विचारसे परिचारक संकल्ट होते हैं—

पटिच्छणा इत्येतत्क्षपदं व्याचष्टे—

एगो संथारगदो जजइ सररं जिणोवदोसेण ॥

एगो सख्हिदि मुणी उग्गेहि तवोविहाणेहि ॥ ५१९ ॥

एकः संस्तरकस्थोऽग्नौ यजतेऽगं जिनाञ्जया ॥

दुःकरैः संह्रितवत्यन्यस्तपोभिर्विविधैर्यतिः ॥ ५३८ ॥

विजयोदया—एगो सथारगदो एकः संस्तरमाकूढ । जजह सरीर यन्ते शरीर । जिणोवदेसेण जिनानामुपदेशेन । एगो संह्रितवति मुणीएको मुनिस्तनूकरोति शरीर । उग्रेहि तवोचिद्वाणेहि उग्रैस्तपोविधाने ।

अथ सत्यपि संघसाम्मत्ये सूरिणा अनुग्राह्यत्वेन एक एव समाधिमरणोद्यत प्रतिग्राह्योऽनेकप्रतिग्रहणे मन-समाधानानुसधानानुपपत्तिरिति प्रतिग्राह्यानियमार्थं प्रतीच्छा गाथात्रयेण सूत्रयति—

मूलारा—जजदि यजते तपोऽग्नौ इति शेषः संन्यस्ततीत्यर्थः । एगो अन्यो द्वितीय इत्यर्थः । एतेनैन्दुक भवति । एकः संन्यामपर प्रतिग्राह्यो, द्वितीयश्च सहेयनोद्यतः ॥

पडिच्छणा इत्सूतका विवेचन करते हैं—

अर्थः—एक क्षपक जिर्नश्वर के उपदेशानुसार संस्तरपर चढकर शरीरका त्याग करता है अर्थात् समाधि मरणका साधन करता है । और एक मुनि उग्र अनशनादि तपोंके द्वारा शरीरको शुष्क करता है ।

तदिग्रे णाणुणादो जजमाणरस हु हवेज्जवाघादो ॥

पडिदेसु दोसु तीसु य समाधिकरणाणि हायन्ति ॥ ५३९ ॥

यजमानक्षतेजैस्तृतीयो नानुमन्यते ॥

द्वित्रेषु श्रितपात्रेषु समाधिहीयते त्रयम् ॥ ५३९ ॥

विजयोदया—तदिग्रे णाणुणादो तृतीयो यतिर्नोद्युजात तीर्थकृद्धि एकेन निर्यपकेनानुग्राह्यत्वेन । कुतो यस्मात् । जजमाणस्स खु हवेज्जवाघादो यजमानस्य भवेदेव व्याघात इति । कुतो व्याघात इत्यत्राह । पडिदेसु दोसु तीसु य संस्तेरे पतितयोर्द्वयोस्त्रिषु च क्षपकेषु समाधिकरणाणि चित्तसमाधानक्रिया विनयवेयाद्युत्पादयो द्वीयंते यस्माद्यजमानस्य व्याघात । यस्मादेक एव यजमानो भवति ॥

तृतीयप्रतिग्रहणे दोषमाह—

मूलारा—णाणुणादो नानुमतस्तीर्थकृद्धिस्तृतीय एकेनाचार्येणानुग्राह्यत्वेन । कुत इत्याह—जजमाणस्य तपोऽग्नौ देहं जुह्वत । वाघादो समाधिविघ्न । पडिदेसु दोसु तीसु य संस्तेरे पतितयोर्द्वयोस्त्रिषु वा सत्सु । समाधिकरणाणि चित्त-समाधानक्रियाविनयवैयाद्युत्पादयः । हायन्ति हीयन्ते ॥

अर्थ—तृतीय यति आचार्यके द्वारा अनुग्राह्य होता है ऐसा तीर्थकारने आगममें नहीं कहा है. अर्थात् आचार्य ऊपरकी गाथाके अनुसार दो मुनिओंके ऊपर अनुग्रह करसकते हैं. दो या तीन मुनि यदि समाधिमरणके-लिये संस्तरका आश्रय करेंगे तो उनके अन्तःकरणको धर्ममें स्थिर रखनेका कार्य, विनय, वैयावृत्तादिक कार्य, यथायोग्य नहीं हो सकेंगे जिससे उनके मनको संक्लेश होगा. अतः एकही क्षपक संस्तरारूढ हो सकता है.

तम्हा पडिचरयाणं सम्मदमेयं पडिच्छदे खवयं ॥

भणदि य तं आयरिओ खवयं गच्छस्स मज्झस्मि ॥ ५२१ ॥

एकमेव विधिना यतिं ततः स्वीकरोति स्वसहायसम्मतम् ॥

गृह्यते हि कवलः स एव यः पंडितेन वदने प्रशस्यते ॥ ५४० ॥

इति एकसंग्रहः ।

मध्ये गणस्य सर्वस्य क्षपकं भाषते हितम् ॥

इत्थं कारयितुं शुद्धां विधिनलोचनां गणी ॥ ५४१ ॥

विजयोदया—तस्मात् तस्मात् । एवं एक । पडिच्छदे अनुजानाति । खवयं क्षपकं एकं । पडिचरयाणं सम्मदं प्रतिचारकाणां इष्टं । भणदि य भणति च । तं क्षपकं । क ? कायरिओ आचार्यः । क ? गच्छस्स मज्झस्मि गणस्य मध्ये । क्षपकस्य शिक्षां किमर्थं गणोऽपि मार्गक्षो यथा स्यात् । पडिच्छणेनस्स । उपसहारमाह—

मूलारा—भणदि शिक्षामितिक्षेप । मज्झस्मि गणोऽपि मार्गक्षो यथा स्वादित्येवमर्थं गणमध्ये शिक्षयति ॥ एकप्रतीच्छा ॥ सूत्रतः ॥ २२ ॥ अंकतः ॥ ३ ॥

अर्थ—इसलिये आचार्य परिचारक मुनिओंके संमत्यनुसार एक क्षपक मुनिका स्वीकार करते हैं. और गणके मध्यमें उसको आगे की गाथाओंमें कहे मुजव उपदेश करते हैं. गणके बीचमें आचार्य क्षपकको उपदेश देनेका कारण यह है कि, गणको भी समाधिका अर्थात् रत्नत्वका स्वरूप माळूम हो. अर्थात् समाधिमरणका अंगीकार करते समय कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिये इसका स्वरूप माळूम होनेके लिये गणके बीच क्षपकको उपदेश देते हैं.

एवमसौ क्षपक वदतीति कथयति—

फासेहि तं चरित्तं सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण ॥

सव्वं परीसहचमुं अधियासंतो धिदिबलेण ॥ ५२२ ॥

समस्तं स्पृश चारित्रं निरस्य सुखशीलताम् ॥

परीषहचमुं घोरां सहमानो निराकुलः ॥ ५४२ ॥

विजयोदया—फासेहि प्रतिपद्यस्व । तं भवान् । किं ? चरित्तं चारित्र । सव्वं सुहसीलद् सर्वो सुखशीलता । पयहिदूण त्यक्त्वा । सुखशीलतया हि चारित्र मवं भवति । पिंडस्योपकरणस्य वसतेश्चाशोधनात् । मनोब्राह्मणलंपटो न भिक्षां शोधयति । नान्युपकरणं । सुखशील उद्गमादिदोषं न परिहरति मनोक्षोपकरणवद्धाभिलाषत्वात् । क्लेशासहो यस्य कस्यचिद्वसतावास्ते ॥

अथालोचनां गाथावत्त्वारिशल्या व्याचक्ष्णस्तत्रात्मपादमूलपुपाश्रितभाराघकं परिचारकसंमतिपत्त्या प्रतिगृह्य तदालोचनां श्रोतुकाम सूरिस्त्वमादावित्यमालोचयितुं प्रोत्साहयन्गाथात्रयमाभिव्यध्यादित्यनुशास्ति—

मूलरा—फासेहि प्रतिपद्यस्व । तं त्वं । सुहसीलद् सुलभावतया हि चारित्रं भंदायते । पिंडस्योपकरणस्य वसते-  
श्चाशोधयन् । मनोब्राह्मणलंपटः खलु न भिक्षा शोधयति । मनोक्षोपकरणाभिलाषुक्स्तु नोद्गमादिदोषं परिहरति ।  
क्लेशासहो यस्य कस्यचित्सज्जितायां वसतावास्ते । अधियासंतो सहमानः ॥

क्षपकको आचार्यका उपदेश—

अर्थ—हे क्षपक तुम अपना सुखस्वभाव छोड़कर संपूर्ण चारित्तको धारण करो. इस सुखस्वभावसे चारित्त भंद होता है. सुखस्वभावी मुनि आहार, उपकरण और वसतिका इनकी शुद्धि नहीं करता है. मनोज्ञ आहारसे लंपटी बनकर उद्गमादिदोषोंका त्याग करता नहीं. अच्छे उपकरणोंमें प्रेमायुक्त होकर उसके दोषोंका परिहार नहीं करता है. क्लेश सहनेमें असमर्थ होकर जिस किसी वसतिकामें रहता है. इस लिये तुम सुखस्वभावका त्याग करो. अपने धैर्यके सामर्थ्यसे सर्व परीपहोंकी सेनाको जीतकर चारित्तका तुम रक्षण करो.

इन्द्रियजयं कपयजयं च कुर्वित्युपदिशति--

सदे रूवे गंधे रसे य फासे य णिजिज्जाहि तुमं ॥

सव्वेसु कसाणसु य णिगहपरमा सदा होह ॥ ५२३ ॥

रूपगंधरसस्पर्शशब्दानां मा स्म भूर्वशः ॥

कषायाणां विधेहि त्वं शत्रूणामिव निग्रहम् ॥ ५४३ ॥

विजयोक्त्वा--सदे रूवे गंधे इत्यनया । ननु शब्दादयो विषयास्तेषां जयो नाम क ? तद्विषयो हि रागो वंघ-  
हेतुत्वात् तत्प्रतिपक्षभावनया जेतव्यत्वेनोपदेष्टव्य । अत्रोच्यते--सोपस्कारत्वात्सूत्राणां सदे, रूवे, गंधे, रसे य फासे य  
राग तुमं जिजाहि इति पदसंबंधः । अथवा शब्दादीनां विषयाणां वशेन स्थित इति कृत्वा जेता भण्यते यथा पुरुषो जितो  
ऽनयेत्युच्यते या पुरुषवशालुवर्तिनी न भवति । सव्वेसु कसाणसु य सर्वेषु कषायेषु वा क्रोधादिषु । णिगहपरमो निग्रह-  
प्रधान क्षमादिभावनया सदा भव ॥

इन्द्रियजयं कपयनिग्रहं च कुर्वित्युपदिशति--

मूलारा--णिजिज्जाहि निःशेषेण जय त्वं शब्दादिविषयं रागमिति शेषः । अथवा शब्दादीन्विषयान्निर्जय

तद्वशो मा भूतित्यर्थः । णिगहपरमो निग्रहप्रधानः ॥

इन्द्रियैर्लोकैः और कषायैर्लोकैः तुम जीतो ऐसा उपदेश -

अर्थ--शब्द, रस, गंध, और स्पर्श ये पांच इंद्रियोंके विषय हैं उनको कैसा जीत सकते हैं ? शब्दादिकोंमें  
उत्पन्न होनेवाले रागभावकी जीतना चाहिये क्योंकि वह कर्मबंधका कारण है रागभावको उसके विरुद्ध भावनासे  
जीतना चाहिये ऐसा यहां उपदेश करना योग्य था परंतु आचार्य शब्दादिकोंको जीतनेके लिये क्षपकको उपदेश  
दे रहे हैं यह योग्य जचना नहीं।

उत्तर--क्षत्त सोपस्कार रहते हैं अर्थात् उसमें प्रकरणचश और कुछ शब्द जोडकर संबंध ठीक मिलाता  
पढता है 'सदे रूवे गंधे रसे य फासे य रागं तुमं जिजाहि, ऐसा पद संबंध करना चाहिये. अर्थात् यहां ऐसा अर्थ  
समझना चाहिये--हे क्षपक तुम शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श ऐसा पंचेंद्रियोंके विषयोंमें जो रागभाव उत्पन्न  
होता है उसको जीतकर संपूर्ण क्रोधादिक कषायोंका क्षमा, मार्दव, आर्जव, और शौचभावनासे निग्रह करो

शब्दादिक विषयोंके आधीन जो नहीं रहता है वह शब्दादिकोंका जेता कहा जाता है जैसे जो स्त्री पुरुषके वश नहीं रहती है उसको हमने पुरुषको जीता है ऐसा लोक कहते हैं अर्थात् शब्दादिक कर्णयोंके स्वाधीन हे क्षपक । तुम कदापि न रहोगे तो तुम इन्द्रियजयी कहलावोगे ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है

एव कृतैर्येयकपायजेयन मया पञ्चात्किर्कृतव्यमित्यन्त्रोत्तरमाचष्टे—

हंतूण कसाए इंदियाणि सव्वं च गारवं हंता ॥

तो मलिदरागदोसो करेहि आलोयणासुद्धि ॥ ५२४ ॥

रागद्वेषकपायाक्षसंज्ञाभिगौरवादिकम् ॥

विहायालोचनां शुद्धां त्वं विधेहि विशुद्धधीः ॥ ५४४ ॥

विजयोदया—हंतूण हत्वा । कसाए कपायन् । इंदियाणि इंदियाणि च हत्वा । सव्वं च गारवं हंता सर्वं च गारवं हत्वा ऋद्धिरससातभेदात्त्रिविकल्पं । तो पञ्चात् । मलिदरागदोसो मुदितरागद्वेषः । करेहि कुरु । आलोयणासुद्धि आलोचनाख्या शुद्धि । रागद्वेषो असत्यवचनस्य हेतु इति परित्यागद्वेष इति परित्याग्योचिति कथ्यते ॥ रागान्न पश्यति नरो दोषान् । देयाद्गुणान्न ग्रहीते ॥ तस्माद्गद्वेषौ व्युदस्य कार्योणि कार्योणि ॥

एवमिन्द्रियजयं कृत्वा पञ्चात्किं कुशमिदमित्यत्राह—

मूलरा—हंता हत्वा । मलिद मर्दितौ । आलोयणासुद्धि आलोचनाख्या शुद्धि । रागद्वेषावसत्यवचनस्य हेतु इति परित्याग्यौ । उक्तं च—रागान्न पश्यतीति किमिति परस्मै स्वच्यवनकल्प निवेदयति । निर्वधो भवता मुमुक्षुणा न कार्यो यतः ॥

इन्द्रियजय और कपायजय करनेके अनंतर मेरा क्या क्या कर्तव्य है इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

अर्थ—क्रोधादिरूपाय और स्पर्शनादिक इन्द्रियोंको जीत कर ऋद्धिरागव, रसगाव और सातगाव ऐसे तीन गारवोंको हे क्षपक तुम जीतो, तदनंतर रागद्वेषोंका मर्दन कर आलोचनारूप शुद्धि करो, रागभाव और द्वेषभाव असत्य वचनके कारण हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिये रागभावसे मनुष्य दोषको देखता नहीं और द्वेषसे सद्गुणोंको ग्रहण नहीं करता है इसलिये रागद्वेषोंका त्याग कर कार्य करने चाहिये,



निरतिचारं मदीयं रत्नत्रयं ततः किं गुरोर्निवेद्यामीत्याचष्टे—

छत्तीसगुणसमण्णागोदेण वि अवस्समेव कायब्बा ॥

परसक्खिया विसोधी सुहुवि ववहारकुसलेण ॥ ५२५ ॥

सपट्त्रिंशदगुणेनापि व्यवहारपटीयसा ॥

कर्तव्येणा महाशुद्धिरवश्यं परसाशिका ॥ ५४५ ॥

विजयोद्या—छत्तीसगुणसमण्णागोदेण वि पट्त्रिंशद्वनसमन्वितेनापि । अवस्समेव होइ कायब्बा अवश्यमेव भवति कर्तव्या । का विसोही विशुद्धिः शुभ्रतुपायातिचाराणामपारुति ॥

आयारवमादीया अट्टगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो ॥

बारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुण्येयब्बा ॥ ५२६ ॥

अष्टाचारादयो ज्ञेयाः स्थितिकल्पा गुणादश ॥

तपो द्वादशधा षोढावश्यकं षट्षडाहतम् ॥ ५४६ ॥

सुहुवि ववहारकुसलेण सुट्ठु अपि प्रायश्चित्तकुशलेनापि । अष्टौ ज्ञानाचाराः दर्शनाचाराश्चाष्टौ, तपो द्वादशविधं, पंच समितयः, तिस्रो गुप्तयश्च पट्त्रिंशद्गुणाः ॥

मूलारा—छत्तीसगुणसमण्णागोदेण वि पट्त्रिंशतागुणैः समन्वागतेन किं पुनर्येत्येत्यतिशयोक्त्यै अपिः । पट्त्रिंशद्गुणा यथा—अष्टौ ज्ञानाचारा अष्टौ दर्शनाचाराश्च, तपो द्वादशविधं, पंच समितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेति संस्कृतटीकाया । प्राकृतटीकायां तु अष्टाविंशतिमूलगुणा । आचारवत्तादयश्चाष्टौ इति पट्त्रिंशत् । यद्यि वा दश आलोचना गुणा, दश प्रायश्चित्तगुणा, दश स्थितिकल्पाः, पण्डेजीतगुणाश्चेति पट्त्रिंशत् । एवं सति सूत्रेऽनुभूयमाणं गथा प्रक्षिप्तं लक्ष्यते ॥

परसक्खिया आचार्यादिसमस्या । विसोही सम्यक्त्वायतिचाराणामपारुतिः । सुहुवि ववहारकुसलेण अतीव प्रायश्चित्तनिपुणेनापि ॥

मेरे त्रत निरतिचार है इसलिये गुरुको मैं क्या निवेदन करूं? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—छत्तीस गुणोंके धारक व्यवहारकुशल, अर्थात् प्रायश्चित्त दानमें कुशल ऐसे आचार्योंकोभी अन्य आचार्योंके साक्षीसे आलोचना करनी चाहिये, अन्यथा उनके रत्नत्रयमें लगेहुये दोष नष्ट नहीं होते हैं।

आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, वारा तप, पांच समिति और तीन गुप्ति ऐसे आचार्यके छत्तीस गुण हैं. अथवा आचारवचादिक आठ गुण, आचेलक्यादिक स्थितिकल्पके दस गुण, वारा प्रकारके तप तथा छह आवश्यक ऐसे आचार्यके छत्तीस गुण हैं.

सव्वे वि तिणसंगा तित्थयरा केवली अणंतजिणा ॥

छदुमत्थस्स विसोधिं दिसति ते वि य सदा गुरुसयासे ॥ ५२७ ॥

सर्वे तीर्थश्रुतोऽनंतजिनाः केवलिनो यतः ॥

छद्मस्थस्य महाशुद्धिं वदन्ति गुरुसन्निधौ ॥ ५४७ ॥

विजयोदया - सर्वेपा तीर्थश्रुताभिमानी-गुरोर्निवेद्यान्मपराध तदुक्तं प्रायश्चित्त कृत्वा शुद्धिः कार्यति । सव्वेवि तित्थयरा सर्वेऽपि तीर्थकराः । तिणसंगा तीर्णसंगा उल्लिखितपरिश्रद्धाग्राधपका । सव्वे वि केवली सर्वेऽपि केवलिनः । परिप्राप्तस्वर्गवतरणाधिकल्याणत्रयाः । केवलज्ञानावरणक्षयद्विधगतविश्वज्ञाना. केवलिनः । अणतजिणा अनंतसंसार-कारकथाचारित्रसर्वघातिमिथ्यात्वं द्वादशकपायाश्च अनंतं तज्जयादन्तजिना आचार्योपाध्यायसाधव । तेऽपि सर्वे सदा गुरुसकासे सोधिं दिसति सदा गुरुसमीपे रत्नत्रयशुद्धिं दर्शयन्ति । कस्य ? छदुमत्थस्स छद्मस्थस्य संवधिनीमिति केचिद्वदन्ति । रत्नत्रयपरिणामात्मको रत्नत्रयविशुद्धया भवतीति छद्मस्थस्य विशुद्धिरित्युक्तवानय ।

न चैतदप्रमाणकं सर्वतीर्थकुदाज्ञया छद्मस्थान्प्रति गुरुसाक्षिकायाः शुद्धेः प्रदर्शिकायाः सद्भावादिति दर्शयन्नाह-  
मूलारा - तिणसंगा तीर्णोऽतिक्रांतः सगो यैस्ते त्यक्तग्रंथा इत्यर्थः । अणंतजिणा अनंतसंसारकारणत्वादि कर्मजातं जितवंत एकदेशेनाचार्योपाध्यायसाधवश्च चोत्र विलुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्य । तीर्थकरणमेव वा विशेषणमिदं । तेहि संसारकारणत्वादि जितवंतस्तत्करणकर्मीनिर्मूलकत्वात् ।

अर्थ - सर्व तीर्थकरोकी ऐसी आज्ञा है कि, गुरुको अपने अपराध कहकर उन्होंने दिया हुआ प्रायश्चित्त लेकर आत्मशुद्धि करनी चाहिये सर्व तीर्थकर परिग्रहरूप अगाध कीचड़को उल्लिख कर मुक्त होगये हैं. सर्व केवल-ज्ञानी पुरुष स्वर्गसे इस भूतलपर जन्म लेकर तीन कल्याणोंके धारक हुए हैं. केवलज्ञानावरण कर्मके क्षयसे संपूर्ण विधवा ज्ञान उनको हुआ था. चारित्र्यमोहनीय कर्म, मिथ्यात्व और अप्रत्याख्यानदि वारा कपाय इनको अनंत संज्ञा है, इनके ऊपर जिन्होंने जय प्राप्त कर लिया ऐसे आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओंको यहां अनंतजिन

यह मंझा दी है. ये सर्व महासुनिगण गुरुके समीपही छद्मस्थकी रत्नत्रयशुद्धि प्रायश्चित्तसे होती है ऐसा कहते हैं. रत्नत्रयमें निर्मलता उत्पन्न होनेसे यह आत्मा रत्नत्रयमय होता है. इस लिये छद्मस्थोने प्रायश्चित्त धारण कर विशुद्ध होना चाहिये.

यो न वेत्यतिचारजातमलनिराकरणकम् सोऽन्यस्मे कथयेद्यस्तु स्वयं वेत्ति स क्रस्मादलो परस्मे कथयति-  
तदुक्तं वाचरतीत्याह—

जह सुकुसलो वि वेज्जो अण्णस्स कहेदि आदुरो रोगं ॥

वेज्जस्स तस्स सोच्चा सो वि य पडिकम्ममारभइ ॥ ५२८ ॥

कुसलोऽपि यथा वैद्यः स्वं निगद्यातुरो गदम् ॥

वैद्यस्य परतो ज्ञात्वा विदधाति परिक्रियाम् ॥ ५४८ ॥

विजयोदया—जह सुकुसलो वि वेज्जो यथा सुउ कुसलोऽपि वेद्य । व्याधिनिरासे आदुरो आतुरः । अण्णस्स कहेइ अन्यस्मे कथयति । रोगं व्याधि । एवंभूतो मम व्याधि, चिकित्सा कुर्विति । वेज्जस्स तस्स सोच्चा तस्य वेद्यस्य श्रुत्वा वचन । सो वि य सोऽपि च अनातुरो वेद्य । पडिकम्ममारभइ प्रतिक्रियामारभते ॥

उक्तमेवार्थं दृष्टांतोपन्यासपुरस्सरं नृदयितुं गथाद्वयमाह—

मूलार—सुकुसलो वि व्याधीना निदाने, लिंगे, चिकित्साया पुनर्भवनिरोधे च सुतरा प्रवीणोऽपि । तस्स तस्य रत्नव्याधि । कथं अविपर्यीकृतस्य । सोच्चा श्रुत्वा वाक्यमिति शेषः । सो रोगांतो वैद्यः । नि य अपि च । आरभते चेत्यर्थः । पडिकम्मं प्रतीकारं ।

जो मुनि अतिचारसे उत्पन्न हुए मलका निवारण कारंनका क्रम जानता नहीं है उसने दूसरोंको अपने अपराध कहना योग्य है परंतु जो अपराधोंका प्रायश्चित्त स्वयं जानता है उसको अपने दोष दूसरेको कहनेकी जरूरत नहीं है. वह क्यों दूसरोंकी स्वापराध कहता है ? और क्यों उनका दिया हुआ प्रायश्चित्त आचरता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जैसा अच्छा विद्वान भी वैद्य स्वयं बीमार पड़नेपर अपने रोगका स्वरूप दूसरे वैद्यको कहता है. अर्थात् मेरे रोगका स्वरूप ऐसा है और इसके ऊपर आप आप औपध योजना करो. रोगीवैद्यका यह भाषण सुनकर नीरोग वैद्य उसकी चिकित्सा कर औपध योजना करता है

एवं जाणंतेण वि पायच्छित्तविधिमप्पणो सव्वं ॥

कादव्वादपरविसोघणाए परसक्खिग्गा सोधी ॥ ५२९ ॥

जानतापि तथा दोषं स्वमुक्त्वा परके शुरौ ॥

परिज्ञाय विघातव्या महाशुद्धिः पटीयसा ॥ ५४९ ॥

विजयोदया—एव जाणतेण वि विजानतापि । किं पायच्छित्तविधिं प्रायश्चित्तकर्म । अप्पणो आत्मनः । परो उत्कृष्टा विशेषा यथा स्यादित्येवमर्थं स्वसाधिका परसाधिका च विशुद्धिरुत्कृष्टेति मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकाश्चित्त तस्य मनो भवेत् ॥

चित्तशुद्धिकर कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृत ॥

इति वचनात् ! शुद्धिरतिचाराणा कृतेति परे मानयति । निरतिचारस्तत्रयोऽयमिति । परे भव्या एतदुपदेशो नास्माभिः प्रवर्तितव्यमिति ढांकते । अन्यथा तदशुणातिशयानवगमनात् तदनुयायिनो भवति । तत् कथमेनेन परानुग्रहः कृतः स्यात् । कर्तव्यं स्वपरानुग्रहः । तथा चोक्तं—अण्णद्धिं कादव्व जइ सक्खइ परहिंदं च कायव्व ॥ इति । तथापि—‘श्रेयोर्धिना हि जिनाशासनवत्सेलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः’ इति वैद्य इव । अथवा आत्मनः परस्मै विशेषार्थं परसाधिका । मम शुद्धिं दृष्ट्वा परोऽप्ययमेव क्रम इति परसाधिकायां शुद्धौ प्रयतते । अन्यथा सर्वे स्वसाधिकामेव कुर्युः । तथा च न शुद्ध्यति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः ॥

मूलारा—आदपरविसोघणाए आत्मनः परा उत्कृष्टा विशेषता सम्यक्त्वाद्यतिचारमलक्षालना तदर्थं स्वसाधिका परसाधिका चोत्कृष्टा शुद्धि स्यादिति हि मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ॥

तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥

इति वचनात् । अथवा आत्मानं परं च विशेषधर्तुं परसाधिका विशुद्धिं कर्तव्येति व्याख्येयं । स्वसाधिका मेव हि शुद्धिं कुर्वन्तमाचार्यं तत्कल्पं वा मुनिं दृष्ट्वा परोऽपि तथैव प्रवर्तते । गतानुगतिकत्वाप्रायेण लोकस्य । तथा च तेऽपि तथा शुद्ध्यति स्वसाधिकाभावात् ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रायश्चित्त का ज्ञान जिनको है ऐसे मुनिराजने भी अपनी विशुद्धि होनेकेलिये आत्मसाक्षीमे और परसाक्षी से प्रायश्चित्त लेना चाहिये. प्राय शब्दका अर्थ लोक है और चित्तका अर्थ मन है. अर्थात् चित्तको निर्मल करनेका जो कार्य है उसको प्रायश्चित्त कहते हैं. प्रायश्चित्त लेनेपर इसने आत्मशुद्धि की है ऐसा लोक समझते हैं

गुरुके उपदेशके अनुसार हमको प्रवृत्ति करनी चाहिये ऐसा समझकर सुझलोक उसके पास जाते हैं. यदि गुरुके विशिष्ट गुणोंका परिज्ञान न हो तो उसके अनुयायी कैसे होंगे. और गुरुभी परानुग्रह कैसा कर सकेंगा. इसवास्ते गुरुको स्वपरानुग्रह करना चाहिये. क्यों कि 'आत्महित करना चाहिये और शक्य हो तो परहितभी करना चाहिये, इस उक्तिमें यद्यपि आत्महितकी मुख्यता दिखाई है तोभी 'श्रेयोर्थिना हि जिनशासनवत्सेलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः' अर्थात् जिसकी मोक्षकी इच्छा है, जो जिनधर्म पर प्रेम रखता है उसको हितोपदेश करना अवश्य कर्तव्य है जैसे वैद्य रोगीको औषध देकर उसको नीरोग करता है. उसका नीरोग करना जैसा कर्तव्य है वैसा गुरुओंका परहितके लिये उपदेश देना कर्तव्य है.

अथवा अपनी और दूसरोंकी आत्मशुद्धि करनेके लिये परसाक्षिक ही आत्मशुद्धि करनी योग्य है क्यों कि मेरी शुद्धि देखकर दूसरेभी आत्मशुद्धिका क्रम ऐसा ही है ऐसा समझकर परसाक्षिक शुद्धि करनेके लिये प्रयत्न करेंगे अन्यथा सर्व लोक त्वसाक्षिसेही शुद्धि करेंगे. ऐसे करनेसे वे शुद्ध नहीं होंगे, लोकप्रायः गतानुतिक होते हैं.

यस्मात्परसाक्षिका शुद्धि प्रधाना—

तम्हा पव्वज्जादी दंसणणचरणादिचारो जो ॥

तं सब्ब आलोचेहि निरवसेसं पणिहिदप्पा ॥ ५३० ॥

ततः सम्यक्त्वचारित्रज्ञानदूषणमामादितः ।

एकाग्रमानसः सर्वं त्वमालोचय यत्नतः ॥ ५५० ॥

विजयोक्त्या—तम्हा तस्मात्प्रत्यक्ष्यादिकं । दंसणणचरणादिचारो जो दर्शनद्वान्चरणातिचारो य । त सब्ब-सर्वं अतिचार । आलोचेहि कथय । पणिहिदप्पा पणिहितचित्तो भूत्वा । निरवसेसं सर्वमित्यनेनेवावगतत्वात् निरवशे पमित्येतत्किमर्थ इति चेत् । दानदर्शनचारित्रविषयाणामतिचाराणा कतिपयाना सामस्येऽपि सर्वशब्दस्य प्रवृत्तिर स्तीति निरवशेप्रग्रहणं प्रत्येक शानाग्रतिचारान् ग्रहीतुमुपन्यस्तमिति तन्न दोष ॥

मूलारा—पव्वज्जादी दीक्षाग्रहणदिनात्प्रमृति । निरवसेसं सूक्ष्मस्थूलभेदग्रभेदसहितम् ।

परसाक्षिक शुद्धि ही मुख्य है अतः तं आलोचना कर ऐसा अभिप्राय आगेकी गाथा कहती है—  
अर्थ—इस लिये दीक्षाकालसे आजतक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनमें जो जो अतिचार

लगे होंगे उन सक्ता और दर्शनादिकके प्रत्यक्ष अतिचारोंका हे क्षपक 'तू एकाग्र चित्त कर कथन कर शक्ता -- गाथामें 'सर्व, शब्द है उससेही सर्व अतिचारोंका कथन करनेका आशय स्पष्ट होजाता है. 'निरवशेष, यह गाथामें दुसरा शब्द है वह व्यर्थ दिखता है.

उत्तर--ज्ञानादिकोंमें किसी एकके सर्व अतिचार इस अर्थमेंभी सर्व शब्दकी प्रवृत्ति देखी जाती है. इस लिये 'निरवशेष' शब्द ज्ञानदर्शनादिकोंके प्रत्येक अतिचारोंका ग्रहण करनेके लिये गाथामें आचार्य महाराजने जोड़ दिया है ऐसा समझना.

कथं निरवशेषालोचना कृता भवतीत्यरेकायामाह--

काइयवाइयमाणसियसेवणा दुप्पओगसंभूया ॥

जइ अत्थि अदीचारं तं आलोचेहि गिरिसेसं ॥ ५३१ ॥

विद्यते यद्यतीचारो मनोवाक्कायसंभवः ॥

आलोचय तदा सर्वं निःशल्यभिभूतमानसः ॥ ५५१ ॥

विजयोदया--काइयवाइयमाणसियसेवणा कायेन, वाचा, मनसा च प्रवृत्तिं प्रतिसेवना । दुप्पओगसंभूया दु'प्रयोगसंभूता । तं ता । आलोचेहि कथय । गिरिसेस नि शेष । जइ अत्थि अदीचारो यद्यस्त्यतिचारः ।

मूलरा--काइय इत्यादि कायिक काये भवं । वाइय वाचि भवं । माणसिय मनसि भवं । यत्सेवनं पिडादेरुप-  
योगस्तस्य दुष्प्रयोगो अशुभानुष्ठानमुत्सूत्राचरणं इत्यर्थस्तस्मात्संभूद संजातः । सेवणमित्यत्र पादपूर्णेऽनुस्वारः ।  
संभूदमित्यत्रार्थत्वाङ्गित्यर्थः तथा चोक्तं--

कायिकवाचिकमानससंसेवादुष्प्रयोगसंभूतो

यद्यस्ति तेऽतिचारो निरवयवं निगद तं गुरवे ॥

भगवतो निकटे निःशेषमालोचय यद्यस्ति तेऽतिचारः । कायादिना पिडादीनुत्सृज्यमुपयुजानस्य चोऽतिचारः संपन्नस्तं प्रकाशयेति तात्पर्यार्थः ॥

,निरवशेष आलोचना कैसी की जाती है ? इस शंकाका उत्तर --

अर्थ—अष्टभरिणाम उत्पन्न होनेसे शरीरसे, वचनसे और मनसे जो जो दोष तेरे द्वारा किये गये उनका गुरुके पास तू संपूर्ण कथन कर.

आश्वास

४

असुगंमि इदो काले देसे अमुगत्य असुगभावेण ॥  
ज जह णिसेविदं तं जेण य सह सव्वमालोचे ॥ ५३२ ॥  
कालेऽमुकत्र देशो वा जातो भावनयानया ॥  
दोषो ममेति विज्ञाय त्वमालोचय सर्वथा ॥ ५५२ ॥

विजयोदया—चरणं कमाचरण । इदो अस्मादिनादतिक्ताते । असुगमि काले अमुकस्मिन्काले । देशो अस्मिन्देशे । असुगभावेण अमुकभावेन अनेन भावेन । जं यत् । जघा णिसेविदं यथा निपेक्षित । जेण य सह येन च सह । तं सव्वमालोचे तत्सर्वं कथयेद्देशकालभेदात् । परिणामभेदात्, सहायभेदात् च दोषाणां गुरुलघुभावः । गुरुलघुभावावुसारण वा गुरुलघु वा प्रायश्चित्त दीयते । तत्सर्वं कथयति ॥

कालदेशपरिणामसहायभेदादौषाणा गुरुलघुभावः स्यात्तदनुसारि च प्रायश्चित्तमिति यो यदा यत्र येन यथा जातोऽतिचारस्तं तथैवाल्लोचयेदुत्कृष्टशुद्धिकाम इत्यालोचनाविध्यनुशासनार्थमाह—

मूलारा—असुगमि अमुकस्मिन् । विप्रकृष्टप्रत्यक्षे । इदो इतोऽस्मात्समीपप्रत्यक्षादिना प्राक् । काले शीतोष्णवर्षाच्छणे । पूर्वोन्मादिरूपे वा । देसे भूम्येकदेशे, जागलदौ पुरवनादौ वा । असुगभावेण अमुकेन क्रोधादीनामन्यतमेन परिणामेन । अमुकेन सहानेत्युपस्कारः णिसेविदं निषिद्धमनुष्ठित । ते त्वया । तं सम्यक्त्वाद्यतिचार । समालोचे संपूर्णमालोचय । उक्त—

कालेऽमुकत्र देशे वा जातो भावनयानया ॥  
दोषो ममेति विज्ञाय त्वमालोचय सर्वथा ॥

अर्थ—अमुक कालमें, अमुक देशमें, अमुक परिणामसे जो दोष जैसा किया होगा और जिसके साथ किया होगा उसका संपूर्णतया कथन करना चाहिये देशकालभेदसे, परिणामभेदसे और साहाय्यभेदसे दोषोंमें

७५०

बढ़ापन और छोटापन उत्पन्न होता है, और उसके अनुसार ही छोटा अथवा बड़ा प्रायश्चित्त दिया जाता है अथवा परिणामोंमें तीव्रता वा मंदता होगी तो उसके अनुसार छोटा या बड़ा प्रायश्चित्त आचार्य देते हैं.

शिक्षयत्यालोचनाक्रमं सूरि —

आलोचना हु दुविहा ओघेण य होदि पदविभागी य ॥

ओघेण मूलपत्तस्स पयविभागी य इदरस्स ॥ ५३३ ॥

आलोचना द्विधा साधोरौघी पदविभागिका ॥

प्रथमा मूल्यातस्य परस्य गदिता परा ॥ ५५३ ॥

विजयोदया—आलोचना खु दुविहा होदि द्विप्रकारैवालोचना भवति । ओघेण पदविभागी य सामान्येन विशेषेण च । वचो हि सामान्य विशेष चावलम्ब्य प्रवर्तते । कस्य सामान्येन आलोचना कस्य वा विशेषेणेत्यत आह— ओघेण मूलपत्तस्स सामान्यालोचना मूलाख्यं प्रायश्चित्तं प्राप्तस्य । पदविभागी विशेषालोचना । इदरस्स मूलमप्राप्तस्य ॥

वचसा सामान्यविशेषालंबनत्वेन प्रवृत्तिदर्शनादौघी पादाविभागी चेति द्विविधवालोचनेति नियम्य तत्त्वामिनौ निर्दिशति ।

मूलारा—ओघेण सामान्येन एकवारेण वा सामान्य लोचनेत्यर्थः । पादाविभागी पादाना सम्यक्त्वाद्यपराधाना विभागे देशकालादिभेदे भवा पादाविभागी विशेषालोचनेत्यर्थः । मूलं मूलाख्यं प्रायश्चित्तं ॥

आचार्य आलोचनाका क्रम दिखाते हैं—

अर्थ —आलोचनाके दोही प्रकार हैं, एक ओवालोचना और दूसरी पदविभागी आलोचना. अर्थात् सामान्यालोचना और विशेषालोचना ऐसे इनके औरभी दो नाम हैं, वचन सामान्य और विशेष इन दो धर्मोंका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, अतः आलोचनाके उपर्युक्त दो भेद हैं.

सामान्यालोचना और विशेषालोचनाका स्वरूप इस प्रकार है—जो मूल नामक प्रायश्चित्तकेलिये योग्य है अर्थात् जिसकी पूर्वं दीक्षा महापराधसे नष्ट हो गई है उसको पुनः दीक्षा देना यह मूल प्रायश्चित्तका अर्थ है, इस प्रायश्चित्तके लिये योग्य मुनि दापोंकी सामान्यालोचना करता है, और जो प्रायश्चित्तको छोड़ कर के वाकीके प्रायश्चित्तके योग्य है वह पदविभागी आलोचना करे



सामान्यालोचनास्वरूप कथयति—

ओघेणालोचेदि हु अपरिमिदवराधसन्वघादी वा ॥

अज्जोपाए इत्थं सामणमहं खु तुच्छोत्ति ॥ ५३४ ॥

ओघेन भाषतेऽनल्पदोषो वा सर्वघातकः ॥

इतः प्रभृति बांछामि त्वत्तोऽहं संयमं गुरो ! ॥ ५५४ ॥

विजयोदया—ओघेणालोचेदि हु सामान्येन कथयति । कोऽपरिमिदवराधो सन्वघादो वा यहवो अपराधा यस्य मिथ्यात्वं व्रतभगो वा । परसाक्षिकाया शुद्धौ मायाशाल्य निरस्तं भवति । मानकपायो निर्मूलितो भवति । गुरुजन पूजितो भवति । तत्परतंत्रया वृत्तेर्मार्गप्रस्थापना च कृता भवति । अज्जोपाए अद्योपाये अद्यप्रभृति । इच्छं सामणं इच्छामि श्रामण्यं । अहं खु तुच्छोत्ति अहं स्वल्पको रत्नत्रयेणेति इयं सामान्यालोचना ।

सामान्यालोचनास्वरूपं च वक्तुमाह—

मूलारा—अपरिमिदवराध बहुदोष । सन्वघादी सर्वेषा सम्यक्त्वव्रतादीना घातो विनाशोऽस्यास्तीति । अज्जोपाये अद्यप्रभृति । इच्छा इच्छामि प्रतिपद्येहम् । खु यस्मात् । तुच्छो अहं स्वल्पको रत्नत्रयेण । त्ति इत्येवमालोचयतीति धोयम् ॥

सामान्य आलोचनाका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ— जिसने अपरिमित अपराध किये हैं अथवा जिसके रत्नत्रयका—सर्व व्रतोंका नाश हुआ है वह मुनि सामान्यरीतिसे अपराधका निवदन करता है, जो मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ अथवा जिसके व्रत नष्ट हुए हो वह सामान्यालोचना करता है, परसाक्षिसे शुद्धि कर लेनेसे मायाशाल्यका नाश होता है, मानकपायका निर्मूलन होता है, प्रायश्चित्त लेनेसे गुरुजनोंका आदर होता है अर्थात् उनकी आज्ञाका पालन होता है, उनके आधीन रहकर व्रताचरण करनेसे मार्गकी प्रसिद्धि होती है, आजसे मैं पुनः पुनि होनेकी इच्छा करता हूँ, मैं तुच्छ हूँ अर्थात् मैं रत्नत्रयसे आप लोगोंसे छोटा हूँ ऐसा कहना सामान्यालोचना है,

विशेषालोचनामाचष्टे—

पञ्चज्जादी सन्वं कमेण जं जत्थ जेण भावेण ॥

पडिसेविदं तथा तं आलोचिंतो पदविभागी ॥ ५३५ ॥

अपराधोऽस्ति य कश्चिज्जातो यत्र यथा यदा ॥

श्रुते पदविभार्गी तां सूरौ तत्र तथा तदा ॥ ५५५ ॥

निजयोदया—पवल्ज्जादी सव्य प्रत्ययादिकु सर्व । क्रमेण जं जस्य जेण भवेण क्रमेण यत्र कालत्रये वा देशे येन भावेन प्रतिसेवित । तदा त तथा तत् । आलोचितो निरूपयन्निति । यदि पदविभागी विशेषालोचना भवति । शल्या- निराकरणे दोष शल्यापाये च गुण दृष्टतेन दर्शयति ।

पादविभार्गी लक्षयति—

मूलारा—जस्य यस्मिन्देगे काले च । पडिसेविदं संव्यवहृतं । आलोचतो पदविभागीमालोचयन्साधु पादविभागी विशेषालोचना स्याद्वक्तृवचनयोर्हेतुहेतुमद्भावेनाभेदोपचारात् ॥

विशेष आलोचनाका वर्णन—

अर्थ—तीन कालमें, जिस देशमें, जिस परिणामसे जो दोष हो गया है उस दोषकी मैं आलोचना करता हूँ ऐसा कहकर जो दोष क्रमसे आचार्यके आगे क्षपक कहता है उसकी वह पदविभागी आलोचना है,

जह कंटएण विद्धो सव्वगे वेदणुदो होदि ॥

तस्मिं दु समुद्धिदे सो णिस्सल्लो णिव्वुदो होदि ॥ ५३६ ॥

कंटकेन यथा विद्धे सर्वांगव्यापिवेदना ॥

जायते निर्वृतस्तस्मिन्नुदघृते शल्यवर्जितः ॥ ५५६ ॥

विजयोदया—जह कटपण विद्धो यथा कटकेन विद्ध । सव्वगे सर्वस्मिन् शरीरे । वेदणुदुदो होह वेदनयोप- द्रुतो भवति । तस्मिं समुद्धिदे तस्मिन्कंटके उद्धृते । सो दु खित । णिस्सल्लो नि शल्यो शल्येन रहितः । णिव्वुदो निर्वृतो । होदि भवतीति सुखी भवतीति यावत् ॥

शल्यानुद्धरणेद्वरणयोर्दोषगुणौ दृष्टातमुत्तेन स्पष्टयितुं गथाद्वयमाह—

मूलारा—वेदणुदुदो पीडोपद्रुत । णिव्वुदो सुखी ।

शल्यका निराकरण न करनेमें दोष और शल्यके नष्ट होने से गुण प्राप्त होता है यह दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जैसे जिसको कांटा चुभ गया है वह दुःखसे विह्वल होता है, उसके सर्व शरीरमें वेदना होती है, परंतु जब कांटा शरीरसे निकाल<sup>१</sup> जाता है तब वह मनुष्य सुखी होता है।

दार्ष्टान्तिकयोजना—

एवमणुदुददोसो माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ ॥

सो चैव वंददोसो सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ ॥ ५३७ ॥

दुःखव्याकुलितस्वान्तस्तथा शल्येन शल्यितः ॥

निःशल्यो जायते यः स लभते निर्वृतिं पराम् ॥५५७॥

विजयोदया—एवं कटेन विद्ध इव अणुदुददोसो अनुद्धतदोषः । माइल्लो मायाधान् । स्वापराधाकथनानुद्ध-  
तदोषेण । दुक्खिदो होदि । दुःखितो भवति । सो चैव वंददोसो स एव वातदोष । सुविसुद्धो णिव्वुदो होदि । निर्वृति  
भवति ॥

मूलारा—मायिल्लो मायायुक्तः । तेण सम्यक्त्वादिदोषेण अनुद्धतेन । दुक्खिदो इहपरलोके च दुःखार्त्तः ।  
वंतदोसो परस्मै कथितापराधः । सुविसुद्धो कृतस्वपरसाक्षिरशुद्धिकृत्वात् ।

दार्ष्टान्तिकमें योजना—

अर्थ—वैसे जिसने दोषरूपी कटकको अपने मनसे निकाला नहीं है ऐसा मायावि मुनि अपने  
अपराधोंका कथन न करता एतत्स्वरूप दोषसे दुःखी होता है परंतु जब सर्व दोषोंका कथन करता है तब मायाशल्य  
नष्ट होनेसे कांटा निकल जानेके समान आत्मामें प्रसन्नता उत्पन्न होती है-

मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं णिदाणसल्लं च ॥

अहवा सल्लं दुविहं दव्वे भावे य बोधव्वं ॥ ५३८ ॥

मायानिदानमिध्यात्वभेदेन त्रिविधं मतम् ॥

अथवा द्विविधं शल्यं द्रव्यभावात्मकं मतम् ॥५५८॥

विजयोदया—मिच्छादंसणसहं मिथ्यादर्शनशाल्यं । भायासहं मायाशाल्यं । जिदाणसहं निदानशाल्यं च । अहवा सहं दुविह अथवा शल्य क्षिप्रकारं । द्रव्ये भावे य द्रव्यशाल्यं भावशाल्यमिति । योयन्न बोद्धव्यम् ॥

शल्यभेदनिर्णयार्थमाह—

मूलारा—मिच्छादंसणसहं मिथ्यादर्शनं शल्यमिव शरीरात्प्रविष्टकाळादिवत् बाधासुबन्धनिबन्धनत्वात् । एवमुत्तरयोरप्युपमार्थो वाच्यः । जिदाणसहं सम्यक्त्वव्रतादिमाहात्म्याद्राज्यादिकं मे भूयादिति संकल्पः । द्रव्ये द्रव्याश्रयं ।

अर्थ—मिथ्यादर्शनशाल्य, मायाशाल्य और निदानशाल्य ऐसे शाल्यके तीन दोष हैं, अथवा द्रव्यशाल्य और भावशाल्य ऐसे शाल्यके दो भेद समझने चाहिये.

तिविहं तु भावसहं दंसणणे चरित्तजोगे य ॥  
सच्चित्ते य अचित्ते य मिस्सगे वा वि दब्बस्मि ॥ ५३९ ॥  
भावशाल्यं त्रिधा तत्र ज्ञानाद्विषयगोचरम् ॥  
द्रव्यशाल्यमपि त्रेधा सचित्ताचित्तमिश्रकम् ॥ ५५९ ॥

विजयोदया—तिविहं तु त्रिविधं एव । भावसहं परिणामशाल्यं । दंसणणे चरित्तजोगे य दर्शने, ज्ञाने-चारित्र्योगे वा । दर्शनस्य शाल्यं शंकादि । ज्ञानस्य शाल्य अकाले पठनं अधिनयादिकं च । चारित्र्यस्य शाल्यं समिति, गुप्त्योरनादर । योगस्य तपस प्रागुक्तानशानाद्यतिचारजातं । असंयमपरिणामनं वा । तपसश्चारित्र्ये अन्तर्भावविवक्षया तिविहमित्युक्तम् । दब्बस्मि सह तिविह । द्रव्ये शाल्यं त्रिविधं । सचित्ते अचित्ते मिस्सगे य सचित्तद्रव्यशाल्यं दासादि । अचित्तद्रव्यशाल्य सुवर्णादि । मिस्सगे वा विमिश्रद्रव्यशाल्यं ग्रामादि एतत्त्रिविधं द्रव्यशाल्यमित्युच्यते । चारित्र्याचारस्य शाल्यस्य कारणत्वात् ॥

उभयमपि शल्यं प्रविवक्षुराह—

मूलारा—भावसहं सम्यक्त्वाद्यतिचारलक्षणपरिणामशाल्य दंसणे इत्यादि । दर्शनस्य शाल्यं शंकादिक । ज्ञानस्याकालपठनादिकं । चारित्र्यस्य समितिगुप्त्यनादरः । योगस्य तपसः प्रागुक्तानशानाद्यतिचारजातसंयमपरिणामनं वा । तपसश्चारित्र्ये अन्तर्भावविवक्षया तिविहमित्युक्तं । सचित्तद्रव्यशाल्यं दासादि । अचित्ते अचित्तद्रव्यशाल्यं सुवर्णादि । मिस्सगे मिश्रद्रव्यशाल्यं ग्रामादि ।

अर्थ—भावशक्त्यके तीन भेद हैं-दर्शन, ज्ञान, चारित्र और योग इनमें ये भावशक्त्य उत्पन्न होते हैं।

१ शक्ता, क्रांक्षादिक सम्पददर्शनके शक्त्य हैं।

२ अकालमें पढ़ना और अविनयादिक करना ज्ञानके शक्त्य हैं।

३ समिति और गुप्तिओंमें अनादर रहना चारित्रशक्त्य हैं।

४ योग-तप-अनशनादि तपोंके अतिचारोंका पूर्वमें वर्णन आया है।

असंयममें मद्यपि होना योगशक्त्य है। तपश्चरणका चारित्रमें अन्तर्भाव करनेकी विवक्षासे भावशक्त्यके तीन भेद कहे हैं।

द्रव्यशक्त्य भी तीन प्रकारका है। सचित्तशक्त्य, अचित्तशक्त्य और मिश्रशक्त्य। दासादिक मचित्त द्रव्य शक्त्य है। सुवर्ण वगैरह पदार्थ अचित्त शक्त्य है। और ग्रामादिक मिश्रशक्त्य हैं ये सब चारित्राचारके शक्त्यके कारण हैं।

भावशक्त्यानुद्धरणे दोषमाह—

एगमवि भावसल्लं अणुद्धरित्ताण जो कुणइ कालं ॥

लज्जाए गारवेण य ण सो हु आराधओ होदि ॥ ५४० ॥

अनुद्धते प्रमादेन भावशक्त्ये शरीरिण ॥ ५४१ ॥

लभंते दारुणं दुःखं द्रव्यशक्त्यमिवानिशम् ॥ ५४२ ॥

भावशक्त्यमनुद्धृत्य ये त्रियन्ते विमोहिनः ॥ ५४३ ॥

भयप्रमादलज्जाभिः कस्याप्याराधका न ते ॥ ५४४ ॥

दुःसहा वेदनैकत्र द्रव्यशक्त्येऽस्त्यनुद्धते ॥ ५४५ ॥

भावशक्त्ये पुनः सास्ति जन्तोर्जन्मनि जन्मनि ॥ ५४६ ॥

विजयोदया—एगमवि एकमपि भावाना स्तवयाणा शक्त्यं । अतिचारं । अणुद्धरित्ताण अनुद्धृत्य । जो कुणदि काल यः करोति मरणं । कस्मान्नोद्धरति । लज्जाण लज्जया । गारवेण य गारवेण वा । सो ण खु आराधओ होदि । स आराधको नैव भवति । निरतिचारात्ता हि तेया यतीना आराधना ॥

एकमपि भावशल्यमनुद्धृत्य त्रियमाणस्य दोषमाह—

मूलारा—भावसहं भावानां सम्यक्त्वादीनां शल्यमतिचारं । अणुद्वरिताणं अनुन्मूल्य गुरुक्तप्रायश्चित्तेनानिरा-  
कृत्येत्यर्थः । गार्वेण य च शब्दाद्भयेन च ।

भावशल्यका उद्धार न करनेमें दोष दिखाते हैं—

अर्थ—जो क्षपक लज्जासे गार्वसे रत्नत्वयमें लगे हुए अतिचारोंको दूर नहीं करता हुआ मरण करता है, वह आराधक नहीं होता है.

जाते अपराधे तदानीमेव कथितव्यं न कालक्षेपः कार्य इति शिक्षयति—

कछे परे व परदो काहं दंसणचरित्तसोधिन्ति ॥

इय संकप्पमदीया गयं पि कालं ण याणन्ति ॥ ५४१ ॥

चारित्रं शोधयिष्यामि काले श्वः . वहम् ॥

शेसुपीमिति कुर्वाणा गतं कालं न जानते ॥ ५४३ ॥

विजयोदया—कछे श्वःप्रभृतिके काले । अहं करिष्यामि दंसणचरित्तसोधिन्ति दर्शनक्षानचारित्रशुद्धिमिति । इय संकप्पमदीया एवं कृतसंकल्पमतय गदपि कालं ण जाणन्ति । गतमतिक्रान्तमपि आयु कालं नैव जानन्ति । ततः सशल्यं मरणं तेषां भवति । अत एवोक्तं उत्पण्णणुत्पण्णा माया अणुपुद्गलसौ निहंतव्या । इति व्याघय, कर्मणि, शत्रवश्चोक्षितानि बद्धमूलानि पुनर्न सुप्तेन विनाशयते । अथवा अतिचारकाल गत चिरातिक्रान्तं नैव जानति । ये हि अतिचारा प्रतिदिनं जातास्तेषां काल, संध्या, रात्रिदिनं इत्यादिकं पश्चादलोचनाकाले गुरुणा पृष्टास्तावन्न वस्तु जानन्ति विस्मृतत्वाच्चिरातीतस्य । अथागतं त्वतीचारकाल तस्यातिचारस्य अपिशब्देन क्षेत्रभावो वातिचारस्य हेतु न जानन्ति न स्मरन्ति । सामान्यवाच्यणि न जानन्ति । इह स्मृतिज्ञानागोचर इति केयचिद्व्याख्यानं ॥

सम्यक्त्वादेरुत्पन्नो दोषस्तत्क्षणोऽव संशोध्य इति शिक्षार्थमाह—

मूलारा—कछे श्वः । परे एकदिनातस्तिगाभि दिने । काहं करिष्याम्यहं । इय संकप्पमदीया एवं चितागतदु-  
द्ध्यः गयपीत्यादि अतिक्रान्तमप्यायु कालं न बुध्यते । ततः सशल्यास्ते स्त्रियन्ते । अत एवोक्तं उत्पण्णा उत्पन्नमाया अणु  
अपुव्व सो निहंतव्या । अथवा गतं चिरातिक्रान्तं कालं संध्यारात्रिदिनादिक अतिचारसमयं । अपि शब्दात्क्षेत्रभावो च

न जानंति न स्मरंत्यालोचनाकोले गुरुणा प्रुष्टाः संत इति व्याख्येयम् । अन्ये तु गतं प्राप्तमतीचारं न स्मरंति तत्काल-  
क्षेत्रभावाच्चेति व्याचक्षते ॥

आराधनार्थे—रत्नत्रयमें अपराध—अतिचार होनेपर उसी क्षणमें उनका गुरुके चरण समीप कथन करना चाहिये, कालक्षेप करना योग्य नहीं है, ऐसा उपदेश आचार्य कहते हैं—

अर्थ—कल परसों अथवा तरसों में दर्शन, ज्ञान और चारित्रिकी शुद्धि करूंगा ऐसा जिन्होंने अपने मनमें संकल्प किया है ऐसे मुनि अपना आयुष्य कितना नष्ट हुआ ग्रह जानते नहीं है. अर्थात् उनका शल्यसहित मरण होता है. इसी वास्ते मायाशल्य मनमें जब उत्पन्न होता है उसी समय उसको हृदयसे निकालना चाहिये, ऐसा आचार्य कहते हैं. रोग, शत्रु और कर्म इनकी उपेक्षा करनेसे ये दृढमूल होते हैं पुनः उनका नाश सुखसे कर नहीं सकते. अथवा जो अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत होचुके हैं उनका स्मरण होता नहीं है. जो अतिचार हुए हैं उनके संन्यास, दिन, रात्रि इत्यादिक रूप कालका स्मरण गुरुके पूजने पर शिष्योंको होता नहीं है. वे अमुक कालमें मेरे द्वारा यह अतिचार हुआ ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत हो गये हैं. जैसे कालका स्मरण होता नहीं है वैसे क्षेत्र, भाव और अतिचारके कारण इनका भी स्मरण होता नहीं. वे अतिचार स्थितिज्ञानके अगोचर होते हैं. अर्थात् हमसे कोनसे अतिचार हुए यह भी उनके ध्यानमें नहीं रहता है. ऐसा कोई आचार्य इस गाथाका व्याख्यान करते हैं,

सशल्यमरणे को दोष इत्याशंकायामात्रे—

रागद्वोसाभिहृदा ससल्लमरणं मरंति जे मृढा ॥

ते दुक्खसल्लवहुले भमंति संसारकांतारे ॥ ५४२ ॥

रागद्वेषादिभिर्भग्ना ये म्रियन्ते सशल्यकाः ॥

दुःखशल्याकुले भीमे भवारण्ये अमन्ति ते ॥ ५४४ ॥

विजयोदया—रागद्वोसाभिहृदा रागद्वेषाभ्यामभिहृता । ससल्लमरणं मरंति म्रियन्ते । जे मृढा ये मृढास्ते संसारकांतारे भमंति ते संसाराटव्यां अमति । कीदृशि ? दुक्खसल्लवहुले दुःखानि शल्यवत् दुर्दरत्वाच्छल्य इत्युच्यते ।

सशल्यमरणे दोषमाह—

मूलारा—दुःखसह्यबहुले दुःखानि शल्यानीव दुरुद्धरत्वात्तानि प्रचुराणि यत्र कांतरे कंटकाटव्याम् ॥

अतिचारकी शुद्धि किये बिना मरण करनेमें क्या दोष है ? इस शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं—  
अर्थ—राग और द्वेषसे जो क्षपक पराजित होकर दोषोंकी आलोचना किये बिनाही मरण करते हैं, दुःख रूपी शल्योंसे भरे हुए इस संसारवनमें भ्रमण करते हैं, जैसे शरीरमें घुसा हुआ शल्य दुर्धर होता है वैसे रागद्वेष संयुक्त होकर जीव भी दुर्धर दुःखोंको इस भवमें भोगते हैं, अतिचारोंकी आलोचना न करनेका यह फल है.

शल्योद्धरणे गुण व्याचष्टे—

तिविहं पि भावसल्लं समुद्धरित्ताण जो कुणदि कालं ॥

पव्वज्जादी सव्वं स होइ आराधओ मरणे ॥ ५४३ ॥

उद्धृत्य कुर्वते कालं भावशल्यं त्रिधापि ये ॥

आराधनां प्रपद्यंते ते कल्याणवित्तारिणीं ॥ ५४५ ॥

विजयोदया—तिविहपि त्रिविधमपि । भावसल्लं भावशल्यं । समुद्धरित्ताण समुद्धृत्य । जो कुणदि कालं य' कालं करोति । कीदृग्भूत ? पव्वजादी प्रवज्जादिक । सव्वं सर्वं । स होदि स भवति । आराधको आराधको दर्शनादीनां । मरणे भवप्रच्यवे ॥

उद्धृतशल्यस्य मरणे गुणं गृणाति—

मूलारा—समुद्धरित्ताण समुद्धृत्य ॥

जो शल्यका उद्धार करता है उसको आराधना सिद्ध होती है ऐसा कथन—

अर्थ—तीन प्रकारके भावशल्योंका स्वरूप ऊपर कहा है, इन शल्योंको हृदयसे निकालकर—अतिचारोंकी आलोचना करके प्रायश्चित्त द्वारा जो अपने आत्माको निर्मल बनाकर मरण करते हैं उनकी आराधनाओंकी सिद्धि होती है। अमरण उन्हीने दीक्षा लेकर व्रतादिकोंका पालन किया था वह सब आराधनाओंकी प्राप्तिसे सफल होता है



जे गारवेहिं रहिदा गिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य ॥  
विहरंति मुत्तसंगा खवंति ते सव्वदुक्खणि ॥ ५४४ ॥

सम्यक्त्ववृत्तिःशुद्ध्या दूरोत्सारितगौरवाः ॥

विहरंति चिसंगा ये कर्म सर्वं धुनंति ते ॥ ५६६ ॥

विजयोदया—जे गारवेहि रहिदा ये गौरवैरिहिता । गिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य निःशल्याः संतो दर्शने चरित्रे च । विहरन्ति प्रवर्तन्ते । मुत्तसंगा निरस्तमूच्छस्ति । सव्वदुक्खणि खवंति ते सर्वोणि दु खानि क्षपयन्ति ॥  
नि शल्यतया रत्नत्रय प्रवर्तमानानां गुणमाह —  
मूलारा—मुत्तसंगा निरस्तमूच्छाः ॥

अथ—ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारव ऐसे तीन गारवोंसे रहित होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यमें जो निरतिचार होकर प्रवृत्ति करते हैं, संपूर्ण परिश्रमके त्यागी होनेसे वे सर्व दुःखोंका नाश करते हैं.

तं एवं जाणंतो महंतयं लाभं सुविहिदाणं ।

दंसणचरित्तसुद्धो गिस्सल्लो विहर तो धीर ॥ ५४५ ॥

इति ज्ञात्वा महालाभं निःशल्यीभूतचेतसां ॥

शुद्धदर्शनचरित्रो विहरस्वापशल्यकः ॥ ५६७ ॥

विजयोदया—तं भवान् । पवमुक्कप्रकरणे जाणतो जानन् । महंतग महातं लाभं सुविहिदाणं सुसंयतानां दंसणचरित्तसुद्धो दर्शने चारित्रे च शुद्धिं तयो शुद्धिं ज्ञानदर्शनशुद्धिमंतरेण न भवतीति त्रयाणा शुद्धिरुक्ता । गिस्सल्लो-शल्यरहितः सन् । विहर चर । तो तस्माद्दीर धैर्यपेत ॥

रत्नत्रयनिर्भलीकरणे स्वार्थतिशयलाभप्रकाशनेन प्ररोचनामुत्पाद्य तत्र क्षपक प्रेरयन्नाह—

मूलारा—तं चिन्तवचनं प्रसिद्ध । एवं एतेनास्मदुक्तेन विधिना । सुविहिदाणं निरतिचाररत्नत्रयाणां । दंसण-चरित्तसुद्धिं एतद्दृश्यशुद्धिं विना न भवति रत्नत्रयशुद्धिः । गिस्सल्लो दीक्षाग्रहणात्प्रभृति कृतेभ्यो निष्क्रान्त । विहर आचर । तं त्वं । प्रागनुष्ठितं रत्नत्रयं शोधयित्वा इत् उत्तरं शुद्धं त्वमनुतिष्ठेत्यर्थः ॥

अर्थ—अतिचाररहित होकर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करनेसे उत्तम मुनिओंको महान् लाभ होता है अर्थात् उनके सर्व दुःखोंका क्षय होता है ऐसा ज्ञानकर ज्ञान, दर्शन और चारित्रिकी शुद्धि कर तथा निःशल्प होकर हे क्षपक ! तुम धीरतासे इनमें प्रवृत्ति करो

तस्मै सतूलमूलं अविच्छेदमविष्पुदं अणुविविगो ॥

णिम्मोहियमणिगूढं सम्मं आलोचए सव्व ॥ ५४६ ॥

सम्यग्गालोचयेत्सर्वमनुद्विभ्रमविस्मृतम् ॥

आनिर्गूढमनिर्मोहं निर्मूलमपगौरवम् ॥ ५४८ ॥

विजयोदया—तस्मात् तस्मात् यस्मात्सशल्यमरणे दोष । नि शल्यमरणे च सकलनिवृत्ति दुःखरक्षणाना कर्मणामभावः । तस्मात् तस्मात् । सम्म सव्वमालोचे सम्यक् सर्वमतिचारं कथयेत् । दुःखनिवृत्त्यर्थ इति । कथमालोचयेदित्याशकायामालोचनाविशेषणमाह—सतूलमूल तूलमूलाभ्या सहितं । सव्व निरवशेषं । अविच्छेदं-अविस्मृतं । अविष्पुदं अद्भुत । अणुविविगो निर्भयः । णिम्मोहिव मोहरहित । अणिगूढ अनिगूढ ॥

कथं निःशल्यो भवेयमिति प्रश्ने सत्याह—

मलारा—तस्मा निःशल्येतरमरणगुणदोषदर्शनादेव । समूलतुलं दीक्षादिवसादारभ्याद्यावात् प्रभुत्तमतिचारजातं । क्रमसूचनार्थमिदं । अन्ये सतूलमूलं इति पठित्वा समस्तावयवयुक्तमित्यर्थमाहुः । अविथूलं अनाधिकं । अविष्पुद अत्यरितं । अणुविविगो निर्भयः सन् । णिम्मोहिव अविस्मृतं । अणिगूढं अनपलपितं । आलोचए आलोचय, प्रकाशय त्वम् ॥

अर्थ—सशल्य मरणसे भववनमें दुःख सहन करना पड़ता है, और निःशल्यमरणसे सर्व कर्मोंका क्षय होता है, जिससे मुक्तिसुखकी प्राप्ति होती है, इसलिये दुःखकी निवृत्ति करनेके लिये सपूर्ण अतिचार कहने चाहिये स्मरण कर, शांतिरीतिसे, निर्भय और मोहरहित होकर दोषोंको न छिपाकर कहना चाहिये, दीक्षाग्रहण कालसे आज तक जितने दोष हुए होंगे उन सबको कहना चाहिये, उसमेंसे एकमी छिपाना नहीं चाहिये

जह् बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणइ ॥

तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तणं ॥ ५४७ ॥

भयमानमृपामायासुत्तेन प्रांजलात्मना ॥

वाल्लेनेवाभिधेयानि कृत्याकृत्यानि धीमता ॥ ५६९ ॥

विजयोदया—जह वालो जंपतो यथा वालो जल्पम् । कज्जमकज्जं च कार्यमकार्यं वा । भणदि भणति । उज्जुंगं क्रञ्जना क्रमेण । तद् तथा । आलोचयेद्वन् वक्तव्योऽपराधः । मायामोसं च मोत्तूण मनोगता वक्ततां, वचनगतां, मृया च मुक्त्वा ॥

आलोचनोद्यतस्य तद्विधिमभिधत्ते—

मूलारा—उज्जुंगं प्राजलं । आलोचयेद्वन् प्रकाश्यं । माया मनोवक्रता । मोसं वाग्वक्तताम् ॥

अर्थ—जैसा बालक कार्य हो अथवा अकार्य हो सब अंतःकरणसे अपने पिताको कहता है, इसीतरह क्षपकमोभी अपने अतिचार मनका कपट छोटकर और वचनकी असत्यता दूर कर कहने चाहिये।

उपसंहरति प्रस्तुतम्—

दंसणणाचरित्ते काटूणालोचणं सुपरिसुद्धं ॥

णिरसल्लो कदसुद्धी कमेण सल्लेहणं कुणसु ॥ ५७८ ॥

सम्यक्स्वज्जानवृत्तेषु विधायालोचनं यत्ते ॥

कुरु सल्लेखनं सम्यक्क्रमेणापास्तकल्मसः ॥ ५७९ ॥

विजयोदया—दंसणणाचरित्ते दर्शनज्ञानचरित्रविषया । आलोचणं कटूण अपराधमभिधाय । सुपरिसुद्धं णिसल्लो मायाशाल्यरहित । कयसुद्धी कृतगुणिरूपितप्रायश्चित्त । कमेण सल्लेहणं कुणसु क्रमेण सल्लेखनं कुरु ॥

आलोच्य मया किंकृत्यमित्याह—

मूलारा—सुपरिसुद्धं सर्वथा त्यक्तमायं । कदसुद्धी कृतगुरुदत्तप्रायश्चित्त । मल्लेहणं कुणसु सर्वोत्तमा शरीर-त्यागाय योग्यतासुत्यादयेत्यर्थः ।

प्रस्तुत विषयका उपसंहार करते हैं—

अर्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें हुए अपराधोंका निवेदन मायाशाल्यका पूर्ण त्याग करके करना चाहिये, गुरुओंने दिया हुआ प्रायश्चित्त धारण करके शुद्ध होना चाहिये तदनंतर क्रमसे सल्लेखना करनी चाहिये

तो सो एवं भणिओ अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ ॥

सवंगजादहासो पीदीए पुलइदसरीरो ॥ ५४९ ॥

इत्थुत्तं सूरिणोत्कृष्टां चिकीर्षुः क्षपको मृतिं ॥

जातसर्वांगरोमांचः प्रमोदभरविन्हलः ॥ ५७१ ॥

विजयोदया—एव शिक्षितोऽसौ क्षपक । तो तत् । सो आराधकः । एवं भणितो एवं शिक्षितः सूरिणा । अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीगो अभ्युद्यते मरणे निश्चितबुद्धिः । सवंगजादहासो सर्वांगजातहर्षः । पीदीए पुलगिदसरीरो प्रीत्या पुलकितशरीरः ॥

एवं शिक्षितः क्षपकः किं करोतीत्यत्र गाथाद्वयमाह—

मूलारा—तो ततः शिक्षानंतरं कायोत्सर्गं करोतीति संवयः । अब्भुज्जद उत्साहवान् । हासो हर्षः ।

अर्थ—यहांतक गुरुने क्षपकको आलोचनाके विषयमें उपदेश किया, यह सब उपदेश सुनकर मरणकेलिये जिसने निश्चय किया है ऐसा क्षपक मुनि अत्यंत हर्षित होता है और उसके शरीरपर आनंदसे रोमांच आते हैं,

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते ॥

आलोयणपत्तीयं काउस्सगं अणाबाधे ॥ ५५० ॥

चैत्यस्य सम्मुखः प्राच्यामुदीच्यां वा दिशः स्थितः ॥

कायोत्सर्गस्थितो धीरो भूत्वा कायेऽपि निस्पृहः ॥ ५७२ ॥

विजयोदया—प्राहसुर उदहमुखः । चेदियहुत्तो व चैत्याभिमुखो वा भूत्वा । कुणदि । उत्सर्ग करोति कायोत्सर्गं । कीदृग्भूतः ? आलोयणपत्तीं आलोचनाप्रत्यय । आलोचनानिमित्तं । कायोत्सर्गं स्थित्वा । यथा यत् सूर्यन्ते कथयितुं तस्मात्कायोत्सर्गं आलोचनाहेतुः । क्व त करोति ? एगंते एकांते जनरहितदेशे । अणाबाधे । मार्गे बहुजनमध्ये एकमुख न भवति चिन्तं । मार्गे स्थितः परकार्यव्याघातरुद्धवति इति मत्वा । एकांते अमार्गे न कायोत्सर्गदेश आख्यातः ॥

मूलारा — पाचीणोदीचिमुहो पूर्वाभिमुख उत्तराभिमुखो वा । चेदियहुत्तो वा चैत्याभिमुखो वा । आलोयणपत्तीयं आलोचनाप्रत्ययं । कायोत्सर्गस्थो दोषान्मरतीति कायोत्सर्गं आलोचनहेतुरुक्तः । काउस्सगं सामायिकदंडकस्तवप्रयोगपूर्वकं बृहत्सिद्धिर्भक्तिं कृत्वोपविश्य दृष्टुमिच्छामि करोतीति प्राकृतटीकाम्नायः । अणाबाधे क्लेशसंक्लेशकारणरहिते ॥

अर्थ—पूर्वदिशा अथवा उत्तर दिशाके तरफ मुख करके किंवा जिनप्रतिमोंके सम्मुख उठना मुख करके आलोचनाके लिये प्रथम क्षपक कायोत्सर्ग करता है कायोत्सर्ग कर करनेके लिये दोषोंका स्मरण किया जाता है अतः कायोत्सर्ग आलोचनाका कारण है यह कायोत्सर्ग विधि क्षपक एकात्ममें और अमार्गमें करता है अर्थात् जहाँ जन नहीं है ऐसे स्थानमें और जो आने जानेका मार्ग नहीं है ऐसे स्थानमें क्षपक कायोत्सर्ग करता है बहुजनमें कायोत्सर्ग करनेसे मन एकाग्र होता नहीं और मार्गमें कायोत्सर्ग करनेसे दूसरोंके कार्यमें अडचन उपस्थित होती है इसलिये एकात्ममें और अमार्गमें कायोत्सर्ग करना चाहिये ऐसा विधि कहा है.

कायोत्सर्ग किमर्थ करोति आलोचयितुकाम. इत्यादिआया कायोत्सर्गस्य उपयोगमाचष्टे—  
एवं खु वोसरित्ता देहे वि उवेदि निम्ममत्तं सो ॥

निम्ममदा गिरस्तंगो गिस्सहो जाइ एयत्तं ॥ ५५१ ॥

मुक्तशाल्यममत्वोऽसावेकत्वं प्रतिपद्यते ॥  
शाल्यमुत्पादयिष्यामि पादशुले गणेक्षिनः ॥ ५७३ ॥

विजयोदया—एव तु इत्यादिना। एवमित्यन्तरस्वनिर्दिष्टकमेण। प्रादुमुख उदइमुखश्चैत्याभिमुखो वा। एकाते घटते निर्ममत्वैव ननु त्याग। भिन्नयो पूर्वापरकालविषययो क्रियोर्थेन एव कर्तौ तत्र पूर्वकालक्रियावचनात् क्त्वा विधीयते। अत्रोच्यते वचसा त्याग वोसरित्ता इत्यनेन उच्यते। मनसा ममायं न भवति देह इति त्याग पश्चात्तन्यते। तेन वाङ्मन करणभेदात्प्राप्तो भिद्यते। निम्ममदा गिस्सगो निर्ममतया निस्सगो निष्परिग्रह। गिस्सहो नि परिग्रहत्वादेव निःशल्य। एकत्त जादि एकत्वभावना प्रतिपद्यते ॥

कायोत्सर्गस्यालोचनाप्रत्ययत्वसमर्थनाय गाथाद्वयमाह—

मूलारा—एवं पाचीणो इत्याद्युक्तविधिना। खु यस्मात्। वोसरित्ता कार्यं व्युत्सजामीति चनेन लक्त्वा। निम्ममत्तं अयं देहो मम भवतीति मनसा त्यज तं। निम्ममदा गिस्सगो निर्ममतया निःसंगो बाह्य चैतरपरिग्रहरहितो अत एव निःशल्य। आलोचनापरिणतोऽहमिदानीं संपन्न इति न मे सम्यक्त्वादपि दोषः कश्चिदप्यस्तीति दोषशंकादुरावे-

शनिर्मुक्तः । एतत् एकत्व अहमेकोऽसह्यो नित्यो वा । देहोऽयं मनोऽन्यो दुःखहेतुत्वाच्च ममानुपकारी निरतिचारत्वाच्च त्रय-  
मेवाहमतो देहनाशेन मे न किञ्चिन्नश्यति मम शुद्धचिद्रूपस्यैयमशुद्धिरिति माया च न स्पृशेयमिति एकत्वभावनामयो  
भवतीत्यर्थः ।

अर्थ—पूर्व गाथामें कहे हुए अभिप्रायके अनुसार पूर्व, उत्तर अथवा चैत्यके तरफ मुल करके मैं शरीरका  
त्याग करता हूँ, ऐसा प्रथम वचनोच्चार करके तदनंतर 'यह देह मेरा है, ऐसी भावनाका मनसे त्याग करना चाहिये,  
इस वास्ते शरीरत्यागके वचनकृत और मनःकृत ऐसे दो भेद होते हैं, देहके उपर ममत्वरहित होनेसे वह क्षपक  
निष्पग्रह है, और निष्पग्रह होनेमेही वह निःशून्य भी है, अतः कायोत्सर्गके समय मैं अकेलाही हूँ यह  
शरीर मेरा नहीं ऐसी एकत्वभावना उसको उत्पन्न होती है,

तो एतच्चमुगदो सरेदि सब्बे कदे सगे दोसे ॥

आयरियपादमूले उप्पाडिस्सामि सल्लत्ति ॥ ५५२ ॥

इत्येकेत्वगतः कृत्स्नं दोषं स्मरति यत्नतः ॥

इत्थं स प्रांजलीभूय सर्वं संस्मृत्य दूपणं ॥ ५७४ ॥

निजयोद्या — एतच्चमुगदो एकत्वभावनामुपगत । निरतिचारत्वाच्च दर्शनचात्रिण्येवाह । शरीरमिदमन्यदनु  
पकारि मम दु खनिमित्तत्वात् । तद्विनाशे मम किं चिन्श्यति । क्रतयितव्योऽयमरातिरिति मन्यमानः प्रायश्चित्ताचरणे न  
प्रिद्यते । माया च कर्मादयनिमित्तां हातुं ईहतो मम शुद्धरूपस्यैयमशुद्धिरिति । तो तत् । सरेदि स्मरति ।  
सब्बे सर्वेषां । कदे कृतानां । सगे स्वकानां । दोसे दोषाणां । किमर्थं स्मरति । आयरियपादमूले आचार्यपादमूले । उप्पा-  
डिस्सामि उत्पाटयिष्यामि । सल्लत्ति दर्शनातिचारमिति ॥

मूलारा—तो तत् । कायोत्सर्गादिकमोपक्रमप्रवृत्तं । कदे कृतान् । किमर्थं तान्स्मरतीत्याह—आयरियपादमूले

त्यादि ॥

अर्थ—जब क्षपक एकत्वभावनामय होता है तब मैं अतिचाररहित ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय हूँ, यह  
शरीर मेरेसे भिन्न है, यह उपकार न करने वाला और दुःखकेलिये कारण है, उसके नाशसे मेरा कुछ विगडना नहीं है,

यह शत्रु है इस लिये इसको क्रुश करना चाहिये ऐसे विचार उसके हृदयमें उत्पन्न होते हैं, ऐसे विचार उत्पन्न होनेसे वह क्षपक प्रायश्चित्तका आचरण करते समय खिन्न होता नहीं कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मायाको वह त्याग देता है यह माया मेरे शुद्ध स्वरूपमें अशुद्धता उत्पन्न करनेवाली है ऐसा मनमें समझता है और आचार्यके चरणसन्निध दर्शनादिकके अतिचारोंका नाश करूँगा ऐसा विचार कर पूर्वमें किये हुए सर्व दोषोंको स्मरता है,

स्मृत्वा किं करोति पद्मादित्याशंकाभित्याचरे—

इय उजुभावमुपगदो सञ्चे दोसे सरित्तु तिक्खुत्तो ॥

लेस्साहिं विसुञ्जतो उवेदि सञ्छे समुद्धरिं ॥ ५५३ ॥

एति शल्यं निराकर्तुं सर्वं संस्पृश दूषणम् ॥

आलोचनादिकं कर्तुं गुह्यते शुद्धचेतसः ॥ ५७५ ॥

विजयोदया—उजुभावं उवगदो इय एवं कज्जुभावं उपगतः । सञ्चे दोसे सर्वेषां दोषाणां । तिक्खुत्तो सरित्तु त्रिःस्मृत्वा । लेस्साहिं विसुञ्जतो लेख्याभिर्विशुद्धाभिविशुद्धयन् । उवेदि दौकते आचार्ये । सञ्छं शल्यं । समुद्धरिं सम्यगुद्धर्तुं ॥

स्मरणानंतर किं करोतीत्यत्राह—

मूलारा—सरित्तु स्मृत्वा । तिक्खुत्तो त्रीन्वारान् । आचार्यमुपसर्पति ॥

दोषोंका स्मरण कर अनंतर कोनसा कार्य क्षपक करता है? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—इस तरहसे सरलपना धारण कर तथा सब दोषोंका त्रिवार स्मरण करके लेख्याओंसे विशुद्ध होता हुआ अतिचारोंका उद्धार करनेके लिये आचार्यके पास क्षपक जाता है,

आलोयणादिया पुण होइ पसत्थे य सुद्धभावस्स ॥

पुव्वण्हे अवरण्हे व सोमतिहिरक्खवलाए ॥ ५५४ ॥

आलोचनादिकं तस्य संभवेच्छुद्धभावतः ॥

अपराण्हेऽप्य पूर्वाण्हे शुभलयादिके विने ॥ ५७६ ॥

विजयोदया—आलोचनादिको आलोचनप्रतिक्रमणादिका क्रिया । अथवा आलोचन आलोचना । दिया दि-  
वसे । पुण पदचात् । होइ भवति । क पसत्त्रे प्रशस्त क्षेत्रे । अनेन क्षेत्रशुद्धिका । विमुद्धभावस्स विशुद्धिपरिणामस्य  
भावशुद्धिरनेन कथिता । पुत्रण्हे पूर्वण्हे । अवरण्हे व अपराण्हे वा सोमतिहिरण्यपवेलाप सोम्ये दिने, नक्षत्रे, वेलाया च ।

आलोचनादिक्रिया क्षेत्रादिशुद्धावेव कार्येत्यनुशासि—

मूलारा—आलोचणादिना आलोचनप्रतिक्रमणादिक्रियाः । अन्ये दिया दिवा न रात्रौ इति व्याख्याति । तच्च  
नियमार्थमेव । पुत्रण्हे इत्यनेनैव रात्रिनिषेधस्य सागर्यलञ्चत्वात् । पसत्ये शुभे देशे ।

अर्थ—विशुद्ध परिणामवाले इस क्षपक्री आलोचना, प्रतिक्रमणादिक्रियाएं दिनमें और प्रशस्त स्थानमें  
अर्थात् शुद्ध स्थानमें होती हैं दिवसके पूर्व भागमें अथवा उत्तर भागमें, मौम्यतिथि, शुभनक्षत्र, जिस दिनमें रहते  
हैं उस दिनमें होती हैं आलोचना करनेके लिये परिणामोन्नी विशुद्धताके साथ २ क्षेत्रशुद्धि, शुभदिन, शुभतिथि और  
शुभनक्षत्र इनकी भी आवश्यकता रहती है ऐसा इस गाथासे व्यक्त होता है,

एवमादिषु अग्रशस्तेषु देशेषु आलोचना न प्रतीच्छेत् इति आचार्यशिक्षापरस्वचन—

णिप्पत्तकंटइल्लं विज्जुहदं सुक्खरुक्खकडुदुल्लं ।

मुण्णधरुहदुल्लपत्थररासिद्वियापुंजं ॥ ५५५ ॥

नि.पत्रः कटुकः शुष्कपादपः कंटकाक्षितः ॥

विच्छाद्यः पतितः शीणो दवदग्धस्तडिद्धतः ॥ ५७७ ॥

विजयोदया—णिप्पत्तकटयिल्ल निम्बत्रं कंटकाकुल । विज्जुहद अशनिनाहत । सुक्खरुक्खकडुदुल्ल । शुष्कवृक्षं,  
कटुकरस, दृढं दग्धं । मुण्णधरुहदुल्ल शून्यं गृह, रद्वेदेवकुल, पापानराक्षि, दृष्टकापुज ॥

आलोचनाद्योग्यं क्षेत्रं गाथात्रयणोपदिशति—

मूलारा—णिप्पत्ता निम्बत्रं उद्धृक्षयुक्तं स्थानं । एवं कंटइल्लं इत्याद्यपि व्याख्येयं । विज्जुहदं अशनिपातोपद्रुतं ।

कटु कटुकरसं । दुल्लं दवानलादिच्छुद्रं । इद्वियापुंजं इष्टकानिचयं ।

अग्रशस्त देशमें आलोचना करना योग्य नहीं है ऐसा आचार्यका शिक्षापर वचन दिखते हैं—

अर्थ— जो क्षेत्र पत्तोंसे रहित है, कंटोंसे भरा हुआ है, विजली गिरनेसे जहां जमीन फट गई है, जहां



शुष्क वृक्ष है, जिसमें कड़ुसके वृक्ष भरे हैं, जो जल गया है, ऐसे स्थानोंमें दोपोंकी आलोचना करना योग्य नहीं। शून्य घर, रुद्रका मंदिर, पत्थरोंका ढेर और ईंटोंका ढेर है ऐसा स्थानभी आलोचनाके लिये अयोग्य है।

तणपत्तकट्टछारिय असुइ सुसाणं च भग्गपडिदं वा ॥

रुद्धानं खुद्धान अधिउत्ताणं च ठाणाणि ॥ ५५६ ॥

शुद्धाणामल्पसत्त्वानां देवतानां निकेतनम् ॥

तृणपापणकाष्ठास्थिपत्रपांस्वादिसंचयाः ॥ ५७८ ॥

शून्यवेदमरजोभस्मवर्चःप्रभृतिदूषिता ॥

रुद्रदेवकुलं त्याज्यं निंद्यमन्यदपहिशम् ॥ ५७९ ॥

विचयोदया—तणपत्तकट्टछारिय असुइसुसाणं च तृणवत्पत्रवत्काष्ठवत् यत्स्थानं । अशुचिसुसाणं वा अशु-  
चिश्मशानं वा । भग्गानि पतितानि वा भाजनानि गृह्णाणि वा यस्मिन् स्थाने तद्भग्नपतितं । अधिउत्ताणं व ठाणाणि देव-  
ताना स्थानानि । कीटशीना ? रुद्धानं रौद्राणां । खुद्धानं क्षुद्राणां स्तनकानां । अल्पसत्त्वानामित्यर्थः । अधिउत्ताणं देव-  
ताना अन्ये अधिउत्ताणं इति लोकेन आत्मात्मैष्ठस्थाने स्थापितव्यतरदेवानामित्यर्थमाहुः ।

मूलारा—छारियं भस्मधूल्यादियुक्तं । असुचि अमेव्यादियुक्तं । सुसाणं श्मशानं । भग्गपडिदं भग्नपतित  
भाजनगृहादियुक्तं । रुद्धानं रौद्राणां चामुंडादीनां । खुद्धानं क्षुद्राणां स्तनकानां । अल्पसत्त्वानामित्यर्थः । अधिउत्ताणं देव-  
ताना अन्ये अधिउत्ताणं इति लोकेन आत्मात्मैष्ठस्थाने स्थापितव्यतरदेवानामित्यर्थमाहुः ।

अर्थ—जिसस्थानमें तृण, सूके पान, और काठके पुंज हैं जहां भस्म पड़ा है ऐसे स्थानभी आलोचनाके  
लिये वर्ज्य है अपवित्र श्मशान, तथा फुटे हुए पात्र, अथवा गिरा हुआ घर जहां है वह स्थान भी वर्ज्य है रुद्रदेवतायें  
और क्षुद्रदेवतायें इनकेभी स्थान वर्ज्य समझने चाहिये।

अणं व एवमादी य अप्पसत्थं हवेज्ज जे ठाणं ॥

आलोचनं पण्डिच्छदि तत्थं गणी से अविग्घत्थं ॥ ५५७ ॥

विकारविषयां शुद्धां साधुमालोचनां स्फुटम् ॥  
सूरीणां सर्वथा स्थानमसमाधानकारणम् ॥ ५८० ॥

विजयोदया—अण्ण व अन्यद्वा स्थान एवमादिक । अप्सत्थ अप्रशस्तं । ह्वेज्ज भवेत् । ज ठाणं यत्स्थान । तस्य तस्मिन्स्थाने । आलोचनं ण पडिच्छदि आलोचना न प्रतीच्छति । गणी गणधर । किमर्थं । से तस्य क्षणकस्य । अवि-  
ग्वर्यं अविचार्यं । एतेष्वालोचनाया कृताया प्रारब्धकार्यसिद्धिर्न भवतीति मत्वा ।

मूलारा—पडिच्छदि श्रणोति । अविग्वर्यं आरब्धकार्यनिर्विघ्नसिद्धयर्थं ॥

अर्थ—ऊपरके स्थान जैसे वर्ज्य हैं वैसे अन्यभी जो अयोग्य स्थान हैं उसमेंभी क्षणककी आलोचना आचार्य  
सुनते नहीं, ऐसे स्थानोंमें आलोचना करनेसे क्षणककी कार्यसिद्धि नहीं होगी ऐसा मानकर उसकी आलोचना आचार्य  
ग्रहण नहीं करते हैं.

फ तर्हि आलोचना प्रतीच्छतीत्यत्राह—

अरहंतसिद्धसागरपउमसरं खीरपुष्पफलभरियं ।

उज्जाणभवणतोरणपासादं णागजक्खधरं ॥ ५८१ ॥

जिनेन्द्रयक्षनागादिमंदिरं चारुतोरणम् ॥

सरः स्वच्छपयःपूर्णं पद्मिनीपंडमंडितम् ॥ ५८२ ॥

पादपैरुन्नतैः सेव्यं सर्वसत्त्वोपकारिभिः ॥

आरामे मंदिरं नग्नैः सज्जनैरिव भूपितं ॥ ५८३ ॥

समुद्रनिम्नगादीनां तीरमक्षमनोहरम् ॥

सच्छायं सरसं वृक्षं पवित्रफलपल्लवम् ॥ ५८४ ॥

विजयोदया—अरहतसिद्धसागरपउमसर अर्हद्वि सिद्धैश्च साहचर्यास्थान अर्हत्सिद्धशब्दाभ्यामिह गृहीत ।  
अर्हत्सिद्धयतिमासाहचर्याढा । सागरादिसभीय स्थान सामीप्यात्सागरादिशब्देनोच्यते । खीरपुष्पफलभरिद् क्षीरपुष्प  
फलभरितरुसामीप्यात् स्थानं क्षीरपुष्पफलभरितमित्युच्यते । उज्जाणभवणतोरणपासादं उद्यानभवन, तोरण, प्रासाद. ॥  
णागजक्खधरं । नागना यक्षाणा च गृह ॥

क 'तर्हि सूरिः क्षपकस्यालोचना प्रतीच्छति इति वृच्छायां गाथाद्वयमाह—

मूलारा — अरहंत अष्टप्रातिहार्यसाहितप्रतिमास्थानं । सिद्ध अष्टप्रातिहार्यरहितप्रतिमास्थान । सागर समुद्र समीपप्रदेशः । पञ्चमसर पद्माकरजलाशयसमीपं । खीरपुष्पफलभरिदं क्षीरघृक्षेवटभूताशोकादिभिः पुष्पितैः फलितैश्च वृक्षैराकीर्णो यो देशस्तस्यासन्नस्थानं । उज्जाणभवनं क्रीडावनमध्यगृहं । तोरणपासादं महागृहं सौवहाय्योदि ॥

किस प्रदेशमें क्षपककी आलोचनाका आचार्य स्वीकार करते हैं? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—अर्हन्तका मंदिर, सिद्धोंका मंदिर, अर्हत् और सिद्धोंकी जहां प्रतिमा है ऐसे पर्वतादिक. समुद्रके समीपका प्रदेश, जहां क्षीरघृक्ष हैं, जहां पुष्प और फलोंसे लदे हुए वृक्ष हैं ऐसे स्थान, उद्यान, तोरणद्वारमहित मकान, नागदेवताका मंदिर, यक्षमंदिर ये सब स्थान क्षपककी आलोचना सुननेके योग्य हैं

अर्णं च एवमादिय सुपसंत्यं हवइ जं ठाणं ॥

आलोयणं पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं ॥ ५५९ ॥

शस्तमैन्यदपि स्थानमुपेत्य गणनायकः ॥

आलोचनामसंक्लेशां क्षपकस्य प्रतीच्छति ॥ ५८४ ॥

मूलारा—स्पष्ट ।

अर्थ—और भी अन्य प्रशस्त स्थान आलोचनाके लिये योग्य हैं. ऐसे पशस्त स्थानोंमें क्षपकका कार्य निर्विघ्न सिद्ध हो इस हेतुसे आचार्य बैठ कर आलोचना सुनते हैं.

सूरित्व स्थित्वा आलोचनां प्रतिगृह्णातीति कथयति—

पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु ॥

आलोयणं पडिच्छदि एक्को एक्कस्स विरहम्मि ॥ ५६० ॥

जिनार्चाया दिश प्राच्या कौवेर्या वा स सन्मुखं ॥

शृणोत्यालोचनां सूरिरेकस्यैको निषण्णवान् ॥ ५८५ ॥

विजयोदया - पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व । प्राइमुख, उदइमुख । आयतनशब्दः स्थानसामान्यवचनोऽपि जिनप्रतिमास्थानवान्यत्र गृहीतस्तेन जिनायतनाभिमुखो वा । सुहणिसण्णो हु सुतेनासीन । आलोयण आलोचना । पडिच्छदि शृणोति । एक्को एक एव सूरिरकस्येवाल्लोचना । विरहम्मि एकांते । तिभिरापसारणपरस्य ब्रह्मस्मै कथयदिति उदयार्थी । तद्वदस्मत्कार्याभ्युपयो यथा द्यादिनि लोक प्राइमुखो भवति । सूरस्तु कोऽभिप्रायो येन प्राइमुखो भवति । प्राग्वधपरदुग्रहणकार्यसिद्धिरग तद्विगमिसुखता तित्तिवागदिवदिति । उदइमुखता तु स्वयप्रमादित्तिर्यङ्गतो विदेहस्थान चेतसि कृत्वा तदभिमुखतया कार्यसिद्धिरिति । चेत्याभिसुखताऽपि शुभपरिणामतया कार्यसिद्धिरग । निर्व्याकुलमासीनस्य यत् श्रवण तदालोचयितु सम्मानन । यथा कथंचिच्छ्रवणे मयि अनादरो गुरोरेति नोत्साह परस्य स्यात् । एक एव शृणुयात्सूरिल्लज्जापरो वहूना मध्ये नात्मजोप प्रकटयितुमीहते । चित्तखेदश्चास्य भवति, तथा कथयत एकस्येवाल्लोचना शृणुयात् । दुरवगारत्वाद्युपपदनेकवचनमदर्भस्या । तद्वदपनिग्रह नाय वराक प्रतीच्छति । इत्यनेनैव गतत्वाच्चिरहम्मि इति वचन निरर्थक । यद्यन्येऽपि तत्र स्युर्न एकैव श्रुत स्यात् । न लज्जत्ययमस्य अपराधश्चास्य अनेनावगत एवेति नान्यस्य नकाशे शृणुयात् इति । एतत्सूच्यते विरहम्मि एकांते आचार्यशिक्षेति ॥

सुप्रशस्तस्थाने कीदृग्भूत्वा सूरिरालोचना प्रतिगृह्णातीत्यत्राह--

मूलारा--आयदणमुहो आयतनशब्द स्थानसामान्यवचनोऽपि इह जिनप्रतिमास्थानार्थो गृहीत । तेन जिनायननाभिमुख इति व्याख्येयं । सुहणिसण्णो निर्व्याकुलमासीनेनालोचनायाः श्रवणमालोचयितु सम्माननमन्यथा मध्यनादरो गुरोरित्येव नोत्सहेत । एक्को वहूना हि मध्ये लज्जापरो न स्वदोषं वक्तुमीहते चित्तखेदश्चास्य स्यात् । एकस्स दुरवगारत्वाद्युपपदनेकालोचकवचनसदर्भस्य । तु शब्दोऽवधारणार्थोऽत्र योज्य । विरहम्मि एकांते । प्रच्छन्नोऽवमतो नाऽलोचितार्थं मा भैत्सीदित्येवमर्थमिदम् । उक्तं च--

पूर्वोदीच्योर्जिनार्चान्वा येनासीनो निराकुलः ॥

शृणोत्यालोचनार्थमेक एकस्यैव रहो गतः ॥

आचार्य इस प्रकार बैठकर आलोचना सुनते हैं इस बातको स्पष्ट करते हैं--

अर्थ--पूर्वाभिमुख, उत्तरदिशाभिमुख अथवा जिनमंदिराभिमुख होकर सुखसे बैठकर आचार्य आलोचना सुनते हैं एकान्तस्थानमें एकही आचार्य एकक्षपककीही आलोचना सुनता है अंधकारका नाश करनेवाले सूर्यका पूर्वदिशामें उदय होता है अतः पूर्व दिशा प्रशस्त है सूर्यके उदयके समान हमारे कार्यमेंभी दिन प्रतिदिन उन्नति होने ऐसी इच्छा करने वाले लोक पूर्वदिशाके तरफ अपना मुख करके अपना इष्ट कार्य करते हैं, क्षपकके ऊपर अनुग्रह

करनेका कार्य मैंने हाथमें लिया है, उसकी सिद्धिके लिये यह दिशा कारणभूत है ऐसा समझकर वे पूर्वाभिमुख बैठते हैं, विदेहक्षेत्रमें स्वयंप्रभादि तीर्थकर होगये हैं विदेहक्षेत्र उत्तरदिशाके तरफ हैं अतः उन तीर्थकरोंको हृदयमें धारण कर उस दिशाके तरफ आचार्य अपना मुख कार्यसिद्धिके लिये करते हैं चैत्यके तरफ मुख करनेसे परिणाम शुभ होगा जो कि कार्यसिद्धिके निमित्त हैं इस विचार से वे चैत्याभिमुख बैठते हैं.

निर्व्याकुल बैठकर गुरु आलोचना सुनते हैं, इस प्रकारसे सुननेसे आलोचना करनेवालेका सम्मान होता है, इधर उधर लक्ष देकर सुननेसे गुरुका भेरे संबंधमें अनादरभाव है ऐसी आलोचककी समझ होगी जिससे दोष कहनेमें उसका उत्साह नष्ट होगा एक ही आचार्य एकके दोष सुने, यदि बहुत गुरु सुननेके लिये बैठेंगे तो आलोचना करनेवाला श्रपक लज्जित होकर अपने दोष कहनेके लिये तयार होने पर भी उसके मनमें खेद उत्पन्न होगा अतः एक ही आचार्य एककी ही आलोचना सुने, एक कालमें एक आचार्य अनेक क्षपको की आलोचना सुननेकी इच्छा न करें, क्यों कि अनेकोंका वचन ध्यानमें रखना बड़ा कठिन कार्य है, इसलिये उनके दोष सुनकर योग्य प्रार्थन नही दे सकेगा इतने विवेचन से हि एकान्तमें गुरुके विना अन्य कोई नहीं होगा ऐसे समयमें आलोचना सुननी चाहिये और करनी चाहिये ऐसा सिद्ध होता है, अतः 'विरहस्मि' यह पद व्यर्थ है, इसका उत्तर ऐसा है-यदि वहां अन्य भी होंगे तो आलोचकके दोष बाहर फूटनेका संभव है, एक गुरु यदि होंगे तो उस स्थानमें प्रच्छन्नरतीसे दुसरे का प्रवेश होना योग्य नहीं है, यह सूचित करनेके लिये आचार्यने 'विरहस्मि' ऐसा पद दिया है.

शिल्पस्य आलोचनाक्रममाचष्टे -

काऊण य किरियम्मं पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो ॥

आलोएदि सुविहिदो सव्वे दोसे पमोत्तूण ॥ ५६१ ॥

कृत्वा त्रिशुद्धिं प्रतिलिख्य सूरिं प्रणम्य मूर्धस्थितपाणिपद्मः ॥

आलोचनामेव करोति सुक्त्वा दोषानशेषानपशल्यदोषः ॥ ५६२ ॥

इति आलोचना.

विजयोदया—काजण य किदिकम्मं कृतिकर्मे वंदनां पूर्वे कृत्वा । पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो प्रतिलेखनासहित-  
प्रांजलीकरणशुद्धः । आलोपदि कथयति । सुविदिदो सुचारिच' । सव्वदोसे पूर्वदोपान् । पमोत्तूण त्यक्त्वा । आलोचना ॥

एवमाचार्यस्यालोचनाग्रहणक्रमं शिक्षयित्वा शिष्यस्यालोचनाक्रममुपदिशति —

मूलारा—किरियम्मं वंदना । प्रकमात्सूरेव । सा चात्र सिद्धयोगभक्तिभ्या इति वृद्धा । श्रीचंद्राचार्यस्तु सिद्धचा-  
रित्रशास्त्रातिभक्तिभिस्ता न्याचष्टे । पडिलेहणमंजली दक्षिणपार्श्वे पिछेन सह ललाटतटप्रयुक्तकरपुट । करणसुद्धो मनोवाक्काय-  
शुद्धियुक्त । आलोचना सूत्रतः २३ । अकत ४० ॥

शिष्यके आलोचनाका क्रम कहते हैं—

अर्थ—प्रथम वंदना करके हाथमें पिच्छिका लेकर अंजलि करना चाहिये, आलोचनाके जो दोष आगममें  
कहे हैं उनका त्याग कर सर्व दोषोंका आचार्य महाराजके पास कथन करना चाहिये सिद्धभक्ति व योगभक्ति  
पठकर वंदना करनी चाहिये ऐसे वृद्ध आचार्य कहते हैं परंतु श्रीचंद्राचार्य मिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति तथा शांतिभक्ति  
पठकर वंदना करनी चाहिये ऐसा कहते हैं.

आलोचनाक्रमं निरूप्य गुणदोसा इत्येतद्व्याख्यानयोत्तरप्रबंधः—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिठं वादरं च सुहुमं च ॥

छण्णं सदाउलयं बहुजण अब्वत्त तस्सेवी ॥ ५६२ ॥

अनुकंप्यानुमान्यं हि यददुष्टं स्थूलमन्यथा ॥

छन्नं शब्दाकुलं भूरि सूर्यव्यक्तं च तत्समं ॥ ५८७ ॥

विजयोदया—आकंपिय अनुकंप्यात्मनि संपाद्य आलोचना । अणुमाणिय गुरोरभिप्रायमुपायेन क्षात्वालो-  
चना । जं दिठं यद दृष्ट दोषजात परैत्तस्यालोचना । वादरं च यत्स्थूलमतिचारजात तस्यालोचना । सुहुमं च यत्सूक्ष्ममति-  
चारजात तस्यालोचना । छण्णं अट्टयालोचना । सदाउलयं शब्दा आकुला यस्या आलोचनाया सा शब्दाकुला । बहुजन-  
शब्द' सामान्यविषयोऽपीह गुरुजनवाहुत्ये वर्तते । गुरोरालोचनाया प्रस्तुतत्वाद्गहना गुरूणा आलोचना क्रियते सा  
बहुजनशब्देनोच्यते । अब्वत्ता अव्यक्तस्य क्रियमाणा आलोचना । तस्सेवी तानात्मचारितान्दोषान्यः सेवते स तस्सेवी  
तस्य आलोचना । इदं सूत्र । अस्य व्याख्यानयोत्तरप्रबंधः ॥

अथैवमालोचनाकर्म निरूप्यालोचनागुणदोषनिरूपणार्थं सप्तपष्टिं गाथाः कथयति - तत्रादौ तावदाकंपादि तद्दोषोपाद्देशादि दिशति तद्विपर्ययरूपत्वादुपानाम्--

मूलारा—आकंपिय अनुकंपामात्मनि संपाद्यालोचना । सुदुमं सूक्ष्मस्य दोषस्यालोचना । जं विदुं यद्वृष्टं दोषजातं परैस्तस्यालोचना । वादरं यत्स्थूलमतिचारजातं तस्यालोचना । छणं प्रच्छन्नं घृष्टं आलोचना ॥  
आलोचनाका क्रम यहां तक आचार्य महाराजने कहा है, आगे 'गुण दोसा', इस प्रकरणका सविस्तर वर्णन करते हैं—

अर्थ—अपने विषयमें गुरुके मनमें दिया उत्पन्न कर आलोचना करना यह आकंपित दोष है, अनुमानित-गुरुके अभिप्राय उपायसे जानकर आलोचना करना, यद्वृष्ट—जो अपराध दूसरोंने देखे हैं उनकी ही आलोचना करना, वादर—स्थूल अतिचारोंके समूहकाही कथन करना, छोटे अपराध छिपाना, सूक्ष्म-अतिचार कहकर बड़े दोष छिपाना, छन्न—न देखे हुए दोषोंकी आलोचना करना, सूक्ष्म—

शब्दाकुलित—जिस आलोचनमें शब्द आकुलित हैं ऐसी आलोचना करना, अर्थात् पाक्षिक, चातुर्भासिक, सांवात्सरिक आलोचनके समय बहुत यतिगण मिलकर आलोचना करते हैं, तब उनके ध्वनिओंमें अपना ध्वनि भी मिलाकर दोषोंकी आलोचना करना, बहुजन--बहुजन शब्द सामान्य जनका वाचक होने पर भी प्रस्तुत प्रकरणमें गुरुजनोंके समुदायमें रूढ हुआ है, बहुत गुरु मिलकर जो आलोचना करते हैं उसको बहुजनालोचना कहते हैं,

अव्यक्त दोष—जो अज्ञानी हैं ऐसे मुनिको अपने दोष कहना तत्सेवी—जो दोष स्वतः किये हैं ऐसे ही दोष जिसके द्वारा होचुके हैं अर्थात् जिसने अपने दोषोंके समान दोष किये हैं उसको अपने अपराध कहना, ऐसे आलोचनको दस दोष हैं, इन दोषोंका आचार्य विस्तारसे वर्णन करते हैं,

आकंपिय इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे

भत्तेण व पाणेण व उवकरणेण किरियकम्मकरणेण ॥  
अणुकंपेऊण गणिं करेइ आलोयणं कोइ ॥ ५६३ ॥

स्त्रिं भक्तेन पानेन प्रदोत्तेनोपकारिणा ॥

विनयेनानुकम्प्य स्वं दोषं वदति कश्चन ॥ ५८८ ॥

विजयोदया—भक्तेण व पाणेन व स्वयं भिक्षालब्धिसमन्वितत्वात्सर्वतर्को भूत्वा आचार्यस्य ग्राहकेन उद्गमा-  
विदोपरहितेन भक्तेन वा पानेन वा वैयावृत्य कृत्वा, उपकरणेन कर्मदुलुपिच्छादिना । किदिकम्पकरणेन कृतिकर्मवदनया  
वा । आकपेदूण अनुकपास्तुपाद्य । गतिं आचार्य । कोह आलोच्यण करेइ कश्चित्स्वापराध कथयति ॥

आंकपिच इत्येतत्सुत्रपदं गाथापंचकेन व्याचक्षणः पूर्वं तल्लक्षणं गाथाद्वयनाह—

मूलारा—आकपेऊण स्वयं भिक्षालब्धिसमन्वितत्वात्सर्वतर्को भूत्वा निर्दोषभक्तादिसंपादनेन वंदनया वा गणिन-  
मात्मनि सत्करणं कृत्वा ।

प्रथमतः आंकपित दोषका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—स्वतः भिक्षालब्धसे युक्त होनेसे आचार्य की प्राप्तिक और उद्गमादिदोषोंसे रहित आहारपानों के  
द्वारा वैयावृत्य कर्त्ता, पिछी कर्मबंदु बगैरे उपकरण देना, कृतिकर्म वंदना करना इत्यादि प्रकारसे गुरुके मनमें  
दया सत्पन्न करके कोई अपने अपने अपराध कहता है.

तस्यालोचयतो मनोव्यापारं दर्शयति—

आलोइदं असेस होहिदि काहिदि अणुगहमिमोत्ति ॥

इय आलोचंतस्स हु पढमो आलोयणादोसो ॥ ५६४ ॥

आलोचितं मया सर्वं भविष्यत्येष मे गुणं ॥

करिष्यतीति मन्तव्यं पूर्वं आलोचनामलः ॥ ५८९ ॥

विजयोदया—आलोइदं असेस होहिदि निरवशेय आलोचित मविष्यति । काहिदि करिष्यति । अणुगह इमो-  
त्ति । अनुग्रह अयमिति । भक्तादियानेन कृतोपकारस्य मम तुष्टो गुर्वे महत्प्रायश्चित्तं प्रयच्छति । अपि तु स्वल्पमेव । ततो  
महत्प्रायश्चित्तदानभयात्स्थूल सूक्ष्म चालिचार सर्वं कथयामीति । इय एव आलोचंतस्स रु एवं मनसि कृत्वा आलोच-  
यत । पढमो प्रथम । आलोयणा दोसो आलोचनदोष । कोऽसौ अविनयो नाम यत्किंचिद्गुञ्जा गुरुचम्बुप्यनित लघुमा-  
यश्चिच्चदार्थिनो भविष्यतीति स्वबुद्ध्या असदोपाधाराणान्मानसोऽविनय । अन्ये तु वर्णयन्ति आलोचना च दोषश्च  
आलोचनदोषः । अशुभाभिसंधिपुर सरा आलोचना दुष्टमालोचनदोष इति यावत् ॥



तस्यालोचयतो मनोव्यापारं दर्शयति—

मूलार—होहिदि अशेषं अस्यावर्जितचित्तस्य गुरोरे भविष्यति स्थूलं सूक्ष्मं चातिचारजतं मया । न हंसौ बृहदायश्चित्तं मे दास्यति किं तर्हि ? काहिदि अणुगाहमिमोत्ति करिष्यत्ययमुपकारमिति । आलोचितस्स हु पढमो आकंपनामकः । दोषत्वं चास्य गुरोरेविनयप्रवर्तनात् । यत्किंचिद्विच्छन्ना गुरुरस्तुष्टा लुभयश्चित्तदायिनो भविष्यति इति स्वबुद्ध्या असद्वोषाध्यारोपणाद्धि न मानसो विनयः ।

आलोचना करते समय उसकी मनःप्रवृत्ति कैसी रहती है इसका वर्णन—

अर्थ—आहारादिकों के दानसे तुष्ट किये गुरु मेरेको महात् प्रायश्चित्त न दोगे छोटासा प्रायश्चित्त दोगे- अतः स्थूल सूक्ष्म सब दोष मैं गुरुको कहूंगा, इस विचारसे कोई यति अपने दोष कहते हैं, और इस प्रकार सर्व दोषोंकी आलोचना होगी ऐसा मनमें समझते हैं, यह आलोचनाका प्रथम दोष है, इस दोषमें अविनय घुसा हुआ है, उसका विवेचन इस प्रकार—

जो कुछभी मिलनेसे गुरु सतुष्ट होकर छोटासा प्रायश्चित्त दोगे ऐसा अपने मनमें विचार कर उनपर असद्वोषका आरोपण करना यह मानसिक अविनय है अर्थात् गुरु लोभी होनेसे उपकरणादि पदार्थ मिलनेसे खुप होजाते हैं ऐसे दोषका आरोपण करना अशुभपरिणामसहित यह आलोचना की जाती है इस वास्ते यह आलोचना सदाप है ऐसा कोई आचार्य इस आलोचनाके विषयमें कहते हैं—

केदूण विसं पुरिसो पिण्ज जह कोइ जीविदुच्छीओ ॥

मणंतो हिदमहिदं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६५ ॥

काश्चित् क्रीत्वा विपं भुंक्ते नरो मत्वाहितं हितं ॥

जीवितार्थी यथा मूर्खस्नयेयं खुद्धिरिण्यते ॥ ५७० ॥

विजयोदया—केदूण विसं पुरिसो इत्यादिना । जह कोइ पुरिसो जीविदुच्छी तिसं केदूण पिण्ज इति संवध । यथा काश्चित्पुरुषो जीवितार्थी विपं क्रीत्वा गिनति । अहिदं अहितं कृत्वा । विपपानं हिदं मणंतो हितमिति मन्यमान । तधिमा तथा इय सल्लुद्धरणसोधी मायाशब्दोद्धरणशुद्धि । सामान्यवचनोऽपि शब्दशब्दोऽपि मायाशब्दे वृत्तः ।

तस्य उद्धरणे नाम स्वकृतापराधकथन । आलोचनाशाल्योद्धरणमेव शुद्धिरुच्यते । ज्ञानदर्शनचारित्र्यपसा नैर्मल्यहेतुत्वात्, जीवितार्थिन हितवृद्धया गृहीता अहिता । क्रीतविपपान उपमानं तद्वर्तीयमालोचना, भक्तपानादिदोनेन वंनया वा साधारणो धर्मस्तथाप्युपमानमुपमेयं तयोश्च साधारण धर्ममाश्रित्य सर्वोपमानोपमेयता पान दुष्टता उपमानोपमेयता उपमानं, उपमेय मुख, वृत्तता सर्वजनमनोबलभता च साधारणो धर्म, ॥

दृष्टातमुखेन गुर्वनुकंपनापूर्वकालोचनाया दुष्टतामाचष्टे —  
मूलरा — केदूण नीत्वा । जीविदत्थीजो जीवितार्थी । अहिद प्राणापहारित्वादपकारकं । तथिमा तथा इयं । भक्त्युपचारपूर्विका । सल्लुद्धरणसोधी शल्यस्य मायाख्यस्योद्धरणं स्वकृतापराधकथन आलोचना । तव्व सोधी शुद्धा रत्नत्रये नैर्मल्यहेतुत्वात् । घनेन क्रीत्वा पीतं किं जीवितमिव भक्तादिना गुरुमनुकंप्य कृतालोचना शुद्धि न करोतीति दृष्टान्तार्थः । इयमालोचना विपवदुष्टेति तात्पर्यम् ।

अर्थ — जीनेकी इच्छा करनेवाला कोई पुरुष अहितकर विपको खरीद कर हितकर समझकर पीता है, उसके समान ही यह मायाश्रयसे उद्धार करनेवाली शुद्धि समझनी चाहिये आलोचनाके दोष मनमेंसे नष्ट करना ही शुद्धि है अर्थात् अपने किये हुए अपराध निष्कण्ट भावसे गुरुके समीप कहना ही शल्योद्धरण शुद्धि है, इस शुद्धिसे ही ज्ञान, दर्शन और चात्रिज निर्मल होते हैं।

परंतु यह आलोचना जीवितार्थी मनुष्यने हितकर समझकर किये हुये विपपानके समान है, विपपान खरीद लिया है और यह आलोचना उपमेय है, आहारादि पदार्थ गुरुको देकर अथवा वंदना करके गुरुको मानो साधारणधर्म दुष्टता है, उपमान और उपमेय और साधारण धर्मका आश्रय लेकर उपमान उपमेयता दिखाई जाती है, जैसे चंद्रमुखी कन्या इस उदाहरणमें चंद्र उपमान, मुख उपमेय और गोलाई, सर्वजनचिताकर्षकता यह साधारणधर्म है, वैसे यहा भी विपपान उपमान, आलोचना उपमेय और दोनोंमें दुष्टता यह साधारणधर्म शल्यके अर्थ में वह रुद हुआ है

उपमानात्तेरेणापि उपमेयं आलोचनां ग्रथयति ॥

वण्णरसगंधजुत्तं किंपाकफलं जहा दुहविवागं ॥

पच्छा णिच्छयकडुयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६६ ॥

मधुरालोचनैषादौ विपाके सेविता सती ॥

तीव्रं करोति किंपाकफलमुक्तिरिवासुखम् ॥ ५६७ ॥

विजयोदया—चण्णरस इत्यादिना । किंपाकफल वण्णरसगंधजुत्तं जहा दुहविवागं । किंपाकाख्यस्य तरोः फलं । वर्णादिशब्दस्य तरोः फलस्याभाववचनसिद्धेर्णादिविपुलकवचनमतिशयितवर्णादिपरिग्रह सूचयति । तेनायमर्थः—नयनप्रियरूप, मधुरसयुक्त, घ्राणसुखद सेवितमिति चाक्यशेषः । दुहविपाक दुःखविपाक । पच्छा अनुभवोत्तरकालं । णिच्छयकडुग निश्चयेन कटुक । तधिमा त यथा सल्लुद्धरणसोधी आलोचनाशुद्धि किंपाकफलोपमेव उपमानं, उपमेय आलोचना, दुःखविपाकता साधारणो धर्मः ।

तस्या एव दुर्विपाकतां दृष्टान्तमुपेनाचष्टे—

मूलारा — वण्णेत्यादि नयनप्रियवर्णं मधुररसं घ्राणसुखदगंधं चेत्यर्थः । दुहविवागं दुःखविपाकं मरणं कारणत्वात् । पच्छा अनुभवोत्तरकालं । णिच्छयकडुगं निश्चयेन परमार्थेन कटुकं दुर्विपाकत्वात् । तधिमा तथेयं दुःखविपाकादुर्गेतिदुःखहेतुत्वात् ।

दुसरे उपमानके द्वारा भी उपमेयरूप आलोचनाका वर्णन करते हैं—

अर्थः—किंपाकफलका रूप बड़ा सुंदर रहता है रस, मधुर होता है, गंध नाकको मोहित करता है, परंतु उसका सेवन करनेसे परिणाम कालमें दुःख उत्पन्न होता है अर्थात् उसके भक्षणसे जीवको प्राणत्याग करना पड़ता है, यह आलोचनाकी शुद्धि भी किंपाकफलके समान है यहां किंपाकफल उपमान, आलोचना उपमेय और परिणाम में दुःख दायकपना यह साधारण धर्म समझना चाहिये,

किमिरागकंचलस्स व सोधी जडुरागवत्थसोधीव ॥

अवि सा हवेज्ज किह इण तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६७ ॥

रक्तस्य कृमिरागेण शुद्धिलोक्षारसेन वा ॥

यक्षस्य जायते जातु नैवा शुद्धिः पुनर्भवम् ॥ ५९२ ॥

इति अनुकम्पादोषः ॥

विजयोदया—किमिरागकंवलस्स च कृमिशुक्ताहारवर्णतनुभिरुत कवळ कृमिरागकवळ । तस्स सोधी विशुद्धिरिय पीतनीलरक्तादीना अन्यतमवर्णस्य शुभ्लतेव । जदुरागवच्छसोधीव जतुवर्णवक्खुद्धिरिव वा यथासौ क्लेशेन प्रवर्तमानापि न भवत्येवमियमपीति स्ववर्मता । अहवा अथ वा । अपि सा कृमिरागकवळशुद्धिर्जन्तुरागकवळशुद्धिर्वा हवेज्ज भवेत् । इण इय सल्लुद्धरणशुद्धिर्न भवत्येव ॥

गुरुपचारपूर्वकालोचनया रत्नवयशुद्धेरुत्तरता निदर्शनद्वयेन समर्थयते—

मूलारा — किमिरायकंवलस्स कृमिशुक्ताहारवर्णतनुभिरुतः कंवळः कृमिरागकंवलस्तस्येति संस्कृतटीकाया व्याख्यानं । टिप्पणके तु कृमिरात्यक्तरक्ताहाररंजिततनुनिष्पादितकवळस्येति ( १ ) प्राकृतटीकाया पुनरिदमुक्तं—उत्तरापदे चर्मरंगम्लेच्छविषये म्लेच्छा जलौकामिभानुपरुधिरं गृहीत्वा भंडकेषु स्थापयन्ति । ततस्तेन रुधिराण कृतिपयदिवमोत्पन्न विषत्रकृमिकेणोणसूत्रं रंजयित्वा कंवळं वयंति । सोऽयं कृमिरागकंवळ इत्युच्यते । स चातीव रुधिरवर्णो भवति, तस्य हि वान्निहना दग्धस्यापि स कृमिरागो नापगच्छतीति । सोधी शुद्धतापादनं । जदुरागवच्छसोधी सिंधुदेशलाक्षारकटसरिवच्छुद्धिः । अवि अपि. संभावने । किहइ कथंचित् । आयासेन । ण इमा मल्लुद्धरणसोधी इयं गुरुपचारपूर्वकालोचनया रत्नवयशुद्धिः ।

अर्थ—कृमिश्चैने भक्षण क्रिये आहारसे उत्पन्न हुए जो वर्णयुक्त तंतु उससे बना हुआ कंवळ जैसे शुद्ध अर्थात् अपना नील पीतादिक रंग छोड़कर शुभ्ल-सफेद होता नहीं वैसी यह आलोचना भी निर्मल नहीं मानी जाती है. अथवा लाखके रंगसे रंगा हुआ वस्त्र बहुत धोनेपर भी अपना लालरंग छोड़कर सफेद नहीं होता है वैसी यह आलोचना भी मायायुक्त होनेसे शुद्ध नहीं मानी जाती है. अथवा कृमिरागयुक्त कंवळ धोनेपर कदाचित् निर्मल होगा लाखके रंगसे रंगा हुआ कवल धोनेपर निर्मल बनेगा परंतु यह आलोचना कभी भी शुद्ध न होगी इस प्रकार अनुकंपित दोषका वर्णन हुआ,

द्वितीयमालोचनाद्वोपमाचष्टे—इति अणुकंपिय ।

धीरपुरिसचिण्णाद् पवददि अदिधम्मिओ व सव्वाइं ॥

धण्णा ते भगवता कुब्बंति तवं विकट्ठं जे ॥ ५६८ ॥

धीरैराघारितं धन्याः कुर्वन्ते दुश्चरं तपः ॥

दुःखारम्भसो भवारम्भोधेर्दुस्तरात्तारकं परम् ॥ ५९३ ॥

विजयोदया—धीरपुरिसचिण्णाद् धीरैः पुरैरचरितानि । पवदति प्रवदति ॥ अदिधम्मिओव अतीव धार्मिक इव । सव्वाइं सर्वाणि । धण्णा धन्या पुण्यवत । ते भगवतः माहात्म्यवन्तः । जे ये । कुब्बन्ति कुर्वन्ति । तपः तपः । विकट्ठं उत्कृष्ट इति वदति ॥

अणुमाणिय इति द्वितीयमालोचना दोप गाथापट्टकेन व्याचक्ष्णः पूर्वं तल्लक्षण गाथापंचकेनाह—

मूलारा—चिण्णाइं आचरितानि । पवददि प्रकर्षेण कथयत्यल्लोचनाकारी । धण्णा इत्यादौति संवंधः । अदिधम्मिमो व अतीव धार्मिक इव । भयवन्ता माहात्म्यवन्तः विकिट्ठं । उत्कृष्टे ।

अनुमानित दोपका वर्णन—

अर्थ—आलोचना करनेवाला मुनि मानो अपनी अतिशय धार्मिकता दिखाता हुआ इस प्रकारकी स्तुति करता है—हे भगवान् ! धीर पुरुषसे किया हुआ सर्व प्रकारका तप जो मुनि करते हैं वे अतिशय धन्य हैं, पुण्यवान हैं और महात्मा हैं.

यामापहारपासत्यदाए सुहसीलदाए देहेसु ॥

वददि णिहीणो हु अह ज ण समत्थो अणसणस्स ॥ ५६९ ॥

कलमापहारपार्श्वस्थसुखशीलतया तपः ॥

न प्रकृष्टमलं कर्तुं वदत्येवमधार्मिकः ॥ ५९४ ॥

विलयोदया—यामापहारपासत्यदाए बलनिगूढनेन पार्श्वस्थतया च । सुहसीलदाए च सुखशीलतया च । तदो तत । सो सः । वददि कथयति । णिहीणो जघन्यः । अह अहम् । ज यस्मात् । ण समत्थो असमर्थोऽशक । अणसणस्स अनशनस्य ॥

मूलारा—थामापहार वलनिगूहेनेन । पासत्यदाण पार्श्वस्थतया । वदिदि णिहीणो इत्वादिक कथयति । णि हीणो अहयं ज ण समत्थो । णिहीणो जयन्त्य । अहयं अहं । जं यस्मात् ।

अर्थ—अपना बल छिपाकर और स्वयं पार्श्वस्थमुनि होनेसे और सुखमें आसक्त होनेसे वह मुनि गुरुकी इस प्रकार प्रार्थना करता है ' मैं जयन्त्य हूं, असमर्थ हूं इसलिये मेरेको उपवास करनेका सामर्थ्य नहीं है ।

जाणह य मज्झ थामं अंगाणं दुब्बलदा अणारोगं ॥

णेव समत्थोमि अहं तवं विकटं पि काटुजे ॥ ५७० ॥

पार्श्वस्थत्वमनारोग्यं दौर्बल्यं वह्निमंदता ॥

भगवंतव विज्ञाता मदीयाः सकलाः स्फुटम् ॥ ५९५ ॥

विजयोदया—जाणह य अस्मद्वलं युष्माभित्वसितमेव । अगाणं दुब्बलदा उदराग्निदौर्बल्य । आणारोगं रोग-पक्षा च । अहं तवं विकटं काटु णेव समत्थोमि अहं तप उत्कटं कतुं नैव समर्थोऽस्मि ॥

मूलारा—जाणघ जानीथ यूयं । मज्झ थामं मम वलं । गहणीदोवह्लिय उदराग्निदौर्बल्यमित्यर्थ । अणा-रोगं रोगवत्तां । काटुजे कर्तुं । समत्थो मि समर्थोऽस्मि । उक्तं च—

अध्मिमाद्यमनारोग्यं वलं मे ज्ञातमेव व' ॥

यथा च न समर्थोऽहमुत्कटं चरितुं तपः ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आप मेरा सामर्थ्य फितना है यह तो जानते ही हैं मेरा उदराग्नि अनिशय दुर्बल है मेरे अंगके अवयव कुछ हैं इसलिये मैं उत्कट तप करनेमें असमर्थ हूं, मेरा शरीर हमेशा रोगी रहता है

आलोचेमि य सव्वं जइ मे पच्छा अणुगगहं कुणह ॥

तुज्झ सिरीए इच्छं सोधी जह णिच्छेज्जामि ॥ ५७१ ॥

आलोचयामि निःशेषं कुरुष्व यद्यनुग्रहम् ॥

त्वदीयेन प्रसादेन विशुद्धिर्मम जायताम् ॥ ५९६ ॥

विजयोदया—आलोचयि य सर्व्वं सर्व्वमतिचारजातं आलोचयामि । अदि पच्छा अणुगहं कुणहं मम यदि पश्चादनुग्रहं कियते भवद्दि । तुज्ज सिरीण । भवता श्रिया । इच्छं इच्छामि । सोधी सुद्धि । निच्छरेज्जामि निस्तारयि-  
धाम्यत्तमान ॥

मूलारा—पच्छा आलोचनानंतरं । अणुगहं कृपा । तुम्हसिरीण भवता प्रसादेन । इच्छं इच्छामि । सोधीयं सुद्धि । निच्छरेज्जामि निस्तारयाम्यात्मानं । अन्यस्तु निच्छरेज्जामि निस्तारिषुमिच्छामीत्याह ॥

अर्थ—यदि मेरे ऊपर आप अनुग्रह करेंगे अर्थात् मेरेको आप यदि थोडासा प्रायश्चित्त देंगे तो मैं अपने संपूर्ण अतिचारोंका कथन करूंगा और अपनी कृपासे मैं शुद्धियुक्त होकर अपराधोंसे मुक्त होऊंगा.

अणुमणेदूणं गुरुं एवं आलोचणं तदो पच्छा ॥

कुणइ ससंछो सो से विदिओ आलोयणा दोसो ॥ ५७२ ॥

कुर्वणस्यानुमान्येति सुरिमालोचनं यतेः ॥

भवत्यालोचनं दोषो द्वितीयः शल्यगोपकः ॥ ५९७ ॥

विजयोदया—एव अणुमणेदूण एव अनुमानेन ज्ञात्वा । गुरुः प्रार्थितं करिष्यति स्वल्पप्रायश्चित्तद्वारेण ममा-  
नुग्रहं इति । पच्छा आलोयणं कुणइ पश्चादलोचना करोति । ससंछ शल्यसहित । सो सः । से तस्य । विदिओ द्वितीय  
आलोयणादोसो आलोचनादोषः ।

मूलारा—अणुमणेदूण अनुमानेन ज्ञात्वा ।

अर्थ—गुरु मेरेको थोडासा प्रायश्चित्त देकर मेरे ऊपर अनुग्रह करेंगे ऐसा अनुमान करके मायाभावसे  
जो मुनि पश्चात् आलोचना करता है. यह अनुमानित नामक आलोचनाका दूसरा दोष है

गुणकारिओत्ति मुंजइ जहा सुहत्थी अपच्छमाहारं ॥

पच्छा विवायकडुगं तधिमा सल्लहरणं सोधी ॥ ५७३ ॥

सेव्यमानो यथाहारो विपाके दुःखदायकः ॥  
अपथ्यः पथ्यस्योमुष्या तथेयं शुद्धीरिता ॥ ५९८ ॥

इति अनुमान्यदोषः ॥

विजयोदया — गुणकारिओसि मुंजइ गुणमुपकारं करोति इति भुक्ते । जहा सुहृत्थी यथा सुवार्थो । अपत्यमा-  
हारं । कीदृग्भूत पच्छा विचारकइग भोजनोत्तरकाल विपाककटुकं । तथिमा तथा इमा । सल्लुङ्करणसोघी शल्योद्धरणशुद्धी  
अपथ्यमाहार स्वबुद्ध्या गुणकारीति संकल्प्य यदि नाम भुक्ते तथापि विपाके कटुक पवासो । एव गुर्वभिप्रायानुमानेन  
प्रवृत्तो हितबुद्ध्या शुद्धीताप्यालोचना अनर्थावहेति । न हि संकल्पवशाद्वस्तुनोऽन्यथाभाव । नापथ्यस्याहारस्य पथ्य-  
तास्ति संकल्पमात्रेण । अनुमानिय ॥

मूलारा — गुणकारगोत्ति गुणमुपकारं करोति इति । पच्छा भोजनोत्तरकाल । तथिमा अपथ्यं पथ्यमिति  
संकल्प्य भुक्तेष्विव । गुर्वभिप्रायानुमानेन प्रवृत्तहितबुद्ध्या शुद्धीताप्यालोचना परिणामेऽनर्थावहा । न हि संकल्पवशाद्-  
स्तुनोऽन्यथाभावः ।

अर्थ — जैसा सुखकी चाहना करनेवाला कोई पुरुष भोजन के अनंतर जिसका परिणाम दुःखदायक  
होगा ऐसा आहार खाता है, परंतु उससे सुख न होकर दुःख ही उत्पन्न होता है वैसी यह  
आलोचना शुद्धि है अपथ्य आहार मेरेको हितकर होगा ऐसी बुद्धिके द्वारा मनमें संकल्प कर यदि कोई पुरुष भक्षण  
करेगा तोभी वह परिणाममें कटुही फल देगा, वैसे गुरुके अभिप्रायका अनुमान करके अर्थात् गुरु मेरेको अल्प प्राय-  
श्चित्त दोगे इस बुद्धिसे की गई हितकर भी आलोचना अनर्थ करनेवाली होती है, संकल्पसे वस्तुका परिणामन भिन्न  
नहीं होगा, संकल्पमात्रसे अपथ्य आहार पथ्यकर नहीं होता है, इस प्रकार अनुमानित दोषका वर्णन होचुका,

ज होदि अण्णदिट्ठं तं आलोचेदि गुरुसयासमि ॥

अदिट्ठं गूहंतो मायिल्लो होदि णायव्वो ॥ ५७४ ॥

परैः सूचयते दृष्टमदृष्टं या निगूहति ॥

महादुःखफला तेन मायावल्ली प्ररोप्यते ॥ ५९९ ॥

विजयोदया — ज अण्णदिट्ठ होदि यदन्यदृष्टं भवति अपराधजातं । त आलोचेदि कथयति । गुरुसयासमि गुरु-



समीपे । अहिंष्टं परैरदृष्टं । गृह्णतो प्रच्छादयन् । मायिहो नादब्धो होदि । मायावानिति ज्ञातऽयो भवति ॥

जे दिष्टमिति तृतीयमालोचनादोषं गायत्रयेण विवृण्वन् द्वाभ्या लक्षयित्वा एकमाक्षिपति —  
मूढारा—अण्णदिष्टं परैरदृष्टं । गृह्णतो प्रच्छादयन् ।

अर्थ—जो अपराध अन्य जनों ने देखे हैं उनमेंही गुरुके पास जाकर कोई मुनि कहता है, और अन्यसे न देखे गये अपराधोंको छिपाता है वह मायाजी है ऐसा समझना चाहिए.

दिष्टं व अदिष्टं वा जदि ण कहेइ परमेण विणएण ॥

आयरियपायमूले तदिओ आलोयणादोसो ॥ ५७५ ॥

यदि दृष्टमदृष्टं च नालोचयति दूषणं ॥

तदास्त्यालोचनादोपस्तृतीयो दोषवर्चकः ॥ ६०० ॥

विजयोदया — दिष्ट व अदिष्ट वा परैरदृष्टमदृष्ट वापराधं । परमेण विणएण जदि ण कहेइ प्रच्छेन विनयेन यदि न कथयेत् । क आयरियपादमूले आचार्यपादमूले । तदिओ आलोयणादोसो तृतीय आलोचनादोष ॥

मूढारा—दिष्टं परैरिति शेषः ।

अर्थ—दूसरोंके द्वारा देखे गये हो अथवा न देखे गये हो संपूर्ण अपराधोंका कथन गुरुके पास जाकर अतिशय विनयसे कहना चाहिये परंतु जो मुनि ऐसा नहीं करता है वह मुनि आलोचनाके तीसरे दोष से लिप्त होता है ऐसा समझना चाहिये

जह वालुथाए अवडो पूरदि उक्करीरमाणओ चेव ॥

तह कम्मादाणकरी इमा हु सल्लुद्धरणसुद्धी ॥ ५७६ ॥

दोषशुद्धिरपचेतसा पुनः कलमैरिति कृता निर्धीयन्ते ॥

वालुकासु रथितोऽवटः पुनर्वालुकाभिरभितो हि पुर्यन्ते ॥ ६०१ ॥  
इति दृष्टम् ।

विजयोदया—अहं बालुयाए यथा बालुकाणि पूरयिष्ये । अवडो बालुकामच्यरुतो गर्ते । उक्कीरमाणगो चेवं उक्कीर्यमाणोऽपि सन् । तह कम्मादाणकरी तथा कम्मप्रहणकारिणी । इमा सल्लुद्धरणसोधी इयमालोचनाइया शुद्धिः । मायाशल्यनिराकरणार्थमालोचनाया प्रवृत्तोऽन्यथा माययात्मानं प्रच्छादयति । यथा बालुकाविशेषो गर्तसस्का राशौ बालुकाभिरापूरयति गर्तमिति । जं विट्ठं ॥

यदृष्टालोचनाकारी मायाशल्यनिरासार्थमालोचनाया प्रवृत्तोऽन्यथा माययाऽत्मानं प्रच्छादयति बालुकाविशेषो गर्तसंस्काराय क्रियमाणो 'बालुक्या' गर्तं पूरयति इति दर्शयितुमिदमाह—

मूलारा—अवडो अवटो गर्तः । प्रक्रमाद्बालुकामच्य एव कृतः । पूरयिष्ये । उक्कीरमाणगो चेव उत्कीर्यमाणोऽपि उर्द्धिच्यमानोऽपि । कम्मादाणकरी अपूर्वकर्मसाविणी ॥

अर्थ—जैसे बालुकाके मैदानमें कौई मनुष्य खाड़ा खोदने लग जाय तो वह खोदनेके समय ही बालुकाओंसे फिर भरजाता है वैसे यह आलोचना शुद्धि है अर्थात् मायाशल्य मनसे निकालनेके हेतुसे यह आलोचनामें प्रवृत्त हुआ है परंतु अन्यमायासे अपनको आच्छादित करनेका प्रयत्न कर रहा है ऐसा समझना जं विट्ठं इस नामक आलोचनादोषका वर्णन हुआ

बादरमालोचैतो जत्तो जत्तो वदाओ पडिभग्गो ॥

सुहुमं पच्छादैंतो जिणवयणंपरमुहो होइ ॥ ५७७ ॥

स्थूलं व्रततिचारं यः सूक्ष्मं प्रच्छाद्य जल्पति ॥

पुरतो गणनाथस्य सोऽहंद्वाक्यवह्निर्भवः ॥ ६०२ ॥

विजयोदया—बादरमालोचैतो । अत्रैव पदसंबन्धः, जत्तो जत्तो वदाओ पडिभग्गो यस्माद्यस्माद्यतात्त्रातिभग्न । तत्र बादर आलोचैतो स्थूल कथयन् । सुहुम पच्छादैंतो सूक्ष्मदोषं प्रच्छादयन् । जिणवयणंपरमुहो होइ जिनवचनपरामुखो भवति ॥

बादरमिति चतुर्थमालोचनादोषं गाथात्रयणं व्याचक्षाणो द्वाभ्या लक्षयति—

मूलारा—वदाउ व्रतात् । पडिभग्गो भ्रष्टः ।

अर्थ—जिन जिन व्रतोंमें अतिचार लगे होंगे उन उन व्रतोंमें स्थूल स्थूल अतिचारोंकी तो आलोचना

करके सक्षम अतिचारोंको छिपानेवाला मुनि जिनेंद्रभगवानके वचनोंसे पराङ्मुख हुआ है ऐसा समझना चाहिये.

सुहुम व बादरं वा जडं ण कहेज्ज विणएण सुगुरुणं ॥

आलोचनाए दोसो एसो हु चउत्थओ होदि ॥ ५७८ ॥

नचेदोपं गुरोरेये स्थूलं सूक्ष्मं च भाषते ॥

विनयेन तदा दोषश्चतुर्थः कथनाश्रयः ॥ ६०३ ॥

विजयोदया—स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वातिचारजातस्य नालोचना चतुर्थो दोष इति सुहुगं व इत्यस्यार्थः ॥

मूलारा—स्पष्टं ।

अर्थ—स्थूल और सूक्ष्म अतिचार के समुदायका विनयसे गुरुके चरणमें वर्णन न करना यह चतुर्थ दोष है.

जहं कंसियभिगारो अंतो णीलमइलो वहिं चोक्खो ॥

अंतो ससह्जदोसा तधिमा सल्लुद्धरणत्तोधी ॥ ५७९ ॥

वाह्याकारेणातिशुद्धोऽपि साधुर्नातःशुद्धिं याति मायाविशाल्यः ॥

भृंगारो वा कांसिकः शोधयमानो बाह्ये शुद्धिं कश्मलांतः प्रयाति ॥ ६०४ ॥

विजयोदया—बादरं ॥ ४ ॥ जहं कंसियभिगारो यथा कास्यरक्षितो भृंगारः । अंतो अश्वत्तरे । णीलमइलो नीलः सन्मलिनः । वहिं चोक्खो वहि शुद्धः । अतो ससह्जदोसा अतः सशाल्यदोषा इयमालोचना शुद्धिः ।

बादरालोचनाया दुष्टत्वं सहज्जातमाचष्टे—

मूलारा—कंसियभिगारो कास्यमयभृंगारः । णीलमइलो कृष्णः सन्मलिनः । वहिं चोक्खो वहिः शुद्धः । सस-

ह्जदोसा मायाशाल्यदोषयुक्ता ॥

अर्थ—जैसा कांस्यधातुका बना हुआ कर्मइलु अंदर तो नील और मलिन होता है. और बाहर स्वच्छ दीखता है. वैसे इस आलोचनमें अंतरंगमें माया वसी हुई है अतः यह आलोचना दोषयुक्त समझनी चाहिये. इस रीतीसे बादर दोषकी आलोचना का वर्णन है.

चंकमणे य द्वाणे गिसेज्जउवट्टणे य सयणे य ॥

उट्ठामाससरक्खे य गम्भिणी बालवत्थाए ॥ ५८० ॥

आसने शयने स्थाने संस्तरे गमने तथा ॥

आर्द्रगात्रपरामर्शे गर्भिण्या बालवत्सया ॥ ६०६ ॥

परिविष्टेऽभवदोपोऽयः सूक्ष्मः स निगद्यते ॥

स्थूलं प्रच्छाद्य येनासौ जिनवाक्यपराङ्मुखः ॥ ६०६ ॥

विजयोदया--चकमणे अवश्यायवहुलेन पथा व्याकुलितचित्तो मनागिर्यायामनुपयुक्तो गतवान् । ठाणे गिसे ज्ज उवट्टणे य सयणे य प्रमार्जनमकृत्वा स्थान, निपद्या, शय्या च कृता । उट्ठामाससरम्भे आर्द्राया गात्राधिक स्पृष्ट । सरक्खे य सचिच्चधूलिसहिते स्थित सुप्तमासित वा । गम्भिणी गर्भिण्या । बालवत्थाए बालवत्सया दीयमान गृहीत इति ॥ सुदुममिति पंचम आलोचनादोषमाचष्टे—

मूलारा-- चंकमणे इत्यादि अत्र उपस्कारेण व्याख्येयं । तथाहि--चंकमणे अवश्यायादिवहुले मार्गे व्याकुलचित्तो गतोऽहमिति सूक्ष्मं दोषं वक्ति । ठाणे गिसेज्ज उट्टवणे प्रतिलिखनमकृत्वा स्थानमुपवेदन शयनं वा मया कृतमिति श्रूते । करणे काले पडावदङ्कं मया न कृतमिति वदति । उट्ठामास आर्द्रस्पर्शे जलादि नागानादिकं मया स्पृष्टमिति कथयति । सरक्खे सांचचधूलिस्थाने मयास्थितं, धूलियुक्तपादेन मया जले प्रविष्टं, जलार्द्रपादाभ्या रजोऽवष्टव्यमित्यादिकमालोचयति । गर्भिणी अष्टमादिमासगर्भाधारिण्या मम परिविष्टमिति श्रूते । बालवच्छाए मासाभ्यन्तरप्रसूतया मम परिविष्ट खृतं स्तनलग्नवालं त्यक्त्वा क्रिया मेऽन्न दत्तमिति निगदति ।

अर्थ--चक्रमण--जहां ओस बहुत गिरी थी 'ऐसे मार्ग' से इर्यासमितिमें चित्तकी एकाग्रता न कर मैंने गमन किया था. पिच्छकासे जमीन साफ न करके मैं जमीन पर बैठ था, सोया था. और खड़ा हुआ था. योग्य कालमें मैंने छहों आवश्यक क्रिये नहीं ये पानीसे मीले शरीर आदिक पदार्थोंको मैंने स्पर्श किया था सचित्त धूलिपर मैं बैठ था. खड़ा हुआ था और सोया था धूलिसे भरे हुए पावोंसे जलमें मैंने प्रवेश किया था. आठ महिने नउ महिने जिसको हुए है ऐसे गर्भवतीने मेरेको आहार दिया था. प्रसूत होकर जिसको एक महिना भी पूरा नहीं हुआ था ऐसे स्त्रीने मेरेको आहार दिया था. रोता हुआ अथवा स्तनपान करता हुआ बालक छोडकर स्त्रीने मेरे

को आहर दिया था इत्यादि सूक्ष्म दोषोंको जो कहता है उसकी आलोचना शुद्ध नहीं है।

इय जो दोसं लहुगं समालोचेदि गूहेदे थूलं ॥

भयर्मयमायाहिदओ जिणवयणपरंमुहो होदि ॥ ५८१ ॥

स्थूलं सूक्ष्मं च चेदेषं भाषते न गुरोः पुरः ॥

मायात्रीडामदंविष्टः सदा दोषोऽस्ति पंचमः ॥ ६०७ ॥

विजयोदया—इय एवं । जो यः । दोसं अतिचारं । कीदृग्भूतं ? लहुगं स्वल्पं । आलोचेदि कथयति । विणिगूहदि-  
विनिगूहयति । किं ? थूलं स्थूलं । भयर्मयमायाहिदओ 'भयमदमायासहितचित्त' । महतो दोषान्यदि अवीमि महत्माय-  
श्चित्तं प्रयच्छतीति भयं, लज्जति मामिति वा । वृथा निरतिचारचरित्रसर्वसमानंमगासह स्थूलाभ्र शक्नोति वक्तुं । कश्चि-  
त्प्रकृत्यैव मायावी सोऽपि न निगदति । जिणवयणपरंमुहो होदि । जिनवचनपरादसुखो भवति ।।

मुलारा—भयमदमायाहिदओ भय, भदो, माया वा हृदये चित्ते यस्यासौ बहुप्रायश्चित्त मयेन सधर्मत्यजनमयेन  
वा सूक्ष्मेव दोषं वक्ति, स्थूलं प्रच्छादयति । यूयाभिरतिचारचारित्रोऽस्मीति गर्वाभ्र स्थूलान्वक्ति । मायावी तु प्रकृत्यै-  
व वचकत्वाभ्र तान्वक्ति । उक्तं च—

आसैनै शयेन स्थाने संस्तरे गमनेऽशने ॥

आर्द्रगात्रपरामर्शगभिण्या बालवत्सया ॥ ११

परिविष्टेऽवबदोयो यः सूक्ष्मः स निगद्यते ॥

स्थूलं प्रकाशं येनासौ जिनवाक्यपरादसुखः ॥

अर्थ—इस प्रकार जो छोटे छोटे दोष कहकर बड़े दोष छिपाता है वह मुनि भय, मद, और कपट इन  
दोषोंसे भरा हुआ जिनवचनसे परामुद्बल होता है बड़े दोष यदि मैं कहूंगा तो आचार्य महाप्रायश्चित्त देंगे अथवा  
मेरा त्याग करेंगे ऐसे भयसे कोई बड़े दोष नहीं कहता है मैं निरतिचार चारित्र हूं ऐसा समझकर स्थूल दोषोंको  
गर्वयुक्त होकर कोई मुनि कहता नहीं कोई मुनि स्वभावसे ही कपटी रहता है अतः वह भी बड़े दोष कहता  
नहीं इस वास्ते ये मुनि जिनवचनसे परामुद्बल हैं ।

सुहुमं, व, बादरं वा जह्ण कहेज्ज विणएण, स गुरुण ॥

आलायणाए दोसो पंचमओ गुरुसयासे से ॥ ५८२ ॥

विजयोदया—मायाशाल्यत्यागस्य जिनवचनोपदेशितस्य अकरणत्वं प्रसिद्धार्थो ॥

मूलारा—गुरुसयासे गुरुसमीपे वर्तमानस्य ॥

अर्थ—सूक्ष्म अथवा स्पृष्ट दोष यदि गुरुको विनय से न कहेगा तो वह जिनोपदेशका उल्लंघन करनेसे आलोचनाके पांचवे दोषसे दूषित होता है.

उत्तर भाषा—

रसपीदयं व कडयं अहवा कवडुक्कडं जहा कडयं ॥

अहवां जडुपूरिदयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५८३ ॥

रसेन पीतं जतुना प्रपूर्णं कूटं विपाके कटकं गृहीतं ॥

यथा तयेत्थं विहितं विद्यसे विशोचनं तापमपारमुग्रम् ॥ ६०८ ॥

इति सूक्ष्मदोषः

विजयोदया—रसपीदयं व कडयं रसोपलेपोन्मनाद् बहिः पीतवर्णकटकमिव । मथवा कवडुक्कडं तल्लुद्धरणप्रच्छादितमिव वा । अन्तर्निस्सारं । अथवा अडुपूरिदयं अन्तर्दिच्छमं जतुपूर्णकटकमिव । पीतता रसोपलितस्य तथा तथास्या शुद्धिरिति प्रथमो दृष्टान्तः ॥ गुरुतरपापप्रच्छादनमात्रताप्रकाशनाय द्वितीयो दृष्टान्तः । गुरुतरमयः प्रवृत्ति निस्सारं वस्तु बाह्ये तु सुवर्णशकलेन प्रच्छादितं यथा तथा स्वपानपराधान्कथयति । पापभीरुताप्रकर्षादयं सुनिरिति संयतः कथं महत्यतिचारे प्रवर्तते इति प्रत्ययजननाय अंतःसाररहितता दृष्टोपेनोच्यते । सुहुमं ॥

दृष्टान्तत्रयेण सूक्ष्मदोषालोचना जुगुप्सते—

मूलारा—रसपीदयं सुवर्णरसरसितं । एतेन शुद्धेरत्यन्तं दर्शितं । कवडुक्कडं सुवर्णपत्रप्रच्छादितं । एतेन गुरुतर पापप्रच्छादनं दर्शितं । जडुपूरिदयं लाक्षाशुतमभ्यं एतेनार्तर्निःसारतोद्भूता साधोः ॥

अर्थ—सौनेका मुलामा दिया हुआ लोहेका कड़ा जैसा ऊपर से मनोहर दीखता है, अथवा ऊपरसे सोने के पतले पत्रसे मढ़ा हुआ लोहेका कड़ा जैसे ऊपरसे ही सुंदर दिखता है परंतु अंदर निःसारता ही रहती है, किंवा

को आहर दिया था इत्यादि सूक्ष्म दोषोंको जो कहता है उसकी आलोचना शुद्ध नहीं है.

आश्रासः

४

इय जो दोसं लहुगं समालोचेदि गूहेदे धूलं ॥

भयसंयमायाहिदओ जिणवयणपरमुहो होदि ॥ ५८१ ॥

स्थूलं सूक्ष्मं च चेदेषां भाषते न गुरोः पुरः ॥

मायाव्रीडामदविष्टः सदा दोषोऽस्ति पंचमः ॥ ६०७ ॥

विजयोदया — इय एवं जो यः दोसं अंतिकारं कीटभूतं लहुगं स्वल्पं आलोचेदि कथयति । विणिगूहाद-  
विनिगूहयति । किं ? धूलं स्थूलं । भयसंयमायाहिदओ भयसदमायासहितचित्तं । महतो दोषान्यदि ब्रवीमि महत्पाय-  
चित्तं प्रयच्छतीति भयः सज्जति मामिति वा । वृथा निरतिचारचरित्रसर्वसमानंमांसहः स्थूलान्न शक्नोति वक्तुं । कश्चि-  
त्यकृत्यैव मायावी सोऽपि न निगदति । जिणवयणपरमुहो होदि । जिनवचनपराङ्मुखो भवति ।

मूलापा—भयमदमायाहिदओ भय, मदो, माया वा हृदये चित्ते यस्यासौ बहुप्रायश्चित्तं भयेन सधर्मत्यजनभयेन,  
वा सूक्ष्ममेव दोषं वक्ति, स्थूलं प्रच्छादयति । यूयांश्रितिचारचारित्रोऽस्मीति गर्वान्न स्थूलान्वक्ति । मायावी तु प्रकृत्यै-  
व वंचकत्वान्न तान्वक्ति । उक्तं च—

आसने शयेन स्थाने संस्तरे गमनेऽशने ॥

आर्द्रगात्रपरामर्शगर्भिण्या बालवत्सया ॥

परिविष्टेऽभवदोषो यः सूक्ष्मः स निगद्यते ॥

स्थूलं प्रच्छाद्य येनासौ जिनवचनपरङ्मुखः ॥

अर्थ—इस प्रकार जो छोटे छोटे दोष कहकर बड़े दोष छिपाता है, वह मुनि भय, मद, और कपट इन  
दोषोंसे भरा हुआ जिनवचनसे परामुद्धत होता है, बड़े दोष यदि मैं कहूँगा तो आचार्य महाप्रायश्चित्त देंगे, अथवा  
मेरा त्याग करोगे ऐसे भयसे कोई बड़े दोष नहीं कहता है, मैं निरतिचार चारित्र हूँ ऐसा समझकर स्थूल दोषोंको  
गर्वयुक्त होकर कोई मुनि कहता नहीं, कोई मुनि स्वभावसे ही कपटी रहता है अतः वह भी बड़े दोष कहता  
नहीं इस चास्ते ये मुनि जिनवचनसे पराङ्मुख हैं ।

७८८

विजयोदया - को तस्स विज्जइ तवो किं तस्मै दीयते तप' ? । केण उवाण्ण होधि वा सुद्धो केनोपयेन वा सुद्धो भवतीति । पच्छण्णं प्रच्छन्न । पुच्छदि पृच्छति । आत्मानमुद्दिश्य मन्त्रायमपराध. कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्तं इति न पृच्छति । किमर्थमेव प्रच्छन्न पृच्छति । ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं करिष्यामि ॥

अर्थ--उसको कोनसा तप दिया जाता है, अथवा किस उपायसे उसकी शुद्धि होती है ऐसा प्रच्छन्न रूपसे पूछता है अर्थात् मैंने ऐसा २ अपराध किया है और उसका क्या प्रायश्चित्त है ? ऐसा न पूछकर प्रच्छन्न पूछता है. प्रच्छन्न पूछकर तदनंतर मैं उस प्रायश्चित्तका आवरण करूंगा ऐसा हेतु उसके मनमें रहता है.

इय पच्छण्णं पुच्छिय साधू जो कुणइ अप्पणो सुद्धिं ॥

तौ सो जिणेहिं बुत्तो छब्बो आलोयणा दोसो ॥ ५८६ ॥

इत्यन्यव्याजतश्छन्नं पृच्छयते चेत्स्वशुद्धये ॥

तदानीं जायते दोषः षष्ठः संसारवर्द्धकः ॥ ६१० ॥

विजयोदया - इय पवं । पच्छण्ण पुच्छिय पृष्ट्वा । जो साधू साधु । अण्णो सोधि कुणदि आत्मनः शुद्धिं करोति । सो छब्बो आलोयणा दोसो बुत्तो जिणेहिं । पप्पोऽसावालोचनो दोषस्तस्य भवतीति जिनेवक्तुः ॥

अर्थ--ऐसा गुप्त रीतिसे पूछकर जो साधु अपनी शुद्धि कर लेता है, वह आलोचनाका छद्म दोष है ऐसा जिनेश्वरने कहा है.

धादो हवेज्ज अण्णो जदि अण्णस्मि जिमिदस्मि संतस्मि ॥

तो परववेदसकदा सोधी अण्णं विसोधिज्ज ॥ ५८७ ॥

भोजने च कृतेऽन्येन तृप्तिरन्यस्य जायते ॥

अपरस्य तदा शुद्धिर्विहिता परभर्मणा ॥ ६११ ॥

आत्मशुद्धिं विधत्ते यः प्रपृच्छय परभर्मणा ॥

अपरेणौषधे पीते स्वस्व्यारोग्यं करोति सः ॥ ६१२ ॥



विजयोदया - धादो हवेज्ज अण्णो एतो भवेदन्यः । जदि अण्णमि जिमिदम्मि संतम्मि । यद्यन्यस्मिन्मुक्तवति सति । तो ततः । परववदेसकदा सोधी परव्यपदेशकृता शुद्धि । अण्णं विसोधिज्ज अन्यं विशोधयेत् ॥

छात्रदोषदुष्टालोचनाया नैष्फल्यं दृष्टान्तं स्फुटयति-

मूढारा - धादो एत्तः । जिमिदम्मि मुक्तवति । संतम्मि सति । परववदेसकदा अन्यमुद्दिश्यकृता । अर्थ-उपर्युक्त दोषका दृष्टांत इस प्रकार है - यदि किसी अन्य मनुष्यके भोजन करनेपर उससे अन्य मनुष्यका पेट भरेगा तो दूसरेके नामसे किया हुआ प्रायश्चित्त दूसरेको विशुद्ध करेगा ऐसा मानना पड़गा।

स्पष्टोत्तरा गाथा -

तवसंजमम्मि अण्णेण कदे जदि सुग्गदिं लहदि अण्णो ॥  
तो परववदेसकदा सोधी सोधिज्ज अण्णपि ॥ ५८८ ॥  
संयमे चेत्तुतेऽन्येन विमुत्तिं लभते परः ॥  
परव्याजकृता शुद्धिस्तदा शोधयेते परम् ॥ ६१३ ॥

तदेव दृढयति -

मूढारा-सुग्गदिं सद्दत्तिम् ॥

अर्थ-तप और संयम भी अन्य व्यक्तीने किये जानेपर यदि अन्यही व्यक्तीको सुगतिकी प्राप्ति होगी तो दूसरेके नामसे किया हुआ प्रायश्चित्त भी दूसरेको दोषसे मुक्त करेगा ऐसा मानना पड़गा।

मयतण्हादो उदयं इच्छइ चंदपरिवेसणा कूरं ॥

जो सो इच्छइ सोधी अकहंतो अप्पणो दोसे ॥ ५८९ ॥

शुरोर्निजं दोषमभाषमाणो दोषस्य यः कांक्षति शुद्धिमज्ञः ॥

मन्ये स तोयं मृगतृष्णिजातो जिघृक्षतेऽन्नं शशिर्विद्यतो वा ॥ ६१४ ॥

इति छन्नं दूषणम् ॥

विजयोदया—मयतण्हादो इत्यत्र पदघटनेन । जो अपणो दोसे अकथेंतो सोधी इच्छइ सो मयतण्हादो उदयं इच्छइ, चंद्रपरिवेसणे कूर इच्छइ य । य आत्मनो दोपाननभिधाय गुरुणा शुद्धिमिच्छति स मृगतृणात उदक वाछति, चंद्रपरिवेपादशनमिच्छति । निष्फलतासाधर्म्यादय दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः । छत्र ॥

पुनस्तदेव समर्थयते—

मूळारा—मिगतिण्हादो मृगतृणात । उदगं उदकं । चंद्रपरिवेसणे चंद्रार्थिवादित्यर्थः । कूर मक्तं श्रीचंद्रदिप्पनके त्वेवमुक्तं । अत्र कथयार्थप्रतिपत्तिर्यथा—चंद्रनामा सूपकारः परिवाराहितो राज्ञा निःसारितोऽन्यः कृतः । परिवारेण च राज्ञा सह भोजनं परिहृतं । एवमेकदा समायते तस्मिन् राजनि भोक्तुमुपविष्टे गगने चंद्रस्य परिवेपमा-लोचयोक्तं लोकैरेव चंद्रस्य परिवेपो जात इति । एतच्छ्रुत्वा परिवार सूपकारस्य राजकुले प्रवेशो जात इति मत्वा भोक्तुं गतवान् च कूरं प्राप्तवान् इति । गुरोरेऽप्रकाशयन् ॥

“ अर्थ—जो मुनि अपने दोपोंका विवेचन न करके उनसे मुक्त होना चाहेंगा वह मृगतृणासे पानी प्राप्त करने की कोशिश करता है अथवा चंद्रके परिवेशसे अन्न प्राप्त करने की इच्छा धरता है ऐसा समझना चाहिये । दूसरेके नामसे प्रच्छन्नरीत्या ग्रायश्चित्त करना व्यर्थ है ऐसा इन दो दृष्टान्तोंसे सिद्ध होता है

दृष्टांत और दार्ष्टान्तिक इन दोनोंमें निष्फलताक्षी समझना इस गाथामें दिखाई है, किसी राजाने चंद्रनामक रसोदया को अपने घरसे निकाल दिया । और उसके स्थानमें दूसरे रसोदयाको नियुक्त किया । तब राजाके साथ परिवारने जीमना छोड़ दिया । एक दिन राजा भोजनके लिए आया उस समय आकाशमें चंद्रको परिवेपयुक्त देखकर चंद्रका परिवेश-प्रवेश हुआ ऐसा लोगोंने कहा तब सुनकर परिवार भोजनके लिये आया परंतु उसको भोजन नहीं मिला ऐसी कथा यहां समझनी चाहिये यह कथा श्रीचंद्राचार्य के टिप्पनकमें कही है

पक्खियचाउम्मासियंसंवच्छरिएसु सोधिकालेसु ॥

बहुजणसदाउलए कहेदि दोसे जहिच्छाए ॥ ५९० ॥

शब्दाकुले चतुर्मासपक्षवर्षक्रियादिने ॥

यथेच्छं पुरतः सुरैरालोचयति योऽधमः ॥ ६१५ ॥

विजयोदया—पश्चिम्यचाडम्मासिय पक्षायतिचारशुद्धिकालेषु । बहुजणसद्वाउलए बहुजनशब्दसंज्ञे । ज-  
धिच्छाए दोसे कथेदि येथेच्छया दोयानात्मीयान्कथयति ॥

सद्गुणलगमिति सत्तमं आलोचनदोषं गायत्रयणाह—

मूलारा—जहिच्छाए येथेच्छया ।

अर्थ— पाक्षिक दोषोंकी आलोचना, चार्मासिक दोषोंकी आलोचना और वार्षिक दोषोंकी आलोचना  
सब यतिसमुदाय मिलकर जब करते हैं तब अपने दोष स्वेच्छासे कहना यह बहुजननामका दोष है.

इय अब्वत्तं जइ सार्वतो दोसे कहेइ सगुरुणं ॥

आलोचनाए दोसो सत्तमओ सो गुरुसयासे ॥ ५९१ ॥

अव्यक्तं वदतः स्वस्य दोषान्संक्विलष्टेत्तसः ॥

आलोचनागतो दोषः सत्तमः कथितो जिनैः ॥ ६१६ ॥

विजयोदया—जदि इय अब्वत्तं सार्वतो दोसे कहेइ सगुरुणं यथेवमव्यक्तं श्रावयन्दोषान्कथयति स्वगुरुभ्यः ।  
सत्तमगो आलोयणादोसो । सत्तम आलोचनादोषः गुरुसयासे गुरुसमीपे प्रवृत्तो भवति ॥

मूलारा—सार्वतो श्रावयन् ॥

अर्थ— यदि अस्पष्ट रीतीसे गुरुको सुनाता हुवा अपने दोष मुनि कहेगा तो गुरुके चरणसन्निध  
उसने सातवा शब्दकलित दोष किया है ऐसा समझना.

अरहट्टघडीसरिसी अहवा चुंदछुदोवमा होइ ॥

भिण्णघडसरिच्छा वा इमा हु सल्लहरणसोधी ॥ ५९२ ॥

अरगतं घटयित्रसमां भिन्नघटोपमां ॥

चुंदरज्जुनिभामेनां शुद्धिं शुद्धिविदो विदुः ॥ ६१७ ॥

इति शब्दाकुलो दोषः ॥

विजयोदया—अरहदृघडीसरिस्ती अरगतघटीसदशी पूर्णोदयपूर्ण । एवमपराधकथनं स्वमुत्थेन प्रवृत्तमेव अप्रवृत्तमेव गुरुणा अश्रुतत्वात् । अहवा जुदच्छुदोवमा होइ अथवा मथनचर्मपालिका इव, सा यथा मुक्तापि यज्जाति एवमियं बाइमुखकुहरमुक्तापि मायाशाल्यसहितेति वज्जाति । भिन्नघटसरिच्छा वा भिन्नघटसदशी वा यथा भिन्नो घटो घटकार्यं जलधारण जलाद्यानयन वा कर्तुमसमर्थ एवमियमालोचना न निर्जटां संपादयतीति साधर्म्यं ॥ सद्वाउलयं ॥

शब्दाकुलदोषदुष्टालोचनावैयर्थ्यं दृष्टान्तेन समर्थयते—

मूलारा—अरहदृघडीसरिस्ती यथा अरगतघटिकाः पूर्णा अपूर्णा एवमपराधकथनं स्वमुत्थेन कृतमव्यकृतमेव गुरुणाऽश्रुतत्वात् । जुदच्छुदोवमा मंथनचर्मपालिकालुल्या । सा यथामुक्तापि वज्जाति । एवमियं दोषालोचना मुख कुहरमुक्तापि मायायुक्तेति वज्जाति । भिन्नघटसरिच्छा वा स्फुटितघटसदशी । यथा भिन्नो घटो जलधारणादिकार्यं कर्तुं न शक्नोति तथेय निर्जटामिति साधर्म्यम् ॥

अर्थ—जैसे अरगत घटीयंत्रमें लगे हुए घड़े जलसे भरे हुए भी अपूर्ण हो जाते हैं अर्थात् वे हमेशा जलसे भरते हैं और पुनः रिक्त होते हैं वैसे अपराधोंका अपने-मुखसे कथन किया तो भी कथन नहीं किये सरिखा हो जाता है क्योंकि बहुतोंके शब्दोंमें उसके शब्द गुरु सुन नहीं सकते हैं अथवा काष्ठको छिद्र पाहनेवाला वर्मा नामक शस्त्र घुमाते समय दोरीसे मुक्त होकर भी बंधा रहता है एक पार्श्वसे उसकी दोरी ढिली हो जाती है परंतु दूसरी बाजु उसकी उसी समय दोरीसे दृढ़ बंधी जाती है वैसे यह मुहसे अपराधोंका वर्णन बाहर पडता है तो भी अंतरंगमें माया शल्यसे सहित होनेसे कर्मवध का ही कारण होता है अथवा यह आलोचना फूटे घड़ेके समान है फूटा घड़ा जल लानेमें और जल धारण करनेमें असमर्थ है वैसे यह आलोचना कर्मनिर्जरा करनेमें असमर्थ होती है

आयरियपादमूले दु उवगदो वंदिऊण तिबिहेण ॥

कोई आलोवेज्ज दु सव्वे दोसे जहावत्ते ॥ ५९३ ॥

भूरिभक्तिभरानन्नः सुरिपादाम्बुजद्वयम् ॥

प्रणम्य भाषते कश्चिदोषं सर्वं विधानतः ॥ ६१८ ॥

विजयोदरा—पारमिपामुदे नमो भक्त्यारण्यमुदरा । विनिमयिनी लोनाभयम् न  
दा दामा । सोऽहं विनिम । ततोऽहं न विनिम । नमो भक्त्यारण्यमुदरा । विनिमयिनी लोनाभयम् न  
दा दामा । सोऽहं विनिम । ततोऽहं न विनिम । नमो भक्त्यारण्यमुदरा । विनिमयिनी लोनाभयम् न

बहुजनमिदमभावात्तदर्थं गान्धर्व्यं नान्यं —

मृदरा—नयने ये यथाशक्त । येन मनोभक्त्या दानादिगान्धर्व्यं प्रयोगेन दानम् ॥

अर्थ—कोठ मुनि आचार्यके माध्व चारु उनके नरणाको मन, मन और मीर इनको गुरुर  
नपस्तार मृगना है तदनंतर मन, मन, गरीरों कृत, करिग और अनुमोदनके माय नृल जयवा सुत्त जो जो  
दोष हुये थे उनका संपूर्ण करन करता है.

तो दंसणचरणधारणहिं सुत्तल्यमुख्यहोतिहिं ॥

पवयणकुसलेहिं जहारिहं तत्रो तेहिं से दिण्णो ॥ ५९४ ॥

तस्य स्रग्भारक्षेण रत्नचित्तयशालिना ॥

व्यवहारविवा दत्तं प्रायश्चित्तं यथोचितम् ॥ ६१९ ॥

विजयोदरा—तो गदवान् आलोचनोत्तरकाळं । दंसणचरणधारणहिं सगीनीनंदनचारित्र्यभक्त्योपरी ।  
सुत्तल्यमुख्यहोतिहिं स्रग्भारक्षेण । पवयणकुसलेहिं स्रग्भारक्षेण स्रग्भारक्षेण 'प्रमनकुसले' इति ।  
अयमभिप्रायः—प्रायश्चित्तप्रयत्न प्रमनगन्ध तेषां प्रायश्चित्तप्रयत्नस्य । अन्यथात्मनो न इति न वैप्रायश्चित्त-  
त्तम् इति प्रायश्चित्तप्रयत्न प्रयत्नगन्ध । तेहिं ते । मे तस्मै । जहारिहं ततो किंलो अपराधगुरुत्वे ततो दत्त । ततोप्रायश्चित्त-  
प्रायश्चित्तोपलक्षणायां तेन प्रायश्चित्तं इत्यर्थः ॥

मूलरा—तो आलोचनोत्तरकाळं । पवयणकुसलेहिं प्रायश्चित्तगुरुः । अन्यथात्मनोऽपि प्रायश्चित्तनानालो न  
नोधयतीति प्राधान्यकथनार्थं अयं पृथगुपादानं । तयो प्रायश्चित्त । जहारिहं अपराधगुरुत्वं । तेहिं ते । प्रमनकुसले तस्मै ।  
से तस्मै ।

अर्थ—जम मुनि आलोचना गमास करता है तप गम्यदण्डन और मम्यकारिणके धारक, सुताथको  
अपने हृदयमें धारण करनेवाले, और प्रमनमें कुशल होने आचार्य आलोचना करनेवाले को यथायोग्य प्रायश्चित्त

देते हैं, शंका स्वार्थके धारक इस शब्दका अर्थ प्रवचनमें निपुण ऐसा होता है तो पवयणकुसलो यह शब्द गाथामें व्यर्थ है

उत्तर—यहां प्रवचन शब्दसे प्रायश्चित्त ग्रंथ यह अर्थ आचार्य को अभिमत है सूत्रशब्दसे प्रायश्चित्त शास्त्रके विना अन्य शास्त्र ऐसा समझ लेना चाहिये अन्य शास्त्रों का ज्ञाता होकर यदि प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता न हो तो वह प्रायश्चित्त नहीं दे सकता यह अभिप्राय यहां मुख्य है, उसकी सिद्धीके लिये यहां 'पवयणकुसलो' यह पद आचार्य महाराजने गाथामें जोड़ दिया है

णवमस्मि य जं पुंव्ये भणिदं कप्पे तहेव ववहारो ॥

अंगेसु सेसएसु य पइण्णए चावि तं दिण्णं ॥ ५९५ ॥

तेसिं असद्वहतो आइरियाणं पुणो वि अण्णणं ॥

जइ पुच्छइ सो आलोयणाए दोसो हु अट्ठमओ ॥ ५९६ ॥

यत्कल्पव्यवहारांगपूर्वाद्विश्रुतभाषितम् ॥

तदालोच्य विधानेन दत्तं सूत्रपटीयसा ॥ ६२० ॥

अश्रद्धाय वचस्तस्य स यथा पृच्छते परं

आचार्यैः कथितो दोषस्तदालोचनगोचरः ॥ ६२१ ॥

विजयोदया—तेसिं तेपा । आयरियाण आचार्याणा वचनं । असद्वहतो अश्रद्धान । पुणो वि जइ पुनरपि यदि पृच्छत्यन्यानसौ । अट्ठमगो आलोयणादोसो सोऽयम् आलोचनादोष ॥

अत्रेयं गाथा सूत्रेऽनुश्रूयते ।

मूलारा—एता श्रीविजयो नेच्छति ।

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—नीचा पूर्व प्रत्याख्यान नामका है उसमें प्रायश्चित्तका निरूपण है, अंगमाहश्रुतमें कल्पनामक प्रकरण में प्रायश्चित्तका विचार किया है, वाचीके अंगोंमें और प्रकीर्णकोंमें जो प्रायश्चित्त का निरूपण है उसके अनुसार आचार्य प्रायश्चित्त देते हैं

परंतु उनके दिये हुए प्रायश्चित्तमें अश्रदान करके यह आलोचनाक मृनि गति अन्योक्तो पूरेगा अर्थान् आचार्य महाराजने दिया हुआ प्रायश्चित्त योग्य है वा अयोग्य है ऐसा पूरेगा तो यह आलोचनाका बहुजन पूछा नामक आठना दोष होगा.

पगुणो वणो ससंछे जघ पच्छा आदुरं ण तावेदि ॥

बहुवेदणाहिं बहुसो तथिमा मन्तुद्धरणसोघी ॥ ५९७ ॥

दोषावतीर्णोंडपि इदति पीडां परमकारेण विशोध्यमानः ॥

वणो हि शुभकोडपि करोति चाग्रां प्रचान्यमानं किमुनाविपश्य ॥ ५९८ ॥

“इति भूरिश्रुतेशोप” ।

विजयोदया—पगुणो उणो प्रगुलं मण । उपजितं । समारं सत्त्वमिति । पच्छा पछार । आदुरं व्यपधितं । किमु न तावेदि । किमु न तापयति तापयत्येव । बहुवेदणाहिं यदीदृशेदनाभि । बहुसो बहुत । तथिमा तथा इय मन्तुद्धरणसोघी आलोचनाशुद्धि । मायाश्रयापत्तिर्यागतं दुःखा अविशोभता मदुक्ता शुद्धतत्प्रायश्चित्तापि श्रदानतान्यसमष्टिगत्वाद्दुःखादा । बहुजन ॥

बहुजनदोषदुष्टालोचनाया दुःखावहत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलाप—पउणो इपरि सउ । ममदो अंन कंढादिपुष्पः । ण तावेदि न कर्मयपि ? । बहुनो यदुया सत्त् । तथिमा तथेयं मायाश्रयापरित्यागेन क्वेति भंजतदोषापि गुरुदसप्रायश्चित्तापदानतत्प्रायश्चित्तेन दुःखावहत्वात् ॥

अर्थ—जिममें मांदा रहा है ऐसा ग्रण बढ जाता है वर यह अनेक प्रकारकी वेदनायें उत्पन्न कर जीवको जैसा बहुत दुःख देता है, वैसी यह आलोचना भी जीमको बहुत दुःखदायक है, यह आलोचना माया और अमत्य मापणसे रहित है, इसलिये यद्यपि अतिशय अच्छी मानी जाती है तथापि गुरुओंने दिये प्रायश्चित्त पर श्रदान न होनेसे दुःखदायक है, इस प्रकार बहुजन नामक दोषका वर्णन हुआ

आगमदो जो चालो परियाण व हवेज्ज जो चालो ॥

तस्स संगं दुच्चरियं आलोचिदूण चालमदी ॥ ५९८ ॥

आगमेन चरित्रेण बालो भवति यो यतिः ॥

तस्यालोचयतो दोषं स्वं दोषो नवमो मतः ॥ ६२३ ॥

विजयोदया — आगमदो बालो आगमेन ज्ञानेन वा बालः । परियाएण घ हवेज्ज बालो चारित्रबालो वा यो भवेत् । य. स तस्स तस्मै । सग उच्चरिदं आत्मीयमतिचारं । आलोचेदूण बालमदी उपत्त्वा बालबुद्धिः ॥

अथ नवममव्यक्त्यालोचनादोषं गाथात्रयेण व्याचष्टे तत्रैनं द्वाभ्या गाथाभ्या लक्ष्यत्येकयावक्षिपति —

मूलरा — आगमदो श्रुतज्ञानेन । बालो लघु । परियाएण चारित्रिण । जो गुरु । तस्स तस्मै । आलोचेदूण

निषेध । बालमदी स्तोक्बुद्धिः ।

अर्थ—जो मुनि आगमसे बाल है अर्थात् जिसको आगमका ज्ञान नहीं है तथा जो चारित्रबाल है अर्थात् चारित्र भी जिसका श्रेष्ठ नहीं है उसको बाल कहते हैं ऐसे मुनिके पास जाकर कोई अल्पज्ञानी मुनि अपने दोषों की आलोचना करता है.

आलोचिदं असेसं सत्त्वं एदं मणुत्ति जाणादि ॥

बालस्सालोचतो णवमो आलोचणां दोसो ॥ ५९९ ॥

निवेदितं मया सर्वं नासौ जानाति दूषणम् ॥

विश्राणयति मे शुद्धिं प्रणिघायेति मानसे ॥ ६२४ ॥

विजयोदया — आलोचिदं कथितं । असेसं सत्त्वं निरवशेषं सर्वं । मनोवाक्कायकृतोऽतिचार सर्वशब्देन उच्यते । कृतकारितानुमतविकल्पा अशेषा इत्याख्ययते । मणुत्ति जाणादि मेयेति जानाति । बालस्सालोचतो ज्ञानबाला-  
य चारित्रवालाय वा कथयति णवमो आलोचनादोसो नवम आलोचनादोष ॥

मूलरा — असेसं कृतकारितानुमतविकल्पं । सर्वं मनोवाक्कायकृतं दूषणं । बालस्स ज्ञानवालाय चारित्रवा-  
लाय वा गुरवे । णवमो बालो बालांयालोचयन्मया सर्वमालोचितमिति यज्जानीते सोऽज्यक्तो नामालोचना दोषो भवतीति सम्बन्धः ।

अर्थ—और मैंने इसके पास संपूर्ण अपराधों की आलोचना की है मन, वचन, कायसे और कृत, कारित



अनुमोदनसे किये हुए अपराधोंकी मैंने आलोचना की है ऐसे जो समझता है उसकी यह आलोचना करना नौवे दोपसे दुष्ट है. ज्ञानवाल्मीकी और चारित्रवाल्मीकी अपने अपराध कहना यह नौवा अव्यक्त नामक दोष है.

कूडहिरण्यं जह गिच्छण दुज्जणकदा जहा मेत्ती ॥

पच्छा होदि अपत्यं तधिसा सल्लद्धरणसोधी ॥ ६०० ॥

इदमालोचनं दत्ते पश्चात्तापं दुरूतरं ॥

दुष्टानामिव सांगत्यं कृतं स्वर्णमिवाथवा ॥ ६२५ ॥

इति अव्यक्तदोषः ।

विजयोदवा—अव्यक्तं । कूडहिरण्यं जह पच्छा अपत्या गिच्छण होदिच्छि पदयटना । यथा कूटहिरण्यं धनमिति गृहीतं पश्चादपत्यं निश्चयतो भवति अभिमतद्वयग्रहणे अनुपायत्वात् । एवमपि इयमपि वालस्य कियमाणालोचना अनुसूच्यप्रायश्चित्तप्राप्तौ अनुपायत्वात् सदृशी । ज्ञानमाल परार्थयोग्यप्रायश्चित्त दातु न क्षमः । दुज्जणकदा यमेत्ती जहा पच्छा होदि अपत्यं इति संवधः कार्यः । दुर्जने कृता मैत्री यथा न पथ्यं, दुःस प्रयच्छतीति एवं चारित्रवाल्मीकस्य संयमोभयविकल्पस्य कृतापि प्रायश्चित्तमालाभमूला अनेकानर्थवहेति भावः ॥

मूलरा—कूडहिरण्यं कूटकं सुवर्णं । पच्छा पश्चात् । उत्तरकाले । अपच्छं दुःखकारणं । यथा कूटहिरण्यं धनमिति गृहीतं पश्चादपत्यं निश्चयतो भवति । अभिमतद्वयग्रहणे अनुपायत्वात् । एवमपि वालगुरोरे क्रियमाणा लोचना अनुरूपप्रायश्चित्तप्राप्तावनुपायत्वादप्यथा । न हि ज्ञानमालः परस्मै योग्यं प्रायश्चित्त दातुं क्षमते । यथा कार्यदुर्जने कृता मैत्री पश्चाद्विचयतोऽप्यथ भवत्येवं चारित्रवाल्मीकस्य कृताऽलोचना प्रायश्चित्तमालाभमूलानेकानर्थवहेति भावः ॥

अर्थ—जैसे कृत्रिम सुवर्ण धन समझकर ग्रहण किया परंतु कार्यकालमें उसका उपयोग नहीं होता है. अर्थात् बाजार में इच्छित वस्तु लेनेके लिये उसको बेचनेका विचार किया तो कोई भी उसको स्वीकारेगा नहीं जिससे इच्छित वस्तु मिलना अशक्य होता है. वैसे वालगुनिके पास जाकर आलोचना करने पर भी दोषानुरूप प्रायश्चित्त नहीं मिलेगा जिससे कर्मनिर्झरा होना असंभव है. जो ज्ञानमाल है वह योग्य प्रायश्चित्त नहीं दे सकता है दुर्जन के साथ यदि मैत्री की तो वह जैसी प्रसंग पहनेपर दुःखदायक ही होती है. प्राणिसंयम अथवा इंद्रिय

संयम जो पूर्णतया पालन नहीं करता है उसके पास दोषोक्ती आलोचना करनेसे उसके अरुरूप प्रापक्षित नहीं मिलता है और वह आलोचना अनेक अनर्थ को उत्पन्न करनेवाली होती है.

पासत्यो पासत्यस्म अणुगदो दुक्कड परिकहेइ ॥

एसो वि मज्झसरिसो सव्वत्यवि दोससंचइओ ॥ ६०१ ॥

पार्श्वस्थानां निजं दोषं पार्श्वस्थो भापते कुधीः ॥

निश्चितो निश्चितैर्दोषैर्योऽपि सदृशो मया ॥ ६२६ ॥

विजयोदया—पासत्यो पासत्यस्स पार्श्वस्य पार्श्वस्थमनुगतः । दुक्कडं परिकहेइ कुक्कृतं परिकथयति । एसो वि एणोऽपि । मज्झसरिसो मत्सदृश । सव्वत्य वि सर्वेष्वपि व्रतेषु दोससचइओ दोषसंचयोद्यतः ।

तुस्सेवीति वंशममालोचनादोषं गाथापंचकेन व्याचष्टे । तत्र तिसृभित्तस्य लक्षणं द्वाभ्या च क्षेपमाह—  
मूलारात्—पासत्यो उपलक्षणात्पार्श्वस्थप्रसङ्गुर्लससकृमृगचरितानामेकतमः । अणुगदो विनीतः सन् ।  
दुक्कडं दुश्चरितं स्तं । सव्वत्य वि सर्वेष्वपि तेषु । दोससंचयिणो दोषसंचयनोद्यतः ।

अर्थ—पार्श्वस्थ मुनि पार्श्वस्थ मुनिके पास जाकर उसको अपने दोष कहता है, क्योंकि यह मुनि भी सर्व व्रतों में समान दोषोंसे भरा हुआ है ऐसा वह समझता है.

जाणादि मज्झा एसो सुहसीलत्वं च सव्वदोस्से य ॥

तो एस मे ण दाहिदि पायच्छित्तं महच्छिति ॥ ६०२ ॥

जम्भीने मे यतः सर्वा सर्वथा सुखशीलप्राप्त्य ॥

प्रायश्चित्तं ततो नैष ब्रह्महास्यति निश्चितम् ॥ ६२७ ॥

विजयोदया—एसो मज्झा सुहसीलत्त जाणादि एय मम दु खासहत्त्व वेत्ति । सव्वदोस्से य जानाति सर्वदोषांश्च । तो तस्मात् । एस मे न दाहिदि एय मे न दास्यति । महल्लं पायच्छित्तं महत्प्रायश्चित्तमिति मत्वा कथयतीति संबंधः ॥

मूलारा—सुहसीलत्त दु खासहत्त्वं । महल्लं महदिति परिकथयतीति संबंधः ।

अर्थ—यह मुनि मेरे सुखिया स्वभावको और व्रतोंके अतिचारोंको जानता है, इसका और मेरा आचरण समान है, इसलिये यह मेरेको बड़ा प्रायश्चित्त न देगा ऐसा विचार कर वह पार्श्वस्थ मुनि गुरूको अपने अतिचार कहता नहीं और समानशीलको अपने दोष बताता है.

आलोचिदं असेसं सत्त्वं एदं मयसि जाणावि ।।

सो पवयणपडिकुद्धो दसमो आलोचणा देसो ॥ ६०३ ॥

एतस्य कथने बुद्धिः सुखतो मे भविष्यति ॥ ६०४ ॥

अयमालोचनादोषो दशमो गदितो जिनैः ॥ ६०५ ॥

“विजयोदया”-स्पर्शार्थो ।।

मूलारा — मयसि अयमिति मित्रप्रक्रमः तेन जानावीति, च मत्वा परिक्रियतीति संबंधः । सो प्रागुक्तलक्षणः पवयणपडिकुद्धो आगमनिषिद्धः ॥

अर्थ—यह पार्श्वस्थ मुनि कहे हुए संपूर्ण अतिचारोंका स्वरूप जानता है ऐसा समझकर व्रतभ्रष्टोंसे प्रायश्चित्त लेना यह आगमनिषिद्ध दशवा तत्सेवी नामका दोष है.

उत्तरा गथा—

जह कोइ लोहिदकयं वत्थं धोवेज्ज लोहिदेणेव ॥

ण य तं होदि विसुद्धं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ६०४ ॥

उत्तो दोषः सदोषस्य सदोषेण न नाशयते ॥

रक्तरक्तं कुतो वल्लं रक्तेनैव विशोध्यते ॥ ६०५ ॥

विजयोदया—जह कोइ लोहिदकय करोति क्रियासामान्यवाची इह लेपे वर्तते तेनायमर्थः—यथा कश्चिच्छो-  
दितेन लिप्त वस्त्र । धोवेज्ज प्रक्षालयेत् । लोहिदेणेव लोहितेनैव । ण य तं होदि विसुद्धं नैतद्भवति विसुद्ध । तधिमा  
सल्लुद्धरणसोधी आलोचनाशुद्धिः दोष न निरस्यति । तद्विलक्षण वस्तु यथा निर्मलजल पंक वस्त्रस्य न तु लोहितेन लिप्तं

वस्त्रं शोधयति तथाभूतमेव लोहितम् । पद्ममतीचाराशुद्धिं अशुद्धरत्नत्रयोदेशप्रवृत्तेः अशुद्धयालोचनाया न निराक्रियते इति साधर्म्यनियोजना ॥

मूलारा—लोहित्वकदं रुचिरणालिप्तं । करोतेः क्रियासामान्यवाचित्वेन लेपनेऽपि दृष्ट्यविरोधित्वात् । तथिमा स्वयं दुष्टेनान्यस्य दुष्टेनिराकर्तुमशक्यत्वादिति सामर्थ्यम् ।

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य रक्तसे भरा हुआ वस्त्र रक्तसे ही धोने लगा जाय तो वह कभी विशुद्ध नहीं होगा अशुद्धही रहेगा वैसा यह आलोचना दोष है, अर्थात् यह दोष अतिचारोंसे आत्माको विशुद्ध नहीं बना सकेगा रक्तसे उलटा पदार्थ पानी है, वह स्वयं स्वच्छ है अतः रक्तसे भरे वस्त्रको वह स्वच्छ करता है, अथवा वस्त्रको लगा हुआ कीचड़ धो डालता है परंतु रक्त रक्तसे लिप्त हुए वस्त्रको कभी भी शुद्ध नहीं कर सकेगा, उसी तरह अशुद्ध रत्नत्रयवाला पार्श्वस्थ युनि अशुद्ध रत्नत्रयवाले युनिके अतिचारोंका निराकरण करनेमें समर्थ होता नहीं।

पवयणणिहवयाणं जह दुक्कडपावयं करेताणं ॥

सिद्धिगमनमइदूरं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ६०५ ॥

जिनेशवाक्यप्रतिकूलचिन्ता यथा विमुक्तिं दवयंति पूताम् ॥

तथा विशुद्धिं कुधियो वदंतो दोषाकुलानां निजदूषणानि ॥ ६३० ॥

इति तत्समः ॥

विजयोदया—पवयणणिहवयाणं जिनेप्रणीतवचननिहवकारिणां । दुष्कडपावयं करेताणं दुष्करपापकारिणां । जह सिद्धिगमनमइदूरं यथा सिद्धगमनमतिदुष्करं । तस्सेवी गदं ॥

मूलारा—पवयणणिहोदाणं आगमापन्द्हेतुणा । अदिदूरं अतिविप्रकुष्टं । अभव्यापेक्षया अनतकलेनाप्यसंभवि ।

अर्थ—जो युनि जिनेश्वरके कहें हुए आगमके वचनोंका लोप करते हैं और दुष्कर पाप करते हैं उनको मोक्ष की प्राप्ति जैसी अनंतकाल व्यतीत होनेपर भी होती नहीं वैसे जो शल्यसहित आलोचना करते हैं उनको मोक्षप्राप्ति अत्यंत दूर है।

सो दस वि तदो दोसे भयमायामोसमाणलज्जाओ ॥

गिज्जूहिय संसुद्धो करेदि आलोयणं विधिणा ॥ ६०६ ॥

हिन्ना दोषान्दशापीति त्यक्तमायामदादिकः ॥

स विनीतमनाः सुखेरालोचयति यत्नतः ॥ ६३१ ॥

विजयोदया—सो क्षपक । तदो तत. आलोचनया दुष्टया शुद्धेरभावात् । दोसे गिज्जूहिय दोषास्त्यक्त्वा । दस वि दशापि । भयमायामोसमाणलज्जाओ भयमाया मनोगता मृगा वचनगता, मानं लज्जा च त्यक्त्वा सशुद्धो सम्प्रक-  
शुद्ध । विधिना आलोयण करेदि । विधिना आलोचना करोति ॥

एवमालोचनाया दश दोषान्याख्याय तत्त्यागं प्रकृते योजयन्नाह—

मूलारा—सो निर्यापकाचार्यपदमूलोपाश्रितः क्षपक\* । तदो दुष्टालोचनाशुद्धयसामर्थ्यात् माया मनोवचना  
मोसं वाग्वचना, । गिज्जूहिय दोषान् भयादांश्च त्यक्त्वा ॥

अर्थ—इस लिये क्षपकमुनि आलोचनाके दस दोषोंका भी त्याग कर आलोचना करे. क्यों कि दूषित  
आलोचना आत्माको शुद्ध करनेमें असमर्थ है. भय, माया कण्ट, असत्य भाषण, गर्व, और लज्जा इत्यादि भी  
त्याग कर शास्त्रोक्त विधीसे आलोचना करना क्षपका कर्तव्य है.

कोऽसावालोचनाविधित्याशङ्क्याह—

णट्टचलवलियगिहिभासमूगददुरसरं च मोत्तूण ॥

आलोचेदि विणीदो सम्मं गुरुणो अहिमुहत्थो ॥ ६०७ ॥

गृहस्थवचनं सुक्वामौनं च कारनर्तनम् ॥

सुम्यक्सुस्पष्टया वाचा वक्ति दोषान्गुरोःपुरः ॥ ६३२ ॥

विजयोदया—णट्टचलवलियगिहिभासमूगददुरसरं च हस्तनर्तनं, मूक्सेपं, चलनं गायत्र्य, चलितां, गृहस्थवचनं,  
सुक्वामौनं, प्रथरस्वरं च सुक्त्वा आलोचेदि कथयति । विणीदो कृताजलिपुटोऽघनतशिरस्कः । अद्वन्द्वं अनुते । अवि-  
लिङ्गितं । इति । गुरुणो अहिमुहत्थो गुरोर्गमिमुहः ॥

मूलायो—पुष्टं हस्तनर्तनं । अल भूक्षपं देहकर्म च । बलिद गात्रमोदुनं । मृग मूकवल्मक्षाकरणं । दधुरसरं धर्धरस्वरं, उभैःस्वरं धरा । विणीयो कृताञ्जलिपुटोऽनतशिरस्को हस्तमात्रत्यकगुरुभूमिविश्रय । अहिसुहृदो गुरोर्वामपाश्वीश्रयेण अभिमुखं गवीसेनोपविष्टः । इत्थं च—

मूकसंज्ञागवलेन भूक्षपं हस्तनर्तनं । गृहिणां धवनं चैवं तथा शब्दं च धर्धरं ॥ १ ॥ विमुच्यामिमुखं शिल्पां गुरुणा गुणधारिणां ॥ स्वापराधं समाचष्टे विनयेन समन्वितः ॥ २ ॥

अर्थ—हाथौका अभिनय करनी, मोहोको ऊपर उठाना, शरीर हिलाना, शरीरको मूढना, गृहस्थके समान उद्धत भार्पण करना, गुंकेके समान सज्ञा करना, धर्धर स्वरसे बोलना, इत्यादि दोषोका त्याग कर आलोचना करनी चाहिये. अर्थात् नम्रता पूर्वक हाथ जोडना, मस्तक नम्र करना, अति शीघ्र अथवा अतिविलम्बका त्याग कर गुरुके तरफ अपना मुह करके आलोचना करनी चाहिये. एक हाथके अंतर पर गवासेनसे बैठकर आलोचना करनी चाहिये.

पुढविदगागणिपवणे य वीयपत्तेयणंतकाण य ॥

विगतिगचदुपंचिदियसत्तारंभे अणेयविहे ॥ ६०८ ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचहृपीकांगिविराधने ॥

असूनुतवचस्तेयमैथुनग्रंथसेवने ॥ ६३३ ॥

विजयोदया—पुढविदगागणिपवणे य वीयव्यामुदकेऽशौ पवने च । वीजपत्तेयणंतकाण य वीजे प्रत्येककाये वनस्पतौ । विगतिगचदुपचिदियसत्तारंभे द्वित्रिचतु पंचेदियसत्तविपये चारंभे अणेगविधे अनेकप्रकारे । पृथिव्या मृत्ति-कोपलशर्करासिकतालवणाश्रकमित्यादिकाया यनन, विलेखनं, दहनं, कुट्टनं इत्यादिकयारम्भ । उदककरकायदयाय तुपारादीना अभ्येदना पान, स्नानमवगाहन, तरणं हस्तेन, पादेन, गात्रेण वा मर्दनं इत्यादिकं । अग्नेर्ज्वाल, प्रदीप, उष्मकं इत्यादिकस्य तेजस उपर्युदकस्य, पापणस्य, मृत्तिकाया सिकताया वा प्रक्षेपण, पापणकाष्ठादिभिर्हननं इत्यादिकं । शृङ्गागडलिकादो वायौ चाति व्यजेनेन, तालवृतेन, शूर्पेण, चेलादना वा समीरणोत्थापनादिक चाते चाभिगमनं, वीजाना प्रत्येककायाना अनंतकायानां च वृक्षवल्लीगुल्मलतावृणपुष्पफलदीना दहनं, छेदनं, मर्दनं, संजनं, मक्षणमित्यादिक । द्वीन्द्रियादीना मारण, छेदनं, ताडनं, वधन, रोधनमित्यादिकं ॥

आलोच्यं गाथाचतुष्टयेनालोचनाविधिविपर्ययकुरुमाह—

सो दस वि तदो दोसे भयमायामोसमाणलज्जाओ ॥

णिज्जूहिय संसुद्धो करेदि आलोयणं विधिणा ॥ ६०६ ॥

हित्वा दोषान्दशापीति त्यक्तमायामदादिकः ॥

स विनीतमनाः स्वैरालोचयति यत्नतः ॥ ६३१ ॥

विजयोदया—सो क्षपकः । तयो तत आलोचनया दुष्टया शुद्धेरभावात् । दोसे णिज्जूहिय दोषास्त्यक्त्वा । दस वि दशापि । भयमायामोसमाणलज्जाओ भयमाया मनोगता सुग वचनगतां, मानं लज्जा च त्यक्त्वा संशुद्धो सम्यक्-शुद्ध । विधिना आलोचण करेदि । विधिना आलोचनां करोति ॥

एवमालोचनया दश दोषान्त्याख्याय तत्प्रागं प्रकृते योजयन्नाह —

मूलादा—सो निर्योपकार्यपदमूलोपाश्रितः क्षपकः । तदो दुष्टालोचनाशुद्धयसामर्थ्यात् माया मनोर्वचना मोसं वाग्वचना, णिज्जूहिय दोषान् भयादौश्च त्यक्त्वा ॥

अर्थ—इस लिये क्षपकमुनि आलोचनाके दस दोषोंका भी त्याग कर आलोचना करे. क्यों कि दूषित आलोचना आत्माको शुद्ध करनेमें असमर्थ है. भय, माया कपट, असत्य भाषण, गर्व, और लज्जा इनका भी त्याग कर शान्तिविधीसे आलोचना करना क्षपका कर्तव्य है.

कोऽसावालोचनाविधित्याशक्याह —

णट्टचलवालियगिहिभासमूगददुरसरं च मोत्तूण ॥

आलोचेदि विणीदो सम्मं गुरुणो अहिमुहत्थो ॥ ६०७ ॥

गृहस्थवचनं सुक्वामौनं च करनर्तनम् ॥

सम्यक्स्वस्फुष्टया वाचा वक्ति दोषान्गुरोःपुरः ॥ ६३२ ॥

विजयोदया—णट्टचलवालियगिहिभासमूगददुरसरं च हस्तनर्तनं, भ्रूक्षेपं, चलनं गात्रस्थ, वलितं, गृहिवचनं, सुक्वत्संवाकरणं, घर्घरस्वरं च सुक्त्वा आलोचेदि कथयति । विणीदो कृताजलिपुटोऽचनतशिरस्कः । अदुबुदं अदुतं । अवि-  
विनिर्तं । स्पष्टं । गुरुणो अहिमुहत्थो गुरोरभिमुखः ॥

मन प्रिय मे

गिहमत्तागशे ॥ ६०९ ॥

तेणिक्कराडभेत्त महुगणां प्रतिवृत्तने ॥ २३७ ॥

[illegible][illegible]

लोभग्रंथादिना उद्धर्तनं च नाचरति । लिङ्गविक्रानक्रिया नु  
जावजीव वद् घोरे अण्द्वानगममधिष्ठिद् ॥  
सिण्द्वायति यतो भिक्खु विकट्टणपपाय वि ।  
सुद्धुमा सात पापान् भिक्खु विकट्टणपपाय वि । तेषांकारादिमत्ते



मूलारा—पुढवि पृथिवीकायिकाः । अगणि तेजःकायिकाः पवयणे वातकायिकाः । चीज वीजभूता वनस्पति-कायिकाः । एवं पतेयं प्रत्येकांगाः । गंतकाये अन्तकायिकाः साधारणगाः । विनेत्यादि द्वित्रिचतुःपंचद्वित्रियसत्वानामारम्भे विराधने । एतद्व्यव्यादिभिरपि योज्य । अणयविधे अनेकप्रकारे । तथा हि—पृथिव्या मृत्तिकोपलशर्करासिकतालवणव-आदिकायाः खननविलेखनवहनकुट्टनमंजनादिक आरंभः । उदककरकावश्यायतुपारादीनामम्भेदानां पानस्तनानावगाहन तरणहस्तादिमर्दनादिकः । अग्निज्वालाप्रदीपोत्सुकादिकस्य तेजसः उपर्युदकपापणमृत्तिकासिकतादिप्रक्षेपणपापण काष्ठादिहननादिकः । शंखामंडलिकादिवातस्य कपाटछन्नादिना प्रतिबंधः । व्यजनादिना वा तस्य करणं वातेवाभि-गमनभित्पादिको वायुभेदाना । दृक्खवल्लीलतागुल्मवृणपुष्पफलादीना दहनछेदनताडनबंधरोधनादिकः ।

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा, वीज, अन्तर्कायिक वनस्पति, प्रत्येककाय वनस्पति, द्वीद्रिय, त्रीद्रिय, चतुर्द्रिय, पंचद्रिय इन प्राणिओंका वध यदि मेरेसे हुआ होगा तो मैं उस की आलोचना करता हूँ।

पृथिवीके अनेक प्रकार हैं जैसे—मृत्तिका, पापण, शर्करा, वालुका, नमक, अन्नक वगैरह पृथ्वीके भेद हैं। इत्यादिरूप पृथ्वीको खोदना, हलसे विदारण करना, जलाना, फोडना, मोडना इत्यादिरूप से मैंने उनका नाश किया होगा।

पानीके भी बहुत भेद हैं जैसे—पानी, वर्षा, ओस, हिमविंदु वगैरह पानीके भेद हैं इनका पान करना, स्नान करना, उसमें कूदकर स्नान करना, तीरना, हाथ, पांव, और शरीरसे मर्दन करना इत्यादिरूपसे मैंने उनका नाश किया है।

अग्निके ज्वाला, दीपक, उल्युक इत्यादि भेद हैं। इनके ऊपर मैंने पापण, मृत्तिका अथवा वालुका फेंक कर इनका नाश किया होगा। पापण और लकड़ी से उसको पीटा होगा। इत्यादिरूप आरंभ मैंने किया होगा वायुके शंखावात, मंडलिक एसं भेद हैं। जलवृष्टि सहित जो वायु वहती है उसको शंखावात कहते हैं। जो वर्तुलाकार भ्रमण करती है उसको मंडलिक वायु कहते हैं इस प्रकार वहनेवाले वायु को मैंने पखसे, स्रपसे और वक्रसे रोका होगा, उसको उत्पन्न किया होगा, वातके सम्मुख गमन किया होगा

वनस्पती—वीज, अन्तर्कायिक, प्रत्येककायिक ब्रूक्ष, वल्ली, छोटे छोटे पेड़ोंका समूह, लता, वृण, पुष्प, फल

वगैरह वनस्पति के भेद हैं. इनको मैंने जलाया है, तोड़ा है, छेदन किया है, मर्दन मोडना खाना वगैरहसे इनका मैंने आरंभ किया है,

द्वौद्रिय, त्रौद्रिय, चतुर्द्रिय, पंचेद्रिय इन प्राणिओंका मैंने छेदन किया है. उनको बांधा है रोका है और ताडन किया है इत्यादि रूप आरंभ मैंने किये हैं

**पिंडोवाधिसेज्जाए गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगे ॥**

**तेणिवकराइभत्ते मेहूणपरिगहे मोसे ॥ ६०९ ॥**

**दर्शनज्ञानचारिततपसां प्रतिकूलने ॥**

**उद्गमोत्पादनाहारदूषणानां निषेवणे ॥ ६३४ ॥**

विजयोदया - पिंडोवधिसेज्जाए पिंडे, उपकरणे, वसतौ च उद्गमोत्पादनैपणादानातिचारः । गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगे । शृङ्खलानां भागनेषु कुम्भकशरावादिषु कस्यचिन्निषेपणं, तैर्वा कस्यचिदादान चारिवातिचार । दुःप्रतिलेख्यत्वाच्छोधयितुमशक्यत्वाच्च पीठिकायामासद्या, खदवायां, मंचे वा आसन निषेच्यते । पीठिकादिव्यनेकच्छिद्राकुलासु दुःप्रेक्ष्या प्राणिनो वृष्टाश्च नापकर्तुं शक्यते । ततोऽहिंसाव्रतातिचार । तथा चोक्तं - पीठिकासंवल्लंके मंचया सालये तथा । अणाचरिदमज्जाण आसिदु सइदं पि वा । गमीत्वासिणो पाणा दुल्लेक्खा दुब्बिकिचणा ॥ तम्हा दुप्पडि, लेहं च वज्जप पढयव्वय ॥

उपदेशन अथवा गोचरप्रविष्टस्य शृङ्खलु निपद्या कस्तत्र दोष इति चेत् ग्रहचर्यस्य विनाशः स्त्रीभिः सह संवासात् । असकृच्चर्यायकुचतटविवाधरादिसमवलोकनाद्भोजनार्थिनां च विघ्नः । कथमिव यतिसमीपे भुजिक्रिया संपादयाम् । अशुचि वेदं चेतक्यमस्यामासद्या तु तावद्भी इति क्रुध्यन्ति वा शृङ्खला । किमर्थमयमत्र दारणं मध्ये निषण्णो यतिमुक्ते न यातीति । स्नानमुद्धर्तनं, गात्रप्रक्षालनं च वाकुसमित्युच्यते । स्नानेन उष्णोदकेन शीतजलेन सौवीर्यकादिना वा विलेसा घात्रीशुद्धविवरस्थाः इतरेऽपि स्वल्पकाया कुशुपिपीलिकादयो वा नश्यति । तथा चोक्तं -

सुदुमा संति पाणा खु पासेसु अ विलेसु अ ।

सिण्हायति यतो भिक्खु विकट्टेणोपपीडण ॥

ण-सिण्हायंतो तम्हा ते सीधुसण्णोद्देगेण वि ।

आवजीव धदं घोरं अण्हाणगमधिहिंदं ॥

लोभगंधादिना उद्धर्तनं च नाचरति । लिंगविकाराशनक्रिया तु तात्स्थ्याल्लिगशब्देनोच्यते । तेणिक्कारादिभत्ते

अदत्तादानं रात्रिभोजनं च । अदत्तादाने ह्येते तत्स्वामिनः प्राणपंहार एव कृतो भवति । बहिर्द्वाराः प्राणा धनानि प्राणभृता राजानो दृढयन्तीह । रात्रौ च भोजनं अनेकासयममूलं । रात्रौ भ्रमणे पङ्जीवनिकायवाधा । अयोग्यस्य प्रत्याख्यातस्य च भोजनं । दातृपरीक्षासम्भवः । करस्य, भाजनोच्छिद्यनिपतनदेशस्य, वयिक्रागमनमार्गस्य तस्यात्मनश्चावस्थानदेशस्य अपरीक्षा । भेद्वर्णपरिगृहे चैव मैथुनं परिग्रहश्चैव । मोसे मृग्य च ॥

मूलारा — पिबोवधिसञ्जाए आहारे उपकरणे वसंतौ वोद्वमादित्तिचारः । गिहिसन्ता गृहिणाममेवेषु भाजनेषु कुम्भकरशरावादिषु कस्यचिज्जलभस्मादिद्रव्यस्य निक्षेपणं तैर्वा कस्यचिदादानं चारित्रातिचारः तेषां दुष्प्रवृत्तिरेव खत्वात् शोधयितुमशक्यत्वाच्च । निसेज्ज निषया पीठिकार्या असंघा खट्टया मंचके वा आसनमित्यर्थः । तेषु हि अनैकछिद्राकुलेषु प्राणिनो दुर्निरीक्ष्या दृष्टा वा नापनेतुं शक्येरन् । ततोऽहिंसाव्रतातिचाराः । अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु प्रवेशनं निषया । तत्र हि ब्रह्मचर्यस्य विनाशः, स्त्रीभिः सह संवासात् । भोजनार्थिना भुञ्जितक्रियातर्यिकरणादुद्वेगः क्रोधादिसंक्लेशः स्यात् । बाहुसे स्नानमुद्वर्त्तनं गात्रप्रक्षालनं च बाहुसमित्यभिधीयते तैर्हि भूमिर्भ्रादिस्याः स्वदेहस्थारचप्राणिनो विनश्यति । छिद्ये लिंगविकासविक्रिया तात्पर्याह्निगशब्देनोच्यते । तेणिकक चौर्य । रादिभक्ते रात्रिभोजने तद्धेतोः कांस्येममूलं पङ्जीवनिकायवधात् । तत्कारिणा चायोग्यस्य प्रत्याख्यातस्य च भोजनं दातुः पात्रादिस्थापनप्रदेशदायका गमनमार्गस्वावस्थानदेशानां वाऽपरीक्षा ।

अर्थ — पिंड-आहार, उपकरण और वसतििका इनका स्वीकार करते समय मेरेसे उद्गम, उत्पादन एषणां वगैरह दोष उत्पन्न हुए होंगे।

गृहस्थोंके भाजन अर्थात् कुम्भ, घडा, करक-कमंडलु, शराव वगैरे पात्रोंसे किसी पात्रमें कोई पदार्थ रखे होंगे अथवा किसीको दिये होंगे ये सब चारित्रातिचार है. क्यो कि ये पदार्थ अंदरसे स्वच्छ करना कठिन है. छोटी चौकी, चेत्रासन, खाट, पलंग इनके ऊपर बैठना इसको निषया करते हैं

चौकी वगैरह पदार्थोंमें अनेक छिद्र रहते हैं ओर उसमें जो प्राणी रहते हैं वे दीखते भी नहीं. यदि देखि भी तो उनको निकाल नहीं सकते. इसलिए ऐसे चौकी वगैरह पदार्थोंपर बैठनेसे अहिंसाव्रतमें अतिचार उत्पन्न होते हैं. यही अभिप्राय अन्य ग्रंथोंमें भी कहा है—

अथवा आहारके लिये श्रावकके घरमें जाकर वहां बैठना यह भी अयोग्य है. स्त्रियोंके साथ सहवास होनेसे ब्रह्मचर्यका नाश होता है. वारंवार स्त्रियोंके स्तन, अधरोष्ठ वगैरह अवयव देखनेसे कामज्वर उत्पन्न होता

विजयोदया—णणे ज्ञाने । दंशणतववीरिए अद्धाया तपसि वीर्ये च योऽतिचारः । मणवयणकायलोनेहि मनो-  
वाक्कायक्रियाम्भि । मनसा सम्पद्धानस्यावशा, किमनेन ज्ञानेन, तपश्चारित्र्येन फलदाय्यनुष्ठेयमिति । सम्पद्धानस्य वा  
मिथ्याज्ञानमिदमिति दूषणं । मनसा वाचा कायेन वा स्वाकचिप्रकाशनं, सुखवैवर्ण्येन नैतदेवमिति शिर रूपेण वा । कद-  
शंकाकाक्षादि दर्शनेऽतिचारः । तपस्यसयम । धीर्यं स्वशक्तिगूढनं । स चातीचारः सर्वस्त्रिप्रकार इति कथयति । कृत  
कारित्वे अणुमोदे कृतः, कारितोऽनुमतश्च । आदपरपञ्चमोऽङ्गणे य आत्मनैव कृत कारितोऽनुमतश्च, परप्रयोगक्रियया कृत  
कारितोऽनुमतो वा ॥

मूलारा—णणे इत्यादि । सम्पद्धानस्य किमनेन तपश्चारित्र्येवाभिमतफलदाय्यनुष्ठेयमिति मनसावशा, भिज्या-  
ज्ञानमिदमिति वाचा, कायेन च सुखवैवर्ण्येनारविप्रकाशनं । शिरःरूपेण नैतदेवमिति वातिचारः । दर्शनादीना च प्रागु-  
क्ता एव । आदपरपञ्चमोऽङ्गणे आत्मना परेण वा कृतः कारितोऽनुमतश्च ॥

अर्थ—ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य इनमें मन, वचन और शरीरसे और कृत, कारित, अनुमोदनसे अतिचार  
उत्पन्न हुए हों तो उनकी आलोचना करता हूँ । मनके द्वारा सम्पद्धानकी अवज्ञा करना, सम्पद्धानकी क्या जरू-  
रत है, तप और चारित्रही फलदायक है, उनका ही आश्रय करना चाहिये, अथवा सम्पद्धानको यह मिथ्याज्ञान  
है ऐसा दूषण लगाना, मनसे, वचनसे और शरीरसे सम्पद्धानके विषयमें अशुचि प्रगट करना, मुंह मोडकर अथवा  
मस्तक हिलाकर यह सम्पद्धान नहीं है ऐसा प्रगट करना, तपका अतिचार है, अपनी शक्ति छिपाना वीर्यका  
तपश्चरण करते समय असंयमरूप प्रवृत्ति करना, तपका अतिचार है, अथवा सम्पद्धान देने ऐसे तीन प्रकार  
अतिचार है ये अतिचार कृत, कारित और अनुमोदन देना ऐसे तीन प्रकार

अनुमोदन देना अथवा परप्रयोग क्रियासे भी करना, करना, और अनुमोदन देना ऐसे तीन प्रकार  
अनुमोदन देना अथवा परप्रयोग क्रियासे भी करना, करना, और अनुमोदन देना ऐसे तीन प्रकार

अद्धाण रोहणे जणवए य रादो दिवा सिवे उमे ॥

अद्धाण रोहणे जणवए य रादो दिवा सिवे उमे ॥ ६११ ॥

दृष्पादिसमावणो उद्धरदि कमं अभिदंतो ॥ ६११ ॥

दृष्पादिसमावणो उद्धरदि कमं अभिदंतो ॥ ६११ ॥

दुर्भिक्षे मरके मार्गे वैरिचौरादिरोधने ॥ ६३५ ॥

दुर्भिक्षे मरके मार्गे वैरिचौरादिरोधने ॥ ६३५ ॥

अदत्तादानं रात्रिभोजनं च । अयुक्तादाने कृते तत्स्वामिनः प्राणपहार एव कृतो भवति । वहिश्चराः प्राणा धनानि प्राण-  
भृता राजानो दृढयन्तीह । रात्रौ च भोजनं अनेकासयममूल । रात्रौ भ्रमेण पट्टजीवनिकायवाधा । अयोग्यस्य प्रत्या-  
ख्यातस्य च भोजनं । दातृपरीक्षासंभवः । करस्य, भाजनोच्छिष्टनिपतनदेशस्य, दधिक्रागमनमार्गस्य तस्यात्मनश्चाव-  
स्थानदेशस्य अपरीक्षा । भट्टणपरिग्रहे चैव मैथुनं परिग्रहश्चैव । मोसे सृष्टा च ॥

मूलाराधना — पिंडोवधिसंज्ञाए आहारे उपकरणे वसंतौ चोद्रमादिरतिचारः । गिहिसत्ता गृहिणाममत्रेषु भाज-  
नेषु कुंभककशरावादिषु कस्यचिज्जलभस्मादिद्रव्यस्य निक्षेपणं तैर्वा कस्यचिदादानं चारित्र्यातिचारः तेषां दुष्प्रविले-  
खत्वात् शोधयितुमशक्यत्वाच्च । णिसेज्ज निपद्या पीठिकायां अंसया खट्वाया मंचके वा आसनमित्यर्थः । तेषु हि अनेके-  
छिद्राकुलेषु प्राणिनो दुर्निरीक्ष्या दृष्टा वा नापनेतुं शक्येरन् । ततोऽहिंसाव्रतातिचाराः । अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु  
प्रवेशनं निपद्या । तत्र हि ब्रह्मचर्यस्य विन्यासः, स्त्रीभिः सह संवासात् । भोजनार्थिना मुञ्जिक्रियात्तर्यकरणदुद्देशः । क्रोधा-  
दिसंक्लेशः स्यात् । वाकुसे स्नानमुद्धर्त्तनं गात्रप्रक्षालनं च वाकुसमित्यभिधीयते तैर्हि भूमिरध्रादित्याः स्वदेहस्थाश्च  
प्राणिनो विनश्यन्ति । लिंगे लिंगविकासविक्रिया तात्पर्याल्लिङ्गशब्देनोच्यते । तेनिकरु चौर्य । राक्षसेनैव रात्रिभोजने तद्धर्त्तने-  
कांसंयममूलं पट्टजीवनिकायवधात् । तत्कारिणा चायोग्यस्य प्रत्याख्यातस्य च भोजनं दातुः पात्रादित्यापनप्रदेशदायका  
गमनमार्गस्वावस्थानदेशानां वाऽपरीक्षा ।

अर्थ — पिंड-आहार, उपकरण और वसतििका इनका स्वीकार करते समय भरेसे उद्रम, उत्पादन एवम्  
वगैरह दोष उत्पन्न हुए होंगे.

गृहस्थोंके भाजन अर्थात् कुम्भ, घडा, करक-कुम्भलु, शराव वगैरे पात्रोंसे किसी पात्रमें कोई पदार्थ  
रखे होंगे अथवा किसीको दिये होंगे ये सब चारित्र्यातिचार है. क्यों कि ये पदार्थ अंदरसे स्वच्छ करना कठिन है.  
छोटी चौकी, बेन्चासन, खाट, पलंग इनके ऊपर बैठना इसको निषद्या कहते हैं

चौकी वगैरह पदार्थोंमें अनेक छिद्र रहते हैं और उसमें जो प्राणी रहते हैं वे दीखते भी नहीं. यदि  
दीख भी तो उनको निकाल नहीं सकते. इसलिए ऐसे चौकी वगैरह पदार्थोंपर बैठनेसे अहिंसाव्रतमें अतिचार उत्प-  
न्न होते हैं. यही अभिप्राय अन्य ग्रंथोंमें भी कहा है —

अथवा आहारके लिये श्रावकके घरमें जाकर वहां बैठाना यह भी अयोग्य है. स्त्रियोंके साथ सहवाम  
होनेसे त्रासचर्यमा नाश होता है. चारवार स्त्रियोंके स्तन, अधरोष्ठ वगैरह अवयव देखनेसे कामज्वर उत्पन्न होता

सर्वदोषक्षयाकांक्षी संसारश्रमभीलुकः ॥

आलोचयति तं सर्वं क्रमतः पुरतो गुरोः ॥ ६३६ ॥

विजयोद्या—अद्वान रोहणे जनपदे यस्यावस्थिते जनपदे यावन्तो मार्गोस्तेषा रोधके परचक्रे जाते यदि निस्सर्तुं न लभते संक्षिप्टा भिक्षा चर्या तत्र अयोग्यस्य सेवा कृता आत्मना तमपि कथयति । रादो दिवा रात्रौ अयमति-चारो जातो विवसे इति वा कथनं । मार्गो उपद्रुते सधे विधया भ्रमेण वा तन्निपेधनायामयमतिचारो जात इति वा । दुर्भिक्षे वा महति अवमोदर्यभ्रमेण यदात्मना सेवित, अन्ये द्वाऽयोग्यभिक्षाग्रहणे इत्थं प्रवर्तिता इति वा कथनं । दम्पा-दिसमावण्णे दर्पादिभिः समापन्नः ॥

मूलारा—अद्वान रोधणे जनपदे । जनपदे देशे । यावन्तोऽध्वानो मार्गोस्तेषा परचक्रे रोधके परचक्रे प्रवृत्ते नि सर्तुमलममानस्य साधोर्यां पारवश्येन संक्षिप्टा भिक्षाचर्या संजाता अयोग्यसेवा वा आत्मना कृता तामप्युद्धरतीति संबंध । रादो दिवा रात्रौ दिवा वा योऽतिचारो जातः । आसिवे मार्यामुपदेवे संघस्य विद्यामंत्रादिना तत्प्रतिकारे योऽति-चारः । ऊमे दुर्भिक्षे अयोग्यसेवनादिना योऽतिचारोऽन्यो वा तादृक् । दम्पादिसमावण्णे दर्पादिभिः सामुख्येन आवण्णो प्राप्तस्तं सर्वं उद्धरति गुरोरे कथयति । किं कुर्वन् ? कम् अभिदंतो देशकम् कालकम् चानतिक्रामन् ॥

अर्थ—देशमें बाहर जानेके अथवा प्रवेश करनेके जितने मार्ग हैं वे शत्रुसैन्यके द्वारा रोकें जानेपर वहाँसे निकलना अशक्य हो जाता है, उस समय भिक्षा गिलना कठिन हो जानेसे परिणामोंमें संकेश पैदा होता है, कदाचित् ऐसे समयपर अयोग्य पदार्थका सेवन होता है, आलोचनाके समयमें इन सब बातोंका क्षपकको खुलासा करना योग्य है, अशुक्ल अतिचार रातमें हुआ था अशुक्ल अतिचार दिनमें हुआ था यह भी कथन करना चाहिये, मार्गी रोगसे संघ पीडित होने पर त्रिधा और मंत्रके द्वारा उसका निराकरण करते समय जो अतिचार हुआ होगा वह भी कहना चाहिये, यदि महादुष्कालके समयमें अवमोदर्य तपमें अतिचार लगा हो अथवा अयोग्य भक्षण किया हो वह भी निवेदन करना चाहिये इतर सुनिर्णय भी दुष्कालमें अयोग्य सेवन किया होगा तो वह कहना चाहिये दर्प, ग्रामाद वगैरहसे जो अतिचार होते हैं उनका भी कथन करना चाहिये,

दम्पपमादआणामोगआपगा आदुरे य तिचिणिदा ॥

सकिदसहसाकारे य भयपदोसे य मीमंसं ॥ ६३७ ॥

अंणणाणेहगरव अणप्पवसअलस उपधि सुमिणते ॥  
पलिकुंचणं ससोधी करोति वीसंतवे भेदे ॥ ६१३ ॥

विजयोदया — इति वर्षादि । अत्र वर्षोऽनेकप्रकारः । कीडासंघर्षः, व्यायामकुट्टकं, रसायनसेवा, हास्यं, गीतशृंगारवचन, प्लवनामित्यादिको वर्षः । प्रमादः पंचविधः । विक्रया, कपया, इद्रियाविपयासक्तता, निद्रा, प्रणयः अस्ति । अथवा प्रमादो नाम सखिलग्रहस्तकर्म, कुशीलानुवृत्तिः, बाह्यास्त्राशिक्षणं, काव्यकरणं, समितिष्वनुपयुक्तता । छेदनं भेदनं, पेयणमभिघातो, व्यघर्षः, खननं, वधनं, स्फाटनं, प्रक्षालनं, रंजनं, वेष्टनं, ग्रथनं, पूरणं, समुद्रायकरणं, लेपनं, क्षेपण आलेखनमित्यादिकं सखिलग्रहस्तकर्म, स्त्रीपुरुषलक्षण निमित्तं, ज्योतिर्ज्ञानं, छंदः, अर्थशास्त्रं, वैद्यं, लौकिकवैदिकसमयाश्च ग्राह्यशास्त्राणि । उपयुक्तोऽपि सत्यगतीचारः न वेत्ति सोऽनाभोगकृतः, व्याक्षिप्तचेतसा वा कृतः । नदीपूरः, अग्न्युत्थापनं, महावातापातः, वर्षाभिघातः, परचक्रोघ इत्यादिका आपाताः रोगांतः शोकांतो, वेदनांतं इत्यातता त्रिविधा । रसासक्तता मुहुरता चेति द्विप्रकारता तत्तिष्ठिदां शब्दाव्याख्या । सचित्तं किमचिच्चमिति शक्तिरे ब्रह्मे भंजनभेदनभक्षणदिभिराहारस्योपकरणस्य, वसतेर्वा उदमादिदोषोपहृतिरस्ति न चेति शंकायामप्युपादानं । अशुभस्य मनसो वाचो वा झटिति प्रवृत्तिः सहसेत्युच्यते ॥

एकाताया वसतौ व्यालमृगव्याघ्रादयस्तेना वा प्रविशन्ति इति भयेन द्वारस्थगने जातोऽतिचारस्तीव्रकपय परिणाम प्रदोष इत्युच्यते उदकराज्यादिसमानतया प्रत्येकं चतुर्विंशत्युपाध्वार कपया । आत्मनः परस्य वा बललाघवादिपरीक्षा मीमास्ता तत्र जातोऽतिचारः । प्रसारितक्राकुचितम् । आकुचितकप्रसारण । धनुषाद्यारोपणं । उपलब्धु-रक्षेपणं, वाधानं, वृत्तिकटकाद्युद्धयनं, पशुसर्पादीना मत्रपरीक्षणार्थं धारणं, औषधवीर्यपरीक्षणार्थमजनस्य, चूर्णस्य वा प्रयोगः, इव्यसंयोजनया वसानामेकोन्धियाणा च संमूच्छता परीक्षा । आह्वानामाचरण दारुवा स्वयमपि तथा चरति तत्र दोषानिमिष्ठः । अथवाऽह्वा निनोपनीतमुद्रमादिदोषोपहृत उपकरणादिकं सेवते इति अज्ञानाप्रवृत्तोऽतीचारः । शरीरे, उपकरणे, वसतौ, कुले, ग्रामे, नगरे, देशे, वधुषु, पार्श्वस्थेषु वा मेढदंभाव स्नेहस्तेन प्रवर्तित आचारः । ममशरीरमिदं शीतो वातो वाघयति, कटादिभिरतर्धानं, अग्निसेवा, ग्रीष्मातपनोदनायै प्रावरणग्रहण वा, उद्वर्तनं, वा । उपकरणं विनश्यतीति तेन सकार्यकरण यथा पिच्छविनाशभयादग्रमार्जनं इत्यादिकं । ब्रह्मणं, तैलादिना कमंडल्यादीना प्रक्षालनं वा, वसतिरुणादिभक्षणस्य मज्जनादेर्वा ममतया निवारणं, वह्नुना यतीना प्रवेशनं मदीयं कुल न सहते इति भाषणं, प्रवेशो कोपः, वह्नुना न दातव्यमिति निषेधनं, कुलस्थैव वैयावृत्यकरण । निमित्ताद्युपदेशश्च तत्र ममतया ग्रामे नगरे देशे वा अवस्थाना निषेधनं । यतीना सयाधिना सुखेन सुरमात्मनो दुष्टेन दुःखमित्यादिरतिचारः । पार्श्वस्थाना वंदना, उपकरणादिदान वा तदुद्धयनासमर्थता गुरुता ऋद्धित्यागासहृता, ऋद्धिगौरव, परिवारे कृतादर । परकीयमात्मसात्करोति प्रियवचनेन उपकरणदानेन । अभिमतसरत्यागोऽनभिमतानादरश्च नितराः रसगौरवं । निकामभोजने, निकामशयनादौ वा आसक्ति सातगौरवं ।

है जो भोजन करना चाहते हैं उनकी भी विन्न उपस्थित होता है मुनि के सखिष आहार लेनेमें उनकी संकोच होता है अथवा उनको उद्देग क्रोधादिक विकार उत्पन्न होते हैं, यह आसन अपवित्र है तो भी ये इसपर कैसे बैठते हैं ऐसा विचार मनमें उत्पन्न होनेसे वे कोपयुक्त होते हैं, ये यति ब्रियोंके बीचमें क्यों बैठते हैं यहां से क्यों अपने स्थानपर जाते नहीं

स्नान करना, उवटन लगाना, शरीरके अवयव धो ॥ इन क्रियाओं को 'वाकुस' कहते हैं ठंडे पानीसे अथवा धुल्लेमें रहने वाले प्राणी, जमीन के छोटे छोटे छिद्रों में रहने वाले चींटी वगैरे कृमि नष्ट होते हैं, इसलिये स्नान मुनि-ओंको निषिद्ध माना है मुनियोंको उवटन शरीरपर मुनि नहीं लगाते हैं, न दिया हुआ पदार्थ लेना और रात्रि लोभ वगैरेह सुगंधी पदार्थोंका उवटन शरीरपर मुनि नहीं लगाते हैं, न दिया हुआ पदार्थ लेना ही लेना है

लिंग विकासक्रियाको लिंग कहते हैं इसका मुनित्याग करते हैं, न दिया हुआ पदार्थ लेना ही लेना है लिंग विकासक्रियाको लिंग कहते हैं न दी हुई वस्तु लेना मानो उस वस्तुके मालिकता प्राण रात्रौ भोजन करना लिंग विकासक्रियाको लिंग कहते हैं न दी हुई वस्तु लेना उसको दंडित करता है, रात्रौ भोजन नहीं

भोजन इनका मुनियों को त्याग रहता है जो दूसरोंका धन हरण करते हैं रात्रौ भोजन होता है, रात्रिकालमें दाताकी परीक्षा नहीं धन प्राणीओंका बाह्य प्राण है रात्रौ भोजन करने से स्थावर और त्रस जीवों को बाधा पोहोचती है रात्रौ भोजन करने में अयोग्य पदार्थ, और त्यागा हुआ पदार्थ का भी सेवन होता है, रात्रिप्रदेश, जहां अनन्की अनेक असंयोगों का मूल कारण है, और त्यागा हुआ पदार्थ जो अन्न नीचे जहां गिरता है वह भूप्रदेश, जहां खड़ा भोजन करने में अयोग्य पदार्थ, और त्यागा हुआ पदार्थ जो अन्न नीचे जहां गिरता है वह भूप्रदेश, जहां खड़ा हो सकती है, रात्रौ अपने हस्तपुटसे भोजन करते समय जो अन्न नीचे जहां गिरता है वह भूप्रदेश, जहां खड़ा हो सकती है, रात्रौ अपने हस्तपुटसे भोजन करते समय जो अन्न नीचे जहां गिरता है वह भूप्रदेश, जहां खड़ा हो सकता है वह प्रदेश और स्वयं मुनि जहां खड़े हुए हैं वह प्रदेश ये जीवोंसे रहित हैं या सहित हैं इनका निर्णय स्थानी रखते हैं वह प्रदेश और स्वयं मुनि जहां खड़े हुए हैं वह प्रदेश ये जीवोंसे रहित हैं या सहित हैं इनका निर्णय होता है वह प्रदेश और स्वयं मुनि जहां खड़े हुए हैं वह प्रदेश ये जीवोंसे रहित हैं या सहित हैं इनका निर्णय रात्रिमें नहीं होता है, इस वास्ते रात्रौ आहार लेना योग्य नहीं है, मंथन करना, परिग्रह रखना, झूट बोलना इनका मुनि त्याग करते हैं

पाणे दंसणतववीरिये य मणवयणकायजोगेहि ॥

पाणे दंसणतववीरिये य मणवयणकायजोगेहि ॥ ६१० ॥  
कदकारिदेणुमोदे आदपरपओगकरणे य ॥ ६१० ॥



सर्वदोषक्षयाकांक्षी संसारश्रमभीलुकः ॥

आलोचयति तं सर्वं क्रमतः पुरतो गुरोः ॥ ६३६ ॥

विजयोदया—अद्वाण रोहणे जणवदे यस्यावस्थिते जनपदे यावन्तो मार्गस्तेषा रोधके परचक्रे जाते यदि निस्सुं न लभते संछिष्टा भिक्षा चर्या तत्र अयोग्यस्य सेवा कृता आत्मना तमपि कथयति । रादो दिवा रात्रौ अयमतिचारो जातो दिवसे इति वा कथनं । मार्गो उपद्रुते संघे विद्यया मयेण वा तन्निषेधनायामयमतिचारो जात इति वा । दुर्भिक्षे वा मद्दति अवमोदर्थभक्षेन यदात्मना सेवित, अन्ये वाऽप्योग्यभिक्षाग्रहणे इत्थं प्रवर्तिता इति वा कथनं । दप्पा-दिसमावण्णे दर्पादिभिः समापन्न ॥

मूलारा—अद्वाण रोधणे जणवदे । जनपदे देशे । यावतोऽध्वानो मार्गस्तेषा परचक्रे रोधके परचक्रे प्रवृत्ते निःसुंमलमानस्य साधोर्या पारवश्येन संछिष्टा भिक्षाचर्या संजाता अयोग्यसेवा वा आत्मना कृता तामप्युद्धरतीति संबंध । रादो दिवा रात्रौ दिवा वा योऽतिचारो जातः । आसिंवे मार्गमुपद्रवे संघस्य विद्यामंत्रादिना तत्प्रतिकारे योऽतिचारः । ऊमे दुर्भिक्षे अयोग्यसेवनादिना योऽतिचारोऽन्यो वा तादृक् । दप्पादिसमावण्णे दर्पादिभिः सांमुख्येन आवण्णे प्राप्तं सर्वं उद्धरति गुरोरग्रे कथयति । किं कुर्वन् ? कर्म अभिर्दंतो देशकर्म कालकर्म चानतिक्रामन् ॥

अर्थ—देशमें बाहर जानेके अथवा प्रवेश करनेके जितने मार्ग हैं वे शत्रुसैन्यके द्वारा रोके जानेपर वहाँसे निकलना अशक्य हो जाता है, उस समय भिक्षा मिलना कठिन हो जानेसे परिणामोंमें संकेश पैदा होता है, कदाचित् ऐसे समयपर अयोग्य पदार्थका सेवन होता है, आलोचनाके समयमें इन सब बातोंका क्षपकको खुलासा करना योग्य है, अमुक अतिचार रातमें हुआ था अमुक अतिचार दिनमें हुआ था यह भी कथन करना चाहिये, मारी रोगसे संघ पीड़ित होने पर निद्या और मंत्रके द्वारा उसका निराकरण करते समय जो अतिचार हुआ होगा वह भी कहना चाहिये, यदि महादुष्कालके समयमें अवमोदर्थ तपमें अतिचार लगा हो अथवा अयोग्य भक्षण किया हो वह भी निवेदन करना चाहिये इतर सुनिर्णयों भी दुष्कालमें अयोग्य सेवन किया होगा तो वह कहना चाहिये दर्प, प्रमाद वगैरहसे जो अतिचार होते हैं उनका भी कथन करना चाहिये,

दुष्पमादआणाभोगआपगा आदुरे य तित्तिणिदा ॥  
सकिदसहसाकारे य भयपदोसे य मीमंसं ॥ ६३७ ॥

दुष्पमादआणाभोगआपगा आदुरे य तित्तिणिदा ॥

सकिदसहसाकारे य भयपदोसे य मीमंसं ॥ ६३७ ॥

अनात्मवशतया प्रवर्तितचिचार । उन्मादेन, पित्तेन पिशाचदेशेन वा पत्वशता । अथवा शक्तिमि परिशुद्धिनस्य यलाकारेण गन्धमाल्यादिसेवा प्रत्याख्यातभोजन, मुखवासतावृत्तादिप्रक्षेपण वा स्त्रीभिर्नपुंसकैर्वा वलादयमकरण । चतुर्षु स्वाध्यायेषु आवश्यकेषु वा आलस्य । उर्वविशब्देन मायोच्यते प्रच्छन्नमनाचारे वृत्तिः । क्षात्वा दातुकुल पूर्वमन्येभ्य प्रवेश । कार्यो पदेशेन यथा परे न जानति तथा वा । भद्रकं भुक्त्वा विरसमशनं मुक्तमिति कथनं । ग्लानस्याचार्यदेवो वैयावृत्यं करिष्यामि इति किञ्चिद्रुद्धीत्वा स्वयं तस्य सेवनम् । स्वप्ने वाऽप्यारभ्यसेवा सुमिणमित्युच्यते । द्रव्यक्षेत्रबालभावाश्रयेण प्रवृत्तस्य चित्तचिचारस्यान्यथा कथनं पल्लिकुचनशब्देनोच्यते । कथं ? सचित्तसेवां कृत्वा अधिचत्तं सेवितमिति । अधिचत्तं सेवित्वा सचित्तं सेवितमिति वदति । तथा स्वावस्थाने कृतमध्वनि कृतमिति, सुभिक्षे कृतं दुर्भिक्षे कृतमिति, दिवसे कृतं रात्रौ कृतमिति, अकपयतया सपादितं तीव्रकोधादिना सपादितमिति । यथावत्कृतलोचनो यतियोवत्सुरि प्रायश्चित्तं प्रयच्छति तावत्स्वयमेवेदं मम प्रायश्चित्तं इति स्वयं शृणुति स स्वयं शोधक । एवं मया स्वशुद्धिरुपैति निवेदनं । एवमेतैर्पादिभिः समापन्नोऽतिचार उद्धरति कथयति । कम स्वकृतातिचारकम । आर्भितो अनिराकुर्वन् ॥

दर्पादयो विंशतिरतिचारणविकल्पा यथागमं निर्दिश्यन्ते । तथाहि--

मूलारा--१ तत्र दर्पोऽनेकप्रकारः । क्रीडासंघर्षो व्यायामः, ऊहकं, रसायनसेवा, हास्यं गीतश्रृंगारो, धावनं, प्लवनमित्यादिक । प्रसाद पंचधा विकथा कपायाः इन्द्रियविपयासक्ता, निद्रा, प्रणय इति । अथवा संकिलष्टदृष्टकर्म, कुशीलादु-  
वृत्तिः, सामुद्रिकनिमित्तज्योतिर्पैद्यकछंदोऽर्थशास्त्रवैदिकलौकिकसमयभंगवादादिवाग्दशाश्लक्षिभ्रणं, काव्यकरणं, समितिष्व, दुपयुक्ता, छेदनं, भेदनं, पेपणमभिधातो, व्यधनं, खननं, वधनं, सीवनं, प्रक्षालनं, रंजनं, वेष्टनं, ग्रथनं, पूर्णं, समुदा-  
ग्रकरणं, लेपनं, क्षणं, आलेखनं इत्यादिकोऽनेकप्रकारः प्रसादः । अनाभोग उपयुक्तस्यापि अतिचारणा सम्यगनवबोध । आपगा आपगापूर्वमस्त्यानां महावातापातवर्षाभिधातपरचक्रकरोधाद्युपसर्ग । आतुरत्वं रोगशोकेनैवेतिवात्तेधा । तित्ति-  
गिदा द्वेधा रसासक्ता मुखरता चेति । ७ पिच्छाद्युपयोगिद्रव्ये किमिदं सचित्तमुताचित्तमिति संदेहे सत्यपि तर्जनेभेदत-  
क्षणविकरणं । पिंडादेर्वा किमत्रोद्गमादिदोषोपहृतिरस्ति न वेति शंकायाम्युपादानं । ८ सहमाक्रोऽशुभस्य मनसो वाचो  
वा क्षतिरिति प्रवृत्तिः ॥ ९ भयं एकताया वसतौ स्तेनव्यालादिरत्र प्रवेक्ष्यतीति द्वारस्थगनम् । १० प्रदोषस्तीव्रसंज्वलनका-  
यपरिणामः ॥ ११ मीमासा सस्य परस्य वा वललाघवादिपरीक्षा । अथवा प्रसारितस्य करस्याकुचनं, आकुचितस्य वा  
प्रसारणं, घृणुपाद्यारोपणं, उपलघुत्वेपणविशेषणधावनं, वृत्तिकटकालुङ्घनं, पशुसर्पादीनां मत्रपरीक्षणवाधारणं,  
ओषधीर्वीर्यपरीक्षणार्थमंजनस्य वा प्रयोगः ।, द्रव्यसंयोजनया त्रसानामेकैर्द्रियाणां वा सम्मूर्च्छनपरीक्षा ।

१२ अज्ञाना आचरणदर्शनात्तथाचरणं, अज्ञानिना उपनीतस्य उद्गमविदोषदुष्टस्य उपकरणदेः सेवनं वा ॥ १३

स्नेहो देहोपधिवसतिकुलग्रामनगरदेशवंधुपार्थस्तेषु ममत्वपरिणाम । तेन समेतं शरीर शीतादिना वाध्यते इति कटाद्यंत-  
धानाभिसेवनप्रावरणग्रहणश्रद्धणोद्धततनुपचारोऽतिचार । तथा ममोपकरणं विनश्यति इति भिन्नविनाशभयादप्रमार्जनम् ।  
कमंडलवादीना प्रक्षालनं, तैलादिना वा ग्रहणं, वसतेस्तृणाद्यपसारणं भंजनादिनिवारणं वा । बहूना यतीनां प्रवेशनं म-  
दीयं कुलं न सद्दते इति भाषण वा । प्रवेशे पार्थस्थादीना वंदनोपकरणादिदानं वा । तदुल्लेघनासमर्थना वा ॥ १४ गारवं  
ऋद्धिरससातासक्तिः । तेन परिवारे लोभात्परकीयस्य प्रियवचनादीना आत्मसात्करणं वा, गंधमात्यतायूलादिसेवनं, अनिष्ट-  
रसत्यागोष्टरसादरौ, यथेष्टभोजनशयनादितत्परत्वं च । १५ अनात्मवशत्वं—उन्मादपित्तप्रकोपपिशाचोवेशादिना पारतंत्र्यं,  
ज्ञातिबलात्कारेण वा गंधमात्यतायूलादिसेवनं, प्रत्याख्यातभोजनं, प्रत्याख्यातभोजनं, रात्रिभोजनं वा । स्त्रीभिर्नपुंसकैर्वा बलान्मैथुनप्रवर्तनं  
वा । १६ आलस्यं स्वाध्यायावश्यकेष्वनुसाहः । १७ उपधर्मियाप्रयोग, प्रच्छन्नभोजनाचारे प्रयुक्तिः, प्रदातृद्वं ज्ञात्वा  
अन्येभ्यः पूर्वं तत्र प्रवेश कार्यापदेशेन यथा परे न जानन्ति तथा । भद्रकं भुक्त्वा विरसमशनं भुक्तं इति कथनं ।  
ग्लानस्याचार्यादेवैवावृत्तं करिष्यामीति किंचिद्गृहीत्वा स्वयं तस्य सेवा । १८ स्वप्नातः सुप्तस्यायोग्यसेवनं । १९ पलि-  
कुंचनं द्रव्यादिविपर्ययेणातिचारकयनम् । यथा सचिच्छं सेवित्वा अचिच्छं सेवितमिति वक्ति । स्वावस्थाने कृतं मार्गे  
कृतमिति । सुमिक्षे कृतं दुर्भिक्षे कृतमिति । दिवा कृतं रात्रौ कृतमिति वा । तीव्रक्रोधादिकृतं मंदक्रोधादिकृतमिति वा ।  
२० स्वयंशुद्धिः—अकृतालोचनेन यतिना यावत्सूरि प्रायश्चित्तं ददाति तावदिदं मे प्रायश्चित्तं इति स्वयमेव तद्गृहीत्वा  
एव मया स्वशुद्धिरनुष्ठितेति निवेदनम् । उक्तं च —

एकद्वित्रिचतुःपंचहृषीकानिधिराघेन ॥

असूनुतवचःस्तेयमैथुनमथसेवने ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपसां प्रतिकूलने ॥

उद्रभोत्पादनाहारदूयणाना निषेवणे ॥

दुर्भिक्षे मरके मार्गे वैरिचौरनिरोधने ॥

योऽपराधोऽभक्तश्चिन्मनोवाक्कायकर्मभिः ॥

सर्वदोषक्षयाकाक्षी संसारश्रममीलुङ्कः ॥

आलोचयति तं सर्वं क्रमतः पुरतो गुरोः ॥

अर्थ—दर्पके अनेक प्रकार हैं। क्रीडामें स्पर्द्धा, व्यायाम, कपट, रसायनसेवा, हास्य, गीत और शृंगार-वचन, दौडना और कूदना ये दर्पके प्रकार हैं। प्रमादके पांच प्रकार हैं—विकथा, कपाय, इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्ति, निद्रा और स्नेह। अथवा संकिल्प हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, वाह्यशास्त्र, काव्यकरण, और समिति में उपयोग न देना ऐसे भी प्रमाद के पांच प्रकार हैं।

छेदन करना, भेदन करना, पीमना, आघात करना, चुभना, खोदना, बांधना, फाड़ना, घोना, रंगाना वेष्टन करना, गूंथना, पूर्ण करना, एकत्र करना, लेपन करना, फेरना, चित्र बनाना इत्यादि कार्यको संकिल्प हस्त कर्म कहते हैं।

स्त्री पुरुषके लक्षणोंका वर्णन करने वाले शास्त्रको निमित्त शास्त्र कहते हैं ज्योतिर्विज्ञान, छंदःशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, वैद्यकशास्त्र, लौकिकशास्त्र, मंत्रवाद इत्यादि शास्त्रोंको वाह्यशास्त्र कहते हैं।

उपयोग देकर भी जिससे अतिचारोंका सम्यग्ज्ञान नहीं होता है उसको अनाभोगकृत अतिचार कहते हैं अथवा मन दूसरे तरफसे लगनेपर जो अतिचार होता है वह भी अनाभोग कृत है।

नदीपूर, अग्नि लगना, महाबायु वहना, वृष्टि होना, शत्रुके सैन्यसे पिरजाना, इत्यादिक कारणों से होनेवाले अतिचारोंको आपात अतिचार कहते हैं।

रोगसे पीडित होना, शोकसे दुःखित होना, वेदनासे व्यथित होना, ऐसे आर्तवाक्यों तीन प्रकार हैं इस से होनेवाले अतिचारोंको आर्तवातिचार कहते हैं।

रसमें आसक्त होना और बहुत बड़बड़ करना इस कार्यको तिचिणदा अतिचार कहते हैं।

शंकित — पिच्छिका वगैरे उपयोगी द्रव्योंमें ये सचित्त हैं या अचित्त हैं ऐसी शंका उत्पन्न होनेपर भी मोहना, फोड़ना, भक्षण करना, आहार और उपकरण और वसतिका ये पदार्थ उद्गमादिदोष रहित हैं अथवा नहीं है ऐसी शंका आनेपर भी उनको स्वीकारना यह शंकितवातिचार है।

सहसा—अशुभवचनमें और अशुभ विचारोंमें वचनकी और मनकी तत्काल अनिचारपूर्वक प्रवृत्ति होना इसको सहसातिचार कहना चाहिये।

भयातिचार—एकान्त स्थानमें वसतिका होनेसे सर्प, दुष्ट पशु, वाघ वगैरह प्राणी प्रवेश करेंगे इस भयसे वसतिकाके द्वार बंद करना

प्रदोष—संजलन कपायोंका तीव्र परिणमन होना अर्थात् उनका तीव्र उदय होना. पानीके ऊपरकी लकीर, थूलिके ऊपरकी लकीर, जमीनके ऊपरकी लकीर, और पत्थर पर उमरी हुई लकीर इन के समान कोधके चार प्रकार हैं. इस प्रकारसे मान, माया, लोभके भी दृष्टांत आन्तरसे समझ लेना चाहिये. इनसे होनेवाले अति-चारों को प्रदोषातिचार कहते हैं.

मीमांसा—अपना बल और दूसरेका बल इसमें कम और ज्यादा क्रिसका है इसकी परीक्षा करना इससे होनेवाले अतिचारको मीमांसातिचार कहते हैं

फैले हुए हाथको समेट लेना, संकुचित हाथको फैलाना धनुषको ढोरी लगाकर सज्ज करना, पत्थर फेकना, माटीका डेला फेंकना, वाधा देना, मर्यादा-बाडको उल्लंघन, कंटकादिकोंको लांघकर गमन करना पशु, सर्प वगैरह प्राणिओंको मंत्र की परीक्षा करनेके लये पकड़ना, और सामर्थ्यकी परीक्षा करनेके लिये अंजन और चूर्णका प्रयोग करना. द्रव्योंको संयोग कर त्रस और एकैद्रियों की उत्पत्ति होती है या नहीं इसकी परीक्षा करना इन कृत्योंको परीक्षा कहते हैं. ऐसे कृत्य करनेसे त्रतोमें दोष उत्पन्न होते हैं.

अज्ञानातिचार—अज्ञ जीवोंका आचरण देखकर स्वयं भी वैसा आचरण करना, उसमें क्या दोष है इसका ज्ञान न होना, अथवा अज्ञानीके लये, उद्दमादि दोषोंसे सहित ऐसे उपकरणादिकों का सेवन करना ऐसे अज्ञानसे अतिचार उत्पन्न होते हैं.

शरीर, उपकरण, वसतिका, कुल, गांव, नगर देश, वंशु और पाशस्थयुनि इनमें ये मेरे हैं ऐसा भाव उत्पन्न होना इसको स्नेह कहते हैं इससे उत्पन्न हुए दोषोंको स्नेहातिचार कहते हैं यह ठंडी हवा मेरे शरीरको पीडा देती है ऐसा विचारकर चटाईसे उसको ढकना, अग्नीका सेवन करना, ग्रीष्म ऋतुका ताप मिटानेके लिये वस्त्रग्रहण करना, उबटन लगाना, साफ करना, तैलादिकोंसे कमंडलु वगैरह पदार्थ स्वच्छ करना, धोना. उपकरण नष्ट होगा इस भयसे उसको अपने उपयोगमें न लाना, जैसे पिच्छिका झड़ जायगी इस भयसे उससे जमीन, शरीर, पुस्तकादिक साफ न करना इत्यादिक अतिचारोंको उपचारातिचार यह संज्ञा है.

वसतिका का वृण कोई पशु खाता होगा तो उसका निवारण करना, वसतिका भग्न होती हो तो उसका निवारण करना, वहीतसे यति मेरी वसतिका में नहीं उहर सकते हैं ऐसा भाषण करना, बहुत मुनि ग्रवेश करने

लगे तो उनपर क्रुद्ध होना, बहुत यतियों को वसतिका मत दो ऐसा कहना, वसति का अथवा अपने कुलके मुनियों की सेवा करना, निमित्तादिकों का उपदेश देना, ममत्वेसे ग्राममें, नगरमें अथवा देशमें रहनेका निषेध न करना, अपने संबंधि यतियों के सुखसे अपने को सुखी समझना और उनकी दुःख होनेमें अपने को दुःखी समझना. पार्श्वस्थादि मुनियोंकी वंदना करना, उनको उपकरणादिक देना, उनका उल्लंघन करने में सामर्थ्य न रखना. इत्यादि कृत्योंसे जो दोष होते हैं उनकी आलोचना करनी चाहिये

ऋद्धिका त्याग करनेमें असमर्थ होना, ऋद्धि में गौरव समझना, परिवारमें आदर रखना, त्रियमाण करके और उपकरण देकर परकीय वस्तु अपने वश करना इसको ऋद्धिगौरव कहते हैं इष्टरसका त्याग न करना, अनिष्ट रसमें अनादर रखना, इसको रसगौरव कहते हैं अतिशय भोजन करना, अतिशय सोना इसको सातगौरव कहते हैं. इन दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये

परके वश होनेसे जो अतिचार होते हैं उनका विवेचन इस प्रकार है—उन्माद, पिच्छ, पिशाच इत्यादि कारणोंसे परवश होनेसे अतिचार होते हैं अथवा ज्ञातिके लोकोंसे पकड़नेपर बलात्कारसे इन्द्र, पुण्य वगैरहका सेवन किया जाना, त्यागे हुए पदार्थोंका भक्षण करना, रात्रिभोजन करना, सुखको सुगंधित करनेवाला पदार्थ, तांदूल वगैरह भक्षण करना, स्त्री अथवा नपुंसकोंके द्वारा बलात्कारसे ब्रह्मचर्यका विनाश होना, ऐसे कार्य परवशतासे होनेसे अतिचार लगते हैं पृच्छना, अनुप्रेक्षा वगैरह चार प्रकारके स्वाध्याय और अवश्यक क्रियाओंमें अनादर आलस्य करना, इनकी आलोचना करना क्षपकका कर्तव्य है.

अवधि शब्दका अर्थ माया होता है. गुप्त रीतिसे अनाचारमें प्रवृत्ति करना, दाताने घरका शोच करके अन्य मुनि जानके पूर्वमें वहां आहारार्थ प्रवेश करना, अथवा किसी कार्यके निमित्तसे दूसरे नहीं जानसके इस प्रकारसे प्रवेग करना, मिष्ट पदार्थ खानेको मिलने पर मेरेका विस्र अन्न खानेको मिला ऐसा कहना रोगी मुनिका किंवा आचार्यका वैयावृत्य करनेके लिये श्रावकोंसे कुछ चीज मागकर उसका स्वयं उपयोग करना ऐसे दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये.

स्वप्नमें अयोग्य पदार्थका सेवन होना उसको 'सुमिण' कहते हैं. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे जो अतिचार हुए हो उनका अन्यथा कथन करना उसको 'पल्लुचन' कहते हैं. जैसे सचित्त पदा-

र्थका सेवन करके अचित्तका सवने किया ऐसा कहना. अचित्तका सेवन कर सचित्तका सेवन किया ऐसा कहना. वसतिकामें कोई कृत्य किया हो तो मैंने वह कार्य रास्तेमें किया ऐसा कहना सुभिक्षमें किया हुआ कृत्य दुर्भिक्षमें कियाथा ऐसा बोलना. दिनमें कोई कृत्य करनेपरभी मैंने रातमें अशुभ कार्य किया था ऐसा बोलना. अकपा-यभावसे किये हुए कृत्यको तीव्र परिणामसे किया था ऐसा बोलना इन दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये.

आचार्य के पास आलोचना करने पर आचार्य प्रायश्चित्त देने के पूर्व ही स्वयं यह प्रायश्चित्त मैंने लिया है ऐसा कहकर स्वयं प्रायश्चित्त लेता है उसको स्वयं शोधक कहते हैं. स्वयं मैंने ऐसी शुद्धि की है ऐसा कथन करना. इस रीतीसे दर्पादिके द्वारा अतिचार होते हैं वे सब कहने चाहिये. और अपने किये हुए अतिचारों के क्रमका उल्लंघन नहीं करना चाहिये.

इय पयविभागियाए व ओधियाए व सेछमुद्धरिय ॥

सव्वगुणसोधिकवी गुरुवएसं समायइ ॥ ६१४ ॥

स सामान्यविशेषाभ्यामभिधाय स्वदूषणम् ॥

विधत्ते गुरुणा दत्तां विशुद्धिं शुद्धमानसः ॥ ६३७ ॥

विजयोदया—इय एवं । पयविभागियाए व विशेषणलोचनया वा । ओधियाए व सामान्यालोचनया वा । सेछ मायाशाल्य । उद्धरिय उद्धृत्य । सव्वगुणसोधिकवी सर्वेषा गुणाना दर्शनज्ञानचारित्रतपसा शुद्धिमिलयन् । गुरु वपसं गुरुणोपादिष्टं प्रायश्चित्त । समादियदि सस्यगादत्ते । रोप दैन्यमश्रद्धान च त्यज्वा ॥

एवमालोच्य प्रपंचेनालोचनाविधिमभिधायोपसंहरति—

मूलारा —गुरुवदेसं गुरुपदिष्टं प्रायश्चित्तं । समादियदि सम्भक्तरोपदैर्न्याश्रद्धानां त्यागेनावत्ते गुण्हाति । समा चरदीति वा पाठ' । तत्र रोपादित्यागेनानुतिष्ठतीत्यर्थः ॥

अर्थ—विशेषालोचना करके अथवा सामान्यालोचना करके मायाशाल्यको हृदयसे निकालकर दर्शन, ज्ञान-चारित्र और तपश्चरणोंमें शुद्धिकी अभिलाषा रखता हुआ गुरुके द्वारा कहा हुआ प्रायश्चित्त रोप, दीनता और अश्र-द्धानको त्यागकर क्षपक ग्रहण करता है.

आलोचनाके दोषोंका यहाँतक वर्णन किया अब गुरुके आगे आलोचना करते समय स्वतः की निंदा करनी चाहिये.

परिहार्यलोचनादोषानुक्त्वा गुरुसकाशे आलोचनानिन्दना गुणवतीति वदति—

कदपावो वि मणुस्सो आलोयणणिंदओ गुरुसयासे ॥

होदि अचिरेण लहुओ उरुहियमारोव्व भारवहो ॥ ६१५ ॥

मनुष्यः कृतपापेऽपि कृतालोचननिन्दनः ॥

संपद्यते लघुः सद्यो विभारो भारवानिव ॥ ६३८ ॥

विजयोदया—कदपावो वि मणुस्सो कृतपापेऽपि मनुष्यः समर्जिताश्रमकर्मसंचयोऽपि मनुष्यः । अथवा पापस्याश्रमकर्मणः कारणभूताऽसंयमादिरिद्ध पापशब्देनोच्यते, तेनायमर्थः—कदपावोऽपि कृतासंयमादिकोऽपि आलोयणणिंदओ कृतालोचनः कृतनिंदितश्च । कः गुरुसयासे गुरुसमीपे । होदि भवति । अचिरेण लहुओ उरुहियमारोव्व अवतारितभार इव । भारवहो भारस्य बोद्धा ॥

एवं दोषानुक्त्वा गुणान्वक्तुमालोचनानिन्दामाहात्म्यमाह—

मूलारा—आलोयणिंदओ कृतालोचनः कृतनिन्दनश्च । लहुगो दोपशुद्धः । एतेन गुणा निरूपिता दोषविपर्ययरूपत्वात्तेषां । उरुहिंदमारोव्व अवतारितभार इव ।

निंदाकाँ माहत्म्य आचार्य कहते हैं—

अर्थ—अश्रुमकर्मका संचय जिसने किया है ऐसा भी मनुष्य यदि गुरु के समीप आलोचना और अपनी निंदा करेगा तो वहीत बोधा मस्तकपरसे उतर जानेपर भारवाही मनुष्य जैसा सुखी होता है वैसा शीघ्र सुखी होता है. अथवा पापके अश्रुमकर्मके कारणभूत असंयमादिक को भी पाप कहते हैं इसलिये यहाँ दूसरा अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—जिसने असंयमाचरण किया है वह भी मनुष्य गुरुके समीप जाकर दोषोंकी आलोचना और निंदा करेगा तो भारवाही मनुष्य भार उतरनेसे जैसा सुखी होता है वैसा सुखी होता है.



भावशुद्ध्यर्थो आलोचना असत्यां भावशुद्धौ को वा दोष इत्याह—

सुबहुसुदा वि संता जे मूढा सीलसंजमगुणेषु ॥

ण उवेंति भावसुद्धिं ते दुक्खणिहेलणा होति ॥ ६१६ ॥

भावशुद्धिं न कुर्वन्ति भवन्तोऽपि बहुश्रुताः ॥

चतुरंगे विमूढा ये दुःखपीडया भवन्ति ते ॥ ६१९ ॥

विजयोदया—सुबहुसुदा वि संता सुखु बहुश्रुता अपि सन्त । जे मूढा ये मूढा । सीलसंजमगुणेषु शीले क्षमादिके धर्म, सयमे, व्रतेषु गुणेषु ज्ञानदर्शनतपःसु च । भावसुद्धिं परिणामेन शुद्धि । ण उवेंति नोपयाति ते दुक्खणिहेलणा-दुःखैर्निर्णीड्या । होति भवति ॥

भावशुद्ध्यभावे दोषमाह—

मूलारा—सता संतः । मूढा मुग्धाः । सीलं वचयस्समादि गुणाः ज्ञानदर्शनतपसि । ण उवेंति नोपयाति । भावसुद्धिं भावशुद्धिं । दुक्खनिमेलणा दुःखैर्निर्णीड्या । दुक्खणिहेलणा इति पाठे दुःखगुहाः इत्यर्थः ।

परिणामोऽपि निर्मलता करनेके लिये आलोचना की जाती है यदि भावशुद्धिकी प्राप्ति न हो तो उससे क्या सुकसान होता है यह दिखाते हैं—

अर्थ—जो मुनि महाविद्वान होकर भी क्षमादिकधर्म, संयम, व्रत, ज्ञान, दर्शन और तपमें यदि भावशुद्धियुक्त नहीं होते हैं वे इस संसारमें नाना दुःखोंसे पीडित होते हैं.

कृत्यामालोचनाया गुरुणा किं कर्तव्यमित्यत आह—

आलोयणं सुणित्ता तिवसुत्तो भिक्खुणो उवायेण ॥

जदि उज्जुगोत्ति णिज्जइ जहाकदं पठ्वेदव्वं ॥ ६१७ ॥

त्रिःकृत्वालोचनां शुद्धां भिक्षोर्विज्ञाय तत्त्वतः ॥

स मध्यस्थो रहस्यज्ञो दत्ते शुद्धिं यथोचिताम् ॥ ६१८ ॥

विजयोदया—आलोयण आलोचना । सुणित्ता श्रुत्वा । तिवसुत्ता त्रि. पृथक् । भिक्खुणो भिक्षोः । उवायेण

उपायेन । जदि उज्जुगोत्ति य यदि कज्जुरयमिति । गज्जइ वचनेन आचरणेन वा ज्ञायते प्रायेण कज्जुता । यथा अज्जोभोव-  
शुद्धयभावाच्च व्यवहारिण प्रायश्चित्तं प्रयच्छति सुरय । भावशुद्धिमतरेण पापानपायात् रत्नत्रयस्य निरतिचारत्वा  
भावात् ॥

कृताश्रमालोचनाया गुरुणा किं कर्तव्यमित्यत आह—

मलारा—तिक्खुत्तं त्रीन्वारान् । उवाण्ण मन, प्रल्हाद्य । अथवा कीन्शोऽपरावस्ते विस्मृतो न श्रुतं  
मयेति वा । उज्जुगोत्ति कज्जुरयमिति । गज्जदि ज्ञायते वचनेन आचरणेन वा । जघाकठ यथाकृतं । पापं शुद्धयती-  
त्यध्याहारः । पठुवेद्वन् तथा प्रायश्चित्तं वातव्यम् ॥

आलोचना करनेके अनंतर गुरुको क्या करना योग्य है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—संपूर्ण आलोचना सुनकर गुरु क्षपकको तीन बार उपायसे पूछते हैं अर्थात् तुमने कोनसे अपराध  
क्रिये हैं ध्यानमें नहीं रहे हैं पुनः कहो ऐसा तीन बार पूछते हैं यदि यह क्षपक सरल परिणामका है ऐसा गुरुके  
अनुभवमें आज्ञाय अर्थात् क्षपकके आचरणसे और उसके वचनसे गुरु उसका निष्कपटपना अथवा कपटीपना जान  
लेते हैं यदि यह क्षपक कपटी है ऐसा दीख पड़ेगा तो वे उसको प्रायश्चित्त नहीं देते हैं, परिणामकी निर्मलता न  
होनेसे पापका नाश होता नहीं, और रत्नत्रयमें निरतिचारपना आता नहीं।

कज्जी इतरा वा आलोचना कीदृशी यस्यां सत्या प्रायश्चित्तं दीयते न च दीयते इत्यत्र आह—

आदुरसल्ले मोसे मालागराय कज्ज तिक्खुत्तो ॥

आलोयणाए वक्काए उज्जुगाए य आहरेणे ॥ ६१८ ॥

राजकार्यातुरासत्यसशल्यानमिव त्रिधा ॥

दोषाणां पृच्छना कार्या सूरिणागमवेदिना ॥ ६१९ ॥

विजयोदया—आदुरसल्ले आतुरो व्याधितः स वैद्येन वारत्रयं पृच्छयते । किं मुक्त ? किमाचरितं ? कीदृशी वा  
रोगस्य वृत्तिरिति । शल्यमपि शरीरलघ्नं त्रि, परीक्ष्यते । शुद्धता व्रणस्य जाता न वेति । राजकज्जं तिक्खुत्तो राज्ञा-  
आक्षतं कार्यं क्तिमेवं करिष्यामीति त्रि, पृच्छयते । आलोय राजकज्जं तिक्खुत्तो राज्ञा आक्षतं कार्यं क्तिमेवं करिष्यामीति त्रि,  
पृच्छयते । आलोयणाए वक्काए वक्तव्यम् । उज्जुगाए कज्ज्यादच्च । आहरेणे हृष्टान्तः । यदि वारत्रयमप्येकस्येण वक्ति ततो  
कज्जी अन्यथा अन्यदाचष्टे वक्तेति ग्राह्यं ॥

व्याधितः शल्यं मोपो मालाकारो राजकार्यं चैतानि पंच यथा त्रिःपृच्छयन्ते तथा आलोचनापि ऋज्वी वक्रा चेति ज्ञातुं त्रिःप्रष्टव्या । यदि चारत्रयमप्येकरूपेण वक्ति तदा ऋज्वी प्रायश्चित्तदानार्हा अन्यथा वक्रा प्रायश्चित्त दानायोग्येत्युपदेष्टुमाह —

मूलारा—आदुरेत्यादि । त्रिक्खुत्तो त्रीन्वारान् । प्रष्टव्याथमालोचनायामातुरादय पंच आहरणे दृष्टान्ता भवन्ति इति संबन्धः । तत्रातुरः त्रिः पृच्छयते वैद्येन किं मुक्तं कीदृशी च रोगप्रवृत्तिरिति । तथा शल्यं त्रिः पृच्छयते अत्र ते कंदकादिरिति । तथा मोपो द्रव्यापहारे किं ते चैरैर्नैतिमिति त्रिः प्रश्नः क्रियते । तथा मालाकारोऽपि त्रिः पृच्छयते । किमन्यून्या तव पुष्पमालेति । तथा राज्ञा आज्ञापितं कार्यं त्रिः पृच्छयते, किमेवं करिष्यामीति । एवमालोचनापि त्रिः परीक्ष्यते कीदृशोऽपराधस्ते पुनः कथयेति ।

सरल आलोचना अथवा वक्र आलोचना कैसी समझना ? जिसके ऊपर प्रायश्चित्त देना न देना अवलंबित है ? इस प्रश्नपर आचार्य उत्तर देते हैं

अर्थ—रोगीको वैद्य तीन बार पूछते हैं—तुमने क्या खाया है ? तुम कैसी प्रवृत्ति करते थे ? और तुझारे रोगका क्या हाल है ? शरीरमें यदि शत्रु अथवा कांटिका अग्रभाग घुसनेपर यहां ही कांटा घुस गया है ना ? अब व्रण अच्छा हुआ है ना ? ऐसा तीन बार पूछते हैं, किसीके यहां चोरी होगई हो तो तुझारा चोर क्या क्या माल छुटकर ले गये हैं ऐसे तीन बार पूछते हैं, मालाकारको भी तुझारी इस पुष्पमालाकी क्या कीमत है ? इस प्रकार तीन बार पूछते हैं, राजकार्यके लिए भी ऐसा ही तीन बार पूछते हैं अर्थात् यह कार्य मैं कहां क्या ? उसी प्रकार आलोचना वक्रतासे या सरलपनासे की गई है इसको जाननेके लिये तुझारे अपराध कैसे है पुनः कहो ऐसा तीन बार भी उसने एकरूपसे ही अपराधोंका कथन किया तो समझना चाहिये कि इसकी आलोचना सरल है यदि वह भिन्न प्रकारसे कहेगा तो इसकी आलोचनामें मायाचार है ऐसा समझना चाहिये

पडिसेवणातिचारे जदि णो जंपदि जधाकमं सब्बे ॥

ण करेति तदो सुद्धिं आगमववहारिणो तरस ॥ ६१९ ॥

दोषाश्च प्राञ्जलीभूय भाषते ययशेषतः ॥

न कुर्वन्ति तदा शुद्धिं प्रायश्चित्तविचक्षणः ॥ ६४२ ॥

विजयोदया—पंडितसेवणातिचारे प्रतिसेवनानिमित्तानतीचारान् । तत्र सेवा चतुर्विधा द्रव्यक्षेत्रकालभावविकलेन । द्रव्यसेवा वि प्रकारा सचित्तमचित्त मिश्रमिति द्रव्यस्य त्रिविधत्वात् । चित्त ज्ञानं तथा च प्रयोग -चित्तमाश्रजगत्तत्त्व ज्ञानमात्रमिति यावत् । ध्यानस्यात्मनः कथंचिदव्यतिरेकात्तात्पर्याद्वा चित्तशब्देनाभिधानं, सह चित्तनात्मनावर्तते इति सचित्त जीवशरीरत्वेनावस्थित पुद्गलद्रव्य । न विद्यते चित्त आत्मा यस्मिन्पुद्गले तदचित्त मिश्र । नाम सचित्तचित्तपुद्गलसङ्घति । पृथिव्यसेजोवायुवनस्पतय जीवपरितृहीता सचित्तशब्देनोच्यते । अचित्त जीविन परित्यक्तं शरीरं तयोरुपादान क्षेत्रादिप्रतिसेवना योज्या । जदि गो जपदि न कथयेद्यदि । जह्वाक्रमं यथाक्रम । सब्दे सर्वान् स्थूलान्क्षुक्ष्माश्चैवातिचारान् । ण करति न कुर्वन्ति । तद्यो ततः । तस्म सोधि तस्य शुद्धिं । आगमववहारिणो आगमादुत्तारेण व्यवहरतः ॥

एतथ दु उज्जुगभावा ववहरिद्ववा भवंति ते पुरिसा ॥

संका परिहरिद्ववा सो से पढाहि जहि विसुद्धा ॥ ६२० ॥

इति वचनात् सर्वमतिचार निवेदयत एव कञ्चुता, तस्यैव प्रायश्चित्तदान ।  
यथावद्दोषानालोचने प्रायश्चित्तप्रयोगाभावं भावयति —

मूलारा—पंडितसेवणादिचारे द्रव्यादिचतुष्टयविराधनानिमित्तानतिचारान् । ण उंते न कथयति ॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे उत्पन्न हुए दोषोंको प्रतिसंवना कहते हैं. इस सेवनाके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके विकल्पोंसे चार भेद हैं द्रव्यसेवाके तीन प्रकार हैं सचित्त द्रव्यसेवा, अचित्त द्रव्यसेवा, और मिश्रद्रव्यसेवा चित्त शब्दका अर्थ ज्ञान है. 'चित्तमात्रं जगत्तत्त्वं' अर्थात् ज्ञानमात्र जगत्का तत्त्व है यहां ज्ञान आत्मासे कथंचिद् अभिन्न है. अथवा आत्मामें रहनेसे आत्माको भी ज्ञान कहते हैं. इस आत्माके साथ जो पुद्गल पदार्थ रहता है उसको सचित्त कहते हैं. अर्थात् जीवका शरीर वनकर जो पुद्गल रहता है उसको सचित्त कहते हैं. जिस पुद्गलमें आत्मा रहता नहीं है उसको अचित्त कहते हैं सचित्त और अचित्त पुद्गलके एकरूप हुए समुदायको सचित्ताचित्त पुद्गल कहते हैं जबिके द्वारा स्वीकारे हुए पृथ्वी, हवा, पानी, अग्नि, वनस्पतिको सचित्त कहते हैं, जीवके छोड़े हुए शरीरको अचित्त कहते हैं. क्षेत्रादिनिमित्तसे जो जो अपराध होते

हैं वे यदि क्षयक क्रमसे न कहेगा तो अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल अपराधोंका कथन नहीं करेगा तो प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता आचार्य उसको प्रायश्चित्त नहीं देते हैं. इस विषयमें आगममें ऐसा कहा है—

जो ऋजुभावसे आलोचना करते हैं ऐसे पुरुष प्रायश्चित्त देने योग्य है. और जिनके विषयमें शंका उत्पन्न हुई हो उनको प्रायश्चित्त आचार्य नहीं देते हैं. इसेसे यह सिद्ध हुआ कि सर्व अतिचार निवेदन करनेवाले में ही ऋजुता रहती है. उसको ही प्रायश्चित्त देना योग्य है.

पडिसेवणादिचारे यदि आजंपदि जहाकमं सबवे ॥

कुब्बंति तहो सोधिं आगमववहारिणो तस्स ॥ ६२१ ॥

निःशेषं भावते दोषं यदि प्रांजलमानसः ॥

तदानीं कुर्वते शुद्धिं व्यवहारविशारदाः ॥ ६२३ ॥

स्पष्टा गाय ।

यभावदोषलोचने प्रायश्चित्तप्रयोगमनजानाति —

मूलारा—स्पष्टम्

अर्थ—यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रयसे हुए संपूर्ण दोष क्षयक अनुक्रमसे दूहना तो प्रायश्चित्तदानकुशल आचार्य उसको प्रायश्चित्त देते हैं.

यतिना निर्दोषायामालोनाया कृतया गणिना किं कर्तव्यमित्याशं किंनेतद्व्यापार कथयति—

समं खवणालोचिदंमि छेदसुदजाणग गणी से ॥

तो आगममीमसं करेदि सुते य अत्ये य ॥ ६२२ ॥

सम्यगालोचने तेन सूत्रं भीमांसते गजी ॥

अनालोचं न कुर्वन्ति महान्तः कांचन क्रियाम् ॥ ६४४ ॥

ज्ञात्या वक्रामवक्रां वा सूरिरालोचनां यतः ॥

चिदधाति प्रतीकारं द्युद्धिरस्ति कुतोऽन्यथा ॥ ६४५ ॥

विजयोद्या—एवमेण सम्म आलोचिदस्मि क्षणकेन सम्यगालोचिते । छेदसुदृजाण गगणी मो छेदमूत्रज सूरि स । तो पश्चात् । आगमभीमस आगमविचारं । करेदि करोति । कथं ? सुते य अर्थे य सुते च अर्थे च । इदं सूत्र अस्य चायमर्थ इति अपराधस्येवभूतस्य इदं प्रायश्चित्तमनेन सूत्रेण चेद निर्दिष्ट इति प्राक्कुरूपयति ॥ यतिना निर्दोषगालोचिते मूरिः किं करोतीत्यत्राह—

मूलरा—छेदसुदृजाणगगणी प्रायश्चित्तसूत्रज्ञ आचार्यः । आगमभीमसं । प्रायश्चित्तशास्त्रविचारणा । सुते य अर्थे य इदं सूत्रमस्य वायमर्थ इति विचारयतीत्यर्थः ।

यतिके द्वारा निर्दोष आलोचना क्रिये जानेपर आचार्य का क्या कर्तव्य है इस शंका का उत्तर कहते हैं -- अर्थ--क्षपवमुनि जब निर्दोष आलोचना करते हैं प्रायश्चित्तसूत्रके ज्ञाता आचार्य तब आगम से अपराधोंकी परीक्षा करते हैं, अर्थात् यह प्रायश्चित्तको वतानेवाला सूत्र है, इसका यह अर्थ है, इस अपराधको यह प्रायश्चित्त देना योग्य है, इस सूत्र के द्वारा यह प्रायश्चित्त वतलाया है, इत्यादिरूपसे आचार्य प्रथम प्रायश्चित्त का विचार करते हैं

परिणामश्च निरूपयितव्यस्तदीयः किमर्थमित्यत आह--

पडिसेवादो हाणी वड्ढी वा होइ पावकम्मस्स ॥

परिणामेण दु जीवस्स तत्थ तिब्बा व मंदा वा ॥ ६२३ ॥

जातस्य प्रतिसेवातो हानिर्वुद्धिश्च देहिनाम् ॥

पापस्य परिणामेन तत्रा मंदा च जायते ॥ ६४६ ॥

विजयोद्या--पडिसेवादो जातस्स पावकम्मस परिणामेण हाणी वड्ढी वा होदि । कीदृशी ? तिब्बा व मंदा वा इति पदघटना । प्रतिसेवनातो जातस्य पापकर्मणः परिणामेन पाश्चात्येन करुणं हानिर्वा बुद्धिर्वा भवति । तीव्रा हानि-स्तीव्रा बुद्धिः । मंदा वा हानिर्मंदा वा बुद्धिः ॥

यथादोषं प्रायश्चित्तं निरूपयता सूरिणा अतिचारसहभावी तदुत्तरकालभाव्यपि श्रपकस्य परिणामो निरूप-णीयो यतः--

मूला— पडिसेवादो असंयमादिसेवनाज्जातस्यापि पापस्य पाश्चात्येन शुभाशुभपरिणामेन तीव्रा मंदा वा वृद्धिपित्र हानिस्तत्रालोचनाकाळे स्यादिति संवध । सामान्येनापि दुष्कृतहानिनिवृद्धितीव्रमंदत्वस्यापनमेतेन प्रतिपत्तव्यम् ।  
तथा चोक्तम्—

जातस्य प्रतिसेवातो हानिर्वृद्धिश्च देहिनाम् ।

पापस्य परिणामेन तीव्रा मंदा च जायते ॥

आचार्य क्षपकके परिणामका मी विचार करते हैं उसका विचार करने की क्या आवश्यकता है इसका उत्तर कहते हैं—

अर्थ—असंयमादिकसे जो पापकर्म हुआ था उसकी आलोचना करनेके अनंतर यदि शुभ परिणाम तीव्र हुए होंगे तो पापकी तीव्र हानि होगी, यदि शुभपरिणाम मंद हुए हो तो पापकी मंद हानि होगी जैसे तीव्र असंयमसे वा मंद असंयमसे पूर्वकालमें तीव्र पापवृद्धि अथवा मंद पापवृद्धि हुई थी वैसे आलोचनाके अनंतर शुभपरिणामकी तीव्रता या मंदतासे तीव्र या मंद पापकी हानि होती है.

तदुभयं व्याख्याय माथाह्वयमुत्तरम्—

सावज्जसंकिलिद्धो गालेइ गुणे गुणं च आदियदि ॥

पुव्वकदं व दढं सो दुग्गदिमवबंधणं कुणदि ॥ ६२४ ॥

स्थिरत्वं नयते पूर्वं संसारासुखकारणम् ॥

एतेषां चिनुते पाप संक्किष्टः क्षिपेत्त गुणम् ॥ ६४७ ॥

विजयोदया—सावज्जसंकिलिद्धो सावयसंक्षेशो क्षिप्रकार । सह अवयेन पापेन वतंत इति सावय एफ । अन्यस्तु संक्षेशश्चित्तवाधा । ननु सावय । ज्ञान विमल किं मम न जायते, सपूर्णं चरित्र । शरीरं वा किमर्थमिदमतिदुर्बलं तपोयोगासद्धमिति एवमादिकस्तन्निरासाय सावद्यविशेषण सावद्यसंक्किल्ल । गालेदि गुणे गालयति गुणान् दशन-ज्ञानचारित्राणि । गव च आदियदि आदत्ते च अभिनवं । पुव्वकदं च दढं कुणदि पूर्वोर्जितं च दढीकरोति । कपायपरिणामनिमित्तत्वात् स्थितिवधस्य । दुग्गदिभयकारणं दुर्गतय, नारकत्वादय विचित्रवेदनासहसकुलास्तासु भय वर्धयति, यत्कर्मधुमं तदावत्ते स्थिरयति ॥

तदुभय व्याख्यातुं गाथाद्वयमाह—

मलारा--सावज्जसंकलिद्धो सपापसंकलेशाविष्ट । ज्ञानं मम विमलं किं नोत्पद्यते, चारित्रं वा संपूर्णं, शरीरं वा 'किमिदं' ममातिदुर्बलं तपोयोगाक्षममित्यादिचित्तवाधाभावात्संकलेशव्यवच्छेदार्थं सावद्यविशेषणम् । गुणो स्वम्यक्त्वादीन् । दृढं स्थिरं । दुर्गादिभयबंधनं दुर्गतिषु नारकत्वतिर्यक्कुमानुपत्यकुदेवत्वभवभ्रमणेषु भयं दुःखात्वा सो । बध्यते जीवेन संबद्धं क्रियते येन तत्पापकर्म । दृढं च —

स्थिरत्वं नयते पूर्वं संसारसुखकारणम् ।

तवं संविद्यते पापं संकिल्टः क्षिपते गुणम् ॥

परिणाम और पाप बंधका वर्णन—

अर्थ--सावद्य संकलेश दो प्रकारका है पापसे युक्त संकलेश, और केवल संकलेश. मेरेको निर्मलज्ञानकी प्राप्ति क्यों नहीं होती है ? संपूर्ण चारित्र क्यों नहीं प्राप्त होता है ? मेरा यह शरीर क्यों इतना दुर्बल है, क्यों उससे तप और योगका कष्ट नहीं सहा जाता है ? इस प्रकारके विचार को संकलेश नाम है इस संकलेशको भिन्न दिखानेके लिये सावद्य यह विशेषण संकलेशके पीछे दिया है. जिससे फक्त मनको पीडा होती है ऐसे पापयुक्त संकलेश परिणामोंसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन गुणोंका नाश होता है, नवीन पापबंध होता है और पूर्व पापकर्मों में बृद्धि होती है. क्यों कि कपायपरिणामोंसे स्थितिवंध होता है हजारों विचित्र वेदनायें जिसमें होती हैं ऐसी नारकादिक अवस्थाओंका सावद्य संकिल्ट परिणाम कारण है जो नवीन अशुभकर्म आता है वह इस पापयुक्त परिणामोंसे आत्मामें स्थिर हो जाता है.

पडिसेविता कोई पच्छत्तावेण उज्झमाणमणो ॥

संवेगजनिदकरणो देसं घाएज्ज सब्ब वा ॥ ६२५ ॥

कृत्वापि कल्मषं कश्चित्पश्चात्तापकृशानुना ॥

दृष्ट्यमानमना देशं सर्वं वा हन्ति निश्चितम् ॥ ६४८ ॥

विजयोदया - पडिसेविता कोई कश्चित्कृतासयमादिसेवनोऽपि । पच्छत्तावेण उज्झमाणमणो पश्चत्तापेन दृष्ट-



मानचित्त' । सवेगजनिदकरणो संसारभीषताजनितसंयमनक्रिय' । देशं सत्त्वं वा घादेज्ज आत्माभिनवसंचितकर्मपुद्गलस्कंधैकदेशनिर्जरां वा स्वीकरोति, समस्त वा तद् घातयेत् । यदि मध्यमो मद्दो वा परिणामो देश घातयति । अथ तीव्र, समस्त इति भाव' ॥

मूलारा—करणं संयमक्रिया । देश आत्माभिनवं संचितकर्मपुद्गलस्कंधैकदेशं घादेज्ज घातयेत् । यदि मध्यमो वा परिणामस्तदा देशं हन्त्यथ तीव्रस्तदा समस्तमिति भाव । उक्ताथसंग्रहश्लोको ॥

जातस्य प्रतिसेवातस्तीव्रा मंदा च रेफसः ।

शनिःसता त्वभावेन स्याद्दुद्धिश्चासता तथा ॥

संक्लिष्टो दृढयन्पूर्वं वध्नात्यंहः कपन् गुणान् ।

हंत्यंशतोऽखिलं वा तत् संविभोऽनुशयात्तपन् ॥

अर्थ—पूर्वकालमें किसी क्षपकने असंयमका सेवन किया था परंतु पश्चात् उसका अन्तःकरण पश्चात्तापसे दग्ध हुआ तब वह संसारसे मयभीत होकर संयमाचरणमें तरपर हुआ. इस संयमाचरणके प्रभावसे नवीन संचित किये हुये पापकर्मके स्कंधमेंसे एकदेशकी निर्जरा होती है अथवा यदि तीव्र संयमाचरण हो तो उससे संपूर्णका भी घात होता है. अभिप्राय यह है कि संयमाचरणके परिणाम मंद अथवा मध्यम प्रकारके हो तो कर्मके एकदेशकी निर्जरा होती है और यदि तीव्र हो तो सम्पूर्ण कर्मका घात होता है.

तो णच्चा सुत्तविट्ठ णालियधमगो व तस्स परिणामं ॥  
जावदिण्ण विसुज्झदि तावदियं देदि जिदकरणो ॥ ६२६ ॥  
नालिकाधमवज्जात्वा प्रमाणं कुरुते सुधीः ॥

विजयोदया—तो तस्मात् । णच्चा जात्वा । सुत्तविट्ठ प्रायश्चित्तसूत्रा सूरि । किं ? तस्स परिणामं कृता-परिणाम । कथ परिणामो जायते इति चेत् सद्वर्त्तन तीव्रकोधस्तीव्रमान इत्यादिक सुज्ञातेमेव । तत्कार्यो-पलभात्, तमेव वा परिपुच्छय, कीदृग्भवत परिणामोऽतिचारसमकाल वृत्त । इति । किमिव ? णालियधमगोच्च नालिकया यो धमेति सुवर्णकार. सोऽग्नेवलावल विदिवा धमन करोति, एव सूरिरपि अस्य कर्म तनुतर महदेति विदित्वा

जावदिगेण यावता प्रायश्चित्तेन । विसुब्बदि विशुद्धयति । तावदिग तावत्परिमाणं प्रायश्चित्तं अल्पं महद्वा । देदि ददति । जिदकरणो परिचितप्रायश्चित्तदानक्रियः ।

उक्तार्थं प्रकृते योजयन्नाह-

मूलारा-णच्चा ज्ञात्वा । सहवासेन तत्कार्योपलंभात्तद्वचनाद्वा निश्चित्य । सुत्तविदू छेदसूत्रज्ञः । णालिगधम्मगो व सुवर्णकार इव । जावदिगेण यावता । अल्पेन महता वा प्रायश्चित्तेन वद्विना च । विसुब्बदि विशुद्धयति निर्मलीभवति मुनिः काचनं च । जिदकरणो परिचितप्रायश्चित्तदानक्रियः ।

अर्थ—प्रायश्चित्त शस्त्रज्ञ आचार्य जिसने अपराध किये थे ऐसे क्षपकके परिणाम जानकर जितने प्रायश्चित्त चसे वह शुद्ध होगा उतना प्रायश्चित्त उसको देते हैं जैसे सुवर्णकार अभिर्ने सामर्थ्य असामर्थ्यको देखकर तदनु रूप कम या अधिक हवासे उसको प्रज्वलित करवा है वैसे प्रायश्चित्त देनेके कार्यका जिनको पूर्ण परिचय हुआ है ऐसे आचार्य इसका अपराध छोटा हैं या बड़ा है, इसके कोषादि परिणाम तीव्र थे या मंद थे इस विषयका विचार कर अनुरूप प्रायश्चित्त देते हैं दूसरेके परिणाम कैसे जाने जा सकते हैं इस प्रश्नका उत्तर—सहवामसे परिणाम जाने जा सकते हैं अथवा उसके कार्य देखनेपर उसके तीव्र या मंद क्रोधादिकका स्वरूप मालुम होता है, अथवा जब तुमने अतिचार किये थे तब तुम्हारे परिणाम कैसे थे ऐसा उसको पूछकर भी परिणामोंका निर्णय किया जा सकता है,

आउब्बेदसमत्ती तिग्गिच्छिदे मद्विसारदो वेज्जो ॥

रोगादंकाभिहदं जह गिरुजं आदुरं कुणइ ॥ ६२७ ॥

उल्लाधीकुरुते वैद्यो वैद्यशास्त्रविशारदः ॥

यथातुरं कृताभ्यासो रोगातंकादिपीडितम् ॥ ६५० ॥

विजयो—आउब्बेदसमत्ती निर्मातसमस्तार्थवेद । तिग्गिच्छिदे चिकित्साया । मद्विसारदो बुद्धया निपुणः । वेज्जो वैद्य । रोगातंकाभिहदं महता अल्पेन वा नगयित्वा पीडितं । आदुरं व्याधितं । जह यथा । गिरुजं कुणदि विशुद्ध करोति ।

तंत्रार्थकर्मोनिपुणो वैद्यो रोगिणमिवाचार्यः क्षपकं संसारव्याधेरुद्धरतीति गाथाद्वयेनाह—  
मूलारा—आउव्वेदसमत्ती निर्झातसमस्तवैद्यकशाख । तिगिछिदे चिकित्सिते । रोगांतकाभिहृदं अल्पेन  
महता वा व्याधिना पीडितं । गिरुजं नीरुजं निरामय ॥

अर्थ—जिसने समस्त आयुर्वेदशास्त्रका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो रोगपरीक्षण करनेमें निपुण है  
ऐसा वैद्य छोटे अथवा बड़े रोगोंसे पीडित मनुष्यको औपधि देकर जैसे नीरोग करता है उसी प्रकार—

एवं पवयणसारसुयपारगो सौ चरित्तसोधीए ।

पायच्छित्तविदण्हू कुणइ विसुद्धं तयं खवयं ॥ ६२८ ॥

गणाधिपः कृताभ्यासो व्यवहारविचक्षणः ॥

क्षपकं मलिनीभूतं निर्मलीकुरुते तथो ॥ ६५१ ॥

विजयोदया—एवं पवयणसारसुयपारगो प्रवचने यत्सारभूतं श्रुतं तस्य पारगतेः । पायच्छित्तविदण्हू प्राय-  
श्चित्तक्रमज्ञ । चरित्तसोधीए चारित्रशुद्धया । तयं खवयं तं क्षपकं । विसुद्धं कुणदि विशुद्धं करोति ।

मूलारा—पवर्णसारसुदपारगो प्रवचनस्य जिनागमस्य सारभूतं श्रुतं प्रायश्चित्तसूत्रं तत्समस्तं जानन् ॥  
अर्थ—आगममें जो सारभूत श्रुतज्ञान है उसमें प्रवीण, प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता आचार्य क्षपकको प्राय-  
श्चित्त देकर उसका चरित्र निर्मल बनाते हैं।

स्थविरं व्यावर्णितगुणे असत्यव्योऽपि भवति निर्योपक इति शंकायां कथयति—  
एदोरिसंमि थेरे असदि गणत्ये तहा उवज्झाए ॥

होदि पवत्ती थेरो गणधरवसहो य जेदुणाए ॥ ६२९ ॥

गणास्थिते ऽसतीदृक्षे स्थविरं ऽध्यापके तथा ॥

अस्ति प्रवर्तको वृद्धो बालाचार्योऽथ यत्नतः ॥ ६५२ ॥

विजयोदया—एदोरिसंमि व्यावर्णितगुणे । थेरे स्थविरं अधिधमत्ते । गणत्ये गणस्थे । तहा तथा । उवज्झाए

उपाध्याये वाऽस्सति । होदि भवति । निजजबसो निर्यापकः । पवत्ती प्रवर्तकः । थेरो स्थविरध्वरप्रव्रजितो मार्गज्ञो । गणधारवसहो य चालाचार्यो वा । जदणाए यत्तेन प्रवर्तमानः । एवमालोचनाया गुणदोषनिरूपणा समाप्ता ॥

यथोक्तगुणे गणाधिपेऽध्यापके वा निर्यापकेऽस्सति अन्योऽपि निर्यापकः स्यादित्यनुशास्ति -

मूलारा -- थेरे वृद्धाचार्ये । पवत्ती अल्पश्रुतः सन्सर्वसंघसर्थावाचरितज्ञः प्रवर्तकः । थेरो चिरप्रव्रजितो मार्गज्ञः साधु । गणहरवसहो एलाचार्यः निर्यापको भवतीति सर्वंधः । जदणाए व्रतादिषु यत्तेन प्रवर्तमानः ॥

आचार्यके आधारवत्त्वादि गुणोंका पूर्वमें वर्णन कर चुके हैं इन गुणोंके धारक आचार्य यदि प्राप्त न हो तो अन्य मुनि भी क्षपकके समाधिमरण साधनेके लिये निर्यापकपदका धारक हो सकता है क्या इस शंकाका उत्तर -

अर्थ -- पूर्वोक्तगुणोंके धारक सधपति आचार्य न हो तथा इन गुणोंके धारक उपाध्याय भी यदि न हो तो प्रवर्तक मुनि अथवा अनुभवी वृद्ध मुनि वा चालाचार्य यत्नेसे व्रतोंमें प्रवृत्ति करते हुए क्षपकका समाधिमरण साधनेके लिये निर्यापकाचार्य हो सकते हैं जो ज्ञानसे अल्प है परंतु सर्व संघकी मर्यादा योग्य रहेगी ऐसे आच-  
चरणका ज्ञान जिसको है उसको प्रवर्तक कहते हैं और जिसको दीक्षा लेकर बहुत दिन हुए है ऐसे अनुभवी वृद्ध मुनिको साधु कहते हैं.

सो कदसामाचारी सोब्झं कट्ठं विधिणा गुरुसयासे ॥  
विहरदि सुविसुद्धप्पा अम्भुज्जदचरणगुणकली ॥ ६३० ॥

स चारित्रगुणांकाक्षी कृत्वा शुद्धिं विधानतः ॥  
गुरोरंते समाचारी विशुद्धये चेष्टते तराम् ॥ ६२३ ॥

विजयोदया -- सो कदसामाचारी स क्षपकः कृतसमाचारः । सोब्झं शुद्धिं । कट्ठं कृत्वा । विधिणा विधिना । गुरुसयासे गुरुसमीपे । विहरदि प्रवर्तते । सुविशुद्धपा सुष्ठु विशुद्धात्मा । अम्भुज्जदचरणगुणकली अम्युद्यतचारित्र-  
गुणकांक्षासमन्वितः ॥

कृतगुरुदत्तप्रायश्चित्तस्य क्षपकस्य देहत्यागोचितकालाप्राप्तावतरारणं गाथात्रयेनोपदिशति --  
मूलारा -- कदसामाचारी कृतसमाचारः । सोब्झं कट्ठं शुद्धिं कृत्वा ।

अर्थ—जिसका आचार निर्दोष है ऐसा वह क्षपक प्रायश्चित्त लेकर शास्त्रकथित विधीके अनुसार गुरु-समीप रहकर आपनेको निर्मल चारित्र्ययुक्त बनाता हुआ रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करता है तथा समाधिभरणके लिए जिस-विशिष्ट आचरणका स्वीकार किया है उसमें उन्नतिकी इच्छा करता है,

एवं वासारत्ते फासेदूण विविध तवोकम्मं ॥

संथारं पडिवज्जदि हेमंते सुहविहारंस्मि ॥ ६३१ ॥

वर्पासु विविधं स्पृष्ट्वा तपःकर्म विधानतः ॥

सुखवृत्तौ स हेमन्ते संस्तरं प्रतिपद्यते ॥ ६५४ ॥

विजयोदया—एवं वासारत्ते वर्षाकाले । फासेदूण स्पृष्ट्वा । विविधं नानाप्रकारं । तवोकम्मं तप कर्म । संथारं संस्तरं । पडिवज्जदि प्रतिपद्यते । हेमन्ते शीतकाले सुहविहारंस्मि सुखविहारे अनशते समुद्यतस्य महान्परिश्रमे । न भवति तत्र काले इति सुखविहारमित्युच्यते ।

मूलारा—वासारत्ते वर्षाकाले । फासेदूण अनुष्ठाय । सुहविहारंस्मि सुखो महान्परिश्रमाद्भुर्भावादक्लिष्टो विहारोऽनशनानुष्ठानं यत्र ।

अर्थ—इस प्रकारसे वर्षाकालमें नाना प्रकारके तप कर कर वह क्षपक जिसमें अनशनदि करने पर भी म-हान् कष्टका अनुभव नहीं आता है ऐसे हेमतकालमें संस्तरका आश्रय करता है

सन्वपरियाइयस्सय पडिक्कमित्तु गुरुणो णिओणेण ॥

सब्बं समासहिता गुणसंभार पविहरिज्जा ॥ ६३२ ॥

निस्पर्शवन्निश्चतुरंगदोषं गुरुपदेशेन विशुद्धचेता ॥

प्रवर्तते शुद्धगुणाधिरूढः संसारकांतारविलघनाय ॥ ६५५ ॥

इति गुणदोषौ ।

विजयोदया—सन्वपरियाइयस्सय सर्वस्य ज्ञानदर्शनचरित्रपर्ययस्य अतिचारान् । पडिक्कमित्तु प्रतिनिवृत्तौ

भूत्वा । गुरुणिओगेण गुरुपदेशेन । गुणसंभार गुणानां समूह । सव्य कृत्स्न । समावृष्टिता सम्यगरुह्य । पविहरिज्ज प्रवर्तेत । आलोचनागुणदोषाः ॥

मूलारा—सव्यपरियाङ्गस्स सर्जस्य ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायस्यातिचारान् । पङ्क्तिभिस्तु प्रतिनिवृत्तो भूत्वा । निओगेण उपदेशेन ॥ आलोचनागुणदोषाः । सूत्रत २४ । अंकत' ॥ ६७ ॥

अत्रेदमुक्तार्थानुमोदनाय वृत्तमाध्येयम् ।

सर्वावधानिनिवृत्तिरूपमुपगुर्वादाय सामायिकं ॥

यच्छेदैर्विधिवद्भूतादिभिरुपस्थाप्याप्यदत्वेत्यपि ॥

वृत्तां बाह्य उतातरे कथमपि च्छेदेऽप्युपस्थापय—

त्येवेति ह्यननुर्धुरीणमिह नौभ्यैर्दयुग्मीनेषु तम् ॥

इति गुरुहृतशल्याऽजस्रोविष्णुरत्नत्रयलसदनुभावव्यक्तसौभाग्यसप्तम् ॥

विवरयिषुशिवश्रीसंगमाशाघरांगव्रजमिममुपधत्ता प्रायपुण्याध्वराय ॥

इत्याशाघरादुत्सृज्यसदम्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयाथप्रकाशीकरणप्रवणे

क्षपकरत्नत्रयाविक्षुद्धिविधानीयो नाम चतुर्थ आश्वलायनः ॥ ४ ॥

### पंचम आश्वलायनः ।

योग्याया वसतौ गणाधिपगिरा योग्यं श्रित संस्तरम् ॥

शुश्रूषाहृतसंयतैः परियुतो भोज्ये विचित्रेऽपि तैः ॥

संपाद्ये विगतस्पृहोऽल्पितपरित्यक्ताबुवज्याशनः ॥

क्षार्तिं संघमसौ विधाप्य यतते संहर्तुमंहोजनिशम् ॥

अर्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके संपूर्ण अतिचारोंसे निवृत्त होकर अर्थात् ज्ञानादिकोंका निर्दोष पालन कर गुरुके उपदेश से सर्व गुणोंके समुदायको हृदयमें धारण कर रत्नत्रयमें क्षपक प्रवृत्ति करता है.

कीदृशी वसतियोग्या का वा नेत्येतद्व्याचष्टे उत्तरेण अथेन तथा योग्या निरूपयति—  
गंधव्वणट्टजट्टरसचक्कजंतगिगकम्मफरुसे य ॥

गन्धियरजया पाडहिडौबणडरायसग्गे य ॥ ६३३ ॥

गाथका वादका नर्तकाश्चाक्रिकाः शालिका मालिकाः कोलिका बांशिकाः ॥

काष्ठिका लौहिका मात्सिकाः पात्रिकाः कांडिका दांडिकाश्चार्मिकादिछपकाः ॥ ६५६  
विजयोदया—गंधव्वणट्टजट्टरसचक्कजंतगिगकम्मफरुसे य गायकाना, नर्तकाना, गजानामश्वाना च शा-  
लाया । तिलमई नकुंभकारशालाया च, रजकपाटहिडौवनट्टहणा समीपे । राजमार्गस्य वा समीपभूताया वसतौ ॥

अथैवं स्वभ्यस्तसमाधिसाधनस्याप्याराधकस्यायोग्यवसतौ निवसत समाधिब्याधानो भवतीति योग्यवसति  
तन्निवासाय निरूपयिष्यन् गाथासप्तकेन द्वितयीभिर्पि वसतिं सूत्रयति—तत्रादौ तावद्वाथाद्वयमयोग्यशय्या लक्षयितुमाह—

मूलरा—गंधव्व गंधर्व गीत । णट्ट नृत्यं । जट्ट हस्ती । असल अश्वः । चक्क चक्रं कुंभकारोपकरणं । जंत  
यंत्रं तिलेक्षुपीलनोपाय । फरुसे शास्त्रिकमणिकारादिकः । गन्तिक । कोलिक । रंजय रजक । पाडहिय पाटहिक-  
तौरिकः । डोमः श्वपच । णड नटः वंशाचारोहणनर्तकः । रायमग्गे महावर्त्म, राजमार्गो वा ॥

कोनसी वसतिका योग्य है और कोनसी नहीं है इसका विवेचन ग्रंथकार करते हैं प्रथमतः अयोग्य  
वसतीका वर्णन करते हैं—

अर्थ—गंधर्वशाला—गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, तेलीका घर, कुम्हारका घर, घोचीका घर,  
वाजे वजानेवालेका घर, होंवका घर, वांसके ऊपर चढकर नृत्य करनेवालेका घर इनके समीप जो वसतिका होगी वह  
सुनिके लिये योग्य नहीं है, जो वसतिका राजमार्गके समीप है वह भी सुनिवासके लिये योग्य नहीं है

चारणकोट्टगकल्लालकरक्के पुण्फदयसमीपे य ॥

एवविधवसधीए होज्ज समाधीए वाघादो ॥ ६३४ ॥

चारणा वारणा वाजिनो मेवका, मधया. पंडका. सार्यिका. सेवकाः ॥

ग्राविकाः कोट्टपाला. कुलाला भटा. पण्यनारीजना द्यूतकारा विटाः ॥ ६५७ ॥

सन्ति यस्याः समीपे निष्कृष्टक्रिया । सा न शक्या निषेव्या कदाचिद्बुधैः ॥

पालयद्भिःसमाधानरत्नं रावा रूढसंसारकांतारविच्छेदकम् ॥ ६५८ ॥

विजयोदया—चारणकोट्यकलालकण्ठे चारणकोट्टकशालाया, रजकशालाया, गसवणिकशालाया । पुण-  
वाटन्य वा जलाशयस्य वा समीपभूताया । पवविधवसवीण ईदृश्या वसतो नसत । होज्ज वात्रादो भवति व्याव्रात ।  
कस्य ? समाधिप समो वेष्टिषैः साऽन्यस्य । शद्वियविपयणा मनोपाना शान्दानां रूपादीना च सन्निधानान्छन्दबहुलान्छ-  
व्यानविश्रो भवतीति प्रतिपिच्यते व्यावर्णिता वसति ।

मूलारा—चारण मंडनमाचार्यगाथकादयः । कोट्ट्य कुट्टकाः । यद्भक्तिशिलाकुट्टौद्वयल्लिकदय । कलाल कल्प  
पालः । करकचे करकचं करपत्रं । पुष्क पुष्पवाटिका मालाकाश्च । दय उदकं वापीरूपाविजलाशयश्च । समाधिप वाचा-  
दो चित्तैकाग्रताया विनाशो भवति मनोभेदोन्मिथ्यार्थानां संनिधानान्छन्दबहुल्याच्च ॥ अत्र मंधवार्थिपदेः साहचर्यादिना  
गायकादयो गृह्यन्ते । तेन गायकादिशालासमीपवर्तिन्या वसती समाधिकामैर्न स्वातव्यमिति तात्पर्यार्थः ।

उक्तं च—गाथका वादका नर्तकाश्चाक्रिकाः शाळिका मलिकाः कोलिका वाशिकाः ॥ काष्ठिका लोहिका मांसिकाः  
पात्रिकाः । काडिका वाडिकाश्चार्मिकाश्चिच्छपकाः ॥ चारणा वारणा वाजिनो सेपका । मयपाः पंडकाः सार्थिकाः सेनकाः ॥  
प्राधिकाः कोट्टपाळाः कुलाला भटाः । पण्यनारीजना धृतकारा विटाः ॥ संति यस्याः समीपे निष्कृष्टक्रियाः सा न शक्या  
निषेव्या कदाचिद्बुधैः ॥ पालयद्भिः समाधानरत्नं सदा रूढसंसारकारावरधिच्छेदकं ॥

अर्थ—सांड, व स्तुतिपाठक, जहां रहते हैं ऐसे स्थानके समीप जो वसतिका होगी वह भी सुनिनिवासके  
लिये अयोग्य है, जहां शिलावट लोक रहते हैं, जहां वडई, पाथरवट लोक रहते हैं, और जहां मद्य बेचनेवाले  
लोक रहते हैं ऐसे स्थानके समीप वसतिका में सुनिना रहना योग्य नहीं है, जहां घोड़ी लोक कपड़े धोते हैं उस  
स्थानके समीप वसतिका करना योग्य नहीं है, जहां काठ करोतले विदारते हैं उस स्थानके समीप वसतिका होना  
योग्य नहीं है, वगीचा और जलाशयके समीप वसतिका रहना योग्य नहीं है, ऐसी वसतिकाओंमें रहनेसे चित्तकी  
एकाग्रताका नाश होता है, इंद्रियों के मनोहर विषय, और शब्दादिक विषय, समीप होनेसे ध्यानमें विघ्न होता  
है इसलिये ऐसी वसतिकायें सुनिओं के लिये वर्ज्य मानी हैं।



क तर्हि कथं तिष्ठत्यस्योत्तरमाचष्टे—

पचैदियप्पयारो मणसंखोभकरणो जहि णत्थि ॥

चिठ्ठदि तर्हि तिगुत्तो उच्चाणेण सुहप्पवत्तेण ॥ ६३५ ॥

पंचाक्षप्रसरं यस्यां विद्यते न कदाचन ॥

त्रिगुप्तो वसतौ तस्यां शुभध्यानोऽवातिष्ठते ॥ ६३६ ॥

विजयोदया— पचैदियप्पयारो पचानामिदियाणां स्वविपयाभिमुख्येनादरात् प्रकृष्टं गमनं । जर्हि यस्यां वसतौ नास्ति । कीदृमिदियप्रचारो मणसंखोभकरणो मनःसंक्षोभकारी । तर्हि तस्या वसतौ । चिठ्ठदि तिष्ठति । तिगुत्तो कृतमनोवाक्कायसंरक्षकः । उच्चाणेण । ध्यानेन सुहप्पवत्तेण सुखप्रवृत्तेन ।

क तर्हि कथंभूतः सन् क्षपकस्तिष्ठतीत्यत्राह—

मूलारा—पयारो प्रचारः स्वस्वविपयाभिमुख्येनादरात्प्रकृष्टं गमनं ग्रहणाय प्रवृत्तिः । चिठ्ठदि तिष्ठति । सुहप्पव-

त्तेण सुखेनानायासेन प्रवर्तमानेन ॥

क्षपकं मुनि कहां और कसे रहते हैं इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

अर्थ—जहां रहनेसे मुनिओं की इन्द्रियां अपने अपने विषयों के तरफ न दौड़ेगी, जहां रहनेसे मनकी एकाग्रता नष्ट न होगी ऐसे स्थानमें अर्थात् ऐसी वसतिकामें त्रिगुप्तिधारक मुनि निवास करते हैं, जिसमें रहनेसे ध्यानमें निर्विघ्नता होगी वह वसतिका मुनिनिवासके लिये योग्य है।

मनः संक्षोभहेतु

पचानामिदियाणां प्रचारो यस्या वसतौ नास्ति तस्या सर्वस्या तिष्ठति न वेत्याचष्टे—

उगमउप्पादणएसणादिसुद्धाए अकिरियाए हु ॥

वसइ असंस्तंए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥ ६३६ ॥

उद्गमादिमलापोढा सप्रकाशा गतक्रिया ॥

संस्कारकरणायोग्या संस्मृच्छेनविवर्जिता ॥ ६३७ ॥

विजयोदया—उगमउप्पादणएसणादिसुद्धाए उद्गमोत्पादनैपणादोपरहिताया । अकिरियाए हु आत्मना उप-

लेपनमार्जनक्रियारहिताया । वसदि वसति । असंसत्ताण तत्रस्थेगंगंतुकैश्च सत्वेर्वर्जिताया । णिपटुडिगाए सरुत्तरहिताया । सडेजाए वसतो ॥

न च यस्या मनःक्षोभकर पंचेन्द्रियप्रचारो नास्ति तस्या सर्वस्यामेव स्थेय किं तर्हि तथामृतायाम्मुद्रमादिदोषपरहितत्वादिविशिष्टायामेवेत्यनुशास्ति—

मूलारा — अकिरियाए आत्मानमुदिश्य सम्मार्जनलेपनादिक्रियारहिताया । असंसत्ताए तत्रस्थेरागंतुकैश्च सत्वेर्वर्जिताया वा । णिपटुडिगाए सर्पद्युपद्रवरहिताया । निःसस्कारायामित्यन्ये ।

जिसमें मन क्षुब्ध होता नहीं है, जिसमें रहनेसे पंचेन्द्रिय अपने विषयके प्रति दौड़ लगते नहीं हैं ऐसा सर्व ही स्थान मुनिओंके लिये योग्य है क्या ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ — जो वसतिका उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित है जो वसतिका मुनि के उद्देश्यसे लिपी पोती गई नहीं है ऐसी वसतिकामें क्षपक रहते हैं, जिसमें जंतुओंका वास नहीं है अथवा बाहरसे आकर जहां प्राणि वास नहीं करते हैं, जो संस्काररहित है ऐसी वसतिकामें मुनि रहते हैं.

निर्दोष का वसतीराश्रयितव्या इत्यत्र वसतिं व्यावर्णयति—

दो तिणि वि सालाओ घेतन्वावो विसालाओ ॥

सुहणिकखवणपवेसणघणाओ अवियडअणंघयाराओ ॥ ६३७ ॥

मिथ्याहृष्टिजनगम्या गृहिशय्याविवर्जिताः ॥

द्वित्रा वसतयो ग्राह्याः सेव्या विध्वस्ततामसाः ॥ ६६१ ॥

विजयोदया — सुहणिकखवणपवेसणघणाओ अकुरुशप्रवेशनिर्गमना अपि । अवियडअणंघयाराओ अविवृतद्वारा अनंघकाराश्च जयन्त्यतो द्वे शाले ग्राह्ये । परुत्त क्षपको वसति, अन्यस्या अन्ये यतयो वाह्यजनान्श्च धर्मश्रवणार्थमायता । विवृतद्वारतया शीतवातादिप्रवेशात्त्वगस्थिमात्रतनोर्दुस्सहं दुःख स्यात् । शरीरमलङ्कारोऽपि कथमप्रच्छन्ने क्रियेत । अघकारवहुले असयम. स्यात् । असुप्तान्निष्क्रमणप्रवेशाया आत्मविराघना असंयमविराघता च ॥

पुनर्वसतिं तदियत्ता च व्यावर्णयति—

मूलारा — सुहणिकखवणपवेसणघणाओ सुप्तनिर्गमाः मुखप्रवेशा निविद्याश्च । दुःखनिर्गमप्रवेशायामात्मनो बाल-

वृद्धजनानां च विराधना स्यात् । अनिविडायामक्षपकस्य त्वगस्थिमात्रततोः शीतातपादिदुःखं दुःसह स्यात् । अविष्यड् । अविकटा संवृतद्वारा विवृतद्वारायामन्तरोक्तश्च दोषो विष्णुभूतोत्सर्गदुष्करत्वं च । अणंधयाराओ अंधकाररहिताः । अधकारवहुलायां असंयमः स्यात् । दो तिष्ठिनि वि द्वे तिस्रो वा । तत्र यदि द्वे संपद्येते तदैकस्या क्षपकस्तिष्ठेत् अन्यस्यामन्ये यतयो धर्मश्रवणार्थमागतौ मन्यलोकश्च । यदि तिस्रस्तदा क्षपकः, संघो धर्मदेशना च पृथक् पृथक् प्रवर्तते ॥ घेतव्याओ ग्राह्याः ॥

कोनसी निर्दोष वसतिकाओंका आश्रय लेना चाहिये इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—  
अर्थ—जिनमें सुखसे प्रवेश कर सकते हैं और बाहर आसकते हैं, जिनका द्वार ढका हुआ है, जिनमें विपुल प्रकाश है, ऐसी बड़ी दो वसतिकार्यें क्षपकके वास्ते जघन्यतया होनी चाहिये। एक वसतिकार्यें क्षपक रहता है और दूसरीमें अन्य सुनि और धर्मश्रवणार्थ आये हुये लोक रहते हैं, यदि तीन वसतिकार्यें होंगी तो एकमें क्षपक दुसरीमें संघके सुनि और तीसरीमें धर्मोपदेश ऐसी पृथक् पद्धति समझना चाहिये वसतिकाका द्वार ढका नहीं होगा तो शीत वातादिकोंका प्रवेश होनेसे केवल चर्म और अस्थि ही जिसके अवशेष रहे हैं ऐसे क्षपकको दुसह दुःख होगा, अतः वसतिकाका द्वार ढका हुवा ही होना योग्य है द्वार ढका नहीं होगा तो ऐसी वसतिकार्यें प्राप्ति होगी जिस वसतिकासे बाहर जानमें और अंदर आनेमें यदि कठिनता होगी तो आत्मविराधना और संयमविराधना ये दोष उत्पन्न होंगे,

अन्यच्चाचष्टे—

घणकुड्डे सकवाडे गामवाहिं वालवुद्धुगणजोगे ॥

उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे ॥ ६३८ ॥

निविडा संवृतद्वारा सुप्रवेशविनिष्क्रमाः ॥

सकवाटा लसत्कुड्या वालवृद्धजनोचिताः ॥ ६३९ ॥

विजयोदया—घणकुड्डे दृढकुल्ले । सकवाडे कपाटसहिते । गामगर्हि ग्रामवास्त्रे देशे । वालवृद्धगणजोगे बालानां सनध ॥  
विजयोदया—घणकुड्डे दृढकुल्ले । सकवाडे कपाटसहिते । गामगर्हि ग्रामवास्त्रे देशे । वालवृद्धगणजोगे बालानां सनध ॥

मूलारा—वणकुट्टे दृढनिविद्विभक्तिके । गामवाहिं ग्रामाद्वहिदेशे । बालबुद्बुगणजोगे बालाना वृद्धाना गणस्य चतुर्विधस्य च उच्यते । गिरिकंदरे पर्वतदर्या । गुहाए देवरातविले ॥

और भी योग्य वसतिकका वर्णन—

अर्थ—जिसके किवाड और भित्ति मजबूत हैं ऐसी वसतिकार्ये गावके बाहर होनी चाहिये, जहां बाल, वृद्ध और चार प्रकारका गण आ जा सकते हैं ऐसे फासले पर वसतिकार्ये होनी चाहिये, उद्यानगृह, गुहा, और शून्य घर ये भी वसतिकार्ये योग्य माने गये हैं ऐसे स्थानमें क्षपकका संस्तर करना योग्य है

आगतुघरादीसु वि कडणुहि य चिलिमिलीहिं कायव्यो ॥

खवयस्सोच्छागरो धम्मसवणमंडवादी य ॥ ६१९ ॥

उद्यानमंदिरे हवे गुहायां शून्यवेदमनि ॥

आगतुकनिवासे वा स्थितिः कृत्या समाधये ॥ ६२३ ॥

क्षपकाध्युषिते धिषण्ये धर्मश्रवणमंडपः ॥

जनानंदकर' श्रेयः कर्तव्य. कटकादिभिः' ॥ ६६४ ॥

इति' श्रव्या' ।

विजयोदया—आगतुघरादीसु वि आगतुकै स्फधावारायातै. सार्यकै रुतेषु गृहादिषु संथारो होवित्ति वक्ष्यमाणेन संबध । उक्ताना वसतीनामलाभे कडणुहि कटे । खगस्य क्षमकस्य अगस्थितये प्रच्छादन कार्ये । धम्मसवणमंडवादी य धर्मश्रवणमंडपादिक च अनेन बहुतरासयमनिमित्तवसतित्याग, मयमसाधनवसतिविरूपपद्वच कथित । सेज्जा ॥

मूलारा—आगतुघरादीसु आगंजुभि रंघावारायातै. सार्यकैः रुतेषु गृहेषु । आदिशब्देन अन्येष्वपि एवं विधेषु श्रमजयोग्येषु घनकुड्यादिगुगोपेत्यानगृहादिषु पंचसूक्तेषु क्षपकस्य संस्तर कर्तव्य इति संबध । उक्ताना वसतीना अलाभे यत्कर्तव्यं तदाह कडणुहि इत्यादि कर्तव्यशदमयप्रच्छादनैः । चिलिमिलीहिं पटलिकाभिः । उच्छागरो अवस्थितये गृहं । अन्ये उच्छागरो इति पठित्वा प्रच्छन्नप्रवेशभित्ताहः । न केवलमेव एव कर्तव्यो, यावता धर्मश्रवणमंडपादि च कर्तव्यं कटादिभिरिति संबध । एतेन बहुतरासंयमनिमित्तवसतित्याग मयमसाधनवसतिविरूपपद्वच कथित । वसति सूत्रत २५ ॥ अंकत ७ ॥

अर्थ—एक गांवसे दूसरे गांवको व्यापार करने के लिये जानेवाले व्यापारी लोगोंके लिये निर्माण किये गए वगैरे स्थानोंमें भी क्षपकके लिये संस्तर की योजना करते हैं और भी जो मुनि के लिये योग्य स्थान हैं उनमें संस्तरकी रचना कर सकते हैं उपर्युक्त वसतिकाओं की प्राप्ति नहीं होगी तो वांस्के दलसे तट्ट और आच्छादन बनवाकर वसतिका निर्माण करना चाहिये- वसतिकाके सिवाय धर्मोपदेशके लिये सभामंडपादिक भी बनवाने चाहिये इतने विवेचन का अभिप्राय यह है कि जिसमें असंभय अधिक उत्पन्न होगा ऐसी वसतिकाओंका त्याग करना चाहिये- संभयसाधक वसतिकाओंके विकल्पका वर्णन भी इससे सिद्ध होता है- इस प्रकार वसतिका का वर्णन हुआ-

पवंभूतायां वसतौ संस्तर इत्यभ्युत इत्याचष्टे-

पुढवीसिलामओ वा फलयमओ तणमओ य संथारो ॥

होदि समाधिणिमिचं उत्तरसिर अहव पुव्वसितो ॥ ६४० ॥

उत्तराशाशिराः क्षोणीशिलाकाष्ठतृणात्मकः ॥

संस्तरौ विधिना कार्यः पूर्वाशामस्तकोऽथवा ॥ ६४५ ॥

विजयोदया—पुढवीसथारो भवति । सिलामओ वा शिलामयो वा । फलकमओ फलकमयोवा वा । तणमओ वा तृणमयो वा । समाधिणिमित्तं समाध्यर्थं । उत्तरसिरस्य पुव्वसिरं पूर्वोत्तमांगं उत्तरोत्तमांगो वा संस्तर' कार्ये । प्राची दिग्भ्युदयिकेषु प्रशस्ता । अथोत्तरदिक् स्वयंप्राद्युत्तरदिग्गततीर्थेकरभक्त्युद्देशेन ।

अथ प्रागुक्तक्षणाया योग्यवसतौ आराधकस्य समाध्यंगतया संस्तरं गाथासमेन निरूपयिष्यन्पूर्वं तद्भेदा-  
श्चतुरो वक्तुमिदमाह—

मूळारा—उत्तरसिरे इत्यादि उत्तरा हि दिक् स्वयंप्राद्युत्तरदिग्गततीर्थेकरभक्त्युद्देशेन शुभकार्ये चागमे प्रशस्ता । लोके पुनः आभ्युदयिकेषु कार्येषु पूर्वा दिक् प्रशस्यते सूर्याश्रयत्वात् । अत उत्तरशिराः पूर्वशिरा वा क्षपकस्य समाध्यर्थं प्रथिव्यादिमयं संस्तरं कर्तव्यं इति तात्पर्यम् ॥

इस प्रकारकी वसतिकामें संस्तर फेसा होना चाहिये इसका वर्णन—

अर्थ—संस्तरके प्रथिवी संस्तर, शिलामयसंस्तर, फलकभयसंस्तर और तृणमय संस्तर ऐसे चार भेद

हैं समाधिके निमित्त इन संस्तरों की आवश्यकता रहती हैं, इन संस्तरोंके मत्त्वका भाग पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशाके तरफ होना चाहिये, पूर्व दिशा अम्युदयिक कागमें प्रशस्त मानी जाती है और उत्तर दिशा विदेह क्षेत्रमें स्वयंप्रभादितीर्थर उत्पन्न हुए हैं उनकी भक्तिके उद्देश्यसे प्रशस्त मानी गयी है

भूमिसंस्तरनिरूपणाय गथा -

अघसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य ॥

असिणिद्धे घणगुत्ते उज्जोवे भूमिसंथारो ॥ ६४१ ॥

निसिगधत्वसुखस्पर्शः प्रासुको निर्बिलो घनः ॥

संस्तरः क्रियते क्षोणीप्रमाणरचितः समः ॥ ६४६ ॥

विजयोदया - अघसे अमृद्धी । समे अन्निन्नता । असुसिरे असुपिटा अधिला । अहिसुया उदेहिकारहिता अप्पपाणे निर्जेन्नुका । असिणिद्धे अनाद्धी । घणगुत्ते घना गुप्ता । उज्जोवे उद्योतवती भूमिः । भूमिसंथारो भूमिसंस्तरः । मृद्धी भूमिर्वाध्यते करचरणमर्दनेन । असमानेन तदात्मनो वाधा । सुपिरे विले वा प्रविष्टा निर्गतास्तवत्या पीड्यन्ते । आद्धो चेद्वक्त्रा-  
यिकाना पीडा । अनुद्योते अपश्यत कथमसयमपरिहार । अन्ये तु सप्तम्यतता व्याचक्षते । अमृद्धया अनिमोन्नतायामसु-  
पिराया इति तवयुक्त । आधेयस्य संस्तरस्य अन्यस्याभावात् । अपि च पुढवी सिलामधो वा इति वचनेन पृथिवीरूपतया  
संस्तरस्योक्तः ।

भूमि संस्तरिकर्तुं लक्षयति -

मूलारा --- अघसे अमृद्धी । समे अनिमोन्नता । असुसिरे अन्निद्रा । अहिसुय उदेहिकारहिता । अप्पपाणे  
निर्जिष्णुका ॥ अप्पपाणे क्षपकरीरप्रमाणा ॥ असिणिद्धे । अनाद्धी । घणा घना दृढा ॥ गुते अप्रकटा । उज्जोवे उद्योतवती ॥  
भूमि भूमिः । अदृश्यत्वादिदृशगुणोपेता इति संस्तरो भवेत् “ अत्रार्थत्वात्प्रथमार्थे सप्तमीलिंगप्रत्ययश्च । उक्तं च ॥

निर्जिष्णुका घना गुप्ता समामृद्धी सुनिर्मला ॥

अनाद्धी स्वप्रमाणा च सोद्योता संस्तरौ धरा ॥

मृद्धी णि भूमिर्गर्गाप्रकरणमर्दनेन वाध्यते । असमायामात्मनो वाधा । सन्निद्राया छिद्रप्रविष्टास्तत्राया वा  
निर्गताः प्राणिनः पीड्यन्ते । नृदेहिकामंभवयोभ्याया संन्यासकालोद्भूतोदेहिकाभिः क्षपको दंदश्यते । समाणिकाया

प्राणिसंयमविराधना स्वप्रमाणाधिकाया व्यर्थः प्रतिलेखनाविध्यासंगः । प्रमाणहीनाया गात्रसफोचदु च । आर्द्रायां अष्कायिकजंतुपीडा । अन्डवाया अगभारेण नमन्त्या तद्रतजतुवाधा, शयितुं कष्टं च । प्रकटाया भिष्यादृष्टिजनानुपंगः । अनुद्योताया दृष्टिप्रतिबंधादुःशकोऽसंयमपरिहारः ॥

भूमिसंस्तरका निरूपण करनेवाली गाथा—

अर्थ—जो जमीन मृदु नहीं है वह संस्तरके लिये योग्य है, जमीन मृदु होगी तो वह हाथ और पायोंके मर्दनसे घाधित होगी, वह जमीन असुपरि होनी चाहिये, सुपरि—छिद्र होंगे, विल, होंगे तो उसमेंसे निकले हुए और प्रविष्ट हुये त्रसजीवोंको बाधा होगी, वह समा होनी चाहिये, वह ऊंची नीची होनेसे क्षपकनो सोनेमें बाधा उत्पन्न होगी, यदि वह गीली होगी तो जलकायिक जीवोंको बाधा पहुंचेगी, इसलिये वह सूखीही होनी चाहिये, कृमिकीटादिकमें रहित, प्राणिरहित, प्रकाशयुक्त, क्षपकने देहप्रमाणके अनुसार और गुप्त, सुरक्षित होनी चाहिये, यदि प्रकाशरहित हो तो असंयमका परिहार हो नहीं सकेगा, प्राणिओंसे युक्त होगी तो प्राणिसंयमका रक्षण क्षपक नहीं कर सकेगा कृमिकीटक सहित होगी तो कीटादिक जंतु क्षपकने देहको फाट खायेंगे, वह शरीर-प्रमाणसे अधिक होनेपर प्रतिलेखनादिकका व्यासंग अधिक करना पड़ेगा, प्रमाणसे हीन होगी तो शरीरसंकोच करना पड़ेगा यदि दृढ न होगी तो क्षपकने अथवा शोधन करनेवाले के शरीर से दब जाने पर उममें रहनेवाले जंतुओंको बाधा पहुँचेगी, यदि गुप्त न हो तो भिष्यादृष्टि लोकोका संसर्ग होगा, अतः मृदुत्वादिदोषोंसे वर्जित प्राथिवी-जमीन संस्तररूप होगी, अन्यथा नहीं.

विद्वत्थो य अफुडितो निक्कंपो सव्वदो असंसत्तो ॥  
समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो ॥ ६४२ ॥  
विध्वस्तोऽस्फुटितोऽकंपः समपट्ठो विजंतुकं ॥  
उद्योते मसुणः कार्यः संस्तरोऽस्ति शिलामयः ॥ ६४७ ॥

विजायोदया—विद्वत्थो य विध्वस्त । दाहार्तुदुर्नाट्यणाद्धा । अफुडितो अस्फुटित । निक्कंपो निश्चल । सव्वदो समतात् । असंसत्तो जीवगृहित । पापणमल्लुण्णदिरहित इति यावत् । समपट्ठो समपट्ठ । उज्जोण उद्योते । शिलामओ होदि सयारो शिलामयो भवति संस्तर ॥

मूलारा-विद्वत्सो विध्वंस्तो दाहकुट्टनर्घपणादिभिः प्रासुकीभूत । अण्डुडिदो अस्फुटितः । गिर्कनो निध्रलः । पापणमखुणादिरहितः । समपट्टो समतलः । उज्जोए सप्रकाशप्रदेशे वर्तमानः ।

शिलासंस्तरका विवेचन-

अर्थ - शिलामय संस्तर विध्वस्त अर्थात् अयिज्वालासे दग्ध, टाकीके द्वारा उकीरा गया अथवा धिसा हुआ होना चाहिये. क्योंकि अग्न्यादिके द्वारा वह प्रासुक हो जाता है यह शिलामय संस्तर टूटा फूटा न हो, निध्रल हो, सर्वतः जीवोंसे रहित, मत्सुणादि जीवोंसे रहित, समतल, और प्रकाशयुक्त होना चाहिये

भूमिसमरुंदलहुओ अकुडिल एगंगि अप्पणो य ॥

अच्छिहो य अफुडिदो लण्हो वि य फलयसंधारो ॥ ६४३ ॥

लघुभूमिसमो रूद्रो निःशब्दः स्वप्नमाणकः ॥

एकांगः संस्तरोज्जिदः श्लक्ष्णः काष्ठमयो मतः ॥ ६४८ ॥

नित्तगोतगा--भूमिसमंरुंदलहुओ भूम्ययल्ल, महान्, लघु, । अकुडिल एगंगि अप्पणो य अच्छल, एक-  
तापीरा, निर्जन्तुका । अच्छिहो य अच्छिहप्र । अण्डुडिदो अस्फुटितः । लण्हो मसृणः । फलयसंधारो फलकसंस्तरः ॥

यूअरार--भूमिगत रातनो भूमिकला । यद वितीर्ण । लहुओ उद्धर्तु नेतुमानेतुं वा सुशकः । अकुक्कुचोर्कंग

अकुक्कुचो निर्जन्तुका । अस्मिन्नप्रो य अस्मिन्नप्र । अप्पणो पुरगप्रमाणः । लण्हो मसृणः ॥  
फलकमय रगतयका वर्णित --

अर्थ--आगें तगरगें जो भूमिगें रगतय प्रथा है, रूद्र, और कल्ला, उठानेमें रखनेमें अनायासकारक,

अच्छ, अर्थात्, निर्जन्तुकं, विनाश, मृदु, अण्डुट्टो गंगा फलक रगतय के निर्जो गोप्य है



गिस्संधी य अपोल्लो गिरुवहदो समधिवास्सणिज्जंतु ।

सुहपडिल्लहो मउओ तणसंथारो हवे चरिमो ॥ ६४४ ॥

कृत्यस्तृणमयोस्संधिः संस्तरो निरुपद्रवः ॥

निःसम्मूच्छैरपच्छिद्रो मृदुः सुप्रतिलेखनः ॥ ६४९ ॥

विजयोदया—गिस्संधी य अयिरहितः । अपोल्लो अच्छिद्रः । गिरुवहदो निरुपद्रव अचूर्णितः । समाधिवास्स-  
णिज्जंतु । मृदुस्पर्शो निर्जेन्तुकश्च । सुहपडिल्लहो सुखेन प्रतिलेखनीयः सुलेन शोधय इति यावत् । मउओ मृदु । तणसं-  
थारो हवे चरिमो तृणसंस्तरो भवेदन्य ॥

तृणसंस्तरं न्याचेष्टे—

मूलारा — गिस्संधी निर्यन्थितृणविरचितः । निरंतरसमायततृणो वा । अपोल्लो अंतश्छिद्ररहिततृण । गिरुव-  
हदो अचूर्णिततृण । समाधिवास्स समाधिवास्य सम्यगधिवस्तुं शक्यः सर्वद्रवनायोग्यत्वात् । मउओ मृदुः ॥

तृणसंस्तरका वर्णन—

अर्थ—तृणसंस्तर गांठ रहित तृणसे बना हुआ, छिद्ररहित, न तुटे हुए तृणसे रचा गया, जिसपर  
सोनेसे अथवा वैठनेसे अगमं खुजली उत्पन्न न होगी ऐसे तृणसे बना हुआ, मृदुस्पर्शवाला, जंतुरहित, जो सुखसे  
शोधा जाता है ऐसा होना चाहिये

जुत्तो पमाणरइओ उभयकालपडिल्लेहणासुद्धो ॥

विधिविहिदो संथारी आरोहव्वो तिगुत्तेण ॥ ६४५ ॥

प्रमाणराचितो योग्यः कालद्वितयशोधनः ॥

आरोढव्यस्त्रिगुत्तेन संस्तरोज्यं समाधये ॥ ६७० ॥

विजयोदया—जुत्तो युक्तो योग्य । पमाणरइओ प्रमाणसमन्वित । नात्यलो नातिमहान् । उभयकालपडिल्ले-  
हणासुद्धो स्पर्शोदयास्तमनकालद्वय प्रतिलेखनेन शुद्ध । विधिविहिदो संथारो शास्त्रनिर्दिष्टक्रमकृतसंस्तरः । आरोहव्वो  
आरोढव्य । केन तिगुत्तेन त्रिगुत्तेन कृताशुसमनोवाकायनिरोधेन ।

चतुर्विधस्यापि संस्तरस्य गुणव्यावर्णनमुत्तेन आरोह्यत्वमाह—

मूत्रारा—जुत्तो योग्य । पमाणरुद्धो नात्यल्पविपुल । उबधोकोल सूर्योदयास्तमनकालद्वये विधि शास्त्रकर्म ॥  
अर्थ—चारों प्रकारके संस्तरोंमें ये गुण होने चाहिये योग्य, प्रमाणयुक्त, बहुत छोटा अथवा बहुत बड़ा जो नहीं है, सूर्योदयकाल में और सूर्यास्तकालमें शोधन करनेसे जो शुद्ध होता है शास्त्रोक्त जिसकी रचना हुई है, ऐसे संस्तरपर मन, वचन और कायको शुद्धकर क्षपकको आरोहण करना चाहिये

णिसिद्धिच्चा अप्पाणं सव्वगुणसमण्णिदंमि णिज्जवए ॥

संथारम्मि णिसण्णो विहरदि सखेहणाविधिणा ॥ ६४६ ॥

निर्यापके समर्प्य स्वं समस्तगुणशालिनि ॥

प्रवर्तते विधानेन क्षपकः संस्तरं स्थितः ॥ ६७१ ॥

तृणक्षोणिपाषाणकाष्ठप्रशस्ते स्थितः संस्तरं धर्ममार्गप्रवीणः ॥

धुनीते समस्तानि कर्माणि योगी रणे योधवर्गो बलानीव धीरः ॥ ६७२ ॥

इति संस्तरः ॥

विजययोग्या—णिसिद्धिच्चा स्थापयित्वा । त्यक्त्वा अप्पाण आत्मानं । सव्वगुणसमण्णिदंमि सर्वगुणसम्बन्धिते णिज्जवगे निर्यापके । संथारम्मि संस्तरं । णिसण्णो निपण्णो । विहरदि चैत्रे । सखेहणा विधिणा सखेखना द्विप्रकारा वाह्याभ्यन्तरा चेति । द्रव्यसंखेखना भावसंखेखना च । आहारं परिश्रय शरीरसंखेखना करोति । सम्यग्दर्शनादिभावनाया मिथ्यात्वाद्विपरिणामास्तनूकरोति । एवं वसति संस्तरौ निरूपितौ ॥

किं कृत्वा संस्तरमारुढः किं करोतीत्याह—

मूत्रारा—णिसिद्धिच्चा समर्प्य, सखेहणाविधिणा आहारपरिहापनेन शरीर, सम्यक्त्वादिभावनाया मिथ्यात्वा-

दौश्च वनूकरोतीत्यर्थ । संस्तरः सूत्रन २६ अंकत ७ ॥

अर्थ—क्षपक संपूर्ण गुणों से पूर्ण ऐसे निर्यापकाचार्य पर अपना सर्व भार सोपकर अर्थात् उसको ही शरण मानकर संस्तरपर आरोहण करता है और संखेखनाका विधिपूर्वक आचरण करनेकी शुरुआत करता है संखेखनाके दो प्रकार हैं, बाह्य संखेखना और अभ्यन्तर संखेखना अथवा द्रव्यसंखेखना और भावस-

छेखना आहारका त्याग करनेसे शरीर सहेखना होती है. सम्यग्दर्शनादिकी भावनासे मिथ्यात्वादिपरिणामों की क्षीण करना कपायसहेखना है इस प्रकार वसति और संस्तरका विवेचन समाप्त हुआ.

प्रियधम्मा दृढधम्मा संवेगावज्जभीरणो धीरा ॥

छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खणम्मि य विदण्हू ॥ ६४७ ॥

स्थेयांसः प्रियधर्माणः संविष्ठाः पापभीरवः ॥

ख्याताश्छंदानुगमनाः कल्पाकल्पविचक्षणाः ॥ ६७३ ॥

विजयोदया—प्रियधम्मा प्रियो धर्मो येषां ते भवति प्रियधर्माण । दृढधम्मा धर्मो स्थिराः, संविष्ठा संविष्ठाः संसारभीरवः । वज्जभीरणो पापभीरवो धीरा द्युतिमंतः । छंदण्हू अभिप्रायवद्वा । पच्चइया प्रत्ययिताः । पच्चक्खणम्मि य विदण्हू । प्रत्याख्यानक्रमवद्वा । धर्मेइत्तारिअ तेन प्रियचारित्रा यत् । तत्तइत्तारिअे क्षपकमपि वर्तयितुमुत्सहन्ते तत्सा-  
मुपावत्ते दृढचारित्ता इति । अदृढचारित्रा हि न असंयमं परिहरेयुः । कस्मादसंयमं परिह्वरन्ति पापभीरवो यस्मात् । संवि-  
ष्ठा विचित्रव्यसननिधानभूतचतुर्गतिभ्रमणभयव्याकुलाः । धीरा इत्यनेन परीपदसहा इत्याख्ययते । परीपद्वै. पराजितो  
न संयमं पालयतीति मन्यते । क्षपकेन अनुक्तमपि तद्विगितेनावगततत्प्रयोजना वैयावृत्त्ये वर्तन्ते । नानासिमायक्षा इति  
दर्शयितुं छंदण्हू इत्युक्त । प्रत्ययितव्या गुरुभिर्नार्मो असंयमं कुर्वेति क्षपके वैयावृत्त्योद्यता इति साकारनिराकारप्रत्या-  
ख्यानक्रमवद्वा ॥

अथ तथा कृतपरिकरस्यापराधकस्य यथोक्तलक्षणाया वसतौ विधिविहितं संस्तरमारुढस्य अष्टाचत्वारिंशत्  
समाधिसहायान्नियोलु चत्वारिंशत् गाथा सूत्रयत्रादौ तल्लक्षणख्यापनार्थं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—धीरा परीपदसहाः । छंदण्हू अभिप्रायविव. । पच्चइया अनेकवारान्परितप्रत्ययाः । धर्मो हि चारित्रं  
ततः स्वयमभिपचारित्राः क्षपकमपि चारित्रे वर्तयितुं सहायता च कर्तुं नोत्सहन्ते इति प्रियधर्माण इत्युच्यते । सम्यग्दृष्टितया  
चारित्रानुरागिणोऽपि चारित्रमोहोदयादस्थिरचारित्राः संत कथं क्षपकस्य चारित्रसमाधानाय प्रयतंत इति दृढधर्माण  
इत्युच्यते । पापादविभ्यतो नासंयमं त्यजेयुरित्यवधभीरव इत्युच्यते । यथोक्ता अप्यनुयाह्याभिप्रायवर्तिगतादिभि-  
रिति छंदण्हू इत्युच्यते । तादृशोप्यदृष्टपूर्वक्षपकोपचारा. साकारनिराकारप्रत्याख्यानक-

मानभिज्ञाश्च न गुरुभिस्तत्परिकर्मण्यधिक्रियन्ते इति प्रत्ययिता प्रत्याख्यानक्रमज्ञाश्रय्युच्यते । एवमुत्तरसूत्रेऽपि पदसाफल्यं चिंत्यम् ।

परिचारकोंका लक्षण दो गाथाओंसे आचार्य कहते हैं—

अर्थ—जिनका धर्मपर गाढ प्रेम है और जो स्वयं धर्म में स्थिर हैं संसारसे और पापसे जो हमेशा भययुक्त हैं, धैर्यवान और शपकके अभिप्रायको जाननेवाले, प्रत्याख्यानके ज्ञाता ऐसे परिचारक शपककी श्रुत्वा करने योग्य माने गये हैं. धर्म अर्थात् चारित्र. जो यदि स्वयं चारित्रपर प्रेम करते हैं वे शपकको भी उसके पालनेमें उत्साहित करेंगे और उसको मदत करेंगे. सम्यग्दृष्टि होनेसे चारित्र में वे केवल प्रेम ही करते हैं और चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उनका चारित्र शिथिल होगा एसी शंकाका निरासन करनेके लिये 'दिग्धम्मा' यह विशेषण है. अर्थात् परिचारक जैसे चारित्रपर प्रेम करते हैं वैसे वे उसमें दृढ भी रहते हैं. जिनका चारित्र दृढ होता नहीं वे असयमका त्याग करनेमें असमर्थ होते हैं. परिचारक गण पापसे भययुक्त हैं अतः वे असंयमका त्याग करते हैं. नाना प्रकार के दुःखोंका निधानभूत ऐसे चतुर्गतिके भ्रमण से वे व्याकुल होगये हैं इसलिये वे संसारभीरु बने हैं परिपक्वोंको वे सहन करते हैं. जो परीपक्वोंसे पराजित होते हैं वे संयम पालनेमें असमर्थ देखे जाते हैं. जो शपक के बिना कहे भी मनके अभिप्राय जानते हैं वे ही वैयावृत्य कर सकते हैं. परंतु जिनमें अभिप्राय जाननेका सामर्थ्य नहीं है वे वैयावृत्य नहीं कर सकेंगे ऐसा अभिप्राय 'छंदण्हु' इस पदसे आचार्य ने व्यक्त किया है. जिनको साकार और निराकार प्रत्याख्यान का क्रम ज्ञात नहीं है और जिन्होंने पूर्वमें कमा शपकका वैयावृत्य किया नहीं है ऐसे सुनि अभिप्राय जाननेवाले हो तो भी उनको आचार्य परिचारकके कार्यमें नियुक्त नहीं करते हैं. इसलिये परिचारक प्रत्ययित अर्थात् अनेकवार शपक की सेवा जिन्होंने की है अर्थात् जो अनुभवी हैं ऐसे होने चाहिये.

कप्पाकण्ये कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा ॥

गीदत्था भयवंता अडदालीस तु गिज्जवया ॥ ६४८ ॥

प्रत्याख्यानविदो धीराः समाधानाक्रियोद्यता ॥

षट्ताडिताष्टसंख्याना ग्राह्या निर्यापकाः पराः ॥ ६४९ ॥

विजयोदया - कृष्णभूये कुसला योग्ययिदमथेत्यमिति भक्तपानपरीक्षाया कुशला । समाधिकरज्जुज्जरा क्षपकचित्समाधानकरणोद्यता । सुदूरदस्ता श्रुतप्रावृष्टित्तत्रया । गीदृष्टा गृहीतचूत्रार्थ । भगवते भगवत स्वपरो-  
द्वारणमाहृत्यवन्त । अङ्गलीस तु अष्टचत्वारिंशत्सख्या । गिज्जवगा निर्यापका यतय ॥

मूलारा - कृष्णकले श्रोत्र्यायोग्यभक्तगानादिपरीक्षाया । भयनंता स्वपरोद्वारणमाहृत्यवन्त ।

अर्थ - ये आहारपानादिक पदार्थ योग्य हैं इनका ज्ञान परिचारकों को होना आवश्यक है यदि वे इस ज्ञानसे वंचित हो तो क्षपकको असंयमों भी प्रवृत्त करने लग जायेंगे, आयोग्य आहारमें भी प्रवृत्त करेंगे, क्षपकका चित्त समाधान करनेवाले, प्रायश्चित्त ग्रथको जाननेवाले आगमज्ञ, स्वयं और परका उद्धार करनेमें कुशल अर्थात् स्वपरोपकार करके उद्धार करते हैं ऐसी जिनकी जगमें कीर्ति फैली है, ऐसे परिचारक यति अङ्गलीस होते हैं

निर्यापका इममुपकारं कुर्वन्तीति कथनायोत्तरप्रबंध -

आमासणपरिमासणचंक्रमणासयण णिमीदणे ठाणे ॥

उव्वत्तणपरित्तणपसारणा उटणादीसु ॥ ६४९ ॥

आमर्शनपरामर्शगमस्थानशयादिषु ॥

उद्धर्तनपरिवर्तनप्रसाराङ्कुचनादिषु ॥ ६५० ॥

विजयोदया - आमासणपरिमासणचंक्रमणसयणणिमीदणे ठाणे क्षपकस्य शरीरकेशस्य स्पर्शनं आम-  
र्शनं, समस्तशरीरस्य हस्तेन स्पर्शनं परिमर्शनं । चंक्रमणमितस्ततो गमनं । णिमीदणे ठाणे निपद्यास्थानमित्येतेषु ।  
उव्वत्तणपरित्तणपसारणाउटणादीसु । उद्धर्तने पार्थक्यार्थान्तरसंचरणे । हस्तपादादिप्रसारणे आङ्कुचनमित्यादिषु च ॥

निर्यापका क्षपकस्येवमिममुपकारं कुर्वन्तीत्युत्तरप्रबंधेन कथयित्वान्नादौ तेषां तदेहपरिचर्यायां चतुरो नियोक्यं  
गाथाद्वयमाह -

मूलारा - आमासण-शरीरकेशस्पर्शनं । परिमासण सर्वगात्रस्पर्शनं । चंक्रमण इतस्ततो परिचरणं ॥  
क्षपकके ऊपर उनके द्वारा किये जानेवाले उपकारका आचार्य वर्णन करते हैं -

अर्थ - शरीरके एक देशका स्पर्शन करना उसको आमर्शन कहते हैं, अर्थात् हाथ या पांव वगैरे अव-  
यवोंकी बाधा दूर करनेके लिये हाथसे दावना, पगचपी करना, संपूर्ण अंगके स्पर्शनको परिमर्शन कहते हैं अर्थात्

संपूर्ण अंग अपने हाथसे खूब दाबना जिससे क्षपककी देहमाथा भिंटी। क्षपकको हाथका आश्रय देकर डवर उधर चलते समय मदत करना इसको चक्रमण कहते हैं। उसको संस्तरपर सुलाना, हाथ देकर बैठाना, खड़ा करना, उसको एकत्रगलसे दूसरे चरालपर सुलाना, हाथ पांव पसारना, संकुचित करना इत्यादिक उपकार परिचारक मुनि करते हैं

संजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता ॥

चटुरो समाधिकामा ओलगंगांता पडिचरंति ॥ ६५० ॥

देहकर्मसु चेष्टते क्षपकस्य समाधिदाः ॥

सत्वारो यतयो भक्त्या परिचर्योपरायणाः ॥ ६५६ ॥

विजयोदयां - संजदकमेण प्रयत्नेनैव । सत्वारो यतयो भक्त्या परिचर्योपरायणाः । देहकिरियासु शरीरक्रियासु व्यावर्णितासु । णिच्चं प्रतिदिनं । आजुत्ता आयुक्ता । चटुरो चत्वारो यतयः । समाधिकामाः क्षपकस्य समाधिकरणमभिलषन्तः । ओलगंगांता उपोसनां कुर्वन्तः । पडिचरंति प्रतिचारका भवन्ति । 'चत्वारि जणा धम्म कहति विक्रयाओ वडिजत्ता' इति पदसमूह चत्वारो धर्म कथयन्ति विक्रया' परित्यज्य ॥

मूलारा--संजदकमेण मुनिमार्गेण । आउत्ता मनोवाककार्यैः समाहिताः । समाधिकामा क्षपकस्य समाधिभिच्छन्तः । ओलगंगांता पशुष्टिं कुर्वन्ति । पडिचरंति प्रतिचारका भवन्ति ॥

अर्थ-यह सत्र उपकार करते समय परिचारक सावधानी रखते हैं, अर्थात् असंयमकी उत्पत्ति न होगी और क्षपकको समाधान होगा ऐसा प्रयत्न करते हैं, उपर्युक्त कार्य करनेकेलिये हमेशा चार परिचारक मुनिओंकी नियोजनार्थ योजना करते हैं

कास्ता विकथा भवन्ति ।

भत्तिथिराजजणवदकंपत्थण्डणट्टियकहाओ ॥

वडिजत्ता विकहाओ अज्झप्पविराघणकरीओ ॥ ६५१ ॥

खीराजमन्मथाहारद्रव्यदेशादिगोचराः ॥

विसुब्ब विकथाः सर्वाः समाधाननिपूदनीः ॥ ६५७ ॥

विजयोदया—भक्तित्थिरायजणवदंष्ट्रतथण्डणट्टिराकहाओ । भक्तं भज्यते सेव्यते इति भक्तं चतुर्विधाहार । भक्तस्य, स्त्रीणां, राज्ञा, जनपदाना रागोदिकात्मह्राससम्मिओऽक्षिष्टवाक्प्रयोग, कंदर्प, तस्य अर्थस्य, नटानां, नर्तिकानां च याः कथास्ताः । अज्झप्पविराधणकरीओ । अत्तमानमधिचरते इत्याध्यात्मिकं । आत्मानस्तत्त्वनिश्चयनिरूपणं ध्यानं तस्य विराधणकरीओ विराधनाकारिणी ॥

चत्वारो विक्रयास्त्यक्त्वा धर्मं कथयंतीत्येतद्वाथात्रयेणाह—

मूलारा—भक्तित्थि भक्तकथा स्त्रीकथा च । कंदप्पस्य कामकथा धनकथा च । णडणट्टिय नटनार्विकाकथा । विक्रयाओ मार्गविरुद्धकथा । अज्झप्प शुभध्यानं ॥

चार मुनि विक्रयाओका त्याग कर धर्मकथाका वर्णन करते हैं ऐसा आगे संबंध स्पष्ट करेंगे, प्रथम विक्रयाओका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—चार प्रकारके आहारका वर्णन करना भक्तकथा है, स्त्रियोंका वर्णन करना स्त्रीकथा है, राजा-ओंकी कथा कहना राजकथा है और अनेक देशोंका वर्णन करना देशकथा है, कामविकारसे उन्मत्त होकर हास्य-मिश्र असभ्य वचन बोलना उसको कंदर्प कहते हैं, बांसके ऊपर खेलनेवाले और नृत्य करनेवालोंका वर्णन करना ये सब कुकथायें हैं, ये आत्मके स्वस्वरूपके चिंतनमें बाधा उत्पन्न करती हैं, इस लिये इनका त्यागकर क्षपकको चार मुनि हमेशा धर्मका उपदेश देते हैं.

कथं तर्हि कथयंति—

अखलिदममिडिमव्वाइठ्ठमणुच्चमविलंबिदममंदं ॥

कतममिच्छामेलिदमणत्थहीणं अपुणरुत्तं ॥ ६५२ ॥

अनाकुलमनुद्विग्रमन्याक्षेपमनुद्धतं ॥

अनर्थहीनमश्लिष्टमविचलितमद्रुतम् ॥ ६५८ ॥

विजयोदया—अखलिदं अस्खलितं अन्यथा शब्दोच्चारण शब्दस्खलना, विपरीतार्थनिरूपणा अर्थस्खलना । अमिडिदं अनाश्रितं । असमुग्य । अव्वाइठ्ठं अव्याहत अग्रतिहतं प्रत्यक्षादिना । अणुच्चं नातिमहदुच्चनिसमेत । अविलंबित नातिशयै । अमंद नात्यल्पघोषं । कन्तं ओद्यमनोहर । अमिच्छामेलिद मिथ्यात्वेनानुमिश्रं । अणत्थहीणं अभिधेय-शून्य यन्न भवति । अपुणरुत्त उक्तस्य अविशेषण भूयोऽभिधान पुनरुक्तं यथा तत्पौनरुक्तं न भवति ।

मूलारा—अखलिदं अस्खलितं । अन्यथा शब्दोच्चारणविपरीतार्थकथनरहितं । असिलिदं असंदिग्धं । अन्वा-  
इष्टं प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणाविरुद्धं । अनुप्य नाल्युच्चैर्ध्वनि । आविलबितं । अपुणरुत्तं उक्तस्यार्थस्य आविशेषेण भूयोऽभिधानर-  
हितम् ।

मुनि धर्मोपदेश किस प्रकार कहते हैं--

अर्थ—वे मुनि जब धर्मोपदेश देते हैं तब उनके मुखसे जिस अभिप्राय के शब्द निकलने चाहिये वे ही निकलते हैं विपरीत अर्थका कभी भी वे वर्णन नहीं करते हैं, एकही शब्द वे दो तीन दर्फे नहीं बोलते हैं, सशय उत्पन्न करने वाला भाषण वर्ज्य करके प्रत्यक्षपरोक्षादि प्रमाणसे आविरुद्ध वचन मुखसे निकालते हैं, उच्चस्वर और मंदस्वर का त्याग कर मध्यमस्वरसे वे भाषण करते हैं अतिशय सावकाश और अतिशीघ्रताको छोड़कर मध्यम पद्धतिका अवलंबकर बोलते हैं, उनका भाषण, कर्णमनोहर, मिथ्यात्वसे अमिश्रित, निरर्थकतागरहित रहता है, जो अर्थ पूरा दर्फे कहा है, उसको ही पुन कहा पुनरुक्तदोष कहा जाता है इस दोषसे रहित उन मुनिगणका भाषण रहता है.

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्ज पत्यं च ॥

चत्तारि जणा धम्मं कहंति णिच्चं विचित्तकहा ॥ ६५३ ॥

प्रल्हादजनकं पथ्यं मधुरं हृदयंगमं ॥

धर्मं वदन्ति चत्वारो हृद्यचित्रकथोद्यताः ॥ ६७९ ॥

विजयोद्यता—णिद्धं प्रिय । मधुरं ललितपदवर्णरचन । हिदयंगमं श्रोत्रहृदयानुभवेशि । पल्हादणिज्ज पत्यं च सुखदं पथ्यं च कहति कथयंति । णिद्धं अनुपूरतं । विचित्तकहा नानाकथाकुशला ॥

मूलारा—णिद्धं प्रियं । मधुरं ललितवर्णपदरचनं । विचित्तकथा नानाकथाकुशलः ॥

अर्थ—प्रिय, सुंदरशब्दरचनायुक्त, ज्ञान और हृदयमें प्रवेश करने वाला सुलकार, हितप्रद ऐसा धर्मोपदेश अनेक कथाओंके साथ वे चार परिचारक मुनि कहते हैं



कीदृशी क्षपकस्य कथा श्रणितव्याः श्रवणोद्ये—

खवयस्स कहेदव्वा तु सा कहा जं सुणित्तु सो खवओ ॥

जहिदविसोत्तिगभावं गच्छदि संवेगणिज्वेगं ॥ ६५४ ॥

क्षपकस्य कथा कथ्या सा यां श्रुत्वा विमुंचते ॥

सर्वथा विपरीणामं याति संवेगनिर्विदौ ॥ ६८० ॥

विजयोदया—खवयस्स क्षपकस्य । सा कहा सा कथा । कहेदव्वा कथयितव्या । सो खवओ असौ क्षपकः । जं या कथा । सुणित्तु श्रुत्वा । जहिदविसोत्तिगभावो त्यक्ताशुभपरिणाम । गच्छदि संवेगणिज्वेगं संसारभीरता शरीरभो-  
गनिर्वेदं च प्रतिपद्यत ।

एवं सभा प्रति धर्मोपदेशविधिमभिधाय क्षपकं प्रति कथाविक्षेपकथनं नियमयति—

मूलारा—सुणित्तु श्रुत्वा । जहिद त्यक्त्वा । विसोत्तिगभावं दुरध्यवसायं ॥

क्षपकको कोनसी कथा कहना योग्य है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—क्षपकको वह कथा सुनानी चाहिये कि जिसके सुननेसे उसके अन्तःकरणमें उत्पन्न हुए अशुभ परिणाम विनष्ट होकर वह संसारभीत और देहभोगसे विरक्त हो जावेगा।

आम्खेवणी य संवेगणी य णिज्वेयणी य खवयस्स ॥

पावोग्गा होति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥ ६५५ ॥

भवत्त्याक्षेपानिर्वेगनिर्वेदजनिकाः कथाः ॥

क्षपकस्योचितान्तिस्त्रो विक्षेपजनिका तु नो ॥ ६८१ ॥

विजयोदया—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी निर्वजनी चेति चतस्र कथाः । तासा मध्ये का योग्या ? का वायोग्येत्यत्रोत्तरं ब्रवीति । आम्खेवणी य इति आक्षेपणी, संवेजनी, निर्वजनी च कथा क्षपकस्य श्रोतुं, आख्यातुं च योग्या । विक्षेपणी तु कथा न योग्या इति सूत्रार्थः ।

मूलारा—विक्षेपणीवर्जनमाक्षेपण्यादिकथात्रयं क्षपकस्य श्राव्यतयोपदिशति ॥

अर्थ—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी ऐसे कथा के चार भेद हैं. इन कथाओंमें आक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी कथायें क्षपकृत् को सुनाना योग्य हैं. विक्षेपणी कथाका निरूपण करना हितकर न होगा।

तासा कथातां स्वरूपनिर्देशायोत्तरं गाथाद्वयं—

आक्खेवणी क्हा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ ॥

ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥ ६५६ ॥

कथा साक्षेपणी ब्रूते या विद्याचरणादिकम् ॥

विक्षेपणी कथा वाक्ति परात्मसमयौ पुन ॥ ६८२ ॥

विजयोदया—आक्खेवणी क्हा सा सा आक्षेपणी कथा भण्यते । जत्थ यस्या कथाया । विज्जाचरणमुवदिस्सदे ज्ञानं चारित्र्यं चोपदिश्यते । एवंभूतानि मत्पादीनि ज्ञानानि सामयिकादीनि वा चारित्र्याण्येवस्वरूपाणि इति । ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम । अग्रे कथा स्वसमयं परसमयं वाश्रित्य प्रवृत्ता सा विक्षेपणी भण्यते । सर्वथा नित्य, सर्वथा क्षणिक, एकमेवानेकमेव वा, सदैव, विद्यालमात्र वा शून्यमेवेत्यादिक परसमयं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षात् न मोनेन आगमेन च विरोध प्रदर्श्य कथंचित् नित्य, कथंचिदनेकं, कथंचिदनेकं, इत्यादिस्वसमयनिरूपणा च विक्षेपणी ॥

किल्क्षणा स्ताः कथा इत्यत्र गाथाद्वयमाह—

मूळारा—विज्जामित्यादि ज्ञानं । चरणं सामायिकादिचारित्रं । समयपरसमयगदा सर्वथा नित्यमेव सर्वथा क्षणिकमेवेत्यादिपरमतं पूर्वपक्षीकृत्यं प्रत्यक्षादिना च प्रतिक्षित्य कथंचित् नित्यं कथंचित् अनिकं इत्यादि स्वमतं प्रतीत्यवष्टेन व्यवस्थापयतीत्यर्थः ।

इन कथाओंका स्वरूप आचार्य दो गाथाओंसे कहते हैं—

अर्थ—जिसमें सम्यग्ज्ञान और चारित्र्यका निरूपण किया जाता है उस कथाको आक्षेपणी कहते हैं. अर्थात् मति, श्रुत, अवाधि वगैरह पांच प्रकारके सम्यग्ज्ञानका स्वरूप, और सामायिक छेदोपस्थापना वगैरह पांच प्रकारके चारित्र्यका स्वरूप जिसमें कहा गया है उसको आक्षेपणी कथा कहते हैं. जिस कथामें जेतमतके सिद्धान्तों का और परमतका निरूपण है उसको विक्षेपणी कथा कहते हैं इसका विशेष विवेचन—वस्तु सर्वथा-नित्य ही है,

सर्वथा अनित्य ही है, सर्वथा एक ही है, सर्वथा अनेकही है, सर्वथा सद्रूप ही है, सर्वथा विज्ञानरूप ही है, सर्वथा शून्य ही है, इत्यादि अन्यमतोंके सिद्धांतोंको पूर्वपक्षमें स्थापित कर उत्तरपक्षमें वे सिद्धांत ग्रन्थक्ष, अनुमान और आगमसे विरुद्ध हैं ऐसा सिद्ध करके वस्तुका स्वरूप कथंचित् अनित्य, कथंचित् एक, कथंचित् अनेक, इत्यादिरूपसे जैनमतके द्वारा सिद्ध करना यह विक्षेपणी कथाका वस्तुस्वरूप है

संवेयणी पुण कहा णाचरित्तं तववीरिय इड्डिगदा ॥

णिब्बेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोवे य ॥ ६५७ ॥

संवेजनी कथा तूते ज्ञानचारित्रवैभवा ॥

निर्वेदनी कथा वक्ति भोगांगदेरसारताम् ॥ ६८३ ॥

विजयोदया—संवेयणी पुण कहा संवेजनी पुन' कथा । णाणचरित्तववीरिय इड्डिगदा ज्ञानचारित्रतपोभावना जनितशक्तिसंपन्निरूपणपरा । णिब्बेयणी पुण कथा निर्वेजनी पुनः कथा सा । सरीरभोगे भवोवे य शरीरे, भोगे, भवसंततो च पराङ्मुखताकारिणी शरीराण्यशुचीभि, रसादिसंतथातुमयत्वात् । शुक्रशोणितवीजत्वात्, अशुच्यग्राह्यपरिवर्द्धितत्वात् अशुचित्थाननिर्गतत्वात् च न केवलमशुच्यसारमपि । अनित्यकायस्वभाव प्राणभृत' इति शरीरतत्त्वाध्यायणात् । तथा भोगा दुर्लभा. स्त्रीवल्लगधमाल्यभोजनादयो लब्धा अपि कथंचिन्न तृप्तिं जनयन्ति । अलाभे तेषां, लब्धानां वा चिन्ता शोको महाउदेति । देवमनुजमवापि दुर्लभो, दुःखबुलौ अल्पसुखो इति निरूपणात् । तथा ॥

मूलारा—णाणेत्यादि—ज्ञानचारित्रतपोभावनाजनितशक्तिसंपन्निरूपणपरा । भवोवे भवसंततो शरीरादिविषय अशुचित्वादितत्त्वनिरूपणेन पराङ्मुखताकारिणी निर्वेदनीति व्याख्येयम् ।

अर्थ—ज्ञान, चारित्र, तप इनका अभ्यास करनेसे आत्मामें कैसी २ अलौकिक शक्तियां प्रगट होती हैं इनका खुलासेवार वर्णन करनेवाली कथाको संवेजनी कथा कहते हैं. शरीर, भोग और जन्म परंपरामें विरक्ति उत्पन्न करनेवाली कथाका निर्वेजनी कथा ऐसा नाम है. इसका खुलासा—शरीर अपवित्र है क्योंकि यह रस, रक्त, मांस, शुक्र वर्गेरह सप्त धातुओंसे बना है रक्त और वीर्य इसके उपादान कारण हैं. अपवित्र आहारसे इसकी वृद्धि हुई है, अर्थात् माताने खाया हुआ और लालारससे अपवित्र—उच्छिष्ट बना आहार गर्भविस्थामें जीवके शरीरमें प्रविष्ट होता है तब यह शरीर बढ़ता है. अशुचित्थानसे—योनीसे यह निकला है इस लिये भी अपवित्र है. न केवल यह

अपवित्र ही है पातु निःसार भी है, इस शरीरके आश्रयसे आत्माको भी अनित्यता प्राप्त हुई है, अर्थात् इस आत्माको चार चार जन्म मरण धारण करना पड़ा है वस्त्र, स्त्री, गंध, पुष्पमाला, भोजन वगैरह भोगपदार्थ दुर्लभ हैं इनकी प्राप्ति होनेपर आत्मा तृप्त होता नहीं इनका लाभ नहीं होनेसे अथवा लाभ होने पर भी यदि ये शीघ्र नष्ट हो गये तो महान् दुःख उत्पन्न होता है.

देवजन्मकी प्राप्ति होना व मनुष्यजन्म मिलना दोनों दुर्लभ हैं, ये बहुत दुःखोंसे भरे हैं, इनमें अल्प सुख की प्राप्ति होती है, इस प्रकारका वर्णन जिसमें किया जाता है वह कथा निर्वेजनी कथा कहाती है

विश्वेवणी अणुरदस्स आउगं जदि हवेज्ज पक्खीणं ॥

होज्ज असमाधिमरणे अप्पागमियस्स खवगस्स ॥ ६५८ ॥

विश्वेपणीरतस्यास्य जीवितं यदि गच्छति ॥

तदानीमसमाधानफला सा तस्य जायते ॥ ६८४ ॥

विजयोक्त्या — विश्वेपण्या परस्मयनिरूपणायां अनुरक्तस्यो आउगं आयुष्कं । जदि हवेज्ज यदि भवेत् । पक्खीणं प्रक्षीण । होज्ज भवेत् असमाधिमरणं । अप्पागमियस्स स्वर्गस्स अल्पश्रुतस्य क्षपकस्य यदेव पूर्वपक्षीकृतं दूषणाभिधानाय तेव तत्त्वमित्ययवसायादसमीचीनज्ञानद्वन्द्वस्य रत्नत्रयैकान्य नास्तीति मन्यते ।

विश्वेपण्यामासक्त्यायुःप्रक्षयेऽल्पश्रुतस्यासमाधिमरणमाह —

मूलारा — अप्पागमियस्स अल्पश्रुतस्य ॥

अर्थ — विश्वेपणी कथामें जो की स्वमतका प्रतिपादन कर परमतका खंडन करती है यदि क्षपक अनु-रक्त हुआ है और ऐसी अवस्थामें यदि उसका आयुष्य विलीन होगा तो उसको असमाधिमरण होगा क्षपक अल्पश्रुत धारक हो तो पूर्वपक्षमें जो परमतका स्वरूप उत्तरपक्षमें दूषित करने के लिये कहा है वही वस्तुका सत्य-स्वरूप है ऐसी श्रद्धान करेगा जिससे उसको रत्नत्रयागधना न होगी.

बहुश्रुतस्य तर्ह्युपयोगिनी विक्षेपणीतीमा शंकां निरस्यति —

आगमसाहचर्याओ विकहा विक्खेवणी अपाउग्गा ॥

अब्भुज्जदम्मि मरणे तरस वि एदं अणायदणं ॥ ६५९ ॥

कथया बहुश्रुतस्यापि नासन्ने मरणे सति ॥

अनाचारं न कुर्वन्ति महांतो हि कदाचन ॥ ६८५ ॥

विजयोदया — आगमसाहचर्याओ वि बहुश्रुतस्यापि । विक्खेवणी विक्षेपणी अपाउग्गा अप्रायोग्या । अब्भुज्जदम्मि मरणे रत्नत्रयाराधनपरे मरणे । तस्स वि बहुश्रुतस्यापि एदं एतत् । अणायदणं अनायतन अनाधार ॥

अनल्पश्रुतस्य विक्षेपणी कथोपयोगिनी भविष्यतीत्याशंका निरस्यति—

मूलारा — अब्भुज्जदम्मि रत्नत्रयाराधनपरे । तस्स वि अल्पश्रुतस्य पुनः सुतरामपकारिकेत्ययमर्थः । अणायदणं अनाधार असमाधिमरणप्रणयनान् ॥

जो बहुश्रुत है उसके लिये विक्षेपणी कथा उपयोगिनी होगी इस शंकाका निरसन करते हैं —

अर्थ — यदि क्षपक आगमज्ञानी होगा तो भी यह विक्षेपणी कथा रत्नत्रयाराधना जिसमें की जाती है ऐसे समाधिमरणके समयमें उसको अयोग्यही मानी है, क्यों कि यह विक्षेपणी कथा समाधिमरण के लिये सहायक नहीं है, आधारभूत नहीं है.

अब्भुज्जदम्मि मरणे संथारत्थस्स चरमवेलाए

तिविहं पि कहंति कंहं तिदंडपरिमोडया तम्हा ॥ ६६० ॥

विक्षेपिणीं विमुच्यताः समाधानविधायिनः ॥

कथयन्ति कथास्तिस्रो निखिदंडन्निगौरवाः ॥ ६८६ ॥

विजयोदया—अब्भुज्जदम्मि मरणे । निकटभूते मरणे । कस्य संथारत्थस्स चरिमवेलाए । सस्तरत्थस्य अतकाले । तिविहं विकहति कथं सचेज्जी, निवेज्जी आक्षेपणीं च कथा कथयन्ति । तिदंडपरिमोडया अशुभमनोवाक्काया दंडशब्देनोच्यते । तद्वेदनकारिण सूर्य । तम्हा तस्मात् । अनायतनत्वाद्विक्षेपिण्या ॥

मूलारा — चरिमवेलाए प्रत्यासन्नमरणभण्णे । तिठंडपरिमोडया । अशुभमनोवाक्कायनिर्मूलका साधवः ॥

अर्थ — संस्तरमें पड़े हुए क्षपकना मरणकाल जब निकट आचुका है तो ऐसे समयमें अर्थात् अन्तसमय में अशुभ मनोविचार, अशुभ शरीर प्रवृत्ति और अशुभवचन इनका त्याग करनेवाले गणधरादि मुनि संवेजनी, निर्वेजनी और आक्षेपणी ऐसी तीन कथाओंकाही वर्णन करते हैं. विक्षेपणी कथा ममाधिमरणके लिये आधाररूप नहीं है. इसलिये उसका निरूपण करते नहीं.

जुत्तस्स तवधुराए अब्बुज्जदमरणेणुसीसंमि ॥

तह ते कहेंति धीरा जह सो आराहओ होदि ॥ ६६१ ॥

तपोभावनियुक्तस्य मृत्यास्सज्जतयेति तम् ॥

ते वदंति तथा तस्य भवत्याराधको यथा ॥ ६८७ ॥

विजयोदया—जुत्तस्स युक्तस्य । तवधुराए तपोभारेण । अब्बुज्जदमरणेणुसीसंमि समीपीभूतमरणवशास्य शिरसि स्थितस्य क्षपकस्य । ते धीरा । तह तथा । फहेंति कथयन्ति । जध सो आराधनो होदि यथासावाराधको भवति रत्नत्रयस्य ॥

ते चत्वारो धर्मकथानियुक्ता यतयस्तथा कथयन्ति यथा रत्नत्रयमाराधयत्येवेत्यवस्थापयन्नाह—

मूलारा — अब्बुज्जदेत्यादि । समीपीभूतमरणवंगस्य शिरसि क्षपकस्य ॥

अर्थ — तपका भार जिसने धारण किया है, निकट प्राप्त हुए समाधिमरणरूपी वासके अग्रभागपर जो ठहरा है ऐसे क्षपकको चार मुनि ऐसाही उपदेश देते हैं कि जिसको सुनकर वह रत्नत्रयका आराधक होगा.

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेति अगिलाए पाओगं ॥

छंदियमवगदोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥ ६६२ ॥

तस्यानयंति चत्वारो योग्यमाहारमश्रमाः ॥

निर्माना लब्धिसंपन्नास्तदिष्टं गतदूषणं ॥ ६८८ ॥

विजयोदया—चत्वारि जणा चत्वारो यतयः । भस्त्र अशन । पाउणा प्रायोग्यं उद्दमाविदोषानुपहृतं । उवकप्पेति आनयति । अगिलाए ग्लानिमत्तेरेण । क्रियन्त कालमानयाम इति संकेश विना । छदिय क्षपकेण इष्ट अशन पान वा । क्षुत्पिपासापरोपद्रवशक्तिरक्षणक्षममित्येतावता तेनेष्ट न तु लौल्यात् । अद्रवगददोस वातपित्तश्लेष्मणामजनक । क आनयति ? अमाइणो मायारहिता अयोग्यमिति ये नानयन्ति । लड्डिसंपण्णा मोहान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विता । अलब्धिमामक्षपक क्लेशयति । मायावी अयोग्य योग्यमिति कल्पयेत् ॥

चत्वारस्तदर्थं समुचितमशनं उपनयन्तीत्यनुशास्ति

मूलारा—उवकप्पेति आनयति । अगिलाए ग्लानिं विना क्रियंत कालं आनयाम इति संकेश विना । छदिय भक्षपानं क्षुत्पिपासादुःसमसमाधिकरं निराकरोतीत्येतावतैव क्षपकेणैष्ट । अवगददोसं वातपित्तश्लेष्मणामजनकं प्रशमकं च उद्दमादिरहितं वा । अमाइणो अयोग्यं योग्यमिति प्रतिपत्तारणरहिताः । लामांतरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विताः । तथैव क्षपकस्यासंकलेशनात् ॥

अर्थ — चार मुनि ग्लानिका त्यागकर उद्दमादिदोषरहित आहारके पदार्थ क्षपकके लिये लाते हैं, कितने दिनतक हमको लाना पड़ेगा ऐसा विचार वे मनमें नहीं करते हैं क्षपक जो पदार्थ चाहता है उनको वे लाते हैं, क्षपक भी जिनसे मूख और भ्यास ज्ञांत होगी ऐसे ही पदार्थ चाहता है लौल्यसे आहारकी इच्छा वह नहीं करता है क्षपकके वात, पित्त, और श्लेष्मको न बढ़ानेवाले पदार्थ ही परिचारक मुनि लाते हैं, परिचारक मुनिओंके हृदयमें मायाभाव नहीं रहता है अतः वे अयोग्य आहारको योग्य व्रतते नहीं, मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्मका क्षयोपशम जिनको प्राप्त हुआ है ऐसे ही परिचारक आहार लानेके कार्यमें आचार्यके द्वारा योजे जाते हैं, जिनको भिक्षालब्धि नहीं है ऐसे मुनि इस कार्यमें नियुक्त करनेसे क्षपकको क्लेश होगा.

चत्वारि जणा पाणयमुवकप्पन्ति अगिलाए पाओरंगं ॥

छदियमवगददोसं अमाइणो लड्डिसंपण्णा ॥ ६६३ ॥

विजयोदया—चत्वारि जणा इति स्पष्टार्था गाथा—सूरिणा अनुज्ञातौ निवेदितत्मानौ द्वौ द्वौ पृथग्भक्त पृथ-  
क्पानं चानयतः ॥

चत्वारः क्षपकाय पानमानयन्तीत्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—चार मुनि आचार्यके द्वारा नियुक्त होकर क्षपकके लिये योग्य पीनेके पदार्थ लाते हैं, ( वाकी संपूर्ण अभिप्राय उपरकी गाथाके समान ही समझना चाहिये )

चत्वारि जणा रक्खवन्ति दवियमुवकप्पिय तय तेहिं ॥

अगिलाए अपमत्ता रववयस्स समाधिमिच्छंति ॥ ६६४ ॥

पान नयन्ति चत्वारो द्रव्यं तदुपकल्पितं ॥

अप्रमत्ता समाधानमिच्छन्तस्तस्य विश्रमा ॥ ६६५ ॥

विजयोदया—तेराभीत भक्त पान वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमादरहिता व्रता यथा न प्रविरान्ति, यथा वापरे न पातयन्ति ॥

चत्वारस्तद्वक्त्रपानं तरा रक्षन्तीत्याह—

मूलारा—रक्खंति यथा व्रसादयो न पतंति परं वा न पातयति इत्यर्थः । दवियं द्रव्यं । उवकप्पिय आनीतं । तयं भक्तपान वा ।

अर्थ—उपयुक्त मुनिओंके द्वारा लाये हुए आहारके और पानके पदार्थोंका चार मुनि प्रमाद छोड़कर रक्षण करते हैं उन पदार्थोंमें व्रस जीवोंका प्रवेश न होगा और कोई गिरा न सकेगा ऐसी संभाल वे करते हैं, क्योंकि क्षपकका जिस प्रकारसे चित्त रत्नत्रयमें एकाग्र रहेगा वैसे ही वे प्रयत्न करते हैं,

काइयमादी सव्वं चत्वारि पडिडुवन्ति रववयस्स ॥

पडिलेहंति य उवधोकोले सेज्जुवधिसंथारं ॥ ६६५ ॥

मलं क्षपन्ति चत्वारो वर्चप्रस्रवणादिकम् ॥

शय्यासंस्तरकौ कालद्वये प्रतिलिखन्ति च ॥ ६६६ ॥

विजयोदया—काइयमादी सव्वं पुरीषप्रभृतिकं मलं सर्वं । क्षपकस्य चत्वारः । पडिडुवन्ति प्रतिष्ठापयति । पडिलेहति य प्रतिलिखति च । उवधो काले उदयास्तामनकालवेलयो । सेज्जुवधिसंथारं वसतिमुपकरणं, संस्तर च ॥



चत्वारस्तन्मलापनोदं तच्छब्द्यादिमातिलेखनं च कुर्वन्तीत्याह -

मूलारा—काइयमादि विष्णुवृण्डलेष्मखेलानिमले । पडिदुवैति त्रिहि क्षिपन्ति । पडिलेहंति शोधयन्ति । उबधो काले प्रातः सायं च ॥

अर्थ—चार मुनि क्षपकका मलमूत्र निकालनेका कार्य करते हैं तथा सूर्यके उदयकालमें और अस्त-कालके समयमें वे वसतिका, उपकरण और संस्तर इनको शुद्ध करते हैं, स्वच्छ करते हैं.

खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जणा चत्तारि ॥

चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खन्ति जदणाए ॥ ६६६ ॥

क्षपकावत्थद्वारं चत्वारः पान्ति यत्तनतः ॥

धर्मश्रुतिगृहद्वारं चत्वारः पालयन्ति ते ॥ ६६७ ॥

विजयोदया—खवगस्स क्षपकस्य । घरदुवारं गृहद्वार । सारक्खति पालयन्ति । जदणाए यत्तेन । चत्तारि चत्वार । असयतान् शिक्षकाश्च निपेदु द्वारा पालयन्ति । जत्तारि चत्वार । समोसरणदुवारं समवसरणद्वारं । जदणाए यत्तेन आरक्षति पालयन्ति ॥

चत्वारस्तद्वृहद्वारं चत्वारश्च धर्मश्रवणमंडपद्वारं रक्षन्तीत्याह—

मूलारा—सारक्खंति पालयन्ति । अमंयतान् शिक्षकाश्च निपेदु द्वारा पालयन्ते । जदणाए यत्तेन । समोसरण-दुवारं धर्मश्रुतिगृहद्वारं ॥

अर्थ—चार परिचारक मुनि क्षपककी वसतिकाके दरवाजेका प्रयत्नसे रक्षण करते हैं, अर्थात् असंयत और शिक्षकोंको वे अंदर आनेको मना करते हैं, और चार मुनि समोसरण के द्वाराका प्रयत्नसे रक्षण करते हैं धर्मोपदेश देनेके मंडपके द्वारपर चार मुनि रक्षणके लिये बैठते हैं.

जिदणिदा तल्लिच्छा रादौ जगंति तह य चत्तारि ॥

चत्तारि गवेसति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥ ६६७ ॥

निशि जाग्रति चत्वारो जितनिद्रा महोद्यमाः ॥

वार्तां मार्गन्ति चत्वारो यत्नादेशादिगोचराम् ॥ ६९२ ॥

विजयोदया—जितनिद्रा जितनिद्रा । तद्विच्छा निद्राजयलिंगस्य । रात्रौ रात्रौ । जगन्ति जागरं कुर्वन्ति । तद् य तत्र क्षपकसकाशे । चत्वारि चत्वार । गतेसति खु परिक्षा कुर्वन्ति । खेते क्षेत्रे स्थाप्यन्ति । देशपवत्तीओ देशस्य क्षेत्रमवार्ता ।

चत्वार क्षपकसमीपे रात्रौ जाग्रति चत्वारश्च स्वाध्युपितक्षेत्रे देशादिक्षेमाक्षेमवार्तां मृगयन्ते इत्याह—

मूलारा—तण्णिट्ठा क्षपकसत्तरा । देसपवत्तीओ देशराज्यादिगोचराः शुभाशुभवार्ता ।

अर्थ—निद्राको जीवनकी इच्छा रखनेवाले चार मुनि क्षपकके पास जागरण करते रहते हैं और जहाँ क्षपक और मंघ ठहरा है उस देशकी शुभाशुभ वार्ताका निरीक्षण करनेवाले चार मुनि आचार्योंके द्वारा नियुक्त किये जाते हैं,

वाहिं असह्वडियं कंहति चउरो चदुव्विधकहाओ ॥

ससमयपरसमयविट्ठु परिसाए सा समोसदाए खु ॥ ६९८ ॥

चहिर्वदन्ति चत्वारः स्वपरागामकोविदाः ॥

अनंतःशब्दपातं ते जनानां निखिलाः कथाः ॥ ६९९ ॥

विजयोदया—वाहिं वहिः क्षपकावासात् । असह्वडिग यावत् दूरे स्थितना शब्दो न श्रूयते । तत्र स्थित्वा । चउरो चत्वार पर्यायिण । कथाओ चतुर्विधा कथा पूर्वं व्यावर्णिता । कोहभूतत्सेने कथका अत आह-ससमयपरसमयविट्ठु स्वपरपक्षसिद्धातक्षा । परिसाए परिपेदे । समोसदाए द्रक् समागतौये ॥

चत्वारश्च चतस्रोऽपि कथा कथयन्ति क्षपककर्णोपतितशब्दमिलाह—

मूलारा—वाहिं वहिः क्षपकावासाद्दूरे । असह्वडिय यथा क्षपको न शृणोति । चदुविध आक्षेपणीप्रमुखाः । परिसाए परिपदि । समोसदाए समुपविष्टाया । आगतायामित्यन्ये ॥

अर्थ—क्षपककी वसतिके बाहर क्षपक न सुन सके इतने अंतरपर स्वधर्म और अन्यधर्मोंके सिद्धांतोंका

रहस्य जाननेवाले चार मुनि सभामंडपमें आये हुए श्रोताओंको एकके अनंतर दूसरा इस पद्धतीसे आक्षेपण्यादि-  
कथाओंका वर्णन करते हैं.

वादी चत्वारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविट्ठु ॥

धम्मकहयाण रक्खाहेट्ठुं विहरंति परिसाए ॥ ६६९ ॥

चत्वारो वादिनोऽक्षोभ्याः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥

धर्मदेशनरक्षार्थं विचरन्ति समन्ततः ॥ ६९४ ॥

विजयोदया - वादी वादिन । चत्वारिजणा चत्वार । सीहाणुग सिंहसमाना । अणेयसत्थविट्ठु अनेकशास्त्रज्ञा-  
धम्मकहयाण धर्म कथयता । रक्खाहेट्ठु रक्षार्थ । विहरंति । इतस्ततो यान्ति । परिसाए परिपदि ।

चत्वारो वादिनो धर्मकथापराणा प्रवाद्याक्षेपनिराकरणाय सभायाभितस्ततो विचरंतीत्याह--

मूलारा--महाणुभावा सिंहवत्परैरवृण्वाः ।

अर्थ--अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, सिंहसमान ऐसे वाद कोनेवाले चार मुनि धर्मकथा करनेवालोंका रक्षण करनेके लिये सभामें इधर उधर भ्रमण करते हैं.

एवं महाणुभावा पग्गहिदाए समाधिजदणाए ॥

त गिज्जवंति खवय अडयालीसं हि गिज्जवया ॥ ६७० ॥

एवमेकाग्रचेतस्काः कर्मनिर्जरणोद्यताः ॥

निर्योपका महाभागाः सर्वे निर्योपयन्ति तं ॥ ६९५ ॥

विजयोदया - एवं महाणुभावा, एवं माहात्म्यवंत । पग्गहिदाए प्रकृष्टया । समाधिजदणाए समाधौ श्रपकस्य  
प्रयत्नवृत्त्या । त गिज्जवति खवय त निर्योपयन्ति क्षपकं । अडयालीस हि अप्रवृत्तारिशतप्रमाणा । गिज्जवगा निर्योपकाः ॥  
प्रस्तुतमुपसंहरति -

मूलारा--महाणुभावा महामाहात्म्याः । पग्गहिदाए प्रकृष्टया स्वीकृतया वा । समाधिजदणाए समाधौ यत्नवृत्त्या ।

गिज्जवंति संसारार्णवान्निर्यातुं प्रयोजयंति ॥

अर्थ—इस प्रकार ये महात्म्यवान् अब्दालीस मुनि उत्कृष्ट प्रयत्नसे क्षपकको समाधि में एकाग्र करते हैं और संसारसमुद्रसे प्रयाण करनेवाले उस क्षपकको समाधिके कार्यमें अर्थात् रत्नत्रयमें प्रयुक्त करते हैं।

व्याचक्षिप्तगुणा एव निर्यापका इति न ग्राह्य, किन्तु भरतेरावतयोर्विचित्रकालस्य परावृत्ते कालानुसारेण प्राणिना गुणाः प्रवर्तन्ते तेन यदा यथाभूता शोभनगुणाः संभवति तदा तथाभूता यतयो निर्यापकत्वेन ग्राह्या इति दर्शयति—

जो जारिसओ कालो भरदेरवेदसु होइ वासेसु ॥

ते तारिसया तदिया चोहालीसं पि णिज्जवया ॥ ६७१ ॥

कालानुसारतो ग्राह्याश्चत्वारिंशच्चतुर्थुताः ॥

भरतेरावतक्षेत्रभाविनो मुनिपुंगवाः ॥ ६७६ ॥

विजयोदया—जो जारिसओ कालो इत्यादिना यो यादृक्कालो। भरदेरवेदसु वासेसु भरतेरावतेषु जनपदेषु। पंचभरता पंचैरावतास्ते निर्यापकास्तारिसया तादृग्भूता कालानुगुणा इति यावत्। तदिया तस्मिन्काले ग्राह्या इत्यर्थः। सर्वत्र सर्वदा यथोक्तगुणगणना एव निर्यापकाः स्युरिति न ग्राह्यं। कालानुसारेण प्राणिनां गुणप्रवृत्तेः भरतेराव-तक्षेत्रेषु विचित्रकालपरावृत्तिरतस्तत्र यदा यथाभूता यावन्तश्च स्फुरद्गुणा यतय संभवन्ति तदा तथाभूतास्तावन्तश्चेति निर्यापकत्वेन व्यवस्थाप्या इति दर्शयितुमाह—

मूलारा—भरदेरवेदसु पंचसु भरतेषु पंचसु ऐरावतेषु। वासेसु क्षेत्रेषु। तदिया तदा तस्मिन्काले कालानुगुणा निर्यापका ग्राह्या इत्यर्थः ॥

जिनका गुणवर्णन ऊपर किया है ऐसे ही मुनि निर्यापक होते हैं ऐसा न समझना चाहिये, परन्तु भारत और ऐरावत कालमें विचित्र कालका परावर्तन हुआ करता है इसलिये कालानुसार प्राणिओंके गुणोंमें भी जवन्त्य-मध्यमता और उत्कृष्टता आती है। जिससमय जैसे शोभन गुणोंका संभव रहता है उस समय वैसे गुणधारक मुनि निर्यापक परिचाग्न समझ कर ग्रहण करना चाहिये।

अर्थ—भरतक्षेत्रमें और ऐरावतक्षेत्रमें समस्तदेशोंमें जो जैमा काल प्रवर्तता है उसके अनुसार निर्यापक समझना चाहिये अर्थात् मध्यमकालके आरंभमें चन्वेचालीत निर्यापक होते हैं।

एवं चदुरो चदुरो परिहिवेद्वग्वा य जदृणाए ॥  
कालमि संकिलिदुंमि जाव चत्तारि साधेति ॥ ६७२ ॥  
णिज्जावया य दोणि वि होति जहणेण कालसंसयणा ॥  
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥ ६७३ ॥  
हेयाः क्रमेण चत्वारश्चत्वारस्तावदंजसा ॥  
यावत्तिष्ठन्ति चत्वारः काले संक्खेयांसकुले ॥ ६७७ ॥  
कालानुसारिणौ ग्राह्यौ द्वौ जयन्येन योगिनौ ॥  
भरतैरावतक्षेत्रभवौ निर्यापकौ यती ॥ ६९८ ॥

विजयोदया — सद्यर्थोत्तरायाद्वयमिति न व्याख्यायेते ॥  
कालानुसारेणात्र निर्यापकाणां सख्याद्वातिक्रमं दर्शयति—

मूलारा — परिहिवेद्वग्वा हार्नि नेतव्या । जदृणाए देशकालानुसारेण गुणेषु यत्नेन । संकिलिदुंमि संक्खे-  
शचकुले ॥

अर्थ — इस प्रकार देशकालानुसार गुणोंको यत्नसे देखकर इस संक्खेश परिणायुक्तकालमें चार चार निर्यापक कम कम करना चाहिये, वे तब तक कम करना जब वे चार रहेंगे अर्थात् क्षपकके समाधिमरण साधनेके लिये केवल देश, काल, गुणकी अपेक्षासे यदि चार ही निर्यापक हो तो भी समाधिमरणरूपकार्यकी समाप्ति होती है अतिशय संकिलष्ट कालमें दो निर्यापक भी क्षपकके इस कार्यको साध सकते हैं, परंतु जिनागममें एक निर्यापकका किसी भी कालमें उल्लेख नहीं किया है।

जयन्यतो द्वौ निर्यापकौ इति किमर्थमुच्यते । एको जयन्यतो निर्यापक कस्मान्नोपन्यस्त इत्याशकाया एकस्मिन्निर्यापके दोपमाचष्टे—

एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परोपवयणं च ॥  
वसणमसमाधिमरणं उडाहो दुग्गदी चावि ॥ ६७४ ॥

आत्मा त्यक्तः परं शास्त्रं एको निर्यापको यदि ॥  
असमाधेयमृतिव्यक्त्येयमसौ दुर्गतिः परा ॥ ६९९ ॥

विजयोदया—एको यदि निर्यापक । अप्या चत्तो आत्मा त्यक्तो भवति निर्यापकेण, परः क्षपकत्त्यक्तो भवति ।  
पचयण च प्रवचन च त्यक्त भवति । वसण व्यसन दुःख भवति । अस्माधिमरणं समाधानमतरेण रतनत्रये सृति स्यात् ।  
उग्रहो धर्मदूषणा भवति । दुग्दी चावि दुर्गतिश्च भवति ॥

सर्वजवन्या निर्यापकसंख्या नियमयति

मूलारा—दुवे द्वौ ।

एकस्मिन्निर्यापके दोषानाह—

मूलारा—अप्या चत्तो निर्यापकेण आत्मा त्यक्तः । परो क्षपकः । वसणं दुःखं भवति । उग्रहो धर्मदूषण ।

जघन्यतासे एक निर्यापकका आगममें क्यों उल्लेख नहीं है. दो निर्यापकोंका क्यों उल्लेख किया है ऐसी शंका होनेपर आचार्य एक निर्यापक होनेमें उत्पन्न होनेवाले दोषोक्ता वर्णन करते हैं.

अर्थ—यदि एकही निर्यापक होय तो उसमें आत्मत्याग, क्षपकका त्याग और प्रवचनका भी त्याग होता है. एक निर्यापकमें दुःख उत्पन्न होता है और रतनत्रयमें एकाग्रतोके विना मरण हो जाता है. धर्मदूषण और दुर्गती भी होती है.

एव निर्यापकेणात्मा त्यक्तो भवति, एव क्षपक इत्येतत्कथ्यति —

खवगपडिजगणाए भिक्खुगहणादिमकुणमाणेण ॥

अप्या चत्तो तव्विवरीदो खवगो हवदि चत्तो ॥ ६७५ ॥

भिक्खायविदधानेन क्षपकप्रतिकर्मणा ॥

अनारतं प्रसक्तेन स्वस्त्यत्तोऽन्यो विपर्ययः ॥ ७०० ॥

विजयोदया—खवगपडिजगणाए क्षपकप्रतिजगरणया क्षपकप्रतियत्तेन । खवगपडिजगणाए इत्यनया गाऽप्या धनैव पदग्रहणा भिक्खुगहणादिमकुणमाणेण भिक्षाग्रहण, निद्रा, कायमलत्याग वा कुर्वता निर्यापकेण । अप्या चत्तो आत्मा त्यक्तो भवति । अशानाग्रहणादित्रया अभावाए । कायमलाना वाऽनिराकरणान्महती निर्यापकस्य पीडा ।

तद्विवरिदो यदि निर्याको भिक्षा भ्रमति निद्रातिशयशरीरमलनिरासार्थं याति, स्रवगो चत्तो भवति क्षपक-  
स्त्यक्तो भवति ॥

कथ आत्मा त्यक्तः कथं वा क्षपक इत्यत्राह—

मूलारा—पडिजगणाए कार्यकरणे । भिक्खवग्गहणादि भिक्षाग्रहणं कायमलत्यागं च । अकुणमणेण अकुर्वता  
निर्यापकेण । चत्तो अशनाग्रहणादिनिवारणाद्विष्णुवाद्यनुत्सर्जनाच्च महर्तो पीडा प्रापितः । तद्विवरिदे भिक्षाभ्रमण-  
निद्राकरणकायशुद्धयर्थगमने । चत्तो त्यक्तः क्षपकस्तत्समाधानानुसंधानापलापात् ॥

एक निर्यापक से आत्माका और क्षपकका भी त्याग होता है इसका विवेचन—

अर्थ—क्षपकके कार्यमें हि यदि निर्यापक तत्पर रहेगा तो आहारग्रहण करना, शयन करना, और शरी-  
रमलका त्याग करना इन कार्योंका त्याग करनेमें निर्यापकको आत्मत्याग करना पड़ेगा। अर्थात् आहारका ग्रहण  
न करनेसे, निद्राका अभाव होनेसे, और शरीरमलका विसर्जन करनेसे निर्यापकको बड़ी वेदना होगी जिससे  
उसका देह पड़ेगा यदि निर्यापक भिक्षाग्रहणादि कार्यमें ही लग जावेगा अर्थात् वह भिक्षाके लिये यदि भ्रमण  
करेगा, खूब सोवेगा, और शौचके लिए जावेगा तो क्षपकका त्याग होगा।

खवयस्स अप्पणो वा चाए चत्तो हु होइ जइधम्मो ॥

णाणरस य बुच्छेदो पवयणचाओ कओ होदि ॥ ६७६ ॥

स्वस्यापरस्य वा त्यागे यातिधर्मो निराकृतः ॥

ततःप्रवचनत्यागो ज्ञानविच्छेदको मतः ॥ ७०१ ॥

विजयोदया—खवगरस अप्पणो वा चाए क्षपकस्यागमनो वा त्यागे । चत्तो खु होदि जइधम्मो त्यक्तो भवति  
यतिधर्मं । यतिधर्मो देवावुदयकरण स परित्तो भवति क्षपकमपहाय गमने । अगमने तु आवश्यकानि यतिधर्मेषु  
प्रधानानि रक्षकानि भवति रक्षिवंद्यात् । णाणरस य बुच्छेदो ज्ञानस्यापि ध्युच्छेदो भवति, निर्पोपकेन सह मृति-  
मुपयाति । तदो तस्मात्पवयणचाओ होदि प्रवचनत्यागो भवति । प्रवचनशब्देनागम उच्यते । प्राप्ता हि केचिदेव भवती-  
ति चेदेकका निर्यापका अनशनादिनातिस्त्रिधा मृतिमुपेयु क शास्त्राण्युपदिशेत् कश्च धारयेद्देति प्रवचनत्यागः ॥

स्वपरत्यागे प्रवचनत्यागमाह—

मूलारा—जादिधम्मो यतेधम्मो वैयाघृत्यकरणं पढावश्यक च त्यक्तं शक्तिवैकल्यात् । गाणस्स य वोच्छेदो ज्ञानस्यापि न्युच्छेद स्यान्निर्यापकमरणात् । पवयणचाओ तदो ततो ज्ञानव्युच्छेदात् प्रवचनस्यागमस्य त्यागो विसर्जनं भवति भोजनायकरणेनातिविलश्रस्य निर्यापकस्य मरणात् । प्रज्ञा हि केचिदेव स्युः ॥

अर्थ—क्षपकका अथवा अपना त्याग होनेपर यतिधर्मका ही त्याग हुआ, वैयाघृत्य करना यतिका धर्म है आत्मत्याग अथवा क्षपकका त्याग होनेसे यतिधर्म भी नष्ट होता है, क्षपकको छोड़कर यदि निर्यापक जावेगा अथवा नहीं जावेगा तो यति धर्ममें जो सामायिकादिक अवश्य कर्तव्य है उनका त्याग होगा, शक्ति कम होनेसे ज्ञानका भी नाश होगा निर्यापक और क्षपक दोनों भी मरेगे तो आगमका त्याग होगा, प्रायः विद्वान् एकाद ही होता है, इस वास्ते अहारादिकके कष्टसे खिन्न होकर निर्यापक मरणको प्राप्त होंगा तो कोन शास्त्रोंका उपदेश करेगा और कोन शास्त्रको धारण करेगा ? इसलिये एकही निर्यापक होनेसे प्रवचनत्याग होता है यह सिद्ध हुआ.

व्यसनं व्याचष्टे—

चायम्मि कीरमाणे वसणं खवयरस अप्पणो चावि ॥

खवयरस अप्पणो वा चायम्मि हवेज्ज असमाधि ॥ ६७७ ॥

क्षपकस्यात्मनो वास्ति त्यागतो व्यसनं परम् ॥

भवेत्ततोऽसमाधानं क्षपकस्यात्मनोऽपि वा ॥ ७०२ ॥

विज्ञयोदया—चायम्मि कीरमाणे त्यागे क्रियमाणे । वसण खवयरस क्षपकस्य दुःखं भवति, प्रतिकासाभावात् । अप्पणो व वसण निर्यापकस्य वा व्यसन भवति अशनादित्यागात् । असमाधिमरण व्याचष्टे—चायम्मि त्यागे सति । खवयरस असमाधि क्षपकस्य असमाधिमरण भवति । चित्तसमाधि कुर्वत, समीपे अभावात् । अप्पणो वा निर्यापकस्य वा । हवेज्ज भवेत् । असमाधि अशनादित्यागजनितदुःखव्याकुलस्य ॥

स्वपरत्यागे दुःसम्प्याह—

मूलारा—खवयरस क्षपकस्य दुःखं स्यात्प्रतीकाराभावान् । अप्पणो अशनादित्यागात् । असमाधी क्षपकस्य असमाधिः । समाधिकराचार्यसंनिधानाभावादाचार्यस्य वा अशनादित्यागजनितदुःखसंकलेशवेशात् ॥



व्यसन अर्थात् दुःखका वर्णन करते हैं—

अर्थ—निर्यापकने क्षपकको छोड़ देनेपर क्षपकको दुःख होता है, उस दुःखका क्षपक कुछ भी प्रतिकार नहीं कर सकता है, और आहारादिका त्याग होनेसे निर्यापकको दुःख होता है, क्षपकका त्याग करनेपर उसके अंतःकरणको रत्नत्रयमें एकाग्र करनेवाला कोई न होनेसे उसका असमाधिमरण होता है, और यदि क्षपकके पास हमेशा निर्यापक रहनेसे उसको आहारादिकोंका त्याग करना पड़ेगा जिससे निर्यापककी भी रत्नत्रयमें एकाग्रता होना असंभव होगी

सेवेज्ज वा अकण्णं कुज्जा वा जायणाइ उड्डाहं ॥

तण्हाल्लुघादिभगो खवओ सुण्णस्मि णिज्जवए ॥ ६७८ ॥

शुधादिपीडितः शून्ये सेवते याचते यतः ॥

क्षपकः किंचनाकल्पं दुर्भोजनयशस्तनः ॥ ७०३ ॥

विजयोदया—सेवेज्ज वा अकण्णं अयोग्यसेवां कुर्यात् । अस्थितभोजनादिकं पार्श्ववर्तिन्यसति । कुज्जा वा कुर्याद्वा । जायणाइ उड्डाह मिथ्यादृष्टीना गत्वा याचते शुधा वा तृणा वा अभिशृतोऽहं अशनं पानं वा देहीति । सुण्णस्मि णिज्जवगे अस्ति निर्यापके ॥

निर्यापकाभावेऽकीर्तिं वाक्ति-

मूलारा—अकण्णं अयोग्यमस्थितिभोजनादिकं । जायणादि याचनामन्त्रपानादिकप्रार्थनं मिथ्यादृष्टीन्प्रति । आदिशब्देन तत्त्ववैश्यादिकं । भग्नो पीडितः । सुण्णस्मि अविद्यमाने ।

अर्थ—यदि एक निर्यापक आहारादिके वास्ते बाहर गया तो इधर क्षपक अयोग्य सेवन करेगा अर्थात् बैठकर भोजन करना वगैरह कार्य करेगा, किंवा मिथ्यादृष्टिके पास जाकर याचना करेगा, मैं भुखसे पीडित हुआ हूँ अथवा प्यासेसे कटी हो रहा हूँ मेरे को खोनेके लिये या पीनेके लिये दो ऐसी याचना करेगा।

दुग्गदि एतद्व्याचष्टे—

असमाधिणा व कालं करिज्ज सो सुण्णगग्गि गिज्जवगे ॥

गच्छेज्ज तवो खवओ दुग्गदिमसमाधिकरणेण ॥ ६७९ ॥

यतोऽसमाधिना मृत्युं यांति निर्यापकं विना ॥

क्षपको दुर्गतिं भीमां दुःखदां लभते ततः ॥ ७०४ ॥

विजयोदया—असमाधिणा व असति निर्यापके समीपस्थे समाधिप्रतरेण कालं कुर्यात् । त तस्तेन असमाधि-  
मरणेन । खवओ दुग्गदि गच्छेज्ज क्षपको दुर्गतिं यायात् अशुभध्यानात् ॥

असति निर्यापके दुर्गतिगमनाह—

मूलारा—स्पष्टम्

दुर्गतिक्का वर्णन—

अर्थ—निर्यापक समीप न होनेपर क्षपकका असमाधिसं मरण होगा, और ऐसे मरणसे अर्थात् अशुभ-  
ध्यानपूर्वक मरणसे क्षपकको दुर्गति होगी—

सल्लेहणं सुणित्ता जुचाचारेण गिज्जवेज्जंतं ॥

सर्वेहं वि गंतव्वं जदीहिं इदरत्थ भयणिज्जं ॥ ६८० ॥

चतुर्विधस्य संघस्य कश्चन प्रेषयेत्ततः ॥

संन्याससूत्रकाचार्यो निर्यापकगणेशिना ॥ ७०५ ॥

श्रुत्वा सल्लेखनां सर्वैरंगंतव्यं तपोधनैः ॥

कारितां शुद्धवृत्तेन भजनीयमतोऽन्यथा ॥ ७०६ ॥

विजयोदया—सल्लेहण सल्लेखना । सुणिता श्रुत्वा । जुचाचारेण युक्ताचारेण स्मरिणा गिज्जवेज्जंतं प्रवर्त्यमाना ।  
सर्वैरपि गंतव्यं यतिभिरितरत्र निर्यापके सूरौ मंदचारिणो भाज्यं । याति-न वा यतयः ।

सम्यग्गाचार्येण प्रवर्त्यमाने क्षपकस्य समाधिमरणोपक्रमे श्रुते सति सर्वयतीनां तदुपसर्पणं अन्यथा विकल्पं

बाह—

मूलारा—जुत्ताचारेण सुविहिताचारेण सूरिणा । गिब्जवेब्जंतं । प्रवर्त्यमानं । इदरत्थ मंडचारित्रे सूरौ निर्यापके सति । भयणिर्जनं गंतव्यं न वेत्यर्थः—

अर्थ—निरतिचार रत्नत्रयका पालन करनेवाले निर्यापकाचार्य के द्वारा क्षपकका] सल्लेखनामरण होने वाला है यह सुनकर सर्व सुनिर्वाको क्षपकके पास जाना योग्य है, परंतु निर्यापकाचार्य मदचारित्रका धारक होगा तो यदि चाहे तो जा सकते हैं, अन्यथा नहीं.

सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिब्बभचिरायेण ॥

भोत्तूण य देवसुहं सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥ ६८१ ॥

एगम्मि भवगहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ॥

ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तहभवे पमोत्तूण ॥ ६८२ ॥

सोदूण उत्तमहस्स साधणं तिब्बभच्चिसंजुत्तो ॥

जदि णोवयादि का उत्तमहमरणम्मि से भती ॥ ६८३ ॥

एति सल्लेखनामूलं भक्तितो यो महामनाः ॥

स नित्यमश्नुते स्थानं भुक्त्वा भोगपरंपराः ॥ ७०७ ॥

एकत्र जन्मनि प्राणी त्रियते यः समाधिना ॥

अकल्मषः स निर्वाणं सप्ताष्टलभते भवैः ॥ ७०८ ॥

यो नैति परया भक्त्या श्रुत्वोत्तमार्थसाधनम् ॥

उत्तमार्थमृत्नौ तस्य जंतोर्भक्तिः कुतस्तनी ॥ ७०९ ॥

भक्तिः ॥

विजयोदया—सोदूण श्रुत्वा उत्तमार्थसाधन । तीमभक्तिसंयुक्तो यदि न गच्छेत् । नेव तस्य उत्तमार्थमरणे

अत्रेमे गाथे सदेऽनुश्रयेते—

मूलारा—एते श्री विजयाचार्यो नेच्छन्ति ।

समाधिमरणोपक्रमकर्णार्थानुपसर्पतो दोषमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जो यति तीव्र भक्तिरागमे सहस्रलक्षके स्थानकी वंदना करनेको जाते हैं उनको मरणोत्तर देवगति का सौख्य मिलता है अन्तर उनको मोक्षकी प्राप्ति होती है, जो यति एकरूपमे समाधिमरणसे मरण करता है वह अनेक भव धारण कर संसारमें भ्रमण नहीं करता। उसको सत आठ भव धारण करनेके अनंतर अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होगी।

अर्थ—समाधिमरणका साधन कोई मुनि कर रहा है ऐसा मालूम होनेपर अन्य अन्य संघके मुनि बड़े आदर भावसे उसके दर्शन के लिये जावे यदि कोई नहीं जायेगा तो उसी उत्तमार्थमरणमें भक्ति नहीं है ऐसा समझना चाहिये

उत्तमार्थमरणभक्त्यभावे दोषमाचष्ट—

जत्थ पुण उत्तममरणस्मि भत्ती ण विज्जेदे तस्स ॥

किह उत्तमट्टमरणं संपज्जदि मरणकालस्मि ॥ ६८४ ॥

उत्तमार्थमृतौ यस्य भक्तिर्नास्ति शरीरिणः ॥

उत्तमार्थमृतिस्तस्य मृतौ संपद्यते कुतः ॥ ७१० ॥

विजयोदया—जस्त पुण यस्य पुन उत्तमार्थमरणे भक्तिर्न विद्यते तस्य मरणकाले कथमुत्तमार्थमरणं संपद्यते इति दोषः सूचित ॥

उत्तमार्थमरणे भक्त्यभावे दोषमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

उत्तमार्थ मरणमें भक्ति न होनेसे क्या दोष होता है इनका वर्णन—

अर्थ—जिसकी उत्तमार्थमरणमें समाधिमरणमें भक्ति नहीं है उसको मरणकालमें उत्तमार्थमरणकी प्राप्ति कैसी होगी अर्थात् वह आर्तादिक अशुभध्यानसे मरणको प्राप्त होगा, ऐसा अभिप्राय इस गाथासे सूचित होता है,

सद्वद्वीणं पामं अल्लियदु असंवुडाण दादब्बं ॥  
तेसिं असंवुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी ॥ ६८५ ॥

तस्यासंवृतवाक्यानां न पार्थ्वे देयमासितुं ॥

वचनैरसमाधानं तद्वैयर्थ्यायते यतः ॥ ७११ ॥

विजयोदया — असंवुडाण पास सद्वदीण अल्लियदु दादब्बं । असंवृताना अपक्कसमीपं ढोकन न दातव्य । यावद्देशस्थाना तेषा वचन न श्रूयते ।

कस्मादसंवृतजनलसीपागमन निषिध्यते इत्याचष्टे — तेसिं असंवुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी । तेषामसंवृताभिर्वाग्भिर्बन्धकस्य असमाधि । क्षीणो हि जनो यत्किञ्चिच्छ्रुवा कुप्यति स्नेहसमुपयति वा । उत्तमार्थसाधकस्य समीपे वाचलाना गमनं निषेद्धमाह —

मूलारा — सद्वदीणं शब्दः पतीना शब्दव्रतिना च कलकलकारिणाभिर्यथ । पामं समीपं अर्थात्क्षपकस्य । अल्लियदु आश्रयितुं । असंवुडाण वाग्गुप्तिममिति विकलाना । अमंडुडगिराहिं उत्सूत्राभिर्वाग्भिः । असमाधी वित्तविक्षेपः । क्षीणो हि जनो यत्किञ्चिच्छ्रुत्वा कुप्यति संक्लियते वा ।

अर्थ — जो वाग्गुप्ति अथवा भाषासमिति के पालक नहीं है, जो आगमसे विरुद्ध भाषण बोलते हैं अथवा जो जादा कलकल करते हैं ऐसे लोगों को क्षपक के पास नहीं जाने देना चाहिये क्यों कि उनका निरर्गल आगम विरुद्ध भाषण सुनकर क्षपक का चित्त रत्नत्रयमें स्थिर न होगा और क्षीण हुआ वह क्षपक कोपयुक्त संक्लेश परित्यागमयुक्त हो जावेगा अतः आगमविरुद्ध जादा वाद करनेवाले को क्षपक के पास जादा निषिद्ध किया है, जहां तक शब्द सुननेमें आवेगा वह। तक उनका गमन निषिद्ध समझना चाहिये

भक्तादीणं भक्ती गीदत्येहिं वि ण तत्थ कादब्बा ॥

आलोचना वि हु पसत्थमेव कादब्बिया तत्थ ॥ ६८६ ॥

गीतार्थैरपि नो कृत्या खसिस्तार्थादिका कथा ॥

आलोचनादिकं कार्यं तत्रातिमधुराक्षरम् ॥ ७१२ ॥

विज्ञयोदया—प्रसादीर्णं तती भक्त्यादिकथा । गृहीतार्थैरपि यतिभिस्तद्यक्षपकसकाशेन कर्तव्येति । आलोयणा नि नु आलोचनागोचराद्यतिचारविषया । तस्य क्षपकसमीपे । पसत्यमेव कारुव्या ययासौ न शृणोति तथा कार्यार्थ । वहुषु युक्ताचारेषु स्त्रीषु सत्सु ॥

गीतार्थानां क्षपकमेते व्यवहार्यमाह—

मूलारा—तन्ती कथा । आलोयणा गोचराद्यतिचारगोचरा । पसत्यमेव यथामौ न शृणोति तथा कथा कार्येत्यर्थ ॥

अर्थ—आगमार्थको जाननेवाले मुनिओंको क्षपकके पास भोजनरूपा, वगैरे कथाओंका वर्णन करना भोग्य नहीं है, भोग्य आचारोंको जाननेवाले आचार्योंके पासही बुद्धम अतिचारविषयक आलोचना करना हो तो वह भी प्रशस्त ही करनी चाहिये, अर्थात् वह क्षपक सुन न सके ऐसी आलोचना करनी चाहिये.

पञ्चकषाणपडिकमणुवदेसणिवोगतिविहवोसरणे ॥

पठवणापुच्छाए उवसंपण्णो पमाणं से ॥ ६८७ ॥

प्रत्याख्यानोपदेशादौ सर्वत्रापि प्रयोजने ॥

क्षपकेण विधातव्यं प्रमाणं सूरिराश्रितः ॥ ७११ ॥

विज्ञयोदया—प्रत्याख्यान प्रतिक्रमणादिक । से तस्य सकाशे कर्तव्यमिति यावत् । यदि शक्तोऽसौ, न चेत्तदनुज्ञातस्य समीपे ॥

वहुष्वपि युक्ताचारेषु सत्सु सूरिषु क्षपकेण प्रत्याख्यानानादिकं प्रथममुपाश्रितस्यैव सूरः समीपे कर्तव्यमित्यनु-

शास्ति—

मूलारा—णिओम आज्ञादान । तिविहवोसरणे त्रिविधाहारत्यागे । पठवणा प्रायश्चित्तं । आपुच्छा प्रशः । उवसंपण्णो निर्यापकत्वेनाश्रितः । पमाण प्रमाणमविसंवाद्यो भवति । यद्यसावशक्तस्तदा तदनुज्ञया तादृगन्योऽपि प्रमाणमिति निर्णय ।

युक्ताचारके ज्ञाता अनेक आचार्य हो तो भी जिसके पास क्षपकने प्रथम आलोचना की है उसके ही सन्निध प्रत्याख्यानानादिक करने चाहिये ऐसा वर्णन—

अर्थ—क्षपकमुनि श्रत्याख्यान, शक्तिकमण वगैरेह आबन्धक कर्तव्य ग्रथम आचार्यके पास ही करे, आज्ञा ग्रहण काना उपेक्ष्य सुनना, तीन गङ्गाके आहाराका त्याग करना, (जल छोड़ना) प्रत्यागित ग्रहण करना, प्रजन करना, इत्यादिक धर्मोंसे ग्रथमाचार्य ही उनके लिये प्रमाण है यदि ग्रथमानाने उगेदण्ड डसे, नगरह नगरोंमें अगत हो तो उनके आज्ञानुसार दूसरे आचार्यके पास क्षपक शक्तिभणादिक कर्तव्य कर मकता है.

तेल्लकसायादीहि य बहुसो गङ्गसया दु वेत्तव्वा ॥

जिम्भाकण्णाण वल होहिदि तुंडं च से विसदं ॥ ६८८ ॥

नेन तैलादिना कार्यो गङ्गया संत्यनेकज्ञः ॥

जिह्वावदनकर्णादेर्मैल्यं जायते ततः ॥ ७१ ॥

भवन्ति येषां गुणिन सहाया विघ्न विना ते ददते समाधिं ॥

समाधिदानोद्यतमानसैस्ते ग्राह्याः प्रयत्नेन ततो गणेन्द्राः ॥ ७१६ ॥

इति निर्यापकाः ।

विजयोदया—तेल्लकसायादीहि य तैलेन कणायदिभिद्व। बहुसो गङ्गसया दु गङ्गया । घेतव्वा ग्राह्या । तत्र गुण वदति—जिम्भाकण्णाण वल जिह्वाया कर्णयोश्च शक्तिर्यल वच्चे श्रवणं च । होहिदि भविष्यति । तुंडं च से विसदं होद्विन्ति पदसवद्य । तुंडवैराद्य अपि क्षपकस्य भविष्यति । निर्यापकव्यावर्णना समाप्ता ॥

वाक्श्रवणपाटवमुखवैराचार्य यथादीपं तैलादिगङ्गधारणं गुरुनियोगेन क्षपकस्य विधेयतयोपदिशति—

मूलारा—गङ्गसया गङ्गया । घेतव्वा ग्राह्या । क्षपकेण । वलं । वचने श्रवणे च शक्तिः । तुंडं मुखं । निर्यापकः सूत्रत २७ अंकत ॥ ४० ॥

अर्थ—तेल और कणायले द्रव्योंके क्षपकको बहुतवार कुरले काने चाहिये। कुरले करनेसे जीभ और कानोंमें सामर्थ्य प्राप्त होता है अर्थात् कणायद्रव्यके कुरले करनेसे जीभके उपरका मल निकल जानेसे वह स्वच्छ होती है। बोलनेमें समर्थता प्राप्त होती है। वरुणमें तेल डालनेसे श्रवणशक्ति बढ़ती है निर्यापकवर्णन समाप्त हुआ.

णिज्जावययपगासणा इत्येतद्वदन्ति—

द्वव्वपयासमकिञ्चा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरणं ॥

कह्मिंवि भत्तविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥ ६८९ ॥

अप्रकाइय त्रिधाहारं त्याज्यते क्षपको यदि ॥

तटोत्सुक स कुत्रापि विशिष्टे जायतेऽशने ॥ ७१७ ॥

विजयोदया — द्रव्यपगाममकिञ्चा द्रव्यस्याहारस्य प्रकाशनं तं प्रति होक्तेन अकृत्या । जइ कीरइ यदि क्रियते । तस्स तस्य क्षपकस्य । तिविहवोसरणे त्रिविधाहारत्यलं । कह्मिंवि कस्मिंश्चिदपि । भत्तविसेसंमि भत्तविशेषे । उस्सुगो होज्ज सो खवओ उस्सुको भवेत्स शपक् । आहारोत्सुक्य चित्तं व्याकुलयति ॥

अथैव प्रियधर्मस्त्रादिगुणभ्राममप्रनिर्यापकयतिगणपरिचर्यमाणस्य क्षपकस्य त्रिविधाहारं परिजिह्वीपौराहारविशेषे-  
पौत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं विचित्राहारदर्शनलक्षणा चरमाहारप्रकाशना गाथासंकेन, व्यावर्णयिष्यन्पूर्वं सयुक्तिकं तत्प्रयोगवि-  
धिं गाथाद्वयेनाह—

मूलाया — द्वव्वपयात्तं द्रव्यस्य नानाविधाहारस्य प्रकाशं तं प्रति होक्तेन । उस्सुगो उत्सुकः सोत्कण्ठमभिलाषुकोऽ-  
नादिसंतत्या प्रवर्तमानत्वादाहारसंज्ञायाः ॥

अब आहारप्रकाशनं प्रकरणका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—क्षपकको आहार न दिखाकर ही यदि उससे तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कराया जावेगा तो ; वह किसी आहारविशेषमें उत्सुक होगा, अर्थात् अमुक आहार मरेको चाहिये ऐसी इच्छा उसके मनमें प्रादुर्भूत होगी जिससे उसका मन दुःखित होगा, यह आहारसंज्ञा जीवमें अनादिकालसे संलग्न हुई है इसवास्ते उसको आहार दिखाकर उपदेश देकर उससे विरक्त करना चाहिये.

तस्मा तिविहं वोसरिहिदिचि उक्कस्सयाणि दव्वाणि ॥  
सोसित्ता संविरल्लियु चरिमाहारं पायासेज्ज ॥ ६९० ॥



पासितु कोई तादी तीरं पत्तस्सिमोहिं किं मेत्ति ॥

वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९१ ॥

तत् कृत्या मनोज्ञानामाहाराणां प्रकाशना ॥

सर्वथा कारयिष्यामि त्रिविधाहारमोचनम् ॥ ७१८ ॥

कश्चिद्दृष्ट्वा तदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥

इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७१९ ॥

विजयोदया—पासितु दृष्ट्वा आहारमुपदर्शितं । कोइ कश्चित् । तादी यति । तीर पत्तस्स तीर प्राप्तस्य । इमोहिं अभीभिर्मनोवैराहारैः । किं मेत्ति किं ममेति । वेरगमणुप्पत्तो भोगवेराग्यमनुप्राप्त उपगत । संवेगपरायणो होदि संसारभयात्प्राप्तो प्रचानो भवति ॥

मूलारा—वोसरिहिंति प्रत्याख्यास्यतीति । सोसित्ता सर्वतोपस्येष्टत्वात्तत्समीपमानीय । संविरलिय भाजनेषु विरलं विरलं वृत्ता । संविरइय इति पाठे सम्यग्विरचय्येत्यर्थः । पयासेज्ज दग्गयेस्सुरि । एता दीकाकारो नेच्छति ॥ कश्चित्तानि दृष्ट्वा परं वैराग्यं प्राप्तो भवभयप्रधानो भवतीत्यनुशास्ति—

मूलारा—पासितु उपदर्शितमाहारं दृष्ट्वा । तादी मुनिः । तीरं सरणात् । इमोहिं एतैरुच्छट्टभोज्यैः । किं मेत्ति किं प्रयोजनं ममेति । वेरगं भोगवैराग्यं । मनोज्ञविषयसेवा हि पौनःपुन्येन प्रवर्त्यमाना तत्राभिलाषमनुबध्नाति तत्तच्च कर्म-बंधस्ततो भूयोऽपि भीमभवप्रवेश इति ।

अर्थ—इसलिये अच्छे आहारके पदार्थ वर्तनोंमें पृथक् पृथक् परोसकर उस क्षपकके समीप लाने चाहिये और उसको दिखाना चाहिये, ऐसे उत्कृष्ट आहारको देवकर कोई क्षपक मुनि मैं तो अब इस भवके दूसरे किनारे को प्राप्त हुआ हूँ, इन मनोहर आहारोंकी मेरेको कुछ आवश्यकता नहीं है ऐसा मनमें समझकर भोगसे विरक्त होता है और संसारसे भययुक्त होकर आहारका त्याग करनेमें ही उद्युक्त होता है.

आसादिच्चा कोई तीरं पत्तस्सिमोहिं किं मेत्ति ॥

वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९२ ॥

देसं भोञ्चा हा हा तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ॥  
 वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९३ ॥  
 सत्वं भोञ्चा धिच्छी तीर पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ॥  
 वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होइ ॥ ६९४ ॥  
 आस्वाद्य काश्चिदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥  
 इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२० ॥  
 अशित्वा काश्चिदंशेन तीरंप्राप्तस्य किं मम ॥  
 इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२१ ॥  
 वल्बित्वा सर्वमेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥  
 इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२२ ॥

विजयोदया — मनोज्ञविषयसेवा हि पौन पुन्येन प्रवर्तमाना अभिलाष जनयति जतो । स चातुराग कर्म-  
 पुद्गलादने हेतु , ततो भोग भवाभोगधिमवेशन भवभृतामिति स्पष्टार्थं गायत्रयोत्तर । प्रकाशना समाना परासना ॥  
 कोपि स्तोकं मुखे प्रक्षिप्य विरक्तः सत्संविग्नः स्यादित्याह—

मूलारा—स्पष्ट ।

कोऽपि आहारैकदेशं वल्बित्वा तथा स्यादित्याह—

मूलारा—हाहा । मुक्ताश्च विविधाहारा पीताश्च विविधास्तना ॥

मातरो विविधा दृष्टाः पितरश्च भवार्णवे ॥ इति शोऋविपादाविष्टः ॥

कोऽपि सर्वमाहारं मुक्त्वा धिग्धिगमाभित्यात्मानं निन्दित्वा तथा स्यादित्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—कोई क्षपक मुनि नाना प्रकारके मनोज्ञ आहार की प्राप्ति होनेपर इनसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध  
 होगा ऐसा विचार करके उनका सेवन नहीं करता है, मैं तो अब मरणके अन्तिम समयकी प्राप्त हो चुका हूँ

अतः इससे मेरा कुछ प्रयोजन सिद्ध होगा नहीं इम विचारसे वैराग्यको प्राप्त होकर संवगतत्पर होता है।  
कोई क्षपक उस आहारोंमें से थोड़ा आहार उठाकर अपने मुंहमें डाल कर तदनंतर हाय ! अन्न तो मैं अन्तिम समयको प्राप्त हुआ हूँ इस आहारसे मेरा क्या मतलब है ऐसा विचार कर विरक्त और संसारभीत होता है।  
कोई क्षपक संपूर्ण आहारका भक्षण कर उसमें विरक्त होता है हाय मेरेको धिक्कार हो। मैं अन्तिम समयको प्राप्त हुआ हूँ, ऐसे विचारसे विरक्त और भवभीत होता है, मनोब्र विषयोंका सेवन करते रहनेसे चारोंवार अभिलाषा बढ़ती ही जाती है यह अभिलाषा विषयोंपर अनुराग उत्पन्न करती है, अनुरागसे कर्मबंधन होता है और यह कर्मबंधन संसारसमुद्रमें प्राणीको पटक देता है, इस प्रकारके विचारसे क्षपक आहारका त्याग करता है, प्रकाशन प्रकरण समाप्त हुआ।

‘हाणी इति सूत्रपद व्याचष्टे -

कोई तमादयित्वा मणुणरसवैदणाए संविद्धो ॥  
तं चैवणुबंधेज्ज तु सव्वं देसं च गिद्धीए ॥ ६९५ ॥  
वलिभत्वा सुंदराहारं रसास्वादनलालसं ॥  
कच्चित्तमनुबन्धानि सर्वं देशं च गृद्धितः ॥ ७२३ ॥

इति प्रकाशनम् ।

विजयोदया - कोटं कच्चियुति । त दग्गिणमाहार । आदयित्ता भुम्भवा । मणुणरसवैदणाए मनोब्ररसानुभव-  
नेन । संविद्धो मूच्छित्त । त भेयणुमवेज्ज तु तमयाम्मादित्त मनोराहारमनुवन्तीयात् । दग्गिणयेरु वा गिद्धीए गृद्धया ॥  
कच्चिद्धीनमत्तम्वन्नं दग्गिणमाहारं मयं भुम्भत्वा तद्वमानुभवाविष्टस्त्वमेव सर्वं तदेकदेशं वा गृद्धया नित्यमभिलषेदि-  
त्याह--

मूलारा--आड्डना-भुम्भत्वा । वैदणाए अनुभवेन संविद्धो सम्मूर्च्छित्तः ॥ एता श्री विजयाचार्य उत्तरसूत्रे व्याचष्टे ।  
प्रकाशना । सूत्र २८ । अंकतः ७ ॥

हानि नामक प्रकरणका विवेचन --

अर्थ—सोई क्षपक दिखाया हुआ आहार भक्षण कर उसके स्वादिष्ट रसमें लुब्ध होकर उग मंयूण आहारको वारंवार भक्षण करने की इच्छा रखता है अथवा उसमें किसी एक पदार्थ की वारंवार खानेकी अभिलाषा करता है.

तत्थ अवाओवायं दसेदि विससदो उवदिसंतो ॥

उद्धरिटु मणोसल्ल सुहुमं सणिव्वेमाणो ॥ ६१६ ॥

कुरुते देशनां सुरिरायपायविशारदः ॥

निराकर्तुं मनःशल्यं सूक्ष्मं निर्यापयन्नसुम् ॥ ७२४ ॥

विजयोदया—तत्थ तत्राहारसक्तो जाताया । अवाओपाय इन्द्रियसमस्यापाय, अनयमस्य च ढेकनं । दसेदि दशयति । विससदो विशेषेण । उवदिसतो उपदिशन् । उद्धरिटु उद्धतु । मणोसल्ल मनःशल्यम् । सुहुम सूक्ष्मम् । सणिव्वेमाणो सम्यक् प्रशमयन् ॥

अर्थ—मनोज्ञाहारमगृह्यनुग्रहधात्मकल्योद्धरणपूर्विका क्षपकस्य हानिं गीयाचतुष्टयेन व्याचक्ष्णन् पूर्व तादृक् शल्यात्तस्य तस्य निर्यापकाचार्येण प्रयोक्तव्यं प्रतिविधानमभिधत्ते—

तूलार—तत्थ तस्या मनोज्ञाहाररसनामक्तो क्षपकश्च जाताया । अवाओपाये अपायाभिद्रियमंयमविनाश, उपायं च तदसंयमडाकनं । विससने उवन्धितो 'नाजितेन्द्रियस्य कपि कार्येभिद्विरस्तीति' । 'अंधात्पुं मद्दानं यो विपया मीकृतेन क्षण । चक्षुषा मे न जानाति विपया मे न केनचिन्' ॥ इत्येवं प्रत्येक भिक्षेणोपदेशं कुर्यात् । उद्धरिटु उद्धृतु उत्पद्यितु । मणोसल्लं चित्तगतं भोजनगृह्णित्वं घोरदुःखकारणं । सुहुमं सूक्ष्मं गुरुगति तदैवोत्पन्नगीयत्वात् । मणिद्वयेमाणो सम्यक् प्रीणयन्प्रशमोत्पानेन शीतलमन्त्रित्वर्थे ॥

अर्थ—अत्र आहार में क्षपककी आगति हो जाती है तत्र अभिलाषा रूपी सूक्ष्म मनःशल्यको निरालनेके लिये पाचार्थ ज्ञातताये उपदेशो विपय मीकृतेन उद्वेग कर्तते । उद्वेगमर्थं व आहारमीन्द्रिये इन्द्रियमंयममी एवमेव तस्मै चक्षुषा मे न जानाति विपया मे न केनचिन् । अत्र भिक्षेणोपदेशं कुर्यात् । मणोसल्लं चित्तगतं भोजनगृह्णित्वं घोरदुःखकारणं । सुहुमं सूक्ष्मं गुरुगति तदैवोत्पन्नगीयत्वात् । मणिद्वयेमाणो सम्यक् प्रीणयन्प्रशमोत्पानेन शीतलमन्त्रित्वर्थे ॥

देख नहीं पाता परंतु विवेकसे वह रहित नहीं है परन्तु त्रिपांशु हेय, उपादेय, कुछ भी जानता नहीं इस प्रकार का उपदेश क्रमके उसकी आहारकी अभिलाषा हृदयसे निकालते हैं.

सोच्चा सल्लमणत्थं उद्धरदि असेसमप्पमाणेण ॥

वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो खवओ ॥ ६९७ ॥

कांश्चिदुद्धरते शल्य क्षिप्रमाकर्ण्य देशानाम् ॥

करोति संसृतित्रस्त. सूरिणां वचसा न किम् ॥ ७२६ ॥

विजयोदया—सोचा श्रुत्वा वैराग्यकथा । स उ शल्य, उद्धरदि उद्गाटयति । अनेन अनेन । अग्गमोडेण प्रमाद धित्वा । वेरग्गमणुप्पत्तो वैराग्यमनुभास । संवेगपरायण संवेगपर । क्षपक शल्योद्धरणपणे भवति ॥ गुरुपदेशमाकर्ण्य झटिति प्रतिबुद्धः स क्षपको यद्विवृते नदभिधत्ते—  
मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—इस प्रकार वैराग्य बढ़ानेवाला उपदेश सुनकर क्षपक प्रमाद छोड़ देता है. और संपूर्ण अभिलाषा रूपी शल्यको हृदयसे निकालकर फेंक देता है. वैराग्य युक्त होकर सत्सारासे भययुक्त होता है.

अणुसज्जमाणए पुण समाधिकामस्स सव्वमुवहरस्यि ॥

एक्केकं हावैतो ठवेदि पोराणमाहारे ॥ ६९८ ॥

समाधानीयतो गृह्णोः संत्याज्य सकलं गणी ॥

एकैकं हापयन्नेवं प्रकृते दधते ज्ञाने ॥ ७२६ ॥

विजयोदया—अणुसज्जमाणए पुण कृतेऽप्याहारमभिलाषस्य दोषोपदर्शने । अणुसज्जमाणो जाहारे अणुरागान्ति क्षपके । समाधिकामस्स समाधिमरणमिच्छत । सव्वमुवहरस्य सर्वमाहारमुपसृतस्य । ऊय एक्ककं हावतो एकेन आहारं हापयन् सरि । ठवेदि स्थापयति । क्षपक । पोराणमाहारे प्राक्तने आहारे ॥ तदनुवर्धनं समाधिमरणार्थिन एकैकहापनेन सर्वं गृह्णितामाहारं साजयित्वा सरि. क्षपकं प्रकृताहारे स्थापयतीति उपदिशति—

यतीति उपदिशति—

मूलारा—अणुसञ्जमाणगे दक्षितेऽप्याहारगुद्धिदोषे पुनराहारे रागवति क्षपके । समाधिकामस समाधिमर-  
णार्थिन क्षपकस्य संबन्धिनं । सर्वमाहारसेकैकं ह्यापयन्त्युत्स्थानयित्वा । पोरणमाहारे प्राक्तने भोजने स्थापयति स्थितिं  
करोतीति संबन्धः ॥

अर्थ—निर्णयपकाचार्यके द्वारा आहाराभिलाषा के दोष वतानेपर भी क्षपक उस आहारमें यदि  
प्रेमयुक्त ही रहा तो समाधिमरणकी इच्छा रखनेवाले उस क्षपकके संपूर्ण आहारोंमेंसे एक एक आहारको घटाते हैं,  
अर्थात् क्षपकसे एकैक आहारका क्रमसे त्याग करते हैं,

अणुपुव्वेण य ठविदो संवट्टेदूण सव्वमाहारं ॥

पाणयपरिकमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥ ६९९ ॥

क्रमेण वैराग्यविधौ नियुक्तो निरस्य सर्वं क्षपकस्ततोऽन्नं ॥

आराधनाध्यानविधानदक्षैः स पानैकैर्भावयते श्रुतौक्तौ ॥ ७१७ ॥

इति हानिः ।

विजयोदया—ठविदो स्थापित सूरिणा प्राक्तनाहारे क्षपकं पञ्चात्कं करोत्यत आह—सव्वमाहारं, अशनं स्वाद्यं,  
स्वाद्यं च । अणुक्रमेण क्रमेण । सवट्टेदूण उपसहृत्य । पाणयपरिकमेण दु पानकात्येन परिकरेण । अप्पाण आत्मानं पच्छा  
भावेदि पञ्चाद्भावयति । हानिर्व्याख्याता । ह्यणिन्ति ॥

तथा प्राक्तनाहारे स्थापितोऽसौ किं करोतीत्यत्राह—

मूलारा—अणुपुव्वेण अनुक्रमेण । सवट्टेदूण त्यक्त्वा । सव्वं पानकवर्जं त्रिविधमाहार । पाणयपरिकमेण दु  
पानकात्येन परिकरेणैव । पच्छा पश्चिमकाले । भावेदि चतुर्विधाहारत्यागयोग्यं त्वं करोति क्षपकः ॥ हानिः सूत्रतः २९,  
अंकतः ४० ॥

अर्थ—आचार्य उपर्युक्त क्रमसे भिष्टाहारका त्याग कराकर क्षपकको साधे भोजनमें स्थिर करते हैं, तब वह  
क्षपक भात वगैरे अशन और अपूप वगैरे स्वाद्य पदार्थोंको क्रमसे क्रम करता हुआ पानकाहार करनेमें अपनेको  
उद्युक्त करता है, इस प्रकार हानिनामक ग्रन्थ समाप्त हुआ

कतिप्रकारं पानकमित्येकायामाचष्टे—

मर्त्यं बहलं लेवडमलेवडं च ससित्थयससित्थं ॥

छव्विहपाणयमेयं पाणयपरिकम्पमाओगं ॥ ७०० ॥

लेपालेपघनस्वच्छसिक्खथासिक्खयविकल्पतः ॥

पानकमोचितं पानं षोहेदं काथितं जिनैः ॥ ७२८ ॥

विजयोदया—सर्तयं स्वच्छ एकं पानक उष्णोदकं सौवीरक । तित्तिणीकाफलरसप्रशृतिकं च अन्यद्रवहलं । दध्यादिक लेवड लेपसहित । अलेवड अलेपसहित यत्र हस्ततल विलिपति । ससित्थग सिक्खसहित, असित्थगं सिक्खरहित । छद्दा बोढा । पाणमेव पतत्पानकमेकं । परिकम्पमाओग पानकाख्यपरिकर्मप्रायोग्य ।

अर्थव कृताहारपरिहारोद्योगस्य क्षपकस्य तत्प्रत्याख्यानविधानं गायदशकेनोपदेश्यन्पूर्वं तद्योग्यानुपानविकरपात्रिर्दिशति—

मूलारा—सच्छं स्वच्छं उष्णोदकादिकं । बहलं काजिकद्राक्षापानकतित्तिडीकाफिलरसादिकं । लेवडं हस्ततललेपि दधिघोलादिकं । अलेवडं मंडमाथितादिकं । ससिच्छगं पेयादिकं । असिच्छं युद्रसूपादिकं । छद्दा बोढा ॥

पानकके कितने प्रकार हैं इस प्रश्नका उत्तर —

अर्थ—स्वच्छ यह एक पानकका प्रकार है. गरम पानी, वगैरहको स्वच्छ कहते हैं. बहल—कांजी, द्राक्षारस, इमलीका सार, वगैरह गाढ पानक. लेवड जो हाथको चिपकता है ऐसा पतला पदार्थ दही वगैरह. अलेवड—हाथको न चिपकनेवाला मांड ताक वगैरह. सिक्खसहित—जिसमें भातके सिक्ख रहते हैं ऐसा पानक अर्थात् मांड सिक्खग. भातके सिक्ख जिसमें नहीं है ऐसा माड असिक्खग ऐसा छद्द प्रकारका पानक आगममें कहा है

आयबिल्लण सिंभं खीयदि पित्त च उवसमं जादि ॥

वादस्त रक्खण्डं एत्थ पयंचं खु कादव्वं ॥ ७०१ ॥

आचाम्लेन क्षयं याति श्लेष्मा पित्त प्रशाम्यति ॥

परं समीररक्षार्थं प्रयत्नोऽस्य विधीयताम् ॥ ७२९ ॥

विजयोदया—आयनिलेण आचास्लेन । सिंभो सीयदि श्लेष्मा क्षयमुपयाति । पित्तं च पित्तं च । उवसमं जादि उपशममुपयाति । वादस्स वातस्स । रक्खणं रक्षणार्थं । एतथ अत्र । पयत्तं खु मादव्व प्रयत्तं कर्तव्व ॥

कफपित्तवातप्रतिकारोपायमाह—

मूलारा—सिंभो स्त्रीयदि श्लेष्मा क्षयमुपयाति । रक्खणत्थं प्रकोपनिवारणार्थं । एतथ अत्यासन्नमृत्युके क्षपके । पयत्तं प्रकृष्टो यत्तं । येन वातं कुपितः प्रशम्यति येन वा न कुप्यति स आयुर्देनुमारोपक्रमः कर्तव्य एवान्नाधीन-  
त्वान्वितकफधातुमलादीनाम् ॥

अर्थ—आचास्लसे कफ का क्षय होता है पित्तका उपशम होता है और वातका रक्षण होता है अर्थात् उसकाभी प्रकोप होता नहीं इसलिये आचास्लमें प्रयत्न करना चाहिये, अर्थात् इतर पानकोकी अपेक्षासे आचास्ल पानक क्षपककी प्रकृति को अनुकूल होता है इसलिये क्षपक विशेषतासे इसको उपयोगमें लावे.

पानभावनोत्तरकालभाविन व्यापार दर्शयति—

तो पाणएण परिभाविदस्स उदरमलसोधणिच्छाए ॥  
मधुरं पज्जेद्ववो मंडं व विरेयणं खवओ ॥ ७०२ ॥  
ततोऽसौ भावितः पानैर्जाठरस्य विशुद्धये ॥  
मलस्य मधुरं मंदं पायनीयो विरेचनम् ॥ ७३० ॥

विजयोदया—तो पदचात् । पाणेण पानेन । परिभाविदो भावित क्षपक । मधुरं पज्जेद्ववो मधुरं पाययितव्यं । किमर्थं ? उदरमलसोधणिच्छाए उदरगतमलनिरासाय ॥

पानकसंस्कारोत्तरमुपक्रमं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—पज्जेद्ववो पाययितव्यः ॥

पानभावनोत्तर क्या क्रिया करनी चाहिये इसका वर्णन—

अर्थ—पानक पदार्थका सेवन करनेवाले क्षपकको पेटके मलकी शुद्धि करनेके लिये मांडके समान मधुर रेचक औषध देना चाहिये



आणाहवत्तियादीहिं वा वि कादव्वमुदरसोधणयं ॥

वेदणमुपादेज्ज हु करिसं अत्थंतयं उदरे ॥ ७०३ ॥

अनुवासादिभिस्तस्य शोधयो वा जाठरो मलः ॥

अनिरस्तो यतः पीडां महतीं विदधाति सः ॥ ७३१ ॥

विजयोदया—आणाहवत्तियादीहिं अनुवासनादिभिः कादव्व कर्तव्यम् । उदरसोधणय उदरस्थमलमुदरशब्दोच्यते तस्य निराक्रिया उदरमलशोधना । किमर्थमेव प्रयासेन महता मल निराक्रियते इत्यत्राचष्टे । वेदणमुपादेज्ज खु वेदनामुत्पादयेदेव । उदरे करिस्सग पुरीय अत्यतग स्थित ॥

मूलारा--आणाह अनुवासनं । काजिकस्सिन्नवित्त्वपत्राद्युपनाहो वा । वत्ति वर्तिः । सैधवादिमयी गुदप्रणेया आदिशब्देन यापनवस्त्यादिग्रहणं । करिसं पुरीषं । अत्यंतयं विप्रुत् ॥

अर्थ—क्रांजीसे भिगे हुए विल्व पत्रादिकोसे उदरको सेकना चाहिये तथा सैधानमक वगैरह पदार्थोंकी वर्तिका बनाकर गुदद्वारमें उसका प्रवेश करना चाहिये ऐसा करनेसे सब उदरका मल निकलता है, ऐसा प्रयास क्यों करते हो इस मननका उच्चर ऐसा है कि, यदि उदरमें मल संचित होनेपर उसको न निकाला जाय तो वह वेदना उत्पन्न करता है.

एवं कृतोदरशोधनस्य क्षपकस्य योग्य व्यापारं निर्योषकसूरिसंयागमादर्शयति—

जावज्जीवं सन्वाहारं तिविहं च वोसरिहिदित्ति ॥

णिज्जवओ आयरिओ संघस्स णिवेदणं कुज्जा ॥ ७०४ ॥

आराधकस्त्रिधाहारं यावज्जीवं विमोक्षति ॥

निवेद्यमिति संघस्य निर्योपकरणेशिना ॥ ७३२ ॥

विजयोदया—जावज्जीव जीवितावधिकं । सन्वाहारं सर्वोद्धारं । त्रिविधं अशनं, स्नाद्य, स्वाद्यं च । वोसरिहिदित्ति त्यजतीति । णिज्जवगो आयरिओ निर्योपक सूरि । संघस्स णिवेदणं कुज्जा सर्वं निवेदयेत् ॥

एवं विशोद्धितोदरस्य क्षपकस्य योग्यं सूरिप्रयोज्यक्रममुपदिशति—

मूलारा--तिविह अशनं, स्नाद्यं, स्वाद्यं च । वोसरिहिदित्ति त्यज्यति क्षपक इति ।

इस प्रकार क्षपकका उदर शोधनेपर क्षपकके द्वारा कोनसी क्रिया निर्यापक सूरि करते हैं इसका विवेचन—  
अर्थ—यह क्षपक अब अशन, खाद्य और स्वाद्य, ऐसे तीन प्रकारके आहारोंका आमरण त्याग करता है ऐसा निर्यापक आचार्य संपूर्ण सधको विदित करते हैं.

खामेदि तुहा खवओत्ति कुंचओ तस्स चैव खवगस्स ॥

दावेदब्बो णेदूण सव्वसंधस्स वसधीसु ॥ ७०५ ॥

क्षपको वोऽखिलांस्त्रेया निःशल्धीभूतमानसः ॥

क्षान्तः क्षमयते भक्ताः ! क्षमागुणविचक्षणः ॥ ७३३ ॥

विजयोदया—खामेदि क्षमा ग्राह्यति । तुहा युष्मान् । खवगोत्ति क्षपक इति । तस्स चैव खवगस्स तस्यैव क्षपकस्य । कुचगो प्रतिलेखनं । दावेदब्बो दर्शयितव्यं । णेदूण नीत्वा । सव्वसंधस्स वसदीए सर्वसंधस्य वसतीषु ।

सूरिणा सधस्य निवेदनविधिमाह—

मूलारा—खामेदि क्षमा ग्राह्यति । तुन्ह युष्मान् । कुंचगो प्रतिलेखनं । दावेदब्बो क्षमयति शुग्मान्क्षपक इति भाषमाणेन ब्रह्मचार्यादिना सर्वसंधवसतिषु नीत्वा तत्र्यतिलेखनं सूरिणा दर्शयितव्यमित्यर्थः ॥

अर्थ—यह क्षपक आप सब लोगोंको क्षमा ग्रहण करनेकी प्रार्थना करता है इस अभिप्रायका भाषण सर्व संधमें जाकर आचार्य ब्रह्मचारिके हाथमें क्षपककी पिच्छी देकर कहते हैं और वह पिच्छिका सबको दिखाते हैं अर्थात् क्षपक सर्व मुनिओंक पास जा नहीं सकता है इसलिये उसकी पिच्छिका सबको दिखाकर क्षपक आप लोगोंसे क्षमा चाहता है ऐसा आचार्य कहते हैं.

तेन सत्रेन क्षातक्षपकाभिप्रायेण कर्तव्यमित्याचष्टे—

आराधणपत्तीयं खवयस्स व णिरुवसगपत्तीयं ॥

काओसग्गो संघेण होइ सव्वेण कादब्बो ॥ ७०६ ॥

आराधनास्य निर्विघ्ना सम्यक् संपद्यतामिति ॥

स याति सकल. संघस्तनूत्सर्गमसंभ्रमम् ॥ ७३४ ॥

मूलारा—तं पड्विधमपि । यथास्वं । से तस्य । ताहे तदा । प्रत्याख्यानं सूत्रतः । १० । अंकतः । १० ।

कोनसा पानक उसको योग्य हे ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पानक परिकर्म प्रकरणमें पानकके छह भेद बतलाये हैं । तीन प्रकारके आहारका त्याग कराने पर वह पानक उसको उस समय देना योग्य है । पचबखाण प्रकरण समाप्त हुआ ।

तो आयरियउवज्जायसिस्साधम्मिगे कुलगणे य ॥

जो होज्जकसाओ से तमहं तिविहेण खामेदि ॥ ७१० ॥

आचार्येऽध्यापके शिष्ये संघे साधर्मिके कुले ॥

योऽपराधो भवेत्त्रेधा सर्वं क्षमयते स तं ॥ ७३८ ॥

विजयोदया—तो प्रत्याख्यानोत्तरकाले । आयरियउवज्जायसिस्साधम्मिगे आचार्ये, उपाध्याये, शिष्ये, साध-  
र्मिणि, कुलगणे, य कुले गणे च । जो होज्ज कसाओ यो भवेत्क्षपय । क्रोधो, मानो, लोभो वा । तं सब्ब गिरवसेसं तं  
सर्वं निरवशेण । तिविहेण त्रिविधेन । खामेदि क्षपयति निराकरोति ।

अर्थ—इतिपन्नमत्तप्रत्याख्यानसाराधकस्य समाधिमरणसिद्ध्यर्थं चतुर्विधसंघक्षमापणविधिं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा—कुलं दीक्षागुरुपूर्वत्रिपुरुषसंतानः । कसाओ क्रोधादीनामन्यतम । खामेदि क्षमयति ॥

अर्थ—प्रत्याख्यानके अनंतर आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक युनि, कुलमुनि, और गणमुनि इनके  
विषयमें जो हृदयमें कपाय होगा अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ होगा उस सर्व कपायको क्षपक मन,  
वचन, काया विशुद्ध कर हृदयसे निकाल देता है ।

अब्भहियजादहासो मत्थम्मि कदंजली कदपणामो ॥

खामेइ सब्बसंघं संवेगं संजणेमाणो ॥ ७११ ॥

मूर्धन्यस्तकाराभोजो रोमांचांचितविग्रहः ॥

त्रिधा क्षमयते सर्वं संवेगं जनयन्नसौ ॥ ७३९ ॥

विजयोदया—अवमहिदजादद्वासो नितरामुपजातचित्तप्रसादः । कर्तव्यं मुमुक्षुणा यत्तत्सफलं मयानुष्ठितं इति । मत्थस्मि कदजली मस्तकन्यस्ताजलि । कदपणामो कृतप्रणाम । स्वामेदि क्षमा ग्रहयति । सन्वसंव सर्वं श्रमणनाण । सेवग सधर्मनुराग । संजणेमाणो सम्यगुत्पादयन् ॥

मूलारा—अभ्यधिक निरंतरं उपजातचित्तप्रसादो । यत्कर्तव्यं मुमुक्षुणा तत्सर्वं मयानुष्ठितमिति । संवेगं धर्मानुरागं । संजणेमाणो सम्यगुत्पादयन् सधस्य ॥

अर्थ—मुमुक्षुना सर्वं कर्तव्य मैंने किये हैं इस विचारसे जिसके हृदयमें मसन्नता उत्पन्न हुई है ऐसा वह क्षपक अपने मस्तकपर दो हाथ जोड़ सर्व संघको नमस्कार करता है और सार्धर्मिकोंमें अनुराग उत्पन्न करता हुआ क्षमा ग्रहण कराता है अर्थात् हाथ जोड़नेसे उसने मेरे ऊपर आप सब लोग क्षमा करो ऐसा अभिप्राय सूचित किया,

मणवयणकायजोगेहिं पुरा कदकारिदे अणुमदे वा ॥

सव्वे अवराधपदे एस खमवेमि णिस्सच्छो ॥ ७१२ ॥

योऽपराधो मयाकारि मनसा वपुषा गिरा ॥

क्षमये तमहं सर्वं निःशल्यीभूतमानसः ॥ ७४० ॥

विजयोदया—मणवयणकायजोगेहिं मनोवाक्काययोक्तैः । पुरा पूर्वं । कदकारिदे अणुमदे वा कृतकारितानुम ताश्च । सव्वे अवराधपदे सर्वानपराधविशेषान् । एस एष । खमवेमि । क्षमा ग्राहयामि । णिस्सच्छो शल्यरहितोऽहमिति ॥

मूलारा—अवराधपदे अपराधविशेषान् ॥

अर्थ—मन, वचन और शरीरके द्वारा, तथा कृत, कारित और अनुमति के द्वारा जो जो अपराध मैंने किये हैं उनकी आप लोक मेरेको क्षमा करो मैं शल्य रहित हुआ हूं

अम्मापिदुस्सिसो मे खमहु खु जगसीयलो जगाधारो ॥

अहमवि खमामि सुद्धो गुणसंघायस्स संघस्स ॥ ७१३ ॥

मम पितृजननीसदृशः शश्वत्त्रिभवनमहितः सुयशः संघः ॥

प्रियुहितजनकः परमां क्षांतिं रचयत कृतवानहमक्षान्तिम् ॥ ७४१ ॥

इति क्षमणा ।

विजयोदया—अम्मापिदुसरिसो मात्ता पिता च सदृशो । मे मम खमदु क्षमा करोतु । जगसीदलो जगतः सर्व-  
प्राणिलोकस्य शीतलः । जगाधारो आसद्यभव्यलोकस्य आधारः । अहमवि खमामि परकृतमपराध मनसि न करोमि ।  
सुद्धो शुद्धः क्रोधादिकलंकधिरहात् । गुणसघादस्स गुणसमुदायस्य । सद्यस्स सद्यस्य । खामणा ॥

मूलारा—अम्मा माता । खमदु क्षमा करोतु संघः । जगसीदलो सर्वप्राणिसुखावहः । जगाधारो आसन्न-  
भवनलोकाश्रयः । सुद्धो क्रोधादिकलंकनिर्मुक्तः । संघक्षमाकर्ण सूत्रत ॥ ३१ ॥ अकतः ॥ ४ ॥

अर्थ—यह संघ माता और पिताके समान हित करनेवाला है, जगतके संपूर्ण प्राणिजोंको सुरदायक  
है, आसन्न भव्य लोकोंको यह आश्रय स्थान है क्रोधादि कलंकोसे-दोषोंसे रहित है और गुणोंके समुदायसे  
परिपूर्ण है, इस सर्वसंघसे मैं क्षमाकी याचना करता हूं, यह संघ मेरेको क्षमा प्रदान करे, मैं भी दुसरेने किये हुए  
अपराध मनमें नहीं लाता हूं अर्थात् दूसरेके अपराधोंको भूल जाता हूं, खामणाद्वयका विवेचन समाप्त हुआ.

संघो गुणसंघओ संघो य विमोचओ य कम्ममाणं ॥

दंसणणाणचरित्ते संघायंतो हवे संघो ॥ ७१४ ॥

इय खामिय वेरग्ग अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ॥

पप्फोडित्तो विहरदि बहुभववाधाकरं कम्मं ॥ ७१५ ॥

वट्ठति अपरिदंता दिवा य रादो य सब्बपरियम्मे ॥

पडिचरया गणहरया कम्मरयं निज्जेमाणा ॥ ७१६ ॥

क्षपयित्वेति वैराग्यमेव स्पृशन्ननुत्तमम् ॥

तपःसमाधिमारूढश्चेष्टते क्षपयन्नघं ॥ ७४२ ॥

अग्रमत्ता गुणाधाराः कुर्वन्तः कर्मनिर्जराग्रम् ॥

अनारतं प्रवर्तते व्याघृत्तौ परिचाराकाः ॥ ७४३ ॥

विजयोदया—वृद्धति वर्तन्ते । अपरिदता अपरिआन्ता । दिवा य रात्रौ य दिने रात्रौ च । सव्यपरिक्रमो सर्व-परिचरणे । पङ्क्तिरगा नियोपका । गणहरया गणान् धर्मस्थान् धारयन्तीति गणधरा । कम्मरयं कर्मोख्यं रजः । गिज्ज-रेमाणा निर्जरयन्तः ॥ ।

अर्थ—कृतक्षमणस्य क्षपकस्य सर्वत्र समाहितमनसो बहुभुवकोटिसंचिताशुभकर्मनिर्जरालक्षणं क्षमणं गाया-पंचकेन व्याचक्षणाः पूर्वं तदर्थसंग्रहाथामुपन्यस्यति—

मूलारा—स्वामिय क्षमयित्वा सर्वसंचं । वेरगो निर्विण्णः । अणुतरं उत्कृष्टम् । पप्फोडितो निर्जरयन् । विह-रदि प्रवर्तते ॥

तथा प्रयतमानस्य संन्यासिनो नियोपका वैयावृत्त्ये सुतरा यतते इत्याह—

मूलारा—अपरिदता अपरिआताः । गुणधरया गुणान्स्वपरस्थान्धारयन्तः । कम्मरयं कर्म दुष्कृतं रज इव शरी-रस्य सौरूप्यादिगुणानामिवात्मनः संज्ञानादीना प्रतिबंधकत्वात्कच्छूदुद्रुप्रश्रुतीनामिव दुर्गतिविपदा संपादकत्वाच्च । गिज्ज-रेमाणा क्षपकस्यात्मनश्चैकदेशेन क्षपणा प्रापयन्तः ।

अर्थ—यह संघ गुणोंका समूह है, यह कर्मोंका नाश करके प्राणिओंको मुक्तिसुख देनेवाला है, दर्शन, ज्ञान और चारित्रिकी इकठ्ठा करनेवाला है अतः इसको संघ यह अन्यर्थक नाम प्राप्त हुआ है,

अर्थ—इस प्रकारसे सर्व संघको क्षमा करनेवाला, उत्कृष्ट वैराग्यकी सीमाको प्राप्त हुआ, तपमें एका-ग्रताको प्राप्त हुआ ऐसा यह क्षपक अनेक भवमें दुःख देनेवाले कर्मका नाश करता हुआ रत्नत्रयमें विहार करता है,

अर्थ—गणको धर्ममें स्थिर करनेवाले आचार्य और परिचारक मुनि दिवस और रातमें सर्व कार्योंमें तत्पर होकर क्षपककी शुश्रूषा करते हैं, जिससे उनकी कर्मनिर्जरा होती है, यह कर्म रजके समान है,

जं बद्धमसंखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं ॥

सम्मचुप्पत्तीए खवेइ तं एयसमयेण ॥ ७१७ ॥

यज्जन्मलक्ष्कोटीभिरसंख्याभी रजोऽजितम् ॥

तत्सम्यग्दर्शनेनात्पादे क्षणेनैकेन हन्यते ॥ ७४४ ॥

विजयोद्या—जं यत् । वद्ध रयं वद्धं रजः कर्म । यथा रजच्छादयति परस्य गुणं शरीरादेः कच्छददुग्धभृतिकं दोषमावहति । तद्वद्वोधादिगुणमवच्छादयति । संपादयति च त्रिचिन्ना विपदं तेन रज इव रज इत्युच्यते । भवसदसहस्स कोडीर्हि भवशतसहस्रकोटिभिः । तद्वज्रं सर्वेति क्षपयति । केन ? सम्मत्तुपत्तौप श्रद्धानोतस्या । एगसमयेण एकेनैव सम- शोऽसंख्येयगुणनिर्जरा इति ॥

तत्कालोर्दर्णस्य संन्यासिनस्तदुपासिना च श्रद्धानस्य माहात्म्यमभिष्टौति—

मूलारा—रयं पापं । सर्वेति गालयति । क्षपकतत्परिचारका अविशेषेणैव वा भव्यजीवा सम्यक्त्वभूमिमानु प्राप्ताः । एयसमयेण अल्पकालेन ॥

अर्थ—रज-धूलि शरीरको आच्छादित कर विरूप बनाती है और खरूज, दद्रू वर्गेरह रोगको उत्पन्न करती हैं वैया यह कर्मरज आत्माके ज्ञानदर्शनादि गुणोंको आच्छादित कर उसको दुर्गतिमें लोटता है अतएव इस वद्ध हुए कर्मरजकी आचार्य और परिचारक मुनि क्षपकशुश्रूषा कर निर्जीर्ण करते हैं, जब सम्यग्दर्शन जीवको प्राप्त होता है तब कोट्यवधि भवमें संचित हुए कर्मको भी एक समयमें निर्जीर्ण करते हैं, क्षपककी शुश्रूषा करनेसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है जिससे एक समयमें असंख्येय गुणी निर्जरा होती है तथा जो भव्य क्षप- पके दर्शनार्थ आते हैं उनको भी सम्यग्दर्शनका लाभ होनेसे उनके कर्मकी निर्जरा होती है, तत्त्वार्थाधिगम महाशास्त्रमें 'सम्यग्दृष्टिश्रावक इत्यादि' सूत्रमें सम्यग्दृष्ट्यादि श्रावकोंको प्रतिसमय असंख्येय गुणित कर्म निर्जरा होती हैं ऐसा लिखा है,

एयसमएण विधुणादि उवउजुत्तो बहुभवजियं कम्मं ॥

अणयरम्मि य जोग्गे पक्कवाणे विसेसेण ॥ ७१८ ॥

धुनीते क्षणतः कर्म संचितं बहुभिर्भवे ॥

व्यावृत्तोऽन्यतमे योगे प्रत्याख्याने विशेषतः ॥ ७४५ ॥

विजयोदया—एरासमेयण विधुणावि अत्थेन कालेन निरुत्तनाति । उवउत्तो परिणतः । क अण्णयरम्मि य यस्सिन्कसिस्तपसि । किं ? बहुमवज्जिय कम्म अनेकभवसंचिते कम्म कर्मे । पक्खस्वाणे उवजुत्तो विसेसेण विधुणादि यावज्जीवं चतुर्विधाहारत्यागे परिणत' विशेषेण कर्माणि निरस्यति ॥

तद्वत्तपोविधानदिपरिणामस्य महिमानं गाथाद्वयेन व्यावर्णयति—

मूलारा—उवजुत्तो परिणतः । अण्णदरम्मि य जोगे यत्र कविदपि तपसि । पक्खस्वाणे यावज्जीवं चतुर्विधाहार-  
त्यागे । विसेसेण अतिशयेन ॥

अर्थ—जिस किसी तपमें जब यह आत्मा एकाग्रताको प्राप्त होता है तब वह अल्पकालमें ही अनेक भवमें संपादित कर्मका नाश करता है, और जो जीव यावज्जीव चार प्रकारके आहारोंका त्याग करता है वह विशेष रीतीसे कर्मोंका नाश करता है.

एवं पडिक्कंमणाए काउसग्गे यं विणयसज्झाए ॥

अणुपेहासु य जुत्तो संथारगओ धुणदि कम्मं ॥ ७१९ ॥

प्रतिक्रान्तौ तनूत्सर्गे स्वाध्याये विनये रतः ॥

अनुप्रेक्षासु कर्मेति धुनीते संस्तरास्थितः ॥ ७४६ ॥

विजयोदया—एवं उक्तेन क्रमेण । पडिक्कमणो प्रतिक्रमणे काउस्सो य । कायोत्सर्गे च । विणयसज्झाए विनयस्वाध्याययो' । अणुपेहासु, य जुत्तो अनुप्रेक्षासु च युक्त । संथारगदो संस्तरारूढः । कम्मं धुणदि कर्म क्षपयति । खवण गदं ॥

मूलारा—जुत्तो समाहित, । धुणदि संस्तरारूढः सम्यक्त्वादियुक्तः पापं निरस्यति । विशेषेणेत्यनुवर्तनात्तत्प-  
रिचारकादयोऽपि इति व्याख्येयम् । क्षपणा सूत्रतः ३२ । अंकतः ५ ॥

ताट्ठक् संन्याससमाार्चिणि रुचिरवरे भावहैयंगवीन—

न्यालीढाः प्राच्यजन्मान्तिकलिसमिधो यायजूकः स जुव्हत् ॥

सान्द्रान्दासृताशायरविबुधमहाभव्यसभोगिसेव्यः ।

स्फूर्जत्सर्वज्ञमूर्तिः पिवतु मुहुरिमा सूरिबिक्षा सुधावत् ॥



आश्वासः ॥

इत्याशाधरानुसृतग्रन्थसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे षट्प्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे उत्तमार्थसहयोगो नाम पंचम

अर्थ—उक्त क्रमसे संस्तरारूढ जो क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा, इनमें एकाग्र होकर कर्मका क्षय करता है. खवण सूत्रका विवेचन समाप्त हुआ

इत उत्तरं अनुशासनं प्रक्रम्यते इति निगदति -

णिज्जवया आयरिया संथारत्थस्स िंदिति अणुसिंहिं ॥

संवेगं णिव्वेगं जणंतयं कणजावं से ॥ ७२० ॥

अनशननिरते तनुभृति सकलं भवभयजनकं विगलति कलिलं ॥  
अनुहिमकिरणे ह्युदयति तरणी कमलविकसने यनमिव तमः ॥ ७४७ ॥

क्षमणम् ।

निर्यापको गणी शिक्षां संस्तरस्थाय यच्छति ॥

कुर्वन्संवेगनिर्वेदौ कर्णे जपमथानिशम् ॥ ७४८ ॥

अनुशिष्टिं न चेद्वत्ते क्षपकाय गणाग्रणीः ॥

त्यजेदाराधनादेर्वो तदानीं सिद्धिसंफलीम् ॥ ७४९ ॥

विजयोदया - णिज्जवगा आहरिया निर्यापका सूर्यः । अणुसिंहिं िंदिति श्रुतज्ञानानुसारेण शिक्षां प्रयच्छंति । संथारत्थस्स संस्तरस्थस्य । संवेग संसारभीष्टां । संवेगं वैराग्यं च । जणंतयं उत्पादयन्ते । कणजावं कर्णजाप । से तस्मै क्षपकाय ॥

श्रीमूलाराधनादर्पणे षष्ठोऽध्यायः ।

अथ वीरजिनं नत्वा श्रीनिर्यापकसूरिणा ।

संपाद्या क्षपकस्यानुशिष्टि. स्पष्टीकरिष्यते ॥ १ ॥

मिथ्यात्वं नितरां निरस्य सुभजनसम्यक्त्वमाराध्य सद् -  
भक्तिर्मानमच्छावभिरतो ज्ञानोपयोगं सदा ॥

कुर्वन्पंचमहाव्रतावनपरं खर्वन्कयायेन्द्रिय-  
ग्रामं संस्तरमावसत्युभयथा धन्यस्तपस्तुद्यतः ॥ २ ॥

अर्थैवं प्रतिपन्नसन्न्यासस्योत्तमार्थासाधनोद्यतस्य मुमुक्षोर्भिक्षोर्निर्यापकाचार्येण संपाद्या शिक्षा गाथानां सप्तसप्त-  
त्यधिकाष्टशत्या व्यावर्णयिष्यन्नुपक्षेपमाह —

मूलारा—गिन्वेदं संसारशरीरभोगवैराग्यं । कण्णजावं कर्णसमीपोद्धार्यमाणवचनमयीं क्षपकाय अनुशिष्टिं  
वक्ष्यमाणग्रंथप्रतिपाद्या ददाति । कर्णजापं च कर्णजाहोच्चचार्यमाणपंचनमस्कारादिपरमाक्षररूपं ददातीति । मत्त्यत्र शब्दस्य  
छुन्ननिर्विष्टसाश्रयणात् ॥ तदुक्तम्—

निर्यापको गणी शिक्षा संस्तरस्थाय यच्छति ॥

कुर्वन्संवैगनिर्वेदौ कर्णेजपपरोऽनिशम् ॥

अर्थ—निर्यापक आचार्य संस्तरस्थ-संस्तरारूढ क्षपकको श्रुतज्ञानके अनुसार उपदेश देते हैं और  
और निर्वैग उत्पन्न करने वाला कर्णजाप देते हैं

कोऽसौ कर्णजापो य ते प्रयच्छन्तीत्यत्राचष्टे—

गिस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकरवसधिसंधारं ॥

उवाधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥ ७२१ ॥

शोधयित्वोपाधिं शय्यां वैयावृत्यकरानपि ॥

निःशल्यीभूय सर्वत्र साधो ! सल्लेखनां कुरु ॥ ७५० ॥

विजयोदया—गिस्सल्लो मिथ्यादर्शनं, माया, निदानं इति त्रीणि शल्यानि तेभ्यो नि क्रान्तः । तत्त्वश्रद्धात्तेन,  
क्रजुतया, भोगनिस्पृहता वा कदसुद्धी कृता शुद्धिर्निर्मलता रत्नत्रये येन स कृतशुद्धिः । विज्जावच्चकरवसधिसंधारं  
विचिया आपत् विपत् इत्युच्यते । व्याचय, उपसर्गो, परीगह्वा, असंयमो, मिथ्याज्ञान इत्यादिभेदेन तस्यामापदि यत्प्रति  
विधानं तद्वैयावृत्यं तत्करोति य आत्मन स वैयावृत्यकरस्त । वसतिसंधारं वसतिसंस्तरं । उपधिं पिच्छादिकं च ।  
सोधयित्वा विशोध्य । सल्लेहणं सल्लेखना । कुण कुरु । इदाणिं इदानीं । किं ? संयमासंयमविवेकज्ञा-असंयम त्रिधा मनो-

चाक्काये. परिहरन्ति न वेति परीक्ष्य अयोग्यवैयावृत्यकराणां त्यागः । योग्यानां चातुज्ञा । पूर्वोपराह्योर्वसेते; संस्तरस्यो पकरणानां च शुद्धिं कुर्वतेति आश्वासयता तच्छुद्धिः कृता भवति ॥

वात्कालिकीं गुरुसंपाद्यामनुशिष्टिं प्रपंचयिष्यन्सामान्याविशेषाभ्या गाथात्रयेण तामुद्दिशति । तत्र सामान्यत-  
स्तावत्—

मूलारा—सौघइत्ता वैयावृत्यकरादिचतुष्टकं संशोष्य सुपरीक्ष्यायोग्याना त्यागो, योग्याना चातुज्ञा, वैद्या वृत्यकराणा शोधना । शय्यादित्रयस्य च विधिवन्नतिलेखनम् । सल्लेहण सल्लेपना मिथ्यात्वादिगणस्य सम्यक्त्वादिभाव-  
नया निराकरणं । भोः क्षपकरण । इदार्णि संप्रति प्रत्यासन्ने मरणक्षणे । सुतरा प्रयत्नविधापनार्थमिदमुच्यते ।

अर्थ—मिथ्यादर्शन, माया, और निदान ऐसे तीन शल्य हैं. तत्त्वश्रद्धान्ने मिथ्यादर्शनका, सरलपना-  
निष्कपटना, निष्कपटतासे मायाशल्यका और भोगनिःस्पृहतासे निदानशल्यका नाशकर जिसने रत्नत्रयमें निर्मे-  
लता प्राप्त कर ली है ऐसे हे क्षपक मुने ! तू जो वैयावृत्य करनेवाले, वसतिका, उपधि और संस्तरकी शुद्धि करके इस समय सल्लेखना करो. व्याधि-रोग, उपसर्ग, असंयम, मिथ्याज्ञान और परीपहोंको विपत्ति कहते हैं ऐसी विपत्ति आनेपर जो उसका प्रतिकार करना उसको वैयावृत्य कहते हैं. इस वैयावृत्य करनेवाले परिचारकोंको वैयावृत्यकर कहते हैं. वैयावृत्य करनेवाले मुनि संयम असंयमके ज्ञाता हैं या नहीं इसका विचार क्षपकको करना चाहिये. यदि वे अयोग्य हो तो उनका त्याग करना चाहिये. वे असंयम का मन, वचन और शरीरसे त्याग करते हैं वा नहीं इसकी परीक्षा करके अयोग्य हो तो त्याग करना चाहिये. और योग्य परिचारकोंको वैयावृत्य करनेके लिये आज्ञा देनी चाहिये दिनके पूर्वकालमें और अपराह्नकालमें वसति, संस्तर, और उपकरणोंकी तुम दररोज शुद्धि करो ऐसी परिचारकोंको आज्ञा देनी चाहिये. ऐसी आज्ञा देनेसे उसने उनकी शुद्धि की ऐसा सिद्ध होता है.

मिच्छत्तरस य व्रमणं सम्मत्ते भावणा परा भत्ती ॥

भावणमोक्काररदिं पाणुवजुत्ता सदा कुणसु ॥ ७२२ ॥

मिथ्यात्ववमनं दृष्टिभावनां भक्तिमुत्तमाम् ॥

रतिं भावनमस्कारे ज्ञानाभ्यासे कुरुधमम् ॥ ७२१ ॥

विजयोदया—मिच्छतस्तस्य य वमण मिथ्यात्वस्य धमन । सम्मत्ते भावणा तत्त्वश्रद्धाने असकृद्भुक्ति । परा उत्कृष्टा भक्ति । भावणमोकाररदी नमस्कारो द्विविधः द्रव्यनमस्कारो भावनमस्कार । नमस्तस्मै इत्यादि शब्दोच्चारणं, उत्तमागव्यनति, कृताजलिता च द्रव्यनमस्कार ॥ नमस्कृतव्याना गुणानुरागो भावनमस्कारस्तत्र रति ॥ णाणुवयोग श्रुतज्ञानोपयोग च । सदा कुणसु कुर्विति ॥ सूत्रमिदं ॥

तामेवानुशिष्टि विशेषेणोद्दिशति—

मूढारा—वमणं त्यागं । भावणा असकृद्भुक्ति । भक्ती भक्ति । प्रकमादहंदादिष्वेव । भावणमोकाररदी नमस्कार-  
णीयाहंदादिगुणानुरागलक्षणे भावप्रणामे आसक्ति । णाणुवयोगं श्रुतज्ञानपरिणति ॥

अर्थ—हे क्षपक ! तू सदा मिथ्यात्वका वसन कर, अर्थात् मिथ्यात्वका त्याग कर और सम्यग्दर्शनमें हमेशा प्रवृत्ति कर. अहंदादि परमेश्वरोंमें उत्कृष्ट भक्ति कर भावनमस्कारमें आसक्त होकर हमेशा ज्ञानोपयोगमें तत्पर हो. यह गाथार्थ हुआ.

गाथामें भावनमस्कार शब्द है. नमस्कारके भावनमस्कार और द्रव्यनमस्कार ऐसे दो भेद हैं. 'नमस्तस्मै जिनाय' 'श्रीजिनेश्वरको नमस्कार हो' ऐसा मुखसे कहना, भक्तक नम्र करना, हाथ जोड़ना यह द्रव्य-नमस्कार है. जिनको नमस्कार करना योग्य है ऐसे व्यक्तियोंके गुणोंपर अनुराग करना यह भावनमस्कार है. इस भावनमस्कारमें उद्युक्त रहनेके लिये आचार्यने इस गाथामें क्षपकको प्रेरणा की है. तथा ज्ञानोपयोगमें अर्थात् श्रुतज्ञानमें परिणति कर ऐसा क्षपकको कहते हैं.

पंचमहव्वयरक्खा कोहचउक्कस्स णिग्गहं परमं ॥

दुद्धंतिदियविजयं दुविहतवे उज्जमं कुणह ॥ ७२३ ॥

मुने ! महाव्रतं रक्ष कुरु कोपादिनिग्रहम् ॥

हृषीकनिर्जयं द्वेधा तपोभागं कुरुव्यमम् ॥ ७२४ ॥

विजयोदया—पंचमहव्वयरक्खा पचाना महाव्रताना रक्षां । कोहचउक्कस्स रोषचतुक्कस्स । णिग्गह निग्रह । परमं प्रकृष्टं । दुद्धंतिदियविजय दुदंतिन्द्रियविजय । दुविहतवे द्विप्रकारे तपसि । उज्जमं उद्योग । कुणसु कुरु ॥

तथा—

मूलारा—कोधचलकमरम क्रोधमानमायालोभानां । दुर्दंतदियविजयं । सम्यग्दमितानां चशुरादीनां विजयेण जयः स्ववशीकरणम् ॥

अर्थ—हे मुने ! तू पंच महाव्रतोंका रक्षण कर. क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंका नाश कर. दुःखसे जिनका दमन कर सकते हैं ऐसे आंख, कान वगैरह इंद्रियाँको विशेष प्रकारसे तू जीत ले. ब्राह्म और अर्भ्यन्तर तपोंमें तू तत्पर रह.

मिच्छत्तस्स य वमणं व्याचष्टे—

संसारमूलहेतुं मिच्छत्तं सव्वधा विवज्जेहि ॥

बुद्धिं गुणणिदं पि हु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि ॥ ७२४ ॥

भवद्दुममहामूलं मिथ्यास्वं मुंच सर्वथा ॥

मोहाने सगुणां बुद्धिं मयेनेव मुने ! लघु ॥ ७२३ ॥

विजयोदया—संसारमूलहेतु संसारस्य मूलकारण । मिच्छत्त अश्रद्धानं । सव्वधा मनोवान्मक्यै । विवज्जेहि वर्जय । बुद्धिं गुणणिदं पि हु बुद्धिं । गुणणिदं पि गुणान्वितामपि । मिच्छत्त मिथ्यात्वं मोहिदं मुग्धा । कुणदि करोति । अत्रेदं विचार्यते । कथं प्रथमता मिथ्यात्वस्य ? न हीदं सभाव्यते । अस्यमादिभ्यो मिथ्यात्व प्रथममुपजातमिति कुत ? यथा मिथ्यात्व स्वनिमित्तसन्निधानाद्भवति, एवमस्यमादयोऽपीति का तस्य प्रथमता ? अथ तदेतरेव दर्शनमोह प्रथम भवति । पञ्चाङ्गारित्रमोहादीनीत्येतदपि असत् । तदा कर्मण्यकसद्भावात् । एवं सामान्यत सूत्रकार 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाययोगा वधहेतवः' इति वचने मिथ्यात्व वधहेतुषु पूर्वमुपन्यस्त वधपुरःसरश्च संसार, संसारमूलहेतुमिथ्यात्व बुद्धिं अर्थयायात्यपरिच्छेदगुणसमन्वितामपि मिथ्यात्व विपरीता करोति इत्याह । अन्ये तु वदन्ति । बुद्धी गुणणिनया पि लु शुश्रूपाश्रवणग्रहणधारणादयो बुद्धेर्गुणास्तेद्वेतुमपीति ॥

मिथ्यात्ववमनाविधिसूत्रं न्याकर्तुं दश गाथाः सूत्रयन्सर्वात्मना तत्त्याग विधेयतयोपदिश्यापायभूयिष्ठतया समर्थयते ॥

मूलारा—संसारमूलहेतुं संसारकारणकर्मवधप्रधानकारणं । गुणणिदं पि गुणान्वितामपि । शुश्रूपाश्रवण-

ग्रहणधारणविज्ञानोद्घोषोद्गतत्वाभिनिवेशश्रवणगुणयुक्तामपि । मोहिदं मुग्धा विपर्यासग्रहवेशेन यथाव द्रुस्तुपरिच्छेदप-  
रिश्रष्टाम् । अत्रेयं गाथासूत्रे न श्रूयते ।

मूलारा--एता विजयाचार्यो नेच्छति ।

‘मिथ्यात्वका वमन करो’ इस वाक्यका विशेष स्पष्टीकरण करते हैं--

अर्थ--संसार का मूलकारण मिथ्यात्व ही है, अर्थात् मिथ्याश्रद्धान ही संसारका मूल है इस मिथ्या-  
त्वका हे क्षपक । तू मन, वचन और कार्यसे सर्वथा त्याग कर, यह मिथ्यात्व गुणोंसे युक्त ऐसी बुद्धीको, भी मुग्ध  
करता है,

यद्वा शंका--मिथ्यात्वको सर्व कर्मों में प्रथम आप कहते हैं वह योग्य नहीं है जैसे मिथ्यात्व अपने  
कारणोंसे उत्पन्न होता है वैसी असंयमादि कां की भी उत्पत्ति अपने २ कारणोंसे होती है अतः मिथ्यात्वका कारण  
दर्शनमोहनीय कर्म प्रथम उत्पन्न होता है अनंतर चारित्र मोहादिकोंकी उत्पत्ति होती है ऐसा भी कहना असत्  
है, क्योंकि हमेशा आत्मा में आठों कर्मों का सद्भाव है,

उत्तर--सामान्यतः सूत्रकारने ‘मिथ्यात्वाविरतिमसादकपाययोगा बंधहेतवः’ इस सूत्रमें मिथ्यात्व  
को प्रथम स्थान दिया है अर्थात् बंधके कारणोंमें मिथ्यात्वका प्रथम उल्लेख है, संसार बंधपूर्वक है और संसार  
का मूल कारण मिथ्यादर्शन है,

यह मिथ्यात्व बुद्धीको विपरीत करता है यहां कितनेक आचार्य ऐसा कहते हैं--शुश्रूषा-सुननेकी इच्छा  
शास्त्रश्रवण करना, श्रवणकर उसको हृदयमें धारण करना, कालांतरमें भी धारण किया हुआ नहीं भूलना इत्या-  
दिक बुद्धीके गुण हैं, मिथ्यात्व इनको भी विपरीत बनाता है, अर्थात् बुद्धि और उसके शुश्रूषादिकके कारण भी  
मिथ्यात्वके सहवाससे विपरीत होते हैं-

अतद्रूपवस्तुनि तद्रूपावभासिता कथं विज्ञानस्येत्याशङ्काया विपर्यस्तमपि ज्ञानमुदेति तन्निमित्तसद्भावादित्याचष्टे--  
परिहर तं मिच्छतं सम्मचाराणाए दृढचिचो ।

होदि णमोक्कारमि य णाणे वदभावणासु धिया ॥ ७२५ ॥

मयतण्डियाओ उदयन्ति मया मणन्ति जह सतण्हयगा ॥

सब्भूदन्ति असब्भूदं तध मणन्ति मोहेण ॥ ७२६ ॥

पिब सम्यक्त्वपीयूषं मिथ्यात्वविपमुत्सृज ॥

निधेहि भक्तिस्थिते नमस्कारमनारतम् ॥ ७२४ ॥

मिथ्यात्वमोहिताः सत्यमसत्यं जानते जनाः ॥

कुरंगा इव तृष्णार्ताः सलिलं मृगतृष्णिकाम् ॥ ७२५ ॥

विजयोदया—मयतण्डिया मृगतृष्णिकाशब्देन आदित्यरश्मयो भौमनोष्मणा संपृक्ता उच्यन्ते । ता अजल-भूता । मया मणन्ति उदगति । मृगा मन्थ्येते उदकमिति । यथा सतण्हगा तृष्णासंतसलोचना । तह य तथैव । मृगा इव नरा अपि । असब्भूद सब्भूदन्ति मणन्ति मोहेण अतत्त्वमपि तत्वमिथ्यवगच्छन्ति दर्शनमोहेन हेतुना ॥

स्वानिमित्तसन्निधानाज्ज्ञानस्य विपर्ययः स्यादिति दृष्टान्तेन समर्थयते—

मूलारा—मयतण्डिया मृगतृष्णाशब्देन भौमनोष्मणा संपृक्ताः सूर्यरश्मय उच्यन्ते । उदयन्ति उदकमिति । सब्भू-दन्ति सद्भूतमिति । मोहेण दर्शनमोहेन ॥

अर्थ—हे क्षपक मुने ! तू ऐसे मिथ्यात्वका त्यागकर और सम्यक्त्वकी आराधनामें अपनेको स्थिर कर पंच परमेष्ठिओंके नमस्कारसे, ज्ञानाराधनामें और व्रताभ्यासमें तू डूब हो

जो वस्तु जिस स्वरूपका धारक नहीं है ज्ञान उसको अन्यरूपसे कैसा जानेगा ? इस शंकापर आचार्य उत्तर देते हैं— ज्ञान विपरीतभी होता है क्योंकि उसको विपरीत करनेके कारण मिलते हैं, इसका स्पष्टीकरण—

अर्थ—सूर्यके प्रचंड किरणोंसे जब जमीन अत्यंत गरम हो जाती है, तब उसकी उष्णता सूर्यके किरणोंसे मिश्र होकर पानीके समान दीखती हैं, प्याससे जिनकी आँखें संतप्त हो रही हैं ऐसे हरिणोंको उस समय सूर्यके किरणोंमें जलका आभास होने लगता है, वैसा मिथ्यात्व कर्मके उदयसे इस जीवको असत्यपदार्थ भी सत्य भासने लगता है, अतत्त्वको मिथ्यात्वग्रस्त जीव तत्त्वरूप समझता है,

मिथ्यात्वजन्यमोहमाहात्म्यप्रस्थापनायाह—

मिच्छत्तमोहणादो धत्तूर्यमोहणं वरं होदि ॥

वद्वेदि जन्ममरणं दंसणमोहो दु ण दु इदरं ॥ ७२७ ॥

मिथ्यात्वमोहतो जंतोवरं कनकमोहनम ॥

दत्ते मृत्युसहस्राणि प्रथमं न परं पुनः ॥ ७२६ ॥

विजयोदया—मिच्छत्तमोहणादो मिथ्यात्वजन्यान्मोहात् । धत्तूर्यमोहण उन्मत्तस्वसेवाजनितमोहनं । वरं होदि शोभन भवति । कथं ? वद्वेदि वर्धयति । जन्ममरणं जन्ममरणं च विचित्रासु योनिषु । किं वंमणमोहो दर्शनमोहजन्य-कलंकः । ण दु इदरं जन्ममरणं वद्वेदि नैव धत्तूर्यमोहं जन्ममरणपरंपरा धानयति कतिपयदिनमाविमोहसपादुनोद्यत अनंतकालवर्तिविपरीत्यजननक्षम मोहनं अतिशयेन निरुपमिति भावः । ततो जन्ममरणप्रवाहभीरुणा भवता त्याज्यं मिथ्यात्वं इति ।

मिथ्यात्वजन्यमोहमहिमानमादर्शयति—

मूलारा—वद्वेदि वर्धयति ॥

मिथ्यात्वसे उत्पन्न दुए मोहके माहात्म्यका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—मिथ्यादर्शनसे जो मोह परिणाम उत्पन्न होता है उसमे धत्तूरका सेम करनेसे उत्पन्न हुआ मोह अर्थात् उन्मत्तपना अच्छा है ऐसा हम समझते हैं, क्यों कि दर्शनमोहनीयसे उत्पन्न हुआ मोह अनेक कृत्योनीयोंमे जन्म मरणोंकी वृद्धि करता है, परन्तु धत्तूर खानेसे उत्पन्न हुआ पागलपना जन्ममरणको नहीं बढ़ाता है तथा वह थोड़े दिनपर्यंतही जीवमें रह सकता है इसलिये अनंतकालतक पदार्थोंका विपरीत स्वरूप दिखानेवाला दर्शन मोह-जन्य मोहपरिणाम अत्यंत निकृष्ट है ऐसा समझना चाहिये, जन्म मरणके प्रवाहसे डरनेवाले हे क्षपक ! वृ ऐसे दुष्ट मिथ्यात्वका त्याग कर

ननु प्रागेव परित्यक्तं मिथ्यात्व तत्कथं इदानीं तत्प्रयोगोपदेश इत्यत्राशङ्क्यामाह—

जीवो अणादिकालं पयत्तमिच्छत्तभाविदो संतो ॥

ण रमिज्ज हु सम्मचे एत्थ पयत्तं खु कादब्बं ॥ ७२८ ॥



अनादिकालमिथ्यात्वभावितो न प्रवर्तते ॥

सम्यक्त्वेऽयं यतस्तेन प्रयत्नोऽत्र विधीयते ॥ ७५७ ॥

विजयोदया—जीवो अणादिकालं पयत्तमिच्छत्तभाविवो संतो जीवो ऽनादिकालप्रवृत्तमिथ्यात्वभावितः सन् । न रमिज्ज खु नैव रमेत् । सम्मत्ते सम्यक्त्वे एत्थ अत्र सम्यक्त्वे । पयत्तं ग्रयत्त । कादब्बं खु कर्तव्य एव । अन्तकाले परिभावितं मिथ्यात्वं दुस्त्यजं तदेव दुःकत्याल्य । ययोरगश्चिरपरिचितं छिद्रं निवार्यमाणोऽपि बलात्प्रविशति इति कर्तव्यं सम्यक्त्वे दाढर्यं ॥

मूलारा—एत्थ अत्र सम्यक्त्वे । खु कादब्बं कर्तव्य एव ग्रयत्तः । निवार्यमाणोऽपि जीवश्चिरभावित मिथ्यात्वमनुयात्युरग इव छिद्रमिति ॥

अर्थ—अनादिकालसे जीवमें मिथ्यात्व चला आया है इससे यह जीव सम्यक्त्वमें रममाण होता नहीं, इस मिथ्यात्वकाही स्वाद इसको अनादिकालसे आजतक आ रहा था इस लिये यह जीव सम्यक्त्वमें नहीं रमेगा, इस वास्ते सम्यक्त्वमें ग्रयत्न करनेके लिये जीवको वारवार मिथ्यात्वका त्याग करनेका आचार्य उपदेश करते हैं अन्तकालसे मिथ्यात्वका अम्यास होनेसे उसका त्याग करना बड़ाही कठिन है जैसे सर्प अपने चिरपरिचित विलमें निवारण करने परभी मवेश करता है वैसे इस जीवको भी वारवार मिथ्यात्व का त्याग करनेके लिये और सम्यक्त्वमें दृढता लानेके लिये वारंवार मिथ्यात्वत्यागका उपदेश करना असोध्य नहीं है

अग्निविसाकिण्हसप्पादियाणि दोसं ण तं करेज्जण्हू ॥

जं कुणदि महादोसं तिब्बं जीवस्स मिच्छत्तं ॥ ७२९ ॥

विजयोदया—अग्निविसाकिण्हसप्पादियाणि अग्निर्विषं कृष्णसर्प इत्यादीनि । दोसं ण तं करेज्जण्हू दोषं तं न कुण्ठु । ज कुणदि यं करोति । महादोसं महात दोषं । जीवस्स जीवस्य । तिब्ब तीव्र । किं ? मिच्छत्त मिथ्यात्वं अश्रद्धान ॥ अग्न्यादिभ्यो मिथ्यात्वस्य विप्रिष्टा दुष्टतामाचष्टे—

मूलारा—करेज्जण्हू कुण्ठुः । तदेव स्पष्टयति ॥

अर्थ—आग, विष और काला सर्प वगैरह पदार्थोंसे भी उत्तनी हानि होती नहीं, जितनी बड़ी हानि

तीव्र मिथ्यात्वसे जीवोंकी होती है अर्थात् तत्वमें अश्रद्धान करनेसे संसारमें भ्रमण करना पड़ता है

अग्निसकिण्हसप्पादियाणि दोसं करंति एयम्वे ॥

मिञ्छत्तं पुण दोसं करेदि भवकोडिकोडीसु ॥ ७३० ॥

विपाप्रिकृष्णसर्पाद्याः कुर्वन्त्येकत्र जन्मनि ॥

मिथ्यात्वमावेद्दोषं भवानां कोटिकोटिषु ॥ ७५८ ॥

विज्ञयोदया--अन्यादिभिः क्रियमाणस्य अल्पता मिथ्यात्वेन संगणस्य च महत्ता दर्शयत्युत्तरगाथया । अन्यादीन्त्येकमवदु खद्वानि मिथ्यात्व पुनर्दोष करोति भवाना कोटिकोटिषु ॥

मूलारा--स्पष्टम् ॥

अर्थ--अग्नि, विप और काला सर्प वगैरह पदार्थोंसे जीवकी हानि एक ही भवमें हो सकती हैं परंतु मिथ्यात्वसे अनेक कोटिकोटिभवोंमें हानि होती है.

मिच्छत्तसल्लविद्धा तिव्वाओ वेदणाओ वेदति ॥

विसलित्तकंडविद्धा जह पुरिसा गिप्पडीयारा ॥ ७३१ ॥

विद्धो मिथ्यात्वशक्त्येन तीव्रां प्राप्नोति वेदनाम् ॥

कांडेनेच विषाक्तेन कानेन नि-प्रतिक्रिय- ॥ ७५९ ॥

विजयोदया--मिच्छत्तसल्लविद्धा मिथ्यात्वात्वेन शक्त्येन विद्धा । तिव्वाओ वेदणाओ तीव्रा वेदना । वेदति अनुभवन्ति । विसलित्तकंडविद्धा विगलित्तेन शरेण विद्धा । जह यया । पुरिसा पुद्गलाः । गिप्पडीयारा निष्पत्तीकाराः ॥

मिथ्यात्वकृतमपकारं दर्शयति--

मूलारा--वेदन्ति अनुभवन्ति । गिप्पडीयारा प्रतीकारहिताः । अचिकित्त्वा- संत इत्यर्थः ॥

अर्थ--विगलित् वाण शरीरमें घुसनेपर उसका विप तर्क शरीरमें पमरकर मनुष्य प्राणरहित होता है. अर्थात् उस पुरुषपर कुछ इलाज हो नहीं सकता. वैसे मिथ्यात्वशक्त्येन विद्ध द्रुए मनुष्य तीव्र वेदनाओंका अनुभव लेते हैं

अच्छीणि संघसिरिणो मिच्छत्तणिकाचणेण पडिदाइं ॥

कालगदो वि य संतो जादो सो दीहसंसारे ॥ ७३२ ॥

मिथ्यात्वोत्कर्षतः संघश्रीसंज्ञस्य विलोचने ॥

गलिते प्राप्तकालोऽपि यातोऽसौ दीर्घसंसृतिम् ॥ ७३० ॥

विजयोदया -- अच्छीणि अक्षिणी । संघसिरिणो संघश्रीसंज्ञितस्यामात्यस्य । मिच्छत्तणिकाचणेण मिथ्यात्वप्रकर्षेण । पडिदाणि पतिते । इहैव जन्मनि । कालगदो वि य संतो मृत्यापि । जादो सो । जातोऽसौ । दीहसंसारे दीर्घसंसारे ॥ तदेवोपाख्यानं दृढयति-

मूलार--संघसिरिणो संघश्रीसंज्ञितस्यामात्यस्य । मिच्छत्तणिकाचणेण मिथ्यात्वप्रकर्षेण । कालगदो मृतः ॥ अर्थ--संघश्री नामक प्रधान की आखें तीव्र मिथ्यात्व से नष्ट हुई और मरणके अनंतर वह दीर्घ संसारी हुआ.

कडुगमि अणिव्वलिदम्मि दुद्धिण् कडुगमेव जह खीरं ॥  
होदि निहिदं तु णिव्वलियमि य मधुरं सुगंध च ॥ ७३३ ॥  
कडुकैलाबुनि क्षीरं यथा नश्यत्यशोधिते ॥  
शोधिते जायते हृद्यं मधुरं पुष्टिकारणम् ॥ ७३१ ॥

यदि नाम उपगतमिथ्यात्वोऽस्मि तथापि दुर्धर चारित्र्यमनुष्ठित मया तत्स्मान्निस्तरेण समर्थमित्याशा न कर्तव्येति ।

विजयोदया--कडुगमि दुद्धिण् कडुकालाव्या । अणिव्वलिदम्मि अशुद्धाया । निहिदं खीरं निक्षिप्तं क्षीरं । जह कडुगमेव होदि यथा कडुकरसमेव भवति । एवकारेण माधुर्यव्यावृत्तिं क्रियते । णिव्वलिदम्मि य शुद्धायामलाव्या । निहिदं निक्षिप्तं क्षीरं जह मधुरं होदि सुगंधं च । यथा मधुरं भवति सुरभिं च ॥ मिथ्यात्वाविष्टोऽपि दुश्चरतपश्चारित्र्याचारणदस्मान्निस्तरिष्यामीत्याशा निरसितुं नष्टातपुरःसरं गाय-

द्वयेनोत्तरमाह--

मूलार--अणिम्मलिदम्मि अशोधिते । दुद्धिणे दुग्धके ।

यद्यपि मैं मिथ्यात्वयुक्त हूं तो भी मैंने दुर्धर चारित्र का पालन किया है इसलिये यह दीर्घ संसारसे मेरा रक्षण करेगा ऐसी आशा नहीं करनी चाहिये ऐसा आशय दिखाते हैं—

अर्थ—गीरसहित कड़ुक तूँबीमें डाला हुआ दूध कड़ु होजाता है. अर्थात् उसका मधुरपना सब नष्ट होता है. परंतु शुद्ध अर्थात् गीररहित तूँबीमें रक्खा हुआ दूध कड़ु होता नहीं. वह मधुर और सुगंधित रहता है.

तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाणचरणविरियाणि ॥

णासति वंतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति ॥ ७३४ ॥

तपोज्ञानचरित्राणि समिथ्यात्वे तथंगिनि ॥

नश्यंति वांतामिथ्यात्वे जायन्ते फलवन्ति च ॥ ७६२ ॥

विविधदूषणकारि कुदर्शनं लघु विसुख्य कुमित्रमिवोत्तमाः ॥

सकलयमविधायि सुदर्शनं सुविभजंति सुमित्रमिवाशनम् ॥ ७६३ ॥

इति मिथ्यात्वापोहनम् ॥

विजयोदया—तह तथा । मिच्छत्तकडुगिदे मिथ्यात्वेन कट्टरुते जीवे । तवणाणचरणविरियाणि तपो, ज्ञान, चारित्र वीर्यमित्येतानि नासंति नश्यन्ति । सम्यक्स्वरूपविनाशात् । समीचीनं, तपो, ज्ञानं, चरणं, वीर्यंतिगूढं च मुमुक्षुपायो न तप प्रभूतिमात्र । सा च सम्यक्श्रद्धावलेनैव नास्तथा । वंतमिच्छत्तम्मि निरस्तमिथ्यात्वे जीवे सफलाणि फलसमन्वितानि तप.प्रभृतीनि । जायन्ति जायन्ते । किं तपस' फल ? अमुदयसुख, नि.श्रेयससुखं वा । मिच्छत्तस्स य वमंग इत्येतद्वयाख्यात । मिच्छत्त ॥

मूलरा—णासंति नश्यन्ति । सम्यक्स्वरूपविनाशात् ॥ वंतमिच्छत्तम्मि निरस्तमिथ्यात्वजीवे । सफलाणि अभ्युदयनिश्रेयससुखकराणि । इति मिथ्यात्ववमनम् ॥

अर्थ—वैसे मिथ्यात्वसे विपरीत रुचि अर्थात् विपरीत श्रद्धानी वने हुये इस जीवमें तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य ये गुण नष्ट होते हैं अर्थात् मिथ्यात्वरहित तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य ये सुक्ती के उपाय हैं परंतु एकके तपादिक सुक्तीके उपाय नहीं. जब सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है तब तपादिकमें सम्यक्पना आता है इसके अभावसे तपादिकोंमें सम्यक्पना आ नहीं सकता. मिथ्यात्वका त्याग जिसने किया है ऐसे जीवमें—सम्य-

गृष्टिमें तपादिक सवगुण सफल होते हैं इस तपश्चरणसे इहलोकका सुख और इंद्रपदकी प्राप्ति होती है और मोक्ष सुखका भी लाभ होता है, 'मिच्छतस्स य वमणं' इस गाथासूत्रका यहां तक्र विवेचन किया।

सम्मत्तं भावणा इत्येतद्व्याचष्टे—

'मा कासि तं पमादं सम्मत्ते मव्वदुक्खणासयरे ॥

सम्मत्त खु पदिष्ठा णाणचरणवीरियतवाणं ॥ ७३५ ॥

मा स्म कार्पी प्रमादं त्वं सम्यक्त्वे भद्रवर्धके ॥

तपोज्ञानचरित्राणां सस्यानामिव पुष्करं ॥ ७३४ ॥

विजयोदया—मा कासि मा कार्पी । त भवान् । पमाद प्रमाद । सम्मत्त सम्यक्त्वे । मव्वदुक्खणासयणे सर्व-  
दुःखनिर्मूलनोद्यते । कथं सम्यक्त्वं सर्वदुःखतादाकारि ? ननु ज्ञानादीन्यपि सर्वदुःखनिवृत्तिनिमित्तानि इत्यत आह—

सम्मत्त खु श्रद्धानमेव तत्त्वस्य । पदिष्ठा आधार । णाणचरणवीरियतवाण ज्ञानस्य, चरणस्य, वीर्याचारस्य,  
तपसश्च । ननु सर्वं एव परिणाम परिणामिद्रव्यधारो न परस्परमधिकरणता याति तत कथमुच्यते सम्यक्त्वमाधार  
इति । यथा परिणामिद्रव्यमंतरेण ज्ञानादीनामनवस्थितितेव समीचीनता तेषां न दर्शन विनैति दर्शनस्याधारता ॥

सम्यक्त्वभावना गाथाष्टकेन व्याचक्षाणः क्षपक तदवधानपरायणं कर्तुमाह—

मूळारा—मा कासि मा कार्पी । तं त्वं । पमादं अनवधानम् । पदिष्ठा प्रतिष्ठा आश्रय । ज्ञानादीना जीव-

द्रव्य विनावस्थितिरिव सम्यक्त्वं विना समीचीनता न स्यादिति तस्य तदाधारतोच्यते ॥

'सम्मत्तभावणा' इस पदका स्पष्टीकरण करते हैं

अर्थ - यह सम्यग्दर्शन संपूर्ण दुःखों का नाश करता है इसलिये इसमें है क्षपक तुम प्रमादी मत बनो।  
शंका—सम्यग्दर्शनसे सर्व दुःखोंका नाश कैसे होता है ? उत्तर—यह सम्यग्दर्शन अर्थात् जीवादितत्त्वोंका श्रद्धान  
ज्ञान, चारित्रि, वीर्य और तपका आधार है, इसलिये यह संपूर्ण दुःखों का नाश करता है ऐसा समझना चाहिये।  
शंका—परिणाम परिणामिद्रव्यके आधारसे रहते हैं इस वास्ते वे अन्योन्य आधार होते नहीं, अतः सम्यक्त्व  
परिणाम ज्ञानादि परिणामोंका आधार हैं ऐसा आप क्यों कहते हैं, उत्तर—जैसे परिणामनशील द्रव्यके विना—आत्मा

के बिना ज्ञानादिक रहते नहीं वैसे ज्ञान, चारित्र्य, वीर्य और तप को सम्यक् पना-सम्यग्दर्शनके बिना प्राप्त होता नहीं इस लिये सम्यग्दर्शनको आधार माना है

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं ॥

तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियतवाणं ॥ ७३६ ॥

सारं द्वारं पुरस्येव वक्रस्येव विलोचनम् ॥

मूलं महीरुहस्येव संज्ञानादेः सुदर्शनम् ॥ ७६५ ॥

थलानि नायकेनेव शरीराणीव जंतुना ॥

ज्ञानादीनि प्रवर्तते सम्यक्त्वेन विना कुतः ॥ ७६६ ॥

विजयोदया — णगरस्स जह दुवारं नगरस्य द्वारमिव नगरप्रवेशनोपायो यथा द्वारं । तद्वा तथा सम्मत्तं सम्यक्त्वं द्वार । णाणचरणवीरियतवाण ज्ञानादीना । एव हि ज्ञानादीन्यनुप्राविष्टो भवति जीवो यदि परिणतो भवेत्सम्यक्त्वे तदतरेण सम्यग्ज्ञानाद्यनुपवेशस्थानभवात् । न हि सातिशयमवध्यादि, यथाख्यात चारित्र्य, बहुतरनिर्गारानिमित्तं वा तपः प्रतिलभते जंतु सम्यक्त्वं विना । मुहस्स चक्खू जहा मुखस्य वस्तुयथा शोभाविधायि तथा ज्ञानादीना सम्यक्त्वं विधत्ते श्रद्धान । तरुस्स मूलं यथा तरोर्मूलं यथा स्थितिनिवर्धनं, तथा सम्यक्त्वं ज्ञानादिस्थितिनिमित्तं ॥

ज्ञानादीनि प्रति सम्यक्त्वस्य प्रवेशशोभावहत्वस्थितिनिमित्तत्वानि दर्शयति —

मूलारा — दुवारं द्वारेण पौरजनो नगरमिव सम्यक्त्वेन ज्ञानादिषु प्रविशति जीवः । न ह्यसौ सातिशयमवध्याविज्ञानं यथाख्यातचारित्र्यं बहुतरनिर्गारानिमित्तं वा प्रतिलभते जन्तुः सम्यक्त्वं विना ॥

अर्थ—जैसे द्वार नगरमें प्रवेश करनेका उपाय है, वैसे सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र्य, वीर्य और तपका आत्मामें प्रवेश होनेके लिये द्वारके समान है, अर्थात् जब आत्मामें सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है तब उसमें ज्ञानादिकोंका भी प्रवेश होता है, सम्यक्त्वके बिना सम्यग्ज्ञान, तप, चारित्र्यादिकोंकी प्राप्ति होती ही नहीं, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न होनेसे जीवको विशिष्ट अवध्यादिक ज्ञान, यथाख्यातचारित्र्य, कर्मकी अतिशय निर्जरा करनेवाला तप प्राप्त होते ही नहीं, सुखको आलसों जैसा सौंदर्य प्राप्त होता है तथा ज्ञानादिकोंमें सम्यग्दर्शनसे सम्यक्पना प्राप्त होता है, जैसे झाडको मूलसे दृढता आती है वैसे ज्ञानादिकोंमें स्थिरता और दृढता सम्यग्दर्शनसे प्राप्त होती है.

भावाणुरागप्रेमोणुरागमज्जाणुरागरत्तो वा ॥  
धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं ॥ ७३७ ॥  
दंसणभट्टो भट्टो दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ॥  
सिञ्छन्ति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिञ्छन्ति ॥ ७३८ ॥  
दंसणभट्टो भट्टो ण हु भट्टो होइ चरणभट्टो हु ॥  
दंसणममुयत्तस्स हु परिवडणं णत्थि संसारे ॥ ७३९ ॥  
अष्टोऽस्ति दर्शनभट्टो त्रतभट्टोऽपि नो पुनः ॥  
पतनं ह्यस्ति संसारे न दर्शनमभ्युचतः ॥ ७४० ॥  
ये धर्मभावमज्जादिप्रेमरागादुरंजिताः ॥  
जैने संति मते तेषां न किंचिद्वस्तु दुर्लभम् ॥ ७४१ ॥

विजयोदया—दंसणभट्टो भट्टो दर्शनाङ्गो भट्टतमः । चरणभट्टो वि चरित्रभट्टोऽपि दर्शनाङ्गभट्टः । ण हु न च । भट्टो होदिति वाक्यशेषं कृत्वा संबन्ध । न तु तथा भट्टो भवति चरित्रभट्ट यथा दर्शनाङ्गभट्टः । दंसणं श्रद्धानं । असु-यत्तस्स अत्यजत । चारित्राङ्गस्यापि परिपतन ससारे णत्थि खु परिपतनं ससारे नास्त्येव । असयमनिमित्ताजितपाप-संहतरस्त्येव ससार । किमुच्यते परिपतन नास्तीति ? अयमभिप्राय — परि समतात्सर्वास्तु गतिषु चतस्तु संवरणं नास्ती-ति । स्वपत्वात्संसार सन्नपि नास्तीति व्यवहियते । तथा हि स्वल्पद्रव्येणोऽधन इत्युच्यते । दर्शनाङ्गभट्टस्य अर्धपुद्गल-परिवर्तन भवत्यतिमहत्संसारमिति निरुद्धतमो दर्शनभट्टः ॥ \*

अर्थ—कितनेक लोक भावानुरागी रहते हैं जैसे जिनदत्त श्रेष्ठी. अर्थात् जो जिनेश्वरने वस्तुस्वरूप कहा है वह सत्य ही है ऐसा पक्का श्रद्धान करनेवाला मनुष्य तत्वका स्वरूप मात्रा नही भी हो तो भी जिनेश्वरका कहा हुआ तत्वस्वरूप कभी झूठा होता ही नहीं ऐसी श्रद्धा करता है इसको भावानुराग कहते हैं. प्रेमयुक्त अनुरागका दृष्टान्त

\* दंसणभट्टो भट्टो इस गाथासे लेकर अहिंसा, सत्य, अचौर्य महाव्रत इतने विषयोंका वर्णन करनेवाली गाथाओंकी मूलाराधना पंजिका कारंजाकी मूलप्रतीमें नहीं है बीचके पत्र ही नष्ट होगये हैं अतः यहांसे हमने विजयोदया ही जोड़ दी है

मणिचूल है, इसने अपने भित्रको—सगरचक्रवर्तीको बार बार समझाकर भोगादिकोंसे विरक्त किया था, जिसके ऊपर प्रेम है उसको बारवार समझाकर सन्मार्गमें लगाना यह प्रेमानुराग कहा जाता है मज्जानुराग यह पाँढवोंमें था अर्थात् वे जन्मसे लेकर आपसमें अतिशय स्नेहयुक्त थे, वैसे हे क्षणिक तू धर्मानुरागसे जैनधर्ममें स्थिर रहकर उसको कदापि मत छोड़.

अर्थ—जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे अष्ट हुआ है वह अष्टही समझना चाहिये दर्शनभूट जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं, चारित्रभूट जीव मुक्तिकी प्राप्ति कर सकते हैं परंतु दर्शनभूट जीवको मुक्तिलाभ होता नहीं.

अर्थ—जो जीव दर्शनसे अष्ट हुआ है उसको अष्टतम कहना चाहिये, चारित्रअष्ट जीव दर्शनसे अष्ट नहीं माना जाता है, अर्थात् चारित्रअष्ट जीवसे दर्शनअष्ट जीव अतिशय अष्ट है जो चारित्रसे अष्ट हुआ है, परंतु सम्यग्दर्शन से च्युत नहीं हुआ है उसको संसारपतनकी भीति नहीं है, शंका-असंयमसे उत्पन्न हुए पापके भारसे जीवको संसारमें अमण करना पड़ता ही है अतः चारित्रभूट जीवका संसारपतन नहीं है ऐसा आप क्यों कहते हो ? इस प्रश्नका उत्तर—चारित्रभूट जीव चारो गतिओंमें अमण करता नहीं, उसका संसार अल्प रहता है अतः उसको संसार नहीं है ऐसा कहा जाता है जैसे किसीके पास थोड़ासा धन है तो भी वह धनी कहलाता नहीं, परंतु दर्शनभूट मनुष्यको अर्ध पुद्गलपरिवर्तन कालतक संसारमें भ्रमण करना पड़ता है इसलिये वह अत्यन्त निकृष्ट है.

एककस्य सम्यग्दर्शनस्य माहात्म्यं कथयति -

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं ॥

जादो दु सेणिगो आगमेसि अरुहो अविरदो वि ॥ ७४० ॥

श्रेणिको वतहीनोऽपि निर्मलीकृतदर्शनः ॥

आहृत्यपदमासाद्य सिद्धिसौधं गमिष्यति ॥ ७६९ ॥

विजयोदया—सुद्धे शुद्धे । सम्मत्ते सम्यक्त्वे । शंकाद्यतिचारभावात् । अविरदो वि अप्रत्याख्यानावरण-क्रोधमानमायालोभानामुदयात् हिंसादिनिवृत्तिपरिणामरहितोऽपि । तित्थयरणामकम्मं तीर्थकस्त्वस्य कारणं कर्म अज्जे-यति । विनयसंपन्नतादिरपि तीर्थकरनामकमणो हेतुत्वे ततः कोऽतिशयो दर्शनस्य इति चेत् दर्शने सत्येव तेषां तीर्थ-



करनामकर्मणः कारणता । नान्यस्येति मन्यते । जादो छु जातः छल्लु । सेणिगो श्रेणिकः । आगमेसि भविष्यति काले । अह हो अहन् । अचिरदो वि असयतोऽपि सन् । ननु श्रेणिको भविष्यत्यहन् न त्वहत्वं तस्यातीतं तेन कथमुच्यते जात इति । भविष्यदहत्त्वं न निष्पन्नं इति युक्तमुच्यते जात इति ॥

अकेला भी सम्यग्दर्शन महास्थयुक्त होता है ऐसा विवेचन आचार्य करते हैं—

अर्थ—शंका, कांक्षा वगैरह अतिचारोंसे रहित अविरत सम्यग्दर्शको भी तीर्थकरनाम कर्मका बंध होता है. अग्रत्याख्यानावरणी कौध, मान, माया और लोभ इनका उदय होनेसे परिणाममें हिंसादिकोंसे विरक्तता उत्पन्न न होने पर भी केवल निरतिचार सम्यग्दर्शन धारण करनेवाले मनुष्यको तीर्थकर कर्मका बंध होता है. शंका—विनयसंपन्नता वगैरह अन्य कारणोंसे भी तीर्थकरत्वकी प्राप्ति होती है. सम्यग्दर्शनमें ही ऐसी क्या विधि-प्टता है ? उत्तर—सम्यग्दर्शन होनेपर ही विनयसंपन्नतादिक तीर्थकर कर्म बंधके कारण होते हैं अन्यथा उनमें कारण-णता नहीं है. केवल सम्यग्दर्शनके साहायतासे ही श्रेणिक राजा भविष्यत्कालमें अर्हत हुआ है.

शंका—श्रेणिक भूपाल भविष्यकालमें अर्हत होनेवाला है उसको अर्हदावस्था प्राप्त होचुकी है ऐसा नहीं है अतः वह अर्हत होगया ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर—भविष्य कालीन अर्हतपना अभी निष्पन्न नहीं हुआ है इसलिये वह होगया ऐसा कहना योग्य है

कल्लणपरंपरयं लंहति जीवा विमुद्धसम्मत्ता ॥

सम्महंसणरयणं णग्घदि ससुरासुरो लोओ ॥ ७४१ ॥

अच्छिन्ना लभ्यते येन कल्याणानां परंपरा

मूल्यं सम्यक्त्वरत्नस्य न लोके तस्य विद्यते ॥ ७४० ॥

विजयोदया—कल्लणपरंपरयं कल्याणपरंपरां । इदत्वं, सकलचक्रलोछतां, अहमिदत्वं, तीर्थकृत्यमित्यादिकं लभते जीवाः । विमुद्धसम्मत्ता विमुद्धसम्यक्त्वा । सम्महंसणरयणं सम्यग्दर्शनरत्नं । णग्घदि ससुरासुरो लोओ सकलो लोको मूल्यतया दीयमानोऽपि न लभते सम्यक्त्वरत्नमित्यर्थः ॥

अर्थ—इस निर्मल सम्यग्दर्शनसे इंद्रपदवी, चक्रवर्तीपना, अहमिद्रावस्था और तीर्थकरपद ऐसी कल्याण परंपरा उत्तरोत्तर जीवको मिलती है. यह सम्यक्त्व रत्न इतना मूल्यवान है कि देव और असुरोंसहित यह संपूर्ण

लोक भी प्रदान किया तो भी उसकी कीमतकी भरपायी होती नहीं है अर्थात् संपूर्ण त्रैलोक्य देनेपरभी सम्य-  
क्त्वरत्न मिलता नहीं

सम्मत्तस्स य लंभे तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो ॥

सम्महसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥ ७४२ ॥

लङ्घूण वि तेलोक्कं परिवडदि हु परिभिदेण कालेण ॥

लङ्घूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं हवदि मोक्खं ॥ ७४३ ॥

सम्यक्त्वस्य च यो लाभैल्लोकस्य च यस्तयो ॥

सम्यक्त्वस्य मतो लाभः प्रकृष्टः सार्वेर्दिभेः ॥ ७७१ ॥

त्रैलोक्यमुपलभ्यापि ततः पतति निश्चितम् ॥

अक्षयां लभते लक्ष्मीमुपलभ्य सुदर्शनम् ॥ ७७२ ॥

ददाति सौख्य विधुनोति दुःखं भवं लुनोति नयते विभुक्तिं ॥

निहन्ति निंदां कुरेन सपर्या सम्यक्त्वरत्नं विदधाति किं न ॥ ७७३ ॥

इति सम्यक्त्वं ।

विजयोदया — स्पष्टार्थतया न व्याख्यायते गाथाद्वयम् । अनन्तरसम्मत्ते भावणा इत्येतद्व्याख्यात ॥ सम्मत्तं ॥

अर्थ — एक सम्यग्दर्शनका लाभ और दूसरा त्रैलोक्यका लाभ इन दो लाभोंमें सम्यग्दर्शनका लाभही श्रेष्ठ है त्रैलोक्यका लाभ होनेपर भी वह थोड़े कालके अनंतर नष्ट होता है परंतु सम्यग्दर्शनका लाभ जबिको अविनाशी सुख देनेवाले मोक्षकी प्राप्ति करा देता है, अतः सम्यग्दर्शनका लाभ त्रैलोक्यलाभसे भी श्रेष्ठ है सम्य-  
क्त्वका वर्णन समाप्त हुआ.

परा भत्ती एत्येतद्व्याख्यानाय प्रथम उत्तर —

अरहंतसिद्धचेदियपवयणआयरियसव्वसाहसु ॥

तिव्वं करेहि भत्ती णिव्विदिग्गिञ्छेण भावेण ॥ ७४४ ॥

भक्तिमर्हत्सु सिद्धेषु चैत्येष्वर्चाचार्यसाधुषु ॥

विधेहि परमां साधो ! निश्चयसिन्धुमानसः ॥ ७७४ ॥

विजयोदया - अरुहन्सिद्धचेष्टियपवयनआयस्यमन्त्राहसु अहंसिद्धेषु तत्पतिभिः, प्रपन्नैः, आचार्यैः सर्वसाधुषु च । तिवं भक्तिं करोहि तीव्रा भक्तिं कुर्वति । निश्चयसिन्धुः विचिकित्सारहितः । भवेन परिणामेन ॥

पराभक्ती इमं पदका आचार्यं स्पष्टीकरणं करोते हैं -

अर्थ - अरुहन्तं, सिद्ध, और उनकी प्रतिमायें, आगम, आचार्य, उपाध्याय और मर्मसाधु इनके ऊपर हे श्रवक ? तुम मलिनपरिणामोंका त्याग कर तीव्र भक्ति करो.

जिनभक्तिमाहात्म्यं कथयति -

संवेगजनिदकरणा गिरसह्या मदरोव्व निक्कपा ॥

जस्स दढा जिणभक्ती तस्स भवं णत्थि संसारे ॥ ७४५ ॥

विजयोदया - संवेगजनिदकरणा ससत्तमीकृतया उत्पादितामलाभा । गिरसह्या मिथ्यात्वेन, मायया, निदा-  
नेन, च रहिता । मदरोव्व निक्कपा मंदर इव निश्चला । जस्स दढा जिणभक्ती यस्य दढा जिनभक्ति । तस्स संसारे भय  
णत्थि तस्य संसारनिमित्तं भय नास्ति ॥

जिनभक्तिका माहात्म्यं दिखाते हैं -

अर्थ - संसारभयसे उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व, माया और निदानसे रहित, मेरु पर्वतके समान निश्चल  
ऐसी जिणभक्ति जिसके अंतःकरणमें हैं उस पुरुषको संसारमें किसी से भी भय उत्पन्न नहीं होगा. अर्थात् जिन-  
भक्ति के प्रभावसे उसका संसार नष्ट होकर उसको शीघ्र मुक्तिलाभ होता है.

एया वि सा समत्था जिणभक्ती दुग्गइं पिवारणे ॥

पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिपरंपरसुहाणं ॥ ७४६ ॥

तह सिद्धचेदिए पवयणे य आइरियसव्वसाधूसु ॥

भक्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिब्बा ॥ ७४७ ॥

विज्जा वि भत्तिवंतस्स सिद्धिसुवयादि होदि सफला य ॥  
 किह पुण णिब्बुदिबीज सिद्धिहिदि अभत्तिमंतस्स ॥ ७४८ ॥  
 जिनेद्रभत्तिरेकापि निवेदुं दुर्गतिं क्षमा ॥  
 आसिद्धिलब्धि नो दातुं सारां सौख्यपरंपराम् ॥ ७५५ ॥  
 सिद्धचैत्यश्रुताचार्यसर्वसाधुगता परा ॥  
 विच्छिन्नत्ति भवं भक्तिः कुठारीव महीरुहम् ॥ ७७६ ॥  
 नेह सिध्यति विद्यापि सफला न हि जायते ॥  
 किं पुनर्निवृत्तेर्बीजं भक्तिहीनस्य सिध्यति ॥ ७७७ ॥

विजयोदया - विज्जा विद्यापि । भत्तिवतस्स भक्तिमत । सिद्धिसुवयादि सिद्धिसुण्याति । होदि सफला य फलयती च भवति । किच पुण कथ पुन । णिब्बुदिबीजं निवृत्तेर्बीज रत्नत्रयं ॥ सिद्धिहिदि सेत्स्यति ॥ अभत्तिमंतस्स भक्तिरहितस्य ॥ क ? अर्हदादिषु ॥

अर्थ--अकेली जिनभक्ति ही दुर्गतिका नाश करने में समर्थ है, इससे विपुल पुण्यकी प्राप्ति होती है और मोक्षप्राप्ति होने तक इसमें इंद्रपद, चक्रवर्तीपद, अर्हमिद्रपद और तीर्थक्षपटके सुवर्णकी प्राप्ति होती है,

सिद्धपरमेष्ठि, और उनकी प्रतिमा, आगम, आचार्य, सर्वसाधु, इनमें की हुई तीव्र भक्ति संसार का नाश करनेमें समर्थ होती है, जो भक्तिमान् है उसको इष्ट पदार्थोंकी दात्री विद्या सिद्ध होती है अर्थात् उससे इष्ट पदार्थ भक्तिमानको मिलते हैं, जो भक्तिहीन है अर्थात् जो अर्हदादिकोंमें भक्ति नहीं करेगा उसको मुक्ति बीज जो रत्नत्रय वह कैसे प्राप्त हो सकेगा ?

तेसिं आराधणायमाण ण कस्सिजो णरो भत्तिं ॥

धात्तिं पि संजमंतो साल्लिं सो उसरे ववदि ॥ ७४९ ॥

भत्तिमारामधेशानां योऽकुर्वाणस्तपस्याति ॥

स वपत्यूपरे शालीनलोच्य समं ध्रुवम् ॥ ७७८ ॥

विजयोदया—तोसि आराधणायागण अर्हदादीना आराधनाया नायकानां । ण करिज्ज जो णरो भोसिं यो नरो भक्तिं न करोति । स धासिं पि सजमतो नितरा सयमे उद्यतोऽपि शालीनपूरे देशे वपति । ऊपरे शालियपनं अफले यथा क्रुतेत्येवं दुश्चरं संयमं चरत्यय अर्हदादिपु भक्तिरहितो मिथ्यादृष्टिं लनिति भाव ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओंके नायक ऐसे अर्हदादिपरमेश्वरोंमें जो पुरुष भक्ति नहीं करता है, वह चारित्र्यमें खूप तत्पर रहनेपर भी क्षार घृत्तिक्रामें शालिवीज बोनेवाले मनुष्य के समान है, जैसे शालिवीज क्षारजमीनमें बोनेसे कुछ फायदा नहीं है वैसे मिथ्यादर्शनसहित होकर खूब तपश्चरण करनेसे भी मुक्तिफल की प्राप्ति होती नहीं।

वीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमव्वएण विणा ॥

आराधणमिच्छन्तो आराधणभत्तिमकरंतो ॥ ७५० ॥

ते वज्जेन विना सस्यं वारिदेन विना जलम् ॥

कांक्षन्ति ये विना भक्तिं कांक्षन्त्याराधनां नराः ॥ ७७९ ॥

विजयोदया—बीजेण विणा सस्सं शस्यमिच्छति बीजेन विना । वासमव्वएण विणा वृष्टिं अक्षेण विना । कारणेन विना कार्यमिच्छतीति यावत् । आराधना रत्नत्रयसंसिद्धिं इच्छति । शकुर्वन्नाराधनाभक्तिं हेतुभूता ॥

अर्थ—आराधनारूप भक्ति न करके ही जो रत्नत्रयसिद्धिरूप फल चाहता है वह पुरुष बीजेन विना धान्यप्राप्तिकी इच्छा रखता है अथवा मेघके विनाही जलवृष्टि की इच्छा करता है ऐसा समझना चाहिए.

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा विष्पादयं हवदि वासं ॥

तह अरहादिगभत्ती णाणचरणदंसणतवाणं ॥ ७५१ ॥

विधिनास्य सस्यस्य वृष्टिर्निष्पादिका यथा ॥

तथैवाराधनाभक्तिश्चतुरंगस्य जायते ॥ ७८० ॥

विजयोदया—विधिणा कदस्स विधीयते जन्यते कार्यमेनेनेति कारणसदेहो विधि । तेन कारणकलापेन कृत स्योत्तस्य । सस्सस्स शल्यस्य । वास जह विष्पादय हवदि धर्म यथा फलनिष्पात्तिं करोति । तह तथैव । आराहगभत्ती

आराध्यभक्ती आराधकेषु अर्हदादिषु भक्ती भक्ति । गणचरणद्वसणतवाणं ज्ञानस्य, दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च निष्पादिका भवति ॥

अर्थ—शान्त्य उत्पन्न करनेके संपूर्ण कार्योंका आश्रय कर जमीनमें बीज बोनेके अनंतर जलवृष्टि होनेसे फल निष्पत्ति होती है वैसे अर्हदादि पूज्य पुरुषोंपर भक्ति करनेसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तपस्वी फल उत्पन्न होता है

भक्तिमाहास्य फलतिशयोपदर्शनेन कथयितुं कामोऽथाख्यानमुपक्षिपति गाथायाम्—

वंदणभक्तीमित्तेण मिहिलाहिओ य पउमरहो ॥

देविंदपाडिहरं पत्तो जादो गणधरो य ॥ ७५२ ॥

वंदनाभक्तिमात्रेण पद्मको मिथिलाधिपः ॥

देवेंद्रपूजितो भूत्वा बभूव गणनायकः ॥ ७८१ ॥

रोगमारिचौरवैरिभूषभूतपूर्वकाणि ॥

भक्तिराशु दुःखदा निहन्ति सेविताऽखिलानि ॥ ७८२ ॥

इति भक्तिः ।

विजयोदया—चदणभक्तीमित्तेण वंदनानुरागमात्रेण चैव । मिहिलाहिओ य पउमरहो मिथिलानगराधिपति पद्मरयो नाम । देविंदपाडिहर पत्तो देवेंद्रकृता पूजा प्राप्तवान् । जादो गणधरो य गणधरश्च जात ॥ भक्ती ॥

विशिष्ट फलका प्रदर्शन करके भक्तिका माहात्म्य कहने की इच्छासे आचार्य उदाहरण देते हैं—

अर्थ—वंदना करनेकी तीव्र भक्तीसे मिथिला देशका राजा पद्मरथ देवेंद्रसे पूजातिशयको प्राप्त हुआ और वह वासुपूज्य तीर्थंकर का गणधर हुआ. भक्तीका वर्णन हुआ.

आराधणापुरस्सरमणणहिंदओ विसुद्धलेस्साओ ॥

संसारस्स खयकरं मा मोचीओ णमोक्कारं ॥ ७५३ ॥



इस नमस्कार के नामनमस्कार, स्थापनानमस्कार, द्रव्यनमस्कार और भावनमस्कार ऐसे चार भेद हैं। नामनमस्कार—जिस किसीका 'नमस्कार' ऐसा नाम रखना यह इस पदार्थका नाम हो इस हेतुसे जो जो पद प्रयोग किया जाता है उसको नामनमस्कार कहते हैं।

स्थापनानमस्कार—नमस्कार करनेमें तत्पर होकर हाथ जोड़कर मस्तकपर जिसने स्थापन किये हैं ऐसे जीवकी जैसी आकृति होती है वैसी आकारयुक्त जो मूर्ति स्थापी जाती है उसको स्थापनानमस्कार कहते हैं।

द्रव्यनमस्कार—नमस्कारप्राप्त नामका ग्रंथ है जिसमें नय प्रमाण और निक्षेप वगैरहके द्वारा नमस्कारा निरूपण किया है इस ग्रंथका जिसको ज्ञान है परंतु इसमें निरूपण किये गये अर्थमें सांमतकालमें जिसका उपयोग नहीं है, अर्थात् सांप्रतकालमें जिसका अन्य पदार्थके तरफ चित्त गया है वह पुरुष 'द्रव्यनमस्कार' शब्दसे वाज्य है, वह पुरुष नमस्कारका यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले श्रुतज्ञानका कारण होनेसे उसको आगम द्रव्यनमस्कार कहते हैं।

नो आगम द्रव्यनमस्कारके ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त, ऐसे भेद हैं, नमस्कार प्राप्तके ज्ञाताका जो त्रिकालगोचर शरीर उसमें भी नमस्कार शब्दका प्रयोग करते हैं क्योंकि शरीरके विना नमस्कार शब्दका ज्ञान जीवको होता नहीं। इस लिये शरीर भी ज्ञानका कारण है, उसमें भी नमस्कार पदका प्रयोग करते हैं, त्रिकालगोचर शरीर में जो भूतशरीर नामक भेद है उसके व्युत्पन्न, व्यावृत्त और त्यक्त ऐसे तीन भेद हैं, आयुष्य पूर्ण चलने पर जो शरीर आत्मासे छूट जाता है उसको व्युत्पन्न शरीर कहते हैं, उपसर्ग होनेपर जो शरीर छूट जाता है वह व्यावृत्त कहा जाता है, आयुष्यका अभाव हुआ है ऐसा समझकर आत्माके द्वारा जो शरीर त्यागा जाता है उसको त्यक्त कहते हैं, इसका तीन भेद है, भक्तप्रत्याख्यान, प्रायोगमन और इगिनीमरण इन तीनों भेदोंमें से किसीका भी आश्रय कर योग्य विधीसे शरीरका त्याग होता है उसको त्यक्त कहते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान—शुनिदीक्षा लेनेके अनंतर दीक्षा कालसे कपाय मछेखना और शरीरसंछेखना करके नियर्णकाचार्यका आश्रय करनेके कालपर्यंत बीचके कालमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य जो जो अतिचार हुए हैं उनकी आलोचना करके गुरुके दिये हुये प्रायश्चित्त का स्वीकार करना चाहिये, तदनंतर द्रव्यसंछेखना और भाव-संछेखनाका आश्रय करके तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कर रत्नत्रयकी आराधना करना इसको भक्तप्रत्या-



ख्यान कहते हैं, इंगिनीमरण और ग्रायोपगमन मरण ऐसे दो भेदोंका लक्षण आचार्य आगे कहेंगे, इन मरणोंके द्वारा शरीरका त्याग करना उसको भी त्यक्त कहते हैं,

जीव जव था तव वह जैसा नमस्काररूप उपयोगको कारण था वैसा वह भी शरीर नमस्कारके प्रति उपयोग लगानेका कारण था अतः वही, यह शरीर है ऐसा ज्ञान शरीरको देखनेसे होता है इसलिये भूतशरीरमें भी नमस्कारका प्रयोग कर सकते हैं, जिसमें भविष्यकालमें नमस्कारके प्रति उपयोग होगा वह भावि कहता है

नमस्कार विषयक ज्ञानके तरफ जिसका उपयोग लगा है उसको आगम भावनमस्कार कहते हैं, जिनको नमस्कार करना योग्य है ऐसे अर्हदादिक परमेश्वरों के गुणोंमें अदुक्त होकर अपने दो हाथ जिसने कमलकलिकाकार क्रिये हैं तथा जो नमस्कार कर रहा है उसको नो आगम भावनमस्कार कहते हैं,

इस नमस्कारका निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इसने अनुयोगों के द्वारा वर्णन करते हैं—

अर्हदादिकी गुणोंमें अनुरागी होकर जो आत्मा वचनेसे स्तुति करता है और मस्तक नम्र करता है उसकी इस अवस्थाको नमस्कार स्वामी—सम्यग्दृष्टि इस नो आगम भाव नमस्कारका स्वामी है, इस नमस्कारके ये साधन हैं,— मति श्रुतज्ञावरण कर्मका क्षयोपशम, दर्शन मोहका उपशम क्षय और क्षयोपशम ये बाह्य साधन हैं आत्मा अन्तरंग साधन है, अर्थात् प्रत्यासन्नभव्य अन्तरंग साधन है अधिकरण—आत्मामें यह नमस्कार रहता है अतः वह आधार है, इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है, अर्हदादि पंचपरमेश्वरोंके अपेक्षासे इसके पांच प्रकार है, अथवा अर्हदादिकोंमें अनेक विकल्प हैं इस लिये भी नमस्कारके अनेक भेद होते हैं, अर्हन्तके सामान्य केवल अर्हत्, गणधर केवल अर्हत्, तीर्थंकर केवल अर्हत् ऐसे भेद हैं, सिद्धोंके भी गति सिद्ध, तीर्थसिद्ध, क्षेत्रसिद्ध, लिंग सिद्ध ऐसे अनेक भेद हैं इनकी अपेक्षासे नमस्कारके भी अनेक भेद होते हैं,

मणसा गुणपरिणामो वाचा गुणभासणं च पंचण्डं ॥

काएण संपणामो एस पयट्थो णमोक्कारो ॥ ७५३ ॥

विजयोद्या—अत्र नमस्कारस्मरणे 'णमो लोए सट्ठसाधुणं' इत्यत्र लोकग्रहणं सर्वग्रहणं प्रत्येकमाभिसंब-

यते । णमो लोए सव्वेसि अरहताण, णमो लोए सव्वेसि सिद्धाण, णमो लोए सव्वेसि आहारियाण, णमो लोए सव्वेसि उवज्जायाण ” इति । अरहताणमित्यादि बहुवचननिर्देशादेव सर्वेषामर्हतादीना ग्रहण सिद्धमतो न कर्तव्य सर्वशब्दोपादान इति चेत् । अर्हत्तृतीयद्वोपगतभरतेषु, पेरवनेषु, विदेहेषु च ये अर्हत, सिद्धा, आचार्या, उपाध्याया, साधवश्चातीना, वर्तमाना, भविष्यतश्च तेषा ग्रहणार्थं सर्वशब्द उपात्त । सावराशेषवक्ष्यापनार्थं प्रत्येकं नमः शब्दोपादान ।

अर्थ — नमस्कार इस पदका अर्थ इस प्रकार है. मनके द्वारा अर्हतादिकोंके गुणोंका स्मरण करना, वचनके द्वारा अर्हतादि पंच परमेश्वरोंके गुणोंका वर्णन करना, शरीरसे पंच परमेश्वरोंके चरणोंको नमस्कार करना यह नमस्कार शब्दका अर्थ है

णमो अरहताणं इत्यादि नमस्कार द्वयमें ‘ णमो लोए सव्व साहूणं ’ ऐसा अन्तिम वाक्य है. इसमें लोक शब्द और सर्व शब्द इन दो शब्दोंका संबंध प्रत्येकके साथ करना चाहिये. अर्थात् णमो लोए सव्वेसि अरहताणं, णमो लोए सव्वेसि सिद्धाणं, णमो लोए सव्वेसि आहारियाणं, णमो लोए सव्वेसि उवज्जायाणं ।

शका—अरहताणं, सिद्धाणं वगैरहमें बहु वचनका प्रयोग होनेसे ही सर्व अर्हतादिकोंका ग्रहण होता है अतः सर्व शब्दकी जरूरत नहीं है.

उत्तर—ढाई द्वीपमें पांच भूत, पांच ऐरावत और पांच विदेहों में जितने अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं, हो गये हैं. और होंगे उनका ग्रहण करनेके लिये यहां सर्व शब्दका प्रयोग किया है और आदर विशेषता दिखानेके लिये प्रत्येकके आगे नमः शब्दका प्रयोग किया है

अरहंतणमोक्कारो एक्को वि हविज्ज जो मरणकाले ॥

सो जिणवयणे दिट्ठो संसारुच्छेदणसमत्थो ॥ ७५५ ॥

एक्कोप्यहंमस्कारो मृत्युकाले निषेवितः ॥

विध्वंसयति संसारं आस्वानिव तमश्चयम् ॥ ७८४ ॥

विजयोदया—अरहताणमोक्कारो अर्हता नमस्कार । जो मरणकाले भवेज्ज एक्को वि । यो मरणकाले भवेदेकोऽपि । सो स । जिणवयणे दिट्ठो जिनवचनं दृष्ट । ससारुच्छेदणसमत्थो संसारोच्छेदनसमर्थ. ॥

अर्थ—मरण समयमें अरहंतोंको एक भी यदि नमस्कार किया तो वह भी संसारका नाश करनेमें समर्थ है ऐसा जिनागममें कहा है

९२०

मू.भाराधन।

ननु सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्यतयासि संसारमुच्छिद्यति यद्यपि न स्यान्नमस्कार इत्याशयायामाह—

जो भावणमोक्षारेण विणा सम्पत्तणचरणतवा ॥

ण हु ते होति समत्था संसारुच्छेदणं कांडु ॥ ७५६

संसारं न विना शक्तं नमस्कारेण सूदितुं ॥

चतुरंगगुणोपेतं नायकेनेव विद्विपम् ॥ ७५७ ॥

विजयोदया—जो भावणमोक्षारेण विणा यो भावनमस्कारेण विना सम्यक्त्व, ज्ञानं, चारित्र्यं, तपश्च । खु शब्द एवकारार्थ । ण हु ते समारुच्छेदणं कांडु समत्था होति । न हि ते संसारोच्छेदन कर्तुं समर्थो भवति ॥

सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र्य और तप संसारका नाश करते हैं इस लिये नमस्कार की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—भावनमस्कारके विना सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र्य और तप संसारका नाश करने में समर्थ नहीं होते हैं.

यदेव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्ग इति सूत्रेण विकस्यते । नमस्कारमात्रमेव कर्मणाविनाशने उपाय इत्येकमुक्तिमार्गकिथनादित्याशंकायामाह—

चतुरंगणु सेणणु णायगो जह पवत्तओ होदि ॥

तह भावणमोक्षारो मरणे तवणणचरणणं ॥ ७५७ ॥

विद्विषो नायकेनेव चतुरंगं वलीयसा ॥

संसारस्य विधाताय नमस्कारेण योज्यते ॥ ७८६ ॥

विजयोदया—चतुरंगणु सेणणु णायगो चतुरंगया सेनाया नायको । जह पवत्तगो होज्ज यथा प्रवर्तको भवति । तह भावणमोक्षारो तथा भावनमस्कारः । मरणे मरणगोचरः । तवणणचरणणं तपोज्ञानचरणानां क्षाधिक

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनवीर्यगुणात्मका अर्हन्त इत्येवं श्रद्धानात्मको भावनमस्कार सम्यग्दर्शनात्मकत्वात् । समीचीनं तपो, ज्ञान, चारित्र्यं च प्रवर्तयति । न ह्याप्तगुणश्रद्धान विना शब्दश्रुतस्य प्रामाण्यमय व्यवस्थापयितुमीशः । वक्तृप्रामाण्याद्विना न वचनप्रामाण्यसिद्धिः । न हीन्द्रियविषयज्ञानमयथार्थमिदमेतद्यथार्थमिति वा विवेकशक्त्यते अस्मदादिना । अर्थ-यथात्म्यवोद्दिनो वीतरागद्वेषस्य च यतो वचस्ततो यथार्थमेव विज्ञानं जनयति, नायथार्थमिति समीचीनज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानपुरस्सरतया चरणं तपश्च समीचीनं सत्कर्मोपनोदे निमित्तं नान्यथेति प्रवर्तकता भावनमस्कारस्य ततः प्रभावत्वाद्भावनमस्कारः संसारोच्छेदकारीति व्यपदिश्यते ॥

यदि आप भावनमस्कारसे ही संसारनाश होता है ऐसा कहते हो तो ' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः ' इस सूत्रके साथ विरोध उत्पन्न होगा. क्यों कि नमस्कार ही केवल कर्मका नाश करनेमें उपाय है ऐसा आपका अभिप्राय है. सम्यग्दर्शनादिक तीनों मिलकर मोक्षका उपाय है और आपके मतसे केवल नमस्कार ही मोक्षोपाय है. इस शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—गज, रथ, अश्व और पायदल इस प्रकार चार सेनाओंका जैसे सेनापति प्रवर्तक माना जाता है. वैसे यह भावनमस्कार भी मरणसमय में तप, ज्ञान, चारित्र्यका प्रवर्तक है.

क्षायिक सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनंतवीर्य ये अर्हतेके गुण हैं ऐसी श्रद्धा करना यही भावनमस्कार है यह नमस्कार सम्यग्दर्शनात्मक ही है. इससे ही मुनिराजके ज्ञान, तप, और चारित्र्य, कर्मनिर्जरा करना, संवर करना इन कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं आप्तगुणोंपर यदि श्रद्धा न होगी तो यह भावनमस्कार शब्दश्रुतका प्रामाण्य सिद्ध करनेमें समर्थ न होगा. वक्त्यामें यदि प्रमाणता न होगी तो उसके वचन प्रमाणभूत कैसे माने जायेंगे इंद्रियज्ञान से यह यथार्थ है और यह अथार्थ है इसका निर्णय कर नहीं सकता. जिनके रागद्वेष नष्ट होगये हैं और जो पदार्थोंका सच्चा स्वरूप जानते हैं उनका वचन अर्थात् आगम प्रमाणभूत मानना चाहिये. उसको अप्रमाण समझना योग्य नहीं है सम्यग्दर्शनसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह सम्यग्ज्ञान है. उसी तरह चारित्र्य और तप भी जब उत्कृष्ट-निर्दोष होते हैं तब कर्मनाश करनेमें निमित्त हो जाते हैं अन्यथा नहीं. इसलिए भावनमस्कार इनका प्रवर्तक है ऐसा समझना चाहिए. यह भावनमस्कार प्रभावसंपन्न होनेसे संसारका उच्छेद करता है ऐसा मानना अयोग्य नहीं है

आराधनापडायं गेण्हंतरस हु करो णमोक्कारो ॥

महस्स जयपडायं जह हत्थो धेत्तुकामस्स ॥ ७५८ ॥

नमस्कारेण गृह्णाति देवीमारारधनां यतिः ॥

पताकाभिव हस्तेन मह्यो निश्चितमानसः ॥ ७८७ ॥

विजयोदया — आराधनापताकां ग्रहीतुकामस्य महस्य भावनमस्कार एव करो जयपताका ग्रहीतुकामस्य हस्त इवेत्युत्तरार्थार्थः ॥

अर्थ—जो क्षपक आराधनारूप पताका ग्रहण करता है उसका भावनमस्कार ही हाथ है जैसे जयपताकाको मह्य पुरय अपने हाथसे ग्रहण करता है

अण्णाणी वि य गोवो आराधित्ता मदो णमोक्कारं ॥

चंपाए सेट्ठिकुले जादो पत्तो य सामणं ॥ ७५९ ॥

अजानोऽपि मृतो गोपो नमस्कारपरायणः ॥

चम्पाश्रेष्ठिकुले मृत्वा प्रपदे संयमं परम् ॥ ७८८ ॥

समस्तानि दुग्धानि विच्छिद्य सयः॥ सुधानि प्रभूतानि साराणि दत्त्वा ॥

मुदा सेव्यमानं विधानेन मोक्षे । विवाधानि दत्ते नमस्कारमित्रम् ॥ ७८९ ॥

इति नमस्कारः ।

विजयोदया—अर्हदयुधानरहितोऽपि गोपो द्रव्यनमस्कारमासाध्य स्रनध्वंषपुरे श्रेष्ठिकुले जातः । श्रामण्यं च प्राप्तवान् इति च द्रव्यनमस्कारोऽप्येव विपुल फल प्रयच्छतीति भावः । नमस्कारो व्याख्यातः । णमोक्कारः ॥

अर्थ—सुप्रग नामक गालाम्नी अर्हते के ज्ञानादि गुणोंका स्वरूप मालूम नहीं था, उसने मरण समयमें अर्हतको द्रव्यनमस्कार किया था मरणके अनंतर वह चंपापुरनगरमें ग्रामदत्तश्रेष्ठिका पुत्र हुआ, श्रमण अवस्थाको प्राप्त होकर मुक्त हुआ, द्रव्यनमस्कार भी ऐसा विपुल फल अर्पण करता है, नमस्कारका विवेचन हुआ.

गणपतये नमः ॥

पाणिं अंकमभदं मत्तस्य ह निचहत्थिरस ॥ ७६० ॥

न शक्यते वशीकृतं विना ज्ञानेन मानसं ॥

अंकशेन विना कृत्र क्रियते कृजरो नशे ॥ ७९० ॥

विजयोक्त्या—णाणुवओग इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरं प्रपद्ये—णाणोवओग छिदेण ज्ञानपरिणाममणित्वेन पुनः । सको चित्तनिग्रहो काळ चित्तनिग्रहः कर्तुमशक्यः । कस्मात् ज्ञानमनेणे न शक्यश्चित्तनिग्रहः कर्तुमशक्याया-ज्ञान-निग्रहकरणे सायकतमं ततस्तददरेण न भवति चित्तनिग्रहः इत्याचष्टे । णाण अकुमभूद मत्तम्म तु चित्तद्वहिदस्स ज्ञानमक्क-शम्ल मत्तस्य चित्तद्वस्तिन । इदमत्र चोत्पत्ते इह चित्तदावेन किमुच्यते ? अन्त्यत्र मच्चित्तशीनसङ्गतइत्या रो चित्त चैतन्य-मिति गृहीत इहपि यदि तेदेव तस्य निग्रहो नाम कः ? अत्रोच्यते-विपर्ययज्ञानतया अशुभस्यानेल्लइयातया या परिणतिः प्राणभूतो यस्य तस्य निरोधो यथाज्ञानपरिणामेन क्रियते । परिणामो हि परिणाभिन् विरुणद्धि, परिणामोऽस्मच्छिगदस्स-या नादातव्य' इति । यथा मत्तो हस्ती न कचिद्वयवतिष्ठते यधनमद्वनाद्यि क विना तल्लच्चित्तद्वस्यपि यत्र कुण चणाशुमप-रिणामे प्रनर्तते इति ॥

अर्थ—ज्ञानपरिणामसे रहित पुरुष अपने चित्तका निग्रह करनेमें मर्मार्थ नहीं होता है अर्थात् ज्ञान मनको जीतनेमें साधकत्व है उसके विना मन अन्य उपयोगसे नहीं जीता जा सकता है जैसे मचहाथीको अंकुश बश करता है वैसे उन्मत्त हुए इस चित्तरूप हाथीको बश करनेके लिये वह ज्ञान अंकुशके समान है.

मन्त्र—यहां चित्तशब्दसे क्या अभिप्राय समझना चाहिये, 'मन्त्रे चित्तग्रीतमवृत्त' इत्यादि सूत्रमें चित्तशब्दका अर्थ चैतन्य ऐसा माना है क्या यहां भी वही अर्थ मानते हो ? तो— 'चैतन्यनिग्रह करना' इसका क्या अभिप्राय समझना चाहिये ?

उत्तर--जो विपरीत ज्ञानरूप अथवा अशुभभ्यानरूप वा अशुभलेश्यरूप परिणति जीवकी होती है उसका निरोधही आत्माके ग्यार्थ ज्ञानरूपपरिणतमें युक्त होता है. परिणाम परिणामीका विरोध करता है जैसे हमारे विरुद्ध तुम अपने परिणाम धारण करना योग्य नहीं है जैसे मत्तहत्ती बंधन मर्दानादिके बिना कहां परभी स्थिर रहता नहीं है वैसे यह मनरूप हाथी भी जिस किसी अशुभ परिणाममें ग्रस्त होता है.

विज्जा जहा पिसायं सुहु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥  
णाणं हिदयपिसायं सुहु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥ ७६१ ॥  
स्वभ्यस्तं कुरुते ज्ञानं नानानर्थपरं मनः ॥  
पुरुषस्य वशो विद्या पिशाचमिव दुर्ग्रहम् ॥ ७९१ ॥

विजयोदया — विज्जा सुहु पउत्ता जहा पिसायं पुरिसवस करेदि । विद्या सुहु प्रयुक्ता सम्यगाराधिता यथा पिशाचं पुरुषस्य वश्यं करोति । तद्दणं सुहुवजुत्तं वसे करेदि हिदयपिसाय च । तथा ज्ञानं सुहु प्रयुक्त वशं करोति । किं ? हृदयपिशाच । चित्त पिशाचवद्योग्यकारितया ज्ञानं समीचीन असंरुतमवर्तमानं शुभे वा परिणामे प्रवर्तयति चेतनामिति यावत् ॥

अर्थ—पूर्ण विधीसे विद्याकर आराधना करतेपर पिशाच वश हो जाता है वैसे ज्ञानके तरफ पूर्ण उपयोग देनेसे यह हृदयरूपी पिशाच पुरुषके स्वार्थीन होता है यह हृदय पिशाचके तुल्य अयोग्य कार्य करता है परंतु ज्ञानोपयोगसे पुरुष इस हृदयको श्रुभ अथवा शुद्ध परिणामोंमें प्रवर्तौ सकते हैं, जैसे सम्यग्दृष्टि जीव विद्याराधन करके पिशाचको वश कर उससे धर्मप्रभावना के कार्य कराता है वैसे इस मनको भी है क्षपक ! तू ज्ञानाराधना कर शुद्ध परिणामोंमें तत्पर कर,

उवसमइ किण्हसप्पो जह मतेण विधिणा पउत्तेण ॥  
तह हिदयकिण्हसप्पो सुहुवजुत्तेण णाणेण ॥ ७६२ ॥  
ज्ञानेन शम्यते दुष्टं नित्याभ्यस्तेन मानसम् ॥  
मंत्रेण शम्यते किं न सुप्रयुक्तेन पन्नगः ॥ ७९२ ॥

विजयोदया — उवसपदि किण्हसप्पो उपशास्यति कृष्णसर्प, । जह यथा । मतेण पजुत्तेण स्वाहाकारात्ता विद्या इति स्वाहाकारो मंत्रशब्देनोच्यते मंत्रेण सुहु प्रयुक्तेन । तह तथैव । हिदयकिण्हसप्पो उवसमदि हृदयकृष्णसर्प उपशाम्यति । सुहुवजुत्तेण णाणेण सुहु प्रवृत्तेन ज्ञानपरिणामेन । अशुभनिग्रहहेतुता ज्ञानस्य आद्यया नाथयोक्ता । द्वितीयया चित्तस्य स्ववशाकारित्वं ज्ञानभावनयोक्तं । अनया तु अशुभपरिणामप्रशक्तिकारिता ज्ञानभावनया निरुच्यते ॥

अर्थ—योग्य विधीसे साध्य किया हुआ मंत्र प्रयोग करनेपर कृष्णसर्पको वश करता है. अर्थात् मंत्रके प्रभावे क्रोधसे फूत्कार करनेवाला सर्प शांत होकर मांत्रिकके वश होता है. वैसे यह हृदय रूपी कृष्ण सर्प भी उत्तम प्रकारसे प्रयुक्त किये ज्ञानपरिणामके द्वारा वश किया जाता है. पहिली गाथासे ज्ञान अशुभ परिणामोंको निग्रह करनेमें कारण है यह दिखाया है. दूसरी गाथाके द्वारा चित्त स्ववश करनेका उपाय दिखाया है. अर्थात् ज्ञानभावसे चित्त वश होता है ऐसा कहा है. और प्रस्तुत गाथासे ज्ञानभावना-ज्ञानाभ्यास अशुभ परिणामोंकी प्रश्रुति करता है यह बताया है

आरणवो वि मत्तो हत्थी णियमिज्जेद वरत्ताए ॥

जह तह णियमिज्जदि सो णाणवरत्ताए मणहत्थी ॥ ७६३ ॥

नियम्यते मनोहस्ती मत्तो ज्ञानवरत्रया ॥

हस्ती वारण्यकः सद्यो भयदायी वरत्रया ॥ ७९३ ॥

विजयोदया—आरणवो वि मत्तो हत्थी अरण्यचारी मत्तो हस्ती। णियमिज्जेद वरत्ताए नियम्यते निरुध्यते वरत्रेण यथा। तथा मणहत्थी मनोहस्ती नियम्यते। णाणवरत्ताए ज्ञानवरत्रेण। प्राणिनामहितकारितया, दुर्निवारतया च मत्तो हस्तीवेति मनोहस्तीति भण्यते। ज्ञानमशुभप्रवाहं निरुणद्धि। हृत्यनयोच्यते।

अर्थ—अरण्यमें खच्छदपनासे विहार करनेवाला मत्त हाथी जैसे मजबूत श्रृंखलासे बांधा जाता है वैसे यह मन प्राणिओंका अहित करता है और दुर्निवार है अतः यह हाथीके समान होनेसे इसको हाथी कह सकते हैं. यह मनरूपी हाथी ज्ञानरूपी श्रृंखलासे बांधा जाता है. अर्थात् ज्ञान अशुभसंकल्पोंके समूहको रोकता है. मनमें ज्ञानके प्रभाव से अशुभ संकल्प उत्पन्न नहीं होते हैं.

ज्ञानवरत्रया नियमितस्य मनोव्यापारं निरूपयत्युत्तरगाथा-

जह मक्कडओ खणमवि मज्झत्यो अत्थिदुं ण सक्केइ ॥

तह खणमवि मज्झत्यो विसण्हिं विणा ण होइ मणो ॥ ७६४ ॥



मध्यस्थो न कपिः शक्यः क्षणमायासितुं यथा ॥  
मनस्तथा भवैवैव मध्यस्थं विषयैर्विना ॥ ७९४ ॥

विजयोदया — मर्मकडओ खणमवि मज्झत्यो अत्थिहुं ण जहा सक्केदि मर्कटकः क्षणमपि मध्यस्थो निर्विकारः सन् स्थातुं न शक्नोति । तथा मणो विसर्पहिं विणा मज्झत्यो खणमवि ण होदि तथा मनो विषयैः शब्दाविनिमित्ता रागादय इह विषयशब्दाब्ध्या विषयकार्यत्वात् । ततोऽयमर्थः, अत्र रागद्वेषौ विना मध्यस्थं मनो न भवति । ज्ञानभावनायामसत्या रागद्वेषयोर्द्वैतित्वं मनसो व्यापार इत्यर्थः । एतया ज्ञान मनसो माध्यस्थं करोतीत्याख्यायते । यस्मान्मनसोऽमाध्यस्थमस्ति सनिहितमनोऽज्ञानोऽविषयरोगद्वेषसहचरितया —

ज्ञानरूपी श्रृंखलासे न वंधे हुए मनकी चेष्टाओं का वर्णन —

अर्थ — वानर एकक्षण पर्यन्त भी स्थिर अर्थात् निर्विकार एकस्थानमें रहता नहीं, मन भी विषयों के विना स्थिर नहीं रहता है हमेशा विषयोंमें विचरता है अर्थात् हमेशा शब्द रस, स्पर्श वगैरे विषयोंका निमित्त पाकर यह रागद्वेषोंसे युक्त हुआ ही करता है, विषयोंसे निवृत्त होकर माध्यस्थ भावमें यह रममाण होता नहीं, सतत ज्ञानका अभ्यास न होनेसे इसकी रागद्वेषमें परिणति हो रही है, परंतु ज्ञानका अभ्यास करनेसे माध्यस्थ-भाव मनमें उत्पन्न होता है, मनोज्ञ-इष्ट विषय और अमनोज्ञ अनिष्ट विषयके सहवाससे मनमें क्रमसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, तब माध्यस्थ भावका लोप होता है,

तथा सो उडुहणो मणमक्कडओ जिणोवएसेण ॥  
रामेदब्बो णियदं तो सो दोसं ण काहिदि से ॥ ७९५ ॥

सदा रमयितव्योऽसौ जिनवाक्यवने ततः ॥

रागद्वैषादिकं दोषं करिष्यति ततो न सः ॥ ७९५ ॥

विजयोदया — तथा तस्मात् । सो मणकडओ मनोमर्कटः । उडुहणो इतस्तत् उल्लंघनपर । रामेदब्बो णियदं सर्वकालं रमयितव्य । क जिणोवदेसमि जिनाने । तो ततो जिनागमरते । सो मनोमर्कट । दोसं रागद्वेषादिक । ण काहिदि न करिष्यति । से तस्य ज्ञानाभ्यासकारिण ॥

अर्थ — तब यह मनोमर्कट इतस्ततः कूदने लगता है इस मनोमर्कटको जिनागमके अभ्यासमें दिनरात तत्पर करना चाहिये, जिससे यह रागद्वेषादिक विकारको छोड़ देगा-

यस्माज्ज्ञानाभ्यासे सति मनोमर्कटको दीपं अशुभपरिणामं न करोति -

तस्मा पाणुवओगो खवयस्स विसेसदो सदा भणिदो ॥

जह विधणोवओगो चंदयवेज्झं करतस्स ॥ ७६६ ॥

ज्ञानाभ्यासस्ततो युक्तः क्षपकस्य विशेषतः ॥

चिवेध्यं कुर्वतस्तस्य चंद्रकच्यधनं यथा ॥ ७९६ ॥

विजयोदया - तस्मा पाणुवओगो तस्माज्ज्ञानपरिणाम । खवयस्स विसेसदो सदा भणिको क्षपकस्य विशेषतः सदा निरूपितः । जध विधणोवओगो यथा व्यधनभ्यासो विशेषतो भणितः । कस्य ? चंदयवेज्झं कंतस्स चंद्रकवेधं कुर्वतः ।

ज्ञानाभ्याससे यह मनोमर्कट अशुभ परिणाम नहीं करेगा ऐसा कथन -

अर्थ - चंद्रक यंत्रका वेध करने की ह्वाला रखनेवाला वीर पुरुष जैसे हमेशा लक्ष्यवेध करनेका अभ्यास करता है, वैसा मनोमर्कट वश करनेके लिये हमेशा क्षपक को ज्ञानाभ्यासकी आवश्यकता है,

पाणपदीओ पज्जलह जस्स हियए विसुद्धलेस्सस्स ॥

जिणदिठ्ठमोक्खमग्गे पणासणभयं ण तस्सत्थि ॥ ७६७ ॥

शुद्धलेदयस्य यस्यान्ते दीप्यते ज्ञानदीपिका ॥

तस्य नाशभयं नास्ति मोक्षमार्गे जिनेदिने ॥ ७९७ ॥

विजयोदया - पाणपदीओ ध्यानप्रदीप । पज्जलह प्रज्वलति । यस्य विशुद्धलेदयस्य हृदये । तस्य संसारवर्ते पतित्वा विनष्टोऽस्मीति विनाशभयं नास्ति । जिणदिठ्ठमोक्खमग्गे जिनदृष्टे श्रुते रत्नत्रयवृत्तिरपि मोक्षमार्गशब्द इह श्रुतवृत्तिग्राह्यः ॥

अर्थ - विशुद्ध परिणामयुक्त ऐसे जिसे क्षपक के हृदयमें ज्ञानरूपी दीपक सतत प्रकाशमान रहता है उसको जिनेश्वरने कहे हुए आगम में नष्ट होनेका भय नहीं रहेगा, अर्थात् सतत ज्ञानाभ्यास करनेसे जीवादिक पदार्थोंका जैनशास्त्रमें जो नयोंके आधारसे अनेक अपेक्षाओं को लेकर स्वरूपवर्णन किया है उसका खूप खुलासा होगा परंतु जिसको ज्ञानाभ्यास नहीं है उसको जिनागमका रहस्य मालूम न होगा

ज्ञानप्रकाशमहात्म्य कथयति—

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ॥

दीवेइ खेत्तमपं सूरुो णाण जगमसेसं ॥ ७६८ ॥

ज्ञानोद्योतो महेद्योतो व्याधातो नास्य विद्यते ॥

क्षत्रं द्योतयते सूर्यः स्वरूपं सर्वमसौ पुनः ॥ ७९८ ॥

विजयोदया—णाणुज्जोवो ज्ञानोद्योत एव द्योतोऽतिशयित । कस्तस्यातिशय इत्यत आह—णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ज्ञानोद्यतस्य नास्ति प्रतिधात । दीवेदि प्रकाशयति । खेत्तमप स्वरूप क्षेत्र । क ? सूरुो आदित्य । णाण जगमसेसं ज्ञानं जगदशेष । दीवेदि प्रकाशयति । समस्तव्यापिज्ञानवदन्य प्रकाशो नास्तीत्यर्थः ॥

ज्ञानप्रकाशका महत्त्व आचार्य कहते हैं—

अर्थ—ज्ञानरूपी जो प्रकाश है वही उत्कृष्ट प्रकाश है, इसमें यह विशेषता है कि यह किसीके द्वारा नष्ट कर नहीं सकते हैं, हवा वगैरह पदार्थ दीपकका नाश करते हैं परंतु ज्ञानदीपका नाश करनेवाला जगमें कोई भी पदार्थ नहीं है सूर्यका प्रकाश बहुत तीव्र है परंतु वह भी अल्पक्षेत्रको ही प्रकाशित करता है, परंतु यह ज्ञान-प्रदीप समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, समस्तको व्याप कर जानेवाले ज्ञानके समान दुसरा प्रकाश जगमें नहीं है,

णाणं पेयासओ सो वओ तवो संजमो य गुत्तियरो ॥

तिण्हपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ ७६९ ॥

ज्ञानं प्रकाशकं वृत्तं गोपकं साधकं तपः ॥

त्रयाणां कथिता योगे निर्वृत्तिर्जिनशासने ॥ ७९९ ॥

विजयोदया—णाण पेयासंगं ज्ञानं प्रकाशयति । ससारं संसारकारणं, मुक्तिं मुक्तिकारणं च ॥ सो वओ तवो निर्जराणिमित्तं तपः । संजमो य गुत्तियरो सयमश्च गुप्तिकरः । तिण्हपि त्रयाणामपि । समाओगे संयोगे मोक्खो मोक्षः । जिणसासणे विट्ठो । जिनशासने दृष्टः ॥

अर्थ—ज्ञान संसार और मुक्तिके कारणोंको प्रकाशित करता है, व्रत, निर्जराके कारणरूप तप, गुप्तिको

उत्पन्न करनेवाला संयम और इन तीनोंका संयोगरूप मोक्ष जिनका स्वरूप जैनागममें कहा है ज्ञान उन सबको जानता है.

पाणं करणविहूणं लिङ्गगहणं च दंसणविहूणं ॥  
संजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि ॥ ७७० ॥  
णाणुज्जोण विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं ॥  
गंतुं कडिल्लमिच्छदि अंधलओ अंधयारम्मि ॥ ७७१ ॥  
करणेन विना ज्ञानं संयमेन विना तपः ॥  
सम्यक्त्वेन विना लिङ्गं क्रियमाणमनर्थकम् ॥ ८०० ॥  
ज्ञानोद्योतं विना योऽत्र मोक्षमार्गे प्रयास्यति ॥  
प्रयास्यति वने दुर्गे सोऽन्धोऽन्यतमसे सति ॥ ८०१ ॥

विजयोदया — णाणुज्जोण विणा ज्ञानोद्योतेन विना । जो इच्छदि यो वाछति । मोक्खमग्गमुवगंतुं चारित्र तपश्च इह मोक्षमार्गे इत्युच्यते चारित्रं तपस्चोपगतु । गतु कडिल्लमिच्छदि गंतु दुर्गमिच्छति । क' ? अंधलओ अंध । अंधयारम्मि अधकारे तमसि । यया वृक्षतृणगुल्मादिनिचिते प्रवेशे गमन अतिदुष्कर अप्रकाशे सति । तद्विद्विषादिपरिहारे जीविकायाकुले दुष्कर इति मन्यते ॥

अर्थ — चारित्रहीन ज्ञान, सम्यग्दर्शनरहित मुनिदीक्षा धारण करना, संयमरहित तप करना, ऐसे कार्य व्यर्थ हैं. अर्थात् इससे मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं अर्थात् चारित्रसहित ज्ञान और प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम सहित तप करना चाहिये. सम्यग्दर्शनसहित मुनिदीक्षा धारण करनी चाहिये तब मोक्षकी प्राप्ति होती है.

अर्थ — ज्ञानरूपी प्रकाश अर्थात् ज्ञानदीपकको त्याग कर मोक्षका उपायभूत ऐसा चारित्र और तपकी प्राप्ति करनेकी जो इच्छा करता है वह अधकारमें वृक्ष तृणादिकोंसे व्याप्त ऐसे दुर्गमप्रदेशमें प्रवेश करने वाले अधमदुष्टके समान समझना चाहिये. जैसे जीवोंसे भरे हुए प्रदेशोंमें हिंसादिकोंका परिहार करना फठिन है वैसे ज्ञानके विना मोक्षमार्गकी प्राप्ति कर लेना कठिन है.

जइदा खंडसिलोगेण जमो मरणा दु फेडिदो राया ॥

पत्तो य सुसामणं किं पुण जिणउत्तसुत्तेण ॥ ७७२ ॥

संयमं श्लोकखंडेन निवार्य मरणं यमः ॥

यदि नीतस्तदा किं न जिनसूत्रेण साध्यते ॥ ८०२ ॥

विजयोदया—जइदा खंडसिलोगेण यदि तावत्खंडेन श्लोकस्य । जमो राया मरणादो फेडिदो यमो राजा मरणा-  
दपसारित । पत्तो य सुसामण प्राप्तश्च शोभनं श्रामण्य । किं पुण जिणउत्तसुत्तेण । किं पुनर्जिनोक्तसूत्रेण प्राप्यफले  
आश्चर्यं । वाच्यमत्राख्यानक च । तदुक्त भवति—

अक्षेनाघेन जीवितार्थिना यात्किं चिदुक्त वचनं श्रुत्वा दास्यपरेण राज्ञा भाव्यमानं यद्यापत्सारणे निमित्तं वि-  
श्ववेदिना वचो भाव्यमानं किमभिलषितं न प्रापयति ।

अर्थ—यम नामक राजा श्लोकके खंडका स्वाध्याय करनेसे मरणकी आपत्तीसे मुक्त हुआ और उत्कृष्ट चारित्र-  
को भी प्राप्त हुआ स्वयं वनाये श्लोकखंडमे भी वह आपत्तीसे मुक्त होकर उज्ज्वल चारित्रको प्राप्त हुआ  
तो जिनसूत्रके अध्ययनसे उत्कृष्ट फल अर्थात् मोक्ष क्यों न मिलेगा, ( इस यमराजाकी कथा आराधनाकथाकोषमें  
देखो )

जैसे एक राजाने भीख मांगनेवाले एक अज्ञ अंधका वचन सुनकर हसीसे कंठस्थ किया, उस वचन से  
उसके ऊपर आई हुई आपत्ति टली, एक अंधका वचन भी आपत्ती दूर होनेमें निमित्त होगया तो विश्वके समस्त  
पदार्थ जाननेवाले जिन भगवान के वचनोंका अभ्यास करनेसे क्या अभिलषित पूर्ण न होगा ? अवश्य पूर्ण होगा

सर्वस्यापि श्रुतस्य भावना मरणकाले महाफलं ददातीत्येवं तत्कथयति—

ददसुण्णो सुलदहो पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाने ॥

उवजुत्तो कालगदो देवो जावो महद्दीओ ॥ ७७३ ॥

ददसुर्पोअयं शलस्थो जातो देवो महर्द्धिकः ॥

नमस्कारश्रुताभ्यासं कुर्वणो भक्तितो मृतः ॥ ८०३ ॥

विजयोदया—ददसुण्णो सुलदहो ददसुर्पो नाम चौत शूलमारुढ । पंचणमोक्कारमेत्त सुदणाने उवजुत्तो

कालगतो पंचनमस्कार एव श्रुतज्ञाने उपयुक्तः स च कालगतः । महद्भिर्गो देवो जादो महद्भिर्को देवो जातः ॥

स्वल्पश्रुतता अभ्यास भी मरणकालमें महाफल देनेवाला होता है इस का विवेचन--

अर्थ—शूलपर चढ़ाया हुआ दृढशूर्प नामक चोर पंचनमस्कार मात्र श्रुतज्ञानमें चित्तकी एकाग्रता करके मरण को प्राप्त हुआ और स्वर्गमें महाऋद्धिशाली देव हुआ।

ण य तस्मि देसयाले सब्बो वारसविधो सुदक्खंधो ॥

सत्तो अणुचित्तेदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण ॥ ७७४ ॥

मृत्युकाले श्रुतस्कंधः समस्तो द्वादशांगकः ॥

बलिना शक्तिचित्तेन यतो ध्यातुं न शक्यते ॥ ८०४ ॥

विजयो—सब्सो गरसाविधो वि सुदक्खंधो तस्मि देसयाले ण य सब्बो अणुचित्तेदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण सर्वा द्वादशविधोऽपि श्रुतस्कंधस्तस्मिन्मरणे देवो काले च नैव शक्योऽनुस्मर्तुं नितराग्रपि समर्थचित्तेन । बहुश्रुतस्यापि न ध्यानालानेन समस्ते किं तु किंचिदेव सूत्रं । तथा श्रुत 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमिति' ॥

अर्थ—मरणकालमें सर्व—वारा प्रकारका श्रुतस्कंधका चित्तन करना बलवान और समर्थ मनके पुरुष द्वारा भी शक्य नहीं है। बहुश्रुत विद्वान् मुनि भी संपूर्ण श्रुतज्ञान को आपने ध्यानका विषय नहीं बना सकते हैं अर्थात् किसी भी कालमें और किसी भी क्षेत्रमें संपूर्ण श्रुतज्ञान ध्यानका विषय होता नहीं फिर मरण समयमें संपूर्ण श्रुतज्ञान ध्यानका कैसा विषय हो सकेगा ? श्रुतज्ञानका कोई एक सूत्र ध्यानमें विचारा जा सकता है, इसी वास्ते ध्यानका लक्षण 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानं' ऐसा कहा है।

एवकम्मि वि जम्मि पदे संवेगं वीदरायमग्गम्मि ॥

गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तब्बं ॥ ७७५ ॥

एकत्रापि पदे यत्र संवेगं जिनभाषिते ॥

संयतो भजते तन्न त्यजनीयं ततस्तदा ॥ ८०५ ॥

जिनपतिवचनं भवभयमथनं शशिकरधवलं कृतबुधकमलं ॥  
धृतमिति हृदये हृतमलनिचये वितरति कुशलं विदलति कलिलम् ८०६  
इति ज्ञानम्.

विजयोदया—तेण एकस्मि चि जस्मि पदे यस्मिन्नेकस्मिन्नपि पदे युक्तः । संवेगं गच्छदि रत्नत्रये श्रद्धासुपैति । अभिज्ञस्वं पुनः पुनः । तं तत्पदं । मरणते शरीराद्वियोगकाले । ण मोत्तवं न मोक्खं । णाणुवओग इत्येतद्व्याख्यातं ।

अर्थ—जिस एक पदका चिंतन करनेसे आत्मामें रत्नत्रयपर श्रद्धा उत्पन्न होगी वह पद बार बार चिंता जाना चाहिये. शरीरका वियोग होने तक उसका त्याग हे क्षपक । तुम मत करो. 'णाणुवओगा इस' पद का विवेचन हुआ.

पचमहव्वदरक्खा इत्येतद्व्याचिख्यासुरहिंसाव्रतं पालयेति कथयति -

परिहर छज्जीवणिकायवधं मणवयणकायजोएहि ॥  
जावज्जीवं कदकारिदाणुमोदेहिं उवजुत्तो ॥ ७७६ ॥  
यावज्जीवं विमुंचस्व यत्ते ! षड्जीवहिंसनम् ॥  
शरीरवचनस्वांतैः कृतकारितमोदितैः ॥ ८०७ ॥

विजयोदया—परिहर छज्जीवणिकायवधं पण्णां जीवणिकायानां वधं । मा क्खया मनोवाक्काययोः प्रत्येकं कृतकारितानुमतविकल्पैः । कालप्रमाणमाह—जावज्जीवं यावज्जीव । सर्वजीवविषयसर्वप्रकारहिंसापरिहाररूपत्वात् । सर्वस्मिन्नेव भवपर्यायकाले प्रवृत्तत्वादहिंसा व्रतस्य महत्ता निवेदिता । छज्जीवणिकाय इत्यत्र श्यक्त्यो जीवणिकायानां परिगृहीता । मणवयणकायजोएहिं कदकारिदाणुमोदेहिं इत्यनेन हिंसाविकल्पा सगृहीता । जावज्जीवमित्यनेन निर-  
क्रियापरिहारे इति शेषः । उवजुत्तो समिदीसु इति शेष उपयुक्तः समितिपु समाहितचित्तः । इह वा सावज्ज

पांच महाव्रतोंका रक्षण करना चाहिये इस पदका आचार्य व्याख्यान करना चाहते हैं. प्रथम हे क्षपक तू अहिंसा महाव्रतका रक्षण कर ऐसा उसको कहते हैं—

अर्थ—हे क्षपक तू ईयादिसभित्तियों में एकाग्र चित होकर अर्थात् संपूर्ण पापक्रियाओंका त्याग करके आमरण मन, वचन, और काययोगसे तथा कृत, कारित और अनुमति ऐसे नष्ट प्रकारसे छह प्रकारके जीवसमुदायोंका वध करना छोड़ दे ऐसी प्रवृत्ति करनेसे तेरा अहिंसा महाव्रत पूर्ण निर्दोष पाला जायगा. सर्व जीवोंकी हिंसा प्राप्त हुए इस मनुष्यपर्यायमें सर्व प्रकारसे त्यागी जाती है इस लिये इसको अहिंसा महाव्रत कहते हैं. 'छज्जीव णिकाय' इस पदसे जगतमें जीवोंके समुदाय अर्थात् प्रकार कितने हैं यह दिखाया है, व "मणवयणकायजोगेहि, कदकरिदाणुमोदेहि" इन पदोंसे हिंसाके प्रकारोंका कथन किया है. अर्थात् हिंसा नष्ट प्रकारसे होती है 'जावज्जीव' इस पदसे संपूर्ण मनुष्यायुष्यका ग्रहण किया है.

जह ते ण पियं दुक्खं तेहव तेसिंमि जाण जीवाणं ॥

एवं णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा ॥ ७७७ ॥

यथा न ते प्रियं दुःखं सर्वेषां देहिनां तथा ॥

इति ज्ञात्वा सदा रक्ष तान्स्वस्वमिव यत्नतः ॥ ८०८ ॥

विजयोदया—जह ते ण पियं दुःखं यथा तव न प्रियं दुःखं । तथेव तेसिंमि पि जीवाणं दुःखं न पियत्ति तथैव तेयामपि जीवाना न दुःखं प्रियमिति । जाण जानीहि । एवं णच्चा एवं ज्ञात्वा । अप्पोवमिवो आत्मोपमानः । सदा होदि जीवेसु । परदु स्ताप्रियो भवेति यावत् ॥

अर्थ—हे क्षपक ! जैसे तुमको दुःख नहीं है वैसे अन्य जीवोंको भी दुःख प्रिय नहीं है ऐसा समझ कर सर्व जीवोंमें तू आत्मोपम हो अर्थात् परदुःख देनेसे निवृत्त हो.

तण्हाल्लुहादिपरिदाविदो वि जीवाण धादणं किच्चा ॥

पडियारं कादुंजे मा तं चित्तिसु लभसु सदिं ॥ ७७८ ॥

क्षुधा तृष्णाभिमृतोऽपि विधाय प्राणिपीडनम् ॥

मा कार्षीरपकारं त्वं वपुर्वचनमानसैः ॥ ८०९ ॥



नित्योदया - तण्हा दुहादिपरिविद्धो नि तृगा, ध्रुवा, रोगेण, शीतेन, आतपेन वाधितोऽपि सन् । जीवाणं वारुण क्रिया जीवनासुरघातने ढल्वा । गडिगारं काहुजे वृद्धादीनां प्रतिकार कर्तुं । तं मा चितेहि मा कार्पथितं । लभसु सुदिं लभन्त स्मृति । पिमामि हिमशीतल जलं कपूरक्षोदवासितं । अगाध वा सरः सुरभितरोत्पलजोवगुणितं प्रविश्य मसृपासिगुर र्प निमज्जतोमज्जने करोमि । ललाटे, शिरसि, पृथुले चोर स्थले करकप्रकरनिपातो यदि स्याद्भङ्गं भवेत् । कादागसिक्ताधिरागहृदयनादिलाभे वा जीमामि इति वा । आतपति वा दिवानिशं तपे । अपसारिततीक्ष्णकरकरनि-  
गुरगमिति व्यजनताल तुन्तसमुपनीतशीतमाकृतपातेन श्रमनशेषमपाकुर्वतु भवन्त । हिमानी पततु । वातु मातरिद्वान इति वा । श्राव्यपूजनापूजानुरभिचृताटानं प्रदशयामीति । सम्यक् कथितं, क्षीरं शर्करामिश्रं सुयोण्य पिबामीति च । घग्ध-  
गायमान पादिरमार्गं कुरुत । शीतनि स्फुटन्ति ममगाणि इत्येवमादिना प्रतिक्रिया मनसि न कार्येत्यर्थः । असद्वैद्योदय स गो मत्तानिति निपतति, को नु तस्य प्रतीकार ? तदुपशमनालभाविन एव गालद्रव्यसंपाद्या, प्रतीकारा इति मनो निधेहि ॥

अर्थ—प्यास, भूख, रोग, शीत, उष्ण, इत्यादिकसे तुमको पीडा होने पर भी तुम जीवोंका घातकर प्याम नगरहको मिटानेका भयान करनेका विचार कभी मनमें मत लाओ ऐसे दुःखके समय आगमके वचनोंका स्मरण करो और आगे कहा हुआ विचार मनमें मत लाओ।

नापूरका चूर्ण डालकर सुगंधित किया हुआ, बर्फके समान शीतल जल में पीऊं, अथवा सुगंधित कमल-  
जोमें व्याप्त ऐसे अगाध मरोधरमें मत्त हाथी के समान प्रवेश कर निमज्जन करके स्नान करूं; ललाट, मस्तक, निहाल छाती इनके ऊपर ओलेका सपुदाय पड़ेगा तो बहुत ही आल्हाद होगा। कमल, शीत चालुका, कोमल कोपल, इनका किया हुआ मिठाना यदि मेरेको मोनेके लिये मिलेगा तो मैं जीऊंगा अन्यथा मेरे प्राण चले जायेंगे ऐसा विचार मनमें नहीं करना चाहिये रातमें और दिनमें प्यास मेरेको सताती है इसवास्ते स्वर्णके तीक्ष्ण किरणों को यहाँमें दूर करो। परवा नगरहके द्वारा ठंडी हवा करो और मेरा संपूर्ण श्रम आप दूर करो। बर्फ इष्टि होयों, गायु बहेने दो। ऐसा विचार नहीं करना चाहिये। क्वाडिमें तेल हुए, सुगंधित घृतसे मीले हुए अपूप में मक्षण कर्बूंगा, अच्छी तरहसे पका हुआ, खांडमिश्रित सुखोष्ण दूध में पिऊंगा ऐसा विचार नहीं करें। घग्धग करता हुआ रोगका अग्नि जल्दी नवार करो। मेरे नर्न अंग थंडीसे फूट रहे हैं इस प्रकार के इलाजके विचार क्षपकको मनमें करना योग्य नहीं है मेरे ऊपर अमाना वेदनीय कर्मका बडा रोप हुआ है उसको क्या इलाज है, जन उनका उपशम होनेका समय आयेगा तब बाल पदायोंके द्वारा डलाज हो सकते हैं ऐसा मनमें विचार करना चाहिये।

रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तो वि ॥

भोगपरिभोगहेटुं मा हि विचिंतेहि जीववहं ॥ ७७९ ॥

हर्पोत्सुकत्वदीनत्वरत्यरत्यादिसंयुतः ॥

त्वं भोगपरिभोगार्थं मा कार्पणीववाधनम् ॥ ८१० ॥

विजयोदया—रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तोऽवि । शब्दादिधिपया प्रीती रतिः । अमनो-  
क्षविषयसन्निधाने या विमुखता सा अरति । हास्यकर्मोदयनिमित्त परिणामो हर्ष । भयं, उत्सुकता, द्वीनतेत्येवमादिभि-  
र्युक्तोऽपि । भोगपरिभोगहेटु भोगोपभोगार्थं वा जीववधं मा कृथा मनसि ॥

अर्थ—स्पर्शादि विषयोपर प्रेम होना वह रति है. अनिष्ट पदार्थों से संयोग होनेपर जो विमुखता होती है  
उसको अरति कहते हैं. हास्य कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोंको हर्ष कहते हैं. भय, उत्सुकता, दीनपना इत्या  
दिक परिणाम आत्मामें उत्पन्न होने परभी भोगोपभोगके लिये हे क्षपक ! तू जीववध करनेका विचार मनमें मत कर.

महुकरिसमज्जियमहुं व संजमो थोवथोवसंगलियं ॥

तेलोककसव्वसारं णो वा पूरेहि मा जहसु ॥ ७८० ॥

माक्षिकं मक्षिकाभिर्वा स्तोकस्तोकेन संचितं ॥

मा नीनशो जगत्सारं संयमं चेत्त पूरये ॥ ८११ ॥

विजयोदया—महुकरिसमज्जियमहुं व मधुकराभि समजित मणिव । सजमं चारित्र । थोवथोवसंगलिद्  
स्तोकस्तोकेनोपचित । तेलोकसव्वसार त्रैलोक्यस्य सर्वसार विष्णुत्रये यदतिशयम् स्थान, मान, ऐश्वर्यं सुखं वा तस्य  
कारणत्वात् त्रैलोक्यसर्वसार । मा जहसु मा त्याक्षी ॥

अर्थ—मधुमाक्षिका जैसा थोडा मधु संचित करती है वैसा थोडा थोडा करके संचित किया हुआ  
यह संयम तू मत छोड़ क्योंकि त्रैलोक्यमें जो अतिशय उत्कृष्ट स्थान, मान, ऐश्वर्य और सुख है उसकी इससे प्राप्ति  
होती है. अतः ऐसे महान् संयम का हे क्षपक ! तू त्याग मत कर.

दुःखेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदसणचरित्तं ॥  
दुःखलज्जियसामण्णं मा जहसु तणं व अगणंतो ॥ ७८१ ॥  
नृत्वं जातिः कुलं रूपभेदियं जीवितं बलम् ॥  
अवणं ग्रहणं वोधिः संसारे संति दुर्लभाः ॥ ८१२ ॥

विजयोदया—दुःखेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदसणचरित्तं दुःखेन लभते मनुष्यजन्म ॥ जंतु । सरे  
यद्यपि मणुस्सजादिशब्दः सामान्यवाच्युपात्तस्तथापि विशेषमवसाययति इति ग्राह्य । मनुजा हि चतुःप्रकाराः—  
कर्मभूमिसमुत्थाश्च भोगभूमिभवास्तथा ॥

अंतरद्वीपजाश्चैव तथा सम्मूच्छिमा इति ॥  
असिर्मपि क्वपि शितपं वाणिल्यं व्यवहरिता ॥  
इति यत्र प्रवर्तते नृणामाजीवयोनय ॥  
प्रपत्यसयमं यत्र तपःकमपरा नरा ॥  
सुरसगतिं वा सिद्धिं प्रयति हृतशत्रवः ॥  
पता कर्मभुवो ह्येयाः पूर्वोक्ता दश पंच च ॥  
यत्र संभूय पर्याप्तिं यांति ते कर्मभूमिजाः ॥  
मद्यत्यूयवराद्वारपात्राभरणमात्यदैः ॥  
गृहदीपज्योतिपात्यैस्तगभिस्तत्र जीविकाः ॥  
पुरात्रामादयो यत्र न निवेशा न चाधिप ॥  
न कुलं कर्म शिल्पानि न वर्णाश्रमसंस्थिति ॥  
यत्र नायौ नराश्चैव मैथुनीभूय नीरुजः ॥  
रमंते पूर्वपुण्याना प्राप्नुवन्ति परं फलं ॥  
यत्र प्रकृतिभद्रत्वात् दिव याति मृता अपि ॥  
ता भोगभूमयश्चोक्तास्तत्र स्युर्भोगभूमिजाः ॥  
अभापका एकोरुका लागूलिकविपाणिनः ॥  
आदर्शमुखहस्त्यश्चविद्युदुल्कमुखा अपि ॥  
हृयकर्णगजकर्णोः कर्णप्रावरणास्तथा ॥  
इत्येवमादयो ह्येया अंतरद्वीपजा नराः ॥

समुद्रद्वीपमध्यस्था. कंदमूलफलाशिनः ॥  
 देवयते मनुष्यायुस्ते मृगोपमचेष्टिताः ॥  
 कर्मभूमिषु चक्राहलश्रद्धरिसूनुजा  
 स्कंधावारसमूहेषु प्रस्रवोच्चारभूमिषु ॥  
 शुक्रासिंघाणकरेषु मर्कटमलेषु च  
 अत्यन्ताशुचिदेशेषु सद्य समुच्छेतेन ये ॥  
 मृत्वागुलस्यासह्येयभागमात्रशरीरका. ॥  
 आशु नश्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्युः समुच्छन्ता नरा ॥

पतेषु कर्मभूमिजमानवाना एव रत्नत्रयपरिणामयोग्यता नेतेरप्य इति तदेव मनुजजन्म शुश्रूते । लब्धेऽपि तस्मिन् ज्ञानावरणोदयाद्विज्ञातपरिक्षायां समर्थो बुद्धिर्न सुलभा । तथा विना लब्धमपि मनुजजन्म विफलमेव । इष्टि-  
 रहितमिवायत् लोचनं, द्रविणसंपदं विना कुलीनत्वमिव, सुभगतामतेरेण रूपमिव, यथार्थतारहित वचनमिव, सत्या-  
 मपि मतौ यदि नास्ताना वच शृणुयात् सापि विफलैव सरोजरहिता सरसीव । इहापि श्रवणं आस्रवचनगोचरमेव शृहीतं,  
 श्रवणमपि श्रद्धानरहितं सुलभमेव । इदं यथा येन प्रतिपादितं तथैवेति श्रद्धानं दुर्लभं दर्शनमोहोदयात् । सत्यपि  
 श्रद्धाने चारित्रमोहोदयात् ज्ञातेऽभिरुचिर्न मार्गे प्रवृत्तिर्दुर्लभा । एव दुस्वल्ज्जिदसामण्यं दुःखार्जितश्रामण्यं । मा जहसु  
 मा त्वाक्षी । तण व अगणतो वृणमिव अगणयन्

अर्थ—इस प्राणीको दुःखसे मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होती है. उत्तम जाति, बुद्धि, सुनिपता, सम्यग्दर्शन,  
 चारित्र ये अवस्थायें उत्तरोत्तर दुर्लभ होनेसे महाकष्टसे प्राप्त होती हैं. गाथामें यद्यपि मनुष्यत्व, जाति ये शब्द  
 सामान्यवाची हैं तो भी उनसे विशिष्ट मनुष्यत्व, उच्च जाति ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये.

मनुष्यके चार प्रकार हैं. उनका वर्णन—

कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्तर्द्वीपज और समृद्धिम ऐसे मनुष्यके चार भेद हैं. जहां असि—शुख धारण  
 करना, मयि—वही खाता लिखना, कृषि—खेती करना, पशुपालन करना, शिल्पकाम करना अर्थात् हस्तकौशल्य  
 के काम करना, वाणिज्य—व्यापार करना और व्यवहारिता—न्यायदानका कार्य करना. ऐसे छह कार्योंसे जहां उप-  
 जीविका करनी पड़ती है, जहां संयमका पालन कर मनुष्य तप करनेमें तत्पर होते हैं और जहां मनुष्योंको पुण्यसे  
 स्वर्ग प्राप्ति होती है और कर्मका नाश करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसे स्थानको कर्मभूमि कहते हैं. ये कर्मभूमि  
 अढाईद्वीपमें पंढरा हैं अर्थात् पांच भगत, पांच ऐरावत और पांच विदेह.

जहाँ मद्यांग, तूर्यांग, वस्त्रांग, भोजनांग, पात्रांग, आभरणांग, माल्यांग गृहांग, दीपांग, और ज्योतिरांग ऐसे दश प्रकारके कल्पवृक्ष रहते हैं और इससे मनुष्योंकी उपजीविका चलती है ऐसे स्थानको भोगभूमि कहते हैं. भोगभूमिमें नगर, कुल, अस्मिभ्यादि क्रिया, शिल्प, वर्णाश्रमकी पद्धति ये नहीं होती हैं. यहाँ मनुष्य और स्त्री पूर्वपुण्यसे पतिपत्नी होकर समान होते हैं. वे सदा नीरोगही रहते हैं और सुख भोगते हैं. यहाँ के लोक स्वभावसे ही मृदु परिणामी अर्थात् मंद कर्पायी होते हैं. इसलिये मरणोत्तर उनको स्वर्गकी प्राप्ति होती है. भोगभूमिमें रहनेवाले मनुष्योंको भोगभूमिज कहते हैं.

अन्तरद्वीपज मनुष्योंका वर्णन—ये मनुष्य, अमापक गुरो, एक टांगवाले, पूंछवाले, सींगको धारण करनेवाले, ऐसे अनेक प्रकारके रहते हैं. यहाँके कोई मनुष्य दर्पणके समान सुखवाले, हाथी, घोडा, इनके सुख समान सुखवाले, बिजली और उल्का समान सुखवाले रहते हैं किसी २ मनुष्योंके कान हाथी और घोडोंके कान सरीखे रहते हैं. कितने मनुष्योंके कान इतने बड़े होते हैं कि वे उसको ओढ सकते हैं. इन सब मनुष्योंको अन्तर्द्वीपज मनुष्य कहते हैं. ये मनुष्य लवणोद और कालोद समुद्रके बीचमें ९६ अन्तर्द्वीप हैं उनमें रहते हैं. उनका आचरण पशुके समान रहता है वे मनुष्यायुका अनुभव लेते हैं.

कर्मभूमिमें चक्रवर्ती, बलभद्र वगैरह बड़े राजाओंके सैन्योंमें, मलभूत्रोंका जहाँ क्षेपण करते हैं ऐसे स्थानोंपर, वीर्य, नाकका मल, कफ, कान और दांतोंका मल और अत्यंत अपवित्र प्रदेश इनमें जो तत्काल उत्पन्न होते हैं. जिनका शरीर अंगुलका असंख्यात भाग मात्र रहता है और जो जन्म लेनेके बाद शीघ्र नष्ट होते हैं और जो लब्धपथीपक्ष होते हैं उनको सम्मूर्च्छन मनुष्य कहते हैं

इन मनुष्योंमें जो कर्मभूमिज मनुष्य हैं उनका ही रत्नत्रयपरिणाम की योग्यता है. इतरोको नहीं है. इस वास्ते मनुज शब्दसे इनका ही ग्रहण समझना चाहिय.

रत्नत्रयकी योग्यताको धारण करनेवाला मनुष्यजन्म मिलने पर भी ज्ञानावरणकर्मके उदयसे हिताहित की परीक्षा करनेवाली बुद्धि प्राप्त होना सुलभ नहीं है. ऐसी बुद्धि यदि प्राप्त नहीं हुई तो यह मनुष्यजन्म प्राप्त होकर भी निष्फल ही हुआ समझना चाहिये. नेत्र बड़े होकर भी उनसे पदार्थ दीखत नहीं है, अच्छे कुलमें जन्म होनेपर भी यदि सौंदर्य प्राप्त नहीं हुआ, बोलनेकी शक्ति प्राप्त होकर भी यदि असत्य बोलनेके तरफ ही प्रवृत्ति होने

लगी, तो नेत्र, उच्छ्कल, सुमगता और वचनशक्ति सब प्राप्त होना विफल है, वैसे उत्तम बुद्धि प्राप्त होनेपर भी यदि मनुष्य आप्तका वचन नहीं सुनेगा तो वह बुद्धि भी कुछ कामकी नहीं है ऐसा समझना चाहिये जैसे कमलरहित सरोवर सुंदर नहीं दीखता है वैसे आप्तवचन न सुननेवाली बुद्धि भी शोभाहीन ही है ऐसा समझना चाहिये यहां श्रवण शब्द कुछ भी सुनना इस सामान्य अर्थ का वाचक नहीं है, परंतु आप्तके वचन सुनना यही श्रवण शब्दका अर्थ है, श्रवण भी श्रद्धान रहित सुलभ है, जैसे जिनेश्वरने कहा है वैसाही श्रद्धानगुणयुक्त श्रवण जगतमें दुर्लभ है, दर्शनमोहका उदय होनेसे यह श्रद्धान जीवको प्राप्त होना कठिन है, पदार्थ का स्वरूप जान लेनेपर भी और श्रद्धा करनेपर भी चारित्र्यमोहकर्मका उदय होनेपर रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करना बड़ा ही कठिन है इस-लिये हे क्षपक ! तुमको यह दुर्लभ श्रामण्य-सुनिपनाभी प्राप्त हुआ है अतः इसको तृणके समान जानकर मत त्यागो,

जीवघातदोषमाहात्म्यं गाथाद्वयेन कथयति—

तल्लोक्कजीविदादो वरेहि एकदरमत्ति देवेहि ॥

भाणिदो को तल्लोक्कं वरिज्ज संजीविदं मुच्चा ॥७८२॥

देवैरेकं वृणीष्व त्वं त्रैलोक्यजीवितव्ययोः ॥

इत्युक्तौ जीवितं सुक्त्वा त्रैलोक्यं वृणुतेऽत्र कः ॥ ८१३ ॥

विजयोक्त्या—त्रैलोक्यजीवितयोरेकं गृह्णेति देवैश्चोचितं कल्लैलोक्यं वृणुते । जीवस्य जीवितं त्यक्त्वा, जीवनेमेव ग्रहीतुं वाछति । यस्मादेव त्रैलोक्यस्य मूल्यं जीवितं सर्वप्राणिनस्तस्माज्जीवितघातो जीवस्य जीवादन्यत्रावृत्ते जीवस्येह वचनमनर्थकमिति चेन्न, उत्तरेण सबधातु । जीवस्य हेतुल्लैलोक्यघातसमो महान्दोषो भवतीति यावत् ॥

जीवघातसे उत्पन्न हुए दोष का महत्त्व आचार्य दो गाथाओंसे दिखाते हैं

अर्थ—त्रैलोक्य और जीवित इन दोनोंमेंसे तुम कोई एक ग्रहण कर सकते हो ऐसा देवोंके द्वारा कहा-जानेपर मनुष्य जीवन को ही लेगा क्योंकि यह जीवन त्रैलोक्यकी कीमतका है, अर्थात् संपूर्ण जीवोंका जीवन त्रैलोक्यके बराबरीका है, इस वास्ते जीवका घात करना त्रिलोकका घात करनेके समान है तात्पर्य—जीवघात करना यह महान् दोष है,

जं एवं तेलोक्कं णग्घदि सव्वस्म जीविदं तह्सा ॥  
जीविदघादो जीवस्स होदि तेलोक्कघादसमो ॥ ७८३ ॥

त्रैलोक्येन यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते ॥

जीवजीवितघातोऽतत्रैलोक्यहननोपमः ॥ ८१४ ॥

प्राप्य दुर्लभसंतत्या आमण्यं सुखसाधकम् ॥

एकाग्रमानसो रक्ष निधानमिव सर्वदा ॥ ८१५ ॥

अर्थ—संपूर्ण जीवौका जीवित क्योंकि त्रैलोक्यके कीमतकी बराबरीका है अतः जीवकं जीवितका घात करना त्रैलोक्यघातके समान है.

अहिंसाव्रतमद्वत्ता निवेदयति—

णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि ॥

जह् तह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि ॥ ७८४ ॥

अल्पं यथाणुतो नास्ति महदाकाशतो यथा ॥

अहिंसाव्रततो नास्ति तथा परसुरूव्रतम् ॥ ८१६ ॥

विजयोदया—णत्थि अणूदो अप्पं नास्त्यणोरल्पं अन्यत्किंचिद्भूयं । आयासादो अणूणयं णत्थि । आकाशाद्वा अन्यन्महद्वास्ति यथा तथान्यद्भूतं अहिंसातो महद्वास्ति ॥

अर्थ—इस जगत्में अणु से छोटी दूसरी वस्तु नहीं है और आकाशसे भी बड़ी कोई चीज नहीं है इसी प्रकार अहिंसा व्रतसे दूसरा कोई बड़ा व्रत नहीं है.

जह् पव्वदेसु मेरू उव्वाओ होइ सव्वलोयस्मि ॥

तह जाणसु उव्वायं सीलिसु वदेसु य अहिंसा ॥ ७८५ ॥

पर्वतेषु यथा मेरुश्चक्रवर्ती यथा नृषु ॥

जीवरक्षाव्रतं सारं सर्वस्मिन्नपि व्रते तथा ॥ ८१७ ॥

विजयोदया—जह पर्वतसु सर्वस्मिन्लोकं पर्वतेभ्यो मेरुयशोऽस्तथा अहिंसा शीलेषु व्रतेषु च उन्नततमेति जानीहि । व्रतानां, शीलानां, गुणानां च अधिष्ठानमहिंसेति वदति ॥

अर्थ—जैसे सर्व जगत्में समस्त पर्वतोंमें मेरुपर्वत बड़ा है वैसे यह अहिंसा व्रत संपूर्ण शील और समस्त व्रतोंमें बड़ा है

सर्वो वि जहायासे लोगो भूमीए सब्बदीउदधी ॥

तह जाण अहिंसाए वदगुणसीलाणि तिष्ठति ॥ ७८६ ॥

यथाऽकाशे स्थितो लोको घरण्यां द्वीपसागराः ॥

सर्वव्रतानि तिष्ठन्ति जीवन्नाणव्रतं तथा ॥ ८१८ ॥

विजयोदया—यथा सर्वलोक ऊर्ध्वोर्ध्वस्तिर्यग्विकल्प आकाशाधिकरण । भूमौ च स्थिताः सर्वे द्वीपा उद-  
घयन्त्य । तथैव जाण जानीहि । व्रतगुणशीलान्यहिंसाया तिष्ठन्ति इति ॥

यह अहिंसा व्रत, गुण और शील सर्वोंको आधार है ऐसा कथन—

अर्थ—उर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्य लोक ऐसे लोकके तीन भेद हैं परंतु यह लोक भी आकाशमें है, अर्थात् त्रैलोक्यका आधार आकाश है इस भूतलमें सर्व द्वीप और समुद्र आश्रय होकर रहे हैं, वैसे व्रत गुण, और शील ये सब अहिंसाके आश्रयसे रहते हैं

कुवंतस्स वि जत्तं तुंबेण विणा ण ठंति जह अस्या ॥

अरण्हिं विणा य जहा णट्ठं पेमी दु चक्कस्स ॥ ७८७ ॥

यथा तिष्ठन्ति चक्रस्य न तुंबेन विनारकाः ॥

एतैर्विना न तिष्ठन्ति यथा चक्रस्य नेमयः ॥ ८१९ ॥



विजयोदया—कुर्वन्तस्स वि जत्तं यत्तं कुर्वन्तोऽपि । पिंडीमंतरेण यथा न तिष्ठन्त्यराणि । अरेविना नेम्यव-  
स्थानं चक्रस्य यथा नास्ति ॥

तह जाण अहिंसाए विणा ण सीलाणि ठंति सब्वाणि ॥

तिस्सेव रक्खणहं सीलाणि वदीव सस्सस्स ॥ ७८८ ॥

तथा शीलानि तिष्ठन्ति न विना जीवरक्षया ॥

तस्याः शीलानि रक्षार्थं सस्यादीनां यथा वृत्तिः ॥ ८२० ॥

विजयोदया—तह जाण तथैव जानीहि । अहिंसा विना सर्वाणि शीलानि न तिष्ठन्ति । अहिंसाया एव रक्षार्थं  
शीलानि वृत्तिरिव सस्यास्य ॥

अर्थ—कितनाभी प्रयत्न करो तुंवीके विना चक्रके आरे नहीं रह सकते हैं, वैसे अहिंसाके विना सर्व  
शीलोंका पालन करनेका कितना भी प्रयत्न करो उनका पालन नहीं किया जायगा, अर्थात् अहिंसाके विना शी-  
लकी स्थिति नहीं है, जैसे घान्यके रक्षणार्थ बाह लगाते हैं तथा अहिंसाके रक्षार्थही शीलव्रत हैं, कितना भी प्रयत्न  
करो आरे न होंगे तो नेमीकी स्थिति नहीं होती है वैसे अहिंसाके विना शील नहीं टिक सकते हैं,

अहिंसाव्रतमंतरेणैषां नैफल्थमाचये—

सीलं वदं गुणो वा पाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ ॥

जीवे हिंसतरस हु सव्वे वि णिरत्थया होति ॥ ७८९ ॥

व्रतं शीलं तपो दानं नैर्ग्रन्थं नियमो गुणः ॥

सर्वे निरर्थकाः सन्ति कुर्वन्तो जीवहिंसनम् ॥ ८२१ ॥

विजयोदया—शीलादीनि हि संवरमिज्जं चोदिस्यनुपीयते । हिंसाया तु सत्या न स्तः फलभूते संवरमिज्जे  
मुक्त्युपायभूते इति निष्फलता मन्यते ॥

अहिंसाके विना इन व्रतोंको निष्फलता प्राप्त होती है ऐसा कथन—  
अर्थ—शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निष्परिग्रहता, और विषयसुखका त्याग ये सर्व आचार जीवहिंसा

करनेवालेके विफल हो जाते हैं शीलादिक आचार कमकी निर्जरा, और संवरके उद्भयसे क्रिये जाते हैं परंतु हिंसा करनेसे युक्तके उपायभूत संवर और निर्जरा व्यर्थ होते हैं।

सर्वेसिमासमाणं हिदयं गवभो व सर्वसत्थाणं ॥

सर्वेसिं वदगुणानं पिंडो सारो अहिंसा हु ॥ ७९० ॥

आश्रमाणां मतो गर्भः शास्त्राणां हृदयं परम् ॥

पिंडं नियमशीलानां समतानामहिंसनम् ॥ ८२२ ॥

विजयोदया—सर्वेसिमासमाणं सर्वेपमाश्रमाणा हृदय । शास्त्राणा गर्भ । सर्वेप व्रताना गुणाना च पिंड-भूत सारो भवत्यहिंसा ॥

अर्थ—यह अहिंसा सर्व आश्रमोंका हृदय है, सर्वशास्त्रोंका गर्भ है, और सर्व व्रतोंका निचोड़ा हुआ सार है-

जम्हा असच्चवयणादिण्हिं दुक्खं परस्स होदिचि ॥

तप्परिहारो तस्मा सर्वे वि गुणा अहिंसाए ॥ ७९१ ॥

असूतृतादिभिर्दुःखं जीवानां जायते यतः ॥

परिहारस्ततस्तेषा अहिंसाया गुणोऽग्निलः ॥ ८२३ ॥

विजयोदया—जम्हा असच्चवयणादिण्हिं यस्मादसत्यवचनेन, अदत्तादानेन, मेयुनेन, परिग्रहेण च परस्स दुःख भवति । तस्मात्तेषा असत्यवचनादीना परिहार इति सर्वेपि अहिंसाया गुणा ॥

अर्थ—असत्य बोलनेसे, न दी हुई वस्तु लेनेसे, मेयुनसे और परिग्रहसे परको दुःख उत्पन्न होता है। परंतु अहिंसाके पालनेसे इन सब दोषोंका त्याग होता है। अतः सत्यवचनादिक अहिंसाके ही गुण हैं ऐसा सम-  
जाना चाहिये

गोवंभणित्यिवधमेत्तिणियत्ति जडि हवे परमधम्मो ॥

परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सब्बभूदया ॥ ७९२ ॥

गोस्त्रीब्राह्मणबालानां धर्मो यद्यस्त्यहिंसनम् ॥

न तदा परमो धर्मः सर्वजीवदया कथम् ॥ ८२४ ॥

विजयोदया-- गोवंभणित्यिवधमेत्तिणियत्ति गवा, ब्राह्मणना, खोणा च वधमात्रनिवृत्तिर्थादि भवेदुत्कृष्टो धर्मः परमो धर्मः कथं न भवति या सर्वजीवदया ॥

अर्थ--गोहत्या, ब्राह्मणहत्या, स्त्रीवध इनसे निवृत्त होना यदि, उत्कृष्ट धर्म समझा जाता है तो सर्व जीवोंपर दया करना यह उत्कृष्ट धर्म क्यों नहीं माना जायगा,

हिंसानिवृत्तिं उपायेन कारयति कृतापकारानपि चाध्वान्स्नेहात् मारयितुमीहते जनः । तत्परेपापसकृज्ज-  
न्मान्तरे पितृपुत्रादिभावमुपगताना अंग ! मारणमयुक्तं इति वदति--

सब्बे वि य संबंधा पत्ता सब्बेण सब्बजीवेहिं ॥

तो मारंतो जीवो संबंधी चेव मारेइ ॥ ७९३ ॥

सर्वैः सर्वे समं प्राप्ता संबंधा जंतुभिर्यतः ॥

संबंधिनो निवृण्यंते ततस्तान्निघ्नता ध्रुवम् ॥ ८२५ ॥

विजयोदया-सब्बे वि य सर्वेऽपि च । संबंधा संबंधा. प्राप्ता । सब्बेण सर्वेण जीवेन । सब्बजीवेहिं सर्वजीवे । तो तस्मात् । जीवो मारणोद्यतः संबन्धित एव घातयति ॥

उपायसे हिंसाका निषेध लोक करते हैं अपने बंधुओंने अपराध किये होंगे तो भी उनको मारते नहीं तो अनेक पूर्व जन्मोंमें जो पिता, पुत्र इत्यादिक संबन्ध को प्राप्त हुए होंगे ऐसे प्राणिओंको मारना क्या योग्य है ? नहीं इसका स्पष्टीकरण--

अर्थ--सर्व जीवोंका सर्व जीवोंके साथ पिता, पुत्र, माता इत्यादि रूप संबन्ध अनेक भवोंमें हुआ है. इसलिये मारनेके लिये उद्युक्त हुआ मनुष्य अपने संबन्धीको ही मारता है ऐसा समझना चाहिये. जगतमें संबन्धि-  
ओंका घात करना आतिशय निंद्य माना जाता है.

तच्च संवधिहननं लोके अतिनिन्दित ।

जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया ॥

विसकंटओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि ॥ ७९४ ॥

आत्मघातोऽद्दिनां घातो दया तस्यात्मनो दया ॥

विपकांड इव त्याज्या हिंसातो दुःखभीरुणा ॥ ८२६ ॥

विजयोदया—जीववहो अप्पवहो जीवाना घात आत्मघात एव । जीवाना क्रियमाणा दया आत्मन एव कृता भवति । सहेदेकजीवघातनोयत स्वयमेकेषु जन्मसु मार्यते । कृतैकजीवदयोऽपि स्वयमेकेषु जन्मसु परे रक्ष्यते । इति विपलितकटकवत् परिहार्यो हिंसा तु रभीरुणा ॥

अर्थ—प्राणिओंका नाश करना यह अपना ही नाश करना है और प्राणिओंपर दया करना ही अपने ऊपर दया करना है जो एकजन्ममें प्राणीका घात करता है वह अनेक जन्मोंमें मारा जाता है और जिसने एकवार भी प्राणीके ऊपर दया की है वह अनेक जन्मोंमें इतर प्राणिओंसे रक्षा जाता है ऐसा विचार कर विपसे लिप्त हुए कटकसे जैसे लोक दूर होते हैं वैसे दुःखमीरु मनुष्यको इस हिंसासे दूर रहना चाहिये

हिंसादोषमिदं जगमनि दर्शयति—

मारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुव्व उव्वेगं ॥

संबंधिणो वि ण य विस्संभं मारितए जति ॥ ७९५ ॥

उद्वेगं कुरुते हिंसा जीवानां राक्षसो यथा ॥

संबंधिनोऽपि नो तस्य विश्वासं जालु कुर्वते ॥ ८२७ ॥

विजयोदया—मारणसीलो हु मारणशीलः परहननोद्यत । राक्षस इव जीवानामुद्वेगं करोति । संबन्धिनोऽपि न विश्वम् उपयाति तस्मिन्बन्धके ॥

इसही जन्ममें हिंसासे हानि होती है इसका विवेचन करते हैं—

अर्थ—जो मनुष्य दूसरोंको मारनेमें उद्युक्त होता है वह राक्षमके समान प्राणिओंको भय उत्पन्न करता है उसके संबंधि मनुष्य भी उसके ऊपर विश्वास नहीं रखते हैं

वधबंधरोधधणहरणजादणाओ य वेरमिह चैव ॥  
णिव्विसयमभोजिचं जीवे मारंतगो लभदि ॥ ७९६ ॥

इह वंधं वधं रोधं यातनां देशधादनम् ॥

हिंसो वरैमभोगधत्वं लब्ध्वा गच्छति दुर्गतिम् ॥ ८२८ ॥

विजयोदया—वधं मारणं, वध बंधनं, रोध उत्क्रोशकादिकं रोधनं, धनहरण, स्विचोदालनं । यातनाश्च कद वेनास्ति । धैर्यं विपयगद्वादनं अभोज्यता च रोपाद्राक्षणादिहृननात् । मारंतगो हंता । लभदि लभते ॥

अर्थ—जो ब्राह्मणादिका वध करता है वह मारना, बांधना, रोकना, धन हरण करना, और अनेक प्रकारसे पीडा देना, वेर करना, देशसे निकालना, जातिसे च्युत करना, इत्यादिक दुःखाँको प्राप्त होता है।

कुद्धो परं वधिचा संयंपि कालेण मारदुज्जंते ॥  
हदधादयाण णत्थि विससो मुत्तूण तं कालं ॥ ७९७ ॥

यतो रुष्टः परं हत्वा कालेन त्रियते स्वयम् ॥  
हत्तहंत्तोस्ततो नास्ति विशेषस्तं क्षणं विना ॥ ८२९ ॥

विजयोदया—कुद्धो परं वधिचा कुद्धः सन्परं अन्यं वधित्वा । स्वयमपि गच्छता कालेन त्रियते । हत्तधातक- योर्नोस्ति विशेषः । मुत्तूण तं काल मुक्त्वा तं कालं । पूर्वमसौ मृतः पश्चात्स्वयमिति ॥

अर्थ—कुद्ध होकर जो मनुष्य दुसराँको मारता है वह भी कुछ काल बीतनेके अनंतर मरणको प्राप्त होता है, इस वास्ते हत और यातकमें कुछ फरक नहीं है, हाँ फक्त कालका ही अंतर रहता है,

अप्पाउगरोगिदयाविरुवदाविगलदा अवलदा य ॥  
दुम्मेहवणरसंगंधदाय से होइ परलोए ॥ ७९८ ॥  
अल्पायुर्दुर्वलो रोगी विरूपो विकलेन्द्रिय ॥  
दुष्टगंधरसस्पर्शो जायतेऽमुत्र हिंसकः ॥ ८३० ॥

विजयोदया—अप्पाङ्गरोनिदयारिवृद्धाविगलदा अवलदा य अत्ताजीवितरोनिताविरूपता, विकलैद्रियता दुर्वलता । तुम्मेधवण्णरसगयदा य दुर्मेधता, दुर्वर्णता, दूरसदुर्गधता च । से तस्य । होदि भवति । परलोप जन्मान्तरे ।  
अर्थ—हिंसा करनेवाला मनुष्य परजन्ममें अल्पायुपी, रोगी, कुरूप, विकलैद्रिय अर्थात् अंध, बहिरा, गूंगा, दुर्बल, मूर्ख, अशुभवर्ण, रस गंधवाला, होता है।

मारोदि एयमवि जो जीवं सो बहुसु जम्मकोडीसु ॥

अवसो मारिज्जंतो मरदि विधाणेहिं बहुएहिं ॥ ७९९ ॥

एकोज्जपि हन्यते येन शरीरी भवकोटिषु ॥

त्रियते मार्यमाणोऽङ्गी विधानैर्विविधैरसौ ॥ ८३१ ॥

विजयोदया—मारोदि इति । एयमवि एकमपि । जो जीवं यो जीव । सो स' । बहुसु जम्मकोडीसु बह्वीषु जन्मकोटिषु । अवसो मरदि मारिज्जंतो अवशो मार्यमाणो त्रियते । विधाणेहिं बहुगेहिं बहुभिः प्रकारैर्मर्यमाणः ॥

अर्थ—जो मनुष्य एक प्राणीको भी मारता है वह अनेक कोट्यवधि जन्मोंमें अवश अर्थात् परतंत्र होकर नाना प्रकारसे मारा जाकर मरणको प्राप्त होता है

जावइयाइं दुक्खाइं होति लोयम्मि चदुग्गदिग्गदाइं ॥

सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणाहि ॥ ८०० ॥

दुर्गतौ यानि दुःखानि दुःसहानि शरीरिणाम् ॥

हिंसाफलानि सर्वाणि कथ्यन्ते तानि स्मरिभिः ॥ ८३२ ॥

विजयोदया—जावइयाइं यावन्ति । दुक्खाइं दुःखानि । इति भवंति । चदुग्गदिग्गदाइं गतिचतुष्टयगतानि । सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि सर्वाणि तानि हिंसाफलानि । जीवस्स जाणाहि जीवस्येति जानीहि ॥

अर्थ—इस जगतमें चार गतिओंमें जो जो दुःख जीवको प्राप्त होते हैं वे सर्व हिंसाके ही फल हैं ऐसा समझना चाहिये।

का हिंसा नाम यस्या इमे दोषा निरूप्यन्ते इत्याच्छेदः—

हिंसादो अविरमणं वहपरिणामो य होइ हिंसा हु ॥

तस्मात्पमत्तजोगे पाणव्वरोवओ णिच्चं ॥ ८०१ ॥

हिंसातोऽविरतिर्हिंसा यदि वा वयंचिन्तनम् ॥

यत्प्रमत्ततायोगस्ततःप्राणवियोजकः ॥ ८३३ ॥

विजयोदया—हिंसादो अविरमण हिंसातोऽविरतिर्हिंसेति संबंधनीयं । प्राणान् प्राणिनो व्यपरोपयामीति सकल्पकरण हिंसा इत्यर्थः । वधपरिणामो वा हन्मीति एवं परिणामो वा हिंसा । तस्मात् । पमत्तजोगो प्रमत्तता संबंधः । पाणव्वरोवओ प्राणानपनयति । णिच्च नित्य । विक्रया, क्रयाय इत्येवमादय पंचदशपरिणामा आत्मनो भाव । प्राणाना परस्य च द्रव्यभाव प्राणाना वियोजका इति हिंसेत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

रत्तो वा दुडो वा मूढो वा जं पयुंजदि पओग ॥

हिंसा वि तत्थ जायदि तस्मा सो हिंसगो होइ ॥ ८०२ ॥

विजयोदया—रत्तो द्विग्रे मूढो वा सन्प्रयोग प्रारभते तस्मिन् हिंसा जायते । न प्राणिन प्राणाना वियोजनमात्रेण आत्मनि रागादीनामनुत्पादकः सोऽपिधीयते अहिंसक इति । यस्माद्राद्युत्पत्तिरेव हिंसा । न हि जीवातरगत-देशतया अन्यतमप्राणवियोगोपेक्षा हिंसा, तदभावकृता वा अहिंसा, किंतु आत्मैव हिंसा आत्मा चैव अहिंसा । प्रमादपरिणत आत्मैव हिंसा अप्रमत्त एव च अहिंसा । उक्तं च—

अत्ता चैव अहिंसा अत्ता हिंसति णिच्छओ समये ॥

जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥ ८०३ ॥

जीवपरिणामायत्तो बंधो जीवो मृत्तिसुगैव नोपेयाद्वा । तथा चाप्राणि—

अङ्गवसिदो य बद्धो सत्तो दु मरेज्ज णो मरिज्जेत्थ ॥

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ ८०४ ॥

जीवास्तदीयानि शरीराणि शरीरग्रहणस्थानयोऽनिसंखित ( ? ) वरावगो वेत्ति तत्संभवकालं तत्पीडापरि-हारेच्छुरसकृत्प क्रियाया लोभसत्कारान्नोपेक्ष्य प्रवृत्तो भवत्यहिंसक । उक्तं च—

गाणी कम्मरस खयत्थमुद्धिदो णोद्धिदो य हिंसाए ॥

अददि असदो हि यत्थं अप्पमत्तो अवधगो सो ॥ ८०५ ॥

शुभपरिणामसमन्वितस्याप्यात्मन स्वशरीरनिमित्तान्यप्राणिप्राणवियोगमात्रेण वध स्यान्न कस्यचिन्मुक्तिः स्यात् । योगिनामपि वायुकायिकवधनिमित्तवधसद्भावान् । अभाणि च —

जदि सुद्धस्स य वंधो होहिदि बाहिरगवत्थुजोगेण ॥

णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवधहेदु ॥ ८०६ ॥

तस्माच्चिश्चयनयथयेण प्राण्यंतरप्राणवियोगपेक्षा हिंसा ॥

जिसके दोष आप कहते हैं उस हिंसाका क्या स्वरूप है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—हिंसासे निरक्त न होना अथवा हिंसा करनेके परिणाम होना अर्थात् मैं प्राणिके प्राणोंका घात करूंगा ऐसा विचार रखना हिंसा है, प्रमत्तयोग प्राणों का नाश करता है विकथा, कषाय वगैरे पंधरा प्रकारके परिणामों को प्रमाद कहते हैं, इस प्रमादसे युक्त हुए प्राणीको प्रमत्त कहते हैं ऐसे प्रमत्तका जो योग अर्थात् मनवचन और शरीरका व्यापार उसको प्रमत्तयोग कहते हैं, इस प्रमत्तयोगसे अपने भावप्राणोंका और दुसरो के द्रव्य प्राण, और भाव प्राणोंका नाश होता है, इसलिये प्रमत्त योगको हिंसा कहते हैं,

अन्य आगमग्रंथमें हिंसाके विषयमें ऐसा लिखा है—

रागी, द्वेषी अथवा मूढ वनकर आत्मा जो कार्य करता है उससे हिंसा होती है प्राणिके प्राणोंका वियोग तो हुआ परंतु रागादिक विकारोंसे आत्मा यदि उस समय मलिन नहीं हुआ है तो उससे हिंसा नहीं हुई है ऐसा समझना चाहिये, वह अहिंसक ही रहा ऐसा समझना चाहिये, अन्य जीवके प्राणोंका वियोग होनेसेही हिंसा होती है ऐसा नहीं अथवा उनके प्राणोंका नाश न होनेसे अहिंसा होती है ऐसा भी नहीं समझना चाहिये, परंतु आत्माही हिंसा है और वही अहिंसा है ऐसा मानना चाहिये, अर्थात् प्रमाद परिणतआत्मा ही स्वयं हिंसा है और अग्रमत्त आत्माही अहिंसा है आगममें भी ऐसा कहा है—

आत्मा ही हिंसा है और आत्माही अहिंसा है ऐसा जिनागममें निश्चय किया है, अग्रमत्त अर्थात् प्रमाद रहित आत्मा को अहिंसक कहते हैं, और प्रमादसहित आत्माको हिंसक कहते हैं जीवके परिणामोंके अधीन बंध



होता है, जीव मरण करो अथवा न करो परिणामके वश हुआ आत्मा कर्मसे बद्ध होता है ऐसा निश्चय नयसे जीवके वधका संक्षेप से स्वरूप कहा है।

जीव, उसके शरीर, शरीरकी उत्पत्ति जिसमें होती है ऐसी योनि इनके स्वरूप जान कर और उसके उत्पत्तिका काल जानकर पीडाका परिहार करनेवाला और लाम, सत्कारादिकी अपेक्षा न करके तप करनेवाला जीव अहिंसक माना जाता है। आगममें इस विषयमें ऐसा विवेचन है—

ज्ञानी पुरुष कर्मक्षय करनेके लिये उद्युक्त होते हैं वे हिंसाके लिये उद्युक्त नहीं होते हैं, उनके मनमें शठ भाव-माया नहीं रहती हैं और वे अप्रमत्त रहते हैं इसलिये वे अवयक-अहिंसक माने गये हैं,

जिसके शुभपरिणाम हैं ऐसे आत्माके शरीरसे यदि अन्य प्राणी के प्राणका वियोग हुआ और वियोग होने मात्रसे यदि बंध होगा तो किसी को भी मोक्षकी प्राप्ति न होगी, क्योंकि योगिओंको भी वायुकायिक जीवोंके वधके निमित्तसे कर्मबंध होता है ऐसा मानना पड़ेगा। इस विषयमें शास्त्रमें ऐसा लिखा है—

यदि रागद्वेषरहित आत्माको भी चाहवस्तुके संबंधसे बंध होगा तो जगतमें कोई भी अहिंसक नहीं है ऐसा मानना पड़ेगा अर्थात् शुद्ध मुनिको भी वायुकायिक जीवके वधके लिये हेतु समझना होगा, इसलिये निश्चय-नयके आश्रयसे दूसरे प्राणीके प्राणका वियोग होनेपर भी अहिंसामें बाधा आती नहीं है ऐसा समझना चाहिये,

गतिक्रियामेदान्तरूपयति -

पादोसिय अधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए ॥

एदे पंचपओगा किरियाओ होति हिंसाओ ॥ ८०७ ॥

द्वैषिकी कायिकी प्राणघातिकी पारितापिकी ॥

क्रियाधिकरणी चेति पंच हिंसाप्रसाधिकाः ॥ ८३४ ॥

विजयोदया - पादोसियाधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए पादोसिय शब्देनेष्टदारविचहरणादिनिमित्तः कोपः प्रदेप इत्युच्यते । प्रदेप एव प्रद्वेषिको यथा विनय एव वैतथिकमिति । हिंसाया उपकरणमधिकरणमित्युच्यते । हिंसोपकरणादानक्रिया आधिकरणिकी क्रिया । दुष्टस्य सतः कायेन वा चलनक्रिया कायिकी । परितापो दुःखं दुःखो-

तृप्तिनिमित्ता क्रिया पारित्यागिनी क्रिया । आयुर्दिन्द्रियवृद्धयप्रणामा विद्योगकारिणी प्राणान्तिपातिकी क्रिया । एते पञ्च प-  
शोणा वन्ते पञ्च प्रयोगाः । हिंसाकिञ्चिदभावे हिंसासम्बन्धिन्य क्रिया ॥

हिंसासंबन्धि क्रियाओंका वर्णन—

अर्थ—द्वेषसे क्रिया करना, अर्थात् इष्ट स्त्री य धनादिक पदार्थका हितिके द्वारा हर्षण क्रिया जानेसे जो क्रोध उत्पन्न होता है उसको प्रव्रेष कहते हैं हिंसके उपकरणोंको ग्रहण करना, आघिरुण क्रिया कहते हैं, दुष्ट होकर शरीरके द्वारा चलन होना कारिणी क्रिया है, परिताप-दुःख-दुःखोत्पन्निके लिये जो क्रिया होती जाती है उसको पारित्यागिनी क्रिया कहते हैं, आयु, इन्द्रिय, रत्न और प्राण इनका घात करनावाली क्रियाको प्राणा तिपातिकी क्रिया कहते हैं, ऐसे पांच प्रकारके श्रयोगोंको हिंसा क्रिया कहते हैं.

तिहि चटुहि पंचहि वा कमेण हिंसा समप्यदि नु ताहि ॥

वंधो वि सया सगिसो जइ सरिसो काइयपदोसो ॥ ७०८ ॥

हिंसा त्रिभिश्चतुर्भिश्च पंचभिः साधयन्ति ताः ॥

क्रिया वंशः समानेन द्वैपिकी कारिणी क्रिये ॥ ८३५ ॥

विजयोदया - तिहि चटुहि पंचहि वा त्रिभिर्मनोवाजाये, चतुर्भिः क्रोधमानमागालोभे, पंचभिः स्पर्शनादि-  
भिर्निद्रियेयां । कमेण हिंसा समप्यदि नु कमेण हिंसा समसिमुपैति । तामिमेनमा प्रहरो वनसा छिद्रोऽन्मीनि वचन  
गच्छेय, कायेन सुतयेनर्णयदिकरण कायेनः । माना हिंसापेकरुणासा, घना शत्रु उपशुद्धमीति हन्तादिनाम्न इति.  
अधिकरणमपि विविध । मनसा उत्तिष्ठामीति विना, वचसा उत्तिष्ठामि इति, इतु नादश्रित्यमिति उक्ति । कायेन चलने  
कारिणी । मनसा नु गन्तुपादयामीति विना न ग गन्ता करोमि इति उक्तिगंगा रागिनापिकी क्रिया, हन्तादिनामेन  
नु मोहादून कायेन पारित्यागिनी क्रिया । प्राणाग्निगोजयामीति विना मनसा प्राणान्तिपात, हन्मीति न च चामप्राणा.  
निपात । कायव्यापार कायिकप्राणान्तिपात । क्रोधादिनिमित्ता कर्त्तव्यद्विगीर, माननिमित्ता, मायाविमिता, लोभनिमित्ता,  
क्रोधादिना शत्रुग्रहण क्रोधादिनिमित्त. कायपरिग्रह । क्रोधादिनिमित्ता परपतिपरुण, प्राणान्तिपातो वा कोराग्निना  
भजति । स्पर्शनादीन्दिन्द्रियनिमित्तो वा प्रहेय, शरीरयुगायै वा फलपुष्पप्रसूनादिद्वननिमित्तमाधनोपादान, तत्सु  
सार्थमेव विषयप्रत्यासत्तिमभिप्रेत्यायन कायपरिग्रह । परस्य वा गाढालिङ्गनगन्धलादिना मत्तापकरण, मासाग्नि  
वा प्राणिप्राणविजोजनमिति । किमेताभिर्हिंसाभि सपायः कर्मवच समान उा न्यूनाधिकभातो वधम्येत्याशङ्कायामाज्ये

बंधोऽपि कर्मबंधोऽपि स्त्रियों सरिसो स्वात्सदृशः। कथं ? यदि सारिसो यदि सदृश । कायिकपदोसो कायिकी क्रिया प्रद्वे पश्च यदि सम स्यात्करणसामान्यात्कार्यस्यापि वधस्य सादृश्य, अन्यथा न सदृशता । तीव्रमध्यमंदरूपा परिणामा तीव्र, मध्य मद् च वधमापादयन्ति । इति भावः ॥

अर्थ—मन, वचन और शरीर ऐसे तीन योग क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कृपाय और स्पशे-नादिक पांच इंद्रियां इनके द्वारा क्रमसे हिंसा समाप्त होती है। मनसे द्वेष करना, मैं द्वेषयुक्त हुआ हूं ऐमा वचनमे कहना यह नाद्वेष है शरीरके द्वारा द्वेष करना अर्थात् सुख लाल होना, मोहों वक्र होना वगैरह कायेद्वेष है, मनके द्वारा हिंसाके उपकरण लेना, मैं शस्त्रग्रहण करता हूं ऐसा बोलना, हाथ पांव इत्यादिक्रमे ऐसे अधिकरणके तीन भेद हैं। मनसे ऊठने का विचार करना, वचनसे मैं ठोक्कूंगा, ताड़न करूंगा ऐसा बोलना, शरीरसे हिलना फिरना, यह सब कायिकी क्रिया है मैं दुःख उत्पन्न करूंगा ऐसा मनसे विचार करना, मैं तुमको दुःखित करूंगा ऐसे वचनसे बोलना, हस्तादिक्रमसे ताड़न करना यह कायिकी क्रिया है। प्राणोंमें मैं प्राणीको अलग करूंगा ऐसा विचार करना, मैं मारूंगा ऐसा सुखसे बोलना वाक्प्राणातिपात है। शरीरसे मारनेकी क्रिया करना कायिकप्राणातिपात है। ये पांच क्रियायें कोई पुरुष क्रोधसे, कोई मानसे, मायासे और लोभसे करते हैं,

क्रोधादिकसे शस्त्र ग्रहण करना क्रोधादि निमित्त कायपरिस्पंद कहा जाता है। क्रोधादिकसे दूसरों को मंताप उत्पन्न करना, क्रोधादिकसे प्राणवध करना, स्पर्शनादि इंद्रियोंके निमित्तसे भी द्वेष उत्पन्न होता है इंद्रियसुखके लिये फल, कोमल कोपल, पुष्प वगैरहका छेदन करनेका साधन ग्रहण करना, इंद्रियसुखके लिये ही विषयका सान्निध्य पाकर शरीरकी बहुत हालचाल करना, दूसरोंको गाढ आलिंगन देना, नखासे क्षत करना, मांसादिकोंके लिये प्राणिओंको प्राणसे वियुक्त करना ये सब हिंसा क्रियायें हैं,

इस हिंसाक्रियासे उत्पन्न होनेवाला कर्मबंध समान होता है अथवा कम जादा होता है। इस शंका का उत्तर आचार्य ऐसा देते हैं—

कर्म बंध कथंचित् समान होता है अर्थात् शरीरके द्वारा होनेवाली क्रिया और प्रद्वेष यदि समान होगा तो उससे कर्मबंध भी समान होगा अन्यथा नहीं कारणोंमें सामान्यता यदि होगी तो कार्यमें अर्थात् कर्मबंधमें

भी समानता होगी और यदि कारणोंमें विशेषता होगी तो कार्यमें—बंधमें विशेषता होगी ही. तीव्र, मंद, और मध्यम रूप परिणाम उत्पन्न होनेपर तीव्र, मंद मध्यम प्रकारका बंध होगा ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये

अधिकरणभेद निरूपयति—

वीस पल तिणिण मोदय पण्णरह पला तहेव चत्तारि ॥

बारह पल्लिया पंच दु तेसिं पि समो हवे बंधो ॥ ८०९ ॥

जीवगदमजीवगदं समासदो होदि दुविहमधिकरण ॥

अटुत्तरसयभेदं पढमं विदियं चदुब्बेदं ॥ ८१० ॥

जीवाजीवविकल्पेन तत्राधिकरणं द्विधा ॥

ज्ञातमष्टोत्तरं पूर्वं द्वितीयं च चतुर्विधम् ॥ ८३६ ॥

विजयोदया—जीवगदमजीवगद इति जीवगत इति जीवपर्याय उच्यते । न हि जीवद्रव्यत्वमात्रमेव हिंसाया उपकरण भवति । किंतु जीवस्य पर्याय, आत्मवस्य । हिंसादेर्जीवपरिणामो युक्तोऽभ्युत्तरकरण । अजीवगत पर्याय-द्रव्याय हि अजीवद्रव्यत्वात् सदा सन्निहितकार्य स्यात्कादाचित्कता कथमिव संपादयति । पर्यायस्तु स्वकारण सन्निध्यात्कदाचिदेवेति । यदा स्वय सन्निहितचहकारिणास्तेदेव स्वकार्यं कुर्वन्ति । नान्यदेति युक्ता कादाचित्कता कार्यस्येति भाव । समासदो बुविधमधिकरण संक्षपतो द्विविधमधिकरण । अटुत्तरसयभेद अप्रोत्तरशतभेद । पढमं जीवगदमधिकरण । विदिय द्वितीयं अजीवगतमधिकरणं चदुब्बेदं चतुर्विकल्पं ॥

अधिकरणं भेदोंका निरूपण करते हैं—

अर्थ—प्रादोषिक वगैरह हिंसाके पांच भेद ऊपर कहे हैं प्रत्येकके क्रोध, मान, माया और लोभके आश्रयसे पांच पांच भेद होते हैं. अर्थात् क्रोधादिकके आश्रयसे प्राोपादिकके बीस भेद होते हैं. इन्द्रियोक्ती अपेक्षामे, इन प्रादोषिकादि पांच क्रियाओंके पंचवीस भेद होते हैं. और मन वचन, और शरीर की अपेक्षामे इन क्रियाओंके पधरा भेद होते हैं. इन सबोंका कर्मबंध समान होता है.

अर्थ—अधिकरणके जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण ऐसे संक्षेपसे दो भेद हैं जीवाधिकरण के एकसो



क्रोधानुमतकायसमारम्भ, मानानुमतकायसमारम्भ, मायानुमतकायसमारम्भ, लोभानुमतकायसमारम्भ' इति द्वादशशास्त्र-समारम्भः । क्रोधकृतकायारम्भ, मानकृतकायारम्भ, मायाकृतकायारम्भ, लोभकृतकायारम्भ । क्रोधकारितकायारम्भ, मानकारितकायारम्भ, मायाकारितकायारम्भ, लोभकारितकायारम्भ । क्रोधानुमतकायारम्भ, मानानुमतकायारम्भ, मायानुमतकायारम्भ, लोभानुमतकायारम्भ' इति द्वादशशास्त्र-आरम्भः । एव एते सचिदिता-कायारम्भाः पदत्रिशत् । एते सर्पिडिताः जीवाधिकरणान्त्रवेधदा अष्टोत्तरशतसंख्या भवन्ति ॥

अब प्रथम जीवाधि करणके भेद कहते हैं.

अर्थ—हिंसा, चोरी वगैरह पापकार्योंमें प्रमादी होकर प्रयत्न करना संरंभ कहाता है. हिंसादिक कार्य करनेके लिये शस्त्रादिकोंका संग्रह करना समारम्भ कहाता है. और संचित क्रिये शस्त्रादिकोंसे हिंसादिकार्य करना, शुरु करना उसको आरंभ बोलते हैं. योग शब्दसे मनोयोग, वचन और काययोगका ग्रहण करना चाहिये. संरंभ, समारंभ आरंभ, मनोयोग, वचन योग, और काय योग, कृत, कारित और अनुमोदन और कपाय इनके द्वारा हिंसादिक पाप प्रवृत्तियोंको गुणित करनेपर प्रथम जीवाधिकरणके भेद होते हैं. चेतन्यवान् आत्मा प्रयत्नपूर्वक व्यापार करता है अतः प्रथम संरंभ कहा है उपायके विना साध्य सिद्धि नहीं होती है इस लिये प्रयत्नके अनंतर उपायोका-साधन-नौका संग्रह करना इसको समारम्भ कहते हैं. अतः संरंभके अनंतर समारम्भ कहा गया है. कार्यकी शुरुआत साधन-नौका संग्रह होनेके अनंतर होती है. इस लिये आरंभका उसके अनंतर उल्लेख किया है

स्वातन्त्र्य विशिष्ट आत्मा जो कार्य करता है वह कृत है. दूसरेके प्रयोगकी अपेक्षासे जो सिद्ध होता है उसको कारित कहते हैं. जो कार्य स्वयं करता ही नहीं और दूसरोंसे कराता नहीं परंतु स्वयं करने वालेको सम्मति देता है उसको अनुमोदन कहते हैं

क्रोधसे स्वयं हिंसाकार्यमें प्रयत्न करना उसको क्रोधकृतकाय संरंभ कहते हैं मान, माया और लोभसे स्वयं हिंसा कार्यमें शरीरके द्वारा जो प्रयत्न करना उसके मानकृत कायसरम्भ, मायाकृत काय सरम्भ, और लोभ-कृत काय संरंभ ऐसे चार भेद हुए.

क्रोध, मान, माया और लोभके वश होकर हिंसा कार्यमें दूसरोंको शरीरके द्वारा जो प्रवृत्त करना उसको क्रमसे क्रोधकारित कायसरम्भ, मानकारित कायसंरंभ, मायाकारित कायसरम्भ और लोभकारितकाय संरंभ ऐसे चार भेद होते हैं.

क्रोधादिक चारोंसे हिंसादि कार्योंमें स्वयं प्रवृत्त हुए मनुष्योंको शरीरके द्वारा जो अनुमति देना उसके भी चार भेद हैं। यथा क्रोधानुमतकायसरंभ, मानानुमतकायसरंभ, मायानुमतकायसरंभ और लोभानुमतकायसरंभ ऐसे चार भेद हैं सब मिलकर सरंभके चार भेद हुए

समारंभके भी चार भेद होते हैं, उनका क्रम—क्रोधकृत कायसरंभ, मानकृत काय सरंभ, मायाकृत काय-सरंभ और लोभ कृत काय सरंभ, क्रोध कारितकायसरंभ, मानकारितकाय सरंभ, मायाकारितकायसमा-रंभ, और लोभ कारित काय सरंभ, क्रोधानुमत काय सरंभ, मानानुमत काय सरंभ, मायानुमतकायसरंभ और लोभानुमत, कायसरंभ

आरंभ के भी संरंभ और समारंभ के समान चार भेद होते हैं—

यथा—क्रोधकृतकायारंभ, मानकृत कायारंभ, मायाकृत कायारंभ और लोभकृत कायारंभ, क्रोधकारित कायारंभ, मानकारितकायारंभ, मायाकारित कायारंभ, लोभाकारित कायारंभ मायानुमत कायारंभ और लोभानुमत कायारंभ मानानुमतकायारंभ, मायानुमत कायारंभ और लोभानुमत कायारंभ इस प्रकार आरंभके भी चार भेद होते हैं इस प्रकार कायके आरंभतक छत्तीस भेद होते हैं इसी प्रकार वचनके छत्तीस और मनके छत्तीस मिलकर एकसौ आठ भेद जीवाधिकरणके होते हैं,

अजीवाधिकरणस्य चतुरो भेदानाच्चेष्टे—

संरंभो संकण्णो परिदावकदो हवे समारंभो ॥

आरंभो उद्ववओ सव्ववयाणं विसुद्धाणं ॥ ८१२ ॥

णिक्खेवो णिव्वत्ति तहा य संजोयणा णिसग्गो य ॥

कम्मसो चट्ठु दुग्ग दुग्ग तिय भेदा होतिं हु विदीयस्स ॥ ८१३ ॥

संरंभोऽक्खि संकल्प-समारंभो वितापक् ॥

शुद्धबुद्धिभिरारंभः प्राणाना न्यपरोपकः ॥ ८१८

निर्वर्तना सनिक्षेपा संयोगः सनिसर्गकः ॥  
द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः स्युर्द्वितीयस्य यथाक्रमम् ॥ ८३९ ॥

विजयोदया—णिष्स्वो णिञ्चि तद्वा य संजोयणा णिसम्भो य निक्षेपश्चतु प्रकारः । निर्वर्तना द्विप्रकारा । संयोजना द्विप्रकारा । निसर्गस्त्रिविध इति सवध्यते ॥

अर्थ—हिंसादिक कार्याका विचार करना सकल्प है. प्राणिओंको संताप उत्पन्न करना समारम्भ है और आरम्भ सर्व निर्मल व्रतोंका नाश करनेवाला है

अर्थ—निक्षेप, निर्वाचि, संयोजना और निसर्ग ऐसे अजीवाधिकरणके चार प्रकार हैं निक्षेपके चार भेद, निर्वर्तनाके चार भेद, संयोगके दो भेद और निसर्गके तीन भेद हैं

निक्षेपस्य चतुरो विकल्पानाचष्टे -

सहसाणामोगिय दुष्पमज्जिद अपच्चवेक्खणिकवेवो ॥  
देहो व दुप्पउत्तो तहोवकरणं च णिञ्चत्ति ॥ ८१४ ॥

निर्वर्तनोपधिदेहो दुःप्रयुक्तोऽभिधीयते

निक्षेपः सहसाहृष्टदुर्दृष्टामत्यवैक्षणौ ॥ ८४० ॥

विजयोदया—सहसाणामोगियदुष्पमज्जिद अपच्चवेक्खणिकवेवो सहसानिक्षेपाधिकरण, अनाभोगानिक्षेपाधिकरण, दु प्रसृष्टनिक्षेपाधिकरण, अग्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण चेति । निक्षिप्यते इति निक्षेप । उपकरण पुस्तकादि, शरीर, शरीरमलानि वा सहसा शीघ्र निक्षिप्यमाणानि भयात् । कुतश्चित्कार्यांतरकरणप्रयुक्तं वा त्वरितेन पद्मजीवनि कायवाधाधिकरणता प्रतिपद्यते । असत्यामपि त्वराया जीवाः सन्ति न सतीति निरूपणामंतरेण निक्षिप्यमाणं तदेवोप-  
करणादिकं अनाभोगिनिक्षेपाधिकरणमुच्यते । दुष्प्रसृष्टप्रयुक्तप्राणिनिक्षिप्यमाणं दुष्प्रसृष्टनिक्षेपाधिकरणं स्थाप्यमानाधिकरणं वा दुष्प्रसृष्टनिक्षेपाधिकरण । प्रमाज्जनोत्तरकाले जीवा सन्ति न सन्तीति अग्रत्यवेक्षितं यन्निक्षिप्यते तदग्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण । निर्वर्तनाभेदमाचष्टे—देहो य दुष्णजुत्तो दुःप्रयुक्त शरीरं हिंसोपकरणतया निर्वर्त्यते इति निर्वर्तनाधिकरण भवति । उपकरणानि च सच्छिद्राणि यानि जीववाद्यानिभिन्नानि निर्वर्त्यन्ते तान्यपि निर्वर्तनाधिकरणं । यस्मिन्सौवीरादिभाजने प्रविष्टानि चिन्त्यन्ते ।

निक्षेपके चार भेदोंका वर्णन--



अर्थ—सहसा निक्षेपाधिकरण, अनाभोग निक्षेपाधिकरण, दुःप्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण और अमृत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण ऐसे निक्षेपाधिकरणके चार भेद हैं

सहसानिक्षेपाधिकरण—पिंछी, कमठलु वगैरह उपकरण, पुस्तकादिक शरीर और शरीरका मल इनको भयसे सहसा जलदी फेक देना, रखना किसी कार्यमें तत्पर होनेसे अथवा त्वरासे पिंछी कमठलवादिक पदार्थ जब जमीन पर रखे जाते हैं तब पदकाय जीवोंको बाधा देनेमें आधाररूप होते हैं अर्थात् इन पदार्थोंसे जीवको बाधा पहुंचती है, त्वरा नहीं होनेपर भी जीव हैं वा नहीं हैं इसका विचार न करके, देख भाल किये बिनाही उपकरणादिक जमीनपर रखना, फेकना उसको अनाभोग निक्षेपाधिकरण कहते हैं,

उपकरणादिक वस्तु बिना साफसुफ किये ही जमीनपर रख देना अथवा जिसपर उपकरणादिक रखे जाते हैं उसको अर्थात् चौकी जमीन वगैरहको अच्छी तरह से साफ सुफ न करना इनको दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण कहते हैं

साफ सुफ करने पर जीव हैं अथवा नहीं हैं यह देखे बिना उपकरणादिक रखना अमृत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है

अथ निर्वर्तनाधिकरणके भेद कहते हैं—

शरीरकी असावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करना दुःप्रयुक्त कहा जाता है ऐसा दुःप्रयुक्त शरीर हिंसाका उपकरण बन जाता है इस वास्ते इसको देह निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं, जीव बाधाको कारण ऐसे छिद्रसहित उपकरण बनाना इसको भी निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं जैसे काजी वगैरह रखे हुए पात्रमें जन्तु प्रवेश कर मर जाते हैं,

संजोयणमुवकरणं च तद्वा पाणभोयणं च ॥

दुष्टणिमिद्धा मणवचिकाया भेदा णिसग्गस्स ॥ ८१५ ॥

आहारोपधिभेदेन द्विधा संयोजनं मतम् ॥

दु स्रुथाः स्वान्तवाक्काया निसर्गस्त्रिविधो मतः ॥ ८४१ ॥

विजयोक्ता—संजोयणमुवकरणण उपकरणाना पिच्छादीना अन्योन्येन संयोजना । शीतस्पर्शस्य पुस्तकस्य पृष्ठल्लादेर्वो आतपादितेन पिच्छेन प्रमाज्जेन इत्यादिकं । तद्वा तथा । पाणभोयणं च पाणभोजनयोश्च पानेन पानं,

भोजनं भोजनेन, भोजनं पानेनेत्येवमादिकं संयोजनं यस्य सम्मूर्च्छनं संभवति सा हिंसाधिकरणत्वेनाभ्योपात्ता न स्यात् । दुष्टाणिसिद्धा मणवचिकाया दुष्टमवृत्ता मनोवाक्कायभेदा निसर्गशब्दोच्यते ॥

अर्थ—पिच्छी, कमंडलु वगैरह उपकरणोंका संयोग करना जैसे ठडस्पशेवाले पुस्तकका धूपसे संतप्त कमंडलु और पिच्छीके साथ संयोग करना अथवा धूपसे तपी हुई पिच्छीसे कमंडलु पुस्तकको स्वच्छ करना वगैरहको उपकरण संयोजन कहते हैं. जिनसे सम्मूर्च्छन जीवकी उत्पत्ति होगी ऐसे पेयपदार्थ दुसरे पेयपदार्थको साथ संयुक्त करना अथवा भोज्य पदार्थके साथ संयुक्त करना, भोज्य पदार्थके साथ अथवा पेयपदार्थको संयुक्त करना, जिनसे जीवोंकी हिंसा होती ऐसी ही पेय और भोज्य पदार्थोंका संयोग निषिद्ध हैं इससे अन्य संयोग निषिद्ध नहीं है

मन वचन और शरीरके द्वारा हुए मवृत्ति करना उसको निसर्ग कहते हैं

अहिंसारक्षणोपायमाचष्टे—

जं जीवणिकायवहेण विणा इंदियकयं सुहं णत्थि ॥

तग्गिहं सुहे णिस्संगो तग्गहा सो रक्खदि अहिंसा ॥ ८१६ ॥

नास्तीन्द्रियसुखं किंचिज्जीवहिंसां विना यतः ॥

निरपेक्षस्ततस्तस्मिन्नहिंसां पाति पावनीम् ॥ ८२५ ॥

विजयोदया—ज जीवणिकायवहेण यस्माज्जीवनिर्वायघात विना । इंदियसुह इन्द्रियसुखं नास्ति । स्त्रीचल-  
गंधमात्म्यादिसेवा विचित्रा जीवनिर्वायपीडाकारिणी आरमेण महतोपाजनीयत्वात् । तस्मिन्निन्द्रियसुखे । णिस्संगो यस्त  
पात्यहिंसा नैन्द्रियसुखार्थी । तस्मादिन्द्रियसुखादरं मा कृथा इत्युपदिशति ब्रूि ।

अहिंसाके रक्षणका उपाय आचार्य बताते हैं—

अर्थ—जीवोंका वध किए बिना इन्द्रियसुखकी प्राप्ति होती ही नहीं स्त्रीसंभोग करना, वस्त्रधारण करना, पुष्पमाला गलेमें धारण करना इनसे इन्द्रियसुख उत्पन्न होता है परतु स्त्रीसंभोगादि कार्योंमें जीवहिंसा अवश्य होती है. स्त्री वगैरह पदार्थोंकी प्राप्ति करनेमें महान् आरम्भ काना पड़ता है. इसवास्ते इन्द्रिय सुखसे अहिंसाका रक्षण होता नहीं है क्षपक ! तू इस इन्द्रियसुखमें स्नेह मत कर जो इन्द्रिय सुखमें इच्छा नहीं करता है वही अहिंसा का रक्षण करता है.

जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण घायणं कुणइ ॥  
सो जीववहं, परिहरदु सया जो णिज्जियकसाओ ॥ ८१७ ॥  
कषायकलुषो यस्माज्जीवानां कुरुते वधम् ॥

निःकषायो यत्तिस्तस्मादहिंसारक्षणक्षमः ॥ ८२६ ॥

विजयोदया—हिंसा कषयैः प्रवर्धते, ततोऽहिंसामिच्छता एते परिहर्तव्या इत्युत्तरसूचार्थम् ।  
हिंसा कषायसे उत्पन्न होती है अहिंसाको चाहने वालोंको अपायोंका त्याग करना चाहिये  
गाथामें लिखते हैं

अर्थ—जीव जब कषायके वश होता है तब वह जीवोंका मारता है, परंतु जिसने कषाय जीववधका परिहार करता है, अर्थात् अहिंसाका वही पालन करता है, प्रमाद अर्थात् कषाय हिंसामें जीवको प्रवृत्त करते हैं इसलिये आहिंसाव्रतको चाहनेवाले, उसको दूसरे ही त्यागे

आदाणे णिकखेवे वोसरणे ठाणगमणसयेणुसु ॥

सव्वत्थ अप्पमत्तो दयावरो होदु हु अहिसो ॥ ८१८ ॥

काणुसु णिरारभे फासुगभोजिस्मि णाणहिदयस्मि ॥

मणवयणकायगुत्तिस्मि होइ सयला अहिंसा हु ॥ ८१९ ॥

शयनासननिक्षेपग्रहचक्रमणादिषु ॥

सर्वत्राप्यप्रमत्तस्य जीवत्राणं व्रतं यत्तेः ॥ ८२७ ॥

विवेकनियताचारप्रासुकाहारसेविनि ॥

मनोवाक्कायगुणैऽस्ति दयाव्रतमग्नं दितम् ॥ ८२८ ॥

विजयोदया—प्रभावो हिंसाया प्रवर्तक स परित्यज्योऽहिंसाव्रतार्थिना इति गाथार्थः ॥  
विजयोदया—परित्यक्तारमस्य प्रासुकभोजिनो ज्ञानभावनावहिते मनसि गुप्तिवयोपेते संपूर्ण भवत्यहिंसा इति सूत्रार्थः ॥

भवत्यहिंसा

अर्थ—बस्तु उठा लेना, रखना, छोड़ना, खड़े होना, बैठना, शयन करना इत्यादि समस्त कार्य करते समय जिन्होंने प्रमादका त्याग किया है ऐसे श्रेष्ठ दयाके धारक साधुजनसे अहिंसा पूर्णतामें पाली जाती है अर्थ—जिसन आरभका त्याग किया है, जो प्रासुक आहार लेता है ज्ञानाभ्यास करनेमें जिनने अपने चित्तको स्थिर किया है, तीन गुप्तिश्रौंका धारक ऐसे मुनिराजमें यह अहिंसा पूर्णताको प्राप्त होती है

आरभे जीववहो अप्पासुगसेवणे य अणुमोदो ॥

आरभादीसु मणो गाणरदीए विणा चरइ ॥ ८२० ॥

आरंभेऽद्विवंधे जन्तुरप्रासुकनिपेवणे ॥

प्रवर्ततेऽनुमोदे च शश्वज्जान/तिं विना ॥ ८२१ ॥

विजयोदया—पृथिव्यादिविषयो व्यापार आरभ । तस्मिन्सति तदाश्रयप्राणुपद्म इति जीववयो भवति । उद्रमाविदोपद्वतस्य आहारस्य भोजने जीवनिकायवधानुमोदो भवति । शानरतिमतरेण आरभे कणये च मन प्रवर्तते ।

अर्थ—पृथिवी, जल, इत्यादिकके आश्रयसे आरभ होता है अर्थात् जमीन खोदना, पानी सीचना, बृक्ष तोड़ना इत्यादि क्रियाओंको आरभ कहते हैं ऐसा आरभ करनेसे उनके आश्रयसे रहनेवाले जीवोंका यात होता है, उद्रमादिदोपसहित आहार लेनेसे, जीवनिकायके वधके लिये सम्मति दी है ऐसा समझा जाता है, और ज्ञानाभ्यासमें यदि प्रेम न हो तो मन आरभ और कणयमें प्रवृत्त होता है

तमहा इहपरलोए दुक्खणि सदा अणिच्छमाणेण ॥

उवओगो कायव्वो जीवदयाए सदा मुणिणो ॥ ८२१ ॥

मुनिनानिच्छता लोके दुःखानि घृतये सदा ॥

उपयोगे विनातव्वो जीवनाणवते पर ॥ ८३० ॥

विजयोदया—नृणां तस्मान् । आरभो भवता त्याज्य, प्रासुकभोजन भोज्य, शाने अगतिश्च अपाकायो इति क्षपकशिक्षा । अहिंसा जीवदया तस्या फलमुपदर्शयति—तस्या इत्यनया उभयलोकगतदुःखपरिहारमिच्छता दयाभावना कार्या इति कथयति ।

अर्थ—इस वास्ते हे क्षपक ! यदि तुम इहपर लोकमें दुःखको नहीं चाहते हो तो हमेशा जीवदया करनेमें अपने चित्तको स्थिर करो. आसुक भोजन ग्रहण करनेमें यदि अति उत्पन्न हुई हो तो उसको दूर करो

क्षपकस्य स्वल्पकालवर्त्यपि अहिंसाव्रतं करोत्यात्मनो महान्तमुपकारमित्याख्यानं कथयति—

पाणो वि पाडिहरं पत्तो द्वादो वि सुंसुमारहदे ॥

एगण एक्कदिवसक्कदेण हिंसावदगुणेण ॥ ८२२ ॥

अप्येकाहवर्थापकेन प्रकृष्टः प्रासः पाणः प्रातिहार्यं सुरेभ्यः ॥

एकैनेव प्राणिरक्षाव्रतेन क्षिप्तः क्रूरुज्जेकनकौघमध्ये ॥ ८३१ ॥

परां सपर्यां ददंती निरत्यये निवेशयन्ती बुधयाचिते पदे ॥

करोत्यहिंसा जननीव पालिता सुखानि सर्वाणि रजांसि धुन्वती ॥ ८३२ ॥

इति अहिंसा

विजयोदया —पाणो वि चंडालोऽपि पाडिहरं प्रातिहार्यं पत्तो प्रास । सुसुमारहदे शिशुमारकुले न्हेडे निक्षिप्तोऽपि । एकेण हिंसावदगुणेण एकैनेव अहिंसाव्रताख्येन गुणेन । अप्यकालक्कदेन स्वल्पकालद्वयेन ॥ अहिंसा ॥

स्वल्पकालतक पाला जाने पर भी यह अहिंसाव्रत प्राणीपर महान् उपकार करता है—

अर्थ—शिशुमार ब्रह्ममें फेंके गये चांडालने अल्पकाल तकही अहिंसा व्रतका पालन किया था परंतु वह इस व्रतके माहात्म्यसे देवोंके द्वारा पूजा गया. इस प्रकार अहिंसा व्रतका वर्णन पूर्ण हुआ

द्वितीयव्रतनिरूपणाय उत्तरप्रबन्ध—

परिहर असतवयणं सन्धं पि चटुब्बिघं पयत्तेण ॥

घत्तं पि संजमितो भामादोसेण लिप्पदि हु ॥ ८२३ ॥

सुंवासत्त्यं वचः साधो ! चतुर्भेदमपि त्रिधा ॥

संयमं विदधानोऽपि भापादोषेण बाध्यते ॥ ८३३ ॥

विजयोदया—परिहर परित्यज । अस्तवयणं असद्व अशोभनं वचन । यत्कर्मनिबंधनं वचस्तदशोभनं । तथा चोक्तं—‘असदभिधानमनृतम्’ ननु वचनमात्मपरिणामो न भवति । द्रव्यातर हि तदुद्गलार्थं, आत्मपरिणामो हि त्याज्यो यो यद्यस्य वधस्थितेर्वा निमित्तभूतो मिथ्यात्वमसंयम क्रमयो योग इत्येवप्रकारः । तस्माद्वसद्वचनपरिहरोपदेशोऽनुपयोगी कस्मादकृत इति अत्रोच्यते—असयमो हि त्रिप्रकारः कृतः कारितोऽनुमतश्च । इयमस्मिन्नसंयमे प्रवर्तयामि अनेन वचनेन प्रवृत्त वातुजानामि । इत्यभिसाधिमतेरण वास्य वचनस्याप्रवृत्तेस्तद्वचनकारणभूतोऽभिसाधिरात्मपरिणामो भवति कर्मनिमित्तमिति परिहार्यस्तस्य परिहार तत्कार्यं वचनमपि परिहृत भवति । न ह्यसति कारणे कार्यप्रतिपत्तिरित्यसद्वचनपरिहारोऽनेनन क्रमेणोपन्यस्त इति स्वयमसद्वचनैकदेशपरिहारेऽप्यपहृतमसद्वचनं भवति इत्याशका परिहरति सत्त्वमिति चतुर्विधमिति तदीयभेदोपन्यासः । ‘प्यत्तेणेति । तत्र अप्रमत्ततामुपदिशति । घृत्तं पि संजमंतो नितरा-मपि संयममाचरन्मपि । भासादौसेण भाषावचन तद्विमित्त्वाद्वात्योगाख्य आत्मपरिणामो भाषाशब्देनोच्यते । भाषाबुधः भाषादोषः । वाग्योगेन बुधेन निमित्तेन जात यत्कर्म तेन । लिप्पदि लिप्यत एव सवध्यत एव आत्मा । एतेन कर्मबंधनिमित्ततावीयकत्वेन असद्वचनपरिहारं दाढ्यं करोति क्षपकस्य ॥

दुसरे सत्यमहाव्रतका निरूपण करनेके लिये आचार्य प्रारंभ करते हैं,

अर्थ—असत्य भाषण का हे क्षपक ! तू त्याग कर क्यों कि वह वंधन का कारण है तत्त्वार्थाधिगममें ‘असदभिधानमनृतम्’ इस सूत्रमें यही अभिप्राय कहा है,

शुका—वचन अर्थात् बोलना यह आत्मपरिणाम नहीं है वह पुद्गल नामक द्रव्यका परिणमन है जो आत्मपरिणाम बध अथवा बधस्थितिका निमित्त है वही त्याज्य है- मिथ्यात्व, असयम, कृपाय, योग ये आत्मपरिणाम कर्मबंधके कारण होनेसे त्याज्य है इस लिये असत्य वचनका परिहार करना, त्याग करना कुछ उपयोगी नहीं है अतः उसका त्याग करनेका उपदेश क्यों किया ?

उत्तर—असयमके कृत कारित और अनुमत ऐसे तीन प्रकार हैं, इस मनुष्यको इस असयममें मैं प्रवृत्त करूंगा अथवा वचनके द्वारा स्वयं असंयममें प्रवृत्त हुए इस मनुष्यको मैं अनुमोदन देऊंगा, इस प्रकारके सकल्पके बिना वचनकी प्रवृत्ति होती नहीं, इसवास्ते ऐसे वचनका कारण आत्मपरिणाम है यह आत्मपरिणाम कर्मबंध होनेमें कारण है अतः त्याज्य है इसके त्यागसे इसका कार्यभूत वचन भी त्यागा जाता है यदि कारण न हो तो कार्यका ज्ञान कैसे हो सकेगा इस लिये असत्य वचनका त्याग इस क्रमसे आचार्यने दिखाया है-

असत्य वचनके—आचार्यने चार भेद किये हैं इन सब भेदोंका त्याग हे क्षपक ! तूं प्रयत्नसे कर क्योंकि संयमका आचरण करता हुआ भी मुनि भाषादोषसे उत्पन्न हुए कर्मसे लिप्त होता है, अर्थात् दृष्ट वचन योगसे जो

कर्मसिख आता है उससे वह लिप्त होता है, हुए वचन कर्मवधका निमित्त होता है इसलिये हे श्रुपक तू उसका त्याग कर

प्रतिष्ठात चातुर्विध्यमाचष्टे—

पहम असंतवयणं समुदयस्स होदि पडिसेहो ॥

णत्थि गरस्म अकाले मच्चुत्ति जधेवमादीयं ॥ ८२४ ॥

प्रथमं तद्वचोऽसत्यं यत् सतः प्रतिषेधनम् ॥

अकाले मरणं नास्ति नराणामिति यद्वचः ॥ ८३४ ॥

विजयोदया—पहम असतवयणं चातुर्षु आग्रमसद्वचनं समुदयस्स होदि पडिसेहो सतोऽर्थस्य प्रतिषेधः । सतां सतो न वचनं असद्वचनमित्येकोऽर्थः । तस्योवाहरणमाह—णत्थि गरस्स अकाले मच्चुत्ति एवमादिकं नास्त्यकाले मनुष्यस्य मृतिरिति एवमादिकं वचनं । आयुषं स्थितिकालं काल इत्युच्यते । तस्मात्कालादित्यः कालोऽकालः । तस्मिन्नकाले । ननु न भोगभूमिनराणामनपवत्येमायुरत अकाले मरणं नाभ्येव अतो युक्तमुच्यते णत्थि गरस्स अकाले मच्चुत्ति । नरशब्दस्य सामान्यवाचित्वात्नर्वनराविक्रय अकालमरणभावोऽयुक्तं केपुचित्कर्मभूमिजेषु तस्य सतो निषेधादित्यभिप्रायः ।

अर्थ—चार असत्य वचनोंमें पहिला असत्य वचन इस प्रकार समझना चाहिये—अस्तित्वरूप पदार्थका निषेध करना यह प्रथम असत्य वचनका भेद है जैसे मनुष्यको अकालमें मृत्यु नहीं है, आयुष्यके स्थिति कालको यहाँ काल कहना चाहिये इस कालमें जो अन्य काल उसको अकाल कहते हैं, शका—मनुष्यको अकालमें मृत्यु नहीं है यह कहना सत्यही है क्योंकि भोगभूमिके मनुष्योंका आयुष्य विप शस्त्रादिके क्रम होता ही नहीं अतः उनको अकालमें मरण नहीं है यह कहना योग्यही है उत्तर—नर शब्द सामान्यवाची होनेसे संपूर्ण मनुष्योंका वाचक है इस लिये अकाल मरण नहीं है ऐसा कहना अयोग्य ही है कितने कर्मभूमिके मनुष्योंमें अकाल मृत्यु है उसका यहाँ निषेध किया है अतः अकालमें मनुष्योंको मरण नहीं है यह कहना सत्यपदार्थका-विद्यमान पदार्थका निषेध करनेवाला होनेसे अवश्य असत्यही है

अहवा संयंबुद्धीए पडिसेधो खेत्तकालभावहि ॥

अविचारिय नत्थि इह घडोत्ति जह एवमादीयं ॥ ८२५ ॥

कलशोऽस्तीति यदभूते द्रव्यादीनां चतुष्टयम् ॥

अपर्यालोच्य यत्प्रोक्तमभूतोद्भावकं जिनैः ॥ ८३६ ॥

विजयोद्या — अथवा विवाद्बुद्धीए पडिसेध खेत्तकालभावहिं अविचारिय भावमिति शेष । म्वबुद्धया क्षेत्र कालभावैरभावमविचार्यमाण अत्र नास्ति इदानीं न विद्यते । शुक्लरूपरूपो न वेत्यनिरूप्य घटस्य भाव इत्यनेन-प्रकारेण नत्थि घडो जह एवमादीण नास्ति घट इत्येवमादिक । सतो घटस्य अविशेषेण असत्तत्त्वचनं असद्वचनमित्युदाहरणान्तरमिदं ।

अर्थ—अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन अपेक्षाओंसे विचार न कर यहां बड़ा नहीं है इत्यादि रूप वचन अपनी बुद्धीसे कह देना अभिप्राय यह है कि किसी अपेक्षासे घटकी सत्ता होने पर भी घट मर्वथा नहीं है ऐसा कहना यह भी असत्य वचन ही है जैसे काला घट नहीं है परंतु घरमें यदि खेतघट है तो घट है ही नहीं ऐसा कहना कैसा योग्य होगा? क्षेत्रकी अपेक्षासे एक क्षेत्रमें घट न होगा तो दूसरे क्षेत्रमें उसका मझाव होगा, परंतु स्वक्षेत्र परक्षेत्रका विचार न करके एकदम घट है ही नहीं ऐसा कहना असत्य ही है वह अपने स्वरूपमें रहता है परंतु स्वस्वरूपकी अपेक्षासे भी नहीं है ऐसा कहना यह असत्य है भूतकालकी अपेक्षासे कोई घट न होनेपर वर्तमान कालकी अपेक्षासे भी उसकी सत्ता नहीं मानना यह कालकी अपेक्षासे निषेध करना है इत्यादिक पहिले असत्य के उदाहरण हैं

जं असमूदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु ॥

अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीयं ॥ ८२६ ॥

द्वितीयं तद्वचोऽसत्यमभूतोद्भावनं मतम् ॥

अस्त्यकाले सुराणां च मृत्युरित्येवमादि यत् ॥ ८३६ ॥



विजयोदया—जं असमूहुभावाणेमेदं विषियं असंतवयणं तु । यदसदुद्भावनं द्वितीयं असद्वचस्तस्योदाहरणमुत्तरं । अतिय सुराणमकाले मञ्चुत्ति जहेवमादीयं । सुराणमकाले मृत्युरस्तीत्येवमादिकं यथा असेदेव अकालमरणमनेनेच्यते इत्यसद्वचनम् ॥

अर्थ—जो नहीं है उसको है कहना यह असत्य वचनका दूसरा भेद है जैसे 'देवोंको अकाल मृत्यु नहीं है ऐसा आगम कहता है परंतु देवों को अकाल मृत्यु है ऐसा कहना इत्यादि रूप असत्यका दूसरा प्रकार है

अहवा जं उब्भावेदि असंतं खेत्तकालभावेहिं ॥

अविधारिय अतिय इह घडोत्ति जह एवमादीयं ॥ ८२७ ॥

विजयोदया—अथवा जं उब्भावेदि यद्वचनं उद्भावयति । असंतं घटं । कथमसंतं? खेत्तकालभावेहिं क्षेत्रांतर-संघधित्वेन सतं इहत्यं घटं कालांतरसंघधेन अतीते अनगते वा असंत भावान्तरसंघधित्वेन कृष्णत्वादिना संतं । अविधारिय अविचार्य इत्य सत् इत्यमसत् इति अस्ति घट इत्येवमदिकसर्वथास्तित्वमसद्भावयतीति असद्वचनं ।

अर्थ—अथवा द्रव्य क्षेत्रकालांतरसे घट न होने पर भी बिना विचारके सर्व द्रव्यक्षेत्रकालोपक्षया घट है ऐसा कहना यह दूसरा उदाहरण है जैसे एक कोठरीमें घट है परंतु दूसरे कोठरीमें न होनेपर भी दूसरे कोठरीमें है ऐसा कहना संफेत्त घट है परंतु कालाभी है ऐसा कहना पर रूपसे घट नहीं रहता है परंतु उसके स्वरूपसे भी वह है ऐसा कहना, वर्तमानकालमेंही घट की सत्ता होनेपरभी भूतकालमें भी था ऐसा कहना यह सब असत्यके दूसरे प्रकारके उदाहरण है ।

तदियं असंतवयणं संतं जं कुणदि अणजादीगं ॥

अविचारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीयं ॥ ८२८ ॥

तृतीयं तद्वचोऽसत्यं यदनालोच्य भाषते ॥

पदार्थमन्यजातीयं गौर्वाजीत्येवमादिकम् ॥ ८३७ ॥

विजयोदया—तदिय असंतवयणं तृतीयमसद्वचनं । संतं जं कुणदि अणजादीगं सद्यत्करोति अन्यजातीयं । अविचारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीगं । अथमित्येवमादिकं । सतो वलीवर्हेत्वात् अश्वत्वं असत्तस्य वचनं ।

अर्थ—एक जातीके सत्यदार्थ को अन्य जातीका सत्यदार्थ कहना यह असत्यका तीसरा भेद है जैसे बेल है इसका विचार न कर रहा घोडा है ऐसा कहना यह कहना विपरीत सत् पदार्थका प्रतिपादन करनेसे असत्य है

चतुर्थमसद्वचनमाचष्टे—

जं वा गरहिदवयणं जं वा सावज्जसंजुदं वयणं ॥

ज वा अपियवयण असत्तवयण चउत्थं च ॥ ८२९ ॥

सावद्यं गहितं वाक्यमप्रियं च मनीषिभिः ॥

त्रिमकारमिति प्रोक्त तुरीयकमसूनुतम् ॥ ८३८ ॥

विजयोदया—जं वा गरहिदवयण यद्वा गहितं वचन । ज वा सावज्जसंजुदं वयणं । यद्वा सावद्यस्युत वचनं । ज वा अपियवयण यद्वा अप्रियवचन । तत् चउत्थं चतुर्थं वयण असत्तवयण असद्वचन ॥

असत्यका चौथा प्रकार कहते हैं—

अर्थ—जो निंदवचन बोलना, जो पापयुक्त वचन बोलना और जो अप्रियवचन बोलना वह सब चौथे प्रकारका असत्य वचन है

तेषु वचनेषु गहितवचनमाचष्टे—

कक्कस्सवयण णिङ्खुवयण पेसुण्णहासवयणं च ॥

जं किंचि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण ॥ ८३० ॥

कर्कशं निष्ठुरं हास्यं परुषं पिशुनं वचः ॥

ईर्ष्यापरमसंबधं गहितं सकलं मतम् ॥ ८३९ ॥

विजयोदया—कक्कस्सवयण कर्कशवचनं नाम सगर्ववचनमिति केचिद्वदन्त्ये असत्यमिति । णिङ्खुवयण निष्ठुरवचन । पेसुण्णहासवयणं च परदोषसूचनपर वचन । पैशुन्यवचनं हासवाहं वचनं । ज किंचि विप्पलावं यत्किंचिप्रलपनं च मुखरतया । गरहिदवयण गहितवचन । समासेण संक्षेपेण ॥

अर्थ—कर्मश्रवचन-गर्वयुक्त भाषण को कर्मश्रवचन कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य कहते हैं कोई श्रुत वचनको कर्मश्रवचन कहते हैं निष्ठुर भाषण दूसरोंके दोष दिखानेवाला वचन, उपहासका वचन जो कुछ भी बड-बड करना अर्थात् वाचाल होकर चाहे जेमा बोलना यह सब मंथपमे गार्हित वचन ही है.

भावद्यवचन निरूपयति—

जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति भावज्जवयणं च ॥

अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेवमादीय ॥ ८३१ ॥

प्राणिघातादयो दोषा प्रवर्तन्ते यतोऽबिबलाः ॥

सावद्यं तद्वचो ज्ञयं पड्विधारं भवणकम् ॥ ८४० ॥

विजयोदया—जत्तो पाणवधादी दोसा जायनीति यस्माद्वचनाद्धेतो प्राणवधादयो दोषा जायंते । सावज्ज-वयणं न सावद्यं वचनं तत् प्रथिवीं खन । महिरीं पीतोदकां पयसा प्रपूग्य प्रमूनानि उच्चित्तु । इत्येवमादिकृति अविचारित्ता अविचार्य क्रियेव वक्तुं युक्तं ममेति । अथवा दोषोऽनेन वचसा न वेति अपरीक्ष्य चौरं चौरोऽयमिति कथनं ।

अर्थ—जिस भाषणसे प्राणिहिंसा वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा भाषण बोलना उसको भावद्य वचन कहते हैं जैसे इस जमीनको खोदो, इस भेसने पानी पिया है अब इसको पानीसे धो डालो पुष्प तोड़ो इत्यादिक वचनोंको सावद्य भाषण कहते हैं भेग बोलना भोग्य है या नहीं इसका विचार न करके अथवा ऐसे भाषण सदोष हैं या निर्दोष हैं कुछ विचार न करके परीक्षाके बिनाही कह देना यह सब सावद्य वचन है जैसे चोरको यह चोर है ऐसा कहना

परस कडुय वयणं वेगं कलहं च ज भयं कुणइ ॥

उत्तासण च हीलणमप्यवयणं समासेण ॥ ८३२ ॥

हासभयलोहकोहप्पदोसादीहिं तु मे पयत्तेण ॥

एवं असंतवयणं परिहरिद्व्वं विसेसेण ॥ ८३३ ॥

अवज्ञाकारणं वैरकलहभ्रासवर्द्धकम् ॥

अथर्व्यं कटुकं ज्ञेयमप्रियं वचनं बुधैः ॥ ८४१ ॥

रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादिसंभवं ॥

वितथं वचनं हेयं सयतेन विशेषतः ॥ ८४२ ॥

चिजयोद्या—हासभय—हास्येन, मयेन, लोभेन, क्रोधेन, प्रदोषेणैवमादिना कारणेन । एव असतवयण एतद-  
सद्वचनं त्वया पत्तेण प्रयत्नेन । परिहरिद्वय परिहर्तव्य । विसेसण विशेषण ॥

अर्थ—मर्मच्छेद करनेवाले भाषणको परस्य कहते हैं जैसे तू अनेक दोषोंसे दुष्ट है मनको उद्धिग करने-  
वाली भाषाको कटु भाषा कहते हैं जैसे तू निंदा जातीमें पैदा हुआ है, तू धर्म रहित पापी है, इत्यादि वेर उत्पन्न  
करनेवाला भाषण जैसे तू गधा है, तेरेको कुछ भी ज्ञान नहीं है तेरे समान मूर्ख इस संसारमें दूसरा कोई नहीं है  
इत्यादि जिससे कलह हो जाता है वह कलहकारि वचन कहते हैं मनको त्रास पोहोचिगा क्लेश होगा वह वचन  
उन्नासनकर है दूसरीकी अवज्ञा करनेवाले शब्द बोलना वह हीलन वचन है जैसे तुमको धिक्कार हो. इस तरह  
अप्रिय वचनका संक्षेपसे वर्णन किया. हास्य, मीति, लोभ, क्रोध, द्वेष इत्यादि कारणोंसे जो असत्य भाषण किया  
जाता है हे क्षपक ! उसका तू प्रयत्नसे विशेष त्याग कर

एवमसद्विवाद् परिहार्यमुपविश्य सत्यवचनलक्षणमुक्तासद्वचनलक्षणतया दर्शयति—

तन्निवरीदं सव्यं कज्जे काले मिदं सविसए य ॥

भत्तादिकहारहियं भणाहि तं चेव सुयणाहि ॥ ८३४ ॥

विपरीतं तत सत्यं काले कार्ये मितं हितम् ॥

निर्भत्तादिकथं दृहि तदेव वचन शृणु ॥ ८३५ ॥

विजयोद्या—तन्निवरीद असद्वचन विपरीतं । सव्य सत्य भणाहि भण । कज्जे काय ज्ञानाचारवाद्  
शिश्नालक्षणे । असयमपरिहारे परस्य वा सम्मार्गस्थापनारूपे काले । आवश्यकादीना कालादन्य काल इत्यकालशब्दे-  
नोच्यते । अथवा कालशब्देन प्रस्ताव उच्यते । मिदं परिमित वचन । सत्रिसण य भवतो ज्ञानस्य विषये प्रवृत्तं वचनं ।  
भणाहि भण । भत्तादिकथारहिदं भणाहि त चेव य सुणाहि भक्तुखीराजकथादिरहितं । त चेव य तथाभूतेमेव

वचनं सुणाहि शृणु । अयमयोयं न त्रयीति एतावता सत्यवतं पालितामिति आशा न कार्यी । परेणोच्यमानमसद्वचनं शृण्वतो मनोऽशुभतया च कर्मबंधो महानिति भावः ।

असत्य भाषणका त्याग करनेके लिये ऊपर आचार्योंने उपदेशकिया अब मत्यवचनका स्वरूप कहते हैं  
अर्थ—असत्य भाषणके जितने प्रकार ऊपर कहे हैं उनके विरुद्ध जो जो भाषण है वह २ हे क्षपक ! तुम बोलो ज्ञान, चारित्रादिकों का उपदेश देनेवाला, असंयमसे परावृत्त करनेवाला, अन्य साधुजनोंको सद्धर्ममें स्थिर करनेवाला ऐसा भाषण हे क्षपक ! तुम बोलो । सामागिक, प्रतिक्रमण, वंदना, स्तुति वगैरह आवश्यकों के कालके सिवाय अन्य समयको यहां काल समझना चाहिये अर्थात् योग्य काल प्रसंगको जानकर प्रगट होनेवाला ऐसे भाषणको यहाँ सत्यभाषण कहते हैं । ऐसा सत्य भाषण हे क्षपक ! तू मितही बोल वह भाषण भक्तकथा, राजकथा चौर कथा वगैरह विकथाओंसे वजित होना चाहिये ऐसा भाषण तू बोल और अन्यका भी विकथावजित भाषण सुन यह वक्ता अयोग्य बोलता नहीं है एतावता इसने सत्यवत पाला है ऐसा तू मत समझ दूसरेका असद्भाषण सुननेपर भी मनमें अशुभ संकल्प उत्पन्न होकर महान्कर्मबंध होता है ऐसा जानकर दूसरोंका असत्य भाषण हे क्षपक ! तू मत सुन-

सत्यवचनमुण हृदयनिर्वाणं व्यापयति गायोत्तरा स्पष्टा—

जलचंदणससिमुत्ताचंदमणी तह णरस्स णिव्वाणं ॥

ण करंति कुणइ जह अत्यज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥ ८३५ ॥

नरस्य चदनं चद्रचद्रकातमणिर्जलम् ॥

न तथा कुरुते सौख्य वचनं मधुर यथा ॥ ८५५ ॥

सत्यवचनमें हृदयको सुख देनेका गुण है इसका विवेचन—

अर्थ—पानी, चंदन, चंद्र, मोती, और चंद्रकांतमणि ये पदार्थ लोगोंको उतना आनंद उत्पन्न करनेमें

असमर्थ हैं जितना आनंद अर्थात्, हितकर और मधुर भाषण उत्पन्न करता है अर्थात् पानी, चंदन और चंद्रादिकोंमें भी सत्यवचन जीवोंको अधिक आनंद देता है

न सत्यमित्येतावतो वचन वक्तव्य, सत्यमेव सदेव वक्तव्यमेव नेति श्रवीति—

अणस्स अप्पणो वा विधम्मिण्णु विद्वन्तणु कज्जे ॥

जे अ पुच्छिज्जंतो अण्णेहिं य पुच्छिओ जंप ॥ ८३६ ॥

स्वकीये परकीये वा धर्मकृत्ये विनश्यति ॥

त्वमपृष्टो वदान्यत्र पृष्ट एव सदा वद ॥ ८४५ ॥

विजयोदया—अणस्य अण्णो वापि अन्यस्य आत्मनो वा धार्मिककार्यं विनश्यति सति अपृष्टोऽपि ब्रूहि । अनतिपातिनि कार्ये पृष्ट एव वद नापृष्ट ॥

जो सत्य है वह बोलना चाहिए ऐसा नहीं परंतु सत्य होकर जो प्राणिओंका कल्याण करता है वह मायण बोलना चाहिए यही अभिप्राय आगेकी गाथामें कहा है—

अर्थ—दूसरोंका अथवा अपना धार्मिक कार्य नष्ट होनेका भ्रंसग आनेपर बिना पूछे हि बोलना चाहिये यदि कार्य विनाशका भ्रंसग न हो तो जब कोई पूछेगा तब बोलो, नहीं पूछेगा तो बोलना नहीं

सरुचं वदंति रिसओ रिसीहिं विहिदाउ सब्ब विज्जाओ ॥

मिच्छस्स वि सिज्झंति य विज्जाओ मच्चवादिस्स ॥ ८३७ ॥

गदंति ऋषयः सत्यं यद्विद्या निखिलाः कृताः ॥

तन्म्लेच्छस्यापि सिध्यन्ति सर्वदा सत्यवादिनः ॥ ८४६ ॥

विजयोदया—सच्च वदंति रिसओ सत्यं वदति यतय । रिसीहिं विहिदाओ यतिभिर्विहिता सर्वविद्या । मिच्छस्सवि म्लेच्छस्यापि सिज्झंति सिध्यन्ति । विज्जाओ विद्याः । सच्चवादिस्स सत्यवादिनः ॥

अर्थ—ऋषिगण सत्यभाषण करते हैं ऋषियोंने सर्व विद्यायें उत्पन्न की हैं, जो सत्यवादी हैं ऐसे म्लेच्छ को भी विद्यायें सिद्ध होती हैं,

ण उहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण चुइइ ॥  
सच्चवलियं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिणदी वि ॥ ८३८ ॥  
दद्यते न हुताशेन न निमज्जति वारिणि ॥  
धन्यं सत्यवलोपेतो नरो नद्यापि नोद्यते ॥ ८४७ ॥

विजयोद्या—ण उहदि अग्गी णरं न वहल्यणि सत्येन नरं । जलं च तं चुइइ जलं च तत्र निमज्जयति ।  
सच्चवलियं सत्यमेव बलं तद्यस्यास्ति तं न वहति नाकर्णयति । तिक्खा गिरिणदीवि तीव्रवगा गिरिनद्यापि ॥

अर्थ—सत्यवादी को अग्नि जलाता नहीं पानी उसको इवोन्मै असमर्थ होता है सत्यभाषण ही जि-  
सका सामर्थ्य है ऐसे मनुष्य को बड़े वेगसे पर्वतपरमे ऋदनेवाली नदी भी नहीं बहा सकती है।

सच्चेण देवदावो णवन्ति पुरिसस्स ठन्ति य वसस्मि ॥  
सच्चेण य गहगहिदं मोण्डु करेति रक्खं च ॥ ८१९ ॥  
वदया भवन्ति सच्च्येन देवता प्रणमन्ति च ॥  
विमोचयन्ति सत्येन ग्रहतं पाति च स्फुटम् ॥ ८४८ ॥

विजयोद्या—सच्चेण देवदावो णमति सत्येन देवता नमस्यति । पुरिसस्स ठन्ति य वसस्मि पुरणस्य च वदो  
तिष्ठति । गहगहिदं सच्चेण मोण्डु पिशाचग्रहण मोचयति सत्येन । ऋति सच्चेण रक्खं च कुर्वन्ति सत्येन ग्रहादिरक्षार्थं ॥  
अर्थ—सत्यके प्रभावसे देवतायें सत्यवादी को वदन करती हैं और उसके चश होती होती है सत्यके  
प्रभावसे पिशाच भाग जाता है और सत्यके प्रभावसे देवतायें रक्षण करती हैं अर्थात् सत्यवादीपर आये हुये  
संकट दूर करती हैं।

माया व होइ विस्सस्सणिज्ज पुज्जो गुरुव्व लोगस्स ॥  
पुरिसो हु सच्चवादी होदि हु सणियल्लओव्व पिओ ॥ ८४० ॥

नरो मातेव विश्वास्यः पूज्यो गुरुरिवाम्बिले ॥  
सत्यवादी प्रियो नित्यं स्वर्धुरिव जायते ॥ ८४९ ॥

विजयोदया—मादा व होदि विस्सस्सणिज्ज मातेव भवति विश्वसनीय । पुज्जो गुरुन्व लोगस्स पूज्यो गुरु-  
वह्लोकस्य । क सच्चवादी पुरिसो सत्यवादी पुण्य । पिबो होदि सणियह्लोन्व प्रियो भवति वधुरिव ॥

अर्थ—सत्यवादी के ऊपर लोक माताके समान विश्वास रखते हैं सत्यवादी लोक गुरुके समान  
पूज्य समझे जाते हैं सत्यवादी मनुष्य स्वजनके समान लोकोंको प्रिय होता है

सच्चं अवगददोसं वुत्तुण जणस्स मज्झयारम्मि ॥  
पीदि पावदि परमं जसं च जगविस्सुदं लहइ ॥ ८४१ ॥  
भाषमाणो नरः सत्य लभते प्रीतिमुत्तमाम् ॥  
बुधानंदकरीं कीर्तिं शशांककरसुदराम् ॥ ८५० ॥

विजयोदया—सच्चं वुत्तुण सत्यवचनमुक्त्वा । कीदृग्भूतं? अवगददोस दोपरहित । क? जणस्स मज्झयारम्मि  
जनमध्ये । पीदि पावदि परमा प्रीति प्राप्नोति परा । जसं लभदि यथाश्च लभते । जगविस्सुदं जगति विश्रुत ॥

अर्थ—दोपरहित सत्यभाषण लोक समुदायमें बोलनेसे मनुष्य उत्कृष्ट आदरको प्राप्त होता है और  
जगतमें उसका यश प्रसिद्ध होता है-

सच्चम्मि तवो सच्चम्मि संजमो तह वसे सया वि गुणा ॥  
सच्चं निवंधणं हि य गुणाणमुदधीव मच्छाणं ॥ ८४२ ॥  
गुणानामालयः सत्य मत्स्यानामिव नीरधिः ॥  
प्रमाणमस्ति सत्येन वजितोऽपि गुणैः परैः ॥ ८५१ ॥

विजयोदया—सच्चम्मि तवो सच्चम्मि संजमो सत्याधारै तपःसयमौ, शेषाश्च गुणा । सच्चं निवंधणं गुणाणं  
सत्य गुणाना निवंधनं । सच्चं मच्छाण उदधीव सत्यं मत्स्यानामुदधिरिव ॥



अर्थ—सत्यके आश्रयसे तप और संयमकी वृद्धि होती है। इस सत्यका आधार पाकर ही सर्वगुण अपनी वृद्धि कर सकते हैं। समुद्र जैसे मच्छोंका आश्रयस्थान है वैसे संपूर्ण गुणोंको सत्य आश्रय स्थान है।

सन्वेण जगे होदि पमाणं अण्णो गुणो जदि वि से णत्थि ॥

अदिसंजदो य मोसे ण होदि पुरिसेसु तणलहुओ ॥ ८४३ ॥

संपयंते गुणाः सत्ये संयमो नियमस्तपः ॥

संयतोऽपि सुपावादी जायते तृणतो लघुः ॥ ८५२ ॥

विलयोदया—सन्वेण जगे होदि सत्येन जगति भवति । पमाणं प्रमाण । यद्यव्यन्यो गुणो नास्ति । अतीव संयतोऽपि सता मध्ये तृणवच्छुर्भवति मृगवच्चेनेति गाधार्ये ॥

अर्थ—पुरुषमें सत्यके सिवाय अन्य गुण न होनेपर भी सत्यगुणसे ही वह प्रमाण माना जाता है महान सयमी मुनि भी सत्यगुणोंके समुदायमें असत्य वचन बोलनेसे तृणके समान तुच्छ होजाता है।

होदु सिंहडी व जडी मुंडो वा णगओ व चीवरधरो ॥

जदि भणदि अलियवयणं विलंबणा तस्स सा सव्वा ॥ ८४४ ॥

मुंडो जटी शिखी नग्नश्रीवरी जायतां नरः ॥

विटंबवनाविला सास्य चित्तथ यदि भायते ॥ ८५३ ॥

विजयोदया—होदु सिंहडी भवतु नाम शिखावान् । जडी मुंडो वा । नग्नश्रीवरधरो वा ययलीकं वदति तस्य सा सर्वो विलंबना ॥

अर्थ—मनुष्य शिखा रखनेवाला हो, जटा धारण करनेवाला हो, मुंडन करनेवाला नय अथवा चीवरधारी, हो, यदि वह असत्य बोलता है तो यह सर्व उसकी विटंबनाही समझनी चाहिये

जह परमणस्स विसं विणासयं जह व जोब्बणस्स जरा ॥

तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासयमसच्चं ॥ ८४५ ॥

कालकूटं यथाम्नस्य यौवनस्य यथा जरा ॥  
गुणानां विद्धि सर्वेषां नाशकं वितथं तथा ॥ ८५४ ॥

विजयोदया—जह परमणस्स यथा परमाद्यस्य विनाशकं विप । यथा वा जरा यौवनस्य, तथा जानीहि अहिंसादिगुणानां विनाशक असत्य ॥

अर्थ—जैसे उत्कृष्ट असुतोपम अन्नको विप नष्ट कर देता है वद्वावस्था तारुण्यको नष्ट करती है वैसे यह असत्य भाषण अहिंसादि गुणोंको नष्ट करती है

मादाए वि य वेसो पुरिसो अलिण्ण होइ इक्केण ॥

किं पुण अवसेसाणं ण होइ अलिण्ण सत्तुव्व ॥ ८४६ ॥

स्वमातुरग्यविदवास्यो मृषाभाषणलालसः ॥

शेषाणां किमु लोकानां न शत्रुरिव जायते ॥ ८५५ ॥

प्रिजयोदया—मादाए वि य मातुरग्यविश्वास्यो भवत्यलीकित एकेन पुरुष । शेषाणा पुनर्न किं भवेदलीकेन भावुरिध ॥

अर्थ—भ्रष्ट बोलनेवाले मनुष्यपर माता भी विश्वास नहीं रखती है फिर इस एक असत्य भाषणरूपी शत्रुपरो अन्य लोक उसको शत्रुसमान क्यों नहीं गिनेंगे

अलियं स किं पि भणिदं धादं कुणदि बहुगाण सव्वाणं ॥

अभिसंकिदो य सयमवि होदि अलियभासणो पुरिसो ॥ ८४७ ॥

एकेनासत्यवाक्येन सत्यं बह्वपि हन्यते ॥

सर्वत्र जागते नित्य शक्तितोऽसत्यभाषकः ॥ ८५६ ॥

विजयोदया—अलिय स किं पि भणिय सकुव्वयुक्त अलीकं सत्यानि वड्ढनि नाशयति । अलीकवादी पुरुषः अन्यमपि शक्तितो भयति नितरा ॥

अर्थ—एकदफे ही बोला हुआ अमृत्य भाषण अनेक बार बोले हुए सत्यभाषणोंका संहार करता है असत्यवादी पुरुष स्वयं भी मनमें डरता है शंकायुक्त रहता है मेरा असत्यभाषण यदि प्रकट होगा तो मेरा नाश होगा ऐसी भीति उसके मनमें उत्पन्न होती है.

अपञ्चओ अकिञ्ची भंभारदिकलहवेरभयसोगा ॥

वधवंधमेदणाणा सव्वे मोसस्मि सण्णिहिदा ॥ ८४८ ॥

अप्रत्ययो भयं वैरमकीर्तिर्मरणं कलिः ॥

विषादो मत्सरः शोकः सर्वेऽसत्यस्य बांधवाः ॥ ८५७ ॥

आयासरसनाच्छेदसर्वस्वरहरणादयः ॥

इहासत्येन लभ्यते परत्र नरकावनिः ॥ ८५८ ॥

विजयोदया—अपञ्चओ अमृत्यय. । अकीर्तिः, संक्षेप, अरति कलहो, वैर, भय, शोक, वधो, वध, स्वजनभेदः, धननाशश्चेत्यमी दोषा सन्निहिता नृपावबन्ते ॥

अर्थ—अविश्वास, अकीर्ति, संक्षेपशरणागम, तिरस्कार, कलह, वैर, भय, शोक, वध, वध, सज्जनमें झूट, और धनका नाश ऐसे पाप सत्यभाषणसे उत्पन्न होते हैं.

पापस्सागमदारं असच्चवयणं भणंति हु जिर्णिदा ॥

हिदण्ण अपावो वि हु मोसेण गदो वस्स णिरयं ॥ ८४९ ॥

कलिलस्यास्रवद्धारं वितथं कथितं जिनैः ॥

निष्पापो हि वसुस्तेन श्रितेन नरकगतः ॥ ८५९ ॥

विजयोदया—पापस्यागमद्वारमिति वदत्यसत्यं जिर्णद्वारं । हृदय अपापोऽपि मृगमात्रेण चसुगतो नरकं इत्याख्यानक वाच्य ।

अर्थ—जिर्णद्वार भगवान असत्य भाषण पाप कर्मके आस्रव दरवाजेके समान है ऐसा कहते हैं अर्थात्

असत्य भाषण पापास्रवका कारण है इदयमें पापराहित वसु राजा असत्यभाषणसे नरकमें चला गया

परलोगमि वि दोस्सा ते चेव हवंति अलियवादिस्स ॥

मोसादीए दोसे जत्तेण वि परिहरंतस्स ॥ ८५० ॥

असत्त्यवादिनो दोपा परआपि भवन्ति ते ॥

मुंचतोऽपि प्रयत्नेन मृषाभाषाविदूषणम् ॥ ८६० ॥

विजयोदया—परलोगमि वि दोसा परभवेऽपि दोषस्त एव अप्रत्ययादय एव भवंत्यलीकवादिनः । यत्नेनापि परिहृत्तः । किं ? मोसादिगे दोसे मृपादिकान्दोषान् । मृपा आदियेपा स्तेयाद्वस्त्रपरित्रहणा ते मृपादयः । अतद्रूपस-  
विज्ञानबहुव्रीहिरत्र ग्राह्य । स्तेयादिदोषान्परिहृत्ततोऽपीत्यर्थः ॥

अर्थ—असत्य बोलनेवाले पुरुषको अविश्वास वगैरे दोष परलोकमें भी प्राप्त होते हैं असत्य भाषण चोरी मैथुन, परिग्रह वगैरह पापोंका त्याग करनेपर भी, परलोकमें इन दोषोंका यह पुरुष कर्ता है ऐसा माना जाता है परजन्ममें बड़े प्रयत्नसे इनका त्याग करने पर भी इन दोषोंका उसके ऊपर आरोप आता है

भवतु नाम अप्रत्ययत्वादिका मृपावादस्य दोषा कर्कशवचनादिना परभवे इह वाय के दोषा इत्यत्राचेष्ट—

इहलोइय परलोइय दोसा जे होंति अलियवयणस्स ॥

कक्कसवदणादीण वि दोसा ते चेव णादब्बा ॥ ८५१ ॥

ये सन्ति वचनेऽलीके दोषा दुःखविधायिनः ॥

त एव कथिता जैनैः सकलाः कर्कशादिकाः ॥ ८६१ ॥

विजयोदया—इहलोकिंग दोसा अस्मिञ्जन्मि परत्र च ये दोषा भवति अलीकवादिनः । कर्कशवचनादीनामपि त एव दोषा इति ज्ञातव्या ॥

असत्यवचन बोलनेसे अविश्वास वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं परतु कर्कशवचनादिकसे परभवमें अथवा इस भवमें कोनसे दोष उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—असत्य बोलनेसे इहपर लोकमें जो दोष उत्पन्न होते हैं वे ही दोष कर्मशत्रुचनादिकसे भी उत्पन्न होते हैं ऐसा समझना चाहिये

उपसंहारगाथा—

एदोसिं दोसाणं मुक्को होदि अलिआदिविविदोसे ॥

परिहरमाणो साधू तव्विवरीदे य लभदि गुणे ॥ ८५२ ॥

असत्यमोचिनो दोषा मुंचंति सकला इमे ॥

तद्विपक्षा गुणाः सर्वे लभ्यन्ते बुधप्रजिताः ॥ ८६२ ॥

भवभयविचयनवितथविमोची निरूपमसुन्वरजिनमतरोची ॥

परमं दवयति कलिलमदोषं वञ्चयति मुनिव्रतवचनविशेषम् ॥ ८६३ ॥  
इति सत्यम् ॥

विजयोदया—यतेभ्यो मुक्को भवति व्यक्तीकादिवचने दोषान्य परिहरति साधु । लभदि तच्चिन्न-रीदे तेनापि दोषप्रतिपक्षभूतान्यत्ययितवादिगुणान् । प्रत्यय , कीर्ति , असंक्लेश, रति , कलहाभाव , निर्भयतादिकथ्य । सच्च ॥

उपसंहार गाथा—

अर्थ—असत्य भाषण, कर्मशत्रुभाषणोंके दोषोंका जो त्याग करता है वह पुरुष इन दोषोंके प्रतिपक्षरूपी गुणोंकी प्राप्ति कर लेता है. अर्थात् जगमें विश्वास, कीर्ति, असंक्लेश, कलहका अभाव, निर्भयता वगैरह गुणोंका उसको लाभ होता है. सत्यमहाव्रतका वर्णन हुआ

व्याख्याय सत्यव्रत व्रतीयव्रत निगवति—

मा कुणसु तुमं बुद्धिं बहुमपं वां परादियं घेत्तुं ॥  
दंतंतरसोघणयं कलिंदमेत्तं पि अविदिणं ॥ ८५३ ॥

बहुरूपं च परद्रव्यमदत्तं मा ग्रहीस्त्रिया ॥

व्रतस्य ध्वंसने शक्तं दंतानामपि शोधनम् ॥ ८६४ ॥

विजयोदया—मा कुणसु तुम बुद्धि मा रुथास्त्व बुद्धि । कीदृशी ? पराविय वेत्तु परकीय वस्तु ग्रहीतु । परकीयवस्तुविशेषणमाचष्टे—गुरुमण्य वा महदल्प वा । अल्पद्रव्यपरिमाणमभिधाति—दत्ततरसोधनग कालेदमेत्तपि दत्तान्तरशुद्धिकारि दृणशलाकामात्रमपि । अविधिष्ण अदत्त ॥

अचौर्यव्रतका वर्णन—

अर्थ—हे क्षपक ! तुम दुरसोंके द्वारा नहीं दी गई छोटी या मोटी वस्तु कदापि मत ग्रहण करो जिससे दांतोंमें मल निकाला जाता है ऐसी तृणशलाकाभी ग्रहण करना योग्य नहीं है

जह मक्कडओ धादो वि फलं दडूण लोहिदं तस्स ॥

दूरत्यस्स वि डेवदि धित्ठू वि जइ वि छंडेदि ॥ ८५४ ॥

दूरस्थितं फलं रक्तं यथा ततोऽपि मर्कटः ॥

ग्रहीतुं धावते दृष्ट्वा भूयो यद्यपि मोक्षयति ॥ ८६५ ॥

विजयोदया—जह मक्कडगो यथा मर्कटो चानर । बावो वि ततोऽपि । दडूण फल दृष्ट्वापि फलं । लोहिदं रक्तं । तस्स दूरत्यस्स वि डेवदि दूरस्थमपि फलमुद्दिश्योल्लंघन करोति । जदि वि धित्ठूण छंडेदि यद्यपि ग्रहीत्वा त्यजति ।

अर्थ—जैसे मर्कट—चानर तुम होकरभी लालरंगका फल देखकर दूरसे ग्रहण करनेके लिये दीडकर आता है यद्यपि वह ग्रहण कर उसको छोड़ देगा तोभी ग्रथम लोभयुक्त होकर उसे ग्रहण करता है

दाशान्तिके योजयति—

एवं जं जं पस्सदि दब्बं अहिलसदि पाविदुं तं तं ॥

सब्वजगेण वि जीवो लोभाइठो न तिप्पेदि ॥ ८५५ ॥

तथा निरीक्षते द्रव्यं यद्यत्तत्तज्जिघृक्षति ॥

जीवस्त्रिलोकलाभेऽपि लोभग्रस्तो न तृप्यति ॥ ८६६ ॥

विजयोदया—एवं ज ज पस्सदि एव यद्यत्पश्यति द्रव्यं । त तं पाविदुमहिलसदि । तत्तद्रव्यं प्राप्नुमभिल-  
पति । सव्वजनेण वि सर्वेणापि जगता । लोभाइहो जीवो ण तिप्पेदि जीवो लोभाविष्टो न वृप्यति ॥  
दार्ष्टान्तिकमे ऊपरका आशय सघटित करते हैं—

अर्थ—वैसे लोभी मनुष्य जो जो वस्तु देखता है वह वह प्राप्त कर लेने की इच्छा करता है लोभग्रस्त

हुआ मनुष्य सर्व त्रैलोक्यकी प्राप्ति होनेपरभी तृप्त होता नहीं

जह मारुवो पवटइ खणेण वित्थरइ अब्भयं च जहा ॥

जीवस्स तहा लोभो मंदो वि खणेण वित्थरइ ॥ ८६६ ॥

यथा विवर्द्धते वातः क्षणेन प्रथते यथा ॥

प्रथते क्षणतो लोभस्तथा मंदोऽपि देहिनः ॥ ८६७ ॥

विजयोदया—जह मारुवो पवटइ यथा मारुत प्रवर्द्धते । खणेण क्षणेन । वित्थरइ विस्तीर्णो भवति । अब्भयं च  
जहा यथा चात्रं । जीवस्स जीवस्य । तह तथा लोभो मंदोऽपि क्षणेनैव विस्तीर्णतामुपयाति ।

अर्थ—जैसे मंद वायु एक क्षणके अनंतर बढ़कर विस्तीर्ण होता है अथवा जैसे आकाशमें मेघ प्रथम  
थोड़े रहते हैं और अनंतर बढ़ते बढ़ते सर्व आकाश व्याप्त कर देते हैं एवं जीवका लोभ प्रथम मंद होता है नंतर  
क्षणसे विस्तीर्ण होता है.

याह्यद्रव्यसन्निधिमपेक्ष्य लोभकर्मण उदयो जायते तस्य लोभः संवर्द्धते त्वष्टृद्धौ चायं दोष इति व्याचष्टे—  
लोभे य वद्धिद्वे पुण कज्जाकज्जं णरो ण चित्तेदि ॥

तो अप्पणो वि मरणं अगणिंतो चोरियं कुणइ ॥ ८६७ ॥

प्रवृद्धे च ततो लोभे कृत्याकृत्यविचारकः ॥

स्वस्य मृत्युमजानानः साहसं कुरुते परं ॥ ८६८ ॥

विजयोदया—लोभे य वृद्धिं पुण लोभे च वृद्धियुगते पुन । कञ्जाकज्जं णरो ण ष्तिदि कार्यं अकार्यं च न मनसा निरूपयति । इदं कार्यं शुक्त न वेति । तो ततः युक्तायुक्तविचारणाभावात् । अण्णो मरणमपि अगणिता आत्मनो मृत्युमप्यगण्य । चोरिय चौर्यं करोति । ववीप्रहणं, तालोद्धाटनसंप्रवेशादिकं च । भय मृत्योः कष्टतरमवस्थितमपि न गणयति नरञ्चौर्यं मवुत्त इति भाव ॥

बाह्यपदार्थोंका साक्षिष्य प्राप्त करके जब लोभ कर्मका उदय होता है तब लोभ वृद्धिगत होता है लोभ वदनेसे आगे लिये हुए दोषकी वृद्धि होती है—

अर्थ—लोभ की वृद्धि होनेपर मनुष्य करने योग्य अथवा न करने योग्य कार्यका मनसे विचार ही नहीं करता है अथवा अकार्य भी उसको योग्य जचता है युक्तायुक्त विचार के नष्ट होनेसे जिससे मरण प्राप्त होगा ऐमा भी साहसकर्म करनेके लिये उद्युक्त होता है चोरी करता है चोरी करनेसे कारागृहमें दुःख भोगता है श्रीमत्के वरका ताला खोलकर अंदर प्रवेश करता है, मृत्युका कष्टतर भय उपस्थित होनेपरभी लोभाविष्ट मनुष्य कुछ पर्वी नहीं करता है

न केवलमात्मन पवोपद्रवकारि चौर्यं अपि तु परेषामपि मद्धतीमानयति विपदमिति कथयति—

सन्वो उवहिद्वुद्धी पुरिसो अत्ये हिदे य सन्वो वि ॥

सत्तिप्पहारविद्धो व होदि हियमंमि अदिदुहिदो ॥ ८५८ ॥

सर्वोप्यथ हृते द्रव्ये पुरुषो गतचेतनः ॥

शक्तिविद्ध इव स्वान्ते सदा दुःखायते तराम् ॥ ८६१ ॥

विजयोदया—सन्वो उवहिद्वुद्धी सर्वो जन उपद्धितगुद्धि स्थापितचित्त । क ? अत्ये वस्तुनि इदं भवत्विति । अत्ये हिदे य सन्वो वि सर्वोऽपि जनो अर्थ हृते । अतिदुहिदो अतीव दुःखितो भवति । किमिव ? सत्तिप्पहारविद्धो हिद्वे शक्त्यात्येन श्लेष्ण हृदये विद्ध इव ।

चोरी करनेसे चोरकोही उपद्रव होता है ऐसा नहीं अन्य लोगोंके ऊपरभी उससे बड़ी विपत्ति आती है

अर्थ—सर्व लोकोंकी वृद्धि धनमें आसक्त रहती है, इसलिये ऐसे धनका चोरकेद्वारा हरण होनेपर उनको मरणतुल्य दुःख होता है हृदयपर शक्तिनामक शस्त्रकी वोट लगनेपर जैसा दुःख होता है वैसा धनहरण होनेसे दुःख होता है



अत्यस्मि हिदे पुरिसो उम्मत्तो विगयचेयणो होदि ॥  
मरदि व हक्कारकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स ॥ ८५९ ॥  
द्रविणे ग्रहिलीभूय झियतेऽथ हत्ते नरः ॥  
हाकारमुखरः क्षिप्रं नृणामर्थो हि जीवितम् ॥ ८७० ॥

विजयोदया—अत्यस्मि हिदे अर्थ हते परेणात्मिये । पुरिसो पुरुष । उम्मत्तो विगयचेयणो होदि उम्मत्तो विचेतनो भवति । चेतनाविशेषे ज्ञानपर्याये चेतनाशब्दो वर्तते नष्टज्ञानो भवतीति यावत् । अन्यथा चेतन्यस्य विनाशाभावात् ॥ मरदि व झियते वा ॥ अर्थे हक्कारकिदो अर्थे हारवं कुर्वन् ॥ अत्थो जीवं खु पुरिसस्स पुरुषस्य जीवितमर्थः ॥

अर्थ—दूसरेके द्वारा अपना धन लूटा जानेपर मनुष्य उन्मत्त अर्थात् पागल बनता है, ज्ञानरहित होता है, मेरा धन मेरा धन ऐसा बारबार कहता हुआ प्राणोंका भी त्याग करता है इसलिये 'धन मनुष्यका प्राण है' ऐसी जो लोकोक्ति जगमें प्रचलित हुई है उसमें सत्यता है।

अडड्गिरिदरिसागरजुद्धाणि अडंति अत्थलोभादो ॥  
पियबंध चेवि जीवं पि णरा पयंहति धणहेटुं ॥ ८६० ॥  
विद्धांति पर्वतेऽम्भोद्यौ युद्धदुर्गवनादिषु ॥  
त्यजंति द्रव्यलोभेन जीवितं बांधवानपि ॥ ८७१ ॥

विजयोदया—अडड्गिरिदरिसागर अट्ठर्यो, दर्यो, गिरि, सागरं, युद्ध प्रविशन्ति अर्थलोभात् । प्रियान्धून् जीवितं च नरा जहति धननिमित्तं । सर्वेभ्यो धनं प्रियतमं यतस्तदर्थिन सर्वं त्यजन्ति इति भावात्थो माध्यायाः ॥

अर्थ—धनके लोभसे मनुष्य जंगल, पर्वत, समुद्र और युद्धमें प्रवेश करते हैं, धनके निमित्तसे अपने प्रियवंधुओंका और प्राणोंका भी त्याग करते हैं, प्रिय बांधव और प्राणोंसे भी धन मनुष्यको अत्यंत प्रिय है क्योंकि कि इसके लिये धनार्थी सर्वोका त्याग करते हैं

अत्ये संतम्मि सुहं जीविदि सकलत्तपुत्तसंबंधी ॥  
अत्थं हरमाणेण य हिदं हवदि जीविदं तेसिं ॥ ८६१ ॥

विद्यमाने घने लोका जीवन्ति सहबधुभिः ॥

तस्मिन्नपहृते तेषां सर्वेषां जीवितं हृतम् ॥ ८७२ ॥

विजयोदया—अत्ये सतस्मि सुदृढ अर्थे सति सुख । जीवदि सकलचतुस्रसंधी जीवति सह कलत्रेर्भायोभिः, पुत्रैर्वधुभिश्च । अर्थे हस्ता तेषा कलत्रादीना जीवितमेव हृत भवति ॥

अर्थ—चोरके हृदयमें दया, लज्जा, दम, और विश्वास ये गुण निवास नहीं करते हैं, चोरको धनके लिये कुछ भी अकर्मव्य नहीं है अर्थात् अत्यंत निंद्य, और क्रूर कार्यभी वह धनके लिये करता है.

चोरस गतिं हियागु दया च लज्जा दमो व विस्तासो ॥

चोरस्स अत्थेहेदुं गतिं य कादव्वय किं पि ८६२ ॥

न विश्वासो दया लज्जा सन्ति चौरस्य मानसे ॥

नाकृत्यं धनलुब्धस्य तस्य किंचन विद्यते ॥ ८७३ ॥

विजयोदया—चोरस्स गतिं हियागु दया, लज्जा, दमो, विश्वासो वा । चोरस्य नास्ति अकर्मव्य किंचित् । अर्थार्थिन इति भावार्थः ।

अर्थ—धनसे इद्विगुसुखकी प्राप्ति होती है, धनसे मनुष्य पत्नी, पुत्र और संबंधी जनोके साथ जी सकृता है और यदि उसका धन चोरने हरण किया तो उसने उसका और उसके पत्नी पुत्रादिकोना जीवित हरण किया ऐसा समझना चाहिये

लोगस्मि अति पक्खो अवरद्धंतस्स अण्णमवराधं ॥

णीयह्या वि पक्खे ण होति चोरिक्खसीलस्स ॥ ८६१ ॥

अपराधे कृतेऽप्यत्र पक्षे लोकोऽपि जायते ॥

बंधवोऽपि न चौरस्य पक्षे सन्ति कदाचन ॥ ८७४ ॥

विजयोदया—लोगस्मि अति पक्खो लोकेऽस्ति पक्षोऽन्यमपराध द्विसादिक कुर्वतो बंधवोऽपि न पक्षता प्रतिपद्यते ये चौर्यकारिणः ॥

अर्थ—हिंसादिक अन्य अपराध करने वालोंके पक्षमें लोक रहते हैं परतु वंशुभी चोरी करने वालोंके पक्षमें रहना नहीं चाहते हैं

अण्णं अवरज्झंतरस्स दित्ति णियये घरम्मि आवासं ॥

माया वि य ओगासं ण देइ चोरिक्खिसीलस्स ॥ ८६४ ॥

वित्तरंति जनाः स्थानं दोषेऽन्यत्र कृते सति ॥

स्तेये पुनर्न मातापि पुरुषातकदायिनि ॥ ८७५ ॥

विजयोदया—अण्णं अवरज्झतस्स अन्यं अपराधं कृत्वैत ददति स्वात्वासे अवकाशं । माताप्यवकाशं न ददाति चुराया प्रवृत्तस्य ॥

अर्थ—अन्य अपराध करने वालोंको लोक अपने घरमें आश्रय देते हैं परतु लोक तो क्या चोरी करनेवाले मनुष्यको उसकी माता भी आश्रय देती नहीं

परदत्त्वहरणमेदं आसवदारं खु वेत्ति पावस्स ॥

सोगरियवाहपरदारयेहिं चोरो हु पापदरो ॥ ७६५ ॥

द्रव्यापहरणं द्वारं पापस्य परमिष्यते ॥

सर्वेभ्यः पापकारिभ्यः पापीयांस्तस्करो मतः ॥ ८७६ ॥

विजयोदया—परदत्त्वहरणेभद परद्रव्यापहरणमेतत् पापस्यान्तवद्धारं धुंवति । शौकरिकात्, व्याधात्, परदाररतिप्रियान्त्व चौरः पापीयान् ॥

अर्थ—परद्रव्य हरण करना यह पाप आनेका द्वार है सुअर का घात करनेवाला, मृगादिका को पकड़नेवाला और परस्त्री गमन करनेवाला इनसे भी चोर अधिक पापी गिना जाना जाता है

सयणं भित्तं आसयमल्लीणं पि य महल्लए दोसे ॥

पाडेदि चोरियाए अयसे दुक्खम्मि य महल्ले ॥ ८६६ ॥

आश्रयं स्वजनं मित्रं दुराचारो मलिम्लुचः ॥

सर्वं पातयते दोषे दुरुषमे दुर्यशास्यपि ॥ ८७७ ॥

विजयोदया—सयण मित्रं वधून्मित्राणि आश्रयभूतं समीपस्थं च महति दोषे बंधवधघनापहरणादिके पातयति चौर्यं । महलयशासि दुःखे च निपातयति ॥

अर्थ—चोरके जो स्वजन, मित्र, और आश्रयसे रहनेवाले अन्य लोगोंको भी यह चोरी बड़े संकटमें गिरा देती है, अर्थात् चोरके साथ उसके स्वजन मित्रादिकोंकोभी लोक बांधते हैं, उनके अवयव तोड़ते हैं, उनका धन छीन लेते हैं बही अपकीर्ति और दुःखमें गिराते हैं

बंधवधजादणाओ छायाघादपरिभवक्खयं सोयं ॥

पावदि चोरो सयमवि मरणं सब्बस्सहरणं वा ॥ ८६७ ॥

वधं बंधं भयं रोधं सर्वस्वहरणं, मृतिम् ॥

विषादं घातना लोके तस्सकरो लभते स्वयम् ॥ ८७८ ॥

विजयोदया—बंधवधजादणाओ वधं, वधं, यतनाञ्च, छायाघातं, परिभवं, भयं, शोकं प्राप्नोति । स्वयमपि चोरो मरणं सर्वस्वहरणं वा ॥

अर्थ—अवयव तोड़ना, बांधना, अनेक प्रकारसे पीड़ा देना, पराभव करना इत्यादिक प्रकारोंसे लोक चोरोंको तकलीफ देते हैं. शोक, सर्वस्वहरण और मरण इन दुःखोंको चोर प्राप्त होता है

णिच्च दिया य रत्तिं च संकमाणो ण णिद्धमुवलभदि ॥

तेणं तओ समंता उव्विग्गमओ य पिच्छंते ॥ ८६८ ॥

शंकमानमना निद्रां तस्सकरो जातु नाश्रुते ॥

जुरंग इव वित्रस्तो वीक्षते सकला दिशः ॥ ८७९ ॥

विजयोदया—णिच्च दिया य रत्तिं च संकमाणो नित्य दिवापात्रि शंकामान. न निद्रासुपलभते चौरः । समता-त्येक्षते उद्विग्नहरिण इव ॥

अर्थ—चोरके मनमें दिनरात भय रहता है उसको भयके मारे निद्रा भी आती नहीं वह हमेशा चारों तरफ भययुक्त हरिणके समान देखता रहता है

उंदरकंदपि सह सुच्चा परिवेवमाणसब्बंगो ॥

सहसा समुच्छिदभयो उव्विगो धावदि खलंतो ॥ ८६१ ॥

आकर्ण्य मृपिकस्यापि दाब्बं शंकितमानसः ॥

धावते सर्वतः सद्यः स्वलन्स्वमरणाकुलः ॥ ८८० ॥

विजयोदया—उंदरकंदपि सह मृपकचलनकृतमपि सद्यः श्रुत्वा प्रस्फुरत्सर्वगात्र । सहस्रोत्थमयोद्विभो घावति । स्वलन्पदे पद ॥

अर्थ—भागते हुए मृपकका अर्थात् चूहेका ध्वनि सुनकर चोर भीतीमें थरथर कांपने लगता है और डरकर दौड़ने लगता है, दौड़ते समय गड़गड़ीसे गिरजाता है

धासिं पि संजमंतो घेत्तूण किलिदमेत्तमविदिणं ॥

होदि हु तणं व लहुओ अप्पच्चइओ य चोरोब्ब ॥ ८७० ॥

अदत्ते तुणमात्रेऽपि गृहीते संयतोऽपि ना ॥

अप्रत्येयो यथा स्तेनस्तृणतो जायते लघुः ॥ ८८१ ॥

विजयोदया—धासिं पि संजमंतो तित्तमपि सयम कुर्वन् । अदत्तं तुणमात्रमपि गृहीत्वा तुणवल्लघुर्भवति, अप्रत्ययितश्चौर इव ॥

अर्थ—महान् समय धारण करके भी साधु न दिया हुआ तुणमात्र भी ग्रहण करके चोरके समान अवि-  
श्वासी बन जाता है और तिनके के समान हलका हो जाता है

परलोगस्मि य चोरो करेदि णिरयस्मि अप्पणो वसदि ॥

तिव्वाओ वेदणाओ अणुभवहिदि तत्थ सुचिरंपि ॥ ८७१ ॥

विधाय पुरुषः स्तेयं नारकीं वसतिं गतः ॥

सहते वेदनास्तत्र चिरकालं सुदुःसहाः ॥ ८८२ ॥

विजयोदया—परलोकमग्निं यः चोरो करोति परलोकं चौरः करोत्यात्मनो नरके वसति । कीदृग्भूतो यत्र नरकेषु सुचिरं दीर्घकालं पच्यमानः, तीव्रवेदना अनुभवति ॥

अर्थ—चोरीके पापसे मरकर चोर नरकमें जाता है, उत्पन्न होता है और दीर्घ कालतक पचता हुआ तीव्र वेदनाओंका अनुभव करता है

तिरियगदीए वि तहा चोरो पाउणदि तिब्बदुक्खाणि ॥

पाएण गीयजोणीसु चेव संसरइ सुचिरंपि ॥ ८७२ ॥

लभते दारुणं दुःखं स्तेनस्तिर्यग्गतावपि ॥

प्राप्नोति प्रायशः पापे योनीं नीचामसौ चिरम् ॥ ८८३ ॥

विजयोदया—तिरियगदीए वि तहा तिर्थगतावपि चौरः प्राप्नोति तीव्राणि दुःखानि । प्रायेण नीचयोनिष्वेव संसरति सुचिरमपि ॥

अर्थ—चौर पापकर्मसे पशुगति में जन्म लेकर तीव्र दुःखोंका दीर्घ कालतक अनुभव लेता हुआ प्रमण करता है और प्रायः नीच पशुओंमें—अर्थात् कुत्ता, सुगर, गधा इत्यादिकोंमें तथा विकलव्रयादिक योनिओंमें प्रमण करता है.

माणुसभवे वि अत्था हिदा व अहिदा व तस्स णस्संति ॥

ण य से धणमुवचीयदि सयं च ओलट्टदि घणादो ॥ ८७३ ॥

नृत्वेऽहृता हुता चार्थोः पलायंतेऽखिलाः स्वयम् ॥

न चीर्यन्ते प्रयत्नेऽपि स्वयं यास्यति वा ततः ॥ ८८४ ॥

विजयोदया—माणुसभवे वि मनुष्यभवेऽपि तस्य अर्थो नश्यन्ति हृता वा अहृता वा । न चोपयति संचयं धनं, तस्य उपचितेऽपि धने स्वयं तस्मादपयति घनात् ॥

अर्थ—मनुष्यभवंमें भी वह चोर जन्म लेनेपर उसका धन पूर्व पापकर्मके उदयसे हरा जाता है, अथवा वह दरिद्री हो जाता है- कितना भी प्रयत्न करनेसे उसके पास धनसंचित होताही नहीं। अथवा धन संचित होने-परभी वह स्वयं उससे दूर चला जाता है अर्थात् अन्तराय कर्मके उपार्जनसे वह धनका उपभोग ले नहीं सकता.

परदव्यहरणबुद्धी सिरिभूदी णयरमञ्जयारम्मि ॥

होदूण हदो पहदो पत्तो सो दीहसंसारं ॥ ८७४ ॥

श्रीभूतिर्महती प्राप्य पुरमध्ये विडम्बनाम् ॥

परद्रव्यरतो दीनः प्रपेदे दीर्घसंसृतिम् ॥ ८८५ ॥

विजयोदया—परदव्यहरणबुद्धी परद्रव्यहरणबुद्धि, सिरिभूदी श्रीभूतिर्नगरस्मये ताडितः प्रहृतश्च भूत्वा दीर्घसंसारं प्राप् ॥

अर्थ—परद्रव्य हरणमें जिसकी बुद्धि प्रवीण थी ऐसा श्रीभूति नामका ब्राह्मण जो कि राजाका पुरोहित था वह नगरमें पीटा गया और मारा गया इस चोरीके दोषसे उसने दीर्घ कालतक संसारमें भ्रमण किया

अदत्तादानदोषानुपदस्यै दत्त योग्यं गृह्णेति व्याचष्टे—

एदे सव्वे दोसा ण होति परदव्यहरणविरदस्स ॥

तत्त्विवरीदा य गुणा होति सदा दत्तभोइस्स ॥ ८७५ ॥

देविंदरायगहवइदेवदसाहम्मि उग्गहं तमहा ॥

उग्गहविहिणा दिण्णं गेण्हसु सामणसाहणयं ॥ ८७६ ॥

एते दोषा न जायंते परद्रव्यविवर्जने ॥

तद्विपक्षा गुणाः सन्ति सुंदरा दत्तभोजिनः ॥ ८८६ ॥

इंद्रराजगृहस्वामिदेवतासमधर्मिभिः ॥

वितीर्णं विधिना ग्राह्यं रत्नत्रितयवर्धकम् ॥ ८८७ ॥

विमुञ्चते यः परवित्तमंजसा निरीक्ष्यमाणं सदृशं मुदा सदा ॥  
अनन्यसाधारणश्रुतिभूषितः स याति निर्वाणमपास्तकल्मषः ॥ ८८८ ॥  
इति अस्तेयम् ॥

विजयोदया—देविवराजगृह्यद्देवेंद्राणां, राज्ञां, गृह्यपतीनां, राष्ट्रकूटानां, देवतानां, सधर्मणां च परिग्रहं ।  
उग्राहविहिता अवग्रहविधिना । दिणं वृत्त । निणहसु गृहाण । सामण्यसाहण्य श्रामण्यसाधन ज्ञानसयमस्य वा  
साधनं । अदत्ते ॥

आचार्यने अदत्तादानके-चोरीके दोष दिखाये अब योग्य दी हुई वस्तुका तू ग्रहण कर ऐसा क्षपकको  
उपदेश करते हैं

अर्थ—उपर्युक्त दोष चोरीका जिसने त्याग किया है ऐसे महापुरुषमें नहीं रहते हैं परतु उस महापुरु-  
षमें उपर्युक्त दोषोंके विरुद्ध गुण उत्पन्न होते हैं दिया हुआ पदार्थका उपभोग लेनेवाले उस महा पुरुषमें अच्छे  
अच्छे गुण प्रकट होते हैं.

देवेंद्र, राजा, गृहस्थ, राजाधिकारी, देवता और साधर्मिक साधु इन्होंने योग्य विधिसे दिया हुआ,  
मुनिपनाकी सिद्धि करनेवाला, जिससे ज्ञानकी सिद्धि होगी और संयमकी वृद्धि होगी ऐसा पदार्थ हे क्षपक तू ग्रहण  
कर आचार्य महाव्रतका वर्णन पूर्ण हुआ

चतुर्थं व्रत निरूपयति—

रम्बलाहि बंभचेरं अब्बंभे दसविधं तु वज्जित्ता ॥

णिच्चं पि अप्पमत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥ ८७७ ॥

अब्रह्म दशधा लयक्त्वा रामावैराग्यपंचके ॥

निवेदय मानसं पाहि ब्रह्मचर्यमनारतम् ॥ ८८९ ॥

विजयोदया—रम्बलाहि वंभचेरं पालय ब्रह्मचर्यं । अब्रह्म दशप्रकारमपि वर्जयित्वा नित्यमप्रमत्त पंचविध  
स्त्रीवैराग्ये ॥



अर्थ—हे क्षपक ! तू दूस प्रकारके अब्रह्मोंका त्याग कर, ब्रह्मचर्यका आचरण कर हमेशा ब्रह्मचर्यके पालन में सावधान रहना चाहिये और पाँच प्रकारके छविराग्यमें हे क्षपक ! तुम तत्पर रहो

ब्रह्मचर्य पालयेत्युक्तं तदेव न क्षायते इत्यारेकायां तद्व्याचष्टे—

जीवो बंभा जीवस्मि चैव चरिया हविज्ज जा जदिणो ॥

तं जाण बंभचें विमुक्कपरदेहतित्तिस्स ॥ ८७८ ॥

निरस्तांगांगरागस्य स्वदेहेऽपि विरागिणः ॥

जीवे ब्रह्मणि या चर्या ब्रह्मचर्यं तदीर्यते ॥ ८९० ॥

विजयोदया—जीवो वभा ब्रह्मशब्देन जीवो भण्यते । दानदर्शनादिरूपेण वर्धते इति वा । यावह्लोकाकाशं वर्धते लोकपूरणाख्यायां नितयां इति वा । जीवस्मि चैव ब्रह्मण्येव चर्या । जीवस्वरूपमनतपर्यायात्मकं एवं निरूपयतो वृत्तिर्या । तं जाण जानीहि । बभचरिय ब्रह्मचर्यं । विमुक्तपरदेहतित्तिस्स विमुक्तपरदेहव्यापारस्य ॥

मूलारा—

या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धयुद्धेऽर्थ्या परद्रव्यमुचः प्रवृत्तिः ।

तद्ब्रह्मचर्यं ब्रतसर्वभौमं ये पाति ते याति पर प्रमोदम् ॥

ब्रह्मचर्यका रक्षण कर ऐसा आपने कहा परन्तु ब्रह्मचर्य का स्वरूप क्या है ? ऐसी ज्ञानका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—ब्रह्मचर्य इस सामासिक शब्दमें जो ब्रह्म शब्द है उसका अर्थ जीव ऐसा होता है, अथवा बृहद् धातूका अर्थ वृद्धिगत होना बढना ऐसा है इस बृहद् धातूसे ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है ज्ञान और दर्शन रूपसे जो वृद्धिगत होता है उसको ब्रह्म कहते हैं जीव इन गुणोंसे वृद्धिगत होता है इस वास्ते इसको ब्रह्म कहते हैं अथवा लोकपूरण समुद्रातमें यह आत्मा संपूर्ण लोकाकाशमें अपने प्रदेश पसार कर बढता है इस लिये जीवको ब्रह्म कह सकते हैं इस जीवका स्वरूप अनंत पर्यायात्मक है ऐसा समझकर उसके स्वरूपमें जो रमागण होने की क्रिया उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं इतरोके शरीरमें प्रवृत्ति करना अर्थात् उसके देहको आलिंगन करना वगैरे क्रियाओंसे जो विरक्त हुआ है वह मुनि अपने आत्माके स्वरूपका—उसके ज्ञान, दर्शन चारित्र वगैरे शुद्ध गुणोंका विचार कर उसमें ही तृप्त होता है इसलिये ऐसे मुनिका ब्रह्मचर्य विशुद्ध होता है

मनसा वचसा शरीरेण परशरीरगोचरव्यापारातिशयं त्यक्तवत् दशविधाब्रह्मत्यागात् दशविध ब्रह्मचर्यं भवतीति वक्तुं कामो ब्रह्मभेदमाचष्टे—

इच्छिविसयाभिलासो वच्छिविमोक्त्वो य पणिदरसरोवा ॥

संसत्तद्वत्सेवा तर्दिदियालोयणं चेव ॥ ८७९ ॥

विजयोदया—इत्थिविसयाभिलासो स्त्रीसंबन्धिनो ये इद्वियाणा विपयास्तासा रूप, तवीयोऽधररस, तासा वक्त्रप्रभवो गध, तासा फल गीत, ह्रासो, मधुरं च च सुदुस्पर्शश्च तत्र अभिलाप । आत्म स्वरूपपरिज्ञानपरिणतिलक्षण ब्रह्मचर्यं वहतीति, आत्मा ब्रह्म ततोऽन्यो चामलोचनाशरीरगतो रूपादिपर्याय. सोऽत्र भण्यतेऽब्रह्मशब्देन तत्र चर्या नामाभिलापरिणति । चत्थिविमोक्त्वो मेहनविकारातिवर्णन । पणिदरससेवा वृण्या-ह्वाररससेवना । संसत्तद्वत्सेवा स्त्रीभिः संसक्ताना समन्धाना शय्यादीना सेना तर्द्वत्स्पर्शवदेव कामिना तनुभ्रातृद्वय-स्पर्शोऽपि प्रीति जनयति । तर्दिदियालोयणं चेव तासा वरागावलोकनं च ॥

किं तद्दशविध ब्रह्म यत्परित्यागात्तद्विलक्षणं दशप्रकारं ब्रह्मचर्यं भवतीति जिज्ञासायामब्रह्मभेदाद्वद्दश गाथाह-येन निर्दिशति—

मूला—इत्थिविसयाभिलासो स्त्रीणा संबन्धिनो ये विपया इद्वियाणा गोचराः सुन्दर रूप, तदधररस स्तसुरभिसुगन्धभितादिगन्धस्तत्कलंगीतहसितमधुरसमन्मनवनतल्लुचावित्स्पर्शेषु अभिलापो ब्रह्मीतुमौत्सुक्य । चत्थिवि-मोक्त्वो लिंगविकारकरणं । पणिदरससेवा वृण्यव्ययरसोपयोगः । संसत्तद्वत्सेवा स्त्रीसेवितशय्याव्यापानुपभोगः कामिनी-तनुस्पर्शवत्कामिना तत्संपृक्तद्वयस्पर्शोऽपि हि प्रीतिमुत्पादयति । तर्दिदियालोयणं स्त्रीवरागान्निरीक्षणं ॥

मनसे, वचनेसे और शरीरसे परशरीरके साथ जिसमें प्रवृत्ति करना छोड़ दिया है ऐसा मुनि दश प्रका-रके अब्रह्मका त्याग करता है तब वह दश प्रकारके ब्रह्मचर्योंका पालन कर सकता है. ग्रथकार अब्रह्मके दस प्रका-रोंका वर्णन करता है—

अर्थ—स्त्रीमन्वधी जो इद्रियोंका विषय हैं उनकी अभिलापा करना अर्थात् उनका सौंदर्य, उनका अधर रस, उनके मुखका गध, उनका मनोहर गायन, हंसना और मधुर भाषण, तथा उनके शरीरका मृदुस्पर्श इनकी अभिलापा करना यह अब्रह्म है आत्माके शुद्ध स्वरूपको जानकर उसमें परिणति करना अर्थात् प्रवृत्ति करना ब्रह्मचर्य है इस ब्रह्मचर्य को धारण करनेवाले आत्माको ब्रह्म कहते हैं इस ब्रह्मसे विरुद्ध जो स्त्रीके शरीरके रूपादि

पर्याय उनको अन्नह्न कहते हैं ऐसे अन्नह्नमें चर्या करना अर्थात् अभिलाषा करना यह अन्नह्नचर्य है

२ बलियविमोक्त्वो—अपने इंद्रियमें विकार होना, अर्थात् अपने लिंगमें विकार होना वह स्थिर और दृढ होना.

३ वृध्यरससेवा—जिससे शरीरमें बल बढ़ेगा, वीर्यवृद्धि होगी, ऐसा आहार और ऐसे रसोंका सेवन करना.

४ संसक्तद्रव्यसेवा—स्त्रियोंके शय्या वगैरह पदार्थोंका सेवन करना—उपभोग लेना. स्त्रीके शरीरका स्पर्श

जैसे कामियोंको प्रीति उत्पन्न करता है वैसे उनके शय्यादिक पदार्थों का स्पर्श भी कामियोंको हर्ष उत्पन्न करता है.

५ तर्दिन्द्रियालोचन—स्त्रियोंके सुंदर अंगोंका अवलोकन करना

सत्कारो संकारो अदीदुसुमरणमणागदभिलासे ॥

इष्टविसयसेवा वि य अब्बंभं दसविहं एदं ॥ ८८० ॥

गद्य—स्त्रीरूपाद्यभिलाषवस्तिमोक्षणघृष्याहारसेवनतत्संस्तुद्रव्याजुरागतद्वारांगनिरीक्षणसत्कारसंस्कारादरतातीतरतस्मरणानागतभिलषणष्टविषयनिषेचणस्वरूपं दशविधमन्नस्य मंतव्यम् ॥ ८९१ ॥

विजयोदया—सत्कारो सत्कार. सम्यातना । स व ततुरागप्रवर्तित' । संकारो संस्कारः तासा वज्रमाल्यादिभिः । अदीदुसुमरणं अतीतकालवृत्तिरतिक्रीडास्मरणं । आणगदभिलासा भविष्यति काले एवं ताभिः क्रीडां करिष्यामि इति रस्यभिलाषः । इष्टविसयसेवा वि य इष्टवियसेवापि च । अब्बंभं दसविधं एदं अन्नह्न वदशप्रकारमन्नह्नैतत् । अधीणरागस्य परद्रव्योपयोगाद्रागोद्वेगो भवतः । तेन सद्युत्स्योपयोग', परद्रव्यालंबन, ज्ञानश्रद्धानमिति चीतरागतादिषु चरणं ब्रह्मचर्यं ततोऽन्यदिदं दशविधमन्नह्नैति निरूपितं ॥

मूलारा—सत्कारो पूजा । सम्माणो वरांगवराभरणलुपचारः । अदीदुसुमरणं अतीतकालवृत्तिसंभोगस्मरण । अणागदभिलासो भविष्यति काले ताभिः सहैव क्रीडिष्यामीत्येवमादिमनोरथः । इष्टविसयसेवा मनोवाञ्छितसौधोद्यानाद्युपयोगः ॥ तथा चावोचाम्, धर्मोभूते—

मा रूपादिरसं पिपास सुदृशा मा वस्तिमोक्ष कृथाः ॥

वृष्यं श्रीशयनाविकं च भज मा मा दा वरगे दृशं ॥

मा कीं सत्कुरु मा च सत्कुरु रतं वृत्तं स्मर स्मार्ये मा ॥  
वर्त्यन्मेच्छ जुपस्व मेष्टविपयान् द्विःपंचधा ब्रह्मणे ॥

वशविधमयब्रह्म सुसुलुणान्यतापकारत्वात्त्याज्यमित्युपदेष्टुं तद्दोषानाह—

अर्थ—सत्कार-स्त्रियोंका सत्कार करना, सम्मानो—उनके देहपर प्रेम रखकर वस्त्र, माला वगैरह पदार्थों-से उनका सत्कार करना उनको अलकारादिक पदार्थ अर्पण करना

अतीतस्मरण—भूतकालमें किये हुए रतिक्रीडाओंका स्मरण करना अनागताभिलाष—भविष्यत्कालमें उनके साथ ऐसी २ रतिक्रीडा करूंगा ऐसी अभिलाषा मनमें करना,

इष्टविषयसेवा—मनोवांछित सौच, उद्यान वगैरहका उपयोग करना, जिसके रागभाव प्रबल है ऐसे पुरुष के परद्रव्यके सेवनसे रागद्वेष प्रबल होते हैं, ज्ञान, श्रद्धान, और वीतरागता इत्यादिकोंमें प्रवृत्ति करना ब्रह्मचर्य है इससे विरुद्ध अब्रह्मके दशप्रकार कहे हैं

एवं विसर्गिभूदं अव्यंभं दसविहंपि जादब्बं ॥

आवादे मधुरम्मिव होदि विवागे य कडुयदरं ॥ ८८१ ॥

आपाते मधुरं रम्यमथह्य दशधाप्यदः ॥

विपाके कटुकं श्रेयं किंपाकमिव सर्वदा ॥ ८९२ ॥

विजयोदया—एवं विसर्गिभूदं विपात्रिना सदृशं एतदब्रह्म दशप्रकारं ज्ञातव्य । आपाते मधुरमिव भवति विपाके तु कटुकतमं ॥

मूलाराधना—विसर्गिभूदं विपवदधिवच्च संतापमोहमूर्च्छामरणादिकरणात् । आवादे आपाते सेवोपक्रमे । विवागे विपाके विरमणक्षणे । कडुयदरं अत्यंतदुस्त्यजत्वादतिकष्टम् ॥

अर्थ—यह दश प्रकारका अब्रह्म विप और अधिकके समान है ऐसा समझना चाहिए. यह अब्रह्म श्रारम्भ में बड़ा मिष्ट मालुम होता है परन्तु अन्तमें अत्यंत कष्टवा है.

स्त्रीविषयो रागोऽग्रह स च तद्यतिपक्षभूतवैराग्येन नाशयितुं शक्यते इति मत्वा वैराग्योपायकथनायाचष्टे—  
कामकदा इत्थिकदा दोसा असुचित्तबुद्धसेवा य ॥

संसर्गदीप्ता वि य करंति इत्थीसु वेरगं ॥ ८८२ ॥

दोषाः कामस्य नारीणामाशौचं बृद्धसगतिः ॥

संगदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीवैराग्यं तपस्विनः ॥ ८९३ ॥

विजयोद्देश—कामकदा इत्थिकदा कामकृता. स्त्रीकृताश्च दोषाः । अशुचित्य, बृद्धसेवा, संसर्गदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीषु वैराग्यं ॥

स्त्रीविषयरागलक्षणमत्रह्य स्त्रीवैराग्यात्मकतत्प्रतिपक्षभावनावष्टभान्निष्ठापयितुं शक्यते इति स्त्रीवैराग्योपायपंचक-  
मुत्तरत्र प्रबंधेन प्रपंचयितुमादौ तदुद्दिशति—

मूलार०—कामकदा कंदर्पेण निर्मिताः । दोसा अपराधाः । पुसोऽपकारा इत्यर्थः । असुचित्त अमेध्यत्व  
देहस्य । बुद्धसेवा शीलबुद्धानामुपासना । संसर्गदीप्ता स्त्रीसागत्यकृतापकाराः । एते पंचतये भाव्यमानाः स्त्रीषु वैराग्यं  
जनयन्ति । श्लोकः—

कामांगनागनासंगदोषाश्चानि भावयन् ॥

कृतायसंगतिः स्त्रीषु विरक्तो ब्रह्म बृंहय ॥

एवमुपक्षेपनाथाः पट् ॥

स्त्रीविषयके रागभावको अत्रह्य कहते हैं वह इसके प्रतिपक्षभूत वैराग्यसे नष्ट होता है ऐसा समझकर  
वैराग्यके उपायोंका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—कामदोष, स्त्रीकृत दोष, शरीरकी अपवित्रता, बुद्धोकी सेवा, और संसर्गदोष इन पांच कार-  
णोंसे स्त्रियोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है

कामकृतदोषनिरूपणा उत्तरेण प्रबंधेन क्रियते—

जावइया किर दोसा इहपरलोए दुहावहा होति ॥

सब्बे वि आवहदि ते मेहुणसण्णा मणुस्सस्स ॥ ८८३ ॥

हृदयते भुवने दोषा यावन्तो दुःखदायिनः ॥

पुरुषस्य क्रियन्ते ते सर्वे मैथुनसजया ॥ ८९४ ॥

विजयोदया—जावदिया फिर दोसा इत्यादिना यावंत. किल जन्मद्वये । दुहावद्वा दु सावद्वा भवति दोषा  
हिंसादयस्तान्सर्वानपि आवहति मैथुनसक्षा मनुष्यस्य ॥

कामदोषान्गार्थार्पचार्पचादोत्तरप्रबंधेन व्याचिरव्यासुगदौ तत्सामान्यसंग्रहगाथामाह—

मूलारा०—दोसा हिंसादयः । आवहति करोति । मेहुणसण्णा योन्थादौ रंमुमिच्छा काम इति यावत् ॥

कामकृत दोषाका वर्णन आचार्य विस्तारसे करते हैं—

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें जितने दुःख देनेवाले हिंसादिक दोष उत्पन्न होते हैं वे सब काम  
संज्ञासे अर्थात् मैथुन की इच्छासे उत्पन्न होते हैं.

सोयदि विलपदि परितप्पदी य कामादुरो विसीयदि य ॥

रत्तिदिया य णिहं ण लहदि पड्झादि विमणो य ॥ ८८४ ॥

ध्यायति शोचति सोदति रोदति, चल्गति आम्यति नृत्यति गायति ॥  
ह्लाम्यति माद्यति रुष्यति तुष्यति, जल्पति कामवशो विमना बहु ॥ ९५ ॥  
स्विच्यते खिद्यते तप्यते सुष्यते, याचते सेवते मोदते धावते ॥  
मुंचते गौरवं गाहते लाघवं, किं न मत्थो विधत्ते मनोजातुरः ॥ ८९६ ॥

विजयोदया—सोयदि विलपदि शोचते, विलपति । परितप्यते । कामादुरो विसीयदि य कामादुरो विपीयति  
च । नत्तं दिन निद्रा न लभते । पड्झादि विमनस्को भवति ॥

कामाते इदमिदं करोतीति प्रबंधेनाभिधत्ते—

मूलारा०—सोयदि शोकं याति । विलवदि विलापं करोति । विसीयदि विसूरयति । पड्झादि प्रबंधेन स्मर  
तीष्टस्त्रियं, विस्मरति वा धर्मादिकम् ॥

अर्थ—कामसे पीडित मनुष्य शोक करता है, रोता है, पश्चात्ताप करता है और खिन्न होता है. उसको

दिनमें और रातमें भी निद्रा आती नहीं है और हमेशा खीका ही चिंतन करता है- और कल्याणकारक धर्मको भूल जाता है

सयणे जणे य सयणासणे य गामे घरे व रणणे वा ॥  
कामपिसायगहिदो ण रमदि य तह भोयणादीसु ॥ ८८५ ॥

आसने शयने स्थाने नगरे भवने वने ॥

स्वजनेऽन्यजने कामी रमते नास्तचेतनः ॥ ८९७ ॥

विजयोदया—सयणे जणे य स्वजने, परजने, शयने, आसने, ग्रामे, गृहे, अरण्ये, भोजनादिक्रियासु च न रमते कामपिशाचगृहीतः ॥

मूलारा०—सयणे स्वजने । जणे परजने ॥

अर्थ—कामादुर मनुष्य, अपने संबंधी जनोमें, अथवा पराधीन लोगोंमें, तिष्ठत हुआ हमेशा खिन्न ही रहता है गाममें, घरमें, अरण्यमें, और भोजनादि क्रियाओंमें भी उसका मन खुश नहीं रहता है उसको हमेशा कामरूपी पिशाच सताता रहता है

कामादुरस्स गच्छदि खणो वि संवच्छरो व पुरिस्सस्स ॥  
सीदंति य अंगाइ होदि अ उक्कंठिओ पुरिसो ॥ ८८६ ॥  
न रात्रौ न दिवा शेते न भुंक्ते न सुप्तायते ॥  
दष्टः कामसुजगेन न जानाति हिताहिते ॥ ८९८ ॥  
कामाकुलितचित्तस्य मुहूर्तो वत्सरायते ॥  
सर्वदोत्कठमानस्य भवनं काननायते ॥ ८९९ ॥

विजयोदया—कामादुरस्स गच्छदि खणो वि कामव्याधितस्य गच्छति क्षणोऽपि । सवरसर इव अंगानि च सीदति । भवत्युत्कंठितश्च पुरुषः ॥

मूलारा०—उर्काठिदो इष्टकामिनीं प्रत्युत्सुकः ।

अर्थ—जो मनुष्य कामपीडित हुआ है उसको एक क्षण भी वर्षके समान भासने लगता है उसके सपूर्ण अंग कुश होते हैं, और वह किसीकी मार्गप्रतीक्षा कर रहा है ऐसा दिखता है अर्थात् उत्कण्ठितसा दीखता है अर्थात् प्रियस्त्रीकी उत्कण्ठासे वह व्याकुल होता है

पाणिदलघरिदंगडो बहुसो चित्तेदि किं पि दीणमुहो ॥

सीदे वि गिवाइज्जइ वेवदि य अकरणे अंग ॥ ८८७ ॥

हस्तन्यस्तकपोलोऽसौ दीनो ध्यायति संततम् ॥

प्रस्विद्यति तुषारेऽपि कंपते कारणं विना ॥ ९०० ॥

विजयोदया—पाणिदलघरिदंगडो पाणितलघृतगंड', बहुसो चित्तेदि गडुशश्चिता करोति। किमपि दीनमुख. ॥ शीतेऽपि स्विद्यते । कंपते च अंग कारणमन्यदतरेण ।

मूलारा—पाणिदलघरिदंगडो हस्ततलन्यस्तकपोलः । गिवाइज्जदि प्रस्विद्यति ॥

अर्थ—कामरूपी रोगसे पीडित हुआ मनुष्य अपना गाल हाथके ऊपर रखकर दीनमुखसे अतिशय चिंतायुक्त होता है इस चिंतासे ठंडीके दिनमें भी उसके सर्व अवयव खेदसे गीले होते हैं और उसके अवयव विना कारणके थर थर कांपने लगते हैं भीति अथवा ठंडी यह अवयव रूपके लिए कारण है. परंतु इनके विना भी इसके अवयव कंपने लगते हैं

कामुम्मत्तो संतो अंतो डज्झदि य कामचिंताए ॥

पीदो व कलकलो सो रदग्गिजाले जलंतम्मि ॥ ८८८ ॥

अरत्थग्निशिखाजालैर्ज्वलद्भिरनिवारितैः ॥

सो न्तर्विदद्यते पीतैस्तप्तैस्तान्नाम्रद्रवैरिव ॥ ९०१ ॥

विजयोदया—कामुम्मत्तो कामोन्मत्त. । कामचिंतया चिरं दह्यते । पीतताम्रद्रव इव । अरत्थग्नेर्ज्वालान्मुज्ज्वलंतीषु ॥



मूलारा—सतो सन् । कललये अग्नितप्तताग्रादिद्रवे । अरत्यग्निजाले पीताग्नितप्तताम्रद्रव इवान्तर्ज्वलति सति कामर्चिताभिर्विशिष्टः सन् कामग्रहाविष्टः पुरुषः परितप्यते । इति पदघटना ॥ उक्तं च—

कामोन्मत्तो भवन्निर्धुतं चिन्ताभिर्दहते नरः ॥

अरत्यग्नौ ज्वलत्युच्चैस्तप्तताम्रद्रवो यथा ॥

मूलारा—वयणपण्डितिकुसलत्तणं वचनप्रतिपत्तिवाक्पाटव । कुशलत्वमर्थनैपुणं वचनप्रतिपत्तौ वागुपन्यासे प्रावीण्यं वा । सत्यप्यहदा शाक्कुण्ठा । तिक्ला तीक्ष्णा ॥

अर्थ—कामवेदनासे मनुष्य उन्मत्त होकर चिन्तासे दग्ध होता है जैसे अग्निसि तपाहुआ तांवेका गोला जलता है वैसा यह कामीपुरुष कामचिन्तासे अतिरूप अग्नौ होमशा जलता है

कामादुरो णरो पुण कामिज्जंते जणे हु अलहंतो ॥  
धत्तदि मरिंदु बहुधा मरुप्पवादादिकरणेहिं ॥ ८८९ ॥  
संदायते मतिर्याति सद्यो वचनकौशलं ॥  
मदनेन ज्वरेणैव बाधितस्य वितापिना ॥ ९०२ ॥  
काम्यमानं जनं कामी यदा न लभते कुधीः ॥  
मुसूर्पति तदोद्विग्नो नगप्रपत्तनादिभि ॥ ९०३ ॥

विजयोदया—कामादुरो कामादुरो नर । कामिलपिते जने अलभ्यमाने चेष्टते बहुधा मर्तु । पर्वतोद्विधिनिपातेन तदास्त्रावलंबनेन, अग्निप्रवेशादिना वा ॥

म. ८८—धत्तदि चेष्टते । गवेषयति वा । मरुप्पवादादिकरणेहिं गिरिप्रपत्तानुपत्ये । उक्तं च—

काम्यमान जन कामी यदा न लभते कुधीः ॥

मुसूर्पति तदोद्विग्नो नगप्रपत्तनादिभिः ॥

—कामादुर मनुष्यको अपना मिय मनुष्य न मिलनेसे अर्थात् उसको इष्ट स्त्री की प्राप्ति न होनेसे

वह पर्वतपरसे गिरकर मरनेकी इच्छा करता है समुद्रमें प्रवेश कर प्राण देना चाहता है झाडकी शाखामें फाँसी लगाकर मरना चाहता है और अग्निप्रवेशादिक से प्राणत्याग करनेकी इच्छा करता है

संकल्पं डयजादेण रागदोसचलजमलजीहेण ॥

विसयविलवासिणा रदिमुहेण चिंतादिरोसेण ॥ ८९० ॥

सकल्पांडकजातेन विषयच्छिद्रवासिना ॥

रागद्वेषद्विजिह्वेन दृढचिंतामहाकुथा ॥ ९०४ ॥

विजयोदया—सहृदयजादेण सकल्पांडमस्तेन । रागद्वेषचलजमलजिह्वेन । विषयविलवासिना रतिमुत्प्रेन चिंतातिरोपेण ॥

मूलारा—सकल्प इष्टागनादर्शनात्ता प्रत्युत्कंठागर्भाध्यवसायः । जमल द्वय । चिंतादिरोसेण इष्टागनागुणसमर्थन तदोपपरिहरणार्थविचारात्माचितनातिक्रोधेन ॥

अर्थ—यह कामरूपी सर्प सकल्प रूपी अंडसे उत्पन्न होता है १. राग और द्वेष ऐसी दो जिह्वा उसको है यह विषयरूपी विलमें रहता है विषयासक्ति ही इसका मुख है. और यह चिंतारूप रोपसे युक्त है.

काममुजगेण दट्टा लज्जाणिस्मोगदप्पदाहेण ॥

णासंति णरा अवसा अणेयदुक्खावहविसेण ॥ ८९१ ॥

दट्टकाममुजगेण लज्जानिमोक्कमोचिना ॥

दर्पदंष्ट्राकरालेन रतिवक्त्रेण नश्यति ॥ ९०५ ॥

विजयोदया—काममुजगेण कामसर्पेण । लज्जात्वक्निर्माणचनकारिणा, दर्पदंष्ट्रेण दट्टा अनेकदुःखावह विषेण नरा नश्यन्ति ॥

मूलारा—लज्जाणिस्मोग लज्जैव निर्मोकः कंचुको यस्या मोच्यत्वात् । लज्जानिमोक्कमोचिनेत्यर्थः । अणेगदुक्ख-पणाविसेण अनेकदुःसात्मकविषेण ॥

अर्थ—यह कामरूपी सर्प लज्जारूप कांचलीका त्याग करता है उन्मत्ततारूप दाढसे यह महामयंकर दीखता है ऐसा यह सर्प जब दंश करता है तब अनेक दुःखरूपी विष मनुष्य व्याप्त होकर नष्ट होते हैं.

आश्वासः

६

१०००

आसीविसेण अवरुद्धस्स वि वेगा हवंति सत्तेव ॥

दस होति पुणो वेगा काममुअंगावरुद्धस्स ॥ ८९२ ॥

आसीविषेण दष्टस्य सप्तवेगाः शरीरिणः ॥

दष्टस्य स्मरसर्पेण जायते दश दुःसहाः ॥ ९०६ ॥

विजयोदया—आसीविसेण आसीविषेण सर्पाग्रण्या दष्टागपि सप्तैव वेगा भवन्ति । काममुअंजेन दष्टस्य दशवेगा भवन्ति ।

मूलारा—आसीविसेण सर्पाग्रण्या । अवरुद्धस्स दष्टस्य । वेगा विप्रेकाः । सप्तैव ॥ तथा—

पूर्वे दर्वीकृता वेगे दुष्टं श्याबीभवत्यसृक् ॥

श्यावता नेत्रवक्त्रादौ सर्पन्तीव च कीटकाः ॥

द्वितीये ग्रन्थयो वेगे तृतीये मूर्द्धगौरवं ॥

दृग्गो दशविष्टेद्व्यतुर्ये घ्रीवनं वभिः ॥

संधिविदलेपणं तन्ना पचमे पर्वभेदनम् ॥

दाहो हिध्मा च पष्ठे तु हृत्पीडा गात्रगौरवम् ॥

मूर्च्छाजिवापकोऽतीसारः प्राण्य शुक्र तु सप्तमे ॥

स्त्वयष्टकटीभंगः सर्वचेष्टानिवर्तनम् ॥

अर्थ—जिसको सर्प दंश करता है उस मनुष्यको सात विषवेग उत्पन्न होते हैं. अर्थात् सर्पके विषसे उस मनुष्यको सात अवस्थायें क्रमसे प्राप्त होती हैं परंतु कामरूपी सर्पके दंशसे मनुष्यको दस अवस्थाओंको भोगना पड़ता है.

तान्दशापि वेगान्क्रमेण दर्शयति—

पट्टमे सोयदि वेगे दहं तं इच्छदे विदियवेगे ॥

णिस्ससदि तदियवेगे आरोहदि जरो चउत्थम्मि ॥ ८९३ ॥

शोचति प्रथमे वेगे द्वितीये तां दिदक्षते ॥

तृतीये निश्वसित्युच्चैर्ज्वरस्तुर्ये प्रवर्तते ॥ ९०७ ॥

विजयोदया—पट्टमे सोयदि वेगे प्रथमे वेगे शोचति । द्वितीये वेगे स तं द्रष्टुमिच्छति । निश्वसिति च तृतीये वेगे । आरोहति च्चरच्चतुर्ये वेगे ॥

के ते दशवेगा इत्यत्र गाथात्रयमाह—

मूलारा—सष्टम् ।

उन दश वेगोंका वर्णन क्रमसे आचार्य करते हैं—

अर्थ—कामवेगकी पहिली अवस्थामें वह कामी पुरुष शोकयुक्त होता है दूसरी अवस्थामें इष्ट स्त्रीको देखनेकी इच्छा करता है तीसरे वेगमें दीर्घ व्यासोच्छ्वास करता है, चौथे वेगमें उसको डर चढ़ता है.

डङ्गदि पंचमवेगे अंगं छठे ण रोचदे भत्तं ॥

मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होइ अट्टमए ॥ ८९४ ॥

दह्यते पंचमे गात्रं भक्तं षठे न रोचते ॥

प्रयाति सप्तमे मूच्छीमुम्मत्तो जायतेऽष्टमे ॥ ९०८ ॥

विजयोदया—डङ्गदि पंचमवेगे वृक्षते । भक्तान्चि षष्ठवेगे । सप्तमवेगे मूच्छति । उम्मत्तो भवत्यष्टमे ॥

मूलारा—सष्टम् ।

अर्थ—पांचवे वेगमें उसके अंगमें दाह उत्पन्न होता है छठे वेगमें उसको अनादिकोंमें अरुचि उत्पन्न होती है सातवे वेगमें वह मूर्च्छित होता है आठवे वेगमें उसको उन्मत्तावस्था प्राप्त होती है

णवमे ण किंचि जाणदि दसमे पाणेहिं मुच्चदि मदंधो ॥

संकप्पवसेण पुणो वेगा तिच्चा व मंदा वा ॥ ८९५ ॥

न वोत्ति नवमे किंचिद्वशमे मुच्चतेऽमुभिः ॥

संकल्पतस्ततो वेगास्तीच्चा मंदा भवंति वा ॥ ९०९ ॥

विजयोदया—नवमे नात्मानं वेत्ति । दशमे वेगे प्राणैर्विमुच्यते । मदान्धस्य संकल्पवशेन पुनस्तीच्चा मंदा वा भवन्ति वेगाः ।

मूलारा—मदंधो कामाधः ॥

अर्थ—नववे वेगमें वह अपने को भी जानता नहीं है और दशमें वेगमें वह प्राण छोड़ देता है ये दश-वेग सकल्पकी जैसी तीव्रता अथवा मदता होगी वैसे तीव्र या मंद होते हैं.

जेष्ठामूले जोण्डे सूर्यो विमले गहम्मि मज्झण्डे ॥

ण डहदि तह जह पुरिसं डहदि विवडुंतउ कामो ॥ ८९६ ॥

ज्येष्ठे सूरः सिते पक्षे मध्याह्ने विमलेऽम्बरे ॥

नरं दहति नो तद्वद्वर्धमानो यथा स्मरः ॥ ९१० ॥

विजयोदया—जेष्ठामूले ज्येष्ठमासे शुक्रपक्षे विमले नमसि मध्याह्ने रवि. स न दहति तथा यथा पुरुष दहति प्रवर्द्धमानः कामः ॥

मूलारा—जेष्ठे ज्येष्ठमासे । मूले मूलनक्षत्रे । जोण्डे शुक्लपक्षे । गहम्मि आकाशे ॥

अर्थ—ज्येष्ठमासके शुक्र पक्षमें निरध्र आकाशमें मध्याह्नसमयमें सूर्य भी उतना पुरुषको सतप्त नहीं करता है जितना यह काम सतप्त करता है. अर्थात् ज्येष्ठमासके सूर्यतापसे भी इस कामका ताप प्रचंड और असह्य है

सूरगंगी डहदि दिवा रतिं च दिया य डहइ कामगंगी ॥

सूरस्स अत्थि उच्छागारो कामगिणो णत्थि ॥ ८९७ ॥

दिवसे प्लोषते सूर्यो मनोवासी दिवा निशाम् ॥

अस्ति प्रच्छादनं सूर्ये मनोवासिनि नो पुनः ॥ ९११ ॥

विजयोदया—सूरगी उद्वदि दिया सूर्योर्निवदति दिवा, नक्त दिया दहति कामाग्निः । सूर्यस्याच्छादनकारी छत्रादिकमस्ति न कामाग्ने ॥

मूलारा—उच्छाकारो आच्छादनकारि छत्रादिक ॥

अर्थ—सूर्यरूपी अग्नीका ताप लोकोको दिनमें ही संतप्त करता है. परतु यह कामाग्नि रातमें और दिनमेंभी चोवीस घटे जीवोंको सताता है सूर्यसताप छात्रादिकसे दूर कर सकते हैं परंतु इस कामाग्नीको लोक शान्त नहीं कर सकते हैं

विजज्ञायदि सूरगी जलादिगृहिं ण तथा हु कामग्नी ॥

सूरग्नी उहइ तयं अब्भंतरबाहिरं इदरो ॥ ८९८ ॥

वन्निहर्विध्याप्यते नीरैर्मन्मथो न कदाचन ॥

प्रप्लोषते वह्निर्वह्निर्वहिरन्तश्च मन्मथः ॥ ९१२ ॥

विजयोदया—विजज्ञायदि सूरगी विध्यति सूर्यजनितस्तापो जलादिभिर्न तथा जलादिभिः कामाग्निः प्रशाम्यति । सूर्यस्योष्णत्व त्वच दहति । कामाग्निरतर्वाहिश्च दहति ।

मूलारा—सूरगी सूर्यजनितस्तापः । तयं त्वचम् ॥

अर्थ—सूर्यरूपी अग्नीका सताप जलादिक शीतोपचारसे दूर कर सकते हैं परंतु कामाग्निको बुझानेके लिये कोई उपाय नहीं है सूर्यकी उष्णता त्वचाको जलाती है परंतु कामाग्नि इस शरीरको और आत्माकोभी जलाती है

जादिकुलं संवासं धम्माणि य बंधवस्मि अगणिता ॥  
कुणदि अकज्जं पुरिसो मेहुणसण्णापसंमूढो ॥ ८९९ ॥

—बंशुं जातिं कुलं धर्मं संवासं मदनातुरः ॥

अवमन्य नरः सर्वं कुरुते कर्म निदितम् ॥ ११३ ॥

विजयोदया—जादिकुलं मादपितृवशं । संवासं सहवसनं । धर्मं नांधवानपि अवगणय्य पुरुषोऽकार्यं करोति मेथुनसंज्ञा मूढः ।

मूलारा—संवासं सहवसतो जनान् भित्रादीन् ॥

अर्थ—कामेच्छासे जब मनुष्य व्याकुल होता है तब आपकी जाति और कुलका विचार नहीं करता है अपने साथीदारोंका अपने धर्मबंधुओंको भी वचन मानता नहीं है अर्थात् वह निर्लज्ज होता है और अकार्य कर बैठता है

कामपिसायगगहिदो हिदमहिदं वा ण अप्पणो मुणदि ॥

होइ पिसायगगहिदो वसदा पुरिसो अणप्पवसो ॥ १०० ॥

पिशाचेनेव कामेन व्याकुलीकृतमानसः ॥

हिताहितं न जानाति निर्विवेकीकृतोऽधमः ॥ ११४ ॥

विजयोदया—कामपिसायगगहिदो कामपिशाचगृहीतः हितमहितं वा न वेत्ति, पिशाचेन गृहीत पुरुष इव सदा अनात्मवशो भवति ।

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—पिशाचग्रस्त मनुष्य जैसा आपमें नहीं रहता है वैसा कामपिशाचके वश हुआ मनुष्य हिताहित जानता नहीं- वह बुद्धिभ्रष्ट होता है

णीचो व णरो बहुगं पि कदं कुलपुत्तओ वि ण गणेदि ॥

कामुम्मत्तो लज्जालुओ वि तह होदि णिच्छुज्जो ॥ १०१ ॥

नोपकारं कुलीनोऽपि कृतघ्न इव मन्यते ॥

लज्जालुरपि निर्लज्जो जायते मदनातुरः ॥ ११५ ॥

विजयोदया—गीचो व गरो नीच इव नरः कृतमपि बहुमुपकारं न गणयति । कुलपुत्रोऽपि सन्कामोन्मत्तो, लज्जावानपि पूर्वं विगतलज्जो भवति ।

मूलारा—गीचो व अकुलीन इव । कुलपुत्रो कुलीनः ॥

अर्थ—नीच मनुष्य सज्जनोने किये हुए उपकारको भूल जाता है वैसे कामपीडित मनुष्य प्रथम लज्जा-वान होता है परन्तु अन्तमें वह लज्जाको तिलांजलि देता है.

कामी सुसंजदण वि रूसदि चोरो व जगगमाणं ॥

पिच्छदि कामगद्यथो हिदं भणते व सत्तु व ॥ ९०२ ॥

स्तेनो वा जागरूकेभ्यः संयतेभ्यः प्रकुप्यति ॥

हितोपवेशिनं कामी द्विषन्तमिव पश्यति ॥ ९१६ ॥

विजयोदया—कामी सुसंजदण वि कामी सुसंयतानामपि रुष्यति । जाग्रतां चोर इव कामग्रस्तः, प्रेक्षते हितं प्रतिपादयतः शत्रुत्वि ॥

मूलारा—कम्मगद्यथो कामग्रस्तः ॥

अर्थ—कामी मनुष्य सयमी मनुष्योपर रूढ़ होता है जैसा चोर जागरण करनेवाले पुरुष पर रूढ़ होता है जो मनुष्य उसको हितका उपदेश करते हैं उसको कामीपुरुष शत्रुके समान गिनता है.

आयरियउवज्झाए कुलंगणसंधस्स होदि पडिणीओ ॥

कामकलिणा हु घट्यो धम्मियभावं पयहिदूणं ॥ ९०३ ॥

सूर्योपाध्यायसंधानां जायते प्रतिकूलिकः ॥

धार्मिकत्वं परित्यज्य प्रेर्यमाणो मनोभुवा ॥ ९१७ ॥

विजयोदया—अयरियउवज्झायग आचार्याणां अध्यापकानां, कुलस्य गुरुशिष्यवर्गस्य, गुरुधर्मभ्रातृशिष्याणां वा । चातुर्वर्ण्यस्य वा सधस्य च भवति प्रतिकूलः कामकलिना ग्रस्तः धार्मिकत्वं विहाय ॥



मूलारा— उवज्जावग अभ्यापकाः । कुल स्वगुरुशिष्यवर्गो । गुरुधर्मप्रातृशिष्यो वा । गण स्वशिष्यवृन्द । संघ चातुर्वर्ण्यम् । पद्धिणीओ प्रतिकूलः । कलि दोषः ॥

अर्थ—कामदोषो व्याप्त हुआ पुरुष आचार्य, उपाध्याय, गुरु और शिष्यवर्ग और अपने सहाध्यायी, चातुर्वर्ण्य और सघके प्रतिकूल होता है.

कामघत्थो पुरिसो तिलोयसारं जहदि सुदलामं ॥

तेलोक्कपूइदं पि य माहपं जहदि विसयंधो ॥ ९०४ ॥

माहात्म्यं भुवनं खयतिं श्रुतलामं च मुंचति ॥

सतृणावज्जया सारं मोहाच्छादितचैतनः ॥ ९१८ ॥

विजयोदया—कामघत्थो कामग्रस्तः । त्रैलोक्यसर्वसारमपि श्रुतलामं जहति । त्रैलोक्येन पूजितमपि माहात्म्यं त्यजति विषयांघः ॥

मूलारा— स्पष्टम् ।

अर्थ—कामग्रस्त मनुष्य त्रैलोक्यमे सर्वोत्कृष्ट और साररूप ऐसे श्रुतज्ञानके लाभको छोड़ता है. त्रैलोक्यसे पूजनीय ऐसा भी अपना माहात्म्य वह कामग्रस्त होकर खो बैठता है.

तह विसयामिसघत्थो तणं व तवचरणंदसणं जहइ ॥

विसयामिसगिद्धस्स हु णत्थि अकायव्वयं किंचि ॥ ९०५ ॥

जीर्णं तृणमिव मुख्यं चतुरग विमुंचतः ॥

नाकृत्यं विद्यते किंचिज्जिघृक्षोर्विषयामिषम् ॥ ९१९ ॥

विजयोदया—तह विसयामिसघत्थो विषयामिपलंपट' । तृणमिव तपश्चरणं दर्शनं च जहति । विषयामिपलंपटस्य नास्त्यकार्यं किंचित् ॥

मूलारा— आमिस आहारः । घत्थो लंपटः ॥

अर्थ—विषयरूपी आहारमें लपट होकर कामी पुरुष रत्नत्रयको तिनकेके समान त्याग देता है तप छोड़ता है उसके लिए अकार्य कुछ भी नहीं है

अरहंतसिद्ध आयरिय उवड्डाय सव्ववग्गणं ॥

कुणदि अवणं णिच्चं कामुम्मत्तो विगयेवो ॥ ९०६ ॥

शुल्लत्तयवर्णवादं यं पूज्यानां परमेष्ठिनाम् ॥

अकृत्यं कुर्वतस्तस्य मर्यादा कामिनः कुतः ॥ ९२० ॥

विजयोदया—अरहंतसिद्धआयरिय अर्हता, सिद्धाना, आचार्योणा, उपाध्यायाना, सर्वेषा यतीना चार्वर्णवादं करोति नित्य विवृत्तवेप ॥

मूलारा—अवणं अक्रीर्तिं । विगद्वेवो विवृत्तवेप । विनष्टयतिरूप इत्यर्थः ॥

अर्थ—कामी पुरुष अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और सर्व मुनिओंकी सदा निंदा करता है अर्थात् उनमें दोष न होनेपर भी दोषारोपण करता है और यदि स्वयं वह यति होना तो यतिपना छोड़कर अन्य वेप धारण कर यथेष्टाचरण करता है

अयसमणत्थं दुःखं इहलोए दुग्गदा य परलोए ॥

संसारं पि अणतं ण मुणदि विसयामिमे गिद्धो ॥ ९०७ ॥

स दुःखमयशोऽनर्थं कल्मषं द्रविणक्षयम् ॥

संसारसागरेऽनन्ते भ्रमणं च न मन्यते ॥ ९२१ ॥

विजयोदया—अयसमणत्थ अयश अनर्थ । दुःख चेहपरलोकै दुष्टा गतिं, संसारमप्यनन्तं भाविनं न वेत्ति विषयामिमे शुद्ध ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—विषयरूपी आहारमें आसक्त होकर वह कामी अयश, अनर्थ, दुःख, इह परलोकमें अशुभगति,

और अनंत संसारकी वृद्धि इन बातोंको वह जानताही नहीं अर्थात् मैं विषयलपटी वननेसे मेरी चुरी हालत बनेगी मेरेको ससारमें अनंतकालतक दुर्गति धारण कर अपकीर्ति के साथ भ्रमण करना पड़ेगा इन बातोंका वह विचार ही नहीं करता है

णीचं पि विसयहेदुं सेवदि उच्चो वि विसयलुद्धमदी ॥

बहुगं पि य अवमाणं विसयंधो सहइ माणीवि ॥ १०८ ॥

उच्चोऽपि सेवते नीचं विषयासिपकाक्षया ॥

स्मरार्तः सहतेऽवज्ञां मानवानपि मानवः ॥ १२२ ॥

विजयोदया—णीच पि विसयहेदुं ज्ञानकुलादिभिरतीव न्यूनमपि सेवते कुलीनो बुद्धिमानपि विषयलुब्धमतिः ।  
परिभवं महातमपि धनिभिः क्रियमाणं सहेते विषयाद्य ॥

मूलारा—अवमाण धनिभिः क्रियमाणं पराभवं । माणी वि मानवानपि ।

अर्थ—विषयसेवनेक लिए वह उच्चकुलीन और बुद्धिमान होकर भी विषयमें लुब्ध होकर ज्ञान, जाति और कुलादिसे हीन ऐसे नीच पुरुषोंकी सेवा करता है तथा उसका माना स्वभाव होते हुएभी वह विषयांध नीचसे किये गये अनेक अपमानोंको, और धनियोंसे किये गये अपमानोंको सहता है

णीचं पि कुणदि कम्मं कुलपुचदुगुंछिय विगदमाणो ॥

वारत्तिओ वि कम्मं अकासि जह लांधियाहेदुं ॥ १०९ ॥

कुलानो निदितं कर्म कुरुते विषयाशया ॥

जिघृक्षुर्नर्तकीं वृत्तं चारित्रं त्यक्तवान् किं ॥ १२३ ॥

विजयोदया—णीच पि कुणदि नीचमपि करोति कर्म उच्छिष्टभोजनादिक कुलीननिदितं विनष्टाभिमानः ।  
वारत्तिनो नाम यत्तिरतिगदितं कर्म कृतवान् यथा कुलीन स्त्रीनिमित्तं ॥

मूलारा—णीचंपि उच्छिष्टभोजनादिक । वारत्तओ वारत्तको नाम यतिः । अकासि अकार्पीत् कृतवान् ।  
लांधियाहेदुं नर्तकीनिमित्तम् ॥

अर्थ—कुलीन जिसकी निंदा करते हैं ऐसा कर्म—कृत्य वह विषयी पुरुष अभिमानको तिलांजली देकर करने लगता है उच्छिष्टभोजनादिक कार्य नीच कार्य है ऐसे कार्य वह करता है कुलीन ऐसा वारत्रिक नामक यतिने नाचनेवाली स्त्रीके निमित्त निंदकर्म किये थे यह उदाहरण है.

सूरो तिवखो मुखवो वि होइ वसिओ जणस्स सधणस्स ॥

विसयाभिसस्मि गिद्धो माणं रोसं च मोत्तुण ॥ ९१० ॥

कामी शूरोऽपि तीक्ष्णोऽपि मुल्योऽपि भवति स्फुटम् ॥

विगर्व. श्रीमतो वदयो वैद्यस्य गदवानिव ॥ ९१४ ॥

विजयोदया—सूरो तिवखो मुखवो वि होइ सूरस्तीक्ष्णो मुखोऽपि घनितो जनस्य वशवर्तो भवति । विषयामिलापे लुब्ध. गृह अभिमानं रोप मुक्त्वा ॥

मूलारा—तिवखो असहन् । मुखवो मुल्यः, प्रधानः, वसिगो वशवर्तो ॥

अर्थ—विषयामिलापी होकर शूर, निपुण और मुल्य ऐसा भी पुरुष विषयवश होकर मान और रोपको छोड़कर धनिक जैसे नचाते हैं वैसा नाचता है

माणी वि असरिसरसवि चडुयम्मं-कुणदि णिच्चमविलज्जो ॥

मादापिदरे दासं वायाए परस कामेतो ॥ ९११ ॥

विघत्ते चाटु नीचस्य कुलीनो मानवानपि ॥

मातरं पितरं वाचा दासं कुर्वन्नपन्नपः ॥ ९२५ ॥

विजयोदया—माणी वि असरिसरस वि मानी असदृशस्यापि । चाटुं करोति । वाचा आत्मर्षीया मातरं पितरं वा दास्यमापादयति । तवाह दासो गृहे भवामीति वदनपर कामयमान ॥

मूलारा—असरिसरस वि नीचस्यापि । चडुकम्मं चाटुकारपूर्वकं कर्म । पादमर्दनादिकं । अविलज्जो निर्लज्ज सन् । कामेतो कामयमानं कुर्वन् इत्यर्थः । मम माता तव दासी मम पिता तव दास इति कथयन् । उक्त च—

।मानी च कथेति सदा क्लृप्तकर्मो लज्जितोऽप्यसदृशस्य ॥

मातापितरौ दासस्य कथयन्ति लोकस्य कामांघ्रः ॥

इमां गायत्रा टीकाकारो तेच्छति ॥

अर्थ—मानी मनुष्य भी हीन जातीय लोगोंकीभी विषयलपट होकर सुशामत करता है उनके पांव दाबना शरीर मर्दन करना वगैरह कार्य करता है और निर्लज्ज होकर मैं दास बनकर तेरी सेवा करूंगा ऐसा कहता है मेरी माता और पिताभी तुमारे दास बनेंगे ऐसा कहता है

ब्रह्मणपडिवचिकुसलत्तणे पि णामइ णररस क्कामिस्स ॥

सत्थप्पहन्व तिव्खा वि मदी मंदा तथा हवदि ॥ ९१२ ॥

विजयोदया—ब्रह्मणपडिवचिकुसलत्तण पि वच्चेने प्रतिपत्तौ च कुशलतापि विनश्यति कामिनो नरस्य । शास्त्रप्रवृत्ता ग्रास्त्रे घटिता अस्तितीक्ष्णापि मति कुर्विता भवन्ति ॥

अर्थ—कामी मनुष्यका वचन-चातुर्य और उसकी बुद्धीकी चतुरता नष्ट होती है शास्त्रोंका निरूपण करने-वाली अतिशय चातुर्ययुक्त भी उसकी बुद्धि मंद हो जाती है

होदि सचक्खू वि अचक्खुव बधिरो वा वि होइ सुणमाणो ॥

दुट्टकरेणुपसत्तो वणहत्थी चेव संमूढो ॥ ९१३ ॥

न पश्यति सनेत्रोपि सभ्रोत्रोऽपि शृणोति न ॥

कामार्त्तः प्रमदाकांक्षी दंतवि हतचेतनः ॥ ९२६ ॥

विजयोदया—होदि सचक्खू वि अचक्खुव चक्षुष्मानपि अचक्षुरिव भवति । पर समीपस्थमपि यतो न पश्यति । वहिरो वा वि होदि बधिरे इव भवति । सुणमाणो शृण्वन्नपि अव्यक्तश्रवणात् । दुट्टकरेणुपसत्तो दुष्टकारिणीप्रसक्तः । वणहत्थी चेव वनहत्थीव । समूढ ॥

मूलारा—अचक्खुव अघ इव समीपस्थमपि यतो न पश्यति । सुणमाणो शृण्वन्नपि । बध्निर इव भवत्यव्यक्त श्रवणात् । वणहत्थी चेव वनगज इव ॥

अर्थ—वह कामी मनुष्य नेत्रयुक्त होकर भी अंधके समान होता है अपने पासकी भी वस्तुको वह देखता नहीं सुनकर भी बहिरेके समान अनसुनी कर देता है जैसे वनका उन्मत्त हाथी दुष्ट हाथिनीके वश होकर मूढ़ बन कर कुछ सुनता नहीं कुछ देखता नहीं वैसी ही कामी पुरुषकी स्थिति होती है, वे हितकी बातें सुनना नहीं चाहते हैं, और हितकर जिनमूर्ति, मुनि वगैरोंको दर्शन करना नहीं चाहते हैं

सलिलणिबुढोव्व णरो बुज्झतो विगयचेयणो होदि ॥

दक्खो वि होइ मंदो विसयपिसाओवहदच्चित्तो ॥ ११४ ॥

सलिलेनेव कामेन सद्यो जाड्यविधायिना ॥

दक्षो पि जायते मंदो नीयमानः समंततः ॥ १२७ ॥

विजयोदया—सलिलणिबुढो बुज्झतो णरोव्व सलिलनिमग्न प्रवाहेणोह्यमानो नरो यथा । विगयचेयणो विगत-चैतन्यो भवति । दक्खो वि होदि मंदो दक्षोऽपि सर्वकार्येषु प्रवीणोऽपि जडो भवति । विसयपिसाओव्वहदच्चित्तो विषयपिशाचोपहतचित्तः । विषया रूपादयश्चेत्तोविभ्रमहेतुत्वात्पिशाचा इवेति विषयाः । पिशाचा इत्युक्ताः ॥

मूलारा—बुज्झंतो प्रवाहेणोह्यमानः । दक्खो सर्वकार्येषु प्रवीणः । विसयपिसावोवहदच्चित्तो विषया रूपादयः पिशाच इव चेतोविभ्रमहेतुत्वात् । तदुपद्रुतमनाः ॥

अर्थ—जैसे पानीके प्रवाहमें डूबा हुआ और बहता जा रहा है ऐसा मनुष्य चेतनारहित अर्थात् मूर्छित होता है, वैसे पांचों इन्द्रियोंके विषयरूपी पिशाचसे ग्रस्त हुआ मनुष्य यदि कार्य कुशल हो तो भी वह मद बुद्धि होता है, अर्थात् रूपादि पदार्थोंमें ही उसकी बुद्धि दौड़ती है अतः इतर कार्यों में वह मदसा होता है

वारसवासाणि वि संवसिच्च कामादुरो ण नासीय ॥

पादंगुट्टमसंतं गणियाए गोरसंदीवो ॥ ११५ ॥

वर्पद्वादशकं वेदयां निषेव्यापि सरातुरः ॥

नाज्ञासीद्गोरसंदीवः पदांगुष्ठमशो भनम् ॥ १२८ ॥

विजयोदया—चारस्वासाणि द्वादशवर्षमात्रं सहोपित्वापि । कामादुरोपि । कामादुरोपि । न ज्ञातवान्गोरसंदीपः । किं ? गणिकायाः पादंगुष्ठमसन्तं ॥

मूलारा—संबलितु सहवासं कृत्वा । गणसीय न ज्ञातवान् । असंतं अविद्यमानं अशोभनं वा शीर्णमित्यर्थः । गणियाए वेद्यायाः कायसुंदरीनाम्याः । गोरसंदीपो मुनिनामेदं ॥

अर्थ—गोरसंदीव नामक मुनि द्वारा वर्पतक एक कायसुंदरी नामक गणिकाके सहवासमें रहा था पंतु उस गणिकाके पावको अगुठा नहीं था यह बात उसको मालूमही नहीं थी.

सीदं उण्हं तण्ह खुहं च दुस्सेज्ज भत्त पंथसमं ॥

सुकुमारो वि य कामी सहइ भारमवि गरुयं ॥ ९१६ ॥

शीतिसुखं क्षुधां तृष्णां दुराहारं पथि अमम् ॥

दुःशय्यां सहते कामी वहते भारमुत्थणम् ॥ ९२९ ॥

विजयोदया—सीद उण्हं तण्ह शीतं, उष्ण, क्षुधा, दुःशयन, दुराहारं कृतं, अध्वगमनश्रमं च सहते । कामी सुकुमारोऽपि गुरुमपि भार वहति ॥

मूलारा—दुस्सेज्ज भत्त दुःशयनं दुराहारं च । पथसमं मार्गगमनश्रमम् ॥

अर्थ—ठंडी, जल, प्यास, भूख, खराब शय्या, खराब आहार, और मार्गश्रम इन सबको कामी मनुष्य सहता है वह सुकुमार होनेपर भी बड़ा भार धारण करता है

गायदि णच्चदि धावदि कसइ ववदि लवदि तह मलेइ णरो ॥

तुणइ उण्णइ जाचइ कुलम्मि जादो वि विसयवसो ॥ ९१७ ॥

क्षुप्यते कृष्यते लूयते पूयते प्राप्यते पाचते सीव्यते चिच्यते ॥

छिच्यते भिद्यते क्रियते दीर्यते रव्यम्यते रज्यते सज्यते कामिना ॥ ९३० ॥  
विजयोदया—गायदि णच्चदि-गायति, नृत्यति, धावति, कृपति, वपति, लुनाति, मर्दयति, सीव्यति, पट्टवस्त्रा-  
दिवसनं करोति । याचते कुलप्रसूतोऽपि सन्विषयमुपगत आत्मानं भार्यां च गोपयितु ॥

मूलारा—किसदि कृपति क्षेत्र वाहयतीत्यर्थः । लवदि लुनाति, मलेदि मईयति । तुण्णेदि तुण्णयति । विणदि वयति ॥

अर्थ—विषयवशा उच्चकुलीन मनुष्य गाता है, नाचता है, दौडता है, वीज बोता है, जमीन नांगरता है मईन करता है, कपडे सीता है, कपडे बुनता है, अपना और पत्नीका पोषण करनेके लिये उपर्युक्त कार्य करता है-

सेवदि णिवादि रक्खदि गोमहिस्सिमजावियं हयं हत्थि ॥  
ववहरदि कुणदि सिप्पं सिण्णेहणसेण दढबद्धो ॥ ९१८ ॥  
गोमहिप्पीहयरासभरक्षो काष्ठतृणोदकगोमयवाही ॥  
प्रेषणकंडणमार्जनकारी कामनेन्द्रस्यास्ति मनुष्य. ॥ ९३१ ॥  
आयुधैर्विविधैः कीर्णा रणक्षोणीं विगाहते ॥  
लेखन कुरुते दीनः पुस्तकानामनारतम् ॥ ९३२ ॥  
सयुक्तां कर्षति क्षोणीं गर्भिणीमिव योषितम् ॥  
अधीत्य बहुशः शास्त्र कुरुते शिशुपाठनम् ॥ ९३३ ॥  
शिल्पानि बहुभेदानि तज्जते परतुष्टये ॥  
विधत्ते वंचनां चित्रां वाणिज्यकरणोद्यतः ॥ ९३४ ॥  
अवमन्य भवाम्भोद्यौ पतनं बहुवीचिके ॥  
किं किं करोति नो कर्म मत्स्यो मदनलंघितः ॥ ९३५ ॥

विजयोदया—सेवदि णिवादि—सेवति सस्यातर्गत वृणाधिकेभव । निजति, रक्षति गा, महिषी, अजाः, आविकं, हयं, हस्तिनो वा । वाणिज्यं करोति । समस्तनैपुण्यं अतीव तत्कर्मोदिक करोति कामिनीगतक्षेत्रभावेन दढबद्धः ॥

मूलारा—सेवदि णिवादि सेवते नीचादिकं । अथवा सेवदि राजादिसेवा करोति । णियादि निंदयति सस्यातर्गतं वृणादिकमुत्पादयतीत्यर्थः । अजाविग छागमेपं । ववहरदि वाणिज्य करोति । सिप्पं शिल्पं करकौशल काष्ठवित्रादिकर्म ।



अर्थ—स्त्रीके स्नेहपाशसे जखड़ा हुआ वह कामों मनुष्य नीचे मनुष्यकी अर्थवा राजाकी सेवा करता है धान्यके बीचमें उत्पन्न हुआ तृण निकालता है गाय, भैंस, बकरा, हाथी, घोड़ा वगैरह प्राणिओंको रक्षण करता है व्यापार करता है, हस्तकौशल्यके कार्य करता है अर्थात् नानाप्रकारके काठके चित्रादिक बनाता है.

वेढेइ विसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुव्विमोएहिं ॥

कोसेण कोसियारुव्व दुम्मदी णिच्च अप्पाणं ॥ ९१९ ॥

दुमोच्चै कामिनीपादौः कामी वेष्टयते कुधीः ॥

लालापाशैरिवात्मानं कोशकारकुर्मिः स्वयम् ॥ ९३६ ॥

विजयोद्या—वेढेइ विसयहेदु वेष्टयति विषयहेतुनिमित्त । आत्मान कलत्रपाशेर्मोचयितुमशक्यः कोशेन कोशकारकीट इव कुर्मति. ॥

मूलारा—वेढेदि वेष्टयति वध्नाति । दुव्विमोयेहिं मोचयितुमशक्यैः । कोसेण लालातंतुजालेन ।

अर्थ—विषयसुख भोगनेकी इच्छासे जिसका छुटना अशक्य है ऐसे स्त्रीके स्नेहपाशसे कामी मनुष्य अपनेको वेष्टित करता है जैसे रेशमको उत्पन्न करने माला कीडा अपने मुखमेंसे निकले हुए तंतुओंसे अपनेको वेष्टित करता है.

रागो दोसो मोहो कसायेपेसुण संकिलेसो य ॥

ईसा हिंसा मोसा मूया तेणिक कलहो य ॥ ९२० ॥

रागो द्वेषो मदोऽसूया पैशून्यं कलहो रतिः ॥

वचनेष्वर्था पराश्रुतिर्दोषाः सन्ति स्मरादुरे ॥ ९३७ ॥

विजयोद्या—रागो दोसो रागो द्वेष, अज्ञानं, कपाया परदोषसंस्तवन, संक्षेपो, ईर्ष्या, हिंसा, मूया, परगुणासहनं, सैन्यं कलद्वय ॥

मूलारा—मोहो अज्ञानं । पेसुणं परदोषसूचन । मोसं असत्य । असूया परगुणासहनं । तेणिकं चौर्य ॥

जंपणपरिभवणियडिपरिवादरिपुरोगसोगघणणासो ॥

विसयाउलस्मि सुलहा संव्वे दुक्खावहा दोसा ॥ ९२१ ॥

विजयोदया—जपणपरिभव जल्पनं परिभव । वंचना परोक्षेऽपवाद । शत्रु, रोगशोकौ, धननाश इत्यादयः ।

विसयाउलस्मि सुलहा विषयाकुले सुलभा सर्वेऽपि दुःखावहा दोषा ॥

मूलारा—जपण दोषोद्धोषणं । णियडि निवृत्तिः वचना । परिवाद परोक्ष अपवादः । विसयाउलस्मि विषया-कुले शुभे ॥

अर्थ—जो विषयसे दुःखित है ऐसे मनुष्यमें रागद्वेष, मोह, अज्ञान, कषाय, परदोषोंका कथन करना, संकटश परिणाम, ईर्ष्या, स्पृद्धा, हिंसा, असत्यभाषण, अन्योंके गुण सहन न करना, चोरी और कलह ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं वद्वहना, पराभन, फसना, परोक्षमें निंदाकरना, रोग, शोक, धननाश वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं प्रायः ये सब दोष कामी मनुष्यमें सुलभतया उत्पन्न होते हैं

न केवलमात्मन एव अपि तु परोपद्रवमपि करोति कामीति वदति—

अविं य व्हो जीवणं मेहुणंसिवाए होइ बहुगार्णं ॥

तिलणालीए तत्ता सलायवेसो य जोणीए ॥ ९२२ ॥

तिलनाल्यामिव क्षिप्रं तप्तलोहप्रवेशने ॥

तिलानां देहिनां पीडा योन्यां लिङ्गप्रवेशने ॥ ९२८ ॥

विजयोदया—अवि य व्हो जीवण । अपि च वदना जीवना वधो भवति । मैथुनसेवया । जोणीए योन्या । तिलै पूर्णाया नालिकार्या तप्तोय शलाकाप्रवेश इव ॥

मूलारा—अपि य अपि च । न केवलं मैथुनं भजनात्मानमेव तैस्तैर्दोषैः वदर्थयति किं तर्हि योनिजंतूनि बहून् हिनस्ति इत्यधिकमुच्यते इत्यर्थः । तृतायसंप्रवेशे य तप्तलोहशलाकाया प्रवेश्यमानाया तिलपूर्णनालिकाया तिलानां यार्था यर्थेति संकेतः ॥ उक्तं च—

तिलानां त्यामिव क्षिप्रं तप्तलोहप्रवेशने ॥

तिलानां देहिनां पीडा योन्यां लिङ्गप्रवेशनत् ॥

कामी पुरुष स्वयंही इतने दोषसे पीडित होता है ऐसा नहीं परंतु दुसराकोभी उपद्रव करता है—  
अर्थ—मैथुन सेवन करनेसे वह अनेकजीवोंका वध करता है जैसे तिलकी फल्लीमें अगिसे तपी हुई सलई  
प्रविष्ट होनेसे सब तिल जलकर खाक होते हैं वैसे मैथुन सेवन करते समय योनिमें उपन्न हुए जीवोंका नाश होता है

कामुम्मत्तो महिलं गम्मागम्मं पुणे अविण्णाय ॥—

सुलहं दुलहं इच्छियमणिच्छियं चावि पत्थेदि ॥ १२३ ॥

इच्छावतीमनिच्छां स्त्रीं दुर्बलां दुर्लभां कुधीः ॥

अज्ञात्वा याचते कामी सर्वाचारवहिर्यवः ॥ १२९ ॥

विजयोद्या—कामुम्मत्तो कामोन्मत्तो । स्त्रियाः शरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्यं उत्तस्विदगम्यमभोग्यमिति  
अविज्ञाय इदमित्यमशुचि इति ब्रवीति । सुलभां दुर्लभां आत्मन्यभिलाषवतीं निरभिलाषा च प्रार्थयते ॥

मूलारा—गम्मागम्मं स्त्रियाः शरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्यं उत्तस्विदगम्यं अभोग्यं इत्यविज्ञाय यथास्वमनिरूप्य,  
सुलभा दुर्लभामात्मनीच्छावतीमनिच्छावतीं वा कामोन्मत्तः कियं प्रार्थयते इति टीकाकारः । अन्ये तु गम्मागम्ममित्यपि  
महिलाविशेषणमाहुः । तथा च तदग्रन्थः—

कामोन्मत्तो गम्यागम्यरूपा च दुर्लभा सुलभा ॥

अज्ञात्वा प्रार्थयते भोक्तुं सेच्छामथानिच्छाम् ॥

अर्थ—कामविकारसे उन्मत्त हुआ मनुष्य स्त्रीका शरीर और अपना शरीर भोग्य है या अभोग्य है इसका  
कुछभी विचार नहीं करता है. यह शरीर पवित्र है या अपवित्र है इसका भी वह विचार नहीं करता है. यह स्त्री  
दुर्लभ है या सुलभ है, यह स्त्री मेरी अभिलाषा करती है या नहीं इसका विना विचार करके ही उसकी वह प्रार्थना  
करने लगता है

दृष्ट्वा परकलत्तं किहिदा पत्थेद्द णिग्घिणो जीवो ॥

ण य तत्थ किं पि सुक्खं पावदि पावं च अज्जेदि ॥ १२४ ॥

परकीयां स्त्रियं दृष्ट्वा किं कांक्षति विमृढवीः ॥

न हि तां लभते जातु पापमर्जयते परम ॥ ९४० ॥

विजयोदया—दृष्ट्वा परकलत्रं परेषा कलत्रं दृष्ट्वा । कथं वा तत्प्राप्यते जीवो निरस्तलज्जो ममेयं भवतीति ।  
एतस्या प्रार्थनामात्रादधिगतायां दुःखं प्राप्नोति । पापं नियोगेनार्जयति ॥

परदारान्प्रार्थयमानं जुगुप्सते—

मूलारा—किदृशा कथं तावत् । निविण्णो निर्लज्जः । तस्य प्रार्थनामात्रप्राप्ते परकलत्रे । च अल्लदि उपर्जयत्येव ॥

अर्थ—परस्त्रीको देखकर यह मनुष्य निर्लज्ज होकर किसी प्रार्थना करता है यह स्त्री मेरी होगी ऐसा समझकर क्यों प्रार्थना करता है? प्रार्थना करनेसे, तथा वह प्राप्त होने पर भी दुःखही प्राप्त होगा और नियमसे पापों-पार्जन होगा

आहृद्विदूणा चिरमपि परस्म महिलं लभित्तु दुक्खेण ॥

उपिप्पथमाविसत्थं अणिव्वुदं तारिसं चैव ॥ ९४१ ॥

अभिलष्य चिरं लब्ध्वा परनारीं कथंचन ॥

अनिर्वृत्तमविश्वस्त सेवने तादृगेव सः ॥ ९४१ ॥

विजयोदया—आहृद्विदूणा चिरमपि चिरकालमभिलष्यापि । परस्म महिलं परस्य महिला परस्य स्त्रियं ।  
दुक्खेण लभित्तु क्लेशेन लब्ध्वा । उपिप्पथं व्याकुलवदविश्वस्तमनिर्वृत्तं चरणं इति क्रियाविशेषत्वेन नेय । तारिसो चैव यथा  
तद्वैवाप्राप्ते, पूर्वमनुमद्वदय पश्चादपि तथैवानुमद्वदयत्वात्तादृश इत्युच्यते ॥

परस्त्रीसेविनमनुशोचति—

मूलारा—आहृद्विदूणा अभिलष्य । उन्विग्मा सोत्तांसं । उन्विच्छादिति पाठेऽपि स एवार्थः । अवीरस्य अविश्व-  
समाकुलं वा । अणिव्वुद अंसलुष्टं । सेवमान इत्यप्याहारार्थक्रियायास्वीप्यपि विशेषणानि । तारिसो चैव पूर्ववदविद्वत्प्रचित्त  
एव भवति । उक्तं च—

अभिलष्य चिरं लब्ध्वा परनारीं कथं न च ॥

अनिर्वृत्तमविश्वस्त सेवने तादृगेव सः ॥

अर्थ—चिरकाल परस्त्रीकी मनमें अभिलाषा करने परभी कदाचित् उसकी प्राप्ति होतीभी नहीं. अथवा कष्टसे मिलभी गई तोभी उसका भोग लेते समय मनमें मय उत्पन्न होता है मनमें अविश्वास उत्पन्न होता है जिससे सुखकी प्राप्ति होती नहीं. अर्थात् मिलनेके पूर्व जैसा वह अवृत्त था वैसा मिलनेपर भी भयादि विकार उत्पन्न होनेसे अवृत्तही रहता है.

कहमवि तमंधयारे संपत्तो जत्य तत्य वा देसे ॥

किं पावदि रइसुक्खं भीदो तुरिदो वि उल्लावो ॥ १२६ ॥

यत्र तत्र प्रदेशे तमंधकारे कथंचन ॥

अवाप्य त्वरितो भीतो रतिसौख्यं किमश्नुते ॥ १२७ ॥

विजयोदया—कथमपि तमंधकारे केनचित्कारेण परवचना झाल्ता । अंधकारं संप्राप्तः । तां यत्र तत्र वा देशे, शून्यगृहे शून्यायतने, अटव्या च किं प्राप्नोति ? रतिसौख्यं । प्रकाशे स्वामिलयितानवयवास्तस्या पश्यतो मृदुनि शयनतले विगतमनोव्याकुलस्य सुख भवति । नान्यथेति भावः । किं प्राप्नोति रतिसुखं भीतः सन् राजपुरुषेभ्यस्तस्य । वा संवाधेभ्यः । पश्यति मा, परे बध्नति मा, परपत्नीति वा संभाषणं अपि तथा त्वरितं किं पुनरतम् ॥

परस्त्रीसेवाया तमेव सुखाभावमुल्लिखति—

मूळारा—त परमहिंसा । जत्यतत्य शून्यगृहादौ । भीदो तत्पतिराजपुरुषादिभ्यस्तः । तुरिदो उत्तालकः ।

विउल्लावो विगतसंभाषणः । प्रकाशे तन्मनोभावयवान्ययतो मृदुशयनतले तदालिंगनादि कुर्वतो निर्भयनिराकुलतया वचनहसनादिकमनुभवतश्च सभोगसुखं भवतीति भावः ॥

अर्थ—दुसरको फसाकर किसी तरह अधकारमें उसकी प्राप्ति भी हो गई तो शून्य घरमें, शून्य देवाल-यमें अथवा जंगलमें उसके साथ रममाण होनेसे क्या रतिसौख्य मिलेगा अर्थात् उसके मनमें यदि इसका पति हम दोनोंको देखेगा, अथवा राजाधिकारियोंके नजरमें हम आजार्ने किंवा परस्त्रीके कोई संबंधी यदि हमको देखेंगे तो वे हमको बांधेंगे, मारेंगे ऐसे विचारसे उसके साथ उसको भाषण करनेके लिये भी निर्व्याकुलता नहीं रहती हैं तो उसके साथ रतिसुखकी प्राप्ति कैसी होगी? रतिसुखकी प्राप्ति होने पर भी वह सुखी नहीं होता है प्रकाशमें व्याकुलतारहित मृदुशय्यापर परस्त्रीके सर्व अवयव देखनेसे, उसके साथ क्रीडा करनेसे सुख होगा अन्यथा नहीं. अतः

परस्त्रीके सेवनमें सुख नहीं. उसके विचारसे अशुभ कर्मके आलव आते हैं जिससे आत्माको कुगतीमें दारुण दुःख भोगने पड़ते हैं

परमहिलं सेवन्तो वैर वधबंधकलहधणनासं ॥

पावदि रायबलादो तिरसे णीयल्लयादो वा ॥ ९२७ ॥

सर्वस्वहरणं रोध वधं वधं भयं कलिम् ॥

तज्जातिपार्थिवदिभ्यो लभते पारदारिकं ॥ ९४३ ॥

विजयोदया—परमहिल सेवतो परस्त्रिय सेवमान, वैर, वध, वधे, कलह, धननाश च प्राप्नोति रजमूलात् तस्याः सजनाद्या ॥

परस्त्रीभोजोऽपायानाह—

मूलारा—तिस्से तस्याः ।

अर्थ—परस्त्रीका सेवन करने वालोंको राजासे अथवा परस्त्रीके संबंधिओंसे वैर, वध, वध, कलह, धननाश वगैरेह आपत्ति प्राप्त हो जाती है.

जदि दा जणेइ मेहुणमेवा पावं सगग्गि दारग्गि ॥

अदितिब्बं कह पावं ण हुज्ज परदारसेविस्स ॥ ९२८ ॥

अनर्थकारण पुसां कलत्रे स्वेपि मैथुने ॥

करेति कल्मष घोरं परकीये न कि पुनः ॥ ९४४ ॥

विजयोदया—जदि ता जणेइ यदि तावज्जनयति मैथुनकर्मसेवा कि पाप स्वमार्याया । अतितीव्रं पाप कथं न भवेत् परदारसेविस्स परस्त्रीसेविन । अदत्तादानमब्रूहि द्वौ यतो दोगौ ॥

परदारसेविनस्तीव्रतरपापबंधमाह—

मूलारा—अदितिब्ब अदत्तादानाब्रह्मासेवनदोषद्वयावेशादत्र तीव्रतरत्वमिति भावः ॥

अर्थ—अपनी पत्नीमेंभी यदि मैथुनसेवन करनेसे पाप उत्पन्न होता है तो परस्त्रीके साथ मैथुन सेवन करनेसे परस्त्रीसेवी मनुष्यको तब पापकर्मका क्यों वंधा न होगा परस्त्रीसेवन करनेमें चोरी, ब्रह्मचर्यविनाश ऐसे दो दोष उत्पन्न होते हैं परस्त्री न दी हुई वस्तु है।

मादा धूदा भज्जा भगिणीसु परेण विप्पयम्मि कदे ॥

जह दुक्खमपणो होइ तहा अणरस्स वि णरस्स ॥ ९२९ ॥

यथाभिद्रूयमाणासु स्वसृमातृसुतादिषु ॥

दुःखं संपद्यते स्वस्य परस्यापि तथा न किम् ॥ ९४५ ॥

विजयोदया—मादा धूदा मातरि दुहितरि भगिन्या परेण चिप्रिये कृते कर्मणि यथा दुःखमात्मनो भवति । तथा तस्यापि नरस्य दुःखं भवति । तन्मात्रादिविषये असद्व्यवहारे सति ॥

स्वस्येव परस्यापि परेण मात्रादिषु दुराचारकरणे दुःख भवतीत्येवंविधविचाररहितः पारदारिकोऽसद्व्यवहारो यतितीव्रपाप संचितोतीत्येतद्वाद्यवेनाह—

मूलारा—धूदा पुत्री ।

अर्थ—माता, लडकी, अपनी पत्नी, और अपनी बहिन, इनके साथ किसीने कुछ दुराचार किया तो जैसे अपनेको दुःख होता है वैसे अन्य पुरुषकी माता, पत्नी, बहिन और लडकीयोंके साथ असद्व्यवहार करनेसे उसकोभी दुःख होता है ऐसा समझना चाहिये

एवं परजणदुक्खे णिरवेक्खो दुक्खवीयमज्जेदि ॥

णीयं गोदं इच्छीणउंसवेदं च अदितिव्वं ॥ ९३० ॥

इत्थमर्जयते पापं परपीडाकृतोद्यमः ॥

स्त्रीनपुंसकवेदं च नीचगोत्रं दुरुत्तरम् ९४६ ॥

विजयोदया—एवं परजणदुःखे निरपेक्ष परदाररतिप्रियो दुःखबीज संचिनोति । किं ? असद्व्यवहार कर्म, नीचगोत्र, स्त्रीत्व, नपुंसकत्वं च ॥

मूलारा—गिरिवेक्खो निर्विचारः परदाररतिशय इत्यर्थः ॥ दुक्खवीय असद्वेद्य । णीचागोदं नीवेगोत्रम् ॥  
अर्थ—जो दूसरोंके दुःखकी पूर्वा नहीं करता है उसको दुःखका बीज ऐसा असातोवेदनीय कर्मका बंध होता है और नीचगोत्र, स्त्रीपना, नपुंसकपना ऐसी अवस्थाओंकी प्राप्ति होती है

जमणिच्छंती महिलं अवसं परिमुज्जे जहिच्छाए ॥  
तह य कलिस्सइ जं सो तं से परदारगमणफलं ॥ ९३१ ॥

मुज्ज्यते यदनिच्छंती छिद्यमानांगनावशा ॥

तदेतस्याः पुरातन्याः परदाररतेः फलम् ॥ ९४७ ॥

विजयोदया—जमणिच्छंती महिलं यश्चेच्छन्ती पुमास स्त्रीत्वेन अवशा यश्चेच्छया परियुज्यमाना यच्छिद्यति तत्तस्या जन्मान्तराचरितपरदारगमनफल ॥

प्राक्तनपरदाररत्युपार्जितस्त्रीत्वो जीवः स्त्रीपर्यायमात्रः परपुरुषेण बलादुपमुज्यमानः क्लेशमुपैतीत्याह—  
मूलारा—जं यत् । अणिच्छंती मोक्षारमकामयमाना । परिमुज्जे परपुरुषेण बलात्परियुज्यमाना सा स्त्री छिद्यते । तं से तत्तस्य जन्मांतरपरदारमुक्तिफलमिति संबंधः ॥ उक्त व—

मुज्ज्यते यदनिच्छंती छिद्यमानागनावशा ॥

तदेतस्याः पुरातन्याः परदाररतेः फलम् ॥

अन्ये—जमणिच्छंती महिला अवसं परि मुज्जे जहिच्छारा ॥

तह वि कलिस्सादि ज सो इति पठित्वा एव व्याचक्षते—यदनिच्छंतीभवशा महिला परिमुक्ते यश्चेच्छया यच्च तथा परिमुज्जानोऽसौ निर्वृतिं न प्राप्नोति तत्तस्य क्लेशप्राप्तिरूपं परस्त्रीमुक्तिफलमिति । तथा चोक्तम्—

यद्यमकामयमाना कामयते योपितं बलादवशाम् ॥

क्लेशमुपैति वथासौ तदस्य परदारगमनफलम् ॥

अर्थ—पुरुषकी इच्छा न करनेवाली परंतु पुरुषके द्वारा जो बलात्कार किया गया उससे संक्लेशपरिणामोसे युक्त होती है वह उसका पूर्वजन्ममें परस्त्रीभोगका फल है ऐसा समझना चाहिये अर्थात् जिसने पूर्व जन्ममें जबरदस्तीसे



परस्त्रीका उपभोग लिया था वह पुरुष इस जन्ममें स्त्रीपर्यायोको प्राप्त होता है तब वह भी बलात्कारसे भोगा जाता है.

महिलावेसविलंबी जेणीचं कुणइ कम्मयं पुरिसो ॥

तह वि ण पूइ इच्छा तं से परदारगमणफलं ॥ ९३२ ॥

योषावेषधरः कर्म कुर्वाणो न यदश्नुते ॥

कांक्षितं शर्म तत्तस्य परदाररतेः फलम् ॥ ९४८ ॥

विजयोदया—महिलावेसविलंबी स्त्रीवेपविलंबनपर पुरुषो यन्नीचं कर्म करोति । तथापि न पूर्यते इच्छा तत्तस्य पंडत्वं परदारगमनफलम् ॥

जन्मातरपरस्त्रीसुक्त्युपार्जितनपुंसकवेदो जीवो नपुंसकपर्यायमापन्नः स्त्रीवेपं धारयन् यत्र तत्र कामक्रीडा कुर्वन्नपि न वृत्त्यतीत्युपदिशति—

मूलारा—महिलावेसविलंबी स्त्रीवेपधारी । कम्मय कामक्रीडा । त से तत्पंडत्वं तस्य स्त्रीवेपधारिणः ॥

अर्थ—स्त्रीवेप धारण करनेवाला पुरुष अर्थात् नपुंसक नीच कर्म करता रहता है तो भी उसकी इच्छा पूर्ण होती नहीं यह उसका नपुंसकपना पूर्व जन्ममें परस्त्रीसंभोग करनेका फल है अर्थात् परस्त्रीसंभोग करनेवाले पुरुष अन्य जन्ममें नपुंसक होते हैं

भज्जा भगिणी मादा सुदा य बहुएसु भवसयसहस्सेसु ॥

अयसायासकरीओ होंति विभीला य णिब्बं से ॥ ९३३ ॥

जननी भगिनी भार्या देहजा बहुजन्मसु ॥

आयासाकीर्तिकारिण्यस्तस्य संति विशालिकाः ॥ ९४९ ॥

विजयोदया—भज्जा भगिणी मादा भार्या भगिनी माता सुता च बहुषु भवसहस्रेषु अयशाः आयासं कुर्वन्तो भवन्ति नित्य विभीलास्तस्य ॥

पारदारिकस्य बहुषु भवेषु भार्यादयो विभीलाः सपद्यन्ते इत्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—परबी सेवन जिसने पूर्व जन्ममें किया था उसकी पत्नी, बहिन, माता और लड़की लक्षावधि जन्मोंमें अपकीर्ति करनेवाली, दुःख देनेवाली और हमेशा व्यभिचारिणी हो जाती है

होइ सयं पि विसीलो पुरिसो अदिदुब्भगो परमेवेसु ॥

पावइ वधबंधादि कलहं णिच्चं अदोसो वि ॥ ९३४ ॥

विसीलो दुर्भगोऽप्यनुते वंधं संखेयं कलहं वधम् ॥ ९५० ॥

निर्दोषोऽप्यनुते वंधं संखेयं कलहं वधम् ॥ ९५० ॥  
विजयोदया—होवि सयं पि भवति स्वयमपि विशील, पुरुषो दुर्भगश्च प्राप्तोति नित्यं च वधबंध आत्मा सकलहं च अदोषोऽपि ॥

परबीभाजो विशीलभावादिलाभमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—वह परदारसेवी पुरुष भी विशील-शीलव्रत रहित होता है और कुरूप होता है निर्दोष होनेपर भी वध, वध कलह इत्यादि दुःखोंको वह प्राप्त होता है

इहलोए वि महल्लं दोसं कामस्स वसगदो पत्तो ॥

कालगदो वि य पच्छा कडारपिंगो गदो णिरयं ॥ ९३५ ॥

महान्तं दोषमासाद्य भवेऽत्र स्मरमोहितः ॥

मृत्वा कडारपिंगोऽगाच्छब्दं दुःसहवेदनम् ॥ ९५१ ॥

विजयोदया—इहलोए वि महल्ल कडारपिंगो इहलोकेऽपि महान्तं दोषं प्राप्तः कामवशगतः । कालं कृत्वा पश्चाच्चरकेषु भविष्य । वाच्यमवाशयानकम् ॥

उक्तमेवार्थमाख्यानं ख्यापयन्नाह—

अर्थ—इस लोकमें भी कडारपिंग नामक राजपुत्र कामवश होकर महान् दोषसे दूषित हुआ और मर-  
णोत्तर नरकमें उत्पन्न हुआ (आराधना कथा कोषमें इसकी कथा प्रसिद्ध है.)

एदे सत्वे दोसा ण होंति पुरिसस्स वंमचारिस्स ॥

तव्विवरीया य गुणा हवंति बहुगा विरागिस्स ॥ ९३६ ॥

भवन्ति सकला दोषा नैवामी ब्रह्मचारिणः ॥

संपद्यन्ते गुणाश्चित्रास्तद्विपक्षा विरागिणः ॥ ९५२ ॥

विजयोदया—पदे सत्वे एते सर्वे दोषा न भवन्ति ब्रह्मचारिणः पुनः । तद्विपरीताश्च गुणा भवन्ति यद्वयो-  
विरागस्य ॥

एवं कामदोषान्यदर्थं तदभावं प्रकृते भावयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

उपर्युक्त सर्व दोष ब्रह्मचारी पुरुषको स्पष्ट नहीं करते हैं कामसेवनमें विरक्त ऐसे ब्रह्मचारीमें काम-  
दोषसे विरुद्ध बहुत गुण निवास करते हैं

अर्थ—जिसका रागभाव नष्ट हो चुका है ऐसा ब्रह्मचारी मुक्तजीव के समान प्रेक्षक होकर तीव्र काम-  
ग्नीसे दग्ध होने वाले इस सर्व जगत्को देखता है कामाग्नीके कष्टसे ब्रह्मचारी मुक्त होता है और वीतराग होता  
है अर्थात् काम विकारसे दूर रहना यही सब सुख की प्राप्ति का उपाय है, कामकृत दोषोंका वर्णन समाप्त हुआ

कामगिणा धगधगतेण य उज्झंतयं जगं सत्वं ॥

पिच्छइ पिच्छयमदो सीदीभदो विगदरागो ॥ ९३७ ॥

कामाध्वना कुचफलानि निपेवमाणा रम्ये नितंबविपथे ललनानदीनाम् ॥  
विश्रम्य चारुवदनाम्बु निपीयमानाः सौख्येन नारकपुरीं प्रविशन्ति नीचाः ॥ ९५३ ॥

नरो विरागो बुधवृद्वदितो जिनेन्द्रवध्वस्तसमस्तकल्मषः ॥  
विदह्यमान ज्वलता दिवानिशां स्मराग्निना लोकमवेक्षतेऽखिलम् ॥ ९५४ ॥

इति कामदोषाः ॥

विजयोदया—कामाग्निना । धगधगायमानेन दह्यमानेन । दह्यमानं जगत्सर्वं प्रेक्षते प्रेक्षकभूतः स्वयं  
विरतीभूतः । क ? वीतराग ॥

ब्रह्मचारिणः सुखातिशयमाह—

मूलारा—प्रेच्छगभूदो प्रेक्षक इव । द्रष्टव्यं न तत्कष्टविष्ट इति भावः । सीदीभूदो निर्बुद्धो मुक्तात्मवत् ॥  
इति कामदोषाः ॥

इत्थिकथा इत्येतद्व्याख्यानायोच्यते प्रवच ॥ कामकदा ॥

महिलाकुलसंवासं पदिं सुदं मादरं च पिदरं च ॥

विसयंधा अगणंता दुक्खसमुद्दमि पाडेइ ॥ ९३८ ॥

जननीं जनकं कांतं तनयं सहवासिनं ॥

पातयंति नितंबिन्यः कामार्तो दुःखसागरे ॥ ९५५ ॥

विजयोदया—महिला दुःखसमुद्रे पातयति विषयाधा वगणयन्ती । किं ? कुलं सहवासिनः पतिं, सुतं, मातरं च ॥  
एवं कामदोषान्प्रवर्धयेन व्याख्यायेदानीं स्त्रीदोषान्वयावित्यासुर्गोथा. पचपष्टिमाह—

मूलारा—संवास सहवासिन । विसयंधा कामार्तो । पाडेइ पत्यादीन् क्षिपति ॥

अर्थ—विषयांधं हुई स्त्री कुल, सहवासी, पति, पुत्र, माता और पिता इनका आदर नहीं करती है और  
सबको दुःखसमुद्रमें डुबा देती है

माणुण्यस्स पुरिसदुमस्स णीचो वि आरुहदि सीसं ॥

महिलाणिस्सेणीए णिस्सेणीए व्व दीहदुमं ॥ ९३९ ॥

स्त्रीनिःश्रेण्योन्नतस्यापि दुरारोहस्य लीलया ॥

मस्तकं नरवृक्षस्य नीचोऽप्यारोहति दुतम ॥ ९५६ ॥

विजयोदया—माणुण्यस्स मानोन्नतस्य पुरुषद्रुमस्य शिर आरोहति नीचपुरुषोऽपि महिलानिःश्रेण्या दीर्घमिव द्रुम ॥

मूलारा—दिग्बहुमं उच्चैर्वृक्षम् ॥

अर्थ—स्त्री रूपी नसेर्नीके आश्रयसे नीच पुरुष अभिमानसे उन्नत ऐसे पुरुषरूपी वृक्षके मस्तकपर चढ़ बैठता है जैसे नसेर्नीके द्वारा ऊँचे वृक्षपर लोक चढ़ते हैं अभिमाय यह है नीच पुरुषका आश्रय कर अपने पतिका अभिमान मझीमें मिला देती है, उसके कीर्तिका क्षय कर देती है—

पव्वदमिच्चा माणा पुंसाणं होति कुलवलघणेहिं ॥

बलिण्हि वि अक्खोहा गिरीव लोगप्पयासा य ॥ ९४० ॥

मान्या ये सति मर्त्यानामक्षोभ्या वलिनामपि ॥

सर्वत्र जगति ख्याता महंतो मंदरा इव ॥ ९५७ ॥

विजयोदया—पव्वदमिच्चा माणा भवन्ति मानानि पुरुषाणा कुलवलघने । वलिभिः अक्षोभ्याणि गिरिवल्लोके प्रकाशभूतानि च ॥

मूलारा—माणा अहकारः । वलिण्हि वि बलवद्विरपि । अक्खोहा चाल्घितुमशक्याः । गिरीव लोगप्पयासा जगति ख्याता मेरवो यथा । अत्र पर्वतसामान्यार्थोऽपि गिरिशब्दो गिरीद्ववृत्तिगृह्यते तादृग्विवशेषणयोगात् । उक्तं च—

पर्वतसदृशा माना कुलवलविभवेर्भवन्ति पुरुषाणाम् ॥

गिरिराजवत्प्रकाशा ये चाक्षोभ्या महद्विरपि ॥

अर्थ—उच्च कुल, बल-सामर्थ्य, और धनसे पुरुषोंका मान पर्वत तुल्य बड़ा होता है, उनके मानका ध्वंस करनेके लिये बलिष्ठ पुरुषभी असमर्थ होते हैं और जगतमें उनका मान पर्वतके समान सर्वत्र प्रसिद्ध होता है

ते तारिसया माणा ओमच्छिज्जति दुट्ठमहिलाहिं ॥

जह अंकुसेण णिस्साइज्जइ हत्थी अदिबलो वि ॥ ९४१ ॥

शठैस्ते स्त्रीजनैस्तीक्ष्णैर्नाभ्यन्ते क्षुणमाश्रितः ॥

नितांतकुटिलीभूतैरंकुशैरिव संतिनः ॥ ९५८ ॥

विजयोदया—ते तारिसगा माणा तानि तथाभूतानि मानानि अवमथ्यन्ते दुष्टस्त्रीभिः । यथा अंकुशेन निपद्या कार्यते इत्सी अतिबलोऽपि ॥

मूलारा—ओमच्छिज्जति विनाश्यते । गिसियाविज्जडि उपवेश्यते ।

अर्थ—ऐसे पुरुषोंकाभी महामान दुष्ट स्त्रियोंके द्वारा छ्वस्त नष्ट किया जाता है. अर्थात् अपने हीनाचार से वे अपने पत्नीका अभिमान धूलमें मिलाती हैं जैसे हाथी बड़ाभी हो तोभी छोटा अंकुश उसको बलात्कारसे जमीनपर बिठा सकता है

आसीय महाजुद्धाहं इत्थिहेतुं जणम्मि बहुगाणि ॥

भयजणानि जणण भारहरामायणादीणि ॥ ९४२ ॥

आसन्तामायणादीनि स्त्रीभ्यो युद्धान्यनेकदाः ॥

मलिनाभ्योऽब्दमालाभ्यः सलिलानीव चिष्टपे ॥ ९५९ ॥

विजयोदया—आसीय महाजुद्धाणि आसन्महायुद्धानि जगति स्त्रीनिमित्तानि बहूनि भयजन्तानि जनानां भारतरामायणादीनि ॥

मूलारा—आसन् वृत्तानि ।

अर्थ—इस जगतमें इस स्त्रीके लियेही भयानक रामायण, महाभारतके समान मनुष्योंका महा क्षय करने वाले अनेक बड़े युद्ध हुए हैं.

महिलासु णत्थि वीसंभणयपरिचयकदण्णदा णेहो ॥

लहुमेव परगयमणाओ ताओ सकुलंपि य जहंति ॥ ९४३ ॥

विश्रंभसंस्तवस्नेहा जालु संति न गोपितः ॥

त्यजन्ति वा परासक्ताः कुलं तृणमिव द्रुतम् ॥ ९६० ॥

विजयोदया—महिलासु स्त्रीषु न सति विसंभ्रमण्याः, परिचय कृतज्ञता, स्नेहश्च । सहसा परगतचित्तास्ताः स्वकुलं जहति ॥

मूलारा—पण्य प्रसादः । कदण्णदा कृतज्ञता । सकुलं स्वकुलं कुलीनं वा ।

अर्थ—स्त्रियोंमें विद्यास, प्रसाद, परिचय, कृतज्ञता अर्थात् क्रिये उपकारोंका स्मरण रखना—कृतज्ञ न बनना, और स्नेह ये गुण नहीं रहते हैं-वे जब परपुरुषासक्त हो जाती हैं तब अपने हित करनेवाले पतिकोभी छोड़ देती हैं, अपनी कुलीनताको छोड़ती हैं-नीचोंका हाथ पकड़ती हैं

पुरिसस्स दु वीसंभं करेदि महिला बहुण्यारेहिं ॥

महिला वीसंभेदु बहुण्यारेहिं वि ण सक्का ॥ १४४ ॥

विसंभयन्ति ता मर्त्यं प्रकारैर्विधैर्लघु ॥

विसंभः शक्यते कर्तुमेतासां न कथंचन ॥ १६१ ॥

विजयोदया—पुरिसस्स दु वीसंभं पुरुषस्य विसंभं जनयति स्त्रियो बहुभिः प्रकारैर्युवतीर्विसंभं नेतुं न शक्ताः पुमांस ॥

मूलारा—वीसंभेदं विश्वासं नेतु ॥

अर्थ—अनेक कपट प्रयोगोंसे वे पुरुषके मनमें विश्वास उत्पन्न करती हैं अर्थात् अपने हावभाव, मधुर भाषण, वगैरहसे अपनेमें अनुरक्त करती हैं, परंतु पुरुष उसको अपनेमें अनुरक्त नहीं कर सकता है

अदिलहुयगे वि दोसे कदम्मि सुकदस्सहस्समगणंती ॥

पइ अप्पाणं च कुलं धणं च णासति महिलाओ ॥ १४५ ॥

स्वल्पेऽपि विहिते दोषे कृतदोषसहस्रशः ॥

उपकारमवज्ञाय स्व निघ्नन्ति पतिं कुलम् ॥ १६२ ॥

विजयोदया—अदिलदुयगे वि दोसे खलेपि वोये कृते सुकृतशतमप्यगणय्य पतिं, आत्मानं, कुलं, धनं च नाशयति युयतयः ॥

सुलारा—अदिव अतीव । सुगदसद उपकारशतं ।

अर्थ—पतिके द्वारा छोटासा भी अपराध हुआ तो उसके हजारो उपकारभी वह भूल जाती है और उसका, कुलका, और धनका और अपनाभी नाश कर डालती है

आसीविसो व्व कुविदा ताओ दूरेण गिहुदपावाओ ॥

रुहो चंडो रायाव ताओ कुव्वंति कुलघादं ॥ ९४६ ॥

आशीविषा इव त्याज्या दूरतो नीतिहेतवः ॥

दुष्टा नृपा इव क्रुद्धास्ताः कुर्वन्ति कुलक्षयम् ॥ ९४६ ॥

विजयोदया—आसीविसो व्व असीविष इव कुपितस्ता दूरेण ढौकिनु न शक्याः । रुष्टश्चंडो राजेव ताः कुर्वन्ति कुलघातं ॥

सुलारा—दूरेण त्याज्या इति शेषः गिहुदपावाओ प्रच्छन्नपातकाः । दूरेणढागिदुं सका दूरावपि नाशेया इत्यर्थः ।

अर्थ—भयंकर सर्पका जैसे दूर से ही त्याग करना हितकर है वैसे दुष्ट स्त्रियोंका दूरसे ही त्याग करना कल्याण करक होता है जैसे क्रुद्ध राजा अपराधीके कुलका समूह नाश करता है वैसे दुष्ट स्त्रियां भी अपने पतिके कुलका पूर्ण नाश करती है.

अकदम्मि वि अवराधे ताओ वीसच्छमिच्छमाणीओ ॥

कुव्वंति व्हं पदिणो सुदस्स ससुरस्स पिटुणो वा ॥ ९४७ ॥

अकृतेप्यपराधे ता नीचाः स्वच्छंदवृत्तयः ॥

निघ्नन्ति निर्घृणापुत्रं श्वशुरं पितरं पतिम् ॥ ९४७ ॥

विजयोदया—अकदम्मि वि अकृतेऽपि । अवराधे अपराधे । ताओ ताः । वीसच्छमिच्छमाणीओ स्वेच्छा



प्रवृत्तिमभिलपन्त्य । पदिणो वध कुर्वन्ति पत्युर्वधं कुर्वन्ति, सुदस्स श्रुतस्य, ससुरस्स श्वशुरस्यापि । पितुणो वा पितुर्वा वधं कुर्वन्ति ॥

मूलारा—वीसत्य स्वेच्छाप्रवृत्ति ॥

अर्थ—स्वच्छद प्रवृत्ति करनेवाली स्त्रिया निरपराधी पतिका, अच्छे ज्ञानका, अपने ससुरका और पिता-काभी घात करती हैं जो जो अपने स्वच्छद प्रवृत्तिमें बाधक होगा ऐसा समझती हैं उनका २ वे घात करती हैं ॥

सत्कारं उपकारं गुणं व सुहलालणं च गेहो वा ॥

मधुरवयणं च महिला परगदहिदया ण चित्तेइ ॥ ९४८ ॥

उपकारं गुणं स्नेहं सत्कारं सुखलालनम् ॥

न मन्यन्ते परासत्ता मधुरं वचनं स्त्रियः ॥ ९४९ ॥

विजयोदया—सत्कारं सत्कारं सम्मानं । उपकारं उपकारं, गुणं कूलरूपयौवनादिकं गुणं च पत्युः । सुहलालणं सुखेन पोषणं च । गेहो वा स्नेहं च । मधुरवयणं च मधुरवचनं च । महिला युवति । परगदहिदया परपुरुषपादु-रक्ताचिता । ण चित्तेइ न चिंतयति ॥

मूलारा—गुणं कूलरूपयौवनादिक पत्युः । सुहलालणं सुखेन पोषणं ॥

अर्थ—आदरसत्कार, उपकार, गुण, कूल, तारुण्य और सौंदर्य इत्यादि गुणोंसे पतियुक्त होनेपर भी-यदि स्त्री जब परपुरुषपर अनुरक्त होजाती है तब पतिके इतने गुणोंका कुछभी विचार नहीं करती है। पतिने बड़े प्यार से उसका पोषण किया, उसने स्नेह दिखलाया और मधुर वचन भी बोले तो भी इन बातोंका वह कुछभी विचारकर ती नहीं है।

साकेदपुराधिवदी देवरदी रज्जसुक्खपब्भट्ठो ॥  
पगुलहेदुं छडो णदीए रत्ताए देवीए ॥ ९४९ ॥

साकेताधिपतिर्देवरतिः प्रच्याव्य राज्यतः ॥

देव्या नदीन्हृदे क्षितौ रक्तया पंगुरक्तया ॥ ९६५ ॥

विजयोदया—साकेदपुराधिपती साकेतपुरस्य स्वामी । देवरती देवरतिसक्षित । रजसोम्बपञ्चमो राज्येन सोव्येन च नितरा भ्रष्ट । पंगुलेहं पंगुलनिमित्तं गर्वप्रधानेन पंगुना सह जीवितुमभिलपन्त्या । इन्द्रो विक्षित । नदीप नद्या । रक्ताप देवीप रक्तानामधेयया देव्या ॥

मूलारः—साकेद अयोध्या । देवरती देवरतिमङ्गः । पंगुलेहं गर्वप्रधानेन पंगुना सह जीवितुमिच्छन्त्या । बृहो प्रक्षितः । रक्ताप रक्तसङ्घाया ॥

अर्थ—साकेत नगरका देवरती नामक राजा था उसको रक्ता नामकी अत्यंत प्रिय रानी थी। रानीके स्नेहसे उसने राज्यका और सुलकाभी त्याग कर दिया तथापि गानविद्यामें प्रतीण ऐसे एक पंगुके ऊपर वह प्रेम करने लगी उसके साथ रहनेकी इच्छासे उसने अपने पतिको नदीमें डकेल दिया

ईसालुयाए गोववदीए गामकडधूदिया सीसं ॥

छिणं पहदो तथ भल्लएण पासम्मि सीहवलो ॥ ९५० ॥

गोपवत्या कुधा छित्वा ग्रामकूटसुताशिरः ॥

राजा सिंहवलः कुक्षौ शकत्येक्यपरया हतः ॥ ९६७ ॥

विजयोदया—ईसालुयाए इर्यावत्या । गोववदीए गोपवतीनाम वेयया । गामकूटधूदिया ग्रामकूटस्य दुहितु । सीसं छिण शिरश्छिन्न । पहदो प्रहतस्तथा । भल्लएण शम्भ्या । पासम्मि पार्श्वदेशे सीहवलो सिंहवलमंशित ॥

मूलारः—ईसालुगाण ईर्यावत्या । गोववदीए गोपवतीसङ्घाया । गामकूटधूदियासीनं ग्रामकूटदुहितुः स्त्रीपं । भल्लएण शकत्या । छुत्तविशेषेणपरः । पासम्मि पार्श्वदेशे । सीहवलो सिंहवलो नाम ॥

अर्थ—सिंहवल नामक मनुष्य को गोपवती नामक दुष्ट इर्यावलो की थी, उसने अपने सौतका मस्तक तोड़कर अपने पतिकोभी भालेसे मार डाला।

वीरमदीए सूलगदचोरदडोड्डिगाए वाणियओ ॥

पहदो दत्तो य तथा छिणो ओहोत्ति आलविदो ॥ ९५१ ॥

वीरवत्त्यापि शूलस्थस्तेन छिन्नोष्ठया निजः ॥

ओष्ठश्छिन्नो ममानेन पापयेत्युदितं मृषा ॥ ९५८ ॥

विजयोदया—वीरवदीए वीरवतीसंक्षिकया । सूलगदचोरदडोड्डिगाए शूलस्थचोरदयाघस्या । वाणियगो वणिक्सुत । पहदो प्रहत । दत्तो य दत्तश्च । तथा । छिणो ओहोत्ति ओष्ठच्छेदोऽनेन कृत इति च । आलविदो भणित ॥

मूलरा—पहदो प्रहर्तुमारब्धं । दत्तो दत्तनामा । छिणो उडोत्ति अनेन छिन्नो ममौष्ठ इति आलविदो आल प्रापितः ॥

अर्थ—शूलपर चढाये हुए चोरके द्वारा जिसका ओष्ठ खंडित किया गया था ऐसी वीरमति नामकी स्त्रीने दत्तनामक मेरे पतीने मेरा ओष्ठ छिन्न किया है ऐसा राजासे जाकर कहा और उसके द्वारा अपने पतीका उस दुष्टने घात करवाया

वग्धविसचोरअग्गी जलमत्तगयकण्हसप्पसत्तू ॥

सो वीसंभं गच्छदि । वीसंभदि जो महिलियासु ॥ ९५२ ॥

व्याघ्रे विपे जले सर्पे शत्रौ स्तेनेऽनले गजे ॥

स विश्वसिसि नारीणां यो विश्वसिसि दुर्मेनाः ॥ ९६९ ॥

विजयोदया—वग्धविसचोरअग्गीजलमत्तगयकण्हसप्पसत्तू । व्याघ्रे, विपे, चोरे, शत्रौ, जले, मत्तगजे, कृष्णसर्पे, शत्रौ च । सो विस्संभ गच्छदि स विक्षंभं गच्छदि । विस्संभदि जो महिलियासु विक्षंभं यः करोति वनितासु ॥ मूलरा—वीसंभदि विश्वसिति ।

अर्थ—जो पुरुष स्त्रियोंपर विश्वास करता है वह वाघ, विप, चोर, आग, जलप्रवाह, मदबाला हाथी, कृष्णसर्प और शत्रु इनके ऊपर विश्वास करता है ऐसा समझना चाहिये.

वग्धादीया एदे दोसा ण णरस्स तं करिज्जण्हू ।

जे कुणइ महादोसं दुट्ठा महिला मणुस्सस्स ॥ ९५३ ॥

इयाघादयो महादोषं कदाचित्तं न कुर्वते ।

लोकद्वयविधातिन्यो यं स्त्रियो वक्रमानसाः ॥ ९७० ॥

विजयोदया—व्याघ्रादिषु विलभगमनात्गपीयो विलभगमन वनितास्त्रिति कथयत्युत्तरगाथा । वग्धादीया व्याघ्रविपादयः पूर्वसूत्रनिर्दिष्टा । दोस दोष । नरस्स नरस्य । त ण करिज्जण्हू न कुंथु । ज कुणदि महादोस य करोति महातं दोष । दुट्ठा महिला दुष्टा वनिता । मणुस्सस्स मनुष्यस्य ॥

मूलारा—करिज्जण्हू कुंथु ।

अर्थ—व्याघ्रादिकों में विश्वास करने से जितना नुकसान मनुष्यका होता है उससे भी अन्यधिक नुकसान दुष्ट महिलाओंसे होता है अर्थात् व्याघ्रादिकोंमें विश्वास करना कथंचित् अच्छा माना जायगा परंतु दुष्ट स्त्रीपर विश्वास करनेसे सर्वथैव अपना घात करलेना है ।

पाउसकालणदीवोव्व ताओ णिच्चं पि कलुसहिदयाओ ।

धणहरणकदमदीओ चोरोव्व सकज्जगुरुयाओ ॥ ९५४ ॥

सक्रद्मलाराया रामा प्रावृषेया इवापगा ॥

स्तेनवत्स्वार्थतन्निष्ठाः सर्वस्वहरणोद्यता ॥ ९७१ ॥

विजयोदया—पाउसकालणदीवोव्व प्रावृट्कालस्य नद्य इव । ताओ ता । णिच्च पि नित्यमपि । कलुस-  
हिदयाओ कलुषद्वय । स्त्रीषु हृदयशब्देन चित्तमुच्यते । नदीष्वभ्यंतर । राणेण, द्वेषेण, मोहेन, ईर्ष्या, असूयया, मायया  
वा कलुषीकृतमेव चित्तं तासा । चोरोव्व चोर इव । सकज्जगुरुयाओ स्वकार्यगुर्व्यः । धणहरणकदमदीओ धनापहरणे  
कृतबुद्धयः । चौरा अपि कथमस्माभिरिवमेतदीयमात्मसात्कृतं भवतीति कृतबुद्धय । ता अपि मधुरवचनेन रत्निनीडानु-  
कूलतया वा पुरुषस्य द्रव्यमाहर्त्तुमुद्यता ॥

मूलारा—कलुसहिदयाओ रागेद्वेषमोहेष्व्यासूयायाविष्टचित्ता आविलम्भाश्च । सकज्जगुरुयाओ स्वकार्यगुर्व्यः ।

अर्थ—वर्षाकालकी नदीका मध्यमदेश मलिन पानीसे भरा रहता है और स्त्रियोंका चित्तभी राग, द्वेष,  
मोह, ईर्ष्या, असूय, कपट इत्यादिक दुष्टभावोंसे मलिन होता है चोर जैसा मनमें इन लोगोंका धन किस उपायसे

ग्रहण किया जावेगा ऐसा विचार करता है वैसे स्त्रिया भी धन हरण करनेमें निपुण होती हैं अर्थात् वे मधुरवचन बोलकर, रतिक्रीडामें अनुकूलता दिखाकर पुरुषका द्रव्य हरण करनेमें उद्युक्त रहती हैं. अपने कार्यमें हमेशा तत्पर रहती हैं.

रोगो दारिद्रं वा जरा व ण उवेइ जाव पुरिसस्स ॥

ताव पिओ होदि णरो कुलपुत्तीए वि महिलाए ॥ ९५५ ॥

दारियं विस्ससां व्याधिं यावन्नाभोति मानवः ॥

जायते तावदेवास्या कुलपुत्र्या अपि प्रियः ॥ ९७२ ॥

विजयोद्या—रोगो दारिद्रं वा व्याधिर्दारिद्र्यं वा जरा वा । ण उवेदि न ढैकते यावत्पुरुषं । ताव पिओ होदि णरो तौत्तद्विप्रो भवति नरः । कुलपुत्तीए वि कुलपुत्र्या अपि । महिलाए काताया । कुलपुत्रीषु वाप्य किमस्ति साध्यो हि प्रायेण कुलपुत्र्य पतिमेव देवतेति मन्यमाना. प्रिय लज्जतीति ॥

मूलारा—ण उवेदि नायाति ।

अर्थ—रोग, दारिद्र्य, अथवा वृद्धावस्था जवनक पुरुषको प्राप्त होती नहीं तवतक स्त्रीको अपना पति प्रिय होता है जब उसका शरीर रोगसे पीडित होता है, वृद्धावस्था उसके शरीरको जर्जर करती है तब वह स्त्रीको अप्रिय होता है. साधारण स्त्रियोंको ही दारिद्र्यादि अवस्थामें वह अप्रिय मालूम होता है ऐसा नहीं किंतु जो पति को देवतुल्य समझती है ऐसी कुलीन स्त्रिया भी पतीको अप्रिय समझ कर त्याग करती हैं.

जुणो व दरिद्रो वा रोगी सो चेव होइ से वेसो ॥

णिप्पीलिओव्व उच्छू मालाव मिलाय गदगंधा ॥ ९५६ ॥

प्रसूनमिव निर्गंधं द्वेष्ट्यो भवति निर्धनः ॥

म्लानमालेव वर्षिष्ठो रोगीक्षुरिव नीरसः ॥ ९७३ ॥

विजयोद्या—जुणो वृद्धो वा । दरिद्रो दरिद्र । रोगिद्रो व्याधित । सो चेव स एव युवत्ये घनित्वे नीरोगत्वे वा यः प्रिय. स एव होदि भवति । से तस्या. । वेसो द्वेष्यः । णिप्पीलिओव्व निष्पीडित इव उच्छू इक्षु ।

मालाव मिलाय गदगधा मालेव म्लाना नष्टगधा । अपहृतरस इक्षु शोभारहितनिर्गन्धमाला च यथाऽप्रिया । यौवनं, धनं, शक्तिश्च पुनोऽतिशयस्तदपये नैवासाविष्यते स्त्रीभिः ॥

मूलारा—सो चेव स एव । यो युवत्वे धनित्वे नीरोगत्वे च सति प्रियः । से तस्याः । वेस्तो द्वेष्यः । उच्छृङ्खल । मिलादगदगधा म्लाना नष्टगधा च ॥

अर्थ—पुरुष तरुण, श्रीमान और नीरोगी जबतक रहता है तबतक वह स्त्रीको प्रिय लगता है परंतु वही जब बुद्ध, दरिद्री और रोगी बनता है तब स्त्री उसका द्वेष करती है जैसे रसहीन ईव मनुष्य त्याग देते हैं अथवा शोभारहित निर्गन्धम्लानपुष्पोंकी माला जैसी लोक त्यागते हैं वैसे धनहीन, बुद्ध और रोगी पतिकी स्त्री इच्छा नहीं करती है तारुण्य, धन और सामर्थ्य ये बातें पुरुषमें विशेषता उत्पन्न करती हैं जिसमें ये बातें पायी जाती हैं वह स्त्रीको प्रिय होता है इनका नाश होनेसे वह उनको अप्रिय लगता है

महिला पुरिसमवण्णाए चेव वंचेइ गियडिकवडेहिं ॥

महिला पुण पुरिसकंदं जाणइ कवडं अवण्णाए ॥ ९५७ ॥

वंचयन्ति नरान्नार्यः समस्तानपि हेलया ॥

जानंति वचनं पौलं तदीयं न नराः पुनः ॥ ९७४ ॥

विजयोदया—महिला पुरिसमवण्णाए वनिता पुरुषमनादरेणैव वचयति । निरुत्सा कपटतया च स्त्रीभिः कृतां निरुक्ति वचना शठतां च न जानंति पुमांसः । महिला पुण वामलोचना पुनः जाणदि जानाति । किं कपटशत पुरिसकंदं पुरुषेण कृत । अवण्णाए अवश्यया औदासीन्येनैव अक्षेणेनैति यावत् ॥

मूलारा—अवण्णाए चेव अवश्यैव अक्षेणेनैवेत्यर्थः । गियडिकवडेहिं मृपास्मितजल्पितशपथकोपकथाभिः स्त्रीभिः कृता निरुक्ति वचना कपट च शठता नरा न जानंति इति भावः ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको आयास के बिना फसाती है अर्थात् झूठा दास्य, असत्य मापण, शपथ, असत्य कोप, और मथुर मापण इत्यादिकोंसे वे पुरुषको अनायाससे फसाती है. स्त्रीका किया हुआ कपटप्रयोग पुरुष नहीं जान सकते हैं. परंतु स्त्री पुरुषके कपट तत्काल जान लेती है.

नरो होवं मन्यते प्रियोऽहमेतस्या इति न चासौ प्रिय इत्याचष्टे—

जह जह मण्णेइ णरो तह तह परिभवइ तं णरं महिला ॥

जह जह कामेइ णरो तह तह पुरिसं विमाणेइ ॥ १५८ ॥

यथा यथा खी पुरुषेण मन्यते तथा तथा सा कुरुते पराभवं ॥

यथा यथा कामवशेन मन्यते तथा तथा सा कुरुते विट्ठनानाम् ॥ १५९ ॥

विजयोदयः—जह जह मण्णेइ णरो यथा यथा मानयति नर तथा तथा परिभवति तं नरं युवतिः । जह जह कामेदि णरो यथा यथा कामयते मनुष्यस्तथा तथा पुरिस विमाणेदि तथा तथा पुरुष विमानयति ॥

मूलारा—विमाणेदि अवज्ञाहृतं करोति ।

मै इस स्त्रीका प्रिय हूं ऐसा पुरुष समझता है परंतु वास्तविक वह उसका प्रिय नहीं है इस विषयका विवेचन—  
अर्थ—जैसे जैसे पुरुष स्त्रीका आदर करता है वैसे र वह उसका आनादर करती है, तथा जैसे र पुरुष उसकी इच्छा करता है वैसे र वह उसका तिरस्कार करने लगती है

मत्तो गउव्व णिच्चं पि ताउ मदविंभलाउ महिलाओ ॥

दासेव सगे पुरिसे किं पि य ण गणति महिलाओ ॥ १५९ ॥

भवन्ति सर्वदा योषा मत्तास्तंवेरमा इव ॥

स्यं दासमिव मन्यन्ते पुरुषं मूढमानसा ॥ १७६ ॥

शीलसंयमतपोबहिर्भवास्ता नरांतरनिविष्टमानसाः ॥

चिंतयन्ति पुरुषस्य सर्वदा दुःखमुग्रमपकारिणो यथा ॥ १७७ ॥

विजयोदया—मत्तो गओव्व मचगज इव । णिच्च नित्य । ताओ मदविंभलाओ मेदेन विह्वला युवतयः । दासे व सगे पुरिसे दासे वा स्वपुरुषे वा । किंचिपि किंचिदपि विशेषजातं । ण गणति नेव गणयति । कुलीनो ममान्यो भर्त्ता स्वामी दास्या पुत्रोऽयं जघन्य अहमस्य स्वामिनीति विवेक करोति ॥

मूलारा—किंचिदप्यंतर । अय दासीपुत्रोऽयं च कुलीनो मान्यो मम स्वामीति न विवेचयति मदाधाः प्रमदाः किं तु मम दास्याः पुत्रोऽय निकटोऽहमस्य स्वामिनी महामान्येति दृष्यन्ति । उक्तं च—

मत्तो गजपुत्रिर्दृष्टा, नित्यमतिविह्वलाः ॥

दासे वा स्वपतौ चापि विवेकं नैव कुर्वते ॥

दासेव सगे पुरिसे इति पाठे अयं कुलीनः स्वामीत्यादि विशेषणं जातं । दास इव स्वपुरुषे न गणयति दास-  
वत्त मन्यते इत्यर्थः । उक्तं च—

भवंत्य, सर्वदा योपा मत्ता, स्तेवरमा इव ॥

स्वं दासनिव मन्यते पुरुषं मूढमानसाः ॥

अर्थ—जैसा मत्त हाथी मदसे विह्वल होता है वैसी गविष्ठस्त्रिया भी गर्वसे अपने पतिको और दासको नौकरको समानभावसे देखती है, अर्थात् नौकरके समान अपने पतिको वे मानती है पति में नौकरसे कुछ विशेष पता है ऐसा वे जानती नहीं, मेरा पति मेरा स्वामी है और कुलीन है और यह दास दासीका पुत्र है, यह हीन-  
जातिका है मैं उसकी स्वामिनी हूं ऐसा विवेक उनके अतः करणमें उत्पन्न होता नहीं

अणिहुदपरगदहिदया तावो वग्धीव दुडुहिदयाओ ॥

पुरिसस्स ताव सत्तूव सदा पावं विचिंतंति ॥ ९६० ॥

कुर्वन्ति दारुणां पीडामामिषाशनलालसाः ॥

अपराधं विनाप्येताः पुंसां व्याघ्रा इवाधमाः ॥ ९७८ ॥

विजयोदया—अणिहुदपरगदहिदया ताओ अनिष्टतं परगतं हृदयमासामिति अनिष्टतपरगतहृदया भवन्ति ।  
अनिवारितपरासक्तचित्ततादोषाः । वग्धीव दुष्टहृदयमासा अकृतेऽप्यपकारे यथा व्याघ्री परं मारयितुमेव कृतचित्तेति  
दुष्टहृदया एवमिमा अपि । पुरिसस्स तावं पुरुषस्य तावत् । सत्तूव सदा पावं विचिंतंति । शत्रुरिव सदा पापमेव अशुभमेव  
चेतसि कुर्वन्ति । यथा यो रिपु कश्चित्कस्यचित्सर्वदा धनमस्य विनश्यतु, विपदोऽस्य भवन्त्विति चिन्तं करोति तथैव ता  
अपि ॥

मूलशरा—अणिहुदपरगदहिदयाओ अनिवारितपापासक्तचित्ता । अन्ये अनिष्टतमिति चचलमाहुरसधृतमित्यपरे ।  
दुष्टहृदयाओ अकृतेऽप्यपराधे मारणोद्यतचित्ताः । पावं अशुभं । धनमस्य विनश्यतु विपदोऽस्य भवन्त्वित्यादि ॥



अर्थ—स्त्रिया परपुरुषमें आसक्त हुए अपने हृदयको परावृत्त नहीं करती हैं, व्याघ्री जैसी अपकार न करने पर भी मनुष्यको मार डालती है वैसे दुष्ट क्रिया निरपराधी पतिको भी मारती है जैसे शत्रु अपने प्रति पक्षीका अशुभ होनेका ही चिंतन करता है, वैसे ये दुष्ट स्त्रिया भी अपने पतिका अशुभ कब होगा इसका ही विचार करती हैं शत्रु प्रतिपक्षका घन नष्ट होनेका चिंतन करता है विपत्तियोंका विचार करता है वैसे हि दुष्ट विचार ये दुष्ट स्त्रिया अपने मनमें करती हैं.

संज्ञाव णरेसु सदा ताओ हुंति खणमेत्तरागाओ ॥  
वादोव महिलियाणं ह्रियं अदिचंचलं णिच्चं ॥ ९६१ ॥

शंपेव चंचला नारी संध्येव क्षणरागिणी ॥  
छिद्रार्थिनां सुजंगीव शर्वरीव तमोमयी ॥ ९७९ ॥

विजयोदया—संज्ञाव णरेसु सदा ताओ हुंति संध्या इव नरेपु सदा ता भवति । खणमित्तरागाओ अल्प कालरागाः । अस्थिररागता नाम दोष, प्रकटित । यथा संध्याया रक्ता विनाशिनी । महिलियाण ह्रियं अदिचंचलं णिच्च । स्त्रीणां ह्रियं अतिचंचलं नित्यं । किमिव वादो व वात इव ॥  
मूलारा—रागाओ रागः प्रीतिर्नानावर्णश्च ॥

अर्थ—संध्याकालका लालरंग क्षणमात्र टिकता है अनंतर वह जैसा नष्ट होता है वैसे स्त्रियोंकी प्रीति क्षणमात्र रहती है अर्थात् अल्पकाल प्रेम करना यह दोष स्त्रियोंमें रहता है स्त्रियोंका हृदय हमेशा वायुके समान अतिशय चंचल रहता है.

जावइयाई तणाइं वीचीओ वालिगाव रोमाइं ॥  
लोए हवेज्ज तत्तो महिलाचिंताइं बहुगाइं ॥ ९६२ ॥  
सिंक्तातृणकल्लोरोमाणि सुवनत्रये ॥  
यावन्ति सन्ति तावन्ति मानसानि सृगीदृशाम् ॥ ९८० ॥

विजयोदया—आवह्याहं यावति दृणानि, धीर्बयः, शलुकाः, रोमाणि च जगति तन्नो युवतीनां विंता बह्व ॥  
मूलारा— तन्नो तेभ्योऽपि ।

अर्थ—जगतमें जितना दृण है, जितनी समुद्रकी और नदीकी लहरें हैं, जितना बालुकासमुदाय और प्राणिओंका केशसमूह है उनसे भी अधिक तरुण स्त्रियोंके मनमें विचारसमुदाय उत्पन्न होता है।

आगास भूमि उदधी जल मेरु वाउणो वि परिमाणं ॥

माहुं सक्का ण पुणो सक्का इत्थीण चित्ताइं ॥ ९६३ ॥

नगभूमिनभोऽम्मोधिसल्लिर्क्षेनभःस्वताम् ॥

शक्यते परिमा कर्तुं स्त्रीचित्तानां न सर्वथा ॥ ९८१ ॥

विजयोदया—आगासभूमि आकाशस्य भूमेरुधेर्जलस्य, मेरोर्वयोश्च परिमाणमस्ति । स्त्रीणां चित्त पुनर्मातुं न शक्यमस्ति ॥

मूलारा— आगासेत्यादि । आकाशादीना परिमाणमस्ति । अत एव ते मातुर्मित्यवधारितुं शक्याः, न पुनः स्त्रीचित्तानि परिमाणभावात् । निरंतरं नानाप्रकारविकल्पजालकुलत्वाच्चेया ॥ उक्तं च—

नगभूमिनभोऽम्मोधिसल्लिर्क्षेनभरवताम् ॥

शक्यते परमा कर्तुं स्त्रीचित्ताना न सर्वथा ॥

अर्थ—आकाश, जमीन, समुद्र, पानी, मेरु और वायु इन पदार्थोंका कुल परिमाण है परंतु स्त्रीके चित्तका अर्थात् उनके मनमें निरंतर उत्पन्न होनेवाले संकल्प विकल्पोंका परिमाण जानलेना अशक्य है।

चिद्धंति जहा ण चिरं विज्जुज्जलबुब्बुदो व उक्का वा ॥

तह ण चिरं महिलाए एक्के पुरिसे हवे पीदी ॥ ९६४ ॥

यथा समीरणोल्कांभोवुब्बुदाश्चिररोचिषः ॥

एकत्र नावतिष्ठते तथैताश्चलवृत्तयः ॥ ९८२ ॥

विजयोद्या—जहा ण चिरं चिट्ठति यथा न चिरं तिष्ठति विद्युतः । जलबुद्बुदा उल्काश्च तथा वनितानां न कस्मिंश्चित्पुरुषे ग्रीतिश्चिरं तिष्ठति ॥

मूला—चिट्ठति तिष्ठति, जलबुद्बुदों जलबुद्बुदः । उका उल्का । कस्मिंश्चित् कस्मिन्तपि ॥

अर्थ—जैसे विजली, पानीका बूबूला, और उल्कापात ये पदार्थ शीघ्र नष्ट होते हैं वैसे स्त्रियोंकी किसी पुरुषपर ग्रीति दीर्घ कालतक नहीं रहती है

परमाणू वि कंहंचिवि आगच्छेज्ज गहणं मणुरसस्स ॥

ण य सक्का घेत्तुं जे चित्तं महिलाए अदिसण्हं ॥ १६५ ॥

ग्रहीतुं शक्यते जातु परमाणुरपि नृवम् ॥

न सूक्ष्मं योपितो स्वान्तं दुष्टानामिव चंचलम् ॥ १८३ ॥

विजयोद्या—परमाणुरपि कथंचिन्मनुष्यस्य ग्रहणमागच्छेत् । वनिताना चित्तं पुनः ग्रहीतुं न शक्यमिति सूक्ष्मम् ॥

मूला—आगच्छेज्ज गहणं आगच्छेद्ग्रहणं । आलो, भवेदित्यर्थः । ण य सक्का घेत्तुं जे ग्रहीतुं न शक्यम् ॥

अर्थ—परमाणु को भी मनुष्य किसी उपाय के द्वारा ग्रहण करेगा, परन्तु स्त्रियों का अत्यन्त सूक्ष्म चित्त उसके द्वारा ग्रहण किया नहीं जाता है

कुविदो व किण्हसण्णो दुट्ठो सीहो गओ मदगलो वा ॥

सक्का हवेज्ज घेत्तु ण य चित्तं दुट्ठमहिलाए ॥ १६६ ॥

कुद्धं कंठीरवः सर्पः स्वीकर्तुं जातु शक्यते ॥

न चित्तं दुष्टवृत्तीनामेतासामतिभीषणम् ॥ १८४ ॥

विजयोद्या—कुविदो व कुपित । कुणसणं । दुष्टं सिहो, मदगजो वा ग्रहीतुं शक्यते । न तु ग्रहीतुं शक्यते दुष्टवन्तिचित्तम् ॥

मूलारा—मदगलो मत्तः ॥

अर्थ—अतिशय क्रुद्ध हुआ काला सर्प, दुष्ट सिंह, और उन्मत्त हाथी को भी मनुष्य पकड़नेमें समर्थ हैं, परंतु दुष्ट स्त्रीका मन पकड़नेमें वे समर्थ नहीं हैं

सक्कं हविज्ज दड्ढुं विज्जुज्जोएण रूवमच्छिम्मि ॥

ण य महिलाए चित्तं सका अदिचंचलं णाढुं ॥ १६७ ॥

रूपं सतमसौ द्रष्टुं विद्युद्द्योतेन पार्यते ॥

चेतश्चलस्वभावानां योषाणां न कथचन ॥ १८५ ॥

विजयोदया—सक हवेज्ज विद्युद्द्योतेन अक्षिस्थ रूपं द्रष्टुं शक्य न पुनर्युचित्चित्तमतिचपलं अवगतु शक्यम् ॥

मूलारा—अच्छिन्नि नेत्रे स्थित । नेत्ररूपमित्यर्थः । अच्छीहि इति पाठे अक्षिभिर्यस्य कस्यचिद्रूपं विद्युत्प्रकाशेन द्रष्टुं शक्यमिति न्याल्येयम् ॥

अर्थ—विजलीके अत्यल्प प्रकाशसे भी नेत्रका रूप देखना शक्य है परतु अतिशय चंचल ऐसा तरुण स्त्रीका मन जान लेना अति कठिन है.

अणुवत्तणाए गुणवत्तणेहिं चित्तं हरंति पुरिसस्स ॥

मादा व जाव ताओ रत्तं पुरिसं ण याणंति ॥ १६८ ॥

अलिण्हिं हसियवयणेहिं अलियरुयणेहिं अलियसवहेहिं ॥

पुरिसस्स चलं चित्तं हरंति कवडाओ महिलाओ ॥ १६९ ॥

महिला पुरिसं वयणेहिं हरदि पहणदि य पावहिदएण ॥

वयणे अमयं चिठ्ठदि हियए य विसं महिलियाए ॥ १७० ॥

हरन्ति मानसं रामा नराणामनुवर्तनैः ॥  
तावद्यावन्न जानति रक्तं कुटिलचेतसः ॥ ९८६ ॥  
हसितै रोदनैर्वाक्यैः शपथैर्विविधैः शठाः ॥  
अलीकैर्मानस पुसां गृह्णन्ति कुटिलाशयाः ॥ ९८७ ॥  
हरन्ति पुरुषं वाचा चेतसा प्रहरन्ति ताः ॥  
वाचि तिष्ठति पीयूषं विषं चेतसि योषिताम् ॥ ९८८ ॥

विजयोदया—महिला पुरिसं वयणेहिं वनिता पुरुषं वचनैर्हरति । इति च पापेन हृदयेन । वाक्ये मधु तिष्ठति ।  
हृदये विषं युवतीनाम् ॥

मूलारा—अणुवचणाण छेदावुत्पत्त्या । गुणवयणेहिं गुणकीर्तनैः । हरन्ति गृह्णन्ति । अतुरंजयन्ति । मादा वा  
माता यथा बालस्य ॥

मूलारा—अलिपहिं असत्यैः । एते द्वे अपि गोथे टीकाकारो नेच्छति ॥  
मूलारा—वाचाए वचसि ॥  
अर्थ—पुरुषके छंदका अनुसरण करके, और उसके गुणोंका वर्णन करके वे पुरुषका मन हरण करती  
स्त्रिया मिथ्या हास्यवचन, मिथ्या रोना, मिथ्या सोगंद खाना इत्यादि कपटयुक्तियोंसे पुरुषका मन हरण करती  
रहती हैं और हृदयमें विष रहता है

जब तक पुरुष अपनेमें अतुराक्त हुआ नहीं तब तक वे उसकी गुणप्रशंसा, उसके छेदावुत्पत्त्या प्रवृत्ति करती  
हैं, स्त्री पुरुषका चित्त मधुर वचनसे चोरती है और पापयुक्त हृदयसे उसका घात करती है स्त्रियों के वचनोंमें मधु  
रहता है और हृदयमें विष रहता है

तो जाणिऊण रत्तं पुरिसं चम्मडिमंसपरिसेसं ॥  
उद्दाहंति वधंति य बडिसामिसलगमंच्छं व ॥ ९७१ ॥  
उदए पवेज्जहि सिला अग्गी ण डहिज्ज सीयलो होज्ज ॥  
ण य महिलाण कदाई उज्जुयभावो णरेसु हवे ॥ ९७२ ॥

पाषाणोऽपि तरेत्तोये न दहेदपि पावकः ॥

न धित्तं पुरुषे स्त्रीणां प्रांजलं जातु जायते ॥ १८९ ॥

विजयोदया—उदय पवेज्ज खु उदके तरेदपि शिला, अग्निरपि न दहेत्, शीतलो वा भवेत् । नैव वनितानां कदाचिद्रेषु कजु भवति मन ॥

मूलारा—उदोर्हति निष्काशयति । एता टीकाकारो नेच्छति ॥

मूलारा—उदये जले । पवेज्ज खु तरदपि । कदाइ कदाचित् । उज्जुगभावो प्राजलपरिणामः ॥

अर्थ—अपनेपर आसक्त हुआ पुरुष चर्म, हड्डी और मांस ही शेष जिसका बचा हुआ है ऐसा देखकर गलको लगे हुए मत्स्य के समान उसको मार देती है अथवा उसको अपने घरमें निकाल देती है अर्थात् जब पुरुषके पास धन नहीं रहता है तब स्त्रिया उसको अपने घरसे निकाल देती हैं या उसको मार डालती हैं, कदाचित् पानीमें खिला तरने लगेगी, अग्नी अपना दाहक स्वभाव छोड़कर ठंडी होगी तोभी स्त्रियाँका मन कभीभी कपट छोड़कर सरलता नहीं धारण करेगा

उज्जुगभावमि असत्तयमि किध होदि तासु वीसंभो ॥

विस्संभमि असंते का होज्ज रदी महिलियासु ॥ १७१ ॥

प्राजलत्वं विना स्त्रीषु विस्संभो जायते कथम्

विस्संभेण विना तासु जायते कीदृशी रतिः ॥ १९० ॥

विजयोदया—उज्जुगभावमि कजुभावै असति कथ भवति तासु विस्संभ । असति विस्संभे का वनितासु रतिः ॥  
मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—स्त्रियाँमें सरलपना नहीं रहता है अतः वे पुरुषोंपर विश्वास रखती नहीं विश्वासके अभावमें उनका प्रेम भी स्थिर नहीं रहता-

गच्छिज्ज समुद्दस्स वि पारं पुरिसो तारित्तु ओघवलो ॥

मायाजलमि महिलोदधिपारं ण य सक्केदे गंतुं ॥ १७४ ॥

बाहुभ्यां जलधेः पारं तीर्त्वा याति परं ध्रुवम् ॥

न मायाजलधेः स्त्रीणां बहुविधमधारिणः ॥ ९९१ ॥

विजयोदया—गच्छिज्ज गच्छेत् समुद्रस्य अपि परं पारं तीर्त्वा महाबलः । मायाजलवनितोदधिपारं नैव गंतुं शक्नोति ॥

मूलारा—तरितु तीर्त्वा । ओघबलो महाबलः । बाहुबल इत्यन्ये ॥

अर्थ—सामर्थ्यवान् मनुष्य समुद्रका दूसरा किनारा प्राप्त कर सकता है, परंतु कपटरूपी जल जिसमें है ऐसा स्त्रीरूपी समुद्रको तीरकर दूसरा किनारा पुरुषके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है

रदणाउला सवग्धाव गुहा गाहाउला च रम्मणदी ॥

मधुरा रमणिज्जावि य सदा य महिला सदोसा य ॥ ९७५ ॥

सव्याघ्रेव गुहा रत्नैर्बहुभेदैर्विराजते ॥

रमणीया सदोषा च जायते महिला सदा ॥ ९९२ ॥

विजयोदया—रदणाउला रत्नसंकीर्णा सव्याघ्रा गुहेव रम्या नदी गाहाकुलेव मधुरा रम्या शठा सदोषा च वनिता ॥

मूलारा—रयणाउला रत्नाकीर्णा । वा यथा । गाहाउला मकरादिसकुला रम्मणदी रमणीयापगा ॥

अर्थ—पर्वतकी रत्नपूर्ण गुहा सुंदर दीवती है परंतु उसके अंदर व्याघ्रका निवास होनेसे वह भयानक भी है नदीका स्वरूप ऊपरसे रमणीय दीखाता है, परंतु अंदर मकरादि क्रूर जंतुआका निवास होनेसे वह भयावह है वैसे स्त्री भी मधुर और सुंदर होने पर भी कपटमय और दोषोंसे भरी हुई होनेसे अहित करने वाली ही है.

दिट्ठं पि ण सम्भावं पडिक्खदि णियडिमेव उहेदि ॥

गोघाणुलुक्कमिच्छी करेदि पुरिसस्स कुलजावि ॥ ९७६ ॥

न दट्टमपि सद्भावं वक्रधीः प्रतिपद्यते ॥

गोघान्तादि विद्यते सा पुरषे कुलपुत्र्यपि ॥ ९९३ ॥

विजयोदया—विष्टं पि दृष्टमपि न प्रतिपद्यते सद्भावं निकृतिमेवोपन्यस्यति ॥

मूलारा—विष्टं पि परेणालोकितमपि । सद्भावं दोषरूप । उदेदि उपन्यस्यति । अयमर्थः परेण दृष्टमपि दोष सत्यं न प्रतिपद्यते स्त्री, अस्त्ययं दोष इति न मन्यते किंतु नास्त्ययं न कृतो मयेति वंचनामेवावष्टभ्नाति । अत्रैवार्थो दृष्टतमाह—गोधाणुलुक् गोधाया इव ग्राह पुरुषविषये कुलपुत्रिकापि करोति । यथा गोधा स्वावष्टब्धा भूमिं बलात्कारेणापि लाज्यमाना न त्यजति तथा योपिदपि स्वगृहीतं पदं न मुचति । यत्नशतेनापि लाज्यमाना । अन्ये तु गोधाणुलुक् गोधान्तर्धानमाहुः । यथा गोधा पुरुष द्वा तत आत्मानं गोपायति । तथा योपिदपि यथैव मा न पश्यति तथा करोमीति । अथवा गोधाया अन्तर्द्धि करोति ग्राहेण गोधामपि तिरस्करोतीत्यर्थः । तथा चोक्तम्—

न दृष्टमपि सद्भावं वक्रधीः प्रतिपद्यते ॥

गोधान्तर्द्धि विद्यते सा पुरे कुलपुत्र्यपि ॥

अथर्वेव व्याख्येयं—परेण क्रियमाणं शोभनमपि अर्थमात्मना दृष्टमपि न प्रत्येति स्त्री, किं तर्हि तमशोभनं वक्र-  
तथा प्रत्येति । तथा पुरुषस्य सवधित्वेनात्मानं गोपायति । तथा चोक्तम्—

प्रत्येति न सद्भावं दृष्ट्वापि हि कपटनाटकं तनुते ॥

गोधागुप्तिं योपा विव्रधाति नस्त्य कुलजापि ॥

अर्थ—दूसरे मनुष्यने स्त्रीका कुछ दोष देखा हो तोभी वह मेरेमें यह दोष है अथवा मेनें यह दोष किया है ऐसा कभी नही कहेगी कपटसे उस दोषका आच्छादन ही करेगी, जैसा गोह नामक प्राणी किसी स्थानका आश्रय लेकर उसको इतना चिपक जाता है कि उससे कोईभी अलग नहीं करसकते हैं, वैसे दृष्ट स्त्री अपराध करके भी मेनें यह अपराध किया है ऐसा कभीभी स्वीकार न करेगी

पुरिसं वधमुवणेदिन्ति होदि बहुगा निरुत्तिवाद्ममि ॥

दोसे संघादिदि य होदि य इत्थी मणुस्सस्स ॥ ९७७ ॥

दोषाच्छादनतः सा स्त्री वर्धवर्धविधानतः ॥

प्रमदा गदिता प्राज्ञैः प्रमादबहुलत्वतः ॥ ९९४ ॥



विजयोदया—पुरिस वधमुवणेदित्ति पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति निरुच्यते । मनुष्यस्य दोषान्संहतान्करोतीति स्त्रीति निगद्यते ॥

स्त्रीवाचकशब्दनिरुक्तिद्वारेण तद्दोषानाह—

मूलारा—पुरिसमित्यादि । गिरुत्तिवादिस्मि व्याकरणे । दोसं संवाडेत्ति दोषान्संघातीकरोति । पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति व्यपदिश्यते योषित् । तथा मनुष्यस्य दोषान्संहतीकरोति इति स्त्रीति च ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको मारती है इस वास्ते उसको 'वधु' कहते हैं पुरुषमें यह दोषोंका समुदाय संचित करती है इस वास्ते इसको 'स्त्री' यह नाम है.

तारिसओ णत्थि अरी णरस्स अण्णेत्ति उच्चदे णारी ॥

पुरिसं सदा पमत्तं क्कुणदित्ति य उच्चदे पमदा ॥ ९७८ ॥

नारिर्यत्तः परोस्त्यस्यास्ततो नारी निगद्यते ॥

यतो विलीयते दृष्ट्वा पुरुषं विलया ततः ॥ ९९५ ॥

विजयोदया—तारिसओ तादृगन्यो नरस्य नारिरस्तीति नारीत्युच्यते । पुरुषं सदा प्रमत्तं करोतीति प्रमदेति निरुच्यते ॥

मूलारा—तादृगन्यो नरस्य नारिरस्तीति नारी । पमदा पुरुष प्रमत्तं करोतीति प्रमदा ॥

अर्थ—मनुष्यको इसके समान दूसरा शत्रु नहीं है अतः इसको 'नारी' कहते हैं, यह पुरुषको प्रमत्त अर्थात् उन्मत्त बनाती है इस लिये इसको 'प्रमदा' कहते हैं

गलए लायदि पुरिसरस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा ॥

जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा य ॥ ९७९ ॥

अबलत्ति होदि जं से ण वढं हिदयम्मि धिदिबलं अत्थि ॥

-कुम्भरणोपायं ज जणयदि तो उच्चदि हि कुमारी ॥ ९८० ॥

आलं जगेदि पुरिसस्स महल्लं जेण तेण महिला सा ॥  
 एवं महिलाणामाणि होति असुभाणि सव्वाणि ॥ ९८१ ॥  
 णिलओ कलीए अलियस्स आलओ अविणयस्स आवासो ॥  
 आयमस्सावसधो महिला मूलं च कलहस्स ॥ ९८२ ॥  
 कुत्तिसत्ता नुयंतो मारी कुमारी गदिता ततः ॥  
 विभेति धर्मकर्मभ्यो यतो भीरुस्ततो मत्ता ॥ ९९६ ॥  
 यतो लति महादोपं महिलाभिहिता ततः ॥  
 अबला भण्यते तेन न येनास्ति वल ह्दि ॥ ९९७ ॥  
 जुपते प्रतित पापं यतो योषा ततो मत्ता ॥  
 यतो ललति दुष्टत्ते ललना भणिता ततः ॥ ९९८ ॥  
 नामान्यपि दुरथानि जायंते योयितामिति ॥  
 समस्तं जायते प्रायो निदितं पापचेतसाम् ॥ ९९९ ॥  
 मत्सरविनयायासक्रोधशोकायशोभियाम् ॥  
 सर्वासां कारणं रामा विषाणामिव सर्पिणी ॥ १००० ॥

विजयोदया—णिलओ कलीण फलेर्निलय । अलीकमालय । अविनयस्याक्रूरः । आयासस्यावकाशः ।  
 कलहस्य मूलं युवतिः ।

मूलरा—पुरुषस्य गलेऽनर्थं लगायतीति, पुरुषं वा नृपं विलीने णि विलया कथ्यते । जोजदीत्यादि नरं  
 दुःखेन योजयतीति युवतिर्योषा च ॥

मूलरा—अवलन्ति नास्ति हृदये धृतिवलमस्या इति अत्रला । कुम्भं मरणोपाय जनयति इति कुमारी ॥

मूलरा—महिला पुरुषस्य महान्त आल जनयति इति महिला । मत्ता प्रात्रय श्रीविजयाचार्यो नेच्छति ॥

मूलरा—कलीए रागद्वेषयोः । आगरो धाकरः । आवसधो आयामः ॥

अर्थ—पुरुषके गलेमें यह अनशोंको बांधती है अथवा पुरुषको देखकर उसमें यह लीन होजाती है अतः इसको 'विलया' कहते हैं. यह स्त्री पुरुषको दुःखसे संयुक्त करती है अतः 'युवति' और 'योषा' ऐसे दो नाम इसके हैं.

इसके हृदयमें धैर्यरूपी बल दृढ रहता नहीं अतः इसको अबला कहते हैं. कृत्सित ऐसा मरण का उपाय उत्पन्न करती है इस लिये इसको कुमारी कहते हैं यह पुरुषके ऊपर दोषारोपण करती है उस लिये इस को महिला कहते हैं. ऐसे स्त्रियोंके जितने नाम हैं वे सर्व अशुभ ही हैं स्त्रिया रागद्वेषका निवासस्थान है असत्य भाषणका घर है, अविनयका स्थान है और दुःखोंका कारण हैं और कलहका मूल हैं.

सोगरस सरी वेरस्स खणी गिवहो वि होइ कोहरस ॥

णिचओ णियडीणं आसवो य महिला अकित्तीए ॥ ९८३ ॥

कुलजातियशोधर्मशरीरार्थशमादयः ॥

नाइयंते योषया सर्वे वात्यया तोयदा इव ॥ १००१ ॥

विजयोदया—सोगरस सरी शोकस्य नदी। वैरस्यवनि। निवह कोपस्य। निचयो निहृतीनां। अकीर्तै-राश्रयो युवति' ॥

मूलार—सरी नदी, खणी खानि', निवहो सघातः। गिवओ राक्षिः ॥

अर्थ—स्त्री शोककी नदी है. वैर की भूमि-अर्थात् उत्पत्ति स्थान है. स्त्री कोपका समुदाय रूप है कपटोंका समूह है और अकीर्तिका आधार है

णासो अत्यस्स खओ देहस्स य दुग्गदीपमग्गो य ॥

आवाहो य अणत्थस्स होइ पहवो य दोसाणं ॥ ९८४ ॥

पावकः सुखदारूणां आवासो दुःखपाथसाम् ॥

प्रव्ययो व्रतरत्नानामनर्थानां निकेतनम् ॥ १००२ ॥

विजयोदया—णासो अत्यस्त अर्थस्य नाशः । देहस्य क्षयः । दुर्गतिमार्गः । अन्तर्धस्य कुल्या । दोषाणा प्रभवः ॥  
 मूलारा—आवाहो गवादीना जलगनस्थानं कुल्येत्यपरः । पवाहो प्रवेशः ॥  
 अर्थ—स्त्री धननाशका कारण है देहमें क्षयरोग उत्पन्न करती है दुर्गति का मार्ग है और अनर्थों का निवास है और दोषों की उत्पत्तिस्थान है

महिला विधो धम्मस्स होदि परिहो य मोक्खमग्गस्स ॥  
 दुक्खाण य उप्पत्ती महिला सुक्खाण य विवत्ती ॥ ९८५ ॥  
 असत्यानां गृहं योषा वचनानां वसुंधरा ॥  
 कुठारी धर्मवृक्षाणां सिद्धिसौधमहागला ॥ १००३ ॥  
 दोषाणामालयो रामा मीनानामिव वाहिनी ॥  
 गुणानां नाशिका माया व्रतानामिव जायते ॥ १००४ ॥

विजयोदया—महिला विधो वनिता विधो भवति । धम्मस्स धर्मस्य । परिहो मोक्षमार्गस्य । दुःखाना चोत्पत्तिः । सौख्यानां च विपत्तिः ॥

मूलारा—परिहो परिचः । अर्गलेत्यर्थः । विवत्ती विनाशः ॥  
 अर्थ—स्त्री धर्मोचरणमें विघ्न समान है मोक्षमार्गमें यह अर्गलाके समान प्रतिवधक है दुःखों की उत्पत्तिस्थान है और सुखों का नाश करनेवाली है

पासो व बंधिदुं जे छेत्तुं महिला असीव पुरिसस्स ॥  
 मिह्छं व विधिदुं जे पंकोव निमज्जिदुं महिला ॥ ९८६ ॥  
 बंधने महिला पाशः खड्गः पुंसां निकर्तने ॥  
 छेदने निशितः कुंतः पंकोऽगाधो निमज्जने ॥ १००५ ॥

विजयोदया—पासो व बंधिदुं जे पाश इव बंधितुं । सुगमा गाथा अनादरो व्याख्याते ॥

मूलारा—बंधिदुं जे बंधु । विधिदुं जे छेनु । पको पणको नाम कर्दमभेदः । निमब्बिदुं छुडिनुं ॥

अर्थ—बी पुरुषको बंधनकेलिये पाशके समान है पुरुषको तोडनेके लिये कुन्हाडकि समान है और विद्ध करने के लिये चाण के समान है और दुन्ननेके लिये क्रीचवके समान है.

सूलो इव भित्तु जे होइ पवोडुं तथा गिरिणी वा ॥

पुरिसस्स खुण्णं कहुमोव मच्चुंव मरिदुं जे ॥ ९८७ ॥

अमीवि य डहिदुं जे मदेव पुरिसस्स मुब्बिदुं महिला ॥

महिला णिकत्तिदुं करकचोव कंडूव पडलेदुं ॥ ९८८ ॥

पाडेदुं परसू वा होदि तथा मुगरो व तोडेदुं ॥

अवहणं पि य जुण्णेदुं जे महिला मणुस्सस्स ॥ ९८९ ॥

चंदो हविज्ज उण्हो सीदो सूरु वि थडुमागांस ॥

ण य होज्ज अदोसा भदिआ वि कुलवालिया महिला ॥ ९९० ॥

एए अण्णेय बहुदोसे महिलाकदे वि चितयदो ॥

महिलाहिंतो विचितं उब्बियदि विसग्गिसरसीहिं ॥ ९९१ ॥

वग्घदीणं दोसे णच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो ॥

तह महिलाणं दोसे दंहु महिलाओ परिहरइ ॥ ९९२ ॥

महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीचाणं ॥

तत्तो अहियदरा वा तेसिं बलसत्तिजुत्ताणं ॥ ९९३ ॥

जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिदिदाओ महिलाओ ॥  
 तह सीलरक्खयाणं महिलाणं णिदिदा पुरिसा ॥ ९९४ ॥  
 किं पुण गुणसाहिदाओ इच्छीओ अत्थि वित्थडजसाओ ॥  
 णरल्लोगदेवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥ ९९५ ॥  
 तित्थयरचक्कधरवासुदेवबलदेवगणधरवरणं ॥  
 जणणीओ महिलाओ सुरणरवरेहिं महियाओ ॥ ९९६ ॥  
 एगपदिव्वइक्कणावयाणि धारिंति कित्तिमाहिलाओ ॥  
 वेधव्यतिव्वदुक्खं आजीवं णिति काओ वि ॥ ९९७ ॥  
 सीलवदीवो सुच्चति महीयले पत्तपाडिहेराओ ॥  
 सावाणगुहसमत्थाओ वि य काओव महिलाओ ॥ ९९८ ॥  
 उग्घेण ण वूढाओ जलंतवोरगिणा ण दूढाओ ॥  
 सप्पेहिं सावज्जेहिं वि हरिदा खच्चा ण काओ वि ९९९ ॥  
 सव्वगुणसमग्गाणं साहूणं पुरिसपवरसीहाणं ॥  
 चरमाणं जणणित्तं पत्ताओ हवंति काओ वि ॥ १००० ॥  
 मोहोदयेण जीवो सब्बो दुस्सीलमइल्लिदो होदि ॥  
 सेो पुण सब्बो महिला पुरिसाणं होइ सामग्गा ॥ १००१ ॥  
 तस्सा सा पल्लवणा पउरा महिलाण होदि अधिकिच्चा ॥  
 सीलवदीओ भणिदे दोसे किह् णाम पावंति ॥ १००२ ॥  
 इत्थिगदा ॥

नराणां भेदने शूलं बहने नगवाहिनी ॥  
 मारणे दारुणो मृत्युर्मलिनीकरणे मयी ॥ १००६ ॥  
 अनलो दहने पुसां मुदरश्चूर्णने परः ॥  
 ज्वलन्ती पवने कंदूः करपत्रं विपादने ॥ १००७ ॥  
 उष्णश्चंद्रो रविः क्षीतो जायते गगनं घनम् ॥  
 नादोषा प्रायशो रामा कुलपुत्र्यपि जातु चित् ॥ १००८ ॥  
 सर्पिणीव कुटिला विभीषणा वैरिणीव बहुदोषकारिणी ॥  
 मंडलीव मलिना नितंविनी चाटुर्गमं वितनोति यच्छतम् ॥ १००९ ॥  
 नारीभ्यः पश्यतो दोषानेतानन्यांश्च सर्वथा ॥  
 चित्तमुद्विजते पुंसो राक्षसीभ्य इव स्फुटम् ॥ १०१० ॥  
 योपस्त्यजंति विद्वांसो दोषान्जात्वेति दूरतः  
 व्याघ्रीरिव कृपाहीनाः परामिपपरायणाः ॥ १०११ ॥  
 दोषा ये संति नारीणां नराणां ते विशेषतः ॥  
 द्रष्टव्या दुष्टशीलानां प्रकृष्टयलेतेजसाम् ॥ १०१२ ॥  
 व्याघ्रा इव परित्याज्या नरा दूरं कुचेतसः ॥  
 रामाभिः शुद्धशीलाभी रक्षतीभिर्निजं व्रतम् ॥ १०१३ ॥  
 यथा नरा विमुच्यंते वनिता व्रत्तचारिणः ॥  
 त्याज्यास्ताभिर्नरा व्रत्तचारिणीभिस्तथा सदा ॥ १०१४ ॥  
 न रामा निखिलाः संति दोषवन्त्यः कदाचन ॥  
 वैवता इव दृश्यंते वंदिता बहवः स्त्रियः ॥ १०१५ ॥  
 मातरस्तीर्थकर्तृणां सुवनोद्योतकारिणां ॥  
 जायंते वनिता धन्याः शक्रवयस्कर्मण्युजाः ॥ १०१६ ॥

धात्राभारव शुद्धाभिमणयः पुरुतेजसः ॥ १०१७ ॥  
 पुरन्तनि न जायते शुद्धशीलाः स्त्रियो विना ॥  
 विना नीरदमालाभिः पानीयानां क संभवः ॥ १०१८ ॥  
 आजन्म विधवाः काश्चिद्रक्षचर्यमखंडितम् ॥  
 धरति दुर्धरं धन्या ज्वलद्दीपमिवोज्ज्वलम् ॥ १०१९ ॥  
 कन्याभिरार्गिकाभिश्च चीयते दुश्चर तपः ॥  
 विच्छिद्य शमशस्त्रेण मन्मथप्रतियन्धकम् ॥ १०२० ॥  
 ध्रियते शुद्धशीलाभिर्यावज्जीवमदूयितम् ॥  
 पतिव्रत्तव्रत स्त्रीभिः पराभिः पूजितं सताम् ॥ १०२१ ॥  
 देवेभ्यः प्रातिहार्याणि प्राप्ता विख्यातकीर्तयः ॥  
 योषाः शीलप्रसादेन श्रूयते बहवो सुवि ॥ १०२२ ॥  
 शीलवंत्यो विलोक्यन्ते ता धन्या बुधवंदिताः ॥  
 समर्थाः क्षीतलीकर्तुं या ज्वलंतं हुताशनम् ॥ १०२३ ॥  
 सर्वशास्त्रसमुद्राणां वदितानां जगत्त्रये ॥  
 सवित्र्यः सन्ति शीलाढ्याः साधूनां चरमांगिनाम् ॥ १०२४ ॥  
 निमज्ज्यन्ते न पानीयैर्नीयन्ते न नदीजलैः ॥  
 सत्यो व्यलैर्न भक्ष्यन्ते न दह्यन्ते हुताशनैः ॥ १०२५ ॥  
 मोहोदयेन जायते स्त्रीपुंसामशुभाः शुभाः ॥  
 परिणामा इति ज्ञात्वा मोहो निचो न जन्तवः ॥ १०२६ ॥  
 साधारणेऽत्र सर्वेषां जीवानामनिचारिते ॥  
 दुष्टाः सन्ति परीणामास्ततः कार्योऽस्य निग्रहः ॥ १०२७ ॥



श्लाघ्या भवन्ति नार्योऽपि शुद्धशीला महीयसा ॥  
 स्त्री पुमानिति कुर्वन्ति शोशुर्वी मंदमेधसः ॥ १०२८ ॥  
 सामान्येन ततो नेह निविताः सन्ति योषितः ॥  
 शुद्धशीला न गच्छन्ति दूषण हि कदाचन ॥ १०२९ ॥  
 शुद्धशीलकलितासु जायते नांगनासु चरितं मलीमसं ॥  
 आस्पद हि विदधाति तामसं हंसरश्मिषु कदाचनापि किं ॥ १०३० ॥  
 इति स्त्री दोषाः ॥

इत्थि गदा ॥

मूलारा—सूखो वि य शूलमिव । पवोढुं प्रवाहयितुं संसारणवे पतयितुं । मच्चुञ्च मल्युखि ॥  
 मूलारा—अगणिवि य अग्निरिव । छर्दितुं जे वग्धु । मदेव मगाविजनिताचित्तविकार इव । गज्जितुं मूढीभ-  
 वितुं । निक्किटितुं संढयितु । करकचोव करपत्रमिव । कंढ कंढु । स्वेदनिका । पवोढुं स्वेदयितुम् । पक्वमिति यावत् ।  
 मूलारा—पावोढुं वारयितुं परस्स कुठारः । अवहण्णं लोहकारस्य घनः ॥  
 मूलारा—घट स्तब्धं, कठिनं, भदिया भद्रिका । अकरा ।  
 मूलारा—मलिलाद्धितो स्त्रीभ्यः । उन्विचयवि उद्धिजते ॥  
 मूलारा—स्पष्टम् ।

एवं प्रवंचेन स्त्रीषु दोषान्यवद्वर्यं नीचपुरुषेणपि तेषां ताभ्योऽधिकतराणां वा सद्भावं भावयति ॥  
 मूलारा—यल अन्नाविजनितासामर्थ्यं । सन्ति शक्तिः वीर्यगार्धिल्यप्रभावगित्यर्थः । ताभ्यां सशितानां स्त्रीभ्योऽधिक-  
 तरमित्यत्रापि लिङ्गाविपरिणामेनानुवर्त्यम् ॥

शीलरिरक्षिपया पुमिर्दुष्टाः क्रिय इव स्त्रीभिरपि दुष्टपुमांसो जुगुप्स्या इति दर्शयति—  
 मूलारा—पिदिवा निशा लाज्या इत्यर्थः । शीलरभिक्षयाणं शुचिपरितं रक्षितुमुत्तमानां ॥  
 ननु च शीलरभिक्षयाणमित्येतदौपक्रमयत्प्रतिपादनपरेण पूर्वोक्तप्रबंधेन स्त्रीणां त्रिकुञ्चते तत्किमिदानीं का-  
 त्रिच्छीलवत्योऽपि स्त्रियः संभयेयुरिति पर्यनुजानं प्रति सविस्मयं स्त्रीमतदिकानां गुणप्रामसद्भावल्यापनार्थमाह—

मूलारा—किं पुण किं पुनर्वक्तव्यम् ॥ यद्यपि जातिभावेण संसारशरीरमोगनिर्विण्णैर्मोक्षसुखैकरसिकैः संयमि-  
मिस्तथापि काश्चिदुपातिशयशालिन्यस्तेषामपि सुतिपदं भवन्तीति विस्मयद्योतनार्थमेतत् । यतः गुणेत्यादि । वित्यज-  
साओ विस्तीर्णकीर्तयः ॥

विशेषेणाह—

मूलारा—गणधरवरणं तीर्थकराग्रशिष्याणां वृषभसेगुरस्सरेन्द्रभूतिपर्यंतगणधरप्रधानानां । सुरणरपरवरेहिं  
सौधर्मेन्द्रादिदेवेन्द्रभरतचक्रवर्त्यादिनेन्दैः ॥

स्त्रीविशेषाणां शीलपालनातिशयमुद्गदयति—

मूलारा—एगपदिव्वद एकपतिव्रतं देवभिगुरुसाक्षिकपाणिग्रहणप्रतिपन्ने भर्तरि प्रवृत्ति । कण्णावद कन्या-  
व्रतं कौमारव्रदचारित्र । किन्तिमालाओ यशोभूषणाः । किन्तिमहिलाओ इति पाठे कीर्तियुक्ताः स्त्रिय इत्यर्थः ॥

वेधन्वन्तिवदुक्त्वं रंढात्वदुःसहमहादुःख । जीवंतं जीवितपर्यन्तं णति नयन्ति प्रापयन्ति । कावो काश्चित् ॥

तथा काश्चिच्छीलवलादभिव्यक्तशानुमदशकयोऽपि लोके श्रूयते इत्याह—

मूलारा—सुञ्चति श्रूयते । पत्तपाडिहेराओ देवतादिश्यः प्रतिलब्धव्यापत्त्यतिकारसत्काराः । सावाणुगइसस्म  
त्थाओ आकाशोपकारसमर्थः । कावो वि काश्चित्सीतादयः ॥

काश्चिच्च शीलव्रतप्रतिवद्धतत्त्वोरव्यापत्तयोऽपि श्रूयते इत्याह—

मूलारा—ओघेण महानदी जलप्रवाहेण । ण वूढाओ न नीताः । कावो वि काश्चन शीलवत्त्यः सुलोचनादयः ।  
तद्व्रमोक्षगामिपुरंल्लप्रसूतेन सत्यापितनिजसुचरितनिर्वाहाः काश्चिच्छ्रूयते इत्युपदिशति—

मूलारा—चरिमाणं चरमदेहानां । जणणित्तं सवित्रीभावं । कावो वि सुन्दरादयः ।

किंच सर्वेऽपि जीवाः प्रकृत्यैव शुद्धबुद्धस्वभावाः शीलमालिन्यं तु मोहोदयैकनिमित्तमेयां स च सर्वेषां संसा-  
रिणा प्रायेण साधारण इति मोह एव निदनीयो न जंतव इति शिक्षयनाथाद्वयेन प्रस्तुतमुपसंहरति—

मूलारा—स्पष्टम् ।

मूलारा—सा प्रागुक्ता । पण्णवणा दोषप्रख्यापना । पवरा महिला प्रवराः स्त्रियः अधिकृत्य न भवतीति संबंधः  
कुत इत्याह—भणिदा प्रतिपादितान् । किध णाम कथमहो न कथमित्यर्थः ॥ स्त्रीदोषः ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको शूलके समान भेद करती है जैसे पर्वत परसे नीचे गिरनेवाली नदी पदार्थको बड़े जोरसे अपने साथ बहाती हुई सद्युद्धमें ले जाती है वैसे स्त्री भी पुरुषको भयमयुद्धमें फेक देती है जैसे कीचड़ मनुष्यको खोल फमाता है वैसे स्त्री भी पुरुषको कीचड़के समान फमाती है जैसे मृत्यु मनुष्यको मारता है वैसे स्त्री भी पुरुषको मारती है, अग्नीके समान स्त्री पुरुषको जलती है, मद्य जैसे चित्तमें विकार उत्पन्न करता है वैसे स्त्री भी पुरुषके चित्तको विकृत करती है, करत जैसा लकड़ीको फाड़ता है उसे स्त्री भी मनुष्यके हृदयको दुर्भाषण और अयोग्य व्यवहारसे चीरती है खुजलसि जैसा मन अंगमें कंड खुजली उत्पन्न होती है वैसे इसके सहवाससे शांति नहीं मिलती है, यह परशुके समान फाड़ती है व शूद्रके समान दुराचरणसे पुरुषके हृदयपर आघात उत्पन्न करती है पुरुषके चूर्ण करनेके लिये स्त्री लोहके घन समान है।

चंद्र कदाचित् शीतलताको त्यागकर उष्ण चनेगा, सूर्य भी थका होगा, आकाश भी लोहपिंडके समान घन होगा परंतु कुलीन वंशकी भी स्त्री कल्याणकारिणी और सरलस्वभावकी धारक नहीं होगी।

ऊपर कहे हुए दोषोंके साथ और भी अनेक दोष स्त्रियोंमें हैं, उनका यदि पुरुष विचार करेगा तो वे स्त्रिया उसको विष और अद्रिके समान भयानक दीखेंगी और उनसे उनका चित्त लोटेगाही, व्याघ्र, सर्प वगैरे क्रूर प्राणीओंके दोष जानकर जैसे मनुष्य उनसे दूर रहता है वैसे स्त्रियोंमें दोष है ऐसा जानकर पुरुषको उनका त्याग करना उचित है।

स्त्रियों में जो दोष हैं वे ही दोष नीच पुरुषों में भी रहते हैं, इतनाही नहीं स्त्रियोंसे भी उनकी अनादिकों से उत्पन्न हुई शक्ति अधिक रहनेसे उनमें अधिक दोष रहते हैं।

शीलका रक्षण करनेवाले पुरुषको स्त्री जैसे निंदनीय अर्थात् त्याग करने योग्य है जैसे शीलका रक्षण निंदनीय मानी गई है तथापि जगतमें कोई २ स्त्रिया गुणातिशयसे शोभायुक्त होनेसे मुनिओंके द्वारा भी स्तुति योग्य हुई हैं उनका यश जगतमें फैला है ऐसी स्त्रिया मनुष्यलोकोमें देवताके समान पूज्य हुई हैं देव उनको नमस्कार करते हैं तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र और गणधरादिकोंको प्रसवनेवाली स्त्रिया देव, और मनुष्योंमें जो प्रधान व्यक्ति है उनसे वंदनीय होगई है, कितनेक स्त्रिया एक पतिव्रत धारण करती है, कितने

स्त्रिया आजन्म अविवाहित रहकर निर्मल ब्रह्मचर्यं व्रत धारण करती हैं कितनेक स्त्रिया वैधव्यका तीव्र दुःख आजन्म धारण करती हैं

शीलव्रत धारण करनेसे कितनेक स्त्रियोंमें शाप देना और अशुभ करनेकी भी शक्ति प्राप्त हुई थी ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन है देवताओंके द्वारा ऐसी स्त्रियोंका अनेक प्रकारसे माहात्म्य भी दिखाया गया है

ऐसी महाशीलवती स्त्रियोंको जलप्रवाह भी बहानेको असमर्थ है अग्नि भी इनको नहीं जला सकती है. वह शीतल होती है ऐसी स्त्रियोंको सर्प व्याघ्रादिक प्राणी खा नहीं सकते हैं अथवा मुहमें लेकर अन्यस्थानमें नहीं फेंक देते हैं

सर्पण गुणोंसे परिपूर्ण, श्रेष्ठ पुरुषोंमें भी श्रेष्ठ, तद्भव मोक्षगामी ऐसे पुरुषोंको कितनेक शीलवती स्त्रियोंने जन्म दिया है

मोहोदयसे जीव कुशल बनते हैं मलिन स्वभावके धारक बनते हैं यह मोहोदय सर्व स्त्रियोंमें और पुरुषोंमें समान रीतसे है. जो पछि स्त्रियोंके दोषका विस्तारसे वर्णन किया है वह श्रेष्ठ शीलवती स्त्रियोंके साथ संबंध नहीं रखता है अर्थात् वह सब वर्णन कुशील स्त्रियोंके विषयमें समझना चाहिए क्योंकि शीलवती स्त्रिया गुणोंका पुंजस्वरूपही है. उनको दोष कैसे छू सकते हैं स्त्रीकृत दोषैक्य यहांतक वर्णन किया ।

ऋगतान्दोपातमिवाद्य मनुचिन्निरूपणार्थं उत्तरप्रबंधः—

देहस्य बीयणिष्पत्तिरेत्तआहारजम्मबुद्धीओ ॥

अवयवणिग्गमअसुई पिच्छसु वाधी य अधुवत्तं ॥ १००३ ॥

देहस्य बीजनिष्पत्तिक्षेत्राधोजन्मबुद्धयः ॥

अंसाश्च निर्गमोऽशौचं क्षेत्रं व्याधिरनित्यता ॥ १०३१ ॥

विजयोदया—देहस्य बीज इत्यादिक । देहस्य बीज, निष्पत्ति, क्षेत्र, आहार, जन्म, वृद्धि, अवयवः, निर्गमः, अशुचि, व्याधिरधुवतेत्येतान्यस्येति सूरिब्रवीति क्षपक ॥

एवं बीदोपान्याख्यायेदानीं देहाशुचित्वं समपष्टया व्याचष्टे । तत्र शरीरस्य बीज, निष्पत्तिः, क्षेत्रमाहारो, जन्म, वृद्धिरवयवनिर्गमाशुचित्वमसारत्वेक्षणं, व्याधयोऽधुबल चेति द्वादश प्रबधेन व्याचर्कीर्युः क्षपकं प्रत्युद्दिशति —

मूलारा - देहस्स प्रकरणन्मनुजानामिति द्रष्टव्यं । निष्पत्ति निष्पद्यमानता । जन्म प्रसवः । बुद्धी जन्मक्षणो-  
त्तरकालभाव्युपचयः । णिमस कर्णाद्यगोभ्यो निर्गच्छन्तीति निर्गमाः कर्णमलादयः । पेच्छसु अहो महासत्त्व, कर्मक्षपणो-  
द्यत, सुसुक्षो । ब्रह्मचर्यव्रतसिद्ध्यर्थं देहस्य बीजादीनि प्रेक्षस्व त्वं ।

अपवित्रताका वर्णन करनेके लिए अब उत्तर प्रबंध है—  
अर्थ—देहका बीज, उत्पत्ति, क्षेत्र, आहार, जन्म, वृद्धि, अवयव, निर्गम, अशुचि, व्याधि और नश्वरता

इतने प्रकारोंको हे क्षपक ! तुम देखो ऐसा आचार्य क्षपकको कहते हैं ? देहके बीज, उत्पत्ति वगैरह विषयोंका विवे-  
चन यहसि आचार्य करेंगे ।

देहस्य बीजमित्येतद्वाक्यानायोत्तरगाथा—

देहस्स सुक्कसोणिय असुई परिणामिकारणं जह्मा ॥  
देहो वि होइ असुई अमेज्झघदपूरवो व तदो ॥ १००४ ॥

देहस्याशुचिनिर्बीजं यतो लोहितरेतसी ॥  
ततोऽसावशुचिर्ज्ञेयो यथा गूथाज्यपूरकः ॥ १०३२ ॥

विजयोद्या—देहस्य बीजं मनुजाना शुक्रशोणितं । अशुचि शुक्र पुंसः, शोणितं च वनिताया परिणामि  
कारण । जह्मा यस्मात् । परिणामिकारण शरीरत्वेन तदुभय परिणमति तस्मात्परिणामिकारणं । देहोवि असुइ शरीरमपि  
अशुचि तत् पव । अमेज्झघदपूरवो च अमेध्यघृतपूरक इव । यदशुचिपरिणामि कारण तदशुचि यथासौम्यघृतपूरक  
देहबीजं गाथात्रयेण व्याचक्षाणः प्रथम मानुषवपुषो अशुच्युपादानकारणकत्वेन अशुचित्वमुपपादयति—

मूलारा—सुक्कसोणिदं शुक्रं गर्भयोग्य पुसो रेतः शोणिन च शुक्रशोणितं । समाहारद्वयस्य सहतिप्रधानत्वात्  
किंचिद्गर्भपरोहणयोग्य तार्थीयिकमवस्थातरमापन्नं शुक्रार्तवमित्यर्थः । तथा चोक्तं अष्टागह्नद्वये—  
शुद्धे शुक्रार्तवे सत्वः स्वकर्मक्षेत्रोद्भूतः ।  
गर्भः सपद्यते शुक्तिवशादग्निरिवारणौ ॥

परिणामिकारणं परिणमते विवर्तते इति परिणामि तच्च तत्कारणं च जनकं परिणामिकारणं उपादानकारणं । तल्लक्षणं यथा—

सत्कालात्कालरूप यत्पौर्वपर्येण वर्तते ॥

कालत्रयेऽपि तद्रूप्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥

अमेज्जघदपुण्णगोव अमेज्जघृतपूरक इव । तथा चोक्तम्—

शुक्रशोगितमगस्य यदुपादानकारणं ॥

अशुच्यंगं ततो यद्वदमेज्जघृतपूरकः ॥

प्रयोगः—यदशुचि परिणामिकारणं तदशुचि, यथाऽमेज्जघृतपूरकः । अशुचिपरिणामिकारणं च शरीरं तस्माद-  
शुचि ।

देहके बीजका दो गाथाओंसे वर्णन—

अर्थ—जिससे देहकी उत्पत्ति होती है ऐसा यह बीर्य और रक्त अपवित्र है. अतः इनसे उत्पन्न होनेवाला देह पवित्र कैसे हो सकता है ? रक्त और बीर्यसे ही शरीरका परिणमन होता है अतः शरीर अपवित्र है. विद्यासे बने हुए घृतपूरके समान शरीर अपवित्र है. अपवित्र पदार्थोंका परिणमन जिसके कारण है वह पदार्थ अपवित्र होता है जैसा अपवित्र विद्याका घृतपूरक अपवित्र होता है वैसा शरीर भी अपवित्र कारणोंका ही परिणमन होनेसे अपवित्र है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है—

दहं विहिंसणीयं अमेज्जमिव संकुदो पुणो होज्ज ॥

ओज्जिग्घिदुमालुहुं परिभोतुं चावि तं बीयं ॥ १००५ ॥

द्रष्टुं घृणायते देहो वचोराशिरिव स्फुटम् ॥

स्फुटुमालिगितुं भोक्तुं तद्दीजो सुज्यते कथम् ॥ १०३१ ॥

विजयोदया—वहं वि य द्रष्टुमपि । विहिंसणीयं खगुप्सनीयं । अमेज्जमिव अमेज्जमिव । संकुदो पुणो होज्ज भोज्जिग्घिदुं कुत पुनर्भवेदाम्नातुं । अलुहुं आलिगितुं । परिभोतुं चावि परिभोक्तुं चापि । तं बीजं तत् शुक्रशोगिताख्यं बीजं । तत्परिणामत्वाच्चररीरमपि तदेव बीजमिव शरीरमिति मत्वा बीजमिति उक्त ॥



मूलरा—समिदकदो इत्यादि—समिधा कणिकाद्रव्येण कृतो निर्वृत्तः । वीए उत्पन्न इत्याध्याहारः ।  
 कार्यरूपसे परिणत होनेवाले कारणमें यदि शुद्धता हो तो उससे उत्पन्न होनेवाला कार्य भी शुद्धतायुक्त  
 दीखता है शरीर शुद्ध नहीं है क्योंकि उसका कारण अशुद्ध है इस विषय का विवेचन—  
 अर्थ—गेहूँके आटेसे बनाया हुआ घृतपूरक पवित्र है क्योंकि, गेहूँका आटा पवित्र है, वैसे वीर्य और  
 रक्त ये पदार्थ पवित्र नहीं है अतः इनसे उत्पन्न होनेवाला पदार्थ अर्थात् शरीर शुद्ध कैसा माना जायगा अर्थात्  
 वह अशुद्ध ही है

शरीरनिष्पत्तिक्रमनिरूपणार्थं उत्तप्रवच.—

कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं ॥

थिरभूदं दसरत्त अच्छवि गब्भस्मि तं वीर्यं ॥ १००७ ॥

दशाहं कललीभूतं दशाहं कलुपीकृतं ॥

दशाहं च स्थिरीभूत वीजं गर्भेऽवतिष्ठते ॥ १०३५ ॥

विजयोदया—कललगदं कललत्वं नाम पर्याय तं गतं प्राप्ते वीज दश दिनमात्रं । अच्छदि आत्ते । कलुसीकद  
 च कलुपीकृतं च । दश रात्रिमात्रं अवतिष्ठते । थिरभूदं दसरत्तं स्थिरभूतं यावद्दशदिनमात्रं । अच्छदि आत्ते । गब्भस्मि  
 गर्भे तं वीजं तद्बीजं ॥

नुवेहनिष्पत्तिक्रम गाथापंचकेन व्याचष्टे—

मूलरा—कललगदेति । कललगदं विलीनताम्रजतद्रव्यकल्पकलत्वत्पर्याय प्राप्तं । दसरत्त दशाहोत्रावात् ।

कलुसीकदं मिश्रित । थिरभूदं दृढीभूत । गब्भस्मि गर्भाशये ।

अर्थ—माताके उदरमें वीर्यका प्रवेश होनेपर वहा दश दिनतक वीर्यकी कलल नामकी अवस्था होती है  
 तदनंतर दस दिन पर्यन्त वह कलुप होता है इसके अनंतर वह दस दिनतक स्थिरपणाको प्राप्त होता है अभिप्राय  
 यह है कि, गले हुए ताम्र और चांदीका रस परस्पर मिलानेसे जो अवस्था उन दोनोंकी होती है वही अवस्था  
 माताके रक्तसे संयोग होनेपर वीर्यकी होती है, उसको कललावस्था कहते हैं, तदनंतर वह काला होता है उसके इस



अवस्थाका नाम 'कलुष' है. इसके अनंतर वह स्थिर होता है ऐसी तीन अवस्थायें क्रमसे वीर्यको प्रथम मासमें प्राप्त होती हैं.

आश्वासः

६

तत्तो मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं॥

जायदि मासेण तदो मंसप्पेसी य मासेण ॥ १००८ ॥

मासेन बुब्बुदीभूतं तन्मासेन घनीकृतम्॥

मांसपेशी च मासेन जायते गर्भपंजरे ॥ १०३६ ॥

विजयोदया—तत्तो स्थिरभावोत्तरकाल । मासं बुब्बुदभूतं अच्छदि मासमात्रं बुब्बुद इव आस्ते । पुणो वि घणभूदं पुनरपि घनभूतं । जायदि मासेण जायते मासेन ततोऽपि घनभावात्तरकालं । मासेण मासेन । मंसप्पेसीय मासपेशी भवति ॥

मूलाया—तत्तो इति—स्थिरभावोत्तरकालं । बुब्बुदभूदं बुब्बुद इव । घणभूद कठिणत्वं प्राप्तं । मंसप्पेसी हुड-संस्थानो मासपिंडः ॥

अर्थ—प्रथममासके अनंतर दूसरे मासमें वीर्यको बबुलेकी अवस्था—बुब्बुदावस्था प्राप्त हो जाती है. पुनः एक मासतक वह घट्ट बन जाता है. इसके अनंतर चतुर्थ मासमें उसको मांसपेशीकी आकृति प्राप्त होती है.

मासेण पंच पुलगा तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण ॥

अंगाणि उवंगाणि य णरस्स जायंति गब्भस्मि ॥ १००९ ॥

मासेन पुलकाः पंच मासेनांगानि षष्ठके ।

उपांगानि च जायंते गर्भवासनिवासिनः ॥ १०३७ ॥

विजयोदया—मासेण पंच पुलगा मासेन पंच पुलका भवन्ति । पुणो वि मासेण पुनश्चरेण मासेन । अंगाणि उवंगाणि य अंगान्युपांगानि च । णरस्स जायति गब्भस्मि नरस्य जायन्ते गर्भे ॥

मासेण—पुलगा पुलकाः । नलकधाहुशिरोदेशेष्वाङ्गुराः । अंगाणि द्वौ नलकौ, नितंबौ, द्वौ बाहू, उरः षष्ठं, शिरश्चेत्यष्टौ । उवंगाणि उपांगानि अगान्युपगताः कर्णनासागहोष्ठनेत्राण्डुलिभृत्यवयवाः । उक्तं च —

१०६२

णलया बाहू य तद्वा णियव पृष्टी उरो य सीसो य ॥  
अट्टेव दु अगाइं देहे सेसा उवंगाइं ॥

अर्थ—पांचवे माससे उस मांसपेशीको पांच पुलक अर्थात् पांच अङ्गुर उत्पन्न होते हैं इनसे नीचके दो अङ्गुरोंसे दो पैर, उपरके तीन अङ्गुरोंसे बीचके अङ्गुरसे मस्तक और पार्श्वके दो अङ्गुरोंसे हाथोंकी उत्पत्ति होती है, इन अवयवोंकी यह अङ्गुर पूर्वावस्था है तदनंतर छठे मासमें हाथ, पाय और मस्तककी रचना होती है और उपांग आँख, कान, नेत्र इत्यादिक अंगोंकी रचना होती है, इसप्रकार गर्भस्थ बालकके अवयवों की रचना है.

मासस्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती ॥

फंदणमट्टममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥ १०१० ॥

चर्मरोंमाणि जायंते मासे तस्यात्र सप्तमे ॥

स्पदोऽष्टमे विनिर्याणं नवमे दशमे ततः ॥ १०१८ ॥

विजयोद्या—मासस्मि सत्तमे मासे । तस्स तस्य गर्भस्थस्य । चम्मणहरोमणिप्पत्ती चर्मनखरोमनिष्पत्तिर्भवति । फंदणमट्टममासे स्पदनमोपचलन अष्टमे मासे । णवमे दसमे य णिग्गमण नवमे दशमे चोदराद्विर्गमनं भवति ॥

मूलारा—मासस्मि इति—फंदणं संचलनं णिग्गमण मासुरदराद्विःसरण प्रसूतित्थिर्थः ।

इसके अनंतर—

अर्थ—सातवे महिनेमें उस गर्भके अवयवों पर चर्म और रोमकी उत्पत्ति होती है, और हाथ और पैर के नख उत्पन्न होते हैं आठवें मासमें उस गर्भ में चलन चलन होने लगता है नववा और दसवा इन दो महिनों में गर्भसे बालक बाहर आता है अर्थात् उसका जन्म होता है.

सब्बासु अवत्थासु वि कललादीयाणि ताणि सब्बाणि ॥

असुइणि अमिज्झाणि य विहिंसिणिज्जाणि णिच्चंपि ॥ १०११ ॥

यतोऽशुचीनि सर्वाणि कललादीनि कारणम् ॥  
वर्चोऽशिवत्ततो देहो जुगुप्स्यो महतां सदा ॥ १०३९ ॥

इति निष्पत्तिः ॥

विजयोदया—सन्वासु अवत्थासु वि सर्वास्वप्यवस्थासु शुक्रशोणितयोः । कललादियाणि कललमवुदमित्यादिकानि । सन्वाणि असुर्दृग्नि सर्वाणि अशुचीनि । अमेज्झाणिव अमेध्यमिव । विर्दिसिण्ज्जाणि जुगुप्सनीयानि । णिच्चं पि नित्यमपि ॥

सन्वासु इति—अवत्थासु प्रतिसमयभाविनीषु शुक्रार्तवविवर्तपरिणामिषु अमेज्झाणि व गूयानि यथा ॥ निष्पत्तिः ॥

अर्थ—रक्त और वीर्य की प्रथम माससे आरंभ कर दस मास तक जो जो अवस्थायें होती हैं वह सर्वही अपवित्र ही हैं जैसे विद्या नित्य जुगुप्सा करने लायक ही है. निष्पत्ति नामक प्रकार का वर्णन हुआ.

गर्भेऽवस्थानक्रम अशुभं कथयत्युत्तरगाथया । निष्पत्ति गदं—

आमासयम्मि पक्कासयस्स उवर्रे अमेज्झमज्झम्मि ॥  
वत्थिपडलपच्छणो अच्छइ गब्भे हु णवमासं ॥ १०१२ ॥  
तिष्ठत्यामाशयस्याध ऊर्ध्वं पक्काशयस्य सः ॥  
जरायुर्वेष्टितो मासान्नान्नामिध्यमध्यगः ॥ १०४० ॥

विजयोदया—आमासयम्मि आमाशये । आममुच्यते शुक्रमशनशुद्राग्निना अपकं तस्य आशयः स्थानं तस्मिन् । पक्कासयस्स उवर्रे जाठरेण अग्निना पक्क आहारः पक्कं तस्य आशयः स्थानं । तत उपरि । अमेज्झमज्झम्मि अमेध्यो पक्कापकयोर्मध्ये । गब्भो अत्यदि आस्ते गर्भे । कीदृक् वत्थिपडलपच्छणो वितत मासशोणित जालसस्थानीय वत्थिपडलशब्देनोच्यते तेन प्रतिच्छन्न । कियत कालमास्ते ? णवमास उपलक्षण नवमासग्रहण दशमासमात्रमप्यवस्थानात् । नुदेहनिष्पत्तिक्षेत्रं गाथात्रयेण निरूपयिष्यन्गर्भेवस्थानक्रममशोभन तस्याभिप्रेते—

मूलारा—आमासयम्मि—उदरान्तरपक्कमुक्तान्नस्थाने । पक्कासयस्स जाठराग्निपक्कमुक्ताहारस्थानस्य । अमेज्झमज्झम्मि अमेध्योः पक्कापकयोर्मध्ये । वत्थिपडलपच्छणो वास्तिपटलं जालस्थानीय विततमासशोणितं तेन प्रच्छादितः ।

गन्धो हु अत्र पाठे आमाशयद्वयः पक्काशयश्चोद्धु नवदशमासान् जरायुप्रच्छादितो गर्भ आस्ते इति सूत्रार्थः ॥ गन्धा-  
शयस्मि इति पाठे नग्रे नरवेहो वा गर्भे विप्रीतिरिति व्याख्येयः । णवमासे उपलक्षणादशपि ॥

गर्भ में बालक क्रिय स्थानमें रहता है इसका विवेचन—

अर्थ—आमाशय और पक्काशय इन दोनों के बीचमें जालेक समान मांस और रक्तसे लेपटा हुआ वह गर्भ  
नउ महीने तक रहता है और जिस स्थानमें पूर्ण पक्काया जाता है वह स्थान पक्काशय है । ये दोनों स्थान अपवित्र हे  
शय कहा जाता है और जिस स्थानमें पूर्ण पक्काया जाता है वह स्थान पक्काशय है । ये दोनों स्थान अपवित्र हे  
पक्काशयके ऊपर और अपक्काशयके नीचे अर्थात् दोनोंके बीचमें गर्भका स्थान रहता है गाथामें ‘णवमास’ यह  
शब्द उपलक्षणाच्ची है । इससे दस मासका भी ग्रहण होता है अर्थात् कोई गर्भ दसमासतक भी माताके उदरमें  
रहता है

अशुचिस्थाने अवस्थित स्वल्पकाल यदि जुगुप्स्यते कथमयं न जुगुप्सनीय इत्याचष्टे—  
वमिदा अमेज्जमज्जे मांसपि समक्खमत्थिदो पुरिसो ॥

होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि हु णीयल्लओ होज्ज ॥ १०१३ ॥

मासमेकं स्थितोऽध्यक्षं वर्षोमध्ये जुगुप्स्यते ॥  
निज्जोऽपि न कथं गर्भे वातं नवदशं स्थितः ॥ १०१४ ॥  
इति क्षेत्र ॥

विजयोदया—वमिदा अमेज्जमज्जे शतस्य अमेध्यस्य च मध्ये । मासपि मासमात्रपि समक्खमत्थिदो स्वप्र-  
त्यक्षतया स्थितः पुरुषः । खु शब्द एवकारार्थः स च क्रियापदात्परो द्रष्टव्य । विहिंसणिज्जो इत्यतः परतः । विहिंस-  
णीओ होदि इति जुगुप्सनीय पत्र भवति नाजुगुप्स्य इति यावत् । जदि वि हु णीयल्लओ होज्ज यद्यपि बहुभवेत् ॥  
स्वल्पकाल यद्यमेध्यमध्यमध्युपितो वधुरपि जुगुप्स्यते तत्कथमयं देहश्चिरं तत्र स्थितो न जुगुप्स्य इति गाथा-  
द्वयेनाह—

मूलारा—वमिया इति—वमिया अमेज्जमज्जमि वातस्य अमेध्यस्य च मध्ये । ससमक्ख आत्मप्रत्यक्षः ।  
जदि वि यद्यपि । णीयल्लओ बंधुः ॥

अपवित्रस्थानमें स्वल्प कालतक रहा हुआ मनुष्य भी जुगुप्सा योग्य माना जाता है तो चिरकाल वहां रहा हुआ क्यों जुगुप्सा योग्य नहीं माना जायगा ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—चान्ति और विष्टाके बीचमें अपना कोई संबंधी मनुष्य एक मासतकभी रहा हुआ अपने मृत्युक्ष हुआ तो हम उसकी ग्लानि करते ही हैं यद्यपि वह हमारा स्वजन भी हो तो भी उसकी ग्लानि हमारे मनमें होगी ही

किह पुण णवदसमासे उसिदो वमिगा अमेज्जमज्झस्मि ॥

होज्जण विहिंसणिज्जो जदि वि हु णीयल्लओ होज्ज १०१४ ॥

विजयोदया—किह पुण कथं पुन । न होज्ज विहिंसणिज्जो न भवेज्जुगुप्सनीय । णवदसमासे उसिदो नवमासे वसमासे वाचस्यत । वमिगा अमेज्जमज्झस्मि मात्रा उपयुक्त आहारो वमिगाशब्देनोच्यते । दोषः क्षुद्रमः ॥ स्त्रिंशं गदं ॥

मूलारा—किथ—उसिदो स्थितः । वमिगा जनन्योपयुक्त आहारः । क्षेत्रम् ॥

अर्थ—तो जिसने गर्भमें नव दस महिनतक निवास किया है और माताका भक्षण किया हुआ आहार खाकर जो बुद्धिको प्राप्त हुआ है वह क्यों न ग्लानिका पात्र वनेगा ? अर्थात् वह अवश्य घृणाका पात्र है.

येनाहारोणांसादुपचितशरीरो जातस्तमाचष्टे—

दतोहिं चव्विदं वीलणं च सिंभेण मेलिदं संतं ॥

मायाहारियमणं जुत्तं पित्तेण कडुएण ॥ १०१५ ॥

पिच्छिलं षंघितं दन्तैर्मिश्रितं श्लेष्मणा च यत् ॥

अन्नं मात्राशितं युत्तं पित्तेन कटुकात्मना ॥ १०१६ ॥

विजयोदया—दतोहिं चव्विदं दंतैश्चूर्णितं । वीलण पिच्छिल । कथ, सिंभेण मेलिदं श्लेष्मणा मिश्रितं सत् । मांदाहारिदमणं मात्रा मुक्तमन्नं । कडुएण पित्तेण जुत्त कटुकेन पित्तेन जुत्तं ॥ येनाहारोणोपचितशरीरो नरः संपन्नस्त गाथापंचकेन व्याचष्टे—

मूला—द्वतेहि इति—बीलणं पिच्छिलं । मिलिषु संतं मिश्रित सत् । मादाइरिदं मातृभुक्तम् ।

जिस आहारसे उसका शरीर पुष्ट होता है उसको वर्णीन आचार्य करते हैं —

अर्थ—दांतोंसे चबाया गया, कफसे गीला होकर मिश्रित हुआ ऐसा माताने खाया हुआ अब उदरमें पित्तके मिश्रणसे कड़ुवा होता है

वमिगं अमेज्झसरिसं वादविओजिदरसं खलं गब्भे ॥

आहारेदि समंता उवरिं थिप्पंतगं णिव्वं ॥ १०१६ ॥

अमेध्यसदृश चांत समीरेण पृथक्कृतम् ॥

ऊर्ध्वं कटुकमश्नाति विगलतमसौ रसम् ॥ १०४३ ॥

थिजयोदया—वमिग यात । अमिज्झसरिस अमेध्यन सदृश । वादविओजिदरसं खलं वातेन पृथक्कृतं रसं खलभागं । गब्भे आहारेदि णिथ नित्यं गर्भस्थो भुक्ते । समता समंतात् । उवरिं उपरि । थिप्पंतगं विगलद्धिदुकं एतेनान्नर समाहरतीति ज्ञायते ॥

मूला—वमिप्यं इति—वमिप्यं अन्तश्छादितं । वादविओजिदरसखल वायुपृथक्कृतसखलभागं । आहरदि भुक्ते गर्भस्थो गनुज्यः । समंतो समंततः । सर्वांगैरित्यर्थः ॥ थिप्पंतगं विगलद्धिदुक । एतेनान्नरसमाहरतीति ज्ञायते । उक्तं च—

अधसो मातृभुक्तस्य श्लेष्ममिश्रस्य पिच्छिल ॥

चूर्णितस्य भृशं दतैः पित्तसंगसुषुप्पः ॥

अमेध्यसदृश चांत समीरेण पृथक्कृत ॥

ऊर्ध्वं कटुकमश्नाति विगलंतमसौ रसं ॥

अर्थ—वांति और विषाके समान, वातसे जिसका रसभाग और खलभाग अलग किया गया है ऐसे आहारका उपरसे और चारो तरफसे एक एक बिंदु जब गिरने लगता है तब वह गर्भस्थ जीव उसको नित्य ग्रहण करता है जबतक शरीरमें नाभि उत्पन्न नहीं होती है तब तक यह जीव चारों तरफसे मातृभुक्त आहार शरीरके द्वारा ग्रहण करता है

तो सत्तमस्मि मासे उप्पलणालससिरी हवइ णाही ॥

तत्तो पाए वमियं तं आहारेदि णाहीए ॥ १०१७ ॥

ततोऽस्ति सप्तमे मासे नाभी ह्युत्पलनालवत् ॥

ततो नाभ्या तथा चान्तं तदादत्ते स गर्भगः ॥ १०४४ ॥

विजयोदया—वेया मासाना रत्त सत्तमस्मि मासे रत्तं सप्तममासे । उपलणालससिरी नाही हवइ उत्पल-  
नालसदृशीनाभिर्भवति ततो नाभिनिपत्युत्तरकाल । वमियं त आहारेदि णाभीए चातमाहास्यति नाभ्या ॥

मूलरा—तो सत्तम इति—तत्तो पाए तत् प्रमतिः ॥

अर्थ—सातवें महिनेमें शरीरमें कमलके डंठलके समान दार्ढ्य नाल पैदा होता है, तबसे यह जीव माता-  
का खाया हुआ आहार दीर्घनालसे ग्रहण करने लगता है,

वमियं व अमेज्जं वा आहारिद्वं स किं पि सप्तमक्खं ॥

होदि हु विहिसणिज्जो जदि वि य णीयल्लओ होज्ज ॥ १०१८ ॥

अमेध्य भक्षयन्नैकं मासं दृष्टो जुगुप्स्यते ॥

निजोपि न कथं गर्भे मासान्नवदशानसौ ॥ १०४५ ॥

इत्यंघः ॥

विजयोदया—वमियं व अमेज्जं वा चातममेध्यं वा । आहारिद्वं वा भुक्त्वात् । स किं पि सप्तमक्खं एकवार ।  
सप्तमक्खं सप्तत्यक्षं । होदि हु विहिसणिज्जं प्रथति जुगुप्सनीयो । यदि वि य णीयल्लओ होज्ज । यद्यपि वंधुर्भवेत् ॥

मूलरा—वमियविति—आहारिद्वं भुक्त्वात् । स किं पि एकवारमपि ।

अर्थ—कोई मनुष्य अपने सामने वांति और विष्टाको यदि खागया तो उसको देखकर मनमें ग्लानि  
पैदा होती है यदि वह मनुष्य अपना सम्पत्ती भी हो तो भी ग्लानि उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी

किह पुण णवदसमासे आहारिदूण तं णरो वमियं ॥

होज्ज णं विहिसणिज्जो जदि वि य णीयल्लओ होज्ज ॥ १०१९ ॥

विजयोदया—स्पष्टोत्तरागथा । आहारगदं, सम्मत्तं ॥ आहारो निरूपितः ॥

मूलारा—किहेति—आहारेदृश, मुक्त्वा ॥ आहारः ॥ १॥

अर्थ—पुनः जो नउ देस महिने तक वांति खाकर वृद्धिगत हुआ है वह अपना संवधी भी हो तो भी वह ग्लानिका पात्र क्यों न होगी? यह आहार का प्रकरण समाप्त हुआ

जन्मनिरूपणायोत्तरागथा—

असुचिं अपेच्छणिज्जं दुग्गंधं मुत्तसोणियदुवारं ॥

‘वोत्तुं पि लज्जणिज्जं पोट्टमुहं जन्मभूमी से ॥ १०२० ॥

शोणितप्रसवद्वार दुर्गंधं जठराननं ॥

अवाच्यजन्मभूतस्य लज्जनीयमशौचकम् ॥ १०४६ ॥

विजयोदया—असुचिं, असुचि । अपेच्छणिज्ज अपेक्षणीय । दुग्गंध दुर्गंध । मुत्तसोणियदुवार मूत्रस्य शोणितस्य च द्वार । वोत्तुं पि लज्जणिज्ज वस्तुमपि सनात्ता, लज्जनीय । पोट्टमुह उदरमुख वरानं । जन्मभूमी से जन्मभूमिस्तस्य ॥

मूलारा—असुचिमिति—अपेक्षणीय अदृश्यं । वोत्तु पि कथयितुमपि प्रसिद्धान्तम् । पोट्टमुहं उदरमुखं योनिरित्यर्थः । से तस्य नरस्य नरदेहस्य वा ।

अर्थ—प्राणी की जन्मभूमि जिसको उदरका मुख कहते हैं वह अपवित्र है, देखने लायक नहीं है, वह दुर्गन्धयुक्त और मूत्र तथा रक्त वहनेका द्वार है उसका नाम लेकर वर्णन करनेसे लज्जा उत्पन्न होती है.

जदि दाव विहिंसिज्जइ वत्थीए मुहं परस्स आलहुं ॥

कह सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज सल्लीढपोट्टमुहो ॥ १०२१ ॥

परो वस्तिमुखस्पर्शी महाङ्गिनिचने यदि ॥

उदरद्वारसंस्पर्शी विनिचो न तदा कथम् ॥ १०४७

इति जन्म ।



विजयोदया—जदि दाव विहिंसज्जदि यदि तावज्जुगुण्यते । वत्थीए मुहं वस्तिमुखं । परस्स आलहुं परस्स द्रण्ठुं । किध सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज कथमसौ न जुगुप्सनीयो भवेत् । सलीढपोट्टमुहो आस्वादितवराग ॥

मूलारा—जदिदा इति । वत्थीए मुह वस्तिमुख, अपान शोनि वा । आलट्टु स्रण्ठु प्रवृत्तः । सलीढ समास्वादितं ॥ जन्म ॥

अर्थ—ऐसे अपवित्र योनीको देखनेवाला मनुष्य ग्लानिका विषय होता है तो जो इस अवयवका आस्वाद लेता है वह क्यों न ग्लानिका विषय न होगा ?

जन्मवृद्धि निरूपयति—

बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि तह चेव लज्जणिज्जाणि ॥

मेज्झामेज्झं कज्जाकज्जं किंचिवि अयाणंतो ॥ १०२२ ॥

नियानि लज्जनीयानि कर्माणि कुरुते शिशुः ॥

कृत्याकृत्यमजानानो सेव्यासेव्यं च मूढधीः ॥ १०४८ ॥

विजयोदया—बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि बालो जुगुप्सनीयानि कर्माणि कुरुते । तथा चेव लज्जणिज्जाणि तथा चैव लज्जनीयानि । मेज्झामेज्झं शुच्यशुचि च । कज्जाकज्जं किंचि वि अयाणंतो कार्याकार्ये किंचिदप्यजानन् ॥

मूलारा—बालो इति—कुणदि कर्माणि इति शेषः । किंचिवि किंचिदपि ।

जन्म वृद्धिका विवेचन करते हैं—

अर्थ—यह बालक ग्लानि उत्पन्न करनेवाले कार्य करता है, तथा जिससे लज्जित होना पड़ेगा ऐसे भी कार्य करता है, यह कार्य उत्तम है अथवा यह कार्य अयोग्य है इसका बसको थोड़ासा भी ज्ञान नहीं रहता है,

अणस्स अप्पणो वा सिंहाणयवेलेमुत्तपुत्तिसाणि ॥

चस्मट्ठिवसापूयादीणि य तुंडे सगे छुमदि ॥ १०२३ ॥

स बर्त्तपूयमांसास्त्रिबर्त्तमूत्रकफादिक ॥

स्वस्यापरस्य वा वक्के क्षिपते विगतत्रपः ॥ १०४९ ॥

विजयोदया—अणस्स अण्णो वा अन्यस्यात्मनो वा । सिंघाणं स्लेष्माणं । मूत्रं, पुरीषं, चम्मद्विषापाणि-  
या चर्म अस्थि वसा पूयादिकं वा । संगे तुडे छुमदि आत्मीये मुखे क्षिपति ॥

मूलरा—अणस्स इति—सिंघाणय स्लेष्मा । खल शुक्क । पुरिस पुरिष । तुडे मुखे ।

अर्थ—दूसरेका अथवा अपना स्लेष्मा—कफ, मूत, विष्टा, वसा, चर्म, दही, अर्ध, अपने मुखमें डालता है इस कार्य को करते समय उसको ग्लानि नहीं आती है

जं किं चि खादि जं किं चि कुणदि जं किं चि जंपदि अलङ्गो ॥

जं किं चि जत्य तत्थ व वोसरदि अयाणगो बालो ॥ १०२४ ॥

वस्सिण्डुक्खुते दूरो दालः खादत्यलज्जितः ॥

दूरतो पिणसज्ञानः प्रदेसो यत्र तत्र वा ॥ १०५० ॥

विजयोदया—जं किं चि खादि, यत्किंचिदस्ति, यत्किंचित्करोति । यत्किंचिज्जत्यलज्जः । जं किं चि जत्य  
तत्थ दि यत्किंचिद्यत्र तत्र वा शुभावशुचौ वा देसो । वोसरदि व्युत्सृजति । अजाणगो बालो अज्ञो बालः ॥

मूलरा—जं इति—जं किंचि यत्किंचिद्रूपमभक्ष्यं वा । जत्य तत्थ यत्र तत्र शुभावशुचौ वा प्रदेसे ।  
वोसरदि मुंचति मूत्रपुरीषादिक ।

अर्थ—जो कुछ भी पदार्थ बालक खाता है मनमें जो आया वह कार्य करता है, मुहमें जो आया वह  
नोचता है, जगह पवित्र हो अथवा अपवित्र हो वहां अज्ञ बालक मलमूत्रका विसर्जन करता है,

बालत्तणे कदं सव्वमेव जदि णाम संभरिज्ज तदो ॥

अप्पणम्मि वि गच्छे णिब्बेदं किं पुण परमि ॥ १०२५ ॥

चाले यदि कृतं कोऽपि कृत्यं संस्मरति स्वयम् ॥

तदात्मन्यपि निर्वेदं यात्यन्यत्र न किं पुनः ॥ १०५१ ॥

विजयोदया—बालत्तणे कदं बालत्वे कृत । सर्वमेव यदि स्मरेत्त आत्मन्यपि गच्छेत्तिर्वेदं किं पुनस्त्यस्मिन् ।

नुदि ॥

मूलार—बालत्तणे इति—संभरेज्ज स्मरेत् । अप्पाणम्मि वि आत्मन्यपि । गच्छे गच्छेत् । निव्वेदं वैराग्यं । परहि खीररीरादौ ॥ वृद्धिः ॥

अर्थ—मनुष्य बालपनमें जो जो कृत्य करता है उसकी यदि उस को स्मृति होगी तो वह अपनी भी ग्लानि करेगा फिर अन्य के विषयमें अर्थात् स्त्रीके शरीर वगैरह में उसको ग्लानि होगी इस विषयमें कहना ही क्या है ?

कुणिमकुडी कुणिमोहिं य भरिदा कुणिमं च सवदि सव्वत्तो ॥

ताणं व अमेज्जमयं अमेज्जभरिदं संरीरमिणं ॥ १०२६ ॥

अमेध्यस्य कुटी गात्रगमेधेनैव पूरिता ॥

अमेध्यं सर्वतं छिदं अमेध्यमिव भोजनम् ॥ १०५२ ॥

इति वृद्धिः ।

विजयाद्या—कुणिमकुडी कुथिता कुडी, कुणिमोहिं मोहिता कुथितेभरिता । कुणिमं चा सवदि सव्वत्तो कुथितं सर्वतं स्रवति समतात् । ताणं व अमेज्जमयं ताणमिव अमेज्जमयं अमेध्यमिव । अमेज्जभरिदं अमेध्यपूर्णं । संरीरमिणं शरीरमिदं ॥

अवयवानाथाभिस्त्वदुदशभिर्यत्तुष्माणः, धृतममवयुवविन, निर्दिशति ॥

मूलार—कुणिमेति कुणिमकुडी कुणिम कुथित दुर्गधं तेन्मयगुह । इम इव मानवीयं । एता, गाथां श्रीविजयाचार्यः पाश्चात्यसूत्रे पठति ॥

अर्थ—यह शरीर दुर्गध है, दुर्गध वस्तुओं में भरा है इससे दुर्गध स्वेद मूत्रादि पदार्थ निकलते रहते यह शरीर, विष्टासे मरी, दुर्ग, तृणकी, वृत्ती क्षोपहीके समान दुर्गध है ॥

वृद्धिकम निरूप्य शरीरावयवानाचष्टे—

अहोणि हुति तिणिण हु संदाणि भरिदाणि कुणिममज्जाए ॥

सव्वम्मि चैव देहे संधीणि हवति तावदिया ॥ १०२७ ॥

शतानि त्रीणि संत्यस्थानां मज्जापूर्णानि विभ्रहे ॥

संधीनामपि तावन्ति सन्ति सर्वत्र मानुषे ॥ १०५४ ॥

विजयोदया—अट्टीणि हुति तिणिण हु सवणि त्रिशतान्यस्थीनि । भरिदणि कुणिममज्जाए पूर्णानि कुथितेन मज्जासाक्षितेन । सवस्मि चैव देहस्मि सर्वस्मिश्चैव देहे शरीरे । संधीणि हवति तावदिगा । संधिप्रमाणमपि त्रिशतमेव ॥

नट्टेदावयवेयत्तावधारणार्थमुत्तरप्रबंधमाह—

मूलारा—अट्टीणि इति—तावदिगा त्रिशतप्रमाणाः ॥

बुद्धिके क्रमका निरूपण कर शरीरेके आवयवोंका विवेचन करते हैं—

अर्थ—इस मनुष्यके देहमें तीनसे अस्थि हैं, वे दुर्गंध मज्जा नामक धातुसे भरी हुई हैं और तीनसे ही संधि हैं

प्हारूण णवसदाइं सिरासदाणि य हवंति सत्तेव ॥

देहस्मि मंसपेसीण हुंति पंचेव य सदाणि ॥ १०२८ ॥

मांसपेक्षीशिरास्नायुशतान्यंगे यथाक्रमम् ॥

पंच सप्त नव प्राज्ञाः सर्वेवापि प्रचक्षते ॥ १०५५ ॥

विजयोदया—प्हारूण णवसदाइं कायूना नवशतानि । सिरासदाणि य भवंति सत्तेव सिराणां सप्तशतानि ।

देहस्मि मंसपेसीण हवति पंचेव ये सदानि पंचशतानि शरीरे मांसपेक्ष्य ॥

मूलारा—प्हारूण इति—प्हारूण स्नायूना । छिरा शिराः ॥

अर्थ—देहमें नउसै स्नायु हैं, तथा सातसै सिरा हैं और इस शरीरमें पांचसै मांसकी पेक्षिया हैं

चत्तारि सिराजालाणि हुंति सोलस य कंडराणि तहा ॥

छवेव सिराकुच्चा देहे दो मंसरज्जू य ॥ १०२९ ॥

शिराजालानि चत्वारि कंडराणि च षोडश ॥

शिरामूलानि षट् चैव मांसरज्जुद्वयं तथा ॥ १०५६ ॥

विजयोदया—चत्तारि सिराजालाणि चत्तारि शिराजालानि शिरासधाता । सोलस य कंडराणि तद्वा । पोडश कंडरसञ्चितानि । तथा छब्बेद सिराकुब्बा पडेव शिरामूलानि । देहे वो मसरज्जू य शरीरे मांसरज्जूद्वयं ॥

मूलारा—चत्तारि इति—सिराजालाणि शिरासधाता; । कंडराओ रक्कपूर्णमहाशिराः । कंडराणि तद्वा इत्यपि पठन्ति । शिराकुब्बा शिरामूलानि । मंसरज्जू घृष्टोदराश्रिते ।

अर्थ—शिराओंके चार जाल हैं. सोलह कंडरा हैं छह सिराओंके मूल हैं और देहमें दो मांसरज्जु हैं

सत्त तथाओ कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि ॥

देहम्मि रोमकोडीण होंति सीदी सदसहस्सा ॥ १०३० ॥

कालेयकानि सप्तंगे त्वचः सप्त निवेदिताः ॥

सर्वत्र कोटिलक्ष्णामशीती रोमगोचरा ॥ १०५७ ॥

विजयोदया—सत्त तथाओ सप्त त्वचः । कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि सत्तेव कालेयकानि देहे । देहम्मि रोमकोडीण होंति सीदीसदसहस्सा शरीरे रोमकोटीना अशीतिशतसदस्राणि ॥

मूलारा—सत्त तथाओ इति । तथा त्वचः । कालेज्जयाणि कालेयकानि मासखडानि । असीदिं अशीति । सदस-हस्सा लक्ष्णाणि ॥

अर्थ—इस शरीरमें सात त्वचा हैं. और मात कालेयक हैं और अस्सीलाख कोटि रोम हैं.

पक्कामयासयत्था य अंतगुंजाओ सोलस हवंति ॥

कुणिमस्स आसया सत्त हुंति देहे मणुस्सस्स ॥ १०३१ ॥

आमपक्काशयत्थान पोडशैवांत्रयष्टय ॥

कुथितस्याश्रयाः सप्त शरीरे सन्ति मानुषे ॥ १०५८ ॥

विजयोदया—पक्कामयासयत्था पक्काशये आमाशये अवस्थिता । अंतगुंजाओ अंत्रयष्टय । सोलस हवंति पोडशैव भवन्ति । कुणिमस्स आसया कुथितस्य आश्रया सप्त भवन्ति देहे मनुजस्य ॥

मूलारा—पद्मासगासयत्था इति—पद्मासगासयत्था पद्माशये आमाशये च स्थिता । अतगुजाओ अत्रयष्टय । कुणिमस्स कुथितस्स । आमाया आश्रयाः ॥

अर्थ—पद्माशय ओर आमाशयमें सोलह आठें रहती हैं मनुष्यके देहमें दुर्गंध मलके सात आशय हैं,

शूणाओ तिणिण देहम्मि होति सत्तुत्तरं च मम्मसद ॥

णव होति वणमुहाइ गिच्चं कुणिम सवताइ ॥ १०३२ ॥

नव संति त्रणास्यानि सुच्चयमानानि कउमलम् ॥

तिस्स' स्थूणाशत देहे मर्मणां सप्तसंयुतं ॥ १०५९ ॥

विजयोदया—धूणाओ तिणिण देहम्मि होति स्थूणास्तिओ भवन्ति । देहे सत्तुत्तरं च मम्मसद मर्मणा शत सत्ताधिक । णव होति वणमुहाइ त्रणमुत्तानि नव भवति । गिच्च कुणिम नित्य कुथित सवन्ति ॥

मूलारा—शूणाओ इति । शूणाओ यातपित्तकृष्णमाण । मम्मसदं मर्मशत । सप्तताइ सवति सवति भति ।

अर्थ—इस देहमें तीन स्थूणा हैं ओर एकसौ सात मर्मस्थान हैं और नउ त्रणमुख हैं जिमसे नित्य दुर्गंध सवता है

देहम्मि मच्छुल्लिग अजलिमित्त सययमाणेण ॥

अंजलिमित्तो मेदो उज्जोवि य तत्तिओ चेव ॥ १०३३ ॥

शुक्कमसित्फक्कमेदांति प्रत्येकं सूरयो विदुः ॥

स्वकीयांजलिमानानि मनुष्याणां कलेवरे ॥ १०६० ॥

निजयोदया—देहम्मि शरीरे । मच्छुल्लिग मत्तिफक्क अजलिमित्तो सगयमाणेण स्वाजलिप्रमाण परिचिन्त । मेदोऽप्यजलिप्रमाण । ओजोवि तत्तिओ चेव । शुक्कमपि तावन्मागभेव ॥

मूलारा—देहम्मि इति । गच्छुल्लिग मरिफक्क उद्विगलीत्यर्थ । सगा स्वकीयं । ओजो शुक्रं । तत्तिगोतावन्मात्र उक्तं च—शुक्कमत्तिफक्कमेदासि प्रत्येकं सूरयो विदुः ॥

स्वकीयाजलिमानानि मनुष्याणा कलेवरे ॥

अर्थ—इस देहमें मस्तिष्क एक अजलिप्रमाण है अर्थात् वह अपने अंजलिप्रमाण जानना मेद और ओज अर्थात् शुक्र ये दोनों भी स्वांजलि प्रमाण समझने चाहिये.

तिणि य वसंजलीओ छुच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स ॥

सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्धाढगं होदि ॥ १०३४ ॥

षडंजलिमितं पित्त वसांजलित्रयप्रमा ॥

श्लेष्मा पित्तसमो रक्तमद्धाढकमितं मतम् ॥ १०६१ ॥

विजयोदया—तिणि य वसजलीओ तिस्सो वसाजलय. । छुच्चेव य अजलीओ पित्तस्स षडंजलयः पित्तस्य । सिंभो पित्तसमाणो श्लेष्मा पित्तप्रमाण । लोहिदमद्धाढग होदि लोहितोऽप्यर्धाढकं भवति ॥

मूलार—तिणि इति-वसजलीओ वसाया अंजलयः । अद्धाढगं द्वात्रिंशत्पलमात्रं ।

अर्थ—वसा नामक धातु देहमें तीन अजलिप्रमाण रहती है, पित्तका प्रमाण छह अंजुलि हैं, श्लेष्म अर्थात् कफका भी इतना ही प्रमाण है, रुधिरका प्रमाण आधा आढक है

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा ॥

वीसं णहाणि दंता वचीसं हेंति पगदीए ॥ १०१५ ॥

षट्प्रस्थप्रमितं वर्चो मूत्रमद्धाढकप्रमम् ॥

नखानां विंशतिर्वन्ता द्वात्रिंशत्प्रकृता मत्ताः ॥ १०६२ ॥

विजयोदया—मुत्तं आढयमेत्त मूत्रं आढकमात्रं । उच्चारस्स य हवति छप्पच्छा षट्प्रस्थप्रमाण उच्चारः । वीसं णहाणि विंशतिसंख्या नखाना । दंता वचीस हेंति द्वात्रिंशद्भवन्ति दंता । पगदीए प्रकृत्या ॥

मूलार—मुत्तं इति । उच्चारस्स पुरीपस्य । छप्पच्छा षट्प्रस्थाः प्रस्थः षोडशपलानि । पगदीए प्रकृत्या अन्तर्दीपकमिदं ॥

अर्थ— मूत्र एक आढक प्रमाण है और उच्चार—विष्टा यह छह प्रस्थ प्रमाण है नल वीस रहते हैं और दात वत्तीस होते हैं स्वभावतः शरीरमें इन अवयवोंका प्रमाण कहा है

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिकुलेहिं बहुगोहिं ॥

सत्त्वं देहं अर्ष्फदिदूण वादा ठिदा पंच ॥ १०१६ ॥

कायः कृमिकुलाकीर्णं कृमिणो वा व्रणोऽखिलः ॥

तं सर्वं सर्वतो व्याप्य स्थिताः पंच चरण्येवः ॥ १०१७ ॥

विजयोदया—किमिणो व वणो संजातकिमिणयत् । बहुगोहिं किमिकुलेहिं भवति सरीरमिति संच । बहुमिः किमीणा कुलैर्भरितं । सत्त्वं देह अर्ष्फदिदूण वाता ठिदा पंच समस्त शरीरं व्याप्य पंच वायवः स्थिताः ॥

मूलारा—किमिणो इति-किमिणो वणोन्व संजातकिमिर्गण इव । अर्ष्फदिदूण व्याप्य । पंच प्राणोदानव्यानस-मानापानाः ॥

अर्थ— व्रण जैसा किमिणोंसे भरा रहता है वैसा यह देह भी सर्वत्र किमिओंसे भरा है इस देहको व्यापकर पांच वायु रहते हैं

एवं सत्त्वे देहमि अवयवा कुणिमपुगला चेव ॥

एकं पि गत्थि अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ॥ १०३७ ॥

इत्यगेऽवयवाः सन्ति सर्वे कुथितपुद्गलाः ॥

नैकोऽप्यवयवस्तत्र पवित्रो विद्यते शुचिः १०३४ ॥

विजयोदया—एवं एकेन प्रकारेण । देहमि सत्त्वे अवयवा शरीरधारः सर्वे अवयवा । कुणिमपुगला चेव अशुभपुद्गला एव । एकं पि गत्थि अंग एकोऽपि नास्त्यवयव । ज पूयं सुचियं च होज्ज । योऽवयव पूत शुचिर्वा भवेत् ।

मूलारा—एव इति-कुणिमपुगलाः कुथिताः पुद्गला येषां ते । पूद पवित्र । सुचियं शुद्धं मत्तोऽत्र वा ।

टीप—१ वायव ।



अर्थ- ऊपर कहे प्रकारसे हम देहके मंत्र अवयव अशुभ पुद्गलोंसे बने हैं इसमें एक भी ऐसा अवयव नहीं दीखेगा जो अवयव पवित्र और शुचि है।

परिदृष्टतन्वचमं पटुरगतं मयंतवणरसिम् ॥

सुदु वि दइदं महिलं दधुपि णगे ण इच्छेज्ज ॥ १०३८ ॥

दग्धनिःशेषचर्मणं पाटुरागं गाल्लत्तां ॥

दिदक्षतेऽपि नो कोऽपि बल्लमासपि बल्लभः ॥ १०३९ ॥

चिजयोदया—परिदृष्टतन्वचमं गरितो ग्रामयेत्युक्तं। पटुरगतं पाटुरागं पाटुरगतं। मयंतवणरसिं विगलट्सं। सुदु वि दइदं महिलं प्रियवामसि निनता। दधुपि णगे ण इच्छेज्ज मयंमपि नगे न पात्रति।

मूलारा—परिदृष्ट इति-मयंतवणरसिं मयन्तवणरसो यस्यास्ता मयद्वणरसिका। मयद्वपि मयं अतिरज्ज्मानपि ॥

अर्थ- जिसकी देहकी त्वचा अग्नोमें जल जानेमें मफेद दीस रही है जिसमें रंग सदा क्षता है, ऐसी नही यदि पूर्वमें अविशय मिय थी तो भी उसकी ऊपर लिखे प्रकार ग्लानि उत्पन्न करने वाली अवस्था देखकर मनुष्य उसको देखनेको भी चाहता नहीं।

जदि होज्ज मच्छियापत्तसरसियाए तयाण णो थगिदं ॥

को णाम कुणिमभरियं सरीरमालहुमिच्छेज्ज ॥ १०३९ ॥

अभविष्यन्न चेद्वात्र पित्तित सूक्ष्मया तच्चा ॥

को नामेद तदास्पश्यन्नयस्त्रिक्कापत्रानुन्यया ॥ १०६३ ॥

दल्यथा ॥

चिजयोदया—अवि दोज्ज तयाण ण थगिदं यथि सया न थगित थयित्। मच्छियापत्तसरसियाए मच्छिकापत्रवदिति। तया को नाम इच्छेज्ज कुणिमभरियं सरीरं को नाम यादिस १ किं सुथितपूणं सरीरं। आउशु स्मट्ठ ॥

अथयया ॥

मूलारा-जदि इति-गच्छियापत्तसरिसियाए मक्षिकापक्षमतुल्यया । आलट्टहु स्रष्टुं आलिंगितुं वा । अवयवा० ॥  
 अर्थ- मक्खीके पखके समान पतली त्वचासे यह शरीर यदि नहीं टका होता तो दुर्गंध से भरे हुए इस शरीरको स्पष्ट करनेकी किसको इच्छा होती ? अर्थात् कोई भी इसको छूना नहीं चाहता-

कण्णेषु कण्णगूधो जायदि अच्छीसु चिक्रणंसूणि ॥

णासागूधो सिंघाणय च णासापुडेसु तहा ॥ १०४० ॥

कर्णयोः कर्णगूधोऽस्ति तथाङ्गणोर्मलमश्रु च ॥

सिंघाणक्रादयो निंद्या नासिकापुटयोर्मलाः ॥ १०६७ ॥

विजयोदया-कण्णेषु कर्णयो । कण्णगूधो कर्णगूथ । जायदि जायते । अच्छीसु अक्षणो० । चिक्रणंसूणि मलमश्रुर्विदवथ । णासागूधो नासिकामल सिंघाणय च सिंघाणक च णासापुडेसु नासापुटयो ।

मूलारा-कण्णेषु-इति-कण्णेषु कर्णविवरयोः । कण्णगूधो कर्णाद्वयो मलः । चिक्र दूषिका । णासागूधो नासिको-द्वयो मलः । सिंघाणयं नासास्त्रावी रूप्मा ॥

अर्थ- कानमें कर्णगूथ अर्थात् कर्णमल पैदा होता है आखोंमें नेत्रमल होता है और आंसु उत्पन्न होते हैं नाकमें घट्टमल और पतला मल उत्पन्न होता है

खेलो पित्तो सिंभो वमियां जिब्भामलो य दंतमलो ॥

लाला जायदि तुंडम्मि मुत्तपुरिसं च सुक्कामिदरस्ये ॥ १०४१ ॥

लालानिष्टीवनरुष्मपुरंगं विविधा मंलाः ॥

जायते सर्वदा वक्के दंतकीटाकुलवणे ॥ १०६८ ॥

ये मेहगुदयोः सन्ति वचोमूत्रादयो मलाः ॥

न वक्तुमपि शक्यंते वीक्षितुं ते कथं पुनः ॥ १०६९ ॥

सेदो जादि सिलेसो व चिक्कणो सव्वरोमकूवेसु ॥  
जायति जुवल्लिक्खा छप्पादियाओ य सेदेण ॥ १०४२ ॥

चिक्कणो रोमकूपेषु स्वेदः सर्वेषु सर्वतः ॥

यूकाः षट्पदिका लिङ्गा जायंते सर्वदा ततः ॥ १०७० ॥

विजयोदया—सेदो जादि सेदो जायते । सिलेसो व चिक्कणो चर्मकारऋणमवचिक्कण । सव्वलोमकूवेसु सर्वलोमकूपेषु जायति जायते । जूका यूका । लिङ्गका लिङ्गाश्च । छप्पादियाओ य चर्मयूकाश्च । सेदेण हेतुना सेदेन हेतुना । पतावता प्रवधेन शरीरावयवा व्याख्याताः ॥

एवं देहस्यावयवान्यवधेन व्याख्यायेदानीं तन्निर्गमव्याख्यानाय गाथाचतुष्टयमाह—

मूलरा—सेलो इति—इदस्तथे मेहनयोनिगुदयोः ।

मूलरा—सेदो इति । सेदो प्रस्वेदः । जादि प्रादुर्भवति । सिलेसो वा वज्रलेप इव । ऋणमेव वा । छप्पादियाओ षट्पदिकाश्चर्मयूकाः ॥

अर्थ—नाकका मल, यूक, पित्त, कफ, वमन, जिह्वाका मल, दन्तमल और लाला ये मल मुखमें उत्पन्न होते हैं, मूत्र, विष्टा और वीर्य ये उदर में होते हैं।

अर्थ—शरीरके संपूर्ण रोमत्रोसे चम्हारके गृहाके सचिक्कण पदार्थ के समान स्वेद निकलता है इस स्वेदसे यूका, लिङ्गा तथा चर्मयूका उत्पन्न होती हैं। यहांतक शरीरके अवयवोंका वर्णन किया है

णिगमणं । निर्गमनव्याख्यानायाचष्टे—

विष्टापुण्णो भिण्णो व घडो कुणिमं समंतदो गलइ ॥  
पूदिगालो किमिणोव वणो पूदिं च वादि सदा ॥ १०४३ ॥  
गात्रैसुचति वर्चासि विग्रहो निखिलैरपि ॥  
गृथपूर्णो घटो गूथं छिद्रितो विवैरिव ॥ १०७१ ॥

शुद्धैरयवैः स्त्रीणां निचितैर्धौवधैर्मलेः ॥  
 सारासारप्रदृष्टानां मानसं न्हियते कथम् ॥ १०७२ ॥  
 लज्जनीयैः शिष्यभक्तैः सुदधी रमते कथम् ॥  
 योनौ क्लिबे स्रवद्रक्ते निन्दे कृमिरिव व्रणे ॥ १०७३ ॥  
 अंगारस्येव कायस्य बहिरंतश्च हृदयेत ॥  
 नैकोप्यवयवः शुद्ध सर्वथा मलिनात्मनः ॥ १०७४ ॥  
 इति निर्गमः ।

विजयोदया—विष्णुपुण्यो विष्णुभिः पूर्णो । मिण्यो व घडो भिन्नघट इव । कुणिमं कुणितं । समंततो समंतात् ।  
 गलदि क्षरति । इंगालोच्यो गलत्पुति निचितकिमिग्रयन् । पूदि च वादि सदा दुरमिवाति सदा । निगमण सम्मत् ॥

एव प्रत्यंगमलत्वावित्त्वमाल्याय देहस्य सामत्येन दुर्गंधोद्भासित्वं चाह—

मूलरा—विष्णुपुण्यो इति-गलदि स्रवति वेदः । पूर्दिगालो दुर्गंधोद्वारी । किमिण्यो किमिनिचितः । वादि सुचति  
 वेदः । एता गाथा केचिदुत्तरत्र पठन्ति । निर्गमः ॥

अर्थ—विष्टासे पूर्ण घडा जैसा चारो तरफसे दुर्गंधको स्रवता है अथवा किमिआसे भरा हुआ व्रण  
 सडकर जैसा गलने लगता है वैसा इस देहसे भी हमेशा दुर्गंध मलमूत्रादिक पदार्थोंका स्राव होता रहता है.

इंगालो धोवते ण सुज्झदि जह महापयत्तेण ॥  
 सन्वेहिं समुदेहिमि सुज्झदि देहो ण धुव्वंतो ॥ १०४४ ॥  
 सिण्हाणुब्भंगुव्वट्टणेहिं सुहदंतअच्छिधुव्वणेहिं ॥  
 णिच्चंपि धोवमाणो वादि सदा पूदिं देहो ॥ १०४५ ॥  
 कायो जलैः पयोधीनां धाव्यमानोऽविलैरपि ॥  
 स्वभावमलिनो जातु नांगार इव शुध्यति ॥ १०७५ ॥

अभ्यंगोद्धर्तनस्नानमुष्वदताक्षिधावनैः ॥

शुश्रूक्षद्विशोध्यमानोऽपि दुर्गन्धं वाति विग्रहः ॥ १०७६ ॥

विजयोदया—सिण्हाणुभगुवृष्टेर्हि य स्नानेन, अभ्यंगेन, उद्धर्तनेन । मुष्वदतअच्छिद्युषेर्हि मुषस्य दंता-  
नामक्ष्णोश्च प्रक्षालनेन । शिञ्चपि धुञ्चमाणो नित्यमपि क्रियामाणदौघः । वाति सदा पृदिगं देहो । दुरभिगंधतां न  
त्यजति देह ॥

एवं निर्गमं व्याख्याय देहस्याशुचित्वं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मलारा-डंगालो इति-डंगालो अंगारः । धोव्यतो धाव्यमानः, शोष्यमानः ॥

सिण्हाणेति—सिण्हाणवभगुवृष्टेर्हि स्नानाभ्यंगोद्धर्तनैः । धुवगेर्हि प्रक्षालने । पृदिगं दुरभिगंध ॥

अर्थ—जैसे कोला प्रयत्नपूर्वक धोनेपर भी स्वच्छ अर्थात् मफेत रगका नहीं होता है वह काला ही  
रहता है. वैसा यह देह संपूर्ण समुद्रके पानीमें धो डालने पर भी स्वच्छ-पवित्र नहीं होता है. अपवित्र ही रहता है.  
इस शरीरको स्नान, अभ्यंग स्नान, उद्धर्तन भी स्वच्छ नहीं कर सकते हैं. मुंह, दांत और आँखें बार बार धोने पर  
भी अशुद्ध ही बने रहते हैं. यह देह हमेशा दुर्गंधताको बाहर छोड़ता ही रहता है

पाहाणधादुअंजणपुढवितयाछल्लिखिम्मूलेहिं ॥

मुहकेसवासंतोलगंधमहोहि धूवेहि ॥ १०८६ ॥

मृत्तिं कांजनपापाणधातुत्वद्मलत्रल्लिभिः ॥

केशास्यवास्तांमूलधूपपुण्डलादिभिः ॥ १०७७ ॥

विजयोदया—पाहाणधादुअंजणपुढवितयाछल्लिखिम्मूलेहिं । पापाणधाद्वेन रत्नान्युच्यते । धातुजंल । अंजण  
अंजनं सौवीर च । पुढवी मृत्तिका तया त्वक् । सुतावान् । मुन वास्यते मुग गवता नीयते येनासो मुगवास । केशा  
सुरमिता नीयते येनासो केशवान्, एते पापाणादिभिः ॥

यथेव अत्यन्ताप्रतिनिधेयदौर्गन्धः कायस्तत्कृण लोके सेव्यते इत्यत्र गाथाद्वयमाह—

मलारा—पासाणे इति-पासाण रत्नानि । वाटु हेमादिं जलं वा । अंजण मौवीरफज्जलादि । पुढवि सट्टि-  
कादि । तया मध्यत्वक् । लल्लि वाणनत्तल्ल । मुहकेसवामा वास्यते सुरभीक्रियते मुगं केशात्र येनासो । गंध कस्तूरि-  
कादि । मल्ल पुष्पमाला ।

अर्थ—पापण शब्दसे रत्न यह अर्थ लेना चाहिये, धातुका अर्थ जल ऐसा होता है, अथवा सुवर्णादिक-को धातु कहते हैं, अंजन, मृत्तिका त्वचा, मुख सुगन्धित करने वाले पदार्थ, केशको सुगन्धित करने वाले पदार्थ, अर्थात् रत्न, सुवर्णादि धातु, अंजन, मृत्तिका, वनस्पतिओंकी छाल, मुख और केशोंको सुगन्धित करनेवाले पदार्थ, तांबूल, पुष्पमाला, इत्र, इन पदार्थोंसे—

अभिभूददुल्विगंधं परिभुज्जदि मोहिणहिं परदेहं ॥

परिभुज्जदि पूइयमं संजुत जह कडुगभडेण ॥ १०४७ ॥

प्रच्छाद्य निंदितं गध भुज्यतेऽन्यकलेवरम् ॥

हिंवादिभिरिव द्रव्यैः पिथितं विघृणात्मभिः ॥ १०४८ ॥

विजयोदया—अभिभूददुल्विगंधो निरस्ताशुभगंध । परदेह संजुत परस्य देह सयुक्तः । मोहिदेहिं मूढे । परिभुज्यते । परिभुज्जदि पूइयग मांस यथा युक्त संस्कृत । कडुगभडेण मरिचेहिंवादिभिश्च ॥

मूढारा—अभिभूयेति—अभिभूय निरस्य । दुल्विगंधं दुस्सहविरुद्धगंध । उपलक्षणाद्रीभस्सभाव च । रमणीयतामापाद्येत्यर्थः । अभिभूददुल्विगंधो इति वा पाठः । कडुगभंगेहिं मरिचहिंवादिभिः । अशुचित्वं ॥

अर्थ—इन पदार्थोंसे जिमका दुर्गंध दूर किया है ऐसा परकीय देह मोहित लोगोंके द्वारा भोगा जाता है, जैसा अपवित्र, दुर्गंध मांसको हिंरा, जीरा, मिरच वगैरे पदार्थोंसे छोक देकर जैसे मांसलुब्ध लोक खाते हैं वैसे परकीय देहका कामी लोक उपभोग लेते हैं.

अब्भंगादीहिं विणा सभावदो चेव जदि सरिरमिमं ॥

सोभेज्ज मोरदेहुव्व होज्ज तो णाम से सोभा ॥ १०४८ ॥

मयूरदेहवदेहो यच्च भास्यन्निसर्गतेन ॥

अभविष्यत्तदा शोभा तस्मिन्नीक्षणेतेपिणी ॥ १०४९ ॥

विजयोदया—अब्भंगादीहिं विणा सुगन्धतैलेन प्रदर्शनं, उद्धर्तनं, ज्ञानमालेपनमित्यादिभिर्विना । सभावदो चेव

यदि सोभेज्ज इमं शरीरं स्वभावत एव यदि शोभित इदं शरीरं । मोरदेहुव्व मयूरदेहवत् । होज्ज तो णाम से सोभा भवेत्तत् स्फुट देहस्य शोभा ॥

एवमशुचित्वं प्रपच्य देहस्यासारताप्रक्षणार्थं गाथाचतुष्टयमाचष्टे—

मलारा—अवमंगदीहिं इति—इमं मातुवं । णाम स्फुटं ॥

अर्थ—सुगंध तेल लगाकर स्नान करना, स्नान करना, लेप करना इत्यादिकाकी अपेक्षा के बिनाही मयूर देहके समान यह देह स्वभावतः सुंदर होता तो ही मनुष्यदेह सुंदर है ऐसा कह सकते. परंतु बाल्य पदार्थोंके बिना सुंदरता आती नहीं है.

जदि दा विहिंसदि णरो आलहुं पडिदमपणो खेलं ॥

कथ दा णिपिवेज्ज बुधो महिलामुहजायकुणिमजलं ॥ १०४३ ॥

आत्मनः पतितो खेलो यदि स्पष्टं घृणायते ॥

तदा रामामुत्वांभो हि पीयते कुथितं कथम् ॥ १०८० ॥

विजयोदया—जदि दा विहिंसदि णरो आलहुं पडिदमपणो खेलं यदि तावन्नरो लुगुत्सते स्पष्टुमात्मनोऽपि फासं । कथदा णिपिवेज्ज बुधो कथमिदानीं पिवेदुधु महिलामुहजणिवकुणिमजल युवतिसुखसमुद्रवमशुचिजलं ॥

मूलारा—जदि दा इति-दाणि इदानीं । पिवेज्ज पिवेत् । कुणिमजलं अशुच्यंभः । लालमित्यर्थः ॥

अर्थ—मनुष्य यदि अपने भी धूकको स्पर्श करनेमें ग्लानि उत्पन्न करता है अर्थात् अपना धूक, कफ वगैरह को वह हाथसे स्पर्श करना भी चाहता नहीं तो यह बुद्धिमान मनुष्य स्त्रीके मुहमें उत्पन्न हुआ अपवित्र जल कैसे पीता है कुल मालूम नहीं पड़ता ?

अंतो बहिं व मज्जे व कोइ सारो सरीरगो णत्थि ॥

एरुडगो व देहो णिरसारो-सव्वहिं चेव ॥ १०५० ॥

वीक्ष्यमाणे मनुष्याणां बहिरंतश्च वीक्ष्यते ॥

एरुदंदवदेहो न सारोऽत्र कदाचन ॥ १०८१ ॥

विजयोदया—अतो बहि च मज्जे अंतर्बहिर्मध्ये । को वि सारो सरीरगो णत्थि । शरीरेऽके सारभूतं न किंचिदस्ति । परं को वा गिस्सारो सव्वहि चेध साररहितः सर्वत्र चैव ॥

मूला—अंतो बहि च इति—मज्जे अंतराले । सारो सेज्य रूप । सव्वहि सर्वत्र ।

अर्थ—अतर्मे, बाहर और मध्यमे भी इस देहमें कुछ भी सार वस्तु नहीं मिलेगी जैसे एरुडकी लकड़ी सर्व तरहसे सारहीन होती है वैसे इस देहमें सारका नाम भी नहीं मिलेगा

चमरीवालं खरिगविसाणं गयदंतसप्पमणिपादी ॥

दिट्ठो सारो ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि ॥ १०५१ ॥

चमरीणां कचं क्षीर गवां शृङ्गाणि खड्गिनां ॥

भुजंगानां मणिः पिच्छ बर्हिणां करिणां रदः ॥ १०८२ ॥

विजयोदया—चमरीवाल चमरीरोमाणि । खरिगविसाण खड्गिनां खुराणा विपाणं । गजानां दंता । सर्पणां रत्नाविकं च । इष्ट सारभूतं । ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि नास्ति किंचित्सारं मनुष्यदेहे ॥

छगलं मुचं दुद्धं गोणीए रोयणा य गोणस्स ॥

सुचिया दिट्ठा ण य अत्थि किंचि सुचि मणुयदेहस्स ॥ १०५२ ॥

कस्तूरिका कुराणाणामित्थं सारो विलोक्यते ॥

शरीरे न पुनर्नृणां कोऽपि कापि कदाचन ॥ १०८३ ॥

विजयोदया—असुह ॥

मूला—चमरी इति—चमरीवाला अरण्यगवीपुच्छकेशः । खरिगविसाण गंडकुशं । मणिपादी आदिशब्देन मयूरवर्हमृगकस्तूरिकादिकं । यत्र संस्कृतटीकाकारः कण्ठेसु कण्ठगूधो इत्यादिगाथात्रय पूर्वसूत्रे पठित्वा ‘विष्टापुणो इत्यादि गाथानवक निर्गमव्याख्यानमकार्षात् । अशुचीति च वीजविभिरष्टभिरपि समवधानात् । एव च सति द्वादशसूत्री तेन नेष्टा ज्ञायते । अस्माभिस्तु प्राकृतटीकाकारादिमतेनैव व्याख्यायते । अन्ये त्वसारत्वश्रेक्षणमाशौचान्तर्गमयन्ति ॥

तथा च तत्पाठः—श्रेयानि वीजनिष्पत्तिश्रेत्राद्योजनमवृद्धिभिः ।



सहासनिर्गमाद्यौचव्याख्यात्रौव्याणि विग्रहे ॥ असारत्वप्रेक्षण ॥

अर्थ—चमरी नामक गौके केस, गंडेका सांग, हाथीके दांत, सर्पके मस्तकका माणि आदि शब्दसे मोरका पख, कस्तुरी वगैरह पदार्थोंमें सार अर्थात् उत्कृष्टता—पवित्रता देखी गई है परंतु इस मनुष्यदेहमें कुछ सार नहीं दीखता है

अर्थ—वकरोका मूत, गायका दूध और गाय और बेलकी गोरोंचना ये पदार्थ मवित्र है, परंतु मनुष्य देहमें कुछभी पवित्र चीज अवलोकनेमें नहीं आवेगी, अशुचि प्रकरण समाप्त हुआ.

व्याधि इत्येतद्वाचष्टे प्रयत्नोत्तरेण—

वाइयपित्तियसिंभियरोगा तण्हा लुहा समादी य ॥

णिच्चं तवंति देहं अद्दिदज्जल व जह अग्गी ॥ १०५३ ॥

कुथितसब्बनि वा कुयित्तैःकृते क्कमिक्कुल्लंविविधेरभित्तो भूते ॥

शुचि नृणां सकलाशुचिर्मंदिरे भवति किंचन नात्र कलेचरे ॥ १०८४ ॥  
इति अशौच ।

विजयोदया—वाइयपित्तियसिंभियरोगा दोषत्रयप्रभवा व्याधय । तृणाशुधाश्रम इत्यादयश्च । देहं नित्य तपति त्वलितोऽग्निर्जलमिव चुल्लुपपरिस्थितभाजनगत ॥  
देहव्याधिनिरूपणार्थं गाथात्रयमाह—

मूलारा—वाडिय इति—वाडिय पित्तिय संभिय वातादिभिः पृथग् मिश्रैः समस्तेश्च जनिता ज्वरादयो व्याधयः । समादीय श्रमादयश्च । तवंति तापयंति । अद्दिदज्जल चुल्लुपपरिस्थितभाजनगतं तोयं ॥

अर्थ—वातजन्य रोग, पित्तके रोग और कफसे होनेवाले रोग, प्यास भूक, और श्रम इत्यादिकोंसे अधिकके द्वारा जैसा जल तप जाता है वैसा यह देह संतप्त होता है

जदि रोगा एक्कम्मि चेव अन्धिम्मि हेति छण्णउदी ॥

सब्बम्मि दाइं वेहे होदव्वं कदिहिं रोगेहिं ॥ १०५४ ॥

यदि पणवति रोगाः स भवति विलोचने ॥

किञ्चनस्ते तदा नृणां सर्वत्रापि कलेवरे ॥ १०८५ ॥

कोट्यः पंचाष्टषष्टीश्च लक्षाः सह सहस्रकैः ॥

नवभिर्नवतिः पचशत्याशीतिश्चतुर्गुता ॥ १०८६ ॥

विजयोदया—जदि रोगा एकस्मि चक्षु अन्विस्मि यदि तावद्रोगा एकस्मिन्नेव नेत्रे पणवतिसंख्या भवन्ति । सञ्चस्मि दाई देहे समस्ते इदानीं शरीरे । होदच फदिहिं रोगेहि । कतिभिर्व्याधिभिर्मवितव्यम् ॥ वाधिगद् ॥

मूलारा—जदि दाइ इति-छणउदी पणवतिः । दाई इदानीं ।

पंचेव य कोडीओ भवति तद् अट्टसङ्खिलम्साइ ॥

णव णउदि च सहस्रमा पचसदा होति चुलसीदी ॥

अर्थ—यदि एक आंखमें रोग छानवे उत्पन्न होते हैं तो सम्पूर्ण देहमें कितने व्याधि होंगे. अर्थात् सम्पूर्ण देहमें असंख्यात होंगे व्याधिका प्रकरण समाप्त

अध्रुवतामुत्तरया गायया व्याचष्टे— ।

पीणत्यर्णिदुवदणा जा पुब्बं णयणदइदिया आसे ॥

मा चेव होदि संकुडिदगी विरसा य परिजुणा ॥ १०८५ ॥

पीनस्तनीन्दुवक्का या तारुण्ये हरते मनः ॥

अनिष्टा जायते जीर्णां सेक्षुयष्टिरिवारसा ॥ १०८७ ॥

विजयोदया—पीणत्यर्णिदुवदणा पीनस्तनभागसंपूर्णचंद्रानना । जा पुब्बं या पूर्व । णयणदइदिया नयन चक्षुमा जाता । सा चेव होदि संकुडिदगी सेव भवति संकुटिततनु । विरसा कामरसरहिता । परिजुणा परितो जीर्णां जरत्कुटीव ॥

अध्रुवत्वल्यापनार्थं गाथाः पचदश आह—

मूलारा—पीणत्यणेति-पीणत्यणचयणी पीनस्तनभागमपूर्णचंद्रानना । णयणदइदिया नेत्रप्रिया । आसी जाता ।

विरसा कामरसरहिता ।

अर्थ—जिसके स्तन पृष्ठ थे और मुखचद्रके साथ स्पर्द्धा करता था, जो पूर्वमें नेत्राँको अतिशय आनन्द दायिनी थी, वही स्त्री सकुचित शरीरवाली अर्थात् गम्भीर, और जीर्ण झोपड़ीके समान चारो तरफसे जीर्ण होती है

जा सन्वसुंदरगी सविलासा पढमजोव्वणे कंता ॥

सा चेव मदा संती होदि हु विरसा य बीभञ्छा ॥ १०५६ ॥

या यौवने प्रिया कांता सर्वोवयवसुंदरी ॥

दुर्गधा कुथिता सास्ति बीभत्सा विरसा मृता ॥ १०८८ ॥

विजयोदया—जा सन्वसुंदरगी यस्या सर्वोणि अंगानि सुंदराणि । सविलासा विलाससहिता । पढमजोव्वणा प्रथमयौवना । कता काता । सा चेव मदा संती सैव मृता संती । होदि हु विरसा भवति विरसा । बीभञ्छा जुगुप्सनीया ॥ मूलारा—जा सन्वेति—मदा संती मृता संती । बीभञ्छा जुगुप्सनीया ।

अर्थ—जिसके सर्व अवयव सुंदर, विलाससहित, और प्रथम तारुण्यसे युक्त थे वही स्त्री मरनेपर विरस और ग्लानि करने योग्य होती है, अर्थात् शरीरकी सुंदरता दृढता वगैरे गुण अस्थिर हैं ऐसा इन दो गाथाओंसे आचार्यने दिखाया है

शरीरसपदो ध्रुवता व्याख्याता गाथाद्वयेन । वंपत्यो सयोगस्याध्रुवतां व्याचष्टे—

मरदि सयं वा पुव्वं सा वा पुव्वं मदिज्ज से कंता ॥

जीवितस्स व सा जीवंती हरिज्ज बलिण्हि ॥ १०५७ ॥

अग्रिते वल्लभा पूर्वं स्वयं वा अग्रिते पुरा ॥

जीवंती जीवतो वान्यैरिह्यते बलिभिर्बलात् ॥ १०८९ ॥

विजयोदया—मरदि सयं वा पुव्वं अग्रिते सय वा पूर्वं पुमान् । सा वा पूर्वं अग्रिते । से तस्य पुनः कान्ता । जीवन्तस्स जीवतो वा सा जीवन्ती निह्यते बलिगेहि बलिभिरपरैः । इत्थं सयोगस्य बहुधाऽनित्यता ॥

एवं शरीरसंपदुधुत्व व्याख्याय दंपत्योः सयोगाधुवत्व व्याचष्टे—

मूलारा—मरदि इति-मरदि सय म्रियते स्वयं पुमान् ।

अर्थ—पति, पत्नीके प्रथम आयु नष्ट होनेसे मरता है अथवा उसकी स्त्री मर जाती है, अथवा पति जीता रहतेहि बलवान लोग स्त्रीको हरण कर ले जाते हैं

सा वा हवे विरत्ता महिला अण्णेण सह पलाएज्ज ॥

अपलायंती व तगी करिज्ज से वेमणस्साणि ॥ १०५८ ॥

विरज्यते स्वयं तस्याः सा वा तस्य विरज्यते ॥

परेण वा समायाति तिष्ठती वा विरुध्यते ॥ १०९० ॥

विजयोदया—सा वा होज्ज विरत्ता सा भवेद्विरक्ता पुण्ये तथापि तयो संगतिः । महिला अण्णेण वा सह पलाएज्ज सा विरक्ता युवतिरन्येन वा सह पलायनं कुर्यात् । अपलायन्ती अपलायमाना वा । तगी सा । करेज्ज से वेमणस्साणि कुर्यात्सच्चेतोडु यानि ॥

मूलारा—सा वा इति-पलाएज्ज गच्छेत् । तगी सा । वेमणस्साणि चित्तदुक्कयानि ॥

अर्थ—अथवा वह स्त्री अपने पतीसे असंतुष्ट होकर अन्य पुरुषके साथ भाग जायगी, अथवा विरक्त होकर वे दोनों एक साथ रहेंगे तथापि वह स्त्री पतिके मन को दुःख देती रहेगी अर्थात् प्रतिकूल विचार, आचार और भाषण से वह पतिको दुःख देनेवाली होगी

शरीरस्याधुवतामाचष्टे—

रूवाणि कंठुकममादियाणि चिद्वृत्ति सारवेतस्स ॥

धणिदं पि सारवेन्तस्स ठादि ण चिरं सरिरमिदं ॥ १०५९ ॥

चिरं तिष्ठति संस्कारे काष्ठशावादिरूपकम् ॥

कलेवरं मनुष्याणां न संस्कारे महत्त्यपि ॥ १०६१ ॥

विजयोदया—रूपाणि कट्टरुम्मादियाणि काष्ठे उत्कर्णन्ति रूपाणि स्त्रीणा पुसा अन्येया च आदिशयेन शिला-  
दंतादिपरियद्वाश्चिरं चिह्नन्ति सारवत्तस्स चिरं तिष्ठति संस्फुर्यत । धणिद्व पि सारवत्तस्स नितरामपि संस्फुर्यत । आदि ण  
चिरं शरीरमिमं न तिष्ठति चिर शरीरमिदं ॥

देहाद्रुचत्वमाह—

मूलारा—रूपाडं इति—सारवत्तस्स सङ्कुर्वतः ।

शरीरकी अनित्यताका विवेचन—

अर्थ—लकड़ी, पत्थर, हस्तिदंत इत्यादिकोमं बनाये हुए स्त्रीपुरुषोंके चित्र और अन्य प्राणिओंके  
चित्र संस्कार करनेसे बहुत काल तक रहते हैं परंतु इस देहपर व्यायाम, अन्नादिकोंके द्वारा कितना भी संस्कार  
करो चिरकालतक ठहरता नहीं

न केवल शरीरमेव अतित्यमपि त्वन्यदपि इति व्याचष्टे—

मेघहिमफेणउक्कासंझाजलदुव्वुदो व मणुगाणं ॥

इंद्रियजोव्वणमदिरुवत्तेयवल्लवीरियमणिच्च ॥ १०६० ॥

यौवनेन्द्रियलावण्यतेजोरूपचलादयः ॥

गुणाः क्षणेन नश्यन्ति शारदा इव नीरदाः ॥ १०९२ ॥

विजयोदया—मेघहिमफेणउक्कासाजलदुव्वुदोव मेघवद्भिस्त्वत्तेनचउक्कावत्सत्थावजलमुदुत्स्यच्च । मणुगाणं  
। श्रद्धियजोव्वणमदिरुवत्तेजवल्लवीरियमणिच्च । मण्डियाणि, यौवन, मति, रूप, तेजो, बल, वीर्य, चानित्यं ॥  
न परं शरीरमेवानित्य अपि तु अपरमपीत्याह—

मूलारा—मेघवद्धि—स्पष्टम् ।

अर्थ—मेघ, वर्षा, पानीका फेन, उल्का, सन्ध्याकाल और पानीका चबूला इन के समान मनुष्योंकी  
इंद्रिया, तारुण्य, बुद्धि, रूप, तेज, बल, वीर्य ये भी अनित्य हैं जब मनुष्ययुवाय ही अनित्य है तो उस पर्या-  
यमें प्राप्त होनेवाली उपयुक्त चीजें कैसे स्थिर हो सकती हैं

शठिति शरीरसंप्रदायवर्तते इत्याख्यानक दर्शयति—  
साधुं पडिलाहेतुं गदसस सुरयस्त अगमहिंसीए—  
णट्ट सदीए अंगं कोढेण जहा मुहुत्तेण ॥ १०६१ ॥  
गतस्याहारदानार्थं सुरतस्य तपस्विनः ॥  
क्षणान्न किं महादेव्या नष्टं कुटेन विग्रहः ॥ १०९३ ॥

विजयोदया—साधु पडिलाहेतु गदसस सायोगद्वारा नार्थं गतस्य । सुरयस्य सुरतनामकेयस्य राज्ञ । अगम-  
हिंसीए अग्रमहिंस्या सदीए सत्या शोभनाया । अग णट्ट शरीर नष्ट । कोढेण कुटेन । जहा मुहुत्तेण यथा मुहुत्तेन ॥

शठिति शरीरसंप्रदायवर्तते इत्याख्यानकेन दर्शयति—  
मूलारा—साधुं इति—साधु पडिलाहेतुं संयमिनं भोजयितुं । सुरदस्स सुरतान्मो राज्ञः । अगमहिंसीए पट्ट-  
गमदेव्याः । सदीए शोभनाया ।

अर्थ—सुरत राजाको पट्टरानी बहुत ही सुंदर थीं एक समयमें राजा मुनीश्वरको आहार देनेके लिये  
गया था उस समय इधर रानीका शरीर अंतर्मुहूर्तमें कोढ़ रोगसे व्याप्त होगया अभिप्राय यह है कि, जो रानीका  
शरीर अंतर्मुहूर्तके पूर्वमें बड़ा ही सुंदर और राजाको अत्यंत प्रिय था वही अंतर्मुहूर्त के अनन्तर ही अत्यन्त  
विरूप हो गया अतः शरीर परिवर्तनशील है यह बात इस उदाहरणसे स्पष्ट होती है

वज्झो य णिज्जमाणो जह पियइ सुर च खादि तंवलं ॥  
कालेण य णिज्जता विसए सेवति तह मूढा ॥ १०६२ ॥  
हंतुमग्रे कृतो मूढो दुर्निवारेण मृत्युना ॥  
सेवते विपयं वध्यः पाणेनेव सुरादिकम् ॥ १००४ ॥

विजयोदया—वज्झो य णियमाणो हन्तु नीयमान । जह पियइ यथा सुरा पित्रि । सादि तंवल तावल  
भक्षयति । तथा कालेण य णिज्जता मृत्युना नीयमाना मूढा । विसए सेवति विषयाननुभवन्ति ॥  
मूलारा—वज्झो इति—चोर्यापराधेन वधार्हः पुमान् । णिज्जमाणो हंतु नीयमानः श्वपचेन । कालेण परिज्जतो

हंतुमग्रे कृतो मूढो दुर्निवारेण मृत्युना ॥  
सेवते विपयं वध्यः पाणेनेव सुरादिकम् ॥ १००४ ॥

विजयोदया—वज्झो य णियमाणो हन्तु नीयमान । जह पियइ यथा सुरा पित्रि । सादि तंवल तावल  
भक्षयति । तथा कालेण य णिज्जता मृत्युना नीयमाना मूढा । विसए सेवति विषयाननुभवन्ति ॥  
मूलारा—वज्झो इति—चोर्यापराधेन वधार्हः पुमान् । णिज्जमाणो हंतु नीयमानः श्वपचेन । कालेण परिज्जतो

उक्त च-हं तुमसे कृतो मूढो दुर्निवारेण मृत्युना ।

सेवते विषय वध्यः पाणेनेव सुरादिकं ॥

अर्थ—वध करनेके लिये जिसको ले जा रहे हैं ऐसा कोई मूढ मनुष्य जैसे मदिरा पीकर तांबूल भक्षण करता है वैसे कालके द्वारा मारने के लिये ले जानेवाले मनुष्य भी मूढ हो कर विषयोंका सेवन करते हैं

वधपरद्वो लग्नो मूले य जहा ससप्पविलपडिदो ॥

पडिदमधुविदुमक्खणरदिओ मूलम्मि छिज्जते ॥ १०६३ ॥

व्याघ्रेणाग्रे कृतो हंतुं विले साज्जगरे गतः ॥

छिद्यमाने इहं लग्नो मूले विविधमूपिकैः ॥ १०९५ ॥

अपश्यन्नग्रतो मृत्युं यथा कश्चन मूढधीः ॥

पतन्मधुकणास्वादो विधत्ते परमां रतिम् ॥ १०९६ ॥

विजयोदया—वधपरद्वो व्याघ्रेणाभिद्रुत । लग्नो लग्न । मूलम्मि लताया मूले ससर्पवति विले पतितः । पडिदमधुविदुमक्खणरदिओ स स्वचकस्थानपतितमधुविद्यास्वादनरतिक । मूलम्मि छिज्जते । मूले छिद्यमाने मूपिका-भिर्यथा ॥

दृष्टातोपन्यासपुरःसरं विषयविनश्वरत्वं गाथात्रयेण भावयति—

मूलारा—वधेति—वग्गपरद्वो व्याघ्रेण प्रारब्धोऽभिद्रुतो हं तुमसे कृत इति यावत् । मूलम्मि समर्पकपभित्तिटप्रल-ढवल्लीबुद्धे । पडिदमधुविदुचक्खणरदिओ कथमपि मुखपतिमाक्षिकलवासादनप्रीतिकः । छिज्जते छिद्यमाने मूपिकैः ।

अर्थ—मारनेके लिये जिसके पीछे व्याघ्र लगा है, ऐसा कोई पथिक, जिसमें सर्प हैं ऐसे कूयेकी भीतके तटपर उगी हुई वेलीके बुधाको पकड़कर लटकने लगा. उस समय मधके छत्से मधुविंदु उसके ओष्ठके अग्रभागपर गिरने लगे तब वह व्याघ्र का डुःख भूल कर मधुविंदुसे उत्पन्न होनेवाले स्वादमैही आसक्त होगया परंतु वह इस वेलीका मूल चूहोंके द्वारा काटा जा रहा है और मैं उसके काटेनपर कुएँ पड़गा यह सब बातें वह पथिक जैसे भूल गया वसीही संसारी मनुष्य की हालत है

तह चेव मञ्जुवग्धपरद्धो बहुदुक्खसप्पबहुलम्मि ॥  
 संसारविले पडिदो आसामूलम्मि संलग्गो ॥ १०६४ ॥  
 मृत्युव्याघ्रोक्षितो दुःखसर्पे जन्मविले गतः ॥  
 त्थ्यमानस्तथा मूढो बहुभिर्विघ्नमूपकैः ॥ १०९७ ॥

विजयोदया—तह चेव तथैव । मञ्जुवग्धपरद्धो मृत्युव्याघ्रेणाभिद्रुत । संसारविले पडिदो संसार एव विलः  
 तस्मिन्पतितः । कीदृग्मूढे बहुदुःखसर्पाकुले आशामूले । संलग्गो सम्यगलग्नः ॥

मूलारा—तथेति—आसामूलम्मि आशा विषयाकाक्षा मूलमिवालंबनभूतत्वात् ।

इसीका आगेके दो गाथाओं से वर्णन करते हैं—

अर्थ—इस मनुष्यके पीछे मृत्युरूपी व्याघ्र लगा है, यह मनुष्य अनेक दुःख रूपी सर्प जिसमें निवास  
 करते हैं ऐसे संसाररूपी विलमें गिरा है, परंतु इसने आशारूपी वेली की जड़ हाथमें पकड़ रखली है,

बहुविघ्नमूसण्हिं आशामूलम्मि तम्मि छिज्जंते ॥  
 लेहदि विभयविलज्जो अप्पसुहं विसयमधुविंदुं ॥ १०६५ ॥  
 आशामूले हृदं लग्नो विषयासादने रत्तिम् ॥  
 महर्ती कुरुते नाशमपद्यन्नग्रतः स्थितः ॥ १०९८ ॥

इति अष्टौव्यम् ॥

विजयोदया—बहुविघ्नमूसर्गेहिं य बहुभिर्विघ्नमूपकैः । आशामूलम्मि तम्मि छिज्जंते । आशारूपे मूले  
 तस्मिन्निच्छद्यमाने । लेहदि खावति । विभयविलज्जो निर्भयो निर्लेज्जश्च । अप्पसुहं विसयमधुविंदुं । अल्पसुखं विषयमधु-  
 विंदुं अल्पसुखनिमित्तत्वादल्पसुखमित्युच्यते । विषयमधुविंदुं विषयशब्देन रूपादय इत्युच्यते । तेषु पुरो वर्तमानस्य  
 पुद्गलस्कंधस्य वर्तमाना, कतिपया, पर्याया अतिस्वल्पास्त एव मधुविंदवः ॥ अधुवत्तं ॥

मूलारा—बहुविघ्नेति—विसयमधुविंदुं विषयश्चक्षुरादिना गृहमाणो रूपाधार्यो भविव स्वल्पसुखनिमित्तत्वात् ।  
 तस्य विदुस्तत्क्षणभज्यमानपुण्ड्रस्थितपुद्गलविवर्तिपर्यायः । तथा चाबोचाम सिद्धयर्थकै-



सुधागर्वं सर्वन्त्यभिमुखग्रहणीकप्रणयिनः ॥

क्षणं ये तेऽप्यङ्कं विपमपवदंत्यंगविपयाः ॥

त एवाविर्भूय प्रतिचितयनायाः सखु तितो-

भवन्त्यधात्तेभ्योऽप्यहह किमु कर्पन्ति विपदः ॥

अर्थ—आशारूपी वेलीकी जड़ नाना विघ्नरूपी चूहोंके द्वारा काटी जा रही है इस बातको वह जानता ही नहीं। परंतु विषयसुखरूपी अल्प मधुके कणका आस्पादन करनेमें ही वह लवलीन हो रहा है, नेल वगैरह इंद्रियोंके द्वारा जिनका ग्रहण होता है ऐसे रूप, रस, गंध स्पर्शादिकोंको विषय कहते हैं ये विषय मधुके समान अल्प सुख उत्पन्न करनेमें निमित्त हैं अतः इनको मधु कहते हैं इनका विंदु अर्थात् इन रूपादि पदार्थोंके जो थोड़ेमे पुद्गलस्कन्ध भोगनेमें आते हैं उसको विंदु कहते हैं, इस प्रकार अनुवतत्वका वर्णन हुआ।

वालो अमेज्जलिच्छो अमेज्जमज्झमि चैव जह रमदि ॥

तह रमदि णरो मूढो महिलामज्जे सयममेज्जो ॥ १०६६ ॥

रामावर्चोमध्यवर्ती ननुण्यं कीडत्येपोऽमेध्यरूपः शिशुर्वी ॥

वर्चोल्लोऽमेध्यमध्यं प्रवृत्तो कीटवसरं निंदनीयस्व भावं ॥ १०९९ ॥

विजयोदया—वालो अमेज्जलिच्छो बालोऽ अमेध्येन लिप्त । अमेज्जमज्झमि चैव अमेध्यमध्ये एव । जह रमदि यथा रमते प्रीतिसुपैति । तथा रमदि णरो मूढो तथा रमते मूढ । महिलामेज्जे योपिदेव अनेकाशुचिपूर्णशरीरतया अमेध्यशब्देनोच्यते । सयममेज्जो स्वयममेध्यभूत ॥

सकलाभिमतैर्द्विार्थनायके स्त्रीनाम्नि विषये यथावत्स्वरूपानुवावपरत्वेन जुगुप्सासुहावयन्स्वावत्तदगान्मुमुक्षुमुपरमयितुं गायद्वयमाह—

मूलारा —वालो इति—रमदि प्रीतिसुपैति । महिलामेज्जे महिला अमेध्यमिव समस्ताशुचिप्रागभारशरीरत्वात् ॥

अर्थ—विष्टासे लिप्त हुआ बालक जैसे विष्टामें ही क्रीडा करता है उसमें सुख मानता है, वैसे अनेक अपवित्र पदार्थ जिसके शरीरमें भरे हुये हैं ऐसी स्त्रीरूपी विष्टामें यह कामी अपवित्र पुरुष क्रीडा करता है.

कुणिमरसकुणिमगंधं सेविता महिलियाए कुणिमकुडी ॥

जं होंति सोचइत्ता एवं हासावहा तेसिं ॥ १०६७ ॥

अमेध्यनिर्माणममेध्यपूर्णं निषेवमाणैर्वनिताशरीरम् ॥

धैर्मन्यते स्वं शुचिरस्तनोर्धेर्हास्यास्पदं कस्य न ते भवंति ॥ ११०० ॥

विजयोदया—कुणिमरसकुणिमगंध अशुचिरसमशुचिगंध । सेविता सेवमाना । महिलियाए महिलया युवत्या । कुणिमकुडि अशुचिशरीरकुडि । जं होदि सोयवता । एवं हासावह एतच्छौचत्व हास्यावह । तेसिं तेषां ॥

मूला—कुणिमेति—कुणिमकुडि अशुचिशरीरकुटी । सोचइत्ता शौचे चित्तं येषां ते शौचविन्ताः शुचित्वमनसः आत्मानं शुचिं मन्यमानाः । इत्यर्थः ।

अर्थ—जिससे अशुचि रस बहुता है, जिसका गंधभी अपवित्र है ऐसी स्त्रीरूपी शोपडीको सेवन करनेवाले काभी पुरुष अपनेको पवित्र मानते हैं यह उनका विचार हास्यास्पद है.

एवं एदे अच्छे देहे चित्तयस्स पुरिसस्स ॥

परदेहं परिभोत्तु इच्छा कह होज्ज सधिणस्स ॥ १०६८ ॥

बीजादयो येन शरीरधर्माश्चित्ते क्रियन्ते बुधनिंदनीयाः ॥

निषेव्यते मेध्यमयी न नारी कदाचनमेध्यकुटीव तेन ॥ ११०१ ॥

विजयोदया—एव एदे अच्छे एवमेतानर्थान् । देहे शरीरविग्रहान् । चित्तयस्स चित्तयत । पुरिसस्स पुरुषस्य । परदेहं परस्य शरीरं परिभोत्तु परिभोक्तु । इच्छा किह्व होज्ज इच्छा कथं भवेत् । सधिणस्स घृणावत् । लज्जावत् ॥ देहबीजादिभावनाभुभावविभानाय गाथाद्वयमाह—

मूला—एदे बीजादीन् । सधिणस्स लज्जावतः । उक्तं च—

बीजादयो येन शरीरधर्माश्चित्ते क्रियन्ते बुधनिंदनीयाः ॥

निषेव्यते मेध्यमयी न नारी कदाचनमेध्यकुटीव तेन ॥

अर्थ—इस प्रकार इस देहसे उत्पन्न होनेवाले अनेक विषयोंका जो पुरुष मनमें विचार करता है उसको

परदेहका उपभोग लेते समय क्यों न लज्जा उत्पन्न होगी? अर्थात् ऐसे अपवित्र देहका उपभोग लेनेसे वह विचारी मनुष्य परावृत्त होगाही

एदे अत्ये सम्मं दोसं पिच्छंतओ णरो सधिणो ॥

ससरीरे वि विरज्जइ किं पुण अण्णरस देहम्मि ॥ १०६९ ॥

निरीक्षते यो वपुषः स्वभावं वर्चोनिवासस्य विनश्वरस्य ॥

देहे स्वकीयेऽपि विरज्यतेऽसौ दोषास्पदायाः किञ्च नांगनायाः ॥११०२॥

इति अशौचम् ॥

यिज्योद्या—एदे अत्ये देहस्स बीजणिप्पसिखेत्त इत्येतत्सन्ननिर्दिशनेतानर्थान् । देहे शरीरे । पिच्छित्तगो सम्यङ् निरूपयन् । ससरीरे वि विरज्जइ आत्मनोऽपि शरीरे विरज्जति विरक्ततामुपैति । किं पुण अण्णस्स देहम्मि किं पुनरन्यशरीरे विरक्तता नोपेयात् ॥ अगुचि ॥ अशुचित्व व्याख्यात ॥

मूलारा—एदे अत्ये इति—पिच्छंतओ निरूपयन् । अधुवत्वं ॥ अशुचित्व ॥ ६७ ॥

अर्थ—देहका बीज, निष्पत्ति वगैरह प्रकरणोंका वर्णन किया गया है इनके स्वरूपका इस देहमें जिसने सम्यक्प्रकार से विचार किया है वह पुरुष अपने शरीरसे ही विरक्त होगा फिर अन्यके देहके विषयमें उसको क्यों न वैराग्य उत्पन्न होगा? अशुचित्वका वर्णन समाप्त

बृद्धसेवानिरूपणाय उत्तर-प्रवधत्तरुणा वा इत्यादिक । शीलवृद्धता भवति न केवलत वयसा इत्याचष्टे—

थेरा वा तरुणा वा बुद्धा सीलेहिं होति बुद्धीहिं ॥

थेरा वा तरुणा वा तरुणा सीलेहिं तरुणेहिं ॥ १०७० ॥

बृद्धैर्बुद्धा नरा-शीलैस्तरुणैस्तरुणा यतः ॥

जायंते तरुणा वृद्धास्तत-शीलं बुधैः स्तुतम् ॥ १०७३ ॥

यिज्योद्या—थेरा वा तरुणा वा स्थिरास्तरुणाश्च । बुद्धा होति बुद्धा भवति । सीलेहिं होति तरुणेहिं बुद्धेहिं शीलैः प्रबुद्धैः । क्षमा, मार्दव, क्रशुल्य, सतोप इत्यादिक शीलशब्देनोच्यते । थेरा वा तरुणा वा स्थविरास्तरुणाश्च । तरुणा

एव । सीलेहिं तरुणेहिं तरुणैः शीलैः । एतेन शीलवृद्धा इह वृद्धराद्वेन गृहीता । एतेषा सेवा वृद्धसेवेति कथितं भवति । वृद्धगुणानां सेवातः स्वयमपि गुणोत्कर्षमुपैति मन्यते ॥

एव कामदोषद्वीदोषाद्युचित्वानि त्रीणि स्त्रीवैराग्यनिमित्तानि व्याख्याय साग्रतं वृद्धसेवा पंचदशभिर्गोथाभिर्व्याचक्षणां वृद्धस्वरूपनिरूपणार्थं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—धेरा वेति—सीलेहिं क्षमादिभि । बुद्धेहिं बुद्धिं गतैः । न वयसा वृद्धेन । तरुणेहिं कामादिभिः प्रायेण तारुण्येन सह दृष्टित्वात्तेषा । यत्पठन्ति लोकाः—

अवश्यं यौवनस्थेन स्त्रीवेनापि हि जंतुना ।

विकारः खलु कर्तव्यो नाविकाराय यौवनम् ॥

सुप्रसिद्धौ च वृद्धगुणदोषपुरूपसेवानाहुणवोपोत्कर्षौ ।

अब वृद्धसेवाका वर्णन विस्तारसे करते हैं—केवल वय अधिक होनेसे मनुष्य शीलवृद्ध होता नहीं इसका वर्णन—

अर्थ—वृद्ध हो अथवा तरुण हो यदि उनका शील बढ गया हो अर्थात् क्षमा, मार्दन, आज्ञा, शौच बगैरह आत्मधर्म बढ गये तो उनको शीलवृद्ध कहना चाहिये और जिनके ये धर्म नहीं बढ पाये उनको चाहे वयसे वृद्ध भी हो तो भी तरुण ही कहना चाहिये अभिप्राय यह है कि शीलवृद्धोंको ही यहां वृद्ध कहना चाहिये और उनकी सेवाकाही नाम वृद्धसेवा है जिनके क्षमादिक गुण वृद्धिगत हुए हैं उनकी सेवा करनेसे अपने भी गुण बढते हैं.

अपि चेह यत्यादीनामपि ससगौ गुणवान्यतस्तेऽपि तपसैव मंदीभूतकामरतिवर्पक्रीडा इति वदति—

जह जह वयपरिणामो तह तह णस्सदि णरस्स बलरूवं ॥

मंदा य हवदि कामरदिदपक्रीडा य लोभो य ॥ १०७१ ॥

यथा यथा वयोहनिः पुरुषस्य तथा तथा ॥

मंदाः कामरतिक्रीडादर्पबलादयः ॥ ११०४ ॥

विजयोदया—जह् जह् वयपरिणामो अतिक्रामति यथा यथा वयःपरिणामो युवत्वमध्यमन्वसंक्षित । णरस्स परिणामो प्राणिन परिणाम । तद्य तद्य से तथा तथा तस्य मदा हवन्ति मंदा भवति । कामरदिदृक्पकीडा काम्यन्त इति कामा विषयास्तत्र रतिर्दोष, क्रीडा, लोभ लोभश्च मंदविषयस्त्याद्विपरिणामेन वृद्धेन सह संवासात् । स्वयमेवापि मंदकामाद्विपरिणामो भवतीति भावः ॥

यद्यपि तपसैव कामरतिदोषकीडा लोभा न्ययमावयितुं शक्यास्तथापि वयःपरिणतिरपि तदनुकूलकारणता प्रतिपद्यते इति वयोवृद्धससर्गस्य अपि गुणवत्त्वस्यापनार्थमाह—

मूलारा—जद्य जद्येति—वयपरिणामो युवत्वमध्यमन्वसंक्षित । मदा न्यग्रभूता । कामरदो विषयप्रीतिः उक्त च—

यथा यथा वयोहानिः पुरुषस्य तथा तथा ॥

मंदाः कामरतिक्रीडादर्परूपवलादयः ॥

तथैव च लोकोऽप्यधीते—

प्रथमे वयसि यः शातः स शात इति मे मतिः ।

धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ॥

मंदकामरत्नाद्विपरिणामेन वृद्धेन सह संवासात् स्वयमेव च तादृक्परिणामो भवतीति मन्यते । कुलीनान्ध्र-  
त्येतदुच्यते कुशीलानामन्यथापि भावात् । यत्संक्षित—

वयसः परिणामेऽपि कुशीलस्य कुतः शमः ॥

सुषुप्तमपि माधुर्यं नोपयातीद्रवारुणं ॥

यति, त्यागीजन इनका भी समर्ग करना सद्गुणप्राप्तिका उपाय है क्योंकि यतिगणने तपके द्वारा विषय-  
प्रीति कम की है इसी अभिप्रायको स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जैसी जैसी मनुष्यकी आधु अधिक होती जाति हैं वंसा २ उसका विषयोंमें प्रेम कम होता जाता है मंद, क्रीडा, और लोभ ये दुर्विकार रूप होते हैं, तरुणावस्थामें इन दुर्विकारोंका अदमनीय वेग रहता है, मध्यम-  
वय होनेपर इनके वेग में मंदता आती है जिनेके ये उपर्युक्त विकार मंद हुये हैं ऐसे वृद्धोंकी संगति करनेसे ये कामादिविकार मंद हो जाते हैं,

खोभेदि पत्थरो जह दहे पडंतो पसणमवि पंकं ॥  
खोभेइ तथा मोहं पसणमवि तरुणसंसर्गी ॥ १०७२ ॥

शांतोऽपि क्षोभ्यते मोहो युवसंगेन देहिनः ॥

कर्दम पतता क्षिप्रं प्रस्तरणेव वारिणः ॥ ११०५ ॥

विजयोद्या—खोभेदि क्षोभयति । पत्थरो शिला महुती । जह यथा । दहे ज्हेदे पडंतो पतन् । पसणमवि पंकं प्रशातमपि पंक । खोभेदि चालयति । तथा मोह । पसणमवि प्रशातमपि । तरुणसंसर्गी तरुणगोप्त्री ॥

तरुणगोप्त्रीमपवदति—

मूलारा—खोभेदि इति—खोभेदि उदीरयति । पतन्त प्रशान अनुदत्त । मोहं काम ॥

अर्थ—जैसा बड़ा पत्थर मरोवरमें पड़नेसे उसका निर्मल पानी उछलकर मलिन बनता है वैसे तरुण संसर्ग मनके अच्छे विचारोंमें मलिनता उत्पन्न करके उनको गंदे बनाता है यदि कोई मनुष्य शांतिपरिणामका धारक है तो भी उसको तरुणसंसर्ग त्यागना ही योग्य है अन्यथा उसके शांत विचारभी तरुण संसर्गसे विघटने

कलुसीकदंपि उदयं अचलं जह होइ कदयजोएण ॥  
कलुसो वि तथा मोहो उवसमदि हु बुद्धसेवाए ॥ १०७३ ॥

उदीर्णोऽप्यंगिनो मोहो वृद्धसंगेन निश्चितम् ॥

पंक. कतकयोगेन सलिलस्येव शाम्यति ॥ ११०६ ॥

विजयोद्या—कलुसीकदंपि उदय कलुगीकृतमप्युदक । कदयजोएण कतकफलसंबधेन । अचलं स्थच्छं । जह होइ यथा भवति । कलुसोऽपि कलुपितोऽपि । मोहो मोहः । उवसमदि उपशाम्यति । बुद्धसेवाए बुद्धसेवया ॥

बुद्धसेवायाः कामौत्कट्यविलुटकत्वं वक्ति—

मूलारा—कलुसीकदंपि इति—कदकजोएण कतकफलसंबधेन । कलुसो उत्कटः ॥

अर्थ—जैसा मलिन पानी भी कतकफलके सयोगमे स्थच्छ होता है वैसे कलुप मोह भी शीलवृद्धोंके संसर्गसे शांत होता है.

लीणो वि मट्टियाए उदीरदि जलासयेण जह गंधो ॥  
लीणो उदीरदि णरे मोहो तरुणासयेण तहा ॥ १०७४ ॥

शान्तिपुद्बुदीयते मोहः पुंसस्तरुणसंगतः ॥

लीनः किं मृत्तिकागंधो नोदेति जलयोगतः ॥ १०७५ ॥

विजयोदया—लीणो वि लीनोऽपि । मट्टियाए मृत्तिकाया । गंधो गंध । जहा जलासयेण जलाश्रयेण ।  
उदीरदि उदयमुपैति । लीणो वि मोहो णरे लीनोऽपि नरे मोहः । उदीरदि उदयमुपनीयते । तरुणासयेण तरुणा-  
श्रयेण तथा ॥

मोहोदयभावाभावोत्तरुणससर्गभावाभावानुविधायित्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—लीणो वि इति—लीणो अनुद्भूतः । जलासणेण नीरससर्गेण ॥

अर्थ—जैसा मट्टीमें गंध रहता है परंतु जलके आश्रयसे वह प्रगट होता है वैसा तरुण के आश्रयसे गुप्त  
भी मोह उमड पडता है.

संतो वि मट्टियाए गंधो लीणो हवदि जलेण विणा ॥  
जह तह गुट्टीए विणा णरस्स लीणो हवदि मोहो ॥ १०७५ ॥  
रहितो युवसंगत्या मोहः सन्नपि लीयते ॥  
जीवस्य जलसंगत्या पुष्पगंध इव स्फुटं ॥ ११०८ ॥

विजयोदया—सन्तो वि सन्नपि मृत्तिकाया गंध । जलेन विना लीनो भवति यथा तथा गोष्ठ्या विना  
मोहो नरस्य लीनो भवति ॥

मूलारा—सतो वि इति—लीणो हवइ नोदेतीत्यर्थः ॥

अर्थ—मट्टीका गंध मट्टीमें रहता हुआ भी जलके संसर्गके विना प्रगट होता नहीं है वैसा ससर्ग के  
विना मनुष्यका मोह प्रगट नहीं होता है.

तरुणो वि वृद्धशीलो होदि णरो वृद्धसंसिओ अचिरा ॥

लज्जासंक्रामाणावमाणभयधम्मवुद्धीहीं ॥ १०७६ ॥

एवापि वृद्धशीलोऽस्ति नरो हि वृद्धसगतः ॥

'मानापमान'भीशंकाधर्मबुद्धित्रिपादिभिः ॥' ११०९ ॥

विजयोदया—तरुणो वि तरुणोऽपि । वृद्धशीलो भवति । वृद्ध संश्रितोऽचिरात् । लज्जया, शंकया, मानेन, अपमानभयेन धर्मबुद्ध्या च ॥

वृद्धसेवामाहात्म्यमाह—

मूलारा—तरुणो वि इति—माण संयतोहमिति अभिमानः । अवमाणभयं महस्त्वलण्डनभीतिः ।

अर्थ—वृद्धोंके संसर्गसे तरुण मनुष्य भी शीघ्रही शीलगुणोंकी वृद्धि होनेसे शीलवृद्ध बनता है लज्जासे, भीतीसे, अभिमानसे, अपमानके डरसे और धर्मबुद्धीसे तरुण मनुष्य भी वृद्ध बनता है

बुद्धो वि तरुणसीलो होइ णरो तरुणसंसिओ अचिरा ॥

वीसंभणिज्विसंको समोहणिज्जो य पयडीए ॥ १०७७ ॥

वृद्धस्तरुणशीलोऽस्ति नरस्तरुणसंगतः ॥

विश्रंभनिर्विशंकत्वमोहप्रकृतियोगतः ॥ १११० ॥

विजयोदया—बुद्धो वि वृद्धोऽपि तरुणशीलो भवति तरुणसंश्रित क्षिप्र । विस्संभणिज्विसंको विश्रमेन निर्विशंक समोहणिज्जो य सह मोहनीयेन वतेमान । पयडीए प्रकृत्या ॥

तरुणाश्रयेण दोषमाह—

मूलारा—बुद्धो वि इति—वीसंभणिज्विसंको क्रिया विश्रमेन दुर्गतिदुःखादिभयरहितः । समोहणिज्जो सकामो यतः । पयडीए प्रकृत्या ॥

अर्थ—तरुणोंकी संगतिसे वृद्ध मनुष्य भी स्वभावतः कामविकारसे युक्त दोषर स्त्रियोंके ऊपर विश्वास करने लगता है और दुर्गतिके भयसे रहित होता है



सुंडयसंसर्गीए जह पाहुं सुंडओऽभिलसदि सुरं ॥

विसए तह पयडीए संमोहो तरुणगोष्ठीए ॥ १०७८ ॥

इंद्रियार्थरतिर्जीवो युवगोष्ठ्या विमूढधी ॥

शौण्डगोष्ठ्या यथा शौण्ड' सुरां कांक्षति सर्वदा ॥ ११११ ॥

विजयोदया—सुंडयससर्गीए यथा शाडगोष्ठ्या । जह पाहुं सुरमभिलसदि यथा पातु सुरामभिलपति । तथा पयडीए संमोहो तथा प्रकृत्या समोह । तरुणगोष्ठीए विमण अभिलसदि तरुणगोष्ठ्या विषयानभिलपति ॥

मूलारा—सुंडय इति—सुंडयससर्गीए मणगोष्ठ्या । पाहुं पातुं ॥

अर्थ—जैसे मद्यपीके सहवासमे मद्यका प्राशन न करने वाले मनुष्य को भी उसके पानकी अभिलाषा उत्पन्न होती है वैसे तरुणोंके संगसे वृद्ध मनुष्य भी विषयोंकी अभिलाषा करता है

तरुणेहिं सह वसंतो चलिदिओ चलमणो य वीसत्थो ॥

अचिरेण सहरचारी पावदि महिलाकद दोमं ॥ १०७९ ॥

विश्रब्धश्चपलाक्षो य' स्वैरी तरुणसंगतः ॥

महिलाविषयं दोष स ग्रीष्मं लभते नरः ॥ १११२ ॥

विजयोदया—तरुणेहिं तरुणे सह वसन् चलेन्द्रियश्चलचित्त , मुकुट विश्रस्त अधिरेण स्वेरचारी । पावदि प्राप्नोति । महिलाकद दोस वनिताविषय दोष ॥

मूलारा—तरुणेहिं इति—सहरचारी स्वेरचारी । महिलागणं लीविषय ॥

अर्थ—तरुणोंके मसंगमे वृद्ध मनुष्यकी इन्द्रियां रूपादिविषयोंमें उत्सुक होती हैं मन चंचल बनता है और स्त्रियोंमें विश्वास रखकर वह स्वच्छंदी होता है स्त्रियोंके महावाममे वह दोषी बनता है-

पुरिसस्स अप्पसत्थो भावो तिहिं कारणेहि संभवइ ॥

वियरस्मि अंधयारे कुसीलसेवाए ससमक्खं ॥ १०८० ॥

ध्वतैकांतकुशीलेहृदर्शनैः करणैस्त्रिभिः ॥

कुत्सितो जायते भावः स्त्रीपुंसानामसशयम् ॥ १११३ ॥

विजयोदया—पुरिसस्स पुरुषस्य अग्रशस्तो भावस्त्रिभिः कारणैः संभवति । एकांतैः, अघकारैः, कुशीलसेवा दर्शनेन च प्रत्यक्षम् ॥

मूलारा—पुरिसस्स उपलक्षणात्त्रिधाश्च । अप्सत्थो कामाभिलाषयुक्तः । वियरम्मि क्रिया सहैकान्ते पुंसः, पुंसा च क्रियाः । कुशीलसेवाए ससमकलं आत्मप्रत्यक्ष स्त्रीपुंसयोः कामसेवाया सत्या तदवलोकने सति इत्यर्थः ।

उक्तं च— ध्वान्तैकान्तकुशीलेहृदर्शनैः कारणैस्त्रिभिः ॥

कुत्सितो जायते भावः स्त्रीपुंसानामसशयम् ॥

अर्थ—पुरुषमें तीन कारणोंसे अग्रशस्त विचार उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एकांत स्थानमें, अघकारमें और अपने समक्ष कोई स्त्रीपुरुष काम सेवनमें, अघकारमें और अपने समक्ष कोई स्त्रीपुरुष काम सेवन करते हुए देखकर कामाभिलाषरूप अग्रशस्त विचार उत्पन्न होते हैं

पासिय सुच्चा व सुरं पिज्जंतं मुंडओ भिलसदि जहा ॥

विसए य तह समोहा पासिय सोच्चा व भिलसंति ॥ १०८१ ॥

निसर्गमोहितस्वान्तो दृष्ट्वा श्रुत्वाभिलष्यति ॥

विषयं सेवितुं जीवो मदिरामिव मद्यपः ॥ १११४ ॥

विजयोदया—पासिय सुच्चा व सुरं सुरा पीयमाना दृष्ट्वा वा श्रुत्वा वा शोडोऽभिलपति । यथा तथा समोहा विषयानभिलपति दृष्ट्वा श्रुत्वा वा ॥

मूलारा—पासिय दृष्ट्वा । सोच्चा श्रुत्वा । पिज्जंती पीयमाना ॥

अर्थ—मदिरापान करते हुए पुरुष को देखकर अथवा मदिराका वर्णन सुनकर जैसे मद्यपी मनुष्य मद्य पीनेकी इच्छा करता है तथा मोहयुक्त मनुष्य भी निषर्गोका सेवन करनेवालोंको देखकर या सुनकर विषयभोगनेकी इच्छा मनमें करता है.

जादो खु चारुदत्तो गोह्रीदोसेण तह विणीदो वि ॥

गणियासत्तो मज्जासत्तो कुलदूसओ य तहा ॥ १०८२ ॥

चारुदत्तो विनीतोऽपि जातः संसर्गदोषतः ॥

वेडयामांससुरासक्तः कुलदूषणकारकः ॥ १११५ ॥

विजयोदया—जादो खु चारुदत्तो विनीतोऽपि चारुदत्तो गोह्रीदोसेण गणिकासको जातः मद्यावसक्त कुलदूषकश्च ॥

मूलारा—विणीदो सुचरितः ।

अर्थ—ज्ञानी भी चारुदत्त कुसंस्पर्शे गणिकामें-वेश्यामें आसक्त हुआ तदनंतर उसने मद्यमें आसक्ति कर अपन कुलको दूषित किया।

तरुणस्स वि वेरग्गं पण्हाविज्जदि णरस्स बुद्धेहिं ॥

पण्हाविज्जइ पाडच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण ॥ १०८३ ॥

तरुणस्यापि वैराग्य शीलवृद्धेन जायते ॥

क्रियते प्रस्तुतक्षीरा वत्सस्पर्शेन गीर्न किम् ॥ १११६ ॥

विजयोदया—तरुणस्स वि तरुणस्यापि वैराग्य जयते शानवयत्तपोवृद्धे । वत्सस्य स्पर्शेन यथा गौः प्रस्तुत-क्षीरा क्रियते ॥

शीलवृद्धस्यो यूनोऽपि वैराग्योत्पत्तिमाह—

मूलारा—पण्हाविज्जदि जन्यते । पण्हाविज्जादि दुग्धक्षरणं कार्यते । पाडच्छीवि विशुष्कापि दुग्धरहितस्तनापि गौः । फरुसेण स्पर्शेन ॥

अर्थ—जैसे बलहेके स्पर्शसे गौके स्तनोंमें दुग्ध उत्पन्न होता है वैसे ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध और तपोवृद्धोंके सहवाससे तरुणके मनमें भी वैराग्य उत्पन्न होता है।

परिहरइ तरुणगोष्ठी विसं व बुद्धाउले य आयदणे ॥  
जो वसइ कुणइ गुरुणिदेसं सो णिच्छइ वंमं ॥ १०८४ ॥

य. करोति गुरुभाषित मुवा संश्रये वसति वृद्धसंकुले ॥  
मुचते तरुणलोकसंगतिं ब्रह्मचर्यममलं स रक्षति ॥ १११७ ॥  
रजो धुनीते हृदय पुनीते तनोति सत्त्वं विधुनोति कोपम् ॥  
मानेन पूतं विनयं नयति किं वृद्धसेवा न करोत्यभीष्टम् ॥ १११८ ॥

इति वृद्धसंगतिः ॥

विजयोदया—परिहरइ तरुणगोष्ठी परिहरति तरुणैः सह गोष्ठीं विपमिव य, वृद्धैराकीर्णं चायतने यो वसति ।  
करोति च गुर्वीक्षा स निस्तरति ब्रह्मचर्यमिति संक्षेपोपदेशः ॥ वृद्धसेवा गता ॥

ब्रह्मचर्यनिर्वाहोपायमाह—

मूलारा—विस वा विपमिव । बुद्धाउले शीलवृद्धसंकुले । आयदणे स्थाने । गुरुणिदेस गुरोराज्ञा । णिच्छरदि  
निर्वाहयति । वंमं ब्रह्मचर्यं । वृद्धसेवा ॥

अर्थ—जो मनुष्य तरुणोंका संग विपतुल्य समझकर छोड़ता है, वृद्ध जहां रहते हैं ऐसे स्थानों में रहता  
है, और जो गुरुओंकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करता है वही मनुष्य ब्रह्मचर्यका पालन कर सकता है।  
वृद्धसेवाका प्रकरण समाप्त हुआ

स्त्रीसंसर्गकृतदोषावेक्षणं समनसा ससम्प्रीदोसावि य इत्यस्य सूत्रपदस्यार्थः साध्याद्वास्तया सूत्राणामपि  
चिच्छज्जंता इति वाक्यशेषात् ।—

आलोचनेण हिदयं पचलदि पुरिमस्स अप्पसारस्स ॥

पेच्छंतयस्स बहुसो इच्छीण थणज्जहणवदणाणि ॥ १०८५ ॥

मानस स्वल्पसत्त्वस्य स्त्रीसंसर्गं विनश्यति ॥

जघनस्तनवन्नाणि पश्यतो बहु चलयते ॥ १११९ ॥

विजयोदया—आलोगेण आलोकनेन । हृदय हृदयं प्रचलति । अल्पधृतिकस्य पुसः प्रेक्षमाणस्य बहुशो युवतीनां वदनपयोधरपृथुजघनानि ॥

स्त्रीसंसर्गकृतदोषावेक्षण नाम पचम स्त्रीवैराग्यकारण गाथाद्वाविंशत्या व्याचक्षाणः प्रथमं योपिदालोकनलक्षण-ससर्गस्य दुर्निवारत्वादोषपरंपरामुद्गावयति ।

मूलारा—आलोगेण निरीक्षणेन प्रकरणान्नारीणा । पचलदि प्रकर्षेण शुभ्यति । अपसारस्स अल्पधृतिकस्य । पेच्छतागस्स चिंतयतः । उक्तं च—

दृष्टिपतो भवेत्पूर्वं व्यामुह्यति ततो मनः ॥

प्रणिधत्ते जनः पश्चात्तत्कथागुणकीर्तने ॥

बहुसो वारंवार ॥

स्त्रीसंसर्ग करनेसे कोनसे दोष उत्पन्न होते हैं इसका विवेचन—

अर्थ—जिसमें धैर्यगुण अल्प है ऐसे पुरुषका हृदय स्त्रीको देखकर चंचल होता है. अर्थात् उसका मूल, स्तन, बड़ा नितंबभाग ये अवयव देखनेसे अल्प धैर्यवाला पुरुष मोहित होता है

लज्जं तदो विहिंसं परिचयमथ णिव्विसंकिदं चेव ॥

लज्जालुओ कमेणारुहंतओ होदि वीसत्थो ॥ १०८६ ॥

निरस्यति ततो लज्जां संस्तव कुरुते ततः ॥

ततो भवति निःशंकस्ततो विश्वसिति ध्रुवम् ॥ ११२० ॥

विजयोदया—लज्जा तदो विहिंस ततो हृदयचलनोत्तरकाल लज्जां विनाशयति । विनष्टलज्ज परिचयमुपेति । ताभिर्दशैकनसमीपगमनहसनादिक करोतीति यावत् पश्चाद्विंशको भवतीति मामनया सह स्थित पश्यति इति या शका तामपाकरोति । लज्जावानपि नर क्रमेण अभिहित अवस्था उपरोद्धन, विश्वस्तो भवति ॥

मूलारा—तदो हृदयचलनोत्तरकाल । विहिंसं ग्रिहिसन् विनाशयन् । परिचयं दर्शनसमीपगमनहसनादिक । णिव्विसंकिदं मामनया सह स्थितं पश्यतीति शकाविगमं । परिचयं निर्विशकता च क्रमेणारोहन् विश्वस्तचित्तेन स्त्रीपु कृत-सुखसाधनत्वग्रत्ययः स्यात् ॥

अर्थ—मन चंचल होनेके अनंतर उसकी लज्जा नष्ट होती है लज्जा नष्ट होनेपर उनके साथ उसका परिचय होता है अर्थात् वह उनकी स्थिर नयनोंसे देखता है उनके पास जाता है, उनके साथ हसी मजाक करता है तदनंतर उसका भय भी नष्ट होता है मैं इस स्त्रीके साथ रहता हूँ मेरी लोक निंदा करेंगे यह भय उसके मनसे दूर चला जाता है तात्पर्य—लज्जावान् भी मनुष्य ऐसी अवस्था आँको प्राप्त होकर स्त्रियोंमें विश्वस्त होता है अर्थात् स्त्री यह सुख का साधन है ऐसा वह समझता है

वीसत्यदाए पुरिसो वीसभं महिलियासु उवयादि ॥

वीसंभादो पणयो पणयादो रदि हवदि पच्छा ॥ १०८७ ॥

विश्वासे सति विश्रंभो विश्रंभः प्रणये सति ॥

रामासु परमा पुसः प्रणये जायते रति. ॥ ११२१ ॥

विजयोदया—वीसत्यदाए विश्वस्ततया मनस विश्रंभमुपयाति युवातिपु । विश्रंभात्प्रणय प्रणयाद्भक्तिर्भवति ॥

मलार—वीसत्यदाए स्वमनसा विश्वासेन । वीसंभं आप्तत्वेन व्यवहार विश्वासेनात्र भवृत्तिनिवृत्ती विश्रंभ-  
जब्देनोच्यते । तथा चोक्त—

विश्वस्तेन च चित्तस्य विश्रंभं स्त्रीषु गच्छति ॥

विश्रंभात्प्रणयोऽस्त्वेव प्रणयाच्च रतिस्तत ॥

अर्थ—सुखसाधनकी कल्पनासे वह स्त्रियोंमें विश्वास करता है. इस विश्वासेसे प्रेमकी उत्पत्ति होती है. अर्थात् यह स्त्री हमारी आप है ऐसा अभिप्राय उसमें उत्पन्न होता है. जिससे प्रेमका उदय होता है इसके अनंतर दोनोंमें आसक्ति पैदा होती है

उल्लावसमुल्लावहिं चा वि अल्लियणपेच्छणेहिं तथा ॥

महिलासु सइरचारिस्स मणो अचिरेण खुब्भदि हु ॥ १०८८ ॥

नारीणां दर्शनोद्देशाभाषणप्रतिभाषणैः ॥

आकृष्यते मनो नृणामयस्कांतैरिवायसम् ॥ ११२२ ॥

विजयोदया—उल्लावसमुल्लावोर्हि संभाषणप्रतिवचनैः, ढौकनेन, प्रेक्षणेन, तथा वनिताभिः स्वच्छाचारिणी तस्य शीघ्रं मनश्चलति ॥

मूलारा—उल्लावसमुल्लावोर्हि संभाषणप्रतिवचनैः । अस्त्रियपेच्छणेर्हि आश्रयणेन भणितकरणेन च सङ्गचारित्स स्वेच्छाचारिणः ॥

अर्थ—स्त्रियोंके साथ संभाषण और प्रत्युत्तरसे, उनके पास आना जाना करनेसे, उनको देखनेसे, स्वेच्छाचारी बने हुए पुरुषका मन चंचल बनता है

ठिदिगदिविलासविबभमसहासचोद्विदकडक्खदिद्वीर्हि ॥

लीलाजुदिरादिसम्मेलणोवयोरर्हि इत्थीणं ॥ १०८९ ॥

हासोपहासलीलाभिर्गुप्तगात्रप्रकाशनैः ॥

विलासैर्विभ्रमैर्हवैर्भावैः सह गमागमैः ॥ ११२३ ॥

विजयोदया—ठिदिगदि-स्त्रीणां स्थित्या, गत्या विभ्रमेण, नर्तनाभिप्रायेण, निगूहनेन, कटाक्षावलोकनेन, शोभया, युत्सा, क्रीडया, सहगमननादिना उपचारेण च ॥

मूलारा—ठिदि स्थानकं । गदि चलन । विलास नयनविकारः । विबभम भ्रुकुंगांतविकारः । लासः मसृणनृत्यं चेद्विद अगप्रकटन । लीला शोभा मधुरागविचेष्टितैः प्रियायुकरण वा । द्युतिस्तेजः । सम्मेलण एकत्रावस्थानं । उवयोरर्हि सहगमनाशनाद्युपचारैः ॥

अर्थ—स्त्रियोंका खड़ा होना, उनका गमन करना, अवलोकन करना, मोहो वक्र करना, मधुर नृत्य, स्तनादिको दिखाना, अभिप्राय छिपाना, कटाक्ष फेकना, सुदर रीतीसे अंगोंको हिलाना, प्रिय करके छंदांनुसार प्रवृत्ति रखना, शोभा, कांति, क्रीडा, साथ गमन करना, साथ बैठना, इत्यादिक उपचारोंसे पुरुषका मन चंचल होता है.

हासोवहासक्रीडारहस्यवीसत्यजं पिणं तहा ॥

लज्जामज्जादीणं मेरं पुरिसो अदिक्कमदि ॥ १०९० ॥

मानमनैः कोमलैर्वाक्यैर्हृद्यैर्विस्मयभाषणैः ॥

गतिस्थितियुतिश्रीदानमविन्वोकमोदनैः ॥ ११२४ ॥

विजयोदया—दासोपहासकीडा हासेन प्रतिहासेन च, क्रीडया, एकाते विध्वस्तजल्पितेन च लज्जामर्यादयो-  
सीमातिक्रमं करोति नर ॥

मूलारा—दासो वर्कर । उवहास प्रतिहास । रहस्यवीसंभजपिदेहिं एकातविधासेन संजल्पैः । लज्जामज्जा  
दाणं लज्जामर्यादयोः । मर्यादात्र स्थितिरित्यंभाननियम इति यावत् । मेरं सीमा ।

अर्थ—स्त्रीके हासपर खयं हसना उसके साथ खेलना, एकान्तमें विश्वासयुक्त होकर बोलना, लज्जाका  
त्याग करना और स्त्रियोंके साथ पुरुषोंका जो सम्य व्यवहार होता है जिसको मर्यादा कहते हैं उसको तोड़ना ऐसे  
कार्योंसे पुरुष सीमातिक्रम करते हैं.

ठाणगदिपोच्छिदुल्लावादी सव्वोसिमेव इच्छीणं ॥

सविलासा चेव सदा पुरिसस्स मणोहरा हुंति ॥ १०९१ ॥

वक्कावलोकनैः स्त्रीणां वैराग्यं न्हियते नृणाम् ॥

शरीरस्पर्शभिः क्लृदैः पन्नगैरिव जीवितम् ॥ ११२५ ॥

विजयोदया—ठाणगदि स्थानं, गति , प्रेक्षितमुल्लापमपीत्यादय सर्वासामेव स्त्रीणा सविलासाः पुरुषस्य मनः  
सदापहरन्ति ॥

मूलारा—होति सर्वासां स्त्रीणा स्थानादयः सविलासा भवन्त्येव ॥

अर्थ—स्त्रियोंका खडा होना, सलील गमन, कटाक्ष फेककर देखना, मधुर भाषण करना इत्यादि सभी  
वातें विलासयुक्त—दावभावयुक्त होनेसे पुरुषोंका मन हरण करनेवाली होती हैं

संसंगीए पुरिसस्स अप्पसारस्स लद्धपसरस्स ॥

अगिसमीवे लक्खेव मणो लहुमेव वियलाइ ॥ १०९२ ॥



योषितां नर्तनं गानं विकारो विनयो नयः ॥

द्रावयन्ति मनो नृणां मदन पावका इव ॥ ११२६ ॥

विजयोद्या—संसर्गीण सहगमनेन, गमनेन, आसनेन च पुरुषस्य अल्पसारस्य लब्धप्रसरस्य मनो द्रवीभवति । अग्निकटस्थिता लाक्षेव ॥

मलारा—समर्गीण स्त्रीसंगत्या सहवासदिकया । अपसारस्स हीनसत्वस्य । प्राप्त्वच्छाजल्पनादिप्रवृत्तेः । विलादि विलीयते । द्रवीभवति ॥

अर्थ—सहगमन करना, एकासनपर बैठना, इन कार्योंसे अल्पधैर्यवाले और स्वच्छदसे बोलना, हंसना, चौरह क्रिया करनेवाले पुरुषका मन अग्नीके समीप जैसी लाख पिघल जाती है वैसे पिघल जाता है.

संसर्गीसम्भूदो मेहुणसहिदो मणो हु दुम्मेरो ॥

पुवावरमगणतो लंघेज्ज सुसीलपायारं ॥ १०९३ ॥

माहिंला मन्मथावासविलासोल्लासितानना ॥

स्मृता पि हरते चित्त वीक्षिता कुरुते न किं ॥ ११२७ ॥

निर्मर्यादं मनः संगतसंभूदं सुरतोत्सुकम् ॥

पूर्वापरमनाहत्य शीलशालं विलघते ॥ ११२८ ॥

विजयोद्या—संसर्गीसम्भूदो स्त्रीसंसर्गसंभूद मनो मिथुनकर्मपरिणतं निर्मेर्यादं पूर्वापरमगणयदुल्लंघयेच्छी लप्ताकारं ॥

मलारा—मेहुणसहिदो सुरतोत्सुक । अत्र पूर्वोत्तरयोश्चार्पणत्वायुल्लिङ्गनिर्देशः । निम्मेरो निर्मेर्याद । पुवावरं कारणकार्यभावः ॥ अगणेतो अपर्यालोचयन् । उद्वेदि उल्लंघयति । बालेज्ज सुसीलेति पाठेऽपि स एवार्थः ॥

अर्थ—स्त्रीसहवाससे मनुष्यका मन मोहित होता है तब उसमें मैथुनसज्ञा अर्थात् मैथुन करनेकी तीव्र इच्छा होती है. उस समय वह कार्यकारणका विचार करता नहीं वह शीलतटका उल्लंघन करनेके लिये उत्तार हो जाता है.

इंद्रियकसयसणगागरवगुरुया सभावदो सञ्चे ॥  
संसर्गिलद्धपत्तस्स ते उदीरंति अचिरेण ॥ १०९४ ॥

कपायेन्द्रियसजाभिर्गारवैगुरुकाःसदा ॥

सर्वे स्वभावतः संगदुद्भवन्त्याचिरेण ते ॥ ११०९ ॥

विजयोदया—इंद्रियकसयसणगागरवगुरुका इन्द्रियैः, कपायैः, सदाभिराह्वरभयमैथुनपरित्रहविषयाभिः ।  
क्रादिरससातगारवैश्च गुरुकाः । स्वभावत एव सर्वे प्राणभृतः संसर्गलब्धप्रसस्स अतीव अशुभपरिणामा अचिरादेवो-  
त्पद्यन्ते ॥

मूलारा—सञ्चे सर्वे प्राणिनः । इंद्रियादिभिश्चतुर्भिः स्वभावतो गुरुका महातः संति । ते इंद्रियाद्योऽशुभ  
परिणामचतुष्टयं । उदीरंति उदीर्यन्ते स्त्रीसगतिलब्धप्रसस्स शीघ्रं समुद्भवतीत्यर्थः ॥

अर्थ—प्रायः प्राणिओंमें स्वभावसे ही इंद्रिया, कपाय, सजा और गारव उत्कट रहते हैं स्त्रियोंका संसर्ग  
होनेसे पुरुष सञ्छंदी बनता है तब इंद्रियादिक उच्छृखल हो जाते हैं जिससे शीघ्रही अत्यंत अशुभ परिणाम  
उत्पन्न होते हैं संज्ञाके आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, और परिग्रहसंज्ञा ऐसे चार भेद हैं आहारकी उत्कट  
अभिलाषा होना, भीति उत्पन्न होना, मैथुनकी तीव्र इच्छा रहना और परिग्रहोंमें अभिलाष उत्पन्न होना ऐसा चार  
संज्ञाओंका क्रमशः अर्थ है क्रादिरागरव, रसगारव और सातगारव ऐसे गारवके तीन भेद हैं इनका वर्णन पीछे  
गया है

मादं सुदं च भगिणीमेगते अछिंतगस्स मणो ॥

खुब्भइ णरस्स सहसा किं पुणं सेसासु महिलासु ॥ १०९५ ॥

मातृस्वसुताः पुस एकांते अयतो मनः ॥

शीघ्र क्षोभं व्रजत्येव किं पुनः शेषयोषितः ॥ ११३० ॥

या—स्पर्धार्थो ॥

मूलारा—अर्हियतागस्स आश्रयतः

अर्थ—माता, अपनी लडकी और बहिन इनकाभी एकान्तमें आश्रय पाकर मनुष्यका मन क्षुब्ध होता है फिर दुसरी महिलाओंके विषयमें कहना ही क्या ?

उत्तरा—

जुण्णं पोच्चलमइलं रोगिय वीभस्स दंसणविरूवं ।

मेहुणपडिगं पच्छेदि मणो तिरियं च खु णरस्स ॥ १०९६ ॥

निःसारां मलिनां जीर्णां विरूपां रोगिदुद्दशम् ॥

तिरिअरीं वा समीहेत नमनो मैथुनं प्रति ॥ ११३१ ॥

विजयोदया—जुण्णं जीर्णतरा । पोच्चलमइल नि सारमलिना । रोगिद्वीभस्सदंसणविरूवं व्याधिता वीभस्सलोचनां विरूपापि स्त्रिय । मेहुणपडिगं मैथुनकर्मनिमित्तं पच्छेदि प्राप्यते । मणो मनः । तिरिय खु तिरिअरीं वा इदं वा हि तीव्रकामावेशात् तिर्यक्ष्यपि तराणा प्रवृत्ति ॥

रहस्येव्याश्रीयमाणस्तारुण्यादिरमणीया एव रमण्यो मतः क्षोभाय पुंसः प्रमविर्यतीत्याशकायामाह—

मूलारा—जुण्णं अतिवृद्धा । पोच्चलमइलं निःसारा, मलिना च । रोगिद व्याधिता । वीभच्छदंसणा वीभस्सा

लोचनां । मेहुणपडियं मैथुनं प्रति सुरतार्थमित्यर्थः । तिरियं खु तिरिअरीं वा । तिरिअरीमपि वा । उक्तं च—

रोगवतीमतिजीर्णां वीभस्सा दुर्वला विरूपा च ॥

अपि च तिरिअरीमवलमिच्छति मदनज्वरी भोक्तुम् ॥

अर्थ—जो स्त्री वृद्ध है, निःसार है, मलिन है, रोगी है, जिसकी आँखें वीभस्स—भयानक हैं, जो कुरूप है ऐसी स्त्रीकीभी यह मन मैथुन करनेके लिये प्रार्थना करता है इतनाही नहीं तिरियं स्त्रीकोभी चाहता है तीव्रकामके आवेशमें आकर मनुष्यकी पशुके साथभी मैथुन करनेकी प्रवृत्ति हो जाती है

प्रकारांतरेणापि स्त्रीससर्गमादर्शयति—

दिट्ठणुभूदुसुदविसयाणं अभिलासमुमरणं सव्वं ।

एसा वि होइ महिलासंसग्गी इत्थिविरहम्मि ॥ १०९७ ॥

दृष्टश्रुतानुभूतानां विषयाणां रुचिस्मृतिः ॥

नारीससर्गं एषोऽपि विरहेऽप्यास्ति योषितः ॥ ११३२ ॥

विजयोदया—विद्वानुभूतदुर्विषयाणं दृष्टानां, अनुभूतानां, श्रुतानां च विषयाणां अभिलाससुमरणं अभिलाष-  
स्मरणं । सद्य एषो वि द्वेदि महिलाससर्गो एषोऽपि भवति युवतिससर्गं । इत्थीविरहे स्त्रीविरहे ॥

स्त्रिया सहवासादिना विनापि स्त्रीससर्गमादर्शयति—

मूलारा—एसा वि यदिदं दृष्टानां, अनुभूतानां, वा विषयाणां अभिलपणं स्मरणं वा तत्सर्वमिय अपरा स्त्री  
ससर्गी भण्यते । इत्थिविरहे वि योषितो न्यवधानेऽपि मतिः ॥

उक्तं च—दृष्टश्रुतानुभूतान्विषयानभिलप्यतश्च संस्मरतः ॥

प्रमदाविरहेऽपि मुनेर्भवति प्रमदाश्रयो दोषः ॥

प्रकांतरसेभी स्त्रीसंसर्गका निरूपणं करते हैं—

अर्थ—स्त्रीके विरहमेंभी देखे हुए, सुने हुए, अनुभव जिनका लिया है ऐसे पदार्थकी अभिलाषा करना  
बारबार उनका स्मरण करना यह भी संसर्गका एक भिन्न प्रकार है.

येरो बहुसुदो पच्चई पमाणं गणी तवरिसिस्ति ॥

अचिरेण लभदि दोसं महिलावगमि वीसत्थो ॥ १०९८ ॥

दृढो गणी तपस्वी च विश्वास्यो गुणवानपि ॥

अचिराल्लभते दोषं विश्वस्तः प्रमदाजने ॥ ११३३ ॥

विजयोदया—येरो स्थाविर, बहुश्रुत, प्रत्ययित, प्रमाणभूत गणघर, तपस्वीत्येवं प्रकारः । अचिरेण विरका-  
लमंतरेण । लभदि दोस अयशो लभते । महिलावगमि युवतिवर्गे । वीसत्थो विश्वस्तः ॥

दृढत्वाद्विधर्मणामपि स्त्रीविश्वामो दोषाय स्यादित्याह—

मूलारा—पच्चई प्रत्ययितो विश्वास्य इति यावत् । पमाणं प्रमाणभूतः । तवस्सिस्ति तपस्वीत्येवंप्रकारोऽपि  
किं पुनस्तादृश्यादिदुर्यशस्करधर्मभागिनीति शब्देन प्रकाशयते ।

अर्थ—दृढमुनि, बहुश्रुतमुनि—अनेक मतोंको जाननेवाले मुनि, प्रमाणभूत मुनि आचार्यपदधारक मुनि बहुत

कालके दीक्षित मुनि ये भी महिलावर्गमें विश्वस्त होनेसे दीपयुक्त माने जाते हैं अपयशके पात्र होते हैं

किं पुण तरुणा अवदुस्सुदा य सइरा य विगदवेसा य ॥  
महिलासंसर्गीए णट्ठा अचिरेण होहंति ॥ १०९९ ॥

किं पुनर्विकृताकल्पाः स्वैरिणः शोपसाधवः ॥  
नारीसंसर्गतो नष्टा न संति स्वल्पकालतः ॥ ११३४ ॥

विजयोदया—किं पुण तरुणा सयोचना, अवदुष्टता, स्वरचारिण, विरुतवेयाश्च युवतिससर्गेण अट्टिति नष्टा न भवन्ति ? किं पुनर्मवन्त्येवेति यावत् ॥

तदेव सविस्मयकम्भित्या भणति—  
मूलारा—मइरा स्वैरा स्वच्छदचारिणः ।

पथ्याः स्वातुरूपाचारन्युताः ॥

अर्थ—जो तरुण है, अल्पज्ञ है, स्वैराचारी है, जो देश, कुल, वय, वर्ण, विद्या, आचार इत्यादिकोंको प्रतिकूल ऐसा वेप धारण करते हैं, ऐसे मनुष्य स्त्रीसंसर्गसे क्यों न शीघ्र नष्ट होंगे अर्थात् होंगे ही, अर्थात् वे लोक स्त्रीसमर्गसे अकीर्तिमान् होंगे इसमें क्या आश्चर्य है

सगडो हु जइणिगाए संसर्गीए दु चरणपब्बमट्ठो ।  
गणियांससर्गीए य कूववरो तथा णट्ठो ॥ ११०० ॥

जैनिकासंगतो नष्टश्चरणाच्छकटो यतिः ॥  
वेद्यायाः सह संसर्गान्नष्टः कूपवरस्तथा ॥ ११३५ ॥

विजयोदया—सगडो हु सगडानामधेय । जइणिगाए संसर्गीण जइणिगासंसाया संसर्गेण । चरणपब्बमट्ठो । गणिकाससर्गीए गणिकागोष्ठ्या कूवरो वि कूपारनामक । तथा णट्ठो तथा चारिवान्नष्टः ।

स्त्रीसंसर्गेण पूर्वपामवि सयमश्रवां गाथाद्वयेन दर्शयति—

मूलारा—सगहो शकटो नाम मुनिः ॥ जङ्गणियाए जैनिकानाम्स्या ब्राह्मण्याः ॥

अर्थ—शकट नामके मुनि जैनिका नामक वेश्याके संसर्गसे चारित्र्यसे व्युत्त होगये, तथा कूपार नामक मुनिभी वेश्याके सहवासमें चारित्र्यष्ट हो गये हैं।

रुद्रो परासरो सच्चईयरायरिसि देवपुत्तो य ॥

महिलारूवालोई ण्ढा संसत्तदिट्ठीए ॥ ११०१ ॥

रुद्रः पराशरो नष्टो महिलारक्तया दृशा ॥

देवर्षिः सात्यकिदेवपुत्रश्च क्षणमात्रत ॥ ११३६ ॥

विजयोद्या—रुद्रो परासरो रुद्र, पराशर, सात्यकि, राजर्षिदेवपुत्रश्च युवातिरूपावलोकितसक्तया दृष्ट्वा नष्टा ॥

मूलारा—सच्चई सात्यकिर्नाम । रायरिसी राजर्षिनामा, । महिलारूवालोई स्त्रीरूपावलोकितः । समत्तदिट्ठीण सम्मुसमासक्तया दृशा ।

अर्थ—रुद्र, पराशरमुनि, सात्यकीमुनि, राजर्षि नामक मुनि और देवपुत्र नामक मुनि स्त्रियोंका रूप देखनेमें आसक्त हुई दृष्टीसे नष्ट भ्रष्ट हो गये

जो महिलाससगगी विसंव दृहूण परिहरइ णिच्चं ॥

णित्थरइ बभचेरं जावजीवं अकपो सो ॥ ११०२ ॥

सुजंगीनामिव स्त्रीणां सदा संगं जहाति यः ॥

तस्य ब्रह्मव्रतं पूतं स्थिरीभवति योगिनः ॥ ११३७ ॥

विजयोद्या—जो महिलाया स्त्रीणा ससर्गं विगमिव दृष्ट्वा नित्य परिहरति । असौ ब्रह्मचर्यं उद्वहति यावज्जीव निश्चलः ॥

स्त्रीगोप्त्रीपरिहारगुणमाह—

मूलारा—अकपो निश्चलः ।

अर्थ—जो पुरुष स्त्रीका ससर्ग विषके सधान समझकर उसका नित्य त्याग करता है वही महात्मा याव-ज्जीव ब्रह्मचर्यमें दृढ़ रह सकता है

सर्वमि इत्थिवरगमि अपमत्तो सदा अवीभत्यो ॥

बभ निच्छरद्दि वदं चरित्तमूल चरणमार ॥ ११०३ ॥

अविश्वस्तोऽग्रमत्तो यः स्त्रीवर्गे सकले सदा ॥

यावज्जीवमसौ पाति ब्रह्मचर्यमखंडितम् ॥ ११३८ ॥

विजयोदया—सर्वमि सर्गस्त्रीवर्गे । अग्रमत्तः सदा अविश्वस्त, ब्रह्मव्रतमुद्धति चारित्र्य मूलं सार च ।  
मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—संपूर्ण स्त्रीवर्गमें जो पुरुष-श्रुति सावध रहता है, अविश्वस्त रहता है वही ब्रह्मचर्य का पालन करता है यह ब्रह्मचर्य चारित्र्यका मूल और सार है.

कि मे जंपदि किं मे पस्सदि अण्णो कंहं च वट्ठामि ॥

इदि जो सदाणुपेक्खइ सो दढवंबब्बदी होदि ॥ ११०४ ॥

अह वत्ते कथं किं मे जनः पइयति भापते ॥

चिंता यस्येदशी नित्य दृढब्रह्मव्रतोऽस्ति सः ॥ ११३९ ॥

विजयोदया—किं मे जण्पदि किं जल्पति मा जनोऽन्य । किं पइयति, कीदृशी वा मम वृत्तिरिति यः सदायुमेक्षते असौ दृढब्रह्मचर्यव्रतो भवति ॥

ब्रह्मव्रतदाढ्योपायमाह —

मूलारा—अणुपेक्खदि अनुचितयति ।

अर्थ—लोक मेरे विषयमें क्या सोलते हैं, लोक मेरे तरफ किस निगाहसे देखते हैं, और मेरी प्रवृत्ति कैसी है ऐसा जो प्रतिदिन वारवार विचार करता है वही दृढ़ ब्रह्मचारी बन सकता है

मज्झण्हतिक्खसूरं व इच्छिरूव ण पासदि चिरं जो ॥

खिपं पडिंहरदि य मण खु सो णिच्छरदि बंभं ॥ ११०५ ॥

न पइयत्यंगनारूपं ग्रीष्मार्कमिव यच्चिरम् ॥

क्षिप्रं संहर्ते दृष्टिं तस्य ब्रह्मव्रतं स्थिरम् ॥ ११४० ॥

विजयोदया—मज्झण्हतिक्खसूरं च मध्यान्हे स्थित तीक्ष्णमादित्यमिव स्त्रीणां रूपं चिरं यो न पइयति ।  
क्षिप्रमुपसहरति दृष्टिं य स निस्तरति ब्रह्मचर्यं ॥

मूलारा—खिप्य ग्रीवं । पडिंहरदि निवर्तयति ॥

अर्थ—मध्यान्हको प्राप्त हुए तीक्ष्ण क्षयिके समान जो स्त्रीका रूप देरतक नहीं देखता है अर्थात् स्त्रीके रूपसे अपनी दृष्टि को जल्दी हटाता है वही ब्रह्मचर्यका रक्षण कर सकता है

एवं जो महिलाए सहे रूवे तेहव संभासे ॥

ण चिरं सज्जदि हु मणं णिच्छरदि स संततं बंभं ॥ ११०६ ॥

गंधे रूपे रसे स्पर्शे शब्दे स्त्रीणां न सज्जति ॥

जातु यस्य मनस्तस्य ब्रह्मचर्यमवहितम् ॥ ११४१ ॥

द्विपर्ययव हरिकांता मंशु मीनं वकीव । भुजगमिव मयूरी सूषिकं वा विडाली ॥

गिलति निकटवृत्तिः संयतं निर्दया स्त्री । निकटमिति तदीयं सर्वदा वर्जनीयं ॥ ११४२ ॥

प्रथयति भवमार्गं श्रुतिमार्गं वृणक्ति । ददयति शुभचुद्धिं पापदुद्धिं विधत्ते ॥

जनयति जनजल्पं श्लोकवृक्षं लुनीते । वितरति किमु कष्ट संगतिर्नागनानाम् ॥ ११४३ ॥

इति स्त्रीसंसर्गदोषाः ॥

विजयोदया—एव जो महिलाए एव यो युगतिशब्दे, रूपे, सस्पर्शे च चिर मनो न सधत्तेऽसौ ब्रह्म निस्तरति ।

संसर्गी ॥

मूलारा—सज्जदि सधत्ते । स्त्रीसंसर्गदोषाः ॥



अर्थ—इस प्रकार जो स्त्रीका गध, शब्द, रूप, रस, स्पर्श, इनमें अपने मनको लगाता नहीं वही ब्रह्मचर्य का पालन निरतिचार करता है

इहपरलोए यदि दे मेहुणविस्सुत्तिया हवे जणहु ॥

तो होहि तमुववुत्तो पचविधे इत्थिवेरगे ॥ ११०७ ॥

यदि ते जायते बुद्धिलोकद्वितयमैथुने ॥

उद्योगः पंचधा कार्यं स्त्रीवैराग्ये तदा त्वया ॥ ११४४ ॥

विजयोदया—इहपरलोए इहपरलोके च यदि मेथुनपरिणामो भवेत् । पंचविध स्त्रीवैराग्ये त्वमुपयुक्तो भव । तदुपयोगाद्विनश्यत्वावशुभपरिणाम इति सूक्ष्मपदेशः ॥

एवं वैराग्योपायपंचकं प्रपंच्य तदुपयोगविषयं निर्दिशन्क्षपकं तत्र प्रयुक्ते—

मूलारा—मेहुणविरसोत्तिया मैथुनाशुभतमपरिणामः । हवे जणहु भवेत् । इहलोकविषयपरलोकविषय वा मैथुन सेवितुमाकांक्षा यदि तव स्वादिति सवधः । तं त्वम् ॥

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें यदि मैथुन करनेका परिणाम हृदयमें उत्पन्न होगा तो पांच प्रकारके स्त्रीवैराग्यमें से क्षपक तू हमेशा उद्युक्त हो जिससे तेरा मैथुन परिणाम जो कि अशुभ है नष्ट होगा. ऐसा आचार्य का क्षपकको उपदेश है

उदयम्मि जायवट्ठिय उदएण ण लिप्पदे जहा पउम ॥

तह विसर्हिं ण लिप्पदि साहू विसएसु उसिओ वि ॥ ११०८ ॥

लिप्यते वर्तमानोऽपि विषयेषु न तैर्यतिः ॥

पद्मजातं जले वृद्धं जातुं किं लिप्यते जलैः ॥ ११४५ ॥

विजयोदया—उदयम्मि जायवट्ठिय उदके जात परिवृद्धं च यथा पद्मं उदकेन न लिप्यते । तथा न लिप्यते विषये साधुविषयेषु वर्तमानोऽपि ॥

स्त्रीवैराग्यभावनापरस्य माहात्म्यमाह—  
मूलारा—जसिद्धो धि वर्तमानोऽपि ।

अर्थ—जलमें उत्पन्न होकर वहा ही वृद्धिगत हुआ ऐसा कमल जैसे पानीसे अलिप्त ही रहता है, वैसे साधु विषयमें रहकर भी—उन विषयोंमें रहकर भी उन विषयोंसे अलिप्त रहते हैं तात्पर्य यह है कि, वे पच प्रकारके वैराग्य कारणोंका वारंवार विचार करके अपने हृदयके सिंहासन पर वैराग्यको दृढ़ विठाते हैं जिससे वे विषयोंसे अलिप्त रह सकते हैं

उगगाहितस्युर्दधि अच्छरमणोल्लुणं जह जलेण ॥

तह विसयजलमणोल्लुणमच्छेर विसयजलहिम्मि ॥ ११०९ ॥

विषयैर्विष्टपस्यस्य चित्तमस्पर्शनं यत्ने ॥

सागरं गाहमानस्य सलिलैरिव जायते ॥ १११० ॥

विजयोदया—ओगाहृतस्युर्दधि अवगाहमानस्योर्दधि आश्चर्यं यथा जलेनास्पर्शने । तथा विषयजलेनार्द्र-  
चित्ता आश्चर्यं विषयजलधिमध्यमध्यासीनस्य ॥

विषयपरिकरितस्य विषयैरन्तर्निष्वंगे विस्मय भावयति—

मूलारा—उगगाहितस्य लवमानस्य । अच्छेरं आश्चर्यं अणोल्लुग अनादीकरण । अस्पर्शतम् । विषयजलधिमि  
विषयोर्दधिमध्यमध्यासीनस्य स्त्रीवैराग्यभावनापरस्य साधोर्गिष्यजलानार्द्रीकरणमाश्चर्यमित्यर्थः ।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष समुद्रमें अवगाहन करके भी यदि जलस्पर्शमें अलिप्त रहेगा तो वह आश्चर्यकारक बात समझनी चाहिये वैसे विषयसमुद्रके बीचमें अवगाहन करके भी विषयजलमें चित्त अलिप्त रहना आश्चर्यकारक है

मायागहणे बहुदोससावए अलियदुमगणे भीमे ॥

असुइतणिछे साहू ण विप्पणस्संति इत्थिवणे ॥ १११० ॥

न दोषश्चापदे भूमि वंचनागहने यति ।

नश्यति स्त्रीवनेऽलीकपापेऽशुचितानुणे ॥ १११७ ॥

विजयोदया—मायागहणे यथा गहन परेण दु प्रवेश एवं मायापि परैर्दुर्विगमेति मायापि गहनमित्युच्यते । मायागहनं यस्मिन्वेने तन्मायागहनं तस्मिन् । बहुदोषसावदे वहवो दोषा बहुदोषा असूया, पिशुनता, चपलता, भीरुता, नितरा प्रमत्तता चेत्येवमादयस्ते श्वापदा यस्मिन् । अलिगदुमगणे यथा दुमो महानेकशाखोपशाखाकुलश्च तद्वद्वलीकता दुमगणो यस्मिन् । भीसे भयंकरे । अशुचितनिष्ठे अशुचितणकुले । यतयो न विप्रणश्यन्ति स्त्रीवने ॥  
योपिददव्यामविभ्रान्यतः साधून्प्रकाशयति—

मूलारा—मायागहणे मायैव परमदुर्गमत्वाद्गहनं लतादिगुल्मजाल यत्र । बहुदोषसावदे वहवो दोषाश्चासूया-पैशून्पचापलभीरुत्वप्रमत्तत्वादयः । ते श्वापदा व्याघ्रादयो यत्रानिवारितप्रसरत्वात् । अलियदुमगणे अलीकमसत्यं वचस्तदेव दुमगणा यत्र अनेकशाखोपशाखाकुलत्वात् । अशुचितनिष्ठे अशुचीनि देशगोपागानि तान्येव वृणानि निरंतरप्रसृतत्वात् तैर्युक्ताः । न विपणान्संति न विभ्रान्यन्ति । दिङ्मूढा न भयन्तीत्यर्थः ।

अर्थ—यह स्त्रीवचन मायासे गहन हुआ है अर्थात् जैसे गहन वनमें प्रवेश करना कठिन है वैसे इस मायाका स्वरूप जाननाभी बड़ा कठिन है अतः माया भी गहन कहलाती है- इस स्त्रीवनमें यह माया गहन है- जैसे वन सिंहव्याघ्रादि क्रूर प्राणिओंसे व्याप्त रहता है वैसे स्त्रीवन भी अनेक दोषरूप श्वापदोंसे व्याप्त हुआ है- इस स्त्रीवनमें असूया-दूसरोंके गुण सहन न होना, चुगली करना, चंचलपना, डरपोकपना, और अत्यंत उन्मत्तता इत्यादि दोषरूप क्रूर प्राणी इस स्त्रीवनमें विचरते हैं- जैसे वृक्ष बड़ा होता है- उसको शाखा उप-शाखाएँ रहती हैं वैसे स्त्रीवनमें असत्य भाषणरूप वृक्ष अपनी अनेक शाखा उपशाखाओंसे बढ गये हैं- यह स्त्रीवन भयंकर है इसमें अपवित्रतारूपी वृण ऊगता है- परंतु ऐसे स्त्रीवनमें जितेन्द्रिय तपस्वीगण दिङ्मूढ नहीं बनते हैं ।

सिंगारतरंगाएँ विलासवेगाएँ जोव्वणजलाएँ ॥  
बिहसिथेफणाएँ मुणी पारिणईएँ न बुझंति ॥ ११११ ॥

श्रृंगारकछोला यौवनाम्बुवधूनदी ॥

न विलासास्पदा हासफेना वहति संयतम् ॥ ११४८ ॥

विजयोदया—सिंगारतरंगण श्रृंगारतरंगथा, विलासवंगथा, यौवनजलया, विहसितफेनया, नारीनद्या मुनिनो-  
दयते ॥

मुनेः स्त्रीसरिद्रेयत्वमाह—

मूलारा—सिंगार सर्वांगसस्कारः । ण वुञ्छंति नोद्यन्ते ।

अर्थ—स्त्री नदीके तुल्य है. नदीमें तरंग, वेग, पानी, फेस, इतनी बातें रहती हैं. इस स्त्रीरूपी नदीमें श्रृंगाररूपी तरंग हमेशा उछलते रहते हैं. विलासरूपी वेगसे यह बहती है तारुण्यरूपी जलसे भरी हुई है और मंदहासरूपी फेनसे यह व्याप्त हो रही है ऐसी स्त्रीरूपी नदी जितेन्द्रिय मुनिओंको नहीं बहा सकती है.

ते अदिसूरा जे ते विलाससलिलमदिवलरदिवेगं ॥

जोव्वणणईसु तिण्णा ण य गहिया इच्छिगाहेहिं ॥ १११२ ॥

विलाससलिलोत्तीर्णा यैस्तीन्ना यौवनापगा ॥

अग्रस्ताः प्रमदाग्राहेस्ते घन्या मुनियुगावाः ॥ ११४९ ॥

विजयोदया—ते अदिसूरा ते अतिशूरः । ये विलाससलिला मतिचपलरतिवेगा, यौवननदीमुत्तीर्णा, न च गृहीता युवतिग्राहेः ॥

योपिदग्राहवाधविरहेण तारुण्यतरंगिणीमतिक्रान्तान्ग्रशंसति—

मूलारा—स्पष्टम्—

अर्थ—यह यौवनरूप नदी विलासरूपी पानीसे और अतिशय चंचल रतिरूपवेगसे युक्त है. इस नदीमें तरुण स्त्रीरूपी मगर रहते हैं. परंतु जिन मुनिराजोंको स्त्रीरूप मगरने नहीं पकड़ा है वे मुनिराज इस जगतमें घन्य हैं ऐसे मुनिराज ही अतिशूर समझने चाहिए.

महिलावाहविमुक्ता विलासपुंवखा कडक्खदिद्विसरा ॥

जण विधंतीह सदा विसयवणे सो हवहु धण्णो ॥ १११३ ॥

धन्यं स्त्रीव्याघनिर्मुक्ताः कटाक्षेक्षणसायकाः ॥

विध्यति विषयारण्ये वर्तमान न योगिनम् ॥ ११५० ॥

विजयोदया—महिलावाहविमुक्ता युवतिव्याघविमुक्ता । विलासपुपत्का, कटाक्षद्विद्विसरा । यं न प्रति सदा विषयवने चरंतं भवति स धन्य ॥

कामिनीकटाक्षनिरीक्षणाक्षोभ्यमाणमनस्कमभिष्टौति—

मूलारा—वाह व्याघः । ण विधंति न विध्यति ।

अर्थ—स्त्रीरूपी पारधीके द्वारा छोडे गए कटाक्षरूपी वाण विषयवनमें अमण करनेवाले जिस महात्माका ध्यात नहीं करते हैं वे इस जगत में धन्यताके पात्र हैं, ।

विब्वोगतिक्खदंतो विलासखंधो कडक्खदिद्विण्हो ॥

परिहरदि जोव्वणवणो जमित्थिवग्घो तगो धण्णो ॥ १११४ ॥

न विब्वोकरदोऽभ्येति विलासनखरो सुनिम् ॥

कटाक्षाक्षोऽगनाव्याघ्रस्तारुण्यारण्यवर्तिनम् ॥ ११५१ ॥

विजयोदया—विब्वोगतिक्खदंतो विलासखंधो विभ्रमतीक्ष्णदंतो विलासस्कंध कटाक्षद्विद्विण्ह परिहरति यं युवतिव्याघ्र स धन्य ॥

घोषानभिराम्यमभिनंदति—

मूलारा—विब्वोग भ्रूयुगातविकारः । विलास नेत्रविकारः । कडक्खदिद्वी अपागनिरीक्षणं । तगो सः ।

अर्थ—जो हावमारूपी तीक्ष्ण दाढाओंसे युक्त है विलासरूपी बाहु जिसके हैं, कटाक्षरूप नखों को धारण करनेवाला यह तरुणीरूपी व्याघ्र तारुण्यवनमें विचरनेवाले जिन माहात्माओंको पकडता नहीं वे महात्मा धन्य हैं, ।

तेहोक्काडविडहणो कामाग्नी विसयसुखपञ्जलिओ ॥

जोव्वणतणिछचारी जं ण डहइ सो हवइ धण्णो ॥ १११५ ॥

त्रिलोकदाही विषयोद्धतेजः । तारुण्यतृण्याज्वलितः स्मराग्निः ॥

न प्लोषते यं स्मृतिधूमजालः । स वंदनीयो विदुषा महात्मा ॥ ११५२ ॥

विजयोदया—तेहोक्काडविडहणो बंलोम्यादविदहन । कामाग्निर्विषयवृक्षे प्रज्वलिते यौवनतृणसंचरणचतुरं यत्नं दहत्यसौ धन्य ॥

कामदहनदाह्य शंसति—

मूलरा—तणिछ तृणं । तृण्या वा तत्र चरत्यभीक्ष्णमिति । अन्ये यौवनतृण्याचारिणं यं न दहतीति प्रतिपन्नाः द्वितीयार्थे प्रथमाभिधानात् । उक्तं च—

त्रैलोक्यकाननोदाही कामाग्निज्वलितस्तराम् ॥

यौवनोदयतृण्यास्यं धन्यं दहति नो नरं ॥

अर्थ—यह कामाग्नि विषयरूपी वृक्षोंका आश्रय लेकर प्रज्वलित हुआ है, त्रैलोक्यरूपी वनको यह कामाग्नि जलानेके लिये उद्युक्त हुआ है परंतु तारुण्यरूपी तृणपर संचार करनेवाले जिन महात्माओंको यह जलानेमें असमर्थ हैं वे माहत्मा धन्य हैं ॥

विसयसमुद्दं जोन्वणसलिलं हसियगइपेखिखदुम्मीयं ॥

धण्णा समुत्तरति हु महिलामयरोहिं अञ्चिका ॥ १११६ ॥

विपुलयौवननीरमनाकुलो धिपयानीरनिधिं रतिवीचिकम् ॥

इह वधूमकरैरकदर्थितस्तरति घन्यतमं परदुस्तरम् ॥ ११५३ ॥

इति चतुर्थं व्रतम् ॥

विजयोदया—विसयसमुद्दं विषयसमुद्गं । यौवनसलिलं हसनगमनमेक्षणतं रंगनिचित । धन्या सम्युगुत्तरति युवतिमकरैरस्पृष्टा ॥ चतुर्थं व्रतं व्याख्यात ॥ चतुर्थं ॥

इष्टेन्द्रियार्थानुवृत्तां श्रीभिरग्रतिविवं प्रतिवर्णयति—

मूलारा—हृदिद्वयैकपुष्पमीयं हृमितामननैश्चणतरंगं । अन्डिका अमृष्ट्या । तदाचर्यव्रतम् ॥

अर्थ—यह विषयसमुद्र यांचनरूपी जलमे भरा हुआ है. सिंघोका मंदहास्य, गमन, कटाक्ष फेंक कर देखना येही इसमें तरंग हैं जो महात्मा स्वीकृपी मगरोंमे ग्रमित न होकर इस विषयसमुद्रको तीर कर जाते हैं। वे ही स्तुतीके पात्र अर्थात् धन्य हैं चतुर्थ ब्रह्मचर्यमहाव्रतका वर्णन पूर्ण हुआ

पंचममहाव्रतनिरूपणयोग्यप्रवच —

अवमंतरयाहिरणु सव्वे गंधे तुम विवज्जेहि ॥

कदकारिदाणुमोदेहिं कायमणवयणजोगेहिं ॥ १११७ ॥

चात्थमाभ्यतर सगं कृतकारितमोदनैः ॥

विमुचस्व सदा साधो ! मनोवाजायकर्मभिः ॥ १११८ ॥

विजयोदया—अभतरयाहिरं अम्यंतरान्वाहाश्च । सव्वे गये सर्वोन्मथान् । तुम विवज्जेहि वर्जय भवान् । कदकारिदाणुमोदेहिं कृतकारितानुमनने । कायमणवयणजोगेहिं कायेन मनसा वाचा वा ॥

एव ब्रह्मचर्यव्रतं व्यावर्ण्य साधतं अपरियहाह्वं पंचम महाव्रतं गाथापचपट्या प्रबंधेन व्यावर्ण्यश्रितुमां प्रथमं नैर्नित्यं प्रति श्रपकं प्रयोजयति—

मूलारा—अवमंतरयाहिरणु अम्यंतरान्वाहाश्च । गये परिमहान् । तुम त्वं ॥

अत्र पांचवे परिग्रहपरित्याग महाव्रतका आचार्य विस्तारसे निरूपण करते हैं—

अर्थ—हे क्षपक ! तुम संपूर्ण अंतरंग और बहिर्गंग परिग्रहोंका मन, वचन, और शरीरसे तथा कृत, कारित और अनुमोदनसे अर्थात् नऊ प्रकारोंमें त्याग करो.

तत्राभ्यतरपरिग्रहभेदं निरूपयति गाथा —

मिच्छत्तेवेदरागा तहेव हासादिया य छहोसा ॥

चत्तारि तह कसाया चउदस अवमतरा गंधा ॥ १११८ ॥

मिथ्वात्वेदहास्यादिक्रोधप्रभृतयोऽन्तराः ॥

एकात्रिषट्चतुःसंख्याः संगः सति चतुर्दश ॥ ११५५ ॥

विजयोदया—मिच्छत्त्वेदरागा वस्तुयाथात्म्याश्रद्धान मिथ्यात्व, चेदशब्देन स्त्रीपुत्रपुंसकवेदाख्याना कर्मणां ग्रहण । तज्ज्ञानिता स्यादीना अन्योन्यविपर्यया स्त्रिय पुंसु राग । पुंसो भुवतिपु, नपुसकस्योभयत्र । हस्सादिगा य छद्दीसा हास्य, रतिरति शोको, भय जुगुप्सेति । पते पद्दोपा । चचारि तद् कसाया चोदस अभतरा नया । चत्वारस्ताया कपायाश्चतुर्दशैते अश्वतरा. परिग्रहा. ॥

क्रियतोऽश्वतरग्रथा भवन्तीत्यत्राह—

मूलरा-दैः. स्त्रीपुनपुसकवेदाख्यैः कर्मभिर्जनिता रागाः । स्यादीनामन्योन्यविपर्ययाः प्रीतयः । प्रीतयः पुंसु रागो, मैथुनसंज्ञोदोः, पुस. स्त्रीपु । नपुसकस्योभयत्र च । हासादिगा हास्यादिकाः । हास्यं रतिरतिः, शोको, भयं, जुगुप्सेति पद । हासादिगा य छद्दोपा इति ग्राथिकः पाठ । चत्वारि क्रोधमानमायालोभाख्याः ।

अंतरंग परिग्रहोका वर्णन—

अर्थ—जीवादि पदार्थोके सत्य स्वरूपपर श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद ऐसे वेदकर्मके तीन भेद हैं. स्त्रीवेद कर्मका उदय होनेसे जीवकी पुरुषमें अभिलाषा होती है. पुरुषवेद का उदय होनेसे स्त्रीमें अभिलाषा होती है व नपुंसक वेदसे स्त्री और पुरुष दोनोंमें अभिलाषा होती है. हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, ऐसे छह दोष हैं. क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार कपाय हैं. सब मिलकर अतरंग परिग्रहके चौदह भेद होते हैं.

बाहिरसंगा खेत्तं वत्यं धणधणकुप्पमंडाणि ॥

दुपयचउप्पय जाणाणि चेव सयणासणे य तथा ॥ १११९ ॥

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् ॥

यान शय्यासनं कुण्यं भण्डं संगं वहिर्दश ॥ ११५६ ॥

विजयोदया—बाहिरसंगा वाद्यपरिग्रहा. । खेत्तं कर्षणाद्यधिकरण । वत्यं वास्तु शुद्ध । धण सुवर्णादि । धण वान्य व्रीक्षादि । कुण्य कुण्य वत्त । भण्ड माडशब्देन हिंयुमरिचानि क्रमुच्यते । दुपदशब्देन दासदासीभृत्यवर्गदि । चउप्पय गजतुरगादयश्चतुष्पदा । जाणाणि शिविकाविमानादिक यान । सयणासणे शयनानि आसनानि च ॥



वाण्यंथाः कृति सन्नीत्याह—

मूलाग—हेतुं कर्पणायविकरण । यत्तु यास्तु ग्रहं । यण त्वं प्रागमुत्पन्नोऽदि । धणं धान्य त्रीणादि । कुप्यं कुप्यं चक्रकंचलादिकं । भंड आउ द्विगुमरीचादिकं । दुषट द्विपदं दामीगमादिश्रुत्यसर्गादि । चउषट चतुषटं गजानुरगादि । जाणणि यान जिपिकानसरप्रिमानादि । मयणान्णाणि अयापिष्टगादि । न्ते दय ॥

अर्थ—वाण परिश्रवके दम प्रकार हैं. उनका गुलाभाः—सेत-अर्थान् श्रेत्र जहां धान्य उत्पन्न होता है. वत्थ-वास्तु घर धण-सुवर्णादि धातु धान्य-चावल, गेहू, चना गंगेह कृष्य-यय. भोंट-हिंग. मीरत्त गंगेह. दुषट-दाम, दामी, नोकर गंगेह चउषय-हाथी, घोडा, बैल इत्यादि जाण-यान-पालखी, विमान इत्यादि. शयन-विछाना आमन-पलग गंगेह ये दम प्रकारके वाण परिग्रह हैं

वाणमलमनिराश्रुत्याभ्यतरकर्ममलं प्रातर्दशनसम्यक्स्वार्जिर्जीयंत्याप्राधयानामान्मगुणाना छावने व्यापृतं न निराकृतुं शक्यते इत्येनद्रुयातमुत्तेनाचष्टे—

जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स ॥

तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ॥ ११२० ॥

नाभ्यंतरः ससगस्य साधो ओपभित्तुं मल ॥

शक्यते सतुपस्येव तंदुलस्य कदानन ॥ ११२१ ॥

निजयोदया—जह कुंडओ ण मजा तुगमणितस्य तदुल्लयान्तर्मल । गोणे तुयेउनपतीते यथा शोभयितुमशक्य । तथा वाह्यपरिग्रहमलमंनकस्याभ्यतरकर्ममलं दयास्यं शोभयितुमिति यायार्थ । मपरिग्रहस्य कस्मान् कर्मविमोक्षो जीवाजीमद्वये वाह्यपरिग्रहदोषोच्यते ॥ तौ च सर्वदा सर्वत्र स्वगतिनादिति ग्रंथक एतावन्मात्रमा स्मरति एव च मुपच्यमाव इति चोदिते, न तयो मयधोहेतुगणि तु लोभादय परिणामा । लोभादिपरिणामहेतुक वाह्यद्रव्यग्राहण ॥

ननु च मि व्यात्वाद्योऽन्तरगसंगा ण्व जीवस्य कर्मबंधने हेतुस्तत्किमर्थं तद्विरगसंगपरित्यागोऽयमुपदिश्यत इति पर्यनुयुजानं प्रत्याह—

मूलरा—कौंडओ अन्तर्मल । एउम उति यावन् । ण सक्को न शक्यते । सोयेदु निराहन्तु । सगसत्तस्स वाण-परिग्राहमकस्य । वाह्यद्रव्यग्राहणस्य लोभादिपरिणामहेतुकत्वाज्जोभादिपरिणामस्य चापरापरकर्मबंधनिबंधनत्वात् केना-

व्युपगमेन समंस्थस्यात्मनः कर्मोच्छेदः कर्तुं शक्यते इति भावः ॥

बाह्य मल जबतक दूर न किया जावेगा तबतक ज्ञान, दर्शन, सम्पक्त्व, चारित्र्य, वीर्य और अव्यावायत्व वगैरे आत्मगुणोंको ढकनेवाला अंतरंगमल दूर करना अशक्य है इसका दृष्टांत द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—ऊपरका छिलका निकाले बिना चावलका अंतरंग मल नष्ट नहीं होता है, वैसे बाह्यपरिग्रह रूप मल जिसके आत्मामें उत्पन्न हुआ है ऐसे आत्माका कर्ममल नष्ट होना शक्य नहीं है, ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है,

ग्रन्थ—परिग्रहसहित जीवको मोक्षकी प्राप्ति क्यों होती नहीं ? जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य ये बाह्य परिग्रह हैं और ये दो द्रव्य हमेशा रहते ही हैं इसलिये यह आत्मा सर्वकाल कर्मवधसे बद्ध ही रहेगा और सर्वकाल बद्ध होनेसे उसको मुक्ति का अभाव ही होगा.

उत्तर—जीव और अजीवका संबंध रहना परिग्रह नहीं कहलाता है, परंतु लोभादिक परिणाम कर्मका संबंध होनेमें निमित्त होते हैं जम आत्मा लोभादिपरिणाममें युक्त होता है तब बाह्य परिग्रहका ग्रहण होता है इसलिये जो मनुष्य बाह्य परिग्रहको ग्रहण करता है वह मनमें लोभादिक परिणामोंके बिना ग्रहण नहीं करता है. अर्थात् लोभादिक विकार जब आत्मामें उत्पन्न होते हैं तब आत्मा बाह्य परिग्रहका स्वीकार करता है

अतो यो बाह्यमुपादत्तेऽभ्यतरपरिणाममंतरेण नैवादत्ते इति वदति—

रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा ॥

तो तइया घेत्तु जे गंधे बुद्धी णरो कुण्ह ॥ ११२१ ॥

उदीयते यदा लोभो रागः संज्ञा च गारव ॥

शरीरी कुरुते बुद्धिं तदादातुं परिग्रहम् ॥ ११५८ ॥

विजयोदया—रागो लोभो मोहो मोमेद भावो राग, द्रव्यगतगुणासक्तिलोभ, परिग्रहेच्छा मोहो । मोमेदं भाव संज्ञा । किञ्चित् मम भवति शोभनमिति इच्छानुगत ज्ञान । तीव्रोऽभिलाषो य परिग्रहगतः स गारवशब्देनोच्यते । एते यदेदिता परिणामास्तदा ग्रंथान्वाहान् ग्रहीतु मनः करोति नान्यथा । तस्माद्यो बाह्य युद्धति परिग्रहं स नियोगतो लोभाद्यभ्यतरपरिणामयानेवेति कर्मणा वधको भवति । ततस्स्याज्याः परिग्रहाः ॥

एतदेवाह—

मूलारा—लोभो ममेदं भावः । रागो ममकारकोटीक्रियमाणद्रव्यगतासक्तिः । सपणा सङ्गा उपकरणदर्श-  
नोपयोगाज्जायमाना परिग्रहेच्छा यदि किञ्चिन्मम भवति शोभन इति इच्छानुगत तथा ज्ञानमित्यर्थः । गारवाः परिग्रह-  
गतास्तीव्राभिलाषा । उद्विग्णाणि उदितानि । ते तान् वाह्यानित्यर्थः । उक्तं च—

लोभरागौ तथा सङ्गागौरवे व्यक्तीता गते ॥

यदा तदा वहिर्मथान्यदीतुं कुरुते मति ॥

तस्माद्यो वाह्यं गृह्णाति परिग्रहं स नियोगतो लोभाद्यशुभपरिणामवानेवेति कर्मणा बधको भवति । ततस्त्या-  
ज्या एव बाह्याः परिग्रहाः । कर्मवर्धनविबधनमूर्च्छानिमित्तत्वात् । तथा चोक्तम्—

मूर्च्छालक्षणकरणात्सुषटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ॥

समर्थो मूर्च्छोवाङ्मिनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥

यद्येव भवति तदा परिग्रहो न सल्लु कोऽपि वहिरंगः ॥

भवति नितरा यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्वैवैवम् ॥

यस्मादकपायाणा कर्मग्रहणे न मूर्च्छोस्ति ॥

इसी अभिप्रायका आगेकी गाथा खुलासा करती है—

अर्थ—रागभाव, लोभ, और मोह जब मनमें उत्पन्न होते हैं तब इस आत्मामें बाह्य परिग्रह ग्रहण कर-  
नेकी बुद्धि उत्पन्न होती है अन्यथा नहीं यह मेरा है ऐसा भाव मनमें उत्पन्न होना उसको राग कहते हैं।  
पदार्थोंके गुणोंमें असक्ति होना ही लोभ कहलाता है। परिग्रहमें इच्छा उत्पन्न होना मोह कहा जाता है। ये पदार्थ  
मेरे हैं और अच्छे हैं ऐसा अभिप्राय रहना संज्ञा है परिग्रहोंमें तीव्र अभिलाष उत्पन्न होना गौरव कहलाता है ये  
परिणाम जब आत्मामें उत्पन्न होते हैं तब यह आत्मा परिग्रहमें अपना मन लगाता है उपर्युक्त परिणाम जब  
आत्मामें उत्पन्न नहीं होते हैं तब परिग्रहका ग्रहण करनेमें वह उद्युक्त नहीं होता है। इसलिए जो बाह्य परिग्रह ग्रहण  
करता है वह नियमसे लोभादिक अशुभ परिणामोंसे घिरा हुआ है ऐसा समझना चाहिये अतः उसको कर्मवध





होता है जिसका मन कर्मबंधसे भयभीत है वह परिग्रहका त्याग करे ? यह परिग्रहका त्याग मनमें आया तब किया अन्यथा नहीं किया ऐसी स्पष्टाचारप्रवृत्ति योग्य नहीं है. निश्चयसे परिग्रहका त्याग करना चाहिये.

स च परिग्रहत्यागो न स्वमनीषिकाचर्चितोऽपि तु निश्चयेन कर्तव्यतयोपदिष्ट इत्याचष्टे—

चेलादिसत्त्वसंगच्चाओ पढमो हु होदि ठिदिकप्पो ॥

इहपरलोइयदोसे सव्वे आवहदि संगो हु ॥ ११२२ ॥

ग्रंयो लोक्कद्वे दोपं विदधाति यत्तेस्तनं ॥

स्थितिकल्पो मतं पूर्वं चेलादिग्रमोचनं ॥ ११५९ ॥

विजयोदया—चेलादिसत्त्वसंगचाओ इति दशविधा हि स्थितिरूपा निरूपिता अचेलतादय । तत्र अचेलक्य नाम चेलमात्रत्यागो न भवति । किंतु चेलादिसर्वसंगत्याग प्रथम स्थितिकल्पो दशानामाद्य । इहपरलोइयदोसे पेहिकासुप्पिकाश्च दोपानावहति परिग्रहो, यस्मात्तस्माज्जन्मद्वयगतदोषपरिहारेणादरवता सकल परिग्रहस्त्याज्य इति भावः ॥

स च बाह्यपरिग्रहत्यागो न स्वमनीषिकाचर्चितोऽपि तु निश्चयेन कर्तव्यतयोपदिष्ट इत्याचष्टे—

मूलारा — पढमो प्रायुक्तानामाचेलम्यादिस्थितिरूपाना दशानामाद्यः । हि नियमेन । इहपरलोइयदोसे पेहिका-नासुप्पिकाश्च दोपानपकारकधर्मान् । हु यस्मात् । तस्माज्जन्मद्वयगतदोषपरिहारे आदरवता सकलः परिग्रहस्त्याज्य इति भावः ॥

आगममें परिग्रहका त्याग करनेका उपदेश किया है वह इस प्रकार—

अर्थ—आचेलक्य, उद्देशिग वगैरह दश प्रकारका स्थितिकल्प पूर्वमें कहा है आचेलक्य नामक कल्पमें वस्त्रकाही त्याग करनेका उपदेश दिया है ऐसा नहीं किंतु वस्त्रादि सर्व परिग्रहका त्याग अचेलक्य शब्दका अर्थ है ‘आचेलक्य कल्प’ दस कल्पोंमें प्रथम गिना है परिग्रहसे इहलोकसंबंधी और परलोकसंबंधी दोष उत्पन्न होते हैं परिग्रहसे यह मेरा है, यह मेरा है ऐसा सकल्प जिम चीजमें होता है उसका संरक्षण करना, संस्कार करना इत्यादिक कार्य करने पडते हैं रक्षणादिक करते समय हिंसा होती है उसके लिये झूठ बोलता है चोरी भी करता है. मैथुनकार्यमें प्रवृत्ति करता है. इस परिग्रहसे अशुभ परिणाम होते हैं नरकादि दुर्गतिका बंध होता है और

उसका फल नरकादिगतिओंमें विविध दुःखरूप प्राप्त होता है, इश्लोक और परलोकके दोषोंका परिहार हो ऐसी अभिलाषा जिनके मनमें उत्पन्न हुई है वे मंपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करे ऐसा इस विवेचनका अभिप्राय है

श्रुतं चेलपरित्यागमेव सूचयति आचेलकमिति न इतरत्यागमित्याशकायामाचष्टे—

देसामासियसुत्तं आचेलकमिति तं खु ठिदिकप्पे ॥

लुत्तोत्य आदिसदो जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥ ११२३ ॥

उद्देशामर्शकं सूत्रमाचेलक्यमिति स्थितम् ॥

लुप्तोऽथवादिशब्दोऽत्र तालप्रालम्ब्यसूत्रवत् ॥ ११६० ॥

विजयोक्त्या—देसामासियसुत्तं परिग्रहकदेशामर्शकारिसूत्रं आचेलकमिति आचेलक्यमिति । तं खु तत् । ठिदिकप्पे स्थितिकल्पे वाच्ये प्रवृत्त सूत्रं नियोगतो मुमुक्षुणा यत्कर्तव्यतया स्थितं तस्मिन्मुच्यते स्थितिकल्प । स्थितप्रकार । पतदुक्तं भवति—चेलग्रहण परिग्रहोपलक्षण, तेन सकलग्रंथत्याग आचेलक्यशब्दस्यार्थ इति । तालपलंबं ण कप्पदिति सूत्रे तालशब्दो न तत्राविशेषवचन किंतु वनस्पत्येकदेशस्तत्रविशेष उपलक्षणाय वनस्पतीना गृहीत । तथा चोक्तं कल्पे—

हरिततणोसद्वियुच्छा गुम्मा वल्लीलदा य रुक्खा य ॥

एव वणफदीयो तालोद्देशेण आदिष्टा ॥

इति । तालेदि व्लेदिच्चिव तलेव जादेत्ति उस्सिदो वत्ति ॥

तालादिणो तरुत्तियवणफदीण हवदि णाम ॥

प्रलंबं द्विविधं मूलप्रलय, अग्रप्रलय च । ऊदमूलफलालय, भूम्यनुप्रवेशि ऊदमूलप्रलय, अकुरप्रवालफलपत्राणि अग्रप्रलयाणि । तालस्य प्रलंबं तालप्रलय वनस्पतेरकुरादिकं च लभ्यते इति यथा सूत्रार्थस्तथापीति मन्यते । अथवा लुप्तोऽथ आदिशब्दो लुप्तोऽथ सूत्रे आदिशब्द । आचेलक्यमित्यमिति प्राप्ते । यथा तालप्रलयसुत्तम्मि यथा तालप्रलयसूत्रे । तालादीति शब्दप्रयोगमकृत्वा तालप्रलयमित्युक्त । तथाचाकं सिद्धातादिति निश्चयेनैव सूत्रकारेण देशामर्शकसूत्रं ह्यतर्कत । आदिशब्दलोपोऽथ तालप्रलयसूत्रे न तु देशामर्शकं भवतीति ॥

ननु च आचेलक्यकुट्टासिय इत्यादि सूत्रे वल्लमात्रत्याग एव ज्ञायते श्रुतत्वाच्च पुनरितरस्यागस्तत्कथमुच्यते “चेलादि सव्वसंगक्काओ पढमो हु होन्नि ठिदिकप्पो” इत्यादि—

मूलारा—देसामासिय इत्यादिस्थितिकल्पे वाच्ये तत्प्रथमतयोपादिष्टमाचेलक्यमिति सूत्रं देशामर्शकं । बाह्य-





आचार्यने तालप्रलंबका उदाहरण दिया है- तालप्रलंब इम सामासिक शब्दमें जो ताल शब्द है उसका अर्थ ताडका वृद्ध इतनाही लोक नहीं समझते हैं किंतु वनस्पतिका एकदेशरूप जो ताडका वृद्ध वह वनस्पतियोंका उपलक्षण रूप समझकर उनमें सम्पूर्ण वनस्पतियोंका ग्रहण करते हैं-

कल्पनामक ग्रंथमें इम विषयमें ऐसा कहा है—

‘हरिण तणोसाधि’ इति - हरित तृण, फलकी पकदशा होने तकहीं टिकनेवाली वनस्पतिको ओषधि कहते हैं- गुच्छ गुल्म-छोटें छोटें पोथे, बेली, कोमल वृक्ष, वगैरह वनस्पतियों का ताल शब्दसे संग्रह होता इस-लिये ताल शब्दसे सम्पूर्ण वनस्पतिका जैसा संग्रह माना जाता है वैसा ‘अचेलक्य’ शब्दसे सम्पूर्ण परियहोका त्याग यह अर्थ उपलक्षणमें ग्रहण किया जाता है

‘तालप्रलंब’ इम शब्दमें जो प्रलंब शब्द कहते हैं उसका स्पर्श करण ऐसा है— प्रलंबके मूलप्रलंब-अग्रप्रलंब ऐसे दो भेद हैं कंद मूल और अक्षुर जो भूमिमें प्रविष्ट हुये हैं उनको मूलप्रलंब कहते हैं- अक्षुर, कोमल पत्ते, फल, और कठोर पत्ते इनका अग्रप्रलंब कहते हैं- अर्थात् तालप्रलंब इस शब्द का अर्थ उपलक्षणसे वनस्पति ओके अक्षुरादिक ऐसा होता है- तालप्रलंब शब्दसे जैसे सम्पूर्ण वनस्पतियोंके अक्षुरादिकोंका ग्रहण हो जाता है वैसे प्रस्तुत विषयमें भी अचेलक्य शब्दका सम्पूर्ण परिग्रह-त्याग यह अर्थ अभीष्ट है-

अथवा यहा आदि शब्दका लोप हुआ है ऐसा समझना चाहिये- अर्थात् अचेल शब्दके आगेके आदि शब्दका लोप हुआ है- ‘अचेलदित्व’ के एवजमें अचेल शब्दका प्रयोग कर आदि शब्दका लोप किया गया है तालप्रलंब इम सूत्रमें ‘तालादि’ ऐसा शब्दप्रयोग न करके तालप्रलंब ऐसा कहा है- सिद्धांतके आधारसे अचेलक्य सूत्र को आचार्यने देशामर्शक सूत्र कहा है परंतु यहां आदि शब्द लुप्त हुआ है ऐसा जब मानते हैं- तब यह सूत्र देशामर्शक नहीं है ऐसा समझना चाहिये-

ण य होदि मज्जो वत्थमित्तचागेण भेससंगेहि ॥

तस्मा अचेलकं चाओ सव्वोस होइ संगणं ॥ ११२४ ॥

चेलमात्रपरित्यागी शेषसंगी न संयतः ॥

यतो मतमचेलत्वं सर्वं ग्रंथोद्भनं ततः ॥ ११६१ ॥

विजयोदया—ण य होदि सजदो नैव संयतो भवति इति । वलमात्रत्यागेन शेषपरित्यहसमन्वितः । वलादन्य-  
शेष' इत्युच्यते । आचेलकमित्यत्र चेलत्यागमात्रमेव यदि निर्दिष्टं स्याद्येलादन्यपरित्यहं गृह्यन् संयतः स न भवति  
यस्मात्तस्मादाचेलक्यं नाम सर्वसंगपरित्यागोऽत्र मतव्य इति युक्तिरुपन्यस्ता चेलशब्दस्य परित्यहोपलक्षणताया ।  
किंच महाव्रतोपदेशप्रवृत्तानि च सूत्राणि क्षापकानि । सर्वसंगपरित्याग आचेलकमित्यत्र निर्दिष्ट इत्यस्य ॥

चेलशब्दस्य सकलवाह्यपरित्यहोपलक्षणताया युक्त्युपन्यस्यति—

मूलारा—सेससंगेहि वलवर्जगरिग्रहैः समन्वितो मुमुक्षुर्वलमात्रत्यागेन संयतो नैव भवति । समस्तद्रव्यो-  
परतो हि संयत इत्युच्यते स कथं वलमात्र त्यजन् तत्त्वतो व्यपदिश्यते । तस्मादाचेलक्यं सर्वसंगपरित्यागः । आचेलक्ये-  
त्यत्र सूत्रे निर्दिष्ट इत्यस्यार्थस्य ॥

अर्थ—वलमात्रका त्याग करने पर भी यदि अन्य परिग्रहों से पुरुष युक्त है तो उसको संयत मुनि नहीं  
कहना चाहिये अर्थात् वल्लके साथ संपूर्ण परिग्रहत्याग जिसने किया वही मुनि माना जाता है इसलिये “आचे-  
लक्यका ” अर्थ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग ऐसा ही होता है. आचेलक्य शब्दका वल्लत्याग इतनाही अर्थ माना जाय  
तो वल्ल छोड़कर अन्य सब परिग्रहोंका स्वीकार करनेवाला व्यक्ति मुनि माना जायगा—इसलिये संपूर्ण परिग्रहोंका  
त्याग ही आचेलक्य शब्दका अर्थ है ऐसा उपलक्षणे समझना चाहिये महाव्रतोंका उपदेश देनेवाले सूत्रोंसे भी  
'आचेलक्य' शब्दका अर्थ सर्वसंगत्याग है ऐसा सिद्ध होता है. यदि वल्लका ही त्याग किया और चाकी परि-  
ग्रहोंका त्याग नहीं किया तो अहिंसादि व्रतसमुदाय मुनिओंमें नहीं रह सकेगा

कथ यदि चेलमात्रमेव त्याज्य स्यान्नतर अहिंसादिव्रतानि न स्यु इत्येतद्व्याचष्टे उत्तरगाथाया—  
संगणिमितं मारेइ अलियवयणं च भणइ तेणिकं ॥

भजदि अपरिमिदमिच्छ सेवदि मेहुणमवि य जीवो ॥ ११२५ ॥

परिग्रहार्थं प्राणिहन्ति देहिनो वदत्यसत्त्वं विदधाति भोषणं ॥  
निषेवते स्त्रीं अयते परिग्रहं न लुब्धबुद्धिः पुरुषः करोति किम् ॥ ११६२ ॥

विजयोदया—सगणिमितं मारेदि परिग्रहनिमित्तं प्राणिनो हिनस्ति पट्कर्मप्रवृत्तेः । अथ द्रव्यं परकीयं ग्रहीतु कामस्ते हिनस्ति, भणस्यलीकं करोति स्तैन्यं, भजते अपरिमितामिच्छा, मैथुने च प्रवर्तते । सत्येवमहिंसाविवृतानि न स्युः । परिग्रहस्य च त्यागे तिष्ठति निश्चलान्यहिंसादीनि ॥

कथं यदि चेलमात्रमेव त्याज्यं स्यान्नान्यत्तदा अहिंसादिव्रतानि न स्युरिति ॥ एतद्व्याख्यातुमाह—

मूलारा—मारेदि हिनस्ति प्राणिनः पट्कर्मसु प्रवृत्तेः । परद्रव्य वा ग्रहीतुकामस्त हिनस्ति । अपरिमिच्छं अपरिमितामिच्छा । निरवधितृष्णामित्यर्थः । एवं च सति क्रथमहिंसादिव्रतानि स्युः । समग्रंथपरित्यागनुतानि निश्चलानि तिष्ठ-  
त्येव क्षोभनिमित्तभावात् ॥

यही अभिप्राय आगेकी गाथामें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—परिग्रहके निमित्तसे यह जीव आसे, मपि, कृषि आदि छह कर्म करता है जिससे जीवोंकी हिंसा होती है दूसरेका घन हरण करनेकी इच्छासे उसका घात करता है असत्य भाषण बोलता है चोरी करता है मनमें अमयाद् इच्छा धारण करता है तथा मैथुनमें प्रवृत्त होता है परिग्रहके वश होनेसे ऐसे पापोंको यह जीव करता है तब उसके अहिंसादिक व्रत कैसे हो सकते हैं जब परिग्रहोंका त्याग होता है तब ही अहिंसादिक व्रत निश्चल हो जाते हैं

अपि चाशुभपरिणामसंवरणमंतरेण प्रत्यग्रकर्मोपचय कथं निवार्यते । प्रत्यग्रकर्मोपचयेन कर्मणा सैवानंतकाला संसृतिरित्येतत्चेतसि कृत्वा परिग्रहग्रहणभाविनोऽशुभान्यपरिणामानाचष्टे—

सण्णारावपेसुण्णकलहफुसणि णिहुरविवादा ॥

संगणिमित्तं ईसासूयासल्लानि जायंति ॥ ११२६ ॥

संज्ञागौरवपैशुन्यविवादकलहादयः ॥

दोषा ग्रंथेन जन्यन्ते दुर्नयेनेव सर्वदा ॥ ११२७ ॥

विजयोदया—सण्णारावपेसुण्ण परिग्रहसंज्ञा तत्सन्निधौर्गत्वं च जायते सपरिग्रहस्य । पिशुनयति सजयति परदोषानिति पिशुनस्तस्य कर्म पैशुन्य । परिग्रहवानात्मनैव स्वधनपरिपालनेच्छुः परस्य दोषान्प्रकाश्य तदीयं धनं

हारयति, कलहं वा करोति । धनार्थं परुष वचो वदति विवादं वा कुर्यान्, ईष्यासूयाशब्दयानि च जायते । अयमेतस्मै प्रयच्छति न मत्वा इति संकल्प ईर्ष्या । परस्य धनवत्तासहनमसूया ॥

परिश्रद्धादिणोऽनतसंस्तुतिसवित्रीमशुभपरिणामप्रवृत्तिमनर्थपरंपरा च व्याकुरुत्तुत्तरप्रबंधमाह—

मूलारा—सण्णा परिश्रद्धसङ्गा । गारव ऋद्धिगौरवं । मपरिश्रद्धस्य च जायेते । पेसुण्ण परदोषसूचनं । ग्रथप्रह्णवि-  
ष्टो हि स्वधनरक्षार्थं परस्य दोषान्प्रकाशय तद्धनं नृपादिना हारयति । कलहं वा करोति धनार्थं । परुष वा वचो वक्ति, निष्ठुरं विवादं वा करोति । ईसा ईर्ष्या । अयमेतस्म प्रयच्छति न मत्वा इति संकल्प । असूया परसंपत्तासहनम् ।

यदि अशुभपरिणामोंका संवर न होगा अर्थात् अशुभपरिणाम थदी नहीं रोके जायेंगे तो नवीन कर्मोंका आगमन नहीं रुक सकता है नवीन कर्मोंका आगमन होनेसे फिर गंसार अनंतकालतक रहेगा ही परिग्रहके सद्भावमें अशुभ परिणाम होते हैं और संसार दीर्घकालका होता है ऐसा निवेचन आगेके गाथामें आचार्य करते हैं—

अर्थ—परिश्रद्धसंज्ञाका उदय होनेसे आत्मामें परिग्रहके प्रति अभिलाषा उत्पन्न होती है, तदनंतर में बड़ा ऐश्वर्यशाली हू ऐसा अभिमान उत्पन्न होता है, परिग्रहसे मनमें दुष्टपणा उत्पन्न होता है अपने धनका संरक्षण करनेमें वह सावध रहता है और दूसरेके असावधनतादिक दोष देखकर उसका धन दूसरोंसे हरण कराता है, कलह करता है धनके लिये कठोर मापण करता है, तथा विवाद करता है, इस परिग्रहसे ईर्ष्या, अहंशा और कपट ये दोष उत्पन्न होते हैं यह पुरुष इसको धन देता है भरेको धन नहीं देता है ऐसा भाव उसके मनमें उत्पन्न होता है, यह ईर्ष्या दोष है दूसरोंका धनिकपना सहन न होना अहंशा दोष है परधन हरण करनेके लिये उसको ठगना मायाश्रय कहते हैं.

कोधो माणो माया लोभो हास रइ अरदि भयसोगा ॥

संगणिमित्तं जायइ दुगुंछ तह रादिभत्तं च ॥ ११२७ ॥

क्रोध लोभं भय मायां विद्वेषमरति रतिम् ॥

द्रविणार्थी निष्ठाशुक्तिं विदधाति विचेतनः ॥ ११२४ ॥

विजयोदया—तद्वा कोधो माणो क्रोधः, परिग्रहस्तस्य परिणामोऽदोषे जायते । धन्योऽहमिति गर्वितो भवति ।

परो धन दृष्ट्वा गृह्णातीति तन्निगूहनकरणात्माया च भवति । काकणिलोभे कार्योपणं चांछति । तल्लब्ध्या कर्पापणसह-  
सादिकमिति लोभस्य हेतुर्द्रव्यलाभ । निर्द्विगुणं लोको हसतीति हासस्यापि कारण । द्रव्यमासीय पश्यत तत्रानुरागो  
रति । तद्विनाशो अरतिः । तदन्ये हरति इति भय । शोको वा । जुगुप्सते वा विरूप । परिग्रहपरिपालनार्थं रात्रावपि  
मुक्ते । मदीय भोजन परे दृष्ट्वार्थिनो भवति इति मन्यमानः ॥

मूलारा—क्रोधो ग्रंथे परेण गृह्यमाणे जायते । माणो घनाह्वोऽह्मिति गर्वः । माया परो धनं दृष्टं गृह्णाति  
इति तन्निगूहनकरणाद्वचना । लोभो काकण्यादिलोभे कर्पापणादिक काक्षतीति । द्रव्यलाभोल्लोभः प्रवर्तते । हस्स हास्य  
धनिनो निर्धनं दृष्ट्वा हसतः स्यात् । रदि स्वधनं पश्यतस्तत्रानुरागः । अरदि धनविनाशो कचिदपि चित्तस्यानवस्थानं ।  
भय धनमन्ये हरन्तीति भीतिः । सोगा शोको घनविच्छेदे मनस्तापः । दुगुंछ विरूपके परिग्रहे जुगुप्सा । धनार्थत्वाद्  
गुणिनामपि राजादिद्वन्द्वानुवृत्त्या निन्दनं । रादिभक्तं मदीयं भोजनं दिवा परे हरतीति तद्विनाशं नक्तमुक्तिः । स्वान्यादिछदा  
नुवृत्त्या वा द्रव्यलाभाय रात्रौ मुक्तिः ।

अर्थ—परिग्रहवान् मनुष्यको धन देते समय क्रोध आता है. परिग्रह पास होनेसे मैं धन्य हूं ऐसा अभि-  
मान उत्पन्न होता है. मेरा धन देखकर अन्य पुरुष हरण करेगा इस विचारसे उसको छिपाता है. यह माया दोष  
है. काकणि का लाभ होनेपर कर्पापण का लाभ होनेको इच्छा करता है वह भी मिलनेपर हजारों कर्पापणकी  
माप्ति मेरे को कच होगी ऐसा विचार उसके मनमें उत्पन्न होता है अतः द्रव्य का लाभ होना लोभ का हेतु है. जो  
दरिद्री है उसको देखकर लोक हसते हैं अतः यह धन हास्य का हेतु है अपने धनको वारंवार देखकर परिग्रहवान्  
उसमें रति-आसक्ति करता है उसका विनाश होनेपर वह दुःखी होता है. मेरा धन दूसरे हरण करेगी ऐसी  
भावना उत्पन्न होकर भय उत्पन्न होता है अथवा शोक भी उत्पन्न होता है परिग्रह का रक्षण करनेके लिए वह  
रातमें भी भोजन करता है. क्योंकि मैं यदि दिनमें भोजन करूंगा तो याचक लोग मांगेंगे ऐसी उसकी समझ  
रहती है.

गंधो भयं नराणां सहोदरा एयरत्थजा जं ते ॥  
अण्णोणं मारेदुं अत्थणिमित्त मदिमकासी ॥ ११२८ ॥

ग्रंथो महाभयं नृणामेकरथ्ये सहोदरौ ॥

ग्रंथार्थं हिंस्त्रितुं बुद्धिं यतोऽकाष्टां परस्परम् ॥ ११६५ ॥

विजयोद्या—ग्रंथो भय नराणा । ननु भयसंशस्य कर्मण उद्यादुपजात परिणाम आत्मनो भय न वास्तु-  
क्षेत्रादिको ग्रंथ तथार्थमूलस्तत् किमुच्येत ग्रंथो भयमिति, भयहेतुताद्भयमिति न दोष । सहोदरा एकोदर प्रसवा  
अपि संत एयरथ्या एकरथ्यनगरे जाता । ज यस्मात् । ते अण्णोण मारेदु अन्योन्य इन्तु । अत्यणिमित्त वसुनिमित्तं  
मदिमकासी बुद्धिं कृतवत् ॥

ग्रंथस्य भयहेतुत्वमर्थार्याख्यानेन ख्यापयति--

मलारा—भयं भयहेतु । सहोदरा एकोदरप्रभवा अपि सन्तः । एयरथ्या एकरथ्ये नगरे जाताः । जं  
यस्मात् ते प्रसिद्धाः । मदिमकासी मतिमकार्णुः । चित्त कृतवन्त इत्यर्थः । अत्रान्ये द्वित्वमिच्छन्ति--

अर्थ—परिग्रहसे मनुष्यैयं भय विकार उत्पन्न होता है, शंका—भयनामक कर्मके उदयसे जो परिणाम  
उत्पन्न होता है उसको भय कहते हैं वास्तु क्षेत्रादिक परिग्रह भयरूप नहीं हैं इस लिये परिग्रहको आप भय  
क्यों कहते हो ?

उत्तर—भयके लिये परिग्रह कारण है इस वास्ते उसको हम भय कहते हैं एक माताके उदरसे उत्पन्न  
हुए भाई भी एकरथ्या नामक ग्राममें अन्योन्यको मारनेके लिये उद्यत हुये थे यह विचार करके बुद्धिमान लोक  
परिग्रहमें अभिलाषा नहीं रखते हैं.

अत्यणिमित्तमदिभयं जादं चोराणमेकमेकमेकहिं ॥

मज्जे मंसे य विसं संजोइय मारिया जं ते ॥ ११२९ ॥

तस्कराणां भयं जातमन्योन्यद्रविणार्थिनाम् ॥

मद्ये मांसे विषं घोरं यतः संयोज्य मारिता : ॥ ११६६ ॥

विजयोद्या—अत्यणिमित्त अदिभयं जाद अतीव भयं जात । चोराण एक्कमेकमेकहिं ॥ चोराणामन्योन्यैः सह ।  
य विसं संजोइय मद्ये मांसे च विष संयोज्य । मारिदा जं ते यसासे मारिता. ॥  
आन्यानातरेण तदेवाह—

मूलारा—एकमेकोहि अन्योन्यै कर्तृभिर्मरिताः । अन्योन्यतोऽतिभयं जातमित्यन्ये । सजोइय संयोज्य ॥  
अर्थ— इस धनके निमित्तसे चार चोरोंको महामय उत्पन्न हुआ था अर्थात् इन्होंने मद्य मांसमें परस्पर-  
रोंको मालुम न पड़ेगा इस प्रकारसे विप मिलाया था जिससे मद्य मांसका भक्षण करके वे लोग मरणको प्राप्त हुए

संगो महाभयं जं विहेडिदो सावगेण संतेण ॥

पुत्तेण चैव अत्थे हिदस्मि निहिदिछए साहुं ॥ ११३० ॥

संगो महाभयं यस्माच्छ्रावकेण कदर्थितः ॥

निहितेऽपहृते द्रव्ये तनूजने तपोधनः ॥ ११६७ ॥

विजयोदया—संगो महाभयं परिग्रहो महद्भयं । जं यस्मात् । विहेडिदो याधित । सावगेण संतेण श्रावकेण  
सत्ता । पुत्तेण चैव पुत्रेणैव । निहिदिछणे अत्थे हिदं हि साहु निक्षिप्तऽर्थे हृते साधु ॥

पुनरप्याख्यानमाह—

मूलारा—विहेडिदो कदर्थितः । पुत्तेण श्रावकस्यैव । निहिदछणे गर्तानिक्षिप्ते ॥

अर्थ—एक श्रावकके पुत्रने अपने पिताका जमीन में गाड़ा हुआ धन हरण कर अन्य स्थानमें रखा था  
जब उसको अपना गाड़ा धन नहीं प्राप्त हुआ तब उसके मनमें मेरा धन मुनिने लिया होगा ऐसा संशय उत्पन्न  
हुआ क्योंकि मुनिको उसने चातुर्मासमें अपने घरमें ही रहनेके लिये आवास दियाथा जब मुनि चातुर्मास समाप्त  
होनेपर विहार करने लगे तब इस श्रावकने अनेक प्रकारकी कारणों कहकर वाधा दी हे ये कथाएँ श्रेणिक  
पुराणमें हैं,

दूओ बंमण विग्घो लोओ हत्थी य तह य रायसुयं ॥

पहियणरो वि य राया सुवण्णयारस अक्खाणं ॥ ११३१ ॥

वण्णरणउलो विज्जो वसहो तावस तेहव चूदवणं ॥

रक्खसिवण्णीडुडुहु मेदज्ज मुणिरस अक्खाणं ॥ ११३२ ॥

सीदुण्हादववादं वरिसं तण्हा छुहासमं पंथं ॥  
 दुस्सेज्जं दुज्झत्तं सहइ वहइ भारमवि गुरुयं ॥ ११३३ ॥  
 गावइ णच्चइ घावइ कसइ ववइ लवदि तह मलेइ णरो ॥  
 तुण्णदि विणादि जायदि कुलम्मि जादो वि गंथत्थी ॥ ११३४ ॥  
 चर्षं वातं क्षुधं तृष्णां तापं शीतं श्रमं क्लमं ॥  
 दुमुत्तं सहतेऽर्थार्थी भारं वहति पुष्कलं ॥ ११६८ ॥  
 कृपति दीव्यति सीव्यति खिद्यते वपति पश्यति त्रस्यति याचते ॥  
 घमति घावति बल्गति सेवते रुदति ताम्यति नृत्यति गायते ॥ ११६९ ॥  
 पठति जल्पति छुठति छुपते हरति रुष्यति नश्यति लिख्यति ॥  
 रजति कस्यति दहति सिंचति मुञ्चति वंदते ॥ ११७० ॥  
 श्वसिति रोदिति माद्यति लज्जते हसति तृष्यति नृत्यति ॥  
 तुदति गृध्यति रज्यति सज्जते द्रविणलुब्धमनाः कुरुते न किम् ॥ ११७१ ॥

विजयोदया—गायति गायति, नृत्यति, घावति, वपति, कणिदाब्धं करोति, मर्दनं करोति, सीव्यति, चयति, याचते कुले जातोऽपि परिग्रहार्थं ॥

इतोऽर्थाय यद्दुष्करनिवृत्त्यदि कर्म करोति तदाह—

मूलारा—सीदुण्हादववादं शीतोष्णतपवात । ग्रंथार्थी सहते इति संबधः । एता सखुतदीकाकरो नेच्छति ।

मूलारा—कसदि कृपति । जायदि याचते ॥

अर्थ—दूत, ब्राह्मण, व्याघ्र, हाथी, राजपुत्र, पथिक, राजा, और सोनार इनकी कथायें तथावानर, नौला, वैद्य, बौल, तपस्वी, चूतवन, सर्प ऐसी सोला कथाओंका वर्णन श्रेणिक, पुराणमें आया है श्रावकने मुनि-राजको आठ कथा धन उन्हीनेही ग्रहण किया है ऐसे अभिप्रायसे कही थी अनंतर मुनिराजनेभी तेरा धन मैंने नहीं ग्रहण किया है इस अभिप्रायको पुष्ट करनेके लिये कही थी इसके अनंतर श्रावक पुत्रने पिताका धनकलश लाकर दिया तब उसका सदेह दूर हो गया यह मनुष्य परिग्रहार्थ गाता, है, नाचता है, झंघर उधर दौड़ता है, खेत हल



से नांगरता है, उसमें बीज बोता है, धान्य पकनेपर, उसको काटता है, मलता है इतने कार्य परिग्रहका संग्रह करने के लिये करता है, इस परिग्रहके निमित्त ही मनुष्य कपड़े सीता है, बुनता है, और याचना करता है, कुलीन होकर भी ऐसे ऐसे कार्य करता है

मेवद् णियादि रक्खद् गोमहिसमजावियं हयं हत्थि ॥

ववहरदि कुणदि सिप्पं अहो य रत्ती य गयणिहो ॥ ११३५ ॥

आउधवासस्स उरं देइ रणमुहम्मि गंथलोभादो ॥

मगरादिभीससावदबहुलं अदिगच्छदि समुहं ॥ ११३६ ॥

क्रीणाति वयते वखं गोमहिष्यादि रक्षति ॥

अर्थार्थो लोहकाष्टास्थिस्वर्णकर्म करोति ना ॥ ११७२ ॥

रुधिरकर्मदुर्गममाहवं निशितशस्त्रविदारितकुंजर ॥

हरिपुरस्सरजतुविभीषणं भ्रमति वित्तमना गहन वनम् ॥ ११७३ ॥

वियुलवीचिविगाढनभस्तलं मकरपूर्वकवार्षरसंकुलम् ॥

जलनिधिं द्रविणार्जनलालसो विशति जीवितनिस्पृहमानसः ॥ ११७४ ॥

विजयोदया—आउधवासस्स उर देइ आयुधवर्षस्स उरो ददाति । रणमुहे रणमुक्खे । गंधलोहादो द्रयलोभाव मकरादिभीमंश्चापद बहुल प्रविशति समुद्र ॥

मूलारा—णियादि निर्वति । निदिणइ इति लोके । ववहरदि अयविक्रयादिकं करोति । सिप्प लेपादिहस्तविज्ञान । एता श्रीविजयो नेच्छति ।

मूलारा—आउधवासस्स आयुधवर्षस्स । शस्त्रपातस्येत्यर्थः । मावद् श्चापटाः । अतिक्रूरत्वख्यापनार्थं मकरादयोऽप्येवमुक्ताः । अदिगच्छदि प्रविशति ।

अर्थ— यह मनुष्य प्राणी सेवा करता है, गौ, महिष, वकरी, भेड़े, हाथी, घोडा वगैरह प्राणिओंका रक्षण

करता है व्यापार करता है, शिल्पकार्य करता है. परिग्रहोंकी प्राप्ति हो इस लिये निद्राका भी त्याग कर इन कार्योंमें रात दिन तत्पर होता है. परिग्रहके लोभमें यह मनुष्य सत्राममें-युद्धमें शस्त्रोंकी वृष्टि अपने छातीपर होने देता है. अर्थात् युद्धमें हजारों वारणोंकी वर्षा होनेसे उत्पन्न हुये अधातोंको सह लेता है जिसमें मगर-कूर जलजंतु विचरते हैं ऐसे भयानक समुद्रमें भी यह प्रवेश करता है

जदि सो तत्थ मरिज्जो गंथो भोगा य कस्स ते होज्ज ॥

महिलाविहिंसणिज्जो लूसिददेहो व सो होज्ज ॥ ११३७ ॥

नियनमृच्छति तत्र यदेकको भवति कस्य तदा धनमर्जितम् ॥

विविधविघ्नविनाशितविग्रहो जनतयाखिलयापि जुगुप्सते ॥ ११७५ ॥

लुनीते धुनीते धुनीते कुणीते न दत्ते न सुंक्ते न शेते न विंत्ते ॥

सदाचारधृत्तेर्वहिर्भूतचित्तो धनार्थी विघ्नं विधत्ते निकृष्टम् ॥ ११७६ ॥

विजयोदया—जदि सो तत्थ मरिज्जो यद्यमो रणसुखे मृत्तिमियात् । अथा भोगाश्च ते तावत्कस्य भवेयु. । वनिताभिनिन्दः विनष्टकरणाद्ययवो भवेद्यद्यपि न मृत ॥

मूलारा—तत्थ रणसुखादौ । गथा अर्थाः । महिलाविहिंसणिज्जो स्त्रीणां निन्द । लूसिददेहो सङ्खडीकृतशरीर. सत् । यद्यपि न मृतस्तथापि दुर्भंगो भवेदिति भावः ॥

अर्थ— यदि यह प्राणी रणमें कालके गालमें चला गया तो सब परिग्रह और भोग पदार्थ किसके होंगे ? यदि युद्धमें वह नहीं मरा और हाथ, पाय वगैरह अंग टूटनेपर ऐसे मनुष्य की उसकी स्त्रिया निंदा करती है

गंथणिमित्तमदीदिय गुहाओ भीमाओ तह य अडवीओ ॥

गंथणिमित्तं कम्मं कुणइ अकादव्वयंपि णरो ॥ ११३८ ॥

गिरिकदरदुर्गाणि भीषणानि विगाहते ॥

अकृत्यमपि वित्तार्थं कुरुते कर्म मूढधीः ॥ ११७७ ॥

विजयोदया—ग्रंथनिमित्तमदीक्षिय ग्रंथनिमित्त प्रविशति गुहां । तथा भीमाश्चाटवीः । ग्रंथनिमित्तं कर्म अकर्तव्यमपि करोति नरः ॥

भूलारा—अदीक्षि प्रविशति ।

अर्थ—इस परिग्रहमें लुब्ध होकर उसके लिये भयंकर गुहाथोंमें प्रवेश करता है इस परिग्रहके लिये अकर्तव्य भी कर बैठता है,

सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सधणस्स ॥

माणी वि सहइ गंथणिमित्तं बहुयं पि अवमाणं ॥ ११३९ ॥

जायते धनिनो वदयः कुलीनोऽपि मङ्गलानपि ॥

अपमान धनाकांक्षी सहते मानचानपि ॥ ११७८ ॥

विजयोदया—सूरो तिक्खो मुक्खो वि शूरस्तीक्ष्णो मूर्खश्च वशवर्ती भवति जनस्य सधनस्य । अभिमानवानपि सहते ग्रंथनिमित्तं अपि परिभवं ।

भूलारा—तिक्खो असहनः । मुक्खो मुब्धः । वसिओ वशवर्ती । अवमाणं परिभवं ॥

अर्थ—शूर, तीक्ष्ण, और मूर्ख सब मनुष्य धनचानके वश हो जाते हैं, अभिमानी मनुष्य भी इस धनके लिये घोर अपमान दुःख सहता है

गंथणिमित्तं घोरं परितावं पाविट्ठण कं पिच्छे ॥

लल्लुक्कं संपत्तो निरयं पिण्णागंगंधो खु ॥ ११४० ॥

कांपित्यनगरेऽर्थं परितापं दुरुत्तरं ॥

प्राप्य पिण्याकगंधो ऽगाल्लल्लकं नरकं कुधीः ॥ ११७९ ॥

विजयोदया—अर्थनिमित्तं वस्तुनिमित्तं महत् दुःखं प्राप्य । कांपित्यं कं पिच्छनगरे । लल्लकं लल्लकनामधेयं संप्राप्तो नरकं पिण्याकगंधसङ्गः ॥

पुनराख्यानमाह—

मूलारा-कंपिछे कापित्यनगरे । लहकं लहकसङ्गाक । तमभ्रभाख्याया पष्ठनरकभूमौ तृतीयप्रस्तार । उक्तं च-  
हिमवदललहकास्त्रयःपष्ठयामपीद्रकाः । पिण्णागंगंधो पिण्याकागधसङ्गाः ।

अर्थ- इस धनके निमित्त पिण्याक्रगध नामक मनुष्य नरकमें-लहक नरक विलमें जन्म लेकर तीव्रतम  
दुःख भोगने लगा

एवं चेदुंतरस वि संमद्दो चेव गथलाहो दु ॥

ण य संचीयदि गथो सुदरेणवि मंदभागसम ॥ ११४१ ॥

कुर्वन्तोऽपि परां चेष्टामर्थलाभो न निश्चितं ॥

संचीयते विपुण्यस्य नार्थो लब्धोऽपि जातुचित् ॥ ११८० ॥

विजयोदया-एवं चेदुंतरस वि एव चेष्टमानस्यापि सशयित एव ग्रथलाभ । न च संचयमुपयति ग्रथ ।  
सुविरेणापि मंदभाग्यस्य ॥

तत्तादृक्कर्मपरस्यापि पुण्यात्पत्ये धनालाभमाह-

मूलारा-संसद्दो अनिश्चित ॥

अर्थ- ऊपर कहा हुआ प्रयत्न करने पर भी परिग्रहलाभ अर्थात् धनप्राप्ति होगी ही ऐसा निश्चय नहीं  
है, जिसका भाग्य फूटा है उसको दीर्घ कालसे प्रयत्न करने पर भी धनप्राप्ति होती नहीं है.

जदि वि कंहंचि वि गंधा संचीएजणहू तह वि से णत्थि ॥

तिची गंधेहि सदा लोभो लाभेण वडुदि खु ॥ ११४२ ॥

नार्थे संचीयमानेऽपि पुरुषो जातु तृप्यति ॥

अपथ्येन यथा व्याधिलोभो लाभेन वर्द्धते ॥ ११८१ ॥

विजयोदया-जदि वि यद्यपि कर्णचित्केनचित् प्रकारेण ग्रंथा सञ्चयमुपेतु । तथापि तस्य दृष्टिर्नास्ति ग्रंथैः ।  
सदा लोभो लाभेन वर्द्धते ॥

अर्थोपचये तृप्यभावमाह—

मूलारा—कथंचि केनापि प्रकारेण । सचीएजण्ह संचयमुपेयुः । लाभानु वनंप्राप्तेः ॥

अर्थ—यद्यपि किसी प्रकारसे किसी उपायसे परिग्रहका संग्रह हुआ तथापि यह आत्मा उसके प्राप्तिसे तृप्त होता नहीं, क्योंकि सदा लाभ होनेपर परिग्रहोंसे लाभ बढ़ताही रहता है

जघ इंधणेहि अग्गी लवणसमुदो णदीसदृस्सेहिं ॥

तह जीवस्स ण तिच्ची अत्थि तिलोगे वि लद्धम्मि ॥ ११४३ ॥

नदीजलैरिवाम्भोधिरिग्रनैरिव पावकः ॥

लोकौल्लिभिरपि प्राप्तैर्न जीवो जातु तृप्यति ॥ ११४२ ॥

विजयोदया—जघ इंधणेहि इधनैर्यथाग्नि, यथा वा समुद्रो नदीसदृक् । तथा परिग्रहैर्न तृप्यति जीवः क्लेशलोके लब्धेऽपि ॥

मूलारा—सद्यम् ।

अर्थ—जैसे लकड़ीओंसे अग्निकी तृप्ति होती नहीं, हजारो नदियोंके जल मिलनेपर भी लवणसमुद्रकी प्यास नहीं बुझती है वैसे वैलोक्य की प्राप्ति होनेपर भी इस परिग्रहोंके द्वारा जीव तृप्त होता नहीं है.

पडहत्थस्स ण तिच्ची आसी य महाघणस्स लुद्धस्स ॥

संगेसु मुच्छिदमदी जादो सो दीहसंसारी ॥ ११४४ ॥

महाघनसमुद्रोऽपि पटहस्ताभिधो वणिक् ॥

जातस्त्वृक्षिमनासाच लुब्धधीर्दीर्घसंयुतिः ॥ ११४३ ॥

विजयोदया—पडहत्थस्स पटहस्तनामधेयस्य वणिज न वृक्षिरालीतया महाघन्यस्य लुब्धस्य । परिग्रह मुच्छिन्नमतिरसो जातो दीर्घसंसार ॥

अथ लोभेनावृतौ सत्या दोषमाख्यानानेन स्फुटयति—

मूलारा—फटहस्तस्य स्फटहस्तान्मो वणिजः । आसी जातः ॥

अर्थ—पटहस्त नामक वैश्य बड़ा धनिक और अतीव लोभी था इस परिग्रहसे उसकी तृप्ति हुई नहीं इन परिग्रहोंमें लुब्ध होकर ही उसने प्राण छोड़े और दीर्घ संसारी हुआ

तित्तीए असतीए हाहाभूदस्स घण्णचित्तरस ॥

किं तत्थ होज्ज सुक्खं सदा वि पंपाए गहिदस्स ॥ ११४५ ॥

हाहाभूतस्य जीवस्य किं सुखं तृप्तितो विना ॥

आशया ग्रस्यमानस्य पिशाक्येव निरतरम् ॥ ११८४ ॥

विजयोदया—तित्तीए असतीए कृतावसत्या । हाहाभूदस्य लपटवित्तस्य किं तत्र सुख भवेत् । आशया गृहीतस्य ॥

तृप्तावसत्याभिदैव दुःखमाह—

मूलारा—हाहाभूदस्य संतोपरहितस्य लपटमनसः । तत्थ ग्रंथे लब्धेऽपि । पंपाए आशया ॥

अर्थ—यदि परिग्रहोंकी प्राप्ति होनेसे भी मनुष्य तृप्त नहीं हुआ और उसमें ही लुब्ध हुआ तो आशया दास बना हुआ वह मनुष्य क्या सुखी होगा ? नहीं कभी भी सुखी नहीं होगा.

हम्मदि मारिज्जदि वा वज्झदि रुमदि य अणवराधे वि ॥

आमिसहेदुं घण्णो खज्जदि पक्खीहिं जह पक्खी ॥ ११४६ ॥

हन्यते ताड्यते बध्यते रुध्यते मानवो चित्तयुक्तोऽपराध विना ॥

पाक्षिभिः किं न पक्षी गृहीतामिपः स्वाद्यते लुब्धते दोषहीनः परेः ११८५

विजयोदया—हम्मदि आहन्यते । मारिज्जदि मायेते, बध्यते रुध्यते वानपराधोऽपि । आमिपनिमित्त लपट स्वाद्यते यथा पक्षिभिः पक्षी गृहीताहारः ॥

मूलारा—हम्मदि ताड्यते । घण्णो लुब्धः । पक्खी गृहीताहारः पक्षी । यथा मांसार्थं परेः पक्षिभिः स्वाद्यते तथा धनार्थं परैर्धनी ताडनादिक प्राप्यते इति संबन्धः ॥

अर्थ—जिसके गृहमें मांस है ऐसा पक्षी मांसाभिलाषी इतर पक्षियोंके द्वारा खाया जाता है, वैसे परिग्रहवान् धनाढ्य मनुष्य इतर परिग्रहको चाहनेवाले लोगोंके द्वारा पीटा जाता है मारा जाता है, उसको किसी कोठरीमें बंद कर देते हैं किसीका अपराध नहीं करनेपर भी उसको लोक परिग्रहाभिलाषी बनकर दुःख देते हैं

मादुपिदुपुत्तदारेसु वि पुरिसो ण उवयाइ वीसंभं ॥

गंथणिमित्तं जग्गइ कंक्खंतो सत्वरत्तीए ॥ ११४७ ॥

प्रियासवित्रीपितृदेहजादौ सदापि विश्वासमनादधानः ॥

विजयोदया—मादुपिदुपुत्तदारेसु वि विश्वसनीयेष्वपि मात्रादिषु विश्रम नोपयाति । जगति सर्वरात्री प्रलपन् ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—यह मनुष्य परिग्रहोंका अभिलाषी होकर सर्व रात्रिमें बड़बड़ता हुआ जागता है माता, पिता, लड़का, पत्नी इन विश्वसनीय लोगोंपर भी विश्वास नहीं रखता है।

सव्व पि संकमाणो गामे—णयरे घरे व रण्णे वा ॥

आधारमगणपरो अणप्पवसिओ सदा होइ ॥ ११४८ ॥

अरण्ये नगरे ग्रामे गृहे सर्वत्र शक्तिः ॥

आधारान्वेषणाकांक्षी स्ववशो जायते कदा ॥ ११४९ ॥

विजयोदया—सव्वं पि संकमाणो सर्वमपि शंक्ताग्रामे, नगरे, गृहे, अरण्ये वा, आधारान्वेषणपरोऽनात्मवशा सदा भवति ॥

मूलारा—सर्वपि साधुमसाधुम्बा । संकमाणो धनापहारवलेन कल्पयन् । आधाररक्षायुक्तस्थान । अणप्पवसिओ परवशः ॥

अर्थ—सर्व मनुष्योंपर उसका विश्वास नहीं रहता है, इसलिए वह परिग्रहवान् मनुष्य गांवमें, शहरमें, यममें, अरण्यमें, अपने परिग्रहका जहां रक्षण होगा ऐसा स्थान ढूँढनेकी फिक्रमें रहता है वह अपनी आत्माको वश करनेमें असमर्थ होता है-

गंथपडियाए लुब्धो वीराचरियं विचित्तमावसध ॥

णेच्छदि बहुजणमज्झे वसदि य सागारिगावसए ॥ ११४९ ॥

धीरराचरित स्थानं विचित्त धनलालस ॥

विहाय धूरिलोकानां मध्ये गेहीव तिष्ठति ॥ ११८८ ॥

विजयोदया—गथपाडिगाए लुब्धो ग्रथनिमित्त लुब्धोपि धौर्वाचरित विचित्तमावसय नेच्छति । बहुजनमध्ये वसति । शुद्धस्थाना वेदमनि ॥

मूलारा—गंथपडियाए ग्रंथनिमित्तं धनं रक्षितुमित्यर्थः । यदि वा गंथपडियायलुब्धो ग्रंथविशेषलुब्धः साधु । वीराचरिद् महासुनिवेक्षित । आवसध वसति । सागारिगावसण् गृहस्योपाश्रये ।

अर्थ—वह कृपण मनुष्य परिग्रहमें लुब्ध होकर धीर पुरुष जहापर रहते हैं ऐसे एकांत स्थानमें रहना पसंद नहीं करता है वह जहा बहुत लोक रहते हैं ऐसे गृहस्थोंके घरमें रहता है-

सोदूण किंचिसदं समगथो होइ उडिदो सहसा ॥

सवत्तो पिच्छत्तो परिससदि पलादि मुज्झदि य ॥ ११५० ॥

शब्दं कांचिदसौ श्रुत्वा सहस्रोत्थाय धावति ॥

सर्वतः प्रेक्षते द्रव्यं परामृशति मुञ्चति ॥ ११८९ ॥

विजयोदया—सोदूण किंचि सद् श्रुत्वा कचन शब्द परिग्रहवान्सहस्रोत्थितः सर्वा दिशः प्रेक्षमाण परामृशति स्व द्रव्यं, पलायते, मुञ्चति वा ॥

मूलारा—सोदूण किंचि सद् श्रुत्वा कचन शब्द सवत्तो सर्वा दिशः । परिससदि परामृशति । स्व धनं ॥

अर्थ—परिग्रहवान् मनुष्यके कुछ शब्द सुन लेनेपर भयमें चकित होता है, उठकर खड़ा होता है, चारों



दिशाओंका अवलोकन करता है अपने द्रव्यको ढूँढता है भीतिसे माग जाता है अथवा मूर्छित होकर गिर पड़ता है-

तेणभणुणरोहइ तरं गिरिं उप्पहेण व पलादि ॥

पविसदि य हदं दुग्ग जीवाण वहं करेमाणो ॥ ११५१ ॥

आरोहति नगं वृक्षयुत्पथेन पलायते ॥

निर्गस्तनुमतो भीतो हृदं विशति दुस्तरम् ॥ ११९० ॥

विजयोदया—तेणभण स्तेनभयेन आरोहति आरोहति तव गिरिं वा । व्यच्यो भवति । प्रविशति वा हृद । दुर्गे वा स्थान जीवाना घातनं कुर्वन् ॥

मूलारा—तेणभण चोरभीत्या । हृद च्छदं नदं । करमाणो कुर्वन् ॥

अर्थ—मेरा परिग्रह चोर लेगा इस हरके मोरे वह झाड़पर अथवा पर्वतपर चढ़कर छिपकर बैठता है, अथवा मार्ग छोड़कर अमार्गसे दौढ़ने लगता है, सरोवरमें प्रवेश करता है, अथवा जर्बोंका घात करता हुआ दुर्गम स्थानमें प्रवेश करता है

तह वि य चोरा चारभडा वा गच्छं हरेज्ज अवसरस्स ॥

गेण्हिज्ज दाइया वा रायाणो वा विलुंप्पिज्ज ॥ ११५२ ॥

अवशस्य नरस्यार्थो हठतो बलिभिः परैः ॥

दायादैस्तस्करैर्भूषैस्त्रायमाणोऽपि लुट्यते ॥ ११९१ ॥

विजयोदया—तथापि पलायनधावनादिक कुर्वतो द्रव्य हरति चोरा वा चारभटा वा । परवशस्य दायादा वा गृह्णन्ति राजानो वा विलुपति ॥

मूलारा—तव वि पलायनं कुर्वतोऽपि । चारभडा सुभटपुरुषाः । दाइया दायादाः । विलुंप्पेज्ज उहल्लयेयुः ॥

अर्थ—मागनेवाला अथवा दौढ़नेवाला उस मनुष्यके पीछे चोर जाकर उसको पकड़ते हैं, उससे धन छीन

लेते हैं पराधीन होनेपर नातीदार लोक, उसका घन लेते हैं अथवा राजा उसका घन हर लेता है.

संगणमिसं कुद्धो कलहं रोलं करिज्ज वेरं वा ॥

पहणेज्ज व मोरेज्ज व मोरेजेज्ज व य हम्मेज्जा ॥ ११५३ ॥

कल्लिं कलकल वैरं कुरुते नाथते परं ॥

अग्रिते मार्यते लोकैहस्यते चार्थलपट् ॥ ११९२ ॥

विजयोदया—संगणमिसं कुद्धो कष्टः परिग्रहनिमित्तं कलहं वैरं वा करोति हंति, ताडयति, । पर स्वयं प्राणावियोजयति वा । परेण वा ताडयते मार्यते परेण ॥

मूलारा—पहणेज्ज ताडयेत्परं । मोरेज्जो मारयेत्परं । मोरेजेज्ज मार्यते परैः । हम्मेज्ज ताडयते परैः ॥

अर्थ—परिग्रहके निमित्तसे क्रोधी हुआ यह मनुष्य दूसरोंके साथ तटा करता है वैर करता है दूसरोंको मारता है, पीटता है-दूसरोंके प्राण लेता है, अथवा दूसरोंके द्वारा यह मारा जाता है, पीटा जाता है

अहवा होइ विणासो गंथस्स जलगिगमूसायादीहिं ॥

णट्ठे गंथे य पुणो तित्वं पुरिसो लहदि दुक्खं ॥ ११५४ ॥

कुरानुमूयिकांभोभिः संचितोऽर्थो विनाशयते ॥

तत्र नष्टे पुनर्यातं दह्यते शोकवह्निना ॥ ११९३ ॥

विजयोदया—अथवा होज्ज विणासो अथवा ग्रंथस्य विनाशो भवेत् । अग्निजलमूरकादिभिः नष्टे पुनर्गृथे तीव्रं दुःखं लभते मनुष्यः ॥

मूलारा—स्पष्टम्—

अर्थ—अथवा उसके परिग्रहका नाश अग्नि, जल, चूहे वगैरहसे होता है. परिग्रह नष्ट होनेपर फिर वह पुरुष दुःखी होता है

सोयद् विवृणु कंऽइ णडे गंथमि होउ चीमणो ॥

पआदि पिआडु जइ वेवहु उक्कंठिओ होउ । ११५५ ॥

असिनि रोदिनि सीदनि वेणने गनयनि उणिणे अकिओपम ॥

हरनिपिअरुपेअलोअयो मनसि नोचनि पणुअनेअमित्त । ११५६ ॥

विजयोएवा—योगेदि पिअदि नोचनि, विजयति, तसि तं देवोदरे तिल्लार तसि । अिया हनेति ।  
पिरवत्तम्मंवाणाअवधिक, वेणने उक्कंठिओ जयति ॥

अन्तरा—सिअणो सिअणो सिअणो या । तसदि । ए अणेति । विअरुदि विअरुत्त रसतत्तत्तत्ति ।  
अनेअवाएणे अन्न ॥

अर्थ—परिग्रहा नाग होनेपर गोक रुला है, योग्य गेने रुला है, योगाह रुला है, अन्तरा होना है, मनमें निम्न होना है, चिन्ता करने रुला है, हृदयमें बाग उल्लस पेश होनेन पानी पिला है, उनहे असम सापन लगेने है और यह उन्नेछि होला है

उअरि अतो पुगिओ अणिए णट्टु नगगि गथमि ॥

आवायिय अणिवण्डु बुद्धी विन होउ से मूढा ॥ ११५६ ॥

अंतरे अण्यगोकेन पापंकेनय नापयने ॥

पुद्धिमदायने यादं मुणानुत्तुत्तने नराम ॥ ११५७ ॥

विजयोएवा—अणदि एणे अता पूल पायणी अण परिमंदि । गगलि एणो पुद्धिमि नरा नयति ॥  
मुअरा—अणिवण्डि नयति मयति ना ॥

अर्थ—परिग्रहा नाग होनेने गणुण मनमें उला रुला है उपका एन भी नष्ट होला है, अर्थान उपका चोलना भी बंद पडना है उपसी बुद्धि भी बंद होती है

उंमत्तो होइ णरो ण्हे गंथे गहोवसिद्धो वा ॥

घट्टदि मरुप्पवादादिण्हिं बहुधा णरो मरिंदुं ॥ ११५७ ॥

उंमत्तो वधियो मूको द्रव्ये नष्टे प्रजायते ।

चेष्टते पुरुषो मर्तुं गिरिप्रपत्तनादिभिः ॥ ११५६ ॥

विजयोदया—उंमत्तो होइ णरो उंमत्तो भवति नर । नष्टे परिग्रहे ग्रहगृहीत इव चेष्टते मरुत्प्रतापादिभिर्मर्तुं ॥  
मूलारा—गहोवसिद्धो वा भूलाविष्ट इव । पत्तदि चेष्टते । मरुत्पञ्चादादिण्हिं भ्रुगुपातादिभिः ॥

अर्थ—परिग्रहका नाश होनेपर यह जीव उंमत्त होता है, पिशाच प्रस्त मनुष्यके समान चेष्टा करता है, और पर्वत, अग्नि, पानी इत्यादिकसे मरनेकी इच्छा करता है

चैलादीया संग्गा संसज्जति विविहेहिं जंतूहिं ॥

आंग्तुगा वि जंतू हवंति गथेसु सण्णिहिदा ॥ ११५८ ॥

चैलादयोऽखिला ग्रंथाः संसजति संमततः ॥

सति सन्निहितश्चित्रास्तस्मिन्नांग्तुकास्तथा ॥ ११५७ ॥

विजयोदया—चैलादिगा चैलादिसंगाखलप्रावरणद्वय परिग्रहा । संसज्जति सन्मूर्च्छनामुपयति । विविहेहिं जंतूहिं नानाप्रकारैर्जंतुभिः । आंग्तुगा वि आगतुकाश्च जतव । गथेसु सण्णिहिदा भवति ग्रथेषु सन्निहिता भवन्ति । यूकापिपीलिका मत्कुणादयः । धान्येषु कीटकादयः । गुडापूपादिषु रसजीवा । तेषामादौने ॥

मूलारा—संसिज्जति संमूर्च्छन्ति । वस्त्रशय्यादयो यूकामत्कुणादिसिः धान्यानि कीटकादिभिः । गुडापूपादीनि च रसजप्राणिभिः ॥

अर्थ—ओढनेके वस्त्र प्राक्णादिक परिग्रहोंमें नाना प्रकारके सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते हैं, जंतू, चिंटी, मत्कुण वगैरह आगतुक प्राणी भी आकर परिग्रहोंमें ठहरते हैं, धान्यमें कीड़े उत्पन्न होते हैं, गुहके वनाये अप्पादिक खाद्य पदार्थोंमें रससे सूक्ष्म जंतु उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार परिग्रह जंतुओंका उत्पत्ति स्थान होता है.

आदाणे गिक्खवे सरेमणे चावि तेसि गंथाणं ॥

उक्कस्सणे वेक्ककसणे फालणपफोडणे चेव ॥ ११५९ ॥

विजयोदया—आदाने, निक्षेपे, संस्करणे, वद्विर्नयेने, वधने, मोचने, तेषां ग्रंथाना पाटने विधूने च ॥

मूलारा—सरेमणे संस्करणे । उक्कस्सणे वद्विर्नयेने । वेक्कसणे वधमोचने । फालणे पाटने पफोडणेऽवधूने ॥

अर्थ—पदार्थ ग्रहण करना, जमीन पर रखना, उसको सोधना, बाहर लेजाना, बांधना, खोलना, फोड़ना, शटकना इत्यादि क्रिया करते समय प्राणिओंको बाधा पोहोचती है.

छेदणबंधणवेढणआदावणधोव्वणादिकिरियासु ॥

संघट्टणपरिदावणहणणादी होदि जीवाणं ॥ ११६० ॥

बंधने छोटने छेदने भेदने पाटने धूने चालने शोपणे ॥

वेष्टने क्षालने स्वीकृतौ क्षेपणेऽर्थस्य पीडा परा जायते देहिनाम् ॥ ११६१ ॥

विजयोदया—छेदने, बंधने, वेष्टने, शोपणे प्रक्षालने च । सम्मदंते परितापनहनानदिक भवति जीवानां ॥

मूलारा—आदावण शोपणे । धोव्वणादि प्रक्षालनकयविकयादिक । संघट्टण सम्महने । परिदावण पीडने जडावण मारणं ॥

अर्थ—छेदन करना, बांधना, वेष्टन करना, सुखाना, धोना, इत्यादिक कार्य करते समय जविकों मर्दन संतापन और घात उत्पन्न होता है.

जदि वि विर्विचदि जंतू दोसा ते चेव हुंति से लग्गा ॥

होदि य विर्विचणे वि हु तज्जोणिविओजणा णियय ॥ ११६१ ॥

तेभ्यो निरसने तेषां ध्रुवा योनिवियोजना ॥

दोषा मर्दनसंघट्टवितापमरणादयः ॥ ११६२ ॥

विजयोदया—जदि वि विर्विचदि यद्यपि निराक्रियते जीवास्त एव संघट्टादयो दोषा भवति । भवति च पृथक्करणे तेषां तद्योनिवियोजना निश्चयेन ।

मूलारा—जदिवि यद्यपि । त्रिकिंचटि स्फोटयति । ते चेष सघटनादयः । से संप्रथस्य यतेः । लग्गा अनुपक्ताः । तज्जोणिबिजोयणा तेषा जन्तूनामुत्तिस्थानविगोणः ॥

अर्थ—यद्यपि जीवोको अलग करने पर भी संघर्षणादिक दोष परिग्रहवानके होत ही हैं जब जीवोको पृथक् किया जाता है तब उनको अपने उत्पत्तिस्थानका विगोण होता है

पथमचित्तपरिग्रहगतदोषमभिधाय सचित्तपरिग्रहदोषमाचष्टे—

सच्चित्ता पुण गंथा वर्धति जीवे सयं च दुक्खंति ॥

पाव च तण्णिमित्तं परिगिण्हंतस्स से होई ॥ ११६२ ॥

सचित्ता अंगिनो घ्नन्ति स्वयं संसक्तमानसाः ॥

अहीतुर्जायते पापं तान्निमित्तमसंशयम् ॥ १२०० ॥

विजयोपया—सचित्ता पुण गथा नयति जीवे परिग्रहा दासीदासगोमहिषादयो भवति । जीवात्मन्य च दु खिता भवति । कर्मणि नियुज्यमाना कृष्यादिके पाप च स्वपरिग्रहीनजीवकृतामथमनिमित्त तस्य भवति ॥

पथमचित्तप्रथगतान्दोषान्प्रकाश्य सचित्तप्रथगतान्दोषानाह—

मूलारा—दुक्खसति कुल्यादिकर्मणि नियुज्यमाना दु खिता भवन्ति । तण्णिमित्तं परिग्रहीतजीवकृतासंयमत-

दुःखोत्पादनहेतुक ।

अर्थ—जो सचित्त परिग्रह है अर्थात् दास दासी, गो गहिप वगैर सजीव परिग्रह हैं वे जीवोका घात करते हैं और खेती वगैरह कर्मोंमें नियुक्त करनेपर दुःखी होते हैं जिनका परिग्रहवाने स्वीकार किया है ऐसे दास दा-  
स्यादिक अमंथमरूप प्रवृत्तिकर जो पाप उत्पन्न करते हैं उसका संघर्ष परिग्रहवानके साथ होता है, अर्थात् स्वामी की प्रेरणासे वे असयमरूप कार्य करनेमें खासी पापमें बद्ध होता है

इदियमय सरीर गंथं गेण्हटि य देहसुक्खत्थ ॥

इंदियसुहाभिलासो गंथगहणेण तो सिद्धो ॥ ११६३ ॥

देहस्याक्षमयत्वेन देहसौख्याय गृण्हतः ॥

अक्षसौख्याभिलाषोऽस्ति सकलस्य परिग्रहः ॥ १२०१ ॥

विजयोदया—इन्द्रियसुखाभिलाष कर्मबंधनिमित्तो मुमुक्षुणा त्वात्यः । स परिग्रहग्रहणे वलादापततीति व्याचष्टे—इन्द्रियमयं शरीरं स्पर्शनादिपंचेन्द्रियाधारत्वात् । परिग्रहं च चेलप्रावरणादिकं इन्द्रियसुखाश्रेयमेव गृण्हति । वातातपाद्य-नभिमतस्पर्शनिषेधाय आत्मशरीरे वलालाकारादिभिरलकृते पराभिलाषमुत्पाद्य तदगासंगजनितप्रीत्यर्थितया अभिमत-मापादयति । सेवनाद्यर्थं च तत् इन्द्रियसुखाभिलाषो ग्रथं गृह्यत सिध्यति । स्वाध्यायध्यानाल्ययोस्तपसो विघ्नकारी परिग्रहस्तदुभय चातरेण न सवरनिर्जरे ॥

इन्द्रियसुखाभिलाष कर्मबंधननिवधनत्वान्युमुक्षुभिस्त्याज्य एव । स च परिग्रहग्रहणेन वलात्सिध्यति इति व्याचष्टे—

मूलारा—इन्द्रियमयं स्पर्शनादीन्द्रियाधारत्वात् । गंथं चेलप्रावरणादिकान् । देहसौक्यत्वं वातातपाद्यनिषेधा-दिना शरीरस्य स्वास्थ्यसुखादायितुं सिद्धो निश्चितः ॥

अर्थ—इन्द्रियसुखोंमें अभिलाषा करनेसे कर्मबंध होता है अतः मुमुक्षु इन्द्रियसुखी अभिलाषा नहीं करते हैं, जिन्होंने परिग्रहोंका स्वीकार किया है उनको नियमसे कर्मबंध होता है, इस विषयका स्पष्टीकरण—शरीर पंचेन्द्रियोंका आधार है अतः उसको इन्द्रियमय कहते हैं जीव स्पर्शनादि इन्द्रियसुखके लिए वस्त्रादिपरिग्रहका स्वीकार करता है हवा, धूप वगैरहका अनिष्ट स्पर्श शरीरको न होवे इस हेतुसे वस्त्रादिकोंका जीव स्वीकार करता है, जब जीव अपना शरीर वस्त्रादिकोंमें अलंकृत करता है तब अपनेमें दूसरोंकी अभिलाषा उत्पन्न करके उसके शरीरके सहवासकी प्रीति उत्पन्न करके अपना इष्ट साध्य करता है दूसरेके शरीरसुखकी प्राप्ति करनेके लिए अपने शरीरको अलंकारादिमें सजाता है अतः ग्रंथ—पस्त्रिह धारण करनेका मूल कारण इन्द्रियसुखकी अभिलाषा है यह सिद्ध होता है इस परिग्रहसे स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्धि होती नहीं स्वाध्याय और ध्यान के बिना कर्मके संवर और निर्जराके अभावमें संपूर्ण कर्मोंका नाश कैसा होगा ?

तयोऽस्मावे कुतो निरवशेषकर्मपायो भवतीति कथयति—

गंथस्स गहणरक्खणसारवणाणि णियदं करेमाणो ॥

विविखत्तमणो उज्झाणं उवेदि कह मुक्कसज्झाओ ॥ ११६४ ॥

रक्षणस्थापनादीनि कुर्याणोऽर्थस्य सर्वदा ॥

निरस्ताध्ययनो ध्यानं व्याक्षिप्तः कुरुते कथम् ॥ १२०२ ॥

विजयोदया—गथस्स गहणरभगण परिग्रहादान, तद्रक्षणं, तत्संस्क्रानं च नित्यं कुर्वन् । व्याक्षिप्तचित्तं कथं शुभध्यानं कुर्यात् विमुक्तस्वाध्यायः । पतदुक्त भवति—व्याक्षिप्तचित्तस्य न स्वाध्याय असति तस्मिन्वस्तुयाथात्म्याविबुधः ध्येयैरुनिष्ठ ध्यानं कथमिव वर्तते ॥

परिग्रहात्स्वाध्यायध्यानविभातस्ततश्च सवरतिर्जराविरहाख्यो मोक्षो भवेदित्युक्तमस्ति—  
मूलारा—प्रतिस्मृतमणो व्याकुलचित्तं । मुक्तमज्ज्ञाओ लक्ष्यश्रुतभाननाक । ग्रंथग्रहणादिना चित्तस्य विक्षेपे सति स्वाध्यायासमवात् । वस्तुयाथात्म्यमजानतः कथमिव ध्येयैरुनिष्ठ ध्यानमुपतिष्ठत इति भावः ॥

यही अभिप्राय आगेकी गाथामें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—परिग्रहका स्वीकार करना, रक्षण करना, उनमें संस्कार करना इसी कार्यमें जिसका चित्त लगा है ऐसे मनुष्यकी धर्मध्यानमें प्रवृत्ति नहीं होती है इस परिग्रहके जालमें पड़े हुए मनुष्य स्वाध्याय भी नहीं कर सकते हैं चित्तकी एकाग्रता होनेपर स्वाध्याय सिद्ध होता है. परंतु चित्तका लय परिग्रह में ही होनेसे स्वाध्यायसे मनुष्य विमुक्त होता है स्वाध्यायमें वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप जब मालूम होता है तब चित्तकी एकाग्रतासे धर्म ध्यानकी सिद्धि होती है स्वाध्यायविमुख और परिग्रहासक्त लोकोंको यथार्थ वस्तुस्वरूप मालूम न पड़नेसे शुभ ध्यानकी सिद्धि होती नहीं है

परभवव्याप्य दोषं परिग्रहमुपायातमुपदर्शयति—

गंथेसु घडिदहिदओ होइ दरिदो भवेसु बहुगेसु ॥

होदि कुणतो निच्चं कम्मं आहारहेदुम्मि ॥ ११६५ ॥

अर्थप्रसक्तचित्तोऽस्ति निःस्वो बहुयु जन्मसु ॥

ग्रासार्थमपि कर्माणि निन्दानि कुरुते सदा ॥ १२०३ ॥

विजयोदया—गथेसु घडिदहिदओ ग्रथासक्तचित्तं बहुसु भवेसु दरिद्रो भवति । आहारमात्रमुद्दिश्य नीचकर्मकारी भविष्यति । शिविकोदहन, उपानक्षेवन, पुरीषमूत्राद्यपनयन इत्यादिक नीचं कर्म ॥



संगव्यासंगमुखोपस्थितं भवान्तरप्राप्य दोषमाल्याति—

मूलारा—धडिदहिदयो आसक्तचित्तः । गीचं कम्म शिविकोद्वहनादिकं कुर्वन्वर्ततेऽपि । आहारहेतु आहारमात्र-  
मुद्दिश्य ॥

परिग्रहसे उत्पन्न हुआ दोष अनेक भवमें जीवके साथ रहकर दुःख उत्पन्न करता है इस अभिप्रायका  
वर्णन—

अर्थ—जिसका मन परिग्रहासक्त हुआ है ऐसा मनुष्य अनेक भवोंमें दरिद्री होता है. आहारकी अभिलाषा  
करके वह नीच कार्य करनेके लिए भी उतार होता है अर्थात् पालखी उठाकर अन्य स्थानमें ले जाना, श्रीमान  
पुरुषोंके जूते उठाना, विद्या, मृत वगैरह अपवित्र पदार्थ निकालना इत्यादिक नीच कार्य करता है

विविहाओ जायणाओ पावदि परभवगदो वि घणहेतुं ॥

लुद्धो पंपागहिदो हाहाभूदो किलिस्सदि य ॥ ११६६ ॥

लभते यातनाञ्चिन्ना ग्रंथहेतून्भवान्तरे ॥

संक्लिश्यत्याशया ग्रस्तो हाहाभूतोऽर्थलुब्धधीः ॥ १२०४ ॥

विजयोदया—विविहाओ जायणाओ पाउणदि विविधा यातना प्राप्स्यति । परभवगतोपि धननिमित्त लुब्ध-  
आशया प्रकृष्टया गृहीतो ह्य मम क्लेशशत कुर्वतोपि मम धन न भवति, जातं वा नयमिति कृतहाहाकार क्लिश्यति ।

मूलारा—हाहा—मम क्लेशशत कुर्वतोऽपि धनं न सप्यते । सपन्न वा विनश्यति इति कृतहाहाकार ॥

अर्थ—परिग्रहासक्त मनुष्य अन्य जन्ममें भी धनके लिए अनेक आपत्तिओंको प्राप्त होता है उसकी  
आशा अत्यंत बढ़ती ही जाती है. सेकड़ो प्रयत्न करने पर भी भरे धनकी वृद्धि होती नहीं अथवा धनकी वृद्धि  
होकर भी वह नष्ट होता है ऐसे विचार कर वह महान् दुःखी होता है.

एदेसिं दोसाणं मुंचइ गंथजहणेण सन्वेसिं ॥

तच्चिवरीया य गुणा लभदि य गंथस्स जहणेण ॥ ११६७ ॥

अमीभिरखिलैर्वैषैर्ग्रन्थत्यागी विमुच्यते ॥

भूरिभिस्तद्विपक्षैश्च निलयीक्रियते गुणैः ॥ १२०५ ॥

विजयोदया—येसि दोसाण मुंचर पूर्वोक्तान्प्रग्रहणगतान्दोषान्दोषास्यजेदिति दोषप्रतिपक्षभूतान्गुणानपि लभते ॥

ग्रन्थत्यागिनो दोषविच्छेदं गुणप्रतिलभं चोपदिशति—

मूलार—मुंचरि पूर्वोक्तान्दोषास्यजति । द्वितीयार्थेऽत्र पद्यी ॥

अर्थ—परिग्रहका त्याग करनेसे पूर्वोक्त सर्व दोषोंका त्याग हो जाता है. और इन दोषोंके प्रतिपक्षी औदार्य, निरुद्धता वगैरह गुणोंकी प्राप्ति होती है

गन्धन्वाओ इंदियणिवारणे अंकुसो व हत्थिरस्स ॥

णयरस्स खाइया वि य इंदियगुत्ती असंगत्तं ॥ ११६८ ॥

अंकुशो गतसंगत्त्वं विषयेभनिवारणम् ॥

इंद्रियाणां परा गुप्तिः पुरीणाभिब स्वातिका ॥ १२०६ ॥

विजयोदया—गयद्याओ ग्रन्थत्यागः इंदियनिवारणे इत्ययमिंद्रियशब्द उपगोर्गोद्वयविषय सप्तमी च निमित्तलक्षणा । तेनायमर्थ—इंद्रियज्ञानस्य रागद्वेषमूलस्य निवारणे निमित्तभूतोऽंकुश इय हस्तिनो निवारणे उत्पद्यमानात् । नगरस्स खाविगा वि य नगरस्य स्वातिका इव । असंगत्त निष्परिग्रहता । इंदियगुत्ती इंदियगुप्तिर्इंद्रियरक्षा रागोत्पत्ति-निमित्तैर्इंद्रियज्ञानरक्षा ॥

नैर्ग्रन्थस्येन्द्रियजयोपायत्वमाह—

मूलार—इंदियणिवारणे इंदियज्ञानस्य रागद्वेषमूलस्य निरोधने निमित्तभूतः । मत्स्या निमित्तार्थे विधानात् ।

अंकुसो व उत्पन्नगमननिवारणे इति शेषः । खादिगा वि य स्वातिका यथा निवारणोपायः । इंदियगुप्ति रागद्वेषोत्पत्ति-निमित्तैर्इंद्रियज्ञाननिवारणोपायः ॥

अर्थ—जैसे कुमारीमें प्रवृत्त हुए हाथीको अंकुश निवारण कर योग्य मार्गपर लाता है. खंदक अर्थात् खाईसे जैसे नगरका रक्षण होता है वैसे परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष जिसके मूल कारण हैं ऐसे इंद्रिय ज्ञानकी

निवृत्ति होती है अर्थात् परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष नष्ट होते हैं; जिससे इन्द्रियां अयोग्य कार्यमें प्रवृत्त होती नहीं।

मूलाराधना

११५८

सम्पबहुलस्मि रण्णे अमंतविज्जोसहो जहा पुरिसो ॥

होइ दढमप्पमत्तो तह णिगंथो वि विसएस्सु ॥ ११६९ ॥

विषयेभ्यो दुरंतेभ्यस्त्रस्यति ग्रंथवर्जितः ॥

अल्पमंत्रौषधो मर्त्यः सर्पेभ्य इव सर्वदा ॥ १२०७ ॥

विजयोदया—सम्पबहुलस्मि सर्पबहुले रण्णे अरण्ये । अमंतविज्जोसहो मंत्रेण, विद्याया औपधेन च रहित पुमान् । दढमप्पमत्तो होदि नितरां अप्रमत्तो भवति । तथा निर्ग्रन्थोऽपि क्षायिरुश्रद्धानेकवलज्ञानयथाख्यातचारित्रमंत्र-विद्यौपधिरहितो विषयारण्ये रागादिसर्पबहुले सावधानोऽपि भवेत् ॥

निःसगत्वस्याप्रमत्तताहेतुत्वमाह —

मूलारा—रण्णे अरण्ये । विसएस्सु इन्द्रियार्थेषु रागद्वेषलक्ष्णप्रमादरहितः । बाह्यद्रव्य हि मनसा स्वीकृतं राग-द्वेषप्रवृत्ति करिष्यतो मोहनीयकर्मणः सहकारिकारणमिति तत्त्यागे सा न स्यात् । तदभावे च नापूर्वकर्मबंध इति नैर्ग्रन्थ-मेव प्रथमो मोक्षोपाय इति भावः ॥

अर्थ—जिसको सर्पविष दूर करनेकी विद्या, मंत्र और औषधिका ज्ञान नहीं है ऐसा मनुष्य जिसमें सर्पों-का बहुत प्रचार है ऐसे अरण्यमें कारणवश प्राप्त होनेपर बहुत सावधान रहकर सर्पोंसे अपना बचाव करता है, वैसे क्षायिक सम्भगदर्शन, केवलज्ञान, यथाख्यातचारित्र, एतत्स्वरूपी मंत्र, विद्या और औपधिरहित निग्रंथ मुनि रागद्वेषादि सर्पोंसे भरे हुए पंचेन्द्रिय विषयरूपी अरण्यमें सावधान रहते हैं अभिप्राय यह है कि, परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष नष्ट होते हैं और विषयाभिलाषाका अभाव होता है

रागो हवे मणुण्णे विसए दोसो य होइ अमणुण्णे ॥

गंथच्चाएण पुणो रागहोमा हवे चत्ता ॥ ११७० ॥

रागो मनोहरं ग्रंथे द्वेषश्चास्त्यमनोहरे ॥

रागद्वेषपरित्यागो ग्रन्थयोगे प्रजायते ॥ १२०८ ॥

विजयोदया—रागद्वेषयो कर्मणा मूलयोर्निमित्त परिग्रह, परिग्रहस्यो रागद्वेषौ एव त्यक्तौ भवतः । चाहाद्वयं मनसा स्वीकृत रागद्वेषयोर्विज, तस्मिन्मन्ति सहकारिकारणे न च कर्ममात्राद्रागद्वेषवृत्तिर्यथा सत्यपि मृत्पिण्डे दृढाद्यनंतरकारणवैकल्ये न घटोत्पत्तिर्येति मन्यते ॥

एतदेवाह—

मूलारा—मणुणे इष्टे मनसा स्वीकृते मनि ॥

अर्थ—दृष्ट विषयो रागभाव उत्पन्न होता है और अनिष्ट विषयो द्वेष उत्पन्न होता है, परंतु परिग्रह का त्याग करनेसे राग और द्वेष दोनों भी नष्ट होते हैं रागद्वेष क्रमबंध होनेमें मूल कारण है रागद्वेषमे ही कर्मबंध होता है परंतु परिग्रह का त्याग करता है तब रागद्वेष उत्पन्न होते हैं यदि सहकारिकारण न होना तो केवल अर्थात् बाह्य परिग्रह का स्वीकार करता है तब रागद्वेष उत्पन्न होते हैं तब यदि दृढादिक कारण नहीं होगा कर्ममात्र से रागद्वेष उत्पन्न होते नहीं बल्कि मृत्पिण्डमे घट उत्पन्न होता है तथापि दृढादिक कारण नहीं होगा तो घटकी उत्पत्ति नहीं होती है.

कर्मणां निर्जरणोपध परीग्रहसहन । तथा चोक्त पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थे परिपोढव्या. परीग्रहा सोढा भवन्ति ग्रन्थेचलमावरणादिक त्यजेतेति व्याचष्टे—

सीदुण्डहंसमस्यादियाण दिण्णो परीसहाण उरो

सीदादिणिवारणए गंधे णिययं जहेतेण । ११७१ ॥

शीतादयोऽग्विलाः सम्यग्विषयंते परीषहा ॥

शीतादिवारक संगं योगिना त्यजता सदा ॥ १२०९ ॥

विजयोदया—सीदुण्डहंसमस्यादियाण ननु च दुःखोपनिपाते संश्लेशरहितता परीग्रहजय । न तु शीतो ण्यादयो नहि ते आत्मपरिणामा. अनात्मपरिणामाश्च चक्षुषवरनिर्जरादीनामुपायो न भवन्ति । योऽनात्मपरिणामो नासौ निर्जराहेतु यथा पुद्गलगतरूपादय । अनात्मपरिणामाश्च शीतादय. क्षुत्पिपासादयो दुःखहेतव । ननु दुःखं तत्

किमुच्यते क्षुत्पिपासादयः परीपता इति चेत् योगः । श्रुतद्विजन्त्यद्गमपिपत्यन्तु श्रुतद्विगताना । तेन क्षुत्पिपासादीनीषण दशमशकनाभ्यादीना परीपहवाचो युक्तिर्न विरुध्यते । मीरुणदन्मसरादिषण शीतोष्णदन्मसरादीना । पविन्नकण उग्रो दिग्धणा परीपहणा उग्रो दन्तः । इन्म मीशदिगिपारणनं शीतोर्दना निमग्नान् । नरे पिपयः जन्मेन प्रशस्तिपत त्यजता ॥ चेलालिग्रन्थ सज्जना दुःकृतचिन्तणोपाय परीपहमन्त्रं कौं रागिनाह—

मृदागः—परीसहाण शीताज्जिज्जन्तुनाता । उग्रो मन्त्रः । शीताज्जिज्जन्तु मन्त्रे नि मन्त्रेण मनः एतन्निन्दये । निवारण निवारकान् ॥

परिपह महन करनेमें कर्म की निर्जग होतो है । धूर्तमनं जीमनें जो प्रमेनचर किया है उग्रको निर्जरा करनेकेलिए परिपह महन करना चाहिए । ऐसा आगममें कहा है गय रा अर्थान् मन्त्राभ्यादिकोंका त्याग करने वाले मुनि परिपह महन करते हैं इयका विमंचन—

अर्थ—दुःख आनेपर भी मंहेअ परिणाम न होना ही परिपह जय है, परंतु शीत, उष्ण, भूत्व, प्याम वंगरहको परीपह जय नहीं कहते हैं क्योंकि ये आत्मपरिणाम नहीं हैं, ये वय, मंत्र, निर्जरा और मोक्षके उपाय होते नहीं जो जो आत्मपरिणाम नहीं हैं वे निर्जगके हेतु नहीं हैं जैसे पुद्गलके रूपादिक गुण, नीत उष्णता वंगरह आत्मामें परिणाम नहीं, क्षुधा, प्याम वंगरहभी आत्मामें परिणाम नहीं हैं वे मन दुःखके कारण हैं वे स्वयं दुःख नहीं हैं इसवास्ते उनको परिपह कहना योग्य नहीं है

उत्तर—आपका कहना योग्य है क्षुदादिकोंमें उत्पन्न होनेवाला दुःख क्षुदादिशब्दोंका विषय है इस वास्ते क्षुधा, पिपासा शीत, उष्ण, दंशमशक, नागन्य इत्यादिकोंको परीपह कहना अनुचित नहीं है इस गाथाका अभिप्राय यह है कि, शीत उष्ण इत्यादिकोंको भित्तिनं चाला वखादि परिग्रह जिसने नि- यममें छोड़ दिया है उसने शीत, उष्ण, दंशमशक वंगरह परीपहोंको छाती आगे करके शूर पुरुषके ममान जीत लिया है ऐसा समझना चाहिये

देहे आदरः सर्वस्य हिसादे संग्रमस्य मूलं पस्त्वित्तो भजति परिग्रह त्यजेत्त्याचष्टे—

जम्हा णिमंगथो सो वाढादवसीदंसमसयाणं ॥

सहदि य विविधा वाधा तेण सदेहे अणादरदा ॥ ११७२ ॥

शीतवातातपादीनि कष्टानि सहते यत् ॥  
क्रियतेऽनादरी देहे निःसंगेन ततः परं ॥ १२१० ॥

विजयोदया—जम्हा यस्मात् । निगद्यो सो निष्परिग्रहोऽसौ । वातादवशीतदशमशकानां विविध दुःख । सद्यदि विपद्यति सहते । तेन सहनेन । शरीरे अकृतादरश्च जहात्यशेषं हिंसादिकं, तपसि च स्वशक्त्यनिगूहनेन प्रयतेते ॥

हिंसादिसकलासंयममूलं शरीरादरं संगं त्यजता त्यक्तं स्यादित्याह—

मूलारा—सप्तमं ॥

जिसने परिग्रहोंका त्याग किया है उसने देहका ममत्वही छोड़ दिया है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि देहममत्व ही सर्व हिंसादिक असंयमका मूल कारण है इस विषयका विवेचन—

अर्थ—यह परिग्रहत्यागी वात, धूप, शीत, दशमशक्रादिपरिपहोसे होनेवाले विविध दुःख सहता है इसलिये यह परिग्रहोंमें अनादरवान् है यह बात निर्णीत होती है. जब शरीरसे ममत्वभाव दूर होता है तब हिंसादिक सर्व पापोंका त्याग होता है और तपश्चरणमें अपनी शक्तिके अनुसार प्रवृत्ति होती है.

संगपरिमगणादी निस्संगे नित्यि सन्वविकलेवा ॥

उज्जाणज्झेणाणि तओ तस्स अविग्गेण वच्चंति ॥ ११७३ ॥

व्याक्षेपोऽस्ति यतस्तस्य न ग्रंथान्वेषणादिषु ॥

ध्यानाध्ययनयोर्विभो निःसगस्य ततोऽस्ति नो ॥ १२११ ॥

विजयोदया—संगपरिमगणादी परिग्रहान्वेषणादि परिग्रहस्य साभिलषितस्य अस्तित्वगवेयणे क्लेशनमस्तीति । तथा तत्त्वामिना कोऽस्य स्वामी ? त्वं च न कासौ अवतिष्ठते इति पुनर्योश्चा ? लाभे सतोपो, अलम् दीनमनस्कता, तदानयन तत्संस्करणं, तद्रक्षणं इत्यादिकं आदिशब्देन गृह्यते । नि सगे संगराहिते नित्यि सन्वविकलेवा । न सति सर्वे व्याक्षेपा । उज्जाणज्झेणाणि ध्यातं अध्ययनं च । तदो व्याक्षेपाभावात् चेतसि । तस्स अपरिग्रहस्य । अविग्गेण वच्चंति विममंतेरेण वञ्चते । सर्वेषु तपस्सु प्रधानयोर्ध्यातव्याययोरुपायो अपरिग्रहता इत्याख्यातमनया गाथया ॥

सर्वतपसामुत्तमयोः स्वाध्यायध्यानयोर्निःसंग्यहेतुकत्वे युक्तिमाह—

मूलारा—सगपरिमगणादी परिग्रहान्वेषणमादिशब्देन च तत्स्वाभावोद्यतत्त्वानावस्थानगोपणतत्त्वार्थनतल्लभपरितोपतद्वलाभैर्न्यतदानयनसस्करणरक्षणदीनि । विकलेवा व्याख्येपाश्चित्तव्यासगाः । अविवेकेण वञ्चति निरंतराय प्रवर्तते ॥

अर्थ—जो परिग्रहोंसे विरक्त हुआ है- उसको परिग्रहोंको ढूढनेकी चिन्ता नहीं रहती है जिस परिग्रहको लोक चाहते हैं उसको ढूढनेका प्रयत्न करते हैं किसके पास मेरी अभिलषित वस्तु मिलेगी ? क्या तेरे पास मेरी इष्ट वस्तु है ? ऐसा प्रश्न करते हैं- उम वस्तुका स्वामी कहां रहता है ? इसकी खोज वे करते हैं उसके पास जाकर याचना करते हैं इष्ट वस्तु मिलने पर मन आनंदित होता है परंतु नहीं मिलनेपर दीनता उत्पन्न होती है, अमीष्ट चीजको लाकर उसको सुंदर बनाकर रक्षण करते हैं- परंतु जो निष्परिग्रही हुए हैं ऐसे मनुष्य इन सर्व वस्तुओंसे दूर होकर सुखी होते हैं- निष्परिग्रही मनुष्यों का मन अव्याकुल रहता है जिससे उनके ध्यानाध्ययन कार्य निर्विघ्न सिद्ध होते हैं सर्व तपोंमें ध्यान स्वाध्याय ये प्रधान हैं- यह निष्परिग्रहता उनकी प्राप्ति का उपाय है ऐसा अभिप्राय इस गाथासे व्यक्त होता है

गन्धच्चाएण पुणो भावविसुद्धी वि दीविदा होइ ॥

ण हु संगघडिदबुद्धी संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी ॥ ११७४ ॥

दर्शितास्ति मनःशुद्धिः संगत्यागेन तात्त्विकी ॥

सगासक्तमना जातु सगत्यागं करोति किम् ॥ १११२ ॥

विजयोदया—संगच्चाएण पुणो सगत्यागेन पुन । भावविसुद्धी वि दीविदा होदि परिणामस्य विशुद्धिर्दीपिता वक्षिता भवति । ण हु संगघडिदबुद्धी नैव परिग्रहघटितबुद्धि । संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी परिग्रहांस्त्वमनुं करोति बुद्धि ॥  
भावविसुद्धेरपि नैःसंग्यं लिङ्गमित्याह—

मूलारा—दीविदा दर्शिता ॥

अर्थ—परिग्रहोंका त्याग करनेसे परिणाम निर्मल होते हैं और प्रतिदिन परिणामोंकी निर्मलता बढ़ती ही रहती है परिग्रहोंमें जिसका मन लुब्ध हुआ है वह मनुष्य परिग्रहोंका त्याग करनेमें असमर्थ हो जाता है-

या च प्रकांता सहेखना कषायविषया सा च परिग्रहत्यागमूलेति कथयति—

निस्संगो चेव सदा कसायसहेहणं कुणादि भिक्खू ॥

संगा हु उदीरंति कसाए अग्गीव कट्ठाणि ॥ ११७५ ॥

निःसंगे जायते व्यक्तं कषायाणां तनूकृतिः ॥

कषायो दीप्यते संगैरिंधनैरिव पावकः ॥ १२१३ ॥

विजयोदया—निस्संगो चेव निष्परिग्रहश्चैव सदा कषायपरिणामांस्तनुकरोति न सपरिग्रहः । कथं इति तदाचष्टे—संगा खु उदीरंति परिग्रहा उदीरयन्ति । कसाए कषायान् । अग्गीव अग्निरिव कट्ठाणि काष्ठानि ॥

किं च प्रकृतकषायसहेखनापि सगत्यागमूला वेत्यनुशस्ति—

मूलारा—उदीरंति उद्धावयति । अग्गीव अग्निं यथा ॥

परिग्रहका त्याग करनेसे ही यदि कषायसहेखना कर सकते हैं

अर्थ—जो परिग्रहका त्यागो है वही अपने कषाय परिणाम क्षीण कर सकता है परिग्रहवान् के कषाय कभी क्षीण होते ही नहीं, जैसे इन्धनोंकी प्राप्ति होनेसे अग्नि बढ़ेगी ही कभी वह उपशान्त न होगी वैसे परिग्रहोंसे कषाय उत्पन्न होते हैं नष्ट होते नहीं

सव्वत्थ होइ लहुगो रुवं विस्सासियं हवदि तस्स ॥

गुरुगो हि संगमत्तो संकिज्जइ चावि सव्वत्थ ॥ ११७६ ॥

लघुः सर्वत्र निःसंगो रूपं विश्वासकारणम् ॥

गुरुः सर्वत्र संग्रथः शंकनीयश्च जायते ॥ १२१४ ॥

विश्रमगोदया—सव्वत्थ होइ सर्वत्र भवति । गमने आगमने च लघुगो लघु । रुवं वेसासिग रूपं विश्वासकारि न भयति । तस्स निगंशम् । यस्मिन्प्रायपरणादिकप्रच्छादितशस्त्रोऽस्माकमुपटव करोति धनं वा सेन चीवरादिना प्रच्छाद्य नयतीति दांका कुर्यान्ति परिग्रहं हृदया ।

निःसंगस्य लघुत्वविश्रमत्वे वक्ति—

मूलारा—मव्वत्थ गमनागमनादौ । लहुगो अमारिको भवति निःसंगः । वेसासियं विश्वायकारि ॥



अर्थ—जिसने परिग्रहोंका त्याग किया है वह सर्वत्र लघु होता है अर्थात् वितरहित होता है उसके स्वरूपको देखकरही लोग उसके ऊपर विश्वास करते हैं, परंतु जिसके पास वस्त्र ग्रावणादिक हैं उसके ऊपर लोक विश्वास नहीं करते हैं इसने अपने पास शस्त्र छिपाकर रक्खा होगा ऐसा समझते हैं तथा यह हमारा धन वस्त्रों छिपाकर ले जायगा ऐसी शंका उनके मनमें उत्पन्न होती, अभिप्राय यह है कि परिग्रह अविश्वासका कारण है,

सन्वत्थ अप्पवसिओ णिस्संगो णिव्भओ य सन्वत्थ ॥  
होदि य णिप्परियम्मो णिप्पडिकम्मो य सन्वत्थ ॥ ११७७ ॥  
प्रतिबंधप्रतीकारप्रतिकर्मभयादयः ॥

निर्ग्रथस्य न जायते दोषाः संसारहेतवः ॥ १२१५ ॥

विजयो—सन्वत्थ अप्पवसिगो सर्वत्र ओम, नगरे, अरण्ये च आत्मवशः । णिस्संगो निप्परिग्रह । सन्वत्थ य णिव्भओ सर्वत्र निर्भयश्च । होदि य णिप्पडिकम्मो भवति च निर्व्यापारः कृपादिक्रियाप्राप्त्यभरहित । णिप्पडिकम्मो य इदं पूर्वकृत इदं परत्रावशिष्ट कार्यमित्येतच्चास्य न विद्यते ॥

निःसंगस्य स्वातंत्र्यनिर्भयत्वानारभत्वनिश्चितत्वेगुणसंपत्तिमाह—

मूलारा—णिप्परियम्मो परिकर्मभ्यः कृपादिव्यापारेभ्यो निष्कृतः । णिप्पडियम्मो इदं पूर्वं कृतं, इदं इदानीं करोमीदं च पुरस्तात्करिष्यामि इत्येवमादिक आत्मनि चिंतासंस्कारोऽत्र प्रतिकर्म तस्मात्त्रिष्कान्तो निष्प्रतिकर्म । अन्ये तु णिप्पडियम्मो यतिः । णिप्पडियम्मो निर्व्यापार इति व्याख्याति ॥

अर्थ— निप्परिग्रही मनुष्य गांवमें, नगरमें, अरण्यमें, सर्व स्थानोंमें अपने स्वाधीनही रहता है, उसको कहाँ भी भय नहीं है उसको खेती, उद्योग, धदा करने की चिंता नहीं रहती है वह कार्य आज मैंने समाप्त किया है, अब यह अवशिष्ट कार्य कल या परसों करूंगा ऐसी चिंता उसको नहीं रहती है,

सुखार्थिनो महत्सुखं भवति सगपरित्यगेनेति चदति—  
भारकृतो पुरिसो भारं उरुहिय णिव्वुदो होइ ॥  
जह तह पयहिय गंथे णिस्संगो णिव्वुदो होइ ॥ ११७८ ॥

महाश्रमकरे भारे रभसाङ्गारवानिव ॥

निरस्ते सकले ग्रंथे निर्धृतो जायते यतिः ॥ १२१६ ॥

विजयोदया—भारकृतो पुरिसो भारकातः पुरुष । भारं ऊरुद्वय भारमवतार्य । गिबुदो होदि सुखी भवति । यथा तथा गिस्सगो गिबुदो होदि निष्परिग्रह सुखी भवति । गंय पयद्विग्रंथान्परित्यज्य । वाधाभावलक्षण हि सुखं सर्वमेव । तथाहि—अशनादिना भुधादावपगते जात स्वास्थ्यमेव सुखमिति लोको मन्यते ॥  
संगत्यागात्सुखित्वमाह—

मूलारा—ऊरुद्वय अवतार्य । गिबुदो सुखी । सर्वमपि हि सासारिकं सुख वाधाभावलक्षणमेव । भोजनादिना भुदावपनोवजाते स्वास्थ्ये लोकस्य सुखव्यवहारोपलभात् । पजद्विग्रंथान्परित्यज्य संग्रहिः सगः सन् ॥

जिसको सुखकी इच्छा है उसको परिग्रहका त्याग करनेसे महासुख प्राप्त होता है ऐसा आचार्य कहते हैं—  
अर्थ— जिसने अपने मस्तकपर बोझ धारण किया है उसको वह बोझा उतारनेपर सुख होता है वैसे ग्रंथका—परिग्रहका त्याग करनेसे मनुष्य सुखी होता है वाधाका अभाव होना ही सुख है जैसे अन्न खानेसे भूख मिटती है तब जो स्वास्थ्य प्राप्त होता है लोक उसकोही सुख कहते हैं.

यस्मादेवं परिग्रहग्रहेणऽतिग्रहो जन्मद्वयभाविनो वोपाश्च—

तस्मा सव्वे संगे अणागए वहुमाणए तीदे ॥

तं सव्वत्थ णिवारहि करणकारावणुणाहिं ॥ १२७९ ॥

भवन्तो भाविनो भूता ये भवन्ति परिग्रहाः ॥

जहाहि सर्वथा तांस्त्वं कृतकारित्तमोदितैः ॥ १२१७ ॥

विजयोदया—तस्मा तस्मात् । सव्वे संगे सर्वान्परिग्रहान् । अणागदे अनागतान् । वट्टमाणे तीदे वर्तमानानतीताश्च भवान् । सव्वत्थ णिवारहि सर्वथा निवारय । करणकारावणुणाहिं कृतकारिताभ्यामनुगोदतेन । कथं अतीतो भावी वा परिग्रहो वधकारणं येन निवार्यते? अयमभिप्रायः अतीतस्वस्वामिसर्ववऽपि वस्तुनि प्रमेदं वस्त्वासीदिति तदनुस्मरणानुरागादिना अशुभपरिणामेन बंधो भवतीति मा कथास्तदनुस्मरण अनुराग वा । एवं भविष्यति इत्येभूतं मम द्रव्णिणं इति ॥

यस्मादेवं परिग्रहग्रहेणऽतिग्रहो जन्मद्वयभाविनो दोषा भवेयुः—

मूलारः—अणागदे भविष्यतीत्यभूतं मम वाछितं वस्त्विति, भविष्यति वस्तुनि स्वस्वामिसंवधानुरागेणाशु-  
भपरिणामेन पापबंधो भवतीति भाविनो ग्रंथान्निवारय त्वमिति क्षपकं नियुक्ते । दीदे अतीतान् तत्तादृग्वस्तु ममासीदि-  
त्यतीतवस्तुन्यपि स्वस्वामिसंवधानुस्मरणानुरागादिरज्यशुभपरिणामः पापवधाय प्रभवतीत्यतीतपरिग्रहनिवारणनियोगः ।  
कारावगुण्णादि काराव कारापः कारापणं, अपुण्णा अनुज्ञा, अनुमतिः ॥

परिग्रहत्याग करनेसे सुख मिलता है और परिग्रह ग्रहण करनेसे इस भवमें और परभवमें दोष उत्पन्न होते हैं—

अर्थ— इसलिये हे क्षपक भविष्यकालीन, वर्तमानकाल संबंधी और भूतकाल संबंधी संपूर्ण परिग्रहोंका तू त्याग कर. तथा कृत, कारित और अनुमोदनासे इनका तू त्याग कर.

शंका— जो परिग्रह वीत चुका और जो आगे प्राप्त होनेवाला है वह वधका कारण कैसे हो सकता है ? इस वास्ते उसका निरवाण करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर— जो परिग्रह नष्ट हो चुकनेसे उसमेंसे स्वस्वामिसंवंध नष्ट हुआ है तो भी यह परिग्रह वस्तु मेरी थी ऐसा स्मरण होकर उसमें समत्व होता है. जिससे अशुभ परिणाम उत्पन्न होकर वध होता है. इसी प्रकार भविष्य-  
त्कालीन परिग्रहमें भी समत्व होता है. भविष्यत्कालमें मेरेको अशुभ चीज मिलेगी ऐसे सकल्प मनमें उत्पन्न होकर शुभाशुभ परिणामोंसे कर्मवध होता है इसलिये त्रिकालसंबंधी संपूर्ण परिग्रहोंका तू त्याग कर ऐसा क्षपकको आ-  
चार्य उपदेश करते हैं.

जावन्ति केहू संगी विराधया तिविहकालसंभूदा ॥

तेहिं तिविहेण विरदो विमुत्तसंगो जह सरीरं ॥ ११८० ॥

यावन्तः केचन ग्रंथाः संभवन्ति विराधकाः ॥

निर्वृत्तः सर्वथा तेभ्यः शरीरं मुंच निःस्पृहः ॥ १२१८ ॥

विजयोदया—जावति केर संग यावन्तः केचन परिग्रहाः । विराधया विनाशकाः । कस्य ? रत्नत्रयस्य ।

तिविधकालसंभूता कालत्रयप्रवृत्ता । तेहिं तिविधेण विरयो विमुक्तसंगो तेभ्यो मनोवाक्कायैर्विरतः सन् विमुक्तसंगः । जह सरीरं त्यज शरीर ।

अथा रत्नत्रयविनाशका इत्येतेषां त्रयत्रिरस्य निःसंगः संग्रगं त्यजेति अपक्रमादिशति—

मूलारा—विराघया रत्नत्रयविनाशकाः । जह त्यज त्व ॥

अर्थ—जो त्रिकालसंवन्धी परिग्रह रत्नत्रयके विनाशक हैं उनसे हे श्रपक तूं मन, वचन और कायसे विरक्त होकर अर्थात् निष्परिग्रह होकर इस शरीरका त्याग कर.

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चेव सव्वत्थ ॥

आसं तण्हं संगं छिद ममत्तिं च मुच्छं च ॥ ११८१ ॥

इत्थं कृतक्रियो युच विषयं सार्वकालिकम् ॥

तुज्जामाशां त्रिधा संगं ममत्वं त्यज सर्वदा ॥ ११९ ॥

विजयोक्त्या—एव कदकरणिज्जो एव कृतकरणीय । यत्कर्तव्यमाराधना चाछता आहारशरीरत्यागादिकं । स एवभूत । तिकाले वि कालत्रयेऽपि । तिविधेण त्रिविधेन । सव्वत्थ सर्वत्र सर्वविषया सुखसाधनगोचरा । आस आशा । तण्ह तुज्जा । संग परिग्रहभूता । छिद ममत्तिं ममेदमिति संकल्पं छिदि । मुच्छ मुच्छो मोहमिति यावत् ॥

इत्थं कृताराधनासिद्धधगभूतसंछेपनाहारशरीरत्यागादिकर्तव्यः सन्ननादिविभ्रमसंस्कारवशाद्विषयसुखेषु प्रादुर्भवदाशादिपचकं निर्मूलयेति शिक्षासर्वस्वमाह —

मूलारा—सव्वत्थ सर्वेषु मनोद्वेषर्शनादिविषयेषु । आस आशा । चिरमेते ईदृशा विषया ममोदितोदिता भूयासुरित्याशंसा । तण्हं तुज्जा । इमे मनागपि मत्तो मा विच्छिद्यंता इति तीव्र प्रवचप्रवृत्त्यभिलाष । संग तन्मयीभावं छिद छिदि त्वं । ममत्तिं ममेमे भोग्या अहमेया भोकेति संकल्पं । मुच्छ मुच्छो मूढता निश्चेतनतां । अन्ये पुनरित्यमर्थं कथयंति—सर्वत्र शरीरादावाशा । दृढतरं शरीरमद्यापि मे भविष्यतीत्यादिबुद्धि । तथा तुज्जा सर्वोपायेन रक्षणापेक्षा । तथा संगमासक्तिं । तथा ममता ममेदमिति प्रतिबंधं । तथा मुच्छोमत्रैव तिष्ठामीति आसक्तिवृद्धि । भोः क्षपकराज निवारयेति ॥

अर्थ—आराधना की सिद्धिके अंगभूत कर्तव्य जिसने किये है अर्थात् शरीरसंछेपना जिसने की है ऐसे

हे क्षपक धुने' तू तीनों कालमें मनवचन कायेसे सर्व परिग्रहोंकी आशा और तृष्णाका त्याग कर, मंग, ममत्व और मूर्च्छाका त्याग कर, चिरकालतक मेरेको सुख देनेवाले विषय उत्तरेतर अधिक प्रमाणसे मिले ऐसी इच्छा रखना उसको आशा कहते हैं तृष्णा—ये सुखदायक पदार्थ कभी भी मेरेसे अलग न होने ऐसी तीव्र अभिलाषाको तृष्णा कहते हैं, संग—परिग्रहोंमें अतिशय तन्मय होना, ममत्व-ये पदार्थ मेरे भोग्य हैं मैं इन का भोक्ता हूं ऐसा मनमें संकल्प करना, और मूर्च्छा अर्थात् मोहयुक्त चेतना हे क्षपक तू आशा, तृष्णा, संग, मूर्च्छा चगेरह अशुभ भावोंको छोड़ दे

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्य निर्विशुत्तराया—

सव्वगंथविमुक्तो सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ॥

जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवही वि तं लहइ ॥ ११८२ ॥

समस्तग्रथनिर्मुक्तः प्रसन्नो निर्वृताशयः ॥

यत्प्रीतिसुखमगमोति तत्कुतश्चक्रवर्तिनः ॥ १२२० ॥

विजयोद्या—सव्वगथविमुक्तो परित्यक्तदोषवाद्याभ्यन्तरग्रय । सीदीभूदो शीतीभूत । पसण्णचित्तो य प्रसन्नचित्त सन् । जं पावइ पीयिसुहं यत्प्रामोति प्रीत्यात्मक सुख । न चक्कवही वि त लमदि चक्रवर्त्यपि तत्र लभेत ॥ वाद्याभ्यन्तरपरिग्रहद्वारासमुद्भवं सुगतिशयमिह जन्मनि प्राप्यमुपदिशति—

मूलारा—सीदीभूदो ग्रथेष्वितिकर्तव्यताविताव्याकुलत्वात्मकसंतापनिवर्तनाच्छैत्यं प्राप्तः । पीयिसुहं आनन्द-लोकं सौरभम् ॥

परिग्रहका त्याग करनेसे जो सुखातिशय इस जन्ममें प्राप्त होता है उसका आगेकी गाथामें उल्लेख करते हैं—अर्थ—जिसने वाद्याभ्यन्तर परिग्रहोंका त्याग किया है वह शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह रहनेपर उसकी रक्षा करनेकी चिन्ता उत्पन्न होती, हे न्याकुलता बढ़नेपर मन सतप्त होता है परिग्रहका त्याग करनेसे संतापका नाश होता है, जिससे श्रुतिराज शीतावस्थाको प्राप्त होते हैं, उनका अन्तःकरण प्रसन्न होता है, अतः ऐसी अवस्थामें जो, सुख उनको प्राप्त होता है वैसा चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता है

रागविवागसतण्णाविगिद्धि अवतित्ति चक्कवट्टिसुहं ॥

णिस्संगणिव्वुइसुहस्स क्हं अगघट्ट अणंतभां पं पि ॥ ११८३ ॥

गृह्याकांक्षाकारणं सेवते यच्चक्री सौख्यं रागपाक वितृप्ति ॥

सौख्यस्येद नास्तसंगस्य तुल्यं स्वस्थोऽस्वस्थैः सौख्यमाप्नोति कुत्रा ॥ १२२१

दुःखानि नश्यन्ति शर्माणि पुष्यन्ति कर्माणि दृढयन्ति चित्राणि संगे ॥

दृढीते यतः संयतस्यापि हेयस्ततः सर्वदासौ पटिष्ठेन पुंसा ॥ १२२२ ॥

इति पंचमं ब्रतम् ॥

विजयोद्यथा—रागविवागसतण्णाविगिद्धि अवतित्ति चक्कवट्टिसुह । रागो विपाक फलमस्येति रागविपाकरूपं विषयसुखमासेव्यमानं रंजयति विषयेष्विति रागो विपाक फल सुखस्येत्युच्यते । सह तुणया वर्तते इति सतृणं, अनिशयेन गृह्ये काक्षा जनयति इति अतिगृद्धि । न विद्यते दृष्टिरस्मिन्नित्यविवृति यदेवभूतं चक्रवर्तिसुख । णिस्संगणि-व्वुदिसुखस्स नि.सगस्य यन्निवृत्तिसुख तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥

कुतश्चक्रिसुखं निःसगसुखादपकृष्यत इत्यारेका निराकरोति ॥

मूलारा—रागविवाग विषयसुरमासेव्यमान विषये पुरुषं रंजयतीति रागो विपाकःफलमस्येति रागविपाक चक्रिसुख । सतण्णा प्रागुक्तलक्षणतृणानुबधि । अविगिद्धी अतिशयेन गृद्धिराकाक्षा लाञ्छ्यमस्मिन्निति अतिगृद्धि । अवि-त्ति नास्ति विशेषेण पुनराकाक्षा निवृत्तिलक्षणेन दृष्टिः सौहृदय, पुनर्नानुबधि कदाचिदपीत्येवंविधपरिणतिरूपं यत्र तदविवृति । यत इत्यभूतं चक्रवर्तिसुखमत एतद्विलक्षणं निःसंगस्य यतेर्यन्निवृत्तौ सगत्यागे निर्द्वन्द्वताया सुखं मुक्तात्मनामे-व शर्म तस्य भागं निःसंगस्य अर्णवेत् प्राप्नुयात्तदिति संबंधः ॥ आर्किचन्यम् ॥

निष्पत्तिग्रहासे होनेवाले सुखसे चक्रवर्तीका सुख अल्प है यह बताते हैं—

अर्थ—विषयसुखका उपभोग लेने से वह इंदिय-विषयोंमें आसक्ति करता है. इस वास्ते चक्रवर्तीका सुख रागमाव को उत्पन्न करने वाला है यह तृणाको बढ़ाता है, इस सुखमें अतिशय लंपटताप्राप्ति होती है बार बार भोगनेपर भी दृष्टि उत्पन्न होती ही नहीं इसलिए परिग्रहका त्याग करनेपर रागद्वेषरहित यतीश्वरको जो सुख

प्राप्त होता है चक्रवर्तीका सुख उसके अनंत भागकी भी बरोबरी नहीं कर सकता है इस तरह पांचों महा व्रतोंका वर्णन हुआ

महाव्रतसंज्ञा अन्यथा अहिंसादीनामिति दर्शयति—  
पंचमहव्ययं ॥

सार्धेति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ॥

जं च महल्लाइं संयं महव्वदाइ हवे ताइं ॥ ११८४ ॥

साधयन्ति महर्थं यन्महद्भिः सेवितानि यत् ॥

महन्ति यत्स्वयं सन्तो महाव्रतान्यतो विदुः ॥ १२२३ ॥

विजयोद्या—सार्धेति जं महत्थं साधयति यस्मान्महाप्रयोजन असंयमनिमित्तप्रत्यग्रकर्मकंडं वक्रनिवारण महत्प्रयोजनं संपादयतीति महाव्रतानि । आयरिदाइ च जं महल्लेहिं यसादाचरितानि महद्भिः तस्मान्महाव्रतानि इति निबन्धिः । जं च यस्मान्महल्लानि स्वयं महति ततो महाव्रतानि स्थूलसूक्ष्मभेदसकलाहिंसादिरूपतया वा महान्ति ॥

एवमहिंसादीनि व्रतानि पंचाणि प्रपन्न्य साग्रत तद्भारात्रिभोजननिवृत्यादिलक्षणं गाथा पचोत्तरयतेन व्याचिख्यासुः प्रथमं तेषां महाव्रतसंज्ञायां अन्वर्थता समर्थयते—

मूलारः—मावेन्ति संपादयन्ति । महत्थं असंयमनिमित्तप्रत्यग्रकर्मकंडं वक्रनिवारणलक्षणं महाप्रयोजनं । महल्लेहिं तीर्थंकरादिभिः । महल्लानि स्थूलसूक्ष्मविकल्पसकलाहिंसादिविरतिरूपतया महानि विपुलानि । हवे भवंति । ताइं अहिंसादीनि हिंसादिविरतिरूपाणि शुद्धचिद्रूपाणि नो आगमभावव्रतापेक्षया चारित्र्यमोहस्य क्षयोपशमादुपमात्क्षयाद्वा प्रवृत्ता जीवस्य हिंसादिपरिणामव्यावृत्तयो यावज्जीवं न हिनस्मि, नातृत्वं वदामि, नादत्तमाददे, न भैशुन करोमि, न परिग्रहं शुद्धमीत्येवभूताः परिणतय इति यावत् ॥

अहिंसादिक व्रतों की महाव्रत संज्ञा अन्यर्थक है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ—अहिंसादिकों को महाव्रत संज्ञा अन्यर्थक है असंयममे उत्पन्न होनेवाले नवीन कर्मसमूह का निवारण करना यह महाकार्य इन अहिंसादिकों से होता है अतः इनको महाव्रत कहते हैं महापुरुषोंने इनका

आचरण किया था इस लिए भी इनको महाव्रत कहते हैं अथवा ये स्वयं महान् हैं अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके पंच पातकांका त्याग ही इनका स्वरूप है इसलिये भी इनको महाव्रत कहते हैं

तेसिं चैव व्रदाण रक्खणं रादिभोयणणियत्ती ॥

अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥ ११८५ ॥

रक्षणाय मता तेषां निवृत्ती रात्रिमुत्तिः ॥

राद्धान्तमातरश्चाष्टौ सर्वाश्चापि च भावनाः ॥ १२२४ ॥

विजयोदया—तेसिं चैव व्रदाण तेषामेवाहिंसादिव्रतानां । रक्खणं रक्षणार्थं । रादिभोयणणियत्ती रात्रि भोजनान्निवृत्तिः । रात्रौ यदि भिक्षार्थं पर्यटति त्रसान्ध्यावरणश्च इत्यादिदुरालोकत्वात् । न च दायकागमनमार्गं, तस्यान्ना-  
वस्थानदेश, आत्मनो वा उच्छिष्टस्य वा निपातदेश, दीयमान वाहार योग्य न वेति निरूपयितुमयं कथं समर्थं ? दिवापि  
दुःपरिहाराद्य जानाति स सूक्ष्मानयं कथं परिहरेत् कठुच्छकादिकं दायिकाया भाजनं वा कथं शोधयति । पदविभागिका  
वा पपणासमित्यालोचना सम्यगपरीक्षितविषया कुर्वत कथं सत्यव्रतमवतिष्ठते ? सुप्तेन म्याभिभूतेनादत्तमव्याहारं  
गृह्यतोऽदत्तादानं स्यात् । क्वचिद्भाजने विधेयं स्थापितं, आत्मवासे भुजानस्यापरिग्रहव्रतलोपं स्यात् रात्रिभोजनानु-  
व्यावृत्तेः सकलानि व्रतान्यवतिष्ठते संपूर्णानि । अट्ठप्पवयणमादाओ अष्टौ प्रवचनमातृकाश्च सङ्गतपरिपालनाया । एव पञ्च  
समितय तिस्रो गुप्तयश्च प्रवचनमातृका । रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इवेमा । क उपमार्थं ? यथा माता पुत्राणां  
अपारपरिपालनोद्यता, एव गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयति । भावणाओ य सव्वाओ भावनाश्च सर्वा । वीर्यात-  
रायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्यतेऽसङ्कटप्रवर्त्यते इति भावना । अयं किमिदं व्रतं नाम ?  
यावज्जीवं न हिंसासि, नानृत वदामि, नादत्तमाददे, न भिक्षुनर्म्मं करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येवंभूत आत्मपरिणाम  
उत्पन्नं कथंचित्तयैव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा ? । अवस्थानमभुभवविरुद्धं । जीवादिपरिशाने तस्य श्रद्धां वा  
प्रवृत्तस्य इत्यमुपयोगाभावात् । अयं विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपारपरिहारे रक्षा तत  
किमुच्यते व्रतानां रक्षायै रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिंसीत्युपयोगो न तदा नानृत वदामीत्येवमादयं सति  
परिणामः । किं पुन परिणामातरे वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामाद्विविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रतं कस्यचिद्व्रतमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्तिपरिणामव्रत  
आत्मनः शरीरस्य चर्षं प्रत्येकत्वात् आकार सामर्थ्यिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाद्व्रतं । भाविद्व्रतत्वव्यादिज्ञानपरिणति-  
रात्मा आगमद्रव्यव्रतं । व्रतक्षस्य शरीर त्रिकालनोचर, क्षयकशरीरव्रतं । चारित्रमोहस्य क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यसिञ्चा-  
त्मनि भविष्यति विरतिपरिणामाः स भाविद्व्रतं । उपशमे क्षयोपशमे वावस्थित चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्त



कर्म व्रतं । न हिनस्सीत्यादिको ज्ञानोपयोगो भण्यते आगमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादिपरिणामाभाव अहिंसादिव्रतं । प्राणिना विद्योजने प्राणानां, असदभिधाने, अदत्ता दाने, मिथुनकर्मविशेष, मूर्च्छया वाऽपरिणतिरिति यावत् । तथा चोक्त—'हिंसाव्रतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमिति' हिंसादयः क्रियाविशेषा आत्मनः परिणामस्तेभ्यो आत्मनो व्यावृत्तिर्हिंसादिष्वपरिणतिर्व्रतमिति सूत्रार्थः । हिंसादिव्यावृत्तत्वं नाम यदूरूपं जीवस्य व्रतसंशितं तत्परिपाल्यते रात्रिभोजननिवृत्त्या प्रवचनमनृतकाभिश्च । यस्मिन्वाऽसति तद्धिनश्यति सति च न विनश्यति तत्तत्परिपालयति यथा दुर्गो राजान् । सत्या रात्रिभोजननिवृत्तौ प्रवचनमावृत्तास्तु भावनास्तु वा सतीषु हिंसादिव्यावृत्तत्वं भवति । न तावत्सतीषु इति शुक्रमुक्तं सूत्रकारेण ॥

कस्मत्तद्रक्षणार्थमुपाय इत्याह—

मूलारा—रक्षयष्टं अपायपरिहारादलक्षणं रक्षणनिमित्तं । पवयणमादाथो प्रवचनमातरं । प्रवचनस्य रत्नत्रयस्य मातर इव पुत्राणां मातर इव सम्यग्दर्शनादीनां अपायनिवारणपरायणास्तिस्रो गुप्तयः, पंचसमितयश्च । अथवा प्रवचनस्य मुनेश्चारित्रमात्रस्योत्पादनरक्षणविशोधनविधानात्तास्तथा व्यपदिश्यते । तथा चावोचाम धर्मासूतेनूतं ॥

अहिंसा पंचात्मव्रतमथ यतागं जनयितुं ।

सुदुत्तं त्रातु ता विमलयितुमंवाः श्रुतविदः ।

विदुस्तिष्ठो गुप्तीरपि च समितीः पंच तदिमा ।

श्रयन्विषयाष्टौ प्रवचनसवित्रीव्रतपरः ॥ १ ॥

भावणजो वीर्यान्तरायचारित्रमोहक्षयोपशमाद्यपेक्षेणात्मना भाग्यतेऽसकृत्प्रवर्त्यन्ते इति भावना असकृत्प्रवृत्तयः । अभ्याससंस्कारा इति यावत् । सव्वाजो निःशल्याताभावनासंग्रहार्थमिदं । यस्मिन्नश्यति यद्विनश्यति सति च तिष्ठति तत्तत्परिपालयति । यथा दुर्गो राजानं । तिष्ठति च सति रात्रिभोजननिवृत्त्यादिपरिणामजाते जीवस्य हिंसादिव्यावृत्तं नाम नोआगमभावव्रतापरनामवेयं स्वरूपं न असतीति तत्परिपालयन्ति रात्रेभोजननिवृत्त्यादयः शुद्धचित्परिणतय इति निर्णयः । ननु च जीवान्न हिनस्मि, इत्यादि परिणामो व्रतमित्युच्यते । स किमुत्पन्नः सन्विनश्यत्युत तथैवावचितिष्ठते । न तावद्व्रततिष्ठते अनुभवविरोधाज्जीवादि तत्त्वज्ञाने तच्छूद्राने चाप्रवृत्तस्यात्मस्तथोपयोगप्रतीतेः । अथ विनश्यति परिणामान्तरोत्पत्तावसावितीष्यते तर्हि तस्यासतो मृतपुत्रवत्का रक्षा । सतो ह्यणयपरिहारो रक्षा । ततस्तेसि चेवेत्यादि सूत्रं शुक्तिवियुक्तमिव पठ्यामः । अत्रोच्यते—यावज्जीविकहिंसादिव्यावृत्तिरूपपरिणतस्य अवस्थानुरात्मनः कथंचित्त्वं वावस्थानस्य विवक्षितत्वान्नोक्तोपोऽवकाश लभते इति ॥

अर्थ—इन अहिंसादि व्रतोंके रक्षणार्थ रात्रिभोजन त्यागका उपदेश आचार्योंने किया है यदि रात्रिमें भिक्षाके लिए मुनिपर्यटन करेंगे तो त्रस और स्थावर जीवोंका वध होगा क्योंकि वे रातमें नहीं दीखते हैं, आहार देने वालेका आपमन मार्ग, आहारके पदार्थ रखने का स्थान, स्वयं जहां आहारके लिए खेद हुए हैं वह प्रदेश, जहां उच्छिष्ट अन्न गिरता है वह स्थान, दिया जाने वाला आहार ये सब योग्य हैं अथवा अयोग्य हैं इनका निरीक्षण रातमें करना शक्य नहीं है, दिनमें भी जीवोंका परिहार करना अशक्य है, फिर रात्रिमें उनका कैसा परिहार हो सकेगा पत्नी वगैरह अन्न परोसनेके साधन और अन्न रखनेके पात्र रातमें सोधना अशक्य है

जिसके विषयोंका सम्यक् निरीक्षण हुआ ही नहीं ऐसी पदविभागिका आलोचना अथवा एषणा समिति आलोचना करनेवाले मुनीके सत्यव्रतका कैसे रक्षण होगा, दानका स्वाभी सोया होगा तो उसने नहीं दिया हुआ आहार ग्रहण करनेसे अचौर्य व्रत नहीं टिक सकता है किसी पात्रमें दिनमें स्थापन किया हुआ आहार वस-तिकामें ले जाकर भोजन करनेसे अपरिग्रहव्रतका रक्षण कैसे होगा रात्रिभोजनका त्याग करनेसे सर्व व्रत पूर्ण होते हैं इन व्रतोंके रक्षणार्थ ही आठ प्रवचन माताओंका और सर्व भावनाओंका रक्षण करना चाहिये तीन गुणित और पाच समितिओंको प्रवचनमाता कहते हैं रत्नत्रयको प्रवचन कहते हैं इस रत्नत्रयकी ये गुणित और समिति माता के समान हैं जैसी माता पुत्रका अपाय से रक्षण करती है वैसे गुणित और समिति व्रतोंका रक्षण करती हैं, सर्व भावना भी व्रतोंका रक्षण करती हैं

वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम, चारित्र्यमोहका उपशम अथवा क्षयोपशम इनसे युक्त ऐसे आत्माके द्वारा जो नारवार पाली जाती हैं उनको भावना कहते हैं

व्रत किसको कहते हैं ? उत्तर—आभरण में हिसा नहीं करूंगा, झूठ भाषण नहीं करूंगा, दूसरेने नहीं दी हुई वस्तु में ग्रहण नहीं करूंगा, मैथुन सेवन नहीं करूंगा और परिग्रहका स्वीकार नहीं करूंगा इस प्रकारका जो आत्मामें परिणाम उत्पन्न होता है उसको व्रत कहते हैं,

शंक्ता—यद्वा आत्माका परिणाम ऋथंचित् वेसा ही रहता है अथवा नष्ट होता है ? यदि यह परिणाम आत्मामें दिग्गम रहता है क्या कहेंगे तो यह कहना अनुभवविरुद्ध है क्यों कि जम आत्मा जीवादि पदार्थोंका समग्र चाननमें व्युत्पन्न होता है अथवा श्रद्धान करनेमें अपने चित्तको लगाता है तब उपर्युक्त परिणाम आत्मामें

नहीं रहता है यदि यह व्रतरूप परिणाम दूसरे परिणाम उत्पन्न होनेपर नष्ट होता है ऐसा कहोगे तो वह अमर्त्य ठहरा, अमर्त्यदार्थका रक्षण कैसा कर सकते हैं? कोई पदार्थ सद्रूप होनेपर ही उसमें अपाय और परिहार हो सकते हैं अतः व्रतोंके रक्षणार्थ सन्निभोजन त्यागका वर्णन करना व्यर्थ है

जब मैं ग्राणीका घात नहीं करूंगा ऐसा परिणाम आत्मामें उत्पन्न होता है तब मैं अमर्त्य नहीं बोलूंगा वगैरह परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, तब अन्य परिणामोंके निषेधोंमें स्या कहना चाहिये,

उपर्युक्त शंकाका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं—

नामादिक विरूपोंमें व्रतके चार प्रकार होते हैं, किसीका व्रत ऐसा नाम रखना यह नामव्रत कहलाता है स्थापना व्रत—हिंसा, अमर्त्य, चोरी इत्यादि पापोंमें निवृत्तिरूप परिणाम जिसमें उत्पन्न हुए हैं ऐसा आत्मा और शरीर दोनों भी बंधकी अपेक्षामें एकरूप हुए हैं अतः नामाधिकमें पणित हुए जीवके आकारमें व्रतोंकी स्थापना करके उसको स्थापना व्रत कह सकते हैं

आगम द्रव्यव्रत—भविष्यकालमें आत्मामें व्रतके स्वरूपको ग्रहण करनेवाला अर्थात् जाननेवाला ज्ञान-परिणाम व्रतके स्वरूप जाननेमें अनुपयुक्त है ऐसे ज्ञानपणित आत्माको आगम द्रव्यव्रत कहते हैं,

जायकशरीरव्रत—व्रतज आत्माका त्रिकालगोचर जो शरीर उसको जायकशरीरव्रत कहते हैं,

चारित्र मोह कर्मके क्षयमें, अर्थात् क्षयपद्ममें जिस आत्मामें विरक्तिरूप परिणाम उत्पन्न होगा वह आत्मा भावव्रत कहलाता है,

उपशममें अथवा क्षयोपशममें जो चारित्र मोहकर्म रता है उसको नो आगम द्रव्य व्यतिरिक्तकर्म व्रत कहते हैं

मैं हिंसा नहीं करूंगा, श्रुत नहीं बोलूंगा इत्यादिरूप जो ज्ञानोपयोग उसको आगमभावव्रत कहते हैं चारित्र मोहनिय कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम, होनेपर जो हिंसादि परिणामोंका अभाव होता है उसको अहिंसादि व्रत कहते हैं इसको नो आगमभावव्रत कहते हैं

प्राणिशोकके प्राणोंका वियोग करनेमें प्रवृत्ति नहीं करना यह अहिंसाव्रत है श्रुत बोलनेमें, नहीं दी हुई वस्तु ग्रहण करनेमें, मेथुनमें, और ममत्वमें आत्माकी परिणति नहीं होना इनको क्रमसे सत्यव्रत, अचौर्यव्रत,

ब्रह्मवृत्त और परिशुद्धत्यागव्रत कहते हैं। श्री उमास्वामी आचार्य 'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिव्रतं' ऐसा व्रतका कथन करनेवाला सूत्र कहते हैं ये हिंसादिक क्रियाविशेष आत्माके परिणाम है उनसे परावृत्त होना अर्थात् हिंसादिकोंमें परिणति न होना ही व्रत है ऐसा उपर्युक्त सूत्रका अभिप्राय है।

हिंसादिकोंसे परावृत्त होना इस प्रकारका जो आत्माका परिणाम है उसका रात्रिभोजन त्यागके द्वारा, प्रवचन मातृके द्वारा रक्षण होता है अर्थात् रात्रिभोजन त्याग और समिति गुप्ति ये अहिंसादि व्रतोंका रक्षण करते हैं प्रवचन माता और रात्रिभोजन त्यागके अभावमें व्रत नष्ट होते हैं और इनके सद्भावमें व्रतोंका रक्षण होता है। जिसके अभावमें जिसका नाश होता है और जिसके सद्भावमें जो नष्ट नहीं होता है तो समझना चाहिए कि वह उसका रक्षण करता है। जैसे दुर्गके अभावमें राजाका नाश होता है और उसके सद्भावमें रक्षण होता है वैसे रात्रिभोजन त्याग, प्रवचनमाता व भावना इनके सद्भावमें हिंसादिकोंसे आत्मा परावृत्त होता है और इनके अभावमें परावृत्त नहीं होता है इसलिए इनको आचार्यने व्रतरक्षणार्थ माना है वह योग्य ही है।

तोसैं पंचणहं पि य अहयाणमावज्जणं व संका वा ॥

आदविवत्ती य हवे रादीभत्तप्पसंगमि ॥ ११८६ ॥

हिंसादीनां मुनेः प्राप्तिः पचानां सह शंकया ॥

विपत्तिर्जायते स्वस्य रात्रिभुक्तेस्तथा स्फुटम् ॥ ११८५ ॥

विजयोदया—तोसैं पंचणहं पि य अहयाणमावज्जणं तेया पचाना हिंसादीना प्राप्ति । संका वा शंका वा मम हिंसादयः संवृत्ता न वेति । हवे. भवेत् । रादीभत्तप्पसंगमि रात्रावाहाराप्रसंगे मति न केवल हिंसादिषु परिणति । विवत्ती य हविज्ज आत्मनश्च यते स्वस्यापि विपद्भवेत् । स्थाणुसर्पकटकारिमि ॥

रात्रिभोजने मुनेर्दोषानाह—

मूलारा—अण्हयाणं हिंसादीना । आवज्जणं प्राप्तिः । संका मम हिंसादयः किं संवृत्ता न वेति शंका । आग्नि-वत्ती आत्मविषत् । रात्रौ भिक्षार्थं पर्यटतो यतोः सर्पकटकादिभिरुपसर्गश्च भवेत् । पसंगमि प्रवृत्तौ सत्याम् । उक्त च—

प्राप्तिः शंका च पचाना हिंसादीना यतेभवेत् ॥

रात्रिभोजनसद्भावे स्वविपत्तिश्च जायते ॥

अन्ये तु अण्डयाण व्रतानां । आवर्जणं सर्वथाविनाश इति व्याख्याति । तथा चोक्तम्—

तेषा पचानामपि महाव्रतानां विनाशने शंका ॥

आत्मविपत्तिश्च भवेद्विभावीभक्तसंगेन ॥

रात्रिभोजनप्रवृत्तौ हिंसादय कथमिति चेदुच्यते । रात्रौ शिक्षार्थं पर्यटनग्राणिनखसांस्वथावरांश्च हिनस्ति । तेषा तमस्यदृश्यत्वात् ॥ न च दायकागमनमार्गं, तस्य स्वस्य च अवस्थानदेशं, भोजनभाजनाविस्थापनस्थानं, उच्छिष्टस्य वा निपातदेशं, दीयमानं चाहारं, योग्ययोग्य वेति निरूपयितुं पारयति ध्वातप्रतिबद्धदृष्टित्वात् ॥ प्रदीयेदपि प्रबोधितेऽतिसूक्ष्मव्रसाना निरूपणा न स्यात् । पतंगदिघातप्रसगाश्च स्फाटिति रात्रौ भुञ्जानः कथमहिंसव्रतमनुपालयेत् । तथा रात्रौ भुक्त्वा पदविभगिकामेषणासमित्यालोचना सम्यगपरीक्षितविषयां कुर्वतः । कथमिव सत्यव्रतमवतिष्ठेत् । तथा सुप्तस्य स्वाभिभूतस्याहारमन्येन दत्तं रात्रौ तद्दुद्वया गृह्णतोऽदत्तादानमपि कथं न स्यात् । तथा विद्विष्टगोत्रिणो वैरिणो वा निःशंकिता रात्रौ मार्गादौ ब्रह्मचर्यं नाशयन्ति । कामांधाः स्वैरिण्यो वा इठादभिसारयन्त्यः । तथा दिवानीत निजवसतौ, स्वपात्रे स्थापित आहार रात्रौ भुञ्जानः समर्थः किमिति न स्यात् । ततो महाव्रतसंपूर्णतामिच्छन्त्रात्रिभोजनविरमणं पट्टमणुव्रतमनुतिष्ठेदेव । अनुव्रतत्व चास्य दिवा भोजनस्यापि करणात् । यदाह—  
उष्ट्रे अणुवदे राइभोगणादो वैरमणमिति । तथा चाचोचाम वसोमृते ॥

पर्वतानि महाफलानि महता मान्यानि विष्वग्विरत्यात्मानीति महाति नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि ये ॥

प्राणित्राणमुत्तमवृत्त्युपरमानुक्रान्तिपूर्णीभवत्सन्ध्याः शुद्धदशो व्रतानि सकलीकुर्वन्ति निर्वन्ति ते ॥

स्वामिनिर्देशद्वारेण गुप्तीः समितीश्च लक्षयति—

अण्डयदारोपरमणदरस्म गुप्तीओ होन्ति तिण्णेव ॥

चेट्टिदुकामरस्स पुणो समिदीओ पंच दिट्ठाओ ॥ ११८६ ॥

मूलात्—अण्डयदारोपरमणदरस्स आस्रवद्वारनिरोधासक्तस्य । चेट्टिदुकामरस्म गमनवचनादिकं कर्तुं प्रवृत्तस्य ।

उक्तं च—

भवति गुप्तयस्तिष्ठो योगनिग्रहलक्षणाः ॥

सम्यक्प्रवृत्तयः पच सता समितयो मताः ।

एता श्री विजयो नेच्छति ॥

अर्थ—रात्रिमें आहारप्रसंग होनेपर हिंसादिक पांच पापोंकी उत्पत्ति होती है अथवा शंका उत्पन्न होती है अर्थात् रात्रिभोजन करनेसे हिंसादिक पाप उत्पन्न होते हैं या नहीं ऐसा संशय उत्पन्न होता है. रात्रिभोजन करनेसे हिंसादिक पाप ही उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं किंतु इससे यतीका नाश भी होता है. दूठ, सर्प, कंटक इत्यादिकसे यतीका घात भी होगा. यति यदि रात्रिमें आहार करनेके लिए श्रावकके घर जाये तो सर्पादिकोंसे उनके प्राण नष्ट होनेकी संभावना है.

प्रवचनमावृत्त्याख्यानायोत्तरप्रवचस्तत्र मनोगुप्तिं वाग्गुप्तिं व्याख्यातुमायतोत्तरगाथा—

जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुप्तिं ॥

अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती ॥ ११८७ ॥

मनसो दोषविश्लेषो मनोगुप्तिरितिष्यते ॥

वाग्गुप्तिश्चाप्यलीकादेर्निवृत्तिर्मौनमेव च ॥ ११२६ ॥

विजयोक्त्वा—जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुप्तिं । या रागादेषाभ्या निवृत्तिर्मनसस्तां जानी' हि मनोगुप्तिं । अत्रेदं परीक्ष्यते । मनसो गुप्तिरिति यदुच्यते किं प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिरथाप्रवृत्तस्य ? प्रवृत्तं चेद् शुभं मन तस्य का रक्षा । अप्रवृत्तं तथापि असतः का रक्षा ? सतोऽप्यपायपरिहृत्पेयुक्ततेत्युच्यते, किं च मन शब्देन किमुच्यते द्रव्यमन उत भावमन ? द्रव्यवर्णणामनश्चेत् तस्य कोऽपायो नाम यस्य परिहारी रक्षा स्यात् ? किं च द्रव्यातरेण तेन राक्षितेनास्य जीवस्य फलं य आत्मनः परिणामोऽशुभमावहति । ततोऽयुक्ता रक्षात्मनः । अथ नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणक्ष- योपशमसजातं ज्ञानं मन इति गृह्यते तस्य अपायः कः ? यदि विनाशः स न परिहर्तुं शक्यते यतोऽनुभवसिद्धो विनाशः । अन्यथा एकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रवृत्तिरात्मनः स्यात् । ज्ञानानीह वीचय इवान्तरात्मुत्पद्यते न चास्ति तदविनाशोपायः । अपि च इन्द्रियमतिरपि रागादिव्यावृत्तिरिष्टेव किमुच्यते रागादिणियत्ती मणस्स इति ॥

अत्र प्रतिविधीयते—नो इन्द्रियमतिरिद्धं मनं शब्देनोच्यते । सा रागादिपरिणामैः सह एककालं आत्मनि प्रवर्तते । न हि विषयावग्रहादिज्ञानमंतरेणास्ति रागद्वेषयो प्रवृत्तिः, अनुभवसिद्धेवास्ति नापरा युक्तिः अनुगम्यते । वस्तुतत्वा- नुयायिना मानसेन ज्ञानेन सम रागद्वेषौ न वर्तते इत्येतदप्यात्मसाक्षिकमेव । तेन मनसस्तत्वावग्राहिणो रागादिभिरसह

चारिता या सा मनोगुप्तिः । मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणं तेन सर्वो बोधो निरस्तरागद्वेषकलको मनोगुप्तिरन्यथा इन्द्रियमते श्रुते, अवधौ, मन पर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात् । इत्यते च । अथवा मनःशब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्तिः रागद्वेषरूपेण या अपरिणतिः सा मनोगुप्तिरित्युच्यते । अथैवं बोधे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । दृष्टफलमनोपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्तिः । अलिगादिणियत्ती वा मोहं वा होहं वच्चिगुप्ती विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पादित्वात् । अलिगादिणियत्ती वा मोहं पुनरुत्पादत्वात् विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वादिभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वाच्चो धर्मो न चालो संवरणे हेतुरात्मपरिणामत्वात् । शब्दादिवत् । एवं तर्हि व्यलीकात्परकपादात्मप्रशसापरात् परनिदप्रवृत्तात्परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथाभूतस्य वचसोऽप्रवर्तिका वाग्युप्तिः । या वाचं प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणं वाग्युप्तिस्तेन वाविशेषस्यानुत्पादकता वाच परिहारो वाग्युप्तिः । मौनं वा सकलाया वाचो या परिहृतिः सा वाग्युप्तिः । अयोग्यवचनेऽप्रवृत्तिः प्रेक्षापूर्वकारितया योग्य तु चक्ति वा न वा ॥ भाषासमितिस्तु योग्यवचसः कर्तृता ततो महाभेदो गुप्तिसमित्यो । मौनं वाग्युप्तिरत्र स्फुटतरो वचोभेदः । योग्यस्य वचसः प्रवर्तकता । वाचः कस्याश्चित्तदनुत्पादकतेति ॥

मनोगुप्तिं वाग्युप्तिं च लक्षयति—

मूलारा—मणस्स नो इन्द्रियज्ञानलक्षणस्य मनसस्तत्त्वावगाहिणो । जा रागादिणियत्ती रागद्वेषादिभिरात्मपरिणामैरसहचरिता सा मनोगुप्तिः । मनसि हि चक्षुरादिकरणै रूपदिविषयान्भोग्याभोग्यरूपतया गुण्णति सत्यात्मनो रागद्वेषौ प्रवर्तते । उपेक्षणीयरूपतया तु तैस्तान्स्वीकुर्वोणे तदप्रवृत्तिरेव तथा प्रतीतेः ॥

तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्यन्मुह्यति द्वेष्टि रज्यते ॥

ततो दह्यते ध्रमत्येव मोहव्यूहगतः पुमान् ॥

अविद्याश्वाससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः ॥

तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥

इत्याद्यागमसद्भावाच्च । मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणं । तेन सर्वो बोधो । निरस्तरागादिकलको मनोगुप्तिः स्यादन्यथा इन्द्रियमतौ, श्रुतेऽवधौ मनः पर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात् । अथवा मनुते विचारयति हेयमुपादेयं च तत्त्व योऽमावात्मात्र मनः शब्देनोच्यते । तस्य रागादिरूपेण अपरिणतिर्मनोगुप्तिरिति ग्राह्यम् । एवं च सति सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिरित्यपि न विरुद्धेत । दृष्टफलमनपेक्ष्य हि योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो जीवस्य नार्थांतरं तदव्यतिरेकात् ।

पुगलविवाहद्वेदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ॥  
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं ओगो ॥

इति वचनाच्च योगशब्देनाव वीर्यमुच्यते ॥ अलियादिण्यति विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्पटुः स्रोतपत्तिनिमित्त-  
त्वाच्चाधर्माद्या वाचो व्यावृत्ति सा वाग्गुप्तिः तथाविधवाक्प्रवृत्तिनिमित्तवीर्यरूपेणपरिणतिरात्मन इत्यर्थः । मोण  
सकलवाक्प्रवृत्तिनिमित्तवीर्यनिरोधो जीवस्य । अयोग्यवचो न वदत्येव, प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति न वेति प्रथमा  
वाग्गुप्तिर्भाषासमित्तिस्तु योग्यवचसः कर्तृतेत्यनयोर्नाविशेषः शङ्क्यः । मौनपक्षे तु शकानवकाश एव ॥

प्रवचनभाताओंका व्याख्यान आचार्य सविस्तर करते हैं प्रथमतः मनोगुप्ति और वाग्गुप्तिका लक्षण  
कहते हैं—

अर्थ—रागद्वेषसे मन परावृत्त होना यह मनोगुप्तिका लक्षण है. असत्य भाषणादिकसे निवृत्त होना अथवा  
मौन धारण करना यह वचनगुप्तिका लक्षण है

शङ्का—प्रवृत्त हुये मनकी गुप्ति होती है अथवा रागद्वेषमें अप्रवृत्त मनकी गुप्ति होती है ? यदि मन  
शुभ कार्यमें प्रवृत्त हुआ है तो उसका रक्षण करनेकी क्या आवश्यकता है. आर यदि किसी कार्यमें वह प्रवृत्त ही  
नहीं है और वह यदि असद्रूप है तो उसके रक्षणकी जरूरत ही क्या है ? जो चीज स्वयं मद्धूप होगी तो उसमें  
अपाय होनेकी संभावना रहती है अतः उसको अपायसे बचाना योग्य होगा. असत्का न नाश होता है और न  
रक्षण होता है.

और भी हय आपको पूछते हैं कि, मन शब्दका आप क्या अर्थ करते हैं. मन शब्दका द्रव्यमन ऐसा  
अर्थ होता है या भावमन ऐसा अर्थ आप मानते हैं ?

द्रव्य वर्णसे बना हुआ जो उसको ही हम मन कहते हैं ऐसा यदि कहेंगे तो उसका अपाय क्या  
चीज है जिससे तुम उसको बचना चाहते हैं ? अथवा अन्य पदार्थ के द्वारा उसका रक्षण करनेसे भी कोनसी फल-  
निष्पत्ति होगी ? क्या आत्माके परिणाम अशुभ फल उत्पन्न करेंगे ? अर्थात् द्रव्यांतरके सहायसे आत्मामें अशुभ  
परिणाम उत्पन्न नहीं होते हैं इसवास्ते आत्माका अपायसे रक्षण करना व्यर्थ है

नो इन्द्रियमतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जो मतिज्ञान उत्पन्न होता है उसको मन कहते हैं ऐसा यदि



आप कहते हैं तो उस मनका अपाय क्या चीज है ? नाश होना ही अपाय है ऐसा कहोगे तो इस नाशका परिहार करना शक्य ही नहीं है. क्योंकि प्रत्येक वस्तुका नाशपर्याय होता ही है. यदि मनका नाश नहीं होता है ऐसा मानोगे तो आत्माकी एक ही ज्ञानमें हमेशा प्रवृत्ति रहेगी परंतु समुद्रमें जैसे हमेशा अनेक लहरे उत्पन्न होती हैं वैसे आत्मामें हमेशा अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हैं. उनका अविनाश होनेका अर्थात् वे स्थिर रहनेका जगतमें कोई उपाय नहीं है. इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान रागादिकोंसे युक्त ही रहता है अत एव रागादिकोंसे व्यावृत्त होना यह मनोगुप्तिका लक्षण है ऐसा समझना अयोग्य है

उपर्युक्त शकाका आचार्य उत्तर देते हैं:— नो इन्द्रियमतिको हम मन कहते हैं अर्थात् नो इन्द्रियावगण कर्मका क्षयोपशम होनेसे जो जो ज्ञान मनमें उत्पन्न होते हैं उसको हम मन कहते हैं. यह नो इन्द्रियमति रागादि परिणामोंके साथ एक कालमें आत्मामें रहती हैं विषयोंमें जब अवग्रह, ईहादिज्ञान होते हैं तब रागद्वेषकी भी साथ प्रवृत्ति होती है. यह सबको अनुभवमें आता है इसकी सिद्धि करनेके लिये अन्य युक्तिकी आवश्यकता नहीं है. परंतु जब वस्तुके यथार्थ स्वरूपका मन विचार करता है तब मानसिक ज्ञानके साथ रागद्वेष नहीं रहते हैं यह भी अनुभव सिद्ध है जब मन वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानते समय रागद्वेषसे रहित होता है तब मनोगुप्ति आत्मा में है ऐसा समझा जाता है. अर्थात् जो जो ज्ञान रागद्वेषसे रहित होगा वह वह मनोगुप्ति ही है. ऐसा समझना अयोग्य न होगा मनोगुप्ति इस शब्दमें मन शब्द उपलक्षणत्मक है. अर्थात् रागद्वेषरूपी कलंकसे रहित सर्व प्रकारके ज्ञानोंको मनोगुप्ति कह सकते हैं अन्यथा इन्द्रियज्ञान, उतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञानमें परिणत और राग द्वेषरहित आत्मको मनोगुप्तिका अभाव है ऐसा मानना पड़ेगा परंतु उपर्युक्त रागद्वेषरहित ज्ञानपरिणत आत्मामें भी मनोगुप्ति है आगममें ऐसा माना है.

अथवा 'मनुते य आत्मा स एव मनो भण्यते' अर्थात् जो आत्मा विचार करता है उनको मन कहना चाहिये. ऐसा आत्मा जब रागद्वेष परिणामसे परिणत होता नहीं तब उसको मनोगुप्ति कहनेमें हर्ज नहीं है.

अथवा 'सम्पन्योगानिग्रहो गुप्ति' यह गुप्तिका लक्षण है दृष्ट फल-कीर्ति, आदर इत्यादिक दृष्टफलकी अपेक्षाके विना वीर्यपरिणामरूप जो योग उसका निरोध करना अर्थात् रागादि कार्योंको योग कारण है उसका निरोध करनेसे मनोगुप्ति होती है तात्पर्य यह है कि मनोयोगसे जीवमें रागद्वेषादिक परिणाम उत्पन्न होते हैं.

कीर्ति, लोकादर, स्वर्गदिसुख वगैरहकी इच्छा धारण न करते हुए मनोयोगको केवल आत्मकल्याणकी भावनासे रोकना अर्थात् रागद्वेषादि कार्योंकी मनोयोगसे उत्पत्ति न होने देना इसको भी मनोगुप्ति कहते हैं वाग्गुप्तीका स्वरूप—‘अलियादिवचोगुप्ती, मोर्ण वा होइ वचिगुप्ती’ जो विपरीत अर्थका ज्ञान करनेमें हेतु होगा, जो दूसरोंको दुःख उत्पन्न करनेमें निमित्त होगा जिससे अयर्म धृष्टि होगी ऐसे भाषणसे परावृत्त होना यह वचनगुप्ति है

शंका—वचन पुद्गलमय हैं और वे विपरीतार्थका ज्ञान करनेमें हेतु हैं किसी पदार्थसे आत्माको हटा-नेमें वचन समर्थ है, परंतु कर्मका संवर करनेमें शब्द अर्थात् वचन समर्थ नहीं है, क्यों कि वे आत्माका परिणाम अर्थात् धर्म नहीं हैं, शब्दादिक आत्मधर्म नहीं है,

व्याकिक—असत्य, कठोर, आत्मप्रशसायुक्त, पूर्निदा करनेवाला, जिससे परप्राणिओंको उपद्रव होत है ऐसे भाषणसे आत्मा परानृत्त होना यह वाग्गुप्ति है अर्थात् वाग्गुप्ति उपर्युक्त भाषणोंमें आत्माको प्रवृत्त नहीं करती है जिस भाषणमें प्रवृत्ति करनेवाला आत्मा अशुभ कर्मका स्वीकार करता है ऐसे भाषणसे परावृत्त होना वाग्गुप्ति है अर्थात् विशिष्ट वचनका आत्मा त्याग करता है उसीको वाग्गुप्ति कहना चाहिये, अथवा संपूर्ण प्रकारके वचनोंका त्याग करना अर्थात् मोन धारण करना इसको भी वाग्गुप्ति कहते हैं जो आत्मा अयोग्य वचनमें प्रवृत्ति नहीं करता है परंतु विचारपूर्वक योग्य भाषण बोलता है अथवा नहीं भी यह उसकी वाग्गुप्ति है परंतु योग्य भाषण बोलना यह भाषा समिति है इस प्रकार गुप्ति और समितिमें अंतर है मोन धारण करना यह वाग्गुप्ति है, योग्य भाषणमें प्रवृत्ति करना समिति है और गुप्तिमें किसी भाषाको अर्थात् वचनको उत्पन्न न करना यह गुप्ति है ऐसा इन दोनों में स्पष्ट भेद है

कायकिरियाणियत्ती काउससगो सरीरगे गुत्ती ॥

हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिष्टा ॥ ११८८ ॥

कायक्रियानिवृत्तिर्वा देहनिर्ममतापि वा ॥

हिंसादिभ्यो निवृत्तिर्वा वपुषो शुभिरिष्यते ॥ ११२८ ॥

निजयोदया—कायक्रियाणियत्ती कायस्योवाक्क्रिड शरीरस्य या क्रिया नम्या नियुति मरीनो गुत्ती शरीरविषयया गुति कायगुत्तिरिति यावत् । आनन्दस्थानशयनार्दना क्रियायाद् सा चात्मनः प्रसन्नकृत्वा कयमान्मना कार्यो क्रियास्यो व्यावृत्ति । अय मत्, कायस्य पर्याय क्रिया, कायाच्चायान्तरमात्रा नतो ऽन्तरायागात् ऽन्यातरं तत्पणिगमश्चयं नयाऽपणिगतं व्यावृत्तं भवतीति कायक्रियानियुतिरन्मनो भव्यते । संप्रगमेयान्मनाभिन्ध कायगुत्ति स्यात् न चेयेति ।

अत्रोच्यते—कारस्य मंत्रविनी क्रिया कायस्योच्यते । तस्या कारणभूतात्मनः क्रिया कायप्रिया तस्या नियुति । फालस्मगो हायोत्सगो शरीरस्यागुचितामावनामपरिमित्ता चाप्यत्य तद्वतमतापरिदात्तं कायगुत्ति । अथवा शरीरमस्यु श्रवणलपञ्च लयवतु न वाच्यते इत्यममय, 'हायोत्सगं' । धावनामतेकार्यमान गुत्तिनियुत्तिरयत् इहेति मूवकाराभिप्रायेऽन्यथा 'कायक्रियाणिरुत्ती मरीनो गुती' इति नं ऽप्यत् । हायोत्सगं प्रणे निश्चलता भव्यते । यत्र कायक्रियाणिवची इति न उक्त्य, 'हायोत्सगं' चायगुत्तिरित्येतेषां यावत् इति चेत् न कायप्रिय ममेदमावगृह्णित्वमेष्ट्य हायोत्सगंम्य प्रवृत्ते । यावत्समलप्रतादिभ्यामु प्रवृत्त्यापि कायगुत्ति न्यास वेच्यते । अय कायक्रियानियुत्तिरित्येतावदुच्यते मूल्यापरिगतस्यापि अयस्त्वदता विद्यते इति कायगुत्ति स्यात् । तत् उभयोपादानं व्यभिचारनिवृत्तये । कर्मदाननिमित्तमकलतायक्रियानिवृत्ति कायगोचरमतायागपरा या कायगुत्तिरिति स्यात् । हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती इति विदुः हिंसादिनिवृत्तीयां सरीरगुत्तिरिति एषा त्रिगतमे, प्राणिप्रणयिचन, अदत्तादानं, मिथुनकर्म शरीरेण, परिग्रहादानमित्यादिका या निदिष्टा क्रिया मेद कायसंवेदनोच्यते । कायिकोपकृ तेगुत्तिव्यावृत्ति कायगुत्तिरिति व्याख्यात मरिणा ॥

कायगुप्ति द्विधा लभ्यति -

मुलारा—चायकिरियाणियत्ती कायस्य औदिकदिसरीरस्य मंत्रविनी क्रिया परिणामः । उपहरणमणनिक्षेपण गमनादिकर्मलक्षणा कायक्रिया । अत्र पुनः तत्कारणभूता चीयस्य क्रिया तच्छब्देन गृह्यते काये कारणोपचारात् । तेन कायक्रियाया कारणभूतायाः क्रियायाः सकामादात्मनो नियुतिर्युत्तिः कायक्रियानियुत्तिरित्यतः कायपरिस्संदनि मत्तत्परिस्संप्रदाप्रवर्ततेत्येवम् ॥

काउरसगो शरीरस्यागुचितामावनामपत्तिमिच्छता च भावयत्सद्वतमत्यपरितारः । कर्मादानमिच्छितमकलतायक्रियानिवृत्तिः । कायगोचरमतायागपुरोगा कायगुत्तिरित्युभयं तद्व्यग्रं । यदि हि कायक्रियानियुत्तिरित्येवोच्यते तया मूल्यापरिस्संप्रदाभावात्कायगुत्तिरिति श्रुत्युपज्येत । अत्र कायोत्सगः कायगुत्तिरित्येवोच्येत तयापि कायविपगम- सेदमावगृह्णितस्य गमनादिक्रियाप्रवृत्तस्यापि कायगुत्तिरिति प्रा प्रसज्येत इति व्याभिचारनियुत्त्युभयोपादानं ॥ मरीनो

शरीरविषया । हिंसादिगिन्यत्ती प्राणिप्राणव्यपरोपणदत्तग्रहणगियुनकर्मविशेषकरणोपकरणदिपरिग्रहणदिकायक्रिया व्यावृत्तिः ॥ सरीरगुप्ति शरीरसत्र तक्रिया तेन शरीराच्छरीरक्रियायागुप्तिनिवृत्तिः शरीरगुप्तिरिति स्थितम् ॥

अर्थ—औदारिकादि शरीर की जो क्रिया होती रहती है उसे निवृत्त होना यह कायगुप्तिका लक्षण है अथवा हिंसा, चोरी वगैरह पापक्रियासे परावृत्त होना इसको भी कायगुप्ति कहते हैं,

शुका—बैठना, खड़े रहना, शयन करना वगैरहको क्रिया कहते हैं ये क्रिया आत्माके द्वारा होती हैं अतः आत्मा इन क्रियाओंका प्रवर्तक होनेसे वह इन क्रियाओंसे कैसे परावृत्त हो सकता है ? अब इसके ऊपर यदि आप ऐसा कहोगे आसनादिक क्रिया शरीरकी पर्याप्त हैं आत्मा तो शरीरसे अन्य भिन्न वस्तु है अर्थात् शरीरकी क्रियासे आत्मामें कुछ परिणति होती नहीं इसवास्ते शरीरकी क्रियाका आत्मामें त्याग होनेसे आत्मा शरीरक्रियासे परावृत्त है ही अतः कायक्रियासे आत्मा निवृत्त होनेमें आत्माकी कायगुप्ति है ऐसा कह सकते हैं परंतु यह आपका कहना अनुचित है, ऐसा कायगुप्तिका स्वरूप माननेसे संपूर्ण आत्माओंमें कायगुप्ति मानना पड़ेगी

उत्तर—शरीरसंबन्धिनी जो क्रिया होती है उसको 'काय' कहना चाहिये इस क्रियाको कारणभूत जो आत्माकी क्रिया होती है उसको कायक्रिया कहना चाहिये ऐसी क्रियासे निवृत्ति होना यह कायगुप्ति है

कायोत्सर्गको भी कायगुप्ति कहते हैं शरीर अपवित्र है, असार है, आपत्तिका कारण ह ऐसा विचार कर उस ममताका त्याग करना भी कायगुप्ति है अर्थात् शरीरपरसे ममत्वभावको हटाना भी कायगुप्ति है, शरीरका त्याग करना इसको कायगुप्ति नहीं कहना चाहिये क्यों कि शरीर आधुकी शूललासे जकड़ा है उसका त्याग करना शक्य नहीं है अतः इसकी अपेक्षामें कायगुप्ति मानने तो कायोत्सर्गका अभावही होगा,

धातूके अनेक अर्थ होते हैं इसलिये यहाँ गुप्ति शब्दका निवृत्ति ऐसा अर्थ लेना चाहिये ऐसा सूत्रकारका अभिप्राय है अन्यथा 'कायकिरियागिवची सरीरे गुप्ती' ऐसा वचन सूत्रकार कभी न कहते

कायोत्सर्ग ग्रहणमें जो शरीर की निश्चलता होती है उसको कायगुप्ति कहते हैं ऐसा यदि कहोगे तो 'कायकिरियागिवची शरीरे गुप्ती' ऐसा कहना व्यर्थ है 'कायोत्सर्गः कायगुप्तिः' इतनाही गुप्तीका लक्षण कहना योग्य था ऐसी शंका करना भी योग्य नहीं है, क्योंकि शरीर विषयक ममत्व रहितपनानी अपेक्षामें कायोत्सर्गकी प्रवृत्ति होती है यदि इतनाही अर्थ कायगुप्तिका माना जायगा तो भागना, एकस्थानसे अन्य स्थानके

प्रति जाना, कृदना वगैरह क्रियाओंमें प्रवृत्त हुए प्राणिको भी कायगुप्ति है ऐसा मानना पड़ेगा परन्तु ऐसा माना नहीं जाता है.

यदि 'कायक्रियानिवृत्तिः' अर्थात् शरीरकी क्रियाका त्याग करना कायगुप्ति है इतनाही लक्षण मानोगे तो मूर्च्छित होकर जो मनुष्य पड़ा है उसको भी कायगुप्ति है ऐसा मानना पड़ेगा इस वास्ते व्यभिचार निवृत्तिके लिए कायोत्सर्ग को कायगुप्ति मानना चाहिए और शरीर की क्रियानिवृत्ती को भी कायगुप्ति कहना चाहिए इस विवेचनका अभिप्राय इस प्रकार समझना चाहिए--कर्मग्रहण जिसे होता है ऐसी संपूर्ण शरीर क्रियाओंका त्याग करना इसको कायगुप्ति कहते हैं तथा शरीरविषयक ममताका त्याग करना इसको भी कायगुप्ति कहते हैं. ऐसा इस गाथासूत्रका अभिप्राय है

हिंसादिकोंका त्याग करना भी कायगुप्ति है ऐसा जिनागममें कहा है प्राणिओंके प्राणोंका वध करना, न दी हुई चीज लेना अर्थात् चोरी करना, मेथुन क्रिया करना, शरीरसे परिग्रहोंका ग्रहण करना, इत्यादिक जो विशिष्ट क्रियायें उनका यहा काय शब्दसे समग्र करना चाहिये. कायिक क्रियाओंसे आत्माका संरक्षण करना कायगुप्ति है ऐसा आचार्यमहाराजने व्याख्यान किया है.

छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो ॥

तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥ ११८९ ॥

पुरस्स खातिका यद्धत्तस्स च यथा वृत्तिः ॥

तथा पापस्स संरोधे साधूनां गुप्तयो मता ॥ १२२९ ॥

विजयोदया—छेत्तस्स वदी क्षेत्रस्स वृत्ति । नगरस्स खातिका अथवा प्राकारो भवति नगरस्स । तथा पावस्स णिरोधो पापस्य निरोधोऽप्यव । ताओ गुत्तीओ ता गुप्तय साधो ॥

गुप्तीना पापनिरोधोपायता द्रढयति—

मूलारा—पावस्स णिरोधो यथा क्षेत्रादेर्मृगचोरगणपायहेतुनिरोधे श्रुत्यादय उपायास्तथा पापनिवारणे मुने गुप्तय इत्यर्थः ।

अर्थ—खेतका संरक्षण उसके आममतात् जो बाढ लगाई जाती है वह करती है नगरका संरक्षण खाई व तट करते हैं तथा ये तीन गुणियां साधुका पापसे रक्षण करती है पापोंका निरोध करनेमें अर्थात् सवर करनेमें ये उपाय हैं.

तस्मात्तिविहेण तुमं मणवचिकायप्पओगजोगम्मि ॥

होहि सुसमाहिदमदी गिरंतरं ज्ञाणसज्झाए ॥ ११९० ॥

तस्मान्मनोवच-कायप्रयोगेषु समाहितः ॥

भव त्वं सर्वदा जातस्वाध्यायध्यानसंगतिः ॥ १२१० ॥

त्रिजयोद्रया—तस्मात्तिविधेण मणवचिकायप्पओगजोगम्मि मनोवाक्कायविषयप्रकृष्टे योगे । तुमं त्व । सुसमा-  
हिदमदी होहि सुष्ठु समाहितमतिर्भव । कथं ? गिरंतरं ज्ञाणसज्झाए निरंतरप्रवृत्तध्यानस्वाध्याय. ध्यानस्वाध्यायवितरेण  
गुणतयो नावतिष्ठन्त इति भावः ॥

एव तिस्रोऽपि गुप्तीः प्ररूप्य तत्र क्षपकं सुसमाहितं कर्तुं क्षेमसुपायमाह—

मूलारा—तन्वा यस्माद्रुमयः पापनिरोधोपायास्तस्मान्निविधेऽपि मनोवाक्कायविषये प्रकृष्टे योगे व्यापारे सुस-  
माहितमतिर्भव त्वं । कथंभूतः सन् ? गिरंतरं ज्ञाणसज्झाए संतत ध्याने स्वाध्याये वा प्रवर्तमानः सन् । ध्यानस्वाध्या-  
याभ्या विना गुप्तयो नावतिष्ठन्ते इति भावः ॥ उक्तं च—

तस्मान्मनोवचःकायप्रयोगे सुसमाहितः ॥

भव त्वं सर्वदा जातस्वाध्यायध्यानसंगतिः ॥

अर्थ—ये तीनो गुणियां पापका संवर करनेमें कारण हैं इसलिये मन, वचन और शरीरकी प्रवृत्तिओंमें  
दे क्षपक । तुमको हमेशा सावधान रहना चाहिये. और हमेशा ध्यान और स्वाध्यायमें तत्पर रहना चाहिये, ध्यान  
और स्वाध्यायमें तत्पर रहनेसे गुप्तिओंका संरक्षण होता है जो ध्यान और स्वाध्यायमें अपनेको तत्पर नहीं करता  
है उस क्षपककी गुणियां स्थिर नहीं रह सकती

समितिर्व्याख्यानायोत्तरप्रबंधस्तत्रैयसमितिनिरूपणयोत्तरा गथा—

ममगुज्जोदुपओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो ॥

सुत्ताणुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवयणस्मि ॥ ११९१ ॥

मार्गेद्योतोपयोगानामालंबस्य च शुद्धिभिः ॥

गच्छतः सूत्रमार्गेण मतेर्यासमितिर्यते ॥ ११९२ ॥

विजयोदया—ममगुज्जोदुपओगालंबणसुद्धीहिं मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धिरूपयोगशुद्धिश्चालंबनशुद्धिरिति चतस्र शुद्धयस्ताभि करणभूताभिः । इरियदो गच्छत । मुणिणो मुने । सुत्ताणुवीचि सूत्रानुसारेण । भणिदा कथिता । इरियासमिदी ईर्यासमिति । पवयणस्मि प्रवचने । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम अमचुरपिपीलिकादित्रयसता, वीजाकुरत्तुणहरित-पलाशरुईमादिरहितता ॥ स्फुटतरता व्यापिता च उद्योतशुद्धि । निशाकरनक्षत्रादीनामस्फुट-प्रकाशः, अवश्यापी प्रदीपादिप्रकाशः । पादोद्धारनिक्षेपदेशजीवपरिद्वरणावहितचेतस्ता उपयोगशुद्धि । गुरुतीर्थयतिवदनादिकमपूर्वशास्त्रार्थ ग्रहण, सयत्प्रयोग्यक्षेत्रमार्गणं, वैयावृत्यकरणं, अनियतावाससास्थसंपादने श्रमपराजयं, नानादेशभाषाशिक्षण, वित्तयजनप्रतिबोधानं चेति प्रयोजनपेक्षया आलंबनशुद्धि । किं तत् सूत्रानुसारिगमन, अदूर्तं, नातिविलंबित, पुरो युगमात्र दक्षेणप्रवृत्ति, अविरुष्टचरणन्यास, भयाविसयावतरेण सलीलमनत्युत्क्षेप, परिद्वतलघनधावनप्रविलंबितभुज, निर्द्विकार, व्यवपलमसंश्रान्तमननूर्ध्ववृत्तिर्येकमेक्षण, हस्तमात्रपरिद्वततरुणतृणपल्लव, अरुतपशुपक्षियुगोद्वेजन, विरुद्धयोनिसमक्रमण-जातवाधाव्युदासाय कृतासरुत्पातिलेखन, अग्रतिसारितप्रतिमार्गयाधिसंबद्धनं । दुग्धेधनुवलीवईसारमेयादिपरिद्वति चेतुरः, परिद्वतबुसतुमपीभस्माद्रोगोभयतृणनिचयजलोपलफलक, दूरीकृतचोरीकलहं, अनाकूढसत्तम निरूपयतो यतेर्यासमिति ॥

समितीर्व्याकारिव्यथादौ ईर्याममिति निर्दिशति—

मूलारा—ममगुज्जोदुपयोगालंबणसुद्धीहिं मार्गेद्योतोपयोगालंबनशुद्धिभिश्चतसृभिः करणभूताभिः । इरियदो गच्छत । सुत्ताणुवीचि सूत्रानुसारेण । तत्र मार्गस्य शुद्धिः पिपीलिकादित्रयात्पत्वं, वीजाकुरत्तुणहरितपत्रजलकईमादिरहितत्व, स्फुटतर-त्वं, व्यापित्व च । उद्योतशुद्धिः स्पष्टप्रसूतत्वं, रविकरप्रकाशस्य ॥ उपयोगशुद्धिः—पादोद्धारनिक्षेपदेशवर्तिप्राणिपरिहरण प्रणिधानपरायणत्वं । आलंबनशुद्धिर्गुरुतीर्थैत्ययतिवदनादिकमपूर्वशास्त्रार्थग्रहणं, संयमयोग्यक्षेत्रमार्गणा, वैयावृत्यकरणं, अनियतावाससास्थसंपादनं, श्रमजयो, नानादेशभाषाशिक्षणं, विनयेजनप्रतिबोधनेमवमादिसार्गाविरोधिप्रयोजनापेक्षा । सूत्रानुवीचिगमनं तु नातिदुतविलंबित, पुरो युगमात्रदर्शनप्रवृत्तिक, अदूरचरणन्यासं, निर्भयाविसयमसलीलमनत्युत्क्षेपं,

परिहृतलयनधावनादिक्रियं, प्रविलंबितयुज निर्बिकारमचपल, असंभ्रान्त, अनुद्ध्वितिर्यक्प्रक्षणं, हस्तमात्रपरिहृततरुणवृण-  
पल्लव, अकृतपशुपक्षिमृगोद्देजनं, विरुद्धयोनिसक्रममाविजीववाधापरिहारयासकृत्यतिलेखन, वर्जितसम्युदागच्छज्जनसव-  
ट्टनं, दुष्टधेनुष्टपभसारमेयाडिपरिहारचतुरं, परिहृतसुप्तपुमसीभस्माद्गोमयवृणनिचयजलोपलफलकं, दूरीकृतचोरीकलह,  
अनारुढसंक्रमं चेति ॥

सप्तमिका व्याख्यान आचार्य करते हैं प्रथमतः ईर्यासमितीका निरूपण करते हैं—

अर्थ—मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि, और आलवनशुद्धि ऐसी चार शुद्धियोंका आश्रय करके  
गमन करनेवाले मृगिकी मूत्रानुसार ईर्यासमिति पाली जाती है ऐसा आगममें कहा है

मार्गकी शुद्धि—चौंटी वगैरे त्रसजीव, तथा बीज, अकुर, वृण, हरे हरे पत्र, और कीचड वगैरहसे रहित  
जो मार्ग है वह शुद्धमार्ग माना जाता है

उद्योतशुद्धि—प्रकाशमें अर्थात् सूर्य प्रकाशमें अधिक स्पष्टपना, और व्यापकता होना उद्योतशुद्धि है चंद्र और  
नक्षत्रोंका प्रकाश, अस्पष्ट रहता है, प्रदीपक वगरहका प्रकाश अव्यापक अर्थात् थोड़ीसी जगह घेरता है

उपयोगशुद्धि—पांव उठाकर जिस स्थानपर रखना हो उस स्थानपर जीव जंतु हैं या नहीं इसका विचार  
कर पाव रखना चाहिए यह उपयोग शुद्धि है

आलवनशुद्धि—शुरुवंदना, तीर्थवंदना, चैत्यवदना और यतिवंदनादिकोंका कारण, तथा अपूर्व शान्नायिका  
ग्रहण, समयके योग्य क्षेत्रको ढूंढना, वैयावृत्य करना, अनियत स्थानमें रहना, स्वास्थ्यका मपादन करना, श्रमको दूर  
करना, अनेक देशोंकी भाषाओंका अध्ययन करना, भव्योंको उपदेश देना इत्यादि कार्योंकी अपेक्षासे एक स्थानसे  
दूसरे स्थानपर जाना इसको आलवनशुद्धि कहते हैं

आचार-शान्नायक वर्णन किये प्रकारसे गमन करना चाहिये अर्थात् वेगसे गमन नहीं करना, अतिशय मंद  
भी गमन नहीं करना चाहिये, आगे चार हाथ जमीन देखकर गमन करना चाहिये दूर अंतर पर पांव नहीं रखने  
चाहिये भीति और विस्मय का त्यागकर चलना चाहिये इधर उधर न देखकर गमन करना चाहिये कूदना, भागना  
ये क्रिया छोडकर और बाहु नीचे छोडकर जाना चाहिये निर्बिकार, चपलता रहित, ऊपर तथा इधर उधर न  
देखकर, जाना चाहिये वृण, पल्लवादिकसे एक हाथ दूर रहकर गमन करना चाहिये पशु, पक्षी और मृगोंको



तकलीफ न होगी इस प्रकारसे गमन करना चाहिये. विरुद्ध उत्पत्ति स्थानोंमें प्रवेश करते समय वहाँके त्रसजीवों को अपने शरीरसे वाधा न हो इसलिये बार बार प्रतिलेखनसे अर्थात् पिछिकासे शरीर स्वच्छ करना चाहिये. मार्गमें चलते समय अपने शरीरको इतरोंका धक्का न लगे इस तरहसे चलना चाहिये. दुष्ट गौ, बैल, कुत्ता, इत्यादि प्राणिओंका परिहार करके गमन करना चाहिये धान्यका भूसा, शालीधान्यके छिलके, कज्जल, भस्म, गीला गोबर, तणका ढेर, पानी, पत्थर, फलक इनका परिहार करके गमन करना चाहिये. चोर, कलह इत्यादिकसे दूर रहकर गमन करना योग्य है. जाते समय अपने पावोंसे कोई चीजका अथवा प्राणीका आपसमें प्रवेश न हो इस प्रकारसे गमन करना यह मुनिकी इर्थासामिति है

भाषासमिति निरूपणार्थोत्तरगाथा—

सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं ॥

वदुमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुद्धा ॥ ११९२ ॥

न्यालीकादिविनिमुक्तं सत्यासत्यमृषाद्वयम् ॥

वदतः सूत्रमार्गेण भाषासमिति रिरच्यते ॥ १२३२ ॥

विजयोदया—चतुर्विधा वाक्—सत्या, मृषा, सत्यसहिता मृषा, असत्यमृषा चेति । सता हिता सत्या । न सत्या न च मृषा या सा असच्चमोसा । द्विप्रकारा वाचमिर्थभूता । अलियादिदोसवज्जं व्यलीकता अर्थाभावः, पाखण्यं, पैशुन्यमित्यादिदोपरहितं । अणवज्जं पापास्त्रचो न भवति इत्यनवय । वदमाणस्स व्याहरतः । अणुवीची सूत्रानुसारेण भासासमिदी सुद्धा हवदि भाषासमिति शुद्धा भवति ॥

भाषासमिति न्याकरोति—

मूला—सच्चं सत्यं । जनपदादिभेदादशविधं । त्रतसत्याद्धर्मसत्याच्च कोऽस्य भेद इति चेत् ब्रूमः । श्लोकः—  
असत्यविरतौ सत्य सत्त्वसत्त्वपि यन्त्यतम् ॥

वाक्समित्या मितं तद्धि धर्मे सत्त्वेव बह्वपि ॥ १ ॥

असच्चमोस असत्यमृषा । न सत्यं नाप्यसत्यमित्यर्थः । अलियादीदोसवज्जं । असत्यता, असत्यासत्यता, पाखण्यं, पैशुन्यमित्यादिदोपरहित । अणवज्जं हिंसादिपापास्त्रवरहित । अणुवीची सूत्रानुसारेण ॥

अर्थ—वचनके चार प्रकार हैं सत्यवचन, मृपावचन-असत्यवचन, सत्यासत्यवचन और असत्यासत्य वचन. सत्पुरुषोंका हित करनेवाला वचन सत्यवचन है जो सत्य ही नहीं और असत्य ही नहीं ऐसे वचनको असत्यमृपा अर्थात् असत्यासत्य वचन कहते हैं साधु अर्थात् यतिगण उपर्युक्त दो प्रकारके भाषण बोलते हैं. इन दो प्रकारोंके वचनोंमें असत्यपना, व्यर्थपना, कठोरता, निंदा वगैरे दोषोंका अभाव रहता है ऐसे वचनोंसे पाप कर्मका आगमन होता नहीं. मुनिगण सूत्रानुसार निदर्प भाषण करते हैं इसको भाषासमिति कहते हैं

सत्यवचनमेव निरूपयति—

जणवदसंसंदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे ॥

संभावणववहारे भावेणोपम्मसञ्चेण ॥ ११९३ ॥

देशसम्मतिनिक्षेपनामरूपप्रतीतिता ॥

संभावनोपमाने च व्यवहारे भाव इत्यपि ॥ १२३३ ॥

विजयोदया—जणवदसंसंदि नानाजनपदप्रसिद्धा सुसंकेतानुविधायिनी वाणी जनपदसत्यं । गच्छति इति गौ, गर्जेतीति गज इत्येवमादिका अवयवार्थानुगामाभावेऽपि विवक्षितार्थप्रवृत्तिनिमित्तभूता । सम्मदिशद्देन संस्थानाभ्युपगम उच्यते । गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिका शब्दाः शुभलक्षणयोगात् केपाचित स्वतो लक्षणत्वादीश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य कचिद्वत्ते मानवे वा प्रयुज्यमाना सम्मतिसत्यशब्देनोच्यते । अर्हर्हिद्र स्कद इत्येवमादय सद्भावासद्भावस्थापनाविषया स्थापनासत्यं । अरिद्धन्न, रजोद्धनं, ईदवं इत्येवमादीना क्रियाणा तत्राभावाद्धलीकता नाशकनीया आकारमात्रे परमार्थत्वात्सर्वभावाना । तस्य च स्थापनाया वस्तुवास्तित्वादुद्धिपरिग्रहेण वा सद्भावात् । इन्द्रादि संज्ञा सम्प्रवृत्ति निमित्तजातिगुणक्रियाद्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दार्थमिधेयसंवधपरिणतिमात्रेण वस्तुना प्रवृत्ता नामसत्य । रूपग्रहणं उपलक्षणं प्रवृत्तिनिमित्ताना नीलमुत्पलं, धवलो हि मृगलाञ्छन इत्येवमादिकं रूपसत्यं । सेवच्यतरापेक्षाभिधागं च वस्तुस्वरूपालम्बन दीर्घो न्दृस्व इत्येवमादिकं प्रतीत्यसत्य । वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात् सभावनाया दृष्ट संभावनासत्यं । अपि दोर्म्यां समुद्रं तरेत् । शिरसा पर्वत भिंधात् इत्यादि ॥ वर्तमानकाले स परिणामो यद्यपि नास्ति तथाप्यतीतानागतपरिणामान्प्रति इदमेव द्रव्यमिति कृत्वा प्रवृत्तानि वचांसि ओदन पच, कटं कुर्मित्येवमादीनि व्यावाहरसत्यं । अहिंसालक्षणे भाव. पाल्यते येन वचसा तद्भावसत्यं निरीक्ष्य स्वप्रयत्नाचरो भवेत्येवमादिक । पत्योपमसागरोपमाविकमुपमा सत्यम् ॥

किं तज्जनपदादिभेदाशया सत्यमित्याह—

मूलारा—जणपदेत्यादि—जनपदसत्यं नानादेशप्रसिद्धवचनं । यथा कूरो, चारो, ओदनमिति । सम्मतिसत्यं यथा राजा नरोऽपि देवो भण्यते । तद्वार्यां देवीति सर्वैस्तथाभ्युपगमात् । अथवा गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिकाः शब्दाः शुभलक्षणयोगात्केपांचित् स्वतो लक्षणानां ईश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य कचिद्वेदे मानवे वा प्रयुज्यमानाः सम्मतिसत्यशब्देनोच्यन्ते । स्थापनासत्यं यथा पापणप्रतिमाद्विषयं चक्रेश्वरी, अयमर्हन् इति तदिदमिति बुद्धिपरिग्रहेण सद्भावात् । नामसत्यं इन्द्रादिमज्ञा । रमयवृत्तिनिमित्तजातिगुणक्रियाद्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयत्वपरिणतिमात्रेण वस्तुतः प्रवृत्ता यथा मनुष्यमात्रेऽपि अयमिन्द्रोऽयमीश्वर इत्यादि ॥ रूपसत्यं नानारूपत्वेऽपि कस्याचिद्रूपस्य प्रकर्षमपेक्ष्य प्रयुज्यमानं वचनं यथा नीलमुत्पलं, श्वेता वलाकेति ॥ प्रतीत्यसत्यं सर्वव्यवहारापेक्षाभिर्व्यवस्तुरूपालम्बनं दीर्घो ऋहस्य इत्येवमादि । लघ्वंगुली, दृढदंगुली इत्यादि ॥ सभवनसत्यं यथा वस्तुनि तथा प्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनादप्रवृत्त यथा—अपि दोषार्थं समुद्रं तरेदेवदत्तं । चारित्रसारं पुनरस्य स्थाने संयोजनासत्यं दृश्यते यथा—रूपचूर्णवासनानुलेपनप्रकर्षादियु पद्मामरहस्यसर्वतोभद्रकोचव्यूहादिषु वा चेतनेतरद्रव्याणां यथाभागविधानसन्निवेशानिर्भावकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यम् । भाविभूतपरिणामापेक्षया प्रवृत्त यथा मित्रेऽप्योदने लोकव्यवहारानुसरणात्तंडुलान्पवेति वाच्ये ओदनं पचेत्यादिवचनं ॥ भावसत्यं च रत्नज्ञानस्य द्रव्ययागाल्यादर्शनेऽपि सत्यस्य सयतामयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुक्रमिदमप्रासुकमिदमित्यादिवचनं । निरीश्वर्य, प्रयत्नाचारी भवेत्येवमात्रिकं वा । अहिमालक्षणाभावपालनागत्वात् । औपम्यसत्यं यथा चंद्रमुली कन्या, समुद्रमत्तडानमित्यादि ॥

सत्यं नचनके भेदं कहते हैं—

अर्थ—जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य, संभावनासत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य और उपमासत्य ऐसे सत्यके दस भेद हैं. इनके विशेष स्वरूपका विवेचन—

१ जपनटसत्य—अनेक देशोंमें प्रसिद्ध संकेतका अनुकरण करनेवाला जो वचन उसको जनपदसत्य कहते हैं जैसे 'गच्छतीति गो' 'गर्जतीति गज' अर्थात् जो जाता है उसको गो कहते हैं अर्थात् बैलको गो कहना चाहिए भी शब्दका संकेत बैल नामक पदार्थमें है. जो गर्जना करता है उसको गज अर्थात् हाथी कहना चाहिए गजशब्दका संकेत हाथीमें प्रसिद्ध है यद्यपि यहां निरुक्तीमें प्रतिपादित अर्थका वस्तुमें अनुसरण नहीं दीखता है तथापि ये शब्द विवक्षित पदार्थोंमें प्रवृत्ति करानेमें निमित्त होते हैं

२ सम्मतिसत्य—सम्मत शब्दसे आकृतिका ग्रहण होता है, गजेंद्र, नरेंद्र इत्यादिक शब्द शुभ लक्षणके धोतक हैं, कोई पदार्थ स्वतः शुभ लक्षणसंपन्न दीखते हैं अतः उसमें स्वतः ईश्वरपना—संपन्नपना दृष्टिगोचर होता है उसके ईश्वरपनाका आधार लेकर अन्य गज—हाथी अथवा मनुष्यमें उसका प्रयोग करते हैं ऐसे शब्दको सम्मति सत्य कहते हैं, जैसे गजकी विशालता देखकर उसको गजेंद्र कहना किसी मनुष्यमें राजाके समान संपन्नता देखकर उसको सच लोक नरेंद्र कहते हैं, राजा, राव, राणा वगैरह शब्द सम्मतिसत्य हैं

स्थापना सत्य—अर्हत्, इंद्र और स्कंद वगैरह शब्द सद्भाव असद्भाव स्थापनाके विषय हैं, इनको स्थापना सत्य कहते हैं, अरिहिनन मोहनीयकर्मका नाश होना, रजोहिनन ज्ञानावरण और दर्शनावरणका नाश होना इत्यादिक क्रिया अर्हन्तमें रहती हैं अतः उसमें असत्यपनाका संशय लेना योग्य नहीं है, अर्हन्तके समान प्रतिमाका आकार रहता है अतः अर्हन्तकी उसमें स्थापना करते हैं ऐसा आकार रखकर मूल पदार्थोंकी उसमें स्थापना करते हैं तथा वैसे पदार्थ देखकर उसमें यह वह वस्तु है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती ही है यह स्थापना सत्य समझना चाहिए.

वाम सत्य—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया इनकी अपेक्षाके विना ही शब्दका पदार्थ के साथ संबन्ध कर देना वह नाम सत्य है, जैसे जीवनक्रिया अचेतन पदार्थ में न रहत हुए भी उसको जीव कहना किसी पदार्थका इंद्र वगैरह नाम रखते समय इंद्र की देवत्व जाति, परमेश्वर्य संपन्नता वगैरह गुणोंका विचार न करके व्यवहार के लिए इंद्र ऐसा नाम रखना.

रूपसत्य—रूपशब्द प्रवृत्ति निमित्तका उपलक्षण हैं जैसे कमलमें नीलगुणका प्रकर्ष देखकर उसको नीलकमल कहना चंद्रमें सफेदपनाकी अधिकता देखकर उसको धमल कहना इत्यादिक उदाहरण रूपसत्यके समझ लेने चाहिये.

प्रतीतिसत्य—किसी अन्य संबन्धी पदार्थकी अपेक्षासे वस्तुस्वरूपका निर्णय करके वैसा कहना जैसा दीर्घ वस्तुको देखकर दूसरी वस्तु न्दृश्व कहना वगैरह.

संभावना सत्य—वस्तुका वैसी प्रवृत्ति नहीं होते हुये भी वैसी प्रवृत्ति करनेकी उस पदार्थमें योग्यता है यह जान कर वैसी कल्पना करना जैसे यह अदमी अपनी दो भुजाओंसे समुद्रको तीर सेकेगा ऐसा कहना यह

यह संभावना सत्य है यह मनुष्य यस्तकसे पर्वतका भेद न करेगा वगैरह इस सत्यके उदाहरण हैं व्यवहारसत्य-वर्तमानकालमें पदार्थका वह परिणाम नहीं है तथापि भूतकालमें वह परिणामन था अथवा भविष्यत्कालमें वह उत्पन्न होगा तथापि चही यह पदार्थ है ऐसा समझकर जो वचनप्रवृत्त होते हैं उनको व्यवहार सत्य कहते हैं जैसे भात पकाओ, चटाई बनाओ इत्यादि.

भावसत्य-अर्हिसालक्षणतात्मक परिणामका जिस वचनसे रक्षण होता है उसको भावसत्य कहते हैं. जैसे जीवोंको देखकर यत्नचारपूर्वक प्रवृत्ति करो ऐसा उपदेश देना उपमासत्य-जैसे पल्योपम है, सागरोपम है यह उपमा सत्य है.

सृपादिवचनत्रयलक्षण कथयन्ति—

तत्त्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्थ सत्त्वमोसं तं ॥

तत्त्विवरीया भासा असत्त्वमोसा हवे दिठ्ठा ॥ ११९४ ॥

विजयोदया—तत्त्विवरीदं सत्यविपरीतं । मोसं सृपा 'असदभिधानमनृतं' इति वचनात् । मिथ्याज्ञानमिथ्यादर्शनयोरसयमस्य वा निमित्त वचनमसदभिधान अग्रशस्ते तत्सत्यविपरीतं । त उभयं तत्सत्यमनृतं च उभयं जत्थ यस्मिन् वान्ने । तं तद्वाक्यं । सत्त्वमोस सत्यमृपेत्युच्यते । तत्त्विवरीदा भासा सत्यादयुतान्मिथा च पृथग्भूता भासा भापा वचनं असत्त्वमोसा असत्यमृपेति । हवे भवेत् । दिठ्ठा दृष्टा पूर्वगोमेपु । एकातेन न सत्या नापि सृपा नोभयमिथा किंतु जात्यंतरं यथा वस्तु नैकातेन नित्यं नापि अनित्य नापि सर्वथा एकातयो समुच्चय' किंतु कथचिद्रूपान्नित्यानित्यात्मकं । एवमिय भारती ॥

असत्यादिवचनत्रयलक्षणार्थमाह—

मूलारा—तत्त्विवरीदं मोसं मिथ्याज्ञानासंयमादिनिमित्तत्वात्सत्यविपरीतसृपा । तं उभयं सत्यसृपाद्वय । जत्थ यस्मिन्वचने । सत्त्वमोस सत्यानृतं यथा सर्व दत्तं, सर्व श्रुतं, सर्व मुक्त । अथवा घृतशर्करामिश्र गोक्षीर शोभन स्यादिति ज्वरितेन पृष्टे सति शोभनमिति वचस्तस्य माधुर्यार्थदिप्रशस्त्यगुणोपेक्षया सत्यत्वाज्ज्वरयुद्धिनिमित्तत्वापेक्षया च सृपात्वात् । तत्त्विवरीदा सत्यादसत्यान्मिश्राच्च पृथग्भूता असत्त्वमोसा एकान्तेन न सत्या, नापि सृपा, नोभयमिश्रिता किंतु जात्यंतरं । यथा वस्तु नैकान्तेन नित्यं, नाप्यनित्यं नापि सर्वथैकान्तयोः समुच्चयः किंतु कथचिद्रूपान्नित्यानित्यात्मकमेव । नवधा वेपा ॥

असत्यादि तीन वचनोंका लक्षण कहते हैं—

अर्थ—उपर्युक्त सत्य भाषणके विरुद्ध जो भाषण उसको असत्य भाषण कहते हैं ‘असदभिधानमनृतं’ प्रमादसे प्राणिओंको पीडा होगी ऐसा भाषण गोलना वह असत्यभाषण है ऐसा सूत्रकार कहते हैं. अथवा जिम भाषणसे मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और असत्यमकी उत्पत्ति होगी वह भी असत्य भाषण है जो भाषण अप्रशस्त है अर्थात् सज्जनोंने जिमकी प्रशंसा की नहीं वह असत्य भाषण समझना चाहिये

जिस भाषणमें सत्यपना और असत्यपना दोनों हैं उसको सत्यमृषा भाषण कहते हैं सत्य, असत्य और मिश्र भाषणोंसे जो भिन्न है अर्थात् जिसमें सत्यताभी नहीं और असत्यताभी नहीं वह भाषण असत्यमृषा है. जिसको सत्यभी नहीं कह सकते जो असत्यभी नहीं मानी जाती है ऐसी और जिसको मिश्रभी नहीं कहा जाता है ऐसी भाषणको असत्यमृषा कहना चाहिये

जैसे वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है, सर्वथा अनित्य नहीं है व सर्वथा नित्यानित्यात्मकभी नहीं है. परंतु उस नित्यानित्यत्व धर्मोंका समुच्चय है अर्थात् कथंचिन्नित्यानित्यात्मक है. उसी तरह असत्यमृषा भाषण समझना चाहिये. सत्य और मृषा इन दोनोंका मिश्रणभूत जो भाषा उनको मत्यमृषा कहते हैं उसका उदाहरण ऐसा है—  
वी और खांडमे मिश्रित गायका दूध शोभन है क्या ? ऐसा पूछने पर वह शोभन है ऐसा कहना दूधको माधुर्यादि गुणोंकी अपेक्षांसे सत्य कह सकते हैं और जर वहांनेमें वह कारण होगा इसकी अपेक्षासे वह असत्य है.

सा नवप्रकारा तस्याश्च भेदा इयत् इति गावाद्वयेनाद्ये—

आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पणवणी॥

पच्चक्खणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥ ११९५ ॥

आज्ञापनी संबोधनी प्रच्छनी प्रत्याख्यानी याचनी प्रज्ञापनीच्छाणुलोमा सांशयिकी निगक्षरा चेति नवधा सत्यमृषाभाषा संतव्या ॥ १२३४ ॥

विजयोदया—आमंतणी यथा वाचा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमत्रणी । वे देवदत्त इत्यादि अगृहीतसंकेतान् अभिमुखी करोति तेन न मृषा गृहीतागृहीतसंकेतयो प्रतीतिनिमित्तमभिमतं चेति ज्ञातमकता । स्वाध्याय कृत, विरमतासयमात् इत्यादिका अनुशासनवानी माणवणी । चोदितया क्रियाया. करणमकरण वोपपद्य नैकान्तेन सत्या न

मृपैव वा । जायणी क्षानोपकरणं पिच्छादिकं वा भवद्भिर्दातव्यं इत्यादि का याचनी । दातुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा । निरोध वेदनास्ति भवतां न वेति प्रश्नवाक् संपुच्छणी यद्यस्ति सत्या न चेदितरा । वेदनाभावाभावमपेक्ष्य प्रवृत्तेरुभयरूपता । पणवणी नाम धर्मकथा । सा वह्निर्दिश्य प्रवृत्ता कैश्चिन्मनसि करणमितरैरकरण चापेक्ष्य करणत्वाद्विरूपा । पञ्चमखणी नाम केनचिद्गुरुमननुक्षाय इव क्षीरादिक इयं कालं मया प्रत्याख्यातं इत्युक्तं कार्यांतरमुद्दिश्य तत्कुवित्युदितं गुरुणा प्रत्याख्यानवाधिकालो न पूर्ण इति नैकातत सत्यता गुरुवचनायवृत्तो न दोषयेति न मृपेकांत । इच्छानुलोमा य ज्वरितेन प्रष्टुं घृतशर्करामिश्र क्षीरं न शोभनमिति । यदि परो ब्रूयात् शोभनमिति । माधुर्यादिप्रशस्य गुणसद्भावं ज्वरवृद्धिनिमित्तता चापेक्ष्य न शोभनमिति वचो न मृपेकाततो नापि सत्यमेवेति द्रव्यात्मकता ॥

के ते उभयभाषाभेदा नवेति पृष्टस्तान्नाथाद्वयेनाचष्टे—

मूलारा—आमतजि संवोधिनी हे देवदत्त इत्यादिका । आणवणी आज्ञापनी इदं कुर्वित्यादिका । जायणी याचणी यथा त्वा किंचिदहं याचिष्ये । संपुच्छणी मंत्रच्छनी यथा त्वा किंचित्पुच्छामि । पणवणी प्रज्ञापनी यथा तव किंचित्कथयिष्यामि । पञ्चकराणी प्रत्याख्यापनी यथा त्वा किंचित्स्याजयिष्यामि । इच्छानुलोमा छंदानुकूला वाक् यथा शालितालत्रीहयो भवन्तीति गुरुणोक्ते एवमेतदिति शिष्यवाक् ॥

असत्यमृषा भाषण के नऊ प्रकार हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

अर्थ—जिस भाषासे दूसरोंको अभिमुख किया जाता है उसको आमंत्रणी-संवोधिनी भाषा कहते हैं जैसे 'हे देवदत्त यहां आओ' देवदत्त शर्करा संकेत जिसने ग्रहण किया है उसकी अपेक्षासे यह वचन सत्य है जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसकी अपेक्षासे असत्य भी है.

आणवणी-आज्ञापनी भाषा जैसे स्वाध्याय करो, असंयमसे विरक्त हो जाओ ऐसी आज्ञा दी हुई किया करनेसे सत्यना और न करनेसे असत्यता इस भाषामें है. इस लिये इसको एकान्त रीतीसे सत्यभी नहीं कहते और असत्यभी नहीं कह सकते हैं

याचनी-ज्ञानके उपकरण शास्त्र और समयके उपकरण पिच्छादिक मेरेको दो ऐसा कहना यह याचनी भाषा है दाताने उपर्युक्त पदार्थ दिये तो यह भाषा सत्य है और न देनेकी अपेक्षासे असत्य है. अतः यह सर्वथा सत्यभी नहीं है और सर्वथा असत्यभी नहीं है

प्रश्न पृष्ठना उसको प्रश्नभाषा कहते हैं जैसे तुमको निरोधमें-काराग्रहमें वेदना-दुःख हैं या नहीं वगैरह.

यदि वेदना होती हो तो सत्य समझना न हो तो असत्य समझना वेदनाका सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा इसको सत्यासत्य कहते हैं.

पणवणी-धर्मोपदेश करना इसको मज्ञापनी भाषा कहते हैं यह भाषा अनेक लोगोंको उद्देश्य कर कही जाती है. कोई मनःपूर्वक सुनते हैं और कोई सुनते नहीं. इसकी अपेक्षा इसको असत्यपट्टा कहते हैं.

पच्चक्खणी-किसिनि गुरुका अपने तरफ लक्ष न स्वीचकरके कहा कि मैने इतने कालतक धीरादिक पदार्थोंका त्याग किया है ऐसा कहा. कार्यतरको उद्देश करके वह करो ऐसा गुरुने कहा प्रत्याख्यानकी मर्यादाका काल पूर्ण नहीं हुआ तब तक वह एकांतसत्य नहीं है. गुरुके वचनानुसार प्रवृत्त हुआ है इस वास्ते असत्य भी नहीं है.

इच्छानुलोभा-ज्वरितमनुष्यने पूछा घी और शक्कर मिला हुआ दूध अच्छा नहीं है ? यदि दूसरा कहेगा कि वह अच्छा है तो मधुरतादिक गुणोंका उसमें सद्भाव देखकर वह शोभन है ऐसा कहना योग्य है परन्तु ज्वर बुद्धिको वह निमित्त होता है इस अपेक्षासे वह शोभन नहीं है अतः सर्वथा असत्य और सत्य नहीं है इसलिए इस वचनमें उभयात्मकता है

संसयवयणी य तथा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा ॥

णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवदि णेया ॥ ११९६ ॥

चिज्योदया-संसयवयणी किमय स्थाणुरुत्त पुरुष इत्यादिका द्वयोस्कस्य सद्भावमितरस्याभाव चापेक्ष्य छिरूपता । अणक्खरगदा अगुल्लिस्फोटादिच्चनि कृताकृतसकतपुरुषापेक्षया प्रतीतिनिमित्तमनिमित्तता च प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा ॥

मूलाराधना-संसयवयणी किमयं स्थाणुरुत्त पुरुष इत्यादि सद्विधवाक् । अणक्खरगदा अक्षरहीना यथा अंगुलिस्फोटादिशब्दाश्च वृत्तसंकेतस्यैवाथप्रतिपत्तिनिमित्तत्वात् । सिद्धातरत्नमालया पुनरित्थमान्नातम्—

याचनी ज्ञापनी पृच्छानयनी संशयन्यपि ॥

आह्वानीच्छानुक्कुला वाक् प्रत्याख्यान्यव्यनक्षरा ॥

असत्यमोपभापेति नवधा बोधिता जिनैः ॥



व्यक्तान्यक्तमतिष्ठानं वस्तु श्रोतुश्च यद्भवेत् ॥  
 त्वामहं याचयिष्यामि नापयिष्यामि किंचन ॥  
 ग्रन्थुमिच्छामि किञ्चित्त्वामाग्नेयमि च किंचन ॥  
 बालः किमेव वल्कीति व्रत सदेगिव मन्मथ ॥  
 आह्वयाम्येहि भो भिक्षो ! करोम्याद्या तव प्रभो ॥  
 किञ्चित्त्वा लाजयिष्यामि हुं करोत्यत्र नो कुतः ॥  
 याचन्यादिषु श्रद्धा दत्तमेते प्रदर्शिताः ॥

अर्थ—संशय वचन यह अमर्यमुपाका आठवा प्रकार है जेमे यह दृष्ट है अथवा मनुष्य है इत्यादि इसमें दोनोमेंसे एककी सत्यता है और इतरका अभाव है इस वास्ते उभयपना इसमें है। अनक्षर वचन—चुटकी वजाना, अंगुली में डपारा करना जिसको चुटकी वजानेका संकेत मालूम है उसकी अपेक्षा से उसको वह प्रतीति का निमित्त है और संकेत मालूम नहीं है उसको अवतीति का निमित्त होती है इस तरह उभयात्मकता इसमें है।

उगमउप्पायणएसणाहिं पिंडमुवधि सेज्जं च ॥

सोधितरस य मुणिणो विसुज्झए एसणासमिदी ॥ ११९७ ॥

आहारमुपधिं शय्यामुद्रमोत्पादनादिभिः ॥

विमुत्तं शुल्लत साधोरपणा समित्तिर्मता ॥ १२३५ ॥

विजयोदया—उगमउप्पादणमणाहिं उद्रमोत्पादनपणादोगद्वित भक्तमुपकरण वसतिं च शुल्लत एणसास-  
 भित्तिर्भवतीति सूत्रार्थः । शय्येकादिकटीकाया श्रीविजयोदयाया प्रपञ्चिता उद्रमादिदोषा इति नेह प्रतन्यन्ते ॥  
 एणणाममिति निर्दिशति—

मृलाग—सोधितरस लाजयतः । उद्रमादिदोषत्यक्तं पिंडादिकं शुल्लत इत्यर्थः ॥ विमुत्तदे निर्मला भवति ।

अर्थ—उद्रमदोष, उत्पादनदोष और एणणदोष इन दोषोंसे रहित जो मुनि उपकरण, आहार और

वसतिका का स्वीकार करते हैं, वे मुनि एण्णासमितीको नितीचार पालते हैं ऐसा समझना चाहिये श्रीविजयोदया नासकी दशवैकलिक टीकामें उद्गमादि दोषोंका सविस्तर विवेचन अपराजित सूरीने किया है अत एव यहाँ उसका निरूपण करना वे नहीं चाहते हैं

आदाननिक्षेपणनिरूपणार्थो गा-या—

सहसाणाभोगिददुपमज्जिय अपच्चवेसणा दोसो ॥  
परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवो ॥ ११९८ ॥  
सहसाहट्टुहट्टप्रत्यवेक्षणमोचिनं ॥  
भवत्यादाननिक्षेपसमितिव्रतवर्तिनः ॥ ११९९ ॥

विजयोदया—सहसणाभोगिद आलोकनप्रमार्जनमकृत्वा आदान निक्षेप इत्येको भगं । अनालोक्य प्रमार्जनं कृत्वा आदान निक्षेपो चेति द्वितीयो भगः । आलोक्य दु प्रमृष्ट इति तृतीयः । आलोकित प्रमृष्ट च न पुनरालोकित च शुद्धं चेति चतुर्थो भगः । एतद्वोपचतुष्टयं परिहरतो भवति आदाननिक्षेपसमिति ।

आदाननिक्षेपसमितिं लक्षयति—

मूलारा—आलोकनप्रमार्जनेऽकृत्वा पुस्तकादेरादानं, निक्षेपं वा कुर्वत एकः सहसाख्यो दोषः । अनालोक्य प्रमार्जनं कृत्वा पुस्तकादेरादान निक्षेप वा कुर्वतोऽनाभोगिताख्यो द्वितीयो दोषः । आलोस्यासम्यक्प्रतिलिख्य तद्गुह्यतो-  
निक्षिप्तो वा तृतीयो दुष्प्रमृष्टसंज्ञो दोषः । आलोकितं प्रमृष्ट च न पुनः शुद्धमशुद्ध चेति निरूपितमित्यादाननिक्षेपकरणाच्च-  
तुर्थोऽप्रत्यवेक्षणख्यो दोष एतात्स्यजत आदाननिक्षेपसमितिः स्यात् ॥

आदान निक्षेपका आचार्य निरूपण करते हैं—

अर्थ—विना देखे और विना भूमि स्वच्छ किये पदार्थ उठा लेना, यह पहिला भंग हुआ विना देखे भूमि स्वच्छ करके पदार्थ जमीनपर रखना अथवा उठा लेना यह द्वितीय भंग है, देखकरके भूमि स्वच्छ किये विना पदार्थ उठा लेना अथवा रखना यह तीसरा भंग है, देखना और थोडासा झाड़ लेना यह चौथा भंग है इन चार दोषोंका त्याग कर पदार्थोंको उठा लेना और रखना आदाननिक्षेपण समिति है अर्थात् जमीनको अच्छी तरहसे

देखकर और स्वच्छ कर उसपरसे पदार्थ उठा लेना अथवा उसपर पदार्थ रखना यह आदान निक्षेपण समिति है.

एदेण चेव पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिया होदि ॥

वोसरणिज्जं दव्वं थंडिल्ले वोसरित्तस्स ॥ ११९९ ॥

अनेनैव प्रकारेण प्रतिष्ठापनका मता ॥

समितित्त्यजतस्स्याज्यं प्रदेशे स्थंडिले यत्नेः ॥ १२३७ ॥

विजयोदया—एदेण चेव आदाननिक्षेपविषययत्नकथनेन । पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिदा होदि । प्रतिष्ठापनसमितिर्वर्णिता भवति । वोसरणिज्ज परित्यक्तव्यं मूत्रपुरीपादिकं मलं । थंडिल्ले वोसरित्तस्स स्थंडिले निर्जन्तुके, निश्चिच्छेद्रे, समे व्युत्सृजत ॥

प्रतिष्ठापनसमितिं व्याचष्टे—

मूलारा—एदेण आदाननिक्षेपविषययत्नकथनेन । वोसरणिज्ज अवश्योत्सृज्यं । दव्वं विष्णुमूत्रखेलसिंघाण-कण्ठदिंखुचितकेशादिक । थंडिले निर्जन्तुकनिश्चिच्छद्रसमत्वादिविशिष्टे प्रदेशे । तथा चावोचाम वर्मामृते—

निर्जनौ कुशले विविक्तविपुले लोकोपरोघोद्धृते ॥

छुष्टे छुष्ट उतोपरक्षितितले विघ्नादिकावुत्सृजन् ॥

बुध्रज्ञाश्रमणेन नक्तमभितो दृष्टे विभज्य त्रिधा ॥

सुसृष्टेऽप्यपहस्तकेन समितावुत्सर्गं उत्तिष्ठते ॥

अर्थ—आदाननिक्षेपण समितिका निर्दोष पालन करनेके कथनसेही प्रतिष्ठापन समितिकाभी वर्णन हुआ त्यागने योग्य मूत्र पुरीपादिक मलका त्याग निर्जन्तुक और निश्चिच्छद्र जमीनमें करनेवाले छुनि प्रतिष्ठापन समिति का पालन करते हैं.

एदाहिं सदा जुत्तो समिदीहिं जगम्मि विहरमाणो हु ॥

हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकायाउले साहू ॥ १२०० ॥

आभिः समितिभिर्योगी लोके षड्जीवसंकुले ॥  
दोषैर्हिसादिभिर्नैव लिप्यते विहरन्मपि ॥ १२३८ ॥

विजयोदया—यदाहि एताभि । सदा जुतो सदा युक्त । जगन्मि विहरमाणो दु जगति विचरन्मपि । कीदृशो? जीवणिकायाउले पञ्चजीवणिकायाकीर्णं । हिसादीहि हिसादिभि । ण लिप्येति न लिप्यते साधु । आदिग्रहणेन परितापनं, संघट्टनं, अगन्त्युत्ताकरणदिपरिग्रह । समितिपु प्रवर्तमान प्रमादरहित प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसित्युच्यते । हिसादिसंहितानि कर्माणि हिसादिशब्देनोच्यते । कार्ये कारणशब्दप्रवृत्ति प्रतीततरत्यात् । यद्यपि विवर्जननिमित्तगुणा न्यते तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते यथा स्नेहगुणात्त्वित तामरसपत्र काचनीलीरवर्तमानमपि नाधुना लिप्यते । निरतरनिचितजीवणिकायाकुलेऽपि जगति सचरन्मपि मुनिर्न लिप्यते अप्रमत्तया प्रवृत्त पञ्चसु समितिष्विति ॥

समितिस्तत्समाहितस्य हिसादिद्वारायातपातकंयथाभावं भावयति—

मूलारा—हिसादीहि प्राणतिपातपरितापनसंघट्टनागन्त्युत्ताकरणादिषुजीवोपघातावृतादिजनितपातकैः । ण लिप्येति न वच्यते ॥

अर्थ—इन पांच समितिओंका पालन करनेवाला मुनि जीवसमुदायसे भरे हुए जगतमें हिसादिक पातकोंसे अलिप्त रहता है आदिशब्दसे परितापन, अर्थात् तकलीफ देना, संघट्टन जीवोंको परस्परमें मिलाना, उनके अंग कम करना, इत्यादि दोषोंसे समिति धारक यति लिप्त नहीं होता है, जो समितिओंको पालता है वह प्रमादरहित होता है प्रमादसे प्राणोंका घात करनाही हिंसा है हिसादि सहित कर्मोंको हिसादि कहते हैं अर्थात् हिसादिक कारण हैं और उससे होनेवाली क्रियायें कार्य हैं, यहां कार्यमें कारणका उपचार करके हिसादिकके कार्यकोभी हिंसा कह सकते हैं, त्याग-गुणयुक्त यति विषयोंसे भरे हुए इस जगतमें रहकरभी विषयोंमें आसक्त होते नहीं है अतः वे पापसे लिप्त नहीं होते हैं, जैसे स्नेहगुणसे युक्त कमलपत्र वेदूयंक समान नीलजलमें रहकर भी उससे लिप्त होता नहीं निरंतर प्राणिओंसे भरे हुए इस लोकमें मुनि विहार करते हैं तो भी वे प्रमादरहित होकर पांच समितिओंमें प्रवृत्त होते हैं अतः पापोंसे लिप्त होते ही नहीं

पउमणिपत्तं व जहा उदयेण ण लिप्यदि सिणेहगुणजुत्तं ॥

तह समिदीहिं ण लिप्यइ साधू काएसु इरियतो ॥ १२०१ ॥

समितो लिप्यते नावैर्जीवमध्ये चरन्नपि ॥

स्तिग्धं कमलिनीपत्रं सलिलैरिव वाःस्थिनम् ॥ १२३९ ॥

विजयोद्या—पञ्चमणिपत्र इत्यनया गायत्र्या-पञ्चपत्र यथा नोदकेन विलिप्यते स्नेहगुणसमन्वित । तथा कायेसु शरीरेषु प्राणश्रुता प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते साधुः समितिभिर्हेतुभूताभि उकार्थसमनार्थं युक्तिमुपन्यस्यति—

मूलारा—समिदीहिं समितिभिर्विधिष्टः । न लिपदि हिंसादिभिर्न वध्यते । काणसु पङ्जीवदेहेषु । इरियंतो प्रवर्तमानः । अत्र कायदाब्देन प्राणिशरीरपीडनापाद्यमानकर्मत्वपरिणतिक्रान्तगोच्यपुद्गलाः सकललोकव्यापिनो गृह्यन्ते । तथैव नष्टास्ते साध्यव्याप्तसाधनस्य दर्शयितुं शक्यत्वात् । तथा च प्रयोगः—यद्यदि वर्जनसमर्थगुणान्वितं तत्तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते । यथा जलविवर्जनश्रमस्नेहगुणान्वित पद्मिनीपत्रं जलान्तःप्रवर्त्यपि जलेन । प्राणिशरीरपीडनापाद्यमानकर्मत्वपरिणतिक्रान्तगोच्यपुद्गलविवर्जनसमर्थसमितिगुणान्वितश्च साधुस्त्वमादौकव्यापिषु तेषु अन्तः प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते ॥

अर्थ—स्नेहगुणसंयुक्त कमलका पत्र जलमे लिप्त होता नहीं है तद्वत् प्राणिओंके शरीरोंमें विहार कराने वाला यतिराज समितिओंसे युक्त होनेसे पापमे लिप्त होता नहीं

सरवासे वि पडंते जह दृढकवचो ण विउझदि सरेहिं ॥

तह समिदीहि ण लिप्पइ साधू काणसु इरियंतो ॥ १२०२ ॥

वध्यते समितो नावैः कायमध्ये अमन्नपि ॥

सन्नद्धो विध्यते कुत्र शरवर्षे रणांगणे ॥ १२४० ॥

विजयोद्या—सरवासे वि पडंते शरवर्षोऽपि पतति सति च रणांगणे यथा दृढकवचो न शरेभिद्यते, तथा समितिभिर्हेतुभूताभिर्न लिप्यते हिंसादिना कायेसु वर्तमानो मुनि ॥

तमेवार्थमुदाहरणातरेण द्रढयति—

मूलारा—सरवासे वाणधृष्टौ वर्षमहणेन असकृत्प्रवृत्तिं लभयति ॥ दृढकवचो अमेयसन्नाहः । अत्रापि प्रयोगः पूर्ववत्कल्पनीयः ॥

मम तीव्रा मंदा चेति स्वभारीव्यवस्था च परीक्षणीया । अयमवयवद्वयं पूर्वं गृहीत । एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्य इति अद्यायमवयवद्वयो ममेति मीमांसा कार्या । तदनंतरं पुरतो युगांतरमात्रभूगावलोचनरत अद्रुत, अविलंबितं, असंश्रान्तं व्रजेत् । प्रलयादुरविच्छिन्नचरणन्यासो निर्विकार ईश्वरवर्तमानो वा मनुष्यान्तरत परिहरेत् । इन्द्रा तु खरान्, करभान्, वलीवर्धनं, गजास्तुरगान्माहिषान्सारमेयान्कलद्वकारिणो वा मनुष्यान्तरत परिहरेत् । पक्षिणो मृगाश्चाद्वारकालोद्यता वा यथा न विभ्यति, यथा वा स्वमाहारमुक्त्वा न व्रजन्ति तथा यायात् । मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रसार्जनो गच्छेद्यदि निरतरसुसमाहितफलादिकं वाग्रतो भवेत् मार्गतरमस्ति । भिन्नवर्णो वा भूमिं प्रविशस्त-  
र्द्धणभूभाग एव अग्रप्रसार्जनं कुर्यात् । तुषगोमयभस्मसुसपलालानिचयं, द्रवोपलफलादिकं च परिहरेत् । निधमानो न कुण्डे  
त्, पूज्यमानोऽपि न तुष्येत् । न गीतचतुस्रयुगुल, उच्छ्रितपताक वा गृहं प्रविशेत् । तथा मत्ताना गृहं न प्रविशेत् । सुरापण्या-  
ननालोकागृहीत कुल वा, यक्षशाला, दानशाला, विवाहगृह, वार्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि, अन्यमुक्तानि च गृहाणि  
परिहरेत् । दद्रिद्रकुलानि उत्कमाख्यकुलानि न प्रविशेत् । ज्येष्ठाख्यमध्यानि सममेवादेत् । द्वारमगलं कवाटं वा नोद्घाटयेत् ।  
वालवत्सं, पलकं, शुनो वा नोल्लघयेत् । पुणैः फलैर्विवावर्कणीं भूमिं व्रजेत् । तदानीमेव लिप्ता । भिक्षाचरैः पुरेषु  
लामार्गेषु स्थितेषु तद्वहं न प्रविशेत् । तथा कुडुविषु व्यग्राधिपणदीनमुखेषु च सत्सु नो तिष्ठेत् । भिक्षामार्गेणभूमिमति-  
क्रम्य न गच्छेत् । याचामव्यक्तसन वा स्वागमनिवेदनार्थं न कुर्यात् । विद्युदिव स्वा तनु च व्रजेत् कोऽमलभिक्षा दास्य-  
तीति अभिसार्धं न कुर्यात् । रक्षस्यगृहं, वनगृहं, कदलीलतागुरुमगृहं, नाट्यगार्धशालाश्च अभिनयमानोऽपि न प्रविशेत् ।  
यहुजनप्रचारे प्राणिरहिते अशुच्यपरोपरोधगर्जिते, अभिर्गमनभवेशमार्गे गृहेभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिन्ने, भूभागे चतुरं-  
गुलपादान्तरो निश्चलः कुड्यस्तभादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत् । छिद्रद्वार कवाटं, प्राकारं वा न पश्येत् चोर इव । दातुरागमनमार्गे  
अवस्थानवेष्टा, कडुच्छकभाजनादिकं च शोधयेत् । स्तन प्रयच्छन्त्या, गर्भिण्या वा दीयमानं न गृहीयात् । रोगिणा, अति-  
वृद्धेन, बालोन्मत्तेन, पिशाचेन, मुग्धेनाधेन, मूकेन, दुर्बलेन, भित्तेन शक्तिनेन, अत्यासनेन, अदूरेण, लजाव्यावृत्तमुख्या,  
आवृतमुख्या, उपानदुपरित्यक्तपादेन वा दीयमानं न गृहीयात् । खडेन भिद्येन वा कडुकच्छुकेन दीयमानं वा । मांस, मधु,  
नवनीत, फल अदार्जित, मूल, पत्रं, सांकुरं, कदं च व्रजेत् । तत्स्पृष्टानि सिद्धान्त्यपि विषधरुपरसगधाति, कुथितानि,  
पुष्पितानि, पुराणानि, जलुसस्पृष्टानि च न दद्यान्न खादेत्, न स्पृशेच्च । उद्गमोत्पादनेपणादोपदुर्गं नाभ्यवहरेत् । नवको-  
टिपरिशुद्धाहारग्रहणमेवणासमिति ॥

यन्निक्षिप्यते यत्र यदादीयते यतस्तदुभय प्रतिलेखनायोग्यं न चेति विलोक्य पश्चात्कृतमार्जनं पुनस्त्वलोक्य  
निक्षिपेदगृहीयाद्वा । एषा आदाननिक्षेपणसमिति । ईर्यासमितिर्निरूपितैव तथा मनोगुप्तिश्च । स्फुटतरप्रकाशावलोकिक-  
तस्य भोजनमित्यर्हिसावतभावना' पच ॥

सायनं व्रताना स्थैर्यार्थं भावना' पंचशो व्याचक्षणः पूर्वमर्हिसावतभावनाः पंच व्याचष्टे —  
मूलारा—आलोगभोग्यण स्फुटतरप्रकाशेऽवलोकितस्य चतुर्विधस्याप्याहारस्य वल्मनं ।

समितो लिप्यते नाधैर्जीवमध्ये चरन्नपि ॥

स्निग्धं कमलिनीपत्रं सलिलैरिव वाःस्थितम् ॥ १२३९ ॥

विजयोदया—पञ्चमणिपत्र इत्यनया गाथया—पञ्चपत्र यथा नोदकेन विलियते स्नेहगुणसमन्वितं । तथा कायेषु शरीरेषु प्राणभृता प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते साधु समितिभिर्द्वैतभूताभि ॥

उक्तार्थसमनार्थं युक्तिमुपन्यस्यति—

मूलार—समिदीहिं समितिभिर्विजिष्टं । न लिप्यति हिंसादिभिर्न च्यते । काण्डसु पङ्कजीवदेहेषु । इरियंतो प्रवर्तमान । अत्र कायशब्देन प्राणिशरीरपीडनापाद्यमानकर्मत्वपरिणतिक्रान्तद्योग्यपुद्गलः । स फलोत्पन्नो गृह्यते । तथैव दृष्टते माध्यव्याप्तसाधनस्य दर्शयितुं शक्यत्वात् । तथा च प्रयोगः—यद्यद्विर्वर्जनसमर्थगुणान्वितं तत्तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते । यथा जलविवर्जनक्षमस्नेहगुणान्वित पद्मिनीपत्रं जलान्तःप्रवर्त्यपि जलेन । प्राणिशरीरपीडनापाद्यमानकर्मवत्परिणतिक्रान्तद्योग्यपुद्गलविवर्जनसमर्थसमितिगुणान्वितश्च साधुस्त्वमाहोक्त्वापिपु तेषु अन्तः प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते ॥

अर्थ—स्नेहगुणसे युक्त कमलरा पत्र जलसे लिप्त होता नहीं है तद्वत् प्राणिओंके शरीरोंमें विहार करे वाला यतिराज समितिओंसे युक्त होनेसे पापमें लिप्त होता नहीं

सरवासे वि पडंते जह दढकवचो ण विज्झदि सरंहे ॥

तह समिदीहि ण लिप्पइ साधू काण्डसु इरियंतो ॥ १२०२ ॥

वध्यते समितो नाधैः कायमध्ये भ्रमन्नपि ॥

सन्नद्धो विध्यते कुत्र शरवर्षे रणांगणे ॥ १२४० ॥

विजयोदया—सरवासे वि पडते शरवर्षेऽपि पतति सति च रणांगणे यथा दढकवचो न शरैर्भिद्यते, तथा समितिभिर्द्वैतभूताभिर्न लिप्यते हिंसादिना कायेषु वर्तमानो मुनि ॥

तमेवार्थमुदाहरणतरेण द्रढयति—

मूलार—सरवासे चाणवृष्टौ वर्षग्रहेण असकृत्प्रातिं लभ्यति ॥ दढकवचो अभेद्यसन्नाहः । अत्रापि प्रयोगः पूर्ववत्कल्पनीयः ॥

अर्थ—रणांगणमें चाणोंकी बृष्टि होनेपर भी जिसने बृह वकतर धारण किया है ऐसा शूरपुरुष भिन्न नहीं होता है अर्थात् वह शरवृष्टिमें सचार करता हुआ भी अक्षतही रहता है वैसे समितिरूपी कवच धारण करनेवाले मुनिरूपी योद्धा भी हिसादि चाणोंसे अक्षत ही रहते हैं. जीवनिकायमें विहार करते हुए भी वे पापोंसे अलिप्त ही रहते हैं

जत्येव चरइ बालो परिहारण्हू वि चरइ तत्येव ॥

वज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू वि मुच्चइ सो ॥ १२०३ ॥

बालश्चरति यत्रैव तत्रैव परिहारवित् ॥

वध्यते कल्मषैर्याल इतरो मुच्यते पुनः ॥ १२४२ ॥

विजयोदया—जत्येव चरइ बालो यत्रैव क्षेत्रे चरति जीवपरिहारकमानभिन्न । परिहारण्हू वि जीववाधा परिहारक्रमज्ञोऽपि तत्रैव चरति । तथापि वज्झदि सो पुण बालो वध्यते पुनरसौ शानयालश्चारिवालश्चासौ । परिहारण्हू परिहारक । मुच्चइ मुच्यते कर्मलेपात् ॥

समानदेशचारिणोरप्यज्ञविज्ञयोः पापवधायधौ दर्शयति—

मूळारा—जत्येव यत्रैव क्षेत्रे । चरति गमनाविक्रियासु प्रवर्तते । बालो वधपरिहारकमानभिन्नः । वज्झदि पापैर्वध्यते । मुच्चदि पापलेपान्मुच्यते पापेनं ह्रियते वेत्यर्थः ॥

अर्थ—जीवोंकी बाधाका परिहार करनेका क्रम जिसको ज्ञात नहीं हुआ है ऐसा अज्ञ जीव जिस जगहमें रहता है उसी जगहमें जीवबाधाका परिहार करनेवाले मुनिभी रहते हैं. परंतु अज्ञ जीव कर्मसे बद्ध होता है अर्थात् ज्ञानसे बाल और चारित्र्यसे बाल ऐसा अज्ञ कर्मबद्ध होता है परंतु ज्ञानी और चारित्रवान् जीव कर्मबद्ध होता नहीं है.

उक्तमर्थमुपसहस्रत्युत्तरगाथया—

तस्मा चेष्टिदुकामो जइया तइया भवहिं तं समिदो ॥

समिदो हु अण्णमण्णं णादियदि खवेदि पोरणं ॥ १२०४ ॥



यदा तदा ततश्चेष्टां चिकीर्षुः समितो भव ॥

पुराणं श्रियते कर्म नाप्नोति समितो नवम् ॥ १२४३ ॥

विजयोदया—यस्मात्समितिषु प्रवर्तमानो न वध्यते, पापेन मुच्यते । असमितस्तु महता वध्यते कर्मसमूहेन तस्मात् । तम्हा चेष्टिदुकामो गमनभायणाद्याभिलायी । जइया तइया यदा तदा । त भवान् । समितो भवाहि समितिपरो भवेति निर्यापकसूरिराह क्षपकं । समितो खु समित सम्यक्प्रवृत्त ईर्यादियु । अणमण्णं कर्म अन्यत् अन्यत् । प्रत्यग्रं । पादियदि नैवादत्ते । खवेदि पोरणं प्राक्तनं च कर्म क्षपयति निर्जरयति ॥

एवमीर्यादिसमितीव्यायोपसहरंस्तासु क्षपक नियोक्तुमुशस्ति—

भूलारा—यस्मादसमितः पौर्वेव्यते समितस्तु पापैरपि मुच्यते तस्माद्धेतोः । चेष्टिदुकामो निरवद्यप्रयोजनार्थि- तथा गमनादियु प्रवर्तितुमिच्छन् । जयिगा तइगा यदा तदा सर्वदेत्यर्थः । भवाहि तं भोः क्षपकराज । भव त्वं । समितो ईर्यादियु श्रुतिनिरूपितक्रमेण प्रवृत्तः । अणमण्णं अपरस्पर पापं । कम्ममण्णमिति पाठे कर्मान्यदित्यर्थः । पादियदि नैवादत्ते । उक्तं च—

यदा तदा ततश्चेष्टा चिकीर्षुः समितो भवः ॥  
समितो न नवं कर्म लाति क्षपयतीतरत् ॥

इदमत्रोक्तार्थसंग्रहदृत्तमवग्राह्यम् ।

पापेनान्यवेष्टपि पद्ममण्डोऽप्युदेव नो लिप्यते ॥

यद्युक्तो यदनाहतः परवधाभावेऽप्यलं वध्यते ॥

यद्योगादधिराज संयमपदं भाति व्रतानि ह्या-  
न्ययुक्ताति च गुप्तयः समितयस्ता नित्यमित्याः सताम् ॥

उपरके अर्थकाही आचार्य आगेकी गाथामें उपसहार करते हैं।  
अर्थ—समितिओंमें प्रवृत्ति करनेवाले मुनि पापसे बद्ध होते नहीं वे उमसे मुक्त होते हैं, जो समितिरहित

प्रवृत्ति करते हैं वे कर्मसमुदायसे बंध जाते हैं, इस लिये जाना, जाना, भाषण करना इत्यादि कार्य करनेके अभि-  
लाषीओंको चाहिये कि वे समितिओंमें तत्पर रहे इसलिये हे क्षपक ! तुम समितिमें तत्पर रहो, जो समितिओंमें  
तत्पर रहते हैं उन्हें नवीन २ कर्मका बंध नहीं होता है और उनका पूर्वबद्ध कर्म झड़ जाता है

एदाओ अठ्ठपवणमादाओ णाणदसणचरित् ॥ १२०५ ॥

गन्धर्वान्ति सदा मुनिनामादा पुत्रं यतेः ॥

एकवर्तिः सदा, मुनिः पांति रत्नत्रय यतः ॥ १२४४ ॥

राद्धान्तमातरोऽष्टौ ताः पातः ॥ १२४० ॥ जीवितम् । पण्यद्वयो प्रयत्ना । पण्यद्वयसञ्चारत्

राद्धातमात्तात्तुजस्यैव प्रयता । प्रयतामाता पुत्र  
ननन्यो यत्नतो । पयवाओ प्रयता । प्रयता  
नित्यं तलुजस्यैव प्रयता । प्रयतामाता पुत्र

जनन्यो यन्तत। पता अप्रवचनमाविका यथा । प्रयता पुत्रं जननी पुत्रं व जथा जननी पुत्रं । मात्रा पुंसं व जथा पुंसं ।

[illegible]

पाशां बद्धवन्तः । भयं च  
चात्त्रिणां पालयन्ति सदा मुनेः ।

चात्स्वियाण पाठः  
ः नान्तेन स्पष्टयति —  
पञ्चपरश्व ।

निनां प्रवचनमातृत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—  
 पालेनो सम्यक्प्रवर्तिताः प्रयत्नपराश्च ।  
 इनका ममकाचारिणि

पतीनां प्रवचनमातृषु दृष्टान्ताः सम्यक्प्रवर्तताः । पयदाओ सम्यक्चारित्र और सम्यग्ज्ञान-समितिणां रत्न

संमिति

प्रवचनभातार्ये प्रयत्नपूर्वक सम्यग्दर्शन; तस्मै लोके यः शुभ आर

प्रवचनमालाय अर्पणम् ॥ जैसे उसको बचाता है ॥

संभे सावधान माता अपायस अत  
न मेने कुती

सर्वत्र सोप उपलब्ध न होने देती है । तब

उत्तमं दोष उत्पन्नं चारित्र्यं चारित्र्यं चारित्र्यं ॥

नयोदशविं चारिञ् अखडमः ॥  
। नयोदशविं चारिञ् अखडमः ॥

रूपणायोत्तरप्रबंध । जयादेशम । अहिंसाव्रतभावनी हित  
पंवा मिहितस्तत्रेमा ॥ ८६ ॥ नया मणगुनी ॥

एकैकस्य पञ्च पञ्चामिद्विस्तत्रम् ॥  
मणोगुप्ता ॥ १३०६ ॥

एककथ्यः पञ्च । एषणनिव्वेवादानिरियासामदा तहा ह्येति ॥ १२०६ ॥

एसणाणवखवादा॥ यत्तु अहिंसाए भावणा होतात ॥  
 एसणाणवखवादा॥ यत्तु अहिंसाए भावणा होतात ॥

अलोच्यभयणं विप्र आहृतः ॥  
निष्प्रेर्यक्षितशिताः ॥ १३१५ ॥

आलोचनापत्र ॥ १२४५ ॥

मनोगुण्यषणादानानक्षत्रावनाः ॥ १२० ॥ पञ्च भावनाः ॥ १२१ ॥ पञ्च भूतप्राणासमितिः ॥ १२२ ॥

महाव्रते मत्ता पुण्यसन्निधिः । पुण्यसन्निधिः । भवणा भावनाः । ह्यति-  
जनैरादिमाः पुण्यसन्निधिः । पुण्यसन्निधिः । भवणा भावनाः । ह्यति-

महाव्रतं भूता । एषणसामिदी । इति साव्रतस्य । भावणाभावना ।  
निष्कृष्टावादानिर्यासाभिधी । इति साव्रतस्य । भावणाभावना ।

या—एषणपिक्खवादाणानि न्यासान्दः । अहिसाम् आहसिप्रवृत्तिं प्रयत्ना कालेन आहार

या—एषा ज्ञानं यत्तु न आलोकमानजन इयता कालेन आदि।  
आलोच्यमोज्ज्वलम् । ग्रामनगरादिषु सुखकालोऽवगन्तव्यः

स्मृतिरुच्यते । आलायमाजुः । ग्रामनगसाधुः । भिक्षाकालोऽवगन्तव्यः ।

मिति निरूप्यते—  
प्रमाणविना प्रमाणविना  
कालजय कालजय  
मोर्जनकाल इच्छया  
मोर्जनकाल इच्छया

ल, दुमुष्काकालोऽवयवकालम्, भोजनकाल इच्छाय।

मनु, अस्य वाङ्मूलस्य वाटस्य वाङ्मूलः ३७

३१

मम तीव्रा मदा वेति खशरीरव्यवस्थां च परीक्षणीया । अयमवग्रह पूर्व गृहीत । एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्य इति अद्यायमवग्रहो ममेति भीमासा कार्या । तदनतरं पुस्तो युगातरमाश्रमभूमागावलोकनरत अदुतं, अविलवित, असंश्रान्तं ब्रजेत् । प्रलववाहुरविकृष्टचरणन्यासो निर्विकार ईपदवनतोत्तभांग । अकर्द्वेनानुवकेन अत्रसहस्रितवहुलेन वर्धना दृष्ट्वा तु खरान्, करभान्, वलीवर्धान्, गजास्तुरगानमहियान्सारमेयान्कलहकारिणो वा मनुष्यान्दूरत परिहरेत् । पक्षिणो मृगाश्चाहारकालोद्यता वा यथा न विभ्यति यथा वा स्वमाहारमुक्त्वा न ब्रजन्ति तथा यायात् । मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रमार्जनो गच्छेद्यदि निरतरसुसमाहितफलादिकं वाग्रतो भवेत् मार्गातरमस्ति । भिन्नवर्णा वा भूमिं प्रविशंस्त्-  
र्णभूभाग एव अगप्रमार्जनं कुर्यात् । तुपगोमयभस्सुसपलालानिचय, दलोपलफलादिकं च परिहरेत् । निंद्यमानो न कुध्ये-  
त्, पूज्यमानोऽपि न तुष्येत् । न गीतनृत्यबहुल, उद्धितपताक वा गृहं प्रविशेत् । तथा मत्साना गृहं न प्रविशेत् । सुरापण्या-  
गनालोकगर्हितं कुल वा, यक्षशाला, दानशाला, विवाहगृह, वार्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि, अन्यमुक्तानि च गृहाणि  
परिहरेत् । द्दिद्रकुलानि उक्तमाख्यकुलानि न प्रविशेत् । ज्येष्ठपक्षमध्यानि सममेवाटेत् । द्वारमगलं रुचाटं वा नोद्घाटेयत् ।  
वालवत्सं, पलकं, शुनो वा नोद्घयेत् । पुलैः फलैर्वीजैर्वावकीर्णो भूमिं वर्जयेत् । तदानीमेव लिप्ता । भिक्षाचरेषु परेषु  
लाभार्थिषु स्थितेषु तदेहं न प्रविशेत् । तथा कुटुंबेषु व्यग्राधिपपणदीनसेषु च सत्सु नो तिष्ठेत् । भिक्षामार्गणभूमिमति-  
क्रम्य न गच्छेत् । याचामव्यक्तस्वन वा स्वागमनिवेदनार्थं न कुर्यात् । विद्युदिव स्वा तनु च वर्शयेत् कोऽमलभिक्षा दास्य-  
तीति आभिसार्धं न कुर्यात् । रक्षस्यगृह, वनगृह, कदलीलतागुल्मगृहं, नाट्यगार्धशालाश्च अभिनेद्यमानोऽपि न प्रविशेत् ।  
बहुजनप्रचारे प्राणिराहिते अशुच्यपरोपरोधवाजिते, अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहेभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिद्रे, भूमौ चतुरं-  
गुलपादान्तरो निश्चलः कुड्यस्तंमादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत् । छिद्रद्वार कवाट, प्राकारं वा न पश्येत् चोर इव । दातुरागमनमार्गो  
अवस्थानदेश, कडुच्छकभाजनादिकं च शोधयेत् । स्तन प्रयच्छन्त्या, गर्भण्या वा दीयमानं न गृह्णीयात् । रोगिणा, अति-  
वृद्धेन, बालेनोमत्सेन, पिशाचेन, मुग्धेनाथेन, मूकेन, दुर्बलेन, भ्रूतेन शक्तितेन, अत्यासन्नेन, अदूरेण, लज्जाव्यावृतमुष्या,  
आवृतमुष्या, उपानदुपरित्यस्तपादेन वा दीयमानं न गृह्णीयात् । खंडेन भिन्नेन वा कडुकन्धुकेन दीयमानं वा । मांसं, मधु,  
नवनीतं, फल अदारितं, मूल, पत्रं, साकुरं, कदं च वर्जयेत् । तत्स्पृष्टानि सिद्धान्त्यपि विषयस्वरूपसंग्रहानि, कुथितानि,  
पुष्पितानि, पुराणानि, जतुसस्पृष्टानि च न दद्यान् खार्जेत्, न स्पृशेच्च । उद्गमोत्पादवैपणादोपदुष्टं नाभ्यवहरेत् । नवको-  
टिपरिशुद्धाहारग्रहणमेवणासमिति ॥

यन्निक्षिप्यते यत्र यदादीयते यतस्तदुभयं प्रतिलेखनयोग्यं न वेति विलोप्य पश्चात्कृतमार्जनं पुनरवलोक्य  
निक्षिपेद्गृह्णीयाद्वा । एषा आदाननिक्षेपणासमिति । ईर्यासमिति निरूपितैव तथा मनोगुप्तिश्च । स्फुटतरप्रकाशावलोकिकि-  
तस्य भोजनमित्यर्हिसाव्रतभावना. पञ्च ॥

साप्रत व्रतानां स्वैर्यार्थं भावनाः पंचशो व्याचक्षणः पूर्वमर्हिसाव्रतभावनाः पंच व्याचष्टे —

मूलारा—आलोगभोग्येण स्फुटतरप्रकाशेऽवलोकितस्य चतुर्विधस्याव्याहारास्य बलभर्त्तनं ।

अब व्रतोंकी भावनाओंका आचार्य वर्णन करते हैं, चारित्रिके गुप्ति, समिति और अहिंसादिक धत ऐसे तै। प्रकार हैं, भावनाओंसे व्रतोंमें स्थिरता उत्पन्न होती हैं, एकैक व्रतकी पांच २ भावनायें आचार्योंने कही हैं प्रथमतः अहिंसा व्रतकी भावनाओंका आचार्य वर्णन करते हैं—

एषणासमिति, आदाननिक्षेपासमिति, ईर्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोकित पानभोजन ऐसी पांच अहिंसाव्रतकी भावनाएँ हैं

अब एषणा समितीका वर्णन—भिक्षाकाल, बुधुशकाल और अवग्रहकाल ऐसे तीन काल हैं गांव, शहर वगैरह स्थानोंमें इतना काल व्यतीत होनेपर आहार तयार होता है, अमुक महिनेमें, अमुक कुलका, अमुक गल्लीका अमुक भोजन काल है यह भोजनकालका वर्णन है.

बुधुशकाल—आज मेरेको भूख तीव्र लगी है या मंद लगी है मेरे शरीरकी तबियत कैसी है इसका विचार करना यह बुधुशकालका स्वरूप है.

अमुक नियम मैंने कल ग्रहण किया था, इस तरहका आहार मैंने भक्षण न करनेका नियम लिया था, आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार करना इमको अवग्रहकाल कहते हैं.

इतना विचार होनेपर आहार के लिये जब मुनि निकलते हैं तब आगे चार हाथ प्रमाण जमीनका निरीक्षण कर जलदी, अति सावकाश और गडबडी ऐसे दोपोंका त्यागकर गमन करना चाहिये, जाते समय अपने हाथ नीचे छोड़कर चलना चाहिये दूर अन्तरपर पांव रखते हुए नहीं जाना चाहिये निर्विकार होकर और अपना मस्तक थोडासा नीचे करके जाना चाहिये जिसमें कीचड नहीं है, पानी फैला हुआ नहीं है, जो त्रस और हरितकाय जतुओंसे रहित है ऐसे मार्गसे प्रयाण करना चाहिये मार्गमें गदहा, ऊट, बैल, हाथी, घोडा, भैंसा, कुत्ता और कलह करने वाले लोक इनका दूरेही त्याग करे अर्थात् इनके समीपसे गमन नहीं करना चाहिये आहार करनेवाले पशु पक्षी आँकों अपनेसे भीति उत्पन्न न हो और वे अपना खाना छोड़कर न भागे इस तरहसे मुनिको आहारार्थ जाना चाहिये

रास्तेमें जमीनसे समान्तर फलक पत्थर वगैरे चीज होगी, अथवा दूसरे मार्गमें प्रवेश करना पड़े, अथवा भिन्न वर्णकी जमीनपरसे चलना हो तो जहाँसे भिन्नवर्णका ग्राम हुआ है वहाँ खड़े होकर प्रथम अपने सर्व अंग परसे पिच्छिका फिरानी चाहिये, धानके छिलके, गोबर, मसमका ढेर, भूसा, वृक्षके पत्ते, पत्थर फलकादिकोंका परिहार करके गमन करना चाहिये

किसीने निंदा की तो क्रोधित न होना चाहिये और किसीने आदर किया तो आनन्दित न होना चाहिये अर्थात् तोप और रोपका त्याग करके जाना चाहिये जहाँ गति नृत्य हो रहा है, जहाँ पताकाओंकी पंक्ति सजाई जा रही है, ऐसे घरमें प्रवेश न करे मत्त पुरुषोंके घरमें प्रवेश न करे, मदिरागृह अर्थात् मदिरा पीनेवालोंका स्थान, वेस्याका गृह, लौकनिधय कुलोंका त्याग करना चाहिये यज्ञशाला, दानशाला, विवाहगृह, जहाँ प्रवेश करनेकी मनाई है, जो पहरेदारोंसे युक्त है, जिसको अन्य भिक्षुओंसे छोड़ा है ऐसे श्रहोंका त्याग करना चाहिये।

अतिशय दरिद्री लोगोंके गृह, आचार विरुद्ध चलनेवाले, श्रीमत लोगोंके गृहका त्याग करे बड़े, छोटे, और मध्यम ऐसे घरोंमें प्रवेश करना चाहिए

यदि द्वार बंद होगा, अर्गलासे बंद होगा तो उसको उघाड़ना नहीं चाहिये छोटा बछड़ा, बकरा, और कुत्ता इनको लांघ कर नहीं जाना चाहिए, जो जमीन, पुष्प फल और बीजोंसे व्याप्त हुई है उसपरसे जाना निषिद्ध है, हाल ही जो लीपी गई है, जहाँ अन्य भिक्षुक आहार लाभके लिए खंडे हुए हैं ऐसे घरमें प्रवेश निषिद्ध है।

जहाँके मनुष्य, किसी कार्यमें तत्पर दीखते हो, खिन्न दीख रहे हो उनका मुख दीनतायुक्त दीख रहा हो तो वहाँ ठहरना निषिद्ध है

जहा अन्य भिक्षु ठहरते हैं तथा जहाँ भिक्षा ग्रहण करते हैं उस भूमीको उल्लंघन कर आगे गमन नहीं करना चाहिये याचना करना, अथवा अपना आगमन सूचित करनेके लिये अस्पष्ट शब्द बोलना निषिद्ध है, बिजलीके समान अपना शरीर दिखाना चाहिये मेरेको कोन श्रावक निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा संकल्प नहीं करे

एकान्तगृह, उद्यानगृह, कदलीओंसे बना हुआ गृह, लतागृह, छोटे २ वृक्षोंसे आच्छादित गृह, नाव्य, शाला, गंधर्वशाला, इन स्थानोंमें प्रातःग्रह करनेपर भी प्रवेश करना निषिद्ध है

जिसमें बहुत जनोका प्रचार नहीं है, जो प्राणिरहित है अपवित्रता और परोपरोधरहित-अर्थात् दूसरोंका जहाँ प्रतिबंध नहीं है ऐसे घरमें जाने आनेका मार्ग छोड़कर गृहस्थोंने प्रार्थना करनेपर खड़े होना चाहिये, समान, छिद्ररहित ऐसे जमीनपर अपने दोन पावोंमें चार अंगुल अंतर रहेगा इस तरह निश्चल खड़े रहना चाहिये, भीत, खान बगैरहका आश्रय न लेकर स्थिर खड़े रहना चाहिये

चोरके समान, छिद्र, दरवाजा, किवाड़, तट वगैरहका अवलोकन न करे, दाताका आनेका रस्ता उसका खड़े रहनेका स्थान, पत्नी और जिसमें अन्न रखा है ऐसे पात्र इनकी शुद्धताके तरफ विशेष लक्ष्य देना चाहिये।

जो अपने बालकको स्तनपान करा रही है और जो गर्भिणी है ऐसी स्त्रियोंका दिया हुआ आहार न लेना चाहिये। रोगी, अतिशयवृद्ध, बालक, उन्मत्त, अध, गूगा, अशक्त, भययुक्त, शंकायुक्त, अतिशय नजदीक जो खड़ा हुआ है, जो दूर खड़ा हुआ है, ऐसे पुरुषसे आहार नहीं लेना चाहिये। लज्जास जिसने अपना मुँह फेर लिया है, जिसने अपना मुँह ढक लिया है, जिसने जोड़ा अथवा चप्पलपर पांव रखा है, जो उंचे जगहपर खड़ा हुआ है, ऐसे मनुष्यका दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिये। टूटी हुई अथवा खंडयुक्त हुई ऐसे पत्नीके द्वारा दिया हुआ नहीं लेना चाहिये।

मांस, मद्य, मक्खन, नहीं विदारा हुआ फल, मूल, पत्र, अंकुर और कदका त्याग करना चाहिये। इन पदार्थोंका स्पर्श जिसको हुआ है वह अन्न भी त्यागना चाहिये, जिनका रूप, रस, गंध, स्पर्श, चलित हुआ है, जो कुथित हुआ है अर्थात् खराब हुआ है, जिसको जंतुओंने स्पर्श किया है ऐसा अन्न न देना चाहिये, न खाना चाहिये और उसको स्पर्श भी नहीं करना चाहिये। उद्गम, उत्पादन, एषणा दोषोंसे दूषित आहार नहीं खाना चाहिये। नऊ कोटीसे परिशुद्ध आहार ग्रहण करना एषणासमिति है।

जो चीज जहां रखना हो, और जो चीज जहांसे उठाना हो वे दोनों पिछीसे स्वच्छ करना योग्य है या नहीं है। इसका विचार कर नंतर उनको स्वच्छ करना चाहिये और वह चीज रखनी चाहिये या उठानी चाहिये इसको आदाननिक्षेपण समिति कहते हैं। ईयासमितिका और मनोगुप्तिका वर्णन पूर्वमें किया है अधिक स्पष्ट प्रकाशमें देखकर भोजन करना अर्थात् सूर्य प्रकाशमें भोजन करना ऐसी अहिंसाव्रतकी पांच भावनायें हैं।

द्वितीयव्रतभावना उच्यते—

कोधमयलोभहरसपदिष्णा अणुवीचिमासणं चेव ।।

विदियरस भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥ १२०७ ॥

हास्यलोभभयक्रोधप्रत्याख्यानानि योगिताः ॥

सूत्रानुसारिवाक्यं च द्वितीये पंच भावनाः ॥ १२४६ ॥

विजयोद्धा—क्रोधभयलोभहास्याना प्रत्याख्यानानि चतस्रः । आणुवीचिभासणं चेव सूत्रानुसारेण च भाषणं । सत्या, मृणा, सत्यमृणा, असत्यमृणा चेति चतस्रो वाचः । तत्र सत्या असत्यमृणा वा व्यवहृणीया नेतरद्वयं । क्रोधादीनामसत्यवचनकारणाना प्रत्याख्याने असद्वाक्यपरिहृता भवति नान्यथा ॥

अनृतविरतिभावनाः पंच सूचयति—

मूलारा—पदिण्णा त्यागः । क्रोधादीना प्रत्याख्याने एवासत्यासत्यानृतवचसी त्यक्तु शक्येते तेपा तत्कारणत्वादिति तत्प्रतिज्ञाश्चतस्रो भावनाः भणिताः ।

दूसरे व्रतकी सत्यव्रतकी भावना कहते हैं—

अर्थ—क्रोध, भय, हास्य और लोभ का त्याग करना ये चार भावनाये और सूत्रानुसार भाषण करना ऐसी सत्यव्रतकी पांच भावनाये हैं सत्यवचन, असत्यवचन, सत्यमृणा और असत्यमृणा ऐसे वचनके चार प्रकार हैं उसमेंसे सत्यवचन और असत्यवचन ऐसे दो वचन व्यवहार योग्य माने हैं बाकीके दो व्यवहार योग्य नहीं हैं क्रोध, भय, लोभ और हास्य असत्यभाषणके कारण हैं उनका त्याग करनेसे असत्यवचनोंका परिहार होता है। अन्यथा नहीं।

द्वितीयव्रतभावना उच्यते—

अणुणुणादग्गहणं असंगबुद्धी अणुणुणवित्ता वि ॥

एदावंतियउग्गहजायणमघ उग्गहाणुस्स ॥ १२०८ ॥

असम्ममताग्रहः साधोः सम्मतासत्तबुद्धिता ॥

दीयमानस्य योग्यस्य गृहीतिरुपकारिणः ॥ १२४७ ॥

विजयोद्धा—अणुणुणादग्गहणं तस्य सामिभिरननुदातस्य अग्रहण । ज्ञानोपकरणेदे असंगबुद्धी अणुणुण वित्ता वि पराजुक्षा संपाद्य गृहीतेऽपि असत्तबुद्धिता । पद्मावतिय उग्गहजायणं पतत्परिमाणमिदं भवता दातव्यमिति प्रयोजनमात्रपरिग्रह यावदाचितो यावद्वृद्धमि इति न बुद्धि कार्या । उग्गहणुस्स ग्राह्यवस्तुज्ञानस्य इद ज्ञानसयमयोः रस्यतरस्य साधनमतरेण ज्ञान चारित्रं चा मम न सिध्यतीति तस्य ग्रहणं नानुपयोगिनो याचतश्च ते ।

अस्तेयव्रतभावनाः पंच गाथाद्वयेन निगदति—

मूलारा—अणुणुणादागहणं अननुज्ञाताग्रहणं । वसतिशयनासनपुस्तकास्तत्त्वामिभिरननुज्ञाता । असगबुद्धी  
अणुणुणित्तावि असगबुद्धिरननुज्ञात्वापि तत्त्वामिं इच्छाकार कारयित्वा गृहीतेऽपि ज्ञानादिसाधनानेजनासक्तचित्ता ।  
पठनाद्यर्थं परेषा पुस्तकादिक याचित्वा यद्गृहीत तत्रालोभममनमित्यर्थः । सैषा द्वितीया । एतावन्तियुग्माहजायण  
एतावदिति वावग्रहयाचन । एतत्परिमाणमिदं मे भवद्भिर्दत्तव्यमिति स्वप्रयोजनसाधनमात्रस्य अवग्रहस्य परिग्रहस्य पुस्त-  
कादेर्याचनं । याचितो दाता यावद्दाति तावद्गृह्णामीति बुद्धेरकरणमिति भावः सैषा तृतीया । कस्यैता इत्याह—उग-  
हणस्स अवगृह्यते धर्मगतया परिगृह्यते इत्यवग्रहोऽवग्रहो ग्रहणयोग्यं वस्तु पुस्तकादिकं । अवग्रहं जानातीत्यवग्रहस्तस्या-  
वग्रहास्येत्यर्थः

तीसरे व्रतकी भावनाओंका वर्णन—

अर्थ—ज्ञानोपकरणादिक अर्थात् शास्त्र, पिछी, कमडल्वादिक पदार्थ जिसके हैं उसकी परवानगी यदि  
न होगी तो उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए. उनकी अनुज्ञासे शास्त्रादिकों को ग्रहण करने पर भी उनमें आसक्ति न  
रखना, इतना आप मेरेको दीलिए क्योंकि मेरा इतनेसे ही प्रयोजन सिद्ध होगा ऐसा मनमें विचार कर उतनी ही  
वस्तु मांगना चाहिए. जितनी वस्तु दाता देगा उतनी सब मैं ग्रहण करूंगा ऐसी भावना अर्चोर्ध्वत धारक को  
करना योग्य नहीं है. जिस वस्तु से ज्ञान और चारित्र की सिद्धि होगी जिसके बिना ज्ञान और चारित्रकी प्राप्ति  
न होगी ऐसी वस्तु लेना यतिको योग्य है. अनुपयोगी वस्तुकी याचना करना योग्य नहीं है

वज्जमणणुणादिगिहप्पवेसस्स गोयरादीसु ॥

उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तहए ॥ १२०९ ॥

अग्रवेशोऽननुज्ञाने योग्ययांचाविधानतः ॥

तृतीये भावना पंच प्राज्ञैः प्रोक्ता महाव्रते ॥ १२१८ ॥

विजयोदया—वज्जमणणुणादिगिहप्पवेसस्स गृहस्वामिभिरननुज्ञातस्य गृहप्रवेशवर्जनं भावना । गोयरादीसु  
गोचरादिषु इदं धेयम प्रविश, अत्र वा तिष्ठेति योऽननुज्ञातो देशस्तस्य अग्रवेशन । उग्गहजायणमणुवीचिए अवग्रहयाचना  
सामानुसारेण तृतीये भावना ॥



मूलारा—वज्जणमणुण्णादग्निहोत्रपवेसस्स वर्जनमननुजातगृहप्रवेशस्य । गृहस्वामिभिरिदं गृहं प्रविशान् तिष्ठ इत्येवमनुजातगृहप्रवेशस्य गृहस्वामिभिरिदं गृहं प्रविशान् तिष्ठत्येवमननुजाते प्रदेशे प्रवेशस्य वर्जनं । क तद्विद्याह गोयरा-  
दीसु गोचरे भ्रमेयं वमत्याद्यवस्थानश्रुतनादिकर्मणि च । सेवा चतुर्थी । उग्राहजाग्रमणुवीचिए अवग्रहयाचनमनुवीच्या ।  
समीपं गत्वैव भवद्भिर्मे दातव्यमिति सूत्रानुसारेण योग्यस्य परिग्रहस्य प्रार्थना । एतेनैतदपि संगृहीतं शून्यागारविमोचिता-  
वासपरोपरोधान्तरणमैश्वर्यशुद्धिसर्वमोदिसवाढा पंचेति सेवा पचमी । तथा तथा पचेल्यर्थः ॥

अर्थ—गृहके स्वामीने यदि घरमें प्रवेश करनेकी मनाई की होगी तो उसके घरमें प्रवेश करना यतिकी निषिद्ध है अर्थात् इस घरके प्रदेशमें आप प्रवेश कर सकते हैं इस रीतीसे यदि परवानगी न हो तो वहां प्रवेश करना अनुचित होगा आगमसे अविरुद्ध ज्ञानसंयमोपकरणकी याचना करनी चाहिये इसप्रकार अर्चयैव्रतकी भावनायें हैं

महिलालोयणपुञ्जरदिमरणं संसत्त्वसहित्रिकहाहि ॥

पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पच वंभस्स ॥ १२१० ॥

महिलालोक्रनालापौ चिरंतनरतस्मृतिं ॥

वासं संसत्त्वस्तृनां बलिष्ठाहारसेवनम् ॥ १२४९ ॥

योगिनो मुच्यमानस्य विरागीभूतेतसः ॥

तुरीये भावना पंच संपद्यते महाव्रते ॥ १२१० ॥

विजयोद्या—महिलालोयणपुञ्जरदिसरणसत्त्वसहित्रिकहाहिं । स्त्रीणामालोक्य, पूर्वानुसरण, स्त्रीभि-  
राकुला या वसति शृगारकथा इत्येतद्विरतय । पणिदरसेहिं य विरदी बलदर्पकरेभ्यो विरतिश्चेति पंच व्रतभावना ॥  
ब्रह्मचर्यभावना पंचाह—

मूलारा—पुञ्जरदिमरण प्राक्सेवितमैथुनस्मरणं । संसत्त्वसहि स्त्रीभिराकुला वसति । असयतजनयुक्तवमति-  
रित्यन्यः । विकथा शृगारकथा । पणिदरसेहिं बलदर्पकरेभ्यो रसेभ्यः ।

अर्थ—स्त्रीओंके अंग देखना, पूर्वानुभूत संभोगादिकका स्मरण करना, स्त्रियां जहाँ रहती हैं वहाँ रहना

शृंगारकथा करना इन चार चातोसे विरक्त रहना ये चार ब्रह्मव्रतकी भावनायें हैं जिमसे बल और उन्मत्तता अर्थात् कामविभ्रान्त होगा ऐसे पदार्थोंका त्याग करना चाहिये ये ब्रह्मचर्य की पांच भावनायें हैं.

अपङ्गिगहस सुणिणो सद्वक्त्रिसरसयरूवगधेषु ॥

रागद्वोसादीण परिहारो भावणा हुति ॥ १२११ ॥

यत्तः स्पर्शो रसे गधे वर्णे शब्दे शुभाशुभे ॥

रागद्वेषपरित्यागो भावनाः पंच पचमे ॥ १२५१ ॥

विजयोदया—अपरिगहस्स सुणिणो परिग्रहरहितस्य मुने । सहस्ररिसरसयरूवगधेषु शब्दस्पर्शरसरूपगधेषु मनोजेषु । रागद्वोसादीण रागद्वेषयो परिहारो विषयभेदात्पचप्रकारभावना पचमस्या ॥

ननोजेतत्परपच्छेद्विचार्यपरिहार्यभेदात्पंचपरिग्रहतभावना प्राह—

मुत्तरा—अपरिगहस्स नैत्रैन्त्यस्य । दोसादीण आदिशब्देन मोहस्यापि ग्रहणं ॥

अर्थ—परिग्रहरहित मुनि मनोज्ञ और अमनोज्ञ ऐसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द इनमें राग द्वेष करते हैं, अर्थात् स्पर्शादि पांच इष्टानिष्ट विषयोंमें रागद्वेष नहीं करना ये पांच परिग्रहत्यागव्रत की पांच भावनायें हैं.

भावनामाहात्म्य कथयति—

ण करेदि भावणाभाविवो खु पीडं वदाण सत्वेसिं ॥

साधू पासुत्तो समुहदो व किमिदाणि वेदतो ॥ १२१२ ॥

भावना भावयन्नोत्ता संयतो व्रतपीडनम् ॥

विविधाति न सुप्पोऽपि जागरूक कथं पुनः ॥ १२५२ ॥

विजयोदया—ण करेदि खु न करोत्येव । क ? भावणाभाविवो भावनाभिर्भावित । पीड पीडा । वदाण व्रताना । सत्वेसिं सर्वेया । साधू साधु । पासुत्तो प्रकर्षणं निद्रामुपगत । समुहदो व समुदात गतो वा । किमिदाणि वेदतो । चेतयमान ॥

भावनामाहान्ययाह—

मूढाया—भील गीटा । विराता । ताम्रपो निरंजिताहताः । मनुद्रो मूर्छितः । चेतो चेतान्ता ।

अर्थ—इन वनोंकी भावनार्थोक्ता अभ्यास करनेमें यदि इन भावनार्थोंमें मंथन होता है, तब यह गाढ़ मोटा हुआ भी अबसा मूर्च्छित हुआ भी अपने वनोंको अनिचार युक्त नहीं समझेंगे, तो ज्ञानार्थोक्त मान-धान रहनेवाला यह युक्ति अपने वनोंको कैसे दूषित होने देगा ? अर्थात् दिनगत वनोंकी भावनार्थोक्ता अभ्यास करनेमें उसमें तब हमेशा निरन्तर रहकर उदगगत उल्लासव्यापी शक्ति कर लेने दें.

एवाहिं भावणाहिं ह तद्वा भावोहिं अप्यमनो तं ॥

अच्छिद्राणि अलडाणि ते भविरसेति ह वडाणि ॥ १२१३ ॥

त्वमनः सपिनी पंच भावयन्तेरुमानम् ॥

महावनान्यमडाणि निडिउडाणि भवति ते ॥ १२१३ ॥

भावना. समिनिगुप्तयो गन्तर्वधयन्ति हलद मगप्रनम् ॥

अर्मकारि रजसां निरासकाधामस्समिच सान्द्रुष्टय ॥ १२१४ ॥

उनि मत्राप्रनगुष्टि ।

निजयोक्त्या—एवाहिं पनाभि । अलगाहिं भावणाहि । तद्वा तस्मात् । भावोहिं मग । अप्यमनो तं अप्रमनस्य । अच्छिद्राणि अडिउडाणि । नैरवथल प्रगुत्तानि । भगवति सगुत्तानि तय भविष्यति ज्ञानि ॥

एव प्रतादितस्वरूपमाहस्मानु भाग्यासु मन्यामिति प्रयुक्ते—

मूलरा—भावोहिं मगुत्त स्वमाहान । अच्छिद्राणि नैरवथल प्रगुत्तानि । निरंजानि य । गगनाणि चंपूत्तानि । ते तय । तत्तान्भावनानिष्ठम् ॥

अर्थ—इय वास्तो है क्षपक 'तुम अप्रमन अर्थात् निर्दोष आचरणयुक्त होकर इन भावनार्थोक्ता अभ्यास करो. तुम जब भावनार्थय होने तब तुममें मंथनी वन निरंतर टिक मंथने और पूर्णावस्थाको प्राप्त कर लेगे अतः हे क्षपक ! तुम अपनेको भावनार्थोंमें सुगन्धित बनाओ

व्रतपरिणामोपघातानिश्चितानि शल्यानि ततस्तद्वर्जनं कार्यमित्याचष्टे—

गिरसस्रस्सेव पुणो महव्वदाइं हवंति सन्वाइं ।।

वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ॥ १२१४ ॥

महाव्रतानि जायंते निःशल्यस्य तपस्विनः ।।

निदानवंचनामिध्यादशनैर्हन्यते व्रतम् ॥ १२५५ ॥

विजयोदया—गिरसस्रस्सेव शल्यरहितस्यैव शृणुति ह्रितस्तीति शल्य । शरकण्टकादि शरीरादिप्रवेशे तेन तुल्यं यत्प्राणिनो वाधानिमित्तं, अतर्निविष्ट परिणामजालं तच्छल्यमिह गृहीतं । महव्वदाइं महाव्रतानि भवति । शल्यं कस्यचिदेव व्रतस्योपघातकं, यथा एषणासमित्यभावो अहिंसाव्रतस्येत्याशङ्का निरस्यति सर्वशब्दो । ननु च महत्त्वेन व्रत-मवशेष्यं । मिथ्यात्वादिशल्य अनुव्रतान्यपि हन्यन्ते । सत्यं प्रस्तुतत्वान्महाव्रतानामित्यमुक्तं । अत्र चोद्य—हिंसादिभ्यो चिरतिपरिणाममात्राणि व्रतानि । शल्ये मिथ्यात्वादिके सति किं न भवति ? येनैवमुच्यते निःशल्यस्यैव महाव्रतानि भवति ? एतत्प्रतिविधानायाह—वदमुवहम्मदि व्रतमुपहन्यते । तीहिं दु तिसृभिः । णिदाणमिच्छत्तमायाहिं निदानमिध्या-त्वमायाभिः । अल्पान्तरत्वान्मायाशब्दस्य पूर्वनिपात इति श्रेत्र-मिथ्यात्व व्रतविघात प्रकर्षेण करोतीति प्रधानं ततो मिथ्यात्व माया चेति छिपेदे ब्रूहे मिथ्यात्वशब्दस्य पूर्वनिपात पञ्चाधिदानशब्देन ब्रूहं तस्याल्पांतरत्वात्पूर्वनिपात । सम्यक्पूर्वात्रिमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं, तच्च नासतोः सम्यग्दर्शनदानयोर्भवेति । सति मिथ्यात्वे विरोधनि न ते स्त । समीचीनज्ञानदर्शनयागिब्रतर्त्तनयत्वात्मुक्ते । अनतदानादिकाद्यान्यत्र चित्तप्रणिधान इदमेतत्फलं स्यादिति निदानं । तच्च सम्यग्दर्शनादिपुण्यस्या व्रतोपघातकारि ॥ मनसा स्वातिचारिनिगूहनलक्षणा माया च व्रतमुपहन्यतीति मन्यते ॥

व्रतानि रिरक्षिपुणा सुसुखुणा व्रतोपघातनिमित्तातर्निविष्टपरिणामलक्षणानि त्रीण्यपि शल्यानि वज्यानीति शिक्षार्थमाह—

मूलारा—सन्वाइं यथा एषणासमित्यभावः अहिंसाव्रतस्यैव शल्य कस्यचिदेव व्रतस्योपहन्यन्तु भविष्यतीत्याशङ्का निरासार्थमिदं, अनुव्रतग्रहणार्थं वा । वद स्वनिमित्ताज्जातं महदणुव्रतं । तीहिं दु तिसृभिरपि । तथाहि—सम्यक्चारित्रिमिह-मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं तच्च सम्यग्दर्शनज्ञानयोः सतोरेव भावात् । तच्च स्वविरोधनि मिथ्यात्वे सति न स्यादिति मिथ्यात्वेन व्रतमुपहन्यते । तथा रत्नत्रयान्मुक्तेरनंतज्ञानादेर्वाऽन्यत्र इदमेतस्मान्मे भूयादिति चित्तप्राणिधानं निदानमिष्यते । तच्च सम्यग्दर्शनमतिचरत्तन्मूलं व्रतमुपहन्यते । तथा मायात्र मनसा स्वातिचारिनिगूहनलक्षणा गृह्यतेऽतः सापि व्रतोपघाति-नीति मन्यते ॥

शल्य व्रतपरिणामोंको घातते हैं अतः उनका त्याग करना चाहिये ऐसा क्षपकको कहते हैं,—  
अर्थ—शल्यरहित यतीके मर्यादित महाव्रतोंका सरक्षण होता है परंतु जिन्होंने शल्योंको आश्रय दिया है उनके व्रत माया, मिथ्यात्व और निदान इनसे नष्ट होते हैं

विशेषार्थ—जो प्राणीके शरीरमें प्रवेश कर उसका घात करता है उसको शल्य कहते हैं अर्थात् घाण, कंदक वगैरह शरीरादिकसे प्रवेश कर उसको पीडित करते हैं इसलिये उनको शल्य कहते हैं वैसे प्राणिकों दुःख देनेमें कारणीभूत ऐसे अंतरंग परिणामोंको वे भी घाणदिकके समान दुःख देनेवाले होनेमें शल्य कहते हैं  
शका—एषणासमितीका अभाव होनेसे सपूर्ण व्रतोंका नाश नहीं होता है परंतु फल अहिंसाव्रत का ही घात होता है वैसे इन शल्योंसे सर्व व्रतोंका घात नहीं होता है।

उत्तर—गाथामें 'सर्व' शब्द है इससे सर्व व्रतोंका नाश होता है ऐसा सूचित होता है  
शंका—शल्योंसे महाव्रतके समान अणुव्रतों का भी नाश होता है परंतु ग्रंथकारने महाव्रतोंका नाश होता है ऐसा क्यों कहा है

उत्तर—अणुव्रतोंका और महाव्रतोंकाभी शल्योंसे नाश होता है परंतु यहां महाव्रतोंका विवेचन करना ग्रंथकारको अभीष्ट है अतः 'महाव्रतोंका शल्य घात करते हैं ऐसा ग्रंथकारने कहा है।  
शंका—हिंसादिक पापोंसे विरक्त होना यह व्रतोंका लक्षण है तो मिथ्यात्वादिक शल्य जीवमें रहने पर भी व्रत अर्थात् निरक्तिपरिणाम रह सकते हैं अतः शल्यरहित पुरुषकेही महाव्रत होते हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है।

उत्तर—व्रतोंका शल्यसे घात होता है वे शल्य तीन प्रकारके माया मिथ्यात्व और निदान ऐसे हैं यहां सम्यक्चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है परंतु बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके चरित्रको मोक्षमार्गता आती नहीं है मिथ्यात्वपरिणाम आत्मामें रहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होते ही नहीं क्योंकि मिथ्यत्व इनका विरोधी है वह इनको उत्पन्न होने नहीं देता है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र इनको रत्नत्रय कहते हैं रत्नत्रयकी पूर्णताको मोक्ष कहते हैं अनतज्ञानादिक अनंतचतुष्टयकी प्राप्ति करनेमें विचित्रो न लगाकर अन्यवातोंमें अपने मनको एकाग्र करना जैसे इस तपसे मेरेको इंद्रादि पदवीकी प्राप्ति होनी चाहिये ऐसी अभिलाषा करना निदान शल्य है यह शल्य सम्यग्दर्शन का नाश करता है और परंपरया व्रतोंका भी घात करता है मनके द्वारा

अतिचार छिपानेका माव रहना मायाशल्य है, अर्थात् ये तीन शल्य व्रतोंका—चारित्रपरिणामका घात करते हैं ऐसा सिद्ध हुआ।

मूलभागना

१२१५

तत्थं णिदाणं तिविहं होइ पसत्थापसत्थभोगकद ॥  
तिविधं पि तं णिदाणं परिपंथो सिद्धिमग्गस्स ॥ १२१५ ॥

निपेहु सिद्धिभास्य विभवस्येककल्मसपम् ॥  
निदानं त्रिविधं दास्तमशास्तं भोगकारणम् ॥ १२१६ ॥

विजयोदया—तत्थ तेषु शल्येषु णिदाण निदानाख्य शल्य । त्रिविधं त्रिविध । होदि भवति । पल्लवमण्यमत्थ-भोगकद प्रशस्तनिदानमप्रशस्तनिदान, भोगनिदान चेति । त्रिविधं पि तन्निदानं चिप्रकारमपि निदानं परिपंथो चिप्रः । सिद्धिमग्गस्स रत्नत्रयस्य ।

निदानस्य त्रैविध्यं रत्नत्रयप्रतिबन्धकत्वं चाभिधत्ते—

मूलारा—भोगकदं भोगा इष्टेन्द्रियार्थाः कृता येन तद्भोगकृतं । भोगकारणमित्यर्थः । पडिपंथो चिप्रः ॥

अर्थ—तीनशल्योंमेंसे निदान नामक शल्यकें तीन भेद हैं, प्रशस्त निदान, अप्रशस्तनिदान और भोगकृत निदान ये तीनों भी निदान रत्नत्रयके विरोधी हैं

प्रशस्तनिदाननिरूपणार्थोत्तरगाथा—

संजमहेदुं पुरिसत्तमत्तवलविरियसंघदणवुच्ची ॥  
सावअवंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थ ॥ १२१६ ॥  
वृत्तं सत्थ वल वीर्यं संहतिं पावनं कुल ॥  
वृत्ताय याचमानस्य निदानं शास्तमुच्यते ॥ १२१७ ॥

विजयोदया—संजमहेदुं सयमनिमित्तं पुरिसत्तमत्तवलविरियसंघदणवुच्ची पुरुषत्वमुत्साह, वलं शरीरगत दाढ्यं, वीर्यं वीर्यांतरायक्षयोपशमजं परिणाम । अस्थिमध्विपया वज्रक्रपभनाराचसहननादि । एतानि पुरुषत्वानि सयमसाधनानि मम स्युरिति चित्तप्रणिधानं प्रशस्तनिदानं सावयवधुकुलादिनिदानं अद्विष्टकुले, वधुकुले वा उत्पत्ति प्रार्थना प्रशस्तनिदान ॥

मूलारा—सत्त उत्साहः । बलं देहदाढर्यं । सावअवंकुलादि अदरिद्रकुलं, वंधुकुलं, सुजात्यादिकं च । पुंस्त्वादीनि संयसार्थमिच्छतः प्रशस्तनिदानं स्यादिति संबंधः ।

अर्थ—पुरुषत्व अर्थात् उत्साह. शारीरिकबल, वीर्यांतरायकर्मका क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होनेवाला दृढ परिणाम, अस्थिवंधन अर्थात् वज्रद्वयभनाराचादिकसंहनन, ये सब संयमसाधक सामग्री मेरेको प्राप्त हो ऐसी मनकी एकाग्रता होती है उसको प्रशस्तनिदान कहते हैं, धनिककुलमें, वधुओंके कुलमें उत्पन्न होनेका निदान करना प्रशस्त निदान है

अप्रशस्तनिदानमाचष्टे—

माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधराजिणत्तं ॥

सोभग्गणादेयं पत्थतो अप्पसत्थ तु ॥ १२१७ ॥

अहंङ्गणधराचार्यसुभगोदेयतादिकं ॥

प्रोक्तं प्रार्थयते शस्तं मानेन भववर्धकम् ॥ १२५८ ॥

सुलभत्वाप्रशस्तजात्यादिपरिश्रद्ध । इह आइरियगणधराजिणत्त आचार्यत्वं, गणधरत्वं, जितत्वं, जातिकुलरूपमात्रस्य भाग्य, आज्ञा, ओदेयत्व च । पेच्छतो प्रार्थयत । अग्रशस्तेमेव निदान मानकपायदुषितत्वात् ॥

अप्रशस्तनिदानमाह—

मूलारा—माणेण अभिमानवशेन । जादिकुलरूवमाऊ प्रशस्त्यं मालापितृकुल । सौरूप्य दीर्घं वायुरिह प्रार्थ्यं । तन्मात्रस्य सुलभत्वात् । सोभग्गणादेज्ज सौभाग्यमाज्ञामादेयवाक्यता वा । पेच्छतो प्रार्थयत । अप्पसत्थं मानकपायदुषितत्वात् ॥

अर्थ—अभिमानके वश होकर उत्तम मातृवश, उत्तम पितृवंश, अर्थात् प्रशस्त जाति और प्रशस्त कुल, रूप इसकी अभिलाषा करना, आचार्य पदवी, गणधर पद, तीर्थकरपद, सौभाग्य, आज्ञा और सुदरपना इनकी प्रार्थना करना यह सब अप्रशस्त निदान है, क्यों कि मानकपायसे दूषित होकर उपर्युक्त अवस्थाकी अभिलाषा की जाती है

कुद्धो वि अप्सत्यं मरणे पच्छेद् परवधादीयं ॥  
 जह उग्गसेणघादे कदं णिदाणं वसिष्ठेण ॥ १२१८ ॥  
 अशस्तं याचते कुद्धो मरणेऽन्यवधं कुधीः ॥  
 अयाचतोऽग्गसेनस्य वसिष्ठो हननं यथा ॥ १२५९ ॥

विजयोदया—कुद्धो वि क्कद्धोऽपि । अप्सत्यं परवधादिकं । मरणे मरणकाले । पच्छेदि प्रार्थयते । जघा यथ उग्गसेणघादे उग्रसेनमरणे । कदं णिदाण वसिष्ठेण वसिष्ठेन यतिना ॥

क्रोधादपि तदग्रशस्तं स्यादित्याह—

मूलारा—वसिष्ठेण वसिष्ठेन यतिना ॥

अर्थ—कुद्ध होकर मरणसमयमें शत्रुवधादिककी इच्छा करना यह भी अप्रशस्त निदान है वसिष्ठ नामक मुनीने उग्रसेन राजाका वध करनेका निदान किया था जिससे वह मरकर उग्रसेन राजाका कस नामक पुत्र हुआ था अपने पिताको कारागारमें बंद कर यह राज्यपर आरुढ़ हुआ. ( आराधना कथाकोपमें इसकी कथा है

भोगनिदाननिरूपणा—

देविगमाणुसभोगो णारिस्सरसिद्धिसत्थवाहचं ॥

केसवच्चक्रधरचं पच्छंतो होदि भोगकदं ॥ १२१९ ॥

स्वर्गभोगिनराथकामिनीः श्रेष्ठिचक्रियलसार्थवाहिनां ॥

भोगभृतिमधियो निदानक कांक्षतो भवति भोगकारणम् ॥ १२६० ॥

विजयोदया—देविगमाणुसभोगे देवेषु मनुजेषु च भवान्भोगान् । पच्छंतो अभिलषति भोगकदं भोगरुतं निदानं । णारिस्सरसिद्धिसत्थवाहत्त नारीत्वं, ईश्वरत्वं, श्रेष्ठित्वं, सार्थवाहत्वं च । केसवच्चक्रधरत्त वासुदेवत्वं सकलचक्र वर्तित्वं च वाञ्छति भोगार्थं । भोगनिदानं च भवति ॥

भोगनिदानमाह—

मूलारा—नारीस्सर नारीत्वमीश्वरत्वं च । पच्छंतो वांछति सति । देवमर्त्यभोगान्भोगार्थमेव च स्त्रीत्वादीनि ॥



अर्थ—देवोंमें और मनुष्योंमें प्राप्त होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना यह भोगकृत निदान है, स्त्रीपना, धनिकपना, श्रेष्ठपद, सार्थवाहपना अर्थात् सब व्यापारिओंका स्वामित्व, केशवपद—नारायणपदवी, सकलचक्र-वर्तीपना इनकी भोगोंके लिये अभिलाषा करना यह भोगनिदान है.

संजमसिद्धारूढो धोरतवपरक्कमो तिगुत्तो वि ॥

पगरिज्ज जइ णिदाण सोवि य वड्डइ दीहसंसारं ॥ १२२० ॥

वृद्धसंयमतपःपराक्रमः शुद्धशुप्तिकरणोऽपि ना ततः ॥

यानि जन्मजलधि सुदुस्तरं कापरस्य गणना कुचेतसः ॥ १२६१ ॥

विजयोदया—संजमसिद्धारूढो संयम शिखरमिव दुर्गरोहत्वादचलत्वाद्या । एतदुक्तं भवति । प्रकृतस-  
यमोऽपि । धोरतवपरक्कमो धोरे तपसि पराक्रम उत्साहो यस्य सोऽपि दुर्धरतपोऽनुष्ठाप्यपि । तिगुत्तो वि शुप्तित्रयसमन्वि-  
तोऽपि । पगरिज्ज जइ णिदाण यदि कुर्यात् । वड्डइ वर्धयति संसारमात्मन । किमपरस्मिन्निदानकारिणि वाच्यम् ॥

जिनेन्द्रप्रायस्यापि निदानकरणे संसारदीर्घकारणमाह—

मूलारा—संजमसिद्धारूढो संयमः शिखरमिव दुर्गरोहत्वादचलत्वाद्या । तदारूढः संयमकाष्ठानिष्ठ इत्यर्थः ।  
धोरतवपरक्कमो दुष्करे तपस्तुत्साहो यस्यासौ ॥

अर्थ—जैसे पर्वतका शिखर निश्चल और चढकर ऊपर जानेके लिये कठिन है वैसे उत्कृष्ट संयम भी धारण करना कठिन है ऐसा उत्कृष्ट संयम जिसने धारण किया है, धोर तपमें जो उत्साहयुक्त है अर्थात् जो दुर्धर तपधारण करनेमें तत्पर रहता है जो तीन गुप्तियोंका धारक है ऐसा भी शुनि निदान करेगा तो वह भी संसारको चढावेगा अर्थात् उसको भी संसारमें दीर्घकाल तक अमण करना पड़ेगा तो अन्य निदान करनेवाले क्षुद्र मनुष्यको संसार में धूमना पड़ेगाही.

जो अप्पसुक्खहेटु कुणइ णिदाणमविगणियपरमसुहं ॥

सो कागणीए विक्केइ मणिं बहुकोडिसयमोछं ॥ १२२१ ॥

निदानं योऽल्पसौख्याय विधत्ते सौख्यनिष्ठः ॥

काकिण्या स मणि दत्ते शंके कल्याणकारणम् ॥ १२६२ ॥

विजयोवधा—जो अप्यसुखगहेदु योऽल्पसुखनिमित्त निदान करोति परमे मुक्तिसुखे अनादर कृत्वा । स का-  
कण्या चिक्रीणीति मणि बहुकोटितशतमौल्यम् ॥

संसारसुखाय निदानयंत निंदति —

मूलारा—सष्टम् ॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्कृष्ट मोक्षके सुखमें अनादर करके अल्प सुखके लिए निदान करता है वह अनेक  
कोटि रूपयोंकी कीमतवाला मणि कौन्ही मिलने की इच्छासे वेचता है ऐसा समझ लेना चाहिए.

सो भिदइ लोहत्थं णावं भिदइ मणिं च सुत्तत्थं ॥

छारकंदे गोसीरं डहदि णिदाणं खु जो कुणदि ॥ १२२२ ॥

स सूत्राय मणिं भिन्ते नावं लोहाय भस्मने ॥

कुधीर्वहति गोत्रीपं निदानं विदधाति यः ॥ १२६३ ॥

विजयोवधा—सो भिदइ स भिनसि कीललोहार्यं नाव अनेकचम्बुभृता । भिनसि रत्न च सूत्राय । गोशीर्षं  
चदन दहति भसार्यं यो निदान करोति सत्पार्यं । सारविनाशमाधर्म्यादेवमात्रे—सूपकारोपदि कथा यो निदान-  
कारी, तेन नौप्रभृतिक विनाशित । अर्थख्यानकानि वाञ्छयानि ॥

मूलारा—गोसीरं वरचवन । अत्र स्मरविनाशनसाधर्म्यादेवमेवो वेद्यः ।

अर्थ—जो मनुष्य निदान करता है वह मनुष्य लोहके कीलके लिए नौकाका भेदन करता है, दोरीके  
लिए रत्नहारको तोड़ता है, भस्मके लिए गोशीर्ष चंदनको जलाता है ऐसा समझना चाहिए अर्थात् तुच्छ संसार  
सुखकी प्राप्तिके लिए निदान करना अयोग्य है उत्कृष्ट संयमका उससे नाश होता है रसोदयाकी कथामें उपर्युक्त  
बातोंका उल्लेख है

कोढी संतो लङ्घूण डहइ उच्छं रसायणं एसो ॥

सो सामणं णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण ॥ १२२३ ॥

तापार्थं ह्योपते कुष्टी स लब्ध्वेक्षुं रसायनम् ॥

आमण्यं नाश्यते तेन भोगार्थं सिद्धिसाधकम् ॥ १२६४ ॥

विजयोदया—कुष्टी सन् रसायनभूतमिक्षु लब्ध्वा वहति य समानता नाशयति सर्वदुःखान्याधिविनाशने-  
यता भोगार्थनिदानेन ॥

मूलारा—कोटी सती कुष्टी सन् । रसायण कुष्ठविनाशनरसायनभूतं ॥

अर्थ—जैसे कोह कुष्ठरोगी मनुष्य कुष्ठरोगका नाशक रसायन तुल्य ईश्व को पाकर उसको जलाता है वैसे  
निदान करनेवाला मनुष्य सर्वदुःखरूपी रोगका नाश करनेवाले समयका भोगकृत निदानसे नाश करता है

पुरिसत्तादिणिदानं पि मोक्खकामा सुणी ण इच्छंति ॥

जं पुरिसत्ताइमओ भावो भवमओ य संसारो ॥ १२६४ ॥

नरत्वादिनिदानं च न कांक्षंति सुसुक्ष्व ॥

नरत्वादिमयं तस्मात्संसारस्तन्मयो यतः ॥ १२६५ ॥

विजयोदया—पुरिसत्तादिणिदानं पुरुषत्वादिनिदानमपि मोक्षामिच्छन्ति सुसुक्ष्मो यतः । यस्मात्पुरुष-  
त्वादिरूपो भवपर्यायः । भवात्मकश्च संसारः भवपर्यायपरिवर्तस्वरूपत्वात् ॥

प्रशस्तनिदानस्यापि सुसुक्ष्माणमकरणीयत्वमाह—

मूलारा—भावो देहग्रहणपर्यायः ।

अर्थ—पुरुषत्व, बल, वीर्यं वीरहका निदान भी सुसुक्ष्म युनि करते नहीं क्योंकि पुरुषत्वादिपर्याय भी  
भव ही है और भव संसाररूप है

क्योंकि पुरुषत्वादिपर्याय भी

दुक्खस्वययकम्मस्वययसमाधिमरणं च बोधिलोभो य ॥

एयं पत्येयव्वं ण पच्छणीय तओ अपणं ॥ १२६५ ॥

समाधिमरणं बोधिदुःखकर्मस्यस्तत् ॥

प्रार्थनीयो महाप्राज्ञैः परं नातः कदाचन ॥ १२६६ ॥

विजयोदया—दुःखसकल्य दुःखाना शरीराण, आंगंतुकानां स्वाभाविकाना च क्षयो भवतु । तथा कर्मणा तत्कारणभूताना रत्नत्रयसंपादनपुरःसर मरण, दीक्षामिक्षो बोधिलभश्च एतद्व्यर्थनीय नान्यत् ॥

तर्हि व्रताद्यनुष्ठायिना किं प्रार्थ्यमित्याह—

मलारा—बोधिलभो रत्नत्रयप्राप्तिः । अत्र यथापूर्वं हेतुहेतुमद्भावो भव्यः ॥

अर्थ—मेरे शारीरिक दुःखोंका, आंगंतुक-अकस्मात् उत्पन्न होनेवाले दुःखोंका, और स्वाभाविक दुःखोंका जन्मजरामरणादि दुःखोंका नाश हो तथा इन दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले असातावेदनीयादि कर्मोंका भी नाश हो. मेरेको समाधिमरणकी अर्थात् रत्नत्रयप्राप्ति पूर्वक मरणकी प्राप्ति हो दीक्षाधारण करनेमें प्रवृत्त करने वाली रत्नत्रय प्राप्ति हो इन बातोंकी प्रार्थना करनी चाहिये अन्य वस्तुकी प्रार्थना करना योग्य नहीं है.

पुरिसत्तादीणि पुणो संजमलामो य होइ परलोए ॥

आराधयस्स णियमा तदत्थमकदे णिदाणे वि ॥ १२२६ ॥

नरत्त्वसंयमप्राप्ती परत्र भवतः स्वयम् ॥

निदानमंतरेणापि दृगाद्याराधनांगिनः ॥ १२६७ ॥

विजयोदया—पुरिसत्तादीणि पुरुषत्वादिक, संयमलभश्च भविष्यति परजन्मनि कस्य ? कृतस्त्वयाराधनस्य निश्चयेन । तदर्थमकृतेऽपि निदाने ॥

आराधकस्य निदानं विनापि प्रेक्ष्यपुरुषत्वादिभावमवश्यमावि संभावति—

मलारा—अकदे अकृतेऽपि ॥

अर्थ—जिम्ने रत्नत्रयकी आराधना की है उसको निदान न करनेपरभी अन्यजन्ममें अर्थात् आगेके जन्ममें निश्चयसे पुरुषत्वादिककी ओर स्वयमकी प्राप्ति होती है

माणस्स भंजणत्थं चित्तेदब्बो सररीणिव्वेदो ॥

दोसा माणस्स तहा तहेव संसारणिव्वेदो ॥ १२२७ ॥

उषं भवे कुलं नीचो नीचमुषः प्रपद्यते ॥

कुलानि सति जीवानां पांथानामिव विश्रमाः ॥

कुलभिमानका नाश करनेका उपाय कहते हैं—

अर्थ—स्थान, मान, ऐश्वर्योदि न होनेसे मनुष्य नीच कहलाता है. ऐसा नीच मनुष्य इनकी प्राप्ति होने पर लोकोंके द्वारा उच्च माना जाता है जिसके स्थान, मान, ऐश्वर्योदिक वृद्ध गये हैं वह मानव कालान्तरसे इस मानके दोषसे हीनताको प्राप्त होता है. जैसे प्रवास करनेवाला मनुष्य एक जगहमें ही विश्रान्ति नहीं लेता है. भिन्नभिन्न स्थानोंका वह आश्रय लेता है वैसे यह जीव भी एक ही कुलमें नहीं रहता है. भिन्न भिन्न कुलोंमें उसको जन्म लेना पड़ता है. कभी उच्च कुलमें यह जन्म धारण करता है कभी नीचकुलमें उत्पन्न होता है अतः कुलका गर्व करना योग्य नहीं है.

कथयति—

किं च गर्वो ह्यात्मनो वृद्धिं परस्य वा ह्यनि बुद्ध्यो संश्लेषते तस्य युक्तोऽहकारः न चास्य वृद्धिहासी स्त इति

उच्चासु व नीचासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ॥

वड्ढी वा हाणी वा सन्वत्थ वि तिचिओ चेव ॥ १२२९ ॥

हानिबुद्धी प्रजायेते नीचोच्चासु न योनिषु ॥

सर्वत्रोत्पद्यमानस्य जीवस्य सममानता ॥ १२७० ॥

विजयोदया— उच्चासु व नीचासु व यत्र स्थित आत्मा शरीरं निष्पद्यति तथोनिशेदोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा ततः किमुच्यते उच्चासु व नीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिशेदेन कुलमेवाचोच्यते । तेनायमर्थः । मान्ये कुले गर्हिते वा उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य बुद्धिर्दोषनिर्वा सत्यत्र तत्प्रमाण एव क्षान्ताविगुणातिशयोदेव उक्तप्रता । निवृत्तिगुण कुलीनोपि न पूज्यते तरामन्ये । अमान्येपि कुले संभूतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

संसारवासे भ्रमतो हि जतोर्न चात्र किंचित्कुलमस्ति नित्यं ॥

स एव नीचोत्तममध्यजातः स्वकर्मवदय समुपैति तास्ता ॥

शुष्यन् दासः श्वपचश्च विमो दृष्टिचक्षाश्च समुद्भवश ॥

चोराग्निदावाहितयाचिता च सजायते कर्मवशात्स एव ॥

को वाधिकात् सुकुलेषु नृणां का वा विहिंसान्यकुलप्रसूतौ ॥  
कार्योऽधिकारो ननु धर्म एव कार्यो विहिंसापि च दुष्कृतेषु ॥

किंच सर्वोऽपि पुण्यजनः स्वस्योत्कर्षं परस्य चापकर्षं मन्थमानो गर्वमुपैति । न चारयात्मन उच्चनीचकुलप्रामितिमिति  
दृष्ट्विहानी स्तस्त्वोऽस्योष्कुलत्वेऽहंकार इति शिक्षयति—

मूलारा—जोणीसु कुलेषु । शरीरनिष्पादनस्थानानामुच्चत्वं नीचत्वासंभवात् । अत्र योनिशब्देन कुलमेवोच्यते ।  
नत्तिवेषेव असल्यात्प्रदेशप्रचारात्मक एव । मान्यकुले प्रसूतो नैकनापि प्रदेशेन बद्धते, नापि निषे जातो हीयत इति  
भावः । ततो ज्ञानादिगुणातिशययोगादेव पूज्यते न कुलोच्चत्वयोगात्कः कुलीनत्वगर्व इति गर्वसर्वर्णोपायशिक्षणं ॥

गर्व करनेसे आत्मकी धृष्टि होती है और न करनेसे उसकी हानि होती है तो गर्व करना योग्य होगा-  
परंतु आत्मा कम जादा होता हुआ नहीं दीखता है, इस विषयका विवेचन—

अर्थ—जहां आत्मा नहकर शरीर उत्पन्न करता है अर्थात् धारण करता है ऐसे आधारकी योनि कहते हैं  
आधाररूप योनि उच्चमी नहीं है और नीच भी नहीं है, इसलिये 'उच्च' वा 'णीचासु' वं ऐसा कहना अनुचित है  
उत्तर—योनिशब्दका अर्थ उत्पत्तिस्थान ऐसा नहीं है प्रस्तुत प्रकरणमें योनिशब्दका कुल ऐसा अर्थ  
लेना चाहिए इसलिये यहां ऐसा अर्थ समझना योग्य होगा—मान्यकुलमें अथवा निष कुलमें उत्पन्न होने पर भी  
जीवकी धृष्टि वा हानि नहीं होती है सर्वत्र वह असंख्यात प्रदेशात्मक ही रहता है, ज्ञानादिगुणोंके अतिशय से ही  
उत्कृष्टता प्राप्त होती है जिसके गुण निष है वह कुलीन होनेपर भी अन्य पुरुषोंके द्वारा नहीं पूजा जाता है हीन  
कुलमें उत्पन्न होने परभी यदि वह गुणी होगा तो पूजा जाता है,

अन्य प्रथमें इस विषयमें ऐसा कहा है—

“इस संसारमें भ्रमण करनेवाले प्राणीका कोईभी कुल नित्य नहीं है अपने किये हुए कर्मके वश होकर यह  
संसार आत्मा नीच कुल, उच्च कुल और मध्य कुलमें जन्म लेता है और नीच, उच्च, मध्यम अवस्थाको प्राप्त होता है,  
इस संसारमें राजा भी दुर्द्वययोगसे दास होता है अथवा भी-मातंगभी अन्य जन्ममें ब्राह्मण बन जाता है दरिद्री  
वश भी धनसंपन्न होता है, कर्मके वश होकर इस जीवको चोर, अग्नि, सर्प इत्यादिकोंसे दुःख प्राप्त होता है,  
मनुष्यको उच्च कुलकी प्राप्ति होनेपर गर्व नहीं करना चाहिये और नीच कुलमें उत्पन्न हुए प्राणिओंकी जुगुप्सा

उच्च भवे कुलं नीचो नीचमुच्यः प्रपद्यते ॥

कुलानि सति जीयानां पाथानामिव विश्रमाः ॥

कुलाभिमानका नाश करनेका उपाय कहते हैं—

अर्थ—स्थान, मान, ऐश्वर्यादि न होनेसे मनुष्य नीच कहलाता है. ऐसा नीच मनुष्य इनकी प्राप्ति होने पर लोकोंके द्वारा उच्च माना जाता है जिसके स्थान, मान, ऐश्वर्यादिक बढ़ गये हैं वह मानव कालान्तरसे इस मानके दोपसे हीनताको प्राप्त होता है जैसे भ्रवास करनेवाला मनुष्य एक जगहमें ही विश्रांति नहीं लेता है. भिन्नभिन्न स्थानोंका वह आश्रय लेता है वैसे यह जीव भी एक ही कुलमें नहीं रहता है भिन्न भिन्न कुलोंमें उसको जन्म लेना पड़ता है कभी उच्च कुलमें यह जन्म धारण करता है कभी नीचकुलमें उत्पन्न होता है अतः कुलका गर्व करना योग्य नहीं है.

किं च गवौ ह्यात्मनो वृद्धिं परस्य वा हार्त्तुं बुद्धयो संक्षेपते तस्य शुकोऽहंकारः न चास्य वृद्धिहानी स्त इति कथयति—

उच्चासु व नीचासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ॥

वड्ढी वा हाणी वा सव्वत्थ वि तित्तिओ चेव ॥ १२२९ ॥

हानिवृद्धी प्रजायेते नीचोच्चासु न योनिषु ॥

सर्वत्रोत्पद्यमानस्य जीवस्य सममानता ॥ १२७० ॥

विजयोदया— उच्चासु व नीचासु व यत्र स्थित आत्मा शरीरं निपादयति तद्योनिशब्देनोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा ततः किमुच्यते उच्चासु व नीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिशब्देन कुलेमेवात्रोच्यते । तेनायमर्थः । मान्ये कुले गर्हिते वा उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य वृद्धिर्होनिर्वा सार्थत्र तत्रमाण एव ज्ञानाद्विगुणातिशयोदेव उत्कृष्टता । निर्वित्तगुण कुलीनोपि न पूज्यते तस्मान्नै । अमान्येपि कुले संभूतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

संसारवासो भ्रमतो हि जतोर्न चात्र किंचित्कुलमस्ति नित्यं ॥

स एव नीचोत्तममध्यजात स्वकर्मवश्य समुपैति तास्ताः ॥

नृपश्च दास श्रपचश्च विप्रो दरिद्रवशाश्च समृद्धवशः ॥

चोराग्निदाहादितयाचिता च सजायते कर्मवशात्स एव ॥

को वाधकार सुकुलेषु नृणां का वा विहिंसान्यकुलप्रसूतो ॥  
कार्योऽधिकारो ननु धर्म एव कार्या विहिंसामि च दुष्कृतेषु ॥

किंच सर्वोऽपि पृथग्जन-स्वस्योत्कर्ष परस्य चापकर्ष मन्यमानो गर्वमुपैति । न चारथात्मन उच्चनीचकुलप्राप्तिमिति वृद्धिहानी स्तस्तत्कोऽस्योच्चकुलत्वेऽहंकार इति शिक्षयति—

मूलारा—जोणीसु कुलेषु । शरीरनिष्पादनस्थानानामुच्चनीचत्वासम्भवात् । अत्र योनिशब्देन कुलमेवोच्यते । तत्त्वित्वेव असंख्यातप्रदेशप्रचयात्मक एव । मान्यकुले प्रसूतो नैकेनापि प्रदेशेन वर्द्धते, नापि निधे जातो हीयत इति भावः । ततो ज्ञानाविगुणातिशयोकादेव पूज्यते न कुलोच्चत्वयोगात्तत्त्व-कुलीनत्वगर्व इति गर्वसर्वणोपायशिक्षणं ॥

गर्व करनेसे आत्मकी वृद्धि होती है और न करनेसे उसकी हानि होती हो तो गर्व करना योग्य होगा परंतु आत्मा कम जादा होता हुआ नहीं दीखता है, इस विषयका विवेचन—

अर्थ—जहां आत्मा गृहकर शरीर उत्पन्न करता है अर्थात् धारण करता है ऐसे आधारको योनि कहते हैं-आधाररूप योनि उच्चभी नहीं है और नीच भी नहीं है, इसलिये 'उच्चासु व नीचासु च' ऐसा कहना अनुचित है

उत्तर—योनिशब्दका अर्थ उत्पत्तिस्थान ऐसा नहीं है प्रस्तुत प्रकरणमें योनिशब्दका कुल ऐसा अर्थ लेना चाहिए- इसलिये यहां ऐसा अर्थ समझना योग्य होगा—मान्यकुलमें अथवा निध कुलमें उत्पन्न होने पर भी जीवकी वृद्धि वा हानि नहीं होती है सर्वत्र वह असंख्यात प्रदेशात्मक ही रहता है, ज्ञानादिगुणोंके अतिशय से ही उत्कृष्टता प्राप्त होती है जिसके गुण निध है वह कुलीन होनेपर भी अन्य पुरुषोंके द्वारा नहीं पूजा जाता है हीन कुलमें उत्पन्न होने पर भी यदि वह गुणी होगा तो पूजा जाता है,

अन्य ग्रंथमें इस विषयमें ऐसा कहा है—

“इस संसारमें अमण करनेवाले प्राणीका कोईभी कुल नित्य नहीं है अपने किये हुए कर्मके वश होकर यह ससारी आत्मा नीच कुल, उच्च कुल और मध्य कुलमें जन्म लेता है और नीच, उच्च, मध्यम अवस्थाको प्राप्त होता है, इस संसारमें राजा भी दुर्दैवयोगसे दास होता है श्वपच भी—मातंगभी अन्य जन्ममें ब्राह्मण बन जाता है- दरिद्री वश भी धनसंपन्न होता है- कर्मके वश होकर इस जीवको चोर, अग्नि, सर्प इत्यादिकोंसे दुःख प्राप्त होता है- मनुष्यको उच्च कुलकी प्राप्ति होनेपर गर्व नहीं करना चाहिये और नीच कुलमें उत्पन्न हुए प्राणिओंकी जुगुप्सा



नहीं करनी चाहिये अर्थात् उनका तिरस्कार करना योग्य नहीं है, मनुष्यको धर्ममें अधिकार करना योग्य है, अर्थात् धर्माचरण करना उसका कर्तव्य है और पापकार्यसे उसको पराङ्मुख होना योग्य है”

कालमणंत णीचागोदो होदूण लहइ सगिमुच्चं ॥

जोणीमिदससलागं ताओ वि गदा अतंगाओ ॥ १२३० ॥

लामं लाभमनताअ नीचामुच्चं प्रपद्यते ॥

तथाप्युच्चा अपि प्राप्ता अनंता योनयो भवे ॥ १२३१ ॥

त्रिजयोदया—कालमणंत णीचागोदो होदूण अनंतकाल नीचैर्गोत्रो भूत्वा । लभद्दि सगिमुच्चं जोणिं । लभते सशुद्धैर्गोत्रं । कीदृशी इदरसलागं इतरशलाका । इतरा नीचैर्योनयः । गदा अणताओ अनंता प्राप्ता एकेन जीवेन ॥

यद्यप्ययमात्मा ससारं पर्यटन्नंतगो नीचा योनीर्भूयो लब्ध्वा कथमप्यंतरातरोजा योनिर्भेककशो लभते तथाप्यनंतनीचयोनिलाभतरालवर्तिन्य उच्चा योनयोऽप्यनंतर एवानेनानादिकालेन लब्ध्वा इत्युपदिशति—

मूलारा—णीचागोदो नीचैर्गोत्रं । सगिं मकृत् । उच्च जोणिं उच्चैर्गोत्रं । इतरा नीचैर्योनयः । शलाका अंतरा न्तरवर्तिन्यो यस्या उच्चैर्योनिस्ता । ताओ वि ता अप्यन्तरगलेऽन्तरगले लब्ध्वा अप्युच्चैर्योनयो गदा प्राप्ताः । उक्तं च—

लामं लाभमनताअ नीचामुच्चा प्रपद्यते ॥

तथाप्युच्चा अपि प्राप्ता अनता योनयो भवेत् ॥

तत्कोऽस्य दैवायत्ते मान्यकुले प्रभूतस्य मद्रः । को वा निंदे कुले जातस्य विपादः । कर्तव्य इत्युपेक्षेव श्रेयसीति शिक्षासर्वस्व ॥

अर्थ—यह जीव अनतक्कालतक नीच गोत्रकर्मके उदयसे उच्च कुलमें जन्म लेता है इस जीवने अनंत-वार नीच कुलमें जन्म लिया है,

बहुसो वि लद्धविजडे को उच्चतम्मि विव्वओ णाम् ॥

बहुसो वि लद्धविजडे णीचत्ते चावि किं दुक्खं ॥ १२३२ ॥

उच्चत्वे बहुशः कोऽत्र लब्ध्वा त्यक्तेऽस्ति विसयः ॥  
नीचत्वे वास्ति किं दुःखं लब्ध्वा त्यक्ते सहस्रशः ॥ १२७१ ॥

विजयोदया—एव बहुसो वि बहुशोऽपि लब्धविजये लब्धपरित्यक्ते च । उच्चसम्मि मान्यकुलप्रसूतत्वे । को नाम विवम्भो को नाम विसय । कदाचिदुच्चपूर्वविद्वान्नीमेव लब्धमिति भवेद्गर्व । बहुसो वि बहुशोऽपि । लब्धविजये लब्धपरित्यक्ते । नीचत्वे चावि नीचैर्गोत्रप्रसूतत्वे अपि । किं दुःखम् किमिदं दुःखम् ॥

एतदेवाह—

मूलारा—लब्धविजये प्राप्ते परित्यक्ते च । विवम्भो कदाचिदुच्चपूर्वमिदं इदानीमेव लब्धमिति गर्वः स्यात् ॥  
अर्थ—इस जीवने बहुतवार उच्च कुलमें भी जन्म लेकर त्याग किया है उसमें दुःख मानना भी व्यर्थ है यदि उच्चकुलकी प्राप्ति पूर्व कालमें कभी भी नहीं हुई थी और अबही हुई हो तो गर्व करना योग्य था नीच गोत्र के उदयसे नीचकुलमें भी अनेक बार जन्म हुआ है उसका खेद माननेकी आवश्यकता नहीं है परंतु जिससे उच्च कुलमें जन्म प्राप्त होगा ऐसा धर्माचरण करना चाहिये

उच्चत्तणम्मि पीदी संकप्पवसेण होइ जीवस्स ॥

णीचत्तणे ण दुक्ख तह होइ कसायबहुलस्स ॥ १२३२ ॥

उच्चत्वे जायते प्रीतिः संकल्पवशात्तोंऽग्निः ॥

नीचत्वेऽपि महादुःखं कपायवशावर्तिनः ॥ १२७३ ॥

विजयोदया—उच्चत्तणम्मि मान्यकुलत्वे । पीदी प्रीति । संकप्पवसेण संकल्पवशेन होदि जीवस्स भवति जीवस्य प्रशस्ते कुले जातोऽहमिति मनोनिधानात् । प्रीतो भवत्यर्थ जन । नेत्यभूतं संकल्पमतेरेण सामान्यकुलत्वे सत्यपि प्रीतिर्भवति । नीचकुलत्वमेव च न दुःखस्य निमित्तं अपि च नीचत्तणे य नीचैर्गोत्रत्वे च दुःखं तथा होदि तथा भवति । प्रीतिरिव परनिमित्तक भवति । कस्य ? कपायबहुलस्य कसायशब्द सामान्यवचनोऽपि मानकपाये वर्तते । तेनायमर्थ । प्रचुरमानकपायो जनयति दुःखमस्य न नीचैर्गोत्रत्वम् ॥

नैवोच्चनीचकुलत्वे सुरदुःखे कुरुतः । किंतु मानाध्यातस्य तदालवनः संकल्प एवेत्यनुशास्ति—

मूलारा—संकल्पवसेण उत्तमं मे कुल इति मनःप्रणिधानसामर्थ्येन । तत्र प्रीतिरिव । संकल्पवशेनैव । कसायबहुलस्स मानोक्तस्य प्रचुरो मानोऽस्य जनयति दुःखं न नीचैर्गोत्रत्वमेवेति भावः ॥

अर्थ—जीव उच्चकुलकी प्राप्ति होनेमें प्रीतियुक्त होता है उसका कारण उच्चकुल है ऐसा नहीं समझना चाहिये, मैं उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा विचार उसका होनेसे जीव अतिशय गुण होता है, यदि ऐसा मंरुल्य मनमें न होगा तो मान्य कुलकी प्राप्ति होनेपर भी वह प्रीतियुक्त नहीं होता है उसी तरह नीच कुल भी दुःखका कारण नहीं है, किंतु मंरुल्यही दुःखका कारण होता है, कृपाय जिसमें प्रचुर है उस जीवको उसमें दुःख होता है नीचगोत्र उसका कारण नहीं है गाथामें कृपाय शब्द सामान्यतया प्रयुक्त किया है परंतु यहाँ वह शब्द प्ररुण वंश मानकृपायका वाचक समझना चाहिये अर्थात् मानकृपायमें ही जीवको दुःख होता है नीचगोत्रत्व उसका कारण नहीं है

एव प्रीतिपरितापो संकल्पायत्तावित्येतत्सगृह्यत्युत्तरगाथया—

उच्छत्तणं व जो णीचत्तं पिच्छेज्ज भावदो तस्स ॥

उच्छत्तणे व णीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज ॥ १२३३ ॥

उच्छत्तवमिव नीचत्वं चेतसा यो निरीक्षते ॥

उच्छत्त्व इव नीचत्वे किमसौ न सुखायते ॥ १२७४ ॥

विजयोदया—उच्छत्तण व उच्छैर्गोत्रत्वमिव जो णीचत्तं पिच्छेज्ज यो नीचैर्गोत्रं प्रेक्षते । इदं चंडालत्वं वरमिति भावदाहोऽनेकार्थगाथ्यपि इह वित्तगाथी । यत् येन लब्धं तत्तस्य शोभनं । अलभ्येन शोभनेनापि किं तेनेति मनसि कर्तेति यदा तदा तत्रैव प्रीतिरस्य जायते इति वदति—उच्छत्तणे वि मान्यकुलत्वं इव नीचत्तणेऽपि नीचैर्गोत्रत्वेऽपि । पीदी किं होज्ज । प्रीति किं न भवेत् । भवत्येवेति यावत् ॥

संकल्पायत्तौ प्रीतिपरितापो इति स्पष्टयितुं गाथाद्वयमाचष्टे—

मूलारा—भावदो चित्तेन । इह चांडालत्वं वरमित्यादिरूपेण भावयेदित्यर्थः । पीदी यथेन लब्धं तत्तस्य शोभनं अलभ्येन शोभनेनापि किं तेनेति यो यदा संकल्प करोति तस्य तदा तत्र प्रीतिर्भवत्येव तथाभूता ॥

अर्थ—जो मनस्य उच्छगोत्रके समान नीच गोत्रको भी देखता है अर्थात् चांडालपनाभी अच्छा है ऐसा जो मानता है उसको उच्छत्वके समान नीचत्वमें भी प्रीति क्यों न होगी अर्थात् वह नीचत्वको भी अच्छा ही

समझेगा जियने जो प्राप्त किया है उसको वह अच्छा समझता है, जो चीज अलभ्य है वह अच्छी होनेपर भी मेरा उससे कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा समझकर प्राप्त चीजही अच्छी है ऐसा वह मनमें समझता है तात्पर्य यह है कि मोहके वश होकर जीव नीचपनाकोभी अच्छा समझते हैं.

णीचत्तणं व जो उच्चत्त पेच्छेज्ज भावदो तरस ॥

णीचत्तणेव उच्चत्तणे वि दुक्खं ण किं होज्ज ॥ १२१४ ॥

यो नीचत्वमिवोच्चत्वं विकल्पयति मानसे ॥

तस्योच्चत्वे न किं दुःखं नीचत्वमिव जायते ॥ १२१५ ॥

विजयोदया—एतद्विपरीतार्थोत्तरा गाथा । स्पष्टतया वस्तुस्थिति नापेक्षते । सकलमायत्ता प्रीतिर्वैयत्युभयवसिद्ध-  
भेददखिलस्य जगत इति वदति । यस्मादुच्चैर्गोष्ठत्वेऽपि न सुखदुःखयोर्भावाभावौ च भवत संकल्पात् ॥

मूलारा—स्पष्टम्

अर्थ—जो जीव नीचपनाके समान उच्चपनाको देखता है उसको उच्चतामें भी नीचत्वके समान दुःखही अनुभवमें आता है अभिप्राय यह है कि, संकल्पसे उत्पन्न हुई प्रीति अथवा दुःखसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता है यह अनुभवसिद्ध सत्य है संकल्पसे उच्च गोत्रमें भी प्रीति अप्रीति उत्पन्न होती है, संकल्पसे नीच-  
त्वमें भी प्रीति और अप्रीति उत्पन्न होती है

तस्मा ण उच्चणीचत्तणाहं पीदिं करंति दुःक्खं वा ॥

संकप्पो से पीदीं करेदि दुक्खं च जीवस्स ॥ १२३५ ॥

ततो नोच्चत्वनीचत्वे कारण प्रीतिदुःखयोः ॥

परमुच्चत्वनीचत्वसंकल्पः कारण तयोः ॥ १२७६ ॥

विजयोदया—तस्मा तस्मात् । उच्चणीचत्तणाणि मान्यामान्यकुलत्त्वानि । न करंति दुःख वा न कुरुत. प्रीति  
दुःख वा । सति संकल्पे भावादसति अभावाच्च ॥

उपसंहारमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इस लिये मान्यकुल और अमान्यकुल वास्तविक विचार करनेपर सुख और दुःखके विधाता नहीं हैं संकल्पही जीवको प्रीति और अप्रीति उत्पन्न करता है अर्थात् सकल्पके साथ प्रीति और अप्रीतिका अन्यत्र व्यतिरेक है जब संकल्प उत्पन्न होता है तब ही सुख दुःखोंकी उत्पत्ति होती है और जब संकल्प मनमें नहीं होता है तब सुख दुःखोंकी उत्पत्ति नहीं होती है इसलिये संकल्प ही सुख और दुःख उत्पन्न करता है ऐसा समझना चाहिये

मानकपायसाध्योऽय दोष इति कथयति स्मरि ।

कुणदि य माणो णीचागोडं पुरिसं भवेसु बहुएसु ॥

पत्ता हु णीचजोणी बहुसो माणेण लच्छिमदी ॥ १२३६ ॥

नीचगोत्र नर मानो विधत्ते बहुजन्मसु ॥

प्राप्ता लक्ष्मीमतिर्नीचा योनीर्मानेन भूरिश ॥ १२३७ ॥

त्रिजयोदया—कुणदि य करोति । माणो अहंकार । णीयागोड पुरिस नीचगोत्रमस्येति नीचगोत्र पुरिसं आत्मान । भवेसु जन्मसु । बहुएसु बहुषु । पत्ता प्राप्ता । णीचजोणी गु नीचगोत्रमेव । का ? लच्छिमदी लक्ष्मीमती । केन निमित्तेन ? माणेण सुरूपा योवनामुकूला कुलीना चेति गर्वेण ॥

मानदोषमर्थव्यानेकेन स्थापयति—

मूलारा—माणेण सुरूपा, सुयौवना, कुलीना कन्याहेमेवत्यहंकारेण ॥

मानकपायमे जीवको नीचगोत्रकी प्राप्ति होती है ऐसा उदाहरण के द्वारा आचार्य कहते हैं-

अर्थ—मान कपायसे मनुष्य प्राणी अनेक जन्मोंमें नीच गोत्रयुक्त होता है अर्थात् नीचकुलमें जन्मता है मे रूपवती सुंदरी हूं तरुणी हूं और कुलीन हूं ऐसा तीव्र मानकपाय लक्ष्मीमतीको हुआ था जिससे उसको अनेक जन्मोंमें नीचकुलमें उत्पन्न होना पड़ा था

पूयावमाणरूवविरूवं सुभगत्तदुम्भगतं च ॥  
आणाणाणा य तहा विधिणा तेणे व पडिसेज्ज ॥ १२३७ ॥

सुभगत्वमसौभाग्यं स्वरूपत्वं विरूपता ॥

आज्ञानाज्ञादरो निंदा चित्तं कृत्या न धीमता ॥ १२७ ॥

विजयोदया—पूयावमाणरूवविरूवं, पूजा, अवमान परिभव । रूपशब्द सामान्यवचनोऽपि शोभनरूपविषयतया इह विरूपशब्दसन्निधाने प्रयुज्यमानोऽतिशयिते रूपे प्रवर्तते । तेन सौरूप्यं वैरूप्यं चेत्यर्थः । सुभगत्तदुम्भगतं च सौभाग्यं दोषाग्यं च सर्वेषां मिश्रत्वं क्लेशत्व चेति यावत् । आणाणाणा य तद्वा आदेशाप्रतिपात आनाक्षा च तथा विधिना माननिषेधप्रकारेणैव । पडिसेज्ज प्रतियोग्या । अभिधेयवशाह्लिङ्गवचनप्रवृत्तिरिति लिख्यतेरेण पूजादिशब्दोपनीतेन प्रतिषेध्यशब्दस्यभिभवः । परिभव प्राप्तोऽपि कदाचित्पूज्यते । एव प्राप्ता ह्यन्तेषु पूजास्तत्र कोऽदुरोगो स्य । दुःखं वा परिभवप्राप्तौ । पूज्यमानोऽपि बहुषु पुन परिभवान्वाप्स्यति । न चात्मन पूजाया काचिद्वृद्धिः । परिभवे वा ह्यनि सकलव्यवशादेवात्मनो जायते प्रीतिपरितापौ न केवल पूजापरिभवाभ्यामेवेति ॥ उक्तं च—

य स्तूयते शुचियुगो मधुरैर्वचोभिः । सनिद्यते च परमं वचनो विचित्रैः ॥  
हा चित्रता कथमय भवसकटस्थ प्राप्नोत्यनेकविधिकर्मफलोपभोग ॥  
भूत्वा मनुष्यपतय पुनरेव दासा हीना भवति शुचयोऽशुचयश्च भूय ॥  
काला च ये युवतिभिर्विपमानुकरा द्वेष्या भवत्यसुभगत्वमुपदेश भूय ॥  
दृष्ट कवित्मवररत्नविभूषणो य सदृश्यते विरुलपुण्यतया दरिद्रः ॥  
भूयश्च मित्रमदुःखजुजोपगूढं सलक्ष्यते व्यसनभारभृदेक एव ॥

उच्चनीचकुलवत्पूज्यावमानादयोऽपि तत्त्वज्ञैः । प्रत्याख्यया इत्याख्याति—

मूलारा—अवमाण परिभवः । न्यायेन तेणेव । कालमणतमित्यादिप्रबंधोक्तेन । पडिसेज्जा प्रतिषेध्याः । तथाहि प्राप्तपरिभवोऽपि कदाचिदपूज्यते पुनर्वदुःशः परिभवः । एव प्राप्ता ह्यन्तेषु पूजाः । न चैवमयुष्मानीचकुलवज्जीवस्य वृद्धिं हानी स्याता तत्कास्य पूजाया प्रीतिः । परिभवे चाप्रीतिः । सकल्पवशाच्चास्य प्रीतिपरितापौ स्यातां न केवलपूजावमानाभ्यां । एवमन्येष्वपि शुभाशुभधर्मेषु व्यतिर्गमनिषेधः कल्प्यः ॥

अर्थ—मानकपायका त्याग जैसे करना योग्य है वैसे उमके साथ पूजा-लोकोसे आदरसत्कार प्राप्त होना अवमान-पराभव अनादर प्राप्त होना; रूप-सौंदर्य, विरूप-कुरूपता, सुभगता-सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा सबत्र अखंडित रहना, और उसका लोकोसे पालन न होना. इत्यादिकोसे गर्व या दुःख होता है परंतु वहभी त्यागना योग्य है.

उन्हे विषयमें ऐसा विचार करना चाहिये—मेरा कभी परमात्मा—अनादर—अपमानभी हुआ है क्या कभी पूजाभी हुई है? इस प्रकार इन संसारमें अनन्यार में पूजाभी गया था। न पूजामें अनुमान करना चाहिये और न आदर होनेमें प्रसंगमें संदेह मिलना होना चाहिये। जिन सेरी चागरार पूजा हुई थी वेमा चागरार अनादर भी हुआ था पूजकों समय न मेरा आत्मा कुछ रहा था और न अपमानमें समय कुछ पड़ा था। दोनो पक्षमें यह संन्यास प्रदर्शनी हो रहा था अर्थात् पूजा और अपमानमें समय जो आत्माही पट पर नहीं होती है तो आनंद पेट मानना अपमानवा का ही योक्त समझना चाहिये नरुन्ध रज होकर आत्मा मीनितक और मनापयुक्त होता है, उनको पूजा और अपूजा कारण नहीं है, अन्यत्र इन विषयमें ऐसा कहा है—जो पुरुष निमित्त गुणोक्त चारु होनामें मनुष्य रचना थी उसी मनुष्य नानाप्रकारमें स्तरों रचनोंमें, विद्वानों रचनोंमें अपमानित भी हुआ था, यह रक्षा आशय है, ममारके संकटोंमें यह पिता हुआ यह पुत्र—पत्न्या क्रिये हुए नाना तमोंके कर्तव्योंका उपयोग होता हुआ संसारमें प्रसूता रहता है, कभी नीचोंके नुकन प्राप्त होता है तो कभी तेरा रचने है कभी तेरी रचना होती है, कभी उन्नत कभी, पुनरपि हीनरुद्धी होने है तो पुन्य रोगरही रोगोंमें मदनतुल्य और मिथो से अनिशय प्रिय तेरी ही वा असुभगन प्राप्त होनेपर उनमें दाग निरुत्तराण्य रागासों भी प्राप्त हुये थे, पुण्योदयमें जो पुन्य उन्कट गन्तोंमें अलकृत ये पाषडा उदय आनेपर ते दग्ध हुए ऐराभी देवनेमें आना है जो मुख्य पनक संकटोंमें पिता हुआ देखा गया था उसी कालान्तर्गमें मित्र और सह्य प्रियजनोके द्वारा आर्क्षित हुआ है मेमाभी देवनेमें आता है अत उपयुक्त आदर अनादर रोग रचनोंमें आनंद और गंद मानना योग्य नहीं है ऐसा विचार कर अभिमानका त्याग करना चाहिये

इन्नेवमादि अविनितयो माणो उव्वज गुम्मिस्स ॥

पदे सम्मं अत्थ पसदो णो होठ माणो ह ॥ ११५ ॥

अइदा उच्चत्तादिनिद्राणं मंगगवदुणं होदि ॥

कहू भीहूण करिस्तदि मंसारं परब्रह्मणिदाणं ॥ १२३२ ॥

एतेषां चिंतनान्मानो वर्धते सर्वदाऽशिवत् ॥

संसारवर्द्धकं सद्यो हीयते तत्त्वचिंतने ॥ १२७९ ॥

उच्चत्वादिनिदानेऽपि संसारं लभते यदि ॥

तदा वधनिदानेऽग्री भवभागीति का कथा ॥ १२८० ॥

विजयोदया—जड़दा यदि तावत् । उच्चत्वादिनिदान उच्चैर्गंधता, पुरुषत्व, स्थिरशरीरता, अद्विद्रकुलप्रसूति-  
र्बभूतेत्येवमादिकं मुक्ते परंपरया कारणमपि चित्ते क्रियमाणमपि । संसारवद्वृणं ह्येदि संसारवृद्धिं करोति । किञ्च न  
करिस्सदि कथं न करिष्यति । दीदृसंसार दीर्घसंसार । परवधनिदान परवधे चित्तप्रणिधान ॥

उच्चत्वनीचत्वादितथाविधचिंतनानभवौ मानसद्वावाभावौ इत्यनुशास्ति—

मूलारा—पस्सदो धितयतः । एता श्रीविजयो नेच्छति ॥

परवधनिदान सुतरा द्राघयति संसारमित्याचष्टे—

मूलारा—उच्चत्वपुरुषत्वादिकं मुक्तेः परंपरया कारणमपि तन्मे भूयादित्याशास्यमानं ॥

अर्थ—जो पुरुष उपर्युक्त वाताकों विचार नहीं करते हैं वे गर्वसे मानकपायमे युक्त होकर दुःख पाते हैं।  
परंतु जो इनका विचार करते हैं अर्थात् मानसे होनेवाली हाँ-औंका विचार करते हैं वे मानसे दूर रहकर सुखी  
होजाते हैं।

उच्चोन्नतमें जन्म होना, पुरुषत्व, दृढ शरीरपना, श्रीमत कुलमें जन्म होना इत्यादिक बातें यद्यपि मोक्ष  
प्राप्तिमें परंपरासे कारण हैं तो भी इनकी प्राप्ति भरे को हो ऐसी अभिलाषा करनेसे संसार वृद्धिके लिये कारण हो  
जाती हैं, तो दूसरे का वध करनेका निदान—अभिलाषा क्यों संसारवर्धक न होगा।

आचार्यगणधरत्वादिप्रायेणा कथमशोभना रत्नत्रयादिशयलभप्रार्थिता हि संत्याशकायामुच्यते—

आयरियचादिनिदाने वि कदे णत्थि तरस तम्मि भवे ॥

घणिंदं पि संजमंतस्स सिञ्जणं माणदोसेण ॥ १२८० ॥

निदानेऽपि कुलादीनि जायंते नात्र जन्मनि ॥

संयमं विवधानस्य मानिनो यातना परा ॥ १२८१ ॥



विजयोदया—आचार्यत्वादिनिदाने वि कदे आचार्यत्वादिनिदानेऽपि कृते । णत्थि तस्स नास्ति तस्य । तस्मिं भवे तस्मिन्भवे निदानकरणभवे । घणिद पि सज्जमंतस्स नितरामपि समयं कुर्वत । किं नास्ति सिल्लण सेधनं मुक्तिः । केन ? माणदोसेण मानकषायदोषेण । स ह्याचार्यत्वादिप्रार्थना करोति । प्रष्टो भविष्यामीति संकल्पेन, ततोऽप्यहंयुता ॥

आचार्यत्वादिप्रार्थना कथं दूष्या रत्नत्रयातिशयलाभप्रार्थनापरत्वादिति शक्यमाह—

मूलारा—तंद्दि भवे निदानकरणजन्मनि । सिद्धेण सेधनं सिद्धिः । यद्यपि अस्ति तद्भवे आचार्यत्वादिकं तथापि नास्ति सुत्तिरिति भावः । माणदोसेण आचार्यादिर्भवन्पूज्यो भविष्यामि इति संकल्पापराधेन ॥

आचार्यपदवी, गणधरपदवी इत्यादिककी अभिलाषा करना अयोग्य नहीं है क्यों कि रत्नत्रयका माहात्म्य प्राप्त होनेके लिये उनकी अभिलाषा की जाति है इस शकाका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—आचार्यत्व, गणधरपदवी इत्यादिका निदान करने परभी इनपदोंकी प्राप्ति इसी जन्ममें होती भी नहीं बहुत उज्ज्वल समय होनेपर भी इन पदोंकी उसी जन्ममें प्राप्ति नहीं होती है कदाचित् आचार्यत्वादिककी उसी भवमें प्राप्ति भी हो गई तो भी उस समयी को मुक्तिपदकी प्राप्ति मानकषाय दोषसे नहीं होती है मैं आचार्य होकर पूज्य होऊँ इस अभिप्रायसे मवृत्ति होती है अतः उसमें अहंकार प्रकट दीखता है.

भोगदोषचिन्ताया सत्या निदान तथा न भवति इति कथयति—

भोगा चित्तेदव्वा किपाकफलोवमा कडुविवागा ॥

महुरा व भुजमाणा मन्झे बहुदुक्खमयपउरा ॥ १२४१ ॥

मधुराः सेवमाना हि विपाके दुग्गदायिनः ॥

चिन्तनीयाः सदा भोगा किपाकफलसंनिभाः ॥ १२४२ ॥

विजयोदया—भोगा चित्तेदव्वा भोगाश्लिष्या । किपाकफलोवमा किपाकफलसदृशा । कडुविवागा कडु अनिष्ट विपाक फल पयमिति कडुविपाका । मधुराव मधुरा इव । भुजमाणा मुल्यमाना । मन्झे मन्जे । बहुदुक्खमयपउरा विचित्रदुःखमया ॥

भोगनिदानाभावाय भोगदोषभावनामाह—

मूलार!—मधुरा व मधुरा इव । मूलो मध्ये मुजिक्रियायाः । बहुदुःखमयपउरा भोगसेवया पापं वन्तत. कानि-  
कानि दुःखानि मे न भविष्यति इति विचित्रदुःखत्रासाकुला. ॥

भोगोंके दोषोंका विचार करनेसे भोगनिदान उत्पन्न नहीं होता है इस विषयका विवेचन—

अर्थ—भोग किंपाकफलके समान अवसानमें कटुविपाक है अर्थात् किंपाकफल खाते समय मधुर लगता है परतु उसका कटु परिणाम होता है अर्थात् अन्तमें उससे प्राणीको अत्यंत दुःख होकर मरणकी प्राप्ति होती है. भोग भी सेवन करते समय मधुर — आनन्ददायी मात्स्य होते हैं परतु अन्तमें तीव्र अशुभ कर्मवर्धके कारण वनकर चतुर्गतीमें अतिशय दुःखदायक होते हैं

भोगनिदानदोष कथयन्ति—

भोगणिदाणेण य सामण्य भोगत्यमेव होइ कदं ॥

साहोल्बो जह अत्थिदो वि णेको वि भोगत्थं ॥ १२४२ ॥

भोगार्थमेव चारित्रं निदाने सति जायते ॥

कर्म कर्मकरस्येव द्रविणार्थविचारणे ॥ १२८३ ॥

विजयोदया—भोगणिदाणेण य भोगनिदानेन वा । सामण्यं भ्रामण्य । भोगत्यमेव होइ कदं भोगार्थमेव कृतं न कर्मक्षयार्थं भवति । भोगनिदाने सति रागद्व्याकुलितचित्तस्य प्रत्यग्रकर्मप्रवाहस्वीकृतो उद्यतस्य का सयतता ॥

भोगनिदाने दोषं भाषते—

मूलार—भोगत्यमेव न कर्मक्षयार्थं । भोगरागाकुलचित्तत्त्वे प्रत्यग्रपापकर्मप्रवाहस्वीकरणभियोगात् । साहोल्बो जालात्रामवलबो यस्यासौ फलव्युपयोगार्थी यथा वृक्षशालाग्रस्थितः कश्चित्स्वेष्टस्थानगमनं विनयति तथा श्रमणोऽपीति भावः । अन्यस्त्वाह—

भोगार्थमेव चारित्रं निदाने सति जायते ॥

कर्म कर्मकरस्येव द्रविणार्थं विचारणे ॥

भोगनिदानके दोष कहते हैं—

अर्थ—मुनिव्रत धारण कर जिसने भोग्याप्तिका निदान किया समझना चाहिये कि भोगके लिये ही उसने मुनिव्रत धारण किये हैं न कि कर्मक्षयके लिये भोगनिदान करनेसे भोगाभिलाषासे-भोगाकी उत्कंठासे चित्त व्याकुल होता है तब नवीन कर्मप्रवाहका स्वीकार करने के लिये वह उद्युक्त होता है, जिससे संयतपनेका अभाव होता है, जैसे कोई अपने इष्ट स्थानपर जा रहा था मार्गमें किसी वृक्षका फल खानेकी उसको इच्छा हुई तब वह वृक्षकी शाखाको फलके आशसे पकड़कर खड़ा हुआ, इस कार्यमें लगनेसे स्पष्ट स्थानको जानेमें उसने विघ्न ही पैदा किया ऐसा समझना चाहिये, इसी तरह यदि निदान करेगा तो उसने कर्मक्षयरूपकार्यमें स्वयं विघ्न उपस्थित किया है ऐसा समझना चाहिये, अथवा निदान करनेवाला मुनि भोगार्थ ही चारित्र धारण करता है जैसे नोरु केवल द्रव्यके लिये स्वामीकी सेवा करता है

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो ॥

सणिदाणवंभचेरं अव्वंभत्थं तथा होइ ॥ १२४३ ॥

भवत्यब्रह्मचर्यार्थं सनिदानं तपो यत् ॥

अपसारो विघातार्थं मेघस्येवास्ति मेघतः ॥ १२८४ ॥

विजयोदया—आवडणत्थं अभिघातार्थं । जह यथा । ओसरण अपगमः । मेसस्स होदि मेघस्य भवति । मेसादो मेघात् । सणिदाणवंभचेरं सनिदानस्य यतंब्रह्मचर्यं । अव्वंभत्थं मैथुनार्थं । तथा होदि तथा भवति ॥

भोगाकाक्षया ब्रह्मचर्यं पालयतो भूयो मैथुनार्थमेव तद्ववति न प्रसमसुरार्थं इति दृष्टान्तेन स्पष्टयति--  
मुलारा—आवडणत्थ अभिघातार्थं । ओसरणं अपसरण । सणिदाण भोगा मे भूयसुरिति निदानयतो यतेः ॥

अर्थ—एक बर्कोसे दूसरा चकरा चसे अघात करनेके लिये पीछे हटता है उसी तरह निदानयुक्त मुनिका ब्रह्मचर्यव्रत मैथुनके लिये है ऐसा समझना चाहिये अर्थात् भोगशान्ति की आशासे ही सनिदान मुनि व्रताचरण करता है कर्मक्षयके लिये वह व्रत पालन करता है ऐसा मानना अयोग्य होगा।

जह वाणिग्या य पणिधं लाभत्थं विक्खिणति लोभेण ॥

भोगाण पणिदभूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो ॥ १२४४ ॥

विश्रीणाति तपोनर्ध भोगेन सनिदानकः ॥

माणिक्यमिव काचेन सारासाराविचारकः ॥ १२८५ ॥

विजयोदया—जह्वाणिगया यथा । वणिजः । पणिय पण्य । लामत्य लामार्थ । विक्रिणति विक्रीणति । लोभेन । भोगाण भोगाना । पणिदो पण्यभूत । सणिदाणो सनिदान । तद्वा धम्मो होदि तथा धर्मो भवति ॥  
भोगाकाश्या चारित्र भोगविक्रयं भवेदित्याह—

मूलारा—पणियं पण्यं विक्रेयद्रव्यं । भोगाण पणिदभूदो भोगैर्विक्रेयता प्राप्तः ॥

अर्थ—जैस व्यापारी लोभवश होकर लाभके लिये आपना माल बेच डालता है वैसे निदान करनेवाला मुनि भोगके लिये धर्मरूपी माल बेच डालता है, ऐसा समझ लेना चाहिये

भोगनिदानवत श्रमण्यं प्रणिदति—

सपरिग्गहस्स अब्वंभचारिणो अविरदस्स से मणसा ॥

काएण सीलवहणं होदि हु णडसमणरूवं व ॥ १२८५ ॥

ससंगस्यानिवृत्तस्य चित्तेनाब्रह्मचारिणः ॥

कायेन शीलवाहित्वं व्यर्थं नटयतेरिव ॥ १२८६ ॥

विजयोदया—सपरिग्गहस्स सपरिग्रहस्य भोगनिदानवतो वेदजनितो रागोऽभ्यंतर परिग्रह इति सप रिग्रह इति । तस्य अब्वंभचारिणो मनसा मैथुनकर्मणि प्रवृत्तस्य । अविरदस्स अव्यावृत्तस्य मैथुनात् । मनसा चित्तन । से तस्य श्रामण्यरहित यथा अफलमेवमिदमपि इति भावः ॥  
भोगनिदानवतः श्रमण्यं प्रणिदति—

मूलारा—सपरिग्गहस्स वेदजनितरागेण अभ्यंतरपरिग्रहयुक्तस्य । अव्वंभचारिणो भावमैथुनप्रवृत्तस्य । अवि-

रदस्स मनसा स्त्रीसेवनादनिवृत्तस्य । से भोगनिदानवतो मुनेः । सीलवहणं ब्रह्मव्रतधारणं । हु एवार्थको यो नैवेत्यर्थः । णडसवरूप व नटाना यतिवैपधारणमिव । यथा कायेन नर्तयितरूप वार्थमाणं भावश्रामण्यरहितत्वात्निष्फलं तथेदमपीति भावः ॥

भोगका निदान करनेवाले मुनिका मुनिपना निदनेलायक है ऐसा आचार्य कहते हैं अर्थ—भोगका निदान जिसने किया है वह मुनि अंतरंगमें रागभावसे युक्त है अर्थात् उसके मनमें मैथुनकी अभिलाषा है इसलिये वह परिग्रह सहित ही है ऐसा समझना चाहिये। उसका मन मैथुन कर्ममें प्रवृत्त होनेसे वह मैथुन कर्मसे परावृत्त नहीं है ऐसा समझना चाहिये वह शरीरसे ही शीलव्रतको धारण करनेवाले नटके समान भावमें मुनिपनासे च्युत हुआ है, ऐसा मुनिपना व्यर्थ है ऐसा अभिप्राय समझना

रोगं कंखेज्ज जहा पडियारसुहरस्स कारणे कोई ॥

तह अण्णेसदि दुक्खं सणिदाणो भोगतण्हाए ॥ १२४६ ॥

आकांक्षति महादुःखं निदानी भोगतृष्ण्या ॥

रोगित्वं प्रतिकाराय कुबुद्धिरिव कञ्चन ॥ १२८७ ॥

विजयोदया—रोग कंखेज्ज व्याधिमभिलपति । जहा कोइ यथा कञ्चित् । किमर्थ ? पडियारसुहरस्स कारणे औपधसेवासुखाधिगमनात्थं । तह तथा अविरटस्स अय्यावृत्तस्य । अण्णेसदि अन्वेषते । दुक्खं दुःखं । क सणिदाणो सनिदान । भोगतण्हाए भोगतृष्ण्या ॥

भोगनिदानविधायिनमुपहसति—

मूलारा—पडियारसुहरस्स कारणे, औपधसेवाजन्यसुखप्राप्त्यर्थं अण्णेसदि प्राप्यते ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य औपधसेवनका सुख प्राप्त करनेकी अभिलाषासे देहमें रोगोत्पत्तीकी इच्छा करता है वैसे निदान करनेवाला मुनि भोगकी लालसासे दुःखोंको चाहता है ऐसा समझना चाहिये

खंदेण आसणत्थं वहेज्ज गरुगं सिलं जहा कोइ ॥

तह भोगत्थं होदि हु संजमवहणं णिदाणेण ॥ १२४७ ॥

भोगार्थं वहते साधुर्निदानित्वेन संयमम् ॥

स्कंधेनैव कुधीर्गुर्वीमासनाय महाजित्ताम् ॥ १०८८ ॥

विजयोदया—एतेषां स्फुरेण । जता क्रोड यथा ऋद्धिः । गङ्गा सिल गुर्वी शिला । वेदज्ञ वहति । किमर्थं ? आसन्नस्य आसनार्थं । अस्या उपरि सुतेनासे इति मत्वा म यथा मुकुशिलोद्धतवेद नापेक्षते, स्वल्प तस्या उपर्यसितसुगमयेक्षते स्वबुद्ध्या । नह भोगस्य यु तया भोगार्थमेव । होडि भवति । सज्जमवहण दुर्गतं न्ययमवरण । पिडापेण निवृत्तेन सह ॥

मूलारा—आमणत्थ अस्या उपरि सुतेनोपेक्ष्यामीति मत्वा । हु भोगार्थमेव । पिडापेण अनेन दुर्धरमयमेन भोगा भूयसुरिति शार्दनया सह । अत्र बहुदुःखेन स्वल्पसुगममाधानमित्युपहामः ॥

अर्थ—इमं शिलापर में सुखमे बैठेगा इस अभिप्रायसे जैसे कोई मूलं मनुष्य अपने कंधेपर गडी शिला धारण करता है अर्थात् शिलाका भार अपने कंधेपर सदैव वहता है उसमे होनेवाले कष्टकी वह परवाह नहीं करता है वैसे भोगका निदान करनेवाला मुनि जो महान् समय धारण करता है वह भोग के लिये ही समझना चाहिये, शिलापर बैठनेसे अल्पसुख होगा परंतु हमेशा शिलाको कंधे पर रखना कष्टदायक है वैसे अल्पसुखके लिये महान् समय धारण करना शिलाके समान दुःखदायक है

वाद्यवस्तुजनितादिद्रियसुखात्तन्निमित्तवस्तुविनाशो यज्जायते दुःख तदधिकृतम अतः स्वल्पसुखनिमित्त को नाम सचेतनो दुःखभीरुं यावद्यौ पतेदिति दर्शयति—

भोगोवभोगसोक्खं जं ज दुक्खं च भोगणासम्मि ॥

एतेसु भोगणासे जात दुक्ख पडिविमिट्ठं ॥ १२४८ ॥

यत्सुखं भोगजं जंतोर्यद्विषं भोगनाशजम् ॥

भोगनाशोत्थितं दुःखं सुखाधिकृतमं मतम् ॥ १२८९ ॥

विजयोदया—भोगोवभोगसोक्खं मृष्टाशनतावृत्तादिकं स्त्रीवृत्ताकारादिभिश्च । जनितं यत्सुख । भोगणासम्मि सुखमाशनस्य वस्तुनो विनाशो च । ज ज दुक्खं च यद्यहु ख जायते । एतेसु पतयो सुखदुःखयोः भोगनाशो मृष्टाशनाधनाना विनाशो च । दुक्खं पडिविसिट्ठं अधिकृतमिति यावत् ॥

मृष्टाशनररागनाशिनित्तवस्तुलात्तनिमित्तवस्तुविनाशनं दुःखमधिकतरमतः स्वल्पसुखार्थं [क. सुधीर्दुःखान्तरमप्यभ्युपगच्छौ पतेदिति दर्शयति—

मूलारा—भोगणसम्मि भोगांगविनाशे । पडिविसिंठुं अधिकतरं ।

चाह्य वस्तुके संयोगसे जो सुख प्राप्त होता है उससे उस वस्तुका वियोग होनेसे प्राप्त होनेवाला दुःख अधिक है. इसलिये स्वल्पसुखके लिये कोन दुःखसे भयभीत सचेतन प्राणी-विद्वान् मनुष्य दुःखसमुद्रमें गिरना चाहैगा.

इस अभिप्रायका आचार्य उल्लेख करते हैं—

अर्थ—मधुर अन्न, तांबूलादिक पदार्थोंको भोग कहते हैं. स्त्री, वस्त्र, अलंकारादिकोंको उपभोग कहते हैं. इन भोगोपभोगोंमें जो सुख आत्माको प्राप्त होता है. तथा भोगसाधनात्मक इन पदार्थोंका वियोग होनेसे जो दुःख उत्पन्न होता है इन दोनोंमेंसे दुःख ही अधिक समझना चाहिये अर्थात् सुख साधनोंका नाश होनेसे मनुष्य को अधिक दुःख होता है

देहे छुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्खं ॥

दुक्खस्स य पडियारो रहस्सणं चेव सोक्खं खु ॥ २२४९ ॥

छुदादिपीडिते देहे समासत्तं कथ सुखी ॥

दुःखस्यास्ति प्रतीकारो न्हस्वीकारोऽथवा सुखम् ॥ ११९० ॥

विजयोदया—देहे शरीरे मनुजाना । छुहादिमहिदे क्षुधा, पिपसया, शीतोष्णेन, व्याधिभिश्च मथिते । चले अनित्ये च । सत्तस्स आसक्तस्य । किं सुख होज्ज किमत्र सुख भवेत् । दुक्खस्स य पडियारो दुःखस्य प्रतीकार रहस्सण चेव न्हल्लकरणं एव सोक्खं सौख्यं । खु शब्द पादपूरण दुःखप्रतीकारोत्पत्तौ वा दुःखस्य सुखमित्यनेनान्वयतम् ॥

किंचित्कथचिह्लवधेऽपि इच्छातुरूपभोगेषु छुदादिवाधाकदर्शितेऽनित्ये विनाशिते च मानुषदेहे जाग्रदादरस्त कथं सुखस्य गंधोऽपि सत्यं स्यादिति व्यवस्थापयति—

मूलारा—छुधादिमधिदे दुसुखादिकदर्शिते । चले अनित्ये । सत्तस्स आसक्तस्य मनुजस्य । पडियारो निराकरणं । रहस्सण न्हासनं ॥

अर्थ—यह देह भूख, प्यास, शीत, उष्ण और रोगोंमें पीडित होता है तथा अनित्य भी है ऐसे देहमें

आसक्त होनेसे इस आत्माको कितना सुख प्राप्त होगा? अत्यल्प सुखकी प्राप्ति होगी. दुःख निवारण होना अथवा दुःख कमी होना ही सुख है ऐसा संसारमें माना जाता है दुःख के प्रतीकारको ही लोक सुख समझते हैं

सुखमंतरेणापि अस्ति दुःखं, सुखं पुनरैन्द्रियकं न जायते दुःखं विना ततः सुखार्थो दुःखमेव प्रागात्मनोऽभिलषति न च दुःखाभिलाषः प्राज्ञस्य युक्त इति कथयति—

सौक्ख्यं अणपेक्खित्ता बाधदि दुक्खमणुगं पि जह पुरिसं ॥

तह अणपेक्खिय दुक्खं णत्थि सुहं णाम लोगम्मि ॥ १२५० ॥

अनपेक्ष्य यथा सौख्यं न दुःखं बाधते नरम् ॥

अनपेक्ष्य तथा दुःखं न सुखं विद्यते जने ॥ १२९० ॥

विजयोदथा—सौक्ख्यं सौख्यं । अणपेक्खित्ता अनपेक्ष्य । बाधदि दुक्खमणुगं पि बाधते दुःखमण्वपि । जह पुरिसं यथा पुरुष । तह तथा अणवेक्खिय अनपेक्ष्य दुक्खं दुःखं । लोगम्मि णत्थि सुहं लोके नास्ति सुखं नमैन्द्रियिकं । क्षुत्पिपासाभ्या पीडिता एवाशनं पानं बाधेपेते । कठोरतपस्तप एव शीत, शीतसंकुचिततनुरेव प्रावरणादिकं, वातातपाद्भु-भिरप्योपद्रुतो भवनमभिलषति । स्थानासनोपजातश्रम एव शय्या कामयते । पादगमनजातखड्ग्यपोहनयैव शिबिका-दिकं, वैरूप्यनिराकृतये एव वस्त्राणि भूषणानि च, दौर्गन्धनाशनयैव तुरुष्ककालागुर्वीदिकं, खदगमनयैव रमण्य इति सर्वं दुःखप्रतीकारमेव ॥ त्रिविधवैदोव्यजनिता प्राणिना लिंगत्रयवर्तिना परस्परभिलाष । स तेषां परस्परशरीरसंसर्गं सत्यपि न विनश्यति । अभिलाषनिमित्ताना कर्मणा सद्भावात् । न हि कार्यमविकलकारणसन्निधौ न भवति । कामो हि सेव्यमानो वेदत्रयं प्रत्यग्रमाकर्षति । सतोऽप्यनुभवसुपधुंधयते । कारणसपकार्काकार्यसंपातः । नित्यमपि निरंतराभिलाषदहनदशमान-चेतसो न कदाचिन्निर्वृतिरास्ति । अपनीते तु वेदत्रये कारणाभावात् कार्यभावा इति ॥ निरवशेषवेदापगमे स्वास्थ्यं यदस्य तदेव सुखमिति मन्यमानो हृष्टात दर्शयति—

सुखं विनाप्यस्ति दुःखं सुखं पुनरैन्द्रियिकं दुःखं विना न भवति ततः सुखार्थो दुःखमेव प्रागात्मनोऽभिलषति

न च दुःखाभिलाषः प्राज्ञयुक्त इति वक्ति—

मूलारा—अणुगं पि स्तोकमपि । अणवेक्खिय अनपेक्ष्य । दुःखे सत्येव सुखं जायते । क्षुदादिपीडितस्यैव भोज-नाद्यन्वेषकत्वदर्शनादिति भावः । ऐन्द्रियिकसुखदुःखे स्वविपक्षापेक्षे इत्यन्ये । तथा चोक्तम्—

अनपेक्ष्य यथा सौख्यं न दुःखं बाधते नरम् ॥

अनपेक्ष्य तथा दुःखं न सुखं विद्यते जने ॥



दुःख सुखके बिनाभी होता है परंतु ऐंद्रियिक सुख दुःखके विना उत्पन्न नहीं होता है इस लिये सुखकी अभिलाषा करनेवाला प्राणी प्रथम दुःखकी अभिलाषा करता है ऐसा सिद्ध हुआ. परंतु दुःख की इच्छा करना बुद्धिमानके लिये योग्य नहीं है ऐसा अभिप्राय आगेकी गाथामें दिखाते हैं—

अर्थ—सुखकी अपेक्षा न करता हुआ थोड़ासाभी दुःख मनुष्यको दुःखित बनाता है परंतु सुख दुःखके विना-उसकी अपेक्षा न करके मनुष्यको सुखी करनेमें असमर्थ होता है अर्थात् जितना ऐंद्रियिक सुख है वह सब दुःखसे भरा हुआ है. और दुःखका प्रतीकार मात्र है लोक प्रतिकारको ही सुख समझ रहे हैं जब भूख और प्यास मनुष्यको सताती है तब वह अन्न और पानीका अन्वेषण करता है अर्थात् अन्न पानी सेवन कर अपनेको सुखी समझता है. सूर्यके कठोर किरणोंसे दुःखी होता है तब शीत पदार्थको चाहता है जाड़ेसे जब शरीर सिंघुडने लगता है तब वस्त्रादिकको चाहता है हवा, आतप, और पानीसे जब पीडा होने लगती है तब उसको हटानेके लिए घरमें प्रवेश कर सुखी होता है खंड होनेसे और बैठनेसे तकलीफ मालूम पड़नेपर शय्याको चाहता है पावोंको प्रवाससे थकावट उन्पन्न होनेपर पालकी वगैरह वाहनको चाहता है. कुरूपता दूर करनेके लिए वस्त्रालंकार, शरीरकी दुर्गंधता मिटानेके अर्थ कालागुरु आदिक सुगंध पदार्थकी स्पृहा उसको होती है खेद बुर करनेके लिए स्त्रीको चाहता है. ये सब दुःखके प्रतीकार ही हैं.

स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद इनके उदयसे तीनो लिंगोंके प्राणिओंको परस्पराभिलाषा उत्पन्न होती है. परंतु वह अभिलाषा अन्योन्यके शरीरसंसर्ग होनेपर भी नहीं मिलती है. क्योंकि अभिलाषको उत्पन्न करनेवाले कर्म हमेशा आत्मामें मौजूद हैं वे बार बार अन्यान्याभिलाषा उत्पन्न करते रहते हैं जब तक अखंड कारण मिलते ही रहेंगे तबतक कार्यकी उत्पत्ति होगी. जब कामसेवन मनुष्य करता है तब नवीन २ तीन वेदोंकी उत्पत्ति होती जाती है पूर्वानुभवमें वृद्धिही होती है कारण के संपर्कसे कार्यमें नित्यता आती है मनुष्य निरंतर इच्छारूपी अग्निसे दग्ध होता है अतः उसको मंतोषकी प्राप्ति नहीं होती है. जब तीन वेद नष्ट होते हैं तब परस्पराभिलाषाका कारण ही नष्ट हुआ तब वह भी नष्ट होती है संपूर्ण वेद नष्ट होने पर जो स्वास्थ्यलाभ होता है उसको ही सुख समझना चाहिए.

जह कोडिल्लो अग्नि तपंतो णेव उवसमं लभदि ॥

तह भोगे भुंजंतो खण पि णो उवसम लभदि ॥ १२५१ ॥

सेवमानो यथा वहिं न कुटी लभते शमम् ॥

भुंजानो न तथा भोगं सतोषं प्रतिपद्यते ॥ १२५२ ॥

विजयोदया—जह कोडिल्लो यथा कुष्ठेनोपद्रुत । अग्नि तपंतो अग्नि दह्यमानमूर्तिरपि । णेव उवसमं लभदि नैव व्याधेरुपशम लभते । न ह्यग्निरुपशमक कुष्ठस्यापि तु वर्द्धक । यद्यस्य बुद्धिनिमित्तं न तत्तदुपशमयति । यथा कुष्ठ नोपशमयति बन्धु । वर्धयति चाभिलाष अवलादिसंगमः । तह तथा । भोगे भुजतो भोगानुभवनोचतः । खणपि णो उवसम लभदि । श्रणमात्रमपि नोपशमं लभते भोगाभिलाषरोगस्य ॥

भोगैस्तृष्णाभिवर्धनेन परितापानुबध बोधयति—

मलारा—अग्नि तपंतो अग्नि मेवमानः । उवसम शान्तिं कुप्य । बन्धित्वापस्य तद्वर्धकत्वात् । उवसमं भोगाभिलाषरागशान्तिं । तन्निमित्तं च दाल्यकर्मणः प्रियागनाद्युपयोगेन प्रतिक्षणमाधीयमानोऽनिरणश्रवणत्वात् ॥

ऐसे सुखको ही सुख माननेवाले आचार्य दृष्टान्त प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—जैसे कुष्ठी मनुष्य अग्निसे शरीर तपनेपर भी उपशमको प्राप्त नहीं होता है अर्थात् अग्नि सेवन से कुष्ठ उपशांत नहीं होता है, उल्टा बढ़ने लगता है, जो जिसके बढ़नेमें निमित्त होता है वह उसका उपशमन नहीं कर सकता है जैसे अग्नि कुष्ठको शांत नहीं कर सकता है वैसे स्त्री वगैरह पदार्थोंका सहवास भी अभिलाषका उमशम नहीं करता है किंतु वह उसको बढ़ाता ही है भोगोंका उपभोग लेनेमें उद्युक्त हुआ पुरुषका अभिलाषारूपी रोग क्षणपर्यंत भी शान्त नहीं होता है, प्रतिदिन वह बढ़ता ही है

कच्छु कंडुयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे ॥

दुक्खे सुहाभिमाणं मेहुण आदीहिं कुणदि तहा ॥ १२५३ ॥

मैथुनं सेवमानोऽङ्गी सौख्य दुःखेऽपि मन्यते ॥

शितैः कंडूयमानो वा कच्छ कररुहैः कुधीः ॥ १२५४ ॥

विजयोदया—कच्छुं कच्छुं । कंडुयमाणो नरैर्मर्दयन् । सुहाभिमाणं करेइ सुखाभिमानं करोति । जह दुक्खे यथा दु खे । तह मेहुण आदीहि तथा मैथुनादिदु खे रभसालिंगने, अधरदशने, उरस्ताडने नखैर्निशितैरंगच्छेदने कचा-  
कर्पणे ॥ उक्त च—

नश प्रेत इवाविष्ट स्वनन्निव शयान्निव ॥

श्वासायासपरिश्चात स कामी रमते किल ॥ १ ॥ इति ॥

अनुभवसिद्ध विषयसुर्यं कथं प्रतिपिथ्यते इत्याशका दृष्टातपचकावष्टभेन निराकर्तुं गाथाद्वयमाचष्टे—

मूलारा—कंडुयमाणो नरैरुहिरान् । मेहुण आदिम्मि रभसालिंगनाधरदशनोस्ताडनकाकर्पणतीक्ष्णनख-  
च्छेदनादिजन्ये ॥

अर्थ—कच्छु रोगको नखोंसे खुजानेवाला मनुष्य खुजाते समय अपनेको सुखी समझता है जैसे यह जीवभी मैथुनादि दुःखोंसे भी अपनेको सुखी समझता है गाढ आलिंगन करनेमें, अधरचुवनमें, वक्षस्थल मर्दनमें, नखोंसे अंगमें ब्रण करनेमें और केशाकर्पणमें अपनेको सुखी समझता है इस विषयमें अन्यग्रंथमें ऐसा कहा है—वह कामी मनुष्य पिशाचके समान नग्न होकर, शब्द करनेवाला, और आयाससे थककर मैथुन सेवन करता है

घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरिचि मण्णदि वराओ ॥

तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्खं जणो कामी ॥ १२५३ ॥

सेवमानो नरो नारीं दुःखदां सुखदां कुधीः ॥

मन्यते मधुरां वहीं कृमिघोषातकीमिव ॥ १२९३ ॥

विजयोदया—घोसादकीं घोषातकीं । किमि कृमि । खतो भक्षयन् । जहा मधुरिचि यथा मधुरमिति मन्यते वराक । तह तथैव । दुष्ख वेदंतो दु खमनुभवन् । मण्णदि सोक्खं जणो कामी मन्यते कामिजन सुख ॥ ९

मूलारा—घोसातकीं घोषातकीं । खंतो भक्षयन् ॥

अर्थ—घोषातकी नामका कड़वा फल भक्षण करनेवाला कृमि उसको मीठा ही समझता है जैसे दुःखका अनुभव करनेवाला कामी पुरुष दुःखको ही सुख मानता है.

सुष्ठु वि मगिज्जंतो कथ्य वि कयलीए णत्थि जह सारो ॥

तह णत्थि सुहं मगिज्जंते भोगेसु अप्पं पि ॥ १२५४ ॥

सपद्यते सुखं भोगे सेव्यमाने न किंचन ॥

सारो नोऽन्विष्यमाणोऽपि रंभास्तेभ्यो विलोक्यते ॥ १२९४ ॥

विजयोदया—सुष्ठु वि सुष्ठु अपि मगिज्जंतो मृग्यमाणोऽपि सार. कदल्या कचिदपि मूले मध्येऽन्ते वा यथा नास्ति तथा भोगेऽन्विष्यमाणं सुखं न विद्यते ॥

इन्द्रियभोग्यतया मृग्यमाणेषु विषयेषु निःसुखत्वेकान्तमनुशास्ति—

मूलारा—कथयइ कचित् । मूले मध्येऽन्ते वा ।

अर्थ—सूक्ष्म विचार करने पर भी केलेके बृक्षमें प्रारंभ में, मध्यभागमें और अन्तमें भी कुछ भी सार दीखता नहीं है वैसे भोगोंमें विचार करनेपर भी कुछ सुख नहीं है.

ण लहदि जह लेहंतो सुक्खल्लयमट्ठियं रसं सुणहो ॥

से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुक्खं ॥ १२५५ ॥

विश्वस्ता चैः प्रतार्यन्ते विसुच्यते निषेवकाः ॥

प्रवर्द्धकाः प्रपीड्यन्ते कस्तैर्भागीः समो रिपुः ॥ १२९५ ॥

निषेव्यमाणो वनिताकलेवर स्वदेहखेदेन सुखायते जनः ॥

श्वा व्यश्रुवानो रसमस्थि नीरस स्वतालुरक्ते मज्जते सुखं यथा ॥ १२९६ ॥

विजयोदया—ण लहदि जघ सुणगो सुम्बल्लग अट्ठियं लेहंतो रसं । श्वा शुष्कमस्थि लिहन् सन् यथा रसं न लभते । सगतालुगरुहिरं लेहंतो सो सोफस्व मण्णए तीक्ष्णास्थिच्छिन्नस्वतालुगलितरुधिमाखादयन्सुखाभिमान करोति । जह तह यथा तथा । पुरिसो ण किंचि सुखं लभइ । पुरुषो न किंचित्सुखं लभते ॥

मूलारा—लेहंतो आस्वादयन् । सुक्खल्लग शुष्कं । अट्ठिगं अस्थि । सगतालुगरुहिरं । तीक्ष्णास्थिच्छिन्नस्वतालुगलितलोहितं ।

अर्थ—जैसे कुत्ता रक्तहीन सूखी हड्डी चाटने लगता है परंतु उसमें रस नहीं होता है हड्डीको चूसते समय उसीके तालुका रक्त निकलने पर वह उसमें सुख समझता है वैसे कामी पुरुष भी विषयोंमें सुख समझता है, अर्थात् स्त्रीसहवासमें उसका स्वयं वीर्यपतन होता है, और उसमेंही वह सुख समझता है

महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुहं तथा पुरिसो ॥

सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुखं ॥ १२५६ ॥

नग्नो बाल इवास्वस्थः स्वनद्यन्यक्तजल्पनः ॥

श्वासाकुलो जनो नार्यां कीदृशी अयते रतिम् ॥ १२९७ ॥

आरटंती भराकान्तां दीनामुष्दीमिवाकुलाम् ॥

किं सुख लभते मूढः सेवमानो जितं विनीम् ॥ १२९८ ॥

विभीमरूपाः कुटिलस्वभावा भोगा भुजंगा इव रंघ्रसंस्थाः ॥

ये स्मर्यमाणा जनयन्ति दुःखं ते सेविता कस्य भवन्ति शान्त्यै ॥ १२९९ ॥

प्रदश्यं सौख्यं वितरन्ति दुःखं विश्वासमुत्पाद्य च वंचयन्ति ॥

ये पीडयन्ते परिचर्यमाणास्ते सन्ति भोगाः परमा द्विपन्तः ॥ १३०० ॥

विजयोदया—महिलादिभोगसेवी स्थितिभोगसेवनोद्यत । तथा सो ण किंचि वि सुहं लहदि तथा पुरिसो न किंचिदपि सुख लभते एव । सो वरागो सगकायपरिस्सम सोमल मण्णदे स वगल स्वकायश्रमं सौख्यं मन्यते । अनुभवसिद्ध सुख कय नास्तीति शक्यते वस्तु इत्याशय्य असत्यपि सुखे सुखज्ञान जगतो भवति विषयेत्तं सुखकारण-  
सेति वदति ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—स्त्री वगैरहको भोगनेवाला यह कामी पुरुष किंचित्भी सुख नहीं प्राप्त करता है यह दीन पुरुष अपने शरीरपरिश्रममें ही सुखकी कल्पना करता है स्त्रीमहवासमें सुखकी प्राप्ति होती है यह बात अनुभव सिद्ध है उसको आप सुखाभाव कैसे कहते हो ?

इस शकाका उत्तर ऐसा है—सुखके अभावमें भी जगत् को सुखकी अति होरही है यह उसका विपर्यस्त ज्ञान है

दीसइ जल व मयतण्हिया दु जह वणमयस्स तिसिदस्स ॥

भोगा सुहं व दीसति तह य रागेण तिसियस्स ॥ १२५७ ॥

कामिभिर्भोगसेवायामसत्यं दृश्यते सुखम् ॥

कुरंगैर्मृगतृष्णायां पानीयं तृपितैरिव ॥ ३०१ ॥

विजयोद्या—दीसइ वणमयस्स तिसिदस्स जहा जल भयतण्हिया वने मृगेण हरिणादिना तृपामि-  
भूते जलकाशावता जलमिव दृश्यते मृगतृष्णाका । न मा मृगेण जलतयोपलब्धेऽपि जल भवति । तथा रागेण तिसिदस्स  
भोगा सुहं व दीसति रागद्वारेण भोगा' सुखमिव दृश्यते ॥

मूलारा—वणमयस्स वनमृगेण हरिणादिना अत्र तृतीयायाः पृष्टीवद्भावः । भोगा कामिन्यादिनिर्भासा',  
इद्विप्रतीतय' ।

इसी विषयका स्पष्टीकरण—

अर्थ—जैसे जगलमें विचरनेवाले हरिणोंको तृपासे पीडित होनेपर मृगतृष्णाका जलके समान दीखती है  
परतु वह वास्तविक जलरूप नहीं है वैसे रागभावमें व्याकुल हुए इस जीवको भोगपदार्थ सुखमय दीखते हैं परंतु  
वे वास्तविक सुखरूप नहीं हैं।

वरघो सुखेज्ज मदयं अवगासेऊण जह मसाणम्मि ॥

तह कुणिमदेहसंपंसणेण अबुहा सुखायति ॥ १२५८ ॥

कृथितस्त्रीतनुस्पर्शे नष्टबुद्धिः सुखायते ॥

अबगुणाय नाब व्याघ्र दमशाने किं न तृप्यति ॥ १३०२ ॥

पञ्चा—वरघो सुखेज्ज मदयं अवगासेऊण जह मसाणम्मि ॥  
इतिरा मससि ॥

मूलारा—सुखेज्ज त्वयति ग्रीणीतो भवति ॥ मय्यं भवकं । अवगासेदूण आलिंग्य उपरि चट्ठित्वा वा । सुसा-  
णस्मि इमशाने । कुणिमवेहंसंफासणेण कुथितयुवतिकलेवरस्पर्शनेन । सुखायंति सुखाधिगमहर्षनिर्भरा भवन्ति ॥

अर्थ—इमशानमें व्याघ्र श्रेतका भक्षण कर वृष्ट होता है वैसे मूर्ख लोक दुर्गंध शरीरके स्पर्शसे भरेको सुख  
प्राप्त हो रहा है ऐसा समझकर अतिशय हर्षित होते हैं

भवतु नाम सुखं भोगस्तथापि तदत्यल्पमिति निवेदयति—

तह अप्पं भोगसुहं जह धावंतस्स अठितवेगस्स ॥

गिम्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्पं ॥ १२५९ ॥

मध्यंदिनार्कतप्तस्य यावच्छायाव्यतिक्रमे ॥

वेगतो धावतः सौख्यं तावद्भोगनिषेवणे ॥ १३०३ ॥

विजयोदया—तथा अप्पं भोगसुह—धावंतस्स अठितवेगस्स गिम्हे उण्हातत्तस्स जहा छायासुहं अप्पं तह अप्पं  
भोगसुहं । धावंतोऽस्तितवेगस्य ग्रीष्मे उष्माभितप्तस्य यथा मार्गस्यैकतरुच्छायासुखमल्प भोगसुखं तथा ॥

एवं दुःखे मूढात्मना सुखाभिमान समर्थ्य साप्रतं परानुरोधेन भवतु नाम भोगसुख तथा तदत्यल्पमित्युपगम  
सिद्धातेन दर्शयति—

मूलारा—अठितवेगस्स अविच्छिन्नजवत्य । वा अथवा उण्हातत्तस्स मध्याह्नार्कस्मिततप्तस्य । छायासुह मार्ग-  
स्यैकतरुच्छायाप्राप्त्या शर्म ॥ उक्त च—

मध्यदिनार्कतप्तस्य यावच्छायाव्यतिक्रमे ॥

वेगतो धावतः सौख्यं तावद्भोगनिषेवणे ॥

भोग पदार्थ सुख है ऐसा यद्यपि मान लिया तथापि यह सुख अत्यल्प है ऐसा दिखाते हैं—  
अर्थ—ग्रीष्मकालमें सूर्यकी धूपसे जिसको कष्ट हो रहा है और जो भागता जा रहा है ऐसे पथिकको रास्तेमें  
वृक्षकी छायासे अल्प सुख मिलता है वैसे इस जीवको प्राप्त हुए भोगपदार्थोंसे अल्पसा सुख मिलता है ।

अहवा अप्प आसाससुहं सरिदाए उप्पियंतस्स ॥  
 भूमिच्छिक्कंगुट्टस्स उब्भमाणस्स होदि सोत्तेण ॥ १२६० ॥  
 स्रोतसा नीयमानस्य यावदाशासुख भवेत् ॥  
 पावांगुष्ठे क्षितिस्पर्शो तावद्भोगसुख स्फुटम् ॥ १३०४ ॥

विजयोदया—अहवा अयथा । अप्प अल्प । आसाससुह आश्वास एव सुख । सरिदाए नद्या । उप्पियंतस्स निमज्जत । भूमिच्छिक्कंगुट्टस्स भूमिस्पृष्टगुणस्य । सोत्तेण उब्भमाणस्स स्रोतसा प्रवाहिनीह्रमानस्य । अल्प आश्वाससुखं तद्वदिन्द्रियसुखमल्पव्यमित्यतिकांतेन संवध ॥

मूलारा—यथा वा वक्ष्यमाणमत्यल्पं तथा भोगसुरमिति संवधः ॥ आसाससुह आश्वास एव सुखं । लब्धा मया-  
 स्थाद्य तदं प्राप्त्यामि इत्याशया निर्द्वितिरित्यर्थः । सरिदाए नद्या । उप्पियंतस्स निमज्ज्यागच्छतः । भूमिच्छिक्कंगुट्टस्स भूमि-  
 स्पृष्टगुणेन येन तस्य । वोक्षमाणस्स उद्भ्रमानस्य । सोत्तेण प्रवाहेण ॥ उक्तं च—

स्रोतसा नीयमानस्य यावदाशासुख भवेत् ॥

पादगुष्ठक्षितिस्पर्शो तावद्भोगसुख स्फुटम् ॥

अर्थ—अथवा नदीमें जलके प्रवाहसे जो बहता जारहा है ऐसे मनुष्यके पांवके अंगुठका थोडासा स्पर्श जमीनपर होनेपर मैं अब डुबूंगा नहीं ऐसा भास होकर थोडासा उसको आश्वासनसुख प्राप्त होता है वैसे इस जविको ससारमें इंद्रियोंसे अल्पसुख प्राप्त होता है ऐसा पूर्व गाथाके साथ संवध समझना चाहिए

इन्द्रियसुखानि यद्यलब्धपूर्वाणि युक्तो विस्मयस्तत्र तानि सर्वोणि अनतवारपरिश्रुक्तानि, तेषु भुक्तेषु परित्यक्तेषु न युक्तो विस्मय इति अनादरं जनयति तेषु सूरि—

जावंति केह भोगा पत्ता सव्वे अणंतखुत्ता ते ॥

को णाम तत्थ भोगेसु विंभओ लद्धविजडेसु ॥ १२६१ ॥

येऽनंतशोऽक्षिना मुक्ता भोगाः सर्वे त्रिकालगाः ॥

को नाम तेषु भोगेषु मुक्तत्यक्तेषु विस्मयः ॥ १३०५ ॥



विजयोदया—जावति केइ भोगा यावन्त केचन भोगा । सबे पत्ता अणतखुत्ता ते । सर्वे प्राप्ता अनंतवार तव । को नाम तत्थ भोगेसु को नाम तेपु भोगेषु विस्मयं लब्धेषुज्जितेषु ॥

इन्द्रियसुखेवनादरोत्यादनार्थमाह—

मलारा—अणतखुत्ता अनतवारान् । विट्भओ विस्मयं आश्चर्यं । लद्धविजडेसु प्राप्तलक्केपु ॥

इन्द्रियसुख यदि पूर्वकालमें कभी मिला ही नहीं और अब ही प्राप्त हुआ होगा तो विस्मय-हर्ष मानना योग्य है परतु सर्व इन्द्रियमुखोंका इस जीवने अनंत बार उपभोग लिया है और उनका त्याग किया है अतः उनमें आश्चर्यचकित होना योग्य नहीं है, इस प्रकार इन्द्रियमुखमें आचार्य अनादर उत्पन्न करते हैं—

अर्थ—जितने भोग हैं वे सर्व अनंतवार जीवको प्राप्त हुए हैं इस लिए प्राप्त करके त्याग किए गए इन भोगोंमें आश्चर्य ही क्या है ? भोग कुछ अलम्ब्यपूर्व नहीं हैं अतः इनके प्राप्तिसे आश्चर्ययुक्त होना योग्य नहीं है.

भोगवृत्त्या निरंतर दहति भवन्त, सेव्यमाना पुनर्भोगान्तामेव वृत्त्या वर्द्धयति ततो भोगेच्छा शिथिलना नयेति वदति—

जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेसु बहुदे तण्हा ॥

अग्गीव इंधणाइ तण्हं दीविति से भोगां ॥ १२६१ ॥

यथा यथा निपेय्यन्ते भोगास्तृत्तणा तथा तथा ॥

भोगा हि वर्धयन्ते तामिंधनानीव पावकम् ॥ १३६ ॥

विजयोदया—जह जह भुजवि भोगे यथा यथा भोगान्भुक्ते । तह तह तथा तथा । भोगेसु बहु देतण्हा भोगेषु वर्धते वृत्त्या । अग्गि व अग्नि वा । यथा इंधणाइ इंधनानि । दीविति दीपयति । तद्वा तथा । तण्ह वृत्तणा दीपयन्ति । ते तस्य भोक्तुर्भोगा ॥ तथा चोक्त-वृत्त्याच्चिप परिदहति न शातिरासा ॥ इष्टेन्द्रियार्थविषयै परिवृद्धिरेव ॥

भोगवृत्त्याधिर्दहशातये सेव्यमाना भोगास्तत्र भिवृद्धयर्थ एव भवत्यतस्तच्छातये भोगेच्छामेव शिथिलयेति शिक्षार्थमाह ॥

मलारा—अग्गीव अग्निसिब ॥

यह भोगवृत्त्या है क्षपक 'तेरेको निरंतर जला रही है यदि भोगपदार्थोंका तू सेवन करेगा तो उसी

तृष्णाको ये बढायेंगे इसलिये तू इस भोगेच्छाको शिथिल कर ऐसा निर्यापकाचार्य क्षपकको उपदेश करते हैं—  
 अर्थ—जैसे मनुष्य भोगोंको भोगते हैं वैसे २ उनकी भोगेतृष्णा बढती है, जैसे लकड़ीऔसे अग्नि बढता है वैसे भोगोंसे तृष्णा बढती है श्री समनभद्र आचार्य तृष्णा और भोगके विषयमें ऐसा कहते हैं ये तृष्णाग्नि की ज्वालायें प्राणिओंको जलाती हैं परतु उनकी इद्रियोंके इष्ट पदार्थोंसे शान्ति नहीं होती है उलटी तृष्णाज्वालाओंकी वृद्धि ही होती है

जीवस्स णत्थि तिच्ची चिरं पि भोएहिं भुंजमाणेहिं ॥

तिच्चीए विणा चित्तं उव्वूरं उव्वुदं होइ ॥ १२६३ ॥

भुज्यमानैश्चिरं भोगैस्तृप्तिर्नास्ति शरीरिणाम् ॥

उत्तपूरमुद्धतं चित्तं विना तृप्त्यात्र जायते ॥ १३०७ ॥

विजयोद्या—जीवस्स जीवस्य । नास्ति तृप्तिश्चिरकालमपि भोगाननुभवत । पल्योपमत्रय काल भोगभूमिषु । त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकाल अपरेषु तृप्त्या च विना चित्त । उव्वूर उव्वुव्व उत्तपूर उच्छृतं भवतीति सूत्रार्थः ॥

सुचिरमपि सेवितैर्मौर्गैस्तृप्तिर्न भवति तत्तद्विचरस्य सुतरामौसुक्य भवतीति भोगापराधमुपदिशति—

मलारा—उव्वूर उत्तूरं, अत्यर्थमित्यर्थः । उव्वुदं उव्वुत उत्कण्ठितमित्यर्थः ॥

अर्थ—चिरकालपर्यन्त भोगोंका अनुभव लेनेपर भी जीवको तृप्ति होती ही नहीं. भोगभूमिमें इस जीवने तीन पल्योपमकालतक भोगोंका अनुभव किया है अमरलोकमें तेहतीस सागरोपम कालतक देवभोगोंका सुख भोगा है तो भी तृप्तीके विना इस जीवका चित्त हमेशा उत्कण्ठित रहता है

जह इंधणेहि अग्गी जह व समुद्धो णदीसहस्सेहिं ॥

तह जीवा ण हु सक्का तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥ १२६४ ॥

नदीजलैरिवांभोधिविभावसुरिवेधनैः ॥

सेव्यमानैरयं भोगैर्न जीवो जातु तृप्यति ॥ १३०८ ॥

विजयोदया—जह्नु इंधणेहिं यथैधनैराग्निं तृप्यति । यथा वा समुद्रो नदीसदृशे । तथा जीवो न शक्यो भोगैस्त्वर्पयितु ॥

भोगानामतर्पकत्वं सदृष्टान्तमाचष्टे—

मूलारा—तित्येदु तर्पयितुं ॥

अर्थ—जैसे इंधनोसे अग्नि तृप्त नहीं होता है, जैसे हजारो नदीओसे समुद्र तृप्त होता नहीं वैसे जीव भोगोसे समुद्र होता नहीं है.

देविदचक्षवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमीया ॥

भोगेहिं ण तिप्यंति हु तिप्पदि भोगेसु किह् अण्णो ॥ १२६५ ॥

भोगेषु भोगिणीर्वाणवलकेशवचक्रिणः ॥

न तृप्तिं ये तु गच्छन्ति तत्र तृप्यंति किं परे ॥ १३०९

विजयोदया—देविद देवानामधिपतय, चकलाछना वासुदेवा अर्धचक्रवर्तिन । कथमन्यो जनस्तृप्तिमुपेयाद्भोगै । सुलभाभितभोगसाधनाश्चिरजीविन स्वतत्राश्चामी । अन्ये तु भवदशा जठरभरणमात्रमपि कर्तुं अशक्ता स्वल्पायुष, पराधीनतृप्तयश्च तृप्यतीति का कथा ॥

सुलभाभितभोगसाधनाश्चिरजीविनः स्वतंत्राश्च देवेंद्रादयोऽपि इन्द्रियसुखेन तृप्यन्ति किं पुनरितर इति सकौ-तुकोत्प्राप्त शिक्षयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—देवेन्द्र, चक्रवर्ती, अर्द्ध चक्रवर्ती अर्थात् नारायण, प्रतिनारायण, और भोगभूमिज ये भोगोसे तृप्त होते नहीं है. तो अन्यपुरुष उनसे कैसे तृप्त होंगे ? देवेन्द्रादिकोंको भोगपदार्थ सुलभ हैं, वे दीर्घायुपी हैं, और स्वतंत्र हैं, इनसे भिन्न जीव—हम तुम पेट भरनेमें भी असमर्थ हैं स्वल्पायुपी हैं और पराधीन हैं इस लिये हम तुम कैसे तृप्त हो सकते हैं.

संपत्तिविविक्तीसु य अज्जणरक्खणपरिगहादीसु ॥  
 भोगत्थं होदि णरो उद्धुयचित्तो य घण्णो य ॥ १२६६ ॥  
 व्याकुलीभवति प्राणी ग्रहणे रक्षणेज्जने ॥  
 नाशे संपदि तत्तस्य भोगायोत्कंठितश्चलः ॥ १२१० ॥

विजयोदया—संपत्तिविविक्तीसु य संपत्तु विपत्तु च । अज्जणरक्खणपरिगहादीसु द्रव्यस्य लब्धस्याज्जेने, पुंजीकरणे, राशीकृतस्य रक्षणेपि । हस्ते विप्रकीर्णस्य ग्रहणे । आदिशब्देन तद्व्ययकरणे वा । भोगत्थं अनुभवार्थं । अर्जनादिषु प्रवृत्त । उद्धुदचित्तो य घण्णो य णरो होदि चलचित्त उत्कठावाक्ष भवति नर । द्रव्यसंपदि जाताया रागाच्चलचित्त भवति । द्रविणादिविनाशे कथं जीवामि । पुनर्द्रव्यार्जनं करोमीति ।

भोगसाधनस्य धनस्य संपत्तावुपार्जनादिषु चलचित्ता तद्विपत्तौ च पुनस्तस्याप्युत्कलिकाकुलता च स्यादिति भोगकृत द्रुद्धुःखावर्तं बोधयति—

मूलारा—परिगहादीसु परहस्ते विप्रकीर्णस्य द्रविणस्य स्वीकरणे स्वायत्तस्य व्ययकरणे च । उद्धुदचित्तो द्रव्यसंपदि जाताया रागाच्चलचित्तः । घण्णो द्रव्यविनाशे द्रव्याभिकाक्षी कथं पुनर्धनं लप्स्ये इत्युत्कंठावान् ॥

अर्थ—संपत्तिकी प्राप्ति होनेपर उसका रक्षण करना, बढाना, दूसरोंको दी हुई संपत्तिको वापिस लेना, उसका व्यय करना, और भोगमें लाना इत्यादि कार्योंमें मनुष्यका मन चंचल और उत्कंठित होता है. द्रव्यसंपत्ति प्राप्त होनेपर मनुष्य का मन रागभावमें चंचल होता है. धनादिकोंका नाश होनेपर ‘अब मैं कैसा जीऊंगा, अब पुनः द्रव्यार्जन करूंगा ऐसा विचार उत्पन्न होता है.

उद्धुयमणस्स ण सुहं सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी ॥  
 पीदीए विणा ण रदी उद्धुयचित्तस्स घण्णस्स ॥ १२६७ ॥  
 व्याकुलस्य सुखं नास्ति कुतः प्रीतिर्विना सुखम् ॥  
 कुतो रतिर्विना प्रीतिसुत्कंठां बह्तः परम् ॥ १३११ ॥

विजयोदया—उद्धुदमणस्स व्याकुलचित्तस्य ण सुहं न सुखं भवति । सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी । सुखेन

विना कुतो भवति प्रीतिरिति । पीदीए विणा प्रीत्या विना । ण रदी न रति । उल्लुदचित्तस्स व्याकुलचेतस' । घणस्स उत्कंठाङ्गाकिन्या गृहीतस्य ॥

मूलारा—पीदी वृत्तिः ॥

अर्थ—जिसका मन व्याकुल हुआ है उसको सुख होती नहीं है सुखके विना प्रीति उत्पन्न नहीं होती है, और विना प्रीतिके रति उत्पन्न नहीं होती है जिसके मनमें उत्कंठा उत्पन्न हुई है उसको व्याकुलता सताती है.

जो पुण इच्छदि रमिदुं अज्झप्पसुहम्मि णिव्वुट्ठिकरम्मि ॥

कुणदि रदिं उवसंतो अज्झप्पसमा हु णत्थि रदी ॥ १२६८ ॥

निरस्तदारादिविपक्षसंगती रिरंसुरध्यात्मसुखे निरंतरम् ॥

रति विधत्तां शिवशर्मकारणे तथा समा नास्ति जगत्त्रये रतिः ॥ १२६९ ॥

विजयोदया—जो पुण इच्छदि रमिदुं य पुना रमितुं इच्छदि । सो कुणदि रदिं स करोतु रति । क ? अज्झप्प-सुयाम्मि अध्यात्मसुखे । णिव्वुट्ठिकरम्मि निव्वुट्ठिकरे । उवसतो उपशान्तरागकोप । पतुडुक्त भवति । मनोशामनोदविषय-सन्निधाने संकल्पहेतुकौ यौ रागद्वेयौ तो पमित्तव्य निव्वुट्ठिगुत्तिकरे अध्यात्मसुखे रतिं करोतु । अज्झप्पसमा अत्मस्वरूपविष-या रतिरध्यात्मशब्देनोच्यते । तथा सदृशी रति । णत्थि र्गु न विजंत पव । यस्मात् भोगरतिरध्यात्मनो रत्या न सदृशी ॥ भगवन्त्येव तर्हि निरंतरत्यर्थिना पुरुषेण किं विधीयतामिति प्रच्छतं परमार्थतत्त्वोपदेशसर्वस्वदानेनानुगृह्णति ॥

मूलारा—इच्छदि रमिदुं नित्यं रतिमभिलषति इत्यर्थः । अज्झप्पसुहम्मि शुद्धस्वात्मानुभूत्यानंदे । णिव्वुट्ठि-अरम्मि वृत्तिकरे । कुणदु रदिं आमर्त्तिक । उवसतो मनोज्ञामनोज्ञविषयसंनिधावात्मसरूपहेतुकौ रागद्वेयौ निवर्त्य स्वात्मदर्शनोद्यतं सन् । अज्झप्पसमा आत्मस्वरूपविषयरतिसदृशी । रदी प्रीति' काचिदपि जगत्त्रयसारभोगानुभूतिरिति मध्ये ॥ उक्तं च—

अपि च ।

यदत्र चक्रिणा सौख्यं यच्च स्वर्गं द्विवौकसा ॥  
कलयापि न ततुल्यं सुखस्य परमात्मनाम् ॥

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारवह्निस्थिते ॥  
जायते परमानन्दः कश्चिन्योगेन योगितः ॥

अर्थ—जो मनुष्य रसमाण होनेकी इच्छा करता है, राग और क्रोध जिसके शांत हुए है वह पुरुष अध्यात्म सुखमें जो कि आनन्ददायक है उसमें रसमाण होवे। अर्थात् अपनी आत्मानुभवमें हमेशा तत्पर रहे इष्टानिष्ट विषयकी प्राप्ति होनेपर मनमें संकल्प होता है और इस मङ्गलमें रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है रागद्वेषोंका त्याग कर तृप्ति उत्पन्न करनेवाले आत्मानुभवरूप सुखमें प्रीति करे क्योंकि अध्यात्मरतिके समान भोगरति है नहीं।

कथम् ?

अप्यायत्ता अञ्जपरदी भोगरमण परायत्त ॥

भोगरदीए चइदो होदि ण अञ्जपरमणेण ॥ १२६९ ॥

स्वस्थ्याध्यात्मरतिजन्तोनेव भोगरतिः पुनः ॥

भोगरत्यास्ति निर्मुक्तो परया न कदाचन ॥ १३१३ ॥

त्रिज्योदया—अप्यायत्ता स्थायत्ता । अञ्जपरदी आत्मस्वरूपविषया रति । परद्रव्यान्पेक्षणात् । भोगरमण भोगरति परायत्त परायत्ता परद्रव्यालम्बनत्वात् । नेया च कथंचिदेव सान्निध्य कचिदेव कस्यचिदेति । एतेन स्थायत्त-  
नया परायत्ततया चा साम्यमाख्यात । प्रकारांतरेणापि वयस्य दर्शयति । भोगरदीए चइदो होदि भोगरत्या च्युतो भवति,  
न प्रच्युतो भवति । अञ्जपरमणेण अध्यात्मरत्या ॥

कथमध्यात्मरतिर्भोगरतिं तिरस्करोतीत्याह—

मूलारा—अप्यायत्ता परद्रव्यनिरपेक्षत्वात् । अञ्जपरदी आत्मम्बन्धविषया रतिः । परायत्तं बहिर्द्रव्यालम्ब-  
नत्वात् । चइदो सत्तः । भोगरतिनिमित्तपरद्रव्याणां कचित्कदाचित्कथंचित्सान्निध्यात् । नेत्यादि । अध्यात्मरत्यालम्बनस्य  
स्वद्रव्यस्य सर्वं सर्वदा सर्वथा सन्नहिततनात् ।

अध्यात्मरतिं क्यों श्रेष्ठ है इसका उत्तर—

अर्थ—स्वात्मानुभवमें रति करनेके लिए अन्य द्रव्यकी अपेक्षा नहीं रहती है, भोगरतिमें अन्य पदा-  
र्थोंका आश्रय लेना पड़ता है अन्य पदार्थोंकी किसीको प्राप्ति होती है और किसीको नहीं भी होती है अतः  
इन दो रतिओंमें साम्य नहीं है, भोगरतिमें आत्मा च्युत होनेपर भी अध्यात्मरतिसे वह श्रेष्ठ नहीं होता है, अतः  
इस हेतुसे भी अध्यात्मरति भोगरतिस-श्रेष्ठ है.

अनेकविघ्नसहिता विनाशिनी च भोगरति, अध्यात्मस्तेस्तु भाविताया न नाशो नापि विघ्न इति कथयत्युत्तर  
गाथा—  
भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिवहुगा ॥

अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ॥ १२७० ॥

नाशो भोगरतेरस्ति प्रत्य्यूहाश्च सहस्रशः ॥

नाशोऽध्यात्मरतेर्नास्ति न प्रत्य्यूहाः कुतश्चन ॥ १३१४ ॥

विजयोद्या—भोगरदीए भोगस्तया । णियदो णासो नियतो विनाश । विग्घा य द्रुति विघ्नाश्च भवन्ति ।  
अदिवहुगा अतीव बहव । अज्झप्परदीए अध्यात्मरते सुभाविदाए सुगुहू भाविताया । णासो नाशो न विद्यते । विघ्ना  
वा विघ्ना वा न संति । नियत नश्वरतयाऽनश्वरतया, बहुविघ्नतया, निर्विघ्नतया च तयोर्दोषम्यमिति भावः ॥  
प्रकारातरेणाऽपि तद्वैसादृश्यं दर्शयति—

मूलारा—णियदो अवश्यभावी । विघ्नो अंतरायः ॥ अंतरान्तरा तद्विघातनिमित्ताभ्यकरणियव्यासंगानुप्रवे-  
शात् ॥ सुभाविदाए स्वभ्यस्तायाः । विघ्नो एकोऽप्यंतरायः सुभाविताध्यात्मरतेः कृतकृत्यतया व्याश्रेयासभवात् ॥

भोगरति अनेक विघ्नोसे भरी हुई है परंतु अध्यात्मरतिका अभ्यास करनेसे उमका न नाश होता है न  
उसमें कोई विघ्न भी उपस्थित होता है इसका विवेचन—

अर्थ—भोगरतिका सेवन करनेसे नियमसे आत्माका नाश होता है तथा इस रतीमें अनेक विघ्न भी  
उपस्थित होते हैं. अध्यात्मरतीका उत्कृष्ट अभ्यास करनेपर आत्माका नाश भी नहीं होता है और विघ्न भी नहीं  
आते हैं अध्यात्मरति अनश्वर है अर्थात् नित्य है और भोगरति नश्वर अर्थात् अनित्य है भोगरति विघ्नोसे युक्त  
होती है परंतु अध्यात्मरति निर्विघ्न है ऐसी इन दोनोंमें महान् विपमता है.

श्रद्धियसुख शत्रुतया सकल्पनीय तथा च तच्चादरो जन्तोर्निवृत्ते. अतोऽद्विय सुपत्यमेव चीतरागत्वेद्भुके सचरे  
इति मत्वा सूरिचूलामणिराह—

दुक्खं उप्पादिता पुरिसा पुरिसस्स होदि जदि सच्चू ॥

अदिदुक्खं कदमाणा भोगा सच्चू किद्व ण हुंती ॥ १२७१ ॥

कुर्वन्तो देहिनां दुःखं जायते यदि शत्रवः ॥

तदानीं न कथं भोगा लोकद्वितीयदुःखदाः ॥ १३१५ ॥

विजयोदया—दुःख उष्पादिता दुःखमुत्पाद्य । यदि सत्त्वं होति शत्रवो भवति । पुरिसा पुरिसस्स पुरुषाः । अविदुक्त्वा कुणमाणा भोगा अतीव दुःखं कुर्वन्तो भोगा इन्द्रियसुखानि । किञ्च सत्त्वं न भवन्ति भवन्त्येवेति । कथं भोगानां दुःखहेतुता एव ग्रन्थते ? इन्द्रियसुखं नाम स्त्रीवस्त्रगवमालादिपद्व्यसनिधानजन्यं । तच्च स्थायिकं दुर्लभतमं निर्द्वेषिणस्य, तेन तदर्थं कृष्यादिकर्मणि प्रयतितव्यं । ततो महानायासः । इद्वैव भवानुगमिषु स्वनिमित्तं च कर्म हिंसादिषु प्रवर्तमानोऽर्जयति । तद्विदं दुरते ससारामोघो निमज्जयति । तत्र च निमग्नेन कर्तव्यं दुःखमनेन नावाप्यते ॥

इन्द्रियसुखानामतिदुःखकरत्वप्रदर्शनेन शत्रुत्वं व्यवस्थापयंस्तत्रानादरं कारयति—

मूलारा—अविदुक्त्वं इन्द्रियसुखार्थं कमनीयकामिन्यादिकं सन्निधापयति । तत्सन्निधापनं च धनसाध्यमेवेति धनार्थं कृष्यादिकं करोति । तच्च कुर्वन्निर्तर आत्मानमायासयति, हिंसादिकं च प्रवर्तयति । तथा च महान्पापवधत्तेन च दुरंतदुःखविवर्तः संसारवर्त इति इन्द्रियसुखमेव दुर्निवारदारुणदुःखकारणतः शत्रुत्वेन मुमुक्षुणा तद्भावायितव्यमिति अपकस्य शिक्षासर्वस्वविधानार्थमेव यत्नं कृतं सूरिशिरोरत्नेन ॥

इन्द्रियसुखं शत्रुसमानं समझना चाहिये इन्द्रियसुखमें आदर करनेसे वृत्ति होती नहीं है अतीन्द्रिय सुख ही वीतरागपना और सवरका कारण है ऐसा आचार्य चूडामणि कहते हैं

अर्थ—दुःख उत्पन्न करनेसे यदि पुरुष पुरुषके शत्रु होते हैं तो अतिशय दुःख देनेवाले इन्द्रियसुख क्यों न शत्रु माने जायेंगे ? इन्द्रियसुख दुःखदायक कैसा इस प्रश्नका—

उत्तर—स्त्री, वस्त्र, गंध, पुष्पमाला वगैरह पदार्थोंके सानिध्यसे इन्द्रियसुख उत्पन्न होते हैं परंतु स्त्री वगैरह पदार्थोंकी प्राप्ति होना दरिद्री मनुष्यको अतिशय दुर्लभ है दरिद्री मनुष्यको उनकी प्राप्तीके लिये कृषि वगैरह कर्मोंमें मग्न करना पड़ता है जिससे महान् परिश्रम होता है हिंसादिकार्योंमें वह दरिद्री मनुष्य स्त्री वगैरहके लिए प्रयत्न करता है जिससे संसार बढानेवाला और दुःखका कारण ऐसा कर्मबंध उसको होता है, यह कर्म दुःखदायक और जिसका अंत अतिकष्टसे प्राप्त होगा ऐसे संसारसमुद्रमें जीवको डुवाता है संसारमें निमग्न हुए इस जीवकी कौनसा दुःख प्राप्त नहीं होता ? अर्थात् सर्व प्रकारके दुःख इस जीवको भोगने पड़ते हैं



शत्रुतया भोगा इति कथयति—

इधद् परलोगे वा सच्चू भित्तत्तणं पुणमुवेति ॥

इधद् परलोगे वा सदाइ दुःखावहा भोगा ॥ १२७२ ॥

शत्रवो यान्ति भित्तत्त्वमिह वायुत्र वा भवे ॥

भित्तत्त्वं प्रतिपद्यन्ते भोगा लोकद्वयेऽपि नो ॥ १३१६ ॥

विजयोदया—इधद् अस्मिन्नेव जन्मनि । परलोगे वा परजन्मनि वा । सच्चू शत्रव । भित्तत्तणं भित्तता । पुण-  
मुवेति पुनर्दौकन्ते । शत्रव शत्रुतामपि जह्यु । कार्यवशात्, उपकारातिशयसंपादनाभिप्राया वा यान्ति च । वाचा न  
स्फुटतरा । इहैव तथा परलोके वा सच्चूदा दुःखावहा भोगा सर्वदा दुःखावहा भोगा । ततः शत्रुतया इति भावनीयं ॥

भोगानां शत्रुतमत्वभावनार्थमाह—

मूलारा—इधद् अस्मिन्नेव जन्मनि । अन्यस्त्वेवं व्याख्यात् ॥ इय इहभवे । इं किं इह लोके परलोके इत्यर्थः ।

पुण उवेति कार्यवशाच्छत्रवो भूत्वा पुनर्भित्तत्वं यान्ति ॥

अर्थ—इसी जन्ममें अथवा अन्य जन्ममें अपने शत्रु शत्रुत्व का त्याग कर भित्र हो सकते हैं कार्यके  
वश होकर शत्रु अपना वैर छोड़कर मित्र होते हैं अथवा उनके ऊपर बहुत उपकार करनेसे भी वे अपना शत्रुत्व  
छोड़ देते हैं, परंतु इस जन्ममें अथवा जन्मांतरमें भी भोग हमेशा दुःखदायी ही हैं इसलिए उनसे जगतमें कोई  
भी महान् शत्रु नहीं है,

एगम्मि चेव देहे करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी ॥

भोगा से पुण दुक्खं करंति भवकोडिकोडीसु ॥ १२७३ ॥

वैरिणो देहिनां दुग्घं यच्छन्त्येकत्र जन्मनि ॥

संतनं दुस्सहं दुःखं भोगा जन्मनि जन्मनि ॥ १३१७ ॥

विजयोदया—एगम्मि चेव देहे । करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी एकस्मिन्नेव देहे कुर्यादु खं न वा शत्रुः ।  
भोगा पुण भोगा पुन । से तस्य । दुक्खं करंति दुक्खं कुर्वंति । भवकोडिकोडीसु सन्ततेषु भवेषु । एवं भोगदोषानवेत्यात्र  
निदानं त्वया न कार्य इत्युपदिष्ट सरिणा ॥

मूलाराधना—करेज्ज कुर्गत् । भवकोटिकोटीसु ॥ अन्तेषु भवेपु ॥

अर्थ—इस भवमें जो शरीर प्राप्त हुआ है उसको शत्रु दुःख देगा या नहीं भी क्यों कि हम भी उसके साथ लड़कर हमारे शरीरका रक्षण कर सकते हैं अतः वह नियमसे हमारे शरीरको धीहित नहीं कर सकेगा। परंतु भोग अर्न्तभवोंमें इस शरीरधारक आत्माको दुःख दे रहे हैं भोगोंके ऐसे दोषोंका स्वरूप जानकर हे क्षपक ! तू भोगनिदान मत कर ऐसा आचार्यने उपदेश दिया है

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलबो ण पिच्छदि पपादं ॥

तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहसंसारं ॥ १२७४ ॥

निदानी प्रेक्षते भोगान्न संसारमनारतम् ॥

मध्वेव प्रेक्षते पातं तटस्थायी न दुस्सहम् ॥ १३१८ ॥

विजयोदया—मधुमेव पिच्छदि मध्वेव पश्यति तथा तटस्थव्यवस्थान् । ण पिच्छदि न प्रेक्षते । पपाद प्रपातमात्मनः । तह तथा । सणिदाणो निदानसहित । भोगे पिच्छदि भोगान्प्रेक्षते । ण हु पेच्छदि दीहसंसारं । नैव प्रेक्षते दीर्घसंसार ।

भोगनिदानवतो भोगजन्मायायपरपरान्वेक्षित्वं तृष्टान्तेन भावयति—

मूलारा—मधुमेव मुरे पतन्तं क्षौत्रिण्डुमिव । तडिओलबो कूपभित्त्येकदेशेऽवलम्बमानः । पवाहं प्रपतन ॥

अर्थ—कूपके भित्तिके एक भागपर खड़ा हुआ मनुष्य मधुके छत्तेसे गिरते हुए मधुर्विबुओंका आस्वाद लेनेमें ही मस्त रहता है परंतु कूपमें गिरनेका भय मनमें नहीं लाता है वैसे निदान करनेवाला मनुष्य भोगोंके पदार्थका आस्वाद न लेनेमें निमग्न रहता है परंतु इससे मेरेको संसारमें दीर्घकालतक अमण करना पड़ेगा ऐसा विचार मनमें लाता नहीं है

जालस्स जहा अंते रमंति मच्छा भयं अयाणंता ॥

तह संगदिसु जीवा रमंति संसारमगणंता ॥ १२७५ ॥

भोगमध्ये प्रदीव्यन्ति जन्मदुःखमनारतम् ॥

अपश्यन्तो मृतित्रासं जालमध्ये झपा डव ॥ १२१९ ॥

विजयोदया—जालस्स जालस्य । अन्ते मध्ये । जहा मच्छा रमन्ति यया मत्स्या रमन्ते । भयमयाणता भयमन वदुच्यमाना । तद्द सगादिषु तथा परिग्रहादिषु । जीवा रमन्ति जीवा रमते । संसारमगणता संसारमगणयन्तः ॥ कमिन्यादिभोगेषु निर्भयक्रीडा प्राणिना मृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलारा—अन्ते मध्ये । भयं मृत्युभीति । संसारमगणतो संसारादविभ्यत इत्यर्थः ॥

अर्थ—धीवरके जालमें मयका जिनकों परिज्ञान नहीं है ऐसी मछलियां जैसी खेलती कूदती हैं वैसे संसारी जीव संसारभयसे रहित होकर स्त्री वगैरह परिग्रहमें रममाण हो रहे हैं,

कुर्योनिपतनमूलान्निद्रियसुरानि नियोगत प्रकृष्टयोर्द्वैपरगयोर्निमित्तत्वात् । तासु कुरित्तासु योनिषु उत्पद्य दुःखानि विचित्राणि अनुभवतः देवादिभेषु वृत्ता भोगा वत्खालंकारभोजनादयो दुःख निराकर्तुं न क्षमा इति वदति गाथाद्वयेन—

दुक्खेण देवमाणुसभोगे लङ्घूण चावि परिवड्ढिदो ॥

णियदिमदीदि कुज्जोणं जीवो सधरं पडत्थो वा ॥ १२७६ ॥

प्राप्त्यापि क्कुच्छन्तो जीवो देवमानवसंपदम् ॥

प्रवासीव निजं स्थानं कुर्योनिं याति निश्चितं ॥ १२८० ॥

विजयोदया—दुक्खेण लङ्घूण वल्लेखेन । देवमाणुसभोगे दैव्यान्मानुषाश्च भोगात् । परिवड्ढिदो परिपतित प्रच्युतस्ततो भोगाज्जीव । कुज्जोणं णियद्वमदीदि कुरित्ता योनिं नियतमुपैति । किमिव ? सधरं स्वग्रहं, पडत्थो वा प्रवासीव ॥

दुश्चरतपश्चरणपूर्वनिदानेन देवादिभोगान्याय भुजानस्य मोहद्रुढिमूलप्रकृष्टरागद्वेषपरिणामसंगृहीतदुष्कृत-चक्रस्य नियोगेन कुर्योनिपत्यप्तिर्भवति । तत्र च दुःखान्यनुभवतस्तत्तादृकामिन्यादिभोगा न मनागपि परित्रा कुर्वन्तीति गाथाद्वयेनोपदिशति—

मूलारा—दुक्खेण संयमक्लेशपूर्वकनिदानेन । परिवड्ढिदो परिच्युतः । अदीदि उपैति । पडच्छो वा प्रवासी यथा ॥

इत इन्द्रियसुखोंका उपभोग लेनेसे आत्मामें तीव्र रागद्वेष उत्पन्न होते हैं और इनसे आत्मा कुयोनिमें पड़कर नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव लेता है. यद्यपि देयादिगतिमें वस्त्र, अलंकार, भोजनादिक भोग मिलते हैं तथापि वे इस आत्माके दुःखोंका नाश नहीं कर सकते हैं इसी विषयका आचार्य दो गाथाओंमें वर्णन करते हैं—  
अर्थ—सयमके क्लेशसे निदान वश होकर देवोंके और मनुष्योंके भोगोंकी प्राप्ति कर लेनेपर यह आत्मा प्रवासी जैसा अपने घरके प्रति गमन करता है वैसा कुत्सित योनिओंमें निश्चयसे उत्पन्न होता है

जीवस्स कुज्जोणिगदस्स तस्स दुक्खानि वेदयंतस्स ॥

किं ते करति भोगा मदोव वेज्जो मरंतस्स ॥ १२७७ ॥

किं करिष्यंति ते भोगा योनिं यातस्य कुत्सितां ॥

किं कुर्वन्ति मृता वैया त्रियमाणस्य देहिनः ॥ १२७८ ॥

विजयोदया—जीवस्स कुज्जोणिगदस्स कुयोनिगतस्य जीवस्य । दुक्खानि वेदयतस्स दुःखानि वेदयमानस्य । किं ते करंति भोगा किं ते कुर्वन्ति भोगा स्त्रीवस्त्रादयः । नैव किंचिदपि दुःखमवमपेनेतु क्षमा । मदो व वेज्जो वैद्यो मृतो यथा । मरतस्स त्रियमाणस्य न किंचित्कतु क्षम ॥

मूलारा—मदो मृतः । मरंतस्स त्रियमाणस्य रोगिणः ॥

अर्थ—कुयोनिओंमें जीव जब दुःखानुभव लेता है तब स्त्री वस्त्रादिक पदार्थ उसका थोडासा दुःख भी हरण करनेमें समर्थ नहीं है. क्या मरा हुआ वैद्य मरनेवालेका रोगदुःख मिटा सकता है ?

जह सुत्तबद्धसउणो दूरं पि गदो पुणो व एदि तहिं ॥

तह संसारमदीदि हु दूरं पि गदो णिदाणगदो ॥ १२७९ ॥

संसारं पुनरायान्ति निदानेन निचंजिताः ॥

दूरं यातोऽपि पक्षीव रक्षीव रक्षिमाना निजमारपदम् ॥ १२८० ॥

विजयोदया—जह सुत्तबद्धसउणो यथा सूत्रेण दीर्घेण वद्धः पक्षी । दूरं पि गदो दूरमपि गतः । पुणो एदि तहिं

पुनरप्येति तमेव देशं । तद् संसारमदीवि खु संसारशब्दात्परः खु शब्दो द्रष्टव्यः, तेनायमर्थः—संसारमेवाधिगच्छतीति । दूरं पि गद्दो महर्द्धिक स्वर्गादिस्थानमुपगतः, गिदाणगदो निदानं परभवे सुखातिशये मनःप्रणिधानं गत ॥ निदानिनः संसारावर्तं समर्थयते ॥

मूलरा—सुत्तवद्धसडणो दोर्वसूत्रनियत्रितः पक्षी । तद्धि स्वस्थानमेव । हु संसारमेवाधिगच्छतीत्यर्थः । दूरं महर्द्धिकस्वर्गादिस्थानं । गिदाणगदो परभवसुखातिशायिमनःप्रणिधानं प्राप्तः ॥

अर्थ—दोरीसे बंधा हुआ पक्षी दूर जाकर भी पुनः अपने पूर्व स्थानपर आता है वैसा यह जीव भी निदानके प्रभावसे महाक्रद्धिसंपन्न स्वर्गादि स्थानमें जाकर पुनः संसारमें प्रमण करता है

कश्चिदुद्ध कारागृहे इयता कालेन तव द्रविण दास्यामि भवदीयेमेव तावत्प्रयच्छेति गृहीत्वा द्रव्य रोधकेभ्यः प्रदाय सगृहे सुखं वसन्नपि पुनर्यथा तैरुत्तमर्णैर्धायिते तथैव निदानकारी कृतेन पुण्येन परिभासस्वर्गोऽपि पुनरप्य पततीति निगदति—

दाऊण जहा अत्थं रोधणमुक्को सुहं घरे वसइ ॥

पत्ते समए य पुणो रुंभइ तह चेव धारणिओ ॥ १२७९ ॥

अधमर्णो निजे गेहे रोधमुक्को सुखं वसेत् ॥

दत्तवार्यं समये प्राप्ते यथा भूयो निरुच्यते ॥ १२८३ ॥

विजयोदया—दाऊण दत्ता, अत्थ अर्थ, जह यथा, रोधणमुक्को रोधेन मुक्त, सुह घरे वसदि खु सुखेन गृहे वसति । पत्ते समये य प्राप्ते चावधिकाले, पुणो रुंभइ पश्चान्न च संभ्यते, तथा चेव पूर्ववदेव, धारणिओ अधमर्ण ॥ निदानेन दिवं प्राप्य पुनरधमयोनिषु पततीति निदर्शनपुरःसरं गाथाद्वयेनोपदिशति—

मूलरा—अत्थं कलातरस्कधकादिद्रव्य । रोधणमुक्को वरणकाद्रिच्युतः । समए इयता कालेन पुनर्दास्यामि इति प्रतिपन्नावधिकाले । रुंभदि धरणके व्रियते । तथा चेव पूर्ववदेव । धरणिगो अधमर्णः ॥

कारागृहमें कैद किया हुआ कोई मनुष्य इतने दिनों के अनंतर में तुझारा द्रव्य देऊंगा इस समय तुम अपना धन मेरेको दो ऐसा कहकर उनसे धन लेकर वह कैदमें रहनेवालोंको देकर उनसे अपनी मुक्तता कर लेता है, घरमें जाकर वह सुखसे रहता है परंतु पुनः वे कर्जा देनेवाले धनिक आकर उसको पकड़ते हैं वैसी

ही निदान करनेवालेकी परिस्थिति होती है, अर्थात् निदानकारी मनुष्य किए हुए पुण्यसे स्वर्गयाति कर लेनेपर भी पुनः अधोगतिमें चला जाता है इसी अभिप्रायको स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—कर्ज लेनेवाला पुरुष धन देकर केदमें मुक्त होता है और घरमें आकर सुखसे रहने लगेता है, परंतु जब पुनः साहूकारको धन चुकानेका काल प्राप्त होता है तब पुनः वह कर्जा लेनेवाला पुरुष केदमें डाल जाता है वैसे—

दार्ष्टान्तिके योजयति—

तह सामणं किच्चा किलेसमुक्कं सुहं वसइ संगे ॥  
संसारमेव गच्छइ तत्तो य चुदो निदाणकदो ॥ १२८० ॥  
संभूदो वि निदाणेण देवसुक्खं च चक्कहरसुक्ख ॥  
पत्तो तत्तो य चुदो उववणो गिरयवासम्मि ॥ १२८१ ॥  
इदानीं चरणं कृत्वा सुखं मुक्त्वाऽवतिष्ठते ॥  
त्रिविधे समये प्राप्ते तथा याति पुनर्भवम् ॥ १३२४ ॥  
देवश्चकी सुखं मुक्त्वा संभूतो हि निदानतः ॥  
निरंतर महादुःखं प्राप्य प्रतिवासितम् ॥ १३२५ ॥

विजयोदया—संभूदो वि निदाणेण निदानेन समूत काश्चित्, देवसुम्न देवसुखं, चक्कघरसोक्ख चक्कघर-  
सौख्य, पत्तो प्राप्त । तत्तो य चुदो तस्मात्सुखात्पच्युत, गिरयवासम्मि गिरयवास

मूलारा—निदाणकदो एतत्तपोलुभावेन देवलोको मे भूयादिति निदानं कृतं येनासौ ॥  
भोगनिदानदोपमर्थोऽप्यनेनाख्याति—

मूलारा—संभूदो संभूतनामकः कुटुम्बिकपुत्रः । देवसोक्खं सौधर्मकल्पवासिमुसुख । चक्कघरसोक्खं ब्रह्मद-  
त्ताख्यद्वादश वक्रवर्तिशर्म ॥

अर्थ—निदानयुक्त तप करके कोई पुरुष स्वर्गमें सुख भोगता हुआ काल व्यतीत करता है परंतु वहांका आयुष्य समाप्त होनेके अनंतर वह पुरुष स्वर्गमें च्युत होकर संसारमें भ्रमण करता है

अर्थ—सभूत नामक कोई किसानका लडका निदान युक्त तप करके सौधर्म स्वर्गके सुखका उपभोग लेकर यहां भरत क्षेत्रमें ब्रह्मदत्त नामक अन्तिम वारहवां चक्रवर्ति हुआ. चक्रवर्तीके सौख्य भोगकर चक्रवर्ति पदसे अष्ट होकर नरक्रगतीमें सातवे नरकमें उत्पन्न हुआ.

णच्चा दुरंतमद्भुयमत्ताणमतिप्पयं अविस्सायं ॥

भोगसुहं तो तम्हा विरदो मोक्खे मदि कुज्जा ॥ १२८२ ॥

अतर्पकमविश्रामं भोगसौख्यं विनश्वरम् ॥

दुरंतं सर्वथा त्यक्त्वा घृक्तिसौख्ये मतिं कुरु ॥ १३२६ ॥

विजयोदया—णच्चा ज्ञात्वा, दुरत्वसानदुःखफलमिति यावत्, अद्भुतं अनित्यं, अत्ताणं अत्राण, अतिप्पण अतर्पकं, अविस्सायं असकृद्वृत्त, भोगसुख भोज्यते सेव्यते इति भोगा रुच्यादय, तैर्जनितं सुख, तो पश्चात्, तम्हा पश्चात् भोगसुखात्, दुरंतादिदृष्टदोषात्, विरदो व्यावृत्त, मोक्खे मोक्ष निरवशेषकर्मपाये । मदि कुज्जा मतिं कुर्यात्, अनुष्ठीयमानेन चारित्र्येण तपसा वा कर्मक्षयोऽस्तीति मतिं कुर्यात्, न निदानं कुर्यादित्यर्थ ॥

एवं भोगनिदाने दोषान्प्रपंच्य भोगसुखदोषानुवादपुरःसरं तपसा कर्मक्षयोऽस्तीति भावनीयत्वेनोपदिशति—

मूलारा—णच्चा ज्ञात्वा । दुरंतं दुरवसानं । दुःखफलमिति यावत् । अत्ताण अरक्षक, रक्षितुमशक्यमिति वा । अतिप्पय अट्टमिकर । अविस्समं असकृद्धृतं । अनादिसंसारेऽनेकवारान्युक्त्वात् । तो पश्चात् । मदि अनुष्ठीयमानेन तपः संयमादिना कर्मक्षयोऽस्तीति बुद्धिं न निदानं ॥

अर्थ—यह भोगसुख अन्तरहित ऐसे दुःखरूप फलको देता है, अनित्य हैं, इससे जीवका संरक्षण नहीं होता है अर्थात् कुगतिमें जानेवाले जीवको यह भोगसुख उससे संरक्षण नहीं करता है इस भोगसुखसे जीव तप्त नहीं होता है यह सुख जीवको वार वार प्राप्त होता है एव दोषविशिष्ट इस भोगसुखका जब ज्ञान होता है तब यह आत्मा संपूर्ण कर्मका नाश करनेवाले मोक्षसुखमें अपनी बुद्धिको लगाता है अतः हे क्षपक ! आचरणमें लाये हुए रत्नत्रयसे और तपसे कर्मक्षय होता है ऐसा समझकर तूं निदानका त्याग कर.

निदानदोषं विस्तरत उपदृश्य अनिदानत्वे गुण व्याचष्टे—

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाचरणं विसोधेदि ॥

तो सुद्वणाचरणो तवसा कम्मवत्थय कुणइ ॥ १२८३ ॥

विशोध्य दर्शनज्ञानचारित्र्यतयं यतिः ॥

निर्निदानो विशुद्धात्मा कर्मणां कुरुते क्षयम् ॥ १३२६ ॥

विजयोदया—अणिदाणो य मुणिवरो अनिदानो यतिकृपम, दसणणाचरणं रत्नत्रयं विसोधेदि विशोधयति, निदानाभावादनतिचार सम्यग्दर्शन शुद्धं भवति, तस्मिन्निर्मल ज्ञान, विशुद्धज्ञानपुरोगं चारित्र्यं विशुद्धं भवति, तथसा कम्मवत्थय कुणदि तपसा कर्माणि निरवशेषाणि वियोजयत्यात्मन ॥

स्वं निदानदोषान्वित्तरेण व्याख्याय सप्रत्यनिदानत्वे गुण व्याचष्टे—

मूलारा—विसोधेदि निदानाभावाद्धि निरतिचारे मति सम्यक्त्वे, जाताया ज्ञानविशुद्धौ, चारित्र्य विशुद्ध सपणेता॥

निदानके दोषोंका सविस्तर विवेचन हुआ. निदान नहीं करनेमें क्या गुण है इनका विवेचन—

अर्थ—जिन्होंने निदान नहीं किया है ऐसे मुनिराज अपना रत्नत्रय निरतिचार करते हैं निदानके अभाव से सम्यग्दर्शन निर्मल होता है निर्मल सम्यग्दर्शन ज्ञानको निर्मल बनाता है विशुद्ध ज्ञानके साथ पाला गया चारित्र्य भी निर्मल होजाता है. इस तरहसे निर्मल रत्नत्रयधारक साधु तपश्चरणके द्वारा सपूर्ण कर्मोंको अपने आत्मासे अलग करता है.

इच्चवेवमेदमविचितयदो होज्ज हु णिदाणकरणमदी ॥

इच्चवेव पस्संतो ण हु होदि णिदाणकरणमदी ॥ १२८४ ॥

दोपानिति सुधीरुद्ध्वा निदानं विदधाति नो

जानानो दारुण मृत्युं को हि भक्षयते विषम् ॥ १३२७ ॥

लुपति पातकलोपि चारित्र्य सिद्धिसुखं विधुनोति पवित्रम् ॥

देहवतामुरुदोषनिधानं किं कुशलो न शृणाति निदानम् ॥ १३२८ ॥



विजयोदया—इच्छेवमेदमविधितयतो इत्येवमेतद्वस्तुजात आधिचितयतः। होल्लङ्ग भवेदेव, णिदाणकरणमदी निदानकरणे मतिर्युद्धिः, इच्छेवं परमंतो इत्येवमेतत्पश्यन्, न ह्यु नैव, होदि भवति णिदाणकरणमदी निदानकरणमति णिदाणं ॥

एवंविधभावाननुष्ठानानुष्ठानयोः फले ब्रवीति—

मूलारा—इच्छेवमेव इति प्राक्प्रवचनोक्त । वस्तु । एवमेव इत्यमिर्त्यर्थः । अविधितयतो अध्ययतोऽध्ययित्वा ॥  
अर्थ—उपर्युक्त बातोंका जो पुरुष विचार नहीं करता है उसकी बुद्धि निदान करनेके तर्फ लगती है परंतु जो इन बातोंका विचार करता है वह निदान नहीं करता है निदान करनेसे रत्नत्रयमें निर्मलता आती है और तपके द्वारा कर्मका क्षय होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसा विचार करनेवाला मुनि निदानका त्याग करता है परंतु भोगोंमें जिसकी बुद्धि लुब्ध हो गई है वह मुनि रत्नत्रयकी निर्मलताके तर्फ ध्यान नहीं देता है अतः वह निःशल्य नहीं होनेसे संसारमें अमण करता है.

मायासल्लस्सालोयणाधियारम्मि वणिणदा दोसा ॥

मिच्छत्तसल्लदोसा य पुब्बमुववणिण्या सव्वे ॥ १२८५ ॥

आलोचनाधिकारस्य मायाशल्यस्य दूषणं ॥

उक्तं मिथ्यात्वशल्यस्य मिथ्यात्ववमनस्त्वे ॥ १२८६ ॥

विजयोदया—मायासल्लस्स मायाशल्यस्य, आलोयणाधिकारम्मि आलोचनाधिकारे वणिणदा दोसा वर्णिता दोषा, मिच्छत्तसल्लदोसा मिथ्यात्वशल्यदोषाश्च । सव्वे सर्वे, पुब्बमुववणिणदा पूर्वमेव व्यावर्णिता, शल्यत्रयगतदोषा भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन सुरितेतकथयति आबुद्धदोषेण शल्यत्रय त्वया त्याज्यमिति ॥

मायामि ज्यात्वशल्यदोषान्प्रयुक्तान्क्षपकमनुसारयति—

मूलारा—पुब्बं मि ज्यात्ववमनवर्णनाधिकारे ॥

अर्थ—आलोचनाके अधिकारमें मायाशल्यके दोषोंका वर्णन ग्रथकारने किया है- मिथ्यात्वशल्यके दोषोंका भी पूर्वमें वर्णन हो चुका है हे क्षपक' तुझको इन तीनों शल्योंके दोषोंका परिज्ञान हुआ है अतः तू इन तीनों शल्योंका त्याग कर.

मायाशल्यपरित्यागात्माप्तदोषमर्थोल्ल्यानेन दर्शयति—

पम्भट्टबोधिलाभा मायासह्येण आसि पूदिमुही ॥

दासी सागरदत्तस्स पुष्पदंता हु विरदा वि ॥ १२८६ ॥

मायाशल्येन ही बोधेः ग्रन्थेः प्रअष्टा कुथितानना ॥

दासी सागरदत्तस्य पुष्पदन्तार्जिका भवे ॥ १३३० ॥

विजयोदया—पम्भट्टबोधिलाभा विनष्टो दीक्षाभिमुखबुद्धिलाभो यस्या सा प्रअष्टबोधिलाभा । आसी आसीत् । का ? पूदिमुही पूतिमुखीसंशिता । सागरदत्तस्स दासी सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? मायासह्येण माया शल्येन । पुष्पदंता हु विरदा वि मायासह्येण पम्भट्टबोधिलाभा आसी इति पदसंबन्ध पुष्पदन्ताख्या संयता च मायया प्रअष्टबोधिलाभा आसीत् । मायाशल्यं ॥

मायाशल्यफलमर्थाल्ल्यानेन कथयति—

मूलारा—बोधि दीक्षाभिमुखबुद्धिः । आसि सजाता । पूदिमुही पूतिमुखीत्यन्वर्थनान्नी । विरदा वि आर्थिकापि सती ॥

मायाशल्यका त्याग न करनेसे जिसका नुकसान हुआ था ऐसी व्यक्तिका दृष्टांत आचार्य कहते हैं—  
अर्थ—पुष्पदंता नामकी आर्थिका मायाशल्यसे दीक्षाके विचारसे रहित हुई अर्थात् मैंने दीक्षा आत्म-  
कल्याणके लिये धारण की है ऐसी भावना मायाशल्यसे उसकी नष्ट हुई और वह मरकर सागरदत्तके यहा पूति-  
मुखी नामकी दासी हुई इस तरह मायाशल्यका वर्णन हुआ

मिच्छत्तसह्यदोसा पियधम्मो साधुवच्छलो संतो ॥

बहुदुक्खे संसारे सुचिरं पडिहिंढिओ मरिची ॥ १२८७ ॥

विद्धो मिथ्यात्वशल्येन धार्मिको वत्सलाशयः ॥

मरीचिरअमन्नीमे चिरं ससारकानने ॥ १३३१ ॥

निदानमायाविपरीतदर्शनेर्विदार्यतंजनी निशितैः शरैरिव ॥  
विबुध्य दोषानिति शुद्धबुद्धयस्त्रिधापि शल्यं दवयन्ति यत्नतः ॥ ३३२ ॥  
इति शल्यम् ॥

विजयोदया—मिच्छत्तसल्लोसा मिथ्यात्वशल्यदोषात् । पियधम्मो साधुवच्छलो सतो प्रियधर्मे साधूना वत्स-  
लोऽपि सन् मरीचिः । बहुदुःखे ससारे सुचिरं पडिद्धिडिओ ससारे सुचिरं भ्रात, कीदृशे ? बहुदुःखे ॥ मिथ्याशल्यं ॥  
मिथ्यात्वशल्यापकारमर्थाल्यानेन आह—

मूलारा—मरिची मरीचिकुमारः । पंचमहाव्रतारक्षा ॥

अर्थ—जिसका धर्मपर प्रेम था और जिसमें साधुओंके प्रतिवात्सल्य था ऐसे मरीचिनामक सुनिने मिथ्यात्व  
शल्य दोषसे विकलतक अनेक दुःखोंसे व्याप्त संसारमें भ्रमण किया इस प्रकार मिथ्यात्वशल्यका वर्णन हुआ

एव निर्यापकेण सूरिणा सस्सूयमानं साधुवर्गो निर्वाणपुरं प्रविशतीति दर्शयति उत्तरप्रवचने—

इयं पव्वज्जाभंढिं समिदिबड्ढं तिगुत्तिदिदचकं ॥

रादियभोयणउद्धं सम्मत्तक्खं सणाणधुरं ॥ १२८८ ॥

प्रवज्यागंत्रिकां गुप्तिचकां ज्ञानमहाधुरं ॥

समित्युक्षाणमारुह्य क्षपको दर्शनादिकम् ॥ १३३३ ॥

विजयोदया—इयं सारविज्जतो साधुवर्गसत्थो साधुवर्णियगो ससारमहाडवि तरदिति पदघटना । व्यावर्णि-  
तक्रमेण संस्क्रियमाणः साधुवृद्धसार्थं संसारमहादृष्टौ तरति । पव्वज्जाभंढिमाराहियं पच्छिओ प्रवज्याभंढिमाराह्य प्र-  
स्थितः, समिदिवड्ढं समितिवलीवड्ढं, तिगुत्तिदिदचकां त्रिगुत्तिदिदचकां, सम्मत्तक्खं सम्मत्तक्का, सणाणधुरं समी-  
चीनज्ञानधूर्वर्तौ ॥

साग्रत सामान्यविशेषाभ्यामिन्द्रियकणयनिर्जयं व्याचिरव्यासुः पूर्वं सामान्येन तद्दोषान्वक्तुं गाथात्रिपट्टया  
प्रक्रमते । तद्विषयविशेषसिद्ध्यर्थं च तावत्प्रवर्धनेन व्याख्यातमर्थं सुखस्मृत्यर्थमुपसंगृह्य गाथाद्वयेनोपमालंकारसुभगमभिधत्ते—  
मूलारा—पव्वजाभंढिं प्रवज्या दीक्षा सा भड्डिरिव गड्डिका यथेति यावत् । बहुवाक्यभारक्षमत्वात् । रादियभो-  
यणवड्ढिं राज्यभोजनं द्रव्यतो भावतश्च रात्रिभोजननिवृत्तिद्वयं दीर्घद्विकाद्वयं यस्याः सा राज्यभोजनाद्वि सातविधैर-  
नित्यत्वाच्चात्र कम् ॥

निर्यापक आचार्यके द्वारा स्तुति किए हुए साधु मोक्षनगरीमें प्रवेश करते हैं इस विषयका विवेचन आगे आचार्य करते हैं—

अर्थ—जो उपदेशका क्रम यहाँतक आचार्य महाराजने बताया है उससे जब साधुसमूहरूपी सार्य संस्कृत किया जाता है तब वह संसाररूपी महान् जंगलके दूसरे किनारेपर सुखसे जा सकता है अन्यथा नहीं, जिसको समितीरूपी बेल जोड़े हैं, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिरूपी पहिये जिसके हैं सम्यक्त्वरूपी आँख और सम्यग्ज्ञान जिसकी घुरा है, और द्रव्यरात्रिभोजन साक्षात् रातमें आहार लेना और भाररात्रिभोजन—रात्री भोजनकी मनमें अभिलाषा करना इन दोनोंका त्याग ही जिसके दीर्घ दृढ़ है ऐसी दीक्षारूपी गाड़ीपर सवार होकर साधुरूपी व्यापारिओंका समुदाय संसाररूपी महाजंगलके दूसरे किनारेको सुखसे जाता है.

वदभंडभरिदमारुहिदसाधुसत्येण पत्थिदो समयं ॥

णिब्वाणभंडहेदुं सिद्धपुरीं साधुवाणियओ ॥ १२८९ ॥

प्रस्थितः साधुसार्थेन व्रतभांडभृता सह ॥

सिद्धिसौख्यमहाभांडं ग्रहीतुं सिद्धिपत्तनम् ॥ १३३४ ॥

विजयोदया—वदभंडभरिद व्रतभांडपूर्ण । साधुसत्येण पत्थिदो साधुसार्थेन सह प्रस्थितः । किं प्रति ? सिद्धिपुरं । निब्वाणभंडहेदु निवर्णान्द्रव्यनिमित्त साधुवाणियगो क्षपकसाधुवणिक् ॥

मूलारा—मह क्रयणकं । समय सह । णिब्वाण सिद्धिसुखं । साधुवाणियओ क्षपकयतिवणिक् ॥

अर्थ—साधुरूप व्यापारिओंके साथ इस क्षपकरूप व्यापारीने दीक्षारूपी—व्रतरूप माल भर दिया है और वह इसको वेचकर मोक्षरूपी मालकी खरीदी करनेके लिये सिद्धिपुरको खाना हो रहा है

आयरियमत्थवाहेण णिज्जउत्तेण सारविज्जंतो ॥

सो साहुवग्गसत्थो संसारमहाडविं तरइ ॥ १२९० ॥

सार्थः संस्क्रियमाणोऽसौ भीमां जन्ममहाटवीम् ॥

आचार्यसार्थवाहेन महोद्योगेन लंघते ॥ १३३५ ॥

विजयोदया—आयस्यसत्यवाहेन आचार्यसार्थवाहेन । पिच्छजुत्तेण सर्वदानपयिना सारविज्जंतो संस्क्रियमाणः ।

तथाभूतक्षपकस्य यतिविशिष्टस्य यतिवृद्धस्य संसारलघनोपायमाह —

मूलारा—पिच्छजुत्तेण मततसमाहितेन । सारविज्जंतो संस्क्रियमाणः । पुनः पुनरपायहेतुव्यावर्तनोपाये नियुज्यमान इत्यर्थः । सो तत्तादृगाराधकसाधुविशिष्टः । सत्यो वाणिज्योद्यतः । वणिक्संघातः तरदि अतिक्रामति ॥

अर्थ—आचार्यरूपी व्यापारिओंकै नायरुके द्वारा जो कि सर्वदा सावधान रहता है सत्कारयुक्त हुआ यह साधुरूप व्यापारिओंका समुदाय ससाररूपी जगलको तीरकर मोक्षपुरको मुखसे जाता है

तो भावणादियंतं रक्खदि तं साधुसत्यमाउचं ॥

इंदियचोरोहिंतो कसायबहुसावदेहिंतो ॥ १२९१ ॥

तं भावनामहाभांडं त्रायते भवकानने ॥

कपायव्यालतः सूरिरिंद्रियस्तेनतस्तथा ॥ १३३६ ॥

विजयोदया—तो ततः । भावणादियत रक्खदि भावनादिभि प्रयत्न रक्षति । साधुसत्य त साधुसार्थं तं । आउतं आयुक्तं आत्मना । कुतो रक्षति इत्याशंकाया उच्चरं—इंदियचोरोहिंतो इंदियचोरेभ्यः, कसायबहुसावदेहिंतो । कपाय बहुश्वापदेभ्यश्च ॥

मोक्षपथप्रस्थायितो यतिवृद्धस्याचार्यकार्यमिंद्रियकपायसंपाद्यापापपरित्राणमाह—

मूलारा—तो सः सार्थवाहायमानो वर्मार्थः । भावणादिजुत्त भावना रात्रिभोजननिवृत्त्यष्टप्रवचनमाह—  
क्राभिर्युक्तं महाव्रतेषु प्रयत्नपरं । जुत्तमिति कचित्पाठः । आउत्तो सर्वत्रोद्यतः । आउत्तमिति कचित्पाठः । चोरोहिंतो चोरेभ्यः । स्वाध्यायध्यानप्रवर्तनेन प्रमादद्वयावर्तयन्निंद्रियमत्यनुयाधिरागद्वेषक्रियमाणसंयमवाधारहित यतिवर्गं सूरिः करोतीति भावः ॥

अर्थ—रात्रिभोजनत्याग, पंच महाव्रत, युक्ति समीचीनमें प्रयत्न कराना एतत्स्वरूप भावनाओंसे आचार्य साधुरूप सार्थको इन्द्रियचारोंसे और कणायरूप हिंस्र प्राणिओंसे रक्षण करते हैं

विसयाडवीण मञ्जरे ओहीणो जो पमाददोसेण ॥

इंद्रियचोरा तो से चरित्तभंडं विलुंपंति ॥ १२९२ ॥

प्रमादवदातो यातो अष्टो विपयकानने ॥

तदीयं व्रतसर्वस्वं लुप्यतेऽक्षमल्लिम्बुचैः ॥ १३३७ ॥

विजयोद्या—विसयाडवीण मञ्जरे स्पर्शरसरूपगंधास्वादिविषया अटवीच ते दुरतिक्रामणीया' । तस्या विषयादब्या मध्ये जो ओहीणो य साधुरपस्तुत' । पमाददोसेण प्रमादत्वेन दोषेण । इन्द्रियचोरा इन्द्रियालयाश्चोरा । सेतस्य साधुवणिज । चरित्तभंडं चरित्रभांड । विलुंपति अपहरति । सक्षिहितमनोक्षामनोक्षविषयजा' इन्द्रियमत्यदुषायिनो रागद्वेषाश्चारित्र्य विनाशयति प्रमादिन । आचार्यस्तु ध्याते स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसायतीति नैन्द्रियचौरैर्वध्यंते इति भावः ॥

विकथाद्यन्यतमप्रमादेन यतिवर्गादपस्तुतस्य मुमुक्षोरिन्द्रियकणायसाध्यं मंयमघनस्य रत्नत्रयगात्रस्य वा क्षतिं गाथाद्वयेन लक्षयति—

मूलारा—जो साधुवणिक् । ओहीणो अपस्तुत । सार्थाद्विहिण्यतित इत्यर्थः । तो सार्थापसरणादनन्तरमेव विलुंपंति रागद्वेषहस्तैः ॥

अर्थ—प्रमादके वश होकर जो साधु सार्थ, रूप, गंध, रस और शब्द इत्यादि इंद्रियविषयरूपी अटवीमें प्रविष्ट हुआ है उसका चारित्ररूपी भांडवल इंद्रियरूपी चोर हर लेते हैं, जब साधु प्रमादी होते हैं तब समीपके इष्ट और अनिष्ट पदार्थ देखकर उनके मनमें रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, जिससे उनका चारित्र नष्ट होता है आचार्य प्रमादके वशीभूत मुनिओंको ध्यान और स्वाध्यायमें प्रवृत्त करके उनका प्रमाद दूर करते हैं तब वे इन्द्रियचोर उनको बाधा नहीं देते हैं ऐसा इस गाथाका भाव है.

अहवा तच्छिच्छां कूरां कसायसावदाइं तं ॥

खज्जति असंजमदाडाइं किलेसादिदंसेहिं ॥ १२९३ ॥

तमसंयमदंष्ट्राभिः संक्लेशादशनैः शितैः॥

कषायश्चापदाक्षिप्रदूरक्षाभक्षयन्ति च ॥ १३३८ ॥

विजयोदया—अहवा अथवा । तल्लिच्छाई अपसुनजनलिप्सावंत । कुराई कुरा । कसायसावदाई कयाययाला मृगा । तं अपसुतं । खज्जंति भक्षयेयु । असंजमदाद्वाहिं असयमदंष्ट्राभिं । फिलेसादिसेहिं फलेशादिदेशेश्च । इंद्रियाणां कयायाणा वा वशे निपतत्यसति नियार्पके सुराविति भाव ।

मूलारा—तद्विच्छाद् अपस्तजनलिप्सावन्तः । सर्वे च्युतजनग्रसतपरा इत्यर्थः । कृताद् निर्दया । कसायसाव-  
दाद् क्रोधादिव्यालभृगाः । खज्ज भक्षयेयुः । संकिलसादिर्दोहं संकृशा रागद्वेषमोहा । आदिशब्देन परिपहादिकृशाः त  
एव दशा वशना दन्तास्तैश्च ।

अर्थ—अथवा विषयारण्यमें ग्रवेश किये हुए अर्थात् मुनिसार्थसे इच्छा करनेवाले क्रूर कषायरूपी हित प्राणी असयमरूपी दाढाओंसे परीपह, रागद्वेष मोह वगैरेह दांतोंसे मक्षण करते हैं। जब प्रमाद वश हुए मुनिओंको सुधारनेवाले आचार्यका अभाव रहता है तब मुनिओंकी क्या परिस्थिति होती है इसका इस गाथामें उल्लेख किया है।

तयोरिन्द्रियकपाययोः प्रवृत्तिरनेकदोषमूलति कथयति—

ओसणसेवणाओ पडिसेवंतो असजदो होइ ॥

सिद्धिपहपच्छिद्राओ ओहीणो साधुसत्पादो ॥ १३९४ ॥

इंद्रियकसायगुरुगत्तणेण सुहसीलभाविदो समणो ॥

करणात्सो भवित्ता सेवदि ओसणसेवाओ ॥ १२९५ ॥

यः साधुः सार्थतो भ्रष्टः सिद्धिमार्गानुयायिनः ॥

सोऽवसन्नक्रिया साधुः सेवमानोऽस्त्यसंयतः ॥ १३३९ ॥

कपायाक्षगुरुत्वेन तपस्वी सुखभावनः ॥

अवसनाक्रियो भूत्वा सेवते करणालसः ॥ १३४० ॥

[इति अवसन्नः]

विजयोदया—इंद्रियकसायगुरुगत्तेण तीर्मेन्द्रियकपायपरिणामतया । सुहसीलमाविदो समणो सुसमाधिभावितः श्रमण । करणालसो त्रयोदशविधासु क्रियासु अलसः । भविता भूत्वा । सेवयि सेवेत । ओसण्णसेवाओ अवसन्नसेवा । अष्टचारित्राणा क्रियासु प्रवर्तते इति यावत् ॥ ओसण्णो ॥

इंद्रियकपायपरतंत्रतया साधुसंघाटकवद्विअरमयसन्नादिरूपेण संयमश्रंशं व्याचिख्यासुरादावयसन्नं गाथाद्वयेनाह—  
मूलारा—ओसण्णसेवणाओ अष्टचारित्राणा क्रियाः । पडिसेवतो मार्गप्रातिलोभ्येन भजन् ॥

अष्टक्रियाचरणकारण भणति—

मूलारा—गुरुगत्तेण तीव्रपरिणमेन । सुहसीलमाविदो शर्मेकाम्रतावासितः । करणालसो आवश्यकपाय-कुशस्तत्राध्यायनानेषु, त्रयोदशसु क्रियासु वा शिथिलः । अवसन्नः ॥

इंद्रियकपायोंमें प्रवृत्ति करनेसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा कहते हैं।

अर्थ—अष्टचारित्र मुनिओंकी क्रिया रत्नत्रयमार्गके विरुद्ध होकर जत्र मुनि करते हैं तत्र वे मोक्षमार्गसे अष्ट होते हैं । और साधुवर्गसे अलग रहते हैं, अर्थात् संघका त्यागकर स्वच्छंद होते हैं, तीव्र कपाययुक्त होकर मुनि इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होते हैं इस आसक्तिसे वे सुखशील होकर समिति, मुक्ति और महाव्रत ऐसे तेरह प्रकारके चारित्रमें आलसी होजाते हैं, और अष्ट मुनिओंके आचरणमें प्रवृत्ति करते हैं।

केई गहिदा इंदियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा ॥

पंथं छंडिय गिज्जंति साधुसत्थस्स पासम्मि ॥ १२९६ ॥

हवीकतस्करै भीमैः कपायश्वापदैरपि ॥

विमोच्य नीयते मार्गे साधुः सार्थस्य पार्श्वतः ॥ १३४१ ॥

विजयोदया—केई गहिदा इंदियचोरेहिं केचिद्वृत्ता इंदियचोरैः । कसायसावदेहिं तद्वा तथा कपाय-श्वापदैश्च युद्धीताः । साधुसत्थस्स पंथं छंडिय साधुसार्थस्य पयानं त्यक्त्वा । पासम्मि गिज्जंति पार्श्वे यांति ॥  
पार्थस्य गाथापंचकेनाह—

मूलारा—छंडिय त्याजित्वा । पासामो पार्श्वे रत्नत्रयाप्राप्त इत्यर्थः ।



अर्थ—कितनेक मुनि इंद्रियरूपी चोर और कपायरूप हिस प्राणिओंसे जव पकड़े जाते हैं तब साधुरूप व्यापारिओंका त्याग कर पार्श्वस्थ मुनिके पास जाते हैं.

तो साधुसत्यपथं छंडिय त्रासम्भि णिज्जमाणा ते ॥

गारवगहणकुडिल्ले पडिदा पव्वेति दुक्खाणि ॥ १२९७ ॥

साधुः सार्धं परित्यज्य नीयमानो महाभयम् ॥

सहते दारुणं दुःखं प्राप्तो गौरवकाननम् ॥ १२९८ ॥

विजयोदया—तो साधुसत्यपथं साधुसार्थस्य पंथानं। छंडिय त्यक्त्वा। पासम्भि पाश्वे। णिज्जमाणाते नीय-  
मानास्ते। गारव चिरक्खिंदिरसासातगौरवसच्छेने गह्वरे। पडिदा पतिता। पव्वेति प्राप्नुवन्ति। दुक्खाणि दुःखानि ॥

मूलारा—गारवगहणकुडिल्ले रिद्धिरससातगौरवनिडकंठकवान् ॥

अर्थ—वे मुनि साधुसार्थका मार्ग छोड़कर पार्श्वस्थ मुनिके पास जव जाते हैं तब क्रद्विगर्भ, रसगर्व और सातगर्व इनसे व्याप्त जंगलमें पढ़कर दुःख भोगते हैं.

सल्लुविसकंटएहिं विद्धा पडिदा पडंति दुक्खेसु ॥

विसकंटयविद्धा वा पडिदा अडवीए एगागी ॥ १२९९ ॥

शाल्यदुःकंटकैर्विद्धा पतिता दु खमासते ॥

एकाकिनोऽटवी याता विद्धा वा विपकटके ॥ १३०० ॥

विजयोदया—सल्लुविसकंटएहिं विद्धा मिथ्यात्वमायानिदानशल्यकंटकेर्वा विद्धा। पडिदा पतिता। दुक्खेसु पडति दु खेषु पतति। विसकंटयविद्धा वा अडवीए एगागी पडिदा इव विपकटकेन विद्धा अटव्यमेकाकिन पतिता यथा दुःखेषु पतति तथैवेति दार्ष्टान्तिकयोजना ॥

मूलारा—विद्धा दूषिताः। पडिदा चारित्राद्धृष्टाः। एगागी असहायाः ॥

अर्थ—जैसे विपरूप कंटकसे विद्ध हुए पुरुष जंगलमें अकेलेहि पढ़कर दुःख भोगते हैं वैसे मिथ्यात्व,

माथा और निदानरूप विषकंटकोसे बिद्ध होकर विषयरूप जंगलमें अकेले पडकर अतिशय दुःख भोगते हैं.

पंथं छंडिय सो जादि साधुसत्थरस चैव पासाओ ॥

जो पडिसेवदि पासत्यसेवणाओ हु णिद्धम्मो ॥ ११९९ ॥

साधुः सार्थपथं त्यक्त्वा स पार्श्वे याति संयतः ॥

पार्श्वस्थानां क्रियां याति यश्चारित्रविवर्जितः ॥ १३४४ ॥

विजयोदया—साधुसार्थस्य प्रधान त्याक्त्वा कस्य पार्श्वे याति यस्यामी दोषा व्यावर्णिता । गौरवगद्गे पातः शल्यविषकटकेवधादयश्चेत्याशङ्कायाभाह—पथं छंडिय साधुसत्थस्स जादि परित्यज्य साधुसार्थस्य पंथानमसौ याति । पासम्मि पाद्वे । जो पडिसेवदि यः प्रतिसेवते, पासत्यसेवणाओ हु पार्श्वस्थसवनाः, णिद्धम्मो धर्मेच्चारित्रं तस्मादपगतः, धर्मोदपगतः सन्पार्श्वस्थादिचरणीयासु क्रियासु प्रवर्तते ॥

मूलारा—छंडिय त्याक्त्वा । णिद्धम्मो चारिवान्निर्गतः ॥

अर्थ—साधुसार्थका मार्ग छोडकर जिस मुनिका आश्रय लेते हैं वह मुनि चारित्रिका त्यागी होता है और पार्श्वस्थ मुनिओंकी क्रियाओंका आचरण करता है.

सेव कयं निर्धर्मता तस्येत्याशङ्क्य वदति—

इंदियकसायगुरुर्यत्तणेण चरणं तणं व पस्सतो ॥

णिद्धम्मो हु सविच्चा सेवदि पासत्यसेवाओ ॥ १३०० ॥

कषायार्थगुरुत्वेन पश्यन्वृत्तं तृणं यथा ॥

भूत्वा निर्द्धर्मको याति पार्श्वस्थानां सदा क्रियाः ॥ १३४५ ॥ (पार्श्वस्थः)

विजयोदया—इंदियकसायगुरुत्तणेण इंदियकपायविपयैर्गोवालन्ध रागद्वेषपरिणामयो क्रोधादिपरिणामानां च तीव्रत्वात् । चरणं चारित्रं, तणं व तृणमिव, पस्सतो पश्यन् रमादयोऽप्यशुभपरिणामास्तत्त्वज्ञानस्य प्रतिवधकास्तेन सकलपुणं ज्ञानचारित्र्यं निस्सारमिव पश्यति, तत एव तत्राकृताद्वर चारित्रादप्येतीति निर्द्धर्मताय । ततः पार्श्वस्थसेवासु प्रयतते । पासत्यो ॥

निर्धर्मताहेतुमाह—

मूलारा—परस्ततो रागद्वेषाद्यशुभपरिणामप्रतिबद्धतत्त्वज्ञानतया चारित्रानादरं कुर्वन्नित्यर्थः । पार्श्वस्थः ॥

पार्श्वस्थ मुनि धर्मरहित क्यों रहता है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पार्श्वस्थ मुनि इन्द्रिय, कषाय और पंचेंद्रियोंके विषयोंसे पराभूत होकर चारित्रको तृणके समान समझता है उसके रागद्वेष और क्रोधादि परिणाम तीव्र होजाते हैं रागद्वेषादिक अशुभ परिणाम पार्श्वस्थ मुनिके तत्त्वज्ञानका नाश कर डालते हैं, इसलिए यह मुनि अपने मलिन ज्ञानसे चारित्रको तुच्छ समझता है और ऐसी समझ होनेसे चारित्रसे भ्रष्ट होजाता है ऐसे चारित्रभ्रष्ट मुनिको पार्श्वस्थ कहते हैं जो मुनि सन्मार्गमें प्रवर्तनवाले मुनिओंका त्याग करते हैं वे पार्श्वस्थ मुनिका आश्रय लेकर वैसे वनते हैं

इन्द्रियचोरपरद्धा कसायसावदभाण वा केई ॥

उभमगेण पलायति साधुसत्थस्स दूरेण ॥ १३०१ ॥

अक्षचौरहताः केचित्कषायव्यालभीतितः ॥

उन्मार्गेण पलायन्ते साधुसार्थस्य दूरतः ॥ १३४६ ॥

विजयोदया—इन्द्रियचोरपरद्धा इन्द्रियचोरकृतोपद्रवा । कसायसावदभाण वा केई कषायव्यालमृग मयेन वा केचित् उभमगेण उन्मार्गेण पलायति पलायन कुर्वति । साधु सत्थस्स दूरेण साधुसार्थस्य दूरात् ॥

कुशील गाथासक्तकेन दर्शयति—

मूलारा—परद्धा कृतोपद्रवा । दूरेण दूरात् । निर्लज्जो दुराचारावष्टभात् ।

अर्थ—कितनेक मुनि इन्द्रियचोरोंसे पीडित होते हैं और कषायरूप आपदोंसे ग्रहण किए जाते हैं तब साधुसार्थका त्याग कर उन्मार्गसे पलायन करते हैं ।

तो ते कुशीलपडिसेवणावणे उप्पघेण धावन्ता ॥

सण्णाणदीसु पडिदा किलेसमुत्तेण वुड्ढंति ॥ १३०२ ॥

ततोऽप्यथेन धावन्तः कुशीलानां क्रियावने ॥

क्लेशस्त्रोतोभिरुच्यन्ते याताः संज्ञामहानदीः ॥ १३४७ ॥

विजयोदया—तो तत साधुसार्थोद्ग्राहपस्तता , कुशीलपडिसेवणाथणे कुशीलप्रतिसवनावने , उपपथेन धावन्ता उन्मार्गण पलायन्त । सण्णाणदीसु सञ्ज्ञानदीपु । पडिवा पतिता । किलेससोत्तेण क्लेशास्त्रोतसा । बुद्धन्ति ते बुडन्ति ॥

मूलारा—ते साधुसार्थोद्ग्राहपस्तताः ॥ सण्णा आहारभयमैथुनपरिग्रहवाटा । बुद्धन्ति उच्यते ॥

अर्थ—साधुसार्थसे दूर पलायन जिन्होंने किया है ऐसे वे मुनि कुशील प्रतिसवना-कुशील नामक ग्रह मुनिके सद्दोष आचरणरूप वनमें उन्मार्गसे भागते हुए आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी बांछारूप नदीमें पडकर दुःस्वरूप प्रवाहमें डूबते हैं

सण्णाणदीसु ऊढा बुद्धा थाहं कहपि अलंहता ॥

तो ते संसारोदधिमदंति बहुदुक्खभीसम्मि ॥ १३०३ ॥

संज्ञानदीपु ते मग्ना कचिदप्यनवस्थिताः ॥

पञ्चाज्जन्मोदधिं यांति दुःखभीमद्वयाकुलम् ॥ १३४८ ॥

विजयोदया—सण्णाणदीसु ऊढा सञ्ज्ञानदीभिराकृष्टा सतो निर्मेता । तो पञ्चात् । संसारोदधिमदंति संसार सागरं प्रविशति । बहुदुक्खभीसम्मि बहुदुःखभीसम् । कहिं पि कचिदपि सम्यक्त्वादीनामन्यतमेऽपि । तो मूलारा—ऊढा आकृष्टा । बुद्धा मग्नाः । थाह अवस्थान । कहिं पि कचिदपि सम्यक्त्वादीनामन्यतमेऽपि । तो पञ्चात् । अदंति प्रविशन्ति । श्रम ज्ञपा मत्स्या ॥

अर्थ—चार संज्ञारूपी नदीमें जब मुनि दूबते हैं तब वे कहांभी स्थिरताको प्राप्त होते नहीं अर्थात् सञ्ज्ञारूपी नदीमें चहते चहते वे मुनि अतिशय दुःखोंमें भयकर संसारमग्नद्धमें प्रवेश करते हैं.

आसागिरिदुग्गाणि य अदिग्गम तिट्ठकक्खडसिलासु ॥

उल्लोडिदपब्भट्टा खुप्पंति अणंतियं कालं ॥ १३०४ ॥

दुराशागिरिदुर्गाणि गत्वा दृढदिलोत्करे ॥

अष्टा सन्तश्चिरं कालं गमयन्ति महाव्यथाः ॥ १३४९ ॥

विजयोद्या—आशागिरिदुर्गाणि य आशागिरिदुर्गाश्च । अदिगम्म अतिक्रम्य । त्रिदंडकडसिलासु त्रिदंडक-  
केशशिलासु । उलोटिय पम्भट्टा अवलुकिता संत प्रअष्टा गुण्यति गमयन्ति । अणत्तियं कालं अनंतं कालं ॥

मूलारा—अदिगम्म अतिक्रम्य । प्रविशत्यन्यं । रुस्सवड निट्टुरा । ऊलोडिडपम्भट्टा पूर्वमेव लुकिता परिघृता ।  
पम्भट्टा पतिताः । लुडित्वा पतिता इत्यन्ये । उत्तरगुणेभ्यः प्रच्युता मूलगुणेभ्यः सम्यक्त्वाच्च प्रच्युता इत्यर्थः ।  
सर्वेत्तिय गमयन्ति च अन्ये खुपन्ति इति पठित्वा गमयन्तीत्यर्थमाहुः । उक्तं च—

दुराशागिरिदुर्गाणि गत्वा दृढभीलोत्करे ॥

अष्टा सन्तश्चिरं कालं गमयन्ति महाव्यथाः ॥

अर्थ—आधारूपी पर्वतके दुर्गम स्थानको उल्लंघनकर तीन दृढरूप निष्ठुर शिलापर गिरते हैं, अर्थात् मन  
वचन और शरीरकी असत्प्रवृत्तिमें तत्पर होते हैं इस प्रकार चारित्रसे अष्ट होकर अनंतकाल व्यतीत करते हैं

बहुपावकम्मकरणाडवीसु महदीसु विप्पणट्ठा वा ॥

अदिट्ठणिब्बुदिपधा भमन्ति सुचिरंपि तत्थेव ॥ १३०५ ॥

पापकर्ममहाटव्यां विप्रनष्टा कदाचन ॥

सुखमार्गमपश्यन्तस्तत्रैवायान्ति ते पुनः ॥ १३५० ॥

विजयोद्या—बहुपावकम्मकरणाडवीसु बहुविधान्यशुभकर्मोपेक्षाटव्य । तासु महदीसु दीर्घासु । विप्पणट्ठा  
विप्रनष्टा । अदिट्ठणिब्बुदिपधा अष्टादशनिर्घृत्तिमार्गाः । भमन्ति भ्रमन्ति । सुचिरंपि सुचिरमपि । तत्थेव तत्रैव ॥

मूलारा—करणं निर्वर्तनं । विप्पणट्ठा विभ्रान्ताः । भ्रमन्ति आवर्तन्ते ॥

अर्थ—नानप्रकारके पापरूप अरण्यमें जो दिग्भ्रम हुए हैं और जिनको मुक्तिमार्गका दर्शन नहीं हुआ  
हे ऐसे वे अष्ट मुनि उसी पापरूप अरण्यमें विरकाल भ्रमण करते हैं

दूरेण साधुमत्थं छंडिय सो उपपधेण खु पलादि ॥

सेवदि कुशीलपडिसेवणाओ जो सुत्तदिद्याओ ॥ १३०६ ॥

साधुसार्थं स दूरेण त्यक्तवोन्मार्गेण नश्यति ॥

क्रिया यांति कुशीलानां या सूत्रे प्रतिदर्शिताः ॥ १३५१ ॥

विजयोदया—दूरेण साधुमत्थं दूरात्साधुसार्थं । छंडिय त्यक्त्वा । सो स । उपपधेण खु पलादि उन्मार्गेण पलायते । सेवदि कुशीलपडिसेवणाओ सेवते कुशीलप्रतिसेवना । जो य । सुत्तणिदिद्याओ सूत्रनिर्दिष्टा ॥

कुशीलक्रियासेवनापकारमाह—

मूलारा—सष्टम् ॥

अर्थ—अष्ट मुनि दूरसे ही साधुसार्थका त्यागकर उन्मार्गसे पलायन करता है, तथा आगममें कहे हुए

कुशीलनामक अष्ट मुनीके दीर्घोक्ता आचरण करता है

इंदियकसायगुरुगत्तणे चरणं तणं व पस्संतो ॥

णिदंधसो भविच्चा सेवदि हु कुशीलसेवाओ ॥ १३०७ ॥

कषायाक्षगुरुत्वेन वृत्त पश्यंस्तुणं यथा ॥

सेवते न्हस्वको भूत्वा कुशीलविषयाः क्रिया ॥ १३५२ ॥

(इति कुशीलः)

विजयोदया—इंदियकसायगुरुगत्तणेण इंदियकसायपरिणामाना गुरुत्वेन । चरण तण व पस्संतो चरणं तुणं त्रिव पश्यन् । णिदंधसो भविच्चा अन्धीको भूत्वा । सेवदि सेवते कुशीलसेवा ॥ कुशीला ॥

कुशीलक्रियासेवानिमित्तमाह—

मूलारा—णिदधसो निर्लज्जः निर्धर्मः इत्यन्ये ॥ कुशील ॥

अर्थ—इंदियके विषयोंमें और कषायके तीव्र परिणामोंमें तत्पर हुए ये अष्टमुनि चारित्रिको तुणसमान समझकर निर्लज्ज होकर कुशीलका सेवन करते हैं कुशीलमुनिवर्णन समाप्त

सिद्धिपुरसुवल्लीणा वि केइ इंदियकसायचोरोहिं ॥

पविलुत्तचरणभंडा उवहदमाणा णिवट्ठंति ॥ १३०८ ॥

केचित्सिद्धिपुरासन्नाः कपायेन्द्रियतस्करैः ॥

मुक्तमाना निवर्तते लुप्तचारित्रसंपदः ॥ १३५३ ॥

विजयोदया—सिद्धिपुरसुवल्लीणा वि सिद्धिपुरमुपलीना अपि । केइ केचित् । शब्दियकसायचोरोहिं इन्द्रियक-  
पायचोरे । पविलुत्तचरणभंडा अपहृतचारित्रमाडा । उवहदमाणा उपहृताभिमाना । निवट्ठंति निवर्तन्ते ॥

यथाछंदं गाथापंचकेनाह—

मूलारा—उवलीणा निकटीकृतवत' । उवहदमाणा संडितसयमाभिमाना' । णियत्तति मिथ्यात्वमापन्तीत्यर्थः ॥

अर्थ—मोक्षनगरके समीप जाकरभी कितनेक मुनि इन्द्रिय और कपायरूपी चोरोसे जिनका चारित्ररूपी  
मांडवल लूटा गया है और संयमका अभिमान जिनका नष्ट हुआ है ऐसे होकर मिथ्यात्वको प्राप्त होते हैं.

तो ते सीलदरिद्रा दुक्खमणंतं सदा वि पावति ॥

बहुपरियणो दरिद्रो पावदि तिव्वं जथा दुक्खं ॥ १३०९ ॥

ततः सीलदरिद्रास्ते लभंते दुःखमुत्पणम् ॥

बहुभेदपरीवारा निर्द्धना इव सर्वदा ॥ १३५४ ॥

विजयोदया—तो पदचात् । ते सीलदरिद्रा ते सीलदरिद्रा' । दुक्खं दुःख । अणंत अतातीत । सदा वि पावति  
सदा प्राप्नुवन्ति । बहुपरियणो बहुपरिजनो । दरिद्रो दम्भि । पावदि दुक्खं तिव्वं प्राप्नोति दुःख तीव्रं यथा ॥

मूलारा—बहुपरियणो प्रचुरपोष्यवर्गः ॥

अर्थ—जिसका परिवार बहुत है ऐसा दरिद्री मनुष्य जैसे अतिशय तीव्र दुःखको प्राप्त होता है वैसे वे  
सीलदरिद्री मुनि हमेशा तीव्र दुःखको प्राप्त होते हैं

सो होदि साधुसत्थाहु णिगदो जो भवे जधाछंदो ॥

उरसुत्तमणुवदिट्ठ च जधिच्छाए विकप्पंतो ॥ १३१० ॥

स सिद्धियायिनः साधुनिर्गतः साधुमार्गतः ॥

स्वच्छंदस्वेच्छमुत्सूत्रं चरित्रं यः प्रकल्पते ॥ १३५५ ॥

विजयोदया—सो होदि स भवति । साधुसत्थाहु णिगदो साधुसार्थान्निवृत्त । जो हवे जधाछंदो यो भवति स्वेच्छावृत्ति । उरसुत्तं उरसूत्र । अणुवदिट्ठ अनुपविष्ट च स्थविरः । जधिच्छाण विकप्पंतो यथेच्छाया विकल्पयन् ॥

यथाछंदीभावे दोषानाह—

मूलारा—जथाछंदो स्वेच्छावृत्तिः ॥ उरसुत्तं उल्लिखितप्रवचन । अणुवदिट्ठ अनात्रातं स्थविरः । विकप्पंतो इदमितिमेव घटते न तथेति विकल्पयन् ॥

अर्थ—जो मुनि साधुसार्थका त्यागकर स्वतंत्र हुआ है जो स्वेच्छाचारी बनकर आगमविरुद्ध और पूर्वाचार्योने नहीं कहे हुए आचारोंकी कल्पना करता है, वह स्वच्छंद नामक भ्रष्टमुनि समझना चाहिये.

जो होदि जधाछंदो हु तरस धणिदंपि संजमितस्स ॥

णत्थि दु चरणं चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी ॥ १३११ ॥

यज्जायते यथाछंदो नितरामपि कुर्वतः ॥

वृत्त न विद्यते तस्य सम्यक्त्वसहचारितः ॥ १३५६ ॥

विजयोदया—जो होदि जधाछंदो यो भवति स्वेच्छावृत्ति । तस्म धणिदंपि सज्जितस्स तस्य नितरामपि सयमे प्रवर्तमानस्य । णत्थि दु नास्त्येव । चरणं चारित्र । चरणं खु होदि सम्मतसहचारी सम्यक्त्वसहचार्येव यथेच्छाचरित्र । स्वच्छंदवृत्तेस्तु यत्किंचित्परिकल्पयतः सूत्रमननुसरत नैव सम्यग्दर्शनमस्ति । तद्वतरेण सम्यक्चारित्रं नैव तत्र भवति ॥

मूलारा—सम्मत्तसहचारी सम्यक्त्वसहभाव्येव ॥ स्वेच्छावृत्तेः सुसूत्रमननुसरतः सम्यक्त्वाभावात् कुतस्त्यं सम्यक्चारित्रमिति भावः ॥



अर्थ—यथेच्छ प्रवृत्ति करनेवाले उस भ्रष्ट मुनिने यद्यपि घोर सयम धारण किया होगा तथापि उसका मंथम चारित्र नहीं कहा जाता है क्योंकि उसको सम्पददर्शन नहीं है. सम्पददर्शनके साथ संयमको ही मम्यक्चारित्र कहते हैं. स्वच्छंदप्रवृत्ति मुनि अपने मनोनुकूल तत्त्वकल्पना करता है, आगमविरुद्ध कल्पना करनेसे वह सम्पददृष्टि नहीं है सम्पददर्शनके बिना उसको चारित्रकी प्राप्ति कैसे होगी ?

इंदियकसायगुरुगच्छेण सुत्तं पमाणमकरतो ॥

परिमाणेदि जिणुत्ते अत्थे सच्छंददो चेव ॥ १२१२ ॥

जिनेद्रभाषित तथ्य कथायाक्षगुरुकृत ॥

प्रमाणीकुरुते वाक्यं यथाच्छंदो न दुर्मनाः ॥ १२१३ ॥

( इति स्वच्छंदः )

विजयोदया—इंदियकसायगुरुगच्छेण कथायाक्ष गुरुकृतत्वेन सूत्रप्रमाणयन्, परिमाणेदि अन्यथा गृह्णाति, जिणुत्ते अत्थे विनोक्तार्थान्, सच्छंदो चेव स्वेच्छाभिप्रायेणैव ॥ जघाच्छंद ॥

मूलारा—परिमाणेदि अन्यथा गृह्णाति विनयतीत्यन्यः । अत्थे जीवादिपदार्थान् । सच्छंदो चेव स्वभिप्रायेणैव यथाच्छंद ॥

अर्थ—इंदिय और कथायोंमें अत्यंत आधीन होनेसे यह भ्रष्ट मुनि जिनप्रणीत सिद्धांतको प्रमाण नहीं मानता है और स्वच्छंदचारी बनकर सिद्धांतका स्वरूप अन्यथा समझता है और अन्यथा विचारमें लाता है

इंदियकसायदोसेहिं अघवा सामणजोगपरित्तो ॥

जो उज्वायदि सो होदि णियत्तो साधुमत्थादो ॥ १२१४ ॥

कपायोन्डियदोषेण वृत्तात् सामान्ययोगतः ॥

यः प्रभ्रष्टः परिश्रान्तः स भ्रष्टः साधुसार्थतः ॥ १२१५ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायदोषोहि इन्द्रियकसायदोषे । अधवा सामणजोगणरिततो अथवा सामान्ययोगेन वात । जो उब्बायदि यश्चास्ति चान्यथे । सो होदि स भवति । णियत्तो साधुसत्तादो निवृत्त साधुसार्थात् । संसक्तं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—परिदत्तो निर्विण्णः । श्रुतो वा । उब्बायदि चारित्राच्यवते । विह्वते कृत्यन्ते ॥

अर्थ—इन्द्रिय और कपायोंके दोषसे अथवा सामान्य ध्यानादिकसे विभक्त होकर जो साधु चारित्रसे भ्रष्ट होता है वह साधुसार्थसे अलग होता है

इन्द्रियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सव्वाणि ॥

पाविज्जंते दोसेहि तेहि सव्वेहि संसत्ता ॥ १३१४ ॥

स्थानानि ताणि सर्वाणि कषायाक्षगुरुकृताः ॥

ससत्ता सक्कलैदोपैः केचिद्वच्छन्ति दुर्धियं ॥ १३१५ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायवसिया इन्द्रियकसायवशगा । केई केचित् । ठाणाणि ताणि सव्वाणि तान्यशुभस्था-  
नपरिणामानि । पाविज्जति प्राप्यते । दोसेहि तेहि सव्वेहि संसत्ता दोषेस्ते सर्वे संसत्ता ॥ संसत्ता ॥

मूलारा—ठाणाणि परिणामान् । ताणि मिथ्यात्वात्संयमादीनि ॥ पाविज्जंते नीयंते । तेहि तैः प्रसिद्धै रणादिभिः ॥ संसत्तिः ॥

अर्थ—इन्द्रियविषय और कपायके वशीभूत कितनेक भ्रष्ट मृनि सर्व दोषोंसे युक्त होकर सर्व अशुभ स्थानकी प्राप्ति करानेवाले परिणामोंको—अशुभ परिणामोंको प्राप्त होते हैं

इय एदे पंचविधा जिणेहि सवणा दुग्गच्छदा मुत्ते ॥

इन्द्रियकसायगुरुत्तणेण णिच्चंवि पडिक्ख ॥ १३१६ ॥

इत्येते साधवः पंच निदिता जिनशासने ॥

प्रत्यनीकक्रियारंभाः कषायाक्षगुरुकृताः ॥ १३१७ ॥

विजयोदया—पासदथत्तिगवं ॥

अवसन्नादीनां सामान्यदोषमाह—

मूलारा—दुगुह्मिदा निदिता । पडिबुद्धा प्रतिपक्षभला मंडा वा ॥

अर्थ—ये पांच तरहके भ्रष्ट मुनियाँकी जिनेश्वरीने आगममें निंदा की है. ये पांच प्रकारके मुनि इंद्रिय और कपायके गुरुत्वसे जिनसिद्धांतानुसार आचरण करनेवाले मुनिआँके प्रतिपक्षी हैं.

दुड्डा चवला अदिदुज्जया य णित्ठं पि समणुबद्धा य ॥

दुक्खावहा य भीमा जीवाणं इंदियकसाया ॥ १३१६ ॥

दुरताश्चंचला दुष्टा वृत्तसर्वस्वहारिणः ॥

दुर्जयाः सन्ति जीवानां कषायेन्द्रियतत्कराः ॥ १३१६ ॥

छिद्रापेक्षाः सेन्यमाना विभीमा नो पार्श्वस्थाः कस्य कुर्वन्ति दुःखम् ॥

क्रोधाविष्टाः पन्नगा वा द्विजिह्वाः विज्ञायेत्यं दूरतो वजनीयाः ॥ १३१७ ॥

तृणतुल्यमेवेत्य विशिष्टफलं परिसुच्य चरित्रमपास्तमलम् ॥

बहुदोषकषायहृषीकवशा निवसन्ति चिरं कुगताववशाः ॥ १३१८ ॥

[ इति संसक्तः ]

विजयोदया—दुड्डा दुष्टा आत्मोपद्रवकारित्वात् । चपला अनवस्थितत्वात् । अदिदुज्जया अतीव दुर्जयाः अनुपलब्धचारित्र्यमोहद्वयोपशमप्रकर्षेण जीवेन दु स्तेन अभिभूयते इति । णित्ठं नित्यमपि । समणुबद्धा य सम्यग्गनुबद्धाश्चारित्र्यमोहोद्वयोपशमप्रकर्षस्य सदा सद्भावात् । नित्याश्चेत्कथं चपला । नित्यशब्दो ध्रौव्ये न प्रयुक्तं किंत्वमीक्षणे सुसुहृदुर्मुवहार इत्यर्थः । चपलता तु परिणामाना अनवस्थितत्वं अतो न विरोधः । दु खावहा य दु खावहाश्च । जीवाणां जीवाना अभिमतभोगालम्बे प्राप्तस्य वाऽप्येव महत् दु रमित्यनुभवसिद्धमेव सर्वप्राणभृता । कपायास्तु क्रोधादय कपायति हृदयं । अथवा दु स्कारणसद्वेद्याना निमित्तत्वात् दु खावहा । इन्द्रियकपायवशगो जीवान् हिनस्ति । दु स्कारणेन वाचवत्ससद्वेद्य इति । यत एव दु खावहा अत एव भीमा । इन्द्रियकसाया इन्द्रियकपायपरिणामाः । एवमवसन्नारिरूपाणा इन्द्रियकपायानामपायवायकद्वयकृतत्वमुपदर्श्य साग्रतं तदौरात्यमाह—

मूलारा—दुड्डा उपद्रवकारित्वात् । चवला अनवस्थितत्वात् । अदिदुज्जया चारित्र्यमोहद्वयोपशमप्रकर्षप्राप्तौ

अभिभवितुमशक्यत्वात् । समणुबद्धा सम्यगनुपक्ताः । चारित्रमोहोदयस्य स्वकारणस्य सुहृदुः प्रवर्तनात् । दुःखवाग्वा य इष्टभोगस्याप्राप्तौ, प्राप्तस्य चापाये चक्षुरादिमुखेन दुःखस्यानुभवसिद्धत्वात् । क्रोधादिकृतहृदयतापकृत्वात् । दुःखकारणासन्नेष्वार्जननिमित्तत्वाद्वा द्वयेऽपि दुःखकराः । भीमा भयंकराः । दुःखावहत्वादेव वा ॥

अर्थ—ये इन्द्रिय और कषाय जीवोंको अनिश्चय उपद्रव करते हैं और चंचल हैं, इनको जीतना अतिशय कठिन है जबतक चारित्र मोहनीय कर्मका क्षयोपशम नहीं बढ़ा हुआ है तबतक इनको जीतना अशक्य है जबतक चारित्रमोहरूप कारणका सद्भाव है तबतक इन कषाय और इन्द्रियोंका संबंध रहता ही है इन्द्रिय और कषाय नित्य हैं अर्थात् बारबार इनका आत्मासे संबंध होता है अतः इनको नित्य कहते हैं इन्द्रिय और कषाय परिणामोंका एक स्वरूप नहीं रहता है, कभी क्रोध परिणाम, कभी मानपरिणाम, कभी लोभ परिणाम ऐसा परिवर्तन होता ही रहता है इसलिये इनको चंचल भी कहते हैं ये इन्द्रिय और कषाय जीवोंको दुःख देते हैं, जीवोंको इष्ट भोगोंका अलाम होनेसे अथवा प्राप्ति होने पर भी उनका नाश होनेसे मदान् दुःख उत्पन्न होता है यह बात अनुभव सिद्ध है, कषाय-क्रोधादिक हृदयका घात करते हैं इन्द्रिय और कषायोंके आधीन होकर प्राणी जीवोंका घात करते हैं जीवोंको घातनेसे असातावेदनीय कर्मके आस्रव आते हैं ये इन्द्रिय और कषाय दुःखदायक है इसलिये मयानक है,

तरुतेल्लुपि पियंतो वत्थो जह वादि पूदिय गंधं ॥

तथ दिक्खिदो वि इदियकसायगंधं वहदि कोई ॥ १३१७ ॥

काश्चिदीक्षामुपेतोऽपि कषायाक्षं निषेवते ॥

नैलमागुरवं वस्तं प्रतिवाति पियन्नपि ॥ १३६४ ॥

विजयोदया—तुरुष्कतैलमपि, पियंतो पित्तम्, वत्थो वस्त्र अजपोतः । जह वादि पूदिय गंध पूतिगंध यथा घाति । प्राकृतगंध यथा न जहति । सथियमाणोऽपि सुरभिणा द्रव्येण, तथ दिक्खिदो वि तथा दीक्षितोऽपि परित्यक्ताः संयमोऽपि । इदियकसायगंधं वहदि । इन्द्रियकषायदुर्गंधमुक्त्वति इति यावत् ॥

दीक्षाया इन्द्रियविजयाक्षमत्वमाह—

मूलारा—मरुतेल्लं तुरुष्कतैलं सेस्वारस सुगन्धितैलमित्यन्ते । यमओ छागः । पूदिय गंधं दुर्गंधं प्राक्तनमेव ।

दिक्खिदो कृतव्रतस्वीकारसंस्कारः । इदियकसायगंधं चक्षुरादिक्रोधादिवासना ॥

अर्थ—चकरेको तुरुकतैल पिलानेपर भी उसके शरीरमें दुर्गंध ही निकलता है अर्थात् वह अपने प्राकृतिक गंधका त्याग नहीं करता है तुरुकतैल अतिशय सुगंध रहता है परंतु चकरेके प्राकृतिक गंधमें उससे कुछ भी फरक नहीं होता है वैसे भ्रष्ट माधु मंयम सहित होनेपर भी इंद्रिय कणायरूपी दुर्गंधका त्याग नहीं करता है

मुंजंतो वि सुभोयणमिच्छदि जघ सुयरो समलमेव ॥  
तथ दिक्खिदो वि इंद्रियकसायमलिणो हवदि कोइ ॥ १३१८ ॥

मुक्त्वापि कश्चन ग्रंथं कपायाक्षं न संचति ॥  
हित्वापि कंचुकं सपौं विजहति विपं नहि ॥ १३६५ ॥  
दीक्षितोप्यधमः कश्चित्कषायाक्षं चिकीर्षति ॥  
शूकरं शोभनै रत्नैर्नलं तुष्टोऽपि कांक्षति १३६६ ॥

विजयोदया—मुजनो वि सुभोयण भुजानोऽपि शोभनमाहारं । सुयरो जघ मलमेव इच्छदि सूकरो यथा समलमेवाभिलपति चिरंतनाभ्यासात् । तह तथा । दिक्खिदो वि दीक्षितोऽपि कृतघ्नतपस्विहसंस्कारोऽपि । कोइ कदिचित् । इंद्रियकसायमलिणो इच्छदि इन्द्रियकषायाख्याद्युभारिणामोपनतो भवति । मज्जोपि जन गुरुपदेशादधिगतदु खनिवृत्त्युपायतया परित्यक्तोऽपि गार्हस्थ्यपरित्यागकाले पुनरपि तत्रापततीति ॥

मूलरा—ममल पुरीष ॥

अर्थ—जैसे सूकर उत्तम आहारका भोजन करता हुआ भी विष्टाका ही अभिलाष मनमें धारण करता है क्योंकि उसको दीर्घकालमें विष्टाभक्षणका अभ्यास रहता है वैसे जिसने दीक्षा धारण की है अर्थात् व्रतका स्वीकार जिसने दीर्घ कालसे किया है ऐसा भी कोई मुनि इंद्रिय और कषाय रूप अशुभ परिणामोंसे परिणत होता है गुरुका उपदेश सुनकर दुःख नाश करनेके उपायका ज्ञान होनेपर इन्द्रिय और कषायोंका त्याग करता है गृहस्थावस्थाका त्याग करनेपर पुनः वह मुनि उसीमें पड़ता है ।

अनेकदृष्टान्तोपन्यासेन दर्शयति सूक्तस्तरप्रवर्धन—

वाहभएण पलादो जूइं दट्ठूण वापुरापडिदं ॥

सयमेव मओ वागुरमदीदि जह जूहतणहाए ॥ १३१९ ॥

विहाय हरिणो यूथं व्याधभीतः पलायितः ॥

स्वय पुनर्यथा याति वागुरां यूथतृष्णया ॥ १३२० ॥

विजयोदया—वाहभएण व्याधमेयेन । पलादो मगो कृतपलायनो मृग । वागुरापडिदं जूह दट्ठूण वापुरापडितं स्वयूथं दट्ठया । सयमेव वागुरमदीदि मगो स्वयमेव वागुरा प्राविशति मृग , जह यथा, कुत , जूहतणहाए यूथतृष्णया, एव सो वि निहट्वाल मुञ्चा इत्यनया गाथया सयव कार्ये ॥

भव्योऽपि जनो गुरुपदेशाधिगतदुःखनिवृत्त्युपायतया परिलङ्केत्रियकपयो जिनदीक्षा प्रतिपद्यापि चिराभ्यस्त-कपायैत्रियदेवावेशवशानुरपि गृहवासदोमानेवापततीत्येतद्वृष्टतपद्रुमपङ्गं गाथासप्तकेन स्फुटयति—

मूलारा—पलाओ कृतपलायनः । मओ मृगः । अदीदि प्रविशति ॥

अर्थ—पारधीके भयसे भागा हुआ हरिण जालमें अपना मृगसमूह पड़ा हुआ देखकर स्वयं भी जालमें प्रवेश करता है. मृगसमूहमें उसका प्रेम रहता है प्रेमवश होकर वह स्वयं बंधनमें पड़ता है. वैसे कोई गृहस्थावस्थाका त्याग कर पुनरपि उसका स्वीकार करता है

पजरमुक्को सउणो सुइरं आरामए सुविहरंतो ॥

सयमेव पुणो पंजरमदीदि जघ नीडतणहाए ॥ १३२० ॥

आरामे विचरन्वेच्छ पतञ्जी पंजरच्युतः ॥

यथा याति पुनर्मूढः पंजर नीडतृष्णया ॥ १३२१ ॥

विजयोदया—पजरमुक्को सउणो पजरान्मुक्त पक्षी । सुइरं आरामए सुविहरतो आरामेषु स्वेच्छया विहरन् । सयमेव स्वयमेव । पुणो पुन । पंजरमदीदि पजरसुपैति, जह नीडतणहाए यथा नीडतृष्णया ॥

मूलारा—सइरं स्वेच्छया । नीडतणहाए स्वावासलाभेन ॥

अर्थ—पंजरेसे मुक्त हुआ पक्षी उद्यानमें-वगीचेमें दीर्घ काल स्वेच्छासे घूम कर जैसे अपने घरकी अभि लापासे पुनरपि पंजरेमें आता है. वैसे यह मुनि भी गृहस्थावस्थाका त्याग कर पुनः उसका स्वीकार करता है

कलभो गणु पंकादुद्धरिदो दुत्तरादु वलिणु ॥  
सयमेव पुणो पंके जलतण्हाए जह अदीदि ॥ १३२१ ॥  
उत्तारितः करीद्रेण पंकतं कलभो यथा ॥  
स्वयमेव पुनं पंकं प्रयाति जलतृष्णया ॥ १३६० ॥

विजयोद्या—कलभो गजपोत महति कर्दमे पतित । गणु पंकादुद्धरिदो गजेन परेण पंकादुद्धतो । दुत्तरादु दुस्तरात् पंकात् । वलिणुविशयवता गजेन, सयमेव पुणो पंक जह अदीदि, स्वयमेव कलभो यथा पंकमुपैति । जलतण्हाए जलतृष्णया ॥

मूलारा—कलभो बालगजः । उद्धरिदो उद्धृत । दुत्तरादु दुस्तरात् ॥

अर्थ—हाथीका वच्चा वहे कीचडमें फसा था उसको शक्तिवान् हाथीने बाहर निकाला परंतु पानीकी प्याससे वह फिरभी कीचडमें फसता है वैसे कोइ मुनि फिर गृहस्थ होते हैं

अगिगपरिक्खित्तादो सउणो रुक्खादु उप्पडित्ताणं ॥  
सयमेव तं दुमं सो णीडणिमित्तं जघ अदीदि ॥ १३२२ ॥  
उड्डीय शाग्विनं पक्षो सर्वतो वन्निवेष्टितात् ॥  
तत्रैव नीडलोभेन यथा याति पुनं स्वयम् ॥ १३७० ॥

विजयोद्या—रुक्खादो सउणो उप्पडित्ताण रुक्खादुत्पत्य शकुनि । कोह्यभूतात् ? अगिगपरिक्खित्तादो अग्निना संमताद्धेष्टितात्, सयमेव तं दुमं जह अदीदि स्वयमेवातो पक्षी अग्निपरिक्षिप्तदुममधिगच्छति, णीडणिमित्तं स्वावास-निमित्तं ॥

मूलारा—अगिगपरिक्खित्तादो वह्निवल्लयितात् । उप्पडित्ताण उड्डीय ॥

अर्थ—अग्निसे घिरे हुए वृक्षका त्यागकर पुनरापि अपने घरकी अभिलाषामें जैसे पक्षी उसी वृक्षके तरफ जाता है वैसे कोइ मुनि फिर गृहस्थावस्था धारण करते हैं.

लंघिज्जंतो अहिणा पासुत्तो कोइ जगमाणेण ॥

उट्ठविदो ते घेतुं इच्छदि जघ कोटुगहलेण ॥ १३२३ ॥

लंघयमानोऽहिना सुप्तो जाग्रतोत्थापितो यथा ॥

कौतुकेन तमावातुं कश्चिदिच्छति मूढधीः ॥ १३७१ ॥

विजयोदया—लघिज्जंतो अहिणा लघ्यमानोऽहिना, कोइ पासुत्तो कश्चित्सुप्तं, जगमाणेण उट्ठविदो जाग्रता उत्थापित । जह त घेतुमिच्छति यथा सर्पं ग्रहीतुमिच्छति, कोटुगहलेण कौतूहलेन ॥  
मूलारा—पासुत्तो निर्भरनिद्राकान्तः ॥

अर्थ—जिसके ऊपरसे सर्पं जारहा है ऐसे सोये हुए किसी मनुष्यको किसीने जगाया पर जगकर उठे हुए उस मनुष्यने उसी सर्पको कौतुकसे पकड़ना चाहा वैसे कोइ गृहस्थावस्था ससारका कारण है ऐसा समझकर उसकी त्यागकर फिरभी उसीको स्वीकारता है.

सयमेव वंतमसणं णिल्लज्जो णिग्घिणो सयं चेव ।

लोलो किविणो मुंजदि सुहणो जघ असणतण्हाए ॥ १३२४ ॥

स्वयमेवाशनं वांत निर्लज्जो निर्घुणाशयः ॥

सारमेयो यथाश्नाति कृपणोऽशनतृष्णया ॥ १३७२ ॥

विजयोदया—सयमेव वंतमसणं स्वयमेव वातमशन सुहणो णिल्लज्जो णिग्घिणो अवा निर्लज्ज निर्घुण । जहा अथा । सयमेव मुंजदि स्वयमेव भुंक्ते । लोलो अशक । किविणो कृपण अशनतण्हाए अशनतृष्णया ॥  
मूलारा—वतं छर्दिम् । किविणो कृपणः ॥

अर्थ—जैसे निर्लज्ज और जुगुप्साराहित कुत्ता स्वयं किया हुआ वमन स्वयं ही अन्नकी इच्छासे भक्षण करता है. कृपण और अन्नमें आसक्त कुत्ता स्वयंका वमन किया हुआ अन्न स्वयं खाने लगता है

एवं केइ गिहवासदोसमुक्का वि दिक्खिवादा संता ॥

इदियक्कासायदोसे हि पुणो ते चेव गिण्हंति ॥ १३२५ ॥



गृहवासं तथा त्यक्त्वा कश्चिदोपशान्तकलं ॥

कषायैन्द्रियदोषातो याति तं भोगतृष्णया ॥ १३७३ ॥

2002

संता दीक्षिता अपि सत । श्रेष्ठिकस्माद्यदौमे श्रेष्ठिकपायदोगान् । ते चेत् तद्वैव गृह्यामगतान् । निन्दन्ति गृह्णन्ति ॥  
कीदृग्गृह्यासो येन दुष्ट इति भण्यते । समेदं भाषाधिष्ठान् अनुपगतमायाशोभोत्पादनप्रतिष्ठाजीवनोपायप्रवृत्त । दयाया  
णामाकर्षणे परेषा पीडाभुक्करोरावच्छपरिकर । शृङ्खल्येतोवायुवनमपि त्वनागतपुत्रव्यावृत्तत्यापारो, मनोभागाय  
सञ्चित्ताचिन्तानेकाणुरभुष्टनिष्प्रलक्षणवर्द्धनोपजातायास यत्र स्थितो जनोऽसौ सारता, तन्निष्ठे निवृत्ता, तदशेषे  
शरणता, अशुचां शुचिता, दुये सुगिता, अनिते गिता, अमंश्रये मश्रयणीयता, शत्रुभूते च मित्रता च मन्यमान  
परित पन्थाचाति । सभयसशकोऽपि पदमविगन्तुति । इत्तरकालोत्पन्नजरोदरगतो हरिश्चिन् । वायुगणनित्तुगकुल-  
भिन्व, अन्त्यायकदंभोन्मशो जलकुजर इव दत्ता, पादजलो विहाग इव, चारकायकस्तस्कर इव, व्याघ्रमध्यमत्पासी  
नोऽल्पवलो मुग इव, तक्षककोपयानजातस्कट्ट पृष्ठाशावृष्टो जलचर इव, । यक्षावस्थितो जन कामवत्तल्लनम  
पटलनाद्विद्यते । रागमहानागरदण्डत क्षितादृष्टिनीभि कञ्जलीक्ष्यते, शोण्डुर्कनुगमयते, कोपादधेन भन्मस्यत्  
क्रियते, पुराशालक्षितामिनिश्चल पश्यते, प्रियाप्रियोनाशानिभिरनिश दक्षलीक्ष्यते, प्राधेनालमशरातेन्तुणीरना नीयते,  
मायास्थवित्रिया गाढमालिभ्यते, पनिभदकटिन्नुडगैर्दिश्यते, अश्वशस्त्रेन लिप्यते मोहमहादेनपाणेन रम्यते,  
पापघातकैरवबोध गाल्यते, मशाय दालकाभिमुखते, आयासयस्यै प्रतिग्रास्य भिष्यते, इष्याम्यत्र विरूपता परिप्राप्यते  
परिग्रहप्रदंभेन । यन्नावस्थितोऽम्यमाभिमुखो भवति । अस्त्राणायाया प्रियता याति, मानसविपनिता अनुभवति,  
विशालधवलचारिचातपद्मवद्यद्यायामुग न लभते, स्वसारचारकादासमान गाननयति, कर्मनिर्मूलनाय न प्रभवति, मरण  
विपपादय न दहति, मोहघनशुद्धता न शोद्यति, विचित्रशोभितुसत्वरण न निषेधति । तत् इत्यमृताग्रहनाम  
दोषास्त्यक्तवा संतोऽपि दीक्षिता श्रेष्ठिकस्माद्यदौमे नि श्रेष्ठिकपायदोगान् । दिशन् समुच्चयार्थे । तेनैवमपिस्वकयते  
पुणो हि पुनरपि ते चेत् ततेन । निष्कृति गृह्णन्ति ॥

दोषा रागद्वेषमोहादयस्तेः कारणमर्ते । ते ज्ञेय तानेन मुलारा-इदियकसायदोसोऽश्च द्रिश्येतिष्ठानिष्ठानिविपर्ययप्रमाणे मयुःशुद्धिः

पुनः ॥  
कपायैन्द्रियदोषेण तदेवादत्ते पुनः ॥

अपि च—गृहवासं तथा त्यज्य कश्चिदोपन्यासकुलं ॥  
कपार्येन्द्रियोपन्यासं याति त भोगतण्डया ॥

कपात्रेन्द्रियदोषार्थं गति - २

गगनाद्रवदायासा याति त भोगनृण्या ॥

कपात्रेन्द्रियदोषार्थं गति - २

गगनाद्रवदायासा याति त भोगनृणया ॥

श्रीविजयाचार्यस्तु—गृहवासवोपासकत्वा दीक्षिता अपि सतः । केचिद्विद्रियदोषान्गृहवासगतनेव पुनरपि गृह-  
न्तीति व्याख्यात् । हि शब्दस्य समुच्चयार्थस्य भिन्नक्रमणस्य पुणो इत्यतोऽनंतरमभिसंधात् । तथा चोक्त विदग्ध  
प्रीतिवर्धन्याम्—

एवं केचिद्गृहवासदोषमुक्ताश्च दीक्षिताः सतः ॥

इन्द्रियकपायदोषान्पुनरपि तानेव गृह्णन्ति ॥

गृहवासदोषानु ममेदं भावग्रहवैशो, दुराशापिशाचीपारवश्यं समस्तपापमूलोभमहोरगातुरत्वं, जीवनोपाय-  
कृत्यादिकाद्यैर्द्वनैरतयैर्ग्रन्थायाससंहस्रसङ्कुलकिल्बिष्टता, पृथ्वीवनिर्कायप्राणातिपातद्वारप्रविशदुर्निवारज्जहस्याप्रबंधान्य-  
तगर्हकलंजकर्मलत्वं, दुर्ग्रहःपुरीषोपेपनिमित्तत्वं, विपदावर्तसहस्रशंकातं कदौर्भनस्य, परपीडातुमहकरणपरिकर-  
बंधसमिद्धदुर्द्वकाराराक्षसस्थितचेतनत्वं, स्थूलतरसचित्ताचित्तद्रव्योपार्जनग्रहणरक्षणवर्धनव्यकरणान्यासगसहस्रजायमान-  
मनोवाक्कायदौर्बल्यस्यमसाराशुचिनश्चराशरणसश्रयणीयाहितदुःखानात्मसु सारादिबुद्धिनिर्बंधाः । कंदर्पसर्पगरलघूणितत्वं,  
चित्ताशाकिनीविकारभूयिष्ठत्वं, परितापनिष्ठत्वं, प्रियविप्रयोगाशनिनिपातविशरास्ता, शोकानलःवालाकरालता, अनिष्ट-  
संयोगदुस्तविपादास्पदत्वं, कोपपावकभस्मसाकरणत्वं, प्रार्थिताप्राप्तिहेतुशतजर्जरत्वं, मायास्थविरिकानिर्भरपरिभ्रमता, भया-  
यःशलाकाप्रतोटन, मात्सर्येय्यास्तेयपैशुन्यैर्न्यानुतात्तेयविपयलापट्टविपकीटकोपस्पृष्टता, कुयोतिसहस्रसुखप्रवेशकर्मठपाप-  
बंधनिवधनत्वं इत्यादयः केचलिभिः श्रुतकेचलिभिर्वा कथमपि कलयितुं शक्या नु शक्या वेति ॥

अर्थ—उपर्युक्त दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि कोई गृहस्थावस्थाके दोषोंसे मुक्त होकर और दीक्षा  
लेकर भी इंद्रिय और कपायोंके दोषोंको पुनः ग्रहण करते हैं.

इस गृहस्थपनाको क्यों दुष्ट कहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

यह गृहवास ममत्वका अधिष्ठान अर्थात् मूल कारण है. हमेशा माया और लोभ को उत्पन्न करनेवाले  
ऐसे जीवनोपाय इसमें जीवको करने पड़ते हैं यह गृहवास कपायोंकी खान है. यह जीवोंपर पीडा और अनुग्रह  
भी करता है, अर्थात् गृहस्थावस्थामें रहने पर किसीको पीडा करनेका और किसीपर अनुग्रह करनेका हमेशा प्रसंग  
आता है. पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा और वनस्पति इन स्थावरोंका हमसे हमेशा घात करना पड़ता है. मन वचन  
और शरीरके द्वारा सचित्त अचित्त अनेक स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ तथा द्रव्य प्राप्त करनेके लिये इस गृहवासमें

महा आयास करने पड़ते हैं. इस गृहवासमें रहकर लोक असारको सार, अनित्यको नित्य, अशरणको शरण, अपवित्रको पवित्र, दुःखमें सुख, अहितमें हित, अनाधारमें आधार, शत्रुमें मित्रकी कल्पना करते हैं. और चारों तरफ भागते हैं मनमें भीति और शंका होनेपर भी अपायके स्थानकी ही उनको प्राप्ति होती है.

जिससे मुक्तता होना अतिशय कठिन है ऐसे लोहेके पिंजरेमें कैद किये हुए सिंहके समान, जालसे जकड़ कर बांधे हुए हरिणके समान, अतिशय दुस्तर कीचमें फसे हुए बड़े हाथीके समान ये सर्व गृहस्थ हताश होजाते हैं अर्थात् ऐसी पापमय, ससारमें घुमानेवाली गृहस्थावस्थासे निकलकर आत्मकल्याण करना अतिशय कठिन है पाशमें पकड़े गये पक्षिके समान, कैद खानेमें डाले हुए असमर्थ दीन हरिणके समान, इन गृहस्थोंको यमसे-मृत्युसे अत्यंत भय होता है कूट पाशमें पकड़े गये मत्स्यके समान इस गृहस्थावस्थामें रहनेवाले लोक कामवेदना रूप गाढ अधकारसे अर्थात् काममोहसे युक्त हो जाते हैं इन गृहस्थोंके पीछे पकड़नेके लिये रागरूपी हाथी दौड़ रहा है चिंता रूपी पिशाची से ये पीड़ित होते हैं. शोक रूपी अग्नि इनको जलाकर भस्म करती है. दुःखद आशासे बंधे हुए ये गृहस्थ अपने स्थानसे हिल भी नहीं सकते हैं प्रिय पुत्र, भार्या, इत्यादिकोंका वियोग रूपी वज्र इनके हमेशा तुकड़े २ कर डालता है

इष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होना एतत्स्वरूप सैकड़ों पापके लिये ये भाते के समान हैं. जैसे चाण भातेमें रहते हैं वैसे इन गृहस्थोंमें हमेशा इष्ट विषयकी प्राप्ति न होना यह दुःख निवास करता है मायारूपी बूढ़ी इनको गाढा लिगान देती है अपमान रूपी कठिन कुल्हाडीसे इनका मन विदीर्ण होता रहता है.

अकीर्तिरूपी विद्यासे ये लीपे जाते हैं मोहरूपी बड़ा वनका हाथी इनको मार डालता है पापरूपी वधक लोक इनके ज्ञानका वध करते हैं. मयरूपी लोहेकी सुईयां इनका अंगको चुभती हैं. परिश्रमरूपी कौवे इनको प्रतिदिन मय दिखाते हैं ईर्ष्यारूपी कज्जलसे ये लीपे जानेसे कुरूप होजाते हैं परिग्रहरूपी पिशाचोंसे ये पकड़े जाते हैं इस गृहस्थावस्थामें रहनेपर मनुष्य असयमके तरफ झुक जाता है. दुसरोके गुण सहन नहीं होना एतत्स्वरूपी पत्नी इनको बहुत प्रिय मालूम होती है अर्थात् इनका मन अन्यके गुणोंका द्वेष करता है. अभिमानरूपी वनाश्रीमें पड़कर ये महान् कष्टका अनुभवन करते हैं महान् और निर्मल ऐसे चारित्ररूपी छत्रत्रयका सुख इन गृहस्थोंको प्राप्त होता नहीं है. यह गृहस्थावस्था कर्मका नाश करनेमें असमर्थ है. इससे मरणरूपी विषवृक्ष दग्ध नहीं होता है.

यह गृहवास मोहरूपी मजबूत बेडीकी गृहस्थावस्था तोड़नेमें समर्थ नहीं है, अनेक योनिओंमें जीविका अमण करना इससे बंद नहीं हो पाता इस लिए ऐसे गृहवासके दीर्घोका त्याग कर मुनिदीक्षा धारण करके भी कितनेक मुनि फिर भी उन्ही दीर्घोका आश्रय करते हैं

बंधणमुक्को पुनरेव बंधणं सो अचेयणोदीदि ॥

इंद्रियकसायबंधणमुवेदि जो दिक्खिदो संतो ॥ १३२६ ॥

बंधमुक्तः पुनर्यथं निश्चितं स यियासति ॥

यो दीक्षितः कषायाक्षान्सिषेवयिषेते कुधीः ॥ १३७४ ॥

विजयोद्या—बंधणमुक्को बंधनमुक्तः । पुनरेव बंधणं पुनर्बंधन । अदीदि प्रतिपद्यते । सो अचेदणो सोऽब्र ।  
क ? जो दिक्खिदो संतो इन्द्रियकसायबंधणमुवेदि यो दीक्षितः सान्निद्रियकषायबंधणमुपैति । इन्द्रियकषायपरिणामाः कर्म  
बंधनक्रियायां साधकतमत्वाद् इह बंधनशब्देनोच्यते ॥

तत्तादृगदोपदुष्टगृहवाससेवनाभिमुखीकरणप्रवर्णकरणकषायेदोपगणमाश्रयमाणं प्रव्रजितं वक्रभणितप्रबवेन तिरस्करोति—  
मूलारा—अचेदणो अब्रः । अदीदि प्रतिपद्यते । इन्द्रियकसायबंधणं इन्द्रियकषाया एव बंधन कर्मबंधनक्रियाया  
साधकतमत्वात् ॥

अर्थ—जो दीक्षा लेकर इन्द्रियां और कषायके बंधनको प्राप्त होता है वह जैसा कोई अब्रप्राणी बंधन मुक्त होकर भी पुनः बंधनका स्वीकार करता है वैसा समझना चाहिए, इन्द्रिय और कषाय ये कर्मबंधनक्रियामें साधकतम कारण होनेसे उनको भी बंधन कहना अयोग्य नहीं है

मुक्को वि णरो कलिणा पुणो वि तं चेव मग्गदि कलिं सो ॥

जो दिक्खिदो वि इन्द्रिय कसायमइयं कलिमुवेदि ॥ १३२७ ॥

दीक्षित्वापि पुनः साधुः कषायाक्षकालिं यदि ॥

जियुक्षति कलिं पुक्त्वा पुनः स्वीकुरुते कलिम् ॥ १३७५ ॥

विजयोदया—प्रसिद्धार्थो ॥  
मूलारा—कलिणा कलेहेन ॥

अर्थ—जो साधु दीक्षित होकर भी पुनः इन्द्रिय और कृपायरूप कलहका स्वीकार करता है वह कलह से रहित होकर भी फिर कलहका स्वीकार करता है ऐसा समझना चाहिए

उत्तराथा—

सो णिच्छदि मोत्तुं जे हत्थगयं उम्भुयं सपज्जलियं ॥  
सो अक्कमदि कण्हसप्यं छादं वग्घ च परिमसदि ॥ १३२८ ॥  
विधाय ज्वलितं हस्ते मुमुंरं स बुभुक्षते ॥  
आकामति स कृष्णाहिं व्याघ्रं स्पृशति सक्षुधं ॥ १३७६ ॥

विजयोदया—सो णिच्छदि स नेच्छति । मोत्तुं मोक्तुं । किं हत्थगयं हस्तस्थितं हस्तगतं वा । उम्भुयं संपज्जलियं उल्लुक्क सुण्डु प्रज्वलित । सो कण्हसप्यमक्कमदि स कृष्णसर्पमतिकाम्यति । छादं वग्घं च परिमसदि क्षुधोपद्रुतं व्याघ्रं च स्पृशति ॥

मूलारा—मोत्तु जे लक्कुं । उम्भुगं अर्थग्रन्थलितकाष्ठं । अक्कमदि लंघयति । छादं क्षुत्पीडित । परिमसदि स्पृशति ॥

अर्थ—जो साधु दीक्षित होकर पुनरपि इन्द्रिय और कृपायरूप परिणामोंको स्वीकारता है वह हाथमें जलते हुए अग्निको नहीं त्यागना चाहता है अथवा काले सर्पको लांघकर जाना चाहता है किंवा भूखसे पीडित व्याघ्र को स्पर्श करना चाहता है ऐसा समझना चाहिये

सो कंठोल्लुगिदसिलो दहमत्थाहं अदीदि अपणाणी ॥  
जो दिक्खिदो वि इंदिय कसायवसिगो हवे साधू ॥ १३२९ ॥  
कंठाल्लग्नशिलोऽगाध सोऽज्ञानो गाहेते ज्हदम् ॥  
अधलो वापि यो दीक्षां कपायाक्ष प्रपद्यते ॥ १३७७ ॥

विजयोदया—सो कंठोच्छ्रितसिलो स कंठायलमिति शिलः । दृढमप्याहं नृदमगाध । अक्षीदि प्रविशति । अ-  
ण्णाणी अन्नः । जो दिम्बिखवो वि य यो दीक्षितोपि इन्द्रियकसायवसिगो इन्द्रिकणयवशवर्ती साहय्यावेभेदव्यवहारः ॥

मूलारा—कंठोच्छ्रितसिलो गलावलि वितहपद् ॥

अर्थ—जो अज्ञानी साधु दीक्षा लेकर इन्द्रिय और कणायके वश होता है वह कंठमें शिला गंधवर  
अगाध सरोवरमें प्रवेश करना चाहता है। गाथामें इन्द्रिय और कणायके वश हुआ साधु और गलेमें शिला जिमने  
बांधी है ऐसा पुरुष इनमें साहस्य होनेसे आचार्यने अभेदका व्यवहार कर एक ही व्यक्तीको दो विशेषणोंसे युक्त  
किया है परंतु एक च्छांत्त और दूसरा दाष्टांत्त है।

इन्द्रियगहोवनिष्ठो उवसिष्ठो ण दु गहेण उवसिष्ठो ॥

कुणदि गहो एयमेवे दोसं इदरो भवसेदसु ॥ १३३० ॥

गृहीतोऽक्षग्रहाघ्रातो नापरो ग्रहपीडितः ॥

अक्षयः स सदा दोषं विदधाति रुदाग्रहः ॥ १३७८ ॥

विजयोदया—इन्द्रियगहोवनिष्ठो इन्द्रियग्रहगृहीतः । उवसिष्ठो गृहीतः । ण दु गहेण उवसिष्ठो नेव ग्रहेणोपखण्ड  
कुतः ? यस्मात् । कुणदि गहो एयगने दोस एकस्मिन्नेव भवे ग्रहो बुद्धिव्यामोहलक्षण दोष करोति । इदरो भवसेदसु  
इन्द्रियकणायग्रहो भवशतेषु दोष करोति ॥

मूलारा—उवसिष्ठो ग्रहाविष्टः । दोसं बुद्धिव्यामोह ॥

अर्थ—जो इन्द्रियरूप ग्रहसे पीडित हुआ है उसको ही ग्रहपीडित कहना चाहिये जो ग्रहसे पीडित  
वह वास्तविक पीडित नहीं है क्यों कि ग्रह तो एक भवमें ही पीडा देता है अर्थात् बुद्धिमें मोह उत्पन्न करता है  
परंतु इन्द्रिय और कणाय रूपी ग्रह इस जीवका सैंकड़ो भवोंमें दुःख देता है अतः उसको ही ग्रह कहना चाहिये।

होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो ॥

ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पावं इदरो जधुम्मत्तो ॥ १३३१ ॥

कषायमत्त उन्मत्तः पित्तोन्मत्तोऽपि नो पुनः ॥

प्रमत्त कुरुते पापं द्वितीयो न तथा स्फुटम् ॥ १३७९ ॥

विजयोदया—होदि कसाउन्मत्तो अत्रैव पदघटना । उन्मत्तो होदि उन्मत्तो भवति यथा । क ? कसायउ-  
न्मत्तो कषायोन्मत्त । तथा उन्मत्तो न होदिति पदघटना तथा उन्मत्तो न भवति । क ? पित्तउन्मत्तो पित्तोन्मत्त ।  
एतेन पित्तकृताहुन्मादात् कषायकृतस्थोन्मादस्य जघन्यता ख्याता । कय ? न कुणदि पित्तुन्मत्तो पाप न करोति पित्तो-  
न्मत्त । पाप हवरो जधुन्मत्तो कषायोन्मत्तो यथा पापं करोति, तथाभूत न करोति । यत एकैकोपिऽपि क्रोधादि  
हिंसादिषु प्रवर्तयति । कर्मणा स्थितिघ्न दीर्घीकरोति । विवेकज्ञानमेव तिरस्करोति पित्तोन्माद ततोऽनयोर्महद्वतरं  
इति भाव ॥

मूलारा—उन्मत्तो उन्मदात्तः । तद्य न तथा न । पित्तोन्मत्तो भवत्युन्मत्तो यथा कषायोन्मत्त इति संचय ॥

अर्थ—जो कषायसे उन्मत्त हुआ है उसको ही वास्तविक उन्मत्त कहना चाहिये परंतु जो पित्तसे  
उन्मत्त हुआ है वह वास्तविक उन्मत्त नहीं है पित्तसे जो उन्माद उत्पन्न होता है उससे भी कषायोन्माद अतिशय  
तीव्र है और दुःखदायक है पित्तोन्मत्त मनुष्य पाप नहीं करता है परंतु कषायोन्मत्तमनुष्य पाप करता है अर्थात्  
पित्तोन्मत्त मनुष्यसे कषायोन्मत्त मनुष्य महान् अन्याय करता है, एकैकभी क्रोधादिक कषाय हिंसादिक पापोंमें  
जीवको प्रवृत्त करता है कर्मका स्थितिघ्न उत्तरोत्तर दीर्घ करता है परंतु पित्तोन्माद फल विवेक ज्ञानको ही  
नष्ट करता है उससे हिंसादिक पाप और कर्मकी दीर्घ स्थिति नहीं होती है अतः इन दोनोंमें महान् अंतर है

इदियकसायमइओ णरं पिसायं करंति हु पिसाया ॥

पावकरणवेलंयं पेच्छणयकरं सुयणमज्जे ॥ १३३२ ॥

कषायाक्षपिशाचन पिशाचीक्रियते जनं ॥

जनानां प्रेक्षणीभूतस्तीव्रपापप्रक्रियोद्यतः ॥ १३८० ॥

विजयोदया—इदियकसायमइओ इदियकषायमयः पिशाच । णरं पिसाय करेदि नरं पिशाच करोति ।  
कीदृग्भूत पिशाचं करोति ? सुजणमज्जे पेच्छणयकरं सुजनमध्ये प्रेक्षणिकारणं पावकरणवेलंयं हिंसादिपापक्रिया-  
विलंबना प्रेक्षणीयत्वेन संपादयन्त पिशाचं करोतीति यावत् ॥

मूलारा—पावकरणवेल्लें पापकरणमेव विडवना तस्य तं । पेच्छणयकरं प्रेक्षणकारिणं हिंसादिपापक्रियविडवना प्रेक्षणीयकत्वेन संपादयतं पिशाच करोतीत्यर्थः । उक्त च—

कपायाद्यापिशाचेन पिशाचीक्रियते नरः ॥

सन्मध्ये प्रेक्षणीभूतः कुर्वन्पापविडवनाम् ॥

अर्थ—इंद्रिय और कपाय रूपी पिशाच मनुष्यको सुजनोको देखनेलायक हिंसादि पापक्रिया करनेवाला पिशाच बनाता है

कुलजरस जस्समिच्छत्तगरस णिघणं वरं खु पुरिसस्स ॥

ण य दिक्खिदेण इदियकसायवसिएण जेहुंजे ॥ १३३३ ॥

संयतस्य कुलीनस्य योगिनो मरण वरम् ॥

लोकद्वयसुखध्वंसि न कपायाक्षपोपणम् ॥ १३८१ ॥

विजयोदया—कुलजरस पुरिसस्स जस्समिच्छत्तगरस कुलप्रसूतस्य पुत्र यशोऽभिलाषिण । णिघण चर मृति शोभना । ण तु वरं जीविदुजे नैव चर जीवन । दिक्खिदेण इदियकसायवसिएण दीक्षितस्येद्वियकपायवशवर्तिन । जीवन न शोभनमित्यर्थः ॥

मूलारा—णिघण मरणं । जीविदु जे जीवितुं ॥

अर्थ—उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ तथा यशकी अभिलाषा करनेवाला ऐसे पुरुष का मरना भी अच्छा ही मानना चाहिये परंतु दीक्षा लेकर पुनः इंद्रिय और कपाय के वश होकर जीना अच्छा नहीं है अभिप्राय यह है कि, इंद्रिय और कपाय के आधीन होकर जीना पापास्रवके लिये कारण है अतः ऐसा जीना खराब है

जघ सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो रधी पलायंतो ॥

णिंदिज्जदि तघ इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥ १३३४ ॥

निंयते संयतः सर्वैः कपायाक्षवशगत ॥

सन्नद्धो धृतकोदंडो नदयन्निव रणांगणे ॥ १३८२ ॥



विजयोदया—यथा रथी पलायंतो णिदिज्जिदि यथा रथी पलायान्निघते । कीदृक् ? सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो सन्नद्धं प्रगृहीतचापकांडः॥ तथा इन्द्रियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो तथा इन्द्रियकपायवशवर्त्यपि प्रव्रजितो निघते ॥

मूलारा—रथी रथारोहः ॥

अर्थ—जैसे—युद्धके लिये तयारी जिसने की है अर्थात् कवच पहन कर और हाथमें धनुष्य और चाण लेकर लड़नेके लिये जो रथमें आरुढ़ हुआ है ऐसा रथी वीर रणको देखकर यदि डरके मारे युद्धसे भागने लगेगा तो जगतमें उसकी निंदा हुए बिना नहीं रहेगी. वैसे दीक्षित होनेपर इन्द्रियकपायवश हुआ पुरुष जगतमें निंदाका पात्र होता है.

जघ भिक्खं हिंडंतो मउडादि अलंकितो गहिदसत्थो ॥  
णिदिज्जइ तघ इन्द्रियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥ १३३५ ॥

कपायाक्षवशास्थायी दूष्यते कैर्न संयतः ॥

याचमानो यथा भिक्षां भूयितो मुकुटादिभिः ॥ १३८३ ॥

विजयोदया—जघ भिक्ख हिंडंतो मुष्टादिभिरलंकृतो गृहीतशस्त्रो भिक्षा भ्रमन् निघते । निघते इन्द्रियकपायवशावर्ती प्रव्रजित ॥

मूलारा—गहिदसत्थो घृताक्षः ।

अर्थ—जैसे मुकुट, अगद वर्गरह आभूषण पहना हुआ, हाथमें शस्त्र को धारण करनेवाला मनुष्य यदि भीख मांगता हुआ देखा गया तो उसकी लोक निंदा करते हैं वैसे दीक्षा लेकर इन्द्रियवश और कपायवश होना यह ऊपरके दृष्टांत के समान निंदनीय है.

इन्द्रियकसायवसिगो मुंडो णग्गो य जो मलिणगत्तो ॥  
सो चित्तकम्मसमणोच्च समणरूवो अममणो हु ॥ १३३६ ॥  
सर्वगणिमललीढो नग्गो मुंडो महात्तपाः ॥  
जायते सकषायाक्षश्चित्रअमणसन्निभः १३८४ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसाययसिगो इन्द्रियकपाययशीकृतः, मुंडो नम्राश्च यो मलिनगात्रः सन् । सो समणरूपो न समणो स श्रमणरूपो न श्रमणः । सो चित्तकम्मसयणो ह्य स चित्तकर्मश्रमण इव । परमाश्रमणसदृशरूपोऽपि यथा चित्रश्रमणो न श्रमणस्तद्वदश्रमपरिणामप्रयण ॥

मूलार—चित्तकम्मसमणोब्ब चित्रलिखितयतिरिव । समणरूपो परमार्थयतिसदृशरूपोऽपि ।

अर्थ—जो इन्द्रिय और कपायके वश हुआ है, मुडमस्तक, और मलिन शरीर है वह मुनि होनेपर भी मुनि नहीं माना जाता है, वह चित्रलिखित मुनिके समान है ऐसा मानना चाहिए, जैसे चित्र लिखित मुनि वास्तविक मुनि नहीं है वैसे इन्द्रियवश कपायवश मुनि पाप परिणामोंसे मलिन होनेसे अशुभ कर्मके बंधक माने गये हैं इसलिए उनको मुनि नहीं समझना चाहिए

ज्ञान नरस्य दोषानपहरति इन्द्रियकपायजयमुखेन यथा सत्वधृत, प्रहरणमावरण च शत्रुं नाशयतीत्युत्तरगा-  
थार्थः, इन्द्रियकपायाजये ज्ञान दोषापहरित्वाख्यं अतिशयं न लभते यथा सत्वहीनस्यावरणसन्नाहारव्य प्रहरणं च सद्भावक्रादिकं शत्रुजयत्वमतिशय नासादयति ॥

णाणं दोसे नासिदि णरस्स इन्द्रियकसायविजयेण ॥

आउहरणं पहरणं जह णासेदि अरिं ससत्तस्स ॥ १३३७ ॥

ज्ञानदोषविनाशाय कषायैन्द्रियनिर्जयः ॥

शस्त्रं शत्रुविघाताय जायते सत्वसंभवे ॥ १३८५ ॥

विजयोदया—णाण ज्ञान दोसे दोषान् । नासिदि नाशयति । णरस्स नरस्य इन्द्रियकसायविजयेन । जह यथा । आउहरण पहरण आयुगे हरण प्रहरणं शस्त्र, बहुसत्त्वेन वर्तते इति ससत्वस्तस्य । अरिं रिपुं । णासेदि नाशयति ॥

मूलार—आवरण सन्नाहः । ससत्तस्स सत्वयुक्तस्य ।

इन्द्रियां और कपायोंको जीतनेसे ज्ञान मनुष्यके दोषोंका नाश करता है, जैसे धैर्ययुक्त मनुष्यका शस्त्र और कवच शत्रुका नाश करता है ऐसा आगेकी भाषाका भाव है, इन्द्रिय और कपायोंको यदि न जीता जायगा तो ज्ञान दोषोंका नाश नहीं कर सकगा जैसे धैर्यहीन मनुष्यके शस्त्र और कवच शत्रुको नहीं जीत सकते हैं

अर्थ—इन्द्रिय और कपायोंपर विजय प्राप्त करके ज्ञान पुरुषके दोषोंका नाश करता है जैसे धैर्यवान् मनुष्यका आयुध शत्रुका आयुष्य नष्ट कर देता है

णाणंपि कुणदि दोमे णरस्स इंदियकसायदोसेण ॥  
आहारो वि हु पाणो णरस्स विमसंजुदो हरदि ॥ १३३८ ॥

दोषाय जायते ज्ञान कषायेंद्रियदूषितम् ॥

आहारो हरते किं न जीवितं विषमिअितम् ॥ १३८६ ॥

विजयोदया—णाणंपि कुणदि दोसे णरस्स ज्ञान दोपानपि करोति नरस्य । इंदियकसायदोसेण इंदियकपाय-परिणमदोषेण । उपकार्यपि अनुपकारितामुदहति परसंसर्गेण । यथा प्राणधारणानिमित्तोऽप्याहारो विपमिश्र प्राणा-न्विनाशयति ॥

मूलारा—दोमे अपकारान् ॥

अर्थ—इंद्रिय कपायरूपी परिणाम दोषेते पुरुषका ज्ञान भी दोषोंको उत्पन्न करता है. यद्यपि ज्ञान उपकार करनेवाली चीज है परंतु दूसरेके अर्थात् सदोपके संसर्गसे दोष उत्पन्न करता है जैसे अन्नसे प्राण धारण होता है परंतु वह विपसयुक्त होकर प्राणोंका नाश कर देता है

णाणं करेदि पुरिसस्स गुणे इंदियकसायविजयेण ॥  
बलरूवणणमाज्ज करेहि जुत्तो जधाहारो ॥ १३३९ ॥

विदधाति गुणं ज्ञानं कषायेंद्रियवर्जितम् ॥

वपुर्योग्यं करोत्यन्नं बलवर्णादिसुंदरम् ॥ १३८७ ॥

विजयोदया—णाण करेदि ज्ञान करोति। पुरिसस्स गुणे पुरुषस्य गुणान् । कथं ? इंदियकसायविजयेण इंदिय-कपायविजयेन बलवर्णरूपमाज्ज करेदि बलं रूप, तेज, आयुश्च करोति । जुत्तो जधाहारो युक्तः शोभनो यथाहार ॥

मूलारा—वण्ण तेजः । जुत्तो विहितः ॥

अर्थ—इंद्रिया और कर्मायोंको जीतकर ज्ञान मनुष्यमें गुण पैदा करता है जिसमें विप मिश्रण नहीं हुआ है ऐसा उत्तम आहार बल, वीर्य, रूप, पराक्रम और आयुको बढ़ाता है

णानं पि गुणे णासेदि णरस्स इदियकसायदोसेण ॥

अप्पवधाए सत्थं होदि हु कापुरिस्सहत्थगयं ॥ १३४० ॥

कपायेंद्रियदोयेण ज्ञान नाशयते गुणं ॥

शस्त्रमात्मविनाशाय किन्न भीरुरास्थितम् ॥ १३८८ ॥

विजयोदया—ज्ञानमपि गुणाशायति नरस्य इदियकपायपरिणामदोसेण । आत्मवधाय भवति शस्त्र  
कापुरुषहस्तगत इति ॥

मूलारा—अप्पवधाए स्वयत्तार्थ ॥

अर्थ—इंद्रिय और कपायोंके दोषोंसे मनुष्यका ज्ञान गुणोंका ध्वंस करता है धैर्यहीन पुरुषके साथमें  
रहनेवाली तरवार उसका ही नाश करती है.

उत्तर गार्थार्थ ॥

सबहुस्सुदो वि अवमाणिज्जदि इंदियकसायदोसेण ॥

णरमाउधहत्थपि हु मदयं गिद्धा परिमवति ॥ १३४१ ॥

कपायेंद्रियदोषार्तः शास्त्रज्ञोऽप्यवमन्यते ॥

किं प्रेतः शस्त्रहस्तोऽपि न स्वर्गैः परिभूयते ॥ १३८९ ॥

विजयोदया—सुबहुस्सुदोवि सुष्ठु बहुश्रुतोऽप्यवमन्यते इदियकपायदोयेण । गृहीतास्त्रमपि नर स्मृत गृद्धाः  
परिभवन्ति यथा ॥

मूलारा—अवमाणिज्जदि अवज्ञाहेतुःक्रियते ॥

अर्थ—इंद्रिय कपायोंके दोषोंसे बहुश्रुत विद्वानका भी लोक अपमान करते हैं जिसके हाथमें शस्त्र  
‘एमे मेरे हुए मनुष्यका गीध पराभव करते हैं

इंदियकसायवसिगो बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमादि ॥

पक्खीव छिण्णपक्खो ण उप्पडदि इच्छमाणो वि ॥ १३४२ ॥

वृत्ते नाक्षकषायार्त्तः श्रुतज्ञोऽपि प्रवर्तते ॥

उड्डीयते कुतः पक्षी तूदनपक्षः कदाचन ॥ १३९० ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायवसिगो इन्द्रियकषायवशात्. बहुश्रुतोऽपि चारित्र्ये नोद्यम करोति । यथा छिन्नपक्षः पक्षी नोत्पतति इच्छन्नपि ॥

मूलारा— इच्छमाणो वि उत्पतितुमिच्छन्नपि ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषायोंके वश हुआ पुरुष विद्वान होकर भी चारित्र्यमें उद्यम नहीं कर सकता है जिसके पक्ष टूट गये हैं ऐसा पक्षी उड़नेकी इच्छा करता हुआ भी नहीं उड़ सकता है.

णस्सदि संगंपि बहुगं पि णाणमिंदिरकसायसम्मिस्सं ॥

विससम्मिसिदुदुट्ठ णस्सदि जघ सक्कराकडिदं ॥ १३९३ ॥

संसते बह्वपि ज्ञानं कषायेंद्रियदूषितम् ॥

सशर्करमपि क्षीरं सविषं मंक्षु नश्यति ॥ १३९१ ॥

विजयोदया—णस्सदि संगंपि बहुगंपि णाणं नश्यति स्वयं बह्वपि ज्ञानं इन्द्रियकषायसन्निभं । शर्कराकथितं दुग्धं विषमिश्रमिव । माधुर्यात्सातिशयता दुग्धस्य शर्कराकथितशब्देन कथ्यते ॥

मूलारा— णासादि विनश्यति । सुदं श्रुताख्यं । सक्कराकडिदं अतिमधुरमित्यर्थः ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषाय विकारोंसे मिश्र हुआ बहुतसा भी ज्ञान नष्ट होता है विषमिश्रित भी भीठा कड़ाया हुआ दूध नष्ट होता है अर्थात् उसका स्वभाव नष्ट होता है.

इंद्रियकसायदोसमलिणं णाणं ण वट्टदि हिंदे से ॥

वट्टदि अणस्स हिंदे खरेण जह चंदणं ऊढं ॥ १३९४ ॥

ज्ञानं परोपकाराय कषायेंद्रियदूषितम् ॥

किमूढमुपकाराय रासभस्य हि चंदनम् ॥ १३९२ ॥

विजयोदया—ज्ञान यदीयं तस्मै उपकारितया प्रसिद्धमपि सन्नोपकारि भवति इन्द्रियकषायमलिनं परोपकारि तु भवति क्षणेणोद चन्दनादिकमिति सूत्रार्थः ॥

मूलारा— हिंदे उपकारे । से तस्य ज्ञानवतः ॥ उपकारितया प्रसिद्धमपि नोपकाराय भवतीत्यर्थः ।

अर्थ—इन्द्रिय और कषायोंसे ज्ञान मलिन होता है तब वह अपने स्वामीका हित करनेमें असमर्थ होता है परंतु उस ज्ञानसे दूसरों का हित होता है. गद्या चंदनका बोझा धारण करता है परंतु उससे उसका भी हित होता नहीं. जो उस चंदन का उपभोग लेते हैं उनकाही उससे हित होता है उसी तरह इन्द्रियकषायसे जिसका ज्ञान मलिन हुआ है ऐसा आत्मा गंधकेसमान स्वज्ञानमें अपना हित नहीं कर सकता है.

ज्ञानं प्रकाशकत्वमपि जहानि—

इन्द्रियकषायणिगह्णिमीलिदस्स हु पयासदि ण णाणं ॥

रत्तिं चक्खुणिमीलस्स जथा दीवो सुप्ज्जलिदो ॥ १३४५ ॥

कषायाक्षयुहोतस्य न विज्ञानं प्रकाशते ॥

निमीलितेक्षणस्येव दीपः प्रज्वलितो निशि ॥ १३९३ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकषायपरिणामवशादिति निगदति । इन्द्रियकषायणिगह्णिमीलिदस्स इन्द्रियकषायनि-  
श्रेहो निमीलितस्यात्मनो ज्ञान न प्रकाशक । रत्तिं च रात्राविव । वस्त्रुणिमिलिदस्स निमीलितचक्षुष पुस । जह दीवो  
सुप्ज्जलिदो यथा सुप्ज्जलित प्रदीपः ॥

मूलारा— णिमीलिदस्स अनुपयुक्तस्य । इन्द्रियकषायाभिभूतस्येत्यर्थः । पयासदि ण वस्तुप्रकाशक न भवति ।  
रत्तिं रात्रौ । चक्खुणिमीलिदस्स विहितनेत्रस्य ।

ज्ञानका पदार्थको प्रकाशित करना अर्थात् जानना यह धर्म है परंतु वह भी कषायवश होनेपर नष्ट होता है ऐसा कहते हैं

अर्थ—इन्द्रिय और कषायवश होकर आत्मा हीनावस्थाको पोहोचता है तब उसका ज्ञान पदार्थ स्वरूपको प्रकाशित करनेमें असमर्थ होता है. जैसे रातमें कोई आदमी आवे मीचकर सोया हुआ है ऐसी परिस्थितिमें उसके

पास जलता हुआ भी दीपक क्या पदार्थोंको दिखानेमें उस पुरुषको सहायक होता है? इसी प्रकार कषायवश होने-पर आत्माको उसके ज्ञानसे पदार्थोंको जाननेमें सहायता नहीं मिलती है.

इन्द्रियकसायमइलो बाहिरकरणिहुदेण वेसेण ॥

आवहदि को वि विसए सउणो वीदंसगेणैव ॥ १३४६ ॥

बहिर्निश्चृतवेपेण गृह्णीति विषयान्सदा ॥

अंतरामलिनं कंको मीनानिव दुराशय ॥ १३९४ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायमइलो इन्द्रियकषायपरिणाममलिन बाहिरकरणिहुदेण वेसेण । बाह्याया गम-नादिकाया . क्रियाया निश्चुनेन वेपेण । कोई विसए आवहदि । कश्चिद्विषयानावहति आत्मनो भोगाय ॥

मूलारा—बाहिरकरणिहुदेण । गमनागमनादिक्रियासंयुतेन । वेसेण आकारेण । आवहदि सेवते । सउणो पक्षिणं । वीदंसगेणैव वीतशंकेनैव । गृह्णतुशिक्षितपक्षिणो यथा व्याध इति शेषः । अन्यस्तु सउणो वीदंसगेणैव इति पठित्वा पक्षी चंच्वा यथेति प्रतिपन्नः ॥ तथा च तन्मयः—

रुपायाक्षो कुटीरिच्छते बहिर्निश्चृतवेपवान ॥

आदत्ते विषयाश्चंच्वा निष्ठृतं शकुनो यथा ॥

अर्थ—इन्द्रिय और कषायवश होकर जिसका आत्मा मलिन हुआ है ऐसा पुरुष बाह्य आना जाना वगैरह क्रियाओंसे अपना मूलस्वरूप—मलिनस्वरूप छिपाकर विषयोंका सेवन करता है परतु मनमें वह निश्चक नहीं रहता है अर्थात् मेरा मलिन स्वरूप कदाचित् लोक जानेंगे ऐसा भय हमेशा उसको व्यथित करता है. जैसे पारधी किसी पक्षीको पकड़कर उसको शिक्षण देकर उसका पूर्वस्वरूप छिपाता है वैसे कषायमलिन आत्मा अपना मलिन स्वरूप छिपाकर बाह्य क्रियाओंसे अपनी शुद्धता दिखानेका प्रयत्न करता है परतु वह मनमें हमेशा शंकित ही रहता है

बोडगल्लिडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ॥

बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स ॥ १३४७ ॥

घोटकोञ्चारतुल्यस्य किमन्तं कुथितात्मनः ॥

दुष्टस्य यकचेष्टस्य करिष्यति बहिः क्रिया ॥ १३९५ ॥

विजयोदया—घोडगालिंडसमाणस्स घोटकलिंडसमानस्य यथा बहिर्मसृणता न तद्वदन्तर्मसृणता । तद्वत्कस्य-  
चिद्वाहा चरण समीचीन नाभ्यतरा परिणामा शुद्धा । स एवमुच्यते । बाहिरकरणं किं काहिदि बाह्यक्रिया अनशना-  
दिका किं करिष्यति । अबन्तरम्मि कुथिदस्स अतः कुथितस्स । इन्द्रियकपायसंज्ञाऽशुभपरिणामेन नष्टाभ्यतरतपोवृत्ते-  
रिति यावत् । वगणिद्वुद्वकरणस्स यकवन्मूढचेष्टस्य ॥

मूलारा—घोडयलिंडसमाणस्स यथा घोटकलिंडं बहिर्मसृण मध्ये परुषं तथा बहिः सुष्ठोऽन्तरशुद्धवृत्त इत्यर्थः ।  
कुथिदस्स इन्द्रियकपायसंज्ञादपितस्य । बाहिरकरण अनशनादितपश्चरणं । किं से काहिदि किं तस्य करिष्यति । वगणिद्वुद्व-  
करणस्स यकवन्मूढचेष्टस्य ।

अर्थ—घोडे की लीद अदर दुर्गधियुक्त रहती है परतु बाहसे वह स्निग्धकांतिसे युक्त होती है  
अंदरभी वह वैसी नहीं होती, उपर्युक्त दृष्टान्तके समान किसी पुरुषका—मुनिका आचरण ऊपरसे अच्छा—निर्दोष  
दीख पड़ता है, परंतु उसके अदरके विचार कपायसे मलिन अर्थात् गंदे रहते हैं, यह बाह्याचरण उपवास, अवमो-  
दयादिक तप उसकी कुछ उन्नति नहीं करता है, क्योंकि इन्द्रियकपायरूप अतरंग मलिन परिणामोंसे उसका अम्यं-  
तर तप नष्ट हुआ है, जैसे चगुला ऊपरसे स्वच्छ और ध्यान धारण करता हुआ दीखता है परंतु अंतरगमें मत्स्य  
मारनेके गोंद विचारोंसे युक्तही होता है

याहा तप. करणीयतयोपविष्ट तत्त्वफलं सपादयत्येव किमुच्यते बाह्यक्रिया किं करोतीत्याशकायां सूत्राचेष्ट—

बाहिरकरणविसुद्धी अबन्तरकरणसोध्यत्थाए ॥

ण हु कुंडयस्स सोधी सक्का सतुसरस्स कादुं जे ॥ १३४८ ॥

मता बहिः क्रियाशुद्धिरन्तर्भलविशुद्धये ॥

बहिर्मलक्ष्येनैव तंबुलोऽन्तर्विशोध्यते ॥ १३९६ ॥

विजयोदया—बाहिरकरणविसुद्धी बाह्यक्रियाविशुद्धि । अबन्तरकरणसोध्यत्थाए अभ्यंतरक्रियाणां विनया-  
दीनां शुद्धये, अभ्यतरतपसा लब्धेव बहुतरकर्मनिर्जराक्षमाणा परिवुद्धये श्रूयते बाह्यान्वनशनादितपोसि । ततोऽन्वयतया  
१६४



वाह्यान्युपदिष्टानि । यद्धि यदर्थं तत्प्रधानं इति प्रधानताभ्यतरतपसः । तत्र शुभशुद्धपरिणामात्मकं । तेन विना न निर्जरायै वाह्यमल । उक्तं च-वाह्यं तप परगुह्यरमाचरस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपस परिबृहणार्थं ॥ इति ॥ न पु कुण्डयस्स सोऽग्री सका काहु जे नैवान्तर्मलस्य शुद्धि शक्या कर्तुं । कस्य ? सतुसस्स सतुपस्य धान्यस्य ॥

न चैव वाह्यं तपो नानुष्ठेयमित्यवसेयं यतः—

मूलारा— अवभंतेरेत्यादि अभ्यतरक्रियाणां विनयादीनां शुद्धयर्थं अभ्यतरतपसा लभेव बहुतरकर्मनिर्जरणक्ष-  
माणा परिवृद्धये वाह्यतपासि क्रियते । इति न व्यर्थतया तान्युपदिष्टानि । यद्धि यदर्थं तत्र तत्प्रधानमिति, तत्प्रधानताभ्य-  
तरतपस इति तात्पर्यं ॥ कौण्डयस्म अन्तर्मलस्य । सुद्धी स्फोटन सतुसस्स सतुपस्य धान्यस्य ।

वाह्य तप करना चाहिये ऐसा आगममें कहा है और वह अपना फल जीवको देता ही है परंतु आप तो उसको निष्फल बता रहे हैं अतः यह आपका कहना विरुद्धमा मालूम होता है ? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ— वाह्य क्रियाओंकी अनशनादि तपोंकी निर्मलता अंतरंग विनयादि तपोंको निर्मल करनेके लिये होती है अर्थात् अभ्यंतर तप थोड़े कालमें बहुत कर्मोंकी निर्जरा करनेका सामर्थ्य रखते हैं और वाह्य तप इन-  
तपोंका सामर्थ्य बढ़ाता है अतः वाह्य तपोंको 'वाह्य यह नाम सार्थक है अभ्यंतर तपके लिये वाह्य तप हैं अतः अभ्यंतर तप प्रधान है यह अभ्यंतर तप शुभ और शुद्ध परिणामोंमें युक्त रहता है इसमें विना वाह्यतप कर्म निर्जरा करनेमें असमर्थ है श्रीसमन्तभद्र आचार्य 'हे भगो आप अतिशय कठिन ऐसा वाह्य तप अन्तरंग तपकी इच्छाके लिये करते थे' ऐसी जिनेश्वर की स्तुति करते हैं इसमें अभ्यंतर तप प्रधान है और वाह्य तपसे अभ्यंतर तपमें विशुद्धता प्राप्त होती है यह सिद्ध होता है वाह्य तप निष्फल अर्थात् व्यर्थ है ऐसा समझना योग्य नहीं है जो धान्य सतुप है अर्थात् ऊपरके छिलकेमें युक्त है उसका अन्तर्मल नष्ट नहीं होता है जब छिलका नष्ट होता है तब धान्यका अन्तर्मलभी नष्ट होता है अतः अन्तरंग तपकी विशुद्धताके लिये वाह्य तप भी करना चाहिये ऐसा आचार्यका मत इस गाथामें स्पष्ट होता है,

अवभतरभोधीए सुद्ध गियमेण बाहिरं करणं ॥

अवभंतरदोसण हु कुणदि णरो बाहिरं दोसं ॥ १३४९ ॥

अन्तःशुद्धौ बहिःशुद्धिर्निश्चिता जायते यतः ॥

ब्राह्मं हि कुरुते दोषमन्तर्दोषं विना कुतः ॥ १३९७ ॥

विजयोदया—अभ्यन्तरसोधीए अभ्यन्तरशुद्ध्या । सुद्ध नियमेन गह्विरं कृष्ण शुद्ध निश्चयेन ब्राह्मं करण । अभ्यन्तरदोषेण तु अतः परिणामदोषेणैव बह्विजयोदयापरिणामादिना । कुणदि णरो गह्विरं दोषं करोति नरो ब्राह्मन्दोषान्दोषान् ॥

मूला— सुद्धं निर्दोषं भवति । बाहिरकरणं वाक्कायक्रिया बाहिर वाक्कायाश्रयं ।

अर्थ—अभ्यन्तर शुद्धिपर नियममे ब्राह्म शुद्धि अवलंबित है, अतएव यदि अशुद्ध है तो मनुष्य वचन और शरीरके आश्रयसे दोष करता है इन्द्रिय और कणाय परिणाम ये अन्तरग दोष है इनसे आत्मा जत्र मलिन होता है तत्र वचन और शरीरसे भी दोष होता है और यदि अन्तरग परिणाम निर्मल हैं तो वचनवृत्ति और शरीर वृत्ति भी निश्चयेन शुद्ध होती है

लिंगं च होदि अभ्यन्तरस सोधीए बाहिरा सोधी ॥

भिउडीकरणं लिंगं जह अतो जादकोधरस ॥ १३५० ॥

बहिः शुद्धिर्नतो लिंगमन्तःशुद्धेः प्रजायते ॥

नांतः कोषविमुक्तेन भ्रुकुटिः क्रियते बहिः ॥ १३९८

यत्र प्रयान्ति स्थितिजन्मवृद्धिस्तद्वत्ते यैर्हृदयं कपायैः ॥

काष्ठं हुतागौरिच तीव्रतापैस्ते कस्य कुर्वन्ति न दुःखमुग्रम् ॥ १३९९ ॥

यैः पोष्यन्ते दुःखदानग्रहीणास्तेषां पीडां ये ददन्ते दुरन्ताम् ॥

भ्रीमाकारा न्याययो वा प्ररूढाः संत्यक्षार्थाः कस्य ते न क्षयाय ॥ १४०० ॥

इति सामान्याक्षकपायदोषाः ॥

विजयोदया—लिंगं च होदि चिह्नं च भवति । अभ्यन्तरस्स परिणामसोधीए अभ्यन्तरस्य परिणामस्य शुद्धे । बाहिरा सोधीबाह्या शुद्धिर्नशनादितपोधिपया । भिउडीकरणं लिंगं भ्रुकुटीकरणं लिंगं । जह यथा । अतो जादकोधरस

अंतर्जातस्य कोपस्य लिंगं लिङ्गभावः । चात्तानामभ्यतराणां त्रैध भवति यदि परस्परविनाभावविता स्यादधिकृत्योरित्य । प्रसिद्धश्च लिङ्गालिनिभावः कारणं ग्राह्यं न सगणस्याभ्यतरस्येति भावार्थः ॥

मुलारा— लिंगं गमकं । धूम इव वन्दे कार्यालम् सायनमित्यर्थः । अन्वभतरस्म अन्तःपरिणामस्य । ग्राहिग अनयनादितपोविषया । सामान्येन्द्रियक्रययदोषाः ॥

अर्थ—अभ्यन्तरं परिणामं शुद्धीका अनयनादि चाल्य तप लिंगं है, चिद्ध है जैसे किसी मनुष्यके मनमें क्रोध जन उत्पन्न होता है तब उसकी भीह ऊपर चढती है और ज्यादा कर होती है अर्थात् चढी हुई भीह देखकर लोक इस मनुष्यके मनमें क्रोधका विकार उत्पन्न हुआ है ऐसा अनुमान करते हैं. इस प्रकार चाल्य और अभ्यन्तर परिणामोंमें लिंगलिङ्गिभाव है अर्थात् चाल्य लिंग है जंतरंग लिंगी है अभ्यन्तर और गाल इनमें जन आपममें धूम और अधिकके समान अनिनाभाम रहता है तब लिंगलिङ्गिभाव माना जाता है अर्थात् चाल्य स्वरूप और अभ्यन्तर कारणरूप होनेमें अनिनाभाम इनमें होता है ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये

ते चेव इंदियाणं दोसा सत्वे हवन्ति णादुच्चा ॥  
कामस्त य भोगाण य जे दोसा पुव्वणिदिट्ठा ॥ १३५१ ॥  
ये रामाकामभोगानां प्रपंचेन निरूपिताः ॥

अक्षणाणामपि ते दोषा द्रष्टव्याः सकला स्फुटम् ॥ १४०१ ॥

विजयोदया—ते चेव इंदियाणं दोसा त पव्वेडियाणा सवण दोषा भवन्ति इति ग्रातव्या । के ? ये दोसा पुव्व णिदिट्ठा ये दोषा पूर्वनिर्दिष्टा । कामस्त य भोगाण य कामस्य भोगानां च सघटितया निर्दिष्टा दोषा ॥

इदानीं विशेषेण इन्द्रियवैषाणाश्रयकेन व्याचिख्यासुः पूर्ण सामान्येन तदभिधानाय गथाद्वयमाह—

मुलारा— स्पष्टम् ॥

अर्थ—काम और भोगमंघी जो दोष पूर्व कहे हैं वे ही सर्व दोष इन्द्रियोंके विषयमें भी समझने चाहिए, महुलित्त असिधार तिवखं लेहिज्ज जघ णरो कोई ॥  
तथ विसयसुहं सेवदि दुहावहं इहहि परलोगे ॥ १३५२ ॥

मधुलिप्तामसेधारां तीक्ष्णां लेहि स मूढधीः ॥

इन्द्रियार्थं सुख मुंक्ते यो लोकद्वयदुःखदं ॥ १४०२ ॥

विजयोदया—मधुलिप्त मधुना लिप्ता । असिधार असेधारा । तिम्रं तीक्ष्णा । जह गरो कोई लेहिज्ज यथा नरः कश्चिदास्वादयति जिह्वा । तह विसयसुह सेवति तथा विषयसुख सेवते । दुहावह इह य परलोप दुःखावहमत्र जन्मनि परत्र च, स्वल्पसुखतया बहुदुःखतया च साम्य दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोः ॥

विषयसेवाया लोकद्वयदुःखभूषिण्या स्वल्पसुखलापथस्य प्रयोजकत्वं दृष्टान्तेन समर्थयते ।

मूलारा—लेहेज जिह्वाया स्वादयेत् ।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष मधसे लिप्त तरवारकी तीक्ष्ण धारा जिह्वासे चाटता है वैसे सर्व प्राणी इहलोकमें और परलोकमें दुःखदायक विषयोंका भोगन करते हैं तरवारकी मधुलिप्त तीक्ष्ण धारा चाटनेसे थोडासा सुख मिलता है परतु बहुत दुःख होता है वैसे ये विषय भी इहपरलोकमें अल्पसुख और अधिक दुःख देते हैं अतः दृष्टान्त और दाष्टान्तिकका साम्य है

एकैकेन्द्रियविषयवशवर्तिभिर्मृगादीभिरुपद्रवो ह्यात, किं पुनरशेषेन्द्रियविषयलंपटैर्जनेः प्राप्यऽनर्थं वाच्यमिति मत्वाचष्टे—

सदेण मओ रूवेण पदंगो वणगओ वि फरिसेण ॥

मच्छो रसेण भमरो गंधेण य पाविदो दोसं ॥ १३५३ ॥

रूपशब्दरसस्पर्शगंधासत्ता यथाक्रमम् ॥

पतंगमृगमीनेभ्रमराः प्रलयं गताः ॥ १४०३ ॥

विजयोदया—सदेण मओ शब्देन मृग वाण्यच्छेद्यसरससुरभितृणाग्रसेन, मृदुपवनानीतशैत्यस्फटिक सत्ताशपानीयपानेन च पुष्टमूर्तिरंत करणमिव लघुतरंगयाणो हरिणो व्याधकलीनश्रवणेन सुस्वाकृषितलोचन, दुष्टयमदृष्टासमाननिक्षिप्तविशालविशिगवलीभिन्नतनुर्जहाति प्रियतमान्प्राणान् । वणगओ वि फरिसेण वनगजश्च विलासिनीहृदयमिव दुष्प्रवेशास्तु, ससृतिरिव मदतीषु अरण्यानीषु, विपद इव दुरतिक्रमणीयास्तु सल्लभीतरुणतरु-शाखाहार, रम्यगिरिनिदीविपुलच्छंदे, स्वेच्छापानतरुणनिमज्जनैर्मज्जनैरुपगतप्रीति, अनुकूलनैककरिणीकदवकेनानु-

गम्यमानो वासिताविशालजघनस्पर्शनोपनीतप्रीतिर्भेदकलो विचेतनो रागवहलविमिरपटलागुणितलोचनो महति गर्ते निपतित परं व्यसनमवगाहते । मच्छो मत्स्य शुवजनमनःसरोनपायिविलासिनीविलोचनविभ्रमविलवनोद्यतः स्वल्पाहारसलोलुपो विपदमाववश प्रयाति । विचित्रसुरभिप्रसूतप्रकरजोऽङ्गरागो भ्रमरः । विपपावपकुसुमगन्धनापहतप्रियतमप्राणो भवति । एवमेते दोषान्प्रापिताः ॥

इन्द्रियविशेषदोषान्गाथासप्तकेन व्याचिख्यासुरैकैकस्यापीन्द्रियविषयस्य सेवाया मरणातविपदः संपद्यते किं पुनः पंचानामिति गाथाद्वयेन दृष्टातस्फुटमाचष्टे—

मूलारा—पाविदो प्रापितः । दोसे मरणावसानदुःखानि ॥

एकैक इन्द्रियोंके वश होकर भृगु वगैरे प्राणिओंको दुःख प्राप्त हुआ है परंतु मनुष्य प्राणीको पंचेंद्रिय विषयलंपटतासे क्यों न दुःख प्राप्त होगा ? अर्थात् इन पंचेंद्रिय विषयोंसे अवश्य अनेक अनर्थ प्राप्त होते हैं इसी विषयका विवेचन—

अर्थ—शब्द सुनकर हरिण मरण कष्टको प्राप्त होते हैं हरिण जंगलमें केवल मुखके वाष्पसे भी दूट सके ऐसा कोमल तृण खाकर और मृदु वायुके शैत्य स्पर्शसे ठंडे पानीका स्थान जानकर वहांका स्फटिक तुल्य निर्मल पानी पीकर पुष्ट होता है अंतःकरणके समान वेगसे दौड़नेवाला यह हरिण जब व्याधका गायन सुनता है तब मुखसे आखें मीचकर खड़ा हो जाता है दुष्ट यमके दाढके समान तीक्ष्ण और विशाल ज्ञापपत्ति से शरीर भिन्न होने पर वह अपने अत्यंत प्रिय प्राणोंको छोड़ देता है।

वनहस्ती स्पर्शनेन्द्रियके वश होकर अतिशय दुःखको प्राप्त होता है विलासिनी स्त्रीके हृदयके समान प्रवेश करनेमें अशक्य, संसारके समान विस्तृत, विपत्तिके समान दुर्लभ्य, ऐसे अरण्योंमें सल्लकीके वृक्षोंके कोमल पत्तोंका और शाखाओंका आहार वनहाथी करता है सुंदर पर्वतोंपरसे बहनेवाली नदियोंके अगाध जहदमें स्वच्छंदसे पानी पीना, स्वेच्छासे मज्जन करना इन बातों से वह प्रसन्न होता है अनुकूल अनेक हथिनीओंके साथ विहार करता है तरुण हथिनीके विशालजघनका स्पर्शन करनेसे वह उन्मत्त होकर अचेतनसा होता है रागरूप गाढाधकारसे उसके नेत्र मुंद जाते हैं तब वह महान गड्डमें गिरकर अतिशय सकट को प्राप्त होता है

मत्स्य भी रसनेन्द्रिय वश होकर प्राणोंको छोड़ बैठता है सुंदर स्त्रियोंके विशाल लोचनके विभ्रमका

अनुकरण करनेवाला मत्स्य स्वल्प आहारके रसमें लोलुप होकर शीघ्र ही प्राणोंका नाश करनेवाली विपत्तीको प्राप्त होता है

नाना प्रकारके सुगन्धित पुष्प समुदायके परागसे व्याप्त हुआ अमर विपवृक्षके पुष्प का सुगंध सुंघकर अपने प्रिय प्राणोंको गमाता है

पतंग नामक पक्षी दीपकको सुवर्ण कलिका समझकर उसपर ग्रहण करनेके लिए झपटता है और अपने प्राण छोड़ देता है इस प्रकारसे ये तिर्यच प्राणी दुःखको प्राप्त होते हैं.

तिरश्चां दुःखं प्रतिपाद्य विषयरागजनित मनुजगतौ दर्शयति ॥

इदि पंचहि पच हृदा सदरसफरिसगधरूवेहि ॥

इक्को कहं ण हरमदि जो भेवदि पंच पचेहि ॥ १३५४ ॥

सरजूए गंधमित्तो घाणिदियवसगदो विणीदाए ॥

विसपुप्फगंधमग्घाय मदो णिरयं च संपत्तो ॥ १३५५ ॥

रूपशब्दरसस्पर्शगंधानां यदि हन्यन्ते ॥

एकैकेन तदा कस्य सौख्यं पंच निपेविणाम् ॥ १३५६ ॥

सरख्यां गंधमित्राख्यो घ्राणेद्वियवश गतः ॥

विषप्रसूनमाघ्राय विषय नरक गतः ॥ १३५७ ॥

विजयोदया—सरजूए सरख्या नद्यां । गधमित्तो गधमित्रो नाम भूपाल । मदो मृत । विणीदाए विनीतापुरी पति । घाणिदियवसगदो घ्राणैद्वियवशगत । विसगधपुप्फमग्घाय विषचूर्णवासितपुष्पमाघ्राय । मदो मृत । णिरय च सपत्तो नरक च सप्राप्त । तीव्रविषयरागाज्जोतेन कर्मभारेण ॥

मूलारा—पंच विषयान् । एता श्रीविजयो नेच्छति ॥

एवं तिरश्चा प्रत्येकं तीव्रविषयरागाहेतुकं दुःखं प्रदर्श्य मनुष्याणां प्रसिद्धार्थीख्यानैः पंचभिः प्रदर्शयिष्यन्नादौ गंधासक्तिव्रताहृतमनर्थजातं कथयति—

मूलारा—सरऊए सरयूसंक्षिताया नद्या । गंधमित्तो गंधमित्रो नाम राजा । विणीदाए अयोध्यायाः स्वामी ।  
विसयुष्मगंधं ज्येष्ठभ्रातृप्रयुक्तौरौद्रविपरजोवासितसुरभितमकुसुमगंधं । अग्धाय सिंधित्वा । संपत्तो गवस्तीव्रविपयरागा-  
जितदुष्कृतपाकोद्रेकेण ॥

तिर्यिचोके दुःखका वर्णन कर अब मनुष्य गतिमें विपयरागसे उत्पन्न हुये दुःखका वर्णन करते हैं—

अर्थ—इस प्रकार शब्द, रस, स्पर्श, गंध और रूप ऐसे पांच विषयोंसे हरिण, मत्स्य, अमर, और  
पतंग ऐसे तिर्यच प्राणोंसे रहित होगये हैं परंतु जो पांचोहि विषयोंका सेवन करता है ऐसा मनुष्य क्यों न प्राण  
मुक्त हो जावेगा ?

अर्थ—विनीता नगरमें गंधमित्र नामक राजा घ्राणेंद्रियके वश होकर विषगंध पुष्प को संघकर मर गया  
और नरकमें उत्पन्न हुआ तीव्र विषयरागसे कर्मबंध होकर यह राजा नरकमें उत्पन्न हुआ.

पाडलिपुत्ते पंचालगीदसेदेण मुच्छिदा संती ॥

पासादादो पडिदा ण्हा गंधव्वदत्ता वि ॥ १३५६ ॥

मूच्छिन्ता पाटलीपुत्रे अब्यपंचालगीत्तिः ॥

मृता गंधर्वदत्तापि प्रासादात्पतिता सती ॥ १४०६ ॥

विजयोदया—पाटलिपुत्रे पाचालस्य गीतशब्देन मूच्छिता सती प्रासादात्पतिता नष्टा गंधर्वदत्ता नामधेया  
गणिता ॥

मूलारा—पाचाल गायनोपाध्यायनामेदं । गंधर्वदत्ता गणिकानामेदम् ॥

अर्थ—पाटलिपुत्रनगरमें पंचालनामक गायनाचार्यका गाना सुनकर गंधर्व दत्ता नामक वेश्या मूच्छित  
होगई और प्रासादसे गिरकर मरगई.

माणुसमंसपसत्तो कंप्पिह्वदी तधेव भीमो वि ॥

रज्जव्वट्टो ण्हो मदो य पच्चा गदो णिरयं ॥ १३५७ ॥

मर्त्यमांसरसासक्तः कापिल्यनगराधिपः ॥

राज्यभ्रष्टो मृतः प्राप्तो भीमः श्वभ्रसुरुन्यथाम् ॥ १४०७ ॥

विजयोदया—मानुषमासप्रसक्तः कापिल्यपुराधिपो भीमो राज्यभ्रष्टो नष्टो मृत पश्चाद्भरकमुपयातः ॥

मूलारा—नपिह्रवदी कापिल्यपुराधिपतिः ॥

अर्थ—कापिल्यनगरका राजा भीम मांसभक्षण करनेमें लुब्ध हुआ था इस मांसासक्तिदोषसे वह राज्यभ्रष्ट होकर मृत्युको प्राप्त हुआ और नरकमें उत्पन्न हुआ

चोरो वि तह सुवेगो महिलारूवमि रत्तदिट्ठीओ ॥

विद्धो सरेण अच्छीसु मदो णिरयं च संपत्तो ॥ १३५८ ॥

सुवेगस्तस्करो दीनो रामारूपविषक्तधी ॥

बाणविद्धेक्षणो मृत्वा प्रपेदे नारकीं पुरीम् ॥ १४०८ ॥

विजयोदया—चोरो वि तह सुवेगो सुवेगनामधेयश्चोरोपि शुवतिरूपाकृष्टदृष्टि शरैर्विद्धः क्षणेन मृतो नरकमुपगतः ॥  
मूलारा—सुवेगो सुवेगसंज्ञः । अच्छीसु नेत्रयोः ॥

अर्थ—सुवेग नामका चोर स्त्रियोंके रूपावलोकनमें मग्न होकर बाणोंसे विद्ध होकर तत्काल मरणको प्राप्त हुआ और नरकमें उत्पन्न हुआ

फासिंदिएण गोवे सत्ता गहवदिपिया वि णासक्के ॥

मारेट्टण सपुत्तं धूयाए मारिदा पच्छा ॥ १३५९ ॥

गोपासत्ता सुत्तं हत्त्वा नासिक्कनगरे मृता ॥

पापा गृहपतेभार्या दुहित्रा मारिता सती ॥ १४०९ ॥

दुःखदाननिपुणा निषेविताः स्पर्शरूपरसगंधनिस्वनाः ॥

दुर्जना इव विमोह्य मानवं योजयति कुपथे प्रथीयसि ॥ १४१० ॥



अग्निनेव हृदयं प्रदह्यते मुह्यते नु विपर्ययैर्विशक्तिः ॥  
तत्कथं विपर्ययरिणो जनाः पोषयन्ति भुजगानिवाधमान् ॥ १४११ ॥

इति इंद्रियविशेषदोषाः ।

विजयोदया—फार्सिदिपण स्पर्शनेन्द्रियेण हेतुना । गोत्रे सत्ता आत्मीये गोपाले आसक्ता । गिहवदि-  
पिया राष्ट्रकूटभार्या । णासके नासिक्ये नगरे । मारेदूण सपुत्रं स्वपुत्र हत्या । धृदाए दुहित्रा । पच्छा पद्व्यात् । मारिदा  
मूर्ति नीता ॥ इदिया ॥

मूलरा—गोत्रे गोपाले । गहवदिपिया राष्ट्रकूटभार्या । णासिके नासिक्यनगरे । मारेदूण हत्या तिष्ठन्ती ॥

सामान्यविशेषाभ्यामिन्द्रियदोषाः ॥

अर्थ—नासिक्य नगरमें अपने पाले हुये ग्वालेपर आसक्त हुई एक ग्रामकूटकी भार्याने अपने पुत्रका वध  
क्रिया तदनंतर अपनी लहकीके द्वारा मारी जानेपर मरकर नरकमें उत्पन्न हुई. इंद्रियोंका वर्णन हुआ

एवमिन्द्रियदोषानुपपदयं कोपदोषप्रकटनार्थं प्रक्रमयते—

रोसाइहो गीलो हृदपभो अरदिअग्गिसंसत्तो ॥

सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिहो वा ॥ १३६० ॥

अरत्वाच्चिकरालेन इयामलीकृतविग्रहं ॥

प्रस्वियति तुषारेऽपि तापितः कोपवह्निना ॥ १४१२ ॥

विजयोदया—रोसाइहो रोगविष्ट । नीलवर्णो भवति हृदपभो विनष्टदीप्ति । अरदिअग्गिसंसत्तो अरत्यग्नि-  
सतत । सीदे वि णिवाइज्जइ शीतेऽपि रुपितो भवति । वेवदि वेपते च । गहोवसिहोव ग्रहणोपसृष्ट इव ॥

इतः कपायविशेषदोषान्नाथाचलुक्खितोपदर्शयिष्यन्तूँ कोपदोषान्चदशगाथाभिः कथयति—

मूलरा—रोसाइहो कोपग्रस्तः । गीलो ध्यामलवर्णः । हृदपभो विनष्टदीप्तिः । णिवाइज्जदि रुपितो भवति ।  
प्रस्विद्यतीत्यर्थः । वेवदि कंपते ॥

अत्र इंद्रियदोषोंका वर्णनकर अब कोपके दोषोंको प्रगट करनेके लिये शुरुआत करते हैं—

अर्थ—जब मनुष्य क्रोधसे संतप्त होता है तब नीलवर्ण बनता है. अर्थात् क्रोधोदय होनेके पूर्व मुखका जो

वर्ण दीखता था उससे भिन्न मलिन ऐसा वर्ण होता है उसकी कांति नष्ट होती है अरति-तिरस्काररूप अग्नीसे वह जलने लगता है, जाड़ेके समयमें भी उसको प्यास लगती है और पिशाचपीडित मनुष्यके समान वह कपता है.

भिडडीतिविलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो ॥

कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि ॥ १३६१ ॥

अभाय्यां भायेते भावामकृतां कुरुते क्रियाम् ॥

कोपव्याकुलितो जीवो ग्रहार्ते इव कम्पते ॥ १३१३ ॥

त्रिवलीकालितालीको रक्तस्तब्धीकृतेक्षणः ॥

वंतदष्टाधरो दुष्टो जायते राक्षसोपमः ॥ १४१४ ॥

विजयोदया—भिडडीतिविलियवयणो भृकुटीत्रिवलितवदनो । उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खरथो उद्धतनिश्चल-  
सुरक्खक्षेक्षण । रोसेण रोवेण हेतुना । रक्खसो राक्षस इव । णराण भीमो णरो होदि । नराणा भीमो भयावहो भवति नर ॥

मूलारा—तिवलिद् ललाटवलित्रययुक्त । उग्गद निर्गत । लुक्खक्खो रक्षचक्षुः । भीमो भयावहः ॥

अर्थ—क्रोधसे भोहें चढती हैं और ललाट तीन वलिओंसे युक्त होता है, क्रोधसे आँखें बड़ी बड़ी होती हैं, निश्चल होती हैं और लालमुख होती हैं तब मनुष्य मानो राक्षसके समान भयानक दीख पडता है.

जह कोइ तत्तलोहं गहाय रुद्धो पर हणाभिन्ति ॥

पुण्वदरं सो डउझदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो ॥ १३६२ ॥

आददानो यथा लोहं परदाहाय कोपतः ॥

स्वयं ग्रदद्यते पूर्वं परदाहे विकल्पनम् ॥ १४१५ ॥

विजयोदया—जह कोइ यथा कश्चित्तत्तलोह गहाय तसलोह गृहीत्वा । किमर्थं रुद्धो परं हणाभिन्ति रूप. परं  
हन्मीति । पुण्वदरं सो डउझदि पूर्वतर स एव दह्यते तेन तसेन लोहेन गृहीतेन । डउझद्व परो ण वा पुरिसो दह्यते पर.  
पुरुषो न वा दह्यते ॥

मूलारा—गहाय गृहीत्वा वर्तमानः ॥

अर्थ—जैसे कीड़ कुट्ट मनुष्य दूसरोंका घात करनेके हेतुसे अनिसे तापा हुआ लोहा हाथमें लेता है परंतु प्रथम ही वही दग्ध होता है दूसरा पुरुष अग्निगत लोह पिंडमें दग्ध होगा या नहीं भी.

तद्य रोसेण संयं पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव ॥

अण्णस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुड्ढो ण य करिज्जा ॥ १३६३ ॥

विदधानस्तथा कोपं परघाताय सूदधीः ॥

स्वयं निहन्यते पूर्वमन्यघातो विकल्प्यते ॥ १४१६ ॥

विजयोदया—तद्य रोसेण तथा रोयेण स्वय पूर्व दहते इवीकृतलोहस्थानीयेन । अन्यस्य पुनर्दु ख कुर्यान्न वा नष्ट ॥

मूलारा—कलकलेणेव ताम्रद्रवेण यथा ॥

अर्थ—तत्त लोहेके समान क्रोधी मनुष्य प्रथम स्वयं संतप्त होता है तदनंतर वह अन्य पुरुषको दुःखित कर सकेगा अथवा नहीं भी. नियमपूर्वक दुःखित करना इसके हाथमें नहीं है जिसके ऊपर हम रोष करते हैं उसके शुभ कर्मका उदय होगा तो हम उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकते हैं

णासेदूण कसाय अग्गी णासदि संयं जधा पच्छा ॥

णासेदूण तद्य णरं णिरासवो णस्सदे कोधो ॥ १३६४ ॥

कोधो सत्तुणकरो णीयाणं अप्पणो य मण्णुकरो ॥

परिभवकरो सवासे रोसे णासेदि णरमवसं ॥ १३६५ ॥

आधारं पुरुषं हत्वा पापं कोपः पलायते ॥

प्रदह्य जनकं काष्टं बन्धि. किं नोपशाम्यति ॥ १४१७ ॥

शत्रूपकाराद्रोषो घ्नं स्वबंधूनां च शोककृत् ॥

स्थानं कुल बलं क्रोधं हत्वा नाशयते नरम् ॥ १४१८ ॥

विजयोदया—रोसो सत्तुगुणकरो रोप शत्रोर्धो ऽग्नौ धर्मोऽपकारित्व नाम त करोति । अथवा शत्रूणा गुणमुपकार करोति रोप । यतोऽस्य हि रोपवद्देहेन दशमान तं दृष्ट्वा ते तुष्यन्ति । कथमस्य रोपमुत्पादयाम इत्येवमाह-  
तान्ते सदापीति । णीयाण अप्णो या निजानामात्मनश्च बाधवाना शोक करोति । परिभवकरो सवासो स्वनिवासस्थाने  
परिभवमानयति रोसो णासेदि णरमवस रोपो नरमवश नाशयति ॥

मूलारा — सगासयं आत्माधार । एता श्रीविजयो नेच्छति ॥

मूलारा —सत्तुगुणकारो शत्रोर्धोऽग्नौऽपकाराव्यस्त करोति ॥ अथवा शत्रूणा गुणमुपकार करोति । ते हि नर-  
कोपाग्निना दह्यमान क्रोधमान क्रोधकृत मतिभ्रंशं वा दृश तुष्यन्ति ॥ णीयाणं बाधवाना । मण्णु करो शोकजनकः । सवासो स्वनि-  
वासस्थाने परिभवमानयतीत्यर्थः ॥

अर्थ —जेसे अग्नि अपनी आधारभूत लकड़ीको प्रथम जलाकर पश्चात् स्वयंभी नष्ट होती है वैसे क्रोधभी  
अपने आधारस्वंग पुरुष का प्रथम नाश करके अनंतर स्वयं शांत होती है.

अर्थ—शत्रुमें अपकार करना यह गुण है वही गुण क्रोधमें भी है अर्थात् क्रोध जीवपर अपकार ही  
करता है. अथवा क्रोध शत्रूपर उपकार करता है क्योंकि जब मनुष्य क्रुद्ध होता है तब उसके शत्रुओंको आनंद  
उत्पन्न होता है और इसको हमेशा क्रोध किस प्रकारसे उत्पन्न किया जा सकेगा उसका ही विचार कर वै अपने  
प्रतिपक्षको क्रोधयुक्त करते हैं क्रोधसे मनुष्य अपने बांधवोंको भी कष्ट पोहोचाता है उनको शोकयुक्त करता है.  
क्रोध अपने घरमें अपमानको लाता है और अपने आश्रयस्थानका नाश करता है

ण गुणे पेच्छादि अववददि गुणे जेपदि अजंपिद्वं च ॥

रोसेण रुद्धिदओ णारगसीलो णरो होदि । १३६६ ॥

गुणागुणौ न जानाति वचो जल्पति निष्ठुरं ॥

नरो रौद्रमना रुष्टो जायते नारकोपमं ॥ १४१९ ॥

विजयोदया—ण गुणे पेच्छादि गुण न पश्यति यस्यै कुप्यति । अववदति निंदति । गुणे गुणानपि तदीयान् ।  
जेपदि अजंपिद्वं च वदत्यवाच्यमपि । रोसेण रुद्धिदओ रोपेण रौद्रचित्तं । णारगसीलो णरो हवदि नारकसीलो  
भवति नर ॥

मूलारा—गुणो गुणान् । तस्मै कुप्यति । तदीयान् । अववददि निंदति । अजंपिद्वन् च अवाच्यमपि ।  
रुदहिद्वओ करचित्तः ॥

अर्थ—जब मनुष्य जिसके ऊपर क्रोध करता है तब उस व्यक्तीके गुणोंका महत्त्व वह भूल जाता है उसके गुणोंकी निंदा करता है जो शब्द मुहसे निकालना अयोग्य माना जाता है ऐसे शब्दोंका उच्चार वह वेशक करता है अर्थात् क्रोधके आवेशमें आकर मनुष्य गाली देता है असभ्य शब्द बोलता है क्रोधसे मन क्रूर बनता है अत एव क्रोधसे मनुष्योंका नारकियोंकासा स्वभाव बनता है

जघ करिसयस्स धण्णं वरिसेण समज्जिदं खलं पत्तं ॥

डहदि फुल्लिगो दित्तो तध कोहग्गी समणसारं ॥ १३६७ ॥

धान्यं कृषीवलस्येव पावकः क्लेशतोऽजितम् ॥

आमण्यं प्लोवते रोवः क्षणेन व्रतिनोऽखिलम् ॥ १४२० ॥

विजयोदया—जह करिसगस्स यथा कर्पकस्य धान्य वर्षेण समर्जित खलप्राप्त दहति विस्फुल्लिगो दीप्तस्तथा क्रोधाग्निर्दहति श्रमणस्य सार पुण्यपण्य ॥

मूलारा— करिसयस्स कर्पकस्य । खल खलजं । फुल्लिगो अग्निकणः । समणसारं यतिधनं । तपः पुण्यं वा ॥

अर्थ—एक वर्षतक परिश्रम कर उपजाया और खलमें संचित किया हुआ किसानका धान्य एक छोटेसे अग्निके स्फुल्लिगसे नष्ट होजाता है वैसे क्रोधरूपी अग्नि मुनिके अमूल्य पुण्य नामक वस्तुका नाश कर डालता है.

जघ उग्गविसो उरगो दब्भतणं कुरहदो पकुपंतो ॥

अचिरेण होदि अविस्सो तघ होदि जदी वि णिस्सारो ॥ १३६८ ॥

यथैवोअविषः सर्पः क्रुद्धो दर्भतृणाहतः ॥

निर्विबो जायते शीघ्रं निःसारोऽस्ति तथा गतिः ॥ १४२१ ॥

विजयोदया—जह उग्गविसो उरगो यथोग्रविष उरगो दर्भतृणांकुरहत तत्पङ्कणुरोपवशमुपनयन् स्पृष्ट टणादिकं भक्षयित्वा क्षितिं निर्विबो भवति । तथा यतिरपि निस्सारो भवत्यचिरेण रत्नत्रयविनाशात् ॥

मूलारा—उरगो सर्पः । दन्तमण्डलरहदो दर्भसूचीविद्धः । पकुप्यतो प्रकर्षेण कुप्यन् । अवित्तो स्पृष्टं दम्भो-  
दिकं भक्षयित्वा क्षटियुद्धीर्णगर्लो भवति । निस्सारो क्रोधविषयमपकृत्य नष्टरत्नत्रयः स्यात् ॥ उक्तं च—

कुपितो गर्हमाणोऽन्यं निःसारो जायते यतिः ॥

दर्भान्कुरमिव स्तब्धं दुष्टबुद्धिर्मुञ्जगमः ॥

अर्थ—जैसे उग्रविषका धारक सर्प दर्भ तृणाङ्कुरसे व्यथित होकर अतिशय क्रुद्ध होता है और उस तृण को क्रोधसे खा डालता है तब निर्विष होता है वैसे यति भी क्रोधसे रत्नत्रयका नाश करता है जिससे वह निःसार होता है.

पुरिसो मक्काडसरिमो होदि सरूवो वि रोसहदरूवो ॥

होदि य रोसणिमित्तं जम्मसहसेसु य दुरूवो ॥ १३६९ ॥

सरूपोऽपि नरो रूष्टो जायते मर्कटोपमः ॥

कोपोपार्जितपापश्च विरूपो जन्मकोटिषु ॥ १४२२ ॥

विजयोदया—पुरित्तो मक्काडसरिसो पुरुषो मर्कटसदृशो भवति । सरूपोऽपि सरोपोऽप्यहतरूपः । इह जन्मनि  
वोपाशुपद्वर्धं पारमविक्रमावष्टे—होदि भवति । जन्मसहस्रेषु पुरुष पतद्भवकृतात्कोपात् ॥

मूलारा—रोसणिमित्त एकजन्मकृतेन रोपेण हेतुना ॥

अर्थ—पुरुष सुंदर होनपर भी जब वह क्रोधयुक्त होता है तब उसका रूप नष्ट होता है. वह मर्कट  
सरीखा दीखता है. इतनाही नहीं रोषसे वह अनेकजन्मोंमें अर्थात् हजारो जन्मोंमें कुरूपही होता है एक भवमें  
कोप करनेसे अनेक जन्मोंमें कुरूपता प्राप्त होती है

सुदु वि पिओ सुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण ॥

पाधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ॥ १३७० ॥

द्वेष्यो जनः प्रकोपेन जायते बहुभोऽपि सन् ॥

अकृत्यकारिणस्तस्य नश्यति प्रथितं यशः ॥ १४२३ ॥

विजयोदया—सुदृढवि नितरामपि । जनस्य प्रियो मुहूर्तमात्रेणैव द्वेष्यो भवति रोपेण प्रथितमपि यशो नश्यति । कस्य ? कुक्षस्य अकजकरणेन कुक्षस्य अकार्यकरणेन ॥

मूलारा—वेसो द्वेष्यः ॥ पथिदेवि प्रख्यातमपि वा ।

अर्थ—क्रोध करनेसे अतिशयप्रिय मनुष्य भी अप्रिय बनता है अर्थात् क्रोध करनेसे क्रोधी मनुष्यका सब द्वेष करते हैं क्रुद्ध होकर मनुष्य अयोग्य कार्य करता है जिससे उसका प्रसिद्ध यशभी नष्ट होता है

णीयल्लभो वि कुद्धो कुणदि अणीयल्ल एव सत्तु वा ॥

मारेदि तेहिं मारिज्जदि वा मारेदि अप्पाणं ॥ १४२४ ॥

कुपितः कुरुते मूढो बांधवानपि विद्विषः ॥

पर मारयते तैर्वा मार्यते त्रियते स्वयम् ॥ १४२४ ॥

विजयोदया—णीयल्लभो वि रुद्धो वंधुरपि वंधून्करोति शत्रुवन् । हति बाधवान् । मार्यते वा स्वय तैरात्मानं वा हन्यात् ॥

मूलारा—णीयल्लभे वि वंधून्पि । अणिअल्लेगवा अबंधून्पि । सत्तु शत्रून्पि । मारेदि हंति वंधून्पि । तेहिं वधुभि अप्पाण वा आत्मानं ॥

अर्थ—निकट सर्वधी मनुष्य भी क्रोधसे अपने वधुओंको शत्रुतुल्य समझता है, उनको मारता है अथवा उनसे स्वय मारा जाता है.

पुज्जो वि णरो अवमाणिज्जदि कोत्रेण तक्खणे चेव ।

जगविरसुदं वि णस्सदि माहणं कोहवसियस्स ॥ १४२५ ॥

रुपितः पूजनीयोऽपि मंडलो वापमन्यते ॥

समस्तं लोकविल्यातं माहात्म्यं च पलायते ॥ १४२५ ॥

विजयोदया—पुल्लो वि पूज्योऽपि नरो अवमन्यते रोपेण । तत्क्षण एव जगति विभ्रुतमपि माहात्म्यं नश्यति रोपेण ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—रोप करनेवाला मनुष्य पूजनीय हो-परसी तत्काल अपमानित होता है, उसका प्रसिद्ध माहात्म्य भी रोपसे नष्ट होता है

हिंसं अलियं चोज्ज आचरदि जणस्स रोसदोसेण ॥

तो ते सब्बे हिंसालियचोज्जसमुब्भवा दोसा ॥ १३७३ ॥

कृत्वा हिंसानृतस्तेयकर्माणि कुपितो यथा ॥

सर्वं हिंसानृतस्तेयदोषमाप्नोति निश्चितम् ॥ १४२६ ॥

विजयोदया—हिंसं अलिय चोज्ज हिंसामसत्य चौर्य वाचरति जनस्य रोपदोषेण । तस्मात्तस्य हिंसाविप्रभवा दोषा मये भविष्यन्ति ॥

मूलारा—चोज्जं चौर्यं । जणस्स लोकस्य सर्वधि । हिंसादिक करोतीति संवधः ॥

अर्थ—क्रोधयुक्त मनुष्य लोगोंकी हिंसा करता है असत्य बोलता है चोरी करता है अतएव अनेक जन्मोंमें उसकी भी हिंसा होती है, उसके विषयमें असत्य बोला जाता है, लोक उसका धन चुराकर ले जाते हैं, ऐसे अनेक भवमें क्रोधमें दुःख भोगने पड़ेगे

वारवदीय असेसा दट्ठा दीवायणेण रोसेण ॥

बद्धं च तेण पाव दुग्गदिमयबंधणं घोर ॥ १३७४ ॥

द्वीपायनेन निशेणा दग्घा द्वारावती रुपा ॥

पापं च दारुणं दग्घं तेन दुर्गतिभीतिदम् ॥ १४२७ ॥

इति कोपः ।



विजयोदया—धारवती द्वारवती निदेशा दग्धा रूपेण द्वीपायनेन । घोरं च पापं यद्धं दुर्गतिभयप्रवृत्तिनिमित्तं ।  
क्रोधुचि गदं ॥

क्रोधदोषानर्थोल्यानेनाह—

मूलारा—वारवती द्वारावती । दुर्गादेभ्यप्रवण नरकादिभयवृद्धिकरं ॥ क्रोधदोषाः ॥

अर्थ—द्वीपायन मुनिनि क्रोधवशा होकर संपूर्ण द्वारका नगरी दग्ध की थी इससे उसको दुर्गति के भय उत्पन्न करनेवाला घोरपाप बंध हुआ. क्रोधका वर्णन समाप्त हुआ

मानदोषप्रकटनार्थं प्रत्य उत्तर—

कुलरूपाणावलमुदलाभिस्सरयत्यमदितवादीहिं ॥

अप्यणमुष्णमेतो नीचागोदं कुणदि कम्पं ॥ १३७५ ॥

जातिरूपकुलैश्वर्यविज्ञानज्ञानपोषलैः ॥

कुर्वाणोऽहंकृतिं नीचं गोत्रं वध्नाति मानवः ॥ १३७६ ॥

विजयोदया—कुलरूपाणा कुलेन रूपेण आगया, बलेन, धृतेन लोभेन, ऐश्वर्येण तपसाऽन्यैश्च आरमानमुत्कर्षयन्तीचैर्गोत्रं कर्म वध्नाति ॥

मानदोषान्नायासमेनाह—

मूलारा—रूपाणा रूपमाज्ञा च । लाभिस्सरयत्य लाभैश्वर्यमर्थश्च । उष्णमेतो उत्कर्षयन् । कुणदि वध्नाति ॥

मानदोषका वर्णन विस्तारसे आचार्य करते हैं—

अर्थ—कुल, रूप, आज्ञा, शरीरबल, शास्त्रज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य, तप और अन्यपदार्थोंसे अपनेको ऊंचा समझनेवाला मनुष्य नीचगोत्रका वध कर लेता है

ददूण अप्पणादो हीणे मुक्खाउ विंति माणकलिं ॥

दट्ठूण अप्पणादो अधिए माणं ण यंति बुधा ॥ १३७६ ॥

हृष्टात्मनः परं हीनं मूर्खो मानं करोति ना ॥

हृष्टात्मनोऽधिकं प्राज्ञो मानं भुञ्चति सर्वथा ॥ १४२९ ॥

विजयोदया—दृष्टृण अप्पणादो आत्मनो हीनान् हृष्ट्वा मूर्खो मानकलिं उद्ब्रूयन्ति । बुद्धा पुनरात्मनोऽधिकान्विलोक्य मानं निरस्यन्ति ।

मूलारा—अप्पणादो आत्मनः सकाशात् । हीणे कुलादिभिरप्रकृष्टान् । कलिं पाप । अधिप कुलादिभिरुल्लेखान् बुद्ध्यादलोक्य । न यति न याति त्यजतीत्यर्थः ॥

अर्थ—अपनेसे कुलादिकसे हीन लोकोंको देखकर कितनेक मूर्ख मनुष्य अभिमानयुक्त होकर पाप उपार्जन करते हैं, तथा अपनेसे भी कुलादिकसे बड़े लोकोंको देखकर मानरहित होजाते हैं.

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि ॥

पावदि माणी गियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥ १३७७ ॥

द्वेषं कालिं भयं वैरं युद्धं दुःखं यशःक्षतिम् ॥

पूजाभ्रंशं पराभूतिं मानी लोकद्वयेऽस्तुतः ॥ १४३० ॥

विजयोदया—माणी विस्सो सव्वस्स मानी सर्वस्य द्वेषो भवति । कलहं, भय, वैरं, जन्मांतराणुं दुःखं च प्राप्नोति । नियोगत इह परत्र चावमानं ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—मानी मनुष्यका सब लोक द्वेष करते हैं वह कलह, वैर, भय, और अनेक जन्मोंमें दुःखोंको प्राप्त होता है, नियमसे इहलोकमें और परलोकमें उसका अपमान भी होता है.

सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादब्बा ॥

माणेण चैव मेधुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥ १३७८ ॥

सर्वेऽपि कोपिनो दोषा मानिनः सन्ति निश्चितम् ॥  
मानी हिंसादृतस्तेयमैथुनानि निषेवते ॥ १४३१ ॥

विजयोदया—सर्वे वि क्रोधदोषा क्रोधस्य वर्णिता दोषा । न गुणे पिच्छदि इत्येवमादिसूत्रेण ते सर्वे मान  
रूपायस्यापि ज्ञातव्या । माने मैथुने चौर्ये हिंसायामसत्याभिधाने च प्रयतते ॥

मूलारा—क्रोधदोषा न गुणो पेच्छदि इत्येवमादिसूत्रोक्ताः ॥

अर्थ—क्रोध करनेसे जो दोष प्राप्त होते हैं वेही मानसे प्राप्त होते हैं मानवश होकर मनुष्य मैथुन, चोरी  
असत्यभाषण और हिंसा वगैरह पाप करता है

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए ॥  
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥ १४७९ ॥  
निर्मानो लभते पूजां दुःखं गर्वमपास्यति ॥  
कीर्तिं साधयते शुद्धामासपदं भवति अय्याम् ॥ १४३२ ॥

विजयोदया—सयणस्स मानरहित सज्जनस्य परज्जनस्य च सदा प्रियो जनो भवति । लोए लोके । णाणं ज्ञानं ।  
जसं यश , अत्थं उविण लभते स्व कार्यमन्यदपि साधयति ॥

मनमर्हिगुणप्रकाशनमुखेन मानिनो वेपास्तद्वैपरीत्येन लक्षविधुं गाथाद्वयमाह—  
मूलारा—सज्जनस्स बंधुलोकस्य । जणस्स सामान्यलोकस्य ॥

अर्थ—निरभिमानी मनुष्य स्वजन और परजनोको प्रिय होता है जगतमें सदा उसको ज्ञान, यश और  
धनकी प्राप्ति होती है. निरभिमानीतासे वह अपने इतर कार्य भी साधलेता है

ण य परिहायदि कोई अत्ये मउगत्तणे पउत्तम्मि ॥  
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाणं ॥ १४८० ॥

मार्दवं कुर्वतो जन्तोः कञ्चनार्थो न हीयते ॥

संपद्यते परं सद्यः कल्याणानां परंपरा ॥ १४३३ ॥

विजयोद्या—ण य परिह्वयदि मार्दवे प्रयुक्ते नैव कश्चिदर्थो हीयते । येनायमर्थद्वानिभयात् मानं कुर्यात् ।  
मार्दवे तु प्रयुक्ते इह जन्मातरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकल्याणं ॥

मूलारा—मउअत्तणे मार्दवे ॥

अर्थ—मार्दव भाव धारण करनेसे मनुष्यका कुछ नुकसान नहीं होता है, अतः अभिमान धारण करना  
व्यर्थ है इस जन्ममें और पर जन्ममें विनयधारण करनेसे मनुष्यका सर्वथा कल्याण होता है

सिद्धि साहस्सीओ पुत्ता सगरस्स रायसीहस्स ॥

अदिबलवेगा संता णट्ठा माणस्स दोसेण ॥ १३८१ ॥

मानेन सद्यः सगरस्य पुत्रा महाबला पष्टिसहस्रसंख्याः ॥

वृढेन भिन्नाः कुलिशेन तुंगा धराधरेन्द्रा इव भूरिसत्त्वाः ॥ १४३४ ॥

इति मानः ॥

विजयोद्या—सिद्धि साहस्सीओ सगरस्य राजसिंहस्य चक्रिण पष्टिसहस्रसंख्याः । पुत्रा महाबला, विनष्टा  
मानदोषेण ॥ माणस्सिगद ॥

अर्थ—लब्ध्यानेन मानदोष द्रव्यति—

मूलारा—रायसीहस्स चक्रिणः । उक्त च—

मानेन सद्यः सगरस्य पुत्रा महाबला पष्टिसहस्रसंख्याः ॥

वृढेन भिन्नाः कुलिशेन तुंगा धराधरेन्द्रा इव भूरिसत्त्वाः ॥

मानदोषाः ॥

अर्थ—राजसिंह सगर चक्रवर्ती को साठ हजार पुत्र थे वे महा बलवान् थे परंतु मानके वश होकर वे सब  
नष्ट होगये, (आराधना कथाकोपादिकोंमें इन्की कथा है

मायादोषनिरूपणयोत्तरगाथा—

जघ कोडिसमिद्धो वि ससङ्गो ण लभदि सरीरणिञ्चाणं ॥

मायासङ्गेण तद्वा ण णिव्वुदिं तव समिद्धो वि ॥ १३८२ ॥

विदधानोऽपि चारित्रं मायाशाल्येन शाल्यितः ॥

न धृतिं लभते कुत्र शाल्येनेव धनर्द्धिकः ॥ १४३५ ॥

विजयोदया—जघ कोडिसमिद्धो वि यथा कोटिसमृद्धोऽपि शरीरानुप्रविष्टशल्यो न शरीरसुख लभते । तथा मायाशाल्येन न निर्धृतिं लभते तप समृद्धोऽपि ॥

मायादोषान्नाथासक्तैर्नाह—

मूलरा—कोडिसमिद्धो कोटीश्वरः ॥

मायादोषका निरूपण करनेकी लिये उत्तर गाथा—

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य कोटिधनका स्वामी होनेपर भी उसके शरीरमें प्रविष्ट हुआ चाण उसको व्यथित करेगा ही, वैसे मुनिराज तप से समृद्ध होनेपर भी माया शल्यसे उनको सुखलाभ नहीं होगा,

होदि य वेस्सो अप्पञ्चइदो तथ अवमदो य सुजणस्स ॥

होदि अचिरंण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण ॥ १३८३ ॥

द्वेषमप्रत्ययं निर्दां पराभूतिमगौरवम् ॥

सर्वत्र लभते मायी लोकद्वयविरोधकः ॥ १४३६ ॥

विजयोदया—होदि य वेस्सो द्वेषो भवत्यप्रत्ययित तथा सुजनस्यावमत । वाधयोपि शत्रुश्चिरेण भवति मायादोषेण ॥

मूलरा—अप्पञ्चइदो अविश्वास्यः । णीयाणवि बंधूनामपि । णियडि माया ॥

अर्थ—मायावी मनुष्यका सब लोक द्वेष करते हैं उसके ऊपर कोई विश्वास रखता नहीं, उसको अपमानका दुःख सहना पड़ता है, सुजन उसको मान देते नहीं हैं मायावी मनुष्य अपने संबंधी जनोंका भी शत्रु बनता है

पावइ देसं मायाए महल्ल लहु मगावराधेवि ॥  
सञ्चवाण सहस्साण वि माया एक्का वि णासेदि ॥ १२८४ ॥

अरतिजोयते मायी वधूनामपि दारुणः ॥  
महान्तमदनुते दोषमपराधनिराकृतः ॥ १४३७ ॥  
एका सत्यसहस्राणि माया नाशयते कृता ॥  
सुहुतेन तुपाणीव नित्योद्देशविधायिनी ॥ १४३८ ॥

विजयोदया—पावदि दोष प्राप्तोति दोष महात् अल्पापराधोऽपि मायया । एकपि माया सत्यसहस्राणि नाशयति । महादोषप्रापण सत्यमहत्त्रिविनाशन च मायादोषो ॥

मूलारा—लहुसगावराधे वि । अल्पेऽप्यात्मना कृते दोषे सति ॥

अर्थ—मायावी मनुष्यने अल्पमा अपराध किया हो तो भी वह महान् दोषी माना जाता है. एक माया हजारो सत्य वचनोंका नाश करती है, अतः महादोषका आरापण करना और हजारों सत्त्योंका कुचलना ऐसे दो वदे दोष मायामें रहते हैं.

मायाए मित्तभेदे कदस्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी ॥

णासदि मायादोसा विसजुदुद्धंव समणं ॥ १३८५ ॥

मित्तभेदे कृते सद्यः कार्यं नश्यति मायया ॥

विपमिश्रमिव क्षीरं समायं नश्यति व्रतम् ॥ १४३९ ॥

विजजोदया—मायाए मायया । मित्तभेदे मेड्या विनाशो कृते । इह लोगिगच्छपरिहाणी येद्वलोकिककार्य-विनाश । णासदि सामण नश्यति आमण्य ॥ मायादोसा माया दोषादेतो. । विसजुदुद्धव विपयुतदुग्धमिव । मित्र कार्यविनाश' आमण्यहानिश्च मायाजनितदोषो ॥

मूलारा—मित्तभेदे मित्रविनाशे । सुहदि शत्रावुदासीने वाकृते सतीत्यर्थः । इह लोगित्यपरिहाणी ऐदिकस्व-कार्यकृतिः ॥

अर्थ—इस कपटसे मैत्रीका नाश होता है. मैत्रीके नाशसे इहलोकिक धर्मार्थादि कार्योंका नाश होता है.

यह कपट मुनिपनाका नाश करता है जैसे विषमिश्रित दुग्ध भक्षण करनेसे मनुष्यका नाश होता है मायामें मित्र-कार्य विनाश और श्रामण्यहानि नामके दोष हैं

माया करोदि नीचागोदं इच्छी णवुंसयं तिरियं ॥

मायादोसेण य भवसएसु उंभिज्जेदे वहुसो ॥ १३८६ ॥

सैणपट्ठत्तैरञ्चनीचगोत्रपराभवा ॥

मायादोषेण लभ्यंते पुंसा जन्मनि जन्मनि ॥ १४४० ॥

विजयोदया—माया ऊरेदि नीचागोदं माया ऊरोति नीचगोत्रं कर्म नीचर्वा गोत्रमस्य जन्मांतरे। इत्थी णवुंसयं तिरिय स्त्रीवेदं, नपुमकचंद, तिर्यग्गतिं च नामकर्म ऊरोति। अयया स्त्रीत्य, नपुमकत्वं, तिर्यक्त्वं वा। मायादोसेण। मायामंजनिनेन दोषेण। भवसंदेसु जन्मशतेषु। उंभिज्जेदि वंन्यते। यहुसो गहुरा ॥

मूलारा—उंभिज्जेदे वंन्यते। येन तेनापि इह लोके वंचितेन वा ॥ उक्तं च—

सैणपट्ठत्तैरञ्चनीचगोत्रपराभवा ॥

मायादोषेण लभ्यंते पुंसा जन्मनि जन्मनि ॥

अर्थ—मायामें नीच गोत्रकी प्राप्ति होती है, अर्थात् परजन्ममें नीच कुलमें जन्म होता है उस मायामें स्त्रीपना, नपुमकपना और तिर्यग्गतिकी प्राप्ति जीमको होती है जो जीय माया करता है वह सेकंडो मनमें अन्य लोगोंमें अनेक उपायों द्वारा वंचित होता है।

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्हिदा ॥

कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होति ॥ १३८७ ॥

य कोधमानलोभानामाविर्भावोस्ति मायिन ॥

संपचन्तेऽन्विला दोषास्ततस्तेपासंयमम् ॥ १४४१ ॥

विजयोदया—कोयो माणो कोधमानलोभास्त जीधे संचिहिता यत्र स्थिता माया। कोधमानलोभजन्या दोषा सर्वदपि मायानतो भवन्ति ॥

मूलारा—सण्हिदिदा स्थिता। अत एव मायानिन कोधादिदोषा सर्वदपि स्यु। मायाए मायाविनि जीवे ॥

अर्थ—जहाँ माया रहती है वहाँ क्रोध, मान और लोभ भी साथ ही रहते हैं। अर्थात् क्रोध, मान और लोभसे जो दोष उत्पन्न होते हैं वे सब मायावानको भी होते हैं।

सस्त्वो य भरधगामस्स सत्तसंवच्छराणि गिस्सेसो ॥

दुद्धो ङंभणदोसेण कुमकारेण रुहेण ॥ १३८८ ॥

सप्तवर्षाणि निःशेष कुम्भकारेण कोपिना ॥

भस्मितं भरतत्रामशस्यं प्राप्तेन वंचनां ॥ १४४२ ॥

धर्मपादपनिर्कतनशुद्धी जन्मसागरनिपातनकर्त्री ॥

दुःखशोकभयवैरसहाया निंदित किमु करोति न माया ॥ १४४३ ॥

इति माया ॥

विजयोदया—सस्त्वो सस्य । भरधगामस्स भरतनामधेयत्रामस्य सत्तसंवच्छराणि वर्षसप्तकं । गिस्सेसो दुद्धो निरवशेष वृद्ध । ङंभणदोसेण मायादोषेण वेतुता । रुहेण कुम्भकारेण रूष्टेन कुम्भकारेण ॥ मायात्तिगदा ॥

मायादोषमर्थीव्यानेन द्रढयति—

मूलारा—सस्त्वो बलजापुंजीकृतं धान्यं । भरधगामस्स भरतनाम्नो त्रामस्य । मायादोषाः ॥

अर्थ—भरतनामक ग्राममें सात वर्षतकका समस्त धान्य कुंभकरने मायादोषसे रूष्ट होकर भस्म कर दिया, मायावर्णन समाप्त

लोभदोषानाचष्टे—

लोभेणासाधत्तो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं ॥

णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ॥ १३८९ ॥

लोभतो लभते दोषं पातकं कुरुते परम् ॥

जानीते परमात्मानं नीचमुच्चं न नष्टधीः ॥ १४४४ ॥



विजयोदया—लोभेण लोभेन हेतुना । असाधणो ममेवमविव्यतीत्याशया ग्रस्तः । पावदि दोसे प्राप्नोति दोषान् । बहुं कुणदि पाव पापं च बहु करोत्याशावान् । णीए वाधवान् । अप्पणं चा आत्मानं वा । लोभेण लोभेन । णरो ण विगणेदि न विगणयति मनुजः । वाधवानपि वाधते स्वशरीरश्रमं च नापेक्षते इति यावत् ॥

लोभदोषानाथापंचकेनाह—

मूलारा—आसाधणो इदमिदं भविव्यतीत्याशया ग्रस्तः । दोसा बहुपापकरणादीन् । णीए वाधवान् । ण विगणेदि वाधवानपि वाधते स्वशरीरस्य श्रमं च नापेक्षते इति भावः ॥

लोभके दोषोंका वर्णन—

अर्थ—लोभसे मनुष्य आशाग्रस्त होता है अर्थात् मेरेको यह मिलेगा वह मिलेगा ऐसा मनोरथ उत्पन्न करनेवाली आशा इन्द्रियत होती है यह लोभ दोषोंका सचय है लोभवश होकर पुरुष बहुत पाप करते हैं, लोभसे अपने वंशुओंको भी वह उपेक्षा करता है और लोभसे अपने शरीरको कष्ट पोहोचाता है.

वस्तुन' सारासारतया न कश्चित् कर्मबंधादिशय येन केनचिददृष्टेण जनिता मूर्च्छा कर्मबंधे निमिच्च आत्मा शुभपरिणामनिमित्तत्वादिति मत्वा सूरिराचष्टे—

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्चं ॥

लग्गिदमउडादिसंगस्स वि हु ण पावं अलोहस्स ॥ १३१० ॥

लोभस्तुणेऽपि पापार्थमितरत्र किमुच्यते ॥

मुकुटादिधरस्यापि निर्लोभस्य न पातकम् ॥ १३१५ ॥

विजयोदया—लोभो तणे वि जादो लोभस्तुणेऽपि जातो । जणेदि पाप जन्तयति पापं । इदरत्थ इतरत्र सारवति वस्तुनि । किं वच्चं किं वाच्यं ॥ लग्गिदमउडादिसंगस्स वि स्वशरीरविलग्नमुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पापं भवति । अलोहस्स लोभकपापवर्जितस्य मुकुटादे सारद्रव्यस्यापि प्रत्यासत्तिर्न वधायेति मन्यते ॥

यत्र कुत्रचित्प्रवृत्तो लोभ एव पापवधायालमित्युपदिशति—

मूलारा—इदरत्थ सारवस्तुनि । वच्चं वक्तव्यं । लग्गिदमउडादिसंगस्स वि स्वशरीरालग्नकिरीटादिपरिग्रहस्यापि । अलोहस्स तद्गतमूर्च्छारहितस्य ॥

वस्तु सार और असार दोनों तरहकी होती है, परंतु उससे कुछ कर्मबंधमें विशेषता उत्पन्न नहीं होती, किंतु उस वस्तुके संगसे उत्पन्न होनेवाली मूर्च्छा अर्थात् ममता कर्मबंधका निमित्त है और यही ममता आत्मामें शुभाशुभ परिणामोंको निमित्त होती है इसी अभिप्रायको आचार्य विशद करते हैं—

अर्थ—तुणमें भी लोभ उत्पन्न होनेसे वह पापबंध उत्पन्न करता है तब इतर सारयुक्त वस्तुओंमें उसकी उत्पत्ति होनेपर पापबन्ध अवश्य होगाही परंतु मन यदि निर्लोभी है तो शरीरपर मुकुटादि परिग्रह होने पर भी उसको पापबंध नहीं होता है लोभकषणका अभाव जब होता है तब किसीने जबरदस्तीसे मुकुटादि पहनाये तो भी वह परिग्रह उसको पापकर्मसे बद्ध नहीं कर सकता है, ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है

तल्लोक्केण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थस्स ॥

संतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिहो वि णिव्वाणं ॥ १३९१ ॥

सुखं त्रैलोक्यलभेऽपि नासतुष्टस्य जायते ॥

संतुष्टो लभते सौख्यं दरिद्रोऽपि निरंतरम् ॥ १३९६ ॥

विजयोदया—तेल्लोक्केण वि त्रैलोक्येनापि लब्धेन । चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि चित्तस्य निर्वृत्तिर्नास्ति । लोभघत्थस्स लोभग्रस्तस्य । संतुट्ठो सतुष्ट लब्धेन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिविहेतुभूतेन । अलोभो द्रव्यगतमूर्छारहितः । लभदि लभते । दरिहो वि दरिद्रोऽपि । णिव्वाण निर्वाण । सतोपायतचित्ता निर्वृतिर्न द्रव्यायत्ता, सत्यपि द्रव्ये महति असंतुष्टस्य हृदये महति दुःखासिका ॥

मूलारा—तेल्लोक्केण वि त्रैलोक्येनापि लब्धेन । णिव्वुदी वृत्तिः । संतुट्ठो येन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिविहेतुभूतेन धृतिं प्रापः । अलोभो द्रव्यगतमूर्छारहितः । णिव्वाणं सुखं । संतोपायत्ता चित्तिनिर्वृतिर्न द्रव्यायत्ता, द्रव्ये हि मह-त्यपि सत्यसंतुष्टस्य महादुःखासिका स्यात् ॥

अर्थ—लोभग्रस्त मनुष्यको त्रैलोक्यकी प्राप्ति होनेपर भी संतोष नहीं होता है, जो जो शरीरको सुख देनेवाली वस्तु प्राप्त होगी उससे उसका लोभ बढ़ताही जाता है, जिससे शरीर स्थिर रहेगा ऐसी किसी भी वस्तुसे जो मनुष्य सतुष्ट है ममता रहित है वह चाहे दरिद्री हो तो भी उसीको समाधानवृत्ति प्राप्त होती है, संतोषके स्वाधीन

ही समाधानवृत्ति रहती है द्रव्यके अधीन वह नहीं रहना चाहती। बहुत द्रव्य होनेपर भी असंतुष्ट व्यक्तिके हृदयमें बड़ा दुःख होता है।

सबवे वि गंधदोसा लोभकसायस्स हुंति णादब्बा ॥  
लोभेण चैव मेहुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥ १३१२ ॥

जायंतं सकला दोषा लोभिनो ग्रंथतापिनः ॥

लोभी हिंसादृतस्तेयमैथुनेषु प्रवर्तन्ते ॥ १४४७ ॥

विजयोदया—सबवे वि गंधदोसा सर्वेऽपि परिग्रहस्य ये दोषा, पूर्वमाख्यातास्ते सर्वेऽपि । लोभकसायस्स लोभकपायवत् लोभ कपायोऽस्यास्तीति लोभकपाय इति गृहीतत्वात् । अथवा लोभसंक्षितस्य कपायस्य दोषा इति सर्वधनीय । लोभेण चैव लोभेन चैव । मैथुन, हिंसा, अलीक, चौर्य वा चरति । तत् सावद्यक्रियाया सर्वस्या आदिमान् लोभ ।

किं च—

मूलारा—गंधदोसा परिग्रहापराधाः प्रागुक्ताः ॥

अर्थ—परिग्रहके दोषोंका विस्तारसे पूर्व प्रकरणमें वर्णन हो चुका है, वे सर्व दोष लोभ कपाययुक्त मनुष्यके होते हैं, अथवा लोभसे उपयुक्त दोष उत्पन्न होते हैं, इस लोभसेही मैथुन, हिंसा, असत्यवचन, और चोरी इन पापोंको जीव करता है जितनी पापक्रियायें हैं उनको लोभ हेतु है,

रामस्स जामदग्निस्स वजं धित्तूण कत्तविस्सिओ वि ॥

णिघणं पत्तो सकुलो ससाहणो लोभदोसेण ॥ १३१३ ॥

रामस्य जामदग्न्यस्य गृहीत्वा लुब्धमानसः ॥

कार्तवीर्यो नृपः प्राप्तः सकुलः सखलः क्षयम् ॥ १४४८ ॥

लोभेन लोभः परिवर्धमानो दिवानिशं वह्निरेविन्धनेन ॥

निषेव्यमाणो मलिनत्वकारी न कस्य तापं कुरुते महान्तं ॥ १४४९ ॥  
इति लोभः । इति कथायविशेषदोषाः ॥

विजयोदया—रामस्स रामस्स । जामदग्निस्स जामदग्न्यस्य । वजं व्रज । धिक्खणं गृहीत्वा । कत्तविरिद्धो वि  
कर्तव्यीर्योऽपि । निग्रहं पत्तो निग्रहं प्राप्तः । सकुलो सबधुवर्गः । ससाहणो सवलः । लोभदोसेण लोभदोसेण । लोभः ॥

लोभदोषमहत्त्वमर्थ्याख्यानेन व्यनक्ति—

मूलारा—जामदग्निस्स जमदग्निमूनोः । परशुरामस्येत्यर्थः । वजं व्रजं कामधेनुमित्यर्थः । ससाहणो चतुरंग-  
बलेन सह ॥ उक्तं च—

रामस्य जामदग्न्यस्य गा हत्वा लुब्धमानसः ॥  
कर्तव्यीर्यो नृपः प्राप्तः सकुलः सवलः क्षयम् ॥

लोभदोषः । कषायविशेषदोषाः ॥

अर्थ—जमदग्नि राम अर्थात् परशुरामका सर्वे गौका समूह कर्तव्यीर्यं राजाने लोभवश होकर ग्रहण किया  
था इस लोभदोषसे वह अपने बंधुवर्ग और सर्व सैन्यके साथ परशुरामके द्वारा मारा गया. लोभ वर्णन समाप्त

ण हि तं कुणिज्ज सत्तू अग्गी वग्घो व किण्हसप्पो वा ॥

जे कुणइ महादोसं णिवुदिविग्घं कसायारिवू ॥ १३१४ ॥

शत्रुसर्पानलव्याघ्राः कदाचित्तत्र कुर्वते ॥

यं करोति महादोषं कषायारिः शरीरिणाम् ॥ १४५० ॥

विजयोदया—स्पष्टा ॥

कषायसामान्यदोषसमूहगाथासाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—शत्रु, अग्नि, वाघ, और कृष्ण सर्प इनसे भी वह महादोष उत्पन्न नहीं होता है. जो कषायशत्रु  
उत्पन्न करता है लोभकषाय मोक्षप्राप्तिमें महाविघ्न उपस्थित करता है.

उत्तरगाथा—

इंद्रियकसायदुहंतस्सा पाडेति दोसविसमेसु ।  
दुःखावहेसु पुरिसे पसडिलणिव्वेदखलिया दु ॥ १३९५ ॥  
कषायेन्द्रियदुष्टाहवैदोषदुग्गेषु पात्यते ॥  
त्यक्तनिर्वेदखलिनैः पुरुषो बलवानपि ॥ १४५१ ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायदुहंतस्सा इंद्रियकषायदुर्दोषाश्च । पाडेति पातयति । दोसविसमेसु पापविषम-  
स्थानेषु । दुःखावहेसु दुःखावहेषु । पुरिसे पुरयान् । पसडिलणिव्वेदखलिआओ मन्निथिलनिर्वेदखलिना ॥  
साप्रतमिन्द्रियकषायणा जीवस्य परमार्थकाष्टाधिरूढमपकारकत्वं सन्त्यमानस्तदनुवर्तने बहून् दोषांस्तद्व्यावर्तने  
च प्रचुरगुणान्प्रदर्शयन्सामान्येन तन्निर्जयमष्टादशभिर्भुवर्णयति—  
तत्र तावदुभयनिर्जयं गाथाचतुष्टयेनाचष्टे—

मूलारा—दुहंतस्स दुष्टयोदकाः । दोसविसमेसु पापविषमस्थानेषु । पुरिसे जीवान् । पसडिलणिव्वेदखलिणिदा  
ऋथवैराग्यकविकान् ॥

अर्थ—इंद्रिय और क्रोधादिक कषायरूपी दुर्दमनीय द्रोहे जब उनकी वैराग्यरूपी लग्गाय ढिली होजाती  
है तब मनुष्यको अथवा प्राणिओंको पापरूपी विषमस्थानोंमें अर्थात् पापरूपी दुःखदायक रूपाय गिराये बिना  
रहते नहीं गिराते ही हैं

इंद्रियकसायदुहंतस्सा णिव्वेदखलिणिदा संता ॥  
ज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेति ॥ १३९६ ॥  
कषायेन्द्रियदुष्टाहवैदोषदुग्गेषु पात्यते ॥  
दोषदुग्गेषु पात्यते न सद्धयानकशावदोः ॥ १४५२ ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायदुहंतस्सा इंद्रियकषायदुर्दोषान्तुग्गाः वैराग्यसखलीननियमिताः संतः ध्यानकशासु-  
भीता न दोषविषमेषु पातयन्ति ॥

मूलारा—खलिणिदा नियत्रिताः । ज्ञाणकसाए सद्धयानचर्मयेष्टः । भीदा त्रस्ताः ॥

अर्थ—परंतु जब इंद्रियकषायरूपी दुष्ट घोडे वैराग्यरूपी लगामसे खींचे जाते हैं और ध्यानरूपी चाबुक से वे ताड़ित किये जाते हैं तब पापरूपी दुःखदायक गड़बड़ों में मनुष्यको वे नहीं पटकते हैं

इंद्रियकसायपण्णगदृष्टा बहुवेदणुद्दिदा पुरिसा ॥

पब्भट्टक्षाणसुक्खा संजमजीवं पविजहंति ॥ १३९७ ॥

विचित्रवेदनादष्टा कषायाक्षसुजंगमैः ॥

नष्टध्यानसुखाः मद्यो भुञ्जते वृत्तजीवितम् ॥ १४५३ ॥

विजयोदया—इंद्रियकषायपन्नगदृष्टा, बहुवेदनायष्टव्या पुमांसः प्रप्रष्टध्यानसुखाः समयमजीव परित्यजंति ॥

मूलारा—बहुवेदणुद्दिदा भूरिब्यथादिताः ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषायरूपी सपोंसे डसे गये पुरुष तीव्र विष वेदनासे पीड़ित होकर उच्चम ध्यानरूपी सुखसे च्युत होते हैं और संयमरूपी प्राणोंका त्याग करते हैं

ज्ञाणागदेहिं इन्द्रियकसायसुजगा विरागमतेहिं ॥

णियमिज्जंता संजमजीवं साहुस्स ण हरति ॥ १३९८ ॥

सद्धयानमंत्रवैराग्यभेषजैर्निर्विषिकृताः ॥

न साधोस्ते क्षमा हतुं दीर्घं संयमजीवितम् ॥ १४५४ ॥

विजयोदया—ध्यानगदैरिन्द्रियकषायसुजगा वैराग्यमंत्रैर्नियम्यमाणाः साधोः संयमजीवित न हरन्ति ॥

मूलारा—ज्ञाणागदेहिं सद्धयानसिद्धौपधैः ॥

अर्थ—ध्यानरूपी औषध और वैराग्यरूपी मंत्र इनके द्वारा जब इंद्रियकषायरूपी विषयुक्त सर्प नियमित किये जाते हैं तब वे मुनिके संयमरूपी प्राणोंका नाश करनेमें समर्थ नहीं होते हैं

सुमरणपुंखा चिंतावेगा विसयविसलित्तरइधारा ॥

मणधणुमुक्का इंदियकंडा विंधंति पुरिसमयं ॥ १३९९ ॥

हृपीकमार्गणास्तीक्ष्णाश्चिंतापुरवाः स्मृतिस्वदाः ॥

नरं मनोधनुमुक्ता विध्यंति सुखहरिणः ॥ १४०५ ॥

विजयोदया—सुमरणपुंखा स्मरणपुंखा, चिंतावेगा विसयविषेण लिप्ता रतिधारा येया ते मनोधनुमुक्ता इन्द्रिय-  
याणां पुरुषसृग घातयन्ति ॥

इन्द्रियनिर्जय गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—विसयविसलित्तरदिधारा—विषयविषेण लिप्ता रतिधारा येया अत्र विषयशब्देन भोग्यबुद्ध्या गृह्य-  
माणानां रूपादीना निर्भासा विवक्षिताः । इन्द्रियशब्देन चक्षुराद्युपयोगाः । विंधंति विध्यन्ति । मए सृगान् ॥

अर्थ—स्मरण रूपी पुखं अर्थात् पंख जिनके लगे हैं, चिंता रूप वेगसे युक्त, विषयरूपी विषसे लिप्त हुए,  
रतिधारासे सयुक्त, ऐसे इन्द्रियरूप चाण मनरूप धनुष्यसे छूटकर मनुष्य मृगका घात करते हैं यहां नेत्रादिक-  
इन्द्रियोंका विषयोंके तरफ जो उपयोग लगना उसको ही इन्द्रिय कहना चाहिये भोग्यबुद्धीसे ग्रहण किये रूपरस-  
गंधादिकोंका जो ज्ञान होता है उसको विषय कहते हैं.

तान्याणान्पुरुषसृगहृदन्नोद्यतान्यतय एव वात्यन्तीति कथयति—

धिदिखेडण्हिं इंदियकंडे ज्ञाणवरसत्तिसंजुत्ता ॥

फेडंति समणजोहा सुणाणदिठ्ठीहिं दइण ॥ १४०० ॥

हृपीकमार्गणास्तीक्ष्णा साधुभिर्धृतिखेटकैः ॥

ध्यानसायकमादाय खण्डयन्ते ज्ञानदृष्टिभिः ॥ १४०६ ॥

विजयोदया—धिदिखेडण्हिं धृतिखेटे. इन्द्रियशरान्धारयन्ति ध्यानसत्त्वसमन्विताः । समणजोहा श्रमणयोधा-  
सम्यग्ज्ञानदृष्ट्या दृष्ट्वा ॥

मूलारा—धिदिखेडण्हिं संतोषफलकैः । फेडंति वारयंति ॥

इंद्रियवाण जब आत्माका घात करनेके लिये उद्युक्त होते हैं तब यदि उनका इस प्रकार निवारण करते हैं अर्थ—ध्यानरूपी बलसे युक्त होकर मुनिराज सम्यग्ज्ञानरूपी आखोंसे देख लेते हैं नंतर धैर्यरूपी ढाल हाथमें लेकर इंद्रियरूपी बाणोंका निवारण करते हैं

गंथाडवीचरंतं कसायविसकटया पमायमुहा ॥

विधांति विसयतिक्खा अधिदिदोवाणहं पुरिसं ॥ १४०१ ॥

प्रमादवदना साधुं चरतं संगकानने ॥

धृत्युपानद्विनिर्मुक्तं विध्यन्तीन्द्रियकण्टकाः ॥ १४५७ ॥

विजयोदया—गथाडवीचरतं परिग्रहवने चरन्त । कपायविपकटका प्रमादमुखा विध्यन्ति विषयैस्तीक्ष्णा धृतिदोषानद्रहित पुरुष ॥

कपायनिर्जयं गाथाचतुष्टयेनाह—

मूलारा—विसयतिक्खा विषयैः क्रोधाद्यालवनभूतैर्वसुभिस्तीक्ष्णाः । अधिदिदोवाणह धृतिददप्राणद्वितारहित ॥

अर्थ—परिग्रहवनमें भ्रमण करनेवाला पुरुष यदि सतोषरूपी दृढ जूता नहीं पहनेगा तो कपायरूपी विषयुक्त कांटे विषयोंसे तीक्ष्ण होकर प्रमादरूपी मुहके द्वारा पुरुष को चुभेगी

सयतस्य पुनरेवपरिकस्य कपायविपकटका किंचिदपि न कुर्वन्ति इत्याचष्टे स्वरि—

आवद्धधिदिदोवाणहस्स उवओगदिष्ठिजुत्तस्स ॥

ण करिति किंचि दुक्खं कसायविसकंटया मुणिणो ॥ १४०२ ॥

आवद्धधृत्युपानत्कमुपयोगविलोचनम् ॥

कपायकण्टकाः साधुं न विध्यन्ति मनागपि ॥ १४५८ ॥

विजयोदया—आवद्धधिदिदोवाणहस्स आवद्धधृत्युतिदोषानत्कस्य ज्ञानोपयोगसहितदृष्टेर्मुनेः सत्यमपि दुःखं न कुर्वन्ति कपायविपकटकाः ॥



मूलारा—आइड्डा परिहिता । उवयोगविद्धिसुत्तस्स भेदज्ञानोपयोगेन यतव्यापारसहितस्य ॥

परतु मुनिराज कषायकटकोसे दुःख न होगा ऐसी सामग्रासे युक्त होते हैं अतः उनको दुःख नहीं होता है, इसीके विवेचनार्थ गाथा—

अर्थ—जिसने सतोषरूपी मजबूत जूता पहना है, और भेदज्ञानोपयोग रूप आँखोंसे जो देखता है ऐसे मुनिराजको कषायविषयकटक तिलमात्रभी दुःख देनेमें समर्थ नहीं होते हैं

उडुहणा अदिचवला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा ॥

गंथफललोलहिदया णासंति हु संजमारामं ॥ १४०३ ॥

कषायमर्कटा लोलाः परिग्रहफलैषिणः ॥

लुपन्ति संयमारामं योगिनो निग्रहं विना ॥ १४०५ ॥

विजयोदया—उडुहणा असंयता अतिचपला अनिगृहीता, कषायमर्कटाः, परिग्रहफलासक्तद्वया नाशयन्ति संयमाराम ॥

मूलारा—उडुहणा उद्धृताः । अणिग्गहिदा अकृतनिग्रहाः संतः ॥

अर्थ—जो असयमको उत्पन्न करते हैं, अतिशय चपल हैं, जिनका निग्रह नहीं किया है ऐसे कषायमर्कट परिग्रहरूप फलोंपर लुब्ध होकर सयमरूपी बगीचोंको उद्ध्वस्त करते हैं.

णिच्चं पि अमज्झत्ये तिकालविसयाणुसरणपरिहृत्ये ॥

संजमरज्जुहिं जदी बंधंति कसायमक्कडाए ॥ १४०४ ॥

त्रिकालदोषदा नित्यं चंचला मुनिपुगवैः ॥

कषायमर्कटा गाढं बध्यन्ते वृत्तरज्जुभिः ॥ १४०६ ॥

विजयोदया—णिच्च पि नित्यमपि अमाध्यस्थान्, त्रिकालविषयदोषावसरणणद्वन्, कषायमर्कटाऽन्यतयः संयम-रज्जुभिर्विष्यन्ति ॥

मूला—अमज्जत्ये चंचलान् । परिहृत्ये पट्टन् ।

अर्थ—हमेशा चंचल, और तीनो कालोंमेंभी दोष उत्पन्न करनेमें निपुण ऐसे कणायरूपी मर्कटोंको यतिरात्र संयमरूप दोरीसे बाँधते हैं जिससे वे कुछभी अपाय नहीं उत्पन्न करेंगे

धिदिवस्मिण्हि उवसमसरेहिं साधूहिं णाणसत्येहिं ॥

इंदियकसायसत्तू सक्का जुत्तेहिं जेदुंजे ॥ १४०५ ॥

महोपशमसत्त्वाख्यैर्ज्ञानाख्यैर्धृतिवर्मितैः ॥

साधुयोर्धैर्विजीयन्ते कपायोन्द्रियविद्विषः ॥ १४६१ ॥

विजयोदया—धिदिवस्मिण्हि धृतिसन्नद्धः, उपशमशरः, साधुभिर्ज्ञानाख्यैरप्युक्तैरिन्द्रियकपायशत्रयो जेतु शक्याः ॥

पुनरुभयतिर्जयं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूला—धिदिवस्मिदेहिं संतोषसन्नद्धैः । णाणसत्तेहिं ज्ञानसत्तैः । जुत्तेहिं उपयुक्तैः ॥

अर्थ—संतोषरूपी कवच पहनकर हाथमें जिन्होंने उपशमरूप बाण लिये हैं ऐसे साधु, भेदज्ञानरूपी शस्त्रोंसे इन्द्रियकणायरूपी शत्रुको जीत लेते हैं

इंदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहिं वज्झंति ॥

ता ते ण विकुव्वंति चोरा जह संकलाबद्धा ॥ १४०६ ॥

कषायाश्रद्धिपो बद्धा भावनाभिस्तपस्विना ॥

शृंखलाभिरिव स्तेना न दोषं जातु कुर्वते ॥ १४६२ ॥

विजयोदया—इंदियकसायचोरा इंदियकणायचोरा शुभभयानमावशृंखलाभिर्वध्यन्ते । वधस्यास्ते न विकारं कुर्वन्ति शृंखलाबद्धचोरा इव ॥

मूला—ण विकुव्वंति विरूपक न कुर्वंति ॥

अर्थ—जैसे शूललासे जकड़े हुए चोर स्वस्थानमें स्थिर बैठते हैं उनसे कुछ उपद्रव नहीं होता है वैसे इन्द्रियकषायरूपी चोर शुभभावनारूपी शूललाओंसे जब जखड़कर बांधे जाते हैं तब वे रागादिक विकारको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं.

इन्द्रियकसायवग्धा संजमणरघादणे अदिपसत्ता ॥

वेरग्गलोहदढपंजरेहिं सक्का हु णियमेदुं ॥ १४०७ ॥

कषायाक्षमहाव्याघ्राः संयममाणभक्षिणः ॥

अधिरोप्य नियम्यन्ते वैराग्यदृढपञ्जरे ॥ १४०८ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायवग्धा इन्द्रियकषायव्याघ्रा संयमनरभक्षणे अत्यासक्ता वैराग्यलोहदृढपञ्जरे नियन्तुं शक्या, शक्या वशे नेतुं ॥

मूलारा—अदिपसत्ता अतीवासक्ताः ॥

अर्थ—इन्द्रियकषायरूपी व्याघ्र संयमरूप मनुष्यको मक्षण करनेमें अत्यासक्त होते हैं. इस लिये उनको वैराग्यरूप लोहके पिंजरेमें बांधकर वश किया जा सकता है.

इन्द्रियकसायहृत्थी वयवारिमदीणिदा उवायेण ॥

विणायवर्त्तावद्धा सक्का अवसा वसे काहुं ॥ १४०८ ॥

नीत्ता व्रतमहावारिं कषायाक्षमंतंगजा. ॥

वशा संत्यवशाः सन्तो यद्धा विनयरदिमभिः ॥ १४०९ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायहृत्थी इन्द्रियकषायहस्तिनः व्रतवारीमुपनीता. विनयवर्त्तावद्धा अवशा अपि शक्या वशे नेतु ॥

मूलारा—वदवारि व्रतवधनगर्तम् । अदिणीदा प्रवेशिताः । उवायेण विशिष्टयतिहस्तिनिदर्शनेन ॥

अर्थ—इन्द्रियकषायरूपी हाथीओंको व्रतरूप बंधनस्थानमें ले जाकर विनयरूपी रज्जुसे बांधना चाहिये जिससे वे अवश होनेपर भी वश हो जाते हैं.

इंद्रियकसायहृत्थी वोलेदुं सीलफलियमिच्छंता ॥

धीरेहिं रुंभिदन्वा धिदिजमलारुप्पहारेहिं ॥ १४०९ ॥

कषायाक्षगजाः शीलपरिखालंघनैयिणः ॥

धर्तव्याः सहसा वीरैर्धृतिकर्णप्रतोदनेः ॥ १४६५ ॥

विजयोदया—इंद्रियकपायहृस्तिनः शीलपरिखालंघनैयिणो रोद्धव्या धीरैर्धृतिकर्णतोदप्रहरे ॥

मूलारा—वोलेदु लंघयितुं । फलिह अर्गल । जमलार आरायुगल ॥

अर्थ—इंद्रिकपायरूपी हाथी जब शीलरूपी अर्गलाको उछंघनेकी अभिलाषा धारण करते हैं तब घीर पुरुष उनको संतोषरूपी कर्णप्रहारोंसे वश करते हैं

इंद्रियकसायहृत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज ॥

णाणकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं ॥ १४१० ॥

कषायाक्षद्विषा मत्ता दुःशीलवनकांक्षिणः ॥

ज्ञानांकुशैर्विधीयन्ते तरसा वशवर्तिनः ॥ १४६६ ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायहृत्थी इन्द्रियकपायहृस्तिनः दुःशीलवन प्रवेष्टुं यदाभिलषति तदा अवशा अपि वशो कर्तुं शक्यते ज्ञानांकुसेन ॥

मूलारा—अहिलसेज्ज प्रवेष्टुमिच्छेयुः ।

अर्थ—इंद्रियकपायरूपी हाथी जब दुःशीलरूप वनमें प्रवेश करने की इच्छा करता है तब भेदज्ञानरूप अकुशसे अवश होने पर भी वश हो जाता है

जदि विसयगंधहृत्थी अदिणिज्जदि रागदोसमयमत्ता ॥

विण्णाणज्झाणजोहस्स वसे णाणकुसेण विणा ॥ १४११ ॥

ध्यानयोधावशीभूता रागद्वेषमदाकुलाः ॥

ज्ञानांकुशं विना यांति तदा विषयकाननम् ॥ १४६७ ॥

विजयोदया—जदि विसयगंधहृत्थी यद्यपि विषयगंधहृत्तिन स्वय अंथाटवीं प्रविशंति रागद्वेषमत्ता न तिष्ठेयु-  
र्विद्वानध्यानयोधस्य वशे ज्ञानांकुशेन विना ॥

मूलारा—वि एव । सय स्वयं स्वयमेव । स्वाभिस्थानीयजीवप्रयोगं विनैव । गंधवण ग्रथः संगः स चात्र का-  
मिनीसौधायालंबनोदीपनकारणलक्षणो गृह्यते । ग्रन्थो वनमिव हृत्तिनामिर्बोद्धियकपायाणा प्रचारविषयत्वात् । अदिणि-  
ज्जदि प्रविशंति । इन्द्रियकपायहृत्तिन इति वक्ष्यमाणेन संबंधः । चेष्टुज्ज ज्ञानजोहृत्तस्सवास वास इत्यत्र अकारप्ररूपः,  
तेन ध्यानयोधस्यावशे तिष्ठेयुर्ध्यानयोधवशे न स्युरित्यर्थः । णाणकुसेण विणा रागद्वेषमदांधाः संतो ध्यानयोधयुक्तं ध्या-  
नाकुशमतिक्रम्य ग्रंथवने स्वाभिस्थानीयजीवप्रयोग विना पंचन्द्रियकपायहृत्तिनो यदि प्रविशतीति संबंधः ।

अर्थ—यद्यपि विषयरूपी मत्त हाथी स्वय प्रेरकके विना परिग्रहरूपी जगलमें प्रवेश करते हैं, और वे राग  
द्वेषसे मत्त हो गये हैं तो भी वे ज्ञानरूपी अंकुशके विना विद्वान और ध्यानरूप योधाके वश होते नहीं हैं.

विसयविरमणलोला बाला इन्द्रियकसायहृत्थी ते ॥

पसमे रामेदव्वा तो ते दोसं ण काहंति ॥ १४१२ ॥

तदा शमवने रम्ये कषायाक्षमहागजाः ॥

रम्यमाणा न कुर्वन्ति दोषं साधोर्मनागपि ॥ १४६८ ॥

इति सामान्यकपायनिर्जयः ।

विजयोदया—विसयवणरमणलोला विषयवनरमणलोला. बाला इन्द्रियकपायहृत्तिन' ते रतिमुपनेयाः प्रशमेन  
ततस्ते दोष न कुर्वन्ति ॥

कथंभूताः सत इत्यत्राह—

मूलारा—विसयवणरमणलोला विषया. कामिन्यादिगता. काम्यरूपादयः । वनानि शल्यक्यादिकाननानि विप-  
या वनानीव भोग्यत्वात् । पूर्वं वनशब्देन विंध्याटवी इह च तदन्तर्गन्तशल्यक्यादिवनं गृह्यते । पसमे आत्मदेहांतरज्ञाना-

विर्भूतस्वभाविकवैराग्ये । अत्र पुरोधाने इत्युपमानस्यक्षेपः । काहिति करिष्यति । एषा श्रीविजयाचार्यमतेन व्याख्या ।  
तथा चोक्तम्—

यदि सगाढवीं याति रागद्वेषमदोद्धता ।  
ध्यानयोधवशा नैव संति ज्ञानाकुशं विना ॥  
विषयारण्यसाक्षास्ते कपायाक्षहस्तिनः ॥  
ततः शमरतिं नेया येन दोषं न कुर्वते ॥

अन्यस्तेष्वमाह—

ध्यानयोधवशीयता रागद्वेषमदाकुलाः ॥  
ज्ञानाकुशं विना याति यदा विषयकाननम् ॥  
तदा शमवने रम्ये कपायाक्षमहागजाः ॥  
रम्यमाणा न कुर्वति दोष साधोर्मनागपि ॥

अन्ये पुनरेतद्वाधाद्वयं पृथक् संघ्नन्ति तत्पाठस्त्ययम्—अत्र विषयशब्देन तद्योगादिद्रियं व्याख्यानं । अदि-  
गिजदि इत्यस्यातिक्रम्य याति इत्यर्थमाहुः । अपि शब्दं च नियमार्थे । तथा च तदुपग्रहः—

रागद्वेषमदाधः करणकरीन्द्रो विशन्विषयविध्यम् ॥  
ध्यानसुभटस्य वदयो ज्ञानाकुशितो भवेन्नियतम् ॥  
द्वितीयगाथाया तु चवला स्थाने पठति । तत्रापि तैरुक्तम्—  
इन्द्रियकपायकलभा विषयवने श्रीडनेकरसरसिका ॥  
उपशमवने प्रवेश्यास्ततो न दोषं करिष्यति ॥

इति सामान्याक्षकपायनिर्जयः ॥

अर्थ—विषय वनमें क्रीडा करनेमें आसक्त और अज्ञ ऐसे इन्द्रिय कपायरूप हाथीको वैराग्यमें तत्पर करना चाहिये ऐसा करनेसे वे दोष नहीं करेंगे।

सदे रूवे गंधे रसे य फासे सुभेय असुभे य ॥

तम्हा रागद्वोसं परिहर तं इदियजण ॥ १४१३ ॥

शब्दे वर्णे रसे गंधे स्पर्शे साधुः शुभाशुभे ॥

रागद्वेषपरित्यागी हर्षीकविजयी मतः ॥ १४६९ ॥

विजयोदया—सदे रूवे गंधे रसे य शुभाशुभेषु शब्दाविषु रागद्वेषं च निराकुरु त्व इद्रियजयेनेत्युत्तरसूत्रस्यार्थः ॥  
साग्रत सामान्येन इद्रियजयं गाथापंचकेन व्याचक्षणः प्रथमं तज्जयेन तद्ग्राह्यशब्दादिविषयरागद्वेषपरि-  
त्यागे क्षपकं निर्युक्ते—

मुलारा—तम्हा करणगृह्यमाणशब्दादिविषयाभिव्यज्यमानरागद्वेषवशोऽङ्घितज्ञाताकुशत्वेन सद्ग्रहणानुपवेगविना-  
शोद्वेतोः ॥

अर्थ—हे क्षपक ! तू शुभाशुभ शब्द, रस, गंध, और रूप इनमें राग द्वेष का निराकरण कर अर्थात् इंद्रियोंको  
जीत कर शुभाशुभ शब्दादिक विषयोंमें उत्पन्न होनेवाले राग द्वेष का तू नाश कर

जह णीरसं पि कडुयं ओसहं जीविदित्थिओ पिवदि ॥

कडुयं पि इंदियजयं णिवुइहेदुं तह भजेज्ज ॥ १४१४ ॥

हर्षीकविजयः सद्भिः कटुकोऽपि निषेव्यते ॥

भैषज्यमिव वांछद्भिर्नित्यसौख्यं यथांजसा ॥ १४७० ॥

विजयोदया—जह णीरस पि यथा स्वादुरहित कटुकमप्यौषधं जीवितार्थं पिवति । तथा इद्रियजय भजते  
कटुकमपि निर्धृतिहेतुम् ॥

किमर्थमत्यर्थदुःखावहत्त्वात्सर्वजनानामभिमतमिद्रियजयं शास्त्रे नियोगेनोपदिश्यते इत्यनाश्रयसंतं दृष्टतावष्टमेन  
प्रकृते व्यवस्थापयति—

मुलारा—णीरस स्वादुरहितं । कडुर्गपि पीडकमपि । भजेज्ज सेवेयास्त्वं ॥

अर्थ—जैसे रोगी पुरुष स्वादुरहित व कटु ऐसा भी औषध जीनेके लिये पीता है वैसे मोक्ष प्राप्तिके लिए  
कटुक भी इंद्रियजय करनेके लिये हे क्षपक ! तू हमेशा तत्पर रहना चाहिये

इन्द्रियजये क उपाय इत्यादि काया इन्द्रियकपायविषयणां शुभाशुभत्वे अनवस्थितः । ये शुभास्त पवेदानीं अशुभाः । अशुभा ये ते एव शुभा । ये तु अशुभतया दोषा इदानीं हरिः से शुभा इति गृहीता न त्वशुभा जातास्त एवामी- इति कथं नातुरागस्तत्र ये वाऽशुभास्तेषु कथं द्वेषः शुभता प्रतिपत्त्यमानेषु इति निवेदयति—

जे आसि सुभा एण्हि असुभा ते चेव पुगला जादा ॥

जे आसि तदा असुभा ते चेव सुभा इमा इण्हि ॥ १४१५ ॥

पुद्गला ये शुभाः पूर्वमशुभाः सन्ति तेऽधुना ॥

अशुभाः पूर्वमासन्ये सांप्रतं सन्ति ते शुभाः ॥ १४७१ ॥

विजयोदया—जे आसि शुभा एण्हि ये पुद्गलाः शुभा आसन्नितानीं त एवाशुभा जाताः । ये चासस्तदा अशुभा ते चैव शुभा इदानीं इति न तौ रागद्वेषौ युक्तौ इति शिक्षयति ॥

मूलारा—आसि पूर्वकाले भूताः । सुभा इष्टकामिन्यादिरूपतामापय भोग्यबुद्धिमादधानाः शोभना इति गृहीताः । अशुभा शुभैः परित्वेन गृहीताः । तदा प्राक्तनमुक्त्युपक्रमकाले असुभा अनिष्टरूपादिरूपतामापयाभोग्यमतिमातन्वंतोऽशोभ- ना इति गृहीताः । असुभा शुभव्यत्यासेन प्रतिपन्नाः । तदा तेऽनवनवस्थितशुभाशुभरूपेषु कस्तत्त्वविदा रागद्वेषावतार- प्रपन्ना इति शिक्षारक्ष्यम् ॥

इन्द्रियोक्तो जीवनेमं कोनसा उपाय हे ऐसी शका होनेपर उत्तर देते हैं इन्द्रिय और कर्पायोंके विषयमें भूषाभूषणना निश्चितरूपसे नहीं कहा जाता है, जो विषय शुभ थे वे वर्तमान समयमें अशुभ बनते हैं और जो 'अशुभा' थे वे शुभ भी होते हैं अशुभ होनेसे जिनका यह जीव द्वेष करता था वे ही अब शुभ बनेनेपर उनमें यह प्रीति 'अनुरक्त' होना है, और जो अब अशुभ हैं वे कालांतरमें शुभ होनेवाले हैं इसलिए उन से द्वेष करना भी योग्य नहीं, तात्पर्य यह है कि, जो अशुभ हैं वे शुभ बनेंगे तथा जो शुभ हैं वे अशुभ बनेंगे अतः इस जीवका रागद्वेष युक्त होना योग्य नहीं है, यही अभिप्राय आगेकी गाथामें स्पष्ट करते हैं—

'अर्थ—जो पुद्गल शुभ थे वे भी अब अशुभ होगये हैं तथा जो पुद्गल अशुभ थे वे अब शुभरूप हुए हैं

'अतः इन भेदकार रागद्वेष करना योग्य नहीं है' ॥



सन्वे वि य ते मुक्ता चत्ता वि य तह आणंतखुत्तो मे ॥  
सन्वेसु एत्थ को मज्झ विमोओ मुचविजडेसु ॥ १४१६ ॥  
मुक्कोच्छिताः कृताः सर्वे पूर्वं तेऽ नन्तशोऽङ्गिना ॥  
को मे हर्षो विषादो वा द्रव्ये प्राप्ते शुभाशुभे ॥ १४७२ ॥

विजजोदया—सन्वे वि य ते मुक्ता सर्वेऽपि च ते पुद्गल. शुभाशुभरूपा अनुभूतास्त्यका अनतदार मया  
द्रव्येषु मुक्तलक्षकेषु को विस्मयो ममेति त्वया चिता कार्यी ॥

यदा च तथा भाव्यमानेष्वपि पुद्गलेष्व नाद्यविद्यावासना भवतमासजयति तदा भवतैवं भावनीयमिति सन्या-  
सिनमुद्बोधयति—

मूलारा—भोग्यबुद्धावभिनितिविषय सानुरागं सेव्यमानः । मे मया । एष एतेषु भोगतया गृहीत्वा सेव्यमानेषु  
पुद्गलद्रव्येषु । विन्मओ अमुक्तपूर्वबुद्ध्या गृहीत्वाध्यावतारः ॥

अर्थ उपर्युक्त सर्व शुभाशुभ पुद्गल मैने अनंतवार भोगे हैं और अनंतवार उनका त्याग भी किया है.  
अतः भोगकर त्यागे गये इन पदार्थोंमें विस्मित होना मेरे लिए अयोग्य है. ऐसा विचार है क्षणिक ! तू हमेशा कर

यदि सुखसाधनतया तेज्वजुरागो, यदि दुःखसाधनतया रोप. सैव सुखदुःखसाधनता शुभाशुभादीना रूपाणां  
नैवास्ति संकल्पमतेरेणात्मन इति वदति—

रूपं सुभं च असुभं किंचि वि दुक्खं सुहं च ण य कुणदि ॥  
संकप्पविसेसेण हु सुहं च दुःखं च होइ जए ॥ १४१७ ॥  
रूपे शुभाशुभे न स्तः साधनं सुखदुःखयोः ॥  
सङ्कल्पवशतः सर्वं कारणं जायते तयोः ॥ १४७३ ॥

विजजोदया—रूपं सुभं च रूप शुभमशुभं वा किंचिदु खं सुखं च नैव करोति । संकल्पवशेनैव सुखं वा दुःख  
भवति जगति ॥

किं च कामिन्यादिनि इन्द्रियग्राहे द्रव्ये यदि सुखसाधनतया तवाजुरागो दुःखसाधनतया वा प्रद्वेय. संपदेत  
तर्हि तस्यैवा सुखदुःखसाधनता संकल्पपरतत्रैवात्मन इति चित्यमित्युपदिशति—

मूलारा—रूपं रूपं तद्योग्यादिद्रियग्राहं कामिन्यादिपुद्गलद्रव्यं । संकल्पविसेषेण ह्य शुभाशुभाकारोद्भेदि-  
मानसाध्यवसायपारवश्येनैव । जगो वहिरात्मप्राणिगणे ॥ सामान्येन्द्रियनिर्जयः ।

ये पुद्गल पदार्थ सुखके साधक हैं अतः इनमें मेरा अन्तराग है और अन्य पुद्गल दुःखके साधन होनेसे  
उन से मैं द्वेष करता हूँ ऐसा कहना भी योग्य नहीं है. शुभाशुभ रूप पुद्गल न दुःखके न सुखके साधन हैं परन्तु  
तेरा संकल्प ही सुख और दुःखका साधन है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ—शुभ रूप अथवा अशुभ रूप सुखका अथवा दुःखका उत्पादक नहीं है परन्तु हे आत्मन् ! संकल्प  
से ही सुख और दुःख होता है.

इह य परत्त य लोए दोसे बहुमे य आवहइ चक्खू ॥

इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेद्वव्यो हवदि चक्खू ॥ १४१८ ॥

विदधाति यतश्चक्षुर्महादोषमनिर्जितम् ॥

निर्जितव्यं ततः सङ्गिः सर्वथा तदतद्रितैः ॥ १४७४ ॥

त्रिजयोदया—इत य परत्त य जन्मद्वयेऽपि यदुन्वेषानावहति चक्षुरित्यादिनावगण्य निर्जितव्यं चक्षुः ॥  
अधुना लोकद्वयबहुदोषे बहुत्वभावनायेन्द्रियविशेषनिर्जय गाथाद्वयेन व्यावर्णयिष्यन्नादावतिदुर्जयतमत्वा-

गक्षुयो निर्जये नियुक्ते—

मूलारा—णिज्जेद्वव्यो श्रोत्रादिभ्योऽतिशयेन निग्राह्यम् ॥

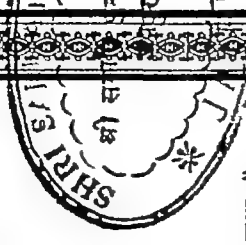
अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें चक्षुरिन्द्रिय अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा जानकर चक्षुरि-  
न्द्रिय पर विजय प्राप्त करलेना चाहिये

एवं सम्मं सद्वरसंगंधफासे विचारयित्ताणं ॥

सेसाणि इंद्रियाणि वि णिज्जेद्वव्याणि बुद्धिमदा ॥ १४१९ ॥

शब्दगंधरसस्पर्शगोचराण्यपि यत्नतः ॥

जेतव्यानि हृषीकाणि योगिना शमभगिना ॥ १४७५ ॥



दुर्जयान्नरानिलिपभर्तृभिः पंच यो विजयतेऽश्वद्विषः ॥

तस्य सन्ति सकलाः करस्थिताः संपदो भुवननाथपूजिताः ॥ १४७६ ॥

इति इंद्रियनिर्जयः ॥

विजयोदया—एव सम्म उभयजन्मगोचरानेकदोषावहृत्त्वं विचार्य स्वबुद्ध्या शेषाण्यर्षाद्रियाणि शब्दरसगंध-  
स्पर्शविषयाणि निर्जेतव्यानि बुद्धिमता । सहरसगंधफाले इति वैषयिकी सप्तमी ॥

मूलारा—एवं लोकद्वयगतानेकदोषावहृत्त्वेन । सहरसगंधफाले शब्दरसगंधस्पर्शविषयाणि ॥ इंद्रियविशेष  
निर्जयः ।

अर्थ— इसी प्रकार स्पर्शनेंद्रिय, रसनेंद्रिय, घ्राणेन्द्रिय चौरह इन्द्रियां भी इहपर लोकमें अनेक दोषोक्तो  
उत्पन्न करती हैं ऐसा विचार कर उनको भी बुद्धिमान पुरुष जीतनेका प्रयत्न करें अर्थात् इन इंद्रियाँके शब्द-  
रसादिक विषयोमें रागद्वेषका संकल्प करना छोड़कर समभावना रखनी चाहिये.

क्रोधजयोपायमाचष्टे—

जदिदा सवति असंतेण परो तं णत्थि मेत्ति खमिदब्बं ॥

अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पावं वरावोत्ति ॥ १४२० ॥

दत्ते शापं विना दोषं नायं मेऽस्तीति सख्यते ॥

कृपा कृत्येत्ययं पापं वराकः कथमर्जति ॥ १४७७ ॥

विजयोदया—जदिदा सवदि असंतेण यदि तावदसता दोषेण शपति पर स दोषो न ममास्तीति क्षमा कार्यो ।  
असदोपख्यापनेनास्य मम किं नष्ट इति । अथवाणुकंपा आक्रोशके कुर्याद्वराकोऽसवभियोनेन समर्जयति पापभारं अनेक  
तु खावह । मदीयैर्दोरेस्य किंचिद्यायति दोषजात । गुणैर्वो किमसौ किंचिद्रवति ? प्राणिना प्रतिययता गुणदोषास्तत्त-  
मेव प्रति सुखदुःखयोजनास्ततो मुद्यनेन कर्मवध संपाद्यते इति ॥

इदानीं कपायविशेषनिर्जयं गायानामेकान्नविशल्या व्याचक्ष्णः पूर्वं क्षमालक्षणं प्रतिपक्षादिभावनास्वभावं  
क्रोधनिर्जयोपाय गाथासप्तकेनाह—

मूलारा—सवदि आक्रोशति । असंतेण अविद्यमानदोषेण अहेतुना । तं णत्थि मेत्ति खमिदब्बं स शापनिमित्त

तथा 'परेणावधारितो' दोषो मम नास्तीति क्षमा कार्यो । असदोषख्यापनेनास्य मम किं नष्टमिति । अणुकंपं अनुकंपां । अयं वराणोऽसज्जल्यनेन मूर्खिः खावहं दुष्कृतभारं अर्जति, नहि मदीयैर्दोषैरस्य किंचिद्दोषज्ञातमायति गुणैर्वा गुणं जात । ततो मुद्योनेन पापं वध्यते इति क्षमामयीं चिन्तां आक्रोशके कुर्यात् । एवभूते हि क्षान्त्यनुकंपाभावेने सद्यः कोप-मपसारयतः ॥

अर्थ—मेने इसको अपराध किया नहीं तो भी यह पुरुष मेरेपर क्रोध कर रहा है गालि दे रहा है, मैं तो निरपराधी हूँ ऐसा विचार कर उसके ऊपर क्षमा करनी चाहिये इसने मेरे असदोषका कथन किया तो मेरी इसमें कुछ भी हानि नहीं है अथवा क्रोध करनेपर दया करनी चाहिये, क्योंकि यह दीन पुरुष असत्य दोषोंका कथन कर पापोपार्जन कर रहा है, यह पाप उसको अनेक दुःखोंको देनेवाला होगा मेरे दोषोंसे न इसमें दोष उत्पन्न होते हैं और न मेरे गुणोंसे इस में गुण पैदा हो जाते हैं, प्राणिओंके गुण दोष उनके साथ ही संबद्ध रहते हैं अतः सुख दुःखका सवध ही नियत प्राणिओंसे ही रहता है अतः दीन व्यर्थ ही कर्मवध कर रहा है ऐसा विचार कर असदोष कहने वालेपर दयाभाव रखना चाहिए

चिन्ता करुणाद्विषका रोप परुषमपसारयति—

जदि वा सवेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदब्बं ॥

सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीय तेण भणिदस्सि ॥ १४२१ ॥

सत्येऽपि सर्वतो दोषे सहनीय मनीषिणा ॥

विष्यते मम दोषोऽयं न मिथ्यानेन जल्पितम् ॥ १४७८ ॥

विजयोक्त्या—जदि वा सवेज्ज यदि वा शोष्य सता दोषेण तथापि क्षमा कार्यो । सोऽनेन कथ्यमानो दोषो ममास्ति न व्यलीकं तेनोक्तमिति संकल्पयता । न हि सतो दोषाः परे चेष्टुमुवन्ति विनश्यति ॥

मूलारा—जदिवा सवेज्ज इत्यादि । लोको हि प्रायेणसतोऽपि दोषाख्यन्ति । किं पुनः सतस्तत्कोऽस्य दोषो न कश्चिन्मपैवायं प्राक्तनदुर्देवानुभावो येनाहमेवविषयं दोषं जानन्नपि न त्यक्तुं शक्नुयामिति तत्त्वज्ञानभावनामयीं क्षमां कुर्यादिति तात्पर्यं ॥

करुणात्मक विचार कठोर रोषको दूर करता है—

अर्थ—यदि मेरेमें दोष हैं और इसने मेरे सत्य दोषोंका कथन किया है तो भी इसके ऊपर क्षमा करना मेरा कर्तव्य है, इसने जो दोष कहा है वह मेरा है ही, इसने असत्य तो कहा ही नहीं ऐसा विचार कर क्षमा करनी चाहिए, विद्यमान दोषोंको कोई कहे तो क्या वे नष्ट होजाते हैं ?

यो यस्य समुपकारं महांतं चेतसि करोति स तस्यापराधं अल्प सहते इति प्रसिद्धमेव लोके इति कथयति—

सत्तो वि ण चैव हदो हदो वि ण य मारिदो त्ति य खमेज्ज ॥

मारिज्जंतो विसहेज्ज चैव धम्मो ण णट्ठोत्ति ॥ १४२२ ॥

शसोऽस्मि न हतोऽनेन निहतोऽस्मि न मारितः ॥

मरणेऽपि न मे धर्मो नश्यतीति विषद्यते ॥ १४७९ ॥

विजयोदया—सत्तो चैव शस एवासि न हत, इत्यहन्न गुणं पृथुं चेतसि संस्थाप्य किमेनेन शपनेन मे नष्टमिति क्षन्तव्यं । एवमितरत्रापि योज्य । हत एव न वृत्त्यु प्रापित, । मार्यमाणोऽपि सहते विपन्नमूलनक्षमोऽभिलषितसुखस-  
पादनोद्यतो धर्मो न विनाशित इति ॥

यो यदीय महात उपकार चित्ते करोति स तदीयमल्पमपराधं सहते इति लोकप्रसिद्धैतैव मार्गेण क्रोधाद्व्या-  
र्तयति—

मूलारा—सत्तोहि चैव शस एवासि । ण हदो न कशादिभिस्ताडितः । एवमहन्नं महातं गुणं चेतसि संस्थाप्य किमेनेनास्य शपनेन भय नष्टम् । यावन्न ताडयतीति वा आक्रोष्टरि क्षमा कुर्यात् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । धम्मो समस्तविपदसारणप्रवणः सकलसुखसादनोद्यतो वृणो ममानेन न नाशित इति ॥

जो जिसके ऊपर महान उपकार करता है वह उसका अल्प अपराध सहता है यह लोकोक्ति जगतमें प्रसिद्ध ही है, इसीका विवेचन—

अर्थ—इसने मेरे को गालीही दी है इसने मेरे को पीटा तो नहीं है, अर्थात् न मारना यह इसमें महान् गुण है इसने गालि दी है परतु गालि देने से मेरा तो कुछ भी नुकसान नहीं हुआ अतः इसके ऊपर क्षमा करना ही मेरे लिए उचित है, ऐसा विचार कर क्षमा करनी चाहिए इसने मेरे को फक्त ताड़न ही किया है, मेरा वध तो

नहीं किया है वध करने पर भी क्षमा करनी चाहिए मेरा धर्म संकटको दूर करनेवाला और इच्छित सुख देने वाला है वह धर्म इसने नष्ट नहीं किया है इसने यह महान् उपकार मेरे ऊपर किया है ऐसा मानकर क्षमा ही करना योग्य है.

उपायांतरमपि रोपविजये निरूपयति—

रोसेण महाधम्मो णासिज्ज तणं च अग्निणा सव्वो ॥

पावं च करिज्ज माहं बहुगंपि णरेण खमिद्वं ॥ १४२३ ॥

क्रोधो नाशयते धर्मं विभावसुरिवेन्धनम् ॥

पापं च कुरुते घोरमिति मत्वा विपश्यते ॥ १४८० ॥

विजयोदया—रोसेण महाधम्मो दुरज्जतो दुर्लभतरो धर्मोऽनुयायी रोसेण मदीयो नश्यति ॥ अग्निना दृणमिव । तथा चाभ्यघायि—

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्ववमानवातैः ।

संघुक्षित परुषवागुरुविस्फुल्लिगः ।

हिंसाशिलोऽपि भृशसुस्थितवैरधूमः ॥

क्रोधाग्निरुद्दति धर्मवन नराणा ॥ इति ॥

पापं वा कुर्यान्ममाय कोपस्तद्वनेकदुःखबीजमिति चित्ते वा क्षमा कार्या ॥

उपायांतरमपि रोपविजयेव्रवीति—

मूलारा—महं मम दुर्ज्ञातो दुर्लभो दुश्चरोऽनुगाभी व मे धर्मो निःशेषोऽपि रोसेण नश्यतीति भावयेत् ।

तथा चोक्तम्—

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्वपमानवातैः

संघुक्षितः परुषवागुरुविस्फुल्लिगः ॥

हिंसाशिलो भृशसुस्थितवैरधूमः ।

क्रोधोऽग्निरुद्दति धर्मवनं नराणाम् ॥

मोहं मम रोपो भूरिपापं कुर्यात् तज्ज्ञानकमवदुःखवीजं इति चिंतया क्षमा कार्या । अथवा पावं करेल माहं पापं मा कुर्यां महारोषेणेति नियोज्यम् ॥

और भी उपाय कहते हैं—

अर्थ—जैसे अभिसे सर्व गुण नष्ट होता है जलकर खाक होता है वैसे अतिशय दुर्लभ, परमार्थ साय आनेवाला, बड़े कष्टसे प्राप्त किया गया सद्गुरु क्रोधसे नष्ट होता है  
पूर्वाचार्य इस विषयमें ऐसा कहते हैं—

यह क्रोधरूप अग्नि अज्ञान रूपी इंधनसे उत्पन्न होता है, अपमानवायुमें भरकर ऊठता है, कठोर वचनरूपी स्फूर्तिगसे युक्त है, हिंसा रूपी ज्वालासे युक्त है और अतिशय प्रगट ऐसा वैरही इसका धूम है ऐसा यह क्रोधाग्नि मनुष्यके धर्म रूपी वगीचेका क्षणात् नाश करता है । मे यदि क्रोध करूंगा तो मेरेमें पाप होगा. पाप अनेक दुःखोंका बीज है, इस प्रकारका विचार कर मनमें क्षमा करना चाहिये.

उपायांतरमपि वदति—

पुण्ड्रकदमज्झपावं पत्तं परदुःखकरणजादं मे ॥  
रिणमोक्खो मे जादो मे अज्जत्ति य होदि खमिदब्बं ॥ १४५४ ॥

परदुःखक्रियोत्पन्नमुदीर्णं कल्मषं मम ॥  
ऋणमोक्षोऽधुना प्राप्तो विज्ञायेति विपद्यते ॥ १४८१ ॥

विजयोदया—पुण्ड्रकदमज्झपावं पापमग्नद्वारमज्ञानता अनेनापि प्रमादितो पूर्वं कृत यत्कर्म पापं परया दुःखका रणं तदद्य निवर्तित । ऋणमोक्षोऽद्य मम जात इति चिंतयताऽपसारयितव्यो रोप ।

मूलारा—पुण्ड्रकदं पापाश्रयकारण जानताऽज्ञानतापि वा प्रमादवता सता यत्पुरोपाजितं तदिदं पापमयोदित-ममेति संबधः ॥ ऋणमोक्तो ऋणमोचन । अज्जति अयेति । उक्तं च—

परदुःखक्रियोत्पन्नमुदीर्णं कल्मषं मम ॥

ऋणमोक्षोऽधुना प्राप्तो विज्ञायेति विपद्यते ॥

और भी उपाय बतलाते हैं.—

अर्थ—मैंने पूर्व जन्ममें दूसरोंको दुःख देकर पापबन्ध कर लिया था. पाप आनेका कारण नहीं जानते हुए इस प्रमादी मनुष्यने मेरा पाप अब उदयावस्थामें लाया है अतः मैं इस क्रणसे आज मुक्त हो रहा हूं ऐसा विचार कर दुःख देनेवालोंपर क्षमा धारण करनी चाहिये अर्थात् कोपको अपने मनसे हटाना चाहिये

पुण्यं सयमुवभुत्तं काले णाएण तंत्तियं दब्बं ॥

को धारणीओ धणियस्स दित्तओ दुक्खिओ होज्ज ॥ १४२५ ॥

अनुमुत्तं स्वयं यावत्काले न्यायेन तत्समम् ॥

अधमर्णस्य किं दुःखमुत्तमर्णाय यच्छतः ॥ १४८२ ॥

विजयोदया—पुण्य सयमुवभुत्तं पूर्वं स्वयमेव भुक्त, अधधिकाले प्राप्ते । णायेण नीत्या । उव्य अधमर्ण उत्तमर्णाय प्रयच्छन् को दुःख करोति ॥

पूर्वजन्मविराद्वेन परेणोदीरितं तद्विराधनोपार्जितं पापमनुभवतो मे किं दुःख स्यादधमर्णाय पूर्वमुदीकृत्य स्वयं मुक्तं द्रव्यं तावन्मात्रमेव यथा व्यवहारमवधिकाले प्राप्ते दहत इत्येवापकतीरि दीप्यमानस्य कोपस्य निमग्नार्थमुपायातर-मुपदिशति—

मूलारा — णाएण धर्माचारेण । धारणिओ ऋणिकः ॥

अर्थ—जैसे साहुकारसे द्रव्य लाकर उसका उपभोग लिया परंतु उसका धन मर्यादा काल आनेपरभी लौटाया नहीं परंतु अत्र धन लौटानेका समय यदि प्राप्त हुवा है तो अवश्य साहुकारको उसका धन वापिस देना चाहिये उसका धन उसको देनेमें कोन दुःख केरगा वैसे इस मनुष्यको पूर्व जन्ममें दुःख देकर पापोपार्जन किया था अब यह मेरेको दुःख दे रहा है यह योग्य ही है इसने दिया हुवा दुःख मैं यदि शांत भावसे सहन करूंगा तो मेरा पापकर्म सब नष्ट हो जायगा मैं इस पाप क्रणसे रहित होकर सुखी होऊंगा ऐसा विचार कर रोप नहीं करना चाहिये.



इह य परत्त य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोधो ॥

इदि अप्पणो गणिता परिहरिद्व्यो हवइ कोधो ॥ १४२६ ॥

निपेवितः कोपरिपुयतोऽङ्गिनां ददाति दुःखान्मुभयत्र जन्मनि ॥

निकर्तनीयः शमखड्गधारया तपोवियोधैः स ततोऽन्यदुर्जयः ॥ १४८३ ॥

इति क्रोधनिर्जयः ।

विजयोदया—स्पष्टा ॥

मूलारा—स्पष्टम् । क्रोधनिर्जयः ॥

अर्थ—इस लोकमें और परलोकमें यह क्रोध अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा विचार कर क्रोधका परिहार—त्याग करना चाहिये.

उत्तरा गाथा-क्रोधजयोपायभूतान्परिणामानुपदश्यं मानप्रतिपक्षपरिणामं निरूपयति—

को एत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्स ॥

उच्चत्ते य अणिच्चत्ते उवाहिदे चावि णीचत्ते ॥ १४२७ ॥

नीचत्वे मम किं दुःखमुच्चत्वे को ऽत्र विस्मयः ॥

नीचत्वोच्चत्वयोर्नास्ति नित्यत्वं हि कदाचन ॥ १४८४ ॥

विजयोदया—को एत्थ मज्झ माणो कोऽत्रासकृतप्राप्तेऽज्ञानादेकतन्त्रयतत्वे गर्वो मम बहुशो शानकुलरूपतपो द्रविणप्रभुत्वैरुन्नततां प्राप्तस्य प्राप्तेऽप्युन्नतत्वे अनवस्थायिनि सति उपस्थिते चोत्तरकालनीचत्वे ॥ मानजयोपाय गाथाचतुष्केणोपदिशति—

मूलारा—एत्थ अत्र वर्तमाने ज्ञानादेरुन्नतताय । अणिच्चत्वे उच्चत्वे च दैववशात्प्राप्तेऽनवस्थायिनि सति । किं मम बहुवाराभीचत्वमपि प्राप्तस्यापि अस्मिन्नुच्चत्वे प्राप्ते गर्वं इति मार्दवं भावयेत् इति भावः ॥

उक्तं च—

नीचत्वे मम किं दुःखमुच्चत्वे कोऽत्र विस्मयः ।

नीचत्वोच्चत्वयोर्नास्ति नित्यत्वं हि कदाचन ॥

मानके प्रतिपक्ष भूत परिणामोंका वर्णन करते हैं—

अर्थ—मैं इस संसारमें अनतवार नीचावस्थामें उत्पन्न हुआ हूं. उच्चत्व और नीचत्व ये दो अवस्थायें नित्य नहीं हैं. कुछ काल रहकर नष्ट होती हैं ज्ञान, कुल, रूप, संपत्ति, प्रभुत्व ये अनेकवार इस जीवको प्राप्त हुए हैं ये प्राप्त होकर भी पुनरपि नष्ट हो चुके हैं और पुनः नीचत्व प्राप्त हुआ है अतः अभिमान करना फिजूल है

अधिगेसु बहुसु संतेसु ममादो एत्थ को महं माणो ॥

को विब्भओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते ॥ १४२८ ॥

परेषु विद्यमानेषु किं दुःखमधिकेषु मे ॥

योनिहीनेष्वहंकारः संसारे परिवर्तिनि ॥ १४८५ ॥

विजयोदया—स्पष्टा ॥

मूलारा—ममादो मत्सकाशात् । विब्भओ हर्षः ॥

अर्थ—कुल, रूप, संपत्ति इत्यादिक ज्ञातोंमें मेरेसेभी अधिक श्रेष्ठ लोक जगतमें हैं अतः इसमें मेरा अभिमान करना व्यर्थ है तथा ऐसा उच्चत्व मेरेको पूर्वकालमें अनेक बार प्राप्त हुआ था इसलिये इसमें आश्चर्य चकित होना भी मेरे लिए अयोग्य है

उत्तरगाथा—

जो अवमाणकरणं दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो ॥

सो णाम होदि माणी ण दु गुणचत्तेण माणेण ॥ १४२९ ॥

स मानी कुरुते दोषमपमानकर न यः ॥

न क्षुर्याणः पुनर्मानमपमानविवर्द्धकम् ॥ १४८६ ॥

विजयोदया—जो अयमाणकरणं दोषं परिहरति नित्यमुपयुक्तः स मानी भवति । न तु भवति मानी गुणविक्रान्तं मानेन ॥

अलौकिकमानित्वोपदर्शनद्वारेणाहंकारनिराकरण कारयितुमाह—

मूलरा—अवमाणणकरणं परिभवकरं स्वस्य परस्य वा । दोसं कुलतपोनिद्यादिभिरात्मोक्तपसंभावन परप्रध-  
र्पणं वा । आउत्तो सर्वत्र समाहितः । सो णाम स एव मानी भवति । तन्माहात्म्यस्य केनापि गंडयितुमशक्यत्वात् ।  
गुणरित्तेण स्वपरपराभवकरणमानाख्यदोषदोषनित्यपरिहरणलक्षणगुणपरिहीनेन । माणेण सत्त्वत्वमात्रेण । तन्माहात्म्य-  
खंडनस्य येन केनापि कर्तुं शक्यत्वात् ॥ उक्तं च—

स मानी कुरुते दोषमपमानकर न यः ॥

न कुर्वाणः पुनर्मानमपमानविवर्धकम् ॥

अर्थ—जो पुरुष अपमानका कारण ऐसे दोषका त्याग करता है और हमेशा दोषरहित प्रवृत्ति रखता है उसको ही मानी समझना योग्य है. गुणरहित होनेपर भी मान करनेसे कोई मानी नहीं माना जासकता है

इह य परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो ॥

इदि अप्णो गणित्ता माणस्स विणिग्गहं कुज्जा ॥ १४३० ॥

द्वितयलोकभयंकरसुत्तमो विविधदुःखशिलाततदुर्गमम् ॥

प्रबलमार्दववज्राविघाततो नयति माननगं शतम्बडनम् ॥ १४८७ ॥

इति माननिर्जयः ॥

विजयोदया—इह य परत्तय जन्मद्वये दोषान्बहुनावहति मानमिति विगणय्य माननिग्रहं कुर्यात्साधुजन ॥  
मूलरा—स्पष्टम् । माननिर्जयः ॥

अर्थ—इस जन्ममें और परजन्ममें यह मानकपाय बहुत दोषोंको उत्पन्न करता है. ऐसा जानकर सत्पुरुष मानका निग्रह करते हैं अर्थात् मानका त्याग करते हैं.

मायाप्रतिपक्षपरिणामस्वरूपं निगदति—

अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण णज्जंति ॥

मायाए पउत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो ॥ १४३१ ॥

दोषो निगुह्यमानोऽपि स्पष्टतां याति कालतः ॥

निक्षिप्तं हि जलेवर्चो न चिर व्यवतिष्ठते ॥ १४८८ ॥

विजयोदया—अदिगृहिदा वि दोसा अतीव सबूता अपि दोषा जनेन क्षायते कालातरे मायया प्रयुक्तया को गुणो लब्ध इति चित्तया निश्चति ॥

मायाजयोपाय गाथापंचकेनाह—

मूलरा—अदिगृहिदा सुष्ठु गोपिताः । लब्धो येन वचना प्रयुज्यते इत्यार्जवभावनया माया निर्जयेदिति तात्पर्यम् ॥

मायाका प्रतिपक्षी परिणामका स्वरूप आचार्य कहते हैं—

अर्थ—दोषोंको अतिशय छिपाने पर भी कालांतरसे कुछ काल व्यतीत होनेके बाद वे दोष लोकोंको मालूम पड़ते ही हैं, इसलिये मायाका प्रयोग करने पर भी क्या फायदा होता है ? ध्यानमें नहीं आता

पडिभोगमि असंते गियडिसहस्सेहिं गूहमाणस्स ॥

चंदग्गहोव्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ॥ १४३१ ॥

जणपायडो वि दोसो दोसोत्ति ण वेप्पणु समागस्स ॥

जह समलत्ति ण विप्पदि समलं पि जए तलायजलं ॥ १४३३ ॥

प्रकटोऽपि जनैर्दोषः सभाग्यस्य न गृह्यते ॥

समलं मलिनं केन गृह्यते सारसं जलम् ॥ १४८९ ॥

नीचेन छायामानोऽपि स्पष्टतामेति निर्मलः ॥

राहुणा पिहितश्चंद्रो भूयः किं न प्रकाशते ॥ १४९० ॥

विजयोदया—जणपायडो वि दोसो लोकप्रकटोऽपि दोषो दोष इति न गृह्यते भाग्यवतः । यथा समलमिति सदृश । पतदुक्त भवति पुण्यवतोऽपि मायया न किंचित्साध्यं । प्रकटोऽपि दोषे यतोऽसौ जगति मान्यः । दोषविनिगूहनं हि मान्यताविनाशमयति भावः ॥

किं च कृतदोषाविर्भावतिरोभावौ भाग्यानुदयोदयाधीनौ न पुरुषाकारायत्तौ तत्किमर्थं राक्षसीवापायप्राया माया प्रतायते इति शिक्षयति—

मूलारा--पडिभोगस्मि पुण्ये । चंदगहो सोमग्रहणं । एता श्रीविजयो नेच्छति ॥  
 भाग्यशालिनो दोषमपि दोष इत्यग्रीत्वा लोको मानना करोति इति पुण्यवतो मायया न किंचित्साध्यं तथा-  
 प्यसौ प्रयुज्यमाना मान्यवत्सेव विनाशयेत् इति शिक्षयति--

मूलारा--स्पष्टम् ॥

अर्थ--उत्कृष्ट भाग्य यदि न होगा तो हजारों कपट करके दोषोंको छिपाने पर भी वे प्रगट होते ही हैं।  
 जैसे चंद्रको राहू ग्रास लेता है यह बात छिपती नहीं सर्व जनप्रसिद्ध होती है, वैसे दोष छिपानेका कितना भी  
 प्रयत्न करो परंतु यदि तुम पुण्यवान न होंगे तो तुम्हारे दोष लोगोंको मात्स्र होंगे ही।

अर्थ--जो माग्यवान मनुष्य है उसका दोष सर्व जनोंको प्रत्यक्ष होनेपर भी लोक उसको दोष मानते  
 नहीं हैं जिस तालावका पानी मलिन होनेपर भी उसके मलिनपनके तर्फ जव लक्ष्य नहीं देते हैं, इससे यहां  
 यह अभिप्राय समझना चाहिए-- पुण्यवान् कपट करनेकी कुल भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दोष प्रगट  
 होनेपर भी श्रीमान मान्य होते ही हैं मान्यताका नाश होगा इस भयसे दोषोंको छिपाते हैं परंतु जब मान्यताका  
 नाश होनेका भय ही नहीं है तो कपट करनेकी क्या आवश्यकता है

अथ माया करोत्यर्थोऽयं तथापि सान्निधिकेति वदति--

डंभसएहि बहुगेहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स ॥

हत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो ॥ १४३४ ॥

दंभेऽर्थः क्रियमाणेऽपि विपुण्यस्य न जायते ॥

आयाति स्वयमेवासौ सुकृते विहिते सति ॥ १४३५ ॥

विजयोदया--डंभसदेहिं बहुगेहिं दंभशतैर्बहुमि सुप्रयुक्तैरपि अपुण्यस्य हस्तं नात्यर्थः । अन्यस्मात्पुण्यात् ॥  
 विपुण्यस्य मायाप्रयोगो धनसाधनायपि न स्यादिति बोधयति--

मूलारा--अपडिभोगस्स अपुण्यस्य । अण्णादो अन्यस्माद्वचनाविपरीकृतात् । सपडिभोगादो सपुण्यात् ॥  
 धनके लिये माया करते हैं यह कहना भी व्यर्थ है ऐसा कहते हैं--

अर्थ—सैकड़ों कपट प्रयोग करने पर भी और बेमालूम कपट प्रयोग करने पर भी पुण्यवान मनुष्यसे भिन्न मनुष्यको अर्थात् पापी मनुष्यको धन प्राप्त नहीं होता है तात्पर्य—कपट करनेसे धन प्राप्ति होती नहीं वह पुण्यसे ही मिलता है।

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया ॥

इदि अप्पणो गणिता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥ १४३५ ॥

वितरति विपुला निष्कृतिधरित्री बहुविधमसुखं दुरितसवित्री ॥

इयमिति निहता विपुलमनस्कै ऋजुगुणपविना विमलयशस्कैः ॥ १४९२ ॥

इति मायानिर्जयः ॥

विजयोदया—इह य परत्त य इहपरलोकयोर्बहुन्योपानवदति माया । इति आत्मनि निरूप्य परिहृतं भवति माया ॥

मूलारा—स्पष्टम् । मायानिर्जयः ॥

अर्थ—इहपरभवमें मायासे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा जानकर मायाका त्याग करना चाहिये

लोभे कए वि अत्यो ण दोइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स ॥

अकएवि हवदि लोभे अत्यो पडिभोगवंतस्स ॥ १४३६ ॥

संपद्यते सपुण्यस्य स्वयमेत्यान्यतो धनम् ॥

हस्तप्राप्तमपि क्षिप्रं विपुण्यस्य पलायते ॥ १४९३ ॥

विजयोदया—लोभे कदे लोभे कृत्यर्थो न भवति पुण्यस्य अपुण्यस्य । अकृतेऽपि लोभे पुण्ययतः । ततः अर्थो-सत्किर्यलोभे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यनया चितया लोभो निराकार्यः ॥

लोभजयोपायं गाथात्रयेणाह—

मूलारा—पडिभोगवतस्स पुण्यवतः । अर्थोसत्किर्यलोभमितिभित्तमपि तु पुराकृतं पुण्यमित्यनया चितया शौच-मनुष्यत्वं लोभं निराकुर्यादितिभावः ॥

अर्थ—लोभ करनेपरभी पुण्यरहित मनुष्यको द्रव्य मिलता नहीं है और लोभ न करनेपर भी पुण्यवान को धनकी प्राप्ती होती है इसलिये धनप्राप्ति होती है इसलिये धनप्राप्ति होनेमें धनामक्ति कारण नहीं है परन्तु पुण्य ही कारण है ऐसा विचार कर लोभ का त्याग करना चाहिये.

अपि च अर्थप्राप्तये जन प्रयतते नर्या पुनरसकृत्प्राप्तास्यक्ताश्च तेषु को विस्मय इति मनःप्रणिधानं कु-  
लोभविजयोयेति वदति—

सव्ये वि जए अत्या परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे ॥  
अर्थेसु इत्थ को मज्झ विमओ गहिदविजडेसु ॥ १४३७ ॥  
संसारेऽदाद्यमानेन प्राप्ता सवें सहस्रज्ञ ॥

विस्मयो लब्धसुक्तेषु कर्तेषु मम सांप्रतम् ॥ १४३४ ॥

विजयोदया—सव्ये वि जये अत्या सर्वेऽपि जगत्पार्था परिरुहीना मयान्तवार ममायेंपमीषु को विस्मयो  
गृहीतसुक्तेषु ॥

उपायातरमाह—

मूलारा—स्पष्टम् । लोभनिर्जयः ॥

धन प्राप्त्यर्थं लोक यत्न करते हैं धन तो अनेक बार मिल गया था और नष्ट भी हुआ था इसलिये धनमें आश्रय करना फिजूल है लोभ विजयके लिये ही है क्षणिक मनको स्थिर कर ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं—  
अर्थ—इस वैलोक्यमें मैंने अनंतवार धन प्राप्त किया है अतः अनंतवार ग्रहण कर त्यागो हुए इस धनके विषयमें आश्रय चकित होना फिजूल है

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ॥

इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदब्बो हवदि लोभो ॥ १४३८ ॥

लोकद्वये दुःखफलानि दत्ते गार्धक्यतोयेन विवर्द्धितोऽयम् ॥  
संतोषशस्त्रेण निकर्तनीयः स लोभवृक्षो बहुलः क्षणेन ॥ १४९५ ॥

कपायचौरानतिदुःखकारिणः पवित्रचारिचधनापहारिणः ॥

श्रृणोति यश्चारुचरित्रमार्गैः करस्थितास्तस्य मनीषिताः श्रियः ॥ १४९६ ॥

इति लोभनिर्जयः ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायत्तिगद ।

मूलारा—सष्टम् ॥ लोभनिर्जयः ॥

अर्थ—इहपरलोकमें यह लोभ अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा समझकर लोभकपायपर विजय प्राप्त करना चाहिये, इन्द्रिय और कपायोंका वर्णन समाप्त हुआ

एवमिन्द्रियकपायपरिणामनिरोधोपायभूतान्परिणामानुपविश्य निद्राजयक्रम निरूपयति सूत्र —

णिहं जिणाहि णिच्चं णिद्वा हु णं अचेयणं कुणह् ॥

वट्टिज्ज हु पासुतो खवओ सव्वेसु दोसेसु ॥ १४३९ ॥

निद्रां जय नरं निद्रा विदधाति विचेतनम् ॥

सुप्तः प्रवर्तते योगी दोषेषु सकलेष्वपि ॥ १४९७ ॥

विजयोदया—णिहं जिणाहि निद्रा जय । अजिता सा किमपकारं करोति इत्याशंक्य आह—णिद्वा हु णर अचेयणं कुणह् निद्रा नर अचेतनं करोति । चैतन्यरहितावस्थाभावात्किमुच्यते अचेतनं करोतीति । अत्रोच्यते—विवेकज्ञानरहितत्वमेवात्राचेतनशब्देनोच्यते । यत एव योग्यायोग्यविवेकज्ञानरहित अत एव । वट्टिज्ज हु वर्तते एव । पासुतो प्रकर्षेण सुप्त । खवगो क्षपक । सव्वेसु दोसेसु हिंसामैथुनपरिग्रहादिकेषु ॥

एवमिन्द्रियकपायजन्यान्सर्वहेतुनुपविश्य तत्प्रकरणानुरोधतः सक्तं निद्राजयोपाय सोपायं गाथादशकेनोपदिशति मूलारा — जिणाहि जय त्वं । अचेयणं युक्तयुक्तविवेकविमुक्त । दोसेसु हिंसादिषु ॥

इन्द्रिय कपाय परिणामोंका निरोध करनेमें उपायभूत परिणामोंका यहाँतक आचार्यने विवेचन किया अब निद्राजयका क्रम कहते हैं —

अर्थ—हे क्षपक 'तू निद्राको जीत ले, निद्राको न जीतनेसे क्या हानि होती है इस शंकाका उत्तर ऐसा है—निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है आत्मामें चैतन्यरहित अवस्थाका अभाव ही है अतः निद्रा अचेतन करती है, ऐसा क्यों



कहा है ? उत्तर—विवेकज्ञानका अभाव निद्राके समय होता है अतः निद्रा मनुष्य को अचेतन करती है ऐसा कहा है योग्यार्थोपविवेकज्ञान न होनेसे आत्मा अचेतन होता है, ऐसा कह सकते हैं गाढ़ निद्रित हुआ मनुष्य हिंसा, मैथुन, परिग्रहादिक दोषोंमें प्रवृत्त होता है।

निद्रा कर्मोदयवशाद्भवति कथं मर्यापकतव्या इत्यत्राह—

जदि अधिवाधिज्ज तुमं णिदां तो तं करेहि सज्झायं ॥

सुहुमत्ये वा चित्तेहि सुणव संवेगणिब्बेगं ॥ १४४० ॥

यदा प्रयाधते निद्रा स्वाध्यायं त्व तदाश्रय ॥

अर्थानणीयसो ध्यायन्कुं संवेगनिर्विदौ ॥ ४९८ ॥

विजयोदया—जदि अधिवाधिज्ज तुमं यद्यधिवोधेत भवत निद्रा । ततस्त्व कुरु स्वाध्याय । सुहुमत्ये वा चित्तेहि सुहृमानर्थान् चितय । सुणव संवेगणिब्बेगं शृणुएव संवेजनीं निर्वेजनीं वा कथा ॥

दर्शनावरणोदयोद्रेकादाविशनी निद्रा कथं मया निरोद्धु शक्येत्यत्राह—

मूलारा—तुमं त्वं । सुण व शृणु वा । संवेगणिब्बेव संवेजनीं निर्वेजनीं वा कथाम् ॥

निद्रा कर्मके उदय म आती है अतः वह भरेसे कर्मा दटाई जा सकेगी इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—  
अर्थ—यदि निद्रा तुझका सतावगी तो तू स्वाध्याय कर, सूक्ष्म पदार्थोंका विचार कर, संवेजनी और निर्वेजनी कथाओंका भी श्रवण कर ये निद्रा जीतनेके उपाय हैं

प्रकारातर निद्राविजयहेतु निगदति—

पीदी भए य सोगे य तथा णिदा ण होइ मणुयाणं ॥

एदाण तुम तिण्णिवि जागरणत्थ णिसेवेहिं ॥ १४४१ ॥

निद्रा प्रीती भये शोके यतः पुंसो न जायते ॥

निर्जयाय ततस्तस्यास्त्वमिदं चित्तयं भज ॥ १४९९ ॥

विजयोदया—पीदी अप य सोगे प्रीत्यां भये शोके च सति निद्रा मनुष्याणा न भवति । तेन प्रीत्यादिसंवां कुरु त्व निद्राविवर्जितये ॥

मूलारा—प्रीत्यादित्रये सति नोदेति ॥

निद्राविजयके लिए दूसरा उपाय.

अर्थ—प्रीति, भय और शोक इनमेंसे कोई भी विकार होनेपर निद्रा नहीं आती है. इसलिए निद्रा विजयार्थ तं प्रीत्यादिकका सेवन कर.

प्रीतिभयशोकाना अशुभपरिणामत्वात्कामांस्त्रयानिमित्ता । निद्राया वा अवशिष्टत्वात् कथ वा सवराथिनो निरूप्यते प्रीत्यादिक इत्याशकाया सवरहेतुभूततया तद्वयपदेश प्रति नियनविषयमुपदर्शयति—

भयमागच्छसु संसारादो पीदिं च उत्तममृम्भि ॥

सोर्गं च पुरादुच्चरिदादो णिद्वाविजयहेतुं ॥ १४४२ ॥

ज्ञानाचारार्धने प्रीतिं भयं संसारदुःखतः ॥

पापे पूर्वोर्जिते शोर्कं क्षिद्रां जेतु सदा कुरु ॥ १५०० ॥

नि...—भयमागच्छसु भयं प्रतिपद्यस्व । संसारादो संसारात् पञ्चविधपरिवर्तनरूपात् । प्रीतिं रत्नत्रयाराधनाया । शोक उपेक्षितं धृक्कृताद्विश्रितात् । निद्रा विजेतु नरकादिगतिष्वसकृत्परिवर्तमानेन शारीरमागतुकं, मानसिकं, स्वाभाविकं च दुःखं विधिप्रमनुभूत तत्पुनरयायास्यति इति मनः प्राणिधेहि । सकलामापत्सहतिमुन्मूलयितुं, अभ्युदयनिश्चयसंख्यानं च प्रापयितुं, अस्सारशरीरभारमपनेतुं, अनतावबो धर्शनसाम्राज्यश्रियमाकण्डुं, कर्मविपविटपासुत्पादयितुं क्षमामिमां, अनन्तेषु भवेषु अनवाप्तपूर्वा रत्नत्रयाराधनां कर्तुं उद्यतोऽस्मीति प्रीतिर्भावनीया । हिंसानुतस्तेयाग्रहपरित्रहेषु मिथ्यात्वकार्येणभूमनोवाकाययोगेषु व विचित्रकर्मार्जनमूलेषु चतुर्विधवधपर्यायनिमित्तेषु अनारत मदभाग्यप्रवृत्तोऽस्मि हिताद्विताविचारणाविमुग्धबुद्धितया सन्मार्गस्पर्शपक्षेष्टृणामनुपलभ्यप्रवर्तमानवरोधोदयात्तदुदीरितार्थानवबोधात् । अवगमे सत्यप्यश्रद्धाया , चारित्र्यमोहोदयात्सन्मार्गेऽप्रवृत्तेऽथ दुःखामोहो निमग्नोऽस्मीत्युद्विग्नचित्ततया च निद्रा प्रयाति ॥

सवरार्थं निद्रा जिगीपता । किं विषयं प्रीत्यादित्रय विधेयमित्याह—

मूलारा—प्रतिपद्यस्व । नरकादिगतिषु असकृत्परिवर्तमानेन शारीरमागतुकं, मानसं, स्वाभाविकं च दुःखं मयासुभूतं तत्पुनरपीदमयातीति चेतः प्राणिधेहीत्यर्थः ॥

उत्तमश्रुस्मि रत्नत्रयाराधनाया सर्वा विपदो निराकर्तुमभ्युदयनिःश्रेयससंपदः सपादयितुं, कर्मविषवृक्षमुन्मूलयितुं, अनंतज्ञानादिचतुष्टयश्रियमाकण्डुं, असारशरीरभारम्पसारयितुं च समर्थतममिमामासंसारप्राप्तचरिं रत्नत्रयाराधनां विधा-  
तुमुद्यतोऽस्मि, धन्योऽस्मि, कृतकृत्योऽस्मि, पुण्याहं ममेदमद्योति मीतिं भावयेदित्यर्थः। पुरा दुष्परिदादो पूर्वाचरिते दुराचारे।  
हा कष्टमनादिकालं मिथ्यात्वासायमकपायाऽभ्युपयोगपरावर्तेषु चतुर्विधवधनिबंधनतया विविधचतुर्गोतिदुःखप्रवधवि-  
धातृषु मंदभाग्य. कथमहं प्रवृत्तः? हिताहितमीमांसामुद्धतया सन्मार्गोपदेशकं गुरुं लब्ध्वापि प्रबलज्ञानावरणोदयवशात्  
तदुपदिष्टार्थतत्त्वस्यानवबोधेऽपि दुर्मथमिथ्यात्वविपाकेनाश्रद्धानेऽपि, दुर्वारचारित्रमोहोद्रेकेण श्रेयोभार्गाप्रवृत्तेऽथ कथमहं  
दुरंतसंसारपारावारदुःखावर्त्तसहस्रेषु सुहृदुर्विद्वत्तोऽस्मीत्युद्विग्नहृदयो भवेदित्यर्थः।

मीति, भय और शोक ये अशुभ परिणाम हैं अतः अशुभ कर्मका आगमन होनेमें ये हेतु हैं. निद्राके समान ये भी त्याज्य है तो मी संवरार्थके लिए इन भयादिकोंका निरूपण आचार्य क्यों करते हैं? इस शंकाका परिहार करनेके लिए प्रीत्यादिकके विषयोंका भी खुलासा करते हैं—

अर्थः—हे क्षपक! तू पंच प्रकारके परिवर्तन रूप संसारसे भययुक्त हो, रत्नत्रयकी आराधना करने में तू प्रेम युक्त हो और पूर्वकृतपापोंके विषयमें मनमें शोक कर. ऐसा करनेसे तू निद्रापर विजय पा सकेगा.  
नरकादि गतिओंमें अनेक बार उत्पन्न होकर अनेक प्रकारके शारीरिक, आंगंतुक, मानसिक दुःखोंका तू अनुभव लिया है ये दुःख फिर भी मेरेको प्राप्त होंगे ऐसा विचार कर भययुक्त हो. और अपना मन ध्यानमें एकाग्र कर. यह रत्नत्रयाराधना सर्व संकटसमुदायका नाश करती है अभ्युदय और मोक्षमुख देती है. असार शरीरका भार इस रत्नत्रयाराधनासे दूर होता है इससे जीवको अनंत दर्शन और अनंतज्ञानकी प्राप्ति होती है यह कर्मरूप विषयवृक्षको उखाड़नेमें समर्थ है. इसकी अनंत भवोंमें कभी भी प्राप्ति नहीं हुई थी. मैं आज इसको प्राप्त करनेमें उद्युक्त हुआ हू. ऐसा विचार करके रत्नत्रयाराधनामें प्रीतिकी भावना भानी चाहिये.

हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, मैथुन सेवन और ब्रह्मचर्य ये पांच कुकार्य विचित्रकर्मकी उत्पत्ति करनेमें हेतु हैं मिथ्यात्व, कयाय, और अशुभ मनोवचन और काय इनसे नाना प्रकारके कर्मोंका जीवन आगमन होता है. उपर्युक्त कारणोंसे प्रकृति, स्थिति चंगरह चार प्रकारके कर्म वधकी उत्पत्ति होती है मंदभाग्यवान में ऐसे कार्योंमें हमेशा प्रवृत्त हुआ था हिताहितविचार करनेवाली बुद्धिकी मेरेमें कभी थी सन्मार्गका उपदेशक न मिलनेसे,

हेतु है मिथ्यात्व, कयाय, और अशुभ मनोवचन और काय इनसे नाना प्रकारके कर्मोंका जीवन आगमन होता है. उपर्युक्त कारणोंसे प्रकृति, स्थिति चंगरह चार प्रकारके कर्म वधकी उत्पत्ति होती है मंदभाग्यवान में ऐसे कार्योंमें हमेशा प्रवृत्त हुआ था हिताहितविचार करनेवाली बुद्धिकी मेरेमें कभी थी सन्मार्गका उपदेशक न मिलनेसे,

तथा ज्ञानावरण कर्मका उदय होनेमें मेरेको हितज्ञान आजतक नहीं हुआ था अथवा उपदेशक मिलनेपर भी उसके उपदेशका अभिप्रायही मैं नहीं जान सका. कभी ज्ञान होनेपर भी मैंने उस उपदेशपर विश्वास नहीं किया. विश्वास करनेपर भी चारित्र्योद्धारकर्मके वंश होकर चारित्र्य नहीं पाला इसी कारणसे मैं संसारसमुद्रमें डूबा हू इस प्रकारके शोकविचारसे निद्रा नष्ट होती है

जागरणत्वं इच्छेवमार्दिकं कुण कर्मं सदा उत्तो ॥

ज्ञाणेण विणा वञ्छो कालो हु तुमे ण कायव्वो ॥ १४४३ ॥

सदैवमुपयुक्तेन निद्रां निर्जयता त्वया ॥

न ध्यानेन विना स्थेयं पवित्रेण कदाचन ॥ १५०१ ॥

विजयोदया—जागरणार्थं निद्रानिरासार्थं एवमार्दिकं कुरु क्रम सदोपयुक्तं । ध्यानेन विना वंध्यः कालो न कर्तव्यस्त्वया ॥

मूलारा—जागरणत्वं निद्रानिरासार्थं । वञ्छो निष्फलः । तत्तदुपायसिद्धौपधप्रयोगैर्निद्रामहाव्याधिं जितवन्तापि त्वया सद्व्यायनशून्येन क्षणमपि न स्यातव्यम् । तस्यैव कर्मसंवरणनिर्जरणकर्मणि धुरीणत्वात् इति भावः ॥

अर्थ—निद्राका नाश करने के लिये इस प्रकारका उपयुक्त क्रम तू कर, और ध्यानके विना एक कालकाल भी तुझको नष्ट करना योग्य नहीं है.

संसाराडविणित्थरणमिच्छदो अणपणीय दोमाहिं ॥

सोढुं ण खमो अहिमणपणीय सोढुं व सवस्मि ॥ १४४४ ॥

न दोषाननपाकृत्य खप्पुं जन्मनि युज्यते ॥

अनर्थकारिणो रौद्रान्पक्षगानिव मंदिरं ॥ १५०२ ॥

विषयोदया—संसाराडविणिच्छरण मिच्छदो संसाराडविनिस्तरणमिच्छन्ननपाकृत्य दोषान् न हि स्यन्तु क्षमः ।  
१५०२ ॥ अनर्थकारिणो रौद्रान्पक्षगानिव मंदिरं ॥

यावदोषा न निराकृतास्तावत्तवासिञ्जन्मनि स्वापः कर्तुं न युज्यते इति वक्रभणित्या निद्राविजयाय सज्जयति ॥  
 मूलाया—इच्छादो इच्छन् । वाछतो वा । अन्ये णिच्छिदो इति पठित्वा निश्चययुक्तो मुनिरित्यर्थमाहुः । अणवणी  
 य स्वस्मावनिःसार्ये । दोसाहिं रागादिसर्पं । सोढु स्वप्नुं । ण खमो न युक्तोऽसि त्वम् । ण गममिति पाठे न युक्त त्वेति  
 योज्यम् ॥ अहिं सर्पं ॥ उक्तं च ॥

न दोषाननपाकृत्य स्वप्नुं जन्मनि युज्यते ॥

अनर्थकारिणो रौद्रान्पन्नगानिव मंडिरे ॥

अर्थ—संसाररूप जंगलमेंसे निकलनेकी इच्छासे दोषोंको निना दूर क्रिय ही मोना योग्य नहीं है, क्या  
 सर्पको घरमेंसे बाहर निकाले बिनाही घरमें सोना योग्य है ?

को णाम णिरुवेगो लोगे मरणादिअग्निपञ्जलिदं ॥

पञ्जलिदस्मि व णाणी धरमि सोढुं अभिलसिञ्ज ॥ १४६५ ॥

संसारे युज्यते स्वप्नुं कस्य दोषैः प्रदीपिते ॥

महातापकरैर्गृहे पावकैरिव भीषणे ॥ १५०३ ॥

विजयोदया—को णाम णिरुवेगो लोगे मरणादि अग्निपञ्जलिदे जातिजराभरणव्याधयः, शोकामयाभि,  
 प्रार्थितालाभो, अभिमतवियोग इत्यादिनाशना प्रज्वलिते । णाणी सोढुमभिलसेज्ज जानी स्वाप्नुमभिलपेत् । पञ्जलिदस्मि  
 धरमि व प्रज्वलिते गृह इव ॥

भंग्यतेरेण निद्रा निराकारयति—

मूलाया—अणुविवगो उद्वेगरहितः ॥ मरणादि मृत्युव्याधिजराजन्मसमयमानभंगलोकादि । णाणी तत्त्वजः ।

अर्थ—इस जगतमें कोन निरुद्वेग है अर्थात् किसको भय है नहीं ? सभी मनुष्योंको जन्म, वृद्धावस्था,  
 मरण, रोग, शोक, इच्छित वस्तुओंकी प्राप्ति न होना, इष्ट वस्तुओंका वियोग होना एतत्स्वरूप अग्नीसे सब पीडित  
 हो रहे हैं ऐसा विचार कर ज्ञानी सोनेकी इच्छा करेगा क्या ? कोनसा ज्ञानी मनुष्य अग्निसे घर प्रज्वलित होने  
 पर सोनेकी इच्छा करेगा ?

को नाम गिरुब्बेगो सुविज्ज दोसेसु अणुवसंतेषु ॥

गहिदाउहाण बहुयाण मज्झयारेव सत्तूणं ॥ १४४६ ॥

को दोपेप्पवप्रक्रांतिसु निरुद्धेगोऽस्ति पंडितः ॥

द्विषत्स्विच्च समीपेषु विविधानर्थकारिषु ॥ १४४७ ॥

विजयोदया—को नाम गिरुब्बेगो को नाम निरुद्धेय स्वपेद्रुगविषु ससारप्रवर्द्धेनेषु दोपेषु अनुपशान्तेषु  
गृहीतायुधाना शत्रूणां वहना मध्ये इव ॥

मूलारा—मज्झयारे मध्ये ॥

अर्थ—जैसे जिन्होंने हार्थोंम शास्त्रधारण किये हैं ऐसे शत्रुओंके बीचमें निर्भय होकर कौन स्थिर रह सकता है ? वैसे संसारको वधानेवाले रागादिक दोष शांत नहीं होनेपर कौन ज्ञानी पुरुष निर्भयतासे सोवेगा. अर्थात् रागादिक विकार शत्रुके समान इस जीवको कष्ट दे रहे हैं ऐसे प्रसंगमें निद्राधीन होना क्या योग्य माना जायगा ?

णिद्वा तमस्स सरिस्सी अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साणं ॥

इदि णच्चा जिणसु तुमं णिद्वा ज्ञाणस्स विग्घयरी ॥ १४४७ ॥

नास्ति निद्रातमस्तुल्यं पर लोके यतस्तमः ॥

सर्वव्यापारविध्वंसि जयेदं सर्वदा ततः ॥ १५०५ ॥

विजयोदया—णिद्वा निद्रा तमस्सदृशमन्यत्तमो नास्ति मनुजाना इति ज्ञात्वा निद्रा ध्यानस्य विघ्नकारिणी जयेति ॥

मूलारा—णत्थि तिमिरातरस्य सद्य यानप्रतिवधाक्षमत्वात् ॥ उक्तं च—

नास्ति निद्रातमस्तुल्यं पर लोके यतस्तमः ॥

सर्वव्यापारविध्वंसि जयेदं सर्वदा ततः ॥

अर्थ—निद्रारूप अधकारके समान जगतमें अन्य अधकार है ही नहीं ऐसा समझकर ध्यानमें विघ्न डालनेवाली इस निद्राको तुम जीतो

कुण वा णिद्वामोक्खं णिद्वामोक्खस्स भणिद्वेलाए ॥  
 जह वा होइ समाही खवणकिंलितस्स तह कुणह ॥ १४४८ ॥  
 निद्राविमोक्षकाले त्व निद्रां मुंचायवा यते ॥  
 यथा वा क्लान्तदेहस्य समाधानं तथा कुरु ॥ १५०६ ॥

विजयोदया—कुण वा णिद्वामोक्खं कुरु वा निद्रामोक्ष । निद्रामोक्षस्य कथिताया वेलयां रोवेस्वतीये यमे इति यावत् । यथा वा समाधिर्भवति भवत उपवासपरिश्रान्तस्य तथा वा निद्रामोक्ष कुरु ॥ णिद्वत्तिगदं ॥

एवं निद्रानिरासमुत्सर्गेणोपदिश्य तदपवादमाह—

मूलारा — भणिद्वेलाए रात्रिवितीयप्रहरे । स्वमणकिंलितस्स उपवासस्वाध्यायादिना ग्लानिं गतस्य । उक्तं च—  
 निद्राविमोक्षकाले त्वं निद्रां मुंचायवा यते ॥

यथा वा क्लान्तदेहस्य समाधानं तथा कुरु ॥

अर्थ—निद्राका त्याग करनेके समयमें अर्थात् रात्रीके तिमेरे प्रहरमें हे क्षपक ! तू निद्राका त्याग कर अथवा उपवाससे थके हुए तुझको जिस प्रकारमें ममाधान रहेगा वैसे निद्राका त्याग कर. निद्राका प्रकरण समाप्त.

उक्तो योपसंहारं वक्ष्यमाण वाचिकार दर्शयत्युत्तरमाथा—

एस उवावो कम्मासवद्वारणिरोहणो हवे सव्वो ॥  
 पोराणयस्स कम्मस्स पुणो तवसा खओ होइ ॥ १४४९ ॥  
 कर्मास्सवनिरोधेऽयमुपायं कथितस्तव ॥  
 कल्मषस्य पुराणस्य तपसा निर्जरा पुनः ॥ १५०७ ॥  
 उदीयमानेन महोद्यमेन क्षत्रेण ? निद्रा तमसां सवित्री ॥  
 प्रशस्तकर्मव्यवधानशक्ता विजीयते भानुमतेव रात्रिः ॥ १५०८ ॥  
 इति निद्रानिर्जयः ।

विजयोद्या—एत उवाचो कर्मणामात्रवद्वारनिरोधे उवाचो उपायोऽयं सर्वोऽभिहितः । पौराणस्य कर्मणस्तपसा क्षयो भवति । सवरपूर्विका निर्जरा मुक्तये भवति न संवरहीनेति पूर्वं सवरूपन्यासः ॥

एवं संवरपूर्वैव निर्जरा निर्वाणाय प्रभवतीति सवरूपान्यान्यपञ्च सांप्रत निर्जरानिमित्ते तपसि गाथासमाधि-शतया अपक्वमुद्यमयनि—

मूलारा—एत मिच्छत्तस्स य वमणमित्यादि सूत्रसमुदायनिर्दिष्टः ॥

उपर्युक्त अर्थका उपसहार अथवा आगे कहा हुआ अधिकार उत्तर गाथासे कहते हैं—

अर्थ—जितना कर्तव्य पूर्वमें कहा है वह सर्व कर्मगमनका निरोध करनेका उपाय है तथा इस कर्तव्यका पालन करनेसे पूर्ववद्ध कर्मका क्षय भी होता है तपसे पूर्व कर्मका क्षय होता है, संवरसहित निर्जरा कर्मका नाश कर मोक्ष प्राप्ति का भी कारण होती है सवरहीन निर्जरा मोक्षका कारण नहीं है यह दिखानेके लिये आचार्यने प्रथम सवरका गाथामें उल्लेख किया है

अब्भंतरवाहिरगे तवस्मि सत्ति सग अगूहतो ॥

उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिवद्धो अणलभो तं ॥ १४५० ॥

यत्तस्वाभ्यन्तरे बाह्ये स्वां शक्तिमनिगूह्यन् ॥

तपस्यनलसं स त्वं देहसौख्यपराङ्मुखः ॥ १५०९ ॥

विजयोद्या—अन्तरवाहिरगे अभ्यन्तरे बाह्ये च तपस्युद्योगं कुरु स्वा शक्तिं गूह्यमान । सुखे शरीरे चानासक्ति अनलस्य । न हि शरीरे सुखे वा आदरवास्तत्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयतते । न चालस प्रवर्तते तपसि । प्रत्यगूहभावेन स्थित सुखे शरीरे च प्रतिवद्धत्वमलसत्वमावेदितमेव ॥

द्विविधे तपसि तत्तत्पूहं परिहरन् स्वशक्त्या त्वमुद्यच्छेत्यनुशास्ति --

मूलारा—अप्पडिवद्धो सुखे देहे चानासक्तः । न हि शरीरे सुखे वा आदरवास्तत्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयतते न चालसः ।

अर्थ—हे क्षपक ! तू अम्यतर तप और बाह्य तपमें अपनी शक्ति न छिपाता हुआ उद्यम-प्रयत्न कर, सुखमें और शरीरमें तू आसक्ति मत कर, आलस्यको जिसने छोड़ा है वह शरीरमें और सुखमें आसक्त न होकर १७२



सुख और शरीरके प्रतिपक्षभूत तपमें सदा उद्योग करता है आलसी मनुष्य तपके विरुद्ध शरीर और सुखमें आसक्त होकर तपका त्याग करता है. अतः तू शरीर और सुखमें आसक्ति न करता हुआ तपमें उद्योग कर

सुहृत्सीलदाए अलसत्तणेण देहपडिबद्धदाए य ॥

जो सत्तीए संतीए ण करिज्ज तवं स सत्तिसमं ॥ १४५१ ॥

आलस्यसुखशीलत्वे शरीरप्रतिबंधने ॥

विदधति तपो भक्त्या स्वशक्तिसहशं न यः ॥ १५१० ॥

विजयोदया—सुहृत्सीलदाए सुखासक्ततया, अलसतया, देहप्रातवद्धतया वा य. शक्तौ सत्यामपि तपोऽन करोति शक्तिसमं ॥

यथोक्तमनाचरतो दोषानुत्तरप्रबंधेनाह—

मूलारा—सत्तिसम यावच्छक्ति. ॥

अर्थ—सुखस्वभावसे, आलस्यसे, और देहवी मीतीसे जो सामर्थ्य होनेपर भी शक्त्यनुसार तप नहीं करता है—

तरस ण भावो सुद्धो तेण पउत्ता तदो हवदि माया ॥

ण य होइ धम्मसद्धा तिच्चा सुहदेहपिक्खाए ॥ १४५२ ॥

तस्य शुद्धो न भावोऽस्ति माया तेन प्रकाशिता ॥

शरीरसौख्यसक्तस्य धर्मश्रद्धा न विद्यते ॥ १५११ ॥

विजयोदया—तस्स ण भावो तस्य परिणामो न शुद्धस्तस्मात्तेन शक्तिसमे तपस्यवर्तमानेन माया प्रयुक्ता भवति । यतस्ततो न भाव शुद्ध, धर्मे तीव्रा च श्रद्धा न भवति । केन ? सुहदेहपिक्खाए सुख देहे च प्रेक्षया तत्र आसक्त्या बुद्ध्या हेतुभूतया ॥

मूलारा—जदो यस्मात्तेन शक्तिसमे तपसि अप्रवर्तमानेन स्वशक्तिप्रच्छादिना माया प्रयुज्यते, यस्माच्च सुख-

वेदयोरसक्त्या तस्य धर्मे श्रद्धा तीव्रा नास्ति, यस्मात्तस्य लाभस्तमोऽनुरागः श्रद्धा नास्तीति संबंधः ॥ तद्यो इति पाठे तपः कर्तुं शक्तिर्मम नास्तीति प्रकाशनया तपोऽकरणादित्यर्थः ॥

अर्थ—उसका परिणाम निर्मल नहीं है ऐसा समझना चाहिये शक्त्यनुसार तपमें प्रवृत्त न होनेसे वह मायावी है ऐसा सिद्ध होता है. मायासे भावमें-परिणाममें शुद्धता नहीं रहती है और धर्ममें तीव्र श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती है. सुखमें और देहमें बुद्धि संलग्न होती है इससेभी परिणाममें निर्मलता नहीं रहती है और धर्ममें तीव्रश्रद्धा नहीं उत्पन्न होती है.

अप्या य वंचिओ तेण होइ विरिय च गूहियं भवदि ॥

सुहसीलदाए जीवो बंधदि हु असादेवदणियं ॥ १४५३ ॥

वीर्यं निगूह्यते येन तेनात्मा बंध्यते स्वयम् ॥

सुखशीलतया तेन कर्मासातं च बध्यते ॥ १५१२ ॥

विजयोरया—अप्या य वंचिओ आत्मा वंचितस्तेन । शक्त्यनुरूपे तपस्यनभ्युद्यतेन शक्तिश्च प्रच्छादिता भवति सुखासक्ततया जीवो वध्नात्यसातवेदनीय चानेकभेषु दुःखावह ॥

मूलपा — स्पष्टम् ॥

अर्थ—शक्त्यनुरूप तपमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है उसने अपने आत्माको फसाया है और अपनी शक्ति भी छिपा दी है ऐसा मानना चाहिये. सुखासक्त होनेसे जीवको असाता वेदनीयका अनेक भवमें तीव्र दुःख देनेवाला तीव्र बंध होता है

आलस्यदोषमाचष्टे—

विरियंतरायमलसत्तणेण बंधदि चरित्तमोहं च ॥

देहपडिबद्धाए साधू सपरिग्गहो होइ ॥ १४५४ ॥

वीर्यान्तरायचारित्रमोहावर्जयतेऽलसः ॥

शरीरप्रतिबंधेन जायते सपरिग्रहः ॥ १५१३ ॥

विजयोदया—विरियंतराय वीर्यंतरायमलसतया वध्नाति चारिवमोहनीयं च । शरीरासक्त्या साधुः सपरिग्रहो भवति ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—अलसी होनेसे वीर्यंतराय कर्कका बंध होता है, और चारित्र मोहनीय कर्म का भी बंध होता है शरीरमें आसक्ति होनेसे साधु परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता है, वह परिग्रह धारक होता है

मायादोसा मायाए द्रुति सन्ने वि पुव्वणिदिट्ठा ॥

धम्मस्मि निप्पिवासस्स होइ सो दुल्लहो धम्मो ॥ १४५१ ॥

मायादोषाः पुरोदिष्टाः समस्ताः सन्ति मायया ॥

धर्मेऽपि निःप्रियाशस्य धर्मोऽस्य सुलभः कथम् ॥ १५१४ ॥

विजयोदया—मायादोसा मायादोषा संवेऽपि पूर्वनिदिष्टा । मायाया तपसि स्वशक्तिनिगूहनलक्षणाया भवति किं च धम्मस्मि धर्मे तपोलक्षणे । निप्पिवासस्स अनादरस्य जन्मतरे दुर्लभो भवति धर्मे ॥

मूलारा—मायाए तपसि स्वशक्तिनिगूहनेन । निप्पिवासस्स निरादरस्य । दुल्लहो जन्मतरेदुर्लभ तपः ॥

अर्थ—तपमें अपनी शक्ति छिपाना ही माया है, माया करने से होनेवाले दोषोंका पूर्वमें वर्णन कर चुके हैं जो तप धर्ममें अनादर करता है उसको अन्य जन्ममें धर्म दुर्लभ होता है

दोषातरमपि निगदति—

पुन्दुत्तवगुणाणं चुक्को जं तेण वंचितो होइ ॥

विरियणिगूही बंधदि मायं विरियतरायं च ॥ १४५६ ॥

अकुर्वाणस्तपः सर्ववंचितोऽस्ति तपोगुणैः ॥

मायावीर्यान्तरायौ च तीव्रो वध्नाति कर्मणी ॥ १५१६ ॥

विजयोदया—पुन्दुत्तवगुणाण पूर्वोक्तसवरनिर्जरा चेत्येवमादिभिस्तपःसाध्यैरुपकारै । चुक्को च्युत । ज यस्मान् । तेण तेन तप साध्योपकारप्रत्युत्पन्नेन । वंचितो होदि वंचितो भवति । विरियणिगूही बंधदि माय सवरणपरो मायाकर्म, वीर्यंतराय च वध्नाति ॥

मलारा—चुको न्युतः ॥ तेण तपसा साध्यसवरनिर्जरागुणकारच्युतत्वेन ॥

और भी दोषोंका वर्णन करते हैं—

अर्थ—पूर्वसे तपश्चरणके संवर और निर्जरा गुणोंका वर्णन किया है. जो तपश्चरण नहीं करता है उसके कर्म का सवर और निर्जरा नहीं होगी. अर्थात् सवर और निर्जरासे वह पुरुष हमेशा वंचित रहेगा जो अपनी शक्ति छिपाता है उसको मायाक्रपायका और वीर्योतराय कर्मका बंध होता है

तवमकर्तस्सेदे दोसा अण्णे य होति संतस्स ॥

होति य गुणा अणेया सत्तीए तव करेतस्स ॥ १४५७ ॥

अकुर्वतस्तपोऽन्येऽपि दोषाः सन्ति तपस्विनः ॥

कुर्वाणस्य पुनः शक्त्या जायन्ते विविधा गुणाः ॥ १५१६ ॥

विजयोदया—तवमकर्तस्स तपस्यबुद्धतस्येमे दोषा अन्ये च भवतीति ज्ञातव्या । भवति चानेकगुणा शक्त्या तपसि वतमानस्य ॥

मलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—तपश्चरणमें उद्युक्त न होनेवाले पुरुषको ये दोष तो होते ही हैं परबु अन्य भी दोष उत्पन्न होते हैं जो व्यक्ति तपश्चरणमें शक्त्यनुसार प्रवृत्त होते हैं उन में अनेक गुणोंको उत्पत्ति होती है.

तयोगुणप्रख्यापनायोत्तरप्रबंध.—

इह य परत्त य लोए अदिसयपूयाओ लहइ सुतेवेण ॥

आवज्जिज्जति तहा देवा वि संइदिया तवसा ॥ १४५८ ॥

लोकद्वये पराः पूजाः प्राप्यन्ते कुर्वता तपः ॥

आवर्ज्यन्तेऽस्त्रिला देवाः पुरंदरपुरःसरा ॥ १५१७ ॥

विजयोदया—इह जन्मनि परत्त च तपसा सम्यक् कृतेन अतिशयपूजा लभ्यते । आवर्ज्यते च तपसा देवाः सेन्यकाः ॥

तपोमाहात्म्यमाह—

मूलारा—पूजादि आदिशब्देन बुद्ध्यतिशयस्त्रीतीत्यादि ॥ आवज्जिज्जिति प्रणामं कार्यते । अन्ये आकपि इति पठित्वा अक्षोभमुपयातीत्यर्थमाहुः । सद्दिया सेन्द्रा ॥

तपगुणका निरूपण करने के लिए उत्तर प्रबंध—

अर्थ—इह लोकमें और परलोकमें निरतिचार तप करने से आत्मामें अतिशय-ऋद्धि प्राप्त होती है और सर्वत्र महादर भी होता है तप के माहात्म्यसे इंद्रादिक देव भी नम्र होते हैं.

अप्पो वि तवो बहुगं कल्लणं फलइ सुप्पओगकदो ॥

जह अप्पं वडवीअं फलइ वडमणेयपरोहं ॥ १४५९ ॥

तपः फलति कल्याणं कुतमल्पदपि स्फुटम् ॥

बहुशाखोपशाखात्वं वटवीजं यथा वटम् ॥ १५१८ ॥

विजयोदया—अप्पोवि तओ अल्पमपि तप' महाकल्याणं फलति सुसयमनिपन्ने । सुटु प्रयुज्यते प्रवर्त्यतेऽने-  
नेति च विग्रहे संयम सुप्रयोनशब्देनोच्यते । यथा अल्पमपि वटवीजं फलति चटप्रनेरुप्ररोहं अल्पमपि पृथुलं फलदायि-  
तप' इत्येतदाख्यातमनया ॥

मूलारा—सुप्पओगकदो यथाशक्ति संयमेनावर्तितम् । निदानासयमरहितमिति वा । फलदि जनयति । अणय-  
पारोहं अनेकप्ररोहम् ॥

अर्थ—अल्प तपश्चरणसे भी महा कल्याण होता है संयम की भी उत्तम-निर्दोष सिद्धि होती है जैसे  
क्षुद्र वटवीज अनेक शाखाओंसे युक्त महान वटवृक्षको जन्म देता है वैसे अल्प तप भी विपुल फल-स्वर्गादिक  
सुखको उत्पन्न करता है

सुटु कदाण वि सरसादीणं विग्घा हवंति अदिवहुगा ॥

सुटु कदस्स तवस्स पुण णत्थि कोइ वि जए विग्घो ॥ १४६० ॥

विधिनोक्तस्य सस्यस्य विद्वाः सन्ति सहस्रशः ॥

तपसो विहितस्यास्ति प्रत्यूहो न मनागपि ॥ २५१९ ॥

विजयोदया—सुदु कदापि वि सस्यस्य कृतानामपि शस्यादीना अतीव विद्वा भवति। तपस पुनः सम्यक् कृतस्य जगति न कश्चिद् विद्वा फलवान् । निर्विघ्नफलदायित्वं तपसो माहात्म्यं कथितं अनया ॥

मूलार्थ—सस्सादीर्घं धनधान्यादिनाम् ॥ स्वफल ददतो व्याघातः ॥

अर्थ—खेती बहुत परिश्रमसे करने पर भी उसका फल मिलने तक बहुत विघ्न उत्पन्न होते हैं परंतु निरतिचार तप पालनेपर कोई भी विघ्न उत्पन्न होता नहीं अर्थात् विघ्नके विना ही तपश्चरणसे स्पर्गादि फल मिलता है तप में निर्विघ्न फल देना गुण है ऐसा इस भाषासे सिद्ध होता है।

जणमरणादिरोगादुरस्स सुतवो वरोसधं हेदि ॥

रोगादुरस्स अदिविरियमोसध सुप्पउत्तं वा ॥ १४६१ ॥

मृत्युजन्मजरार्तस्य तपः सुखविधायकम् ॥

महारोगादुरस्येव भैषज्यं वीर्यसंयुतम् ॥ १५२० ॥

विजयोदया—जणमरणादिरोगादुरस्स जन्ममरणाद्यापीडितस्य सुतपो वरौपधं भवति । रोगपीडितस्य सुप्र-  
युक्तमतिवीर्यमौषधमिव । जन्ममरणादीना विनाशकत्वं तत्कारणकर्मविनाशदातेनाख्यायते ॥

मूलार्थ—वरोसध जननमरणादिरोगकारणकर्मोपहारकत्वात् ॥

अर्थ—जन्म, मरण वगैरह रोगोंसे पीडित इस प्राणीसे उत्तम तप उत्कृष्ट औषधके समान हितकर है जैसे रोगसे पीडित मनुष्यका रोग उत्तम औषधीके सेवनसे नष्ट होता है वैसे तपसे जन्ममरणादि रोगोंका नाश होता है, तपसे जन्ममरणके कारणभूत कर्मका नाश होता है अतः कारणका नाश होनेसे कार्यका भी नाश होगाही।

संसारमहाडाहेण उज्झमाणस्स होइ सीयधरं ॥

सुतवोदाहेण जहा सीयधरं उज्झमाणस्स ॥ १४६२ ॥

संसारस्याविषयेन ग्रीष्मकस्येव भास्वतः ॥

तापेन तप्यमानस्य तपो धारागृहायते ॥ १५२१ ॥

विजयोदया—संसारमहाहाहेण संसारमहाद्वारेण दृश्यमानस्य तपो भवति जलगृहं । यथा दृश्यमानस्य स्याच्छिर्घारागृहं । संसारिकदुःखनिर्मूलनकारिता तपसोऽनेन सूच्यते ॥

मलारा—सीद्धधरं धारागृहम् । तीव्रग्रीष्मार्कैरिषमकृततापस्येव ससात्महादुःखस्य निर्मूलकत्वात् ॥

अर्थ—जैसे सूर्यके प्रचंड किरणोंसे संतप्त मनुष्य का शरीरिदाह धारागृहमें नष्ट होता है वैसे ममारके महादाहसे दग्ध होनेवाले भव्योंके लिये तप जलगृहके ममान शक्ति देनेवाला है तपमें सैमारिक दुःख निर्मूलन करना यह गुण है ऐसा यह गाथा कहती है.

णीयच्छुओ व सुतवेण होड लोगस्स सुप्पिओ पुरिसो ॥

मायाव होइ विस्सनणिज्जो सुतवेण लोगस्स ॥ १५६३ ॥

विदधानस्नपो भक्त्या निरालस्यो विधानतः ॥

देशान्तरमपि प्राप्त स बंधुरिव गृह्याने ॥ १५२२ ॥

विजयोदया—णीयच्छुओ व बंधुरिव लोकस्य नितरा प्रियो भवति पुरुष । शोभनेन तपसा सर्वजगत्प्रियता करोति तप इत्यनेन आश्वासनं भवति । मायाव होइ विस्सनणिज्जो मां उव विव्वत्सनीयो भवति लोकस्य । सर्वजगदिज्जा-स्यत्वं तप संपाद्यमनेन कथ्यते ॥

मलारा—सष्टम् ॥

अर्थ—उत्तम तप करनेसे तपस्वी सुनि-पुरुष वयुके समान नर्व लोगोंको अतिप्रिय प्रिय होता है. उत्तम तपमें सर्व जगत्प्रियता प्राप्त होती है ऐसा इस गाथामें सिद्ध होता है. माताके ममान तप करनेवाला सर्व लोगोंको विश्वमनीय होता है. तपका सर्व जगद्विश्वमनीयता गुण इस गाथामें कहा गया है

कल्लणिड्डिसुहाइं जावदियाइं हवे सुरणराणं ॥

जं परमणिच्चुडिसुहं व ताणि सुतवेण लब्धमंति ॥ १५६४ ॥

मातेवासिन सुविश्वास्यः पूज्यो गुरुरिवाखिलः ॥  
महानिधिरिव ग्राह्यः सर्वत्रैव तपोधनः ॥ १५२३ ॥  
लभ्यन्ते नरदेवानां सर्वाः कल्याणसंपदः ॥  
परमं सिद्धिसौख्यं च कुर्वता निर्मल तपः १५२४ ॥

विजयोदया—कल्याणितृसुहाद कल्याणानि स्वर्गावतरणादीनि । ऋद्धयो विभूतयश्चकलाखानां अर्द्धचक्रवर्तिना सुखानि च यानि देवाना मनुष्याणा च, यद्य परमनिर्घृतिखुब्ध तानि शोभनेन तपसा लभ्यन्ते ॥

मूलारा—कल्याण स्वर्गावतरणादीनि ॥ इदं चक्रवर्त्योदिविभूतयः ॥

अर्थ—स्वर्गसे चयकर माताके गर्भमें आना, मेरु पर्वतपर इद्रके द्वारा अभिषेक किया जाना इत्यादिक कल्याणिकोंकी प्राप्ति तपसे होती है, अनेक ऋद्धि संपत्ति, सकल चक्रवर्ति और अर्द्धचक्रवर्तिके सुख भी इससे जी-वको मिलते हैं, और मनुष्योंके जो सुख हैं वे मिलते हैं और मुक्तिसुख भी इससे मिलता है

कामदुहा वरधेणू णरस्स चिंतामणिव्व होइ तओ ॥  
तिलओव्व णरस्स तओ माणस्स-विहूसणं सुतओ ॥ १४६५ ॥

चिन्तामणिस्तप-पुसो धेनु-कामदुघा तपः ॥  
तिलकोऽस्ति तपो मन्थस्तपो मानविभूषणम् ॥ १५२५ ॥

विजयोदया—कामदुहा कामदुघा वरधेणुः, चिन्तामणिश्च तप यदभिलषितं तस्य दानात् । तिलकारव्यालंकारो नरस्य शोभन तप, मानस्य विभूषण च । तपसा हि सर्वेण जगता मान्यस्य मान शोभते इति ॥

मूलारा—माणस्स विभूषण । तपसा हि सर्वजगन्मान्येन मानः शोभते ॥  
अर्थ—तप इच्छित पदार्थ देता है अत वह कामधेनु और चिन्तामणि रत्नके समान माना गया है, तिलक नामक अलंकार से जैसे मनुष्य सुंदर दीखता है वैसे सुंदर तप मानका अलंकार है, तपसे मनुष्य जगन्मान्य होता है अतः उसका मान शोभने लगता है



होइ सुतयो य दीओ अण्णणतमंधयारचारिस्स ॥

सव्वावत्थासु तओ वड्ढदि य पिदा व पुरिस्सस्स ॥ १४६६ ॥

अज्ञानतिमिरोच्छेदि जायते दीपकस्तपः ॥

पितेव सर्वावस्थासु करोति नृहितं तपः ॥ १५२६ ॥

विजयोदया—होइ सुतयो य दीओ सम्यक्त्तप' प्रदीपो भवति अज्ञानतमसि महति संवर्ततः । एतेन जगतोऽज्ञानाख्यं तमो विनाशयति तप इति सूचित ॥ सर्वावस्थासु हिते तपो वर्तते पितेव पुंस ॥

मूलारा—अण्णणतमा प्रकटमज्ञानं । तद्धि तपसा विनाशयते तत्कारणकर्मक्षपणात् ॥

अर्थ—अज्ञानरूप अंधकारमें संचार करनेवाले इस जगतको उत्तम तप दीपकके समान है, अर्थात् अज्ञान नामका अंधकार तपसे नष्ट होता है ऐसा सूचित हुआ संपूर्ण अवस्था में तप पिता के समान हितकर ही है.

विसयमहापंकाउलगड्ढाए संकमो तवो होइ ॥

होइ य णावा तरिदुं तवो कसायातिचवल्णदिं ॥ १४६७ ॥

विभीमविषयांभोधेस्तपो निस्तारेण प्लवः

तप उत्तारकं ज्ञेयं विभीमविषयावदात् ॥ १५२७ ॥

विजयोदया—विसयमहापंकाउलगड्ढाए विषयो महापंकाकुलगर्त इव दुस्तरत्वात् । तस्मिन् संकमो भवति । तदुत्तरेण हेतुर्भवति तप । तपो नौरुल्लघयितु कषायातिचपलनदीं ॥

मूलारा—गड्ढाए गर्ते अवटे । लघुनद्यामित्यन्वः । संकमो सेतुवधः । अदिचवल्णदिं महानदीं ।

अर्थ—ये पर्वेन्द्रियोंके विषय जिसमें अतिशय कीचड़ है ऐसे गड्ढोंके समान हैं, कीचड़ युक्त गड्ढोंमें फसा हुआ आदमी उसमें से निकलकर बाहर आना अतिशय कठिन कार्य है वैसे ही ये इंद्रियविषय भी हैं परंतु तपके सामर्थ्यसे इन विषयरूप गड्ढोंसे मनुष्य निकल सकता है कषायरूपी अतिचपल नदी को लुंघनमें तप नौकाके समान है

फलही व दुग्गदीणं अणेयदुक्खवाहाण होइ तवो ॥  
आमिसतण्हाछेदणसमत्थमुदकं व होइ तवो ॥ १४६८ ॥  
इंद्रियार्थमहातृष्णाच्छेदक सलिलं तपः ॥  
दुर्गतीनामग्ग्यानां निपेधे परिघस्तपः ॥ १५२८ ॥

विजयोदया—फलही व दुग्गदीण दुर्गतीना परिघ इव। कीटशा दुर्गतीना ? अनेकदुःखावहाना । किं च विषयतृष्णाच्छेदनसमर्थं च तपः उदकमिव तृष्णाच्छेदने ॥

मलारा—फलही अर्गला । आमिसतण्हा विषयगृद्धिः । आहारगृद्धिरित्यन्यपक्षे तण्हा विपासा ॥  
अर्थ—अनेक दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली दुर्गतिओंको तप अर्गलाके समान है अर्थात् तप करनेवाले मनुष्यको दुर्गतिका नष्ट होता नहीं है पानीसे जैसी प्यास उपशान्त होती है वैसी तपसे तृष्णा-लोभ नष्ट होती है।

मणदेहदुक्खवित्तासिदाण सरणं गदी य होइ तवो ॥  
होइ य तवो सुतित्थं सब्वासुहोसमलहरणं ॥ १४६९ ॥

मनःकायासुखव्याघ्रस्तानां शरणं तपः ॥  
कल्मषाणामशेषाणां तीर्थं प्रक्षालने तपः ॥ १५२९ ॥

विजयोदया—मणदेहदुक्खवित्तासिदाण मानसाना शरीराणा दुःखाना ये चित्रस्तास्तेषां शरणं गतिश्च तपः । भवति च तपस्तीर्थं सर्वांशुमदोषमलनिरासकारि ॥

मलारा—वित्तासवाण चित्रस्तानाम् ॥ सरणं त्राण । गदी आश्रयणीयं । सुतित्थं नद्यादिस्तानस्थानम् । असुहो दोस पापकर्मक्षवकारिणो रागादयः ॥

अर्थ—मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे जो बुद्धिमान हैं उनको तपही रक्षक है और उपाय है। यह तप सर्व अशुभ परिणामरूप मलको दूर करनेमें तीर्थके समान है।

संसारविसमदुग्गे तवो पणट्ठस्स देसओ होदि ॥  
होइ तवो पच्छयणं भवकंतारस्मि दिग्घस्मि ॥ १४७० ॥  
तपः संसारकांतारे नद्यानां देशकं यत्त ॥

दीर्घे भवपथे जन्तोस्तपः संबलकायते ॥ १५३० ॥

विजयोदया—संसारविसमदुग्गे संसारो विपमदुर्गं इव दुरुत्तरणीयत्वात् । नस्मिन्पणट्ठस्य दिङ्मुलस्य । तवो-  
देसगो होदि तप उपदेष्टुं भवति । संसारविपमदुर्गमुत्तारयतीति । होदि तवो पच्छदणं भवति तप पथ्यदनं भवकातार-  
स्मि शवाट्ठस्य । दिग्घस्मि दीर्घे ॥

मूलारा—विसमदुग्गे दुरुत्तरारण्ये । पणट्ठस्स दिङ्मुलस्य । देसओ मार्गदेशकः । पच्छदणं पथ्यदनं शंबलं ।  
कतारे दुर्गसमार्गे ॥

अर्थ—जैसे महारण्यमें प्रवेश किया हुआ मनुष्य दिङ्मुल होता है, उससे निकलना कठिन होता है, वैसे  
यह संसारभी महावन के समान दुरुत्तर है, यह तप उसको उपदेशक है अर्थात् संसारवनसे वह तप प्राणीको  
निकालता है यह तप इस दीर्घसंसारवनमें मार्गमें भक्षण करने योग्य कलेशके समान है, —

रक्खा भएसु सुतवो अब्भुदयाणं च आगरो सुतवो ॥  
णिस्सेणी होइ तवो अक्खयसोक्खस्स मोक्खरस्स ॥ १४७१ ॥  
अयसामाकरो ज्ञेयं भयेभ्यो रक्षकं तपः ॥  
सोपानमारुद्धूणामवाघ सिद्धिमंदिरम् ॥ १५३१ ॥

विजयोदया—रक्खा भएसु सुतवो भयेषु रक्षा सुतप । अभ्युदयानां वाकरः सुतप । मोक्षस्य अक्षयसुखस्य  
निश्चयणी भवति तप ॥  
मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—यह तप भयमें जीविका रक्षण करता है यह सुतप अभ्युदय का आकर है अर्थात् स्वर्गादिसुखों-  
का उत्पत्तिस्थान है और अक्षय सुख जिसमें है ऐसे मोक्षके लिये यह तप नसेनीके समान है, —

ते णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स ॥  
अग्गीव तणं जल्लिओ कम्मंतणं ड्हदि यं तवग्गी ॥ १४७२ ॥

तथास्ति भुवने वस्तु तपसा यन्न लभ्यते ॥

तपसा दह्यते कर्म वह्निनेव तृणोत्करः ॥ १५३२ ॥

विजयोदया—तण्णत्थि तथास्ति यन्न लभ्यते तपसा सम्यक्कृतेन । तपोऽग्नि कर्मवृण दहति तृणमिवाग्निः प्रज्वलितः ॥

मूलारा—पुरिसस्स पुरुषेण । अथवा पुरुषस्य कर्मवृणमिति संबधः ॥

अर्थ—निर्दोष तपसे जो प्राप्त न होगा ऐसा पदार्थ जगतमें है नहीं अर्थात् तपसे पुरुषको सर्व उत्तम पदार्थोंकी प्राप्ति होती है जैसे प्रज्वलित अग्नि तृणको जलाती है वैसे तपस्स अग्नि कर्मरूप तृणको जलाती है।

सम्मं कदस्स अपरिसवस्स ण फलं तवस्स वण्णंढुं ॥

कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भामयसहस्सं ॥ १४७३ ॥

चिंतितं यच्छतो वस्तु सर्वं चित्तामणोरिव ॥

तपसः शक्यते वक्तुं न माहात्म्यं कथंचन ॥ १५३३ ॥

विजयोदया—सम्मं कदस्स सम्यक् कृतस्य निराश्रयस्य तपस फल वर्णयितुं न कश्चित्समर्थोऽस्ति जिब्भा शतसहस्र यद्यप्यस्ति ॥

मूलारा—सम्मं कदस्स निराश्रयस्य । अपरिस्तवस्स अबाधितस्य ॥

अर्थ—उत्तम प्रकारसे किया गया और कर्माश्रय रहित तपका फल वर्णन करनेमें जिसको हजार जिब्हा है ऐसा भी कोई शेषादि देव समर्थ नहीं है।

एवं णादूण तवं महागुणं संजमम्मि ठिच्चाणं ॥

तवसा भावेदब्बा अप्पा णिच्चं पि जुत्तेण ॥ १४७४ ॥

इति विलोक्य तपःफलमुत्तमं विमलवृत्तिनिवेशितमानसः ॥  
तपसि प्रतमतिर्यतते यतिः कुतपसः स फले विगतादरः ॥ १५३४ ॥  
विजयोदया—एव गाढूण एवं क्षात्वा तपो महोपकारि सयमे स्थित्वा तपसा भावयितव्य आत्मा नित्यमपि  
उपयुक्तेन ॥

उपसहारमाह—

मूलारा—ठिष्ठाणं स्थित्वा । जुतेण उपयुक्तेन ॥

अर्थ—इस प्रकार तप महा उपकारक है ऐसा जानकर संयममें स्थिर होकर हमेशा उपयुक्त तपके द्वारा  
आत्माका अभ्यास करना चाहिए ।

जह गहिदेवयणो वि य अदयाकज्जे णिउज्जदे भिच्चो ॥

तह चेव दमेयव्वो देहो मुणिणा तवगुणेषु ॥ १४७५ ॥

तपःक्रियायामनिश स्वविग्रहो नियोजनीयो यतिना हितैषिणा ॥

नियोज्यते किं न गृहीतवेतनो मनीषिते कर्मणि न स्वचेष्टकः ॥ १५३५ ॥

विजयोदया—जह गहिदेवयणो वि य यथा गृहीतवेतनोऽपि न दयाकार्यं नियुज्यते श्रुतकः । तथैव दमितव्यो  
वेहो मुनिना तपोगुणेषु । उत्तरगुणः ॥

मूलारा—गहिदेवयणो गृहीत वेतनं कर्ममूल्यं येन । अदयाए निर्दयं । भदगो श्रुतकः कर्मकरः । दमेदव्वो  
छेदयः । तवगुणेषु तपोभेदेज्जनशनादिषु । तपस्थायमः ॥

अर्थ—जिसको वेतन दिया है ऐसे नोकरको हमेशा कार्यमें नियुक्त करना चाहिए उसके ऊपर दया नहीं  
करना चाहिए, वैसे यह देह मुनिके द्वारा तपोगुणमें हमेशा लगाना चाहिये

इच्चेव समणधम्मो कहिदो मे दसविहो सगुणदोसे ॥

एत्थ तुममप्पमत्तो होहि समणगदसदीओ ॥ १४७६ ॥

गुणैरशेषैः कलिते मनोरमैर्भिस्तदोपे कथिते तपोधनैः ॥

सदात्र धर्मे शिवसौख्यकारणे प्रमादमुक्तैः कियतां महादरः ॥ १५३६ ॥

इति तपसःक्रमः ।

विजयोद्या—इन्चेव समणधम्मो इत्येव श्रमणधर्मं दशविधः समुणवोप कथितो मया । एतय तुममण्यमत्तो होदि अत्र दशविधे धर्मं त्वमप्रमत्तो भव । समागतस्मृतिक इति गणिना स्वशिक्षणरिसमाप्तिरादर्शिता ॥

अधुना सूरिः स्वशिक्षासमाप्तिमादर्शयन्पुत्रिष्टार्थसारणद्रुढिमिति सन्यासिनं प्रगुणयति—

मूलारा—इन्चेस इत्येवः । मे मया । न्सविधो उत्तमक्षमादीना । यथास्यान पूर्वनिरूपणात् । तुमं त्व । समागतदृढसदीओ समागतदृढस्मृतिकः सन्मुपप्रवल्सरणः । समणगादसदीओ इति पाठे समागतस्मृतिक इत्यर्थमाहुः ॥

अर्थ—इस प्रकार मैंने दस प्रकारके धर्मों का उपके गुण और दोषोंसहित वर्णन किया, इस दशविध धर्ममें हे क्षपक ! तू हमेशा प्रमादरहित प्रवृत्ति कर जिसको स्मृति है ऐसे क्षपकको इस प्रकार उपदेश देकर उपदेशकी आचार्यने समाप्ति की है,

तो खगवयणकमलं गणिरविणो तेहि वयणरस्सीहिं ॥

चित्तपसायविमलं पफुल्लिदं पीदिमयरदं ॥ १४७ ॥

क्षपकाननराजीवं ततो भानि विराशितम् ॥

हृतमोहतमस्कांडैः सूरिवाक्यमरीचिभिः ॥ १५३७ ॥

विजयोद्या—तो गगवदणकमल तत शिशानत तस्य क्षपकस्य वदनकमल प्रफुल्लित सूरिधर्मरसमेस्तेवचनरविमभि चित्तप्रसादविमल प्रीतिमकरंद ॥

अथ द्वादशगाथाभिद्रचूलिकामाचष्टे तत्रादौ निर्योपकाचार्यसदुपदेशसपादितं क्षपकस्य सभायाश्च धर्मरसास्वादनातिशयं गाथाद्वयेन व्यक्तानुभावेन ग्रंथकृतकथयति—

मूलारा—तो शिक्षानंतर । तेहिं श्रुतावधारितैः । रस्सीहिं रदिमभिः । विमलं विवर्णरहितं । पफुल्लिदं विकसितं ॥

अर्थ—आचार्यरूप स्वयंके उपदेशरूप किरणोंसे क्षपकक्षा मुखरुमल प्रफुल्लित होता है. चित्त प्रसन्नतासे निर्मल होकर उसमेंसे श्रीतिरूपी मकरद बहने लगता है.

वयणकमलेहि गणिअभिमुहेहिं सावत्थिदत्थिपत्तेहिं ॥

सोभदि ससभा सूर्योदयम्मि फुल्लं व णल्लिणिवर्णं ॥ १४७८ ॥

सूरैर्भानि प्रभावेण तत्सदो मुग्धपंरुजैः ॥

सरोवराभिवाकीर्णं पद्मैर्विकसितै र्वेः ॥ १५३८ ॥

विजयोदया—वयणकमलेहिं वदनरुमले यतीना गणिनोऽभिमुखे विस्तृताश्रये सा सभा शोभां वहति स्म । सूर्योदये पुष्पितनलिनवनमिव ॥

मूलारा—सोभदि शोभते स्म । सोहदि य इति पाठे तत्कालोपेक्षया वर्तमानता । उक्तं च—

गुरु येन मुग्धाभोर्नैर्विस्तृताश्रितैः सता ॥

शोभन्ति स्मोदय भानोः फुल्ल पद्मवनं यथा ॥

अर्थ—आचार्यके समक्षमें जिनके नेत्रकी पापनी विस्मित हुई है ऐसे यतिओंके मुखकमलोंसे वह मुनि सभा स्वयंोदयमें प्रफुल्लित कमलवनके समान शोभा धारण करती है

गणिउवएसामयपाणएण पल्हादिदम्मि चित्तम्मि ॥

जाओ य णिन्दुदो सो पाटूणय पाणयं तिसिओ ॥ १४७९ ॥

प्राप्योपदेशपीयूषं क्षपकोऽजनि निर्वृतः ॥

समस्तअमविध्वसि तृपाते हव पानकम् ॥ १५३९ ॥

विजयोदया—गणिउवएसामयपाणएण गणिन उपदेशामृतपानकेन प्रल्हादिते चित्ते जातोसौ सुखं निर्वृतः वृणितः पानकं पीत्वेव ॥

गुरुपदेशकृता क्षपकस्य निर्वृतिं दृष्टातेन स्पष्टयति—

मूलारा—अमदपाणएण अमृतपानकेन ॥

अर्थ—जैसे पानकका माशन कर प्यासा हुआ मनुष्य आनंदित होता है वैसे निर्यापकाचर्यके उपदेशामृत पानकको पीकर अंतःकरण प्रसन्न होनेसे यह क्षपक खूब संतुष्ट होगया

तो सो खवओ तं अणुसार्द्धं सोऊण जादसंवेगो ॥

उद्धिच्चा आयरियं वंदइ विणएण पणदंगो ॥ १४८० ॥

ततोऽयं शासनं श्रव्यं श्रुत्वा संविग्रमानसः ॥

उत्थाय वंदते सूरिं स नम्रीकृतविग्रहः ॥ १५४० ॥

विजयोदया—तो सो खवओ ततोऽसौ क्षपक तदनुशासनं श्रुत्वा जातसंवेग उत्थाय आचार्यं वंदते विनयेन प्रणताङ्ग ॥

तदनुशिक्षिश्चिवणोत्पन्नधर्मतत्फलदर्शनानुरागेण क्षपकेण विवेया निर्यापकाचार्यसपर्याचर्यां दर्शयति—

मूलारा—त ता

अर्थ—आचार्यका उपदेश सुनकर जिसको धर्ममें अतिशय श्रद्धा हुई है ऐसा वह क्षपक नम्र होकर ऊठकर आचार्यके चरणोंको विनयसे वंदन करता है

भंते सम्म णाणं तिरमा य पडिच्छिदं मए एदं ॥

जं अह उत्तं तं तह काहेति य सो तदो भणइ ॥ १४८१ ॥

तवेमां देशनां कृत्वा शेषामिव शिरस्यहम् ॥

यथोक्तमाचरिष्यामि पराजितपरीपहः ॥ १५४१ ॥

विजयोदया—भते सम्म णाण भगवन् संन्यग्ज्ञान एतच्छिरसा मया परिगृहीत । यद्यथोक्तं भवद्विस्तया करिष्यामि इति वदति ॥

वंदनानंतरकरणीयं क्षपकस्य गुरोरेव शासनस्वीकारपुरःसरं तदर्थानुष्ठानप्रतिष्ठाकर्ममाह—

मूलारा—भते भगवन् । अण आह्वा । एदं इयं । काहेति करिष्यामीति ॥



अर्थ—हे भगवन् ! आपने जो सम्यग्ज्ञानका उपदेश मेरेको दिया है, उसे मैं मस्तक नम्र कर ग्रहण करता हूँ, आपने जो जैसा कहा है वैसी ही मैं प्रवृत्ति करूंगा।

अप्या णिच्छरदि जहा परमा तुट्ठी य हवदि जह तुज्झ ॥

जह तुज्झ य संघस्स य सफलो हु परिससमो होइ ॥ १४८२ ॥

यथा मे निस्तरत्यात्मा तुष्टिरस्ति यथा तव ॥

संघस्य सर्वस्य यथा तवास्ति सफलः श्रमः ॥ १५४२ ॥

विजयोदया—अप्या णिच्छरदि जहा अहं यथा निस्तीर्णो भवामि संसारात् । यथा युष्माकं परमा तुष्टिर्भवति । भवता संघस्य चास्मदनुग्रहे प्रवृत्तानां श्रमस्य फल भवति ॥

मूलारा—अप्या णित्थरदि अयं संसारार्णवान्निस्तीर्णो भवामीत्यर्थः । तुज्झं युष्माकम् ॥

अर्थ—इस संसारसे मैं जिससे उत्तीर्ण होउगा, जिससे आपको सतीत उत्पन्न होगा, मेरे ऊपर अनुग्रह करने में उद्युक्त हुए आपका और संघका परिश्रम जिससे सफल होगा ऐसे उपायका मैं अवलम्ब करूंगा।

जह अप्पणो गणस्य य संघस्स य विस्सुदा हवदि किन्ती ॥

संघस्स पसायेण य तहहं आराहइस्सामि ॥ १४८३ ॥

यथात्मनो गणस्यापि कीर्तिरस्ति प्रथीयसी ॥

अहमाराधयिष्यामि तथा संघप्रसादतः ॥ १५४३ ॥

विजयोदया—जह अप्पणो गणस्स यथा मम गणस्य संघस्य च कीर्तिर्विद्युता भवति तथाहमाराधयिष्यामि संघस्य प्रसादेन ॥

मूलारा—अप्पणो ममेत्यर्थः ॥

अर्थ—मेरी गणकी, और संघकी जिस उपायसे कीर्ति प्रसिद्ध होगी, गणकी कृपासे मैं उस उपायका आश्रय कर रत्नव्याराधन करूंगा

धीरपुरिसेहिं जं आयरियं जं च ण तरंति कापुरिसा ॥

मणसा वि विंचितेहुं तमहं आराहणं काहं ॥ १४८४ ॥

याराधिता महाधीरैरधीरैर्मनसापि नो ॥

अस्ताघां साधयिष्यामि देवीमाराधनामहम् ॥ १५४४ ॥

विजयोदया—धीरपुरिसेहिं धीरै पुरुषैर्या आचरिता, या च शक्नुवन्ति कापुरुषा मनसापि न चिंतयितु ताह  
श्रीमाराधनामह करिष्यामि ॥

मूलारा—ण तरन्ति न शक्नुवन्ति । काहं करिष्यामि ॥

अर्थ—जिसका वीरपुरुषोंनेही आचरण किया है, धैर्यहीन पुरुष जिसको धारण करनेमें विलकुल अस-  
मर्थ हैं ऐसी आराधानाका हे प्रभो ! मैं पालन करूंगा

एवं तुज्झं उवएसामिदमासादइत्तु को णाम ॥

वीहेज्ज छुहादीणं मरणस्स वि कायरों वि णरो ॥ १४८५ ॥

तवोपदेशपयूयं पीत्वा को नाम पावनम् ॥

विभेत्तीह क्षुदादिभ्यः कातरोऽपि नरः प्रभो १५४५ ॥

विजयोदया—एव तुज्झ एव भवतामुपदेशामृतमास्वाद्य को नाम विभेति कातरोऽपि नरः क्षुधादीना मृत्योर्वा ॥

मूलारा—असादइत्तु आस्वाद्य । अत्र महाचोऽपरीपदेभ्यो मरणाद्वा न भीतिः करिष्यत इति प्रतिज्ञा गम्यते ॥

अर्थ—उपयुक्त आपके उपदेशामृतका आस्वाद लेकर कोनसा भययुक्त पुरुषभी क्षुधादिकसे और मरणसे  
हरेगा ? अर्थात् भययुक्त पुरुष भी आपका उपदेश सुनकर निर्भय होता है और मृत्युसे भी निडर होकर आराध-  
नाओंका आराधन करता है

किं जंपिण बहुणा देवा वि सइदिया मह विग्घं ॥

तुम्ह पादोवगहगुणेण काहुं ण तरिहंति ॥ १४८६ ॥

पलालैरिव निःसारैर्वहुभिर्भाषितैः किम् ॥

प्रत्यदूहकरणे शक्तो न मे द्यक्रोऽपि निश्चितम् ॥ १५४६ ॥

विजयोदया—किं जपिण वहुणा किं बहुना जल्पितेन देवा अपि शतमखप्रमुखा मम विघ्नं कर्तुं असमर्था भवत्पादोपग्रहणमुनेन ॥

आराधनानिर्वहणासौष्ठवकाष्ठामातिमुते—

मलारा—सईधिया जलमुलप्रमुखा । पादावगाहणेण पादप्रसादानुग्रहेण । ण तरिहति न समर्था भविष्यति ॥

अर्थ—अधिक गोलनेसे क्या मतलब है? इद्रसहित देवभी आपके चरणानुग्रह होनेपर विघ्न करनेमें असमर्थ होते हैं

किं पुन लुहा व तण्हा परिसमो वादियादि रोगो वा ॥

काहिति ज्ञाणविघं इंदियविसया कसाया वा ॥ १४८७ ॥

ध्यानविघ्न करिष्यति किं क्षुदादिपरीपहाः ॥

कषायाक्षद्विषो वा मे त्वत्प्रसादमुपेयुप ॥ १५४७ ॥

विजयोदया—किं पुन कुर्वन्ति ध्यानस्य विघ्नं क्षुधा वा, व्या वा, परिश्रमो वा, वातिकादिरोगो वा, इन्द्रियाणा विषया, कषाया वा ॥

मलारा—वादियादि वातिकपैत्तिककेष्मकादि । काहिति मनागपि न करिष्यति इत्यर्थः ॥

अर्थ—क्षुधा, प्यास, परिश्रम, वातादिकसे होनेवाले रोग, इन्द्रियोंके विषय और कषाय ये सब मेरे ध्यानमें विघ्न कैसे कर सकेंगे इद्रादिक देव भी मेरी आराधनामें त्राया लानेमें असमर्थ हैं फिर ये क्षुद्र उपद्रव मेरा क्या नुकसान कर सकते हैं ?

ठाणा चलेज्ज मेरू भूमी ओमच्छिया भविस्सिहिदि ॥

ण य ह गच्छमि विगादि तुज्ज पायप्पसाएण ॥ १४८८ ॥

स्थानतश्चलति नाकपर्वतः पुङ्करं वसुमतिं प्रपद्यते ॥  
त्वत्प्रसादपुष्पगम्य न प्रभो ! जातु याभि विवृतिं मनोगति ॥ १५४८ ॥  
मनसा वपुषा वचसा भगवन्ननुशासनमेतदनन्यमतिः ॥  
तव यो विदधाति सदा विधिना शिवतातिमुपैति स मुक्तमलः ॥ १५४९ ॥  
इति अलुशिष्टिः ॥

विजयोदया—उषा चलिज सस्मास्थानाच्चलियति मेरु । भूमिः परावृतमस्तिका भविष्यति । नाहं विवृतिं  
गमिष्यामि भवता पादप्रसादेन ॥

मूलारा—चलेज चलिष्यति । ओमच्छिष्या अधोमस्तका । गच्छ गमिष्यामि । विगर्दि विवृतिं विराधना-  
मित्यर्थः ॥ चूलिका १२ क्षपकानुशिष्टिः ॥ सूत्रतः ३३ ।

अर्थ—स्थानसे पर्वतभी हिल जावेगा, अथवा समस्त पृथ्वी भी ओझी हो जायेगी तो भी मैं आपके  
चरणानुग्रहसे विकारी नहीं होऊंगा

इत्थं गणैर्द्रमुलं चंद्रभवं तमिच्छ-  
दाशाधरेष्टमनुशिष्टश्च मृत प्रवर्ज्य ॥  
श्रद्धाप्रियामनुसमत्ववने किलानो ॥  
हृष्यन्त्वलं क्षपकपुगवपुंश्चकोराः ॥

इत्याशाधरानुस्मृतमंशसदंभं मूलाराधनादर्पणे पदप्रसेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे पठ आश्वासः ॥

सप्तम आश्वासः ।

पंकोद्रेककृतेष्वधेषु गुरुणा नीत्वा स्मृतिं वर्मितः ।

सम्यक्साध्यमधिष्ठितः पुरु पिवन्सद्योऽनन्यमस्मृतम् ॥

लेदयाशुद्धिमितश्चतुर्विधमहासांघाभिकांक्षं पदं ।

यः प्राप्नोति महान्तमर्हति मह देहोऽपि तस्याघहृत् ॥ १ ॥

अथ यथोपदिष्ट स्वशक्त्यनिगूहनेन सस्तरस्थस्य साधोर्नुत्तिष्ठतः प्राक्तनदुर्द्वविपाकवशादुपस्थिते कचित्समाधि विघ्ननिर्बंधने निर्योपकाचार्येणावश्यकरणीय सारणाक्रम कथयितुं गाथाविश्लेषोपक्रमते तत्रादौ प्रागुक्तमेवार्थमनुस्मरयितुं उपन्यस्यति—

एवं खवओ संधारगओ खवइ विरियं अगहूंतो ॥

देदि गणी वि सदा से तह अणुसहिं अपरिंदंतो ॥ १४८९ ॥

निर्जरां कुरुते गुर्वी कुर्वाणः क्षपकस्तपः ॥

दत्ते निर्योपकः शिक्षामनिर्विण्णं प्रियंवदः ॥ १५५० ॥

समाप्तमनुशासनम् ॥

मूलारा—एव यथोक्तदशक्षेत्रश्रमणधर्माचरणक्रमेण । खवदि क्षपयति च बहुतरमेकदेशेनाशुभं कर्मे प्राप्ता-  
पार्षितं अभिनवं निरंधानः । तथा पूर्वोक्तैर्नैव विधिना । अपरिंदंतो अनिर्विण्णः । उक्तं च—

निर्जरा कुरुते गुर्वी कुर्वाणः क्षपकस्तपः ॥

दत्ते निर्योपकः शिक्षामनिर्विण्णं प्रियंवदः ॥

एता श्रीविजयो नेच्छति—

अर्थ—इस प्रकार दश प्रकारके धर्मका आचरण करनेसे क्षपक पूर्ववद्ध कर्मका एक देश का क्षपण-क्षय करता है और निर्योपकाचार्यभी न थककर उसे सदा उपदेश देते रहते हैं।

सारणेत्येतत्सूत्रपदव्याख्यानमुत्तरम् ॥

अकडुगमतिचयमणं विलंब अकसायमलवणं मधुरं ॥

अविरस मडुविगंधं अच्छमणुहं अणदिसीदं ॥ १४९० ॥

कटुतिक्तकषायाम्ललवणस्वादुमीरसैः ॥

पानकं मध्यमैर्युक्तं तस्मै क्षीणाय दीयते ॥ १५५१ ॥

विजयोदया—अकडुगं अकडुक, अतिक्त, अनाम्लं, अकपायं, अलवणं, आमधुर, अविरसं, अदुरभिगंधं, स्वच्छमनुष्याशीत ॥

तत्कालप्रयोज्यं पानकं गाथाद्वयेनानुस्मारयति--

मूलारा—अकडुग अत्रेपदर्थं नञ् । तेन कटुतिक्ताम्लरूपायलवणमधुरोष्णगुणानामौत्कश्यमेव निषेधमनति शीतमिति निर्देशान् ज्ञापितत्वात् । अविरस अप्रिगतस । मध्यमकटुकारिरसयुक्तं द्रव्यार्थं । अदुग्निगंध सुगंधि । उक्तं च-

कटुतिक्तरूपायलवणस्वादुभी रसेः ॥

पानकं मध्यमैर्युक्तं तरेभे क्षीणाय दीयते ॥

अर्थ—जो आहार कटुक, तिक्त, आम्ल, कषायला नमकीन, मधुर, विरस, दुर्गंध, अस्वच्छ, उष्ण और शीत नहीं है ऐसा आहार क्षपकको देना चाहिये अर्थात् मध्यम रसोंका आहार देना चाहिये

पाणगमसिंभलं परिपूर्यं स्त्रीणस्स तस्स दादन्त्रं ॥

जह्वा पच्छं खवयस्स तस्स तह् होइ दायव्व ॥ १४९१ ॥

विजयोदया—पाणगमसिंभल पानकमश्लेषकारि परिपूर्य क्षीणाय क्षपकाय दातव्यं । यथाभूतं वा तस्य पथ्य तथा भूतं दातव्यम् ॥

मूलारा—असिंभलं यत्कफं न करोति । परिपूर्यं गालितं । पच्छं समाध्यविरोधि ॥

अर्थ—जो पेय पदार्थ क्षीण क्षपकको दिया जाता है वह कफको उत्पन्न करनेवाला न होना चाहिये और वह स्वच्छ पवित्र होना चाहिये। क्षपकको जो देनेसे पथ्य-हितकर होगा ऐसा ही पानक देने योग्य है।

संथारत्थो खवओ जइया स्त्रीणो हवेज्ज तो तइया ॥

वोत्तरिदव्वो पुव्वविधिणेव सोपाणगाहारो ॥ १४९२ ॥

यदासौ नितरां क्षीणस्तदपि त्याज्यते तदा ॥

पटीयांसो न कुर्वन्ति निरर्थकं नियोजनम् ॥ १५५२ ॥

विजयोदया—सथारथो मस्तरस्य क्षणको यदा श्रीगो भवेत्तदा श्रुत्यष्टयोऽगानस्य विकल्प पूर्यविधिर्नय ॥

अतीक्ष्णस्य यथोक्तपानक्यजनविमिश्रितगन्धनि -

मूलारा—अतिक्षीण इत्यर्थः । तो तथाविम्पानक्यनान् । गोमण्डित्यो न्याचयितव्यः । पुञ्जविधिनेय हानिम्बू-  
त्रोक्तक्रमेण ॥

अर्थ—मस्तरपर सीया हुआ क्षणक जय श्रीण होगा तब पानकके विकल्पका भी हानि नामक द्रव्यके  
अनुसार त्याग करना चाहिये

एवं संधारगदस्म तस्म कर्मोदण खवयस ॥

अंगे कच्छद उट्टिञ्ज वैयाणा ज्ञाणविघयरी ॥ १४९३ ॥

इत्थं शुश्रूषमाणस्य संस्तरस्थस्य वेदना ॥

पूर्वकर्मोन्निभावेन काय काप्यस्य जायते ॥ १५५३ ॥

विजयोदया—एत मथारगदस्म एतं मस्तरगतम् । क्षणकस्य कर्मोदयन इति दुष्टेनोपजायते ध्यानविप्रसृतिरिति ।  
इत्थं शुश्रूषमाणस्यापि दुष्टोदयप्रसृतिरित्येवैवैतोत्पत्ते इत्याह—

मूलारा—कच्छद कचित्कुक्ष्यादौ । वेदना अलाविपीडा ॥

अर्थ—मस्तरपर आरुढ हुए क्षणकके शरीरमें क्रमेक उदयमें ध्यानमें विप्रन उत्पन्न करनेवाली वेदना  
उत्पन्न होती है अर्थात् पेट वंगरह शरीरके किसी अवयवमें अलाटि पीडा कर्मोदयमें उत्पन्न होती है

बहुगुणसहस्रभरिया जदि गावा जम्मसायरे भीमे ॥

भिज्जदि हु रयणभरिया गावा व समुद्धमज्झस्मि ॥ १४९४ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपोरत्न भूतस्ततः ॥

संसारसागरे चोरे यत्तिपोतो निमज्जति ॥ १५५४ ॥

विजयोदया—यद्गुणसहस्रभरिदा यद्गुणमहर्भरिता संपूर्णो यतिनोर्जमसागरे भीमे यदि मेघसुपेयात्  
रत्नत्रयपूर्णो नौरिय समुद्रमध्ये ॥

तदेतद्व्यात्सद्धानविनाशेन दुर्ध्यानावेदात्सुधुर्विराग्य रत्नत्रय यृतो घोरे संसारसागरे तिमज्जतीति  
दर्शयति—

मूलारा—जदिगावा यतिनां । पोत इव यत्नतः प्रणेत्यत्वादाश्रिताता तारकत्वात् । भिज्जति देववशाद्विघटने ।  
यतिमावं नौमावं मुंचतीत्यर्थः ॥

अर्थ—यह यतिरूप नौका हजारो गुणोंसे भरी हुई है कदाचित् मयकर संसारसमुद्रमें डूब जायगी. तात्पर्यं  
ब्रत, शील, समिति गुप्ति. रत्नत्रय इत्यादि गुणोंसे भरी हुई क्षपकरूपी नौका रोगवेदनासे इतनेका प्रसग आनेपर  
उसे बचाना चाहिये

गुणभरिदं जदि गावं दृष्टूण भवोदधिम्मि भिज्जंतं ॥

कुणमाणो हु उवेक्खं को अण्णो हुज्ज णिद्धम्मो ॥ १४९५ ॥

नियज्जंतं भवाम्भोधो यो हृष्टा तपुपेक्षते ॥

अधार्मिको निराचारो नापरो विचयते ततः ॥ १५५५ ॥

विजयोदया—गुणभरिदं जदि गावं गुणै पूर्णं यतिनां भवसमुद्रमध्ये भिज्जमानां दृष्ट्या यं करोत्युपेक्षां  
तस्मात्कोऽप्यो भवेद्धर्मनिष्कृतः ॥

आराधकस्य समाधिविघ्नकारणमप्रतिकुर्वाणं प्रणिदति—

मूलारा—कुणमाणो कुर्वाणत । उवेक्खं दुर्बोदयजन्यमानशूलाविपीडाप्रतीकाराभाव ॥

अर्थ—गुणोंसे परिपूर्ण यतिनौका यदि भवसमुद्रमें फूटती हुई देखकर जो उसकी उपेक्षा करता है  
उससे जगतमें अन्य अधार्मिक कोन होगा ?

वेज्जावच्चस्स गुणा जे पुव्वं विच्छेरेण अक्खादा ॥

तेसिं फिडिओ सो होइ जो उवेक्खेज्ज ते स्वयं ॥ १४९६ ॥



वैयावृत्यगुणाः पूर्वं कायिता ये प्रपचतः ॥

तैरूपेक्षापरो नीचस्त्यज्यते निखिलैरपि ॥ १५५३ ॥

विजयोदया—वेज्जाघबस्स गुणा वैयावृत्यस्य गुणो ये पूर्वं विस्तरेण व्याख्यातास्तेभ्य प्रच्युतो भवति य उपेक्षते क्षपकं ॥

आराधकवाधामप्रतिकुर्वतः स्वार्थभ्रशोऽपि स्यादित्याह—

मूलारा—पुन्र्वं गुणानुशिष्ये गुणपरिणामो इत्यादिना । तेसिं फिडिदो तेभ्यइच्युतः ॥

अर्थ—वैयावृत्यके गुणोंका विस्तारसे पूर्वमें वर्णन किया है, जो क्षपककी उपेक्षा करता है वह उन गुणोंसे भ्रष्ट होता है, अर्थात् क्षपककी उपेक्षा करनेसे क्षपक संसारसमुद्रमें डूबेगा और उपेक्षकके भी गुण नष्ट होंगे उसके वात्सल्यादि गुणोंका नाश होगा

तो तस्स तिग्गिच्छा जाणएण खवयस्स सन्वसत्तीए ॥

विज्जादेसेण वसे पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥ १४९७ ॥

वैयावृत्यं ततः कार्यं चिकित्सां जानता स्वयम् ॥

वैद्योपदेशतश्चास्य शक्तितो भक्तितः सदा ॥ १५५७ ॥

विजयोदया—तो तस्स ततस्सतस्य क्षपकस्य चिकित्सा जानता सर्वशक्त्या प्रतिकर्म कर्तव्यं वैद्यस्य चोपदेशेन ॥ एवं क्षपकोपेक्षणे क्षतिप्रदर्शनाद्वैयावृत्ते निर्योपकाचार्यं निर्युक्ते—

मूलारा—नो प्रणिधानस्वार्थभ्रशान्नोः । तस्स तिग्गिच्छाजाणएण तस्य संबंधिनीं चिकित्सा स्वयं वैद्योपदेशेन वा जानता निर्योपकाचार्येण सपडिकम्मं तस्य प्रतीकारं कार्यं इति संबधः ॥

अर्थ—क्षपकके रोगका निदान जाननेवाले यतीने वैद्यके उपदेशानुसार अपनी सर्व शक्तिसिं उसके रोगका परिहार, कर्तना, चाहिये.

णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियारं ॥

फासुगदब्बेहिं करेज्ज वायकफप्पित्तपडिघादं ॥ १४९८ ॥

विज्ञाय विकृतिं तस्य वेदनायाः प्रतिक्रिया ॥

औषधैः पानकैः कार्यो वातपित्तकफपदैः ॥ १५५८ ॥

विजयोद्या—णाद्रूण विकार ज्ञात्वा विकार तस्या वेदनाया तत प्रतिकार कुर्यात् । योग्यैर्द्रव्यैर्वार्तकफ पित्तप्रतिघातं ॥

मूळारा—वियार दोषवैषम्य । तिस्से तस्याः । पडिधावं शान्तिम् ॥

अर्थ—वातादिकसे उत्पन्न हुए विकार को जानकर योग्य पदार्थोंसे वेदनाका प्रतिकार करना चाहिये, जिससे वातादिक विकार नष्ट होंगे ।

बच्छीहिं अवहवणतावणेहिं आल्लेवसीदकिरियाहिं ॥

अब्भंगणपरिमहण आदीहिं तिगिंछदे खवयं ॥ १४९९ ॥

अभ्यंगस्वेदनालेपवस्तिकर्मगमर्दनैः ॥

परिचर्यापरेणापि कुल्यास्य परिकर्मणा ॥ १५५९ ॥

विजयोरया—बच्छीहिं वस्तिकर्मभिः, अवहवणतावणेहिं ऊष्मकरणतापनैः, आलेपनेन, शीतक्रियया, अभ्यंग परिमर्दनादिभिश्च चिकित्सते क्षपक ॥

मूळारा—बच्छीहिं वस्तिकर्मभिः । बत्तीहिं इति पाठे वर्तिभित्तिर्यः । उवद्वण उपनार्हैः । तावणेहिं स्वेदनैः सीदकिरियाहिं प्रासुकजलसेवनादिभिः । परिमहण अगमर्दनैः । तिगिंछदे अगतवेदनं करोति ॥

अर्थ—वस्तिकर्म ( इनिमा करना ) अग्निसे सेकना, शरीरमें उष्णता उत्पन्न करना, औषधीका लेप करना, शीतपना उत्पन्न करना, सर्व अगका मर्दन करना, इत्यादिके द्वारा क्षपककी वेदनाका उपशम करना चाहिये ।

एवं पि कीरमाणो परियम्मे वेदणा उवसमो सो ॥

खवयस्स पावकम्मोदण तिब्बो ण हु ण होज्ज ॥ १५०० ॥

कस्यचिक्खियमाणेऽपि बहुधा परिकर्मणि ॥

पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशाम्यति वेदना ॥ १५६० ॥

विजयोदया—एवं पि कीरमाणे प्रतीकारे क्षपकस्य वेदनोपशम तीव्रेण पापकर्मोदयेन नापि भवेदपि, नहि बहिर्द्रव्यमाहात्म्येनैव कर्मोणि स्वफलं न प्रयच्छन्ति । तदेव हि बहिर्द्रव्यं एकस्य वेदना प्रशमयति । नापरस्येति प्रतीतिमेतद् ॥

अभिमुखपापविपाके प्रतीकारवैयर्थ्यमाह—

मूलारा—तिव्वेण घोरेण । उक्त च—

कस्यचिक्खियमाणेऽपि बहुधा, परिकर्मणि ॥

पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशाम्यति वेदना ॥

अन्ये पापकर्मोदयेण तिन्वा व सा होज्ज इति पठित्वा पापकर्मोदये सति वेदनोपशमो न भवेत्, तीव्रा वा वेदना भवेदिति प्रतिपन्नाः ॥

अर्थ—इस प्रकार इलाज करनेपर भी, तीव्र कर्मका उदय होनेसे बाह्य उपचारोंसे वेदनाका उपशम होता नहीं. बाह्य द्रव्योंसे किसी की वेदनाका उपशम होता है, और किसीकी नहीं भी अतः कर्मोदयकी विचित्रता सिद्ध होती है

अहवा तण्हादिपरीसहेहिं खवओ हविज्ज अभिभूदो ॥  
उवसग्गेहिं व खवओ अचेदणो होज्ज अभिभूदो ॥ १५०१ ॥  
क्षपको जायते तीव्ररूपसर्गपरीषहः ॥

अभिभूतः परायत्तो विह्वलीभूतचेतनः ॥ १५६१ ॥

विजयोदया—अहवा तण्हादिपरीसहेहिं अथवा वडादिभि परीषहेरभिभूतो भवेत्क्षपक, उपसर्गैर्वाभिभूतो निश्चेतनः स्यात् ॥

निमित्तान्तरमपि समाधिविघ्नस्याभिधत्ते—

मूलारा—अचेदणो विभ्रान्तो भूदो वा ॥

अर्थ—अथवा भूक, प्यास इत्यादि परिषहोंसे पीडित होकर क्षपक निश्चेतन होगा अर्थात् मूर्च्छित होगा अथवा भ्रान्त होगा तथा उपसर्गसे भी पीडित होनेपर, मूर्च्छित होता है.

तो वेदणावसदो वाउलिदो वा परीसहादीहिं ॥

सदओ अणपवसिओ सो विप्लवेज्ज जं किं पि ॥ १५०२ ॥

व्याकुलो वेदनाग्रस्तः परीपहकरालितः ॥

प्रलपत्यनिबद्धानि वाक्यानि स विचेतन ॥ १५६२ ॥

विजयोदया—ततो वेदनावशात् व्याकुलितः परीपहोपसर्गं क्षपकोऽसावनात्मग्रहो विप्रलयेद्यदि किंचिद् ॥

विभ्रान्तत्वे विकारानाह—

मूलारा—तो विभ्रान्ताचेतनत्वात्पश्चात् । वेदणावसदो वेदनावशेनातुरः सन् । वाउलिदो व्याकुलीकृतः ।

विप्लवेज्ज विविधं अन्त्येकं जल्पेत् जं किंचि अनियद्धं ॥

अर्थ—वेदनाकी असह्यतासे दुःखी होकर, परीपह और उपसर्गसे व्याकुल होकर क्षपक आपमें नहीं रहेगा अर्थात् उसके चित्तकी एकाग्रता भंग होगी जिससे वह पूर्वापर संवध विराहित बडबड करेगा।

उब्भासेज्ज व गुणसेढीदो उदरणवुद्धिओ खवओ ॥

छट्ठं दोच्चं पढमं वसिया कुंटिलिदपदमिच्छंतो ॥ १५०३ ॥

अयोग्यमशनं पानं रात्रिमुक्तिं स कांक्षति ॥

चारित्र्यजनकांक्षी जायते वेदनाकुलः ॥ १५६३ ॥

विजयोदया—उब्भासेज्ज वेदनायोग्य, सयमगुणश्रेणित कृतावतरणवुद्धि, छट्ठं रात्रिभोजनं, दोच्चं पाणं, विवसे पढम व अशनं वा । सिया कदाचित् । कुंटिलिदपदमिच्छंतो स्वलनपदं इच्छन् ॥

मूलारा—उभासेज्ज अयोग्य वदेत् । गुणसेढीदो सयमगुणारोहणात् । उदरणवुद्धिओ अवतरणे कृतमतिः । छट्ठं रात्रिभोजनं । दोच्चं पानं । पढम भोजनं । सिया कदाचित् । अकाले भोजनं पान वेत्यर्थः । कुंटिलिदपद स्वलनपदं । हीनस्थानमित्यन्यः ॥ उक्तं च—

वदेद्वावुचितं साधुः समयत्यजनोन्मुखः ॥

अकाले भोजनं पानं वा वाछन्स्त्वलितं पदम् ॥

अर्थ—अयोग्य भाषण बोलेगा, समयसमयसे उत्तरनेकी बुद्धि करेगा, अर्थात् संयम छोड़नेका विचार उसके मनमें उत्पन्न होगा रात्रिभोजन करना, अथवा रात्रौ पानी पीना, दिनमें प्रथम-भोजन करना, एतद्विषयक विचार उसके मनमें उत्पन्न होंगे इस प्रकारसे वह समयसे स्खलित होनेकी इच्छा करेगा।

तह मुञ्चंतो खवगो सारेदब्बो य सो तवो गणिणा ॥

जह सो विमुद्धलेस्सो पच्चागदेवदणो होज्ज ॥ १५०४ ॥

तथेति मोहमापन्नं सारणीयो गणेशिना ॥

यथास्ति मुद्धलेदयाकः स प्रत्यागतचेतनः ॥ १५०४ ॥

विजयोदया—तह मुञ्चंतो खवगो-मोहमुपगच्छन् क्षपकस्तथा सारयितव्योऽसौ गणिना कथं ? यथा विमुद्धलेदयो भवति प्रत्यागतचेतनश्च ॥

वेदनादिना विभ्रम्य विबुर्वागे क्षपके किं कार्यमित्यत्राह—

मूलरा—तद्य मुञ्चंतो खवगो विप्रलपनादिप्रकारेण व्यक्तविभ्रमो भवन् । सारेदब्बो स्मरयितव्यः सर्वः । ततो

सः । आसन्नमृदुरित्यर्थः । पच्चागदेवदणो व्याघ्रुदितयथार्थबुद्धिः सन् ॥

अर्थ—इस प्रकार मोहको प्राप्त हुए क्षपकको आचार्य पूर्वाचरणका स्मरण दिलाने हैं, जिससे उपायसे वह निर्मल लेस्याका धारक होगा और चैतन्यकी प्राप्ति करेगा ऐसा ही उपाय वे करते हैं

सारणोपाय कथयति—

कोसि तुमं किं णमो कथ्य वससि को व संपही कालो ॥

किं कुणसि तुमं कह वा अत्थसि किं णामगो वाहं ॥ १५०५ ॥

कस्त्वं किं नाम ते कालः सांप्रतं कः क वर्तसे ॥

कोऽहं किं मम नामेति तं पृच्छति गणी यत्तिम् ॥ १५०५ ॥

विजयोदया—कोऽसि तुमं कस्त्व ? किं नामधेय ? कथ्य वससि क वससि ? को व संपहीकालो को वेदानी काल ? किमयं दिवा रात्रिर्वा ? किं कुणसि तुमं किं करोषि भवान् ? कथं वा अत्थसि कथं वा तिष्ठसि ? किं णामगो वाहं अहं वा किं नामधेय ?

कथमेव सारयितव्य इत्यत्राह—

मूलारा—सपदि काले । इदानीं कालः किमय दिवा रात्रिर्वो ॥

सारणोपाय कहते हैं—

‘अर्थ—हैं मुनें’ तुम कौन हो ? तुम्हारा नाम क्या है ? तुम कहाँ रहते हो ? अब कौनसा काल है ? अर्थात् अब दिवस है या रात्री है ? तुम क्या कार्य करते हो ? और कैसे रहते हो ? मेरा नाम क्या है ?

एवं आउच्छित्ता परिकल्हेदुं गणी तयं खवयं ॥

सारङ्ग वच्छलयाए तस्स य कवयं करिस्संति ॥ १५०६ ॥

इत्थं क्षपकमापृच्छय चित्तं जिज्ञासता सता ॥

वत्सलत्वेन कर्तव्या सारणा तस्य स्तरिणा ॥ १५०६ ॥

विजयोदया—यव आजच्छित्ता एवमनुपरत सारयति गणी त क्षपक । किं सचेतनो निश्चेतन इति परीक्षितु-  
कामः वत्सलतया यद्यस्ति चेतनो कवचं करिण्यामीति मत्वा ॥

किमर्थमेव सार्यते इत्यत्राह—

मूलारा—अन्वोच्छिण्णं अनुपरत । आपुच्छित्ता इति प्रागिकः पाठः । परिकल्हेदुं किमयं सचेतन उत नि-  
श्चेतन इति परीक्षणार्थं । सारेदि स्मृतिं प्रापयति । वच्छलयाए वात्सल्येन । कवचं करिस्संति यद्यस्ति चेतनास्य तदा कवच  
करिण्यामीति मत्वा ॥

अर्थ—यह क्षपक सचेतन है अथवा अचेतन है अर्थात् यह सावधान है किंवा असावधान है इसका परीक्षण  
करनेके लिये बड़े प्रेमसे उपयुक्त प्रश्न बारबार उसको पूछते हैं यदि हममें चेतना होगी अर्थात् यह सावध होगा  
तो मेरे पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर देगा और सावध है ऐसा सिद्ध होनेपर इसको हम, कवच करेंगे ऐसा हेतु मनमें  
धारण कर आचार्य उपयुक्त प्रश्न क्षपकको करते हैं

जो पुण एवं ण करिज्ज सारण तस्स वियलचक्खुस्स ॥

सो तेण होइ णिद्धंसेण खवओ परिचत्तो ॥ १५०७ ॥

सुखतः क्षपकस्येत्यं-यं करोति न सारणम् ॥  
तेनासौ वर्जितो नूनं जिनधर्म इवोज्ज्वलः ॥ १५६७ ॥  
विजयोदया—जो पुण एव ण करिअ यः पुनरेवं न कुर्यात् सारणं। स्पलितचित्तवृत्ते स क्षपकस्तेन परित्यक्तो भवति सूरिणा ॥

तथा तदपसारणे दोषमाह—

मूलारा—विप्लवखलस स्पलितचित्तवृत्तेः। गिहयसेण निर्दयेन ॥

अर्थ—जो निर्यापकाचार्य ऐसे ग्रन्थ नहीं पढ़ेगा और जिसकी चित्तवृत्ति भ्रष्ट हुई है ऐसे क्षपकको स्मरण दिलाकर रत्नत्रयमें स्थिर न करेगा तो उस निर्दय निर्यापकाचार्यने क्षपकका त्याग किया है ऐसा माना जावेगा ।

एवं सारिज्जंतो कोई कम्मुवसमेण लभदि सदि ॥

तह य ण लब्धिज्ज सदि कोई कम्मे उदिण्णस्मि ॥ १५०८ ॥

तस्येति सार्यमाणस्य कस्यचिज्जायते स्मृतिः ॥

तीव्रकर्म्मोदये नान्यः स्मरणं प्रतिपद्यते ॥ १५६८ ॥

संततसारणवारणकारी कामकषायदृष्टीकनिवारी ॥

धर्मवतो विवर्धनीत समर्थि सर्वमपास्य गणी तरसाधिम् ॥ १५६९ ॥

इति सारणं

विजयोदया—एवं सारिज्जंतो एव सार्यमाण कश्चित् चारित्र्यमोहोपशमेन वा स्मृतिं यो योग्यविषया लभते। अयुक्तेयं मम इच्छा अकाले भोक्तुं पातु वा प्रत्याख्यात कथं कालेऽपि प्रार्थयामीति न लभते स्मृतिं कश्चित्कर्मण्युदीर्णं नो प्रद्विगमतिज्ञानावरणे। सारणा ॥

तथा सारणायामपि लघुकर्मण एव स्मृतिः स्यान्नान्यस्येत्याह—

मूलारा—कोई कश्चित्त्रोषप्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषं प्राप्तः। कम्मुवसमेण चारित्र्यमोहोपशमेन। अस-  
द्वेद्योपशमेन वा। सदि अयुक्तेयमिच्छा मम काले भोक्तुं पातु। वा प्रत्याख्यातं वा कथं कालेऽपि प्रार्थयामीति योग्यायो-

ग्यविषयां बुद्धिं । तद्य वि सार्यमाणोऽपि । कम्ममे नोइन्द्रियमतिज्ञानावरणे । उदिण्णम्मि तीव्रवेदनादिवशादुर्निवारमुदेति ॥  
सारणा सूत्रतः ३४ अंकतः २०

अर्थ—इस प्रकार अयोग्य इच्छासे परावृत्त करनेपर भी कोई क्षपक पापकर्मके उपशमसे योग्य विषयके सारण को प्राप्त होता है अर्थात् मैं अकालमें भोजन करनेकी और पेय पदार्थ पीनेकी इच्छा की थी जिसका मैंने त्याग किया है उसका योग्य कालमें भी सेवन करना अनुचित है। ऐसा सारण उसको होकर वह अयोग्य आचरणसे परावृत्त होता है। परंतु जिसका पापकर्म उदयमें आता है और नो इन्द्रियमतिज्ञानावरण कर्म उदयमें आता है वह स्मरणशून्य होता है, यह सारणा नामक प्रकरण समाप्त हुआ

सदिमलभंतस्स वि काद्वयं पडिकम्ममट्ठिय गणिणा ॥

उवदेसो वि सया से अणुलोमो होदि कायव्वो ॥ १५०९ ॥

प्रतिकर्म विघातव्यं तस्य स्मृतिमगच्छतः ॥

उपदेशोऽपि कर्तव्यः स्मरणारोपणक्षमः ॥ १५१० ॥

विजयोदया—सदिमलभंतस्स वि स्मृतिमलभमानस्यापि गणिनाऽस्थित कर्तव्य । प्रतिकार, उपदेशोऽपि अनुकूलः सदा तस्य कर्तव्यः ॥

अथ तथाकृतसारणस्याराधकस्य वचनं गाथाना चतुःसप्तत्यधिकेन श्रुतेन व्याचिख्यासुस्तदुपक्रमाय प्रथम पङ्गाथाः कथयति—

मूलारा—अट्ठिदं निरंतर । अणुलोमो स्मरणारोपणप्रवणः । दर्शनानुयायीत्यपरः ॥

अर्थ—जो स्मृतिको प्राप्त होता नहीं है उसको भी निरंतर उपाय करना चाहिये उसको सावध करनेके उपाय करने चाहिये, वैसे उसको अनुकूल उपदेश भी हमेशा करना चाहिये।

चयंतोऽपि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरच्छो ॥

उम्भासेज्ज वउक्कावेज्ज व भिंदेज्ज व पदिण्णं ॥ १५१० ॥



परीषदातुरः कश्चिज्जानानोऽपि न बुध्यते ॥

आर्तः प्लुक्कुरुते दीनो मर्यादां च विभित्सति ॥ १५७१ ॥

विजयोदया—चेद्वतो पि चेतयमानोऽपि कर्मोदयेन कश्चित्परीषदपराजितो यत्किञ्चिद्वदेत् आस्टेत्, भिद्याद्वा स्वो प्रत्याख्यातप्रतिष्ठा ॥

जानतोऽपि दुःखाकुलतयानुचितमाचरतः कटुकवचनादिकं न प्रयोज्यमित्युपदिशति—

मूलारा—परद्वो पराजितः । उक्तावेज्ज आस्टेत् । पदिण प्रत्याख्यानप्रतिष्ठा ॥

अर्थ—कोई क्षपक सावध होकर कर्मोदयसे परीषदासे व्याकुल होकर जो भी कुछ बोलेगा अनुचित मापण करेगा अथवा जो जो आहारके और पीनेके पदार्थ त्यागनेकी प्रतिष्ठा की थी वह उसका भोग भी करेगा

ण हु सो कडुव फरुसं व भाणिदव्वो ण खीसिदव्वो य ॥

ण य वितासेदव्वो ण य वट्टदि हीलणं काहुं ॥ १५११ ॥

न विभीष्यः स नो वाच्यो वचन कटुकादिकम् ॥

न त्याज्यः सूरिणा तस्य कर्तव्यासादना न च ॥ १५७२ ॥

विजयोदया—ण हु सो कडुग स एव कुर्वन्क्षपकः न कर्तव्यः कटुक परुष वा न भर्त्सनीयः, न च ज्ञासं नेतव्य, न च युक्त परिभव कर्तुं तस्य ॥

मूलारा—ण खीसिदव्वो न निर्भर्त्स्यः । नोपहसनीय इत्यन्यः । न रोपयितव्य इत्यपरः । ण य वट्टदि नापि युक्तं भवति । हीलण अनादरः ॥

अर्थ—प्रतिज्ञा भग कानेपरभी निर्यापकाचार्य उसे कडवे और कठोर शब्द न बोले उसकी भर्त्सना न

विराधितो भवन्मानो वचनैः कटुकादिभिः ॥  
जिघृक्ष्यत्यसमाधानं प्रत्याख्यानं जिहासति ॥ १५७३ ॥

विजयोदया—परुषवचनादिभोगे दोषानाह—

वाक्पारुष्यादिप्रयोगे विराधितः । उद्वाण गुणश्रेणितः पतन । दुर्ध्यानं वा । अवक्कमणं सम्यक्त्वत्यागं ।

कठोरादिक वचन बोलनेसे कोनसा दोष उत्पन्न होता है? इस प्रश्नका उत्तर—  
अर्थ—परुषवचनादिकोंसे यदि उसकी भत्सना की जावेगी तो वह संयममसे भ्रष्ट होगा, अथवा दुर्ध्यान  
को प्राप्त होगा, किंवा सम्यक्वका त्याग कर मिथ्यात्वी बनेगा.

तस्स पदिणामेर भित्तु इच्छतयस्स णिज्जवओ ॥  
सव्वादरेण कवय परीसहणिवारणं कुज्जा ॥ १५१३ ॥  
निर्यापकेन मर्यादां तस्य मंशु मुमुक्षतः ॥  
कर्तव्यं कवचो गाढं परीपहनिवारणः ॥ १५७४ ॥

विजयोदया—तस्स पदिणामेर तस्य स्वप्रतिप्राप्त्यर्थ्या भेत्तु बाह्यतो निर्यापकसूरि. कवच कुर्यान्निवारणक्षमं ॥  
तस्य प्रतिज्ञालंघनोन्मुलत्वे प्रतिविधानमनुशास्ति—

मूलारा—मेरं व्यवस्थाम् ॥

अर्थ—जब क्षपक प्रतिज्ञाभंग करनेके लिये उद्युक्त होगा तब निर्यापकाचार्य क्षपकको प्रतिज्ञा भंगसे  
निवृत्त करनेकेलिये कवच करे.

णिद्ध मधुर पत्हादणिज्ज हिदयंगमं अतुरिद वा ॥  
तो सीहोवेद्वो सो खवओ पणवतेण ॥ १५१४ ॥

गंभीरं मधुरं स्निग्धमादेयं हृदयंगमम् ॥

सूरिणा शिक्षणीयोऽसौ प्रज्ञापनपटीयसा ॥ १५७५ ॥

विजयोदया—णिद्ध स्नेहसहितं, मधुर श्रोत्रप्रिय, हृदयसुखविधायि, हृदयप्रवेशि, अत्वरितं असौ शिक्षयितव्यः श्रपक प्रज्ञापयता ॥

मूलारा—तो सीहावेदव्यो शिक्षयितव्यः । पणवतेण सिग्धादिगुणयुक्त वचनं वदता गणिता ॥

अर्थ—निर्यापकाचार्य क्षपकको प्रेमसाहित, कर्णप्रिय, हृदयको सुख देनेवाला, हृदयमें प्रवेश करनेवाला, ऐसा उपदेश करे।

रोगादंके सुविहिद विउलं वा वेदणं धिदिबलेण ॥

तमदीणमसंमूढो जिण पच्चूहे चरित्सस्स ॥ १५१५ ॥

संतोषवलतस्तीव्रास्ता रोगान्तकेवदनाः ॥

अकातरो जयामूढो वृत्तविघ्नं च सर्वथा ॥ १५७६ ॥

विजयोदया—रोगातंके महतोव्याश्च व्याधीन् । विपुला वा वेदना घृतिथलन जय त्वमदीनोऽमूढद्वय प्रत्यु-  
द्धान् चारित्रस्य । वीतरागकोपता हि चारित्र । तद्ध्याधिप्रतीकारार्थेषु आदस्वतो वेदनासु च द्वेषवतो नश्यति । ततश्चा-  
रित्रविघ्नास्त्वया जेतव्या इति भावः ॥

दुःखनिवारणी शिक्षा कवचापरानामीमितः प्रवधेनाभिधत्ते—

मूलारा—रोगातंके अस्यान्महतश्च व्याधीन् । पच्चूहे विघ्नान् । वीतरागकोपता हि चारित्र तद्ध्याध्यादिप्रती-  
कारार्थेषु वस्तुषु आदस्वतो व्याध्यादिषु द्वेषवत्तत्र नश्यति ॥

अर्थ—हे श्रपक ! तू दीनता का छोड़ कर मोहका त्याग कर अल्प और बड़े दोनों प्रकारके व्याधिओं को तथा वेदनाको धैर्यके बलसे जीतले। चारित्रिके जो शत्रु हैं उनको भी तू जीतले। राग और कोपसे अपने आत्मा-  
को अलग रखनाही चारित्र है। रोगका नाश करनेवाले पदार्थोंमें जो आदर करता है और वेदनाओंमें जो द्वेष रखता है उसका चारित्र नष्ट होता है। अतः चारित्रिके विघातक पदार्थोंको जीतना योग्य है

सन्धेः, उन्नसर्गो, परिसन्धेः, य, तिविहेण णिज्जिणहि तुमं ॥  
 णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिसु आराहओ मरणे ॥ १५१६ ॥  
 त्वं पराजित्य निःशेषानुपसर्गपरीपहान् ॥  
 समाधानपरो भद्र ! मृत्यावाराधको भव ॥ १५७ ॥

विजयोदया—सन्धे वि य उवसग्गे सर्वाश्चोपसर्गान् परीपह्याश्च मनोवाक्कार्यैर्जय । उपसर्गपरीपहजयदु सा-  
 मीरुता मनसा जय । भीतोऽयमिति दयया न दु रानि हरति । सन्निहितद्रव्यादिसहकारिणमसद्वैद्यमुदयागतं अनि-  
 चार्यवीर्यं बल प्रयच्छत्येवेति धृतिबलेन भावना मनसा जयः । श्रान्तोऽस्मि वेदनादु सहात्मता पश्यत मदीयामिमा अतिक्रश-  
 मवस्था । दग्धोऽस्मि ताडितोऽस्मि इत्येवमादिदीनचचनानुचारणं । असकृदनुभूतार्था परीपहा क्षुवादय, उपसर्गाश्च पूर्वं ।  
 पूतुर्ध्वन्तमपि नामी मुचन्ति । केवल धृतिरहितोयं वराको रारट्ठीति निन्दते । न सन्मार्गाच्च्यावयितु इमे क्षमा इति उदार  
 वचनता वचनेन जय । अदीनेक्षणमुत्तरागवत्ता अचलता च कायेन जय । णिज्जिणिय सम्ममेदे निजित्वेव सम्पन्ने-  
 तानुपसर्गपरीपहान्मरणे मरणकाले । आराधओ होहिसि रत्नवयपरिणतो भाविव्यसि । उपसर्गपरीपहव्याकुलितचेतसो  
 नैवाराधकता ॥

मूलारा—तिविधेण द्रव्यादियोगवशादापन्नोदयमवायधीर्यमसद्वैद्यमिमानुपसर्गपरीपहान्प्रतत्वकेन (?) निवार्येत ।  
 तदिदानीं दृश्यं दुःखमीरुता, न गलु भीतोऽयमिति कृपया दुःखानि त्यजतीतीदृशी धृतिबलभावना मनसा तन्निर्जयः  
 श्रान्तोऽस्मि दुःसहा मे वेदना । पश्यत मदीयामिमामतिक्रामवस्था । हा वैव । दैवदग्धोऽस्मीत्यादि दीनवचनानुचारणं ।  
 परीपह्याश्च सर्वेण शरीरिणा आसंसारमनुभूताः असकृदुपसर्गाश्च । न चामी पूतुर्ध्वन्तमपि मुचंति केवलं निःसत्त्वोऽयं  
 कापुरुषो रारट्ठीति निन्दते न वैते सन्मार्गाच्च्यावयितुं मा क्षमते इत्यादिधीरोदात्तवचनोच्चारणं च वाचा तत्पराजयः ॥

अदीनेक्षणत्वं ग्रहसितसुखत्वाद्यवस्थान कायेन तद्विजयः ॥ एदे एतान् ॥

अर्थ—हे क्षपक ! तू मन वचन और शरीरसे सर्व उपसर्ग और परीपहको जीतले जब इनको तू पूर्ण जी-  
 तनेमें समर्थ होगा तबही मरणसमयमें तू रत्नत्रयाराधक होगा अन्यथा नहीं।

विशेषार्थ—उपसर्ग और परीपहोंके दुःखोंसे भयभीत न होना यही मनसे उपसर्ग और परीपहोंको जीतना माना जाता  
 है यह पुरुष भयशुक्त है ऐसा समझकर उपसर्ग और परीपह तकलीफ उत्पन्न करनेका कार्य दयासे छोड़ते हैं, ऐसा  
 नहीं समझना चाहिये, समीपके द्रव्यादि पदार्थ ये असाता वेदनीय कर्मका उदय आनेमें सहकारि कारण है जब

वेदनीय कर्म उदयमें आता है और उसका अनिवार्य सामर्थ्य हे तब वह अपना फल देकर ही नष्ट होगा ऐसा धैर्य धारण कर विचार करना यह मनके द्वारा उपसर्ग परीपहों का जय समझना चाहिये.

मैं थक गया हूं, ये दुःख दुःसह हैं, मैं अतिशय कष्टतम अवस्था को प्राप्त हुआ हूं, मेरे शरीरमें आग लगी है, मैं पीटा जा रहा हूं इत्यादिक दीनता व्यक्त करनेवाले शब्द मुंहसे न निकालना यह वचनसे जय समझना चाहिये

क्षुधादिक परीपहोंका अनत चार अनुभव ले चुका हू अनेक बार घोर उपसर्ग भी मेरेको प्राप्त हुए थे जोरसे रोनेपरभी ये उपसर्गादिक दुःख मेरेको क्या छोड़ देंगे ? यह पुरुष धैर्यरहित है, यह दीन है, चारुवार रोता है, चिह्छता है ऐसी लोक मेरी निंदा करेंगे ये उपसर्गादिक दुःख मेरेको सन्मार्गसे भ्रष्ट करनेमें असमर्थ हैं ऐसे उदार वचन कहना यह भी वचनजय समझना चाहिये

परीपहादिकोंसे दुःख होने परभी मुखमें दीनता न दिखाना, आखोंमें दीनता न धारण करना, मुख न झुलना, शरीरमें निश्चलता रहना, यह शरीरसे जय समझना चाहिये.

इस प्रकार उपसर्ग और परीपहोंको दृढतासे जीत कर मरणसमयमें हे क्षपक ! तू रत्नत्रयाराधक हो

संभर सुविहित्य जं ते मज्झमि चदुव्विहस्स संघरस ॥

बूढा महापदिण्णा अहय आराहइस्सामि ॥ १५१७ ॥

अहमाराराधयिष्यामि प्रतिज्ञा या त्वया कृता ॥

मध्ये संघस्य सर्वस्य तां स्मरस्यधुना न किम् ॥ १५१८ ॥

विजयोदया—संभर स्मृति निवेदि । सुविहित्य चतुर्विधस्य संघस्य । किं स्यामि इति चेत् तं ता प्रतिज्ञा कृतवानसि । मज्झमि मध्ये । कस्य ? चदुव्विहस्स चतुर्विधस्य संघस्य । बूढा धृता । महापदिण्णा महती प्रतिज्ञा । अहयं अह आराधयिष्यामि आराधयिष्यामि इति ॥

मलारा—जं ते यत्त्वया । बूढा कृता ॥

अर्थ—हे निर्दोषचारित्र धारक क्षपक, तू चार प्रकारके संघमें अर्थात् उनके समक्ष बड़ी प्रतिज्ञा धारण की है अर्थात् मैं रत्नत्रयका आराधना करूंगा ऐसी महाप्रतिज्ञा धारण की है उसका स्मरण कर

को गाम भडो कुलजो माणी थोलाइदूण जणमज्झे ॥

जुज्झे पलाइ आवडिदमेत्तओ चेव अरिभीदो ॥ १५१८ ॥

जनमध्ये मुजास्फालं विधाय वलगर्वितः ॥

क' कुलीनो रणे मानी शत्रुवस्त' पलायते ॥ १५७९ ॥

विजयोदया—को गाम भडो क पलायते युद्धे भट शूर । कुलजो मानी । थोलाइदूण मुजास्फालनं कृत्वा । जनमध्ये । एव युद्धे शत्रुपराजय करिव्यामीति उद्गुण्य आवडिदमेत्तओ अभिमुखायातशत्रुएव अरिभीतः । क. पलायन करोति ॥

इत. क्षपक लोकप्रसिद्धदृष्टातसहत्या प्रववेन प्रोत्साहयति—

मूलारा—माणी यद्वाःसंपादनाहकारी । थोलाइदूण आत्मानं स्तुत्वा । मुजास्फालनं कृत्वा । एवं शत्रुपराजयं करिष्यामि इत्युद्गोच्येति यावत् । आवडिदमेत्तओ चेव मिलितमात्र एवारिणा सह अथवा अभिमुखायातमात्रादेवोरिति योज्यम् ॥

अर्थ—“ मैं शत्रुको अवश्य पराजित करूंगा ” ऐसी प्रतिज्ञा जिसने मुजास्फालन करके सर्व जनसमक्ष की है ऐसा कोन स्वामिमानी कुलीन शत्रु पुरुष शत्रु समीप आनेपर डरकर पलायन करेगा.

दार्ष्टान्तिके योजयति—

थोलाइदूण पुब्बं माणी संतो परिसहादीहिं ॥

आवडिदमिच्चओ चेव को विसण्णो हवे साहू ॥ १५१९ ॥

कः कृत्वा स्वस्तवं मानी संघमध्ये तपोधनः ॥

परीपहरिपुत्रस्तः क्षिप्रयत्यापातमात्रत' ॥ १५८० ॥

विजयोदया—थोलाइदूण पुब्बं मुजास्फालनं कृत्वा पूर्वं । परिसहादीहिं आवडिदमेत्तनो चेव परीपहारा-तिभिराभिमुखायात एव । को विसण्णो हवे साहू माणी संतो को विपण्णो भवेत्साधुवर्गो मानी सन् ॥ एव दृष्टते दर्शितमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

मूलारा—आवडिदमेत्तओ परीपहारिभिर्मिलितमात्रकः । विसण्णो दुःखितः ।

अर्थ—सर्व सवके समक्ष परीपह और उपसर्ग आनेपर भी मैं प्रत्याख्यात आहारादिक पदार्थोंका स्वीकार न करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा लेकर परीपहादिक आतेही कोनसा साधु दुःखी होकर स्वप्रतिज्ञाका त्याग करेगा ? अर्थात् अपनी प्रतिज्ञामें परीपहादिक आनेपर भी दृढता धारण कर उसको नष्ट न करेगा.

आवडिया पडिकूला पुरओ चेव क्कमंति रणभूमिं ॥

अवि य मरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण वडुंति ॥ १५२० ॥

प्रविशंति रणं पूर्वं शत्रुमर्दनलालसाः ॥

यच्छन्ति नासुनाशेऽपि शत्रूणां प्रसरं पुनः ॥ १५८१ ॥

विजयोदया—आवडिया पडिकूला अभिसुयायाता-शत्रव-। पुरदो चेव क्कमति रणभूमिं पुरस्तादेवोपसर्पन्ति रणभूमिं । अवि य मरिज्ज रणे यद्यपि रणे त्रियन्ते । ण य पसरमरीण वडुन्ति नैव प्रसरमरीणां वर्धयन्ति ॥

मूलारा—आवडिदप्पडिकूला आपतिता अभिसुया जाताः प्रतिकूलाः शत्रवो येया सुभटाना ते । पुरदो चेव पूर्वमेव शत्रुभिरनाक्रातमेवेति भावः ॥ क्कमति आक्रामति । रणभूमिं युद्धाय कल्पिता भुव । मरेज्ज त्रियेरन् । पसर उत्साह । वडुति वर्धयति ।

अर्थ—दृष्टा करनेवाले शत्रु युद्धभूमिमें आगे आगे ही पैर बढ़ाते हैं कदाचित् युद्धमें शत्रु प्रहारसे मरणका स्वीकार करेंगे परंतु अपने प्रतिपक्षीका उत्साह बढ़ेगा ऐसा कार्य वे कदापि नहीं करेंगे अर्थात् रणभूमिसे पलायन नहीं करेंगे.

तह आवडिदप्पडिकूलदाए साहू विमाणिणो सूरा ॥

अइतिच्चवेयणाओ संहति ण य विगडिमुवयांति ॥ १५२१ ॥

मानिनो योगिनो धीराः परीषहनिप्पुदिनं ॥

सहन्ते वेदना घोराः प्रपद्यन्ते न विक्किंयाम् ॥ १५८२ ॥

विजयोदया—तह आवडिदप्पडिकूलदाए तथा आपत्यतिकूलतया । साधवो मानिनः सूराः । अद्वितिव्वेदणाओ अतीव तीव्रवेदना । सहति सहते । ण य विगडिमुवयाति नैव विरुतिमुपयाति ॥

मूलार्ग—आवडिदप्पडिकूलदाए आपत्तिता दुर्दैववशादुपरिस्थिताः प्रतिकूल उपसर्गपरीपद्दा येपां ते आपत्तितप्रति-  
कूलास्तेषा भाव आपत्तितप्रतिकूलता तस्या सत्या । उपसर्गपरीपद्देषु उपस्थितेषु सत्त्विति यावत् । अन्ये तु आवड  
पडिकूलत्ताए इति पठित्वा आपत्तप्रतिकूलतयेत्यर्थमाहुः । विगादिं रत्नत्रयवित्ताधनं ॥

अर्थ—वैसे पूर्वकृत अशुभ कर्मके उदयसे परीपद्दादिक अति तीव्र दुःख देनेपर भी अर्थात् उनसे अति-  
तीव्र वेदना होनेपर भी साभिमानि साधुगण सब सहलेते हैं परंतु वे विकार को प्राप्त होकर रत्नत्रयाराधनाका  
त्याग नहीं करते हैं

थोलाइयस्स कुलजस्स माणिणो रणमुहे वरं मरणं ॥

ण य लज्जणयं काउं जावज्जीव सुजणमज्जे ॥ १५२२ ॥

रणारंभे वरं मृत्युर्भुजास्फालनकारिणः ॥

यावज्जीव कुलीनस्य न पुनर्जनजल्पनम् ॥ १५८३ ॥

विजयोदया—थोलाइयस्स कृतभुजास्फालनस्य । माणिणो मानिन । रणमुहे वरं मरणं युद्धमुखे शोभन मरण ।  
ण य वरं नैव शोभन । लज्जणयं काहु जावज्जीव च सुजणमज्जे सुजनमध्ये यावज्जीव निर्दाकरण ॥

मूलार्ग—थोलाइदस्स कृतभुजास्फालनस्य । वरं शोभन । लज्जणयं लज्जाकारकं । धर्मपलायनमित्यर्थः ॥

अर्थ—जिसने भुजास्फोट कर शत्रुको जीतनेकी प्रतिज्ञा की है ऐसे कुलीन स्वाभिमानि मनुष्यका रणमें  
मर जाना भी भला है, परंतु सज्जनोंमें जिससे निंदा होगी ऐसा कार्य अर्थात् रणसे भागना, शत्रुको पीठ दिलाना  
कभी भी भला नहीं है, क्यों कि ऐसे कार्यसे आजन्म निंदा होती है.

समणस्स माणिणो संजदस्स णिहणगमणं पि होइ वरं ॥

ण य लज्जणयं काहुं कायरदादीणकिविणत्तं ॥ १५२३ ॥

संयतस्य वर मृत्युर्मानिर्नोऽसक्तताडिनः ॥

न दीनत्वविषण्णत्वे परीषहरिषूदये ॥ १५८४ ॥



विजयोदया—समगणस्स समानस्य श्रवणस्य वा । माणिणो मानिन', संजवस्स संयतस्स । निधणगमणं पि होदि वर निधनगमनमपि भवति वर । ण य लज्जणम काहु नैव लज्जनीयकरण शोभन । कातरता न वर । दीणकिविणत्तं दीनत्व कृपण त्व च न वर ॥

मूलारा—निधणगमण भरणापत्तिः । कादरदा चित्तभीरुता । दीणकिविणत्तं दीनत्वं, वैवर्ण्यं, कृपणीत्व किमपि कर्तुं न शक्नोमि इति वचन ॥

अर्थ—रागद्वेष रहित, अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहनेवाले ऐसे मुनिका भरण होना भी भला है जिससे लज्जित होना पड़ेगा ऐसा कार्य-रत्नत्रयाराधनासे च्युत होना-कभीभी योग्य नहीं है चित्तमें मय उत्पन्न होना, मुख भयसे झूलना, मैं असमर्थ हूँ प्रतिज्ञा धारण करनेमें समर्थ नहीं हूँ इत्यादिवचन बोलना निन्द्य है

एयस्स अप्पणो को जीविदहेदुं करिज्ज जंपणय ॥

पुत्तपउत्तादीणं रणे पलादो सज्जणलंछ ॥ १५२४ ॥

वर मृत्युः कुलीनस्य पुत्रपौत्रादिसंततः ॥

न युद्धे नश्यतोऽरिभ्यः कर्तुं स्वकुललाञ्छनम् ॥ १५८५ ॥

विजयोदया—एयस्स अप्पणो एकस्यात्मन । जीविदहेदु जीवितनिमित्त । को करिज्ज जंपणम क कुर्यादप-  
वाद । पुत्तपउत्तादीण पुत्रपौत्रादीनां । रणे पलादो रणात्पलायमान । सज्जणलंछ स्वजनलाञ्छन ॥

मूलारा—जंपणय अपवाद । पउत्तादीण पौत्रप्रपौत्रादीना । पलंतो पलायमानः । अन्य पलादो इति पठित्वा पलाय्येत्यर्थमाह । सुणमलंछं ललाटे कुर्कुरदाहसमानं ॥

अर्थ—अकाले अपने जीवितके लिये कोन मानी पुरुष अपवादका-निंदाका कार्य करेगा, ऐसे अकार्य से अर्थात् रणसे भागने के कार्यसे पुत्र पौत्रादिक तक अकीर्ति रहा करती है अर्थात् पुत्र पौत्रादिक भी अपने पूर्वजोंकी अकीर्तिसे दुःखी होते हैं, उनको लज्जित होना पड़ता है

तह अप्पणो कुलस्स य संघस्स य मा हु जीवदत्थं तं ॥

कुणसु जणे जंपणयं किविणं कुब्ब सगणलंछ ॥ १५२५ ॥

मा कार्पोजीवितार्थं त्व दैन्यं स्वकुललांछनम् ॥

कुलस्य स्वस्य संघस्य मा गास्त्वं वेदनावशम् ॥ १५८६ ॥

विजयोदया—तद् तथा । अण्णो जीविदत्थ भवतो जीवितार्थं । कुलस्य संघस्य य मा कुणसु जणे दुसण्य कुलस्य संघस्य च दूयण जने मा कार्पो । किंविण कुञ्च कृणत्त्व कुवेन् । सगणलल स्वगणलांछन ॥

मूलारा—किंविण कुञ्च कृणत्त्वं कुवेन् । परिपह्णदिविनिपाते हीनसत्त्वता विदधत् ।

अर्थ—वैसे हे क्षपक । तुम अपने जीवितके लिये अपने कुल और संघको दूयण उत्पन्न होगा ऐसा कार्य मत करो अर्थात् तुम अपनी प्रतिज्ञामें दृढ़ रहो मरेसे प्रतिज्ञाका पालन नहीं होता है ऐसा दीनवचन कहोगे तो तुमारे संपूर्ण गणको लज्जित होना पड़ेगा ।

गाढप्यहारस्ताविदा वि सूरा रणे अरिसमकलं ॥

ण मुह भंजति संयं मरति भिउडीए सह चैव ॥ १५८६ ॥

त्रियते समरे वीरा प्रहाराकुलिता अपि ॥

कुर्वन्ति अकुटीभंग न पुनर्वीरिणां पुरः ॥ १५८७ ॥

विजयोदया—गाढप्यहारस्ताविदा वि गाढप्रहारस्तापिता अपि सूर रणे युद्धे । सग मुह अरिसमकलं ण भजति स्वमुखभग अरीणा पुरतो न कुर्वन्ति । मरति त्रियते । भिगुडीए सह चैव अकुट्या सह चैव ॥

मूलारा—भंजति वक्रयति । संयं स्व मुख । भिउडियुद्धा अकुट्यो मुखेषु येपा ते अकुट्या सहैव त्रियते इत्यर्थः ॥

अर्थ—सूर पुरुष रणमें गाढ शस्त्रप्रहार होनेसे शत्रुके समक्ष मुख फिराकर भागते नहीं हैं, वे अपनी भो-हं टेढ़ी करके मरण का ही अंगीकार करते हैं ।

सुहु वि आवइपत्ता ण कायरत्तं करिति सण्णुरिसा ॥

कत्तो पुण दीणत्स किविणत्त वा वि काहिंति ॥ १५२७ ॥

कातरत्तं न कुर्वन्ति परीषहकरालिता ॥

कि पुनर्दीनतादीनि करिष्यन्ति महाधिय ॥ १५८८ ॥

विजयोदया—सुष्टु वि आवश्यप्ता नितरमापदं प्राप्ता अपि । सप्पुरिसा ण कायरत्तं करंति सत्पुरुषा न कातरता कुर्वन्ति । कत्तो पुण काहंति कुत. पुन करिष्यन्ति । दीणत्तं किंविणत्तं चावि दीनता रुपणता च ॥

मूलारा—सुष्टुवि आवदि पत्ता नितरा आपद प्राप्ता अपि ॥

अर्थ—अतिशय विपत्ति प्राप्त होने पर भी सत्पुरुष डरते नहीं हैं तो वे असमर्थता और दीनता क्यों दिखायेंगे ?

कोई अगिमदिगदा समंतओ अगिणा वि डञ्झंता ॥  
जलमज्झगदा व णरा अत्थंति अचेदणा चेव ॥ १५२८ ॥  
अग्निमध्यगता. केचिद्दह्यमानाः समंततः ॥  
अवेदना वित्तिष्ठन्ते जलमध्ये गता इव ॥ १५८९ ॥

विजयोदया—कोई अत्थति अचेदणा चेव केचिदासते अचेतना इव । अगिमदिमदा अग्निं प्रविष्टा । समंतदो अगिणा वि डञ्झंता समंतात् अग्निना अपि ( जलमज्झगदा व णरा जलमध्यगता नरा इव । अचेतना इव ॥  
मूलारा—अगिमदिगदा अग्निं प्रविष्टाः ॥

अर्थ—कितनेक पुरुष अग्निके बीचमें पडनेपर और चारों तरफसे अग्नि लगने पर भी अर्थात् उसके दाह-से दग्ध होनेपर भी मानो जलमें प्रवेश किये पुरुष के समान अथवा अचेतन पदार्थके समान स्थिर रहते हैं

तत्थ वि साहुक्कार सगअगुलिचालणेण कुञ्चंति ॥  
केई करंति धीरा उक्किट्ठे अगिमज्झमि ॥ १५२९ ॥  
साधुकार परे तत्र कुर्वन्त्यगुलिनर्तनैः ॥  
आनंदितजनस्वान्ता उत्कृष्टिं कुर्वन्ते परे ॥ १५९० ॥

विजयोदया—तत्थ वि तत्राग्निसमये । साहुक्कारं सगअगुलिचालणेण कुञ्चति साधुकारं स्वागुलिचालनया कुर्वते । केई अगिमज्झगदा धीरा केचिदग्निमध्यगता धीराः । उक्किट्ठिं करति उत्क्रोशनं कुर्वन्ति ॥

मूलार—तद्य वि य यद्यपि अग्रिमध्यमतास्तथापि । साधुकारं भद्रकं भवतीद यदशुभं कर्मं यतीति मशंसा ।  
सामंमुलिचालणेन स्वगुलिनर्तनेन । नखच्छोटिकयेत्यन्यः । केहं एतदुभयत्र योज्यं । उक्तिरि उक्तोयनं । विशिष्टशब्दकलकल-  
मित्यर्थः ।

अर्थ—उस अग्नीमें भी अपनी अंगुलियां हिलाकर कोई धीर पुरुष अच्छा ही हुआ ऐसा सूचित करते  
हैं इस उपसर्गसे मेरा कर्म क्षयको प्राप्त होगा. यह अग्नि भरे कर्मको नष्ट करता है इसका हमारे ऊपर बड़ा उपकार  
हो रहा है. ऐसा अंगुलियां हिलाकर सूचित करते हैं. कोई धीर पुरुष आनदसे विशिष्ट शब्द करते हैं.

जदिदा तह अण्णाणी संसारपवड्डणाए लेस्साए ॥

तिव्वाए वेदणाए सुहसाउलया करिंति धिदिं ॥ १५३० ॥

वेदनायामसत्तायां कुर्वन्त्यज्ञानिनो धृतिम् ॥

लेदयया भवचर्द्धिन्या सुखास्वादपरा यदि ॥ १५३१ ॥

विजयोदया—जदिदा यदि तावत् । तद्य तथा अण्णाणीधिदिं करिंति तथा अज्ञानिनो धृतिं कुर्वन्ति । संसारपवड्ड-  
णाए लेस्साए संसारप्रवर्धनकारिण्या लेदयया । तिव्वाए वेदणाए तीव्राया वेदनाया सत्ता । सुहसाउलगा सुखास्वादन  
लेपटा ॥

मूलार—तद्य तेन साधुकारकरणादिप्रकारेण । संसारपवड्डणाए संसारप्रवर्धनकारिण्या । सुहसाउलगा सुखा-

स्वादनलेपटाः ।

अर्थ—ससारको बढ़ानेवाली लेदयासे युक्त होकर भी उपसर्गसे तीव्र वेदना होनेपर भी यदि सुखास्वाद  
करनेमें लेपट अज्ञानी पुरुष धैर्य धारण कर दुःख सहन करते हैं तो—

किं पुण जदिणा संसारसव्वदुक्खखयं करंतेण ॥

बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण ण धिदी हवदि कुञ्जा ॥ १५३२ ॥

तदा धृतिं न कुर्वन्ति किं भवच्छेदनोयताः ॥

ज्ञातसंसारनैः सार्यो वेदनायां तपोधनाः ॥ १५३२ ॥

विजयोदया—किं पुण जदिणा ण करिज्जा हवदि धिदि किं पुनर्नं कार्यो भवति धृति यतिना । कीदृशा ? ससारसव्वदुक्खमखयं करतेण ससारसर्वदु सखयं कुर्वता । यहुतिव्वदुक्खरसजाणेण वह्नां चतुर्गतिगतानां दु.खानां रस जानता ॥

मूलारा—रसजाणएण स्वादेविना । कुज्जा कर्तव्या ।

अर्थ—सपूर्ण दुःखोंका रस जाननेवाले यति क्यों न धैर्य धारण करे. अर्थात् जब कोई अज्ञानी भी जीव धैर्य धारण कर दुःख सहते हैं तो वैराग्यशील यतिओंका दुःख सहन करना कर्तव्य ही ठहरा दुःखसे भययुक्त होना उनके लिए निवृत्ता अयोग्य है.

असिवे दुब्बिमक्खे वा कंतारे वा भएव आगाढे ॥  
रोगोहिं व अभिभूदा कुलजा माणं ण विजहंति ॥ १५३२ ॥  
दुर्भिक्षे मरके कक्षभये रोगे दुरुत्तरे ॥  
मानं कापि विमुंचंति कुलीना जातु नापदि ॥ १५९३ ॥

विजयोदया—असिवे मार्यो । दुब्बिमक्खे वा दुर्भिक्षे वा । कंतारे अटव्या वा । गाढे भये च । उपर्युपरि निपतितभये वा । रोगोहिं व अभिभूदां व्याधिमिवा अभिभूताः । ण विजहंति कुलजा माणं न विजहंति कुलप्रसूता मानं ॥  
मूलारा—असिवे मार्यो । आगाढे उपर्युपरि निपतति सति । अनिवार्येण ।

अर्थ—मारी, दुर्भिक्ष, गहन अरण्य, पुनः पुनः मय प्राप्त होना, रोगोंसे पीडित होना इत्यादि प्रसंगपर कुलवान् मनुष्य अभिमान छोडते नहीं है

ण पियंति सुरं ण य खंति गोमयं ण य पलंडुमादीयं ॥  
ण य कुट्वंति विकम्पं तहेव अण्णंपि लज्जणयं ॥ १५३३ ॥  
सेवंते मद्यगोमांसपलांड्वादि न मानिनः ॥  
कर्मान्यदपि कुब्ब्रेणपि लज्जनीयं न कुर्वते ॥ १५९४ ॥

विजयोदया—ण पिवति सुर न पिवति सुरग । ण यति न च भक्षयति गोमास । ण य पल्लुमादीयं न पलांडु प्रभृतिकं भक्षयति । ण य कुब्बति विकम्म नैव कुर्वन्ति कुत्तिसत कर्म परोच्छिष्टभोजनादिक न कुर्वन्ति । तथेव अण्णंपि लज्जणय तथेव नान्यदपि लज्जणीय कुर्वन्ति ॥

मूलारा—ण य खंति नच भक्षयति मानिनः । गोमासमित्यर्थः । पलांडुमादीयं लघुनगृजन्प्रभृतिकं । विकम्मं कुत्तिसतं कर्म परोच्छिष्टभोजनादिकं ॥

अर्थ—कुलीन मनुष्य कभी मदिरापान नहीं करते हैं गोमास भक्षण नहीं करते हैं प्याज, लहसुन, वीरह कढ़ौंका भक्षण नहीं करते हैं तथा वे दूसरोंका उच्छिष्टान्न भक्षणादिक कर्म नहीं करते हैं, वेसा अन्य भी लज्जा उत्पन्न करनेवाले कर्म वे करते नहीं, तो—

किं पुन कुलगणसंघजसमाणिणो लोयपूजिदा साधू ॥

माणं पि जहिय काहंति विकम्म सुजणलज्जणय ॥ १५३४ ॥

कुलसंघयशस्क्रामा किं कर्म जगद्वर्चिताः ॥

मान विमुच्य कुर्वन्ति लज्जणीयं तपोधनाः ॥ १५३५ ॥

विजयोदया—किं पुन साहू वि कम्म काहंति कि पुन साधव कुत्तिसत कर्म करिष्यति । कुलगुणसयस्स जसमाणिणो कुलस्य सयस्य च यश संपादनाहंकारवत् । लोयपूजिदा साधू लोक के छनपूजा । माण विजहिय मानं त्यक्त्वा जणलज्जणय साधु जनेन विलज्जणीय कर्म ॥

मूलारा—जसमाणिणो यशःसंपादनाहंकारवत् ॥

अर्थ—कुल, गण, संघ इनकी यशोश्रद्धि चाहनेवाले साधुगण क्या कुत्तित कर्म कभी करेंगे ? कभी भी नहीं करेंगे सत्पुरुषोंके द्वारा निंद्य ऐसा कर्म लोकवध साधु मानका त्याग कर करेंगे क्या ? कभी भी नहीं करेंगे

जो गच्छिज्ज विसादं महल्लमप्य व आवदि पत्तो ॥

त पुरिसकादरं विंति धीरपुरिसा हु सडुत्ति ॥ १५३५ ॥

लघ्वीं विपत्तिमुर्वीं वा यः प्रयातो विधीदति ॥

नरा वदन्ति तं षंडं धीराः पुरुषकातरम् ॥ १५९६ ॥

विजयोदया—जो गच्छिज्ज विसादं यो गच्छेद्विपादं । महलं अप्प व आवइ पत्तो महतीं अल्पा वा आपदं प्राप्ता ॥ तं पुरिसकातरं पुरुषेषु कातर । धीरपुरिसा संहुत्तिं विंति धीरा सुपुरुषाः षण्ड इति हुवन्ति ॥

आपदि विधीदतोऽपवादं दर्शयति—

मूलारा—विसाद विपादं । आवदि आपद । पुरिसकादरं पुरुषेषु कातरं । सढोत्ति नपुंसकमिति द्रुवन्ति ॥

अर्थ—जो छोटी या बड़ी आपत्ति आनेपर खिन्न होता है धीर पुरुष उसको कातर-हरपोक मनुष्य ऐसा कहते हैं तथा उसको षंड कहते हैं।

मेरुव विपपकपा अक्खोभा सागरुव्व गंभीरा ॥

धिदिवंतो सप्पुरिसा हुंति महल्लावईए वि ॥ १५९६ ॥

समुद्रा इव गंभीरा निःकम्पाः पर्वता इव ॥

विपद्यापि महिष्ठायां न क्षुभ्यन्ति महाधियः ॥ १५९७ ॥

विजयोदया—मेरुव विपपकपा मेरुरिव निखला । अक्खोभा अकंपा । सागरोव्व सागर इव धिदिवंतो सप्पुरिसा धृतिमतः संतोषवतः सत्पुरुषाः । महल्लावईए वि महत्यामापदि अपि ॥

सत्पुरुषसद्वृत्तव्यापनेन विपदि धैर्यमवलम्बयति—

मूलारा—महलावदीए वि महत्यामाप्यापदि । अक्खोभा क्षोभयितुमशक्याः । अचाल्यचित्ता भवन्तीति संबधः । उक्तं च—

समुद्रा इव गंभीरा निष्कंपाः पर्वता इव ॥

विपद्यापि महिष्ठाया न क्षुभ्यन्ति महाधियः ॥

अर्थ—बड़ी आपत्ति आनेपर भी धैर्ययुक्त, संतुष्ट सत्पुरुष मेरुके समान निखल रहते हैं और समुद्रके समान क्षोभरहित होते हैं।

केई विमुत्तसंगा आदरोविदभरा अपडिकम्मा ॥

गिरिपब्भारमभिगदा बहुसावदसंकडं भीमं ॥ १५३७ ॥

स्वारोपितभरा केचिन्निःसंगा निःप्रतिक्रियाः ॥

गिरिप्राग्भारमापद्वाश्चित्रश्वापदसंकटम् ॥ १५९८ ॥

विजयोदया—केई उत्तमठ्ठ साधेति इति वक्ष्यमाणेन सवध । केचिदुत्तम वस्तु रत्नत्रयं साधयन्ति । कीदृग्भूताः ? विमुत्तसंगा निष्परिग्रहा । आदरोविदभरा आत्मारोपितभरा । अपडिकम्मा निष्प्रतीकारा । गिरिपब्भारमभिगदा गिरिप्राग्भारमभिगता । कीदृगा ? बहुसावदसंकड बहुदुःखालसृगाकुल । भीम भयावह ।

महासत्त्वाना महोपसर्गेऽपि रत्नत्रयसाधननिर्वाहं गाथाद्वयेन प्रकाशयति—

मूलारा—आदरोविदभरा आत्मन्यारोपितकरणीयभारा । अपडिकम्मा अप्रतीकाराः । गिरिपब्भारं पर्वतगुहा । अदिगदा प्रविष्टाः

अर्थ—कितनेक सत्पुरुष संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग कर तथा संपूर्ण कार्य अपने ऊपर लेकर आपत्तिको दूर करनेके लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करते हैं और जहां बहुत हिंसजीव निवास करते हैं ऐसे पर्वतोंकी गुहामें जाकर उत्तम वस्तुकी प्राप्ति कर लेते हैं, अर्थात् रत्नत्रयको साध लेते हैं

धिदिधणियवद्धकच्छा अणुत्तरविहारिणो सुदसहाया ॥

साहिंति उत्तमठ्ठ सावददाढंतरगदे वि ॥ १५३८ ॥

राक्षान्तसचिवा सन्तः सन्तुष्टा शुद्धवृत्तयः ॥

साधयन्ति स्थिताः सार्थं न्यालदन्तान्तरेवपि ॥ १५९९ ॥

विजयोदया—धिदिधणियवद्धकच्छा धृत्या नितरा वद्धकक्ष्या । अणुत्तरविहारिणो प्रकटचारिवा । सुदसहायाः श्रुतज्ञानसहाया । साधिति उत्तमठ्ठ साधयत्युत्तमार्थं रत्नत्रयं । सावददाढंतरगदा वि श्वापदद्यूमध्यगता अपि ॥

मूलारा—वद्धकच्छा स्वीकृतवला कृतप्रतिज्ञा वा । अणुत्तरविहारिणो उत्कटचारित्राः ॥

अर्थ—जिन्होंने अलौकिक धर्म धारण किया है, जिनका चारित्र उत्कट है, तिलमात्रभी जिसमें दोष नहीं



है ऐसे चारित्रिके धारक, श्रुतज्ञानकी मदत जिनकी मिली है ऐसे मुनिराज क्रूर प्राणिओंके दाहमें चले जाने पर भी रत्नत्रयकी सिद्धि कर ही लेते हैं

भल्लक्ष्मिण तिरत्तं खज्जंनो घोरवेदणट्ठोऽवि ॥

आराधणं पवणो ज्ञाणेणवंतिसुकुमालो ॥ १५३९ ॥

धीरोऽवन्तिसुकुमारोऽगात्रिचक्रं शुद्धमानसः ॥

शृगाल्या न्वाचमानोऽपि देवीमाराधनां प्रति ॥ १६०० ॥

विजयोदया—भल्लक्ष्मिण तिरत्त खज्जतो शृगालेन तिष्ठतु रात्रिषु भक्ष्यमाणः । घोरवेदणट्ठो वि घोरवदना-  
वाधितोऽपि । आराधण पवणो ज्ञाणेण शुभध्यानेनाराधना प्रपन्न । क ? अवतिसुकुमालो अवतिसुकुमारः ॥

उपसर्गसहानामर्थाल्लयानान्युपन्यस्यति—

मूलारा—भल्लक्ष्मीण शृगाल्या । तिरत्त त्रिरात्रं । वेदणट्ठो वेदनातः । अवति उज्जयिन्यां । सुकुमालो सुकुमारस्वामी ।

अर्थ—शृगालीके द्वारा तीन रात्रतक जो खोये गये, जिनके प्रत्यंगोंमें तीव्र वेदनायें हो रही थी, ऐसे भी अवति सुकुमार मुनि शुभध्यानस रत्नत्रयाराधनाको प्राप्त हो गये । ( इनकी कथा तथा आगेके उदाहरणोंकी कथायें आराधना कथाकोषमें हैं )

मोग्गलगिरिस्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्यदइय भयवंतो ॥

वग्धीण वि खज्जंतो पडिवणो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४० ॥

शिआयााराधनां देवीं मुहलाद्रौ सुकोशलः ॥

भक्ष्यमाणो मुनिर्दर्याद्व्या सिद्धार्थरविषणधीः ॥ १६०१ ॥

विजयोदया—मुहलगिरौ सुकोशलोऽपि सिद्धार्थस्य पुत्रो भगवान् व्याख्या जननीचर्यां भक्षित सन् प्रतिपन्नश्च

उत्तमार्थ ॥

मूलारा—मोग्गलगिरिस्मि मुहलाख्यगिरौ । सिद्धत्यदइदगो सिद्धार्थस्य वल्लभ पुत्रत्वात् । वि खज्जंतो स्वाद्यमानोऽपि  
अर्थ—मुहल नामक पर्वत पर सिद्धार्थ राजाके पुत्र सुकोशल नामके मुनिराज को पूर्व जन्ममें माता

थी ऐसी व्याघ्रनि मक्षण किया. तो भी उन्होंने शुभध्यानसे रत्नत्रयकी प्राप्ति की अर्थात् इस त्रिपंच कृत उपसर्गसे वे रत्नत्रयसे भ्रष्ट नहीं हुए

भूमीए समं कीलाकोट्टिदेहे वि अल्लचम्मं व ॥

भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४१ ॥

घरणयामार्द्रचर्मव किल कीलितविग्रहः ॥

प्रापद्भजकुमारोऽपि स्वार्थं निर्मलमानसः ॥ १६०२ ॥

विजयोदया—भूमीए समं भूमौ समं । कीलाकोट्टिदेहे कीलोरुतवेह । अल्लचम्मं व आर्द्रचर्मवत् । भयवपि भगवान् गजकुमारोऽपि । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥

मूलारा—कीलाकोट्टिद कीलैः प्रसार्य कीलितः ॥

अर्थ—गीले चमड़ेके समान कीले ठोककर जिनको जमीनके साथ एक कर दिया है ऐसे भगवान् गज-कुमार भुनीने उत्तमार्थ को रत्नत्रयको साथ लिया अर्थात् रत्नत्रय प्राप्तिके द्वारा वे मुक्त होगये

कच्छुजरखाससोसो भत्तेच्छुदुच्छिकुच्छिदुक्खाणि ॥

अधियासयाणि सम्म सणक्कुमारेण वामसयं ॥ १५४२ ॥

कासशोपारुचिच्छर्दिक्छुप्रभृतिवेदनाः ॥

सोढा. सनत्कुमारेण यतिना शरदां शतम् ॥ १६०३ ॥

विजयोदया—कच्छजरखाससोसो कच्छज्वरकासशोय । भत्तेच्छुदुच्छिकुच्छिदुक्खाणि तीव्रो जठराग्नि अक्षि-कुक्षि दुःखं च । अधियासयाणि असंकेशेन धृतानि सणक्कुमारेण सनत्कुमारेण । वामसद वर्पशत ॥

मूलारा—कच्छू रुद्धः । जर ज्वरः । भत्तेच्छुदुच्छिकुच्छिदुक्खाणि तीव्रजठराग्निनेत्रोदरवाधाः । अन्ये अभ-तच्छर्दि इति पठित्वा अभक्कमरुचिः । छर्दि छर्दिरित्यर्थमाहुः । अधियासिदा सोढानि । सम्म निःसंकलेश । वाम-सदं वर्षशतम् ॥

अर्थ—कच्छ, ज्वर, खासी, श्वास, भस्मक व्याधि, आंखके रोग, इत्यादिक रोगोंसे होनेवाली पीडा सनत्कुमार मुनीने जो कि गृहस्थावस्थामें चक्रवर्ती थे सो वर्ष तक संकेश परिणामके विना धारण की परंतु रत्नत्रयका त्याग नहीं किया।

णावाए णिवुडाए गंगामज्जे अमुद्धमाणमदी ॥

आराधणं पवणो कालगओ एणियापुत्तो ॥ १५४३ ॥

गंगायां नाचि मग्गायां एणिकातनयो यतिः ॥

अमूढमानसः स्वार्थं साधयामास शाश्वतम् ॥ १६०४ ॥

विजयोदया—णावाए णिवुडाए नाचि निमग्गायाच्च । गगामज्जे गंगाया मज्जे । अमुद्धमाणमदी असुद्धमानमतिः । आराधण पवणो आराधना प्रतिपन्नः । कालगओ सन् । काल गत । एणियापुत्तो एणिकपुत्रनामधेयो यति ॥

मूलारा—कालगदं मरण प्राप्तः । एणियापुत्तो एणिकपुत्राख्यो मुनिः ॥

अर्थ—एणिकापुत्र नामके यतिराज नावमें आरोहण कर गंगाके दूसरे किनारे पर जा रहे थे तब वह नाव गंगामें डूब गई परंतु मुनिराजकी बुद्धि में जरासाभी मोह उत्पन्न नहीं हुआ और वे आराधनाप्राप्ति कर मर गये

ओमोदरिए घोराए भद्दबाहु असंकिलिड्डमदी ॥

घोराए तिगिच्छाए पडिवणो उत्तमं ठाणं ॥ १५४४ ॥

अवमोदर्यमंत्रेण भद्दबाहुर्महामना ॥

दुसुक्षाराक्षसीं जित्वा स्वीचकारार्थमुत्तमम् ॥ १६०५ ॥

विजयोदया—ओमोदरिए घोराए घोरेणावमोदर्येण तपसा समन्वितः । भद्दबाहु असंकिलिड्डमदी भद्रबाहुरसंक्लिष्टचित्त । घोराए तिगिच्छाए घोरेया क्षुधा वाधितोऽपि । पडिवणो उत्तम ठाण प्रतिपन्न उत्तमार्थ ॥

मूलारा—ओमोदरिए अवमोदर्येण तपोविशेषेण विशिष्टः । तिगिच्छाए दुसुक्षया ॥

अर्थ—घोर अवमोदर्य तप करनेवाले भद्रबाहु मुनि तीव्र भूखसे पीडित होनेपर भी संकेश परिणाम के वश नहीं हुए और उन्होंने रत्नत्रय को प्राप्त कर लिया।

कोसंबीलिलियघडा वृढा णइपरएण जलमज्जे ॥

आराधणं पवणा पावोवगदा अमूढमदी ॥ १५४५ ॥

चंपाए मासखमणं करित्तु गंगातडम्मि तण्हाए ॥

धोराए धम्मघोसो पडिवणो उत्तमं ठाणं ॥ १५४६ ॥

मासोपवाससंपन्नश्चंपायां तुड्ज्वरादितः ॥

धर्मघोषो मुनिः प्राप्तः स्वार्थं गंगानदीतटे ॥ १६०६ ॥

विजयोदया—चंपाए चपानगर्यो । मासखवण करित्तु मासोपवासं कृत्वा । गंगातडम्मि गंगयास्तेटे । तण्हाए धोराए तृणया तीव्रया वाधितोऽपि । धम्मघोसो धर्मघोष । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ।

मूलारा—कोसंबी कौशाख्यां नगर्यां । ललिदघडा ललिताः सुलवर्द्धिताः इंद्रद्रुत्तादयो द्वात्रिंशदिभ्याः श्रावकाः समुदायाः । णदिपूरणेण यमुनाप्रवाहेण । पाओवगदा प्रायोपगमनमरण प्राप्ताः । एता श्रीविजयो नेच्छति ॥

मूलारा—मासखमण मासोपवास । करित्तु कृत्वा ॥

अर्थ—कौशांबी नगरीमें ललित घट नामके मुनिओंका समुदाय नदीके प्रवाहसे बह गया तो भी संकेश परिणामके वश वह नहीं हुआ

तात्पर्य—सुखसे जिनके दिन व्यतीत होगये थे ऐसे इंद्रद्रुत्तादिक वृत्तीय श्रीमत वैश्यपुत्र थे, उन्होंने दीक्षा लेकर यमुना नदीके तटपर तप किया, एक दिन वे सब यमुनानदीके प्रवाहसे बह गये परंतु रत्नत्रयमें स्थिर रहकर उन्होंने प्रायोपगमन मरण प्राप्त कर लिया

चपानगरीमें एक महिनाके उपवास करके गंगानदीके किनारेपर तौत्र प्याससे पीडित होनेपर भी धर्म घोष मुनिगजने असंक्लिष्ट परिणामोंसे उत्तमार्थ प्राप्त कर लिया

सीदेण पुव्ववइरियदेवेण विकुन्विणुण घोरेण ॥

संतचो सिरिदत्तो पडिवणो उत्तमं अट्ठ ॥ १५४७ ॥

पूर्वकारातिदेवेन कृतैः शीतोष्णमारुतैः ॥

श्रीदत्तः पीड्यमानोऽपि जग्राहाराधनां सुधीः ॥ १६०७ ॥

विजयोद्या—सीद्रेण शीतेन । संतप्तो संतप्तः । पुण्ड्रवर्षरियदेवेण विकृतिवर्ण पूर्वजन्मदात्रुणा देवेनोत्पादितेन स्तिरिदत्तः श्रीदत्तः । उत्तमार्थमुपगतः ॥

मलारा—विविधदेवेण उत्पादितेन । सतप्तो पीडितः । सिरिदिणो श्रीदत्तः ॥

अर्थ—पूर्व जन्मका वेरी किसी देवने शीतजल वृष्टि, व शीत हवा उत्पन्न कर श्रीदत्तनामक मुनीको घोर दुःख दिया था तो भी इस मुनीश्वरने उत्तमार्थ प्राप्त कर ही लिया.

उण्हं वादं उण्हं सिलादलं आदवं च अदिउण्हं ॥

सहिदूण उसहसेणो पडिवणो उत्तमं अण्हं ॥ १५४८ ॥

मारुतं त्रैष्मकं तापं वहित्तं शिलातलम् ॥

सोढ्ढा वृषभसेनोऽपि स्वार्थं प्रापदनाकुलः ॥ १६०८ ॥

विजयोद्या—उण्ह वादं उण्हं वात, उण्हं सिलादलं उण्हं शिलातल ॥ आदव च अदिउण्हं आतापं चात्युण्हं सहिदूण प्रसह्य वृषभसेन उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥

मूलारा—सिलादल शिलातलं । आदवं आतापं । वृषभसेनो वृषभसेनः ॥

अर्थ—अतिशय उष्ण वायु, अग्निसे गरम किया हुआ पर्वतका शिलातल और ध्वंसताप इन तापत्रयसे पीडित होनेपर भी वृषभदत्तने यह सब सह लिया तथा उत्तमार्थ को वश किया.

रोह्ण्डयम्मि सत्तीण हओ कोचिण अग्गिदइदो वि ॥

तं वेयणमधियासिय पडिवणो उत्तमं अण्हं ॥ १५४९ ॥

अग्निराजसुतः शकत्या विद्धः कौचैन संयतः ॥

रोह्ण्डकपुरे सोढ्ढा देवीमाराधनां श्रितः ॥ १६०९ ॥

विजयोदया—रोहेडयस्मि रोहेडगे नगरे । सत्तीए दूओ शक्या दूत । कौचेण कौचनानामधेयेन । अग्निदहदोवि  
अग्निराजसुतोऽपि । त वेदणमधियासिय ता वेदना प्रसह्य । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥

मूलरा—रोहेडयस्मि रोहेटकनाम्नि नगरे । मत्तीए शक्या शक्यविशेषेण । कौचेण कौचनान्ना राह्या । अग्नि-  
दहदो अभिराजानान्नो राज्ञः पुत्रः कार्तिकेयसङ्गः । अधियातिय अध्यास्य प्रसहेत्यर्थः ।

अर्थ—रोहेड नगरमें कौच राजांने अग्निराजाका पुत्र कार्तिकेय मुनिको शक्ति नामक शस्त्रसे मारा था  
तब मुनिराजने उस दुःखको सह कर रत्नत्रयकी प्राप्ति की

काइदि अभयघोसो वि चडवेगेण छिण्णसब्बंगो ॥

त वेयणमधियामिय पडिवण्णो उत्तम अहुं ॥ १५५० ॥

कांकयां चडवेगेन छिन्ननिःशेषविग्रहः ॥

विषह्याभयघोसोऽपि पीडामाराधनां गतः ॥ १६१० ॥

विजयोदया—काइदि अभयघोसो वि कांकया नगरा अभयघोसोऽपि । चडवेगेण छिण्णसब्बंगो चडवेगेन  
छिन्नसर्वांगः ॥

मूलरा—कांकदि कांकया नगर्यां । अभयघोसो अभयगोप ॥ चडवेगेण चडवेगान्ना राजपुत्रेण ॥

अर्थ—कांकदी नामक नगरमें चडवेग नामक दूट राजपुत्रने अभयघाण मुनि के सर्व अंगोंको छेद डाला  
था तो भी वह तीव्र वेदना उन्होंने सह कर उत्तमार्थकी प्राप्ति कर ली

दंसोहिं य मसएहिं य खज्जतो वेदणं परं घोरं ॥

विज्जुच्चरोऽधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अहुं ॥ १५५१ ॥

प्रपदे मशकैर्दंशैः स्वाथमानो महामनाः ॥

विद्युच्चोरमुनिः स्वार्थं सोढुःसहवेदनः ॥ १६११ ॥

विजयोदया—दंसोहिं य दंशैर्मशकैश्च मध्यमाण विद्युच्चरोऽस्ता वेदना अवगणस्य आराधना प्रपन्नः ॥  
मूलरा—विज्जुच्चरो विद्युच्चरः ॥

अर्थ—दंडा और मशकोंसे भक्षण किया गया विद्युच्चरनामक मुनि तीव्र वेदनाओंको सहकर रत्नत्रयाराधनाको प्राप्त हुआ

हृत्थिणपुरगुरुदत्तो सम्मलियाली व दोणिमंतम्मि ॥  
डङ्गंतो अधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५२ ॥

वास्तव्यो हास्तिने धीरो द्रोणीमतिमहीधरे ॥

गुरुदत्तो यतिः स्वार्थं जग्राहानलवेष्टितः ॥ १६१२ ॥

विजयोदया—हृत्थिणपुरगुरुदत्तो हास्तिनापुरवास्तव्यो गुरुदत्त । सम्मलियालीव हस्तिसंक्रोश निरामाद्य [?] पूर्णभाजन अर्कपत्रपिहितमिदं अथेमुव सत्याय उपरिभाजनस्य अग्निप्रक्षेप समलीयुच्यते ॥ तद्वच्छिरसि निक्षिप्तान्नि । दोणिमंतम्मि द्रोणीमत्पर्वते दह्यमान प्रपन्न उत्तमार्थ ॥

मूलारा—हृत्थिणपुरगुरुदत्तो हास्तिनं पुरं यस्यासौ हास्तिनपुरो हास्तिनागपुरस्वामी स चासौ गुरुदत्तश्च स मुनिः सन् । सम्मलियालीए वल्लशिशिपूरितमर्कपत्रप्रच्छादितमधोमुगभाजनं मर्वत्रामिसंवेष्टितं सवलिरहालीयुच्यते ॥ दोणिमंतम्मि द्रोणिमति पर्वते । अधियासिय तदाहवेदना सहित्वा ॥

अर्थ—हस्तिना नगरके गुरुदत्त नामक मुनि द्रोणिमति पर्वतपर तप करते थे कोई दुष्टने संभली थाली के समान उनके मस्तकपर अग्नि रखकर जलाया था उसकी घोर वेदना सहकर वे रत्नत्रयको प्राप्त होगये मईके भाजनमें बालकी फली भरकर चारों तरफ आकरके पत्ते भरना चाहिये अनंतर उस भाजनका मुंह नीचे करके उसके चारों तरफ अग्नि लगा देना चाहिये इसको ही संभलीथाली कहते हैं.

गाढप्पहारविद्धो पूहगलियाहिं चालणीव कदो ॥  
तथ वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५३ ॥

गाढप्रहारविद्धोऽपि कीटिकाभिरनाकुलः ॥

स्वार्थं चिलातपुत्रोऽग्राञ्चालनिकृतविग्रहः ॥ १६१३ ॥

विजयोदया—गाढप्पहारविद्धो नितरामयुधैर्विद्ध । पूहगलियाहिं कृष्णैः स्थूलोत्तमालोः पिपीलिकाभिः । चालणीव कदो चालनीव कृतश्चिलातपुत्रस्तथाप्युत्तमार्थमुपगतः ॥

मूलारा—गाढप्यहारविद्धो नितरामायुधैर्विद्धः । पुरमिलियादं हि स्थूलमस्तककृष्णकीटिकाभिः । विलावपुतो विलावपुतो मुनिः ॥

अर्थ—तीव्र शस्त्रमहार होनेसे जो जखमी हुये थे और जिनका मस्तक बड़ा है ऐसी काली काली चोंटी-ओंने खाकर जिनका शरीर चालनीके समान छिद्रमय किया था ऐसे विलावपुत्रनामक मुनि उत्तमार्थ को प्राप्त हो गये

दंडो जउणावकेण तिवखकंडेहिं पूरदंगो वि ॥

तं वेयणमधियासिय पंडवणो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५४ ॥

यमुनावकनिक्षिप्तः शरपूरितविग्रहः ॥

अध्यास्य वेदनां चङः स्वार्थं शिआय धीरधी ॥ १६१४ ॥

विजयोदया—दंडो वडनामको यति । जमुणावकेण यमुनावकसंक्षितेन । तिवखकंडेहिं तीक्ष्णे शरैः पूरिता-नोऽपि रत्नत्रय समाराधयति स्म ॥

मूलारा—घण्टो घन्टो नाम मुनिः । दंडो हृत्पत्रे । जमुणावकेण यमुनावकनाम्ना राज्ञा ॥

अर्थ—दंड नामक मुनिराजके ऊपर यमुनावक नामक द्रुष्टमयुष्यने बाणोंकी दृष्टि करके उनका सर्व शरीर त्रणयुक्त कर दिया तो भी उस मुनिराजने रत्नत्रयकी आराधना की ही.

अभिणंदणादिया पंचसया णयरस्मिं कुंभकारकडे ॥

आराधण पवणो पीलिज्जंता वि यंतेण ॥ १५५५ ॥

यंत्रेण पीड्यमानांगाः प्राप्ताः पंचशतप्रमाः ॥

कुंभकारकटे स्वार्थमभिनंदनपूर्वगाः ॥ १६१५ ॥

विजयोदया—अभिणवणादिया अभिनंदनप्रभृतयः पंचशतसंख्या, कुंभकारकटे नगरे यत्रेण पीड्यमाना अव्याराधन प्राप्ताः ॥

मूलारा—कुंभकारकडे कुंभकारकटसंज्ञे ॥ १५५५ ॥



अर्थ—अभिनदनादिक पांचसौ मुनिओंको कुभकारकट नामक नगरमें थंत्रोंमें पेलकर मारा था तो भी उन्होंने आराधनाका त्याग किया ही नहीं.

गोठे पाओवगदो सुबधुणा गोन्चरे पलिवदम्मि ॥

डुज्झंतो चाणक्को पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥ १५५६ ॥

वसदीए पलिविदाए रिट्ठामच्चेण उसहसेणो वि ॥

अराधण पवण्णो सह परिसाए कुणालम्मि ॥ १५५७ ॥

कुलालेरिष्टसंजेन दग्धायां वसतौ गणी ॥

सार्धं वृषभसेनोऽगादुत्तमार्थं तपोधनैः ॥ १६१६ ॥

विजयोदया—वसदीए पलिविदाए वसतौ दग्धायां। रिट्ठामत्सनामधेयेन वृषभसेन सह मुनिपरिपदा प्रतिपन्न आराधनाम् ॥

मूलारा—गोठे गोकुले। पाओवगदो प्रायोगमन श्रितः। सुबधुणा सुबधुनाम्ना मंत्रिणा। गोचरे करीये। पलिविदम्मि प्रदीपिते। एता श्री विजयो नेच्छति ॥

मूलारा—रिट्ठामच्चेण रिष्टनाम्ना मंत्रिणा। परिसाए परिपदा। स्वशिष्यसमाजेनेत्यर्थः। कुणालम्मि कुणालपुरे ॥

अर्थ—गोठेमें चाणक्य नामक मुनिने प्रायोपवेशन-धारण किया था. सुबधुनामक राजमंत्री उसका बैरी था उसने गोमय-कड़ोकी राशिमें चाणक्य मुनिको अग्नि लगाकर जलाया तो भी उन्होंने रत्नत्रयाराधनाका त्याग नहीं किया. और उत्तम अर्थ को वे प्राप्त हुए

अर्थ—कुणालनगरकी एक वसतिकामें आग लगाकर रिष्ट नामक राजमंत्रीने अनेक शिष्योंके साथ वृषभसेन नामक मुनिराजको जलाया तो भी संपूर्ण शिष्योंके साथ मुनिराजने आराधना को धारण किया

जदिदा एवं एदे अणगारा तिब्बवेदणट्ठा वि ॥

एयागी पडियम्मा पडिवण्णा उत्तमं अट्ठ ॥ १५५८ ॥

अभी तपोधनाः प्राप्ताः स्वार्थमेकाकिनो यवि ।

अध्यास्य वेदनास्तवाः निःप्रतीकारविग्रहाः ॥ १६१७ ॥

विजयोदया—जविवा एव यदि तावेवेमेते यतयस्तीव्रवेदनापीडिता अपि एकाकिनोऽप्रतीकारा उत्तमार्थं प्रतिपन्नाः ॥

शूलारा—एगामी एकाकिनोऽसहायाः ॥

अर्थ—यदि ये उपर्युक्त दृष्टान्तरूप मुनिजोने तीव्र वेदनाओंसे पीडित होकर भी अकेल ही तीव्रवेदनाका कुछभी इलाज नहीं किया. और उत्तमार्थ की अर्थात् रत्नत्रयाराधना की प्राप्ति की.

किं पुन अणयारसहायगेण कीरतयस्मि पडिकम्मे ॥

संघे ओल्लगते आराधेणुं ण सकेज्ज ॥ १५५९ ॥

चतुर्विधेन संघेन विनित्तेन नियवितं ॥

तदाराधयसे न त्वं देवीमाराधनां कथम् ॥ १६१८ ॥

विजयोदया—किं पुन अणगारसहायगेण किं पुनर्न शक्यते आराधयितु अनगारसहायेन भवता क्रियमाणे प्रति कारे संघे चोपसना कुर्वति सति ॥

शूलारा—ओल्लगतो उपान्ना कुर्वति सति । ण सकेज्ज न शक्येत त्वया ॥

अर्थ—हे शपक ! तुम तो अनक मुनिओंकी सहायतासे युक्त हो और तुम्हारी तीव्र वेदनाका इलाजभी हो रहा है संघमें अनेक मुनि भी तुम्हारी शूद्रणा करते हैं अतः तुम आराधना देवीकी भक्ति क्यों नहीं करते हो ?

जिणवयणममिदमूद महुर कण्णाहुदिं सुणतेण ॥

सक्का हु सधमज्जे सहेहुं उत्तम अट्ठं ॥ १५६० ॥

कर्णाजलिपुटं पीत्वा जिनेद्रवचनामृतम् ॥

संघमध्ये स्थितः शक्तः स्वार्थं साधयितुं सुखम् ॥ १६१९ ॥

विजयोदया—जिणवयण जिनाना वचनं, । अमृतभूत. मधुरं कर्णादुतिं शृण्वता त्वया संवमच्चे शक्यमाराध-

मूलारा—कण्ठादुर्दि कर्णयोगहृत्तिरिव । तयोराभिरिव पाटवकारित्वात् । सप्ता शक्या त्वया ॥

अर्थ—जिनेश्वरका वचन अप्रुतके समान मीठा है, कर्णको प्रिय है इसका तुमको उपदेश प्रतिदिन मिलता है अतः इस मंत्रमें तुमको रत्नव्याराधना कराना अशक्य नहीं है.

गिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण ॥

जं पत्तं इह दुम्मलं तं अणुचित्तेहि तच्चित्तो ॥ १५६१ ॥

श्वन्नतिर्यग्रस्वर्गसुखदुःखानि सर्वथा ॥

त्वं चिंतय महाबुद्धे भवलब्धान्यनेकशः ॥ १६२० ॥

विजयोदया—गिरयतिरिक्खगदीसु य नरकतिर्यग्गतिषु च । माणुसदेवत्तणे य संतेण मानुषत्वदेवत्वयोश्च सता यत्प्राप्त इह सुखानंतरं दुःखं तं अणुचित्तेहि तच्चित्तस्तदनुचितय ॥

एव प्राक्तनमहासत्त्वमुखुर्गदुःसहपरीपहोपमर्गसहसहनप्रदर्शनप्रबंधनाराधकस्य धृतिबलभावनामुद्बोध्य साम्र-  
तमनादिकालानुभूतचातुर्गतिकदुःखसुखानुचितनवलेन तत्सहन प्रबंधनोपदिशति—

मूलारा—मतेण सता भवता । तच्चित्तो तद्गतमनाः ॥

अर्थ— नरकगति. तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगतिओंमें हे क्षपक ! तुमने जो दुःख सहन किया है उमका भी तो तुम कुछ विचार करो

गिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादवहुलाओ ॥

कायणिमित्त पत्तो अणंतखुत्तो बहुविधावो ॥ १६२ ॥

नरके वेदनाश्चिन्ना दुःसहासातदायिनीः ॥

देहासक्तया प्राप्ताश्चिर यास्ता विचिंतय ॥ १६२१ ॥

विजयोद्या—गिररखु नरकेतु । वेदणाओ वेदनाः । अणोवमाओ अनुपमा । साइश्या वेदनाया जगल्यन्यस्या अमावात् । असादयहुलाओ असद्वेधकमवहुला । कारणवहुलत्वेन कार्योत्तरतिराख्याता । कायणिमिस पत्तो शरीर-निमित्तासंयमार्जितकर्मनिमित्तत्वा-मूलकारणं निर्दिष्ट कायनिमित्तमिति । अणतसो अणंतवारं । त भवान् बहुविधाओ बहुधा ॥

इतो नरकदुःखानुचितने गाथानामेकाश्विशत्या क्षपकं न्यापारयति—

मूलारा—अणोवमाओ अनुपमास्ताइश्याः पीडायाखियु लोकेव्वपि अन्यस्या अमावात् । असादवहुलओ अस-द्वेधकमोवयप्रबंधेन निरतर प्रवर्तमाना इत्यर्थः । कायणिमित्त शरीरश्चानिमित्तासंयमार्जितकर्मनिमित्तत्वात्तासा मूलकारण-ज्ञापनार्थ इदं । पत्तो प्राप्तस्त्व जीव इति वा । बहुविधाओ उष्णशीतनरकादिकारणानात्वादेनेकप्रकाराः ॥

अर्थ—नरकमें तुमने ऐसी तीव्रवेदनाओंका अनुभव लिया है कि जगतमें अन्यत्र कहीं भी ऐसी वेदनायें नहीं हैं । असाता वेदनीय कर्मका बहुत काल तक तीव्र उदय होनेसे नरकमें सतत दुःख भोगना पड़ता है, हे क्षपक! शरीरके निमित्त अर्थात् शरीरके मोहमें पड़कर तू असयमी हुआ था, इससे तेरे को दीर्घकालीन असाताकर्मका बंध हुआ था, अनंत भवोंमें इस कर्मके उदयसे तूने दुःख भोगा है,

उष्णनरकेतु उष्णमहत्तास्वनार्योत्तरा गाथा—

जदि कोइ मेरुमचं लोहुण्डं पक्खविज्ज गिरयस्मि ॥

उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विजेज्ज सो तत्य ॥ १५६१ ॥

क्षिप्त्तं श्वभ्रावनौ क्षिपं मेरुमात्रोऽपि सर्वथा ॥

उष्णामुर्वीपनासाद्य लोहपिंडो विलीयते ॥ १५६२ ॥

विजयोद्या—गिरयस्मि उण्ह लोहुण्ड मेरुमत्त जदि कोइ पक्खवेज्ज उष्णनरके लोहपिंडं मेरुसमानं यदि काश्चिदेवो दानवो वा प्राक्षिपेत् । सो तत्य भूमिमपत्तो चैव विजेज्ज लोहपिंडो भूमिमप्राप्त एव द्रवतामुपयाति । उण्हेण उष्णेन नरकविलाना ॥

नारकाणामुगदुःखनिमित्तमुष्णत्वमहत्त्वमुपपत्तिकल्पनया ख्यापयति—

मूलारा—कोइ कश्चिदेवो दानवो वा । लोहुण्डं लोहपिंड । उण्हे उष्णे प्रकृत्या । अप्यत्वाहुष्णमिति वा । भूमि-

मपत्तो भूतलमप्राप्यैवेत्यर्थः । णिमिसेण निमेषमात्रकालेन । विजेज्ज द्रवीभवेत् ॥

अर्थ—उष्ण नरकमें यदि देव अथवा राक्षस मेरुप्रमाण लोहका गोला फेंक देगा तो वह विलकी तलभूमीको प्राप्त होनेके पूर्वमेंही विलकी उष्णतासे पिघलकर पानी होता है.

तह चेव य तदेहो पज्जलिदो सीयणिरयपविस्वत्तो ॥  
सीदे भूमिमपत्तो णिमिसेण सडिज्ज लोहुण्डं ॥ १५६४ ॥  
क्षिप्तस्तत्राग्निना तप्तो मेरुमात्रः सहस्रधा ॥  
शीतामवनिमप्राप्य लोहापिंडो विशीर्यते ॥ १५६५ ॥

विजयोदया—तद् चेव तथैव । तदेहो मेरुमानदेह लोहुण्डो लोहापिंड । पज्जलिदो प्रज्वलितः । सीदणिरयस्मि शीतनरके । पविस्वत्तो पक्षिस्तो भूमिमप्राप्त एव । सीदेण सडिज्ज शीतेन विशीर्यते ॥  
तद्वच्छीततीव्रतां ब्रवीति—

मूळारा—तदेहोच्चिचय मेरुमात्र एव । पज्जलिदो ज्वलनसंतप्तः । सीदो शीत । सडेज्ज संडखंडी भवेत् ॥

अर्थ—यदि वही लोहका गोला उष्णतासे पिघला हुआ शीत नरक विलमें फेंक दिया जायगा तो वहां की शीत भूमीका स्पर्श होनेके पूर्वमें ही थंहासे उसके टुकड़े टुकड़े हो जायेंगे

शीतोष्णजनितयेदनातिशयमुद्दिश्य शारीः वेदनामाचष्टे—

होदि य णरये तिन्वा सभावदो चेव वेदणा देहे ॥  
सुणीकदस्स वा मुच्छिदस्स खारेण सितस्स ॥ १५६५ ॥  
तादृशी वेदना श्वश्रे घोरदुःखे निसर्गजा ॥  
यादृशी चूर्णितस्यास्ति क्षिप्तक्षारस्य चेतनः ॥ १५६६ ॥

विजयोदया—होदि य णरये तिन्वा भवति च नरके तीव्रे वेदना । देहे शरीरे । सभावदो चेव सभावत एव । सुणीकदस्स चूर्णीकृतस्येव । खारेण सितस्स क्षारेण सिकत्य । अमुच्छिदस्स अमूर्छितस्य । यादृशी वेदना तादृस्येव शरीरे वेदनेति यावत् ॥

नरकेषु परयोष्णशीतप्रभवां तीष्ठां वेदना निवेद्य नैसर्गिकीं शरीरपीडापमानबलेन व्यनक्ति—  
मूलारा—चुण्णीकदस्स मुद्गराविना क्षुण्णस्य आनुपस्य यथा । अमुच्छिदस्स मूच्छीमप्राप्तस्य चेतयमानस्येत्यर्थः ।

उक्तं च—

तादृशी वेदना श्रेष्ठं चोरे दुःखे निसर्गजा ॥

यादृशी चूर्णितस्यास्ति क्षिप्तधारस्य चेतनः ॥

श्रीतोष्ण वेदनाका वर्णन हुआ-अब शारीरिक वेदनाका वर्णन करते हैं—

अर्थ—मुद्गरादिको जिसको चूर्ण किया है, जिसके ऊपर क्षार जलका सिंचन किया है ऐसे अमूर्च्छित

मनुष्यके शरीरमें जैसी वेदना होती है वैसी वेदना नरकमें जीवको स्वभावतः ही होती है

गिरयकडयमि पत्तो जं दुक्खं लोहकंटएहिं तुमं ॥

गेरइएहिं य तत्तो पडिओ जं पाविओ दुक्खं ॥ १५६६ ॥

यच्छ्वभ्रावसये भिमि ग्रामोदुःखमेकया ॥

निश्चितं कटकैलोहैस्तुयमानः समंततः ॥ १६२५ ॥

विजयोदया—गिरयकडयमि नरकविलसमूहे-नरकस्वधावापे इति केचिद्वदन्ति । अन्ये तु निरयगतं इति ।

पत्तो जं दुक्खं यदु ख प्राप्तः । लोहकंटएहिं निशिततलोहकटकं तुद्यमानस्वव ॥

इतो नरकेषु विचित्राणि तीव्रदुःसातराणि बहुशः प्राप्तपूर्वाणि परीपदोपसर्गदुःखतीव्रतापविस्मरणाय संन्या-

सिनं बोधयति—

मूलारा—गिरयकडयमि रत्नप्रभादिभूमिविलसमूहं अन्ये कटकशब्देन स्वधावारमादुरपरे गतम् । जं दुक्खं

तं अणुचितेहि गिस्सेसमिति गत्वा संबंधः कार्यः । लोहकंटयोहिं निशिततलोहकंटकैस्तुद्यमानस्त्वं । तत्तो तस्माद्लोहक-

टकनिचितभूमिभागान्निष्क्रान्तः सन् । एषा केपादिचार्याणां मतेन व्याख्या ॥ उक्तं च—

नरककटे त्वं प्राप्तो यदुदुःखं लोहकटकैस्तीक्ष्णैः ॥

यन्नारकैस्ततोऽपि च निष्क्रान्तः प्रापितो घोरम् ॥

अन्येषां त्वयं पाठो मन्यते ॥ “गेरइएहिं य सतो पडिदो तिवखेहिं तुबलो” पूर्वाद्धं तु समानम् तदुक्तं—

आयसैःकंटकैः प्राप्नो यद्दुखं नरकावनौ ॥

नारकैःसुघमानः सन्पतितो निशितैर्भवान् ॥

अर्थ—नरकके विलोम अतिशय तीक्ष्ण लेहके कंटकोसे जो दुःख तुमने प्राप्त किया है उसका इस समय तुम चिंतन करो अर्थात् वह युक्त दुःखसे अनंत गुण बड़ा था ऐसा समझकर सांप्रतका दुःख तुम शान्त भावसे सहन करो.

जं कूटसामलीएं दुक्ख पत्तोसि जं च सुलम्मि ॥

असिपत्तवणम्मि य जं जं च कयं गिद्धकंकेहिं ॥ १५६७ ॥

यच्छले कूटशाल्मल्यामसिपत्रवने गतः ॥

सर्वतो भक्ष्यमाणोऽयं कंककाकादिपक्षिभिः ॥ १६२६ ॥

विजयोद्या—जं कूटसामलीहिं य यद्दुखं प्राप्नोऽसि विक्रियाजनितनिशातशाल्मलीभिः । ऊर्ध्वमुखैरधोमुखैश्च तीक्ष्णकटकैराकीर्णकूटशाल्मलीरारोहन् नारकमयात् । जं च सुलम्मि यच्च दुःखमवाप्तोसि शूलायमोत । असिपत्तवणम्मि य जं असय एव पत्राणि यसिन्वा तदसिपत्रवन । उष्णार्दिताना पृक्कुर्वता नारकाणा असिपत्रवनेऽनेकासुरविक्रियाविनिर्भितविचित्रायुधपत्राणि वनानि । जं च कय यच्च कृत । गिद्धकंकेहिं गृद्धैः कंकैश्च वज्रमयैस्तुडैः तरललोचनैस्तुदंति । तीक्ष्णीकृतकचसदृशैः पक्षैः प्रहरति नित्य । नखरपरपैश्चरणकुशैस्ताडयन्ति ॥

मूलारा—कूटसामलीए ऊर्ध्वाधोमुखकटकाकीर्णविक्रियाकृते शाल्मलीपृष्ठे नारकैर्धूल्यमाणः सन् । तद्गयाद्वा तमा-रोहन् । शूलम्मि शूलोपप्लवैतैः प्रोतः सन् ॥ असिपत्तवणास्मि उष्णतांता पृक्कुर्वता नारकाणा कृते संछिद्यसुरैर्निर्भिते खड्ग-समानपत्रदुग्धमसमूहे । च शब्दादित्रायुधपत्रवनेषु । गिद्धकंकेहिं गृद्धैः कंकैश्च । ते हि वज्रमयस्तुडैर्नैत्राणि तुदति ॥ तीक्ष्णीकृतक-कचसपक्षैः प्रहरंति, नितातखरपरपैश्चरणकुशैश्च ताडयंति ॥

अर्थ—नरकमें विक्रियाके सामर्थ्यसे कूट शाल्मली नामक वृक्ष असुर देव बनाते हैं, इस वृक्षको नीचेसे लेकर चौटीतक काटे रहते हैं, कोई-कोई काटोंका सुह ऊपर रहता है और कितनोंका सुह नीचे होता है नारकके भयसे दीन नारकी उस वृक्षपर चढ़ते हैं तब कोई नारकी जीव उनको ऊपर खींचते हैं और कोई नीचे खींचते हैं, ऐसे

कार्यसे उन दीन नारकिओंका देह विदीर्ण होकर उनको घोर वेदना होती है शूलपर चढ़ानेसे जो दुःख होता है-  
उमका तू स्मरण कर नरकमें असुदेव विक्रियासे नाना प्रकारके शस्त्रोंके समान जिनके पत्र हैं ऐसे वन उत्पन्न  
करते हैं- उज्जतासे पीड़ित होकर रोते हुए नारकी जीव उसमें विश्रामके लिये जाते हैं परंतु वे शस्त्रमय पत्र पड़कर  
उनके अवयव टूटते हैं जिससे उनको घोर वेदना होती है गीघपक्षी, और बक पक्षीभी अपने वज्रके समान मुंहसे  
और तीक्ष्ण चरण रूपी अंकुशोंसे नारकिओंको डुल उत्पन्न करते हैं.

सामसवलेहिं दोसं वइतरणीए य पाविओ जं सि ॥

पत्तो कयंवालुयमइगम्ममसायमदितिव्वं ॥ १५६८ ॥

असुरवैतरण्यां च प्रापितो निर्धुणाशयेः ॥

कंदववालुकापुंजं गाढमाना यदा सृतः (?) १६२७

विजयोदया—सामसवलेहिं इयमशवलसञ्चितरसुरैः । दोस दोष दंडना । वइतरणीए य पाविओ जं सि ।  
वैतरण्या नया प्रापितो यदसि । वडमिभूताना जल मृगयता विंधु विन्यस्तदीनलोचनाना शुष्कतालुगलानां वैतरणी  
नवीमुपदर्शयति । रंगस्त रगाकुला, अगाचनीलनीरमरितच्छदा, धिपयसेवेव दुरन्तरुणावुधधनोद्यता, सञ्चितसिच उरुत्तरां,  
आशेव विशाला, कर्मपुद्गलरुक्थसद्वतिरिव धिचित्रविपद्विधायिनीं, तद्दर्शनाद्दूरेवोपजातोत्कंडा लब्धजीविता स इति  
मन्यामाना द्रुततरगतयस्तामवगाहंते । तद्वगाह्नानंतरमेव रुताजलयः पिपति तादृशद्रवसन्निभं तवंस । परवचनमिष  
हृदयदाहविधायि, हा विप्रलब्धा सेति करुण रसता शिरासि परवचनसमीरणेरणोदिततरंगासिधारा निरुन्तन्ति  
करचरणानि च । तेनानिश्चारेणेन, कालकूटविपायमोनेन जलेन, व्रणतरप्रवेदिना वहामाना झटित घटितकरचरणा-  
स्तदमेव रटन्तः समारोहन्ति । तेना च ग्रीवासु इयमशयला महती शीला वज्रशूलप्रोता वचन्ति कुर्विभोचा ।  
वश्वा च तस्यामेव पातयति । पातितास्ताश्च कृतोन्मज्जननिमज्जनानामुचभागानि असुरविक्रियानिमित्तमहामकरकरप्रद्वारेण  
जर्जरीभूय निपतति । पुनश्च तटमारुढान्गच्छतस्तास्तुरूय मिश्राल यच्चति । तानपरिस्पदमवस्थितान्दक्षीकृत्य विध्वंतीति  
निशातशरशतसहस्रैः । पत्तो कलववालुगमदिगम्भ प्राप्य कंदवप्रसूनाकारा वालुकाविततु प्रवेशाः, वज्रदालंरुतयदि-  
रांगारकरुणप्ररोपमनाः परिप्राप्य तत्र यलात्सचार्यमाण यत्प्राप्तवानसि तु खं तच्चितय ॥

मूलारा—सामसवलेहिं इयमशवलसंक्रासुरकुमारैः । दोस दंडनं वइतरणीए य वैतरण्या च । जं सि यहुःखम-  
'मि त्वं प्रापितः । ते हि नारकाणा वडमिभूताना जलमन्वेपमानाना । दिक्षु निश्चितदीनचक्षुणा । शुष्कतालुमूलाना । नरकनदी



रगतारंगमालाकुलंगंभीरनीलनीरपूरितन्हृदा । विषयसुयसेवामिव दुरंततृपानुबंधनोचतां । सस्तिमिव दुरुत्तरामाश्रामिवाति विशालां । कर्मपुद्गलसंहतिमिव विचित्रविपत्करीं दर्शयति । तद्दर्शनाच्च ते दूरोदेव समुद्रभूतोक्तं लब्धजीविताः संजाता स्म इति मन्यमानाः । द्रुततरगतयस्तामवगाहन्ते । तदनंतरमेव कृतांजलयः पयः पिवन्ति तप्तताम्रोद्भवमिवात्यंतमचांगीण-दाहविधायि । ततश्च तेपा हा विप्रलब्धाः स्म इति कर्णं रसता शिरामि करचरण च परुषतमसभीरणप्रेरणोन्मिद्रुततरगाति-निश्चितामिधारा निवृन्तन्ति ॥ तेन च शृणोणक्षारवारिणा कालकूटविषदर्पापहारिणा, व्रणतरप्रवेदिना, दंढहमना झटिति पुनर्वर्धितशिरः करचरणास्तटयवरंतस्ते चटति । ततश्च तेऽसुरकुमारस्तान्यशृंगपलावद्धदुर्विमोचमहाशिलाकूटकधरा-स्तस्यमेव पातयन्ति । तत्र च तेपा कृतनिमज्जनोन्मज्जाना शिरासि असुरनिर्मितमहामकरप्रहारेण जर्जरीभूय निपतन्ति । ततश्च ते तटमारुढाः पुनः संयोजितशिरसा तेपा तां शिलां पुनर्निश्चल व्रजन्ति । कदंबग्राह्य कदंबसुकुमारवालिका वज्रदालांछुता प्रदीप्तगन्धिरानारप्रकाशः । अद्भिगम्य ग्राह्य । तत्रागत्यासुरैः सचार्यमाणो यत्र दुःख प्राप्तस्तन्मामि (?) प्रति-मनस्यचधारयेति क्षपकशिखा संपादनं ॥

अर्थ—श्यामशुक्ल नामके असुर देवोंके द्वारा वतरणी नदीमें नारकिओंको जो दुःख दिया जाता है उसका हे क्षपक ! तू स्मरण कर जिनको तीव्र प्यास लगी है, जो पानीको ढूंढ रहे हैं, चारों दिशाओंमें दीन नेत्र लगाकर जो देख रहे हैं, जिनकी तालु प्याससे सुख गई है, ऐसे नारकिओंको वे असुरदेव वतरणी नदी दिसाते हैं

यह नदी अनेक तरंगोंसे उछलती है, इसमें अगाध पानीसे अनेकमरोवर भरे हुए रहते हैं विषयका सेनन जैसे तृष्णाको बढ़ाता है वंसी यह दुःखदायक नदी प्यास को बढ़ाती है, संसारमें निकलना जैसे कठिन है वैसे वतरणी नदीमें प्रवेश करनेसे उममेंसे बाहर निकलना नितात कठिन है यह नदी आशके समान विशाल है कर्म के पुद्गल जैसे अनेक तरहकी आपत्तिओंको उत्पन्न करते हैं वंसी यह नदी भी नारकिओंको अनेक प्रकारके दुःख देती है इस नदी का दर्शन होते ही नारकिओंको इसमें प्रवेश करनेकी उत्कठा उत्पन्न होती है, अब हमारे सम दुःख नष्ट होंगे और हम सुखमें जीयेंगे ऐसा समझकर वे उसमें जलदी प्रवेश करते हैं,

उसमें प्रवेश करते ही वे अपनी अजलिओंसे ताँबेके द्रवके समान लाल रंगका पानी पीना शुरू करते हैं, परंतु जैसे कठोर मापण हृदय को संतप्त करता है वैसे वह जल मनको अतिशय दुःख उत्पन्न करता है तब हाय! हाय! हम विलकुल फस गये हैं ऐसा करुण वचन बोलते हैं, अतिशय कठोर वायुसे उछले हुए जलतरंगरूप तरवारियोंसे

नारकियोंके मस्तक, हाथ, पाय दृष्ट जाते हैं, अतिशय क्षार और उष्ण जल कालकूट विषके समान जब ब्रणोंमें प्रवेश करता है तब उनकी अत्यंत दाहदुःख होने लगता है।

जब उनके हाथ और पैर जुड़ जाते हैं तब वे नदीके तटपर चढ़ते हैं उस समय श्यामशबल नामके असुर वज्रकी शृंखलासे बंधे हुए बड़े २ पत्थर उनके गलेमें बांधकर पुनः वैतरणीमें उनकी ठकेल देते हैं पड़ने पर वे उस नदीमें डूबकर पुनः उपर आते हैं और पुनः डूब जाते हैं असुरोंके द्वारा उत्पन्न क्रिये मगर नामक प्राणी-ओंके हाथका आघात होनेसे उनका मस्तक फूट जाता है और वे पुनः नदीमें डूब जाते हैं।

पुनः जब ये तटपर आते हैं तब उनकी असुरदेव झाड़की निश्चल बांधते हैं और तीक्ष्ण लक्षावधि बाणोंसे विद्ध करते हैं।

नदनंतर वे नारकी जिसमें वज्रके टुकड़े मिले हुये हैं, और जो खदिर की शनी के समान लालरंगकी है ऐसी अग्निवत्तम बाणोंमें उन नारकीओंको बलात्कारसे इधर उधर घुमाते हैं ऐसे समय जो दुःख उनकी होता है हे क्षपक! उसका तुम विचार करो

जं गीलमंडवे तत्तलोहपडिमाउले तुमे पत्तं ॥

जं पाइओसि खारं कडुयं तत्तं कलयलं च ॥ १५६९ ॥

तप्तायःप्रतिमाकर्णो यत्प्राप्तो लोहमंडपं ॥

आयसं पाय्यमानोऽपि प्रतप्तं कललं कटु ॥ १६२८ ॥

विजयोदया—ज पत्त तं चितेहि यत्प्राप्तं तु स्र तश्चितय । गीलमंडेय काललोहघटिते मडपे । तत्तलोहपडिमाउले तत्तलोहप्रतिमाकुले । बलात्कारसंपाद्यमानस्तत्तलोहप्रतिमायुवत्यार्लिनितो यदु ख प्राप्तवानसि तन्मनसि निधेहि । ज पाइओसि खार यत्पायितोऽसि क्षार । कडुग कटुक । नत्त तप्त ॥

मूलारा—ज गीलमंडपे काललोहघटितमडपे । तत्तलोहपडिमाकुले अभिलोहवर्णतत्तलोहमययुवासिंघाते । तुम त्वया । पत्त प्राप्तं । बलात्कारसंपाद्यमानतत्तलोहप्रतिमायुवत्यार्लिनादिदुःखं । पज्जिदो सि पायितोऽसि । कलयलं ताम्रशीशकतिलसर्जरसगुगुलसिक्थकलवणजतुवज्रलेपाः काययिद्वा मिलिताः कलकल इत्युच्यंते ॥

अर्थ—काले लोहसे बनाये मंडपमें बहुतमी तपाये लोहकी प्रतिमायें रहती हैं तुमको उनसे बलात्कारसे आलिंगन करवाते हैं। तब जो दु ख तुमको उत्पन्न होता था उसको तुम ध्यानमें लाओ तथा क्षार, अग्नि तम और कड़ुआ रस तुमको पिलाते थे उसका भी तुम स्मरण करो।

जं खाविओसि अवसो लोहंगारे य पज्जलंते तं ॥  
कंडुसु जं सि रद्धो जं सि कवल्लीए तल्लिओ सि ॥ १५७० ॥  
दुःस्पर्श्यं खायमानो यल्लोहमंगारसंचयम् ॥  
पच्यमानः कंदकासु मंडका इव रधितः ॥ १६२९ ॥

विजयोदया—ज खाविओसि यत्खादितोऽसि अवशोऽवशः । बलायंत्रविदारितानतः । लोहंगारे य पज्जलंते तं लोहागारान्मज्जलत त्वं । कंडसु ज सि रद्धो कंदुकासु यन्मंडका इव पक् ॥

मूलारा—खादिदो खादितः । अवसो बलायंत्रविदारितमुपतः । लोहंगारे लोहमयागारान् । त त्वं कंदसु मंडक पचनार्थासु स्वेदनिकासु । रद्धो मंडक इव पक्कः । कवल्लीए कवल्या कटाहिकायामित्यर्थः ॥

अर्थ—उस नरकमें हे क्षपक! तुमको बलात्कारसे यंत्रके द्वारा सुख फाडकर लोहेके जलते अंगार खिलाये थे और तुमको मंडिके समान कढाईमें तलाया था उसका तुम विचार करो

कुट्टाकुट्टिं चुण्णाचुण्णिं मुग्गरमुसुंढित्थेहिं ॥  
जं वि सखंडो खंडिं कओ तुमं जणसमूहेण ॥ १५७१ ॥  
चूर्णितः कुट्टितदिच्छन्नो यन्सुत्तरमुसुंढिभिः ॥  
बहुशः खंडितो लोकैर्यच्छुप्रस्यैरितस्ततः ॥ १६३० ॥

विजयोदया—कुट्टाकुट्टिं बहुशो यत्कुट्टितचूर्णित मुग्गरमुसुंढित्थैः, यच्च जनसमूहेन भवान् असकृत्खंडित-  
स्तदंत करणे कुब ॥

अनुवृत्तिक्रिया भाषा सन्नतिः सुखशीलता ॥

अपा कृपा इमो वानं प्रसादो मार्वं क्षमा ॥ १ ॥  
 इत्येवमाद्याः सुगुणाः प्रदास्ता ये शरीरिणां ॥  
 तेषु ते दुर्लभा नित्य कांतारेविव मानुषा ॥ २ ॥  
 शशुभिर्न उदासीन इत्यन्यत्र त्रिधा जनः ॥  
 शशुरेव हि सर्वोऽत्र जनः सर्वस्य नारकः ॥ ३ ॥  
 कपनैः कण्यैश्चक्रेनोराचैः क्रकचैर्नरैः ॥  
 गन्नाभिर्मृगशैः शूलैः प्राशैः पापणपट्टिषैः ॥ ४ ॥  
 मुष्टिमिर्यष्टिमिलैर्यैः शंकुभिः शक्तिभिः शरैः ॥  
 अस्त्रिभिः क्षुरिकाभिश्च कुतैर्दंडैः सतोरैः ॥ ५ ॥  
 तथा प्रकारैरन्यैश्च निशितैर्नैकसंस्थितैः ॥  
 भूस्वभावात्स्वयं जातैर्वैक्रियैरपि चायुधैः ॥ ६ ॥  
 नारकास्तत्र तेऽन्योन्य रोयवेगेन पूरिता ॥  
 पूर्वधैराण्यनुसृत्य वैमंगलानसंभवात् ॥ ७ ॥  
 प्रति छिदति भिदति खादति च तुदति च ॥  
 विष्यति चापैर्मथति प्रहरन्ति हरन्ति च ॥ ८ ॥  
 श्वश्रुगालवृक्षकृपाघशुश्रूषरूपाणि चापरे ॥  
 विहृत्य विद्वयं पापा बाधेतेऽत्र परस्परं ॥ ९ ॥  
 काष्ठशैलशिलारूपैर्निपतंति च केषु चित् ॥  
 पततस्त्रान्मतीच्छति ते च शूलप्रसंस्थिताः ॥ १० ॥  
 मज्जयति जलीभूय बायूभूय नुदति च ॥  
 वहति वहनीभूय न दयति परस्परं ॥ ११ ॥  
 तिष्ठ दास्येय हन्मि त्या त्व कुतस्त्यः पलायसे ॥  
 निगूहसे महामोहान्मृत्युस्त्वा समुपस्थितः ॥ १२ ॥  
 छिदति भिदति तयाकार्यं कंक्षि शंधि विधानतः ॥  
 वधानेनं सुदानाशु बह ल्छादय मारय ॥ १३ ॥  
 प्रयधे पातयाप्येव तुव पिंडीं प्रदीपय ॥

विशसेति च संरम्य तं मुचेति निरोऽनुमः ॥१४॥

मूलारा—कुट्टाकुट्टिः अतीव कुट्टः कृतः । जुण्णाजुणिण अतीव चूर्णकृतः । मोगार लोहकटकितयष्टि । मुसुंढि वज्र

मुष्टि । सुदृढस्तेनारैर्यदत्यंतं कुट्टितो, यच्च मुमुक्षुर्दृष्टस्ते । मुतरा चूर्णितस्त्वं तार्क्ष्येति सर्वथः ॥ ज चापि यच्चासि ।  
खंडायां हि कथो खंडं खंड कृतः । जण नारकाः ॥

अर्थ—नरकमें सुदृढ, भूखंडी वगैरह आयुधोंद्वारा तुम अनेक नारकियों द्वारा चूर्ण किये गये थे. और अनेक नारकियोंने तेरे अनेक वाग दुकड़े भी किये थे. उन दुःखोंका तू स्मरण कर

१-२ अनुकूल क्रिया करना, और बोलना, नम्र स्वभाव, मुख स्वभाव, लज्जा, दया, प्रसन्नता, दान, देना, इंद्रिय दमन करना, विनय, क्षमा इत्यादिक जो उत्तम गुण मनुष्योंमें होते हैं वे जंगलमें जैसे मनुष्य दुर्लभ होते हैं वैसे नारकियोंमें दुर्लभ होते हैं ३-८ इस जगत्में शत्रु, मित्र और उदामीन ऐसे तीन भेद हैं परंतु नरकमें मित्र और उदामीन ये भेद हैं ही नहीं किंतु सबही नारकी जीव आपसमें शत्रुपना ही धारण करते हैं. बाण, चक्र, नाराच, कर्णत, नख, गदा मुशल, शूल, पाश, पाषाण, पट्टिश, मूठ, लाठी, मट्टीके डेले, कील, शंकुनामक आयुध, चाणविशेष, तरवार, छुरी भाला, दंड तोसर इत्यादि अनेक आयुधोंसे नारकी जीव क्रोधमें सतप्त होकर परस्परमें लड़ा करते हैं नरक भूमीका भी ऐसा स्वभाव है कि उपर्युक्त शस्त्र स्वयं उत्पन्न होते हैं नारकी भी अपनी विक्रियासे ऐसे शस्त्र उत्पन्न करते हैं. विभंगज्ञानसे भी पूर्व वैरोका स्मरण कर वे नारकी अन्योन्य को मारते हैं, छेदते हैं भिन्न करते हैं संक्षण करते हैं दुःख देते हैं बाणोंमें जखमी करते हैं. ग्रहार करते हैं ९-१० कोई कोई दुष्ट पापी नारकी कुचा, सियाल, भेडिया, वाघ, गीध इत्यादि प्राणिओंका रूप धारण कर आपसमें लड़ते हैं. कोई २ नारकी लकड़ी, और पर्वत बनकर अन्य नारकियोंको ऊपर गिर पड़ते हैं अथवा शूलके अग्रभागपर चढ़ाये हुए नारकियोंके शरीरपर वे गिर पड़ते हैं ११ कितनेक नारकी जीव पानी होकर डूबते हैं. वायु होकर उड़ते हैं अग्नि होकर जलते हैं परंतु परस्परपर वे दया नहीं करते हैं १२-१४ अरे दास तू यहां ठहर मैं तेरेको मारुंगा, तू कहां भाग जाता है, महामोहसे तू छिपना चाहता है परंतु मैं तेरे लिये मृत्यु होकर आया हूँ वे नारकी छेदन कर, भेदन कर, पीड़ा कर, खिंचि, रोक, जलाव, बांध, चूर्णकर, ढकल, मार, घ्राणले इत्यादि अशुभ भाषण आपसमें बोलते हैं

जनेनेहशा नारकेण मापितवेत्ता बुद्धिं निरूपयति—

जं आवट्ठादो उप्पाडिदाणि अच्छीणि गिरयवासम्मि ॥

अवसस्स उक्खया जं सतुलमूलायते जिब्भा ॥ १५६४ ॥

उत्ताप्य चहुशो नेत्रे जिह्वा संछिद्य मूलतः ॥

यन्नीतो नारकैर्दुःखं दुःखदानविशारदैः ॥ १६३१ ॥

विजयोदया—जं आवट्ठदो उप्पाडिदाणि विरः पृष्टदेशदुत्पाटिते । अच्छीणि लोचने । गिरयवासे य नारक-  
वासे च । अवसस्स अवशस्य । ज यत् । सतुलमूलायते जिब्भा निगशेषा ते जिह्वा ॥

मूलारा—अवट्ठदो अवटुतः । कृत्रित्कालः । ग्रीवापश्चिमभागादिलयः । अन्यस्तु तसं तृतीयार्थं मन्यते । उक्खयावा  
जत्ताता । उत्पाटिता ॥

नारकी जीव और भी जो दुःख देते हैं आचार्य उनका वर्णन करते हैं—

अर्थ—हे क्षपक' नरकमें सस्तकके पाक्षिमभागमें तेरी ओख निहली गई थी और पराधीन हुए तेरी  
जिह्वा भी मूलभागसे नारकीओंने उखाड़ी थी इसका भी मनमें विचार कर.

कुंभीपाएसु तुम उक्कटिओ जं चिरं पि वं सोल्लं ॥

जं सुट्ठिउव्व गिरयम्मि पउल्लिदो पावकम्मोहिं ॥ १५७३ ॥

कुंभीपाके महातापे क्षथितो यत्समंततः ॥

अंगारप्रकरैः पक्तो यच्छूलप्रोतमांसवत् ॥ १६३२ ॥

विजयोदया—कुंभीपाएसु तुम कुंभीपाकेषु त्व । उक्कटिदो उत्कथित । जं सुट्ठिउव्व शूलप्रोतमांसवत् ।  
गिरयम्मि नरके । पोल्लिदो अंगारप्रकरे पक् । पावकम्मोहिं पापकर्मभिः ॥

मूलारा—कुंभीपागेषु कुम्भ्य उल्लिङ्गाः । पाकाः पचनाधिकरणानि । कुंभ्यश्चताः पाकाश्चते कुंभीपाकास्तेषु ।  
सोऽथ श्रुतमिश्रिततैलं, वज्रलेप इत्यन्यः ॥ सुट्ठिउव्व शलाकाप्रोतमांसं । पउल्लिदो अंगारप्रकारपक्कः । पावकम्मोहिं नारकैः ।  
अर्थ—क्षपक' नरकमें अनेकवार तुम कुंभीपाकमें पकाये गये थे. तथा कुट्ट नारकीओंके द्वारा शूलभांसके

समान तीव्र अग्नीर्मे शुने भी गयेथे इन बातोंका भी स्मरण करो

जं भज्जिदोसि भज्जिदंगं पि व जं गालोओसि रसं व ॥

जं कप्पिओमि वल्लूरयं व चुण्णं व चुण्णकदो ॥ १५७४ ॥

शाकवद्रुज्यमानो यत् गाल्यमानो रसेन्द्रवत् ॥

चूर्णवच्चूर्ण्यमानो यद्वल्लूरमिव कर्तितः ॥ १६३३ ॥

विजयोदया—ज भज्जिदोसि यद्दृष्टो भज्जिदपि भज्जिदगनामधेयशाकवत् । ज गालिओसि रसगोच्य यद्गालितोऽसि रसवत् । ज कप्पिदोसि यद्वर्तित । जं छिन्नो सि यत् छिन्न । वल्लूरयं पि व वल्लूरवत् । चुण्णवत् चुण्णकदो चूर्णीकृत ॥

मूलारा—भज्जिदो दृष्टः । भज्जिदंगं पि व भज्जिदगनामधेयगारुवत् ॥ पचनीयमित्यन्यः ॥ रसयं व गुड-रस इव । कप्पिदो अवयवेषु छिन्नः । वल्लूरियं व मासखण्डमिव । वल्लूरं पि घेति पाठे शुष्कमासमित्यर्थः । चुण्णि-कदो चूर्णीकृतः ।

अर्थ—हे क्षपक! तुम नरकमें भज्जिद नामक माग के समान अग्नीपर पकाये गये थे तथा गुड के रस के समान तुम गाले गये थे. शुष्क मांसके समान तुम्हारे टुकड़े २ किये गये थे और चूर्णके समान चूर्ण किया गया था.

चक्केहिं करकचेहिं य जं सि णिकत्तो विकत्तिओ जं च ॥

परस्सहिं फाडिओ ताडिओ य जं तं मुसंडीहिं ॥ १५७५ ॥

दारित. क्रकचैदिछन्नः खड्गैर्विद्धः शराविभिः ॥

यत्पादितः परश्वाद्येस्ताडितो मुद्गरादिभिः ॥ १६३४ ॥

विजयोदया—चक्केहिं करकचेहिं चक्के करकचैश्च । ज सि णिकत्तो यदसि निहत्स । विकत्तिदो वित्तिपं कृतं । परस्सहिं फालिदो परशुभिः पाटित । ताडिदो ताडित । ज यत् त्व मुसंडीहिं शुषुडीभिः ॥

मूलारा—गिकत्तो नियतं छिन्नश्चकैः । विरुत्तिदो विविधं खंडितः क्रकवैः । परसुहिं परशुभिः । फालिदो फाटितः । व त्वम् ॥

अर्थ—चक्रसे हे क्षणक' तेरा छेदन किया गया था और करोतसे अनेक प्रकारसे तू चीरा गया था. कुन्हा-डीसे तू फाहा गया था. तथा भृशुही नामक शस्त्रके द्वारा अर्थात् मुद्रोंसे तू पीटा गया था.

पासेहिं जं च गाढं बद्धो भिण्णो य जं सि दुघणेहिं ॥

जं खारकहमे खुप्पिओ सि ओमच्छिओ अवसो ॥ १५७६ ॥

पाशैर्वद्धोऽभितो भिन्नो दुघणैरवशो घनैः ॥

दुर्गमेऽघोमुखीभूतो यत्क्षिप्तः क्षारकर्दमे ॥ १६३५ ॥

विजयोदया—पासेहिं पाशैः । ज यत् । गाढं बद्धो बद्ध वद्ध । भिण्णो य भिन्नश्च । ज सि यदसि । दुघणेहिं घनैः । जं यत् । खारकहमे क्षारकर्दमे । खुप्पिदोसि निपातोऽसि । ओमच्छिओसि अघोमस्तक । अवसो परवशः ॥

मूलारा—दुघणेहिं लोहकारघनैः । खारकहमे क्षारपके । खुप्पिदो निखातः । ओमच्छिओ अघोमस्तकः ॥

अर्थ—पाशसे नारकियोंन तेरेको दृढ बांधा था और तेरे मस्तक पर घनके प्रहार किये थे. परवश होनेसे क्षारके कीचढमें नहिं मस्तक और ऊपर पाय करके तुमको गाढ भी दिया था

जं छोडिओसि जं मोडिओसि जं फाडिओसि मलिदोसि ॥

जं लोडिदोसि सिंघाडएसु तिवखेसु वेणुण ॥ १५७७ ॥

यदापन्नः परायत्तो नारकैः क्रूरकर्मभिः ॥

लोहदंष्ट्राटके तीक्ष्णे लोड्यमानोऽतिवेगतः ॥ १६३६ ॥

विजयोदया—यद्गुण, पातितः, मर्दित, लोटितश्च तीक्ष्णेषु शृगाटकेषु वेगेन ॥

मूलारा—छोडिदो निखलीकृतः । आकृष्ट इत्यन्य. । मोडिदो नमयित्वा भग्नः । फाडिदो पातितः । मलिदो मर्दित पातैः । लोडिदो लोटितः । सिंघाडएहिं शृङ्गाटकेषु त्रिकोणकर्करेषु लोहमयत्रिकोणकंटकेष्वित्यन्यः ।



अर्थ—नारकिओने तेरा जमीनपर पटककर मर्दन किया था, तीन अग्र जिनके हैं ऐसे लोहके कंटकाँपर तू बड़े वेगसे घसीटा गया था तथा नमाकर उन्होने तुझको मोढा था।

विच्छिन्नगोवंगो खारं सिच्चित्तु वीजिदो जं सि ॥

सत्तीहिं विमुक्कीहिं य अदयाए खुंचिओ जं सि ॥ १५७८ ॥

तब्दवा लोकेऽखिल गात्र क्षुरप्रैर्निशितैश्चिरम् ॥

वीजित-क्षारपानीयं-सिक्त्वा सिक्त्वा निरंतरम् ॥ १६३७ ॥

विजयोदया—विच्छिन्नगोवंगो विच्छिन्नगोपाग-। गारं सिच्चित्तु क्षार सिक्त्वा-। वीजिदो जं सि यद्वीजित-। सत्तीहिं शक्तिभि-। विमुक्कीहिं य अयोमयकटकाप्रैर्दंडे । अदयाए दयामतेण । सुचिदो परावर्तित-॥

मूलारा—विच्छिन्नगोवंगो विविध संहितानि हस्तादीन्यगुल्यादीनि च यस्य । सार क्षारेण । सिच्चित्तु सिक्त्वा । सुतिक्रमेहिं अतिनिशाताभि-। श्रीविजयाचार्यस्तु विमुक्कीहिं इति पठित्वा अयोमयकटकाप्रैर्दंडैरित्यर्थमकथयत् । खुचिदो भिण्णः । परावर्तित इत्यन्य-॥

अर्थ—तुमारे भिन्न भिन्न अवयवोंपर क्षार चूर्ण का जल सींचकर नारकी उसके ऊपर हवा कर देते थे- तदनतर शक्ति नामक शस्त्रसे और लोहके कांटे जिनको लगे हैं ऐसी लाठियोंसे निर्दय होकर सींचकर लोटते थे-

पगलतरुधिरधारो पलंबचम्मो पभिन्नपोट्टसिरो ॥

पउलिट्टिट्टिदओ जं फुडिट्ठो पडिचूरियंगो य ॥ १५७९ ॥

शक्तिभिः सूचिभि नवद्वैर्घटिच्छन्नाखिलविग्रहः ॥

विगलद्रक्तधाराभि-कर्ममीकृतभूतलः॥ १६३८ ॥

विजयोदया—पगलतरुधिरधारो प्रगलट्टधिरधार । पलंबचम्मो प्रलंबचम् । पभिन्नपोट्टसिरो प्रभिन्नोदर शिराः । पउलिट्टिट्टिदओ प्रतप्तहृदय । जं यत् । फुडिट्ठो स्फुटितलोचन । पडिचूरिदो य परिचूर्णितग ॥ मूलारा—पोट्ट चक्र । पउलिट्टिट्टिदओ प्रतप्तचित्तः । फुडिट्ठो स्फोटितेनेत्र ॥

अर्थ—जिसके शरीरमेंसे रक्तकी धारा बह रही है, शरीरका चमड़ा नीचे लटक रहा है, जिसका पेट और मस्तक फूट गया है, जिसका हृदय तप्त हुआ है, आँखें फूट गई हैं, तथा सब शरीर चूर्ण हुआ है ऐसा तू नरकमें अनेक बार दुःख भोगता था उसका चिंतन कर

जं चडयडंतकरचरणगो पत्तो सि वेदणं तिब्ब ॥  
 गिरए अणंतखुत्तो ते अणुचित्तिहि गिस्सेसं ॥ १५८० ॥  
 यत्स्फुटहोचनो दग्धो ज्वलिते वज्रपावके ॥  
 यच्छिन्नहस्तपादादिछिद्यमानास्थिसंचयः ॥ १६३९ ॥  
 शोषणे पेपणे कर्षणे धर्षणे लोटने मोटने कुटने पाटने ॥  
 त्रासने ताडने मर्दने चूर्णने छेदने भेदने तोवने यच्छिन्नं ॥ १६४० ॥  
 दुःकृतकर्मविपाकवशोत्थं कालमपारमनंतमसह्यम् ॥  
 सोढमिदं हृदये कुरु सर्वं कातरतां विजहीहि सुबुद्धे ! ॥ १६४१ ॥  
 इति श्वभ्रगतिः ॥

विजयोदया—ज यत् । चडयडंतकरचरणगो वेपमानकरचरणम् । पत्तो सि वेदणं तिब्बं । प्राप्तोऽसि वेदना तीव्रा । गिरए नरके । अणंतवार अनंतवार तत् अणुचित्तिहि अनुक्रमेण चित्तय । गिस्सेसं निरवशेष ॥ नरकगतिदुःख वर्णितम् ॥

मूलरा—चडयडंत प्रकंपमानं । अणुचित्तिहि अनुक्रमेण चित्तय त्व ॥ इति नरकगतिदुःखानुचितनं ॥  
 अर्थ—हे क्षपक! नरकमें जिसके हाथ पाय वेदनासे कंप रहे हैं ऐसे छूने अनंत बार जो दुःख भोगा है उसका अनुक्रमसे पूर्वस्मरण कर नरक गतिके दुःखका वर्णन समाप्त हुआ

तिरियगदिं अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं ॥  
 जम्ममनरणरहटं अणंतखुत्तो परिगदो जं ॥ १५८१ ॥

जन्ममृत्युजराकीर्णां घोरां तिर्यग्गतं गतः ॥

किं तीव्रां बहुशो लब्धां स्मरसि त्वं न वेदनाम् ॥ १६४२ ॥

पंचधा स्थावरा जीवा विमुह्यन्तचेतनाः ॥

लभन्ते यानि दुःखानि कः शक्तस्तानि भाषितुम् ॥ १६४३ ॥

विजयोदया—तिरियगर्दि अणुपत्तो तिर्यग्गतमनुयास । भीममहावेदनाउलमपारं । भीममहावेदनाकुलमपारं जन्ममरणरहद्द जन्ममरणघटीयत्रं । अणतद्युत्तो अनतवारं । परिगदो परिप्राप्तोऽसि । यत् क्षितेहि तं इति वक्ष्यमाणेन संबध. । निर्धेचो हि नानाविधा पृथिव्येजोवायुवनस्पतिवसभेदेन ॥

आत्मानुभूतान्यपि न स्मरन्ति दुःखानि केचिद्धि नरा' प्रमत्ता' ॥

दृष्टुतान्यन्यसमुद्रवानि ते विस्मरन्तीति न विस्मयोऽत्र ॥ १ ॥

प्रमादलोपर्यमतो नरेभ्यो ज्ञातोऽपि सोऽर्थं परिकथ्य एव ॥

सस्मर्यमाणे प्रभवति यस्मिन्पुणा न दोषाश्च समुद्रवति ॥ २ ॥

शीते निवात सलिलादि चोष्णे क्षेमं भवे संश्रयितु समर्थो ॥

ये जगमास्ते न तु सास्ति शक्तिरैर्केद्रियाणा वत जीवकानां ॥ ३ ॥

सर्वोपसर्गनिह मोक्षकामा यथा विरागा मुनय संहते ॥

सर्वोपसर्गानवशा वराका एकैद्रिया ये च सदा सहते ॥ ४ ॥

जात्यधमूका वधिराश्च वाला रथ्यास्तु रक्षाशरणप्रहीणाः ॥

प्रमर्द्यमाना गजवाजियानैर्यथा श्रियते विवशा वराका ॥ ५ ॥

तथा प्रकारो विकलैर्द्रियाणा प्रवर्तते नारकदुःखतुल्य ॥

मृत्यु समंतात् सततं सुघोरो ग्रोमेव्वरण्येषु च नि शरण्याः ॥ ६ ॥

गोऽजाविकायै परिसम्यमाना यानादिक्रै परिपिष्यमाणा' ॥

अन्योन्यवक्त्रैः परिमृष्यमाणाः दुःखं च मृत्युं च हि ते लभते ॥ ७ ॥

छिन्नैः शिरोभिश्चरणैश्च भस्मै रुजाद्वैतश्चावयवैस्तनूना ॥

चिर स्फुरत प्रतिकारहीना कृच्छ्रेण केचिज्जहति स्वमायु ॥ ८ ॥

निमज्ज्यमाना उदार्धिदुनापि निश्वासवातैरपि चोद्यमाना ॥

प्रचोद्यमाना लघुनोष्पणापि नश्यति ये तेषु भवेत्कथा का ॥ ९ ॥

सर प्रविश्येह यथा नरः सन्नुन्मज्जनं चैव निमज्जनं च ॥

क्रीडाप्रसक्तो बहुशोऽपि कुर्यादनन्यकार्यं स्ववशो वयस्यः ॥ १० ॥

के वश हो जाते हैं जिनको पशुगतिके संबन्ध का ज्ञान हुआ है ऐसे मनुष्योंको छोड़कर अन्य कोई भी व्यक्ति उनका रक्षण करनेका प्रयत्न नहीं करती है।

१७ कोई पंचेंद्रिय पशु आपसमें लड़ भिड़कर दुःखी होते हैं कितनोंको तो मनुष्य दुःख देते हैं कितने पशु पापोदयसे और क्षुधा तृपादिकसे पीडित होकर दुःखी होते हैं नानाप्रकारके भय उनके उत्पन्न होते हैं उनके दुःखोंको उपमा ही नहीं है ?

१८ कोई तिर्यच प्राणी इतने निर्दय होते हैं कि वे अपने बच्चोंको भी खाते हैं। तो वे अन्य प्राणिओंको खाते होंगे इसमें आश्चर्यावह क्या है

१९ ये पशु आपसको मारनेके लिए टूट पड़ते हैं, कोई निर्दय प्राणी, उन दोनों को मारनेके लिए दौड़ता है, कोई अकस्मात् आकर उनको मार देता है

२० ये सब पशु अन्योन्यको मारनेका योग्य मोका देखते रहते हैं और अन्योन्यको खाकर जीने की अभिलाषा करते हैं अन्य प्राणी मेरेको मारेंगे ऐसा भय सभीके मनमें होनेसे उनको निद्रा आती नहीं इस विवेचनसे आपको मालूम होगा कि क्या ये प्राणी सुखी हैं ?

२१ वनमें हरिण पानी पीकर और वृण मक्षणकर पुष्ट होते हैं और हरिणीओंके साथ रहकर सानद दिन बिताते हैं ये किसीका कुछ डकसान तो करते ही नहीं परंतु व्याघ्राधिक दुष्ट मनुष्यसे इनको हमेशा भय उत्पन्न होता है इसमें पूर्वकृत पापकर्म ही कारण हैं।

२२ हरिण अपने बालक और हरिणीसे विभुक्त होते हैं, और हरिणी भी अपने बालक और अपने इष्ट हरिणोंसे विभुक्त होकर दीननेत्रोंसे चारो दिशाओंको देखती हैं, इस रीतीसे दुःखित होकर भयकर मृत्युके गालमें पोहोचते हैं।

२३ कितनेक मनुष्य स्वभावतः पापी होते हैं कुकवी शिकार वगैरहका महत्त्व वताकर और दुष्ट शास्त्रोंका प्रमाण दिखाकर पशुओंको मारनेमें मद्यत्न करते हैं तब वे भी दुर्गतिसे भयरहित होकर प्राणिओंको यथेष्ट मारते हैं और उनको खाते हैं

२४ हरिणादिक पशुओंको वनमें हिंस्र पशुओंसे भय रहता है और ग्राममें भी वे आवे तो दुष्ट लोकोसे

जन्ममृत्युजराकीर्णां घोरां तिर्यग्गतिं गतः ॥  
किं तीर्त्वां बहुशो लब्धां सरसि त्वं न वेदनाम् ॥ १६४२ ॥  
पंचधा स्थावरा जीवा विमुढीभूतचेतनाः ॥

लभंते यानि दुःखानि कः शक्तस्तानि भाषितुम् ॥ १६४३ ॥

विजयोद्या—तिर्यग्गतिं अणुपत्तो तिर्यग्गतिमनुप्राप्त । भीममहावेदनाउलमपारं । भीममहावेदनाकुलमपारं जन्ममरणरहद्द जन्ममरणघटीयत्र । अणतरुत्तो अनतवार । परिगदो परिप्राप्तोऽसि । यत् चित्तेहि त इति वक्ष्यमाणेन सवद्य । तिर्य्योचो हि नानाविधा पृथिव्यसेजोवायुवनस्पतिव्रसमेदेन ॥

आत्मभुभूतान्यपि न स्मरति दुःखानि केचिद्धि नराः प्रमत्ताः ॥  
दृष्टश्रुतान्यसमुद्रवानि ते विस्मरंतीति न विस्मयोऽत्र ॥ १ ॥  
प्रमादलोपोथमतो नरेश्यो ब्रूतोऽपि सोऽर्थः परिकथ्य एव ॥  
सस्मर्यमाणे प्रभवति यस्मिन्पुणा न दोषाश्च समुद्रवति ॥ २ ॥  
शीते निवात सलिलावि चोष्णे क्षेम भवे सश्रयितु समर्थः ॥  
ये जंगमास्ते न तु सास्ति शक्तिरेकैद्वियाणां यत जीवकानां ॥ ३ ॥  
सर्वोपसर्गानिह मोक्षकामा यथा विरागा मुनय संहते ॥  
सर्वोपसर्गानवशा वराका एकैद्रिया ये च सदा संहते ॥ ४ ॥  
जात्यधमूका नचिराश्च वाला रथ्यास्तु रक्षाशरणप्रहीणाः ॥  
प्रमर्त्यमाना गजवाजियानैर्यथा श्रियते विवशा वराका ॥ ५ ॥  
तथा प्रकारो विकलैद्रियाणा प्रवर्तते नारकदुःपतुल्यः ॥  
मृत्युः समतात् सतत सुधोरो आभेष्वरण्येषु च नि शरण्याः ॥ ६ ॥  
गोऽजाविकायैः परिमर्द्यमाना यानादिचक्रे परिपिप्ल्यमाणाः ॥  
अन्योन्यवर्षे परिमृत्यमाणाः दुःग च मृत्युं च हि ते लभते ॥ ७ ॥  
छिन्ने शिरोभिश्चरणैश्च भग्ने रुजादितैश्चावयवैस्तनूना ॥  
चिर स्फुरतः प्रतिकारहीना कृच्छ्रेण केचिज्जहति स्वमायुः ॥ ८ ॥  
निमज्ज्यमाना उद्विगुनापि निश्वासावतैरपि चोद्यमानाः ॥  
प्रचोद्यमाना लघुनोष्मणापि नश्यति ये तेषु भवेत्कथा का ॥ ९ ॥  
सरः प्रविश्येह यथा नरः सन्नुन्मज्जनं चैव निमज्जन च ॥  
क्रीडाप्रसक्तो बहुशोऽपि कुयोदनन्यकार्यं स्ववशो वयस्यः ॥ १० ॥

प्रविश्य जन्मोदधिमाथ्यमेव शरीरिणस्ते बहु जन्ममृत्यून् ॥  
 अन्तर्मुहूर्तैऽपि समानुवृन्ति पेयीयमाना कटुदुःखतोयम् ॥ ११ ॥  
 सुखं शरीरैरपि ते महाति दुःखानि नित्य सममानुवृन्ति ॥  
 स्थूलेषु देहेषु समीहितेषु दुःखोदयो देहिगणैश्च दृष्ट ॥ १२ ॥  
 येषो न माता न पिता न यशुर्न चापि मित्र न गुरुर्न नाथः ॥  
 न भेषजं नाभिजनो न भक्ष्य न ज्ञानमस्त्येव कुत सुख स्यात् ॥ १३ ॥  
 मात्रा वियोगेऽपि सतीह तावत् दुःखान्यु तर्ह्यु न जनो लभेत ॥  
 मात्रा वियोगस्तु भवेन्न येया स्थान कथ ते न हि दुःखराशे ॥ १४ ॥  
 मात्रा वियोगस्तु भवेन्न येया स्थान कथ ते न हि दुःखराशे ॥ १५ ॥  
 मा भैष्ट मा भूत्तव दुःखजालं मा विष्ट मा वेति वराककाणां ॥  
 आश्वासको वाप्यनुकपिता वा तेषा जन कोऽस्ति यथा नराणां ॥  
 तैस्तैः प्रकटैः सततं समताच्छब्दधाना अपि मृत्युमुग्र ॥ १६ ॥  
 करोति वा को ग्रहण निरीक्ष्य विमुच्य सेवधविदो मनुष्यान् ॥ १७ ॥  
 अन्योन्यतो मर्त्यजनाश्च पापात् क्षुधादितश्चापि महाभयानि ॥  
 पंचद्विया यानि समानुवृन्ति दुःखानि तेषामिह कोपमा स्यात् ॥ १८ ॥  
 स्तनंधयान्स्नानपि भक्षयति शितास्तिरस्त्वोऽपि न निष्कृपाकाः ॥  
 निहत्य खादत्सु परान्तरेषु तिर्यक्षु किं विस्मयनीयमस्ति ॥ १९ ॥  
 अन्योन्यघातायमनुप्रयाति हंतु तमन्य रूपणोऽनुयाति ॥  
 तं कश्चिदन्यः सहसा निहता ह्री धिक्कृतो भीमतरं किमन्यत् ॥  
 अन्योन्यरभ्रेक्षणनष्टनिद्रा अन्योन्यमाहृत्य जिजीविषन्तः ॥  
 स्वस्था न येऽन्योन्यभावात्सपति किं ते भवेयुः सुखिनः कदाचित् २० ॥  
 वने मृगास्तोयतणप्रफुट्टा मृगीसङ्घाया रतिमानुवृन्ति ॥  
 व्याधाविभिर्भयद्रयमानुवृन्ति निरतसः कारणमत्र कर्म ॥ २१ ॥  
 वियोजिता आत्मसुतैश्च बालैर्मृगयो मृगैश्चत्ममनोऽनुकूले ॥  
 विशास्तु दीनाक्षिभिरिष्यमाणाः सुदाहणं भारणमानुवृन्ति ॥ २२ ॥  
 स्वभावपापा कुक्कवीरिताभि प्रोत्साहिता दुःश्रुतिभि पुनश्च ॥  
 आविश्यतो दुर्गतितो येषां म्रन्तोऽभ्यर्द्वत्तश्च हिताग्रमन्ते ॥ २३ ॥  
 वने मृगेभ्यः पिशिताशनेभ्यो ग्रामेषु नृस्यश्च तथाविधेभ्यः ॥  
 ते विभ्र्यते न क्वचिदाश्वंसतो यदृच्छया विश्रति जीवितानि २४ ॥

ययंकुशादिप्रद्वतैर्गजाश्च कशादिघातैश्च हया हताशाः  
गावश्च तोत्रादिघैः परेषां कुर्वन्ति कर्मभरणदकामा. २५  
मत्या युतानामलमेतदेव विरागभावप्रभवे निमित्तम्  
तादृग्विधानां बहवो हि क्रोध्य कथं प्रकुर्वन्त्यमितेतरस्य २६  
दंदह्यमानाश्च दवाग्निवेगैर्महाजलौघैश्च समूह्यमानाः  
मृगा खगाः सर्पसरीसृपाश्च सार्धं म्रियन्ते बहवो वतान्ये २७

इदानीं तिर्यग्गतिदुःखानुचितने गाथासप्तकेन क्षपकं व्यापारयति—

मूलारा—अणुपत्तो नरकगतः पश्चात्प्राप्तः । अपार अतीर चिरानुबधित्वात् । रहटं घटीयंत्रं । परिगदो ज ।  
प्राप्तो यद्दुःख । चितेहि तं सव्वमिति वक्ष्यमाणेन संबंधः ।

अर्थ—भयंकर वेदनाओंसे व्याकुल, पाररहित ऐसे तिर्यचगतीको प्राप्त हुआ तू अनंतवार जन्ममरणरूप घटीयंत्र को प्राप्त हुआ था. उसका भी तू विचार कर, स्मरण कर. तिर्यचोके घृथिवी, वायु, जल, अग्नि, वनस्पति और त्रस ऐसे अनेक भेद हैं

१-२ कितनेक उन्मत्त मनुष्य पूर्वानुभूत दुःख भी यदि भूल जाते हैं तो देखे हुए सुने हुए अन्य लोगोंके दुःख वे भूल जाते हैं इसमें क्या आश्चर्य है. अपना प्रमाद नष्ट होनेके लिये मनुष्योंको स्वयं के ज्ञात हुए भी अपराध कहनेही चाहिये. अपने दोषोंका स्मरण रखना और दूसरोंको कहना गुणोत्पत्तिके लिये कारण होता है दोषस्मरण करनेसे और कहनेसे गुणोंकी वृद्धि होती है.

३ मनुष्य ठंडीसे बाधा होनेपर निर्वातस्थलका आश्रय करते हैं. उष्णतासे पीडित होने पर ठंडा जल पीते हैं भय उत्पन्न होनेपर निर्भय स्थानका आश्रय लेते हैं क्षीन्द्रियादि जीव भी उपर्युक्त बाधाओंसे अपना रक्षण करनेमें समर्थ हैं. परंतु एकेन्द्रिय जीवोंमें वह सामर्थ्य नहीं है

४ जैसे वैराग्ययुक्त मोक्षच्छु मुनिगण सर्वप्रकारके उपसर्ग सहते हैं वैसे वृक्षादिक एकेन्द्रिय जीव पराधीन और दीन होनेसे हमेशा सर्व प्रकारके उपसर्ग सह लेते हैं.

५-९ जैसे जन्मांध, गूंगे, बहिरे लोक और बालक उनका कोई रक्षक न होनेसे दीन और परतत्र होकर हाथी घोड़े, यान वाहनादिकसे मर्दित होते हुए मरते हैं वैसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव भी उपर्युक्त प्रकारसे

मरते हैं उनको नारिकोंके तुल्य दुःख भोगना पड़ता है ये जीव गांवमें अथवा अरण्यमें भी रहे परतु सर्वत्र भयंकर मृत्यु हाथ धोकर उनके पीछे दौड़ता ही है गाय, बकरा, भेड़ा, वगैरे प्राणिओंके हाथ पाओंसे वे छुचले जाते हैं रथादिकोंके पहियोंसे उनका नाश होता है वे स्वयंभी अपनेदेहसे अन्यान्यको पीड़ा देकर मरते हैं कितनेक जीवोंके मस्तक चूटते हैं, पाव टूट जाते हैं तथा शरीर के मव अवयव रोगसे पीडित हो जाते हैं तब अधिक दुःखी होकर महाकष्टसे प्राण त्याग करते हैं द्वीद्वियादिक कोई जंतु इतने छोटे होते हैं कि वे एक पानीके बुदमें भी डुब जाते हैं- निश्वासकी हवासे भी उड जाते हैं थोड़ीसी उष्णतासे भी उनको दुःख होता है ऐसे प्राणिओंको यदि उपर्युक्त दुःखोंकी प्राप्ति होगी तो कहना ही क्या ?

१०-११ क्रीडामें चतुर, तरुण, ऐसा कोई मनुष्य जैसे सरोवरमें प्रवेश करके वारंवार उन्मज्जन निमज्जन करता है अनेक प्रकारसे क्रीडा करता है. स्वाधीन होकर और अन्य कार्योंको छोड़कर जलक्रीडामें ही तत्पर होता है वैसे सर्व प्राणी भी जन्मसमुद्रके मध्यमें प्रवेश कर एक अन्तर्मुहूर्तमें भी अनेक जन्मसमुद्रके मध्यमें प्रवेशकर एक अन्तर्मुहूर्तमें भी अनेक जन्म मरणोंको प्राप्त करते हैं. इस संसारसमुद्रमें उनको दुःखरूपी कड़वा पानी वारंवार पीना पड़ता है.

१२ उनके सुक्ष्म शरीर होनेपर भी उनको हमेशा तीव्र दुःख भोगने पड़ते हैं. जब उनको स्थूल शरीर प्राप्त होता है तब उनके दुःखादिक इतर स्थूलत्रस प्राणिओंके समान ही देखे जाते हैं

१३ इन द्वीन्द्रियादिक प्राणिओंको माता, पिता, वधु, गुरु, स्वामी, मित्र, कोई भी हितकर्ता नहीं रहते हैं. बीमार होनेपर न इनके कोई संवधी भी है जो कि उनको अन्न खानेको देंगे इन जीवोंको ज्ञान भी नहीं रहता है तो सुखकी प्राप्ति इनको कैसी हो सकेगी

१४-१५ माता का वियोग होनेपर भी दुःखरूपी समुद्र मनुष्य तीर नहीं सकता तो जिनको माता ही नहीं है वे अत्यंत दुःखके स्थान क्यों नहीं वनेंगे. अरे तू भीति छोड़ दे, तेरेको कुछ दुःख नहीं होगा ऐसा आश्वासन मनुष्योंको मिलता है. इस प्रकार इन दीन प्राणिओंको कोई भी आश्वासन देनेवाला नजर नहीं आता है, और उनके उपर कोई दया भी करनेवाला दीखता नहीं

१६ उपर्युक्त प्रकारोंसे वे पशु चारों तरफमें उग्र मृत्युको धारण करते हैं. अर्थात् वे अनेक प्रकारसे मरण





उनको भय उत्पन्न होता है अतः उनको कहाँ भी निर्भयता का अनुभव आता ही नहीं, विचारे किसी प्रकारसे अपने दिन व्यतीत करते हैं.

२५ हाथी वगैरह प्राणिओंको अकुशादिकके आघातोंसे दुःख भोगना पड़ता है छड़ी वगैरहका आघात घोड़े सहन करते हैं बैल भैंस वगैरह पशु चाबुक वगैरहका प्रहार सहन करते हैं, और आमरण मनुष्योंके वश होकर उनको कार्य करने पड़ते हैं.

२६ जो मनुष्य बुद्धिमान है वे इन दुःखों का विचार कर विरक्त होते हैं ऐसे मनुष्य इतर प्राणिओंको दुःख देनेका कार्य नहीं कर सकते हैं

२७ बहुतसे प्राणी द्वाभिके वश होकर मरते हैं, कोई जलप्रवाहमें बहते बहते इहलोककी यात्रा पूर्ण करते हैं, कोई हरिण, पक्षी, सर्प, और तज्जातीय बहुत प्राणी इसी प्रकार मृत्युवश होते हैं.

ताडणतामण्वंधणवाहणलछणविहेडणं दमणं ॥

कणच्छेदणामासिवेहणणिछ्छणं चेव ॥ १५८२ ॥

सदा परवशीभूताश्चतुर्धा त्रसकायिकाः ॥

दुःखं बहुविधं दीना लभन्ते चिरमुत्थणम् ॥ १६४४ ॥

ताडने वाहने बंधने त्रासेने नासिकातोदने कर्णयोः कर्तने ॥

लांछने दाहने दोहने हंडने पीडने मर्दने हिंसने शतने ॥ १६४५ ॥

विजयोदया—ताडणतासण ताडनत्रासनयधनलालनवाहनविहेडनकणच्छेदनसिमावेधनवीजविनाशनानि ॥

मूलारा—ताडण यष्ट्यादिभिराघातः । तासण त्रासन भयापादन । बंधण इष्टगाविनिरोधाय रज्ज्वादिभिर्यंत्रणं । वाहण भाराकृत्या देशांतरनयन । लंछण शंखपद्माद्याकारेण दाहं । विहेडण कदर्थन । दमणं कर्मप्रयोगाय हठाच्छिद्वस्त्राग्रहणं । दडनं वा । णिछ्छणं वृषणनिष्कर्षणम् ।

अर्थ—लाठी वगैरहसे पीटना, भय दिखाना, दोरी वगैरहसे बांधना, बोझा लादकर देशांतरमें ले जाना,

शखपद्मादिक आकारसे उनके अवयवपर दाह करना, तकलीफ देना, कान नाक छेदना, अंडका नाश करना इत्यादिक दुःख तिर्यगतिमें भोगने पड़ते हैं

छेदणभेदणडहण णिगीलणं गालणं छुहातण्हा ॥

भक्खणमदणमलणं विकत्तण सीदउण्ह च ॥ १५८३ ॥

सलिलमारुतशीतमहातपभ्रमणभक्षणपाननिरोधनैः ॥

दमनतोदनगालनभंजनं जलवियोजनभोजनवर्जने ॥ १६४६ ॥

विजयोदया—छेदनभेदनदहननिपीडनगालनानि क्षुत्तृड्वाधामक्षणमर्दनमलनचिर्तनानि । शीतमुष्णं च ॥

मूलारा—डहण अभिघातादिना शूनाना दाहः । णिप्पीलण नाडीत्रणपीडनं । गालणं रोगादौ रक्तनिःसारण । मलणं कणिकावन्मलनं । विकत्तण कर्णादीना विविध कर्तने ।

अर्थ—अवयवोंका छेदन, भेदन करना, कुछ अवयवोंपर खून चढ़नेपर उसको जलाना, नाडीमें त्रण होनेपर उसका मर्दन करना, रक्त निकालना, कणिकाके समान मर्दन करना, भ्रूक और प्याससे दुःख होना, कान नाक वगैरह अवयवोंको अनेक प्रकारसे कतरना इत्यादि तिर्यच गतिमें दुःख हैं

जं अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणुहिओ पडिओ ॥

बहुएहि मदो दिवसेहि चडण्डंतो अणाहो तं ॥ १५८४ ॥

अत्राण-पतितः क्षोण्यां निःप्रतीकारविग्रहः ॥

दुःसहं वेदनां सोढ्वा बहुभिर्वासरैर्मृतः ॥ १६४७ ॥

विजयोदया—ज अत्ताणो यद्वान्णो णिपडियम्मो निष्प्रतीकार । बहुवेदणुहिओ बहुवेदनादित । पडिओ पतित । बहुएहि मदो दिवसेहि बहुभिर्मृतो दिवसे । चडण्डंतो स्फुरदेहः । अणाहो अनाथः । त त्व ॥

मूलारा—अत्ताणो क्लेशरणः । णिप्पडियम्मो निष्प्रतीकारः । वेदणुहिओ वेदनादितः । चडयडंतो स्फुरदेहः । अणाहो अनाथः । त त्वम् ॥

अर्थ—इस पशुगतिमें, अरक्षित, उपायरहित, बहुतीव्र वेदनाओंसे दुखित, होकर हे क्षपक! तू जमीनपर अनेक बार पड़ा था तथा बहुत दिनतक अपने सर्व अवयव वेदनासे हिलाता हुआ अनाथ ऐसे तूने प्राण छोड़े थे उसका तू स्मरण कर.

रोगा विविहा बाधाओ तह य णिच्चं भयं च सच्चत्तो ॥

तिव्वाओ वेदणाओ धाडणपादाभिघादाओ ॥ १५८५ ॥

क्षुत्तृष्णाव्याधिसंहारविह्वलीभूतमानसः ॥

यद्दुःखं बहुशः प्राप्तस्तत्सर्वं हृदये कुरु ॥ १६४८ ॥

विजयोदया—रोगा विविहा व्याधयो नानाप्रकारा । बाधाओ बाधाश्च । तथा णिच्चं भयं च सच्चत्तो नित्यं भयं च सर्वत । तिव्वाओ वेदणाओ तीव्रा वेदना घाटनपादाभिघाताश्च ॥

मूलारा—सच्चत्तो सर्वतः । वेदणाओ विडिक्का श्लाघ्यः ॥ घाटणं घाटणं । पादाभिघादा चरणेत ताडनं । घादाभिघादा इति पाठे अभिघातः पीडामात्रं ।

अर्थ—इस पशुगतिमें नाना प्रकारके रोग, अनेक तरहकी वेदनाएँ, तथा नित्य चारो तरफसे भय भी प्राप्त होता है अनेक-प्रकारके पावसे रगड़ना, ठोकना इत्यादि दुःखों की प्राप्ति पशु गतिमें तुझको प्राप्त हुई थी.

सुविहिय अदीदकाले अणंतकायं तुमे अदिगदेण ॥

जम्मणमरणमणंतं अणंतखुत्ता समणुभूदं ॥ १५८६ ॥

विजयोदया—सुविहिद सुचारित्र । अदीदकाले अतीतकाले । अणतकायं तुमे अदिगदेण अनतकायं त्वया प्रविष्टेन । जम्मणमरणमणंतं जन्ममरण चानंत । अणतपुत्तो अनतवार क्षिप्त । सम्यगनुभूत ॥ मूलारा—अणतकायं साधारणशरीरं । तुमे त्वया । अदिगदेण प्रविष्टेन ।

अर्थ—हे उत्तम चारित्रिक धारक क्षपक ! अतीतकालमें अर्थात् बीते हुए कालमें अनंत शरीरोंको धारण करके अनंत जन्ममरणोंका अनंतबार अनुभव लिया है

इन्वेवमादिदुःखं अणंतखुत्तो तिरिक्खजोणीए ॥

जं पत्तोसि अदीदे काले चिंतेहि तं मब्बं ॥ १५८७ ॥

तिर्यग्गतिं तीव्रविचित्रवेदनां गतो जराजन्मविपर्ययाकुलम् ॥

दुःखासिकां यां गतवाननारत विंचितयेस्तामपहाय दीनताम् ॥ १६४९ ॥

इति तिर्यग्गतिः ।

विजयोदया—इवेवमादिदुःख इत्येवमादिदुःखं । अणंतखुत्तो अनंतवार । तिरिक्खजोणीए तिर्यग्योनौ । जं यत् । पत्तोऽसि प्राप्तोऽसि । अदीदकाले अतीतकाले । चिंतेहि त सब्ब तत्सर्व चिंतय ॥ तिरियगदी ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥ तिर्यग्गतिदुःखानुचितनम् ॥

अर्थ—इस प्रकार तिर्यग्गतिमें अनंतवार जो दुःख तुझको भोगना पड़ा था उस सर्व दुःखका हे क्षपक' तू वारंवार मनमें विचार कर इस प्रकार तिर्यग्गतिका दुःखवर्णन पूर्ण हुआ

देवत्तमाणुसत्तो जं ते जाएण सकयकम्मवसा ॥

दुक्खाणि किलेसा वि य अणंतखुत्तो समणभूदं ॥ १५८८ ॥

मानुषीं गतिमापय यानि दुःखान्यनेकशः ॥

त्वमवाप्तश्चिरं कालं तानि स्मर महानते ! ॥ १६५० ॥

विजयोदया—देवत्तमाणुसत्ते देवत्वमाणुपत्वयो । जादेण जातेन । सकयकम्मवसा स्वकृतकर्मवशात् । दुक्खाणि किलेसा वि य दु यानि क्लेशाश्च । अणंतखुत्तो अनंतवारं समनुभूता ॥

देवत्वमनुष्यत्वयोश्चिरानुभूतानि दुःखान्यनुचितयितुमुपक्षिपति—

मूलारा—जादेण गतेन । सकद स्वकृतं । दुक्खाणि अंतःपीडाः । किलेसा शरीरकष्टानि ॥

अर्थ—हे क्षपक' तूने कुछ पुण्य कर्म का उदय होनेसे देव और मनुष्य गतिमें भी जन्म धारण किया था इन गतिओंमें भी तुम्हे अनंतवार दुःख और क्लेश सदन करने पड़े थे.

पियविष्णुओगदुक्खं अप्पियसंवासजाददुक्खं च ॥

जं वेमणस्सदुक्खं जं दुक्खं पच्छिदालोभे ॥ १५८९ ॥

प्रियस्य विगमे दुःखमप्रियस्य समागमे ॥

अलोभे याच्यमानस्य संपन्नं मानस स्मर ॥ १६५१ ॥

विजयोदया—पियविष्णुओगदुक्ख प्रियविप्रयोगजातं दुक्खं । अप्पियसंवासजाददुक्खं च अप्रियैः सहवासेन जातं च दुःख । थेपा नामश्रवणेऽपि शिरःशूलो जायते, येपा दर्शनादर्शने धूमायेते । जं वेमणस्सदुक्खं यक्षेमनस्सदुःखं पच्छिदालोभे प्रार्थितालोभे यद्दुःख ॥

मानुषगतदुःखानुचितने क्षपक प्रयोक्तुं गाथा नव दिशन्नादौ दुःसहतरत्त्वान्मानसदुःखानि गाथान्नेणेणानुस्मरयति—  
मूलारा—पियविष्णुओगदुक्खं यन्नामश्रवणेऽपि सर्वांगीणरोमाचभिव्यज्यमानो मनस्याह्लादो जायते । यदर्शने च चक्षुषी पीयूषसिक्ते इव स चेतसे प्रिय इत्युच्यते । प्रियेण विप्रयोगाविघटनं । तस्माज्जातदुःखं सुखं वेद्योतत्तापः ॥ अप्पियसंवासो यन्नामश्रवणेऽपि शिरःशूलमूदेति यहिलोकेने च लोचने धूमायेते सोऽप्रिय इत्याख्यायते ॥ अप्रियेण संवासः सहावस्थान संयोग इति यावत् ॥ जं ते माणसदुक्खं यत्त्वया प्रियविप्रयोगदुःखादिविकल्पं मानस दुःखं मानुष भावसंप्राप्तं तत्सर्वमेव चिंतयेति वक्ष्यमाणेन संबंधः । पच्छिदालोभो प्रार्थ्यमानस्य वस्तुनोऽप्राप्तौ जातः ॥ उक्तं च—

प्रियस्य विगमे दुःखमप्रियस्य समागमे ॥

अलोभे याच्यमानस्य संपन्नं मानसं स्मर ॥

अर्थ—प्रिय पुत्र, पत्नी वगैरहका वियोग होनेसे तथा अप्रिय शत्रु, विप, कंटकादिकोंका संयोग होनेसे तुझको बहुत दुःख प्राप्त हुआ था. अप्रिय पदार्थोंका नाम सुनते ही तुझको मस्तकशूल उत्पन्न होता था और अप्रिय शत्रुओंका दर्शन होनेसे ही आखें लाल हो जाती थीं. तथा याचना करनेपर इच्छित वस्तुका जब लाभ न होता था तब तुझको मनमें बहुत कष्ट भोगना पड़ता था.

परमिच्चदाए जंते असम्भवयणेहिं कडुगफरुसेहिं ॥

णिब्भत्यणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं ॥ १५९० ॥

कर्कशो निष्ठुरे निःश्रवे भाषणे तर्जने भर्त्सने ताडणे पीडने ॥  
अंकने दंभने मुंडने सेवने वाधने वर्तने मर्दने छेदने ॥ १६५२ ॥  
दुःसहं किंकरीभूतः करणे निचकर्मणः ॥  
यदवापश्चिर दुःखं तन्निवेशय मानसे ॥ १६५३ ॥

विजयोदया—परमिच्छदाए परश्रुत्यतया । असम्भवयोरहिं अशिष्टवचनैः । कडुगफरसेहि कटुकै परुषैश्च ।  
गिन्मन्थणावमाणतज्जणदुःखार पत्ताह निर्भर्त्सनावमाननर्तजनदुःखानि प्राप्तानि ॥  
मूलारा—परेत्यादि परस्य राजादेभृत्यताया प्रेक्ष्यताया सत्या अशिष्टवचनादिजनितं मानसं दुःखं तत्त्वया  
समाप्त तर्क्षितय ॥ उक्तं च—

दुःसहं किंकरीभूत करणे निचकर्मणः ॥  
यदवापश्चिर दुःखं तन्निवेशय मानसे ॥

गिन्मन्थणा विकारतिरस्कारौ । अवमाणणा वहूना मध्ये अवज्ञाकरणं । तज्जणा तर्जनीमुत्क्षिप्य ज्ञास्यते  
यत्ने करिष्यामीति क्रोधावेशान्निग्रहप्रदर्शनं ॥

अर्थ—श्रीमान लोक राजादिकोंकी सेवा करते समय उनके असम्य शब्द, कटु, और कठोर शब्द सुन-  
कर तेरेको वीत्र मनोदुःख प्राप्त होता था निर्भर्त्सना, अपमान, इत्यादिक का दुःख अनेकवार तुझको प्राप्त हुआ था

दीणचरोसचित्तसोगामरिसिग्गिपउल्लिदमणो जं ॥  
पत्तो धोरं दुक्खं माणुसजोणीए संतेण ॥ १५९१ ॥

भीशोकमानमात्सर्यरागद्वेषमदादिभिः ॥

तप्यमानो गतो दुःखं पावकैरिव चिंतय ॥ १६५४ ॥

विजयोदया—दीणचरोस—द्विंतादीनत्वरोपार्धिताशोकामर्षादिभिः संतप्तमना यत् । पत्तो धोरं दुक्खं प्राप्तं  
घोर दुःख । माणुसजोणीए संतेण मनुष्ययोनौ सत्या भवता ॥

मूलारा—पवल्लिदमणो दीनत्वादिभिरभिरिव संतप्तं मनो येन यत्र वा । तन्मानसं दुःखं यत्त्वया मानुषयोनौ  
भवता प्राप्त तर्क्षितय । उक्तं च—

भीशोकमानमात्सर्यरागद्वेषमदादिभिः ॥

तथ्यमानो गतो दुःखं पावकैरिव चित्तय ॥

अर्थ—दीनपना, क्रोध, चिंता, शोक, असहनशीलता, एतद्रूप अधिओंसे पीडित होकर हे क्षपक! तुझको घोर दुःखोंका अनुभव मिल चुका है.

दंडणमुंडणताडणधरिसणपरिमोसंमंकिलेसा य ॥

धणहरणदारधरिसणघरदाहजलादिघणनासं ॥ १५९२ ॥

स्तेनाग्निजलदायादपायैर्वैधनविह्वे ॥

कशादंडादिभिर्घाते हस्तपादादिमर्द्देने ॥ १६५५ ॥

विजयोदया—दंडण मुडण—दंडनमुडनताडणद्रूपणपरिमोणसम्लेशा. परधनापहरणदारद्रूपणानि गृहदारज-  
लादिभिर्घ्रविणनाशात् ॥

उभयदुःखानुस्मरणाय गाथापट्कमाह—

मूलरा—दंडण अपरावे सति राजादिभिर्घनापहरण । धरिसणा साक्षेपद्रूपणारोपणं । परिमोसे परद्रव्यहरण  
दारधरिसणं भार्याविधर्पणं जलादिघणनासो जलग्न्यादिभिर्घनविनाशः ॥

अर्थ—मनुष्य गतिमें अपराध होनेपर राजादिकेसे घनापहार होता है यह दंडनदुःख है कुछ अपराध होनेपर मस्तकके सव केश निकलवाना यह मुडण दुःख है ताडण दुःख—अपराध होनेपर फटके लगाना धर्पण, दुःख आक्षेपसहित दोषारोपण करनेसे मनमें दुःख उत्पन्न होता है अपराध होनेसे राजा धन छुटवाता है तब रंते दुःख होता है उसको परिमोप दुःख कहते हैं चोर द्रव्य हरण करते हैं तब जो दुःख उत्पन्न होता है उसको धन हरण दुःख कहते हैं. भार्याको कोई दुष्ट जबरदस्तीसे हरण करनेपर उत्पन्न हुए दुःखको दारहरण दुःख कहते हैं घर जलनेसे, धन नष्ट होनेसे इत्यादिक कारणोंसे मानसिक दुःख उत्पन्न होते हैं

दंडकसाल्डिसदाणि डंगुराकटमहणं घोर ॥

कुंभीपाको मच्छयपलीवणं भत्तवुच्छेदो ॥ १५९३ ॥



सूर्ध्नि प्रज्वालने वह्नेर्भक्तपानादिरोधने ॥  
शृंखलै रज्जुभिः काष्ठैर्हस्तपादादिवंधने ॥ १६५६ ॥

विजयोदया—वृडकसालद्वित्वादि दंडकशापयष्टिस्तोताडनानि दंडादिकार्यत्वाद्दंडशब्देनोच्यते । डगुरा मुष्टिप्रहारः । कटमद्गण कटकानामुपरि प्रक्षिप्य मर्दनं योर । कुंभीपाक । मन्त्रगणलीवणं मस्तके अग्निप्रव्वलनं । भक्तबुद्धेदो आहारनिरोधः ॥

मूलारा—कसा चर्मयष्टिः । अत्र दंडादिशब्दैः दंडादिकार्यत्वात्ताडनान्युच्यते । डगुरा मुष्टिप्रहारः । दोपपटह वादमानि वा । कटयमद्गण कटकोपरि प्रक्षिप्य मर्दनं । कुंभीपागो लप्ष्टिकाया प्रक्षिप्य पचनं । पलेवलं अग्निप्रव्वलनम् । भक्तबुद्धेदो आहारनिरोधः ॥

अर्थ—लाठी, चाबुक और चेतने ठोकना, मुठिओंसे शरीरपर महार करना, कांटोपर सुलाकर खूब मर्दन करना, कुंभीमें पकाना, मस्तकपर अग्नि जलाना, आहार पानी नहीं देना इत्यादिकोसे मनुष्य गतिमें दुःख होता था

दमणं च हृत्पिपादस गिगलअदूवरत्तरज्जूहिं ॥  
बंधणमाकोडणयं ओलंवणणिहणणं चेव ॥ १५९४ ॥  
पराभवे तिरस्कारं वृद्धशाखावलंबने ॥  
व्याघ्रसर्पविपारानिरोगादिभ्यो विपर्यये ॥ १६५७ ॥

विजयोदया—दमण च हृत्पिपादस हस्तिपादेनोन्मर्दनं । गिगलअदूवरत्तरज्जूहिं निगलेन, अंदुकाभिः, वरत्राभिः, रज्जुभिश्च बंधन । आकोडणय हस्तो पृष्ठतो नीत्वा बंधन । ओलवण श्रीवावद्धपाशस्य तरशाखासु लेवने । गिहणण गते निक्षिप्य पूरण ॥

मूलाराधना—दणं च हृत्पिपादस गजचरणतलप्रक्षेपः । अथवा दानं खड्गं हस्तिपादेनैव । अन्ये वमण इति पाठित्वोन्मर्दनमित्यर्थमाहुः । कंडु शृंगला हृदि इत्यन्यः । अन्ये अंडु इति पाठित्वा चर्मवधनमित्यर्थमाहुः ॥ आकोडणं हस्तो पृष्ठतो नीत्वा बंधनं । उक्लम्वण श्रीवावद्धपाशस्य तरशाखासु लेवने ॥ गिहणणं गते निक्षिप्य पूरणं ॥

अर्थ—हाथके पावोंसे कुचलाना, बेड़ी, संखल, चर्मकी वादी और दोरी इनसे बांधना, हाथ पीठके तरफ बांधना, कंठको पाशबद्ध कर आलापर लटकाना, गंधुमें फेककर ऊपर मट्टी डालकर बंद कर देना इत्यादि दुःख भोगे थे।

कण्णोष्ठसीसणासाछेदणं दंताणं भंजणं चैव ॥  
उप्पाडणं च अच्छीणं तथा जिब्भायणीहरणं ॥ १५९५ ॥

जिह्वाकर्णोष्ठनासाक्षिपाणिपादादिकर्तने ॥

शीतवातातपोदन्याचक्षुक्षुदिकर्तने ॥ १६५८ ॥

विजयोदया—कण्णोष्ठसीसणासाछेदणं कर्णयोरोष्ठयो, शिरसो, नासिकायाश्च छेद । दंताणं भंजणं चैव दंतानां भजन । उप्पाडणं च अच्छीणं अक्ष्णोक्त्वाटनं, तथा जिब्भायणीहरणं जिह्वानिर्हरणं ॥  
मूलारा—हरणं निष्काशनं ।

अर्थ—कर्णच्छेद करना, होठोंको छेदना, नाकको काटना, मस्तक तोड़ना, दांत गिराना, अंखि निकालना, फोड़ना, जीभ निकालना अर्थात् मुहमेंसे जीभ बाहर खींचना इत्यादि दुःख प्राप्त हुए थे।

अग्निविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं ॥  
सीदुण्हरोगदंसमसएहिं तण्णाखुहादीहिं ॥ १५९६ ॥

विजयोदया—अग्निविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं अग्निर्विषय, शत्रुणा, सर्पादेर्व्यालमृगाणां शत्रु प्रहारस्य च घाते । सीदुण्हरोगदंसमसएहिं शीतोष्णन, दशमशकै, तण्णाखुहादीहिं वदक्षुधादिभिः ॥  
मूलारा—सप्पादि सर्पवृश्चिककुङ्कुलगोमाहिपादयः । वाल व्याघ्रसिंहादयः ॥

अर्थ—अग्नि, विष, शत्रु, सर्प, कूर माणी, और शस्त्रप्रहार इनसे मी अनंत वार दुःख प्राप्त हुआ था शीतसे, उष्णसे, रोगोंसे, दशमशकोंसे अनंत वार दुःख प्राप्त हुए थे।

जं दुःखं संपत्तो अणंतखुत्तो मणे सरीरे य ॥

माणुसभवे वि तं सब्वमेव चित्तिहि तं धीर ! ॥ १५९७ ॥

शरीरं मानसं दुःखं साधो ! प्राप्तमनेकशः ॥

यद्दुःखं त्वया मृत्वे तत्त्वं चित्तय यत्नतः ॥ १६५९ ॥

गर्हितं दुरितकर्म निर्मितं मानुषीं गतिमुपेयुपा त्वया ॥

दुःखं चिरमवाप्तमूर्जेतं किं न चित्तयसि तत्त्वतोऽमुखम् ॥ १६६० ॥

इति नृगतिः ।

विजयोदया—ज दुःखं संपत्तो यद्दुःखं प्राप्तः । अणंतखुत्तो अनन्तवारं । मणे सरीरे य मन्त्रसि शरीरे च । मानस शरीरं च दुःखं प्राप्त । माणुसभवे वि मनुष्यभवेऽपि । त सब्वमेव चित्तेहि तत्सर्वमेव चित्तय । तं धीर त्व धीरः ॥ मूलारा—स्पष्टम् । मनुष्यगतिदुःखानुचितनम् ।

अर्थ—हे क्षपक ! इस मनुष्यगतिमें भी अनन्तवार जो मानसिक और शारीरिक दुःख तेरेको प्राप्त हुआ था हे धीर ! तू उसका चार २ चितन कर.

सारीरादौ दुःखादु होइ देवेषु माणसं तिव्वं ॥

दुःखं दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥ १५९८ ॥

देवत्वे मानसं दुःखं घोरं कायिकतोऽग्निः ॥

पराधीनस्य बाह्यत्वं नीयमानस्य जायते ॥ १६६१ ॥

विजयोदया—सारीरादौ दुःखादु शारीराद्दु खोत् । होइ भवति । देवेषु माणुसं तिव्व देवेषु मानसं तीव्र । दुःखं सो दुःखमवसस्स । अवसस्स अवशस्य । परेण अभिजुज्जमाणस्स अन्येन अभियुज्जमानस्य बाह्यता नीयमानस्य । देवगतिदुःखमारावकमनुसारीयितु गाथाचतुष्टयमाश्रयत्रादौ तद्दुःखतीव्रतरत्वं सहेतुकमुपदिशति—

मूलारा—परेण स्वस्वामिभूतेन देवेन । अभिजुज्जमाणस्स बाह्यता नीयमानस्य । तत्त्वं बाह्यत्वापादनं द्वारावतारेण मानसं दुःखं त्वया बहुशः सुरगतौ संसरता प्राप्तमतस्तदैवेदानीमनुचितेति विधिरत्र न्ययः ॥

अर्थ—देवगतिमें शारीरिक दुःखकी अपेक्षा मानसिक दुःख अतितीव्र है। जब अधिक पुण्यवाला अधिकारी देव-हीन पुण्यके धारक देवकी वाहनकर्म में नियुक्त करता है तब उसको महान् मानसिक कष्ट अनुभवमें आता है

देवो माणी सतो पासिय देवे महड्डिण् अण्णे ॥

ज दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥ १५९९ ॥

गुर्वी दुब्बद्वामरो मानी महद्धिक्कसुरश्चित्र ॥

तदा स अयते दुःखं मानभंगेन मानसम् ॥ १६६२ ॥

विजयोक्त्या—देवो माणी सतो देवो मानी सन् । पासिय देवे देवान् वृद्ध्वा । महद्धिण् महर्द्धिकान् । अण्णे अन्धान् । ज दुक्क्य संपत्तो यद्घोरं दुःखं प्राप्त । भग्गेण माणेण भग्गेन मानेन ॥

सुरगतावेव प्रकारतरावताराणि मानसदुःखान्यनुस्मारयितुं गाथात्रयमाह—

मूलारा—माणी श्लोत्कर्षभावनाभिनिवेशेन स्तब्धमानः । पासिय यद्द्ववा । महद्धिण् महती निजद्धरधिकी गुर्वी ऋद्धिरणिमादिगुणसंपद् परिवारादिविभूतिश्च येषां तान् । संपत्तो मानी देवः सत्सामुल्लेखेन प्राप्तत्वं यद्दुःखं तद्विचतयेति संबन्धः । त सव्वमेव चितोहि तं धीरेत्यनुवृत्तिकृतस्य समन्वयस्य विवक्षितत्वात् । एवमुत्तरत्रापि योन्यम् ॥

अर्थ—मानी देव अन्य महाऋद्धिशाली देवोंको देखकर जिस घोर दुःख को प्राप्त होता है वह मनुष्य गतिके दुःखोंकी अपेक्षासे अनन्त गुणित है ऋद्धिशाली देवोंको देखकर उसका गर्व शतशः चूर्ण होनेसे वह महा कष्टी होता है

दिव्वे भोगे अच्छरसाओ अवसस्स सग्गवासं च ॥

पजहंतगस्स जं ते दुक्खं जादं चयणकाले ॥ १६०० ॥

सुंदरास्त्रिदिववासिसुदरीमुचतो विबुधभोगसपदः ॥

ध्यायतो भवति दुग्गमुल्लवणं गर्भवासवसतिं च निर्दितां ॥ १६६३ ॥

विजयोक्त्या—दिव्वे भोगे दिव्यानुभोगान् । अच्छरसाओ देवकन्यका । सग्गवासं च स्वर्गवासं च । पजहतं गस्स परित्यजतः । अवसस्स परवशस्य । जं ते दुक्खं जादं यस्यैव दुःखं जातं । चयणकाले ज्यवनकाले ॥

च्यवनसमयसमुत्थं तु राममुत्सारायति-

शुलारा- --अवसस गत्यन्तरनिर्वर्तकर्मपत्तत्रयस्य ॥

अर्थ—जब मृत्युके पाश गलेमें आ पड़ते हैं तब दिव्य भोग, देवागना, और स्वर्गवाम का त्याग करते समय जो तुझको दुःख हुआ था, हे क्षणिक! तू उसे स्मरण कर.

जं गन्धवासकुणिमं कुणिमाहारं हृहादिदुक्खं च॥

चित्तगस्त यं सुचि सुहिदयस्त दुक्खं चयणकाले ॥ १६०१ ॥

पूर्वभवार्जितदुःकृतजात । उत्पन्न त्रिदशत्वमशस्तम् ॥

दुःखमसद्यमपारमवाप्तम् । चिंतय भद्र त्रिसुच्य विपादम् ॥ १६०४ ॥

इति देवगतिः ॥

विजयोदया—ज गन्धवासकुणिमं यद्गन्धवासकुणित । कुणिमाहारं कुणितारं । शुधादिदुःखं च । चित्तगस्त चिंतयत । सुचिसुहिदयस्मं शुचे सुचितस्य । जं दुःखं चयणकाले यद्दुःखं चयणकाले स्वर्गान्यवनकाले ॥

शुलारा—कुणिमं कुणित । अशुचिशुकार्त्तवादि । सुचिसुहिदयस्त देवत्वे शुचे सुचितस्य सतः । द्युत्तम-

हृत्कल्पदुःखमपभूषणमणित्विष्ण्वानभूषणमल-

सम्लान्यावरणपरागविभवच्छायाप्रभाजानतम् ।

रुद्रप्रौढशुगर्जिपा दिग्निपदा पण्मासजेपायुषाम् ॥

तद्दुःखं प्रथते प्रमित्विव सुयं श्रेष्ठेपि यत्रेग्यते ॥

देवगतिदुःखानुचितनम् ॥

अर्थ—आयुष्यमी ममास्ति समयमें अब यहासे चयकर मेरेको मातृके दुर्गंध गर्भमें रहना पड़ेगा, दुर्गंध पदार्थोंका गर्भावस्थामें आहार लेना पड़ेगा और शुधा, व्यास वगैरह दुःखोंमें मेरे को पीडा होगी, मैं इस देवपर्यायमें सुखी और पवित्र हूँ परंतु अब क्या करूं यह आगामी परिस्थिति कैसे टल सकती है ऐसा विचार आनेपर जो दुःख तुझको प्राप्त हुआ था उसका हे क्षणिक! तू मनमें विचार कर

एवं एदं सत्त्वं दुःखं चतुर्गदिगदं च जं पत्तो ॥

तत्तो अणंतभांगो होज्ज ण वा दुक्खमिमंग ते ॥ १६०२ ॥

दुर्गतौ यत्तयां ग्राप्तमेवं दुःखमनेकशः ॥

नं तस्यानंतभावोऽपि भद्र ! दुःखमिदं स्फुटम् ॥ १६६५ ॥

विजयोदया—एवं एदं सत्त्वं एवमेतत्सर्वं । दुष्प्र चतुर्गदिगदं दुःखं चतुर्गतिगत । जं पत्तो यत्तयाप्तवान् । तत्तो तत्त । अणतभांगो अणतभाग । होज्ज ण वा भवेद्वा न वा । दुष्प्रमिमंगते दुःप्रमिव भवे मनुजजन्मनि ॥

एवं चतुर्गतिदुःप्रानि स्मारयित्वा प्रकृते योजयति—

मूलारा—होज्ज व ण व भवेद्वा नवा । इमंगं इदानीतनं ॥

अर्थ—इस प्रकार इस चतुर्गतिमें जो जो दुःख प्राप्त हुआ था, उसका विचार करनेसे ऐसा मालूम होता है कि जो सांमतकालीन दुःख है वह पूर्व दुःखोंका अनन्तश होगा या नहीं भी होगा अर्थात् यह दुःख अत्यंत अल्प है इससे घबरा कर तू अपने शुद्ध स्वरूपसे च्युत होना अयोग्य है.

संखेज्जमसंखेज्जं कालं ताइं अविस्समंतेण ॥

दुक्खं ताइं सोढाइं किं पुण अदिअप्पकालमिमं ॥ १६०३ ॥

संख्यातमप्यसंख्यातं कालमध्यास्य तादृशम् ॥

अल्पकालमिदं दुःखं सहमानस्य का व्यथा ॥ १६६६ ॥

विजयोदया—संखिज्जमसंखिज्जं कालं संख्यातमसंख्यातं वा काल । ताइं दुक्खं ताइं सोढाइं तानि दुःखानि सोढानि । अविस्समंतेण विधामरहितेन । किं पुण किं पुनं सशते । अदिअप्पकालमिमं अत्यल्पकालमिदं द सं ॥

एवं परिमाणतः पूर्वानुभूतदुःखात्तात्कालिकदुःखस्याल्पत्वं समर्थं कालतोऽपि तत्तस्याल्पत्वं त्रयीति—

मूलारा—संखेज्जं संख्यातं दशवर्षसहस्रादिसर्ववर्षव्यत्ययेपेक्षया । असंखेज्जं एकमागरोपमानुच्छृष्टस्थित्यल्पेक्षया । अविस्समंतेण विधामरहितेन ॥

अर्थ—हे क्षपक ! नरकादिकुगतिओंमें तुझको संख्यात वा असंख्यात कालतक निरंतर दुःख भोगना पडा

था वह भी तुमने भोगा है, पंतु आजका दुःख अत्यंत अल्प है, और वह अतिशय अल्पकाल पर्यंत ही रहने वाला है

जदि तारिसाओ तुहो सोढाओ वेदणाओ अवसेण ॥

धम्मोत्ति इमा सवसेण कहं सोढुं ण तीरेज्ज ॥ १६०४ ॥

अवशेन त्वया सोढास्ताइउयो वेदना यदि ॥

किं तदा धर्मबुद्धयेयं स्ववशेन न सद्यते ॥ १६४७ ॥

विजयोदया—जदि तारिसाओ यदि ताहदय । तुले सोढाओ वेदणाओ त्वया सोढा वेदना । परवसेण परवशेन । धम्मोत्ति धर्म इति । इमा इयं वेदना । सवसेण स्ववशेन सता । सोढुं ण तीरेज्ज नोढुं न शक्यते ? । कयं वेदना धर्म ? उत्तमक्षमामाद्वैवाजिवादिभि दशमकारो धर्म उच्यते । वेदनासहन धर्म इति कृत्वा कथ न शक्यते सोढुं सवधोऽत्र ॥

धर्मानुसरणेन अनिवार्यदुःखमहनाय धैर्यमुदीरयति—

मूलारा—तुमे त्वया । धम्मोत्ति वेदनामहनसुत्तमक्षमाविलक्षणो धर्म इत्यनुध्यायता । ण तीरेज्ज न शक्यते ॥

अर्थ—ऐसी घोर वेदना भी तुमने सही है क्यों कि तुम नरकादि कुगतिओं में परतंत्र थे जब परतंत्र हो कर इतना मारी दुःख सह लिया तो अब तो तुम स्वाधीन हो. स्वाधीनतामें थोडासा दुःख सहनेका समय प्राप्त होनेपर कायर नहीं होना चाहिये ये वेदनायें धर्मरूप हैं ऐसा समझकर वेदना दुःख सहना चाहिये उत्तमक्षमादि भावोंको धर्म कहते हैं. वेदना धर्मरूप कैसी है. इसका उत्तर—वेदना का मनलव वेदना सहन करना ऐसा है अतः उसमें धर्म शब्दका प्रयोग करना अयोग्य नहीं है

तण्हा अणंत खुत्तो संसारो तारिसी तुमं आसी ॥

जं पसमेदुं सव्वोदधीणमुदगं ण तीरेज्ज ॥ १६०५ ॥

आसी, अणंतखुत्तो संसारो ते, बुधावि तारिसिया ॥

जं पसमेदुं सव्वो, पुग्गलकाओ ण तीरेज्ज ॥ १६०६ ॥

जदि तारिसया तण्हा लुधा य अवसेण ते तदा सोढा ॥  
धम्मोत्तिङ्गमा सवसेण ण-कधं सोढु ण तीरिज्ज ॥ १६०७ ॥

सुदपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य सदोवगहिण ॥

अण्णोसहेण निब्बा वि वेदणा तीरदे सहिदुं ॥ १६०८ ॥

ससारे भ्रमतस्तृष्णा दुरंता या तवाभवत् ॥

न सा शमयितु शक्या सर्वाभोधिजलरपि ॥ १६१८ ॥

बुभुक्षा तादृशी जाता संसारे सरतस्तव ॥

न शक्या यादृशी हतु सर्वपुद्गलराशिना ॥ १६१९ ॥

सोढुवा तृष्णाबुभुक्षे ते त्व नेमे सहसे कथम् ॥

स्वयं धर्मवृद्धयर्मल्पकाले महामर्ते ॥ १६२० ॥

समुद्रो लघिनो येन मकरग्राहसंकुलः ॥

गोष्पदं लघनस्तस्य न खेदः कोऽपि विच्यते ॥ १६२१ ॥

श्रुतिपानकशिक्षाब्रश्रुतध्यानोपवेद्यते ॥

वेदनानुगृहीतेन सोढु तीव्रापि शक्यते ॥ १६२२ ॥

विजयोदया—सुदपाणएण विविधधर्मकथाश्रुतगतेन । अणुमट्ठिभोयणेण य अनुशासनमोज्जेत् । उवगा,  
हिदेण उपगृहीतेन । अण्णोसहेण शुभध्यानोपवेद्ये च । तिन्वापि वेदणा । तीव्रापि वेदना । तीरदे सहिदुं शक्यते सोढुं ॥

दुःसहपृष्णाक्षुधानुसरण्या तत्क्षणेर्दीर्घपृष्णाक्षुधापरीपहौ तिरस्कार्यं धर्मावष्टेन सत्त्वमुनुद्रयितुं गाथात्रयमाह—  
मूलारा—तुमे तव । आसी भूता । सन्वोदधीर्णं सकलसमुद्राणा । उदय जलम् ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

मूलारा—इमा इयं लुधा तृष्णा च ॥ एतद्गाथात्रयं श्रीविजयो नेच्छति ॥

वेदनासहनार्थमुपायत्रयमाह—



मूलारा—सुटि आक्षेपणी, सवेजनी, निर्वेदनी चेति त्रिविधकर्मकथाश्रवणं । उवगहिदेण आहितवलेन त्वया । तत्रयं वेदनासहजाय सेवस्यति विधिरत्र पर्यवस्यति । उक्त च—

श्रुतिपानकशिक्षाजशुभध्यानौपधैर्यते ! ॥

वेदनानुगृहीतेन सोढु तीव्रापि शक्यते ॥

अर्थ—हे क्षपक ! इस संसारमें अनंतवार तुमको इतनी तीव्र प्यास लगती थी की उसको ग्रथमन करनेके लिये सर्व समुद्रोंका जलभी असमर्थ था

अर्थ—हे क्षपक ! भूख भी अनंतवार इतनी तीव्र लगीथी की उसको मिटानेके लिये सर्व जगत्के पुद्गल भी अक्षम रहे

अर्थ—ऐसी तीव्रभूख और प्यास यदि तुमने परतंत्र होकर सह ली थी तो अबकी वेदना धर्म समझकर तुम स्ववश होकर क्यों न सहन कर सकोगे अवश्य सहन कर सकोगे ही

अर्थ—सवेजनी, निर्वेदनी और आक्षेपणी इन तीन धर्म कथाओंका श्रवण करना ही मानो अमृत हैं. इस अमृतका प्राशन करके तथा निर्यापकाचार्यका उपदेश रूपी भोजन भक्षण कर तुम्हारा आत्मवल बढ़ेगा शुभध्या-  
नरूपी औषधीका भी सेवन कर तुम इस वेदनाका अन्त कर सकते हो

भीदो व अभीदो वा निष्पडियम्मो व सपडियम्मो वा ॥

मुच्चइ ण वेदणाए जीवो कम्मे उडिणस्मि ॥ १६०९ ॥

पीडानामुपकारस्य सोपकारस्य चोदिता

नाभीतस्य न भीतस्य जंतोर्नश्यति कर्मणि ॥ १६७३ ॥

विजयोदया—भीदो व अभीदो वा भीतोऽभीतो वा । निष्पडियम्मो सपडियम्मो वा निष्पतिकार सप्रतिकारो वा । मुच्चदि ण वेदणाए जीवो न मुच्यते वेदनाया जीव । उडिणस्मि कम्मे कर्मण्यसद्वेद्ये उदीर्णे । असद्वेद्योदयसामुल्ये वेदनाविमोक्षाभावमाह—

मूलारा—कम्मे असद्वेद्याल्ये ॥

अर्थ—मनुष्य ढगपोक हो अथवा धैर्यवान हो वह प्रतिकार करे अथवा न करे जब असातावेदनीय कर्मकी तीव्र उदीरणा होती है तब वेदना होगी ही. उसको दूर करनेका सामर्थ्य किसी भी उपायोंमें नहीं है.

१४६५

पुरिसस्स पावकम्मोदण्ण ण करंति वेदणोवसमं ॥

सुहु पउत्ताणि वि ओसधाणि अदिवीरियाणी वि ॥ १६१० ॥

औषधानि सबीर्याणि प्रयुक्तान्यपि यत्नतः ॥

पापकर्मोदये पुंसःशमयन्ति न वेदनाम् ॥ १६७४ ॥

विजयोदया—पुरिसस्स पावकम्मोदयस्मि पुरुषस्य पापकर्मोदये न करंति न कुर्वन्ति ॥ वेदणोवसमं वेदनापशमं । सुदृष्ट पउत्ताणि वि सुष्ठु प्रयुक्तान्यपि । ओसधाणि अदिवीरियाणि औषधानि अतिवीर्याण्यपि ॥

पापोद्रेके प्रवलानामपि प्रतीकाराणा अकिंचित्करत्वमाह—

मूलारा—आदिवीरियाणी वि वीर्यातिशययुक्तान्यपि ॥

अर्थ—पापकर्मके उदयेसे अतिशय सामर्थ्य युक्त उत्तम औषध भी वेदनाका उपशम करनेमें असमर्थ होते हैं. ये औषध निपुणतासे रोगीको देनेपर भी वे रोग दूर करनेमें असमर्थ होते हैं.

रायादिकुडुवीणं अदयाए असज्जं करंताण ॥

घण्णंतरी वि कादुं ण समत्थो वेदणोवसमं ॥ १६११ ॥

असंयमप्रवृत्तानां पार्थिवादिक्लृद्विनाम् ॥

पीडा धन्वन्तरिःशक्तो निराकर्तुं न कर्मजाम् ॥ १६७५ ॥

विजयोदया—रायादिकुडुवीण राजादीनां अनेक द्रव्यसंपत्परिचारकसत्पत्ख्यातानां । अदयाए असंज्जं करंताण दयामंतरेणासयमं कुर्वता । घण्णंतरी वि घन्वन्तरिरपि कर्तुं अममर्थ । वेदणोवसमं वेदनाया उपशमं ॥ वैद्यसंपत्ता धन्वन्तरेऽष्टवृणेन सूचिता ॥

पापपक्विवाधाया द्रव्यादिसंपदौफल्यमाह—

मूलारा—कुडुवीण एतेन द्रव्यसंपत्परिचारकसंपन्न सूचिता ॥ अदयाए निर्दयत्वेन । असंयमं पद्वीविनिकायवाधा । घण्णंतरी वि घन्वन्तरिरपि । वैद्यसंपत्सूचनार्थमिदम् ॥

वेदना उनको नहीं अनुसरती हैं प्रत्युत वह मंद होती हैं- क्योंकि यह भावना असातावेदनीय कर्म का रस मंद करती है. असंयमसे असातावेदनीय कर्मका अनुभूत तीव्र वनता है. आचार्य उभास्वामी महाराजने ' दुःस्वशो-  
कतापाक्रन्दनवयपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ' इस सूत्रमें असाता वेदनीय कर्मके कारणोंका-दुःख शोक  
वगैरह कारणोंका उल्लेख किया है

ण करेति णिवुइं इच्छया वि देवा सइंदिया सन्वे ॥  
पुरिसस्स पावकमे अणवक्कमगे उदिणम्मि ॥ १६१५ ॥  
कांधित्तोऽपि न जीवस्य पापकर्मोदये क्षमा. ॥

वेदनोपशमं कर्तुं त्रिदशाः सपुरंदराः ॥ १६७९ ॥

विजयोदया—ण करेति णिवुइं न कुर्वन्ति निर्धृति । पुरिसस्स पुरुषस्य । सइंदिया देवा सन्वे इच्छया वि  
संद्रका. सर्वे देवा इच्छतोऽपि । पावकमे पापकर्मणि । अणुक्कमगे अनुक्रमके । उदिणम्मि उदयसुपगते ॥  
न च कालेन पच्यमाने दुर्निवारे असद्वेद्यकर्मणीद्राव्योऽपि पुरुषं सुखयितुं प्रभवतीत्युपदिशति—  
मूलारा—इच्छया वि वेदना निराकर्तुमिच्छतोऽपि । अणवक्कमगे निष्प्रतिकारे । उक्त च—

न कुर्वन्ति सुराः सर्वे प्रसन्ना अपि निर्वृतिम् ॥  
पापकर्मोदये पुस सत्येव निरुपक्रमं ॥  
अपि च ॥

काक्षितोऽपि न जीवस्य पापकर्मोदये क्षमा ॥  
वेदनोपशमं कर्तुं त्रिदशाः सपुरंदरा ॥

अर्थ—जब पाप कर्मका उदय पुरुषको क्रमसे आता है तब सब देव मिलकर भी उस पुरुषको सुखी  
बना नहीं सकते हैं सुखी बनाने की तीव्र इच्छा होनेपरभी वे उसको सुख देनेमें असमर्थ होते हैं.

किह पुण अण्णो काहिदि उदिणकम्मस्स णिवुइं पुरिसो ॥  
हत्थीहिं अतीरं तं भंतुं भंजिहिदि किह ससओ ॥ १६१६ ॥

उदीर्णकर्मणः पीडां शमयिष्यति किं परः ॥

अभ्यो दंतिना वृक्षःशशकेन न भज्यते ॥ १६८० ॥

कर्माण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति ॥

प्रतिषेदु न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित् ॥ १६८१ ॥

विसयोदया—किं पुन कथ पुन । अण्णो काहिदि पुरिसो अन्य करिष्यति पुरुष । उदीर्णकर्मस्स उदयागतसासेदयकर्मण । णिवुदि निवृत्ति । हृथीहि अनीरत हृत्तिभिर्महावलै कर्तुमशक्यं यद्वंजनं । किंय ससगो मजीहि कथ स्वरूपप्राणो भक्ष्यति शशकः॥

दिव्यशक्तेर्वेदनाप्रतिचिकीर्षादितस्य निरुपक्रमपापकर्मेविपाकिमवेदनानिराकरणे सुतरा सामर्थ्याभावं दृष्टतेन त्रयति—

मूलारा—अण्णो दिव्यशक्त्या वेदनाप्रतीकारेच्छयावहितः । काहिदि करिष्यति । उदीर्णकर्मस्स उदयागत दुर्निवारसादेयकर्मकस्य जीवस्य । अनीरतं अशक्यं । मत्तुं भंक्तुं । भंजिहिदि भंद्यति । ससगो शशकः । अनुकंपायाम्लने वा क । महावलैर्बहुभिर्गैर्यो भंत्तुं न शक्यते स कथं वराकेणाल्पवलेनैकेन शशेन भज्यते इत्यर्थः । उक्तं च—

कर्माण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति ॥

प्रतिषेदुं न शक्यते नक्षत्राणीव केनचित् ॥

अर्थ—जब देव भी इच्छा होनेपर भी पुरुषके दःखको नष्ट कर सुखी करनेमें असमर्थ हैं तो अन्य पुरुष कर्मकी उदीरणा होनेपर कैसा सुखी करने में समर्थ होंगे महासामर्थ्यसंपन्न हाथी भी जिस वृक्षको तोड़ने में असमर्थ है उसको अल्प शक्तीका धारक खरगोश कैसे तोड़ सकेगा.

ते अपण्णो वि देवा कम्मोदयपञ्चयं मरणदुक्खं ॥

वारेदुं ण समत्था घणिदं पि विकुब्बमाणा वि ॥ १६१७ ॥

ये शक्ताः पतनं शक्ता न धारयितुमात्मनः ॥

ते परित्रां करिष्यंति परस्य पततःकथम् ॥ १६८२ ॥

विजयोदया—ते देवा अपणो वि कम्मोदयपच्चयं मरणदुःखं ते देवा' सेंद्रका' कर्मोदयप्रत्ययं विश्वासं । मरणदुःखं आत्मनोऽपि । वारेदु ण समत्था निवारयितु न समयां । वणिदवि विरुवमाणा नितरां विक्रियां कुर्वन्तोऽपि ॥

इंद्रादीना स्वपरमृत्युदुःसनिराकरणशक्तिभैकान्तिकीमुपदिशति—

मूलारा—ते सेन्द्रा । कम्मोदयपच्चय दुर्निवारसद्देवादिकर्मविपाकहेतुकं । मरणदुःखं मृत्युं परातिशयद्विदर्शनप्रेष्यकर्महेतुप्रयोगादियभवमनस्ताप च । अथवा मरणसमानं दुःखं मरणदुःखं दुर्निवारविपद्दान्तर्भनस्तापमित्यर्थः । विउवमाणा दिव्यशक्त्यनुभावाद्विविधा च क्रिया पलायनात्मगोपनादिना कुर्वतः । उक्तं च—

ये शक्ताः पतनं शक्ता न वारयितुमात्मनः ॥

ते परित्रा करिष्यन्ति परस्य पतत' कथं ॥

अर्थ—देवभी कर्मके उदयसे होनेवाले अपने मरणके दुःखोंको स्वयंभी दूर नहीं कर सकते हैं, प्रयत्न करके भी वे अपना मरण दुःख दूर नहीं कर सकते हैं.

उज्झंति जत्थ हत्थी महाबलपरक्कमा महाकाया ॥

सुत्ते तम्भि वहंते समया उडेह्छया चेव ॥ १६१८ ॥

तरसा येन नीयंते कुंजरा मदमंथराः ॥

शशकानामसाराणां तत्र स्रोतसि का स्थितिः ॥ १६८३ ॥

विजयोदया—उज्झति यस्मिन् स्रोतसि दृस्तिन उद्यते महाबलपरक्कमा महाकाया । तस्मिन् स्रोतसि वहति शशका गता एव ॥

उक्तार्थसमर्थनार्थमाह—

मूलारा—उज्झंति उद्यन्ते । स्वयमेव वहन्तो यातीत्यर्थः । अथवा स्रोतसः स्वातंत्र्यविवक्षया जत्थेत्यत्र कर्तरि हृतीया उक्तं च—

तरसा येन नीयंते कुंजरा मदमंथराः ॥

शशकानामसाराणां तत्र स्रोतसि का स्थितिः ॥

बल आहारादिज सामर्थ्यं । परक्कमो नैसर्गिकं वीर्यं । यूडेह्छया चेव वहतो गता एव । अनायासनयनमत्र व्यग ॥

अर्थ—जिस नदीके प्रवाहमें महान् शरीरके धारक-जिनका शारीरिक बल और परक्रम महान् है ऐसे मत्त हाथी भी डूब जाते हैं तो उसमें खरगोश कैसे स्थिर रह सकेंगे अर्थात् वे तो अवश्य डूबेंगे ही।

किह पुण अण्णो मुच्चहिदि सगेण उदयागदेण कम्मेण ॥

तेल्लोक्केण वि कम्मं अवारणिज्जं खु समुवेदं ॥ १६१९ ॥

त्रिदशा येन पातयते विक्रियावलशालिनः ॥

नायासो विद्यते तस्य कर्मणोऽन्यनिपातने ॥ १६८४ ॥

विजयोदया—किह पुण अण्णो मुच्चहिदि कथं पुनरन्यो मोक्ष्यते, स्वेन कर्मणा उदयागतेन। वैलोक्ष्येनापि कर्मो-  
निवार्यमेव समुपगत ॥

मूलारा—पुण वाक्यालंकारे। अण्णो त्रैलोक्यातरवर्ती कश्चिदेकः कर्मोदयप्रतिबंधव्यलीकाहकारविंडयितः।  
मुच्चहिदि मोक्ष्यते। स्वफल नानुभाविष्यत इत्यर्थः। समुवेदं सम्मुखमुदयमागतं।

अर्थ—देव भी कर्मके उदयवश होकर मरण दु खसे अलग नहीं रह सकते हैं तो अन्य प्राणी इस दु खसे कैसी अपती मुक्ता कर सकेंगे सर्व त्रैलोक्यने भी यदि उदयमें आये हुए कर्म को रोकनेका प्रयत्न किया तो भी वह उनसे नहीं रुका जायगा अर्थात् बलवान् कर्म अनिवार्य है

कह ठाड़ सुक्कपत्तं वाएण पंडंतयम्मि मेरुम्मि ॥

देवे वि य विहडयदो कम्मस्स तुम्मि का सण्णा ॥ १६२० ॥

कर्मणा पततीन्द्रे तु परस्य क न्यवस्थितिः ॥

मेरौ पतति वातेन शुष्कपत्रं न तिष्ठति ॥ १६८५ ॥

विजयोदया—कह ठाड़ सुक्कपत्त कथं तिष्ठेत् शुष्कपत्रं। वातेन पतति मेरौ। अणिमाद्यद्युणसपञ्चान्देवानपि  
कुरुसीकुर्वत कर्मणो भवत्यल्पयत्ने का सणा ॥

दृष्टातमुपन्यस्य कर्मणोऽशक्यप्रतीकारता दर्शयन्क्षपकं तदुपेक्षाया सहटमवस्थापयति—

मूलारा—पंडितयस्मि पतति सति । देवे अणिमाद्यष्टगुणैर्धर्मसंपन्नान्पुराव । विहेड्यदो अभिभवतः । तुमस्मि त्वयि । आसन्नमृत्यौ मनुष्यमात्रे । का सण्णा को विचार । इच्छमानेनेदमसद्वैयमुपनीयमानं प्रतिबध्नु शक्यते नेत्यभिनि चर्चात्मिका युक्तिरिति यावत् । अथवा ॥

अर्थ—जिस वायुसे मेरु पर्वत भी स्थिर रह नहीं सकता है क्या उससे शुष्क पत्र स्थिर रहेगा? कर्मोदय अणिमादिक आठ गुणोंके धारक देवाँको दु खी बनाता है, इतर प्राणिवर्ग तो उनसे अत्यल्प शक्तिके धारक हैं क्या उनको यह कर्म दुःख कर्म दिये बिना रहेगा?

कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्माडु णत्थि कोइ जगे ॥

सव्वबलाइ कम्मं मलेदि हत्थीव णल्लिणिवणं ॥ १६२१ ॥

बलीयेभ्यः समस्तेभ्यो बलीयः कर्म निश्चितम् ॥

तद्बलीयांसि मृदाति कमलानीव कुजरः ॥ १६८६ ॥

विजयोदया—कम्माह कर्माणि बलवति, कर्मभ्यो बलवाच्चास्ति जगति । कल्पाद्यत्सात्सर्वाणि बहुविद्याद्रव्य-शरीरपरिचारबलानि मर्हयति हस्तीव नलिनवन ॥  
कर्मधलस्य सर्वबलोपमर्हकत्वमाह—

मूलारा—सव्वबलाइ बहुविद्याद्रव्यशरीरपरिचारादिवलानि । मलेदि मर्हयति ॥

अर्थ—जगतमें कर्म ही अतिशय बलवान् है, उसे दूसरा कोई भी बलवान् नहीं है, जैसे हाथी कमलवनका नाश करता है वैसे यह बलवान् कर्म भी सर्व बंधु, विद्या, द्रव्य, शरीर, परिवार, सामर्थ्य इत्यादिकोंका नाश करता है

इच्चेवं कम्ममुदओ अवारणिज्जोत्ति सुट्ठ णाऊण ॥

मा दुक्खायसु मणसा कम्मस्मि मगे उदिणस्मि ॥ १६२२ ॥

कर्मोदयमिति ज्ञात्वा दुर्निवारं सुरैरपि ॥

मा कार्षीर्मानसे दुःखमुदीर्णे सति कर्मणि ॥ १६८७ ॥

विजयोदया—इष्टेव कम्मुदयो इति शब्दः प्रकातपरिसमाप्तिं सूचयति । एवं इत्युक्तपरामर्शः । कम्मुदयो कर्मोदयः । अवारणिज्जोसि अनिवार्य इति । सुद्धु णाउण सभ्यग्भात्वा । मा दुक्खायसु मणसा मा कार्पण्डिं खं मनसा । कम्ममि सगे उविण्णमि कम्मणि उदीरणे ॥

प्रकृतं उपसंहृत्य क्षपकमनसि निवेशयति—

मूलारा—इष्टेव इतिः समाप्तौ । एवमुक्तपरामर्शः । उक्तप्रकारेण समाप्तं कर्मोदयसामर्थ्यवर्णनमित्यर्थः । मा दुक्खायसु मा दुःखायस्व मा दुःखं वेदयस्व दुःखितमात्मानं मा मंस्या इत्यर्थः । परमानन्दमयो ज्ञात्मेति भावः । मणसा । तद्दुःखमपि न दुःखं यत्र न संक्षिश्यते मनः । इति भावः ।

अर्थ—इस प्रकारसे कर्मका उदय दुर्निवार है ऐसा समझकर स्वकीय कर्मका उदय होनेपर हे क्षपक ॥ तू मनमें दुःखित मत हो

पडिक्खविदे वि सण्णे रडिदे दुक्खादिदे किलिठ्ठे वा ॥

ण य वेदणोवसामदि णेव विसेनो हवदि तिस्से ॥ १६२३ ॥

विषादे रोदने शोके संक्लेशे विहिते सति ॥

न पीडोपशमं याति न विशेषं प्रपद्यते ॥ १६८८ ॥

विजयोदया—पडिक्खविदे परिदेवते कृते शोके । विषादे रटने, दुःखे, संक्लेशे वा न वेदनोपशाम्यति । नापि काश्चिदातिशयो भवति वेदनाया ॥

न च परिदेवनादिना दुःखस्योपशमोऽपकर्णो वा कश्चिद् भवति केवलमात्मनः क्लीबता प्रकाश्यते इति निश्चयति—

मूलारा—पडिक्खविदे आर्तविलपिनि पुरुषे आर्तविलपने वा कृते । एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयं । विसण्णे शोके कृते । रडिदे रोदने कृते । दुक्खादे दुःखे कृते । किलिठ्ठे स्वस्य परस्य चोपतापे कृते । विसेसो अतिशयः स च प्रकार-पादिसक्यः । उक्तं च—

विषादे रोदने शोके संक्लेशे विहिते सति ॥

न पीडोपशमं याति न विशेषं प्रपद्यते ॥



अर्थ—शोक, विषाद, दुःख, संकलेशपरिणाम करनेपर तथा रुदन करनेसे भी दुःखोंका शमन नहीं होता है. अथवा उसमें कुछ विशेषता भी नहीं होती है.

अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ संकिलेसेण होइ खवयस्स ॥

अट्ठं सुसंकिलेसो ज्झाणं तिरियाउगणिमिच्चं ॥ १६२४ ॥

नान्योऽपि लभ्यते कोऽपि संकलेशकरणे गुणः ॥

केवलं चध्यते कर्म तिर्यग्गतिनिबंधनम् ॥ १६८९ ॥

विजयोदया—अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ अन्योग्यत्र गुणो न कश्चिच्छोकादिना संकलेशेन । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि तत्कर्तुं प्रारभते यस्य साध्यं फल अस्ति । संकलेशेन न किञ्चित्फलं अपि मुमुक्षो, अपि तु संकलेशपरिणामो ह्यार्ते ध्यान ममनोवृत्तिप्रयोगाख्य तच्च तिर्यगायुषो निमित्तं । ततोऽल्पदुःखमीकं भवत त्वदीय संकलेशो दुरुत्तरे तिर्यगावर्ते निपातयतीति भयोपदर्शनं कृतं ॥

परिदेवनादिदुर्ध्यानादुपकारातरमपि मुमुक्षोर्न भवत्यपि महाननुपकारः स्यादित्यावेदयति—

मूलारा—अण्णो वि प्रवृत्तदुःखोपशमापकर्षविलक्षणतः पुण्यबंधसाधुकारादिकः । गुणो उपकारः । अथ अत्र असद्वैद्योदयादापतिते सति दुःखे । संकिलेसेण परिक्लृप्तादिना । खवयस्स अशुभकर्मक्षपणोद्यतस्य । अट्ठं वेदनास्मृतिसमन्वाहाराख्यमार्तध्यान । तिरिआउगणिमित्तं तिर्यगायुष्कर्मबंधनिवधन । ततोऽस्मादल्पदुःखादुद्विजमानं भवतं दुरुत्तरे तिर्यग्दुःखावर्ते संकलेशः पातयतीति भयोपदर्शनार्थमिदं ।

अर्थ—शोकादिक संकलेश परिणाम उत्पन्न करनेमें कुछ भी फायदा नहीं होता है. जिससे फायदा होता है दुद्विमान लोक वही कार्य करते हैं. संकलेश परिणामोंसे मुमुक्षुओंको कुछ भी फल प्राप्त होता नहीं उनसे तो उलटा अमनोज्ञ विप्रयोग नामक आर्तध्यान उत्पन्न होता है अर्थात् विष, कटक, शत्रु आदिक प्रतिकूल-अनिष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर वे पदार्थ मेरेसे कब अलग होंगे ऐसा बार बार चिंतन होना ही अमनोज्ञ विप्रयोग नामक आर्तध्यान है. इसकी उत्पत्ति संकलेश परिणामोंसे होती है. यह ध्यान तिर्यचायुका बंध होनेमें कारण है. अतः हे क्षपक! यदि तू इस अल्प दुःखसे मयथुक्त होगा तो उत्पन्न हुए संकलेश परिणाम तुझे उर्निवार तिर्यग्गतिमें गिरा देंगे. अतः तू संकलेशपरिणामोंको छोड़ दे

संक्राशस्य नैरर्थक्यप्रकटनार्थोत्तरा गाथा—

हृदमाकासं मुष्टीर्हि होइ तह कंडिया तुसा होंति ॥

सिगदाओ पीलिदाओ घुसिलिदमुदयं च होइ जहा ॥ १६२५ ॥

हतं मुष्टिभिराकाशं विहितं तुषखंडनम् ॥

सलिल मथितं तेन सकलेशो येन सेवितः ॥ १६२६ ॥

विजयोदया—हृदमागास हतं मुष्टिभिराकाश ताडित । तुषखंडन तंडुलार्थं । सिक्तापीडनं तिलयन्त्रे तैलार्थं । जलमथन च घृतार्थं यथापार्थकं तथानर्थकं संक्रेशो वेदनाकुलस्य । वेदनाया अनिराकरणत्वाद्नैरर्थक्यसाम्याद्भेदो-  
पन्यासो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो ॥

वेदनाकुलस्य सकलेशवैयर्थ्यसमर्थनार्थं चतुरो दृष्टानानाचष्टे—

मूछारा—हृद अपकारकाभिभवाय ताडित । कंडिया तंडुलार्थं कुट्टिता । पीलिदाओ तिलयन्त्रे निक्षिप्य तैलार्थं चूर्णिताः । घुसिलिदमुदय मथितमुदकं घृतार्थं । तेन येन वेदनाशाल्यर्थं संकलेशः कृत इति संबंधः । त तत् । यतः संकलेश-  
वेदनोपशमादि पुण्यवर्धादिर्वा प्रत्युत तिर्यगायुर्वधः स्यात् । उक्तं च—

हत मुष्टिभिराकाश विहितं तुषखंडनं ॥

सलिलं मथितं तेन सकलेशो येन सेवितः ॥

अर्थ—जैसे आकाशको मुष्टिओसे मारना, तंडुलौके लिये भूसा कूटना, तैलके लिये चालु को यंत्रसे पीसना और धीके लिये जलका मथन करना जैसा व्यर्थ है वैसा दुःखनिराकरणके लिये संक्रेशपरिणाम उत्पन्न करना व्यर्थ है, क्यों कि वेदनाकुल मनुष्योंके वेदनाओंका परिहार करनेमें संक्रेश परिणाम असमर्थ हैं यहां दृष्टांत आकाशादिकको कूटना और दार्ष्टान्त संक्रेशपरिणाम इन दोनोंमें साम्य दिखाया है, निरर्थक्यतरूप धर्म दोनों में होनेसे साम्य स्पष्ट है

पुष्पं समयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दन्व ॥

को धारणीओ धणिदरस देंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥ १६२६ ॥

पूर्वं भुक्तं स्वयं द्रव्य काले न्यायेन तत्स्वयं ॥

अधमर्णस्य किं दुःखमुत्तमर्णाय यच्छतः ॥ १६९१ ॥

विजयोदया—पुष्टं सयमुच्युत्त पूर्व स्वयमुपभुक्त । काले णालेण न्यायेन । तेत्तिगं द्रव्यं तावद्द्रव्य । को दुःखिओ होज्ज धाराणिओ को दुःखितो भवेदधर्मण धणिणदम्मि उत्तमर्णे । हरंते स्वं द्रव्यं हरति ॥

स्वयमादाय भुक्तं यावद्द्रव्यं तावदेव काले धनिकाय प्रयच्छतो धारणिकस्येव स्वयमर्जितपूर्वस्य पापस्य फल-  
मनुभवतस्तत्त्वज्ञस्य किं दुःखं स्यादिति ज्ञात्वा पूर्वकर्मोदयकृतैतद्दुःखसहनभूणमोक्षमिव पश्यन्मास्म दुःखवशो भूरिति  
स्मरयितुं प्रागुक्तमेव गाथात्रयमन्वाख्याति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष योग्य कालमें स्वय धनिक से धन लेकर उसका उपभोग करता है परंतु जब वह धनिक उससे योग्यकाल व्यतीत होनेपर धन लेता है तब वह पुरुष क्या खिन्न होता है? क्योंकि वह जानता है कि मैंने कर्जरूपसे लिया हुआ धन धनिकको लौटा देना मेरा कर्तव्य है।

तह चेव सयं पुव्व कदरस कम्मस्स पाककालम्मि ॥

पायागयम्मि को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणंता ॥ १६९२ ॥

कृतस्य कर्मणः पूर्वं स्वय पाकमुपेयुषः ॥

विकारं बुध्यमानस्य कस्य दुःखायते मनः ॥ १६९२ ॥

विजयोदया—तह चेव तथा चैव । सय पुव्व कदस्स कम्मस्स आत्मना पूर्वं कृतस्य कर्मणः । पाककालम्मि फलदानकाले न्यायेनागते । को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणतो को नाम दुःखितो भवेज्जाता ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—उसी प्रकार जो जीवने पूर्वजन्ममें कर्म किये हैं उनका फलदानका काल आवश्य प्राप्त होता ही है, उसके प्राप्त होनेपर कोन ज्ञाता पुरुष दुःखी होगा ? अभिप्राय यह है कि, कर्म जब फल देने लगेगा उस समय उसका शान्त परिणामोंसे अनुभव करना चाहिये।

इय पुव्वकदं इण मज्ज महं कम्मणुगत्ति णाऊण ॥

रिणमुक्खणं च दुक्खं पेच्छसु मा दुक्खिओ होज्ज ॥ १६२८ ॥

पूर्वकर्मागतासातं सहस्वं त्वं महामते ! ॥

ऋणमोक्षमिव ज्ञात्वा मा भूर्मनसि दुःखितः ॥ १६२९ ॥

विजयोदया—इय पुव्वकद इय पवभूत । दुक्खं पुव्वकद पूर्वकर्मणा कृतं । इण इद दुःखं । अज्ज अद्य । महं कम्मणुगत्ति मम कर्मणामिति । णादूण ज्ञात्वा । रिणमुक्खण ऋणमोक्ष । दुक्ख पिच्छसु दुःख प्रेक्षस्व । मा दुक्खिदो होज्ज दुःखितो मा भू ॥

मूलारा—इणं अनुभूयमानदुःखमिव्यक्तपाकं । महं मम ॥ उक्तं च—

पूर्वकर्मागतासात सहस्वं त्वं महामते ! ॥

ऋणमोक्ष इति ज्ञात्वा मा भूर्मनसि दुःखितः ॥

अर्थ—जो दुःख मैं इस समय भोग रहा हू वह पूर्वकृत कर्म के अनुसार ही है मेने पूर्व जन्ममें कुकर्म नहीं किये होते तो इस जन्ममें उनका फलभोग मेरेको कैसे प्राप्त हो जाता ? यह तो मैं ऋणमोक्ष कर रहा हूं ऐसी चिंतन हे क्षपक ! तूं हृदयमें कर और दुःखी मत हो ।

पुव्वकदमज्झ कम्मं फलिदं दोसेण इत्थ अणणस्स ॥

इदि अप्पणो पओगं णच्चा मा दुक्खिदो होज्ज ॥ १६२९ ॥

स्वय पुराकृत कर्म ममाद्य फलितं स्फुटम् ॥

दोषो नैवात्र कस्यापि मत्वा दुःखासिकां त्यज ॥ १६३० ॥

विजयोदया—पुव्वकदमज्झ कम्म पूर्वकृतं मदीयं कर्म फलिदं फलित । दोसो ण पत्थ अणणस्स दोषो नैवान्यस्य इति । अप्पणो पओग णच्चा ज्ञात्वा । मा दुक्खिदो होज्ज मा कथा दु ख ।

पुनस्तदेव भावयति—

मूलारा—अप्पणो पओगं स्वय भोक्तव्य स्वयं कृतत्वात् ॥

अर्थ—मैंने किया हुआ पूर्वकर्म अब मुझको दुःख दे रहा है इसमें अन्य किसीका भी कष्टर नहीं है जब मैंने स्वयं कर्म किया था तो अब उसका फल मेरेको ही भोगना पड़ेगा ऐसा विचार करके हे क्षपक' तू कष्टी मत हो

जदिदा अभूदपुव्व अण्णोसिं दुक्खमप्पणो चेव ॥

जादं हविज्ज तो णाम होज्ज दुक्खाइदुं जुत्तं ॥ १६३० ॥

अभूतपूर्वमन्येषामात्मनो यदि जायते ॥

तदा दुःखासिका कर्तुं मानसे युज्यते तव ॥ १६९५ ॥

विजयोदया—जदिदा यदि तावत् । दुःखमन्येगं अभूतपूर्व । अण्णो चेव जादं हविज्ज आत्मन एव जातं भवेत् । तो णाम होज्ज दुक्खाइदुं जुत्तं । ततो नाम दुःख कर्तुं युक्त ॥

किं च सर्वसंसारिसाधारणं पापविपक्तिम तव दुःखमनुभवतः का दुःखासिकेति शिक्षयति—  
मूलारा—अण्णो चेव तवैव । दुक्खाइदुं दुःखं कर्तुं । उक्तं च—

अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ साधारणौ सर्वसरीरभाजा ॥

इत्यात्मबुद्ध्या विगण्य धर्मान् खेदयत्यात्ममनो विपादैः ।

अर्थ—यदि हमने पूर्वजन्ममें तो दुःख देने वाला कार्य नहीं किया था और यदि इस समय हमको दुःख भोगना पड़ रहा है तो अवश्य दुःख करना अथवा संक्लेशपरिणाम करना योग्य है.

सन्वोसिं सामण्ण अवस्सदाद्वव्यं करं काले ॥

णाएण य को दाऊण णरो दुक्खादि विलवदि वा ॥ १६३१ ॥

अवश्यमेव दातव्यं काले न्यायेन यच्छतः ॥

सर्वसाधारणं वंदं दुःखं कस्य मनीषिणः ॥ १६९६ ॥

विजयोदया—सन्वोसिं सामण्ण सर्वेषां भव्याना आमण्य । काले कर्मविनाशनकाले । अवस्स दायव्यं अवश्य दातव्यं । यसात्तस्मात् । करं करशब्दाच्च दाऊण वत्या । णाएण य न्यायेन च को णरो दुक्खदि विलवदि वा को नरो दुःखं करोति विलपति वा ॥

युत्तन्त्रेण गाथाद्वयमाह—

मूलरा—कर सिद्धायं । दुःखपादि दुःख करोति । विलवदि परिदेवनं करोति ॥

अर्थ—सर्व भव्योंको मुनिव्रत कर्मविनाश करनेके समयमें अवश्य देना योग्य है. क्यों कि राजाको कर देनेसे क्या कोई मनुष्य दुःख करेगा? विलाप-शोक करेगा? जैसा कर देना न्याय प्राप्त है वैसे मुनिव्रत धारण करना अथवा दूसरोंको देना अवश्य कार्य है.

सर्वोसि सामणं करभूदमवस्सभाविकम्मफलं ॥

इण मज्ज मेत्ति णच्चा लभसु सदिं तं धिदिं कुणसु ॥ १६३२ ॥

सर्वसाधारण दुःखं दुर्निवारमुपागतम् ॥

सहमानो मुने माभूदुत्खितस्त्वं भज स्मृतिम् ॥ १६१७ ॥

विजयोदया—सर्वोसि सर्वेया विनेयानां । सामण करभूदं अवस्स भाविकम्मफल अवश्यभाविकर्मफल । इणमज्जमेदि इदं श्रामण्य अद्य करभूत मेमेति । णच्चा ज्ञात्वा । लभसु सदिं स्मृतिं प्रतिपद्यस्व ॥ त तत् धिदि कुणसु धृतिं कुरु ॥

मूलरा—सदिं स्मृति । प्रकमादाहाप्रत्याख्यानविपया । धिदिं कुणसु

भुक्तोज्झिता सुदुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।

उच्छिष्टेणिव तेष्वा मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥

ममभवमहर्निद्रोऽनंतशोऽनतवारान् ॥

पुनरपि च निगोवानतशोन्तर्विवृत्तः ॥

किमिह फलमुक्तं तदद्यापि मोक्ष्ये ।

सकलफलधिपत्तेः कारणं देव! देया ॥

इत्येवमादिसंतोषभावनावष्टभाद्वेदनाद्वेदनाप्रतिकारार्थितयाप्यौपधाशानाद्यभिलाषं मा कार्षीरित्यर्थः ॥

अर्थ—यह मुनिव्रत कर्म का फल है, यह करदानके समान है ऐसा समझकर सर्व भव्योंको अवश्य

धारण करना चाहिये यह मेरा मुनिव्रत कर के समान है ऐसा ममद्वार पूर्वमें जो आहारका त्याग किया था उसका स्मरण करो और धैर्य धारण करो।

अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसंधसव्विस्स ॥

पच्चक्खणास्स कदस्स भंजणादो वरं मरणं ॥ १६३३ ॥

साक्षीकृत्य गृहीतस्य पंचापि परमेष्ठिनः

सयतस्य वर मृत्युः प्रत्याख्यानस्य भंगतः ॥ १६९८ ॥

विजयोदया—अरहंत सिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसंधसव्विस्स । अर्हंत, सिद्धात्, केवलिन, तत्रत्या देवता सर्वे च सध साक्षित्वेनोपादाय कृतस्य । पच्चक्खणास्स भजणादो प्रत्याख्यानस्य विनाशनात् । वरं शोभनं मरणं प्राणपरित्याग ॥

एवमपि बोध्यमानो दुर्वारमोहोदयात्प्रत्याख्यान यदावमुंश्रति तदा तद्भंगमहादोषप्रदर्शनेन प्रत्यवस्थाप्यो गुरुणे त्युपदेष्टुमाह—

मूलारा—अधिउत्ता तत्स्थानवासिदेवताः । अर्हदादयः साक्षिणो यत्र तत्तत्साक्षि तस्य । पच्चक्खणास्स कदस्स भंजणादो प्रत्याख्याताहारसेवनादित्यर्थः ।

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु. सामान्य केवली, दीक्षास्थानस्थित देवता और सर्व संघ इनके साक्षीसे जो आहार के त्यागका व्रत धारण किया था उसका त्याग करना योग्य नहीं है उससे तो मरनाही अच्छा है.

कथ मरणादशोभनता प्रत्यख्यानभंगस्येत्याशयायामाचष्टे प्रथममुत्तर प्रत्याख्यानभजने दुष्टता निवेदयितुम्—  
आसादिदा तओ होति तेण ते अप्पमाणकरणेण ॥

राया विव सव्विक्कदो विसंव संतेण कज्जम्मि ॥ १६३४ ॥

अप्रमाणयता तेन न्यक्कुताः परमेष्ठिनः ॥

कार्याभिवर्तमानेन साक्षीकृतनृपा इव ॥ १६९९ ॥

विजयोदया—आसादिदा परिभूता । तदो तत पञ्चात् । प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकाल । तेन प्रत्याख्यानभग कारिणा । ते अर्हदादयः । अग्रमाणकरणेन अग्रमाणकरणेन तत्साक्षिकं कर्म प्रतिज्ञात विनाशयता ते अप्रमाणीकृता भवन्ति । अप्रमाणकरणे च ते परिभूता भवन्ति । राजा विधु साक्षिकद्वयो रजिव साक्षीकृत । कलजस्मि विसवदतेण कार्ये विसवदता । एतदुक्त भवति राजसाक्षिक प्रतिज्ञात कर्म चान्यथा कुर्वता राजा यथा परिभूतो भवति एवमर्हदादय इति ।

इतः प्रत्याख्यानभगदुष्टता प्रवर्धनाचष्टे—

मूलारा—आसादिदा अवज्ञाहता । कृताः । तदो प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकालं । तेण प्रत्याख्यानभगकारिणा । अप्रमाणकरणेन तत्साक्षिकप्रतिज्ञातानुष्ठाननिष्ठापनाद्विसवदनेन । यच्च यं विप्रलभतै स त परिभवतीति प्रतीतमेव । राजा वि य नृप इव । विसवदतेण न्यभिचरता राजसाक्षिक प्रतिज्ञातकर्माकुर्वता राजा यथा परिभूतो भवत्येवमर्हदादयोऽपि इत्यर्थः॥

प्रत्याख्यानका भग करना मरणसे भी कैसा डुरा है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य सविस्तर देते हैं प्रथमतः प्रत्याख्यान का नाश करना क्यों डुरा है? इसका खुलासा करते हैं—

अर्थ—प्रत्याख्यान ग्रहण कर जिसने उसका त्याग किया है उसने तो अरहतादिकों को साक्षीभूत समझकर उसने प्रत्याख्यान लिया था यदि उसने प्रत्याख्यानको नष्ट किया तो अर्हतादिकों को उसने अप्रमाण माना था ऐसा समझना चाहिये उनको अप्रमाण माननेसे उसने उनका तिरस्कार—अनादर किया है ऐसा भाव सिद्ध होता है जैसे किसी मनुष्य ने किसी कार्यमें राजाको प्रमाणभूत मानकर प्रतिज्ञा की थी परंतु उसने उस कार्यकी प्रतिज्ञाका यदि भंग कर दिया तो उसने राजाको अप्रमाणभूत समझकर उसका अपमान किया ऐसा लोक समझते हैं, इसी प्रकार प्रत्याख्यान लेकर उसको तोड़नेवाले पुरुषने अर्हदादिकों को अप्रमाणभूत माना है उसने उनका तिरस्कार किया है ऐसा समझना चाहिये.

जइ दे कदा पमाणं अरहंतादी हवेज्ज खवएण ॥

तरसंखिदं कयं सो पच्चक्खाणं ण भंजिज्ज ॥ १६३५ ॥

प्रमाणीकुरुते भत्तो यो योगी परमेष्ठिनः ॥

तत्साक्षिकमसौ जातु प्रत्याख्यानं न मुंचति ॥ १७०० ॥



भवोंमें दुःख भोगना पड़ता है. राजाकी आसादनकी अपेक्षा अर्हदादिकोंकी आसादना महान् दुःख देती है. ऐसा अभिप्राय ममक्षना चाहिए

मोक्षवाभिलाषिणो संजटस्स णिधणगमणं पि होइ वर ॥  
पच्चक्खाण भजंतस्स ण वरमरहदादिसक्खिकदा ॥ १६३९ ॥  
णिधणगमणमेयमेवे णसो ण पुणो पुरिल्लजम्मेसु ॥  
णस वयभंगो पुण कुणइ भवसएसु वहुएसु ॥ १६४० ॥  
ण तथा दोसं पावइ पच्चक्खाणंमकरित्तु कालगदो ॥  
जह भंजणा हु पावदि पच्चक्खाण महादोमं ॥ १६४१ ॥  
मोक्षाभिलाषिणः साधोर्मरणं शरणं वरम् ॥  
प्रत्याख्यानस्य न त्यागो जिनसिद्धादिसाक्षिणः ॥ १७०४ ॥  
एकत्र कुरुते दोषं मरणं न भवान्तरे ॥  
व्रतभगः पुनर्जातो भवानां कीटिकोटिषु ॥ १७०५ ॥  
प्रत्याख्यानमनादाय त्रियमाणस्य देहिनः ॥  
न तथा जायते दोषः प्रत्याख्यात्यजने यथा ॥ १७०६ ॥

विजयोदया—ण तथा दोस पावदि न तथा दोष प्राप्नोति । पच्चक्खाणमकरित्तु प्रत्याख्यानमकृत्वा । काल-  
गदो मृतः । जह भजतो पावदि यथा प्रत्याख्यानमगममहादोष प्राप्नोति ॥

मुसुक्षुयते. सन्यासविनाश गाथायुग्मेन पुनर्जुगुप्सते—

मूलारा—मंतुं भवसुम् ।

मूलारा—स्पष्टम् ॥ एते द्वं श्रीविजयादयो नेच्छन्ति ॥

अकृतसन्यासाद्भक्तसन्यासस्य मरणे सुतरा दोषमाह—

मूलरा—अकरितु अकृत्वा । पञ्चक्याणं प्रत्यख्यानस्येति पष्ठ्यन्तं । जघ भञ्जतो पावदि इति पाठे द्वितीयात् प्राणम । अत्रोक्त च—

प्रत्याख्यानमकृत्वैव श्रुतस्तत्रैव दोषवान् ॥

प्रत्याख्यानं यथा भजन् महान्तं दोषमानुयात् ॥

अर्थ—मोक्षप्राप्तिकी अभिलाषा करनेवाले मुनिका मरण होना भी अच्छा ही है परन्तु अर्हददिकोंको साक्षी कर लिए हुए प्रत्याख्यानका भग करना कभी भी योग्य नहीं होगा मरण होनेसे एक भवका ही नाश होगा अर्थात् आगेके जन्ममें पुनः प्राणी अपनी उन्नति कर सकेगा परंतु व्रतभंग करनेसे, ऐसी प्राणीकी हानि होती है कि आगेके कौटवधि भवोंमें भी वह अपनी उन्नति करनेमें असमर्थ ही हो जाता है.

अर्थ—प्रत्याख्यान किए बिना ही जिसने प्राण छोड़े हैं वह उस दोषको प्राप्त नहीं होता है जिसको कि प्रत्याख्यान करके छोड़ने वाला प्राप्त होता है. अर्थात् आहारका त्याग करने की प्रतिज्ञा किए बिना ही जिसने मरण किया होगा उसके मनमें व्रतभंग करने लायक भाव नहीं रहते हैं इसलिए वह महान् दोषको प्राप्त होता नहीं परंतु आहारत्यागकी प्रतिज्ञा ले चुकने पर फिर जो अपनी प्रतिज्ञा तोड़ता है उसके हृदयमें सर्वलेशपरिणाम तीव्रतया उत्पन्न होते हैं अत एव वह महान् दोषी होता है

प्रत्याख्याताहारसेवा हि प्रत्याख्यानभग स चाहार प्रार्थमानो हिंसादिदोषानखिलानन्यतीति निगदति—

आहारार्थं हिंसइ भणइ असन्चं करेइ तेणकं ॥

रूसइ लुब्भइ मायां करेइ परिगिण्हदि य संगे ॥ १६४२ ॥

हिनस्ति देहिनोऽन्नार्थं भापते वित्तथ वचः ॥

परस्य हरते द्रव्यं स्वीकरोति परिग्रहम् ॥ १७०७ ॥

विजयोऽव्या—आहारार्थं हिंसइ आहारार्थं पइजीवनिकायान्दिहन्ति । असत्य भणति, स्तैन्य करोति । रुष्यत्य-  
लोभे, लुभ्यति लोभे, माया करोति, परिगृह्णाति सगन् ।

यश्चाहारोऽर्हददिसाक्षिक प्रत्याख्यातः स प्रार्थमानोऽर्हिसाक्षीनशेयान्दोषाननुपजयति इति वक्तुमुत्तरप्रबंधमाह

मूलारा—हिंसादि पङ्जीवनिकायान्दिनस्ति । रुस्सटि भोजनतदंगप्रतिवधकाय कुयति । लब्धमदि ग्रह विधत्ते धनाढवाहारासादने । संते गृहगृहिण्यादीन ।

छोड़ें हुए आहारका सेवन करनेसे प्रत्याख्यानभंग होता है प्रत्याख्यानछोड़कर जो आहारकी अभिलाषा करता है वह हिंसादि संपूर्ण दोषोंको उत्पन्न करता है इस अभिप्रायको प्रगट करते हैं—

अर्थ—यह जीव आहारके लिये छहकाय जीवोंको मारता है, असत्य वचन बोलता है चोरी करता है, आहारका लाम न होनेपर रुष्ट होता है, और होनेपर जादा लोभ बढ़ाता है, आहारके वास्ते मनुष्य कपट करता है, तथा परिग्रहोंको बढ़ाता है,

होइ णरो णिहज्जो पयहइ तवणणदंसणचरिन्त्तं ॥

आमिसकलिणा ठहओ छायां मइलेहू य कुलस्स ॥ १६४३ ॥

रत्नत्रयं जगत्सारमाहारार्थं विमुंचति ॥

निह्रपो भुवनख्यातं मलिनीकुरुते कुलम् ॥ १७०८ ॥

विजयोदया—होइ णरो णिहज्जो निर्लज्जो भवति नर । आहारार्थं परयाज्चारुणात् । प्रजहाति च तपो, ज्ञान, दर्शन चारित्रं च । अभिप्राख्येन कलिनावप्रवृद्ध छाया कुलस्य मलिनयति परोच्छिष्टभोजनाविना ॥

मूलारा — णिहज्जो आहारार्थं परयाचारिकरणात् । आमिसकलिदो आहारसंज्ञाख्येन कलिना पापकर्मणा । ठइजे व्याप्तं । अन्ये कलिदो आसक्तं । ठइदो वुमुक्षित इति व्याचक्षते । छायां शोभा माहात्म्य वा ॥

अर्थ—आहारके लिये मनुष्य याचना करता है, जिससे उसकी निर्लज्जता प्रकट होजाती है, आहारके लिये वह तप, ज्ञान, दर्शन और चारित्रको तिलांजलि देता है आहार संज्ञारूपी पापके वश होकर अपने कुलको मलिन करता है

णानदि बुद्धी जिम्भावसस्स मंदा वि होदि तिव्खा वि ॥

जोणिगसिलेसलगो व होइ पुरिसो अणप्यवसो ॥ १६४४ ॥

जिह्वेन्द्रियवशासाशु बुद्धिस्तीक्ष्णापि नश्यति ॥  
संप्रत्यते परायत्तो योनिगच्छेपलग्रवत् ॥ १७०९ ॥

विजयोदया—णासदि बुद्धी बुद्धिर्नश्यति । आहारलपटतया युक्तयुक्तविवेकारुणत्वात् । कस्य । जिह्वावशास्य तीक्ष्णा पि सती पूर्वं बुद्धि कुटा भवति । रसरगमलोपल्लुता अर्थयाथान्यं न पश्यतीति पारमीककेशलशालिंग इव भवति पुरुषोऽनात्मवशा ॥

मूलरा—णासदि आहारलपटतया युक्तयुक्तविवेकारुणत्वात् । मदा रसरगमलोपल्लमाकुटा । अर्थयाथान्यं न पश्यतीत्यर्थः । जोगिगसिलेसलमो वज्रलेपायलम इव ।

अर्थ—जो मनुष्य जिह्वाके वश होता है उसकी बुद्धि नष्ट होती है, अर्थात् वह आहार लुब्ध होकर युक्तयुक्त का विचार मनमें से निकाल देता है जिह्वाके वशीभूत हुए मनुष्य की बुद्धि प्रथम यद्यपि तीक्ष्ण होगी तो आगे वह मलिन होती है रसोंमें लुब्ध होकर पदार्थोंका यथार्थ निश्चय करनेमें वह असमर्थ होती है, आहारलो-  
लुप मनुष्य वज्रके वधनसे मानो बघा हुआ विलकुल अस्वतंत्र होता है.

धीरत्तणमाहृपं कदण्डं विणयधम्मसम्भावो ॥

पयहइ कुणइ अणत्थं गल्लग्गो मच्छओ चेव ॥ १६४१ ॥

धम्मधैर्यकृतजत्वमाहात्म्यानि निरस्यति ॥

महान्तं कुरुतेऽनर्थं गलल्लग्नो यथा क्षपः ॥ १७१० ॥

विजयोदया—धीरत्त धीरत्त, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय, धर्मश्रद्धा च प्रजहति । करोत्यनर्थश्रद्धां च । प्रज-  
हति करोत्यनर्थमात्मन । गलावलग्रमत्स्य इव ॥

मूलरा—कदण्डा कृतज्ञता । अणत्थं मरणांतं दुःखमात्मनः । गलल्लग्नो बडिशसक्तः । मच्छगो चेव  
मत्स्य इव ॥

अर्थ—आहारके वश होकर मनुष्य धैर्य, महत्ता, कृतज्ञता, विनय, धर्मश्रद्धा, इन गुणोंको छोड़ देता है,  
गलमें लगी हुई मछली जैसे अपने प्राणोंको छोड़ देती है वैसे आहारलुब्ध पुरुष भी अपने प्राणोंको छोड़ देते हैं.

आहारत्थं पुरिसो माणी कुलजावि पहियकिक्की विं ॥

मुंजंति अभोज्जाए कुणइ कम्मं अकिच्चं खु ॥ १६४६ ॥

कुलीनो धार्मिको मानी ख्यातकीर्तिर्विचक्षणः ॥

अभक्ष्यं वत्तते वस्तु विरुद्धां कुरुते त्रियाम् ॥ १७११ ॥

विजयोद्या—आहारत्थं भुजते अभोज्यानि पुरुषो । मानी कुलीन, प्रथितकीर्तिरपि अकरणीयं करोति ॥

मूलरा—माणी मानिनोऽपि । अकिञ्चं च करणयोग्यमपि ॥

अर्थ—आहारके वश होकर पुरुष अभक्ष्यमक्षण भी करता है मानी, कुलीन, कीर्तिमान भी पुरुष आहार लुब्ध होकर अकार्य करते हैं

आहारत्थं मज्जारिसुसुमारी अही मणुस्सी वि ॥

दुब्बिमक्खादिसु खायंति पुत्तमंडाणि दइयाणि ॥ १६४७ ॥

इहपरलोइयदुक्खाणि आवहते णस्स जे दोसा ॥

ते दोसे कुणइ णरो सव्वे आहारगिद्धीए ॥ १६४८ ॥

दुर्भिक्षादिषु मार्जरीशिशुमाराहिमानवाः ॥

बह्वभान्यप्यपत्यानि भक्षयन्ति बुभुक्षिताः ॥ १७१२ ॥

ये जन्मद्वितये दोषा केचनानर्थकारिणः ॥

ते जायंतेऽखिला जन्तोराराहारासक्तचेतसः ॥ १७१३ ॥

विजयोद्या—स्पष्टम् ॥

अभक्ष्यतमभक्षणं क्षुधाचोना लक्षयति—

मूलरा—अही सर्पीः स्त्रीत्वादभक्ष्यतमा । मणुस्सा मानुषीः सजातीयत्वात्स्त्रीत्वाच्चाभक्ष्यतमा । दुर्भिक्षादिषु दुर्भिक्षदुर्गोपरोधादिषु । पुत्तमंडाणि सुपुत्रान् ॥

आहारगृहेः सर्वापराधकारणत्वमाह—

मूलारा—गरस्स आत्मनः ।

अर्थ—मार्जारी, शिशुमारी, सर्पिणी, और स्त्री भी दुष्कालादिक प्रसंगमें अपने प्रिय बालकोंको भी स्वा-  
जाते हैं, 'जिन दोषोंसे इहलोक और परलोकमें दुःखोंकी प्राप्ति होती है मनुष्य आहार लुब्ध होकर उन सर्व  
दोषोंको कर डालता है

\*उत्तरगाथाद्वयम्—

आहारलोलुपतया स्वयभूरमणसमुद्रे तिमितिमिगिलादयो मत्स्या मद्वाकाया योजनसहस्रायामा पणमास  
विद्युतवदना स्वपन्ति । निद्राविमोक्षानन्तर विद्वितानना स्वजठरप्रविष्टमत्स्यापीनाहारीकृत्य अवधिष्ठाननामधेय  
नरकं प्रविशति । तत्कर्णोवलग्रमलाद्वारा शालिसिक्थमात्रतनुत्वाच्च शालिसिक्थसंज्ञकाः यदीदृशमस्माकं शरीर  
भवेत् । किं नि सन्तु एकोऽपि जन्तुर्भते ? सर्वान्मक्षयामीति कृतमनःप्रणिधानास्ते तेम वाचधिस्थानं प्रविशन्ति । इति  
कथयति गाथया—

अवधिद्वानं गिरयं मच्छा आहारहेतु गच्छन्ति ॥

तथेवाहारभिलासेण गदो शालिसिच्छो वि ॥ १६४९ ॥

अहारसंज्ञया श्वन्न महान्त सप्तम परम् ॥

गच्छन्ति तिमयो यातः शालिसिक्थोऽपि नष्टधीः ॥ १७१४ ॥

विजयोदया—अवधिद्वानमित्यादिका गाथा ॥

चक्रधरो वि सुभूमो फलरसगिद्धीए वंचिओ संतो ॥

णठो समुद्दमज्जे सपरिजणो तो गओ गिरयं ॥ १६५० ॥

चतुरंगयलोपेतः सुभूमः फललालसः ॥

नष्टोऽभोद्यौ निजैः सार्धं ततोऽपि नरकं गतः ॥ १७१५ ॥

विजयोदया—चक्रधरो वि सुभूमो नाम चक्रलालन फलरसगृह्यया वंचित समुद्रमध्ये विनष्ट सपरिजन ।

पञ्चाश नरक गतः ।  
१८७

मत्स्यसुभौमदृष्टताभ्या आहारगृद्धिदोषान्निदर्शयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—अवविद्वान् सप्तमनरकभूमौ अवधिस्थानाल्भ्यं प्रस्तांरं । आहारगृद्धिजनितपतक हेतुनिमित्तं यत्र गमने ।  
सालिमिदो शालिसिक्थकमात्रगतत्वाच्चालिसिन्धो नाम क्षुद्रमत्स्यः । तत्कथानकं यथा—स्वयंभूरमणसमुद्रमास्तव्या  
योजनसहस्रायामा योजनपचाशन्मात्रप्रपुष्टविण्कंभा, सार्द्धयोजनशतद्वयोच्चाया महामत्स्या आहारलोलुपत्वेन पण्मा-  
सान्मुलं प्रसार्य विप्रति । ततो मुर पि ग्राघात प्रविष्टेतरमत्स्यादीन्मशयित्वा चक्षोप्रपापमानोऽपविस्थानं ब्रजति । तत्कर्ण-  
वासिनस्तत्कर्णमलाहाराश्च तदंष्ट्रातरालैर्निर्गच्छन्तो मत्स्यादीन् अवलोच्य इमे अवज्ञानिनो यन्मुल पिघातुं न जानन्ति यदी-  
दमस्माक शरीरं भवेन्निःसर्गमसुमेकोऽपि न लभेतेति कुतोत्कृष्टगैर्द्रध्यानां शालिसिन्धका अपि तत्सहवासिनो भवंति ॥

मूलारा—चक्रवरो अष्टमः । वंचिने प्रतारितः । गिर्यं मत्तमं ॥

स्वयंभूरमण समुद्रमें तिमि तिमिगिलादिक महामत्स्य रहते हैं उनका शरीर बहुतेही बड़ा रहता है, उनकी शरीरकी लंबाई हजार योजनकी कही है वे मत्स्य उह मामतक अपना मुह उचाडकर नौद लेते हैं, नौद मुलनेके बाद आहारमें लुब्ध होकर अपना मुह बंद करते हैं तब उनके मुहमें जो मत्स्यादिक प्राणी आते हैं उनको वे निगल जाते हैं, वे मत्स्य आयुष्य ममाप्तिके अनंतर अवाधि स्थान नामक नरकमें प्रवेश करते हैं इन मत्स्योंके क्रानमें शालिसिक्थ नामक मत्स्य रहते हैं वे उनके कानका मल खा कर जीवन निर्वाह करते हैं, उनका शरीर तडुलके सीथके ग्रमाणका रहता है अतएव उनको शालिसिक्थक ऐसा अन्वर्थक नाम है वे अपने मनमें यदि हमारा शरीर इन महामत्स्योंके समान बड़ा होता तो हमारे मुहसे एक भी प्राणी निकल नहीं सकता हम संपूर्ण प्राणियोंको खा जाते ऐसा विचार सतत करते हैं, इस विचारसे उत्पन्न हुए पापोंसे वे भी उसी नरकमें प्रवेश करते हैं यही अभिप्राय आगेकी गाथासे आचार्य कहते हैं—

अर्थ—आहारकी अभिलाषासे मत्स्य अवाधि स्थान नामक सातवे नरकमें गमन करते हैं, इस आहारा-  
-भिलाषासे ही शालिसिक्थक मत्स्य भी उसी नरकमें उत्पन्न हुआ ( इसकी कथा आराधना कथाकोषमें देखो )

अर्थ—फलोंके रसका आस्वादन करनेमें आसक्त होकर सुभूम चक्रवर्ती भी अपने परिवार सहित समु-  
द्रमें पडकर मर गया और नरकमें उत्पन्न हुआ

आहारत्यं काऊण पावकम्माणि तं परिगओ सि ॥

ससारमणादीय दुक्खसहरसाणि पावंतो ॥ १६५१ ॥

आहारसंज्ञया भद्र कृत्वा पापं दुरुत्तरम् ॥

चिरकालं भवाम्भोयौ प्राप्तो दुःखमनारतम् ॥ १७१६ ॥

विजयोदया—आहारार्थं पापानि कर्माणि कृत्वा ससारमनादिक प्रविष्टो भवान्दुःखसहस्राणि वेदयमान ॥

एवमाहारदोषान्प्रकाश्य क्षपके अवतारयति—

मूलारा—परिगदो भ्रान्तः ।

अर्थ—हे क्षपक ! इस आहारके वश होकर तूने अनेक पापकर्म कर अनादि संसारमें भ्रमण किया था, हे क्षपक ! अनादि कालपर्यंत तूने आहार वश होकरही हजारों दुःख सह लिये थे.

पुणरवि तेहव तं संसारं किं भमिदुमिच्छसि अणंतं ॥

ज णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारसण्णा ते ॥ १६५२ ॥

किं त्वमिच्छसि भूयोऽपि भ्रमितुं भवकानने ॥

दुःखदामशानाकांक्षां येनाद्यापि न मुंचसि ॥ १७१७ ॥

विजयोदया—पुनरवि पुनरपि । तयैव ससारमनतमटितु किमिच्छसि ? यस्मादद्याव्याहारे तृष्णा न नश्यति ॥

मूलारा—ण वोच्छिज्जदि न निराक्रियते । ते त्वया । उक्तं च—

किं त्वमिच्छसि भूयोऽपि भ्रमितुं भवकानने ॥

दुःखदामशानाकांक्षा येनाद्यापि न मुंचसे ॥

अर्थ—हे क्षपक तेरी आहारभिलाषा अद्यापि शांत नहीं हुई है अतः तू अभी भी पूर्ववत् अनंत संसारमें भ्रमण करना चाहता है क्या ?



जीवस्स गत्थि तिच्ची चिरंमि भुंजंतयस्स आहारं ॥

तिच्चीए विणा वित्तं उव्वरं उद्धुदं होइ ॥ १६५३ ॥

आहारं वत्तममनोऽपि चिरं जीवो न तृप्यति ॥

उद्धुत्तं सर्वदा वित्तं जायते तृप्सितो विना ॥ १७१८ ॥

विजयोदया—जीवस्स गत्थि तिच्ची जीवस्य नास्ति तृप्ति विरमप्याहारं भुंजानस्य । तृप्त्या च विना वित्तं नितरासुचल भवति ॥

किं च—

मूलारा—उव्वरं अत्यंत । उद्धुदं आकुल ॥

अर्थ—हे क्षपक ! चिरकालपर्यंत आहार ग्रहण करके भी यह जीव तृप्त नहीं हुआ है और तृप्तिके विना यह वित्त अत्यंत आकुल रहता है.

जह इधणेहिं अग्गी जह य समुदो णदीसहस्सेहिं ॥

आहारेण ण सक्को तह तिप्पेदुं इमो जीवो ॥ १६५४ ॥

इंधनेनेव सप्पाच्चिः सलिलेनेव वारिधिः ॥

अधसा गृहमाणेन जीवो जातु न तृप्यति ॥ १७१९ ॥

विजयोदया—जह इधणेहिं अग्गी यथेन्धनैराग्निर्नदीसहस्रैरुदधिस्तृप्यितुमशक्यस्तथाहारेण जीवः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जैसे इंधनोसे अग्नि तृप्त नहीं होता, जैसे हजारो नदीओसे समुद्र तृप्त नहीं होता है तथा यह जीव भी आहारसे कभी भी तृप्त नहीं होता है.

देविंदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमा य ॥

आहारेण ण तिच्चा तिप्पदि कह भोयणे अण्णो ॥ १६५५ ॥

भोगिनश्चाक्रिणो रामा वासुदेवाः पुरंदराः ॥

नाहरैस्तृप्तिमायातास्तृप्यत्यत्र परे कथम् ॥ १७२० ॥

विजयोदया—देविदचक्रवर्ती य देवेंद्रा लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षोत् आत्मीयतनुतेजोनिमित्तेन आहारेण, चक्रवर्तिनोऽपि पण्ड्यधिकत्रिशतसूपकारैर्वर्षमात्रेणैकदिनादहारेण संस्करणोद्यतैः द्वौकितेन तथाद्वैचक्रवर्तिनोऽपि । भोगभू-मिजा भोजनागकल्पतरुप्रभवेन न दृष्टा । कथमन्यो जनस्तृप्यति ॥

मूलारा—देविदेलादि सुरेंद्रा लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षादात्मीयतनुतेजोनिमित्तेनाहारेण न दृष्टा । नाप्यु-भयेऽपि चक्रिणः पण्ड्यधिकत्रिशतसूपकारैः वर्षमात्रेणैकदिनमाहारसंस्करणोद्यतैर्द्वौकितेन, नापि भोगभूमिजातभोजनाग-कल्पतरुप्रभवेन ॥

अर्थ—देवेंद्रों को लाभान्तराय कर्मका तीव्र क्षयोपशम रहता है इस लिये उन शरीरमें कति स्थिर करने वाला जो आहार उसकी प्राप्ति होती है उससे वे तृप्त नहीं होते हैं मकल चक्रवर्ती और त्रिखट्ट चक्रवर्तीके घरमें तीनसो साठ रसोइया रहते हैं वे सब मिलकर दररोज एक दिनका आहार तयार करते हैं उसका भोग लेकर चक्रवर्तीओंकी मी वृप्ति नहीं होती है । भोगभूमि जीव मी भोजनांग नामक कल्पवृक्षसे दिव्य आहार की प्राप्ति करके संतुष्ट नहीं होते है उपर्युक्त देवेंद्र, चक्रवर्ति और भोगभूमिज जीव लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे युक्त होते हैं इनको स्वेच्छित आहारके पदार्थ मिलते हैं तो मी वे तृप्त नहीं होते हैं तो अन्य तुझसरीखे जन कैसे तृप्त होते हैं ?

उद्धुदमणस्स ण रदी विणा रदीए कुदो हवदि पीदी ॥

पीदीए विणा ण सुहं उद्धुदचित्तस्स घणणस्स ॥ १६५६ ॥

रत्थाकुलितचित्तस्य प्रीतिर्नास्ति रतिं विना ॥

प्रीतिं विना कुतः सौख्यं सर्वदा गृह्यचेतसः ॥ १७२१ ॥

विजयोदया—उद्धुदमणस्स इतो भद्रमतो भद्रमस्माच्चेदमिति परिप्लवमानचेतसो न रतिः, क्व च तथा विना प्रीतिः । प्रीत्या च विना सुखं चलचित्तस्य तत्तदाहारलपटस्य ॥

मूलारा—उद्धुदमणस्स इदमितो भद्रमस्मान्चेदमिति परिप्लवमानचेतसः । घणणस्स तत्तदाहारलपटस्य ॥

अर्थ—यह आहार स्वादु है यह आहार मीठा है इससे मैं सुखी होता हूं ऐसे विचारसे मनुष्यका मन

अमिलापासे आहार ग्रहण करनेमें सुखकी अपेक्षासे दुःखही जादा है अथवा आहारकी प्राप्ति करनेके लिये अधिक कष्ट करने पड़ते हैं अतएव आहारमें सुख कम हैं और दुःख अधिक है

सुखस्याल्पताया. कारणमाचष्टे—

जिबभामूलं बोलेइ वेगदो वरहओव्व आहारो ॥

तथेव रसं जाणइ ण य परदो ण त्रि य से परदो ॥ १६६१ ॥

अतिक्रामति वाजीव जिब्हामूलं स वेगतः ॥

तत्रैव बुध्यते स्वाद भुंजानो न पुन. परे ॥ १७२७ ॥

विजयोदया—जिह्वाया मूल वेगेनातिक्रामत्याहार जात्यश्व इव । जिह्वामात्र एव रसं वेत्ति जीवो न आहाराद्युपरितः, न च पुरतोऽग्रतः । अल्पा च जिह्वा ॥

कुतो भोक्षुराहारात्सुखमल्पमित्यत्राह—

मूळारा—बोलेदि वेगेन जिह्वा लंघयित्वा यातीत्यर्थः । तथेव जिह्वामात्र एव । अल्पैव जिह्वा । रसं स्वादं जाणदि वेत्ति । भोक्ता । पुरदो जिह्वायाः पूर्वस्मिन् मुखदेशे । से जिह्वायाः । परदो परस्मिन्भागे गलदेशदौ ॥ उक्तं च—

जाल्यश्व इव बाहारो जिह्वामेत्यानिवेगतः ॥

तत्रैव तद्रसं वेत्ति नेवावीक्ष्यत्तोऽपि वा ॥

अर्थ—जैसे उत्तम घोड़ा बड़े वेगसे दौड़ता है वैसेही यह आहार भी जिह्वाके अग्र भागका उल्लंघन करके शीघ्र पेटमें प्रवेश करता है जिह्वाके अग्रभागमेंही आहारका रस जाननेका सामर्थ्य है अर्थात् संपूर्ण जिह्वा आहार का रस जाननेमें असमर्थ है ऐसा समझना चाहिये. आहार थालीमें परोसा है ऐसी अवस्थामें अथवा वह पेटमें लेजानेके अनंतर जीव उसका रसस्वाद लेनेमें असमर्थ है और जिह्वा अल्प भी है इस लिये आहार का सुखानुभव अत्यल्प है

अब्धिणिमिसेणमेत्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो ॥

गिद्धीए गिलइ वेगं गिद्धीए विणा ण होइ सुखं ॥ १६६२ ॥

एण्ह पि जदि ममत्ति कुणसि सरिरे तेहेव ताणि तुम ॥

दुक्खाणि संसरतो पाविहसि अणतयं कालं ॥ १६६८ ॥

यत्ते ! देवममत्वेन प्राप्तं दुःखमनारतम् ॥

इदानीं सर्वथा साधो ! तत्तत्स्त्वं निराकुरु ॥ १७१४ ॥

विजयोदया—एण्ह पि इदानीमपि शरीरे कगेपि ममता तयेव नाति दु यानि चतुर्गतिषु परावर्तमानोऽनंतकाल प्राप्स्यसि ॥

मूलारा—संसरतो चतुर्गतिषु परिवर्तमानः ॥

अर्थ—पूर्ववत् इस समयमें भी यदि तू शरीरस्नेह को न छोड़ेगा तो चतुर्गतिओंमें अनंतकाल भ्रमण करता हुआ तू पुनः उनही दुखोंका स्थान होगा अर्थात् अनंतकालतक शरीरस्नेह दुःख देगा ही. शरीरस्नेह छोड़ना ही दुःखसे छूटनेका उपाय है.

णत्थि भयं मरणसम जम्मणसमय ण विज्जेदे दुःखं ॥

जम्मणमरणादकं छिण्ण ममत्तिं सरिादो ॥ १६६९ ॥

दुःख जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं भयम् ॥

जन्ममृत्युकरौ छिद्धि शरीरसमतां ततः ॥ १७१५ ॥

विजयोदया—णत्थि भय मरणसम मरणसदृश भय नास्ति । कुयोनिषु जन्मसमानं दुःख न विद्यते । जन्ममरणात्कं छिद्धि शरीरसमता ।

मूलारा—जम्मणमरणादकं जन्ममरणे आतको मारणात्मकव्याधिरिव दुःखभयप्रकर्षत्वात् । तद्वैतुत्वान्त्र देहसमत्वं तथोक्तम् । उक्तं च—

दुःखं जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं भयं ॥

जन्ममृत्युकरौ छिद्धि शरीरसमता ततः ॥

अर्थ—इस जगतमें मरणके समान अन्य भय नहीं है और कुयोनिषोंमें जन्म लेना महान् दुःख दायक

अभिलाषासे आहार ग्रहण करनेमें सुखकी अपेक्षासे दुःखही जादा है अथवा आहारकी प्राप्ति करनेके लिये अधिक कष्ट करने पडते हैं अतएव आहारमें सुख कम है और दुःख अधिक है

सुखस्याल्पताया कारणमाचष्टे—

जिबभामूलं वोलेइ वेगदो वरहओव्व आहारो ॥

तत्थेव रसं जाणइ ण य परदो ण वि य से परदो ॥ १६६१ ॥

अतिक्रामति वाजीव जिह्वामूलं स वेगतं ॥

तत्रैव बुध्यते स्वाद भुजानो न पुन. परे ॥ १७२७ ॥

विजयोदया—जिह्वाया मूल वेगेनातिक्रामत्याहार जात्यथ इव । जिह्वामात्र एव रसं वेत्ति जीवो न आहारानुपरित, न च पुरतोऽग्रत । अल्पा च जिह्वा ॥

कुतो भोक्तुराहारात्सुखमल्पमित्याह—

मूळारा—वोलेटि वेगेन जिह्वा लघयित्वा यातीत्यर्थः । तत्थेव जिह्वामात्र एव । अल्पेव जिह्वा । रसे स्वादं जाणदि वेत्ति । भोक्ता । पुरदो जिह्वायाः पूर्वस्मिन मुखदेशे । से जिह्वायाः । परदो परस्मिन्भागे गलदेशादौ ॥ उक्तं च—

जात्यथ इव वाहारो जिह्वोत्पत्तानिवेगत ॥

तत्रैव तद्रसं वेत्ति नेवार्याक्पयस्तेऽपि वा ॥

अर्थ—जैसे उत्तम घोडा बड़े वेगसे दौडता है वैसेही यह आहार भी जिह्वाके अग्र भागका उल्लंघन करके शीघ्र पेटमें प्रवेश करता है जिह्वाके अग्रभागमेंही आहारका रस जाननेका सामर्थ्य है अर्थात् संपूर्ण जिह्वा आहार का रस जाननेमें असमर्थ है ऐसा समझना चाहिये. आहार थालीमें परोसा है ऐसी अवस्थामें अथवा वह पेटमें लेजानेके अनंतर जीव उसका रसस्वाद लेनेमें असमर्थ है. और जिह्वा अल्प भी है इस लिये आहार का सुखानुभव अत्यल्प है

अब्धिणिमिसेणमेत्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो ॥

गिन्दीए गिलइ वेगं गिन्दीए विणा ण होइ सुखं ॥ १६६२ ॥

एण्ह पि जदि ममर्चि कुणसि सरिरे तहेव ताणि तुम ॥

दुक्खाणि ससरंतो पाविहसि अणंतयं कालं ॥ १६६८ ॥

यते ! देहममत्वेन प्राप्तं दुःखमनारतम् ॥

इदानीं सर्वथा साधो ! तत्तत्तत्त्वं निराकुरु ॥ १७३४ ॥

विजयोदया—एण्ह पि इदानीमपि शरीरे करोमि ममता तथैव तानि दुःखानि चतुर्गतिषु परावर्तमानोऽन्तकाल प्राप्स्यसि ॥

मूलारा—संसरतो चतुर्गतिषु परिवर्तमान ॥

अर्थ—पूर्ववत् इस समयमें भी यदि तू शरीरस्नेह को न छोड़ेगा तो चतुर्गतिओंमें अनंतकाल भ्रमण करता हुआ तू पुनः उनही दुर्लोकोंका स्थान होगा। अर्थात् अनंतकालतक शरीरस्नेह दुःख देगा ही. शरीरस्नेह छोड़ना ही दुःखसे छूटनेका उपाय है.

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमय ण विज्जदे दुःखं ॥

जम्मणमरणादकं छिण्ण ममर्त्तिं सरीरादो ॥ १६६९ ॥

दुःख जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं भयम् ॥

जन्ममृत्युकरीं छिंदि शरीरममतां ततः ॥ १७३५ ॥

विजयोदया—णत्थि भय मरणसम मरणसदृश भय नास्ति । कुयोत्तिषु जन्मसमातं तु ख न विद्यते । जन्ममरणादकं छिंदि शरीरममता ।

मूलारा—जन्ममरणोपादकं जन्ममरणे आतको मारणात्मकन्यायिषि त्रि दुःखमयप्रकर्षवात् । तद्वैतुत्वान्च देहम-

मत्वं तथोक्तम् । उक्तं च—

दुःखं जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं भयं ॥

जन्ममृत्युकरीं छिंदि शरीरममता ततः ॥

अर्थ—इस जगत्में मरणके समात अन्य भय नहीं है और कुयोत्तिषोंमें जन्म लेना महान् दुःख दायक

असिधारं व विसं वा दोसं पुरिसस कुणइ पृथग्मेवे ॥  
कुणइ तु मुणिणो दोसं अकप्पसेवा भवसपुसु ॥ १६६६ ॥

असिधारविषे दोषमेकञ्च कुरुतो भवे ॥

अशानाया.पुनर्जन्तोर्दुरितं भवकोटिषु ॥ १७३२ ॥

विजयोदया—असिधार व असिधारा वा विष वा पुरुषस्य दोषमेकस्मिन्नेव भवे करोति । अयोग्यपसंभन भव-  
शतेषु मुनेर्दोषं करोति ॥

मूलारा—अकरूपसेवा अयोग्योपयोग. ॥

अर्थ—तरवारकी धारा अथवा विष ये दोन चीजे एकप्रभं ही पुरुषका लुकसान करती है परंतु मुनिओं के लिए आयोग्य आहारका सेवन सैकड़ों भवोंमें दानिकासक होता है, अर्थात् कुगतिमें दुःख देनेवाला होता है.

जावति किंचि दुक्खं सारिरे माणसं च संसारे ॥

पत्तो अपांतखुत्त कायरस ममत्तिदोसेण ॥ १६६७ ॥

शारीर मानस दुःख दृश्यते यज्जगज्जये ॥

तद्ददाति यत्ते सर्वं अशानाया विसंशयम् ॥ १७३३ ॥

विजयोदया—जावति किं चि दुक्ख यावत्किंचिद्दुःख शारीर मानस वा संसारे त्वमनतवार प्राप्तवाद् । तत्सर्वं  
शरीरममतादोषेण ॥

किं च कायममत्तादेव तथाशारे स्पृहा प्रादुर्भवति तच्छ्व ससारकारणकर्मबंधनिवधनत्वाद्दुःखावर्तनिमित्तमन  
स्तत्परिहाराय सतत प्रयत्नस्वेति शिक्षयितु उत्तरप्रवधमाह—

मूलरा—ममत्तिदोसेण ममायमहमस्य स्वामी उपलक्षणदयमेवाहमहमेवायमिति च ममत्वं तदेव दोषो

वैकारिक रूपमात्मनः । तेन हेतुना ।

अर्थ—हे क्षपक ! इस अनादि ससारमें अनतवार जो शारीरिक अथवा मानसिक दुःख तुझको भोगने पड़े हैं उनका कारण एक शरीरिक ऊपर ममता करना यही है, अर्थात् शरीरसे प्रेम आजतक तेरा नहीं नष्ट हुआ इससे ही सर्व दुखोंका तू पात्र बन चुका है

को नामाल्पसुखस्यार्थं वच्यते सुखतो बहोः ॥

संक्षेपशः क्रियते येन मृत्तिकालऽपि दूषिण्या ॥ १७३० ॥

विजयोदया—ये नाम अप्यसुखस्तस्मात् कारण को नामाल्पसुखनिमित्त महतोऽनिमित्तसुखात्प्रच्यवते च मुनिः संक्षेपेन स्वर्गोपवर्गसुखारण्या ॥

मूलारा—बहुसुहृत्स निर्वृत्तिमुदात्त । चुकेन्न प्रच्यवते ॥

अर्थ—कोनसा प्राणी थोडेसे सुखके लिये बहुत सुख जिससे मिलता है ऐसे निमित्तोको छोड़ देगा अर्थात् हे क्षपक ! तू अन्न भक्षण करके थोडासा सुख अल्पकालतक टिकनेवाला प्राप्त कर लेगा परन्तु इससे तुझको स्वर्गसुख और मोक्षसुखसे वंचित रहना पड़ेगा. आहारामिलपासे संक्षेप परिणाम बृद्धिगत होते हैं और उनमें स्वर्गोपवर्ग सुखसे हाथ धोने पड़ते हैं.

महूलितं अतिधारं लेहइ भुंजइ य सो सविसमण ॥

जो मरणदेसयाले पच्छेज्ज अकप्पियाहार ॥ १६६५ ॥

महूलिप्तामसेधारां निजानां स लिलिक्षति ॥

चुसुक्षते विप घोरे संन्यस्तो योऽशनायति ॥ १७३१ ॥

विजयोदया—महूलित मज्जुता लिप्तामसिधाता आस्वादयति । सविषमदान मुक्ते यो मरणदेशकाले अयोध्याहारप्रार्थना करोति ॥

प्रत्याख्यातमकस्यात्मनमृत्थोर्ध्वारमोहोदयादाहारमिच्छतो दृष्टातद्वारेण महातं दीपमावेदयति—

मूलारा—मरणेनसयाले मरण दिशति दद्याति कथयति वा मरणदेशः स चालौ कालश्च तस्मिन्मृदुवेलायामित्यर्थः । पच्छेज्ज वालेत । अकप्पियाहार अर्हदादिसाधिकं प्रत्याख्यातत्वादयोध्यामाहारं ॥

अर्थ—जो क्षपक मरण समयमें अयोध्या आहारको अभिलाषा रखता है वह शहदसे लपेटाई हुई तरवारकी धाराको जिह्वासे चाटता है ऐसा समझना चाहिये अथवा वह विषमिष्य हुआ अन्न खाता है ऐसा समझना चाहिये. तत्पर्य यह है कि आहार की अभिलाषासे संक्षेप परिणाम होते हैं जो कि दुर्गतीके कारण हैं.



निमेषमात्रके सौख्यमाहारग्रहणे परं ॥  
गृद्धितो गिलति क्षिप्रं तथा न हि विना सुखम् ॥ १७२८ ॥  
विजयोदया—अच्छिणिभेसणमिच्चो अक्षिनिमेपणमात्र काल । आहाररससेवाजनितसुखस्य गृद्धया वेगेन गिरति । यतो गृद्धया च विना नास्तिद्वियसुख ॥

मूलारा—आहारसुहस आहाररसजनितसुखस्य । वेगं शीघ्रम् ॥

अर्थ—आहारके रसानुभवसे जो सुख मिलता है उसका काल आंख मूढ़कर फिर उपहर्नेमें जितना काल लग सकता है उतना है यह जीव अभिलाषासे आहारको शीघ्र निगल जाता है और अभिलाषाके विना इन्द्रिय सुखकी प्राप्ति होती नहीं

दुक्खं गिद्धीघत्थरसाहट्टतरस होइ बहुगं च ॥

चिरमाहट्टियदुग्गयचेडरस व अण्णगिद्धीए ॥ १६६३ ॥

अशानं कांक्षतो नित्यं व्याकुलीभूतचेतसः ॥

दरिद्रेचेदकस्येव गृद्धस्यास्ति कृतः सुखं ॥ १७२९ ॥

विजयोदया—दुक्ख गिद्धीघत्थरसस्य दु खं महद्भवति लंपटतया प्रसक्तस्यभिलपत । चिरमाहट्टियदुग्गयचेडरस व अण्णगिद्धीए अन्नगृद्धया चिरं व्याकुलस्य दरिदस्यवधिनी दासेरस्येव ॥

मूलारा—गिद्धीघत्थरस लंपटताप्रसक्तस्य । आहट्टतरस आहारमभिलपतः । आहट्टिद व्याकुलस्यान्नगृद्धया । दुग्गा-दचेडरस दरिद्रदासेरस्य ।

अर्थ—आहारमें लंपट होकर जो उसकी अभिलाषा करता है उसको बड़े बड़े दुःख भोगने पड़ते हैं जो चिरकालसे अन्नकी अभिलाषासे पीड़ित हुआ है ऐसा दरिद्री पुरुष जैसे दुःख पाता है वैसे दुःखानुभव आहार लंपटीको भी होता है

को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं बहुसुखस्स चुक्केज्ज ॥

चुक्कइ हु संकलित्सेण मुणी सग्गापवग्गाणं ॥ १६६४ ॥

है. इसके समान दूसरा दुःख है नहीं. इसलिये जन्ममरणरूपी व्याधीको उत्पन्न करनेवाली शरीरममता तू अपने हृदयसे दूर कर.

अणुं इमं सरिरं अणुो जीवोत्ति णिच्छिदमदीओ ॥

दुक्खमयकिलेसयरीं मा हु ममत्तिं कुण सरिरे ॥ १६७० ॥

परोज्यं विग्रहःसाधो ! चेतनोऽय यतःपरः ॥

ततस्त्वं विग्रहस्नेह महाक्लेशकरं त्यज ॥ १७३६ ॥

विजयोदया—अणु इस सरिरं अन्यदिव शरीर अन्यो जतुरिति निश्चितमतिदुर्गसंक्लेशसंपादनोद्यतांमा कृथा शरीरे ममताम् ॥

महदुःखोपायकायममत्वत्याजनाय देहात्मभेदभावना भावयति—

मूलाया—दुक्खपरिकिलेसयरि चित्ताग्रसादलक्षणेन चित्तविभेपरूपेण वा दुःखेन क्रियमाणः परिक्लेशः शरीरो मानसश्च सत्तापः । उत्करणकारणं ।

अर्थ—हे क्षपक ! यह शरीर भिन्न है और जीव इससे भिन्न है ऐसा निश्चयसे समझकर दुःख और संक्लेश रहित परिणामोंकी जननी देहममता तू छोड़ दे

सर्वं अधियासंतो उवसग्गविधिं परीसहविधिं च ॥

णिस्संगदाए सद्धिह असंकिलेसेण तं मोहं ॥ १६७१ ॥

सहमानो मुने ! सम्यगुपसर्गपरीपहान् ॥

निःसंगस्त्वमसंक्लेष्टो देहमोहं तनूकुरु ॥ १७३७ ॥

विजयोदया—सर्व उवसग्गविधिं सर्व उपसर्गविकल्प परीपहविकल्प च सहमानो मोह भवास्तनूकुरु ॥ णिस्सगतया असंक्लेशेन च ॥

रामादिमंगत्यागभावनया अतैरौद्रपरीत्यागभावनया चोपसर्गाद्यभिभव परिहरन् शरीरममत्वं त्रासयेति शिक्षार्थमाह—

मूलरा—विधि विकल्प । गिरिमंगदाए निःसंगत्वभावनया । सखिह कृशीकुरु । असंकिलेसेण आर्त्तौद्रभावना च सम्मोहं शरीर समत्व । उक्त च—

सहमानो युते ! सम्यगुपसर्गपरीपहान् ॥

निःसंगत्वमसंछिद्यो देहमोह तनु कुरु ॥

अर्थ—हे क्षपक सर्व प्रकारके उपसर्ग और सर्व प्रकारके परीपह सहकर निःसंगत्वकी भावनासे और संछेदशरीरहित परिणामोंसे तू मोह को क्षीण कर

ण वि कारणं तणादीसंथारो ण वि य संघसमवाओ ॥

साधुस्स संकिलेसो तस्स य मरणावसाणम्मि ॥ १६७२ ॥

तृणादिसंस्तरो योग्यश्चतुर्द्धी संघमीलनम् ॥

निःफलं जायते साधो ! मृत्यौ सच्छिद्यचेतसः ॥ १७३८ ॥

विजयोदया—ण वि कारण तणादी नैव कारण तृणादिसंस्तर सछेदनाया, नापि संघसमुदाय मरणावसाने अकिलङ्घ्यत साधो ॥

मरणाते संम्लेशमाविशतः संस्तरादिविविधवैयर्थ्यमाह—

मूलरा—कारणं समाधिनिसिन्त । मरणावसाणम्मि मृत्योर्निकटे सति ॥

अर्थ—यदि मरणके समयमें संम्लेश परिणाम उत्पन्न होंगे तो तृणादिकोंका संस्तर, और संघसमुदाय भी सछेदनाके प्रति कारण रूप नहीं होंगे, क्योंकि ये बाह्य कारण हैं, असंकलेश रूप परिणाम ही सछेदनाकेलिए उपादान कारण माने गये हैं इसलिए परिणामोंमें संम्लेश न उत्पन्न होगा ऐसा क्षपकने प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् शरीरसमताका त्याग करना चाहिए

जह वाणियगा सागरजलम्मि णावाहिं रयणपुण्णाहिं ॥

पत्तणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जंति ॥ १६७३ ॥

रत्नसंभृतपात्रस्था चाणिजःसागरे यथा ॥

पत्तनं निकषा साधो ? निमज्जंति प्रमादतः ॥ १७३९ ॥

विजयोदया—जह वाणियगा यथा वणिजो रत्नसपूर्णाभिर्नभिः सह चिनदयति । समुद्रजलमध्ये प्रमादेन मूढा पत्तनातिक्रमागता अपि ॥

सम्यक्कृतशरीरसंछेदनावता भंस्तरमघवतामपि राक्षेपादिभावपरिहासहिणामसमाधिकरणं स्यादिति नृप्रातपुरःसरं समाधिमरणाधिनिमनुस्मरति—

मूलारा—प्रमादमूढा निद्रादिना प्रमादेन दुर्वातमहामत्स्यचौराधिनिनिपातमानतेवयंतः (१) विवज्जंति मरणाता विपदमासादयंति । रत्नपूर्णाभिर्नभिः सह ॥

अर्थ—जैसे नौकासे देशातरमें जाकर व्यापार करनेवाले वैश्य रत्नोंसे भरी हुई नौकाके साथ शहरके समीप आकर भी प्रमादवश होनेसे समुद्रमें डूबकर मरते हैं वैसे—

संछेदहणा विमुद्धा केई तह चैव विविहसंगेहि ॥

संथारे विहरंता वि संकलिठा विवज्जति ॥ १७४० ॥

तथा सिद्धिसमीपस्था शुद्धसंस्तारयायिनः ॥

निपतंति भवावर्ते जीवाः संक्षेयोगतः ॥ १७४० ॥

विजयोदया—संछेदहणा विमुद्धा शरीरसंछेदनाभावात् । संछेदनाया विमुद्धा अपि सतः । पूर्वं केचित् विविधसंगेहि विचित्रे रागद्वेषादिभाग्यपरिग्रहे सह । सयार विहरंता वि मस्तेर प्रवर्तमाना अपि । संकलिठा विवज्जति संकलिष्टप्रणता विनश्यन्ति ॥

मूलारा—संछेदहणा विमुद्धा वि सम्यक्कृतीकृतवपुषोऽपि । विविधसंगेहि । विचित्रे रागद्वेषादिभावपरिग्रहे सह । संकलिठा अतीरौद्रव्यानाभ्यामाविष्टाः ॥

अर्थ—शरीरसंछेदना तो जिनकी निरतिचार हो रही है परंतु मनमें विचित्र रागद्वेषादि रूप भावपरिग्रह निवास करते हैं ऐसे मुनि कयापपछलना की शुद्धि नहीं होनेसे मंस्तरमें आरुढ़ होनेपर भी संक्षेप परिणामोंमें क्लेशित होकर संसारसमुद्रमें डूबकर मरते हैं

सल्लेहणापरिसममिमं कयं दुक्करं च सामण्णं ॥

मा अप्पसोक्खहेउं तिलोगसारं वि णासेइ ॥ १६७५ ॥

सल्लेखनाश्रमं साधो ! चारित्रं च सुदुश्चरम् ॥

मा स्म त्याक्षीर्जगत्सारमल्पसौख्यजिघृक्षया ॥ १७४१ ॥

विजयोदया—सल्लेहणापरिस्सममिदं शरीरसल्लेखनाया क्रियमाणया अनशानादितपसा त्रिविधाहारत्यागेन, यावज्जीव वा पानपरिहारेण । जात परिश्रममिम । दुक्करं च सामण्णं दुष्करं कृतं च श्रमण्यं । चिरकालं त्रिलोकसारं अतिशयितस्वर्गपवर्गसुखदानात् । अण्णसुखखहेउं अल्पाद्वारसेवाजनितसुखनिमित्तं । मा विणासेहि नैव विनाशय ॥

एव रागाभावग्रथदौरात्त्यमवबुध्य खल्पहारसेवाजनितसुखामिलोपेणोत्कृष्टसुखसाधन विराम्यस्तदुत्करतपोरत्न मार्चूर्णयेति शिक्षयति—

मूलारा—सल्लेहणापरिस्समं शरीरसल्लेखनाया क्रियमाणया अनशानादिना तपसा त्रिविधाहारत्यागेन यावज्जीवं वा पानपरिहारेण जात देहेन्द्रियमनसा खेद । तिलोगमार सात्विश्याभ्युदयनिःश्रयसुखसपादनात् ॥

अर्थ—शरीरसल्लेखना करते समय अनशनादि तप करनेसे, जलके विना अन्य तीन प्रकारके आहारोंका त्याग करनेसे, तथा आभरण पानाहारका त्याग करनेसे जो श्रम है क्षपक ! तुझको हुआ है उससे तुझको यह मुनि ब्रत दुष्करसा दीखता है तो भी यह उत्कृष्ट स्वर्ग और मोक्षका सुख देनेवाला होनेसे त्रैलोक्यका अपूर्व सार है ऐसे लोकोत्तर मुनिव्रतको आहारजन्य अल्प सुखके लिये हे क्षपक ! तू मत छोड़दे

धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसणिसेवियं उवणमिच्चा ॥

धण्णा गिरावयक्खवा संथारगया णिसज्जंति ॥ १६७६ ॥

पुरुषैः कथितं धीरैर्मार्गं सद्भिर्निषेवितम् ॥

निरपेक्षाः श्रिता धन्याः संस्तरस्था निशेरते ॥ १७४२ ॥

विजयोदया—धीरपुरिसपण्णत्त उपसर्गोणा परिपद्धाना चोपनिषत्तैः अविचलधृतयो ये धीरास्तैरुपदिष्टं तत्सर्वं । सप्पुरिसणिसेवियं सत्पुरुष्यनिषेवितं । मार्गं उवणमिच्चा आश्रित्य । धण्णा धन्याः पुण्यवन्तः । गिरावयक्खवा निरपेक्षा परित्यक्तादानाः । संथारगया सत्सारुढा । णिसज्जंति शेरते ॥

क्षपकप्रोत्साहनार्थमाह—

मूलारा—धीरा उपसर्गाद्युपनिगतेऽपि अविचल्यतय • । उवणमिता आश्रित्य मार्गं । गिरावयक्कला प्रत्याख्यात—  
ग्रहणनिरपेक्षाः संतः । गिसज्जंति निशेरते विद्युद्धयतीत्यर्थः । उक्तं च —

पुरुषैः कथितं धीरैर्मार्गं सद्भिर्नियेवित ॥  
निरपेक्षाः श्रिता धन्याः सस्तरस्था निशेरते ॥

अर्थ—ग्रहान् उपसर्गं और परिपहसे पीडित होनेपर भी जिनका धैर्य निश्चल रहता है ऐसे धीर पुरुषोंने इस मुनिव्रतका उपदेश दिया है यह मुनिव्रत सत्पुरुषोंके द्वारा सेवन किया गया है, पुण्यवान् मुनीश्वर जिन आहारोंका त्याग किया है उनका सेवन कभी भी नहीं करते हैं और सस्तरमें आरूढ होकर इस मुनिव्रतकी पूर्ण तथा सिद्धि कर लेते हैं.

तमहा कलेवरकुडी पव्वोढव्वत्ति गिम्ममो दुक्खं ॥  
कम्मफलमुवेक्खतो विसहसु गिन्वेदणो चेव ॥ १६७७ ॥  
कलेवरमिदं त्याज्यमिति विज्ञाय निःस्पृहः ॥  
सहस्व कर्मजं दुःखं निर्वेदन इवाखिलम् ॥ १७४३ ॥

विजयोदया—तमहा तस्मात् । कलेवरकुडी शरीरकुडी । पव्वोढव्वत्ति परित्याज्येति मत्वा । गिम्ममो शरीरे ममतारहितो । दुक्खं विसहसु दुःखं विसहस्व । कम्मफलमुवेक्खतो कर्मफलमुपेक्षमाणो । गिन्वेदणो चेव निर्वेदनमेव ॥  
उपसहारमाह—

मूलारा—पव्वोढव्वत्ति परित्याज्येति मत्वा । कम्मफलं निष्पत्तीकारमित्यर्थः । गिन्वेदणो चेव निर्वेदन इव ॥  
अर्थ— इसलिये यह शरीररूपी झोपड़ी त्यागने योग्य है ऐसा समझकर हे क्षपक ! शरीरमें तू ममता रहित होकर कर्मफलके विषयमें रागद्वेषरहित हो वैराग्यमें तत्पर होता हुआ परीपहादिकोंसे उत्पन्न हुए दुःखोंको वेद-  
नारहित समझकर सहन कर.



नैत्य। मानधना हि मम धीरता द्रष्टुं इमे महर्षिका समायता यद्यप्येता पुरो वेदनायाः प्राणा याति कामं यांतु। तथाप्यहं मनस्विता न मुंचामीति स्तब्धमानो दुःखं सहते ॥

अर्थ—हे क्षपक! राजा वगैरह श्रीमान लोक तेरी सल्लखाना देखने के लिये आये हैं ऐसा कहकर अभिमानी क्षपकको मान उत्पन्न कर कवच करना चाहिये अर्थात् जब राजादिक श्रीमान् पुरुष क्षपकदर्शन करनेके लिये आते हैं तब उस क्षपककी अभिमानप्रशंसा करनी चाहिये मेरी दृढता तथा धैर्य देखनेके लिये ये राजादिक पुरुष आये हैं इनके आगे मेरे प्राण चले जावे तोभी कुछ परवाह नहीं है। मैं अपना मान नहीं छोड़ूंगा दुःख सहकर भी मैं अपने व्रतका नाश नहीं करूंगा ऐसे भाव क्षपकके मनमें राजादिकोंको लाकर उत्पन्न करने चाहिये

इच्चैवमाइकवचं भणिदं उस्सगियं जिणमदस्मि ॥

अववादिंयं च कवयं आगाढे होइ कादव्वं ॥ १६८० ॥

इत्येष कवचोऽवाचि संक्षेपेण श्रुतोदितः ॥

विशेषेणापि कर्तव्यो दुःखं सति दुरुत्तरे ॥ १७४६ ॥

विजयोदया—इच्चैवमाइकवच भणिदं इत्येवमादिकः कवच कथितो जिनमते । उस्सगिगो औत्सर्गिकः सामान्यभूतः । अववादिंयं कवचं कादव्वं विशेषरूपोऽपि कवच कर्तव्यो भवत्यागाढे मरणे ॥

एव दूरमरणस्य सामान्यरूपतया प्रबंधेन कवचमभिधाय निकटमरणस्य तं विशेषरूपतया विधेयमनुशास्ति—मूलारा—उस्सगिय सामान्यभूतः । अववादिंय विशेषरूपः । तत्कालोत्पन्नध्यानतरायनिमित्तदुःखनिराकरणोपायतया यथायं प्रयोज्य इत्यर्थः । आगाढे आसन्नमरणे ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीजिनमतेमें कवचका औत्सर्गिक-सामान्यस्वरूप कहा है, तथा जब आगाढमरण प्राप्त होता है तब विशेषरूप कवचभी करना चाहिये.

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहस्मि सत्तुणं ॥

जायइ अलंघणिज्जो कममसमत्थो य जिणदि य ते ॥ १६८१ ॥



स्तोष्यते क्षपकःसूरेर्वचनैर्हृदयंगमैः ॥

चंद्रस्येव करैः शुद्धैः शीतलैः कुमुदाकरः ॥ १७४७ ॥

क्षणेन दोषोपचयापसारिणः समेत्य वाक्यानि तमोऽपहारिणः ॥

जडोऽपि सूरे क्षपको विबुध्यते महसि भानोरिव नीरजाकरः ॥ १७४८ ॥

परीषदं प्रभवति संस्तरे स्थितो निकर्तितुं परमपराक्रमकमः ॥

निराकुलः कवचधरस्तपोधनो रणांगणे रिपुमिव कर्कशं भटः ॥ १७४९ ॥

इति कवचः ।

विजयोदया—जह कवचेण यया कवचेन । अभिज्ञेण अभेद्येन । कवचिदो सन्नद्धः । रणमुद्दे सच्चूणमलंघिज्जो द्वोवि रणमुद्दे शत्रूणामलघ्यो भवति । कम्मसमर्थो य प्रहरणादिक्रियासमर्थः । जिणदि य ते जयति च तानरीन् ॥

वाह्यकवचदृष्टान्तेनाध्यात्मिककवचस्य फलं स्फुटयितुं गाथाद्वयमाह —

मूलारा— अभेज्ञेण भेत्तुमशक्येन । कवचिदो सन्नद्धः । अलघणिज्जो अनभिभाव्यः । कम्म प्रहरणक्रिया । ते

शत्रून् ॥

अर्थ—जैसे अभेद्य कवच पहना हुआ वीर पुरुष रणमें शत्रुके सम्मुख निःशंक होकर जाता है और वह शत्रुको अलवनीय होता है अर्थात् शत्रु उसको मारनेमें असमर्थ होता है। शस्त्रप्रहारमें समर्थ वह वीरपुरुष शत्रुओंको जीतता है, वैसे—

एवं खवओ कवचेण कवचिओ तह परीसहरिऊणं ॥

जायइ अलंघणिज्जो उज्झाणसमर्थो य जिणदि य ते ॥ १६८२ ॥

विजयोदया—एव खवगो एव क्षपकः कवचेनोपगृहीत परीपहारिभिर्न लुप्यते, ध्यानसमर्थो जयति च तान्परीपहारीन् ॥ कवचुत्ति ॥

मूलारा—उवगाहिदो आहितातिशयः । कवचः । सूत्रतः ३५ । अंकतः १७४ ॥

अर्थ—इस प्रकार क्षपक भी जब उपदेशरूपी कवचसे युक्त होता है तब परीपहरूपी शत्रु उसका पराजय

करनेमें असमर्थ होते हैं. इस कवचसे युक्त होकर क्षपक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में तत्पर होकर परीपहरूप शत्रुको जीतता है. कवचाधिकारका वर्णन पूर्ण हुआ.

एवं अधियासेतो सम्मं खवओ परीसेहे एदे ॥

सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥ १६८३ ॥

इत्थेव क्षपकः सर्वान्सहमानः परिपहान् ॥

सर्वत्र निःस्पृहीभूतः प्रयाति समचित्ताम् ॥ १७५० ॥

विजयोद्या—एवं अधियासेतो एवं सहमान सम्यक्परीपहानेताम् । सर्वत्राप्रतिबद्ध. शरीरे, वसंतौ गणै, परिचारकेषु च सर्वत्रोपैति समचित्तां ॥

अथ तथाविधकवचोपग्रहवलेन तादात्मिकपरीपहसहिष्णोः क्षपकस्य निर्वर्त्या सर्वाचरणशिरोमणिकल्पमभिलष्यमाणसमाधिसाधनधौरेयताबलिना समता गाथापोडशकेन व्याचष्टे—

मूला—एवं कवचोपग्रहविधिना । अधियासेतो सहमानः । एदे तत्कालोपस्थिताम् । सव्वत्थ शरीरवसतिगणपरिचारकादौ । अपडिबद्धो ममेदमहमस्येति सकल्परहितः । उवेदि प्रतिपज्जते । सव्वत्थ जीवितमरणादौ । समता वा रागद्वेषोपरसं । अपि च—

अर्थ—इस प्रकार समस्त परीपहोंको अव्याकुलतासे सहन करनेवाला यह क्षपक शरीर, वसतिका, गण और परिचारक मुनि इन सर्व वस्तुमें समत्वराहित होता है. रागद्वेषोंको छोड़कर समताभावमें तत्पर होता है.

सव्वेसु दव्वपज्जयविधीसु णिव्वं ममत्तिदो विजहो ॥

णिप्पणयदोसमोहो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥ १६८४ ॥

समस्तद्रव्यपर्यायममत्वसंगवर्जितः ॥

निःप्रेमरागमोहोऽस्ति सर्वत्र समदर्शनः ॥ १७५१ ॥

विजयोद्या—सव्वेसु सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्यं परित्यक्तममताद्वेष ममेदं सुखसाधनं मदीयं इति वा । णिप्पणयदोसमोहो निस्तेहो, निर्वाणो, निर्माद. सर्वत्र समतामुपैति ॥

मूलारा—विधीसु विकल्पेषु । समत्तदो विजहो ममेदं सुखसाधन मदीयमिदमिति वा समत्वेन त्यक्तः । नि-  
पणयदोसमोहो निस्नेहो, निद्वेषो, ममेदमिष्टमिदं चानिष्टमित्यज्ञानरहितश्च । ज्वेदि तत्तादृक्कवचोपगृहीतः सन् ।  
क्षपक इति सर्वत्र शोध्यं ॥

अर्थ—सपूर्ण द्रव्य और उनके पर्यायभेदोंमें वह क्षपक समतारहित होता है अर्थात् ये द्रव्य और पर्याय  
भेदे सुखसाधन हैं ऐसा विकल्प उसके मनमें नहीं उत्पन्न होता है। वह स्नेह, मोह और द्वेषरहित होकर सर्वत्र  
समताभाव धारण करता है,

संजोगविष्यओगेसु जहदि इठेसु वा अणिठेसु ॥

रदि अरदि उस्सुगत्तं हरिसं दीणत्तणं च तथा ॥ १६८५ ॥

प्रियाप्रियपदार्थानां समागमवियोगयोः ॥

विजहीहि त्वमौत्सुक्यं दीनत्वमरतिं रतिं ॥ १७५२ ॥

विजयोदया—संयोगे रतिं, विप्रयोगे अरतिं, इष्टे वस्तुन्युत्कृष्टं, इष्टयोगे रतिं रतिं, हर्षं, इष्टविप्रयोगे अरतिं  
दीनतां । उस्सुगत्तं उत्सुकतां च तथा जहति क्षपकं कवचनोपगृहीतः ॥

मूलारा—रदि इष्टे वस्तुनि संयुज्यमाने, चित्तविश्रातिमनिष्टं वा वियुज्यमाने । अरदि अनिष्ट संयुज्यमाने  
इष्टे वा वियुज्यमाने चिन्तानवस्थिति । उस्सुगत्तं इष्टे वस्तुनि उत्कृष्टं, यदि तन्मे मिलति, मद्रकं भवेदिति हृदयोत्कलिका ।  
हरिसं इष्टसंयोगे रोमांचवचनप्रसादादिताभिव्यज्यमानमानंदं ॥ दीणत्तणं इष्टविप्रयोगे वैवर्ण्यादिना व्यज्यमानं विपाद ।  
कवचोपगृहीतो जहातीति संबधः ।

अर्थ—इष्टवस्तुका संयोग होनेसे चित्तमें प्रेम उत्पन्न होता है अथवा अनिष्ट वस्तु अपनेसे हट जानेसे भी  
प्रेम उत्पन्न होता है। अनिष्ट वस्तुका संयोग होनेसे अथवा इष्टवस्तुका वियोग होनेसे चित्तमें अस्थिरता उत्पन्न  
होता है। इष्ट वस्तुमें उत्कृष्टा अर्थात् यदि इष्ट वस्तु मिलजाय तो बहुत ही अच्छा होगा ऐसा हृदयमें विचार उत्पन्न  
होना इसको उत्सुकता कहते हैं। इष्ट वस्तुका संयोग होनेसे रोमांच, वचनमें प्रसन्नता इत्यादिसे जो आनंद  
उत्पन्न होता है उसको हर्ष कहते हैं। इष्ट वस्तुका वियोग होनेपर मूलमें विवर्णता उत्पन्न होती है जिससे मनकी

लिखताका अनुमान होता है इस लिखाताको दीनता कहते हैं क्षपक मुनि कवचसे युक्त होकर रति अरति, उत्सुकत्व, हर्ष, दीनता इन मनोविकारोंका त्याग करता है

मित्तिसुयणादीसु य सिरसे साधम्मिए कुले चावि ॥

रागं वा दोसं वा पुवं जायपि सो जहइ ॥ १६८६ ॥

भिन्ने शत्रौ कुले संघे शिष्ये साधर्मिके गुरौ ॥

रागद्वेषं पुरोत्पन्नं विमुंचस्व प्रधीर्यते ! ॥ १७५३ ॥

विजयोदया—मित्तिसुयणादीसु य मित्रेऽप्यु वा । शिष्येषु च सधर्मणि कुले वा पूर्वं जात रागद्वेष वासो जहाति ॥

मूलारा—सुयणादीसु धधुमातापितृगुर्वीन्द्रिय । पुत्रं जादं च दीक्षाग्रहणाद्वा प्रागुत्पन्नं मंस्कारेणानुव्यव्यमान । च शब्दादुत्पद्यमान, उत्पत्त्यमानं च । सो कवचोपगृहीत ॥

अर्थ—मित्र, वंशु-माता, पिता, गुरु वंगरह, शिष्य, और साधर्मिक इनके ऊपर दीक्षा ग्रहणके पूर्वमें अथवा कवचसे अनुगृहीत होनेके पूर्व जो रागद्वेष उत्पन्न हुए थे क्षपक उनका त्याग करता है

भोगेसु देवमाणुस्सगेसु ण करेइ पच्छणं खवओ ॥

मग्गो विराधणाए भणिओ विसयाभिलासोत्ति ॥ १६८७ ॥

कुर्याद्विभ्यादिभोगानां क्षपक. प्रार्थनां न तु ॥

उक्ता विराधनामूल विषयेषु स्पृहा यत. ॥ १७५४ ॥

विजयोदया—भोगेसु देवमाणुस्सगेसु देवमानवगोचरभोगप्रार्थना न करोति क्षपको व्यावर्णितकवचोपगृहीत । विषयाभिलाषो मुक्तिमार्गविराधनाया मूलमिति ज्ञात्वा ॥

मूलारा—देवमाणुस्सगेसु सुरतरगोचरेषु । मग्गो उपाय. । विराधणाए रत्तत्रयविलावन्त्योः ॥ भणिदा उक्त सूत्रे । विसयाभिलासोत्ति विषयाकाक्षेति मन्यमानः । हेत्वर्थे वा इति ॥

अर्थ—इस कवचसे युक्त होकर क्षपक देव और मनुष्यके भोगों की अभिलाषा नहीं करता है. यह विषयेच्छा मुक्तिमार्गके विरुद्ध है. ऐसा समझकर क्षपक उसका त्याग करता है.

इष्टेषु अणिष्ठेषु यः सहफरिसरसरूवगंधेषु ॥  
 इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे च ॥ १६८८ ॥  
 सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहिदप्पा ॥  
 खवयस्स रागदोसा हु उत्तमहं विराधेति ॥ १६८९ ॥  
 शब्दे रूपे रसे गंधे स्पर्शे साधो! शुभेऽशुभे ॥  
 सर्वत्र समतामेहि तथा मानापमानयोः ॥ १७५५ ॥  
 समानो भव सर्वत्र निर्विशेषो महामते! ॥  
 रागद्वेषोदये जंतोरुत्तमार्थो विनश्यति ॥ १७५६ ॥

विजयोदया—स्पर्शं ।

मूलारा—इधपरलोगे इहलोके इष्टे अनिष्टे वा तद्वत्परलोकेऽपि अथवा इहलोके परलोके च सम इति ब्राह्मम् ।

मूलारा—णिव्विसेसो इष्टानिष्टविरूपवियुक्तः । तदो निर्विशेषकात्कवचोपगृहीतत्वाद्वा । उत्तमहं रत्नत्रयं, सद्दयानं, समाधिमरण वा विराधेन्ति विनाशयत ॥

अर्थ—इष्ट और अनिष्ट ऐसे शब्द, रस, गंध, स्पर्श, रूप विषयोंमें, इहलोक और परलोकमें जीवित और मरणमें, मान और अपमानमें यह क्षपक समानभाव धारण करता है अर्थात् रागद्वेष रत्नत्रय, उत्तम ध्यान और समाधिमरणका नाश करते हैं. इसीलिये क्षपक अपने हृदयसे इनको दूर करता है.

उत्तरगाथाद्वयं—

जदि वि य से चरिमंते समुदीरदि मारणंतिथमसायं ॥  
 सो तह वि असंमूढो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥ १६९० ॥

गुर्वी यद्यपि पीडास्ति प्रकृष्टा मारणान्तिकी ॥

तथापि क्षपको याति सर्वत्र समचित्ताताम् ॥ १७५७ ॥

विजयोदया—जदि वि य से यद्यपि तस्य क्षपकस्य चरमकालाते मारणातिक दुःख भवेत् सो कवचेनोपगृहीत-  
क्षपकः तथापि असमूह समभावं सर्वत्रोपैति ॥

मारणातिकेऽपि दुःखे समुदीर्णं कवचोपगृहीतः साम्यान्न प्रच्यवते इति कवचानुभावं भावयति—  
मूलारा—से कवचोपगृहीतस्य क्षपकस्य । चरिमते चरमकालाते । मारणंतिंय मरण यावद्गोच्य तथाविधासद्वे-  
द्योदयसंपाद्यत्वात् । आसादं दुःखं । असमूहो शरीराव्यनुसन्नात्मव्यातिः ॥

अर्थ—यद्यपि उस क्षपको अंतसमयमें मरण प्राप्त होनेतक दु ख होगा तो भी कवचसे युक्त होनेपर  
वह मोहरहित होजाता है देह और आत्माकी भिन्नताका उसको सम्पज्ञान हुआ है अतः वह सर्व देहादिक, वस्तु-  
ओंमें समभाव धारण करता है

एवं सुभाविदप्पा विहरइ सो जाववीरिय काये ॥

उट्टाणे सयणे वा णिसीयणे वा अपरिदंतो ॥ १६९१ ॥

एवं भावितचारित्रो यावद्दीर्यं कलेवरे ॥

तावत्प्रवर्तते साधुस्तथाय शयनादिषु ॥ १७५८ ॥

विजयोदया—एव सुभाविदप्पा निर्यापकेन स्मरिणा गदितोर्थ एवमित्युच्यते । तेन सम्यग्भावितचित्त सन्धि-  
हरदि प्रवर्तते अपरिश्रात । जाववीरिय काये यावच्छरीरे बलमस्ति उत्थाने, शयने आसने वा ॥

निर्यापकसूरिनिरूपितार्थसम्यग्भावितचित्तस्य सर्वत्र खेदाभावं यावदेहबलमभिलषति—

मूलारा—एवं गुरुक्लेशेन । सुभाविदप्पा सम्यग्भावितः सन् विहरति । सयणे शयने । णिसीयणे उपवेशने ।  
अपरिदंतो अपरिश्रातः ॥

अर्थ—इस प्रकार निर्यापकाचार्यके कहे हुए उपदेशसे जिसने पदार्थोंका स्वरूप जानकर अपने आत्माको  
सुसंस्कृत बनाया है ऐसा वह क्षपक जब तक देहमें सामर्थ्य रहता है तबतक ऊठना, सोना, और बैठना इन  
क्रियाओंमें न थका हुआ प्रवृत्ति करता है.

जाहं सरीरचेडा विगदथामस्स से यदणुभूदा ॥

देहादि वि ओसगं सब्वत्तो कुणइ णिरवेक्खो ॥ १६१२ ॥

क्षीणशक्तेर्यदा चेष्टा स्वल्पा भवति सर्वथा ॥

तदा देहप्रहाणाय यतन्ते नि.स्पृहाशयः ॥ १७५९ ॥

विजयोदया—जाहं सरीरचेडा यदा शरीरचेष्टा विगतवलस्य तस्य स्वल्पा जाता, तदा शरीरादुत्सर्ग करोति सर्वतो मनोवाक्कायैर्निरपेक्ष ॥

गृहीतकवचस्य मरणवेलाया करणीयमाह—

मूलारा—जाधे यदा । तथाम बलं । यदणुभूदा स्वल्पा जाता । विउसगं परित्यागं । सब्वत्तो मनोवाक्कायै । कुणदि तदितिशेषः ॥

अर्थ—जब उसका देहसामर्थ्य नष्ट होता है तब उसकी स्वय ऊठना, बैठना, सोना वगैरह क्रियायें बंद होती हैं तब मनवचन और शरीर से निरपेक्ष होकर वह शरीर का त्याग करता है, उसके ऊपरका मोह पूर्ण तथा छोड़ देता है

तदेव शरीरादिक साध्यमुत्तरगाथया दर्शयति—

सेडजा संथारं पाणयं च उवधिं तथा सरीरं च ॥

विज्जावच्चकरा वि य वोसरइ समत्तमारूढो ॥ १६९३ ॥

उपधिं संस्तरं शय्यां पानं व्यावृत्तिकारिणः ॥

शरीरं मुंचेते योगी सम्यक्त्वारूढमानस ॥ १७६० ॥

विजयोदया—सेडजा वसति । संस्तर घृणादिक, पान पिच्छ, शरीरं च वैयावृत्यकरांश्च व्युत्सृजति । समत्त-मारूढो समाप्तं संपूर्णं रत्नत्रयमारूढ ॥

उक्तार्थव्यवहरणार्थमाह—

मूलारा—सम्मतं संपूर्णं रत्नत्रयं, साम्यं वा ॥

क्षपक शरीरादिकां त्याग करता है इस विषयका विवेचन—

अर्थ—सपूर्ण रत्नत्रयपर आरूढ होकर यह क्षपक वसतिका, तृणादिकता संस्तर, पानाहार, अर्थात् जल पान, पिच्छ, शरीर और वैयाघ्रतय करनेवाले परिचारक भुनि इनका निर्माह होकर त्याग करता है.

अवहट्ट कायजोगे व विष्यओगे य तत्थ सो सव्वे ॥

सुद्धे मणप्पओगे होइ गिरुद्धज्जवसियप्पा ॥ १६९४ ॥

निराकृत्य वचोयोगं काययोगं च सर्वथा ॥

स विशुद्धे मनोयोगे स्थिरात्मा न्यवतिष्ठते ॥ १७६१ ॥

विजयोदया—अवहट्टकायजोगे वाग्योगान्काययोगाश्च सर्वाङ्गिराकृत्य असावत्र मनोयोगे शुद्धे स्थितो भवति । विषयान्तरसंचारादिरुद्धं अध्यवसितं च आत्मरूपं दानाख्यं यस्य स ॥

मलारा—अवहट्ट निराकृत्य । वविष्यओगे वान्न्यापारान् । तत्थ तस्मिन्मरणक्षणे । सो समत्वमारूढः । सुद्धे रागद्वेषमोहरहिते मनोयोगे स्थितो भवति ॥ गिरुद्धज्जवसिदप्पा निरुद्धो विषयान्तरसंचाराद्व्यवर्तितोऽध्यवसितश्च शुत्सुदुर्कवितर्केण निश्चित आत्मा स्वरूपं ज्ञानाख्यं येन स तथाभूतः सन् । उक्तं च—

समस्तान्कायवाग्योगाङ्गिरस्यैकत्र संस्थितः ॥

मनोयोगेऽस्ति संरुद्धनिश्चितात्मस्वरूपकः ॥

अर्थ—वाग्योग और काययोग का पूर्ण त्याग कर अर्थात् शरीरकी प्रवृत्ति और बोलना बंदकर शुद्ध मनोयोगमें निश्चल होता है. उसके मनसे इतर विषयोंका विचार हट जाता है और आत्मस्वरूप का विचार ही स्थान पाता है.

एव सव्वत्थेसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्पा ॥

मित्ती करुणं मुदिदमुवेक्खं खवओ पुण उवेदि ॥ १६९५ ॥

समत्वमिति सर्वत्र प्रपद्यामलमानसः ॥

स मैत्रीकरुणोपेक्षामुदिताः प्रतिपद्यते ॥ १७६२ ॥



विजयोदया—एवं सब्बथेसु वि एव सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विशुद्धचित्तः, मैत्री, करुणा, मुदितानुपेक्षा च पञ्चादुपैति क्षपक ॥

समत्वपरिणत्यंतरकरणीया मैत्र्यादिभावना प्रतिनिर्दिशति—

मूलारा—उवेज्ज उपेक्षा । तदो पञ्चात् । एतेनाध्यत्मैकनिष्ठ उत्साहोऽस्य विधेयतयोपदिश्यते ॥

अर्थ—इस प्रकार सपूर्ण वस्तुओंमें समताभाव धारण कर यह क्षपक अन्तःकरणको निर्मल वनाता तथा उसमें मैत्री, प्रमोद, कारण्य और माध्यस्थ्य भावनाओंको स्थान देता है.

मैत्रीप्रभृतीना चिंताना विषयमुपदर्शयति—

जीवेसु भित्तचित्ता मेत्ती करुणा य होइ अणुकंपा ॥

मुदिदा जदिगुणचित्ता सुहदुक्खधियासणमुवेक्खा ॥ १६१६ ॥

जीवेसु सेज्या सकलेशु मैत्री परानुकंपा करुणा पवित्रा ॥

बुद्धेरुपेक्षा सुखदुःखसाम्यं गुणानुरागो मुदितावगम्या ॥ १७६३ ॥

विजयोदया—जीवेसु भित्तचित्ता अगतकालं चतच्छु गतिषु परिभ्रमतो घटीयवत्सर्वे प्राणभृतोऽपि बहुशः कृतमहोपकारा इति तेषु मित्रताचित्ता मैत्री । करुणा य होइ अणुकंपा शरीरं, मानस, स्वामाविकं च दुःखमसह्यमानुवतो हृद्वा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कपायेणाक्षमेन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्मपर्यायपुद्गलस्कथतदुदयोद्भवा विषयो विवशा प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुकंपा । मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता यतयो हि विनीता, विरागा, विभया, विमाना, विरोधा, विलोभा इत्यादिकाः सुखे शरागा दुःखे वा अद्वेया उपेक्ष्युच्यन्ते । समता गता ॥

मैत्र्यादीना लक्षणाव्याह—

मूलारा—भित्तचित्ता उपकारकायवसितिः । आभंसार नरकादिगतिषु घटीयंत्रवत्परिभ्रमतो ममामी सर्वेऽपि प्राणिनो बहुशः कृतमहोपकारा इत्यंतविमर्श इत्यर्थः । अथवा सर्वसत्त्वेषु दुःखानुत्पत्त्यभिलाषः । परमार्थसुखप्राप्त्याशंसन च । मित्रवर्धितन मित्रचित्ता मैत्रीत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

मा कार्पीत्कोऽपि पापानि मा च मूत्कोऽपि दुःखितः ॥

मुच्यता जगदप्येण मतिमैत्री निगद्यते ॥

अणुकंपा—छिश्यमानजनदूहरणबुद्धिः । हा वराका इमे मिथ्यात्वाद्युपार्जितदुष्कृतविपाकसंपादा विषयः

पारतन्त्र्येण प्राप्तुर्बन्तः कथं तद्विमोक्षं लभेरन्नित्यादौ चेत्तः श्रोतः प्रवृत्तिरित्यर्थः । जदिगुणचिन्ता यतीना गुणा विनीतत्वविरागा-  
त्वस्वरूपरहितैकरसिकत्वाद्यर्थः । तेषां चिन्ता प्रमोदनिर्भरेण मनसानुसंधानं । सुहृदुस्खाधियासणा सुखदुःखयोः साम्येन  
भावनं उक्तं च—

मित्रचिन्तागिना मैत्री करुणाप्यनुकंपनं ॥

मुदिता सद्गुणैस्तोष उपेक्षा समचित्तता ॥

यथा वा तत्त्वार्थमतेनावोचाम धर्मासृते तथा मैत्र्याद्यो भाव्याः ॥ इत्तं ।

मा भूत्कोपीह दुःखी भजतु जगदसद्गमशर्ममैत्री ॥

ज्यायो ह्येतेषु रज्यन्नयनमधिगुणेष्वेवैति प्रमोदम् ॥

दुःखद्विक्षेयमार्तान्कथमिति करुणा ब्राह्मि मामेहि शिक्षा ।

का द्रव्येष्वित्युपेक्षामपि परमपदाभ्युद्यता भावयन्तु ॥

मैत्री वगैरह भावनाओंके विषयोंका वर्णन—

अर्थ—अनन्तकालसे मेरा आत्मा घटीयंत्रके समान इस चतुर्गतिमय संसारमें भ्रमण कर रहा है. इस संसारमें संपूर्ण प्राणिओंने मेरे ऊपर अनेकवार महान् उपकार किये हैं ऐसा मनमें जो विचार करना वह मैत्री भावना है. अथवा संपूर्ण प्राणिओंमें किसीको भी दुःख न उत्पन्न हो ऐसी मनमें इच्छा रखना इसको भी मैत्री भावना कहते हैं.

शारीरिक, मानसिक, और स्वाभाविक ऐसी असह्य दुःखार्थी प्राणीओंको सता रही है यह देखकर अहह इन दीनप्राणिओंने मिथ्यादर्शन, अविरति, कपाय और अशुभयोगसे अशुभकर्म उत्पन्न किया था वह कर्म उदयमें आकर इन जीवोंको दुःख दे रहा है. ये कर्मवश होकर दुःख भोग रहे हैं इनके दुःखसे दुःखित होना करुणा है. ये इस दुःखसे कैसे मुक्त होंगे ऐसी मनमें आर्द्रता उत्पन्न होना करुणा है. यतिओंके गुणोंका विचार करके उनके गुणोंमें हर्ष मानना यह प्रमोद भावना का लक्षण है यतिओंमें नम्रता, वैराग्य, निर्भयता, अभिमानर-  
हितपना, निदोषता और निलोभीपना ये गुण रहते हैं. सुख प्राप्त होने पर रागरहित रहना और दुःख प्राप्त होनेपर वैराग्य न होना यह उपेक्षा भावना है. ऐसी भावना क्षपक अपने मनमें भाता है. समताका वर्णन समाप्त.

दंसणणाचरित्तं तवं च विरियं समाधिजोगं च ॥  
तिविहेणुवसंपज्जिय सवुवरिहं कम्मं कुणइ ॥ १६९७ ॥  
दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्यनिविष्टधीः॥  
प्रकृष्टां कुरुते चेष्टां मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ १७६४ ॥

विजयोदया—दंसणणाचरित्तं तवं विरियं समाधिजोगं च तत्त्वश्रद्धानं तत्त्वावगमं, चीतरागता, अशनत्याग-  
क्रियां, स्वशक्त्या निगूहन् चित्तैकाग्रयोगं । तिविहेणुवसंपज्जिय मनोवाक्कायै प्रतिपद्य । सवुवरिहं सर्वेभ्यः पूर्वप्रवृत्त-  
दर्शनादिपरिणामेभ्योऽतिशयितकर्म । कुणदि दर्शनादिपदन्यासं करोति ।  
मैत्र्यादिभावनावलाढ्यवहारमोक्षमार्गं प्रतिपद्य परमार्थसुक्तिप्रस्थानाय क्षपको यत इत्युपदिशति—

मूलरा—तवं अशनत्यागक्रिया । विरिय स्वशक्त्यनिगूहन् । समाधिजोगं रत्नत्रयैकाग्रतया संवंधं शुद्धोपयोग-  
वा । अथवा समाध्याख्यो योगो यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणान्यानसमाधिलक्षणानामष्टाना योगागाना मध्ये  
अष्टममंगं समाधियोगोत्र । तिविहेण मनोवाक्कायै, उवसंपज्जिय प्रतिपद्य । सवुवरिहं सर्वेभ्यः पूर्वप्रवृत्तदर्शनादिपरिणामे-  
भ्योऽतिशयितं । कम्मं दर्शनादिपरिणामपदन्यास शुभतमध्यानप्रक्रमोद्यममिति यावत् ।

अर्थ—जीवादितत्त्वोपर श्रद्धा रखना, तत्त्वोंका स्वरूप जान लेना, रागद्वेषरहित होना, अपनी शक्तिके  
अनुसार आहारका त्याग करना, चित्तको एकाग्र करना, इत्यादि क्रियाओंका स्वीकार करके मनवचन काय  
योगोंसे पूर्वके दर्शन ज्ञान चरित्र इत्यादिक गुणोंमें अधिकतासे उज्ज्वल परिणाम उत्पन्न कर प्रवेश करता है.

शुभध्यानमारुक्षत परिकरमाचष्टे—

जिदरागो जिददोसो जिदिदिओ जिदभओ जिदकसाओ ॥  
अरदिरिमोहमहणो ज्ञाणोवगओ मदा होहि ॥ १६९८ ॥  
रागद्वेषक्रोधमात्सर्यमोदा येन लक्ता निर्जिताक्षेण सर्वे ॥  
ध्यानं ध्यातुं योग्यता तस्य साधोः सामग्रीतो याति कार्यं प्रसिद्धिं ॥ १७६५ ॥  
इति समता ॥

विजयोदया—जिदरागो स्वतो ध्यतिरिक्तेषु जीवाजीवद्रव्येषु तेषां पर्यायेषु रूपरसगंधस्पर्शशब्दाख्येषु विचित्रभेदेषु तत्संस्थानादिषु च यो रागः स जितो येन सोऽभिधीयते । तथा मनोऽपि यथा प्रीतिः स दोष उच्यते स च जितो येन स जितदोषः । “नेष्टुसुषिदगत्तस्स रेणुणो लगदे जहा अणे तह रागदोसणेहोहिदस्स कम्मासवो होदि” इति जिनवचना-धिगमादु खमीरुयति सर्वेषु खाना मूलकारणभूतौ रागद्वेषाविति मनसा विनिश्चित्य यस्तयोर्न विपरिणमते सोऽभिधीयते जितरागद्वेषः । तस्योपायो जितैर्द्रियैरेत्याचष्टे—जह जिर्दिदिओ इति वाग्यशेष कृत्वा सबध । जिर्दिदिओ इन्द्रियशब्देन रूपाद्यालवनोपयोगे परिगृह्यते स जितो येन स उच्यते जितैर्द्रिय इति । कथमसौ मतिज्ञानोपयोगो जेतुं शक्यते इति चेत् श्रुतज्ञानोपयोगे आत्मन प्रवृत्तौ सत्या, श्रुगपदुपयोगद्रव्यस्यात्मन्येकदा विरोधादप्रवृत्ते न च बाह्यद्रव्यालवनमुपयोगम-तरेणास्ति समवो रागद्वेषयोः । सकल्पपुरोगौ हि ताजिति । जिदकसायो क्षमामार्दवाज्वसतोपरिणामनिरस्तकपाय-परिणामप्रसरो जितकपाय इत्युच्यते । अस्ते रतेश्च कर्मण उदये उपजातौ रत्यरतिपरिणामौ, मोहो, भित्त्याज्ञान च सम्प्रसा-नभावना मथ्याति यः स मण्यते अरदिरविमोहमधनो एवं निरस्तध्यानप्रतिपक्षपरिणामः । ज्ञानोपवगदो होदि ध्यानार्थं परिणाममश्रितो भवति । न हि रागादिभिरव्याकुलीकृतस्य अर्थयाथास्यग्राहि भवति विज्ञान अविवचलं च नावतिष्ठते । अविचलमेव वस्तुनिष्ठ ज्ञान ध्यानमिष्यते ।

मूलरा—जिदरागो स्वतो व्यक्तिरिक्तेषु जीवाजीवद्रव्येषु तत्पर्यायेषु च रूपरसगंधस्पर्शशब्दाख्येषु विचित्रभेदेषु तत्संस्थानादिषु च यो रागः प्रीतिः स जितो येन । नेष्टुसुषिदगत्तस्म रेणुणा लगदे जहा अणे ॥ तथ रागदोसणेहोहिद-स्स कम्मासवो होदि ॥ इति जिनवचनाधिगमादुःखमीरोर्यतेः सर्वदुःखानां मूलकारणभूतौ रागद्वेषौ इति मनसा निश्चित्य यस्तयोर्न परिणमते स जितरागद्वेष उच्यते । जिर्दिदिओ श्रुतज्ञानोपयोगैकवृत्तिवलेन जितोऽभिभूतो रूपाद्यालवनश्चक्षुराद्युप-योगो येनासौ जितैर्द्रियः । अत एव जितरागद्वेषो बाह्यद्रव्यालवनोपयोगप्रवृत्तसंकल्पपुरःसरत्वेन तयोः स भवात् ॥ जिदम-ओ’ न मे मृत्युः कुतो भीति रित्यादि भावनया तिरस्कृतभीतिः जिदकसाओ क्षमादिभावनाप्रतिबद्धकोधादिपारतन्त्र्यः । मो-हो भित्त्याज्ञान तन्मथनं सम्प्रज्ञानसंस्कारेण साम्यभावनया रत्यरतिमथनवत् । सदा तथा निरस्तध्यानप्रतिप्रतिपक्षपरि-णामत्वात् । एतद्वाथाद्वयमन्ये पुरस्तात्पठन्ति । समता सूत्रतः ३६ ॥ अकतः १६ ॥

शुभध्यानपर आरूढ होनेवालेकी सामग्रीका वर्णन—

अर्थ—जिदरागो जीवाजीव द्रव्य आत्मासे अर्थात् स्वस्वरूपसे भिन्न है रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये इन द्रव्योंके पर्याय हैं इनके भी अनेक उत्तरभेद हैं, तथा इन द्रव्योंकी अनेक प्रकारकी आकृतिया दृष्टिगोचर होती हैं, इन परसे जिसने अपनी प्रीति अलग की है अर्थात् जो इनसे मोहरहित हुआ है उसको ‘जितराग’ कहते हैं जीवादि द्रव्योंके अनिष्ट पर्यायोंको देखकर द्वेष करना जिसने छोड़ दिया है उसको ‘जितद्वेष’ कहते हैं,

अपने अंगको तेल लगाकर बैठे हुए मनुष्यके सर्वांगपर वायुसे आये हुए घूलि रेणु चिपक जाते हैं वैसे राग, द्वेष और मोहसे लिप्त हुए जीवके संपूर्ण प्रदेशोंमें कर्मका आगमन होता है। जिनेश्वरके उपदेशका स्वरूप जानकर कुगतिके दुःखोंसे भययुक्त हुआ भव्य पुरुष रागद्वेष ही सर्व दुःखोंके मूल कारण हैं ऐसा मनमें निश्चयकर रागद्वेषोंमें परिणत नहीं होता है, ऐसे पुरुषको 'जित रागद्वेष' कहते हैं इन रागद्वेषोंको जीतनेका उपाय जितेन्द्रियता है।

रूपरस वर्णरह विषयोंके तरफ आत्माका उपयोग लगना यह इन्द्रिय शब्दका अर्थ यहाँ समझना चाहिए अर्थात् मतिज्ञानके उपयोग का नाम इन्द्रिय है, यह मतिज्ञान उपयोग कैसा जीता जासकता है इस प्रश्नका उत्तर—श्रुतज्ञानके उपयोगमें आत्माकी प्रवृत्ति होनेसे मतिज्ञानोपयोग जीता जासकता है, एक समयमें आत्मामें दोन उपयोगोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि इन प्रवृत्तिओंमें विरोध पाया जाता है, बाह्य द्रव्यका आश्रय जिनको है ऐसे उपयोगोंके बिना रागद्वेषकी उत्पत्ति नहीं होती है रागद्वेष संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए मतिज्ञानका उपयोग श्रुतज्ञानोपयोगमें आत्माको प्रवृत्त करनेसे जीता जाता है जिससे रागद्वेष का भी पराजय होता है

जिदकसायः — क्षमा, मर्दव, आर्जव और संतोषरूप परिणामोंसे क्रोधादिक चारों कपाय भी जीते हैं अरति और रति कर्मका उपय होनेसे रति और अरति परिणाम उत्पन्न होते हैं मोह और मिथ्याज्ञानका सम्प- ग्ज्ञानकी भागनासे नाश होता है जब आत्मा जितेन्द्रिय होता है तब क्रोधादिक कपाय, रति, अरति मोह और मिथ्याज्ञान इनका नाश होता है और आत्मामें सम्पद्गज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उपर्युक्त सब परिणाम ध्यानके शत्रु हैं उनका नाश करनेपर आत्मा ध्यान नामक परिणामका आश्रय करता है, जब आत्मा रागादि कपायोंसे व्याकुल होता है तब उसका ज्ञान पदार्थोंका यथार्थ ग्रहण नहीं करता है और निश्चलभी नहीं रहता है, जब ज्ञान निश्चल होकर वस्तुमें स्थिर होता है तब उसकोही ध्यान कहते हैं।

धम्मं चटुप्पयारं सुक्कं च चटुव्विधं किल्लेसहरं ।।  
संसारदुक्खभीरो दुण्णि वि ज्झाणाणि सो ज्झादि ॥ १६९९ ॥

विजयोदया—धम्म चटुण्यार धर्मध्यानं चतु प्रकारं । धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मं स्वभावाति-  
शयादेव चैतन्यादिकाज्जीवादिकं वस्तु भवति । अतिशयभावोदेव वस्तु भण्यते न सरविषाणादि, तेन धर्मशब्दो वस्तु-  
स्वभाववाची । धर्मोद्वस्तुस्वभावोदनेपेतमिति धर्म्यमित्युच्यते । यथेवमातोदरेपि धर्मोदनेपेतत्वमस्ति । सप्रयुक्तानोश्च  
वस्तुविषयः, विद्युक्तमनोश्च वस्तुयोगः, रोगात्काङ्क्षिप्रशमनः, अभिमतप्राप्तिं च धर्ममाश्रित्य प्रवर्तमानत्वाद्धर्मोदनेपेततेति  
नैप दोषः । विवक्षितधर्मविशेषवृत्तिवर्मशब्दः अत एव आक्षेपाय विपाकसंस्थानमित्यादिकैर्धर्मैर्धर्मैरनपेतत्वाच्च-  
क्षयानमाज्ञाविचयादिसंज्ञाभिरुच्यते । धेयः श्रेयवस्तुस्वरूपं तद्विनाभावः न ज्ञानं ध्यानमिति संगतार्थं व्याख्येयः ।  
अन्ते तु व्याचक्षते—क्षमामार्दवादिक्काद्धर्मोदनेपेतत्वाद्धर्म्यं इति । ननु च ध्यानं धेयाधिनाभावि न च क्षमादयो  
धर्मो भ्येया येन तदनेपेतत्वमुच्यते । अथ क्षमादिको दशविधो धर्मो ध्येयस्तस्मादनेपेतत्वस्यान्यत्राप्रवृत्ते ‘आक्षेपाय-  
विपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमिति सूत्रं न युज्यते’ उत्तमक्षमादिधर्मपरिणतादात्मनोऽनेपेतत्वात् । धर्मोदनेपेततेति  
धर्म्यमित्युच्यते इति चेत् शुक्लस्यापि धर्मोदनेपेतत्वाद्धर्म्यध्यानता स्यादुच्यते ॥ रुदिशब्देषु क्वचित्समाविर्नो क्रियामाश्रित्य  
शब्दव्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । न सा क्रियातत्र आनुगमनादुच्यते इति व्युत्पाद्यमानं स्थिते शयिते च प्रवर्तते न चाश्रयायिन्यपि  
चैतनेयादौ प्रवर्तते । तद्वदिहापि शुक्ले न धर्मोदनेपेतत्वाद्धर्मोदनेपेतत्वात् । अथ किं ध्यानं, उत्तमसहजनस्यै-  
काग्रचित्तानिरोधो ध्यानमिति चेत् पदसु सहजनेष्वाद्यसहजनं च वज्ररिभनारात्रसहजनं, वज्रनारात्रसहजनं,  
नाराचसहजनमिति । तेषु त्रिषु एकं सहजनं यस्य स उत्तमसहजनस्तस्य एकमग्रं सुखमस्येकाग्रं यश्चित्तानिरोधः, स ध्यान-  
मित्युच्यते । ननु चित्तानिरोधः चित्ताया अभावस्तस्य का एकमुखता कथं वा कर्मणा भावे अभावे च निमित्तता आर्तरीद-  
योरशुभकर्मनिमित्तत्वेप्येते । इतरयोस्तु शुभकर्मणा निमित्तता निर्जरायाश्च हेतुतेषां अत्रोच्यते । न निरोधशब्दोऽत्र  
भाववाची किंतु रोधवचनो यथा मूढानिरोध इति । ननु च परिसंपदवतो निरोधो भवति । चित्तायास्तु को निरोध इत्यत्रो-  
च्यते । केचित्तवदति नानार्थावलंबनेन चित्ता परिसंपदवती तस्या एकसिद्धेः नियमाश्रितानिरोध इति त इदं प्रष्टव्यम् ।  
नानार्थाश्रया चित्ता सा कथमेकैव प्रवर्तते? एकैव चेत् प्रवृत्ता नानार्थावलंबनं परिसंपदं नासादयतीति निरोधवाचो युक्ति-  
रसंगता, तस्मादेवमत्र व्याख्यानं चित्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते तच्च चैतन्यमन्यमन्यं वार्यमवगच्छता ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तते  
इति परिसंपदस्य निरोधो नाम एकत्रैव विषये प्रवृत्तिस्तथा हि य एकत्रैव वर्तते स तत्र निरुद्ध इति भण्यते । उत्तमसहजनं  
प्रयोगवेयात्तरीदयोरुत्तमसहजनेषु प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्व्यानावलंबनो गतिविभागो न स्यात्तेषामनुभवविरोधश्चेदानीं-  
तमानामपि तयोर्वृत्तैः स्वतन्त्रविरोधश्च “तद्विरोधविरोधश्च विरतप्रसक्तयतानां” “हिसानृतस्तेयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश-  
विरतयो” इति गुणस्थानमात्राश्रयणेनैव स्वाभिनिवेशकृतत्वात् । अत्र प्रतिविधीयते—निर्जराहेतुतया विकल्पे ध्यानेषु तत्प्र-  
स्तुते शुक्लं साक्षात् सुकृत्यं ध्यानं निर्वृत्तमिति मन्यमानेन उत्तमसहजनप्रवृत्तं कृतं सूत्रकारेण । यथेव आर्तरीद्वयम्यशुक्ला-

नीति सूत्रमुत्तरं नोपपद्यते न निर्जरोष्ठुतास्यान्तैरौद्रयोरिति । अत्रोच्यते । उत्तमसंहननस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यान-  
मितिदं सूत्रं मुख्यं ध्यानं मुख्यंगमुद्दिश्य प्रवृत्तमुत्तरं तु सूत्रमार्त्तैरौद्रधर्म्यशुक्लानीत्येतेकाग्रचित्तासामान्येऽन्तर्भूतं  
अन्तर्भूतमपि ध्यानं निरूपयति । प्रस्तुतस्यैव ध्यानस्य अन्तर्भूतमध्यानविरूपमाधिममयितुमतः प्रार्त्तनक्रयो अर्त्त-  
रौद्रयोऽन्तर्भूतस्यास इति न दोषः ॥ अथवोत्तमसंहननग्रहणं वीर्यातिशयवत् आत्मनः उपलक्षणं, उत्तमसंहननस्य  
वीर्यातिशयवतो आत्मनो यदेकवस्तुनिष्ठं ध्यानं तत् ध्यानमिति सूत्रार्थः ॥ सुकं च चटुविधं शुक्लं च ध्यानं चतुर्विधं  
ध्यानं क्लेशहर ससारदुःखमीरु चतुर्गतिपरावर्त्तनेन यानि दुःखानि तेभ्यो भोत । दोषिण वि ज्ञाणाणि सो आदि ध्याने  
धर्म्यशुक्ले क्षपक आदि ध्यायति ॥

अथ तत्परिकर्मद्वाराभ्याससमुद्भावितवीर्यातिशयः संविन्नतमः क्षपक कर्मक्षपणप्रधानतमोपायं परीपद्वाभिभव-  
तिरस्कारप्रचण्डप्रतापमानंदसाद्रल्लयानुभाव मंदक्षितत्रिजगत्सुखसाधनस्कंध प्रशस्तध्यानविशेष यथाविभवमाराधयतीत्युपक्षेप-  
पुरःसर गाथाद्वयचिकट्टिशाला ध्यानमासूत्रयति—

मूलारा—धम्म धर्म्य । धर्माद्वयेयाज्ञेयवस्तुस्वरूपदुत्तमक्षमामार्त्तवादेवोत्तमैव ध्यानमुच्यते । धारयत्यवस्था-  
यति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मो वस्तुयाथात्म्य । वस्तुस्वभावातिशयोदेव हि चैतन्यादिकाञ्जीवादिकं वस्तु भवति ।  
स्वभावातिशयाभावादेव चाऽवस्तु भण्यते एतद्विपणादि । तेन धर्मेशब्दो वस्तुवाच्यपीह रूढिवशाद्वादिदिविविक्षितधर्मवि-  
शेषवृत्तिर्गृह्यते । अन्यथा आर्त्तरौद्रयोरपि धर्म्यतानुपप्लेयत । वस्तुस्वभावमात्रधर्मानपेतत्वाविशेषात् । उक्तं चार्थे—

प्रशस्तप्रणिधानं यत्स्थिरमेकत्र वस्तुनि ॥

तद्व्याप्तमुक्तं सुक्त्यगं धर्म्यं शुक्लमिति द्विधा ॥

तत्रानपेतं यदूर्ध्वोत्तमं ध्यानमिष्यते ॥

धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमुत्पादादित्रयात्मकं ॥

चतुष्पथारं चतुर्विधमाज्ञापयविपाकसंस्थानलक्षणध्येयविशेषविचयविकल्पात् । सुक कपायरजस क्षया-  
दुपशमाद्वा प्रतिभयमाविर्भवेवद्विर्योत्तरं शुचिभिः संयमविकल्पलक्षणैरुणैः संवध्यमानत्वाच्छुक्लमिति व्यपदिश्यते  
विशुद्धिरत्नामिशेषात्प्रशस्ततर ध्यानं । अत एव धर्म्यादिनन्तरत्वं । उक्तं च—

शुचिगुणयोगाच्छुक्ल कपायरजसः क्षयादुपशमाद्वा ॥

माणिक्यशिरावद्विदं सुनिर्मलं निष्पकम् च ॥

चतुर्विधं पृथग्व्यवहितकर्मैकत्ववितर्कवीचारं, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातियुपरतक्रियानिवर्ति चेति चतुर्भिर्भेदैर्विकल्पनात् ॥ किलेसहरं सहजशरीरमानसांगुदुःखचक्रचेतनव्यावर्तकत्वात्, तन्निमित्तकदुष्कृतकर्मविपाकानुवृत्तिनिरोधकत्वात्तथाविधदुःखसंनिमित्तकर्मशक्तिशतनपरत्वाच्च, क्लेशोच्छेदकर धर्म्यशुक्लं च द्वितयं अपि । अत एव संसारदुःखभीत कृतपरिकरं साधुस्तद्व्यायति । अनयोश्च शुक्लस्य क्लेशहरतरत्वेऽपि पश्चादुपादान धर्म्यपूर्वकत्वेदंयुगीनमुसुलुजनासाध्यत्वज्ञापनार्थं सूरिरत्रापीत् । तथा च भगवद्रामसेनपाठाः काश्चनानेदानीं ध्याननिषेधैकातपरानुपालेभिरे ।

तद्यथा—

येऽन्नाहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति ॥

तेऽहंमत्तानभिज्ञत्वं ख्यापयन्त्यात्मनः स्वयम् ॥

अत्रेदानीं निषधन्ति शुक्लध्यानं जिज्ञोत्तमां ॥

धर्म्यध्यान पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्धिवर्तिनाम् ॥

ज्ज्ञाणाणि ध्यातिर्ध्यानमेकप्राग्विचिन्तानिरोधः । एकवरदुनिष्ठमात्मनो ज्ञानमित्यर्थः । अत्र चिन्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते तच्चैतन्यमन्यमन्यं चार्थमवगच्छता ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तते इति परिसंभववद्ववति । एकस्मिन्निव्विचिन्तेऽग्रे सुरे व्यालंबने चिन्ताया ययोक्तपरिसंपदवचैतन्याश्रिताया अतःकरणप्रवृत्तेर्निरोधोऽवरोधो नानार्थव्यावर्तनेन तत्रैवावस्थापनमेकप्राग्विचिन्ता-निरोधो ध्यानस्याक्षूणं लक्षणमुपलक्षणीयम् ।

तदुक्तम्—

इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्यां स्यात्सत्तानवर्तिनी ॥

ज्ञानातरापरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥

छद्वास्त्येषु भवेदेतच्छृणु विद्वद्वचनाम् ॥

योगासक्तस्य संरोधे ध्यानत्वमुपचर्यते ॥

ज्ज्ञादि ध्यायति प्रणिधत्ते । धर्म्यं शुक्ले वा ध्याने परिणतो भवतीत्यर्थः । उक्तं च—

प्रत्याहृत्य यथा चिन्ता नानालवनवर्तिनी ॥

एकालंबन एवैना निरुणाद्धि विशुद्धधीः ॥



तदास्य योगिनो योगश्चित्तैकाग्रनिरोधन ॥

प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्टफलप्रदम् ॥

अर्थ—धर्मध्यानके चारभेद हैं और शुक्लाध्यानके भी चार भेद हैं। इन दो ध्यानोसे संसारके वलेश दूर होते हैं अतः संसार से भययुक्त क्षपक इन दोनों ध्यानोका हृदयमें चितन करते हैं

जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उसको धर्म कहते हैं अर्थात् वस्तुका जो विशिष्ट स्वभाव उसको धर्म कहते हैं चैतन्यादिक विशिष्ट स्वभाव होनेसेही जीवादिक पदार्थों को वस्तु कहते हैं। विशिष्ट स्वभावसे पदार्थको 'वस्तु' यह नाम प्राप्त हुआ है। खरविषाणादिको कोई भी विद्वान् वस्तु नहीं कहते हैं क्योंकि उसमें कोई भी धर्म नहीं है। अर्थात् खरविषाण चीज ही नहीं है अतः यहां धर्म यह शब्द वस्तुके स्वभावका वाचक है। इस धर्मसे अर्थात् वस्तुस्वभावसे ध्यानयुक्त रहता है उसको धर्मध्यान कहते हैं

शंका—यदि आप वस्तुस्वभावसे युक्त ध्यानको धर्मध्यान कहते हो तो आर्त्तध्यान भी वस्तुस्वभावसे युक्त होनेसे उसको भी धर्मध्यान कहो, क्यों कि इनमें सयुक्त हुए अनिष्ट वस्तुका वियोग, संयुक्त इष्टवस्तुका अवि योग, रोगपीडा वगैरहका शमन, भाविकालमें इष्ट वस्तुकी प्राप्ति इत्यादि वस्तु धर्मोका आश्रय लेकर ये ध्यान प्रवृत्त होते हैं अतः इनमें धर्मसे अनपेक्षितत्व—सहितपना है। अतः इनको भी धर्मध्यान कहना चाहिये ?

उत्तर—यहां धर्म शब्द विशिष्ट अर्थात् विवक्षितधर्मका वाचक है इसलिये आज्ञा, अपाय, विपाक, सस्थान इत्यादि विशिष्ट धर्मोसे जो युक्त है ऐसे आज्ञाविषय, अपायविषय वगैरह ध्यानोको धर्मध्यान कहना चाहिये। आज्ञा, अपाय, विपाक वगैरह धर्म धर्मध्यानके ध्येय हैं अर्थात् ज्ञेय ध्येय हैं इन हेतुको धर्मध्यान विषय करता है। वस्तुस्वरूपही ध्येय और ज्ञेय वन सकता है। इन वस्तुस्वरूपके साथ अविनाभावी एकारूप जो ज्ञान उसको धर्मध्यान कहते हैं इस प्रकार धर्मध्यान शब्दका अर्थ स्पष्ट करना चाहिये।

उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव इत्यादिको धर्म कहते हैं इन धर्मोसे जो ध्यान युक्त है उसको धर्मध्यान कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य कहते हैं

शंका—ध्यान तो ध्येयके साथ अविनाभावी है अर्थात् वह ध्येयके विना रहताही नहीं क्षमादिक धर्म ध्येय नहीं है अतः ध्यान इनसे युक्त रहता है ऐसा कहना योग्य नहीं है। यदि क्षमादिक दश धर्म ध्यानके विषय हैं ऐसा कहोगे तो

धर्मध्यानके ये क्षमादिक धर्म ही विषय-ध्येय ठहरेंगे ऐसा होनेपर ' आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ' यह सूत्र विरुद्ध है ऐसा मानना पड़ेगा क्योंकि इस सूत्रमें आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान ये धर्मध्यानके ध्येय विषय हैं ऐसा कहा है यदि उत्तम क्षमादि दश धर्मोंसे आत्मा युक्त है और उस आत्मासे यह ध्यान भी अभिन्न है अतः यह ध्यान क्षमादि धर्मोंसे युक्त है ऐसा कह सकते हैं यह आपका भी कहना अनुचित है क्योंकि शुक्ल ध्यान भी इन धर्मों से क्या अभिन्न नहीं है ? अर्थात् शुक्ल ध्यानको भी धर्मध्यान कहना चाहिये, इस प्रकार शंकाकारका कथन है, अब आचार्य इसका उत्तर देते हैं—

रूढि शब्दोंमें जो क्रिया दिखाकर शब्दार्थ कहते हैं वह केवल शब्दव्युत्पत्तिके लिये ही समझना चाहिये, उस रूढिशब्दोंमें वह क्रिया होती ही है ऐसा नियम नहीं है ' आशु गमनादश्च ' अर्थात् जो शीघ्र गमन करता है—जाता है उसको अश्व कहते हैं यह अश्व शब्दकी व्युत्पत्ति दिखानेके लिये उसकी निरुक्ति दिखाई है, परंतु यह अश्व शब्द सोये हुए अथवा खड़े हुए घोड़ों में व्यवहृत होता है वहे वेगमें दौड़नेवाले गरुड वगैरे प्राणिओंमें इस अश्व शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती है, वैसे इस शुक्लध्यानमें धर्म शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती हैं धर्मध्यानसे भिन्न आर्त रोद्रध्यानमें भी इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है.

प्रश्न—ध्यान किसको कहते हैं ? उत्तर—' उत्तमसहनस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानम् ' अर्थात् उत्तमसहननवालेके एकाग्रचित्तानिरोधको ध्यान कहते हैं छह सहननोंमें वज्रवृषभनाराचसहनन, वज्रनाराचसहनन, और नाराच सहनन इन तीन सहननोंको उत्तम सहनन कहते हैं, इन तीनोंमें से एक सहनन जिसको है ऐसा पुरुष उत्तम सहनन धारक है वह पुरुष एकाग्रमें चित्ताका निरोध करता है इस चित्तके निरोधको ध्यान कहना चाहिये.

शंका—चित्तके अभावको चित्तानिरोध कहते हैं वह एकशुद्ध कैसा होता है ? तथा वह कर्मके भाव अथवा अभावमें कैसा कारण होता है ? आर्तध्यान और रोद्रध्यान अशुभकर्मका निमित्त है धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान शुभ कर्मका तथा निर्जराका निमित्त है.

उत्तर—यहां निरोध शब्द अभावका वाचक नहीं है किंतु रोधका वाचक है जैसे मूत्रविरोध शंका—जो पदार्थ चंचल है उसका निरोध होता है परंतु चित्तका निरोध कैसे हो सकता है ? उत्तर—कितनेक विद्वान अनेक पदार्थोंका आश्रय लेकर चित्ता चंचल होती है उसको एक विषयमें स्थिर करनाही चित्तानिरोध है ऐसा कहते हैं उनको ऐसा

पूछना चाहिये—यदि चिंता अनेक अर्थोंका—पदार्थोंका आश्रय लेती है तो वह एक वस्तुमें ही कैसी स्थिर होगी और यदि एकही पदार्थमें स्थिर होगी तो अनेक पदार्थोंका वह अवलंबन क्यों लेगी. इस वास्ते उसके निरोध का वर्णन करना असंगतसा दीखता है चिंतानिरोधका यहां ऐसा विवेचन करना चाहिये—

चिंता शब्दसे चैतन्य अर्थ समझ लेना यह चैतन्य अन्य अन्य पदार्थोंको जानता हुआ ज्ञानपर्यायसे परिणत होता है ऐसे परिस्पंदयुक्त चिंताका निरोध करना अर्थात् एकही विषयमें उसकी प्रवृत्ति होनाही चिंता निरोध समझना चाहिये, जो एक पदार्थमेंही निरुद्ध हुआ है वह वही प्रवृत्त हुआ है ऐसा कहा जाता है. उत्तम सहनवालोंको ध्यान होता है ऐसा सूत्रप्रयोग है इससे उत्तमसहननरहित जीवोंमें आर्त रौद्रध्यानकी प्रवृत्ति नहीं होगी. इससे इन ध्यान के आश्रयों जो नरकादि गतिओंकी प्राप्ति का वर्णन आचार्योंने किया है वह अनुभवसे विरुद्ध होता है इस कालमें भी इन ध्यानोंका सद्भाव है अतः अन्यशास्त्रोंसे भी उपर्युक्त कथन विरुद्ध पड़ता है. यह कथन अन्यसूत्रोंसेभी विरुद्ध होता है. 'तदविरतदेशविरतमत्तसंयतानाम्' 'हिसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम-विरतदेशविरतयोः' इन सूत्रोंमें केवल गुणस्थानोंका आश्रय लेकर ही आर्तरौद्रध्यानके स्वाभीओंका वर्णन किया है इससे भी ध्यान अनुत्तमसहननवालोंको भी होता है यह सिद्ध होता है

उपर्युक्त आक्षेपका निराकरण—

निर्जराके कारण जो ध्यान है उनका यहां वर्णन है. इसवास्ते मुक्तीके लिये साक्षात्कारणभूत ध्यानका वर्णन करनेके लिये आचार्योंने 'सूत्रमें उत्तमसहननस्य' ऐसा शब्द ग्रहण किया है.

शंका—यदि ऐसा है तो 'आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि' ऐसा आगेका सूत्र है वह असंगत है क्योंकि आर्त-ध्यान और रौद्रध्यान निर्जराके कारण नहीं हैं.

उत्तर—'उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं' यह सूत्र मुख्य ध्यान जो कि मुक्तिका अंग है उसको उद्देश करके प्रवृत्त हुआ है. और उस के आगेका 'आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि' यह सूत्र एकाग्रचित्तको सामान्यसे उद्देशकरके लिखा है. यह सूत्र अनभिमत अनिष्टध्यानका वर्णन करता है प्रस्तुत ध्यान अनभिमत ध्यानसे-आर्त और रौद्रध्यानसे अलग है और इसका स्वरूप विलकुल आर्तरौद्र ध्यानसे उलटा है यह दिखानेके लिये यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है. इसलिये प्रासंगिक आर्त रौद्रध्यानका मुख्यध्यानके आगे उल्लेख किया है

अथवा 'उत्तमसंहननस्य' यह शब्द विशिष्ट वीर्यवान् आत्माके लिए उपलक्षण है, अर्थात् उत्तमसंहनन वीर्यतिशयवान् आत्माका एकवस्तु में स्थिर ऐसा जो ध्यान उसकी ध्यान कहना चाहिये ऐसा सूत्रार्थ है, शुक्ल ध्यान चार प्रकारका है (इसका ग्रथकार आगे वर्णन करेंगे) यह ध्यान चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करता है चतुर्गति भ्रमण करनेसे जिसका मय उत्पन्न हुआ है अर्थात् चतुर्गतिके दुःखोंसे जो भयमुक्त है, ऐसा क्षपक धर्मब्यान और शुक्लध्यान ऐसे दो ध्यानोंका चिंतन करता है,

ण परीस्वेहि संताविउं वि सो झाइ अट्ठरुद्दणि ॥

सुट्ठवहाणे सुट्ठं पि अट्ठरुद्द वि णासंति॥ १७०० ॥

आर्तारौद्रद्वयं त्याज्यं सर्वदा दुःखदायकम् ॥

तेन विध्वस्यते ध्यान दुर्नयेनेव सन्नयः ॥ १७६७ ॥

विजयोदया—ण परस्वेहि स क्षपक परस्वेहि परीपहे । संताविदो वि वाधितोऽपि अट्ठरुद्दणि आत्तं सौट्ठं च न झाइ नाध्याति । सुट्ठवहाणे सुट्ठ उपधाते । शुद्धमपि अट्ठरुद्दणि णासति आर्तरोद्रध्याने नाशयत' ॥

सीत्रदुःखार्तोऽप्यसौ सद्ध्यानं प्रतिपद्यते इति स्वरूपानुवादाभिव्यक्तं दुर्नयप्रतिषेधमनुशास्ति—

मूलारा—सो सद्धयानोद्धत, साधुः । सुट्ठविधाणं विसुट्ठपि सुट्ठवधानैरसंक्लेशपरिणामैर्विशुद्ध विशिष्टा शुद्धि कर्मनिर्जरणात्किंसंदिनं श्रान्तमपि सद्धयानमार्तरोद्रे नाशयत । किं पुनरितरदिति त्वया ससारभीरुणा घोरपरीपहोपहृते-नापि ते दुध्यानि मनागपि नालंबनीये इति प्रतिषेधपरोक्तिः ॥

अर्थ—यह क्षपक परीपहोके द्वारा पीडित होनेपर भी आर्त ध्यान और रोद्रध्यानका चिंतन नहीं करता है, शुद्ध परिणामोंके द्वारा उस क्षपकका ध्यान कर्मनिर्जरा करनेमें समर्थ है तो भी ये आर्तरोद्रध्यान उस उत्तम ध्यानका नाश करते हैं, इसलिये हे क्षपक ! संसारदुःख में भयमुक्त होकर परीपहोसे पीडित होनेपर भी इन अशुभ ध्यानोंका स्वीकार करना तेरे लिये बिल्कुल अयोग्य है,

अट्टे चउण्यारे रुहे य चउव्विधे य जे भेदा ॥

ते सव्वे परिजाणदि संथारगओ तओ खवओ ॥ १७०१ ॥

रौद्र चतुर्विधं ध्यानं ये चाते सन्ति केचन ॥

ते भेदा दूरतस्याज्या विज्ञाय विधिवेदिना ॥ १७६८ ॥

विजयोदया—अट्टे चउण्यारे आत्ते चतु प्रकरो, जे भेदा रुहे य चउव्विधे ये भेदा । ते सव्वे परिजाणदि तान् सर्वान् विजानाति । सथारगदो संस्तरगतः । तथो खवगो असौ क्षपकः । जो यत् परिहरे घुस्स कथ तत्त्वतोऽनवबुध्यमानो नियोगतः परिहरेदि छवि? । वार्य आतेरौद्रं परिहरन् तस्मात् ज्ञातव्येति इति दर्शयति ॥

यो यन्त्रियोगतः परिजिहीर्षति स नित्यं तत्स्वरूपपरिज्ञानपरो भवतीति सविकल्पमपि दुर्ध्यानद्वय क्षपकेण विमर्शनीयमित्युपदेष्टुमिदमाह—

मूलारा—परिजाणदि

रौद्रं च अवबुध्यते इत्यर्थः ।

अर्थ—आर्तध्यानके चार प्रकार है तथा रौद्रध्यानके चार भेद हैं. सस्तरपर पडा हुआ क्षपक इनके सर्व भेदोंका स्वरूप जानता है यदि इनके भेदोंका परिज्ञान उसको न होगा तो वह उसका त्याग नहीं कर सकेगा. आर्तरौद्रध्यानका त्याग करनेके लिये उसके स्वरूपका ज्ञान होना अवश्यभावी है.

अमणुणसंपओगे इट्ठविओए परिस्सहणिदाणे ॥

अट्ट कसायसहिंयं ज्ञाणं भणियं समासेण ॥ १७०२ ॥

तेणिक्कमोससारक्खणेसु तह चेत्त छव्विहारभे ॥

रुदं कसायसहिंयं ज्ञाणं भणियं समासेण ॥ १७०३ ॥

अवहट्ठ अट्ठरुहे महाभये सुग्गदीए पच्चूसे ॥

धम्मे सुक्के य सदा होदि समण्णागदमदीओ ॥ १७०४ ॥

स्तेयासत्यवचोऽश्लेषद्विधारभेदतः ॥

कषायसहितं रौद्रं ध्यानं ज्ञेयं समासतः ॥ १७६९ ॥

प्रियायोगाप्रियप्रसिपरीषहनिदानतः ॥

कषायकालितं ध्यानमार्तं प्रोक्तं चतुर्विधम् ॥ १७७० ॥

रौद्रमार्तं त्रिधा त्यक्त्वा सुगतिप्राप्तियधकम् ॥

धर्म्यशुक्लद्वये योगी साम्यं कर्तुं प्रवर्तते ॥ १७७१ ॥

विजयोदया-अवच्छेद अपहृत्य । अट्टरुद्धे आर्त्तसौद्रे । महतो भयस्य हेतुत्वान्महाभये । सुगदीप पञ्चसे सुगते-  
विंशमूत्रे । धम्मे सुक्ते वा धर्म्ये शुक्ले वा ध्यानेऽसौ क्षपकः । समणगादमरी सो होदि सम्यगनुपरतमतिर्भवति ॥

संक्षेपेणार्तध्यानविकल्पान्याचष्टे—

मूलरा-अट्टं ऋते अभिनोद्भासयोगादिना पीडिते पुंसि भवमार्तं । उक्तं चार्पे-

ऋते भवमार्तं स्याद्व्यानमाद्यं चतुर्विधं ॥

शृष्टानवाप्त्यनिष्टानिनिदानासातर्हेतुकम् ॥

कषायसहिदं प्रमादाधिष्ठितत्वात् ॥ समासेण संक्षेपेण । विस्तरत्त्वापेक्षो यथा-

ऋते विना मनोद्धारार्थान्कृत्वमिष्टवियोगजम् ॥

निदानप्रत्ययं चैवमप्राप्तेष्टार्थचित्तनात् ॥

ऋते ह्यपगतेऽनिष्टे भवमार्तं तृतीयकम् ॥

भवेच्छतुर्थमप्येकं वेदनोपगमोद्भवम् ॥

प्राप्त्यप्राप्त्योर्मनोज्ञेतरार्थयोः स्मृतियोजने ॥

निदानवेदनापायविषये चानुचितेन ॥

इत्युक्तमार्तमार्तत्वाच्चित्यं ध्यानं चतुर्विधम् ॥

प्रमादाधिष्ठितं तत्तु पटुगुणरथानसंश्रितम् ॥

अप्रशस्ततमं लेख्यात्रयमाश्रित्य जंभितम् ॥

अंतर्मुहूर्तकालं तदप्रशस्तावलंबनम् ॥  
 आयोपगमिकोऽस्य स्याद्भावस्तिर्यग्गतिः फलम् ॥  
 तस्मादध्युनमानमात्तोल्यं हेय श्रेयोर्विनामिदम् ॥  
 मूर्च्छाकौशील्यकैनादयकौसीद्यान्यतिगुन्नुता ॥  
 भयोद्वेगादुशोकाश्च लिगान्योर्ते स्मृतानि वै ॥  
 बाला च लिगमार्तस्य गात्रग्लानिर्विवर्णता ॥  
 हस्तन्यस्तकपोलत्व साश्रुतान्यञ्च तादृशम् ॥

रौद्रभेदानाह—

मूलारा—सारस्वलेषु शब्दादि गृहीत्वा स्वद्रव्यादिरक्षणे । छविधारभे पटुजीवनिकायहिसने । रुदं रोदयते प्राणिन इति रुद्रो हिंस्रो रुद्रे भवं रौद्र ॥ समासेण संक्षेपेण, विस्तरस्त्वापेक्षो । यथा—

प्राणिना रोदनादुद्रः क्रूरः सत्त्वेषु निर्घृण ॥  
 पुमांस्तत्र भव रौद्र विद्वि ध्यान चतुर्विधम् ॥  
 हिंसानंदमृपानदस्तेयसंरक्षणत्मकम् ॥  
 पष्ठानु तदुणस्थानात्प्राक् पंचगुणभूमिकम् ॥  
 प्रकृष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपोद्बलवृद्धितम् ॥  
 अतर्मुहूर्तकालोत्थं पूर्ववद्भावमिष्यते ॥  
 वधवधाभिसंधानमंगच्छेदोपतापने ॥  
 वृद्धपारुष्यमित्यादि हिंसानंद सृष्टो बुधेः ॥  
 हिंसानंद समाधाय हिंस्रः प्राणिषु निर्घृणः ॥  
 हिंस्रस्यात्मानमेव प्राक् पञ्चाद्वन्यात्र वा परान् ॥  
 पुरा किलारविदात्यः प्रख्यातः खचराधिपः ॥  
 रुधिरस्तानरौद्राभिसंधिः आश्रयी विवेश सः ॥

अनानुश्रुत्याहिसोपकरणादानतत्कथा ॥  
 निसर्गाद्विस्तृता चेति लिङ्गान्यस्य स्मृतानि वै ॥  
 मृगानदो मृषावाक्यैरतिसधानार्चनम् ॥  
 वाक्पाशुव्यादिलिङ्ग तद्धिनीयं रौद्रभिष्यते ॥  
 स्तेयानन्द परद्रव्यहरणे स्थितियोजनम् ॥  
 भवेत्स्तरक्षणानन्द. स्मृतिरर्थजिनादिषु ॥  
 प्रतीतलिङ्गमेवैतद्रौद्रध्यानद्वयं भुवि ॥  
 नारकं दुःखमस्याहुःफल रौद्रस्य दुस्तरं ॥  
 बाह्यं तु लिङ्गमस्यादुरभङ्गं सुखविक्रियाम् ॥  
 प्रस्वेदमङ्गकप च नैत्रयौश्चैति ताम्रताम् ॥  
 प्रयत्नेन विनैवैतद्रौद्रध्यानद्वयं भवेत् ॥  
 अनादिचासनोद्भूतमतस्तद्विस्मयेन्मुनिः ॥

अपि च—अतत्त्वमित्यतत्त्वाज्ञावैपरीत्येन भावयन् ॥  
 श्रीत्यश्रीती समाधाय संक्षिप्तं ध्यानमच्छति ॥  
 मङ्करो मानसी दृष्टिर्विषयेष्वनुत्तरीयणी ॥  
 सैव दुष्प्रणिधानं स्यादपध्यानमतो विदुः ॥

स्वार्थधातकत्वादुर्ध्यानं त्यक्त्वा नित्यं सद्धयानैकतानो भवेत्युपदेशार्थमाह—

मूलारा—अवहट्ट अपहृत्प । महाभये दुर्गतिदुःखहेतुदुःखितवंधनिदानत्वात् । समण्णागदमदीओ सम्यगनुगतचुद्धिः ।  
 मागतिरूपायाः सुगतेः । पञ्चभू विप्रभूते तत्कारणपुण्यबंधप्रक्षयप्रतिबंधित्वात् ।

अर्थ—अमनोज्ञसंप्रयोग-अनिष्टपदार्थोक्ता संयोग होनेपर उसका वियोग किस उपायसे होगा ऐसा चार  
 २ विचार करना अमनोज्ञ संप्रयोग नामक आर्तध्यान है. इष्टवियोगज—स्त्रीपुत्रादिक पदार्थोका वियोग होनेपर  
 उनकी प्राप्ति की चार चार विचार करना, परीपह प्राप्त होनेपर ये कैसे दूर होंगे ऐसा मनमें बार २ विचार करना.



आगेके भवमें मेरेको अच्छे २ पदार्थ प्राप्त होने चाहिये ऐसा विचार करना यह निदान नामक आर्तध्यान है चोरी करनेका वार २ विचार करना, चारसे धन न लूटा जावे इस लिये उसका संरक्षण करनेके लिये शस्त्रादिक ग्रहणकर उनका रक्षण करनेके रुद्रपरिणाम वारंवार होना, छह प्रकारके आरंभ करना अर्थात् पदकायजीवोंकी जिसमें हिंसा होती है ऐसा आरंभ करनेमें तल्लीन होना इसको रौद्रध्यान कहते हैं। हिंसा करनेवाले मनुष्यको रुद्र कहते हैं ऐसे मनुष्यमें उत्पन्न हुआ जो ध्यान उसको रौद्रध्यान कहते हैं। ऐसा रौद्र ध्यानका लक्षण संक्षेपसे कहा है, ये आर्त और रौद्रध्यान दोनों भी त्यागने चाहिये क्योंकि ये महाभयके कारण हैं और सुगतिके प्रतिबंधक हैं अर्थात् दुर्गतिके कारण हैं ये धर्मध्यान और शुक्लध्यानके वाधक हैं ऐसा समझकर धर्म और शुक्ल ध्यानमें क्षणिक सदा स्थिर रहता है

किमर्थमसौ ध्यानयो शुभयोर्वर्तत इत्याशंकाया ध्यानप्रवृत्तौ कारणमाचष्टे—

इंदियकसायजोगणिरोधं इच्छं च णिज्जरं विउलं ॥

चित्तरस य वसियत्तं मग्गटु अविप्पणासं च ॥ १७०५ ॥

ध्याने प्रवर्तते कांक्षन्कषायाक्षनिरोधनम् ॥

वदयत्वं मनसो मार्गोदभ्रंशं निर्जरां पराम् ॥ १७०६ ॥

विजयोदया—इंदियकसायजोगणिरोधं स्पशोद्विपूजात उपयोग इंद्रियशेव्दनोच्यते । कषाया क्रोधादयस्ते यौग संवंधस्तस्य निरोधं निवारणमिच्छन्निजरां च विपुलाभिच्छन्, वस्तुयाथात्म्यसमादितचित्तस्य नैन्द्रियविषय जन्मोपयोगसंभव, कषायाणा चोत्पत्ति, चित्तस्स य वसियत्त चित्तस्य स्ववशत्वं इच्छन् स्वैष्टविषये चित्तमसंकुत्स्थापयतोऽनिष्टाच्च व्यावर्तयत स्ववंशं भवति ॥ चित्तस्य मग्गटो अविप्पणासं च मार्गोदित्तवयादविप्पणांशं च वाछन्, अशुभध्यानप्रवृत्तौ रत्नत्रयात्प्रच्युतो भवामीति ध्याने प्रयत्नते ॥

धर्मध्यानस्य प्रयोजनमातर परिकरं च निर्देष्टुं गाथाचतुष्टयमाचष्टे—

मूलारा—जोग संवधः । इच्छं वाछन् । णिज्जरं शुभकर्मेकदेशसंक्षयं । विउलं बाह्याभ्यतरतपोविकल्पातरसाध्य निर्जरातोऽतिशायिनी । वसियत्त स्ववशता । स्वैष्टेयं चित्तं स्थापयितु अनिष्टाच्च व्यावर्तयितुमित्यर्थः । मग्गटु अविप्पणास रत्नत्रयादप्रच्यवनम् ।

यह क्षपक शुभध्यानमें क्यों प्रवृत्त होता है इस शंकाके उत्तरमें कारणका निवेदन करते हैं—

अर्थ—स्पर्शादिक विषयोंमें उत्पन्न हुआ जो उपयोग उसको यहां इंद्रिय कहते हैं इन्द्रिय और कर्मायोंका संबंध नष्ट करनेकी यदि इच्छा हो, कर्मोंकी विपुल निर्जरा करनेकी यदि इच्छा हो, तो तू अपना चित्त स्वाधीन रखने का प्रयत्न कर. वस्तुके यथार्थ स्वरूप को जाननेमें अपने मनको एकाग्र कर. जब मन स्वाधीन होता है तब इन्द्रियोंके विषयके प्रति उपयोग नहीं लगता है और कर्मायों की भी उत्पत्ति नहीं होती है. चित्तको अपने इस विषयमें अर्थात् उत्तम क्षमादिक धर्मोंमें स्थिर करना चाहिये. और अनिष्टविषयोंसे परावृत्त करना चाहिये रत्नत्रयमार्गसे अपनी च्युति न हो ऐसी इच्छा करनेवाले क्षपक को अशुभ ध्यानका त्याग करना चाहिये. और शुभ ध्यानमें स्थिर रहना चाहिये

ध्यानपरिकरप्रतिपादनायोत्तरगाथा—

किंचिवि दिट्टिमुपावत्तइत्तु ज्ञाणे गिरुद्धदिट्ठीओ ।

अप्पणंहि सदिं संधित्ता संसारसोक्खट्ठम् ॥ १७०६ ॥

एकाग्रमानसश्चक्षुर्व्यावर्त्य परवस्तुतः ॥

आत्मनि स्मृतिमाधाय ध्यानं श्रयति मुक्तये ॥ १७०७ ॥

विजयोदया—किंचिवि दिट्टिमुपावत्तइत्तु बाह्यद्रव्यालोकात् किंचित्चक्षुर्व्यावर्तयित्वा । ज्ञाणे गिरुद्धदिट्ठीओ एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्य. । दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिशब्दोऽत्र युक्त । अप्पणहि आत्मनि । सदिं स्मृति । संधित्ता संघाय । स्मृतिशब्देनात्र श्रुतग्रानैनावगतस्यार्थस्य स्मरणमुच्यते, संसारसोक्खट्ठं संसारविमुक्तये ॥

प्रयोजनमुक्त्वा परिकर्मोह—

मूलारा—किंचिवि किंचित्व । दिट्ठि चक्षुः । उब्बेतत्थितु उपावर्त्य । बाह्यद्रव्यालोकाद्वावर्त्य नासाग्रे दृष्टि कृतेत्यर्थः । गिरुद्धदिट्ठीओ एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्य. दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिशब्दोऽत्र प्रयुक्तः । अप्पणम्मि स्वसवेदनमुच्यते शुद्धिचिद्रूपे स्वात्मनि । सदिं श्रुतज्ञानाधिगतार्थस्मरणं । उक्तं च—

पूर्वश्रुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः ।

तत्रैकान्यं समासाद्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥

अपि च—

गहिय तं सुयणाणा पच्छा सवेयणेण भावेज्ज ॥

जाणहु सुअमवलवदि मोमज्झदि अप्पसब्भवे ॥

ध्यानका परिकर कहनेके लिये गाथा—

अर्थ—नेत्रोंको बाह्य पदार्थोंके अवलोकनसे हटाना चाहिये अर्थात् नाकके अग्रभागपर नेत्रोंको निश्चल करना चाहिये तदनंतर एक विषयको धारण करनेवाले परोक्षज्ञानमें अपना ज्ञानोपयोग स्थिर करना चाहिये. स्वसंवेदनज्ञानसे जिसका अनुभव आता है ऐसे अपने शुद्ध चैतन्यरूप आत्मामें श्रुतज्ञानके साहाय्यसे आगमसे जाने हुए पदार्थोंका स्मरण करना चाहिये. यह ध्यान मुनिगण संसारसे मुक्त होनेके लिये करते हैं.

पञ्चाहरितु विसयेहिं इंदियेहिं मणं च तेहिंतो ॥

अप्पणम्मि मणं त जोगं पणिधाय धारेदि ॥ १७०७ ॥

प्रत्याहृत्य मनोऽक्षणि विचयेभ्यो महाचलः ॥

प्रणिधानं विधत्तेसावत्तमनि ध्यानलालसः ॥ १७७४ ॥

विजयोदया—पञ्चाहरितु प्रत्याहृत्य । विसयेहिं विपयेभ्यः। इंदियाइ इंदियाणि मणं च मनश्च व्यावर्त्य । तेहिंतो विपयेभ्यः । मण त धारेदि तन्मनो धारयति । क अप्पणहि आत्मनि । जोग योगं वीर्यतरायक्षयोपशमजवीर्यपरिणामं । पणिधाय प्रणिधायस्थाप्य, एतदुक्तं भवति वीर्यपरिणामेन नोइंद्रियमति धारयतीति ॥

पुनरातरयेव परिक्रमाह—

मूलारा—पञ्चाहरितु व्यावर्त्य । इंदियाइ चक्षुराद्युपयोगान् । मण नो इंद्रियमति । तेहिंतो तेभ्यः । च विपयीकृत । जोगं पणिधाय वीर्यतरायक्षयोपशमजं वीर्यपरीणाममवष्टभ्य वीर्यपरिणामविशेषेण शुद्धस्वात्मनि निर्विषया नोइंद्रियमति धारयतीत्यर्थः । स एवोऽन्तः परिकरः सूत्रकृतोक्तः । बाह्यस्त्वय—

पर्वतगुहायां, गिरिकंदरे, दर्या, तरुकोटरे, नदीपुलिने, पितृवने, जीर्णोद्याने, शून्यागारे, वा व्यालमृगाणा पशूना पक्षिणा, मनुष्याणा वा ध्यानविघ्नकारिणा सान्निध्यशून्ये, तत्रस्थैरागुप्तभित्तं क्षुद्रजीवैर्वर्जिते उष्णशीतोने प्रवातादिविहिते निरस्तेन्द्रियमनोविक्षेपहेतौ, शुचावनुकूलस्पर्शभूभागे मंदमंदप्राणपानप्रचारो नाभेरुर्ध्वं, हृदि ललाटे वा यत्र वा मनोवृत्ति यथापरिचयं प्रणिधाय ध्यायतीति तथैव चाज्ञाचक्षुस्तत्र भवतो भगवद्रामसेनपादाः—

ययोक्लक्षणो ध्याता ध्यातुमुत्सहते यदा ॥  
 तवेदं परिकर्मादौ कृत्वा ध्यायतु धीरधीः ॥  
 शून्यागारे गुहाया च दिवा वा यदि वा निशि ॥  
 श्रीपशुक्लीवजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे ॥  
 अन्यत्र वा कचिदेषे प्रशस्ते प्रामुके समे ॥  
 चेतनावेतनोपध्यानविघ्नविवर्जिते ॥  
 भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा ॥  
 सममृज्वायतं गात्रं निर्गन्धपावयव दधत् ॥  
 नावाग्रन्यस्तनिःस्पन्दलोचनो मन्दमुच्छसन् ॥  
 द्वाविंशद्वेपयनिमुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः ॥  
 प्रत्याहृताक्षलुंटाकास्तर्द्धेभ्यः प्रयत्नतः ॥  
 र्विता चाकृण्व सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ॥  
 निरस्तानिद्रो निर्भित्तिर्निगलस्यो निरन्तर ॥  
 स्वरूप पररूप वा ध्यायेदन्तर्विशुद्धये ॥  
 किञ्च—दंदावस्था पुनयेन न स्याद्व्यानोपरोधिनी ॥  
 तदवस्थो मुनिर्वाग्वैरिथत्वासित्वाधिशय्य वा ॥  
 देशादनियमोऽत्रैवं प्रावो वृत्तिव्युपाश्रयः ॥  
 कृतात्मना तु सर्वोपि देवादिर्ध्यानसिद्धये ॥

अर्थ—विषयोस इन्द्रियां और मनको हटाना चाहिये अर्थात् इन्द्रियांका उपयोग और मनका उपयोग बाल पदार्थमें रागद्वेषमें प्रवृत्त होता है उनको रागद्वेषरहित होकर वहाँसे हटाना चाहिये और वीर्यतरायकर्मके क्षयोपशयसामर्थ्यसे मनोयोगको अपने आत्मामें स्थिर करना चाहिये.

कृतमनोनिरोध किं करोतीत्याशङ्क्याह—

एयगेण मणं रुभिऊण धम्मं चउव्विहं झादि ॥

आणापायविवागं विचयं संठाणविचयं च ॥ १७०८ ॥

ध्यायत्येकाग्रचेतस्को धर्म्यध्यानं चतुर्विधम् ॥

आज्ञापायविपाकानां संस्थाया विचयं सुधीः ॥ १७०५ ॥

विजयोदया—एयगेण एकध्येयमुखतया । मण रुभिदूण मनो निरुध्य । धम्मं धर्म्यवस्तुस्वभाव । चउव्विहं चतुर्विकल्पं । झादि ध्यायति । अभ्यंतरपरिकरयमुक्त सूत्रकारेण । ब्राह्म परिकर उच्यते । पर्वतयुहाया, निरिर्कंदरे, दर्या, तरु कोटेरे, नदीपुल्लिने, पिठवने, जीर्णोद्याने, शून्यागारे वा व्यालमुषाणा पशूना, पक्षिणा, मनुष्याणा वा ध्यानविघ्नकारिणा सन्निधानशून्ये, तत्रस्थैरागतुमिच्छ जीवैर्वर्जिते, उष्णशीततापवातादिविरहिते, निरस्तेन्द्रियमनोविक्षेपहेतौ, शुचावतुकूल स्पशे भूभागे मद् मद् प्राणापानविचारनभेरुर्द्ध्वं हृदि ललाटेन्यत्र वा मनोवृत्तिं यथापरिचयं प्रणिद्धातीति ब्राह्मपरिकर । आणापायविपाकविचये आह्वाविचयमपायविचयं, विपाकविचय, संठाणविचय च संस्थानविचयं च । तत्राह्वाविचयो निरूप्यते—कर्मणि मूलोत्तरप्रकृतीनि तेषा चतुर्विधो पंधपर्याय उदयफलविकल्प जीवद्रव्यं मुख्यवस्थेत्येवमादीना निरूप्यते—मर्तीन्द्रियत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षभावात् दुःखयतिशये असति दुरवबोधं यदि नाम वस्तुतत्त्व तथापि सर्वज्ञज्ञानप्राप्त्यान् आगमविषयतत्त्वं तथैव नान्यथेति निश्चय सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्मोक्षहेतुरित्याह्वाविचारनिश्चयज्ञानं आह्वाविचयाख्यं धर्मध्यानं । अन्ये तु वदन्ति स्वयमधिगतपदार्थतत्त्वस्य परं प्रतिपादयितुं सिद्धान्तनिरूपितार्थप्रतिपत्तिहेतुभूतयुक्तिगवेषणावहितचित्रा सर्वज्ञज्ञानप्रकाशनपरा अनया युक्त्या इयं सर्वविदा-माह्वावबोधयितुं शक्येति प्रवर्तमानत्वादाह्वाविचय इत्युच्यत इति ॥ अनादौ संसारे क्षेत्रं मनोवाक्कायचूत्सेभ्यः अशुभमनो वाक्कायस्याऽऽपायः कथं स्यादिति आपये विचयो मीमांसासिन्नस्तीत्यपायविचयं द्वितीयं धर्मध्यानं । जाल्यधसंस्थानीया मिथ्यादृष्टय समीचीनमुक्तिमार्गपरिद्वानात् दूरमेवापयति मार्गोदिति सन्मार्गोपाये प्राणिनां विचयो विचारो यस्मिस्तद-पायविचयं इत्युच्यत इति मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथमिमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः ॥ विपाकविचय उच्यते—समूलोत्तरप्रकृतीना कर्मणामष्टप्रकाराणा चतुर्विधवधपर्यायाणां मधुरकटुकविपाकानां तीव्र-मध्यमदपरिणामप्रपञ्चकृताशुभावविशेषाणा द्रव्यक्षेत्रकालभावोपेक्षाणा एतासु गतिषु योनिसु वा इत्थंभूतं फलमिति विपाकैः कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचयः ॥ वेत्तासनक्षररीदृग्दंगसंस्थानो लोक इति लोकत्रयसंस्थाने विचयोऽस्मिन्निति संस्थानविचयता ॥

एवं कृतपरिकर्मो मुमुक्षुः किं करोतीत्यात्राह—

मूलारा—एयगेण एकध्येयमुखतया । रुंभिऊण निरुध्य । आणेत्त्यादि आह्वादिषु किंचयः सम्यग्विवचारणानिष्ट

ज्ञानं यस्मिन्नस्ति तदाक्षाविचयमपायविचय, विपाकविचय, सरयानविचयं चेति चतुर्विधं धर्मध्यान मुमुक्षुः प्रणिधत्ते । तद्वथा—

उपदेष्टुर्भावान्मद्वुद्धित्वात्कर्मोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टातोपरमे सर्वज्ञप्रणीतभागम प्रमाणीकृत्य इत्थं मेवेदं नान्यथा वादिनो जिना इति गहनपदार्थश्रद्धानादर्थवधारणमाज्ञाविचयः । अथवा स्वय विदितपदार्थतत्त्वस्य सत् पर प्रतिपिपादयिषोः स्वसिद्धाताविरोधेन तत्त्वसमर्थनस्तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्फुटिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रदर्शनार्थत्वादा-  
ज्ञाविचय इत्युच्यते ॥ जात्यंधवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गोद्दिमुखा मोक्षार्थिनः सन्मार्गोपरिज्ञानात्सुदूरमेवापयातीति सन्मार्गोपायचित्तनमपायविचयः । अथवा मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्यं कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाह-  
रोऽपायविचयः ॥ कर्मणा ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावगत्यं फलानुभव प्रति चिंतप्रबंधो विपाकविचयः ॥ त्रिलोकसरयानस्वभावविचारणप्रणिधान संस्थानविचयः ॥ स एव संक्षेपेण धर्मध्यानभेदनिर्णयो विस्तरतत्त्वार्पणं धर्म्यं यथा—

तदाक्षापायसरयानविपाकविचयात्मकं ॥  
चतुर्विकल्पमान्नातं ध्यानमान्नायवेदिभिः ॥  
तत्राक्षेत्यागमः सूक्ष्मविषयः प्रणिगम्यते ॥  
दृश्यानुमेयवर्ज्ये हि श्रद्धेयाग्रे गतिः श्रुतेः ॥  
जैनीं प्रमाणयन्नाज्ञा योगी योगविदांवर ॥  
ध्यायेद्वर्मास्तिकायादीन्भावान्सूक्ष्मान्यथागमम् ॥  
आज्ञाविचय एव स्यादपायविचयः पुनः ॥  
तापत्रयादिजन्माधिगतापायविचितनम् ॥  
तदपायप्रतीकारचित्रोपायानुचितनम् ॥  
अत्रैवान्तर्गतं ध्येयमनुप्रेक्षादिलक्षणम् ॥  
शुभाशुभविभक्तानां कर्मणा परियाकतः  
भववर्तस्य वैचित्र्यमभिसंघतो मुनेः ।  
विपाकविचयं धर्म्यमामनति कृतागमाः ॥

विपाकश्च द्विधात्मनातः कर्मणामाप्तसूक्तिषु ॥  
 यथाकालमुपायाज फलपक्त्तिर्वन्तस्पतेः ॥  
 यथा तथैव कर्मोपि फल दत्ते शुभाशुभं ॥  
 मूलोत्तरप्रकृत्यादिवंधस्तत्त्वाद्युपाश्रयः ॥  
 कर्मणामुदयश्चित्रः प्राप्य द्रव्याविमर्शिधि ॥  
 यतश्च तद्विपाकश्चस्तदपायाय चेष्टते ॥  
 ततो ध्येयमिदं ध्यानं मुक्त्युपायो मुमुक्षुभिः ॥  
 संस्थानविचयं प्राहुर्लोककारालुचितनम् ॥  
 तदन्तर्भूतजीवादितत्त्वान्वीक्षणलक्षणम् ॥  
 द्वीपाद्विधवलयातद्रीन्सरितश्च सराणि च ॥  
 विमानभवनव्यतरावामनरकक्षिती ॥  
 त्रिजगत्सन्निवेशेन सममेतान्यथागमम् ॥  
 भावान्मुनिरनुध्यायेत्संस्थानविचयोपगः ॥  
 जीवभेदाश्च तत्रत्यान्यायेन्युक्तेतरात्मकान् ॥  
 ज्ञातुं तत्त्वभोक्तृत्वद्रुद्रादींश्च नष्टुणान् ॥  
 तेषां स्वरूपं कर्मभूतानुभावेत्यधमनिदुस्तरं ॥  
 भयाद्विषयव्यवमनावर्तं दोष्यादङ्कुलकुलं ॥  
 मज्ञाननावा मत्तार्यमतायं ग्रथिकत्सभिः ॥  
 अपारमतिगभीरं ध्यायेत्पुण्यात्सन्निवृत्ति ॥  
 किमत्र यदुक्तं न सद्योऽप्यागन्निगमन् ॥  
 नयभंगयनाक्षीणं ध्येयोऽप्यान्मविशुद्धये ॥  
 तद्वप्रथमतः साध्यं स्थितिमातमुत्तुर्निर्णीयम् ॥

दधानमप्रमत्तेषु परां क्रोडिमधिष्ठितम् ॥  
 सद्दृष्टिषु यथान्नायं शेषेऽपि कृतस्थितिः ॥  
 प्रकृष्टिशुद्धिमलेश्वरात्रयोपोद्बलवृद्धितम् ॥  
 श्रायोपशमिकं भाष स्मत्कृत्य त्रिजृग्मिन ॥  
 मोहोदकं महाप्राज्ञैर्गर्ह्यैर्भिन्नरूपसितं ॥  
 वस्तुधर्मोऽनुयायित्वात्प्राप्तान्वयैर्निनक्तिरुम् ॥  
 धर्म्यं ध्यातमनुष्येय यथोक्तधेयविस्तारं ॥  
 प्रसिद्धचित्ता धर्मसंवेगं शुभयोगता ॥  
 मुञ्चतय ममाधानमाज्ञाधिगमजा रुन्नि ॥  
 भवन्त्येतानि लिङ्गानि धर्म्यस्यातर्गतानि वै ॥  
 अनुप्रेक्षाश्च पूनोक्ता विविगा शुभभावनाः ॥  
 बाह्यं हि लिङ्गमगता सन्निवेशं पुरोदितं ॥  
 प्रसन्नवक्त्रता मौन्या दृष्टिश्चेत्सादिलभणं ॥  
 फल ध्यानव्रत्यास्य त्रिपुला निर्जेरनमा ॥  
 शुभकर्मादयोद्भूत सुखं च विबुधेशिना ॥  
 रसगोपवर्गसंप्राप्तिं फलमस्य प्रचक्षते ॥  
 साक्षात्सर्वपरिप्राप्तिं पारंपर्यात्पर पदं ॥  
 ध्यानेऽव्युपरते धीमानभीष्टं भावयेन्मुनिः ॥  
 शानुप्रेक्षाः शुभोदकां भवाभावाय भावनाः ॥ इति ॥  
 व्याख्यातार्थसुस्पृष्ट्यर्थं चैव गीतिरन्तश्चिन्त्या--  
 ध्यानस्य लक्ष्मभिर्निर्वचोधिपतिदेशफलभावाः ॥  
 स्थान प्रभेदेनामार्थनिर्णयो गोचरो बलाधानम् ॥



मनः का निरोध करनेके अनंतर ध्याताका कर्तव्य बनाते हैं.

अर्थ—एक विषयके तरफ मनको निश्चल कर चार प्रकारके वस्तु स्वभासोंका सह क्षपक ध्यान करना है. यहातक ध्यानका अन्त्यतर परिकर कहा है. अब बाप परिकरका वर्णन आचार्य करते हैं परमेश्वर गुहा प्रदग्ग. दरी, ग्रथका मोटर, नदीका सेतुला किनारा. अमद्यान, जीर्ण वर्गिता. अत्य मरान मने स्थानोंमें गया हुए पशु साथ, पैल, हलिंग वंगर भद्र प्राणी, पथी और मनुष्य जिनमें मानमें पित आनरना है ऐसे प्राणि-जोनें वजित स्थानमें ध्यान करना चाहिये जहां ध्यान करना हो सह स्थान आंगतुक रुमिहीटाटिओमें रहित रोना चाहिये, उष्ण, शीत, जोरदार वायु और रूप इत्यादि ध्यानमें विभिन्न उपन करनेवाली आन्ध्यामें रहित ऐसे स्थानमें मान करना चाहिये. जो स्थान इन्द्रिय और मनमें निरुद्ध उत्पन्न करेगा उनका त्याग करना चाहिये पवित्र, अनुज्जल, स्पर्शयुक्त ऐसा भूप्रदेश ध्यानयोग्य है. ऐसे प्रदेशमें जाकर परामनने बैठकर आनोन्म्याम धीरे-धीरे करना चाहिये. नामाँके ऊपर, हृदयमें, ललाटपट्टमें अथवा अन्य स्थानमें अपनी मनोवृत्तियों यथाभ्यास एकाग्र करना चाहिये. यह मन ध्यानकी चार मामग्री है

धर्मध्यानके आज्ञाविचय. अपागविचय, निपाक विचय और मस्थानविचय ऐसे चार भेद हैं. प्रथम आज्ञाविचयका वर्णन करते हैं—कर्मके मूल कर्म और उत्तर कर्म ऐसे बहुत भेद हैं इन कर्मोंके प्रकृतिबंध, स्थितिबन्ध, अनुभागा वध और प्रदेशवध ऐसे पर्याय हैं. इन कर्मोंका उदय होना, फल मिलना ऐसे अनंत प्रकार हैं जीवद्रव्यके मुख्यतस्था वंगरह पर्याय होते हैं ये मन अतीन्द्रिय हैं. जानावरणकर्मका विविष्ट अवोपग्राम नहीं होनेमें मद वृद्धिके द्वारा इन पदार्थोंका निश्चय नहीं होता है यद्यपि उपर्युक्त पदार्थोंका स्वरूप हमने नहीं जाना जाता है मनुष्यका ज्ञान प्रमाण है और उपर्युक्त पदार्थ हमने कहे हुए आगमके विषय हैं, जैसा जिनेश्वरने उन वस्तुओंका स्वरूप कहा है वह सब सत्य ही है असत्य नहीं है ऐसा निश्चय करना यह निश्चय मध्यदर्शनका सम्भाव होनेसे युक्तिका कारण है. इस प्रकार प्रभूके आज्ञाका विचार करना, निश्चय करना उमको आज्ञा विचय कहते हैं. यह आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है

अन्य आचार्य इसी आज्ञाविचय धर्मध्यानका स्वरूप इसप्रकार में भी कहते हैं—  
स्वयं तो पदार्थोंका स्वरूप जानता है, सिद्धान्तमें कहे हुए जीवादि तत्वोंका ज्ञान करा देने वाली मन्ययुक्तीका

अन्वेषण करने वाली, सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रगट करनेवाली ऐसी तर्कशक्तिके द्वारा मैं भव्यजीवोंको जिनप्रतिपादित तत्वोंका स्वरूप कह सकूंगा ऐसा तत्त्वस्वरूप जाननेवालेके मनमें जो बार बार विचार उत्पन्न होना यह भी आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है।

मैं अनादिकालसे इस घोर ससारमें भ्रमण कर रहा हूँ, मेरे मनवचन और कायकी प्रवृत्ति स्वच्छदसे होती है. इस अशुभ मन वचन काय योगसे मैं किस उपायसे अलग हो सकूंगा ऐसी अपायमें बार बार स्मृति होना यह अपायविचय नामक धर्मध्यान है

मिथ्यादृष्टि लोक जन्मांध मनुष्यके समान हैं. उनको सत्य मोक्षमार्गका ज्ञान नहीं है इसलिए सन्मार्गसे वे बहुत दूर जा रहे हैं. ऐसा उनके विषयमें बार बार विचार उत्पन्न होना इसको भी अपायविचय कहते हैं ये मिथ्या दृष्टि लोक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से कैसे अलग होंगे ऐसा बार बार मनमें चिंता होना यह भी अपायविचय ध्यान है

कर्मके मूल भेद आठ हैं. उत्तरभेद एक सौ अष्टचालीस हैं इन कर्मोंके प्रकृति वधादिक चार भेद होते हैं. इनका मधुर और कड़ुक ऐसा फल मिलता है. आत्मामें तीव्र, मद, मध्यम रूप अनुभवबंध उत्पन्न होता है द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे इन कर्मोंमें विशेषता उत्पन्न होती है विशिष्ट गतिमें और विशिष्ट योनियोंमें विशिष्ट कर्मका फलानुभव जीवको प्राप्त होता है. इस प्रकार विपाकका अर्थात् कर्मफलका बार बार विचार जिसमें उत्पन्न होता है उस ध्यानको विपाकविचय ध्यान कहते हैं

वेतका आसन, झल्लरी और मृदंगके समान तीन लोकका आकार है ऐसा विचार करना संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है ।

धर्मध्यानस्य लक्षण निदिशति—

धम्मस्स लक्खण से अज्जवलहुगत्तमद्वोवसमा ॥

उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥ १७०९ ॥

माद्वेवार्जवने.संग्यहेयोपादेयपाटवं ॥

जेयं प्रवर्तमानस्य धर्म्यध्यानस्य लक्षणं ॥ १७०६ ॥

विजयोदया—धम्मस्स लक्खणं से, से तस्य । धम्मस्स धर्मस्य ध्यानस्य । लक्खणं लक्षणं । लक्ष्यते धर्म्यं ध्यानं येन तल्लक्षणं । अज्जवल्लुगत्तमहवुवदसा आकुरातद्धयरज्जुवत्तुवक्कुटिलताविरह आर्जवं । लघुगत्त लघुता निस्संगता जात्पाद्यप्रविधाभिमानाभावो मार्दवं । उपेत्य जिनमतं देशान् कथनमुपदेशं । हितोपदेश इति यावत् ॥ आर्जवादिभिः कार्यै-  
लक्ष्यते धर्मध्यानमिति आर्जवादिभ्यः लक्षणं । न ह्यार्तरीद्रे आर्जवादिभ्यः सपादयत् यदाजर्जवादिभ्यः परिणाममात्मन करोति तद्धर्मध्यानमिति लक्षणमात्रं गयवा आर्जवादिपरिणामसद्भाव एव धर्मध्यानं प्रवर्तते नासत्याजर्जवादे । नहि मान-  
मायालोभकपयाविष्टो धर्मं प्रवर्तते, तेनार्जवादिभ्यः कारणं तेन लक्ष्यते धर्म्यमिति लक्षणतार्जवादीनाम् ॥

धर्मध्यानलिंगमवगमयति—

मूलरा—लक्षणं लक्ष्यते धर्मध्यानं येन कार्यभूतेन कारणभूतेन वा आर्जवादिना तत्तस्य चिन्हं । दे ते । प्रसिद्धाः । लघुगत्त निःसंगत्वं । उवदेसणा य सुत्ते जिनमतोपदेशं । च निसगजा स्वभावोत्था । अन्ये तु उवदेसणो सुत्ते इति पठित्वा उपदेशो आज्ञायां तत्रैव रुचय इत्यर्थमाहुः ॥

धर्मध्यानका लक्षण—

अर्थ—जिससे धर्मध्यानका परिज्ञान होता है वह धर्मध्यानका लक्षण समझना चाहिए आर्जवं, लघुत्व, मार्दवं, और उपदेश ये इसके लक्षण हैं। डोरीके दोनों छोर एकद्वारा खींचनेसे वह सीधी होती है, उसमें वक्रता नहीं रहती है वैसे कुटिलता अर्थात् कपटका अभाव होना यह आर्जवं नामक स्वभाव है, निःसंगता अर्थात् निर्लोभी स्वभावको लघुत्व कहते हैं, जातिका गर्व, कुलगर्व इत्यादि आठ प्रकारके गर्वोंका अभाव होना इसको मार्दवं कहते हैं। इन गुणोंसे युक्त होकर उपदेश करना यह उपदेश नामक गुण है इसको हितोपदेश भी कहते हैं आर्जवादिक कार्योंको देखकर धर्मध्यानको जान सकते हैं अतः आर्जवादिक धर्मध्यानका लक्षण माने गए हैं। आर्तध्यान और रीद्र ध्यानसे आर्जवादिक गुणोंकी प्राप्ति नहीं होती है, जो आर्जवादिकपरिणाम आत्मा में उत्पन्न करता है उसको धर्मध्यान कहते हैं, अथवा आर्जवादिक परिणाम होने परही धर्मध्यान उत्पन्न होता है उनके अभावमें नहीं उत्पन्न होता है, मान, माया, लोभा-  
दिकप्राथपरिणत मनुष्य धर्ममें प्रवृत्त नहीं होता है इसलिये आर्जवादिक धर्मध्यानके कारण हैं अतः धर्मध्यान और आर्जवादिक इनमें लक्ष्यलक्षणभाव सिद्ध होता है

आलंबणं च वायण पुच्छण परिवट्ठणणुपेहाओ ॥  
धम्मस्स तेण अविसुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥ १७१० ॥

वाचनामच्छनाम्नानयानुप्रेक्षाधर्मदेशना ॥

भवत्थालंबनं साधोर्धर्म्यध्यानं चिकीर्षत ॥ १७११ ॥

विजयोदया—आलवनप्रतिपादनायोगोत्तरगाथा । आलवणं च आश्रयश्च कस्स धम्मस्स धर्मध्यानस्य, वायण पुच्छण परिवट्ठणणुपेहाउ, वाचना प्रश्न परिवर्तनमनुप्रेक्षेति स्वाध्यायविकल्पा । वाचनविस्वाध्यायाभावे वस्तुयाथा तस्यज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभाव । सति स्वाध्याये भवति ज्ञान विचल ध्यानसंज्ञितमित्यालवनता स्वाध्यायस्य । तेन तेन धर्मेण ध्यानेनाविरुद्धासव्वाणुपेहाउ, सर्वानुप्रेक्षा एकदैकवाक्ये वृत्तेरविरोध । अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षण मनुप्रेक्षासावालंबनं ध्यानमिति । एतेनानुप्रेक्षाया ध्यानेऽन्त पातित्वमाचक्षणानुप्रेक्षोपन्यासे वीजाधान कृतम् ॥

धर्मस्याश्रयमाह—

मूलरा—आलवण वाचनादिरवाध्यायाभावे वस्तुयाथात्म्यज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभावः । सति स्वाध्याये भवति ज्ञानमविवचलं ध्यानसंज्ञितमित्यालम्बनता वाचनादर्धर्मं प्रति । परियट्ठण पाठगुणनं । अनुपेहा अर्थचिंतन । तेन धर्मेण । अविरुद्धाओ अनित्यत्वादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षणमाश्रित्य तत्प्रवृत्तेस्तालंबनमनित्याद्यनुप्रेक्षाः संप्रेक्ष्याः ॥

धर्मध्यानके आधारभूत कारण—

अर्थ—वाचना, मच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय ओर परिवर्तन ये स्वाध्यायके भेद हैं ये भेद धर्मध्यानके आधार भी हैं वाचनादिक स्वाध्यायके अभावमें वस्तुका यथार्थ ज्ञान ही नहीं होता है. ज्ञानके अभावमें धर्मध्यान नहीं होता है अतः स्वाध्याय धर्मका अवलंबन है. स्वाध्यायसे जो निश्चलज्ञान प्राप्त होता है उसको ध्यान कहते हैं. इस धर्मध्यानके साथ अनुप्रेक्षाओंका अविरोध है. वस्तुके अनित्यादिधर्मोंका बार २ विचार करना यह अनुप्रेक्षाका लक्षण है ये अनुप्रेक्षाएँ ध्यानके लिये आधार हैं इसलिये ध्यानमें इनका अन्तर्भाव होता है. इसीलिये ग्रंथकार आगे अनुप्रेक्षाओंका सविस्तर वर्णन करेंगे.

पूर्वोक्तान् धर्मस्य चतुरो भेदान् व्याचष्टे चतसृभिर्गाथाभि । तत्रास्माद्विचयं निरूपयति—

पंचेव अत्यिकाया लज्जीवणिकाए दन्वमणेण य ॥

आणागम्भे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥ १७११ ॥

पंचास्तिकायषट्कालद्रव्याणि यत्नतः ॥

आज्ञाग्राह्याणि दक्षेण विचार्याणि जिनाज्ञया ॥ १७७८ ॥

विजयोद्या-पंचेव अस्थिकाया पंचास्तिकाया जीवा पुद्गलधर्मस्तिकाया अधर्मास्तिकाया आकाशमिति तान् छज्जीवणिकायो षड्जीवणिकायान् कालद्वयं कालाख्यं । अणो य अन्याश्च कर्मवधमोक्षादीन् । अणोलेब्धे भवे सर्व-  
ज्ञाज्ञयागम्यान्भावान् । आणाविचयेण आज्ञाविचयाख्येन धर्मव्यनेन विचिणादि विचारयति । सर्वविद्विरपास्तरागद्वयैः  
परमकारणिकैः यथामीति निरूपितास्ते तथैवेति चिंताप्रबंध आज्ञाविचय यावत् । आणपायविवागविचये इत्यासिन्पाठे  
अपायविचयो नाम धर्मध्यानमिति गाथापूर्वोधेन व्याचष्टे ।

आज्ञाविचयादीन्क्रमेण व्याचष्टे--

मूलारा-पंचस्थिकाय जीवपुद्गलधर्मार्थमोक्षाज्ञान् ॥ जीवणिकाये पृथिव्यमेजोवायुवनस्पतिवसान् अणो बंध  
मोक्षादीन् । आणगन्धे सर्वज्ञाज्ञागम्यान् । विचिणादि विचारयति । सर्वविद्विरपास्तरागद्वयैः परमकारणिकैर्यथामी  
निरूपितास्तथैवेति प्रबधेन चित्तयतीत्यर्थः ॥

आज्ञाविचय धर्मध्यानकां वर्णन--

अर्थ-जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य इनको पंचास्तिकाय कहते हैं-  
पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति ये पांच स्थावर जीव हैं तथा द्वंद्विये लेकर पंचेद्रिय तक जीवोंको त्रस कह-  
ते हैं इनको आगममें षट्काय सज्ञा है कालद्रव्य, कर्मबंध, मोक्ष वगैरह अनेक पदार्थोंका स्वरूप सर्वज्ञ जिनश्चर  
प्रणीत आगमसे जाना जाता है- इन तत्त्वोंका स्वरूप आज्ञाविचय नामक ध्यानसे ध्याता वार २ स्मृतिमें लाता है  
जिनके रागद्वेष नष्ट हुए हैं, ऐसे परमदयालु श्री जिनश्चरनें जैसे इन तत्त्वोंका स्वरूप कहा है वैसेही उनका स्वरूप  
है ऐसा वार २ स्मरण करना इसको आज्ञाविचयनामक धर्मध्यान कहते हैं

कक्षाणपावगाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च ॥

विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य असुभे य ॥ १७१२ ॥

कल्याणप्रापकोपायश्चिन्तनीयो जिनागमे ॥

शुभाशुभविकल्पानामपायः कर्मणां परम् ॥ १७७९ ॥

विजयोदया—फलदायकता दर्शनविशुद्ध्यादीनामुपायान् नि शफादीन् विचि-  
नोति जिनमतं जिनकथित उपदेश । विचिणादि वा अपाये जीवाण सुखे य असुखे य जीवाना शुभाशुभकर्मविषयानपायान्  
तान्विचारयति एतदुक्तं भवति । शुभाशुभकर्मण कथमपायो भवति जीवस्य इति जिताप्रवाहोऽपायविचयो नाम स्पष्टा-  
नोति जिनमतं जिनकथित उपदेश । विचिणादि वा अपाये जीवाण सुखे य असुखे य जीवाना शुभाशुभकर्मविषयानपायान्  
तान्विचारयति एतदुक्तं भवति । शुभाशुभकर्मण कथमपायो भवति जीवस्य इति जिताप्रवाहोऽपायविचयो नाम स्पष्टा-

मूलासाधना

१५४५

अपायविचयं तदन्तर्गतोपायविचयपुरःसरं व्याचष्टे—

अपायविचयं तदन्तर्गतोपायविचयपुरःसरं व्याचष्टे—

मूलासाधना

पामुपायान्साधनानि द्रव्यश्रेत्रादीनि । जिनसदमुवेच्य जिनमतमाश्रित्य । सुखे शुभकर्मविषयान् नाम धर्मेध्यान आणापा-  
यो जीवाना भवेदित्युपायविचयं ध्यायतीत्यर्थः । श्रीविजयाचार्योऽत्र आणापायविषयविचयो नाम धर्मेध्यान आणापा-

पामुपायान्साधनानि द्रव्यश्रेत्रादीनि । जिनसदमुवेच्य जिनमतमाश्रित्य । सुखे शुभकर्मविषयान् नाम धर्मेध्यान आणापा-

यो जीवाना भवेदित्युपायविचयं ध्यायतीत्यर्थः । श्रीविजयाचार्योऽत्र आणापायविषयविचयो नाम धर्मेध्यान आणापा-

अर्थ—अभ्युदय

सोलह कारण अर्थात् सोलह भावना तीर्थकर पदकी प्राप्ति कर देते हैं ऐसे जिनगमका उपदेश है इस उप-  
देशका वारंवार स्मरण करना इसको उपाय विचय धर्मेध्यान कहते हैं द्रव्य, क्षेत्रादिकोंका आश्रय लेकर शुभ कर्म  
विषयक ओर अशुभकर्मविषयक अपायोंको जीव प्राप्त होता है ऐसा वारंवार विचार करना इसको अपायविचय  
नामक धर्मस्थान भी कहते हैं

पुण्यपावककर्मफलं ॥

पुण्यपावककर्मफलं ॥ १७१३ ॥

उदओदीरणसंकमबंधे मोक्षं च विचिणादि ॥ १७१३ ॥

अहतिरियउड्डलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे ॥ १७१४ ॥

एत्थे व अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि ॥ १७१४ ॥

एकानेकभवोपात्तपुण्यपापात्मककर्मणाम् ॥ १७१५ ॥

उदयोदीरणादीनि चिंतनयानि धीमताम् ॥ १७१५ ॥

उच्चार्वाघः सत्रिलोकस्था द्रव्यपर्यायसंस्थितोः ॥ १७१६ ॥

विचिंतयत्यनुप्रेक्षास्तत्रैवानुगतो यतिः ॥ १७१६ ॥

विजयोदया—अहतिरियउडुलोए ऊर्द्धाधस्तिर्यंग्लोकान् । विचिणादि विचारयति । कीदृग्भूतान् । सपञ्जए सपर्येथान् संस्थानसद्वितान् सपर्यायं सविभुवन सस्थानविचारविचयाख्यं धर्मध्यानं । एत्थेव अत्रैव । अणुगदाओ अनुगताः । अणुपेक्खाओ वि अनुपेक्षा अपि । विचिणादि विचारयति । अनित्यत्वादिसमाविचारं करोति धर्मध्याने इति कथितं भवति ॥

विपाकविचयं व्याचष्टे—

मूलारा—उदयक्रमेण कर्मणोऽनुभवन । उदीरण अक्रमेण कर्मणा भुक्तिः । उक्तं च—

कर्मणा फलदातृत्वं द्रव्यक्षेत्राणि योगतः ॥

उदयं पाकजं ज्ञेयमुदीरणमपाकजम् ॥

समुदीर्यानुदीर्णानां स्वरूपीकृत्य स्थितिं वलात् ॥

कर्मणामुदयावल्यां प्रक्षेपणमुदीरण ॥

सक्रमः प्रकृते सजातीयप्रकृतितत्त्वरूपेण परिणमनम् ॥

संस्थानविचयं निर्दिशति —

मूलारा—सपञ्जए सभेदान् । संसंठाण वेत्तासनसल्लरीमुदंगसमानाकारसद्वितान् । एत्थेव अत्रैव धर्म्यध्याने । अणुगदाओ तत्साधकतममनोनिर्जयागत्वेन सबद्धाः । तदुक्तम्—

सचित्तयन्ननुपेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः ॥

जयत्येव मनःसाधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः ॥

अर्थ—जीवोंको पुण्य और पाप कर्मका फलानुभवन संसारमें करना पड़ता है इन कर्मका उदय, उदीरणा संक्रम, बंध और मोक्षका वारवार विचार करना उसको विपाकविचय कहते हैं। द्रव्यक्षेत्रादिके आश्रयसे कर्मका योग्य कालमें आत्माको फल मिल जाना उदय कहा जाता है। और उदयमें आनेका जो निश्चित काल था उसके पूर्व ही कर्म अपना फल जीवको देता है उसको उदीरणा कहते हैं। एक कर्मप्रकृति सजातीय कर्म के स्वरूपसे परिणत होना सक्रमण कहते हैं। आत्माके प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानंत कर्म आकर दूध और पानीके समान आत्म प्रदेशसे मिल जाना बध है और संपूर्ण कर्म आत्मासे अलग होकर आत्मा पूर्ण शुद्ध स्वरूपधारक होता है वह मोक्ष है इस प्रकार वार २ विचार करना विपाकविचय है।

अर्थ—यह जगत् अघोलोक, मध्य लोक व ऊर्ध्वलोक ऐसा तीन प्रकारका है. वेत्रासन, झल्लरी और मुदंगके समान क्रमसे तीन लोकोंका आकार है इनका वार वार विचार करना संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है इन ही धर्मध्यानमें अनुप्रेक्षाओंका भी अन्तर्भाव है.

कास्ता अनुप्रेक्षा इत्याशकायामधुवादीऽनुप्रेक्षा निरूपयत्युत्तरप्रयधेन—

अद्भुवमसरणेमेगत्तमणसंसारलोयमसुइत्ते ॥

आसवसंवराणेज्जर धम्म बोधि च चित्तिज्ज ॥ १७१५ ॥

लोगो विलीयदि इमो केणोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो ॥

रिद्धीओ सव्वाओ सिविणयसदंसणसमाओ ॥ १७१६ ॥

अधुवाशरणेकान्यजन्मलोकविसूचिका ॥

आसव. संवरश्चिन्त्यो निर्जराधर्मवोधयः ॥ १७८२ ॥

डिंडीरपिंडवल्लोक. सकलोऽपि विलीयते ॥

समस्ता संपदश्चात्र स्वप्नभूतिसमागमाः ॥ १७८३ ॥

विजयोदया—लोगो विलीयदि इमो लोको विलयमुपपाति । किमिव केणोव्व केनवत् । सदेव माणुसतिरिक्खो देवेमादुर्यस्तिर्गिभश्च समन्वित इत्यनेन लोकत्रयस्यापि निर्नाशतामिह्यता । रिद्धीओ सव्वाओ ऋद्धय सर्वा । सुविणगादंसणसमाओ स्वप्नप्रज्ञानसमा । ननु लोगो विलीयदि इत्यनेन सर्वस्यानित्यता व्याख्याता; ऋद्धयादयोऽपि लोकातर्भूता इति किमर्थं भेदोपन्यास ? । अबोध्यते । समुदायस्यावयवात्मकस्यावयवानित्यतामन्तेण तदनित्यता न सुखेनावगम्यत इति भिदोपन्यस्यते ॥

अनुप्रेक्षा अधुवादिविषयत्वेन द्वादश चित्तयेदित्याह—

मूलारा—अण देह्मरमनांभंद । असुइत्त अशुचित्त्व । एता विजयो नेच्छति । अधुनानुप्रेक्षा त्रयोदशगाथाभिरनुप्रेक्षते तत्र गाथाद्धेन—

समुदायस्यानित्यता निरूप्योत्तरप्रयधेन तदन्तर्गतावयवानित्यता भावयति—

मूलारा—सिविणयसदंसणसमाओ स्वप्नज्ञानसमाना ॥



अब अधुवादि अनुप्रेक्षाओंका सविस्तर वर्णन करते हैं—

अर्थ—अधुव, अशरण एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आसव, सवर, निर्जरा, धर्म और बोधि ऐसे बारा अनुप्रेक्षाओंका भी चिंतन करना चाहिए

अर्थ—देव, मनुष्य और तिर्यंच सहित यह जगत् फेनके समान नष्ट होता है मव ऋद्धिया भी स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके समान नष्ट होती है शंका—सर्व लोकका नाश होता है इस कथनसे ही सर्व पदार्थोंकी अनित्यता सिद्ध हो गई अतः ऋद्धि भी लोकान्तर्भूतही हैं उनके नाशका वर्णन करनेकी क्या आवश्यकता थी ? क्यों भेदरूपसे उनका वर्णन किया गया है ? उत्तर—समुदाय जो कि अवयवी हैं उसकी अनित्यता अवयवकी अनित्यता दिखावे बिना अवयवी भूत पदार्थोंकी अनित्यता सुखसे ध्यानमें नहीं आसकती हैं इस लिये भेदोपन्यास किया है

द्रव्यगतो लोभो महान् ग्राणभृता तन्मूलत्वाद्द्विद्वयसुखस्याग्राणानप्यय त्यजति द्रव्यनिमित्तमतस्तदनित्यतामेव प्रागुपदर्शयति । निस्सगतामात्मन सपावयितु ॥

विज्जूव चंचलाहं दिट्ठपण्डाहं सव्वसोकस्वाइ ॥

जलबुबुदोव्व अधुवाणि हुंति सव्वाणि ठाणाणि ॥ १७१७ ॥

दृष्टनष्टानि सौख्यानि स्फुरितानीव विद्युताम् ॥

बुद्बुदा इव निःशेषा नश्वराः सन्ति गोचराः ॥ १७८४ ॥

विजयोदया—विज्जूव चंचलाहं विद्युदिव चंचलानि, विट्ठपण्डाहं दृष्टपण्डानि, सव्वसोकस्वाइ सर्वोणि सुखानि अभिमतरूपादिविषयपंचकस्य प्रपञ्चस्य सन्निधानादुपजातानि यानि मन समुत्थानि सर्वेणा वा मानवाना तिरश्चा दिवि जाना वा सुखानि सुखलपटतया जन हेतुशानिशतनिपातमपि सहते, तानि च नीरुभरिन्तसभासगभीरधीराराव-नीलनीरदोदरपरिस्फुरत्तडिल्लतेव, एतेनानित्यतादोषोत्पकटेन सासारिकसुखपराडुसुखतोषणयो निगदित । जलबुबुदोव्व जलबुबुदवत् । अधुवाणि अधुवाणि । हुंति भवति । ठाणाणि सव्वाणि सर्वोणि स्थानानि । तिष्ठत्येतेषु जीवा इति स्थानानि । ग्रामनगरपत्तनादीनि ॥ इव मदीय स्थान अत्राह वसामीति माहृथा सकल्पं । तानि अनित्यानि नित्यबुद्ध्या परिगृहीतानि विनाशे संक्षेपशतान्यानयतीति कथित ॥ अथवा तिष्ठत्यसिन्धुतविचित्रकर्मोदयात्माणिन इतीदृत्त्व, चकलांछनत्व, गणा-धिपतित्व वा एतानि स्थानान्यनित्यानि ॥

मूलारा—सर्वसोक्तवाइ मन पष्ठचक्षुरादिविषयानुभवप्रभवानि देवमानुषतिर्यक्स्वबंधीनि वा सुखानि । ठाणाणि इंद्रत्वादपदानि ग्रामपुरपत्तनादीनि वा ।

प्राणिओंको सबसे बड़ा द्रव्यहीका लोभ है द्रव्य लोभसे इंद्रिय सुख की प्राप्ति होती है द्रव्यके निमित्त प्राणोंको भी त्यागते हैं इस लिए द्रव्यकी अनित्यताका आचार्य प्रथमतः दिग्दर्शन करते हैं इस दिग्दर्शनसे द्रव्यमें आत्मा निःसंग होता है—

अर्थ—सब प्रकारके सुख विजलीके समान दौलकर नष्ट हो जाते हैं इष्ट रूपादिक पांच प्रकारके विषयोंके सांनिध्यसे मनसे मनुष्य तिर्यच और देवोंके सुखमें पाणी सुखलपट होकर लुब्ध होता है इस सुखके लिये हजारों क्लेश देववाली आपत्ति भी भोगनेके लिये जीव तयार होते हैं परंतु ये सुख जलसे नम्र और गंभीर गर्जना करनेवाले निल मेंधोंमें चमकनेवाली विजलीके समान चंचल हैं, जहां जीव निवास करता है ऐसे ग्राम, नगर, पत्तन वगैरह स्थान अक्षुब्ध अर्थात् नाशवंत हैं यह मेरा स्थान है, मैं यहां रहता हूं ऐसा मनमें तू संकल्प करना छोड़ दे क्यों कि ये स्थान उत्पन्न होते हैं अथवा इस जगत्में अपने किय हुए विचित्र कर्मके उदयसे सैकड़ों संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं अथवा इस जगत्में नित्यपनका सकल्प करके स्वीकार करनेपर उनका नाश होनेसे

ना, चक्रवर्तिपना, गणधरत्व ऐसे स्थानोंकी प्राप्ति होती है परंतु इन स्थानोंकी अनित्यता ही है।

णावागदाव बहुगइपधाविदा हुंति सव्वसंवंधी ॥ १७१८ ॥

णावागदाव बहुगइपधाविदा हुंति सव्वसंवंधी ॥

सव्वेसिमासया वि अणिच्चा जह अब्भसंधया ॥ १७८५ ॥

नानादेशागताः पांथा नौगता इव नौरदाः ॥ १७८५ ॥  
गत्वरा आश्रयाः सर्वे शारदा इव नौरदाः ॥ १७८५ ॥  
विजयोदया—णावागदाव जलपानपानारूढा इव बहुगदिपधाविदा हुंति सव्वसंवंधी, विचित्रशुभाशुमपति-  
कर्मवशात्तदुपनोयमानदेवमानवनाशकतिर्यचात्यगतिपर्यायग्रहणाय कृतप्रयाणवधव सर्वेऽपि । एतेन  
देवुताया अनित्यतोक्ता । उपात्तगत्यपरित्यागे बहुता स्थिरा भवति, उपात्ता चेत् त्यक्तान्या च गर्हता पितृपुत्रादीना गत्य-  
तरमुपगतानामपि बंधुत्वे खजनपरजनविवेक एव न स्यादिति मन्यते । सव्वेसिमासया वि सर्वपामाश्रया अपि  
यानाश्रित्य प्राणिनो जीविदुसुत्सहते तेव्याश्रयाः स्वामी भृत्य पुत्रो भ्रातेत्येवमादयोऽनित्या यथा अब्भसंधया अत्रसंधा इव ॥

मूलारा—णावागदाव यानपानारूढा इव । बहुगदिपधाविदा विचित्रशुभाशुमपति-  
कर्मवशात्तदुपनोयमानदेवमानवनाशकतिर्यचात्यगतिपर्यायग्रहणाय कृतप्रयाणवधव सर्वेऽपि । एतेन  
देवुताया अनित्यतोक्ता । उपात्तगत्यपरित्यागे बहुता स्थिरा भवति, उपात्ता चेत् त्यक्तान्या च गर्हता पितृपुत्रादीना गत्य-  
तरमुपगतानामपि बंधुत्वे खजनपरजनविवेक एव न स्यादिति मन्यते । सव्वेसिमासया वि सर्वपामाश्रया अपि  
यानाश्रित्य प्राणिनो जीविदुसुत्सहते तेव्याश्रयाः स्वामी भृत्य पुत्रो भ्रातेत्येवमादयोऽनित्या यथा अब्भसंधया अत्रसंधा इव ॥

यमानेवनारुमानवर्तियकुत्तारव्यगतिपरिणामग्रहणाय प्रभूतमार्गगमनाय च कृतप्रयाणाः । मंत्रधी वांचना । आम्भया या-  
नाश्रित्य प्राणितो जीवितुमुत्सहंते ते आश्रयाः । आमी, श्रुत्य पुत्रो भ्रातेत्येवमादयः ।

अर्थ—नानाप्रकारके शुभाशुभपरिणामोंमें जिनको भिन्न २ गतिबंध हुआ है, ऐसे अपने वंशगण कर्मके  
वश होकर देवगति, मनुष्यगति, तिर्यचगति और नरकगति एतत्स्वरूप पर्याय ग्रहण करने के लिये प्रयाण करने हैं  
इसलिये वंशगण भी अनित्यही हैं, उनका ऊपर मोहयुक्त होना अयोग्य ही है, जिस गतिका यह हुआ है उसको  
त्यागेनका सामर्थ्य इनमें यदि होता तो ये स्थिर माने जाते थे परंतु जो गति ग्रहण की थी उसको छोड़कर जीव  
अन्य अन्य गति ग्रहण करते जाते हैं, पिता पुत्रादिक पूर्व पर्याय छोड़कर अन्यगतिको प्राप्त करते हैं तो भी  
उनको वंश ही माना जायगा तो ये भरे स्वजन हैं ये परजन हैं इनका विवेक ही नहीं रहेगा

संवासो वि अणिच्चो पहियाणं पिण्डुणं व छाहीणु ॥

पीदी वि अन्धिरागोव्व अणिच्चासव्वजीवाणं ॥ १७१९ ॥

छायानामिव पांथानां संवासो नश्वरोंगिनाम् ॥

चक्षुषामिव रागोऽत्र न स्नेहो जायते स्थिर ॥ १७८६ ॥

विजयोदया—सवासो वि सत्तावस्थानमपि यधुभिर्भेदी पजिज्जेय, चणिच्चो अनित्य । पहियाण पिण्डु इ-  
च्छाहीण नानादिदेशागताना पयिकाना भिन्नस्थानयोगिता मार्गापकटस्थितनिष्ठितरगदिपलाशालकारयिनतशा-  
खाकरशतनिवारितश्रमरदिमप्रसरनश्वरीतलाविरत्यिपुलछायाया पाथाना ममाल इय । पीदीवि प्रीतिरपि । अन्धि-  
रागोव्व प्रणयकलहपासुपातदृष्टितप्रियतमालुडग्पाटीनोदग्धचललोचनगतग इय अनित्या सर्वजीवाना । तथासुप्रि-  
यानरणविपक्किक्काप्रणयलोचनप्रलय मंविदघातीति प्राणभ्रतामनुभवसिद्धमेव ॥

मूलारा—संवासो वंशुभिन्नपरिजनादिभिः सत्तावस्थानं । पहियाणं नानादिदेशागताना भिन्नस्थानयागिता  
पाथाना । पिण्डण मीलणं । छाहीण मार्गापकटस्थयुक्तावितानछायाया । अन्धिरागोव्व प्रणयकलहपासुपातदृष्टितप्रियतमा-  
लुडग्पाटीनोदग्धचललोचनगतो रागो लौहित्यं यथा ।

जिनके आश्रयमें प्राणी अपना जीवित धारण करनेमें समर्थ होते हैं वे मालिक, नोकर, पुत्र भाई वगैरह  
आश्रयस्थान भी बादलोंके समुदायके समान चंचल है अतः मनुष्य मोह त्याग करके निःसंग होना चाहिये.

अर्थ—वंधु, मित्र और परिजनों के साथ अपना रहना भी नित्य नहीं है जैसे रास्ते में अनेक दिशा और देशों से आये हुए पथिक भिन्न स्थानों के प्रति जानेवाले होते हैं परंतु मार्ग के समीप के स्थान जो पलाश, खदिर वृक्षों की सूर्यकिरणों को निवारण करनेवाली विस्तृत, शीतल, विपुल छाया में क्षणपर्यंत बैठकर विश्रान्ति लेते हैं अनंतर वे भिन्न भिन्न स्थानों को प्रयाण करते हैं तद्वत् मित्रादिक वंधुओं का सहवास भी अनित्य है। वंधुओं की प्रीति भी अनित्य है। प्रणयकलह रूपी धूल पड़ने से क्षुण्ण मित्राग्रिय स्त्री के झुड़नेवाली मंजुली के समान सफेद आलों में जैसा लालपना थोड़ी देर तक रहता है वैसा मित्रादिक वंधुओं का सहवास भी थोड़ी देर के लिये है, अग्रिय आचरण रूपी विपकणसे प्रेमरूपी नेत्र का नाश होता है यह सपूर्ण प्राणिजों के अनुभव में आई हुई बात है।

रत्ति एगस्मि दुमे सउणाणं पिण्डणं व संजोगो ॥ १७२० ॥

परिवेसोव अणिच्चो इस्सरियाणाघणारोगं ॥

संयोगो देहिनां वृक्षे शर्वर्यामिव पक्षिणाम् ॥ १७८७ ॥

अश्वश्वर्यादयो भावाः परिवेषा इव स्थिराः ॥ १७८७ ॥  
आश्वश्वर्यादयो भावाः परिवेषा इव स्थिराः ॥ १७८७ ॥  
अश्वश्वर्यादयो भावाः परिवेषा इव स्थिराः ॥ १७८७ ॥

विजयोदया—रत्ति रात्रौ । एगस्मि दुमे एकस्मिन् दुमे । सगुणाण पक्षिणा । पिण्डण व पिण्डितमिव सजोनो स-  
योनो यस्यामस्तदुमाभिमुख तत्र वयं प्राप्स्यामोन्योन्यमित्यरुतसंकल्पाना यथाकथंचिदन्योन्यप्राप्तिरसकाला तथा प्राणभृ-  
तामपि समानकालमास्तत्रेति तानमेकस्मिन् कुलविटपेति कतिपयदिनमावीसप्रयोग । परिवेसो व परिवेष इव ।  
अणिच्च अनित्य । किं ? इस्सरियाणाघणारोग । ऐश्वर्यं प्रभुता आत्मा धन आरोग्य च ॥  
मूलारा—दुमे वृक्षे । संजोगो अकृतसंकल्पाना प्राणिना एकस्मिन्कुले अन्योन्यप्राप्तिः । परिवेसो सूर्यपरिधिः ।

इस्सरियाण प्रभुत्वमाहा वा ॥  
अर्थ—जैसे रात में एक वृक्षपर पक्षियों का समुदाय आकर बैठता है हम सब मिलकर एक वृक्षपर निवास करेंगे ऐसा मन में संकल्प कर वे वृक्षपर आकर नहीं बैठते हैं, रात में निवासकर प्रातःकाल में वे वहां से स्वेच्छा से गमन करते हैं वैसे प्राणी भी समान कालरूप वायु से प्रेरित होकर एक कुलरूप वृक्षपर कुछ दिनों कालपर्यंत आकर उत्पन्न होते हैं, जैसे सूर्य के चारों तरफ परिवेश उत्पन्न होता है परंतु वह थोड़े कालतक ही टिकता है वैसे जीवों में आरोग्य मामर्थ्य, ऐश्वर्य थोड़े दिन का है।

इन्द्रियसामग्री वि अणिच्चा संझाव होइ जीवाणं ॥  
मञ्जणहं व णराणं जोव्वणमणवाड्ढिदं लोए ॥ १७२१ ॥  
जीवानामथसामग्री शंपेवास्ति चला चलम् ॥  
चिनन्धरमशोपाणां मध्याह्ण इव यौवनम् ॥ १७८८ ॥

विजयोदया—इन्द्रियसामग्रीवि इन्द्रियाणा सामान्यपि । अणिच्चा अनित्या । अधता च विरता च दृश्यत इव । मञ्जणहं व मध्याह्नदिवत्, णराणं जोव्वणमणवाड्ढिदं लोके नराणा यौवनमनवस्थित लोके यौवनोऽवस्थिति जन. स्लादयते, यौवनदर्प-  
निकारादेव बुध्यमानोऽपि धर्मे न प्रयतते तदनित्य मध्याह्नदिवन् ॥ क्षिप्रतरं व्यतिवर्तिनि यौवने को यौवनकृतोत्पीर्णमद्  
स्याच्च मनस्विनाम् ॥

मूलारा—अणवड्ढिदं क्षिप्रतरगत्यन्तर ॥

अर्थ—इन्द्रियोंकी सामग्री भी इस जीवको अपूर्ण रहती है. कोई जीव अथा रहता है तो कोई जीव बहारा  
होता है अर्थात् संध्याकालके समान यह सामग्री अनित्य है मनुष्योंका तारुण्य अस्थिर है परंतु मनुष्य में तरुण  
हं ऐसी रस्य प्रशंसा करता है तारुण्यके अभिमानमें आकर धर्ममें तत्पर नहीं होता है परंतु तारुण्य चिरकालतक  
नहीं रहता है वह भी मध्याह्न कालके समान जल्दी नष्ट होता है ऐसे जल्दी नष्ट होनेवाले तारुण्यके विषयमें  
गर्व करना क्या बुद्धिमानोंको योग्य है? कभी भी नहीं

चदो हीणो व पुणो विट्ठदि एदि य उट्टु अदीदो वि ॥  
णट्टु जोव्वण णियत्तइ णदीजलमदछिदं चेव ॥ १७२२ ॥  
चंद्रमा वर्द्धते क्षीण ऋतुरेति पुनर्गतः ॥  
नदीजलमिवातीतं भूयो नायाति यौवनम् ॥ १७८९ ॥

विजयोदया—चदो हीणो व पुणो विट्ठदि नित्यराहुमुखकुहरपेशाद्वानियुपगतोऽपि निशानाथ कृष्णपक्षे  
हीयते ॥ हीनो भवति । पुणो विट्ठदि पुन शुक्लपक्षे वर्द्धते ॥ प्रतिदिनोऽपनीयमानकाल । एदि य उट्टु अदीदो वि हिमशिखिर  
वसतादयोऽतीता अपि क्रतव्य पुनरायाति न तु जोव्वण णियत्तेदि नेव यौवन निवर्ततेनिकातम् । तस्मिन्नेव भवे नदीजल  
मदछिदं चेव नदीजलमतिक्तातमिव न पुनरेति ॥ तद्वदि यौवनमित्येनानित्यतातिशयो यौवनस्य दर्शित ॥

मूलरा—हीणो नितराहुमुलकुहरप्रवेशाद्धानि गतः । एदि य पुनरायाति च । उडु हेमतावि ऋतुर्नश्वत्र वा ।  
णियदृदि पुनरायाति । अदिच्छिदं अतिक्रांतं । चेव यथा ।

अर्थ—हमेशा नित्य राहु के मुखमें प्रवेश करनेसे हानिको प्राप्त होता हुआ भी अर्थात् ऋणपक्षमें प्रति-  
दिन कम कम होता हुआ भी चद्र शुक्ल पक्षमें बढ़ने लगता है अर्थात् चंद्रकी एकात रूपसे हानि ही नहीं है-  
उसकी वृद्धि भी है हिम, शिशिर वसतादिक ऋतु व्यतीत होनेपर भी पुनः उनका आगम होता है परंतु तारुण्य  
वृत्तिनेपर पुनः लौटता नहीं है उसभ्रममें तारुण्यकी पुनरावृत्ति होती नहीं है जैसे नदीका गया हुआ पानी फिर  
वही नहीं आता है वैसे यह तारुण्य पुनः आता नहीं है इससे तारुण्यमें अनित्यताका अतिशय है यह सिद्ध  
होता है.

धावदि गिरिणदिसोदव आउगं सब्वजीवलोगम्मि ॥

सुकुमालदा वि हीयदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥ १७२३ ॥

धावते देहिनामायुरापगानामिवोदकम् ॥

क्षिप्रं पलायते रूपं जलरूपमिवांगिनाम् ॥ १७२० ॥

विजयोदया—धावति गिरिणदिसोदव धावति गिरिनीदीप्रवाह इव । किं ? आउग आयु । सब्वजीवलोगहि  
सर्वस्मिन् जीवलोके । सुकुमालदा वि हीयदि सुकुमारतापि हीयते । पुव्वण्ह छाही व पूर्वोदयाया इव । यथा यथोदच्छति  
तामरसवधुस्तथा तथोपसहरति छाया शरीरादीना ॥

मूलरा—पुव्वण्हछाहीव पूर्वोदयाया यथा । मूर्ध्नो हि यथा यथोदेति तथा तथोपसहरति शरीरादीना छाया ॥

अर्थ—पर्वतपरसे वटवगसे बहने वाली नदीके प्रवाहके समान प्राणियोंका आयुष्यप्रवाह शीघ्र बहकर  
समाप्त होता है. जैसे जैसे कमलबंधु सूर्य ऊपर आता है वैसे २ शरीरादिकोंकी छाया कम होती है इस सर्व जी-  
वोंके जगतमें प्राणिओंकी कोमलता भी पूर्वाह्निकी छायाके समान कम कम होती जाती है अर्थात् प्राणिओंका सौ-  
ंदर्य वृद्धावस्था आनेपर नष्ट होता है.

अवरणह्रस्वच्छाही व अङ्गिदं वहुदे जरा लोणे ॥

रूवं पि णासइ लहुं जलेव लिहिदेछयं रूवं ॥ १७२४ ॥

पौर्वाहिकी यथा छाया हीयते सुकुमारता ॥

परालिकी यथा छाया सर्वदा वर्धते जरा ॥ १७२५ ॥

विजयोदया—अवरणह्रस्वच्छाहीव अपराणह्रवृक्षच्छायेव । अङ्गिदं वहुदे अस्तित्वं वर्धते ॥ क्रियाविशेषणत्वा-  
द्यनुसक्तता । जरा लोणे लोके । सौरूप्यपल्लवदधानलशिखा, सौभाग्यप्रसन्नकरकावृष्टि, युवतिहरिणालीश्यामी, गानलोच-  
रूवंपि णासइ लहुं रूपमपि विलासिनीकटाक्षशशशततूणारायमाणं, चेतोवलक्षसुस्मवसनंजने कौसुमरसाय-  
मानं, प्रीतिललितकाया मूलं, सौभाग्यतरुफलं, कूल पूज्यताया यद्गुणं तल्लघु विनश्यति ॥ किमिव जलेव लिहिदेछयं रूवं  
जले लिखितरूपमिव ॥

मूलारा—अङ्गिदं वहुदे अश्रात वर्धते । लिहिदेछयं लिखितं ॥

अर्थ—दिवसके उत्तरार्धमें वृक्षकी छाया जैसी बढने लगती है जरा वृद्धावस्था भी प्राप्त होनेपर प्रति दिन  
बढने लगती है यह वृद्धावस्था सौंदर्य रूप कोमल कोपलपर अयीकी ज्वालाके समान आक्रमण कर उसको जलाती  
है- सौभाग्यरूपी पुष्पपर ओले की वृष्टिके समान है तारुण्यरूपी हरिणपर यह व्याघ्री के समान दूट पडती है  
ज्ञानरूपी नेत्रपर यह धूलीवृष्टिके समान है- तपस्वी कमलवनके लिये यह वृद्धावस्था बर्फके समान है, अर्थात् वृद्धपना  
तपको नष्ट करता है- यह वृद्धावस्था दीनताकी माता है- अपमानकी धाय है- मृत्युकी दूती है- भय की प्रिय सहेली  
है- इस वृद्धावस्थाकी प्राप्ति होनेपर रूपका नाश होता है यह रूप गुणसुंदर स्त्रियोंके कटाक्ष वाणोंका आश्रयस्थान  
है- मनरूपी स्वाच्छ वस्त्र को रंगानेके लिये कुसुमी रंगके समान है- प्रीतिलताका यह मूल है सौभाग्य वृक्षका यह  
फल है, पूज्यताका यह किनारा है- ऐसा भी उत्तम रूप पानीमें लिखे हुए चित्रके समान शीघ्र नष्ट होता है-

तेओ वि इंदधणुतेजसणिहो होइ सब्वजीवाणं ॥

दिट्ठपण्ठा बुद्धी वि होइ मुक्काव जीवाणं ॥ १७२५ ॥

तजो नश्यति जीवानां निलिपधनुषामिव ॥

उत्केशानश्वरी बुद्धिर्दृष्टनष्टा प्रजायते ॥ १७९२ ॥

विजयोदया—तेजोवि इदं यणेतेजसणिहो शरीरस्य तेजोपि गैलोमीप्रियतमचापस्य तेज इव गज्जल्लज्जन नयनचेतःप्रमोदादायि क्षणेन क्षयमुपग्रजति ॥ दिष्टपण्डा दृष्टपण्डा बुद्धि सकलधनुषायात्प्रयावकुट्टप्रानतमःपटल पाटनपटीयसी, विचित्रदु स्रग्राहकद्वकाकीर्णकुगातिविशालनिगमाप्रवेशनिवारणोद्यता, चारित्रनिधिप्रकटनक्षमा-दीपवर्ति, सकलसपदाकर्षणविद्या शिवगतिनायिकासफली पवभूता बुद्धिरप्युक्तेवाशु नाशमुपयाति ॥

मूलारा—तेजो देहप्रभा । बुद्धि यथार्थप्रतिपत्तिः ।

अर्थ—मनुष्यके शरीरकी कांति उद्ग्रधनुष्यके समान क्षणपर्यंत नेत्रोंको छुमाती है परंतु क्षणके अनंतर नष्ट होती है. संपूर्ण पदार्थ का यथार्थ स्वरूप दिखानेवाली, अज्ञानांधकारके समूहको नष्ट करनेवाली, अनेकदुःखरूपी मरगसे भरी हुई कुगतिरूप विशाल नदीमें जीवके प्रवेशको रोकनेवाली, चारित्ररूपी निधिको प्रकट करने की दीप के समान संपूर्ण सपत्तिको उत्पन्न करनेवाली, मंत्रविद्याके समान, मुक्ति लक्ष्मी के द्रुतिके समान ऐसी बुद्धि भी व्यभिचारिणी स्त्रीके समान मनुष्यसे निदा लेती है

अदिवडइ बलं खिपं रूवं धूलीकदंबरं छाए ॥

वीचीव अद्दुवं वीगियपि लोगम्मि जीवाणं ॥ १७९६ ॥

बलं पलायते रूपमिव रथ्यागतं रजः ॥

जलानामिव कल्लोलो वीर्यं नश्वरमग्निनाम् ॥ १७९३ ॥

विजयोदया—अतिवडइ बल खिप क्षिप्रमतिपतति बल, रूवं धूलीकदंबरं छाए रथ्याया पासुरचितरूपमिव ॥ वीचीव चण्डप्रभजनाभिघातोत्पापिततरलतरगमलिव, अद्दुवं अशुवं । वीरिय वीर्यमपि । जीवानां शरीरस्य दृढता बलं-वीर्यमात्मपरिणाम ॥

मूलारा—अदिवडइ नश्यति । धूलीकदं रथ्याया पासुरचित रूपमिव । वीची लहरी । अद्दुवं अशुवं । लोगम्मि लोक प्रसिद्ध ।

अर्थ—रास्तेमें वायुमें धूली ऊठकर उसकी बल्लुकाकृति उत्पन्न होती है. परंतु वह शीघ्र ही नष्ट होती है वैसे मनुष्यका बलभी जल्दी नष्ट होता है बड़े मछली क्षयरोगसे ग्रस्त होते हैं. मनुष्योंका पराक्रम भी प्रचंड हवाके



आधातोंसे उठी हुई लहरियोंकी पंक्तिके समान नष्ट हो जाता है. शरीरकी दृढ़ता को बल कहते हैं, आत्माके अदम्य उत्साह को-धैर्य को वीर्य-पराक्रम कहते हैं

हिमणिचओ वि व गिहसयणासणभंडाणि होंति अधुवाणि ॥

जसकिन्ती वि अणिच्चा लोए संझब्भरागोत्व ॥ १७२७ ॥

हिमणुजा इवानित्या भवन्ति स्वजनादयः ॥

जंतुनां गत्वरी कीर्तिः संध्याश्रीरिव सर्वथा ॥ १७२४ ॥

मूलारा—वेच इव । जसकिन्ती यशःकीर्तिः । संझब्भ दिनतमेवः ।

अर्थ—वर्ष के संसुदायके समान घर, शय्या, आसन, पात्र वगैरह पदार्थ नश्वर हैं और यशकी प्रसिद्धि

भी संध्याकालीन मेघके समान नश्वर है.

स्मरणोत्तरगाथा—

किह दा सत्ता कम्मवसत्ता सारदियमेहसरिसमिणं ॥

ण मुणंति जगमणिञ्चं मरणभयसमुत्थिया संता ॥ १७२८ ॥

इदं जगच्छारदवारिदोपमं न जानते नश्वरमंगिनः कथम् ॥

यमेन हंतुं सकला पुरस्कृता मृगाधिपेनेव मृगा बलीयसा ॥ १७२५ ॥

इति अधुवम् ॥

विजयोदया—किह कथं तावत् । अणिच्च जग ण मुणत्ति जगदवित्यं न जानति । के सत्तादीं सोदति स्वरुतपापव-  
शात्तासु तासु गोलिब्विति सत्या. । सारदिगमेघसरिसमिणं शरदतुसमुत्पन्न नैकवर्णविचित्रसंस्थानजीमूतमालासहस्रं ।  
मरणभयसमुच्छिदा संता मरणं विप वृपतमजीवितस्य सरित्कृत प्रियवियोगादारकस्य, शोकाशेनेजलदपटल,  
अयस्कातोपल उ छलोहाकर्षणे, वधुहृदयोपलाना प्रावकमौपयमायतापदामायतनं एवभूतमरणभयसमुत्थिता सत ॥  
एवमन्ति-तामशेषवस्तुविषया ध्येयीकृत्य प्रवर्तते धर्म्यं ध्यान ॥ अष्टद्व ॥

भोगार्थकर्मव्यग्राणा प्राणिना जगदनित्यत्वाद्भान साश्चर्यमनुशोचति—

मूलारा—दा तानत् । वाक्यालंकारे । सत्ता प्राणिनः । कर्मपसत्ता कृप्यादिष्वासत्ता । सारदा शरत्प्रभवः ।

समीछिदा आच्छादिता अपि । उक्त च —

कर्मसत्ताः कथं सत्ताः शरन्मेघसमं जगत् ॥

सर्वमेतन्न जानन्ति मृत्युभीतिर्युता अपि ॥

अपिच— कथमिव दुरितज्वरणो भोगामत्ताः शरदृघनप्रतिम ॥

जानन्ति जगदनित्यं न जन्मिनो मरणभीतिमृत् ।

अनित्यताश्लेष्का ॥  
अर्थ—ये सर्व प्राणी मृत्युमयसे युक्त होकर भी शरत्कालके मेघके समान इस विनश्वर जगत् को क्यों पाते नहीं जानते हैं यह बड़ा आश्चर्य है ये सर्व प्राणी अपने किये पापों के आधीन होकर अनेक योनियोंमें दुःख पाते रहते हैं इसलिये 'सीदंतीति सत्ताः' अर्थात् सत्त्व ऐसे अन्वर्थक नामको धारण करते हैं शरदृत्तमें उत्पन्न हुए अनेक रंगोंको धारण करनेवाले, अनेक आकृति युक्त परतु नश्वर ऐसे मेघसमूहके समान यह जगत् नश्वर हैं, प्राणियों को मरण विषके समान अग्निय है शोकरूपी वज्रपातको उत्पन्न करनेवाला मानो मेघ पटल ही है, दुःखरूप लोहको लीचने के लिये मरण लोहचुम्बके समान है, वधुओंके हृदयरूपी पत्थरको द्रवयुक्त करनेमें औषधीके समान है, यह मरण दीर्घआपत्तिओं का घर है, इस प्रकार मरणमयसे युक्त सत्पुरुष संपूर्ण विषय अनित्य धर्मसे युक्त है ऐसा समझकर उन वस्तुओंको धर्मव्यानका विषय करते हैं।

अशरणताकथनायोत्तरप्रबंध । कर्मण्यतामपरिणामोपनीतचिरकालस्थितीनि सच्चिद्वित्येवकालमावाख्य सहाकारिकारणानि यदा फलमशुभं प्रयच्छति तदा तानि न निवारयितुं कश्चित्त्वमर्थोऽस्ति तेनाशरणोऽस्म्यहमिति चिंता प्रयत्नं कार्य इत्याचष्टे—

णासदि मदी उदिणो कम्मणे य तस्स दीसदि उवाओ ॥

अमदंपि विसं सच्छं तणं पि णीयं वि हुंति अरी ॥ १७२१ ॥

कर्मादये मतिर्याति नोपायो विद्यतेऽङ्गिनाम् ॥

सुधा विषं तृणं अखं वंधुः शत्रुश्च जायते ॥ १७९६ ॥

विजयोदया—णासदि मदी नश्यति मति । उद्विण कस्मे उदीर्णं कर्मणि । बुद्धिर्द्विधा स्वाभाविकी आगमभया च सा द्वयी यस्यासौ हितमवैति नेतरः ॥ उक्तं च—द्विधेद्व बुद्धिं प्रवदति संत स्वाभाविकीमागमसंभवा च । बुद्धिद्वयी यस्य शरीरिण स्यात् द्रष्टुं हितं सोलमल न चान्य ॥१॥ स्वाभाविकी यस्य मतिविशुद्धा, तीर्थादवासं न तु शास्त्रमस्ति द्रष्टुं हितं धर्ममसौ न शक्नो भाया विना रूपमिवाग्यनघ ॥२॥ तीर्थादवासं श्रुतमस्ति यस्य स्वाभाविकी नास्ति मतिविशुद्धा, श्रुतस्य नाप्नोति फलं स तस्य दीपस्य हस्तेऽपि सतो यथाध ॥ ३ ॥ किं दर्पणेनावृतलोचनस्य विद्वानभोगस्य धर्मेन वा किं । शस्त्रेण किं वा युधि भीरुकस्य तथैव किं मंदमेतं श्रुतेन ॥ ४ ॥ ईदृशी बुद्धिर्नश्यति ज्ञानावरणाख्ये कर्मण्युदयमुपागते । तच्च ज्ञानावरणं यच्चाति जतुर्ज्ञानिना ज्ञानस्य ज्ञानोपरणाना च द्वेपाद्बिन्दुवाहुपथात् मात्सर्याद्विघ्नकरणादासादनादुपणात् ज्ञानोदीर्णप्रहरणादकाले पठनात् परेन्द्रियेपथातकरणादजित, अवग्रहेहावायधारणाविकल्प मतिज्ञानं श्रुतादिकं वा नाशयति ॥ उक्तं च ॥ अवग्रहीतुं च तथेहिं च सोवेहिं धारयितुं च सम्यग् । नाल भवत्यर्जितवानपुण्य कर्मोभयं ज्ञानवृत्तेर्निमित्तं ॥ १ ॥ अंधश्च पश्यन् वधिरश्च शृण्वन् जिह्वा विना सौरसतास्तथासन् । त्वगीतेय सत्यपि विष्वगेव न योविशेषान्विषयेषु वेत्ति ॥ २ ॥ एकोन्द्रिय-र्दीन्द्रियता भवेषु स त्रीन्द्रियत्वं चतुरिन्द्रियत्व । तेनावृत कर्ममहाबुदेन प्राप्नोति जीवो विमनस्कता च ॥ ३ ॥ द्रष्टुं हितं श्रोतुमेवेद्विदुं च कर्तुं च दातुं विधिना च भोक्तुं ॥ स्वकर्मणा तेन नरो वृत्तस्सन् न कुप्यमान पशुनैति साम्यं । ४ ॥ स्वबुद्धिमात्रमपि शक्यमाप्नु श्रेय समीपस्थमिहायविद्यान् । सुदूरसंख्यं च श्रुताभिगम्य स केन विद्यात्परलोकपथ्यं ॥५॥ महाबुद्धिमात्रमपि प्रवेशात् सदाग्यागाधमसि मज्जनाच्च । यनाच्चिर चारकरो यनाच्च स्यादेहिन कप्रतरोऽन्नभाव ॥ ६ ॥ तमःप्रवेशोभसि मज्जनं च स्याद् बहुलुच्चाःकरोयनं च ॥ जाताविहकृत्र भवात्स्यन्ततानज्ञानजं दु खमनुप्रयाति ॥ ७ ॥ नालं विशाल नयन तृतीयं श्रुतं च मत्पारहितो ग्रहीतुम् ॥ अघोपि यस्मिन् सति याति मार्गे क्षेम शिवे मोक्षमहापुरस्य ॥८॥ एवं भूतामज्ञतामापादयति ज्ञानावरणं न किञ्चित्त्रिवारणक्षमं शरणमस्ति ॥ न य तस्स दिस्सदि उवाउ, नैव तस्य कर्मणो निवारणे उपायो दृश्यते । असद्वेद्यस्य कर्मण उदयात् अमदंदि विस् होदि अमृतमपि विष भवति । तणमपि सच्छ दणमपि शख भवति । णीया वि य होति अरी वंधवोपि शत्रवो भवति ॥

एवमशेषवस्तुविषयामनित्यता ध्येयीकृत्य प्रवर्त्यमानं निर्वर्णं साप्रतमशरणता तद्व्येयमापायमानामष्टादशगाथाभिर्भावयितुमुपदिशति । तत्र कपायावेशवशाज्जीवेन तद्वातिकर्मणि द्रव्यक्षेत्रादिसहकारणसन्निधानादुद्भूयोद्भूय कटु-तरमात्मफल प्रयच्छंति न कश्चिन्निवारयितुं शक्नोति इत्यहमस्मिन्नशरणोऽस्मीति चिन्ताप्रबंधो विधेय इति समग्रः—

मूलारा—मदी अवग्रहादिमतिज्ञानमाप्तोपदेशप्रभवं श्रुतं च । तद्व्येयोभागेदेव हि हितमहित वा जानाति नान्य-था । उक्तं च—

द्विधेह बुद्धि श्रवदन्ति संतःस्वाभाविकीभागमसम्भवां च ॥

बुद्धिस्थी यस्य शरीरिणःस्यात् द्रष्टुं हितं सालमल च नान्यः ॥

ईदृश्यपि द्वितीय बुद्धिर्ज्ञानावरणविशेषे कर्मण्युदिते सति नश्यति । तस्य तत्तादृग्वुद्धिविध्वंसनोद्यतस्य कर्मणो निवारणे । उवाचो प्रतीकारो । लोके च न नश्यते इत्यशरणं बुद्धिविध्वंसि कर्मोद्यतं भावयेत् । सर्वं पुरुषार्थसिद्धिनिवध-  
नत्वादबुद्धेः प्रधानतमत्वात्तद्विघातिकर्मानिवार्यताभावना प्रमुपदिष्टा । अमदभीत्यादि सद्देष्टव्यकर्मण्युदीर्णं सति इति  
सवधः ।

अशरणता भावनाका मविस्तर वर्णन आचार्य करते हैं ज्ञानावरणादिकर्म आत्मपरिणामोसे उत्पन्न होते हैं कणायसे इन कर्मोमें अधिक स्थिति पडती हैं, जग क्षेत्र, काल भाव वगैरह कारण आकर मिलते हैं तब अशुभ फल आत्माको इनसे मिलता है, तब इन कर्मोंका निवारण करनेमें कोई भी समर्थ नहीं होता है, इस वास्ते में अशरण हूँ ऐसा वार वार विचार करना योग्य है ऐसा आचार्य कहते हैं —

अर्थ—कर्मका उदय आनेपर विचार युक्त बुद्धि नष्ट होती है, अवग्रह ईहा इत्यादिरूप मति ज्ञान और और आपसे उपदेशमे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान इन दोनों से मनुष्य प्राणी हित और अहितका स्वरूप जान लेता है अन्य उपायसे हिताहित नहीं जाना जाता है, शास्त्रों में इनका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

१ सत्पुरुष स्वाभाविक बुद्धि और आगमजन्य बुद्धि ऐसे बुद्धिके दो भेद मानते हैं, जो मनुष्य इन दो बुद्धिओंको धारण करता है वही अपना हित जाननेमें समर्थ होता है अन्य समर्थ नहीं होता है,

२ जिसकी स्वाभाविक बुद्धि तो निर्मल है परतु गुरुके मुखमे जिसने शास्त्राध्ययन नहीं किया है वह पुरुष जैसे नेत्रयुक्त मनुष्य रूपको देखकर भी भापके विना उसका वर्णन नहीं कर सकता है वैसे हितकर धर्मका स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है,

३ जिसको शास्त्रज्ञान तो है परतु स्वाभाविक निर्मल बुद्धि नहीं है वह श्रुतज्ञानका फल जो हित उसको नहीं प्राप्त कर सकता जैसे दीप हाथमें लेकर भी अथा पुरुष अपनी इच्छित वस्तु नहीं प्राप्त कर सकता है,

४ जिसने अपना मुह वस्त्रसे ढक लिया है उसको दर्पणकी क्या जरूरत है, जो दान देता नहीं और भोगता भी नहीं उसको धनकी क्या अम्शकता है! जो डरपोक है युद्धमें वह पुरुष शस्त्र लेकर करेगा ही क्या ? वैसे जिसकी स्वाभाविक बुद्धि नहीं है वह शास्त्रसे अपना हित साध्य नहीं कर सकेगा

५ ज्ञानावरण कर्मका उदय आनेमें उपयुक्त शुद्धि नष्ट हो जाती है ज्ञानी पुरुष, ज्ञान और उपकरण इनका द्वेष करना, इनको छिपाना इनका नाश करना. इनके साथ मत्सरभाव रखना, इनमें निज उत्पन्न करना इनको अयोग्य वतलाना, इनमें दोष लगाना, इनको पीडा देना, अज्ञानमें अध्ययन काना दुमरो की इंद्रिया विद्या-इना इत्यादि कारणोंमें ज्ञानावरणीय कर्मका बंध होता है यह बंध अवग्रह ईहा, अवाय आर धारणा रूप मतिज्ञान अथवा श्रुत ज्ञानादिकका नाश करता है.

१ ज्ञानको आच्छादन करनेवाला क्रम जग यह अणुगण जीव बंध लेता है तम अवग्रह ईहा, अवाय और धारण ऐसे चारों ज्ञानोंमें भी पदार्थोंका मच्चा स्वरूप जानने में असमर्थ होता है

२ जो मनुष्य पदार्थोंके विशेषधर्मोंको नहीं जानता है वह नेत्रवान होकर भी अंधा है, सुनता हुआ भी बहिरा है, और जिन्हा युक्त होनेपर भी रसोंको नहीं जानता है ऐसा समझना चाहिये

३ कर्ममें ढका हुआ यह कभी ऐकेंद्रिय, कभी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कभी असंजी पंचन्द्रिय बनता है

४ कर्मोच्छादित यह जीव हितकर वस्तु को न देख सकता है न सुन सकता है और न उसका विचार करनेमें समर्थ होता है कर्मके बंध होकर भी न दान देता है और न धनका स्वयं उपयोग ले सकता है इसलिये ऐसा कर्मोच्छादित जीव पशुके बराबरीका समझना चाहिये

५ अल्प बुद्धि होनेसे मनुष्य अपने समीपका भी हितकर पदार्थका स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है. फिर जो श्रुतज्ञानसे ही जाना जाता है, जो परलोकमें हित करनेवाला है ऐसे पदार्थका स्वरूप वह अज्ञ कैसे जानेगा?

६ महाभयानक गुहाके मघन अथकारमें प्रवेश करनेसे, आगाध पानीमें प्रवेग करनेसे, दृढ़ ऐसे कैदखानोंमें डाला जानेमें प्राणीको क्रुष्ट दायक अज्ञानका अनुभव आता है

७ अंधकारमें श्रवण, पानीमें दृवना, कैदखानोंमें डाला जाना इन बातोंसे प्राणिओंको एक जन्ममें-ही कष्ट होगा परंतु अज्ञानजन्य दुःख अनंत भवतक प्राणिओंका साथ नहीं छोड़ता है

८ जो पुरुष स्वाभाविक बुद्धिसे रहित है वह विशाल श्रुतज्ञान जो कि मनुष्यकी तीसरी आंख है धारण करनेमें असमर्थ होता है.

जिसको यह श्रुतज्ञान है वह नेत्रोंसे अंध होनेपर भी मोक्ष नगरीके कल्याणकारक मार्गमें सुखसे जा सकता है.

यह ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारका अज्ञान उत्पन्न कर देता है कि उसको हठानेमें कोई समय नहीं है. इसका निवारण करनेमें कोई उपाय है नहीं आसातावेदनीय कर्मके उदयसे अमृत भी विष होता है और तुण भी छुरीका काम देता है बंधु भी शत्रु बन जाते हैं

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे किं स्वगवित्याह—

मुक्त्वस्स वि होदि मदी कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ ॥

णीया अरी वि सच्छं वि तणं अमयं च होदि विसं ॥ १७३० ॥

अस्ति कर्मोदये बुद्धिरुपायमवलोकते ॥

विपक्षो जायते बंधुः शत्रुं पुष्टं विषं सुधा ॥ १७१७ ॥

विजयोदया—मुक्त्वस्स वि होदि मदी मूलस्यापि भवति मति । कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ कर्मोपशमे ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे सति उपायो दृश्यते । क्षमत्वपुण्यकर्मोदयात् । णीया अरी वि शत्रवोऽपि बंधवो भवन्ति सच्छं वि तणं शत्रुमपि तुणं भवति, वामद होदि विसं विरमत्यमृतं भवति सक्षयोदये ॥

तद्विपर्ययदर्शनात्तत्कर्मोनिवार्यता दृढयति—

मूलात्—मुक्त्वस्स वि यथाजातस्य । कम्मोवसमे तथाविधमतिज्ञानावरणक्षयोपशमे सति । उवाओ कर्मोपशमस्य साधन । च विसं विपक्षपीत्यर्थः ॥ असद्वेद्योदयमात्रे सद्योदये वा सति द्विपदादयोऽपि बांधवादिमार्गं भजति । तद्भावकरणक्षणप्रगुणकर्मण उपशमे उदये वा उपायो लोके शक्ते च प्रतीयते इति समन्वयः ॥

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमसे क्या होता है इसका विवेचन—

अर्थ—ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होनेपर मूल भी विद्वान् होनेमें देर नहीं लगती है. ज्ञानावरण क्षयोपशमसे संकटसं पार पढ़नेका उपाय ध्यानमें आ सकता है क्योंकि उस समय पुण्यकर्मका उदय होता है. शत्रु भी मित्र होते हैं. शत्रु भी तुणतुल्य निःसार होता है अर्थात् शत्रुप्रहार भी पुण्यमालाके समान अनुभवमें आ जाता है. निष भी अमृत होता है.

पाओदण्ण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स ॥

दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण ॥ १७११ ॥

अर्थ पापोदये पुसो हस्तमातोऽपि नउयति ॥

दूरतो हस्तमायाति पुण्यकर्मोदये सति ॥ १७१८ ॥

विजयोदया—पाओदयेण लाभानरायस्य रूपेण उदयेन, अत्र गो हृत्य पत्तो वि णस्सदि णरस्स हस्तमातोऽपि व्यथो नदयति पुस । दूरादो वि दूरतोऽपि । सपुण्णस्स पुण्यपत्त । एदि अत्थो आयात्यर्थो । अयत्तेण अयत्नेन ॥

नददर्थे विजयमपुत्रापि तत्कारणकर्मोत्तामिति न्येयतेनोपदिशति—

मूलरा—पाओदयेण लाभानरायमिपांस्त । सपुण्णरम सदेशोदयवत् । अयत्तेण यत्न विनापि ।

अर्थ—लाभानराय कर्मका उदय आनपर द्रव्य हस्तगत होकर भी नष्ट होजाता है और पुण्यपानको प्रयत्न के बिना ही दूर देशमें भी धन प्राप्ति होती है

पाओदण्ण सुट्ठु वि चेट्ठतो को वि पाउणदि दोसं ॥

पुण्णोदण्ण दुट्ठु वि चेट्ठतो को वि ल्हदि गुण ॥ १७३२ ॥

नर पापोदये दोयं यत्तमानोऽपि गच्छति ॥

गुण पुण्योदये श्रेष्ठ यत्तहीनो पि नत्वन ॥ १७२० ॥

विजयोदया—पाओदण्ण अयत्तमोर्नगदयन । सुट्ठु वि चेट्ठतो सम्यक् चेष्टमान । कोवि पाउणदि दोसं कश्चिद्व्याप्नोति दोष । पुण्णोदयेण पुण्यरूपेण उदयेन । दुट्ठु वि चेट्ठतो यत्किञ्चिदकार्यं कुर्वन्पि । कोवि लभति गुण कश्चिद्व्यभते गुणम् ॥

मूलारा—पाओदण्ण अयत्तमोर्नगदयनेन । सुट्ठुद्वि सम्यगपि । दोस उपलंभं । सुट्ठु वि चेट्ठतो अत्यर्थं विरुद्ध चेष्टमानो यत्किञ्चित्कार्यं कुर्वन्पि ह्यर्थः । गुण श्लाभा ।

अर्थ—पापका उदय आनपर अथात् अयत्तमोर्नगदयन कर्मका उदय होनेपर सदाचारी मनुष्य भी दोषी माना जाता है. पुण्यके उदयस अकार्य करनेवाला भी कोई मनुष्य भगमा का पात्र बनता है.

पुण्णोदण्ण कस्सइ गुणे असेते वि होइ जसकिची ॥  
पाओदण्ण कस्सइ सुगुणस्स वि होइ जसघाओ ॥ १७३३ ॥

पुण्योदये परां कीर्तिं लभते गुणवर्जित ॥

पापोदयेऽनुते गुर्वीरकीर्तिं गुणवानपि ॥ १८०० ॥

पापोदयेऽनुते गुर्वीरकीर्तिं गुणवानपि ॥ १८०० ॥

विजयोदया—पुण्णोदण्ण पुण्यस्योदयेन । कस्सइ दोह जसकिची कस्यचिद्वति यशस्कीर्तिश्च । पावोदण्ण पापस्योदयेन । कस्सइ सुगुणस्स वि कस्यचित् सुगुणवतोपि । जसघाओ होदि यशोघातो भवति ॥

मूलारा—जसकिची यश कीर्तिश्च । छात्रादौ छायायात् यशोविनाश इत्यर्थः ।

अर्थ—पुण्योदयसे किसी मनुष्य का यश सर्वत्र फैल जाता है पापके उदयसे गुणी सदाचारी मनुष्यका भी यश नष्ट होता है

गिरुवक्कमस्स कम्मस्स फले समुवट्ठिंमि दुक्खंमि ॥

जिदजरामरणरुज्जावितामयवेदणादीणु ॥ १७३४ ॥

जन्ममृत्युजरांते दुःखस्योक्तभयादिके ॥

दीयमाने विपक्षेण निरुपक्रमकर्मणा ॥ १८०१ ॥

विजयोदया—गिरुवक्कमस्स नि प्रतीकारस्य कर्मण । फले समुवट्ठिंमि दुक्खहि समुपस्थिते दुःखे, जिदि-  
जिदजरामरणरुज्जावितामयवेदणादीणु ॥ १७३४ ॥

जन्ममृत्युजरांते दुःखस्योक्तभयादिके ॥ १८०१ ॥

दीयमाने विपक्षेण निरुपक्रमकर्मणा ॥ १८०१ ॥

विजयोदया—गिरुवक्कमस्स नि प्रतीकारस्य कर्मण । फले समुवट्ठिंमि दुक्खहि समुपस्थिते दुःखे, जिदि-  
जिदजरामरणरुज्जावितामयवेदणादीणु ॥ १७३४ ॥

जन्ममृत्युजरांते दुःखस्योक्तभयादिके ॥ १८०१ ॥

दीयमाने विपक्षेण निरुपक्रमकर्मणा ॥ १८०१ ॥

विजयोदया—गिरुवक्कमस्स नि प्रतीकारस्य कर्मण । फले समुवट्ठिंमि दुक्खहि समुपस्थिते दुःखे, जिदि-  
जिदजरामरणरुज्जावितामयवेदणादीणु ॥ १७३४ ॥

जन्ममृत्युजरांते दुःखस्योक्तभयादिके ॥ १८०१ ॥

दीयमाने विपक्षेण निरुपक्रमकर्मणा ॥ १८०१ ॥



जीवाण णत्थि कोई ताणं तण्णं च जो हवेज्ज इयं ॥  
पातालमडिगद्धो वि य ण मुच्चटि सकम्माउटयस्मि ॥ १७१५ ॥  
न त्थोऽपि विधाने चाण धेत्तिनो भुवनत्रये ॥  
न प्रविष्टोऽपि पातालं मुच्यते कर्मणा जनः ॥ १८०२ ॥

त्रिजयोद्या—जीवाण जीवस्य । नानि कश्चिद्वशा शरणं ग । जो हवेज्ज यो भवेत् । पातालमडिगद्धो वि पाताल प्रविष्टोऽपि । ण मुच्चटि । न मुच्यते दृष्टान् । सकम्माउटयस्मि स्वरूपायै नति ॥

मूलाग—तण्णं स्या । मरण आस्य । इयं अस्मिन् । मुच्यते । लोके । अत्रि य अत्रि च । लोके दुर्गम-  
क्षेत्रलब्धेयं यत्नं समर्थयते । ण मुच्यते न विप्रियते चालारिक्तदृष्टात् ॥

अर्थ—प्राणिजोंको जगतमें कोई भी शरण नहीं है, यह जीन कर्ममें पिट्ट कुतानेके लिये पातालमें चला जाय तो वहाँ भी यह कर्म उसका ओड़ता नहीं, जगत्क यह जीन स्वकर्मोदयमें अलग नहीं होगा तब तक इसका दुःख में छुटकारा नहीं होगा.

गिरिकंदर च अडधि सेलं भूमिं च उदधि लोहंतं ॥  
अरिगंतूण वि जीवो ण मुच्चटि उदिण्णकमेण ॥ १७३६ ॥  
नगदुग्गे धित्तां ओले लोहंतं काननेऽम्भुधं ॥

गनोऽपि कर्मेणा जीनो नोदीर्णेन विमुच्यते ॥ १८०३ ॥

त्रिजयोद्या—निरिकर च मिनि कर अडधो दोलध्वयिमुत्थि । लोहा प्रविन्यापि जीतो न मुच्यते । उद-  
यामतेन कर्मणा ॥

भूयोऽपि भेवलब्धि प्रपन्नं तिरस्कोति —

मूलाग—निरिकंदर पर्वतपानीयविदारितस्थान । अदिगण वि गता वि तिष्ठत् ।

अर्थ—पर्वतकी दरीमें, जगलमें, पर्वतमें, जमीनमें, मधुद्रुगे इतना ही नहीं लोकेके अंतमें भी जीव यदि जाकर वसेगा तो भी उदयमें आये हुए कर्मसे वह छुटकारा नहीं पाता है

दुगचदुअणेयमाया परिसप्यादी य जंति भूमीओ ॥

मच्छा जलम्मि पक्खी णभम्मि कम्मं तु सव्वत्थ ॥ १७३७ ॥

द्विचतुर्थदुपादा ये ते गच्छंति महीतले ॥

जले मीनाः खगा व्योम्नि कर्म सर्वत्र सर्वदा ॥ १८०४ ॥

विजयोदया—दुगचदुअणेयमाया द्विचतुश्चरणादिका । परिसप्यादी य जंति भूमीओ परिसर्पोदयश्च याति भूमावेव । मत्स्या जले पक्षिणो नभसि याति ॥ कर्म सर्वत्रग ॥

मूलारा—परिसप्पता अयादा उरगादयः । कम्म तु सव्वत्थ स्वकृतकर्मविपाकेन जीवाः कचिदपि न मुच्यते इत्यर्थः ।

अर्थ—दो पाँवके जीव, चार पाँवके जीव, अनेक पाँवके जीव और सर्पादिक जीव जमीन पर निवास करते हैं मत्स्य पानीमें रहते हैं पक्षी आकाशमें रहते हैं परतु कर्म सर्वत्र रहता है

रविचंदवादेउव्वियाणमगमा वि अत्थि हु पदेसा ॥

ण पुणो अत्थि पएमो अगमो कम्मस्स होइ इधं ॥ १७३८ ॥

अगम्या विषयाः संति रविचंद्रानिलामरं ॥

प्रदेशो विचयते कोपि नागम्यः कर्मणा पुनः ॥ १८०४ ॥

विजयोदया—रविचंदवादेउव्वियाण सुंथेण, चट्टेण, वतेन, देवैश्चागम्यास्संति प्रदेशा । न कर्मणामगम्योऽत्र प्रदेशोऽस्ति लोके ॥

कृत इत्याह—

मूलारा—वेउव्वियाण वैक्किथिकाणा । देवविद्याधरादीना । अगमा अगम्याः ।

अर्थ—सूर्य, चंद्र, वायु और देव भी जहाँ प्रवेश नहीं कर सकेंगे ऐसे भी बहुतसे प्रदेश हैं परंतु कर्मके लिए अगम्य प्रदेश कोई भी नहीं है

विज्जोसहमंतबलं बलवीरिय अस्सहत्थिरहजोहा ॥

सामादिउवाया वा ण होंति कम्मोदए सरणं ॥ १७३९ ॥

न योधा रथहस्ताश्वा विद्यामंत्रौपधादयः ॥

सामादयोऽपि चोपायाः पान्ति कर्मोदयेऽह्निनाम् ॥ १८०५ ॥

विजयोदया—विज्ञामतोसधिवलवीरियं विद्या स्वाहाकारांता तद्वद्वितता मन्त्रस्य । धीर्यमात्मन शक्त्यतिशयः ।

बलमाहारव्यायामजं शरीरस्य दार्ढ्यं, अनीकवच । सामभेददण्डोपप्रदानाख्याद्य हेतवो न शरण ॥

दुष्कृतपाकद्रौकनिराकरणविद्यामन्त्रादीनामपि माहात्म्यप्रतिपातमनुसधत्ते—  
मूलारा—बल आहारव्यायामादिज देहदाढ्यं । णीया चाधवाः ।

अर्थ—जिसके अंतमें स्वाहाकार है वह विद्या है मंत्र स्वाहाकारसे रहित होता है मंत्रकी शक्तिको वीर्य कहते हैं शरीरमें आहार और व्यायाम करनेसे जो दृढता उत्पन्न होती है उसको बल कहते हैं। ये पदार्थ कर्मके उदयसे आत्माका रक्षण करनेमें असमर्थ हैं। घोड़े, हाथी, रथ, योद्धागण, माम दंडादिक उपाय, इनका भी सामर्थ्य कर्मोदय आनेपर नष्ट होता है कर्म सत्रमे बलवान है।

जह आइच्चमुदंत कोई वारतउ जगे णत्थि ॥

तह कम्ममुदीरतं कोई वारतउ जगे णत्थि ॥ १७४० ॥

केनेहोदीयमानानां ऋषणां ज्योतिषामिव ॥

निषेधः शक्यते कर्तुं स्वकीये समये सति ॥ १८०६ ॥

विजयोदया—जह आइच्चमुदंत यथा दिनमणिमुदयाचलचूडामणितामुपयात न निवारयति कश्चित्तथा समधिगतसहकारिकारणे कर्म न निषेद्धमस्ति समर्थ ॥

फिक्कुना—

मूलारा—आइच्च आदित्यं । उदीरंत उदयावलिक्काप्रवेशोद्यंतं ।

अर्थ—जैसे उदयाचल पर आनेवाले सूर्यको कोई रोक नहीं सकता वैसे सहकारी कारण मिलनेपर उदयमें आये हुए कर्मको कोई भी जीव रोक नहीं सकता।

रोगाणं पडिगारा दिट्ठा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ॥  
 कम्मं मलेदि हु जगं हत्थीव णिरकुसो मत्तो ॥ १७४१ ॥  
 प्रतीकारोऽस्ति रोगाणां कर्मणां न पुनर्जने ॥  
 कर्मं मुद्दाति हस्तीव लोकं मत्तो निरंकुशः ॥ १८०७ ॥

विजयोदया—रोगाण पडिगारा दिट्ठा व्याधीना प्रतीकारा दृष्टा औपधादये. कर्मणा नास्ति प्रतीकार' जगदशेषं  
 मर्दयति कर्म मदगज इव निरंकुशो नालिनीवन ॥

समूहोक्तमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण विवृण्वन्नाह—

मलारा—रोगाण व्याधीना अथादृष्टापचारजाना । कर्मजाना तु तच्छानामेव प्रतीकार ।

अर्थ—रोगोंका प्रतिकार औपधादिक इलाज तो देखे गये हैं. कर्मका इलाज किसीने भी नहीं देखा है  
 उन्मत्त हाथी अकुशकी भी पर्वहा नहीं रखता हुआ कमलवनका मर्दन करता है वैसे ये कर्म भी सपूर्ण जगका  
 मर्दन करते हैं

रोगाणं पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे ॥

रोगाणं पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमंते ॥ १७४२ ॥

प्रतीकारो न रोगाणां कर्मणामुदये सति ॥

उपचारो ध्रुवं तेपामस्ति कर्मशमे सति ॥ १८०८ ॥

विजयोदया—रोगाण पडिगारो व्याधीना प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसद्वये प्राप्तेदये सति, पथ्यौपधादिविभिरूप-  
 शमो रोगादीना सो पि कर्मण्युपशम गत एव नालुपशान्तेऽत्र ॥

मलारा—समुदिण्णे समुबोदये । उवसमंते उपशम याति मर्दये भवतीत्यर्थः ।

अर्थ—जब असाता वेदनीय कर्मका उदय आता है तब रोगोंका नाश करनेमें औपधियां असमर्थ हो जाती  
 हैं. यद्यपि पथ्य और औपधियोंका संवन करनेसे रोगोंका शमन होना अनुभवमें आता है तो भी वहां कर्मका

उपशमन होना ही मूल कारण है. अंतरंग कारण कर्म जब उपशान्त होता है तब औषधि और पथ्य सेवन रोगनाश करनेमें समर्थ होते हैं अन्यथा वे निष्फल हो जाते हैं.

विज्जाहरा य बलदेववासुदेवा य चक्रकवट्टी वा ॥

देविदा व ण सरणं कस्सइ कम्मोदए होति ॥ १७४३ ॥

बलकेशवचक्रेशदेवविद्याधरादयः ॥

सन्ति कर्मोदये व्यक्तं शरणं न शरीरिणाम् ॥ १८०९ ॥

विजयोदया—विज्जाहरा य विद्याधरादयो महाबलपराक्रममापि न शरणं भवति कर्मोदय इति गाथायर्थं ॥  
मूलारा—सष्टम् ।

अर्थ—जब कर्मोदय तीन होता है तब महापराक्रमी विद्याधर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ति भी प्राणीका रक्षण करने में समर्थ नहीं होते हैं. इतनाही नहीं. देवद्रुमी उस प्राणीका रक्षण करने में असमर्थ है.

बोछेज्ज च कम्मंतो भूमिं उदधिं तरिज्ज पवमाणो ॥

ण पुणो तीरदि कम्मरत फलमुदिणस्स वोलेदुं ॥ १७४४ ॥

गच्छन्नुलंघ्यते क्षोणीं नरस्तरति नीरधिम् ॥

नातिक्कांतुं पुनः कोऽपि कर्मणासुदयं क्षमः ॥ १८१० ॥

विजयोदया—बोछेज्ज उलंघयेत् गच्छन् भूमिं, समुद्रांतकत्त्ववमान् । उदीर्णस्य कर्मणः फलमुलंघयितुं न चेत्ति कोऽन्यो वा महाबलोपि ॥

मूलारा—बोलेज्ज उलंघयन् । चंक्रमंतो पदभ्या गच्छन् । पवमाणो प्लवमानः । तीरदि शक्नोति ।

अर्थ—भूमिपर चलता हुआ प्राणी भूमीके अंततक जा सकेगा. समुद्रको भी उलंघकर जा सकेगा. परन्तु कर्मका उदय आनेपर उसको उलंघनेकी ताकद महाबलवान् पुरुषोंमें भी नहीं है. अल्पशक्तियोंकी तो क्या क्या ?

सीहितिर्मिगिलगहिदस्म णत्थि मच्छो मगो व जघ सरणं ॥  
कम्मोदयम्मि जीवस्स णत्थि सरणं तहा कोई ॥ १७४५ ॥

मृगमीनौ परौ जन्त्वोः सिंहमीनगृहीतयोः ॥

जायते रक्षकः कोऽपि कर्मग्रस्तस्य नो पुनः ॥ १८११

विजयोदया—सीहतिर्मिगिलगहिदस्स सिंहन तिमिगिलाब्धेन महामत्त्येन च गृहीतस्य नैव शरण भवति अन्यो मृगो मत्स्यो वा । तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति कश्चिन्छरणम् ॥

मूलारा—तिर्मिगिलो महामत्त्यः । मच्छो तिमिगिलादन्यः ॥

अर्थ—सिंह किंवा तिमिगल (महामत्स्य ने) पकड़े हुए प्राणीको कोई पशु अथवा मत्स्य उससे नहीं छुड़ा सकता है वैसे तीव्र कर्म के उदयसमयमें इस प्राणी को कोई भी व्यक्ति नहीं छुड़ा सकती है उसे उस कर्मका फल भोगना ही पड़ता है

व्यावर्णितानामशङ्कत्व मनसावधार्य इदं शरणमिति चिन्तनीयमिति कथयति—

दसणणाणचरित्त तवो य ताणं च होइ सरणं च ॥

जीवस्स कम्मणासणहेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ॥ १७४६ ॥

कर्मनाशनस्सहानि ज्ञानानां ज्ञानदर्शनचरित्रतपांसि ॥

नापहाय सति कर्मणि पक्के रक्षकानि खलु संति पराणि ॥ १८१२ ॥

इति अशरणम्

विजयोदया—दरणणाणचरित्त तवो य ज्ञान दर्शन चातित्र तपश्च रक्षा शरण च भवति । जीवस्य कर्मणा कर्मण्युदीर्णेष्वस्त्रेयादौ । एवमशरणानुप्रेक्षा गता ॥ असरणम् ॥

असत्कर्मोदये प्रागुक्तानामशरण्यता प्रणिधाय दर्शनादिक शरण्यतया प्रणिधेयमित्यनुशस्ति—

मूलारा—कम्मणासणहेदुं अशुभकर्मक्षपणकारणत्वात् । अशरणानुप्रेक्षा ॥

उपर जिनका वर्णन किया गया है वे अशरणरूप हैं परंतु आगेकी गाथामें प्रतिपादित पदार्थ शरण समझकर उनका चिंतन करना चाहिये ऐसा आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—सम्पददर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ये चार आत्मगुण ही आत्मार्थे शरण-रक्षक हैं जबकि कर्मों-का ये ही नाश करते हैं अमतावेदनीयादि कर्मके उदय होनेपर भी उपर्युक्त चार पदार्थ ही आत्मार्था रक्षण करते हैं, अशरणानुप्रेक्षा समाप्त

पक्त्वानुप्रेक्षा उत्तरेण प्रवर्धनोच्यते—

पावं करोदि जीवो वंघवहेदुं सरीरहेदुं च ॥

गिरयादिसु तरस फलं एको सो चैव वेदेदि ॥ १७४७ ॥

करोति पातकं जन्तुर्देह्यांधवहेतवे ॥

न्वभ्रादियु पुनर्दुःखमेकाकी सहते चिरम् ॥ १८१३ ॥

विजयोदया—पाप करोति जीवो बाधनिमित्त शरीरनिमित्तं च । बांधवशरीरोपणार्थं कृतस्य कर्मण फलं नरकादिभ्येक पदानुभवति । नरकादिगतिसु प्राप्तं दुःखमपश्यतस्तत्रासतो बाधना किं कुर्वतीति आशंकां निरस्यति-सन्निहिता. पश्यतोव्याकिंचित्करा इति कथनेन ॥

वर्त्यध्यानध्येयतया भावयितुमेकत्वं गाथासमकेन वर्णयति—

मूलारा—वंधवैत्यादि वंधूना स्वदेहस्य च पोषणार्थं । एकको चैव एकक एव । असहाय एवेत्यर्थः ।

एकत्वानुप्रेक्षाका सविस्तर वर्णन.

अर्थ—अपने शरीरका पोषण करनेके लिये तथा बांधवों के पोषणार्थ यह जीव पाप करता है, किये हुए कर्मका फलभी इस अकेले जीवको ही भोगना पड़ता है. नरकादिगतिके जो दुःख इस जीवको भोगने पड़ते हैं वंधुओं को उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता है अतएव वे उसका दुःख बुर करनेमें असमर्थ होते हैं ऐसा कहना भी योग्य नहीं है. क्यों कि जब इस प्राणी को इस लोकमें रोगादिसं दुःख होता था तब भी वे केवल देखकर भी दूर करने में असमर्थ थे तो परलोकका दुःख उनसे दूर होगा ऐसी आशा करना कैसा योग्य होगा?

रोगादिवेदनाओ वेदयमाणस निययकम्मफलं ॥

पेच्छंता वि समक्खं किंचिवि ण करंति से णियया ॥ १७४८ ॥

वेदनां कर्माणा दत्तां रोगशोकभयादिकाम् ॥

किं भुञ्जानस्य कुर्वन्तु पश्यन्त्यो ज्ञातयो ऽद्विनः ॥ १८१४ ॥

विजयोदया—रोगादिवेदनाड रोगादिदुःखानि । गिययक्रमफलं निजकर्मफलं स्वयोगत्रयोपचितकर्मण' फलं । वेदयमाणस्स वेदयमानस्य । समकख पेच्छतावि प्रत्यक्षं पश्यंतोपि । गियया निजका वाधवा, से तस्स किंचिपि ण करति किंचिदपि प्रतीकारजातं न कुर्वति । परत्रेह वा जन्मन्येक एवानुभवति जंतुर्न तदीयकर्मफलसंविभाकरणे समयोः कश्चिदिति भवति ॥

नरकादिदुर्गतिगतस्य दुःखमपश्यतो वाधवाः कथं प्रतिविदध्युरित्यभिप्रांति प्रत्याचष्टे—

मूला—किंचिपि प्रतीकारजात । परत्रेह वा जन्मनि स्वकर्मफलमनुभवतो जीवस्य न कश्चित्संविभागी भवतीति भावः ॥

अर्थ—इस जीवको रोगादिकसे जो वेदना होती है वह मन वचन और काययोगसे उपार्जन किये पापकर्मका फल है इस फलका अनुभव जब यह जीव लेता है तब उसका बंधुगण प्रत्यक्ष देखकर भी उस दुःखका प्रतीकार नहीं कर सकता है, इह लोक हो चाहे परलोक हो अकेले प्राणीको ही दुःख भोगना पडता है, उसके किये हुए कर्म का भागीदार कोई नहीं हो सकता है.

तह तथा यथा दु ख स्वकर्मफलमेक एवानुभवति ॥—

तह मरइ एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोइ ॥

भोगे भोत्तुं गियया विदिज्जया ण पुण कम्मफलं ॥ १७४९ ॥

एकाकी त्रियते जीवो न द्वितीयो ऽस्य कश्चन ॥

सहाया भोगसेवायां न कर्मफलसेवने ॥ १८१५ ॥

विजयोदया—तथा स्वानुर्गलने । एक्कगो चेव मरवि एक एव प्राणास्त्यजति ॥ ग विदिज्जगो ण कोई न सहायो भवति कश्चित् । तदीय मरणं सविभज्य गृहीत्वा सहायता न कश्चित्करोतीत्यर्थ ॥ अन्यथा एक एव त्रियते इत्यघटमाने चङ्कनामप्येकदा मरणात् । भोगे भुज्यतेऽनुभूयत इति भोगा' द्रव्याणि अशनवसनमुखवासादीनि । भोत्तुमनुमचितुं निजका वाधवा । विदिज्जगा सहायाः । ण पुण न पुन । कम्मफल भोत्तुं गीयगा विदिज्जया, तदीयकर्मफलं भोक्तुं न बंधवस्सहाया ॥



दुःखानुभूतिनिदर्शनेन मरणे सहायभावं भावयति—

मूलारा—तत्र दुःखानुभवन्वत् । न विदिज्जगो न द्वितीयः । दुःखवन्मरणं विभज्य गृहीत्वा सहायो न कश्चि-  
द्भवतीत्यर्थः । भोगे अशनवसनादीन् ॥

जैसे अपने किये हुए कर्मका दुःखरूपी फल यह जीव स्वयं ही भोगता है वैसे—

अर्थ—इस प्राणीका आयुष्य पूर्ण होनेपर उसको अकेलेकी ही मरण का स्वीकार करना पड़ता है।  
अर्थात् मरणदुःखका विभाग लेकर उसको कोई सहायक नहीं होता है अन्यथा एकही मरता है इस वचनकी  
घटना ही अयुक्त दीर्घगी क्योंकि बहुत जन एक समयमें भोगे परन्तु ऐसा नहीं होता है अतः 'तह मरइ एकओ  
चेव' यह वचन युक्तियुक्त है अब, वत्स, तांवूल, धन इनका उपभोग लेनेके लिए बांधव सहाय्य करते हैं परन्तु  
कर्मफल का अनुभन अकेले को ही लेना पड़ता है अन्य बांधव उनको सहायक नहीं होते हैं

प्रकारान्तरेणैकत्वभावनाभावाच्चे—

णीया अत्या देहादिया य संगं ण कस्स इह होति ॥  
परलोकां अणेत्ता जदि वि दइज्जंति ते सुहु ॥ १७५० ॥  
देहार्थबांधवाः सार्धं न केनापि भवान्तरम् ॥  
वल्लभा अपि गच्छन्ति कुर्वन्तोऽपि महादरम् ॥ १८१६ ॥  
स्वकीया देहिनी ज्ञैव देहार्थस्वजनादयः ॥  
स्वीकृता संभ्रमेणापि न कदाचिद्भवान्तरे ॥ १८१७ ॥

विजयोदया—णीया अत्या वधवो धनं शरीरादिकाश्च परिग्रहा कस्मच्चिदपि संवधिनो न याति परलोकं प्रति  
प्रस्थितं । यद्यपि सुष्ठु काम्यते परिग्रहा । गृहीत्वा तावदि नामास्य गंतुमुत्तमा तथापि ते नागुगच्छत्येक एव यातीत्ये-  
कत्वभावना ॥

मा भूवन्नुपरिग्रहा परलोकं सहगंतारः पृष्ठगंतारस्तु भविष्यन्ति इति न्यामोद्वययोद्दार्थसाह—

मूलारा—अणेतता अन्वेतारः । परलोकं गच्छत कश्चित्पश्चाद्गमिनो न भवतीत्यर्थः । दधिजंति दधिति क्रियते काम्यते इत्यर्थः ।

अर्थ—बांधव, धन, शरीर, पुत्र, स्त्री, वगैरह सम्बन्धीजन परलोक यात्रा करनेवाले प्राणीके साथ आते नहीं हैं सुन्दर परिग्रहों पर इस जीवका ममत्व रहता है और परलोकमें भी इनको ले जानेकी उत्कण्ठा उसके मनमें उत्पन्न होती है परन्तु वे उसके साथ नहीं जाते हैं अर्थात् यह मोही जीव भी उनको ले जानेका सामर्थ्य अपनेमें नहीं रख सकता है ऐसी एकत्वभावना भानी चाहिए

इहलोगबंधवा ते णियया ण परस्स होति लोगस्स ।  
तह चेव घणं देहो संगं सयणासणादीयं ॥ १७५१ ॥  
स्वकीयं परकीयं न विद्यते सुवनत्रये ॥  
नेकस्याटाट्यमानस्य परमाणोरिवांशिनः ॥ १८१८ ॥

विजयोदया—इहलोगबंधवा अस्मिन्नेव जन्मनि बाधवा । परस्स लोगस्स ण णियया होति अन्यस्य जन्मनो न बंधवो भवति । तह चेव बाधवा इव घणं देहो संगं सयणासणादी य धन शरीर शयनासनादयश्च परिग्रहा इह लोकं एव न परजन्मनि उपकारका भवति ॥ एव हि ते बाधवा परिग्रहाश्च सहाया इति ग्रहीतु शक्यते यद्यनपयितया उपकारिण स्युः । इह जन्मन्येव ये प्रयाति ते परलोकं गच्छतमनुसरतीति का प्रत्याशा ॥

मूलारा—तथ चेव बाधवा इवेद्विकथनादयोऽपि नासुत्रोपकारकाःस्युरित्यर्थः ॥

अर्थ—जो इह लोकमें अपने बांधव हैं वे इहलोकसम्बन्धी ही हैं, परलोकमें अर्थात् अन्यजन्म में वे अपने बांधव नहीं माने जाते हैं इन बांधवोंके समान धन, शरीर, परिग्रह,—शयनासनादिक परिग्रह भी इह लोकमें ही समझने चाहिए परलोकमें इनसे सहाय होगा ऐसा सकल्प मनसे हटाना चाहिए इसलिये बांधव और परिग्रह सहायक नहीं हैं ऐसा समझना चाहिए इस जन्ममें भी इस प्राणीका सम्बन्ध ये बांधवादिक छोड़ देते हैं ऐसा अनुभवमें आता है तो परलोकमें जीव के साथ ये आवेंगे ऐसी आशा रखना क्या अज्ञानताका खेल नहीं है

यद्येते वाधवादयो न सहायाः कस्तर्हि सहाय इत्याशंकायामाचष्टे—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ॥

सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥ १७५१ ॥

भवांतरं समं गत्वा धर्मो रत्नत्रयात्मकः ॥

उपकार परं नित्यं पितेव कुरुते ऽङ्गिनः ॥ १८१९ ॥

विजयोदया—जो पुण य पुन । जीवेण कदो धम्मो जीवेण कृतो धर्मः, सम्मत्तचरणसुदमइओ रत्नत्रयरूपो दुर्गे-  
ति प्रस्थित जीवं धारयति यत्ते वा शुभे स्थाने इति रत्नत्रय धर्म इत्युच्यते । सो स' व्यावर्णितो धर्मः जीवस्स जीवस्य ।  
परलोने परजन्मनि । गुणकारक. सहायो भवति ॥ अभ्युदयनिश्चयससुखप्रदानात् ॥ तथा चोक्तं—

दत्त्वा धावापृथिव्योर्वरविपर्यरति वीतभीशुग्विपादा, कृत्वा लोकत्रयैक्ष्यं सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टां ॥  
ननु असहायत्वभावनाधिकारे सहायनिरूपणा कथमुपयुज्यते ॥ नैप दोष' यो येन जंतुना सहायत्वेनाध्यवसितो बांधवा-  
दिरसौ सहायो न भवतीति न तत्रादर कार्य । सम्यक्त्वज्ञानचारित्रात्मकस्तु धर्मः । धर्मोपि जीवपरिणाम उपकारि  
सहाय इति । तत्रादरो जन्यते सूरिणा । अतिशयितधर्मोऽस्यसहायनिरूपणेन ज्ञातिधनादीनां तथाभूतसहायता  
समर्थता भविष्यति । अत्रोच्यते । सम्यक्त्वादयः शुभपरिणामा' प्रशस्तगतिजातिगोत्रसथातंसहृदनायुःसद्वैद्यादिक-  
मात्मनि निधाय नश्यति तेन देवो वा नरः पचेंद्रियः पर्याप्तक कुलीनः शुभनीरोगशरीरश्चिरजीवी सुखी भविष्यति ॥  
धर्मोऽनुबंधिनः पुण्यस्योदयात् ॥ दीक्षाभिमुया बुद्धिर्निरतिचाररत्नत्रयसपत्तिश्च भविष्यतीति सेमवत्युपकारसहायता  
धर्मस्य ॥ ननु च ज्ञानपूर्वकत्वान्चरणस्य सम्मत्तचरणसुदमइओ इति कथमुपन्यस्तं ? अयमभिप्रायः सत्यपि श्रुतज्ञाने  
असंयतसस्यगद्गेष्वारित्राभावात् महत्तौ संवरनिर्जरे मुख्यगुणे भवत ॥ तस्मान्मुख्यार्थिनश्चारित्रं प्रधानं, किंच तज्ज्ञा-  
नमुपायश्चारित्रमुपेय अतः परार्थत्वाज्ज्ञानं प्रधानं उपेतत्वाच्चरणं प्रधानमिति ॥ जो पुण धम्मो जीवेण कदो इत्यनेन धर्मस्य  
सर्वथा नित्यत्वं प्रतिविद्धं फलवैचित्र्यमनुभवसिद्धं, सर्वदैकरूपत्वं धर्मस्य विरुध्यते । सुखसाधनानां स्त्रीवस्त्रगंध  
मात्यादीनां वैचित्र्यात् । तत्कार्यसुखस्यापि वैश्वरूप्यं नित्यत्वेपि धर्मस्य घटयेदिति चेत् अत्रोच्यते ॥ अतिशयितान-  
तिशयितसुखसाधनता तस्य धर्महेतुना न वेत्यत्र विकल्पद्वये धर्महेतुत्वाभ्युपगमे कथं न वैचित्र्यं धर्मस्य । अथ न धर्मो  
हेतुः सहेतुसामान्यायत्तसुखसाधनानां सातिशयनिरतिशयतवायत्त फलविभाग इति । धर्मस्यानर्थक्यमापद्यते ॥  
ततो न धर्मस्य सर्वथा नित्यता ॥

कस्तर्हि प्रेत्योपकारीत्यत्राह—

मूलारा—गुणकारयसहाओ अभ्युदयनिश्चयसप्रदानादुपकार सहगामी । उक्तं च—

दत्त्वा द्यावापृथिव्योर्वैरविपर्ययं वीतभीशुनिपादा ॥  
कृत्वा लोकत्रयीशं सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजा विशिष्टाम् ॥  
मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे ॥  
मोक्षे नित्योत्सौह्ये क्षिपति निरुपमे यः सो नोऽव्यात्सुधर्मः ॥

वाधवाद्योत्रासुत्र परमार्थेनोपकारकसहाया न स्युरिति तेषु न मनागत्यादरः कार्यः । धर्मे तु तद्विलक्षणत्वादभी-  
क्ष्यमादरवता । भवितव्यमित्युपदेशेनासहायवत्प्रकरणेऽपि धर्मस्योपकारकसहायतोक्तिरुपयोगिनी । ननु चारित्रप्रधानस्य  
धर्मस्य प्रेक्ष्यसहायत्वाभावात्सहायतादुपपत्तेरिति न शङ्क्यं । धर्मोऽनुबन्धितदुःखरागजन्यसुकृतसम्भारस्य निःश्रेयसावसाना-  
भ्युदयसाधकतमस्योपकारकसहायभावसम्भवाविरोधात् ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यग्ज्ञान रूप अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म जो इस जीवने धारण  
क्रिया था वही पर लोकमें इसका कल्याण करनेवाला सहायक होता है यह रत्नत्रयात्मक धर्म दुर्गतिके तरफ जानेवा-  
ले जीवको धारण करता है अर्थात् शुभ इंद्रादिपदोंमें स्थापन करता है इसलिये इस रत्नत्रयको धर्म यह अन्यर्थ  
नाम प्राप्त हुआ है यह जीव इस जीवको परलोकमें कल्याण करनेवाला मित्र है क्योंकि यह अमृतदयमुख और  
मोक्षसुखको देनेवाला है।

आगममें इस धर्म के विषयमें ऐसा कहा है --

भय, शोक और खिन्नताको दूर कर यह धर्म जीवको इस भूतलके और स्वर्गके सौख्योंको अर्पण करता है।  
लोफत्रयके ऐश्वर्य देकर यह धर्म देवद्वार और राजद्वारों के द्वारा जीवको पूजित करता है यह जीव धर्म के प्रसादसे  
गुप्त, रोग, शृष्ट पदार्थोंका वियोग, वृद्धावस्था, शोक इत्यादिक आपत्तियोंसे रहित होता है और नित्य, उपमा-  
रहित और महान् सौख्य जिसमें है ऐसे मोक्षकी भी प्राप्ति कर लेता है ऐसा अपूर्व हितकारक धर्म अर्थात् रत्नत्र-  
यात्मक धर्म हमारा नित्य रक्षण करे

शुद्धा—असहायत्व भावनाके प्रकरणमें सहायका निरूपण करना कैसा योग्य दीखता है ?

उत्तर - इस जलुने जिन बांधवोंको सहायक समझकर रक्खा है वे वास्तवतया सहायक नहीं हैं इसलिये  
उनमें आदर नहीं करना चाहिये और सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्रात्मक धर्म में आदर करना चाहिये क्योंकि यह

जीवपरिणाम हैं और उपकारक अर्थात् सहायक हैं इस धर्ममें आचार्य आदर उत्पन्न करते हैं धर्म ही सबसे उत्कृष्ट सहायक है जाति, धन वगैरह पदार्थोंसे ऐसी उत्कृष्ट सहायता कभीभी नहीं मिलती है और न मिलेगी इसलिये प्रकृत असहायताकाही यह वर्णन हुआ।

सम्यक्त्वादिक शुभपरिणाम उत्तमगति, जाति, गोत्र, संघात, सहनन, आयुष्य, सातवेदनीयादि शुभकर्म इत्यादिक उत्तम सामग्रिको देकर नष्ट हो जाते हैं इन परिणामोंमें देवपना, मनुष्यपना, पंचेंद्रियपूर्णता पर्याप्तक, अवस्था, कुलीनपणा, शुभ और नीरोगशरीर, दण्डिजीवित्व और सुखावस्था प्राप्त होती हैं क्योंकि इन परिणामोंमें पुण्यका उदय होता है इन परिणामोंसे दीक्षा लेनेके लिये आत्मा तयार होता है, और निरतिचार रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है, इसलिये धर्ममें उपकाररूप सहायता प्राप्त होती है।

शेका—चरित्र ज्ञानपूर्वक होता है परंतु माथ्यों 'सम्मत्तचरणसुदमङ्गो' ऐसा उलटा क्यों कहा है अर्थात् चारित्रपूर्वक ज्ञान होना है ऐसा क्यों उल्लेख किया है ?

उत्तर इस उल्लेख का अभिप्राय ऐसा है—सम्यग्ज्ञान होनेपर भी असत्य सम्यग्दृष्टिको चारित्रका अभाव रहता है इसलिये चारित्रिके बिना महान संवर और निर्जराभी मुख्यगुण नहीं माने जाते हैं इस लिये मुख्यताका अभिप्राय लेकर चारित्रिको प्रधानता दी गई है और इस विषयमें ऐसी शुक्ति है—सम्यग्ज्ञान उपाय है और चारित्र उपाय है परार्थ की दृष्टिसे सम्यग्ज्ञान प्रधान है अर्थात् कारण की दृष्टिमें ज्ञान प्रधान है परंतु चारित्र प्राप्य है इस दृष्टिसे मुख्य है

'जो पुण धम्मो जिविण कट्ठो' इस वाक्यसे धर्म सर्वथा नित्य है इम कल्पना का परिहार हुआ क्योंकि धर्माचरणसे प्राणिओंको जो विविध सुखादि फलों का अनुभव आजाता है इसलिए धर्मका मर्मदा एक स्वरूप नहीं है अर्थात् रत्नत्रय रूप परिणाम जिनको धर्म संज्ञा आचार्योंने दी है उनमें तरतमता होनेसे उनसे प्राप्त हुए सुखादि फलोंमें भी तरतमता अग्रग्य अनुभवमें आती है सुखके साधक स्त्री, वस्त्र, गन्ध, पुष्पमालादिक पदार्थोंमें विविधता देखी जाती है इससे उसका कार्य जो सुख वह भी अनेक रूपका अनुभवमें आता है

धर्म नित्य मानने पर भी ऐसी विचित्रता हो सकेगी ऐसा कहना योग्य नहीं है अतिशय सुखके साधक अथवा असाधन ये स्त्री गंधादिक पदार्थ होते हैं उसके लिए धर्म कारण हैं या नहीं ऐसे दो विकल्प यहां होते हैं।

यदि धर्म कारण है ऐसा मानते हो तो धर्म की विवित्रता अर्थात् नानाविधता है ऐसा मानना होगा. यदि धर्म उसका हेतु नहीं है तो सामान्यकारणोंके आधीनता से सुलके साधनोमें निरतिशय और सातिशय ऐसा फल विभाग नहीं हो सकता है. अत एव धर्म ही कारण मानना चाहिये. नहीं तो धर्म की व्यर्थता होती है. इस वास्ते धर्म को सर्वथा नित्य मानना योग्य नहीं है.

शरीरद्रविणादीना असद्वाप्यताभावनां तद्गोचरादुपगमनवर्तनमुखेन स्थिरयत्युत्तरगाथा—

बद्धस्स बंधणे व ण रागो देहमि होइ पाणिस्स ॥  
 विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥ १७५३ ॥  
 भोगं रोगं धनं शल्यं गेहं गुप्तिः स्त्रियो यथा ॥  
 बंधुं च मन्यते बंधं साधुरेकत्ववासितः ॥ १८२० ॥  
 बद्धस्य बंधनेनेव रागो यस्य न विग्रहे ॥  
 स करोत्यादरं साधुः किमर्थेऽनर्थकारिणि ॥ १८२१ ॥  
 बंधनतुल्यं चरणसहायं पश्यति गात्र मथितकषायः ॥  
 यो मुनिवर्यो जनधनसंगे तस्य न रागः कृतहितभंगे ॥ १८२२ ॥

इति एकत्वम् ।

विजयोदया—बद्धस्स वधणेव ण रागो रज्जुशृखलाभिर्बद्धस्य बंधनीक्रियासाधकत्वे रज्ज्वादौ दु खहेतौ यथा न राग । तथा देहमि होइ पाणिस्स सुखदु खसाधनविवेकद्वय दु खहेतावसोऽस्थिरैऽप्युचिनि क्राये न रागो भवति ॥ गुणपक्षपातितो हि प्राज्ञाः । विससरिसेसु विपसदशेत्यपि ण रागो पाणिस्स ज्ञानिनो नैव राग । केपु ? अत्थेसु सज्जेसु ॥ कथमर्थानां विपसदशेत्येति चेत् । यथा विपं दु खदायि प्राणान्वियोजयति तथार्थोऽनर्थजनरक्षणादिषु व्यापृते दु खेन योजयति, प्राणानां च विनाशो निमित्तं भवति ॥ तथाहि ॥ प्राणिनोऽर्थार्थं एव परस्परं प्रयाते प्रयतेते अतएव महाभयेहेतुत्वान्महाभयतार्थानां सूत्रकारेणोक्ता । अत्थेसु महाभयेसु इति यदि यस्यानुपकारि तस्य तस्मिन् विवेकिनः सदायबुद्धिर्यथा विपकटकादौ, अपकारि शरीरद्रविणादिकमिति पुन पुनरभ्यस्यतो नेतरः सदायोज्यमिति चिन्ताप्रवधः प्रवर्तते ॥

तनुधानापुरागनिवारणद्वारेण तव सहायवान्भावयितुमाह—

मूलारा—बन्धने रज्जुशृंगलदौ । ण रागो न प्रीतिः दुःगहेतुत्वात् । णाणिस्म सुखदुःखसाधनविवेकज्ञस्य । चिससरिसेसु दुःखदत्तात्प्राणप्रणशित्वाद्य द्व्यङ्कशेषेषु । महन्भणसु विपवदपकारकतमत्वाद्वादिभयंकरेषु । यद्धि यन्थानुपकारि तत्र तस्य न विवेकिनः सहायबुद्धिर्यथा विपन्दकादि । अपकारि च शरीरद्रणिणादिकमिति पुनः पुनरस्य पश्यतो यतेरसहायोहमिति विंताप्रबन्धः प्रवर्तते इति तात्पर्यम् “ इत्येकत्वानुपेक्षा”

अर्थ—रज्जु अथवा शृंगलासे बद्ध हुआ पुरुष बंधनक्रिया करने में साधकतम ऐसी रज्जु दोरी और लोह की सांखल में ग्रेम नहीं करता है वैसे सुखदुःख के साधनोंका विवेकज्ञान जिनको हैं ऐसे पुरुष शरीर में स्नेह नहीं रखते हैं यह शरीर, निःसार, अस्थिर, अपवित्र है ऐसा समझकर वे इससे विरक्त होते हैं। क्योंकि वे गुणोंके पक्षपाती हैं। ज्ञानी पुरुष विपके ममान दुःखद ऐसे धनमें राग भाप नहीं रखते हैं। विपके सदृश धन दुःख दायक क्यों हैं इसका उत्तर ऐसा है—विप दुःख देता है और प्राणोंका नाश करता है वैसे धन भी कमाना, रक्षण करना इत्यादि कार्योंमें तत्पर पुरुष को दुःख उत्पन्न करता है—यह धन प्राणों का भी नाश करनेमें निमित्त है। इस धनके लिये प्राणी परस्पर घातपात करनेमें प्रवृत्त होते हैं। इस लिये यह महाभयका कारण है

जो जिसका नाश-अपाय करता है उसमें उसकी-अर्थात् विवेकी पुरुषकी सहायता बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है विपकंदकादिकोंमें जैसे लोक ये मेरे उपकारक है ऐसा नहीं समझते हैं वैसे शरीर, धनादिक पदार्थ भी अपकारी हैं ऐसे विवेकी जन समझते हैं और बारम्बार इसी विषयका आभ्यास कर यति में असहाय हूँ ऐसी विंता करते हैं एकत्वानुपेक्षाका वर्णन समाप्त

अन्यत्वभावनानिरूपणार्थमुत्तर प्रबंध ॥ एकस्त—

किहदा जीवो अण्णो अपणं सोयदि हु दुक्खियं णीयं ॥

ण य बहुदुक्खपुरक्कडमप्पाणं सोयदि अनुद्धी ॥ १७१४ ॥

दुःखव्याकुलितं दृष्ट्वा किमन्योऽन्येन शोच्यते ॥

किं नात्मा शोच्यते जन्ममृत्युदुःखपुरस्कृतः ॥ १८१३ ॥

विजयोक्त्वा—किहदा अण्णो जीवो अण्णं णीयं किहदाचोयविति पदघटना । अन्यो जीवो नीय स्वस्मादन्य-

ज्ञातिवर्गं । दुष्क्रियं दुःखेनाभिभूतं, कथं तावच्छोचति । न य सोचद्दि नैव शोचते ॥ कं अक्षाणं आत्मानं कीदृग्भूतं यद्दुष्कृत्पुण्यकण्डं शारीरैरागतैकं, मानसं, स्वाभाविकैश्च यद्दुर्मिदुःखैः पुरस्कृतं अबुद्धिमापतिते काले चतसृषु गतिषु विचित्रासद्वेद्योदयात् द्रव्यक्षेत्रकालभावसहकारिणसाध्विष्योपेक्षयापुनरुत्तरमापदः प्राप्ता पुनरप्यगमिष्यति मा खलीकर्तुं । न हि कारणभ्यासस्थितसहकारिप्रत्यये सति कार्यस्यानुद्भवो नामास्ति, यो यद्भावोपि नासादयेदुदयं स कथमिव तद्वेदुःकं, यथा सत्यपि यवबीजेऽनुपजायमानश्चूताकुुरस्तथा सत्यसद्वेद्योदेयं यदि न स्युर्दुःखादीन्यसद्वेद्यकारणानि न स्युर्न भवति च तस्मादात्मप्रवेद्यावस्थितस्य दुःखबीजस्य केनोपायेनाप्यो भविष्यतीत्यकृतबुद्धिः तथा अबुद्धिः । परतदुक्तं भवति परस्य दुःख आत्मन एव दुःखमिति मत्वा शोकमयमुपैति तद्विनाशे च सततं प्रयत्नं च करोति तथा च प्रवर्तमानस्य स्वदुःखस्य निवृत्तये न प्रारम्भोऽस्ति ततोयं दुःखं भोजं भोजं पर्यटति न च परो दुःखात्प्राप्तं शक्यते तेन हि सचित्तानि कर्माणि कथं फलं न प्रयच्छति ॥ न हि परस्य शोकः फलदायिना कर्मणा प्रतियोगकः, तथा चाभ्यधापि ॥ प्रीतिपूर्वं कृतं कर्म मनोयाककायकर्मभिः । न निवारयितुं शक्यं संवृतशिवशैरपि । इति तेनान्यदुःखापेक्षः शोकोऽस्य व्यर्थः ॥ अन्यशब्देन च स्वदुःखावृत्त्यन्तं परदुःखस्योच्यते । अन्यत्र परदुःखागतस्यानुपेक्षणमन्यत्वाजुपेक्षा एव परदुःखस्यान्यतामर प्रेक्षमाणः परदुःखस्योपहतन कर्तुं न शक्यत इति न शोचति, स्वदुःखोन्मूलने प्रयतत इति भावोऽस्य सूरः ॥

धर्म्यं धैर्यता प्रापयितुं अन्यत्वं त्रयोदशगथाभिर्व्याचक्षणाः स्वदुःखात्परदुःखमन्यदित्यबुद्धिः कथमन्यं दुःखांतं शोचतीति संसेवाद्भूतमिदमाह—

मूलारा—णीय निजं ज्ञातिवर्गं । पुरकण्डं पुरस्कृतं । भावविचित्रदुर्गतिदुःखबीजस्यासेद्योदेवात्मनि अवस्थितत्वात् । अबुद्धी आत्मस्थदुःखबीजापायोपार्याचिताशून्यत्वादनित्यार्थपरदुःखशोचनानुचरणाच्चाबुद्धिः । एतदुक्तं भवति—परस्य दुःखमात्मन एव मन्यमानः शोकमयमज्ञो जनो याति । तदुच्छेदे च नित्यं प्रयतते । तथा चास्य न स्वदुःखोच्छेदाय प्रयत्नः स्यात् । ततोऽयं दुःखं भोजं भोजं संसरति । न च परो दुःखात्प्राप्तं शक्यते । न हि परस्य शोचन तद्दुःखफलं तत्कर्मणा प्रतिबंधकं । तथा चाभ्यधापि—

प्रीतिपूर्वं कृतं कर्म मनोवाकायकर्मभिः ॥

न निवारयितुं शक्यं सद्वृत्तिवैरपि ॥

एवं परदुःखस्य स्वदुःखादन्यतामनुपेक्षमाणः परदुःखं निराकर्तुं न शक्यते । इति न शोचति परदुःखः । दुःखं वा छेतुं यतत इत्यभिप्रायः ॥

अर्थ—अपने संबंधी जनोको दुःखसे पीडित देखकर यह अबुद्धि मनुष्य दुःख करता है शोक करने लगता है शोक करना उसके लिये अयोग्य है क्योंकि वह स्वयं अनेक दुःखोंसे पीडित हुआ है. अर्थात् अपना



दुःख दूर करनेमें असमर्थ जन दूसरों का दुःख दूर करने में कैसा ममर्थ होगा? शारीरिक, मानसिक और म्माभिविक दुःखों से पीडित होकर वह अपने को सुखी समझ रहा है अत एव स्वयं अज्ञानी है चारों गतिओं में नाना प्रकारके असाता वेदनीय कर्म के उदयसे और दुःख, क्षेय, काल, भाव रूप सहकारी कारणों की सहाय्यतासे अनेक आपत्तियाँ मेरे उपर आई हुई थी और भविष्यकालमें आवेंगी, मेरे को दुःखित करेगी इसको वह स्वयं नहीं जानता है. उपादान कारणों को सहकारी कारणोंकी मदद होनेपर प्रत्यक्ष कार्य होता है. जो जिसके होनेपरभी उत्पन्न नहीं होता है वह उसका कैसा कार्य माना जायगा? जैसे सातूरा बीज होने पर भी आश्रयका अकुर उत्पन्न नहीं होता है क्यों कि वह यवबीजका कार्य नहीं है वैसे यदि अमता वेदनीय कर्म का उदय होनेपर भी दुःख, शोक, तापादिक कार्य नहीं होंगे तो असाता वेदनीय कर्म उदयका कारण नहीं है ऐसा मानना पड़ेगा. परंतु दुःखादिक उत्पन्न होते है. इससे असाता वेदनीय कर्म उनका उपादान कारण है ऐसा सिद्ध होता है.

इसलिए आत्मप्रदेशोंमें ठहरा हुआ, दुःखका कारणभूत असातावेदनीय कर्म किस उपायसे नष्ट होगा इसका ज्ञान इस जीवको नहीं है इसलिए इसको अज्ञानी कहा है यह जीव अन्यके दुःखोंको अपने ही समझकर शोकको प्राप्त होता है और उसका नाश करनेका प्रयत्न सतत करता है ऐसी प्रवृत्ति करनेवाला यह अज्ञानी पर दुःख दूर करने के लिए प्रयत्न होता है. परंतु सद्दुःख दूर करनेका प्रयत्न नहीं करता है जिससे समारमें बार बार दुःख भोगता हुआ भ्रमण करता है परंतु उससे दूसरा पुरुष दुःखोंसे रहित नहीं किया जा सकता है जिसने जो कर्म उपार्जित किए हैं वे उसको फल देते ही हैं शोक करनेपर क्या फल देने वाले कर्म रुक सकते हैं? अर्थात् शोक करने से स्वर्जनोंको दुःख देनेवाला कर्म कोई दूर नहीं कर सकते हैं. आगममें इस विषय में ऐसा कहा है

प्रतिपूर्वक मन वचन और कायके द्वारा जो प्राणिओंने कर्मोपाजिन किया है उसके फलको सर्व देव श्रुद्धे होकर भी दूर नहीं कर सकते हैं इसलिये दूसरोंका दुःख देखकर शोक करना व्यर्थ है. अपने दुःखमें परकीय दुःख भिन्न है ऐसा विचार करनेवाला जीव दूसरोंका दुःख दूर करना अशक्य है ऐसा समझकर शोक नहीं करता है और अपने दुःखोंको दूर करनेका प्रयत्न करता है ऐसा अभिप्राय आचार्यने व्यक्त किया है

सर्वस्य जीवराशेरालम्बोऽन्यत्वात्सर्वेष्वनुप्रेक्षणमन्यत्वात्पुनरेकेति कथयत्युक्तत्वात्—  
संसारमि अणंते संगेण कम्मणे हीरमाणं ॥

को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणस्मि जणो ॥ १७५५ ॥

ससारे अममाणानामनंते कर्मणाद्रिनः ॥

कः कस्यस्ति निजो मूढः सज्जतेऽत्र जने जने ॥ १८१४ ॥

विजयोदया—ससारमि अणते अंतातीते पचविधे ससारे परिवर्तने । संगेण कम्मणे आत्मीयमित्यदर्शनादि परिणामोत्पादितकर्मपर्यायेण पुद्गलस्वप्नेन हीरमाणं आरुह्यमाणाना वदुविवा गतिं प्रति । को कस्स होइ सयणो नैव कश्चित् कस्यचित्स्वजनो नाम प्रतिनियतोऽस्ति । युज्यतेयं विवेक स्वजनोऽय परजनोऽयमिति । यदि यो यस्य स्वजनं तत्स्वैव स्वजनं सर्वदा भवेत् । परजनो वा स्वजनता नोपेयात् ॥ न चायमस्ति प्रतिनियमः स्वकर्म परतन्त्राणामतो न कश्चित् स्वो जनः परो वा मयास्ति । सर्वो जीवराशिमिथ्यात्वादिगुणविरूपोपनीतनानात्वोऽन्य एवेति कृतव्यवसायस्य कचिवेव दया प्रीतिर्वा कचिर्निर्दयता द्वेयोऽसमानतारूपो न प्रादुर्भूयति ॥ ततो विरागेद्वेयस्य चारित्र्यमचिकल्पं भवति । सज्जति जणमि जणो आसक्तिं करोति जने जनोमयाय भ्राता पिता पुत्रो भागिनियो दासः स्वामीति वा मोहाद्वस्तुतत्त्वस्य अन्यतामात्ररूपस्य निरस्तस्वजनत्वस्य परिज्ञानान् ॥

न कश्चित्कस्यापि स्वो जनः परो वास्तीति सर्वेभ्यः शुद्धकत्वं भावयितुमाह—

मूढारा—हीरमाणं तां ता गतिं नीयमानता । को इत्यदि । यदि हि यो यस्य स्वजनत्वेनाभिमतः । स तस्य स्वजन एव स्यात्सदा । परत्वेनाभिमतो वा कदाचिदपि स्वाजन्य गच्छेत् तदा स्वजनोऽयं परजनोऽयं इति नियमो युज्येत । नैचैपोऽस्ति, स्वस्वकर्मपरतन्त्रत्वात्सर्वेषां तर्हि कुतस्त्योऽयं स्वपरविभाव इत्यत्राह—सज्जति मयाय पुत्रो भ्रातेत्यादि तथा प्रीतिविषयतया शत्रुवर्णवादीत्यादिनिर्दयत्वाद्द्वेषविषयतया वा आसक्तिं वध्नाति । मोहो मत्तः । सर्वेऽन्यन्त्ये, सर्वेभ्यो पि वाहमन्य इति भेदज्ञानाभावात् । एव च भावयतो यतेः स्वपरविभागबुद्धिव्यपगमादप्रादुर्भवद्रागद्वेषपरिणतेः सर्वत्र समताचरणचूडामणिः परिणमते ।

संपूर्ण जीवराशि अपनंसे भिन्न है ऐसा विचार करना ही अन्यत्वानुप्रेक्षा है ऐसा आगेकी गाथा में आचार्य कहते हैं—

अर्थ—प्रांच प्रकार के परिवर्तनसे युक्त इस अनंत ससार में मिथ्यादर्शन, अविश्वसति, वगैरह परिणामसे

उत्पन्न हुए कर्मरूपी पुद्गल स्कंधोंसे बद्ध होकर यह जीव अनेक गतिओंमें प्रमण करता है इस लिये इस संसारमें कोई भी जीव किसी का नियमसे स्वजन है नहीं यदि स्वजनसंबंध होता तो यह स्वजन है और यह परजन है ऐसा मानना योग्य होता. यदि जो जिसका स्वजन है वह उसका हमेशा ही स्वजन मानना पड़ेगा, जो परजन है वह कभी भी स्वजन नहीं होगा अतः यह नियमन नहीं है सब जीव कर्मसे परतत्र हो रहे हैं. अतः मेरा कोई स्वजन और परजन नहीं है सर्व जीवसमुदाय मिथ्यात्वादि भिन्नभिन्न परिणामोंसे एक दूसरेसे भिन्न ही है ऐसा विचार कर हे क्षपक तू किसीमें प्रेम किसीमें निर्दयता, द्वेष ऐसी असमानता नहीं धारण करनी चाहिये जब रागद्वेषरहित तू हो जावेगा तब निर्विकल्प चारित्रका धारक बनेगा. मोहसे यह मेरा भाई है, यह मेरा पिता है, पुत्र है मानजा है ऐसी कल्पना करके अन्यजनोपर आसक्ति करता है मैं इनसे भिन्न हूं और ये मेरेसे भिन्न हैं. ऐसा भेदज्ञान नहीं होनेसे अन्य जनोमें आसक्ति उत्पन्न होती है,

प्रकारांतरेण स्वजनपरजनविवेकाभाव दर्शयत्युत्तरगाथा ॥

सब्वो वि जणो सयणो सब्वस्स वि आसि तीदकालमि ।

पंते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥ १७४६ ॥

काले ऽतीते ऽ भवत्सर्वः सर्वस्यापि निजो जनः ॥

तथा कर्मानुभावेन भविष्यति भविष्यति ॥ १८२५ ॥

विजयोव्या—सब्वो वि जणो निरवशयो जंतुरनंत. स्वजनः । सब्वस्स वि सर्वस्यापि प्राणभृतः । तीद-  
कालमि अतीते काले आसि आसीत् । पंते य तथा काले भविष्यति तथा काले. होहिदि भविष्यति । सजणो जणस्स जणो  
स्वजनो जनस्य जन । पतवनेनाव्यायते ॥ अतीति भविष्यति च काले सर्वस्य सर्वं स्वजन असीद्धविष्यति च ॥ तत-  
स्सर्वसाधारणत्वे स्वजनत्वस्य सति ममायं स्वजन इति मिथ्यासंकल्पः । तेऽप्यन्ये ममाप्यन्यस्तस्य इत्येतदेव तत्त्वमित्य-  
न्यत्वस्य स्वपरविषयस्यानुपेक्षणमन्यत्वानुपेक्षा ॥

सर्वः सर्वस्य स्वजन आसीत्कर्मवशाद्भविष्यति भवति चेति सर्वसाधारणे स्वजनत्वे सति ममैवायं स्वजन इत्येव  
सकल्पो मम स्यात्, ते मदन्ये तेभ्यश्चाहमन्य इति स्वपरविषयान्यत्वभावनार्थमाह—

मूलारा—जणो जन्तुः । सब्वस्स प्राणिनः ' तीद अतीताः ' पंते भविष्यंति ।

स्वजन और परजन इस विवेकका अभाव प्रकारांतरसे दिखते हैं.

अर्थ—इस जगतमें जितने प्राणी हैं उनसे भूतकालमें मेरा बहुत्वका संवध था भविष्यकालमें भी इनसे स्वजन संवध रहेगा अर्थात् सर्वजन सर्वजनके बहुधेय और आगेभी अर्थात् भविष्य कालमें भी रहेंग अर्थात् स्वजनत्व संवध सर्व जीवोंके साथ सर्वजीवोंका सामान्य रूपसे होनेपरभी यही मेरा स्वजन है और ये मेरेसे भिन्न है ऐसा समझना भूलसे खाली नहीं है इसलिये ये प्राणी मेरेसे भिन्न हैं और मैं इनसे भिन्न हूं ऐसा विचार करना अन्य-त्वानुमेक्षा है

रतिं रतिं रुक्ले रुक्ले जह सउणयाण संगमणं ॥

जादीए जादीए जणस्स तह संगमो होई ॥ १७५७ ॥

सगमोऽस्ति शकुतानां रात्रौ रात्रौ तरो तरो ॥

तथा तथा तनूभाजां जातौ जातौ भवे भवे ॥ १८२६ ॥

विजयोदया—रतिं रतिं रात्रौ । रुक्ले रुक्ले वृक्षे । जह सउणयाण संगमणं यथा पक्षिणा संगमनं । जादीए जादीए जन्मनि । जणस्स जनस्य । तहा तथा सगमो ह्येदि संगमो भवति । यथा रात्रावाश्रयमन्तरेण स्थानुमसमर्थो पक्षिणो योग्य वृक्षमन्विष्य ढोकेते ॥ तद्वत्प्राणिनोपि निरवशेषगलितान्यु पुद्गलस्कन्धा. परित्यक्तप्राकनशा-रीरा शरीरातरग्रहणार्थिन शरीरग्रहणयोग्यदेश योनिसंश्लिष्टमास्कवति ॥ तत्र ययो. शुक्रशोणितमयमाश्रितोऽशुचि तमे तौ पितराविति सकल्पयति । तथाभूतयोरेव शुक्रशोणितयोरुपात्तदेहा आतर इति ॥ अन्ये न एवंभूताश्च स्वजनि-नोतिखुलमा ॥ कातारे पक्षिणा निवासवृक्षा इवेति भावः ॥

तदेव स्वजनाप्रतिनियतत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति ॥

मूला—जादीए जन्मनि ॥

अर्थ—प्रत्येक रात्रीमें प्रत्येक वृक्षपर जैसे पक्षी आकर बैठते हैं वैसे प्रत्येक जन्ममें प्राणिओंका संगम होता है. जैसे रात्रीमें आश्रयके बिना पक्षी ठहर नहीं सकते हैं इस लिये योग्य वृक्षको शोधकर उसका आश्रय लेते हैं. वैसे प्राणी भी संपूर्ण आयुष्य रूपी पुद्गलरूप नष्ट होने पर पूर्व शरीरका त्याग करते हैं अन्य शरीरको धारण करने की इच्छा करते हुए शरीरग्रहणके योग्य प्रदेशकी जिसको योनि ऐसा नामान्तर है प्राप्त कर लेते हैं. वहां

जिनके रक्त और वीर्यका आश्रय हम को मिला है उनको यह जीन मातापिता ममझने लगता है तथा जिन्होंने उसके समान जिनके रक्तवीर्य का आश्रय लेकर जन्म धारण किया है वे उनके भाई हैं हम प्रकारसे स्वंजनता सुलभ है, जैसे जगलमें पक्षियोंको रहने के लिये वृक्ष सुलभ है

पहिया उवासये जह तौहें तौहिं अछियंति ते य पुणो ॥

छंडित्ता जति णग तट्ठ णीयसमागमा सब्बे ॥ १७५८ ॥

अच्चनीना उर्यकच्च प्राण्य संगं ततोऽगिनः ॥

स्थानं निज निज गान्ति हित्वा कर्मचशीकृताः ॥ १८ ७ ॥

निजयोदया—पहिया पथिका । उवासये उपाश्रय कामाश्चिन् । जह यथा । तौहिं तौहिं तस्मिन्स्मिन् प्राप्ततनगदो । अछियंति अन्योन्य द्रोकेते । ते य तेन सगता पथिका । पुणो पश्चात् । छंडित्ता त्यक्त्या । जति याति स्वाभिमाने देते । तथा । णीयसमागमा सब्बे तथा यधुसमागमा सर्वपि च ॥ एतेन यधुसमागमस्यानित्यता व्याख्याता ॥

बंधूना भिवटनद्वारेणान्यत्त्वं भानयितुमाह—

मूलारा—उवासण वमेरुस्थाने । तौहिं प्राप्तनगरानुपातवर्तिनि । अद्रियति अन्योन्यं द्रोक्ते । तथ पथिक-नरसगमसमा यधुसमागमा यगमी स्यत । प्रयक् न स्यः कथं विपद्यते इत्यनित्यत्वाद्यनुपेक्षणम् ॥

अर्थ—जैसे किसी एक घरमेंशालामें पथिक लोक आकर ठहरते हैं, तथा किसी ग्राम और नगरमें मिल-कर भी जाते हैं पुनः वे पथिक विमुक्त होकर भी इधर उधर अपने इष्ट स्थान को जाते हैं वैसे ही मर्नं धंधुस-मागम हैं, इस गाथासे यधुसमागमकी अनित्यता स्पष्ट की गई है

भिण्णपयडिम्मि लोए को कस्स सभावदो पिओ होज्ज ॥

कज्जे पडि संवंधं वालुयमुटीव जगमिणमो ॥ १७५९ ॥

नानाप्रकृतिके लोके कस्य कस्तत्त्वतः प्रियः ॥

कार्यमुद्दिश्य सचयो वालुकासुष्टिवज्जन ॥ १८२८ ॥

विजयोदया—भिण्णपयडिस्मि लोणे नानास्वभावे लोके । कस्स सभावदो पिओ होल्ल कः कस्स स्वभावेन प्रियो भवेत् । समानशीलताया हि सख्यं भवति । न च सर्ववधव समानशीला' कथं तर्हि तेषां वा स 'वाधव' । कल्लं पडि संबंधो कार्यमेवोद्दिश्य संबंधः नासति कार्येऽस्ति स्वध' । वालुगमुट्ठीव वालुकासुष्टिरिव । जगमिणमो लोकोय । यथा वालुकाणां भिन्नप्रकृतीनां द्रवद्रव्यमंतरेण न स्वाभाविक संबंधो येन सगता मुष्टिमुपेयु । उदकादिद्रव्योपनीतैव संगति-स्तासां, एव कार्योपनीतैव संगतिः स्वजनानां ॥

मा भूदनुभवविरोधिना तदात्मनो वधुभिः मबन्धः । स्वाभाविकप्रेमादिभावेन भविष्यति इति मोहादभि-निविशमानमुद्रोपयति—

मूलारा—भिण्णपयडिस्मि नानास्वभावे । को इत्यादि समानशीलताया हि सख्यं । न च सर्वे वधवः समान-शीलाः । कथं तर्हि तेषां संबंध इत्याह—कल्लं पडि कार्यमुद्दिश्य, स्वाभिमतसाध्यमपेक्ष्य । संबंधः प्रियत्वेन श्रुतिः । न चायं रथेयान् । यल्लोकः—

गते ते लोचने तात ये लमे त्रिफलारसे ॥

कार्यालुबंधे यत्त्रोम तद्विद्धि गतमेव हि ॥

ततः किं स्थितमित्याह—जगमिणमो लोकोयं । वालुकासुष्टिरिव । यथा वालुका द्रवद्रव्येणैव न स्वाभाविक संबन्धेन संगताः सत्यो मुष्टिमुपेयुस्तथा ज्ञातयः कार्यपेक्षयैव संबद्धा एकत्व गच्छेयुरिति भावः । एवं च भावयतः कार्योपनीतसंगतिवत्प्रवृत्ततादाल्पविभ्रमविभ्रशान्दन्त्यैकावतिर्वर्धेन धर्मध्यानाय योग्यता समुन्मीलति ॥

अर्थ—यह जग नाना स्वभावान्मक है इसलिये कोन प्राणी स्वभावतः प्रिय है? समानशील प्राणीमेंही सख्य रहता है परंतु सर्व वधु समानशील-समान स्वभाववाले नहीं होते हैं किस कार्यके वश होकर ही संबंध होता है, कार्य ही जानेपर संबंध नष्ट होता है, जैसे वालुके कण भिन्नभिन्न रहते हैं परंतु उनमें जलादि द्रवपदार्थ का प्रवेश होनेपर वे कण अन्योन्य मिल जाते हैं अर्थात् स्वाभाविक संबंध उनमें नहीं है, उदकादि द्रव्यसे ही उनका परस्पर संबंध होता है उसी प्रकार कार्यसही स्वजनोके साथ संबंध है.

त च कार्यकृतं संबंधं स्पष्टयत्युत्तरगाथा—

माया पोसेइ सुयं आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति ।

पोसेदि सुदो मादं गब्बे धरिओ इमाएत्ति ॥ १७६० ॥

माता पोषयते पुत्रमाधारोऽयं भविष्यति ॥

मातरं पोषयत्येप गर्भेऽहं विधृतोऽनया ॥ १८२९ ॥

विजयोदया—माया पोसेदि सुदं माता पोषयति सुतो। आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति अयं ममाधारो भविष्य-  
तीति । पोसेदि सुदो मादं पोषयति सुतो मातरं । गर्भे घरिदो इमाएत्ति गर्भं धारितोऽनयेति ॥  
कार्यपिक्षमेव सम्बन्धं निर्दिशति—

मूलारा—इमाए त्ति अनया । मातरं पोषयतो मे कृतज्ञताविशयादनुक्तोऽन्योऽन्युपकाराय प्रवर्तिष्यत इति  
तदाऽपोषणे च यो मातुरपि न प्रत्युपकरोति स कथमन्यस्य कृतघ्नः प्रत्युपकरिष्यतीत्यपरब्रतु (१) सर्वोऽपि जनो मम  
विश्वसन्स्वार्थेन प्रवर्तिष्यते कार्यपिक्षयैव पुत्रो मातरं पुष्पातीति मन्यते ।

इस संबंध को उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—माता यह मेरा लडका मेरा आधार होगा इस हेतुसे पुत्र का पोषण करती है, तथा इसने मेरेको  
गर्भ में नउ महिने तक धारण किया था ऐमा समझकर पुत्रभी माताका रक्षण करता है अर्थात् कार्योदेशसे स्वजन  
परजन यह विभाग होता है उपकारसे मित्रता और अपकारसे शत्रुता होती है.

उपकारापकारयो प्रतिबंधात् शत्रुता मित्रता वेति कथयति—

होऊण अरी वि पुणो मित्तं उवकारकरणा होइ ॥

पुत्तो वि खणेण अरी जायदि अवयारकरेण ॥ १७६१ ॥

अमित्रं जायते मित्रमुपकारविधानतः ॥

तनूजो जायते शत्रुरपकारविधानतः ॥ १८३० ॥

विजयोदया—होऊण अरी वि शत्रुरपि भूत्वा । पुणो पुन' मित्तो होदि सुद्वद्रवति स एवास्मि' । कुतः? उपकारकरणा  
नुपकारकरणेन । पुत्तोवि खणेण अरी जायदि पुत्रोपि क्षणेन शत्रुर्भवति, केन ? अपकारकरणेन, निर्भत्सेनताडनाद्यपकरण  
क्रियायाः ॥ यस्मादेव ॥

मित्रत्ववच्छत्रुत्वस्याप्यौपाधिकत्वमेव बोधयति—

मूलारा—अरी अपमानाद्यपकारकरणदपकारकत्वेन शत्रुरपि भूत्वा । अत्र ममार्यं शत्रुरित्यपकार्योपकारकभावे-

नेव ममाय पुत्र इत्युपकार्योपकारकभावेनापि संवंधस्यानवस्थितत्वात् शत्रुणव पुत्रेणापि न स्वाभाविकः संवंधोऽस्तीति भावनाद्वारेण अन्यत्वनिष्ठतावसीयते ।

इसका विवेचन—

अर्थ—जो शत्रु है वही उपकार करनेसे मित्र बनता है, पुत्र भी एकक्षण में अपकार करनेसे शत्रु बनता है अर्थात् निर्भर्त्सना करना, ठोकना इत्यादि अपकारोंसे पुत्र पिता का शत्रु बन जाता है-

तस्मा न कोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे ॥  
कज्जे पडि हुंति जगे णीयाव अरी व जीवाणं ॥ १७६२ ॥

न कोपि देहिनः शत्रुर्न मित्रं विद्यते ततः ॥

जायते कार्यमाश्रित्य शत्रुर्मित्रं विनिश्चितम् ॥ १८३१ ॥

विजयोदया—तस्मा तस्मात् । नकोइ कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे नैव कश्चित्कस्यचित्संजनः परजनो विद्यते । कज्जे पडि होदि णीया व अरी व जन कार्यमेवोपकारापकारलक्षणं प्रति वधव' शत्रुवश्च भवति । न स्वभाविकी वधुता शत्रुता वा जीवानामस्ति उपकारापकारस्थितत्वात्तन्मूलोऽस्ति मित्रभावोऽप्यनवस्थित इति न रागोद्वेषौ कच्चिदपि कार्यौ । मत्तोऽन्ये सर्व एव प्राणभृत इति कार्यान्यत्वानुपेक्षेति प्रस्तुताधिकारोणाभिसंबंध ॥

यत एवम्—

मूलारा—सयणो व जणो व स्वजो वा वंधु । जनो वा सामर्थ्यात्परजनः । अथवा अवजणो अपकर्ता जन इति ग्राह्यम् । कज्जं उपकारापकारलक्षणं कार्यं । एवं व वधुत्वशत्रुत्वयोः अनवस्थितत्वाध्यवसायाद्रागद्वेषोपरमान्मत्तोऽन्ये सर्वेऽपि जन्मिन इत्यन्यत्वानुपेक्षयैवाभिसंबंधः ॥

अर्थ—इसलिये इस संसारमें कोई किसीका स्वजन और परजन नहीं है कार्य के वधु होकर स्वजन परजन व्यवहार दुनियामें चलता है, जिसके ऊपर हम उपकार करते हैं वह हमारा मित्र बनता है, और जिसके ऊपर हम अपकार करेंगे वही हमारा शत्रु होगा स्वाभाविक वधुता किसीमें नहीं है शत्रुता भी किसी के साथ स्वाभाविक नहीं रहती है उपकार और अपकार पर शत्रुत्व और मित्रत्वका व्यवहार निर्भर है ऐसा समझकर किसीमें भी रागद्वेष नहीं करना चाहिये सभी प्राणी मेरेसे भिन्न हैं यह भावना हृदयमें सदैव धारण करनी चाहिये



शत्रुमित्रयोर्लक्षणसाधये—

जो जस्स वट्टदि हिदे पुरिसो सो तस्स बंधवो होदि ॥  
जो जस्स कुणदि अहिदं सो तस्स रिउत्ति णायव्वो ॥ १७६३ ॥  
हित करोति यो यस्य स मतस्तस्य बांधवः ॥

स तस्य भणयते वैरी यो यस्याहितकारकः ॥ १८३२ ॥  
विजयोदया—जो जस्स वट्टदि हिदे यो यस्य उपकारे वर्तते । पुरिसो पुरुष । सो तस्स बंधवो होदि स तस्य बंधुर्भवति । जो जस्स कुणदि अहिदं यो यस्य करोत्यहित । सो तस्स रिउत्ति णायव्वो स तस्य रिपुर्गति ज्ञातव्यः ॥  
मित्रशत्रुत्व लक्षणाधिकरणेन समर्थयते—  
मूलारा—हिदे उपकारे ॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते हैं—

अर्थ—जो मनुष्य जिसका हितकार्य करता है वह मनुष्य उसको अपना बंधु समझता है जो जिसका अहित करता है उसका वह अपना शत्रु समझता है. अभिप्राय यह है कि, उपकार और अपकार पर क्रमसे मित्रत्व और शत्रुत्व अवलंबित है.

शत्रुलक्षणं वधुषु दर्शयति—

णीया करति विग्घं मोक्खदुमुदयावहस्स धम्मस्स ॥  
कारिति य अइवहुंगं असेजंमं तिब्बदुक्खकरं ॥ १७६४ ॥  
कुर्वन्ति बांधवा विघ्न धर्मस्य शिवदायिनः ।  
तीव्रदुःखकरं घोरं कारयन्त्यप्यसंयमम् ॥ १८३३ ॥

विजयोदया—णीया करंति विग्घ वंधव कुर्वन्ति विघ्नं । कस्य ? धम्मस्स धर्मस्य, कीदृशः ? मोक्खदुमुद-  
यावहस्स निरत्वेषदुःखकारिकर्माणाय सासारिकमतिशयवत् सुखं च संपादयतो रत्तत्रयस्य । कारंति य कारयंति च ।  
किं ? असंयमं । हिंसानृतस्तेयादिक, अदिवहुंगं अतीव मद्वात । तिब्बदुक्खकरं दुः सहनरकादिदुःखोत्थापनोद्यतं । हितस्य  
विघ्नकरणादहिते च प्रवर्तनात् दर्शयति शत्रुता बंधूनामेतेन । अन्येषा बांधवाद्यभिमतानां शत्रुत्वेनानुपेक्षणं अन्यत्वा-  
नुपेक्षेति कथितं भवति ॥

बंधूना हितविधाताहितप्रवर्तनपरत्वेन शत्रुत्वावस्थपनादन्यत्त्वं भावयन्नाह—

मृलारा—असंजमं हिंसानृतस्तेयादिकं ॥

बधुमी वास्तविक शत्रु है ऐसा अभिप्राय—

अर्थ—जिसका आचरण करने से संपूर्ण कर्मोंका नाश होकर आत्मा को मोक्षप्राप्ति होती है और ससारिक उत्कृष्ट सुख की—अर्थात् अहामिन्द्र सुखकी जिससे प्राप्ति होती है ऐसा रत्नत्रय धारण करने में बधुगण विघ्न उपस्थित करते हैं इतनाही नहीं पंतु हिंसा, असत्य, चोरी वगैरेह असंयमभी इस जीवसे वे कराते हैं अति शय घोरा, दुःस्सह नरकादि दुःखोंसे प्राणीका उद्धार करनेवाले धर्ममें ये बधु विघ्न करते हैं और अहितमें प्रवृत्त करते हैं इस लिये इन बधुओंमें शत्रुता दीख पड़ती है. इस प्रकार बंधुओंके विषयमें विचार करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है

इदानीमन्यशब्देन साधवो ग्रण्यन्ते तेयमुपकारकत्वरूपेणानुप्रेक्षति चेत्तसि कृत्वा व्याचष्टे—

णीया सत्तू पुरिसस्स हुति जदिधम्मविग्गवकरणेण ॥

कारेति य अतिबहुगं असंजमं तिब्बदुःखयरं ॥ १७६५ ॥

विजयोदया—अन्येषां यतीना बधुत्वं कथमप्रस्तुताया अन्यत्वानुप्रेक्षायासुपयुज्यतेऽस्य ॥

अन्य शब्दसे सत्पुरुषोंका ग्रहण होता है उनको उपकारक समझकर चिंतन करना यह भी अन्यत्वानुप्रेक्षा शब्दका अभिप्राय है इसका खुलासा—

अर्थ—बधुगण यतिधर्ममें विघ्न करनेमें प्रवृत्त होता है और नरकादि गतिओंमें तीव्र दुःख देनेवाला असंयम कराता है इस लिये वह ही शत्रु है और सत्पुरुष—

पुरिसरस पुणो साधू उज्जोव सजणंति जदिधम्मो ॥

तथ तिब्बदुक्खकरणं असंजमं परिहरावेति ॥ १७६६ ॥

बंधुरं साधवो धर्मं वर्धयन्ति शरीरिणः ।

संसारकारणं निवृत्त्यसंयमसंयमम् ॥ १८३४ ॥

विजयोदया— पुरिसस्स पुरुषस्य । पुणो साधू पुन साधव । पुन उज्जोवं संजणंति उद्योगं सम्यग्जनयंति ॥ जदिधम्मं सर्वांभपरिग्रहत्यागलक्षणे यतिधर्मे, तव असज्जं परिहरावेंति तथा असंयमं परिहारयंति । कीटभूत ? तिब्बदुक्खयरं तीव्रणां दु खानामुत्पादकं ॥

एव बंधूनामपकाररूपेणान्यत्वमनुपेक्ष्य साधूनामुपकारकरूपेणान्यत्वमनुचितयति—

मूलारा— उज्जम उद्यम । जदिधम्मं सर्वांभपरिग्रहत्यागलक्षणे मुनिधर्मे । परिहरावेंति त्याजयंति । अत्रोपकार्योपकारकभावदर्शनेनान्यत्वं वेद्यते

अर्थ—यति धर्ममें पुरुषको अतिशय दृढचित्तवाला करते हैं तथा असंयमसे प्रयत्न पूर्वक हटाते हैं सर्व आरंभ और परिग्रहोंका जिसमें पूर्ण त्याग हो जाता है ऐसे मुनिधर्ममें तीव्र दुःख देनेवाले असंयमोंके त्यागमें जीवको मुनिगण प्रवृत्त करते हैं अतः वे ही परमार्थसे हित करनेवाले बांधव हैं

उपसंहरति प्रस्तुतमर्थं तथा हिते प्रवर्तनादहिताश्रित्वानात् ॥

तस्मा जीया पुरिसस्स हेंति साहू अणेयसुहेदु ॥

संसारमदीणता जीया य णरस्स हेंति अरी ॥ १७६७ ॥

साधवो बांधवास्तस्मादेहिनः परमार्थतः ।

ज्ञातयः शत्रवो रौद्रभवाम्भोधिनिपाततः ॥ १८३५ ॥

शरीरादात्मनोऽन्यत्वं निस्त्रिंशस्येव कोशतः ।

परवत्तं न जानन्ति मोहान्धतमसावृताः ॥ १८३६ ॥

अनाविनिघ्नो ज्ञानी कर्ता भोक्ता च कर्मणाम् ॥

सर्वेषां देहिनां ज्ञेयो मतो देहस्तनोऽन्यथा ॥ १८३७ ॥

पूर्वजन्मकृतकर्मनिर्मित पुत्रमित्रधनयांधवादिकम् ॥

न स्वकीयमखिलं शरीरिणो ज्ञानदर्शनमपास्य विद्यते ॥ १८१८ ॥

इति अन्यत्वं ।

विजयोदया—तस्या तस्मात् । हिते प्रवर्तनात् । णीया पुरिसस्स वंधव पुरुषस्य । के ? साधू साधव । अणेगसुख हेतु इन्द्रियनिद्रियसकलसुखहेतव । ससारमदीणता ससारमपारनेक्रदु खसंकुलप्रवतारयत । णीया य णरस्स ह्यति अरी शत्रवो भवति मनुष्यस्य वंधव । एतेन सूत्रेण अन्येण यतीना वंधूना मित्रत्वशत्रुत्वानुपेक्षणं अन्यत्वानुपेक्षति कथ्यते । एवमनुपेक्षमाणस्य धर्मे तदुपदेशकारिणि च यतिर्जने महानादरो भवति । अभिमतं सकलसुखमुपस्थापयतो धर्मस्य विघ्नं भवति संपादयत्सु चतुर्गतिघटीयजे दुःखभारे आरोहत्सु नितरामनादरो भवति ॥ अणत्वं ॥

वस्तुदृष्ट्या यतीना च यधुत्वेनापि वधूना च शत्रुतयापि स्वस्मादन्यत्वं भावयितव्यमन्यथा विभ्रमावेशादिष्टसिद्धि व्याघातो भवेदित्यन्यत्वाद्यनुपेक्षासर्वस्वमुपेष्टमाह—

मूलारा—अणो यद्विचिकमर्तीन्द्रियं च । अदीर्णता प्रवेशयंतः

अन्यत्वानुपेक्षा ॥

अर्थ—सत्पुरुष प्राणिओंको हितमार्ग में लगाते हैं इसलिए वे ही सच्चे बांधव हैं ये सत्पुरुष ही जीवों को इन्द्रिय सुख और अर्ताद्रिय सुखकी प्राप्ति होनेमें हेतु होते हैं, परन्तु अपने जो बंधु हैं वे अनेक दुःखोंसे व्याप्त अपार संसार में डूबते हैं इसलिए वे मनुष्यके शत्रु हैं इस गाथासे अपनेसे भिन्न जो सत्पुरुष हैं वे बंधु हैं और अपनेसे भिन्न बांधवगण वास्तविक शत्रु हैं ऐसा विचार करना अन्यत्वानुपेक्षा है ऐसा कहा गया है इस प्रकार जो पुरुष विचार करता है उसके मनमें धर्मके विषयमें और उसका उपदेश करनेवाले सत्पुरुषोंमें महान् आदरभाव उत्पन्न होता है और बंधुओंमें अनान्दर होता है, क्योंकि वे इष्ट सुख देनेवाले धर्माचरण में बाधा लाते हैं, संसार वर्धक क्रियाओंमें जीवोंको लगाते हैं, चतुर्गतिरूप घटी यंत्र जो कि दुःखका भार है उसपर स्वयं उन्होंने आरोहण किया है इस प्रकार अन्यत्वानुपेक्षाका वर्णन समाप्त हुआ ।

ससारानुपेक्षा कथ्यते प्रवधेनोत्तरेण—

मिच्छत्तमोहिदमदी संसारमहाडवी तदोदीदि ॥

जिणवयणविप्पण्हो महाडवीविप्पण्हो वा ॥ १७६८ ॥

मिथ्यात्वमोहितस्त्वान्तो भवे प्रमति दुर्गमे ॥  
मार्गश्रष्ट ह्वारण्ये भवे भारिभयंकरे ॥ १८३९ ॥

विजयोदया—मिच्छत्तमोहिदमदी वस्तुयाथात्म्याश्रद्धानं दर्शनमोहोदयजं मिथ्यात्व तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोहमुपगता मतिर्यस्यासौ संसारमहाडर्वो संसारो महाटवी दुस्तरत्वाद्नेकदुःखत्वाद्विनाशयितुमुद्यतत्वाच्च ता संसारमहाटर्वो । तदो तस्मात् मिथ्यात्वमूढमतिवदतीति प्रविशति ॥ ननु मिथ्यात्वासमकर्मयोगाश्चत्वारोऽपि संसारस्य निमित्तभूता सूत्र क्रियुच्यते मिथ्यात्वमूढमति संसारमहाटर्वो प्रविशतीति ॥ अत्रोच्यते—उपलक्षण मिथ्यात्व ग्रहण असंयमादीना । जिणव्ययणविष्णुण्डो द्रव्यभावकर्मरारितजयात् जिनास्तेषा वचन जीवाद्यर्थायात्म्यप्रकाशन पटु प्रत्यक्षादिप्रमाणातराधिरोधिततो विग्रनष्टतदर्थपरिखानान् यत्तत्वाश्रद्धान तन्निरूपितेन मार्गेणानाचरणाच्च महाटर्वो प्रविशति । विष्णुण्डो वा मार्गोऽग्रिग्रनष्ट इव । संसारमविग्रम जीवपोतो भमदि संसारमहासमुद्रं प्रविश्य जीवयानपात्रं भ्रमति ॥ कीदृश्रुतं संसारमहोदधि ॥

धर्म्यध्यानालवनत्वेन समारकारस्वरूपप्रकारादिपरिकरं गाथासमविशतयानुभूक्षयिष्यन्नादौ संसारप्रवेशपर्यटने गाथाचतुष्टयेनानु चितयति—

मूलारा—मिच्छत्त उपलक्षणादसंयमादिश्च । तदो मिथ्यात्वमोहितमतिवत्वात् । अदीदि प्रविशति । विष्णुण्डो तदर्थाननयवोधाश्रद्धानाननुष्ठानाब्जिनवचनादपटुतः ॥ विष्णुण्डो व मार्गमूढ इव ॥

संसारानुप्रेक्षाका वर्णन विस्तारसे करते हैं—

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदय से जीवादि पदार्थोंपर यथास्वरूप श्रद्धा जीव नहीं करता है जीवके इस अश्रद्धारूप परिणामको मिथ्यात्व कहते हैं । इस मिथ्यात्व परिणामसे जिसकी बुद्धि मोहित हुई है ऐसा प्राणी दुस्तर, नाश करनेवाला अनेक दुःखोंसे परिपूर्ण और अपार ऐसे संसाररूपी जगलमें भ्रमण करता है । अर्थात् जैसे सच्चे मार्गसे भ्रष्ट हुआ पथिक धूल कर महावनमें प्रवेश करता है और दिङ्मूढ होकर उसमें ही इतस्ततः भ्रमण करता है वैसे जिनेश्वरके वचनोंका अभिप्राय न जाननेसे जीवादिक पदार्थोंके सत्य स्वरूप पर श्रद्धा न रखनेवाला और जिनेश्वरके दिखाए हुए मार्गसे जानेवाला ऐसा प्राणी संसारवनमें भ्रमण करता है ।

ज्ञानावरणादि कर्मोंको द्रव्यकर्म कहते हैं और राग, द्वेष मोह, क्रोधादिक मनोविकारको भावकर्म कहते हैं । जिसने इन दोनों वर्गोंका अत्यंत नाश किया है ऐसे अर्हत्परमात्माको जिन कहते हैं, उनके मुखसे जो

सचिच्चशीतसघृता सेतरा मिश्रास्यैकशस्तघोनय इति सूत्रे ये निर्दिष्टाश्चतुरशीतिशतसहस्रविकल्पास्त इह न गृह्यते । यतः सूत्रातरे देवत्वनारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वाख्या भवपर्यायपरवृत्तिर्भवससार इत्युक्तं ॥ गिरयादिजहण्णादिसु जाव दु उवरिह्लियादु गेवउज्जा । मिच्छत्तसंसिदेण दु भवङ्गिरी भज्जिजा वहुसो इति वचनान्तु । योनयो न भवशब्दवाच्याः । जीवपर्यायो हि भवस्तत्र भवससारलिङ्गिणः—पृथिव्यप्तेजोवायुचनस्पतिफाया प्रत्येक वादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्त विकल्पादिशतिविधा । द्विविचतुर्निद्रियासंश्लासक्षिविकल्पा पचेन्द्रियाश्च पर्याप्तापर्याप्तकापर्याप्त दशविधा । अन्ये तु भवपरिवर्तनमेव वदन्ति । नरकगतौ सर्वजघन्यामायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रोत्पन्न पुनः परिश्राम्य तेनैवायुषा तत्र जायते । एव दशवर्षसहस्राणां यावत् समयास्तावन्कृत्वा तत्रैव जातो मृत पुनरेकसमयाधिकभावेन अयस्त्रिंशत्सं- नरोपमाणा परिसमापितानि तत् प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ अंतमुहूर्तायु समुत्पन्न पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि परि- समापितानि तत् प्रच्युत्य एव मनुष्यगतौ । देवगतौ नारकवत् । अयं तु विशेषः, एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्तना सर्वोक्ता भवन्ति । अन्तवारमय प्राप्नो जीव ॥

मूलप्रा—भवसंसारमाह—जोणीओ आश्रयाः । ते चेह जीवद्रव्याणां वादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तकाख्याः स्थावराणां विशतिः त्रसाना च वादरत्वनियमाद्देशेति त्रिशत्यया विवक्षिताः । चतुरशीतिलक्षसंख्याः सचिच्चतुरशो नयः । देवत्वनारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वाख्यापर्यायपरवृत्तेर्भवसंसारत्वेन ग्रथान्तरे उभिधानात् । तथा चोक्तं—

गिरयादिजहण्णादिसु जाव दु उवरिह्लियादु गेवेज्जा ॥

मिच्छत्तसंसिदेण दु भवङ्गिरी भज्जिजा वहुसो ॥

अन्ये तु भवपरिवर्तनमेवमाहुः ॥ नरकगतौ सर्वजघन्यामायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रोत्पन्नः पुनः परिश्रम्य तेनैवायुषा तत्रैव जातो मृतः । पुनरेकसमयाधिकभावेन तत्रैव जातो । यावत् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि । ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ सर्वजघन्यातमुहूर्तायुपोत्पन्नः । पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि तेन परिसमापितानि, एवं मनुष्यगतौ च । देवगतौ नारकगतवत् । अयं तु विशेषः । एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि । एव समुदित यावत्तावद्भव- परिवर्तन ॥

अर्थ—नामकर्मके गति जाति वर्गरे अनेक भेद हैं उसमें जातिकर्मके पांच भेद हैं इतु जातिकर्मके उदयसे एकेन्द्रियादि जीवोंके जो आश्रय है उनकी योनि कहते हैं वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे इन योनिओंके भेद हैं यही जीवद्रव्योंको यहां आश्रयभूत समझने चाहिये । सचिच्चयोनि, शीतयोनि वगैरह चौरासी- लक्ष योनिभेद जो सूत्रमें कहे हैं उनका यहां संवध नहीं है । क्योंकि सूत्रांतरमें देवत्व, नारकत्व, मनुष्यत्व और



उपदेश निकलता है वह सत्य और हितकारक ही होता है। वह जीवादि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप दिखाता है और प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अनाधित है। परंतु ऐसे उपदेशका अनादर करनेवालों जीव मिथ्यात्वी होकर अवश्य संसार भ्रमण करेगा ही। मिथ्याज्ञानी हिंदमदी, ऐसा गाथामें पद है यहा मिथ्यात्व शब्द उपलक्षणात्मक है। इस शब्दसे असयम, कयाय और योगोंका भी ग्रहण करना चाहिये।

बहुतिव्वदुक्खसलिलं अणतकायप्पवेसपादालं ॥

चटुपरिवट्टावचं चटुगदिवहुपट्टणमणंतं ॥ १७६९ ॥

अनेकदुःखपानीये नानायोनिभ्रमाकुले ॥

अनंतकायपाताले विचित्रगतिपत्तने ॥ १८४० ॥

विजयोदया—चटुतिव्वदुक्खसलिलं वह्नि तीव्राणि दुःखानि सलिलानि यस्मिन्संसारमहोदधौ तं । अणंत-कायप्पवेसपादालं अनंताना जीवाना काय, शरीरमनकायस्तत्र प्रवेशास्ते पातालसंस्थानीया यस्य त । अथवा न विद्यते अंतो निश्चयोऽस्यैव जीवस्येवं शरीरमिति यद्वनां साधारणत्वात् यस्मिन् काये सोऽनंत कायोऽस्य जीवस्येत्यनंतकाय । अन्तरेणापि भावप्रत्यय भावप्रधानो निर्देश । तेनायमर्थः अनंतकायत्वस्य प्रवेशः अनंतकाय-प्रवेश स पातालं यस्य त । चटुपरिवट्टावचं चत्वार द्रव्यक्षेत्रकालभावार्थाः परिवर्तो यस्मिन् । चटुगदिवट्ट पट्टणं चतस्रो गतयो वह्नि महति पत्तनानि यस्मिन् । अणंत अनंत ॥

मूलारा—अणंत्यादि अनंताना जीवाना कायस्तत्र प्रवेशः पातालानि यस्य । चटुपरिवट्टावचं द्रव्यक्षेत्रकाल-भावपरिवर्तनजलभ्रमं ॥

यह जीवरूपी नौका संसारसमुद्रमें प्रवेश कर उसमें भ्रमण करती है आचार्य संसारसमुद्रका विस्तारसे वर्णन करते हैं—

अर्थ—संसारसमुद्र नानाविध दुःखरूपी पानीसे भरा हुआ है अनंतजीवोंके जो शरीर उनमें प्रवेश करना ये ही यहाँ पाताल हैं साधारण जीव अर्थात् निर्गोदी जीवोंका जो निवासस्थान है वह ही इसमें पातालप्रदेश समझना चाहिये। साधारण जीवोंके शरीर, जो अनंतकाय कहते हैं यह नाम अन्वर्थक है इसही जीवका यह शरीर है ऐसा निश्चय नहीं कर सकते हैं क्योंकि वह साधारण होनेसे अनंत जीवोंका आश्रयस्थान बना है अर्थात् एकही जीवका अथवा अमुक



जीवका यह शरीर है ऐसा निश्चय नहीं होता है, द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परि परिवर्तन, काल परिवर्तन और भावपरिवर्तनरूपी भोवरे इस संसारसमुद्रमें हमेशा भ्रमण करते हैं- इस संसारसमुद्रमें चार गतिरूपी बड़े बड़े द्वीप हैं और यह समुद्र अनंत है

हिंसादिदोसमगरादिसावदं दुविहजीवबहुमच्छं ॥  
जाइजरामरणोदयमणयजादीसुदुस्मीयं ॥ १७७० ॥

रागद्वेषमदकोधलोभमोहादियादसि ॥

अनेकजातिकल्लोले त्रसस्थावरबुहुदे ॥ १८४१ ॥

विजयोदया— हिंसादिदोसमगरादिसावदं हिंसातृप्तस्थावत्क्षपरिश्रद्धा हिंसाविदोयस्ते मरुदायः भ्रपदा यस्मिन् । दुविहजीवबहुमत्त्य द्विविधा स्थावरजगमविकल्पा जीवा इति द्विविधा जीवास्ते बहुवो मत्स्या यस्मिन् । जादुजरामरणोदयं जातिरभिनवशरीरग्रहण, जरा नाम गृहीतस्य शरीरस्य तेजोबलादिभिरुन्मत्ता, मरणं शरीरादपगम एतानि जातिजरामरणानि उदय उन्नतिर्यस्मिन् । अण्यजादीसुदुस्मीयं अनेकानि जातिशतानि ऊर्मयो यस्मिन् । एक-द्वित्रिचतुष्पञ्चद्वियजातय प्रत्येकमवातरभेदापेक्षया पृथिवीकायिका, अपूर्वायिकास्तेजस्कायिकवनस्पतिकायिका इति ॥ एकैन्द्रियजातिरेका पाँचैश्वर्यकल्पा पृथिवी । आपोऽपि वर्षहिमहिमानीकरूपादिभेदभिन्ना । अग्निरपि प्रदीपोत्सुकुमात्रि-त्यनेकभेदः ॥ वायुरपि गुजामण्डलिकादिविकरूप ॥ वनस्पतयोपि तरुगुल्मवल्लीलतावृक्षादिभेदास्ततो जातिशतानीत्युक्त ॥

मूलारा—दुविधा जीवा स्थावराखसाश्च । जादि अभिनवशरीरग्रहणं । उदय जलं । जादीसद जालीनामेकेन्द्रिया-दिजातिभेदाना पृथिवीकायिकाकायिकावातरजातिभेदयुक्ताना शतानि ।

अर्थ—हिंसा असन्ध, चोरी, कुशीलेसन और परिग्रहाभिलाषा इत्यादि पातक्यूप मगर वगैरह क्रूर हिंस्र प्राणी जिसमें हैं, त्रसस्थावर जीव रूपी मत्स्य जिसमें हैं जन्म—नवीन शरीर ग्रहण करना, जरा—ग्रहण किये हुए शरीरमेंसे तेज, बल वगैरह शक्तिया कम होते जाना, मरण—शरीरसे आत्माका गमन होना इत्यादि अवस्थाओंसे यह संसार समुद्र उन्नत हुआ है अनेक एकैन्द्रियादि सैकड़ों जातिरूपी तरंग जिसमें है ऐसा यह संसारसमुद्र महाभयानक है, जातिकर्मके एकैन्द्रिय, द्वौन्द्रिय, त्रौन्द्रिय, चतुर्न्द्रिय, पंचेन्द्रिय जाति ऐसे पाँच भेद हैं- इन प्रत्येक जातिओंके अवांतर भेद बहुत हैं पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक

ऐसे एकेंद्रिय जातिके भेद हैं उनमें भी अर्वांतर भेद इस प्रकार है अर्थात् शुश्रूषकाधिकके छव्वीस भेद हैं, जलके भी श्रुष्टि, हिम, बर्फ, ओले इत्यादि भेद हैं अग्निके भी प्रदीप, उल्मुक, ज्वाला इत्यादि अनेक भेद हैं, वायुके भी गुणा, वायु, मंडलिक वायु वगैरह भेद हैं, इस तरह जाति कर्मके अनेक भेद होने से जातिरूपी तरंगों से यह संसारसमुद्र युक्त है ऐसा समझना चाहिये

दुबिहपरिणामवादं संसारमहोदधिं परमभीमं ॥  
अदिगम्भ जीवपोदो भमइ चिरं कम्मभण्डभरो ॥ १७७१ ॥  
जीवपोतो भवांभोघौ कर्मनाविकचोदितः ॥

जन्ममृत्युजरावर्ते चिरं भ्राम्यति संततम् ॥ १८४२ ॥  
विजयोदया—दुबिहपरिणामवाद द्विविधा शुभाशुभपरिणामा वाता यस्मिन्तं । परमभीमं अतिभयकरं । अदिगम्भ प्रविश्य । जीवपोदो जीवपोत । भमइ चिरं चिरकाल भ्रमति । कम्मभण्डभरो कर्मद्रविणभारः । त्रिभिः सवय । भवसंसारं निरूपयति ॥

मूलारा—दुविधा शुभाशुभाः । अदिगम्भ प्रविश्य । पोदं यानपोतं ।

अर्थ—यह संसारसमुद्र शुभ और अशुभपरिणामरूप हवासे युक्त है और अतिशय भयानक है, इसमें जीवरूपी नौका कर्मरूपी द्रव्यसे युक्त होकर जब श्रवण करती है तब चिरकालतक भ्रमण करती है

एगविगतिगचउपंचिदियाण जाओ हवंति जोणीओ ॥  
सव्वाउ ताउ पत्तो अणंतखुत्तो इमो जीवो ॥ १७७२ ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचहृषीकाणामनंतशः ॥

जातयः सकला भ्रान्ता देहिना भ्रमता भवे ॥ १८४३ ॥

विजयोदया—एगविगतिगचउपंचिदियाण नामकर्मगतियादिविचित्रभेदं तत्र जातिकर्म पंचविकल्प एकद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियजातिविकल्पेन तासा जातीनामुदयात् ॥ एकेंद्रियताक्षिप्यभाजो जीवाः एकेंद्रियादिशब्दे-  
नोच्यते । तेषामेकेंद्रियादीनां योनय आश्रया वादरसूक्ष्मपर्याप्तकाह्या जीवद्रव्याणामिहाश्रयत्वेन विवक्षिताः ।

सच्चित्तशीतमंगुला मेतदा मिश्राद्वैकशम्भोत्तय इति सूत्रे यं निदिश्यात्तुशीतिशतसहस्रविकल्पास्त इदं न गृह्यते । यतः सद्भाते देवतनारकमनुष्यवैतियकस्यान्या मयपयोपरात्तिमयंमार इत्युक्तं ॥ जित्यादिजलणादिषु जाप दु उचिह्यमाणु वेपज्जा । मिन्तत्तममिमेण तु भवद्विदी भजिजरा यन्मो इति यचनात् । योनयो न मरदाद्वान्या । जीवपदयो हि भयस्मय भयमंमारमिदद्विधि — धृविज्यंतजोपयुनस्पनिहाया प्रत्येक पारम्पर्यतत्तकापयान विरुत्पाछिदतिविधा । मिमिचतुर्गिरियावन्नामविधिकल्पा पचद्वियाअ पयानापोमकथिकल्पा दशोपिधा । चन्पे तु मगरित्तनेमेमं यदति । नरकगतौ सर्वज्ञान्यसायुर्दशपमहश्चाणि । नेतापुम तमोपन पुनः परिभाष्य तेनेवायुया तय जायते । पंच दशवर्गमहश्चाणा यापत ममयानावकृता तंनय ज्ञानो मृत पुनरुक्तमयार्थिकज्ञानेन ययमिदशस्मन् नरोपमाणा परित्यमापिानि तत प्रच्युत्य नियगती अंतर्मूर्तेषु समुत्पन्न पूजानेन ज्ञानेन श्रीणि पन्थोपमानि परि समापितानि ततः प्रच्युत्य पुन मनुष्यगती । देवगती नारकगम । यय तु विधेय, एकविंशतमागरोपमानि परित्यमापितानि यामत्तामरुपरिचर्यना सधोत्ता भवन्ति । अनन्यारमय प्राप्तो जीव ॥

मूलग—भयमंमारमाह—जोणीओ आध्याः । ते चेह जीवज्याणा पारम्पर्यपयान्त्रकापयान्त्रकात्या भ्यावरणा विगतः त्रमाणा च चाररत्वनियमाहोपि विशहयीया धियन्तिताः । चतुर्दशीतिज्जभमंयाःमविचादियोगं । देवत्वनारकत्वमनुगत्यधियेत्तापवर्गायकगृतेभयमंमारतेन प्रधानेरे उभिधाता । तथा चोपं—

जिरमादिजलणारिमु जाप दु उचिदिग्गिादु गोत्ता ॥

मिच्छतममिमेण तु भयद्विरी भजिजरा यद्वयो ॥

अन्ये तु भयपरितनमेयमाह ॥ नरकगतौ मयंपवन्त्यागायुर्दशपमहश्चाणि । तेनायुगा ततोऽपन्नःपुनः परित्यन्तेनैवायुगा तत्रैव गतो मृतः । पुनरेकममयाभिकभातेन तथैव गतो । याप प्रवक्षिदशमागरोपमानि परित्यमापितानि । तत प्रच्युत्य तिरियगतौ सर्वपवन्त्यातमृद्गायुर्दशपमहश्चाणि । पूर्वेनिल ज्ञानेन श्रीणि पन्थोपमानि तेन परित्यमापितानि, एवं मनुष्यगतौ च । देवगतौ नारकगतिवत । अयं तु विधेय । एकविंशतमागरोपमानि परित्यमापितानि । पुन मसुदित यामत्तामरुत्त परित्यतं ॥

अर्थ—नामरूपके गति जाति वर्गरे अनेक भेद हैं । उसमें जातिकर्मके पांच भेद हैं इन जातिकर्मके उदयमे परेद्विगादि जीवोंके जो आश्रय है उनकी गति कहते हैं । चादर, सूक्ष्म, कर्षास और अपयोस ऐसे इन योनिओंके भेद हैं येही जीवद्वयोंको यहाँ आनयभूत ममज्ञाने जाहिये सविचयेनि, ज्ञातियोनि जेगल चौरामी-लध योनिभेद जो सूत्रमें कहे हैं उनका यहाँ संग्रह नहीं है । क्योंकि सूत्रांतरम देवता, नारकत्व, मनुष्यत्व और

पशुत्वरूपसे जो संसारमें पर्याय धारण करने पड़ते हैं उसको भवसंसार कहते हैं नरकगति, मनुष्यगति, पशुगति इन गतिओंमें जघन्य आयुष्यसे उत्कृष्ट आयुष्यतक मिथ्यत्वका आश्रय करनेसे इस जीवने भ्रमण किया है देव-गतिमें भी मिथ्यात्वयुक्त बनकर जघन्य आयुष्यसे नौवे श्रैवेयकतक उत्कृष्ट आयुष्य धारण कर इस जीवने भ्रमण किया है, ऐसा भवसंसारका वर्णन किया है इससे योनिओंका यहाँ भव शब्दसे संग्रह नहीं होता है किंतु वादर सूक्ष्मादि अवस्थाकोही भवसंसार कहना चाहिये जीवकी अवस्थाको भव कहते हैं इस भवमें उत्पन्न हुए ससारीके ३० भेद हैं

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति इनके प्रत्येकके वादर, सूक्ष्म, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ऐसे भेद होनेसे मिलकर बीस भेद होते हैं द्वांद्रिय, त्रींद्रिय, चतुर्इन्द्रिय, सत्रिपंचेन्द्रिय, अर्सद्भी पंचेन्द्रिय इनके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेदसे दस भेद होते हैं दूसरे आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—नरकगतिमें सर्वसे जघन्य आयुष्य दस हजार वर्षका है उस आयुष्यसे कोई जीव पहिले नरकमें उत्पन्न हुआ आयुसमाप्तिके अनंतर र संसारमें भ्रमण कर पुनः पूर्वोक्त आयुसेही वह जीव उसी नरकमें उत्पन्न होता है इस प्रकार दस हजार वर्षके जितने समय होते हैं उतनी बार पहले नरकमें पूर्वोक्त आयुका धारक होता है आयुसमाप्तिके अनंतर ससारमें भ्रमण कर उसी नरकमें फिर उत्पन्न होता है परंतु अबकी बार एक समयाधिक दस हजार वर्षका आयुष्य उत्पन्न प्राप्त होता है इस प्रकार एक एक समय वृद्धिगत होते २ इस जीवने तेहतीस सागरोपम आयुष्यतक असंख्यत बार जन्ममरण किया है।

तदनंतर सप्तमनरकसे निकल कर यह जीव तिर्यचगतिमें उत्पन्न होता है, वहा उसका जघन्य आयुष्य अन्तर्मुहूर्त भ्रमण का होता है, पूर्वक्रम के अनुसार तीन पल्योपम आयुष्य समाप्त किया तदनंतर मनुष्यगतिमें भी उत्कृष्ट तीन पल्योपम आयुष्यतक तिर्यगगतिके समानही क्रम जानना चाहिए, देवगतिमें नरक-गतिके समानही क्रम जानना चाहिये परंतु इतनी विशपता है—देवगतिमें एकतीस सागरोपम आयुष्य की समाप्ति होनेतकही भवपरिवर्तन है ये सर्व परिवर्तन इस जीवके अनंतवार हो चुके हैं।

द्रव्यपरिवर्तनमुच्यते ॥

अणं गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अणं ॥

घडिजंतं व य जीवो भमदि इमो दव्वंससारे ॥ १७७३ ॥

गृहीते मुंचमानोऽङ्गी शरीराणि सहस्रशः ॥

अमति द्रव्यसंसारे घटीयंत्रमिवानिशम् ॥ १८४४ ॥

विजयोदया—अण गेण्हदि देह अन्यच्छरीरं गृह्णाति । तं पुण तच्छरीरं सुक्त्वा पुनः पुनः गृह्णाति । घटीयंत्र-मुंचश्च भ्रमति । शरीराणि विचित्राणि द्रव्यशब्देनोच्यते तत्स्वात्मनः परिवर्तनं द्रव्यसंसार इति सूत्रकारस्यास्य व्याख्या नोक्तमपरिवर्तनं नाम त्रयाणा शरीराणा घणा पर्याप्तीना योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीता त्रिगुण रूक्षवर्णगंधादिभिस्तीव्रमदमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीणा अगृहीतानंतवारानतीत्य, मिश्रकाश्च अनंतवारानतीत्य मध्ये तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोक्तमभावमापद्यते यावत्तावत्समुदितं नोक्तमद्रव्य परिवर्तनं । कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेन अष्टविधकर्मभावेन ये च गृहीताः समयाधिकावलि कामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीणा पूर्वोक्तैर्नैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥

द्रव्यसंसारमाह—

मूलारा—घडिजंतं घटीयत्रमिव जलं गृहीतं गृहीतं सुक्त्वा अन्यदन्यच्छरीरं गृह्णन्जीवो भ्रमति इति स्थूल-सुदीप्तुद्विदय द्रव्यसंसारः सूत्रकारोक्तः ॥ एवं तु द्रव्यपरिवर्तनं ग्राह्यम् । द्रव्यपरिवर्तनं द्विविध-नोक्तमद्रव्यपरिवर्तनं कर्मद्रव्यपरिवर्तनं चेति । तत्र नोक्तमद्रव्यपरिवर्तनं उच्यते—त्रयाणा शरीराणा, घणा पर्याप्तीना योग्या ये पुद्गला एकेन जीवे-नैकस्मिन्समये गृहीताः रिसगुरुक्षवर्णगंधादिभिस्तीव्रमदमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीणाः । अगृहीताननवारानतीत्य मिश्रकाश्च अनंतवारानतीत्य, मध्ये गृहीताश्चानंतवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोक्तमभावमापद्यते यावत्तावत्समुदितं नोक्तमद्रव्यपरिवर्तनं । कर्मद्रव्यपरिवर्तनं उच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेनाष्टविध-कर्मभावेन गृहीताः समयाधिकावलि कामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीणा पूर्वोक्तैर्नैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभा-वमापद्यते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥ उक्तं च—

संवे वि पुगला खलु कमसो भुत्तुज्झया य जीवेण ॥  
असदं अणंतलुत्तो पुगलपरियट्ठससारे ॥

अर्थ—जैसे घटार्थिन्त्र पूर्व जलका त्याग करके दूसरा दूसरा जल ग्रहण करता है वैसे यह आत्मा भी पूर्व शरीरका त्याग कर उत्तरोत्तर भिन्न भिन्न शरीर धारण करता है. इस प्रकार यह जीव पूर्व शरीरका त्याग कर और उत्तर शरीर को ग्रहण कर संसारमें अनादि कालसे भ्रमण कर रहा है. नाना प्रकारके शरीर को द्रव्य कहते हैं इनको धारण कर जीवका जो समारमें भ्रमण करना है उसी को द्रव्यमसार कहते हैं इस प्रकार स्थूल बुद्धिरे लोगों को समझानेके लिए आचार्यने द्रव्यसंसारका वर्णन किया है द्रव्यपरिवर्तनका इस प्रकारसे भी स्वरूप कहा है—

द्रव्यपरिवर्तनके नो कर्म परिवर्तन और कर्मपरिवर्तन ऐसे दो भेद हैं—

नो कर्म परिवर्तन—तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियिक और आहारक) और छह पर्याप्ति (आहार, शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रासोच्छ्वास, भाषा और मन इनके योग्य पुद्गल एक जीवने एक समयमें ग्रहण क्रिये उनमें स्निग्ध रूक्ष, स्पर्श, वर्ण, गन्ध जैसा तीव्र, मंद, मध्यम मात्रसे या द्वितीयादि समयमें वे पुद्गल निर्जीर्ण हुए. तदनंतर अगृहीत पुद्गलको अनतवार उलघकर, मिश्रवर्णको भी अनतवार ग्रहण कर मध्ये गृहीत नामक वर्णको भी अनतवार ग्रहण कर पुनः वे ही वर्णना उसी जीवको मथम समयमें जैसे ग्रहण की गई थी वैसी जब ग्रहण की जाती है तब नो कर्मपरिवर्तन होता है

कर्मद्रव्य परिवर्तनका स्वरूप कहते हैं—

एक समयमें एक जीवने आठ प्रकारके कर्म रूप से जो पुद्गल ग्रहण किए थे वे समयाधिक अवल प्रमाण काल व्यतीत होनेपर द्वितीयादिक समयमें निर्जीर्ण हो गये. तदनन्तर पूर्वोक्त क्रमानुसारही वे ही पुद्गल उसी जीवको जब कर्मरूप बन जाते हैं तब कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है.

रंगगदण्डो व इसो बहुविहसंठाणवण्णरूपाणि ॥

गिण्हदि मुच्चदि अठिं जीवो संसारमावणो ॥ १७७४ ॥

बहुसंस्थानरूपाणि चित्रचेष्टाविधायकः ॥

रंगस्थनटवज्जीवो गृह्णीते मुंचते भवे ॥ १८४५ ॥

विजयोदया—रंगगद्गदोव रंगप्रविष्टनट इव । इमो अयं बहुविहसंठणवण्णरूपाणि बहुविधसंस्थानवर्णे स्वभावात् । निष्पद्दि य मुच्चदि अचिदं गृह्णाति मुंचति अवस्थितं । कियाधिशेयणमेतत् । जीवो संसारभावणो जीवो द्रव्यसंसारमापन्न ॥

विचित्रशरीरद्रव्यपरिवर्तनमेव निदर्शनातरेण प्रणयति—

मूलारा—अठिद अनारतम् ॥

अर्थ—रगभूमिपर आया हुआ नट नाना प्रकारकी आकृति, वर्ण, और स्वभाव को ग्रहण करता है और छोड़ देता है वैसे द्रव्यसंसारमें भ्रमण करनेवाला यह जीव नानाप्रकारके आकार, वर्ण और स्वभाव को धारण करके बार बार छोड़ देता है  
क्षेत्रसंसार निरूपयति—

जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चेव ॥

काले तीदमि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ॥ १७७५ ॥

भूत्वा भूत्वा मृतो यत्र जीवो मेध्यमनंतशः ॥

अणुमात्रोऽपि नो देशो विद्यते स जगद्भ्ये ॥ १८४६ ॥

विजयोदया—जत्थ न जादो ण मदो हवेज्ज यत्र क्षेत्र जातो मृतो वा न भवेज्जीव । अणतसो चेव अनंत चारान् । काले तीदमि इमो अतीते कालेऽयं । न सो पदेसो जगे अत्थि नासौ प्रदेशो जगति विद्यते । अन्त्ये तु क्षेत्रपरिवर्तनमेव वदन्ति—जगति जघन्यप्रेदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रेदेशान् सशरीरमध्यप्रेदेशान् कृत्वोत्पन्नः शुद्धभवग्रहणं जीवित्वा मृतः स एव पुनस्तेनैवावगाहेन हिरण्यमस्तथा त्रिवलुरिति एवं यावतोऽगुलस्यासत्येयभागप्रमितकाशप्रेदेशास्तत्कृत्वा तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रेशाधिकमात्रेण सर्वलोकं आत्मनो जन्मैश्चैवामुपपद्य जीवो भवति यावत्सावत् क्षेत्रपरिवर्तनं ॥ १८४६ ॥

उक्तं च—

सर्वमि लोखिते कमसो तं णत्थि जम्म उत्पण्णं ॥

ओगाहणा य बहुसो परिमिदो खित्तंससारे ॥ १७७६ ॥

क्षेत्रसंसारमाह—

मूलाया—जए लोकाकाशे । प्राग्वत्सक्षेपेनेदमुक्तम् । विस्तरतस्त्वेव क्षेत्रपरिवर्तनमाहुः—

सूक्ष्मनिगोतजीवोऽपयोपकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याध्यमध्यप्रदेशान्त्वशरीरमध्यप्रदेशान्कृत्वोत्पन्नः क्षुद्रभव-  
ग्रहण जीविवा मृतः । स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुपग्रस्तथा विस्तथा चतुरिति । एव यावत्तौगुलस्यासंख्येयभागप्रमिता-  
नाशप्रदेशास्तावच्छ्वस्तत्रैव जनिता मृतः । पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति  
यावत्तावत्क्षेत्रपरिवर्तनम् ॥ उक्तं च—

सन्वन्मि लोगसेत्ते कमसो तं णयि जत्य ण उत्पण्णो ॥

ओगाहणेण बहुसो परिममिदो खेत्तमंसारे ॥

क्षेत्रसंसारका निरूपण करते हैं—

अर्थ—यह जीव अतीतकालमें लोकके जिस प्रदेशमें अनंतवार जन्म लेकर मृत्युवश नहीं हुआ है ऐसा प्रदेशही न मिलेगा, अर्थात् लोकाकाशमें—त्रैलोक्यमें सर्वत्र सर्व जीव अनंतवार जन्ममरण कर चुके हैं, यह क्षेत्र-  
परिवर्तनका स्वरूप है, अन्य आचार्य इस परिवर्तनका स्वरूप ऐसा भी कहते हैं—

सबसे जघन्य प्रदेशयुक्त शरीरका धारक, अपर्याप्तक सूक्ष्मनिगोदी जीव, जगतके आठ मध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यमें करके उत्पन्न हुआ क्षुद्रभव ग्रहणसे जीकर मरणवश हुआ अर्थात् श्वासके अठरावा हिस्सा प्र-  
माण आयु समाप्त होनेके अनंतर मर गया पुनः उसी अवगाहनसे दुसरीवार तिसरीवार, चौथीवार उत्पन्न हुआ  
इस प्रकार अंगुलासख्यात भागसे नापे गये लोकके असंख्यात भागमें जितनी प्रदेशसख्या है उतनीवार उस  
जीवन वही जन्ममरण किया तदनंतर एक एक प्रदेश अधिक आगे बढ़कर उमने सर्व लोक अपना जन्मक्षेत्र बना  
लिया इसको एकक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं ऐसे क्षेत्र परिवर्तन इस जीवके अनंतो होगये हैं आगममें इस विषयमें ऐ-  
सा कहा गया है—इस समस्त लोकक्षेत्रमें क्रमसे यह जीव जहां जहां उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसा क्षेत्रही नहीं है यह जी-  
व इस जगतमें इम अवगाहनसे बहुतवार परिभ्रमण कर चुका है

कालपरिवर्तनमुच्यते—

तत्कालतदाकालसमएसु जीवो अणंतसो चैव ॥

जादो मदो य सन्वेसु इमो तीदंमि कालमि ॥ १७७७ ॥



यं कल्पानामनन्तानां समयाः सन्ति भो यत्ने ! ॥

जातो मृतः समस्तं तु शरीरं तेष्वनेकम् ॥ १८१५ ॥

त्रितीयोक्त्या—तत्कालतदाकालसमयेषु उत्सर्पिण्यवर्षाणिमनितयां कालयोर्ध्वं समयात्म्येषु । जीवो म्रणं मो चैव जीवोऽश्नन्तयासन्नः । जादो मर्दो य सन्त्येषु चलो मृतश्च मर्त्येषु समयेषु । इमो तीर्थंस्मि कालस्मि अणमर्तंति काले । इयमस्या गाथायाः प्रयत्नव्याख्या-उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये ज्ञानं कश्चित्तीर्थं व्यासुः । तस्मिन्मर्दो मृतः स न्न पुनर्जिनीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये ज्ञानं स्वायुषः अणमृत् । स न्न पुनर्जिनीयाया उत्सर्पिण्या तृतीयसमये ज्ञानं सन्त्येषु मर्त्येषु । मरणस्यपि नैर्त्ये तरेय प्राप्तिमेव तावत्कालपरिवर्तनं ।

उक्तं च—

उवसस्पिणिअवसपिणिसमयावल्लिगासु निरवमेसासु ॥

जादो मर्दो य बहुसो भमेण दु कालसमोरे ॥ १७७८ ॥

कालसममारमाह—

मूलारा—तत्कालतदाकालसमयेषु उत्सर्पिण्यवर्षाण्या मनयेषु । अत्रापि प्रकृतेन व्याख्या—

उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये ज्ञानः कश्चित्तीर्थं स्वायुषः । परिसमाप्तो मृतः । स न्न पुनर्जिनीयाया मरणपिण्या द्वितीयसमये ज्ञानं स्वायुषः अणमृत् । स न्न पुनर्जिनीयाया उत्सर्पिण्यातृतीयसमये ज्ञानो मृतश्च स्वायुषः स न्न । त्वमनेन क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता । तथा अवसर्पिणी च । न्न तन्मर्तन्त्येणुक्तम् । तर्त्ये मरणमपि प्राणम् । तन्मात्रं काण्डपरिवर्तनम् । उक्तं च—

उत्सर्पिणिअयसपिणिसमयावल्लिगासु निरवमेसासु ॥

जादो मर्दो य बहुसो भमेण दु कालसमोरे ॥

कालपरिवर्तनमा स्वरूपं कुरुते हे—

अर्थ—यह जीव अतीत उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालक्रमेण समयात्म्ये अनन्तवार उत्पन्न हुआ है और मृत्युवश हुआ है, ऐसा कालपरिवर्तनका मध्यम है, इसका विस्तार इस प्रकार है—  
पहिले उत्सर्पिणी के समयमें कोई जीव उत्पन्न हुआ, आयुष्यवश दोनोपर उसने मरण किया, उही जीव दूसरी उत्सर्पिणी

के दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ आयुष्य समाप्त होनेपर फिर मरा. वही जीव तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ इस प्रकार इस जीवने क्रमसे उत्सर्पिणी काल समाप्त किया इसी प्रकार जन्मसे उसने अवसर्पिणी कालभी पूरा किया. मरणकी निरंतरता जन्मकी निरन्तरता के समान समझनी चाहिये इतना यह स्वरूप कालपरिवर्तनका है ऐसा समझना चाहिये आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—

यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालकी संपूर्ण समय पंक्तिओंमें कालसंसारमें भ्रमण करता हुआ अनन्तवार भ्रमण कर चुका है

स्पन्दनसंसार निरूपयत्युत्तरगथा—

अद्वयदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु ॥

तत्तपि व अद्वरणं उव्वत्तपरत्तणं कुणदि ॥ १७७९ ॥

प्रदेशाष्टकमत्यस्य शेपेषु कुरुते भवी ॥

उद्वर्त्तनपरावर्तं संतसास्विव तंदुलाः ॥ १८४८

विजयोदया—अद्वयदेसे मुत्तूण अष्टौ प्रदेशान् रुचकाकारान् मुक्त्वा । इमो अयं जीव । सेसेसु सगपदेसेसु शेपेषु स्वग्रदेशेषु क्षेत्रेषु । संसारनामात्मन. क्षेत्रसंसारत्वेनोच्यते ॥

स्वग्रदेशलक्षणक्षेत्रसंसरणरूप क्षेत्रसंसारालम्बकसंदनसंसारमाह—

मूलारा—अद्वयदेसे अष्टौ प्रदेशान् रुचकाकारान् । तत्तपि अक्षरदहनं तप्तमिवाग्निश्रयणम् । तप्तजलमध्यस्थिततंदुलवदित्यर्थः । उव्वत्तणपरत्तणं उद्वर्त्तनपरावर्तनं । उक्तं च—

प्रदेशाष्टकमत्यस्य शेपेषु कुरुते भवी ॥

उद्वर्त्तनपरावर्तं तप्तास्वस्विव तंदुलाः ॥

स्पन्दन संसारका वर्णन—

अर्थ—रुचकाकार आठ प्रदेश छोडकर वाकी के सर्व आत्म प्रदेश हमेशा चंचल रहते हैं और जैसे अग्नी-से गरम जलमें डाले हुए चावल हमेशा ऊपर नीचे होते हैं वैसे इस ससारी जीवके आठ मध्यग्रदेश छोडकर बाकी-के प्रदेश हमेशा ऊपर नीचे हमेशा ध्रुवते हैं

लोगागासपएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया ॥

तावदियाणि हु अज्जवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥ १७८० ॥

असंखलोकमानेषु परिणामेषु वर्तन्ते ॥

शरीरी भवसंसारे कर्मभूषणकृतः ॥ १८४९ ॥

जघन्या मध्यमा वर्या निविष्टाः स्थितयोज्विलाः ॥

अतीतानंतश काले भवभ्रमणकारिणा ॥ १८५० ॥

विजयोदया—लोगागासपदेसा लोकाकाशस्य प्रदेशा । असखगुणिदा असख्यगुणिता । हवन्ति जावदिया यावन्तो भवन्ति । तान्दियाणि हु अज्जवन्तानाणि तावदध्यवसायस्थानानि भवन्ति । इमस्स जीवस्स अस्म जीवस्य जीवस्य असख्यातलोकप्रमाणेष्वध्यवसायसज्जितेषु भवेषु परावृत्तिर्भावसमृद्धिः ॥

असंख्यातलोकप्रमाणेष्वध्यवसायस्थानाभिधानभावपरिवर्त्तनलक्षणं भावसंसारमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—लोकाकाशके प्रदेशाको असख्यातसे गुणित करने पर जो संख्या उत्पन्न होगी जीवके उत्पत्ते अध्यवसायस्थान होते हैं अर्थात् असंख्यात लोकपरिमाण जाविके कयाथाध्यवसायस्थान, स्थिति वंधाध्यवसायस्थान, योग और अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं.

अज्जवसाणठाणंतराणि जीवो विकुब्बइ इमो हु ॥

णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥ १७८१ ॥

परिणामांतरेष्वंगी सर्वदा परिवर्तते ॥

चरणेषु चित्ररूपेषु कुक्कलास इव स्फुटम् ॥ १८५१ ॥

विजयोदया—अज्जवसाणठाणंतराणि जीवो विकुब्बइ इमो हु अध्यवसायस्थानांतराणि जीव परिणमत्यन्ते । नित्यमपि नित्यमपि, यथा सरडो णाणाविहे वण्णे यथा गोधा नानाविधान्चर्णानुपवर्त्ते । एव ससार ॥

अपरापरपरिणामपरिणमनसातत्यमात्मनो नष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलारा—विकुब्बदि विकरोति परिणमतीत्यर्थः । पयलासरडो कुक्कलासः ॥ उक्तं च—

भावस्थानान्तराण्येवं देहवान्स प्रपद्यते ॥  
कर्कटुको यथा नित्यं वर्णान्वीकुरुते वहून् ॥

भावपरिवर्तनप्रपञ्चस्त्वयम्—

पद्मेन्द्रियं संज्ञी पर्याप्तको मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः सर्वजघन्या स्वयोरगा ज्ञानावरणप्रकृते स्थितिमन्तःकोटीकोटि-  
संज्ञिकामापद्यते । तस्य कृपायाध्यवसायस्थानान्यसंख्येलोकप्रभितानि पटस्थानप्रभितानि तत्स्थितियोग्यानि भवन्ति । तत्र  
सर्वजघन्यकृपायाध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनुभागाध्यवसायस्थानान्यसंख्येलोकप्रभितानि भवन्ति । एवं सर्वजघन्या स्थितिः,  
सर्वजघन्यं च कृपायाध्यवसायस्थानं, सर्वजघन्यमेवानुभागवंधस्थानं आरुह्यतस्तद्योग्यं सर्वजघन्यमेकं योगस्थानं भवति ।  
तेषामेव स्थितिकृपायानुभागास्थानानां द्वितीयभसंख्येयभागवृद्धिषु च योगस्थानं भवति । एवं तृतीयादिषु चतुर्थस्थानपति-  
तानि तानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रभितानि भवन्ति । तथा तामेव स्थितिं, तदेव कृपायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीय-  
मनुभागाध्यवसायस्थानं भवति । तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि । एवं तृतीयादिषु अनुभागाध्यवसायस्थानेषु आ-  
संख्येलोकपरिसमाप्तेः । एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीय कृपायाध्यवसायस्थानं भवति । तस्याप्यनुभागाध्यवसा-  
यस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि । एवं तृतीयादिष्वपि कृपायाध्यवसायस्थानेषु श्रेण्यसंख्येलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो वेदितव्यः ।  
उक्तया जघन्यायाः स्थितेः समयाधिकायाः कृपायादिरथानानि पूर्णदेव । एवं समयाधिकक्रमेण आ उत्कृष्टस्थितौर्ब्रह्मसा-  
गरोपसकौटीकोटीपरिमितायाः कृपायादिरथानानि पूर्णवदेव वेदितव्यानि ॥ एवं सर्वेषां कर्मणा मूढप्रकृतीनामुत्तरप्रकृती-  
नां च परिवर्तनक्रमो वेदितव्यः । तदेतत्सर्वं समुचितं भावपरिवर्तनं । उक्तं च—

सञ्वा पयविठिदीओ अणुभागपदेसंधंघठाणाणि ॥

मिच्छन्तससिद्धेण य भमिदा पुण भावसंमारे ॥

इस प्रकार इस जीवका भावपरिवर्तनरूप ससारका स्वरूप है.

अर्थ—जैसे सरह नामका प्राणी हमेशा अपने रंग बदलता है वैसे इस ससारी जीवके उपयुक्त परिणामों में हमेशा तरतम भाव होता ही रहता है. इस प्रकार पांच प्रकारके ससारोंका स्वरूप आचार्यने दिखाया है.

तस्य भयमुपदर्शयति ॥

आगासमि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ॥

हिंसंति एकमेकं सव्वत्थ मयं खु संसारे ॥ १७८२ ॥

आकाशो पक्षिणोऽन्योन्य स्थले स्थलविहारिणः ॥

जले मीनाश्च हिंसन्ति सर्वत्रापि भयं भवे ॥ १८५२ ॥

विजयोदया—आयासमि वि पक्खी आकाशे संचरंत परकीयपक्षिणो विवाधंते । जलेवि मच्छा जलेपि मत्स्याः । थलेवि थलचारी भूमावपि भूमिचारिण । हिंसंति वाधंते । एकमेकं अन्योन्यं । सव्वत्थ मयं खु संसारे सर्वत्र भयं संसारे ॥ एवं पचप्रकारं संसारं निरूप्य तद्गुणपादादीन्पंचदशगाथाभिश्चितयति—

मूलारा—एकमेकं अन्योन्यम् ॥

अत्र संसारसे भय दिखाते हैं—

अर्थ—आकाशमें विहार करनेवाले छोटे २ पक्षियोंको दूसरे क्रूर पक्षी पीड़ा देते हैं. अर्थात् उनको मारते हैं—खा जाते हैं पानीमें बड़े मत्स्य छोटे मत्स्यको निगल जाते हैं. और भूतलपरमी हिंस्रप्राणी परस्परको मारते हैं अतः इस जगत्में सर्वत्र भयही भय है.

ससउ वाहपरद्धो विलिच्छि णाऊण अजगरस्स मुहं ॥

सरणत्ति मणमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥ १७८३ ॥

शायालोर्मुखमभ्येत्य व्याधारब्धो यथा शशः ॥

मन्वानो विवरं दीनः प्रयाति यममंदिरम् ॥ १८५३ ॥

विजयोदया—ससगो वाहपरद्धो शशो व्याधेनोपद्रुतः, विलिच्छिणऊण अजगरस्स मुहं त्रिलमिति ज्ञात्वा अजगरस्स मुखे । सरणत्ति मणमाणो शरणमिति मन्यमान । मच्चुस्स मुहं जह अदीदि मृत्योर्मुखं यथा प्रविशति ॥

मूलारा—वाहपरद्धो व्याधेनोपद्रुतः । विलिच्छि विलमिति । सरणंति ज्ञानमिति ।

अर्थ—पारधीसे पीडित हुआ खरगोश अजगरके मुखको बिल समझकर उसमें प्रवेश करता है. इस विलमें मैं रह सकूंगा इस अभिप्रायमें उसमें घुसता है परंतु वहां वह मृत्युके वश होता है वैसे—

तद् अण्णाणी जीवा परिहृमाणच्छुहादिबाहेहिं ॥  
अदिगच्छति महादुहेदुं संसारसप्पमुहं ॥ १७८४ ॥

क्षुत्तृष्णादिमहाव्याधप्रारब्धश्चेतनस्तथा ॥

अज्ञो दुःखकरं याति संसारसुजगाननम् ॥ १८५४ ॥

विजयोदया—तद् अण्णाणी जीवा तथा अशानिनो जीवा । परिहृमाणच्छुहादिवोदेहिं अनुभाव्यमाना' शु  
दादिभिर्यद्वै. व्याधैश्च । अदिगच्छति प्रविशति । महादुहेदुं महतो दुःखस्य निमित्त । संसारसप्पमुहं संसारसर्पमुहं ॥

मूलारा—अदिगच्छति प्रविशति ॥

अर्थ—ये अज्ञ संसारी जीव क्षुधा, तृषा रूप व्याधौसे और व्याधौसे पीडित होकर महादुःखदायक संसा-  
ररूपी सर्पके मुहमें प्रवेश करते हैं

जावदियाइं सुहाइ हवति लोगभि सव्वजोणीसु ॥

ताइंपि बहुविधाइ अणंतखुत्तो इमो पत्तो ॥ १७८५ ॥

यावन्ति सन्ति सौख्यानि लोके सर्वासु योनिषु ॥

प्राप्तानि तानि सर्वाणि बहुचारं शरीरिणा ॥ १८५५ ॥

विजयोदया—जावदियाइ यावति । सुहाणि इति लोगभि सुखानि भवति लोके । सव्वजोणीसु सर्वासु  
योनिषु । ताइंपि बहुविधाइ तान्यपि बहुविधानि । अणतयुत्तो इमो पत्तो अंतवारमयं जीव. प्राप्त. ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—सर्व योनिओंमें जितने नानाप्रकारके सुख हैं वे भी इस जीवको अंतवार प्राप्त हो गये हैं

दुक्ख अणतखुत्तो पावेत्तु सुहं पि पावदि कहिं वि ॥

तद् वि य अणंत खुत्तो सव्वाणि सुहाणि पच्चाणि ॥ १७८६ ॥

अवाप्यानतशो दुःखमेकशो लभते यदि ॥

सुखं तथापि सर्वाणि तानि लब्धान्यनेकशः ॥ १८५६ ॥

विजयोदया—दुक्खं अणतखुत्तो पावेत्तु सुहंमि पावदि कहिंवि दुक्खमपि अन्तवारं प्राण्यः सुखमपि प्राप्नोति कथंवित् । तद्यवि य अणंतखुत्तो तथाप्यन्तवारं सब्वाणि सुखाणि पचाणि सर्वाणि सुखानि प्राप्नोति ॥ गणभुतां चक्रवर्तिना पंचानुत्तरविमानवासिना लोकातिकानामहामैद्राणा च सुखानि मुक्त्वा ॥

मूलारा—सब्वानि गणधृता, चक्रवर्तिनां, अनुदिशानुत्तरविमानवासिना, लोकांतिकादीना च सुखानि मुक्त्वा ॥

अर्थ—इस ससारमें गणधर, नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती, पचानुत्तर निमानवासि देव, और लोकान्तिक देव इनके सुखोंकी इन जीवोंको प्राप्ति नहीं हुई है बाकीके सपूर्ण सुखोंके प्रकार इन जीवोंको अनंतवार प्राप्त हुये हैं

- करणेहिं होदि विगलो बहुसो वचिचित्तसोदणिचेहिं ॥

घाणेण य जिब्भाए चिद्वाबलविरियजोगेहिं ॥ १७८७ ॥

स चतुर्भिस्त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेनाक्षेण वर्जितः ॥

संसारसागरेऽनंते जायते ऽनन्तशोऽमुमान् ॥ १८५७ ॥

विजयोदया—करणेहिं होदि विगलो विकलेंद्रिय कचिक्कवत्ति । बहुसो बहुश । चत्तिचित्तसोदणिचेहिं मनसा वचसा श्रोत्रेण नेत्रेण करणेन हीन । स्पर्शनेन्द्रियैरुत्पत्त्यस्थालंभवात् तदनुगन्धात् ॥ घाणेण य घ्राणेन च । जिब्भाए । जिब्बया चेद्वाबलविरियजोगेहिं चेष्टया बलेन वीर्येण च ॥

मूलारा—करणेहिं चित्तादिभिः कचिद्विकलः स्यात् । स्पर्शनेन्द्रियस्य वैकल्यासंभवादनुपन्यासः ॥

अर्थ—यह जीव अनेकवार विकलेंद्रिय हुआ है. कमी नेत्र रहित, कमी कान रहित हुआ था कमी असजी मन रहित और वचन रहित हुआ था कमी इसको नाकभी प्राप्ति नहीं हुई और कमी इसको शक्ति, बलः पराक्रम इससे रहित होना पडा था. ऐसी अनेक दुरवस्थायें इस जीवकी अनंत बार हुई हैं

जब्बंधवहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाइ ॥

भमइ सुचिरंमि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहो ॥ १७८८ ॥

इन्द्रियार्थाभिलाषार चंचलं योनिनेमिकं

मिथ्याज्ञानमहातुवं दुःखकीलकयंत्रितम् ॥ १८६३ ॥

विजयोदया—विसर्गभिसारगाढ विषयाभिलाषारैर्गोहं स्तब्ध । कुजोणिनेमि सुहृदुःखदहलील कुत्सित योनिनेमिकं । सुखदुःखदहलील । अण्णतुवधरिदं अज्ञानतुवधारित । कसायददपट्टिगावद्ध कपायदद पट्टिकावध ॥

मूलारा—विसर्गभिसारगाढ विषयाभिलाषारैरेव स्तब्ध निविहं वा ।

अर्थ—यह संसारचक्र विषयाभिलाषारूपी आरोंसे गाढ अर्थात् मजबुत है कुयोनिरूपी नेमिसे युक्त है अर्थात् नरकादि दुर्गतिरूप नेमिसे—पूठीसे यह संसारचक्र युक्त है. सुखदुःखरूपी कीलसे यह युक्त है तथा इसमें अज्ञानभावरूपी तुंवा है कपायही इस संसारचक्रपर लोहकी पट्टी है

बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणिं मोहवेगमहिचवलं ॥

संसारचक्रमारुहिय भमदि जीवो अपण्वसो ॥ १७९२ ॥

कषायपट्टिकावद्धं जराभरणवर्तनम् ॥

संसारचक्रमारुह चिरं श्राम्यति चेतनं ॥ १८६४ ॥

विजयोदया—बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणिं अनेकजम्मसहस्सविसालमार्गं । मोहवेग मोहवेगं । संसारचक्रमारुहिय पवभूत संसारचक्रमारुह । अपण्वसो जीवो भमदि अनात्मवशो जीवो भ्रमति ॥

मूलारा—विसालवत्तणिं विपुलमार्गं ॥

अर्थ—अनेक जन्मरूपी विशाल मार्गपर यह संसारचक्र भ्रमण करता है मोहरूपी वेगसे यह चक्र अतिशय चंचल दीखता है ऐसे संसाररूपी चक्रपर आरोहण कर यह जीव परवश होकर भ्रमण करता है.

भार णरो वहंतो कंहंचि विस्समदि ओरुहिय भारं ॥

देहभरवाहिणो पुण ण लहंति खणं पि विस्समिंदुं ॥ १७९३ ॥

वहमानो नरो भारं कापि विश्राम्यति ध्रुवम् ॥

न देहभारमादाय विश्राम्यति कदाचन ॥ १८६५ ॥



विजयोदया—भारं णरो वहतो भार वहन्नरः। कर्हचि भारमोरोहिय कस्मिश्चिद्देशे काले च भारमवतार्य । विस्स मदि विश्राम्यति । देहभरत्वाहिणो पुण देहभारोद्वादिनो जीवा, पुन. । न लभति स्वणं पि विस्समिदुं न लभते क्षणमपि विश्रामं कर्तुं । औदारिकवैक्रियिकयोर्विनष्टयोरपि कार्माणतैजसयोरवस्थानात् ॥

मूलान- कर्हि पि देशे काले च । ओरोहिय अवतार्य । णोइत्यादि औदारिकवैक्रियिकयोर्विनष्टयोरपि कार्मण तैजसयोरवस्थानात् ॥

अर्थ—चोक्षा उठानेवाला मनुष्य किसी स्थानमें कुछ कालतक बोझा अपने मस्तकपरसे उतार कर विश्रांति लेता है परंतु देहका भार वहनेवाला यह ससारी जीव एक क्षणमात्रभी देहभारको उतार कर विश्रांति नहीं ले सकता है यद्यपि औदारिक और वैक्रियिक शरीर इस जीवके कुछ कालतक अर्थात् एकसे तीन समयतक नहीं रहते हैं तोभी कार्मण और तैजस शरीर इस जीवके साथ सतत रहते हैं इसलिये इसको सदाही विश्रान्तिका अभाव है.

कम्माणुभावदुहिदो एव मोहंधयारगहणम्मि ॥

अंधोव दुग्गमग्गे भमदि हु संसारकंतारे ॥ १७९४ ॥

बंभ्रमीति चिरं जीवो मोहांघतमसावृतः ॥

संसारं दुःखितस्वान्तो विचक्षुरिव कानने ॥ १८६६ ॥

विजयोदया—कम्माणुभावदुहिदो असंखेद्यादिपापकर्ममाहात्म्यजनितदुःख. । एवमुक्तेन क्रमेण । संसार कंतारे भमदि संसारकंतारे भ्रमति । कीदृशो मोहंधयारगहणे मोहोदधकारगहने । अंधो व दुग्गमग्गे अथ इव दुर्गमार्गे ॥

मूलान-कम्माणुभाव असंखेद्यादि पापकर्ममाहात्म्यम् ॥

अर्थ—असातावेदनीयादि पापकर्मके ग्रभावसे दुःखित होकर यह जीव पूर्वोक्त क्रमसे संसारवनमें भ्रमण करता है. यह संसारवन मोहरूपी अधकारसे व्याप्त होनेसे अधा मनुष्य जैसे खराब रास्तेमें जाता हुआ दुःख पाता है संसारी मनुष्यभी इसमें दुःखी होता है.

दुक्खस्स पडिगंते सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो ॥  
पाणवधादीदोसे करेइ मोहेण संछणो ॥ १७९५ ॥



एकेंद्रियेष्वयं जीवः पंचस्वपि निरंतरम् ॥

उत्थानवीर्यरहितो दीनो वंश्रमते चिरम् ॥ १८६१ ॥

विजयोदया—परिगदियेसु पंचविधेषु वि एकेंद्रियेषु पंच प्रकारेषुपि । पृथ्व्यपूतोजोवायुवनस्पतिशरीरघा-  
रिषु । उत्थाणवीर्यविहीणो पृथिव्यादिक्रयान् परित्यज्य त्रसकायप्राप्तिनिमित्तोत्थानवीर्यरहित । भ्रमदि अणंत  
काल भ्रमति अंतकाल । दुष्खसदृस्साणि पार्वतो दुःखसदृस्साणि प्राप्नुवन् ॥

मूलारा—उत्थाणवीर्यविहीणो पृथिव्यादिकायत्यागेन त्रसकायप्राप्तये श्रुत्थानवीर्यमुद्भवशक्तिस्तद्रहितः ॥

अर्थ—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति ये पांच स्थावरकायिक जीव हैं इनमें अपना पर्याय  
त्याग कर त्रसत्व प्राप्त करनेकी शक्ति नहीं रहती है. इसलिये अनतकालतक हजारों दुःख सहन करते हुये ये जीव  
इसही पर्यायमें भ्रमण करते हैं.

बहुदुःखावत्ताए संसारणदीए पावकलुसाए ॥

भमइ वरागो जीवो अण्णानिमीलिदो सुचिरं ॥ १७९० ॥

चित्रदुःखमहावर्तामिमां संसृत्तिवाहिनीम् ॥

अज्ञानमिलितो जीवो गाहते पापपाथसम् ॥ १८६२ ॥

विजयोदया—बहुदुःखावत्ताए बहुदुःखावर्ताया । संसारणदीए संसृत्तिनद्या । पावकलुसाए पापकलंकसंहि-  
ताया । वरागो जीवो भ्रमदि दीनो जीवो भ्रमति । सुचिर अण्णानिमीलिदो अज्ञानेन निमीलित ॥  
मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—अनेक दुःखरूपी भोकर जिसमें हैं, पापरूपी मलिन पानसि जो युक्त है ऐसी इस संसारनदीमें यह  
दीन जीव अज्ञानसे वसुंध होकर भ्रमण करता है

विसयामिसारगाढं कुजोणिणेमि सुहदुःखदढखीलं ॥

अण्णानंतुंबघदि कसायदढपट्टयाबंधं ॥ १७९१ ॥

भीतः करोति दुःखेभ्यः सुखसंगमलालसः ॥

अज्ञानतमसा लब्धो हिंसारंभादिपातकम् ॥ १८६७ ॥

विजयोदया—दुष्कृत्स्न पडिगर्ततो दुःसस्य प्रतीकारं कुर्वन् । सुहृदिच्छतो य इन्द्रियसुखमभिलषन् । इमो जीवो अयं जीव । पाणवधादीदोसे हिंसादिदोषान् । करोति मोहेन सङ्गणो करोति मोहेन सङ्गण । एतदुक्तं भवति-दुःखं भीरुर्नरो विदोषदुःखात्पापस्यापायं न वेत्ति ॥ दुःखनिराकरणार्थं हि दुःखहेतुत्वं हिंसादीन् प्रवर्तयति । इन्द्रियसुखं लपटोऽपि तेत्वेव हिंसादिषु दुःखहेतुषु प्रवर्तते । ततोऽस्य सकलौ व्यापारो दुःसस्यैव मूलमिति ॥

मूलारा—दुःखसस्येत्यादि दुःखभीरुरपि नैप निःशेषदुःखापायोपायं वेत्ति । दुःखनिराकरणार्थं हि दुःखहेतून् हिंसादीन्प्रवर्तयति । इन्द्रियसुखलंपटोऽपि तेत्वेव हिंसादिषु दुःसहेतुषु वर्तते । ततोऽस्य सकलोपि व्यापारो दुःसस्यैव मूलमिति भावः ॥

अर्थ—यह जीव दुःखका नाश करनेकी इच्छा रखता है और सुखको चाहता है परंतु मोहवश होकर हिंसादिक दोषोंको करता है तात्पर्य यह है कि संसारी जीव दुःखसे डरता है परंतु दुःखके नाशका उपाय वह नहीं जानता है, दुःखका निराकरण करनेकी इच्छा है परंतु दुःखोंके कारणोंकाही आश्रय करता है इन्द्रियसुखमें लंपट होकर हिंसादि दुःखोंके कारणमें प्रवृत्त होता है इस वास्ते इसकी सब प्रवृत्ति दुःखकाही मूल है

दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं बंधदि तदो णंव जीवो ॥

अथ तेण पच्चइ पुणो पविसित्तु व अग्निमग्गीदो ॥ १७९६ ॥

हिंसारंभादिदोषेण गृहीतनवकल्मषः ॥

प्रदह्यते प्रविष्टोऽङ्गो पावकादिव पावकम् ॥ १८१८ ॥

विजयोदया—दोसेहिं तेहिं प्राणिवधादिकैर्दोषैः । बहुगं कम्मं बंधदि महत्कर्मं वध्नाति । नव प्रत्यग्र । तदो पश्चात् । अथ कर्मयधानंतर । तेण पच्चदि तेन बधनेन कर्मणा पच्यते । पविसित्तुव प्रविश्येव । किं अग्निं अग्निं । अग्नीदो अग्ने । अग्निमग्गीदो अग्निं प्रविश्य यथा वाध्यते । एव पूर्वैः कर्मभिर्वाधितं पुनः प्रत्यग्रकर्मनलेन ( निवधेन ) दह्यते इति ॥

मूलारा—पविसित्तुव प्रविश्य यथा ॥

अर्थ—यह जीव प्राणिवधादिक अनेक दोषोंमें महातांत्रिक कर्मका नवीन बंध करता है जब उस कर्मका

उदय आता है तब एक अर्मासे निकल कर दूसरे अग्निमें पड़नेवाला जीव जैसे घोर दुःखका अनुभव करता है वैसा इस जीवको कर्मोदयसे दुःख होता है अर्थात् पूर्वकर्म उदयमें आकर वह स्थिर हो जाता है और उसीसमय नवीन कर्म भी बध जाता है. अतएव दुःखका कारण जो पूर्व कर्म उसका नाश होते समय ही नवीन कर्म बंध जाता है इसलिये वह भी कर्म उसके अनंतर उदयमें आता है इसलिये इस जीवको सतत दुःखही दुःख भोगना पड़ता है

बंधतो मुच्यंतो एवं कर्म पुणो पुणो जीवो ॥

सुहकामौ बहुदुक्खं संसारमणादियं भमइ ॥ १७९७ ॥

गृह्णता मुच्यता वारुणं कल्मष सौख्यकाक्षिण जीविन मूढात्मना ॥

अभ्यते संसृतौ सर्वदा दुःखिना पावनं मुक्तिमार्गं ततोऽपश्यता ॥ १८६९ ॥

इति जन्मानुपेक्षा ॥

विजयोदया—यधंतो मुच्यंतो वधन् मुचन् । एव कर्म पुणो पुणो जीवो कर्म पुन पुन जीवः दत्तफलानि मुच्यति, कर्मफलानुभवकालोपजातरागद्वेषपरिणामैरभिनवानि कर्मणि वध्नाति । सुहकामो सुखामिलापवान् । बहुदुक्ख विचित्र दुःख । संसारमणादिग भमदि अनदिससार भ्रमति । संसारविता ॥

मूलारा—बंधतो पूर्वकर्मफलानुभवकाले जाताभ्या रागद्वेषाभ्या अभिनवं वधन् । मुचतो उपयुक्तफल प्राक्तन मुचन् ॥ संसारानुपेक्षा ॥

अर्थ—जिन कर्मोंसे आत्माको फल मिल चुका है वे कर्म गल जाते हैं. परंतु पूर्व कर्मके फलोंका अनुभव लेते समय यह जीव रागद्वेषयुक्त होता है अतः उसको नवीन कर्म बध जाता है. इस जीवके मनमें सुखकी तीव्र अभिलाषा है परंतु वह सुख उसके उपायोंका ज्ञान न होनेसे प्राप्त नहीं होता है उलटे उपायोंमें प्रवृत्त होनेसे इसको नानादुःखोंसे परिपूर्ण ऐसे अनादि घोर संसारमें भ्रमण करना पड़ता है.

लोकादनुपेक्षा निरुच्यते नामस्थापनाद्व्याधिविकल्पेन । यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्य लोक प्रचोच्यते । कथं ? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिकमनिरूपणात् ॥

आहिङ्यपुरिसस्स व इमस्सणीया तहिं तहिं होति ॥

सव्वे वि इमो पत्तो संबधे सव्वजीवेहिं ॥ १७९८ ॥

सर्वे सर्वेः समं प्राप्ताः संवधा जंतुनांगिभिः ॥

भवति अमतः कस्य तत्र तत्रास्य बांधवाः ॥ १८०० ॥

विजयोदया—आहिङ्यपुरिसस्स व देशात्तर अमत' पुस इव । इमस्स णीगा तहिं तहिं होति अस्य बांधवस्तत्र तत्र भवति । सव्वेवि इमो पत्तो सर्वानयं प्राप्त । सवधे सवधान् । सव्वजीवेहिं सर्वजीवे सह ॥

धर्म्यध्येयतया लोकं पंचदशगाथाभिरनुप्रेक्षते । नामस्थापनाद्रव्यादिविकल्पेन यद्यपि चानेकप्रकारो लोकस्तथापि इह लोकशब्देन जीवद्रव्यलोक एवोच्यते । सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात् ।

मूलारा—आहिङ्य देशात्तरअमणपर ।

लोकादनुप्रेक्षाका वर्णन आचार्य करते हैं. नाम, स्थापना, द्रव्य वर्गों विकल्पोंसे लोकके अनेक भेद हैं तथापि यह लोग शब्दसे द्रव्यलोक ही ग्राह्य है. क्योंकि जीवक धर्म प्रवृत्तिका क्रम यहां कहा गया है

अर्थ—एकदेशसे दूसरे देशको जानेवाले पुरुषके समान इस जीवको सर्व जगमें वंधुलाभ होता है अर्थात् सर्व जीवोंसे अनादिकालसे इसका संबंध होता चला आया है अमुक जीवके साथ इसका पिता पुत्र वगैरह रूपसे संबध नहीं हुआ था ऐसा कालही नहीं था अतः सर्व जीव इसके सबधी है

माया वि होइ भज्जा भज्जा मायत्तण पुणमुवेदि ॥

इय संसारे सव्वे परियट्ठंते हु संबंधी ॥ १७९९ ॥

माता सुता स्तुपा भार्या सुता कांता स्वसा स्तुपा ॥

पिता पुत्रो नृपो दासो जायतेऽनतशो भवे ॥ १८०१ ॥

विजयोदया—मादा य होदि भज्जा माता भार्या भवति । भार्या माहता पुनरुपेति । एव ससारे सर्वे सप्रधा. परिवर्तते इति गाथार्थः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इस लोकमें माताभी पत्नी होती है और पत्नी भी माता होती है अर्थात् स्त्रीयेंसे खुद उसमें उत्पन्न होकर गृह पतिरूपर्जाव उसका पुत्र बनता है इस प्रकार इस संसारमें सर्व संबंधोंका परिवर्तन होता रहता है.

जणणी वसंततिलया भगिणी कमला य आसि मज्जाउ ॥

धणदेवरम य एकस्मि भवे संसारवासस्मि ॥ १८०० ॥

वसंततिलका माना भगिनी कमला च ते ॥

एकत्र धनदेवस्य भार्या जाता भवे ततः ॥ १८०१

विजयोद्या—जणणी वसंततिलया धनदेवस्य जननी वसंततिलका । कमला भगिनी । ते उभे भार्ये जाते धनदेवस्य । तस्मिन्नेव भवे भावातरेषु मयन्धान्ययामात्रे किमस्ति चाल्य ? यद्यरुदेहवहने लभतेऽपवाद् । तु तं ततो व्यथनमुग्रवल च पापं । नानागरीस्वहेतुषु कथं न दुःख । प्राप्नोति केन विषयार्जितपापकर्म ॥

उक्त च—कुर्यान्न तन्मदगजोद्धतदत्तेवग । खड्गे विरुष्टवलपाणिविस्फुधार । कुर्वन्ति दुःखमधिक विषया नराणा तस्मान्न्यजति विषयान् परिहृष्टत्वा । एवमय रुष्टो लोकधर्म ॥

मूलारा—आसि भज्जाओ जाते हे अपि मातृस्वसारौ भार्ये । तस्मिन्नेव भवे, किं भवातरेषु संबंधान्यत्वे कथ्यमित्यर्थः । अर्थ—एकही भवमें धनदेव नामक मनुष्यके वसंततिलका माता और कमला नामक भगिनी दोनो पत्नी हुई थी जन्म एकही भवमें ऐसे विचित्र संबंध होते हैं तो भवांतर के संबंधोंमें कहनाही क्या? आगममें इसविषयमें ऐसा कहा है—एकही भवमें एक शरीर धारण करनेमें भी इस जीवको नाना प्रकारके अपवाद सहन करने पड़ते हैं उससे उसको दुःख क्यों न होगा अर्थात् अपवादसे इस जीवको तीव्रदुःखानुभव होता है विषयोपभोग करनेसे पापकर्मका वध होता है एक शरीरके साथ जीविकासंबंध होनेसे इसको इतना कष्ट होता है तो अनेक जन्मोंमें इसने आज तक अनंत शरीर धारण कर छोड़ दिये हैं तो इन देहोंके आश्रयसे अपवादजनित दुःख और अनंत दुःखदायक कर्मोंका संबंध होनेसे कितना कष्ट हुआ होगा इसका विचार विचारी पुरुष मनमें कर सकते हैं

अर्थ—बड़े वेगसे दौड़नेवाला उन्मत्त हाथी, मनुष्यकी उतनी हानि नहीं करता है बलवान पुरुषके हाथमें रहनेवाला तीव्र घारका खदग भी लोगोंकी उतनी हानि नहीं करेगा. परतु विषयसुख मनुष्योंकी उनसे भी अत्यन्त अधिक हानि करता है अतिशय दुःख देता है. इसलिये तत्त्वदर्शी लोग ऐसे विषयोंका त्यागकर सुखी होते हैं. इसप्रकार ये लोकधर्म कष्टदायक हैं.

राया त्रि होह दासो दासो रायत्तणं पुणमुवेदि ॥

इय संसारे परिवट्ठते ठाणाणि सव्वाणि ॥ १८०१ ॥

संसारे जायते यस्मि न्द्रपोऽपि खलु किंकरः ॥

कीदृशी क्रियते तत्र रतिर्निदानिधानके ॥ १८७३ ॥

विजयोदया—राया त्रि होह दासो राजा दासो भवति, नीचैर्गोत्रजैर्नात्, दासो राजता पुनरुपैति उच्चैर्गोत्र कर्मण उदयात् । एव संसारे परिवर्तते सर्वाणि स्थानानि ॥  
मूलारा—दासो नीचैर्गोत्रोदयात् ।

अर्थ—राजा भी जब उसको नीच गोत्रका उदय होता है तब भवार्तरमें दास होता है और दासभी उच्च-गोत्र कर्मका उदय होनेसे भवार्तरमें राजा होता है. इस प्रकार इस संग्राममें सर्व स्थानोंमें परिवर्तन होता है

कुलरूवतेयभोगाधिगो वि राया विदेहदेसवदी  
वच्चघरम्मि सुभोगो जाओ कीडो सकम्मोहिं ॥ १८०२ ॥

विदेहाधिपती राजा तेजोरूपकुलाधिकः ॥

जातो वच्चोपगृहे कीटः सुभोगः पूर्वकर्मभिः ॥ १८७३ ॥

विजयोदया—कुलरूवतेयभोगाधिगो वि कुलेन रूपेण तेजसा भोगेनाधिकोपि । विदेहजनपदाधिपती राजा सुभोगसम्पन्न सुवर्चोपगृहे कीटो जात स्यै कर्मभिः प्रेरित । उक्त च—दृष्टा कचिस्सुरममुद्यमगणप्रधाना, सर्वद्विदीप्त वपुषु शशिकातरूपा ॥ अष्टास्त एव पुनरन्यगतिं प्रपन्ना भूता भवति कुलरूपधनप्रतापैः ॥

मूलारा—वक्कुडिम्मि विष्टागृहे । सुभोगो सुभोगास्त्यो राजा सन् ॥



अर्थ—कुल, रूप, तेज, और भोगोंसे इतर जनोंमें श्रेष्ठ ऐसा विदेह देशका अधिपति सुभोग नामका राजाभी सरकार पैदातेमें गूथमें कीटक हुआ. अपने किये हुए कर्मके वश होकर सुभोग राजाकी ऐसी दुर्दशा होगयी इसलिये कहा भी है कि,—देव और मनुष्योंमें प्रधान, मर्वे कदिकी प्राप्ति होनेसे जिनका शरीर तेजस्वी और सुंदर दीखता था, जिनका रूपगुण चंद्रके समान आल्हादकारक था, वे भी मनुष्य श्रेष्ठ होकर अन्यगतिको प्राप्त होकर कुल रूप, प्रताप इत्यादिकोंसे हीन होगये हैं

होऊण महद्दीउ देवो सुभवणगंधरुवधरो ॥

कुणिमस्मि वसदि गम्भे धिगत्यु संसारवासरस ॥ १८०३ ॥

देवो महर्द्धिको भूत्वा पवित्रगुणविग्रह ॥

गम्भे वसति वीभत्से धिक्संसारमसारकम् ॥ १८०३ ॥

विजयोद्या—होऊण महद्दीउ देवो महर्द्धिको देवो भूत्वा । सुभवणगंधरुवधरो प्रशस्तेजोगंधरुराश्रित ॥ वातपित्तकर्तृ परिसुक्त व्याधिभिविगतनेवमतीक्ष्ण, अभ्युत परमयौवनयुक्तं सर्वतोऽविकलमुत्तमकालि ॥ १ ॥ सर्वतश्च विमलाश्रवणस्पर्शगंधरवाञ्छितहास । सखिलासगतचेष्टिन्लील ते शरीरमस्मन्न लभते ॥ २ ॥ गीतवाद्यतत्त्वैर्निनादेस्नास्तदाश्रय समुपेत्य सहर्षा । देवदेवयनिता प्रणिपत्य कुर्वतेऽत्र समुपासनमेया ॥ ३ ॥ फुल्लपकजसमरय हस्तैर्दक्षिणैः प्रवरलक्षणकीर्णैः । चारुचद्रवद्वाना नस्त्रिमेग स्निग्धदृष्टिद्वसिता प्रतिशुण ॥ ४ ॥ मृगपासनमस्तकोपविप्रान् मृगपातप्रगतानिवाचलाना । अथ तानभिर्भिरुमापयति मुद्रितास्तत्र सुरा सुवर्णकुम्भे ॥ ५ ॥ प्रविकाराय वक्त्रपकजानि सुरनाथार्कगुणाशुभि सुराणा । कुरु न सुचिरं त्वमाविष्यमिति तान्याभिभरभिन्दुवति चेव ७ आदाय नैदाघरावै दिगं सु न्यस्तैर्वितैर्म्भुकुटानि भूत्वा । विष्प्रिताश्चाभरणैरन्ध्रैरेवद्वारागदकुण्डलात्रै ॥ ८ ॥ ल्योतिर्विभूयान् गगनप्रदेशान्, विद्युद्धिनद्धान् रुचिरादुदाश्रय, रत्नार्चितान् हेममहागिरिष्व विशेयपतोऽभ्यधिरु विभाति ९ दिव्यवीर्यपलविक्रमायुगो दिव्यदीप्तवपुगो विशो दश । भानयति विमलावरार्कवद्विष्यसोम्यवपुः शशाकत्रत् ॥ १० ॥ दूरप्यतिपतति लाघवात् मौत्वाद्विरसिमा भवति च ॥ अर्णवावतिविशंति मेविर्नीर्णार्थवाञ्छ महतोऽपि रुंधते ॥ ११ ॥ काष्ठमग्निमनिल जल मर्द्दा सप्रविष्य च तन् शरीरिणा । निर्विशेषगुणका सहस्रसितु ते भवति सुचिरं सुशक्तय ॥ १२ ॥ पावकाचलसुरन् वनावनीनागराश्च सहस्रा निपत्य ते ॥ स्थानमीप्सिततमं श्रमाद्विना यति चाप्रतिहताशरीरवत् ॥ १३ ॥ उद्विशेषयुरवन्ना महाचलात् पातयेथुरपि मद्वरान्करैः । मद्वराद्विशिगरं धरास्थितास्ते स्पृशेथुरपि यद्यमीप्सित ॥ १४ ॥

ईशितुं सुरनृणामयन्तः कर्तुंमात्मवशगान्मृगानपि । रूपमात्मनसा समीरितं स्पर्शमुपलभमसं सप्तद्वयश्या ॥ १५ ॥  
 संपूर्यशां । स्वसुरभिगधैर्वा मृष्टै शुभकुसुमैश्च ॥ सतानाद्यैर्विरचितमाला नित्याम्लाना । परिवर्द्धमानाः ॥ १६ ॥  
 मात्स्यैर्नैधैः सुसमजुलिता वस्त्राण्यतिविंजालि वसाना । ररम्यंते रतिनिपुणाभिस्स्वाभिः सार्द्धं धरयतिताभि ॥ १७ ॥  
 सुखेनैव जीव याति वियोगकृत परिताप, तत्र महाद्विद्युता अपि देवाः स्त्रीपुरुषा वियमायुष एव ॥ १८ ॥  
 प्राणभृतामिह मध्यमलोके तीव्रतरादिकपायचतुष्कं । स्यात्सुरसततय समकाल, तत्र भवंति हि कर्मवशेन ॥ १९ ॥  
 अच्युतमानितजीवितदेव, स्त्री चिरजीवितवत्यति तस्याः । पत्यमितं यत जीवितकालं तेन वियोगमित सुरलोक ॥ २० ॥  
 मृत्युकृत च विचित्य सुदु खं भ्रावि सुरा परिभ्रीतमनस्काः । तत्र भजति मृगा इव यद्धा व्याव्रसमीपमुपेत्य समीका ॥ २१ ॥  
 गर्भकृतामपि ते तुरवस्था सपरिचित्य पुन समवाप्य । शोकमेवे धिपुले परियाति चारकरोध इवाभ्युपयाते ॥ २२ ॥  
 मूत्रपथावशुचेरतिदुःखं निर्गमन स्मरतामञ्जीना । जन्मतेयेति मय दिविजाना, स्यादधिक तदवाप्य सुखं तत् ॥ २३ ॥  
 तानपि चास्यतेव क्षुद्रनिष्ठा पश्यत सर्वधूरिव कृष्ण, वर्षसहस्रमितीह गतेपि कालदरो न जहात्यहमिदं ॥ २४ ॥  
 उच्छ्वसन श्रमज टपेतरपि पक्षमितैर्दिवसैर्यदि याति । कान्यसुरेषु कथा वत लोके हा समयो जननार्णववासः ॥ २५ ॥  
 रोगजराविकलत्वहिनास्तत्र पुनश्च भवमनुजाना तत्सहित प्रसमीक्ष्य पुरस्तात् प्राप्यमवश्यमतस्तच्युतमात्रे ॥ २६ ॥  
 अन्यवशादवशा विलपतो वेशमिवान्यमुपद्रवयुक्तं । सम्रतिपत्सव उग्रमयं ते शोकवशा बहुशोऽपि भवंति ॥ २७ ॥  
 यत्सुरसौख्यमवाप्य विमाने भूतवज्रो जगतीरपि याति । तत्परिचितयता कुशलता केन सुरेषु भवेद्बहुमानं ॥ २८ ॥  
 तेऽवधिना विधिना बहुतत्त्वं दूरगतान्यपि जानत एव । तेन भयान्यनुभूय पुरस्तादश्रुवेत भयछन्दपञ्चात् ॥ २९ ॥  
 यः सहसा भयमभ्युपयाति पूर्वतर न मयं स उपेति प्राग्विदितमवध सुनर प्राक् प्राप्य मय वधेमेति हि पदचात् ॥ ३० ॥  
 अतो न सौख्य तद्विहास्ति किंचन विमुक्षयमात मनसा भवार्णवे । सुखे प्रसक्तो विपुले पुमानयं भजेत दुःखेन विनाशुनापि यत् ॥  
 यथापुणेशोपहृतेऽपि भोजने न तनरो रोचयते कुलोदित तथात्वदोषोऽप्यसुखे सुखे सति न तद्वुद्यो रोचयते कदाचन ३२  
 प्रपीयमानं बुनि पातितो यथा लवोपि मूत्रस्य तदंशु दूयेत् । तथा लवाशोऽप्यसुखस्य सत्सुखे करोति सधस्य सुखस्य दूयणा ॥  
 गुणैर्नैकैरपिसंयुता स्त्रियं कृतापचारा सकृदप्यनिर्धुण । नरो जहात्येव यथा तथा बुधो न इष्टिदोगादिव सोऽनुभिच्छति(?)  
 कुणिममि वसदि गम्भे कुथितगम्भे वसति ॥ धिगत्यु संसारवासस धिगस्तु संसार वासस्य ॥ उक्त च—स्योगाद्रोगादिव  
 समुत्थ मनुजेषु गर्भेऽस्तृत्या गर्भनिपात च समीक्ष्य । वस्तादेव देहाशुचीनपि निरीक्ष्य गर्भविश्रा दुःखमिवातेनुभवति ॥

मूलारा-स्पष्टम् ॥

अर्थ—देवगति नामक कर्मके उदयसे यह जीव महान काद्धि धारक, शुभ वर्ण, गंध, रूप इत्यादि उत्कृष्ट गुणोंका स्थान बनता है अर्थात् स्वर्गीय देव बनता है परंतु आयुष्य समाप्त होनेपर दुर्गंध युक्त गर्भवासमें उसको रहना पडता है इसलिये ऐसे विचित्र संसारको धिक्कार हो

१ जैसे आकाशमें हृद्रघनुष्य, विजली, और मेघ अकस्मात् उत्पन्न होते हैं वैसे देवोंका अकस्मात् जन्म होता है. इन देवोंका जन्म अशुचित्तासे-अपवित्रतासे रहित होता है ऐसा समझना चाहिये.

२ वात, पित्त और कफ इन तीन दोषोंसे जो व्याधिया मनुष्य देहमें उत्पन्न होती हैं उनसे देवोंका शरीर रहित होता है खेद उनमें नाममात्र भी नहीं रहता है. मदा तरुणताही रहती है. सर्वावयवपरिपूर्णता और उत्तम कांतीसे वह सदाही युक्त होता है

३ उत्तम विलास, गति, चंचल और लीलासे वह मन हरण करता है निर्मल वस्त्र, वर्ण, स्पर्श, सुगंध, मिष्ट भाषण और हास्यसे उसकी जोभा चित्तको अपने तरफ आकर्षित करती है. ऐसा शरीर शुभ कर्मके उदयसे देवोंको प्राप्त होता है.

४ जब उपपाद शय्यापर देवका जन्म होता है तब देव देवागना हर्षमें उसके सामने आकर नमस्कार करते हैं और गीत वाद्यादिक ज्वनिओंसे उसका अभिनदन कर अपना हर्ष भाव प्रकट करते हैं उसकी उपासना करते हैं.

५ उत्तम लक्षणोंसे युक्त, प्रफुल्ल कमल समान सुंदर ऐसे हाथोंमें किया हुआ नमस्कार ये उत्पन्न हुए देव ग्रहण करते हैं. चंद्रके समान सुंदर मुखवाले ये देव स्निग्ध दृष्टिसे हमकर देवोंके नमस्कारका स्वीकार करते हैं. ६ पर्वतके शिखरपर बैठे सिंहके समान सिंहासनपर बैठे हुए उन उत्पन्न हुए देवोंका आनंदित हुए देव सुवर्ण कलशसे अभिषेक करते हैं.

७ हे देवेंद्र ! सूर्यके समान गुणोंमें हमारे मुखमालोंको आप प्रफुल्लित करो और हमारे ऊपर आपका दीर्घकाल तक आधिपत्य रहे ऐसी देव उनकी वचनोंके द्वारा स्तुति करते हैं

८ वे देवेंद्र मानो ग्रीष्मकालके सूर्य ही हैं ऐसे रत्नोज्ज्वल मुकुट मस्तकपर धारण करते हैं हार, अगद, कुंडल वगैरह अमूल्य रत्नाभरणोंसे वे अलंकृत रहते हैं

९ विजलीसे व्याप्त हुए सुंदर भेड़ोंको, रत्नोंसे जडित सुवर्ण पर्वतोंको अलंकृत करते हुए वे देव अति-शय शोभाको धारण करते हैं

१० जो दिव्य बल, वीर्य और पराक्रमोंसे युक्त हैं जिनका शरीर दिव्य और दीप्तियुक्त है ऐसे देव

विमल आकाशस्थित सूर्यके समान दश दिशाओंको प्रकाशित करते हैं तथा चद्रके समान अपनी सौम्य कान्तीसे दश दिशाओंको सौम्ययुक्त बनाते हैं ।

११ अतिशय लघु होकर वे अतिशय दूर जाते हैं और गुरु होकर वे पर्वतके समान विशाल बनते हैं। जलके समान होकर पृथ्वीमें प्रवेश करते हैं और पृथ्वीके समान अन्य पदार्थोंका रोष करते हैं ।

१२ लकड़ी, अग्नि, हवा, पानी, पृथ्वी इनमें और प्राणिओंके शरीरमें वे प्रवेश करनेमें समर्थ होते हैं उनके गुणके समान गुण और प्राणिओंके नहीं होते हैं और वे समर्थ होते हैं ।

१३ वे देव अग्नि, पर्वत, जंगल, समुद्र वगैरहको एकदम उलंघकर विना परिश्रमके इच्छित स्थानपर पोहोच जाते हैं सिद्धके समान उनको किसी पदार्थसे बाधा नहीं पोहोचती है।

१४ उनमें पर्वतोंको जमीनपर गिरा देनेका सामर्थ्य होता है वे मंदर पर्वतोंको भी गिरा सकते हैं जमीनपर ठहर कर भी मंदर पर्वतके शिखरको स्पर्श कर सकते हैं

१५ देव और मनुष्योंपर विना ग्रयत्नमे वे ईशत्व रख सकते हैं और सर्व पशुओंको वश करते हैं मनमें वे जित रूपको चाहते हैं तत्काल उसको धारण कर सकते हैं वे जिस पदार्थको चाहते हैं तत्काल उसको प्राप्त कर सकते हैं ।

१६ अपने शरीरकी सुगंधसे संपूर्ण दिशाओंको भर देते हैं उनके गलेमें सतानकादि कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी आम्लान माला रहती है ।

१७ पुष्प, गंधांसे सुगंधित वस्त्र वे धारण करते हैं और समोगमें प्रवीण देवांगनाओंके साथ वे हमेशा रतिक्रीडा करते हैं ।

१८ वे महान ऋद्धिधारक देव और देवांगना निपमायुष्य होनेसे वियोग दुःखको प्राप्त होते हैं अर्थात् देवको देवीका और देवीको देवका वियोग होता है ।

१९ इस मध्यमलोकमें प्राणिओंको तीव्रतर तीव्रतम वगैरह विकल्पोंके क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं परंतु देवलोकमें कषायोंका तीव्रभाव नहीं रहता है

२० अच्युत स्वर्गतक देवांगनाका दीर्घकाल आयुष्य यद्यपि है तो भी वह पल्पप्रमाण ही है अर्थात्

सागरोंसे उनका आयुष्य नहीं नापा जाता है और देवोंका आयुष्य सागराको होता है इस लिये देवोंको बारवार अनेक देवांगनाओंका वियोग होता है

२१ मृत्युके समयमें होनेवाले दुःखोंका विचार कर उनके मनमें दुःख उत्पन्न होता है जैसे व्याघ्रके समीप बाधे हुए हरिणको दुःख होता है वैसे इन देवोंको मृत्यु समय दुःख होता है।

२२ कैदी होनेका प्रसंग आनेपर जैसा मनुष्यको बहुत शोक और मय उत्पन्न होता है वैसे देवभी यहांका आयुष्य समाप्त होनेपर हमको मनुष्यस्वीक्रे गर्भमें जो कि कैदखानेके समान है रहना पड़ेगा ऐसा विचार कर बहुत शोकयुक्त और भयवान् होते हैं

२३ गर्भके अनंतर अपवित्र ऐसे मृत्रमार्गसे हमको बाहर निकलना पड़ेगा, यह तो बहुत कष्टकी बात है, यह मनुष्य जन्म महान् अपवित्र है ऐसा विचार करनेसे उन देवोंको महान् भय होने लगता है

२४ इस स्वर्गमें हजारों वर्ष नीतेनेपर भी हमको क्षुधा वाघा न होती थी परंतु मनुष्यत्व प्राप्त होनेपर सर्पिणीके समान यह क्षुधावाधा हमको तत्कलीफ देगी हा यह बड़ा कष्ट है २५ देव गतीमें एकपक्ष नीतेनेपर उच्छ्वास लेते थे परंतु यहां मनुष्यगतीमें उच्छ्वासका भी परिश्रम होगा हाय हाय इससारसमुद्रमें रहना बड़ा कठिन है

२६ इस देववस्थामें रोग, जरा-वृद्धावस्था, इंद्रियविकलता, इत्यादि दोष नहीं रहते हैं, परंतु मनुष्य-भवमें ये बाधाएँ अवश्य भोगनी पड़ेंगी ऐसा मनमें देव विचार करते हैं, यहांसे हम च्युत होनेके अनंतर दुःखद परिस्थिति प्राप्ति होगी ऐसा वे विचार करते हैं

१६ यद्यपि देव परतंत्र नहीं होते हैं, तथापि उपद्रवयुक्त देशको मानो हम प्राप्त हुए हैं ऐसा समझकर मनमें शोक उक्त होकर अतिशय तीव्र भीतिको प्राप्त होते हैं

२७ जिनको कभी भी रोग पीडा नहीं हुई थी ऐसे भी देव आयुष्य समाप्तिके अनंतर इस मनुष्य लोकमें उत्पन्न होते हैं ऐसा समझकर कोन विद्वान् देवावस्थाको अच्छी समझेगा ? अर्थात् वह भी कष्टयुक्त है ऐसा समझकर विद्वान् लोक उसमें अनादर करते हैं

२८ ये देव अपने अवधिज्ञानसे बहुत दूर की बात भी जानलेते हैं अतः आगे आनेवाली विपत्तिको जानकर वे प्रथम ही भययुक्त होते हैं और तदनंतर वास्तविक भयका अनुभव करते हैं,

२९ जिसको अकस्मात् भय उत्पन्न होता है वह प्रथम ही अर्थात् भय प्राप्त होनेके पूर्वमें भय युक्त नहीं होता है परंतु देव भयकी वार्ता प्रथमही जान लेते हैं अतः वे प्रथमही दुःखी होते हैं जैसे अपने वध होनेकी बात जिसको प्रथमही मालूम पड़ी है वह मनुष्य प्रथम ही भयको प्राप्त होकर अन्तर वधयुक्त हो जाता है

३० इसलिए हम संसारभारमें विचार करनेवाले पुरुषको कहाँ भी सौख्य नहीं है ऐसा शत्रुसम आश्रय अतिशय सुखमें आसक्त ऐसे भी प्राणीको यदि अणुमात्र भी दुःख हो जावेगा तो भी सुखमें न्यूनता है ऐसा मानना पड़ेगा तात्पर्य यह है कि, जिसमें अणुमात्र भी दुःख हो वह सुख है नहीं

जैसे भोजन करते समय अन्नमें छोटामा भी केश निकला तो वह अन्न कुलीन मनुष्यको अप्रिय होता है, वैसा सुखमें यदि अल्प भी दोष होगा तो वह सुख बुद्धिमानोंको अप्रिय लगता है ।

३१ पीनेके लिए जो पानी दिया गया है उसमें यदि सूत्रता एक भी पिंडु पड़ेगा तो वह पानी दूषित होता है वैसे उत्तम सुखमें यदि थोड़ासा भी दुःख उत्पन्न होगा तो वह सुख दोषयुक्त ही मानना चाहिए.

३२ यदि अनेक गुणोंसे स्त्री संपन्न है तो भी एक दफे भी जिसने व्यभिचार किया है उसको दयाई मनुष्य भी छोड़ ही देगा वैसे बुद्धिमान् लोग जिसमें दोष दीखता है ऐसे सुखकी इच्छा नहीं करते हैं

अभिप्राय यह निकला कि यह समार दुःखमय है हम संसारमें कुथित मांस रक्तादि से भरे हुए गर्भमें निवास करना पड़ता है इसलिए हम संसारवासको धिक्कार दो. शास्त्रमें इस विषयमें ऐसा कहा है—इस मनुष्य जन्ममें आनेकेलिए गर्भमें रहना पड़ता है इसका स्मरण होने से दुःख होता है. गर्भ में आकर भी कोई जीविका पतन भी हो जाता है यह शरीर भी अपवित्र है. और यहांके भोग भी रोग के समान है. इत्यादि विचार करने से देवोंको गर्भ में प्रवेश करने के ममान दुःख होता है.

इध किं परलोगे वा सत्तू पुरिसस्स हुंति णीया वि ॥

इहइं परत्त वा खाइ पुत्तमंसाणि सयमादा ॥ १८०४ ॥

यत्र वादाति पुत्रस्य जनन्यपि कलेवरम् ॥

तत्तत्रामुत्र वा यंधौ शत्रुत्वे कोऽस्ति विस्मयः ॥ १८७५ ॥

विजयोदया—इहं परलोगेवा इहलोके परलोके वा, पुरिस्स गीया वि सत्तू होति वंधवोपि शत्रवो भवति पुरयस्य । इहं परत्त वा स्याइ इह वा परत्त वा अत्ति, पुत्तमंसाणि सयमादा पुत्रस्य मांसं आत्मीयजननी अत्ति किमतं पर कण्ठे ॥

मूलारा—इधइ इहलोके । परं कष्टमिति भावः ॥

अर्थ—इह लोकमें अथवा परलोक में यधु भी पुरुषका मनुष्यका शत्रु होता है इस लोकमें जननी भी माता भी अपने पुत्रका मास खाती है, अहह—इस से अधिक कष्टकारक क्या होगा ?

होजण रिऊ बहुदुक्खकारओ वंधवो पुणो होदि ॥

इय परिवट्ठइ णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च जये ॥ १८०५ ॥

बंधू रिपू रिपुवधुर्जायते कार्यतस्ततः ॥

यतो रिपुत्ववधुत्वं संसारे न निसर्गतः ॥ १८०६ ॥

विजयोदया—होजण रिऊ रिपुत्वेत्वा पूर्वं । यधुदुक्खकरो विचित्रदु खकारी । स एव पुणो पञ्चादपि । यधवो होदि प्रियवांधवो भवति । इय परिवट्ठदि एव परिवर्तते । णीयत्तण च सत्तुत्तण च शत्रुत्वं च । जगे जीवलोके ॥

मूलारा—णीयत्तणं वधुन्वयम् ॥

अर्थ—जो अपना कट्टर शत्रु है जिसने नाना प्रकारके दुःख दिये थे वह भी यधु-प्रिय बांधव होता है, इस प्रकार शत्रुत्व और वधुत्वका जगतमें परिवर्तन होता रहता है.

विमलाहेटु वंकेण मारिओ णिययमारियागब्भे ॥

जाओ जाओ जादिंमरो सुदिही सकम्मेहिं ॥ १८०६ ॥

वंकेण विमलाहेतोः सुहृष्टिर्विनिपातितः ॥

निजांगनांगजो भूत्वा जातो जातिस्मरो बत ॥ १८०७ ॥

विजयोदया—विमलाहेटु विमलनिमित्तं । वंकेण मारिदो वक्राब्धेन भ्रुतकेन मारित । क सुदिही सुहृष्टिनामयेयः । सकम्मेहि आत्मीये कर्मभिः । जादो उत्पन्न । क निययमारियागब्भे निजभार्यागर्भे जादिंमरो जादो जातिस्मरस्व जातः ॥

मूलारा—वंकेण वक्राख्येन स्वशिष्येण । मारिदो विमलानाम्ना स्वभार्यया सह मैथुन कुर्वाणो हतः । मारिया भार्या । जारिभरो जातिस्मरत्वा जातः । सुदिह्नी सुदृष्टिर्नामनगरवैज्ञानिकः ।

अर्थ—विमला नामक स्त्रीके वश होकर वक्र नामक पुरुषने अपने स्वामीका वध किया वह स्वामी उसही स्त्रीके उदरमें कर्मोदयेसे गर्भ रूप होकर उसका पुत्र होकर उत्पन्न हुआ उसका सुदृष्टि नाम रक्खा गया उसको कालावरसे जातिस्मरण हो गया तब मैं अपनी स्त्रीमें ही पुत्र उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा उसको ज्ञान हो गया

होऊण वंभणो सोत्तिओ खु पाव करित्तु माणेण ॥

सुणगो व सुगरो वा पाणो वा होइ परलोए ॥ १८०७ ॥

ओत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा कृत्वा मानेन पातकम् ॥

सूकरो मंडलः पाणो शुगालो जायते वक्रः ॥ १८०८ ॥

विजयोदया—होऊण वंभणो सोत्तिओ ओत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा । माणेण जातिमेदेन । गुणिजननिदवमानाश्च पाप करित्तु पाप कृत्वा नीचैर्गोत्रमुपचित्य । सुणगो व सुगरो वा पाणो वा होइ परलोए इवा सूकरश्चाण्डालो वा भवति परजन्मनि ॥

मूलारा—माणेण जातिमेदेन । गुणिजननिदावमानाऽऽया नीचैर्गोत्रमुपार्ज्य शुनकादिर्भवतीति संवधः ॥

अर्थ—यह जीव ओत्रिय ब्राह्मण होकर जातिमदसे गुणिजनोका अपमान करता है, निंदाकरता है इस कार्यसे पापसंचय करके अर्थात् नीच गोत्र कर्मका वध करके परमवर्गे कुत्ता, अथवा सुवर किंवा चांडाल होता है.

दारिदं अद्धितं णिंदं च शुदि च वसणमब्बुदयं ॥

पावदि बहुसो जीवो पुरिसिस्थिणुंसयत्तं च ॥ १८०८ ॥

निंदां दारिद्र्यमैश्वर्यं पूजामभ्युदयं स्तुतिम् ॥

स्त्रैणं पौस्नं चिरं जीवः षंडत्वं प्रतिपद्यते ॥ १८०९ ॥

विजोदया—दारिदं दारिद्र्य । बहुसो जीवो पावदि बहुश जीव प्राप्नोति लाभतरायोदयात् । अद्धितं आढ्यतां पूर्ववदेव संवध. पावदि बहुसो इमो इत्यनेन । लाभतरायश्रेयोपशमादीप्सितानि द्रव्याणि लभते, लब्धानि च नश्यति ॥



तत आढ्यतां । निंदा श्रवणकञ्चालः कुणः काणो दुर्भगो मूर्खः कृपण इत्यादिकां ॥ धुर्वि च स्तुतिं च कुलीनो रूपवान् चाग्मी आढ्य प्राज्ञ इत्यादिका यशस्कीर्तयद्यात् । पत्र वसण तु स असेद्योदयात् । अभ्युदय देवमनुजभवज सुखं सेद्योदयात् । पुरिसिन्धुपुत्रयत्त च पुरुषत्व च स्त्रीत्व च नपुंसकत्व च बहुश प्राप्नोति ॥

मूलारा—अद्विक्त आढ्यत्वं कामान्तरायक्षयोपशमाद्धनेष्टत्वं प्राप्नोति । निंदं श्रवणः, पाणो, मूर्खः, कृपण इत्यादिक निंदा प्राप्नोति अयशः कीर्त्युदयात् ॥ वसण दुःखः । अभ्युदय उत्तमदेवत्वमानवत्वभवप्रभवं सुखं सेद्योदयात् ॥

अर्थ—इस जीवको अनेकवार लाभान्तराय कर्मका उदय होनेपर दारिद्र्य प्राप्त होता है वैसे इसको अनेकवार धनप्राप्ति होनेसे धनाढ्यपनाभी हुआ था । लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे यह जीव धनाढ्यभी हुआ था । बहुतवार मिला हुआ धनभी नष्ट हुआ है इसकी बहुतवार तू चाडाल है, लगडा है, अथा, कृपण, मूर्ख है, ऐसी निंदा भी हुई है अयशस्कीर्ति कर्मके उदयसे जगतमें जीवकी निंदा होती है इसी प्रकार असातवेदनीय कर्मके उदयसे अनेकप्रकारके सकटासे यह जीव ग्रस्त होता है । देवगतिके और मनुष्यके सुखोंको अभ्युदय कहते हैं । यह अभ्युदय सातवेदनीय कर्मके उदयसे प्राप्त होता है यह जीव पुरुष, स्त्री और नपुंसक इन पर्यायोंकोभी अनेकवार प्राप्त हुआ है

कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगस्मि ॥

कारी वि जणसमक्खं होइ अकारी सपडिभोगो ॥ १८०९ ॥

निर्दोषमपि निःपुण्य सदोषं मन्यते जनः ॥

सदोषमपि पुण्याढ्यं निर्दोषं पुरुषः पुनः ॥ १८१० ॥

विजयोक्त्या—अकारी अपि दोषमकुर्वन्नपि कारी भवति, अप्पडिभोगो जनो पुण्यरहितो जन । कारीवि कुर्वन्नप्यनाचार, जणसमक्ख जनाना प्रत्यक्ष अकारी होइ दुराचारी न भवति । सपडिभोगो पुण्यवान् ॥

मूलारा—कारी दोषकर्ता । अकारी दोषमकुर्वन्नपि । अप्पडिभोगो अपुण्यः । कारी वि दोष कुर्वन्नपि । सपडिभोगो सपुण्यः ॥

अर्थ—जो मनुष्य पुण्यरहित होता है तब उसने दोष नहीं भी किये हो तो भी वह दोषी माना जाता है तथा जब पुण्योदय होता है तब अनाचारी होकरभी निर्दोषी माना जाता है लोक उसको निर्दोष समझते हैं

सरिसीए चंदिगाये कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो ॥

सरिसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥ १८१० ॥

निसर्गतः कोपि समेऽपि बल्लभो विचेष्टतेऽन्योऽसुमतामवल्लभः ॥

समानरूपे सति चंद्रिकोदये प्रियो हि पक्षो धवलः प्रियोऽपरः ॥ १८८१ ॥

विजयोदया—सरिसीए चदिगाए चट्टिकाया समानायामपि । कालो वेस्सो कालपक्षो द्वेष्ट्य । पिओ जहा जोण्हो शुक्लपक्षो यथा प्रिय । सरिसे वि तहाचारे सदशव्याचारे द्वयो पुसो ॥ कोई वेस्सो पिओ कोई कश्चिद् द्वेष्ट्यः प्रिय ॥

मूलारा—चदिगाए ज्योत्स्नाया समानाया सलामपि । कालो कृष्णपक्ष । जोण्हो सितपक्ष । कोई दुर्भगनाम-कर्मोदयं प्रातः ॥

अर्थ—चद्रका प्रकाश दोन पक्षमें समानही रहता है तोभी कृष्णपक्ष लोकोको अप्रिय लगता है और शुक्लपक्ष प्रियसा मात्स्य पढता है । वैसे आचार समान होने परभी किसीको लोक अप्रिय समझते हैं और किसीको प्रिय समझते हैं

इय एस लोगधम्मो चित्तिज्जंतो करेइ णिव्वेद ॥

धण्णा ते भयवंता जे मुक्का लोगधम्मादो ॥ १८११ ॥

चिचिंत्त्य मानं जगतो विचेष्टितं विचित्ररूपं भयदायि दुर्गमम् ॥

करोति वैराग्यमनन्यगोचरं दुरीहित पूर्वमिवोदयं गतम् ॥ १८८२ ॥

विजयोदया—इय एस लोगधम्मो अयमेव प्राणिधर्म । चित्तिज्जंतो चित्तमानो । करेइ णिव्वेद निर्वेद करोति । धण्णा ते भयवता पुण्यवतस्ते यतय । जे मुक्का लोगधम्मादो ते मुक्का । प्राणिधर्मोद्घाचर्णितान् ॥

प्राणिस्वरूपचित्तामुपसंहरस्तत्फलमाह—

मूलारा—लोगधम्मादो प्राग्वर्णितप्राणिस्वरूपे अनासक्तचित्ता इत्यर्थः ॥

अर्थ—इस प्रकार यह लोकोका धर्म है इसका विचार कर कोई महात्मा विरक्त होता है वे पूज्य ऋषि धन्य हैं जिन्होंने लोकधर्मका त्याग किया है ।

विज्जू व चंचलं फेणदुब्बलं वाधिमहियमच्चुहदं ॥  
 पाणी किह पेच्छंतो रमेज्ज दुक्खुद्धुदं लोगं ॥ १८१२ ॥  
 लोकस्वभावं चपलं दुरंतं दुःखानि दातुं सकलानि शक्तम् ॥  
 निरीक्षमाणा न बुधा रमते भयकरं व्याघ्रमिवानिवार्यम् ॥ १८८३ ॥

इति लोकानुपेक्षा ॥

विजयोदया—विज्जू व चंचल विद्युदिव चंचल, फेणदुब्बल फेनमिव दुर्बल । वाधिमहियमच्चुहद व्याधि-  
 भिर्मथितं मृत्युना हतं । लोग पेच्छंतो लोक पश्यन् । पाणी किध रमेज्ज ज्ञानी कथं तत्र रतिं कुर्यात् ॥  
 तदनासक्तिसरण व्यनक्ति—

मूलारा—फेणदुब्बल नीरडिंडीरवन्निःसारम् । पाणी रत्यरतिकारणञ्च । दुक्खुद्धुद दुःखेन कपित । उक्त च—  
 तद्विद्वच्चपलं फेनदुर्बलं व्याधिपीडितम् ॥

ज्ञानी पश्यन्नरतिं कुर्यात्कथं दुःखादित जगत् ॥

लोकानुपेक्षा ॥—

अर्थ—यह जगत् विजलीके समान चंचल है, समुद्रके फेसके समान बलहीन है, व्याधि और मृत्युसे  
 पीडित हुआ है ज्ञानी पुरुष दुःखोंसे भरा हुआ यह लोक देखकर उसमें किसी प्रीति करते हैं, अर्थात् ज्ञानी इस लो-  
 कसे प्रेम नहीं करते हैं इसके ऊपर वे माध्यस्थ भाव धारण करते हैं.

॥ लोगधम्मचिन्ता ॥ अशुभत्वानुपेक्षा प्रक्रम्यते ॥

असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं ॥  
 एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खवारो धम्मो ॥ १८१३ ॥

अशुभा सन्ति निःशेषाः पुसां कामार्थविग्रहाः ॥

शुभोऽत्र केवलं धर्मो लोकद्वयमुखप्रदः ॥ १८८४ ॥

विजयोदया—असुहा अत्था कामा य हुति अशुभा अर्था. कामाश्च भवति । देहो य सव्वमणुयाण देहश्च सर्व

मनुजानाम् ॥ एकको चेव शुभो एक एव शुभः पुन । सत्त्वसुखदायरो धम्मो सर्वपा सौख्यानामाकरो धर्मे ॥

धर्म्यध्यानशुद्धयर्थं अशुचित्वं गाथाप्रकेनावुचितयति—

अशुचिश्चाशुभो ऽमेव्यश्च भावो भण्यते । तत्रादौ दुःखैकमूलत्वेन अर्थकामकायानामशुभत्वं व्यवस्थाप्य लोकद्व-  
यसुखप्रदत्वेन धर्मस्य शुभत्वं भावयति—

मूलारा —स्पष्टम् ॥

अशुचित्वानुपेक्षाका वर्णन—

अर्थ—अर्थं पुरुषार्थं और कामपुरुषार्थं अशुभ है सर्व मनुष्योंका देह अपवित्र है एक धर्मही पवित्र है  
और वही सर्व सौख्योका दाता है

अर्थस्याशुभता व्याचष्टे—

इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्चं ॥

अत्यो अणत्थमूलं महाभयं मुत्तिपडिपंथो ॥ १८१४ ॥

अर्थो मूलमनर्थानां निर्वाणप्रतिबंधकः ॥

लोकद्वये महादोषं दत्ते पुंसां दुरुत्तरम् ॥ १८८५ ॥

विजयोदया—इहलोगियपरलोगियदोसे येहिकान् पारलौकिकाश्च दोषान् । पुरिसस्स आवहइ णिच्च पुरुषस्य  
आवहति नित्यं । अत्यो अणत्थमूलं अर्थोऽनर्थानां मूलं, महाभयस्य मूलत्वान्महाभयं । मुत्तिपडिपंथो मुक्तेरर्गलीभूतः ॥

अर्थस्याशुभत्वं समर्थयते—

मूलारा—दोसे दुःखानि । अणत्थमूलं अधर्मविषदादिनिदानं । महाभयं विपुलभीतिनिमित्तत्वात् । मुत्तिप-  
डिपंथो मुक्तेरर्गलीभूतः ॥

अर्थकी अशुभताका वर्णन—

अर्थ—इह लोकके दोष और परलोकके दोष अर्थ पुरुषार्थसे मनुष्यको भोगने पड़ते हैं, अर्थ पुरुषार्थके  
वश होकर पुरुष अन्याय करता है, चोरी करता है और राजासे दंडित होता है और परलोकमें नरकमें नाना

दुःखोंका अनुभव लेता है इसलिए यह अर्थ अर्थात् धन अनर्थका कारण है, महाभयका कारण है मोक्ष प्राप्तिके लिए यह अर्गलके समान प्रतिबंध करता है.

कामस्याशुभतमतामाचष्टे—

कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा ॥

उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा ॥ १८१५ ॥

निंयस्थानभवाः कामा भीमा लाघवहेतवः ॥

दुःखप्रदा द्वये लोके स्वल्पकालाः सुदुर्लभाः ॥ १८८६ ॥

विजयोदया—कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अशुचिकुटिभवा, अलघुत्वकारिणः । अप्पकालिया कामा अल्प कालेषु भवा । कामकाले उवधो लोए लोकद्वये । दुःखावहाश्च । ण य हुंति ते सुलभा नैव ते सुलभा भवति ॥

कामाशुभत्वमाख्याति—

मूलारा—कुणिमकुडिभवा अशुचित्वपरशरीरप्रभवाः । अप्पकालिया स्तोक्कालभवाः । कामा काम्यमानाः । इन्द्रियार्थाः तत्प्रभवव्रीतयो ना । उवधो लोए लोकद्वये ॥

काम पुरुषार्थ अत्यन्त अशुभ है—

अर्थ—यह काम पुरुषार्थ अपवित्र शरीरसे उत्पन्न होता है इससे आत्मा हलकी होता है, इसकी सेवासे आत्मा दुर्गतिमें दुःख पाती है यह पुरुषार्थ अल्पकालमें ही उत्पन्न होकर नष्ट होता है और प्राप्त होनेमें कठिन है.

अट्टिदलिया छिरावक्कवद्धिया मंसमट्टियालिच्चा ॥

बहुकुणिममण्डभरिदा विहिंसणिज्जा खु कुणिमकुडी ॥ १८१६ ॥

मांसलिप्ता सिरावद्धा कुथितास्थिदलाचिता ॥

सतां कायकुटी कुत्स्या कुयितैर्विविधैर्भृता ॥ १८८७ ॥

विजयोदया—अट्टिदलिया अस्थिदलनिष्पन्ना छिरावक्कवद्धिया सिरावत्कलवद्धा । मंसमट्टियालिच्चा मांस सृत्तिकालिप्ता । बहुकुणिममण्डभरिदा अनेकाशुचिद्रव्यपूर्ण विहिंसणिज्जा खु कुणिमकुडी जुगुप्सनीया अशुचिकुटी ॥

देहाशुचित्व भीमासते—

मूलारा—अट्टिदलिया अस्थीनि दूरानि पत्राणि यस्यां सा अस्थिदलिका शिरास्त्वग्बद्धा । कुणिमकुट्टी कुटीवा त्रागशब्दस्य गतार्थत्वाद्भोपः ॥ उक्तं च—

अस्थिजालदला स्नायुवल्ग्वद्धातिनिदिता ॥

अशुन्यगकुटी मासमृत्तिकाकृतलेपना ॥

अर्थ—इस गाथामें शरीररूपी झोपड़ीका वर्णन करते हैं यह शरीररूपी झोपड़ी हाडोंमें बनी है. अस्थिरूपी पत्तोंसँ यह झोपड़ी रची गई है. नसा जालरूप वकलसे बाँधी गई है. मांसरूपी मट्टीसे ये लीपी गई है अपवित्र रक्तादि पदार्थोंसे भरी हुई है और शुष्कता उत्पन्न करनेवाली है.

इगालो धोववतो ण सुद्धिसुवयादि जह जलादीहिं ॥

तह देहो धोववतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं ॥ १८१७ ॥

निसर्गमलिनं कायो धान्यमानो जलादिभिः ॥

अंगार इव नाघाति स्फुट शुद्धिं कदाचन ॥ १८८८ ॥

विजयोदया—इगालो धोववतो प्रक्षाल्यमाना मयी न शुद्धिसुपयाति, न शुद्धतासुपयाति । जह यथा । जलादी हिं जलादिभिः, तह देहो धोववतो तथा शरीरं प्रक्षाल्यमान । ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं न याति शुद्धिं जलादिभिः ॥

वेदस्याकाक्यक्षोधनत्वमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—अंगारको पानी वगैरहके द्वारा धोनेपर भी वह अपनी कालावर्ण छोटकर सफेद नहीं बनता है । वैसे शरीरको धोनेसे शुद्ध नहीं होता है.

सलिलादीणि अमेद्भं कुणइ अमेज्झाणि ण दु जलादीणि ॥

मेज्झममेज्झं कुव्वंति सयमवि मेज्झाणि संताणि ॥ १८१८ ॥

मेध्यान्यमेध्यानि करोत्यमेध्य सद्यः शरीरं सलिलानि नूनम् ॥

अमेध्यमिश्राणि पुनः शरीरं न तानि मेध्य विदधात्यमेध्यम् ॥ १८८९ ॥  
विजयोदया—सलिलादीनि द्रव्याणि शुचीनि । अमेज्ज कुणदि अमेध्य करोति । अमेज्जाणि अशुचीनि । न तु जलादीनि मेज्जं कुणदि नैव जलादीनि शुचितामापादयन्तीति । अमेज्जाणि अशुचीनि सयममेज्जाणि संताणि अमेध्ययोगात् स्वयमशुचीनि सति ॥

जलादिशुचित्वादौऋज्य कायाशुचित्वस्याचष्टे—

मूलारा—अमेज्जं स्वभावेनाशुचिभूतं शरीरं कर्तुं । उक्तं च—

अशुचिं शरीरं तोयादिकानि विदधात्यमेध्यरूपाणि ॥

सलिलादीनि न मेध्यं विदधति देहं ह्यमेध्यमयम् ॥

एषा प्राकृतटीकाकारमतेन व्याख्या—अन्ये सयममेज्जाणीति पठित्वा अमेध्ययोग्यास्वयमशुचीनि सतीत्यर्थमाहुः ॥

तदुक्तम्—

मेध्यान्यमेध्यानि करोत्यमेध्यं सद्यः शरीरं सलिलानि नूनम् ॥

अमेध्यमिश्राणि पुनः शरीरं न तानि मेध्य विदधत्यमेध्यम् ॥

अपरे पुनः सलिलादीनित्यादि सूत्रं सामान्येन व्याख्यायोत्तरसूत्रेण प्रकृतं देहाशुचित्व अनुसंदधते ।

अर्थ—पानी वगैरह पवित्र पदार्थोंको देह अपने संसर्गसे अपवित्र बना देता है. पानी स्वय अपवित्र नहीं है देहके संसर्गसे उसको अपवित्रता आती है

तारिसयममेज्जमयं सरीरयं किह जलादिजोगेण ॥

मेज्जं हवेज्ज मेज्ज ण तु होदि अमेज्जमयघडओ ॥ १८९१ ॥

अमेध्यनिर्मितो देहः औध्यमानो जलादिभिः ॥

अमेध्यैर्विविधैः पूर्णो न कुःम इव शुद्धयति ॥ १८९० ॥

विजयोदया—तारिसयममेज्जमय शुचीनामशुचित्वाकरणसमर्थाशुचिमयशरीरक । किह कथं । जलादिजोगेण जलादिसंघेन । मेज्ज हवेज्ज शुचिर्भवेत् ॥ अमेज्जमय घडओ अमेत्यमयो घट । न खु मेज्जो होदि नैव शुचिर्भवेति ॥

... मूलरा-तारिसगामेज्जमय शुचिद्रव्याणामशुचित्वापादनसमर्थेनामेव्येन पुद्गलप्रचयेन निर्वृत्त सत् । अन्ये तारि-  
सयममेज्जमय इति मत्वानुतत्रमाहु । तत्रयथा—

तान्धममेधमयं शरीरक किं जलादियोगेन ॥

मेधं भग्द्विमेधेनामेधमयो घटो भवति ॥

अर्थ—पवित्र पदार्थोको अपवित्र वनानवाला यह शरीर जलादिकोंके द्वारा शुद्ध कैसा हो सकता है ?  
विश्रुते भरा हुआ घट क्या पवित्र हो सकता है ? नहीं कभी नहीं

यदि शरीरमशुचि किं तर्हि शुचीत्यत्राह—

णवरि हु धम्मो मंज्झो धम्मथस्स वि णमंति देवा वि ॥

धर्मेण चैव जादि खु साहू जल्लोसधादीया ॥ १८२० ॥

भवन्ति जल्लोपघयो सुमीन्डा धर्मेण देवाः प्रणमन्ति सेन्द्राः ॥

यतस्ततो नास्ति ततः प्रशस्तः कल्याणविआणनकल्पवृक्षः ॥ १८११ ॥

इति अशुच्यनुमेक्षा ।

विजयोदया—णवरि हु धम्मो मंज्झो धम्मथस्स वि णमंति देवा वि । कस्मात् खुशन्दो यस्मादित्यर्थे वर्तते । धम्मथस्स  
चि णमंति देवा वि यस्माद्धर्मं गन्तव्ययात्मके स्थितस्य देवा अपि नमस्कार कुर्वन्ति । धर्मेण शुचिना योगादात्मपि शुचिरिति,  
धर्मेण चैव जादि खु साहू धर्मेण प्राप्नुवन्ति साधव । किं जल्लोसधादीया जल्लोपघ्यादिकमुद्धयतिशय ॥ अशुभत्त ॥  
यदेवमशुचिः काय किं तर्हि परं शुचि इत्यत्राह—

मूलरा— णवरि केवल । णवरि हु इति पाठे धर्मं एव केवलं मेध्य इत्यर्थः । धम्मथस्स रत्नत्रये तिष्ठतः  
साधो । जल्लोसधादीया सर्वगीणमलौपघविघौपधप्रभृतिनाः ॥ अशुचित्वानुमेक्षा ॥

अर्थ—हम जगतमें धर्म ही पवित्रतम वस्तु है, जो रत्नत्रयात्मक धर्ममें स्थिर है, उसको देव भी बंदन  
करते हैं इसके सयोगसे आत्माभी पवित्र हुआ है साधु धर्मके प्रसादसेही जल्लोपधादि ऋद्धीको प्राप्त कर सकते  
हैं अशुचित्वानुमेक्षा समाप्त.



आत्मवानुपेक्षा निरुच्यते—

जन्मसमुद्रे बहुदोसवीचिए दुःखजलराइण्णे ॥

जीवस्स परिभमणम्मि कारणं आसवो होदि ॥ १८२१ ॥

दुःखोदके भवाम्भोधौ कषायैद्रियवाचरैः ॥

आस्रवः कारणं ज्ञेयं भ्रमतो भवभागिनः ॥ १८२२ ॥

विजयोदया—जन्मसमुद्रे जन्मसमुद्रे । बहुदोसवीचिए विचित्रदोषतरंगे । दुःखजलराइण्णे दुःखजलचरेरा-  
कीर्णे । जीवस्स परिभमणम्मि जीवस्य परिभ्रमणे यत् कारणं तत् आसवो आस्रवो भवति । ननु च कर्माणि कारणाणि  
नत्वास्रवः ॥ अत्रोच्यते ॥ कर्मणा परिभ्रमणकारणानां कारणत्वादात्तव कारणमित्युक्तं ॥  
धर्म्यध्याने आस्रव चतुर्दशगाथाभिरनुचितयति—

मूलारा—संसारपरिभ्रमणकारणकर्मणा कारणत्वात् ॥ आसवो मिव्यात्वादिः ॥

आस्रवानुपेक्षा का वर्णन—

अर्थ—यह जन्मसागर विचित्र दोषरूपी तरंगोंसे व्याप्त हुआ है, दुःखरूपी नक्रमकरादि जलचर प्राणि-  
ओंसे यह भरा हुआ है जीवके परिभ्रमणमें जो कारण है उसको आस्रव कहते हैं कर्म जीवको संसारमें घुमाता  
है परन्तु यह आस्रव उनका भी कारण है अतः यही संसारमें घुमाता है ऐसा आचार्योंने कहा है

संसारसागरे से कम्मजलमसंडुस्स आसवदि ॥

आसवणीणावाए जह सलिलं उदधिमज्झम्मि ॥ १८२२ ॥

कर्मास्रवति जीवस्य संसारे विपयदिभिः ॥

सलिलं विविधै रन्ध्रैः पोतस्येव पयोनिधौ ॥ १८२३ ॥

विजयोदया—संसारसागरे संसारसमुद्रे । से तस्य । असंडुस्स सवररहितस्य सम्यक्त्यस्यमक्षमामार्धावर्जं  
सतोपपरिणामरहितस्य । कम्मजलमासवदि क्षानावरणादिकर्मजलमास्त्वत्यागच्छति । आसवणीणावाए आस्रवणीलायां  
नाधि यथा सलिलं प्रविशति । उदधिमज्झे समुद्रमध्ये ॥

मूलारा—कम्मजलं कर्मशब्देनात्र कर्मपरिणामोन्मुलः पुद्गलरूढो गृह्यते । कर्म जलमिवेत्युपमासासः । अस्-

बुद्धस्स सम्यक्त्वाद्यात्मकसंस्वररहितस्य । आसवदि कर्मत्वपरिणित्योग्यतामागच्छति प्रविशति च । आसवणीणावाए आस्रवणशीलाया नावि ॥

अर्थ—जो जीव इस ससारसमुद्रमें संस्वरहित प्रवृत्ति करता है अर्थात् जो जीव सम्यक्त्व, संयम, उत्तमधर्मा, मार्दव, आर्जव, सतोप इन परिणामोंसे रहित है उसमें कर्मरूपी जल प्रवेश करता है जैसे छिद्रसहित नौकामें पानीका प्रवेश होनेसे वह समुद्रमें डुबती है वैसे यह आत्माभी ससाररूपी समुद्रमें कर्मरूपी जल प्रवेश करनेसे डूबता है

धूली गेहुत्तुप्पिदगत्ते लग्गा मलो जघा होदि ॥

मिच्छत्तादिसिणेहोछिद्रस्स कम्मं तथा होदि ॥ १८२३ ॥

कर्मसंबधत्ता जाता रागद्वेषाक्तचेतसः ॥

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रजोराशिरिवानिशम् ॥ १८२४ ॥

विजयोदया—धूली गेहुत्तुप्पिदगत्ते लग्गा धूली स्नेहाभ्यक्तशरीरलक्षा । जहा मलो होदि यथा मल भवति ॥ मिच्छत्तादिसिणेहोछिद्रस्स मिथ्यात्वासंयमकपयपरिणामस्नेहाभ्यक्तस्यात्मन प्रवेशेष्ववस्थित कर्मप्रायोग्यं द्रव्यं । तथा कम्म होदि तथा कर्म भवति । एतदुक्त भवति—आत्मपरिणामान्मिथ्यात्वादिकात् विशिष्ट पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमतीति कर्मत्वपर्यायेहेतुरात्मनः परिणाम आस्रव इत्यर्थः ॥

मूलारा—गेहुत्तुप्पिदगत्तेत्त तैलाद्यभ्यक्तशरीरे । मिच्छत्तादिसिणेहोछिद्रस्स मिथ्यात्वासंयमकपयस्नेहाभ्यक्तस्य जीवस्य । कम्मं प्रवेशेष्ववस्थितं कर्मप्रायोग्यं द्रव्यं मलो इत्यनुष्ठेर्मलो भवतीति सम्बधः । एतदुक्तं भवति—आत्मपरिणामान्मिथ्यात्वादिकाद्विशिष्टं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमते तेन विशिष्टस्य पुद्गलद्रव्यस्य कर्मत्वपर्यायेहेतुर्भिष्टगत्वाद्विजीवपरिणाम आस्रव इत्यर्थः ।

अर्थ—जैसे जिसने अपने सर्वांगमें तेल लगाया है ऐसे मनुष्यके शरीरपर धूली आकर चिपक जाती है और वह मल बनती है वैसे मिथ्यात्व, असंयम, कपायात्मक परिणामरूपी तेलसे लिप्त हुए आत्मप्रदेशोंमें चैठा हुआ कर्मरूप परिणतिको प्राप्त होनेवाला पुद्गल द्रव्य कर्म बन जाता है. इस विवेचनका यह अभिप्राय है—मिथ्यात्वादि-

रूप आत्मपरिणामों का निमित्त पाकर विशिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मपर्यायको धारण करता है. इस लिये कर्मोत्पत्तिकपर्यायको आत्मका मिथ्यात्वादिरूप परिणाम कारण है उसीको आत्मव भावासव कहते हैं.

ओगाढगाढनिचिदो पुगलदव्वेहि सव्वदो लोगो ॥

सुहमेहि वादरेहिं य दिसादिस्सेहिं य तहेव ॥ १८२४ ॥

अद्वयैश्चक्षुषा दृश्यैः स्थूलैः सूक्ष्मैश्च पुद्गलैः ॥

विचित्रैर्निचितो लोकः कुंभो घूमैरियाभितः ॥ १८२५ ॥

॥ विजयोदया—ओगाढगाढनिचिदो अनुपेयगाढ निचित । पुगलद्वेहि पुद्गलद्रव्ये, नव्वदो लोगो काल्पन्य लोक । सुहमेहि वादरेहिं य सूक्ष्मे स्थूलेष्व । दिसादिस्सेहिं चक्षुषा दृश्यैरद्वयैश्च । तहेव तथैव । एतया गायया कर्मत्वपर्याययोग्याना पुद्गलद्रव्याणा सर्वलोकाकारो यद्गुणामस्तित्वमाप्न्यात ॥

कथं जीवप्रदेशेऽवस्थितत्वं कर्मयोग्यपुद्गलाना मभवतीत्याशंकायामाह—

मूलारा—ओगाढगाढनिचिदो अवगाहन्मवगाढ परस्परानुपेयं तेनागाढ निर्भरं निचिदो व्याप्तः । दिसा-दिस्सेहिं चक्षुषा दृश्यैरद्वयैश्च ।

अर्थ—इस जगत्के प्रदेशोंमें, पुद्गलद्रव्य अतिशय निविडरूपसे भरा हुआ है. अर्थात् लोकाकाशका एक भी प्रदेश इस पुद्गलद्रव्यसे रिक्त नहीं है इस लोकाकाशमें सूक्ष्म, स्थूल, नेत्रसे देखने योग्य व नहीं देखे जानेवाले ऐसे पुद्गल भरे हैं इस गायामे कर्मत्वपर्यायको प्राप्त होनेकी योग्यता रखनेवाले बहुतेरे पुद्गलद्रव्योंका आकाशमें अस्तित्व है ऐसा सूचित होता है

के ते आत्मवा इत्यत्राह—

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होति ॥

अरहंतवुत्तअत्येषु विमोहो होइ मिच्छत्तं ॥ १८२५ ॥

मिथ्यात्वाव्रतकोपादियोगानत्रासवान्विदुः ॥

मिथ्यात्वमर्हदुक्तानां पदार्थानामरोचनम् ॥ १८२६ ॥

विजयोदया—मिच्छत अविरमण कस्तायजोगा य आसवा हँति मिथ्यात्वमसयम. कयाययोगाश्च आसवा भवति । आसवदयगच्छति । कर्मत्वपर्याय पुद्गला पमि कारणभूतैरिति मिथ्यात्वादय आसवदब्धवाच्या ॥ तेषां स्रवेणु मिथ्यात्वस्वरूप कथयति । अरहतुल्यतथ्येसु अर्हदुक्तेषु अनतद्रव्यपर्यायत्मकेषु धिमोहो मिच्छतं होदि अश्रद्धान मिथ्यात्व भवति । असयममाचष्टे ॥

के ते आसवा इत्यत्राह—

मूलार—आसवा आसवत्यागच्छति कर्मत्वपर्यायं पुद्गला यैरित्यासवा मिथ्यात्वादयश्चत्वारः प्रमादानां कयाया- न्तर्भावाद्युपगनुपदानं । अत्थेसु अतंतद्रव्यपर्यायत्मेणु भावेणु । विमोहो विपरीताभिनिवेशलक्षणमश्रद्धानम् ।

वे आसव कोनसे हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आसवके प्रकार हैं. जिनका निमित्त पाकर पुद्गलाको कर्मत्वपर्याय प्राप्त होता है ऐसे जो कारण उनको आसव कहते हैं. अर्थात् मिथ्यात्वादिको आसव कहना यह अन्वर्थक है इन आसवोंमेंसे मिथ्यात्वनामक आसवका स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये—अर्हद्भगवानने अनत द्रव्यपर्यायात्मक जीवादिक पदार्थोंका जो स्वरूप कहा है उसमें विमोह अर्थात् अश्रद्धान करना वही मिथ्यात्व है.

अविरमणं हिंसादी पंच वि दोसा हवंति णायव्वा ॥

कोधादीया चत्तारि कसाया रागदोसमया ॥ १८२६ ॥

हिंसादयो मता दोषाः पंचाप्येवमत्रतसंज्ञकाः ॥

कोपादय कषयाः स्यू रागद्वेषद्वयात्मकाः ॥ १८१७ ॥

विजयोदया—अविरमण अविरमणं नाम । हिंसादि पंच वि दोसा हिंसानुतस्तेयाव्रलपरिग्रहाख्या पञ्चापि दोषा । हवति णादव्वा अविरमण भवतीति ज्ञातव्या । प्रमत्तयोगात्म्याणव्यपरोपण, अमदभिधानं, अदत्तादान, मैथुनकर्म विशेष, मूर्खो चेति पत्ते परिणामाश्चविरमणशब्देनोच्यते । अविरमण हि निवृत्तिस्ततोऽन्यत्वात् । प्रवृत्तिरूप हिंसाद्वयः अविरमण इत्युच्यते । कोधादीया क्रोधागतमायालीया । चत्तारि चत्वार । कसाया कषया इत्युच्यते । रागद्वेषमयदुःख क्रमात्मकाः ॥

मूलार—रागदोसमया रागद्वेषात्मकाः ।

अर्थ—हिंसा, असत्य भाषण, चोरी करना, मैथुन सेवन, परिग्रह ऐसे पांच दोषोंको अविरति कहना

उस अभिलाषामें कर्मबंध होता है जो कि दूख देनेमें लागण है यह विषयाभिलाषा प्राणिजोंमें हमेशा उत्पन्न होती है परंतु वह सुखके बदले आत्माका अधिकारी करती है यहां विषयाभिलाषामें आपसमें व्यवस्था कदा है.

विषयाभिलाषास्य सुष्ठुवा प्रकाशनेरप्यानेः—

कोई उहिज्ज जह चंदण णरो दाळगं च बहुमोद्ध ॥

णामिद्ध मणुस्समंभवं पुरिसो तह विमयल्लोद्धेण ॥ १८३० ॥

उट्ठियथंनुगे येन मालुत्त प्राप्प मोज्जने ।

अन्नाथं प्लोपेने दांठं जन्मोन्नमसो स्फुटन् ॥ १८३१ ॥

विजयोद्धा—जोई उहिज्ज जह चण्डण दाळगं देनामने । एत्थं च सुत्तं णिळ न, यथा दहते अस्मादिकं स्वयं अनुदिश, एतां णामेति मणुस्समंभवं तथा नाजदति मापुरनं । उट्ठियत्तापुत्ताल्लेनं । पुरिसो तां विमयल्लोद्धेण । निहु—अतिव्यग्रां । उक्तं च ॥ विषया उभित्तिं प्राप्तं राक्षिषाणि समन्वियतां नम । विषयधेनुवत्तं नाम ननु परिनुत्ता परिणामदायका । विदधदुत्तराणि, तत्रोत्तराणि विरगतिं त्वनतिष्ठकं कृत्वा धियं च सुवप्रविहीणजानितातो विषयदुत्तं ननु विदधन् ॥

अथवरेण विषयलोपदस्य नोपपत्त्यानेः—

मूलाग—देहेन भस्मात्पथं न्हो । दाळगं ताप्प उट्ठुत्तमिति विप्रेषणमुदाहरितम् । मणुस्समं यदुत्तं मिल्युत्तुचेत्ततीन्द्रियानतमुत्तराणामव्यग्राचरणमुत्तं मालुत्तं ॥

अर्थ—जोई मनुष्य ग भादिकं लिये अतिशय प्रत्ययान् अनुचंदनको लक्ष्मी जला देता है, येन यद् मनुष्य भी अतिशय तुच्छ विषयोंमें लपट होकर अतीन्द्रिय अनंत सुखको देनेवाले इस मनुष्य जन्मको नष्ट कर देता है, आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—ये विषय इन्द्रियाको आल्लाह उत्पन्न करे हैं आग अनेक स्त्रोमें युक्त है परंतु जैसे विषयमिश्रित अन्न बहुत रसोंमें युक्त होन पर भी भक्षण करने प्राण लेता है, ऐसे ये विषय आत्माका नाश करते हैं अर्थात् दुर्गतिमें घुमाते हैं जो मनुष्य विषयसुखमें आपक्त होता है वह उग्र विषयके लिये अनिष्ट कार्य करता है, जिसमें विषयसुखरहित लोगोंमें जन्म लेता है, उचित ही है कि पुण्यरहित मनुष्यको विषय सुखकी प्राप्ति होती नहीं

धुट्टिय रयणाणि जहा रयणदीवा हरेज्ज कट्ठाणि ॥  
माणुसभवे वि धुट्टिय धम्मं भोगे भिलसदि तथा ॥ १८३१ ॥  
नृत्वे योऽक्षसुखं मूढो धर्मं सुक्त्वा निपेवते ॥

लोष्ठं गृह्णात्यसौ सुक्त्वा रत्नद्वीपेऽनघं मणिम् ॥ १९०२ ॥

विजयोदया—धुट्टिय रयणाणि जहा रत्नानि त्यक्त्वा यथा, रयणदीवा हरेज्ज कट्ठाणि रत्नद्वीपात्काष्ठान्याहरति ।  
तथा माणुसभवे वि मनुष्यभवेऽपि, धुट्टिय धम्म धर्मं विहाय । भोगे भिलसदि भोगान्गच्छति । एतदुक्तं भवति—अनेकसार  
रत्नास्पदं रत्नद्वीपं सुदुर्लभं प्राप्य मुधा लब्धान्यपि रत्नान्यनुपदाय असारमिधनं सुखं सारबुद्ध्या यथा कश्चिद्वाहरति  
जड । तथानेकगुणरत्नाकरं मनुष्यभवं दुरवापमवाप्य अतर्पकं पराधीनं अल्पकालिकं विषयसुखमभिलपति ॥

अनेकगुणरत्नाकरं सुदुर्लभं मनुष्यभवंमासाद्य परायत्तमतर्पकं स्वल्पकालं विषयसुखमभिलपतं अनुशोचति—

मूलारा—रयणाणि मुधा लब्धान्यपि हीरकादीनि । रयणदीवा रत्नद्वीपात् । हरेज्ज सारदुर्लभबुद्ध्याऽनयेत् ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमें जाकर भी रत्नोंका त्याग कर काष्ठ लाता है वैसे मनुष्यभवं भी कोई  
धर्मको छोड़कर भोगोंकी अभिलाषा करता है । अभिप्राय यह है कि, अनेक उत्कृष्ट रत्नोंका स्थान जो रत्नद्वीप जो  
कि बहुत दुर्लभ है वहां जाकर सहज प्राप्त हुए रत्नोंको ग्रहण न कर जो तुच्छ निःसार और अयत्नप्राप्य इंधनों  
को सारयुक्त समझकर उनका संग्रह करता है वह जैसा मूर्खशिरोभणि समझा जाता है वैसा अनेकगुणरत्नोंकी  
मनुष्यभवं खान है ऐसा अलभ्य मनुष्यजन्म पाकर यदि वेत्ति उत्पन्न नहीं करनेवाला, पराधीन अल्पकाल तक  
टिकनेवाला ऐसा विषयसुख मनुष्य चाहता है तो यह चाहता रत्नद्वीप में जाकर लकड़ियोंका संग्रह करनेके समान है ।

गंतूण णंदणवणं अमयं छंडिय विस जहा पियइ ॥

माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तथा ॥ १८३२ ॥

यो नृत्वे सेवते भोगं हित्वा धर्ममकल्मषम् ॥

असौ विमुच्य पीयूषं विष गृह्णाति नंदने ॥ १९०३ ॥

विजयोदया—गंतूण णंदणवणं गत्वा नंदनवन । अमयं छड्डिय अस्मृत त्यक्त्वा । विसं जहा पियइ विं पयथा  
पिबति कश्चित् । माणुसभवे वि छड्डिय मनुष्यभवेऽपि त्यक्त्वा । धम्म धर्म । भोगेभिलसदि तथा, भोगानभिलाषयति तथा ॥

मूलारा—अमयं देवाहारम् ॥

अर्थ—जैसे कोई मूल मनुष्य नन्दन वनमें जाकरभी वहां अमृतका त्याग कर विपणन करता है, वैसे कोई मनुष्य मनुष्यभवंमें भी धर्मको छोड़कर भोगोंकी अभिलाषा करता है.

योगशब्दार्थमाचष्टे—

पावपओगा मणवचिकाया कम्मासवं पकुव्वंति ॥

सुज्जंतो दुब्भत्ते वणम्मि जह आसवं कुणइ ॥ १८३३ ॥

योगः कर्मासवं दुष्टो मनोवाक्कायलक्षणः ॥

यथा भुक्तो दुराहारो विदधाति व्रणास्रवम् ॥ १९०४ ॥

चित्रयोदया—पावपओगा पापे प्रयुज्यते प्रवर्त्यते एमिरिति पापप्रयोगः । मणवचिकाया मनोवाक्काया कम्मासवं पकुव्वति कर्मत्वपर्यायागम पुद्गलानां भवेति । भुजंतो दुब्भत्त भुजमानो दुराहारं । वणम्मि जह आसव कुणदि, व्रणे यथा आस्रव क्षतिं पूनीना करोति ॥

योगान्वयाचष्टे—

मूलारा—पावपओगा पापं दुक्कत, कर्ममात्रं चा प्रयुज्यते प्रवर्त्यते चैरिति पापप्रयोगः । कर्मत्वपरिणमनशक्ति-युक्ता इत्यर्थः । कम्मासवं पुद्गलानां कर्मत्वपर्यायोपगमनं । भुजंतं भुजमान । दुब्भत्तं अपश्यान्नपानं । वणम्मि व्रणे । आसवं आक्षतिं पूयादीना ॥

योगशब्दका स्पष्टीकरण—

अर्थ—जिनसे पापोंकी प्रवृत्ति की जाती है ऐसे मनोयोग, वचनयोग और काययोग पुद्गलोंमें कर्मत्व पर्याय उत्पन्न करते हैं जैसे अपश्याहारका भक्षण करनेसे व्रणमेंसे दुग्ध रक्त, पीन उत्पन्न होता है वैसे इन पाप-योगोंसे कर्म उत्पन्न होता है

कर्माणि शुभाशुभरूपाणि द्विविधानि, तत्र कस्य कर्मण क आसव इत्यत्राह—  
अणुकंपासुद्धवओगो वि य पुणस्स आसवदुवारं ॥

त विवरीद आसवदारं पावस्स कम्मस्स ॥ १८३४ ॥

आप्तव्यं कुरुते योगो विशुद्धः पुण्यकर्मणाम् ॥

चिपरीतः परं सद्यः सेवितः पापकर्मणाम् ॥ १९०५ ॥

विजयोदया—अनुकंपा अनुकंपा । सुदुर्वचो नो शुद्धय प्रयोग परिणाम , पुण्यस्स आसवदुवारं पुद्गलानां पुण्यत्वपर्यायामनसुख सदेव सम्यक्त्व रतिहास्यपुवेदा शुभे नामगोत्रे शुभ चायु पुण्य पतेभ्योऽन्यानि पापानि । अनुकंपा विप्रकारा ॥ यमोदुकरा मिश्रादुकरा सर्वादुकरा चेति ॥ तत्र धर्मादुकरा नाम परित्यक्तासयमेषु मानावमान सुखदुःखलामलभतुणसुखवर्णादिषु समानचित्तेषु वार्तयित्वात करणेषु मातरमिव मुक्तिमाश्रितेषु पश्चित्तोप्रकराय विषयेषु दिव्येषु भोगेषु दोषान्वित्य विरागतामुपगतेषु, ससारमहासमुद्राद्वयेन निशास्त्रयत्यनिदेषु, अगोत्रतन्त्रिस्स-भत्तेषु, क्षमादिदशविधधर्मपरिणतेषु यानुकंपा सा यमोदुकरा, यथा प्रयुक्तो जनो विवेकी तन्मोग्यान्नापानावसयैषणा-दिक सयमसाधन यतिभ्य प्रयच्छति । स्वामचिनिगुह्य शक्ति उपसर्गदोषानपसारयति आज्ञापयतिमिति सेवा करोति अष्टमार्गाणा पथानमुपदर्शयति । ते प्रसयोगमवाप्य अहो सपुण्या चयमिति हृष्यति, सभासु तेषा गुणान्कीर्तयति स्मृते गुरमिव पश्यति तेषा गुणानामभीक्षण स्मरति, महासमिः, कदा नु मम समागम इति ॥ ते सयोग समीपवति, तदीयान् गुणान् परैरभिवर्ण्यमानाविशम्य तुष्यति । इत्यननुकंपापर साधुगुणानुमनानुकारी भवति । त्रिधा च सतो यव सुपदिशति स्वयं लते , जारणाथा, परै कृतस्यानुमतेथ ततो महापुणराशिनतद्वर्णात् महान् पुण्यालव । मिश्रानुकं-पोच्यते । पुष्टपापकर्ममूलेभ्यो हिंसादिभ्यो व्यावृत्ता सतोपयोग्यपरमनिरता' दिग्निरति, देशनिरति, अनर्थदण्ड विरति चोपगतास्तीव्रदोषाद् भोगोपभोगादिभूत शेषे च भोगे कृतप्रमाणा पापत्यरिभीतचित्ता , विशिष्टदेशे काले च चिर्वित्तसर्नसाधया पर्यस्वारभयोगं सरुल विसृज्य उपवास ये कुर्वति तेषु संयतासयेतेषु क्रियमा णानुकरा मिश्रादुकरोच्यते ॥ जीवेषु दया च कृत्वा कृत्स्नामनुष्यमाना जिनसूत्राद्याया भेदन्य पाप-डरताविनीता कष्टानि तपासि कुर्वति, तेषु क्रियमाणानुकरा तया सर्वोपि कर्मपुण्य प्रचिनोति देश प्रवृत्तिर्गृहिणामकृत्स्नत्वात् । मिथ्यावदोषोपहृतोन्यधर्म इत्येषु मिश्रो भवति धर्मा मिश्रादुकरामवगच्छेत्तु ॥ सदृष्टयो वापि कुदृष्टयो वा सभावतो माद्विचसंगुक्ता ॥ या कुर्वते सर्वशरीरवर्गं सर्वलोकैत्यभिधीयते सा ॥ द्विजान् विद्वान् वद्वान् प्रकृतविदुष्यमानाश्च मर्त्यान्, सद्देनसो निरदेनसो वा परिदृश्य मृगान्विहगान् सरीसृपान् पर्यथ मासादिनिमित्तं प्रहृत्यमानान् परलोके परस्पर वा तान् हिंसतो भक्षयतश्च दृष्ट्वा सूक्ष्माकान् कुंथुपिपीलिका प्रवृत्ति प्राणभृतो मनुजकरभयरशरभकरितुरगाविभि समृद्यमानानभिवीक्ष्य असाध्यरोगोरादृशनात् परित्यज्यमानान् नृतोस्मि नष्टोस्म्यभिधावतेति रोगानुभूयमानान्, स्वपुत्रकलजादिभिरप्राप्तकालि (?) सहसा विदुष्य कुर्वतो रुजा विक्रोशत , स्वागानि छतश्च, शोकेन उपाजितटविणेशुन्यमानान् प्रनष्टवधून् धैर्यशिलविद्याव्यवसायहीनान् यान् प्रदाप्रशक्त्या वराफान् निरीक्ष्य तु समाप्तस्वामिव विचिंत्य स्वास्थ्यमुपशमनमनुकरा' । सुदुर्लभ मानुषजन लब्ध्वा मा क्लेशपात्राणिचू-थैव भूत ॥ धर्मे शुभे भूताहिते यतध्वमित्येवमाद्यैरपि चोपदेश । कृतकरिष्यमाणोपकारानपेक्षेदुकरा कृता भवति । पुण्याश्रवं सा त्रिविधादुकरा भूतेषु पुत्रं जननी शुभेव, तेनानुकरा प्रभवद्विपुण्याद्याके मृता यम्युपपत्तिमीयु' १ शुद्धप्रयोगो निरूप्यते



स च द्विप्रकारः । यत्तिगुह्यगोचरभेदेन यते' शुद्धोपयोग इत्यभ्युक्तः । जीवाश्च हन्यां न सुपा वदेयं । चौर्यं न कुर्यान्न भजेय-  
भोगान् ॥ धनं न सेवेयं न च क्षपासु सुजीय कृच्छ्रेऽपि शरीरत्वाये ॥१॥ रोपेण मानेन च मायया च ॥ लोभेन चाहं बहुदुःखकेन  
युजेय नारमपरिग्रहेऽथ, दीक्षां शुभामभ्युपगम्य भूय ॥२॥ यथा न भयाच्चलमौलिमालो ॥ भिक्षा चरन्कासुकवाणपाणि ,  
तथा न भाया यदि दीक्षित सन् । वहेय दोगानवहाय लज्जा ॥३॥ लिंगं गृहीत्वा मद्धताम्बरीणा, अग च विश्वत्यस्त्रिकर्महीनं ।  
भंगं व्रतानामविधिव्य कण्ठे । सग कथ कामगुणेषु कुर्याम् ॥४॥ चर्यामनार्यचरितामधुर्यां धैर्येण हीनाः कृपणत्वमेव, कथं  
ब्रूयामुण्डशिरश्चिरेण लिंगीभवन्नगविकारयुक्तः ॥५॥ इत्येवमादि- शुभकर्मविता सिद्धार्हदाचार्यवहुश्रुतेषु, । चैत्येषुसंघे  
जिनशासने च भक्तिर्विरक्तिर्युगारागिता च ॥ विनीतता संयमो अप्रमत्तता, मुहुता, क्षमा, आर्जवं,  
संतोषः, संज्ञाशल्यैगारचविजय, उपसर्गपरीपद्वज्य', सम्यग्दर्शनं, तद्विज्ञानं, सरागसंयमं, दशविधं धर्मध्यानं  
जिनेन्द्रपूजा, पूजोपदेश, नि शक्तिवादिगुणाष्टक, प्रशस्तपरागसेमता तपोभावना, पंचसमितयः, तिस्रो गुप्तय  
इत्येवमाद्या' शुद्धप्रयोगा । गृहिणा शुद्धोपयोग उच्यते गृहीतव्रताना धारणपालनयोरिच्छा क्षणमपि व्रत  
भगोऽनिष्टः अभीष्टं यतिसंप्रयोग, अज्ञादिदानं श्रद्धादिविधिपुरस्सरं श्रमनोदनाय भोगान् मुक्त्वापि स्थगित  
शक्तिविगर्हण, सदा गृहप्रमोक्षप्रार्थना, धर्मश्रवणोपलभामनसोतिवृत्तिः । भक्त्या पंचगुस्तवनप्रणामेन तत्पू-  
जा, परेया च स्थिरीकरणमुपबृंहणं, वात्सल्यं, जिनेन्द्रमकानामुपकारकरणं, जिनेन्द्रश्लाभिगमाः, जिनशासनप्रभावना  
इत्यादिक' । तद्विवरीदं अनुकपाशुद्धप्रयोगाभ्या विपरीतः परिणाम । आसवदारं आस्रवद्वारं, पापस्स कम्मस्स  
अशुभस्य कर्मण आस्रव । संवराशुभेक्षा कथ्यते । सवियते निरुध्यतेऽधिनवाः कर्मपर्याया' पुद्गलानां येन जीवपरिणमेन  
मिथ्यात्वादिपरिणामो वा निरुध्यते स संवरः । तत्रायं सूरिमिथ्यात्वादिपरिणामसंवरात् सम्यक्त्वादीनां संवरतामाचष्टे ॥

कः पुण्यस्यास्रवः कश्च पापस्यास्रव इत्यत्राह —

मूलारा — अनुकंपा कृपा । सा च त्रिधा । धर्मेभिश्चसर्वानुकंपाभेदात् । तत्र धर्मानुकंपा नाम यथा प्रयुक्तो विवेकि  
लोकः स्वशक्त्यनिगूढनेन सयमनिष्ठभ्यस्तद्योग्यान्नपानवसत्युपकरणौषादिकं संयमसावन प्रयच्छति । तेषामुपसर्गानपमा-  
रयति । आद्याप्यतामिति सेवा करोति । पथि विभ्रान्ताना पंथानमुपदिशति । तत्सम्प्रयोगमवाप्य सुपुण्योऽहमिति हृष्यति ।  
समासु तदुपान्क्रीतयति । कीर्त्यमानाननुमोदते, स्मरति चाभीक्ष्णं । तैर्महात्मभिः कदा नु मे समागमो भविष्यतीति तत्सम्प्र-  
योगाय सोत्कण्ठः स्पृहयति । एवमादिमहागुणराशिगतहर्षश्रुतार्थान्महापुण्यास्रवो भवति । यद्वत्सयतासंयतेषु जिनसूत्र-  
वाहकपटपञ्चारिषु च यथायोग्यं क्रियमाणानुकंपा मिश्रानुकंपोच्यते । सा च मिश्रपुण्यास्रवः स्यात् । सद्दृष्टिभिः कुण्डलिभि-  
र्वा क्रियमाणा क्लिश्यमानसर्वप्राणिषु अनुकंपा सर्वानुकंपेत्युच्यते । यथा प्रयुक्तोऽप्यदुःख स्वात्मस्थमिव मन्यमानस्तत्त्वा-  
ख्याय प्रत्युपकारनिरपेक्षं प्रयतते । सद्दुपदेशं च ददाति । सापि पुण्यास्रवायैव स्यात् । सुद्धोपभोगो शुद्धश्च परिणामः ।

स च द्वेधा यतिगृहिगोचरभेदात् । तत्र यतिशुद्धप्रयोगो निर्मलव्रतशीलस्वाध्यायध्यानादिलक्षणः । गृहिशुद्धप्रयोगस्तु हिंसा-  
दिविरतिरूपाणुव्रतशीलदिलक्षण । पुण्यस्य सद्देशसम्यक्त्वरविहास्यपुर्वेदशुभाशुनामगोत्ररूपस्य कर्मणः । आसवदुर्वा-  
पुद्गलानां पुण्यत्वपर्यायागमनम् ॥ आसवानुप्रेक्षा ॥

कर्मके शुभकर्म और अशुभ कर्म ऐसे दो भेद हैं उनमें किस कर्मका कोनसा आसव है इसका विवेचन  
आचार्य करते हैं—

अर्थ—अनुकम्पा-दया, शुद्धोपयोग—आत्माके निर्मलपरिणाम ये पुण्यकर्मके आगमनद्वार हैं इन परिणा-  
मोंसे पुण्यकर्मका पर्याय पुद्गलमें उत्पन्न होता है सातायेदनीय, सम्यक्त्वप्रकृति, रति, हास्य, पुर्वेद, शुभनाम-कर्म  
और उच्च गोत्र, शुभआशु इनको पुण्य कहते हैं इनसे जो भिक्ष कर्म है उसको वाप कहते हैं

अनुकम्पा-दया—इसके तीन भेद हैं धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा और सर्वानुकम्पा, धर्मानुकम्पाका स्वरूप  
इस प्रकार है—

जिन्होंने असंयमका त्याग किया है मान, अपमान, सुख दुःख, लाभालाभ, तृण सुवर्ण इत्यादिकोंमें  
जिनकी बुद्धि रागद्वेषरहित हो गयी है, इन्द्रिय और मन जिन्होंने अपने वश किये हैं, उग्रकषाय और विषयोंको  
जिन्होंने छोड़ दिया है, दिव्यभोगोंके दोष देखकर जो वैराग्ययुक्त हो गये हैं, संसारसमुद्रकी भीतिसे रातमें 'भी  
अल्पनिद्रा लेनेवाले, जिन्होंने संपूर्ण परिग्रहों को छोड़कर, निःसंगता धारण की है, जो क्षमादि दश प्रकारके  
धर्मोंमें इतने तत्पर रहते हैं कि मानो स्वयं क्षमादि दशधर्म स्वरूपही बनेहों ऐसे सयमी मुनिओंके ऊपर जो दया  
करना उसको धर्मानुकम्पा कहते हैं।

यह धर्मानुकम्पा अंतःकरणमें लज उत्पन्न होती है तब विवेकी गृहस्थ यतिओंको योग्य अवभाषणी,  
वसतिका, औपचादिक पदार्थ देता है. अपनी शक्तिको न छिपाकर वह मुनि के उपसर्गको दूर करता है. हे प्रभो'  
आप आज्ञा दीजिये ऐसी प्रार्थनाकर सेवा करता है यदि कोई मुनि मार्गभ्रष्ट होकर दिङ्मूढ हो गये हो तो  
उनकी मार्ग दिवाता है मुनिओंका संयोग प्राप्त होनेसे हम धन्य है ऐसा मनमें समझ कर आनंदित होता है  
समामें उनके गुणोंका कीर्तन करता है. मनमें मुनिओंको धर्मपिता, गुरु, समझता है उनके गुणोंका चिंतन मनमें  
हमेशा करता है. ऐसे महात्माओंका फिर कब संयोग होगा? ऐसा विचार करता है उनका सहवास हमेशाही

होनेकी इच्छा करता है दूसरों के द्वारा उनके गुणोंका वर्णन सुनकर सन्तुष्ट होता है इस प्रकार धर्मानुक्रंपा करनेवाला जीव साधुके गुणोंको अनुमोदन देनेवाला और उनके गुणोंका अनुकरण करनेवाला होता है. आचार्य वधके तीन प्रकार कहते हैं. अच्छे कार्य स्वयं करना, और करनेवालों को अनुमति देना इससे महान् पुण्यास्वव होता है क्योंकि महागुणोंमें प्रेम धारण कर जो कृत कारित और अनुमोदन प्रवृत्ति होती है वह महापुण्यको उत्पन्न करती है

मिश्रानुक्रंपाका वर्णन—महान् पातकोंके मूलकारणरूप हिंसादिकोंसे विरक्त होकर अर्थात् अनुव्रती बनकर संतोष और वैराग्यमें तत्पर रहकर जो दिग्विरति, देशविरति, और अनर्थ दृढत्याग इन गुणव्रतोंको धारण करते हैं, जिनके सेवनसे महादोष उत्पन्न होते हैं ऐसे भोगोपभोगोंका त्याग कर वाक्रीके भोगोपभोग के वस्तुओंका जिन्होंने प्रमाण किया है, जिनका मन पापसे भययुक्त हुआ है अर्थात् पापसे डरकर विशिष्ट देश और कालकी मर्यादा कर जिन्होंने सर्व पापोंका त्याग किया है अर्थात् जो सामायिक करते हैं, पर्वोंके दिनमें संपूर्ण आरंभका त्याग कर जो उपवास करते हैं ऐसे संयतासंयत अर्थात् गृहस्थोंपर जो दया की जाती है उसको मिश्रा-नुक्रंपा कहते हैं जो जीवोंपर दया करते हैं. परंतु दया का पूर्ण स्वरूप जो नहीं जानते हैं जो जिनवृत्तसे बाह्य है, जो अन्य पाखंड गुरुकी उपासना करते हैं, मन्त्र और कण्टदायक कायक्लेश करते हैं इनके ऊपर छुपा करना यह भी मिश्रानुक्रंपा है. क्योंकि गृहस्थोंकी एकदेशरूपतासे धर्मसे प्रवृत्ति है वे संपूर्ण चारित्ररूप धर्मका पालन नहीं कर सकते हैं. अन्य जनोका धर्म मिथ्यात्वसे युक्त है. इसवास्ते गृहस्थधर्म और अन्यधर्म दोनोंके ऊपर दया करनेसे मिश्रानुक्रंपा कहते हैं

सुदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टिजन, कुट्टि मिथ्यादृष्टि जन ये दोनों भी स्वभावतः मार्दवसे युक्त होकर संपूर्ण प्राणियोंके ऊपर दया करते हैं इस दयाका नाम सर्वानुक्रंपा है.

जिनके अवयव दृढ़ गये हैं, जिनको जखम हुई है, जो व्रंघि गये हैं, जो स्पष्ट रूपसे छेद जा रहे हैं ऐसे मनुष्योंको देखकर, अपराधी अथवा निरपराधी मनुष्योंको देखकर मानो अपनेको ही दुःख हो रहा है ऐसा मानकर उनके ऊपर दया करना यह सर्वानुक्रंपा है.

हरिण, पक्षी, पेटसे दौड़नेवाले प्राणी, पशु इनको मांसादिकके लिये लोक मारते हैं ऐसा देखकर अथवा

आपसमें उपयुक्त प्राणी लड़ते हैं और भक्षण करते हैं ऐसा देखकर जो दया उत्पन्न होती है उसको सर्वानुरूप कहेते हैं सक्षम कुंशु, चाँटी, वगैरह प्राणी, मनुष्य, ऊट, गधा, शरभ, हथी घोडा इत्यादिकोंके द्वारा मर्दित किये जा रहे हैं ऐसा देखकर दया करना चाहिये असाध्य रोगरूपी सर्पमें काटे जानेमें जो दुःखी हुए हैं, में मर रहा हूं मेरा नाश हुआ, हे जनहो दोहो ऐसा जो दुःखम शब्द करते हैं उनके ऊपर दया करनी चाहिये पुत्र कलत्र— पत्नी वगैरहसे जिनका वियोग हुआ है जो रोग पीडासे शोक कर रहे हैं अपना मस्तक वगैरह अवयव जो वेदनासे पीटते हैं कसाया हुआ धन नष्ट होनेसे जिनको शोक हुआ है जिनके बांधव छोड़कर चले गये हैं, जो धैर्य, शिल्प, विद्या, व्यवसाय इत्यादिकोंसे रहित हैं उनको देखकर अपनेको इनका दुःख हो रहा है ऐसा मानकर उन प्राणिओंको स्वस्थ रक्ता उनको पीडाका उपशम करना यह सर्वानुरूप है

यह मनुज जन्म अतिशय दुर्लभ है, सज्जनों ! इसकी प्राप्ति आपको हुई है इस चास्ते अकृत्य करके आप दुःखके पात्र मत बनो कल्याण कारक शुभ ऐसे मत्य धर्ममें दृढ रहनेका आप प्रयत्न करो इस प्रकारका उपदेश देना चाहिये, जो प्राणिओंपर दया करते हैं उनको इसने मेरे ऊपर उपकार किया है यह मेरे ऊपर उपकार करेगा ऐसी आशा करना योग्य नहीं है इस प्रकार प्राणिओंपर तीन प्रकारकी दया की जाती है इस दयामें जो पुण्य संचित होता है उससे स्वर्गमें जन्म होता है, अथ शुद्ध प्रयोगका निरूपण करते हैं— यत्किा शुद्धप्रयोग और गृहस्थोंका शुद्ध प्रयोग ऐसे इसके दोन भेद है

यत्किे शुद्धप्रयोगका वर्णन इस प्रकार है—

‘ मैं जीवोंकी नहीं मारूंगा, असत्य भाषण नहीं बोळूंगा, और चाये नहीं करूंगा, भोगोंका उपभोग मैं नहीं करूंगा, धनका सेवन नहीं करूंगा और शरीरको अतिशय कष्ट होनेपर भी रातमें भोजन नहीं करूंगा, क्रोध, मान, माया और लोभसे बहु दुःख देनेवाले आरभ परिश्रमोंका सेवन नहीं करूंगा, मुनिदीक्षा धारण कर ऐसा कर्म करना मेरे लिये अत्यंत अयोग्य है.

जैसे जिसने अपने किराटपर माला धारण की है, हाथमें धनुष्य और बाण धारण किये हैं ऐसा राजाके मन्त्र मनुष्य यदि भीख मांगेगा तो उसके लिये यह भीख मांगना विलकुल योग्य नहीं है, वैसे मैं भी दीक्षा लज्जाको छोड़कर आरभ परिश्रमादिक कार्य करूंगा तो क्या वह मेरेलिए योग्य होगा ? कदापि नहीं मैंने पूज्य

महर्षियोंका लिंग धारण किया है, भूने यदि व्रतोंके नाशकी पूर्वा नहीं की तो यह योग्य नहीं होगा यदि मेने आवश्यकतादि पद कर्म भी नहीं किये तो यह मेरे लिए योग्य नहीं होगा। दीक्षा धारण कर काम विहार में मैं अपनी आसक्ति कैसी करूं ? धर्म छोड़कर चाहे जैसी प्रवृत्ति करना यह अनार्यपना का सूचक है धर्म छोड़कर हीन होकर प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है, यदि मेरे देहमें विकार रहेगा ही तो व्यर्थ मस्तक मूँडकर यति का आचरण करना व्यर्थ है इस प्रकार विचार कर आरंभ परिग्रहादिकोंमें वैराग्य बढ़ाना चाहिए

सिद्ध, अर्हत्, आचार्य, उपाध्याय, जिनप्रतिमा, संघ, जिनधर्म इनके ऊपर भक्ति करना, विषयेस विरक्त होना, इनके गुणोंपर प्रेम रखना, नम्रता, मयम, अप्रमाद स्वकृत्योंमें सावधान रहना, मोदच, क्षमा, आर्जव, सत्तो प ये गुण धारण करने चाहिये। आहारादिक चार सज्ञाओंको जीतना चाहिये, शूल्य और गारलोंका त्याग करना उपसर्ग और परीपहोंको जीतना, सम्पददर्शन, सम्यग्ज्ञान, सरागसयम, दस प्रकारका धर्मध्यान ये गुण धारण कर जिनन्द्रकी पूजाका उपदेश करना, निःशक्तितादिक आठगुण, प्रशस्तरागसे तपोभावना अर्थात् मैं तपद्वारा कर्मोंका क्षय करूँगा ऐसी उत्कृष्ट अभिलाषा, पांच समिति, तीन गुप्ति इत्यादिक मुनिवर्गोंका शुद्ध प्रयोगका वर्णन है

गृहस्थोंके शुद्ध प्रयोगका वर्णन—

जो व्रत धारण किया है उसको धारण करना और पालन करनेकी इच्छा रहना, एक क्षणतक भी व्रतका नाश होना अनिष्ट है, अकल्याण कारक है ऐसा समझना, हमेशा यतियोंके महावास को इच्छा रखना, श्रद्धादि-विधियों अनुसार आहारादिकदान देना, श्रमपरिहार करनेकी इच्छासे भोगोंको भोगकरभी इनका मैं त्याग करनेमें असमर्थ हूँ ऐसी अपनी निंदा करना, सदा घरका त्याग करनेकी इच्छा रखना, धर्मश्रवण करने पर मनमें अत्यानांदित होना, भक्तीसे पंच गुरुओंकी स्तुति करना। प्रणाम करना, पूजा करना, अन्य लोगों को भी जैनधर्म में स्थिर करना, उपग्रहून करना, साधर्मिकोंपर प्रेम रखना, जिनद्रके भक्तोंपर उपकार करना जिनशास्त्रका सत्कार पूजा करना, जिनधर्म की प्रभावना करना इत्यादिक गृहस्थोंके शुद्ध प्रयोग है।

अनुकंपा और शुद्ध प्रयोगके विपरीत परिणाम होने में अशुभ कर्मोंके आस्रव आते हैं,

अब संवरासुग्रेषाका आचार्य वर्णन करते हैं—

पुद्गलों में होनेवाले कर्मपर्याय जिस जीवपरिणामसे रुक जाते हैं उस परिणामको संवर कहते हैं,

अथवा जिस जीवके परिणामसे मिथ्यात्वादिपरिणाम रुकजाते हैं उस सम्यक्त्वादि परिणामको आचार्य सवर कहते हैं मिथ्यात्वादि परिणामको रोकनेसे सम्यक्त्वादि परिणामको सवर कहते हैं

मिच्छत्तासवदारं संभृ सम्तदिदकवाडेण ॥

हिंसादिदुवाराणि वि दृढवदफलेहेहिं संमंति ॥ १८३५

कुदर्शनावृत्तकषाययोगैर्जीवो भवे मज्जति कर्मपूर्णः ॥

दुरापपारे विवरैरेकैः पोतः पयोधाविब वारिपूर्णः ॥ १९०६ ॥

इत्यासवानुपेक्षा ।

मिथ्यात्वमासवद्वार पिधत्ते तत्त्वरोचनम् ॥

संयमांसंयमं सद्यो गृहीत्वारमिवारे ॥ १९०७ ॥

विजयोदया—मिच्छत्तासवदार तत्त्वाध्वानमालवदार । संमति कथते, सम्मत्तदिदकवाडेण तत्त्वध्वान कवाटेन । हिंसादिदुवाराणि वि हिंसादिद्वाराण्यपि, दृढवदफलेहेहिं संमति दृढवत्परिधे, स्थगयति ॥

धर्म ध्यापयितुं गाथादशकेन संवरमनुपेक्षते—तत्रा संव्रियन्ते निरुध्यन्ते प्रलभाः कर्मपर्यायाः पुद्गलाना येन जीवपरिणमेन मिथ्यात्वादिर्वा येन निरुध्यते सं संवर इति मिथ्यात्वादिपरिणामसंचरणत्वाधान्येन सम्यक्त्वादीनां संव-

रवा निरूपयन्निधेयता भावयति—

मूलरा—संमंति रुन्धन्वि के युमुखवः । फलिहेहि अर्गलाभिः ॥

इसीका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं, सम्यग्दर्शनरूप मज्जुत किवाढकेद्वारा पुरुष मिथ्यात्वरूपी दरवाजा जोकि पापकर्म आनेका कारण है बंदकर देते हैं, दृढ अहिंसादि व्रतरूपी अर्गलाओसे पुरुष हिंसादि दरवाजों को बंद कर देते हैं.

उवसमदयादमाउहकरेण रक्खा कसायचोरोहिं ॥

सक्का काउं आउहकरेण रक्खाव चोराणं ॥ १८३६ ॥

कपायतस्करा रौद्रा दयादमशमायुधैः ॥

शक्यंते रक्षितुं दिव्यैरायुधैरिव तस्कराः ॥ १९०८ ॥

विजयोदया—उवसमदयादमाउहकरेण उपशम. कपायवेदनीयस्य कर्मणस्तिरोभवनं, दया सर्वप्राणिविषया, दमं कपायदोषभावनया चित्तनिग्रहं । एते त्रय आयुधा' करे यस्य तेन । कसायचोरेहिं कपायचोरेभ्यः । रक्त्वा सका कातुं रक्षा शक्या कर्तुं, आयुधकरेण रक्त्वाव चोरेहिं आयुधहस्तेन चोरेभ्यो रक्षेव, कपायदोषपरिक्षाणेनासकृत् प्रवृत्तेन क्रोधादिनिमित्तवस्तुपरिहारेण तत्प्रतिपक्षक्षमादिवरिणामेन च कपायनिवारणं ॥ उक्तं च ॥ जेत्यस्वा क्रोधमुपाश्रित. क्षमा, जयेच्च मानं समुपेत्य मार्दव । तथैव मायामपि चार्जवाज्जयेत्, जयेच्च संतोषवशेन लुब्धता । जिता' कपाया यदि किञ्च तैर्जित कपायमूल सकलं हि चघनमिति ॥

मूलारा—उवसम-कपायवेदनीयकर्मण उदयनिमित्तवर्जनेन क्षमादिभावनया वा तिरोभावादात्मनः प्रसत्तिः ॥ दमकपायदोषभावनया चित्तनिग्रहः ॥

अर्थ—कपाय वेदनीय कर्मका उदय न होना उसको उपशम कहते हैं सर्व प्राणिओंके ऊपर उनका दुःख देखकर अपना अंतःकरण आर्द्र होना दयाका लक्षण है कपायोंके दोषोंका विचारकर चित्तको स्वाधीन रखना निग्रह कहते हैं उपशम, दया और निग्रह ये तीनशस्त्र जिसने अपने हाथमें लिये हैं वह पुरुष कपायरूपी चोरोसे सशस्त्र मनुष्य जैसा चोरोसे अपना रक्षण करता है रक्षण करता है-सबकी इच्छा रखनेवालोंने बारंवार कपायोंके दोषोंका परिज्ञान कर लेना चाहिये जिन वस्तुओंका आश्रय करनेसे क्रोधादि कपाय उत्पन्न होंगे उनका त्याग करना चाहिये और क्रोधादिकोंके प्रतिपक्षीरूप क्षमा, विनय, सरलपना, निर्लोभता वगैरह परिणाम आत्मामें उत्पन्न करने चाहिये इससे कपायोंका अवश्य निवारण होगा. इस विषयमें ऐसा कहा है—क्षमाका आश्रय लेकर क्रोधको जीतना चाहिये. मार्दवके आश्रयसे मानकपायका परामव करना चाहिये. आर्जव गुणसे मायाको और संतोष धारण कर लुब्धताका परिहार करना चाहिये. यदि जिसने कपाय जति हैं उसने सर्व जीत लिया ऐसा समझना चाहिये. क्योंकि संपूर्ण कर्मबंधनकेलिये कपायही कारण हैं.

मिथ्यात्वसंवरं कपायत्सवरं निरूप्य शब्द्वियसवरं व्याचष्टे—

इदियदुदंतस्मा निग्धिपंपति दमणाखलिणेहिं ॥

उपहगामी निग्धिपंपति हु खलिणेहिं जह तुरया ॥ १८३७ ॥

इन्द्रियाश्वा नियम्यते वैराग्यखलिनैर्हैः ॥

उत्पथप्रस्थिता दुष्टास्तुरगाः खलिनैरिव ॥ १९०९ ॥

विजयोदया—इन्द्रियदुद्धतस्सा इन्द्रियदुर्द्वैताश्वा निगिघर्षन्ति निगृह्यते, केन दमणणखलिणोहिं दमप्रधानानि दमनानि, तान्येव खलिनानि है । शब्दादिषु वर्तमानानि इन्द्रियज्ञानानि रागद्वेषमूलानि तानीहैन्द्रियशब्दे-  
नोच्यते तेषा चात्मवाना निरोधस्तत्त्वज्ञानभावना भवति । द्वयो रूपयोर्धुगपदेकस्मिन्नात्मन्यप्रवृत्तेः । उत्पथगामी  
उन्मार्गयाथिन । जह तुरगा निगिघर्षन्ति यथाश्वा निगृह्यते । खलिणोहिं खरैः खलिनैः ॥

एवं मिथ्यात्वासंयमकपायसंवरान्तिरूप्य करणसंवरं व्याकरोति—

मूलारा—इंद्रिय इष्टानिष्टरूपादिषु प्रवर्तमानानि चक्षुरादिज्ञानानि । निगिघर्षन्ति निगृह्यते । दमणणखलिणोहिं दम  
प्रधानानि ज्ञानानि तत्त्वाव रोधाः तानि खलीनानि इव दुष्टवाजिनानि रागद्वेषेन्द्रियज्ञानाना निरोधन्तिमित्यात् । इन्द्रि-  
यज्ञानं हि इष्टानिष्टे वा स्वविषये रागं द्वेषं वा जनयत्तदुपेक्षावता ज्ञानेन प्रतिवच्यते । द्वयोरुपयोगयोर्युगपदेकस्मिन्नात्मन्य-  
प्रवृत्तेः ॥

मिथ्यात्वसंवर और कपाय संवरका निरूपण किया अथ इन्द्रिय संवरका वर्णन करते हैं—

अर्थ—इंद्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंको दमणणकी मुख्यतासे युक्त ऐसे ज्ञानरूपी लगामोंसे जो पुरुष वश करते हैं  
शब्द, स्पर्श, रस वगैरह विषयोंमें प्रवृत्ति करनेवाले इंद्रियज्ञानोंको रागद्वेषही कारण हैं, अर्थात् रागद्वेषसे इन्द्रियज्ञानकी  
प्रवृत्ति स्पर्शादि विषयोंमें होती है इस गाथामें इंद्रियज्ञानको ही 'इंद्रिय' कहा है, इंद्रियज्ञानसे उत्पन्न हुए आसंवाँका  
प्रिरोध तत्त्वज्ञानकी भावनासे होता है, स्पर्शादिविषयोंमें प्रवृत्ति और तत्त्वज्ञान ये दोन उपयोग एकसमय आत्मामें  
नहीं होते हैं एक समयमें दोन उपयोग उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसा आगममें कहा है उन्मार्गपर जानेवाले दुष्ट घोड़ों  
का जैसे लगाम के द्वारा निग्रह करते हैं वैसे तत्त्वज्ञानकी भावनासे इंद्रियरूपी अश्वोंका निग्रह हो सकता है

अणिदुद्धमणसां इंदियसप्पाणि णिगेणिहुंदु ण तीरंति ॥

विज्जामंतोसधहीणेणव आसीविसा सप्पा ॥ १८३८ ॥

नाक्षसर्पा निगृह्यन्ते भीषणाश्चलमानसैः ॥

दंशका इव ग्राह्या विद्यासंवादवर्जितैः ॥ १९१० ॥



विजयोदया—अणिहुदमणसा शानेन अनिभृतचेतसा । इदियसप्पाइ इंद्रियसर्पा । णिमिण्हेदु निग्रहीतुं । ण तीरंति न शक्यंते । विज्जामंतोसघद्दीहीणेणव विद्यया मध्रेण औपघेन वा हीनेन आसीविसा सप्पा आशीविपा. सर्पा यथा न गृह्यते ॥

इंद्रियसंवरस्य मनःसंवरसाध्यता दर्शयति—

मूलारा—अणिहुदमणसा अणिहुद असंवृत ॥

अर्थ—एकाग्रमनके अभावमें ज्ञानके द्वारा इंद्रियसर्पको वश करना अशक्य कार्य है विद्या, औपघि और मंत्रसे रहित मनुष्य जैसे 'आशीविषोको' अर्थात् सर्पको वश करनेमें असमर्थ होते हैं वैसे इन्द्रियसर्प भी मनकी एकाग्रता नष्ट होनेसे ज्ञानके द्वारा वश नहीं किया जासकते हैं

प्रमादसंवरं कथयत्युत्तरगाथा—

पावपयोगासवद्वारणिरोघो अपममादफल्लिगेण ॥

कीरंइ फल्लिगेण जहा णावाए जलासवणिरोघो ॥ १८३९ ॥

अप्रमादकपाटेन जीवे योगनिरोधनम् ॥

क्रियते फलकेनेव पोते जलनिरोधनम् ॥ १९११ ॥

विजयोदया—पावपयोगासवणिरोघो अशुभपरिणामासवद्वारनिरोधः विकथादयः पंचदशप्रमादपरिणामा । पावपयोगा इत्युच्यते । तेषा निरोध. अपममादफल्लिगेण अप्रमादफल्लेन । केत फल्लेन क. प्रमादो रुध्यत इत्याह । सत्यासत्यमुपाभावा विकथा निरुणद्धि, स्वाध्यायो ध्यानं एकाग्रतेति चेति एते प्रमादविकथाप्रतिपक्षभूता । क्षमामादे-वार्जवसंतोवा, कथायप्रमादस्य प्रत्यनीका । ज्ञानमावना, रोगद्वेषेन्द्रियविषयाविक्रवेशावस्थानं ज्ञानेन मन.प्रणिधानं, इंद्रियविषयरगद्वेषदोषाणामनुस्मरणं, विषयोपलब्धधावनादरस्वैति एते इंद्रियप्रमादप्रतिपक्षा । तथा चोक्तं । वरागनांगानि च रोगचोदितौ यदृच्छया वा न निरीक्ष्य रज्यति । तथैव रूपाण्यशुभानि वीक्षितुं, न नेच्छति द्वेषवशप्रचोदितं ॥ १ ॥ 'निरीक्ष्य न' द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता पुरुष. स्वचक्षुष । सुगीतवादिबभवाग्ननोहरान् स्वराग्नमनो-ज्ञान्यवतीरितानपि ॥ २ ॥ न शाळति श्रोतुमिहावरेण यो यदृच्छया वा न निशम्य रज्यति । स्वरान्तैकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥ ३ ॥ निशम्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता श्रवणैन्द्रियस्य च । तुरुष्कालागुरुकुष्ठ-कुक्षुमान् तमालपत्रोत्पलचंपकादिकान् ॥ ४ ॥ शुभं न जिघासति गधमादरात् यदृच्छयाघ्राय न चापि रज्यति, तथैव गंधान-शुभानपीह यो न नेच्छति घ्रातुमसूततोद्विषान् ॥ ५ ॥ निषेध्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स नासेन्द्रियजिघासोत्तम', न यो

महामुष्टशिष्टभोजनप्रियापलेहपि मनोहरान् रसान् ॥ ६ ॥ निवेदितुं रागवशेन कांक्षति यहच्छया वा न निवेद्य  
रस्यति रसान्तेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥ ७ ॥ निवेद्य न द्वेष्टि यहच्छयापि च भवेत्स जेता रसनेन्द्रि-  
यस्य च । मनोब्रह्मस्थायी सनकातयोपिता, शुभाश्रयः स्पर्शविधीन मनोहरान् ॥ ८ ॥ न सेवितुं रागवशेन वाञ्छति  
यहच्छया वा न निवेद्य रस्यति । प्रमदनाच्छादनमार्जनानि वा विलेपनाभ्यञ्जनमार्जनानि च ॥ ९ ॥ शरीरसौख्याय न यद्वच  
सेवते विबुधैरौग्ययुतो - महायतिः । हिमोष्णभूतैर्लेशिलार्तुणाविजानशौभनान् स्पर्शविधीन् सर्वदा ॥ १० ॥  
न नेच्छति द्वेष्टि न चोत्थुपागतान् त्वैर्गिद्विष्येत्प भजेद्विजिण्णुतां, रणे रिपूणांमिह निर्भयो जयेत् यथेन्द्रियाणां जयमाश्नुतो  
यतिरिति ॥ ११ ॥ निद्रायाः प्रतिपक्षभूतोऽप्रमादः, अनशनमवमोदयं, रसपरित्याग, संसारद्वेष्टेति निर्द्रादोषविता रत्न-  
त्रयेऽनुराग स्वदुश्चरिताना स्मरणेन शोक इत्येवमादिकः । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षभावोच्यते, द्रुघुताया अनवस्थितत्व-  
भावना, तदयनिकारभरप्रियद्वप्रवृत्तिचिन्ता, धर्मविमृता, दोषानुपेक्षणमित्यादिकं । पूर्वभूतेनाप्रमोदफलकेन प्रवर्तता  
निरुच्यते । कीरवि फलेगेण जहा क्रियते फलकेन यथा । गणाय जलासवर्णिरोद्यो नावं, जलासवनिरोधः ॥

प्रमादादस्रव सविस्तरं ब्रवीति—

मूलारः—पावपयोगा विक्थादयः पंचदशप्रमादपरिणामाः । अप्रमोदफलेगेण अंशमोदो विकथाधिप्रभादप्रतिपक्ष-  
भावना । 'सफलकर्मिणं प्रमादसंपाद्यकर्मणां प्रतिभर्तृप्रहरणोमिदं प्रतिबंधकत्वात्' । तत्र विकथाप्रतिपक्षाः सत्यासत्यद्वयाभा-  
वात्स्वाध्यायो ध्यानं च । कषायप्रत्येकीकाः क्षमादयस्तदुद्वेगकारणविमुक्तिदेशावस्थानं । तदोपापेयावयवभावना च । इन्द्रियप्र-  
तिबंधिनस्तत्त्वज्ञानभावना रागेष्टेयनिमित्तैर्द्रियविषयविविक्तवैशावरधान्तैर्द्विषयप्रसवरागेष्टेयस्मरणं विषयोपलब्धौ तेष्वाभा-  
दरक्षा । निर्द्राविरोधिनीऽनशनमवमोदयं रसपरित्यागः । संसारदुःखीति, सम्यक्स्वाध्यायान्नये प्रीतिः । स्वदुष्टस्मरणस्मरणा-  
नुशोचनं, निर्द्रादोषानुचितनं च । स्नेहविपक्षा बंधुत्वस्थानवस्थितत्वभावनां तदर्थनिकारपरिग्रहप्रवृत्तिदोषचिन्ता धर्मप्रति-  
बंधकत्वदोषानुपेक्षणं च ॥

प्रमादका संवर किस प्रकारसे होता है इसका वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—विकथादिक पंधरा प्रमाद हैं इनके द्वारा जो आत्मा में अशुभ परिणाम होते हैं उनको पापप्रयोग  
कहते हैं । जैसे शत्रुके शस्त्रप्रहारको फलकेंस [ ढालसे ] वीर पुरुष रोकते हैं वैसे कर्मोंका संवर चाहनेवाले पुरुष  
स्वाध्याय, ध्यान इत्यादिके ढालें हाथमें लेकर विकथादि प्रतिपक्षिओंके आघातका निवारण करते हैं । स्वाध्याय  
और ध्यानमें एकाग्रतारूपी अप्रमादसे स्वावधानीसे विकथादि प्रमादका निरोध होनेसे प्रमादजनित कर्मोंका आस्रव  
आत्मा में आता नहीं । सन्यभाषा, असत्यमया भाषा, स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकथा प्रमादके प्रतिपक्षी हैं

क्षमा, मार्दन, आर्जव, और संतोष ये कषाय नामक प्रमाद के शत्रु हैं ज्ञानका हमेशा अभ्यास करना, रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले इंद्रियोंके विषयोंसे अलग होकर एकान्त प्रदेशमें रहना, ज्ञानसे मनको स्वस्वरूपमें एकाग्र करना, इन्द्रिय विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषोंका स्मरण न करना, विषयप्राप्ति होनेपर उनमें आदर न करना, ये सब कारण इन्द्रियप्रमादके शत्रु हैं इन विषयोंका वर्णन इस प्रकार हैं- १ रागभावसे युक्त होकर प्रमादरहितमुनि सुंदर स्त्रीके अंग नहीं देखते हैं। अथवा यदृच्छासे देखकर उनपर अनुरक्त नहीं होते हैं द्वेषके वश होकर वे अशुभरूप देखना चाहते नहीं है ऐसा नहीं। अर्थात् अशुभरूप देखनेपर उनके मनमें द्वेषभावना और सुंदररूप देखनेपर राग भावना उत्पन्न नहीं होती है यदृच्छासे अशुभरूप देखकर भी वे द्वेष नहीं करते हैं ऐसे मुनिओंने नेत्रेन्द्रियोंको जीत लिया है ऐसा समझना। उत्तम गायन और वाद्यके मनोहर स्वर और उत्तम सुवर्तिओंके-स्त्रियोंके कंठसे निकले हुये मधुर भाषण जो आदरसे सुननेकी इच्छा नहीं रखते हैं और यदृच्छासे सुन पढ़नेपर उनमें आसक्त नहीं होते हैं तथा अनेक अमनोहर-कंकश शब्द सुननेपरभी जिनकी क्रोध आता नहीं है वे मुनि कणोंको जीतेनवाले समझने चाहिये। ३ कालागुरु, कुष्ठ; केशर, तमालपत्र, कमल, चंपक वगैरहके मनोहर सुवासको जो आदरसे चाहते नहीं हैं यदृच्छासे ऐसे पदार्थोंका सुवास प्राप्त होनेपर जो उसमें आसक्त होते नहीं

तथा अशुभ गंधका मंत्रवन्ध होनेपर जो उससे द्वेष नहीं रखते हैं अथवा शुभगंधका सेवन करनेपर भी जो उसमें आसक्त नहीं होते हैं, वे मुनिराज धारणेंद्रियको जीतेनवाले समझने चाहिये जो अतिशय सुंदर और विशिष्ट मधुर मोजनोंके रसमें लोलुप नहीं होते हैं अथवा यदृच्छासे सेवन करके उसमें आसक्त नहीं होते हैं। अमनोहर रसोंकी सेवा करनेसे मनमें द्वेष भी उनको नहीं उत्पन्न होता है यदृच्छासे अमनोहर रस सेवन करनेका प्रसंग आपइनेपर जिनको द्वेष उत्पन्न नहीं होता है वे रसेनेन्द्रियजता माने जाते हैं।

सुन्दर शय्या, सुंदर स्त्रिया, और शुभ स्पर्श ये मन हरण करते हैं। परंतु मुनि रागवश होकर उनका सेवन करनेकी इच्छा नहीं रखते हैं यदृच्छासे सुन्दरस्पर्शोंका सेवन करनेसे अनुरक्त नहीं होते हैं मुनि मर्दन करना, वस्त्रोंसे अंगको ढकना, अंगकी स्पर्श करना, विलेपन लगाना, आंखोंमें अंजन लगाना, ये कार्य नहीं करते हैं इन कृत्योंसे शरीरको सुख होता है परंतु वैराग्य युक्त मुनीश्वर इनसे विरक्त रहते हैं। शीतस्पर्श, उष्णस्पर्शसे युक्त ऐसी भूमि, पर्वत, शीला और तृण इत्यादिकोंके अमनोहर स्पर्शोंके विषयमें वे द्वेष नहीं करते हैं, जो, मुनि अच्छे



समिद्धिद्विद्विणावमारुहिय अप्रमत्तो भवोदधिं तरदि ॥  
छज्जीवणिकायवधादिप्रावमगरेहिं अञ्छितो ॥ १८४१ ॥

गुणबंधनमारुह्य संयतः समितिप्लवं ॥

हिंसादिमकराग्रस्तो जन्मांभोधिं विलंघयेत् ॥ १९१३ ॥

चिजयोदया—समिद्धिद्विद्विणावमारुहिय समितिलंघिता दृढनावमारुह्य । अग्रमत्तो अप्रमत्तो भवोदधिं तरति ।  
पद्मजीवनिकायवधादिप्रावमगरेरस्पृष्टः ॥ पतेन समिते संवरताप्याता ॥

समितीना संवरत्वंमाह—

मूलारा—अञ्छिक्को अस्पृष्टः ॥

अर्थ—जो समितिरूपी दृढ नावमें आरोहण करता है वह अप्रमत्तमुनि पद्मस्यार्जविका वध, असत्य भाषण इत्यादि पापरूप मगरोसे पीडित नहीं होता है. और वह सुरसे संसारसमुद्रसे उच्चीर्ण होता है. समितोति संवर होता है यह इस सूत्रसे सिद्ध हुआ

दारेव दारवालो हिदये सुषणिहिदा सदी जरस ॥

दोसा धंसंति ण तं पुरं सुगुत्तं जहा सत्तु ॥ १८४२ ॥

द्वारपाल इव द्वारे यस्यास्ति हृदये स्मृतिः ॥

दूषयंति न तं दोषा गुप्तं पुरमिवारयः ॥ १९१४ ॥

चिजयोदया—दारेव दारवालो द्वारे द्वारपाल इव । हृदये सत्यकप्रणिहिता वस्तुतत्वात्ता स्मृतिर्यस्य त दोषा ना भिभवंति पुरं सुगुप्तं शत्रव इव ॥

वस्तुतत्त्वस्मृते. संवरता वक्ति—

मूलारा—सदी वस्तुतत्त्वचितनम् ॥ धंसंति ण नातिभवन्ति ।

अर्थ—जैसे सुरक्षित नगरका शत्रु विनाश नहीं कर सकते हैं वैसे जिसके हृदयमें दसगजेपर द्वारपालके समान वस्तुतत्त्वोंकी एकाग्रस्मृति स्थिर रहती है दोष उसका पराभव नहीं करसकते हैं.

जो खु सविविपहूणो सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ ॥  
 अंधलगोव चरंतो अरीणमविदिज्जओ चेव ॥ १८४३ ॥  
 न यस्यास्ति स्मृतिश्चित्ते स दोषैर्यस्यते स्फुटम् ॥  
 असहायोऽखिले क्षिप्रं विचक्षुरिव वैरिभिः ॥ १९१५ ॥

विजयोदया—जो खु सविविपहूणो य स्मृतिहीन । सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ असो दोषरिपुभिर्गोहो भवति । अरीणा मध्ये असहायोऽन्ध शत्रुग्राहो यथा ॥  
 स्मृतिहीनस्यापयमाह—

मूलारा—गेज्झओ ग्राहो । अविदिज्जओ असहायः ।

अर्थ—जिसकी स्मृति वस्तुतत्त्वोंमें एकाग्र स्थिर नहीं है ऐसा यदि दोषोंके आधीन होता है अंध मनुष्य जैसे शत्रुग्राह होता है वैसे तत्त्वज्ञानकी स्मृति जिसको नहीं है वह यदि दोषोंसे पराभूत होता है.

अमुयंतो सम्मत्तं परीसहसमोगरे उदीरंतो ॥

णेव सदी मोत्तव्वा एत्थ दु अराधणा भणिया ॥ १८४४ ॥

ज्ञानदर्शनचरित्रसंपदं पूर्णतां नयति स त्रती स्फुटम् ॥

यो विमुचति परीपहारिभिर्वाधितोऽपि न कदाचन स्मृतिम् ॥ १९१६ ॥

इति संवरानुप्रेक्षा.

विजयोदया—अमुयतो अमुचता । सम्मत्त रत्नत्रय परीसहसमोगरे, परीपहप्रकरे अभिव्यत्यपि नैव स्मृतिमो-  
 क्तव्या अत्राराधना कथिता ॥ स्मरण ॥

तीप्रदुःखकारणपरीपहव्यूहाभिभवेऽपि रत्नत्रयमत्यजता तत्त्वस्मृतिरनुसर्तव्येत्यनुशास्ति—  
 मूलारा—समत्त समस्त रत्नत्रयं समत्वं वा साम्यं ॥ एतय विनिगतोपनिपातेऽपि रत्नत्रये चेष्टते तेन स्मृत्यव-

लवते सति । संवरानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—परीषद्देके समूहके द्वारा पीडा होनेपर भी रत्नत्रयको धारण करनेवाले यतिओंने स्मृतिका त्याग नहीं करना चाहिए अर्थात् तपके साथ रत्नत्रयकी आराधना करनी चाहिये संवरानुप्रेक्षा समाप्त

निर्जरा अनुप्रेक्षोच्यते—

इय सव्वासवसंवरसंबुडकम्मासवो भवित्तु मुणी ॥

कुर्वन्ति तवं विविहं सुत्तुत्तं णिज्जराहेदुं ॥ १८४५ ॥

यो मुनिर्यदि शुद्धात्मा सर्वथा कर्मसंवरम् ॥

करोति निर्जराकांक्षी सिद्धये विविधं तपः ॥ १९१७ ॥

विजयोदया—इय एव । सव्वासवसवर उक्तैः सवरप्रकारैः । संबुडकम्मासवो भवित्तु मुणी संबृतकर्माक्षवो भूत्वा मुनि करोति विविध तप सूत्रोक्त निर्जराहेतु ॥

धर्म्यं ध्यापयितु द्वादशगाथाभिर्निर्जरामनुचितदिव्यज्ञादौ संबुताना सूत्रोक्तविचित्रतपसा निर्जरा भावयति—

मूलारा—संबुड निरुद्धः । भवित्तु भूत्वा ॥

निर्जरानुप्रेक्षा का वर्णन—

अर्थ—इस प्रकारसे संवरके प्रकारोंसे जिसने कर्मोंके आसव का निरोध किया है ऐसा मुनि निर्जराका कारण ऐसा सूत्रोक्त तप करता है

तवसा विणा ण मोक्खो संवरमिच्छिण होइ कम्मस्स ॥

उवमोगादीहिं विणा धण ण हु खीयदि सुगुत्तं ॥ १८४६ ॥

न कर्मनिर्जरा जन्तोर्जायते तपसा विना ।

साचित क्षीयते धान्यमुपयोग विना कुतः ॥ १९१८ ॥

विजयोदया—तवसा विणा तपसोत्तेज न कर्ममोक्षो भवति संवरमोक्षेण । सुरक्षितमपि धनं नैव क्षीयते । उपमोगमंतेरेण । तथा तस्मात् तपोनुप्रातव्यं निर्जरायं । का सा निर्जरा नाम पूर्वकृतकर्मशातनं तु निर्जरा ॥

संवरणैव कर्मक्षय इति मत्वा तपस्यनुत्सहमानमुत्साहयति—  
मूला—उवभोगादीर्हि स्वयमुपभोगपात्रविनियोगादिभिः ॥

अर्थ—तप से ही केवल कर्मके संवरसे मोक्ष नहीं होता है, जिस धनका संरक्षण किया है वह धन उपभोग नहीं लिया तो समाप्त नहीं होगा इसलिए कर्मकी निर्जरा होनेके लिए तपश्चरण करना चाहिये।

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा ॥

पटमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ॥ १८४७ ॥

पूर्वस्य कर्मणः पुंसो निर्जरा द्विविधा मता ॥

आद्या विपाकजातात्र द्वितीया त्वविपाकजा ॥ १८४९ ॥

विजयोद्या—पुव्वकदकम्मसडण पूर्वगतकर्मपुद्गलस्कंधाययाना जीवभेदोभ्योऽपगमनं निर्जरा । तथा चोक्तं । एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरेति । निर्जरा द्विविधा द्रव्यनिर्जरा भावनिर्जरा चेति । द्रव्यनिर्जरा नाम गृहीतानामशनपानादिद्रव्याणा पकदेशापगमन वमनादि । भावनिर्जरा नाम कर्मत्वपर्याधीवगम पुद्गलाना । सा पुनर्द्विविधा, आद्या विपाकजाता द्वितीयाऽविपाकजाता ॥

निर्जरा द्विविकल्प निर्दिशति—

मूला—पुव्वकयकम्मसडणं प्राक्सचितकर्मपुद्गलस्कंधाययाना जीवप्रदेशेभ्योऽपगमनम् । विवागजादा रयका-  
लेन दत्तफलाना कर्मणां गलन विपाकजा निर्जरा । अविवागजादा उपक्रमेण दत्तफलाना कर्मणा गलनमविपाकजा । उक्तं च

जह कालेण तवेण य भुत्तरस कम्मपुगलं जेण ॥

भावेण सडदि नेया तस्सडणं पेदि णिज्जरा दुविहा ॥

अर्थ—पूर्व कर्मके संक्रयोंमेंसे थोड़ा थोड़ा कर्मका हिस्सा जीवके प्रदेशोंसे निकल जाना यह निर्जराका स्वरूप है आगममें इस निर्जराका लक्षण ऐसा किया है— ‘एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा’ अर्थात् कर्मके एक देशका क्षय होना यह निर्जराका लक्षण है, निर्जराके द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा ऐसे दो भेद हैं, मक्षण किए हुए अन्नपानादि पदार्थोंका एक देशका क्षय होना यह द्रव्यनिर्जरा है और वमन होना अथवा पूर्ण पचन होना यह



भावनिर्जरा है. पुद्गलका कर्मपर्याय नष्ट होना निर्जराका लक्षण है. इसके भी दो भेद हैं. विपाकजाता निर्जरा और अविपाकजाता निर्जरा.

अत्र दृष्टान्तमाचष्टे द्विविधा निर्जराभवमर्थितुं—

कालेण उवायेण य पचति जहा वणफदिफलाइं ॥

तह कालेण तवेण य पचति कदाणि कम्माणि ॥ १८४८ ॥

नानाविधानि कर्माणि गृहीतानि पुरा भवे ॥

फलानीव विपच्यन्ते कालेनोपक्रमेण च ॥ १९२० ॥

विजयोदया—कालेण उवायेण य यथा कालेनोपायेन च वनस्पतीनां फलानि पच्यन्ते तथा कालेन तपसा पच्यन्ते कृतानि कर्माणि ॥

कर्मणा कालोपायानां पाक्यत्वं दृष्टान्तेन स्फुटयति—

मूलारा—उवायेण ऊष्मधूमादिप्रयोगेण ।

दृष्टान्तके द्वारा इनका स्पष्टीकरण—

अर्थ—जैसे दूधोंके फल योग्य कालकी अपेक्षाकर अर्थात् योग्य काल प्राप्त होनेपर पक्क होते हैं अथवा उपायसे पक्कावस्था की प्राप्त होते हैं वैसे पूर्व कर्मभी योग्यकाल प्राप्त होनेसे तथा तपसे पक्क होते हैं.

तयोर्निर्जरयो का कस्य भवतीत्याद्यंकायामाचष्टे—

सन्वोसिं उदयसमागदस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ ॥

कम्मस्स तवेण पुणो सन्वस्स वि णिज्जरा होइ ॥ १८४९ ॥

कालेन निर्जरा नूनमुदीर्णस्यैव कर्मणः ॥

तपसा क्रियमाणेन कर्म निर्जयितेऽखिलम् ॥ १९२१ ॥

विजयोदया—सन्वोसिमुदयसमागदस्स सर्वेण समयपूर्वके तपसि वृत्तानां अनुष्ठाना अथवा मिथ्याह-  
दृष्टादीनां सस्यदृष्ट्यादीनां वा उदयावलिक्ताप्रविष्टस्य वृत्तस्य फलस्य कर्मणो निर्जरा भवति । एतेन विपाकनिर्जर

स्वप्नोत्थाय्यातं भवति । कथं न सर्वाणि कर्माणि भिन्नास्थितिकानि सहकारिकारणानां द्रव्यक्षेत्रादीनां युगपदसान्निध्या-  
दुदय सर्वस्य नोपपन्नंति, ततो यदुदयप्राप्तं तदेवागच्छति नेतरदिति । तवेण पुनो तपसा पुनः । कम्मस्स सन्वस्स वि  
कर्म्मण सर्वस्यापि निर्जरा भवति ॥

सर्वसाधारण्या विपाकजनिर्जराया इतरानिर्जरायाः सुतरा विधेयता दर्शयितुं विशिष्टता भावयति—  
मूढारा— उदयसमयागदस्स अनुभवसमयावलिकाप्रविष्टस्य दत्तस्वफलस्येत्यर्थः । णिज्जरा अपगमः । एतेन  
विपाकनिर्जरा स्वल्पेयुक्तं भवति । सन्वस्स उदितस्यानुदितस्य ॥ एक च—

कालेन निर्जरा नूनमुदीर्णस्यैव कर्मणः ॥

तपसा क्रियमाणेन कर्म निर्जयितेऽखिलं ॥

एतेन—नामुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥

अवश्यमेव मोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

इत्येकातः शैवसिद्धान्तोक्तः प्रत्युक्तः ॥

इन दो निर्जराओंमें कोन किसकी होती है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जो तपश्चरणमें प्रवेशकर अपना फल देकर नष्ट होता है यह विपाकनिर्जराका स्वरूप है यह विपाक  
निर्जरा अल्प होती है- क्योंकि सर्व कर्मोंकी भिन्न भिन्न स्थिति रहती है द्रव्य क्षेत्रादिक सहकारी कारण सबके  
एकदम नहीं मिलते हैं इसलिये कर्म एकसाथ उदयमें आकर फल देकर नष्ट नहीं होता है- जो उदयमें आता है  
वही फल देकर नष्ट होता है अन्य नहीं और तपश्चरणके द्वारा सर्व कर्मकी निर्जरा होती है

ण हु कम्मस्स अवेदिदफलस्स कस्सइ हवेज्ज परिमोक्खो ॥

होज्ज व तस्स विणासो तवग्गिणा उज्झमाणस्स ॥ १८५० ॥

अनिर्दिष्टफलं कर्म तपसा दह्यते परम् ॥

सस्यं हुताशनेनेव बहुभेदमुपार्जितम् ॥ १९२२ ॥

विजयोदया—कम्मस्स ण हु इवेज्ज परिमोक्खो अनभुतफलस्य कर्मणो नैव कस्य चित् मोक्षो भवति इति तत' फलं प्रदायापयाति । एतेन विपाकनिर्जोक्ता, होज्जव तस्स कम्मस्स विणासो भवेद्वा तस्य कर्मणो विनाशः तवग्गिणा डज्जमाणस्स तपोऽग्निना दद्यामानस्य एतेन कृतं कर्म तत्फलमदत्त्वा न निवर्तत इत्येतच्चिरस्ते ।

उक्तेमेवार्थे उत्सर्गपवादाभ्या दृढयति—

मूलारा—अवेदिदफलस्स अमुकफलस्य । एतेन स्वफल प्रदायापयाति कर्मेति विपाकनिर्जरा सामान्येनोक्ता ।

डज्जमाणस्स निर्वीजीक्रियमाणस्य । एतेन कृत कर्म यत्तत्फलमदत्त्वा न निवर्तते इत्येकान्तो निरस्तः ॥ उक्तं च—

अनिदिष्टफलं कर्म तपसा दद्याते परं ॥

सस्यं हुताशनेनेव बहुभेदमुपाजितम् ॥

अर्थे—जिस कर्मका फल जीवकेद्वारा नहीं भोगा गया है ऐसा कर्म नष्ट नहीं होता है अर्थात् कर्म अपना फल जीवको देकर ही चला जाता है इस विवेचनसे विपाक निर्जरा कही गयी परंतु तपोय्यीसे जो कर्म दग्ध होता है वह कर्म आत्माको फल न देकर ही नष्ट होता है इससे ' जो कर्म इस जीवने किया है वह फल जवतक नहीं देता है, तवतक नष्ट नहीं होता है, ऐसा एकान्त मत खडित होता है तात्पर्य यह है कि, विपाक-निर्जरा जिस कर्मकी होती है वह कर्म आत्माको फल देता है, अविपाक निर्जराका कर्म फल नहीं देता है

डहिज्जण जहा अग्गी विद्धंसेदि सुवहुगंपि तणरासी ॥

विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतणं सुवहुगंपि ॥ १८५१ ॥

तपसादीयमानेन नादधते कर्मसंचयः ॥

आशुशुक्षणिना क्षिप्र दीप्तेनेव तृणोत्तकरः ॥ १९२३ ॥

विजयोदया—डहिज्जण जहा अग्गी यथाशिर्दग्ध्वा नाशयति महांतमपि वृणराक्षी तथा तपोग्निः सुमहदपि कर्मवृणं विनाशयति ॥

तपसः कर्मशतनसामर्थ्यं समर्थयते—

मूलारा—स्पष्टम् । उक्तं च—

तत्कालमपि तद्वयानं ज्वलयेत्काप्रमात्मनि ॥

उच्चैः कर्मोच्चयं भियाद्वृजं शैलमिव क्षणात् ॥

अर्थ—जैसे प्रज्वलित आग्नि बड़ी भारी तृण राशिको भी जलाकर भस्म कर डालती है वैसे तपस्वरूपी अग्नि बड़त मोटाभी कर्मसमूह तृण के समान नष्ट कर देती है।

तपस कर्मविनाशनकमसुपदेशयत्युत्तरगाथा—

कर्मं विपरिमिज्जइ सिणेहपरिसोसएण सुतवेण ॥  
तो तं सिणेहमुक्कं कम्मं परिसडदि धूलिव्व ॥ १८५२ ॥  
स्वयं पलायते कर्म तपसा विरसीकृतम् ॥  
रजोऽवतिष्ठते कुत्र नीरसे स्फटिकेऽश्मनि ॥ १९२४ ॥

विजयोदया—कर्मं वि परिणमिज्जदि कर्माण्यपि अन्यथा भावं नीयते, केण सुतवेण ज्ञानदर्शनचरणसहभाविना तपसा । सिणेहपरिसोसणेण कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशेषणकारिणा । तो पञ्चात् । स्नेहपरिणामविनाशोत्तरकाल । कम्म परिसडदि कर्म परितोऽपयाति, सिणेहमुक्क स्वहमुक्क धूलीव । इदयते हि स्नेहाद्रधमुपगताना तदक्षते । परस्परतो वियोग यथा जलेनैव पिण्डतागताना सिकताना शुल्के जले वियोगमापद्यमानता ॥

तपसः कर्मविनाशनकम कथयति—

मूलारा—विपरिमिज्जदि अन्यथाभावं नीयते जीवपरतन्त्रीकरणशक्ति त्याज्यते इत्यर्थः । अन्ये परिसोसिज्जदि इति पठति । सिणेहपरिसोसणेण कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशेषणकारिणा । सुतवेण रत्नत्रयसहभाविना तपसा । धूलीव यथा जलाद्रध गताना सिकताना जले शुल्के परस्परतोऽपगमनं । एवं कपायादिकृतस्नेहाज्जीवेन सहैकलोलीभावं गताना कर्मपुद्गलाना तपसा हृत्स्वत्व गमिताना ततोऽपगम इत्यर्थः ॥ उक्तं च—

स्वय पलायते कर्म तपसा विरसीकृतं ॥  
रजोऽवतिष्ठते कुत्र नीरस्फटिकेऽश्मनि ॥

तपश्चरण के कर्म विनाशक्रमका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—तपश्चरणसे अर्थात् ज्ञान, दर्शन चारित्रिके साथ रहनेवाले तपसे कर्ममें फरक किया जाता है. अर्थात् जीवको परतत्र करनेका स्वभाव कर्ममें रहता है तपके द्वारा उस स्वभावका नाश होता है. यह तपश्चरण कर्ममें जो स्नेहशक्ति थी उसको नष्ट करता है. जिससे कर्म आत्मासे संबंध छोड़कर चला जाता है. जैसे स्नेहसे धूलि

एकत्र होती है परंतु स्नेहके हरनेसे धूली के कण बिखर जाते हैं उनका बंधन नहीं रहता है पानीसे वायुका पिंड बनता है परंतु पानी सूख जानेपर वायुके कण अलग होते हैं-वैसी स्नेहशक्ति तपसे नष्ट होनेपर कर्म आत्मामें अलग होता है-अर्थात् पुद्गलका कर्मत्वपर्याय नष्ट होता है.

धादुगदं जह कणयं सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा ॥  
सुज्झइ तवग्गिधंतो तह जीवो कम्मधादुगदो ॥ १८५३ ॥

तपसा ध्मायमानोऽङ्गी क्षिप्रं शुद्धयति कर्मभिः ॥

पाषाणः पावकेनेव कानकः सकलैर्मलैः ॥ १९२५ ॥

चिजयोदया—धादुगदं यथा सुवर्णपाषाणगत कनकं महताग्निना दह्यमानं शुध्यति, मलात् पृथग्भवति तथा जीव कर्मधादुगगतस्तपोऽग्निना दह्यमानः शुध्यति ॥

तपसा शुद्धस्वात्मानि दीप्यमानस्यात्मनः कर्मभ्यः पृथग्भावं भावयति—

मूलारा—धादुगदं सुवर्णपाषाणस्य । सुज्झइ पृथग्भवति । धम्मंतं ताप्यमान । तवग्गिधंतो तपोऽग्निनाध्मातः शद्धस्वचिद्रूपं देदीप्यमानः कृतः ।

तपसा ध्मायमानोऽङ्गी क्षिप्रं शुध्यति कर्मभिः ॥

पाषाणः पावकेनेव कानकः सकलैर्मलैः ॥

अर्थ—महान् अग्निसे दग्ध होनेपर जैसे सुवर्णपाषाणमेंसे सुवर्ण शुद्ध होता है अर्थात् मलसे अलग होता है वैसे कर्मरूपी धातुओंमें मिश्र हुआ यह जीवरूपी सुवर्ण तपरूपी अग्निसे जत्र दग्ध होता है तब वह निर्मल होता है

यद्येव तप एवाद्युष्टातव्यं किं संवरेणेति शंका निराकरोति—

तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयेणे ॥  
ण हु सोत्ते पविसंते किसिणं परिसुस्सदि तलायं ॥ १८५४ ॥  
मोक्षःसंवरहनेन तपसा न जिनागेम ॥  
रविणा शोष्येत नीरं प्रवेशे सति किं सरः ॥ १९२६ ॥

विजयोदया—तवमा चेव ण मोक्खो तपसैव न सर्वकर्मपायो भवति, सवरहीनस्य जिनवचने । स्रोतसि प्रविशति न जलादिकं कृत्स्नं परिगृह्णाति ॥

यद्येवं तर्हि तदेवानुष्ठेयं न संवर इत्यत्राह—

मूलारा—मोक्खो सर्वकर्मपायसं ॥ उक्तं च—

मोक्षः संवरहीनेन तपसा न जिनागमे ॥

रविणा शोष्यते नीरप्रवेशे सति किं सरः ॥

यदि तप से आत्मा शुद्ध होता है तो तप ही करना चाहिए संवरकी क्यों आवश्यकता है ? आचार्य इस शंका का उत्तर देते हैं—

अर्थ—जो मुनि संवररहित है केवल तपश्चरणसे ही उसके कर्मका नाश नहीं हो सकता है ऐसा जिन-वचनमें कहा है यदि जलप्रवाह आता ही रहेगा तो तालाब कब सूखेगा ? अर्थात् नहीं सूखता है.

एवं विणद्धसंवरवम्भो सम्मत्तवाहणारूढो ॥

सुदणाममन्नाद्यणुगो ज्ञाणादितवोमयसरोहिं ॥ १८५५ ॥

विजयोदया—एवं विणद्धसंवरवम्भो एव विणद्धसंवररूपवच, सम्यक्त्ववाहनारूढ, श्रुतज्ञानचापधर, ध्याना-दितपोमयशरै ॥

चतुर्विधाराधनानिष्ठः संवरसहितया निर्जरया कर्मारिचमूं निःशेष्याक्षयामन्तज्ञानादिराज्यश्रियं प्राप्नोति इति गाथाद्वयेनोपसंहरति—

मूलारा—विणद्धसंवरवम्भो बद्धालयनिरोधसन्नाहः ।

अर्थ—जिम्हने संवररूपी बरुतर पहना है, जो सम्यग्दर्शनरूपी वाहनपर चढ़ा है-जिम्हने सम्यग्ज्ञानरूपी धनुष्य हाथ में लेकर ध्यान और तपरूपी शर-बाण सम्यग्ज्ञानरूप धनुष्य के ऊपर जोड़ दिये हैं.

संजमरणभूमीए कम्मारिचमू पराजिणिय सव्वं ॥

पावदि संजमजोहो अणोवमं मोक्खवरज्जसिंरिं ॥ १८५६ ॥

दर्शनद्विपमधिष्ठितो बुधो लब्धव्यो धसचिवस्तपःशरैः ॥  
कर्मशत्रुमपहत्य संवृतः सिद्धिसंपदमुपैति शान्धर्ताम् ॥ १९२७ ॥

इति निर्जरा ।

विजयोदया—संजमरणभूमीए संयमयुद्धागणे कर्मोरिचमू सर्वात्मभिभूय प्राप्नोति संयतयोध. अनुपमा-  
मोक्षराल्यधिर्य ॥ निर्जरा ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥ निर्जरातुमेक्षा ।

अर्थ—ऐसा मुनिरूपी वीर पुरुष संयमरणमें सपूर्ण कर्मसेनाका पराजय कर मुक्तिरूप राज्यलक्ष्मीकी प्राप्ति  
कर लेता है ।

धर्मगुणानुपेक्षणयोज्यते—

जीवो मोक्षस्वपुरक्कडकछाणपरंपरस्स जो भागी ।

भावेणुववज्जदि सो धम्मं त तारिसमुदारं ॥ १८५७ ॥

मोक्षावसानकल्याणभाजनेन शरीरिणा ॥

आहेतो भावनाधर्मो भावतः प्रतिपद्यते ॥ १९२८ ॥

विजयोदया—जीवो मोक्षस्वपुरक्कडकछाणपरंपरस्स जो भागी, यो जीवमोक्षावसानकल्याणपरंपराया  
भाजनभूतः । स धर्म भावेन प्रतिपद्यते, त तादृशमुदारं सकलसुखसंपादनक्षमं महान्तं धर्मं ॥

धर्म्यध्यानसिद्धये गायानवकेन धर्ममहिमानमनुचितयति—

मूलारा—मोक्षस्वपुरक्कडकछाणपरंपरस्स मोक्षेण पुरःसरता नीतानि यानि कल्याणानि सुदेवत्वसुमातुष्य  
पदाभ्युदयसुखानि मोक्षसुखावसानसासारिकसुखानीत्यर्थः ॥ तत्प्रबंधस्य भागी भजनयोग्यः । भावेणुववज्जदि परमार्थेन  
प्रतिपद्यते । उदारं सकलसुखसंपादनसमर्थत्वान्महान्तः ।

उक्तं च—मोक्षावसानकल्याणभाजनेन शरीरिणा ॥

आहृतः पावनो धर्मो भावतः प्रतिपद्यते ॥

अर्थ—मोक्षप्राप्ति तक जो जो कल्याणपरंपरा प्राप्त होती है वह सब धर्मकी सहायतासे ही होती है

अर्थात् धर्मसे अभ्युदय और मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है इस उदाहरण, सर्व सुखोंकी प्राप्ति करा देनेमें समर्थ धर्म को मनुष्यजीव हृदयसे धारण करता है

धर्मेण होदि पुञ्जो विस्ससणिज्जो पिओ जसंसी य ॥

सुहसज्झो य णराणं धम्मो मणणिब्बुदिकरो य ॥ १८५८ ॥

यशस्वी सुभगः पूज्यो विश्वास्यो धर्मतःप्रियः ॥

सुसाध्यः सोऽन्यकार्येभ्यो मनोनिवृत्तिकारकः ॥ १९२९ ॥

विजयोदया—धर्मेण होदि पुञ्जो धर्मेण पूज्यो भवति । विश्वसनीय प्रियो यशस्वी च भवति, सुखेनैव साध्यो-  
नराणा धर्मः ॥ उक्तं च ॥ दृष्टे श्रुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलगमो भवतीति मनसो निवृत्तिं च करोति ॥

मूळारा—जसंसी कीर्तिमान् । सुभसज्झो शुभपरिणामात्रसाध्यः अथवा सुखेन साधयितुं शक्यः । ' दृष्टे  
श्रुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलगमो भवति इति वचनात् ॥

अर्थ—इस धर्मके आचरणसे मनुष्य पूज्य, विश्वसनीय, प्रिय और यशस्वी होता है यह धर्म सुखसे मनुष्य  
जीव धारण कर सकते हैं. धर्म धारण करनेसे मनुष्योंका मन सतृप्त होता है धर्मका फल देखनेसे, सुननेसे, जान  
लेनेसे और स्मरण करनेसे मन प्रसन्न होता है ऐसा शास्त्रोंमें कहा है

जावदियाइं कल्लणाइं संगे य मणुअलोगे य ॥

आवहदि ताण सव्वाणि मोक्खं सोक्खं च वरधम्मो ॥ १८५९ ॥

धर्मः सर्वाणि सौख्यानि प्रदाय सुवनेऽङ्गिनम् ॥

निघत्ते शाश्वते स्थाने निर्बाधसुखसंकुले ॥ १९३० ॥

विजयोदया—जावदिगाइं कल्लणाइं यावन्ति कल्याणानि स्वर्गे मनुष्यलोके च तानि सर्वाण्याकर्षति  
धर्मो मोक्षं सुखं च ॥

मूळारा—स्पष्टम् ॥



अर्थ—स्वर्गलोकमें और मनुष्यलोकमें जितने सुख प्राप्त होते हैं वे सब धर्मसे ही प्राप्त होते हैं मोक्ष सुखकी प्राप्ति भी धर्मसे ही होती है।

ते धण्णा जिणधम्मं जिणदिट्ठं सन्वदुक्खणासयरं ॥

पडिवण्णा दिढ्ढधिदिया विसुद्धमणसा गिरावेक्खा ॥ १८६० ॥

ते धन्या ये नरा धर्मं जैनं सर्वसुखाकरम् ॥

निरस्तनिखिलग्रथा. प्रपन्नाः शुद्धमानसाः ॥ १९३१ ॥

विजयोदया—ते धण्णा पुण्यवत । जिनदृष्ट धर्म सर्वदुःखनाशकरं प्रतिपन्ना शुद्धेन मनसा दृढधृतिका, निर्व्याकुला ॥

मूलारा—दृढधिदिया अविचलधृतयः ।

अर्थ—जिन्होंने निर्मल मनसे निःस्पृह होकर धर्म धारण कर सर्व दुःखोंका अन्त करनेवाला जिनेश्वर प्रतिपादित जिनधर्म धारण किया है वे पुरुष धन्य हैं।

विसयाडवीए उम्मगगविहरिदा सुचिरमिदियस्सेहिं ॥

जिणदिट्ठिण्वुदिपहं धण्णा ओदरिय गच्छंति ॥ १८६१ ॥

ये च वीर्यैन्द्रियाभ्यो नीता विषयकानने ॥

धर्ममार्गं प्रपद्यन्ते ते धन्या नरपुंगवाः ॥ १९३२ ॥

विजयोदया—विसयाडवीए विषयादया उन्मार्गविहारिण सुचिरमिदियाभ्यैर्बलानीता संत ते जिनदृष्ट निर्वृतिमार्गं गच्छन्ति धन्या इन्द्रियाभ्योऽचरुह्य ॥

मूलारा—उम्मगगविहरिदा इन्द्रियाभ्यैर्व्यात्वादित्रय विशेषेण नीताः । ओदरिय इन्द्रियाभ्योऽचरुह्य ॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी घोड़े इस जीवको उन्मार्ग में दौड़कर विषय रूपी जगलमें ले जाते हैं. ऐसी परिस्थितियों में जो इन्द्रियरूपी अश्वोंसे नीचे उतरकर जिनेश्वरने देखे हुए मोक्षमार्गपर जाते हैं वे पुरुष जगमें धन्य समझने चाहिये.

रागेण य दोसेण य जगे रमंतस्मि वीदरागस्मि ॥

धम्मस्मि णिरासादस्मि रदी अदिदुल्लहा होइ ॥ १८६२ ॥

अहो द्वेषेण रागेण लोके क्रीडति सर्वदा ॥

वीतरागे निरास्वादे बोधिधर्मेऽतिदुर्लभा ॥ १९३३ ॥

विजयोदया—रागेण य दोसेण य जगे रमंतस्मि रागद्वेषाभ्यां सद्म जगति क्रीडति । वीतरागे धर्मे निरास्वादे रति-  
रतीव दुर्लभा भवति ॥ उक्तं च ॥ कुलं च रूपं च यशश्च कीर्तिर्धनं च विद्या च सुखं च लक्ष्मी । आरोग्यमप्येव  
संप्रयोगो द्वेषैर्वियोगोऽपि च दीर्घमायुः ॥ १ ॥ स्वर्गश्च मोक्षश्च मयोपदिश भावा इमेऽन्ये च जगत्प्रशस्ताः । धर्मेण  
शक्त्या जगतीह लब्धुः, हिताय तं कर्तुमतोर्हसि त्व ॥

जिनधर्मरत्नेरतिदुर्लभता भावयति—

मूलारा—रागेणेत्यादि वहिरात्मप्राणिगणो रागद्वेषाभ्यां सद्म क्रीडति ॥ एतेन संसर्गाज्जोपगुणा भवंति इत्या-  
श्रित्य कथमीदृशि लोके प्रवर्तमानानां रागाद्यप्रादुर्भावलक्षणार्हिंसात्मनि निरास्वादे वा भावितवृत्तादरूपे धर्मे रतिं कर्तुं  
शक्यते इति मन्यते ॥

अर्थ—राग और द्वेषके साथ यह जगत् रममाण हो रहा है इस लिये निरास्वाद वीतराग धर्मे प्रेम  
होना अतीव कठिन है शास्त्रमें इस विषयमें ऐसा कहा है—कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन विद्या, सुख, और संपत्ति,  
आरोग्य, आज्ञा, इच्छित पदार्थों की प्राप्ति, अनिष्ट पदार्थोंसे वियोग, दीर्घ आयुष्य, स्वर्ग मोक्ष इनका मैंने वर्णन  
किया है अतः हे भव्य जीव ! तू स्वहित के लिये धर्माचरण कर

सहलं माणुसजम्मं तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ॥

संसारदुःखकारणकम्मागमदारसंरोधं ॥ १८६३ ॥

तदीयं सफल जन्म तदीयं दुःसमुज्ज्वलम् ॥

जन्ममृत्युजराकारिकर्मसंनिरोधकम् ॥ १९३४ ॥

विजयोदया—सहल माणुसजम्मं तस्य मनुष्यस्य जन्म सफल भवति यस्य चरणमनवयाः क्रीदशः संसारदुःख-  
संपादनोद्यतकर्मोपकारनिरोधकारी । अनेन चारित्र्यमिह शब्दो धर्मत्वेनोच्यत इत्याख्यातं भवति ॥

इह धर्मश्चारित्रभिलाख्यातुमाह—

मूला—अणवज्जं निरतिचारम् ।

अर्थ—जिसका चारित्र निर्दोष है, संसारदुःखोंको करनेवाले कर्मका आनेका द्वाररूप जो अविरत्यादि परिणाम जिससे बंद पड़ता है, ऐसा निर्दोष चारित्र जिसने धारण किया है उसी मनुष्यका जन्म सफल माना जाता है. उपर्युक्त चारित्रिकोही यहां धर्म समझना चाहिये

जह जह णिव्वेदसमं वेरगदयादमा पवद्धुति ॥

तह तह अब्भासयरं णिव्वाणं होइ पुस्सिस्स ॥ १८६४ ॥

यथा यथा विवद्धंते निर्वेदप्रशमादयः ॥

प्रयात्यासन्नतां पुंसः सिद्धिलक्ष्मीस्तथा तथा ॥ १९३५ ॥

विजयोदया—यथा यथा निर्वेद उपशमो दया चिन्तातिग्रहश्च प्रवर्तते तथा तथा समीपतरं भवति निर्वाण पुरुषस्य ॥

सद्धर्मैकसाध्यनिर्वाणाभ्यर्णतरत्त्वलिगमाह—

मूला—अब्भासदरं समीपतरम् ॥

अर्थ— जैसे २ वैराग्य, रागद्वेषोंका प्रशम, दया, जितेंद्रियता ये गुण बढ़ेंगे तैसे २ पुरुषके पास मोक्ष आता है

धर्मं स्तौति—

सम्मदंसणतुवं दुवालसंगारय जिणिंदाणं ॥

वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्कं तवोधारं ॥ १८६५ ॥

द्वादशात्मकतपोरयंत्रितं तत्त्वबोधरुचिच्युत्तनेमिकम् ॥

धर्मचक्रमनवधमार्हतं विष्टपे विजयतामनश्वरम् ॥ १९३६ ॥

॥ इति धर्मानुमेक्षा ॥

विजयोदया—सम्पदसङ्गतुवं द्वादशागारक व्रतनेमिकं तपोधारं जितेन्द्राणां धर्मचक्र जगति जयति ॥ धम्मं धर्मं स्तोत्रमाह—

मूलारा—बुधं नाभिः । दुबालसगारयं मुन्याचारादीन्याचाराणि यस्य । वदनेमिय व्रतमेव नेमिर्धारा यस्य । तयोधारं तप एव धारा द्वितीया नेमिर्यस्य । धर्मानुप्रेक्षा ॥

धर्मकी स्तुति करते हैं.

अर्थ—धर्मरूप चक्रमें सम्पददर्शन रूप तुगा है, इस धर्मचक्रको द्वादशांगज्ञान रूप ओर हैं, पांच महाव्रत नेमिके स्थानमें हैं, और तप धारा है ऐसा जितेन्द्रोका यह धर्मचक्र जगतमें जयवान रहे.

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कथ्यते—

दंसणमुदतवचरणमइयमि धम्ममि दुल्लहा बोही ॥

जीवस्स कम्मसत्तस्स संसरंतस्स संसारे ॥ १८६६ ॥

धम्मं भवति सम्पक्वज्ज्ञानवृत्ततपोमये ॥

दुर्लभा व्रमतो बोधिः संसारे कर्मतोऽङ्घिनः ॥ १९३७ ॥

विजयोदया—दंसणमुदतवचरणमइयमि दर्शनश्रुततपश्चरणमये धम्मं दुर्लभा बोधिर्जीवस्य कर्मसत्तस्य संसारे संसरत ॥

धर्माँलंबनत्वेन बोधिं गाथाएकेन भावयति—

मूलारा—बोधी दीक्षाभिमुखा बुद्धिः प्राप्तिर्वा बोधिशब्देनैहोच्यते । रत्नत्रयप्राप्तिः सखु बोधिः प्रसिद्धा । कम्मसत्तस्स कर्मप्रस्तस्य कर्मणि वा कायादिव्यापारे सत्तस्य प्रयत्तस्य ॥

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षाका वर्णन—

अर्थ—सम्पददर्शन, सम्पदज्ञान, तप और चारित्र एतत्तत्त्वरूप धर्ममें बोधिकी प्राप्ति होना दुर्लभ है, यह कर्मसे लीत है और संसारमें अमण कर रहा है इसको बोधिप्राप्त होना कठिन है.

तस्या दुर्लभता प्रकटयत्युत्तरप्रवचने—

संसारमि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं ॥

जुगसमिलासं जोगो जह लवणजलं समुदम्मि ॥ १८६७ ॥

संसारे देहिनेऽनंते मानुष्यमतिदुर्लभं ॥

समिलायुगसांगल्य पयोधाविव दुर्गमे ॥ १९३८ ॥

विजयोदया—संसारमि अणंते अनंतसारे । जीवाना मनुष्यत्वं दुर्लभं, पूर्वपरस्समुद्रनिक्षिप्तयुगतत्संबंधि-  
काष्ठसयोग इव ॥

कथं दुर्लभता बोधेरित्त्राह—

मूलारा—लवणजले एतेन समुद्रातरेभ्यः प्रस्तारसलिलेभ्यः सकाशाद्वणोदसमुद्रस्य वेलाकुलेन वैशिष्ट्य लक्ष-  
यति । अत एव पूर्वादिद्विग्विभागप्रक्षिप्तपूषमिलयोरतिदुर्लभः मयोगः स्नातु ॥

नोधिक्की दुर्लभताका आचार्यं सविस्तर वर्णन करते हैं—

अर्थ—इस अनंत संसारमें जीवको मनुष्यपनाका लाभ होना कठिन है जैसे पूर्वसमुद्र और अपरसमुद्रमें क्रमशः  
जुवा और उनकी लकड़िया फेक देनेपर उनका पुनरपि सयोग होना अत्यंत कठिन है वैसे नष्ट हुआ मनुष्य जन्म  
पुनःप्राप्त होना अतिशय कठिन है.

मनुजताया दुर्लभत्वे कारणमाह—

असुहपरिणामवहुलत्तण च लोगस्स अदिमहल्लतं ॥

जोणिवहुत्तं च कुणदि सुदुल्लहं माणुसं जोणी ॥ १८६८ ॥

प्राचुर्यं गर्ह्यभावानां महत्त्वं जगतोऽङ्गिनाम् ॥

विद्यते योनिबाहुल्यं मानुष्य जन्मदुर्लभं ॥ १९३९ ॥

विजयोदया—असुहपरिणामवहुलत्तण च अशुभपरिणामाना मिथ्यात्वात्तयमरुगायप्रमादना परिणामाना  
वहुत्वं मनुजयोनिदुर्लभता करोति । मनुजरहितलोकस्यातिमहत्त्वं च तत् दुर्लभता करोति । असंख्येया हि द्वीपसमुद्र  
नारकावासा, स्वर्गपटलानि, इतरथ लोकाकाशमतिमहत् । योनीनां बहुत्व चेत्तपसा निवधन तद्दुर्लभतायाः ॥

मानुपत्वमुदुर्लभत्वयोः कारणत्रयमाह—

मूलांशः—असुभपरिणामबहुलत्तणं प्रचुरा मिथ्यात्वादय कुयोनिजन्मनिमित्तकर्महेतवः परिणामा इत्यर्थः ॥  
लोगस्स अदिमहल्लत्त । मनुजरहितस्य लोकाकाशस्य विपुलत्व । जंबूद्वीपार्धवृत्तीयद्वीपेष्वेव हि मनुजाः संभवन्ति ।  
जोणिवहुत्तं मनुष्ययोनिभ्यश्चतुर्दशलक्षसंख्याभ्योऽन्या योनयो बह्व्यः सप्तलिलक्षसंख्यान्वात् ॥

मनुष्यपना दुर्लभ क्योँ है इसका उत्तर—

अर्थ—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, प्रमाद इनसे युक्त परिणाम—असुभ परिणामोंसे ही यह जगत् भरा हुआ है इसमें मनुष्यजन्म प्राप्त होना कठिन है. मनुष्योंसे रहित लोकक्षेत्र बहुत ही विस्तीर्ण है और मनुष्य युक्त लोकक्षेत्र अत्यल्प है इससे हि मनुष्यपना दुर्लभ है यह बात सिद्ध होती है. असंख्यात द्वीपसमुद्र मनुष्यविरहितही हैं. नरकशूभि, स्वर्गशूभि और इतर लोकाकाश ये सब मनुष्यविरहित हैं इतर योनिओंकी बहुलता होनेसे मनुष्ययोनीकी दुर्लभता सिद्ध होती है

अपरामपि दुर्लभतापरंपरा दर्शयत्युत्तरगाथा—

देसकुलरुवमारोगमाउगं बुद्धिसवणगहणाणि ॥

लद्धे वि माणुसत्ते ण हुंति सुलभाणि जीवस्स ॥ १८६९ ॥

देशो जातिः कुल रूपमायुर्नरीगता मतिः ॥

अवणं ग्रहणं श्रद्धा नृत्वे सत्यपि दुर्लभम् ॥ १९४० ॥

विजयोदया—देसकुलरुवमारोगं देशकुलरूपमारोग्यं । आयुगमायुष्कं । बुद्धिसवणगहणाणि बुद्धिश्रवणग्रहणाणि । लब्धेपि मनुष्यत्वे मनुष्यगतिनामकर्मोदयात्, जिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबुद्धो देशो दुर्लभः । अंतर्दोषानां शक्यवन किरातवर्षरपारसीसिंहलादिवेशाना धर्मज्ञमानवरहितानामतिबहुलत्वात् ॥ लब्धेपि देशे सुजनवासे ब्राह्मणक्षेत्रि-यवैश्यादिकं कुल दुरधिगमनीय सत्कुलानामल्पत्वात् । असकृद्भीचैर्गोत्रवधनात् । मिथ्यात्वोदयात् प्रायेण प्राणिनो गुणान् गुणिजन च निवृत्याक्रोशति, निगुणोऽपि कुलाभिमानमतिमहत्तमुद्धति, तेन नीचैर्गोत्रमुपचिनोति, गुणे गुणिजेने चानुरागः कुलाभिमानतिरस्करणं वा कदाचिदेव भवति इति शोभन कुल कदाचिदेव लभ्यते, चारित्र्यमोहोदयात् पद्मजीव-निकायवाधाकरणे सततमुद्यतः तदीयरूपशोभोन्मूलनसपादनोपाजितेनासुभरूपनामकर्मणा विरूपो बहुशो भवति । जीव-

दया कदाचिदेव करोति । प्रशस्तरूपनामकर्मलभ्यसौख्यमपि क्लेशेन लभ्यते । परजीवसंतापकरणे कृतोत्साहः सर्व-  
देवेति रोगी भवति बहुशः, परसंतापपरिहारं वैयावृत्यं च कदाचिदेव करोति इति नीरोगतापि कादाचित्का दुर्लभा । परेषां  
प्रायेणानुनिर्हतीति स्वल्पायुरेवायं जनो जायते । कदाचिदेवाहिंसाव्रतपरिपालनाच्चिरंजीविता सदा न लभ्यते । समीचीन  
ज्ञानिजनद्रव्यणात्तन्मात्सर्यात् तद्विघ्नकरणात्तदासादनाच्चक्षुरार्दीन्द्रियोपघातकरणाच्च मतिश्रुतज्ञानावरणे वराको वध्ना  
तीति दुर्मेधा भवति । बहुषु जन्मशतसहस्रेषु मतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् शुभपरिणामोपनीतात् कदाचिदेव विवेक  
कारिणी बुद्धिर्भवति, सत्यामपि बुद्धौ हितहितविचारणक्षमं धर्मश्रवणमतिदुर्लभं, यतीनां विरागद्वेषाणां, समीचीनज्ञान-  
प्रकाशानोन्मूलितबुद्धेर्धर्मोद्वाधतानां, अशेषजीविनिकायदयाक्रियोद्यतानां असौलभ्यात्, तीव्रमिथ्यादर्शनेपनीतगुणिजनद्वे-  
षेण मिथ्याज्ञानभवलाभदुर्विदग्धतया स्वगृहीततत्त्वपरवशतया आलस्येन वा यतीनां स्वपरोक्षरणप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न  
दौकते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभता । कदाचिदेव पापोपशमाद्यतिजनानुदौकतेपि नयपुरस्सरे संप्रज्ञेने प्रशस्तवाग-  
न्यायिनि गुरुजने चाभिमुखे सति श्रवण भवतीति दुर्लभता श्रवणस्य, किंच यतिजननिकेतनमुपगतोपि यहच्छया निद्रा-  
ति, स्वयं परेषां यत्किंचिदसारं वदति, सुगंधानां वा वचनं श्रुणोति न विनयेन दौकत इति वा दुर्लभं श्रवण । श्रवणं श्रुतेपि  
धर्मे तत्परिज्ञानमतिदुर्लभं श्रुतज्ञानावरणोदयात् । दुःकरत्वं मनःप्रणिधानस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्, सूक्ष्मत्वाच्च जीवा-  
दितत्वस्य श्रुतज्ञानाधिकरणे क्षयोपशमे मनःप्रणिधानं वक्तुर्वचनसौष्ठवं चेति । सकलमिदमसुलभमिति धर्मज्ञान दुर्लभं ।  
ज्ञातेपि धर्मे अस्ति धर्मो जीवपरिणामसम्यक्त्वज्ञानवरणतपोदानपूजात्मकोऽभ्युदयनिश्चयसफलदायी जिनैव्याविर्णितरूप-  
इति श्रद्धानं न सुखेन लभ्यते, दर्शनमोहोदयात् । उपदेशकालकरणलब्धयश्च कदाचित्का इति ॥

मनुष्यत्वलाभेऽपि देशादीना यथोत्तर दुर्लभत्वमाह--

मूलारा--देसो जिनधर्मप्रगल्भमानवबहुलो विपयो दुर्लभः । शक्यवनादिवेशाना धर्मज्ञरहितानामतिबहुल-  
त्वात् । कुल ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवंशः । सुकुलानामल्पत्वादसकृन्नीचैर्गोत्रबंधनाच्च । मिथ्यात्वोदयाद्धि प्रायेण निर्गुणोऽपि  
कुलाभिमानमतिमहान्तं बहद्गुणिनश्च निंदति । तेन नीचैर्गोत्रं वध्नाति गुणे गुणिनि चानुरागः कुलाभिमानतिरस्करणं  
वा । कदाचिदेव भवतीति शोभनं कुलं कदाचिदेव लभ्यते । रूप सौख्यं जीवो हि चारित्रमोहोदयात्पड्जीववाधाकर-  
णनिलोयोगात्तदूषोभानिमीलनसपादितशुभरूपनामकर्मविपाकेन बहुशो विरूपः स्यात् जीवदयां कदाचित्कचित्करोतीति  
शुभरूपनामकर्मनिर्मेयसौख्यमपि क्लेशेन लभते । आरोग्यं परजीवसतापनसततोत्साहवदसद्वेद्योदयाद्धि जीवो  
बहुशो रोगी भवति । परसंतापत्यागं गुणवद्वैयावृत्यं च कदाचिदेव करोतीत्यरोगतापि कादाचित्की । आयुगं विरजीवितु  
जनो हि परेषां प्रायेणायुःसहरति इति बहुशः स्वल्पायुरेव जायते । कदाचित्कचिदेवाहिंसाव्रतं धरति इति दीर्घायुःकृतापि न  
सदातनी । बुद्धि अयं सत्त्वात्मा समीचीनज्ञानज्ञानिद्रूपणनिन्द्ववादिकरणाच्चक्षुरार्दीन्द्रियोपघातसपादनाच्च वद्वयोर्मतिश्रुत

ज्ञानावरणयोः कदयाद्गुहो मतिश्रुतज्ञानहीनो भवति । शुभपरिणामसंपाद्यं तदावरणक्षयोपशमविशेषं कदाचित्कचिदेव प्राप्नोतीति तत्त्वविवेकशुद्धिरित्यनेन वराकेण दुरवापा । सवण यतीना श्रुतज्ञानप्रदीपनिरस्तातस्तमसां विरागद्वेषाणां, करुणापर-तंत्राणां, परहितप्रतिपादनैककार्याणां अतिदुर्लभत्वात्तीव्रमिव्यात्वकृतगुणजनद्वेषेण, मिथ्याज्ञानलवलाभदुर्विपक्षतया, स्वगृहीततत्त्वपरवशतया, अलसतया, यतीना स्वपरोक्षरणावरीण्यापरिज्ञानाद्वा, प्रश्रयेण तदुपसर्पणाभावात्, कथंचित्पापोपशमा-त्तदुपसर्पणेऽपि विनयपुरःसरं संप्रशस्य कदाचिदेव संभवाच्च । मनुष्यत्वाविसप्तकप्राप्तावपि जीवस्य मद्धर्मश्रवण दुःश्राप ॥ यत्तिज्जननिकेतने गतोऽपि यदृच्छया निद्रायति, स्वयं वा परेषां यत्किंचिदसारं वदति, सुगाना वा वचनं शृणोति, विनयेन वा ढौकते । इति दुर्लभा धर्मश्रुतेः । गह्वराणि श्रुतेऽपि धर्मे तत्परिज्ञान अतिदुर्लभं । श्रुतज्ञानावरणोदयादात्मनः प्रणिधानस्य दुष्करत्वाज्जीवादितत्त्वस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्सुस्त्वाच्च । ज्ञातेऽपि धर्मेऽस्ति धर्मः सम्यक्त्वाद्यात्मकोऽन्यदु-यनिःश्रेयसफलप्रदो जिनोक्त इति श्रद्धानमतिदुर्लभतमं कालादिलब्धीना सुदुर्घटत्वात् ॥

और भी यातोंकी दुर्लभता आगेकी गाथासे दिखाते हैं—

अर्थ—देश, कुल, रूप आरोग्य, आयुष्य, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण, ये बातें मनुष्य जन्म मिलनेपर भी दुर्लभ हैं मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे मनुष्यपना प्राप्त होता है तो भी जिनमर्णाति धर्मसे प्रगल्भ मानव जिनमें रहते हैं ऐसे देशमें जन्म होना बहुत दुर्लभ है अंतर्द्वीपमें जन्म होकर भी मनुष्यता मिलती है. शक, यवन, किरात, बर्बर, पारसीक, सिंहादिक देश धर्मज्ञ मनुष्योंसे रहित है ऐसे ही देश बहुत हैं. जहाँ सज्जन रहते हैं ऐसा देश प्राप्त होनेपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादिक कुलोंकी प्राप्ति होना दुर्लभ है. क्योंकि उत्तम कुल दुनियांमें अल्प है चारचार नीचगोत्रका वंश होता है प्रायः मिथ्यात्वका उदय होनेसे मनुष्य गुणोंकी और गुणिजनोंकी निंदा करने लगता है निर्गुण होनेपर भी अपने कुलका अतिशय अभिमान धारण करता है. ऐसे अभिमानसे यह जीव नीच गोत्रका सचय करता है. गुणमें और गुणिजनमें प्रेम होना, अपने कुलाभिमानका तिरस्कार होना यह बातें अत्यल्प पायी जाती हैं इसलिए उत्तम कुलकी प्राप्ति क्वचित् होती है

चारित्रमोहनीयके उदयसे यह आत्मा हमेशा पट्काय जीवोंका नाश करनेमें हमेशा उद्युक्त होता है. उन जीवोंकी रूपशोभाको बिगाड़ता है इससे अशुभ नाम कर्मका वंश होता है इस कर्मका उदय होनेपर यह जीव अनेक बार विरूप होता है.



जीवदया कभी कभी करता है. प्रशस्त रूप नाम कर्मके उदयेसे सुंदर रूपकी प्राप्ति बहुत क्लेशसे प्राप्त होती है. परजीवोंको हमेशा सताप देनेमें ही तत्पर रहनेसे सर्वदा देहमें रोग उत्पन्न होता है. परसंतापको वृद्ध करना, वैयाडृत्य करना ये चाते कभी कभी करनेसे नीरोगताकी प्राप्ति होना दुर्लभ होगया है. प्रायः यह आत्मा दुसरोंकी आयुको नष्ट करता है इस लिये यह स्वल्पायु हो जाता है. कदाचित् अहिंसा व्रतका पालन करनेसे यह पुरुष कभी २ चिरजीवी होता है. इस लिये चिरजीविताभी दुर्लभ है.

समीचीन ज्ञानको दूषण देना, उससे भत्सर करना, ज्ञानमें विघ्न करना, उसका नाश करना, चक्षुरादिक इंद्रियोंका नाश करना, इन कार्योंसे इसको मतिज्ञानावरणका और श्रुतज्ञानावरण कर्मका बंध होता है. जिसका उदय होनेसे यह जीव अतिमंदबुद्धि हो जाता है लक्षावधि जन्मोंकी प्राप्ति होनेपर मति श्रुतज्ञानावरण कर्मका श्रयोपशम होनेके योग्य शुभपरिणाम जब होते हैं तब कदाचित् विवेकको उत्पन्न करनेवाली बुद्धि उत्पन्न होती है.

बुद्धि उत्पन्न होने परभी हिताहितका विचार सुझानेवाला धर्मश्रवण प्राप्त होना अतिशय कठिन है राग-द्वेषपरहित, समीचीन ज्ञान प्रकाशके द्वारा दुर्भेद्य मोहांधकारको हटानेवाले, संपूर्ण प्राणिमात्रोंपर दया करनेमें उद्युक्त रहनेवाले मुनिराज दुर्लभ हैं इस लिये धर्मश्रवणका पाना दुर्लभ हो रहा है.

तीव्र मिथ्यात्वके उदयेसे गुणिजनोंमें द्वेषभाव उत्पन्न होता है. मिथ्याज्ञानकी प्राप्ति होनेसे दुराग्रह बढ़ता है, मैने जो पदार्थ स्वरूप जान लिया है वही सच्चा है ऐसी धारणा होनेसे, आलस्यसे यतिजन स्वपरोद्धारमें प्रवीण रहते हैं इसका परिज्ञान न होनेसे यह जीव यतिराजोंके पास जाता नहीं है. इसलिये धर्मश्रवणसे इसको वंचित रहना पड़ता है.

कदाचित् पापका उपशम होनेपर यतिजनेके पास यह पुरुष जाता भी है वहां नयोंके अनुसार प्रश्र होता है, प्रशस्त भाषण बोलने वाले गुरुजन धर्मोपदेश देनेपर इसको धर्मश्रवणका लाभ होता है इससे धर्मश्रवण दुर्लभ है यह सिद्ध हुआ. यह जीव यतिके स्थानपर जाकर भी यथेच्छ सो जाता है. अथवा स्वतः दुसरोंके साथ निःसार भाषण करने लगता है मूलोंके भाषण सुनता है विनयका आश्रय नहीं करता है. इस लिये भी आचार्यजीने धर्मश्रवणकी दुर्लभता दिखाई है.

धर्म सुननेपर भी उसका ज्ञान होना दुर्लभ है, क्योंकि श्रुतज्ञानावरण कर्मके उदयसे उपदेशका अभिप्राय जाननेकी पात्रता नहीं रहती है कभी गुरुका उपदेश पूर्वमें नहीं सुना था, इसलिये मन एकाग्र नहीं होता है, जीवादिक तत्त्व दृश्य हैं इसलिये भी मन एकाग्र नहीं होता है श्रुतज्ञानका आधारभूत क्षयोपशम प्राप्त होनेपर मन एकाग्र हो सकता है, वक्तोके वचनोंमें सुंदरता होनेसे भी मनमें एकाग्रता उत्पन्न होती है, संपूर्ण देश, कुल, आरोग्य दीर्घायु इत्यादिक उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं ऐसा ज्ञान होना कठिन है,

धर्मका स्वरूप जानने पर भी सम्पददर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य, तप, दान, पूजा एतत्स्वरूपी आत्मपरिणाम ही धर्म हैं यही धर्म अम्युदय व मोक्षसुखको देता है ऐसी श्रद्धा होना कठिन है दर्शनमोहनीय का उदय होनेसे श्रद्धान नहीं होता है, उपदेश, काल, करणलब्धि ये बातें कभी कभी जीवोंको प्राप्त होती हैं सर्वदा नहीं है,

लब्धेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणत्तासणम्मि ण तु सुलहा ॥

कुपधाकुलो य लोगो जं वलिया रागदोसा य ॥ १८७० ॥

देशादिष्वपि लब्धेषु दुर्लभा बोधिरंजसा ॥

कुपथाकुलिते लोके रागद्वेषचशीकृते ॥ १९४१ ॥

विजयोदया—लब्धेसु वि तेसु पुणो लब्धेऽपि तेसु मनुजभवादिषु बोधिरंक्षामिसुका बुद्धिर्न सुलभा प्रबलत्वात्संयमधातिकर्मणः । कुपथाकुलत्वात् लोकस्य बहुनामाचरणमेव प्रमाणयन् यत्किंचनाचरति, बलवतश्च रागद्वेषा शानश्रद्धा-नोपेतमपि न सन्मार्गं ढौकितुं ददति ॥

मूलारा—कुपधाकुलो लोको हि बहूनामेवाचरणं प्रमाणयन् यत्किंचनाचरति । दृष्टानुसारी च प्रायेण जनः स्वकार्ये शुद्धान्ति । वलिया तत्त्वज्ञानश्रद्धान्तोति सदाचरणानुचरणप्रतिबंधकत्वात् ॥

अर्थ—मनुजभव वगैरहकी प्राप्ति होनेपर भी जिनधर्मों दीक्षा धारण करनेकी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है, संयम धारण करनेकी बुद्धि प्राप्त होना बहुत कठिन है क्योंकि संयमधात करनेवाला कर्म प्रबल रहता है, लोक प्रायः बहुत लोगोंका आचरण देखकर वैसा स्वयं भी आचरण करते हैं अन्य जनोंका आचरण योग्य है

या नहीं इसका विचार ही नहीं करते हैं, लोग कुमार्गपर चलते हैं उस कुमार्गसे वे आकुल हो रहे हैं, उनकी देखकर यह अज्ञ भी वैसा ही कुछ भी आचरण करता है, जीवमें रागद्वेष प्रबल हैं वे सन्मार्ग पर इसको चलने नहीं देते हैं, ज्ञान और श्रद्धानसे युक्त होनेपर भी यह जीव सन्मार्ग से पराङ्मुख होता है.

इय दुल्लहा पवोहीए जो पमाइज्ज कह वि लद्धाए ॥

सो उल्लट्टइ दुक्खेण रदणगिरि सिहरमारुहिय ॥ १८७१ ॥

इत्थ यो दुर्लभां बोधिं लब्ध्वा तत्र प्रमाद्यति ॥

रत्नपर्वतमारुह्य ततः पतति नपुधीः ॥ १९४२ ॥

विजयोदया—इय दुल्लहा पवोहीए उक्तेन क्रमेण दुर्लभायां दीक्षाभिमुखायां बुद्धौ लब्धायामपि यः प्रमाद्यत्य-  
सौ रत्नगिरिशिखरमारुह्य ततः पतति प्रमादी ॥

एवं दुर्लभां बोधिं लब्ध्वापि प्रमाद्यंतमनुशोचति—

मूलारा—वल्लटदि पतति । रयणगिरिसिहरं मेरुशृंगम् ॥

अर्थ— उपर कहे गुजम दीक्षाभिमुख बुद्धि दुर्लभ है, उसकी प्राप्ति होनेपर भी यदि कोई जीव प्रमादी बनेगा तो रत्नपर्वतके शिखरपर चढ़कर फिर उससे वह गिरता है ऐसा समझना चाहिये.

फिडिदा संती बोधी ण य सुलहा होइ संसरत्तस्स ॥

पडिद समुद्दमच्चो रदणं व तमंघयारम्मि ॥ १८७२ ॥

नष्टा प्रमादतो बोधिः संसारे दुर्लभा भवेत् ॥

नष्टं तमसि सद्वृत्तं पयोधो लभ्यते कथम् ॥ १९४३ ॥

विजयोदया—फिडिदा संती बोधिर्विनष्टा सती दीक्षाभिमुखा बुद्धिः पुनर्न सुलभा भवति संसरत् । अंधकोर  
समुद्रमध्ये पतितं रत्नमिव ।

उक्तार्थसमर्थनार्थमाह—

मूलारा—किंविदा विनष्टा ॥

अर्थ—यह दीक्षाकी बुद्धि नष्ट होनेपर फिर मिलती नहीं है अंधकारमें समुद्रमें रत्न फेक देनेपर जैसे पुनः रत्न नहीं मिलता है, वैसे दीक्षासे बुद्धि हट जानेपर पुनः दीक्षा धारण करना बुरा है

ते घण्णा जे जिणवर दिट्ठे धम्मस्मि होंति संबुद्धा ॥

जे य पवण्णा धम्म भावेण उवट्ठिदमदीया ॥ १८७३ ॥

विपुलसुफलानां कल्पने कल्पवल्ली भवसरणतरूणां कल्पने या कुठारी ॥

भवति मनसि शुद्धा सा स्थिरा शुद्धबोधिः फलममलमलभि प्राणितव्यस्य तेन ॥ १९४४ ॥

इति बोधिः ।

विजयोदया—स्पष्टोत्तरा गाथा ॥ बोधित्ति ॥

जिनोकधर्मे संबुद्धान्भावैन परिणताश्च परिणौति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥ बोध्यनुपेक्षा ॥

अर्थ—जो पुरुष जिनेश्वरने कहे हुए धर्ममें प्रबुद्ध होते हैं वे धन्य हैं, तथा जिन्होंने प्रबुद्ध होकर जैन धर्मका आचरण किया है—करते हैं अर्थात् हृदयसे जिन्होंने जैन धर्मको अपनाया है ऐसे महात्मा इस ससारमें धन्यताके पात्र हैं, अनुपेक्षाओंका वर्णन समाप्त हुआ

प्रस्तुतमर्थमुपसहरति—

इय आलंबणमणुपेहाओ धम्मरस होंति ज्ञाणरस ॥

ज्ञायंतो ण वि णस्सदि ज्ञाणे आलंबणेहिं मणी ॥ १८७४ ॥

द्वादशापीत्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानानवलम्बनम् ॥

नालम्बन विना चित्त स्थिरतां प्रतिपद्यते ॥ १९४५ ॥

विजयोदया—इय आलम्बणं एवमालम्बन भवत्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य ध्याने प्रवृत्तो न विप्रणश्यति ध्याननिमित्तालम्बनेभ्यो यति । यो हि यद्वस्तुस्वरूपे प्रणिहितचित्तं सततं वस्तुयायात्स्यात्यव्यवृते तस्य विस्मरणात् ॥

एवं द्वादशाध्यनुप्रेक्षा निरूप्य प्रस्तुतेन योजयति ।

मूलारा—ज्ज्ञाणे आलम्बणेहि ध्याननिमित्तालम्बनान्याश्रित्य ध्यायन्न विनश्यति । ध्यानान्न प्रच्यवते इत्यर्थः ।

इसी विषयका उपसंहार—

अर्थ . धर्मध्यानमें जो प्रवृत्ति करता है उसको ये द्वादशानुप्रेक्षा आधाररूप है. अनुप्रेक्षाके बलपर ध्याता धर्मध्यानमें स्थिर रहता है. जो जिस वस्तुस्वरूपमें एकाग्रचित्त होता है वह विस्मरण होनेपर उससे विगता है परतु बार बार उसको एकाग्रताके लिए आलम्बन मिल जावेगा तो वह नहीं विगेगा

ध्यातुरालम्बनवाहुन्य दर्शयत्युत्तरागाथा—

आलम्बणं च वायण पुच्छणपरिवट्टणाणुपेहाओ ॥

धम्मस्स तेण अवरुद्धाओ सत्त्वाणुपेहाओ ॥ १८७५ ॥

आलम्बणेहि भरिदो लोगो झाइदुमणस्स खवयरस ॥

जं जं मणसा पेच्छदि तं तं आलम्बणं हवइ ॥ १८७६ ॥

आलम्बनैर्भृतो लोको ध्यातुकामस्य योगिनः ॥

यदेवालोकते सम्यक् तदेवालम्बनं मतम् ॥ १९४६ ॥

विजयोदया—धम्मस्स आलम्बणेहि भरिदो ध्यानस्यालम्बनैर्भूतो लोको ध्यातुकामस्य क्षपकस्य यद्यन्मनसा पश्यति तत्तदालम्बनं भवति ॥

विध्यासोरालम्बनवाहुल्यमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

ध्याताको ध्यानके लिए अनेक आलंघनोंकी आवश्यकता है इस विषयका विवेचन—  
 अर्थ—वाचना, गृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा ये सब धर्मध्यानके आलंघन हैं. इनके आश्रयसे धर्मध्यान उन्नत दशकी प्राप्ति कर लेता है. इस लिए पूर्वोक्त द्वादशानुप्रेक्षायें भी धर्मध्यानके अनुकूल ही हैं धर्मध्यान करनेकी इच्छा करनेवाले यतिराजको यह संपूर्ण लोक भी आलंघन है क्षपक जो जो चीज देखेगा वह २ ध्यानकी आलंघनभूत होगी.

धर्मध्यान व्याख्याय ध्यानांतर व्याख्यातुमुत्तरप्रयथाः—

इच्चेवमदिक्रतो धामज्झाणं जदा हवइ खवओ ॥

सुक्खज्झाणं ज्ञायदि तत्तो सुविसुद्धलेस्साओ ॥ १८७७ ॥

धर्मध्यानमतिक्रान्तो यदा भवति शुद्धधीः ॥

शुद्धलेदयस्तदा ध्यानं शुक्लं ध्यायति सिद्धये ॥ १९४७ ॥

विजयोदया—इच्चेवमदिक्रतो धर्मध्यानेमेव व्यावर्णितरूपमतिक्रान्तो यदा भवेत् क्षपक' शुक्लध्यानमसौ ध्याति सुविशुद्धलेदयास्तमन्वितः ॥ परिणामश्रेण्या हि उत्तरोत्तरानुगुणतया स्थित । क्रमेणैव प्रवर्तते न हि प्रथमे सोपाने स्थापितचरणे, द्वितीयादिक सोपानमारोहं प्रभवति ॥ एवमप्रमत्तो धर्मध्याने प्रवृत्त एव शुक्लध्यानमर्हतीति सुवेणा-  
 नेन ज्ञापितं ॥

एवं धर्मध्यानं व्याख्याय शुक्लं प्रबोधेन व्याचिख्यासुरप्रमत्तो धर्म्यं शुक्लमर्हतीति ज्ञापयति—

मूलारा—सुविसुद्धलेस्साओ परिणामश्रेण्या ह्युत्तरोऽनुगुणतया स्थितोपक्रमेणैव प्रवर्तमानो न हि प्रथमे सोपाने स्थापितपादो द्वितीयादिकं सोपानमारोहं क्षमते—

धर्मध्यानके अनंतर शुक्ल ध्यानका सविस्तर आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिसका स्वरूप पूर्वमें वर्णित हुआ है ऐसे धर्मध्यान के अनंतर क्षपक शुक्लध्यानका चिंतन करता है तब विशुद्ध लेख्यायुक्त होता है अर्थात् उस ध्याताके परिणामोंमें क्रमसे अधिकाधिक निर्मलता आती है, जैसे जिसने प्रथम सोपान पर पैर रखा है वह दूसरे सोपानपर आरुढ़ नहीं हो सकता है अर्थात् प्रथम सोपानपर आरुढ़ होकर ही द्वितीय सोपानपर-सिंहीपर अनंतर पैर रख सकता है वैसे यहां भी धर्मध्यान के

अनन्तर अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती क्षणिक शुक्लध्यानमे प्रवेश कारता हे विना धर्मध्यानके शुक्लध्यानका चिन्तन ध्याता नहीं कर सकता है.

चतुर्विधशुक्लध्यानं नामतो दर्शयति गायह्वयम् ॥

ज्ज्ञाणं पुधत्तसवितक्कसवीचारं हवे पढमसुक्कं ॥

सवितक्केक्कत्तावीचारं ज्ज्ञाणं विदियसुक्कं ॥ १८७८ ॥

विजयोदया—ज्ज्ञाण पुधत्तसवितक्कसवीचार ध्यानं पृथक्त्वसवितर्कसवीचारं प्रथमशुक्लं भवति । सवितक्केक्कत्तावीचारं सवितर्कसवीचार द्वितीय शुक्लध्यानं ॥

शुक्लध्यानस्य चतुरो भेदानामतो दर्शयितुं गायह्वयमाह—

मूलारा—पुधत्तसवितक्कसविचार पृथक्त्वस्य वितर्कं सविचार यत्र तत्पृथक्त्वसवितर्कसविचार । पृथक्त्व-वितर्कवीचारमिति प्रथमशुक्लस्यान्वयं नामेत्यर्थः । उक्तं चार्पे—

पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र तद्विदुः ॥ सवितर्कसवीचारं पृथक्त्वादिपदाह्वय ॥

सवितर्कसवीचार सवितर्कमेकत्वमवीचारं यत्र तत्सवितर्कसवीचारं एकत्ववितर्कवीचारमिति द्वितीयशुक्ल-स्यान्वयं नामेत्यर्थः ।

उक्तं चार्पे—एकत्वेन वितर्कस्य स्यान्न च विचरिण्युता ॥ सवितर्कमवीचारमेकत्वादिपदाभिधम् ॥

सुहुमकिरियं खु तदियं सुक्कज्ज्ञाणं जिणेहिं पणत्तं ॥

वेति चउत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥ १८७९ ॥

गद्य-पृथक्त्ववितर्कवीचारैकत्ववितर्कवीचारसूक्ष्मक्रियासमुच्छिन्नक्रिया-णि त्र्येकयोगकाययोगायोगाध्ययानि चत्वारि शुक्लानि यथार्थानि ॥ १९४ ॥

विजयोदया—सुहुमकिरियं तु तदियं तृतीय शुक्लध्यानं जिने प्रज्ञप्त सूक्ष्मक्रियमिति, वेति चउत्थ सुक्कं शुक्लं चतुर्थं शुक्लं जिना समुच्छिन्नक्रिया ॥

एव द्विभेदं शुक्लं निरूपय द्विविधं परमशुक्लं निरूपयति—

मूलारा—सुदुर्माकरियं सूक्ष्मा क्रिया कायव्यापारो यत्र तत्सूक्ष्मक्रियमन्वर्थानाम्ना तृतीयशुक्लं श्रुते प्रसिद्ध ।  
समुच्छिन्नक्रियनित्यन्वयं चतुर्थं शुक्लमाख्यायते ॥

चार शुक्लध्यानार्थके नाम दो गाथाओंसे कहते हैं—

अर्थ—पृथग् सवितर्क सर्वचार नामक प्रथम शुक्लध्यान, सवितर्कैकत्ववीचार नामक दूसरा शुक्ल-  
ध्यान, सूक्ष्मक्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यान, समुच्छिन्न क्रिया नामक चौथा शुक्लध्यान ऐसे जिनेश्वरने शुक्ल-  
ध्यानके चार भेद कहे हैं।

पृथग्वत्सवितर्कसर्वीचार व्याचष्टे गाथात्रयेण—

दब्बाइं अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्ञायंति ॥  
उवमंतमोहणिज्जा तंण पुधचंत्ति त भणिया ॥ १८८० ॥  
वितर्को भण्यते तत्र श्रुतध्यानविचक्षणैः ॥  
अर्थव्यजनयोगानां वीचार संकमो बुधैः ॥ १९४९ ॥  
तत्र द्रव्याणि सर्वाणि ध्यायता पूर्ववेदिता ॥  
भेदेन प्रथमं शुक्ल शान्तमोहेन लभ्यते ॥ १९५० ॥

विजयोदया—दब्बाइ अणेयाइ तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्ञायति द्रव्यान्येकानि त्रिभिर्योगै परावर्तमाना येन  
चित्तयत्युपशान्तमोहनीयास्तेन पृथक्त्वमिति प्रथमध्यानसुक्त, एतदर्थं कथयति—अन्यदन्यद्रव्यमवलम्ब्य प्रवृत्तेनान्येनान्येन  
योगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवतीति पृथक्त्वव्यपदेशो ध्यानस्येति ॥

प्रथमशुक्लनाम गाथात्रयेण निर्विषणुः प्रथम तत्पृथक्त्वं व्यवस्थापयति—

मूलारा—अणेगाइ द्विद्र्यादीनि । तीहिं वि जोगेहिं त्रिभिरपि योगैर्मनोवाक्यव्यापारैः परावर्तमानाः । उवसत्त  
मोहणिज्जा उपशान्तमोहनीयकर्मणः । त्रियोगैरुपशान्तमोहैः प्रथमं शुक्लं साध्यते इत्यर्थः । पुधचंत्ति अन्यदन्यद्रव्यम-  
वलम्ब्य प्रवृत्तेनान्येनान्येनयोगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवति इति पृथक्त्वमित्युक्तमित्यर्थः ॥

पहिले शुक्लध्यानका तीन गाथाओंसे आचार्य निरूपण करते हैं—

अर्थ—इस पृथक्त्व सवितर्क सविचारध्यानमें अनेक द्रव्य विषय होते हैं और इन विषयोका विचार



चित्तन करते समय मनोयोग वचन योग और काययोग इन योगोंका परिवर्तन होता है अर्थात् उपशांत मोहनीय मुनि कभी मनोयोगके आश्रयसे, कभी वचनयोगसे और कभी काययोगसे भिन्न भिन्न द्रव्योंका विचार करता है ध्यानमें विषयभिन्नता, योगभिन्नता और वचनभिन्नता रहती हैं, इस वास्ते इस ध्यानका पृथक्त्व सवितर्क सविचार ऐसा आचार्य कहते हैं-

जम्हा सुदं वितर्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ॥

ज्जायदि ज्जाणं एदं सवितर्कं तेण तं ज्ञाणं ॥ १८८१ ॥

विज्ञयोक्त्वा—जम्हा सुदं वितर्क यस्मात् श्रुतं वितर्कं यस्मात् पूर्वगतार्थकुसलो ध्यानमेतत्प्रवर्तयति । तेन तत् ध्यानं सवितर्कं । चतुर्दशपूर्वाणां श्रुतत्वात्तदुपदिष्टार्थे ॥ साहचर्यात् वितर्कशब्देनोच्यते । तेन वितर्कणार्थश्रुतेन ध्येयेन सह वर्तत इति श्रुतज्ञानमवावलय्य सवितर्कमित्युच्यते अथवा वितर्कशब्द श्रुत तद्वत्तुत्वात् । श्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं सह कारणेन श्रुतेन वर्तत इति सवितर्कं ॥

सवितर्कमिति समर्थयते—

मूला—पुव्वगदअत्थकुसलो सकलसन्नार्ये पटुः । सवितर्कं वितर्कोऽत्र श्रुतत्वाच्चतुर्दशपूर्वाणि तत्साहचर्याच्च तदुपदिष्टोऽर्थो वितर्कशब्देनेष्टः । सह वितर्केण चतुर्दशपूर्वोपविष्टार्थश्रुतेन ध्येय वर्तते इति सवितर्कम् ॥ अथवा वितर्कः । शब्दश्रुतं तद्वत् । प्राक्श्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं । सह वितर्केण कारणेन श्रुतेन वर्तते इति सवितर्कं ॥

अर्थ—इस ध्यानका स्वाभी १४ पूर्वोक्त ज्ञाता मुनि होते हैं श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं, अर्थात् चौदा पूर्वोक्ता जो ज्ञान उसको श्रुतज्ञान कहना चाहिये, पूर्वोक्त जो विषय कहा गया है उसकोभी ज्ञान के साहचर्यसे श्रुत कहते हैं जैसे यष्टिके साहचर्यसे पुरुषकोभी यष्टि कहते हैं, इस श्रुतविषयकोभी वितर्क कह सकते हैं, यह विषय ध्येय है, तात्पर्य—यह है कि श्रुतशब्द पूर्वज्ञानका व तद्गत विषयकाभी वाचक है ऐसा समझना चाहिये यह श्रुत ज्ञान इस ध्यानका कारण है इसलिये इसकोभी ध्यान कह सकते हैं

अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो ॥

तस्स य भावेण तयं सुत्ते उत्तं सवीचारं ॥ १८८२ ॥-



फलं स्यान्मोहनीयस्य प्रक्षयः प्रशमोऽपि वा ॥  
प्रशान्तक्षीणमोहेषु श्रेण्योः शेषगुणेषु च ॥  
यथाम्नायमिदं ध्यानमामनन्ति मनीषिणः ॥

भवति चात्र वृत्तम्—

द्रव्य भावमथातिसूक्ष्ममधियन्युक्त्या वितर्कं स्फुरन् ॥  
अर्थव्यजनमंगरीरपि पृथक्त्वेनापि संक्रामता ॥  
कर्मज्ञाननवस्थितेन मनसापूर्णाभिर्कोत्साहवत् ।  
कुठेन दुर्भिराणुगः परशुना छिदन्यतिर्मे गतिः ॥

विचार शब्दका स्पष्टीकरण—

अर्थ—इस ध्यानमें अर्थ के वाचक जो शब्द उनका विचार होता है अर्थात् सक्रमण होता है, वैसे योगोंके सक्रमणको योगसंक्रमण योगवीचार कहते हैं ऐसे विचारोंका सद्भाव होनेसे इस ध्यान को सवीचार कहते हैं जीव, धर्म, अधर्म आकाश, पुद्गल इत्यादि परिमित अनेक द्रव्योंका ज्ञान करानेवाला जो शब्दश्रुत वाक्य उस से यह ध्यान उत्पन्न होता है यह ध्यान एकत्व वितर्क ध्यानसे भिन्न है क्योंकि एकत्ववितर्क ध्यान एक द्रव्यका ही आलवन लेकर उत्पन्न होता है, यह ग्रथम ध्यान तीन योगोंके सहायसे उत्पन्न होता है और दुसरा शुक्लध्यान फक्त एक योगसे ही उत्पन्न होता है उपशांत मोहनीय मुनि इस ध्यानका स्मामी है और इतर ध्यानोंके स्वामी क्षीणकपाय मुनि हैं यह ध्यान सवितर्क है इसलिये अत्रितर्क युक्त जो तीसरा और चौथा ध्यान वह इस ध्यानसे भिन्न माना जाता है इस ध्यानका पृथक्त्व सवितर्क सवीचार ऐसा नाम है नामसे ही अन्य ध्यानों से यह विलक्षण है ऐसा मालुम पड़ता है

जेणेगमेव दृवं जेणेगेण अण्णदरेणे ॥

खीणकसाओ ज्ञायदि तेणेगत्तं तयं भणियं ॥ १८८३ ॥

ध्यायता पूर्वदेक्षण क्षीणमोहेन साधुना ॥

एकं द्रव्यमभेदेन द्वितीयं ध्यानमाप्यते ॥ १९५१ ॥

विजयोदया—लेणगेमेव द्रवं जोणेणेण अण्णदरेण येनेकेमेव द्रव्यं अन्यतरेणेन सहपृतः, क्षीण कपायो ध्याति तेनैकत्व तद्गणित एकद्रव्यालवनत्वात् । अन्यतरेणोपयुत्तरेधात्मान उत्पत्तरेकत्व ध्यान क्षीणकपाय स्वात्मिक भवेत् ॥

द्वितीयशुश्रूषाम व्युत्पादयिष्यंस्तथैकत्व समर्थयते—

मूलारा—एगमेव पण्णां मध्ये यत्किंचिदिष्ट अथवा एकशब्देन प्रधानार्थेन सर्वसद्व्येष्वेक प्रधानमात्मान भवेत्यर्थः

उक्तं च—

निर्विचारावतारासु चेतःक्षोतःप्रवृत्तिषु ॥

आत्मन्येव स्फुरन्नत्मा तस्मद्व्यानमधीजकम् ॥

एणेण प्रधानतयोपात्तेन । अण्णदरेण त्रयाणा मध्ये येन तेनापि मह दृष्टः । तेण एकद्रव्यालवनत्वेनैकयोगवृत्तिक्षीणकपायस्वामिकत्वेन च । तयं तद्द्वितीय शुक्लं गतेन परिमितानेकासर्वपर्यायद्रव्यालवनान्वियोगोपशातमोहप्रथमशुक्लात्समस्तवस्तुविषयाभ्या सयोगयोगकेत्रलिस्थामिकाभ्या तृतीयचतुर्थशुक्लाभ्या चास्य भेदः ।

अर्थ—एकत्व वितर्कं अविचार नामक दूसरे ध्यानका स्वरूप इस प्रकार है—इस ध्यानके द्वारा एकही योगका आश्रय लेकर एकही द्रव्यका ध्याता चिंतन करता है इसलिये यहां अर्थमंक्रमण, योगसंक्रमण और शब्दसंक्रमण नहीं हैं इस ध्यानका स्वामी क्षीण कपायी मुनि है तीनयोगमैसे एक ही योग यहां है इससे ही यह ध्यान उत्पन्न होता है एक ही द्रव्य इस ध्यानका आलवन है—

जम्हा सुदं वितर्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ॥

ज्झायदि ज्झाणं एवं सवितर्कं तेण तं ज्झाणं ॥ १८८४ ॥

अत्थाण वंजणाण य जोगाणं संकमो हु वीचारो ॥

तस्स अमावेण तयं ज्ञाणं अविचारमिति वुत्त ॥ १८८५ ॥

विजयोदया—एकद्रव्यालवनत्वेन परिमितानेकसर्वपर्यायद्रव्यालवनात् प्रथमध्यानसमस्तवस्तुविषयाभ्यां तृतीयचतुर्थीभ्या च विलक्षणता द्वितीयस्यानया गायया निवेदिता । क्षीणकपायग्रहणेन उपशातमोहस्वामिकत्वात् । सयोग्ययोगकेवलस्वामिकाभ्यां च भेद सवितर्कता पूर्ववदेव । पूर्वव्यावर्णितवीचाराभावाद्वीचारात् ॥

द्वितीयस्य सवितर्कत्वमाह—

मलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—यह ध्यान एक द्रव्य का ही आश्रय करता है इसलिये परिमित अनेक पर्यायों सहित अनेक द्रव्यों का आश्रय लेनेवाले प्रथम शुक्लध्यानसे भिन्न है, तिसरा और चौथा ध्यान सर्व वस्तुओंको विषय करते हैं अतः इनसे भी यह दूसरा शुक्ल ध्यान भिन्न है ऐसा इस गाथासे सिद्ध होता है. इस ध्यानका स्वामी क्षीण कपायवाला मुनि है पहिले ध्यानका स्वामी उपशांत कपायवाला मुनि है, और तीसरे तथा चौथे शुक्ल ध्यानका स्वामी स्यांग केवली और अयोग केवली मुनि है अतः स्वामित्वकी अपेक्षासे दूसरा शुक्ल ध्यान इन ध्यानोंसे भिन्न है.

तृतीयध्यानमाचष्टे ॥

अवितककमवीचारं सुहुमकिरियबंधनं तदियंसुक्कं ॥

सुहुमस्मि कायजोगे भणिदं तं सज्जभावगदं ॥ १८८६ ॥

विजयोदया—अवितककमवीचारं श्रुतानालयनत्वाद्वितर्कं स्वयं श्रुतज्ञानं भवतीति वा अवितर्कं पूर्वमालयी-कृतादर्थार्थार्थानलं वनत्वं नाम वीचारो नास्तीत्यविचारं, सुहुमकिरियबंधनं सूक्ष्मक्रियास्येति सूक्ष्मक्रिय आत्मसंबंधनमाश्रयोऽप्येति सूक्ष्मक्रियाबंधनं, तृतीयशुक्लं, सुहुमस्मि काययोगे सूक्ष्मकाययोगे सति प्रवृत्तेः, भणितं सूक्ष्मक्रियमिति तं सज्जभावगदं तृतीय शुक्लध्यानं त्रिकालगोचरानंतसामान्यविशेषात्मकद्रव्यपदकयुगपत्प्रकाशनस्वरूपं, युगपत्प्रकाशनमेकमग्नं सुद्धमस्येति ॥ एतमुक्ततापि विद्यत इति ध्यानशब्दस्यार्थोऽभिमुखे विद्यते ॥ एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमित्यत्र सूत्रे चिंताशब्दो ध्यानसामान्यवचनः । तेन श्रुतज्ञानं क्वचिद्धानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञानं क्वचिच्छ्रुतज्ञानं क्वचिन्मतिज्ञानं मत्प्रज्ञानं वा, यतोऽविचलत्वमेव ध्यानं, ज्ञानस्य तस्याविचलत्व साधारण सर्वज्ञानोपयोगानां ॥

तस्यैवावीचारत्वं वृत्ते—

मलारा—स्पष्टम् ॥

तीसरे ध्यानका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—तीसरा सूक्ष्मक्रिया नामक शुक्ल ध्यान वितर्करहित अर्थात् श्रुतज्ञान रहित होता है श्रुतज्ञान

का आलबन इस ध्यान में नहीं रहता है। संयोग केवली मुनि का यह ध्यान अवीचार है अर्थात् इस ध्यान में एक पदार्थ का आश्रय लेकर उसको छोड़कर दूसरे पदार्थका आश्रय लेना यह क्रिया नहीं होती है अर्थात् संपूर्ण पदार्थ उनके केवल ज्ञानमें प्रतिक्षण युगपत् जाने जाते हैं अतः यह ध्यान 'अवीचार' है सूक्ष्म क्रिया करने वाला आत्मा इस ध्यान का स्वामी है अर्थात् इस ध्यानमें आत्मा मनोयोग, वचनयोगको सूक्ष्म करता है। यह ध्यान सूक्ष्म काययोग से प्रवृत्त होता है। त्रिकालको विषय होनेवाले जीवादि छह पदार्थोंको युगपत्प्रगट करनेका इस ध्यानका स्वभाव है। युगपत् सर्व पदार्थोंको प्रगट करना यही एकाग्रता इस ध्यान में है। पदार्थ के अभिमुख होना यह ध्यान शब्दका अर्थ है। 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानम्' इस सूत्रमें चित्ता शब्द ज्ञानसामान्यका वाचक है। इसलिये क्वचित् श्रुतज्ञानको ध्यान कहते हैं, क्वचित् केवल ज्ञानको और क्वचित् मतिज्ञानको तथा मत्यज्ञानको और श्रुताज्ञानको भी ध्यान कहते हैं एक पदार्थ पर स्थिर होना यह ध्यान का लक्षण है। यह स्थिरत्व सर्व ज्ञानोपयोगमें है

सुहुमस्मि कायजोगे वृद्धतो केवली तदियमुक्कम् ॥

झायदि णिहंभिदुजे सुहुमत्तणकायजोगंपि ॥ १८८७ ॥

सर्वभावगतं शुक्लं विलोकितजगत्त्रय ॥

सर्वसूक्ष्मक्रियो योगी तृतीयं ध्यायति प्रभुः ॥ १९५२ ॥

विजयोदया—सुहुमस्मि कायजोगे सूक्ष्मे काययोगे प्रवर्तमान केवली तृतीयं शुक्ल ध्याति नितोद्यंतमपि सूक्ष्मकाययोग ॥

प्रथमं परमशुक्लं अन्वर्थसङ्ख्या लक्षयति—

मूलारा—सुहुमकिरियबंधणं सूक्ष्मा क्रिया आत्मा स बंधनमाश्रयो यस्येति सूक्ष्मक्रियबंधनं । भगिदं सूक्ष्मे काययोगे सति प्रवृत्तेस्तत्सूक्ष्मक्रियमिति भगितमिति संबधः । सन्वभावगदं त्रिकालोचरतानंतसामान्यविशेषात्मक द्रव्यपट्कयुगपदप्रकाशनस्वरूपं एकमप्र मुंवं यस्येतेकाग्रतायस्य विद्यते इति ध्यानशब्दोऽपि मुख्यो घटते ॥ एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमित्यत्र च सूत्रे चित्ताशब्दो ज्ञानसामान्यवचनः । तेन श्रुतिज्ञानं क्वचिदध्यानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञानं, क्वचिन्मतिज्ञानं, क्वचित् श्रुताज्ञानं, मतिज्ञानं वा यतोऽविचलमेव ज्ञान ध्यानम् । तदुक्तम्—



अयोगकेवली शुक्लं सिद्धिसौधमियासाया ॥  
चतुर्थं ध्यायति ध्यानं समुच्छिन्नक्रियो जिनः ॥ १९५३ ॥

विजयोदया—अविद्वक्त्रमवीचार पूर्वोक्तवितर्कवीचारहितत्वात् अविद्वक्त्रमवीचारं, अणियट्टि सफलकर्म-  
सातनमकृत्वा न वियर्तन इत्यनिवर्ति । अकिरिय समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगपरिस्पन्दनक्रियाध्यापा-  
रत्वात् अक्रियं । सीलेसि शीलानामीश शीलेश यथाख्यातचारित्र शीलेशस्य भावः शैलेइय, तत्सहचारि ध्यानमपि  
शैलेइय । निरुद्धयोग अपश्चिम न विद्यते पश्चाद्भाविध्यानमस्मादित्यपश्चिम । उत्तम सुक्क परम शुक्ल ॥

द्वितीय परमशुक्ल लक्षयति—

मूलारा —सकलकर्मशतनमकृत्वा न निवर्तते इत्यनिवर्ति । अकिरिय अक्रिय समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारं सर्वका-  
यवाङ्मनोयोगसर्वदेशपरिस्पन्दनक्रियाध्यापारत्वात् । सेलेसि शीलानामीशः शीलेशस्य भावः शैलेइय यथाख्यातचारित्रं ।  
तत्सहचार्याध्यानमपि तद्योक्तम् । निरुद्धजोगं निषिद्धानिःशेःकर्मसिखम् । अपच्छिम् न विन्यते पश्चाद्भाविध्यानमस्मादिति  
अपश्चिमम् । उत्तम उत्कृष्टं ससारकारणकर्मनिर्मूलनात् ॥

अर्थ—यह ध्यान वितर्क और विचाररहित है ऐसा पूर्वमें कह चुके हैं जबतक संपूर्ण कर्मका नाश यह  
नहीं करता है तबतक यह निवृत्त नहीं होता है इस ध्यानमें सर्वे आसोकोछासका प्रचार बंद होता है. सर्वे काय-  
योग, वचनयोग और मनोयोग यहां नष्ट होते हैं. इस लिये यह ध्यान निष्क्रिय माना गया है यहां अठारह हजार  
शीलके भेद प्रकट होते हैं इस लिये इस ध्यानके ध्याता शीलेश बनते हैं अर्थात् यथाख्यात चारित्रके धारक होते  
हैं यह ध्यान संपूर्ण योगोंका निरोध करनेवाला है इससे संपूर्ण कर्मोंके आस्रव यहां नष्ट होते हैं इसको सबसे  
उत्तम शुक्ल ध्यान कहते हैं. यह अन्तिम ध्यान कहते हैं. यह अन्तिम ध्यान है

त पुण निरुद्धजोगो सररीतियणासणं करेमाणो ॥  
सवण्हु अपडिवादी ज्झायदि ज्झाणं चरिममुक्कं ॥ १८८९ ॥

विजयोदया—तं पुण तच्चतुर्थं शुक्लध्यान । निरुद्धयोग सर्वज्ञ अत्रतिपातिध्यानं ध्याति शरीरत्रिक्रानां कुर्वन्,  
अयोगात्मपरिणाम केवलज्ञानं चतुर्थशुक्लं, तृतीयं तु सूक्ष्मकाययोगपरिणाम. केवलमिति भेदस्तृतीयचतुर्थयो ।



तत्त्वामिफले निर्दिशति—

मूलारा—सरीरतिय औदारिकतैजसकर्मणानि शरीराणि तन्नाशनेमेव हि तत्फलं । अप्पडिवादी अप्रतिपाति । अयोगात्मपरिणामः । केवलज्ञानं चतुर्थं शुक्लं, तृतीयं तु सूक्ष्मकाययोगात्मपरिणामस्तदिनि तयोर्मेदः । उक्तं चोर्वे—

ततो निरुद्धयोगः सन्योगी स विगतास्तव ॥

समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमनिवर्ति तदा भजेत् ॥

अन्तर्मुहूर्तमातन्वस्तद्ध्यानमतिनिर्भलम् ॥

विद्यताशेषकर्मशो जिनो निर्बल्यन्तरम् ॥

त्रयोदशास्य कर्मांशः प्रक्षीणाश्चरमक्षणे ॥

द्वासप्ततिरुपाले स्युरयोगपरमेष्ठिन ॥

उर्ध्वं ब्रज्यास्वभावत्वात्समयेनैव नीरजा ॥

लोकानं प्राप्य शुद्धात्मा सिद्धदृच्छामणीयते ॥

अर्थ—यहां संपूर्ण योगोंका निरोध होनेसे औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरोंका नाश होता है. ये सर्व जिनेश्वर अयोगपरिणामात्मक बनते हैं यहां केवलज्ञान योगरहित होता है. तिसरे शुक्लध्यानमें केवलज्ञान योगसहित होता है. ऐसा इन दो ध्यानोंमें अंतर है यह चतुर्थध्यान अग्रतिपाति है अर्थात् हमेशा अयोग स्वरूप-मेंही रहता है

इय सो खवओ उझाणं एयगमणो समस्सिदो सम्मं ॥  
विबुलाए गिज्जराए वट्ठदि गुणसेट्ठिमारूढो ॥ १८९० ॥

इत्थं यो ध्यायति ध्यानं गुणश्रेणिगतः शुभम् ॥

निर्जरां कर्मणामेष क्षपकः कुरुते पराम् ॥ १९५४ ॥

विजयोदया—इय सो खवगो एवमसौ क्षपक, एकाग्रचित्त. सम्यग्ध्यानं समाश्रित्य विपुलाया कर्मनिर्जरायां वर्तते गुणसेट्ठिमारूढो गुणश्रेणीमारूढ. उपशातकपायादिका ॥

प्रकृते योजयन्नुपसंहरति—

मूलारा—समरिसदो समाश्रितः । गुणसेष्टिं सपशक्तकपायादिका ॥

अर्थ—इस प्रकार यह यह क्षपक एकाग्रचित्त होकर उपशांत कपायादि गुणस्थानोपर क्रमसे आरोहण करता हुआ सम्यग्ज्ञानके आश्रयसे बहुत कर्मोंकी निर्जरा करता है

ध्यानमहात्म्यस्तवमार्थ उत्तरप्रबंध ॥

सुचिस वि संकिलिष्टं विहरंतं ज्ञाणसंवरविहूणं ॥

ज्ज्ञाणेण संवुडप्पा जिणदि अहोरत्तमेत्तेण ॥ १८९१ ॥

तपस्यवस्थितं चित्रं चिरं निधर्यानसंवरम् ॥

ध्यानेन संवृतः क्षिप्रं जयति क्षपकः स्फुटम् ॥ १९५५ ॥

विजयोदया—सुचिरमवि संकिलिष्टं विहरंतं पूर्वकोटिकाल देशोनं क्लेशसहितचारित्र्योद्यतं ज्ञाणसंवरविहूणं ध्यानाख्येन संवरेण विधीन । जिणदि जयति । अ आहोरत्तमेत्तेण ज्ञाणेण संवुडप्पा अहोरात्रमोक्षेण ध्यानेन संवृतात्मा ॥ ध्यानमहात्म्यं प्रबंधेन स्तोत्रमाह—

मूलारा—सुचिरमवि देशोनपूर्वकोटिकालमपि । संकिलिष्टं विहरंतं । क्लेशसहितचारित्र्योद्यतं । सुसुष्ठु संवुडप्पा सवृत्तचित्तो सुसुष्ठुः । जिणदि न्यकरोति ।

ध्यानमहात्म्यकी स्तुति करनेके लिये उत्तर प्रबंध—

अर्थ—कुछ कम कोटि पूर्व वर्षतक क्लेशसहित चारित्र्य धारण करनेवाला सुसुष्ठु मुनि ध्यानरूपसंवरसे रहित है इस लिये रातदिन ध्यानमें जिनका आत्मा एकाग्र हुआ है उनको नवीन कर्मका संवर होता है. ऐसे मुनि संवररहित मुनिकी अपेक्षासे श्रेष्ठ हैं

एवं कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आउधं ज्ञाणं ॥

ज्ज्ञाणविहूणो खवओ जुद्धेव गिरावुधो होदि ॥ १८९२ ॥

आयुध योगिनो ध्यानं कपायसमेरे परम् ॥

निर्ध्यानः संस्तरे युद्धे निरस्त्रभटसन्निभः ॥ १९५६ ॥

विजयोदया—एवं कसायजुद्ध हि कपायसंग्रहारे ध्यानमायुधं क्षपकस्य भवति । ध्यानहीन क्षपक युद्धे निरायुध इव न प्रतिपक्ष ग्रहणमलं कपायविनाशकारित्वं ध्यानस्यानया कथितं ॥

ध्यानस्य कपायविनाशकत्वमाह—

मूलारा—आवय प्रहरणम् ॥

अर्थ—कपायोंके साथ युद्ध करते समय ध्यान मुनिकों शस्त्रोंके समान उपयोगी होता है अर्थात् ध्यान-रूप खड्गसे संयमी मुनि कर्मोंका सवर और निर्जरा करते हैं शस्त्ररहित वीर पुरुष युद्धमें शत्रुका नाश नहीं कर सकता है, वैसे ध्यानके बिना कर्गशत्रुको मुनि नहीं जीत सकते हैं कपायोंको नष्ट करनेका सामर्थ्य ध्यानमेंही है ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है

रणभूमीए कवचं होदि ज्ञाण कसायजुद्धमि ॥

जुद्धे व गिरावरणो ज्ञाणेण विणा हवे खवओ ॥ १८९३ ॥

कपायसयुगे ध्यानं सुमुखो कवचो दृढः ॥

ध्यानहीनस्तदा युद्धे निःकण्टभटोपमः ॥ १०५७ ॥

विजयोदया—रणभूमीए युद्धभूमौ कवचवत्कपाययुद्धे ध्यानं कवचो भवति तत्रेण कपायपीडाहंसा करोति ध्यानमित्याख्यात । ध्यानाभावे दागमाचष्टे । जुद्धे व गिरावरणो युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना क्षपकः ॥

ध्यानस्य कपायपीडाशक्त्यमाह—

मूलारा—गिरावरणे सन्नाहरहितः ।

अर्थ—रणभूमीमें कवच जैसा रक्षण करता है वैसे कपायोंके साथ युद्ध करते समय कवचोंके समान ध्यान मुनिका रक्षण करता है,

कपायसे होने वाली पीडाका नाश ध्यान करता है इसलिये ध्यानमें रक्षकत्व गुण है ऐसा इस गाथासे सिद्ध

होता है. युद्धमें कवचरहित पुरुषका चाणादिकोंके प्रहारसे रक्षण नहीं हो सकता है वैसे ध्यानसहित मुनि कपायशत्रुसे अपना रक्षण नहीं कर सकते हैं.

ज्ञाणं करोइ खवयस्सोवट्ठं विहीणचेट्ठस्स ॥

धेररस्स जहा जंतस्स कुणदि जट्ठी उवट्ठं ॥ १८९४ ॥

ध्यान करोत्यवष्टम्भ क्षीणचेष्टस्य योगिनः ॥

दुंदुः प्रवर्तमानस्य स्थविरस्येव पावनः ॥ १९५८ ॥

विजयोदया—ज्ञाण करोदि ध्यानं करोति क्षयकस्योपष्टम्भ हीनचेष्टस्य स्थविरस्य गच्छतो यथा करोति यष्टिरुपष्टम्भं ॥

ध्यानस्य बलदायित्वं गाथाद्वयेन सदृशान्तं स्फुटयति—

मूलारा—उवट्ठं कपायनिर्जये बलाधानं । विहीणचेष्टस्स मनोवाक्कायैश्चारित्रं साधयितुमशक्तस्य ।

अर्थ—जैसे निर्बल बूढ़को गमन करते समय लाठी मदत करती है वैसे मन वचन और शरीरसे चारित्र साधनेमें असमर्थ मुनिको ध्यान मदत करता है

मल्लस्स णेहपाणं व कुणइं खवयस्स दढवलं ज्ञाणं ॥

ज्ञाणविहीणो खवओ रंगे व अपोसिवो मल्लो ॥ १८९५ ॥

बलं ध्यान यनेधत्ते मल्लस्येव घृतादिकम् ॥

समोऽपुष्टेन मल्लेन ध्यानहीनो यतिर्मतः ॥ १९५९ ॥

विजयोदया—मल्लस्स णेहपाणं व मल्लस्य स्नेहपाणमिव क्षयकस्य ध्यान करोति, ध्यानहीन अपोयितो मल्ल इव न प्रतिपश्य जयति ॥

मूलारा—रंगे बाहुयुद्धोपक्रमे ॥

अर्थ—दूध, घी वर्गरह स्नेहयुक्त पदार्थ खानेसे मल्ल जैसे पुट होता है और बाहुयुद्धमें अपने प्रति-

पक्षीको धराशायी करता है. वैसे ध्यानभी योगी मुनिओंमें बल उत्पन्न करता है जिसमें वे कर्मशत्रुका नाश करनेमें समर्थ होते हैं स्नेह पदार्थके अभावसे क्रोध हुआ मल्ल शत्रुको नहीं जीत सकता है वैसे ध्यानहीन क्षणक कषाय शत्रुको -कर्म शत्रुको नहीं जीत सकते हैं.

वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गन्धेसु ।  
वेरुलियं व मणीणं तह उद्धानं होइ खवयरस ॥ १८९६ ॥

वज्रं रत्नेषु गोशीर्षं चंदने च यथा मतम् ॥  
ज्ञेयं मणिषु वैडूर्यं यथा ध्यानं व्रतादिषु ॥ १९६० ॥  
विजयोदया—चेर रदणेषु जहा रत्नेषु वज्र गधद्रव्येषु गोशीर्षं चंदने । मणिवैडूर्यमिव क्षणकस्य ध्यानं । सर्वेषु-

दर्शनचरित्रतपस्सु सारभूत ॥

ध्यानस्य दर्शनचारित्रतपस्सु सारभूतत्वं दृष्टातत्रयेण द्योतयति—  
मूलारा—वइरं हीरक । रयणं पद्मारागादिषु । गोसीस गोशीर्षस्य गंधेषु गधद्रव्येषु । सारभूते । वेरुलियं वैडूर्य । मणीण मोलिकादीना । ज्झाणं सम्यक्त्वादिविषु सुक्त्यंगेषु मध्ये प्रधानम् ॥

अर्थ—जैसे रत्नोंमें वज्ररत्न श्रेष्ठ है, सुगंधि पदार्थोंमें गोशीर्ष चंदन उत्कृष्ट है, मणिओंमें वैडूर्य रत्न उत्तम है वैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपोंमें ध्यानही सारभूत-सर्वोत्कृष्ट है

ज्ञाणं किलेससावदरक्खा रत्नत्वाच्च सावदभयम्मि ॥  
ज्ञाणं किलेसवसणे भित्तं भित्तव वसणम्मि ॥ १८९७ ॥  
कषायव्यसने भिन्न कषायव्यसालरक्षणम् ॥  
कषायमारुते गंहं कषायज्वलने हृदं ॥ १९६१ ॥

विजयोदया—ज्ञाणं किलेससावदरक्खा रत्नत्वाच्च सावदभयम् रक्षा श्वापदाना रक्षेव ध्यानं किलेशव्यसने भिन्न व्यसने भिन्नमिव ॥

मूलारा—वसणम्मि आपदावर्ते ॥

अर्थ—यह ध्यान संकलेशपरिणामरूप श्वापदोंसे मुनिओंकी रक्षा करता है. जैसे श्वापदों के भयसे हम अपनी रक्षा कर लेते हैं जैसे संकटों में मित्र सहायक होकर संकटों से बचाता है वैसे संकलेश परिणामरूप संकटोंसे ध्यान आत्माका रक्षण करता है.

जज्ञाणं कसायवादे गम्भघरं मारुदेव गम्भघरं ॥

ज्ञाणं कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥ १८९८ ॥

ज्ञाणं कसायडाहे होदि वरदहो दहोव डाहम्मि ॥

ज्ञाणं कसायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥ १८९९ ॥

ज्ञाणं कसायपरचक्कभाए बलवाहणद्धुओ राया ॥

परचक्कभाए बलवाहणद्धुओ होइ जह राया ॥ १९०० ॥

ज्ञाणं कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिगिछिदे कुसलो ॥

रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्स तिगिछिदे कुसलो ॥ १९०१ ॥

ज्ञाणं विसयलुहाए य होइ अण्णं जहा लुहाए वा ॥

ज्ञाणं विसयतिमाए उदयं उदयं व तण्हाए ॥ १९०२ ॥

कषायार्कात्तपे छाया कषायशिशिरेज्जलः ॥

कषायारिमये त्राणं कषायव्याधिभेषजम् ॥ १९६१ ॥

तोय विषयतृष्णायामाहारो विषयक्षुदि ॥

जायते योगिनो स्यान् सर्वोपद्रवसूदनम् ॥ १९६२ ॥

स्पृष्टार्थोत्तराया ॥

मूलारा—गन्धमघरं गृहांतवर्त्यपरकरः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

मूलारा—बलवाहणदुखो राधो सैन्येन हस्त्यादिवाहनेन च समृद्धो नृपः ॥

मूलारा—तिर्गिच्छदे चिकित्सायां ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जैसे हवासे गर्भगृह वचाता है वैसे कणायरूपी हवासे ध्यान मुनिको गर्भगृहके समान वचाता है। सूर्यके संतापसे पानीका द्रव पुरुषोंका वचाता है वैसे ध्यान कणायरूपी संतापसे आत्माको वचाता है। जैसे अग्नि संतापसे पानीका द्रव पुरुषोंका वचाता है वैसे कपायाग्निके संतापसे ध्यानरूपी द्रव मुनियोंका वचाता है। जैसे जाड़ेसे होनेवाली पीड़ा अग्नि दूर करता है वैसे कणायरूपी जाड़ेसे होनेवाली संक्षेपपीड़ा ध्यानान्नि क्षण भरमें नष्ट कर देता है। जैसे सैन्यसे अर्थात् हाथी, रथ, घोड़े वगैरह सेनासे परिपूर्ण राजा परचक्रके भयसे प्रजाकी रक्षा करता है वैसे कणायरूपपरचक्रसे होनेवाली पीड़ा ध्यानरूपी राजा क्षणमें दूर करता है।

अर्थ—जैसे रोगकी परीक्षा करनेमें कुशल वैद्य रोग दूर कर मनुष्यको सुखी करता है, वैसे ध्यानभी वैद्यके समान कणायरूपरोगकी परीक्षाकर उसको नष्ट करता है, जैसे अन्नसे भूक नष्ट होती है वैसे विषयबुधामी ध्यानरूपी अन्नसे दूर होती है, जैसे पानीसे प्यास बुझती है वैसे ध्यानरूपी पानीसे विषयरूपी प्यास शांत होती है,

इय ज्ञायंतो खवओ जइया परिहीणवायिओ होइ ॥

आराधणाए तइया इमाणि लिंगाणि दंसेई ॥ १९०३ ॥

आराधनाचबोधार्थं योगी व्यावृत्तिकारणम् ॥

तदा करोति चिन्हानि निश्चेष्टो जायते यदा ॥ १९०४ ॥

विजयोदया—इय ज्ञायंतो खवओ एव ध्यानेन प्रवर्तमानः क्षपकः । यदा वस्तुमसमर्थो भवति तदा आराधणाए रत्नत्रयपरिणेतारत्नमनो लिंगानीमानि दर्शयति ॥

ध्यानपरिणतस्य आसन्नमरणस्य वाप्राप्तो भ्रकादयान्याराधनाचिह्नान्याह—  
मूलारा—परिहीणवाचिओ वस्तुमशक्तः ।

अर्थ—इस प्रकार ध्यानसे प्रवृत्ति करनेवाला क्षपक जब बोलनेमें असमर्थ होता है तब रत्नत्रयमें मेरी परिणति होरही है ऐसा अपना अभिप्राय वह हुकारादिकिञ्चिद्वासे नियोपकाचार्य को बतलाता है

हुंकारंजलिममुहंगुलीहिं अञ्छीहिं वीरमुट्टीहिं ॥

सिरचालणेण य तथा सण्णं दावेदि सो खवओ ॥ १९०४ ॥

हुकारांगुलिनेत्रमूढकंपांजलिक्रियाः ॥

यथासंकेतमन्यग्रः क्षपकः कुरुते सुधीः ॥ १९०५ ॥

विजयोदया—हुकारंजलिममुहंगुलीहिं अञ्छीहिं हुंकारेण वा अजलिचनया, भ्रक्षेणेण, अंगुलिपचकदर्शनेन उपदेशार्ं प्रति प्रसन्नतया दृष्ट्या किं समाहितचित्तोऽसीत्युक्ते विार कंनेन संज्ञा दर्शयति क्षपकः ॥

मूलरा—अंजलि हस्तद्वयमुकुलीकरण । भयुह भ्रक्षेपः । अंगुलीहिं अंगुलिपचकेन । सण्ण प्रसन्नतया दृष्टया । किं समाहितचित्तोऽसीति निर्णयकेण पृष्टे सति स्वचेतनाम् ॥

अर्थ—हुंकारसे, हाथ जोड़नेसे, माँहें उठाकर, हाथके पाँचों अंगुलिया दिखाकर उपदेशकको अपनी प्रसन्नता दिखाता हूँ तथा अपना मन्तक हिलाकर, व दृष्टिके द्वारा ‘क्या तुम्हारा मन प्रसन्न है न इस प्रश्नका उत्तर देता हूँ,

तो पडिचरया खवयस्स दिति आराधणाए उवओगं ॥

जाणंति सुदरहरसा कदमणा कायखवएण ॥ १९०५ ॥

संकेतवंतः परिचारकास्ते चेऽविशेषेण विदन्ति साधोः ॥

आराधनोद्योगमवेतशास्त्रा धूमेन चित्रांशुमिव ज्वलन्तम् ॥ १९०६ ॥

इति ध्यानम्

विजयोदया—तो पडिचरगा ततः प्रतिचारकास्तस्य क्षपकस्याराधनायामुपयोगं जानंति श्रुतरहस्याः क्षपकेण कृतसंकेता ॥ भाषात्ति



मूलारा—तो हुंकारादिकरणात् । सुदरहरसा ज्ञातशान्तस्तत्त्वाः । कदसंकेदा वक्तुमशक्तोऽहं निजरत्नत्रयपरि  
णतिं शुष्मान्हुंकाराद्यन्यतमेन ज्ञापयिष्यामीति कृतः प्रागेव विहितः संकेतः समयः येषां ते कृतसंकेताः । उक्तं च—

सकेतवतः परिचारकास्ते चेष्टाविशेषेण विदंति साधोः ॥

आराधनोद्योगमवेतशाखा धूमेन चित्राशुमिव ज्वलंतम् ॥

ध्यान । सूत्रतः ३७ । अंकतः २०२ ॥

अर्थ—जिनको शास्त्रका अंतस्तत्त्व मालुम हुआ है ऐसे परिचारक मुनि क्षपकके संकेतोंसे चारो आराधना-  
ओंमें क्षपकका उपयोग है ऐसा जानते हैं, ध्यानका वर्णन समाप्त हुआ.

लेख्याया संबंध करोति—

इय समभावमुवगदो तह ज्ञायतो पसत्तज्ञाणं च ॥

लेस्साहिं विसुज्झतो गुणसेहिं सो समासहदि ॥ १९०६ ॥

इत्थ समत्वमापन्नः शुभध्यानपरायणः ॥

आरोहति गुणश्रेणीं शुद्धलेख्यो महामनाः ॥ १९६७ ॥

विजयोदया—इय समभावमुवगदो एवं समचित्तता गत प्रशस्तध्यानं प्रवर्तयेत्, लेख्याभिर्विशुद्धगुणश्रेणी-  
मारोहति ॥

अय यथोक्तविधिना साम्यमधिष्ठाय तथा प्रशस्तध्यानैकतानमानसीभवता क्षपकेण समधिगम्या लेख्याविशुद्धिं  
गाथानां सप्तदशकेन व्याचिख्यासुरादौ तत्फलसंबंधमभिधत्ते—

मूलारा—तु प्रशस्तध्यानमेव ध्येयं न मनागप्यात्तरोद्रे इत्यर्थः । लेस्साहिं विसुज्झतो तेजःपद्मशुक्ललेख्यासु  
क्रमेण परिणममाणः कषायभाभैर्विशुद्धपरिणामो भवन्नित्यर्थः ॥

अर्थ—इस प्रकार समताभावको धारण करनेवाला वह क्षपक प्रशस्त ध्यानमें प्रवृत्त होता है. लेख्या  
ओंमें तेज, पद्म और शुक्ललेख्याओंमें परिणत होकर गुणश्रेणीपर आरोहण करता है अर्थात् उत्तरोत्तर अधिक  
निर्मल परिणामोंका धारक होता जाता है.

जह बाहिरलेस्साओ किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स ॥  
 अब्भंतरेस्साओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥ १९०७ ॥  
 किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिणिण अप्पसत्थाओ ॥  
 पइसइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥ १९०८ ॥  
 बाह्याभ्यंतरभेदेन द्वेधा लेइया निवेदिता ।  
 शुभाशुभविभेदेन पुनर्द्वेधा जिनेश्वरैः ॥ १९०८ ॥  
 कृष्णा नीला च कापोती तिस्रो लेइया विगर्हिताः ॥  
 धीरो वैराग्यमापन्नः स्वरिणीरिव मुंचते ॥ १९०९ ॥

चित्रयोदया—जह बाहिरलेस्साओ कृष्णनीलकापोताच्चेति तिल्ल अप्रशस्ताः प्रजहाति चैराग्यभावनावान्  
 संसारभीरुतां परामुपागतः ॥

प्रसिद्धबाह्यकृष्णादिलेइयाप्रदर्शनेन तदितरास्ताः साधयति—

मूलारा— किण्हादी मिथ्यात्वादिकृतास्तीव्रतमादिसंस्कारा जीवस्य कृष्णादयः पटुभावलेइया भवन्ति ॥  
 योगाविरतिमिथ्यात्वकृपायजनितस्तु यः ॥ संस्कार, प्राणिना भावलेइयासौ कथितागमे ॥  
 तीव्रो लेइया स कापोता नीला तीव्रतरश्च सः ॥ कृष्णा तीव्रतमः पीता संस्कारो मंद इत्यते ॥  
 पद्मा मंदतरः शुक्ला स स्यान्मंदतमस्तिमाः ॥ पटुस्यानगतयो वृद्धया प्रत्येक पटुपीरिताः ॥  
 फलार्थिना वृक्षनिर्मूलोच्छेदादिषु तीव्रतमादिकृपायानुरजिता वाक्कायमनःप्रवृत्तयो भावलेइया व्यवच्छिद्यन्ते  
 तत्र वाचि यथा—

निर्मूलकंधशाखोपशाखोच्छेदे तरोर्वचः ॥ उच्छ्वये पतितदाने भावलेइया फलार्थिनाम् ॥

एव कायेन मनसि वाऽभ्युक्षम् । तत्कर्मणि यथा—

दुर्महो दुष्टचित्तश्च रागद्वेषादिभिर्युत ॥ क्रुन्मानवंचनालोभैस्तथानंतानुबंधिभिः ॥

चंडः सततवैरश्च निर्दयः कलहप्रियः । मधुमाससुरासक्तः कृष्णलेइयो मतोऽसुमान् ॥

निर्वुद्धिमानवान्मायी मंदो विषयलपटः ॥ निर्विज्ञानोऽलसो भीरुर्निद्रालु परवंचकः ॥  
नानाविधे धने धान्ये सर्ववैवातिमूर्च्छितः । सारंभो नीलया प्राणी लेश्यया संयुतो भवेत् ॥  
बहुशः शोकभीमस्तो रुंयत्यपि च निंदति । असूयन्दूषयन्त्रित्यं परं परिभवत्यपि ॥  
आत्मानं बहुशः स्तौति स्तूयमानश्च तुष्यति । मन्यमानः परं स्वम्वा न प्रत्येति कुतश्चित् ॥  
हानिं नावैति वृद्धिम्वा वष्टि मृत्यु रणांगणे । श्लाघ्यमानस्तरां दत्ते जीवः कापोतलेश्यया ॥  
सर्वत्र समद्वेवेति कृत्याकृत्यं दिवाहितम् । दयादानरतो विद्वांस्तेजोलेश्यावशोऽसुमान् ॥  
त्यागी क्षातिपरश्चोक्तो मद्रात्मा सरलक्रियः । साधुपूजोद्यतो जीवोऽधिष्ठितः पद्मलेश्यया ॥  
सर्वत्रापि शमोपेतस्त्यक्तमायानिदानकः । रागद्वेषन्यपेतत्मा स्यात्प्राणी शुक्ललेश्यया ॥  
त्यक्तकृष्णादिलेश्याकाः सिद्धिं याता निरापदाः । अतातीतसुखा जीवा निर्लेश्याः परिकीर्तिताः ॥  
कृष्णाद्यशुभभावलेश्योत्रयत्यागयोग्यता दर्शयति—  
मूलारः--कावो कापोती विरागंकरणो वैराग्यभावनावान् । जितेंद्रियो वा ।

नैलादिक लेश्यायै रहती हैं  
अर्थ--जैसे पुरुषके वाह्यमें अर्थात् शरीरमें कृष्ण, नीलादिक रंग दीखते हैं वैसे पुरुषके अर्भ्यतरमें कृष्ण

कर वैराग्यवान् होकर ससारसे अत्यंत भय युक्त होता है।  
अर्थ--कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या ये तीन लेश्यायें अशुभ हैं क्षपक इनका त्याग

तेजो पम्मा सुक्का लेस्साओ तिण्णि विदुपसत्याओ ॥

पडिवज्जेइय कमसो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥ १९०९ ॥

तेजः पद्मा तथा शुक्ला तिस्रो लेश्याः प्रियंकराः ॥

निर्वृत्तिमिव गृह्णाति निर्वाधसुखदायिनीं ॥ १९७० ॥

विजयोदया--तेजो पम्मा सुक्का तेजःपद्मशुक्ललेश्या. प्रतिपद्यते परिपाट्या ॥

तेजोलेश्यादिव्यपरिणतियोग्यतामाह—

मूलारा—तेऊ तेजोलेश्या । पम्मा पद्मलेश्या ॥

अर्थ—तेजो लेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या ये तीन लेश्या ग्रन्थस्त लेश्या है. उत्कृष्ट वैराग्यसे संसारभयको धारण कर यह क्षपक इन तीन लेश्याओंको क्रमसे धारण करता है.

एदेसिं लेस्साणं विसोघणं पडि उवक्कमो इणमो ॥

सव्वेसिं संगणं विवज्जण सव्वहा होई ॥ १९१० ॥

कुरुव्व सुखहेतूनां सल्लेश्यानां विशोधनम् ॥

यत्संगानामशेषाणां सर्वथापि विवर्जनम् ॥ १९७१ ॥

विजयोदया—पदेसिं लेस्साण पतासा शुभलेश्याना शुद्धिं प्रत्ययमुपक्रमः बाह्याभ्यन्तरसर्वपरित्रहत्याम् ।

शुभलेश्याविशुद्धयुपायमाह—

मूलारा—उवक्कमो उपायः ॥

अर्थ—संपूर्ण परित्रहोका अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर परित्रहोका सर्वथा त्याग करनेसे इन लेश्याओंसे विशुद्धि होती है अर्थात् परित्रहत्यागही लेश्या विशुद्धिका उपाय है.

लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ॥

अज्झवसाणविसोधी मंदकसायस्स णादब्बा ॥ १९११ ॥

लेश्यानां जायते शुद्धिः परिणामविशुद्धितः ॥

विशुद्धिः परिणामानां काषायोपशमं सति ॥ १९७२ ॥

विजयोदया—लेस्सासोधी लेश्याना शुद्धिः । अज्झवसाणविसोधीए होइ परिणामविशुद्धया भवति । अज्झवसाणविशुद्धी परिणामविशुद्धिश्च । मंदकसायस्स मंदकपायस्य भवतीति ज्ञातव्या ॥

उक्तार्थसमर्थनार्थमाह—

मूलारा—अज्झवसाण परिणामः ॥

परिणाम अर्थ—परिणाम निर्मल होनेसे लेश्याओंमें उत्तरोत्तर निर्मलता होती जाती है, तथा मंदकपायी पुरुषके निर्मल रहते हैं.

कपायाणां मंदता कथमित्यत्राह—

मंदा हुंति कसाया बाहिरसंगविजडस्स सव्वस्स ॥

गिण्हइ कसायबहुलो चेव हु सव्वंपि गंथकलिं ॥ १९१२ ॥

मंदीभवन्ति जीवस्य कपायाः संगवर्जने ॥

कपायबहुलः सर्वं गृह्णीते हि परिग्रहम् ॥ १९१३ ॥

विजयोदया—मंदा हुंति कसाया कपाया मंदा भवति, कृतवाहसंगपरित्यागस्य । कपायबहुल एवायं सर्वो जीवः सर्वं ग्रंथकलिं गृह्णाति ॥

कपायमाद्यौपायमाह—

मूलारा—सव्वत्थ मनोवाक्कन्यैः । गंथकलिं ग्रंथ एवासौ कलिञ्च पापवंधनिवधनत्वात् ॥

कपायोंकी मंदता कैसी होती है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जिसेने बाह्यपरिग्रहोंका त्याग किया है उसके कपाय मंद होते हैं, कपायोंसे भरा हुआ जीव ही सम्पूर्ण परिग्रहरूप पातकका स्वीकार करता है

जह इंधणेहि अग्गी वडुइ विज्झाइ इंधणेहिं विणा ॥

गंधेहिं तह कसाओ वडुइ विज्झाइं तेहिं विणा ॥ १९१३ ॥

वृद्धिहानी कपायाणां संगग्रहणमोक्षयोः ॥

अग्नीनामिव काष्ठादिप्रक्षेपणनिरासयोः ॥ १९१४ ॥

विजयोदया—जह इधणेहिं अग्गी इधनैर्यथाशिवर्द्धते तैर्विना प्रशाम्यति ग्रंथस्तथा कपायो वर्द्धते, तैर्विना मंदो भवति ॥

ग्रंथाना भावाभावयोः कपायवृद्ध्युपशमनिमित्तत्वं समर्थयते—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—लकडीओसे अग्नि वृद्धिगत होता है परतु उनके अभावमें वह शांत होता है- तथा परिग्रहासे कपाय पड़ते हैं और उनके अभावमें वे नष्ट होते हैं

जह पत्थरो पड़ंतो खोभेइ दहे पसण्णसवि पंकं ॥

खोभेइ पसंतंवि कसायं जीवस्स तह गंथो ॥ १९१४ ॥

कपायो ग्रंथसंगेन क्षोभ्यते तनुधारिणाम् ॥

प्रशांतोऽपि नृदादीनां पाषाणेनैव कर्दमः ॥ १९१५ ॥

विजयोदया—जह पत्थरो पड़ंतो यथा पाषाण. पतन् दहे प्रशातमपि पंकं क्षोभयति, तथा जीवस्य कपायं ग्रंथाः क्षोभयति ॥

प्रयानां कपायक्षोभणसामर्थ्यं दृढयति—

मूलारा—खोभेदि वदीरयति ॥

अर्थ—जैसे नृदमें पाषाण पड़नेसे तलमागमें दवा हुआ भी कीचड क्षुब्ध होकर ऊपर आता है वैसे परिग्रह जीवके प्रशांत कपायोंको भी प्रगट करते हैं.

अब्भंतरसोधीएु गंथे णियमेण बाहिरे चयदि ॥

अब्भंतरसइल्लो चेव बाहिरे गेण्हदि हुगंथे ॥ १९१५ ॥

अब्भंतर सोधीएु बाहिरसोधी त्रि होदि णियमेण ॥

अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥ १९१६ ॥

अतर्विशुद्धितो जीवो बहिर्यथ विमुचति ॥

अंतरामलिनो बाह्यं शुद्ध्यति हि परिग्रहम् ॥ १९१६ ॥

अंतर्विशुद्धितो जन्तोः शुद्धिः संपद्यते बहिः ॥

बाह्यं हि कुरुते दोषं सर्वमांतरदोषतः ॥ १९१७ ॥

विजयोदया—अर्धमत्तरसोघीए अभ्यंतरशुद्धया नियमेन बाह्यान्परिग्रहांस्यजति, अभ्यंतरदोषेणैव बाह्यान् कायगतान् दोषान् करोति ।

बाह्यग्रंथानादानयोर्तःशुद्धयशुध्यधीनत्वं आह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

मनःशुद्धयधीनता वाक्कायशुद्धयोरभिषत्ते—

मूलारा—बाहिरे वाक्कायगताम् ॥

अर्थ—अंतरंग शुद्धीसे अर्थात् परिणामोंकी निर्मलतासे बाह्य परिग्रहोंका नियमसे त्याग होता है. अभ्यंतर अशुद्ध परिणामोंसे ही वचन और शरीरसे दोषोंकी उत्पत्ति होती है अंतरंग शुद्धि होनेसे बाहिरेंग शुद्धि भी नियम पूर्वक होती है यदि अंतरंग परिणाम मलिन होंगे तो मनुष्य शरीरसे और वचनोंसे अवश्य दोष उत्पन्न करेंगे।

जय तंडुलस्स कोण्डयसोधी सतुसस्स तीरदि ण काटुं ॥

तह जीवस्स ण सक्का लिस्सासोधी ससंगस्स ॥ १९१७ ॥

ससंगस्याद्भिः कर्तुं लेश्याशुद्धिर्न शक्यते ॥

अंतराशोधयते केन तुषयुक्तोऽपि तदुलः ॥ १९१८ ॥

विजयोदया—जह तंडुलस्स यथा तदुलस्य अभ्यतरमलशुद्धि. कर्तुं न शक्यते बाह्यतुपसहितस्य । तथा जीवस्य न शक्या लेश्याशुद्धिः कर्तुं सपरिग्रहस्य ॥

समर्थस्य लेश्यानामशक्यशोधनत्वमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जैसे बाह्य तुपसहित तंडुलकी अभ्यंतर शुद्धि नहीं होती है. अर्थात् तुप हटनेपर ही तंडुल स्वच्छ होता है वैसे परिग्रहसहित जीवके परिणामोंकी अर्थात् लेश्याओंकी विशुद्धि नहीं होती है

इत उत्तरं लेश्याश्रयेणाराधनाविकल्पो निरूप्यते—

सुक्काए लेस्साए उक्कस्सं अंसयं परिणमिन्ता ॥

जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्साराधओ होई ॥ १९१८ ॥

शुक्लेश्योत्तमांशं यः प्रतिपद्य विपद्यते ॥

उत्कृष्टाराधना तस्य जायते पुण्यकर्मणः ॥ १९९९ ॥

विजयोदया—सुक्काए लेस्साए शुक्लेइयाया उत्कृष्टांशं परिणतो यो मृत्तिमुयेति स नियमादुत्कृष्टाराधको भवति ।  
लेइयाविशेषवेशनाराधनाविकल्प प्रबंधेन ब्रवीति—

मूलारा—उक्कस्सं अंसयं उत्तमभागं । उक्कस्साराधजो । तस्योत्कृष्टाराधनेत्यर्थः । उक्तं च—

शुक्लेइयोत्तमाश यः प्रतिपद्य विपद्यते ॥

उत्कृष्टाराधना तस्य जायते पुण्यकर्मणः ॥

लेइयाके आश्रयसे आराधनाके विकल्प कहते हैं—

अर्थ—शुक्लेइयाके उत्कृष्ट अंशसे परिणत होकर जो क्षपक मरणको प्राप्त होता है उस महात्माको नियमसे उत्कृष्ट आराधक समझना चाहिये ।

खाइयदंसणचरणं खओवसमियं च णाणमिदि मग्गो ॥

तं होइ खीणमोहो आराहिचा य जो हु अरहंतो ॥ १९१९ ॥

जे सेसा सुक्काए दु अंसयां जे य पम्मलेस्साए ॥

तेल्लेस्सापरिणामो दु मज्झिमाराधणा मरणे ॥ १९२० ॥

शेषांशान् शुक्लेइयायाः पद्मायाश्च तथा श्रितः ॥

म्रियते मध्यमा तस्य साधोराराधना मता ॥ २००० ॥

वित्तयोदया—जे सेसा सुक्काए दु असया उत्कृष्टांशान् येषु शुक्लेइयाया अंशा ये चापि पबलेइयाया अंशाः तत्र परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥

मूलारा—सेसा मध्यमाधमौ । जे य ये च त्रयोव्यशकाः ॥

अर्थ—क्षायिक सम्यक्त्व, और चारित्र और क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान इन की आराधना करके आत्मा क्षीणमोही बनता है और तदनंतर अरहंत होता है । ( क्षपक )



अर्थ—शुद्ध लेख्याके मध्यम और जघन्य अंशसे तथा पद्मलेख्याके अंशसे जो आराधक मरणको प्राप्त करते हैं वे वे मध्यम आराधक माने जाते हैं

तेजाए लेस्साए ये अंसा तेसु जो परिणमिता ॥

कालं करेइ तस्स हु जहणियाराधणा भणदि ॥ १९२१ ॥

तेजोलेक्ष्यामधिष्ठाय क्षपको यो विपद्यते ॥

जघन्याराधना तस्य वर्णिता पूर्वसूरिभिः ॥ २००१ ॥

विजयोदया-तेजाए लेस्साए तेजोलेक्ष्याया ये अंशास्तेषु परिणतो यदि कालं कुर्यात् तस्य जघन्याराधना भवति ॥  
मूलारा- स्पष्टम् ॥

अर्थ—पीत लेख्याके जो अंश हैं उनसे परिणत होकर जो मरणवश होते हैं वे जघन्याराधक माने जाते हैं

जो जाए परिणमिता लेस्साए संजुदो कुणइ कालं ॥

तछेसो उववज्जइ तछेस्से चेव सो संगे ॥ १९२२ ॥

प्रतिपद्य तपोवाही यो यां लेक्ष्यां विपद्यते ॥

तछेक्ष्ये जायते स्वर्गे तछेक्ष्यः स सुरोत्तमः ॥ २००२ ॥

विजयोदया—जो जाए यो यया लेक्ष्यया परिणत कालं करोति, स तछेक्ष्य एवोपजायते, तछेक्ष्यासमन्विते स्वर्गे ॥

लेक्ष्याविशेषवशेन स्वर्गविशेषोपपादमाह—

मूलारा- तछेस्सा इत्यादि । यत्र यत्र देवलोके सा सा लेक्ष्या तत्र तत्रोत्पद्यते इत्यर्थः ॥

अर्थ—जो जीव जिस लेक्ष्यासे परिणत होकर मरणको प्राप्त होता है वह उत्तर भवमें उसही लेक्ष्याका धारक होकर स्वर्गमें उत्पन्न होता है

अथ तेउपउमसुक्कं अदिच्छिदो णाणदंसणसमग्गो ॥

आउक्खया दु सुद्धो गच्छदि सुद्धिं चुयकिलेसो ॥ १९२३ ॥

सर्वलेश्याविनिर्मुक्तः प्राणांस्त्यजति यो याति ॥

आयुषो बंधनेनेव मुक्तो याति स निर्धृतिम् ॥ २००३ ॥

शुद्धतमा गुणवृद्धिगरिष्ठा भव्यशरीरिनिवेशितचेष्टाः ॥

दूरनिवारितसंस्तृतिवेश्याः कस्य सुखं जनयन्ति न लेश्याः ॥ २००४ ॥

इति लेश्याः ।

विजयोदया—अथ तेजपदमसुषुप्तं अथ तेज पद्मशुक्ललेश्या अतिक्रांतः अलेश्यतामुपगतः ज्ञानदर्शनसमग्र आयुषः क्षयात् सिद्धिं गच्छति कर्मलेपापगमं द्विशुद्धो निरस्ताशेषकलेशः ॥ लेश्येति ॥

निलेश्यस्य सिद्धिप्राप्तिमाह—

मूलारा—अदिच्छिदा अतिक्रान्तः । अलेश्यता गत इत्यर्थः ॥

लेश्या सूत्रतः ३८ - अंकतः १७ ॥

अर्थ—तेजो लेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्यासि अतिक्रांत हुआ अर्थात् जो लेश्यारहित अयोगावस्थाको प्राप्त हुआ है जिसके ज्ञान और दर्शन परिपूर्ण होगये हैं ऐसी जीव सर्वकर्मका विनाश होनेसे सपूर्ण संसारकलेश रहित होकर आयुष्यके क्षयसे सिद्धावस्थाको प्राप्त होता है.

एवं सुभाविदप्या ज्ञाणोवगओ पसत्यलेश्साओ ॥

आराधणापडायं हरइ अविवेणे सो खवओ ॥ १९२४ ॥

अविधेन विशुद्धात्मा लेश्याशुद्धिमधिष्ठितः ॥

प्रवर्तितशुभंध्यानो गृह्णात्याराधनाध्वजाम् ॥ २००५ ॥

विजयोदया—एव सुभाविदप्या एवं सुष्ठु भावितात्मा ध्यानमुपगत प्रशस्तलेश्यापरिणत आराधनापताकां दूरत्यविधेन ॥

आथाराधनाविराधनयोः फलं गाथाभिरकचत्वारिंशता व्याचिख्यासुरादावाराधनाफलं गाथाचतुर्विंशत्या निरूपय न्नुक्तौर्धोपसंहारपुरःसरं सामान्येन तत्फलं निर्दिशति—

मूलरा—एवं अर्हलिंगादिपद्विश्रिक्रियाविशेषविधिना ॥ यतः ॥

अर्थ—इस प्रकारसे जिसने अपने आत्माको सुसंस्कृत किया है शुक्ल ध्यानको प्राप्त हुआ, शुभलेख्यसे परिणत हुआ ऐसा वह क्षपक निर्विघ्नतासे आराधना पताकाको हस्तमें ग्रहण करता है.

तेलोकसव्वसारं चउगइंससारदुक्खणासयरं ॥

आराहणं पवणो सो भयवं मुक्खपडिमुल्लं ॥ १९२५ ॥

ददाति चित्तितं सौख्यं छिनत्ति भवपादपम् ॥

इत्थमाराधना देवी भव्येनाराध्यते सदा ॥ २००६ ॥

चैरेपाराधना देवी सिद्धिसौधप्रवेशिनी ॥

आराधिता न तैर्लोभः को लब्धो भुवनत्रये ॥ २००७ ॥

विजयोदया—तेलोकसव्वसारं वैलोक्ये सर्वस्मिन्सारभूतां चतुर्गतिसंसारदुःखानां शरणीमाराधना प्रपन्नोऽसौ भगवान् मोक्षमप्रतिमोल्य ॥

मूलारा—सो अर्हादिकियाकृतपरिकर्मा, शुभध्यानं कृतानगानसो विशुद्धलेख्यध्वाराधना प्रयतो यवस्ततस्तत्पताकां निर्विघ्नेन हरतीति पञ्चाक्षेन संबंधः—भोक्तृपडिमोहं मोक्षस्य क्रेतव्यस्य परिपूर्णार्थिभूता ॥

अर्थ—इस त्रैलोक्यमें सारभूत, चतुर्गतिरूप संसारदुःखोंका नाश करनेवाली आराधनाको जिसने प्राप्त किया है उस भगवाने जिसका मूल्य नहीं है ऐसा मोक्ष प्राप्त किया है

एवमध्वक्खादविधिं संपत्ता सुद्धदंमणचरित्ता ॥

केई खवंति खवया मोहावरणंतरायाणि ॥ १९२६ ॥

यथाख्यातविधिं प्राप्ता विशुद्धज्ञानदर्शनाः ॥

दहन्ति घातिदारूणि केचिद्व्यानकृशानुना ॥ २००८ ॥

विजयोदया—एवमध्वक्खादविधिं एवं यथाख्यातविधिं संपाता शुद्धदर्शनचरित्ताः केचित्क्षपका घाति-कर्माणि क्षपयन्ति ॥

उत्कृष्टाराधनाफलं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा—अधकृत्वादविधिं यथाख्यातचारित्र्यम् । केहं वरमवेहाः ॥ आवरणं ज्ञानदर्शनावरणे द्वे ॥

अर्थ—जिन्होंने यथाख्यात चारित्रिको प्राप्त किया है, निर्मल सम्यग्दर्शन चारित्रिको जो प्राप्त हुए हैं वे क्षपक धातिकर्मोका नाश करते हैं.

केवलकल्पं लोगं संपुणं दन्वपज्जयविधीहिं ॥

इज्ञायंता एयमणा जंहति आराहया देहं ॥ १९२७ ॥

त्यजंत्याराधका देहं ध्यायन्तो भुवनत्रयम् ॥

द्रव्यपर्यायसंपूर्णं केवलालोकलोकितम् ॥ २००९ ॥

विजयोदया—केवलकल्पं केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्यं लोकं संपूर्णं द्रव्यपर्यायविकल्पैः परिच्छिदंतं जहति ते स्वदेहं ॥

एवं जीवन्मुक्तिमनंतचतुष्टयादिमकामुत्कृष्टाराधनाफलमुक्त्वा परममुक्तिमपि तत्फलत्वेनाह—

मूलारा—केवलकल्पं केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्यं । विधीहिं भेदैः । ज्ञायता जानतः । एयमणा विशुद्ध-स्थिरज्ञानाः । तो पश्चात् स्वायुःक्षयानंतरमित्यर्थः । सयं निजं ॥

अर्थ—केवलज्ञानके द्वारा जानने योग्य जगतको संपूर्ण द्रव्यपर्यायों के विकल्पोके साथ जानते हुए वे क्षपक आराधक अपना देह छोड़ देते हैं

सन्वुक्कस्सं जोगं जुंजंता दंसणे चरित्ते य ॥

कम्मरयविण्णमुक्का हवति आराधया सिद्धा ॥ १९२८ ॥

रत्नत्रयकुठारेण छिन्वा संसारकानन ॥

भवंति सहसा सिद्धा दसुरासुरवंदिताः ॥ २०१० ॥

विजयोद्या—सर्वोत्कृष्टं दर्शनचार्त्विजयोद्योगं प्रतिपद्यमानां कर्मरजोभ्यो निम्नमुक्ता आराधका सिद्धा भवन्ति ॥

मूलारा—सर्वोत्कृष्टम् । परमैः कर्मपरिणामान् । जोगं संयुग्मं । जुगुंवा प्रतिपद्यमानां । त्वमस्य विष्णुमुक्ता अघातिकर्मचतुष्कात्प्रच्युताः ॥

अर्थ—सर्वोत्कृष्ट सम्पददर्शन और चारित्रिको प्राप्त कर कर्मरूप रजसे रहित होकर ने क्षपक आराधक मुक्तावस्थाको प्राप्त होते हैं.

इयमुक्कस्सियमाराधणमणुगलेत्तु केवली भविथा ॥  
लोगगसिहरवासी हवन्ति सिद्धा धुयकिलेसा ॥ १३२९ ॥  
आराध्याराधनामेवमुत्कृष्टां धूतकल्मषा ॥  
भूत्वा केवलिनः सिद्धाः सन्ति लोकाग्रयासिनः ॥ २०११ ॥

विजयोद्या—इय उक्कस्सिय एवमुत्कृष्टमाराधनामणुगाल्य केवलिनो भूत्वा निरस्तक्लेशाः लोकाग्रयासि  
यासिनः सिद्धा भवन्ति ॥

उक्तार्थोपसंग्रहमाह—

मूलारा—उक्कस्सियं उत्कृष्ट । अणुगलेत्तु आराध्य । भविष्य भूत्वा ॥

अर्थ—इम प्रकार उत्कृष्ट आराधनाका पालन कर केवलज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं. संपूर्ण कर्म लेशसे मुक्त होकर लोकाग्रशिखरवासी सिद्ध परमंष्ठि होते हैं.

अह सावेसेसकम्मा मल्लिकसाया पणट्टमिच्छत्ता ॥  
हासरइअरइभयसोगुंछावेयणिम्महणा ॥ १९३० ॥  
अवशोपितकर्मणः पवित्रागममातृका ॥  
कामकोपादिहास्यादिमिथ्यादर्शनमोचिन ॥ २०१२ ॥

कण्णोवगा सुराजं अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ॥  
तत्तो अणंतगुणिदं सुहं दु लवसत्तमसुराणं ॥ १९३५ ॥  
सुख साप्सरसो देवाः कल्पणा निर्विशति यत् ॥  
ततोऽनत गुणं स्वस्थं लभंते लवसत्तमाः ॥ २०१५ ॥

विजयोदया—कण्णोवगा सुरा ज कल्पोपन्ना सुरा. अप्सरोभिस्सहिता यत्सुखमनुभवति ततोऽप्यनंतगुणितं लवसत्तमदेवाना ॥

तत्सुखपरिमाणमाह—

मूलारा—कण्णोवगा कल्पोपपन्नाः ।

अर्थ—अप्सरार्योंके साथ सौधर्मोदिक कल्पवाणी देव जिस सुखमा अनुभव लेते हैं उससे भी अनत गुणित सुख अहर्निद्र देवोंको मिलता है.

णाणम्मि दसणम्मि य आउत्ता संजमे जहक्खादं ॥  
वट्ठिदतवोवधाणा अवहियेलेस्सा सददमेव ॥ १९३६ ॥

विशुद्धदर्शनज्ञानाः सयथाख्यातसयमाः ॥

शब्दादिमूलैरेन्द्रियाका वर्द्धमानतपोगुणाः ॥ २०१६ ॥

विजयोदया—णाणम्मि य दानवर्द्धनयोर्धयाख्याते च सयमे आयुक्ता वट्ठितपोऽभिग्रहा सततं विशुद्धैरेन्द्रियाः क्षयन्ता ॥

गुणारा—आगतो आसक्ताः । अवहित्वेस्सा संशुद्धैरेन्द्रियाः ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और यथाख्यात चारित्र इनमें हमेशा तत्पर रहनेवाले तथा तपोंके नियम जिन्होंने बढ़ाये हैं, जिनकी गुणलैरेन्द्रियां उत्तरोत्तर विशुद्ध होती है ऐसे क्षपक—

पजहिय सम्मं देहं सददं सव्वगुणावट्ठिदगुणट्ठा ॥  
दोविदचरमटाणं लहंति आराधया खवया ॥ १९३७ ॥

अदीनमनसो मुक्त्वा कचाराभिव विग्रहम् ॥

देवेंद्रचरमस्थानं प्रपद्यन्ते बुधार्चिताः ॥ २०१७ ॥

विजयोदया—पञ्चद्वय देहं विहाय देहं सम्यक्सदा सर्वगुणवर्धितगुणाढ्या देवेंद्रचरमस्थानं लभते ॥

मूलारा—सर्वगुणवर्धितगुणद्वारा सर्वगुणेन सर्वोत्कृष्टगुणकारेण वर्द्धितेर्गुणैरणिमादिसिः समृद्धाः । चरिमठाण उपरिमस्वर्गस्थानम् ॥

अर्थ—औदारिक शरीरका त्याग कर संपूर्ण गुणोंके कारणोंसे अणिमादिक गुणोंकी उनको प्राप्ति होती है तथा देवेंद्रका अन्तिम पद उनको प्राप्त होता है.

सुयभक्तीए विमुद्धा उगगतवोणियमजोगसंसुद्धा ॥

लोगंतिया सुरवरा हवंति आराधया धीरा ॥ १९३८ ॥

जावदिया रिद्धीओ हवंति इंदियगदाणि य सुहाणि ॥

ताइं लहंति ते आगमेसि भद्वा सया खवया ॥ १९३९ ॥

वर्यरत्नचयोयोगाः कषायारातिमर्द्दिनः ॥

संति लौकांतिका देवा देहोद्योतितपुष्कराः ॥ २०१८ ॥

कृद्दयः संति या लोके यानींद्रियसुखानि च ॥

क्षपकास्तानि लप्स्यन्ते सर्वाण्येव्यत्यनेहसि ॥ २०१९ ॥

विजयोदया—जावदिया रिद्धीओ यावत्य. कृद्दयो भवति यावतींद्रियसुखानि च भवंति तानि सर्वानि लप्स्यन्ते भद्राशयाः क्षपकाः ॥

मूलारा—णियम अवग्रहविशेषः । जोग ध्यानमातापनादिर्वा ।

मूलारा—लहंति लप्स्यते । ते मध्यमाराधनाराधकाः ॥ आगमेसि आगमिसि काले । भद्वासया प्रशस्तचिवाः ।

अर्थ—श्रुतभक्ति-सम्यग्ज्ञानाराधनासे जिनका मन निर्मल बना है; उग्रतप, विशिष्ट नियम, आतापनादिक योग और ध्यानसे जिनका आत्मा निर्मल बना है ऐसे धीर आराधक लौकांतिक नामक उत्कृष्ट देव होते हैं. इस जगतम जितनी कृद्दिया और इंद्रियसुख हैं वे सब निर्मल परिणामके क्षपकोंको अवश्य प्राप्त होते हैं.

विजयोदया—अह साधसेसकम्मा अथ सावशेषकर्माणो मथितकपायाः प्रणष्टमिथ्यात्वद्वास्यस्वरतिभय-  
शोकजुगुप्सोवदविकमयनाः ॥

मध्यमाराधनाफलं गथादशकेनादिशति—

मूलारा—अथ । मध्यमाराधनाफलमधिक्रियते इत्यर्थः । मल्लि अमिभूताः ॥

अर्थ—जिनके कर्म वचे हैं, जिन्होंने अनंतानुबध्यादि कपयोंका मथन किया है, जिनका मिथ्यात्वकर्म  
नष्ट हुआ है. हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुण्यवेद और स्त्रीवेद, नपुंसक वेदोंका जिन्होंने मथन किया है—

पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंबुडा सब्वसंगउम्मुक्का ॥

धीरा अदीणमणसा समसुहुदुक्खा असंसुडा ॥ १९३१ ॥

विजयोदया—पंचसमिदा समित्तिपंचकोपेता गुप्तित्रयोपेता. सुसंबुता अपाकृतसर्वसंगा धीरा अदीनमनस-  
समसुखदुःखा असंसुडाः ॥

मूलारा—सुसंबुडा ध्यानाख्यप्रधानसंबरोपेताः ॥

अर्थ—जिन्होंने पांच सभितिया पाली हैं, जो तीन गुप्तिओं में तत्पर हैं, जिन्होंने कर्मोंका संवर किया है,  
अर्थात् सवरका प्रधान कारण जो ध्यान उससे जो युक्त हैं, जो परिग्रहोंसे दूर हैं, धीर हैं, जिनके मनमें दीनता नाम-  
मात्र भी नहीं रही है जो दुःख सुखमें समान बुद्धि रखते हैं, तथा जो मोहरहित हुए हैं

सब्वसमाधाणेण य चरित्तजोगे अधिष्ठिदा सम्मं ॥

धम्मे वा उवजुत्ता ज्ञाणे तह पढमसुक्के वा ॥ १९३२ ॥

सुखदुःखसहा वृत्तज्ञानदर्शनसास्थिताः ॥

संवृत्ताः ससमाधाना शुभध्यानपरायणाः ॥ २०१३

विजयोदया—सब्वसमाधाणेण सर्वेण समाधानेन चारित्तये सभ्यगवस्थिता धर्मेध्याने प्रथमशुक्ले वा उपयुक्ताः ॥  
मूलारा—सब्वसमाधाणेण मनोवाक्कायप्रणिधानेन ।



अर्थ—मन, वचन, और शरीर इन तीन योगोंसे जो आत्मस्वरूपमें स्थिर हुए हैं अर्थात् चारित्रमें जो तत्पर रहते हैं, जो धर्मध्यान तथा, प्रथम अथवा दूसरे शुक्लध्वनमें तत्पर होगये हैं

इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरयं हिच्चा ॥

हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्मा य ॥ १९३३ ॥

विधायाराधनां देवीं मध्यमां मुक्तविग्रहाः ॥

शुद्धलेश्यान्विता देवाः सन्त्यनुत्तरवासिनः । २०१४ ॥

विजयोदया—इय मज्झिम एव मध्यमाराधनामनुपाल्य शरीर त्यक्त्वा विशुद्धलेश्याधरा अनुत्तरवासिनो देवा भवन्ति ॥

मूलारा—हिच्चा लक्त्वा । अणुत्तरवासी पंचानुत्तरवासिनः ॥

अर्थ—इस प्रकार मध्यमाराधनाका पालनकर शरीरका त्याग करनेवाले मुनिराज विशुद्धलेश्याको धारण कर अर्थात् उत्कृष्ट शुक्ललेश्याके स्वामी बनकर अनुत्तरवासी देवों में उत्पन्न होते हैं

दंसणणाणचरित्ते उक्किट्ठा उत्तमोपघाणा य ॥

इरियावहपडिवण्णा हवंति लवसत्तमा देवा ॥ १९३४ ॥

विजयोदया—दंसणणाणचरित्ते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्ये प्रकृष्टा उत्तमभिग्रहा ईर्यापथ प्रपन्ना लवसत्तमा देवा भवन्ति ॥

मूलारा—उक्किट्ठा कल्पोपपादिरत्नत्रयाराधकेभ्य उत्कृष्टा । उत्तमोपघाणा प्रधानाभिग्रहाः । इरियावहपडिवण्णा तद्योग्य सुकृतकारणशुभासवाश्रिता । लवसत्तमा अहमिद्रा । ईर्येयकानुद्दिशविमानवासिन इत्यर्थः ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य पालनेमें पूर्ण दक्ष अर्थात् कल्पोपपन्न देवोंमें जिस रत्नत्रय से जन्म होता है उससे भी उत्कृष्ट रत्नत्रयको धारण करनेवाले, उत्कृष्ट तप, ध्यान वगैरह नियमोंके धारक ईर्यापथको जिनहोंने प्राप्त किया है अर्थात् कल्पातीत देवत्व प्राप्त होनेके लिये योग्य ऐसे शुभासवको जो प्राप्त हो गये हैं ऐसे मुनिराज लवसत्तम देव होते हैं अर्थात् मरकर गवैयक, अनुद्दिशविमानमें रहनेवाले देव हो जाते हैं ।

जे वि हु जहणियं तेउलस्समाराहणं उवणमंति ।  
ते वि हु सोधम्माइसु हवंति देवा ण हेडिल्ला ॥ १९४० ॥

जघन्याराधनां देवीं तेजोलेख्यापरायणाः ॥

आराध्य क्षपका संति सौधर्मादिषु नाकिनः ॥ २०२० ॥

विजयोदया—जे वि हु जहणिय थेऽपि जघन्यमाराधनां तेजोलेख्याप्रवृत्तासुपनमति तेऽपि सौधर्मादिषु देवा भवंति ॥ नाघोभाविनो देवाः ॥

जघन्याराधनाफलमाह—

मूलारा—तेउलस्सं तेजोलेख्याप्रवृत्तां । ण हेडिल्ले नाघोभाविनः ।

अर्थ— तेजोलेख्याके धारक ऐसे क्षपकी आराधनाको जघन्याराधना कहते हैं इस आराधनाके आराधक क्षपक सौधर्मादिस्वर्गों में देव होते हैं, इन देवोंसे हीन देवोंमें इनका जन्म नहीं होता है.

किं जंपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स ॥

तं अचिरेण लहंते फासिचाराहणं णिखिलं ॥ १९४१ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन यत्सारं सुवनत्रये ॥

आराध्याराधनां देवीं लभंते तन्मनीषिणः ॥ २०२१ ॥

विजयोदया—किं जंपिएण बहुणा किंवहुनोक्तेन यत्सर्वस्यास्य लोकस्य सारभूतं तदचिरेण लभंते आराधनां प्रपन्नाः ॥

त्रिविधया अप्याराधनाया माहात्म्यमभिप्रेति—

मूलारा— केवलस्स सर्वस्य । फासित्ता आराध्य । तत्तं च—

बहुनोक्तेन किं सारो लोकस्य सकलस्य यः ॥ तं लभंते चिरात्स्पृष्टा सम्यगाराधनाविधिम् ॥

अर्थ—अब हम और जादा नहीं कहते हैं जो सपूर्ण लोकका सारभूत पदार्थ है वह आराधनाविधि को मात्र हुए जीवोंकी शीघ्र ही प्राप्त होता है इसमें संदेह नहीं है

भोगे अणुत्तरे मुंजिऊण तत्तो जुदा सुमाणुस्से ॥

इट्ठिमलुलं चइत्ता चरंति जिणदेसियं धम्मं ॥ १९४२ ॥

भुक्त्वा भोगं च्युताः सन्तो भूत्वा भुवि नरोत्तमाः ॥

विहाय महतीं भूतिं भूत्वा सिध्यन्ति साधवः । २०२२ ॥

विजयोदया-भोगे अणुत्तरे भोगानुकुष्टान् भुक्त्वा स्वर्गव्युता मनुष्यभवेऽपि प्राप्य सकलामृद्धिं तां च त्यक्त्वा जिनाभिहितं धर्मं चरंति ॥

मध्यमाराधनाजयन्याराधकानां स्वर्गसुखमुक्त्युत्तरकालभोग्यसुखं कृत्यं चोपदिशति-

मूलारा-अणुत्तरे वल्लुटान् । तत्तो जुदा स्वर्गादवलीर्णाः । चइत्ता त्यक्त्वा । धम्मं चारित्रम् ॥

अर्थ-आराधकजीवोंको स्वर्गमें भोगोंकी प्राप्ति होती है । उनका भोग लेकर आयुष्य समाप्त होनेपर वे स्वर्गमें व्युत्त होकर इस मनुष्यभवमें जन्म धारण करते हैं, इस मनुष्यभवमें भी संपूर्ण ऋद्धिकी उनको प्राप्ति होती है । उसको छोड़कर वे जिनधर्मका पालन करते हैं अर्थात् मुनि होकर तप, स्वाध्याय और ध्यान करते हैं ।

सदिमंतो धिदिमंतो सद्धासंवेगवीरियोवगयां ॥

जेदा परीसहाण ऊवसग्गाण च अभिभविय ॥ १९४३ ॥

धृतिस्मृतिमतिश्रद्धावीर्यसंवेगभागीनः ॥

परीषहोपसर्गाणां जेतारो विजितेन्द्रिया ॥ २०२३ ॥

विजयोदया-सदिमतो स्मृतिमत् धृतिस्मयन्विता श्रद्धासंवेगवीर्यसहिता परीषहाणां विजेतारः उपसर्गो-  
णामभिभवितारः ॥

धर्मं चरंतस्तत्कीदृशाः स्युर्त्तिहा-

मूलारा-सदिमंता स्मृतियुक्ता । जेदा जेतारः । अभिभविता अभिभवकर्तारः ।

अर्थ-वे शास्त्रका अध्ययन करके उसके तत्वोंको खूब ध्यानमें रखते हैं परीषह और उपसर्ग प्राप्त होने-

पर भी धैर्यसे ढिगते नहीं श्रद्धा, संवेग-संसारभय, और वीर्य आत्मसामर्थ्यसे वे च्युत नहीं होते हैं, वे उपसर्ग और परिपहों को सह लेते हैं.

इय चरणमधक्खादं पडिवण्णा सुद्धदंसणमुवेदा ॥

सोधिंति ज्झाणजुत्ता लेस्साओ संकिलिद्धाओ ॥ १९४४ ॥

सयथाख्यातचारित्रा पवित्रज्ञानदर्शनाः ॥

विशेष्य मलिनां लेख्यां शुद्धध्यानविर्वाद्दिनः ॥ २०२४ ॥

विजयोदया—इय चरणमधक्खाद एव यथाख्यातचारित्र प्रतिपन्ना शुद्धदर्शनमुपगता ध्यानयुक्ता. संकिलट लेख्या विनाशयन्ति ॥

मूलारा—इय एव चरतः । सोधिंति नाशयन्ति ।

अर्थ—इस प्रकारसे यथाख्यात चारित्रिका लाभ कर के शुद्ध दर्शनको प्राप्त होकर ध्यानमें तत्पर होते हैं और अपने सङ्कलित लेख्याओंका-मलिन परिणामोंका क्षय करते हैं

सुकक लेस्समुवगदा सुक्कज्झाणेण खविदसंसारा ॥

सम्मक्ककम्मकवया सविंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥ १९४५ ॥

शुक्कलेख्यांगनाश्लिष्टा ध्वस्तनिशेषकल्मषा ॥

भवन्ति सहसा सिद्धा भुवनोत्तमवन्दिताः ॥ २०२५ ॥

विजयोदया—सुकक लेस्समुवगदा शुक्कलेख्यामुपगता शुक्कलध्यानेन क्षणितसंसारा उन्मुक्तकर्मकवचा दूरीकृत क्लेशा. सिद्धिसुपयाति ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—शुक्क लेख्याकी प्राप्ति कर के आराधक शुक्लध्यानेसे समारका नाश करते हैं. कर्मरूप कवचको फोड़कर सपूर्ण क्लेशोंका अर्थात् चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करके मुक्त होते हैं

एवं संधारगदो विसोधइत्ता वि दमणचरित्तं ॥

परिवडदि पुणो कोई ज्ञायंतो अट्टरुद्दाणि ॥ १९४६ ॥

इत्थं संस्तरमापन्ना रौद्रार्त्तवशवर्तिनः ॥

रत्नत्रयं विशोध्यपि भूयो अश्रयन्ति केचन ॥ २०२६ ॥

विजयोदया—एवं संधारगदो उक्तेन प्रकारेण संस्तरमुपगतोऽपि कृतदर्शनचारित्र्यशुद्धिरपि कश्चित्कर्मगौरवार्तरौद्रपरिणतः पतति ॥ तत्र दोषमाचष्टे ॥

एव साक्षात्पारपर्येण च प्राप्यमाराधनाफलं व्याप्यं दुर्दैववशेन दुर्भ्यानाद्विराधना प्राप्तस्य फलं प्रबंधेनाह—

मूलारा — परिवडदि रत्नत्रयात्प्रच्यवते ।

अर्थ—कोई सुनि संसारका आश्रय करने पर भी सम्यदर्शन और चारित्रिकी शुद्धि करने पर भी पूर्वकर्म के भारसे आर्त ध्यान, रौद्रध्यानमें परिणत होकर अपने शुद्धस्वरूप से अष्ट होते हैं.

ज्ञायंतो अणगारो अट्टं रुहं च चरिमकालम्मि ॥

जो जहइ संय देहं सो ण लहइ सुग्गहिं खवओ ॥ १९४७ ॥

आर्तरौद्रपरः साधुर्यो मुंचति कलेवरम् ॥

एतां दुःखप्रदामेप देवदुर्गतिमुच्छति ॥ २०२७ ॥

विजयोदया—ज्ञायंतो अणगारो मरणकाले आर्तरौद्रयोः परिणतो भूत्वा यः स्वदेहं जहति नासौ क्षपकः सुगतिं लभते ॥

विराध्य त्रियमाणस्य दोषमाह—

मूलारा — स्पष्टम् ॥

आर्त रौद्रमें परिणति होनेसे क्या हानि होती है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—मरणके कालमें आर्तध्यान और रौद्रध्यानका आश्रय करने से वह क्षपक आयुष्यकी समाप्ति होनेपर सुगति को प्राप्त नहीं कर सकता है.

जदि दा सुभाविदप्पा वि चरिमकालम्मि संकिलेसेण ॥

परिवडदि वेदणट्ठो खवओ सथारमारूढो ॥ ११४८ ॥

चिराभ्यस्तचरित्रोऽपि कपायाक्षवशीकृतः ॥

मृत्युकाले ततःसद्यो यदि भ्रश्यति संयतः ॥ २०२८ ॥

विजयोदया—जदि दा सुभाविदप्पा वि यदि तावत्सुभावितात्मापि संस्तरमारूढ वेदनाते क्षपक सक्केलो न हेतुना सन्मार्गात्परिपतति ॥

चिराभ्यस्तचरित्रोऽपि क्षपको यदि मरणक्षणे वेदनावशात्प्राप्तसक्केशः सन्मार्गात्सञ्चयवते तदा नित्यावसन्ना दीना तत्प्रचयवने किमाश्चर्यं वाच्यमित्यभिधातु प्रव्रधमभिधत्ते--

मूलारा-- स्पष्टम् ॥

अर्थ-जिसने आत्माको आराधनाओंसे सुसंस्कृत किया था तो भी मरणसमयमें सक्केशपरिणामोंकी उत्पत्ति होने से वह सस्तरपर आरूढ हुआ श्रमण सन्मार्गसे भ्रष्ट होता है

किं पुण जे ओसण्णा णिच्च जे वा वि णिच्चपासत्था ॥

जे वा सदा कुसीला संसत्ता वा जहांछंदा ॥ ११४९ ॥

अवसन्नो यथाछदो यः पार्श्वस्थः कुशोलकः ॥

ससक्तश्च तदा किं न स भ्रश्यति कुमानसः ॥ २०२९ ॥

विजयोदया—किं पुण किं पुनर्नं परिपतंति ये नित्यमवसन्ना ये च नित्यं पार्श्वस्था ये वा सदा कुशीलाः संसक्ता वा स्वच्छंदा ॥

तत्र अवसन्ना. निरूप्यते--

गच्छंदि केइ पुरिसा पक्खी इव पंजरंतरणिरुद्धा ॥

मारणपंजरचकिदा ओसण्णागा पविहरंति ॥ ११५० ॥

विजयोदया—यथा कर्दमे क्षुण्ण मार्गदीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्नः । भावावसन्नः अशुद्धचरित्रः 'सीदति उपकरणे, वसतिसंस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विद्वारभूमिदोधने, गोचारशुद्धौ, र्थ्यासमित्यादिषु, स्वाध्यायका-

लावलोक्ते, स्वाध्यायविसर्गो, गोचरे, च अनुद्यतः, आवश्यकोऽप्यलस, जनातिरिक्तो वा जनाधिकं करोति कुर्वश्च यथोक्त-  
मावश्यकं वाक्कायाभ्यां करोति न भावत एवंभूतश्चारित्र्येऽवसीदीत्यवसन्न । पंथानं पश्यन्पि तत्समीपेऽन्येन कश्चिद्वृच्छति,  
यथासौ मार्गपार्थस्य, एवं निरतिचारसंयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किंतु संयममार्गपार्थं विप्रुति नैकतिनासंयतं,  
न च निरतिचारसंयमं सोऽभिधीयते पार्थस्य इति । शय्याघरपिण्डमभिहितं नित्यं च पिंडं भुंक्ते, पूर्वापरकालयोर्दातृत्सस्त्वं  
करोति, उत्पादनैयणादोपपुष्टं वा भुंक्ते, नित्यमेकस्या वसतो वसति, परस्मिन्नेव संस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति ।  
गृह्णिणां गृहाभ्यंतरे नियद्या करोति, गृहस्थोपकरणैर्व्यवहरति, दुःप्रतिलेखमप्रतिलेखं वा गृह्णाति, सूचीकर्तोरिनखच्छे-  
दसदशनपट्टिकाशुक्रकर्णशोधनाजिनग्राही, सीवनप्रक्षालनावधूतनरंजनादिवहुपरिकर्मव्यापृतश्च वा पार्थस्य । क्षार-  
चूर्णं सौवीरलवणसर्पिरित्यादिकं अनागाढकरणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन् पार्थस्य । रात्रौ यथेष्टं शेते, संस्तरं च यथाकामं  
बहुतरं करोति, उपकरणवकुशो । देहवकुश — दिवसे वा शेते च यः पार्थस्य । पदप्रक्षालनं व्रक्षणं वा यत्कारणमंतरेण  
करोति, यश्च गणोपजीवी त्रिपंचकसेवापरश्च पार्थस्य । अयमत्र संक्षेप — अयोग्यं सुखशीलतया यो नियेवते कारणमत-  
रेण स सर्वथा पार्थस्य । कुत्सितशील कुशीलः, यद्येवं अवसन्नादीनां कुशीलत्वं प्राप्नोति, नैवं लोकप्रकटकुत्सितशील-  
कुशील इति विवेकोऽत्र ग्राह्य । स च कुशीलोऽनेकप्रकारः, कश्चित्कौतुकशील औपघविलेपनविद्याप्रयोगैर्वा, सौभा-  
ग्यकरण राजद्वारि कौतुकमादर्शयति यः कौतुककुशीलः । कश्चित् भूतिकर्मकुशील भूतिग्रहणमुपलक्षणं भूत्या, धूल्या,  
सिद्धार्थकैः, पुष्पैः, फलैर्वदकादिभिर्वा मन्त्रितै रक्षा वशीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशीलः ॥ उक्तं च—

भूदीव धूलीय वा सिद्धयग पुष्पफलदकादीर्हि । रम्पं वसिगरणं वा करेदि जो सूदिगकुसीलो कश्चित्प-  
सेनिकाकुशील, अंगुष्ठममेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, आशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी स्वप्नप्रसेनीत्येवमादिभिर्जन-  
रंजयति यः सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुशील इति । कश्चिदप्रसेनिकाकुशीलः विद्याभिर्मन्त्रौपघप्रयोगैर्वा असंयत  
चिकित्सा करोति सोऽप्रसेनिकाकुशील ॥ कश्चिन्निमित्तकुशील अप्रागनिमित्तं ज्ञात्वा यो लोकस्यादेश करोति  
स निमित्तकुशीलः । आत्मनो जातिं कुलं वा प्रकाश्य यो भिक्षादिमुत्पादयति स आजीवकुशील । केनचिदुपद्रुत  
पर शरणं प्रविशति, अनायाशाला वा प्रविश्य आत्मनश्चिकित्सा करोति स वा आजीवकुशल । केनचिदुपद्रुत  
पदव्यापहरणदभमदर्शनपर फलकुशील, इन्द्रजालादिभिर्यो जनं विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशील इति ।  
वृक्षगुल्मादीनां पुष्पाणां, फलानां च समवमुपदर्शयति, गर्भस्यापनादिकं च करोति यः स संमूर्छनाकुशील । ब्रसाना,  
कीटादीनां, वृक्षादीनां, पुष्पफलादीनां, गर्भस्य परिशातन अभिसारिकं च यः करोति शार्पं च प्रयच्छति स प्रपातनकुशील  
उक्तं च । नाओतिरुभूदिकम्मे पसिणा पसिणे निमित्तमाजीव, कककुहनं समुच्छ्रणं पपादणादीकुशीलो दुः ॥ इति ॥  
आदिशब्दपरिगृहीता कुशीलां उच्यते—क्षेत्र हिरण्यं चतुष्पदं च परिग्रहं ये गृह्णन्ति हारितकदफलभोजनं कृतकारि-  
तानुमतपिण्डोपाविधवसातिसेवापराः, स्त्रीकारतय, मैथुनसेवापरायणा, विवेकास्त्रवादि अधिकरणोद्यताश्च कुशीलाः ।  
गृष्टं प्रमत्तविरुद्धवेपथ्व कुशीलः । सप्तको निरूपयते—प्रियचारित्र्ये प्रियचारित्र्ये इष्टे अप्रियचारित्र्ये,  
नटवदनेकरूपग्राही सप्तकः, पर्वद्विरेषु प्रसक्तः त्रिविधगौरवप्रतिवद्धः, स्त्रीविषये सफलसहितः, गृहस्थजनप्रियश्च

संसक्तः अवसण्णो अवसन्न, पार्श्वस्थसंसर्गात्स्वयमपि पार्श्वस्थः, कुशीलसंसर्गात्स्वयमपि कुशील, य स्वच्छंदसंपर्को-  
त्स्वयमपि स्वच्छंदवृत्ति । यथाछदो निरूप्यते—उत्सन्नमनुपदिष्ट स्वेच्छाविकल्पितं यो निरूपयति सोऽभिधीयते  
यथाछंद इति । तद्यथा यपे पतति जलधारणमसयम । क्षुरकर्तारिकादिभि केशापनयनप्रशसन आत्मविषाधनान्यथा  
भवतीति । भूमिशिष्या तृणपुजे वसत अवस्थितानामावाधेति, उद्देशिकादिके भोजनेऽदोष ग्राम सकल पर्यटतो महती जीव-  
निकायविराधनेति, गृहामत्रेभुभोजनमदोष इति कथन, पाणिपात्रविकस्य परिशातनदोषो भवतीति निरूपणा, सप्रति  
यथोक्तकारी न विद्यत इति च भाषण एवमादिनिरूपणापरा स्वच्छन्दा इत्युच्यते ॥

मूलारः— किं पुण किं पुनर्न परिपतति । सर्वदा येऽवसन्नादिरूपता धृत्वा पश्चिमकोले एव सन्मार्गमनुवृता-  
स्ते सस्तरारूढाः संतो वेदनावशाल्प्राप्तसंक्लेशास्ततः प्रच्यवंत एवेत्यर्थः । ओसण्णा चारित्रेऽवसीदन्तः पथिका इव  
पके । यथोक्तमुनिकर्मदशालस्यादिना पदे पदे स्तलन्त इत्यर्थः । निच्चं दीक्षाग्रहणात्प्रमृतिचरमकाल यावत् । निच्चपामत्या  
निरतिचारसंयममार्गं जानतो पि ये सदा तदवृत्तयो नैकातेन संगता न च निरतिचारसंयमाः किंतु संयममार्गपार्श्वे  
तिष्ठन्ति । यथा केचित् पाथा मार्गं पश्यतोऽपि तत्पार्श्वे अयोग्यं सुखशीलतया कारणं विना ये निपेवंते ते पार्श्वस्था इति  
तात्पर्यं । कुशीला लोकप्रकटकुत्सितशीलाः । संसत्ता ये त्रियचारित्रे दृष्टे त्रियचारित्राः, अत्रियचारित्राः च अत्रियचारित्राः ।  
नटवदनेकरूपप्राहिणोऽवसन्नप्रादिसंसर्गात्स्वयमपि तद्भावभाज इति भावः ॥ जथाछदा उत्सन्नानुपदिष्टस्वेच्छाविकल्पित  
निरूपणापराः ॥

अर्थ—क्या जो अवसन्न, पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त और यथा छंद मुनि हैं वे अवश्य सन्मार्ग से अष्ट नहीं  
होते हैं ? अवश्य ही अष्ट होंगे

अर्थ—जैसे कीचड़में फसेहुए और मार्गअष्ट पथिकको अवसन्न कहते हैं उस को द्रव्यावसन्नभी  
कहते हैं, वैसे जिसका चारित्र अछुद्र बन गया है ऐसे मुनिको भावासन्न कहते हैं यह मुनि पिछी कर्मदल्लादिक  
उपकरणोंमें, आसक्त होता है वसति और संस्तरकी शोधना करनेमें प्रमादी बनता है, स्वाध्यायमें, विहारभूमि-  
शोधनमें, आहारकी शुद्धिमें, ईयासमित्यादिक समितिओं में, स्वाध्यायकालके अवलोकनमें स्वाध्यायकी समाप्ति  
करने में तत्पर नहीं होता है अर्थात् उपर्युक्त कार्योंमें वह प्रमादी बनता है, आवश्यकतादि कार्यों में आलस्य  
करता है, इतर मुनिओंकी अपेक्षा से यह अवसन्नमुनि आवश्यकता अधिक भी पालन करता है परंतु वचन और  
काय-शरीरसेही करता है, मनसे उनका पालन नहीं करता है, इस प्रकार वह चारित्रसे अष्ट होता है इसलिय ऐसे  
मुनिको अवसन्न कहते हैं,



मार्गको जानता हुआ भी कोई अन्य पुरुषके साथ उस मार्गके समीप जाता है उसको जैसे मार्गपार्थस्य कहते हैं वैसे अतिचाररहित सयममार्गका स्वरूप जानकर भी उसमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है पतु सयममार्गके पास ही वह रहता है यद्यपि वह एकांतरूपसे असंयमी नहीं है पतु निरतिचार सयमका पालन नहीं करता है इसलिये उसको पार्थस्य कहना चाहिये। वसतिको वसतिका देनेवाला इन तीनों को शय्याधर कहते हैं इनके यहां आहार ग्रहण ठहरो ऐसा कहकर मुनिओंको वसतिका देनेवाला इन तीनों को शय्याधर कहते हैं इनके यहां आहार ग्रहण करना मुनिओंकालिये निषिद्ध है परतु इनके यहां जो हमेशा आहार ग्रहण करते हैं दाताकी आहार लेने के पूर्व और आहार लेनेके अनंतर प्रशसा करते हैं उत्पादन दोष, एषणा दोष सहित आहारको ग्रहण करते हैं, हमेशा एकही वसतिकामें रहते हैं एकही संस्तरमें हमेशा सोते हैं, एकही क्षेत्रमें रहते हैं, गृहस्थोंके घरमें अपनी बैठक लगाते हैं गृहस्थोपकरणोंसे अपनी शौचादि किया करते हैं जिसकी शोधना अशक्य है अथवा जो सोधा नहीं गया है उसको ग्रहण करते हैं खर्ह, कैची, नख छेदनका शस्त्र, सांडस ( जिसको चिमटा कहते हैं ) वस्तरा तीक्ष्ण बनानेका पत्थर, वस्तरा, कर्णमल निकालनेका साधन, इन वस्तुओंको ग्रहण करते हैं सीना, धोना, उसको झटकना, रंगाना इत्यादि कार्योंमें जो तत्पर रहते हैं ऐसे मुनिओंको पार्थस्यमुनि कहते हैं जो अपने पास धारचूर्ण सोहाग चूर्ण, नमक, घी वगैरह पदार्थ कारण न होने परभी रखते हैं उनको भी पार्थस्य कहना चाहिये जो रातमें यथेष्ट सोते हैं, अपनी इच्छाके अनुसार विछानाभी बढावनाते हैं, उपकरणोंका संग्रह करते हैं, उनको उपकरण वकुश कहते हैं।

जो दिनमें सोता है उसको देहवकुश कहते हैं ऐसे पार्थस्यके भेद हैं कारणके बिना पाव धोना अथवा तेल लगाना, गणके ऊपर उपजीविका करना, तीन अथवा पांच मुनिओंकी सेवा करना ? ऐसे जो कार्य करता है वह भी पार्थस्य है।

जिसका आचरण कुत्सित है दोष युक्त है उस मुनिको कुत्सित कहते हैं यदि ऐसा कुशील मुनिका लक्षण किया जावेगा तो अवसन्नादिक मुनिओंको भी कुशील ही कहना होगा ? उत्तर- जिसका दुरा आचरण लोकमें प्रगट हुआ है उसको कुशील कहते हैं ऐसा अभिप्राय यहां समझना चाहिये

इस कुशील मुनिके अनेक प्रकार हैं कोई कौतुककुशील है - औपध, विलेपन और विद्याके प्रयोगसेही राजद्वारमें कौतुक दिखाना, लोकमें भ्रियता संपादन करना,

भूतिकुशील—भूति शब्द यहां उपलक्षण है इसलिये भूतिका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—अभिमंत्रित किये गये धूल, सफेत सरसों, पुष्प, फल, पानी इत्यादिकोंके द्वारा किसीका रक्षण करना, किसीको वश करना, ऐसे कार्य करने वालेको भूतिकुशील कहते हैं उपर्युक्त अभिप्राय 'भूदीय धूलियं वा' इस गायामें भी व्यक्त किया है। प्रसेनिका कुशीलका लक्षण इसप्रकार है अगुष्ट प्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, और स्वप्नप्रसेनी इत्यादि विद्याओंसे जो लोकों का मन अनुरजित करता है उसको प्रसेनिकाकुशील कहते हैं अग्रसेनिका कुशील—विद्याओंसे और औषधोंसे असयतोंकी जो चिकित्सा करता है वह अग्रसेनिका कुशील है

अष्टांगनिमित्तको जानकर जो लोकोंको उनका उपदेश करता है वह निमित्त कुशील है  
अपजी, जाति व कुल प्रकाशित करके जो शिक्षादिककी उत्पत्ति करता है उसको आजीवकुशील कहते हैं

किसीके द्वारा उपद्रव होनेपर दूसरोंको जो शरण जाता है अथवा अनाथशालामें प्रवेश कर अपनी चिकित्साको करवाता है उसको आजीवकुशील कहते हैं

विद्या मंत्रादिकोंके द्वारा परद्रव्यापहरण करके दंभ प्रदर्शन करनेवाला उसको कक्ककुशील कहते हैं  
इंद्रजालादिकोंके द्वारा जो जनोंको आश्चर्यचकित करता है वह कुहनाकुशील है  
वृक्ष, छोटे छोटे पेड़ वगैरहोंको पुष्प और फलोंकी उत्पत्ति का उपाय बतलाता है गर्भस्थापनादिक कार्य जो करते हैं उसको सम्मूर्धनकुशील कहते हैं

त्रस जातिके कीटादिक, वृक्ष, छोटे पेड़ इनके पुष्प फलादिकोंका जो नाश करते हैं, गर्भका जो नाश करते हैं जो शाप देते हैं उनको प्रपातनकुशील कहते हैं

इन सब कुशीलोंका आचार्यन 'काओतिक भूति कर्म' इस गायामें नाम निर्देश किया है गायामें आदि शब्द आया है इससे और भी कुशीलोंके भेद होते हैं उनका स्वरूप इम प्रकार—जो क्षेत्र—जमीन, सुवर्ण, चतु-ष्षदप्राणी इन परिग्रहोंका स्वीकार करते हैं, हरित, कद, और कच्चे फल भक्षण करते हैं, कृत, कारित, और अनुसृत ऐसी वसतिका, आहार उपाधि—इनका सेवन करते हैं, स्त्रियोंकी कथाओंमें प्रेम रखते हैं मैथुन सेवामें तत्पर होते हैं,

अविचकी होते हैं, आसवके अधिकरणों में हमेशा उद्युक्त रहते हैं इनको भी कुशील कहते हैं जो धृष्ट, निर्लज्ज, प्रमत्त, और विकारयुक्त वेप धारण करते हैं. उनको भी कुशील कहते हैं

ससक्त मुनिका वर्णन—

ऐसे मुनि चारित्रप्रिय मुनिके सहवासमें जत्र रहते हैं तत्र चारित्रप्रिय ये भी वन जाते हैं जिनको चारित्रप्रिय नहीं है ऐसे मुनिके सहवासमें रहनेपर जो चरित्रको अप्रिय मानने लगते हैं नटके समान इनका आचरण रहता है ये संसक्त मुनि पंचद्रियों के विषयों में आसक्त होते हैं तीन प्रकारके रसगौरव और सातगौरव इनमें आसक्त होते हैं. स्त्री के विषयमें इनके परिणाम सकलेश युक्त इनका अतिशय प्रेम रहता है अवसन्न मुनिसंसर्गसे ये अमसन्न वनते हैं पार्श्वस्थके ससर्गसे पार्श्वस्थ हो जाते हैं. कुशीलके संसर्ग से कुशील और स्वच्छदके संयोग होनेपर वैसे वनते हैं. अर्थात् नटवत् इनका आचरण है

यथाछंद मुनिका वर्णन— जो मुनि आगमके विरुद्ध आगमन न कहा हुआ और स्वच्छकल्पित पदार्थोंका स्वरूप कहते हैं उनको यथाछंद मुनि कहते हैं.

वर्षाकालमें जो पानी गिरता है उसको धारण करना यह असंयम है. वस्तरा और कैंचीसे केश निकालना ही योग्य है. केशलोच करनेसे आत्मविराधना होती है. सचित्ततृणपुजपर बैठनेसे भी भूमिशय्या मूलगुण पाला जाता है. तृणपर बैठनेसे भी जीवोंको बाधा नहीं होती है. उद्देशादिक दीपसाहित भोजन करना दीपास्पद नहीं है. आहारके लिये सब ग्राममें घूमनेसे अनेक जीवोंका घात होता है. घरमें हि भोजन करना अच्छा है अर्थात् वसतिकामें ही भोजन करना अच्छा है हाथमें आहार लेकर भोजन करनेसे जीवोंको बाधा पोहोचती है ऐसा वे उत्सृज्य कहते हैं इस कालमें यथोक्त आचरण करनेवाले मुनि कोई नहीं हैं ऐसा कथन करना इत्यादि प्रकारसे विरुद्ध भाषण करनेवाले मुनियोंके यथाछंद अर्थात् स्वच्छंदी मुनि कहते हैं

अविसुद्धभावदोसा कसायवसगा य मंदसंवेगा ॥  
अच्चासादणसीला मायाबहुला पिदाणकदा ॥ १९५१ ॥

अशुद्धमनसो वक्ष्याः कषायेन्द्रियविद्विषाम् ॥

पूज्यात्यासादनाशीला नीचा मायानिदानिनः ॥ २०३० ॥

विजयोद्या—अविशुद्धभावदोसा भवा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामा, तेपा दोषा शंकादयः ते अविशुद्धा अनिराकृता येस्ते अविशुद्धभावदोषा । फलस्यवसिगा कषायवशवर्तिन । मदसेवगा । अच्चासादणसीला गुणाना गुणिना चापमानकारिण । प्रचुरमायानिदाने गता ॥

कुतस्ते मृत्युकाले सन्मार्गादप्यञ्चवन्ते इत्यत्र गात्रापट्टकमाह—

मूलारा—अविशुद्धभावदोसा अनिराकृतरत्नत्रयातिचाराः । अज्ञासादणसीला गुणाना चापमानकारिणः ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रिको आचार्य भाव कहते हैं. इनके शंकादिक दोष हैं. इन दोषोंको न हटानेसे सम्यग्दर्शनादिक निर्मल नहीं होते हैं अर्थात् अवसन्नादिक मुनिओंका रत्नत्रय निर्दोष नहीं रहता है वे कषायके वश हो जाते हैं उनमें धर्मभ्रम मद पाया जाता है वे गुणोंका और गुणिजनों—का अपमान करते हैं उनमें माया और निदान ये दो शल्य प्रचुर पाये जाते हैं

सुहसादा किमज्ज्ञा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी ॥

विसयासापडिवद्धा गारवगस्या पमाइल्ला ॥ १९५२ ॥

धर्मकार्यपराधीना पापसूत्रपरायणाः ॥

संश्रुत्ये ममानेन किं कृत्यमिति वादिनः ॥ २०३१ ॥

सर्वव्रतातिचारस्थाः सुखास्वादनलालसाः ॥

अनाराधितचारित्र्याः परचित्ताकृतोद्यमाः ॥ २०३२ ॥

विजयोद्या—सुखसादा सुखास्वादनपरा । किमज्ज्ञा किं महे केनचिदिति सर्वेषु संश्रुत्येव्यनाहता । गुण सायी गुणेषु सम्यग्दर्शनादिषु शेरत इव निरुत्साहा । पावसुत्तपडिसेवी आत्मन परेया वा अशुभपरिणामस्य मिथ्यात्वा-सयमकषायणा प्रवर्तकं शालं पापसूत्रं निमित्त, वैद्यक, क्रोटिल्य, स्त्रीपुरुषलक्षण, धातुवाद, काव्यन्तारुक्ति, चौरशालं शस्त्रलक्षणं प्रहरणविद्याचित्रकलागार्धवर्गधनुस्त्र्यादिक पतस्मिन् पापसूत्रे कृतादराभ्यासा, विसयासापाडिवद्धा अभिमतविषयपरिप्राप्त्यर्थो या आशा तस्या प्रतिवद्धा, तिगारवगुरुका गारवत्रयैगुरुत्व । पमाइल्ला पिरुयादिपवदश प्रमावसहिता ॥

मूलारा—सुहसादा सुखात्वादनपराः । किमब्ध्या किं मम केनचिदिति सर्वेषु संघकार्येष्वनादृताः । गुणसायी गुणेषु सम्यग्दर्शनादिषु शेरत इव । सम्यक्त्वाद्विनिर्मुक्ताहा इत्यर्थः । पावसुत्तपडिसेवी स्वपरयोर्मि व्यात्वादिनिवेदकनिमित्त कौटिल्यक्षीपुरुपलक्षणं, धातुवादकाव्यनाटकचौयशस्त्रचित्रगीतनृत्यवाद्यंगयुक्त्यादिशक्तेषु कृतादराभ्यासाः । पमादित्वा विकथादिप्रमादवतः ॥

अर्थ—इन गुनिओंका स्वभाव सुखिया बनता है इसलिये मेरा किसीसे कुछ भी संबंध नहीं है ऐसी कल्पना करके सघके कार्योंसे वे उदासीन रहते हैं सम्यग्दर्शनादि गुणोंमें वे निरुत्साह रहते हैं अर्थात् इनकी वृद्धि करनेकी उनको इच्छा नहीं होती। अपने अथवा अन्यजनोंके अशुभ परिणाम बनानेवाले अर्थात् जो मिथ्यात्व, असयम, कर्पायरूप परिणामोंकी उत्पत्ति करते हैं ऐसे शास्त्रोंका पाप कहते हैं। जैसे निमित्त, वैधक, कौटिल्य ( चाणक्यका अर्थशास्त्र ) स्त्रीपुरुषलक्षण, अर्थात् सायुद्रिक, धातुवाद, काव्य, नाटक चौरशास्त्र, शस्त्रलक्षण, शास्त्रविद्या, चित्रकला, गान्धर्व, गद्ययुक्त्यादिक इन शास्त्रों को पापमूत्र कहते हैं ये पार्श्वस्थादि मुनि इन शास्त्रोंका आदरसे अभ्यास करते हैं इष्ट विषयकी प्राप्ति करानेवाली जो आशा है उससे ये इध गये हैं तीन भास्वसे ये सदा युक्त रहते हैं। विकथादिक पंदरह प्रमादोंसे ये पूर्ण रहते हैं।

समिदीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुनेसु ॥

परतत्तीसु पसत्ता अणाहिदा भावसुद्धीए ॥ १९५३ ॥

विजयोदया—समिदीसु य समितिषु गुप्तिषु च संयमगुणेषु भावनारहिता परव्यापारेषु प्रवृत्ता भावशुद्धा-  
वनादृता ॥

मूलारा—परतत्तीसु परव्यापारचिंतासु अणाहिदा अनान्ता अस्थिरा वा ।

अर्थ—समिति, गुप्ति, इनकी भावनार्थोंमें-अभ्याससे ये दूर रहते हैं. संयमके भेद जो उत्तरगुण शील वगैरह इनसे ये दूर रहते हैं दूसरोंके कार्योंकी चिंतामें लगे रहते हैं और आत्मकल्याणके कार्योंसे कौनों दूर रहते हैं इसलिये इनके रत्नत्रयमें निर्मलता नहीं रहती है

गंथाणियत्तण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ।

सद्वरसख्वगंधे फासेसु य मुच्छिदा घडिदा ॥ १९५४ ॥

इहलोकक्रियोद्युक्ताः परलोकक्रियालसाः ॥

मोहिनः शवलाः क्षुद्राः संक्लिष्टा दीनवृत्तयः ॥ २०३३ ॥

विजयोदया—गंथाणियत्तण्हा अत्तपरिग्रहण्णा, बहुमोहा, अज्ञानबहुला, शबलसेवनापरा, शब्दादिषु विषयेषु मूर्छिता, आश्रयघटिता ॥

मूलारा—गंथाणियत्तण्हा अनिवृत्तपरिमहस्पृहा । बहुमोहा अज्ञानयहुलाः । सबलसेवणासेवी गृहस्थारंभसेविन । मुच्छिदा गृद्धि गताः । घडिदा सबद्धाः ॥

अर्थ—परिग्रहमें इनकी अभिलाषा तृप्त होती नहीं बढ़ती ही रहती है ये अज्ञानसे धिरे रहते हैं अर्थात् आत्मस्वरूप का ज्ञान इन को नहीं होता है गृहस्थोंके आरमादि कार्य ये करते रहते हैं. शब्द, रस, गंध, रूप, स्पर्श इन विषयोंमें वे अत्यक्त होते हैं

परलोगनिप्पिवासा इहलोगे चैव जे सुपडिबद्धा ॥

सज्झायादीसु य जे अणुडिदा संक्लिट्टमदी ॥ १९५५ ॥

विजयोदया—परलोयनिप्पिवासा परलोकनिस्पृहा, येहिंकेवैव कांशु प्रतिबद्धा, स्वाध्यायादिष्वनुद्यता, संक्लिष्टमतयः ॥

मूलारा—निप्पिवासा निस्पृहाः । अणुडिदा अनुद्यता ॥

अर्थ—ये परलोकके विषयमें निस्पृह होते हैं, परंतु ऐहिक कार्यों में ही इनका मन तत्पर रहता है स्वाध्याय, अलोचनादिक कार्योंमें इनका मन लगता नहीं है, इनके बुद्धिमें संक्षेप परिणाम रहते हैं

सत्त्वेसु य मूलुचरगुणेषु तह ते सदा अइचरंता ॥

ण लहंति खवोवसमं चरित्तमोहस्स कम्मस्स ॥ १९५६ ॥

विजयोदया—मूलोत्तरगुणेषु सदा सातिचारा न लगते चारित्रमोहस्य क्षयोपशमं ॥  
मूलारा—ते नित्यावसन्नादयः समाधिमरणोद्यताः । अदिचरता अन्तर्वृत्या व दिर्वृत्या वा भंजतः । अन्ये विचरंता इति पठित्वा सर्वस्मिन्मूलोत्तरगुणेषु प्रवर्तमाना इत्यर्थमाहुः ॥ गेल्यादि असयता एव ते भवन्तीत्यर्थः ॥

अर्थ—मूलगुण और उत्तरगुणोंमें हमेशा अतिचार शुक्त ही रहते हैं अर्थात् इन गुणोंमें इनकी हमेशा अतिचार लगते हैं. उनको चारित्र मोहनीय कर्मका क्षयोपशम नहीं रहता है अर्थात् वे असंयत ही होते हैं.

एवं मूढमदीया अवंतदोसा करेति जे कालं ॥

ते देवदुब्भगच्च मायामोसेण पावन्ति ॥ १९५७ ॥

आलोचनामनाधाय ये त्रियन्ते कुबुद्धयः ॥

त्रिविधे निदिताचारा दुर्भगाः संति ते सुराः ॥ २०३४ ॥

विजयोदया—एवं मूढमदीया एवं मूढबुद्धयो अनपास्तदोषा ये कालं कुर्वन्ति ते देवदुर्भगतां प्राप्नुवन्ति मायया ॥

तद्गत्यंतरं प्राप्यं दर्शयन्ति—

मूलारा—अवंतदोसा अनिराकृतातिचाराः । देवाश्च ते दुर्भगाश्च देवदुर्भगास्तद्भावं । उक्तं च—

आलोचनामनाधाय ये त्रियन्ते कुबुद्धयः ॥ त्रिविधे निदिताचारा दुर्भगाः सन्ति ते सुराः ॥

अर्थ—इस प्रकार मूढमति ये अवसन्नादिक मुनि अपने दोषों को नहीं हटाते हुए अपना सर्व आयुष्य योही व्यतीत करते हैं, जिससे मायाचारी इन मुनियोंको देव दुर्गतिकी प्राप्ति होती है.

किमञ्च गिरुच्छाहा हवन्ति जे सव्वसंधकज्जसु ॥

ते देवसमिदिबज्जा कण्ठंते हुंति सुरमेच्छा ॥ १९५८ ॥

संघकृत्ये निरुत्साहाः किमेनन ममेति ये ॥

ते भवन्ति सुरा म्लेच्छा वाद्यवादिदिवौकसां ॥ २०३५ ॥

विजयोदया—किं मञ्जुगिरिच्छादा किं मल्लमिति ये सर्वसंघकार्येष्वनादृतास्ते देवसमितियाह्या' कल्पानामते सुरम्लेच्छा भवति ॥

सघकार्यानादृताना देवदुर्गतिमाह—

मूलारा—किं मञ्जु गिरिच्छादा किं ममेत्यनादृताः ॥ समिष्टि सभायां । कप्पते सौर्धर्मादिकल्पाना प्रत्यते ।

सुरमेच्छा देवम्लेच्छाः कर्मचाढाला इत्यर्थः ॥

अर्थ—जो सघके कार्योका अनादर करते हैं ऐसे मुनि सौधर्मादिक स्वर्गके अतमें सुरम्लेच्छ अर्थात् चांडालके समान देव होते हैं

कंदप्पभावणाए देवा कंदप्पिया मदा होंति ॥

खिन्विमसयभावणाए कालगदा होंति खिन्विमसया ॥ १९५९ ॥

अभिजोगभावणाए कालगदा आभिजोगिया हंति ॥

तह आसुरीए जुत्ता हवंति देवा असुरकाया ॥ १९६० ॥

सम्मोहणाए कालं करित्तु दो दुंदुगा सुरा हंति ॥

अण्णंवि देवदुग्गाइ उवयंति विराघया मरणे ॥ १९६१ ॥

कंदप्पभावनाशीलाः कंदर्याः संति नाकिनः ॥

निथाः किलियपिकाः संति मृताः किलियभावनाः ॥ २०३६ ॥

अभियोग्यक्रियासक्ता अभियोग्याः सुरा मृताः ॥

आसुरीभावना कृत्वा मृत्वा सन्त्यसुराः पुनः ॥ २०३७ ॥

सम्मोहभावनेषुक्ताः सम्मोहास्त्रिदशा मृताः ॥

विराघकै पराप्येवं प्राप्यते देवदुर्गतिः ॥ २०३८ ॥

विजयोदया—स्पष्टार्थसुतरगाथात्रयं ॥



कन्वर्पादिभावनामृता तथाविधदेवभूयमभिघत्ते—

मूलारा—मदा मृताः ॥

मूलारा—असुरकाया असुराः ॥

मूलारा—कारितुं कृत्वा । भाद्रपदमासकुङ्कुणामनुहरमाणाः । कामातुरतया शुनीनामिव देवीना अतिनिघा पुरोलुठनादिचिष्टाकारिण इत्यर्थः ॥ अण्णं च अपरमपि । उच्यन्ति प्राप्नुवन्ति ॥

अर्थ—कंदर्प भावनाके वश होकर ये मुनि कंदर्प जाति के देव होते हैं किल्बिषभावनाके वश होनेसे माणोत्तर किल्बिष देवपर्यायकी प्राप्ति इनको होती है. आभियोग्य भावनासे जो मुनि मरण करते हैं वे स्वर्गमें आभियोग्य देव अर्थात् वाहनदेव होते हैं. आसुरीभावनासे प्राणत्याग करनेवाले मुनि असुर देव होते हैं सम्मोह भावनाके वश होकर मरण करनेवाले मुनि स्वर्गमें सम्मोह नामक देव होते हैं कामविकारके बाहुल्यसे ये देव देवीके साथ हमेशा क्रामसेवन करते हैं. मरणकालमें जो आराधानाकी विराधना करते हैं ऐसे मुनि अन्यमी देवदुर्गती में जन्ममें लेते हैं

इय जे विराधयिच्चा मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह ॥

तं तेभि वालमरणं होइ फलं तस्स पुब्बुत्तं ॥ १९६२ ॥

इत्थं विराध्य ये जीवा त्रियन्ते-सयमादिकम् ॥

तेषां बालमृत्तिस्तस्याः फलं पूर्वत्र वर्णितम् ॥ २०३९ ॥

विजयोदया—इय जे विराधयिच्चा एवं ये रत्नत्रय विनाश्य मरणकाले असमाधिना मृत्तिमुण्यांति तेत्तेया बालमरण भवति । तस्य बालमरणस्य फलं पूर्वमुक्तमेव ॥

रत्नत्रय विराध्य मृतानां क्तमन्मरणं स्यादित्यत्राह—

मूलारा—मरेजण्ह त्रियेरन् ॥ तं असमाधिमरणं ॥

अर्थ—जो इस प्रकार रत्नत्रयका नाश कर मरणको प्राप्त होते हैं अर्थात् असमाधिसे मरण करते हैं. उनका यह मरण बालमरण है ऐसा आचार्य कहते हैं बालमरणके फलका वर्णन पूर्वमें आ चुका है

जे सम्मत्तं खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जण्ह ॥

ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होंति ॥ १९६३ ॥

विराध्य ये विपयंते सम्यक्त्व नष्टबुद्धयः ।

ज्योतिर्भावनाभौमेषु ते जायन्ते वितेजसः ॥ २०२० ॥

विजयोदया—जे सम्मत्त खवया ये क्षपका. सम्यक्त्व विनाश्य ध्रियते भवनवासिनो ज्योतिष्का व्यंतरं वा भवति ॥

सम्यक्त्वविराधनामरणफलमाह—

मूलारा—भोमेज्जा व्यंतराः ॥

अर्थ—जो क्षपक सम्यक्त्वका नाश कर कर मरण को प्राप्त होते हैं उनकी भवनवासि, व्यंतर अथवा ज्योतिष्क देवों में उत्पत्ति होती है.

दंसणणाणविहूणा तदो चुदा दुक्खवेदणुम्मीए ॥

संसारमण्डलगदा भमंति भवसागरे मूढा ॥ १९६४ ॥

दर्शनज्ञानहीनास्ते प्रच्युता देवलोक्तः ॥

संसारसागरे घोरं चंक्रमन्ति निरन्तरम् । २०४१ ॥

विजयोदया—दंसणणाणविहूणा सम्यग्दर्शनज्ञानहीनास्तत स्वर्गाच्युता दुःखेदेवोर्मीके भवसागरे मूढा भ्रमन्ति, मंडल गता ॥

विराधनाधिगतदेवभावश्लोदुर्जन्मपरंपरा त्रयीति—

मूलारा—तदो चुदा तत्तदेवभावश्लोदुःखवेदणुम्मीए क्लेशानुभूतिवीचिके । मंडल आवर्त. ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान इन गुणों से रहित देव आयुष्य समाप्त होने पर स्वर्गसे अष्ट होकर दुःखानुभवरूप तरंगों से भरे हुए संसारसमुद्र में अज्ञानसे अचेत होकर भ्रमण करते हैं

जो मिच्छतं गंतूण किण्हल्लेस्सादिपरिणदो मरदि ॥  
तल्लेस्सो सो जायइ जल्लेस्सो कुणदि सो कालं ॥ १९६५ ॥

ये मृता मुक्तसम्यक्त्वाः कृष्णलेश्यादिभाविताः ॥  
तथालेश्या भवाम्भोघौ ते भ्रमन्ति दुरुत्तरे ॥ २०४२ ॥  
निवेशयंती भुवनाधिपत्ये मनीषितं कामदुधेव धेनुः ॥  
आराधिता किं न ददाति पुंसामाराधना सिद्धिवधूयस्या ॥ २०४३ ॥  
इति फलम् ॥

विजयोदया—जो मिच्छतं गंतूण य कृष्णलेश्यादिपरिणतो मिथ्यात्वं गत्वा त्रियते तल्लेश्यो जायते, पर-  
त्र च यल्लेश्य. कालं कृतवान् । फलन्ति ॥

मिथ्यात्वपरिणतस्य मरणप्राप्यदुल्लेश्यापरिणामाना ससरणानुगधमभिधत्ते—

मूलारा—जायदि परत्र उत्पद्यते । उक्तं च—

ये मृता मुक्तसम्यक्त्वाः कृष्णलेश्यादिभाविताः ।

तथालेश्या भवाम्भोघौ ते भ्रमन्ति दुरुत्तरे ॥

फल । सूत्रतः ३९ अंकतः ४१ ॥

अर्थ—जो मुनि कृष्ण लेश्या वगैरह लेश्याओंके वश होकर मिथ्यात्वी बन कर मरण करते हैं वे पर-  
लोकमें भी उसी लेश्या के धारक होते हैं. तात्पर्य जिस लेश्या से मरण होता है परलोकमें भी वही लेश्या उस  
जीवकी रहती है इस प्रकार फल का वर्णन हुआ.

विजहणा निरूप्यते—

एवं कालगदस्स दु सरीरमंतोबहिज्ज वाहिं वा ॥  
विज्जावच्चकरा तं संयं विक्किंचति जदणाए ॥ १९६६ ॥

एव कालगतस्यास्य बहिरंतनिवासिनः ।

त्यजंति यतनतो गात्रं वैयाघृत्यकराः स्वयम् ॥ २०४४ ॥

विजयोद्या-एव कालगतस्य एव कालगतस्य शरीरमतर्ध्विविस्थित वैयाघृत्यकराः स्वयमेवापनयंति यत्नेन ॥

अथ लोकांतरप्राप्तक्षपकशरीरस्य त्यजनविधिं गाथाचतुस्त्रिंशता व्याचष्टे—

मूलारा—एवं यथोक्तसंन्यासविधिना । कालगतस्स मृतस्य क्षपकस्य । अंतो मध्ये नगरादेः स्थितस्य । बाहिर् बहिः । तं निस्तरणातसम्यक्त्वाद्याराधनाधिगतपरमपवित्रभावं । विकिंचति अपनयंति । जदणाए यत्नेन बक्ष्यमाणेन ॥

अर्थ—जो क्षपक लोकांतर को प्राप्त हुआ है अर्थात् मर गया है तब वैयाघृत्य करने वाले मुनि उसका शरीर जो कि नगरादिमें अथवा बाहर वसतिकांमें पड़ा रहता है उसे आगे कहे हुए प्रयत्नसे ले जाते हैं अभिप्राय यह है कि-पूर्वोक्त संन्यास विधीसे जो क्षपक सम्यक्त्वादिक चार आराधनाओंकी निस्तरण पर्यंत प्राप्तिकर पवित्र हुआ है वह नगरादिके बीचमें अथवा बाहर जब मरण करता है तब वैयाघृत्य करने वाले मुनिगण उसके शवको बड़े प्रयत्नसे स्वयमेव ले जाते हैं.

समणाणं ठिदिकप्पो वासावासे तेहव उडुबंघे ॥

पडिलिहिदन्वा गियमा गिमीहिया सब्बसाधूहिं ॥ १९६७ ॥

साधूनां स्थितिकल्पोऽयं वर्षासु ऋतुबंधयोः ॥

समस्तैः साधुभिर्यत्नाद्यन्निरूप्या निषद्यका ॥ २१४५ ॥

विजयोद्या—समणाणं ठिदिकप्पो श्रमणानां स्थितिकल्पो वर्षावासे ऋतुगारमे च नियमेन सर्वैः साधुभिर्निषीधिका नियमेन प्रतिलेखनीया ॥

स्वदेहेऽपि निरीक्षाः मुमुक्षुवः कुतस्तच्छरीरत्यगाथ स्वय यतंते इत्यारेकायामुत्तरयति—

मूलारा—ठिदिकप्पो एष स्थितिकल्पोऽत एव वचनान्मासपञ्जाल्यस्थितिकल्पद्वयान्तर्गतत्वेन भवति । वासावासे वर्षासु चतुर्मास्यामेकत्र वासे प्रतिपद्यमाने चातुर्मासिकयोगप्रारंभ इत्यर्थः । उडुबंघे ऋतुगारमे । पडिलिहिदन्वा यदि विशेषः गिमीहिया आराधकशरीरस्थापनस्थानम् ॥ उक्तं च —

साधुना स्थितिकल्पोऽयं वर्षावासानुबंधयोः ॥ समस्तैः साधुभिर्यत्नाद्यज्जिह्वा निषद्यकाः ॥  
अन्ये तु वासे वासे इति पाठित्वा वर्षे वर्षे इत्यर्थं व्याचक्रुः । अपरे मासे मासे इति पाठं मत्वा एवशब्दं  
विकल्पार्थमीषु । तथा चोक्तम्—

अवणानां स्थितिकल्पो मासे मासे तथर्तुबंधे वा ॥

प्रतिलेख्येपा नियतं निषद्यका सर्वसंयमिभिः ॥

यस्मान्निषद्यादर्शनं काळनैयत्येन सूत्रे साधूनामवश्यकर्तव्यतयोपदिष्टं तस्मान्निषद्याविधानाय सुसुक्ष्मभिः स्वयं प्रय-  
तितव्यमिति भावः ॥

अर्थ—चातुर्मासिक योगको प्रारम्भकालमें तथा ऋतुप्रारम्भमें जहां आराधकके शरीर का स्थापन किया है  
उस स्थानकी प्रति लेखना सर्व साधुओं को नियमसे करनी चाहिये अर्थात् उस स्थानका दर्शन करना चाहिये,  
पीछीसे उसको स्वच्छ करना चाहिये ऐसा यह सुनिश्चोका स्थित कल्प है

तस्या लक्षणमाचष्टे—

एवंता सालोगा नादिविक्रिष्ठा न चावि आसण्णा ॥

विस्थिणा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥ १९६८ ॥

निषद्या नानिदूरस्था विविक्ता प्रासुका घना ॥

कर्तव्योऽस्ति परागम्या बालवृद्धगणोचिता ॥ २०४६ ॥

विजयोदया—एवंता सालोगा एकाता परे प्रायेणादद्या नातिदूरा नात्यासन्ना विस्तीर्णा अविध्वस्ता दूरमव-  
गाढा ॥

किं लक्षणैषा निषद्या स्यादित्यत्राह—

मूलरा—एवंता एकातग्रदेशस्था । सालोगा सप्रकाशा । नादिविग्रहा नातिदूरा नगराद्यपेक्षया । न वादिया-  
सण्णा नाप्यत्यासन्ना विस्थिणा विपुला । विद्धत्ता प्रासुका । दूरमोगाढा अतिदृढा । उक्तं च—

निषद्या नातिदूरस्था विविक्ता प्रासुका घना ।  
कर्तव्योऽस्ति परागम्या बालवृद्धगणोचिता ॥

अन्ये एगंता सालोगा इति पठित्वा एकातपरै प्रायेणात्रस्या इत्यर्थं प्रतिपन्नाः । एकतैरेकातवादिभिः न सम्यक् सुखेनालोक्यते दृश्यते इति व्युत्पत्तेः ॥ तदुक्तम्—

नातिदूरा न चासन्ना विद्वन्ना प्रायशः परैः ॥ अत्रस्या तु तथा दूरगवगाढा निपद्यका ॥

अपरे तु दूरमोगाढा इत्यस्य निपद्यास्थानस्तंभापेक्षया बह्वधःप्रवेशेत्यर्थमाहुः । टिप्पनके तु दूरे दूरे प्रच्छेदेत्यर्थो व्याख्यायि ।

निपीधिकाका लक्षण कहते हैं—

अर्थ—निपीधिका एकान्तप्रदेशमें अन्यजनो को दीख न पड़ेगी' ऐसे प्रदेश में हो प्रकाशसहित होनी चाहिये वह नगरादिकों से अतिदूर न हो न अति समीप भी हो वह दूरी हुई, विध्वस्त की गई ऐसी न हो, वह विस्तीर्ण प्रासुक और दृढ होनी चाहिये

अभिसुआ अघसा उज्जोवा बहुसमा य असिणिद्धा ॥

णिज्जतुगा अहरिदा अविला य तहा अणावाधा ॥ १९६९ ॥

जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अधव अवराए ॥

वसधीदो वणिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति ॥ १९७० ॥

वसतेनैकते भागे दक्षिणे पश्चिमेऽपि वा ॥

निपद्यका स्थिता या सा प्रशस्ता परिकीर्तिता ॥ २०४७ ॥

विजयोदया—जा अवरदक्खिणाए अपरदक्षिणाशाया, दक्षिणस्या, अपरस्यां वा दिशि वसति । निपीधिका प्रशस्ता ॥

तल्लक्षणशेषमाह—

मूलारा—अभिसुआ उद्देकारहिता । असुभिरा अधःप्रवेशिन्निष्ठरहिता । अघसा पुण्ड्रिकारहिता । उज्जोआ सोद्योता । बहुसमा बहुसमाभूमिका । असिणिद्धा अनार्द्रा । अविला तिर्यग्विचररहिता । अणावाधा वाधारहिता एता श्रीविजयो नेच्छति ॥

मूलाराधना

१७३८

मूलारा—अवरदक्षिणान् नैऋत्यदिशि । अवरान् पश्चिमदिशि । वसधीदो क्षपकवसतेः सकाशात् । वणिज्जदि प्रतिपाद्यते पूर्वार्चयैः ॥

अर्थ—बृह निषिधिया चीटिओंमें रहित, छिद्रोंसे रहित होनी चाहिये धिमी हुई न होना चाहिये प्रकाशसहित होवे समान भूमिके स्थानपर होवे. निजन्तुक बाधारहित होवे बृह गौली तथा इधर उधर हिलने वाली नहीं होवे. बृह निषीधिका क्षपककी वसतिकसे नैऋत्य दिशमें, दक्षिण दिशमें अथवा पश्चिम दिशमें होनी चाहिये. ऐसी इन दिशाओंमें निषिधिका की रचना करना पूर्व आचार्यों ने प्रसस्त माना है

सव्वसमाधी पढमाण दक्खिणाए दु भत्तगं सुलमं ॥

अवराए सुहविहारो होदि य उवधिस्स लाभो य ॥ ११७१ ॥

सर्वस्यापि समाधानं प्रथमायां तथान्यत ॥

आहारःसुलभोऽन्यस्यां भवेत्सुखविहारिता ॥ २०४८ ॥

विजयोदया—सव्वसमाधी पढमाण सर्वेया समाधिर्भवति पढमाण अपरदक्षिणदिगवस्थितायां निषीधि काया, दक्षिणदिगवस्थितायामाहार सुलभ पश्चिमाया सुखविहार. उपकरणलाभश्च ॥

पूर्वोक्तदिक्त्रयतिपाकरणे शुभफलविशेषान्प्रकाशयति—

मूलारा—सव्वसमाधी सर्वेया संघातर्धत्तिश्रमणादीना समाधानं । भत्तग अन्नपान । सुहविहारो सुखप्रवर्तना । उवधिस्स पुस्तकाद्युपकरणस्य ॥

अर्थ—नैऋत्यदिशाकी निषिधिका सर्वं संघके समाधिके लिये कारण हो जाती है अर्थात् इस दिशाकी निषिधिका संघका हित करनेवाली होती है दक्षिण दिशाकी निषिधिकासे आहार सुलभतासे संघको मिलता है. पश्चिमदिशामें निषिधिका होनेसे संघका सुखसे विहार होता रहेगा और उनको पुस्तकादिक उपकरणोंका लाभ होता रहेगा

जदि तोसं वाघादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ॥

अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कमसो ॥ ११७२ ॥

तदभावेऽनलाशायां वायव्यायां हरोदिशि ॥  
निषद्यकोत्तरस्यां वा मत्तेशानस्य वा दिशि ॥ २०४९ ॥

विजयोद्या—जवि तासि चाघादो यदि ता निग्रीधिका न लभ्यते, पूर्वदक्षिणनिग्रीधिका द्रष्टव्या, अपरोत्तरा या पूर्वा वा उदीची वा पूर्वोत्तरा वा क्रमेण ॥

आग्नेयादिदिक्षु निषद्याविधाने यथोत्तरोत्कृष्टफलानि दर्शयन् गाथाद्वयेन निषेधं व्यनक्ति—  
मूढारा—तासि चाघादो प्रागुक्तनिषद्याना प्रतिबध् । अपरदक्षिणादिदिक्षु निग्रीधिकाः कर्तुं न लभ्यन्ते इत्यर्थः ॥ दृष्टव्या निषद्याविधाने वक्ष्यमाणयथोत्तरोत्कृष्टशुभफलप्रदतया निरूप्या भवन्ति । पुनर्वदक्षिणा आग्नेयी दिक् । अवरुत्तरा वायवी दिक् । उदीचि उत्तरा । पुनरुत्तरा ऐशानी दिक् ॥

अर्थ—यदि नैऋत्य, दक्षिण और पश्चिम दिशामें निषिधिका बनवाने में कुछ बाधा उपस्थित होगी तो आग्नेय दिशामें, वायव्य दिशामें, ऐशान्य दिशामें व उत्तर दिशामें इन दिशाओमें से जिस दिशामें सुभीता हो वहां बनवानी चाहिये

एदासु फलं कमतो जाणेञ्ज तुमंतुमा य कलहो य ॥  
भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कट्ठे अपणं ॥ १९७३ ॥  
क्रमेण फलभेतासु स्पद्धां राट्ठिञ्च जायते ॥  
भेदश्चापि तथा व्याधिरन्यस्याप्यपकर्षणम् ॥ २०५० ॥

विजयोद्या—एदासु एतासु निग्रीधिकासु । फलं कमतो विजानीयात् तुमंतुमा य पूर्वदक्षिणस्या स्पद्धां, अपरोत्तरस्या कलहं पूर्वस्या भेद उदीच्या व्याधि, पूर्वोत्तरस्या अन्योन्येनापकर्षयते ॥

मूलारा—तुमंतुमा स्पद्धां अहमेवंभूतस्त्वमेवभूतोऽन्ये वा ईदृग्भूता इत्यादिसंघर्षः । कलहो राटिः । भेदो संघस्य परस्पर द्विधाभावः । गिलाण व्याधिः । चरिमा ईशानदिक् । कट्ठे आकर्षति । पूर्वोत्तरदिग्निपद्याकरणेः परो सुनिश्चित इत्यर्थः । एतेनैवमुपविष्ट भवति । प्रागेव तथा क्षपकाय वसतिः कल्या याथा तन्निपद्या नैऋत्यादिदिक्ष्वन्यतमस्या कर्तुं शक्यते इति ॥



अर्थ—परतु इन दिशाओंकी निधीधिकाओंका फल इस प्रकार क्रमसे समझ लेना चाहिये पूर्व दक्षिण दिशामें स्पर्द्धा, अर्थात् मैं ऐसा हूँ ऐसा तू है, दूसरे इस प्रकार हैं ऐसी स्पर्द्धा, उत्पन्न होगी पश्चिमोत्तरदिशामें कलह होगा, पूर्व दिशामें सघमें फूट पड़ेगी, उत्तर दिशामें व्याधि उत्पन्न होगी, ईशान्य दिशामें सघमें परस्पर खींचतानी होगी पूर्वोत्तर दिशामें निधीधिका करनेसे प्रथमतः मुनिमरण होगा ऐसा इन दिशाओंका फल है

जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलेमेव णीहरणं ॥

जगणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥ १९७४ ॥

यदैव म्रियते काले त्यजनीयस्तदैव सः ॥

अवेलायां विधातव्या छेदबंधनजागराः ॥ २०५१ ॥

विजयोदया—जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलेमेव णीहरणं यस्या वेलाया मृतो भिक्षु तस्यां वेलायामेवापनयनं कर्तव्यं, अवेलायां मृतश्चेत् जागरणं बंधन छेदन वा कर्तव्यं ॥

निष्कासनं तनोग्यवेलाया मृतस्य कार्यमन्यदा जागरणादिकमित्युपदिशति—

मूलारा—जं वेलं यस्या वेलाया । तं वेलेमेव तस्या वेलायामेव । णीहरणं यथाकथंचित्तेद्वापनयनं यतिभिः कर्तव्यम् । अवेलाए अवेलाया मृतस्य ॥

अर्थ—जिस समय भिक्षुका मरण हुआ होगा उसी वेलामें उसका प्रेत ले जाना चाहिये यदि अवेलामें मर जानेपर जागरण, बंधन, अथवा छेदन करना चाहिये.

के जागरणं कुर्वतीत्याचष्टे—

बाले बुद्धे सीसे तवस्सिभीरूगिलाणए दुहिदे ॥

आयरिए य विक्किचिय धीरा जग्गति जिदणिदा ॥ १९७५ ॥

भीरुशैक्षगणिगलानवालवुद्धतपस्विनः ॥

अपाकृत्यापारधीरा जितनिद्रा प्रजाग्रति ॥ २०५२ ॥

विजयोदया—बाले बुद्ध बालबुद्धान्, शिक्षकान्, तपस्विन, भीरून्, व्याधितान्, दुःखितानाचार्योश्च अपाकृत्य धौरा जितनिद्रा जागरण कुर्वति ॥

मृतभिक्षुसमीपे जागरणादिकारणानि निर्दिशति—

मूलारा—गिलणपं व्याधितान् । विक्किचिय मुक्त्वा—

अर्थ—बालमुनि, वृद्धमुनि, शिक्षकमुनि, तपस्वी मुनि, भययुक्त मुनि, रोगीमुनि, दुःखपीडित मुनि और आचार्य इनको वर्ज्यकर धीर, निद्राको जिन्होंने जीता है ऐसे मुनियोंको जागरण करना चाहिये

के वधन्तीत्याचरे—

गीदत्था कदकज्जा महावलपरक्कमा महासत्ता ॥

बंधति य छिंदति य करचरणंगुह्यपदेसे ॥ १९७६ ॥

कृतकृत्या गृहीतार्थो महावलपराक्रमाः ॥

हस्तांगुष्ठादिदेशेषु बंध छेवं च कुर्वते ॥ २०५३ ॥

विजयोदया—गीदत्था गृहीतार्थो कृतकरणा महावलपराक्रमा म्हासत्त्वा वधन्ति छिंदति च करचरणं अंगुष्ठप्रदेशं वा ॥

के कुत्र बंधच्छेदौ कुर्वन्तीत्यत्राह—

मूलारा—कदकरणा असकल्लतक्षपककल्लाः । करेत्थादि हस्तं, पादमंगुष्ठप्रदेशं वा ॥

अर्थ—जिन्होंने पदार्थका सत्य स्वरूप जाना है और क्षपकके कृत्य जिन्होंने अनेक बार किये हैं, जिनमें महावल, पराक्रम और धैर्य हैं ऐसे मुनि क्षपकके हाथ और पाय तथा अंगुठा इनका कुछ भाग बांधते हैं अथवा छेदते हैं

एवमकरणे को दोष इत्याशंकायां दोषमाचरे—

जदि वा एस ण कीरिज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई ॥

आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बोधेज्ज ॥ १९७७ ॥

विधीयते न यद्येवं तदा काचन देवता ॥

कलेवर तदादाय विधत्ते भीषणक्रियां ॥ २०५४ ॥

विजयोदया—जदि वा एस यद्येप विधिर्न क्रियते कदाचिद्देवता क्रीडनशीला मृतकमादाय उत्तिष्ठत् प्रघावे-  
द्रेमत वा बाधयेद्वा तदर्शनात् बालादीना चित्तसंक्षोभः पलायनं मरणं वा भवेत् ॥  
उक्तविध्यविधाने दोषमाह—

मूलारा—वा अहो । ण कीरेज्ज न क्रियेत । तत्थ तस्मिन् स्थाने । देवदा कोई क्रीडनशीलो भूतः पिशाचो  
वा । तदुत्थानादिदर्शनाच्च बालादीना चित्तसंक्षोभः, पलायनं मरणं वा भवेत् ।

अर्थ—यदि यह विधि न की जावेगी तो उस मृतकशरीरमें क्रीडा करनेका स्वभाववाला कोई भूत अथवा  
पिशाच प्रवेश करेगा उस मृतको लेकर वह ऊठेगा, भागेगा क्रीडा करेगा इस कार्यको देखकर बालमुनि, मीरु-  
मुनि इनके मनमें क्षोभ उत्पन्न होकर ये भागेंगे अथवा मरण होगा इस लिये हाथपाय व अंगुठा बांधना चाहिये  
अथवा उनके कुछ प्रदेशोंका छेदन करना चाहिये

उयसयपडिदावणं उवसंगहिंदं तु तत्थ उवकरणं ॥  
सागारियं च दुव्हिहं पडिहारियमपडिहारिं वा ॥ १९७८ ॥  
जदि विक्खादा भत्तपइणा अज्जाव होज्ज कालगदो ॥  
देउलसागारिन्ति व सिवियाकरणं पि तो होज्ज ॥ १९७९ ॥

यस्योपकरणं किंचित्कृत्वा यांचां यदाहृतम् ॥  
कृत्वा संबोधनं सर्वं तत्तस्यार्प्यं विधानतः ॥ २०५५ ॥  
प्रसिद्धो यदि संन्यासे स्थानरक्षार्थिका यदि ॥  
विपन्ना विधिना कार्या तदानीं शिविकोत्तमा ॥ २०५६ ॥

विजयोदया—जह विक्खादा भत्तपइणा यदि सर्वजनप्रकटा सेल्लवना आर्थिका वा भवेत् कालगतास्थानर-  
क्षका गृहस्था वा तत्र शिविका कर्तव्या ॥

क्षपकोपचारार्थं उपकरणप्रकारान्प्रतिनिर्दिशति—

मूलारा—उयसयपडियावण वसतिकाप्रतिवद्ध । तत्थ क्षपकनिमित्तं । सागारिय गृहस्थसंबंधि । पडिहारियं अत्यजनीयं । अप्पडिहारिं त्यजनीय एता श्रीविजयो नेच्छति ।

एव यथोक्तसन्न्यासविधिमृतस्य संयतजनविधेय यथाकथंचिद्दहापनयनं विधाय साप्रतं प्रसिद्धसन्न्यासविधिना आर्थिकादीना तद्विधिमभिधत्ते—

मूलारा—अज्जा अविशेषोक्तावपि स्थानरक्षार्थिका ग्राह्या । साहचर्यात् ॥ तथा चोक्तम्—  
प्रसिद्धा यदि संन्यासे स्थानरक्षार्थिका यदि ॥ विपन्ना विधिना कार्या तदानीं शिविकोत्तमा ॥  
देउल मठपतिः । सागारिन्ति । सागार इति । एव प्रकारो गृहस्थः झुलको वा । तदुक्तम्—

भक्त्यागाः ख्यातो यद्यर्थो झुलकोऽथ सागारः ॥ कालगतो देवकुली शिविकाकरणं ततोयुक्तम् ॥  
सर्वजनप्रकटभक्तप्रत्याख्यानेन मृजाना आर्थिकादीना निष्काशनार्थं शिविकायाः कुटीविशेषस्य निर्माणं अपि शब्दद्विमानमपीति केचित् ॥

अर्थ—क्षपक क्री शुश्रूषा करने के लिये जिन उपकरणोंका संग्रह किया जाता था उनका वर्णन—  
वसतिका सम्बन्धी उपकरण, कुठ उपकरण गृहस्थोंसे लाये जाते थे जैसे ओपध, जलपात्र, थाली वगैरह कुछ उपकरण त्यागने योग्य रहते हैं और कुछ उपकरण त्यागने योग्य नहीं होते हैं जो त्याज्य नहीं है वे गृहस्थोंको वापिस दिये जाते हैं कुछ कपडा वगैरह उपकरण त्याज्य रहता है यदि सर्वजनोंको विदित ऐसी किसी आर्थिकोने अथवा झुलकने सखेलना धारण कर मरण किया होगा तो उत्तम पालखी अथवा विमानमें उसके शवको स्थापन कर ले जाना चाहिये संन्यास स्थानका रक्षण करनेवाली आर्थिका, गृहस्थ, मठपति, झुलक इनका मरण होनेपर शिविका अथवा विमानमें इनका शव आरोहण कर गृहस्थ ग्रामके बाहर ले जाते हैं.

तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थ वंधित्ता ॥

उद्धेतरक्खणं गामं तत्तो सिरं किच्चा ॥ १९८० ॥

संस्तरेण समं बद्ध्वा सुतकं विधिना दृढम् ॥

विधायोत्थानरक्षार्थं ग्रामस्य विमुखं शिरः ॥ २०५७ ॥

विजयोदया—तेन परं संस्थाप्य तेन मृतकेन संस्तरयधात्ततो मृतकबंधनं कृत्वा ग्रामाभिमुखं शिरः कृत्वा उत्थानरक्षणार्थं ॥

मृतकनिष्कासनविधानं गाथात्रयेणाह—

मूलारा—तेण परं शिविकानिष्पादनानंतरं । संठाविय शिविकाया प्रवेश्य । वधित्ता सस्तरेण समं वद्ध्वेत्यर्थः । उद्धेतरक्खण्डं वत्तिष्ठतो मृतकस्य निवारणार्थं अन्यथा शिरसि कृते कडाचित्ठुत्तिष्ठेदिति भावः । गामं तत्तो ग्रामाभिमुखं ॥

अर्थ—शिविकाकी रचना करनेके अनंतर विछानेके साथ उस शवको बांधकर, शिविकामें उसको सुलाना चाहिये ग्रामके सन्मुख उसका मस्तक करना चाहिये. ग्रामके सन्मुख ही मस्तक करनेका कारण यह है कि कदाचित् वह उठेगा तो उसका मुख ग्रामके तरफ नहीं होगा और ग्रामके तरफ पर करके शिविकामें स्थापन करनेसे वह उठनेपर ग्राममें प्रवेश करेगा इसलिये ग्रामके तरफ सिर करनेका विधान लिखा है-

पुव्वाभोगिय मग्गेण आसु गच्छंति तं समादाय ॥

अट्ठिदमणियत्तंता य विट्ठो ते अणिब्भंता ॥ १९८१ ॥

क्षिप्रमादाय गच्छंति वीक्षितेनाध्वना पुरा ॥

निवर्तनमवस्थानं त्यक्त्वा पूर्वार्वलोकनम् ॥ २०५८ ॥

विजयोदया—पुव्वाभोगियमग्गेण पूर्वालोकिनेन मार्गेण आसु गच्छति तत्समादाय अस्थितं अनिवर्तमानाः पृष्ठत आलोकनं मुक्त्वा ॥

मूलारा—पूव्वाभोगिय प्राग्दृष्टः । अट्ठिद अविश्रान्त । अणियत्ततो अव्यायुदंत पट्ठितो पृष्ठतः । अणिब्भतो अनालोकमानाः ।

उक्तं च—

ससारेण समं वद्ध्वा मृतकं विधिना नृढ ॥

विधायोत्थानरक्षणार्थं ग्रामस्याभिमुखं शिरः ॥

क्षिप्रमादाय गच्छंति वीक्षितेनाध्वना पुरा ॥

निवर्तनमवस्थानं त्यक्त्वा पूर्वार्वलोकनम् ॥

अर्थ—पूर्वसे देखे हुए मार्गसे वह शव शीघ्र लेकर जाना चाहिये, रास्तेमें न खड़े होना चाहिये न पीछे लोटकर देखना भी चाहिये

कुसमुहिं धेचूण य पुरदो एगेण होइ गंतव्वं ॥  
अट्ठिअणियत्तेणे पिठ्ठो लोयणं मुच्चा ॥ १९८२ ॥

पुरो गन्तव्यमेकेन गृहीतकुशमुष्टिना ॥

पूर्वावलोकनस्थाननिवर्तनविवर्जिना ॥ २०५९ ॥

विजयोदया—कुसमुहिं धेचूण कुशमुष्टिं गृहीत्वा पुरस्तादेकेन गतव्यं, अस्थित अनिवर्तमानेन अपृष्टावलोकितना ।

मूलारा—कुसमुष्टिं मुष्टिधृतदर्मान् । पुरदो अग्रे । मुच्चा त्यक्त्वा ॥

अर्थ— उस शवके आगे एक मनुष्य मुहिमें कुशदर्म लेकर जावे, वह पीछे न देखे न मार्गमें ठहरे,

तेण कुसमुट्ठिघाराए अब्बोच्छिण्णाए समणिपादाए ॥

संथारो कादब्बो सव्वत्थ समो सार्गे तत्थ ॥ १९८३ ॥

कृत्यस्तत्र समस्तेन संस्तरः कुशधारया ॥

अच्छिन्नयां सकृद्देशे वीक्षिते समपातया ॥ २०६० ॥

विजयोदया—तेण कुसमुट्ठिघाराए तेन पुरस्ताद्गतेन पूर्वनिरूपितनियीधिकास्योन  
च्छिन्नया समनिपातया सर्वत्र सम संस्तरः कार्य ॥ कुशमुष्टिधाराया अन्यु-

कुशमुष्टिकृत्यमाह—

मूलारा—तेण पुरोगतेन । घाराए धारया निक्षेपेण । अब्बोच्छिण्णाए नितरस्या । समणिपादाए सदृशं  
पतत्या । कादब्बो प्रस्तरितव्यः । सार्गे एकवारेण । तत्थ पूर्वनिरूपितनियीधिकास्थाने ॥

अर्थ—जिसने निषीधिका स्थान पूर्वमें देखा है वह मनुष्य वहां जाकर दर्भमुष्टिकी समान धारासे  
सर्वत्र सम ऐसा सस्तर करना चाहिये.

जत्थ ण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वि तत्थ केसरेहिं वा ॥

संधरिद्वन्वा लेहा सव्वत्थ समा अब्बोच्छिण्णा ॥ १९८४ ॥

स चूर्णैः केशरैर्वापि कुशाभावे विधीयते ॥

समानः सर्वतोऽच्छिन्नो धीमता विधिना सकृत् ॥ २०६१ ॥

विजयोदया—जत्थ ण होज्ज तणाहं यत्र न लभ्यंते कुशरुणानि तत्र चूर्णैर्वा केशरैर्वा संस्तरं कार्यं सर्वं समोऽव्युच्छिन्न ॥

कुशालाभे संस्तरितमाह—

मलारा—तणाहं कुशाः । चुण्णेहि प्रासुकुण्डुलमसूरादिषिष्टैः । केशरेहि प्रासुकपद्मादिकिञ्चलैः । लेहा रेसा । सन्वत्थ मस्तकातात्प्रभृति पादात् यावत् । समा हान्युत्कर्षरहिता ॥

अर्थ—यदि दर्भं तृण नहीं मिला तो प्रासुक तंडुल, मखरकी दाल इत्यादिकोंके चूर्णसे, कमलकेशर वगैरहसे सस्तकसे लेकर पांचवतक समान, नहीं तुटी हुई रेसाए लिखनी चाहिये.

असमत्वे दोषमाचष्टे—

जदि विसमो संथारो उवरिं मज्जे व होज्ज हेट्ठा वा ॥

मरणं व गिलाणं वा गणिवसभजदीण णायव्वं ॥ १९८१ ॥

आदौ मध्येचसाने च विपमो यदि जायते ॥

आचार्यो वृषभः साधुर्मृत्युं रोगमथाश्नुते ॥ २०६२ ॥

विजयोदया—जदि विसमो संथारो यदि विपमः संस्तर उपरिप्रात् मध्ये अधस्ताद्वा । उपरिवैपम्ये गणितो मरणं व्याधिर्वा, मध्ये विपमश्चेत् वृषभस्य मरण व्याधिर्वा, अधस्ताद्विपमत्वे यतीना मरणं व्याधिर्वा । संस्तररेपावेपम्ये दोषमाख्याति—

मलारा—गिलाण व्याधिः । गणिवसभजदीण आचार्येणार्च्यसामान्यमुनीना । तत्र शिरोदेशे संस्तरवैपम्ये गणिना मरणं व्याधिर्वा स्यात् । उदरदेशे तद्वैपम्ये एलाचार्यस्य मरण व्याधिर्वा स्यात् । पादात् तद्वैपम्ये तदितरसाधूना मरण व्याधिर्वा स्यात् इति टीकाकारो व्याचक्रतुः । उक्तं च—

आदौ मध्येऽवसाने च विपमो यदि जायते ॥

आचार्यो वृषभः साधुर्मृत्युं रोगमथाश्नुते ॥

टिप्पणके चैवमभिधेयम् । उपरि वैपम्ये गणितो मरण । मध्यवैपम्ये एलाचार्यस्य व्याधिः । अधो वैपम्ये यती-  
ना व्याधिः स्यात् ॥

यदि असम रेखाए लिखी जाय तो दोप है इसका विवेचन--

अर्थ--ऊपर, मध्यमें अथवा नीचे रेखाओंमें यदि विपमता होगी तो वह अनिष्टसूचक है ऊपरकी रेखायें विपम होंगी तो गणीका-आचार्यका मरण अथवा व्याधि सूचित होता है मध्यकी रेखा विपम होनेपर एलाचार्यमरण अथवा व्याधि सूचित होता है और नीचेकी रेखा विपम होनेपर सामान्य यतीका मरण अथवा व्याधिकी सूचना मिलती है

जत्तो दिसाए गामो तत्तो सीसं करित्तु सोवधिंयं ॥

उट्टैतरवखणटुं वोसरिद्वं सरिरं तं ॥ १९८६ ॥

ग्रामस्याभिमुखं कृत्वा शिरस्त्याज्य कलेवरम् ॥

उत्थानरक्षणं कर्तुं मस्तकं क्रियते तथा ॥ २०६३ ॥

विजयोदया--जत्तो दिसाए गामो यस्यां दिशि ग्राम तत शिर कृत्वा सर्पिष्ठक शरीरं व्युत्सष्टव्यं, उत्था-  
नरक्षणार्थं ग्रामादिक्रमभिमुखतया शिरोरचना ॥

तच्छरीराशिरःस्थापनदिश नियमयति-

मूलारा--जत्तो दिसाए यस्या दिशि । सोवधिंयं सर्पिष्ठकं शिरःस्थापयित्वा । ग्रामवैमुख्येन शिरसि स्थापिते  
कदाचिन्मृतकमुत्तिष्ठेदपीलभिग्राम शिरः क्रियते । उक्तं च--

तदग्रामस्य दिश केन कृत्वा मोपधिकं शिरः ॥ तदुत्थाननिषेधाय व्युत्सष्टव्यं कलेवरम् ॥

अन्ये तु दक्षिणहस्ते पिच्छं स्थाप्यते इत्याह । तथा चोक्तम्--

ग्रामपराङ्मुखवदनं संयमसाधनसमन्वितं कृत्वा ॥ उत्तिष्ठेदग्रामं विसर्जनीयं वपुस्तस्य ॥

अर्थ--जिस दिशमें ग्राम होगा उस दिशमें मस्तक कर पिछीके माथ उस शवको उस स्थान पर रखना चाहिये ग्रामके सम्मुख मस्तक करनेका अभिप्राय पूर्वमें लिख चुके हैं.



उपकरणस्थापनाया तत्र गुणमाचष्टे—

जो वि विराधिय दंसणमंते कालं करितु होज्ज सुरो ॥

सो वि विबुद्धदि दठठूण सदेहं सोबाधिं सज्जो ॥ १९८७ ॥

विजयोदया—जो वि विराधिय योऽपि दर्शनं विनाश्याते कालगतस्सुरो भवेत् सोपि जानाति सोपकरणं स्वदेहं दृष्ट्वा प्रागहं संयत इति ॥

तत्र किमर्थं पिंलं स्थाप्यते इत्याह—

मूलारा—विबुद्धदि प्रागहं संयतोऽभूत् सम्यक्त्वविराधनानुगतमरणादीदृशीं गतिं प्राप्त इति बोधिं लभते । सज्जो सपिंलप्राकनस्वदेहदर्शनांतरमेव ॥

‘पिंलीकी स्थापना करनेका उद्देश वताते हैं—

अर्थ—जिसने सम्यग्दर्शनकी विराधनासे मरण कर देवपर्याय पाया है वह भी पिंलीके साथ अपना देह देखकर मैं पूर्वमवसें मुनि था ऐसा जान सकेगा।

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु सत्वेसिं ॥

एको दु ससे खेत्ते दिवहुखेत्ते मरंति दुवे ॥ १९८८ ॥

सदभिसभरणा अद्दा सादा असलेस्स जिट्ठु अवरवरा ॥

रोहिणिविसाहपुणत्त्वसु चित्तचरा मज्झिमा सेसा ॥ १९८९ ॥

शांतिर्भवति सर्वेषामुक्षेत्पे क्षपके मृते ॥

मध्येमे मृत्युरेकस्य जायते महति द्वयोः ॥ २०६४ ॥

मृत. अन्येष्वेको मृतिमुपैति, मद्धानक्षेत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरणं ॥ जघन्यमध्यमोत्कृष्टनक्षत्रेषु क्षपकमरणे फलानि कथयति—

मूलारा—णत्ताभागे रिक्खे जघन्ये पंचदशमुहूर्तिके शतभिषगभरणयाद्रास्त्रालाश्लेषाज्येष्ठानां पण्णा मध्ये एक-

स्मिन्नक्षत्रे तदशे वा क्षपके मृते सर्वेषां क्षेम स्यात् ॥ समे खेत्ते मध्यमे त्रिंशन्मुहूर्तिके अधिनीकृतिकामृगशिरःपुष्यमघा-

पूर्वाफाल्गुनीहस्तचित्रातुराधामूलपूर्वाषाढाश्रवणघनिष्ठापूर्वभाद्रपदारेवतीना मध्ये एकस्मिन्नक्षत्रे तदंशे वा मृते एकोऽन्योऽपि मुनिश्चियते । दिवदुखेत्ते उत्कृष्टे पञ्चत्वारिंशमुहूर्तिके उत्तरफल्गुन्युत्तराषाढोत्तरभाद्रापुनर्वसुरोहिणीविशाखाना मध्ये एकस्मिन्नक्षत्रे तदंशे वा क्षपके मृते द्वावन्यावपि मुनी भ्रियेते ॥ उक्त च—

शातिर्भवति सर्वपापक्षेऽल्पे क्षपके मृते ॥ मध्यमे मृत्युरेकस्य जायते महति द्वयोः ॥

अर्थ—अल्प नक्षत्रमें यदि क्षपका मरण होगा तो वह सबको सुखदायक होगा मध्यनक्षत्रमें मरण होनेसे और एक मुनिका मरण होता है महानक्षत्रपर मरण होनेसे दो मुनियोंका मरण होता है

जो नक्षत्र पंधरा मुहूर्तके रहते हैं उनको जघन्यमुहूर्त कहते हैं शतभिषक, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आरेषा, इन छह नक्षत्रोंमेंसे किसी एक नक्षत्रपर अथवा उसके अंशपर यदि क्षपका मरण होगा तो सर्व संयका क्षेम होता है तीस मुहूर्तके नक्षत्रोंको मध्यम नक्षत्र कहते हैं अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिर, पुष्य, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, पूर्वा, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपदा, और रेवती इन पंधरा नक्षत्रोंपर अथवा उसके अंशपर क्षपका मरण होनेसे और एक मुनिका मरण होता है. उत्कृष्ट पंचचालीस मुहूर्तके नक्षत्रोंको उत्कृष्ट नक्षत्र कहते हैं उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरभाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी इन छह मुहूर्तमेंसे किसी मुहूर्तपर अथवा उसके अंशपर क्षपका मरण होनेसे और दो मुनियोंका मरण होता है

गणरक्त्वत्य तस्मा तणमयपडिर्विबयं खु काटूण ॥

एकं तु ममे खेत्ते दिवदुखेत्ते दुवे देज्ज ॥ १९९० ॥

महन्मध्यमनक्षत्रे मृते शांतिर्वधीयते ॥

यत्नतो गणरक्षार्थं जिनाचार्यकरणादिभिः ॥ २०६५ ॥

विजयोदया—गणरक्त्वत्य गणरक्षणार्थं तस्मात्तृणमय प्रतिविबक कृत्वा मध्यमनक्षत्रे एकं दद्यात् । उत्तम-नक्षत्रे प्रतिविबद्वयं ॥

मध्यमोत्कृष्टनक्षत्रक्षपकरणात्पाते संघगातिविधानाभिधानार्थं गाथात्रयमाह—

मूळारा—तस्मा एकद्विमरणाद्वेतोः । दुवे द्वे तृणमयप्रतिविबके । देज्ज दद्यात्संघशालार्थी ।

अर्थ—गणके रक्षण हेतुमे मध्यमनक्षत्रमे तृणका एक श्रुतिविंश कर रचना चाहिये तथा उत्तम नक्षत्रपर दोन तृणके श्रुतिविंश करके अर्पण करना चाहिये

श्रुतिविंशदानमाचष्टे—

तट्टाणसावणं चिय तिवसुत्तो ठविय मडयपासम्मि ॥

विदियविद्यपिय भिक्खू कुञ्जा तह विदियतदियाणं ॥ १९९१ ॥

विजयोदया—तट्टाणसावणं मृगपार्श्वे तत्प्रतिविंशं स्थाप्य विक्रमुचोर्ध्वयेत्, तस्मिन्स्थाने द्वितीयोपिंत इति परापरणेऽयं क्रमः । द्वयो प्रतिविंशोरपरणे द्वितीयवृत्तीयौ दत्ताविति चि श्रावयेत् ॥

श्रुतिविंशदानविधानमाह—तट्टाणसावय तत्स्थानापरक कुर्वात् । मृतरूपार्थं तत्प्रतिविंशं संस्थाप्य तस्य स्थानेऽय द्वितीयो मर्यापितः । न चिरं तिष्ठतु तपो वा करोत्विति विक्रमोर्ध्वयेदित्यर्थः । मृगपार्श्वे न कं तत्प्रतिविंशं स्थापयित्वा तस्यैकस्य स्थाने मया द्वितीयोऽयमपित. न चिरं तिष्ठतु तपो वा करोत्विति त्रीन्वा-  
रानुदीरयेदित्यर्थः । विदियतदियाण द्वितीयवृत्तीययोस्तत्स्थानावग तथा कुर्यात् ॥ मृतरूपार्श्वे द्वे तत्प्रतिविंशे स्थापयित्वा तयोर्द्वयोःस्थाने द्वाविमौ मर्यापितौ तौ चिरं तिष्ठता तपो वा कुरुता इति त्रिन्मैकचारेयेत् इत्यर्थः । उक्तं च—  
संस्थाप्य मृतरूपार्श्वे त्रितत्स्थाने नमायमामुक्तः ॥ इत्यर्थेति द्वितीयो विधिरयमन्यत्र च देयः ॥  
प्रतिविंशार्थं वृणालाभे प्रकारातरेण शक्तिकर्मोपदिशति—

उक्तं च—

संस्थाप्य मृतरूपार्श्वे त्रितत्स्थाने गययमामुक्तः ॥

इत्यर्थेति द्वितीयो विधिरयमन्यत्र च देयः ॥

अर्थ—मृतरूपके पास प्रतिविंश स्थापन कर उसे मुनीके स्थानमें मैने यह यह दूसरा अर्पण किया है यह चिरकाल यहां रहे अथवा तप करे ऐसा जोरसे तीन बार उच्चारण करना चाहिये एकका अर्पण करनेमें यह क्रम कहा है मृतरूपके पास दोन तृणश्रुतिविंश स्थापन करके दोनोंके स्थानमें मैने ये दो अर्पण किये है ये यहां चिर-  
काल रहे अथवा तप करे ऐसा जोरसे तीनबार बोलना चाहिये

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्टियादिचुण्णेहिं ॥  
कादन्वोथ ककारो उवरिं हिंहा यकारो से ॥ १९९२ ॥

विजयोदया—असदि तणे प्रतिविचरणार्थमसति तणे चूर्णे पुष्पकेसरेवो भस्मना इष्टकाचूर्णवो उपरि ककारं लिखित्वा तस्याधस्थात् यकारं कुर्यात् काय इति लिखेदित्यर्थः ॥  
प्रतिविधार्थं तृणालाभे प्रकारतरेण शक्तिकर्मोपदिशति —

मूलारा—केसर पुष्पकेसरे; । छार भस्मना । इट्टियादिचुण्णेहिं इष्टकापाषाणादिचूर्णः । संघशान्त्यर्थिना । अत्र क्षपके स्थापयित्वाणे पूर्ववत्प्रामुख्यान्यचूर्णादिना के लिखित्वा तदुपरि क्षपक स्थापयेत् इत्यर्थः । से तस्योपरि लिखितस्य ककारस्याधस्तकारो लिखितव्य इत्यर्थः । एतेन केति व्यंजनद्वय लेख्यमानगतम् । अर्हत्पूजादिना चात्र शान्तिरिच्यते । तदुक्तम्—

महन्मध्यमनक्षत्रमृते शान्तिर्विधीयते । यत्ततो गणरक्षार्थं जिनार्चाकरणादिभिः ॥  
अर्थ—प्रतिविच करनेके लिए यदि तृण नहीं होगा तो तड़ुलचूर्ण, पुष्पके केसर, भस्म, अथवा इट्टिका चूर्ण इसमेंसे जो कुछ प्राप्त होगा उससे ऊपर ककार और उसके नीचे यकार लिखना चाहिये. अर्थात् 'काय' ऐसा शब्द लिखना चाहिये सघ शान्तिके लिये ऐसा कार्य करना चाहिये (क्षपकको स्थापन करनेके पूर्वमें प्रामुख्यान्य चूर्णादिकसे क लिखकर उसके ऊपर क्षपकको स्थापन करना चाहिये क ककार के नीचे यकार भी लिखना चाहिये. अर्हन्तकी पूजा वगैरहसे भी शान्ति करते हैं ऐसा मूलाराधनामें उल्लेख है )

उवगाहिदं उवकरणं हवेज्ज जं तत्थ पाडिहरियं तु ॥  
पडिवोधिच्चा सम्मं अप्पेदन्व तयं तेसिं ॥ १९९३ ॥

विजयोदया—उवगहिद उवकरणं मृतकशयने यद्गृहीतमुपकरणं वस्त्रकाष्ठादिकं गृहस्थयात्रां कृत्वा तत्रोपकरणे यत्प्रतिनिवर्तनीयं वस्त्रादिकं तत्पाडिहारिकमित्युच्यते । तदप्येतद्व्य तेषां गृहस्थानां सम्यक्प्रतिबोधयम् ॥  
मृतकनयने यद्गृहस्थेभ्यो याचित्वानीतमुपकरणं तत्प्रत्यर्पणविधिमाह—

मूलारा—तत्थ तस्मिन् वस्त्रकाष्ठादौ पाडिहरियं प्रातिहारिक व्याघोष्य समर्पणायोग्यं इत्यर्थः । सम्म यथा विचिकित्सा तत्स्वामिना न भवति तथा तान्प्रतिबोध्य । तेसिं येथ्य प्रार्थयानीष तेषां । उक्तं च—

शुद्धपात्तं तु वस्त्रादि नयनावसरे न्यसोः ॥ तत्त्वामिभ्यस्तद्वर्त्य स्यात् कृत्वा सम्यक्प्रबोधनम् ॥  
अर्थ—मृतकको निपीधिकाके पास ले जानेके समय जो कुछ वस्त्रकाष्ठादिक उपकरण गृहस्थोंसे याचना करके लाया गया था उसमें जो कुछ लौटकर देने योग्य होगा वह गृहस्थोंको समझाकर देना चाहिये

आराधणपत्तीयं काउसगं करोदि तो संघो ॥

अधिउत्ताए इच्छागारं खवयस्स वसधीए ॥ १९१४ ॥

संपचयतां नोऽपि विनांतरायमाराधनैषेति गणेन कार्यः ॥

चतुर्विंसर्गः क्षपकाधिवासो घृच्छ च तस्मिन्नधिदेवतानाम् ॥ २०६६ ॥

विजयोदया—आराधणपत्तीय आराधनास्माकमित्येव यथा स्यादिति सद्य कायोत्सर्गे करोति, क्षपकस्य वसतौ अविद्युक्तेदेवता प्रति इच्छाकार कार्यं युष्माकमिच्छया सघोऽत्रासितुमिच्छतीति ॥  
आराधकवसत्या संघस्य तदनंतरकृत्यमनुशारित—

मूलरा—आराधणपत्तीयं आराधनार्थं । अस्माकमप्येवमाराधना भवत्विति । अधिउत्ताए तदधिष्ठितदेवताना । इच्छाकारं युष्माकमिच्छया संघोऽत्रासितुमिच्छतीत्यधिकृतदेवता अनुमतिं कारयितुं उपरोधं च संघः करोतीति सम्बन्धः ।

अर्थ—चार आराधनाओंकी प्राप्ति हमको होवे ऐसी इच्छासे संघको एक कायोत्सर्ग करना चाहिये। क्षपकके वसतिकाली जो अधिष्ठानदेवता होगी उसके प्रति यहां सघ बैठना चाहते हैं ऐसा इच्छाकार करना चाहिये

सगणत्थे कालगदे खमणमसज्झाइयं च तद्विंसं ॥

सज्झाइ परगणत्थे भयणिज्जं खमणकरणपि ॥ १९१५ ॥

उपवासमनध्यायं कुर्वन्तु स्वगणस्थिताः ॥

अनध्याय मृतेऽन्यस्मिन्नुपवासो विकल्प्यते ॥ २०६७ ॥

विजयोदया—सगणत्थे कालगदे आत्मीयगणस्थे यतौ काल गते उपवासः कार्यं स्वाध्यायश्च न कर्तव्यस्तस्मिन् दिने । परगणत्थे काल गते पठति उपवासकरणमपि भाज्य । अन्ये तु पठति, ण ज्झाइ परगणत्थे न स्वाध्याय कर्तव्य परगणत्थे मृते उपवासकर्णीयं भाज्यमिति तेया व्याख्या ।

आत्सीयसमुदायस्थयतौ मते तस्मिन्दिने संवेनोपवासोऽनप्ययनं च कार्यमन्ययनमवश्यं कार्यमुपवासस्तु विकल्प इत्युपदेष्टुमाह—

मूलारा—असंज्ञादय अनध्ययनं संवेन कार्यं । ण ज्झादि न पठति सध ।

अर्थ—अपने गणका मुनि मरण को प्राप्त होनेपर उपवास करना चाहिये और उसदिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिये परमाणके मुनिका मृत्यु होनेपर स्वाध्याय नहीं करना चाहिये. उपवास करना विकल्प है अर्थात् उपवास करे अथवा न करे.

एवं पडिठवित्ता पुणो वि तदियदिवसे उवेक्खंति ॥

संघस्स सुहविहारं तस्स गधी चेव णाहुंजे ॥ १९९६ ॥

गत्त्वा सुखविहाराय संघस्य विधिकोविदैः ॥

द्वितीयेऽहि तृतीये वा द्रष्टव्यं तत्कलेवरम् ॥ २०६८ ॥

विजयोदया—एव पडिठवित्ता उक्तेन क्रमेण क्षपकशरीरं प्रतिष्ठाप्य पुनस्तृतीये दिवसे गत्वा पश्यंति, संघस्य सुखविहारं तस्य च गतिं ज्ञातु ॥

तृतीयदिनकृत्यमाह—

मूलारा—पडिठवित्ता क्षपकशरीरं प्रमुच्य । उवेक्खंति तत्र गत्वा पश्यति विधिना । सुहविहारं सुखाय देशांतरे गमन । चेव तद्राज्यसुभिक्षादिक चेत्येवमर्थोऽत्र च । णाहुंजे ज्ञातु । केचित्पुणोवीत्यत्र अपिशब्दमनुक्तसमुच्चयार्थमभिप्रेत्य द्वितीयदिनेऽपीति प्रतिपन्नाः ॥ तदुक्तम्—

मत्वा सुखविहाराय मंघस्य विधिकोविदैः । द्वितीयेऽहि तृतीये वा तद्रष्टव्यं कलेवरम् ॥

अर्थ—उपर्युक्त क्रमसे क्षपकके शरीरकी स्थापना कर पुनः तीसरे दिन वहां जाकर देखते हैं अर्थात् संघ-का सुखसे विहार होगा या नहीं और उसको कौनसी गति हुई है इसका परिज्ञान करनेकेलिये तिसरे दिन फिर वहां मुनि जाते हैं

जादिदिवसे संचिद्वदि तमणालद्धं च अक्खदं मडयं ॥  
तदिवरिसाणि सुभिक्खं खेमसिवं तम्हि रज्जम्मि ॥ १९९७ ॥

यावन्तो वासरा गात्रमिदं तिष्ठत्यविक्षतम् ॥

शिवं तावन्ति वर्षाणि तत्र राज्ये विनिश्चितम् ॥ २०६९ ॥

विजयोदया—जदि दिवसे यावतो दिवसा. शृगालवृकादिभिरस्पृष्टमक्षतं च तन्मृतकं तदिवरिसाणि तावन्ति वर्षाणि सुभिक्ष क्षेम शिव च तस्मिन्नराज्ये ॥

तद्राज्यसुभिक्षादिकालेयत्तानिर्णयार्थं तावदाह—

मूलारा—जदि दिवसे यावन्ति दिनानि । अणालद्ध असृष्टम् । शृगालादिभिरत्रोटितमित्यन्ये । अक्खदं क्षतवर्जितम् । अशतितमित्यन्ये । तदि तावन्ति । खेम क्षेत्रं लब्धपरिरक्षणं । सिवं सुखं । तम्मि क्षपकमरणविषयभूते ।

अर्थ—जितने दिनतक वृक्षादिक पशु पक्षियोंके द्वारा वह क्षपकारीर स्पर्शित नहीं होगा और अक्षत रहेगा उतने वर्षतक उस राज्यमें क्षेम रहेगा ऐसा समझना चाहिये.

जं वा दिसमुवणीदं सरिरय खगचदुप्पदगणेहिं ॥

खेम सिवं सुभिक्खं विहरिज्जो ते दिसं संघो ॥ १९९८ ॥

आकृज्य नीयते यस्यां तदंगं श्वापदादिभिः ॥

विहर्तुं युज्यते तस्यां संघस्य कङ्कुभि स्फुटम् ॥ २०७० ॥

विजयोदया—जं वा दिसमुवणीदं या वा दिशमुपनीत शरीर पक्षिभिश्चतुष्पदैर्वा ता दिश संघो विहरेत् क्षेमादिक तत्र क्षान्त्वा ॥

संघविहरणोचितदिग्गिण्यार्थं तावदाह—

मूलारा—जं वा या च । खेममित्यादि क्षेत्रादिकं ज्ञात्वेत्यर्थः । उक्तं च—

उपनीत दिशं या वा मृतकं शकुनादिभिः ।

ता दिशं विहरेत्संघो विज्ञाय कुशलदिकम् ॥

अर्थ—पक्षी अथवा चतुष्पद प्राणी जिस दिशामें उस क्षपकका शरीर ले गये होंगे उस दिशामें संघ विहार करे उस दिशेके तरफ क्षमादिक समझना चाहिये

जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उव्वरिगिरिसिहरे ॥

कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णादब्बो ॥ १९९९ ॥

यदि तस्य शिरो दन्ता दृश्येरन्नगमूर्धनि ॥

तदा कर्ममलान्मुक्तो ज्ञेयः सिद्धिमसौगतः ॥ २०७१ ॥

विजयोदया—जदि तस्स उत्तमंग यदि तस्य शिरो दृश्यते दन्ता या गिरिसिखरस्योपरि कर्ममलविप्रमुक्त सिद्धिमसौ प्राप्त इति ज्ञातव्यः ॥

क्षपकगतिनिर्णयाय गाथाद्वयमाह—

मूळारा—उत्तमंग शिर । सगतालुंगेण स्वतालुना सह । श्रीविजयस्तु दिस्सदि दंता व उव्वरीति पाठं मन्यमानो

ज्ञायते तथा चोक्तम्—

यदि तस्य शिरो दंता दृश्येरन्नगमूर्धनि ॥ तदा कर्ममलान्मुक्तो ज्ञेयः सिद्धिमसौ गतः ॥

कस्मेत्यादि अत्र कर्ममल मिथ्यात्वादित्योक्तकर्माणि । सिद्धिं चर्त्तार्थसिद्धिमिति जयनदिदिप्पेण व्याख्या । प्राकृत टीकाया तु कम्ममलविप्पमुक्को कम्ममलेण मेद्धिदो । सिद्धिं गिब्बाणं । पत्तोत्ति प्राप्त इति ।

अर्थ—क्षपकका मस्तक अथवा दंतपंक्ति पर्वतके शिखरपर दीख पड़ेगी तो यह क्षपक कर्ममलसे अलग होकर मुक्त होगया है ऐसा समझना चाहिये

वेमाणिओ थलगदो समम्मि जो दिसि य वाणवित्तओ ॥

गड्डाए भवणवासी एस गदी से समासणे ॥ २००० ॥

वैमानिकःस्थलं यातो ज्योतिष्को ज्यंतरःसमम् ॥

गतां च भावनस्तस्य गतिरेषा समासतः ॥ २०७२ ॥



इदं विधानं जिननाथदेशितं ये कुर्वन्ते अद्वयते च भक्तितः ॥  
आदाय कल्याणपरंपराभिमे प्रयाति निष्ठामपनीतकल्मषाम् ॥ २०७३ ॥

इति आराधकांगत्यागः ॥

विजयोद्या—चेमाणिओ थलगदो वैमानिको देवो जात उत्तमभूमिस्थे उत्तमागे, समभूमिदेशे यदि दृश्यते ल्योतिष्को व्यंतरो जात, गर्ते यदि दृश्यते भवनवासी देवो जात, एषा गतिस्तस्य संक्षेपेण निरूपिता । विजहणात्ति सूत्र-पदं गत । विजहणा ॥

मूलारा—थलगदे उच्चप्रदेशस्थमस्तके दृश्यमाने विमानवासी देवो जात इति ज्ञातव्यम् । समन्मि समभूमि-देशस्थिते वाण वानोद्भव इति जयनदी । अन्ये तु वाणवितरओ इत्यनेन व्यंतरमात्रमाहुः । तदुक्तम्—

वैमानिक स्थलगते ज्योतिष्को व्यंतरश्च समभागे ॥

गर्ते भवनदेवो गतिरेषा तस्य संक्षेपात् ॥

आराधकांगत्यागः । सूत्रतः ४७ अंकतः ३५ ॥

अर्थ—क्षपकका मस्तक उच्च स्थलमें दीखेगा तो वह वैमानिक हुआ है ऐसा समझना चाहिये समभूमि-में यदि दीखेगा तो ज्योतिष्क अथवा व्यंतर हुआ है ऐसा समझना चाहिये गर्तमें यदि दीखेगा तो भवनवासी हुआ है ऐसा मानना चाहिये, इस प्रकार क्षपकके गतिका संक्षेपसे वर्णन किया है, विजहणा सूत्रपदका निरूपण समाप्त हुआ

आराधकस्तवनमुत्तर ते सूर भगवंता—

ते सूर भगवंता आहचइदूण संघमज्झमि ॥

आराधणापडायं चउप्पयारा हिदा जेहिं ॥ २००१ ॥

भगवंतोऽत्र ते सूरश्चतुर्द्वाराधानां मुदा ॥

संघमध्ये प्रतिजाय निर्विघ्नां साधयन्ति ये ॥ २०७४ ॥

विजयोद्या—ते सूर भगवतः आहचइदूण प्रतिज्ञा कृत्वा संघमध्ये चतुष्पकाराधना पताका येरायहीता ॥  
एव सवीचारभक्तप्रत्याख्यान प्रबंधेन व्याख्याय साप्रतमाराधकदीनप्रबंधेन तुष्टपुराराधकस्तवन गाथात्रयेण विधत्ते—

मूलारा—आहन्वइदूण प्रतिष्ठा कृत्वा । हिदा गृहीता ॥

अर्थ—वे क्षपक शूर और भगवान् अर्थात् पूज्य हे जिन्होंने सधमें प्रतिष्ठा कर आराधना पताका ग्रहण की थी

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लामो य तोहिं सव्वेहिं ॥

आराधणा भगवदी पडिवण्णा जेहिं संपुण्णा ॥ २००२ ॥

ते धन्या झानिनो धीरा लब्धनिःशेषचिन्तिताः ॥

धैरेपाराधना देवी संपूर्णा स्ववशीकुता ॥ २०७५ ॥

चिजयोदया—ते धण्णा पुण्यवन्त ते झानिन ते लब्धलाभा सर्वेश्वरो धैराराधना भगवती संपूर्ण प्रतिपन्ना ॥  
मूलारा—सष्टम् ॥

अर्थ—वे आराधक पुण्यवन्त और ज्ञानी समझने चाहिये जिन्होंने उत्तम पुण्य देनेवाली भगवती आराधनाका स्वीकार किया था इन आराधकोंनेही वास्तविक जो प्राप्त करने योग्य था वह प्राप्त किया है.

किं णाम तेहिं लोणे महाणुभावोहिं हुज्ज ण य पत्तं ।

आराधणा भगवदी सयला आराधिदा जेहिं ॥ २००३ ॥

किं न तैर्युवने प्राप्तं वंदनीयं महोदयैः ॥

लील्याराधना प्राप्ता धैरेया सिद्धिसंफली ॥ २०७६ ॥

चिजयोदया—किं णाम तेहिं लोणं किंनम तेषांके महाबुभुक्षेय्यास्त धैराराधिता सकला आराधना भगवती ॥  
मूलारा—सष्टम् ॥

अर्थ—इन महाभागोंने संपूर्ण भगवता आराधना की आराधना की है अतः इन्होंने कोनसा अप्राप्त पदार्थ नहीं प्राप्त किया है ? अर्थात् सर्व लोकोत्तर पदार्थ उनको प्राप्त हुए हैं ऐसा समझना चाहिये

निर्यापकस्तवनमुत्तरं—

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ॥

सन्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥ २००४ ॥

धन्या महाणुभावास्ते भक्तिः क्षपकस्य धैः ॥

हौकिताराधना पूर्ण कुर्वद्भिः परमादरम् ॥ २०७७ ॥

विजयोदया—ते वि य महाणुभावा तेपि च महाभागा धन्या यैस्तथा तस्य क्षपकस्य सर्वोदरेण शक्त्या च सकलाराधना उपविहिता ॥

आराधकसहायानभिष्टौति—

मूलारा—ते वि य क्षपकस्य महाणुभावत्वधन्यत्वयोः कृतमो विरमयः कर्तव्य इत्यपि चेत्यनेन निरूप्यते । उवविहिदा सपादिता ॥

अर्थ—वे निर्यापक भी धन्य है महापुण्यवान हैं जिन्होंने बड़े आदरसे और पूर्ण प्रयत्नसे क्षापकको सर्व आराधनाकी पूर्ण प्राप्ति होनेमें अच्छी सहायता दी है.

निर्यापकाना फलमाचष्टे—

जो उवविधेदि सन्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स ।

संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥ २००५ ॥

परस्य हौकिता येन धन्यस्याराधनाङ्गिनः ॥

निर्विघ्ना तस्य सा पूर्णा सुख सपद्यते मृतौ ॥ २०७८ ॥

विजयोदया—उवविधेदि यो हौकयति सर्वोदरेण धन्यस्याराधनां तस्य आराधना सकला निर्विघ्ना संपद्यते ॥ आराधकशुश्रूषाफलमादर्शयन्नुक्तमर्थं समर्थयते—

मूलारा—उवविधेदि हौकयति ॥

निर्यापकोंकी क्या फल मिलता है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जो पूर्ण आदरभावसे अन्यों को संपूर्ण आराधनाओंकी प्राप्ति कर देते हैं उनको सर्व आराधनाओंकी निर्विघ्न प्राप्ति होती है

ये क्षपकप्रेक्षणाय याति तानपि स्तौति --

ते त्रि कदत्था घण्णा य हुंति जे पावकम्ममलहरणे ।

ण्हयंति खवयतिथे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥ २००६ ॥

स्नांति क्षपकतीर्थे ये कर्मकर्ममसूदने ॥

पापपंकेन मुच्यन्ते धन्यास्तेऽपि शरीरिणः ॥ २००७ ॥

विजयोदया—ते पि कदत्था तेपि कृतार्थो धन्याश्च भवन्ति ये क्षपकतीर्थं पापकर्ममलमहरणे सर्वोदराभियुक्ताः स्नाति ॥

क्षपकप्रेक्षणयात्रिकान्विकरथते --

मलारा --ते वि किं पुनर्निर्योपका इत्यपिशब्देनोच्यते । ण्हयन्ति स्नान्ति । क्षपकप्रेक्षणप्रार्थनादितां स्वात्मानं शोधयन्तीत्यर्थः । खवयतिथ्य क्षपकतीर्थं संसारसरिदुस्सारणनिमित्तत्वात् ॥

जो क्षपकप्रे दर्शन करनेके लिये जाते हैं उनकी स्तुति—

अर्थ—जो पुरुष संपूर्ण पापरूपी मलहरण करनेमें समर्थ ऐसे क्षपकरूपी तीर्थ में अतिशय भक्तीसे स्नान करते हैं वे क्षपक वदना करनेवाले भव्यजीव कृतार्थ और धन्य हैं

क्षपकस्य तीर्थतां व्याचष्टे --

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवोघणेहिं जदि उसिदा ।

तित्थं कंधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवउ ॥ २००७ ॥

पर्वतादीनि तीर्थाणि सेवितामि तपोधनेः ॥

जायन्ते यदि सत्तीर्थं कथं न क्षपकस्तदा ॥ २००८ ॥

विजयोदया—गिरिणदियादियेदेसा गिरिनद्यादियेदेसा यदि तपोधनैरुपितानि तीर्थानि तीर्थं स्वयं कथं न भवेत् क्षपकस्तपोगुणराशि ॥

क्षपकस्य तीर्थेता मुख्यतयोपपादयति—

मूलारा—उसिदा आश्रिताः । ण होजो न भवेत् । सयं परनिरपेक्षतया ॥

क्षपक क्यों तीर्थ माना जाता है, इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पर्वत, नदी वगैरह प्रदेश जहाँ तपोधन मुनियोने निवास किया था वे भी यदि तीर्थ हैं. तो तपस्वी और गुणोंका राशि स्वरूप क्षपक क्यों न तीर्थ माना जायगा. अर्थात् क्षपकको तो अवश्य तीर्थ समझना चाहिये

पुव्वरिसीणं पडिमाओ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ॥

खवयस्स वंदओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ॥ २००८ ॥

वंदमानोऽश्रुते पुण्यं योगिनां प्रतिमा यदि ॥

भक्तितो न तपोराशिस्तदानीं क्षपकः कथम् ॥ २०८१ ॥

विजयोदया—पुव्वरिसीण पडिमाउ पूर्वया ऋणीणां प्रतिमा वदमानस्य यदि पुण्य भवति क्षपके वंदनोद्यतः कथं विपुल पुण्य न प्राप्नुयात् ॥

क्षपकवंदारोविपुलपुण्यलाभमुपपादयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—प्राचीनमुनिओं के प्रतिमाओंको वंदना करने वालोंको यदि पुण्य प्राप्त होता है तो क्षपककी वंदना करने वाले भव्यों को क्यों न पुण्यलाभ होगा? अर्थात् क्षपकवंदनमे अप्रश्य पुण्यप्राप्ति होती है

जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिक्वमत्तिसंजुत्तो ॥

संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराहणा सयला ॥२००९॥

सेव्यते क्षपको येन शक्तितो भक्तिः सदा ॥

तस्याप्याराधना देवी प्रत्यक्षा जायते सृता ॥ २०८२ ॥

विजयोदया—जो ओलगादि आराध्य यस्सेवते आराधकं सदा तीव्रभक्तिसंयुक्त, संपद्यते निर्विघ्ना तस्याप्याराधना सकला ॥

क्षपकोपास्तिफलमनुशस्ति -

मूलारा—ओलगाइ सेवते ॥

अर्थ—जो मन्व्य जीव क्षपक की उपासना करता है अतःकरण में तीव्रभक्ति धारण करता है उसको भी संपूर्ण आराधनाए प्राप्त होती हैं.

सविचारभक्तवोसरणमेवमुववर्णिदं सवित्थारं ॥

अविचारभक्तपच्चक्खाणं एत्तो परं बुच्छं ॥ २०१० ॥

भक्त्यागः सवाचीरो विस्तेरेणेति वर्णितः ॥

अधुना तमवीचारं वर्णयामि समासत ॥ २०८३ ॥

भक्त्यागः ।

विजयोदया—सविचारभक्तवोसरणं सविचारभक्तप्रत्याख्यानेवमुवर्णितं सविस्तरं अविचारभक्तप्रत्याख्याने अतः परं प्रवक्ष्यामि ॥

प्रकृतोपसंहारपुरःसरं अवीचारभक्तप्रत्याख्यानं व्याख्यातुमुपक्षिपति -

मूलारा—एत्तो इतः । इति सविचारभक्तप्रत्याख्यानव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार सविचार भक्तप्रत्याख्यान का हमने सविस्तर वर्णन किया है अब यहांसे अवीचार भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन करते हैं

तत्थ अविचारभक्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो ॥

अपरक्कम्मस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥ २०११ ॥

भक्त्यागोस्त्यवचारो निश्चेष्टस्य दुरुत्तरे ॥

सहसोपस्थिते मृत्यौ योगिनो वर्यव्यारिणः ॥ २०८४ ॥

विजयोदया—अविचारभक्तपदिष्णा अविचारभक्तप्रत्याख्यानं सहसोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्रमस्य वते, सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य काले असति ॥

अथ अविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य स्वामिसमयनिर्णयार्थमाह—

मूलारा—तस्य तद्वचने प्रकृतो । आगाढे सहसोपस्थिते । अपरक्कमस्त निश्चेष्टस्य । कालमिह असपुहुत्तमिह ।

सविचारभक्त्यागस्य कालेऽसति । स्तोत्रजीवितकाले सतीत्यर्थः । उक्तं च—

भक्त्यागो ह्यवीचारो मरणे सहसागते ॥ भवत्युत्साहहीनस्य यतः काले ऽदृसीयसि ॥

अर्थ—सविचारभक्त प्रत्याख्यानकाल नही होने पर अर्थात् अकस्मात् मरण उपस्थित होनेपर असमर्थ मुनि को अविचारभक्तप्रत्याख्यान करना योग्य है

तस्य पदमं गिरुद्धं गिरुद्धतरयं तहा हवे त्रिदियं ।

तदियं परमगिरुद्धं एवं त्रिविधं अवीचारं ॥ २०१२ ॥

गिरुद्धं प्रथमं तत्र गिरुद्धतरमूचिरे ॥

द्वितीयं तु तृतीयं च गिरुद्धतममुत्तमा ॥ २०८५ ॥

विजयोदया—तस्य पदमं गिरुद्धं तत्र अवीचारभक्तप्रत्याख्याने प्रथमं गिरुद्धं, द्वितीयं गिरुद्धतरकं, तृतीयं परम-गिरुद्धं एव त्रिविधमवीचारभक्तप्रत्याख्यानं ॥

अविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य गिरुद्धगिरुद्धतरपरमगिरुद्धभेदोत्रे विष्यमुक्षिति—

मूलारा—तस्य अविचारभक्त्यागे ॥

अर्थ—अविचार भक्त प्रत्याख्यानके गिरुद्ध, गिरुद्धतर और परमगिरुद्ध ऐसे तीन भेद हैं

गिरुद्धमवभूतस्य भवतीत्याद्ये—

तस्मा गिरुद्धं भणिदं रोगादकंहि जो समभिभूतो ॥

जंघाबलपरिहीणो परगणगमणमिह न समत्यो ॥ २०१३ ॥

निरुद्धं कथितं तस्य रोगातंकादिपीडितं ॥  
जंघाबलविहीनो यः परसघमाश्रमः ॥ २०८६ ॥

विजयोदया—तस्स निरुद्ध भणिद् तस्य निरुद्धसुकं रोगेण आतेकेन वा यस्समभिभूत. जंघाबलपरिहीनो वा परराणशमनसमर्थो य ॥

निरुद्धं गाथापचकेन व्याचष्टे—

मूलारा—ण समर्थो रोगेणातकेन वा सतताभिभवाज्जंघाबलपरिहीनतया वा परराणं गतुमशक्त इत्यर्थः ॥

निरुद्धभक्त प्रत्याख्यान किसको होता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ - छोटे रोग अथवा बड़े रोगसे पीडित होनेपर तथा पैरोंमें चलने का सामर्थ्य जिसको नहीं है, जो परराणमें जाने में असमर्थ है वह मुनि निरुद्धअविचारभक्तप्रत्याख्यान करते हैं

जावय बलविरियं सं सो बिहरदि ताव णिप्पडीयारो ॥

पच्छा बिहरदि पडिजगिज्जंतो तेण सगणेण ॥ २०१४ ॥

यावदस्ति बलं वीर्यं स्वयं तावत्प्रवर्तते ॥

क्रियमाणोपकारस्तु तदभावे गणेन सः ॥ २०८७ ॥

विजयोदया—जावय बलविरियं यावद्वलवीर्यं चास्ति । से तस्य । सो बिहरति स तावद्गुणे प्रवर्तते निष्पत्तीकार. यदा शक्तिस्तीव्रन्यूना तदा पच्छाबिहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकार ॥

निरुद्धस्वाभिनः प्रवृत्तौ परानपेक्षाव्यपेक्षावसरो निर्दिशति—

मूलारा—पच्छा अतीव शक्तिन्यूनताया । पडिजगिज्जंतो उपक्रियमाणः ।

अर्थ—जबतक देहमें बल, वीर्य था तबतक वह गुणोंमें प्रवृत्ति करता है जब शक्ति तीव्रतासे कम होती जाती है तब स्वगणसे उपकृत होता हुआ अपने रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करता है अर्थात् अत्यंत अशक्त होनेपर गणस्थ मुनि उनकी सेवा करते हैं



इय सणिरुद्धमरणं भणियं अणिहारिमं अवीचारं ॥  
सो चेव जघाजोगं पुनुत्तविधीं हवदि तस्स ॥ २०१५ ॥  
सन्निरुद्धमवीचारं स्वगणस्थमित्तिरित्तम् ॥

अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥ २०८८ ॥

विजयोदया—इय सणिरुद्धमरणं भणिद एव सन्निरुद्धमरणं भणितं, जंघावलपरिहीनतया व्याध्यभिभवेन वा स्वस्मिन्नाणे निरुद्धो यस्तस्य मरणं निरुद्धमरणं अणिहारिमं सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तपरित्यागाभावात्, परित्यागहीनं अनियतविद्वारादिविधिचिन्तारणाभावादीचारं । आत्मीय एव गणे आचार्यस्य समीपे प्रव्रज्यातीचारं लब्ध्वा निंदागर्हापरं कृतप्रतिक्रमं कृतप्रायश्चित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्नृष्यतीकारो विहरति, यदा हीनसर्वचेष्टस्तदा परैरनुगृह्यमाणो विहरति ॥

मूलारा—सणिरुद्धमरणं जघाबलं परिहीनतया । रोगांतं कभिभवेन वा स्वगणे सन्निरुद्धस्य प्रतिबद्धपरगणगमनासमर्थस्य मरणं । अणिहारिमं सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तस्वगणपरित्यागाभावात् । अवीचारं अनियतविद्वारादिविचारणाविरहात् । सो इत्यादि । स्वगणं एव गणिनश्चरणमूले प्रव्रज्याद्यतिचारमालोक्य निंदागर्हापरः कृतप्रतिक्रमप्रायश्चित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्नृष्यतीकारो विहरति । सर्वचेष्टापरिक्षये पुनः परैरनुगृह्यमाण इत्यतोऽन्यो यथोचितो विधिः पूर्वोक्तं पूर्वत्यर्थः ।

अर्थ—इस प्रकार सन्निरुद्ध मरण का स्वरूप कहा है. पैरोंका सामर्थ्य कम होनेसे अथवा रोगपीडित होनेसे अपने गणमें ही जिसको रहना पड़ता है अन्य गणमें जो नहीं जा सकता है ऐसे मुनिको सन्निरुद्ध मुनि कहते हैं. ऐसे मुनिके मरणको सन्निरुद्ध मरण कहते हैं. सविचारभक्तके प्रत्याख्यानमें स्वगणका परित्याग कर परगणमें जानेका विधि बतलाया है. वह इसमें नहीं है इसलिये इसको 'अणिहारिम' कहते हैं. अनियत विद्वारादि विधि इसमें नहीं है इस लिये इसको अवीचार कहते हैं. यह मुनि स्वगणमें ही रहकर आचार्यके चरणमूलमें दीक्षासे आजतक हुए अपराधों की आलोचना करना है. निंदा और गर्हा करता है. प्रतिक्रमण करके प्रायश्चित्त लेकर जबतक सामर्थ्य है तबतक दुसरोंके सहायके बिना रत्नत्रयाचरणमें तत्पर रहता है. जब प्रवृत्ति करने में बिलकुल असमर्थ होता है तब अन्यमुनिओंसे शुश्रूषा साहाय्य लेकर रत्नत्रयमें तत्पर होता है

दुविधं तं पि अणीहारिं पगासं च अप्पगासं च ॥

जणणादं च पगासं इदं च जणेण अणणादं ॥ २०१६ ॥

प्रकाशमप्रकाशं च स्वगणस्थमिति द्विधा ॥

जनज्ञात मत पूर्वं जनाज्ञात परं पुनः ॥ २०८९ ॥

विजयोदया—दुविधं तं पि अणीहारिं द्विविधं तदपि अणीहारसंक्षितं भक्तप्रत्याख्यान प्रकाशरूपमप्रकाश-  
रूपमिति जनेन ज्ञाते प्रकाशरूपमितरदप्रकाशात्मक ॥

निरुद्धावीचारभक्तप्रत्याख्यानस्य प्रकाशप्रकाशभेदाद्वैदिव्यमभिधत्ते—

मूलारा—अणीहारिं अनिहारसंज्ञं । स्वगणनिर्गमरद्वित्वात् । अत एवान्ये स्वगणस्थमितिदमभ्यधुः । तदुक्तम्—

सन्निरुद्धमवीचारं स्वगणस्थमिति रितम् ॥

अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥

निरुद्धावीचारभक्तप्रत्याख्यानके प्रकाश और अप्रकाश ऐसे दो भेद हैं इनका आचार्य स्वरूप कहते हैं  
अर्थ—अनिहार नामक इस भक्त प्रत्याख्यानके प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप ऐसे दो भेद हैं जो जनोके  
द्वारा जाना गया है उसको प्रकाशरूप कहते हैं और जो नहीं जाना गया है उसको अप्रकाशरूप कहते हैं.

खवयस्स चित्तसारं खित्तं कालं पडुच्च सज्जनं वा ॥

अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगासं तु ॥ २०१७ ॥

द्रव्य क्षेत्र बलं काल ज्ञात्वा क्षपकमानस ॥

अप्रकाश मतं हेतावन्यत्रापि सतीदृशे ॥ २०९० ॥

इति निरुद्धं

विजयोदया—एवमस्स चित्तसार क्षपकस्य वृद्धि, बल, क्षेत्र, काल, स्वजनं वा प्रतिपद्य अन्यस्मिन्वा तादृशे  
कारणे जाते अप्रकाशभक्तप्रत्याख्यानं, यदि क्षपक क्षुद्रादिपरीपहासह, वसतिर्वा अविधिका, कालो वा अतिरुक्षो, यधवो  
वा यदि परित्यागविघ्नं कुर्वति न प्रकाश कार्यः । गिरुद्ध गदं ॥

अप्रकाशस्य कारणान्याह—

मूलारा—चित्तसार मनोबलं । पदुच्च प्रतीत्य । सयणं बंधुलोक । अपयामं यदि क्षपकः क्षुदादिपरीगहासहो, वसतिर्वा अविविक्ता, कालो वातिरुक्षः, बाधवा वा सन्यामं विव्रयति तदा न प्रकाशः कार्योऽस्मिन्नित्यप्रकाशकं । निरुद्धम् । अर्थ—क्षपकका मनोबल, अर्थात् धैर्य, श्रेत्र, काल, उसके बांधव अथवा अन्य भी कारण का विचार पीडित होगा, अथवा चमत्किा एकान्त स्थानमें न होगी, यदि काल समय अति रूय होगा, यदि बंधुगण इस परित्याग विधिमें बाधा करनेवाले होंगे तो यह प्रत्याख्यान-मरण प्रकाशित नहीं करना चाहिये।

निरुद्धतरंगं व्याचष्टे—

चालगिवगधमहिसगरिंल पडिणीय तेण मेच्छेहिं ॥  
मुच्छाविसूचियादीहिं होञ्ज सञ्जो हु वावत्ती ॥ २०१८ ॥

जलानलविपन्यालसन्निपातविसूचिकाः ॥  
हरंति जीवितं साधोर्भानून्ना इव तामसम् ॥ २०१९ ॥

विजयोदया—गालगिवगधमहिस व्यलिनाश्रिना, व्याघ्रेण, महिषेण, गजेन, महेषेण, ताम्रुणा, म्नेनेन, म्लेच्छेन, मूच्छया, विसूचिकादिभिर्वा सयो व्यापत्तिर्भवेत् ।

अथ निरुद्धतरा वीचारभक्तप्रत्याख्यान गाथाचतुष्टयेन व्याख्यामुगदागयुरपमर्तिन्याः सयो न्यापत्ते-  
समवसमिधत्ते—

मूलारा—चाल सर्पां । पडिणीय शत्रुः । विसूचियादीहिं विसूचिकया दंडकालशकृत्तीनमूलादिभिश्च । वावत्ती सयो मरणकारणवेदना, मरणं वा ।

निरुद्धतर विधीका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, भेसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूच्छा, तीन शूलरोग इत्यादिसे तत्काल मरण का प्रसंग प्राप्त होता है

जाव ण वाया खिप्पदि बलं च विरिय च जाव कायमि ॥

तिन्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खत्तं ॥ २०१९ ॥

यावन्न क्षीयते बाणी यावदिन्द्रियपाटवम् ॥

यावद्वैर्यं बलं चेष्टा हेयादेयविवेचनम् ॥ २०१२ ॥

विजयोदया—जाव ण वाया खिप्पदि यदि यावद्वाग्न विनश्यति बलं वीर्यं च यावदस्ति काये तीयया वेदन-  
या यावच्चित्तं न व्याक्षिप्त भवति तावत् ॥

तत्क्षणे मुख्येणा यत्करणीयं तदुपदिशति—

मूलारा—खिप्पदि विनश्यति । विक्खित्तं व्याक्षिप्तम् ।

अर्थ—जबतक वचन मुहसे निकलता है जबतक शरीरमें बल और वीर्य है और जबतक शरीरमें होनेवाली  
तीव्र वेदनासे चित्त आकुलित नहीं हुआ है तबतक—

णच्चा संवट्टिज्जं तमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ॥

गणियादीणं सणिहिदाणं आलोचए सम्मं ॥ २०२० ॥

तावद्वेदनया ज्ञात्वा न्हियमाणं स्वजीवितम् ॥

आलोचनां गुरोः कृत्वा धीरा मुचन्ति विग्रहम् ॥ २०१३ ॥

विजयोदया—णच्चा संवट्टिज्जं ज्ञात्वोपसन्दिह्यमाणमायु शीघ्रमेव ततो भिक्षुराचार्यादीनां सन्निहितानामा-  
लोचना सम्यक् कुर्यात् रत्नत्रयाराधनाया परिणत व्युत्पञ्जेत् वसति, संस्तरमाहारमुपाधि शरीरं परिचारकान्, बलवीर्यं  
हाने परगणमनासमर्थ । निरुद्ध प्रवेश प्रकरणे निरुद्ध इति निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥

मूलारा—संवट्टिज्जंत उपसन्दिह्यमाणं । तीव्रवेदनाया अन्तर्मुहूर्त्तमात्रभोग्यदशाया प्रवेशमान ॥ तो ततः ।  
आयुरप्रवर्तनाद्धतोः आचार्यादीनामग्रे ॥

अर्थ—तबतक अपना आयुष्य प्रतिसमयमें क्षीण हो रहा है ऐसा जानकर आचार्यादिकोंके पास शीघ्र  
अपने संपूर्ण पूर्व दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये रत्नत्रयाराधनामें तत्पर होकर वसति, संस्तर आहार, उपवि,

शरीर, परिचारक इन सर्वोंका त्याग करना चाहिये. अर्थात् इनके ऊपरसे समत्व हटाना चाहिये. तात्पर्य—जब ब्रह्म और वीर्यकी दानि होती है तब परगणमें समन करनेमें असमर्थ मुनिको निरुद्ध कहते हैं इससे भी जो अधिक असमर्थ होता है उसको निरुद्धतर कहते हैं

एव निरुद्धतरं विदियं अणिहारिमिं अवीचारं ॥

सो चेव जघजोगो पुवुत्तविधी हवदि तरस ॥ २०२१ ॥

स्वगणस्यमिति प्राज्ञनिरुद्धतरमीरितम् ॥

अवशेषो विधिस्तस्य ज्ञेय पूर्वत्र दर्शितः ॥ २०१४ ॥

इति निरुद्धतरम् ।

विजयोदया—स्पष्टार्थेणाथा ॥ निरुद्धतरं ॥

मूला—निरुद्धतरं सद्यो मरणकारणोपनिपातेन सुतरा बलवीर्यहानेः परगणगमनेऽसमर्थान्निरुद्धतरकषेणासमर्थो निरुद्धतरस्तद्योगान्मरणमपि निरुद्धतरं ततः मंजया क ॥ निरुद्धतरम् ॥

अर्थ—तत्काल आधुका नाश करनेके कारण प्राप्त होनेपर बल और वीर्यकी अतिशय हानि जब होती है तब परगणमें जानेके लिये जो मुनि अत्यंत असमर्थ होता है अतः ऐसे साधुके मरणकोभी आचार्य निरुद्धतरक मरण कहते हैं निरुद्धतर मरणका वर्णन हुआ

वालादिर्गृहि जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ॥

तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अवीचारं ॥ २०२२ ॥

यदा संक्षिप्यते वाणो व्याधिव्यालविपादिभिः ॥

तदा शुद्धधियः साधोर्निरुद्धतममिष्यते ॥ २०१५ ॥

विजयोदया—वालादिर्गृहि व्यालानिभिः पूर्वोक्ते यदोपहतस्य वाक्विनष्टा तदा परमनिरुद्धमरणं वाक्शितो-  
घोऽत्र परमशब्देनोच्यते ॥

अथ परमनिरुद्धावीचारभक्तप्रत्याख्यानं गाथासप्तकेन व्याख्यास्यन् पूर्वं गाथात्रयेण तल्लक्षयति—  
मूलारा—वालादिगृहिं व्यालादिभिः । पूर्णैकरूपदुस्तस्य अक्सित्ता विनष्टा । परमणिरुद्ध परमेण वाग्निरोधेन  
निरुध्यस्य साध्यत्वात्परमनिरुद्धमित्याख्यायते । उक्तं च—

यदा संक्षिप्यते वाणी व्याधिव्यालेविषादिभिः ॥ तदा शुद्धधियःसाधोर्निरुद्धतरमिष्यते ॥

अर्थ—सर्वं व्याघ्रादिसे पीडित हुए साधुके अंगमें विषका सचार होकर उसका भाषण भी जत्र वद होता  
है तत्र परमनिरुद्ध नामका मरण प्राप्त होता है वचननिरोध होनेपर परमनिरोध माना जाता है

णञ्चा संवट्टिज्जं तमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ॥

अरहंतासिद्धसाहूण अंतिगे सिग्घमालोचे ॥ २०२३ ॥

हरंती जीवितं हृष्ट्या चेदनामनिवारणाम् ॥

जिनादीनां पुरो धीरः करोत्यालोचनां लघु ॥ २०२६ ॥

विजयोदया—णञ्चा सविट्टिज्ज त आउगं ज्ञात्वोपसन्निध्यमाणमायु अर्हता सिद्धाना साधूनां चातिके शीघ्र  
मालोचना कुर्यात् ॥

मूलारा—अंतिगे सन्निधाने । मनस्यर्हदादीन्सन्निहितान्कृत्येत्यर्थः । आलोचे आलोचना कुर्यात् ।

अर्थ—उस समय वह मुनि अपना आयुष्य शीघ्र ही समाप्त होनेवाला है ऐसा जानकर मनमें अर्हत् और  
सिद्धादि परमंष्टिओंको धारण कर शीघ्र आलोचना करता है

आराधणाविधी जो पुर्वं उववणिदो सवित्यारो ॥

सो चैव जुज्जमाणो एत्थ विही होदि णादब्बो ॥ २०२४ ॥

आराधनाविधि पूर्वं कथितो विस्तरेण यः ॥

अत्रापि युज्यमानोऽसौ द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः ॥ २०२७ ॥

विजयोदया—आराधणाविधी आराधनाविधेयः पूर्वं विस्तरो व्यावर्णित स पंचात्रापि युज्यमानो ज्ञातव्य ॥

मूलारा—जुजमानो प्रयुज्यमानः । सहसा मरणाराधनाया वैफल्यशंकाभयाकरोति—

अर्थ—आराधना विधीका जो पूर्वमें सविस्तर वर्णन किया है उसीकीही इस मरणमें योजना करनी चाहिये

एवं आसुक्कारमरणे वि सिज्झंति केइ धुदकम्मा ॥

आराधयितु केइ देवा वेमाणिया होति ॥ २०२५ ॥

आराध्याराधनोदवीं आशुकारं मृतावपि ॥

केचित्सिध्यन्ति जायन्ते केचिद्वैमानिकाः सुराः ॥ २०२६ ॥

विजयोदया—एवं आसुक्कारमरणे वि एवं सहसा मरणेऽपि सिध्यति विधुतकर्मसंहृतयः केचिदाराध्य वैमानिका देवा भवति ॥

मूलारा—एवं अनेन विधिना । चतुर्विधाराधनामुपक्रम्य । आसुकारे मरणे झटिति प्राणत्यागे । धुदकम्मे परी-  
तसंसारतया निरस्तकर्मसंहृतयः संतः पंडितपंडितमरणेन सिद्धिं गच्छन्तीत्यर्थः । आराधयित्वा मरुप्रत्याख्यानं मरणेनैव  
चतुर्विधाराधनामाराध्य मृताः संतः ॥

अर्थ—इस प्रकार चार प्रकारकी आराधनाका ग्रहण करनेपर उपर्युक्त कारणोंसे यदि शीघ्र प्राणत्यागका  
समय प्राप्त हुआ तो कोई साधु संपूर्ण कर्मोंका नाश करके पंडितमरणसे मोक्षकी प्राप्ति कर लेते हैं और कोई  
मुनि इन आराधनाओंकी आराधना कर वैमानिक देव होते हैं ।

आराधणाए तत्थ दु-कालस्स बहुत्तणं ण हु पमाणं ॥

बहवो मुहुत्तमत्ता संसारमहणवं तिण्णा ॥ २०२७ ॥

प्रमाणं कालबाहुल्यमस्य नाराधनाविधेः ॥

तीर्णा मुहुत्तमात्रेण बहवो भवनीरधिम् ॥ २०२८ ॥

विजयोदया—कथमनेन कालेन निर्वृतिर्मायेत्याशंका न कार्येति वदति । आराधयोपि तत्थ तु तस्यामो-  
राधनाया कालस्य बहुत्वं न प्रमाणं । बहवो मुहुत्तमात्रेणाराध्य संसारमहणवं तीर्णा ॥

कथमल्पेन कालेन निर्वृतिः साध्येत्यत्राह—

मूलारा—तस्य तस्यां । परमाणं साधकतमं । मुहुचबुच्छा मुहूर्तमाराधनार्था स्थिताः ।

अर्थ—इतने अल्पकालमें कैसा मोक्ष प्राप्त होता है ऐसी शंका नहीं करना चाहिये-अर्थात् आराधनाका काल बढ़ाही होना चाहिये ऐसा कुछ नियम नहीं है मुहूर्तमात्रमही कोई रत्नत्रय की आराधना करके संसार स-मुद्रको लांघ गये हैं.

खणमेत्तेण अणादियमिच्छादिद्वी वि वद्धणो राया ॥

उसहस्स पादमूले संबुद्धिच्चा गंदो सिद्धि ॥ २०२७ ॥

सिद्धो विवद्धनो राजा चिरं मिथ्यात्वभावितः ॥

वृषभस्वामिनो मूले क्षणेन धुतकल्मषः ॥ २१०० ॥

इति निरुद्धतमम् ।

विजयोदया—खणमेत्तेण क्षणमात्रेणानादिमिथ्यादृष्टिपरि वद्धन्तनामधेयो राजा क्रयभस्य पादमूले संबुद्धो गत सिद्धि ॥

क्षणमात्राराधनायाः सिद्धिसाधनत्वमर्थव्यानेन समर्थयते—

मूलारा—विवद्धणो विवर्धनो नामो । संबुद्धिच्चा संन्यागात्मानं आत्मनात्मनि संवेद्य ॥

अर्थ—अनादि मिथ्यादृष्टि ऐसी वर्धन नार्पका राजा क्रयभ भगवानके चरणमूलमें आत्मस्वरूपका ज्ञाता होकर क्षणमात्रमें निर्वाण को प्राप्त हुआ.

सोलसतिस्थराणं तिथ्युपणणस्स पढमदिवसम्मि ॥

सोमण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥ २०२८ ॥

विजयोदया—परमणिस्सुद्धं ॥

मूलारा—सोलसतिस्थराणं ऋषभादिशतिपर्यन्तानाम् । तिथ्युपण्णस्स वचनोत्पत्तेः । सोमण्णणाणसिद्धि



केवलज्ञानं निर्वाणमर्गं च । भिण्णमुहोत्तेण स्तोकाकालेन संपत्ता संप्राप्ता बहवः । अन्यस्तु सामण्येति चारित्रममस्त । उक्तं च—  
पोदशतीर्थं करारणां तोयौत्पन्नस्य वासरे प्रथमे ॥ श्रामण्यवोधिसिद्धिभिन्नमुहोत्तेन संबुत्ता ॥  
एतां श्रीविजयो नेच्छति ॥

अर्थ—ऋषभनाथसे लेकर शान्तितीर्थकरपर्यंत सोलह तीर्थकरोंको जिस दिन दिव्य ध्वनिकी प्राप्ति हो गयी थी उस दिन बहुत सुविधाओंके केवलज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति भिन्नमुहोत्तेम हुई थी इस प्रकार परमनिरुद्ध क मरणका वर्णन समाप्त हुआ।

एसा भत्तपइण्णा वाससमासेण वण्णिदा विधिणा ॥

इत्तो इंगिणमरणं वाससमासेण वण्णोसिं ॥ २०२९ ॥

प्रोक्ता भक्तप्रतिज्ञेति समासव्यासयोगतः ॥

इदानीमिंगिनीं वक्ष्ये जन्मकक्षकुठारिकाम् ॥ २१०१ ॥

विजयोदया—यसा भत्तपइण्णा एतद्रक्तप्रत्याख्यान व्यासेन संक्षेपेण च वर्णितं अत ऊर्ध्वं सांन्यासि  
कर्मिणिणीमरण व्याससमासाभ्या वर्णयिष्यामि ॥

प्रस्तुतोपसंहारपुरःसर व्याख्येयातरसुपक्षिपति—

मूलारा—विधिणा पूर्वसूक्तमेण । वण्णोसिं व्याख्यारथमहम् ॥ वृत्तम्—

एवं दीक्षादिकोत्तमार्थं करतलफलिताराधनाकेतनश्रीः—

प्रौढिव्यूहोत्तमार्थं करतलफलिताराधनाकेतनश्रीः ॥

कोऽप्यत्राशाधरातश्चरविशदशोभानरज्यन्यसुसुखः

सद्भिः स्वर्गलक्ष्मीप्रणयहृतशिवश्रीकटाक्षोत्सवः स्यात् ॥

इत्याशाधरानुस्मृतप्रथमसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयार्थप्रकाशकीकरणप्रवणे सप्तम आश्वासः ॥ ७ ॥ इति  
भक्तप्रत्याख्यानमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ—इस भक्तप्रत्याख्यान मरणका विस्तारसे और संक्षेपसे वर्णन किया है अब सन्यास मरणरूप  
इंगिणी मरणका विस्तार और संक्षेपसे वर्णन करताहूँ

जो भक्तपदिणाए उवक्कमो वणिणदो सवित्तारो ॥

सो चेव जघाजोगो उवक्कमो इंगिणीए वि ॥ २०३० ॥

उत्तो भक्तप्रतिज्ञाया विस्तारो यत्र कक्षन ॥

इंगिनीमरणेऽप्येव यथायोगं विबुध्यताम् ॥ २१०२ ॥

विजयोदया—जो भक्तपदिणाए यो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्रमो व्यावर्णितः स एव यथासम्भव उपक्रमो इंगिणीमरणेऽपि ॥

अष्टम आश्वासः ॥

अत्रत्यैरधुनातनैरपि यतैः साध्याविलेत्यादितो । भक्त्यागमृतस्तथा निगदितो न्यासात्समासादपि ॥

तत्त्वज्ञानमशेषमप्यनुगुणं सुखसंयित्नामिदं यत् । न्यासादसंतं इतः सुमृदुविषयस्तेऽपींगिणीपूर्वकाः ॥

अथातः स्वकृतवैयाहृत्यमात्रापेक्षालक्षणं पठितमरणस्य द्वितीयकल्पमिंगिणीमरण गायत्रयविक्षता प्रवर्धेन न्याच-  
क्षाणः प्रथम तदुपक्रमातिदेशार्थं इदमाह—

मूलारा—उवक्कमो प्रयोगविधिः ॥

अर्थ—भक्तप्रतिज्ञा मरणमें जो प्रयोगविधि कहा है वही यथासम्भव इस इंगिणीमरणमें भी समझना

चाहिये

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जितु लिंगकम्पं च ॥

पवयणमोगाहिता विणयसमाधीए विहरिता ॥ २०३१ ॥

प्रव्रज्याग्रहणे योग्यो योग्यं लिंगमधिष्ठितः ॥

कृतप्रवचनाभ्यासो विनयस्थः समाहितः ॥ २१०३ ॥

विजयोदया—पव्वज्जाए सुद्धो प्रव्रज्याया शुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्य इत्यर्थः । एतेन अर्हत्ता निरूपिता । उव-  
संपज्जितु प्रतिपद्य । लिंगकम्पं च योग्यं लिंगं इत्यनेन सूचितम् । पवयणमोगाहिता श्रुतमवगाह्य एतेन शिक्षा  
उपन्यस्ता, विणयसमाधीए विहरिता विनयसमाधौ विहृत्य ॥

वदुपक्रमययौचित्यविवेचनार्थमाह—

मूलारा—पञ्चवज्राण सुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्यः । अर्हत्त्वख्यापनार्थसिद्धिं ॥ एवमुत्तरपदानामपि लिङ्गादिविकल्पा-  
विधिल्यापनेन साफल्यभवकल्यम् । उक्तस्य विजन्तु प्रतिपद्य । लिङ्गरूप निर्भन्थानुष्ठानम् । विणयसमाधीन विनये समाप्तौ  
च । विहरित्ता परिणतो भूत्वा । अत्रार्हदाविपंचतयो विधिरुक्तः ।

अर्थ—जो दीक्षाग्रहण करने योग्य है. ऐसा मुनि योग्य लिङ्ग धारण कर श्रुत-आगममें अवगाहन  
करता है. तथा विनयमें और समाधिमें विहार करता है. तात्पर्य यह है कि, सन्निचारमक्तप्रत्याख्यान मरणमें  
जैसा प्रयोग विधि वतानेके लिये अर्ह, लिङ्ग, शिक्षा वगैरह चालिस सूत्रोंका पूर्वमें वर्णन किया है वैसा यहां भी  
वही वर्णन समझना चाहिये.

णिष्पादिच्चा सगणं इंगिणीविधिसाधणाए परिणमिया ॥

सिद्धिमाकहितु भाविय अप्पणं सद्धिहिच्चाणं ॥ २०३२ ॥

निरुपाय सकलं संघं इगिनीगतमानसः ॥

अत्रितस्थो भारितस्वान्तः कृतसह्येखनाविधिः ॥ २१०४ ॥

विजयोदया—णिष्पादिच्चा सगण योग्य कृत्वा स्वगण । इगिणीविधिनाधनाय परिणतो भूत्वा, सिद्धिमाकहितु  
परिणमश्रेणिमाकख । भाविय भावना प्रतिपद्य । अप्पण सद्धिहिच्चाण आत्मान सहेत्यम् ॥

मूलारा—णिष्पादिच्चा योग्यं कृत्वा । इंगिणीविधिसाधनायमित्यत्रापि योग्यं । परिणमिय परिणम्य । साधयि-  
प्यासद्धमिगिणीविधिसिद्धि निश्चलं चेतसि निवेश्येत्यर्थः । सिद्धि शुभपरिणामश्रेणी । भाविय कंदर्पोदिदुर्भेवनात्यागेन  
तपःश्रुतादिभावनाभिः संस्कृत्य । संछिद्दिच्चाणं कायकपायौ कृशीकृत्य ।

अर्थ—अपने गणको मुनेओंके आचरणमें योग्य बनाकर तदनंतर इंगिणी मरण साधनेके लिये वह मुनि  
परिणति करता है. तदनंतर परिणामके श्रेणीपर आरोहण कर कंदर्पादि भावनाओंका त्याग कर तपोभावन, श्रुत  
भावना, इत्यादि भावनाओंका अभ्यास करता है और शरीरके साथ कपाय कुछ करता है

परियाङ्गमालोचय अणुजाणिता विसं महजणस्स ॥  
तिविधेण खमाविता सवालवुद्धाउलं गच्छं ॥ २०३३ ॥

सस्थाप्य गणनं संघे क्षमयित्वा त्रिधाखिलं ॥

यावज्जीव वियोगार्थी दत्त्वा शिक्षां प्रियंकराम् ॥ २१०५ ॥

विजयोदया—परियाङ्गमालोचय क्रमेण रत्नत्रयाचारमालोच्य । अणुजाणिता अनुज्ञाय । विसं गणघरं । महजणस्स महाजनस्य चतुर्विधसंघस्येत्यर्थः । तिविधेण खमापित्वा त्रिविधेन क्षमा ग्राहयित्वा । सवालवुद्धाकुलं गच्छं ॥  
मूलारा —परियाङ्ग्य रत्नत्रयाविचारपरिपाटी । विस आचार्य परिस्थाप्य । महजणस्स महाजनस्य चतुर्विध संघस्येत्यर्थः । खमावेत्ता क्षमा ग्राहयित्वा ।

अर्थ—रत्नत्रयके पालने करते समय जो अतिचार लगे थे उनकी आलोचना कर संघका त्याग करनेके पूर्वमें अपने स्थानमें दूसरे आचार्य की स्थापना करनी चाहिये अर्थात् चतुर्विध संघको नवीन आचार्यके स्वाधीन कर देना चाहिये उस समय बालमुनि, वृद्धमुनि वगैरह संपूर्ण गणको क्षमाके लिये प्रार्थना करनी चाहिये.

अणुसाट्ठं दादूण य जावज्जीवाय विप्पओगच्छी ॥  
अम्भदिगजादहासो णीदि गणादो गुणसमग्गो ॥ २०३४ ॥

कृतार्थतां समापन्नो हर्षाकृतलिबिम्बुषितः ॥ २१०६ ॥  
निर्यातो गणतः सूरिगुणशलिविम्बुषितः ॥ २१०६ ॥

विजयोदया—अणुसाट्ठं दादूण य दत्त्वा गणपतेर्गणस्य च । जावज्जीवाय विप्पओगच्छी यावज्जीवं विप्रयोगार्थी । अम्भदिगजादहासो कृतार्थोऽस्मीति जातहर्ष । णीदि गणादो निर्याति यत्तिगणात् । गुणसमग्गो संपूर्णगुणः ॥  
मूलारा—दादूण गणपतये गणाय च दत्त्वा । जावज्जीवाय यावज्जीवं । विप्पओगच्छी गणेन वियोगमिच्छन् । अम्भधिगजादहासो कृतार्थोऽस्मीति निर्भरेत्यन्वयीति । णीदि निगच्छति ।

अर्थ—आचार्य स्थापनाके अनंतर आचार्य और गणको भी उपदेश देना चाहिये और तदनंतर अब यावज्जीव मैं आपसे अलग होना चाहता हूं ऐसा कहकर, गणसे मयाण करना चाहिये आज मैं कृतार्थ हुआ ऐसा मानकर संपूर्ण गणयुक्त एलाचार्यका वह आचार्य त्याग करे

एवं च णिक्रमिच्छा अंतो वाहं च थंडिले जोगे ॥

पुढवीसिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥ २०३५ ॥

निःक्रम्य स्थंडिलादौ स विविक्ते वहिरंतरे ॥

स्थंडिलासंस्तरस्थायी स्व नियपयति स्वयम् ॥ २१०७ ॥

विजयोदया—एव च णिक्रमिच्छा एव विनिक्रम्य । थंडिले जोगे समे समुब्रूते कठिने जीवरहिततया योग्ये । अंतो वाहि च अंतर्बहिर्वा । पुढवीसिलामए वा पृथ्वीसस्तरं शिलामये वा । अण्णाण णिज्जवे एक्को आत्मानं निर्जेयदसहाय ।

तस्य संस्तरारोहणविधिं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—अंतो वाहि च गुहादेरभ्यंतरे चाहिरेवा । थंडिले समसमुन्नत कठिनभूमिदेशे । जोगे जीवरहितत्वेन योग्ये । पुढवीसिलामए पृथिवीसंस्तरं शिलामस्तरं वा । णिज्जवे संसर्पणं गतिर्येवमयति । एक्को देहमात्रसहायः ॥

अर्थ—स्वगणसे निकलकर अंदर और बाहर जो समान ऊंचा और कठिन है ऐसे भूमिप्रदेशमें अर्थात् स्थंडिलमें जो कि जीवरहित होना चाहिये उसका आश्रय करो, तथा निर्जन्युक्त जमीन अथवा शिलाका भी संस्तर के लिये आश्रय करो उस समय वह शरीरमात्र जिसका सहायक है ऐसा होता है.

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाविच्चा थंडिलस्मि पुव्वुत्ते ॥

जट्टणाए संथरित्ता उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं ॥ २०३६ ॥

योग्य पूर्वोदितं कृत्वा संस्तरं स्थंडिले तृणैः ॥

पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा शिरो दिशि करोति सः ॥ २१०८ ॥

विजयोदया—पुव्वुत्ताणि तणाणि य पूर्वोत्तानि तृणानि निस्तंघिच्छिद्रजंतुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमात्राणि मृदूनि प्रतिलेखनायोग्यानि ग्रामं नगरं वा प्रविश्य यांचया ग्रहीतानि पूर्वोक्ते स्थण्डिलं कोऽसौ सालोक्यं चिस्तीर्णो विध्वस्ताः असुसिरोऽविलं निर्जंतुर्नस्त्वस्मिंस्थंडिले जट्टणाए संथरित्ता यत्नेन संस्तरं कृत्वा, को यत्नं तृणानां पुण्यकरणं संस्तरभूमिप्रतिलेखनं, उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं संथारं सथरित्ता य पूर्वोत्तमागुत्तरोत्तमार्गं वा संस्तीर्थं शिरः प्रभृति कार्यं पादौ च यत्नेन प्रमाल्य ॥

पृथिवीशिखासंस्तरासप्तौ तृणसंस्तरविधानमुपदिशति—

मूलारा—पुबुत्ताणि सस्तरसूक्तानि । निःसंधिनिश्चिद्रनिर्जन्तूनि, मृदूनि, प्रतिलेखनयोग्यानि । शरीरस्थिति साधनमात्राणि च । जाचित्ता ग्राम नगर वा प्रविश्य प्रार्थ्य गृहीतानि । पुबुत्ते सालोकविस्तीर्णविध्वस्तासुपिरनिर्विलनिर्जन्तुके । जदणाए तृणपृथक्करणसस्तरभूमिप्रतिलेखनक्षणेन यत्नेन । संघरिच्चा यथाविधि तृणसंस्तरं उत्तरशिरस्कं पूर्वशिरस्क वा कृत्वा तत्रात्मानं निर्यापयतीति पूर्वोक्त संश्रंभः ।

अर्थ—पूर्वोक्त स्थडिलपर तृणको पसारना चाहिये वह तृण ग्राममें अथवा नगरमें जाकर याचना करके लाना चाहिये. छिद्ररहित, जंतुरहित, मृदु, शरीरस्थिरताके लिये कारण, प्रतिलेखनाके योग्य ऐसा वह तृण उस स्थडिलपर प्रयत्नसे पसारना चाहिये. वह स्थडिल भी प्रकाशयुक्त, विस्तीर्ण, छिद्ररहित, विलरहित, निर्जंतुक होना चाहिये. उस स्थडिलपर यत्नसे तृण बिछाना चाहिये. अर्थात् तृणको पृथक्करण करना, संस्तरकी भूमिका प्रतिलेखन करना, झाडकर स्वच्छ करना यहां इन कृत्योंको यत्न कहते हैं पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशाको मस्तक करने योग्य तृणकी रचना करनी चाहिये तदनंतर मस्तक वर्गे शरीरके अवयव और पांव पिच्छसे प्रमार्जित करने चाहिये.

पाचीणाभिमुहो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा ॥

सीसे कदजलिपुडो भावेण विसुद्धलेस्सेण ॥ २०३७ ॥

भावशुद्धिमधिष्ठाय लेस्याशुद्धिविवर्द्धितः ॥

कर्माविध्वसनाकांक्षी मूर्धन्यस्तकरद्रव्यः ॥ २१०९ ॥

विजयोदया—पाचीणाभिमुखो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा प्राङ्मुखो उत्तराभिमुखो वा भुत्वा तत्र सस्तरे सस्थित्वा । सीसे कदजलिपुडो मस्तके कृताजलि । भावेण विसुद्धलेस्सेण विसुद्धलेस्यासमन्वितेन भोवेन ॥

स्वय रत्रनिर्यापणविधिं गाथापचकेनोपदिशति—

मूलारा—पाचीणाभिमुहो पूर्वाभिमुखः । उदीचिहुत्तो उत्तराभिमुखः । तत्थ पृथिव्याद्यन्यतमसस्तरे । सो ङ्गिनीमरणोद्यतः साधुः । ठिच्चा उद्धस्थित्वा, पर्याकाशासनेनैकपार्थशयेन वा यथाशक्त्यवस्थाय । विसुद्धलेस्सेण पीतादिलेस्यासमन्वितेन ।

अर्थ—उस संस्तरपर वह इंगिणीभरणकी प्रतिज्ञा कानेवाला मुनि पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशाके तरफ मुख करके खड़ा हो जाता है. अपने मस्तकपर हाथ जोड़कर रखता है अतः रुग्णमें परिणामोंकी निर्मलता उत्पन्न करता है

अरहादिअंतिगं तो किञ्चा आलोचणं सुपरिसुद्धं ॥

दंसणणाचरित्तं परिसारेदूण णिस्सेसं ॥ २०३८ ॥

विद्यायालोचनामग्रे जिनादीनामदूषणाम् ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपसां कृतशोधनः ॥ २११० ॥

विजयोदया—अरहादिअंतिगं अर्हदाद्यतिक्रम । तो पश्चात् आलोचना कृत्वा सुपरिशुद्ध, दंसणणाचरित्तं पडि-सारेदूण दर्शनज्ञानचारित्राणि संस्कृत्य निरवेशेण ॥

मूलारा—अरहादिअंतिग अर्हदादिपाश्वे । पडिसारेदूण निर्मलीकृत्य ॥

अर्थ—तदनन्तर अर्हदादिकों के समीप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यमें लगे हुए दोषोंकी वे मुनि आलोचना करते हैं. और संपूर्णतासे रत्नत्रयको संस्कृत करते हैं अर्थात् निर्मल करते हैं .

सब्बं आहारविधिं जावज्जीवाय वोसरित्ताणं ॥

वोसरिदूण असेसं अभंतरवाहिरे गंधे ॥ २०३९ ॥

यावज्जीवं त्रिधाहारं प्रत्याख्याय चतुर्विधं ॥

बाह्यमाभ्यन्तरं ग्रंथमपाकृत्य विशेषतः ॥ २१११ ॥

विजयोदया—सर्वे आहारविधिं सर्वे आहारविरूपे । यावज्जीव परित्यज्य बाह्याभ्यन्तरानशेषान् परित्यज्य लयकृत्या ॥

मूलारा—विधि अशनाविभेदं ।

अर्थ—संपूर्ण आहारोंके विकल्पोंका वे यावज्जीव त्याग करते हैं. तथा संपूर्ण बाह्य व अभ्यन्तर परित्यज्योंका त्याग करते हैं.

सन्वे विणिज्जिणंतो परीषहे धिदिबलेण संजुत्तो ॥

लेस्साए विसुज्झंतो धम्मं ज्ञाणं उवणमित्ता ॥ २०४० ॥

परीषहोपसर्गोणां कुर्वाणो निर्जयं परम् ॥

गाह्मानः परां शुद्धिं धर्मध्यानपरायणः ॥ २११२ ॥

विजयोदया—सन्वे विणिज्जिणतो सर्वाश्च जयन् परियद्धान् धृतिबलसमन्वितः लेश्याभिर्विशुद्धः सन् धर्मध्यानं प्रतिपद्य ॥

मूलारा—उवणमित्ता प्रतिपद्य ॥

अर्थ—वे सुनि सर्व परिषहोको अपने धैर्य बलसे सहन करते हैं विशुद्ध लेश्यायुक्त परिणामांसे धर्म-ध्यानकं आश्रय करते हैं.

ठिच्चा णिसिदिच्चा वा तुवट्टिट्ठूणव सकायपडिचरणं ॥

सयमेव गिरुवसगो कुणदि विहारम्मि सो भयवं ॥ २०४१ ॥

निषयोत्थाय निःशेषामात्मनः कुरुते क्रियाम् ॥

विहरन्नुपसर्गेऽसौ प्रसाराकुंचनाविकम् ॥ २११३ ॥

विजयोदया—ठिच्चा स्थित्वा आसित्वा शयनं वा कृत्वा स्वकायपरिकरं स्वयमेव निरुपसर्गे विहारे करोति । स्वयमेवात्मन करोत्याकुंचनाविका क्रिया, उच्चारकादिकं च निराकरोति प्रतिष्ठापनासमितिसमन्वितः । यदि पुन उवस-गा यदा पुनरुपसर्गा देवमनुष्यतिर्यक्कृता भवति तदा निष्पत्तीकारस्तान् सहते विगतभयः । आवृत्तिगसुसंघडणो आद्येषु त्रिषु संहनेषु अन्यतमसहनेन शुभसंस्थानोऽभेद्यधृतिकवचो जितकरणो जितानिद्रो महाबलो नितरा शूरः ॥

मूलारा—ठिच्चा उद्भवायोत्सर्गेण स्थित्वा । पर्यकादिना आसित्वा । तुवट्टिट्ठूण एकपाश्यादिना पतित्वा । सकाय-पडिचरणं स्वशरीरप्रतिकर्म शौचप्रतिलेखनादिकं । विहारम्मि निरुपसर्गे संन्यासे सति । सो ठिच्चा इत्यत्र निर्दिष्ट स इत्येत-त्पद करोतीत्यनेन सम्बन्ध वाक्यसमाप्तिः कार्यः ॥ कुत एव करोतीत्याह सो भयव स तथा कुते गणी परिकरो भगवा न्माहात्म्याविशयोपेतो यत इति वाक्यभेदेन सम्बन्धोऽत्र विवेकः ।



अर्थ— खड़े कायोत्सर्गसे खड़े होकर, अथवा पर्यकादि कायोत्सर्गसे बैठकर, किंवा शयन कर एक वाज्र पर पड़े हुए वह मुनिराज स्वयं ही अपनी शरीर क्रिया करते हैं अर्थात् उपसर्ग रहित अवस्थामें वे शीघ्र, प्रति-लेखनादि क्रिया स्वयं ही करते हैं ये क्रिया करते समय प्रतिष्ठापनासमितिमें तत्पर रहते हैं यदि देव मनुष्य और तिर्यचोके द्वारा उपसर्ग होने लगा तो वे उसका प्रतिकार नहीं करते हैं. उनका धैर्यरूपी कवच अमेघ रहता है. अंतःकरणमें जरासा भी भय नहीं रहता है. इंगिनीमरणके धारक मुनि पहिले तीन संहननमेंसे कोई एक संहननके धारक रहते हैं उनका शुभ सस्थान रहता है. वे निद्राको जीतते हैं. महाबली व शूर रहते हैं.

सयमेव अप्पणो सो करेदि आउटणादि किरियाओ ॥  
 उच्चारादीणि तथा सयमेव विक्किच्चिदे विधिणा ॥ २०४२ ॥  
 जाधे पुण उवसग्गे देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा ॥  
 ताधे णिप्पडियम्मो ते अधियासेदि विगदम्भओ ॥ २०४३ ॥  
 आदितियसुसंघडणो सुभसंठाणो अभिज्जधिदिकवचो ॥  
 जिदकरणो जिदणिहो ओघवलो ओघसूरो य ॥ २०४४ ॥  
 बीमत्थभीमदरित्तणविगुब्बिदा भूदरक्खसप्पिसाया ॥  
 खोभिज्जो जदि वि तयं तधवि ण सो संभसं कुणइ ॥ २०४५ ॥  
 स्वयमेवात्मनः सर्वं प्रतिकर्म करोति सः ॥  
 आकांक्षति महासत्त्वः परतोऽनुग्रहं न हि ॥ २१२४ ॥  
 देवमानवतिर्यग्भ्यः संपन्नमत्तिदारुणम् ॥  
 उपसर्गं महासत्त्वः सहतेऽसौ निराकुलः ॥ २११५ ॥  
 दुःशीलभूतवेतालशाकिनीग्रहराक्षसैः ॥  
 न संभीषयितुं शक्यो भीमैरपि कथंचन ॥ २११६ ॥

विजयोदया—वीसत्यमीमदसणविगुण्विदा वीभत्सभीमदर्शनविक्रिया भूतराक्षचीपशाचा यद्यपि क्षोभं कुर्वति तथा व्यसौ न संभ्रमं करोति ॥

अन्यश्चादुपसर्गस्य तत्कृत्यमाह—

मूलारा—आवटणादि आकुंचनप्रसारणादि । विक्रिचदे स्फोटयति । विधिणा प्रतिष्ठापनिकाससितिविधानेन ।

उपसर्गसंभवे स किं करोतीत्याह —

मूलारा—जाधे यदा । य अचेतनकृताञ्चेति समुच्चिनोत्ययं च । तावे तदा । निष्पडियम्भो प्रतिकाररहितः । अधियासेदि सहते ।

तदुपसर्गसहनसामर्थ्यसमर्थनार्थमाह—

मूलारा—आदितियसुसचडणो वज्रदृपमनाराचं, वज्रनाराच नाराच चेत्याद्येषु त्रिषु शोभनसंहतनेषु मध्येऽन्यतमं संहनन इत्यर्थः । सुभसंठाणो समचतुरस्रसस्थान । अभेद्यं अभयं । ओधवलो महाबलः । ओधसूरो नितरा शूरः अत एव देवादिकृतादुपसर्गाभिभयः सन्सहते इति पूर्वेण सम्बन्धः ।

पुनस्तस्य महासात्विकत्व प्रतिकूलोपसर्गसक्षोभादुद्भवमुत्तेन व्यनक्ति—

मूलारा—बीभच्छभीमदंसणविचित्रविदा विकृतभयंकरदर्शनविविधक्रियाः । खोभिज्जो क्षोभियेयु । संभम संक्षोभं ॥ अर्थ— बीमत्स और भय दिखानेवाला जिनका दर्शन और विक्रिया है ऐसे भूत, राक्षस और पिशाचोंके द्वारा यदि क्षोभ उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जानेपर भी उनके मनमें भय उत्पन्न नहीं होता है

इष्टिमदुलं वि उव्विय किण्णरकिंपुरिसिदेवकणाओ ॥

लोलंति जदिवियतगं तधवि ण सो विभयं जाई ॥ २०४६ ॥

त्रिदशैर्विक्रियावद्भिश्चेतश्चोरणकारिणीं ॥

प्रददर्यं महतीमृद्धिं लोभ्यमानो न लुभ्यति ॥ २११७ ॥

विजयोदया—इष्टिमदुल विगुण्विय ऋद्धिमदुला विहृत्य किन्नरकिंपुरपाविदेवकन्या यद्यन्युपलालन कुर्वति तदाप्यसौ न विस्मयं याति ॥

किंनरादिकन्याप्रलोभनं लक्षणानुक्कलोपसंगेऽपि तस्य विस्मयाभावं ब्रूते ॥

मूलारा—इष्टिं ऋद्धिं । लोलंति लोभयंति । विहाय विस्मयं ॥ किंवदुना ॥

अर्थ—अनुपम ऋद्धिं प्राप्त करके किन्नर किंपुरुषादिककी देवकन्याएँ उनको लुब्ध करनेका प्रयत्न भी करेंगी तो भी उनका मन आश्चर्यचकित नहीं होता है.

सर्व्वो पोगलकाओ दुक्खत्ताए जदि तमुवणमेज्ज ॥

तधवि य तस्स ण जायदि ज्ञाणस्स विमोत्तिया को वि ॥ २०४७ ॥

सपयतेऽखिलास्तस्य दुःखाय यदि पुद्गलाः ॥

तथापि जायते जातु ध्यानविभो न धीमतः ॥ २११८ ॥

विजयोदया—सर्व्वो पोगलकाओ सर्व्वे पुद्गलद्रव्यं दुःखतया यदि तममिहंति तथापि तस्य न जायते ध्यान-स्यान्यथावृत्तिः ॥

मूलारा—सर्व्वो त्रैलोक्योदरवर्ती । पोगलकाओ पुद्गलद्रव्यं । दुक्खत्ताए दुःखतया । दुःखोत्पादरूपतयेत्यर्थः । उवणमेज्ज उपढौकेत । विमोत्तिया अन्यथाभावः । आर्तैरौदयपरिणतिरित्यर्थः ।

अर्थ—जगतके संपूर्ण पुद्गल दुःखरूप परिणतिको प्राप्त होकर उनको पीडा करनेके लिए उद्यत होनेपर भी उनका मन ध्यानसे च्युत नहीं होता है

सर्व्वो पोगलकाओ सोक्खत्ताए जदि वि तमुवणमेज्ज ॥

तध वि हु तस्स ण जायदि उद्भाणस्स विमोत्तिया को वि ॥ २०४८ ॥

सुखाय यदि लभ्यते सर्व्वे पुद्गलसचयाः ॥

तथापि धीरधीर्नासौ ध्याननश्नलति स्फुटम् ॥ २११९ ॥

विजयोदया—स्पष्टोत्तरगाथा ॥

मूलारा—सोक्खत्ताए सुखावहतया ।

अर्थ—सर्व जगत्के पुद्गल यदि सुखरूप बनकर उनको सुखी करनेके लिए उद्यमी होनेपर भी इन मुनिराजका मन उनमें लुब्ध होता नहीं अर्थात् अपने आत्मध्यानमें ही स्थिर रहता है

सन्निचत्ते साहरिदो तत्थोवेक्खदि वियत्तसव्वंगो॥

उवसग्गे य पसंते जदणाए थण्डिलमुवेदि ॥ २०४९ ॥

उपेक्षते विनिक्षिप्तः सचित्तहरिनादिषु ॥

उपसर्गशुभे भूयो योग्यं स्थानमियर्त्ति सः ॥ २१२० ॥

विजयोवया—सच्चित्ते साहरिदो व्याघ्रादिभिः सचित्ते निक्षिप्तः स तत्रोपेक्षते त्यक्तसर्गंग'। उपसर्गं प्रज्ञाते यत्नेन स्थण्डिलमुपैति ॥

व्याघ्रादिभिः प्राणिसंकुलमूतले प्रक्षिमोऽसौ किं करोतीत्याह—

मूढारा—सच्चित्ते हरितिलणादिप्राणिग्रहलो देशे सा हरिदो व्याघ्रादिभिर्नीत्वा प्रक्षिप्तः। तत्थ तत्रैव उवेक्खदि तिष्ठत्युपसर्गात् यावत्। वियत्तसव्वंगो त्यक्तसर्वकायः। पसंते स्वयमेव प्रशमं गते ॥

अर्थ—हरा तृण वगेरह प्राणिओंसे व्याप्त ऐसे भूप्रदेशमें यदि व्याघ्रादिकोंने लेजाकर फेंक दिया तो भी उपसर्ग दूर होने तक वे मुनि शमभाव धारण कर शरीरमोहसे रहित होकर वहाँ ही रहते हैं। उपसर्ग दूर होनेपर यत्नेसे स्थण्डिलके तरफ आते हैं

एवं उव सग्गविधिं परिसहविधिं च सोधिया संतो ॥

मणवयणकायगुत्तो सुणिच्छिदो णिज्जिदकसाओ ॥ २०५० ॥

परीपहोपसर्गणामेव विषह्मनोद्यतः ॥

मनोवाक्षायगुप्तोऽसौ निःक्रपायो जितेंद्रियः ॥ २१२१ ॥

विजयोदया—एव उवसग्गविधिं एवमुपसर्गान् परित्यक्त्वा सहमानस्त्रिगुप्तः सुनिश्चितो निजितकपाय ॥  
मूढारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इस प्रकार वे मुनिराज उपसर्ग और परीपहों को जीवते हैं. मन वचन और शरीरकी क्रियायें बंद करते हैं अर्थात् तीन गुणोंको पालनकर कोषादिक कपायोंको जीवते हैं आत्मस्वरूपमें स्थिर रहते हैं

इहलोए परलोए जीविदमरणे सुहे य दुक्खे य ॥

णिप्पडिबद्धो विहरदि जिददुक्खपरिस्सिमो धिदिमं ॥ २०५१ ॥

इहानुत्तं सुखे दु.खे जीविते मरणे सुधीः ॥

सर्वथा निःप्रतीकारश्चतुरंगे प्रवर्तते ॥ २१२२ ॥

विजयोदया—इहलोगे परलोगे इह परव च जीविते मरणे सुखे दु.खे च अग्रतिवधो विहरति जितदुःख परिश्रमः धृतिमान् ॥

मूलारा—णिप्पडिबद्धो इच्छाद्वेषरहितः । विदिम धृतिमान् ।

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें, जीवित और मरणमें, सुख और दुःखमें वे इच्छा और द्वेष नहीं रखते हैं. धैर्य धारण करते हैं और दुःखोंके परिश्रमसे वे पीडित नहीं होते हैं

वायणपरियट्ठणपुच्छणाओ सोत्तुण् तथय धम्मथुदिं ॥

सुत्तच्छपोरिसीसु वि सरोदि सुत्तथमेयमणो ॥ २०५२ ॥

वाचनापुच्छनाम्नायधर्मदेशनवर्जिताः ॥

धीरः सूत्रार्थयोः सम्यग्ध्यायत्येकाग्रमानसः ॥ २१२३ ॥

विजयोदया—वायणपरियट्ठणपुच्छणाओ वाचना, परिवर्तन, प्रश्न च सुक्त्वा च तथा धर्मोपदेशं सूत्रस्यार्थं स्मरत्येकचित्तं ॥

वाचनादिस्वाध्यायभेदेषु मध्ये सूत्रार्थानुग्राहमेवासौ करोतीत्यनुशास्ति—

मूलारा—परियट्ठण आम्नाय. । धम्मथुदी धर्मोपदेश देववर्दना च । सुत्तथपोरिसीसु पंचसु स्वाध्यायभेदेषु मध्ये अथवा पूर्वोक्तमध्याह्नार्द्धरात्रसमयेषु चतुर्षु पट्पट्पटिकालस्थीर्यकरध्वनिनिर्गच्छति चेज्वपि अस्वाध्यायकालेष्वपि इत्यर्थः । सरोदि चित्तयति । उक्तं च—

वाचनापुच्छनाम्नायधर्मदेशनवर्जितः ॥

धीरः सूत्रार्थोः सम्यक्ध्यायत्येकाग्रमानसः ॥

अर्थ—वे मुनि वाचना, प्रच्छना, परिवर्तन और धर्मोपदेश इस रूपसे चार प्रकारके स्वाध्यायक-  
त्याग कर सूत्र और अर्थका एकाग्रतासे स्मरण करते हैं अथवा दिनका पूर्वभाग, मध्यभाग, अन्तर्भाग तथा अर्ध-  
रात्र ऐसे चार समयोंमें तीर्थङ्गरोकी दिव्यध्यानि निकलती है ये काल स्वाध्यायके नहीं हैं ऐसे कालमें भी वे अनु-  
प्रेक्षाल्पक स्वाध्याय करते हैं

एवं अट्टवि जामे अनुवट्टो तच्च ज्ञादि एयमणो ।

जदि आधच्चा णिद्दा हविज्ज सो तत्थ अपदिण्णो ॥ २०५३ ॥

एवमष्टसु यामेषु निनिद्रो ध्यानलालसः ॥

भवन्तीं हठतो निद्रां न निपेवत्यसौ पराम् ॥ २१२४ ॥

विजयोदया—एवं अट्टवि जामे एवमेवाष्टसु यामेषु निरस्तशयनक्रियो ध्यात्येकचित्त, यथाहृत्य निद्रा भवेत्  
तत्र अग्रतिष्ठोऽसौ ॥

तस्य स्वापक्रिया निषिध्य शृक्कावनुजानाति—

मूलारा—अनुवट्टो अनिद्रः सन् । तच्च तस्य । आधच्चा आहृत्य हठात् । अपदिणो प्रतिज्ञारहितः । हठाद्भवन्तीं  
मज्जनीत्यर्थः ॥

अर्थ—इस प्रकार आठों प्रहरोंमें निद्राका परित्याग करके एकाग्रचित्त होकर वे मुनि तत्त्वोंका विचार  
करते हैं. यदि बलात् निद्रा आगई तो निद्रा लेते हैं.

सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ ण संति किरियाओ ॥

जम्हा सुसाणमज्जे तस्स य ज्ञाणं अपडिसिद्धं ॥ २०५४ ॥

स्वाध्यायकाले विक्षेपाद्यंतास्तस्य न च क्रियाः ॥

ध्यानं शमशानमर्घ्येऽपि कुर्वाणस्य निरतरम् ॥ २१२५ ॥

विजयोदया—सञ्ज्ञायकालपडिलेहणाविकाओ स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिका क्रिया न सति यस्मात् इमशा नमस्येपि तस्य ध्यानं न प्रतिपिद्धं ॥

स्वाध्यायकालगवेषणादिना चित्तविक्षेपमभवे क्षेत्राशुद्धौ वा ध्यानाप्रवृत्तेः कथं तस्याहोरात्रिकमात्मध्यानं स्यादित्यत्राह—

मूलारा—पडिलेहणा गवेषणा शुद्धिर्वा । सुसाण इमशानं । अपडिसिध्वं न प्रतिपिद्धं ॥

अर्थ—स्वाध्याय काल और शुद्धि वगैरह क्रियायें उनको नहीं हैं इमशानमें भी उनको ध्यानके लिये नियम नहीं है

आत्रासगं च कुणदे उवधोकालम्मि जं जहिं कमदि ॥

उवकरणंपि पडिलिहइ उवधोकालम्मि जदणाए ॥ २०५५ ॥

यथोक्तं कुरुते सर्वमावश्यकमताद्रितः ।

विधत्ते स ह्य कालं उपधिप्रतिलेखनम् ॥ २१२६ ॥

त्रिजयोदया—आवाखगं च कुणदे आवश्यक च करोति कालद्वयेऽपि यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखनं मपि यत्नेन कालद्वये करोति ॥

एव तर्हि नावश्यकदिकमप्यसौ विधास्यतीत्यागक्रामपाकरोति—

मूलारा—च पुनः । उवधोकालम्मि रात्रिदिनयोः । कमदि प्रवर्तते ॥

अर्थ—जो आवश्यककर्म जिस कालमें करनेका विधान कहा गया है उस कालमें ये मुनि वह कर्म करते हैं, उपकरणोंका प्रतिलेखन—शुद्धि भी प्रयत्नसे स्रयोदय और सूर्यास्त समयमें अवश्य करते हैं.

सहसा चुक्करकलिदे गिसीधियादीसु मिच्छकारे सो ॥

आसिअणिसीधियाओ गिगमणपवेसणं कुणइ ॥ २०५६ ॥

सहसा स्खलने जाते मिथ्याकारं करोति सः ॥

आसीनिषयकाशद्वौ विनिःक्रांतिप्रवेशयोः ॥ २१२७ ॥

विजयोदया—सहसा चुकरकलिदे सहसा स्खलने जाते मिथ्या मया कृतमिति प्रकीर्ति, निष्क्रमणप्रवेशयोः आसि-  
कानिपीधिकाशब्दयोगं करोति ॥

मूला—चुकरकलिदे अक्रमणे किंचित्करणे वा संग्रहे सति । मिच्छाकारो मिथ्या मया कृतमिति भाषणं । आसि-  
य निर्गमने 'आसिका' शब्दोच्चारणं निस्सिधियाओ । प्रवेशे 'निपीधिका' शब्दोच्चारणं ॥

अर्थ—कुल स्खलन होनेपर अर्थात् आवश्यककर्म शोढासा किया गया किंवा नहीं किया गया तो मैंने  
मिथ्या किया 'मिथ्या मया कृतं' ऐसा बोलते हैं वंदनादि कार्यक्रमों के लिये जाते समय और प्रवेश करते समय  
असहि और निसिही ऐसा शब्दोच्चारण क्रमसे करते हैं

पादे कंटयमादि अच्छिन्नि रजादियं जदवेज्ज ॥

गच्छदि अधाविधिं सो परणीहरणे य तुसिणीओ ॥ २०५७ ॥

पादयोः कंटके भग्ने रजसीक्षणयोगेने ॥

तूष्णीमास्ते स्वयं धीरो परेणोद्धरणेऽपि सः ॥ २१२८ ॥

विजयोदया—पादे कंटयमादि पादयोः कंटकप्रवेशे नेत्रयो रजःप्रभृतिप्रवेशेपि तूष्णीमास्ते, परनिरकरणेपि  
स तूष्णीमास्ते ॥

पादादौ कंटकादिप्रवेशनस्योपेक्षासुपदिशति—

मूला—कंटयमादी कंटककीलकादिकं । आवेज्ज प्रविशेत् । अधाविधि यथाविधि । प्रोक्तविधिना याति  
निराकर्तुं न प्रवर्तते इत्यर्थः । परणीहरणे परेण निष्कास्यमाने पादभग्नकंटके इत्यर्थः । तुष्णीय मौनेन तिष्ठति । तुसिणीओ  
इति पाठे तूष्णीको मौनशीलो भवतीत्यर्थः ॥

अर्थ—पैरोमें कांटा चुभ गया और नेत्रमें रज-धूलीका कण चला गया तो भी वे अपने हाथसे नहीं नि-  
कालते हैं, दूसरोंके द्वारा निकाला जानेपर मौन धारण करते हैं.

वेउच्चणमाहारयचारणखीरासवादिलक्ष्मीसु ॥

तवसा उप्पण्णासु वि विरागभावेण सेवदि सो ॥ २०५८ ॥



‘नानविधासु जातासु लब्धिष्वेव महामनाः ॥

न किञ्चित्सेवते जातु विरागीभूतमानसः ॥ २१२९ ॥

विजयोदया—वे उज्ज्वलमाहार्य विक्रियाकद्धौ आहारकद्धौ चारणकद्धौ क्षीरास्रावादिलब्धिषु वा तपसोत्पन्नास्थ-  
पि विरागतया न किञ्चित्सेवते स ॥

विक्रियादिलब्ध्युपयोगमावमपि तस्याह—

मूलारा—वे उज्ज्वल विक्रियालब्धिः आहार्य आहारकलब्धिः । चारण आकाशगमनलब्धिः । क्षीरास्रावादि क्षीर-  
स्रावित्वमधुस्रावित्वादिलब्धयः ॥

अर्थ—तपके द्वारा वैक्रियिक कद्धि, आहारक कद्धि, चारण कद्धि, क्षीरास्रावित्वादि लब्धि प्राप्त होनेपर  
भी विरक्तता युक्त परिणाम होनेसे वे उनका सेवन नहीं करते हैं. अर्थात् उसका उपयोग नहीं करते हैं.

मोणाभिगहणिरदो रोगादंकादिवेदणाहेतुः ।

ण कुणदि पडिकारं सो तेहेव तण्हाछुहादीणं ॥ २०५९ ॥

वेदनानां प्रतीकारं क्षुदादीनां च धीरधीः ॥

न जातु कुरुते किञ्चिन्मौनव्रतमवस्थितः ॥ २१३० ॥

विजयोदया—मोणाभिगहणिरदो मौनव्रतोपपन्नः रोगात्कादिवेदनानिमित्त प्रतीकारं न करोतितथैव तुडा-  
दीनामपि ॥

रागद्यप्रतीकारमपि तस्याह—

मूलारा—मोणाभिगह मौनस्वीकारः ॥

अर्थ—मौन व्रतको धारण करते हैं रोगादिकोंसे पीडा होने पर उनका प्रतीकार इलाज नहीं करते हैं.  
भूख, प्यास, शीत, उष्ण, इत्यादिकोंका भी वे प्रतीकार नहीं करते हैं.

उत्तणुसो पुण आहरियाणं इंगिणिगदो त्रि छिण्णकधो ॥

देवेहिं मणुसेहिं व पुट्ठो धम्मं कधेदित्ति ॥ २०६० ॥

उपदेशोऽन्यसूरीणामिगिनीमरणेऽपि सः ॥

त्रिदशैर्मानुषैः पृष्टो विधत्ते धर्मदेशनाम् ॥ २१३१ ॥

विजयोदया—उवणसो पुण आहरियाणं उपदेशः पुनः आचार्याणा इंगिणीगतोपि धर्मं कथयति देवैर्मनुष्यै-  
र्वा पृष्टः । कथं कथयति, छिन्नकथं प्रवर्तते न मद्दता ॥

केचिद्धर्मदेशनमिगिण्यामप्युपदिशतीति दर्शयन्ति—

मूलारा—आयरियाण आचार्यातराणाम् । विच्छिन्नकथो विच्छिन्ना स्तोका कथा यस्यासौ विच्छिन्नकथः स्यात् ।  
छिन्नकथो इति वा योज्यं । देवैर्मानवैर्वा धर्मं कथयेति पृष्टः सत्रिगिणीगतोऽपि स्तोका धर्मकथा करोति । इत्यन्येषा  
मन्वित्यर्थः ॥

अर्थ—इगिनीमरणमे तत्पर रहकर भी वे मुनि देव अथवा मनुष्यके द्वारा पूछे जानेपर थोडासा धर्मो-  
पदेश भी करते हैं ऐसा अन्य आचार्यों का मत है,

एवमथक्त्वादविधिं साधिच्चा इंगिणीं धुदकिलेसा ॥

सिज्झंति केइ केई हवंति देवा धिमाणेसु ॥ २०६१ ॥

इंगिनीमरणेऽप्येवमाराध्याराधनां धृषाः ॥

केचित्सिध्यन्ति केचिच्च सन्ति वैमानिकाः सुराः ॥ २१३२ ॥

इंगिनीमृतिं सुखानुपंगिणीं निर्मलां कषायनाशकौशलाम् ॥

पूजिता भजति विघ्नवर्जितां ये नरा भवंति तेऽजरामराः ॥ २१३३ ॥

इति इंगिणीमरणम् ॥

विजयोदया—एवमथक्त्वादविधिं एवं यथाख्यातक्रमेण इंगिणीं प्रसाध्य निरस्तश्लेशाः केचित्सिध्यन्ति,  
केचिद्धैमानिकदेवा भवंति ॥

इंगिणीमाहात्म्यमभिधौति—

मूलारा—अथक्त्वादविधिं यथोक्तम् । धुदकिलेसा यथोक्तक्रमेणगिणीं प्रसाध्य जीवन्मुक्ताः संत इत्यर्थः ।

सिज्झन्ति प्रश्रीणकृत्स्नकर्माणः पडितपडितमरणेन निर्वान्चीत्यर्थः ।

अर्थ—यहाँ तक जो इंगिनीमरणका विधि कहा है उसको सिद्ध करके कोई मुनि संपूर्ण कर्मकलशोंको दूर करके मुक्त होते हैं और कोई वैमानिक देव होते हैं.

एवं इंगिनिमरणं वाससमासेण वणिणंदं विधिणा ॥

पाओगमणणिमिच्चो समासदो चेव वण्णसिं ॥ २०६२ ॥

इंगिनीमरण प्रोक्तं समासव्यासयोगतः ॥

प्रायोपगमनं वक्ष्ये व्यासेन विधिनाधुना ॥ २१३४ ॥

विजयोदया—स्पष्टार्थो गथा ॥ इंगिनी ॥

प्रकृतमुपसर्हरन्नुपदेयांतरसुपक्षिपति—

मूलारा—वाससमासेण समासवर्णनात् 'जो भत्तपट्टिण्णाए' इत्यादिसूत्रातिदेशसामर्थ्याद्भक्तप्रतिज्ञावद्वगंतव्या ॥ एवमिगिनीमरणव्याख्यान समाप्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार इगिनी मरणका विधि विस्तारसे और समासमे-संक्षेपसे हमने वर्णन किया है अब आगे प्रायोपगमन मरणका संक्षेप से वर्णन करते हैं इगिनी मरणका वर्णन समाप्त हुआ.

पाओवगमणमरणस्स होदि सो चेव बुवक्कमो सव्वो ॥

वुत्तो इंगिनिमरणस्सुक्कमो जो सवित्थारो ॥ २०६३ ॥

इगिनीमरणेऽवाचि प्रक्रमो यो विशेषतः ॥

प्रायोपगमनेऽप्येष द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः ॥ २१३५ ॥

विजयोदया—स्पष्टार्थः ॥

अथातःस्वपरवैयावृत्यान्नेपेक्षाक्षणं पंडितमरणं स्ववृत्तीयविकल्पं प्रायोपगमनमरणं गायानवेकेन व्याचि-  
ख्यासुरादौ तदुपक्रममतिदिशति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

प्रायोपगमन मरणका वर्णन—

अर्थ—इगिणीमरणका जो सविस्तर विधि कहा है वही प्रायोपगमन मरणका भी विधि समझना चाहिए

१७९१

णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो ॥

आदपरपओगेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥ २०६४ ॥

संस्तरं क्रियते नात्र तृणकाष्ठादिनिर्मितः ॥

स्वकीयमन्यदर्पिय च वैयाघृत्यं न विद्यते ॥ २१३६ ॥

विजयोदया—णवरिं तणसंथारो णवर तृणसंस्तर प्रायोपगमनगतस्य प्रतिपिद्धः, आत्मपरप्रयोगेण यस्मात्प्रतिपिद्धः सर्वः प्रतीकार । स्वपरसपाद्यप्रतीकारोपेक्ष भक्तप्रत्याख्यानविधि, परत्रिरपेक्षमात्मसपाद्यप्रतीकारमिगिणीमरणं, सर्वप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनमित्यमीषा भेदः ॥

उत्सर्गेणोपदिश्यापवादमाह—

मूलारा—णवरिं किंतु । पाओवगदस्स संघात्पादाभ्या योग्यदेशमुपगम्य गृहीतसन्न्यासे सतीत्यर्थः । पडिसिद्धो निपिद्धः । आदेत्यादि सर्वप्रतीकाररहितमिदमित्यर्थः । एतेन भक्तप्रतिज्ञेगिणीभ्यामस्य भेदो दृश्यते ॥

अर्थ—इस प्रायोपगमनमरणमें तृणके संस्तरका निषेध है क्योंकि यह प्रायोपगमन करनेवाले मुनि स्वतः और परतः शुश्रूषा नहीं करते हैं स्वयं भी अपनी शुश्रूषा नहीं करते हैं और दूसरोंको भी शुश्रूषा नहीं करने देते हैं भक्तप्रत्याख्यानविधिमें स्वपरशुश्रूषा विधिकी अपेक्षा है इगिनी मरणमें परशुश्रूषाका निषेध है, परंतु स्वयं अपनी शुश्रूषा करते हैं ऐसा इन तीन मरणोंमें आपसमें भेद है

सो सल्लेहिददेहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि ॥

उच्चार्यादिविकिंचणमवि णत्थि पवोगदो तम्हा ॥ २०६५ ॥

करोत्येन ततो योगी कृतसल्लेखनाविधिः ॥

उच्चारप्रसवादीनां ततो नास्ति निराक्रिया ॥ २१३७ ॥

मूलाराधना

विजयोदया—सो सल्लेखिदेहो स समयफतनूकृतशरीरो यस्मात्प्रायोपगमनमुपयाति तस्मादुच्चारयित्वा करणमपि नास्ति प्रयोगतः ॥

अस्थिचर्मोवशेषितशरीरत्वाद्धिण्मूत्राद्यपनयनमध्यस्य स्वयं परेण वा न स्यादित्याह—  
मूलारा—ययोगदेहो स्वपरव्यापारणया ॥

अर्थ— उत्तम प्रकारसे जिसने अपना देह कृश किया है ऐसे ये मुनि प्रायोपगमन मरण विधीको करते समय विद्या मूत्र वगैरहका निराकरण स्वयं नहीं करते हैं और अन्यके द्वारा भी कराते नहीं हैं.

पुढवी आऊतेऊवणफदितसेसु जदि वि साहरिदो ॥

वोमट्टचत्तेहो अघाउगं पालए तथ ॥ २०६६ ॥

पृथ्वीवाग्वग्निकायादौ निश्चितस्त्यक्तग्रहः ॥

आयुः पालयमानोऽसाधुदासीनोऽवतिष्ठते ॥ २१३८ ॥

विजयोदया—पुढवी आऊतेऊवणफदितसेसु जदि वि साहरिदो पृथिव्यादिषु जीवनिकायेषु यद्यपि केनचित् वाक्कायस्तथापि व्युत्पुष्टशरीरसंस्कारस्त्यक्तदेहः स्वमायुः पालयेत् ॥

पृथिव्यादिष्वपि जीवनिकायेषु केनचित्प्रतिकूलोपसर्गं विकीर्णया प्रतिक्षितोऽप्यसौ तत्रैव क्षियते इत्युपदिशति—  
मूलारा—वोसट्टचत्तेहो संस्कारममकाराविपयीकृतशरीरः । अघाउगं पालए यथायुः प्रवीक्षते । स्वायुःक्षयं यावदवतिष्ठते इत्यर्थः ॥

अर्थ— सचित्त पृथ्वी, अग्नि, जल, वनस्पति इत्यादि जीवनिकायें यदि किसीने उनको फेंक दिया तो वे शरीरसे ममत्व छोडकर अपनी आयुसमाप्ति होनेतक वहांही निश्चल रहते हैं

मज्जणयंगंधपुण्णोवयारपडिचारणे वि कीरंते ॥

वोसट्टचत्तेहो अघाउगं पालए तधवि ॥ २०६७ ॥

गंधमसूनधूपाद्यैः क्रियमाणेऽप्युपग्रहे ॥

त्यक्तदेहतयोदास्ते स स्वजीवितपालकः ॥ २१३९ ॥

विजयोदया—मज्जनयगधपुष्पोदयारपडिचारणे वि कीरतो यद्यपि कश्चिदभिपेक्षयेत् गंधपुष्पादिभिर्वा संस्तुतस्तथापि व्युत्पद्यत्कशरीरो न रुष्यति न तुष्यति न निवारयति ॥  
केनचिदभिपेक्षादिनोपवर्षमाणोयसौ न तुष्यति न रुष्यति नापि निवारयतीत्यस्तुक्कुलोपसर्गोपेक्षामुपदेष्टुमाह—  
मूलारा—तद्यवि तथैव प्रतिशूलोपसर्गवदेत्यर्थः ।

अर्थ—यदि कोह् उनका अभिपेक्ष करेगा अथवा उनको गंध पुष्पादिकोसे पूजा करेगा तो वे उनके ऊपर न क्रोध करते हैं न प्रसन्न होते हैं तथा उनका निवारण भी नहीं करते हैं

वोसट्टचचवेहो दु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अंगं ॥

जावज्जीवं तु सयं तहिं तमंगं ण चालेज्ज ॥ २०६८ ॥

यत्र निक्षिपते देहं निःस्पृहः शान्तमानसः ॥

ततश्चलयेते नासौ यावज्जीवि मनागपि ॥ २१४० ॥

विजयोदया—वोसट्टचचवेहो व्युत्पद्यत्कशरीरो निक्षिपेत् कश्चिद्यस्मिन्मन्याग यावज्जीवं स्वयं तस्मिं स्तदंगं न चालयति ॥

यत्र यथा यत्स्वांगं प्राप्तिक्षिप्तं तत्स्वयामावाञ्च तत्स्वय यावज्जीवं न चालयतीत्यावष्टे—

मूलारा—णिक्खिवेज्जो निक्षिपेत् । जहिं यत्र स्थाने । तहिं तस्मात् । स्थानादवस्थानाच्च ।

अर्थ—जिस के ऊपर इन मुनिने अपना अंग रख दिया है उसपरसे वे मुनि स्वय यावज्जीव अपना अंग त्रिलकुल हिलाते नहीं हैं

एवं णिप्पडियम्मं भणंति पाओवगमणमरहंता ॥

णियमा अणिहार तं सिया य णीहारमुवसग्गे ॥ २०६९ ॥

इत्युक्तं निःप्रतीकारं प्रायोपगमनं जिनैः ॥

नियमेनाचलं श्रेयमुपसर्गे पुनश्चलम् ॥ २१४१ ॥

विजयोदया—एव णिप्पडियारं एवं स्वपरकृतप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनं जिना वदति, निश्चयेन तत्प्रायोपगमन-  
मनीद्वारमवल स्याच्चलमपि उपसर्गे परकृतचलनमपेक्ष्य ॥

उक्तार्थोपसंग्रहमाह—

मूलारा—णियमा अणीहार निश्चयेनाचल स्वकृतशरीरचलनाभावात् । सियाय स्यादपि । णीहारमुवसग्गे  
उपसर्गे परकृतचलनमपेक्ष्य चलमपि भवेदित्यर्थः ।

अर्थ—इस प्रकार स्वयं प्रतिकार किया जाना और अन्यके द्वारा प्रतिकार किया जाना इन दोनों प्रतीका-  
रोसे रहित इस मरणको प्रायोपगमन नामक मरण कहते हैं निश्चयसे यह मरण अनीहार अवल है, परन्तु उपसर्ग  
अपेक्षसे इसको चल भी माना जाता है, —

उवसग्गेण य साहरिदो सो अणत्थ कुणदि जं कालं ॥  
तम्हा वुत्तं णीहारमदो अण्णं अणीहारं ॥ २०७० ॥

उपसर्गहृतः कालमन्यत्र कुरुते यतः ॥  
ततो मतं चलं प्राज्ञैरुपसर्गमृते स्थिरम् ॥ २१४२ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

मूलारा—अणत्थ स्वापात्रस्थानादपरत्र । अदो अतः ॥  
अर्थ—उपसर्ग के वश होने पर स्वस्थानको छोड़कर यदि अन्यस्थानमें मरण हो जाता है तो उसको नीहार

प्रायोपगमनमरण कहते हैं और जो उपसर्ग के अभाव में स्वस्थान में ही हो जाता है उसको अनीहार कहते हैं, —

एतदेवोत्तरगाथया स्पष्टयति—

पडिमापाडिवण्णा वि हु करति पाओवगमणमप्येगे ॥  
दीहद्धं विहरंता इंगिणमरणं च अप्पेगे ॥ २०७१ ॥  
प्रायोपगमन केचित्कुर्वते प्रतिमास्थिताः ॥  
अपधाराधनां देवीभिर्गिनीमरणं परे ॥ २१४३ ॥  
इति प्रायोपगमनम् ॥

विजयोदया—पडिमापीडवण्णा वि दु प्रतिमाप्रतिपन्ना अपि एके प्रायोपगमनं कुर्वति, एके इगिणिमरणं ॥ पाउगं ॥

प्रायोपगमनं केचित्सहेखनामकुत्तैव कायोत्सर्गं प्रतिपन्ना अपि कुर्वन्त्यन्ये पुनश्चिरमुपवासं कृत्वाप्येवमिगिणी मपीति विभार्कं दर्शयति—

मूलारा—पडिमा कायोत्सर्गः । दीदद्धं चिरकालं । विहरिता उपवास कृत्वा । उक्तं च—

प्रायोपगमनं केचिदाश्रितप्रतिमा अपि ।

कुर्वन्त्यन्ये विहृत्योर्बैरिगिणीमरण तथा ॥

इति प्रायोपगमनमरणन्याख्यानं समाप्तम् ॥

इसी प्रायोपगमनमरणका स्पष्टक्रिया करते हैं—

अर्थ— कायोत्सर्ग को धारण कर कोई मुनि प्रायोपगमन मरण करते हैं, और कोई दीर्घकालतक उपवास कर इस मरणसे शरीरका त्याग करते हैं इसी प्रकार इगिणीमरणके भी भेद समझने चाहिये

आगाढे उपसर्गे दुब्बिक्खे सव्वदो विदुत्तारे ॥

कदजोगिसमधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति ॥ २०७२ ॥

उपसर्गे सति प्राप्ते दुर्भिक्षे च दुरुत्तरे ॥

कुर्वन्ति मरणे बुद्धिं परीपहसहिष्णवः ॥ २१४४ ॥

विजयोदया—आगाढे उपसर्गे दुब्बिक्खे सव्वदो विदुत्तारे ॥ २१४४ ॥  
कुर्वन्ति मरणे बुद्धिं परीपहसहिष्णवः ॥ २१४४ ॥  
अत्रिय मरणे कृतोत्साहा भवति । तस्यैव वस्तुन उदाहरणानि उत्तरगाथाभिस्सूच्यते ॥

एव पंडितमरणविकल्पान्मक्तप्रत्याख्यानादींस्त्रीनपि निरूप्य महोपसर्गदौ सति कारणजातमप्याश्रित्य सुभा-  
वितात्मानः कृतपंडितमरणोत्साहा भवन्ति इत्युपदेशार्थं चूलिकागाथापट्कमाह—

मूलारा—दुत्तारे दुरुत्तरे । कदजोगी रत्नत्रययुक्ताः । समाधियासिय उपसर्गोदिसहनसमर्थो । कारणजादेहिं वि अपराण्यपि मरणकारणानि वत्पन्नान्याश्रित्य । अन्यस्तु कारणे जाते इति मन्यते । तदुक्तं—

महोपसर्गे दुर्भिक्षे सर्वतोऽपि दुरुत्तरे । प्रियते कारणे जाते कृतयोग्यधियासिनः ।



प्रायोगमन मरण वर्णन समाप्त हुआ.

अर्थ—महान् उपसर्ग प्राप्त होनेपर तथा जिसकी नष्ट होनेकी आशा नहीं है ऐसा भयंकर पडेनपर रत्नत्रययुक्त, उपसर्ग सहन करनेमें समर्थ—ऐसे मुनिराज मरणमें उत्साहयुक्त हो जाते हैं.

आश्वासः

८

कोसल्य धम्मसीहो अहं साधेदि गिरुपुट्टेण ॥  
 गयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरे विप्पजहिदूण ॥ २०७३ ॥  
 पाडल्लिपुत्ते ध्वादेहुं मामयकदम्मि उवसग्गे ॥  
 साधेदि उसभसेणो अहं विक्खवाणसं किच्चा ॥ २०७४ ॥  
 अहिमारएण गिवदिम्मि मारिदे गहिदसमणल्लिगेण ॥  
 उद्वाइपसमणत्थं सत्थग्गहूणं अक्कासि गणी २०७५ ॥  
 सगडाल्लएण वि तथा सत्तग्गहूणेण साधिवो अत्थो ॥  
 वररुद्धपओगाहेहुं खड्दे गां दे महापड्मे ॥ २०७६ ॥  
 एवं पण्डियमरणं सवियम्पं वणिणंदं सवित्थारं ॥  
 वुच्छामि बालपण्डियमरणं एत्थो समासेण ॥ २०७७ ॥  
 कोशल्लो धम्मसिहोऽर्थं ससाध भ्वासरोधतः ॥  
 कोष्णतीरे पुरे धीरो हित्वा पंद्रथिय नृपः ॥ २१४५ ॥  
 सुतार्थं पाटलीपुत्रे मातुलेन कदर्थितः ॥  
 जग्राह्वर्षभसेनोऽर्थं वैखानससृतिं अितः ॥ २१४६ ॥  
 नृपे हते हि चोरेण यतिल्लिगमुपेयुषा ॥  
 आचार्यः संघशान्त्यर्थं शक्रग्रहणतो मृतः ॥ २१४७ ॥

शुद्धमहर्षिः स्वार्थः शुकटांल्लेन साधितः ॥

कुंतींऽपि रेतुतः कुंजं नदं सति महीपतौ ॥ ११४८ ॥

अकारिं पंडितस्येति सप्रपचा निरूपणा ॥

हंदांभी वणीयिष्यमि मरणं बालपंडितम् ॥ ११४५ ॥

इति पंडितमरणम्

विजयोक्ष्यी—पण्डितमरण ॥ एवं पण्डितमरणे सविकल्पे सविस्तरं व्याख्येयं, यस्यामि बालपण्डित-  
मरणमित् अर्चं संक्षेपेण ॥

धर्कार्थसमर्थनार्थमर्थाल्यानचतुष्टयमाचष्टे ॥

मूला—‘‘नोसंलिय अयौध्यायी । घन्मसीहो धर्मसिहो नामे राजा । अट्ट ओराधना । साधेदि साधयति ।

तत्कालापेक्षया वर्तमाना, साधयति स्मैत्यर्थः । एवंमुत्तरत्रापि । गंधुपेटुण हस्तिक्लेबप्रवेशेन । कोहगिरे कोहगिरि-  
नाम्नि । चंदसिरि चंद्रश्रीसंज्ञिता रवंभार्या । विष्णजहिदूण ल्यंक्त्वा ॥

मूलारा—धूदाहेतुं पुत्रीनिमित्तं । मामयकदंभि मधुरेण कृते । विरूखणसं वैरवानसं खासनरोधमित्यर्थः ।

मूलारा—अहिमाररण अहिमारकान्ना बुद्धोपासकेन । निवदिमि सावस्तिकानगरीनाये जयसेनाख्ये ।  
उद्धाहपसमणत्यं स्वापवादनिवारणार्थः । अकासि कृतवान् । गणी यतिवृषभनाम्नाचार्यः ।

मूलारा—सर्गबालरणे शकटालनान्ना मुनिना । सत्यगहणेण छुरिकया जठरविदारणेन । वररुचिपओगहेडु  
वररुचिप्रयोगेण हेतुना । महांपक्वमे महांपक्वमे महांपक्वमीचार्यस्य संभाषे प्रतिपक्षदक्षिणेत्यर्थः ।

मूला—‘‘पसंहारपुरःसरं व्याख्येयातरसुपक्षिपति—

मूलारा—‘‘संविद्यपं भर्तृप्रत्याख्यानेगिनीप्रयोगमनभेदत्रयसंज्ञितं । बूळिका ॥ ६ ॥ इति पंडित मरणव्याख्यानं  
समाप्तम् ॥

इनके कुछ उदाहरण दंतति हैं—

अर्थ—अयोध्या नगरमें कीलुगिरिपर्वतपर धर्मसिंह नामक राजाने अपनी पत्नी चंद्रश्रीका त्यागकर हा-  
थीके छरीरमें प्रवेशकर आराधनाकी सिद्धि की है पाटलिपुत्र नगरमें अपनी पुत्रीके लिये मामाके द्वारा उपसर्ग

किया जानेपर वृषभसेन नामक पुरुषने आसरोध करके आराधना की सिद्धि की है अहिमाकनामक बुद्धधर्मका उपासक पुरुष था उसने मुनिका वेप धारण किया था, उसने स्रावस्ती नगरीके जयसेन राजा को मार दिया. उस समय अपने ऊपर राजाको मारनेका अपवाद आयेगा इस हेतुसे वृषभसेन नामक आचार्यने शस्त्रके द्वारा अपना घातकर आराधनाकी सिद्धि की है शकटाल नामक मुनिने महापद्म नामक धर्माचार्यके समीप दीक्षा धारण की थी इस शकटाल मुनिने वररुचिके कारण शस्त्रसे अपना घात कर आराधनाओंकी सिद्धि की है

इस प्रकार पंडित मरणका विकल्पोके साथ आचार्यने सविस्तर वर्णन किया है. अब यहांसे बालपंडित मरणका संक्षेपमें वर्णन करते हैं

देसेकदेसविरदो सम्मादिट्ठी मरिज्ज जो जीवो ॥  
ते होदि बालपण्डिदमरणं जिणसासणे दिहं ॥ २०७८ ॥  
संयतासयतो जीवः सम्यग्दर्शनभूषितः ॥  
यत्तस्य मरण प्रोक्तं श्रुतज्ञैर्बालपंडितम् ॥ २१५० ॥

विजयोव्या—देसिस्केदसविरदो सर्वासंयमप्रत्याख्यानस्यासमर्थं हिंसाद्येकेदेशाद्विरतः स्थूलभूत प्राणातिपातादिपंचकाहेशविरत इत्युच्यते । एकेदेशविरतो नाम देशविरमणेपि एकदेशाद्वावृत्त सम्यग्दृष्टिर्गोत्रियते तस्य तद्बालपण्डितमरण ॥

अथातो बालपंडितमरणं गाथादशकेन व्याचिख्यासुरादौ स्वाभिनिवेशमुखेन तल्लभयति—  
मूलारा—देसेकदेसविरदो स्थूलहिंसादिपचकान्मनोवाक्कायकृतादिना व्यावृत्तो देशविरत इत्युच्यते । एकदेशविरतस्तु देशविरमणेऽपि एकदेशाद्वावृत्तः । स्वशक्यलनुसारेण कृतहिंसादिनिवृत्तिरित्यर्थः । एतेन सकलेन विकलेन च सागारधर्मेण युक्तः श्रावको निर्दिष्टः । तं तस्य ॥

अर्थ—स्थूलहिंसादि पापोंसे मन, वचन, शरीर, कृत, कारित और अनुमोदन इनके द्वारा जो विरक्त हुआ है उसको देशविरत कहते हैं. और एक देशविरत उसको कहते हैं कि जो एक देशविरतिके भी एक देशसे विरक्त

है अर्थात् अपनी शक्तोंके अनुसार जिसने हिंसादिकसे निवृत्ति धारण की है, संपूर्ण गृहस्थके व्रत पालनेवाला अथवा कुछ व्रत पालनेवाला ऐसा जो सम्यग्दृष्टि उसके मरणको जिनगर्भमें बालपंडित मरण कहते हैं.

एतदेव स्पष्टयति ॥

पंच य अणुव्वाह सत्तयासिक्खाउ देसजदिधम्मो ॥

सव्वेण य देसेण य तेण जुदे होदि देसजदी ॥ २०७९ ॥

पंचघाणुव्रतं प्रोक्तं त्रिधा प्रोक्तं गुणव्रतम् ॥

शिक्षाव्रतं चतुर्थी च धर्मो देशयनेरयम् ॥ २१५१ ॥

विजयोदया—पंच य अणुव्वाह पचाणुव्रतानि शिक्षाव्रतानि वा सप्त प्रकाराणि देशयनेर्धम्म तेन समस्तेन धर्मेण युत स्वशक्त्या वा तदेकदेशेन युतोऽपि देशयतिरेव द्वादशविधगृहिवर्मप्रत्ययानपरानि सूत्राण्युत्तराणि प्रसिद्धार्थानि ॥

देशैर्ऋदेशविरतपदार्थविवरणार्थमाह—

मूलारा — भिक्षुत्वाञ्चो गुणव्रतत्रय, चत्वारि, शिक्षाव्रतानीत्यर्थः । सव्वेण सम्यक्त्वपूर्वकद्वादशव्रतात्मकेन । देसेण सदृशेन सनाथस्वशक्त्युपकल्पितव्रतरूपेण ॥

अर्थ—सम्यक्त्वके साथ पाच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत ये गृहस्थके धर्म हैं इसलिये इन चारा व्रतोंसे जो युक्त है उसको—उस गृहस्थको देशयति कहते हैं इस मंपूर्णे धर्मोंसे अथवा स्वशक्तिसे उस धर्मके एक देशसे जो युक्त है वे भी गृहस्थ देशयति कहे जाते हैं

पाणवधमुसात्रादात्तादाणपरदारगमणेहिं

अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विस्मणाइं ॥ २०८० ॥

जं च दिसावेरमणं अणत्थदडोहिं जं च वेरमणं ॥

देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइ ॥ २०८१ ॥

भोगाणं परिसंखा सामाद्वयमतिहिंसंविभागो य ॥  
 पोसहविधी य सञ्चो चदुरो सिकखाउ बुत्ताओ ॥ २०८२ ॥  
 आसुक्कोरे मरणे अन्वोच्छिण्णाए जीविदासाए ॥  
 णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसहेहणमकासी ॥ २०८३ ॥  
 हिंसामसुनृतं स्तेयं परनारीनिषेवणम् ॥  
 विमुचतो महालोभं पंचधाणुव्रतं मतम् ॥ २१५२ ॥  
 दिग्देशानर्थदडानां त्यागस्त्रेधा गुणव्रतम् ॥  
 शिक्षाव्रतमिति ग्राह्यश्चतुर्भेदमुदाहृतम् ॥ २१५३ ॥  
 भोगोपभोगसख्यानं सामायिकमखंडितम् ॥  
 संविभागोऽतिथीनां च प्रोषधोपवितत्रतम् ॥ २१५४ ॥  
 सहसोपस्थिते मृत्यौ महारणे दुरुत्तरे ॥  
 स्ववांधैवरनुज्ञातौ याति सहेखनामसौ ॥ २१५५ ॥

विजयोदया—आसुक्कोरे मरणे सहसा मरणे अच्छिन्नायां जीवितांशायां यंशुभिर्वा न मुक्त नामकृत्वा कृतालोचनो निश्चल्यं. स्वयं पत्र संस्तरमाकण्ठं देशवैरतस्य मृतिर्यालपण्डितमित्युच्यते ॥

पंचाणुव्रतनिर्देशार्थमाह—

मूलारा—दिसाविरमणं सर्वहिंसादिनिवृत्त्यर्थं द्विविदिगमनं परिभाषावधारणं. अणत्थंदेहि पापोपदेशहिंसो पकरणदानापध्यानकुशाश्रवणप्रमादाचरणेभ्यः पंचभ्यः. देसावगासियं गृहश्रेत्रादिषु हिंसादिनिवत्यर्थं स्थितिगमनादि परिमाणकरणम् ॥

शिक्षाव्रतचतुष्टयं दर्शयति—

मूलारा—भोगाणं पक्षिसंख्या भोगोपभोगपरिमाणं. सामाद्वियं. त्रिकालदेवदंनार्दिकं. अदिधि पात्रं. पोस-  
 धविधी पर्वचतुष्टये उपवासैकभक्तोदितपञ्चरणं. सिकखावो शिक्षाव्रतानि ।

यथोक्तश्रावकस्याकृतसंख्येनस्य मरणं बालपंडिनमरणसंज्ञया व्यपदेष्टुं गाथाद्वयमाह—  
मूलारा—आसुकारे सहसोपस्थिते । शब्बोच्छिन्नाए अच्छिन्नाया ॥

गृहस्थके वारा व्रतोंका वर्णन.

अर्थ—ग्राणोंका घात करना, असत्य बोलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना, परिग्रहमें अमर्याद इच्छा रखना, इन पापोंसे विरक्त होना अणुव्रत है सर्व हिंसादि पातकोंका त्याग करनेके लिये दिशा तथा विदिशोंमें गमन का परिमाण करना दिग्व्रत है. पापेक्ष, हिंसादान, अपघ्यान, कुशास्त्रश्रवण और प्रमादयुक्त आचरण इन पांच अकार्योंसे विरक्त होना अनर्थदंडव्रत कहा जाता है घर, खेत वगैरह की मर्यादा कर हिंसादिनिवृत्ति करना अर्थात् क्षेत्रादि मर्यादाके बाहर जानेका त्याग करना, मर्यादामें ही रहना दशावकाशित व्रत है भोग और उपभोगोंका परिमाण करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है. त्रिकालमें देववन्दनादि करना सामायिक है. चारों पर्वतिथियोंमें उपवास करना, एकदफे भोजन करना इत्यादि तप करना ग्रांथोपवास व्रत है पात्रको दान देना आतीथसंविभागव्रत है, ये चार शिक्षाव्रत हैं इन व्रतोंको पालनेवाले गृहस्थ सहसा मरण आनेपर, जीवितकी आशा रहनेपर, अथवा बंधुओंने जिसकी दीक्षा लेनेकी सम्मति नहीं दी है ऐसे प्रसंगमें शरीरसंख्येखना और कपायसंख्येखना न करके भी आलोचना कर, निःशुल्य होकर घरमें ही सस्तरपर आरोहण करता है ऐसे गृहस्थकी मृत्युको बालपंडित मरण कहते हैं

आलोचिदग्निस्संख्यो सधरे चेवाश्रहितु संथारं ॥

जदि मरदि देसविरदो तं बुचं बालपण्डिदयं ॥ २०८४ ॥

जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वित्थरेण णिहिट्ठो ॥

सो चेव बालपण्डिदमरणे नेओ जहाजोग्गो ॥ २०८५ ॥

वेमाणिएसु कप्पोवगेसु णियमेण तस्स उववादो ॥

णियमा सिज्झदि उवकस्सएण वा सत्तमम्मि भवे ॥ २०८६ ॥

इय बालपंडियं होदि मरणमरंहतसासणो दिट्ठं ॥  
 एत्तो पण्डिदपण्डिदमरणं वोच्छं समासेण ॥ २०८७ ॥  
 विधायालोचनां सम्यक् प्रतिपद्य च संस्तरम् ॥  
 अग्रियते यो गृहस्थोऽपि तस्योत्तं बालपण्डितं ॥ २१५६ ॥  
 प्रोक्तो भक्तप्रतिज्ञायाः प्रक्रमो यः सविस्तरम् ॥  
 अत्रापि स यथायोग्यं द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः ॥ २१५७ ॥  
 येन देशयति ना निषेव्यते बालपंडितमृत्तिर्निराकुला ॥  
 भोगसौख्यकमनीयतावधिः कल्पवासिविबुधः स जायते ॥ २१५८ ॥  
 एकदा शुभमना विपद्यते बालपंडितमृत्तिं समेत्य यः ॥  
 स प्रपद्य नरदेवसंपद सप्तमे भवति निर्वृतो भवे ॥ २१५९ ॥  
 इति बालपंडितम् ॥

एवं समासतोऽवाचि मरणं बालपंडितम् ॥  
 अधुना कथयिष्यामि मृत्यु पंडितपंडितम् ॥ २१६० ॥  
 विजयोदया—स्पष्टार्थवया गाथा ॥ बालपण्डिद ॥

मूलारा—आलोचिद विधिवल्लुतालोचनः । निःसल्लो मायानिदानमिद्व्यात्वमुक्तः । सघरे केव स्वगृहे एव,  
 न चैत्यालयादौ ।

तत्प्रयोगविधिमतिदिशति—

मूलारा—जघाजोगो यो यो योग्यः श्रावकर्त्तव्योचितः । शीलविनयसमाध्यादिः स स इत्यर्थः ।

तरफलमभ्युदयपुरःसरं निःश्रेयसमवश्यतया निरूपयति—

मूलारा—कप्पोवगेषु सौघमार्दिकल्पोपपन्नेषु देवेषु मध्ये । तस्स बालपंडितमृतस्य ।

प्रस्तुतोपसंहारपुरस्सरं व्याख्येयान्तरमुपश्लिषति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥ इति बालपंडितमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ—भक्तप्रत्याख्यान मरणमें जो प्रयोगविधि विस्तारसे हमने कहा है. वही इस बालपंडितमरणमें गृहस्थ के योग्य समझना चाहिये श्रावकके रत्नत्रय को योग्य ऐसा जो जो विनय, समाधि वगैरह विधि है वह यहां भी समझना चाहिये बालपंडित मरणसे मरण करनेवाला श्रावक नियमसे सौधमादिकल्पोंमें उत्पन्न होता है. तदनंतर उत्कृष्टतासे सात भवोंमें वह नियमसे सिद्ध होता है इस प्रकार अरहंतके आगममें बालपंडित मरणका स्वरूप कहा है. अब यहांसे आगे पंडितपंडितमरणका स्वरूप हम (आचार्य) कहते हैं.

साहू जधुत्तचारी वट्टतो अप्पमत्तकालम्मि ॥

ज्झाणं उवेदि धम्मं पविट्ठकामो खवगसेट्ठिं ॥ २०८८ ॥

अप्रमत्तगुणस्थाने वर्तमानस्तपोधनः ॥

आरोढु क्षपकश्रेणीं धर्मध्यानं प्रपद्यते ॥ २१६१ ॥

विजयोदया--साहू जधुत्तचारी शास्त्रोक्तेन मार्गेण प्रवर्तमानस्साधुरप्रमत्तगुणस्थानकाले धर्म्य ध्यानं मुपैति क्षपकश्रेणीं प्रवेष्टुकामः ॥

अर्थ—बालवालमरणादिचतुष्टयं प्रणिगद्य पंडितपंडितमरणं गाथाद्वयासप्तत्या निरूपयञ्जीविन्मुक्तिप्राप्तुर्भविष्यक्रमं पंचदशगाथाभिरभिधत्ते—

मूलारा—पविसिद्धकामो प्रवेष्टुमिच्छन् ।

अर्थ—शास्त्रोक्त मार्गका अनुसरण करनेवाले मुनिराज अप्रमत्तगुण स्थानमें क्षपकश्रेणीकी प्राप्ति कर लेनेके लिये धर्मध्यानको धारण करते हैं

ध्यानपरिकरं याज्ञं प्रतिपादयति—

सुचिए समे विचित्ते देसे णिज्जंतुए अणुणाए ॥

उज्जुअआयदेहो अचलं वधेत्तु पल्लिअंकं ॥ २०८९ ॥

अनुज्ञाते समे देशे विविक्ते जंतुवज्जिते ॥

ऋज्वायतवपुर्पर्यष्टिः कृत्वा पर्यकयंधनम् ॥ २१६२ ॥



विजयोदया—सुचिप समे शुबौ समे एकाते देशे निज्जंतुके अनुह्राते तत्स्वामिभिः क्रज्जायतदेह. पल्यंकमचलं वद्ध्वा ॥

धर्म्यध्यानस्य बाह्यपरिकर्मानुसरयितुं गाथात्रयमाह—

मूलारा—विविक्ते एकान्ते । अणुणादे तदधिष्ठादेवताभिरनुमते ।

धर्म्यध्यानके बाह्यपरिकरका वर्णन—

अर्थ—पवित्र, सम, निर्जन्तुक, देवतादिकांसे अनुमति जहां ली गई है ऐसे स्थानपर मुनि निश्चल खड़े होकर अथवा पल्यंकासनसे ध्यान करते हैं

वीरासणमादीयं आसणसमपादमादियं ठाणं ॥

सम्मं अधिट्ठिदो अघ वसेज्जमुत्ताणसयणादि ॥ २०९० ॥

वीरासननादिकं बद्ध्वा समपादादिकां स्थितिम् ॥

आश्रित्य वा सुधीः शय्यामुत्तानशयनादिकम् ॥ २१६३ ॥

विजयोदया—वीरासणादिग वीरासननादिकमासन वद्ध्वा समपादादिना स्थितौ वा अथवा उत्तानशयनादिना वा वृत्तः ॥

मूलारा—सयणादी आदिशब्देनैकपाश्चादिशयन ।

अर्थ—वीरासननादिक आसनसे बैठकर अथवा समपादादिकसे खड़े होकर किंवा उत्तान शयनादिकसे सोते हुए धर्मध्यान करते हैं

पुव्वभणिदेण विधिणा ज्ञायदि ज्ञाणं विसुद्धलेस्साओ ॥

पवयणसंभिण्णमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥ २०९१ ॥

पूर्वोक्तविधिना ध्याने शुद्धलेश्यः प्रवर्तते ॥

योगी प्रवचनाभिज्ञो मोहनयशस्योद्यतः ॥ २१६४ ॥

विजयोदया—पुव्वभणिदेण विधिणा पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याने प्रवर्तते विशुद्धलेश्य । प्रवचनार्थमनुमविष्टमिति. मोहनीयं शयं नेतुमुद्यत ॥

मूलारा—पवयणसंभिणमदी चतुर्दशपूर्वोर्ध्वतुलुप्रविष्टद्विः ॥

अर्थ—मोहनयिकर्मका क्षय करनेमें उद्युक्त होकर चौदहपूर्वमिं कहे गये जीवादिक पदार्थोंके तरफ अपनी बुद्धिका उपयोग लगाते हैं और परिणामोंको निर्मलकर पूर्वोक्त विधिसे धर्मध्यान करते हैं

संजोयणाकसाए खवेदि झाणेण तेण सो पढमं ॥

मिच्छत्तं सम्मिस्सं कमेण सम्मत्तमवि य तदो ॥ २०१२ ॥

पूर्वं संजोजनान्हन्ति तेन ध्यानेन शुद्धधीः ॥

मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वश्चित्तं क्रमतस्ततः ॥ २१६५ ॥

चिजयोदया—संजोयणाकसाए अनंततुलुघिनः क्रोधमानमायालोभान् क्षययति ध्यानेन, तेनासो प्रथमं मिथ्यात्व, सम्यग्ब्रिथ्यात्व, सम्यक्त्वं च क्रमेण एवं प्रकृतिसप्तक विनाश्य क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकश्रेण्यधिरोहोभिमुखोऽस्य प्रवृत्तकरणं अग्रमत्तरयाने प्रतिपद्य ॥

धर्मध्यानक्षपणीयसम्यक्त्वघातिमोहप्रकृतिसप्तकक्षपणमुपदिशति—

मूलारा—संजोयण अनन्तससारकारणत्वादनर्तं मिथ्यात्वं अनुबन्तीत्यनंततुलुघिनः । क्रोधादीनामवस्थाविशेषाश्चत्वारः संजोजनान्हनोच्यते । तेण धर्मेण । मिच्छत्तं मिथ्याद्यौभिनिवेशनिमित्तं दृग्मोहनीयं । सम्मिस्स सम्यग्मिथ्यात्वं सामिदुद्धस्वरसं मिथ्यात्वमित्यर्थः सम्मत्तं सम्यक्त्व शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं मिथ्यात्वमित्यर्थः । तदुदयेपि तत्त्वार्थश्रद्धान् स्यात् ॥

अर्थ—मिथ्यात्वको ससारका कारण होनेसे अनंत कहते हैं. इस अनंतका अर्थात् मिथ्यात्वका संबन्ध करा देने वाले कर्पायोंको—क्रोध, मान, माया और लोभको अनंततुलुघनी कणाय कहते हैं धर्मध्यानसे इन कर्पायोंका मुनिराज नाश करते हैं तत्त्वोंपर मिथ्याश्रद्धान् कराने वाली कर्म प्रकृतिको मिथ्यात्व कहते हैं. जिसमें आधी शुद्धता उत्पन्न हुई है ऐसे कर्मको सम्मिश्र अर्थात् सम्यग् मिथ्यात्व कहते हैं इस कर्मके उदयेसे एक समयमें मिथ्यात्व और सम्यक्त्व परिणाम युगपत् उत्पन्न होते हैं. शुभपरिणामसे अतत्त्वश्रद्धान् परिणाम उत्पन्न करानेवाली शक्ति जिसकी नष्ट होगई है ऐसे मिथ्यात्व प्रकृतिको सम्यक्त्व कहते हैं इन सारोंका क्षय करके अग्रमत गुणस्थानवर्ती शुनि क्षायिक सम्यक्त्वी होते हैं तदनंतर धर्मध्यानसे क्षपकश्रेणीपर आरोहण करनेकेलिये उन्मुख होते हैं

क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणिपर चढनेके लिए उद्युक्त होते हैं तब प्रथमतः अप्रमत्त गुणस्थानमें अधः करणको प्राप्त होते हैं।

अथ खवयसेढिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरणं सो ॥  
होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वंति ॥ २०९३ ॥  
आरुह्य क्षपकश्रेणीमपूर्वकरणो यतिः ॥  
भूत्वा प्रपद्यते स्थानमनिवृत्तिगुणाभिधम् ॥ २१६६ ॥

विजयोदया—अथ खवगसेढिमधिगम्म अथ क्षपकश्रेणीमधिगम्य करोति साधुरपूर्वकरणमसौ । किं तदपूर्व करणमित्याशंकायामुच्यते । होधि तमपुव्वकरणं भवति तदपूर्वकरणं, कदाइ अप्पत्तपुव्वंति कदाचिदप्राप्तपूर्वमिति ॥

धर्मध्यानेनासयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु चतुर्ध्वन्यतमस्थितः सम्यक्त्वघातिप्रकृतिसप्तक निशात्य क्षायिकसम्यक्त्वमध्यास्य क्षपकश्रेणारोहणाभिमुखः सन्नप्रमत्तस्थाने तथा प्रयुक्तकरणमधिगम्य साधुरपूर्वगुणं क्षपकश्रेणिप्रथमसोपानमारोहतीत्युपवेण्डुमाह—

मूलारा—अथ क्षपकश्रेणारोहणमधिक्रियते इत्यर्थः । सो धर्मध्यानसाधितप्रथमशुद्धध्यानोपक्रमः । कयाइ कदाचित् । अनादिकालं । अपत्तपुव्वंति पूर्वं अप्राप्ता परिणामा यस्मिंस्तदिदं अप्राप्तपूर्वं यतः ।

अर्थ—क्षपक श्रेणिकी प्राप्ति होनेके अनंतर ये मुनिराज अपूर्व करणको करते हैं यह अपूर्वकरण पूर्वमें कभी प्राप्त नहीं हुआ था अतः इसको अपूर्वकरण यह अन्यर्थक नाम है अनादिकालमें ये परिणाम इस जीवको प्राप्त नहीं हुए थे क्योंकि धर्मध्यानके अनंतर प्रथम शुक्लध्यानकी प्राप्ति पूर्वकालमें कभी नहीं हुई थी

\* अणिवित्तिकरणणमं णवमं गुणठाणयं च अधिगम्म ॥  
णिद्धानिद्वा पयलापयला तघ थीणगिद्धिं च ॥ २०९४ ॥

४४ टिप्पणी—अथ सो खवेदि भिक्खू अणियट्ठिगुणमुषगमित्तणं ॥ इति मूलाराधनायां पाठः ॥

सूक्ष्मसाधारणोद्योतस्थानगृद्धिप्रयासपान् ॥

एकाक्षविकलाख्यानां जातिं तिर्यग्य मुनिः ॥ २१६७ ॥

विलयोदया—अग्नियष्टिकरणणाम णवम गुणटानमधिगम्य अनिवृत्तिगुणस्थानसुपगम्य गिद्वाणिदा पयलाप-  
यला निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलां स्थानगृद्धिं च ।

अनिष्टुत्तिबादरसापरायक्षपकस्थानं प्राप्य क्रमेण क्षपणीयानि कर्माणि गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा—अथ अपूर्वकरणानंतरं । सो पृथक्स्ववितर्कवीचाराख्यशुक्लध्यानप्रविष्टः । रववेदि वक्ष्यमाणान्निद्रा  
निद्रादीन्सप्तत्रिंशत्कर्मविशेषान् । पोटशष्टैकैरुसंख्याक्रमेण विश्लेषयतीति समुदायार्थः । अग्नियष्टिगुणसुवर्गवित्ताण अनि-  
ष्टुत्तिकरणप्राप्त्या अनिवृत्तिबादरसापरायक्षपकगुणस्थानसुपगम्य । गिद्वाणिदा भुक्कान्नपरिणाममदयेदक्कलमादेर्वित्तोदार्यो  
निद्राख्यदर्शनावरणकर्मविशेषविपाकनिमित्तो जीवस्थैदियात्ममनो—गरुत्स्फुमावस्थालक्षणं स्वापो निद्रा । निद्राया उपरि  
उपरि धृत्तिर्निद्रानिद्रा । निद्रानिद्रादर्शनावरणकर्मविशेषोद्योज्यञ्चतनस्य दुःस्रप्रबोधस्वापपरिणाम इति यावत् ॥ उक्तं च—

णिदा सुहृपडिवोहा गिद्वाणिदा य दुक्कलपाडिवोहा ॥

पयला होइ ठियस्स वि पयलापयला य चंक्रमंतस्स ॥

पयलापयला या क्रियात्मानं प्रचलयति घूर्णयति सा प्रचला प्रचलाख्यदर्शनावरणकर्मविशेषविपाकवशस्य  
जीवस्यासीनस्यापि शोकश्रममदादिप्रभवो नेत्रगात्रविक्रियासूचितः स्यापपरिणाम इत्यर्थः । प्रचलेव पुनःपुनरावर्तमाना  
प्रचलाप्रचला । चक्रममाणस्यापि आत्मनः प्रचलाप्रचलादर्शनावरणकर्मविकल्पविपाकवशाज्जायते । शोणमग्निं स्वप्ने  
यया वीर्यविशेषाग्निर्भावः सा स्थानगृद्धिदर्शनावरणकर्मविशेषः । स्यात्ते स्वप्ने गृह्ययति यदुदयादात्मा रौद्रं बहु कर्म करोति ।  
अत्र निद्रादिशब्दैर्हैतुफलभावापन्नभावस्वभावदर्शनावरणकर्मविकल्पाः पुहलजीवविवर्त्ता गृह्यन्ते ॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरण नामक नवमं गुणस्थानको ग्राप्त होनेपर मुनिराज निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला,  
स्थानगृद्धि इनका नाश करते हैं

विशेषार्थ—पृथक्त्वं वितर्क विचार नामक ध्यानमें प्रवेश करनेपर निद्रा निद्रादिक सदतीस कर्म प्रकृ-  
तियोंका क्षय करते हैं, उस समय वे अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें रहते हैं।

निद्रा—भोजन किए हुए अवका मद् उत्पन्न होनेसे, तथा खेद, क्रुम इनको नष्ट करनेके लिए सो  
जाना उसको निद्रा कहते हैं जब निद्रा नामक दर्शनावरण कर्मविशेषका उदय होता है तब जीवके इंद्रिय

और मन तथा आसोच्छ्वासकी सूक्ष्म प्रवृत्ति होती है. पुनः पुनः निद्रा जन आती है तब उसको निद्रा निद्रा कहते हैं अर्थात् निद्रा निद्रा नामक दर्शनावरण कर्मके उदय से बड़े कष्टमें जागृतावस्था उत्पन्न होती है परन्तु निद्रा जल्दी खुलती है बँट हुआ मनुष्य के अगमों, नेत्रोंमें जो विक्रिया उत्पन्न होती है उसको प्रचला कहते हैं. यह अवस्था प्रचला दर्शनावरण कर्मके उदयसे होती है ऐसी अवस्था पुनः पुनः उत्पन्न होना उसको प्रचला प्रचला कहते हैं. यह अवस्था प्रचला प्रचला दर्शनावरण कर्मोदयसे होती है

निद्रामें जिसके उदयसे चीरविशेष प्रगट होता है उस कर्मको स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म कहते हैं. इसके उदयसे रौद्रकर्म आत्मा करता है निद्रादिरूप परिणति जो होती है. उसको भाव निद्रा, भाव प्रचला वगैरे कहते हैं. और निद्रादि कर्मोंको जो उदय है वह पुद्गल द्रव्यकी विशेष अवस्था है.

गिरयगदियाणुपुर्वि गिरयगदिं थावरं च सुहुमं च ॥  
साधारणादुज्जोवितिरयगदिं आणुपुर्वीए ॥ २०९५ ॥  
स्थावर नारकद्वंद्व पोडश प्रकृतीरिमा ॥  
प्लोपते प्रथमं तत्र शुक्लध्यानकृशानुना ॥ २१०८ ॥

विजयोदया—गिरयगदियाणुपुर्वि नरकगत्यानुपूर्वि, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, उद्यो न तिर्यगगत्यानुपूर्वि ॥

मूला—गिरयगदिं आणुपुर्वि यदुदयादात्मा भवातर गच्छति सा गतिः । नरकस्य गतिर्विरफगतिरात्मनो नार-  
कभावनिमित्त नामकर्मविशेषः । पूर्वेशरीराकारविनाशो यस्योदयाद्वति तदानुपूर्व्यालं नाम । यस्यपूर्वेशरीराकारं  
अविनाशय जीवेन सह नरकादियावदेव श्रोलापकवद्वच्छति तन्नरकादिगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यादिभेदाच्चतुर्विधं, तन्मध्यावन्न  
नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं क्षपयतीति सवधः । थावरं स्थावरालय जीवस्यैकद्विषेपु प्रादुर्भावकारणं नामकर्म । सुहुम सूक्ष्म-  
संज्ञं परानुपवातकसूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं नामकर्म । साधारण बहुनामात्मना उपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति  
तत्साधारणशरीरनाम । आदव यदुदयादातपन निष्पद्यते तदातप नाम तच्च प्राप्तोदयमादित्ये वर्तते ॥

उज्जोवो—उद्योतननिमित्तमुद्योतनाम तच्चद्रवयोतादिषु स्वफलाभिव्यक्तं वर्तते ॥ तिरियगदिं आणुपुर्वीओ  
तिर्यगगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं ॥

अर्थ—इस अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें जैसे निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, और स्थानगृद्धि इनका नाश होता है वैसे नरकगत्यानुपूर्वी, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी इन कर्मोंका भी नाश होता है

जिसके उदयसे आत्मा भगंतरको प्राप्त होता है उस कर्म को गतिकर्म कहते हैं आत्माको नरकावस्थाकी प्राप्ति जिम कर्म के उदयसे होती है उस कर्म को नरकगति नामकर्म कहते हैं पूर्ण शरीराकार का नाश जिस कर्म के उदय से नहीं होता है उस कर्म को आनुपूर्वी कर्म कहते हैं पूर्वशरीरका नाश न कर जो कर्म जीवके साथ नरक तक जाता है उसको नरकगत्यानुपूर्वी कर्म कहते हैं जो जीवको ऐकेंद्रिय प्राणिसं उत्पन्न करता है ऐसे कर्म को ऐकेंद्रिय कहते हैं, दूसरों को जिससे बाधा नहीं होती है ऐसे सूक्ष्म शरीरको निर्माण करनेवाले कर्म को सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं जो शरीर बहु आत्माओं को उपभोग्य बनता है अर्थात् जिसमें, अनन्त जीव रहते हैं ऐसा जो निगोदशरीर उसको साधारण शरीर कहते हैं एसा शरीर जिससे बनता है उस को साधारण नाम कर्म कहते हैं जिमके उदय से संताप उत्पन्न होता है ऐसे कर्म का आतपनाम कर्म कहते हैं, इस कर्मका उदय सूर्य के निर्वास रहता है उद्योत को निमित्त जो कर्म है उसको उद्योतनाम कर्म कहते हैं इस कर्मका उदय चंद्र विंश, खद्योत-जुगनु इत्यादिकों में पाया जाता है तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्व्य-जिमके उदयसे जीव के पूर्व शरीराकारका नाश नहीं होता है तथा जो जीवको तिर्यच गतिकरु ले जाता है उसको तिर्यग्गति आनुपूर्वी कहते हैं

इगविगतिगचतुरिदियणामाई तथ तिरिक्खगदिणाम ॥

खवयित्ता मज्झिहे खवेदि सो अट्टवि कसाए ॥ २०१६ ॥

कपायान्मध्यमानष्टौ पंदबेदं निकुन्तति ॥

स्त्रावेद क्रमतः षट् हास्यादीनां ततः परम् ॥ २१६० ॥

विजयोदया—एगविण एकद्वित्रिचतुरिदियजाती, तिर्यग्गति, अप्रत्याख्यानचतुष्क, प्रत्याख्यानचतुष्कं च भणयति ॥

गूळारा—एगविणियचवदिदियणामओ एकेन्द्रियादिजातीअतत्त इत्यर्थः । नरकादिगतिष्वव्यभिचारिणा साह-

श्यनैकीकृतोऽथ, त्या जातिः । तत्कारणं जातिनामकर्म तथैकैन्द्रियादिजातिविकल्पात्पचथा । यदुदयादात्मा एकैन्द्रिय इति शब्दयते तदेकैन्द्रियजातिनाम । एवं जेपेनपि योब्यम् । पचयित्ता निद्रानिद्रादिका यथोक्ता कर्मप्रकृतीयुग-पद्विरूपेण । अठुवि ईपत्प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यान देशसंयममावृण्वन्ति नितुन्धन्तीत्यप्रत्याख्यानानवरणा क्रोधमानमाया लोभाः । अल्पस्यापि देशसंयमस्य शक्ति र्वोदयेन हन्ता । प्रत्याख्यान सकलसंयम आवृण्वन्तीति प्रत्याख्यानानवरणा क्रो-वाद्यः कृस्तनसयमशक्तिविधातिविपाकाः । तानग्रापि मध्यमकपायान्श्रपयतीति भन्वथ ।

अर्थ—इस ही गुणस्थानों में एकैन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय जाति, तिर्यग्गति नाम कर्म, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ इतने कर्मोंका क्षय होता है एकैन्द्रियादि चार जातिकर्मोंका इस गुणस्थानमें क्षय होता है नरकादि गतिओंमें अविरुद्ध ऐसे सादृश्यसे एक रूप दिखानेवाला जो पदार्थका धर्म उसको जाति कहते हैं इसीको सामान्य भी कहते हैं यह सामान्यावस्था जिसमें उत्पन्न होती है ऐसे कर्मको जाति नामकर्म कहते हैं उसके एकैन्द्रिय जाति चारोंपंच भेद हैं जिसके उदयसे आत्मा एकैन्द्रिय माना जाता है ऐसे कर्मको एकैन्द्रिय जातिकर्म कहते हैं इसी प्रकार द्वीन्द्रियादि जातिनामकर्मका स्वरूप जानना चाहिए

निद्रा निद्रादिक सोलहप्रकृतिओंका इस गुणस्थानमें युगपत् नाश होता है जो देशसंयमको होने नहीं देते हैं ऐसे कपायोंको अप्रत्याख्यानानवरण कहते हैं इसके प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार भेद हैं इनका जव उदय होता है तब जीवकी देशमयम धारण करनेकी शक्ति नष्ट होती है जो प्रत्याख्यानको अर्थात् सकल सयमका नष्ट करते हैं उनके प्रत्याख्यान क्रोध, मान माया लोभ ऐसे नाम हैं इनमें मकल सयमका-महाव्रतका घात करनेका सामर्थ्य है इन आठ मध्यम कपायोंका इस गुण स्थानमें नाश होता है

तत्तो णपुंसगित्थीवेदं हासादिछक्कपुवेदं ॥

कोधं माणं माय लोभं च खवेदि सो कमसो ॥ २०९७ ॥

पूर्वेदं क्रमतश्छित्त्वा शुक्लध्यानमहासिना ।

क्रोध संज्वलनं मान मायां संज्वलनाभिधाम् ॥ २१७० ॥

विजयोदया—तत्तो णपुस ततो नपुसक वेदं, स्त्रीवेदं, हास्याविपद्क, पुंवेदं, संज्वलनक्रोधमानमाया-क्षपयति ।  
पद्मालोभसज्वलनं ॥

तदनंतरक्षपणीयान्क्रेपाह—

मूलार—णवुसगिस्थिवेद नपुसकवेदं नपुसकभावप्राप्तिमिचितोदयकपायवेदनीयविशेषम् । एवं स्त्रीवेद स्त्रीभा-  
वपरिणितिकारणविपाकम् । हासादिछक हास्याविर्भावफलं हास्यं । वेशन्तरोयानौत्सुक्यनिमित्तोदया रतिः । तद्विलक्षणाऽ  
रतिः । अनुप्राहकसंबंधिचिच्छेदे वैकल्यविशेषः शोकः यद्विपाकाज्जायते स शोकः । उद्वेगहेतुदयं भयं । यदुदयादात्सदोप  
संवरण अन्यदोषसाधारण सा जुगुप्सा चिल्लिसाहेतुः ॥ तत्तो कपायवेदनीयपदं पुंवेदे प्राक्षिप्य क्षपयति, पुंवेदं पुंभावा-  
पत्तिमित्त पुंवेदाख्यं नोकपायवेदनीय । क्रोधभज्जलने प्रक्षिप्य क्षपयति । क्रोधभिर्यादि । संयमेन सहावस्थानादेकीभूता  
ज्वलन्ति, सयमो वा ज्वलत्येव सत्त्वपीति सज्वलनाः क्रोधादयोऽत्र पारिश्रज्यादृहीता तत्र क्रोधसंज्वलनं, मानसंज्वलने ।  
त मानसज्वलने त च लोभसज्वलने प्रक्षिप्य क्षपयति । ततो वादरकुष्ठिभागो न तं लोभसज्वलनं च क्षपयति ।

इनके अनंतर नाश होनेवाली प्रकृतिओंका उल्लेख—

अर्थ—वदनतर नपुसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, मज्जलन क्रोध,  
मान, माया और लोभ इन ग्यारह कर्मोंका नाश करता है

जिसके उदयसे नपुसक भावकी प्राप्ति होती है ऐसा अकपाय वेदनीयका एक विशेष भेद है उसको नपुसक वेद  
कहते हैं स्त्रीके समान परिणाम उत्पन्न करना यह जिसका फल है उस कर्मको स्त्रीवेदनीय कहते हैं जिससे हास्य उत्पन्न  
होता है वह हास्यवेदनीय है देशांतर, उद्यान वगैरह पदार्थोंके तरफ जानेके लिये जो मनमें उत्कठा जिम कर्मके  
उदयसे उत्पन्न होती है उसको रति कहते हैं, अरतिका स्वरूप इससे विलक्षण है अनुग्रह करनेवाले पदार्थोंका संबंध  
विच्छेद होनेपर मनमें जो खेद उत्पन्न होता है उसको शोक कहते हैं जिससे मनमें उद्वेग-दर उत्पन्न होती है  
उसको भय कहते हैं जिसके उदयसे अपने दोष छिपाकर दूसरोंके दोष प्रगट करना वह जुगुप्सा कर्म है इन  
अकपाय वेदनीय की छहों प्रकृतिओंका पुंवेदमें प्रक्षेपण करते हैं पुरुषके परिणामोंकी उत्पत्ति जिसके उदयसे  
होती है ऐसे कर्मको-पुंवेदको भी क्रोधसज्वलनमें क्षेपण करते हैं ये सज्वलनक्रोधादिक कपाय संयमके साथ रह-  
कर ज्वलित होते हैं अथवा सयम इनके रहनेपर भी प्रज्वलित होता है क्रोधसंज्वलनको मान सज्वलनमें, मानको



माया संज्वलनमें और मायाको लोभ संज्वलनमें क्षेपण करके नष्ट करते हैं। इसके अनंतर वादरकृष्टि विभागसे लोभको भी कुश करते हैं

अथ लोभसुहुमकिट्टि वेदंतो सुहुमसंपरायत्तं ॥

पावदि पावदि य तथा तण्णामं संजमं सुद्धं ॥ २०९८ ॥

सूक्ष्मलोभगुणस्थाने सूक्ष्मलोभ निशुंभति ॥

प्राप्नोति सयमं शुद्धं तदा तदभिधानकम् ॥ २१७१ ॥

विजयोदया—अथ लोभसुहुमकिट्टि अथ पञ्चादादरकृष्टेरुत्तरकालं लोभसूक्ष्मकृष्टिं वेदयमान सुहुमसंपरायत्तं पावदि सूक्ष्मसांपरायता प्राप्नोति ॥ पावदि य तथा प्राप्नोति च तथा तन्नामक संयमं शुद्ध सूक्ष्मसांपरायतां अधिगच्छति ॥

तदनन्तरप्राप्यसूक्ष्मसांपरायसंयमप्राप्त्युपपत्तिं कथयति—

मूलाराधना । अथ संज्वलनलोभवादरकृष्टिपरेणोत्तरकालं । किट्टि कृष्टि । तैलावधस्थितकिट्टिकाकल्प । सुहुमसंपरायत्तं सूक्ष्मसांपरायक्षपकभावं । दशमगुणस्थानम् । तण्णाम । सूक्ष्मसांपरायसंज्ञं । सुद्ध प्रथमशुक्लध्यानप्रकर्षप्रतिवद्ध सूक्ष्मलोभकृष्टिशक्तिरुत्पाद्यताव्याताल्यशुद्धसंयमोत्तमनिमित्तत्वाद्वा निष्कलंकम् ॥

अर्थ—तदनंतर अर्थात् लोभकी वादरकृष्टि के अनंतर लोभकी सूक्ष्म कृष्टिका अनुभव करनेवाले भुनि-राज सूक्ष्म सांपराय नामक दसवें गुणस्थानका आश्रय करते हैं तब उनको सूक्ष्म सांपराय नामक चारित्रिकी प्राप्ति होती है- प्रथमशुक्लध्यानके साभर्ध्यसे वादर सज्जलन लोभ कपाय सूक्ष्म होता है इससे उनको सूक्ष्मसांपराय चारित्रि प्राप्त होता है

तो सो खीणकसाओ जायदि खीणासु लोभकिट्टीसु ॥

एयत्त वितक्कावीचारं तो ज्झादि सो ज्झाणं ॥ २०९९ ॥

क्षीणासु लोभकृष्टिषु नष्टकपायो यदा यतिर्भवति ॥

एकत्वमवीचारं सवितर्कं ध्यानमश्नुते स तदा ॥ २१७२ ॥

कर्मोंने विपरीत कर दिया था. क्षीणकषाय गुणस्थानमें सोलह प्रकृतिओंका अर्थात् ज्ञानावरणकी पांच मति ज्ञानावरणादि प्रकृतियां, अंतराय कर्म की दानांतराय, लाभंतरायादि पांच प्रकृतिया, निद्रा, प्रचला, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवल दर्शनावरण ऐसी छह दर्शनावरणकी प्रकृतियां इन सोलह प्रकृतिओंका नाश संपूर्ण मोहनीय कर्मका नाश होने के बाद होता है.

मत्थयसूचीए जघा हृदाए कसिणो हृदो भवदि तालो ॥

कम्माणि तथा गच्छंति खयं मोहे हृदे कसिणे ॥ २१०१ ॥

मोहनीये हते शेषघातिकर्मकदचकम् ॥

तुणराज इवाशेषसूचीबधे प्रणदयति ॥ २१०४ ॥

विजयोदया—मत्थयसूचीए जघा हृदाए मस्तकसूच्या यथा हतया कसिणो तालो हृदो भवति कृत्वास्तालद्रुमो हृतो भवति । कम्माणि तथा कर्मण्यपि तथैव खयं गच्छति क्षयमुपयाति । मोहे हृदे कसिणे मोहे हृते कृस्ते ।

ननु च वास्तवात्मस्वभावोपलंभे सत्येव तत्प्रतिबंधकप्रक्षयस्तत्प्रक्षये च तदुपलंभ इत्यन्योन्याश्रयावतारादनामोपक्षमिविदमाभासते इत्याशंकायामिदमाह—

मूलारा—तालो तालवृक्षः । खय जीवस्वभावघातकत्वशक्तिविनाश । मोहनीयसहायान्येव हि ज्ञानावरणादीनि जीवस्वभावोपघाताय प्रभवन्ति । प्रक्षीणे च तत्सहकारिणि मोहकर्मणि तानि प्रक्षीणकल्पान्येव स्वकार्यासिपादकत्वात् । मस्तकसूचीविनाशे प्रत्यग्रप्रपञ्चपुष्पफलादित्वकार्यासमर्थतालवत् । ततः सत्त्वपि तेषु वास्तवात्मस्वरूपोपलंभो निर्ग्रथराजस्यास्य न विरुध्यते इत्याप्तोपक्षमेवेदमिति स्थितम् । उक्तं च—

तालसूच्या विनष्टया यथा तालो विनश्यति ॥ तथा कर्म क्षयं याति मोहनीये क्षयं गते ॥

अर्थ—मस्तक सूचीका नाश होनेसे संपूर्ण तालवृक्षका नाश होता वैसे मोहनीय कर्मका नाश होने पर कर्मों का भी नाश होता है

णिहापचलाग दुवे दुचरिमसमयम्मि तस्स खीयति ॥

सेसाणि घादिकम्माणि चरिमसमयम्मि खीयंति ॥ २१०२ ॥

सूक्ष्मलोभगुणस्थाने सूक्ष्मलोभं निशुंभति ॥

स निद्राप्रचले क्षीणमोहस्योपान्तिमे ततः ॥ २१७५ ॥

पचज्ञानावृत्तिस्तत्र चतस्रो दर्शनावृत्तीः ॥

पंच विघ्नानसौ हन्ति चरमांशे चतुर्दश ॥ २१७६ ॥

विजयोदया—णिद्वा पचला य दुवे निद्राप्रचला च द्वे तस्य क्षीणकपायस्य उपांत्ससमये नश्यतः । सेसाणि घादिकम्माणि अवशिष्टाणि घातिकर्माणि त्रीणि तस्य चरमसमये नश्यति, पच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, पंचांतरायाश्च ॥

शेषघातिकर्मानिर्मूलोच्छेदकमं कथयति—

मूलारा-दुवे द्वे अपि । दुचरिसमयस्मि चरमसमयात्पञ्चिमे समये । स्त्रीयंति निर्मूलं नश्यतः सर्वास्सना जीवाद्विस्लिष्यत इत्यर्थः ॥ सेसाणि मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलज्ञानावरणविकल्पात्पचविधं ज्ञानावरणं । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणभेदावृत्तिविधं दर्शनावरण । दानलाभभोगोपभोगवीर्यांतरायभेदात्पंचविधञ्चान्तराय इति त्रीणि घातिकर्माणि । इत्थं धर्म्यध्यानेन नामकर्मप्रकृतीः त्रयोदशावरणप्रकृतीस्तिस्रश्चारित्रमोहस्य च प्रकृतीरेकविंशतिमेकत्ववितर्के वीचाराख्यद्वितीयशुद्धध्यानेन च पट् दर्शनावरणप्रकृतीः पंच, ज्ञानावरणप्रकृतीः पच, पंचान्तरायप्रकृतीः क्षपयतीत्युक्तार्थसंग्रहः । नारकतिर्यग्देवायुषा च वंधाकारणमेव क्षपणं, ततस्त्रिपण्डितैः कर्मप्रकृतीः क्षपयित्वा पण्डितपण्डितमरणोद्यतो मुमुक्षुरनंतदर्शनज्ञानवीर्यसुखस्वभावं जीवन्मुक्तिं विरमयि अनुभवतीति प्रतिपत्तव्यम् ॥ भवतश्चात्र वृत्ते-

सम्यग्दृष्टिकृशाकृशात्रतभोत्समाहेषु तिष्ठन्कचित् । धर्म्यध्यानवलादयत्नगलितायासु लब्धः सप्त य ॥

दृष्टिःप्रकृतीः समातपचतुर्जातित्रिनिद्राद्विधा । आत्र स्थावरसूक्ष्मतिथिगुभयोद्योता । कपायाष्टकम् ॥

क्लेशैश्चैषणमथादिभेन नवमे हास्यादिपट्टकं नृता । क्षिप्त्वेदीवि पृथक्कुदादिदशमो लोभं कपायान्तकः ॥

निद्रा सप्रचलासुषान्त्यममये दविघ्नविघ्नश्चतु । द्विःपचाक्षपयत्यरेण चरमे शुक्लेन सोर्हद्वयः ॥

अर्थ—क्षीणकपाय गुणस्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियोंका नाश होता है और अन्तिम समयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों कर्मोंका नाश होता है.

विजयोदया—अव्याधादं न विद्यते प्रत्ययतरेण व्याधातो वाधास्येत्यव्याधातं । निश्चयात्मकत्वादसदिग्धं । सर्वेभ्यो ज्ञानेभ्य उत्तमं प्रधानं श्रुताविभिरिव केवल साध्यत इति ।

असंकुडिदं न मत्यादिवदल्पविषयमिति । एकं एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव प्रवर्तत इति । सकलं संपूर्णमात्मन स्वरूपमिति । मत्यादीनि यथाऽऽसपूर्णाणि न तथेदं । अणत अनतप्रमाणवच्छेद्य । अणियच्च न विद्यते निवृत्तिर्विनाशोऽप्येत्यनिवृत्त केवलज्ञानं ॥

केवलज्ञानातिशयगुणग्राममभिष्टौति—

मूलारा—अव्याधाद नास्ति व्याधातो निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारप्रतिबध प्रत्ययांतरेण यस्य । असदिद्धं निश्चयात्मकत्वादसंशयितं । उत्तमं सर्वज्ञानप्रधानं । सवदो असंकुडिदं सर्वेषु द्रव्यपर्यायेषु प्रवर्तमानत्वात् । एग एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव वर्तते इत्येकं भेदहीन वा । सकलं संपूर्ण । अणतं अनंतप्रमाणवच्छेद्यं । निरवधीत्यर्थः । अणियत्तं अविनाहमान उत्कीर्तयति ( ? ) ॥

अर्थ—यह केवलज्ञान किसी कारणोंसे रुकता नहीं है अव्याधाती है निश्चयात्मक होनेसे संशयरहित है, सर्व ज्ञानोंमें श्रेष्ठ है श्रुतादिक ज्ञानोंसे यह केवल ज्ञान प्राप्त होता है, मत्यादिज्ञानों के समान इसका विषय अल्प नहीं है अतः इसको असंकुटित कहते हैं यह एक है अर्थात् यह आत्मामें स्वर्य प्रवृत्त होता है मत्यादिक ज्ञान संपूर्ण नहीं है परंतु यह वैसा नहीं है यह आत्माका सपूर्ण स्वरूप है इसलिये इसको संपूर्ण कहते हैं यह अनिवर्ति है अविनाशी है.

चित्तपड व विचितं तिकालसहिदं तदो जगमिणं सो ॥

सत्वं जुगवं पस्सदि सवमलोगं च सववचो ॥ २१०५ ॥

करस्थितमिवाशेषं लोकालोकं विलोक्ते ॥

युगपत्तेन बोधेन योगी विश्वप्रकाशिना ॥ २१७९ ॥

विजयोदया—चित्तपड च विचित चित्रपटवद्विचित्र विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण प्रत्यवभासनात् । तिकाल सदिदं कालत्रयसहितं जगदिदं, तत तेन केवलज्ञानेन सर्वं युगपत्पश्यत्यलोकं कृत्स्न सर्वत समतात् ॥

मूलारा—विचित नानाप्रकाराकारं विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण प्रत्यवभासनात् । तदो तेन केवलज्ञानेन । पस्सदि साक्षात्करोति । सववचो सर्वतः समतात् । सववण्हू इत्यन्ये पठन्ति ॥

अर्थ—इस केवलज्ञानमें विचित्र द्रव्य और पर्याय प्रतिभासित होते हैं इस लिये अनेक रंगोंसे रंगे हुए चक्षुके समान यह केवलज्ञान है, तीन कालके साथ इस त्रैलोक्यको और अलोकको केवलज्ञान गुणगत् देखाता है.

वीरियमणंतरायं होह अणतं तथेव तस्स तदा ॥

कप्पातीदस्स महामुणस्स विग्घस्मि खीणस्मि ॥ २१०६ ॥

विजयोक्त्या—वीरियमणतरायं होहि निर्धियं चोर्गे भनति । क्षायोपसाधिकस्स हि धीर्यस्स पुनः पीयोत्तमो-  
द्वये सति विज्जो भवति, न तथा तस्य निरवशेषक्षये । अन्न । कप्पातीदस्स छगस्सकवपानां अतीतराग मत्तागुणेत्तिरे निगंता-  
तकनंतरवीर्याविभविमभिधत्ते—

मूलारा—अणतरायं निर्विन्दं । कप्पातीदस्स कुप्पशकटानागरहितस्य । विगस्मि अत्तरस्यकर्मेणि । पणंणिपत्ताना-  
द्वित्रयसाहचर्यान्तत्रानंतरसुखाधिगमो भनति । इति तत्त्वनिर्देशः ।

अर्थ—केवलज्ञानकी उदयति होनेसे आत्मामें जो सामर्थ्य उत्पन्न होता है वह अंतराग-निर्भन-स्थित होता है. क्षायोपशमिक सक्ति वीर्यतराय कर्म के उदय से विध्वन्युक्त होती है. सम्पूर्ण वीर्यतरायकर्माकाही तेजल ज्ञानके समय नाश होनेसे प्राप्त हुए अनन्त शक्तिकों चाभित करनेवाला पदार्थ ही नहीं रहा है. अतः धात शक्ति-  
गुण अनन्त हुआ है

तो सो वेदयमाणो विहरद् सेसाणि ताव कम्मणि ॥

जावसमत्ती वेदिज्जमाणयस्साउगरम भवे ॥ २१०७ ॥

ततो वेदयमानोऽसौ शेषानातिचतुष्टयम् ॥

कुर्याणो जनतानंदं भ्रमतेयप सुरार्चितः ॥ २१८० ॥

विजयोक्त्या—तो सो वेदयमाणो केवलज्ञानाद्विगस्मिप्राप्त्यनागरकाल येस्यमानो गितरसि, तेस्यमणि ताव कम्मणि  
अयसिष्टाणि तावत्कर्मणि । जावसमत्ती यावत्समत्तमाप्तिः । वेदिज्जमाणयस्स आउगस्स भवे अउगुगमागस्स  
मनुयायुने भवेत् ॥

सर्वज्ञविहारसीमानमाह—

मूलारा—तो केवलज्ञानाविपरिश्राप्त्यन्तरम् । विहरदि यथाख्यातचारित्रमभिवर्धयति । सेसाणि अयातीनि ।

वेदनीयानामोत्रार्थुणि । आस्यस मनुष्यायुष्मन्मणः ।

अर्थ—जन्तुक भुज्यमान आयुर्कर्मकी समाप्ति नहीं होती है तबतक बाकीके अघाति कमाकों भोगते हुए केवली भगवान् यथाख्यात चारित्रको वृद्धिगत करते हैं

दंसंणणसमग्गो विहरदि उच्चावयं तु परिजायं ॥

जोगणिरोधं पारमदि कम्मणिह्वेणट्ठाए ॥ २१०८ ॥

विचर्द्धमानचारित्रो ज्ञानदर्शनभूषितः ॥

शेषकर्मविधाताय योगरोधं करोति सः ॥ २१८१ ॥

विजयोदया—दंसंणणसमग्गो क्षायिकेन ज्ञानेन दर्शनेन च समग्रो, विहत्य उच्चावचं पर्यायं, चारित्रमभिवर्धयन् योगनिरोधं प्रारभते, कर्मणामघातिनामपहरणार्थं ॥

सयोगकैवल्यिनश्चारित्राभिवर्धनकाळस्योत्कर्षार्पकपर्वविधातिघातोपायोपक्रमं च निर्देष्टुमाह—

मूलारा—उच्चावयं उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिमात्र । जयन्त्येन च अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः । परियायं केवलिसंयमकालं ।

जोगणिरोधं सत्पानुभयवाङ्मनसचतुष्टयपरसौदारिकतन्मिश्रकर्मणकायत्रयव्यापारलक्षणा सप्ताना योगाना निग्रहं । कम्मणिह्वेणट्ठाए अघातिकर्मनिर्भूलोच्छेदनार्थं ।

अर्थ—क्षायिक दर्शन और क्षायिक ज्ञानसे पूर्ण वह केवली भगवान् उत्कर्षसे कुछ क्रम पूर्वकोटिकाल तक और जयन्त्यसे अन्तर्मुहूर्ततक यथाख्यात संयमावस्थाको धारण कर विहार करते हैं. तदनंतर अघातिकर्मका नाश करनेके लिये योगनिरोध करते हैं. अर्थात् सत्यवचन योग, अनुभय वचनयोग, सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र और कर्मणयोग ऐसे सात योगोंके व्यापारको वे रोकते हैं

उक्कसएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा ॥

वच्चंति समुग्घादं सेसा भज्जा समुग्घादे ॥ २१०९

यः पणमासावशेषायुः केवलज्ञानमश्नुते ॥

अवश्य स समुद्धातं याति शेषो विकल्प्यते ॥ २१८२ ॥

विजयोदया—उक्तरूपेण उत्कर्षेण पणमासावशेषे आयुषि जाते केवलिनो जातास्ते समुद्धातमुपयाति । शेषा-  
समुद्धाते भाष्या ।

योगनिरोधोन्मुक्तानां केवलानां समुद्धातविधेर्नियमविकल्पौ निर्दिशति—

मूलारा—चर्चन्ति गच्छन्ति । समुद्धाद जीवप्रदेशानां शरीराद्बहिर्दण्डाद्याकारेण निःसरणं । भज्जा विकल्प्याः ।  
दण्डादिसमुद्धातं व्रजन्ति न वेत्यर्थः ॥ उक्तं च—

वदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः । समुद्धातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा ॥  
पणमासायुषि शेषे स्यादुत्पन्न यस्य केवलम् । समुद्धातमसौ याति केवली वा परः पुनः ॥

अर्थ—उत्कर्षसे जिनका आयु छह महिनेका अवशिष्ट रहा है ऐसे समयमें जिनको केवलज्ञान हुआ है वे  
केवली नियमसे समुद्धातको प्राप्त होते हैं आत्माके प्रदश शरीरके बाहर दण्डादिके आकारसे निकलते हैं ऐसी अव  
स्थाका नाम समुद्धात है वार्त्ताके केवलीओंको आयुष्य अधिक होनेपर समुद्धात होगा अथवा नहीं भी होगा  
नियम नहीं है

जेसिं अउसमाइं णामगोदाइं वेदणीयं च ॥  
ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमति सेलेसिं ॥ २११० ॥  
आयुषा सहसं यस्य जायते कर्मणां त्रयम् ॥  
स निरस्तासमुद्धातः शैलेदयं प्रतिपद्यते ॥ २१८३ ॥  
अनंतं दर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यमनन्धरम् ॥  
जायते तरसा तस्य चतुष्टयमखण्डितम् ॥ २१८४ ॥

विजयोदया—जेसिं आउसमाइं येणमपि आयुःसमानि शेषाण्यघातिकर्माणि तेऽकृतसमुद्धाता एव शैलदयं  
प्रतिपद्यते ॥

समुद्घातमंतरेण शैलेद्योपगमे कारणमघातिचतुष्टयसमस्थितित्वमाचष्टे—

मूलारा—स्वणमंति—आश्रयन्ति । सेलेसिं शीलगुणसंपूर्णता ॥

अर्थ—अयुके समानही अन्य कर्मकी स्थिति धारण करनेवाले केवलही समुद्रात किये बिना संपूर्ण शीलौके धारक बनते हैं।

जेसिं हवंति विसमाणि णामगोदाउवेदणीयाणि ॥

ते ढु कदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥ २१११ ॥

ठिदिसंतकम्मसमकरणत्थं सव्वेसिं तेसिं कम्माणं ॥

अंतोमुहुच सेसे जंति समुग्घादमाउम्मि ॥ २११२ ॥

यदायुपोऽधिकं कर्म जायते त्रितय परम् ॥

समुद्घात तदारभ्येति तत्समीकरणाय सः ॥ २१८५ ॥

अंतर्मुहूर्तेशेषार्युदा भवति संयमी ॥

समुद्घातं तदा धीरो विधत्ते कर्मघूतये ॥ २१८६ ॥

विजयोदया—ठिदिसत्तकम्म सत्कर्मणां स्थितिं समीकर्तुं चतुर्णां अतर्मुहूर्तवशेषे आयुषि समुद्घातं यांति ॥  
न्यतिरेकेणाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥ एता श्रीविजयो नेच्छति ॥

दृढादिसमुद्घातविधानप्रयोजनमादिशति—

मूलारा—ठिदिसत्तकम्मसमकरणदृढ । स्थित्या कृत्वा सता विद्यमानानां चतुर्णां कर्मणा समपरिणामता कर्तुं ॥

अर्थ—जिनके वेदनीय नाम, और गोत्रकर्मकी स्थिति अधिक रहती है वे केवल भगवान समुद्घातके द्वारा उनकी आयुर्कर्मके बराबरीकी स्थिति करते हैं इस प्रकार वे संपूर्ण शीलके धारक बनते हैं

अर्थ—आयुर्कर्म अतर्मुहूर्तमात्र जब रहता है तब नाम गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थिति आयुके समान करने के लिए समुद्घात करते हैं



ओल्लं संतं वरुथं विरल्लिदं जघ लहु विणिन्वादि ॥  
संवेडियं तु ण तथा तथेव कम्मं पि णादब्बं ॥ २११३ ॥  
प्रविकीर्णं यथा वल्लं विशुष्यति न संबुत्तम् ॥

विजयोदया—ओल्लं संत आर्द्रं सद्यथा वल्लं विप्रकीर्णं लघु शुष्यति न तथा संवेष्टितं एवमेव कर्माणि क्षतव्यम् ॥  
आत्मप्रदेशानां देहाद्दहिर्दंडाद्याकारेण प्रसारणाय कर्मस्थित्यपकरणदृष्टान्तेनोपादयति—

मूलारा—ओल्लं आर्द्रं । विरल्लिदं प्रसारितं । विणिन्वादि विशेषेण शुष्यति । संवेडिदं संबुत्तं ॥

अर्थ—गीला वल्ल प्रसारनेसे जल्दी शुष्क होता है. परंतु वेष्टित वल्ल जल्दी सूखता नहीं उसी प्रकार समुद्रघातसे कर्म विरल होकर उनकी स्थिति कम होती है.

ठिदिबंधस्स सिणेहो हेदू खीयदि य सो समुहदस्स ॥  
सडदि य खीणसिणेहं सेसं अप्पट्ठिदी होदि ॥ २११४ ॥  
समुद्धाते कृते स्नेहस्यति हेतुर्विनश्यति ॥  
क्षीणस्नेहं ततः शेषमल्पीयः स्थिति जायते ॥ २१८८ ॥

विजयोदया—ठिदिबंधस्स स्थितिबंधस्य स्नेहो हेतुर्विनश्यति । समुद्धातं गते सति च क्षीणस्नेहं शेषं कर्माल्पस्थितिकं भवति ॥  
एतदेव स्पष्टयति—

मूलारा—सिणेहो स्नेहः । हेदू जीवेन सह कर्मणः कालान्धारणमंश्लेपणे निमित्तं भवति । समुहदस्स दंडा-  
द्याकारेण शरीराद्दहिर्निस्त्वप्रदेशस्य पुंसः । सडदि शटति, प्रच्यवते । सेसं अक्षीणस्नेहं कर्म ।

अर्थ—स्थिति बंधका कारण जो स्नेहगुण वह इस समुद्रघातसे नष्ट होता है इस समुद्रघातसे कर्मका स्नेहगुण कम होनेसे उसकी अल्प स्थिति होती है.

चटुहिं समएहिं दंडं कवाड पदरजगपूरणाणि तदा ॥  
कमसो करोदि तह चेव णियत्ती चटुहिं समएहिं ॥ २११५ ॥  
दंडं कपाटकं कृत्वा प्रतरं लोकपूरणं ॥

चतुर्भिः समयैर्योगी तावाद्भिश्च निवर्तने ॥ २१८९ ॥

विजयोदया—चटुहिं चतुर्भिस्समयैर्दंडादिकं कृत्वा क्रमशो निवर्तते चतुर्भिरेव समये ॥

दंडादिप्रवर्तननिवर्तनकालपरिमाणवाधारणार्थमाह—

मूलारा—चटुहिं इत्यादि एकैकेन समयेन दंडादीन् कृत्वा, क्रमैर्लोकैरेव लोकपूरणतो निवर्तयतीत्यर्थः ।

अर्थ—चार समयोंमें क्रमशः दंडादिक समुदघात केली करते हैं अर्थात् प्रथम समयमें दंड समुदघात, दूसरे समयमें कवाड, तीसरे में प्रतर और चौथेमें लोकपूरण समुदघात करते हैं, तदनंतर उतरते वखत अर्थात् पांचवें समयमें प्रतराकार, छठे समयमें कपाटाकार, सातवें समयमें दंडाकार और आठवें समयमें मूलदेह प्रमाण आत्माके प्रदेश होते हैं

काऊणाउसमाहं णामगोदाणि वेदणीयं च ॥

सेलेसिमव्मुवैतो जोगिरोधं तदो कुणदि ॥ २११६ ॥

वेद्यायुर्नामगोत्राणि समानानि विधाय सः ॥

प्राप्तुं सिद्धिवधूं धीरो विधत्ते योगरोधनम् ॥ २१९० ॥

विजयोदया—काऊण नामगोत्रेवदनीयाना आयुया साम्यं कृत्वा मुक्तिमभ्युपनयन् योगनिरोधं करोति ॥  
समुदघातायुःसमीकृतकर्मत्वानंतरकरणीयमाह—

मूलारा—अव्मुवैतो आश्रयन् ॥

अर्थ—नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मांकी स्थिति आयुके समान कर योगनिरोधसे मुक्तिसे प्राप्त करते हैं.

योगनिरोधक्रममाचष्टे—

बादरवचिजोगं बादरेण कायेण बादरमणं च ॥

बादरकायंपि तद्या रंभदि सुहुमेण काएण ॥ २११७ ॥

स्थूलौ मनोवचोयोगौ रुणद्धि स्थूलकायतः ॥

सूक्ष्मेण काययोगेन स्थूलयोगं च कायिकम् ॥ २११९ ॥

विजयोदया—बादरौ वाङ्मनोयोगौ बादरकायेन रुणद्धि । बादरकाययोगं सूक्ष्मेण काययोगेन ॥  
योगनिरोधक्रमं अभिघत्ते—

मूलारा—बादरेण कायेण स्थूलकाययोगे स्थित्वेत्यर्थः । रंभदि निगृह्णाति ॥

अर्थ—बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको बादरकाययोगमें स्थिर होकर निरोध करते हैं तथा बादरकाय योगको सूक्ष्म काययोगसे रोकते हैं ।

तद्य चेव सुहुममणवर्चिजोगं सुहुमेण कायजोगेण ॥

रंभितु जिणो चिट्ठदि सो सुहेम काइए जोगे ॥ २११८ ॥

सूक्ष्मौ मनोवचोयोगौ रुद्धे कर्मस्रवैजिनः ॥

सूक्ष्मेण काययोगेन सेतुनेव जलास्रवम् ॥ २११९ ॥

विजयोदया—तद्य चैव तथैव सूक्ष्मवाङ्मनोयोगौ सूक्ष्मकाययोगेन रुणद्धि ।  
मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—उसही प्रकारसे सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्म मनोयोगको सूक्ष्म काययोगमें स्थिर होकर निरोध करते हैं और उसी काययोगसे वे जिनभगवान् स्थिर रहते हैं—

सुहमाए लेस्साए सुहमकरियबंधगो तगो तावे ॥

काइयजोगे सुहुमम्मि सुहमकरियं जिणो झादि ॥ २११९ ॥

लेदयाशरीरयोगाभ्यां सूक्ष्माभ्यां कर्मबंधकः ॥

शुक्लं सूक्ष्मक्रियं ध्यानं कर्तुमारभते जिनः ॥ २१९३ ॥

विजयोदया—सूक्ष्मलेदयाया सूक्ष्मक्रियाया बंधकस्तदासौ सूक्ष्मक्रिय ध्यान ध्याति ॥

सूक्ष्मकाययोगस्य करणीयद्वयमवधारयति—

मूलारा—लेस्साए उत्कृष्टशुक्ललेदयाया । सुदुमकिरियबंधो सूक्ष्मकाययोगेन सातवेदनीयस्य बंधकः ॥ ताहे तदा ।

सुदुमकिरिय सूक्ष्मक्रियं नाम परमशुक्लं ॥

अर्थ—उत्कृष्ट शुक्ललेदयाके द्वारा सूक्ष्मकाययोगेन सातवेदनीयकर्मका बंध करनेवाले वे जिनमगवान् 'सूक्ष्मक्रिय' नामक तीसरे शुक्लध्यानका आश्रय करते हैं सूक्ष्मकाययोग होनेसे उनको सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है

सुदुमकिरिएण ज्ञाणेण गिरुद्धे सुदुमकाययोगे वि ॥

सेलेसी होदि तदो अयधगो गिरुच्चलपदेसो ॥ २१२० ॥

सूक्ष्मक्रियेण रुद्धोऽसौ ध्यानेन सूक्ष्मविग्रहः ॥

स्थिरीभूतप्रदेशोऽस्ति कर्मबंधविवर्जितः ॥ २१९४ ॥

विजयोदया—सुदुमकिरियेण तेन ध्यानेन गिरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे निश्चलप्रदेशोऽयधको भवति । बंधनिमित्तानामभावात् ॥

तद्व्यानफलप्राप्त्यनंतरमाविनीं सासिद्धिमीमवस्था पुरुषस्थोपदिशति—

मूलारा—तदो अलेदयात् । अवंधको समस्तबंधनिमित्तानामभावात् ॥

अर्थ—सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यानके द्वारा वे सूक्ष्मकाय योगज्ञा निरोध करते हैं तब आत्माके प्रदेश निश्चल होते हैं और उनको अब साता वेदनीय कर्मका भी बंध होता नहीं है क्योंकि बंधके कारणही उस समय नष्ट हो गये हैं अर्थात् बंधका कारण योग भी उस समय नष्ट होता है

माणुसगदितज्जादिं पज्जत्तादिज्जसुभगजसकिंतिं ॥

अण्णदरवेदणीयं तसबादरमुच्चगोदं च ॥ २१२१ ॥

अयोगोऽन्यतरद्वेद्यं नरायुर्द्वय त्रसम् ॥

सुभगादेयपर्याप्तं पचाक्षोच्चयशांसि सः ॥ २१२५ ॥

विजयोदया—माणुसगदि मनुष्यगतिं, पंचेन्द्रियजातिं, पर्याप्तिमादेयसुभगं, यशस्कीर्तिमन्यतरवेदनीय, त्रसवादर, उच्चैर्गोत्रं वेदयते ॥

तत्कालभोग्या मुहुरेकचलिनः एकादशकर्मप्रकृतीस्तीर्थकरस्य द्वादश दिशति—

मूलारा—तज्जादिं पंचेन्द्रियजातिं । पज्जत्त आहारादिपर्याप्तिनिर्वर्तकं पर्याप्ताख्यं नामकर्म । आदेज्ज आदेय प्रभो-  
पेतशरीरताकारणं नामकर्म । सुभग परभ्रीतिप्रभवफलं सुभगाख्य नाम । जसकिंती पुण्यगुणख्यापनकारणं यशःकीर्तिनाम ।  
अण्णदरवेदणीय यदुदयादेवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यं । यत्फल दुःखमलैकविधं तदसद्वेद्यं । तयोर्मध्ये एक-  
तर । तस द्वीन्द्रियादिषु जन्मनिमित्त त्रसाख्यं नाम । बादरं अन्यबाधाकरशरीरकारणं नाम । उच्चगोदं लोकपूजितेषु कुलेषु  
जन्मकारणमुच्चैर्गोत्रम् ॥

अर्थ—मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, पर्याप्ति, आदेय, सुभग, यशःकीर्ति, साता वेदनीय और असाता वेदनीय इन दोनोमेंसे कोई एक, त्रस, बादर और उच्च गोत्र इन कर्मोंका अनुभव करते हैं

-मणुसाजगं च वेदेदि अजोगी होहिदूण तं कालं ॥

तित्थयरणामसहिदाओ ताओ वेदेदि तित्थयो ॥ २१२२ ॥

बादर तीर्थकृत्वैतास्तीर्थकारी त्रयोदश ॥

न परो बंधयते साधुस्तदानीं द्वादश स्फुटम् ॥ २१२६ ॥

विजयोदया—मनुष्यायुष्य वेदयते अयोगी भूत्वा तीर्थकरनामसहितास्तीर्थकरो वेदयते ॥

मूलारा—मणुसाजगं, मनुष्येषु भवधारणकारणं कर्म । होहिदूण भूत्वा । तित्थयरणाम सहित्यकरणं तीर्थकरत्व नाम । ताओ मनुष्यगत्यादिका एकादश ॥

अर्थ—मनुष्यायुके साथ ऊपरके दस प्रकारके कर्मोंका अयोगि मुनि अनुभवन करते हैं. जो तीर्थकर है उनको तीर्थकरकर्मके साथ ऊपरके ग्यारह प्रकृतिओंका उदय होता है और मंडकेवलीको ग्यारह प्रकृतिओंका उदय होता है

देहतियबंधपरिमोक्खत्थं केवली अजोगी सो ॥

उवयादि समुच्छिन्नकिरियं तु ज्ञाणं अपडिवादी ॥ २१२३ ॥

दहेत्तितयबंधस्य ध्वंसायायोगकेवली ॥

समुच्छिन्नक्रियं ध्यान निश्चल प्रतिपद्यते । २१२७ ॥

विजयोदया—देहतिय देहत्रिकयधपरिमोक्षार्थं समुच्छिन्नक्रियानिष्ठुत्तिध्यान ध्याति ॥

तत्कालकरणीयमशरीरत्वकारणं परमतरशुक्लध्यानमभिधत्ते —

मूलारा—देहतिय परमौदारिकं, तैजस, कर्मण चेति त्रीणि शरीराणि । अपडिवादी य समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति न्युपरत्तिक्रियानिवर्तित्तिपराख्यम् ॥

अर्थ—औदारिकशरीर, तैजस व कर्मणशरीर इन तीन शरीरोंका बन्धनाश करनेके लिये वे अयोगी-केवली भगवान् समुच्छिन्नक्रिया निवृत्त नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं

सो तेण पंचमत्ताकालेण खवेदि चरिमज्झाणेण ॥

अणुदिण्णाओ दुचरिमसमये सव्वाओ पयडीओ ॥ २१२४ ॥

मात्रापंचककालेन तेन ध्यानेन वर्तते ॥

प्रकृतीनामपकानां द्वासप्ततिमसौ समम् ॥ २१२८ ॥

विजयोदया—सो तेण स तेन पंचमात्राकालेनानेन ध्यानेन क्षपयति द्विचरमसमये अनुदीर्णाः सधो. प्रकृती. ॥ पंचलवक्षुरोच्चारणकालभाविना तद्व्यानेन करणीयामनुदीर्णेत्रिसप्ततिकर्मप्रकृतिक्षपणामालक्षयति—मूलारा—पंचमत्ताकालेण अ इ उ ऋ लृ इति पंचमात्रोच्चारणकालप्रमाणेन । अणुदिण्णाओ अनुदयं प्राप्ताः ।

सञ्चालो त्रिसप्ततिसंख्याः । ताश्चेमाः—देवगतिः, देवगतिप्रायोगयापुर्वी, मनुष्यगतिप्रायोगयापुर्वी, यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम पंचधा । औदारिकशरीरं, वैक्रियिकशरीरं, आहारकशरीरं, कर्मणशरीरं चेति ॥ यदुदयादंगोपांगविवेकस्तद्गोपांगनाम त्रिविधं औदारिकशरीरांगोपांगं, वैक्रियिकशरीरांगोपांगं, आहारकशरीरांगोपांगं चेति । यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तिर्निर्माणं द्वेधा । स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति । तज्जातिनामोदयापेक्षं चक्षुरादीना स्थानं प्रमाणं च निर्वर्तयदेकमेव परिगण्यते । औदारिकादिशरीरनामकर्मोदयवशादुपात्ताना पुद्गलाना अन्योन्यप्रदेशसंश्लेषण यतो भवति तद्वचनं नाम पंचविधमौदारिकबंधनं, वैक्रियिकबंधनं, आहारकबंधनं, तैजसबंधनं, कर्मणबंधनं चेति । यदुदयादौदारिकादिशरीराणा धिचरविरहितान्योन्यप्रदेशानुप्रवेशेनैकत्वापादनं भवति तत्तंघातनाम पंचप्रकारमौदारिकसंचातनामदिमेदात् ॥ यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतितिनिर्वृत्तिस्तत्संस्थाननाम पञ्चविधं । समचतुरस्रसंस्थानं, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थानं, स्वतिसंस्थानं, कुञ्जसंस्थानं, वामनसंस्थानं, हुंडसंस्थानं चेति ॥ यदुदयादस्थिवंधनावंधनविशेषस्तत्संहनननाम षोढा । वज्रप्यमनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं, नाराचसंहननं, अर्धनाराचसंहननं, कीलिकासंहननं, असंप्राप्तास्तृपाटिकासंहननं चेति ॥ यदुदयात्पशोत्पत्तिस्तत्संशर्शनामाष्टविधं । कर्कशं, मूढं, गुरुं, लघुं, स्निग्धं, रूक्षं, शीतमुष्णं चेति ॥ यन्निमित्तो रसविकल्पस्तद्रसनाम । प्रशस्ताप्रशस्ततिककदुकपायान्दमधुरमेदादशधापि तिक्तादिसामान्यापेक्षयेह पंचधा परिगण्यते । यदुदयाद्वृंघनाम द्वेधा सुरभिगधमसुरभिगंधं चेति । यद्वेत्तुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम । प्रशस्ताप्रशस्तशुक्लकृष्णनीलरक्तद्वारिद्रमेदादशधापि शुक्लादिसामान्यापेक्षया द्वाद्व पंचवैवं संख्यायते । यत्स्योदयादयः पिंडवदुत्पात्राधः पतति न चार्कतूलवल्लुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम । यत्स्योदयात्तत्रयं कृतोद्भवप्राणपाननिरोधादिनिमित्त उपधातो भवति तदुपधातो नाम । यत्कारणकः सरशभाधाघातस्तत्परधातनाम । यद्वेत्तुकृच्छ्वासस्तदुच्छ्वासानाम । आकाशे गतिनिर्वर्तकं विहायोगतिनाम द्वेधा प्रशस्ताप्रशस्तमेदात् । शरीरनामकर्मोदयाभिष्ययमान शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम । यदुदयाद्रूपादिगुणोपेतोऽपि अप्रीतिकरस्तदूर्भगनाम । मनोज्ञानमोक्षस्वरनिर्वर्तके सुस्वरदुःस्वरनाम्नी । रमणीयत्वारमणीयत्वकारणे शुभाशुभनाम्नी । पञ्चविधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तनाम । चलाचलभावनिर्वर्तके अस्थिरस्थिरनाम्नी । निष्प्रमशरीरता कारणमनापेयनाम । अपुण्यगुणख्यापनकारणमयशःकीर्तिनाम । एवमेकसप्ततिनामकर्मोपन्यतरवेदनीयं नीचैर्गोत्रं चेति त्रिसप्ततिः । अन्ये मनुष्यगतिप्रायोगयापुर्वीक्षपणं चरमसमये वाञ्छंतीति तन्मतेन द्वाप्तमतिरुपान्यसमये तु तीर्थं कौस्त्योदयान्यैश्च द्वादश क्षियन्ते । तथा चोक्तं पंचसमूहे—

देवदुय पण सरीरं पंच सरीरस्स बंधणं चेव ॥  
 पचेव य संघायं सठाणं तह य छक्कं ष ॥  
 तिणिण य अंगोवगं संघयणं तह य होइ छक्कं च ॥  
 पंचेव य वण्णरसं दो गंधं अट्टफास व ॥  
 अणुल्लुयचल्लक्कं विहायगदिदुग धिराधिंरं चेव ॥  
 सुहसुस्सरजुयला वि य पत्तेयं दुब्भगं अजसं ॥  
 अणदेज्जं णिमिणं च अपल्लत्तं तह य णीचगोयं च ॥  
 अण्णदरेवयणीयं अजोगदुचरिमस्मि वोच्छिण्णा ॥  
 अण्णयरवेयणीयं मणुयाड मणुयदुग च बोहव्वा ॥  
 पवेदिजजाई वि य तससुभगादेज्जं पज्जत्त ॥  
 वादरजसकित्तीवि य तित्थयरं उब्बगोययं चेव ॥  
 एए तेरसपयडी अजोइहियं समवोच्छिण्णा ॥

अर्थ—वे अयोगि जिन पंचद्वस्वर उच्चारण मात्र कालमें उदयमें नहीं आई हुई सब प्रकृतिओंका इस गुणस्थानके उपान्त्यसमयमें क्षय करते हैं. अर्थात् तिहत्तर प्रकृतिओंका क्षय करते हैं.

चरिमसमयस्मि तो सो खवेदि वेदिजमाणपयडीओ ॥  
 बारस तित्थयरजिणो एक्कारस सेससच्चण्डू ॥ २१२५ ॥  
 शरीरं पचधा तत्र पञ्चधा देहवन्धनम् ॥  
 संघातः पञ्चधा षोढा संस्थानममरद्वयम् ॥ २१९९ ॥  
 अंगोपांग त्रिसंख्यानं षोढा संहननक्षणे ॥  
 पंच वर्णा रसाः पच गंधस्पर्शा द्विधाष्टधा ॥ २२०० ॥  
 क्षीयते गुरुलब्धादिचतुष्कं द्वे नभोगती ॥  
 शुभद्वय स्थिरद्वन्द्वं प्रत्येक सुस्वरक्षयम् ॥ २२०१ ॥



अनादेयायशो निर्माणे चापूर्णाणि दुर्भगम् ॥

वेद्यमन्यतरत्तस्य द्वासासत्तिरुपान्तिमे ॥ २२०२ ॥

अंतिमे समये इत्वा प्रकृतीः स त्रयोदश ॥

बन्धमानः सदाऽयोगः प्रयाति पदमन्ययम् ॥ २२०३ ॥

विजयोक्त्या—चरिमसमयमि अंत्ये समये क्षपयति वेमयानाः प्रकृतीर्द्वादश तीर्थकरजिनः । त्रयोसर्वशः एकादश । नामक्वण नाग्नो विनाशेन तैजसशरीरबंधो नश्यति । आशुपक्षेण औदारिकबंधनाशः ॥

तीर्थकरेतरचरमक्षणक्षणीयाः प्रकृतीः संख्याविशेषणाधारयति—

मूलारा—बारसमणुस्सगदिमिलादिना प्रागुक्ताः ॥

अर्थ — अन्त्यसमयमें तीर्थकरेक्वली अनुभवमें आनेवाली वारा प्रकृतिओंका क्षय करते हैं और सामान्य केवली ग्यारह प्रकृतिओंका क्षय करते हैं.

णामक्वण तेजोसरीरबंधो वि खीयेदे तस्स ॥

आउक्वण ओरालियस्स बंधो वि खीयदि से ॥ २१२६ ॥

तं सो बंधणमुक्को उहुं जीवो पओगदो जादि ॥

जह एण्डयवीयं बंधणमुक्कं समुण्णदि ॥ २१२७ ॥

नामकर्मक्षयात्तस्य तेजोबन्धः प्रलीयते ॥

औदारिकवपुर्वंधो न सत्याशुःक्षये सति ॥ २२०४ ॥

एरंडवीजवल्लीवो बन्धव्यपगमे सति ॥

उद्ध्वं याति निसर्गेण शिखेव विषमार्बिषः ॥ १२०५ ॥

विजयोक्त्या—स्पष्टोत्तरगाथाश्रय ॥

तैजसौदारिकशरीरबंधविच्छेदनिबन्धनविशेषनिर्देशार्थमाह—

मूलारा—तेया तैजस । ओरालिदस्स औदारिकशरीरस्य । वधो अन्योन्यप्रदेशानुप्रदेशेन कत्वापत्त्यावस्थानम् ।

इति जीबन्मुक्तिवर्णनम् ॥

इतः प्रबंधेन गार्थैकत्रिशता परमसुक्तिं वर्णयिष्यन्नादौ बंधच्छेदानंतरं भाविनीं लोकान्तप्रापणीमेकसमयिकीं नैसर्गिकीं जीवस्योद्भूतिं दृष्टान्तेन समर्थयते—

मूलारा—पवोगदो प्रकृष्टवेगेन । समुत्पपदि यथा बीजकोशवधादेरद्वीजमाश्रवेवोद्भूते गच्छति तथा मनुष्यादिविभवप्रापकगत्यादिकृत्स्नबंधच्छेदादात्मापीत्यर्थः ॥

अर्थ—नाम कर्मके क्षयसे तैजस बन्धका नाश होता है और आयुर्कर्मके क्षयसे औदारिकबन्धका भी नाश होता है, इस प्रकार बंधमुक्त हुआ यह जीव एरंडका बीज जैसे बंधनमुक्त होकर ऊपर जाता है वैसे उत्कृष्ट वेगसे जाकर मुक्तिस्थानमें स्थिर होता है

अबोगिकेवली उपान्त्य समयमें तेहतर प्रकृतिओंका क्षय करते हैं उन प्रकृतिओंके नाम इस प्रकार हैं—  
१ देवगति २ देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी ३ मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी ५ औदारिकादिक पांचशरीर, औदारिकादि तीन अगोपांग, निर्माण नामकर्म, बंधननामकर्मके पांचप्रकार, सधातके पांचभेद, छह सस्थान, छह सहनन, स्पर्श नामकर्मके आठभेद, रसनामके ५ भेद, गंधनामकर्मके दो भेद, वर्णके पांचभेद, अगुरुलघु, उपधात, परधात, उच्छ्वास, ग्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, प्रत्येकशरीर, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, शुभ, अशुभ, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, अनोदय, अयशःकीर्ति, अन्यतरवेदनीय और नीचैर्गोत्र ऐसी तिहत्तर प्रकृति हैं उनमें मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी कर्मका नाश अन्य समयमें होता है ऐसा कोई आचार्य कहते हैं उनके मतसे उपान्त्य समयमें ७२ बृहत्तर प्रकृतियोंका क्षय होता है तीर्थकरके तेरा प्रकृतिओंका अन्त्य समयमें क्षय होता है और अन्य मुनिओंके बारा प्रकृतिओंका क्षय होता है

संगजहणेण वलहुदयाए उढुं पयादि सो जीवो ॥  
जघ लाज्जो अलेओ उप्पददि जले णिबुद्धो वि ॥ २१२८ ॥

आवेशेनाशुगमिच सपुणेन नियोजितः ॥  
अलाबुखि निलेपो गत्वा भोक्षेज्वतिष्ठते ॥ २२०६ ॥

त्रिजयोदया—संगजहणेन संगन्यागाह्युतरोद्धं प्रयाति जलनिमग्ननिर्लालावुवत् ॥

मुखात्मा संगलागाह्युतरोद्धं गच्छतीत्येवदृष्टान्तेन दृढयति—

मूढारा—संगजहणेन शरीरत्रयसंमर्गज्ञानेन । छाजो तुंबकं । जलेओ मुदादिउपमुक्तं । त्रिबुद्धो निमग्नं । यथा मूढादिलेपजनितगौरवमलावुद्रुब्धं जलेऽवः पतितं जलच्छेदविश्लिष्टमुदादिंयत्नं लघुतदुद्धमेव गच्छति । तथा

कर्मभराकांतिवशीकृत आत्मा तदावेदावगत्यन्तरेऽनियमेन गच्छति । तस्मिन्सतिविप्रमुक्त उपयेव यातीत्यर्थः ।

अर्थ—कीचडका लेप हटने पर जैसा तुंबीका फल जलमें ऊपर कुदकर जाता है वैसे औदारिक, तैजस और कर्मण इन तीन शरीरोंका मंग हटनेपर यह आत्मा हलका होकर मुक्तिस्थानपर चला जाता है-

ज्ञानेन य तह अण्णा पडइदो जेण जादि सो उहुं ॥

वेणेण पूरिदो जह ठाइदुकामो वि य ण ठादि ॥ २१२९ ॥

ध्यानप्रयुक्तो यात्यूर्ध्वमात्मावेगेन पुरितः ॥

तथा प्रयत्नमुक्तोऽपि स्यात्तुक्कामो न तिष्ठति ॥ २१३० ॥

विजयोदया—ज्ञानेन य ध्यानेनात्मा प्रयुक्तो गान्धर्ववेगेन पुरितो यथा न तिष्ठति स्यात्तुक्कामोऽपि ।

पुनरुग्रहरणवरेण मुक्तात्मनोऽस्त्वादिमोर्द्धगविसुषपाश्चरि—

मूढारा—पडइदो प्रेरितः । तेण अपवर्गप्राप्तये बहुशः पूर्वं केवेल प्राणिधानेन पूरिदो निर्मराविष्टः । ठाइदु

कामो वि स्यात्तुमिच्छन्नपि । उक्तं च—

ध्यानप्रयुक्तो यात्यूर्ध्वमात्मा वेगेन पुरितः ॥

तथा प्रयत्नमुक्तोऽपि स्यात्तुक्कामो न तिष्ठति ॥

अत्रेवं तत्पार्थोक्तं दृष्टव्यमुक्तिश्चित्वा । यथा कुलालप्रयोगापादिवहस्तद्वचक्रसंयोगपूर्वकं चक्रभ्रमणमुप-  
तेऽपि तस्मिन्पूर्वप्रयोगादांसंस्कारश्रयाद्भवत्येवं भगवन्नालनासर्वगप्राप्तये बहुशो यत्प्रणिधानं कृतं तदभावेऽपि तदभावे  
पूर्वकं मुक्तस्योर्द्धगमनं अवसीयते इति ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष बड़े वेगसे दौड़ रहा है वह ठहरना चाहता है तथापि ठहर नहीं सकता है क्योंकि वह वेगके आधीन हो चुका है वैसे यह आत्मा शुक्लध्यानसे ऊर्ध्वगमन करता है. लोकके अंततक उसकी गति होकर सिद्धशिलाके उपर वह ठहरता है.

जह वा अग्निगस्म सिहा सद्वावदो चैव होहि उडुगदी ॥  
जीवस्स तह सभावो उडुगमणमप्पवसियस्स ॥ २१३० ॥  
यथानलशिखा नित्यमूर्ध्वं याति स्वभावतः ॥  
तथोर्ध्वं याति जीवोऽपि कर्ममुक्तो निसर्गतः ॥ २२०८ ॥

विजयोदया—स्फोटोत्तरगाथा ॥  
पुनर्मुक्तात्मनः स्वाभाविकोर्ध्वगमननियमं निदर्शनेन व्यक्तरथापयति—

मूलारा—जवेत्यादि तथागतपिरिणामाद् यथा तिर्यक्फलवनस्वभावसमीरणसंबन्धनिरुत्सुका प्रदीपशिला स्वभावादुत्पतति तथा मुक्तात्मापि नानागतिविकारकारणकर्मनिवारणे मत्पूर्य्ङ्गतिस्वभावत्वादूर्ध्वमेवरोहणीत्यर्थः ।

अर्थ—जैसी अग्नि की ज्वाला स्वभावसे ऊर्ध्व गमन करती है वैसे यह आत्मा स्वभावतः उर्ध्वगमन करता है

तो सो अविगगहाए गदीए समए अणंतरे चैव ॥  
पावदि जयस्स सिंहं खित्तं कालेण य फुसंतो ॥ २१३१ ॥  
यात्यविग्रहया गत्या निर्व्याधातः शिवास्पदम् ॥  
एकेन समयेनासौ न मुक्तोऽन्यत्र तिष्ठति ॥ २२०९ ॥

विजयोदया—तो सो अविगगहाए ततोऽसावविग्रहया गत्या अनंतरसमय एव जगतद्विशखं प्राप्नोति ॥  
तदेकसमयिकाविग्रहगतिप्राप्य स्थानमाह—

मूलारा—अविगगहाए अवकया । पाणिमुक्तालागलीगोमृत्रिकाभ्यो गतिभ्योऽन्यथा । अणंठरे कर्मक्षयानंतर

भाविनि समये । जयस्म सिहरं लोकान्तं । तथा च सूत्रं—'तदुन्तरमुद्धं गच्छत्यालोक्रांतादिति' खेत्तमित्यादि कालकल-  
याप्यंतराले सत्तरज्जुप्रमाणमाकाशप्रदेशमस्पृशन् । उक्तं च—

सोऽविग्रहा गत्या समयेनैकेन याति लोकाम् ॥ कालफलयापि लोकं न मीलयन्वगयोगेन ॥

श्रीचंद्रस्तु समयेणंतरेणेवेति पाठं मत्वा कालेणेत्यन्येन संबधमदर्शयत् । अनंतरसमयमात्रेण कालेन लोकान्तं  
प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

अर्थ—यह कर्मरहित आत्मा अविग्रह गतिके द्वारा अनंतर समयमें सत्तरज्जु प्रमाण आकाशको स्पर्श  
करता हुआ लोक शिखरको प्राप्त होता है

एवं इहदं पयहिय देहतिगं सिद्धखेत्तमुगमम् ॥

सव्वपरियायमुक्को सिज्झदि जीवो सभावत्यो ॥ २१३२ ॥

विच्छिद्य ध्यानशस्त्रेण देहान्त्रितयबंधनम् ॥

सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्तो लोकाग्रमधिरोहति ॥ २११० ॥

विजयोद्या—एवं इहं एवमिह देहविकं विहाय सिद्धक्षेत्रमुपगम्य सर्वप्रचारविमुक्तः सिध्यति जीवः  
स्वभावस्थः ॥

प्रस्तुतोपसंहारमाह—

मूलारा—इहदं इह अस्मिन्पंचत्वारिंशत्क्षयोजनप्रमितमानुषोत्तरसौलते मनुष्यक्षेत्रे । सिद्धिखेत्तं तनुवातव-  
लयपर्यन्तावयवाकाशदेशं । उवगम्य प्राप्य । सव्वपरियायमुक्को सकलवैभाविकभावपरित्यक्तः ॥ अन्ये परियायशब्देन  
प्रचारमाहुः । सिज्झदि दंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावं स्वात्मानमुपलभमानः, कृतार्थतया निर्द्वंद्वमाप्ते । सभावत्यो अनंत-  
ज्ञानादिचुष्टयात्मकादात्मस्वरूपादनपगच्छन् ॥

अर्थ—इस प्रकार इस पैतालिस लक्ष प्रमित मानुषोत्तरपर्वतपर्यंतके क्षेत्रमें औदारिक, तेजस और कामांश  
ऐसे तीन देहोंका त्याग करके तनुवातवलयपर्यन्तके आकाश देशमें प्राप्त होकर सर्व वैभाविक अवस्थाओंका त्याग  
कर स्वभावतः जीव सिद्ध होता है.

ईसिप्पन्भाराए उवारेँ अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए ॥  
 धुवमचलमजरटाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥ २१३३ ॥  
 ईषत्प्राग्भारसंज्ञायां धरित्र्यामुपरि स्थिताः ॥

अलोकयाग्रेऽवतिष्ठन्ति ते किञ्चिन्न्यूनयोजने ॥ २२११ ॥  
 विजयोदया—ईसिप्पन्भाराए ईपत्यागभाराया उपरि न्यूनयोजने ऋवमचलं स्थानं लोकास्सिखरमास्थितः सिद्धः ॥  
 सिद्धिश्चेन्नाथोवस्थितामष्टमीं पृथिवीं निर्दिश्य तत्क्षेत्रस्योत्तम्यमाचष्टे—

मूलारा—ईसिप्पन्भाराए ईपत्यागभाराभिधायाः सिद्धिशिलायाः । जोयणम्मि किञ्चिदुनैकयोजने । सीदाए पृथि-  
 व्याः ॥ कृत्स्नरूपरूपक आगमो यथा—

ईपत्यागभारसंज्ञा सावष्टमी पृथिवी सुता । अष्टयोजनबाहल्या मण्ये हीनक्रमात्ततः ।  
 पर्यन्तेऽनुलसंख्येयभागमात्रतनुस्थितिः । सोत्तानितमहाधृता श्वेतच्छत्रोपमाकृतिः ॥  
 चत्वारिंशतु विस्तारो लक्षाः पचभिरन्विताः । योजनानि क्षितेस्तस्या विद्वद्भिराभिधीयते ॥ ४५००००० ॥  
 कोटी तु परिधिर्लक्षा द्वाचत्वारिंशद्विष्यते । द्विशत्येकाप्रपंचाशात्रिसहस्री दशाहता ॥ १४२३०२४९ ॥  
 अचलं निष्कंपं । अजरं जरारहितं शरीरसंबन्धभावात् ॥

उक्तं च—ईपत्यागभारसंज्ञाया उपरि न्यूनयोजने । लोकप्रमचलं स्थानं सिद्धस्तदधि तिष्ठति ॥  
 अर्थ—सिद्धभूमीका ईपत्यागभारा पृथ्वी एसा नाम है, एक योजनमें वह कुछ कम है, ऐसे निष्कप, स्थिर  
 स्थानमें, सिद्ध प्राप्त होकर तिष्ठते हैं

धम्माभावेण तु लोगगे पडिहम्मदे अलोगेण ॥  
 गदिमुवकुणदि हु धम्मो जीवाणं पोमगलाणं च ॥ २१३४ ॥

न धर्माभावतः सिद्धा गच्छन्ति परतस्ततः ॥  
 धर्मो हि सर्वदा कर्ता जीवपुद्गलयो-र्गतेः २२१२ ॥

विजयोदया—धम्माभावेण तु धर्मास्तिकायस्याभावे लोकाग्रे प्रतिहन्यते अलोकेन, यतो जीवपुद्गलानां गते-  
 यकारको धर्मः स चोपरि नास्ति ॥

मुक्तात्मा यद्युर्ध्वगतिस्वभावनिधतो निश्चितस्तीर्हि लोकान्तादूर्ध्वमपि कस्माज्जोत्पतति इत्यारेकां निराकरोति—  
 मूलारा—धर्मभावावेण गत्युपयाहकधर्मद्रव्यशून्यतया । पडिहम्मदे लोकं अतिकम्य गच्छन्मुक्तात्मा प्रतिवध्यते ।  
 अल्लोणेण धर्मद्रव्यरहितत्वात्केवलेनाकाशेन । तवकुणदि उपकरोति । युगपद्भावगतिपरिणामोन्मुखानां जीवपुद्गलानां गतये  
 वलाघानं करोतीत्यर्थः ॥

गङ्गपरिणयण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ॥

तोय जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥

स चोपरि नास्ति इति साधारणबहिरगमनकारणाभावाद्दोलोकाकरो मुक्तात्मनो गमनाभावः सिद्धः ॥

अर्थ—त्रैलोक्यके अन्ततक धर्मास्तिकाय है इसलिए सिद्ध जीवों की गति लोकान्त तक ही होती है.  
 अलोक में जीव और पुद्गलकी गतिको उपकारक धर्म द्रव्य नहीं है इसलिए सिद्ध जीवोंकी ऊपर गति नहीं होती है.

जं जस्स दु संठाणं चरिमसरीरस्स जोगजहणम्मि ॥

तं संठाणं तस्स दु जीवधणं होइ सिद्धस्स ॥ २१३५ ॥

दसविधपाणाभावो कस्माभावेण होइ अच्छंतं ॥

अच्चंतिगो य सुहुदुक्खाभावो विगददेहस्स ॥ २१३६ ॥

निष्ठिताशेषकृत्यानां गमनागमनादयः ॥

व्यापारा जातु जायंते सिद्धानां न सुखात्मनाम् ॥ २१३७ ॥

कर्मभिः क्रियते पातो जीवानां भवसागरे ॥

तेषामभावतस्तेषां पातो जातु न विद्यते ॥ २१३८ ॥

क्षुधातृष्णादयस्तेषां न कर्माभावतो घतः ॥

आहाराद्यैस्ततो नार्थस्तत्प्रीतिकारकारिभिः ॥ २१३९ ॥

यत्सर्वेषां ससौख्यानां सुवनत्रयवर्तिनाम् ॥

ततोऽनंतगुणं तेषां सुखमस्त्ययि विनश्वरम् ॥ २१४० ॥

अंत्यविग्रहसंस्थानसदृशाकृतयः स्थिराः ॥  
 सुखदुःखविनिर्मुक्ता भाविनं कालमासेते ॥ २२१७ ॥  
 तेषां कर्मव्यपयेन प्राणाः संति दशापि नो ॥  
 न योगाभावतो जातु विद्यते स्पंदनादिकम् ॥ २२१८ ॥  
 विजयोदया—दशविधाना प्राणानामत्यताभोवन भवति आत्यतिक्रम सुखदुःखाभाव ॥  
 मुक्तात्संस्थाननिर्णयार्थमाह—

मूलारा—जोगजह्णमि मनोवाकायव्यापारपरिहारसमये । जीवघणं जीवस्वरूपनिर्भरशुतं । एता श्रीविजयो  
 नेच्छति ॥

मुक्तस्य निमित्ताभावादात्यंतिकं प्राणाना सुखदुःखयोश्चाभावं भावयति—  
 मूलारा—दसविधप्राणाभावो पंचद्रियाणि मनोवाकायधलानि आयुरुच्छ्वासश्च । अद्यंतं सर्वथा । विगददेहस्स  
 इन्द्रियाधिष्ठानदेहाभावान्निद्रियिके सुखदुःखे च मुक्तस्य न स्त इत्यर्थः ॥

अर्थ—मन वचन और शरीर इनके योगोंका त्याग करते समय चरमशरीर धारकोंके शरीरका जो  
 आकार रहता है वही आकार पूर्ण स्वस्वरूप को प्राप्त हुए सिद्धों का रहता है दस प्रकारके प्राण सिद्धों को नहीं  
 रहते हैं अर्थात् पांच इन्द्रिय प्राण, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयुष्य, उच्छ्वास इन दस प्राणोंका सिद्धपरमेष्ठी  
 में अत्यन्त अभाव रहता है इन्द्रियोंको आश्रय देने वाला देह नहीं होनेसे इन्द्रिय जनित सुख दुःखोंका भी अभाव  
 रहता है इन्द्रियोंके अभाव में भी उनकी अर्तोन्द्रिय अनन्त सुख प्रगट हुआ है।

जं गत्यि बंधहेतुं देहगहणं न तस्स तेण पुणो ॥  
 कम्मकलुसो हु जीवो कम्मकदं देहमादियदि ॥ २२१७ ॥

न कर्माभावतो भूयो विद्यते विग्रहग्रहः ॥  
 शरीरं अयते जीवः कर्मणा कलुषीकृतः ॥ २२१९ ॥

विजयोदया—जं गत्यि बंधहेतुं यथास्ति बंधकारण तेन न मुक्तस्य देहग्रहणं, कर्मकलुषीकृतो हि जीवः कर्म-  
 कृतदेहमादत्ते ॥



मुक्तस्य पुनः शरीरग्रहणाभावे युक्तिमाह—

मूलारा—बंधदेहू वंधस्य हेतुर्मिथ्यात्वादिः । स च मुक्तस्य नास्तीति पुनः कर्मबंधाभावात् । तद्धेतुकदेहग्रहणाभावः । अथवा वधआसौ हेतुश्च पुनः शरीरग्रहणे निमित्तमिति ग्राह्यम् ॥

अर्थ—उन सिद्ध परमैष्टिक कर्मबधनेके कारण रूप मिथ्यात्वादिकोंका अभाव हो चुका है इस लिए पुनः उनको नवीन कर्मबन्ध नहीं होता है. कर्म के बन्धनेसे देहका ग्रहण होता था अब कर्मबन्ध ही नहीं तो नवीन देहकी प्राप्ति कहाँसे हो सकेगी. जो जीव कर्मसे मलिन हुआ है, उसके ही नवीन देहकी उत्पत्ति होती है. अन्य को नहीं होती है

कज्जाभावेण पुणो अञ्चंचं णत्थि फंदणं तस्स ॥

ण पओगदो वि फंदणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥ २१३८ ॥

विजयोदया—कज्जाभावेण पुणो कार्याभावेन तत्स्पंदनं नास्ति तस्य परप्रयोगगतमपि स्पंदनमस्योदेहस्य सिद्धस्य ॥

सिद्धस्य कृतकृत्यतया प्रयोजनाभावाददेहतया च वातादिप्रयोगान्यत्वात्कच्चिदपि ततश्चलनं नास्तीत्यवगमयति—

मूलारा—कज्जाभावेण प्रयोजनाभावेन । अर्धत सर्वकालं । कदणं चलनं । पओगदो वि वातादेरपि । अदेहिणो देहसंयोगमुक्तस्य अमूर्तस्येत्यर्थः ।

अर्थ—कुछ भी प्रयोजन नहीं होनेसे सिद्ध परमैष्टिके प्रदेशोंमें परस्पंदन-चंचलपना नहीं होता है तथा वातादिकके संयोग से भी उन में चंचलपना नहीं है, क्योंकि उन के देहका ही अभाव हुआ है.

कालमणंतमधम्मोपगग्घिदो ठादि गयणमोगाढो ॥

सो उवकारो इहो अठिदि सभावेण जीवाणं ॥ २१३९ ॥

अधर्मवशतः सिद्धास्तत्र तिष्ठन्ति निश्चलाः ॥

सर्वदाप्युपकर्तासौ जीवपुद्गलयोः स्थितेः ॥ २२२० ॥

विजयोदया—कालमणत् अनंतकाले अधर्मोस्तिकायोपश्रुतः गगनमुप्रविष्टः तिष्ठति । उवकारोऽद्वो अधर्मो-  
स्तिकायेन संपाद्यमानोपकारः अवस्थानलक्षण इष्टो यस्मान्न जीवस्य स्थितिस्वभावश्चैतन्यादिवत् ॥

सिद्धस्य लोकाभ्राकाशदेशावस्थाननित्यतायामुपपत्तिमाह—

मूलारा—अधर्मोपगगदिदो अधर्मोस्तिकायेन स्थितो चाहितब्रह्म आगाढो अनुप्रविष्टः । सो अधर्मसंपाद्यावस्थान-  
लक्षणः । अठिदिसभावेण स्थितिस्वभावभावेन । न हि जीवस्य स्थितिः स्वभावश्चेतनत्वादिवत् । ततः स्थितिः सिद्धस्याधर्म-  
कृतैव । कचित्तु ठिदिसदावेण जीवस्सेति पाठः ॥

अर्थ—सिद्धजीव अनंतकाल तक अधर्म द्रव्यके अनुग्रहसे आकाशमें रहते हैं अचेतनके समान जीवका  
स्थितिस्वभाव नहीं है अर्थात् जीवमें चैतन्य जैसा स्वभाव है वैसा स्थितिस्वभाव नहीं है, अतः अधर्म द्रव्यके  
अनुग्रहसे ही सिद्धजीव स्थिर रहते हैं

तेलोकमत्ययत्थो तो सो सिद्धो जगं गिरवसेसं ॥

सन्वेहिं पञ्जण्हिं य संपुणं सव्वदब्बेहिं ॥ २१४० ॥

लोकसूर्ध्वं नि तिष्ठन्ति कालत्रितयवर्तिनं ॥

जानाना वीक्षमाणास्ते द्रव्यपर्यायविस्तरम् ॥ २१४१ ॥

विजयोदया—तेलोकमत्ययत्थो त्रैलोक्यमस्तकस्य ततोऽतो जगन्निखशेष सर्वैः पर्यायैस्सर्वद्रव्यैस्सपूर्णं ॥

पस्सदि जाणदि य तथा तिणि वि कोले सपज्जए सन्वे ॥

तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयत्रं विगदमोहो ॥ २१४२ ॥

विजयोदया—पस्सदि जाणदि पश्यति जानाति च कालत्रये पर्यायसहितानेशेयस्तथा चालोकमशेषं पश्यति  
भगवान् विगतमोहः ॥

सिद्धस्य दर्शनज्ञानमहिमानमभिष्टौति—

मूलारा—जगं लोकं ॥

मूलारा—जिणो जीवन्मुक्तवत् । सपज्जए पर्यायसहिताक्षीनपि कालान् । एतेन वैशेषिकादिकल्पिता ज्ञानादिगुणा-  
त्यन्तोच्छित्तिलक्षणा परममुक्तिः प्रत्युक्ता ॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठी त्रैलोक्यके मस्तकपर आरुढ हुए हैं वे वहांसेही संपूर्ण द्रव्य और उनके पर्यायोंसे भरे हुए सम्पूर्ण जगत् को तीनों कालोंमें जानते हैं और देखते हैं तो भी वे मोहरहित ही रहते हैं.

भावे सगविसयत्ये सुरो जुगवं जहा पयासेह ॥

सन्व वि तथा जुगवं कंवलणणं पयासेदि ॥ २१४२ ॥

युगपत्केवलालोको लोकं भासयतेऽखिलम् ॥

घनाचरणनिर्मुक्तः स्वगोचरमिवांशुमान् ॥ २१४३ ॥

विजयोदया—भावे सगविसयत्ये आत्मगोचरस्थान् भावान् सूर्यो युगपद्यथा प्रकाशयति तथा सर्वमपि क्षेत्रं युगपत्केवलज्ञान प्रकाशयति ॥

केवलज्ञानस्य युगपदेशेपार्थप्रकाशत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलारा—भावे पदार्थान् । सगविसयत्ये आत्मगोचरस्थान् ॥

अर्थ—जैसे सूर्य अपने प्रकाशमें जितने पदार्थ समाविष्ट होते हैं उन सबको युगपत्प्रकाशित करता है वैसे सिद्ध परमेष्ठीका केवलज्ञान संपूर्ण ज्ञेयोंको—पदार्थोंको युगपत् जानता है.

गदरागदोसमोहो विभवो विमओ गिरुस्सओ विरओ ॥

बुधजणपरिगीदणुणो णमंसणिज्जो तिलोगस्स ॥ २१४३ ॥

रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहविवर्जिताः ॥

ते नमस्याखिलोकस्य धुन्वते कल्मषं स्मृताः ॥ २२२३ ॥

विजयोदया—गदरागदोसमोहो दूरीकृत रागद्वेषमोह, विभवो विगतभय विमओ विगतमदः, क्वचिदप्यनुसुको, निरस्तकर्मपज पटल, बुधजनपरिगीतगुण विष्टपत्रयेण नमस्करणीय ॥

सुक्तात्मनः सकलविकारनिराकाराधिगम्यमात्यतिक्रमनन्यलभ्य परमस्वास्थ्यमावेदयति—

मूलारा—गिरुस्सुगो क्वचिदप्यनुसुकः ।

अर्थ—जिन्होंने रागद्वेष और मोह आत्मासे दूर किये हैं जो निर्भय, मदरहित और उत्कंठारहित हैं

जिन्होंने अपनी आत्मासे कर्मरूपी शूल अलग करी है, जिनके गुणोंका वर्णन गणधरादिक विद्वन्मंडली करती है  
ऐसे सिद्ध परमेशी त्रैलोक्य के द्वारा बंदनीय है

मूलाराधना

१८४१

णिच्वावइत्तु संसारमहिंगि परमणिन्वुदिज्जेलण ॥

णिच्वादि सभावत्थो गदजाइजराभरणरोगो ॥ २१४४ ॥

जन्ममृत्युजरारोगशोकातंकादिब्बयाघय ॥

विध्यता. सकलास्तेषां निर्वाणशरवारिभिः ॥ २२२४ ॥

विजयोदया—णिच्वावइत्तु क्षयसुपनीय ससारमहाग्नि परमनिवृत्तिजलेन तृप्यति स्वरूपस्थो विनष्टजाति-  
त्रारामरणरोग ॥

मूलारा—णिच्वावइत्तु विष्णुः । परमणिन्वुदि परमानन्दमयी मुक्तिः । णिच्वादि उदितोदितसुखो भवति ॥

अर्थ— इन सिद्ध परमेशीओने संसाररूपी महाशिको अनंतसुखरूप जलसे बुझाया है और वे अपने स्वरूपमें ही हमेशा तृप्त रहते हैं जन्म, जरा, मरणरूपी रोगोंका उन्होंने नाश कर दिया है

जाव तु किंचि लोए सारीर माणसं च सुहदुक्खं ॥

तं सब्ब णिज्जिण्णं अमेसदो तस्स सिद्धरस ॥ २१४५ ॥

शारीरं मानसं सौख्यं विद्यते यज्जगत्त्रये ॥

तथोंगाभावतस्तेषां न मनागपि जायते ॥ २२२५ ॥

विजयोदया—जाव तु किंचि लोए याचत् किंचिल्लोके शारीर मानसं वा यत्सुख दुःखं च तत्सर्वं निर्जालं निरव-  
शेष प्रकारकात्स्नर्यनिरासार्थमशेषग्रहण ॥

तत्सौपाधिकसुगदुःखप्रश्रयमालम्बयति—

मूलारा—सुहदुम्प स्थितमिति शेष । णिज्जिण्णं नष्टम् । असेमरो सर्वप्रकारतः । प्रकारकात्स्नर्यनिरासार्थ-

मशेषग्रहणम् ॥

अर्थ—इस जगतमें जो कुछ शारीरिक और मानसिक सुख अथवा दुःख होता है वह अपने सम्पूर्ण प्रकाशों के साथ नष्ट हुआ है. अर्थात् सिद्धोंको शारीरिक और मानसिक दुःखोंका सर्वथा अभाव है. क्योंकि उनको देह और मन नहीं है. वे अशरीर और अमनस्क हैं

जं णत्थि सत्त्ववाधाउ तस्स सत्त्वं च जाणइ जदो से ॥

जं च गदञ्जवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥ २१४६ ॥

जानतां पश्यतां तेषां विवाधारहितात्मनाम् ॥

सुखं वर्णयितुं केन शक्यते हतकर्मणाम् ॥ २२२६ ॥

विजयोदया—जं णत्थि सत्त्ववाधाओ यन्न सन्ति सर्ववाधा, सर्वं च यतो जानाति, यच्चापगताध्यवसानं, तेनासौ सिद्ध परमसुखी भवति ॥

तत्परमसुखित्वं समर्थयते—

मूलारा—वाधाओ शरीरादिदुःसानि स्वलनानि वा । गदञ्जवसाणो निश्चितः ॥

अर्थ—इन सिद्धोंको सम्पूर्ण वाधा नहीं रहती हैं जाननेकी इच्छाके बिना ही सर्व जगत् जानते हैं इसलिये वे सिद्धजीव परमसुखी हैं

परमिद्धिं पत्ताणं मणुसाणं णत्थि तं सुहं लोए ॥

अब्बावाधमणोवमपरमसुहं तस्स सिद्धस्स ॥ २१४७ ॥

भोगिनो मानवा देवा यत्सुखं भुजतेऽन्विलम् ॥

तन्नेषामात्मनीनस्य सुखस्यांशोऽपि विद्यते ॥ २२२७ ॥

विजयोदया—परमिद्धिं पत्ताणं परमासुद्धिं चक्रलछनतादिकां प्राप्तानामपि मणुजानां नास्ति तत्सुखं लोके यदनुपमं तस्य सिद्धस्य सुखमव्यायाघ ॥

तत्सुखवस्थानुपमत्वमाह—

मूलारा—परमिद्धिं चक्रवर्तिविभूतिं ॥

अर्थ—इस जगतमें उत्कृष्ट क्रादिको अर्थात् चक्रवर्तिपद वगैरहकी सम्पत्ति प्राप्त होने पर भी मनुष्यों को वह सिद्धोंका अनुपम सुख प्राप्त नहीं होता है अतःइन सिद्धोंका सुख अव्यावाध है

देविदचक्रवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति ॥

सहरसरूवगंधंफरिसप्पयमुत्तमं लोए ॥ २१४८ ॥

रूपगंधरसस्पर्शशब्दैर्यत्सोवितैः सुखम् ॥

तदेतदीयसौख्यस्य नानतांशोऽपि जायते ॥ २१४८ ॥

विजयोदया—देविदचक्रवट्टी देवेंद्राक्षकवर्तिनश्च यदिन्द्रियसुखमनुभवति शत्रुरसरूपगंधस्पर्शोत्तमकं लोकं प्रधान ॥

अव्वावाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगगो ॥

तरस हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥ २१४९ ॥

विजयोदया—अव्वावाध सुह अव्यावाधात्मक सुख यत्सिद्धा लोकाग्रेऽनुभवति तस्यानंतभागो भवति यदिन्द्रिय सुख पूर्वव्यावर्णितं ॥

मूलारा—फरिसप्पयं स्पर्शात्मक शब्दाद्युपभोगप्रभवत्वात् ।

इंद्रादिसुखस्य सिद्धसुखानतभागत्वमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द इत्यादिकों से जो सुख देवेंद्र चक्रवर्ति वगैरहों का प्राप्त होता है जो कि इस लोकमें श्रेष्ठ माना जाता है वह सुख सिद्धोंके सुखका अनन्तवा हिस्सा है सिद्धोंका सुख बाधारहित वह उनको लोकाग्रमें प्राप्त होता है,

जं सव्वे देवगणा अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ॥

तत्तो वि अणंतगुणं अव्वावाह सुहं तस्स ॥ २१५० ॥

विजयोदया—जं सन्वे देवगणा यः सुखमनुभवति साप्सरोगणः सर्वे देवास्ततोऽप्यनंतगुणं तस्य सिद्धस्या-  
व्यावाधसुखं ॥

सर्वदेवसुखस्यापि तदनंतभागत्वमाह—

मूलारा—सअच्छरगणा अप्सरसा गणैः सहिताः ॥

अर्थ—अप्सराओंके साथ देव जिस सुखका अनुभव लेते हैं सिद्धोंका सुख उससे भी अनंत गुणित है  
और बाधरहित है

तीसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुसतिरिक्खदेवाणं ॥

सत्त्वाणि ताणि ण समाणि तस्स खणमिच्चसोक्खेण ॥ २१५१ ॥

कालत्रितयभावीनि यानि सौख्यानि विष्टये ॥

सिद्धैकक्षणेसौख्यस्य तानि यांति न तुल्यताम् ॥ २१२९ ॥

विजयोदया—तीसु वि कालेसु त्रिष्वपि कालेषु यानि गानवाना, तिरश्चा, देवाना च सुखानि सर्वाणि तानि न  
समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुखेन ॥

त्रैकालिकसासारिकसुखाना क्षणमात्रभाविनापि सिद्धसुखेनावुलनामाह—

मूलारा—ण समाणि । उक्त च—

यदत्र चक्रिणां सौख्य यच्च स्वर्गे दिवौकसा ॥ कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनाम् ॥

अर्थ—तीन कालमें मनुष्य, तिर्यच और देवाँको जो सुख मिलते हैं वे सब मिलकर भी सिद्धके एक  
क्षणके सुखकी भी बराबरी नहीं करते हैं

ताणि हु रागविवागाणि दुक्खपुव्वाणि चेव सोक्खाणि ॥

ण हु अत्थि रागमवहत्थिदूण किं चि वि सुहं णाम ॥ २१५२ ॥

रागहेतु परार्थीनं सर्व वैषयिकं सुखम् ॥

स्वार्थीनेन विरागेण सिद्धसौख्येन नो समम् ॥ २१३० ॥

विजयोदया—ताणि रागविपाकानि तानि रागविपाकानि रागस्य दुःखहेतोर्जनकानि, एतेन दुःखादुपधिष्यं नामैन्द्रियसुपाना दोषोऽभिहितः । दुःखपूर्वाणि न हि क्षुधादिदुःखमतरेण अशनादिक प्रीतिं जनयति ॥ न चास्ति रागमनसा कृत्य सुखं नाम किञ्चित् ॥

मूलारा—रागविवागाणि रागस्य सुखहेतोर्जनकानि । एतेन दुःखादुपधिष्यमिन्द्रियाण दोषोऽभिहितः । दुःखकारणदुःखानुबंधनिबंधनरागकारणत्वत्तेषा । दुःखपुण्यवाणि न हि क्षुधादिदुःखमतरेण भोजनादिक प्रीतिं जनयति । अवहृत्पिदूण लक्ष्वा । अक्षयसुखस्य खन्वाहृदनाकारताविवक्षायां रूपादिविषयगतप्रीतिरूपरागात्मकमिन्द्रियमनःप्रसादात्मकत्वविवक्षया तु तथाविधरागपूर्वकत्वं प्रतीयते ॥

अर्थ—उपर्युक्त सर्व सुख रागविपाकज हैं, यह रागभाव दुःखको उत्पन्न करता है अर्थात् इन्द्रियसुख दुःखानुबंधि है ऐसा सिद्ध होता है, भूख, प्यास, थंडी, उष्णताके बिना अन्नादिक पदार्थ प्रीति उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं, इन पदार्थोंमें जो रागभाव उत्पन्न होता है उसको ही इन्द्रियसुख कहते हैं

इन्द्रियसुखस्वरूपमभिधाय अनिन्द्रियसुख व्यावर्णयति—

अणुवममेयमकखयममलमजरमरुजमभयमभवं च ॥

एयंतियमचंचंतियमन्वाबाधं सुहमेज्यं ॥ २१५३ ॥

अक्षयं निर्मलं स्वस्थं जन्ममृत्युजरतिगं ॥

सिद्धानां स्थावरं सौख्यमात्मनीनं जनार्चितम् ॥ २२३१ ॥

विजयोदया—अणुवममेयं तत्समानस्य तदधिकस्याभावात् सुखस्य तदुपमं, छद्मस्थानैर्मोतुमशक्यत्वाद्भयं, प्रतिपक्षभूतस्य दुःखस्याभावादक्षयं, रागादिमलभावादमलं, जरारहितत्वादजर, भयाभावादभय, भवाभावादभव, ऐकांतिक दुःखस्य सहायस्याभावादैकांतिकमसहायं अन्वाबाधरूपं तत्सुखं ॥

इन्द्रियसुखं स्वरूपतो व्यावर्ण्यतीन्द्रियसुखस्वरूप व्यावर्णयति—

मूलारा—अणुवमं तत्समानस्य तदधिकस्य कस्यापि सुखस्याभावात् । अमेयं छद्मस्थानैर्ज्ञातुं परिमालु चाशक्यत्वात् । अकखयं प्रतिपक्षभूतस्य दुःखस्याभावात् । अमलं रागादिमलानुपपत्तत्वात् । सिवं विषदाभगम्यत्वात् । अजरमित्यादि जरारोगभयभवाभावादजरादिविशेषणं । एयंतियं असहायं । आत्मसमुत्पत्वात् । अचंचंतियं अनंतकालभावि । पद सिद्धं ॥



अर्थ—सिद्धसुखके समान अथवा इससे अधिक सुख जगतमें दुसरा नहीं है. अतः सिद्धोंका सुख अनुपम है. छद्मस्थ जीव अपने ज्ञानसे जाननेमें अथवा उसका परिमाण कहनेमें असमर्थ है. अतः वह सिद्धसुख अमेय है. प्रतिपक्षरूप दुःखका इसमें अभाव है अतः वह अक्षय्य है. रागादिदोषोंसे रहित है अतः यह अमल है. जरावस्थासे रहित होनेसे इसको अजर कहते हैं. रोगरहित होनेसे यह अरुज है. भय रहित होनेसे अभय है. संसारभ्रमणसे मुक्त होनेसे इसको अभय कहते हैं. यह सिद्धसुख फक्त आत्मासेही उत्पन्न होता है इस लिये यह ऐकान्तिक असहाय है इस प्रकार यह सिद्ध सुख अव्याबाध कहा जाता है

विसृष्टिं से ण कज्जं जं णत्थि छुदादियाउ बाधाओ ॥

रागादिया य उवभोगहेदुगा णत्थि जं तस्स ॥ २१५४ ॥

चिजभोगदया-विसृष्टिं से ण कज्जं शब्दादिभिर्विषये. न कार्यं यत् सिद्धस्य न संति क्षुधादिका बाधा, रागादयश्च विषयोपभोगहेतवो न सति यस्मात्तस्य ॥

प्रतिकार्योपभोगहेत्वभावात्सिद्धात्मनो विषयानर्थित्वमाह—

मूलारा—विमण्हि अन्नपानादिभिः । उवभोगहेदुगा अनुभवकारणानि । रागादियद्वाविष्टो हि विषयाननुमुक्ते । वेदनाप्रतीकारार्थी वा न च सिद्धस्य तद्वयमप्यस्ति ॥

अर्थ—शब्द, अन्नपानादिक विषयोंसे सिद्धसुख नहीं उत्पन्न होता है क्यों कि, भूख, प्यास, रागादिक विकार जो कि विषयोपभोगके हेतु हैं वे सिद्धोंके नहीं हैं.

एद्रेण चेव भणिदो भासणचंक्रमणचित्तादीणं ॥

चेट्ठाणं सिद्धम्मि अभावो हदसव्वकरणम्मि ॥ २१५५ ॥

विजयोदया—एद्रेण चेव भणिदो एतेन चोक्त भाग्य चंक्रमणं चित्तनादीनामभावः सिद्धे हतसर्वक्रिये—

मूलारा—हृदयमव्वकरणम्मि निष्ठितमर्वक्रिये । सर्वक्रियासाधनतीते वा ॥

अर्थ—भाषण, गमन, चिंतन वगैरह क्रियायें सिद्धमें नहीं हैं क्योंकि उन्होंने सर्व इंद्रियोंके व्यापारोंका नाश किया है. यह सम उपर्युक्त अभिप्रायसे सिद्ध होता है.

इय सो खाइयसम्मत्तसिद्धदविरियदिट्ठिणणेहं ॥

अच्चंतिगेहिं जुत्तो अब्बावोहेण य सुहेण ॥ २१५६ ॥

कर्माष्टकाविनाशेन ते गुणाष्टकवोष्टिताः ॥

संतिष्ठन्ते स्थिरीभूताः सुवनग्रयवदिताः ॥ २२३२ ॥

विजयोदया—इय सो खाइय एवमसौ क्षायिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया वीर्येण अनंतज्ञानार्जनतदर्शनेन चालं-  
तिकेन युक्तोऽव्यावाधेन सुखेन ॥

तदात्यविकालौकिकधर्मफलपुं समुल्लसति—

मूलारा—सिद्धदा सिद्धत्वं । स्वात्मलाभभाक्त्वम् ।

अर्थ—इस प्रकार क्षायिक सम्यक्त्व, स्वस्वरूपकी प्राप्ति, अनंतवीर्य, अनंतज्ञान, अनंत दर्शन और  
अव्यावाध सुख इन गुणोंसे मिद्ध विराजमान हुए हैं

अकसायत्तमेवदत्तमकारकदाविदेहदाचेव ॥

अचलत्तमलेवत्तं च ह्रुति अच्चतियाइ से ॥ २१५७ ॥

विजयोदया—अकसायत्त्व अकषायत्त्व, अवेदत्वमकारकदा विदेहता अचलत्वमलेपत्व च आत्यंतिक च तस्य  
भवति । क्रोधादिनिमित्तानां कर्मणा प्राक्तनानां विनाशादभिनवानां वाऽभावादकषायत्वमात्यंतिक एवमेवोदत्तत्वं । साध्य-  
स्यापरस्याभावादकारकत्व । प्राक्तनस्य शरीरस्य विलीनत्वादिद्वान्तरकारिण कर्मणोऽभावाद्धिदेहतया अवस्थान्तरमाप्तिनिमि-  
त्तात्तभावादचलत्व । कर्मनिमित्तपरिणामाभावात् । प्राक्तनानां च कर्मणा विनाशादलेपत्वमप्यात्यंतिक ॥

मूलारा—अकसायत्तमेवदत्तं क्रूरत्वादिहेतूनां प्राक्तनानां विनाशादभिनवानां चानुपादात् अकषायत्ववेदत्वे  
शाश्वतिके । अकारणदा साध्यस्यापरस्याभावात्त्रित्यमकारकत्वं । विदेहदा प्राक्तनस्य देहस्य विलीनत्वादिद्वान्तरहेतोश्चाभावा-  
दनारत्तमशरीरत्वम् । अचलत्वं अवस्थांतरप्राप्तिनिमित्ताभावात् अजस्रमचलत्वं । अलेवत्त कर्मनिमित्तपरिणामाभावात्पूर्व  
विनाशाच्च शाश्वतमलेपत्वम् ॥

अर्थ—कपायोसे रहित, स्त्री, पुरुष, और नपुंसक इन तीन वेदोंमें रहित, ऐसी मिद्धाकी अमस्था है. सिद्ध कारकत्वरहित, अचल और अलेप है. इनकी ये अवस्थायें अविनाशी हैं. कोधादिक कपाय तो नष्ट होनेमें और नवीन कपाय उत्पन्न नहीं होनेसे वे अकपाय और अवेद हैं. अमकुष्ठ साध्य करना नहीं रहा है इस लिये वे अकारक हैं. मोक्षरूप साध्यही अन्तिम साध्य था वह उन्होंने प्राप्त कर लिया इस लिये वे अकारक हैं. पूर्ण शरीर नष्ट होगया है और नवीन देह उत्पन्न करनेवाले नाम कर्मका नाश हुआ है अतः वे अवेदही हैं जो उनका स्वस्वरूप है उसमें कभीभी अवस्थांतर नहीं होगा क्योंकि, स्वरूपान्तर उत्पन्न करनेवाले कर्मका अत्यंत अभाव होगया है अब सिद्धमें नवीन कर्मका अभाव है और पूर्वकर्म नष्ट हुआ है इसलिये वे भगवदा अलेप हैं

जम्भणमरणजलोघ दुक्खपगकिलेससोगवीचीय ॥

इय संसारसमुदं तरंति चटुरंगणात्राए ॥ २१५८ ॥

ससारार्णवमुत्तीर्णा दुःखनक्कुलाकुलं ॥

ये सिद्धिसौधमापन्नास्ते सन्तु मन सिद्धये ॥ २१३३ ॥

विजयोध्या—जम्भणमरणजलोघ जन्ममरणजलोघ दुःखसंश्लेशोक्तीचिक ससारसमुद्र । सम्यग्दर्शन ज्ञानचित्रतपस्संश्रितचतुरंगनावा तरन्ति ॥

परममुक्तिवर्णनम्—संसारोच्छेदपूर्वकत्वात्परममुक्तेस्तदुच्छेदोपायमनुशास्ति—

मूलारा—परिकिलेस परितप्तिः । चटुरंग सम्यग्दर्शनज्ञानचित्रतपसि व्यवहारेण ससारलघ्नोपायः परमार्थेन तु तन्मय आत्मैव ॥

अर्थ—यह संसारसमुद्र जन्म और मरण रूपी पानीसे भरा हुआ है, दुःख, संकष्टशपरिणाम और शोक रूपी लहरें इसमें नित्यही उछलती हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इत चार अवयवोंसे बनी हुई आराधना रूप नीकासे मत्पुरुष इस ससारसमुद्रसे उत्तीर्ण होते हैं

एवं पण्डितपण्डितमरणेण करंति सव्वदुक्खवाणं ॥

अतं निरंतराया णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥ २१५९ ॥

भवति पण्डितपण्डितमृत्युना सपदि सिद्धिवर्धवशवर्तिनी ॥

विमलसौख्यविधानपटीयसी सुभगतेव गुणेन निरेनसा ॥ २१६४ ॥

इति पण्डितपण्डितम् ॥

विजयोदया—एव पण्डितपण्डितमरणेण एवमुक्तेन क्रमेण पण्डितपण्डितमरणेण सर्वदुःखानामतं कुर्वति । निरंतराया निर्विघ्ना निर्वर्णमनुत्तर प्राप्ताश्च । एतेन पण्डितपण्डित मरणव्याख्यात ॥ पण्डितपण्डितमरण गद् ॥

प्रकृतमुपसंहरति—

मूलारा—अतं विनाश । निरंतराया निर्विघ्नाः । संतो भव्याः । पत्ता प्राप्नुमादधाः । जीवनमुक्ता इत्यर्थः । इति पण्डितपण्डितमरणव्याख्यान समाप्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार इस पण्डितपण्डित मरणके द्वारा महापुरुष केवल ज्ञानी अपने सर्व दुःखोंका अन्त करते हैं जिससे उनको निर्विघ्न और सबसे उत्कृष्ट ऐसा मोक्ष प्राप्त होता है, इस प्रकार पण्डितपण्डितमरण का वर्णन समाप्त हुआ.

एवं आराधिता उक्कस्साराहणं चटुक्खवंधं ॥

कम्मरयनिप्पमुक्का तेणेव भवेण सिज्झंति ॥ २१६० ॥

विजयोदया—एव आराधिता एवमाराध्य । उक्कस्साराधण उत्कृष्टाराधना । चटुक्खवध समीचीनदर्शनज्ञान चरप, तपोभिधानचतुष्कत्वं । कम्मरजविण्णमुक्का कर्मरजोविप्रमुक्तास्तेनैव भवेन सिद्धंति ॥

अथ चतुर्विधाराधनाया उत्कृष्टमध्यमजघन्यभावनाप्राप्त्याथाः सिद्धैर्मवावधारणाय गाथात्रयेण चूलिकासाह—

मूलारा—चटुक्खवध चतुर्विधायाम् ॥

अर्थ— जिसके चार भेद हैं ऐसी उत्कृष्टाराधनाकी अर्थात् सम्पददर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनको आराधना करके जो महापुरुष कर्मरजसे मुक्त हुये हैं अर्थात् जिन्होंने धातिकर्मोंका नाश किया है वे उसी भवमें मुक्त होते हैं.

आराधयितु धीरा मज्झिममाराहणं चतुक्खंधं ॥

कम्मरयविप्पमुक्का तन्वेण भवेण सिञ्जति ॥ २१६१ ॥

आराधयितु धीरा जहणमाराहणं चतुक्खंधं ॥

कम्मरयविप्पमुक्का सत्तमजम्मेण सिञ्जति ॥ २१६२ ॥

आराधना जन्मवतश्चतुर्था निषेव्यमाणा प्रथमे प्रकृष्टा ॥

भवे तृतीये विदधानि मध्या सिद्धिं जघन्या खलु सप्तमे सा ॥ २२३५ ॥

विजयोद्या—आराधयितु धीरा आराध्य धीरा जघन्यामाराधना चतुष्पथा कर्मरजोविप्रमुक्ता सप्तमेन जन्मना सिध्यति ॥

मूलारा—तत्रेण तृतीयेन ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥ चूलिका ॥

अर्थ—धीर पुरुष इस चार भेदवाली मध्यम आराधनाका आराधन कर कर्मरजसे रहित होकर तृतीय भवसे मुक्त होते हैं, तथा कोई धीर पुरुष चार भेदवाली जघन्य आराधनाका आराधन कर कर्मरजसे मुक्त होकर सातवें भवमें सिद्ध होते हैं

एवं एसा आराधणा समेदा समासदो वुत्ता ॥

आराधणाणिवद्ध सव्वंपि हु होदि सुदणाणं ॥ २१६३ ॥

विजयोद्या—एवं एसा एवमेया आराधना सममेदा समासतो निरूपिता आराधनायामस्या निजदं सर्वमपि श्रुतज्ञानं भवति ॥

प्रकृतोपसंहारपुरःसरमाराधनाविस्तरानभिधाने निबधनमात्मनः समर्थयते—

मूलारा—आराधणाणिवद्धं आराधनाया प्रतिपाद्यमानाया प्रतिपादकरत्वेन सवद्धं यतो द्वादशंगमपि श्रुतं ॥

ततः को माट्ठशस्ता न्यासेन न्यावर्णयितु प्रभवतीत्युत्तरागार्थाद्धेन संबधः ॥

अर्थ—इस प्रकार इस आराधनाके भेद संक्षेपसे मैने कहे हैं क्योंकि इसमें आराधना प्रतिपाद्य विषय है और प्रतिपादक श्रुतज्ञान है यह श्रुतज्ञान मेरे में अल्प है अतः मैने आराधनाका संक्षेपसे वर्णन किया है

आराधनं असेसं वर्णेदुं होज्ज को पुण समत्थो ॥

सुदेकेवली वि आराधणं असेसं ण वर्णेज्ज ॥ २१६४ ॥

आराधनैषा कथिता समासतो ददातु सिद्धिं मम मदमेधसः ॥

अवुध्यमानैरखिल जिनागम न शक्यते विस्तरतो हि भाषितुं ॥ २१३६ ॥

विजयोद्या—आराधण असेस निरवशेषमाराधना वर्णयितुं कससमर्थो भवेत्, श्रुतकेवल्यपि निरवशेष न वर्णयेत् मल्ला—को न कश्चिदल्पश्रुतो निःशेषमाराधना वर्णयितुं क्षमते इत्यर्थः ॥ तर्हि श्रुतकेवली ता समास्ता वर्णयितु प्रमविष्यतीत्यत्राह—सुदेत्यादि एतेन भगवान्सर्वश एवाराधनासर्वस्वव्यावर्णने समर्थ इति गमयति—

अर्थ—इस आराधनाका सविस्तर वर्णन करनेमें कोन समर्थ है ? क्योंकि श्रुतकेवलिमी संपूर्ण आराधनाका वर्णन नहीं कर सकेंगे, अर्थात् केवलज्ञानी अर्हद्भगवान् ही इसका वर्णन करनेमें समर्थ है अन्य नहीं है

अज्जजिणणंदिगणि, सव्वगुत्तगणि, अज्जमित्तणंदीणं ॥

अवगमिय पादमूले समं सुत्तं च अत्थं च ॥ ११६५ ॥

विजयोद्या—अज्जजिणणदि आचार्यजिननदिगणितं, संव्युत्तगणितं, आचार्यमित्रनंदिनश्च पादमूले सम्यगर्थं श्रुतं धावगम्य ॥

इदानीमात्मनः सांप्रदायिकत्वमवधानपरत्वं च प्रकाशयन्नात्मकर्तृकत्वेनास्य शास्त्रस्य विनेज्यनविश्वासनाय प्रमाणता व्यवस्थापयितुं गथाद्वयमाह—

मल्ला—अज्जजिणणंदिगणि सुसुश्रुजनाभिगम्य आर्यजितनंथाचार्यः । सव्वगुत्तगणि सर्वगुप्ताचार्यः । अज्ज-मित्तणंदीणं आचार्यमित्रनंदी । आगमिय पठित्वा एतेनात्मनः सूत्रार्थाविसंवादकत्वमुक्तम् ॥

अर्थ—आर्य जिननंदिगणि, आर्य सर्व गुप्तगणी, तथा आर्य मित्रनदि गणी इनके चरणमूलमें मैने उत्तम रीतिसे श्रुत और उसके अर्थका अध्ययन किया है तदनतर—

पुत्वाययिरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ॥

आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥ २१६६ ॥

विजयोदया—पुत्वाययिरिय पूर्वाचार्यकृतमिव उपजीव्य इयं आराधना स्वशक्त्या शिवाचार्येण रचिता पाणि-  
तलभोजिना ॥

मूलारा—कयाणि आराधनाशास्त्राणीति शेषः ॥ उवजीवित्ता स्तोके स्तोके तदर्थमुपसंगृह्य । ससत्तीए  
एतेनात्मनोऽवधानपरताप्रतिपादनद्वारेणौद्धत्याभावाभिधेयस्य च परमगांभीर्यं दर्शितम् ॥ सिवज्जेण शिव-  
कोट्याचार्येण मतेति लक्षयति । पाणिदलभोइणा हस्ततलभोजनव्रतेन यतिनेत्यर्थः । एतेन प्रतारकत्वाशंका-  
निरासः ॥

अर्थ—पूर्वाचार्यैके वनागे-दुए शास्त्रासं शोडा अर्थे संगृहीत करके हस्तरूपी पात्रमें भोजनकरनेवाले  
अर्थात् मुनि ऐसे शिवार्य-शिवकोटी आचार्यने यह आराधना नामक महाशास्त्र रचा है.

छदुमत्थदाए एत्थ दु जं बद्धं होज्ज पवयणविरुद्धं ॥

सोधेत्तु सुगीदत्था तं पवयणवच्छलत्ताए ॥ २१६७ ॥

विशेष्य सिद्धांतविरोधिवद्धं ग्राह्या श्रुतज्ञैः शिवकारिणीयम् ॥

पलालमद्यस्य न किं पवित्रं गृह्णाति सस्य जनतोपकारि ॥ २२३७ ॥

विजयोदया—छदुमत्थदाए छद्मस्थतया यदत्र प्रवचननिर्दर्शनबद्ध भवेत् तत्सुगृहीतार्थो. शोधयंतु प्रवचन-  
वत्सलतया ॥

अधुना स्वस्य बालभावप्रकाशनेनैवंयुगीनश्रुतधरधुरीणानामनुग्रहेण स्वशास्त्रग्रामाण्यप्रतिष्ठार्थं सधर्मवत्सलता-  
मुल्लासयति—

मूलारा—छदुमत्थदाए सावरणज्ञानतया । एत्थ एतास्मिन् आराधनाशास्त्रे । पवयणवच्छलत्ताए मयि सधर्मणि  
जिनमुने वा नैसर्गिकानुरागपरवत्तया ॥

अर्थ—मैं ( शिवकोटि आचार्य ) छत्रस्थ होनेसे मेरे द्वारा जो श्रवचनका वर्णन किया गया है वह यदि विरुद्ध होगा तो जिन्होंने आगमके अर्थका सम्यक् निर्णय किया है वे साधर्मिक प्रेमसे उस अर्थका संशोधन करें.

आराधणा भगवदी एवं भर्त्तापु वणिणदा संती ॥

संघसस सिवज्जसस य समाधिवरमुत्तमं देउ ॥ २१६८ ॥

आराधना भगवती कथिता स्वशक्त्या चित्तमणिर्वितरितु बुधर्चित्तानि ॥

अहाय जन्मजलधिं तरितु तरण्ड भव्यात्मनां गुणवती ददतां समाधि ॥ २२३८ ॥

करोति वशवर्तिनीस्त्रिदशपूजिताः संपदो ॥

निवेशयति शाश्वते यतिमते पदे पावने ॥

अनेकभवसंचितं हरति कल्मषं जन्मनाम् ॥

विदग्धमुखमंडनी सपदि सेविताराधना ॥ २२३९ ॥

विजयोदया—आराधणा भगवदी आराधना भगवती एव भक्त्या कीर्लिता सर्व्वयुगगणिन. संघस्य शिवाचार्यस्य च विपुला सकलजनप्रार्थनीया भव्यवाद्यसुखा सिद्धिं प्रयच्छतु ॥

शास्त्रकृदेवं भक्त्या परमाराधना व्यावर्ण्य स्वव्यावर्णनफलं प्रार्थयते—

मूलारा—समाहिंवर शुक्लध्यानं । उत्तमं व्युपतरक्रियानिवर्तिनामधेयमिति भद्रम् ॥

अर्थ—इस प्रकारसे भक्तिब्रश होकर वर्णन की गई यह भगवती पूज्य आराधना सर्व सघको और शिवकोटि आचार्यको सर्व जीव जिसकी अभिलाषा करते हैं, जो अव्यानाघ सुख देती है ऐसी अनन्त मुक्तिको प्रदान करे

असुरसुरमण्युकिणररत्रिसासिर्किंपुरिसमहियवरचरणो ॥

दिसउ मम बोहिलाहं जिणवरवीरो तिहुवर्णिदो ॥ २१६९ ॥



स्वमदमणियमघराणं धुदरयसुहदुक्खविप्यजुत्ताणं ॥

णाणुज्जोदियसल्लेहणम्मि सुणमो जिणवराणं ॥ २१७० ॥

अर्थ—असुर, सुर स्वर्गवासी देव, मनुष्य, किन्नर, सुर्य, चंद्र किंपुरुष इनके द्वारा जिनके चरण पूजे गये हैं, जो त्रैलोक्यके नाथ हैं ऐसे श्रीवीर जिनेश्वर भरेको रत्नत्रयका लाभ करदे।

अर्थ—क्षमा, जितेन्द्रियता, और नियमोंको धारण करनेवाले, कर्ममलको नष्ट करनेवाले, शारीरिक और मानसिक सुखदुःखसे रहित, केवल ज्ञानसे जिन्होंने सल्लेखनाको प्रगट किया है ऐसे सपूर्ण जिनेश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूं।

श्रीमदपराजितसूरीकाकृतः प्रशस्तिः

नमः सकलतत्त्वार्थप्रकाशानमहौजसे ॥

भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥ १ ॥

श्रुतायाज्ञानतमसः प्रोद्यद्दर्माशिवे तथा ॥

केवलज्ञानसाम्राज्यभोजे भव्यैकबंधवे ॥ २ ॥

चंद्रानंदिमहाकर्मप्रकृत्यार्थप्रशिक्षेण कारतीयस्वरिचूलामणिना नागनदिगणिपादपद्मोपसेवाजातमतिलेयन यलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशःप्रसरेण अपराजितसूरिणा श्रीनागनदिगणिनायवोदितेन रचिता काराधनाटीका श्रीविजयोदयानाम्ना समाप्ता ॥

॥ एवं भगवती आराधना समाप्ता ॥

टीकाकार श्रीअपराजितसूरीकी प्रशस्ति.

अर्थ—संपूर्ण जीवादि तत्त्वार्थोंको प्रगट करनेमें जो अतिशय समर्थ है जो भव्यसमुदायको महाचूडामणिके तुल्य है और जो सुखदायक है ऐसे श्रुतज्ञानको मैं नमस्कार करता हूं अर्थात् श्रुतकेवलीको मैं वंदन करता हूं

**मूलाराधना**

9644

श्री अपराजित स्वरि, चंद्रनंदि और महामहकृत्याचार्य नामक स्मिराजोंके प्रशिष्य थे, आरातीय विद्वानोंमें चूडामणिके समान श्रेष्ठ थे इन्होंने नागनंदि आचार्यके चरणकमलोंकी सेवा करके ज्ञान प्राप्त किया था ये बलदेव स्वरिके शिष्य थे, जिनशासनका उद्धार करनेमें ये धीर समर्थ थे, इनको खूब यश प्राप्त हुआ था इन्होंने नागनंदि आचार्यकी प्रेरणासे विजयोदया नामकी यह आराधना टीका रचकर समाप्त की है

ये चित्यंति तदवद्भवसि ह्रिद्यदा राधनानुगतमृत्युविकल्पकल्पं ॥

प्रेक्ष्यरीजमनयोऽहदपहमेन संत्यदभताभ्युदयमुक्तिमुदीशिनस्ते ॥ १ ॥

इमामप्राशसामसङ्कृतं त्रिबिधैः । निबन्धैष्टीकाद्यैः स्थविरवचनैरप्यवित्तैः ॥

कृता संवर्च्योच्चैः, शिववचनमीक्षत इह ये । ब्रजंत्यक्षार्थाशाधरपुरुषदूरं पद्मिमे ॥

इत्याशाधरानस्तप्रथसद्वै मलाराधनादपणे पद्ममेयार्थप्रकाशिकरणप्रणयेऽष्टम आइवासः ॥४३॥

स्वस्ति स्यात्कारकेतनाय श्रीमदनेकान्तशसनाय ॥

अथ प्रारब्धनिर्विघ्नपरिसमाप्तिप्रनोदभरालुविद्वभक्तिपरवशमानसो ग्रथकृत्परमाराध्या भगवतीमारथनाम-  
भिष्टोत्रमिदं द्यूतदशकमपाठीच ॥

लब्ध्वा लब्धचरीश्वरेण रुचिता कालादिलब्धीः सता । श्रित्वाराधकृता विशुद्धिमहती भव्या भवद्विभृतः ॥  
यामाराध्य शिवाध्ववृत्तिसिद्धन्मिष्यन्ति सेत्स्यन्ति वा । ता यदे न्यवहारनिश्चयमयीमाराधनादेवताम् ॥ १ ॥

सर्वज्ञाभिधह्म्यभूधरहृदोदमतेन वाकस्रोतसा । तत्सद्वृत्तित्वमभित्तिसंगमुभगेनासंगकुडाश्रिता ॥

भवयान्वः पुनताम्रिमागविलसद्देहाह्यखडौजसा ॥ चित्सिधं प्रणती धुनेनु मदयान्यापपनास्वधुनी ॥ २ ॥

या सम्यक्त्वमुखेन बोधवपुष्योतादिदोर्ध्रगति-ग्रीसारेण तपश्चरित्रचरणेनोत्सिक्कचिच्छुक्तिना ॥

रूपेणाभिगतानि भाक्तिक्रजेन संयोजयत्यंजसा ॥ तामानंदसुधाधिदैवतमुपैम्याराधना प्रश्रयात् ॥ ३ ॥

दीप्रास्तिव्यकिरीटिकायुगलमस्फारोरुद्वारां स्फुरन्निर्वृत्समतिभीतिकुण्डलरुचिं स्फूर्णत्कृपासुद्रिकाम् ॥

सच्चरितशानामुरदारयतना संतोषपादागदाम् ॥ दोर्भयीकृतभावना प्रणिपताम्यारारानामभ्यङ्गाम् ॥ ४ ॥  
 न्दीसाढी विनयोत्तरीयकचिरा वीर्योहसत्कचुक्राम् ॥ श्रेयःप्रलतोन्नला सुविमलश्याम्यलीलान्मुजाम् ॥  
 सल्लेदश्याहुरिचन्दनद्रवरुचं साम्यावतसोतसवाम् ॥ वर्पन्ती हृदि मे सुग्रा भगवतीमाराधना धारये ॥ ५ ॥  
 चेतःपंचनमरिकया श्रुतिमुलेनाविश्य यज्जुंभसे भव्याना मरणभ्रणे त्रिमुग्धनश्रीणा तदाप्युल्लङ्घनम् ॥  
 किंचित्कार्मणमन्वयपुनर्वागम्येन चाम्ना तदा । तात्कालयचलं चिनोपि परदे सा तात्त्विकी पुरिश्चति ॥ ६ ॥  
 श्रद्धतश्चेममसीमसमदमपोह्याश्वाभानात्मनः ॥ एवं म्येन मस्त्येन सप्तगात्मना विगदचिन्मात्रात्मकायात्मने ॥  
 पश्यन्नात्मनि निस्तरंगमहमि त्वा निश्चयाराधने ! । मातश्चेन्द्रमुदिकराम्यपुनरावृत्त्या कृनार्योऽरिम तत् ॥ ७ ॥  
 किं चित्रं जिनसूरिसाधुवपुणा द्युन्नद्धक्षेपेवाणुगम् ॥ सरकरेण पत्रिजिताः सुरपरैर्दिव्यास्त्रयो वदयः ॥  
 पूज्यते द्विजसत्तमैर्विधिवशायानादिकृत्येषु यत् । तच्चित्रं त्वति यत्पुनलपि गिरि शायो जगत्तद्युतः ॥ ८ ॥  
 एकानेकभवेद्यमात्परमनैः कन्यास्त्रिमध्यामिति । प्राप्या पडितपंडितैः सकलचिन्तुक्तेर्भवेन्तेन्द्रिनी  
 एवं विदन्भवती यथात्र भवतीमाजन्मयी जाकुरन्यायेनानुपजङ्गिरेभिरसुभिर्मुन्येऽनुचर्या चया ॥ ९ ॥  
 इत्युद्दामलसत्परापरकालीलाविलासाविलम्बेन । तत्पदसपदार्पणपरामाराधना संस्तौति यः ॥  
 स प्राणोपरमोपजातदुष्टकारः शिवाशार्धैरागध्यक्रमपञ्जोऽचलचिदानन्दे सदास्ते पदे ॥ १० ॥

### इत्याराधनास्तव ॥

५ आश्वारज्जने मूलाराधना नामकी टीका भगवती आराधनाके उपर लिखी है, उस की निर्विघ्न समाप्ति होनेसे उनको बड़ा आनंद हुआ तब भक्तिवश होकर उन्होने परम आराधनीय ऐसे भगवती आराधनाकी स्तुति करनेके दश श्लोक रचे हैं उसका अनुवाद हम यहां पाठकोंके लिये देते हैं—

१ सत्पुरुषोंको मान्य ऐसी कालादि लब्धि पाकर भव्य जन ससारसे भययुक्त होते हैं और सम्यग्-शानाराधनादिचार प्रकारकी आराधनाओंका आराधन करके आपने परिणाम आतिशय निर्मल बनाते हैं ये आराधनायें मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होने वाले भव्य लोगोंको कलेशोंके समान हैं इनकी आराधनासे ही पूर्व कालमें बहुत भव्य लोकोंने मुक्तिकी प्राप्ति करली है, मुक्तिकी प्राप्ति करते हैं व करेंगे अतः व्यवहाराराधनदेवता-भेद रत्नत्रयरूपी आराधना और अभेद रत्नत्रयरूपी निश्चयाराधना मानो देवता ही है, इस देवताको मैं गस्तक नमाकर नमस्कार करता हूँ

२ यह आराधनारूपी महागंगा नदी सर्वज्ञ जिनेश्वररूपी पद्म सरोवरसे उत्पन्न हुई है दिव्यध्वनिरूपी जल प्रवाहसे सुंदर दीखती है इसका यह दिव्यध्वनिरूपी जलप्रवाह तत्त्वज्ञानि अर्थात् तत्त्वज्ञानस्वरूपी आकाशसे उतरकर निग्रेथतारूपी कुंडमें पड़ता है रत्नत्रयरूपी वेदाढ्य पर्वतके पास आये हुए इसकी तेजस्विता बहुत बढ़ गई है. यह गगानदी ज्ञानसमुद्रको पूर्ण भरती है भव्योंको पवित्र करनेवाली यह आराधनारूप गंगा मेरे पापोंका नाश करे

३ इस आराधना देवीका सम्यक्त्वही मुख है सम्यग्ज्ञान ही शरीर है उद्योत, उद्यवन, निर्वाह, सिद्धि और निस्तरणरूपी वीस बाहुओंकी शोभासे यह आराधना देवता बड़ी सुंदर दीखती है मत्स्यक आराधनामें ये उद्योतादिक पांच स्वभाव हैं चार आराधनाके मिलकर उद्योतादिक वीस भेद होते हैं तप और चारित्ररूपी सुंदर चरणोंसे बड़ी सुहावनी दीखती है बड़ी हुई चैतन्य शक्तिरूपी सौंदर्यसे यह युक्त है. ऐसी यह आराधना आनंद सुधाकी मुख्य देवता है. मैं इस देवताको विनयसे शरण जाता हूँ

४ इस आराधनारूपी अभिष्ठाको मैं वदन करता हूँ इसने उज्ज्वल आस्तिक्यरूपी किरिट अपने मस्तक पर धारण किया है. कपायोपशमरूपी कांतिसपन्न बड़ा हार गलेमें धारण किया है. वैराग्य और संसारभय रूपी कुडल इसने अपने दोनो कानोंमें धारण किये हैं. कृपारूपी अगुठी अपने करंगुलीमें धारण की है. तत्त्व-चर्चारूपी रशना-करधनी इसने धारण की है संतोषरूपी नूपुर अपने पांवोंमें धारण किये हैं अहिंसादिक व्रतोंकी भावनारूप भुजालंकार इसने धारण किये हैं ऐसी इस आराधनारूप अभिष्ठाको मैं नमस्कार करता हूँ

५ मैं इस भगवती आराधनाको अपने हृदयमें धारण करता हूँ इसने लज्जारूपी साड़ी पहनी है, तथा विनयरूपी ऊपरका वस्त्र धारण किया है शक्तिरूपी कंबुलसिं यह सुंदर दीखती है पुण्यरूपी पत्रलतासे यह उज्ज्वल दीखती है निर्मल स्वाध्यायरूपी क्रीडाकमल इसने अपने कर्में धारण किया है पति पद्मादि शुभ लेश्यारूपी चंदनचर्चासे इसका शरीर सुंदर दीखता है. साम्यरूपी कर्णभूषणोंसे इसका मुख उज्ज्वल है ऐसी यह आराधना देवता मेरे हृदयपर ज्ञानामृतकी वर्षा करे

६ हे जननी, तू पचनस्कारके मीप से मरणके समय भव्योंके अन्तःकरण में कर्णद्वारा प्रवेश करती है. जब तू उनके अन्तःकरणमें प्रवेश करती है तब वे मरणोत्तर त्रैलोक्यलक्ष्मीके उत्कृष्ट पात्र बन जाते हैं. हे भगवति !

तेरा ऐसा प्रभाव है कि उसका मैं वचनों के द्वारा वर्णन करनेमें अमर्थ हूं हे जननि ! जो तेरा आराधन करते हैं उनको अचल अनन्त—विनाशग्रहित ऐसा पुरुषार्थ प्राप्त होता है अर्थात् उनको मोक्ष मिलता है

७ हे आत्मन् ! तूं इन्द्रियोंमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानोंको छोड़कर निर्मल चेतन्यरूप शरीर धारण करने-वाला आत्माकी प्राप्ति होने के लिये उसको स्वातुभय के द्वारा देख ले जिसमें तुझको अमीम-अमार्थाद आनन्द प्राप्त होगा यह आत्मा आनन्दरूप है ऐसी तू श्रद्धा कर, हे जननी आराधने 'तुझको निश्चल तेजस्वरूप अपनी आत्मामें देख लेता हूँ मैं तेरको स्वस्वरूपमें मर्म तरफ फैलाता हूँ जिसमें मेरा मयायं पुनरागमन न होगा और मैं कृतार्थ होऊंगा

८ हे मातः ! तेरी भक्ति करनेमें माधुगण का चेतन्य स्वरूप पृष्ठ हो जाता है, इन्द्रादिक श्रेष्ठ देवोंने दक्षिणीय, आचरणीय व गार्हपत्य ऐसे तीन अग्नि माधुओंके शरीरस्पर्शमें पवित्र क्रिये हैं, गर्भायानादिक कार्यके समय ये तीनों अग्नि गृहस्थाचार्योंके द्वारा पूजे जाते हैं, इसमें आश्रय क्या है ?

९ हे आराधना माता, पंडितपंडित अर्थात् केवल ज्ञानी मुनि तेरी प्राप्ति कर लेते हैं, तूं भक्त-ममारात्मा नाश करने वाली है जो तेरी भक्ति करता है उसको निजस्वरूपकी प्राप्ति होती है, हे मातः ! मैं भी तेरी सेवा करूंगा जिससे सेमारमें जब तक मैं रहूंगा तबतक वीजांकुरन्यायमें मेरे माथमें रहनेवाले इन प्राणोंमें मैं स्वस्वरूपकी प्राप्ति होने के अनन्तर रहित होऊंगा।

१० जिसमें सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त हुआ है ऐसा मुक्तिपद अर्पण करने वाली इस आराधना जननीकी जो स्तुति करता है उसके प्राणोंका त्याग होने में वह मुक्त हो जाता है उसमें चरण कमलोंको मोक्षेच्छु भव्य पूजते हैं और वे भी अचल ज्ञानरूपी आनन्द जिसमें भरा हुआ है ऐसे मोक्षपदमें सदा ही निवास करते हैं, इस प्रकार आराधनाकी स्तुति समाप्त हुई, (इस स्तुतीके श्लोकोंका अर्थ ठीक हम नहीं लगा सके जैसा हमको जचा जैसा लिखा है)

### अथ परममुख्यावसानमंगलं सिद्धस्तवः ॥

यन्मयापुमहतो दुराग्रहपरित्यक्तात्मरूपात्मनः । मद्द्रव्यं चिदचिन्निर्कालविषयं स्वैःस्वैस्तीक्ष्णं गुणैः ॥  
सार्थव्यंजनपर्यये मन्त्रियैर्जानाति बोधः समं । ततमम्यक्त्यमशेषकर्मभिदुर सिद्धा परं नौमि च ॥ १ ॥

यत्सामान्यविशेषयोः सहस्रयुक्त्वात्यथयोर्विषयत् । चित्त शोतकमुद्गिरन्युदयर नो रज्यति द्वेष्टि न ॥  
 धाराबाह्वि तत्प्रतिक्षणनवीभावोदुरार्यापित-प्रामाण्यं प्रणमाभि वःफलितदृक्त्वान्युक्तिमुक्तिश्रिये ॥ २ ॥  
 सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकार मतं दर्शनम् । साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीकृत्या ॥  
 ते नेत्रे क्रमवर्तिनी सरजसा प्रादेशिके सर्वतः । स्फूर्जन्ती युगपपुनर्विरजसा युष्माकमगातिगाः ॥ ३ ॥  
 स्रक्तव्यक्तविभक्तविश्वविधाकारौघकिर्मीरितानंतानंतभरथमुक्तपुरुषोत्पादव्ययधौव्यवत् ॥  
 स्व स्वं तत्त्वमसंकरव्यतिकर कर्तृनन्क्षणं प्रत्यथो भोक्तृनन्वयतः स्मराभि परमाश्रयस्य कीर्यस्य वः ॥ ४ ॥  
 यद्वयाहन्ति न जातु किंचिदपि न व्याहन्यते केनचित् । यन्निपीतसमस्तवस्त्वपि सदा केनापि न स्पृश्यते ॥  
 यत्सर्वज्ञसमक्षमप्यविषयस्तस्यापि चार्थोद्गिर । तद्वः सूक्ष्मतमं स्वतत्त्वमभि वा भावा भवोच्छिद्यते ॥ ५ ॥  
 गत्वा लोकशिरस्यधर्मवशतश्चद्रोपमे सन्मुखप्रागरालयशिलातलोपरि मनगनैकगव्यूतिके ॥  
 योगोज्झागदरोनमित्यपि मिथो संघाधमेकत्र यल्लघ्वानंतमितोऽपि तिष्ठति स वः सुत्योऽवगाहो गुणः ॥ ६ ॥  
 सिद्धाश्चैदुरवो निराश्रयतया श्रद्धयस्यः पिडवत् । तेऽयश्चैल्लघवोऽर्कतूलवदितश्चेतश्च घडेन तत् ॥  
 क्षिप्यन्ते तनुवातवातचलयेनेत्युक्तियुक्तयुद्धतैर्नोपि पद्मपीव्यतेऽगुरुषुः क्षुद्रैः कथं वो गुणः ॥ ७ ॥  
 यत्तापत्रयमेति भैरवभवोदर्शिः शमाय शमो । युष्माभिर्विदेव व्यपच्यत तदव्याधाधमेतद्धुवम् ॥  
 येनोद्वेलसुखामृताणवनिरातकामिपेकोल्लस- चित्कायात्कलयापि वः ऋचयितुं श्राम्यन्ति योगीश्वराः ॥ ८ ॥  
 एतेऽनंतगुणोद्गुणाः स्फुटमपोद्धृत्याष्ट दिष्टा भवत् । तत्त्वाद्भावयितुं सता व्यवहृक्प्राधान्यतस्तात्त्विकैः ॥  
 एतद्भावनया निरतरगलद्वीकृत्पजालस्य मे । स्तादत्यंतलयः सनातनचिदानंदात्मनि स्वात्मनि ॥ ९ ॥  
 तत्कीर्णमिव वर्तितामिव हृदि न्यस्तामिवालोकायन् । एता चिद्गुणसंस्तुति पठति यः शश्वच्छिद्यशाशवरः ॥  
 रूपातीतसमाधिसाधितवपुःपातः पतदुल्लत-त्रातः सोऽभ्युदयोपमुक्तसुकुतोऽत्रैर्न किं सिध्यति ॥ १० ॥

इति सिद्धस्तवः ॥

१ अत्र प आशाधर जी परममुख्य और अन्तिम मंगल ऐसे सिद्धपरमेश्वरोंकी स्तुति करते हैं—सम्यग्दर्शन संपूर्ण कर्मसमुदायका नाश करनेवाला है यह दुराग्रहरहित आत्माका स्वरूप दर्शानेवाला है, इसका अनुग्रह जब आत्मापर हो जाता है अर्थात् यह सम्यक्त्व जब आत्मामें प्रगट होता है तब ज्ञानगुणका पूर्ण विकास

होता है वह केवलज्ञानकी अवस्थाको धारण करता है तब इस आत्मामें संपूर्ण गुणोंसे हमेशा परिपूर्ण, और सूक्ष्म व्यञ्जन पर्याय और स्थूल नर नारकादि पर्याय त्रिपदमें उत्पन्न होते हैं ऐसी जीवपुद्गलादि पदार्थोंको जाननेका सामर्थ्य उत्पन्न होता है संपूर्ण भूत भविष्यद्वर्तमानकाल संबंधी पर्यायों सहित जाननेका सामर्थ्य प्राप्त होता है सिद्धोंमें ऐसा सामर्थ्य प्राप्त हुआ है अतः मैं उनको नमस्कार करता हूँ ।

२ दीपक जैसा सामान्य और विशेष पदार्थोंको एकदम और अलगभी प्रगट करता है वैसा केवलज्ञान भी वस्तुके सामान्य और विशेष पर्याय युगपत् और कथंचिद् भिन्नरूप अपने और तमाम पदार्थोंको प्रगट करता है यह केवलज्ञान अनंत सुख देनेवाला है, इसकी प्राप्ति होनेपर संपूर्ण पदार्थ आत्मा जान लेती है तो भी वह उन पदार्थोंमें आसक्त नहीं होती है और द्वेषी भी नहीं होती है,

यह केवलज्ञान धारणाही ज्ञानके समान होकर भी प्रत्येक क्षणमें नवीन पर्यायोंको धारण करने वाले पदार्थ इसका निपय चनेते हैं अतः इसमें ग्रामाण्य प्राप्त होता है अनंत दर्शनके साथ यह केवलज्ञान मुक्तिलक्ष्मी की प्राप्ति कर देता है, हे मिद्ध परमेश्वर ! ये दो गुण आपमें मढाके रहते हैं अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ

३ दर्शन सत्ताको विषय करता है और ज्ञान पदार्थ की विशेषताको दिखाता है, वे दर्शन और ज्ञान संपूर्ण जीवोंको नेत्रसमान समझने चाहिये परंतु दोनोंमें इस प्रकार अंतर है—जो जीव कर्मसहित हैं अर्थात् जो ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मसे सहित हैं उनको ये नेत्र दर्शन पूर्वक स्वरूप दिखाते हैं, अर्थात् छद्मस्थ जीवोंको प्रथम दर्शनोपयोग होता है अनंतर ज्ञानोपयोग होता है वह भी संपूर्ण पदार्थोंमें नहीं होता है, परंतु जिनका ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म नष्ट होगया है उनके ज्ञान दर्शनमें ऐसा सामर्थ्य प्रगट हुआ है कि जिसके सामर्थ्य से वे युगपत्संपूर्ण पदार्थोंको देखते हैं और जानते हैं हे मिद्ध भगवन् ! आप शरीररहित हुए हैं और आपको ऐसे अद्वितीय नेत्र प्राप्त हुए हैं इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ,

४ सिद्धपरमेश्वरोंको अनंत शक्ति नामक आत्मगुण प्रकट होता है इसके सामर्थ्यसे उनका ज्ञान आत्मतत्त्व को जानता है सिद्ध पुरुषोंमें आत्माकी नानाप्रकारकी शक्ति अर्थात् गुण प्रगट हुए हैं ये सर्व गुण आपसमें मिले रहनेपर भी सिद्धों को इनके स्वरूपका स्पष्ट अनुभव आता है अपने उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्यके साथ ससारी जीवोंके समस्त शक्तिरूपमें रहनेवाले गुणोंको भी सिद्धपरमात्मा जानते हैं, उनके जाननेमें सत्त्व व्यतिकर दोष उत्पन्न नहीं होता है, वे इन गुणोंके कर्ता और मोक्ता है अतः ऐसे सिद्ध परमात्माओंका मैं मनमें स्मरण करता हूँ,

५ सिद्धोंमें स्रक्ष्मता नामक गुण है उस गुणसे इतर जीवोंको प्रतिबंध नहीं होता है और न वे इसको प्र-  
तिबंध कर सकते हैं. समस्त वस्तुओंको वह स्पर्श करती है परंतु कोई भी उसको स्पर्श करनेमें असमर्थ है. भगवान्  
इस गुणको जान तो लेते हैं परंतु उनके भी वचन संपूर्णतया इसके वर्णनमें असमर्थ हैं. अर्थात् यह स्रक्ष्मतागुण  
इतना स्रक्ष्म है कि स्रक्ष्मा जिनमाणी भी इसको ग्रहण नहीं करती है. हे सिद्धपरमात्मन् मैं संसारनाशके लिए उस  
तुझारे स्रक्ष्म गुणका चिंतन करता हूँ

६ सिद्ध परमेष्ठि लोकके अग्रभागमें ऊर्ध्व गति स्वभावसे जाकर वहां चन्द्रसमान शुभ्र ऐसी मोक्ष शिला  
पर तिष्ठते हैं उस शिलाको श्रगभारा ऐसा नाम है वह एक योजनमें कुछ कम ऐसे लोकग्रामें हैं और वातवलयमें  
विराजमान है जय सिद्ध परमेष्ठि सर्व योगोंसे रहित हो जाते हैं तब उनका आकार अन्तिमशरीरसे कुछ कम ऐसा  
होता है उस समय उनमें पवित्र अवगाह नामक गुण उत्पन्न होता है इस गुणके बलसे एक स्थानमें भी बाधरहित  
अनंतसिद्धोंके साथ वे रहते हैं यद्यपि अनन्त गुणोंका आश्रय स्थान हैं तो भी वे निराकुल अनन्त सिद्धोंके  
साथ रहते हैं यह सब हे सिद्धात्मन् ! आपके अवगाहगुणका ही प्रभाव है.

७ कोई क्षुद्र चादी लोक ऐसा कहते हैं—यदि सिद्धात्मयें भारी वजनदार हैं तो निराधार लोहके पिंड  
समान नीचे गिरने चाहिए और यदि वे हलकी हैं तो आँकके कार्यास समान प्रचण्ड तनुवातवलयके द्वारा इधर  
उधर फेंकें जाने चाहिए, परंतु जिनेंद्र भगवान् सिद्धोंको लघु अथवा गुरुभी नहीं मानते हैं. वे अगुरुलघु  
नामक गुणके धारक हैं ऐसा कहते हैं. इस गुणका स्वरूप वे क्षुद्रलोक क्या जान सकते हैं ?

८ शारीरिक, मानसिक तथा वाचनिक दुःखरूपी शस्त्रोंका आघात होनेसे जो भयंकर मंसाररूपी अग्नि  
प्रकट हुआ था उसके नाशके लिये हे सिद्धपरमात्मन् ! आपने जो तपरूपी परिश्रम किया था उससे आपको अव्या-  
बाध नामक गुण प्राप्त हुआ है तटको उल्लंघनकर बहनेवाले सुरवसमुद्रके द्वारा आपका चैतन्यमय शरीर अभिपिक्त  
हो रहा है आपके उस अव्याबाध गुणकी अंशमात्रभी प्राप्ति हमको होवे इस हेतुसे योगीश्वर श्रम करते हैं अर्थात्  
तप करते हैं.

९ सिद्धपरमेष्ठीओंमें यद्यपि अनंत गुण हैं तोभी उनमेंसे ये आठगुण अलग आचार्यने वर्णन किये हैं.  
अर्थात् व्यवहारको प्रधानता देनेवाले विद्वानोंने सिद्धोंका स्वरूप सत्पुरुषोंके द्वारा माया जावे इस हेतुसे इन गुणों.



का अलग स्वरूप कहा है. इन गुणोंकी भावना में करता हू जिससे मेरे सर्व विकल्पोंका नाश होकर चित्स्वरूपी अनाद्यनत ऐसे आत्मामें मेरा अत्यंत लय होवे.

१० चैतन्यानुभवसमय ऐसे सिद्धों के गुणोंकी स्तुति जो महात्मा अपने हृदयमें मानो उकीरी गई, अथवा लिखी गई, हृदयमें मानो स्थापित की गई है इस प्रकार हमेशा मोक्षकी इच्छाकरके करता है वह निर्विकल्प शुक्लध्यानसे शरीरके त्यागके साथ संपूर्ण पापराशिका नाश करता है जबतक ऐसा महात्मा संसारमें रहता है तबतक पुण्योदयसे संसारके वैभवोंको भोगता है. योग्य ही हैं कि पुण्योदयसे क्या हस्तगत नहीं होता है ?

इस प्रकार सिद्धत्त्व समाप्त हुआ.

### अथ प्रशस्तिः ।

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शकंबरीभूषणः । तत्र श्रीरतिधाममंडलकर नामास्ति दुर्गं महत् ॥  
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्योघोरवालान्वया । च्छीसलक्षणतो जिनेद्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥ १ ॥  
सरस्वत्यामिवात्मान सरस्वत्यामजीजन्त । यःपुत्र छाहद गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम् ॥ २ ॥

व्याघ्रवालवरवंशसरोजहसःकान्यामृतौघरसपानसुदृग्रात्रः ॥

सलक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयता कालकालिदासः ॥ ३ ॥

इत्युदयकीर्तिमुनिना कविसुहृदा योऽभिनंदितःप्रीत्या । मन्नापुजोऽवीति च योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना ॥  
म्लच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति- ॥ त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जन्निवगौजसि ॥

प्राप्तो मालवमंडले बहुपरीवारः पुरीभावसन् ॥ यो धारामपठजिनप्रभितिवाक्शब्दे महावीरतः ॥

प्रशस्ति अपूर्ण है

पं. आशाधरजीने अपनी प्रशस्तीका जो परिचय दिया है उसका वर्णन इसप्रकार—

१ सांबर सरोवर जिसका भूषण स्वरूप है ऐसा सपादलक्ष नामका देश है वह त्रिवर्ग सपत्तिसे युक्त है. मंडलकर नामका लक्ष्मीका क्रीडागृहके समान एकवटा कीला है इस कालि में बंधरवाल नामक वंशमें जिनेंद्रमतमें श्रद्धालु ऐसे पं आशाधरजी उत्पन्न हुए, इनके पिताका नाम सलक्षण था और माताका नाम श्रीरत्नी था.

२ पं० आशाधरजीके पत्नीका नाम सरस्वती था वाग्देवतामें अर्थात् सरस्वती में जैसा पंडितजीने अपने को उत्पन्न किया था वैसे सरस्वती नामक अपने पत्नी में उन्होंने छाहड़ नामका पुत्र उत्पन्न किया. यह पुत्र गुणवान था और इसने अर्जुन नामक मालवदेशके राजाको संतुष्ट किया था

३-४ वधेरवाल वंश रूपी कमलमें जो हंसके समान है, काव्यामृत रसका पान करने से जिसका शरीर पुष्ट हुआ है, जो नयरूपी आर्खांस युक्त है, सच्छक्षणेक सत्पुत्र ऐसे इस आशाधर कविको हम 'कलिकालिदास' इस उपाधिसे भूषित करते हैं. ऐसा कहकर कविके मित्र उदयकीर्ति मुनीने वधे प्रेमसे जिसका आदर किया है ऐसे आशाधर कवि जगतमें हमेशा विजयी होवे इसी तरह मदनकीर्ति यतीश्वरने मञ्जापुंज ऐसा विरुद्ध देकर इनको भूषित किया था

५ साहिबुद्दीन नामक श्वनराजाने सपादलक्ष नामक देश जब अपने कब्जे में कर लिया तब अपने सदा चारका विनाश होगा इस दस्ते विंध्यराजाके बाहुप्रताप से जिसका रक्षण हो रहा था ऐसे मालव देशमें अपने बड़े परिवारके साथ प्रवेश करके धारा नगरी में उन्होंने निवास किया यहां बादिराज पंडितके शिष्य श्रीधरसेन थे और उनके शिष्य महावीर थे उनसे इन्होंने जैनद्व व्याकरण व जैनन्यायका अध्ययन किया (यहां तक यह प्रशस्ति है अत एव अपूर्ण है विशेष जिज्ञासुओंको सागार धर्मांशुत अनगार धर्मांशुत की प्रशस्ति देखलेना चाहिए.

### श्रीमदमितगतियतिपतिप्रशस्तिः ।

श्रीदेवसेनोऽज्जनि माधुराणां गणी यतीनां विहितप्रमोदः ॥  
तत्त्वावभासी निहत्तप्रदोषः सरोरूहणासिव तिग्मराश्मि ॥ २२४० ॥  
धृतजिनसमयोऽज्जनि महनीयो गुणमणिजलधेस्तद्भु यतिर्यः ॥  
शमयमनिलयोऽभितगतिसूरिः प्रदलितमदनः पदन्तसूरिः ॥ २२४१ ॥  
सर्वशास्त्रजलराशिपारगो नेषिषेणसुनिनायकस्ततः ॥  
सोऽज्जनिष्ठ सुवने तमोपह शतिरादिमरिच यो जगप्रियः ॥ २२४२ ॥  
माधवसेनोऽज्जनि सुनिनायो ध्वसितमायामदनकदर्थः ॥  
तस्य गरिष्ठो गुरुचि शिष्यस्तत्त्वविचारप्रवणमनीषः ॥ २२४३ ॥

शिष्यस्तस्य मनीषिणोऽमितगतिमार्गत्रयालंविनीम् ॥  
 एनां कल्मषमोषिणो भगवतीमारार्थनां स्थेयसीम् ॥  
 लोकानामुपकारकोऽकृत सतीं विध्वस्ततापां हृदः ॥  
 पद्मः सत्त्वनिषेवितस्य विमलां गगां हिमाद्रेरिव ॥ २२४४ ॥  
 आराधनैषा यदकारि पूर्णा मासैश्चतुर्भिर्न तदस्ति चित्रम् ॥  
 महोद्यमानां जिनभाक्तानां सिध्यन्ति कृत्यानि न कानि सद्यः ॥ २२४५ ॥  
 स्फुटीकृता पूर्वजिनागमादियं मया जने यास्यति गौरवं परम् ॥  
 प्रकाशितं किं न विशुद्धबुद्धिना महार्घतां गच्छति दुग्धतो घृतम् ॥ २२४६ ॥  
 याचत्तिष्ठति पाण्डुकवलशिला देवादिसमृद्धिं स्थिरा ॥  
 यावत्सिद्धिधरा त्रिलोकशिवरे सिद्धैः समाध्यासिता ॥  
 तावत्तिष्ठतु भूतले भगवती विध्वंसयंती तमः ॥  
 सा चैषा श्रमतुल्लनोदनपरा चंद्रप्रभेवोज्ज्वला ॥ २२४७ ॥

### श्रीमदमितगतिस्त्रिप्रशस्तिः ॥

१ माथुरसङ्घके यतिओंके आचार्य, सब सुनिओं को आनन्द प्रद ऐं देवसेन आचार्य होगये, जैसे सूर्य कमलोंको विकसित करता है, रात्रीका नाश करता है और पदार्थोंको दिखाता है वैसे ये देवसेन आचार्य निहत प्रदोष थे अर्थात् दोषरहित थे और अन्यसुनिओंको दोषोंसे रहित करते थे जीवादि तत्त्वोंका स्वरूप इन्होंने भव्य लोगोंको दिखाया था

२ देवसेनाचार्य के शिष्य अभितगति नामक सुनि थे वे गुणसमुद्र, शम और व्रतोंका आधारभूत थे, मदनका नाशकरनेवाले थे उनको बड़े विद्वानभी वदन करते थे आचार्य जैनमतकी प्रभावना करनेवाले हुये हैं-

३ इनके अनन्तर इस माथुर संघमें नेथियेण नामक आचार्य हुए हैं सर्व शास्त्रसमुद्रके दूसरे किनारेके ये प्राप्त हुए थे चंद्र जैसा लोकप्रिय रहता है वैसे ये आचार्य लोकप्रिय व अज्ञानांधकारका नाश करनेवाले थे

४ नेमिषेण आचार्यके शिष्य माधवसेन नामक आचार्य ये इन्होंने माया और भदनका नाश किया था ये बृहस्पतिके समान चतुर थे और इनकी बुद्धि तत्त्वविचारमें प्रवीण थी।

५ माधवसेन आचार्यके शिष्य अमित्रगति हुए हैं उन्होंने यह भगवती आराधना बनायी है। यह पाप नाशिनी, संसारताप हरण करनेवाली गंगानदीके समान है। गंगानदी हिमालीसे उत्पन्न हुई है- यह भगवती आराधना अमित्रगत्याचार्यरूपी हिमालसे उत्पन्न हो गई है।

६ आचार्यभूतिने यह ग्रंथ केवल चार महिनेमें बनाया है- इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। क्यों कि महाप्रयत्नशाली जिनमक्त कोनसे कार्य सिद्ध नहीं कर सकते हैं ?

७ पूर्व जिनगमका [ शिवकोट्याचार्य का भगवती आराधना ग्रंथ ] आधार लेकर मैंने यह ग्रंथ रचा है। मेरा यह ग्रंथ विद्वज्जनोंमें आदरणीय होगा जैसे दुधसे निकाला हुआ घृत मूल्यवान् और आदरणीय होता है।

८ जब तक मेरु पर्वतके शिखरपर पांडुशिला रहेगी, जब तक सिद्धों से अधिष्ठित सिद्धशिला त्रैलोक्य के शिखरपर विराजमान रहेगी, तब तक चन्द्रकांतिके समान उज्ज्वल, श्रमदुःख का परिहार करने वाली, अज्ञानाधिकार का नाश करने वाली यह भगवती आराधना इस संसार में स्थिर रहे।

### आराधनास्तवनम् ।

बभ्रुःस्वर्गापवर्गप्रभवसुखफलप्रापणे कर्मबद्धी ।

नानाबाधाविधाविप्रक्षितकालिमलक्षालने जह्नुकन्या

रागद्वेषादिभाविन्धसन्धनवन्धेदने छेदनी या ॥

सारामाराधनासौ वितरतु तरसा शार्ध्वतीं को विसृतिम् ॥ २१४८ ॥

१ यह आराधना स्वर्ग और मोक्ष का सुखफल देने में बहुतेके समान है। नाना प्रकारकी बाधाओं को उत्पन्न करने वाले पापरूपी कीचड़को धोनेके लिए यह आराधना गंगानदी के समान है। रागद्वेषादि विकारों से उत्पन्न होनेवाले संकटरूपी वनको तोड़ने वाली कुल्हाड़ी के समान यह आराधना ग्रंथ है। ऐसी यह आराधना तुम लोगों को इच्छित फल देनेमें समर्थ हो

यामासाद्यावनअत्रिदशपतिशिरोघृट्टपादारविन्दाः ॥

संघः कुंदावदात्तास्थिरपरमयशःशोधिताशेषद्विक्काः ॥

जायते जनवोष्मी जनजनितमुदः केवलज्ञानभाजो ॥

भूयादाराधना सा भवभयमथनी भूयसे श्रेयसे वः ॥ २२४९ ॥

१० इस की आराधना से भव्यजन इंदों के द्वारा पूजे जाते हैं इस आराधनाके माहात्म्य से तत्काल भव्यजन कुदपुष्प के समान अपने यशके द्वारा त्रैलोक्य भर देते हैं इस आराधनाका साहाय्य मिलनेसे भव्योंको आनंदित करनेवाले केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है, ऐसी यह आराधना तुम लोगों को विपुल श्रेयः संपत्ति प्रदान करे

यामाराध्याशु गंता शकलितविषदः पंचकल्याणलक्ष्मीम् ॥

प्राप्यां पुण्यैरपापां त्रियुवनपतिभिर्निर्मितां भक्तिमद्भिः ॥

सम्यक्त्वज्ञानदृष्टिप्रसुम्बगुणमणिआजितां यान्ति मुक्तिं ॥

सा वंद्या हृद्यविद्योविलसतु हृदये सर्वदाराधना वः ॥ २२५० ॥

११ इस आराधनाकी आराधना से विपत्तिओंका नाश होता है और देवेंद्र, धर्मेन्द्र और चक्रवर्तिद्वारा भव्य जीवोंको पंचकल्याणकी विभूति प्राप्त होती है, सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य इत्यादि सद्गुणमणिओंसे अलंकृत होकर वे मुक्तिके नाथ बन जाते हैं हम अज्ञानी हैं हम इस आराधनादेवीको वंदन करते हैं यह हमारे हृदय में सर्वदा निवास करे

या सौभाग्य विधत्ते भवति भवमिदे भक्तिः सेव्यमाना ॥

या छिन्ते मोहद्वयं भुवनभवभृतां साध्वसं ध्वंसयन्ती ॥

या चानासाद्य देही भ्रमति भववने भूरिभावाद्भिरौद्रे ॥

सा भद्राराधना वो भवतु भगवती वैभवोद्भावनाय ॥ २२५१ ॥

१२ जो आराधना सौभाग्यको उत्पन्न करती है, भक्तीसे इसकी सेवा करनेसे यह संसारका नाश करती है मोहरूपी द्वैत्यका विध्वंस करके संसारमें प्राणिओंके भयको दूर भगाती है इसकी प्राप्ति नहीं होनेपर प्राणी-ओंको नाना प्रकारके कुभावस्वरूप पर्वतोंसे घिरे हुए संसारजंगलमें भ्रमण करना पड़ता है, अतः यह कल्याण करनेवाली आराधना हमको ऐश्वर्य प्राप्तिके साहायक बने

या कामक्रोधलोभप्रभृतिबहुविधग्राहनक्रावकीर्णां ।  
संसारपापार्सिर्धोर्भवमरणजरावर्तगतादुपेत्य ॥

गच्छत्युत्तीर्य सिद्धिं सपदि भवभृतः शाश्वतानंतसौख्यम् ॥

भव्यैराराधनानौगुणगणकलिता नित्यमारुहतां सा ॥ २२५२ ॥

१३ यह संसारसमुद्र काम, क्रोध, लोभ, वगैरह नाना प्रकारके ग्राह और नक्रोंसे भरा हुआ है. इसमें जन्म, मरण और जरारूपी भोवरे हैं ऐसे संसार समुद्रमें पड़ा हुआ प्राणी सहुणोंसे बनी हुई आराधनाका आश्रय लेकर उससे उच्चीर्ण होता है तथा नित्य अनंत सुख देनेवाले मोक्षको प्राप्त कर लेता है

या मैत्रीख्यातिकांतिद्युतिमतिसुगतिश्रीविनीत्यादिकांताम् ॥

सयोज्योपाजनीयामवहितमतिभिर्मुक्तिकांतां युनक्ति ॥

मुक्ताहाराभिरामा मम मदशमनी सम्यगाराधनाली ॥

भूयान्नेदीयसी सा विमलितमनसां साधयन्तीप्सितानि ॥ २२५३ ॥

नम्रता इत्यादि स्त्रियोंके साथ संयुक्त करती है. और अन्तमें अवश्य प्राप्ति करनेके योग्य ऐसी श्रुति भी देती है यह आराधना मोतिओंकी मालाके समान सुंदर है. मेरे मदको नष्ट करके निर्मल चित्तवाले पुरुषोंको इष्ट पदार्थ समर्पण करती हुई मेरे सबिध हमेशा रहनेकी कृपा करें

स्वांतस्था या दुरापा नियमितकरणा सृष्टसर्वोपकारा ॥

माता सर्वाश्रमाणां भवमधनपराऽनंगसंगापहारा ॥

सत्या चित्तापहारी बुधहितजननी ध्वस्तदोषाकरश्रीः ॥

दद्यादाराधना सा सकलगुणवती नीरजा वः सुखानि ॥ २२५४ ॥

१५ यह आराधना दुर्लभ है जब प्राणिओंके मनमें यह मुकाम करती है तब उसको जितेन्द्रिय बनाती है सर्व प्रकारके उपकार करती है ब्रह्मचर्यादि चारो आश्रमोंकी यह माता है. संसारका नाश करके, काम-विकारको दूर भगाती है. सत्यही इसका स्वरूप होनेसे चिन्मय आत्माके संसारतापको दूर करती है विद्वानोंका

हित करती है संपूर्ण दोषोंको हटाती है और चद्रकी शोभाको नष्ट करती है अर्थात् चद्रकी शोभा भी इसके सामने फीकी मालूम पड़ती है सकलगुणसंपन्ना पापरहित यह आराधना हम लोगोंको सदा सुखी करे

उद्यद्दुःखागदुर्गं गुरुदुरितद्वंदं दग्धुमग्नीयमाना ॥

हर्तुं मोहान्धकार कवलितनिखिला तिग्मरश्मीयमाना ॥

निःशेषं वस्तु दातुं भवभृदभिमतं कामधेनूयमाना ॥

निर्वाधा या विधत्ताममितगतिसुखं शीघ्रमाराधना वः ॥ २२५५ ॥

१६ जो अत्युच्च दुःखरूपी पर्वतोंसे घिरा हुआ है ऐसे पापरूपी बड़े वनको भस्म करनेमें यह आराधना अग्निके समान है. मोहरूपी अंधकारको नष्ट करनेके लिये यह सूर्य के तुल्य है संपूर्ण इच्छित वस्तु देनेमें यह काम धेनूकी बराबरी करती है ऐसी यह आराधना निर्वाध अनंत ज्ञान जिसमें भरा हुआ है ऐसा सुख तुम लोगोंको प्रदान करे.

श्वभ्रभूमिज्वलद्बहेर्याऽविच्छिन्नजलोद्गतिः ॥

अद्य न शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५६ ॥

१७ नरकशूभिमें प्रज्वलित अग्निको शान्त करनेके लिये यह आराधना अविच्छिन्न मेघाक समान है ऐसी रत्नत्रयसे निर्मलरूप आराधना हमको प्राप्त हो

यैषा कुक्षालिका शाता तिर्यग्दुःखाङ्कुरोद्धृता ॥

अद्य न शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५७ ॥

१८ तिर्यगातिके दुःखरूपी वृणाङ्कुरको उखाड़नेके लिये जो ऊहालकतुल्य है. ऐसी यह आराधना हमारा रक्षण करे

मर्त्यचिन्तितलाभाय यैषा कल्पद्रुमायते ॥

अद्य न शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५८ ॥

१९ मनुष्योंको चिन्तित पदार्थ देनेके लिये जो कल्पवृक्षके तुल्य मानी गई है ऐसी रत्नत्रयसे विशुद्ध हुई यह आराधना हमारा रक्षण करे

दृष्टिका हृतये येयं महर्द्धिकसुरश्रियः ॥

अद्य नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५९ ॥

२० महाकद्विद्याली देवीकी लक्ष्मीको तुलानेके लिये जो दृष्टीके समान है ऐसी यह रत्नत्रयसे निर्मल बनी हुई आराधना हमारा रक्षण करे

मुक्तिदाने क्षमा यास्ति विरतिर्भवसंतते ॥

अद्य नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२६० ॥

२१ जो मुक्तिप्रदान करनेमें समर्थ है, जो भवपरंपराका नाश करती है ऐसी यह रत्नत्रयनिर्मल आराधना हमारा संरक्षण करे

एषैव परमो धर्म एषैव परम तपः ॥

एषैवार्हद्वचो वाच्यमेषैव ध्यानसंगतिः ॥ २२६१ ॥

एषैव परमो लाभ एषैव परमं मतम् ॥

एषैव परम तत्त्वमेषैव परमा गतिः ॥ २२६२ ॥

एतस्या दुर्लभं ब्रूहि त्रिलोके कतमत्सुखम् ॥

अतः शरणमेषैका भवतान्मे भवे भवे ॥ २२६३ ॥

२२-२३ यह आराधनाही उत्कृष्ट धर्म है, उत्कृष्ट तप है, जिनेश्वरने अपनी दिव्यध्वनीसे इसकाही वर्णन किया है. इसकोही ध्यान की प्राप्ति होनेमें कारण मानना चाहिये जगतमें आराधनाकी प्राप्ति होना ही परम लाभ है यही उत्तम मत है. यही उत्तम तत्व है और यही हमारी परम संरक्षिका है. इसकी जिसको प्राप्ति हुई है उसको जगत्में कीजना सुख परम दुर्लभ है ? इसलिये प्रत्येक भवमें मैं इसका ही आश्रय ग्रहण-करूंगा.

या सर्वजगदिमाचलादपस्तुता श्रीलप्रवाहात्मिका ॥

या सर्वत्रिसप्तधितैर्गणधैरैराधिता निर्मला ॥

या मुखांशुपद्माङ्गनाङ्गना निर्वापणी स्वर्धुनी ॥

या वाग्विशोभकाय दामया भूयात्सवाराधना ॥ २२६४ ॥



२४ सर्वज्ञ जिनेश्वर रूपी हिमाचलसे इस आराधनारूपी गंगा नदीकी उत्पत्ति हुई है यह शीलरूपी प्रवाहसे युक्त है, सर्व ऋद्धि के धारक गणधरों से यह मानी गई है यह निर्मल है दुर्वार संसार के असुख से पीडित पुरुषोंको आनंदित करनेवाली, ऐसी यह आराधना गंगा पापनाश करनेके लिए कारण होवे और हमारा हमेशा कल्याण करे

या सज्ज्ञानसमृद्धिनालकलिता सम्यक्त्वसंत्कर्णिका ॥

या चारित्र्यपलाशसंचयचिता द्वेधा तपोभासुरा ॥

या भव्योत्तमषट्पदैः पार्थिता नैःसर्ग्यपद्माकुंला ॥

सा वोऽय्याद्भवंतापमुज्ज्वलगुणैराधना पद्मिनी ॥ २२६५ ॥

२५ सम्पद्ज्ञानकी उन्नति होना ही जिसका नालदह है सम्यक्त्वरूपी कर्णिका से जो युक्त है, तेरह प्रकारका चारित्र्य ही जिसके पत्र हैं दो प्रकार के तप से जो प्रफुल्लित है, जो भव्य पुरुषरूपी उत्तम अमरोंसे वेष्टित हुई है, और निष्पत्तिहता रूप कमलसे जो सुन्दर दीखती है ऐसी यह आराधनारूप पद्मिनी-कमलिनी अपने उज्ज्वल गुणों से आराधक ऐसे तुम लोगों का भवसंताप दूर करे।

या सर्वास्त्रवरोधिनी कलिमलं दूर निरस्यांगजम् ॥

सैद्ध चारुपद नयेद्गुणवतो भव्यात्मनो वाञ्छितम् ॥

चक्रेशादिमुखं सुरभिनुतं संयोज्य संन्यस्यतां ॥

सा वः स्यान्मुनिहंसैवितरसा देवापगाराधना ॥ २२६६ ॥

२६ यह आराधनारूप गंगा नदी संपूर्ण आस्त्रवोंको रोकती हैं, शरीर में उत्पन्न हुए रागद्वेषादिक मल नष्ट कर गुणवान् भव्य जीवको इष्ट सुन्दर ऐसा सिद्धपद अर्पण करती है सल्लेखना मरणका जिन्होंने आश्रय लिया है ऐसे सत्पुरुषोंको देवोंके द्वारा वन्दनीय ऐसा चक्रवर्त्यादिकोंका मुख देती है, मुनिहंस जिसके रसका पान करते हैं ऐसी आराधना रूप गंगा आपको प्राप्त होवे

या शीलोज्ज्वलपुरुषगंधसुभगा सद्दधानसत्पल्लवा ॥

भास्वदर्शनसंभवा वरतपःपद्मोच्चयेनाचिता ॥

सम्यग्धृत्तलसन्महाफलवती मन्थालिङ्गकारिता ॥

सा वो मानसभूतले प्रसरतादाराधनावह्वरी ॥ २२६७ ॥

रूपी पल्लवोंसे युक्त हैं, निर्मल सम्यग्दर्शनरूपी बीजोंसे इसकी उत्पत्ति हुई है, उत्कृष्ट तपस्वी पत्नों से भर गयी है; मन्थक्चरित्र रूपी महाफल इसको उत्पन्न हुए हैं मन्थ पुल्लरूपी अमर इस के ऊपर गुंजारव कर रहे हैं, ऐसी यह आराधनारूप वल्ली तुझारे मनोमूमी में खूब प्रसारकों प्राप्त होंगे

या श्रीमच्छ्रुतशीलनीरकलिता निर्वाणदानक्षमा ॥

या ऽपुण्याबुधितारिणी शुचितया रंगत्तरंगाकुला ॥

या निर्धूय कलेवराणि महतः सस्थापयेत्सत्सुखे ॥

सा वो मंगलभातनोतु नितरामाराधनास्वर्धुनी ॥ २२६८ ॥

२८ यह आराधना रूप गंगा नदी श्रुतज्ञान और शीलरूप पानी से भरी रहती है निर्वाणमोक्ष देनेमें समर्थ है पुण्यमयुद्धकों प्राप्त होती है, दोषरहित है शुक्ल ध्यानरूपी तरंगोंसे युक्त है सत्पुरुषोंके शरीरका नाश करके जो उनको उत्कृष्ट मोक्ष सुख देती है ऐसी यह आराधनागंगा तुम लोकोंका पूर्ण कल्याण करें.

या मोहासुरसंगलब्धविजया सर्वार्थसंपादनी ॥

शूराणामसमाधिनाशनाधिया कार्तित्रयाणां सताम् ॥ (?)

या दुर्वारमहोपसर्गमथनी सिद्धिप्रियाणां सती ॥

सा व पातु भवाटवीं प्रतिगतानाराधनाञ्जयिका ॥ २२६९ ॥

२९ यह आराधनारूप अंगिका देवी मोहासुरका पराजय करके विजयी हुई है, इसकी भक्ति करनेवाले पुरुषोंको सर्व इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है यह देवी परीपहसहिष्णु शूर मुनिओंका दुःख नष्ट कर समाधिकी प्राप्ति कर देती है मुनिओंके उपसर्ग कष्ट नष्ट करके सिद्धिकी प्राप्ति कर देती है, ऐसी यह आराधना देवता सवार वैनमें भटकनेवाले हम लोगोंका रक्षण करें.

या शुद्धयष्टकंचारुमौक्तिकफलैर्मध्यस्यदिङ्नायकैः ॥

भास्वद्वीधविचित्रसूत्रचिन्तैश्चारिवैसंलक्षणैः ॥

श्रीमदुत्तिसुज्ज्वलैर्विरचिता दोषोऽग्रोरागपट्टा ॥

सा वास्तिष्ठतु वक्षसीह सुतरामाराधनाकण्डिका ॥ २२७० ॥

३० यह आराधना रूप नायकरत्नोंकी रचना की गयी है उज्ज्वल सम्यग्ज्ञानरूपी सूतके द्वारा यह आराधनारूप नीचमें दशलक्षण रूप नायकरत्नोंकी रचना की गयी है उज्ज्वल सम्यग्ज्ञानरूपी सूतके द्वारा यह आराधनारूप मुक्ताहार रचा गया है, चारित्र और गुणित एतत्स्वरूपी मौक्तिक भी इसमें हैं, ऐसी यह आराधना कंठी आप लोगोंके वक्षस्थलपर हमेशा रहे-

या निःशेषपरित्रयहेमदलेन दुर्वारसिंहायते ॥

या कुशानतमोघटाविघटने चङ्गाशुरोचीयते ॥

या चिंतामणिरेव चिंतितफलैः संयोजयन्ती जनान् ॥

सा वः श्रीवसुनदियोगिमहिता पायात्सवाराधना ॥ २२७१ ॥

३१ यह आराधना सर्व परिग्रहरूपी हाथिओंका घात करनेके कार्य में सिंह समान है अङ्गानां धकारका सप्तहृ नष्ट करनेके लिये मूर्यकांतिके समान है, चिन्तितफलोंके देनेके लिये वह सब जनोंको चिन्तामणि रत्नतुल्य है श्रीवसुनदि आचार्यसे पूजित ऐसी यह आराधना आप लोगोंका नित्य रक्षण करे-

या ससारमहोदधेः प्रतरणी नोरेव मज्ज्यात्मनाम् ॥

या दुःखज्वलनावलीढवपुषां निर्वापणी स्वधुनी ॥

या चिंतामणिरेव चिंतितफलैः संयोजयन्ती जनान् ॥

सा निःश्रेयसहेतुरस्तु भवतामाराधना देवता ॥ २२७२ ॥

३२ मन्व्य जीवोंको संसारसमुद्र तरनेके लिये यह आराधना नौकाके समान है, दुःखरूपी अग्नीसे जलनेवाले लोगोंको शान्तिसुख देनेवाली स्वर्गगाके समान है, जो चिंतित इष्टफलोंसे लोकोंको संयुक्त कर देती है वह आराधना तुम लोगोंको मोक्ष देनेमें हेतु बने-

या पुण्यशालवभूर्तिरेकपद्मी स्वर्गालयारोहिणाम् ॥

या मार्गत्रयवर्तिनीति बिबिता निर्धूतनानारजाः ॥

यस्याः सद्गुरुपर्वतः प्रभव इत्याहुः पुरावेदिनः ॥

सा व. पापमलानि गालयतु खल्वाराधनास्वर्धुनी ॥ २२७३ ॥

३३ पुण्यासवकी मानो मूर्ति ऐसी यह आराधना गंगा स्वर्गरोहण करनेवालोंको मार्गस्वरूप होवे रत्न-त्रयरूप होनेसे लोग इसको त्रिपरांगना कहते हैं इसकी सेवासे नानाप्रकारके पातक नष्ट होते हैं सद्गुरुस्त्री पर्वतसे इस आराधनागंगाका जन्म हुआ है ऐसे प्राचीन आचार्य कहते हैं अतः पापमलसे रहित यह गंगानदी तुझारे अन्तःकरणमें वास करे

या सर्वज्ञहिमाचलात्प्रगलिता पुण्यांबुपूर्णा शुचिः ॥

या सज्ज्ञानचरित्रलोचनधरैर्मूर्ध्ना गणीन्द्रैर्धृता ॥

या कर्मानलधर्मपाडितमुनीन्द्रिभावगाहक्षमा ॥

सा वो मंगलमातनोतु भगवत्पाराधनास्वर्धुनी ॥ २२७४ ॥

३४ यह आराधनागंगा सर्वज्ञ जिनेश्वररूपी हिमालयसे उत्पन्न हुई है, पुण्यरूपी जलसे भरी है और पवित्र है सम्यग्ज्ञान और चारित्ररूप लोचन-आँख धारण करनेवाले गणधरोने जिसको अपने मस्तकपर धारण किया है कर्मरूपी अग्निसिं पीडित मुनीश्वररूपी हाथी जिसमें अवगाहन करते हैं ऐसी यह आराधना स्वर्गनदी तुझारा मंगल करे, या पुण्यांबुधिपूर्णी कलिमलप्रक्षालनैकोद्यमा ॥

या निर्धूय कलेवरणि विमलीकर्तु क्षमाराधकान् ॥

यामासाद्य मुनीभयूथपतयो निर्वाण्यपंकात्मिकाम् ॥

सा वोऽन्तर्भलदाहमाशु निहतादाराधनास्वर्धुनी ॥ २२७५ ॥

३५ यह नदी पुण्यसमुद्रको पूर्ण करती है पापमल धोनेके कार्यमें यही समर्थ है यही मुनिओंके शरीरका नाश करके उनको निर्मल बनाती है, पापरूपी कचिहडसे रहित ऐसी इस नदीको प्राप्त करके मुनिरूपी हाथीके नायक प्रमोदयुक्त होते हैं ऐसी यह आराधनानदी हमारी आत्माके अन्तर्स्थित कर्ममलके दाहका नाश करे

या संसारमहाविषापहरणे सन्मंत्रविद्यायते ॥

या कर्माधृतताडवीप्रदहने दावानलोर्वीयते ॥

वीरासनं च दंडा य उद्धृसाई य लगडसाई य ॥  
 उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य ॥ २२५ ॥  
 समस्किगं समस्किगं कृत्यं कुवकुटकासनम् ॥  
 बहुधेत्यासनं साधोः कायक्लेशविधायिनः ॥ २२३ ॥  
 कोदंडलगडादंडशयशय्यापुरस्सरम् ॥  
 कर्तव्या बहुधा शय्या शरीरक्लेशकारिणा ॥ २२४ ॥

विजयोदया—वीरासनं जंघे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासनं । दंडवदायतं शरीरं कृत्वा शयनं । स्थित्वा शयनं च उद्धृशायीत्युच्यते । लगडसाई सकुचितगात्रस्य शयन । उत्ताणो उत्तानं शयनं । अवमस्तकशयनं एकपार्श्वशयनं च ।  
 मूलारा—वीरासनं ऊरुद्वयोपरि पादद्वयविन्यासः । जंघे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासनमिति टीकाकृत् । इतः शयन-  
 भेदानाह—दंडायदोद्धृसाई दंडवदायतं शरीरं कृत्वा शेते इत्येवं व्रतं यस्य स दंडायतशायी साधुस्तत्साहचर्यान्तच्छय-  
 नमपि तथोक्तं दंडायतशयनमित्यर्थः । एवमूर्द्धशय्यादीनामपि व्युत्पत्तिः कार्यो, उद्ध्रीभूयशयनमूर्द्धशायी । लगडसाई  
 संकुचितकरणस्य शयनं । उत्ताणेत्यादि—उत्तानस्य शयनं उत्तानशयनं । अवमस्तकशयनमधोमुखदानं । एकपार्श्वशयनं  
 च । मडयसाई मृतकस्येव निश्चप्रं शयनम् ।

अर्थ—वीरासन—दो जघाये दूर अन्तर पर स्थापन कर बैठना. दंडायत शयन—दंडके समान शरीर दीर्घ कर सोना. खड़े होकर शयन करना लगडसायी—अवयवोंका सकोच कर शयन करना. मुंह ऊपर कर सोना वह उत्तानशयन है मस्तक नीचे करके सोना अवमस्तकशयन है और एक बाजुसे सोना वह एक पार्श्वशयन है.

अब्भावागाससयणं अणिद्रुवणा अकंडुगं चैव ॥  
 तणफल्लयसिलाभूमी सेज्जा तह केसलोचे य ॥ २२६ ॥  
 काष्टारमत्तूणभूशय्या दिवानिद्राविपर्ययः ॥  
 दुर्धराभ्रावकाशादियोगात्रितयधारणम् ॥ २२५ ॥

विजयोदया—अवभावागाससयण वह्निर्निरावरणदेशे शयनं । अणिष्ठिवर्णं निष्ठीविनाकरणं । अकंदूयनं च तणफलगसिलाभूमीसेज्जा घृणाविषु शय्या । तदा तथा । केसलोओ य केशलोचश्च ।  
मूलारा—अवभावागाससयणं वह्निर्निरावरणदेशे शयनं । इतः केशातराण्याद्—अणिष्ठिवर्णं निष्ठीविनाकरणं ।

अकंदूवर्णग । अकंदूयनं ।

अर्थ—बाह्य आवरणरहित जमीनपर शयन करना वह्य अभ्रावकाश शयन है, अणिष्ठीविनक—नहीं थूकना, अकंदूयन—अंगमें खुजली उत्पन्न होनेपर भी नहीं खुजालना, वृण, काठका फलक, शिला इत्यादिकोपर शयन करना तथा केशलोच करना,

अवमुष्टुणं च रादो अण्हाणमदंतघोवणं चेव ॥

कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य ॥ २२७ ॥

दंतधावनकंदूतिस्नाननिष्ठीविनासनम् ॥

यामिनीजागरो लोचः कायक्लेशोऽयमीरितः ॥ २२६ ॥

सूत्रानुसारतः सार्धो कायक्लेशं वितन्वतः ॥

चित्तिता संपदः सर्वाः संपद्यन्ते करस्थिता ॥ २२७ ॥

विजयोदया—अवमुष्टुणं च रादो रात्रावशयनं जागरणमित्यर्थ । अण्हाणं अस्नानं । अदंतघोवणं चेव दंतानाम-शोधनं । कायकिलेसो कायक्लेश । एसो एषः । सीदुण्हादावणादी य । शीततपनमुष्णातपनमित्येवमादिक ।

मूलारा—अवमुष्टुण रादो रात्रावप्यशयनं । वोत्राप्यर्थे भिन्नक्रमो योज्यः । सीदुण्हादावणादीणि शीतेनातोपेन च समतात्कायस्य क्लेशनं । आदिशब्देन वृष्टिक्लेशादि ॥

अर्थ—रातमें जागरण करना, स्नान नहीं करना, दांत घोनेका त्याग करना ये सब कायक्लेशके प्रकार हैं, शीतकालमें कायक्लेश करना और धूपमें शरीरको क्लेश करना, इत्यादिरूपसे कायक्लेश तप अनेक प्रकार का है,

विविक्तशयनासननिरूपणा—

जतथ ण सोत्तिग अत्थि दु सहरसरूवगंधफासेहिं ॥  
सज्झायज्झाणवाघादो वा वसघी विविच्चा सा ॥ २२८ ॥

विविक्तवसतिः सास्ति यस्यां रूपरसादिभिः ॥  
संपद्यते न संक्लेशो न ध्यानाध्ययने क्षतिः ॥ २२८ ॥

विजयोदया—जतथ ण सोत्तिग यस्या वसतौ न विद्यतेऽशुभपरिणामः । सहरसरूवगंधफासेहिं शब्दरसरूपगंध-  
स्पर्श-करणभूतैः मनोबैरमनोक्षैर्वा । सा विविच्चा वसघी विविक्ता वसतिः । सज्झायज्झाणवाघादो स्वाध्यायध्यानयोर्व्या-  
धातो वा नास्ति सा विविक्ता भवति ।

विविक्तशयनासनं तपो गाथापचकेन न्याचक्षणं प्रथमं विविक्तवसतिसामान्यलक्षणमाह—  
मूलारा—विसोत्तिगा अशुभपरिणामो रागद्वेषमोहात्मकसंकलेशरूपः । वाघादो विनाशः ।  
विविक्तशयनासनतपका वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिस वसतिकामें मनोहर और अमनोहर ऐसे स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्दोंसे अशुभ परिणाम  
नहीं होते हैं वह वसतिका रहनेके लिये योग्य है । तथा जिसमें स्वाध्याय और ध्यानमें विघ्न नहीं होता है वह वस-  
तिका मुनिओंको रहनेके लिये योग्य होती है । ऐसी वसतिकाको विविक्तवसतिका कहना चाहिये ।

वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अंतो वा ॥  
इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए सीदाए उसिणाए ॥ २२९ ॥  
अंतर्बहिर्भवां शय्यां विकटां विपमां समाम् ॥  
वांछन्नविकटां सेव्यां रामाबंधपशूज्जिताम् ॥ २२९ ॥

विजयोदया—वियडाए उद्धाटितद्वाराया । अवियडाए अनुद्धाटितद्वाराया वा । समविसमाए समभूमिसमन्वि-  
तायां विपमभूमिसमन्विताया । बहिं च वहिर्भोगे वा । अंतो वा अभ्यंतरे वा । इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए स्त्रीभिर्नपुंसकै-  
पशुभिश्च वर्जिताया वसतौ । सीदाए शीताया । उसिणाए उष्णया ।

मूलरा—वियडाए उद्धादितद्वाराया । अवियडाए अमुद्धादितद्वाराया समविसमाए समभूमिकाया विपमभूमिकाया वा । बहिव्व बहिर्वा । ग्रामनगरादेरिति शेषः ।

अर्थ—जिसके द्वार खुले हैं अथवा जिसके दरवाजे ढके हुये हैं. जो समभूमिसहित हैं, जो विपमभूमि सहित हैं जो ब्राह्म भागमें है अथवा अन्तभागमें है, जो स्त्री, पुरुष और नपुंसकवर्जित है, जो शीत और उष्ण है वह वसतिका विविक्त वसतिका है

उगमउष्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए दु ॥

वसदि असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेजाए ॥ २३० ॥

उद्गमोत्पादनावलभादोषमुक्तामपक्रियां ॥

अविविक्तजनागम्यां गृहशय्याविवर्जितां ॥ २३० ॥

विजयोदया—उगमउष्पादणएसणाविसुद्धाए उद्गमोत्पादनैवणदोषरहिताया । तत्रोद्गमो दोषो निरूप्यते । वृक्ष च्छेदस्तदानयनं, इष्टकापाक, भूमिखनन, पाषाणसिकतादिभि पूरण, धराया कुहनं, कर्दमकरण, कीलानां करणं, अग्निनाय-स्तान्न कृत्वा प्रताड्य क्रूरचैः काष्ठपाटनं, वासीभिस्तक्षण, परशुभिश्छेदन इत्येवमादिव्यापारेण पण्णा जीवनिकायानां बाधा कृत्वा स्नेह वा उत्पादिता, अन्येन वा कारिता वसतिराधाकर्मशब्देनोच्यते । यावन्तो दीनानां यक्षपणा आगच्छन्ति लिंगिनो वा तेषामियमित्युद्दिश्य कृता, पायडिनामेवेति वा श्रमणानामेवेति, निर्ग्रन्थानामेवेति सा उद्दिष्टा वसदिति भण्यते । आत्मार्यं गृह कुर्वता अपवरक सयताना भवत्विति कृत अमोवचममित्युच्यते । आत्मनो गृहार्थमानीतैः काष्ठादिभिः सह शुद्धि श्रमणार्थमानीयालेन मिश्रिता यत्र गृहे तत्पूतिकमित्युच्यते । पायडिना गृहस्थाना वा क्रियमाणे गृहे पञ्चात्सयतागुद्दिश्य काष्ठादिमिश्रणेन निष्पादितं वेदम मिश्रम् । स्वार्थमेव कृत संयतार्थमिति स्थापित ठविदं इत्युच्यते । संयत. स च यावद्भिर्दैनैरागमिष्यति तत्त्ववेशविने गृहसंस्कारं सकलं करिष्याम. इति चेतसि कृत्वा, यत्संस्कारित वेदम तत्पाहुडिगमित्युच्यते । तदागमानुरोधेन गृहसंस्कारकालापन्दास कृत्वा वा संस्कारिता वसति प्रदीपकं वा तत्पाहुडुकृत मित्युच्यते । यद्गृह अधकारबहुलं तत्र वहुलप्रकाशसपादनाय यतीना छिद्रीकृतकुड्मं, अपाकृतफलकं, सुविन्यस्तप्रदीपकं वा तत्पादुकारशब्देन भण्यते । द्रव्यक्रीत भावक्रीतं इति छिविधं क्रीत वेदम, सचिन्तं गोयलीवर्दीदिकं इत्या सयतार्थक्रीतं, अचिन्त वा द्रुतगुडखडादिक दत्वा क्रीत द्रव्यक्रीतं । विद्यामंत्रादिदानेन वा क्रीतं भावक्रीत । अल्पमृगं कृत्वा वृद्धिसहितं अवृद्धिकं वा गृहीतं संयतेभ्य पामिच्छ उच्यते । मदीये वेशमनि तिष्ठतु भवान् शुण्मदीयं तावद्गृहं यतिभ्य प्रयच्छेति गृहीतं परियद्वमित्युच्यते । कुड्याद्यर्थं कुटीरककटादिकं स्वार्थं निष्पन्नमेव यत्संयतार्थमानीतं तदभ्यर्हिडमुच्यते । तद्द्वि-



विधमाचरितमनाचरितमिति । दूरदेशादग्रामान्तरादानीतमनाचरितं शतपदाचरितं । शृङ्गादिभिः, मृत्पिण्डेन, वृत्त्या, कया-  
देनोपलेन वा स्थगितं अपनीय दीयते यत्तदुद्धिन्नं । निश्रेण्यादिभिरास्त्रा इत आगच्छतं शुष्माकमिय वसतिसिति या दीयते  
द्वितीया तृतीया वा भूमि सा मालारोहमित्युच्यते । राजामालादिभिर्मयमुपदर्श्य परकीयं यदीयते तदुच्यते अच्छेजं  
इति । अनिसृष्टं पुनर्द्विविधं । गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते वसतिः । यत्स्वामिनापि बालेन परवशवर्तिना दीयते सो-  
भय्यनिसृष्टेति उच्यते । उद्गमद्वयोपानिरूपिता ।

उत्पादनद्वयोपानिरूप्यन्ते—पचविधाना धात्रीकर्मणा अन्यतेमनोत्पादिता वसतिः । काचिद्द्वारकं रूपयति, भूप-  
यति, क्रीडयति, आशयति, व्यापयति वा । वसत्यर्थेभ्योत्पादिता वसतिर्धात्रीद्वयोपदुष्टा । ग्रामान्तरादग्रामान्तराच्च देशादन्य  
देशतो वा संवधिना धात्रीमभिधायोत्पादिता इतकर्मोत्पादिता । अंगं, स्वरो, व्यंजनं, लक्षणं, छिन्नं, भौमं, स्वमोऽन्तरिक्ष-  
मिति पचभूतनिमित्तोपदेशेन लब्धा वसतिर्निमित्तद्वयोपदुष्टा । आत्मनो जार्ति, कुल, देशव्यं वाभिधाय स्वमाहृत्यप्रकटनेनो-  
त्पादिता वसतिराजीवशब्देनोच्यते । भगवन्सर्वेया आहारदानाद्वसतिदानाच्च पुण्यं किमु महदुपजायते इति पृष्टो न भवती-  
त्युक्ते गृह्णिजनं प्रतिक्कलवचनरुष्टो वसतिं न प्रयच्छेदिति एवमिति त्वत्तुक्कलमुक्त्वा योत्पादिता सा वणिगवा शब्देनोच्यते ।  
अग्नविधया चिकित्सया लब्धा चिकित्सोत्पादिता । क्रोद्योत्पादिता । गच्छतामागच्छतां च यतीना भवदीयमेव गृहमाश्रय-  
इतीयं धातो दूरादेवास्माभि श्रुतेति पूर्व स्तुत्वा या लब्धा । वसनोत्तरकालं च गच्छन्प्रशंसा करोति पुनरपि वसतिं लप्से  
इति । एव उत्पादितासंस्तवद्वयोपदुष्टा । विद्यया, मन्त्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृह्णिणं वशे स्थापयित्वा लब्धा । मूलकर्मणा वा  
भिक्षुकन्यायोनिसंस्थापना मूलकर्म । विरक्ताना अनुरागजननं वा । उत्पादनात्थोऽभिहितो द्वोप पौडशप्रकारः ॥

अथ एषणाद्वयोपान्दश ग्राह—

क्रिमिय योग्या वसतिर्निति शंकिता । तदानीमेव सिका सत्यालिप्ता सती वा छिद्रस्तजलमवाह्रेण वा, जल-  
भाजनलोठनेन वा तदानीमेव लिप्ता वा प्रक्षितेत्युच्यते । सचित्तपृथिव्या, अपा, हरिताना, धीजाना वसानां उपरि स्थापितं  
पीठफलकादिकं अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते सा पिठिता । काष्ठचेलकंठप्रारणाद्याकर्पणं कुर्वता पुरोयायिनोपदाशि-  
ता वसति साह्यारशब्देनोच्यते । स्तुतजातस्तुतकयुक्तगृह्णिजनेन, मत्सेन, व्याधितेन, नपुसकेन, पिशाचगृह्णितेन, नग्नया वा-  
दीयमाना वसतिर्वीर्यकदुष्टा । स्थावरैः पृथिव्यादिभिः, त्रसैः पिपीलिकामच्छुणादिभिः सहितोन्मिश्रा अधिकवितस्तिमात्राया  
भूमेरधिकाया अपि युवो ग्रहणं प्रमाणातिरेकद्वयोप । शीतवातातपाद्युपडवसहिता वसतिरियमिति निर्वा कुर्वतो वसनं  
धूमद्वयोप । निर्वाता, विशाला, नान्युष्णा शोभनेयमिति तत्रानुराग इगाल इत्युच्यते । एवमेतैरुद्गमादिदोषैरुपहृता वसति  
शुद्धा तस्या । अकिरियाण दु प्रमाजनादिसंस्काररहिताया । असंसत्ताए जीवसमवरोहिताया । पिण्यादुडियाए शय्यारहि-  
ताया । सेज्याए वसतौ । अन्तर्यहिरवा वसद् वसति । यतिर्विबिक्तशय्यासनरतः ।

१ क पुस्तके नास्त्ययं पाठः । २ क्लोधं, मानं, माया, लोभं वा प्रयुज्योत्पादिता क्रोधादिचतुष्टयदुष्टा ॥ इति  
मूलाराधनार्पणदीपिकाया ।

मूलारा—उगमेत्यादि उद्गमोत्पादनेपाणदोपपदिताया । तत्राहारापौधवसतिसंस्तरोपकरणादिकं यतये देयमुद्रच्छ-  
ति उत्पद्यते धैर्दुर्बुः क्रियाविशेषैर्मागविरोधिभिस्ते उद्गमोदेशिकादयः पोडश । यैश्च भक्तादिकमुत्पाद्यते मार्गेविरोधिभिस्ते  
धात्र्यादयः पोडश साधोः क्रियाभेदा उत्पादना । तथा चावोचाम धर्माभ्युते—

भक्ताद्युद्गच्छत्यप्यैर्यैरुत्पाद्यते च ते ॥

दातृयत्योः क्रियाभेदा उद्गमोत्पादना. क्रमात् ॥

एते द्वात्रिंशद्व्याधाधर्माशत्वादोपत्तेन व्यपदिश्यते । भक्ताद्यर्थे यते पृथ्वीवनिकायवाधानं तत्कारणं वा भक्ता-  
दिकमेवाधायकमेत्युच्यते । एषणदोपास्तु शंकितादयो दंश । ते च मूलचारोक्ता यथा—

आधाकम्मुद्देशिय अज्जोवज्जे य पृदिमिस्से य ॥

उविदे बलि पाहुडिदे पादुकारे य कीदे य ॥

पामिच्छे परियेद्वे अभिहडमुब्भिणमालमारोहे ॥

अच्छिज्जे अणिसट्टे उगमदोसा दु सोलसिमे ॥

धादी दूदणिमित्ते आजीवे वणिबगे य तोगिछे ॥

कोही माणी मायी लोही य हवंति दश एदे ॥

पूर्वं पच्छासंधुइ विज्जामंते य चुणजोगे य ॥

उपायणा य दोसो सोलसिमो मूलकम्मो य ॥

संकिदमक्खिदणिकिखत्तपिहिद संवहरणदायगुम्मिस्से ॥

अपरिणदलित्तछोडिद एसणदोसा दु दस एदे ॥

तत्र दृक्षच्छेदष्टकापाककर्मकरणादिव्यापारेण पण्णा जीवनिकायाना वाधा कृत्वा स्वेनोत्पादि ता अन्येन वा

कारिता क्रियमाणा वानुमोदिता वसतिराधाधर्मशब्देनोच्यते ॥

१ यावन्तो दीनानायकपणा आगच्छन्ति लिगिनो वा तेपामियमित्युद्दिश्य कृता, पापंडिनमेवेति वा श्रवणा-

नामेव निप्रधानामेवेति सा वसतिरुद्देशिका ॥ १ ॥

२ आत्मार्यं गृहं कुर्वता अपवरक संयताना भवत्विति कृतं अज्जोवज्जमित्युच्यते ॥

३ आत्मनो गृहार्थमानीतेः काष्टादिभिः सह श्रमणार्थमानीतेनाल्पेन मिश्रता यत्र गृहे उत्पुतिकं । ४ पापं जिना गृहस्थाना वा सम्यग्विधत्वेन क्रियमाणे गृहे पश्चात्संयतामुद्दिश्य काष्टादिभिः श्रणेन निष्पादितं वेदम मिश्रं । ५ स्वार्थमेव कृतं संयतार्थमिदं इति स्थापितं ठविदं । ६ यक्षनागमातृकाकुलदेवतानर्थं कृतं गृहं तेभ्यश्च यथाम्बं वत्तं, तदुत्तावागिष्टं यतिभ्यो दीयमानं बलिस्तियुच्यते । ७ संयता इत्यङ्गिर्नैरागमिष्यन्ति, तत्पक्षेऽदिने गृहमस्कारं सकलं करिष्याम इति चेत्तस्मिन् कृत्वा यत्संस्कारित वेदम तत्पाहुडिदं । तदगमासुरोधेन गृहसंस्कारकालापन्दासं कृत्वा वा संस्कारिता वसतिः ॥ ८ यद्गृहं अंधकारबहुलं तत्र प्रकाशसंपादनाय यतीना छिद्रीकृतकुड्यमपाकृतफलकं विन्यस्तप्रदीपकं वा तत्पाहुत्कारम् । ९ गवादिना वा सचित्तेन, गुडदिना वा अचित्तेन द्रव्येण, विद्यामंत्रादिदिनेन वा भवेन क्रीतं कीट-मिल्युच्यते । अल्पमृणं कृत्वा सवृद्धिकमवृद्धिकं वा संयतार्थं गृहीतं पापमिच्छं । ११ मद्गृहे तिसृषु भवान् स्वगृहं यति-भ्यः प्रयच्छेति गृहीतं परियदं ॥ १२ । कुट्टिकटकादिकं स्वार्थनिष्पन्नमेव संयतार्थमानीतं तदभिदृष्टं । तच्च दूरेदेशा दानीतमाचरितं इतरदत्ताचरितम् । १३ इष्टकाभिर्मूर्तिपडेन कृत्वा कपाटेन वा स्थगितमपाकृत्य यदीयते तदुद्भिन्नम् । १४ निःश्रेण्याग्निभिरारुह्य इत आगच्छत युष्माकमियं वसतिरिति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमिः स मालारोहं । १५ राजामात्यादिभिर्मयमुपदर्य परकीयं यदीयते तदच्छिजं । १६ गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते या च स्वामि-नापि वा बालेन परवशेन सोभय्यपि वसतिरनिच्छा एवमुद्भमदोषः । षोडश ॥

१ अथोत्पादनदोषाः । दारकाणां स्वपतेनालंकरणेन, क्रीडेनेन, भोजनेन, स्वापेन वा धात्रीवत्कर्मणा संयतेनोत्पादिता वसतिः धात्रीदोषदुष्टा ॥ १ ॥

२ भ्रामातरादेर्लेशं संदेशं वाशं वा संपाद्योत्पादिता दूतकर्मदुष्टा । ३ अंगादिनिमित्तोपदेशादुच्छा निमित्तदुष्टा । ४ स्वस्य ज्ञातिं कुलमैश्वर्यमभिधाय माहृत्यप्रकाशनेनोत्पादिता आजीवदुष्टा । ५ भगवत्सर्वेषामाहारदानावसतिदानाद्वा किं पुण्यं जायेत उत नेति पृष्टो यदि न जायत इति त्रयीमि तत्रैव गृही रग्यो वसतिं मे न प्रयच्छेदिति संप्रधार्य तदनुकूलकथनादुत्पादिता वणिवगदुष्टा । ६ वैयकर्मणा दुष्टा चिकित्सादुष्टा । ७ क्रोधं, मानं, माया, लोभं वा प्रयुज्योत्पादिता क्रोधादिविचलुष्यदुष्टा ॥ गच्छतामागच्छता च यतीना भवदीयमेव गृहमाश्रयः इत्येषा वार्ता दूरादेवात्माभिः श्रुतेति पूर्वं स्तुत्वा या लब्धा सा पूर्वसंस्तवदुष्टा । वसनोत्तरकालं गच्छन्पुनरपि वसतिं लप्से इति यत्प्रशंसति सा पश्चात्संस्तवदुष्टा । एवं षोडशोत्पादना दोषाः ॥ एषणादोषाः शंकितादयो दश यथा— १ किमियं योग्या वसतिर्न वेति

शक्तिता । तदानीमेव सिक्का लिप्ता वा अक्षिता ॥ सचित्तपृथिव्यादेरुत्साना वा उपरि पीठफलकादिकं स्थापयित्वा अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते वसतिः सा निक्षिप्ता ॥ हरितकंटकसचित्तमुत्तिकापिधानं आकृष्य दीयमाना मिहिता । काष्ठचेल कंटकप्रवरणाद्याकर्पणं कुर्वता पुरोयायिनोपदर्शिता वसतिः साहरणा ॥ मृतजातसंयुक्तेन, मत्तेन, नपुसकेन, पिशाचगृहीतेन नम्रया वा दीयमाना वसतिः दायकदुष्टा । स्थावरैः पृथिव्यादिभिस्त्रसैश्च पिपीलिकामत्सुणादिभिः सहितोन्मिथा । अपरिणतादिदोषत्रयं वसतौ न भवतीति न निरूप्यते । तल्लक्षणानि यथा—

तिलतुंदुलवसणोदय चणोदयतुसोदयं अविद्वत्थं ॥

अण्णं तहविहं वा अपरिणदं गेव गेण्हेज्जो ॥

गेरुयहरिदालेण व सेही य मणोसिलामपिट्ठेण ॥

सपवालोदणलेवे ण व देयं करभायणे लिंतं ॥

बहुपरिसाढणमुल्लिख आहारो परिगलन्त दिज्जं तं ॥

छंडिय भुंजणमह्वा छंडिय दोसो हवे गेओ ॥

यथा संभवमेतेऽपि वा वसतौ योज्याः । तद्वदगारादयोऽपि चत्वारः कल्प्याः । तल्लक्षणानि यथा—

गृद्धयाद्गारोऽभ्रतो घूमो निदयोण्हिमादि च ॥

मियो विरुद्धं संयोज्य दोषः संयोजनाब्धयः ॥

सव्यजनाशनेन द्वौ पानेनैकमंशमुदरस्य ॥

शृत्वाऽभृतस्तुरीयो मात्रा तदतिक्रमः प्रमाणमलः ॥

एवं उद्गमादिदोषैरनुपहताया । तथा अकिरियाए संमार्जनादिरहिताया । असंसत्ताए जीवोत्पत्तिरहिताया । णिप्पाञ्जुडियाए उपद्रवहीनाया शय्यारहिताया वा । सेज्जाए वसतौ । अंतो यहिर्वा वसतौ यतिर्विविक्तशय्यासनस्य इति शेषः ॥

अर्थ— जो वसतिका उद्गम दोष, उत्पादना दोष और एण्णा दोषोंसे रहित है वह विविक्त वसतिका मृनि-  
आँके लिये योग्य है ऐसा समझना चाहिये. अब यहां उद्गम दोषोंका वर्णन करते हैं— १ झाड तोडकर उनको  
लाना, ईंटोंका समुदाय पक्कावना, जमीन खोदना, पाषाण, बालु, इत्यादिकोंसे खाडा भरना, जमीन को कूटना,

कीचड करना, खंवे तयार करना, अग्निसे लोह तपावना, करोंतसे लकड़ी चीरना, पटासीसे छीलना, कुन्हाडोसे छेदन करना, इत्यादि क्रियाओंसे पट्कायजीवोंको बाधा देकर स्वयं वसतिका बनाई हो अथवा दूसरोंसे बनवाई हो वह वसतिका अधःकर्म के दोपसे युक्त है.

२ जिसने दीन, अनाथ अथवा कृपण आर्वेग अथवा सर्वधर्मके साधु आर्वेग किंवा जैन धर्मसे भिन्न ऐसे साधु अथवा निर्ग्रन्थमुनि आर्वेग उन सबजनोंको यह वसति होगी इस उद्देशसे जो वसतिका बांधी जाती है वह उद्देशिक दोपसे दूष्ट है.

३ जब गृहस्थ अपने लिये घर बंधवाता है तब यह कोठरी संयतोंके लिये होगी ऐसा मनमें विचार कर जो बंधवाई गई वह वसतिका अबोम्भव दोपसे दूष्ट है.

४ अपने घरके लिये लाये गये बहुत काष्ठादिकोंसे श्रमणोंके लिये लाये हुये काष्ठादिक मिश्रण कर बनवाई गई जो वसतिका वह प्रतिक दोपसे दूष्ट है.

५ पाखंडि साधु अथवा गृहस्थोंके लिये घर बांधनेका कार्य शुरु हुआ था तदनंतर संयतोंके उद्देशसे काष्ठादिकोंका मिश्रण कर बनवाई जो वसतिका वह मिश्र दोपसे दूषित समझना चाहिये

६ गृहस्थने अपने लिये ही प्रथम बनवाया था परंतु नंतर यह गृह संयतोंके लिये हो ऐसा संकल्प जिनमें हुआ है वह गृह स्थापित दोपसे दूष्ट है.

७ संयत अर्थात् मुनि वे इतने दिनोंके अनंतर ओवग अतः जिस दिनमें उनका आगमन होगा उस दिनमें सब घर झाडकर, लीपकर स्वच्छ करेंगे ऐसा मनमें संकल्प कर प्रवेशदिनमें वसतिका संस्कृत करना वह पाहुडिग नामका दोप है.

पाहुडिग दोपके प्रथम चलिनामक दोपका मूलाराधना दर्पणमें ऐसा लक्षण लिखा है—यक्ष, नाग, माता, कुलदेवता इनके लिये घर निर्माण करके उनकी देकर अवशिष्ट रहा हुआ स्थान मुनिको देना यह बलि नामका दोप है

मुनि प्रवेशके अनुसार संस्कारके कालमें न्हास कर अर्थात् उनके पूर्वमें संस्कारित जो वसतिका वह प्रादुष्कृत दोपसे दूषित समझना चाहिये.

उत्पादन दोषका निरूपण—

जगतमें धात्रीके पांच प्रकार हैं, कोई धात्री बालकको स्नान कराती है, कोई उसको आभूषण पहनाती है, कोई उसका मन क्रीडाओंसे प्रमत्त रखती है कोई उसको अन्न पानसे पृष्ट कराती है, और कोई उसको सुलाती है, ऐसे धात्रीके पांच कार्योंमेंसे किसी भी कार्यका गृहस्थको उपदेश देकर उससे यति अपने को रहनेकेलिए वसतिका प्राप्त करते हैं अतः वह वसतिका धात्रीदोषसे मुक्त है.

अन्यग्राम, अन्यनगर, देश और अन्य देशके संबन्धी जनोकी वार्ता श्रावकको निवेदन कर वसतिका प्राप्त करना यह दूतकर्म नामका दोष है.

अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न, और अन्तरिक्ष ऐसे निमित्तशब्दके आठ विषय हैं. इनका उपदेश कर श्रावकसे वसतिकाकी प्राप्ति करना यह निमित्त नामका दोष है. अपनी जाति, कुल ऐश्वर्य वगैरह का वर्णन कर अपना माहात्म्य श्रावकको निवेदन कर वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना यह आजीवनामक दोष है.

हे भगवन् सर्व लोगोंको आहार दान देनेसे और वसतिकाके दानसे क्या महान्पुण्यकी प्राप्ति न होगी ? ऐसा श्रावक का प्रश्न सुनकर यदि मैं पुण्यप्राप्ति नहीं होती है ऐसा कहूँ तो श्रावक रुष्ट होकर वसतिका नहीं देगा ऐसा मनमें विचार कर उसके अशुक्ल वचन बोलकर वसतिकाकी प्राप्ति करना यह वणिग्वग दोष है.

आठ प्रकारकी चिकित्सा करके वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह चिकित्सा नामक दोष है.

क्रोध, मान, माया और लोभ दिखाकर जो वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना वह क्रोधादि चतुष्टय दोष है. जाने वाले और आनेवाले मुनिओंको आपका घर ही आश्रय स्थान है. यह वृत्तान्त हमने दूर देशमें भी सुना है ऐसी प्रथम स्तुति करके वसतिकाको प्राप्त करना यह पूर्वस्तुति नामका दोष है. निवास कर जानेके समय पुनः भी कभी रहनेके लिए स्थान मिले इस हेतुसे स्तुति करना यह पथास्तुति नामका दोष है.

विद्या, मंत्र अथवा चूर्ण प्रयोगसे गृहस्थको अपने वश कर वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह विद्यादि दोष है. भिन्न कन्या अर्थात् भिन्न जातीकी कन्याके साथ संबंध मिला देकर वसतिकाका प्राप्त करना अथवा विरक्तोको अनुरक्त करनेका उपाय कर उनसे वसतिका प्राप्त कर लेना यह मूलकर्म नामका दोष है. इस प्रकार उत्पादन नामक दोषके सोला भेद कहे हैं

लिए योग्य है. जो वसति का अच्छी तरहसे देस भाल न करके लीपी पोती है वह योग्य नहीं है. जो वसति का जीवोत्पत्ति से रहित है वह योग्य है. जिसमें कोई उपद्रव नहीं है अथवा जिसमें शय्या नहीं है. ऐसी वसतिकामें अन्दर बाहर जो सुनि रहता है वह विनिक्त शय्यामन तपका धारक समझना चाहिये.

अथ का विवेका वसतिरित्यत्र—

सुणघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुंगाटेवकुले ॥

अकदप्पम्भारारामघरादीणि य विविच्चाइं ॥ २३१ ॥

अन्यवेडमशिलावेडमतम्भूलगुहादय. ॥

विविक्ता भाषिता शय्याः स्वाध्यायध्यानवर्धिकाः ॥ २३१ ॥

विजयोदया—अन्य गृह । गिरिशुल, वृक्षमूल, आगंतुमानं चैस्म. देयकुलं । शिभागुतं केनचिदकृतं प्राग्भार-  
शब्देनोच्यते । आरामगृहं क्रीडार्थमायाताना आवासाय कृत । एता विनिक्तवसतय ।

विविक्तवसतिभेदानाद्—

मूलारा—आगंतुगार सार्धवाह्यदिगृहं । अकदप्पम्भार अकृतप्राग्भार अकृतमशिलागृहमित्यर्थः । आराम-  
घर आरामगृहं क्रीडार्थमायाताना आवासाय कृतं । विविच्चाइं एता विनिक्ता वसतय इत्यर्थः ।

विविक्त वसतिकामा क्या स्वरूप है इम ग्रन्थका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—अन्यघर, पर्वतकी गुहा, वृक्षभा मूल, देवमंदिर, व्यापाराथ देश देशांतरोंमें फिरनेवाले व्यापारि-  
रियोंको निवास करनेके लिये बनाये हुये घर, शिलागृह, शिलाओंमें सज्ये बना हुआ घर, अकृतम गृह, क्रीडा कर-  
नेके लिये आनेवाले जनोंके लिये बनाये हुए घर ये सन विनिक्तवसतिकामे हैं.

अत्र वसने दोषभावमाचष्टे—

कलहो वोलो सझा वामोहो सको ममत्तिं च ॥

उक्षाणाज्झयणविघादो णत्थि विविच्चाए वसधीए ॥ २३२ ॥

जिस घरमें विपुल अंधकार हो तो वहां प्रकाशके लिये भित्तीमें छेद करना, वहां काष्ठका फलक होना तो वह निकालना, उसमें दीपककी योजना करना यह पादुकार दोष है।

द्रव्यक्रीत और भावक्रीत ऐसे खरेदी किये हुए घरके दो भेद हैं गाय, बैल वगैरह सचित्र पदार्थ देकर संयतोंके लिये खरीदा हुआ जो घर उसको सचित्र द्रव्यक्रीत कहते हैं घृत, गुड, खांड ऐसे अचित्र पदार्थ देकर खरीदा हुआ जो घर उसको अचित्तक्रीत कहते हैं

विद्या, मंत्रादि देकर खरीदे हुए घरको भावक्रीत कहते हैं। अल्पकरण करके और उसका मूद देकर अथवा न देकर संयतोंके लिये जो मकान लिया जाता है वह पामिच्छ दोषसे दूषित है।

मेरे घरमें आप ठहरो और आपका घर मुनिओंको रहनेकलिये दो ऐसा कहकर उनसे लिया जो घर वह परियष्ट दोषसे दूषित समझना चाहिये।

अपने घरकी भित्तके लिये जो स्तंभादिक सामग्री तयार की थी वह संयतोंके लिये लाना वह अभिघट नामका दोष है। इस दोषके आचरित और अनाचरित ऐसे दो भेद हैं। जो सामग्री दूर देशसे अथवा अन्यग्रामसे लायी होय तो उसको अनाचरित कहते हैं और जो ऐसी नहीं होय तो वह आचरित समझना चाहिये।

ईंट, मट्टीके पिंड, कांटोंकी वाही अथवा कवाट, पाषाणोंसे ढका हुआ जो घर खुला करके मुनिओंको रहनेके लिये देना वह उद्भिन्न दोष है।

नर्सनी वगैरहसे चढकर आप यहां आइये आपके लिये यह वसतिका दी जाती है ऐसा कहकर संयतोंको दूसरा अथवा तीसरा मंजिला रहनेके लिये देना यह मालारोह नामका दोष है।

राजा अथवा प्रधान इत्यादिकोंसे भय दिखाकर दूसरेका गृहादिक यतिओंको रहनेके लिये देना वह अच्छेज्ज नामका दोष है।

आनिसुट दोषके दो भेद हैं। जो दानकार्य में नियुक्त नहीं हुआ है ऐसे स्वामीसे जो वसतिका दी जाती है वह आनिसुट दोषसे दूषित है। और जो वसतिका वालक और परवश ऐसे स्वामीसे दी जाती है वह भी उपयुक्त दोषदूषित समझनी चाहिए इस तरहसे उद्गमदोष निरूपण किए।



जगतमें धात्रीके पांच प्रकार हैं. कोई धात्री बालकको स्नान कराती है, कोई उसको आभूषण पहनाती है, कोई उसका मन क्रीडाओं से ग्रस्त रखती है कोई उसको अन्न पानसे पुष्ट कराती है, और कोई उसको सुलाती है. ऐसे धात्रीके पांच कार्योंमेंसे किसी भी कार्यका गृहस्थको उपदेश देकर उससे यति अपने को रहनेकलिए वस-तिका प्राप्त करते हैं अतः वह वसतिका धात्रीदीपसे द्रष्ट है.

अन्यग्राम, अन्यनगर, देश और अन्य देशके संबन्धी जनोंकी वार्ता श्रावकको निवेदन कर वसतिका प्राप्त करना यह दूतकर्म नामका दीप है.

अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न, और अन्तरिक्ष ऐसे निमित्तशास्त्रके आठ विषय हैं. इनका उपदेश कर श्रावकसे वसतिकाकी प्राप्ति करना यह निमित्त नामका दीप है. अपनी जाति, कुल ऐश्वर्य वगै-रह का वर्णन कर अपना माहात्म्य श्रावकको निवेदन कर वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना यह आजीवनामक दीप है.

हे भगवन् सर्व लोगोंको आहार दान देनेसे और वसतिकाके दानसे क्या महान्पुण्यकी प्राप्ति न होगी ? ऐसा श्रावक का प्रश्न सुनकर यदि मैं पुण्यप्राप्ति नहीं होती है ऐसा कहूं तो श्रावक रुष्ट होकर वसतिका नहीं देगा ऐसा मनमें विचार कर उसके अनुकूल वचन बोलकर वसतिकाकी प्राप्ति करना यह वणिगदीप है.

आठ प्रकारकी चिकित्सा करके वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह चिकित्सा नामक दीप है. क्रोध, मान, माया और लोभ दिखाकर जो वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना वह क्रोधादि चतुष्टय दीप है.

जाने वाले और आनेवाले मुनिओंको आपका घर ही आश्रय स्थान है. यह वृत्तान्त हमने दूर देशमें भी सुना है ऐसी प्रथम स्तुति करके वसतिकाको प्राप्त करना यह पूर्वस्तुति नामका दीप है. निवास कर जानेके समय पुनः भी कभी रहनेके लिए स्थान मिले इस हेतुसे स्तुति करना यह पश्चात्स्तुति नामका दीप है.

विद्या, मंत्र अथवा चूर्ण प्रयोगसे गृहस्थको अपने वश कर वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह विद्यादि दीप है. भिन्न कन्या अर्थात् भिन्न जातीकी कन्याके साथ संबंध मिला देकर वसतिकाका प्राप्त करना अथवा विरक्तोंको अशुक्त करनेका उपाय कर उनसे वसतिका प्राप्त कर लेना यह मूलकर्म नामका दीप है. इस प्रकार उत्पादन नामक दीपके सोला भेद कहे हैं

अयोग्यजनसंसर्गराटिकलकलादयः ॥

अविचित्स्थितेः संति समाधाननिष्ठदिनः ॥ २३२ ॥

प्राग्भाराकृत्रिमरामदेवतादिगृहादिषु ॥

जायते वसतः साधोः समाधानमखंडितम् ॥ २३३ ॥

विजयोदया—कलहो बोलो ममेयं वसतिस्त्वेयं वसतिरिति फलहो न केनचित् अन्यजनरोहितत्वात् । बोलो शब्दबहुलता । झंझा संकेतो । वामोहो वैचित्यं । संकरो अयोग्यरसयते सह मिश्रण । ममत्वं च ममेदभावश्च । नारिय नास्ति । उद्घाणज्जयणविद्यादो ध्यानस्याध्ययनस्य च व्याघात । उक्त कलहदिनं विद्यते । क ? विविक्ताए वसन्धीए विवि-  
कार्या वसतौ । एकस्मिन्मये निरुद्धज्ञानसंततिर्ध्यान । अनेकप्रमेयसंचारी स्वाध्याय ।

विविक्तवसतौ वसता दोषाभावमाह—

मूलारा—कलहो ममेय वसतिस्त्वेयमिति कलिः । रोला रोलः शब्दबहुलतेत्यर्थः । झंझा संकेतं झकटक इत्येके । वामोहो वैचित्यं । संकरो असंयतैः सह मिश्रणं ॥

अर्थ—यह मेरी वसतिका है, यह तेरी वसतिका है ऐसा कलह करनेका प्रसंग निवृत्त वसतिकामें रहने वाले सुनि के ऊपर आता नहीं है एकांत वसतिकामें मनमो व्यग्र करनेवाले शब्द सुननेमें आते नहीं हैं, संकेत-परिणाम और मनकी व्यग्रताभी वहां होती नहीं है अयोग्य असंयत पुरुषोंके साथ संबंध नहीं रहता है विवृत्त वसतिकाके ऊपर ममत्व रहता नहीं है, ध्यान और अध्ययनमें व्यत्यय आता नहीं ध्यान और अध्ययनमें यह फरक है—एकही विषयमें ज्ञानकी परंपरा स्थिर होना वह ध्यान है और अनेक विषयोंमें संचार करनेवाली ज्ञान-परंपराको स्वाध्याय कहते हैं.

इय सल्लीणमुवगदो सुहप्पवत्तेहिं तित्थजोएहिं ॥

पचसमिदो तिगुत्तो आदुठ्ठपरायणो होदि ॥ २३३ ॥

एवमैकाग्र्यमापन्नो ध्यानैः शुद्धप्रवृत्तिभिः ॥

समितः पंचभिर्गुप्तस्त्रिभिरास्ति हितोद्यतः ॥ २३४ ॥

विजयोदया—इय एवं । सलीपणं एकात्मतां उवगदो उपगतः । केन ? जोगेहिं योने, तपोमिध्योनेर्वा । सुहृण्व-  
चेहिं सुखप्रवृत्तैः सुयेनाक्रेडो न प्रवृत्तैः । पवसमिदो समितिपंचकोपेत । तिरुत्तो कृताशुभमनोवाक्कायनिरोध । आदृ-  
परायणो होदि आत्मप्रयोजनपरो भवति । एतेन कथ्यते—विविक्तवसतिस्थायी यतिनिष्पत्तिद्वंद्व्याने शुभैस्तपोभिर्वा  
स्वास्थ्यमुपगतः संवरं निर्जरा च स्वप्रयोजनं सपादयति इति ।

विविक्तवसतिस्थायी निर्विघ्नध्यानादिना प्राप्तस्वास्थ्यः संवरनिर्जरे करोतीति दर्शयति—  
मूलारा—इय अनेन वसतिस्थायित्वलक्षणेन प्रकारेण । सलीग एकतमता । सुहृण्वचेहिं अक्लेशेन प्रवृत्तै ।  
तस्य वाहो तपसि । सलीनमुपगत इति योज्यम् । जोगेहिं मनोवाक्कायैर्ध्यानेर्वा । तिरुत्तो कृताशुभमनोवाक्कायनिरोधः ।  
आदृष्टपरायणो आत्मप्रयोजनपरः संवरनिर्जरानिष्ठः इत्यर्थः ।

अर्थ—इस प्रकार एकांत वसतिकामें निवास कर वह साधु क्लेशोंके बिना सुखसे तप और ध्यान कर  
आत्मस्वरूपमें लीन होता है. ईयासमिति योगरह पांच समितिओंका पालन करता है मन वचन और शरीरकी अशुभ  
प्रवृत्तियां रोक कर आत्मप्रयोजनमें तत्पर होता है अभिप्राय यह है कि, एकांत वसतिकामें रहनेसे मुनियोंके  
ध्यानमें और स्वाध्यायमें विघ्न उपस्थित होते नहीं हैं. तथा रागद्वेषादिक संक्लेशपरिणामोंकी उत्पत्ति होती नहीं.  
तपसे मुनि निजस्वरूपमें स्थिर होकर संवर और निर्जरारूपमें आत्माके प्रयोजनको पूर्ण रूपसे प्राप्त कर सकते हैं.  
अतः विविक्तव्य्यासन तप करना मुनियोंका परम कर्तव्य है.

संवरपूर्विका निर्जरा स्तोत्रमाह—

जो गिज्जरेदि कम्मं असंबुडो सुमहदावि कालेण ॥  
तं संबुडो तवस्सी खवेदि अंतोमुहुत्तेण ॥ २३४ ॥  
तन्निर्जरयते कर्म संबुत्तोऽन्तमुहूर्ततः ॥  
पष्ठाष्टमादिभिः साधुस्तापसा यदसंबुतः ॥ २३५ ॥

विजयोदया—जं गिज्जरेदि कम्मं यत्कर्म निर्जरयति तपसा बाह्येन । क ? असंबुडो असंबुतः अशुभयोगनितो-  
धराहितः । सुमहदावि कालेण सुलु महता कालेनापि । तं तत्कर्म खवेदि क्षपयति । अंतोमुहुत्तेण अतिस्वल्पेन कालेन ।  
क ? संबुडो संबुत गुत्तिसमितिधर्मादुपेक्षणीयपहजयपरिणत । तवस्सी तपस्वी अनशानादिमान् ।

संवरपुर सरा निर्जरा गायद्वयेन स्तोत्रमाह—

मूलारा—असंबुद्धो असंबुद्धो अशुभयोगनिरोधरहित इत्यर्थः । संबुद्धो गुप्तिसमितिघर्मनुपेक्षापरीपहजयपरिणतः । तवस्सी अनशनादितपोनिष्ठः ।

संवरपूर्वक निर्जराकी ग्रंथकार स्तुति करते हैं—

अर्थ—अशुभ मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको न रोक कर बाह्यतपके द्वारा बहुतकालसे जो मुनि जितने कर्मकी निर्जरा करता है, गुप्ति, समिति, घर्म, अनुप्रेक्षादिकोंमें तत्पर रहनेवाला साधु उतना कर्म अनशनादि तपोंके द्वारा अंतर्मुहूर्तमें नष्ट करता है, गुप्ति समिति इत्यादिकोंसे संवरपूर्वक विपुल कर्मकी निर्जरा होती है और केवल बाह्य तप गुप्ति समित्यादिकोंके आश्रयसे रहित होकर बहुकालसे भी उतनी निर्जरा नहीं कर सकता है.

एवमवलयायमाणो भावेमाणो तवेण एदेण ॥

दोसे णिगवाडंतो पग्गहिददरं परक्कमदि ॥ २३५ ॥

एवं भावयमानः संस्तपसा स्थिरमानसः ॥

अप्रशस्नं परीणामं नाशयंश्चेष्टते तराम् ॥ २३६ ॥

विजयोदया—एवमुक्तेन । क्रमेण एतेन । तवेण भावेमाणो तपसा भावयन्नात्मानमुद्यतः । अवलायमाणो अपलायमान । कुतो दुर्धरात्तपसः । एवमवलयायमाणो इति कचित्पाठ तत्रायमर्थः—किल एवमेदेण तवेण भावेमाणो इति पदसंबंधः । एवमेतेन तपसा भावयमानः अपलायमाणो द्रव्यकर्म विनाशयन् इति तदयुक्तं । अशब्दार्थत्वात् । दोसे दूषयति रत्नत्रयमिति दोषा अशुभपरिणामाः तान् घातयन् । पग्गहिददरं नितरा । परक्कमदि चेष्टते मुक्तिमार्गः ।

मूलारा—अवलयायमाणो अपलायमान दुर्धरात्तपसोऽविभ्यदित्यर्थः । भावेमाणो भावयमानः । तवेण एदेण दोसे णिगवाडंतो अशुभपरिणामान् विनाशयन् । पग्गहिदरं नितरा परक्कमदि मोक्षमार्गं चेष्टते ।

अर्थ—इस रीतीसे तपश्चरणसे आत्माको संस्कृत करनेवाला और दुर्धर तपमें जो भययुक्त नहीं हुआ है, ऐसा मुनि रत्नत्रयको दूषित करनेवाले अशुभपरिणामोंको नष्ट करता हुआ मोक्षमार्गमें महाप्रयत्नसे प्रवृत्त होता है

यतिना निर्जराधिना एवभूतं तपोऽनुष्ठेयं इति कथयति ।

सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उठ्ठेदि ॥

जेण य सद्धा जायदि जेण य जोगा ण हायति ॥ २३६ ॥

तत्तपोऽभिमतं वाछं मनो येन न दुल्लयति ॥

योगा येन न हीयंते येन अद्धा प्रवर्तते ॥ २३७ ॥

विजयोदया—सो णाम बाहिरतवो तन्नाम वाछ तपः । किं? जेण मणो दुक्कडं ण उठ्ठेदि येन तपसा क्रियमाणेन मनो दुष्कृतं प्रति नोत्तिष्ठते । जेण य सद्धा जायदि येन च क्रियमाणेन तपसा तपस्यभ्यन्तरे अद्धा जायते । जेण य जोगा ण हायति येन च क्रियमाणेन पूर्वगृहीता योगा न हीयते । तत्तथाभूत तपोऽनुष्ठेयमिति यावत् । यतिना निर्जराधिना एवं भूतं तपोऽनुष्ठेयमिति कथयति—

मूलरा - दुक्कडं ण उठ्ठेदि दुष्कृतं प्रति नोत्तिष्ठते । सद्धा अद्धा तपस्यभ्यन्तरे रुधिः । जोगा पूर्वगृहीतव्रतविशेषाः । निर्जराक्री इच्छा रखनेवाले मुनिवर्यको जो तप करना योग्य है उसका वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिस तपके आचरणसे मन दुष्कर्मके प्रति प्रवृत्त नहीं होता है तथा जिसके आचरणसे अम्यंता प्रायश्चित्तादि तपोमें अद्धा होती है, जिसके आचरणसे पूर्वके धारण किये हुए व्रतविशेषोंका नाश नहीं होता है उसी तपका अनुष्ठान करना योग्य है

बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता ॥

सख्खिहिदं च सरिं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥ २३७ ॥

वाद्येन तपसा सर्वा निरस्ताः सुग्वचासनाः ॥

सम्यक्कननूततो देहः स्वः संवेगेऽधिरोपितः ॥ २३८ ॥

विजयोदया—वाद्यतपोऽनुष्ठाने गुण कथयत्युत्तरं सूत्रे । बाहिरतवेण वाद्येन तपसा हेतुभूतेन । सव्वा सुहसीलदा परिचत्ता होदि मया सुखशीलता परित्यक्ता भवति । सुखभावना राग जनयति । राग स्वयं च कर्मवधे हेतुदोषं चानयति । वधः कर्मस्थितिहेतुः सेवमर्यान्निरस्ता भवति इति मन्यते । सख्खिहिदं च शरीरं भवति । शरीरं दुःखनिमित्तं

तत्पुण्यकामस्य तनूकरणमुपाय तदनुष्ठितं भवतीति यावत् । अविदो स्थापित । आदा य स्वयं च सवेगे संसारभीरुताया । ननु च संसारभीरुता हेतुस्तपसो न तपो हेतुस्तथा; ततोऽयुक्तमभाणि सूत्रकारेण बाह्येन तपसा सवेगे स्थापित । लोकै-  
नायं सविश्वचित्त इति स्थाप्यते बाह्ये तपसि वर्तमानस्ततो युक्तमुच्यते ।

बाह्यतपोऽनुष्ठानगुणान् बाहिरतवेगेत्यादि जहसंभवेगेत्यवसान गाथाश्रुकेनाचष्टे —

मूलारा—सुहृसीलदा सुखभावना । सा हि रागं जनयति रागश्च कर्मबंध । संवेगे बाह्यं तपः कुर्वन् लोकैनायं  
संभिमचित्त इति स्थाप्यते यतस्तत एवमुक्तं । न पुनर्बाह्यं तपः संसारभीरुताया हेतुः किं तर्हि सा बाह्यतपसः ।

अर्थ—बाह्य तपसे संपूर्ण सुखरभावका त्याग होता है, अर्थात् बाह्य तप करनेसे आलस्य और सुख  
मित्रता नष्ट होती है, हमेशा सुखकी भावना करनेसे मनमें रागभाव उत्पन्न होता है रागभाव कर्मबंधके कारणभूत  
दोषोक्तो उत्पन्न करता है, बंध कर्मस्थितिका कारण है अतः बाह्य तपसे सुखशीलताका ही नाश होता है, बाह्य  
तपसे शरीरसंवेदनता होती है, शरीर दुःखका कारण है उसका त्याग करनेकी इच्छा करनेवालोंको तप शरीर  
कृश करनेमें उपाय है, अर्थात् बाह्य तप करनेसे शरीरसंवेदनको उपायकी प्राप्ति होती है, बाह्य तपसे आत्मा  
गंगाभीरुता नामक गुणमें स्थिर होता है, श्रुका—संसारभीरुता तपके लिए कारण है, ऐसा समझना योग्य नहीं  
है, इसलिये बाह्य तपसे श्रुति का चित्त संसारभयसे युक्त है ऐसा लोक समझते हैं, अतः संसारभीरुता का-  
रण है और तप कार्य है, कार्यको देखकर कारणरूप को लोक जानते हैं इस नियमका विचार करनेपर सूत्रका-  
ने गंगाभय तपका कारण है ऐसा जो कदा है वह योग्य है ऐसा सिद्ध होता है,

अंताणि हेन्द्याणि य समाधिजोगा य फासिदा ह्येति ॥  
अणिगुद्विरीयिओ जीविदतणहा य वोच्छिण्णा ॥ २३८ ॥  
अंताणिन्द्रियाणि दान्तानि स्पृष्टा योगसमाधयः ॥  
अंतिनाया परिच्छिन्ना बलदीर्घमनोपिच्छा ॥ २३९ ॥

विजयोदया—दंताणि दांतानि इन्द्रियाणि च । ह्येति भवन्ति । अनशनानवमोदर्यवृत्तिपरिस्थित्यानेन जिह्वा दाता भवति इति । विविक्तशय्यासनेन इतराणि इन्द्रियाणि दांतानि भवति । मनोऽन्नेन्द्रियविषयरहितायां वसतावस्थानात्तानि निगृहीतानि भवन्ति । समाधिजोगा य फासिदा ह्येति । रत्नत्रयसमाधानसवधा स्पृष्टा भवन्ति । अशनादिक त्यजता विषयरगो निरस्तो भवति । विषयरगव्याकुलो हि रत्नत्रये न घटेते । असति तस्मिन्व्याकुलोऽशुभपरिणामैकमुखो भवति इति मन्यते । अणिगूहिद्वीरियदा अनिगूद्वीर्यता च भवति । वीर्याचारे प्रवृत्तश्च भवति । जीविदतण्डा य या जीविते तृष्णा च व्युच्छिन्नं गता । न हि जीविताशावान् अशनादिकं त्यक्तुमीहते । जीविते तृष्णावान्यात्किंचित्त्वा असंयमादिकं प्राणानेव धारयितुमुद्यतो भवति न रत्नत्रये ।

मूलारा—दंताणि अनशनानि चतुष्टयेन हि प्राधान्येन जिह्वा दाता भवति । विविक्तशय्यासनेन चेतराणि इन्द्रियाणि दान्यति । मनोऽन्नेन्द्रियविषयाणा तद्गणकोपिना विविक्तवस्तौ असंभवात् । समाधिजोगा रत्नत्रयैकाग्रतासंघाः । फासिदा अनुष्ठिताः । अशनादित्यजनाद्विषयरगानिरोधेन शुभपरिणामैकमुखत्वोपपत्ते । अणिगूहिद्वीरियदा । अनिगूद्वीर्यता वीर्याचारप्रवृत्तिश्च स्यादित्यर्थः । बोच्छिण्णा निरस्ता लक्ष्यते । न हि जीविताशावानशनादिकं त्यक्तुमीहते, किं तर्हि यत्किंचित्त्वा प्राणानेव धर्तुं उत्सहते न रत्नत्रयम् ।

अर्थ—अनशन, अवमोदर्य और वृत्तिपरिस्थित्या इन तीन तर्पोंके द्वारा जिह्वाका दमन होता है. विविक्तशय्यासन तर्पके द्वारा स्पर्शनादि इन्द्रियोंका दमन होता है. इन्द्रियोंको प्रिय ऐसे विषयोंका अभाव जिसमें है ऐसी वस्तुविकारोंमें निवास करनेसे स्पर्शनादिक इन्द्रियां वश होती हैं.

इन बाह्य तपश्चरणोंसे रत्नत्रयमें एकाग्रता प्राप्त होती है. आहारादिकका त्याग होनेसे विषयप्रेम नष्ट होता है. विषयोंके प्रेमसे व्याकुल हुआ मनुष्य रत्नत्रयमें स्थिर होता नहीं है. रत्नत्रयका अभाव होनेपर वह व्याकुल पुरुष अशुभ परिणामोंमें ही लीन होता है. ऐसा समझना चाहिये. बाह्यतर्पसे मुनिराजको अपनी आत्मिक शक्ति प्राप्ति होती है अर्थात् बाह्य तप कर मुनिराज वीर्याचारमें प्रवृत्त होते हैं. बाह्यतर्पके प्रभावसे मुनिराजकी जीवितकी आशा नष्ट होती है जिसका जीवितके ऊपर स्नेह है वह आहारादिकका त्याग करना पसंद नहीं करता है. जीवितार्थी मनुष्य चाहे जो असंयमादिक करके प्राण धारण करनेके लिये उद्युक्त होता है. परंतु रत्नत्रयमें प्रवृत्त नहीं होता है.

दुक्खं च भाविदं होदि अप्पडिबद्धो य देहरससुक्खे ।  
मुसमूरिया कसाया विसएसु अणायरो होदि ॥ २३९ ॥

रसदेहसुखानास्था जायते दुःखभावना ॥

प्रमर्दनं कषायणागमिन्द्रियाथैष्वनादरः ॥ २४० ॥

विजयोदया--दुःखं च भाविदं होइ दुःखं च भावितं भवति । दुःखभावेना च कषयमुपयोगिनी आसक्केशेन दुःख-  
सहने कर्मनिर्जरा जायते । क्रमेण च जायमाना निर्जरा निरवशेषस्य कर्मणायस्योपाय इत्येवमुपयोगिनी इति मन्यते ।  
अपि चासकृद्भाविदुःखो निश्चलो भवति इति । ध्याने अप्पडिबद्धो य होइ अप्रतिबद्धश्च भवति । देहरससोक्खे शरीर-  
रससौख्ये । एतेषु विषु प्रतिबद्धता समाधेर्धिष्ठं स निरस्तो भवतीति भावः । मुसमूरिदा कसाया उन्मुदितः कषया-  
भवन्ति । कषय अनशनादिना कषयनिग्रहं कृतो भवति । क्षमामार्दवाजवसतोयभावनादिप्रतिपक्षभूता विनाशयन्ति कषा-  
यान्नेतरदिति चेत् अयमभिप्रायः -- अशनाद्यलोभे, स्वल्पलोभे, अशोभनानां वा लोभे क्रोधकषाय उत्पद्यते । तथा प्रचुर-  
लाभाद्रसवद्विद्वालाभाच्च लब्धिमानहमेवेति मानकषायः । अस्मादीयभिक्षागृहं यथान्ये न जानन्ति तथा प्रविशामीति चिन्ता  
मायाकषायः । अशने रसे प्राचुर्यविशिष्टे वासकिलोभकषायः । तथा वसत्यप्रदाने कोपः, तल्लोभे च मानकषायः प्राग्वत् ।  
अन्येऽप्यागच्छतीति न मम वसतेरस्त्यकाशाच्चात्रेति वचनान्मायाकषायः । अहमस्य स्वामीति लोभः । इत्थं कषायनिमि-  
त्तवस्तुत्यागाच्च कषायणामवसरः इति । विसएसु विषयेषु स्पर्शानादियुः । अणादरो होइ अनादरो भवति औदासीन्यं  
जायते । तदौदासीन्यात् तदादरनिमित्तं कर्मसवरो भवतीति भावः । अशनस्य हि शुक्लादिरूपेषु मृदुस्पर्शे, सौगन्धे, रसे वा-  
दरस्त्यक्तो भवति अशन त्यजता । तथा क्षीरादिकमपि त्यजता क्षीरादिरूपेषु ।

मूलरा--असंक्केशेन हि दुःखसहने शुभकर्म संवरनिर्जरे स्यात्, क्रमेण मुक्तिश्च भावितदुःखस्य च ध्याने  
निश्चलता स्यात् इति मन्यते । अप्पडिबद्धो देहे रसे सौख्ये वानासक्तिः स्यात्ततश्च समाधिविज्ञो न स्यात् । मुसमूरि-  
दा दलिताः । द्रव्यक्रोधाद्युद्यनिमित्तस्य अशनादिवस्तुनस्त्यागाद्वास्तवपसा कृत्वादिलक्षणभावक्रोधाद्यो निरुध्य-  
ते इतीदमुच्यते । वस्तुतस्तु क्रमादिभावनाक्रोधादिनिग्रहः स्यात् । अयमभिप्रायोऽत्र अशनादेरलोभे स्वल्पस्याशोभनस्य  
वा लोभे क्रोध उत्पद्यते । तथा प्रचुरस्य विचित्ररसस्य वा लाभाल्लब्धिमानहमेवेति मानो जायते । मद्भिक्षागृहं यथान्ये  
न जानन्ति तथा प्रविशामि इति चिन्तया माया समुद्भवति । अशनादौ विशिष्टे आसक्केशेनः संभवतीति । तथा वसते  
रप्रदाने कोपस्तल्लोभे प्राग्वन्मानोऽन्येष्यागच्छन्तीति न मे वसतिरस्त्यवकाशो वा नेति वचनान्माया । अहमस्याः स्वामीति



भावनालोभः । इत्थं कपायोद्ययनिमित्तवस्तुत्यागान् कपायाणामवसर इति । अणादरो औदासीन्यं । ततश्च तदादरनिमित्त कर्माश्रयनिरोधः स्यादिति भावः । अशनं हि त्यजता तद्वतरसरूपधेयादरस्त्यक्तो भवति ॥

आश्रयः

३

अर्थ — ब्राह्मतपोका आचरण करनेसे दुःखभावनाका अभ्यास होता है, अर्थात् संकल्य परिणामोंके विना दुःख सहन करनेसे कर्मोंकी निजरा होती है, कर्मसे होनेवाली यह कर्मनिजरा संपूर्ण कर्मका नाशरूप जो मोक्ष उसका उपाय होती है, अतः दुःखभावना परंपरासे मोक्षप्राप्तिका कारण होनेसे उपयोगी है ऐसा साधुगण समझें, दुःखभावनाका चारंधार चिन्तन होनेसे साधुका चित्त धर्मध्यानमें निश्चल होता है, ब्राह्मतपमें निमग्न हुवे मुनिकी देह, क्षीरादि पदार्थ और सुख इन तीनोंमें आसक्ति नहीं रहेगी, यह आसक्ति रत्नत्रयमें विघ्न करनेवाली होती है, अनशननादिक ब्राह्मतप सर्व क्रोधादि कपायोंका निग्रह करता है, शंका-तपमें कपायनिग्रह करनेका सामर्थ्य कैसा ? क्षमा, मादय, आर्जव और संतोष इन भावनासे कपाय निग्रह होता है क्योंकि ये कपायोंके प्रतिपक्षी हैं, ब्राह्मतप प्रतिपक्षी नहीं है ? इस शंकाका उत्तर—

इसका अभिप्राय यह है कि, अन्नादि पदार्थ न मिलनेसे अथवा स्वाल्प मिलनेसे, किंवा अग्रिय मिलनेसे, क्रोध कपाय उत्पन्न होता है, यदि अन्नादि पदार्थ यथेष्ट मिले और वे रसयुक्त भी हो तो मेरेको ही ऐसे अच्छे मिष्ट पदार्थ मिलते हैं इतरोको नहीं मिलते हैं ऐसा विचार मन में आनेसे मानकपाय उत्पन्न होता है, मेरा भिक्षा लेनेका स्थान अन्य साधुओंको ज्ञात नहीं होगा इस रीतिसे मैं वहा प्रवेश करूं ऐसा विचार मन में उत्पन्न होना यह मायाकपाय है, विपुल अन्न और उसके रसमें आसक्ति होना लोभकपाय है, वसतिके विषयमें भी क्रोधादि चारो कपाय उत्पन्न होते हैं, जैसे—

आवकने वसतिका नहीं देनेपर क्रोध उत्पन्न होता है, उसके मिलनेपर मानकपाय उत्पन्न होता है, जब दूसरे साधु आचरे तो यहा अवकाश नहीं है ऐसा वचनप्रयोग करता है जिससे मायाकपाय प्रगट होता है, इस वसतिकाका मैं मालिक हूं यह संकल्प उत्पन्न होना लोभकपाय है, इस प्रकार कपायोंको उत्पन्न करनेवाली चीजोंका त्याग करनेसे कपायोंको मनमें स्थान नहीं मिलता है, अतः ब्राह्मतपसे कपायनिग्रह होता है ऐसा आचार्यने कहा है, बाह्य तपसे पंचेन्द्रियके विषयोंमें अनादर होता है अर्थात् उनमें उदासीनता होती है, इस उदासीनतासे तपमें आदर उत्पन्न होकर कर्मोंका संवर होता है, आहारके पदार्थ शुक्लादिरूप धारक, मृदुस्पर्शयुक्त, सुगंध

सहित व रसाविशिष्ट हो तो भी उसमेंसे आहार त्याग करनेवालेका आदर नष्ट होता है, क्षीरादिका जिसने त्याग किया है उस मुनीका क्षीरादिकमें आदरभाव नष्ट होता है.

कदजोगदाददमणं आहारणिरासदा अगिद्धी य ॥

लाभालाभे समदा तितिवखणं बंभवेरस्स ॥ २४० ॥

आहारखर्वता दांतिः समस्तत्यागयोग्यता ॥

गोपनं ब्रह्मचर्यस्य लाभालाभसमानता ॥ २४१ ॥

चिज्योदया—कदजोगदा सर्वत्यागस्य पश्चाद्भाविन । योगश्च कृतो भवति बोद्धेन तपसा । आददमणं कामनो दमनं आहारे सुखे च योऽनुरागस्तस्य प्रशमनात् । आहारणिरासदा आहारे नैराश्य संपादित प्रतिदिनं आहारागताशारित्यागभ्यासात् । सर्वकालेऽपि सुकरा भवत्याहारनिराशेति भावः । अगिद्धी य अगुद्धिश्च अलंपटता च । क ? आहारे । न ह्याहारे गृद्धिमान्लब्धा तं त्यजति । लाभालाभे समदा लाभालाभयो समता । लाभे च सत्याहारास्य हर्षाकरणात् । अलाभे च तथाऽकोपात् । य स्वयमेव लब्धमपि त्यजति स कथमिव परेपामदाने दुर्मनीभवति । नितिकखणं वभवेरस्स ब्रह्मचर्यं च सोढं भवति । रसवदाहारात्यागादभिनवेऽसति शुक्रसंचये अनशने च संचितप्रलये सति न स्त्रीचनुरागो भवति इति भावः । तथा गलितशुक्राणा पुंसा वैमुख्य अगनासु प्रतीतेमेव ॥

मूलरा—कदजोगदा कृता योग्या परिकर्म सर्वाहारात्यागस्य पश्चाद्भाविनोऽभ्यासो येनासौ कृतयोग्यस्तस्य भावः कृतयोग्यता । कृतकरणीयता वाहनेन तपसा स्यात् । आददमणं आत्मनो दमनं आहारे सुखे वातुरागप्रशमनाद्वर्षखंडनं । आहारणिरासदा प्रतिभिनं आहाराशनिरासाभ्यासात्सर्वत्यागकालेऽपि तद्वाछासमुच्छेद सुकरः स्यादिति भावः । अगिद्धी अलापक्यमाहारे । न ह्याहारे गृद्धिमाह्वय्या तं त्यजति । समदा आहारास्य लाभे हर्षस्याकरणादलाभे च रोषस्य । यो हि स्वयमेव लब्धमपि त्यजति स कथमिव परेपामदाने दुर्मनीभवति । दाने वा दृष्यति । नितिकखणं दृष्याहारात्यागेनाभिनवस्य रेतसोऽसंचयनात् । अनशनेन च संचितस्य संहरणात् । स्त्रीचनुरागानुद्भवात् प्रतीतमेव च गलितरेतसा पुंसा बीयु वैमुख्यम् ।

अर्थ—भरण कालमें जो संपूर्ण आहारोंका त्याग करना पडता है उसका अभ्यास चाह तपके आचरण से होता है, इन तपोंसे आत्मदमन नामका गुण प्राप्त होता है अर्थात् आहारमें और सुखमें जो प्रेम उत्पन्न होता

है उसका तपसे प्रशमन होता है अतः आत्माका दर्प अर्थात् मद नामका दोष नष्ट होता है. इस तपसे आहारकी इच्छा का त्याग करनेका अभ्यास वृद्धिगत होता है. इस लिए आहारनिरासता नामक गुण प्राप्त होता है. और सर्व कालमें यह गुण आत्मा अपनेमें धारण करनेमें समर्थ होता है. तपसे आहार की लंपटता नष्ट होती है जो आहारमें लंपट है वह व्यक्ति आहारकी प्राप्ति होने पर उसको छोड़ना नहीं चाहता है तपसे लाभ और अलाभमें समता प्राप्त होती है. तपस्वीको आहार मिलनेपर हर्ष होता नहीं और न मिलने पर वह कुपित भी होता नहीं. जो तपस्वी प्राप्त हुआ आहार स्वयं छोड़ देता है वह यदि उसको कोई आहार न दे तो क्यों खिन्न होगा ? तपसे मृत्ति ब्रह्मचर्यको सहन करते हैं. रसयुक्त आहारका त्याग करनेसे नवीन वीर्यका संचय नहीं होता है और पुराना शुक्रसंचय नष्ट होता है तब स्त्रीपर अनुरागभाव नहीं होता है. जिनका शुक्र नष्ट होगया है ऐसे मनुष्य स्त्रीसे पराङ्मुख होते हैं यह वस्तुस्थिति प्रसिद्ध है.

गिह्वाजओ य ददृक्षाणदा विमुत्ती य दप्पणिग्घादो ॥

सज्झायजोगिणिग्घिग्घदा य सुहदुक्खसमदा य ॥ २४१ ॥

निद्रायुद्धिमदसेनेहलोभमोहपराजय ॥

ध्यानस्वाध्याययोर्वृद्धिः सुखदुःखसमानता ॥ २४२ ॥

विजयोदया—गिह्वाजओ य निद्राजयञ्च । प्रतिदिनमश्रत रसवद्वाहारसेवापरस्य बहुभोजिनश्च निघाते सुख-  
स्पर्शो निरुपद्रवे च देशे शयानस्य निद्रा महती जायते, यथा परवशो निद्रेचेतन इव भवत्यशुभपरिणामप्रवाहे च पतति, न  
च रत्नत्रयेण घटयति, तस्या जयो । ददृक्षाणदा दृढध्यानता च दुःखोपनिपाताच्चलति ध्यानादभावितादुःखो यतिः । कृत-  
तपोभावनस्तु शुद्धादिपरीयद्रोपनिपातेऽपि सहेते । विमुत्ती य विमुक्तिर्विशिष्टत्याग अनशनानावुद्यतेन शरीरेव त्यक्त  
भवति तदेव दुस्सयज । दप्पणिग्घादो असयमकरणो यो रूपेत्स्य निर्घातश्च कृतो भवति । सज्झायजोगिणिग्घिग्घदा  
य वाचनानुप्रेक्षामनायधर्मोपदेशैर्योग संवद्यो यस्तस्य विघ्नाभावश्च । आहारार्थं भ्रमत कथं स्वाध्याय. क्रियते ? बहुभोज-  
नश्च उत्तान स्रपिति आसितुमग्न्यसमर्थः । रसवद्वाहारभोजीआहारोपपन्ना दृष्टमान इतस्ततः परावर्तते । अविधि-  
काया वसतौ वर्तमान. परेया वच शृण्वंसेत. सद्ध सभापणं कुर्वन्नाधीते । धिर्विक्रदेशस्यायी पुनर्निर्व्यकुलः स्वाध्याये  
घटते । सुहदुःखसमदा य सुखेन हृष्यति दुःखेन दुःख्यति इति रागद्वेषावतरेण सुखदुःखानुभव सुखदुःखसमता । अशानं

रसाश्च सुखमायनभूतास्त्यजता सुखे रागस्त्यक्तो भवति । क्षुदादिवेदनोपनिपाते असंकेलात् दुःखे न च द्वेषोऽस्या स्तीति । बाहिरत्वेण ह्येदि दुःश्येन पञ्चस्त्रीनिदिष्टानां प्रत्येक सवधः ॥

मूलारा — गिराजयो प्रतिदिनमभ्रतो रसवदाहारसेवापरस्य बहुभोजनश्च निवाते निरुपद्रवे सुखस्पर्शतले निद्रा मही ज्ञायते । यदृशानिश्चतन इव भवति, अशुभपरिणामप्रवाहे च पतति । न च रत्नत्रयाय कल्पते । तस्या जयोऽनशना-दिना क्रियते । दृढज्ज्ञानदा तपता भावितदुःखो हि परीपहनिपातेऽपि न ध्यानाद् भ्रश्यति । विशिष्टा मुक्तिरनशनादा-नुद्यतेन दुस्त्वजस्यापि देहस्य त्यजनात् । दृष्णिगयादो असंयमकरणे यो दर्पस्तस्य विनाशो । सञ्ज्ञाय जोगणिविगधदा । वाचनादिसर्वधविभ्रामावः । आहारार्थे भ्रमणे बहुभोजनादासनस्यापि शक्त्युपपातेन, रसवदाहारभोजनजन्यविदाहवशा-दितस्ततः परावर्तनेन, जनसंकुले तद्वचःश्रवणतत्संभाषणकरणाभ्या च स्वाध्यायभंगसंभवात् । सुहृदुःखसमदा सुरसाध-नाशनरसादित्यजनात्सुखे रागादुदयात् क्षुदादिवेदनोदयेऽपि असंकेलादुःखे च द्वेषानुद्भवात् ।

अर्थ — बाह्य तपसे मुनि निद्राको जीत लेते हैं जो प्रतिदिन भोजन करता है, रसयुक्त आहारका सेवन करनेमें तत्पर रहता है और बहुत भोजन करता है, जिसको वातरहित, सुदुस्पर्श युक्त, और निरुपद्रव ऐसे स्थानमें सोनेकी फिकिर होती है, ऐसा स्थान मिलनेपर दीर्घ कालतक खुरीटे लेता है, प्रेतके समान निर्धूल सो जाता है, अशुभ परिणाम भी उसके मनमें हुआ करते हैं और वह रत्नत्रयमें प्रवृत्त होता नहीं इस तपसे ये सर्व दोष नष्ट होकर निद्राजय नामका गुण प्राप्त होता है

तपसे ध्यानमें दृढता आती है, दुःख सहन करनेका अभ्यास होनेसे मुनि दुःखोंके प्रसंग आने पर भी ध्यानसे अष्ट नहीं होते हैं, हमेशा तपका अभ्यास करनेसे वह सामर्थ्य मुनिमें आजाता है जिससे वे भूल, वृषा वगैरह परीपह प्राप्त होने पर भी दुःखोंकी परवाह नहीं करते हैं तप करनेसे मुनिओंको विमुक्ति अर्थात् विशिष्ट त्याग नामका गुण प्राप्त होता है अनशनादिक तपश्चरणमें तत्पर मुनिअंति शरीरका त्याग किया जाता है यह शरीरका त्याग करना ही बड़ा कठिन है, तपसे दर्पनाश नामक गुण प्राप्त होता है, असंयमको उत्पन्न करनेवाला मद इस तपसे नष्ट होता है, अनशनादि तपसे वाचना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश इन स्वाध्यायके भेदोंका संबंध आता है और उसमें विघ्न उपस्थित होते नहीं हैं, आहारके लिये भ्रमण करने वाले मुनिको स्वाध्याय करना शक्य नहीं होता है, बहुत भोजन करनेपर वह ऊपर मुख कर सोवगा, वह बैठ भी नहीं सकेगा, हमेशा रसयुक्त आहार

करनेवाले मुनिको आहारकी उष्णतासे इधर उधर लोटना पड़ेगा, बहुजन जिसमें ठहरते हैं ऐसी वसतिकामें रहनेवाला मुनि दूसरोंके वचन सुनकर उनके साथ भाषण करनेमें अपना समय बिता देगा, और अध्ययन नहीं करेगा, परन्तु जो एकांत वसतिकामें रहता है वह मुनि व्याकुलता रहित होनेसे साध्यायमें तत्पर रहता है, बाह्य तपसे सुख और दुःखोंमें समता प्राप्त होती है, अर्थात् मुनि इसके प्रभावसे सुखमें आनन्द नहीं मानते हैं और दुःखमें दुःखित नहीं होते हैं, अर्थात् सुखमें रागभाव और दुःखमें द्वेषभाव उनको नहीं होता है रागद्वेषोंके अभावमें सुखदुःखका अनुभव आता नहीं है, यही सुखदुःखसमताका स्वरूप है, आहार और रसयुक्त घी, दूध वगैरे सुख साधक पदार्थोंका त्याग करनेवाले मुनि सुखमें प्रीति नहीं रखते हैं क्षुद्रादिकोंसे दुःख की प्राप्ति होने पर भी संक्षेप परिणाम उनके मनमें नहीं होते हैं अतः वे दुःखमें द्वेष नहीं रखते हैं इस प्रकार पाँच गाथाओंसे बाह्य तपके गुण आचार्यजीने कहे हैं.

आदा कुलं गणो पवयणं च सोभाविवदं हवदि सव्वं ॥  
अलसत्तणं च विजडं कम्मं च विणिद्धुयं होदि ॥ २४२ ॥  
आत्मा प्रवचनं संघः कुलं भवति शोभनं ॥

समस्तं त्यक्तमालस्यं कल्मषं विनिवारितम् ॥ २४३ ॥

विजयोदया—आदा कुलं गणो पवयणं च सव्व सोभाविवदं हवदि पवघटना । बाह्येन तपसा स्वयं कुलमात्मनो, गणं, स्वशिक्ष्यसत्तानश्च शोभामुपनीतो भवति । अलसत्तणं च अलसत्वं च । विजडं त्यक्तं भवति । दुर्धरतपःसमुद्योगात् कम्मं च विणिद्धुदं कर्म च सत्सारमूल विशेषेण निर्दूतं भवति ।

मूलारा—कुलं स्ववंशः । गणो स्वगुरुशिक्ष्यसत्तानः । सोहाविवदं शोभामुपनीतं । विजडं त्यक्तं । विणिद्धुदं विनिर्द्धूतं ॥

अर्थ—अपना आत्मा, अपना वंश, अपना गण अर्थात् अपने गुरुके शिष्योंकी परंपरा और जिनमत इन सबको बाह्य तपसे मुनि शोभा युक्त करते हैं बाह्य तपसे अलसीपनाका त्याग होता है, दुर्धर तपश्चरणमें प्रवृत्ति करनेसे संसारका मूलभूत कर्म भी पूर्णपणेसे नष्ट होता है.

परिमिताहारतानामक गुण प्राप्त होता है, जवणाहार शब्दका परिमित आहार ऐसा अर्थ कहते हैं, परिमित आहार करनेसे नीरोगतादिक छह गुणोंकी प्राप्ति होती है, जितने के उतने आहारको जवणाहार कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य जवणाहार शब्दका

मेत्यादिनोपसंहरति—

एव उगमउष्पादणेसणासुद्धभत्तपाणेन ॥

मिदलहुयविरसलुक्खेण य तवमेदं कुणदि णिच्चं ॥ २४५ ॥

विजयोदया—एवमेदं तवो णिच्चं कुणदित्ति पक्कटत्ता । एव व्यावर्णितरूपेण । एद एतत् वाह्यं तपः कुणदि णेति णिच्चं नित्य । उगमउष्पादणेसणासुद्धभत्तपाणेन उद्रमोत्पादनेपणदोपरहितेन, भक्तेन पानेन च । कीदृग्भूतेन ? मिदलहुगविरसलुक्खेण परिमितेन लघुनां, विरसेन, रूपेण एवभूतं शुद्धमाहारं भुक्त्वा तपः कुर्यान्नाशुद्धमिति भावः ।

इत्थं वाह्यतपसो गुणानाख्यायोपसंहारमाह—

मूलारा—एवं वाह्यं । कुणदि शुद्धयादिपंचगुणमेवाहारं भुक्त्वा सुसुष्ठुः तपः करोति नेतरमिति भावः ॥

अर्थ—मुनिराज उद्रम उत्पादन और एषणा इन दोषोंका त्याग कर मित, लघु, रसरहित और रूक्ष ऐसा आहार और पानके पदार्थ लेकर यह वाह्य तप नित्य करते हैं, शुद्ध आहार लेकर तप करना चाहिये, अशुद्ध आहार नहीं लेना ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है।

उल्लीणोल्लीणेहिं य अहवा एक्कंतवहुमाणेहिं ॥

सल्लिहइ मुणी देहं आहारविधिं पयणुगितो ॥ २४६ ॥

आहारमत्पयत्तेवं वृद्धो वृद्धेन संयतः ॥

तपसा संलिंग्वत्तंगं वृद्धेनैकांततोऽथवा ॥ २४६ ॥

देहस्स लाघवं णेहलूहणं उवसमो तथा परमो ॥

जवणाहारो संतोसदा य जहसंभवेण गुणा ॥ २४४ ॥

संतोषः संयमो देहलाघवं शमवर्द्धनम् ॥

तपसः क्रियमाणस्य गुणाः सन्ति यथायथम् ॥ २४५ ॥

विजयोदया—देहस्स लाघव शरीरस्य लाघवगुणो वाह्येन तपसा भवति । लघुशरीरस्य आवश्यकक्रिया सुकरा भवन्ति । स्वाध्यायध्याने चाक्लेशसंपाद्ये भवतः । देहस्स दूहणं शरीरक्षेहविनाशनं स गुणः । शरीरक्षेहोदेव जनोऽसंयमे प्रवर्तते । शरीरमेवानर्थहेतुरिति तपोऽपि न करोति । तेनाहितं शरीरक्षेहो विनाशितो भवति । उवसमो तथा चोक्तदृष्ट्योपशमो भवति रागदेर्दुः करे तपसि वर्तमानस्य । किं च मम रागेण उपद्रवकारिणा । सति रागे हि नवकर्मबंधो जायते । चिरंतनकर्मसोपबृंहणं च । सति चेत्यं मदीय' क्लेशो निष्कलो भवेदिति मनः प्रणिधानादुपशमः । जवणाहारो-परिमिताहारता इति केचिदाचक्षते । तत्र च गुणो नीरोगतादिकं । तथा चाहुर्मिताशिनं पद्गुणा भजते । अपरे शरीरस्थिति मात्रहेतुराहारः जवणाहारशब्दः शरीरवाच्य इति स्थिता ।

मूलारा—लाघव स्वाध्यायादिक्रियासौकर्यकारि लघुत्वं । णेहलूहणं देहक्षेहाद्वि जनस्य असंयमे प्रवृत्तिः । देह-वाधाहेतुरिति तपस्यपि न प्रवर्तते । तेनाहितत्वादेहे क्लेशस्य विनाशनं । देहक्षेहाद्विरक्तस्य संयमो गुणः परमः । रागे हि नवः कर्मबंधश्चिरंतनः मरसोपबृंहणं च स्याद्रागानुपद्वारी च द्वेषः । एवं च सत्ययं क्लेशो निष्कल इति मनःप्रणिधानादुच्छ्रष्टः । जवणाहारो परिमिताहारता तत्र चारोग्यादिगुणः । शरीरस्थितिमात्रहेतुराहारो वासो । संतोसदा संतोषः । जहसंभवेण अनशनदीना बाह्यतयोभेदाना यो येन संभवति स तेन व्याख्येय इति भावः ।

अर्थ—तपश्चरणसे देहमें लाघव गुण प्राप्त होता है, अर्थात् शरीरमें तपसे भारीपना नष्ट होता है जिससे आवश्यकक्रिया क्रिया सुकर होती है, स्वाध्याय और ध्यान क्लेशके विना किये जाते हैं- तपके आचरणसे शरीरस्नेह नष्ट होता है, शरीरके स्नेहसे लोक असंयममें प्रवृत्त होते हैं, यह शरीर अनर्थका कारण है, इसके स्नेहमें लीन होकर तपको छोड़ बैठते हैं, मुनि दुष्कर तपमें प्रवृत्त होनेसे उनके रागादि दोषोंका उपशम होता है मुनि मनमें ऐसा विचार करते हैं—यह राग भाव उपद्रव करनेवाला है, यह रागभाव आत्मामें नवीन कर्मका बंध उत्पन्न करता है और पूर्वकर्मके रसमें वृद्धि करता है- यदि मैं रागभावको मनमें आश्रय दूंगा तो मेरा तपश्चरण व्यर्थ होगा, ऐसा विचार करके रागभावको

श्रांत कर देते हैं तपसे परिमिताहारतानामक गुण प्राप्त होता है, जवणाहार शब्दका परिमित आहार ऐसा अर्थ है ऐसा कोई आचार्य कहते हैं, परिमित आहार करनेसे नीरोगतादिक छह गुणोंकी प्राप्ति होती है, जितने आहारसे शरीर रह सके उतने आहारको जवणाहार कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य जवणाहार शब्दका अर्थ करते हैं.

एवमित्यादिनोपसंहरति—

एवं उगमउप्पादणोसणामुद्धमत्तपाणेण ॥

मिदलहुयविरसलुक्खेण य तवमेदं कुणदि णिच्चं ॥ २४५ ॥

विजयोदया—एवमेदं तवो णिच्चं कुणदिति पदघटना । एव व्यावर्णितरूपेण । एदं एतत् वाच्यं तपः कुणदि करोति णिच्चं नित्यं । उगमउप्पादणोसणामुद्धमत्तपाणेण उद्गमोत्पादोपपादोपरहितेन, भक्तेन पानेन च । कीदृग्भूतेन ? मिदलहुयविरसलुक्खेण परिमितेन लघुना, विरसेन, रूक्षेण एवभूत शुद्धमाहार भुक्त्वा तपः कुर्यान्नाशुद्धमिति भाव ।

इत्थं बाह्यतपसो गुणानाख्यायोपसंहरमाह—

मूलारा—एवं वाच्यं । कुणदि शुद्धयादिपंचगुणमेवाहारं भुक्त्वा मुमुक्षुः तपः करोति नेतरमिति भावः ॥

अर्थ—मुनिराज उद्गम उत्पादन और एयणा इन दोषोंका त्याग कर मित, लघु, रसरहित और रूक्ष ऐसा आहार और पानके पदार्थ लेकर यह वाच्य तप नित्य करते है. शुद्ध आहार लेकर तप करना चाहिये, अशुद्ध आहार नहीं लेना ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

उल्लोणोल्लीणेहिं य अहवा एकंतवहुमाणेहिं ॥

सल्लिहइ मुणी देहं आहारविधिं पयणुगितो ॥ २४६ ॥

आहारमल्पयन्नेवं वृद्धो वृद्धेन संयतः ॥

तपसा संल्लिखल्यंगं वृद्धेनैकांततोऽथवा ॥ २४७ ॥



विजयोदया—उद्दीणोद्दीणेहि य प्रयत्नमानेन हीयमानेन च तपसा चतुर्थं यथादिक्कमेणानशनतपोवृद्धि । एतदि कवलादिव्यूततया अवमोदयवृद्धि । एकस्य रसस्य त्रयोन्वयणाभित्यादिना क्रमेण रसपरित्यागवृद्धि । एकपाटके गृहसत्तकं, गृहत्रय वा प्रविशामीति, भिक्षाशान्तरिमणव्यूतताकरणेन वा वृत्तिपरित्यजनवृत्ति । त्रिमे वागपन कृत्वा रात्रौ प्रतिमानग्रहकरणमित्यादिना कायकलशवृद्धिः । एव श्रेमे मति संजात क्रमेण अनशनानीना न्यूतनाकरण । अथवा अथवा एतवद्वृत्तमणेहि एतानेन वर्धमाने तपोभि । सहिदद मन्त्रिगति । मुर्षा मुनि । हेतु । आहारमिदं वदनादि- विधि । पयणुगते ॥ अल्पीकुर्वन् ॥

प्रकारातरेण सल्लेगनोपायमाह—

मूलारा—उद्दीणोद्दीणेहि वर्द्धमानेर्हीयमानेनमनात्तिवोभिगिति शेषः । तथाहि—चतुर्थं यथादिक्कमेणानशनतस्य वृद्धिः । एककवलादिव्यूततयावमोदयस्य । एकत्रादिरसमयः क्रमेण रसपरित्यागस्य । एकपाटकं सप्त पंच त्रीणि गृहाणि प्रविश्य भिक्षा गृह्णामि । ग्रामं चैकान्तदित्यादिष्टानि क्रमेण गृह्णामि इत्यादि क्रमेण वृत्तिपरित्यजनस्य । दिवातापन कृत्वा रात्रौ प्रतिमायोगग्रहकरणमित्यादि विधिना कायकलशस्य । शुद्धगृहवागसमीपगिरिशुभारण्या- वसत्याश्रयेण विविक्तशय्यासनस्य च योद्धव्या । एवं च मष्टि तमे भंजाते सति अनजनादीना क्रमेण न्यूतनाकरणं भानि । अहना अथवा । मंगतवृद्धिणेहि । वर्द्धमानेरेव न हीयमानैः । आहारविधिं विहितमप्याहारं । पटणुगते प्रत- चुक्यन् अल्पीकुर्वन्नित्यर्थः ।

अर्थ—क्रमसे अनशनादि तपको बढ़ाते हुवे यतिराज अपने देहको कुछ कर शरीरमल्लसना करते हैं, उसका विवेचनक्रम इस प्रकार समझना चाहिये—एक उपवास, दो उपवास तीन उपवास इस प्रकारसे वे अनशन तप बढ़ाते हैं, मुनिओंके आहारका प्रमाण वत्तीस ग्रामोंका कहा है उनमेंमें एक ग्राम, दोन ग्राम, तीन ग्राम कमी करके अशमोदय तपकी वृद्धि करते हैं, एकसका त्याग, दो सोंका, तीन सोंका इत्यादि क्रमसे रसत्याग करते जाना यह रसपरित्याग तपकी वृद्धि है, एक गल्लीमें ही आज आहार ग्रहण करूंगा, सातघर, तीनघरमेंही प्रवेश कर आहार करूंगा, अथवा आहारके ग्रामोंका परिमाण कर आहार ग्रहण करूंगा इत्यादि रूपसे वृत्तिपरित्यजन तपमें वृद्धि समझना, दिनमें आतापन योग रर रात्रौ प्रतिमायोग धारण करनेका नियम करना, इत्यादि प्रकारसे कायकलेश तपमें वृद्धि करना, इन तपोंकी वृद्ध करनेसे जब महात्मा श्रम होता है तब वे अनशनादि तपका प्रमाण

कम कम करते हैं, अथवा सर्वथा बढ़ते हुवे तपोसे वे आहारका प्रमाण कम करते करते देहकी सल्लेखना करते हैं.

प्रकारातरेण सहेखनोपायमाचष्टे—

अणुपुव्वेणाहारं संवट्ठतो य सल्लिहइ देहं ॥

दिवसुग्गहिण्ण तवेण चावि सहेहणं कुणइ ॥ २४७ ॥

क्रमेण संल्लिखत्तंगमाहारं खर्वयन्त्यतिः ॥

प्रत्यहं वा गृहीतेन तपसा विधिकोविदः ॥ २४७ ॥

विजयोदया—अणुपुव्वेण क्रमेण । आहार संवट्ठतो य आहार न्यूनयित्वा । सल्लिहइ देहं तनूकरोति । दिवसुग्गहिणेण तवेण चावि एकैकदिनं प्रतिगृहीतेन तपसा च, एकस्मिन्दिनेऽनशन, एकस्मिन्दिने वृत्तिपरिसंख्यानं इति । सहेहणं कुणइ सहेखना करोति ।

मूलारा—अणुपुव्वेण क्रमेण । संवट्ठतो ऋदासयित्वा दिवसग्गहिदेण । एकैकदिनं प्रतिगृहीतेन । एकस्मिन्दिनेऽनशनमेकस्मिन्वृत्तिपरिसंख्यानं इति । अथवा संवट्ठतो न्यूनयन् क्रमेणाहारं कश्यति शरीरं । प्रतिदिनगृहीतेन तपसा वा सल्लेखना करोति इति व्याख्येयम् । वा शब्दस्य भिन्नक्रमस्य योजनान् । तथा चोक्तं—

क्रमेण संल्लिखत्तंगं आहारं सर्वयन्त्यतिः ॥

प्रत्यहं वा गृहीतेन तपसा विधिकोविदः ॥

अन्य प्रकारसे सल्लेखनाका उपाय कहते हैं—

अर्थ—क्रमसे आहार कमी करते करते क्षपक अपना देह कुछ करता है, दररोज जिसका नियम किया है ऐसे तपश्चरणसे अर्थात् एक दिन अनशन, दुसरे दिन वृत्तिपरिसंख्यान इस क्रमसे क्षपक सहेखना करता है—अपना देह कुछ करता है.

विविहाहिं एसणाहिं य अवग्गहेहिं विविहेहिं उग्गेहिं ॥

संजममविराहिंतो जहाबलं सल्लिहइ देहं ॥ २४८ ॥

आहारगोचरैरुन्नैरानाकारैरवग्रहैः ॥

मुमुक्षुः संलिख्यंगं संयमस्याविरोधकम् ॥ २४८ ॥

विजयोदया—विविधाहि नानामकारे । एसणाहि य भोजनैः रसवर्जितैरप्यल्ये शुष्केराचाम्ले । अवगाहि नानामकारैरवग्रहै । उगेहि उग्रै । सजममाविराघतो संयम द्विप्रकारं अविनाशयन् । जहावलं स्वमलानतिवृत्त्या देहं तनूकरोति ।

मूला—विविधाहि अरसविरसाप्युष्काचाम्लादिभिः । एसणाहि आहारैः । अवगाहेहि नियमैः । आहारगोचरैः ॥

अर्थ—नाना प्रकार रसवर्जित, अल्प, रुक्ष, ऐसे आचाम्ल भोजनोसे अपने सामर्थ्यके अनुसार क्षपक भुनि देहको कृश करते हैं. नाना प्रकारके उग्र नियमोंकी प्रतिज्ञा लेकर इंद्रियसंयम और प्राणिसंयमकी विराधना नहीं करता हुआ स्वशक्तीके अनुसार क्षपक देहको क्षीण करते हैं.

संदि आउगे सदि बले जाओ विविधाओ भिक्खुपडिमाओ ॥

ताओ वि ण वाधते जहावलं सल्लिहंतस्स ॥ २४९ ॥

या भिक्षुप्रतिमाश्चिन्ना बले सति च जीविते ॥

पीडयन्ति न ताः कार्यं संलिखन्तं यथावलम् ॥ २४९ ॥

विजयोदया—सदि आउगे आपुणि सति । सदि रले सति बले । ताओ या । विविधाओ विचित्रा । भिक्खुपडिमाओ भिक्षुप्रतिमाः । ताओ वि ताश्च । ण वाधते न पीडा जनयति महुत्ती । कस्य ? जहावलं सल्लिहंतस्स यथावल तनूकुर्वत । प्रारब्धमहाक्लेशस्य योगभंगं संकेशश्च महान् जायते इति भावः ।

मूला—ण वाधते न पीडां जनयति । जहावलं यथावलं बलं विना सल्लेखना कुर्वत. प्रारब्धमहाक्लेशस्य योगभंगः संकलेशश्च महान् जायते इति भावः ॥ भिक्षुप्रतिमा इमाः ।

१ सदि आउगे इति गाथाया अनंतरं ' मासिय दुय विय ' इत्यदिरूपा गाथा मूलाराधनार्पणे दीकाशस्ति परमत्र सा गाथा तट्टिका च अपराजित सूरिणा नोद्धिता ।

मासिय दुय तिय चउ पंचमाम् लम्मास सत्तमासीय ॥  
तिण्णे व सत्तराई दाईदिय राइपडिमाओ ॥

माथार्थः क व्यने—

आत्मानं संलिखन् धृतिकायवलवान्, महासत्त्वो, जितपरीपहः, उत्तमसंहननः क्रमेण पूरितधर्मशुक्लध्यानो सुनिरात्माधिष्ठितदेशोत्कृष्टदुर्लभाहारस्य व्रतं गृह्णाति । ईदृशमाहार यदि मासार्थ्यतरे लभेऽहं ततो भोजनं करोमि नान्य-  
थेति । तस्य मासस्यातिमैदिने प्रतिमायोगमास्ते । सा एका भिक्षुप्रतिमा । एवं पूर्वोक्ताहाराच्छतगुणोत्कृष्टदुर्लभान्यान्याभ्य-  
वहारस्यावग्रहं गृह्णाति । यावद्विचित्रं पंचपटसप्तमासाः सर्वत्रातिमदिनकृतप्रतिमायोगाः । एताः सप्त भिक्षुप्रतिमाः ।  
पुनः पूर्वाहाराच्छतगुणोत्कृष्टस्य दुर्लभस्य अन्यान्याहारस्य सप्त सप्त दिनानि वारत्रयं व्रतं गृह्णाति । एतास्त्वित्तो भिक्षु-  
प्रतिमाः । ततो रात्रिदिनं प्रतिमायोगेन स्थित्वा पञ्चाद्रात्रिप्रतिमायोगमास्ते । एते द्वे भिक्षुप्रतिमे । पूर्वमवधिमतः पर्यय-  
ज्ञाने प्राप्य पश्चात्सूर्योदये केवलज्ञानं प्राप्नोति । एवं द्वादशाभिक्षुप्रतिमायोगेन स्थित्वा पश्चाद्रात्रिप्रतिमायोगमास्ते ।  
एते द्वे भिक्षुप्रतिमे भवतः ॥

अर्थ—यदि आयुष्य हो और देहमें सामर्थ्य हो तो जिन विचित्र भिक्षुप्रतिमाओंका शास्त्रमें उल्लेख है उनका भी वह क्षपक स्वीकार करके यथाशक्ति देह को क्षीण करता है। उन प्रतिमाओंसे इस क्षपकको पीडा नहीं होती है जिसने अपने शक्तिका विचार न कर इन प्रतिमाओंको धारण किया है। उसके योगका भंग होता है और उसके मनमें महासंक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं।

अपने शरीरकी सहेखना करनेवाला, धैर्य रूपी बल और शरीरबल धारण करनेवाला, महा-  
सत्त्वसंपन्न, परीपहको जीतेनेवाला, उत्तम संहननका धारक, क्रमसे धर्मव्यान और शुक्लध्यानको पूर्ण करनेवाला मुनि स्वयं ठहरे हुए देशमें उत्कृष्ट और दुर्लभ आहारका व्रत ग्रहण करता है- अर्थात् उत्कृष्ट और दुर्लभ आहार यदि एक महिनेके अंदर भरेको मिलेगा तो मैं ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करके उस महिनेके अंतिम दिनमें वह प्रतिमा योग धारण करता है। यह एक भिक्षु प्रतिमा है ।

पूर्वोक्त आहारसे शतगुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐसे भिन्न भिन्न आहारका व्रत वह क्षपक ग्रहण करता है। यह व्रत वह क्षपक दो, तीन, चार पांच, छह और सात मास तक ग्रहण करता है। ग्रंथेक महिनेके अन्तिम दिनमें

प्रतिमायोग धारण करता है ये सात भिक्षु प्रतिमायें हैं.

पुनः सात सात दिनोंमें पूर्वे आहारकी अपेक्षासे यत्तगुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐंम भिन्न भिन्न आहार तीन दफे लेनेकी प्रतिज्ञा करता है. आहारकी प्राप्ति होने पर तीन दोन और एक ग्रास लेता है. ये तीन भिक्षु प्रतिमायें हैं. तदनंतर रात्रि और दिनभर प्रतिमायोगसे खड़ा रहकर अनंतर प्रतिमायोगसे ध्यानस्थ रहता है. ये दो भिक्षु प्रतिमायें हैं. प्रथम अत्रधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञानकी प्राप्ति होती है अनंतर सुखोदय होनेपर वह क्षपक केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है. इस रीतीसे चारा भिक्षुप्रतिमायें होती हैं.

शरीरसंश्लेषनाहेतुपु उपन्यस्तेषु के उत्कृष्टा इत्यत्राह—

संश्लेषणा सरिरे तवोगुणविधी अणेगहा भणिदा ॥

आयंविळं महेसी तत्थ दु उक्कस्सयं विंति ॥ २५० ॥

देहसंश्लेषनाहेतुर्वहुधा वर्णितं तपः ॥

वदन्ति परमाचाम्लमार्हता यत्र योगिनः ॥ २५० ॥

विजयोदया—संश्लेषणा सरिरे शरीरसंश्लेषनानिमित्तं शरीरे संश्लेषना इत्युच्यते । तवोगुण तप संज्ञितो गुण-  
विकल्पः । अणेगहा भणिदा अनेकधा निरूपित अतीतसूत्रैः । तत्थ तत्र । महेसी महर्षयः । आयंविळं दु आचाम्लदानाख्यं  
च । उक्कस्सग उत्कृष्टमिति । वेति ध्रुवन्ति ।

शरीरसंश्लेषनाहेतुपुपन्यस्तेषु क उत्कृष्ट इत्याह—

मूलारा—संश्लेषणा संश्लेषनानिमित्तं कार्ये कारणोपचारात् । तवोगुणविधी तपःसंज्ञितो गुणविकल्पः ।  
भणिदो निरूपितोऽतीतसूत्रैः । आयंविळं वदयमाणलक्षणमाचाम्ल । महेसी महर्षयः । वेति ध्रुवते ।

शरीरसंश्लेषनाके हेतु ऊपर कहे हैं उनमेंसे कौनसे हेतु उत्कृष्ट है इसका विवरण—  
अर्थ—शरीरसंश्लेषनाका निमित्त जो तप उसके अनेक विकल्प पूर्वोक्त गाथाओंमें कहे हैं. उन विकल्पोंमें

आचाम्लभोजन करना यह उत्कृष्ट विकल्प है ऐसा महर्षिगण कहते हैं.

शरीरसंश्लेषनोपायोक्तप्रमाचाम्लशानमित्युक्तं तत्कीदृशगतिं चोदिते आह—

छट्टुमदसमदुबालसेहि भत्तेहि अदिविकट्टेहि ॥

मिदलहुग आहारं करेदि आयंविळं बहुसो ॥ २५१ ॥

पष्ठाष्टमादिभिश्चित्रैरुपवासैरतंद्रितः ॥

गृह्णाति मितमाहारमाचाम्लं बहुशः पुनः ॥ २५१ ॥

विजयोदया—छट्टुमदसमदुबालसेहि भत्तेहि अदिविकट्टेहि द्वित्रिचतु पञ्चदिनोपवासैः उक्तये । मिदलहुगं आहारं करोति । परिमितं लब्धाहारं करोति । आयंविळं आचाम्लं । बहुसो बहुशः ।

मूलरा—छट्टेत्यादि—द्वित्रिचतुःपञ्चदिनोपवासैः । अदिविकट्टेहि उक्तये । वियदिअट्टेहि इति पाठे विशेष-पातिकाट्टेः । मिदलहुगं । परिमितं लघुं च गुणेन । आयंविळं काजिकाहारं । इदमत्र तात्पर्यं पष्ठाष्टमुपवासैरसंक्लिष्टो मि-तलब्धाहारं बुभुक्षुर्यद्वहुशः काजिकाहारं करोति तत्संश्लेषनाहेतुपूच्छप्रमाचक्षते ।

तथा चोक्तं—पष्ठाष्टमादिभक्तैरतिशयवद्विर्वेली हि भुंजानः ॥

मितलघुमाहारविधिं विदधात्यम्लशानं बहुशः ॥

अपि च—पष्ठाष्टमादिभिश्चित्रैरुपवासैरतंद्रितः ॥

गृह्णाति मितमाहारमाचाम्लं बहुशः पुनः ॥

तथा—समोऽथ पष्ठाष्टमकैस्तपोधिकैस्ततो विकृष्टैर्देवैः शमात्मकः ॥

तथा लघु द्वादशकैश्च सेवते मितं मुदा चाम्लमनाविलो लघुः ॥

आचाम्लभोजन करना यह शरीरसंश्लेषनाका उत्कृष्ट उपाय है ऐसा पूर्व गाथामें कहा है. अत्र उमका विधि बतलाते हैं—

अर्थ—दोन दिनका उपवास, तीन दिनका उपवास, चार दिनका उपवास, पाच दिनका उपवास ऐसे उत्कृष्ट उपवास होनेके अनंतर मित और हलका ऐसा कांजीभोजन ही शपक बहुशः करता है.

भक्तप्रत्याख्यानस्यास्य वर्ण्यमानस्य कियत्काल इत्यत्रोत्तरं आह—

उक्कस्सएण भत्तपइण्णाकालो जिणेहिं णिदिहो ॥  
कालम्मि संपहुत्ते बारसवरिसाणि पुण्णाणि ॥ २५२ ॥  
कालो द्वादशवर्षाणि काले सति महीयसि ॥  
भक्तल्यागस्य पूर्णानि प्रकृष्टः कथितो जिनैः ॥ २५२ ॥

विजयोदया—उक्कस्सएण उत्कर्षेण । भत्तपइण्णाकालो भक्तप्रत्याख्यानकाल । जिणेहिं णिदिहो जिनैर्निर्दिष्टः । कालम्मि काले । संपहुत्ते महति सति । बारसवरिसाणि संपूर्णद्वादशवर्षमात्रम् ॥

महति जीवितकाले समाव्यमाने सति भक्तप्रत्याख्यानस्योत्कर्षेण कियान् काल इत्यत्रोह—  
मूलारा—कालम्मि काले अर्थाजीवितस्य । संपहुत्ते महति सति । अन्ये संभवन्ते इति पठित्वा संभवति सतीत्यर्थं व्याचष्टुः ॥

जिसका वर्णन चल रहा है ऐसे भक्त प्रत्याख्यान विधीका काल कितना है इस प्रश्नका आचार्य उत्तर कहते हैं—

अर्थ—आयुष्य काल अधिक होनेपर भक्त प्रतिज्ञाका अर्थात् भक्तप्रत्याख्यानका उत्कृष्ट कालप्रमाण जिनेंद्र भगवानने वारा वर्ष प्रमाण कहा है.

उक्तेषु द्वादशवर्षेषु एव कर्तव्यमिति क्रमं सल्लेखनाया दर्शयति—

जोगेहिं विचिचेहिं दु खवेइ संवच्छराणि चत्तारि ॥  
वियडी णिज्जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेदि ॥ २५३ ॥  
विचिचैः संलिखित्यंगं योगैर्वर्षचतुष्टयम् ॥  
समस्तरसमोक्षेण परं वर्षचतुष्टयम् ॥ २५३ ॥

विजयोदया—जोगेहिं कायल्लेखे । विचिचेहिं दु विचित्रैरनियतैः । खवेदि क्षपयति । संवच्छराणि चत्तारि ।

वर्षचतुष्टयं । यत्किञ्चिद्भूत्वा । विगङ्गी णिज्जूहिता रसादीन्क्षीरादीन्परित्यज्य । चत्वारि वर्षचतुष्टयं । पुणो वि पुनरपि । सोसेदि तनूकरोति तनुम् ।

द्वादशसु वर्षेषु सल्लेखनाया इतिकर्तव्यताक्रमं गाथाद्वयेन दर्शयति—

मूलारा—जोगेहिं कायक्लेझैः । विचिच्चेहिं विचित्रैरनियतैरित्यर्थः । विगङ्गि क्षीरादिरसान् । णिज्जूहिता निःशेषेण त्यक्त्वा । सोसेदि शोषयति क्षुशीकरोति शरीरमिति शेषः । अन्ये ज्मोसेदि इति पठित्वा नयतीत्यर्थं व्याचक्रुः ॥

इस द्वारा वर्षप्रमाण कालमें सल्लेखनाका कर्तव्यक्रम कैसा होता है उसका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—अनेक प्रकारके कायक्लेझोंद्वारा वह क्षपक पहिले चार वर्ष व्यतीत करता है. अर्थात् पहिले चार वर्षोंमें कायक्लेझका एक ही प्रकार नहीं रहता है. चार वर्ष समाप्त होनेपर आगेके चार वर्षोंमें वह क्षपक दूध, दही, गुड, घी वगैरह रसोंका त्याग करके पुनः शरीरको कुछ करता है. इस तरह आठ वर्ष व्यतीत होते हैं.

आयं विलणि व्वियडीहिं दोणिण आयं विलेण एक्कं च ॥

अद्धं णादिविगट्ठेहिं अदो अद्धं विगट्ठेहिं ॥ २५४ ॥

आचाम्लरसहानिभ्यां वर्षे द्वे नयते यतिः ॥

आचाम्लेन विशुद्धेन वर्षमेकं महामनाः ॥ २५४ ॥

पण्मासीमप्रकृष्टेन प्रकृतेन समाधये ॥

षण्मासीं नयते धीरः कायक्लेशेन शुद्धधीः ॥ २५५ ॥

विजयोदया—आयं विलणि व्वियडीहिं आचाम्लेन निर्विहत्या च । दोणिण वर्षद्वय क्षपयति । आयं विलेण आचाम्लेनैव । एक च एक वर्ष । अद्ध अवशिष्टस्य वर्षस्य पण्मासान् । नादिविगट्ठेहिं अत्यनुकृष्टैस्तपोभिः । अदो अद्धं विकट्ठेहिं अतः पर पण्मासान् उत्कृष्टैस्तपोभिः ।

मूलारा—आयं विलणि व्वियडीहिं आचाम्लं काजिकाहारः । निर्विकृतिः रसव्यञ्जनादिवर्जितमव्यतिकर्णमोदनादिभो जनम् । अद्धं द्वावशस्य वर्षस्य अर्थ पण्मासानित्यर्थः । नादिविगट्ठेहिं नात्युत्कृष्टैस्तपोभिः । अक्षयति शरीरमिति शेषः विकट्ठेहिं उत्कृष्टे ।

अर्थ—आचाम्ल अर्थात् काजीका भोजन करना और णिव्वियडी जिससे भोजनमें स्वाद उत्पन्न होता है



ऐसे साग, चटणी वगैरह पदार्थ को विकृति कहते हैं, इनसे रहित रसहीन भोजनको निर्विकृति भोजन कहते हैं, आचम्ल भोजन और निर्विकृति भोजन कर क्षणिक दो वर्ष विताता है, तदनंतर आचम्ल भोजन कर एक वर्ष व्यतीत करता है, अब अंतिम एक वर्षके प्रथम छहमासतक वह मध्यम तपोद्वारा शरीरको क्षीण करता है, और अन्तके छहो मासमें उत्कृष्ट तपोसे शरीरको कुश करता है, इस तरह अपने आयुके अन्तिम वारा वर्षोंमें वह सहे-खना करता है,

व्यावर्णितैर्नैव क्रमेण आचरितव्यमिति नियोगो न विद्यते इत्याचष्टे—

भत्तं खेत्तं कालं धातुं च पडुच्च तह तवं कुज्जा ॥

वादो पित्तो सिमो व जहा खोभं ण उवयंति ॥ २५५ ॥

द्रव्यं क्षेन्नं सुधीः कालं धातुं ज्ञात्वा तपस्यति ॥

तथा क्षुभ्यंति नो जातु वातपित्तकफा यथा ॥ २५६ ॥

विजयोदया—भत्त आहारं शाक्यहुल, रसवहुलं, कुल्माषप्रायं, निष्पावचणकादिमिश्रं, शाकव्यंजनादिरहितं वा । खेत्तं अनूपजालसाधारणविकल्पं । कालं धर्मशीतसाधारणभेदं । धातुमात्मनः शरीरप्रकृतिं च । पडुच्च आश्रित्य स्रोतं प्रकोपं । तव कुज्जा तप कुर्याज्जिह्वा खोभं ण उवयति । यथा क्षोभ नोपयति । वादो पित्तो सिमो वा वातपित्तश्लेष्मत्रिकं । यथोक्तैर्नैव क्रमेण चरितव्यमिति नियमो नास्तीति ब्रवीति ।

मूलारा—द्वं आहारं शाकरसभूयिष्ठं कुल्माषकलायचणकनिष्पावादिमिश्रं शाकव्यंजनादिरहितं वा । खेत्तं अनूपजालसाधारणविकल्पं । कालं शीतधर्मवृष्टिभेदं । धातुं स्वशरीरप्रकृतिं । पडुच्च आश्रित्य स्रोतं प्रकोपं । उपर दो गाथाओंमें जो आचारक्रम बताया है उसके मुआफिक ही आचरण करना चाहिए ऐसा नियम नहीं है, अन्य भी प्रकार हैं ऐसा आगेकी गाथाओंमें लिखते हैं—

अर्थ—आहारके अनेक प्रकार हैं जैसे शाक जिसमें जादा है ऐसा एक आहार, घी, दूध, वगैरह जिसमें अधिक है ऐसा आहार, कुलथ्या नाम का धान्य जिसमें जादा है ऐसा आहार, निष्पाव, चना वगैरह से रहित केवल भात रोटी वगैरह आहारके अनेक प्रकार हैं, जैसे आहारके अनेक प्रकार हैं वैसे क्षेत्र भी अनेक प्रकार का है

जिसमें बहुत जल दृष्टि होती है ऐसा क्षेत्र जिसको अनूप कहते हैं, जिसमें अल्प दृष्टि होती है और जिसमें नदी के पानीसे खेती होती है ऐसे क्षेत्रको जांगल कहते हैं, जिसमें अनूप और जांगलके लक्षण मिलते हैं ऐसे देशको साधारण क्षेत्र कहते हैं, कालके शीतकाल, वर्षाकाल और उष्णकाल ऐसे भेद होते हैं, धातु—अपनी शरीरप्रकृति, अर्थात् देश, काल, अपनी शरीरकी प्रकृति इनका विचार कर वात, पित्त और श्लेष्मका क्षोभ न होगा इस रीतिसे तप करके क्षपकने शरीरसंस्लेखना करनी चाहिये.

शरीरसंस्लेखनाक्रममभिधायाभ्यतरसंस्लेखनाक्रममभिधातुं अभ्यतरसंस्लेखनया सह संबंधं कथयति—

एवं सरिरसंस्लेहणाविहिं बहुविहा वि फासैतो ॥

अञ्जवसाणविसुद्धिं खणमवि खवओ ण मुंचेज ॥ २५६ ॥

इत्थं संस्लेखनामार्गं कुर्वणेनाप्यनेकधा ॥

नैव त्याज्यात्मसंशुद्धिः क्षपकेण पटीयसा ॥ २५७ ॥

विजयोदया—एवमुक्तेन क्रमेण । शरीरसंस्लेहणाविहिं नानाप्रकारं । फासैतो वि स्पृशन्नपि । अञ्जवसाण-  
विसुद्धिं परिणामविशुद्धिं । खवगो खणमवि ण मुंचेज्ज क्षपकः क्षणमपि न त्यजेत् ।

एवं कायसंस्लेखनाक्रममभिधाय कपायसंस्लेखनामभिधातुकाप्रस्तया सह तस्याः संबंधं नित्यविधातव्यतयाभिधत्ते—  
मूलारा—‘फासैन्तो स्पृशन्नपि । अपि शब्दो भिन्नक्रमो गोज्यः । अञ्जवसाणविसुद्धिं शुद्धचिद्विवर्तपरिणतिं ॥  
यहांतक शरीरसंस्लेखनाका क्रम आचार्य महाराजने कहा है, अब अभ्यंतर संस्लेखना—कपायसंस्लेखनाका संबंध करते हैं, प्रथम कपायसंस्लेखनाके साथ शरीरसंस्लेखनाको दिखाते हैं—

अर्थ—क्रमसे नाना प्रकारकी शरीरसंस्लेखना करता हुआ भी क्षपक शुनि अपने परिणामोंकी निर्मलताको एक क्षण भी न छोड़े, तात्पर्य यह है कि, क्षपक शरीरसंस्लेखनाके तरफ जितना ध्यान देता है उतना ही कपाय-  
संस्लेखनाके तरफ भी देवे, यदि परिणामोंमें मलिनता उत्पन्न होगी तो शरीरसंस्लेखना करना व्यर्थ होगा, इसलिये  
परिणामकी विशुद्धि भी क्षपकको रखनी पड़ती है.

अभ्यंतरशुद्धयभावे दोषं कथयति—

अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगट्ठं पि ॥

कुब्बति बहिंहेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी ॥ २५७ ॥

भावशुद्ध्या विनोत्कृष्टमपि ये कुर्वन्ते तपः ॥

बहिर्लेश्या न सा तेषां शुद्धिर्भवति केवला ॥ २५८ ॥

विजयोदया—अज्झवसाणविसुद्धीए वज्जिदा अच्यवसानविशुद्ध्या वर्जिता. । जे ये । तवं तपः । विकट्ठं पि उत्कृष्टमपि कुर्वन्ति । बहिंहेस्सा बहिर्लेश्या पूजासत्काराद्यादितचित्तवृत्तयः । ण होइ तेसि केवला सुद्धी दोषोन्मि श्चा भवतीति शुद्धिरिति यावत् ।

अभ्यंतरशुद्धयभावे दोषमाह—

मूसारा—विकट्ठं पि उत्कृष्टमपि । बहिंहेसा पूजासत्काराद्यादितचित्तवृत्तयः । केवला अशुभकर्मस्त्रयणरहिता । सुद्धा अशुभकर्मनिर्जरा ॥

अभ्यंतर शुद्धि न होनेसे दोष उत्पन्न होता है ऐसा कथन —

अर्थ—जिनके परिणामोंमें निर्मलता नहीं है वे साधु यद्यपि उत्कृष्ट तप करते हैं तो भी पूजा, आदर, कीर्ति इनकी इच्छासे वे तप करते हैं ऐसा समझना चाहिये. इसलिये उनके परिणामोंकी शुद्धि नहीं होती. अर्थात् उनके परिणामोंकी शुद्धि दोषसाहित है ऐसा समझना जब पूजा, आदर इत्यादिकी अभिलाषा छोड़कर मुनि उत्कृष्ट तप करते हैं तब उनके परिणामोंमें निर्मलता वृद्धिगत होती है.

केवला शुद्धि. कस्य तर्हि भवतीत्याह—

अविगट्ठं पि तवं जो करेइ सुविसुद्धसुक्कलेस्साओ ॥

अज्झवसाणविसुद्धो सो पावदि केवला सुद्धिं ॥ २५८ ॥

विजयोदया—अविकट्ठं चि अनुत्कृष्टमपि तपो य' करोति । सुविशुद्धशुक्कलेदयासमन्वितं विशुद्धपरिणाम स केवला शुद्धिं प्राप्नोति इति गाथार्थः ।

तर्हि केवला शुद्धिः कस्य स्यादित्यत्राह—

मूलारा—सो इत्यादि संघसहभाविर्नो निर्जरा करोतीत्यर्थः ॥

किम मुनिके परिणाम केवल शुद्ध होते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—विशुद्धशुक्लेश्याका धारक जो मुनि वह उत्कृष्ट तप यद्यपि नहीं करेगा तो भी परिणामोंसे निर्मल होनेसे दोषरहित अर्थात् केवल शुद्धि को प्राप्त होता है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

प्रस्तुतां द्वितीया कपायसंछेदनामुक्तयाध्यवसायविशुद्धया योजयति—

अज्झवसाणविसुद्धी कसायकलुसीकदस्स णत्थिप्ति ॥

अज्झवसाणविसुद्धी कसायसंछेदना भणिदा ॥ २५९ ॥

कपायाकुलचितस्य भावशुद्धिः कुतस्तनी ॥

यतस्ततो विधानव्या कपायाणां तनूकृति. ॥ २५९ ॥

विजयोदया—अज्झवसाणविसुद्धी परिणामविशुद्धि । कसायकलुसीकदस्स कपाये. कलुपीकृतस्य । णत्थिप्ति यस्मात् इति तस्मात् । अज्झवसाणविसुद्धी परिणामविशुद्धि । कसायसंछेदना भणिदा कपायसंछेदनेति गदिता ॥

अव्यवसानविशुद्धया कपायसंछेदना साध्यसाधनभावेन योजयति ।

मूलारा—अज्झवसाण इत्यादि—स्वोदयनिमित्तवाह्यद्रव्यादिसान्निध्यवशाच्छब्दोद्देश्यक्रोधादिभिः क्रूरत्वादिरूपं कलुष्यं नीतस्य मुनेरव्यवसानविशुद्धिर्नास्तीति हेतोः ।

प्रस्तुत कपायसंछेदनाका परिणामविशुद्धिके साथ संबंध दिखते हैं—

अर्थ—कपायोंसे जिस मुनिका मन कलुषित हुआ है वह परिणामोंकी विशुद्धिमें दूर रहता है. और जिसके परिणामोंमें शुद्धता है वह कपायसंछेदना कर सकता है इसलिये परिणामविशुद्धिको आचार्योंने कपायसंछेदना यह नाम दिया है. इन दोनोंमें अविनाभाव है. जहां परिणामोंकी निर्मलता है वहां कपायसंछेदना है. और जहां कपाय संछेदना है वहां परिणामोंकी निर्मलता है.

शुभपरिणामप्रवाहद्वृत्तेन चतुष्कपायसंश्लेषना कृता भवति इत्यभिधाय सामान्येन चतुर्णामपि कथायाणां तन्मूकरणे उपायं प्रतिपक्षपरिणामचतुर्कं कथयति—

क्रोधं खमाए माणं च मद्वेणाज्जवं च मायं च ॥

संतोषेण य लोहं जिणहु खु चत्तारि वि कसाए ॥ २६० ॥

जेतव्यः क्षमया क्रोधो मानो मार्दवसंपदा ॥

आर्जवेन सदा माया लोभः संतोषयोगतः ॥ २६० ॥

विजयोदया—क्रोधं क्षमायेत्यादिना कपायविनाशने उपायस्तदुत्पत्तित्यागः ।

संचगवैराग्यदयादमतत्त्वज्ञानसंस्कारादिशुभपरिणामप्रवाहद्वृत्तेन कपायसंश्लेषना कृता भवति इत्यभिधाय क्रोधादीना प्रत्येकं कृशीकरणोपायं प्रतिपक्षपरिणाममाचष्टे ।

मूलारा—जिणदि स्थनिमित्तवशादुद्यतः क्रोधादीन्क्षमादिभावना कूरत्वाद्विफलदानशक्तिरहितान्करोति ॥

शुभपरिणामोक्तिं प्रवाहमें जो मुनि अवगाहन करता है उसको कपायसंश्लेषनाका लाभ होता है इस विषय का खुलासा किया. अब क्रोधादि चार कपायोंको क्षीण करनेके उपायभूत चार प्रतिपक्षरूप परिणामोंका वर्णन करते हैं—

अर्थ—हे क्षपक घृने ! तुम क्षमारूपी परिणामोंसे क्रोधको, मार्दवगुणसे मानकपायको आर्जव गुणके द्वारा मायाको और संतोषके सहारेसे लोभकपायको इस तरह चार कपायोंको जीतो.

उत्पद्यमानो हि कपायो वृद्धिसुपैतीति कथयति—

कोहस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण एदि वसं ॥

जो ताण कसायाणं उप्पत्तिं चेव वज्जेइ ॥ २६१ ॥

चतुर्णां स कथायाणां न वशं याति शुद्धधीः ॥

उत्पत्तिस्त्यज्यते तेषां सर्वदा येन तत्त्वतः ॥ २६१ ॥

विजयोदया—कोदहस य अत्रैव पदघटना । जो तेसिं कसयाणमुत्पत्तिं चेव वज्जेदि यस्तेपा कयायाणमुत्पत्तिं एव परिहरति । कोघस्स य माणस्स य मायालोभाण सो ण, एदि वस कोघमानमायालोभाना स नोपैति वश यस्तेपामुत्पत्तिमपेक्षते स तद्वशग. कथ कयायसल्लेखना कुर्यादिति भाव ॥

अशक्यत्यागद्रव्यादिसामग्रीवशादुत्पन्नानः कयायो वृद्धिसुपयाति इति तद्विनाशने उत्तमक्षमादिप्रयोगेण तदुत्पत्तिनिरोध एवोपाय इत्युपदिशति ॥

मूलारा—वसं द्रव्यक्रोधादिजन्यमानकूत्त्वादिलक्षणभावक्रोधादिपरिणतिलक्षणपारतन्त्र्यम् ।

उत्पन्न होनेवाले कयाय वृद्धिगत होते हैं ऐसा कहते हैं—

अर्थ—जो मुनि उन कयायोको उत्पन्न ही नहीं होने देता है वह मुनि क्रोध, मान, माया और लोभके वश नहीं होता है. परंतु जो उनके उत्पत्तिक्री अभिलाषा रखता है वह उनके वश हो जानेसे कयायसल्लेखना कैसे कर सकेगा ?

कयायोत्पत्तिं परिहर्तुमिच्छता किं कर्तव्यमित्यत आह—

तं वत्थु मोत्तव्यं जं पडि उण्णज्जे कसायगिगि ॥

तं वत्थुमल्लिण्णज्जो जत्थोवसमो कसायाणं ॥ २६१ ॥

तद्वेयं सर्वदा यत्र कयायागिगरूदीयते ॥

यत्र शाम्यत्यसौ वस्तु तदादेयं पटीयसा ॥ २६२ ॥

विजयोदया—त वत्थु मोत्तव्यं तद्वस्तु मोक्तव्य । जं पडि उण्णज्जे यद्विमित्त उत्पद्यते । कसायगिगी कयायागिगि । तं वत्थुमल्लिण्णज्जो तद्वस्तुपाश्रयण कुर्यात् । जत्थ यत्रोपाश्रयणे । उवसमो कसायाण कयायाणामुपशमो भवति ॥

कयायोत्पत्तिपरिजिहीर्षुणा किं कर्तव्यमित्यत्राह—

मूलारा—जं पडि यद्वस्तु निमिचीकृत्य । अल्लियज्जो आशयेत् ॥

कयायोत्पत्ति न होनेके लिये क्या इलाज करना चाहिये इसका उत्तर—

अर्थ—जिसके निमित्तसे कयायरूपी अग्नि उत्पन्न होती है वह वस्तु छोड़नी चाहिये. और जो वस्तु

कपायोंका उपशम करेगी वही वस्तु आश्रय करने योग्य है जिस वस्तुका आश्रय करनेसे कपायोंका उपशम होगा उसी वस्तुका आश्रय करना चाहिये

जइ कहवि कसायगगी समुठिठदो होज्ज विज्झवेदब्बो ॥

रागदोसुप्पत्ती विज्झादि हु परिहरंतस ॥ २६३ ॥

यदुदेति कपायाग्निर्विध्यातव्यस्तदा लघुः ॥

शाम्यन्ति ह्याखिला दोषाः शमिते तत्र तत्त्वतः ॥ २६३ ॥

विजयोदया—जइ कहवि कसायगगी यदि कथचित्कपायाग्नि । समुठिठो होज्ज समुत्थितो भवेत् । विज्झवेदब्बो विध्यापयितव्य । रागदोसुप्पत्ती रागद्वेषयोस्त्पत्ति । विज्झादि हु खु शाम्यत्येव । परिहरतस्स परिहरत । कपायाग्निः प्रशान्ति नीयते । तदोषयेक्षणेन नीचजननागत्यभिव हृदय दहति । अशुभागोपागनामर्म्मवष्टिरूपानन करोति । रज एव चक्षुषो रागमानयति । महासमीरण इव तनु कपयति । सुरापानमिव यत्किंचिन्निगदयति । आविष्टग्रह इव यत्किंचन कारयति । समीचीनज्ञानलोचनं मलिनयति । दर्शनवनमुत्पादयति । चारित्रसर शोषयति । तप पल्लव भस्मयति । अशुभप्रकृतिलता स्थिरयति । शुभकर्मफलं विरसयति । प्रत्यग्रमनोमलं ढोकयति । हृदयं कठिनयति । प्राणभृतो घातयति । भारती गुणान्स्थगयति । भैत्रीमुन्मूलयति । गुह्यमपि गुणान्स्थगयति । यशोधन नाशयति । परानपवादयति । महतोऽपि गुणान्स्थगयति । भैत्रीमुन्मूलयति । कृतमप्युपकारं विस्मरयति । अपकारमव्यापयति । महति नरकगतं पातयति । दुःखावर्ते निमज्जयतीत्यनेकानशौबहृत्वभावनाया ।

मूलारा—विज्झादि खु शाम्यत्येव । परिहरतस्स तदोषभावनाया कपायास्त्यजत । तद्भावना यथा—कपायो हृदयं दहति, सुखं विरूपयति । चक्षुषो रागमानयति । तनुं कृण्वयति । यत्किंचन भाषयति । यद्वा तद्वा कारयति । सम्यग्ज्ञानं मलिनयति । दर्शनमुन्मूलयति । चारित्रं चूर्णयति । तपः क्षपयति । अशुभप्रकृतिलता स्थिरयति । शुभकर्मफलं विरसयति । प्रत्यग्रमनोमलं ढोकयति । हृदयं कठिनयति । प्राणभृतो घातयति । भारती वितययति । गुरुनपि गुणान्स्थगयति । यशो नाशयति । परानपवादयति । महतोऽपि गुणान्स्थगयति । मत्रीमुत्पन्नति । कृतमप्युपकारं विस्मरयति अपकारमव्यापयति । दुःखान्वे निमज्जयतीति ॥

अर्थ—यदि किसी प्रकारसे कपायाग्नि भभक कर उठेगी तो उसका उपशम करना चाहिये जो

कपायग्निका परिहार करनेका श्रयत्न करता है उसके रागद्वेषोंकी उत्पत्ति नहीं होती है. कपायमें कौनसे दोष भरे हैं इसका विचार कर उसका उपशमन करना चाहिये.

दुर्जनोकी संगतीके समान ये कपाय हृदयको जलाते हैं. अशुभ अंग और उपांगोंकी रचना करनेवाले नाम कर्मके समान कपाय मुखको कुरूप करते हैं. नेत्रमें गये धूलिके कण जैसे आंखको लाल बनाते हैं वैसे कपायसे भी वह लाल होती है. बड़े जोरसे वहनेवाले वायुके समान कपाय शरीरको कंपित करते हैं. सुरापानसे मनुष्य चाहे जो बड़बड़ता है वैसे कपायवश हुआ मनुष्य बड़बड़ता है. पिशाचग्रस्त मनुष्य के समान कुछ भी कार्य करने लगता है. यह कपाय सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रको मलिन करता है. सम्यग्दर्शनरूपी वनको उच्छस्त कर देता है. चारित्ररूपी सरोवरको सुखा देता है. यह कपाय तप-रूपी कीमल कमलोंको दग्ध करता है. अशुभकर्मप्रकृतिको दृढ करता है. शुभकर्मके फलोंको रसहीन करता है. निमल मनको मलिन करता है. हृदयको निर्दय बनाता है. प्राणिओंकी हिंसा करता है. असत्य भाषणमें मनुष्यको प्रवृत्त करता है. बड़े बड़े गुणोंको भी लाघता है. कीर्तिरूपी धनको नष्ट करा देता है. दूसरोंकी निंदा कराता है. महापुरुषोंके गुणोंको दक देता है. मंत्रीको तुडवाता है. किये गये उपकारको भुला देता है. अपकारका पाठ सिखाता है. बड़े भयंकर नरकके खड्डोंमें प्राणीओंको गिराता है. और दुस्वरूपी भोगोंमें डुबाता है. इस तरह यह कपाय अनेक अनर्थको उत्पन्न करता है. ऐसी भावना मनमें कर रागद्वेषोंकी उत्पत्तिको न होने देना चाहिये.

रागद्वेषमशान्त्युपायकथनाय गाथा—

जावन्ति केद्व संग उदीरया ह्येति रागदोसाणं ।

ते वज्जन्तो जिणदि हु रागं दोसं च गिरसंगो ॥ २६४ ॥

रागद्वेषादिकं साधोः संगभावे चिन्शयति ।

कारणाभावतः कार्यं किं कुत्राप्यवतिष्ठते ॥ २६४ ॥

विजयोदया— जावन्ति केद्व संग यावन्त केचन परिग्रहा. । उदीरया ह्येति रागदोसाणं उत्पादका भवन्ति रागद्वेषयो ॥ ते वज्जन्तो तान्परिग्रहाद्विराकुर्वन् । जिणदि शु जयत्येव । राग दोसं च रागद्वेषो । निस्संगो नि.परिग्रह' ।



रागद्वेषयोः प्रशमोपायमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

रागद्वेषयोः प्रशमन करनेका उपाय कहनेकेलिये यह गाथा कहते हैं—

अर्थ—राग और द्वेषको उत्पन्न करनेवाले जो कोई परिग्रह हैं उनका त्याग करनेवाला मुनि निःसंग होकर उन रागद्वेषोंको जीतता ही है अर्थात् परिग्रहका त्याग कर निःसंग बनना यह रागद्वेषोंको जीतनेका उपाय है.

पवमुदयमुपयाति कयायाम्नि स चेत्यमपकारं करोत्येव उपशान्तिं नेतव्य इत्येतद्वाथात्रयोदाहरणेनोच्यते—

पडिचोदनासहणवायुभिदपडिवयणइंधणाइद्धो ।

चंडो हु कसायगी सहसा संपज्जिलेऽजाहि ॥ २६५ ॥

वाक्यासहिष्णुतावात्प्रापेरितः कोपपावकः ॥

उदेति सहसा चंडो भूरिप्रत्युत्तरेन्धनः ॥ २६५ ॥

विजयोदया— पडिचोयणा प्रतिचोदनाया. असहनमेव वात तेन क्षुभित, प्रतिवचनेधनेरिद्धः क्रूर. क्रमयाग्निः सहसा प्रज्वलति ।

एवं क्रोधादीना निर्जरोपायमुपदिश्यदानीं क्रोधस्य स्वार्थघ्नशकृत्वप्रकाशनद्वारेणैतरकपायाणामप्यपायभूयिष्ठानां उपदेष्टुं तस्यैवोदीरणा दिव्यान्त्रिणाह—

मूलारा— पडीत्यादि —प्रतिचोदनासहनवातक्षुभितप्रतिवचनेधनेद्र. । प्रतिचोदना शिष्यस्याविहितप्रवृत्तिनिवारणार्थं गुरोः शिष्यावचने सति प्रतिकूलवचनं, तस्यासहनमभरणं गुरुणा, तदेव वातस्तेन क्षुभितः संघुक्षितो गुरोर्भनेमि कोपाग्निः । तदनंतरं प्रतिवचनं, पुत्रुर्गुरुणा शिष्यावचने सति प्रतिकूल वचनं तदेवधनं तेनेद्धो दीप्तः । अथवा प्रतिकोदना-गुरुणा शिष्यस्य शिक्षापणं, तस्यासहनमभरणं शिष्येण, तदेव वातस्तेन क्षुभित ततः प्रतिवचनं पुनः शिष्यस्य गुरुणा शि आपणं तदेवधन तेनेद्धो दीप्त शिष्यस्य मनसि कोपाग्निः । चंडो रौद्र प्रत्यास्यानावरणोऽन्तामुर्वी चा । संपज्जलेज्जाहि संप्रज्वलेत् । तथा चोक्तम्—

वाक्यासाहिष्णुतावात्स्या प्रेरितः कोपपावकः ।

उदेति सहसा चंडो भूरिप्रत्युत्तरेन्धनः ॥

एवं वा तदर्थो भाव्यः ।

प्रतिवचनेधनजनितं प्रतिकूलचरणपत्रनसंचलितं ।

चंडः कपायदहनं सहसा संप्रज्वलेत्पापः ॥

कपायाग्नि उत्पन्न होकर जब अपकार करने लगता है तब आगे कहे हुए उपायसे उसका उपशमन करना चाहिये इस विषयको आचार्य तीन गाथाओंसे प्रगट करते हैं—

अर्थ—शिव्यकी अयोग्य कार्यमें प्रवृत्ति रोकनेके लिये गुरु उपदेश करते हैं, परंतु जब शिव्य प्रतिकूल उत्तर देता है तब वह गुरुको सहन नहीं होता है यह सहन न होना यही वायु है, इस वायुसे गुरुके मनमें कोप-रूपी अग्नि प्रज्वलित होती है परंतु पुनः गुरु शिव्यको उपदेश देते हैं शिव्य पुनः प्रतिकूल वचन बोलता है, इस प्रतिकूलवचनरूपी इंधनसे गुरुकी क्रोधाग्नि उद्दीप्त होती है, ऐसा होनेसे अनतानुबंधी अथवा अप्रत्याख्यानरूप कपायाग्नि प्रज्वलित होती है तदनंतर वह—

जलिदो हु कसायगी चरित्तसारं डहेज्ज कसिणं पि ॥

सम्मत्तं पि विराधिय अणंतसंसारियं कुज्जा ॥ २१६ ॥

स दग्ध्वा ज्वलितः क्षिप्रं रत्नव्रितयकाननम् ॥

विदधाति महातापं संसारांगारसंचयैः ॥ २१६ ॥

विजयोदया—जलिदो हि कसायगी ज्वलितश्च कपायाग्निः । चरित्तसारं चारित्र्याख्यं सारं दहत्येव । सम्यक्त्वं विनाश्यानतसंसारपरिभ्रमणे रतं कुर्यादेव ।

क्रोधश्चैवं संप्रज्वलितः कमपकारं करोति इत्यत्राह—

मूलारा—कसिणं पि कुत्समपि । अनंतसंसारियं अनंतभयपरिवर्तनोद्यतं गुरु शिष्यं च ।

अर्थ—चारित्ररूपी उत्कृष्ट वस्तुको जलाकर भस्म करती है, और सम्यक्त्वका नाश कर आत्माको अनंत संसारी करती है.

तम्हा हु कसायगी पावं उपज्जमाणयं चेव ॥

इच्छामिच्छादुक्कडवंदणसल्लेण विज्झाहि ॥ २६७ ॥

जायमानः कपायाग्निः क्षमनीयो मनीषिणा ॥

इच्छामिथ्यातथाकारप्रणिपातादिवारिभिः ॥ २६७ ॥

विजयोदया—तम्हा खु तस्मात्त्वल्लु कपायग्निः पापमुत्पद्यमानमेव प्रशमयेत् । केन “ इच्छामि भगवतः शिक्षां, मिथ्या भवतु मम दुष्कृतं, नमस्तुभ्य ” इत्येवंमूलेन सल्लेखेन ॥

तर्हि स कथं सशमनीय इत्यत्राह—

मूलारा—इच्छेत्यादि—इच्छामि भवता शिक्षामित्यभ्युपगमवचनं । मिच्छादुक्कडं मिथ्या विफलं भवतु मम दुष्कृतं. शुष्मच्छिक्षावचनोद्धरणलक्षणं दुराचरणमिति प्रार्थनावचनं । वंदण भगवतः प्रसीदत, नमस्तत्र भवद्भयो इत्यादि-पूजावचनं, तत्रयसल्लेखेन विज्झाहि विध्यापयोच्छिद्य ॥

अर्थ—इसलिये यह कपायाग्नि पापको अब उत्पन्न करेगी ऐसा समझकर उसक्रे उत्पन्न होते ही अर्थात् पापवर्धक कपाय उत्पन्न होते ही हे भगवन् 'मैं आपका उपदेश शिरोधार्य समझता हूं, मेरे पातक मिथ्या होवें मैं आपको वंदन करता हूं ऐसे वचनरूप सल्लेखे शान्त करना चाहिये.

तह चेव णोकसाया सद्धिहियव्वा परेणुवसमेण ॥

सण्णाओ गारवाणि य तह लेस्साओ य असुहाओ २६८ ॥

संलिख्यं गौरवं संज्ञा नोकपाया महाभटाः ॥

समस्ता निदिता लेख्या समाधानं यता सता ॥ २६८ ॥

विजयोदया—तद्देव णोकसाया तथैव नोकपायाः तनूकर्तव्याः । परेणुवसमेण परेणोपशमेन । संज्ञा, गार-  
वाणि, अशुभाश्च लेख्या , हास्यरत्नपरितिशोकमयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकवेदा नोकपाया इत्युच्यते । आहारभयमैथुन  
परिग्रहाभिलाषाः संज्ञा । क्रद्वौ तीमाभिलाषो, रसेषु, सुखे च गारवशद्वेन उच्यते ॥

कपायवत्त्वार्थभ्रंशकरत्वाविशेषात्रनोकपायादीनामपि मुमुक्षोः सल्लेखनीयत्वमाख्याति—

मूलारा—णोकसाया हास्यरत्नपरितिशोकमयजुगुप्सास्त्रीवेदपुंसकवेदाख्या नव । परेण उच्छेदेन । उवसमेण  
उदयोन्मुखावनिग्रहलक्षणेन वैभाविकभावपृथग्भूतशुद्धत्वात्मभावनाप्रभवेन । सण्णाओ, अनादिसंतत्या प्रवर्तमाना-  
आहारभयमैथुनपरिग्रहाभिलाषाः । असुहाओ कृष्णनीलकपोतलक्षणाः ॥

अर्थ—कपायके समान हास्यादि नवनोकपायोंका भी उपशमन करना चाहिये अर्थात् नो कपाय भी क्रुश करने  
चाहिये. आहार, भय, परिग्रह और मैथुन इनमें अभिलाषा करना यह संज्ञाका लक्षण है. कृष्ण, नील और कपोत  
ये तीन अशुभ लेख्यायें हैं. हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नव  
नोकपाय हैं. क्रद्विमें तीव्र अभिलाष होना, रसोंमें तीव्र अभिलाष होना और सुखमें आसक्ति होना इनको गारव  
कहते हैं. ये नोकपाय, संज्ञा, लेख्या और गारव उत्पन्न होते ही इनको उत्कृष्ट उपशमके द्वारा क्रुश करना चाहिये.

परिवाद्धिदोवधाणो विगडसिराणहारुपासुलिकडाहो ॥

सल्लिहिदतणुसरीरो अज्झप्परदो हवदि णिच्चं ॥ २६९ ॥

वार्धितावग्रहः साधुः प्रकटास्थिसिरादिकः ॥

तनूकृतसमस्तांगो भवत्यध्यात्मनिष्ठितः ॥ २६९ ॥

विजयोदया—परिवाद्धिदोवधाणो परिवाद्धितावग्रह. अन्यथा पाठ परिवाद्धिवाघाणो परिवाद्धितावधान । विय-  
डसिराणहारुपासुलिकडाहो प्रकटीभूता महत्य अल्पाश्च सिरा , पार्श्वोस्थिसहस्रतय कटास्थिदेशाश्च यस्य । सल्लिहिदत-  
णुसरीरो सम्यक्तनूकृत शरीरं यस्य स. । अज्झप्परदो अध्यत्मध्यान तत्र रत । होइ भवति । णिच्चं नित्यं ॥

कायकेशविशेषानुष्ठानेन कृशतरीकृतशरीरोऽपि विशुद्धपरिणामसंतत्या प्रवर्तमानो मुमुक्षुः संततं सद्ब्रह्म  
निष्ठितो भवति इति कपायसल्लेखनानुविद्धकायसल्लेखनामाहात्म्यं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—परिवट्टिदेवहाणो संसारावहरहृत्कृषितमुपधानमवग्रहो येन । परिवट्टिदेवहाणो इत्यत्र पाठे परिव-  
द्धितप्रमादपरिहार इत्यर्थः । वियड प्रकटीभूता । पणहार स्नायुः । पासुलि पाथोस्थिसंहतिः । कडाहो कटाक्षदेहाः । नि-  
तंबसमीपदेश इत्यन्त्ये । सल्लिहिदतणुसरीरो तडुसल्लेखनारंभात्प्रागपि तपोविशेषैः कृशं यच्छरीरं तदेव तदा सम्यगवशीकृतं  
यस्य येन वा ॥

अर्थ—जिसने प्रतिदिन अनशनदि ब्राह्म तपोके नियम बुद्धिगत किये हैं; अथवा जिसने प्रतिदिन प्रमा-  
दका परिहार अधिकाधिकरूपसे बढ़ाया है, बाह्य तप करनेसे छोटी और बड़ी सिराये, शरीरकी दोनो पसवाड़े की  
हड्डियां, और नेत्रके अस्थि स्पष्ट दीख रही है, ऐसा वह क्षपक निर्दोष शरीरसंश्लेखना करके अध्यात्मध्यानमें तत्पर  
होता है अर्थात् क्षपक शरीर संश्लेखनाके साथ कथाय संश्लेखना भी प्रमादका नित्य त्याग कर करता है,

एवं कदपरियम्मो सम्भंतरवाहिरिम्मि सल्लिहणो ॥  
ससारमोक्खबुद्धी सव्ववरिह्णं तवं कुणदि ॥ २७० ॥  
वाह्यामाभ्यन्तरीं कृत्वा योगी संश्लेखनामिति ॥  
संसारत्यजनाकांक्षी प्रकृष्टं कुरुते तपः ॥ २७० ॥

इति संश्लेखनासूत्रम् ॥

विजयोदया—एवं कदपरियम्मो एवमुक्तेन क्रमेण कृतपरिकर । सम्भंतरवाहिरिम्मि सल्लिहणो अभ्यन्तरसंश्लेखना-  
सहितताया वाह्यसंश्लेखनाया । संसारमोक्खबुद्धी संसारत्यागे कृतबुद्धि । सव्ववरिह्णं तवं सर्वभ्यस्तपोभ्यः उत्कृष्ट तपश्चर-  
ति । संश्लेहणा सम्मत्ता ।

मूलारा - संसारमुक्खबुद्धी संसारत्यागकृतमतिः । सव्ववरिह्णं सर्वभ्यस्तपोभ्य उत्कृष्टं धर्मशुद्ध्यानलक्षणं ।  
संश्लेखना सूत्रतः ११ अंकतः । ६६ ॥

अर्थ—इसतरहसे शरीर संश्लेखना और कथाय संश्लेखनामें जिसने बाह्यतपका आचरण कर अभ्यास किया  
है संसारका त्याग करनेमें जिसने अपनी बुद्धि एकाग्र की है ऐसा वह क्षपक सर्वतपोसे उत्कृष्ट तप अर्थात् उत्कृष्ट  
धर्मध्यान और उत्कृष्ट शुक्लध्यान करता है,

सहस्रानांतरं कार्यमुपदिशति—

बोडुं गिलादि देहं पव्वोढव्वमिणमसुचिमारोत्ति ॥

तो दुक्खभारभीदो कदपरियम्मो गणमुवेदि ॥ २७१ ॥

न शक्वनोम्यशुचि त्याज्यमिदं बोडुं महत्क्षयि ॥

विचिन्त्येति नपुस्त्यक्तुं गणं याति कृतक्रियः ॥ २७१ ॥

विजयोदया—बोडुं गिलादि देहं शरीरोद्धनद्वयपरिहितः । पव्वोढव्वं इणमसुद्धमारोत्ति परित्यागाहमिव अशुचि-  
भारभूतं शरीरमिति कृतचित्तः । पञ्चाहुः खमारभीदो दु खमाज्जनच्छरीराद्रीतः । कयपरिकम्मो कृतसमाधिमरणपरिकरं ।  
गण शिष्यवृन्दं । उवेदि ढोक्ते । अन्येषा पाठः 'बोडु गिलाभि देहं' इति, ते व्याख्यानयंति—शरीरं बोडु अकृतादरोऽस्मि ।  
पव्वोढव्वमिणमसुद्धमारोत्ति परित्याज्यमिदं अशुचिभारभूतं शरीरमिति कृतनिश्चयः ।

अथैव नित्यसृत्यर्थं नवश्लोकानिमान्यते—

कपायान् ज्ञानसर्वेगाद्युपयोगेन संलिखेत् ॥

समाधिभृतये बाह्यतपसा संलिखेद्वपु ॥ १ ॥

उदयोपायमुत्तिस्तामुदयं च तुदत्सदा ॥

कपायनोकपायाणा तपस्तप्येत तत्त्ववित् ॥ २ ॥

ऋरत्वाद्यात्मनां भावक्रोधादीनां प्रवर्तिनः ॥

द्रव्यक्रोधादिपाकस्य हेतुं द्रव्यार्थकं त्यजेत् ॥ ३ ॥

उत्पित्तसूकोपहास्यादीन्भेदविज्ञानसज्जितैः ॥

जयेत्क्षमायैः सकेलशकारितच्छिक्षातनैः ॥ ४ ॥

कपायानात्मनो त्याज्यालम्बनोरीपिनोद्धतान् ॥

तदोपभावनैर्भिदाद्गुर्वोदेर्वितयादिभिः ॥ ५ ॥

निश्चिकित्सस्य कोपाद्या बर्धमानान्यथामयम् ॥

श्रुतं दृष्टं च संहृत्य द्वाधयंति भवामयम् ॥ ६ ॥

छिद्यत्तद्विहामुत्राप्यपायावधमावनैः ॥

सज्ञाश्चतस्रो दुर्लभ्यस्तिष्ठश्चासंगता गतः ॥ ७ ॥

भावेयच्छुद्धचिद्रूपं स्वात्मावं नित्यमुद्यतः ॥

रागाद्यदुःशत्रूणामनुपत्यै क्षयय च ॥ ८ ॥

निश्चयात्संविदानंदाद्वयरूपं तदस्स्यद्गम् ॥

ब्रह्मेति संवताभ्यासात्कश्चित्तुल्यमनुते ॥ ९ ॥

इत्थं कृत्वात्संस्कारं कर्षितागकपायक ॥

शिवाशाधरसंस्तुत्य सूरिपूतः स्वमुद्धरेत् ॥ १० ॥

इत्याशाधरानुसूतप्रथमं दर्भं मूलाराधनादर्पणे पदप्रेमार्थप्रकाशकीकरणप्रवणे आत्मसंस्कारसंश्लेषनाविधिवि-  
धायको नाम तृतीय आश्वासः समाप्तः ॥

### अथ चतुर्थ आश्वासः ।

सुभाषितमनाः शमी स्वसदृशाय पाल्येऽर्पिते ॥

कृतसमणशासनः परगणप्रवेशयत

सुभार्ग्यं गुरुमुत्तमं विधिविदादृतस्तेन यो ।

विशोधयति सत्यं स पदमाप्नुमेवेप्सितम् ॥ १ ॥

अथ संश्लेषानन्तरणीयाचार्यकपरित्यागकमोपेदशार्थं गाथापंचकमाचरे—

मूलारा—बोदुमित्यादि । उवेदि उपैति ढोक्ते । कोऽसौ कदपरिमो कृतसमाधिभरणपरिकरो मुनिः । कं ?  
गणं स्वशिष्यद्वन्द्वं । किंविशिष्टः सन् । दुःखमारसीदो दुःखभाजनाच्छरीराश्रस्तः । कुतो हेतोः ? ततः इति शब्दो हेत्वर्थः ।  
यतो गिलाटि ग्लायति क्षीणहर्षो भवति । कोऽसौ ? कृतपरिकर्मा । किं कर्तुं ? बोदुं धर्तुं । किं तत् ? इणं इदं देहं । किं-  
विशिष्टं पन्वोढव्यं परित्यागाहं । कुतः असुहृद्भारोति दोषधातुमलमूलत्वादपवित्रमौदारिकत्वाद्भारभूतम् यतः

अथवा अशुचीता भारः संघातः । अन्ये तु गिलासीति पठित्वा इत्यमर्य कथयन्ति । गिलासि देहं वोढुं अकृतादरोऽस्मि न शक्नोमि वा । यतः परित्याज्यमिदं अशुभमिति कृतनिश्चयः । तो ततः सहेखनानंतरं गणमुपैति ।

सहेखनाके अनंतर करनेके कार्यका उपदेश करते हैं—

अर्थ—यह देह अपवित्र पदार्थोंसे भरा हुआ है और भारभूत है ऐसा समझकर वह सहेखना करनेवाला मुनि शरीरको धारण करनेमें हर्षरहित होता है, दुःखका पात्र ऐसे शरीरसे भयभीत होकर समाधिभरणकी सामग्रीको अपनाता है, और अपने शिष्योंके पास जाता है.

सहेहणं करंतो जदि आयरिओ हवेज तो तेण ॥

ताए वि अवत्थाए चित्तेदब्बं गणस्स हिंयं ॥ २७२ ॥

अपि संन्यस्यता चित्तं हितं संघाय सूरिणा ॥

परोपकारिता सद्भिः प्राणान्तेऽपि न मुच्यते ॥ २७२ ॥

विजयोदया—सहेहणं करंतो सहेखना कर्तुमुद्यतः । जद यदि । आयरिओ हवेज आचार्यो भवेत् । तो तत. । तेण तेन । ताए चित्तामपि । अवत्थाए अवस्थाया । चित्तेयब्ब चित्तनीय । गणस्स गणस्स । हिंयं हितं ।

सहेखना कर्तुमुद्यतो द्विधा भवत्याचार्य इतरश्च । तत्र अनार्योः स्वचित्तविक्षेपकारण परित्यजेत् । आचार्य पुनः गणायामि हितं चित्तयेदित्यनुशास्ति ।

मूलरा—ताएवि तस्यामपि देहत्यागोयोगलक्षणायाम् ।

अर्थ—सहेखना करनेके लिए उद्युक्त हुआ क्षपक यदि आचार्य पदवी का धारक होगा तो उसने उस अवस्थामें भी-क्षपककी अवस्थामें भी अपने गणके हितकी चिन्ता करनी चाहिए.

कालं संभावित्ता सब्बगणमणुदिसं च वाहरिय ॥

सोमतिहिकरणक्खत्तविलग्गे मंगलोगासे ॥ २७३ ॥



विजाय कालसाहय समस्तं गणमात्मना ॥

आलोच्य सहस्रं भिक्षुं सन्नर्थं गणधारणे ॥ २७३ ॥

विजयोदयः—काल गणपति आत्मन आनु नियति विचार्य । सन्नर्थं सर्वगणं अनुष्ठितं च तालाचार्यं च ।  
वाच्यं व्याटल । सोमनिष्ठं गणन च विचार्य सोमं दिने, जगणे, नक्षत्रे, तिथि । मंगलोभासे शुभे देशे ।  
गणानुपालनाय स्वपदे अनुदिश प्रतिष्ठापितं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—कालं संभावित्वा आत्मन आनु स्थितिं विचार्य । वाहरिय आकाशं । मंगलोभासे शुभे देशे ।

अर्थ—अपनी आयु अभी कितनी रही है इसका विचार कर तदनंतर अपने शिष्यसमुदायको और अपने स्थानमें जिसकी स्थापना की है ऐसे बाल आचार्यको बुलाकर सौम्यतिथि, करण, नक्षत्र और लग्नके समय शुभप्रदेशमें—

गच्छाणुपालणार्थं आहोदय अत्तगुणसमं भिक्खू ॥

तो तस्मि गणविसर्गं अप्पकहाए कुणदि धीरो ॥ २७४ ॥

प्रदेशे पावनीभूते चारुलगादिके दिने ॥

गणं निक्षिपते तत्र स्वल्पां कृत्वा कथां सुधीः ॥ २७४ ॥

विजयोदय—गच्छाणुपालणार्थं गच्छानुपालनार्थं । आहोदय विचार्य । अत्तगुणसमं आत्मनो गुणे समान ।  
भिक्खू भिक्षुं । तो तत् । तस्मि तस्मिन् । गणविसर्गं गणत्यागं । अप्पकहाए बलपया कथया । कुणदि धीरो करोति  
धीर । अन्ये तु वदन्ति अत्मन कथयेति ।

मूलारा—आमोगिय विचार्य । अत्तगुणसमं आत्मगुणैः कृत्वा समानं । उक्तं च

ज्ञानविज्ञानसंपन्नं स्वगुरोराभिसम्मतं ॥

विनीतो धर्मशीलश्च य सोऽर्हति गुरोः पदम् ॥

तो व्याहरणानंतरं । गणविसर्गं गणत्याग । अप्पकहाए अलपया कथया ।

अर्थ—अपने गुणके समान जिसके गुण हैं ऐसा वह बालाचार्य गच्छका पालन करनेके लिये योग्य है ऐसा  
विचार कर उसपर अपने गणको विसर्जित करते हैं अर्थात् अपना पद छोड़कर संपूर्ण गणको बालाचार्यकालिये छोड़

देते हैं, अर्थात् बालाचार्य ही यहांसे उस गणका आचार्य समझा जाता है, उस समय पूर्वाचार्य उसको थोड़ास उपदेश भी देते हैं,

किमर्थमेवं प्रयतते स्मरि. ?

अव्वोच्छित्तिणिमित्तं सन्वगुणसमोयरं तयं णच्चा ।

अणुजाणेदि दिसं सो एस दिसा वोत्ति बोधिच्चा ॥ २७५ ॥

अविच्छेदाय तीर्थस्य तं विज्ञाय गुणाकरं ॥

अनुजानाति संवोध्य दिगयं भवतामिति ॥ २७६ ॥

इति दिक्सूत्रम् ।

विजयोदया—अव्वोच्छित्तिणिमित्तं धर्मतीर्थस्य ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकस्य न्युच्छित्तिर्मा भूदित्येवमर्थ । सन्व-  
गुणसमोयरं सर्वगुणसमन्वितं । तंगं तक्कं णच्चा शात्वा अणुजाणेदि अनुज्ञा करोति । दिस आचार्य । सो स. पप. । दिसा  
आचार्य । वोत्ति युष्माकमिति । बोधिच्चा बोधयित्वा ॥ दिसा समच्चा ॥

किमर्थं कयं चोत्तमायोद्यत एलाचार्योय गणं समर्पयतीत्यत्राह—

मूलारा—अव्वोच्छित्तिणिमित्तं धर्मतीर्थस्य अविच्छेदार्थं । समोयरं समन्वितं । स्थानं वा । तंगं तं । अणुजा-  
णादि पालयतु भवानिमं गणं इत्यनुमन्यते । अधीच्छति वा । दिसं एलाचार्य । एस दिसा वोत्ति बोधिच्चा एप आचार्यो  
युष्माकमिति बोधयित्वा सानुरूपं प्रतिपाद्य शिष्यानिति शेष । दिक् सूत्रतः १२ अंकत. ५ ॥

अर्थ—धर्मतीर्थं सम्पददर्शन, सम्पदज्ञान और चारित्र स्वरूपी है. इसका नाश नहीं होवे, इस  
की परिपाटी अखंडरूपसे चलनी चाहिये इसलिये इसलिये बालाचार्यको सर्व गुणोंसे परिपूर्ण समझकर यह तुम्हारा आचार्य  
है ऐसा गणको समझाते हैं. यदि पूर्वाचार्य अपने स्थानमें अपनी योग्यताके धारक शिष्यकी योजना न कर ही  
समाधिमरणके लिये संघको छोड़कर चले जायेंगे तो संपूर्ण गणके रत्नत्रयधर्मका नाश होनेसे धर्मतीर्थका ही  
विच्छेद होगा अतः मेरे स्थानपर मैंने इस योग्य शिष्यको स्थापना है और वह अवसे तुम्हारा आचार्य है ऐसा कह  
कर वे सर्व गणकी धृमा मांगते हैं. इसका वर्णन इस प्रकार है. ( दिशा नामक प्रकरण समाप्त हुआ है. )

क्षमाग्रहणक्रमं निरूपयति—

आमंतेऊण गणं गच्छस्मि य तं गणं ठवेदूण ॥

तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्डाउलं गच्छं ॥ २७६ ॥

स फलं गणमामन्व कृत्वा गणिनिवेशनं ॥

स त्रिधा क्षमयत्येवं बालवृद्धाकुलं गणं । २७६ ॥

विजयोदया—आमंतेऊण गणि आमज्य आचार्यं । गच्छस्मि य गणे । त गणि ठवेदूण आत्मनानुज्ञातं स्थापयित्वा, स्वयं पृथग्भूत्वा । तिविधेण प्रमावेदि नु स बालउड्डाउल गच्छं मनोवाक्तायेग्रहयति क्षमां स बालवृद्धैः सक्रीर्णं गणं ॥

अथ समधिसमार्थिनो सुमुक्षोः कृतात्मसंस्कारस्य सन्यवशीकृतकायकपायस्य प्रतिसूरिसमर्पितशिष्यवृत्तस्य परगणं गन्तुमनसश्चिरसंवासदोषसंभाव्यमानांतःकालुष्यफलं कणक्षमणाक्रमं गाथात्रयेणोपदिशति तत्रापि सुरेगेणक्षमण-विधिं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—तं गणपालनाय स्वयमनुज्ञातं । ठवेदूण गणमध्ये निवेदय स्वयं च पृथग्भूत्वा । समोवेदि क्षम ग्राहयति स बृहदाचार्यः ॥

अर्थ—उस नवीन आचार्यको आमंत्रणकर और उसको गणके बीचमें स्थापन कर और स्वयं अलग होकर बालपुनि, बृद्धपुनि, इत्यादिकोंसे पूर्ण ऐसे गणस्त्री मन, वचन, कायसे क्षमा मांगते हैं

जं दीहकालसंवासदाणु ममकारणेहरागेण ॥

कडुगपरसं च भणिया तमहं सव्वं खमावेमि ॥ २७७ ॥

यदीर्घकालसंवासममत्त्वस्नेहरागतः ॥

अप्रियं भणितं किंचित्तत्सर्वं क्षमयामि वः ॥ २७७ ॥

विजयोदया—जं दीहकालसंवासदाण दीर्घकाल म्हा सत्रासेन यज्ञात ममत्वं, स्नेहो, व्रते, गमश्च तेन । ज यत् फडुगपरसं च भणिया फडुग परस वा वच भणिताः । त तत् गुगमन् । मन्त्र सर्वान् । ममात्रेमि क्षमा ग्राहयामि ।

१ कडुग इत्यसाम्पारन्य भणिता इत्येतावत्पर्यन्ता वाक्यपत्तिः कपुस्सफे नास्ति ।

मूलारा—ममकार ममेमे इति बुद्धिः । गेहारागेण स्नेहेन प्रणयेन, रागोपायनिवारणभिलाषः कल्याणप्रापण-  
मनोरथश्च तेन । भगिदा भाषिता शृयं । तं भो सबवे तत्कटुकपरुषभाषणं युष्मान्सर्वान्क्षमयामि तज्जनितकालुष्यरहिता-  
न्करोमीत्यर्थः ।

अर्थ—हे मुनिगण ! तुम्हारे साथ मेरा दीर्घ कालतक सहवास हुआ है इसलिये मैंने ममत्वसे, स्नेहसे, द्वेषसे  
आपको कटु और कठोर वाक्य कहे होंगे इसलिये आप सर्व मेरे ऊपर क्षमा करेंगे ऐसी आशा है, मेरे कटु कठोर  
भाषणसे आपके मनमें कलुषभाव उत्पन्न हुआ होगा तो उसको त्याग कर मेरे अपराध की आप क्षमा करो

गणेन सपाद्यक्रममाचष्टे—

वंदिय गिसुडिय पडिदो तादारं सब्वच्छलं तादिं ॥

धम्मयारियं गिययं खामेदिं गणो वि तिविहेण ॥ २७८ ॥

प्रणम्य पतितः संघस्त्रातारं वत्सलं यतिम् ॥

धर्माचार्यं निजं सर्वं सम्यक् क्षमयति त्रिधा ॥ २७८ ॥

इति क्षमणासूत्रम् ।

विजयोदया— वदिय गिसुडिय पडिदो अथिवय संकुचितपतितः । तादारं संसारदुःखात्तातारं । सब्वच्छलं  
सर्वंगा वत्सलं । तादिं यतिं । धम्मयारियं दशविधे उत्तमक्षमादिके धर्मे खयं मवृत्तं अत्येयां प्रवर्तक । गिययं आत्मीय ।  
आत्मीय । खामेदिं गणो वि तिविहेण क्षमा ग्राहयति गणस्त्रिविधेन । खमावणा समत्ता ॥

गणेन कार्यमाणस्य क्रममाह—

मूलारा—वंदिय गिसुडिय पडिदो वंदित्वा संकुचितपतितः प्रणम्य भूतलस्यपंचांगोभूत इत्यर्थः । तादारं  
संसारदुःखाद्वर्त्तकं । तादिं यतिं । गिययं निजं ॥ क्षमणा सूत्रतः ॥ २७३ ॥ अंकतः ३ ॥

गणने भी आचार्य क्षमाके अनंतर कोनसा विधि करना चाहिये उसका वर्णन—

अर्थ—वंदना करके भूतलपर पंचांगोंका जिन्होंने स्थापन किया है अर्थात् प्रथम वंदना करके अनंतर  
पंचांग नमस्कार जिन्होंने किया है ऐसे वे गणके सर्व मुनिजन संसारदुःखसे रक्षण करनेवाले, सर्वके ऊपर प्रेम

रखनेवाले, उत्तमक्षमादिक दश प्रकारके धर्ममें स्वयं प्रवृत्त होकर गणको प्रवृत्त करनेवाले ऐसे अपने पूर्वाचार्यको मन वचन कायसे क्षमा मांगते हैं. क्षमाणा प्रकरण समाप्त हुआ.

आश्वासः

४

अनुशासननिरूपणार्थ उत्तरप्रबंधः—

संवेगजिणियहासो सुत्तथविसारदो सुदरहस्सो ॥

आदद्धचित्तओ वि हु चित्तेदि गणं जिणाणाए ॥ २७९ ॥

स सूत्रार्थरहस्यज्ञः स्वार्थनिष्ठोऽपि यत्नतः ॥

संविमिश्रितयत्येवं गणं धीरो जिनाज्ञया ॥ २७९ ॥

विजयोदया—संवेगजिणिदहासो संसारभीरुतया करणभूतया उत्पादितहासः । परिग्रहेऽस्मिन्त्यक्ते अभ्यंत-  
राश्च रागादय निमित्तापायादपयाति । तदपगमात्तन्मूलस्थितीनि कर्माणि प्रलयमुपवर्जति । तेषु नेष्टेवैव चतुर्गतिभ्रमं  
नक्ष्यति इति विजितहर्षः । सुत्तथविसारदो सूत्रे जिनप्रणीते तदर्थं च विसारदो निपुणः । सुदरहस्सो श्रुतप्रायश्चित्तग्रंथः ।  
आदद्धचित्तओ वि हु आत्मप्रयोजनचिन्तापरोऽपि । चित्तेदि गणं जिणाणाए जिनामाज्ञया गणचिन्ता करोति ।

अथ परगणं प्रस्थातुमुद्यतेन गुरुणा गणस्य संपाद्यमानुशासनं गाथानामेकोत्तरशतेन निरूपयति तत्र तावदुप-  
क्रममाह—

मूळारा—संवेगजणिदहासो संसारभीरुतया करणभूतयोत्पादितो हासो ह्येव येन । अस्मिन्वाहापरिग्रहे त्यक्ते  
निमित्तापायादंतरंगा रागादयोऽपगच्छन्ति, तदपगमात्तन्मूलस्थितीनि कर्माणि नश्यन्ति, तेषु च नेष्टेवैव चतुर्गति-  
भ्रमणं नश्यतीति संजातप्रमोद इत्यर्थः सुदरहस्सो श्रुतप्रायश्चित्तग्रंथः । चित्तेदि इति कर्तव्यतानिरूपणेन अनुगृह्णाति ॥

उपदेशका निरूपण करनेके लिये उत्तरप्रबंध—

अर्थ—संसारसे भययुक्त होकर परिग्रहविषयक हर्षका जिन्दगेने त्याग किया है. जिनेश्वरने कहे हुये  
सूत्रोंमें अर्थात् आगममें और जीवादिक पदार्थोंमें जिन्दगेने निपुणता प्राप्त कर ली है अर्थात् जिनागम और जीवा-  
दिकपदार्थोंका जो ज्ञाता है, प्रायश्चित्त ग्रंथका जिन्दगेने श्रवण किया है. ऐसे आचार्य आत्महितकी चिन्तामें तत्पर  
होते हुये भी जिनाज्ञाकी अनुसार चतुर्विध संधकी चिन्ता करते हैं. ये आचार्य संसारसे भययुक्त होकर परिग्रहोंक

४९६

त्याग करते हैं। परिग्रहोंका त्याग होनेसे रागादिक विकार दूर होते हैं। कारण निमित्त नष्ट होनेसे उत्पत्ति होनेवाला कार्य भी नष्ट होता है। रागादिकोंका नाश होनेपर उनसे जिनका स्थितिविध आत्मामें होता है ऐसे कर्म भी नष्ट होते हैं। कर्मोंका अभाव होनेपर चार गतिओंमें जीवका प्रमण होना बंद पड़ता है। इसलिये संवेगयुक्त आचार्य परिग्रहविषयक हर्षका त्याग करते हैं।

गिद्धमधुरगभीरं गाहुगपल्हादणिज्जपत्थं च ॥

अणुसिद्धिं देइ तहिं गणाहिदणो गणस्स वि य ॥ २८० ॥

गंभीरां मधुरां स्निग्धां आश्यामानंददायिनीं ॥

अनुशिष्टिं ददात्येवं स गणस्य गणेशिनः ॥ २८० ॥

विजयोदया—णिज्जं स्नेहसहिता । मधुरं माधुर्यसमन्विता । गभीर सारथ्यवत्तया शुद्धीतगाभीर्यी । गाहुगं प्राद्विका सुखावयोथा । पल्हादणिज्जपच्छ च । चेत्त मल्हादयिथायिनी । पत्थ पत्थया हितां । अणुसिद्धिं देइ अनुशिष्टिं ददाति । तहिं तस्मिन्पूर्वोक्ते देतो काले च । गणाहिदणो गणस्स वि य गणाधिपतये गणाय च ॥

कीदृशीमनुशिष्टिं कस्मै स ददाति इत्यत्राह—

मूलारा—गिद्धमधुरगभीरं स्नेहला, श्रोतृहृदयप्रिया, सारथ्यवत्तया अस्पृष्टतला च । गाहुग प्राद्विका श्रुतित्यर्थे-निश्चायनसमर्था । आश्यामित्यन्ये पठन्ति । पल्हादणिज्ज आनंदकरा । पत्थं मार्गानुगामिनीं ॥ तहिं तस्मिन्पूर्वोक्ते सौम्य-विध्यविद्युक्तकाले शुभप्रदे च ॥

अर्थ—आचार्य गणत्याग करनेके पूर्व बालाचार्य और गणको जो उपदेश करते हैं उसका ग्रंथकार इस गाथासे वर्णन करनेका प्रारंभ करते हैं—आचार्यका उपदेश, स्नेहसहित, मधुरतासे भरा हुआ, सारयुक्त अर्थसे भरा हुआ और गंभीर रहता है। उसका अभिप्राय सुखसे जाना जाता है। वह मनको आनंदित करनेवाला और हितकर होता है। आचार्य उत्तम तिथि नक्षत्रादि समयमें और उत्तम स्थानमें गण और बालाचार्य को अभ्यंत्रण देकर आगे कहा हुआ उपदेश देते हैं।

वद्धुतओ विहारो दंसणणचरणेसु कायव्वो ॥

कप्पाकप्पठिदाणं सव्वेसिमणादे मग्गे ॥ २८१ ॥

रत्तन्नये विधातव्वं वर्द्धमानं प्रवर्तनम् ॥

कल्पाकल्पप्रवृत्तानां सर्वेषामागमिष्यति ॥ २८१ ॥

विजयोदया—वद्धुतगो विहारो कायव्वो वर्धमानविहार- कार्य । क ? सव्वेसि कप्पाकप्पठियाण अणागदे मग्गे सर्वेषां प्रवृत्तिनिवृत्तिस्थिताना मुक्तिमार्गे । प्रमत्तसंयतादिगुणस्थानापेक्षया विचित्रो यतिधर्म । दंसणवदसामाधिकविक्लपेन प्रवृत्तिधर्मोपि विचित्ररूप । तस्य सकलस्योपादान सर्वेषामित्यनेन । कोऽसौ मार्ग इत्याशंकायामाह-सामान्येन दंसणणचरणेसु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु चतुर्विकल्पगणोद्देशेनायमुपदेशः ।

चतुर्विधगणमुद्देश्योपदेशमाह—

मूलारा—विहारो अनुष्ठानं । कप्पाकप्पठिदाणं योयायोग्यवस्तुप्रवृत्तिनिवृत्तिनिष्ठिताना । युष्माकं युष्माभिः कर्तव्य इत्यर्थः । अणागदे मग्गे आगमिनि रत्तन्नये मार्ग इति समान्यस्य दर्शनेत्यादिना विशेषितत्वात् ॥ तथा चोक्तम्—

रत्तन्नये विधातव्वं वर्द्धमानं प्रवर्तनम् ॥

कल्पाकल्पप्रवृत्तानां सर्वेषामागमिष्यति ॥

अर्थ—प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गमें रहनेवाले मुनि और गृहस्थोंके आगमि रत्तन्नय मार्गमें हे मुनिगण ! आप उत्तरोत्तर वृद्धिगत होने वाली प्रवृत्ति करो, तथा दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, और चारित्र्याराधनामें वृद्धिगत होनेवाली प्रवृत्ति करो.

प्रमत्त संयत्त, अप्रमत्त संयत्तादि गुणस्थानोंकी अपेक्षासे यतिधर्मके भी अनेक प्रकार होते हैं, और दर्शन, व्रत, सामायिक वगैरह विकल्पोंसे गृहस्थका प्रवृत्तिधर्म भी अनेक प्रकारका है, गाथामें 'सव्वेसि' ऐसा पद है इससे प्रवृत्ति निवृत्त्यात्मक और विकल्पसहित गृहस्थधर्म और मुनिधर्मका संग्रह होता है.

१ वद्धुतगो इत्यत आरभ्य स्थिताना एतावत्पर्यन्ता वाक्यपर्यन्तिः कपुत्सके नास्ति ।

सूर्ये कथयति—

संखित्ता वि य पवहे जह वच्चइ वित्थरेण वडुंती ॥

उदधिं तेण वरणदी तह गुणसीलेहिं वडुहाहि ॥ २८२ ॥

संक्षिप्तेहादितोऽभोधिं गच्छन्तीव महानदी ॥

विस्तरन्ती विधातव्या गुणशीलप्रवर्तना ॥ २८२ ॥

विजयोदया—सखित्ता वि य पवहे संक्षिप्तापि च प्रवाहे प्रवहत्यस्मादिति प्रवाह. उत्पत्तिस्थानं तत्र सखि मापि सती वरनदी । जह वच्चइ यथा व्रजति । वित्थरेण पृथुलतया । वडुंती वर्द्धमाना । उदधितेण यावत्समुद्रं । तह गुणसी-  
लेहिं वडुहाहि तथा शीलगुणैस्त्व वर्धस्व ।

गणाधिपमनुशासितुं द्वादशगाथाः कथयति—

मूलांश—संखित्ता वि य कृशापि । पवहे प्रवहणारंभे व्रजति । उदधिं तेण । समुद्रं यावत् । वडुहाहि  
वर्द्धस्व त्वं भो गणाधिपते ॥

बालाचार्यको आचार्यका उपदेश—

अर्थ—उत्कृष्ट नदी जहासे उत्पन्न होती है वहां छोटी रहती है परतु वह आगे गमन करते करते विस्तृत होकर समुद्रको प्राप्त होती है वैसे हे बालाचार्य ! आप भी प्रारंभमें अल्प प्रमाणसे शील, व्रत, धारण कर उत्तरोत्तर शील और गुणोंसे बढनेका प्रयत्न करो.

मज्जारसिदसरिसोवमं तुमं मा हु काहिसि विहारं ॥

मा णासेहिसि दोण्णि वि अप्पणं चेव गच्छं च ॥ २८३ ॥

मा स्म कार्भीविहारं त्वं मार्जाररसितोपमम् ॥

मा नीनशो गणं स्वं च कदाचन कथंचन ॥ २८३ ॥

विजयोदया—मज्जारसिदसरिसोवमं मार्जारस्य रसित रटन मार्जाररसित तेन सह सादृश्यं उपमा परि-



च्छेदो यस्य विद्धारस्य तन्मार्जाररसितसदृशोपमं विद्धार चरण । तुमं भवान् । मा दु काक्षिसि मा कार्यो । मार्जारस्य रसितं प्राङ्गादृक् क्रमेणापवीर्यते तद्वद्वत्त्रयभावनातिशयवती प्राक् क्रमेण मंदायमाना न कर्तव्येति यावत् । मा णाले-  
द्विस्त्री दीणिण चि अत्ताण केव गच्छे च । आत्मनो गणस्य च मा विनाश इया । प्रथममेवातिदुर्धरचारित्रतपोभावनायां प्रवृत्तो भवान् गणं च तथा प्रवर्त्यमानो नश्यति ।

मूलारा—मज्जारसिद्वमरिसोवमं मार्जाररसितेन विडालवासितेन सदृशी उपमा परिच्छेदो यस्य । यथा मार्जाररसितं प्राङ् मृदुभूय क्रमेण हीयमानं भवति, तथा रत्नत्रयभावनात्वं संपद्यते मार्कार्पोरित्यर्थः (?) ] भेत्यादि । प्रथममेव अतिदुर्धरचारित्रतपोभावनाया गण प्रवर्तयन् स्वयं प्रवृत्तः पञ्चादुश्चरया तत्र मंदायमानो मात्मानं गणं च नाश-  
यित्वसि इत्यर्थः ।

अर्थ—जैसे मार्जारका शब्द प्रथम बड़ा और नंतर छोटा छोटा होता है वैसे प्रथम रत्नत्रयभावना अति शययुक्त कर अनंतर उसमें उत्तरोत्तर मंद मंदता धारण करना आपके लिये योग्य नहीं होगा, ऐसे आचरणसे आपका, संघका और दोनोंका भी नाश होगा, प्रथम ही अतिशय दुर्धर तप और चारित्र्यमें प्रवृत्ति कर गणका और अपना भी नाश कर लेना योग्य नहीं है।

जो सघरं पि पलितं गेच्छदि विऽज्ञविदुमलसदोसेण ॥

किह, सो सद्विद्व्यो परधरदाहं पसामेदुं ॥ २८४ ॥

विध्यापयति यो वेदम नात्मीयमलसत्त्वतः

परवेदमशमे तत्र प्रतीतिः कियते कथम् ? ॥ २८४ ॥

विजयोदया—जो सघरं पि यः स्वगृह अपि । दृष्टमानमालस्यात्त वांछति विध्यापयितुं कथमसौ श्रद्धातव्य-  
परकीयगृहदाहं प्रशमयितु उद्योगं करोतीति ।

मया स्वयं मंदाचरणेनापि गणश्ररणे मंदायमानो रक्षिष्यते इति च मा मंस्थास्त्वं यतः—

मूलारा—पण्डितं दृष्टमानं । पसामेदुं प्रशमयितुमुद्योगं करिष्यति । इत्युपस्कृत्य न्याख्येयम् ।

अर्थ—जो पुरुष आलसीपनसे अपने जलते हुये घरको शांत करनेका प्रयत्न नहीं करता है वह दुसरोके जलते हुये घरको शांत करनेका प्रयत्न करेगा यह कहना कैसा श्रद्धानके लायक माना जायगा?

तस्माद्भवतैवं प्रवर्तितव्यमित्याद्ये—

वज्जेहि चयणकण्ठं सगपरपक्खे तथा विरोधं च ॥

वादं असमाहिकरं विसगिग्गभूदे कसाए य ॥ २८५ ॥

मुंश्च च्यवनकल्पं त्वं विरोधं स्वान्यपक्षयोः ॥

असमाधिकरं वादं कषायानभिस्सिम्भान् ॥ २८६ ॥

विजयोदया—वज्जेहि चयणकण्ठं वर्जयं अतिचारग्रकारं ज्ञानदर्शनचारित्रविषयं । अवाचनकाले अखाध्याय-काले वा पठन । क्षेत्रशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, भावशुद्धि वा विना । निहृदय, ग्रथार्थयोरशुद्धि, अवहुमानं इत्यादिको ज्ञानातिचारः । शंकाकाक्षाविक्रित्वास्तान्यदृष्टिप्रशस्तसंस्तथाः सम्यग्दर्शनातिचारा । समितिभावनासहितता चारित्र्यातिचारा । पते च्यवनकल्पेनोच्यते । सगपरपक्खे तथा विरोधं च धर्मस्थेषु, मिथ्यादृष्टिषु, च विरोधं वर्जयेत् । चेतःसमाधानविनाश-कारणं वादश्च वर्जनीयः । वादे प्रवृत्तो यथात्मनो जयः पराजयः परस्य वा भवति तदेवान्वेपते न तत्त्वसमाधानवान् । विसगिग्गभूदे कसाये य । कपाला हि क्रोधादयः स्वस्य परस्य च मृत्युं उपलभ्यति इति विषमृताः, हृदयं दहतीति दहन-मृतास्ताश्च वर्जयेत् ।

तथा चोक्तं—त्रिलोकमल्लाः कुलशीलशत्रवो ॥

मलानि दुर्मर्त्यतमानि चापि ते ॥

यशोहरा हानिकरास्तपस्विनाम् ॥

भवन्ति वैभोग्यकरा हि देहिनाम् ॥ १ ॥

न केवल ते परलोकलोपिनाः, इमं च लोकं कशयन्ति दारुणाः ॥

न धर्ममात्रस्य च विघ्नेहेतवो, धनस्य कामस्य च ते विघातकाः ॥ २ ॥

मूलारा—चयणकण्ठं च्यवनकल्पं सम्यक्त्वाद्यतिचारप्रकारमित्यर्थः । सगपरपक्खे धर्मस्थेषु मिथ्यादृष्टिषु च असमाहिकरं चेतःसमाधाननाशन । विसगिग्गभूदे कसाये य वादे हि प्रवृत्तो यथात्मनो जयः पराजयः परस्य वा भवति तथाान्वेपते न तत्त्वसमाधानं । विसगिग्गभूदे स्वस्य परस्य च मृत्युमुपलभ्यतीति विषमृत्यान्, हृदयं दहन्तीति दहनसदृशान् यतः ।

इसलिये बालाचार्यकी प्रवृत्ति कैसी होनी चाहिये इसका वर्णन ग्रंथकार करते हैं—

अर्थ—हे बालाचार्य ! ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यसंबंधी अतिचारोंका त्याग करो वाचना काल और स्वाध्यायकालको छोड़कर अन्य काल में पठन करना, अथवा स्वाध्याय करते समय क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि के बिना स्वाध्याय करना, ग्रंथको और पढ़ानेवाले गुरुको छिपाना, ग्रंथ अशुद्ध पढ़ना तथा अर्थका विवेचन अन्यथा करना, ज्ञान और ज्ञानवानोंका आदर न करना ये सम्प्रज्ञानके अतिचार हैं।

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिमंशता और संस्तव ये सम्प्रदर्शनके अतिचार हैं ( इनका खुलासा दर्शनविनयके प्रकरणमें आया है ) समितीकी भावनाओंका अभाव होना यह चारित्र्यातिचार है, इन सब अतिचारोंको व्यवनकल्प कहते हैं, इनका तुम त्याग करो, स्वरूपक्ष-जैनधर्मस्थ मुनिगण और परपक्ष मिथ्यादृष्टिजन इनमें विरोध भावका त्याग करो, मनके समाधानका नाश करनेवाले वादका भी त्याग करो, वादमें प्रवृत्त हुआ पुरुष अपना जय जिस उपाय से होगा और अन्यका पराजय जिससे होगा उसीको हंडता है, परन्तु वस्तुके सत्यस्वरूपको बतलाकर समाधान करना नहीं चाहता है, हे बालाचार्य ! आप विष और अग्निके समान ऐसे क्रोधादिकर्पायोंका त्याग करो ये कर्पाय अपनेको और दुसरेको मारते हैं इसलिए इनको विषसमान कहते हैं, अग्निके समान हृदय को जलाते हैं अतः इनको अग्नि कहते हैं, कर्पायके विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

ये कर्पाय त्रैलोक्यमें मछुके समान हैं, कुल और शीलके शत्रु हैं जिसको आत्मासे बड़े कष्टसे दूर कर सकते हैं ऐसे मलस्वरूप हैं, ये कर्पाय तपस्विओंका यश नष्ट करते हैं और तपका घात करते हैं, इन कर्पायोंसे प्राणि-ओंको दुर्मार्ग्य की प्राप्ति होती है।

इस कर्पायशत्रुसे परलोकका ही नाश होता है ऐसा मत समझो, ये भयंकर कर्पाय इह लोकका भी नाश करते हैं केवल ये कर्पाय धर्मभाव का ही घात कर रह जाते हैं ऐसा नहीं, इनसे काम और अर्थका, भी नाश होता है।

गणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारेसु ॥

ण चाणुदि जो ठवेहुं गणमप्पाणं गणघरो सो ॥ २८६ ॥

दर्शने चरणे ज्ञाने श्रुतसारेषु यस्त्रिषु ॥

निधातुं गणमात्मानमसमर्थो गणी न सः ॥ २८६ ॥

विजयोदया—गणस्मि य । रक्षत्रये गणमात्मानं च यो न स्थापयितुं समर्थो नैवास्ौ गणधरः । न चापदि न समर्थः । बहवो मम वशवर्तिनः सन्ति पतावता भवतो गणित्वगर्वो मायूक्षिति भावः ।

मूलारा—चाण्दि शक्नोति ।

अर्थ—सिद्धांतके सारभूत ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र्यें जो अपनेको और गणको स्थापन करनेमें असमर्थ हैं वह मुनि गणधर पदके योग्य नहीं हैं। बहुत मुनि मेरे वश हैं इस लिये मैं गणधर हूं, आचार्य हूं ऐसा गर्व तुम्हारे मनमें कभी भी उत्पन्न नहीं होना चाहिये।

कीदृक्कहिं गणधरो भवतीति चेदेवभूत इत्याचष्टे—

गणस्मि दंसणस्मि य चरणस्मि य तीसु समयसारसु ॥

चाण्दि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधरो सो ॥ २८७ ॥

दर्शने चरणे ज्ञाने श्रुतसारेषु यस्त्रिषु ॥

निधातुं गणमात्मानं शक्तोऽसौ गदितो गणी ॥ २८७ ॥

विजयोदया—स्पष्टार्थो गथा ॥

मूलारा — स्पष्टम् ॥

अर्थ—सिद्धांतके सारभूत ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यें जो अपने को और गणको स्थापन करनेमें समर्थ हैं वही गणधर हो सकता है।

पिंडं उवाहिं सेज्जं आविसोहिय जो हु मुंजमाणो हु ॥

मूलद्वणं पत्तो मूलोत्ति य समणपेत्थो सो ॥ २८८ ॥

पिंडं उवर्हिं सेज्जं उगमउप्पादणेसणादीहिं ॥  
चारिचरक्खण्डं सोधिंतो होदि सुचरित्तो ॥ २८९ ॥  
यः पिंडसुपधिं शय्यां दूषणैरुद्धमादिभिः ॥  
शृहीतिं रहितां योगी संयतः स निगद्यते ॥ २८८ ॥

विजयोदया--पिंडं आहार, उवर्हि उपकरण, सेज्जं वसति । सोधिंतो शोधयन् । उगमउप्पादणेसणादीहिं उद्गमोत्पादनपणादिभिर्दोषैः । किमर्थं शोधयति ? चारित्र्यक्षणार्थं उद्गमादिदोषं परिहरति । सुसंयत इति लोके यशो मे भविष्यतीति वा, स्वसमयप्रकाशनेन लाभो मेत्यर्थं भवतीति वा चेत्तस्य कृत्विति भाव । एवम्भूत. सुचरित्तो भवतीति यति. ॥

मूलारा--उवर्धि पिंडाद्युपकरण । सोधिंतो शोधयन् । उद्गमादिदोषरहिता. कुर्वन् ।

अर्थ--आहार, पिंडी, कर्मण्डलु वगैरे उपकरण और वसतिका इनका शोधन किए बिना न करताहुआ जो मुनि इनका ग्रहण करता है वह मूलस्थान नामक दोष को प्राप्त होता है. अर्थात् वह मुनिपदसे अष्ट होता है परंतु जो आहार, उपकरण और वसतिकाको उद्गम, उत्पादन और एषणादि दोषोंसे रहित जानकर चारित्र्यक्षण के लिये ग्रहण करता है वह सुचरित्र माना जाता है.

एसा गणधरमेरा आयास्थान वणिण्या सुत्ते ॥  
लोगसुहाणुरादणं अप्पच्छंदो जहिच्छाणु ॥ २९० ॥

समये गणिमर्यादा तेवामाचारचारिणाम् ॥  
स्वच्छंदेन प्रवर्तेत लोकसौख्यानसारिणा ॥ २८९ ॥

विजयोदया--एसा गणधरमेरा एसा गणधरमर्यादा । सुत्ते वणिग्गदा सूत्रे निरूपिता । केपा ? आयास्थानं आचारस्थाना । पंचविधे आचारे ये स्थितास्तेषां गणिना व्यवस्था सूत्रे वर्णिता । लोगसुहाणुरादणं लोकानुवर्तिना सुखे एव केवला न तेपा गणधरमर्यादा सुखादरथा शास्त्रे निर्भिद्ध तत्र ये वन्तेते स्वेच्छया तेपा अप्पच्छंदो आत्मेच्छा मनोश्चे वेदमनि वसन च तत्र रताना विपयातुराणामित्यर्थ ।

मूलारा — गणधरमेरा आचार्यमर्यादा गणिव्यवस्था इत्यर्थः । आधारस्थानं आचारस्थाना गणिनामित्यर्थः । लोगसुहृदपुरदाणं लोकानुवर्तिना सुसेप्सूना च । अथवा लोकसुखं नाम मृष्टाहारभोजनं, यथाकामं मृदुगयनासनं, सर्वतुरम्ये वेदमति वसनं च तत्र सक्ताना । लोगसुदीणिरदाणं लोकश्रुतिविदितादिशाखं । अप्पच्छंदो आत्मच्छेव केवला न सुत्रोक्ता गणधरमर्यादा । जहेच्छाए यथेच्छया लोकसुदानुतानाभित्यनेन संबधः ।

अर्थ—यह अच्छा संयत मुनि है ऐसा मेरा जगतमें यश फैले अथवा अपने मतका प्रकाशन करनेमें मेरे को लाभ होगा ऐसे भाव मनमें धारण न करके केवल चारित्र रक्षणार्थ ही निर्दोष आहारादिकोंको जो ग्रहण करता है वही सचरित्र मुनि समझना चाहिये।

ज्ञानाचारादिक पांच प्रकारके आचारोंमें जो स्थिर रहे हैं, अर्थात् पांच आचारोंका जो निर्दोष पालन करते हैं, उन आचार्योंकी जिनागममें उपर्युक्त मर्यादा कही है, परंतु जो लोकोंका अनुसरण करते हैं, और सुखकी इच्छा करते हैं उनका आचरण कुछ मर्यादास्वरूप माना नहीं जाता है, शास्त्रमें असंयमीलकोंके साथ संसर्ग और सुखमें आदर करना ये बातें मुनिओंके लिये निषिद्ध मानी हैं, परंतु इनमें जो अनुरक्त हैं वे स्वेच्छासे प्रवर्तते हैं ऐसा समझना चाहिये, उनकी गणधरमर्यादा सूत्रमें उल्लिखित नहीं है अथवा लोकसुखका अर्थ यह भी होता है—यथेच्छ भित्ताहारका भोजन करना, मृदुशय्यापर सोना, सुंदर घरमें निवास करना, ऐसे कार्यमें रत होना इसको लोकसुख कहते हैं, जो विपयासक्त मुनि हैं वे आचार्यत्वके योग्य नहीं हैं।

सीदावेइ विहारं सुहसीलगुणेहिं जो अनुद्धीओ ॥

सो गवारे लिंगधारी संजमसारेण गिस्सारी ॥ २९१ ॥

यः शिष्यानिवादतान् दोषाणामाश्रयाय दुष्टराजि तया विनीयुद्धि भूप-  
तिरहितं हारं सुखसुञ्जितः ॥ १

हीनः संयमसारेण लिंगधारी स केवलम् ॥ २९० ॥

विजयोदया—सीदावेदि मंद करोति । विहारं चारित्रं रत्नत्रये प्रवृत्ति । सुहसीलगुणेहिं सुपसमाधानाभ्यासे ।

जो अबुद्धीओ यो बुद्धिरहितः । सो णवरि लिंगधारी स बृथालिंगी भवति, द्रव्यालिंगं धारयति । संजमसारेण गिस्सारो संयमाख्येन इंद्रियप्राणसंयमविकल्पेन सारेण नि सारः । एतदुक्तं भवति—

उद्रमादिदोषदुष्टादिद्विधादिगणः संयमवैधुर्याल्लिंगधारणवैयर्थ्यं कथयति—

मूलारा—सीदावेदि िथिलयति । विहारं चारित्रं । सुहसीलगुणेहिं यथेष्टपिण्डादिप्रयोगमुखप्रवृत्तसमाधानाभ्यासैः । अबुद्धिगो बुद्धिरहितः । णवरि लिंगधारी बृथालिंगी न यतिर्न गणधर इति भावः । गिस्सारो दुरिद्रः ॥

अर्थ—यथेष्ट आहारादि सुखोंमें तल्लीन होकर जो अबुद्धि मुनि रत्नत्रयमें अपनी प्रवृत्ति स्थित करता है वह द्रव्यालिंगधारी मुनि है ऐसा समझना चाहिये इंद्रियसंयम और प्राणिसंयमसे वह निःसार है, इसका अभिप्राय यह है—

पिंडं उवर्धि सेज्जामविसोधि यो खु मुंजमाणो हु ॥  
मूलठ्ठाणं पत्तो वालोच्चिय णो समणवालो ॥ २९२ ॥

विजयोदया—य उद्रमादिदोषदुष्टमाहारं, उपकरणं, वसतिं वा शृण्वति तस्य नेन्द्रियसंयमः, नैव प्राणसंयमः, ततोऽसौ केवलं नम्रः । न यतिर्न गणधर इति निगद्यते ।

अर्थ—उद्रमादि दोषोंसे युक्त आहार, उपकरण, वसति का इनका जो साधु ग्रहण करता है जिसको प्राणिसंयम और इंद्रिय संयम है ही नहीं वह साधु मूलस्थानको प्राप्त होता है वह अज्ञानी है, वह केवल नम्र है, वह यति भी नहीं है और न गणधर ही है.

कुलगामणयरत्नं पयहिय तेसु कुणइ दु ममत्ति जो ॥  
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण गिरसारो ॥ २९३ ॥  
ममत्त्वं कुरुते हित्वा यो राजयं नगरं कुलम् ॥  
तस्य संयमहीनस्य केवलं लिंगधारणम् ॥ २९१ ॥

विजयोदया—कुलगामणयरत्न कुल, ग्राम, नगर, राज्यं च । पयद्विय परिसज्य । तेसु कुणदि ममतिं जो ग्रामादिषु पुन. य करोति ममता । मदीयं कुल, वासीदीयो ग्रामः, नगर, राज्य चेति सोऽपि केवल नम । यो हि यत्र ममता करोति तस्य यदि शोभन जात दुष्यति अन्यथा द्वेष्टि, सङ्क्षिश्यति वा । ततो रागद्वेषोलभि च वर्तमान नस्यत्यतो भवतीति भावः ।

कुलादिममकारकारिणोऽपि—

मूलारा—पञ्चाहिय त्यक्त्वा । यो हि यत्र ममता करोति तस्य शोभने जाते दुष्यति अन्यथा द्वेष्टि, संक्षिश्यते वा । रागादिमानसंयतेष्वारवात्र कथं संयतः स्यादिति भावः ।

अर्थ—जो मृनि कुल, गांव, नगर और राज्यको छोड़कर उनमें पुनः प्रेग करता है अर्थात् यह मेरा कुल है, यह मेरा ग्राम है, यह मेरा शहर है, मेरा राज्य है ऐसा संकल्प रखता है वह फक्त नम है. संयमसे रहित है. जो जिस पदार्थमें ममता करता है वह उसका शुभ होनेसे हर्षित होता है और अशुभ होनेसे द्वेष करता है अथवा संक्षेप परिणाम करता है इसलिये जो रागमात्र, द्वेषमात्र और लाभमें लीन होता है वह असंयत होता है ऐसा समझना चाहिये.

अपरिरसावी सम्मं समपासी होहि सञ्चकज्जेसु ॥

संक्ख सचक्खुंपि व सवालउड्डालं गच्छं ॥ २९४ ॥

त्वं कार्येष्वपरिस्वावी समददर्यखिलेष्वपि ॥

मृत्वा विधानतो रक्ष बालवृद्धकुलं गणम् ॥ २९२ ॥

विजयोदया—अपरिस्वावी गुरुरयमिति शका विद्वाय निगदितानामपराधाना प्रकटनं मा कृथाः । समपासी चेव होहि कल्लेसु कार्येषु सम्यक् समददर्यं च भव । सरक्ख सचक्खुंपि व परिपालय खं नेत्र इव । किं सवालउड्डालं गच्छं सवालैवृद्धैराकीर्णं गण ।

एवं संयमशैथिल्ये दोषानुद्भाव्य गणिनं गणरक्षाया नियुक्ते—

मूलारा—अपरिस्वावी आलोचितदोषाप्रकाशको भव । समपासी समदर्शी । सचक्खुंपि निजनेत्रमिव सवालवुड्डालं बालसहितैवृद्धैराकीर्णम् ।



अर्थ—हे बालाचार्य ! यह गुरु अपरिचाही है ऐसा समझकर शंकाको छोड़ कर यदि शिष्योंने अपने अपराध तुमको कहे तो उनको तुम प्रगट मत करो सब कारणोंमें समानदर्शी तुम होवो. और अपने नेत्रके समान बाल और वृद्धोंसहित सर्व गणका रक्षण करो.

णिवदिविहूणं खेतं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज ॥

पव्वज्जा च ण लब्भदि संजमघादो व तं वज्जो ॥ २९५ ॥

प्रव्रज्य संयमध्वंसि दूराजमपराजकम् ॥

न क्षेत्रमात्मनीनेन सेवनीयं कदाचन ॥ २९६ ॥

विजयोद्या—रूपतिर्वा यस्मिन्दुष्टो भवेत्तच्च क्षेत्रं पतित्यज । पव्वज्जा च ण लब्भदि जत्थ प्रव्रज्या च न लभ्यते यत्र क्षेत्रे । शिष्या न जायते तच्च । संजमघादो व जत्थ संयमस्य चोपघातो यत्र क्षेत्रे त वज्जो तत् त्यजेति । गणिशिक्षा ॥ गणिसिक्खा ।

साधूनामसेव्यं क्षेत्रमनुशास्ति ।

मूलारा—पव्वज्जा व ण लब्भदि । प्रव्रज्या वा न लभ्यते । यत्र शिष्या न जायते तदपि क्षेत्रं त्यज । अन्ये तु न लभ्यते दातुं कर्तुं ग्रहीतुं वेति व्याख्यान्ति ॥

अर्थ—जिस क्षेत्रमें राजा नहीं है अथवा दुष्ट राजा है उस क्षेत्रका तुम त्याग करो जहां प्रव्रज्या नहीं है अर्थात् शिष्य नहीं होंगे अथवा जहां संयमका घात होगा उस क्षेत्रका तुम त्याग करो. गणिशिक्षा अर्थात् आचार्यको जिसमें उपदेश दिया है ऐसा गणिशिक्षा नामक प्रकरण समाप्त हुआ.

गण शिक्षयन्त्युत्तरप्रबंधन—

कुणह अपमादमावासाएसु संजमतवोवधाणेसु ॥

गिस्सारे माणुस्से दुद्धहवोहिं वियाणित्ता ॥ २९६ ॥

मावश्यक कृथा जातु प्रमादं (वृत्त) वर्धके ॥  
विज्ञाय दुर्लभां बोधि निरारे मानुषे भवे ॥ २९४ ॥

विजयोदया—कुण्ड अपमादमावाशयेषु कुरुताप्रमादमावश्यकेषु । सज्जतवोधधानेषु समयस्य, तपसश्चाश्रयेषु । अभ्याहित समय इति पूर्वनिपात । समयं विना न तप शक्नोति ननु मुक्तिमिति सामायिकादौ प्रवर्तमानस्य समयो भवति । असयम त्यजतीति, सावयक्रियानिवृत्तौ सत्या कर्मणि तपतीति तपो भवति । नान्यथेति तपसोऽव्याश्रयः । गिस्सारे मानुस्से साररहिते मानुष्ये अनित्यतया अशुचितया मनुजाना अस्मर । तत्र दुर्लभा बोधि दुर्लभा दीक्षाभिमुपां बुद्धि । विज्ञापित्ता शान्ता ।

इतो गणं शिक्षयति—

मूलारा—कुण्ड कुरुत यूयं भो यतयः । अपमादं अवधानं । उवहाण उपधानं अवग्रहविशेषः । गिस्सारे अनित्यतया अशुचितया वा साररहिते । दुल्लभबोधि दुर्लभा दीक्षाभिमुला बुद्धिम् ।

अर्थ—हे मुनि गण ! तुम सामायिकादि छह आवश्यकोंमें प्रमादका त्याग करो क्योंकि आवश्यकिया समय और तपका आश्रयस्थान है. समय और तप इन दोनोंमेंसे समयको श्रेष्ठपना है इस लिये गाथामें समय शब्द प्रथम और तप शब्द अनंतर है. समयके विना केवल तप मुक्तिदायक नहीं है. जब मुनि सामायिकादि आवश्यकोंमें प्रवृत्त होता है तब उसको समय प्राप्त होता है और असयम का त्याग होता है. सावयक्रियाका त्याग होने पर तप कर्मको संतप्त करता है तभी उसकी तप यह संज्ञा प्राप्त होती है. अन्यथा नहीं. अतः आवश्यक क्रिया तपका भी आश्रय स्थान है. यह मनुजजन्म साररहित, अनित्य, अपवित्र है. ऐसे मनुष्यजन्ममें दीक्षा ग्रहण करनेके प्रति बुद्धि होना दुर्लभ है ऐसा जानकर पडावश्यकोंमें प्रमाद कभी भी तुम मत करो.

समिदा पंचसु समिदीसु सब्बदा जिणवयणमणुगदमदीया ॥

तिहिं गारवेहिं रहिदा होह तिगुत्ता य दंडेसु ॥ २९७ ॥

संज्ञागौरवरौद्रार्तध्यानकोपादिवर्जिता ॥

समिताः पंचभिर्गुप्तास्त्रिभिर्भवत सर्वदा ॥ २९५ ॥

विजयोदया—सम्यक्प्रवृत्ता' होह भवत । पंचसु समिदीसु पंचसु समितिषु । सव्वदा सर्वदा । जिणवयणम-  
णुगदमदीणा जिनवचनमनुगतबुद्धय । तिहिं गारवेहिं रहिया गारववरहिता' । तिगुत्ता य गुत्तिवयसमन्विता. भवत ।  
क दंडेसु अशुभमनोवाक्येषु ।

मूलारा—समिदा सम्यक् प्रवृत्ता. । तिदंडेसु अशुभमनोवाक्याव्यापारेषु ।  
अर्थ—हे मुनिगण 'तुम हमेशा पांच समितिओंमें तत्पर रहो. जिनेश्वरके वचन में अपनी बुद्धि लगाओ.

अर्थात् जिनवचनके विरुद्ध अपनी बुद्धिको मत दौड़ाओ. तीन गारवसे रहित होकर तीन गुप्तिके धारक बनो. अशु-  
भ मन वचन और शरीरकी प्रवृत्तिका त्याग करो

सण्णाउ कसाए वि य अहं रुदं च परिहरह णिच्चं ॥  
दुट्ठाणि इंदियाणि य जुत्ता सव्वप्पणा जिणह । २९८ ॥  
हृषीकदन्तिनो दुट्ठान्विषयारण्यगामिनः ॥  
जिनवाक्यकुङ्कुशेनाशु वशे कुरुत यत्नतः ॥ २९९ ॥

विजयोदया—सण्णाओ सज्ञा आहारादिविषया । कसाए वि कययानवि । अहं रुदं च अर्तं रोद्रे च ध्यान ।  
परिहरत निराकुरुत । णिच्च नित्य । दुट्ठाइ इदियाइ दुट्ठान्निद्रियाणि च । जुत्ता युक्ता ज्ञानेन तपसा च । सव्वप्पणा जिणह  
सर्वशक्त्या इन्द्रियजयं कुरुत ।

मूलारा—जुत्ता ज्ञानेन तपसा च समाहिता : । सव्वप्पणा सर्वज्ञाना, सर्वशक्त्या ।  
अर्थ—हे मुनिगण ! आहारादि चारों-संज्ञाए, चार कृपाय, आर्तध्यान और रोद्रेध्यान इनका तुम सदा त्याग  
करो. ज्ञान और तपसे दुष्ट इन्द्रियोंको अपने पूर्ण सामर्थ्यसे जीतो.

धणा हु ते मणुस्सा जे ते विसयाउलम्मि लोयम्मि ॥  
विहरंति विगदसंगा गिराउला णाणचरणजुदा ॥ २९९ ॥

धन्यास्ते मानवा मन्ये ये लोके विपयाकुले ॥

विचरति गतग्रथाश्चतुरगे निराकुलाः ॥ २७ ॥

विजयोदया—शृणुतां दुःते मणुस्सा अन्धास्ते मनुष्या । के ? जे विसयाउलमि लोयमि ये शब्दादिभिरा-  
कीर्ण जगति । विगदसगा नि सगा कचिदपि नियमे स्पर्शोद्दी । गिराउला निराकुला । पाणचरणजुदा ज्ञानेन चारित्र्येण  
च युता । ज्ञानचारित्र्ययुताना प्रशसा तत्रादर्जनसमर्था गणस्य ।

मूलारा — गिराउला निराकुलाः ।

अर्थ—स्पर्शादिक पाच इंद्रियविषयोसे भरे हुए हम जगत में ज्ञान और चारित्र्यमें तत्पर होकर विषया  
में अनासक्त रहकर निःसंग वनकर निर्व्याकुल होते हुए विहार करते हैं वे मनुष्य धन्य हैं ।

सुरसूसा गुरुण चेदियभत्ता य विणयजुत्ता य ॥

सञ्ज्ञाए आउत्ता गुरुपवयणवञ्जला होह ॥ ३०० ॥

विनीता गुरुशुश्रूषाकारिणश्चैत्यभक्तयः ॥

वत्सला भवत ध्याने स्वाध्यायोद्यतचेतसः ॥ २९८ ॥

विजयोदया—सुरसूसा गुरुण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्ये । गुरैर्गुरुतया गुरुव इत्युच्यते आचार्योपाध्यायसाधव ।  
तेषां शुश्रूषाकारिणे भवत । शुश्रूषापर्येण भाव्यं । लाभार्थिकमनोपेक्ष्य तेषां गुणेऽनुसारां कृतो भवति । गुणानुसारादर्शेन  
शुद्धितदीयत्तत्त्वयानुमनं च भवति । सुकरो क्षुणाय गुणार्जने अनुमननं नाम । चेदियभत्ता य चेत्यानि जिनसिद्धप्रति-  
विधानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि तेषु भक्ता । यथा शार्ङ्गणा मित्राणां वा प्रतिकृतिदर्शनाद्वैयो रागश्च जायते । यदि नाम उपकारो-  
ऽनुपकारो वा न कृतस्तथा प्रतिकृत्या तत्कृतपकारस्योपकारस्य वा अनुसरणे निमित्ततास्ति तद्विजिनसिद्धगुणा अनंत-  
ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वधीतरागत्वादयस्तत्र यद्यपि न मति, तथापि तद्विगणानुसरण संपादयति मादृशान् च गुणानुसरणं अनु-  
सारात्मकं ज्ञानदर्शने सन्निधापयति । ते च संवरनिर्जरे महत्तयो संपादयत । तस्मान्चेत्यभक्तिमु रयोर्गिनीं कुन्त । विगय-  
जुदा य विलय नयति कर्ममलोमिति विनयः । ज्ञानदर्शनतपश्चारित्र्यविनया उपचारविनयश्चेति पंचप्रकारे विनये युक्ता भवत ॥  
शास्त्रोक्तवाचनासाध्यायकालयोरध्ययनं श्रुतस्य श्रुतं प्रयच्छतश्च भक्तिपूर्वं कृत्वा, अवग्रहं परिगृह्य, गुरुमानं कृत्वा, निहृव  
निराकृत्य, अर्थव्यजनतदुभयशुद्धिं संपाद्य एव भाव्यमानं श्रुतज्ञानं संवर निर्जरा च करोति । अन्यथा ज्ञानवर्ण-  
स्य कारणं भवेत् ।

शंकाकांक्षादिनिरासो दर्शनविनयः । —

स च प्रयत्नेन भवद्भिः सपाद्योऽन्यथा शंकादिपरिणामा मिथ्यात्वमानयंति । दर्शनमोहनीयस्य चाक्षवा भवति । ततो मिथ्यादर्शननिमित्तकर्मवशादन्ततःसारपरिभ्रमणं दुःखमीरुणा भवता जायते । रूपरसगंधस्पर्शशब्देषु मनोव्यामनोक्षेपु सन्निहितेषु अन्ततःकालाभ्यासादालोऽप्रीतिश्च जायते । तथा कण्ठयाश्च बाह्याभ्यास्यतरे च निमित्तमाश्रित्य प्रादुर्भवन्ति । ते चोत्पद्यमानाश्चारित्र्य विनाशयन्ति । कर्मादाननिमित्तक्रियोपरयो हि चारित्र्य । रागादियश्च कर्मादाननिमित्तक्रियास्तथा अशुभमोवाक्कायक्रियाश्च कर्मादाननिमित्ता । तथा पट्टजीवनिकायवाधापरिहाराप्रतरेण गमनं । मिथ्यात्वेऽसंयमे वा प्रवर्तक वचनं साक्षात्परंपर्येण वा जीववाधाकरणं । भोजनं, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादाननिक्षेपौ शरीरमलोत्सर्गौ जीवपीडोद्घुरेता कर्मपरिग्रहनिमित्ता । क्रियाः । आसां परिवर्जनं चारित्र्यविनय । व्यवर्णिताशुभक्रियापरिवर्जनं विना चारित्र्य नाम किमारभवता तस्मादत्रोद्योगं कुरुत ॥ अनशनादितपोजनितक्लेशसहनं तपोविनय । सति सङ्करो महानाश्रवो भवेदरुणा निर्जिता । उपचारविनयादिनीत इति पूज्यते बुधैरन्यथा अविनीत इति नियते । किं च उपचारविनयं मनोवाक्कायविकल्पं यो न करोति, स गुरुन्मनसावजानाति, नाभ्युत्तिष्ठति, नागुगच्छति, नाजलिं करोति, न स्तौति, न विद्मंति करोति, गुरोरग्रत आसनमरोहति, याति पुरस्तेषां, निदति, परुषं वदति, आकाशेति वा स नीचैर्गोत्रं वज्जाति । तेन श्रवपाकचांडालादिकुलेषु गर्हितेषु, सारमेयश्रामसूकरादिषु वा जायते । न च रत्नत्रयं गुरुभ्यो लभते । विनीतं हि शिक्षयन्ति गुरवः, प्रयत्नेन मानयेति च ततो विनयपरा भवत । अविनये दोष विनये च गुणं महतीमवबुध्य सज्ज्याप आजुत्ता होह । शोभनं अध्ययनं स्वाध्याय । जीवादितत्त्वपरिज्ञानं, तदुपायभूतश्च ग्रंथ तस्मिन्स्वाध्याये आजुत्ता आयुक्ता भवत । निद्रा, हस्त्य, क्रीडा, आलस्यं, लोकयात्रा च त्यक्त्वा ॥ तथा चोक्तः—“पिह्णं बहु मणेरज्ज ह्रासं खेडं विवज्जए ॥ जोमं समणधम्मस्स जुंजे अणलसो सदा ॥” इति ॥ गुरुपवयणवच्छेदो होह गुरुप्रवचनवत्सला भवत ॥

मूलारा — सुत्सुसगा उपासकाः । गुरुणं आचार्योपाध्यायसर्वसाधूना ॥ आजुत्ता आसकाः निद्रादिकं त्यक्त्वा भवत यूयं । उक्तं च — पिह्णं बहु मणेरज्ज ह्रासतेदं विवज्जए । जोमं समण धम्मस्स जुंजे अणलसो सदा ॥

अर्थ — सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य इन गुणोंसे जो बड़े वन चुके हैं उनको गुरु कहते हैं. अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, और साधु ये तीन परमेशी गुरु कहे जाते हैं. हे मुनिगण ! आप इन गुरुओंकी शुश्रूषा करो. लाभ कीर्ति, आदर इनकी अपेक्षा छोड़कर हे मुनिगण आप शुश्रूषा करो. शुश्रूषासे गुणोंपर प्रेम होगा. गुणप्रेम करनेसे सम्यग्दर्शन निर्मल होता है. तथा गुरुओंकी शुश्रूषा करनेसे उनके रत्नत्रयके प्रति अपनी अनुमति है यह सिद्ध होता है अनुमतीसे परिश्रमके विना ही पुण्यकी प्राप्ति होती है.

हे मुनिगण आप अर्हन्त और सिद्धकी अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिमाओंपर भक्ति करो शत्रुओंकी अथवा

मित्रों की प्रतिमा या फोटो दीख पड़नेपर द्वेष और श्रेम उत्पन्न होता है, यद्यपि उस फोटोने उपकार अथवा अनुपकार कुछ भी नहीं किया है परंतु वह शत्रुक्रुत अपकार और मित्रक्रुत उपकारका स्मरण होनेमें कारण है, जिनद्वारा और सिद्धोंके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, सम्यग्दर्शन, वीतरागतादिक गुण यद्यपि अदृश्यतिमा और सिद्धप्रतिमामें नहीं हैं तथापि उन गुणोंका स्मरण होनेमें वें कारण होती हैं, क्योंकि अर्हत् और सिद्धोंका उन प्रतिमाओंमें सादृश्य है, यह गुणस्मरण अनुरागस्वरूप होनेसे ज्ञान और श्रद्धान को उत्पन्न करता है और इनसे नवीन कर्मोंका अपरिमित संवर और पूर्वसे बंधे हुए कर्मोंकी महानिर्जरा होती है, इसलिये आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेमें सहायक चैत्यमूर्ति आप हमेशा करो, हे मुनिर्मुद ! आप पांच प्रकारका विनय नित्य करो, 'विलयं नयति कर्ममल इति विनयः' जो कर्ममलका नाश करता है ऐसे कर्तव्यको विनय कहते हैं इस विनयके ज्ञानविनय, दर्शनविनय चारित्रविनय तयो विनय और उपचारविनय ऐसे पांच भेद हैं, शास्त्रमें वाचना और स्वाध्याय का जो काल कहा हुआ है उसी काल में श्रुतका अध्ययन करो, श्रुतज्ञानको वतानेवाले गुरुकी भक्ति करो, कुछ नियम ग्रहण कर आदरसे पढ़ो, गुरु और शास्त्रको छिपाकर स्वयं मैने और मेरी बुद्धिसे सब श्रुतज्ञान धारण किया है ऐसा गर्व मनमें धारण करना छोड़ दो अर्थ शुद्धि, व्यंजनशुद्धि और उभयशुद्धिके साथ श्रुतज्ञानका अध्ययन करो, विनयपूर्वक अभ्यस्त हुआ श्रुतज्ञान कर्मोंका संवर और निर्जरा करता है, यदि विनय न होगा तो दोषसहित श्रुतज्ञान ज्ञानावरण कर्मका निमित्त होता है, शंका, कांक्षा, विचिकित्सा इत्यादि दोषोंको जो हटाना वह दर्शन विनय है, इसकी आप प्राप्ति करनेमें प्रयत्न करो, नहीं तो शकादिक परिणाम मिथ्यात्वको उत्पन्न करेंगे जिससे दर्शनमोहनीयके आस्रव आकर मिथ्यात्वी बनोगे, इस मिथ्या दर्शनके निमित्तसे बंधा हुआ कर्म दुःखभीरु ऐसे तुमको अनंत कालतक संसारमें भ्रमावेगा।

इष्ट और अनिष्ट ऐसे स्पर्श रस, गंध, रूप और शब्दोंमें अनंतकालतक जीवका अभ्यास होनेसे उनमें राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं कषाय भी बाह्य कारण और अभ्यंतर कारणोंको पाकर उदयमें आ जाते हैं, उनके उदयसे चारित्रिका घात होता है, कर्मका जिन्होंने ग्रहण होता है ऐसी मानसिक, कायिक और वाचनिक क्रियाओंका अभाव होनेसे चारित्र उत्पन्न होता है, राग, द्वेष, मोह वगैरह परिणामोंसे कर्म आत्मामें आता है, तथा मन, वचन और शरीरके अशुभ व्यापारोंसे आत्मामें नवीन कर्म आता है, पानी, हवा, अग्नि, पृथ्वी और वनस्पति ये पांच प्रकारके स्थावर जीव हैं, द्वीन्द्रियादिक जीवोंको त्रसजीव कहते हैं, इन छह काय जीवोंको वाधा हो इस

रीतीसे गमन करना, मिथ्यात्वमें और असयममें जीविकी प्रवृत्ति जिससे होगी ऐसा वचन बोलना, साक्षात् अथवा परम्परासे जीविको वाधा देना. भोजन करना, कोईभी वस्तु बिना देखे, बिना पोछे, जमीनपरसे लेना और रखना, जमीनकी देखभाल किये बिना उसपर हगना, मृतना, वगैरे क्रिया करना. ये क्रियायें जीवपंडाका कारण हैं. इनका त्याग करनेसे चारित्र्य विनय होता है. अशुभ क्रियाओंका त्याग करना यह चारित्र्यका लक्षण है. परंतु जो आरम्भ क्रिया करते हैं वे चारित्र्य धारण नहीं कर सकते हैं. इस लिये हे मुनिबृंद ! आप चारित्र्यमें नित्य उद्योग करो

अनशन, अवमोदर्य वगैरह तपोंसे उत्पन्न होनेवाले परिश्रमोंको सहन करना यह तपोविनय है. यदि तप करते समय आत्मामें संक्लेश परिणाम उत्पन्न होंगे तो कर्मोंका महान् आसन्न होगा और निर्जरा अल्प होगी उपचारविनय धारण करनेसे विद्वान लोक यह मुनि विनयशील है ऐसा समझकर पूजा करते हैं यदि उपचार विनय मुनिमें न हो तो वह निंदाका पात्र होता है. मानसिक उपचार विनय, वाचनिक उपचार विनय और कायिक उपचार विनय ऐसे उपचार विनयके भेद हैं. इन विनयोंको जो मुनि धारण नहीं करता है, गुरुओंकी मनसे अवहेलना करता है; गुरु आनेपर उठकर खड़ा होता नहीं, वे जानेपर उनके पीछे जाता नहीं, हात जोड़ता नहीं, उनकी स्तुति और विद्वान्ति करता नहीं, गुरुक सम्मुख आसनपर चढ़कर बैठता है, उनके आगे जाता है, उनकी निंदा करता है और उनकी कठोर शब्द बोलता है, गालि देता है उसको नीचमोत्रका बंध होता है. इस कर्मके उदयसे वह मातंग, चांडाल, धीवरादि निच नीच कुलोंमें जन्म लेता है. कुत्ता, खर, वगैरह पशुओंमें वह उत्पन्न होता है. निंदा करनेवाले मुनिओं को गुरुसे रत्नत्रयका लाभ होता नहीं परंतु जो मुनि नम्रस्वभावका है, गुरु उसको मयत्नसे पढाते हैं और उसका आदर करते हैं. इसलिये हे मुनिगण ! आप विनयमें नित्य तत्पर रहो. अविनय दोषसे भरा हुआ है और विनयमें बड़े गुण निवास करते हैं ऐसा समझकर तुम स्वाध्यायमें अतृप्त रहो. शोभन अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं. जीवादि तत्वोंका स्वरूप समझलेना और उसका वर्णन करनेवाले ग्रंथको पढना यह शोभन-उत्तम स्वाध्याय है. इसमें तुम हमेशा तत्पर रहो सोना, हसना, खेलना, आलस्य, लोक व्यवहार इन बातोंको छोड़कर तुम स्वाध्याय करो. पूर्वाचार्य इस विषयमें ऐसा कहते हैं. 'मैं निद्रा को अच्छी नहीं मानता हूं. मैं हास्य' और क्रीडा का त्याग करता हूं. मैं आलस्य छोड़कर मुनिधर्मकी, योग्य क्रियाओंमें हमेशा

उद्युक्त रहूँ” हे मुनिवृद्ध ! तुम हमेशा त्रलोक्यमें महान् ऐसे सर्वज्ञ कथित आगममें प्रेम करो

दुस्सहपरीसहेहि य गामवचीकंटएहिं तिवखेहिं ॥

अभिभूदा वि हु संता मा धम्मधुरं पमुच्चेह ॥ ३०१ ॥

मा स्म धर्मधुरं त्याक्षुरभिभूता परीपहै ॥

दुस्सहैः कंटकैस्तीक्ष्णैर्ग्रामिण्यकवचोभयै ॥ ३०२ ॥

विजयोदया—दुस्सहपरीसहेहिं य तु सहै परीपहैश्च । गामवचीकंटएहिं तिवखेहिं अक्रोशवचनकंटकैस्तीक्ष्णैश्च । अभिभूदा वि य संता पराभूता अपि स्त । मा धम्मधुरं पमुच्चेह मा ऊया धर्मभारत्याग । ननु च ‘दुस्सह’ परीसहेहिं य अभिभूदा मा धम्मधुरं पमुच्चेह ’ इत्यनेन आक्रोशपरीपहसहन उपदिष्ट ? किमनेन ‘गामवचीकंटएहिं’ इत्यनेन ? । अयमभिप्रायः सूत्रकारस्य—सोढशुदादिवेदनोऽपि न सहतेऽनिष्ट वचस्ततोऽतिदुःकरमपि तत्सोढव्यं इति वरीनाय पृथगुपादानम् ।

मलारा—गामवचीकंटगोहिं ग्राम्याणामपिविकृजनाना वचनानि एव कंटकास्तैराक्रोशवचनैरित्यर्थः । सोढशुदादिवेदनोऽपि हि नानिष्टं वचनं सोढुं शक्नोति इति अतिदुःसहत्वादाक्रोशवचनस्य पृथगुपादानं । अतिदुःसहमत्याक्रोशवचनं भवाङ्कः सोढव्यमित्युपदेशार्थः ।

अर्थ—दुःसह क्षुधादिक परीपहोसे और ग्राम्यलोगोंके तीक्ष्ण गालिवचनों से पीड़ित होते हुए भी हे मुनिगण ! आप धर्मभारका त्याग कदापि न करें ‘दुःसह परीपहोसे पीड़ित हो कर आप धर्मभार का त्याग न करें’ इन वचनोंसे हि आक्रोशपरिपह सहनका अन्तर्भाव होता है तो भी ग्राम्यतीक्ष्ण वचनोंको सहन करनेका उपदेश क्यों किया है ? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है—क्षुधादिवेदनायें सही भी जाती हैं परंतु अनिष्ट वचन सहा जाता नहीं। अतिदुःसह अनिष्ट वचन भी मुनिगण को सहना चाहिये यह दिखानेका आचार्यका अभिप्राय था इसलिये ‘गामवचीकंटएहिं तिवखेहिं’ ऐसा पृथक् वचन दिया है।



तपःसुधोग सर्वप्रयत्नेन त्यक्तालस्यैर्भवद्भिः कर्तव्य इत्युपदिशति--

तित्थयरो चटुणाणी सुरमहिदो सिज्झदव्वयधुवम्मि ॥

अणिगूहिदवलविरिओ तवोविधानम्मि उज्जमदि ॥ ३०२ ॥

धुवसिद्धिश्चतुर्ज्ञानस्तीर्थकृत्त्रिदशार्चितः ।

अनिगुह्य बलं वीर्यमुद्यतः कुरुते तपः ॥ ३०० ॥

विजयोदया--तित्थयरो तीर्थंकर तरति संसार येन भव्यास्तत्तीर्थं । कैश्चन तरंति श्रुतेन गणधरैर्वालवनभूते-  
रिति श्रुतं गणधरा वा तीर्थमित्युच्यते । तदुभयकरणत्तीर्थंकरः । अथवा 'तित्थु तिष्ठदिति तित्थ' इति व्युत्पत्तौ तीर्थ-  
शब्देन मार्गो रत्नत्रयात्मक उच्यते तत्करणत्तीर्थंकरो भवति । चटुणाणी भतिश्रुतावधिमेन पर्ययज्ञानवान् । सुरमहिदो  
सुरैश्चतु प्रकारै पूजित स्वर्गावतरणजन्माभिप्रेक्ष्यपरिनिष्क्रमणेषु । सिद्धिदव्वयधुवम्मि नियोगभावित्यां सिद्धावप्ति ।  
तथापि अणिगूहियलविरिओ अनुपन्दुतबलवीर्यं । तवोविधानम्मि तपःसमाधाने उज्जमदि उद्योग करोति ।

तपस्युद्योगः सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यः इत्युपेण्डु गाथाष्टाविंशति आचष्टे--

मूलारा--सिज्झदव्वयधुवम्मि अवश्यंभावित्यामपि सिद्धौ सत्याम् ।

आलस्य छोडकर सर्व प्रयत्नसे तपश्चरणमें तुम उद्योग करो ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं.

अर्थ--मनि, श्रुति, अविधि और मनःपर्यय ऐसे चार ज्ञानोंके धारक; स्वर्गावतरण, जन्माभिप्रेक्ष और दीक्षा-  
कल्याणादिकोंमें चतुर्गोत्राय देवोंसे जो पूजे गये हैं, जिनको नियमसे मोक्षप्राप्ति होती है, ऐसे तीर्थंकर भी अपना बल  
और वीर्य नहीं छिपाते हैं और तपमें उद्युक्त होते ही हैं इसलिये तुमको भी तपमें उद्योग करना आवश्यक है,  
जिसका आश्रय लेकर भव्यजीव संसारसे तीरकर मुक्तिको प्राप्त होते हैं उसको तीर्थं कहते हैं. कितनेक भव्य जीव  
श्रुतसे अथवा गणधर की सहायतासे संसारसे उत्तीर्ण होते हैं. इसलिये श्रुत और गणधरको तीर्थ कहते हैं. श्रुत  
और गणधरको भी जो कारण हैं उनको तीर्थंकर कहते हैं. अथवा 'तिसु तिष्ठदिति तित्थं' ऐसी भी तीर्थ शब्दकी  
व्युत्पत्ति है. रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गको तीर्थ कहते हैं उसको जो प्रचलित करते हैं उनको तीर्थंकर कहते हैं ऐसे  
तीर्थंकरभी यदि तप करते हैं तो अन्य एनि भी क्यों न करें ?

किं पुण अवसेसाणं दुस्त्वक्स्वयकारणाय साहूणं ॥  
 होइ ण उज्जम्मिदंवं सपच्चवायम्मि लेयम्मि ॥ ३०३ ॥  
 मुमुक्षूणां किमन्येषां दुःस्वक्षपणकाक्षिणाम् ॥  
 न कर्तव्यं तपो धोरं प्रत्यवायाकुले जने ॥ ३०१ ॥

विजयोदया—किं पुण अवसेसाण किं पुनर्नं प्रयतितव्य अवशिष्टं साधुभिः । दुस्त्वक्स्वयकारणाय दुःस्व-  
 विनाशाननिमित्तं । सापये लोकं आशुप, शरीरस्य, बलस्य नीरोगतायाश्च विनाशो अतिदितकाले सति, दावानलसमाने  
 मृत्युवायाति, लोकवनमिदं अशेष भस्मसात्कर्तुं अद्य इत्यपि सुखर निमिपमत्रैणापि मृत्युरेयाच्च  
 मासमर्द्धमासमृत्युक्रममयनं सवत्सरं वा प्रति वचनार्थिकारकं स्याद्यावन्नायाति मृत्युस्तावत्तपस्युद्योग  
 कार्यं । न हि मृत्योर्देशनियमोस्ति । स्थल एव प्रचारी यथा शरददीना । समीरणपथ एव  
 ज्योतिषा, चालिल एव मीनमकरादीना । ऋतुमस्य पुनरस्य मृत्यो स्थले, जले, विप्रति च विहति । दहनस्य, सुवासते-  
 र्वां सुप्राधिपते, प्रभजनस्य, शीतोष्णस्य वा, हिमान्या वा अग्नेशदेशा सति न तथा मृत्यो । यथा वा निदानमानं व्या-  
 धीना पित्तानिलश्लेष्मरूप । अपमृत्यो पुनरपिलमेव निदानं । वातस्य, कफस्य, शीतोष्णयोर्वर्षाहिमातपाना शक्यः  
 प्रतीकाराविधिर्न पुन ससारे मृत्यो । हिमोष्णवर्षादीना च कालो विदितोऽस्ति न तद्वदस्य । न वा हितमस्य किञ्चिद्विद्य-  
 ते । यथा राहुवदकुदरे प्रवेशो निशापते । असत्यपि मृत्युपनिपते जीमनोऽपि कुरोगाशानिभ्यो महद्द्वयं । यथा वियतो  
 निपतत्युद्ध एवाशानि । आशुर्वलरूपाद्यद्वय गुणास्तावदेव यावन्नोपैति रोगो देह । यद्वृन्तलग्नस्य फलस्य तावदपातो  
 यावन्न श्वसनः । व्याधौ च वाच्यमाने देहे न सुखेन शम्यते श्रेयः । ऋतुं, यथा वैश्वमिति दृष्टमिति समन्ताच्च प्रतीकारः ।  
 असत्सु वा रोगेषु रागशत्रुः सुहृन्मुखः शत्रुर्हित प्रवृद्ध यदा नरस्य चित्तं बाधते न तदा सेमऽधिकारः । पित्तोद्यो वैय-  
 शुभप्रयोजनं प्रशाम्येदपि, रागोदयस्य प्राण्यहितस्य हन्तुं प्रशमं सुदुर्लभः । यदैव च तस्य प्रशमोपलब्धिं पूर्वोक्तं  
 प्रशान्तौ तदैव श्रेयस्कृतौ शक्तिं पित्तोपशान्तौ कार्यचित्ते च । इत्थं मृत्युर्व्याधयो राग इत्येते प्रत्यवाया जगति, तादृशे-  
 तसि कृत्वा, यदा ते न संति तद्व्योगः कार्यः ।

मूलारा—किं पुण पुनर्नान्यैः साधुभिरुद्यमनीयमपि तु तपस्युद्यमं कर्तव्य एव । सपच्चवायम्मि आयुःशरीर-  
 वलादिविनाशेनांतर्कितकालादिभाषिना महिते ।

अर्थ—अन्य मुनिको भी संसारदुःखोंका क्षय करनेके लिये क्या प्रयत्न नहीं करना चाहिये ? अर्थात्  
 उनको भी तपमें उद्योग करना अवश्य प्राप्त है. इस जगत्में मनुष्यका आयु, शरीर, बल और आरोग्यका नाश कर

होगा यह समझमें नहीं आता है। मृत्यु दावानलके समान है। वह इस संपूर्ण जगत्‌रूपी वनको कब दग्ध करेगा यह हम नहीं समझ सकते हैं। मृत्यु आज नहीं आवेगा, अथवा एकमास, अर्धमास, दो महिने, छहमास, एक वर्ष तक आवेगा नहीं ऐसा खात्रीसे वचन नहीं कह सकते हैं एक क्षणमें भी मृत्युका आगमन होगा। जन्मतक मृत्यु आता नहीं तबतक तपश्चर्याका उद्योग करना चाहिये, मृत्यु अमुक स्थानमें रहता है ऐसा उसका प्रदेश निश्चित नहीं है। गाड़ी-मोटर वगैरह स्थल परही गमन करते हैं। नैश्चयसमूह आकाशमें ही भ्रमण करते हैं। मत्स्य, मगर वगैरह जलचर प्राणी पानीमें ही फिरते हैं। परंतु अत्यंत दुःख देनेवाला यह मृत्यु स्थलमें, जलमें, आकाशमें सर्वत्र भ्रमण करता है, अग्नि, चंद्र, सूर्य, इन्द्र, ठंडा अथवा उष्ण वायु, और वर्ष समुदाय इनका जहां प्रवेश नहीं है ऐसे प्रदेश बहुत है। परंतु मृत्युका सर्वत्र अप्रतिहत संचार है। वात, पित्त और कफ ये रोग उत्पन्न होनेके कारण हैं परंतु अपमृत्युके लिये सर्व पदार्थ कारण हो सकते हैं। वात, पित्त, कफ, शीत, उष्ण, जलवृष्टि, ठंडी, धूप इनका प्रतिकार करनेके पदार्थ हैं, परन्तु इस संसारमें मृत्यु का प्रतिकार करनेवाला कोई भी पदार्थ नहीं है। शीतकाल, वर्षाकाल और ग्रीष्मकाल इनका समय रमें मृत्यु का प्रतिकार करनेवाला कोई भी पदार्थ नहीं है। तब उससे छुड़ाने वाला हितकर पदार्थ कोई नहीं है उसी तरह मृत्यु जब जीवको पकड़ता लोंगीको ज्ञात होता है। परन्तु मृत्युका आगमनसमय किसी को भी मालुम नहा रहता है। जब राहुके सुखमें चन्द्रका प्रवेश होता है तब उससे छुड़ाने वाला हितकर पदार्थ कोई नहीं है उसी तरह मृत्यु जब जीवको पकड़ता है तब उसको उससे बचानेवाला कोई नहीं है। मृत्युके बिना भी अन्य पदार्थोंसे प्राणिओंको भय उत्पन्न होता है, जैसे दुष्ट रोग, वज्रपात वगैरहसे भय उत्पन्न होता है। अशनिपात अचानक आकाशसे होता है। तद्वत् अचानक मृत्यु प्राणिको पकड़ता है आयु, बल, रूप वगैरह तबतक देहमें स्थिर रहते हैं जबतक रोगसे यह ग्रसित नहीं होता जबतक वायुका आगमन नहीं तबतक फल वृत्तमें स्थिर रह सकता है वह गिरता नहीं है जब रोगसे शरीर पीडित होता है तब सुखसे आत्महित करना नहीं होता है। जैसे अग्नीसे घर चारों तरफसे जब धिर जाता है तब उपाय करना नितरां अशक्य है। शरीर में रोग नहीं हो तो भी जब भित्रके समान दीखनेवाला रागशत्रु इस मनुष्य के चित्तको पीडित करता है तब यह मनुष्य समता धारण करनेमें असमर्थ होता है। वैद्यके अच्छे प्रयोगोंसे प्राणीका पित्तप्रकोप शांत होगा परंतु प्राणीका अहित करनेवाला रागभाव शांत होना बड़ा ही कठिन है। पित्त शांत होनेपर जैसा प्राणी स्वकार्यमें चित्त लगाता है, तथा पूर्वकर्म शांत होनेपर रागभाव शांत होकर आत्मकल्याण करनेमें मनुष्य समर्थ होता है। इस प्रकार इस जगत्‌में

और रोग ये तप करनेमें व्यत्यय लाते हैं, ऐसा मनमें विचार कर जब ये देहमें नहीं होंगे तब तपमें उद्योग करना चाहिये.

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होह ॥

आणाए णिज्जरेत्ति य सवालउट्ठाउले गच्छे ॥ ३०४ ॥

शक्तितो भक्तितः संघे वत्सलास्ते चतुर्विधे ॥

वैयावृत्यकराः शश्वज्जिनाजानिर्जराधिनाः ॥ ३०२ ॥

विजयोदया—सत्तीए भत्तीए भक्त्या भक्त्या च । विज्जावच्चुज्जदा वैयावृत्ये उद्यता सदा होह नित्य भवत । आणाए णिज्जरेत्तिय संवक्षानामाद्या वैयावृत्य कर्तव्यमिति तदाक्षया हेतुभूतया, वैयावृत्यं हि तप तपसा निर्जरा भवतीति च । सवालउट्ठाउले सह बालैर्वर्तमाना ये वृद्धास्तेराकीर्णे गणे ॥

मूलार—आणाए वैयावृत्य कर्तव्यमिति जिनानामाज्ञया हेतुभूतया । णिज्जरेत्ति वैयावृत्यं निर्जरोहेतुभूतत्वा-निर्जरा इति छत्वा ॥

अर्थ—बालपुनि और वृद्ध, मुनिओसे व्याप्त ऐसे मुनिमुदायका वैयावृत्य करनेमें हे मुनिद्वंद ! तुम अपनी शक्तिसे और भक्तीसे सदा उद्यत बनो, वैयावृत्य करना यह मुनिओंका कर्तव्य है ऐसी जिनदेवकी आज्ञा है ऐसा समझकर और यह वैयावृत्य तप है तथा निर्जराका कारण है ऐसा समझकर उसके करनेमें तुम तत्पर रहो.

वैयावृत्य कर्तुमभ्युद्युक्तं प्रति इदमवशयति—

सेज्जागासणिसेज्जा उवंधी पडिलेहणाउवगंगहिदे ॥

आहारोसहवायणविकिंचणुवत्तणादीसु ॥ ३०५ ॥

उपधीनां निपद्यायाः शय्यायाः प्रतिलेखनम् ॥

उपकारोज्ञमैपज्यमलत्यागादिगोचरः ॥ ३०३

विजयोद्या—सेज्जोगासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणा उवग्गहिदे । शय्यावकाशस्य, निपद्या स्थानस्य, उपकरणानां च प्रतिलेखना, उपग्रह उपकारः । किंविषयः ? आहारोसहवायणविर्किचणुव्वत्तणादीसु योग्यस्य आहारस्य औपघस्य वा दान स्वाध्यायस्योत्सारणं अशक्तस्य शरीरमलनिरासः । उवत्तणे पाश्चात्पाश्चात्तरस्योत्थापन ॥

मूलारा—सेज्जोगास शयनस्थानं । णिसेज्जा उपवेशनस्थानं । उवधी उपकरणानि । एषां प्रतिलेखना । उवग्गहिदे उपग्रहः उपकार इत्यर्थः । स चाहारादिविषयो ग्राह्यः । आहारोसह योग्यस्याहारास्यौपघस्य च दानं । वायणा न्यात्वा । विर्किचणं अशक्तस्य कायमलशोधनम् । उवत्तण पाश्चात्पाश्चात्तरित्येत्यनम् ।

वैयावृत्य करनेके लिये उद्युक्त हुए मुनिओंको वैयावृत्यका प्रयोगविधि बतलाते हैं—

अर्थ—शयनस्थान, बैठनेका स्थान, उपकरण-पिंठी कमंडलु वगैरह इनका शोधन करना, आहार-योग्य निर्दोष आहार, निर्दोष औषध, देकर उपकार करना, स्वाध्याय करना अर्थात् व्याख्यान करना, अशक्त मुनिका मैला उठाना, उस मुनिको एक बाजुसे दूसरे बाजुपर उठाकर सुलाना बैठाना वगैरह कार्य करना यह सब वैयावृत्यका विधि है.

अद्धान तेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे ॥

वेज्जावच्चं उत्तं संगहणारक्खणोवेदं ॥ ३०६ ॥

मार्गे चोरापगाराजदुर्भिक्षमरकादिसु ॥

वैयावृत्यं विधातव्यं सरक्षासंग्रहं सदा ॥ ३०४ ॥

विजयोद्या—अद्धान तेण सावयरायणदीरोधगासिवे ऊमे अच्छना श्रेमेण श्रताना पादादिमर्दन । स्तेनैवपद्रुयमाणाना । तथा श्वापदै, दुष्टैर्वा भूमिपालैः, नदीरोधकै मार्ग्यो च तदुपद्रवनिरासः विद्यादिभिः । ऊमे दुर्भिक्ष सुभिक्षदेशानयन । वेज्जावच्च वृत्त वैयावृत्यमुक्तम् । संगहसारस्फणोवेदं संग्रहसरक्षणायामुपेत ।

मूलारा—अद्धानं मार्गश्रेमेण श्रताना पादादि मर्दन । तेण चौरौपद्रवनिराग्नः । एवमुत्तरज्वायुपस्कारः । सावयरायणदीरोधकासिवे उपद्रव निराकारः । रोधक वंदीकारः । असिवे मरके तदुपद्रवविनाशो विद्यादिभिः । ऊमे दुर्भिक्ष सुभिक्षदेशनयनं । संगह मा भैष्ट्यादि धैर्याधानपूर्वकः सम्यगंगीकारः । सारक्खणं संरक्षणं ।

अर्थ—जो मुनि रास्तेके श्रमसे थक गये उनकी पगचपी करना, हस्तमर्दन, अंगमर्दन करना, जिन मुनियोंको चोरसे उपद्रुव हुआ, दुष्ट पशुओंसे पीड़ा हुई हो, राजासे कष्ट पोहोचा होगा, नदीके द्वारा कोई मुनि रुक गये, भारी रोगसे पीडित होगये तो उनका उपद्रव विद्यादिकोंसे नष्ट करना चाहिये, यदि कोई मुनि दुर्भिक्षपीडित हुए हो तो उनको सुभिक्ष देशमें लाकर उनकी पीडाका परिहार करना चाहिये, इन सब कार्योंको वैयावृत्य कहते हैं, ऐसे कार्य करनेसे मुनियोंका संग्रह होता है, और आप डरो मत ऐसा बोलकर उनमें धैर्य उत्पन्न कर उनका अंगीकार करना चाहिये.

वैयावृत्याकरणं निंदति—

अणिगूहिदबलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण ॥

जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धस्सो ॥ ३०७ ॥

समर्थो न विघत्ते यो वैयावृत्यं जिनाज्जया ॥

अप्रच्छाद्यं बलं वीर्यमतो निर्धर्मकः सकः ॥ ३०८ ॥

विजयोदया—अनिगूहितेत्यादिना—अनिगूढवीर्यो वैयावृत्य जिणोपदिष्टं क्रमेण न करोति । शक्नोऽपि सद्यः स निर्धर्मो भवति धर्माधिष्ठातो भवति इति सूत्रार्थः ।

वैयावृत्यकरणे दोषान्नाथाद्वयेनाह—

मूलारा—स्पष्ट ।

जो मुनि वैयावृत्य करता नहीं उसकी निंदा करते हैं—

अर्थ—जिसने अपना बल और वीर्य छिपाया नहीं है, और जो समर्थ है तो भी जिनेश्वरने कहे हुए क्रमसे जो वैयावृत्य करता नहीं है वह मुनि निर्धर्मा है अर्थात् धर्मसे अष्ट हुआ है ऐसा समझना चाहिये, ऐसा इस सूत्रका अर्थ है.

दोपातराणी व्याचष्टे—

तित्थयराणकोधो सुदधम्मविराधणा अणायारो ॥  
अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिद होदि ॥ ३०८ ॥  
आज्ञाकोपो जिनेन्द्राणां श्रुतधर्मविराधना ॥  
अनाचारः कृतस्तेन स्वपरागमवर्जितम् ॥ ३०९ ॥

विजयोदया—तित्थयराणकोधो तीर्थकराणामाज्ञाकोप । सुदधम्मविराहणा श्रुतोपदिष्टधर्मनाशन । अणाचारो आचाराभाव वैयावृत्याख्ये तपसि श्वृत्ते । अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिद होदि ॥ आत्मा साधुवर्गः प्रवचनं च त्यक्त भवति । तपस्यसुद्योगादात्मा त्यक्तो भवति, आपयुष्काराकरणाद्यतिवर्गः, श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमश्च त्यक्त ॥

मूलारा—कोवो भंगः कृतो भवतीति शेषः । सुदधम्मविराहणा श्रुतोपदिष्टधर्मविनाशः । वैयावृत्याख्ये तपस्य-प्रवृत्ते । णिज्जूहिदं तपस्यसुद्योगादात्मा त्यक्तः । आपनुपकाराकरणाद्यतिवर्गः । श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमश्च ।

अन्य दोषोंका भी वर्णन करते हैं—

अर्थ—वैयावृत्य करना चाहिये ऐसी अर्हत्परमेश्वरकी आज्ञा है परतु जो वैयावृत्य नहीं करता है उसने उनकी आज्ञाका भंग किया है ऐसा समझना चाहिये. वैयावृत्य न करनेसे शास्त्रमें कहे हुए धर्मका नाश होता है. वैयावृत्य नहीं करनेसे मुनि मुनिधर्मका आचार पाल नहीं संलग्न इसलिये धर्मविनाश होगा अनाचार होगा क्योंकि, कोई भी वैयावृत्य नामक तपमें प्रवृत्त नहीं होगा. वैयावृत्य न करनेसे अपना, साधुवर्गका और आगमका त्याग होगा. तपश्चरणमें उद्युक्त न होनेसे अत्माका त्याग हुना, संकटमें उपकार न करनेसे यतिओंका त्याग होता है और शास्त्रोपदिष्ट वैयावृत्यका पालन न करनेसे आगमका त्याग होता है. वैयावृत्य न करनेसे ऐसे महादोष उत्पन्न होते हैं.

१ कपुस्तकं 'वैयावृत्याख्ये तपसि' इत आरभ्य अश्रेतनगाथाद्वयं तट्टीका च नोपलब्धा ।

गुणान्वैयावृत्यकरणे कथयति गाथाद्वयेन—

गुणपरिणामो सद्वा वच्छलं भक्तिपत्तलंभो य ॥

संधाणं तवपूया अब्बोच्छित्ती समाधी य ॥ ३०९ ॥

विजयोदया—गुणपरिणामो यतिगुणपरिणति । सद्वा श्रद्धा । वच्छलं वात्सल्य । भक्ती भक्ति । पत्तलंभो य पात्रस्य लाभ । संधाण सधान । तव तप । अब्बुच्छित्ती य तित्थस्य अब्बुच्छित्तिश्च तीर्थस्य । समाधी य समाधिश्च ।

वैयावृत्यकरणेऽष्टादशगुणान्गाथाद्वयेनोद्दिशति—

मूलारा—गुणपरिणामो वैयावृत्यकरणस्य वाध्यमानसाधुगुणेषु वासना । क्रियमाणवैयावृत्यस्य च साधो । सम्यक्त्वादिगुणेषु प्रबंधेन प्रवृत्तिः । पत्तलंभो पात्रस्य लाभ । संधाण कुतश्चिद्विच्छिन्ना दर्शनादीना आत्मनि पुन संयोजनं ।

वैयावृत्य करनेसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका वर्णन आचार्य दोन गाथाओंसे करते हैं—  
अर्थ वैयावृत्य करनेसे इतने गुणोंकी प्राप्ति होती है—

१ गुणपरिणाम—धुनिगुणोंकी वैयावृत्य करनेवालेमें परिणति होती है, उपसर्गादिसे जिसको पीडा हुई है ऐसे सुनिके गुण मेरेको प्राप्त हो ऐसी इच्छा वैयावृत्य करनेवालेके मनमें उत्पन्न होना यह गुणपरिणति शब्दका अर्थ है २ श्रद्धा करना, ३ भक्ति ४ वात्सल्य ५ पात्रलभ-पात्र की प्राप्ति होना ६, संधान किसी कारणसे विच्छिन्न हुए सम्पददर्शनादिकोंको आत्मानमें जोड़ देना. ७ तप ८ पूजा ९ तीर्थान्बुच्छिति तीर्थकी परंपरा सतत रहना अर्थात् धर्मका नाश न होने देना. १० ममाधि

आणा संजमसाखिह्छदा य दाणं च अविदिगिंछा य ॥

वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि ॥ ३१० ॥

गवयम्—गुणपरिणामश्रद्धावात्सल्यभक्तिपात्रलभसंधानतपःपूजातीर्थविच्छित्तिसमाधि-जिनाज्ञासंयमसाहाय्यदानविचिकित्साप्रभावनासंधकार्याणि वैयावृत्यगुणा ॥ ३०७-३०८ ॥



विजयोदया—आणा संजमसाखिहदा य आझा संयमसाहाय्यं च । दाणं च दानं च । सर्वक्षोपदिष्टवैयावृत्यकरणादाज्ञा संपादिता । आज्ञासंपादनमाज्ञासंयमः । परस्य वैयावृत्यकृत उपकारः । रत्नत्रयस्य निरतिचारस्य दानं । संजम-पभावना य संयम साहाय्यमिति चार्थः । अविदिर्गिह्णा य अविचिकित्सा च । वेज्ञावच्छस्स गुणा वैयावृत्यस्य गुणाः । पभावना प्रभावना च । कज्जपुण्णाणि कार्यनिर्वहणानि च ॥

मूलारा—साखिह्दिवा साहाय्यं । दाणं निरतिचाररत्नत्रयस्य संपादनं ॥

अर्थ—आज्ञासंयम, साहाय्य, दान, निर्वचिकित्सा, प्रभावना, कार्यं निर्वाहण एते वैयावृत्यके अठारह गुण हैं । सर्वज्ञने वैयावृत्य करना यह मुनिओंका कर्तव्य है ऐसी आज्ञा दी है । उनकी आज्ञाका संपादन करना चाहिये अर्थात् मुनिओंके संयममें वैयावृत्य करके उपकार करना चाहिये । संयमसाखिह्दिवा संयममें सहायता करना ।

गुणपरिणामो इत्येतत्पदं व्याचष्टे—

मोहगिणादिमहदा घोरमहोवयणाए फुट्ठतो ॥

उज्झदि हु धगधगतो ससुरासुरमाणुसो लोओ ॥ ३११ ॥

दहत्ते सकलो लोको महता मोहवह्निना ॥

धग्धगित्येष कुर्वाणो महोवेदनया स्फुटम् ॥ ३०९ ॥

विजयोदया—मोहगिणा अज्ञानाग्निना । अदिमहदा अतिमहता, सकलवस्तुविषयतया महदज्ञानं तेन उज्झदि दहत्ते । घोरमहावेदनाए घोरया महत्या वेदनया । फुट्ठतो विक्षीर्यमाणः । धगधगतो धगधगायमानः । ससुरासुरमाणुसो लोको देवासुरमानुषैः सह वर्तमानो लोकः ॥

गुणपरिणामं गाथावतुष्टयेन व्याचष्टे—

मोहगिणा ममेदमहमस्येत्यादिप्रत्ययलक्षणज्ञानवह्निना । अदिमहदा सकलवस्तुविषयतया अतिविपुलेन । फुट्ठन्तो विक्षीर्यमाणः । धगधगतो धगधगायमान जाब्जत्यमान इत्यर्थः । लोको वहिरात्मप्राणिगणः ।

गुणपरिणाम इस गुणका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—यह जगत् मोहरूपी अग्नीसे अर्थात् अज्ञानरूपी अग्नीसे जल रहा है, इस अग्नीने संपूर्ण वस्तुयें

धरली हैं इस के द्वारा सब जीव दग्ध हो रहे हैं, इससे होनेवाली घोर वेदनासे उनके अंग फुटने लगे हैं, और उनको बड़ा ही दाह हो रहा है, इस अग्नि में केवल मनुष्य और पशु ही दग्ध हो रहे हैं, ऐसा नहीं समझना परंतु समस्त चतुर्गोत्रा देव भी जल रहे हैं, तात्पर्य यह है कि जगतके समस्त जीव वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप जाननेमें असमर्थ हैं, उनमें गाढ़ अज्ञान घुसा है,

एदमि णवरि मुणिणो णाणजलोवग्गेण विज्झाविदे ॥

डाहुम्मुक्का होति हु दमेण णिव्वेदणा चेव ॥ ३१२ ॥

तत्र विध्यापिते सद्यो भूयसा ज्ञानपाथसा ॥

मग्ना दमपयोराशौ सुखायते तपोधनाः ॥ ३१० ॥

विजयोक्था—एदमि एतस्मिन्लोके दृश्यमाने । णवरि पुनः मुणिणो णिव्वेदणा चेव होति मुनय एव निर्वेदना भवन्ति । कथं ? णाणजलोवग्गेण ज्ञानजलोपग्रहेण । विज्झाविदे नष्ट मोहान्नो । डाहुम्मुक्का दाहोन्मुक्ताः । दमेण रागद्वेष-प्रशमेन च । एतदुक्तं भवति—समीचीनज्ञानजलप्रवाहोन्मूलितज्ञानवह्निप्रसरत्वं नाम यतीनां गुणः निर्वेदनत्वं चेति ।

मूलारा—एदमि एतस्मिन्लोके दृश्यमाने । णवरि पुनः । णाणजलोवग्गेण आत्मदेहाविषेदज्ञानसलिलप्रवाहेण विज्झाविदे विध्यापिते । मोहमहान्नाविति शेष । अन्ये तु एदंभीत्यस्य मोहान्नावित्यर्थमाहुः । दमेण रागद्वेषप्रशमेन । णिव्वेदणा चेव मुनय एव निर्वेदना भवन्तीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—समीचीनज्ञानजलप्रवाहप्रसरत्वं, विर्नेदनत्वं च यतीनां गुणो ज्ञानानंदमयत्वं इत्यर्थः ।

अर्थ—यह सब जगत् अज्ञानाग्निसे जल रहा है परंतु मुनीश्वर ज्ञानमय जलके प्रवाहसे मोहरूपी अग्नि को बुझाकर आन्ति, संशय अनध्यवसायादि वेदनासे मुक्त हुए हैं, अर्थात् उनको देह और आत्मा भिन्न भिन्न है ऐसा ज्ञान हुआ है, देहही मैं हूं यह आन्ति उनके हृदयसे नष्ट हो गई है, मुनिओने जितेन्द्रियता और रागद्वेषका उपशम इन उपयोगसे अज्ञानजन्य वेदनाका नाश किया है अभिप्राय यह है कि मुनि सम्पन्नज्ञानरूपी जलप्रवाहसे अज्ञानाग्नि सधूल शांत कर वेदना रहित हुए हैं,

णिगहिर्दिदियदारा समाहिदा समिदसव्वचेदंगा ॥

धण्णा णिरावयक्खा तवसा विधुणंति कम्मरयं ॥ ३१३ ॥

निगृहीतेन्द्रियद्वारैः सर्वचेष्टासमाहितैः ।

धन्यैस्तपःसमीरेण धूयन्ते कर्मरेणवः ॥ ३११ ॥

विजयोदया—णिगहिर्दिदियदारा इन्द्रियं द्विविधं द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं इति । तत्र द्रव्येन्द्रियं पुद्गलस्कंधा आत्मप्रदेशाश्च तदाधारा । भावेन्द्रियं ज्ञानावरणक्षयोपशम इन्द्रियजनितो रूपाद्युपयोगश्च । तन्सादृश्यद्रागद्वेषावमनोश्च मनोश्च न विषये प्रवृत्तौ । इह पापकर्मनिमित्ततया इन्द्रियद्वारशब्देनोच्यते । तेनायमर्थः— निगृहीतेन्द्रियविषयरगद्वेषा इति । समाहिदा रत्नत्रये समवहितचित्ता । समिदसव्वचेदंगा सम्यक्प्रवृत्तसर्वदा । धण्णा पुण्यवत् । णिरावयक्खा निश्चला इति केचिद्वदन्ति । अन्ये निरपेक्षा सत्कारं लाभं वानपेक्षमाणा. इति कथयन्ति । तपसा विधुणंति कम्मरय तपसा कर्मरजोविधूननं कुर्वन्ति । निगृहीतेन्द्रियत्वं, रत्नत्रयैकाग्रता, निरवयवेषावत्ता, सत्कारोदे- निरपेक्षता, तपसि वृत्तता, कर्मरजोविधूननं च यतिगुणः एतया गाथया सूचिता ।

मूलारा— णिगहिर्दिदियदारा निगृहीतेन्द्रियविषयरगद्वेषाः । समाहिदा रत्नत्रये समाहितचित्ताः । समिदा सम्यक्प्रवृत्ता । चिट्ठा ईर्ष्याभापादिप्रवृत्तिः । णिरावयक्खा निश्चला सत्कारादिनिरपेक्षा वा । अत्र जितेन्द्रियत्वं, रत्नत्रयैकाग्र- ता, निरवयवेषत्वं, सत्कारादिनिरपेक्षता, तपसि वृत्तिमत्ता, कर्मरजोविधूननं च यतिगुणाः सूचिता ॥

अर्थ—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ऐसे इन्द्रियों के दो भेद हैं. पुद्गलस्कंधाँकी इन्द्रियाकार रचना होती है और आत्माके प्रदेश भी इन्द्रियाकार बनते हैं उन दोनोंको भी द्रव्येन्द्रिय कहते हैं आत्मप्रदेशोंके आधारसे पुद्गलस्कंध रहते हैं. ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमको भावेन्द्रिय कहते हैं. और रूप रस, गंधादिकोंको जाननेकेलिये आत्माकी प्रवृत्ति होना इसको भी भावेन्द्रिय कहना चाहिये. रूपादिकोंके प्रति उपयोग होना—उनको जाननेमें उद्युक्त होना इसको यहां इन्द्रिय समझना चाहिये. अर्थात् उपयोगरूप भावेन्द्रियको यहां इन्द्रिय कहना चाहिये. क्योंकि उसके आश्रयसे जीवके राग द्वेष सुंदर और असुंदर स्पर्शादि विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं. जगत में इष्टानिष्ट विषय में इन्द्रियां प्रवृत्त हो कर जीवको दुःखित करती हैं. अतः मुनिगण इन्द्रियोंके स्पर्शादि विषयोंमें होनेवाले रागद्वेषोंको नष्टकर रत्नत्रयमें अपने मनको एकाग्र करते हैं. और अपनी सर्व प्रवृत्तियां—चोलना, चलना, वस्तु उठाना, आहार लेना वगैरह क्रियायें प्राणिरक्षणके अभिप्रायसे करते हैं. वे अपने मनको निश्चल करते हैं. अथवा सत्कारकी, और लाभकी अपे-

क्षा वे नहीं करते हैं. अतः वे निरपेक्ष स्वभाववाचक हैं. ऐसे युनिराल धन्य है. ऐसे ही यतिनायक तपश्चरणसे कर्म-रजकी आत्मासे हटाते हैं.

तात्पर्य यह है कि—जितेन्द्रियता, रत्नत्रयमें एकाग्रता, ईर्ष्यादिसमितिओंका पालन करना, सत्कारादिक श्री इच्छा न रखना, तपमें तत्पर होना, हर्मनाश करना ये यतिओंका गुण इस गाथासे आचार्यजीने सूचित किये हैं.

इय दृढगुणपरिणामो वेज्जावच्च करेदि साहुस्त ।

वेज्जावच्चेण तदो गुणपरिणामो कदो होदि ॥ ३१४ ॥

इत्थं गुणपरीणामो विद्यते यस्य निश्चितः ॥

साधूनां भव्यबंधूनां वैयावृत्यं तनोति सः ॥ ३१५ ॥

विजयोदया—इय गव दृढगुणपरिणामो यतिगुणेषु व्यावर्णितेषु दृढपरिणाम । साधुस्त वेज्जावच्चं करेद् साधोर्वैयावृत्य करोति । वेज्जावच्चेण वैयावृत्येन । तदो तेन गुणपरिणामो कदो होदि गुणपरिणाम. कृतो भवति । पतवुक्तं भवति—अस्य यतेरेते गुण, इमे नश्यति यदि नोपकार कुर्यात् इति यश्चेतसि करोति न तेषु गुणेषु परिणतो भवति । यस्य चोपकार कृतस्तस्य च गुणेषु परिणति कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैयावृत्यं इति आख्यात ॥

मूलारा—दृढगुणपरिणामो यतिगुणेषु व्यावर्णितेषु निश्चलानुरागसंस्कारः । तदो तेन तद्गुणग्रामसमग्रयतिगोचरेण । गुणे इत्यादि । एतदुक्तं भवति—अस्य यतेरेते गुणा नश्यन्ति यदि नोपकारं कुर्यामिति यश्चेतसि करोति स तेषु गुणेषु परिणतो भवति । तैर्वांसितो भवतीत्यर्थः ॥ यस्य चोपकारः कृतस्तस्य गुणेषु परिणतिस्तदप्रच्युति कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैयावृत्यमित्याख्यात । उक्तं च—स्वदुःखनिर्घृणारंभाः परदुःखेषु दुःखिताः ॥ निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्षा मुमुक्षवः ॥

अर्थ—वैयावृत्य करनेसे यतिओंके गणोंमें वैयावृत्य करनेवालेके हृदयमें दृढ अनुराग उत्पन्न होता है. इसलिये वैयावृत्यसे गुणपरिणति होती है ऐसा आचार्य कहते हैं. अभिप्राय यह है कि, इस यतिराजमें जितेन्द्रियता, रत्नत्रयमें एकाग्रता, वीरदृष्टि गुण हैं. यदि मैं इनकी शुश्रूषा न करूंगा तो इनके ये महनीय गुण नष्ट होंगे. ऐसा जो

मन में विचार कर उनकी सेवा करता है वह मुनि उनके गुणोंमें अनुरक्त होकर वैसा गुणवान होता है, और जिसके ऊपर वैभावृत्यसे उपकार किया जाता है उसकी भी गुणोंमें परिणति होती है, अर्थात् वह अपने गुणोंसे च्युत नहीं होता इसलिये यह वैभावृत्य तप स्वीपकार और स्वीपकारके लिये कारण होता है ऐसा आचार्य कहते हैं,

जह जह गुणपरिणामो तह तह आरुहइ धम्मगुणसेहि ॥

वहुदि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसट्ठवि ॥ ३१५ ॥

यथा यथा निशं साधेर्वर्धते गुणवासना ॥

जिनेशशासने श्रद्धा परोदेति तथा तथा ॥ ३१६ ॥

विजयोदया—जह जह यथा गुणपरिणामो भवति तह तह आरुहइ धम्मगुणसेहि तथा तथाऽरोहति चारित्र-  
गुणश्रेणी । बहुवर्धते । जिणवरमग्गे जिनेन्द्रमार्गे । किं वर्धते ? नवनवसंवेगसट्ठवि प्रत्यग्रसंसारभीरुता श्रद्धापि । इह  
गुणशब्देन गुणनिर्भासः स्मार्तः प्रत्यय उच्यते । तेनायमर्थ—यथा यथा यतिगुणानां स्मरण तथा तथा चारित्रगुणानुपा-  
रोहति । विस्तृतयतिगुणो न तत्र प्रयतेते । तेना गुणानां स्मरणान्तत्र रुचिरुपजायते । गुणानुरागिणो हि भव्या । संसा-  
रभीतिः श्रद्धा च प्रवर्तमाना दृढयति यति रत्नत्रये । एतया गाथाया सूत्रिता श्रद्धा व्याख्याता । गुणानामनुस्मरणान्तत्र  
रुचिर्भवति ॥

श्रद्धा व्याचष्टे

मूलारा—गुणपरिणामो इह गुणशब्देन गुणनिर्भासः स्मार्तः प्रत्यय उच्यते । तेनायमर्थः । यथा यथा यतिगु-  
णानां स्मरणं भवति तथा तथा चारित्रगुणश्रेणिमारोहति । वर्धते च जिनवरमार्गेऽपूर्वा पूर्वसंसारभीरुत्वानुविद्धा श्रद्धा ।  
वक्तुं च —

यथा यथानिशं साधोर्वर्धते गुणवासना ॥

जिनेशशासने श्रद्धा परोदेति तथा तथा ॥

अर्थ—मुनि जैसे जैसे उत्तरोत्तर गुणोंमें परिणत अर्थात् दृढ होंगे वैसे २ वे चारित्रगुणों की नसेनीपर  
आरोहण कर अपने निर्मल स्वरूपको प्राप्त होंगे, और जिनेश्वरेके मार्गमें उत्तरोत्तर ताजी संसारभीरुताकी श्रद्धा बढे  
गी, इस गाथामें ‘गुणपरिणामो’ यह समस्त पद है इसमें गुण शब्द का अर्थ स्मरण ज्ञान ऐसा समझना चाहिये,

अतः इसका स्पर्धार्य इस मुजब है—जैसे २ यतिगुणोंका स्मरण होता है वैसे २ यति चरित्रगुणोंपर आरोहण करते हैं, परंतु जिनको यतिगुणोंका स्मरण नहीं होता है वे अपने में यतिगुण लानेका प्रयत्न नहीं करते हैं, यतिगुणोंका स्मरण होनेसे उनमें रुचि पैदा होती है, मन्वजीवीका गुणोंपर प्रेम रहता है अर्थात् वे गुणोंपर प्रेम करते हैं, संसारभीतिके विषयमें उत्पन्न हुई श्रद्धा यतिको रत्नत्रयमें दृढ़ करती है, इस गाथामें श्रद्धा नामक गुणका विवेचन किया है.

चतुर्थ प्रवृद्धाया वात्सल्य नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याचष्टे—

सद्भाए वट्टियाए वच्छलं भावदो उवक्कमदि ॥

तो तिब्बधम्माराओ सव्वजगसुहावहो होइ ॥ ३१६ ॥

बिना गुणपरीणामं वैयावृत्यं करोति नो ॥

यतस्ततो मुमुक्षूणां वैयावृत्यं व्यनक्ति स ॥ ३१४ ॥

प्रवृद्धधर्मसंवेगं श्रद्धया वर्धमानया ॥

यतिः करोति वात्सल्यं लोकद्वयसुखप्रदम् ॥ ३१५ ॥

विजयोदया—सद्भाए वट्टियाए श्रद्धया वच्छितया । वच्छलं भावदो उवक्कमदि वात्सल्यं भावतः मनसा प्राप्तयेत । तो तत । तिब्बधम्माराओ धर्मं तीव्रो रागः । तीव्रधर्मरागो वा यतिरात्मन सकलं सुखमावहति । वात्सल्यं इत्येतद्वाल्यात्मनया गाथया ।

श्रद्धावृद्धौ च वात्सल्यं नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याह—

मूलारा— भावदो मनसा । सव्वजगसुहावहो सर्वेषु जगत्सु यत्सुखमैद्विधिक अतीन्द्रियं वा तदावहत्याकर्षति

यतिः ।

गुणोंका स्मरण होनेसे रुचिगुण उत्पन्न होता है और उसके बढनेसे वात्सल्य नामक सम्यग्दर्शन गुण उत्पन्न होता है इसका वर्णन ग्रंथकार करते हैं—

अर्थ—श्रद्धागुण बढनेसे मुनि मनसे यतिओंपर वात्सल्य करते हैं, अर्थात् उनका आदरसत्कार, सेवादिक कार्य यथोचित करते हैं इस वात्सल्य भावसे धर्ममें तीव्र प्रेम उत्पन्न होता है, जिसका धर्मपर तीव्र अतुराग

उत्पन्न हुआ है उस श्रानिको जगतके इंद्रियजन्यसुख और अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होते हैं, इस गाथासे वात्सल्य गुणका वर्णन किया गया।

वैयावृत्यस्य 'भक्ति' नाम यो गुणस्तं व्याचष्टे—

अरहंतसिद्धभक्ती गुरुभक्ती सव्वसाहुभक्ती य ॥

आसेविदा समग्गा विमला वरधम्मभक्ती य ॥ ३१७ ॥

भक्तिरहंतसु सिद्धेषु धर्मस्वरिषु साधुषु ॥

वैयावृत्यकृतोत्कृष्टा पूजा भवति सेविता ॥ ३१६ ॥

विजयोदया—अरहंतसिद्धभक्ती तत्राहंतो नामातिक्रान्ते एतौये भवे दर्शनविशुद्ध्यादिपरिणामविशेषवद्भक्तीर्थे-  
करत्वनामकर्मतिशया । स्वर्गावतरणादिपरदुरथापचमद्वाकल्याणभगिनः । धातिकर्मप्रलयाधिगतसकलद्रव्यत्रिकालगो-  
चरस्वरूपवभासनपटुनिरतिशयज्ञानदर्शनमोहोन्मूलनोपजातवीतरागसम्यक्त्वाः । चारित्र्यमोहोत्पाटनलब्धवीतरागभावाः ।  
वीर्यवीतरायकर्मप्रक्षयाविभूतानंतवीर्याः । परितसमारभ्यजनोद्धरणवद्धप्रतिज्ञा । अष्टमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशय  
विशेषा ॥ सिद्धा नाम मिथ्यात्वादिपरिणामोपनीतकर्मोद्धर्तव्यनिर्मुक्ता । अजराव्यायाधा । उपमातीतानतसुखा । जाज्वल्य  
माननिरावरणज्ञानतनव । पुरुषाकारा प्राप्तपरमासावस्था । एतयोरहंस्तिष्ठत्योर्भक्तिः । गुरुशब्देनात्राचार्योपाध्यायौ गृही-  
तौ तयोर्भक्तिः । सव्वसाहुभक्ती य सर्वसाधुभक्तिश्च । आसेविता आसेविता भवति । अहंदाधुपदिष्टैवयावृत्यकरणात्तेषा  
भक्तिः कृता भवति । रत्नत्रयवतामुपकरणात्तदावत एव तत्र भक्तिः । पैयावृत्यं भक्तिमापादयति अहंदादिष्वित्युक्त ।  
भक्तिं गाथाद्वयेन व्याचष्टे ।

मूलारा—गुरुभक्ती आचार्योपाध्यायभक्तिः । अहंदाधुपदिष्टैवयावृत्यकरणात्तद्भक्तिं खलु कृता भवति । रत्नत्रय-  
वता चोपकारकरणात्तदावत एव धर्मो भक्तिः । आसेविदा वैयावृत्यं कुर्वतासकृत्कृता ।

अर्थ—अहंदाभक्ति इस जन्मके पूर्व तिसरे भवमें दर्शनविशुद्धि वगैरह विशिष्ट परिणामोंसे जिनको साति  
शय तीर्थकर नाम कर्मका बंध हुआ है, अन्यजनदुर्लभ स्वर्गावतरणादि पांच कल्याणोंके जो स्वामी हैं, धाति-  
कर्मोंका नाश कर जिनहोंने संपूर्ण द्रव्योंके त्रिकालवर्ति पर्यायोंका स्वरूप जाननेमें समर्थ ऐसे केवलज्ञान, केवल दर्श-  
नकी प्राप्ति की है, दर्शनमोहनीय कर्मका समूल नाश करनेसे जिनको वीतराग सम्यक्त्वा लाभ हुआ है, चारि-

त्रमोहका समूल नाश कर जिन्होंने वीतरागभाव-चारित्र्यको प्राप्त किया है, वीर्यन्तराय कर्मके क्षयसे अनंतवीर्य-का लाभ जिनको हुआ है, आत्म भव्योंका उद्धार करनेके लिये जिन्होंने प्रतिज्ञा धारण की है, आठ महाप्राति-हार्य और चौतिस विशेष अतिशयोंकी जिनको प्राप्ति हुई है वे अरहंत हैं, मिथ्यात्व, अविरति, यमाद कषाय और योग इन परिणामोंसे वद्ध हुए आठ कर्मोंका जिन्होंने नाश किया है, जो जरा और मरणसे परे हैं, जिनको किसी प्रकारकी बाधा नहीं है, जिनका सुख अनुपम और अनंत है, जिनका ज्ञानरूपी शरीर अतिशय उज्ज्वल और आवरणरहित है, जो पुरुषाकार हैं, और परमात्मपदको धारण करते हैं, वे सिद्धपरमोष्ठि हैं, वैयावृत्यसे अर्हत् और सिद्धोंके ऊपर भक्ति होती है, गुरुभक्ति-गुरु-शब्दसे यहाँ आचार्य और उपाध्याय परमोष्ठिओंका ग्रहण होता है आचार्यभक्ति, उपाध्यायभक्ति और साधुभक्ति ये भक्तियाँ करनेका श्रेय अर्हदादिकोंसे कहा हुआ वैयावृत्य करनेसे मिलता है और वैयावृत्य करने से धर्मपर निर्मल भक्ति उत्पन्न होती है, रत्नत्रयधारक मुनिओपर उपकार करनेसे, उनका आदर करनेसे ही उनके ऊपर भक्ति करने-का श्रेय मिलता है, वैयावृत्य तप अर्हदादि पंच परमोष्ठिओंमें भक्ति उत्पन्न करता है ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है

इदानीं तस्या माहात्म्यं स्तौति -

संवेगजगणियकरणा णिस्सल्ला मंदरुव्व गिक्खपा ॥

जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भयं णत्थि संसारे ॥ ३१८ ॥

अर्हद्भक्तिः परा यस्य बिभीते भवतो न सः

धेनावगाहिता गंगा स किं नदयति वह्निः ॥ ३१७ ॥

संसार भीरुतोत्पन्ना निःशल्या मंदराचला ॥

जिन भक्तिदुहा यस्य नास्ति तस्य भवाद्भयम् ॥ ३१८ ॥

विजयोदया - संवेगजगणियकरणा संसारभीरुतोत्पन्ना । करणशब्द सामान्यवचनोऽपि उत्पत्तिक्रियावृत्तिश्च गृहीत । णिस्सल्ला मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन च रहिता । मंदरुव्व गिक्खप्पा मंदर इव निश्चला । जस्स दढा जिणभत्ती यस्य जिते भक्तिर्दुहा । ण तस्स भयमपि संसारे तस्य भय नास्ति संसारात् । जिनशब्देनावर्हदादयः । सर्वे एवोच्यन्ते । कर्मैकदेशानां च जयात् धर्मोऽपि कर्मण्यभिभवति इति जिनशब्देनोच्यते । द्रव्यलाभादिकमनुदिश्य प्रवृत्तेस्तत्कथयति ।



संवेगजणियकरणा इत्यनेन संसारभयनिराकरणोपायभूता जिनभक्तिरिति आत्मा प्रवृत्तेति यावत् । वैनीयकिमित्याद्ये सर्वत्र भक्तिः प्रवर्तते इति तन्निरासाय निस्सङ्गा इत्युच्यते । मंदरुच्य णिक्कपा इत्यनेन सर्वकालवृत्तितत्त्वात् । सासादनं सम्यग्दृष्टीजातव्यल्पकाला न संसारान्निस्सारयतीति ॥

जिनभक्तिमाहात्म्यमभिधौति—

मूलार—संवेगजणिदकरणा संसारभीरुतया न द्रव्यलाभादिना कुतोत्पाद्यकरणशब्दो खत्रोत्पत्त्यर्थः । निस्सङ्गा मिथ्यात्वभायानिदानरहिता । वैनीयकिमित्याद्येः सर्वत्र भक्तिः प्रवर्तते इति तन्निरासार्यं इदं । मंदरोच्य णिक्कपा सर्वकालवर्तिनी न सासादनसम्यग्दृष्टिवदल्पकाला । दृढा अभेद्या । जिनभक्ती जिनशब्देनान्न पचाप्यर्हदादय उच्यन्ते । कर्मणा-मेकदेशेन साकल्येन च जयात् । तथा धर्मोऽपि ससारे संसारात् । जिनादिभक्त्या हि सुदेवत्वसुभासुपलक्षणै सुखानुबन्धिन्वेव भवे भ्रान्त्यति । उक्तं च ।

संसारभीरुतोत्पन्ना निःशल्या मंदराचला ।

जिनभक्तिर्दृढा यस्य नास्ति तस्य भवाङ्कयम् ॥

भक्तिके माहात्म्यका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—संसार से भय उत्पन्न करनेवाली, माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शक्तियोंसे रहित, मंदर पर्वतके समान निश्चल ऐसी जिनमें जिसकी दृढ भक्ति है उस मुनिको संसारसे भय नहीं रहता है, यहां जिनशब्द से पंच परमेष्ठियोंका ग्रहण होता है, जैसे अर्हन्त और सिद्ध परमेष्ठियोंने धातिकर्मका नाश किया है वैसे आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेष्ठियोंने धातिकर्मका एकदेशसे नाश किया है इसलिये उनको भी जिन कहते हैं, धर्म भी कर्मोंका पराभव करता है अतः उसको भी जिन कह सकते हैं द्रव्यलाभादिककी अपेक्षा न करके की हुई जिनभक्ति कर्मनाश करती है, यह भक्ति संसारभय दूर करनेवाली है, वैनीयकि मिथ्यादृष्टीकी सर्वत्र भक्ति रहती है, उसका निरासन करनेके लिये जिनभक्ति को निस्सङ्गा यह विशेषण दिया है, 'मंदरुच्य णिक्कपा' यह विशेषण सर्वकाल जिन भक्ति रहती है, सासादनं सम्यग्दृष्टिके समान वह अल्प कालिक नहीं है ऐसा अभिप्राय व्यक्त करता है, सासादनं सम्यग्दृष्टिकी भक्ति अल्पकालही रहती है अतः उसमें संसार नाश करनेका सामर्थ्य नहीं है.

वैयावृत्यस्य पात्रलभगुणमाचष्टे—

पंचमहव्वयगुत्तो णिगहिदकसायवेदणो दंतो ॥

लब्भदि हु पत्तभूदो णाणासुदरयणणिधिभूदो ॥ ३१९ ॥

निःकषायो यतिदान्तः पात्रभूतो गुणाकरः ॥

महाव्रतधरो धीरो लभते श्रुतसागरम् ॥ ३१९ ॥

विजयोदया—पंचमहाव्वयगुत्तो पंचभिर्महाव्रतैः कृतास्त्रवनिरोध । णिगहिदकसायवेयणो निगृहीतकषाय-  
वेदन' कषायस्तु तपायत्यात्मानमिति वेदना । दंतो दातः शातरागजदोष । परिस्नानाद्वैराग्यभावनात् प्रशातराग इति  
कृत्वा दात इत्युच्यते । लब्भदि खु पत्तभूदो लभ्यते पात्रभूत । णाणासुदरयणनिधिभूदो नानाश्रुतरत्ननिधिभूतः ॥

पात्रलभगुणमाह—

मूलारा—गुत्तो कृतास्त्रवनिरोधः । वेदणा उदयः । लब्भदि लभ्यते वैयावृत्यात् । आपन्नादारं हि सर्वोऽय्याश्रयति ।

अर्थ—अहिंसादि पांच महाव्रतोंसे बंद किया है कर्मका आगमन जिसने, कषाय आत्माको संतप्त करते हैं, अर्थात् दुःखित करते हैं, अतः जिसने कषायसे उत्पन्न होनेवाली वेदनाको शांत कर दिया है, रागभावसे उत्पन्न होनेवाले दोष जिसके शांत हुए हैं, अर्थात् ज्ञान और वैराग्यसे जिसका रागभाव शांत हुआ है, जो नानाप्रकारके श्रुतज्ञानरूपी रत्नोंका निधि है ऐसा सत्पात्र मुनि वैयावृत्य करनेसे प्राप्त होता है।

दंसणणो तव संजमे य संघाणदा कदा होइ ॥

तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो चेव ॥ ३२० ॥

दर्शनज्ञानचारित्रसंधानं क्रियते यतः

रत्नत्रयात्मके मार्गे स्थाप्येते स्वपरो ततः ॥ ३२० ॥

विजयोदया—दंसणणो दर्शनज्ञानयोः तवसंजमे य तपश्चारित्रयोश्च । संघाणदा होदि कुतश्चिन्निमित्ता-  
द्विच्छिन्नाना दर्शनादीना संधानं कृतं भवति वैयावृत्येन । तो तस्मात् तेनैव वैयावृत्यकारिणा सिद्धिमग्गे रत्नत्रये ।  
ठविदो अप्पा परो चेव स्थापित आत्मा परस्मै । अनया संधानमित्येतत्सूत्रपदव्याख्यानम् ॥

कुतश्चिन्निमित्ताद्विच्छिन्नानां दर्शनाद्रीनां संधानं वैयावृत्येन क्रियते इत्यावेदयति ।

मूलारा—तेन वैयावृत्यकारकेण ।

अर्थ—किसी कारणसे यदि सम्यग्दर्शन और चारित्र्य तप और संयम इनमें मिश्रित हुआ हो तो वैयावृत्य के द्वारा वे पुनः जुड़ जाते हैं, इस लिए वैयावृत्य करनेवाले व्यक्तीने अपने को और जिसका वैयावृत्य किया गया है उसको मोक्षमार्गमें—रत्नत्रयमें स्थापन किया है ऐसा समझना चाहिये, इस मायासे 'संधान' इस सूत्रका व्याख्यान हुआ है.

तव इत्येतद्व्याख्यालुमाह—

वेङ्गावञ्चकरो पुण अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ॥

पप्फोडितो विहरदि बहुभवाधाकरं कम्मं ॥ ३२१ ॥

वैयावृत्यं तपोन्तस्यं कुर्वतानुत्तरं मुदा ॥

वेदनाश्चापदाधारा भिग्यंते कर्मभूधरा ॥ ३२१ ॥

विजयोदया—वेङ्गावञ्चकरो पुण वैयावृत्याल्ये तपसि समाधिमैकाग्रतामुपाश्रित । पप्फोडितो विहरदि विधूनयन्विहरति । बहुभवाधाकरं कम्म बहुभवेषु माया संपादयत्कर्म ।

वैयावृत्यकृत्यं तपोगुणं न्याचष्टे—

मूलारा—तवसमाधिं तपसि वैयावृत्याल्ये समाधिमैकाग्रताम् ।

अर्थ—वैयावृत्य करनेवाले मुनि वैयावृत्य नामके तपमें एकाग्र होकर अनेक भोगोंमें माया उत्पन्न करने-वाले कर्मका नाश करते हुए रत्नत्रयमें विहार करते हैं

जिणसिद्धसाहुधम्मा अणागदातीदवट्टमाणगदा ॥

तिविहेण सुद्धमदिणा सव्वे अभिपूइया होति ॥ ३२२ ॥

अथा विशुद्धचित्तेन कालत्रितयवर्तिनः

सर्वतीर्थकृतः सिद्धाः साधवः संति पूजिताः ॥ ३२॥

विजयोदया—जिणसिद्धसाधुधर्मा तीर्थकृत, सिद्धा, साधवो, धर्मश्च । अणागदातीदवट्टमाणगदा सर्वे त्रिकालवर्तिन । सर्वे त्रिविधेण पूजिता होति सर्वे मनोवाक्यैः पूजिता भवन्ति । सुद्धमङ्गणा शुद्धचेतसा । तीर्थकृदादयः स्तदङ्गासंपादनाव्यूजिताः, दशविधे धर्मे तपसोऽन्तर्भावद्वैयवृत्त्यस्य च तदन्तर्गतत्वाद्वैयवृत्त्ये आदरात् तत्प्रवृत्तेश्च धर्मे पूजितो भवति ॥

वैयवृत्त्यकारिणा त्रैकालिकजिनादीना पूजा संपाद्यते इत्युपदिशति ।

मुलारा—अभिपूजिता जिनादयस्तदङ्गासंपादनाव्यूजिता भवति । दशविध धर्मे तपसः सद्भावद्वैयवृत्त्यस्य च तदन्तर्गतत्वात्तदारात्तत्र प्रवृत्तेश्च धर्मः पूजितो भवति ।

अर्थ—जो मुनि वैयवृत्त्य करता है उसने भूतकालीन, वर्तमान कालीन और भविष्यत्कालीन तीर्थकर, सिद्धपरमेष्ठी, साधु और धर्मे इनका शुद्ध अन्तःकरणसे मनवचन कायसे पूजन किया है ऐसा समझना चाहिये। वैयवृत्त्य करना चाहिये ऐसी तीर्थकरादिकोंकी आज्ञा है उसका पालन करनेसे तीर्थकरादिकोंकी पूजा की ऐसा अभिप्राय है, उच्चम क्षमादि दशप्रकारके धर्ममें तपका अन्तर्भाव है और तपमें भी वैयवृत्त्यका अन्तर्भाव है, वैयवृत्त्य में आदर और उसका आचरण करनेसे धर्म का भी पूजन किया ऐसा माना जाता है,

वैयवृत्त्यं दशविधं आचार्योपाध्यायतपस्विशिक्षकलानगणकुलसप्तसाधुमनोहमेवेन । तत्राचार्यवैयवृत्त्यमाहात्म्यकथनायाच्ये—

आइरियधारणाए संघो सब्बो वि धारिओ होदि ॥

संघस्स धारणाए अब्बोच्छिची कया होई ॥ ३२३ ॥

सुरिधारणया संघः सर्वो भवति धारितः ॥

न साधुभिर्विना संघो भूहैरिव काननम् ॥ ३२३ ॥

विजयोदया—आयसियधारणाए आचार्यधारणात्, संघो सब्बो वि धारिओ होदि सर्वे संघोऽवधारितो भवति । कथं ? आचार्यो हि रत्नत्रय ग्राहयति । शुधीतरत्नत्रयास्तेषु दृढयति । अतिवाराज्ञातानप्यपनयति । तदुपदेश

वलेनैव गुणसंहतिरूपता धत्ते संघो नान्यथेति संघो धारितो भवति । संघधारणया गुणमाचष्टे । संघस्स धारणाए अवोच्छिन्ती कदा होदि धर्मेतीथस्याभ्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य अभ्युच्छित्तिं कृता भवति । उपाध्यायादयः सर्व एव साधयन्ति निरवशेषकर्मोपायमिति साधुशब्देनोच्यते ॥

वैयावृत्यसाध्यां धर्मेतीथस्याव्युच्छित्तिं गाथाद्वयेन व्याचिख्यासुराचार्योपाध्यायतपस्विभैक्षलग्नगणकुल-संघसाधुमनोहविषयभेदादशविधेऽपि वैयावृत्ये धर्मोपायवैयावृत्यस्यैव करणीयतमत्वरूपणार्थमिदमाह —

मूलारा—आयरियधारणाए पंचाचारावरणवंचुराचार्यस्तस्य धारणा स्वकर्मसामर्थ्यशक्तिमित्तव्यावर्तनेन स्वकर्मसामर्थ्यापादनं वैयावृत्यकरणं इति यावत् । संघो वहूना परमार्थहितसाधनाभिमुख्यपरिणतिलक्षणभावप्रत्यासत्तिरूपः समुदाय । स च प्रतिबंधकापायतारतम्यप्रवृत्तधर्मासुष्ठानभेदाच्चतुर्विधः । धारिउ । आचार्यो हि रत्नत्रयं मुमुक्षुन् ग्राह्य-ति । गृहीतरत्नत्रयांस्तत्र द्रढयति । अतीचाराज्ञातानप्यनयति । तदुपदेशपालनेनैव गुणसंहतिरूपता धत्ते संघो नान्यथे-त्याचार्यधारणात्संघो धारितः स्वरूपे व्यवस्थापितो भवति । अवोच्छिन्ती धर्मेतीथस्य अभ्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य संतत्या प्रवृत्तिः ।

वैयावृत्यके आचार्ये वैयावृत्य, उपाध्याय वैयावृत्य इत्येक प्रकार दश भेद हैं आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी शिक्षक, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ ऐसे मुनिओंके दस भेद हैं. इन दसोंका वैयावृत्य करना योग्य है इस लिये इनकी अपेक्षासे वैयावृत्यके भी दस भेद होते हैं. उसमें आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य कहते हैं—

तेष्वन्यतमस्य साधोर्धारणायां गुणं कथयति—

साधुस्स धारणाए वि होइ तह चैव धारिओ संघो ॥

साधू चैव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो ॥ ३२४ ॥

साधुधारणया संघं सर्वो भवति धारितः ॥

न साधुभिर्विना संघो भूरुहैरिव काननम् ॥ ३२४ ॥

विजयोदया—साधुस्स धारणाए एकस्य साधोर्वाग्यवृत्यकरणेन धारणाया । होदि भवात् । तह चैव तथैव आचार्यधारणात् संघधारणात् । धारिदो संघो धारितो यति समुदाय ॥ कथमेकस्य धारणाया समुदायावयवयोर्भेदोदि

त्याशक्तानामाह—“साधू चेव हि संघो साधव एव हि सत्र” । न हि संघो साधुविरिक्तो नैव संघो नामार्थान्तरभूतोऽस्ति साधुव्यतिरिक्त । कथं चित्समुदायावयवयोरव्यतिरेक इति मन्यते गाथाद्वयेनानेन । अव्युच्छित्सिर्व्याख्याता ।

सिद्धं साधयंतीति नवायुगपद्यादयः साधवः, अतस्तेष्वन्यतमस्यापि वैयावृत्यकरणे गुणं दर्शयति—  
मूलार—साधुस्स उपाध्यायादीनामन्यतमस्य । तद्य चेव आचार्यधारणातः संघधारणावतः । संघो यतिसमुदायः साधुविरिक्तो समुदायावयवयोः कथंचिदव्यतिरेकात्साधव एव संघ इति व्यवचिह्नयते ॥

उसमें आचार्यवैयावृत्यका माहात्म्य कहते हैं—

अर्थ—वैयावृत्य कर आचार्यको रत्नत्रयमें स्थिर करनेसे संघको रत्नत्रयमें स्थिर किया सरिखा हो जाता है, क्योंकि, आचार्य महाराज शिष्योंको रत्नत्रय ग्रहण कराते हैं, जिन्होंने रत्नत्रयका स्वीकार किया है उनको उसमें दृढ़ करते हैं, अतिचार उत्पन्न होनेपर उनको दूर करते हैं, उनके उपदेशके माहात्म्यसे ही संघ अपनेमें गुणोंका समूह धारण कर सकता है अन्यथा वह गुणों को नहीं धारण करेगा इस लिये आचार्य को धारण करनेसे संघका भी धारण होता है संघको धारण करनेसे अशुद्ध और मोक्षसुख देनेमें कारणभूत धर्म अव्याहत रूपसे प्रचलित होता है.

उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष वगैरेह को साधु कहते हैं, क्योंकि वे संपूर्ण कर्मका नाश अर्थात् मोक्ष को साधते हैं. उपाध्यायादिक साधुओंमेंसे किसी एक साधुको रत्नत्रयमें धारण करनेमें कोनसा गुण है इसका उच्च आचार्य कहते हैं—

जैसे आचार्यका वैयावृत्य करनेसे संघका धारण होता है वैसे एक साधुको वैयावृत्य कर रत्नत्रय में स्थिर करनेसे संघका धारणा होता है अर्थात् यतिओंका समुदाय रत्नत्रयमें स्थिर होता है, एक साधुको रत्नत्रयमें स्थिर करनेसे समस्त यतिसमूह को कैसा धारण कर सकते हैं ? क्योंकि समुदाय और अवयव परस्पर भिन्न है, इसका उत्तर ऐसा है—साधु हि संघ है. साधुओंसे संघ भिन्न पदार्थ नहीं है. क्योंकि समुदाय और अवयव परस्परसे कथंचित् अभिन्न है. इसप्रकार अव्युच्छित्ति गुणका दोन गाथाओंसे विवेचन किया है.

सिद्धिसुखे चेतस एकाग्रता समाधिरित्युच्यते तदुपगृह्णं कृतं भवतीत्याचष्टे—

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तरविहीहिं विहरमाणेण ॥

जा सिद्धिसुहसमाधीं सा वि य उवगूहिया होदि ॥ ३२५ ॥

एवं गुणपरिणामप्रमुखैर्विविधैः परैः ॥

प्राप्यते वर्तमानेन समाधिः सिद्धिशर्मणा ॥ ३२६ ॥

विज्ञयोदया—गुणपरिणामादीहिं य गुणपरिणामः, श्रद्धा, वात्सल्यं, भक्तिः, पात्रलाभः, संधान, तपः, पूजा, तीर्थान्युच्छितिः, क्रियेत्येतैः । अणुत्तरविहीहिं प्रकष्टैः क्रमैः । विहरमाणेण आचरता । जा सिद्धिसुहसमाधी सिद्धिसुखे-काग्रता । सा वि य उवगूहिया होह सात्यालिगिता भवति । कारणे ह्यादरः कार्ये समाधानमंतरेण न प्रवर्तते । न हि सात्ये-ष्टे चेतस्यसति तदुपायभूतदडदिकारणकलापे जनः प्रवर्तते । इह च गुणपरिणामादय उपायाः सिद्धिसुखस्य न च सिद्धिसुखैकाग्रतामंतरेण ते युज्यते इति भावः ।

वैयावृत्त्यसाध्यसिद्धिसुखसाधनगुणपरिणामादिनवकाचरणपरेण मुमुक्षुणा सिद्धिसुखैकनिष्ठमत्तकतालक्षणः समाधिः प्राप्यत इत्यादर्शयति—

मूलारा—अणुत्तरविहीहिं उत्कृष्टक्रमैः । अवगूहिदा आलिगिता । सिद्धिसुखसमाधिपरिणतो वैयावृत्त्यकरः स्यादित्यर्थः ॥ उक्तं च—

एवं गुणपरिणामप्रमुखैर्विविधैः परैः ॥

प्राप्यते वर्तमानेन समाधिः सिद्धिशर्मणा ॥

सिद्धिसुखमें चित्तकी एकाग्रता होना समाधि है. वैयावृत्त्य करनेसे उसका संरक्षण होता है इस विषयका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—गुणपरिणाम, श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, संधान, तप, पूजा और तीर्थान्युच्छिति ऐसे नउ उत्कृष्ट क्रमोंसे आचरण करने वाले मुनिके द्वारा सिद्धिसुखमें एकाग्रता नामक गुणकी प्राप्ति की जाती है. अर्थात् वैयावृत्त्य करनेवाली व्यक्ति सिद्धिसुखकी एकाग्रतामें परिणत होती है. कारणोंमें जो आदर किया जाता है वह कार्य के विषयमें एकताको करता है. अर्थात् कारणोंका संग्रह करनेसे उससे इष्ट कार्यकी सिद्धि होती है. परंतु यदि

मन में घट बनानेका विचार न होगा तो उसको बनानेके लिये दंड, चक्र, मृत्तिकादि कारणसमुदाय की प्राप्ति में जन प्रवृत्त नहीं होते हैं. प्रकृत प्रकरणमें गुणपरिणामादिक सिद्धिसुखकी प्राप्ति के उपाय हैं इस लिये वे सिद्धिसुखकी एकाग्रताको जोड़े बिना नहीं रहेंगे.

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होति ॥

णिग्गहियाणि कसारिधियाणि साखिल्लदा य कदा ॥ ३२६ ॥

जिनाङ्गा पालिता सर्वा विजित्य गुणहारिणः ॥

कृतं संयमसाहाय्यं कषायेन्द्रियवैरिणः ॥ ३२६ ॥

विजयोदया—अणुपालिदा य आणा अनुपालिता च आङ्गा भवति वैयावृत्यं कुर्वता । केपां ? तीर्थकुदादीना । पतेन आणा इत्येतत्सूत्रपदं व्याख्यातं भवति । संजमजोगा य पालिदा होति इत्यनेन संयमपदव्याख्या कृता संयमेन सह संबधः आचार्यादीना । पालिदा होति रक्षिता भवति । व्याख्यापद्धताना रोगपरीपद्धानसंक्षेपेन धारयिमुत्समर्थाना । अथवा संयमो योगाश्च तथासि अनशनावितपोविशेषा रक्षिता भवति । स्वस्य परेषा च करणानुमननाभ्यां स्वस्यापाक्षि-  
रासेन स्वस्थतोपजातसामर्थ्यादीनां संयमसंपादनात् । परेषा सहायता व्याचष्टे—जहा इति वाक्यशेषाव्याहारेण सूत्र-  
पदानि सयधनीयानि । यस्माभिगृहीतानि कषायैन्द्रियाणि तद्दोषोपदेशं कुर्वता तस्मात्साखिल्लदा य कदा सहायता कृता ॥

मूलरा—संजमजोगा आचार्यादीना संयमेन सह संबधं । अथवा स्वस्य परेषा च संयमो, योगाश्चानशनादि-  
तपोविशेषाः । स्वस्य हि परैर्वैयावृत्यं कारयित्वा क्रियमाणं वानुमत्य स्वास्थ्यं प्राप्तं परेषामप्यापाक्षिरासेन स्ववत्संयमयोग-  
रक्षा करोति । साखिल्लदा संयमं साधयतं साहाय्यक कृतं भवति । कषायैन्द्रियोपदेशं लक्षणवैयावृत्यकारिणा । कथं ?  
यस्माभिगृहीतानि भवन्ति कषायेन्द्रियाणि तद्दोषोपदेशं कुर्वता ॥

अर्थ—जो भुनि वैयावृत्य करते हैं वे तीर्थकरादिकोंकी आज्ञा पालते हैं ऐसा समझना चाहिये “ अणु पालिदा य आणा ” इस वचनसे आज्ञा नामक सूत्रपदका व्याख्यान हुआ. ‘ संजमजोगा य पालिदा होति ’ इस वचनसे संयमपदका व्याख्यान हुआ. रोगादि आपत्तिओंसे ग्रसित होनेसे जो रोगादि परिपद्दोंको बिना संक्षेपसे धारण करनेमें असमर्थ हैं ऐसे आचार्यादिकोंकी वैयावृत्यके द्वारा शुश्रूषा करनेवाले भुनि उनको संयमसे संवद्ध कर देते हैं. अर्थात् वैयावृत्य किया जानेसे आचार्यादिक असंयमी न बनकर संयममें ही स्थिर रहते हैं. अथवा शुश्रूषासे उनके



संयम और अनशनादि तर्पका रक्षण होता है, स्वतःका वैयावृत्य दुसरोसे कराकर अथवा करनेवालोंको अनुमोदन देकर रोगादिकोसे निवृत्त हुआ साधु दुसरोकी आपत्तिओंको दूर कर स्वतःके सदृश उनके संयम और योग की रक्षा करता है. ऐसा कार्य करनेसे संयमकी सिद्धि करनेवाले मुनिओंको साहाय्य किया जानेसे साखिलता नामक गुणकी सिद्धि होती है. वैयावृत्य करनेवाला मुनि इंद्रिय और कर्मायोंके दोष आपद्ग्रस्त मुनिओंको दिखाता है तब वे इंद्रियनिग्रह और कर्मायनिग्रह करते हैं. इस लिये वैयावृत्य करनेवालेने इस कार्यमें सहाय किया ऐसा माना जाता है.

अदिसयदाणं दत्तं णिव्विदिगिञ्छा य दगिसिद्धा होइ ॥

पवयणपभावणा वि य णिव्वूढं संघकज्जं च ॥ ३२७ ॥

दत्तं सातिशयं दानमचिकित्सा च दर्शिता ॥

संघस्य कुर्वता कार्यं वाक्यं भावयताहताम् ॥ ३२७ ॥

विजयोदया—अदिसयदाणं दत्तं अतिशयदानं दत्तं भवति । रत्नत्रयदानात् । णिव्विदिगिञ्छा य दगिसिद्धा होइ सम्यग्दर्शनस्य गुणो निर्विचिकित्सा नाम सा प्रकटिता भवति । द्रव्यविचिकित्सा निरस्ता शरीरमलाना निराकरणाय जुगुप्सा विना । पवयणपभावणावि य प्रवचनमागमस्तदुक्तार्थानुमननात् प्रवचनप्रभावना भवति । णिव्वूढं संघकज्जं च संघेन कर्तव्यं कार्यं च निश्चयेन संपादितं भवति । एतेन कज्जणुणाणि इत्येतद्व्याख्यातम् ।

रत्नत्रयदाननिर्विचिकित्सताप्रकटनप्रवचनप्रभावनासंघकार्यनिर्वहणलक्षणगुणचतुष्टयं वैयावृत्यफलं व्याख्यलु-

भिदमाह—

मूला—अदिसयदाणं लोकोत्तरदानं, लोकोत्तमस्य रत्नत्रयस्य व्यापत्तिव्यपनोदनेन संपादनात् । णिव्विदिगिञ्छा द्रव्यविचिकित्सानिरासः, पुरीषादिदेहमलपनयनात् । पवयणपद्मावणा आगमोक्ताथोपश्रान्तान्महात्म्यप्रकाशनं, वैयावृत्यकृता कृतं स्यात् । णिव्वूढं निश्चयेन संपादितं स्यात् ॥

अर्थ—वैयावृत्य करके आपद्ग्रस्त मुनिओंको रत्नत्रय का दान दिया जानेसे अतिशयदान नामक गुण की सिद्धि होती है. वैयावृत्य करनेसे निर्विचिकित्सा गुणकी प्राप्ति होती है. यह निर्विचिकित्सा सम्यग्दर्शनका गुण है. जुगुप्साके विना रोगी मुनीके विष्णामृत्नादि मल दूर करनेसे द्रव्यविचिकित्साका त्याग होता है, वैयावृत्य करनेसे

आगमकी प्रभावना होती है क्योंकि आगममें वैयावृत्य करनेका उपदेश किया है और वैयावृत्यकारक उसको प्रमाण मानकर वैयावृत्य करता है वैयावृत्य करनेसे संघको अपना कर्तव्यसंपादन करनेका श्रेय प्राप्त होता है. इस वचनसे 'कज्जणुणणि' इस पदकी व्याख्या हो चुकी.

वैयावृत्यस्य फलमाहात्म्य दर्शयति—

गुणपरिणामादीहिं य विज्जावच्चुज्जदो समज्जेदि ॥

तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं ॥ ३२८ ॥

एवं गुणाकरीभूतं वैयावृत्यं करोति यः ॥

लभते तीर्थकृत्ताम त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥ ३२८ ॥

विजयोदया—गुणपरिणामादीहिं य गुणपरिणामादिविभिः कारणभूतैः । पुण्णं तित्थयरणामकम्मं समज्जेदि । पुण्यं तीर्थकरनामकर्म समर्जयति । कीदृक् ? तिलोयसंखोभयं त्रैलोक्यसंक्षोभकारणक्षमं ॥

वैयावृत्यस्य परमं फलं तीर्थकरत्वनामकर्माख्यं परमपुण्यं दर्शयति—

मूलारा — स्पष्टम् ।

वैयावृत्यके फलका माहात्म्य वताते हैं—

अर्थ—वैयावृत्य करनेवाला मुनि गुणपरिणाम वगैरे गुणोंकी साहाय्यतासे त्रैलोक्यको क्षुब्ध करनेमें समर्थ ऐसा तीर्थकर नामकर्मका पुण्य वांध लेता है.

एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य ॥

अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झायं चेव कुब्बंतो ॥ ३२९ ॥

लभमानो गुणानेवं वैयावृत्यपरायणः ॥

स्वस्थः संपद्यते साधुः स्वाध्यायोद्यतमानसः ॥ ३२९ ॥

स्थविरस्य प्रमाणस्य शास्त्रज्ञस्य तपस्विनः ॥

आर्थिकासंगतेः साधोरपवादो दुरुत्तरः ॥ ३३१ ॥

विजयोदया—धेरस स्थविरस्य । तवस्विस्य वि अनशनादितपस्युद्यतस्यापि । बहुसुदस्य वि बहुश्रुतस्यापि । प्रमाणभूदस्स प्रमाणभूतस्य । अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि आर्यपरिचयाज्जनपवादो भवति ।

मूलारा—तवस्विसस्य अनशनादितपस्युद्यतस्य । जणजंपणयं लोकापवादः ।

अर्थ—मुनि वृद्ध, तपस्वी, अर्थात् उपवास, अवमोदयं, रसपरित्याग वगैरे तप करनेवाला, बहुश्रुत और जनमान्य होने पर भी यदि वह आर्थिकाका सहवास करनेवाला होगा तो वह लोगोकी निंदाका स्थान वनेगाही आर्थिकाके साथ परिचय होनेस उसकी निंदा होना दुर्निवार है।

किं पुण तरुणो अबहुस्सुदो य अणुकिट्ठवचरित्तो वा ॥

अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं ण पावेज्ज ॥ ३३२ ॥

न किं यूनोऽल्पविद्यस्य मंदं विदधतस्तपः ॥

कुर्याणस्यार्थिकासंगं जायते जनजल्पनम् ॥ ३३२ ॥

विजयोदया—किं पुण ण पावेज्ज जणजंपणयं किं पुनर्न प्राप्नुयाज्जनपवादं वा ? प्राप्नोति नियोगतः । केन ? अज्जासंसग्गीए आर्यगोष्ठ्या । क' ? तरुणो अबहुस्सुदो अणुकिट्ठवचरित्तो य तरुणो यतिरबहुश्रुतोऽनुकृष्टतपश्चा-  
रित्रश्च ॥

मूलारा—अणुकिट्ठं अनुकृष्टं । अज्जासंसग्गीए आर्यजनगोष्ठ्या ॥

अर्थ—जो तरुण है, बहुश्रुतता जिसमें नहीं है अर्थात् जिसमें हिताहितका विचार कम है, जो उत्कृष्ट चारित्रिका धारक नहीं है ऐसा यदि आर्थिकाके संसर्गसे जननिंदाको प्राप्त न होगा क्या ? अवश्य होगा। तात्पर्य यह है कि, जब विवेकपूर्ण, महान् तपस्वी और लोकभाष्यतायुक्त ऐसा मुनि भी आर्थिकाके सहवाससे अपकीर्तिका पात्र बनता है तो इतर अल्पज्ञ मुनिओंके विषयमें क्या कहना चाहिये।

जदि वि सयं थिरबुद्धी तहा वि संसंगिलद्धपसराए ॥  
अगिसमीवे व घदं विलेज्ज चित्त खु अज्जाए ॥ ३३३ ॥

आर्थिकामानसं सद्यो यतिसंगे विनश्यति ॥  
सर्पिर्वन्धेः समीपे हि काठिन्यं किं न मुंचति ॥ ३३३ ॥  
स्वयं साधोः स्थिरत्वेऽपि संसर्गप्राप्तघृष्टता ॥  
क्षिप्रं विभावसो संगे सा लाक्षेव विलीयते ॥ ३३४ ॥

विजयोदया—जदि वि सय थिरबुद्धी यद्यपि स्वयं स्थिरबुद्धि । तदा वि तथापि । संसंगिलद्धपसराए सस न केवलमायजिन एव परिहरणीय, किं तु—  
मूलारा—थिरबुद्धी स्थिरचित्तो यतिः । संसर्गियतिना सह गोष्ठी तथा लब्धः प्रसरश्चित्तोत्साहो यया । विलेज्ज

विलीयते ॥

अर्थ—मुनि यद्यपि स्थिर बुद्धिका धारक होगा तो भी मुनिके सहवाससे जिसका चित्त वंचल हुआ है—  
ऐसी आर्थिकाका मन अधिके समीप घी जैसा पिघल जाता है वैसे पिघलेगा इस वास्ते मुनि और आर्थिका दोनों  
कोभी अन्योन्य परिचय छोड़नाही योग्य है.

सञ्जत्य इत्थिवग्गमि अपमत्तो सया अवीसत्थो ॥  
णित्थरदि वंमचेरं तव्विवरीदो ण णित्थरदि ॥ ३३४ ॥  
अविश्वस्तोऽगनावर्गे सर्वत्राप्यप्रमादकः ॥  
ब्रह्मचर्यं यतिः शक्तो रक्षितुं न परः पुनः ॥ ३३५ ॥

विजयोदया—सञ्जत्य इत्थिवग्गमि सर्वसिद्धेव स्वीवर्गे वालाकन्याम व्यमास्थविरासुरूपविरूपेति विचित्रभेदे ।  
अपमत्तो अप्रमत्त प्रमादरहितः । सदा अवीसत्थो विश्वासरहितः । णित्थरत्थ निस्तरति वमचेर ब्रह्मचर्यं । तव्विवरीदो  
तद्विपरीतः प्रमत्तः विश्वासवाञ्छ । ण णित्थरदि न निस्तरति ॥

न केवलं आर्यो एव त्याज्या । किं तर्हि सर्वोऽपि स्त्रीजन इत्यनुशास्ति--

मूलारा--सन्वत्थ बाला, कुमारी, युवातिर्मध्यमा, वृद्धा, सुरूपा, कुरूपा इत्यादिविविचित्रभेदे । अवीसत्था वि-  
श्वासरहितः । पितृरइ मरणतं प्रापयति ॥

अर्थ--बालिका, अविवाहित कन्या, तरुणी, मध्यम वयकी स्त्री, वृद्ध स्त्री, सुरूप स्त्री और कुरूप स्त्री  
एसे सपूर्ण स्त्रीमात्रमें मुनिको प्रमादरहित होना चाहिये. विश्वासरहित होना चाहिये, इस रीतीसे प्रवृत्ति करनेवाला  
मुनिही आजन्म अपना ब्रह्मचर्यव्रत निर्दोष पालन कर सकेगा अन्यथा नहीं. जो मुनि प्रमादी और स्त्रीजनोमें  
विश्वासयुक्त है वह अपने ब्रह्मचर्यव्रतको नहीं निभा सकेगा.

आर्यतुचरणे दोष प्रकटयति--

सन्वत्तो वि विमुत्तो साहू सन्वत्थ होइ अप्पवसो ॥

सो चेव होदि अज्जाओ अणुचरंतो अणप्पवसो ॥ ३३५ ॥

विमुत्तः सर्वतो जातः सर्वत्र स्ववशो यतिः ॥

आर्यिकानुचरीभूतो जायतेऽन्यवशः पुनः ॥ ३३६ ॥

विजयोदया--सन्वत्तो वि विमुत्तो साहू सन्वत्थ होइ अप्पवसो सर्वस्माद्वानुश्रेयवादिकाद्विमुक्तः साधुः सर्वत्र  
भवति स्ववश । सो चेव स पवात्मवश । होइ भवति । अणप्पवसो अनात्मवश । किं कुर्वन् ? अज्जाओ अणुचरतो आर्यो  
अनुचरन् ॥

मूलारा--सन्वत्तो वि सर्वस्माद्वानुश्रेयवादिकात् । विमुत्तो व्यावृत्तचित्तः । अज्जाओ आर्यिकाः अणुचरंतो अनु-  
वर्तमानः ॥

अर्थ--जो साधु घर, खेत, धनधान्यादि सर्व प्रकारके परिग्रहोंसे ममत्वरहित हुआ है, वही सर्व वस्तु  
ओमेंसे अपने मनको अलग रखकर जितेंद्रिय होता है. परंतु जो मुनि आर्यिकाके साथ परिचय रखता है वह  
अपनेको आत्माके शुद्ध स्वरूपमें तत्पर नहीं कर सकेगा. अर्थात् जितेन्द्रियता गुणको छोड़ बैठेगा. इसीलिये आर्य-  
काका परिचय मुनिओंके लिये निषिद्ध माना है.

खेलपडिदम्पणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदुं ॥  
अज्जाणुचरो ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं ॥ ३३६ ॥

आर्थिकावचने योगी वर्तमानो दुरुत्तरे ॥

शक्तो मोचयितुं न स्वं श्रेष्ठममग्रेव मक्षिका ॥ ३३७ ॥

विजयोदया—खेलपडिदम्पण श्रेष्ठापरीतमात्मान । जह ण तरि मच्छिया विमोचेदु यथा न तरति मक्षिका विमोचयितु । तह अज्जाणुचरो ण तरि अप्पाण विमोचेदु तथा आर्यानुचरो न शक्नोति आत्मानं विमोचयितु ॥

मूलारा—खेल इलेष्मा । ण तरदि न शक्नोति ॥

अर्थ—जैसे मनुष्यके कफमें अर्थात् थूकमें पड़ी हुई मक्खी उससे निकलनेमें असमर्थ होती है वैसे आर्थिकाके साथ परिचय किया हुआ मुनि भी उससे छुटकारा नहीं पाता है, अर्थात् उसका स्नेह छोड़नेमें वह असमर्थ होता है,

साधुस्स णत्थि लोए अज्जासारिस्सी खु वंधणे उवमा ॥  
चम्मेण सह अवैतो ण य सरिस्सो जोणिकसिलेस्सो ॥ ३३७ ॥

नार्या बंधेन बंधोऽन्यस्तुल्यो वृत्तच्छिदा यतेः ॥

वज्रलेपः स नो तुल्यो यो याति सह चर्मणा ॥ ३३८ ॥

ब्रह्मव्रतं सुपुष्पुर्णां स्त्रीसंसर्गेण निश्चितम् ॥

मंडूकः पद्मगेनेव भीषणेन विनाश्यते ॥ ३३९ ॥

चौराणामिव सांगत्यं पुंसा सर्वस्वरक्षिणा ॥

योगिना योपितां त्याज्यं ब्रह्मचर्यप्रपालिना ॥ ३४० ॥

इत्यार्यासंगलजनसूत्रम् ॥

विजयोदया—साधुस्स णत्थि लोए अज्जासारिस्सी खु वंधणे उवमा । साधोर्नास्ति लोके आर्यासिद्धी बंधने

उपमा । चम्पेण सह अवैतो चर्मणा सह अपगच्छन् । न य सरिसो जोणिगसिलेसो नैव सदृशः चर्मकारक्षेपः । न केवलं आर्याजनो दूरत एव परिहार्य अपि तु अन्यदपि वस्तु ॥

मूळारा—अज्जेत्यादि—अवैतो द्रव्यमुपमा उपमेयं अत्यार्थिकया सदृशं । तर्हि चर्मयोजितवज्रलेपसमवंधा मुनेरार्थिका भावीत्यतीति शंकमानं प्रत्याह । चम्पेणेत्यादि अवैतो अवगच्छन् । जोणिगसिलेसो वज्रलेप । उक्तं च—

नार्यो वंधेन वंधोऽन्यस्तुल्यो वृत्ताच्छिदा यतेः ॥  
वज्रलेपः स नो तुल्यो यो याति सह चर्मणा ॥

अर्थ—साधुके लिये आर्थिकाका सहवास ऐसा बंधन है कि उसका वर्णन करनेके लिये जगतमें दृश्यमान कोई भी बंधन उपमानरूप नहीं है, चर्मके साथ वज्रलेप भी उसके लिये उपमान नहीं है किसी चीजके ऊपर वज्रलेपके साथ चर्मका भी बंधन किया तो भी वह वस्तु उस बंधनसे युक्त होनेकी संभावना होगी परंतु आर्थिकाका परिचय ऐसा बंधन है कि उससे वह छूटना असंभव है,

अण्णं पि तहा वत्थुं जं जं साधुस्स बंधणं कुण्णदि ॥  
तं तं परिहरहं तदो होहदि दढसंजदा तुज्झ ॥ ३३८ ॥

यद्यदन्यदपि द्रव्यं किंचिद्बंधनकारणम् ॥  
तत्तन्निधा निराकृत्य जायध्वं दढसंयमाः ॥ ३४१

विजयोदया—अण्ण पि तहा वत्थु अन्यदपि तथाभूतं वस्तु । जं जं साधुस्स बंधणं कुण्ण यद्यत्साधोर्वंधन करोति अस्वतंत्रता करोति । तं तं परिहरहं तत्तत्परिहारे उद्योगं कुरुत । ततः वस्तुत्यागात् । होहदि दढसंजदा तुज्झ भवता दढसंयतता गुणो भवत्येवमिति यावत् । बाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसंयमस्तस्यागे त्यक्तो भवति ॥

न केवलमार्याजन एव दूरतस्याज्योऽपि तु—  
मूळारा—तथा तथाभूतमार्थिकासदृशमित्यर्थः । बंधण पारतंत्र्यं । तदो बंधनकारिवस्तुत्यागात् । होहिद्य भविष्यत् । दढसंजदा बाह्यवस्तुनिमित्तो ह्यसंयमस्तस्यागे त्यक्तो भवति । तुज्झे श्रुयं ॥

आर्यिकाओंका ही दूरसे त्याग करना चाहिये ऐसा नहीं परंतु इतर वस्तु भी त्यागनी चाहिये—  
अर्थ—जिस २ वस्तुसे साधु बंधा जाता है, परतंत्र होता है वह वह वस्तु हे साधुगण ! तुम छोड़नेका  
उद्योग करो. ऐसी बंधनकारक वस्तुयें छोड़नेसे तुम्हें दृढसंयमगुणकी प्राप्ति होगी बाह्यवस्तुके सहवाससे असंयम  
उत्पन्न होता है. परंतु ऐसी वस्तु तुम छोड़ दोगे तब असंयमका त्याग होगा.

पासत्यादीपणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे ॥

हंदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा ॥ ३३९ ॥

पार्श्वस्थासन्नसंसक्तकुशीलमृगचारिणः ॥

मलिनीक्रियते शद्वत्कज्जलेनेव संगतम् ॥ ३४२ ॥

कषायाकुलचित्तानां पार्श्वस्थानां दुरात्मनाम् ॥

सुजंगानामिव त्याज्यः संगदिच्छद्रगवेषिणाम् ॥ ३४३ ॥

विजयोदया—पासत्यादीपणयं पार्श्वस्थादिपंचक पार्श्वस्थ., अवसन्न. संसक्त., कुशीलो, मृगचरित्र इति पंच.  
तान् दूरतो निराकुरुत । अपरित्यागदोषमाह—मेलणदोसेण तम्मयदा होइ संसर्गदोरेण पार्श्वस्थादिमयता । तन्मयताप्रति-  
पत्तिकमव्यापनायाता गाथा ॥

अथ पार्श्वस्थादिसागत्यत्यागं गाथात्रयेणाह—

मूलारा—पासत्यादीपणयं पार्श्वस्थावसन्नसंसक्तकुशीलमृगचरितानां पंचकं । ते हि प्रच्छन्नमिध्याहृष्टयः । तथा

पासत्योसन्नकुसीलालससत्तो य होइ सच्छंदो ॥

एए पंच वि समणा जिणवयणपरम्महा भणिया ॥

हंदि जानीहि । तम्मयदा पार्श्वस्थादित्वरूपता । तल्लक्षणानि क्षपकानुशिष्टो वक्ष्यते सध्वं पतस्त्वमानि—  
वृत्तेऽलसोऽवसन्नः पार्श्वस्थो मलिनपरन्तश्चेऽनिष्टे ।



संसर्गो मृगचरितः स्वकल्पिते प्रकटकुचरितस्तु कुशीलः ॥

अर्थ—पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त, कुशील, मृगचारित्रि ऐसे पांच चारित्र्यभ्रष्ट मुनिओंका त्याग करो। यदि उनका संसर्ग करोगे तो उस संसर्गदोषसे आप भी उनके सरखि हो जाओगे, ये पार्श्वस्थादि मुनि प्रच्छन्न मिथ्यादृष्टि हैं

पार्श्वस्थादिसंर्गं कर्तुं वाच्छन्नपि—

लज्जं तदो विहिंसं पारंभं णिव्विसंकदं चेव ॥

पियधम्मो वि कमेणारुहंतओ तम्मओ होइ ॥ ३४० ॥

लज्जां जुगुप्सनं योगी प्रारम्भं निर्विशंकताम् ॥

आरोहन्निग्रयधर्मापि क्रमेणेत्यस्ति तन्मयः ॥ ३४४ ॥

विजयोदया—लज्जं लज्जा उपारोहति । तत् पश्चाद्विहिंसं असंयमजुगुप्सा करोति । कथमहमेवविध व्रतभंगं करोमि । दुरंतसंसारपतनहेतुमिति । पश्चाच्चारित्रमोहोदयात्परवशं पारंभं प्रारभते । कृतप्रारंभो यतिरारभपरिग्रहादियु निव्विसंरुद्धं चेव निर्विशंकतामुपैति । पियधम्मोवि धर्मप्रियोऽपि । क्रमेणारुहंतगो क्रमेण प्रतिपद्यमानो लज्जादिकं । तम्मओ होदि पार्श्वस्थादिरूपो भवति ॥

तन्मयताप्रतिपत्तिकमाल्यानार्यभाह—

मूलारा—लज्जमित्यादि । धर्मप्रियोऽपि लज्जादीन् क्रमेणारोहन्पार्श्वस्थादिरूपो भवति । तथा हि पार्श्वस्थादिसंसर्गं कर्तुं बालञ्चपि लज्जामारोहति तत् पश्चाद्विहिंसं असंयमजुगुप्सा प्रतिपद्यते । कथमहं एवंविधं व्रतभंगं करोमि दुरंतसंसारपतनहेतुमिति । तदनु चारित्रमोहोदयात्परवशत्वं प्रारभते । ततश्चारभपरिग्रहादियु निर्विशंकतामुपैति । ततश्च पार्श्वस्थादिरूपो भवति ॥

उनके संसर्ग करनेसे तन्मयता कैसी आती है इसका क्रम वर्णन आचार्य दिखाते हैं—  
अर्थ—प्रथमतः पार्श्वस्थादिक मुनिओंके साथ संसर्ग रखनेमें लज्जा आ जाती है, अनंतर जुगुप्सा होती है

अथात् इस अमूल्य व्रतका नाश करनेमें मैं कैसा उद्युक्त होऊँ, यह मेरा व्रतनाशकार्य दुःखदायक संसारमें पतनका कारण होगा। ऐसा विचार मनमें आनेसे उन पार्श्वस्थादिकोंके विषयमें उसको जुगुप्सा उत्पन्न होती है, नंतर चारित्र्य मोहकर्मका उदय होनेसे वह परवश होकर व्रतभंग करनेके लिये उद्युक्त होता है, व्रतभंग कर वह मुनि आरंभ परिग्रहादिकोंमें निःशंक होता है, यद्यपि वह मुनि पार्श्वस्थादिकके सहवासके पूर्वमें धर्मप्रिय था तो भी क्रमसे लज्जा, जुगुप्सा वगैरह भावोंको प्राप्त होकर पार्श्वस्थादिरूप हो जाता है, यद्यपि वह शरीरसे और वचनसे पार्श्वस्थादिरूप नहीं है तो भी मनसे वैसा हो जाता है,

यद्यपि वाक्कायाभ्या न प्रयतते तथापि मानसी पार्श्वस्थादित्वा प्रतिपद्यत इत्याचष्टे -

संविग्नस्सवि ससग्गीए पीदी तदो य वीसंभो ॥

सदि वीसभे य रदी होइ रदीए वि तम्मयदा ॥ ३४१ ॥

तेषु संसर्गतः प्रीतिर्विस्रम्भः परमस्ततः ॥

ततो रतिस्ततो व्यक्तं संविग्नोऽप्यस्ति तन्मयः ॥ ३४५ ॥

विजयोदया - संविग्नस्स वि ससारभीरोरपि यत् ससग्गीए पार्श्वस्थादिसंसर्गेण । पीदी होइ प्रीतिर्भवति । तदो य प्रीते सकाशात् । वीसभो होइ विलभो भवति । सदि वीसभे य रदी विलभे सति रतिर्भवति । पार्श्वस्थादिषु रदीए वि तम्मयदा इत्या च तन्मयता ॥

यद्यपि तत्संगत्या वाक्कायाभ्या न तदाचारे प्रयतते तथापि मानसी पार्श्वस्थादिरूपता प्रतिपद्यते इत्याचष्टे -  
मूलारा - संसग्गीए पार्श्वस्थादिसंसर्गेण । वीसंभो विश्वास । रदी पार्श्वस्थादिषु संसर्गेण चित्तविश्रान्तिः ॥  
यही आशय आगे की गार्थोंमें आचार्य कहते हैं -

अर्थ - संसारभययुक्त मुनि भी पार्श्वस्थादिकोंके सहवाससे प्रथम प्रीतियुक्त होता है, प्रीतिके अनंतर उस विषयमें मनमें विश्वास होता है, अनंतर उन्होंने चित्त विश्रान्ति लेता है अर्थात् आसक्त होता है और तदनंतर वह संसारभीरु मुनि भी पार्श्वस्थादिसंग बनता है,

संसर्गवशाद्गुणदोषो भवतोऽचेतनेष्वपीति दृष्टान्तेन बोधयति -

जइ भाविज्जइ गंधेण मट्ठिया सुरभिणा व इदरेण ॥

किह जोएण ण होज्जो परगुणपरिभाविओ पुरिसो ॥ ३४२ ॥

नानाशुभेन गंधेन मृत्तिका यदि वास्यते ॥

तदा नान्यगुणैरत्र कथ्यतां पुरुषः कथम् ॥ ३४७ ॥

विजयोद्या - जदि यदि । भाविज्जइ भाव्यते वास्यते । गंधेण गंधेन मट्ठिया मृत्तिका । सुरभिणा व इदरेण गुणै परिभावित पुरुषः ॥  
संसर्गवशाद्गुणदोषावचेतनेष्वपि स्याता किं पुनश्चेतनेष्विति दृष्टान्तावष्टभेनाचष्टे -

मूलारा - भावेज्जइ वास्यते । जोगेण संवधेन । परगुणपरिभाविदो परेणा गिष्टाना गुणैः शुभाशुभैर्धर्मैः समन्ता-  
द्वसितः ॥

संसर्गसे अचेतनपदार्थमें भी गुण और दोष उत्पन्न हो जाते हैं यही बात दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं -  
अर्थ - यदि सुगंध अथवा दुर्गंधके सहवाससे मृत्तिकाभी सुगंध अथवा दुर्गंध बनती है तो पार्श्वस्थादि-  
कोका संयोग होने पर युनि उनके गुणोंसे क्यों न तन्मय होगा ? अर्थात् होगा ही अथवा परपदार्थ यदि सुगुण  
होगा तो उससे संयुक्त होने वाला पदार्थ भी मद्गुणसंपन्न होगा और परपदार्थ यदि दुर्गुण अर्थात् दोषयुक्त  
होगा तो वह भी दोषोंसे पूर्ण होगा ही.

परगुणग्रहणमाह -

❖ जो जारिसिय मेत्ती केरइ सो होइ तारिसो चेव ॥  
वासिज्जइ च्छुरिया सा रिया वि कणयादिसंगेण ॥ ३४३ ॥

❖ मूलाराधना दर्पणमें यह गाथा तथा उसकी टीका नहीं है तथा अमितगति प्रणीत श्लोक भी नहीं

विजयोदया—दृष्टतत्वेनोपन्यस्ता मृत्तिका तुरिका च । तथा चोक्त सुरभिणा व इदरेण जारिसीति च ॥  
परगुणग्रहण ग्रह पदार्थ का स्वभाव हे ऐसा वर्णन—

अर्थ—ऊपर मट्टीका उदाहरण दिया है. इस श्लोकमें छुरीका उदाहरण आचार्य देते हैं. जैसे छुरी सुवर्णादिक की जिन्हें देनेसे सुवर्णादि स्वरूपकी दीवती है वैसे मनुष्य भी जिसकी मित्रता करेगा वैया होगा अर्थात् मनुष्य दुष्टके सहवाससे दुष्ट और सज्जनसंगसे सत्पुरुष होता है.

दुज्जणसंसर्गीए पजहदि गियगं गुणं खु सुज्जणो वि ॥

सीयलभावं उदयं जह पजहदि अगिजोएण ॥ ३४४ ॥

शिष्टोऽपि दुष्टसंगेन विजहति निजं गुणं ॥

नीरं किं नाग्नियोगेन शीतलत्वं विमुंचति ॥ ३४७ ॥

विजयोदया—दुज्जणसंसर्गीए दुष्टजनससर्गण । पजहदि गियग गुण खु सुज्जणो वि । विजहति स्वगुण सुजनोऽपि । सीयलभावं जहा उदक पजहदि शेत भाव यथा जहात्युदकं । अगिजोएण अग्निसंवंधेन । साधु. स्वगुण जहात्यनलसवच्छ जलमिवेति सहजगुणत्वागे दृष्टात. ॥

दुर्जनसंगत्यागं गाथापदकेनोपदेष्टुकामो दुर्जनसंसर्गात्सुजनस्यापि सहजगुणत्यागं दृष्टातेन समर्थयते—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—सज्जन मनुष्य भी दुर्जनके संगसे अपना उज्ज्वल गुण छोड़ देता है. अग्नीके सहवाससे ठंडा भी जल अपना ठंडपना छोड़कर क्या गरम नहीं होता ? यह सहजगुणके त्यागका दृष्टांत है. अर्थात् अग्निके सहवाससे शीतस्वभाव का जल भी अपना स्वभाव छोड़कर गरम होता है वैसे सज्जन अपने जन्मजात निर्मल गुणोंको छोड़कर दुर्जनके सहवाससे दुष्ट बनता है.

अशोभनगुणेन ससर्गात् तद्वत् स्वयमप्यशोभनगुणो भवतीति कथयति—

सुज्जणो वि होइ लहुओ दुज्जणसंमेलणाए दोसेण ॥

माला विं मोल्लगरुया होदि लहू मडयसंसिद्धा ॥ ३४५ ॥

विजयोद्या—अविसृजदो वि इत्यनया—अतीव सयतोऽपि दुर्जनकृतेन दोषेण प्राप्नोति । दोसं अनर्थं । यथोक्तकृतदोषनिमित्तं अपापोऽपि ह्रस्वो हृतः ॥

दुर्जनगोष्ठ्या देहलोकिकानर्थवद्वत्त्वमाह—

मूलारा—अपावो वि अपापोऽपि निर्दोषोऽपि ॥

दुर्जनसहवाससे देहपरलोकमें अनर्थ होता है इसका दृष्टान्तपुरःसर स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—महान् तपस्वी भी दुर्जनके दोषोंसे अनर्थमें पड़ते हैं, अर्थात् दोष तो दुर्जन करता है परंतु फल सज्जनको भोगना पड़ता है, जैसे उल्लूके दोषसे निष्पाप हंसपक्षी मारा गया.

दुर्जनगोष्ठ्या दोषांतरमाचष्टे—

दुज्जणसंसर्गीए विभावितो सुयणमज्झयारम्मि ॥

ण रमदि रमदि य दुज्जणमज्झे वेरगमवहाय ॥ ३४९ ॥

दुष्टानां रमते मध्ये दुष्टसंगेन वासितः ॥

विदूरीकृतवैराग्यो न शिष्टानां कदाचन ॥ ३५४ ॥

विजयोद्या—दुज्जणसंसर्गीए विभावितो दुर्जनगोष्ठ्या भावितः । सुजणमज्झयारम्मि सुजनमध्ये । ण रमदि न रमते । रमदि य दुज्जणमज्झे रमते दुर्जनमध्ये । वेरगमवहाय वैराग्यं परित्यज्य । दुर्जनगोष्ठ्या दोषांतरमाह—

मूलारा—वेरगमवहाय संयमं त्यक्त्वा ॥

दुर्जनसहवाससे और भी दोष होते हैं यह दिखाते हैं—

अर्थ—दुर्जनके संसर्गसे दुष्ट बना हुआ मनुष्य सुजनमें रहना अर्थात् उनकी संगति करना पसंत नहीं करता है, परंतु वह पुरुष वैराग्यको छोड़कर दुर्जनके समूह में बड़े आनंदसे रहता है.

सुजनसमाश्रयणे गुणख्यापनायोत्तरसूत्राणि—

जहदि य गिययं दोसं पि दुज्जणो सुयणवइयरुणेण ॥  
जह मेरुमल्लियंतो काओ गिययच्छविं जहदि ॥ ३५० ॥

दुष्टोऽपि मुंचते दोपं स्वकीयं शिष्टसंगतः ॥

किं मेरुमाश्रितः काको न धत्ते कनकच्छविम् ॥ ३५१ ॥

विजयोदया—जहदि य जहति निजमपि दोपं दुर्जन. सुजनमिश्रगुणेन । यथा मेरुसमाश्रयणे काको जहाति सहजामपि छायामशोभना तद्वत्ता । सतोपि दोषा नश्यति सुजनाश्रयेण ततस्ते समाश्रयणीया इति भावः ॥

सुजनसमाश्रयणे गाथासप्तकेन गुणान्याचक्षणः सुजना समाश्रयणीया इत्युपदिशति—

मूलारा—परिकरं सागत्यं । अलियंतो आश्रयन् ॥

सुजनोका सहवास करनेसे गुणोंकी प्राप्ति होती है इस विषयका वर्णन आचार्य अनेक गाथाओंसे करते हैं, अर्थ -- दुर्जन मनुष्य सज्जनोका सहवास करके उनके गुणोंसे युक्त होता है. और अपने पूर्व दोषोंको वह छोड़ता है. इसका उदाहरण यह है कि, मेरु पर्वतका आश्रय करनेवाला कोवा अपनी स्वभाविक मलिन क्रांतिका त्यागकर मेरुपर्वतकी सुवर्णक्रांतिका आश्रय करता है. अधिप्राय यह है कि सुजनसंगसे विद्यमान दोष भी नष्ट होते हैं. इसलिये उनका ही आश्रय करना योग्य है.

सुजनसमाश्रयणे अभ्युदयफल, पूजालाभ कथयति गाथा—

कुसुममंगधमवि जहा देवयसेसत्ति कारिदे सीसे ॥

तह सुयणमज्झवासी वि दुज्जणो पूइओ होइ ॥ ३५१ ॥

पूजां सज्जनसंगेन दुर्जनोऽपि प्रपद्यते ॥

देवशोपा विगंधापि क्रियते किं न मस्तके ॥ ३५२ ॥

विजयोदया—कुसुममितादिका । यथा सौगन्ध्यरहितमपि कुसुमं देवताशेषेति क्रियते शिरसि तथा साधुजन मध्यवासी दुर्जनोऽपि पूजितो भवति ॥

साधुसंगेनासाधुरपि पूजा प्राप्नोति इत्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

सुजनके आश्रयसे अमृदयफल, पूजालाभ होता है इसका विवेचन—

अर्थ—निर्गंध भी पुष्प यह देवताकी शोषा है—प्रसाद है ऐसा समझकर लोक उसको अपने मस्तकपर धारण करते हैं. वैसे सज्जनोंमें रहनेवाला दुर्जन भी लोकेसे पूजा जाता है.

द्रव्यसंयमे वाक्कायनिमित्तास्त्वनिरोधरूपे प्रवृत्तिगुणं कथयति—

संविग्गाणं मज्जे अपिपयधम्मो वि कायरो वि णरो ॥

उज्जमदि करणचरणे भावणमयमाणलज्जाहिं ॥ ३५२ ॥

कातरोऽप्रियधर्माऽपि न्यक्तं संविग्रमध्यगः ॥

भीत्रपाभावनामानैदचारित्रे यतते यतिः ॥ ३५७ ॥

विजयोदया—संविग्गाणं मज्जे इत्यनया । संसारभीरूणां मध्ये वसन्त्वपि यद्यपि धर्मप्रियो न भवति । कातर-  
श्चासुखे तथापि उद्युक्ते पापक्रियानिवृत्तौ भावनया, भयेन, मानेन, लज्जया च ॥

संयतानां मध्ये निवसन्नप्रियधर्मापि संयमे यतते इत्युपदिशति—

मूलारा—चरणकरणे पापक्रियानिवृत्तौ, भावण वासना, माण अभिमानः ॥

वचन और शरीरकी प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले आसक्तका निरोध होना यह द्रव्यसंयम है. सज्जनोंके आश्र-  
यसे इस द्रव्यसंयममें प्रवृत्ति होती है यह अभिप्राय आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—कोई भ्रुनि संसारभीरु यतिओंके साथ रहकर भी धर्मपर प्रेम नहीं करते हैं. और दुःखसे, परिपह और  
उपसर्गसे भय युक्त होते हैं. तो भी भावना, भय मान और लज्जाके वश होकर पापक्रियाओंका वे त्याग करते हैं  
तात्पर्य यह है कि, सज्जनोंका सहवास आवश्य फलप्रद होता है.

संसारभीरोरपि यतेः सुजनसमाश्रयेन गुणमभिधधाति—

संविग्गोवि य संविग्गदरो संवेगमज्झयारम्मि ॥

होइ जह गंधजुत्ती पयडिसुराभिदव्वसंजोए ॥ ३५३ ॥

संविद्यः परमां कोटिं साधुः संविद्यमध्यगः ॥

गंधयुक्तिरिवायाति सुरभिद्रव्यकल्पिताम् ॥ ३५८ ॥

विजयोदया—संविद्योऽपि इत्यनया । प्रागपि संसारमीरुज्जनं. संविद्यमध्यनिवासी संविद्यतरो भवति । यथा गंधयुक्तिः कृतको गंध प्रकृतिसुरभिद्रव्यससर्गे सुरभितरो भवति ॥

सत्संगादगुणोत्कर्षप्राप्तिमाह—

मूला—गंधयुक्ति कृतको गंधः सुरभितरो भवतीति शेषः ॥ पयडिसुरभि स्वभावसुगंधि ॥

उक्तं च—संविद्यनः परमां कोटिं साधुः संविद्यमध्यगः ॥

गंधयुक्तिरिवायाति सुरभिद्रव्यकल्पिता ॥

संसारमीरु यतीको भी सुजनके संगसे गुणप्राप्ति होती है यह कथन—

अर्थ—जो मुनि प्रथमसे ही संसारमीरु है वह संसारमीरु मुनिओंके सहवासमें रहनेसे पूर्वसे भी अधिक संसारमीरु होता है. स्वभावतः सुगंधयुक्त ऐसे कस्तुरी, चंदन वगैरह पदार्थोंके सहवाससे कृत्रिम गंध अधिक सुगंधमय बनता है.

यहव इत्येतावता चारित्र्यशुद्धा न भवद्भिः समाश्रयणीया । एक इति धा न सगुण परिहार्य इत्येतावच्छेद—

पासत्थसदसहस्सादो वि सुसीलो वरं खु एको वि ॥

जं मंसिदस्स सीलं दंसणणाचरणणि वड्ढंति ॥ ३५९ ॥

एकोऽपि संयतो योगी वरं पार्श्वस्थलक्षतः ॥

संगमेन तदयेन चतुरंगं विवर्धते ॥ ३५९ ॥

विजयोदया—पासत्थसदसहस्सादो वि पार्श्वस्थग्रहणं चारित्र्यशुद्रोपलक्षणार्थं । चारित्र्यशुद्राच्छतसहस्रादपि श्रेष्ठो वरः । संयममाश्रितस्य शीलं, दर्शनं, ज्ञानं, चारित्र्यं च वदन्ते, स भवद्भिराश्रयणीय इति भावार्थः ।

युक्तं इति चारित्र्यशुद्धा न भवद्भिराश्रयणीयाः एक इति सुशीलो न त्याज्य इत्युपदिशति—  
युक्तं च—अधिरासं समाश्रितस्य ॥



हे मुनिवृंद ! चारित्रहीन मुनि बहुत हैं ऐसा समझकर उनका आप आश्रय मत करो और सद्गुणी मुनि एकही है ऐसा समझकर उसको मत छोड़ो ऐसे अभिप्रायका कथन—

अर्थ—यहाँ पार्श्वस्थ शब्दसे चारित्रहीन मुनिओंका ग्रहण समझना चाहिये अर्थात् चारित्रहीन मुनि लक्षावधि हो तो भी एक सुशील मुनि उनसे श्रेष्ठ समझना चाहिये कारण सुशील मुनीश्वरके आश्रयसे शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य बढ़ते हैं, ऐसे ही मुनिका आप आश्रय करा ऐसा गार्थार्थ है.

संजदज्जणावमाणं पि वरं दुज्जणकदाहु पूजादो ॥

सीलविणासं दुज्जणसंसगी कुणदि ण तु इदरं ॥ ३५५ ॥

वरं संयतत प्राप्ता निंदा संयमसाधनी ॥

न त्वसंयततः पूजा शीलसंयमनाशिनी ॥ ३५० ॥

विजयोदया—संयता परिभवन्ति मामनुचरित ततः पार्श्वस्थादीनेवाश्रयामि इति न चेतः कार्यमित्याचष्टे— संजदज्जणावमाणं पि वरं संयतापमानमपि वरं । दुज्जणकदाहु पूजादो दुर्जनकृताया पूजाया । कथं ? दुज्जणसंसगी सीलविणासं कुणदि दुर्जनलसर्गः शीलविनाशं करोति । न तु इदरं न तु इतरं सयतजनावमानं तु नैव शीलविनाशं करोति ॥

संयता मा मंदावरणं अवमानयति ततः पार्श्वस्थादीनेवाश्रयामीति न चेतः कार्यमित्याचष्टे—  
मूलारा—स्पष्टम् ॥

चारित्रहीन मेरेको संयमी जन अपमानित करते हैं इस लिये पार्श्वस्थादि मुनिओंका आश्रय मैं करूंगा ऐसी बुद्धि है मुनिगण ! आपको करना योग्य नहीं है ऐसा अभिप्राय ग्रंथकार आगेकी गार्थामें कहते हैं.

अर्थ—संयमी तपस्विओने किया हुआ अपमान भी दुर्जनके द्वारा की गई पूजासे बहकर अच्छा है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि दुर्जनोंका सहवास शीलका नाश करता है परंतु संयमी मुनिओंका सहवास शीलका नाश नहीं करता है अतः सज्जनसहवासही श्रेयस्कर है

प्रस्तुतोपसंहारगाथा—

आसयवसेण एवं पुरिसा दोसं गुणं व पावति ॥

तस्मा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह ॥ ३५६ ॥

गुणदोषौ प्रजायेते संसर्गवशातो यतः ॥

संसर्गः पावनः कार्यो विमुच्यापावन ततः ॥ ३५७ ॥

विजयोदया—आसयवसेण आश्रयवशेन । एवमुक्तं क्रमेण । पुरिसा दोसं गुणं व पावति । पुरुषा दोषं गुणं वा प्राप्नुवन्ति । तस्मा पसत्थगुणमेव आसयं अल्लिएज्जाह । तस्मात् प्रसास्तगुणमेव आश्रय आश्रयेत् ॥

प्रकृतमुपसंहरति—

मूळारा—आसयवसेण—आश्रयवशेन । अल्लिएज्जाह आश्रयत यूयम् ॥

प्रस्तुत प्रकरणका उपसंहार—

अथ—मनुष्यको आश्रयके वश दीप और गुणोंकी प्राप्ति होती है- इस लिये हे मुने 'तुम उत्तम गुणपरिपूर्ण ऐसे ही आश्रयकी अर्थात् गुणयुक्त मुनिओंकी संगति करो:

पत्यं ह्रिदयाणिहं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ॥

कडुगं व ओसहं तं महरविवायं हवइ तस्स ॥ ३५७ ॥

वाच्यो गणस्थितः पथ्यमनभीष्टमपि स्फुटम् ॥

तत्तस्य कटुकं पाके भैषज्यमिव सौख्यदम् ॥ ३५८ ॥

विजयोदया—पत्यं ह्रिदयाणिहं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स पथ्यं हितं हृदयस्य अनिष्टमपि चदत आत्मीयगणे वसतः । कडुगं व ओसहं तं महरविवायं हवइ तस्स कट्वौषधमिवापि तन्मधुरविपाकं भवति । तस्य परस्य अनिष्टेन कथितेन किमस्माकं प्रयोजन । किन्तु चेति स्वयमपि इति नोपेक्षितव्यं । परोपकारः कार्यं एवेति कथयति । तथाहि—तीर्थकृतः विनियजनसंयोजनाय एव तीर्थविहारं कुर्वन्ति । महत्ता नामैवं यत्-परोपकारवद्धपरिकरता ॥ तथा चोक्त—

क्षुद्रा सति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः ।  
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेक सतामग्रणीः ॥  
दुष्पूरोदरपूरणाय पिवति स्रोतःपतिं वाढवो ।  
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छिद्ये ॥  
स्वगृध्यस्यानिष्टमपि पृथ्वं कथ्यमित्यनुशास्ति—

मूढारा—पर्यमित्यादि—परविप्रियणोक्तेन किमस्माकमिति स्वाश्रमवासी नोपेक्ष्यः यतः—

क्षुद्राः सन्ति सहस्रशः स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः ॥  
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ॥  
दुष्पूरोदरपूरणाय पिवति स्रोतःपतिं वाढवो ॥  
जीमूतस्तु निदाघसंभृतजगत्संतापविच्छिद्ये ॥

अर्थ—हे मुनिगण ! तुम अपने गणमें रहने वाले मुनिके साथ हितकर वचन बोलेो यद्यपि वह हृदयको अत्रिप हो तो भी हरकत नहीं है। जैसे कटुक भी औषध परिणाममें मधुर, कल्याणकारक होता है वैसे तुम्हारा भाषण उस मुनिका कल्याण करेगा। दूसरेको अनिष्ट बोलनेसे हमारा क्या ग्रयोजन सिद्ध होगा ? क्या दूसरा मनुष्य अपना हित स्वयं नहीं जानता है ? ऐसा विचार करके दूसरों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। परोपकार करनेका कार्य करना ही चाहिये। देखो तीर्थंकर परमदेव मन्व्य जनोको उपदेश देनेके लिये ही तीर्थविहार—धर्मविहार करते हैं, परोपकारके कार्यमें कमर कमना यही बड़प्पन है, किसी कविने ऐसा कहा है—

“ जगत्में अपना कार्य करने में ही तत्पर रहनेवाले मनुष्य हजारों की तादात में हैं, परन्तु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है ऐसा सत्पुरुषोंमें अग्रणी पुरुष एकाद ही है, बड़वानल अपना दुर्भर पेट भरनेकेलिये समुद्रका हमेशा पान करता है क्योंकि वह शुद्ध मनुष्य के समान स्वार्थी है, परन्तु मेघ ग्रीष्मकालकी उष्णतासे पीडित समस्त प्राणियोंका संताप मिटानेके लिये समुद्रका पान करता है, मेघ परोपकारी है और बड़वानल स्वार्थी है, ”

इतरेणापि श्रवणयोरनिष्टमपि तदग्राह्य इति कथयति—

पथ्य हिदयाणिष्ठं पि भणमाणं णरेण घेत्तव्वं ॥

पेहेट्टण वि छुट्ठं बालस्स घट्ठं व तं खु हिदं ॥ ३५८ ॥

स्वातानिष्टमपि ग्राह्यं पथ्यं बुद्धिमता वच-

हठतः किं न बालस्य दीयमानं धृतं हितम् ॥ ३६३ ॥

इति दुर्जनसंगवर्जनम् ।

विजयोदया—हृदयस्यानिष्टमपि पथ्य नरेण बुद्धिमता ग्राह्य इति चेतो निधाय । पेहेट्टण वि छुट्ठं अवग्रभ्यापि प्रवेशित धृत बालानां हित भवति यथा तद्वदिति यावत् ॥

हृदयानिष्टमपि शिष्टवाक्यं हितबुद्ध्या ग्राह्यमित्युपदिशति—

मूलरा—पेहेट्टण वि अवग्रभ्यापि हठादपि । छुट्ठं मुखं प्रवेशितं । तं तत् । खु स्फुटं ॥

अर्थ—शिष्यादि मुनिओने कर्णको अप्रिय भी गुरुओंका भाषण ग्रहण करना चाहिये. जैसे माता बालकको पकड़कर उसके मुखमें धृत डालती है. उससे उसका हित होता है वैसे कर्णको अप्रिय भी गुरुका भाषण हि धृतके समान हितकारक होता है ऐसा समझ कर स्वीकारना चाहिये.

अण्णपसस परिहरह सदा मा होह जसाविणासयरा ॥

अण्णण थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि ॥ ३५९ ॥

मा छेदयन्तु स्वयशो मा कार्पुं स्वं प्रशंसनम् ॥

लघवः स्वं प्रशंसन्तो जायन्ते हि तृणादपि ॥ ३६४ ॥

विजयोदया—अण्णपसस परिहरह आत्मप्रशंसा त्यजत सदा । मा होह मा भवत । जसाविणासयरा यशो-विनाशका । सन्निर्गुणे प्रख्यातमपि यशो भवता नश्यति आत्मप्रशंसया । अण्णण थोवतो आत्मानं स्तुवन् । तणलहुहो होदि हु जणम्मि तृणवल्लुधुर्भवति सुजनमध्ये ॥

आत्मप्रशंसा यशोविनाशिनीति ता त्यजेतत्यनुशालि—

मूलारा—थोवंतो प्रशंसयन् ॥

अर्थ-हे मुनिगण ! तुम अपनी प्रशंसा करना हमेशाके लिये छोड़ दो. अपनी प्रशंसा आपही करनेसे सत्पुरुषोंके द्वारा वर्णन किया गया तुम्हारा यश नष्ट होगा. जो मनुष्य अपनी प्रशंसा करता है वह जगतमें तृणके समान हलका होता है.

संतो वि गुणा कथंतयस्स णस्संति कंजिए व सुरा ॥

सो चेव हवदि दोसो जं सो थोएदि अप्पाणं ॥ ३६० ॥

स्वस्तवेन गुणा यांति कांजिकेनेव सीधुनि ॥

स दोषः परमस्तेषां कोपः संयमिनामिव ॥ ३६५ ॥

विजयोद्या - सतो वि विद्यमाना अपि। कथंतयस्स ममैते गुणा इति कथयत.। गुणा णस्संति गुणा नश्यति । कंजिएव सुरा सौवीरेण सुरेव । सो चेव हवइ दोसो स एव भवति दोष । ज सो थोएदि अप्पाणं यदात्मानं स्तौति स. ॥ स्वयं स्वगुणकीर्तने दोषमाह—

मूलारा - विकहंतयस्स एते मे गुणा इति कथयत । कंजिए काजिकेन । व यथा । कंजिएणेति पाठे यथेत्यध्याहारः । थोएदि स्तौति ।

अर्थ-जैसे कांजी पीनेसे मदिराजन्य उन्माद नष्ट होता है वैसे अपनी प्रशंसा अपने मुहसे करनेवाले मनुष्यके गुण नष्ट होते हैं. इस वास्ते अपनी स्तुति करना यह दोष है.

स्वगुणस्तवनाकरणे यदि ते नश्यंति तर्हि स्तोतव्या. स्युर्न तथा नश्यंति इत्याचष्टे—

संतो हि गुणा अकहंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्संति ॥

अकहंतस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो ॥ ३६१ ॥

अनुक्तोऽपि गुणो लोके विद्यमानः प्रकाशने ॥

प्रकटीक्रियते केन विवस्वानुदितो जने ॥ ३६६ ॥

विजयोदया—संतो विद्यमानाः । अक्रहितयस्स अभ्यापमाणस्य । पुरिसस्स पुरुषस्य । गुणा ण वि य णस्ससति नैव नश्यति । यदि न स्वयं स्तौति स्वगुणान्न प्रख्यातिमुपयातीत्येतच्च नेति वदति । अक्रहितस वि अस्तुवतोऽपि गहवङ्गो ग्रहपतेः आदित्यस्य । जो जगविस्सुदो तेजो न जगति विथुतं तेज. ॥

स्वगुणास्तवने यदि ते नश्यंति ततः स्तोतव्याः स्युर्न च तथा नश्यंति इत्याह—

मूलारा—गहवङ्गो आदित्यस्य ॥

अपने गुणोंकी स्तुति न करनेसे यदि उनका विनाश होगा तो उनके अविनाशार्थ उनका वर्णन करना योग्य होगा परंतु गुणवर्णन न करनेपर भी वे नष्ट नहीं होते हैं ऐसा कथन—

अर्थ—वर्णन न करने पर भी भगवत्के गुणोंका नाश नहीं होता है यह बात अनुभव सिद्ध है, स्वगुणोंकी स्तुति न करने पर भी वे प्रख्यात होतै हैं, क्या स्वर्गकी प्रशंसा न करने पर भी जगतमें स्वर्गका तेज प्रसिद्ध नहीं होता है ?

आत्मन्यसता गुणाना उत्पादक स्तवनमिति वचनं न युज्यत इत्याह—

ण य जायंति असंता गुणा विकथंयस्स पुरिसस्स ॥

धंति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव ॥ ३६२ ॥

कथयमाना गुणा वाचा नासंतः सन्ति देहिनः ।

पंडका न हि जायन्ते घोषा वाक्यशतैरपि ॥ ३६७ ॥

विजयोदया—ण य जायति असंता गुणा नैवोत्पद्यन्ते असतो गुणा । विकथयस्स स्तुवत. । धंति नितरा महिलायंतो व वामलोचनेव आचरन्नपि । पंडगो पंडगो चेव पंड पंडः एव भवति न युवति' ॥

आत्मन्यसता गुणानाउत्पादकं स्तवनमिति युज्यत इत्याह—

मूलारा—महिलायंतो महिलेवाचरन् । पंडवो पंडः ॥

गुण नहीं होनेपर भी स्तुति करनेसे वे उत्पन्न होतै हैं यह कहना भी अयोग्य है—

अर्थ—जो पुरुष अपनी स्तुति करता है उसमें गुणोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, जैसे कोई पंड स्त्रीके

समान हावभाव करता हुआ भी स्त्री नहीं होता है, वह षंड ही रहेगा वैसे गुण अपनेमें नहीं होंगे तो क्या स्तुति करनेसे उनकी उत्पत्ति हो जावेगी ?

आश्वासः

४

संतं सगुणं किञ्चित्जंतं सुंजणो जणस्मि सोदूणं ॥

लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकिच्चणं कुज्जा ॥ ३६३ ॥

विद्यमानं गुणं स्वस्य कीर्त्यमानं निशम्य यः ॥

महात्मा लज्जते चित्ते भाषते स कथं स्वयम् ॥ ३६८ ॥

विजयोद्या—सत सगुणं किञ्चित्जंतं विद्यमानमपि स्वगुणं कीर्त्यमानं । सुंजणो जणस्मि सोदूणं साधुजनस्य मध्ये श्रुत्वा । लज्जद् व्रीडासुपैति । किह पुण कथं पुनः । सयमेव अप्पगुणकिच्चणं कुज्जा स्वयमेवात्मनो गुणकीर्तनं कुर्यात् ॥ सुजनस्यात्मगुणस्त्वनाभावं भावयति—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—सत्पुरुषोंके समुदायमें कोई पुरुष किसी सत्पुरुषके विद्यमान भी गुणोंका वर्णन करने लगा तो वह सत्पुरुष लज्जासे अधोमुख करता है कि वह क्या अपने गुणोंका स्वयमेव वर्णन करेगा ?

स्वगुणाकीर्तने गुणमाचष्टे—

अविकथंथतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजणमञ्जस्मि ॥

सो चेव होदि हु गुणो जं अप्पाणं ण थोइ ॥ ३६४ ॥

निर्गुणोऽपि सतां मध्ये सगुणोऽस्ति स्वमस्तुवन् ॥

न श्लाघते यदात्मानं गुणस्तस्य स एव हि ॥ ३६९ ॥

विजयोद्या—अविकथ्यतो अगुणो वि होइ अकीर्त्यन् स्वयमगुणोऽपि भवति । सगुणो व गुणवानिव । सुजणमञ्जस्मि सुजनमध्ये । परस्परव्याहृतमिदं वच 'अगुणस्तस्य गुण' इति एतस्यामाशङ्क्यमाह—सो चेव होदि गुणो स एव भवति । ज अप्पाणं ण थोएदि यदात्मानं न स्तौति । समीचीनज्ञानदर्शनादिगुणभावाच्चिर्गुण', आत्मप्रशंसाऽकरणेन गुणवानिति भावार्थः ॥

५६६

यदि संति गुणास्तस्य निरूपे संति ते स्वयम् ।  
न हि कस्तूरिकांगवः शपथेन विभाव्यते ॥

स्वगुणास्तवने गुणमाह--

मूलारा — आधिकृत्यतो अस्तुवन् । सगुणेव गुणवानिव । न थोलैरि न भ्नोति । मयीधीनज्ञानाणिगुणा-  
भावात्रिगुणः स्वस्तवनाकरणगुणेन गुणवानिति भावार्थः ॥

अपने गुणोंका वर्णन न करनेमें ही फायदा है इसका विवेचन आचार्य करते हैं--  
अर्थ—जिसमें गुण नहीं हैं ऐसा पुरुष मज्जनमें सौन धारण कर बैठता है तब वह गुणी पुरुषके समान  
दीखता है, गुणरहित मनुष्य गुणवानके समान मानता यह परस्पर विरुद्ध है इस शंकाका उत्तर ऐसा है—अपनी  
ग्रंथना नहीं करना यही सद्गुण है इसमें वह पुरुष गुणी कहा जाता है, यद्यपि उसमें सम्यग्ज्ञान, दर्शनादिगुणोंका  
अभाव होनेसे वह निर्गुण है तो भी स्वग्रंथना न करना यह गुण उसमें होनेसे गुणवानके समान यह पुरुष माना  
जाता है, यदि मनुष्यमें गुण हो तो वे स्वयं प्रकाशित होते हैं, उनके वर्णन की कुछ भी आवश्यकता नहीं है, क्या  
कस्तूरीका सुगंध सींगंध खानेमें व्यक्त होता है ? नहीं वह स्वयं प्रकट होता है, वैसे गुण भी स्वयं प्रकट होते हैं.

चायाए जं कहणं गुणाण तं णासणं ह्वे तेसि ॥

होदि हु चरिदिण गुणाणकहणसुब्भासणं तेसि ॥ ३६५ ॥

गुणानां नाशनं वाचा क्रियमाणं निवेदनम् ॥

प्रकाशनं पुनस्तेषां कष्टयास्ति निवेदनम् ॥ ३७० ॥

विजयोदया—चायाए जं कहणं वाचा गुणानां यत्कथन । तं णासणं ह्वे तेसि । मत्प्राप्तमप्यवैभवां गुणानां ।  
अत्रिदिणं गुणाण कहरणं चरिदिरेव गुणाना कथनं । तस्मिन्मुष्माणे छोद गुणानां प्रकटनं भवति । एतत्कृतं यद्यदि-- गुणा-  
भ्यक्कटयितुकामस्य यथावा कथनं शुण्ठ्यामममः प्रवृत्तिरेव गुणप्रकाशनं इति ।

गुणानां यथावा कथनं तसैर्वा नाशनं यत्पु गुणेव्यायनः प्रवृत्तिरुपपन्नप्रकाशनं इत्याह --



मूलारा—पाशर्णं इहलोकं सौख्यसौभाग्यादिदुल्लभं श्रेयसं निष्कलीकरणं । परलोके च नीचैर्गोत्रनिमित्तत्वे-  
नानिष्टफलसंपादकत्वापादनम् । उन्नावरणं प्रकटनम् ।

अर्थ—वचनोंके द्वारा स्वगुणोंका वर्णन करना यह मानो उनका नाश ही करना है अपने शुभ आचरणसे ही गुणोंका कथन हो जाता है, शुभ आचरणसे ही गुण प्रगट होते हैं, अपने गुणोंको प्रगट करनेकी जिसको इच्छा है वह सदाचारमें संपूर्ण प्रवृत्ति करे, ऐसी प्रवृत्तिया ही उसके गुणोंका प्रकाशन करेंगी-

वायाए अकहंता सुजणो चरिदेहिं कहियगा होति ॥  
विकहिंतागा य सगुणे पुरिसा लोगम्मि उवरीव ॥ ३६६ ॥

अजल्पंतो गुणान्वाण्या जल्पंतश्चेष्टया पुनः ॥  
भवन्ति पुरुषाः पुंसां गुणिनामुपरि स्फुटम् ॥ ३७१ ॥

विजयोदया—वायाए अकहिंता वाचया अकथयंत । सुजणे साधुजनमध्ये । चरिदेहिं वि कहितगा य चरित्ति, प्रतिपादयन्त । सगुणे आत्मीयान्गुणान् । पुरिसाणं पुरिसा लोगम्मि उवरीव इति । पुरुषाणामुपरीव भवन्ति पुरुषा लोके ॥

चरितैः स्वगुणप्रकाशनस्य माहात्म्यमाह—

मूलारा—सुजणे साधुजनमध्ये । उवरीव उपरीव ।

अर्थ—जो सुजनमें वचनोंके द्वारा अपने गुणोंका वर्णन न कर केवल अपने चरित्रोंसे करते हैं वे पुरुष जगतमें सर्व पुरुषोंमें श्रेष्ठपना पाते हैं-

सगुणम्मि जणे सगुणो वि होइ लहुगो णरो विकत्थितो ॥  
सगुणो वा अकहिंतो वायाए होति अगुणेसु ॥ ३६७ ॥

निर्गुणो गुणिनां मध्ये ब्रुवाणः स्वगुणं नरः ॥

सगुणोऽप्यस्ति वाक्येन निर्गुणानामिव ब्रुवन् ॥ ३७२ ॥

विजयोदया—सगुणस्मि जणे गुणवति जने । सगुणो वि णरो गुणवानपि नरः । लडुगो द्रोदि लडुर्भवति । कः ? सगुण णरो वि कथ्यतो स्वगुण नरो वाचा निरूपयन् । किमिव सगुणो वा गुणवानिव । वाचा अकथ्यतो वचनेन अप्रकटयन् । अगुणेषु निर्गुणमध्ये ॥

निर्गुणानां मध्ये स्वगुणं अब्रुवन्निव गुणिना मध्ये तं ब्रुवन् गुणवानपि लघुर्भवति इत्युपदिशति—

मूढारा—कहिंतको वाचा निरूपयन् । वा यथा । उक्तं च—

निर्गुणो गुणिना मध्ये ब्रुवाणः स्वगुणं नरः ॥

सगुणो ऽप्यस्ति वाक्येन निर्गुणानामिव ब्रुवन् ॥

अर्थ—गुणवान् मनुष्यामै गुणवान् भी मनुष्य यदि अपने गुणोंका वर्णन करेगा तो वह लघु होता है, और यपनों द्वारा वह अगुणवान् पुरुषोंमें स्वगुणवर्णन न करेगा तो वह गुणवान् है ऐसा समझना चाहिये

चरितुहिं कथ्यमाणो सगुणं सगुणेषु सोभदे सगुणो ॥

वायाए वि कहितो अगुणो व जणस्मि अगुणस्मि ॥ ३६८ ॥

सगुणो गुणिनां मध्ये शोभते चरितैर्युगं ॥

गुणाणो ब्रह्मैः स्वस्य निर्गुणानामिवागुणः ॥ ३७३ ॥

निर्गुणोदया—चरितुहिं कथ्यमाणो चरितैरेव प्रकटयन् । किं सगुणं स्वगुणं । सगुणो सोभदे गुणवान् जनः । वायाए वि कहितो अगुणो व जणस्मि अगुणस्मि ॥ ३६८ ॥ सगुणो गुणिनां मध्ये शोभते चरितैर्युगं ॥ गुणाणो ब्रह्मैः स्वस्य निर्गुणानामिवागुणः ॥ ३७३ ॥ निर्गुणो निर्गुणेषु वायाए चित्कथ्यतो वचसा ब्रुवन् । अगुणोऽप्यस्ति निर्गुणमध्ये ॥ गुणाः सगुणेषु स्वस्य गुणाश्चरितैः प्रकटयन् शोभते—

मूढारा—वायाए व निर्गुणो यथा । उक्तं च—

गुणो गुणिनां मध्ये शोभते चरितैर्युगं ।

गुणाणो ब्रह्मैः स्वस्य निर्गुणानामिवागुणः ॥

अर्थ—जो सद्गुणी मनुष्य अपने शुभाचरणों द्वारा अपने सद्गुणोंको सद्गुणी मनुष्योंमें वर्णन करता है वह शोभाको पाता है. परतु अगुण मनुष्य निर्गुणी मनुष्योंमें यदि अपने गुण वचनोंके द्वारा कहेगा तो वह शोभा नहीं पाता है.

सगणे व परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह ॥

अच्चासादणविरदा होह सदा वज्जभीरू य ॥ ३६९ ॥

यूयमासादनां कूध्वं मा जातु परमेष्ठिनाम् ॥

दुरंता संसृतिजोर्जायते कुर्वतो हि तां ॥ ३७४ ॥

त्यजतांसयमं त्रेधा मुक्तिलक्ष्मीं जिघृक्षवः ॥

सा दूरीक्रियते तेन न्याधिनेव सुखासिका ॥ ३७५ ॥

मा ग्रहीषु परीवादं स्वसंघपरसंघयोः ॥

संसारो वर्धतेऽनेन सलिलेनैव पादपः ॥ ३७६ ॥

विजयोदया—सगणे व परगुणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह । आत्मीये गणे परगणे वा परापवादं मा कृथाः ।  
अच्चासादणविरदा य होह अत्यासादनतो विरता भवत । सदा वज्जभीरू य पापभीरवश्च भवत ॥

प्रकारातरेण शिक्षा प्रयच्छति—

मूलारा — परपरिवादं परापवादं ।

अर्थ—हे मुनिगण ! आपकों अपने गणमें अथवा परगणमें अन्य मुनियोंकी निंदा करना कदापि योग्य नहीं है परकी विराधनासे आप विरक्त होकर हमेशा पापोंसे विरक्त होना चाहिये.

परनिन्दया दोषमाचष्टे स्पष्टार्थं गाथा—

आयासवेरभयदुक्खसोयल्लुहगत्तणाणि य करेइ ॥

परणिंदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा ॥ ३७० ॥

शोकद्वेषासुखायासवैरदौर्भाग्यभीतयः ॥

विशिष्टानिष्टया पुसां जन्यन्ते परनिंदया ॥ ३७७ ॥

परनिंदया दोषानाह—

मूलारा—सुजणवेस्सा सुजनाना द्वेष्या ।

अर्थ—परनिंदासे आयास, वैर, मीति, दुःख, शोक वगैरे दोष उत्पन्न होते हैं यह परनिंदा पाप और द्रोहको उत्पन्न करती है. परनिंदा करनेवाला मनुष्य सुजनको अप्रिय होता है.

परनिंदा किमर्थ कियते गुणित्वे स्थापयितुमात्मानमिति चेत्, तन्निराकरोति—

किञ्चा परस्स णिंदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज ॥

सो इच्छदि आरोगं परस्मि कडुओसहे पीए ॥ ३७१ ॥

उत्थापयिपुरात्मानं परनिंदां विधाय यः ॥

अपरेणौषधे पीते स नीरोगत्वमिच्छति ॥ ३७८ ॥

विजयोदया—किञ्चा परस्स णिंदं परनिंदा कृत्वा । जो अप्पाण ठवेदुमिच्छेज्ज । य आत्मानं गुणिताया स्थापयितुमिच्छेत् । सो इच्छदि स वाछति । किं आरोग नीरोगता । परस्मि कडुओसहे पीदे कडुकौषधपायिन्यन्यस्मिन् ॥

गुणवत्त्वे स्थापयितुमात्मानं परनिंदा कुर्वते. प्रत्यवायं दर्शयति ।

मूलारा—स्पष्टम् ।

स्वतःका गुणिपता सिद्ध करनेके लिये परनिंदा करते हैं. ऐसा कहना योग्य नहीं है—यह बात आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—जो परनिंदा करके अपनेको गुणी सिद्ध करना चाहता है वह मनुष्य दुसरोंको कड़वी औषधी पिलाकर स्वयं निरोगी होना चाहता है ऐसा मानना चाहिये जो औषधी खा लेगा वही नीरोग होगा उसी तरह जो गुण प्राप्त कर लेगा वही गुणी होगा. परनिंदासे गुणी बननेका प्रयत्न करना यह उल्टे रास्तेपर चलकर स्वस्थानको पोहोचनेका प्रयत्न करनेके समान है

सत्पुरुषकर्म व्याचष्टे—

ददृष्टूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ ॥

रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजंणभएण ॥ ३७२ ॥

योऽन्यस्य दोषमाकर्ण्य चित्ते जिह्नेति सज्जनः ॥

परापवादतो भीतः स्वदोषमिव रक्षति ॥ ३७९ ॥

विजयोदया—ददृष्टूण अण्णदोस अन्यस्य दोषं दृष्ट्वा । सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ सत्पुरुषः स्वयं लज्जा-  
मुपैति । रक्खइ सयं दोस व स्वदोषमिव च रक्षति । जणजंणभयेण जननिंदाभयेन ॥  
सत्पुरुषकर्म कथयति ।

मूलारा—रक्खदि छादयति । तयं तं अन्यदोषम् ।

सत्पुरुषोका क्रम कहते हैं—

अर्थ—सत्पुरुष दूसरोंका दोष देखकर उसको ग्राह नहीं करते हैं प्रत्युत लोकनिंदाके भयसे उनके दोषोंको अपने दोषोंके समान छिपाते हैं, दूसरोंका दोष देखकर सत्पुरुष लज्जित होते हैं.

अप्यो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि ॥

उदए व तेछिबिदू किह सो जंणिहिदि परदोसं ॥ ३७३ ॥

स्वल्पोऽप्यन्यगुणो धन्यं तैलबिंदुरिवोदके ॥

विवर्द्धते तमासाद्य परदोषं न वक्ति स ॥ ३८० ॥

विजयोदया—अप्यो वि परस्स गुणो परस्य गुण, स्वल्पोऽपि । सप्पुरिसं पप्प सत्पुरुषं प्राप्य । बहुदरो होइ  
अतिमहान् भवति । उदएव तेछिबिदू उदके तैलबिंदुरिव । किह सो जंणिहिदि परदोसं कथमसौ इत्थंभूत जल्पति  
परस्य दोषं ॥

मूलारा—सप्पुरिसं पप्प सत्पुरुषं प्राप्य ।

अर्थ—अन्य मनुष्यका खलप भी गुण सत्पुरुष ग्रहण कर उसको बड़ा बनाते हैं, अर्थात् अन्य जनोका अल्प गुण भी दीख पड़ा तो वे बहुत खुश होकर उसकी बहुत प्रशंसा करते हैं, जैसे पानीमें तेलका एक बिंदु यदि पड़ गया तो उसके आश्रयसे वह विस्तीर्ण होता है, वैसे सत्पुरुषसे प्रशंसित हुआ अन्य मनुष्यका गुण भी जगतमें फैलता है, अल्पगुणकी भी प्रशंसा करनेवाले सत्पुरुष क्या परदोषोंका कथन करेंगे ? कभी भी नहीं करेंगे.

एसो सव्वसमासो तह जतह जहा हवेज्ज सुजणम्मि ॥

तुज्झं गुणेहिं जणिदा सव्वत्थ वि विस्सुदा किच्ची ॥ ३७४ ॥

आस्यस्तथोपदेशोऽयं सर्वो युष्माकमंजसा ॥

यथा गुणकृता कीर्तिर्लोकैः श्राम्यति निर्मला ॥ ३८१ ॥

विजयोदया—एष सर्वस्योपदेशस्य संक्षेपः । तद् जतह तथा यत्तच्च । जह हवेज्ज सुजणम्मि यथा भवेत्सुजने । तुज्झं गुणेहिं जणिदा सव्वत्थ वि विस्सुदा किच्ची । युष्माकं गुणैर्जनितः सर्वत्रापि विद्युता कीर्तिः ॥ सर्वोपदेशसंग्रहमाह

मूलारा—सव्वसमासो सर्वस्य उपदेशस्य संक्षेपः । वेत्तव्वो ग्रहीतव्यः । सुजणम्मि सुजनमध्ये । ठक्कं च—

आस्यस्तथोपदेशोऽयं सर्वो युष्माकमंजसा ।

यथा गुणकृता कीर्तिर्लोकैः श्राम्यति निर्मला ॥

अर्थ—हे मुनिगण इस संपूर्ण उपदेशका सार यह है कि, आप हमेशा इस प्रयत्नमें रहो कि जिससे आपकी कीर्ति सुजनोमें प्रसार पावेगी, और तुम्हारे गुणोंसे सर्वत्र तुम्हारा जगत्प्रसिद्ध यश फैल सके.

कासो सयताना कीर्तिरिति शक्यामुच्यते—

एस अखंडियसीलो बहुसुदो य अपरोवतावी य ॥

चरणगुणसुहिदोत्तिय धण्णस्स खु घोसणा भमदि ॥ ३७५ ॥

अनन्यतापकोऽखंडब्रह्मचर्यो बहुश्रुतः ॥

शांती दृढचरित्रोऽयमेषा धन्यस्य घोषणा ॥ ३८२ ॥

विजयोदया—एस अखण्डियसीलो एष अयं अखंडितसमाधि । बहुसुदो य बहुश्रुतश्च । अपरोवतावी य अपरोपतापकारी च । चरणगुणसुद्विषोत्ति य चारित्रगुणैः सुस्थितश्च इति । घणस्स खु पुण्यवतः । घोसणा भमइ यशो विचरति ॥

कासौ संयताना कीर्तिरित्यत्राह—

मूलारा—घोसणा कीर्ति ।

अर्थ—ये मुनिराज अखंडशीलके धारक हैं, इनकी ध्यानमें एकाग्रता अखंड रहती है, ये बहुश्रुत हैं, अनेक मर्तोंको ये जानते हैं, ये किसी भी प्राणीको दुःख देते नहीं हैं और चारित्रिके गुणोंमें ये स्थिर रहते हैं इस प्रकार हे श्रुनिगण ! तुझारा पुण्य—यश जगतमें विचरण करो.

एवं गुरूपदेशं श्रुत्वा गण' —

बाढत्ति भाणिदूणं एदं णो मंगलोत्ति य गणो सो ॥

गुरुगुणपरिणदभावो आणंदंसुं णिवाडेइ ॥ ३७६ ॥

इदं नो मंगलं वाढमेवमुक्त्वा गणोऽप्यसौ ॥

तोरुयमाणो गुणैः सुरेरानंदश्रु विमुंचति ॥ ३८३ ॥

विजयोदया—वाढत्ति भाणिदूणं वाढमित्युक्त्वा । एदं णो मंगलोत्ति एतद्भवता वचनं अस्माकं मंगलं नितरां इत्युक्त्वा । गुरुगुणपरिणदभावो गुरोरुणेषु परिणतचित्तः । आणंदंसुं णिवाडेइ आनंदाश्रूणि निपातयति ॥ एवं गुरूपदेशं श्रुत्वा गणः कृताभ्युपगमस्तं प्रति यत्करोति तद्वायाष्टकेनाचष्टे—

मूलारा—वाढंति भाणिदूणं वाढमित्युक्त्वा । एदं णो मंगलोत्ति य एतद्गुणमद्वचोऽस्माकं मंगलमिति चोक्त्वा यद्भवद्भिरुपदिष्टं तत्तदभ्युपगतमस्माभिस्तदेवास्माकं मंगलमस्त्विति, से तस्य गुरोरेषे निगद्य तद्गुणमयचित्तो गण आनंदाश्रूणि पातयति इति संवधः । उक्तं च—

बाढमिति निगद्य गणो मंगलमेतद्भृङ्गचोऽस्माकम् ॥

गुरुगुणपरिणतभावः सोऽश्रण्यानन्दतत्त्वजति ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपका यह उपदेश हमको अतिशय मंगलकारक सुखदायक और पाप नाशक है ऐसा सुनिगण बोलते हैं और गुरुके गुणोंमें एकप्रचिन्त होकर नेत्रोंसे आनंदाश्रु गिराते हैं.

भगवं अनुगृह्यो मे ज तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे ॥

सारणवारणपडिचोदणाओ धण्णा हु पावेंति ॥ ३७७ ॥

अयं नोऽनुग्रहोऽपूर्वो यत्स्वांगमिव पालिताः ॥

सारणावारणादेशा लभ्यंते पुण्यभागिभिः ॥ ३८४ ॥

विजयोदया—भगवं अनुगृह्यो मे भगवन्नुग्रहोऽस्माकं । जं तु सदेहोव्व पालिदा अम्हे यत्स्वशरीरमिव पालिता वयम् । सारणवारणपडिचोयणाओ एवं कुरुते, माकुरुत इति शिक्षा । धण्णा हु पावेंति धन्या प्राप्नुवन्ति ।

मूलारा—अनुगृह्यो प्रसादो गुणार्कं । मे अस्माकं । सदेहं व स्वदेहमिव । सारणवारणपडिचोयणाओ एवं कुरु मैवं कुरु इत्यादिशिक्षा ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपने स्वदेहके समान हमारा पालन किया है. आपने हे मुनिगुण ! तुम अमुक कार्य करो और अमुक कार्य मत करो ऐसी शिक्षा दी है. ऐसी शिक्षा माग्यन्तको ही मिलती है. अन्योको नहीं.

अम्हे वि खमवेमो जं अण्णाणामादरागोहिं ॥

पडिलोमिदा य आणा हिदोवदेसं करित्ताणं ॥ ३७८ ॥

क्षमयामो वयं तयद्रागाज्ञानप्रमादतः ॥

आदेशं ददतामाज्ञा भवतां प्रतिकूलिता ॥ ३८५ ॥

विजयोदया—अम्हे वि खमवेमो वयमपि क्षमा आह्वयाम. । जं अण्णाणामादरागोहिं 'अण्णा अज्ञानात्' ।



प्रमादरागेर्हि प्रमादाद्रागाच्च । पडिलोमिदा य आणा भवतां प्रतिकूलवृत्तयो जाताः। द्विदोषवेदंस् करंताणं । आश्नां हितोपदेशं कुर्वताम् ॥

मृळारा—लमावेमो क्षमां ग्राहयित्वामो युष्मान् ॥

अर्थ—हे प्रभो ! प्रमाद, रागभाव, अज्ञान इत्यादि विकारोंके आवेशमें आकर हमने आपकी आज्ञाका लोप किया होगा. आपके हितोपदेशके प्रतिकूल हमने प्रवृत्ति की होगी. इसलिये हे प्रभो ! हम आपके पास क्षमायाचना करते हैं.

सहिदय सकणण्याओ कदा सचम्बू य लब्धसिद्धिपहा ॥  
तुज्झ वियोगेण पुणो णट्टविसाओ भविस्सामो ॥ ३७९ ॥

लब्धसिद्धिपथा जाताः सचित्तथोत्रचक्षुषः ॥  
युष्मद्वियोगतो भूयो भविष्यामस्तथाविधाः ॥ ३८० ॥

विजयोदया—सहिदय सकणण्याओ सहृदयाः सकर्णकाश्च जाताः । कदा सचम्बू य इता सलोचना. । लब्ध-  
सिद्धिपहा लब्धसिद्धिमार्गः । तुज्झ वियोगेण पुणो भवद्भयो वियोगेन पुन । णट्टविसाओ नष्टदिक्का । भविस्सामो  
भविष्यामः ॥

मृळारा—सकणण्याओ सकर्णकाश्च । कदा कृताः शुष्माभिरिति शेषः । तुज्झ भवद्भ्यः । णट्टविसागा नष्टदिक्का  
मार्गदर्शनरहिता इत्यर्थः ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपने हमको हृदययुक्त किया है. अर्थात् आपके उपदेशसे हम हिताहितका विवेक कर-  
नेमें समर्थ होगये हैं. हमको कर्णोंकी प्राप्ति हुई है. अर्थात् आपने हमको श्राव्य पदार्थ हैं. ओर हमने आपने श्राव्य  
रूप लोचन प्रदान किये हैं. हमने आपने मोक्षमार्गमें भी लगा दिया है परंत आपका वियोग होनेसे हम पुनरपि  
दिग्भ्रम हो जायेंगे. हाय !

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि ॥  
 पवसंते य मरंते देसा किर सुण्णया होति ॥ ३८० ॥  
 सर्वजीवहिते वृद्धे सर्वलोकैकनायके ॥  
 प्रोषिते वा विपन्ने वा देशाः शून्या भवन्ति ते ॥ ३८१ ॥

विजयोदया—सव्वजयजीवहिदए सर्वस्मिञ्जगति ये जीवा तेषा हिते । थेरे ज्ञानतपोवृद्धे । सव्वजगजीव  
 णाथम्मि सर्वजगतो जीवाना नाथे । पवसते य मरते प्रवास मूर्ति वा प्रतिपद्यमाने । देसा किर सुण्णया होति देशा-  
 किल शून्या भवति ॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीवणाथम्मि ॥  
 पवसंते य मरंते होदि हु देसोघयारोव्व ॥ ३८१ ॥  
 सीलढुगुणद्धेहिं दु बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं ॥  
 पवसंते य मरंते देसा ओखंडिया होति ॥ ३८२ ॥

अनन्यतापिभिः सर्वैर्गुणशीलपयोधिभिः ॥  
 हीना बहुश्रुतैर्देशाः सांघकारा भवन्ति ते ॥ ३८८ ॥  
 सर्वज्ञैरिव यैर्वृद्धैर्जन्यन्ते तत्त्वनिश्चयाः ॥  
 देहनाशे प्रवासे वा तेषामंघा भवन्ति ते ॥ ३८९ ॥  
 वाक्पयैराप्यायिता लोका यैर्मैघा इव वारिभिः ॥  
 येभ्यस्ते निर्गता वृद्धास्ते देशाः सन्ति खंडिताः ॥ ३९० ॥

विजयोदया—सीलढुगुणद्धेहिं य बहुस्सुदेहिं अवरोवतावीहिं शीलाल्लैर्गुणाद्धैर्बहुश्रुतैः अपरोपतापिभिः ।  
 पवसते य मरते मूर्ति प्रवास वा प्रतिपद्यमाने । देसा ओखंडिया होति जनपदा अवखंडिता भवन्ति । गतार्थोत्तरा गाथा ॥

मूलारा—थेरे ज्ञानतपोवृद्धे ॥

मूलारा—देसोघयारोव्व जनपदेऽन्धकार इव भवति । हिताहितज्ञानशून्यो भवतीत्यर्थः ॥

मूलारा—ओतखिदा अवखंडिताः वंचिता दैवेन विपर्यासितस्वार्थसिद्धिप्राया इत्यर्थः ॥  
 अर्थ—हे भगवन् ! आप सर्व जगत्के जीवोंका हित करनेवाले हैं. आप ज्ञानबुद्ध और तपोबुद्ध हैं. आप सर्व जगत्के जीवोंके स्वामी हैं. आप अव प्रवास करनेवाले हैं. अथवा संन्यासमरणका स्वीकार करनेवाले हैं ऐसे समय हमको सर्व देश शून्य दिखते हैं, तथा सर्व देश अधकारमय दीखते हैं. हे प्रभो ! आप शीलयुक्त, गुणयुक्त, और बहुश्रुत हैं. आप प्राणिओंको दुःख न देनेवाले हैं परतु अव आप प्रवास करनेवाले हैं अथवा संन्यासमरण धारण करनेवाले हैं. ऐसे समयमें हमको सब देश खंडित दीखते हैं.

सन्वस्स दायगाणं समसुहदुक्खाण गिप्पकंपाणं ॥  
 दुक्खं खु विसहिदुं जे चिरप्पवातो वरगुरूणं ॥ ३८३ ॥

दायकानामशेषस्य स्वरिणामुपकारिणाम् ॥  
 समानसुखदुःखानां वियोगो दुःसहश्चिरम् ॥ ३९१ ॥  
 पवित्रविद्योद्यतदानपंडितैस्तनूश्रुतां तापक्षिपादनोदिभिः ॥  
 गणाधिपैर्भाति विना न मेदिनी निरस्तपंकैः सरसीव वारिभिः ॥ ३९२ ॥  
 बुधैर्न शीलै रहिता नितंविनी तपस्विदानै रहिता गृहस्थता ॥  
 गुरूपदेशै रहिता तपस्विता प्रशस्यते नित्यसुखप्रदायिनी ॥ ३९३ ॥  
 मनीषितं वस्तु समस्तमंगिनां सुरद्रुमाणाभिव यच्छतां सदा ॥  
 गुणैर्गुरूणां विरहो गरीयसां न शक्यते सोढुमपास्तरैफसाम् ॥ ३९४ ॥

इति अनुशिष्टिसूत्रम् ।

विजयोदया—सन्वस्स दायगाणं ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपोदानोद्यतानां । समसुहदुक्खाण सुखदुःखयो समा-  
 नाना । गिप्पकंपाणं परीपेहेभ्यो निश्चलानां । वरगुरूणं महता गुरूणा । चिरप्पवासो चिरकालप्रवासो वियोग । दुक्खं खु  
 विसहिदुं जे सोढुमतीव दुष्कर ॥

मूलारा—सन्वस्स ज्ञानादेः । गिप्पकंपाणं परीपेहोपसंगेषु निःक्षोभाणा । दुक्खं खु दुःखशोक एव ।

विसहिंदु ने विसोड्डं । चिरण्णवासो दूरदेशातरगमनं मरणं वा । इति गुणानुश्रुतिः । सूक्तः । १४ । अकतः १११ ॥  
अर्थ—जिनसे शिष्याको ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तपस्वी प्राप्ति होती है जो सुख और दुःखोंमें समान है अर्थात् रागद्वेषपरहित है। परीपहोसे जिनकी ध्यानकाग्रतामें बाधा आती नहीं है ऐसे श्रेष्ठ आचार्योंका चिरकालीन वियोग सहन करना अतिशय दुष्कर है।

एवं परिसमाप्य अनुशासनाधिकार परगणचर्या निरूपयति—

एवं आउच्छित्ता सगणं अब्भुज्जदं पविहरंतो ॥

आराधणाणिमित्तं परगणगमणे मइं कुणदि ॥ ३८४ ॥

आपुच्छयेति गणं सर्वं चतुरंगमहोद्यमम् ॥

करोत्याराधनाकांक्षी गंतुं परगणं प्रति ॥ ३८५ ॥

विजयोदया—एवं आउच्छित्ता आपुच्छय । सगण स्वगण । अब्भुज्जदं पविहरंतो प्रकर्षेण रत्नत्रये प्रवर्तमान ।  
आराधणाणिमित्त आराधनानिमित्तं । परगणगमणे मइं कुणदि परगणगमने मतिं करोति ।

अथ तथाभावितश्रमण्यस्य सहेखनापरिणतस्यापुष्टगणस्य गणिनः पुनर्ममत्वोज्जीवननिरोधेन ममाधिप्रबंध-  
सिद्ध्यर्थं परगणगमनकर्म सप्तदशभिर्गोथाभिरुपदिशति—

मूलारा—आपुच्छित्ता आपुच्छय । संवाधेत्यर्थः । अब्भुज्जदं अभ्युद्यतं उद्यमानमिमुस अनलसमित्यर्थः ।  
पविहरंतो प्रकर्षेण रत्नत्रये प्रवर्तमान ॥

इस प्रकार अनुशासनाधिकारकी समाप्ति करके आचार्य परगणचर्या नामक अधिकारका निरूपण करते हैं—  
अर्थ—इस प्रकार अपने गणको पूछकर अपने रत्नत्रयमें अतिशय प्रयत्नसे प्रवृत्ति करनेवाले वे आचार्य आराधनाके निमित्त परगणमें गमन करनेकी इच्छा मनमें धारण करते हैं।

किमर्थं परगणप्रवेशं करोति इत्याशंकाया स्वगणावस्थाने दोषमाचष्टे—

सगणे आणाकेवो फरुसं कल्लहपरिदावणादी य ॥

णिब्भयसिणेहकालुगिणज्ञानविग्धो य असमाधी ॥ ३८५ ॥



मूलारा—उद्गृहकरा अयशःसंपादकाः । कालहिणा कालहिताः कलहकरा इत्यर्थः । बुद्ध्या श्रमणोपासका  
वालकाः । खरा तीक्ष्णाः । सेव्या शैक्षा मार्गानभिज्ञा इत्यर्थः । करेज्ज कुर्वुः ।

अर्थ—संघमें बुद्ध मुनि यदि अकीर्ति संपादक होवें, और शुद्धक अर्थात् शुद्धकावस्या धारण करनेवाले  
गृहस्थ यदि कलह करनेके लिये उद्युक्त होवें, अमार्गज्ञ शिष्य मुनि अर्थात् समाधिविधि न जाननेवाले शिष्य मुनि  
यदि तीक्ष्ण स्वभावके होगये तो वे आचार्यकी आज्ञाका उल्लंघन करेंगे तब आज्ञाके उल्लंघनसे आचार्यकी असमाधि  
होगी अर्थात् परिणाममें अशांतता उत्पन्न होगी, इसलिये आचार्य समाधिमरण साधनके लिये परगणमें प्रवेश  
करते हैं.

परगणवासी य पुणो अब्बावारो गणी हवदि तेसु ॥

णत्थि य असमाहाणं आणाकोवस्मि वि कदस्मि ॥ ३८७ ॥

व्यापारहीनस्य ममत्वहानेः संतिष्ठमानस्य गणेऽन्यदीये ॥

नाज्ञाविघाते विहितेऽपि सूरेतैरशौचैरसमाधिरस्ति ॥ ३९८ ॥

विजयोदया—परगणेऽप्यमी सत्येव स्थविराद्यस्तत्राप्यसमाधानं स्यादेवास्येति शंकां निरस्यति । परगणवा-  
सी य य. परगणे वसति गणी सो अब्बावारोऽव्यापार. तेसु शिक्षाव्यापाररहितः । तेन आज्ञाकोरो न विद्यते आज्ञाभंगो  
नास्तीत्यर्थः । णत्थि य असमाधाण नास्ति च असमाधि. । आणाकोवस्मि वि कदस्मि आज्ञाभंगे कृतेऽपि ममानुप-  
कारिणो वचनमिमे किमर्थं कुर्वन्ति इति चेत् प्रणिधानात् ॥

परगणेऽप्यमीषा संभवात्तथाज्ञाकोपादस्यासमाधिः स्यादेवेत्याशं कामपाकरोति—

मूलारा— अब्बावारो शिक्षाव्यापाररहितः । तेसु परगणस्थविरादिषु । तेनाज्ञाकोपो नास्तीति शेषः । विक-  
दास्मि कृतेऽपि ममानुपकारस्य वचनमिमे किमर्थं कुर्वन्तीति चेत् प्रणिधानात् ।

परगणमें भी बुद्ध मुनि, शुद्धक, अमार्गज्ञ मुनि रहते ही हैं अतः वहां भी आचार्यको असमाधि दोष  
उत्पन्न होगा ही इस शंकाका ग्रंथकार उत्तर देते हैं—

अर्थ—जब आचार्य परगणमें जाकर रहते हैं तब उस गणस्थ मुनियोंको वे उपदेश, आज्ञां करते नहीं. जिससे

उस गणके मुनिओंके द्वारा आज्ञाभंग करनेका प्रसंग आता ही नहीं, और यदि उन्होंने आचार्य की आज्ञा नहीं भी मानी तो भी आचार्य इनके ऊपर तो मैंने कुछ भी उपकार किया नहीं अतः वे मेरा वचन क्यों शिरोधार्य करेंगे ऐसा विचार कर अपने परिणामोंकी शान्तता नष्ट नहीं करते हैं इसलिये असमाधि नामक दोषकी उत्पत्ति परगण-में रहनेसे नहीं होती है, आज्ञाकोप नामक दोषका विवेचन हुआ.

आज्ञाकोपदोषं अभिधाय द्वितीयं व्याचष्टे -

खुड्डे श्रे सेहे असंबुडे दठु कुणइ वा परसं ॥  
ममकारेण भणेज्जो भणिज्ज वा तेहिं परसेण ॥ ३८८ ॥

चालान्वृद्धान्शैक्षकान्दुष्टचेष्टान् दृष्ट्वा स्वरिर्निष्ठुरं वक्ति वाक्यम् ॥  
किंचिद्वागद्वेपमोहादियुक्तास्ते वा नरुयुः संस्तवप्राप्तधाष्टर्याः ॥ ३९९ ॥

विजयोदया - खुड्डे श्रे सेहे शुल्लकान्स्थविरानमार्गज्ञांश्च। असंबुडे असंवृतान् असंयतान्। दठुण दृष्ट्वा। कुणदि वा परसं करोति वा परसं। ममकारेण भणेज्जो ममत्वेन वदेद्वा परसं। भणिज्ज वा तेहिं परसेण भण्येत वा गणी है। परसं वचः ॥

परसं व्याचष्टे -

मूलारा - असंबुडे असंवृतान् प्रमादाचरणानित्यर्थः। दठु दृष्ट्वा। कुणदि वक्ति। भणिज्जो भणेत। परसं व्रूयात् इत्यर्थः। भणेज्ज भण्येत। परसेण प्रबंधेन परिचयकृतधृतावष्टंभात् ॥  
अत्र दुसरा दोष कहते हैं -

अर्थ - परस्य नामक दोषका स्वरूप इस प्रकार है - शुल्लक गृहस्थ, वृद्धमुनि, और अमार्गज्ञ मुनि ये प्रमादसे आचरण करते हैं ऐसा मनमें विचार कर उनको कठोर भाषण करेंगे अथवा वे वृद्धमुनि वगैरह उनके साथ कठोर भाषण करेंगे, अपने संघमें ही रहनेसे वृद्धादि मुनिओंके साथ अधिक परिचय रहता है जिससे वे आचार्य को और आचार्य उनको कठोर भाषण करेंगे तब परस्य नामक दोष उत्पन्न होगा

कलह पूर्वार्द्धेन व्याचष्टे—

पडिचोदणासहणदाए होज्ज गणिणो वि तेहिं सह कलहो ॥

परिदावणादिदोसा य होज्ज गणिणो व तेसिं वा ॥ ३८९ ॥

वाक्पयाक्षमायामसमाधिकारी सूरः समं तेः कलहो दुरन्तः ॥

दोपास्ततो दुःखविपादखेदा भवन्ति सर्वेष्वनिवारणियाः ॥ ४०० ॥

विजयोदया—पडिचोदणासहणदाए गुरुशिक्षासहनेन । होज्ज कलहो तेहिं सह गणिणो वि भवेत्कलहस्तेः शुल्लकादिभि सह गणिन । परिदावणादिदोसा होज्ज दु याविदोया भवेयु । गणिणो व तेसिं च गणिनस्ते पां शुल्लकादीना वा कलह ॥

कलहादिदोषद्वयं व्याख्याति—

मूलरा—पडिचोयणासहणदाए गुरुशिक्षणासहिष्णुतया । होज्ज भवेयुः ।

कलह दोषका पूर्वार्द्धमें वर्णन करते हैं—

अर्थ—स्वगणमें रहनेसे आचार्य के शिक्षावचन सुनकर शुल्लकादिक मुनि क्रुद्ध होकर उनसे लड़ेंगे अथवा शुल्लकादिकोंसे आज्ञाभंग होनेसे आचार्यका कलह होना संभवनीय है आज्ञाभंग होनेसे आचार्यके मनमें खेद, संताप वगैरह विकार उत्पन्न होंगे अथवा ये आचार्य हमको हमेशा उपदेश देते रहते हैं आज्ञा करते हैं ऐसा विचार कर शुल्लकादिक दुःख, संताप, शोकादिकसे पीडित होंगे.

परिदावणादीय इत्येतत्सूत्रपदं प्रकारातरेणापि व्याचष्टे—

कलहपरिदावणादी दोसे व अमाउले करतेसु ॥

गणिणो हवेज्ज सगणे ममात्तिदोसेण असमाधी ॥ ३९० ॥

गणेन साकं कलहादिदोषं कुर्वत्सु वालादिषु दुर्धरेषु ॥

गणाधिपस्य स्वगणप्रवृत्तेर्ममत्वदोषादसमाधिरस्ति ॥ ४०१ ॥

विजयोदया—कलहपरिदावणादी दोसे व कलह परितापादिदोष वा । अमा कुले करनेसु गणेन सह कुर्वत्सु



धुल्लकादिषु । गणिणो हवेज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी गणिनो भवेन्न्यमतादोषेण असमाधिः ॥  
कलहादिदोषानेव प्रकारातरेण व्याचष्टे—

मूलारा—अमा गणेन सह । आकुलं वहून् । आकुलं वा । संक्षोभातकं करतेषु कुर्वन्सु धुल्लकादिषु । ममत्ति-  
दोसेण न केवलं शिक्षालंघनेन ममत्वदोषेण वा असमाधिर्भवेदिति संवधः ।

परितापादिक दुःस्वोक्ता अन्य प्रकारसे वर्णन—  
अर्थ—अथवा अपने संघमें धुल्लकादि मुनि कलह, शोक संतापादिक परस्परमें करते हुए देखकर आचा-  
र्यकी अपने गणपर ममता होनेसे चित्तकी एकाग्रता नष्ट हो जायगी. अर्थात् उनके परिणाम अशान्तिमय होंगे.

परितावणादि इत्येतत्स्वपदं अन्यथा व्याचष्टे—

रोगादंकादीहिं य सगणे परिदावणादिपत्तेसु ॥  
गणिणो हवेज्ज दुक्खं असमाधी वा सिणेहो वा ॥ २९१ ॥

परिषहैर्घोरतमैः स्वसंघं निरीक्ष्यमाणस्य निपीड्यमानं ॥  
गणे स्वकीये परमोऽसमाधिः प्रवर्तते संघपतेरवार्यः ॥ ४०२ ॥

विजयोदया—रोगातंकादीहिं य अत्यैर्मद्वृत्तिव्याध्यादिभिः । परिदावणादि पत्तेसु परितापनादि प्राप्तेषु । सगणे  
आत्मीयशिष्यवर्गे । गणिणो हवेज्ज दुःखं । आचार्यस्य भवेद्दुःखं । असमाधी वा सिणेहो वा असमाधिर्वा स्नेहो वा ।  
परितापनादिसूत्रमन्यथा व्याचष्टे—

मूलारा—रोगातंकादीहिं अत्यैर्महद्भिश्च व्याधिभिः । आदिशब्देन धुद्रोपद्रवादिभिः । सगणे स्वसंघं स्थितेषु  
शिष्यादिषु । दुक्खं मनस्तापः । असमाही असमाधानाय । चतुर्थ्यर्थे प्रथमाविधानात् । सिणेहो मोहः । ममत्वकृतः छेद  
इत्यर्थः । उक्तं च—

निजगणगतेषु रोगिषु परिदेवनदुःखपरितेषु पुर ।  
कारुण्यशोकमोहा भवेयुरसमाधये सूतेः ॥

इसही दोषका प्रकारान्तरसे वर्णन —

अर्थ—छोटे मोटे रोग वर्गेरह विकार संघमें फैल जानेपर अपना शिष्यवर्ग दुःख संतापादिसे पीडित हुआ देखकर आचार्यको दुःख होगा, परिणामोंकी एकाग्रता नष्ट होगी, और उनमें स्नेह होगा. इसलिये समाधिभर-  
णोद्यमी आचार्य इनके परिहारार्थ अन्य संघमें जाते हैं.

तण्हादिणसु सहणिज्जेसु वि सगणस्मि णिब्भओ संतो ॥

जाएज्ज व सेएज्ज य अकप्पिदं किं पि वीसत्थो ॥ ३९२ ॥

परीपहेयु विश्वस्तः स्वगणे निर्भयो भवन् ॥

याचते किंचनाकल्प्यं सेवते भापते स्फुटम् ॥ ४०३ ॥

विजयोदया—तण्हादिणसु सहणिज्जेसु वि पिपासादिकेषु परीपहेयु सहनीयेष्वपि । सगणस्मि णिब्भओ संतो स्वगणे निर्भय सन् । जाएज्ज व सेएज्ज य याचते वा सेवते वा । अकप्पिय अयोग्य किंचित्प्रत्याख्यातमशनं पान वा । वीसत्थो विश्वस्तः भयलज्जाविरहित ॥

निर्भयं न्याचष्टे ।

मूलारा—णिब्भओ संतो निर्मातिः सन् सूरिः । जाएज्ज याचते । अकल्पियं अकल्प्यं अयोग्यं । किंपि प्रत्याख्यात पानमशनादिक वा । वीसत्थो विश्वस्तः । अकीर्तिभयलज्जारहितः ॥

अर्थ—समाधिसरणोद्युक्त आचार्यने प्यास, भूख वर्गेरहका दुःख सहन करना चाहिये परंतु वे अपने संघमें रहनेपर निर्भय होकर आहार, जल, वर्गेरह पदार्थोंकी याचना करेंगे. अथवा स्वयं आहारादिकोंका सेवन करेंगे अयोग्य अर्थात् जिनका त्याग किया है ऐसा भी आहार और पानके पदार्थ मय, लज्जा छोडकर लग जावेंगे इस लिये उनका अपने संघमें रहना आगममें निषिद्ध माना है.

सिनेह इत्यस्य व्याख्या—

उद्धे सअंकवट्ठिय वाले अज्जाउ तह अणाहाओ ॥

पासंतस्स सिनेहो हवेज्ज अच्चतियविओगे ॥ ३९३ ॥

वालाः स्वांकोचिता इष्टा वृद्ध्या विह्वलविग्रहाः ॥

अनाथाआर्यिकाः स्नेहं जनयन्ति गुरोस्तदा ॥ ४०४ ॥

विजयोदया—उद्धे सअंकवट्ठिय इत्यादि वृद्धान्यतीन्स्वास्वद्विंतपालान् यतोस्तया आर्यिका, अनाथा पश्यतः स्नेहो भवेदात्यातिके वियोगे ।

स्नेहं व्याहरति—

मूलारा—सयकवट्ठिदे वाले सोत्संगवट्ठित्पालान् ।

अविओए सर्वथा विरहे । पुनः संगमामावात् ॥ अण्णाहाओ अनाथा । अञ्जन्ति-

स्नेह दोषका विवेचन—

अर्थ—वृद्ध मुनि, जिनका चाल्यावस्थासे पालन किया है ऐसे चालमुनि, अनाथ ऐसी आर्यिकाएँ इनको देखनेसे अब इनका मेर साथ अत्यंत वियोग होगा ऐसा विचार यदि स्वर्णमें आचार्य रहेंगे तो आपे बिना नहीं रहेगा जिससे उनके असमाधिमरणकी संभावना होगी, अतः स्वर्णमें उनका रहना निषिद्ध माना गया है।

कोलुगिण इत्येतद्व्याचष्टे—

खुड्डा य खुड्डियाओ अज्जाओ वि य करेज्ज कोलुगियं ॥

तो होज्ज उक्खणविग्घो असमाधी वा गणधरस्स ॥ ३९४ ॥

आर्यिकाः क्षुल्लिकाः क्षुल्लाः कारुण्यं कुर्वन्ते यतः ॥

ध्यानाविघ्नोऽसमाधिश्च जायते गणिनस्ततः ॥ ४०५ ॥

विजयोदया—खुड्डा य खुड्डियाओ क्षुल्लका, आर्या, कुर्णुराटन । ततो ध्यानविघ्नोऽसमाधिर्वा गणधरस्य भवतीति ॥

कारणं विद्युनोति—

मूलारा—कोलुणिगं—सदैन्यमारटनं । सकरुणमारटनम् ॥

कोलुणिग दोषका विवेचन —

अर्थ—शुल्लक, ब्रह्मचारी वगैरह गृहस्थ, ब्रह्मचारिणी, आर्यिकाय आचार्यको समाधि मरणके लिये उद्यमी देखकर शोक करेंगे जिसको देखकर आचार्यके ध्यानमें विघ्न उपस्थित होगा और परिणाममें अशांति होगी, इसलिये आचार्यका स्वर्णमें रहना निषिद्ध माना है

भत्ते वा पाणे वा सुस्तसाए व सिस्सवग्गस्मि ॥

कुव्वंतस्मि पमादं असमाधी होज्ज गणवदिणो ॥ ३९५ ॥

गणिनः प्रैष्यशुश्रूषाभक्तपानादिकल्पने ॥

स्वर्णण्यसमाधानं शिष्यवर्गे प्रमाद्यति ॥ ४०६ ॥

विजयोदया—भत्ते वा पाणे वा भक्ते पाने वा शुश्रूषया वा प्रमादं शिष्यवर्गे कुर्वति गणपतेरसमाधिर्भवति ॥  
ध्यानविघ्नसमाधिदोषो व्याचष्टे—

मूलारा—सुस्तसाए पर्युष्टौ संवाहनादिकाया । कुव्वतस्मि कुर्वति सति । असमाधी आर्तं रौद्रं वा ध्याना । यदि क्व समाधिनिर्विकल्पयोगः परमानन्दः स च सविकल्पकयोगलक्षणध्यानपूर्वकः । अतः शिष्यवर्गप्रमाददर्शनात् ध्यानविघातस्ततः स्वसमाध्यभावः इति पूर्वसूत्रितं दोषद्वयं व्याख्यातं प्रतिपत्तव्यम् ॥

अर्थ—आहारके पदार्थ, पानके जलादिक पदार्थ और शुश्रूषा—हस्तपादादि मर्दन वगैरह कार्यमें यदि शिष्यवर्ग प्रमादी बने अर्थात् इन कार्यमें यदि उन्होंने ध्यान नहीं दिया तो आचार्यके मनमें शांतिका अभाव होगा आर्तध्यान अथवा दुर्ध्यान उत्पन्न होगा,

एद्वे दोसा गणिणो विसेसदो होति सगणवासिस्स ॥

भिक्खुस्स वि तारिसयस्स होति पाणुण ते दोसा ॥ ३९६ ॥

एते दोपाः सन्ति संघे स्वकीये खुरे. साधोन्मादृशस्यापि यस्मात् ॥

तस्मात्प्रवृत्त्वा म्वं समाधानकांक्षी धीरं संघं स प्रयात्यन्यदीयम् ॥४०॥

तारिसयस्स भिक्षोरपि तादृशस्स उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वा भवन्ति प्रत्येण ते दोपा ॥

प्रायुक्तादोपानाचार्यम्याधिक्येन दर्शयन् उपाध्यायदेरपि स्वगणवाग्भिः प्रायोदृत्त्या तान्प्रदर्शयति—

मूलारा — विसेसदो अतिशयेन । तारिसयस्स तादृशस्य गणिमदृशस्य उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वेत्यर्थः ।

अन्यस्तु भिक्खुस्स मामान्ययेत्तादृशस्य स्वगणवाग्भिः इति न्यायपट्टे ॥

अर्थ — जो आचार्य स्वगणमें रहते हैं उनको ये दोष होंगे तथा जो आचार्योंके समान उपाध्यायमुनि, तथा प्रवर्तक मुनि हैं वे भी यदि स्वगणमें ही रहेंगे तो उनको भी प्रायः इन दोषोंका संभय होगा.

एद्वे सव्वे दोसा ण होति परगणणिवासिणो गणिणो ॥

तम्हा सगणं पयहिय वच्चादि सो परगण समाधीए ॥ ३९७ ॥

भवन्ति दोपा न गणेऽन्यदीये संतिष्ठमानस्य ममत्ववर्जं ॥

गणाधिनाथस्य ममत्वदृष्टानेर्विना निमित्तेन कुतो निवृत्ति. (?) ॥४०८॥

विजयोदया—एद्वे सव्वे दोसा ण होति एते मज्जे दोपा न भवन्ति । परगणणिवासिणो गणिणो परगणनिवासिनो गणधरस्य । तस्मात्स्वगण परित्यज्य व्रजति परगण समाधये ॥

एतद्दोषासंभवेन ममाधिसाधकत्वात्परगणस्य गम्यत्वनुगुण्यति—

मूलारा — पजहिय सर्वत्तिना त्यक्त्वा ।

अर्थ — जो आचार्य अपना गण छोड़कर परगणमें समाधि मरणके लिये प्रवेश करते हैं उनको इन दोषोंका संबंध नहीं होगा है. इस लिये आचार्य समाधिसिद्ध्यर्थ परगणका आश्रय लेते हैं.

संते सगणे अहं रोचेदूणागदो गणमिमोत्ति ॥

सब्बादरसत्तीए भत्तीए वड्डइ गणो से ॥ ३९८ ॥

गणे स्वकीयेऽपि गुणानुरागी सत्यसदीयं गणमागतोऽयम् ॥

मत्वेति भक्त्या निजया च शक्त्या प्रवर्तते तस्य गणः स्वकृत्ये ॥ ४०९ ॥

विजयोदया—सते सगणे सत्यपि स्वगणे असद्गणे जातचिगरगतो गणमिममिति सर्वादरेण शक्त्या भक्त्या च गणो वर्तते ॥

परगणचर्यगुणान्गाथात्रयेणाह—

मूलारा—संतो सत्यपि । रोचेदूण रुचिगोचरीकृत्य । गणमिमोत्ति गणमिममिति । से तस्योत्तमसाधनार्यो-

द्यतस्य ।

अर्थ—स्वगणके होनेपर भी हमारे ऊपर प्रेम कर ये आचार्य हमारे गणमें आये हैं ऐसा मनमें विचार कर परगणवासी मुनिसमुदाय पूर्ण आदर व सामर्थ्यसे उनकी सेवा करतेके लिये कटिवद्ध हो जाते हैं अतः परगण-प्रवेश करना ही योग्य है.

गीदित्यो चरणत्यो पच्छेदूणागदस्स खवयस्स ॥

सब्बादरेण जुत्तो णिज्जवगो होदि आयरिओ ॥ ३९९ ॥

गृहीतार्यो गणी प्रार्थ्यः क्षपकस्योपसेदुषः ।

निर्यापकश्चरित्राढ्यो जायते सर्वयत्नतः ॥ ४१० ॥

त्रिजयोदया—गीदित्यो चरणत्यो गृहीतार्यः श्रान्ती चरणस्य । पच्छेदूणागदस्स प्रार्थयित्वागतस्य । खवगस्स क्षपकस्य । सब्बादरेण जुत्तो सर्वादरेण युक्तः । णिज्जवगो होइ आयरिओ निर्यापको भवत्याचार्य ॥

मूलारा—पत्थेदूण प्रार्थ्य । आगदस्म आश्रितस्य ॥

अर्थ—प्रार्थना करके आये हुए आचार्य को अर्थात् क्षपकका समाधिमरण साध्य करानेवाला निर्योपका-  
चार्य आगे लिखे हुए लक्षणोंसे युक्त होना चाहिये. अर्थात् वह गीतार्थ जीवादि पदार्थोंका वेत्ता, ज्ञानी, चारित्र्यो-  
त्थिर, क्षपक के ऊपर पूर्ण आदर रखनेवाला होना चाहिये

संविग्गवज्जभीरुस्स पादमूलमि तस्स विहरंतो ॥

जिणवयणसव्वसारस्स होदि आराधओ तादी ॥ ४०० ॥

संविग्रस्याधभीतस्य पादमूले व्यवस्थितः ॥

अर्हदागमसारस्य भवत्याराधको यतिः ॥ ४११ ॥

इति परगणचर्यासूत्रम् ।

विजयोद्या—सविग्गवज्जभीरुस्स संसारभीरो, पापकर्मभीरोश्च तस्य गुरोः पादमूले वर्तमानो जिनवचन-  
सर्वसारस्य भवत्याराधकः । तादी यति । संते सगणे, गीदत्थो, सविग्गवज्जभीरु इत्येतत्सूत्रत्रयेण परगणे चर्याया गुणो  
व्याख्यातः ॥ परगणचर्या ॥

मूलारा—विहरंतो वर्तमानः । जिणेत्यादि जिनप्रवचनस्य सर्वस्य सारो अतिशयितं रूप आराधना तस्या  
आराधको भवतीति संबंध । तादी यति । परगणचर्या अंकत १५ सूत्रत १७ ॥

अर्थ—जो संसारसे भय युक्त है, जो पापकर्मभीरु है और जिसको जिनागमका सर्व सार मालुम हुआ है  
ऐसे आचार्य के चरणमूलमें वह यति समाधिमरणोद्यमी होकर आराधनाकी सिद्धि करता है. “संते सगणे, गीदत्थो,  
संविग्गवज्जभीरु ” इन तीन गाथाओंसे परगणमें चर्या करना गुणयुक्त है ऐसा सिद्ध किया है. गणचर्या नामक  
प्रकरण समाप्त हुआ.

मार्गान्निरूपणार्थमुत्तरप्रबंध—

पंचच्छसत्तजोयणसदाणि तत्तोऽहियाणि वा गंतुं ॥

णिज्जावगमणोसदि समाधिकामो अणुण्णादं ॥ ४०१ ॥

पंच पट् सप्त वा गत्वा योजनानां शतानि सः ॥

निर्यापकमनुज्ञातुं समाधानाय मार्गति ॥ ४१२ ॥

विजयोदया—पचच्छसत्तजोयणसदृणि पचपट्सप्तयोजनशतानि ततोऽभ्यधिकानि वा गत्वा अन्येपते निर्यापकं । शालेण अनुज्ञातं समाधिकामो यति ॥

अथ क्षेपकस्य परगणप्रवेशोदतस्य समाध्यर्थं निर्यापकाचार्यान्त्येपमाणस्य क्रमं सप्तदशभिर्गार्थाभिर्निर्गदति—  
तत्र तावन्मार्गणक्षेत्रपरिमाणं निर्दिशति—

मूलतरा—अणुण्णादं शालेणानुमतम् ।

मार्गणा नामकं ग्रकरणका निरूपण करनेके लिये उत्तर ग्रंथ—

अर्थ—जिसको समाधिमरणकी इच्छा है ऐसा मुनि पाचसे योजन, छत्से योजन, सातसे योजन अथवा उससे भी अधिक योजनतक विहार कर शास्त्रोक्त निर्यापकका शोध करता है.

स्पष्टार्थोत्तरगाथा—

एक व दो व तिणिं य वारसवरिसाणि वा अपरिदत्तो ॥

जिणवयणमणुण्णादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥ ४०२ ॥

एकद्वितीणि चत्वारि वर्षाणि द्वादशापि च ॥

निर्यापकमनुज्ञातं स मार्गयति निःश्रमः ॥ ४१३ ॥

मार्गणाकालपरिमाणं दर्शयति—

मूलरा -- तेषां अत्र वारसवरिसाणि इति निर्देशाच्चवतुरादिर्मन्त्र्यापरिश्रमो बोध्यः । अपरिसंतो अपरिविष्टः अनुद्धिम इति यावत् ॥

अर्थ—समाधिमरणेच्छुं मुनि एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष लेकर वारह वर्ष तक खेदयुक्त न होता हुआ जिनगमसे निर्णीत निर्यापकाचार्यका अन्यपण करता है



निर्यापकाव्येपणार्थं गच्छत' क्रममुदाहरति—

गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झेणपुच्छणाकुसलो ॥

थंडिल्लो संभोगिय अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ ॥ ४०३ ॥

एकरात्रतनूत्सर्गः प्रश्नस्वाध्यायपंडितः ॥

सर्वत्रैवाप्रतीवंधः स्थंडिलः साधुसंयुतः ॥ ४१४ ॥

विजयोदया—गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अज्झेण पुच्छणाकुसलो । गच्छेदेकरात्रिमवावाग्रे अथ्ययने परप्रदने च कुशल' । एकरात्रिभवा भिक्षुप्रतिमा निरूप्यते । उपवासत्रयं कृत्वा चतुर्थ्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्विहारे इमशाने वा प्राङ्मुखः, उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो वा भूत्वा चतुरंगुलमात्रपादातरो नासिकाग्रनिहितदृष्टिस्त्यक्तकायस्तिष्ठेत् । सुण्डु प्रणिहि चचित्तं चतुर्विधोपसर्गसहः न चलेन्न पतेत् यावत्सूर्य उदेति । स्वाध्यायं कृत्वा गन्धूतिद्वयं गत्वा गोचरक्षेत्रवसतिं गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मार्गस्तत्रसूत्रपौरुषार्थपौरुष्या वा मंगलं कृत्वा याति एव स्वाध्यायकुशलता । प्रश्न-कुशलतोच्यते—वैत्सयतानार्थिका श्रावकाश्च, वालमध्यमवृद्धाश्च गृध्वा कृतगवेपणो याति इति प्रश्नकुशल' । यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थंडिलान्वेपणं कुर्यात् । कायशोधनार्थं संभोगयोग्य, यति, संघाटकत्वेन गृह्णीयात् । स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत् । एव स्थंडिलान्वेपणं संभोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यत्नपरः स्थंडिलसमो गो यतिरित्युच्यते । अंतरालग्रामन-गरादिसन्निवेशस्थयतिगृहिसत्कारसन्मानप्राधूर्णकमकादौ सर्वत्र अप्रतिवद्धत्वात् अपण्डित्वो य सव्वत्थ इत्युच्यते ॥

निर्यापकाचार्यमार्गणाय गच्छत पंचधा विधिमाह—

मूलरा—एगरादियपडिमा अज्झेणपुच्छणाकुसलो एकरात्रिकप्रतिमाकुशलोऽध्ययनकुशलः, प्रच्छनकुशलश्च ।

वत्रैकरात्रिकभिक्षुप्रतिमा यथा—उपवासत्रयं कृत्वा चतुर्थ्यां रात्रौ ग्रामनगरादेर्विहारे इमशाने वा प्राङ्मुखः, उदङ्मुख-श्चैत्यमुखो वा भूत्वा चतुरंगुलमात्रपादातरो नासिकाग्रनिहितदृष्टिस्त्यक्तकायस्तिष्ठेत् । सुण्डु श्रीणहितचित्तश्चतुर्विधोपस-र्गसहो न चलेन्न पतेत् यावत्सूर्य उदेति । सैपा एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा । तत्र कुशल' । स्वाध्यायकशलस्तु यः स्वाध्यायं कृत्वा गोचरक्षेत्रवसतिं च गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मार्गस्तत्र सूत्रपौरुषार्थपौरुष्या वा मंगलं कृत्वा याति । प्रश्नकुशलस्तु यत्रैत्सयतानार्थिकाश्रावकाश्च वालमध्यमवृद्धाश्च पृष्ठा कृतगवेपणो याति । थंडिलसंभोगिजदो यत्र भिक्षा कृता तत्र थंडिलं प्रासुकस्थानकायशोधनार्थमन्वेपते । समाचारात्मकः संभोगः । योग्य यति संघाटकत्वेन गृह्णीयात् । स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत् । एवं स्थंडिलान्वेपणे संभोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यस्य संघाटको भवेत् । एवं

स्थंडिलान्वेषणे समोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यत्नपरः स स्थंडिलसमोगियतिरित्युच्यते । अन्ये तु थंडिलं समोगिय इति पठित्वा स्थंडिलं दृष्टेति व्याख्याति । “अध्ययनप्रश्रवधौ निपुणोऽसर्वकारात्रिकाग्रनिमः ॥ स्थंडिलशायी यायाद-प्रतिवद्धश्च सर्वत्र” ॥ इतरे तु स्थंडिलः स्थंडिलशायी, संभोगियुतः सधर्मयुक्त इति मत्वेदं पठेत् ॥ “एकरात्रतनूत्सर्ग-प्रश्नस्वाध्यायपंडितः सर्वत्रैत्य प्रतीग्रहः स्थंडिलः साधुसंयतः” ॥ अप्पडिवद्धो आसकिरहितः । सन्वत्य सर्वत्रातराल-ग्रामनगरादिसान्निवेशस्थयतिगृहसिक्तारसन्मानप्राधूर्णकभक्तादौ ॥

निर्मापक का अन्वेषण करनेके लिये निकले हुये आचार्य का कार्यक्रम व्रतते हैं —

अर्थ—एकत्रिप्रतिमाकुशल, अध्ययनकुशल और प्रश्नकुशल ऐसा वह मुनि निर्मापकाचार्य का अन्वेषण करने के लिये विहार करता है—एकत्रिप्रतिमाकुशल का स्वरूप कहते हैं—तीन उपवास करनेके अनंतर चौथे रात्रीमें ग्रामनगरादिके ब्रह्मा प्रदेशमें अथवा श्मशानमें, पूर्वदिशा, उत्तरदिशा अथवा चैत्य-जिन-प्रतिमाके सन्मुख मुखकर दोनो चरणोंमें चार अंगुल प्रमाणका अंतर रखकर नासिकाके अग्रपर वह यति अपनी दृष्टि निश्चल करता है, शरीरपरका ममत्व छोड़ देता है अर्थात् कायोत्सर्ग करता हुआ मनको एकाग्र करता है, देव, मनुष्य, तिर्यच और अचेतन इनके द्वारा किया हुआ उपसर्ग सहन करता है, वह मुनि भयसे आगे गमन करता नहीं और नीचे गिरता भी नहीं है, अर्थात् निर्भय होकर स्वस्थानमें ही द्योदय होने तक स्थिर रहता है, यह एक रात्रिप्रतिमाकुशल है जो मुनि साध्याय कर दोन मोस गमन करता है और जहां आहार मिलेगा ऐसे क्षेत्रमें वसतिकामें जाकर ठहरता है, यदि मार्ग दूर होय तो सुदूरगौरी अथवा अर्थपौरी के समय मंगल करके आगे गमन करता है वह स्वाध्याय कुशलमुनि है.

प्रश्नकुशल मुनिका स्वरूप—चैत्य, मुनि, आर्यिका, श्रामक, बाल, मध्यम और दृढोंको पूछकर निर्माप-काचार्यका अन्वेषण करता है, जहां भिक्षा प्राप्त हो गई वहां जो स्थंडिलका अन्वेषण करता है, अर्थात् शरीर शोधन के लिये प्राप्त स्थान का अन्वेषण करता है, वह स्थंडिलशायी मुनि है, समोगकुशल—सहायता करनेवाले योग्य यतिके साथ विहार करनेवाला, किंवा योग्य यतिका आश्रय करनेवाला अथवा योग्य यतिको स्वयं मदत करनेमें जो कुशल है वह यति समोगकुशल माना जाता है, मार्गमें ग्राम, नगरादिकमें रहनेवाले यति और

गृहस्थोंके सत्कार, सम्मानमें जो मोह नहीं करता है, जो अतिथि और भक्तादिकों पर मोहयुक्त नहीं होता है ऐसे मुनिको अप्रतिवद्ध कहते हैं। निर्यापकाचार्यका शोध करनेके लिये निकले हुए मुनिका स्वरूप इस प्रकार है

आलोचनापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि अंतरा हु अमुहो हवेज्ज आराहओ होज्ज ॥ ४०४ ॥

यद्यपि प्रस्थितो मूले सूरेरालोचनापरः

संपद्यते तरां मूकस्तथाप्याराधको मतः ॥ ४१५ ॥

विजयोदया—आलोचनापरिणदो रत्नत्रयातिचारान्मनोवाक्कायविकल्पानात्मीयान्युरो निवेदयिष्यामीति कृत-  
संकल्पः । सम्म आलोचनादोषान्परित्यज्य सपत्थिदो यातुमुद्यत । गुरुसगास गुरुसमीपं । जदि अंतरा खु यद्यन्तराल  
एव । अमुहो हवेज्ज पतितजिह्वो भवेत् । आराधयो होज्ज आराधको भवति ॥

सम्यगालोचयिष्यामीति प्रणिधानपरो गुरुसंमुखं चळितो दैवादंतराले एव अवचनीभूतोऽप्याराधकोऽस्तीति  
उपदिशति—

मूलारा—आलोचनापरिणदो रत्नत्रयातिचारान्मनोवाक्कायविकल्पानात्मीयान्युरो निवेदयिष्यामीति कृतसंकल्पः ।  
सम्मं सम्यक् आलोचनादोषं परित्यज्येत्यर्थः । संपत्थिदो यातुमुद्यत । अमुहो निर्वचनः ॥

अर्थ—मन वचन और कायके द्वारा रत्नत्रयमें जो अतिचार लगे हैं वे सब गुरुके पास जाकर मैं कहूंगा  
अर्थात् गुरुके समीप दोषोंकी आलोचना करूंगा ऐसा मनमें विचार कर जो साधु गुरुके पास जानेके लिये निकला  
परंतु यदि मार्गमें ही वह मूकावस्थाको प्राप्त हो जावे तो भी वह आराधक होता है—आराधक माना जाता है.

आलोचनापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि अतरम्मि कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०५ ॥

यद्यपि प्रस्थितो मूले सूरेरालोचनापरः

विपद्यतेऽन्तरालेऽपि तथाप्याराधकोऽस्ति सः ॥ ४१६ ॥

विजयोदया—आलोचनापरिणदो स्वापराधकथनावहितचित्त । गुरुसमीपमागच्छतो यद्यतराल एव कालं कुर्यात् । आराधगो होइ आराधको भवति ॥

आलोचनापरिणदो समं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि आयरिओ अमुहो हवेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०६ ॥

आलोचनाप्रवृत्तस्य गच्छतः स्वरिसन्निधिं ॥

यद्यप्यस्त्यमुखः स्वरिस्तथाप्याराधकोऽस्ति स' ॥ ४१७ ॥

विजयोदया—तथा आलोचनापरिणत गुर्वन्तिकं प्रस्थित. आराधको भवति। यदाचार्यो वन्तुमशक्तो जात' ॥

आलोचनापरिणदो समं संपच्छिदो गुरुतयासं ॥

जदि आयरिओ कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०७ ॥

आलोचनाप्रवृत्तस्य गच्छतः स्वरिसन्निधिं ॥

यद्यपि त्रियते स्वरिस्तथाप्याराधकोऽस्ति स' ॥ ४१८ ॥

विजयोदया—आचार्य कालकरणेऽप्याराधको भवति इति सूत्रार्थः ॥

तद्वन्मृतोऽप्याराधकोऽस्तित्याह —

मूलारा—स्रष्टाः ॥

अर्थ— मैं अपने अपराधोंका स्वरूप गुरुके धरणसमीप जाकर कहूंगा ऐसा मनमें विचार कर निकला हुआ मुनि यदि मार्गमेंही मरण करे तो भी वह आराधक होता है.

अर्थ—मैं अपने अपराध परगणके आचार्य के पास कहूंगा इस अभिप्रायसे गमन करनेवाले आचार्य यदि मार्गमें ही मृकावस्थाको प्राप्त होजावे तो भी वे आराधक होते हैं. अर्थात् यदि वे व्याधिजर्जरित होकर बोलनेमें असमर्थ हो गये तो भी वे आराधक होते हैं.

अर्थ—आलोचना करनेके उद्देशसे गुरुके समीप निकले हुए आचार्य यदि मार्गमें स्वर्गवासी हो जावे तो भी वे आराधक माने जाते हैं.

कयं आराधकता तस्या ? न कृता आलोचना ? नाचरितं गुरूपदिष्टं प्रायश्चित्तमित्यादेकायामाचष्टे—

सहं उद्धरिदुमणो संवेगुब्बेगतिव्वसद्वाओ ॥

जं जादि सुद्धिहेदुं सो तेणाराहओ भवदि ॥ ४०८ ॥

संवेगोद्बेगसंपन्नः शुद्धयै गच्छत्यसौ यतः ॥

मनःशल्यं निराकर्तुं भवत्याराधकस्ततः ॥ ४१९ ॥

विजयोदया—कृतापराधानालोचनायां मायाशल्यं भवति । सति मायाशल्ये न रत्नत्रयशुद्धिरिति मत्वा शल्य-मुद्धर्तुमना । संवेगुब्बेगतिव्वसद्वाओ संसारभीरुता संवेग , शरीरस्याशुचितामसारता, दुःखदुःखतां चावलोक्य, तथेन्द्रिय-सुखानामवृत्तिकारिता, वृष्णाभिवृद्धिनिमित्ता च तत्रोद्बेगः । तौ संवेगोद्बेगौ, तीव्रा मरणकाले रत्नत्रयाराधना श्रद्धा च यस्य विद्यते स उच्यते संवेगुब्बेगतिव्वसद्वाओ इति । अथवा संवेगोद्बेगाभ्या प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यस्य रत्नत्रयाराध-नाया स एव भण्यते । जं जादि सुद्धिहेदुं यस्माच्छुद्धिनिमित्तं याति । सो तेण आराहओ होदि स तेन आराधको भवति ॥

कथमनालोचितस्याननुष्ठितगुरुकृपायश्चित्तस्याराधकत्वं स्यादित्याशंकायामाह—

मूलारा—सहं कृतापराधानालोचने सति मायाशल्यं रत्नत्रयशुद्धिं कृतं । उब्बेग शरीरोद्बेगमुल्ले चासारत्व वृष्णाभिवर्द्धकत्वादित्येव दर्शनादुद्बेगो वैराग्यं । तिब्बसद्वा उत्कटमारणातिकरत्नत्रयाराधनारुचिः । संवेगादित्रयं गच्छति यः स तथोक्तः । अथवा संवेगोद्बेगाभ्या प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यत्सेति ग्राह्यम् । सोधिहेदुं शुद्धिनिमित्तम् ॥

जिसने आलोचना नहीं की, जिसने गुरुकथित प्रायश्चित्तका आचरण नहीं किया है वह मुनि आराधक कैसा माना जाता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—अपराध करके भी जो आलोचना नहीं करता है वह मुनि मायावी समझना चाहिये, मायाशल्यके दोनसे रत्नत्रयमें निर्मलता होती नहीं ऐसा मनमें विचार कर शल्यका उद्धार करनेका जिसने विचार किया है जिसके मनमें संसारभय उत्पन्न हुआ है, शरीर अपवित्र, निःसार और दुःख देनेवाला है, इन्द्रियसुख अवसिजनक और वृष्णा बढ़ानेवाला है, ऐसा विचार कर जो उससे उद्धिय हुआ है और जिसके मनमें रत्नत्रयविषयक श्रद्धा तीव्रतासे प्रगट हुई है और जो अपराध निवेदनके लिये गुरुके पास जा रहा है ऐसे मुनिकी यदि मार्गमें वचन

शक्ति नष्ट हो गई अथवा वह शक्ति मार्गमें मृत्युवश हो गया तो बिना आलोचनोके भी रत्नत्रयाराधक माना जाता है.

निर्योपकसूर्यन्वेपणार्थं गच्छतो गुणमाचष्टे -

आयारजीदकप्पगुणदीवणा अत्तसोधिणिज्झंक्षा ॥

अज्जवमह्वलाघवतुठीपल्हादणं च गुणा ॥ ४०९ ॥

आचारजीदकरूपानां जायते गुणदीपना ॥

गुणाः स्वशुद्धयसंश्लेशौ मार्दवाजवचतुष्टयम् ॥ ४२० ॥

विजयोदया - आयारजीदकप्पगुणदीवणा आचारस्य जीदसंश्लितस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना । एतानि हि शास्त्राणि निरतिचाररत्नत्रयतोमेव दर्शयन्ति । तदर्थमेवान्वेषक प्रयतते । अत्तसोधि आत्मन शुद्धि, णिज्झंक्षा मलेशाभाव । न हि संक्लेशवानित्यं दूर प्रयातुमीहते । स्वदोषप्रकटनान्माया त्याक्ता भवत्येव, तत एव माननिरासो मार्हव । शरीरपरित्यागाद्विदुर्द्वितया लाघवं । कृतार्थोऽस्मीति तुष्टिर्भवति । प्रस्थितस्य प्रवृत्तादन हृदयसुखं च स्वपरोपकाराभ्या गमित काल, इत उत्तरं मदीय एव कार्ये प्रधाने उद्युक्तो भविष्यामि इति चिंतया ॥

निर्योपकसूर्यन्वेपणार्थं गच्छतो गुणानाचष्टे--

मूलारा - आचारस्य जीदस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना एतानि हि शास्त्राणि रत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति । तदर्थमेव चान्वेषकः प्रयतते । णिज्झंक्षा संक्लेशभावः । न हि संक्लेशवानित्यं दूरं प्रायतुमीहते । अज्जवं मायात्यागः । स्वदोषप्रकटनान्यथायोगात् ॥ मर्हवं माननिरासस्तत एव लाघव लोभनिर्जयः । शरीरत्यागाद्विदुर्द्वित्यात् । तुष्टी कृतार्थोऽस्मीति प्रीतिः । पल्हादणं स्वपरोपकाराभ्या गमितः काल इत उत्तरं स्वकार्ये एवोद्युक्तो भविष्यामीति चिंतयोद्भूतं यत्सुखं । एतेषु गुणा सुर्वन्वेपणार्थं प्रस्थापितो भवन्ति ॥

निर्योपकाचार्यका शोध करनेके लिये विहार करनेवाले आचार्य के गुणोंका वर्णन--

अर्थ--निर्योपकाचार्यका शोध करनेके लिये विहार करनेसे आचारशास्त्र, जीतशास्त्र और कल्पशास्त्र इनके गुणोंका प्रकाशन होता है. ये शास्त्र निरतिचार रत्नत्रयका स्वरूप दिखाते हैं और अन्वेपक मुनि रत्नत्रय निर्मल

करनेके लिये अवश्य प्रयत्न करता है. आत्मशुद्धि अर्थात् आत्माकी शुद्धि होती है, संकेशपरिणाम नष्ट होते हैं. अथवा विहार करना हेतुशदायक है ऐसा जो समझता है वह गुरुका अन्वेषण करनेके लिये क्यों कष्ट सहेगा परंतु जिनको आराधनासिद्धि करनेकी इच्छा है वे कष्ट सह कर गुरुका अन्वेषण करते हैं. और इस कार्यमें वे कष्ट समझते नहीं. अज्जवगुण-गुरुका अन्वेषण करनेके लिये विहार करनेसे आर्जव गुणकी सिद्धि होती है अर्थात् कपटका त्याग होता है. क्योंकि गुरुका शोध कर उसके आगे अपने दोषोंको मायाका त्याग कर प्रगट करनेसे आर्जव-गुणकी प्राप्ति होती है. दोष प्रगट करनेसे अभिमानका भी परिहार होकर मार्दव गुणका लाभ होता है. शरीरका परित्याग करनेकी बुद्धि होनेसे लाघव गुणका लाभ होता है मैं कृतार्थ हो चुका ऐसा विचार मनमें आता है इससे तुष्टि गुण भी व्यक्त हुआ. गुरुका शोध करनेके लिये प्रयाण करते समय प्रव्हाद अर्थात् हृदयमें सुख उत्पन्न होता है. आजतक मैंने स्वपरोपकार करनेमें काल व्यतीत किया अब मैं आगेका सर्व काल मेरे कार्यमें ही अर्थात् चार आराधनाओंकी सिद्धिमें ही व्यतीत करूंगा ऐसी चिन्तासे उसके हृदयमें सुख उत्पन्न होता है.

इत्थं गुर्वन्वेषणार्थमायात दृष्ट्वा तद्गणवासिना सामाचारकमं व्याहरति -

आएसं एज्जंतं अब्भुद्धिंति सहसा हु दट्ठणं ॥

आणासंगहवच्छेदाए चरणे य णाहुंजे ॥ ४१० ॥

आलोक्य सहसा यान्तमभ्युत्तिष्ठन्ति संयता.

आज्ञासंग्रहवात्सल्यप्रणामकृतयोऽखिलाः ॥ ४२१ ॥

विजयोदया - आपसं प्राघूर्णकं । एज्जंतं आयांतं । दट्ठण दृष्ट्वा । सहसा अब्भुद्धिंति शीघ्रमभ्युत्थानं कुर्वन्ति यतयः । आणासंगहवच्छेदाए अण्डुडो समणो सुचत्थविसारदो उवासिज्ज इति जिनाज्ञासंपादनार्थं आगच्छंतं संय-हीणु । वत्सल्यतया च तस्मिन्चरणे य णाहुं च चरित्वा समाचारकमं तदीयं ज्ञातुं च अभ्युत्थानं कुर्वन्ति । क्वचित्पाठः "चरणे य णाण्डुं" इति चरणावगमनार्थं तत्र ग्राह्यम् ॥

गुर्वन्वेषणार्थमायात दृष्ट्वा तद्गणवासिभिः करणीयं समाचारकमं गाथाव्रयेण निरूपयति—

मूलारा—आएसं प्राघूर्णकं । एज्जंतं आगच्छंतं अब्भुद्धिंति अभ्युत्थानं कुर्वन्ति । वात्सल्य मुनयः । आणासंगह-

अन्वमुठ्या समणा सुत्तथविसारदा उवासेज्ज इति विनाज्ञासंपदनार्थं संप्रहः । आगच्छतो मुनेः सामुख्येन प्रतिग्रहणं । चरणे य णाहुंजे तदीयचरित्र समाचारक्रमं च ज्ञातुमिति टीका । अन्येतु चरणेवणामेहुं चरणान्वनमनार्थं इति प्रतिपन्नाः ।

उक्तं च — अभ्युत्तिष्टन्त्यध्वा दृष्टवैवागामुकं समायातं ॥

संप्रहवात्सल्याज्ञाप्रणामहेतोः सुपंगमिन ॥

इस प्रकार गुरु का अन्वेषण करनेके लिये आये हुए उस मुनीको देखकर परगणवासी मुनि उसके साथ कैसा वर्ताव करते हैं इस विषयका विवेचन ग्रंथकार करते हैं

अर्थ—अतीथि मुनि आता हुआ देवकर परगणस्थ यति सहसा शीघ्र खड़े हो जाते हैं, खड़े होजानेमें जिनाज्ञाका पालन होता है, आगत मुनिका स्वीकार होता है और वात्सल्य गुण प्रगट होता है, सूत्रार्थनिपुण मुनिकी उपासना भी ऐसे कृत्य करनेसे होती है, आगत मुनिका आचार भी इस उपायसे जाना जाता है इत्यादिका रणार्थ आगत मुनिको देखकर शीघ्र खड़े होजाना चाहिये,

आगंतुगवच्छब्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णेहिं ॥

अण्णोणचरणकरणं जाणणहेहुं परिक्खति ॥ ४११ ॥

वास्तव्यांगंतुकाःसम्यक् विविधैः प्रतिलेखनैः ॥

क्रियाचारित्र्यवोधाय परीक्षन्ते परस्परम् ॥ ४२२ ॥

विज्ञयोदया — आगंतुगवच्छब्वा आगतको वास्तव्याश्च । पडिलेहाहिं तु दृष्ट्वा । अण्णमण्णेहिं अन्योन्यं । अण्णोणचरणचरणं अन्-ोन्यस्य चरण करणं वा । परिक्खन्ति परीक्षते । किमर्थं जाणणहेहुं ज्ञातुं । समितयो गुप्तश्चरण-शब्देनोच्यते करणमित्यावश्यकानि गृहीतानि । आचार्यणासुपदेशभेदात्सामाचारोऽनेकप्रकारो दुरवगमः त ज्ञातुं सहावस्थानयोग्यो न वायमिति ज्ञातुं वा ॥

मूलारा—वच्छब्वा वास्तव्या तत्रत्या यतय । पडिलेहाहिं तु दृष्ट्वा । अण्णमण्णाहिं अन्योन्यं । अण्णोण-चरणकरणं अन्योन्यस्य चरणकरणं चरण गुप्तिसमितया । करणं चावश्यकानि ॥ जाणणहेहुं ज्ञातुं, सूरीणामुपदेशभेदात्सामाचारोऽनेकप्रकारो दुरवगम इति तं ज्ञातुं । सहावस्थानयोग्यो न वायमिति वा ज्ञातुं । अन्ये तु प्रतिलेखनैरन्योन्य



करणादिज्ञानार्थं परीक्षते इति प्रतिपन्ना ॥ तथा च तत्पाठः—आंगंतुकवास्तव्या प्रतिलेखाभिः परस्परं यतयः ॥

अन्योऽन्यचरणकरणज्ञाननिमित्तं परीक्षते ॥

अपि च—वास्तव्यांगंतुकाः सन्धिविविधैः प्रतिलेखनैः ॥

क्रियाचरित्रबोधाय परीक्षते परस्परम् ॥

अर्थ—आया हुआ मुनि और गणके वास्तव्य अर्थात् दोनो मुनि अन्योन्यके आचरणका प्रकार परीक्षा पूर्वक देखते हैं, आये हुए मुनिकी समिति और गुप्तियां निर्दोष हैं या सदेष्ट हैं इसका परीक्षण वास्तव्य मुनि करते हैं, आंगंतुक मुनि भी उनके समिति गुप्तियोंकी परीक्षा करता है, सामायिकादिक छह आवश्यकोंकी भी वे मुनि अन्योन्य परीक्षा करते हैं, अथवा आचार्यके उपदेशभेदसे आचार अनेक प्रकारका है, उसका परिज्ञान करनेके लिये वे अन्योन्यकी परीक्षा करते हैं अथवा आगतमुनि अपने साथ रहनेकी योग्यता रखता है या नहीं यह जाननेके लिये वे मुनि परीक्षा करते हैं.

क परीक्ष्यते इत्यत्राह—

आवासयठणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिकखेवे ॥

सज्झाए य विहारे भिक्खगहणे परिच्छंति ॥ ४१२ ॥

आवश्यके ग्रहे क्षेपे स्वाध्याये प्रतिलेखने ॥

परीक्षन्ते वचोमार्गे विभाराहारयोरपि ॥ ४२३ ॥

विजयोदया—आवासगठणादिसु अवश्यमेव सवरनिर्जराधिभि कर्तव्यानि सामायिकादीनि आवश्यकान्युच्यते तेषां स्थिति आवश्यकपरिणतिकाल । उज्जणद् जहाजाद् वारसावत्तमेव च । चतुस्सिर तिसुद्धमित्यादिका क्रिया आदिशब्देन गृहीता । तेषु आवश्यकस्थानादिसु । पडिलेहणवयणगहणणिकखेवे । प्रतिलेखने चक्षुषा उपकरणे वा, वचने, उपकरणाना ग्रहणे, निक्षेपे, च सज्जाए स्वाध्याये, विहारे जंघाविहारे, भिक्खगहणे भिक्षाग्रहणे च परिक्खति परीक्षते । किमय सामायिकादीन्यावश्यकानि करोति ? कर्तव्यपि वा यथाकालं करोति न वा ? किं वा द्रव्य-सामायिकादौ प्रवर्तते उत भावसामायिकादौ ? द्रव्यसामायिकादिक भवति सामायिकादिकं पठत, कथेन चोक्ता क्रिया कुर्वत । सावधयोगप्रत्याख्यते, तीर्थेऽद्युणनुसरणे, आचार्याध्यायादीनां वा गुणानुसृतौ, स्वातिचारनिर्दिगर्हयो,

प्रत्याख्येयप्रत्याख्यानं, शरीरममत्तानिरासे वा, परिणतिर्भावसामायिकादिकं । तत्र प्रवृत्तौ न वेति परीक्षा । चक्षुषा पूर्वमिदं प्रतिलेखनं योग्यं न वेति किं पश्यति न वा । उपकरणेन मुद्रुना लघुना प्रमाजनेन किं करोति न करोति वा । अथवा त्वरितं प्रमाजयति, अवपीडयति, दूरवास्थान्पातयति, प्रमाजनेन विरोधिनो जीवात्मिश्रयति । आहाराभिसुखान्, आहारप्राद्विणो गृहीताडककान्, स्वनिवासदेशस्थान्, मूर्च्छासुपगतान्प्रमाजयति न वेति परीक्षा । वचने परीक्षा--परुष वच, परनिवात्मप्रशसावृत्त, आरुमपरिश्रहयो प्रवर्तक, मिथ्यात्वसपादकं, मिथ्याज्ञानकारि, व्यलीकं, गृहस्थाना वचो वा वदति न वेति । यतो यदादेय यद्वा यत्र निक्षिपति तदुभयप्रमाजनेपूर्वकं किं गृह्णाति निक्षिपति वा नेति परीक्षा । काला दिशुद्धिं कृत्वा पठति किं वा न, अथवा इमं ग्रन्थ पठति, कथं वास्यायं व्याचष्टे । स्वनिवासदेशादहरे हस्तमात्रादिपरिमाणे स्थंडिले, निर्जलके निश्चिद्रे, समे, अविरोधे मार्गजनेनानवलोभ्ये किं स्वशरीरमल त्यजति उतातो विपरीते इति विहारे परीक्षा । भिक्षाग्रहणे परीक्षा नाम भ्रामर्यो या काचिद्भिक्षा गृह्णाति लब्धमुत्त नवकोटिपरिशुद्धामिति ॥

क क परीक्षिते इत्यत्राह—

मूलार—आवासयठाणादिसु आवश्यकेषु सामायिकादिसु, स्थानं स्थितिरावश्यकपरिणतिकाल इत्यर्थः । आदिशब्देन दुःखदं जहाजादं भारसावत्तमेव य । चक्षुस्तिरं तिसुद्धिभित्यादिकाः क्रिया गृहीताः । पण्डिलेहणा चक्षुःपिछा-विना प्राणिनिरूपणप्रमाजने । विहारे गमने ॥

अर्थ—संवर और निजराकी इच्छा रखनेवाले सुविचारोंके द्वारा किये जानेवाले सामायिकादि कर्तव्योंको आवश्यक कहते हैं. अर्थात् सामायिकादि छह आवश्यकोंका पालन आगत सुनि योग्य समयपर करता है या नहीं इसकी परीक्षा वास्तव्य सुनि करते हैं. दो नमस्कार, बारा आवर्त, प्रत्येक दिशाके तरफ एकेक नमस्कार ऐसे चार नमस्कार, मन, वचन और कायकी शुद्धिसे करना इत्यादिक क्रियाओंका पालन यह सुनि करता है वा नहीं इसका सूक्ष्म अवलोकन वे करते हैं, नेत्रोंसे उपकरणोंका शोधन करना, सोध करके उपकरण उठाना, रखना, बोलना, स्वाध्याय करना, विहार करना, आहार ग्रहण करना इत्यादि कार्योंमें आगत सुनीकी परीक्षा] ली जाती है. यह सुनि सामायिकादि कर्तव्य करता है क्या ? योग्य कालमें करता है या नहीं ? केवल द्रव्यसामायिकादिकोंमें यह प्रवृत्त होता है या भावसामायिकादिकोंमें इसकी प्रवृत्ति है ? वचनसे सामायिकादिकका पाठ बोलना और शरीरके सामायिकादिकोंकी क्रिया करना यह द्रव्यसामायिक समझना चाहिये अशुभ योगका त्याग करना, तीर्थकरोंके गुणोंका स्मरण करना, आचार्य, उपाध्याय वगैरह पूज्य सुनिओके गुणोंका स्मरण करना, अपने व्रतमें लगे हुए अतिचारेकी निंदा व गहाँ करना, त्याज्य पदार्थोंका त्याग करना, शरीरके उपरका स्नेह छोडना इत्यादिकोंमें जो तत्परता

देखी जाती है वह सामायिकादिक आवश्यक है, इन भावसामायिकादिकोंमें इसकी परिणति है या नहीं यह वास्तव्य मुनि देखते हैं, यह स्थान प्रथम नेत्रसे देखकर स्वच्छ करता है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं मृदु पिच्छिकासे जमीन, कर्मंडलु, शास्त्र वगैरे उपकरण स्वच्छ करता है या नहीं, धीरे धीरे समार्जन करता है या त्वरित, जीवोंको उपकरणसे हटाता हुआ उनको पीडा करता है क्या ? उनको फेक देता है क्या ? अथवा विरोधी प्राणिओंको परस्पर मिश्रण करता है क्या ? जो आहारके लिये जा रहे हैं, जिन्होंने आहार ग्रहण किया है, जिन्होंने अण्डे ग्रहण किये हैं, जो अपने निवास प्रदेशमें ठहरे हुए हैं, जो मूर्च्छित होकर पड़े हैं ऐसे प्राणिओंको यह मुनि धीरेसे हटाता है या नहीं उसकी वास्तव्य मुनि परीक्षा करते हैं, आगत मुनि के वचन की भी परीक्षा करते हैं अर्थात् आगतमुनि कठोर वचन, परिनिदा स्वश्रंसा करता है क्या ? आश्रमपरिग्रहोंमें प्रवृत्त करनेवाला, मिथ्यात्वको उत्पन्न करनेवाला मिथ्याज्ञानको उत्पन्न करनेवाला, असत्य, और गृहस्थोंका वचन बोलता है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं, जो वस्तु जिस स्थानसे लेना है और जो वस्तु जिस स्थान पर रखना है उन वस्तुओंका प्रमार्जन करके ग्रहण निक्षेपण करता है या अन्यथा उसमें प्रवृत्ति करता है इसका वे मुनि परीक्षण करते हैं कालादिशुद्धि का विचार कर स्वाध्याय करता है वा नहीं ? अथवा इस ग्रंथका यह मुनि पठन कर किस रीतीसे अर्थ कहता है, इसकी भी परीक्षा करते हैं, विहारपरीक्षाका स्वरूप इस प्रकार है—अपने निवासस्थानसे दूर हात वगैरे प्रमाणसे युक्त, प्राणिरहि, त, छिद्ररहित, समवल्युक्त विरोधरहित, मार्गसे चलनेवाले लोक जिसको नहीं देख सके ऐसे स्थानमें यह मुनि शरीरमलका त्याग करता है ? अथवा विपरीत स्थानमें शरीरमलका विसर्जन करता है इसकी परीक्षा करते हैं, यह विहारपरीक्षा कही जाती है, मिक्षग्रहणपरीक्षा—जो कुछ आहार मिलेगा वह ग्रहण करता है अथवा नवक्रोडि विशुद्ध आहार ग्रहण करता है इसका भी वास्तव्य मुनि विचार करते हैं

आगतुको यतिगुरुमुपाश्रित्य सविनयं सघाटकदनेन भगवन्नुप्राह्योऽस्मीति विज्ञापनां करोति । ततो गणधरे-  
णापि समाचारको दातव्यः सघाटक इति निगदति—

आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दादव्वो ॥

सेज्जा सथारो वि य जइ वि असंभोइओ होइ ॥ ४१३ ॥

देयः संघाटोऽवश्यमागताय विनत्रयम् ॥

असंस्तुतस्य यत्नेन शय्यासंस्तरकावपि ॥ ४२४ ॥

विजयोदया—आएसस्स तिरत्तं प्राधुर्णकस्य विगवं । णियमा संघाडओ दु दादव्वो निश्चयेन सभाटको दातव्य एव । सेज्जा सथारो वि य वसति सस्तरश्च दातव्य । जइ वि असंभोइओ होइ । यद्यप्यपरीक्षितत्वात्सद्धानां रणीयो भवति । तथापि संघाटको दातव्यो भवति । युक्ताचारश्चेत्संगृह्यते ॥

आगंतुकेन च प्रश्रयमुपाश्रित्य भगवत्संघाटकदोनेनानुग्राहोऽस्मीति विज्ञापितो गुरुस्तस्मै सामाचारज्ञं संघाटकं दद्यात् इति ज्ञापयति—

मूलारा—दु दादव्वो दातव्य एव तुरेवायौत्र भिन्नक्रमः । असंभोइओ असंभोगिकः सामाचारिक इत्यर्थः युक्ताचारश्चेत्संग्राह्य इति भावः ॥

आगंतुकं यति गुरुका आश्रयकर हे भगवन् ! सहाय देकर आप मेरे ऊपर अनुग्रह करो ऐसी विज्ञप्ति करता है तब आचारक्रमके ज्ञाता उसको संघाटक अर्थात् सहायमदन करते हैं यही भाव आगेके गाथामें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—अतिथिरूप मुनिको नियमसे तीन दिन तक सहायप्रदान करना चाहिये, उसको वसतिक्षा और संस्तर अर्थात् चटाई देना चाहिये, यद्यपि परीक्षा होनेतक उसके साथ आचारण करना योग्य नहीं है तथापि उसको सहाय देना चाहिए, और यदि उसका आचारण योग्य दीख पड़ा तो गणमें उसका संग्रह करना चाहिए,

विनत्रयोत्तरकाल किं कार्यं गुरुणेत्याशक्ताया वदति—

तेण परं अवियाणिय ण होइ संघाडओ दु दादव्वो ॥

सेज्जा सथारो वि य गणिणा अविजुत्तजोगिस्स ॥ ४१४ ॥

संघाटको न दातव्यो नियमेन ततःपरम् ॥

यतेर्गुत्तचरित्रस्य शय्यासंस्तरकावपि ॥ ४२५ ॥

अवणोत्तरकालं । तु शब्द एवकारार्थे प्रवर्तते स च दादव्यो इत्येतस्मात्परतो द्रष्टव्यः । न दातव्य एव संघाटकः । सेजा किं पुनरितरस्येत्याशयः ॥

त्र्यह्वादूर्ध्वं किं कार्यमित्याह—

मूलारा—तेण गंतव्येन गणिता । परं दिनत्रयादूर्ध्वं । अविचारिय अविचार्य । संघाटकयतिना सार्द्धं अवर्तयित्वा (१) अविजुत्तजोगस्स युक्काचारस्यापि आगंतुकस्य संघाटकादिकं युक्तयोगस्यापि परीक्षा विना न दातव्यमेव किं पुनरितरस्येत्यतिशयः । यदि परीक्षां क्षमते तदा संघाटकादिकं दातव्यमिति तात्पर्यः ॥

तीन दिनके अनन्तर गुरूके द्वारा कोनसा कार्य किया जाता है इसका विवेचन करते हैं—

अर्थ—तीन दिनके अनन्तर मुनिका वचन सुनकर अर्थात् यह आगंतुक मुनि अपने गणमें आश्रय देने योग्य नहीं है ऐसा वचन सुनकर आचार्य उस आगंतुक मुनिको सहायप्रदान नहीं करते हैं, तथा वसतिका और संस्तर भी उसको नहीं देते हैं, आगंतुक मुनिका आचरण योग्य है परंतु तीन दिनमें उसकी परीक्षा नहीं हुई तो उसको भी आचार्य सहाय, वसतिका और संस्तर नहीं देते हैं,

अविचार्य तेन सहावस्थाने को दोषो येनैवं यत्नः क्रियते इत्यारेकाया दोषमाचष्टे—

उरगमउप्पादणप्सणासु सोधी ण विज्झदे तस्स ॥

अणगारमणालोह्य दोसं संमुज्जमाणस्स ॥ ४२५ ॥

गृह्णानस्य यतेः सूरेरनिराकृतदूषणम् ॥

उद्गमोत्पादनाहारदोषशुद्धिर्न जायते ॥ ४२६ ॥

विजयोदया—उरगमउप्पादणप्सणासु उद्गमोत्पादनैपणादोषपरिहारो न विद्यते तस्य गणितः । अणगारं यतिं ।

अणालोहय दोसं अनालोचितदोषं । संयुज्जमाणस्स संयुद्धतः । उद्गमादिदोषोपहृतमाहारं वसति, उपकरणं वा सेवते य-  
यति. तेन सह संवासात् संवासानुमतिं कुर्वता नानुमतिस्सत्का भवति इति ॥

अविचार्य तेन सहावस्थाने को दोषो येनेवं यत्नः क्रियते इत्यारेकाया दोषमाचष्टे—

मूलारा—सोधी परिहर । उद्गमादिदोषाणा त्याग इत्यर्थः । तस्स गणितः । अणगारं यतिं । संयुज्जमाणस्स  
संयुद्धतः । उद्गमादिदोषोपहृतमाहारं वसतिसुपकरणं वा यः सेवते तेन सह संवासात् । संवासानुमतिं कुर्वता नानुमति-  
स्त्यक्त्वा भवतीति मन्यते ॥

समाध्यर्थं प्रश्रयेण गुरुमुपाश्रित्यागमनकारणं निवेदयति—

विणयेणुवक्कमित्ता उवसंपज्जदि दिवा व रादो वा ॥

दीवेदि कारणं पि य विणयेण उवाट्ठिए संते ॥

मूलारा—विणएण प्रणामादिना । उवक्कमित्ता परगणमिति शेषः । उवसंपज्जदि उपाश्रयति । निर्योपकाचार्यमिति  
शेषः । रादो रात्रौ । दीवेदि प्रकाशयति कारण स्वागमनस्येति शेषः । अयमन्त्रार्थः—उत्तमार्थसाधनोद्यतः पररणं गत्वा  
निर्योपकाचार्यमुपाश्रयति । ततश्च दिने रात्रौ वा अवसर प्राप्य तमुपाश्रितो विनयेनागमकारणं ब्रूते । एता टीकाकारो  
नेच्छति

अर्थ—जो मुनि दोषोंकी आलोचना नहीं करता है, जो उद्गम, उत्पादना एषणा दोषोंसे युक्त आहारका,  
वसतिकाका, उपकरणका और संस्तरका सेवन करता है ऐसे मुनिके साथ जो आचार्य रहता है अथवा उसके साथ  
रहनेके लिये अन्य मुनिओंको अनुमति देता है, वह भी आगंतुक मुनिके समान दोषी समझना चाहिये, जो आगंतुक  
मुनि उद्गमादि दोषोंसे अशुद्ध हुआ है वह आलोचना भी नहीं करता है, अत एव उसको संघसे अलग करनाही  
योग्य है, उसके दोषोंको विचार न कर उसके साथ रहनेसे स्वयं भी आचार्य और संघ अशुद्ध होगा

उव्वादो तं दिवसं विस्सामित्ता गणिसुवट्ठादि ॥

उद्धरिदुमणोसच्छं विदिए तदिए व दिवसस्मि ॥ ४१६ ॥

स प्रणम्य गणनायकं त्रिधा भाषते निशि दिवाथ संश्रितः ॥  
आगमस्य विनयेन कारणं सिद्ध्ये न विनयं विना क्रिया ॥ ४२७ ॥  
विश्रम्यासौ शल्यमुद्धर्तुकामः श्रान्तः स्थित्वा वासरं तं द्वितीये ॥  
तत्राचार्यं दौकते वा तृतीये न प्रारब्धं साधवो विस्मरन्ति ॥ ४२८ ॥

इति मार्गणासूत्रम् ।

विजयोदया—उब्बादो श्रान् स्थित्वा । तं दिवसं आगतदिनं । विस्सामित्ता विश्रम्य । गणिसुवट्ठादि आचार्य-  
दौकते । उद्धरिदुमणोसह उद्धर्तुं मनःशल्य अतिचार । विदिपे तदिपे च दिवसस्मि द्वितीये तृतीये वा दिने मार्गणापुरस्सरं  
क्रिया सर्वं मार्गणेत्युपन्यस्ता ॥

ततो द्वितीयेऽन्दि तृतीये वा स्वशल्यमुद्धर्तुं गुरुपसर्पति—  
मूलारा—उब्बादो श्रान्तः । तं दिवसं आगमनदिनं । उवट्ठादि दौकते । उद्धरिदुमणो हृदयान्निष्कासयितुकाम-  
सहं रत्नत्रयातिचारं । अत्र मार्गणानुपगिण्यपि क्रिया मार्गणेति उपन्यस्ता । मार्गणा सूत्रतः । १६ । अंकतः १७ ॥

अर्थ—मार्गश्रमसे खिल हुआ वह आगतुक मुनि पहले दिन श्रमपरिहारार्थ विश्रान्ति लेता है तदनंतर  
दूसरे दिन अथवा तीसरे दिनमें मनमें शल्यके समान बुझनेवाले अतिचारोंका उद्धार करनेके लिये आचार्यके चरण  
समीप वह प्राप्त होता है, मार्गणापुरःसर जो जो क्रिया की जाती है वे सब मार्गणा ही कही जाती है.

कीदृग्गुण. स्मरिनेनोपाश्रित इत्याचष्टे—

आधारवं च आधारवं च व्यवहारवं पकुब्बीय ॥  
आयावायविदंसी तेहव उप्पीलगो चेव ॥ ४२७ ॥  
आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकं ॥  
आयापायहटुत्पीडी सुग्गकार्यपरिस्रव ॥ ४२९ ॥  
विजयोदया—आधारवं च आचारवान् । आधारवं च आधारवान् । व्यवहारवं च व्यवहारवान् । पकुब्बीय  
कर्तो । तेहव आयापायविदंसी आयापायदर्शनेद्यत । उप्पीलगो चेव । अचपीडक ॥

अथैवं समाध्यर्थं कृतपरिकर्मणा तेन मुमुक्षुणा कीदृग्गुणः सूरिरुपश्रित इति श्रुष्टः सच्च गायानवत्त्या निर्यापका-  
चार्यगुणग्रामं प्रपंचयिष्यन्नादौ तद्गुणानष्टाबुद्धेऽनु गायार्थद्वयमाह—

मूलारा—आचार्यं आचारवान् । पशुन्वो प्रकर्तो । आयापायपिदंसी आयापाययो रत्नत्रयस्य लाभच्छेदयो-  
र्वशनोद्यतः उष्णील्लगो अववीडकः ॥

जिस आचार्यता आगतुक मुनि आश्रय करता है उसमें कोनसे गुण रहते हैं इसका विवेचन—  
अर्थ—आचार्य आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्तो, आयापायदर्शनीद्यत, और उत्पीलक  
होता है.

अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदक्किची ॥

णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ ॥ ४१८ ॥

एभिर्निर्यापकः स्वरिगुणैरष्टभिरन्वितः ॥

दातुमाराराधनामीशः पृथुकीर्तिरुपेयुषे ॥ ४३० ॥

विजयोदया—अपरिस्साई अपरिस्सावी । णिव्वावओ निर्यापक । पहिदक्किची प्रथितकीर्तिः । णिज्जवण  
गुणोवेदो निर्यापनगुणसमन्वित । एरिसओ होदि आयरिओ ईदृग्भवत्पाचार्यः ॥

मूलारा—णिज्जावगो—निर्यापकः । उक्तं च—

आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः ॥

आयापायदिगुत्पीडी सुखकार्यपरिस्त्रवः ॥

एभिर्निर्यापकः स्वरिगुणैरष्टभिरन्वितः ॥

दातुमाराराधनामीशः पृथुकीर्तिरुपेयुषे ॥

अर्थ—आचार्य अपरिस्त्रावी, निर्यापक, प्रसिद्ध कीर्तिमान और निर्यापकके गुणोंसे पूर्ण होते हैं, इतने  
गुण आचार्यमें होते हैं.



आचारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं ॥

उपदिसदि य आचारं एसो आचारवं णाम ॥ ४१९ ॥

आचारी स मतः सूरिरतिचारनिराकृतं ॥

चर्यते चार्यते येन पंचाचारोऽनुमन्यते ॥ ४२१ ॥

विजयोदया—आचारं पंचविह पंचप्रकारं आचार । चरदि विनातिचारं चरति । परं वा निरतिचारे पंचविधे आचारे प्रवर्तयति । उपदिसदि य आचार उपदिशति च आचार । एसो आचारवं णाम एण आचारवान्नाम । एतदुक्तं भवति—आचारागं स्वयं चेति ग्रथतोऽर्थतद्वच, स्वयं पंचविधे आचारे प्रवर्तते प्रवर्तयति च । पंचाचारवान् इति । पंच विधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः । जीवादितत्त्वश्रद्धानपरिणतिः दर्शनाचारः । हिंसादिनिवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । चतुर्विधाद्वारत्यजन, न्यूनभोजनं, वृत्ते, परिसंख्यानं, रक्षणा त्यागः, कायं संतापनं विविक्तावास इत्येवमादिकस्तथाः संक्षिप्त आचारः । स्वशाक्यनिग्रहंन तपसि वीर्याचारः । एते पंचविधा आचाराः ॥

मूलारा—पंचविहं पंचविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः । जीवादितत्त्वश्रद्धानपरिणतिर्दर्शनाचारः । हिंसादि निवृत्तिपरिणतिश्चारित्राचारः । अनशनादितपश्चरणपरिणतिस्तप आचारः, तपसि स्वशक्त्यनिगूहनं वीर्याचारः । वीर्यादाचारस्य को भेद इति चेदुच्यते—सदर्शनादीना निर्मलीकरणे यत्नो विनयः । निर्मलीकृत्ये तु येषु यथावीर्यं यत्न आचारः । इत्यनयोर्भेदः । श्लोकः—

सहृग्धीवृत्तपसा सुसुक्षोर्तिर्भलीकृतौ ॥

यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धे तु ते तु ॥

उपदिशति । उपदिशति च । एते तैल्लिख्यति [१] ग्रथतोऽर्थतश्चाचारंगं चेति पंचाचारोपदेशान्यथायोगात् ॥

अर्थ—जो मुनि पांच प्रकारके आचार अतिचार रहित स्वयं पालता है, और इन पांच आचारोंमें दूसरों को भी प्रवृत्त करता है, जो आचारका शिष्योंको उपदेश करता है वह आचारवत्त्व गुणका धारक समझना चाहिये अभिप्राय यह है कि जो मुनि ग्रंथ और अर्थ से आचारांगको जानता है, स्वयं पांच प्रकारके आचारोंमें प्रवृत्त होकर अन्योको भी प्रवृत्त करता है वह पंचाचारवान् कहा जाता है पांच प्रकारके स्वाध्यायोंमें प्रवृत्ति करना यह ज्ञानाचार है, जीवादितत्त्वोंपर श्रद्धान रखना दर्शनाचार है, हिंसादि पांच पापोंसे निवृत्ति रूप परिणाम रहना चा-

रित्राचार है. चार प्रकारके आहारोंका त्याग करना, अल्प भोजन करना, दाता, पात्र, आहार इत्यादिका परिमाण करना, रसोंका त्याग करना, शरीरको आतापनादि योग और आसनादिकसे क्लेशयुक्त करना. एकात स्थानमें रहना इन सब प्रवृत्तिओंको तप आचार कहते हैं तपश्चरणमें अपनी शक्ति नहीं छिपाना यह वीर्याचार है ऐसे आचारोंके पांच भेद हैं.

प्रकारतरेण आचारवत्त्व कथयति—

दशविहठिकल्पे वा हवेज्ज जो सुद्धिदो सयायरिओ ॥

आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो ॥ ४२० ॥

दशधा स्थितिकल्पे वा सुस्थितो गतदूषणे ॥

आचारी कथ्यते युक्तः सूरिरागममातृभिः ॥ ४२१ ॥

विजयोदया—दशविहठिकल्पे वा दशविधे स्थितिकल्पे वा । हवेज्ज जो सुद्धिदो सया भवेद्यः सुस्थितः सदा । आयरिओ आचार । आयारव खु आचारवान् । एसो एप. । पवयणमादासु आउत्तो प्रवचनमावकासु समितिषु गुप्तिषु च आयुक्त ॥

आचारवत्त्वमेव भंग्यतरेणोपदिशति—

मूलरा—ठिकल्पे आचरणविशेषे । पवयणमादासु प्रवचनमावपु समितिगुप्तिषु । आउत्तो कृतोद्योगः ॥

अन्य प्रकारसे आचारवत्त्व गुणका निरूपण करते हैं—

अर्थ—जो दशप्रकारके स्थितिकल्पोंमें स्थिर है वह आचार्य आचारवत्त्वगुणका धारक समझना चाहिये यह आचार्य तीन गुप्ति और समितिओंका जिनको प्रवचनमाता कहते हैं धारक होता है.

अभिहितकल्पनिर्देशार्था गाथा—

आचेलक्कुदेसियसेज्जाहररायपिडकिरियम्मे ॥

जेट्टुपडिक्कमणे वि य मासं पज्जो सवणकप्पो ॥ ४२१ ॥

## अचेलकत्वमुद्दिष्टशस्येशाहारवर्जने ॥

राजपिंडविवर्जित्वं कृतिकर्मप्रवर्तनम् ॥ ३३३ ॥

विजयोदया—आचेलक्कुद्देसिय चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलपरिग्रहत्याग आचेलम्यमित्युच्यते । दशाविधे धर्मे त्यागो नाम धर्मः । त्यागश्च सर्वसगविरतिरेचेलतापि सैव । तेनान्नेलो यतिस्यागाख्ये धर्मे प्रवृत्तो भवति । अर्किचनाख्ये अपि धर्मे समुद्यतो भवति निष्परिग्रह । परिग्रहाथो ह्यारुभप्रवृत्तिर्निष्परिग्रहस्यासत्यारुभे कुतोऽसयम् । तथा सत्येपि धर्मे समवस्थितो भवति । पर परिग्रहनिमित्तं व्यलीकं वदति । असति वाह्ये क्षेत्रादिके अर्थतरे च रागादिके परिग्रहे न निमित्तमस्त्यनृताभिधानस्य । ततो ग्रवन्नेवमचेलः सत्यमेव ब्रवीति । लाघव च अचेलस्य भवति । अदत्तविरतिरपि संपूर्ण भवति । परिग्रहामिलापे सति अदत्तादाने प्रवर्तते नान्यथेति । अपि च रागादिने त्यक्ते भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतम भवति । सगानिमित्तो हि क्रोधस्तदभावे चोत्तमा क्षमा व्यवतिष्ठते । सुलपोऽहमाह्वय इत्यादिको दर्पस्त्वक्तो भवति अचेलेनेति । मार्दवमपि तत्र सन्निहितं । अजिह्वता चास्य स्फुटमात्मीय भावमादर्शयतोऽचेलस्यार्जवता भवति मायायां मूलस्य परिग्रहस्य त्यागात् । चेलविपरिग्रहपरित्यागपरो यस्मात् विरागभावमुपगत । शब्दादिविषयेष्वासक्तो भवति । ततो विमुक्तेश्च शीतोष्णदंशमशकादिपरित्रमाः, सुरासुरोदीर्णः, सोढाश्चोपसर्गो निश्चेलतामभ्युपगच्छता । तपोऽपि घोरमनुष्ठित भवति ॥

एवमचेलत्वोपदेशेन दशविधधर्माख्यानं कृतं भवति संक्षेपेण । अथवा अन्यथा प्रक्रम्यते अचेलताप्रशंसा । संयमशुद्धिरेको गुणः । स्वेदरजोमलावलिते चेले तद्योनिकास्तदथागश्च त्रसाः स्रक्साः स्थूलाश्च जीवा उत्पद्यन्ते, ते वाध्यन्ते चेलग्राहिणा । ससक्त वत्त्र तावत्स्थापयतीति चेच्छि हिंसा स्यात् । विविचने च त्रियते ससक्ताः । चेलवतः स्थाने, शयने, निपद्याया, पाटने, छेदने, वधने, वेष्टने, प्रक्षालने, सयष्टने, आतपप्रक्षेपणे च जीवाना वाधेति महानसंयमः । अचेलस्यैवविधासयमाभावात् सयमविशुद्धिः । इन्द्रियविजयो द्वितीयः । सर्पाकुले बने विद्यामंत्रादिरहितो यथा पुमान् दृढप्रयत्नो भवति एवमिन्द्रियनियमने अचेलोऽपि प्रयतते । अन्यथा शरीरविकारो लज्जनयो भवेदिति । कपयाभावाश्च गुणोऽचेलताया । स्तेनभयाद्भोमयादिरसेन लेप कुर्वन्निगूहयित्वा कथंचिन्मायां करोति । उन्मार्गेण वा स्तेनवचनां कर्तुं यायात् । गुल्मवल्याद्यन्तादितो वा स्यात् । चेलदिग्ममास्तीति मानं चोद्वहेते । वलादपहरणास्तेनेन सद्द कलहं कुर्यात् । लाभाद्वा लोभं प्रवर्तते । इति चेलग्राहिणाममी दोषाः । अचेलताया पुनरित्यंभूतदोषानुत्पत्तिः । ध्यानस्वाध्याययोरविघ्नता च । सूत्रीस्वर्कपटादिपरिमार्गणसीवनादिव्याक्षेपेण तयोर्विघ्नो भवति । निःसंगस्य तथाभूतव्याक्षेपाभावात् । सूत्रार्थपौरुषीषु निर्विघ्नता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना । ग्रंथत्यागश्च गुणः । चाहोचेलोद्विग्रथत्यागोऽभ्यन्तरपरिग्रहत्यागमूलः । यथा तुपनिराकरणमभ्यन्तरमलनिरासोपाय अतुल्यं धान्यं नियमेन शुद्धयति । भाज्या तुपस्य शुद्धिः । एवमचेलवति नियमादेव भाज्या । सचेले वीतरागेद्वेषता न गुणः । सचेलो हि मनोब्रह्मे वल्ले

रक्तो भवति । दुष्यत्पानमोक्षे । वाष्पाद्व्यालंवनौ हि रागश्रेयो तावत्सति गरिग्रहे न भवतः । किं च शरीरे अनावरो गुण शरीरगताद्वरशतैव हि जनोऽस्यमे परिग्रहे च वर्तते । अचेलन तु तवाङ्गस्पर्शकः, वातातपाविधाधासहनात् । स्ववशता च गुणः देशातरगमनावो सहायाप्रतीक्षणात् । पिच्छमात्रं गृहीत्वा हि त्यक्तसकलपरिग्रहं पक्षीय यातीति । सचेलस्तु सहायपरवशमानसश्च कथं सयमं पालयेत् । चेतोविशुद्धिप्रकटनं च गुणोऽचेलताया । कोपीनादिना प्रच्छादयन्तो भावशुद्धिर्न द्रायते । निश्चेलस्य तु निर्विकारवेहतया सुखा विरागता । निर्भयता च गुणः । मेमेदं किमपहंरति चौरादयः, किं ताडयति, वध्नीतीति वा भयमुपैति सचेलो, भयातुरो वा किं न कुर्यात् । सर्वत्र विश्रब्धता च गुणः । निष्परिग्रहः न किञ्चनापि शंक्ते । सचेलस्तु प्रतिमार्गायिनं अन्य वा हृद्दया न तत्र विस्थास करोति । को धेत्यय, किं करोति । अप्रतिलेखनता च गुणः । चतुर्वशविधं उपधिं गृह्णतां बहुप्रतिलेखनता न तथाचेलस्य । परिकर्मवर्जनं च गुणः । उद्धेष्टनं, मोचनं, सीवनं, वधनं, रंजन इत्यादिकर्मनैकं परिकर्मं सचेलस्य । स्वस्य वस्त्रप्रावरणादे स्वयं प्रक्षालनं सीवनं वा कुरितसं कर्म, विभूय, मूर्च्छा च । लाघवं च गुणः । अचेलोऽप्योपधिः स्थानासनगमनाविकासु क्रियासु वायुवदप्रतिबद्धो लघुर्भवति नेतरः । तीर्थकराचरितव्यं च गुणः—सहजनवलसमग्रा मुक्तिमार्गप्रस्थापनपरा जिनाः सर्वं पयाचेलो भूता भविष्यतश्च । यथा मेवोपदिपर्वतगताः प्रतिमास्तीर्थकरमार्गाद्विधायिनश्च गणधरा इति तेऽप्यचेलस्ताच्छिष्याश्च तथैवेति सिद्धमचेलत्वं । चेलपरिवेष्टितागो न जिनसदृशः । व्युत्सृष्टप्रलयबभूजो निश्चलो जिनप्रतिरूपता घृसे । अतिगूढयलवीर्यता च गुणः । परीपहसहने शक्तोऽपि सचेलो न परीपह्नात्सहते । एवमेतद्गुणावेक्षणादचेलता जिनोपदिष्टा । चेलपरिवेष्टिताङ्ग आत्मानं निर्ग्रथं यो वदेत्तस्य किमपरे पापडिनो न निर्ग्रथाः ? वयमेव न ते निर्ग्रथा इति वाङ्मात्रं नाद्रियते मत्स्यर्थैः । इत्थं चेले दोषा अचेलताया अपरिमीता गुणा इति अचेलता स्थितिकल्पत्येनोक्ता ।

अथैवं मन्यसे पूर्वगमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टम् तथा ह्याचारप्रणिधौ भणित—“प्रतिलिखेत्पात्रकंवलं द्रुवमिति । असत्सु पात्रादिषु कथं प्रतिलेखना ध्रुवं क्रियते” । आचारस्यापि द्वितीयाध्यायो लोकविचयो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशो एवमुक्तः—“पडिलेहणं, पादपुंछणं, उग्राहं, कडासणं, अण्णदर उवाधिं पावेज्ज” इति । तथा वत्थेसणाए “युत्तं तत्थ एसे हिरिमणे सेग वत्थ वा धारेज्ज पडिलेहणं विदिय, तत्थ एसे जुगिदे देसे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणं तदियं । तत्थ एसे परिस्सह अण्णिधासस्स तवो वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं चउत्थ” । तथा पाथेसणाए कथित “हिरिमणे वा जुगिदे चावि अण्णेने वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिकं पादचारित्तप इति” । पुनश्चोक्तं तत्रैव —“आलावुपत्त वा, दासगपत्तं वा माट्टिगपत्तं वा अप्पणण, अण्णवीजं अप्पसरिदं तथा अप्पकारं पावलोमे मति पडिग्गाहिस्सामीति” । वल्लगत्ते यदि न ग्राहो कथमेतानि सूत्राणि नीयते । भावनाया चोक्तं —“चरिमं चीवरधारितेन परमेचेलके तु जिणे” इति । तथा सूत्रकृतस्य पुडरीके अध्याये कथित ‘ण फेहेज्जो धम्मकह वत्थपत्तादिहृदिमिति ।

निर्देशेभ्युक्त—“कसिणाइ वत्थं वलाइं जो भिक्खु पडिगहिदि पज्जदि मासिग लहुग” इति । एवं सूत्रनिर्दिष्टे चेले अचेलता कथं इत्यत्रोच्यते—आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणपेक्षया । भिक्षुणां ऋद्दिमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्माभिलवमानवीजो वा परीपहसहने वा अक्षमः स गृह्णाति ।

नया चोक्तमाचारानां ‘सुद मे आउस्सत्तो भगवदा एवमम्भावं’ । इह खलु संयमाभिमुखा दुविहा इत्थीपु रिस्ता जादा भवति । त जहा—सव्वसमणणागदे णोसव्वसमणागदे चेव । तत्थ जे सव्वसमणणागदे ‘यिगहत्थपाणिपदे सव्विदियसमणणागदे तस्स ण णो कप्पदि एगमवि वत्थं धारिल एव परिहिउं एव अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति’ तथा चोक्तं कल्पे—वरिहेतुं व होइ देहदुगुल्लति देहे जुगिदगे योरुज सियं वत्थ परिस्सहाणं व ण विहासीति” । द्वितीयमपि सूत्र कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधकं आचारे विद्यते—‘अह पुण एव जणेज्ज । उपातिकं ते हम्मतेहिं सुगडि वण्णे से अथ पडिजुणमुवार्धं पविट्ठावेज्ज’ इति । हिमसमये शीतयाधासह परिगृह्य चेलं तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मे समायते प्रतिष्ठापयेदिति । कारणपेक्ष्य ग्रहणमाख्यातं । परिजीर्णविशेषोपादानादुदानामपरित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोधः । प्रक्षालनादिक्रसस्कारविरहात्परिजीर्णता वस्त्रस्य कथिता न तु दृढस्य त्यागकथनार्थं, पात्रप्रतिष्ठापना सूत्रेणोक्तेति । संयमार्थं पात्रग्रहणं सिध्यति इति मन्यसे नैव, अचेलता नाम परिग्रहत्यागः पात्रं च परिग्रह इति तस्यापि त्याग सिद्ध एवेति । तस्मात्कारणपेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणं । यद्युपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिः गृहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यमेव । तस्माद्वस्त्रं पात्रं चार्थविधकारणमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम् । यच्च भावनायामुक्तं—‘वरिस चीवरधारी तेण परमेचेलगे जिणोसि । तदुक्तं विप्रतिपत्तिमुल्लव्वात् । कथं ? केचिद्वदन्ति ‘तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलंबनकारिणा गृहीतमिति’ । अन्ये ‘पण्मासाच्छिन्नं तत्कटकशाखादिभिरिति’ । साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रं खंडलक्राहणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति । केचिद्व्रतेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेत्यपरे वदन्ति । विलंबनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति । एवं विप्रतिपत्तिबाहुल्यात् दृश्यते तत्त्वं सचेल्लिंगमकटनार्थं । यदि चेलग्रहणं जिनस्य कथं तद्विनाश इष्टः । सदा तद्वारोपितव्यम् । किं च यदि नश्यतीति ज्ञानं निरर्थकं तस्य ग्रहणं । यदि न ज्ञातमज्ञानस्य प्राप्नोति । अपि च चेलप्रस्थापना वाञ्छिता चेत् “आचेलको धम्मो पुरिमचरिमाणं” इति वचो मिथ्या भवेत् । तथा नवस्थाने यदुक्तं “यथाहमचेली तथा होउ पडिळमो इदि होक्खदिसि तेनापि विरोधः । किं च जिनानामितरेषा वस्त्रव्यापकात् वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते, यदि वस्त्रं तेनापि भवेत् । एवं तु युक्तं वक्तुम् । सर्वत्याग कृत्वा स्थिते जिने केनचिद्वस्त्रं वस्तुं निक्षिप्त उपसर्गं इति ।

इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमशकतृणस्पर्शपरीपहसहनवचनं परीपहसूत्रेषु । न हि सचेलं शीतादृमो वाधन्ते । इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति । “परिचत्तेसु वत्थेषु ण पुणे चेलमादिप ॥ अचेलपवरे भिक्खु जिण-रुवधरे सदा ॥ सचेलगो सुक्खो भवदि । असुक्खी चापि अचेलगो । अहं तो सचेलो होम्खासि इदि

भिम्बू न चितप ॥ आचेलगस्स ल्हूस्स सीद भवदि पगदा ॥ णातपं से विचित्तो अथिसिज अलाहसो ॥ ण मे णि वारणं अथि छाडयं ता ण विज्जदि । अहं तावग्गि सेवामि इति भिम्बू ण चितप ॥ अचेलगण ल्हूस्स संजस्स तप सिसणो ॥ तणेसु असमाणस्स णं ते होदि विराधिदा ॥ परेण ताव कणेण सेण्डुगतिणसित दंसावाए जो सगसिद्ध किम-या पुण दीदकप्पेहि ॥ एताण्युत्तराध्ययने-अचेलको य जो धम्मो जो वाय पुणहत्तरो । देसिदो वहुमाणेण पसिण अ महुप्पणा ॥ पगधम्मे पवत्ताण दुविधा लिंगकप्पणा । उभयसिं पदिट्ठणमहं ससयमगदा ॥ इति वचनाञ्चरमतोयस्यापि अचेलता सिद्धयति ।

पगस्स य मुंडस्स य दीहलोमणखस्स य । मेहुणादो विरत्तस्स किं विभूसा करिस्सदि ॥ इति दशवैकालिका यामुक्त । एवमचेलक्यं स्थितिकल्पः ।

अमणानुदिश्य कृतं भक्तादिकं उद्देशिगमित्युच्यते । तच्च षोडशविधं आध्यात्मोद्देशिकत्वेन । तत्परिहारो द्वितीय स्थितिकल्पः । तथा चोक्तं कल्पे—

सोलसविधमुद्देशं वज्जेव्ववति पुरिमचरिमाणं ॥  
तिथ्यगाराण तिथे ठिदिकण्णो होदि विविओ दु ॥

सेज्जाधरशब्देन ज्ञेयो भण्यते वसति य करोति । कृता वा वसति परेण भग्नां पतितैकदेशां वा संस्करोति । यदि वा न करोति न संस्कारयति केवलं प्रयच्छत्यत्रास्नेति । एतेषा पिंडो नामाहारः, उपकरणं वा प्रतिलेखनादिकं शय्याधरपिंडस्तस्य परिहरण तृतीय स्थितिकल्पः । सति शय्याधरपिंडग्रहेण प्रच्छन्नमयं योज्येयदाहारादिकं । धर्म-फललोभाद्यो वा आहारं वातुमक्ष्मो, दरिद्रो लुब्धो वा न चासौ वसति प्रयच्छेत् । सति वसतौ आहारादाने वा लोको मा भिदति-स्थिता वसतावस्य यतयो न चातेन मदभागेन तेपाआहारो वृत्त इति । यते. स्नेहश्च स्यादाहार वसति च प्रयच्छति तस्मिन् बहूपकारितया । तर्हिपडाग्रहणे तु नोक्तदोषसंशयः ।

राजपिंडाग्रहण चतुर्थ. स्थितिकल्पः । राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाता । राजते प्रकृतिं रजयति इति वा राजा राजसदृशो महर्द्धिको भण्यते । तस्य पिंडः तत्स्वार्थिको राजपिंडः । स विविधो भवति । आहारः, अनाहारः, उपधिरिति । तत्राहारश्चतुर्विधो भवति अशानाभिदेन । वृणफलकपीडादि. अनाहारः, उप-धर्मोम प्रतिलेखन वरू पात्रं वा । एवभूतस्य राजपिंडस्य ग्रहेण को दोषः इति चेत् अत्रोच्यते—द्विविधा दोषा आत्मसमुत्थाः परसमुत्थाः । मनुजतिर्यक्कृतविकल्पेनेति । तिर्यस्कृता द्विविधा ग्रामार-ण्यपशुभेदात् । ते द्विप्रकारा अपि द्विभेदा दुष्टा भद्राद्वेति । हया, गजा, गावो, महिषा, मेण्ड्रा, श्वानश्च ग्राम्या दुष्टा । दुष्टेभ्य सयतोपघातः । भद्रा पलायमाना स्वयं दु खिता पतेन अभिघातेन वा वतितो मारयति वा धावनोल्ल-घनादिपरा । प्राणिन आरण्यकास्तु व्याघ्रकन्यादह्वीपिनो, वानरा वा राजगृहे वंथनमुक्ता यदि क्षुद्रास्तत आत्मविपत्ति-

सद्गुदिसु वि पवित्री आदिय अंतस्मि सेा पडिक्कमदि ॥

मल्लिम्मगा मण्णेति य अमल्लगाण हवे उभय ॥

इरिय गोयर सुमिणादि मव्वमाचरु मा च आचरु ॥

पुरिम चरिमेसु सव्वो सव्वं गियमा पडिक्कमदि ॥

मध्यमतीर्थकरशिष्या दृढबुद्धयः, एकाग्रचित्ताः, अमोघलक्ष्यास्तस्माद्यदचरितं तद्वर्हया शुद्ध्यति । इतरे तु चल-  
चित्ता न लक्षयन्ति स्वापराधांस्तेन सर्वे प्रतिक्रमणं उपदिष्टुं जिनाभ्या अवधोटकटप्रातन्यायेन ॥

अनुपु पदसु एकैकमेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्ययं नवमः स्थितिकल्पः । एकत्र चिरकालावस्थाने  
नित्यमुद्रमदोषं च न परिहर्तुं क्षमः । क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुरुता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषाः ।  
पञ्जो समणकर्णो नाम दशमः । वर्षाकालस्य चतुर्थे मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः । स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा  
क्षितिः । तदा भ्रमणे महानसयमः, वृष्ट्या शीतवातपतेन वात्मविराधना । पतेदवाय्यादिषु स्थाणुकटकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जले-  
न कर्दमेन वा वाध्यत इति विशाल्याधिकं दिवसशत एकत्रावस्थानमित्यनुत्सर्गः । कारणपक्षया तु हीनाधिक वायस्थानं,  
सयताना आपादशुद्धदशम्या स्थिताना उपरिष्ठाच्च कार्त्तिकपौर्णमास्यास्त्रिशद्विषावस्थानं । वृष्टिगुह्यता, श्रुतग्रहण, शक्य  
भाववैवाचुर्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्ट कालः । मार्ग्यो, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते  
समुपस्थिते देशातरं याति । अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति । पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्राताया प्रतिपदादिषु  
दिनेषु याति । यावच्च त्यक्त्वा विशानिदिवसा पतदपेक्ष्य हीनता कालस्य एव दशम स्थितिकल्पः ।

कोऽसौ दशविधः स्थितिकल्प इत्याह —

मूलारा—आचेलकं वखादिपरिग्रहाभावो नम्रत्वमात्रं वा । तच्च संयमशुद्धीर्द्रियजयकपायामावध्यानत्वाध्याय-  
निर्विघ्नतानिर्ग्रथतावीतरागद्वेषतागरीरानादरस्ववशचेतोविशुद्धिप्राप्त्यनिर्यत्त्वसर्वत्रविभ्रजत्वप्रक्षालनोद्वेष्टनादिपरिकर्मवर्ज-  
नविभूषामूर्च्छललाघवतीर्थकराचरितत्वागिगूढवलयीयताद्यपरिभितगुणग्रामोपलंभात् स्थितिकल्पत्वेनोपदिष्टम् । तदुण-  
सर्मथंन टीकादृष्ट्या किंचिदुच्यते यथा—चेले हि स्वेदादियोनिकप्राणिना प्रक्षालनादिना वाधा स्यात् इति तत्त्यागे  
संयमशुद्धिः । लज्जनीयशरीरविकारनिरोधनाय ग्रयत्तदाह्व्यीर्द्रियजयः, चोरादिवचनाद्यमात्कपायाभावः, सूचीसूत्रकर्पटा-  
दिमार्गणासेवनाद्यभावात्स्वाध्यायध्याननिर्विघ्नता, । अभ्यंतरग्रथस्य चेलादिपरिग्रहमूलस्य त्यागः, मनोज्ञामनोज्ञवखत्यागात्  
वीतरागद्वेषता, वातातपादियाधासहनाच्छरीरेऽनादरः, देशातरगमनादौ सहायानपेक्षणात्सवशता, कौपीनादिप्रच्छादना  
करणाच्चेतोविशुद्धिप्रकटनं, चौरादिताडनादिमायाभावाभिर्भयत्व, अपहर्षस्य अर्थस्याभावात्सर्वत्र विश्रव्यता, चतुर्वश-  
विधोपकरणपरिग्राहिणा सितपटानामिव बहुप्रतिष्ठेयनत्वप्रक्षालनादिव्यासंगभारवाहित्वानि च न संवीत्यादि । उक्तं च—

मलाने क्षालनतः कुतः कृतजलाधारंभतः संयमो ।  
नष्टे व्याकुलचित्ताय महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ।  
कौपीनेऽपि हृते परैश्च श्रमिति क्रोय समुत्पद्यते ॥  
तन्नित्यं शुचि रागहृच्छसवता वस्त्रं ककुम्भं डलम् ॥  
अपि च — विकारे विदुषा द्वेपो नाविकारानुवर्तने ॥  
तत्रमत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥  
नैर्दिकचन्यमहिंसा च कुतः संयमिना भवेत् ॥  
ते संगाय यदीहन्ते वत्कलाजिनवाससाम् ॥

२ उद्देशिगेत्यादि—उद्देशिकं श्रमणानुद्दिश्य कृतं भक्तादिकं । उद्देशिक च शय्याधरराजपिंडौ च उद्देशिक शय्याधरराजपिंडा । पिंडशब्देनात्रोपलक्षणाद्भक्तवसत्युपकरणविग्रहणं । तेषामुद्देशिकादीनां त्रयाणा परिहाराख्यः स्थिति-कल्पाः स्युः । परिहारशब्दश्चात्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । तत्राथाकर्मदिकत्वेन पोडशविधोद्देशिकभक्तादित्यागाद्द्वितीयः स्थितिकल्पः । ३ शय्याधरशब्देन चात्र त्रयो गृह्यन्ते वसतेः कारकः, संस्कारकोऽत्रास्वेति संपादकश्च तत्पिंडत्यागः । सति हि तत्पिंडग्रहणे प्रच्छन्नमयं गोलयेदाहारादिकं धर्मफललोभादिति लोकप्रवादशंका, यो वाहारं दातुमक्षमो दरिद्रो वा न चासौ वसतिं प्रयच्छेत् । सति वसतिदाने लोको मा निंदति, स्थिता वसतावस्थ यतयो न चानेन मंदभात्येन तेषामाहारी रो वत्त इत्येव वसत्यलाभः । आहारं वसतिं च प्रयच्छति तस्मिन्वहूपकारितया यतेः स्नेहश्च स्यात् इति दोषाः स्युः । अन्ये पुनः शय्यागृहपिंडत्याग इति पठित्वैवं व्याचक्षते । मार्गे व्रजता यत्र गृहे रात्रौ सुष्येते तत्रैवान्यदिने भोजनपरिहारो वसतिसम्बन्धिद्रव्यनिमित्तपिंडस्य वा त्यागः इति तृतीयः । ४ अथ राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृति कुले जातो, राजते प्रकृति रंजयतीति वा राज्ञा सन्त्रो महर्द्धिको भण्यते । तत्त्वामिममभक्तादिवर्जनं चतुर्थः स्थितिकल्पः । तदगृहप्रवेशे हि यते स्वच्छं-दचित्रकुर्जुराद्युपधातस्तद्रूपालोकनाद्वरतुरागादीनां त्रासस्तं प्रति गर्वितदासाद्युपहासोऽवरुद्धाभिः स्त्रीभिर्मैथुनसंज्ञया वाध्य-मानाभिः, पुत्रार्थिनीभिर्वा वलात्तरस्य स्वगृहे प्रवेशनमुपमोर्गार्थम् । विप्रकीर्णरत्नसुवर्णादिकस्यान्यैः स्वयं चोरितस्य संयत आयात इति तत्र तच्चोरीकाध्यारोपणं । राजास्य विश्वस्तो राज्यं नाशयिष्यतीति क्रुद्धैरसालादिभिर्वधबंधादिकं च स्यात् । तथा आहाराविशुद्धिः क्षीरादिविकृतिसेवानभ्यर्तनादेलोभाच्चोरण, वरस्त्रीदर्शनाद्रोगोद्रेको, लोकोत्तरविभूतिदर्शनाच्च तन्नि-



दानकरणं संभवेत् । एतदोपाभावेऽन्यत्र भोजनासम्भवे च श्रुतव्युच्छेदपरिहारार्थं राजाभिर्होऽपि न प्रतिपिध्यते ।

५ क्रिदियस्मे कृतिकर्म, पच नमस्काराः, पडावश्यकानि, निषेधिका चेति त्रयोदश क्रियाः । गुरुविनयमहत्तरश्रूपाकरणं वा । ६ वद मूलोत्तरगुणप्रतिपालन । अचेलताया हि स्थित उद्देशिकादिष्वित्यागोद्यतो गुरुभक्तमान विनीतश्च व्रतारोपणयोग्यः स्यात् । उक्तं च—

आचेलकके य ठिदो उद्देशादी य परिहरदि दोसे ॥

गुरुभक्तिर्भं विणीदो होदि वदानं स अरिहो दु ॥

७ जेष्ठ ज्येष्ठत्वात्तापिरुग्रहस्थोपाध्यायार्थिकादिभ्यो, महत्त्वमुद्युनेन वा श्रेष्ठत्वं । ८ पडिक्कमणे ऐर्यापयिक रात्रिदिवागाक्षिकातुर्मासिकसांवित्सरिकोत्तमार्थभेदात्सप्तधा कृतदोपनिराकरणं ॥ ९ मासं त्रिंशदहोरात्रमेकत्र ग्रामादौ निवासः । एकत्र हि चिरावस्थाने उद्गमादोपपरिहाराक्षमत्वं, क्षेत्रप्रातिबद्धता, शातगुरुतालसता, सौकुमार्य भावनाभावो, जातभिक्षाग्राहिता च दोषा स्युरिति टीकाया । टिप्पनके तु योगग्रहणादौ योगवसाने च तस्मिन्स्थाने मास-मात्रं तिष्ठति इति मासं नाम नवमः कल्पः । उक्तं च—

पडिक्कवो लडुयत्वं न जणुवयारो ण देसविण्णणं ॥

णाणादीण अबुद्धी दोसो अविहारपक्खम्मि ॥

१० पञ्जो—ग्राहृट्काले मासचतुष्टयमेकत्रावस्थानं । स्यावरजंगमजीवाकुला हि तदा क्षितिरिति तदा भ्रमणे महानसंयमः । वृष्ट्या शीतवातपातेन चात्मविराधना । पातो वा वाप्यादिषु । स्याणुकंटकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वाधनमिति विंशत्यधिकं दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्यय उत्तमार्गः । कारणपेक्षया तु हीनमधिकं वावस्थानं । सद्यतानामापाण्डशुक्लदशम्याः प्रभृति स्थितानामुपरिष्ठाच्च कर्तिकपौर्णिमास्यार्क्षिदिवसावस्थानं । वृष्टिबहुलतायां श्रुतग्रहण, शक्त्पभावं वैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्यवास्थानं एकत्रोत्प्लुष्टः काल । मार्ग्य, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशातरं याति । अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भाविष्यति इति पौर्णिमास्यामापाढ्यामिति क्राताया प्रतिपदादिषु दिनेषु यावच्चत्वारो दिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य । एष दशमः स्थितिकल्पो व्याख्यातः टीकाया ॥ टिप्पनके तु द्वाभ्यामाभ्या निषेधिका द्रष्टव्येति । सवणकण्ठो यतीनामाचरणभेदः । तथा चोक्तम्—

अचेलकत्वसुविष्टशय्येशाहरवर्जने ॥

राजपिंडविवर्जित्वं कृतिकर्मप्रवर्तनम् ॥

व्रतप्ररोहणाहर्त्स्वं ज्येष्ठत्वं च प्रतिक्रमः ॥

मासैकत्रस्थितिः पर्यास्थितिकल्पा देशेरिता ॥

दशकल्पोंका निर्देश-वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—आचेलक्य—चेल शब्दका अर्थ वस्त्र ऐसा होता है, परंतु यहा चेल शब्द संपूर्ण परिग्रहोंका उपलक्षण रूप है अर्थात् आचेलक्यका अर्थ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग ऐसा होता है, उत्तमक्षमादि दशधर्मों में से त्याग नामका एक धर्म है त्यागका अर्थ सर्वपरिग्रहोंसे निरुक्त होना ऐसा होता है, अचेलता, आचेलक्य इन शब्दोंका भी वही अर्थ होता है इस लिये वस्त्ररहित यति सर्वपरिग्रहका त्यागी होनेसे त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है परिग्रहरहित यति त्यागधर्मके समान अकिंचन धर्म में भी प्रवृत्त होता है लोक परिग्रहके लिये ही उद्योग, खेती, नौकरी वगैरह आरंभमें प्रवृत्ति करते हैं परंतु मुनिने सर्व परिग्रहोंका त्याग किया है इस लिये उसको आरंभका अभाव हो चुका, आरंभका अभाव होनेसे असंयम भी नष्ट होता है और सत्य धर्ममें स्थिरता आती है परिग्रहके लियेहि मनुष्य दूसरेसे असत्य भाषण चोलता है, खेत, गृह, धनादि ब्राह्मपरिग्रह और क्रोधमानादि अभ्यंतर परिग्रह जब नष्ट होते हैं तब असत्य भाषण करनेका कारण ही नष्ट होता है, जब कभी निष्पणिग्रही मुनि चोलेगा तो सत्यही चोलेगा आचेलक्यसे लाघवगुण प्राप्त होता है अचार्य महाव्रतको पूर्णविस्था प्राप्त होती है जब परिग्रहकी मनमें अभिलाषा उत्पन्न होती है तब दूसरोंका न दिया हुआ धन मनुष्य ग्रहण करता है,

परिग्रहोंका त्याग जिसने किया है वह ऐसे अकार्यमें प्रवृत्त होता ही नहीं, रागादिकोंका त्याग होनेसे परिणामोंमें निर्मलता आती है जिससे ब्रह्मचर्यका निर्दोष रक्षण होता है, ब्रह्मचर्य निर्मलतम होता है, क्रोध उत्पन्न होनेके लिये परिग्रह ही कारण है, परिग्रहोंका त्याग करनेसे क्रोध नष्ट होता है और क्षमागुण प्रगट होता है, मैं सुंदर हूं, मैं धनाढ्य हूं इत्यादि रूपका अभिमान भी परिग्रहोंका त्याग होनेपर मनमें नहीं रहता है मादव गुण भी आचेलक्यसे प्राप्त होता है, निष्कपटता भी प्राप्त होती है, कारण आचेलक्यको धारण करनेवाला मुनि मनमें जो विचार उत्पन्न हुआ होगा वह मुखसे कहता है, अतः उसको आर्जव गुणकी लब्धि होती है, परिग्रहही माया—

कपटीपनाका मूल है, ऐसे परिग्रहका त्याग करनेसे वैराग्यभाव बढ़ जाते हैं, तब मुनिराज शब्दादि पंचेन्द्रियोंके विषयमें आसक्त नहीं होते हैं, परिग्रहसे रहित होनेपर मुनि शीत, उष्ण, दंशमशकादि परिश्रम सहन करते हैं, देव दानवोंने उपसर्ग यदि किये तो भी सहन करते हैं ऐसा दुःख सहन करनेका सामर्थ्य परिग्रहोंका त्याग करनेसे ही आत्मामें प्रगट होता है, परिग्रहोंके त्यागसे घोर तपका पालन भी होता है एक अचेलत्वसे दश धर्मोंका पालन होता है ऐसा सिद्ध होता है, यह संक्षेपसे विवेचन किया,

अचेलताकी ग्रंथंसा अब दूसरे प्रकारसे आचार्य करते हैं—

आचेलक्यसे संयमशुद्धि होती है, यह पहिला गुण है, स्वेदजल और मलसे मलिन हुए वस्त्रमें स्वेदसे लिप्ता, जू वगैरह सम्मूर्च्छन जन्तु उत्पन्न होते हैं तथा वस्त्रके आश्रयसे दूसरे सूक्ष्म और स्थूल त्रस और स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं वस्त्रग्रहण करनेसे ये प्राणी पीडे जाते हैं, जीवव्याप्त वस्त्र वैसा ही रखने पर भी हिंसा होती है उसमेंसे एक एक जीव अलग करना चाहे तो वे मरते हैं, वस्त्रधारी मनुष्यको खडे होना, बैठना सोना, फाड़ना, छेद करना, बांधना, घेष्टन करना, धोना, मर्दन करना, धूपमें सुखाना इत्यादि कार्य करते समय वस्त्रगत जीवोंको बाधा पोहोचानेसे महान् असंयमकी प्राप्ति होती है, परंतु वस्त्रत्यागी मुनिको उपयुक्त असंयमका स्पर्श भी होता नहीं है, उनका संयम निर्मल रहता है, वस्त्रत्याग करनेसे इंद्रियविजय नामक गुण प्राप्त होता है, संपासे व्याप्त वनमें विद्यामंत्रादिरहित मनुष्यको सावधानीसे रहना पड़ता है, इसी प्रकार इंद्रियोंका नियमन करनेके कार्यमें वस्त्ररहित मुनिओंको बहुत सावधानी रखनी पड़ती है वे इंद्रियनियमन करनेमें सदा दक्ष रहते हैं, यदि वे असावध रहेंगे तो लज्जास्पद शरीरविकारकी उत्पत्ति होगी, निर्वस्त्रतासे कपायोंका अभाव होता है, जिसके पास वस्त्र है वह मनुष्य चोरके भयसे गोमयादिकके रससे वस्त्रको लिप्तकर उसको छिपाता है अर्थात् कपटप्रयोग करता है, अथवा रस्ता छोड़कर उन्मागसे चोरको फसानेके लिये जाता है, चोरको आत्ता हुआ देखकर छोटे झुड़प, लताजाल इत्यादिकोंमें छिप कर रहता है मेरे पास वस्त्रादिक हैं दूसरोंके पास वे नहीं है ऐसा मनमें विचारकर अभिमानी होता है, जवरदस्तीसे चोर हरण करनेके लिये उनाह होनेपर उसके साथ कलह करता है, वस्त्रका लाभ होनेसे लोभकपाय उत्पन्न होता है, वस्त्र ग्रहण करनेसे ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं, वस्त्र के त्यागमें इन दोषोंका सर्वथा अभाव है, वस्त्रत्यागी मुनिको ध्यान और साध्यायमें विघ्नभय रहता नहीं, कारण

वह परिग्रहरहित आसक्ति रहित होता है वल्ल समीप रखनेमें वह फटने पर उसको सीनेका विचार उत्पन्न होता है, सीनेके लिये खूची समीप रखनी पड़ेगी. कपड़ोंके तुकड़े पास रखने पड़ेंगे खूई, दोरा, रुपड़ेके टुकड़े इनका अन्वेषण करनेमें चित्त व्याकुल हो जानेगा तब ध्यान स्वाध्यायमें एकाग्रता रहेगी नहीं, परंतु निःसंगुनीको ऐसी व्यग्रता नहीं रहनेमें उनके ध्यानस्वाध्याय निर्विघ्न होते हैं. वल्लत्यागमें सूत्रस्वाध्याय व अर्थस्वाध्यायमें निर्विघ्नता प्राप्त होती है स्वाध्याय और ध्यानका हमेशा अभ्यास होता है. इसलिये ग्रथत्याग-परिग्रहत्याग यह गुण है. जैसे तंडुलने ऊपरका छिलका निकालनेसे वह निर्मल होता है वैसे बाला बच्चादि परिग्रहका त्याग होनेसे अभ्यंतर क्रोधादिले परिग्रहोत्त त्याग होकर आत्मा निर्मल होता है इसलिये बाला परिग्रहत्याग अभ्यंतर परिग्रह दूर करनेका मूल कारण है. छिलकेस अलग किया हुआ तंडुलधान्य अवश्य निर्मल होता है परंतु छिलके से युक्त तण्डुलकी शुद्धि भजनीय है इसी तरह निर्वल्ल मुनि अवश्य निर्मल होते हैं. वस्त्ररहित मनुष्यमें रागद्वेषरहितता नामक गुण रहता नहीं है सबस्त्र मनुष्यका मन सुंदर वस्त्र दीखनेपर अनुरक्त होता है. व अपने असुंदरवस्त्रका द्वेष करने लगता है. बाला पदार्थोंके आश्रयसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं. परंतु परिग्रह पास न रखनेसे उनकी उत्पत्ति नहीं होती है. शरीरपर अनादर करना यह गुण है. शरीरपर प्रेम करनेसे ही मनुष्य असंयममें व परिग्रहमें प्रवृत्त होता है. निर्वस्त्र मुनि वात, सूर्यका ताप, शीत वीरह से उत्पन्न हुई पीड़ायें सहन करते हैं. इस लिये वे शरीरपर निरादर रहते हैं यह सिद्ध होता है. निष्परिग्रहतासे स्वयंशतागुण प्राप्त होता है. देशांतरको जाते समय इस गुणके प्रभावसे किसीके सहायताकी अपेक्षा नहीं रहती है. संपूर्ण परिग्रहका त्यागी वह मुनि पिच्छमात्रका स्वीकार करता हुआ पक्षीके समान विहार करता है. परंतु वस्त्रधारी मनुष्य अन्य मनुष्यकी सहायताकी अपेक्षा करता हुआ संयमका कैसा पालन कर सकता है. अर्थात् उससे संयम पालन होता नहीं

वल्लत्यागस मनकी विद्युद्धि प्रगट होती है. कौपीन, वल्ल इत्यादिकेस गुल्ल आच्छादन करनेवालेकी मावशुद्धि नहीं जानी जासकती है. परंतु जो वल्लरहित है उसका निर्विकार देह देखकर उसका वैराग्य स्पष्टतया स्पष्ट जान सकते हैं. इसलिये अचेलतासे मनोविद्युद्धि नामका गुण प्रकट होता है ऐसा समझना योग्यही है. इस अचेलतासे निर्भयता गुण प्राप्त होता है जो वल्लरहित है उसको यह मेरा वल्ल चौरादिक लोक हरण करे, मेरेको ठोकेंगे, बांधेंगे, ऐसी भीति उत्पन्न होती है. भययुक्त मनुष्य क्या नहीं करेगा? अचेलतासे सर्व मनुष्योंमें विश्वास

उत्पन्न होता है परिग्रहरहितको, किसीमें भी शंका उत्पन्न होती नहीं. परंतु संचल मनुष्य अपनेसाथ आनेवाले मनुष्यको अथवा किसी दुसरे मनुष्यको देखकर उमपर विश्वास नहीं करेगा. यह कीन है ? यह क्या करेगा ? ऐसी शंका उसके मनमें अवश्य उत्पन्न होगी.

अप्रतिलेखना नामक गुणभी निष्परिग्रहतासे प्राप्त होता है. चौदा प्रकारके उपाधियोंको ग्रहण करनेवाले श्वेताम्बर मुनियोंको बहुत संशोधन करना पड़ता है परंतु नग्नता धारण करनेवाले दिगंबर मुनियोंको इसकी आवश्यकता रहती नहीं.

अचेलतामें परिकर्मवर्जन नामका गुण है. उद्वेष्टन करना, अलग अलग करना, सीना, बांधना, रंगाना इत्यादिक कार्य वस्त्रसहित मनुष्यको करने पड़ते हैं. परंतु निर्वस्त्र मुनि इनसे रहित होते हैं स्वतःके पास वस्त्र प्रावरणादिक हो तो उसको धोना पड़ेगा, फटनेपर सीना पड़ेगा, ऐसे क्लृप्तित कार्य करने पड़ते हैं. वस्त्र समीप होनेसे उससे अपनेको अलंकृत करनेकी इच्छा होती है और उसमें मोह उत्पन्न होता है.

अचेलतामें लाघव नामक गुण है. निर्वस्त्र मुनि खड़े होना, बैठना, गमन करना इत्यादिक कार्योंमें चायुके समान अप्रतिबद्ध रहते हैं. अतः उनमें लाघव गुण रहता है. सबस्त्र मनुष्यमें यह गुण रहता नहीं.

तीर्थकराचरित नामका गुणभी अचेलतामें रहता है. उत्तमसंहनन-वर्ज्यभनाराच संहनन, और विपुलाशक्तिके धारक ऐसे तीर्थकर मुक्तिका मार्ग सर्व भव्योंको प्रगट करते हैं. जितने तीर्थकर हो चुके और होन-वाले हैं वे सब वस्त्ररहित होकरही तप करते हैं. मेरुपर्वत वगैरह स्थानपर जो जिनप्रतिमाएँ हैं वे और तीर्थकरोंके अनुयायि गणधरभी निर्वस्त्रही हैं. उनके सर्व शिष्यभी वस्त्ररहितही होते हैं अतः अचेलत्वं यह मुनियोंका प्रथम स्थितिकल्प सिद्ध हुआ.

जिसने आपना शरीर वस्त्रसे वेष्टित किया है वह जिनेश्वरके समान शरीरपरसे मोहका त्यागकर और आपने दो भुज नचि लंबायमान करके निश्चल हो जिनेश्वरका स्वरूप धारण नहीं करते हैं. नयतामें अपना बल और वीर्य प्रगट करना यह गुण है. परंतु जो सबस्त्र है वह सामर्थ्ययुक्त होकर भी अर्थात् परीपह सदन करनेका सामर्थ्य होनेपर भी उनको नहीं सह सकता है इतने गुणोंको देखकर श्रीजिनेश्वरने आगममें अचेलताका वर्णन किया है.

जिमने वस्त्रधारण किया है वह मुनि यदि अपनको निर्ग्रन्थ समझेगा तो पाखड़ी साधुओंको भी हम क्यों न निर्ग्रन्थ समझे ? हम ही निर्ग्रन्थ है ऐसा उनका कहना केवल कहना ही है अर्थात् युक्तिशून्य है मध्यस्थ लोक अर्थात् परीक्षक लोक उनका कहना मान्य नहीं करते हैं.

इस प्रकार वस्त्रमें अनेक दोष हैं. नग्रतामें दोष तो है ही नहीं परंतु गुणमात्र अपरिमित है इसीलिये आचार्य महाराजने अचेलता स्थितिकल्प का प्रथम निरूपण किया है.

पूर्वागमोंमें वस्त्रपात्रादिकोंका ग्रहण करनेका विधान मिलता है ऐसी जिनकी कल्पना है वे अपना पक्ष इस प्रकार स्थापन करना चाहते हैं.

यदि वस्त्र पात्रादिकोंका विधान नहीं है तो उसकी प्रतिलेखना निश्चयसे करनेका विधान क्यों लिखा है ? आचारग्रन्थि नामक ग्रंथमें “ प्रतिलेखे-पात्रकमलं ध्रुवं ” इति । पात्र और कंचलको शोधना चाहिये अर्थात् वे निजन्तुक हैं या जन्तुसहित हैं यह देखना चाहिये. यदि जन्तुसहित हो तो वे जन्तु पिच्छिकामे दूर करने चाहिये.

आचारांगके लोकाविचय नामक दूसरे अध्यायमें पांचवे उद्देशमें ऐसा वचन है — “ पडिलेहणं, पाद-पुछणं, उगगहं, कडासणं, अण्णदरं उवाधिं पावेज्ज ” अर्थात् पिं ग्री, रजोहरण, कटासन-चटाइ, फलक, पादपीठ वगैरह तथा, और भी दुसरा परिग्रह ग्रहण कर सकते हैं ऐसा उल्लेख किया है. वज्रेसणा नामक प्रकरणमें इस मुजत्र विधान है. तत्थ एसे हिरिमणे सेगं वत्थ वा धारेज्ज पडिलेहणं विदियं । तत्थ एसे जुगिदे देसे दुवे वत्थाणि धा-रिज्ज पडिलेहणं तदियं ॥ तत्थ एसे परीसहं अणधिहासस्स तगो वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहणं चउत्थं । इसका सारांश यह है — यह लज्जायुक्त मुनि एक वस्त्र धारण करें और प्रतिलेखनकेलिए दूसरा वस्त्र अपनेपास रखें. यह मुनि योग्य प्रदेशमें दोन वस्त्र धारण करें और प्रतिलेखनकेलिए तिसरा वस्त्र धारण करें. यदि शीतादि परीपह सहन न हो तो तीन वस्त्र धारण करें. और प्रतिलेखनकेलिए चौथा वस्त्र धारण करें.

तथा पादेसणा प्रकरणमें ऐसा कहा है ‘ हिरिमणे वा जुगिदे चावि अण्णगे वा तस्स ण कप्पादि वत्थादिगं पादचारित्तए ’ अर्थात् लज्जायुक्त साधुको वस्त्रादिक रखने चाहिये जिसके लिंगमें दोष हो तो वस्त्र धारण करना योग्य है

पुनरपि उसी प्रकारमें ऐसा उल्लेख है—‘अलावुपत्त वा दारुगपत्तं वा, मड्डिगपत्तं वा अप्पपाणं, अप्प वीजं, अप्पसरिदं तथा अप्पकारं पत्तलामे सति पडिगहिस्सामि ” अर्थात् पात्र लाभ होता हो तो मैं तुम्हीका पात्र अथवा लकड़ीका पात्र किंवा मट्टीका पात्र ग्रहण करूंगा. जिसमें जीव नहीं है, वीज नहीं है और जो बड़ा नहीं है ऐसा पात्र यदि मिलेगा तो मैं ग्रहण करूंगा.

वस्त्रपात्र यदि ग्राह्य नहीं है ऐसा आगममें लिखा होता तो इन सूत्रोंका आगमोंमें उल्लेख ही नहीं आता. भावनामें भी ऐसा कहा है—“चरमं चीवरधारि तेन परमचेलगे तु जिणे ” अन्तिम तीर्थंकरके शरीरपर वस्त्र था तो भी वे अचेलक जिन थे.

सूत्र कृतांगके पुंडरीक नामक अध्यायमें भी ऐसा कहा है ‘ण कहेज्जो धम्मकहं वत्थपत्तादिहदुमिति । वस्त्र और पात्र ग्राम करनेके उद्देशसे धर्मोपदेश नहीं करना चाहिए.

वस्त्रपात्रके विषयमें निषीध ग्रंथमें ऐसा प्रमाण है. ‘कसिणाइं वत्थकंवलाइ जो भिक्खु पडिगहिदि अप्पज्जदि मासिगं लहुगं’ इति । सर्व प्रकारके वस्त्रकंवलोंको ग्रहण करनेसे मुनिको लघुमासिक नामक प्रायश्चित्त विधि करना पड़ता है.

इस प्रकार सूत्रोंमें वस्त्र ग्रहणका विधान है. इसलिये अचेलताका-नयताका आपका विवेचन कैसा योग्य माना जायगा.

इसपर आचार्य कहते हैं— आगममें आर्थिकाओंको वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा है. और कारणकी अपेक्षसे भिक्षुओंको अर्थात् मुनियोंको वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा है. जो साधु लज्जालु है, जिसके शरीरावयव अगोच्य है अर्थात् जिसके पुरुषलिंगपर चर्म नहीं है. जिसके अंड दीर्घ हैं, अथवा जो परिपक्वहस्त करनेमें असमर्थ है वह वस्त्र ग्रहण करता है.

आचारांगमें इस विषयमें ऐसा कहा है—“सुदं मे आउस्सत्तो भगवदा एवमबवाद् । इह खलु संयमाभि मुहा दुविहा इत्थी पुरिसा जादा हवन्ति । तं जहा-सञ्जसमणागदे गो सञ्जसमणागदे चेव । तत्थ जे सञ्जसमणागदे थिरांगत्थिपाणिपादे सन्विदियसमणागदे तेस्स णं गो कप्पदि एगमापि वत्थं धारिजं, एवं परिहिउं एवं अणत्थ एगेण पडिलहेगेण इति ” आयुष्मान् भगवान् वीरस्वामीनि ऐसा कहा है—इस जगतमें संयमको धारण करनेवाले

स्त्री पुरुष दो प्रकारके हैं. संपूर्ण अवयवोंकी अवस्थाको प्राप्त हुए ऐसे और असंपूर्ण ऐसे दो प्रकार के जिनके शरीर, हाथ और पाय मजबूत हैं, जिनके शरीरकी अस्थिरचना मजबूत है. सर्व इन्द्रियोंमें परिपूर्णता अर्थात् निर्दोषता है उनको एक भी वस्त्र धारण करना और पहनना अयोग्य है. मात्र उनको एक प्रतिलेखन अर्थात् पिन्डिका धारण करना योग्य है.

कल्प नामक ग्रंथमें ऐसा कहा है—हरिहेतुक व होइ देहदुगुंछति देहे जुगिदगे धारेज्ज सिंघ वत्थं परीसहाणं च ण विहासीति ॥ जिसका देह जुगुप्सायुक्त है अर्थात् जिनका पुरुषेन्द्रिय चर्मरहित है, अंडकोप दीर्घ है, जो परीपह सहनेमें असमर्थ है वह मुनि जनसमुदायमें एक श्रेष्ठ वस्त्र धारण करें कारणकी अपेक्षासे वस्त्र ग्रहण करना चाहिए इस विषय की पुष्टि करनेवाला और भी सूत्र आचारांगमें है, 'अहं पुण एव जाणेज्ज उपातिरुंते हेमंतोहि सुपडिचण्णे से अथ पडिजुण्णमुवधि पदिदावेज्ज इति' इसका अभिप्राय यह है—शंढीके दिनोंमें जिसको जाड़ा सहन होता नहीं है ऐसे मुनिको वस्त्र ग्रहण करके जाड़ेके दिन समाप्त होनेपर और ग्रीष्म समय आनेपर जीर्ण वस्त्र छोड़ देना चाहिये. कारण की अपेक्षा से वस्त्र धारण करनेका विधान है. जीर्ण वस्त्र का त्याग करनेका विधान आगममें है इसलिये दृढवस्त्रका त्याग नहीं करना चाहिये ऐसा आगमसे सिद्ध होता है ऐसा यदि कहोगे तो वह अयोग्य है अचेलता यह मूल गुण है ऐसा आचार्यका वचन है अतः वस्त्रका त्याग करना ही चाहिये प्रथालन वगैरह संस्कार न होनेसे वस्त्रमें जीर्णता आती है परंतु दृढवस्त्रका त्याग करना चाहिये ऐसा कथन करनेके लिये जीर्ण शब्दका प्रयोग किया है. पात्रका भी संयमार्थ ग्रहण करना चाहिये क्योंकि सूत्रोंमें उसका भी विधान है ऐसा कहना अनुचित है

अचेलता शब्दका अर्थ सर्व परिग्रहोंका त्याग ऐसा होता है पात्र भी परिग्रह है इसलिये उसका भी त्याग करना अवश्य सिद्ध होता है. अतः कारणकी अपेक्षासे वस्त्रपात्रका ग्रहण करना सिद्ध होता है. जो उपकरण कारणकी अपेक्षासे ग्रहण किया जाता है उसका त्याग भी अवश्य कहना चाहिये इसलिये वस्त्र और पात्रका अर्थोधिकारकी अपेक्षासे सूत्रोंमें बहुत स्थानोंमें विधान आया है वह सब कारण की अपेक्षा से ही है ऐसा समझना चाहिये.

भावनामें इस विषयमें ऐसा उल्लेख है - 'वरिसं चीवरधारी तेण परमचेलणो जिणोत्ति' अर्थात् महावीर



स्वामीने एक वर्ष तक वस्त्रधारण किया था. तदनंतर उन्होंने उसका त्याग किया था. ऐसा मानना में उल्टा है. परंतु इसमें अनेक विवाद है. अर्थात् यह कहना निश्चययुक्त नहीं है. कोई उग नियम में ऐसा कहते हैं "जिस दिन महावीर स्वामीने दीक्षा धारण की उसी दिनमें महावीरस्वामीके शरीरपर जिनमे सुगंध पदार्थोंकी चर्चों की थी उसने वह वस्त्र ग्रहण किया छह महिने के बाद वह वस्त्र धुवके कांटोंमें और आखाओंमें फट गया ऐसा कोई कहते हैं. एक वर्ष और कुछ दिन व्यतीत होने पर राइलक नामक ब्राह्मण ने वह ग्रहण किया था ऐसा कोई कहते हैं. इसमें जग यह वस्त्र जमीनपर गिर गया तब स्वामीने उसकी उपयोग की ऐसा कोई विद्वान कहते हैं. सुगंधी चर्चा करने वाले मनुष्यने भगवानके ऊंचे पर वह वस्त्र रक्सा ऐसा कोई कहते हैं. इस तरह महावीर स्वामीका वस्त्र धारण अनिर्णीत है. मचेललिंगमें ऐसे अनेक संग्रह होनेसे उसमें कुछ तथ्य नहीं दीखता है.

यदि भगवानने वस्त्रग्रहण किया था तो उन्होंने उसका क्यों नाश होने दिया. उनको यह मदा धारण करना योग्य था. यदि यह वस्त्र मेरा नष्ट होगा ऐसा प्रभूको ज्ञान था तो उसका क्यों उन्होंने ग्रहण किया ? यदि उनको यह मालूम न था तो उनका अज्ञान प्रगट होता है.

यदि भगवानने वस्त्र धारण कर वह भी मुनिका लिंग है ऐसा सुचित किया है ऐसा कहो तो 'आचेलवको धम्मो पुरिमचरिमाणं' यह वचन मिथ्या होगा. अर्थात् प्रथम तीर्थंकर महावीर इन्होंने आचेलस्य धम्मका उपदेश किया है. अर्थात् मुनिओंने संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना चाहिए यह मुनिधर्म है. ऐसा उन्होंने उपदेश किया है. यह उपदेश अमृत्य समझना होगा.

उसी तरह नवस्थानग्रन्थमें 'यथाहमेवेली तथा होउ पच्छिमो इदि होमसदिचि' श्री आदिभगवानना 'मैं जैसा निर्वस्त्र हूं वैसा पश्चिम तीर्थंकर भी निर्वस्त्र ही होगा' यह वचन भी मिथ्या मानना पड़ेगा.

जैसा महावीर स्वामीका वस्त्र त्यागकाल कहा है वैसा अन्य तेजीस तीर्थंकरोंका वस्त्रत्याग काल क्यों न ही आपने दिखाया यदि वस्त्र उनको भी होता तो ऐसा कहना युक्त होता है.

सर्व परिग्रहोंका त्याग कर जिनस्वर जब ध्यान करते हैं उग समय यदि किसीने वस्त्र उनको पहनाया तो वह उपसर्ग कहलावेगा. शीत उष्ण, दशमग्रक, तुणस्पर्श वगैरह परीषद सहन करना चाहिए. ऐसा वर्णन परि-

पह संशयोंमें किया है यह वर्णन अचेलताकी ही सिद्धि करेगा।

जो ब्रह्म धारण करेगा उसको जाँड़ेसे, दंशमशकादिसे दुःख होता नहीं।

इन सूत्रोंसे अचेलताका ही निर्णय होता है। परिचयेमु वत्येसु इत्यादि गाथाओंका अभिप्राय—युनि मनमें निवार करते हैं। जव मैंने वस्त्रका त्याग किया है तो मैं फिर उसको नहीं ग्रहण करूंगा। जिमने वस्त्रका त्याग किया है वह सदा जिनरूपका धारक माना जाता है। जिमने उस्त्र धारण किया है वह सुखी होता है और वस्त्ररहित दुःखी होता है। इसलिये मैं वस्त्र धारण करूंगा ऐसा विचार भिक्षु मनमें न लावे निरस्त्र होनेसे मेरेको शीतमें दुःख होता है इसलिये मैं बूपा मेवन करूंगा ऐसी भावना भिक्षुकको मनमें नहीं करनी चाहिये और शीतादि परीपहंको यह सहन करे। मेरे पास शीतनिवारण करनेवाला ब्रह्म नहीं है इसलिये मैं अपिका सेवन करूंगा ऐसा विचार भिक्षुकको नहीं करना चाहिये

उत्तराध्ययनमें ऐसा अभिप्राय लिखा है—

जो आचेलम्य धर्म है वही पार्श्वनाथस्वामीने कहा है। परंतु एक धर्म में ही अर्थात् मुनिधर्म में ही प्रवृत्त हुए मुनिओंमें दो तरह की—सचेल धर्म और अचेल धर्म ऐसी दो कल्पनायें उत्पन्न हुई हैं। अतः मेरे मनमें संशय उत्पन्न हुआ है। इस वचनमें भी चरमतीर्थकर महावीर स्वामी के धर्म में अचेलता सिद्ध होती है दशवैकालिक ग्रंथमें ऐसा वचन है—

अभिप्राय—जो नग्न है, मुड हं अर्थात् जो केशलोच करता है, जिसके नख केज दीर्घ हैं, जिसने भेथु-नका त्याग किया है ऐसे साधुको अलंकार की क्या जरूरत है।

इम प्रकार आचेलम्य कल्पका वर्णन हुआ।

उद्देशिक स्थितिकल्पका वर्णन—

मुनिके उद्देशसे किया हुआ आहार, वसतिका वगैरहको उद्देशिक कहते हैं। उसके आश्रकर्मोदि विकल्प से सोला प्रकार हैं उसका त्याग करना यह द्वितीय स्थितिकल्प है।

कल्पनामक ग्रंथमें इसका ऐसा वर्णन है—

अर्थात्—श्री आदिनाथ तीर्थंकर और श्री महावीरस्वामी इनके तीर्थमें सोलह प्रकारके उद्देश दोषोंका परिहार करके आहारादिक ग्रहण करना चाहिए ऐसा कहा है यह दूसरा स्थितिकल्प है

सेज्जाधर कल्पका वर्णन—

सेज्जाधर शब्दके तीन अर्थ हैं—जो वसतीकाको बनाता है वह, बनाई हुई वसतिकाका संस्कार करने-वाला, अथवा गिरी हुई वसतिकाको सुधारनेवाला, किंवा उसका एक भाग गिरगया हो तो उसको सुधारनेवाला वह एक, जो बनवाता नहीं है और संस्कार भी नहीं करता है परन्तु यहां आप निवास करो ऐसा कहता है वह, ऐसे तीनोंको शय्याधर कहते हैं. इनके आहारका, और इनके पिच्छिका, वगैरह उपकरणका त्याग करना यह तीसरा कल्प है

यदि इन शय्याधरोंके घरमें मुनि आहार लेंगे तो धर्मफलके लोभसे ये शय्याधर मुनियोंको आहार देते हैं ऐसी निंदा होगी. जो आहार देनेमें असमर्थ है, जो दरिद्री है, लोभी कृपण है वह मुनियोंको वसतिदान न देवे उसने वसतिका दान किया तो भी इस मंदमाग्यनें मुनिको आश्रय दिया परंतु आहार नहीं दिया ऐसी लोग निंदा करते हैं. जो वसतिका और आहार भी देता है उसके ऊपर मुनिका स्नेह भी होना संभवनीय है. क्योंकि उसने मुनिपर बहुत उपकार किया है अतः उनके यहां मुनि आहार ग्रहण नहीं करते हैं.

राजाके यहां आहार नहीं लेना यह चौथा स्थितिकल्प है. इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश इत्यादि कुलमें जो उत्पन्न हुआ है, जो प्रजा का पालन करना, उनको दुष्टोंसे रक्षण करना इत्यादि उपयोगसे अशुभजन करता है उसको राजा कहते हैं. राजाके समान जो महाकन्द्रीका धारक है उसको भी राजा कहते हैं, ऐसेको यहां पिंड ग्रहण करना वह राजपिंड है. इसके तीन भेद हैं—आहार, अनाहार और उपधि. अन्न, पान, स्वाद्य और स्वाद्यके पदार्थोंको आहार कहते हैं. तृण, फलक, आसन वगैरह पदार्थोंको अनाहार कहते हैं पिंडी, वस्त्र, पात्र उनको उपधि कहते हैं.

राजपिंडका ग्रहण करनेमें क्या दोष है ? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है—आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ ऐसे दोषोंके दो भेद हैं. ये दोष समुत्थ और तिर्यचोंके द्वारा होते हैं. तिर्यचों के ग्राम्य और अरण्यवासी ऐसे दो भेद हैं ये दोनों प्रकारके तिर्यच दुष्ट और भद्र ऐसे दो प्रकार के हैं घोडा, हाथी, भैंसा, मेढा, कुत्ता इनको ग्राम्य पशु कहते हैं. ये पशु राजाके घरमें प्रायः होते हैं यदि ये दुष्ट स्वभावके होंगे तो उनसे मुनियोंको बाधा पोहोचती हैं

यदि वे भद्र हो अर्थात् दुष्ट स्वभावके न हो तो वे स्वयं मुनिओंको देखकर भय से भागकर दुःखित होते हैं। स्वयं गिर पड़ते हैं अथवा धक्का देकर मुनिओंको मारते हैं। इधर उधर कुदते हैं।

नाथ, सिंह वगैरह मांसभक्षी प्राणी, वानर वगैरह प्राणी राजा के घरमें बंधनसे यदि मुक्त होगये होंगे तो उनसे मुनिका घात होगा और वे यदि भद्र होंगे तो वे इधर उधर भागने पर भी मुनिको बाधा होने की संभावना है।

मनुष्योंसे भी राजाके घरमें मुनिओंको दुःख भोगने पड़ते हैं। उनका वर्णन— राजाके घरमें तलवार, मलेच्छ, दाम, दासी वगैरह लोक रहते हैं। इन लोगोंसे राजगृह व्याप्त होनेसे वहा प्रवेश होने में कठिनाता पड़ती है। यदि मुनिने राजाके घरमें प्रवेश किया तो वहां उन्मत्त दास वगैरह लोक उनका उपहास करते हैं उनको निंद्य शब्द बोलते हैं। कोई उनको अंदर प्रवेश करने में मनाई करते हैं। कोई उनको उल्लंघते हैं। वहां अंत-पुरकी स्त्रियां यदि कामविकार से पीडित होगी अथवा पुत्रकी इच्छा उनको हो तो मुनिका जबरदस्तीसे उपभोगके लिये प्रवेश करवाती है।

कोई व्यक्ति राजाके घरके सुवर्ण रत्नादिक चोर कर यहां मुनि आया था उसने चोरी की है ऐसा दोषारोपण करते हैं। यह राजा मुनिओंका भक्त है ऐसा समझकर दुष्ट लोक मुनि वेप धारण कर राजाके यहां प्रवेश करते हैं और वहां अनर्थ करते हैं। जिससे मुनिओंको बाधा पोहोचनेकी बहुत संभावना रहती है। अर्थात् राजा रुष्ट होकर अविवेकी बनकर मुनिओंको दुःख देता है। अथवा अविवेकी दुष्ट लोक मुनिओंको दोष देते हैं उनको मारते हैं। ऐसे इतर व्यक्तियोंसे उत्पन्न हुए दोषोंका वर्णन किया है अब राजाके घरमें प्रवेश करनेसे मुनि स्वयं कोनसे दोष करते हैं इसका वर्णन करते हैं—

राजगृहमें जाकर मुनि आहार शुद्ध है या नहीं इसका शोध नहीं करेगा देखभाल न कर लाया हुआ आहार ग्रहण करता है। विकार उत्पन्न करनेवाले पदार्थ सेवन करनेसे इंगाल नामक दोष उत्पन्न होता है। अर्थात् ऐसे पदार्थ भक्षण करनेमें लंपट होजाता है। दुर्दैवसे वहांकी रत्नादिक अप्रमत्त वस्तु चुरानेके भाव उत्पन्न होकर उसको उठा लेगा अपने योग्य स्त्रीको देखकर उसमें अनुरक्त होगा। राजाका वैभव, उसका अंतःपुर, वैश्या वगैरहको देखकर निदान करेगा। ऐसे दोषोंका भ्रमत्र जहां होगा ऐसे राजाके घरमें आहारका त्याग करना चाहिये।

परंतु जहां ऐसे दोष होनेकी संभावना नहीं है वहां मुनिको आहार लेनेके लिये मनाई नहीं है, गत्यंतर न हो अथवा श्रुतज्ञानका नाश होनेका प्रसंग हो तो उसका रक्षण करनेके लिये राजगृहमें आहार लेनेका निषेध नहीं है। ग्लान मुनि अर्थात् बीमार मुनिके लिये राजपिंड यह दुर्लभ द्रव्य है, बीमारी, श्रुतज्ञानका रक्षण ऐसे प्रसंगमें राजाके यहां आहार लेना निषिद्ध नहीं है।

५ चारित्र्य संपन्न मुनिका अपने गुरुका और अपनेसे बड़े मुनिओंका विनय करना शुश्रूषा करना यह कर्तव्य है, इसको कृतिकर्म नामक स्थितिकल्प कहते हैं।

६ व्रतारोपण योग्यता नामक छद्वा स्थितिकल्प है—

जिसको जीविका स्वरूप मालुम हुआ है ऐसे मुनिको नियमसे व्रत देना यह छद्वा स्थितिकल्प है।

जिसने पूर्ण निग्रहवस्था धारण की है उद्देशिकाहार और राजपिंडका त्याग किया है, जो गुरुभक्त और विनयी है वह व्रतारोपणके लिये योग्य है।

व्रत देने का क्रम इस प्रकार है—जब गुरु बैठते हैं और आर्थिकायें सम्मुख होकर बैठती है, ऐसे समयमें श्रावक और श्राविकाओंको व्रत दिये जाते हैं, व्रत ग्रहण करनेवाला मुनि भी गुरुके बायें तरफ बैठता है तब गुरु उसको व्रत देते हैं।

व्रतोंका स्वरूप जानकर पापोंसे विरक्त होना वह व्रत है, व्रतिकरण, छादन, संवर, विरति ये सब शब्द व्रतके वाचक हैं, यही अभिप्राय 'णाल्लण' इस गाथामें कहा है।

पहिले तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकर इन्होंने रात्रिभोजन त्याग और पंच महाव्रतोंका उपदेश किया है, ग्रामत्त योगसे प्राणी के प्राणोंका घात करना इसको हिंसा कहते हैं इस हिंसासे विरक्त होना यह प्रथम अहिंसा महाव्रत है, असत्य भाषणसे प्राणिओंको दुःख होता है ऐसा समझकर दयावान मुनि सत्य बोलते हैं, यह उनका सत्य महाव्रत है, यह मेरा है ऐसा मंफ़ल्य जिसके ऊपर है ऐसी वस्तु लेने पर लोक उस वस्तुके विरहसे दुःखित होते हैं यह देखकर दयासे उनकी वस्तु लेनेका त्याग करना यह तीसरा अर्चोय महाव्रत है, सरसोंसे भरी हुई नलिकामें तपी हुई लोहशलाका घुसनेसे सब सरसों जलकर भस्म हो जाती है उसी तरह योनी में पुरुषेन्द्रियका प्रवेश होने से वहाँके सर्व सूक्ष्म जीव नष्ट होते हैं, यह मैथुन रागभाव को उत्पन्न करता है, यह कर्मवधका

महान् कारण है ऐसा समझकर दयवान् मुनि उससे पूर्ण विरक्त होते हैं यह उनका चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत है। परिग्रहसे छहों प्रकारके जीवोंको बाधा पोहोचती है, यह ममत्वपरिणामक लिय कारण है। इसलिये मर्व परिग्रहोंका त्याग करना यह परिग्रहत्याग नामक पाचवा महाव्रत है।

इन व्रतोंका पालन करनेकेलिए रात्रिभोजनका त्याग करना यह छठा व्रत है अहिंसामहाव्रत सर्व जीवोंको विषय करता है, अर्थात् सर्व जीवोंपर दया करना यह अहिंसा महाव्रतका विषय है, अचार्यमहाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत ये सर्व पदार्थविषयक है, अर्थात् बाल धन धान्यादिक पदार्थोंका त्याग करनपर इन व्रतोंकी प्राप्ति होती है और वचे हुए व्रत अर्थात् सत्यमहाव्रत और ब्रह्मचर्यव्रत ये दो व्रत द्रव्योंका एकदेश विषय करते हैं, यही अभिप्राय पदमम्मि सब्जजीवा इस गाथामें आचार्योंने दिखाया है।

ज्येष्ठ नामक सप्तम स्थितिकल्पका वर्णन—

७ जिसने पांच महाव्रत धारण किये हैं, और जो बहुत वर्ष की दीक्षित है ऐसी आर्यिकासे भी आज जिसने दीक्षा ली है ऐसा मुनि ज्येष्ठ माना जाता है, पुरुष सग्रह, उपकार और रक्षण करता है जगतमें पुरुषने ही धर्मकी स्थापना की है इसलिये उसको ज्येष्ठता मानी है इसवास्ते सर्व आर्यिकाओंका मुनिका विनय करना यह कर्तव्य है।

स्त्रिया पुरुषसे कनिष्ठ मानी गई हैं, वे अपना रक्षण स्वयं नहीं कर सकती, दूसरोंसे वे इच्छी जाती है अर्थात् पुरुष जब उसकी इच्छा करता है तब वे उसका प्रतीकार करनेमें असमर्थ होती हैं, उनमें स्वभावतः भय रहता है, कम जोरी रहती है, पुरुष ऐसा नहीं है अतः वह ज्येष्ठ है, यही अभिप्राय 'जेणिच्छी हु लघुसिगा इस सूत्रमें कहा है।

८ अचेलतादि कल्पमें रहते हुए मुनीको जो अतिचार लगते हैं उनके निवारणार्थ प्रतिक्रमण करना यह अष्टम स्थिति कल्प है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव ऐसे प्रतिक्रमणके छे भेद हैं अर्थात् नाम प्रतिक्रमण, स्थापनाप्रतिक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण इत्यादि छह भेद हैं।

भट्टिणी, भट्टिदारिगा इत्यादि अयोग्य नामोच्चारण करनेपर उसका परिहार करना यह नाम प्रति-  
क्रमण है

असंयत, मिथ्यादृष्टि जीवोंके प्रतिविंब अर्थात् प्रतिमाकी पूजा वगैरह करनेपर उससे परावृत्त होना यह  
स्थापना प्रतिक्रमण है।

द्रव्यके सचित्त, अचित्त और मिश्र ऐसे तीन भेद हैं इनका त्याग करना यह द्रव्यप्रतिक्रमण है। जहां  
त्रस स्थावर जीव बहुते हैं ऐसे क्षेत्रका त्याग करना अथवा जहां स्वाध्याय करनेमें, ध्यान करनेमें बाधाएँ उत्पन्न  
होती हैं ऐसे प्रदेशोंका त्याग करना वह क्षेत्र प्रतिक्रमण है

संध्याकालमें, स्वाध्यायकाल वगैरह कालोंमें आना जाना वगैरह क्रियाओंका त्याग करना यह काल  
प्रतिक्रमण है।

मिथ्यात्व, असंयम, कपाय और योग इनसे निवृत्त होना यह भाव प्रतिक्रमण है

श्री आदि तीर्थंकर और महावीर स्वामीने प्रतिक्रमण के साथ मूनिधर्मका उपदेश किया है अर्थात् प्रति-  
क्रमण दररोज करना ही चाहिये ऐसा उन्होंने उपदेश दिया है। परंतु बीचके वाचीय तीर्थंकरोंने अपराध होनेपर  
प्रतिक्रमण करना चाहिये ऐसा उपदेश दिया है इस प्रतिक्रमणके दैवसिक, रात्रिक, ईर्ष्यापथिक भिक्षाचर्या, पाक्षिक,  
चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ ऐसे सात भेद हैं। श्रीआदितीर्थंकर और महावीर तीर्थंकरप्रणीत पांचवे  
धर्ममें और अन्य तीर्थंकर प्रणीत चौथे धर्ममें प्रतिक्रमण के कालभेद बताये हैं जब अतिचार लगते हैं तब प्रतिक्र-  
मण करना चाहिये अर्थात् अपने आत्माका अवलोकन करना चाहिये।

मुनिको आहारमें, ईर्ष्यापथमें, सर्व प्रकारके स्वप्न, जागृतावस्था इत्यादि समयमें जो दोष उत्पन्न होते  
हैं उनका प्रतिक्रमण करना चाहिये आदि भगवान् और महावीरके समयमें हुए मुनियोंको छोड़कर बीचके  
वाचीस तीर्थंकरके समयके मुनि जब अतिचार लगते थे तबही प्रतिक्रमण करते थे। अर्थात् आहार, दुःस्वप्न,  
ईर्ष्यापथ इत्यादिक विषयमें जब दोष लगता था तब ही वे प्रतिक्रमण करते थे। अन्यसमयमें नहीं। आहार, ईर्ष्यापथ  
अर्थात् वंदनादिकके लिये एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाना दुःस्वप्न इत्यादिकके समयमें अपनी प्रवृत्ति साति-  
चार हो या निरतिचार हो दोनों समयमें भी आद्यन्त तीर्थंकरकालीन मुनि प्रतिक्रमण करते हैं। अर्थात् दोष

लगनेपर वा न लगनेपर प्रतिक्रमण करना ही चाहिये ऐसी आधुनिक तीर्थकारोंकी आज्ञा है

गद्यम तीर्थकारके शिष्योंको बुद्धि दृढ़ थी उनका चित्त एकाग्र रहता था. उनका अपने कार्य पर लक्ष्य दृढ़ बना रहता था इसलिये जो कार्य वे करते थे उसकी गहरी करते थे. परन्तु आधुनिक तीर्थकारके शिष्य मोहयुक्त, चंचलचित्त होते थे अतः उनको अपराधोंका स्मरण नहीं रहता था इसवास्ते वे सबका प्रतिक्रमण करते हैं. इस विषयमें अंध घोड़ेका उदाहरण उपयुक्त है—

किसी राजाका घोड़ा अंधा होगया तब उसने वैद्यके पुत्रको औषध देने के लिए कहा. वैद्यपुत्रको औषधि मागुम नहीं थी वैद्य तो अन्य गावको चला गया था अतः उसके पुत्रने घोड़े के नेत्रपर सर्व औषधियोंका प्रयोग किया. उससे घोड़े के नेत्र अच्छे होगये इसी तरह साधु भी एक प्रतिक्रमण दंडकमें यदि स्थिर चित्त न होगा दूसरेमें यदि न हो तो तीर्थमें स्थिर होगा इसलिये सर्व दंडकोंका उच्चारण करना उसके लिये योग्य है. इसमें कोई विरोध नहीं है. सर्व भी दंडक कर्मक्षय करनेमें समर्थ होते हैं

भारतैकवासितानामक नौवे स्थितिकल्पका वर्णन —  
वसतादि छहो ऋतुओंमें प्रत्येक ऋतुमें एक मासपर्यंत एकत्र पुनि निवास करते हैं. और एक मास विहार

करते हैं यह नौवा स्थितिकल्प है एकही स्थानमें बहु-चिरकाल रहनेसे उद्दमादि दोषोंका परिहार होता नहीं. वसतिकापर प्रेम उत्पन्न होता है. सुखमें लपटपना उत्पन्न होता है आलस्य आता है, सुकुमारता की भावना उत्पन्न होती है. जिन श्रावकोंके यहा आहार पूर्वमें हुआ था वहाही पुनरपि आहार लेना पडता है ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं इसलिये मुनि एकही स्थानमें चिरकाल तक रहते नहीं हैं.

पाद्य नामक स्थितिकल्पका वर्णन—

वर्षाकालके चार मासमें एकही स्थानमें रहना अर्थात् भ्रमणका त्याग करना यह पाद्य नामक दसवां स्थितिकल्प है. वर्षाकालमें जमीन स्यावर और त्रस जीवोंसे व्याप्त होती है. ऐसे समयमें पुनि यदि विहार करेंगे तो महा असंयम होगा. जलदृष्टिसे और थंड हवा बहनेसे आत्मविराधना होगी अर्थात् ऐसे समयमें विहार करनेसे मुनि अपने आचारसे च्युत हो जावेंगे वर्षाकालमें भूमि जलमय होनेसे कुवा, खड़ा इत्यादिकोंमें गिर जानेकी संभावना होती है. खूद, कंटकादिक पानसि तक जानेसे विहार करते समय उनसे बाधा होनेकी संभावना होती है.



विजयोदया—सेज्ज वसति । उवर्धि उपकरण । सथारभत्तपाण च संस्तर भत्तपानं च । असुद्धं उद्दमादिदोपोपहतं । उवक्कप्पेज्ज उपकल्पयेत् । क चयणकप्पगदो ज्ञानाचारादिकादीपञ्चयवनमुपगत । पडिचरण वा प्रतिचारकान्या योजयेत् । असंविग्गे असंविग्नान् एवमसंयमे कृते महान्कर्मवधो भविष्यति ततोऽस्माकं महती सद्यतिरेने-  
कापन्मूलेति । भयराहितान् ॥

आचारहीनश्रयणे दीपं गाथात्रयेणाह—

मूलारा चयणकप्पगदो ज्ञानवर्जनादिपु च्यवनमुपगत । उवक्कप्पेज्ज योजयेत् । असुद्धं उद्दमादिदोपोपहतं । पडिचरण प्रतिचारकान् । असंविग्गे एवमसंयमे कृतेऽस्माकं महान्कर्मवधो भविष्यति इति दीर्घसत्सुतिभयराहितान् ॥

जो आचार्य आचारवान् नहीं है ऐसे आचार्य का आश्रय करनेसे क्षपककी हानि होती है इसका खुलासा—

अर्थ—जो ज्ञानाचारादिक पांच आचारोंसे शोडासा झट हुआ है ऐसा आचार्य क्षपकको वसतिका, पिच्छादिक उपकरण, तृणादिकोंका संस्तर, आहारके पदार्थ, पीनेके पदार्थ उद्दमादि दीप सहित देगा. अर्थात् वसति वगैरह पदार्थ दीपरहित है वा नहीं इसका विचार वह न करेगा अथवा क्षपककी शुश्रूषा करनेवाले मुनि संसारभयसे युक्त है वा नहीं इसका विचार न कर वैराग्यरहित मुनिओंको क्षपककी शुश्रूषा करनेके कार्यमें नियुक्त करेगा. हम यदि असंयममें प्रवृत्ति करेंगे तो हमको महान् कर्मबंध होगा और वह हमको दीर्घकालतक संसारमें अमावेगा ऐसी भीति जिनके मनमें नहीं है उनको शुश्रूषा करनेके लिये नियुक्त करनेसे क्षपकका आत्माहित होना अशक्य ही समझना चाहिये.

सल्लेहणं पयासेज्ज गंध मल्लं च समणुजाणज्जा ॥

अप्याउगं व कधं करिज्ज सइरं व जांपिज्ज ॥ ४२५ ॥

सल्लेखनायाः कुरुते प्रकाशनां कथामयोग्यां क्षपकस्य भाषते ॥  
स्वैरं पुरस्तस्य करोति मंत्रणं गंधप्रसूनादिविधिं च मन्यते ॥ ४२८ ॥

विजयोदया—सल्लेहण पयासेज्ज सल्लेखना प्रकाशयेत् लोकस्य । गध माल्य वाजुजानीयात् । गधमाल्यान्-

यनमभ्युपगच्छेत् । अप्पाउगं च कहं कहेज्ज । अप्पायोग्यां चा कथा कयेत् । क्षपकस्याशुभपरिणामविधायिनी । सर वा स्वरं वा जपेज्ज जलयेत् । आराधकस्याग्रत इदं युक्तं न वेत्यविचार्य वेदेद्वा ॥

मूलारा—सहेज्जं पयासेज्ज क्षपकस्य संन्यासविधिं लोकस्याग्रे प्रकटयेत् । समणुजाणेज्ज गंधादिकं सेवमानं क्षपकमनुमन्येत । अप्पाउगं अयोग्यं । कहं कथा । सरं यथेष्टम् ॥

अर्थ—आचाररहित आचार्य क्षपककी सहेखना लोकमें प्रगट कर देगा. अथवा लोगोंको सुगंधित पदार्थ, और पुष्प लानेके लिए कहेगा क्षपकके परिणामोंको विवाडेने वाली कथायें कहेगा अथवा क्षपकके आगे योग्यायोग्यका विचार न कर चाहे जो ब्रह्मने लगेगा. अभिप्राय यह है कि ऐसे आचार्यको क्षपकके कल्याणकी पर्वा नहीं रहती है.

ण करेज्ज सारणं वारणं च खवयस्स चयणकरप्पगदो ॥

उदेज्ज वा महल्लं खवयस्स वि किंचणारंभं ॥ ४२६ ॥

साररत्नत्रये प्रवर्तनं सारणं, दोषेभ्यो वारणं निवर्तनमिति यावत् ॥

सारणां वारणां नास्य कुरुते च्यवनस्थितः ॥

क्षपकस्य महारंभं कंचित्कारयते गणी ॥ ४१९ ॥

विजयोदया—ण करेज्ज न कुर्यात् । किं सारणं रत्नत्रये वृत्ति । वारणं च निषेध न कुर्यात् । तेभ्य प्रच्यवमानस्य । खवगस्स क्षपकस्य । क चयणकरप्पगदो च्यवनकल्मगत । उदेज्ज वा महल्ल आरंभं कारयेद्वा महान्तं आरंभं पट्टकशाला, पूजा, विमान वा । खवगस्स वि क्षपकस्यापि किंचन ॥

मूलारा—सारणं रत्नत्रये प्रवर्तन । वारणं रत्नत्रयात्प्रच्यवमानस्य निषेध । उदेज्ज कारयेत् । किंचणारंभं कमपि पट्टकशालापूजारधिकारिकं सावद्यन्यापारं ॥

अर्थ—अष्ट आचार्य क्षपक रत्नत्रयमें प्रवृत्त होगा ऐसा उपदेश नहीं करता है. तथा यदि वह रत्नत्रयसे ने लगा तो उसमें स्थिर भी नहीं करता है. बड़ा आरंभ करावेगा अर्थात् पट्टकशाला, पूजा, विमान इत्या-

दि कार्य करनेमें लोगोंको प्रवृत्त करेगा, क्षपक्रेके लिए भी ऐसा ही महारम्भका कार्य करेगा, इसलिये ऐसे आचार्य के सहावाससे क्षपकका हित होना शक्य नहीं है।

आयारत्थो पुण से दोसे सव्वे वि ते विवज्जेदि ॥

तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ ॥ ४२७ ॥

आचारस्थः पुनर्दोषान्यतः सर्वान्विमुञ्चति ॥

निर्योपकस्ततः स्मृतिराचारस्थोऽभेदीयते ॥ ४४० ॥

इति आचारी

विजयोदया—आयारत्थो पुण आचारस्थ पुन स्मृति तान्सर्वान्वर्जयति दोषान् । तद्वा तस्मात् । गुणेषु प्रवर्तमानो दोषेभ्यो व्यावृत्तश्च । आयारत्थो आयरिओ णिज्जवओ होदि आचारस्य एवाचार्यो निर्दोषको भवति नापर । व्याख्यातमाचारवत्वम् । आयारत्त ॥

निर्योपकत्वे स्मृतिमाचारवन्तं नियमयति—

मूलरा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—आचारवत्त्व गुणको धारण करनेवाले आचार्य ऊपर लिखे हुए दोषोंका त्याग करते हैं इसलिये गुणोंमें प्रवृत्त होनेवाले दोषोंसे रहित ऐसे आचार्य निर्योपक होने लायक जानना चाहिए जो आचार्य आचार्यो निर्दोषो भवति ॥ वे हि निर्योपक समझना चाहिए आचारवत्त्व गुणका वर्णन समाप्त हुआ

आधारवत्त्वव्याख्यानायोत्तरप्रवध —

चोद्दसदसणवपुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो ॥

कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ॥ ४२८ ॥

धीरोऽखिलांगपूर्वजो यः कालव्यवहारवित् ॥

आधारी स महाप्रज्ञो गंभीरो मंदरस्थिर ॥ ४४१ ॥

विजयोद्या—चोदसदमणवपुन्वी चतुर्दशपूर्वा दशपूर्वा, नवपूर्वा वा । महामयो महामति । सायरोच्च गभीरो सागर इव गभीर । आधारव नाम कण्ठवहाराधारी वा कटपथवहाराधारी वा आधारवान् मानी । दुष्परिणामा पते मनोवाक्याविकल्पा, शुभा वा पुण्यान्त्रयभूता । शुद्धा वा शुभाशुभकर्मसंयुक्तेष्वेव, इति बोधयति । शुभेषु शुद्धेषु वा प्रवर्तयति श्रुतमनारसमुपदिशन्नतोऽसौ वर्जनस्य, चारित्र्यस्य, तत्संस्थ आधारवत्वात् । पानमाधार स्त्वनानाधारवान् श्रद्धानाधारवान् ।

आधारवत्त्वमष्टादशभिर्गोथभिर्व्याचिख्यासुगन्धावाधारान्तं लक्षयति—

मूलारा — कण्ठवहाराधारी — अवधारितप्रायश्चित्तगाम्नातुगततत्त्वयोगः । आधारवं दर्शनज्ञानचारित्र्यतत्त्वसा-  
मुत्पत्तिस्थितिवृद्धिरक्षाविघ्नान्तत्वाधारोऽत्र ज्ञान तद्वान् सूरियान्तरवान् । नित्यश्रुतोपदेशेन पापान्त्रवणकारणाशुभपरिणामेभ्यो  
न्यावर्त्य क्षपकस्य पुण्यान्त्रये, शुभयोगत्रये, सवरनिर्जराकारणे वा शुद्धोपयोगे प्रवर्तक इत्यर्थः ।

आधारवत्त्व गुणका सविस्तर वर्णन—

अर्थ—जो चौदापूर्व, दसपूर्व अथवा नउ पूर्वोंका ज्ञाता है, जिसमें समुद्रतुल्य गंभीरता गुण है जो कल्प व्यवहारका ज्ञाता है अर्थात् जो प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता है और उसमें वताये हुए प्रयोगोंका जिसने अनुसरण किया है, अर्थात् अपराधी मुनिओंको जिसने अनेकमार प्रायश्चित्त देकर इस नियममें विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसे आचार्य आधारवत्त्व गुणके धारक माने जाते हैं, इस गुणके धारक आचार्य मनोवचन और शरीरके अशुभ परिणाम पापान्त्रवके कारण होते हैं, शुभ परिणामों से पुण्यकर्म आत्मामें उत्पन्न होता है और शुद्ध परिणामोंसे शुभाशुभ कर्मोंका संवर होता है ऐसा उपदेश कर शिष्योंको शुभ और शुद्ध परिणामोंमें प्रवृत्त करते हैं, हमेशा श्रुतका उपदेश करते हैं, इनका ज्ञान दर्शन, चारित्र और तपकी आधार होता है इसलिए ये आधारवत्त्व गुणके धारक माने जाते हैं.

यस्तु ज्ञानवान् भवति तदाश्रयणे दोषानन्याचष्टे—

णासेज्ज अगीदत्थो चउरंगं तस्स लोगसारंगं ॥

णह्मि य चउरंगे ण उ सुलहं होइ चउरंगं ॥ ४२९ ॥

## चतुरंगमगीनार्थो नाशयेच्छोरुपूजितम् ॥

संभृतौ लप्स्येन भूयो नाशितं तच्च दुःस्वनः ॥ ४४२ ॥

विजयोदया—णामेवज अगोदर्यो नाशयेदशुहीतमूर्ध्वार्थं । तस्म तस्य क्षपकस्य । चउरंगं चत्वारि शान्तदो नचारिचतपासि अगानि यस्य मोक्षमार्गस्थ त चतुरंग । लोके यत्सारं निर्माणं तस्याहं उपकारकं । चतुरंग नाम यत्ति नष्टं तथापि तच्चतुरंग पुनर्लभ्यते इति शकामिमा निरस्यति । णट्टस्मि य चउरंगे कोष्टे इह ज्ञम्यनि चतुरंगे मुक्तिमार्गे । ण उ सुलहे होदि चउरंग । केच सुरंगेन लभ्यते तच्चतुरंग । विनाशितचतुरंगो भिग्यात्वपरिणत कुयोनिमुपगत कथमि लभते चतुरंग इत्यभिप्राय ॥

अज्ञाश्रयणे दोषमाह—

मूलाग—चउरंगं चत्वारि दर्शनजालचारित्रतपादंगानि यस्य मोक्षमार्गस्य तं । लोकासारंगं लोके यत्सारं व्यवहारेणैन्द्रादिपदं निश्चयेन निर्माणं तस्यांगं साधनं । यत्ति नाम नष्टं चतुरंगं तथापि पुनर्लभ्यते इत्यग्राह-नो इत्यादि विनाशितचतुरंगो भिग्यात्वपरिणतः कुयोनिमुपगतः कथमि लभते चतुरंगमित्यभिप्रायः ॥

जो आचार्य जानी नहीं है उनके आश्रयमे दोषोत्पत्ति होती है. इम विषयका विवेचन—

अर्थ—जिसको मिद्धांतस्वर्गका ज्ञान नहीं है वह आचार्य क्षपकने चतुरंगका नाश करता है. अर्थात् यदि क्षपकने अज्ञ आचार्य का समाधिमरण के लिय आश्रय किया तो उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चारित्र और तपका नाश होता है. यह चतुरंग मोक्षमार्ग का हंतु है यह चतुरंग व्यवहारनयमे सारभूत अर्थात् श्रेष्ठ ऐसे इन्द्रादि पदका कारण है तथा निश्चयनयमे लोकत्रयमे श्रेष्ठ ऐसे मोक्षका कारण है यह नष्ट होने पर पुन प्राप्त होगा ऐसी शंका करना व्यर्थ है. क्योंकि जर यह नष्ट हो जायेगा तो वह मोक्षपद कैसे मिलेगा अर्थात् सम्यग्दर्शनादि-कोंका नाश होनेपर इम आत्मको भिथ्यात्त अःक कुयोनिआंमे दीर्घ कालतक घुमाता है. अतः इम चतुरंगकी पुन प्राप्त होना अतिशय कठिण है.

---

अपकस्य चतुरंगं कथमशुहीनार्थो नाशयतीत्यारेकायमित्थममो नाशयतीति दर्शयति—

संसारसारममि य अणंतवहुतिव्यदुक्खसालिलमि ॥

संसारमाणो दुक्खेण लहटि जीवो मणुसत्तं ॥ ४३० ॥

तह चेव देसकुलजाइरुवमारोगमाडगं बुद्दी ॥  
 सवणं गहणं सद्धा य संजमो दुल्लहो लोए ॥ ४३१ ॥  
 एवमवि दुल्लहपरंपरेण लद्धूण सजम खवओ ॥  
 ण लहिज्ज सुदी संवेगकरी अबहुस्सुयसयासे ॥ ४३२ ॥  
 सम्मं सुदिमलहंतो दीहद्धं मुत्तिमुवगमिचा वि ॥  
 परिवडइ मरणकाले अकदाधारस्स पासम्मि ॥ ४३३ ॥  
 सक्का वंसी छेतुं तत्तो उक्कट्ठिओ पुणो दुक्खं ॥  
 इय संजमस्स वि मणो विसएसुक्कट्ठिदुं दुक्खं ॥ ४३४ ॥  
 आहारमओ जीवो आहारेण य विराधिदो संतो ॥  
 अट्टदुहट्ठो जीवो ण रमदि णाणे चरित्ते य ॥ ४३५ ॥  
 सुदिपाणयेण अणुसट्ठिभोयेण य पुणो उवग्गहिदो ॥  
 तण्हाल्लुहाकिलंतो वि होदि ज्ञाणे अवक्खित्तो ॥ ४३६ ॥  
 पढमेण व दोवेण व वाहिज्जंतस्स तस्स खवयस्स ॥  
 ण कुणदि उवदेसादिं समाधिकरणं अगीदत्थो ॥ ४३७ ॥  
 संसारसागरे घोरे दुःखनक्रकुलकुले ॥  
 दुःखतोऽट्ठाद्यमानेन प्राप्यते जन्म मानुषम् ॥ ४४३ ॥  
 देशो जातिः कुलं रूपं कल्पता जीवितं मतिः ।  
 अवर्णं ग्रहणं श्रद्धा संयमो दुर्लभो भवेत् ॥ ४४४ ॥

बहुदुर्लभसंतत्या साधुर्लब्ध्वापि संयमम् ॥  
 लभते नाज्ञसांनिध्ये देशानां घृतिवर्द्धनीम् ॥ ४४५ ॥  
 प्रयात्यापि चिरं वृत्तमश्रुताधारसन्निधौ ॥  
 अलब्धदेशनो मृत्युकाले प्रअंशते ततः ॥ ४४६ ॥  
 दोषेभ्यो वार्यते दुःखं संन्यस्तः क्रियते सुखम् ॥  
 छिद्यते सुखतो वशः कृष्यते दुःखतस्ततः ॥ ४४७ ॥  
 अयमन्नमयो जीवस्त्याज्यमानस्त्वसौ कदा ॥  
 आर्तैरौद्रकुलीभूतश्चतुरंगे न वर्तते ॥ ४४८ ॥

शिक्षान्नश्रुतिपानाभ्यां साधुराप्यायितः पुनः ॥  
 क्षुधातृष्णाभिभूतोऽपि शुद्धध्याने प्रवर्तते ॥ ४४९ ॥  
 क्षुधया तृष्णया साधोर्वीक्षितस्य ददाति न ॥  
 उपदेशमशास्त्रज्ञः सप्ताधिवजनक्षमम् ॥ ४५० ॥

विजयोदया--तस्स पढमेण क्षुधा । दोषेण व पिपासया वा । याधिज्जतस्स वाध्यमानस्य तस्य । खवयस्स क्षपकस्य । कुणदि उवदेसादिं न करोत्युपदेशादिं । समाधिरुण समाधि क्रियते येनोपदेशादिना त । अग्निदत्थो अगृहीतार्थः ॥

एतदेव प्रबंधेन अभियत्ते--

मूलारा--संसारसागराग्नि संसारो द्रव्यादिपंचप्रकारपरिवर्तन । सागर इव दुस्तरदुःसकरत्वात् । तत्र नारकादिशरीराणा ग्रहणमोक्षणाभ्यामसकृद्वृत्तिर्द्रव्यसंसारः । चतुरशीतिलक्षसीमंतकादिनरकादिष्वतीते कालेऽनंता जन्ममरणयोर्द्वैत्तिर्भविष्यति साता भव्यानामनंता चाभव्याना क्षेत्रसंसारः । उत्सर्पिण्याः कस्याश्चिदवसर्पिण्याश्च प्रथमद्वितीयादिसमयेषु पर्यायेण जन्ममरणाभ्या वृत्तिः कालसंसारः । दशवर्षसहस्रजघन्यायुः प्रभृतिसमयोत्तरवृद्धिक्रमसमापितोऽष्टाशुःस्थितिकपर्यायवृत्तिर्भवसंसारः । कपायाध्यवसायस्थानविवर्तवृत्तिर्भावसंसारः । बहुशरीरमानसागन्तु

स्वाभाविकभेदात्प्रभूतं संसरमाणो परिवर्तमानः । दुक्त्रेण इत्यादि मनुजत्वनिर्वर्तकर्मकारणपरिणामाना दुर्लभत्वान्मनुज्य-  
क्षेत्रस्याल्पत्वाच्च दुर्लभत्वं मनुज्यत्वं । साधुपुत्रे परपुत्रवचनमिव, सूर्यमंडले तम इव, चंद्रकोपे वयेव, लुब्धे सत्यवचनामिव,  
मानिनि परगुणस्तवनमिव, खियामार्जवमिव, रालेयु उपकारश्चतेव, आत्माभासमतेषु वस्तुतत्त्वावबोध इव । अतिदुर्लभत्वे  
दृग्ग दृष्टान्तां सूत्रेऽनुश्रूयन्ते ॥

चुङ्गय पांसं धणं जूवा रदणानि सुमिण चक्कं वा ॥  
कुम्भं जुग परमाणुं दस दिट्ठता मणुयलंभे ॥

एते चुल्लीभोजनादिकथासंप्रदाया दग्गापि प्राकृतटीकादिषु विस्तरणोक्ताः प्रतिपत्तव्याः ॥

लब्धेऽपि कथं कथमपि मनुज्यत्वे तपोयोग्या देशादयो ययोत्तरं दुर्लभा इति ज्ञापयितुमाह—

मूलारा—तह चेव मनुजत्वमिव । दसे तपोयोग्यो हि मगवाजिनपदः । जाई जातिः मातृवंशः  
कुल पितृवंशः । रुवं प्रशस्तसंस्थानसंहनान्कारः । आरोगं नीरोगत्वं । आउगं दीर्घजीवित्वं । बुद्धी इहपरलोकान्वेषण-  
परा । तवणं हिताकर्णनं । गहण सद्गुरुपदिष्टार्थविज्ञानं । सद्गु सद्गुरुपदेशविज्ञातार्थरुचिः । संयमो धर्मे प्रयतन ॥

उक्तीत्या मनुज्यत्वादिदुर्लभपरंपरया लब्धसयमोऽपि अल्पश्रुतसुरिपार्थे संसारमयजननी देशना नासादयती-  
त्युपदिशति—

मूलारा— सुदिं आगमवर्णनम् ॥

चिरप्रवर्तितसयमोऽप्यल्पगुरुपार्थे त्रियमाणः सयमात्रच्यवते । मनोज्ञामनोज्ञविषयाणा सर्वत्र सदा सान्निध्या-  
द्रागद्वेपमोहपरिणामकारणातरंगचारित्रमोहात्पुण्यकर्मोदयसद्भावाच्चेति दर्शयति—

मूलारा—सम्भं प्रस्तुतकार्यानुगुण । दीहद्धं चिरंकाळं । सुर्त्तं प्राणेंद्रियविषयांसंयमत्यागं । उवगमिच्चा वि  
प्राज्यापि । परिवह्द्वि संयमात्रच्यवते । चारित्रं नारायणीत्यर्थः । अक्रदाधारस्म अवश्रुतस्य ॥

संयतस्यापि मनो विषयेभ्यो व्यावर्तयितुं दुर्विदग्धगुरुणा न शक्यते इति दृष्टातेन स्पष्टयति—

मूलारा—वंसी अल्पवंश । ततो गुल्मात् । उक्कट्टिदुं अवकट्टुं । पुणो पश्चात् । दुक्कवं दुष्करं । न शक्तेत्यर्थं  
उक्कट्टिदुं उत्कट्टु । एतदुक्तं भवति— रागद्वेषविजये यद्यपि प्रतिज्ञा कृता तथापि कृतशरीरसहोदयनस्य शुधादिपरीपहूरुपदु  
तस्य मंदवीर्यस्य श्रुतज्ञानप्रणिधानमंतरेण अल्पश्रुतसुरिपार्थे रागद्वेषप्रवृत्तितश्चारित्रावधकता न स्यात् ॥



मूलारा—आहारमओ अत्रेन निर्वृत्त इव प्राणाना तन्मूलमात् । आहारेण भोजनत्यागेन । किलामिदो ग्लानिं गतः । विराहिदो इति पाठे भोजनेन विगोहित इत्यर्थः । अट्टदुहृत्यो आर्तदुःसातुरः । अट्टदुहृत्यो इति पाठे आर्तद्विकेन आर्तरीदाभ्या ऋतः पीडितः ॥ उक्तं च—

अयमन्नमयो जीवस्त्याज्यमानोऽवसा कदा ॥

आर्तरीदाकुलीभूतश्चतुरंगे प्रवर्तते ॥

यदुश्रुतसूत्रिणा पुनः श्रुतोपदेशशिक्षाविशेषाभ्या निराकृतवृद्धुशुश्राकामः स द्वयार्नेकतानो भवतीत्युपदिशति—  
मूलारा—उवगगहिदो कृतोपकारः । अवकिप्तत्तो अव्याक्षिप्तः ॥  
कथमगीतार्थेन गुरुणा क्षुदादिना बाध्यमानो न चिन्तित्येते इति तदाश्रयणं प्रत्याचष्टे—

मूलारा—पठमेण तृष्णापरीपहेण । दोन्वेण क्षुत्परीपहेण । उन्वाविज्जंतयस्स उत्कण्ठं पीड्यमानस्य उवदेमादिं श्रुतरहस्यनिरूपणव्रतधारणधृत्यादिप्रतीकारं । समाधिकरणं धर्म्यशुश्लध्यानसाधनम् ॥

धापरुके चतुरगका अज्ञ आचार्य कैसा नाश करता है? इम प्रश्नका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं—  
सनारसायरम्मि य इत्त गाथासे ४३७ नंबरकी पठमेण व दोन्वेण व इम गाथातकका अर्थ—

हिंदी अर्थ—यह संसारसमुद्र अनंत और तीव्र दुःखरूपी पानीसे लवालन भरा है ऐसे संसारसमुद्रमें भ्रमण करनेवाले इस प्राणीको मनुष्यजन्म कष्टसे मिलता है।

मनुष्य जन्म मिलनेपर भी उच्चम देश, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, दीर्घायुष्य, बुद्धि, शास्त्रश्रवण, ग्रहण श्रद्धा, और मंथम इनकी प्राप्ति होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

उत्तरोत्तर दुर्लभ वस्तुओंकी प्राप्ति होकर संयमकी भी प्राप्ति हो गई तो भी अल्पज्ञ आचार्यके समागमसे मंमारभय उत्पन्न करनेवाला शास्त्रश्रवण प्राप्त नहीं होता है।

योग्य कार्यमें प्रवृत्ति करनेवाली स्मृति प्राप्त होनेपर भी ओर चिरकालतक प्राणिमंथम और इंद्रियसंयमना पालन करनेपर भी अल्पज्ञ आचार्यके आश्रयसे मरणकालमें क्षपक मंथम छोड़ देता है, संयमसे अप्रय होता है, संयमकी आसाधना नहीं करता है।

वासके समुदायसे एक छोटे वासको छेद करके निकालना सुलभ है परंतु उसमेंसे उसको उखाड़ना जैसा बहुत कठिन है वैसा इस मनको पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे निकालकर संयममें स्थापन करना बहुत कठिन है। राग-द्वेषोंका नाश करनेकी यद्यपि प्रतिज्ञा कीथी तथापि शरीरसंछेदना जिसने की है, जो क्षुधादि परीपहोंसे पीडित है ऐसा अल्प शक्तीका धारक क्षपक श्रुतज्ञानमें एकाग्रता न होनेमें अज्ञ आचार्यके समीप रागद्वेषोंपर विजय नहीं पा सकता है, और चारित्र्याधारक नहीं होता है।

यह जीव आहारमय है, मानी अबसे ही उत्पन्न हुआ है, क्योंकि अब ही प्राणरक्षणका मूल कारण है, अबके त्यागसे यह आत्मा म्लान होता है, आर्तध्यानी होकर दुःखसे पीडित होता है, तब ज्ञान और चारित्र्यमें रममाण नहीं होता है।

श्रुतोपदेश और शिक्षाविशेषरूपी भोजनसे जिसने क्षुधा और प्यासका परिश्रम नष्ट किया है ऐसा वह क्षपक ध्यानमें एकाग्र होता है अर्थात् बहुश्रुतज्ञ आचार्यका आश्रय करनेसे क्षपकको श्रुतोपदेश और विशिष्ट उपदेश मिलनेसे क्षुधातृपका परिश्रम नष्ट होता है और आत्मध्यानमें वह स्थिर होता है परंतु अल्पज्ञके आश्रयसे वह क्षुधादि परिपहोंका दुःख नहीं सहन कर सकेनेसे आर्तध्यानी बनता है

अगीतार्थ आचार्य क्षुधा और तृपसे जब क्षपक पीडित होता है तब उसको उपदेशादिक नहीं करता है, अतः ऐसे आचार्यके आश्रयमें क्षपकको समाधि मरणका लाभ होता नहीं।

सो तेण विडज्झंतो पप्पं भावस्स भेदमप्पसुदो ॥

कलुणं कोलुणिय वा जायणकिविणत्तण कुणइ ॥ ४३८ ॥

ताभ्यां प्रपीडितो बाहं भिन्नभावस्तनुश्रुतः

रोदनं याचनं दैन्यं करुणं विदधाति सः ॥ ४५१ ॥

विजयोदया—सो तेण क्षपकस्तेन प्रयमेन द्वितीयेन वा । विडज्झंतो विविधं दह्यमान । पप्पं भावस्स भेदमप्पसुदो प्राप्य शुभपरिणामस्य भेदं अल्पश्रुतः । कलुणं कोलुणिय च कुणदि यथा शृण्वता दीनता च भवति तथा करोति । जायणं च कुणदि याचा वा करोति । किंविणत्तणं कुणदि दीनता वा करोति ॥

अकृतवृष्णादिप्रतीकारोऽल्पशास्त्रज्ञ क्षयको विपरिणतिं प्राप्य गर्हणीयक्रियाः करोतीति गाथात्रयेणाह —  
मूलारा—तेन वृष्णादिना । विवृद्धतो । विविधमुपद्रव्यमाणः । पप्पा प्राप्य । भावस्स भेदं शुभपरिणामस्य विनाशं । कलुषा रोदनं । कोलुणियं । परकरुणोत्पादनं किंविणत्तं दैन्यम् । तथा—

अर्थ—वह क्षपक भूखसे अथवा व्याससे पीडित होकर शुभ परिणामोंको नष्ट कर देता है, वह अल्पज्ञ क्षपक सुननेवालों को दया उत्पन्न करनेवाला रुदन करता है याचना करने लगता है और दीनता व्यक्त करता है.

उकवेज्ज व सहसा वा पिण्णज्ज असमाहिपाणयं चावि ।  
गच्छेज्ज व मिच्छत्तं मरेज्ज असमाधिमरणेण ॥ ४३९ ॥

पूत्तुर्यादसमाधानपानं पिवति पीडितः  
मिथ्यात्वं क्षपको गच्छेद्विपयेतासमाधिना ॥ ४४२ ॥

विजयोदया—उकवेज्ज व सहसा पूत्तुर्याद्धा सहसा । पिण्णज्ज पियेद्धा । असमाधिपाणयं चावि असमाधिपानकमुच्यते यत्स्वय स्थित्वा स्वहस्ताभ्या काले प्रायोग्यपानं ततोऽन्यदस्थित्वा अकाले च यत्पानं तदसमाधिपानकमुच्यते । गच्छेज्ज व मिच्छत्त मिथ्यात्व वा गच्छेत् । कयोऽयं धर्म किमेनेन श्रमविधायिनेति निर्दारेण चेतसा । मरेज्ज असमाधिमरणेण असमाधिना चापि मृतिमुपेयात् ॥

मूलारा—उकवेज्ज पूत्तुर्यात् । असमाधिपाणयं यत्स्वय स्थित्वा स्वहस्ताभ्या काले प्रायोग्यपानं तत्समाधिपानं ततोऽन्यदस्थित्वाऽकाले च पानं मृत्तान्तिदितमित्यर्थः । गच्छेज्ज कयोऽयं धर्मः किमेनेन श्रमविधायिनेति निर्दारेण चेतसा मिथ्यात्व प्रतिपद्यत । तथा—

अर्थ—वह क्षपक क्षुधादिकोंकी चेदनासे जोरसे चिच्छाने लगेगा खय खडे होकर अपने दो हाथोंमें योग्य कालमें पानयोग्य पदार्थ पीना उसको समाधि पान कहते हैं, और बैठकर अपने हाथोंसे अकालमें पान करना उसको असमाधिपान कहते हैं, अर्थात् क्षुधा तृषा पीडित होकर क्षपक मृत्तान्तिदित आहार लेगा ऐसा यहां अभिप्राय समझना चाहिये, अथवा संयमसे भ्रष्ट होकर मिथ्यात्वावस्थाको प्राप्त होगा यह संश्लेषना धर्म अथवा सुनिधर्म बड़ा

कष्ट देनेवाला है इससे आत्माको केवल श्रम ही होते हैं, ऐसे धर्मसे क्या प्रयोजन है ऐसी वह क्षपक निंदा करते करते मरण करेगा और असमाधिसे मरणको प्राप्त होगा.

संथारपदोसं वा गिबमच्छिज्जंतओ गिगच्छेज्जा ॥

कुब्बंते उड्ढाहो गिच्चुब्बते विक्किंते वा ॥ ४४० ॥

हित्वा निर्भत्स्यमानोऽसौ संस्तरं गन्तुमिच्छति ॥

पूत्तुर्वत्ययशस्तत्र त्याज्यमाने च जायते ॥ ४४३ ॥

विजयोदया—संथारपदोसं वा कुणदि संस्तर वा दुप्यति । गिबमच्छिज्जंतगो गिगच्छेज्जा रोदनं पुत्तांरं वा कुब्बन्तं यदि निर्भत्सयन्ति निर्यायात् । कुब्बते पूत्तुर्वति सति क्षपक । उड्ढाहो अयशो धर्मस्य भवति । गिच्चुब्बते यदि निर्भत्सयन्ति । विक्किंते वा पृथकरणे वा । उड्ढाहो होदि धर्मदूयणो भवति । पवमणुहीतांगं प्रतिकारानभिद्धो नाशयति क्षपकम् ॥

मूलारा—संथारपदोसं आचार्यप्रद्वेपं करोति कुणदीत्यवाहारान् । गिगच्छेज्ज नि संरेदवहिः कुब्बंतो उड्ढाहो पूत्तुर्वति सति क्षपके अयशोऽधर्मश्च भवति । गिच्चुब्बिते वहिर्नि सरणे । विक्किंते पृथकरणे । क्षपकस्य उड्ढाहो भवतीति संबंधः । गिबमच्छिज्जंतगो गिगच्छेज्ज कुब्बंतो उड्ढिमिति पाठे निर्भत्स्यमानको निर्गच्छत्तुवन्नकीर्तिमिति व्याख्येयम् गिबमच्छुत्तो प्रवेश्यमानो विक्किंते हन्ति परं स्वं वेति च व्याख्येयम् ।

अर्थ—वह क्षपक संस्तरकी निंदा करेगा अथवा आचार्यकी निंदा करेगा. यदि वह क्षपक रीनेपर जोरसे चिच्छानेपर यदि उसकी निंदा की तो वह संघसे भाग जावेगा. जिससे धर्ममें अपयश होनेकी संभावना रहती है. ऐसे क्षपकको यदि संघसे पृथक् किया जावेगा तो धर्ममें दूयण लगता है. इतने विवेचनसे अल्पज्ञ आचार्य क्षपक का नाश कर देता है यह सिद्ध होता है

गृहीतार्थं पुन' किं करोतीति चेदाह—

गीदित्यो पुण खवयस्स कुणदि विधिणा समाधिकरणाणि ॥

कण्णाहुदीहिं उव्वेदोद्दो य पज्जलइ ज्झाणग्गी ॥ ४४१ ॥

समाधानाविधिं तस्य विधत्ते शास्त्रपारगः ॥

दीप्यते दीपितः कर्णाहुतिभिर्ध्यानपावकः ॥ ४५४ ॥

विजयोदया—गृहीतार्थः पुनः । खवगस्स । क्षपकस्य कुण्ठादि करोति । विधिणा क्रमेण । समाधिकरणानि समाधानक्रियाः । कण्ठाहुदीहिं कर्णाहुतिभिः । उवदोददो उपगृहीतः । पञ्जलदि प्रज्वलति । ज्ञानाग्निं ध्यानाग्निः ॥

गीतार्थः पुनः क्षपक सान्त्वयितुं यतते इत्याह—

मूलारा—समाधिकरणानि समाधानस्य साधनानि यथास्वं बाह्याभ्यात्मिकानि च । कण्ठाहुदीहिं कर्णजप इव्यद्रव्यप्रक्षेपैः । उवचेपन्तो उपगृह्यमाणो दीप्यमानः ।

सूत्रार्थज्ञ आचार्यं क्या करते हैं इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—सूत्रार्थज्ञ आचार्य आगमायुसार क्षपककी समाधिभरणकी क्रिया करते हैं और उसका ध्यानरूपी अग्नि मधुर उपदेशरूपी आहुतिओंसे वृद्धिगत करते हैं, अर्थात् क्षपकको क्षुधादि वेदना जब पीडित करती है तब मधुर हितकर उपदेश देकर आचार्य उसको आर्तध्यान न होने पावे ऐसा प्रयत्न करके धर्मध्यानमें लगाते हैं

खवयस्सिच्छासंपादणेण देहपडिकम्मकरणेण ॥

अण्णेहिं वा उवाएहिं सो समाहिं कुणइ तस्स ॥ ४५२ ॥

क्षपकेच्छाविधानेन शरीरप्रतिकर्मणा ॥

समाधिं कुरुते सम्यगुपायैरपरैरपि ॥ ४५५ ॥

विजयोदया—क्षययस्सिच्छासंपादणेण समाधिं कुण्ठादि क्षपकस्येच्छासंपादेन समाधिं करोति । यदिच्छ-  
त्यसौ तद्वत् समाधिं रत्नत्रये समवधान तस्य करोति इति यावत् । देहपडिकम्मकरणेण शरीरयाधाप्रतिकारक्रियया ।  
अण्णेहिं वा उवाएहिं अन्यैर्वा सामवचनोपकरणदानचिरंतनक्षपकोपाख्यानाविधिरुपयै समाधिं करोति ॥

गीतार्थो यथासमाधिं विधत्ते तथा दर्शयति—

मूलारा—इच्छा संपादणेण यदिच्छत्यसौ योग्यं तद्वत् रत्नत्रयसमाहितं करोतीत्यर्थः । देहपडिकम्मकरणेण शरीरवाधाप्रतिकारक्रियया ॥ तथा—

मात्रशरीराणां सम्मूर्च्छमाना जन्मस्थानानि । तत्र भोगभूमिमतद्वीपं च परिहृत्य कर्मभूमिपतितुलंभा । कर्मभूमिषु च वर्धचलितातकपारसीकविदेशपरिहारेण अगवगमगाधादेशेषु उत्पत्तिः । लब्धेऽपि देशे चाङ्गालादि कुलपरिहारेण तपो योग्ये कुले जातो । जातिर्मातृवशः । सुकुलं कथं तुलंभ इति चेदशोच्यते । जातिं, कुलं, रूपं, ऐश्वर्यं, ज्ञानं, तपो, बलं वा प्राप्य अगर्वितत्वं । अन्येऽप्येतैर्गुणैरधिक्ताः स्खुब्धयमनन, परानवज्ञाकरणं, गुणाधिक्ये नृ नीचेर्बुद्धिः । परेण पृष्टस्यापि अन्यदोषाकथनं, आत्मगुणस्यास्तवधनं, इत्येतैः परिणामे उच्चैर्गोत्रं कर्म आगायते । तेन कुलेषु पूज्येषु जायते । जतुरयं पुनर्न तथा प्रवर्तते जडमति । किंत्वेतद्विपरितेषु परिणामेषु वर्तमानो नीचैर्गोत्रमेव यच्छनाति असकृत्तेन पूज्य कुलं तुलंभं । उक्तं च—

जात्या मत्तो यः कुलाद्रापि रूपादैश्वर्याद्वा ज्ञानतो वा चलाद्वा ॥  
प्राप्यार्थम्या यस्तपो वा परेषु निदायुक्तः स्तौति वात्मानमेव ॥ १ ॥  
अन्यावज्ञानादरातिक्रमाणां कर्तो मान योऽतिमात्रं विभर्ति ॥  
नीचैर्गोत्रं नाम कर्मैव बाल्याद्ब्रज्जात्युग्रं निद्रित जन्मवत्से ॥ २ ॥  
यस्तु प्राप्याप्युत्तमत्वं कुलाद्यैरन्यान्बुद्ध्या मन्यमानो विशिष्टान् ॥  
अन्यान्काश्चिन्नावजानाति धीरास्त्रीचैर्बुद्ध्या युज्यते बाधिकेषु ॥ ३ ॥  
पृष्टोऽप्यन्यैर्नार्मयोपान्ववीति नात्मानं वा स्तौति निर्मुक्तमानः ॥  
उच्चैर्गोत्रं नाम कर्मैव धीमान् यच्छनातीष्टं जन्मवत्से प्रजानाम् ॥ ४ ॥

इति ॥ नीरोगतापि तुलंभा । असकृदसद्वैयकर्मबंधनात् । वंशच्छेदात्ताडनान्मारणाद्वाह्निद्रोधाच्चसद्वैयमेव यच्छनाति । तथा चाश्वधापि—

अन्येषा यो दुःखमश्वोऽयुक्तां त्यक्त्वा तीव्र तीव्रसङ्केशयुक्तः ॥  
वंशच्छेदैस्ताडनैर्मारणैश्च दाहै रोधैश्चापि नित्यं करोति ॥  
सीख्य काश्चन्नात्मनो दुष्टचित्तो नीचो नीचं कर्म कुर्वन्सदैव ॥  
पश्चात्तापं तापिना यः प्रयाति यच्छनात्येषोऽप्सातवेद्यं सदैवम् ॥

रोगाभिमवाश्वद्विचेष्टः कथमेव हितोयोग कुर्यात् ॥

तथा चाभाणि—

प्राज्ञोऽप्युपात्तादिह जीवतोऽपि मद्वाभय रोगमद्वाशानिभ्यः ॥  
यथाशानिः स्वाग्निपतत्यबुद्धो रोगस्तथागत्य निहन्ति देहं ॥ १ ॥  
बलायुषी रूपगुणाश्च तावद्यावन्न रोगः समुपैति देहं ॥

फलस्य लघस्य हि जातु तन्तोस्तावन पात श्वसनो न यावत् ॥

तस्मिन्वेहं परिवाधमाने श्रेयः प्रकृतौ न सुतेत शप्यम् ॥

युद्धे समंतात् हि दशमाने शक्त प्रकृतौ पुण्योत्र किञ्चित् ॥

सदा परप्राणिघातोयतस्तदीयप्रियतमजीविनविनाशानात् प्रायेणाण्युरेव भवति । प्राणुरपदेष्टने बहु-  
नि निमित्तानि । जलं, ज्वलनं, मारुतं, सर्पा, वृद्धिक्ता, रोगा उच्छ्वासनिःश्वामनिगोध, आतारालाभ, वेदनेत्येवमादीनि ।  
ततो दीर्घमायुर्न सुलभं मनुजभवे । सामान्यवचनोऽप्ययुः शत्रु दीर्घं मनुजायुषि वर्तमानो गृहीतोऽन्यथायुर्मात्रस्य संन्या-  
रिणः सुलभत्वात् । लघ्वेष्वपि देशादिषु बुद्धिबुद्धिर्लभा । परलोकान्तेयणपरा बुद्धिश्च गुह्यशब्देन्यते न मानमात्राची ।  
तद्धि सुलभं क्षानावरणेनावन्द्योद्यवीर्यस्य जलधरपटलापरकमडलस्य छायामायमिव दिनपतेरधिपदं भवति गानम् ।  
किञ्चिन्मिथ्यात्वोदयाहिर्पर्यस्तमुदेति विद्यालं । नेत्रात्मा नाम कश्चिन्कर्ता शुभाशुभयो रमणो । नापि तत्कला-  
शुभवनिरतः, नापि परलोकः प्राप्यः कर्मवशमर्तिना जडिचिदिति । तत्रायधधि-

लोको नायं नापरो नापि चात्मा धर्माधर्मा पुण्यपापे न चापि ॥

स्वर्गो ह्य केन केनायया ते श्रोता ह्य नारकाणां त्रिषासा ॥ १ ॥

बन्ध को वा कोऽथवा सोऽस्ति मोक्षो, मिथ्या सर्वं यत्रेणं निरर्थो ॥

प्राप्ता कामा सेवितव्या यथेष्टं ह्य त्यस्या दग्ने कोऽभिलाषः ॥

इति । तथा चान्ये—छापवापिका स्त्री विंशतिवार्गिकः पुमान् तयो परस्परं प्रेमपूर्वद्वान्भावविभ्रमकटाक्षकि-  
लकिञ्चित्तादिभावपूर्वकं संगोप एव स्वर्गं नान्यः ।

रमीमुद्रा मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वार्थसंपत्करीं ॥

पद्मां ये प्रविहाय याति कुत्रिय स्वर्गापमोच्छ्रया ॥

तद्दोषार्थनिहत्य ते द्रुततर नदीरुता मुञ्चिता ।

कोचिद्रक्तपटीरुताश्च जटिलाः कापालिकश्चापरे ॥

तथान्येराभिहितं—जलबुद्धवज्जीवा, परलोकिनोऽभावात्परलोकाभाव इति च । सत्यामपि बुद्धो समीची-  
नज्ञानलोचनवता, सकलप्राणिशुद्धोचररुपापरिरक्तचेतसा लाभसत्कारपुरस्कारादिनिरपेक्षेण, चतुर्गतिपरिभ्रमणप्रभय-  
यातनासहस्रभूलोभ्य प्राणश्रुता परमात्मतुक्प्राप्तपुण्येन हा जनो विवेकतन मिथ्यादर्शनाद्यनुभवास्तिगामरुद्वकमिदम्-  
स्माभिर्पशुभगतिनिर्वर्तनप्रवणमपहातव्यमित्यजानानस्तेधैवासङ्गः प्रवर्तमानो नु मरत्नाकरमरारमुपविशत्यशरणो वराक-

१ फलस्य शान्तागतद्वृततन्तोः, इत्यपि पाठः क पुस्तके ।

१ 'तथा चान्ये' इदमारभ्य स्त्री मुदेति श्लोकावसानपर्यन्तो ग्रन्थः ख पुस्तके नास्ति ।

इति कृतसकल्येन यतिजनेन संसर्गो दुर्लभः । कुतः ? दर्शनमोहोदयाज्ञानावरणोदयाच्च न यतिगुणान्वयोसि श्रद्धसे वा जन' । तत एव न ढोक्ते यतीञ्च वा सुगुणमविदुस्तदुत्पन्नमुपपद्यते । अपि च चारित्र्यमोहोदयादस्यतोऽतितया प्राणिनस्ततो हिंसादिकं स्वयं करोति, कारयति अनुमोदते । हिंसादिषु वर्तमानेभ्येव रतिं यच्छाति । न हिंसादिपरिहारोद्यतेषु । विना रतिं कथं ते ससर्गस्तत्सेवा वा । सा हि—

ससारोच्छेदकरी प्रशमकरी ज्ञानबुद्धिवृद्धिकरी ॥  
कीर्तिकरी पुण्यकरी ससेवा साधुवर्गस्य ॥  
दर्शनमात्रमपि सता ससारोच्छेदने भवति दीज ॥  
किं पुनरधिकारकृता ससेवा साधुवर्गस्य ॥  
तत्सेवा यदि न स्यान्न स्याद् ज्ञानागमो विना ज्ञानात् ॥  
हितकर्मप्रतिपत्तिर्न स्यान्न स्यात्तो मोक्ष ॥  
साधुपमेवन यदि पारपर्येण मोक्षमानयति ॥  
ह्यनिः श्रमश्च नृणां कौ साधून्सेवमानानाम् ॥  
श्रेया कथं न यतयो विदुषा श्रेयार्थिना मनुष्येण ॥  
अक्षयमिह श्रेयो मुदाश्रितेभ्यः प्रयच्छन्ति ॥  
इति सततमपोह्यमानमोहाविहपरलोकहितैरिणा नरेण ॥  
जगदधिकतपोविभूतियुक्ता यतिवृत्तमा विनयेन सेवितव्या' ॥

यच्छच्छया जातेऽपि यतिससर्गे न गुण' न चेद्धितं शृणुयात् । यथा न वर्षस्य पात एव गुणो नरस्य अपि तु भुविधीजयाप । तद्वच्छूयणं गुणो यतिसमीपगमनेन । तदेव श्रवणं दुर्लभं कथयति । समीपमुपगतोऽपि निद्रायति ।

समीपस्थाना वचो यत्किंचित् शृणोति, न रोचते, वा तद्धर्ममाहात्म्यप्रकाशानं मोहोदयात् । न जानाति वा मतमाद्यादत एव तत्र नानुरागोऽस्य । अंतरेण चानुरागं कथं श्रोतुमुत्सहेत् । तथा चाभाणि—

साधूना श्रवणगतिमार्गदेशक्राना सप्रप्तो निलयमपि प्रमादशेरात् ॥  
आस्ते यो जनवचनानि तत्र शृण्वन् गत्वासौ हृदमपि पक् एव मग्न ।

सत्यपि श्रवणे ग्रहणं विज्ञानं तस्मिन्निष्ठस्यार्थस्य दुष्कर । सौक्ष्म्याज्जीयादिवस्तुनत्वस्य कदाचिदप्यश्रुतत्वात् । ज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षभावाच्च श्रोते धर्मतत्त्वे तत्र श्रद्धा दुर्लभा । सोऽयं जिनप्रणीतो धर्मः अहिसालक्षणं, सत्याधिष्ठानं, परद्रव्यापहरणपरिवर्जनात्मकं, नवविधब्रह्मचर्यगुप्तं, परित्यक्ताशेषमूर्च्छं, विनयमूलः, समीचीनमानपुरःसरः, क्षमापारदावर्जयसतोपगुणभूयणं, नरकवर्तनीवज्रगर्भीभूतं, तिर्थगातिलताकुठारं, कठोराशनिर्दुःखाचलशिखरणां, मोहमहामदीर्यहोत्पादने पटुभानरिद्वया जरादवानलशिखामुलप्रशमनमुखरो घनाश्रयं, प्रवर्षकः प्रावृषेण्यं, मरणहरिणजि-



शसनचटुलङ्घचुण्डरीक', क्रूररोमोरगाणां विनतासुताः, संपत्सुरापागाया हिमाचल', सेतुराधाशोकपंकस्य, पिता सुभन-  
तायाः, ऐश्वर्यरत्नानामाकर, कुयोनिवनविप्रनष्टाना पृथुलिशिवपुरं, इति श्रद्धानं अतिदुर्लभ दर्शनमोहोदयात् । उपशमात्  
क्षयोपशमात्, क्षयाद्वा दर्शनमोहस्य जाते पि श्रद्धाने संयमो दुर्लभतर. प्रत्याख्यानावरणोदयात् । उक्तं च—

दुर्लभयो भवति नरेण तत्त्वधर्मो ज्ञात्वापि प्रयतनमत्र कष्टमेव ॥

तज्ज्ञात्वा धृतिमुपलभ्य दृष्टतत्त्वं, सद्धर्मं क्षणमपि सा कथाः प्रमादं ॥

भूत्वाय सुकरस्तरोरपि पापकार्यात् धर्मोऽसूक्ष्णमपि दुष्करो मनुष्यैः ॥

आश्चर्यं किमपि न चात्र संति मृदा. स्यादेतदधुनामिह कर्मणां गुरुत्वं ।

काक्रिण्यामपि गणयन्तुणं महान्त तदेतो श्रममनुलं करोति यत्नात् ॥

तत्त्वज्ञ सुरमनुजर्द्धिमोक्षमूले सद्धर्मं हृदयमपि स्थिरीकरोति ॥

यत्पापे भूशमहिते करोति चेष्टामालस्यं परमहिते च याति धर्मं ॥

युक्तं तद्यदि न तथा भवेत्पृथिव्या संसारं ननु पुरुष. कथं लेभेत ॥

एवमपि परपरेण दुर्लभपरपरया । लङ्घनं वि लब्धवापि । सयमं सयमं खगो क्षपक । किं न लेभेज्ज सुदिं न  
लभते श्रुतिं । सवेगकर्तुं ससारभयजननीं । अमहुस्सुदसक्रसे अयदुश्रुतस्य सूरे पादौ तस्मान्छुतवानाचार्य आश्रयणीय-  
इति प्रस्तुतेन सवध. ॥

सम्म सुदिमलभतो समीचीना श्रुतिमलभमान' । कदा मरणकाले । अयदुस्सुदसगोसे अयदुश्रुतस्य पाश्वे ।  
दिग्बद्ध चिरं कालं । मुत्तिमुवगमितावि मुक्तिशब्देनात्र प्राणेन्द्रियविषयासंयमत्यागं परिगृह्यते । तेनायमर्थः । चिरप्रव-  
र्तितसयमोऽपीति परिवर्द्धिं प्रच्यवते कुत ? सयमात् । संयमद्वानिकधनेन चारित्राधारनाया अभाव आल्यायते ।  
संयमात्प्रच्यवते कथमितिचेत्-मनोक्षानामनोक्षाना च विषयाणां सर्वत्र च सदा च मानिध्यात् अभ्यंतरकारणस्य  
कर्मणोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामा प्रादुर्भवन्तीति दुर्निवारा इति वदन्ति । सक वमी छेतु अल्पवशा वंशीत्युच्यते ।  
गाढावलग्नता हि तत्र संभवति शक्यते वशी'च्छेत्तु । ततो गुल्मात् उकट्टिदुं अयकट्टु । पुणा पशवात् । दुस्सल दुष्करं ।  
इय एव । सजदस्स वि संयतस्यापि मन । विमपसु रूपादित । उकट्टिदु अयकट्टु । दुस्सल दुष्करं । रागद्वेषभयो व्यावर्तयितुं  
अशस्यं । एतदुक्तं भवति —रागद्वेषविजये यदि नाम प्रतिज्ञा कृता तथापि कृतशरीरसंछेदनस्य शुदादिपरीपहैरुपद्रुतस्य  
मंदवीर्यस्य न श्रुतज्ञानमणिधानं तच्चातेरेण रागद्वेषप्रवृत्तेर्न चारित्राधकता स्यात् । वहुश्रुत. पुन. यथास्य रागद्वेषौ  
न जायेते तयोपदिशति भोगनिर्वृजनीं शरीरनिर्वृजनीं कथमिदं—

एकादशु खं निरयप्रतिष्ठा तिर्यक्षु देवेषु च प्राप्नुयेयुः ॥  
 कचित्कदाचिन्नु कथं विदेव सौल्यस्य सन्नात्र शरीरिणा स्यात् ॥  
 एकेन जन्यस्त्वताऽग्रमेयं शरीरिणा दुःसमवाप्यते यत् ॥  
 अनंतभागोऽपि न तस्य हि स्यात् सर्वं सुखं सर्वशरीरसंस्थ ॥  
 तत्रैकजीवः सुखभागमेक भोजेनिकयतं जननार्णवेऽसिन् ॥  
 चक्षुर्यमाण परतो वराको वनेऽतिभीतो हरिणो ययैकः ॥  
 भवेत्पततेषु सुखे तथापि शरीरिणेकेन समापनीये ॥  
 एकप्रसूतौ यदवाप्यते तत्किं यद्वेत्तस्य विमृश्यमाणे ॥  
 अत्यल्पमव्यस्य तदस्तु तावत्तदुःखराशौ पतितं तदीय ॥  
 स्यात्तद्वत् स्वदुरस यथाबु प्राप्याबुदनां लवणार्णवानु ॥  
 यथाप्यद् सौल्यमितीष्यतेऽत्र पूर्वोत्थदुःखप्रतिकार एव ॥  
 विना हि दुःखात्ययमग्रस्तात् न लक्ष्यते किंचन सौल्यमत्र ॥  
 प्रपीयते ह्येषु दुःखप्रदान्त्यै क्षुब्धाशानायाशनमृश्यते च ॥  
 वेश्मभानुवातातपवारणाय शुष्कप्रतिच्छादनमवर च ॥  
 शीतापनुत्सावरण च दृष्टं शय्या च निद्राश्रमनोदनाय ॥  
 यानानि चाप्यश्रमवारणार्थं स्नानं श्रमस्वेदमलपनुत्ये ॥  
 स्थान श्रमस्यौषधमासनं च दुर्गंधनाशाय च गंधसेवा ॥  
 वैकल्पनाशाय च भूषणानि कलाभियोगोऽरतिवाधनाय ॥  
 तथेह सर्वं परिचित्यमानं भोगाभिधानं सुरम्रानुपणा ॥  
 दुःखप्रतीकारनिमित्तमेव भैषज्यसेवेव रुगादितस्य ॥  
 पितृप्रक्रोयेन विद्वद्भामने द्रव्याणि शीतानि निषेवमाणः ॥  
 मन्येत भोगा इति तानि योऽन्नं कुर्वीत सोऽन्नादिषु भोगसंज्ञाः ॥  
 यतश्च नैकान्तसुखप्रदानि द्रव्याणि तोयप्रभृतीनि लोके ॥  
 अतश्च दुःखप्रतिकारबुद्धिं तेषु प्रकुर्यान्न तु भोगसंज्ञा ॥  
 भुधाभिभूतस्य हि यत्सुखाय तदेव वृत्तस्य विप्रायतेऽन्नं ॥  
 उष्णादितः काक्षति यानि चेह तान्येव विद्वेषकराणि शीते ॥

वर्ष आयुष्य आदि लेकर तीन सागरोपम आयुष्यतक उसही नरकमें उत्पन्न होता है तिसरे नरकमें एक समय अधिक तीन सागरोपम से प्रारंभकर दो तीन चार पांच इत्यादि समयोंसे त्रयता हुआ सात सागरोपम आयुष्यकी परिपूर्णता करता हुआ यह जीव वार वार तीसरे नरकमें ही उत्पन्न होता है। चौथे नरकमें समयाधिक सात सागर से लेकर द्वितीयादिक समयादिके क्रमसे दशसागरोपमकी समाप्ति होनेतक चतुर्थ नरकमें इस जीवने जन्म धारण किये हैं। पांचमें नरकमें एक समयाधिक दशसागरोपमायुष्यका प्रारंभ करके द्वितीयादि समयाधिकके क्रमानुसार सतरा सागरोपमायुष्यकी समाप्ति होनेतक पांचवे नरकमें इस जीवने जन्म धारण किया था। छठे नरकमें समयाधिक सतरा सागरोपमायुष्यका प्रारंभ कर दूसरा, तिसरा वगैरे समय अधिक बढ़ता हुआ चावीस सागरोपमायुष्य तक असंख्यात जन्म जीवने धारण किये हैं सातवें नरकमें समयाधिक चावीस सागरोपम आयुष्य से उत्पन्न होकर समयाधिक क्रमसे तेहतीस सागरोपमायुष्यकी समाप्ति होनेतक इस जीवने असंख्यात जन्म धारण किये हैं। इस प्रकार आयुके विकल्पोंकी धारण करते हुए इस जीवने भवसंसारमें भ्रमण किया है।

भावसंसारका स्वरूप सर्वजन मुखसे जान सकते हैं इसलिये यहा उसका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार इस संसारसमुद्रमें नानाविध तीव्र दुःखरूपी पानी है शारीरिक, मानसिक, आंगतुक व स्वाभाविक ऐसे दुःखके अनेक भेद हैं। इस संसारमें भ्रमण करने वाले इस जीवको कष्टसे मनुष्यपना प्राप्त होता है, सर्व जगतमें मनुष्य उत्पन्न होनेका क्षेत्र अल्प है और तिर्यच प्राणी सर्व जगतमें उत्पन्न होते हैं। मनुष्यपना जिससे उत्पन्न होता है ऐसे कर्मकी उत्पत्ति करनेवाले कारणभूत परिणामोंकी प्राप्ति होना कठिन है इसलिये मनुष्यत्व दुर्लभ है।

मनुष्यत्व प्राप्तिके परिणाम कोनसे है इस प्रश्नका उत्तर—

जीवोंके परिणाम मिथ्यात्व, असंयम और कषाथ ऐसे तीन प्रकारके हैं वे परिणाम भी तीव्र, मध्यम और मंद है। कारणोंमें अर्थात् कर्मोंमें तीव्र, मध्यम और मंद स्वभाव रहता है अतः उनसे उत्पन्न होनेवाले परिणामोंमें भी तीव्र, मध्यम और मंदता आती है। कारणोंमें भेद होनेसं कार्यरूप परिणामोंमें भी विचित्रता आती है। इन परिणामोंमें जो मध्यम हिंसादिपरिणाम हैं वे मनुष्यपना के उत्पादक है बालुकामें खींची हुई

रेखाके समान क्रोध परिणाम, लफडीके समान मानपरिणाम, गोभूत्राकारके समान मायापरिणाम और कीच डके रंगसमान लोभपरिणाम ऐसे परिणामोंसे मनुष्यपनाकी प्राप्ति होती है। जीवघात करनेपर डा मने डुट कार्य किया है, जैसे दुःख वा मरण हमको अग्रिय है, संपूर्ण प्राणिओंको भी वह अग्रिय है जगतमें अहिंसा ही श्रेष्ठ व कल्याण कारिणी है, परंतु हम हिंसादिकोंका त्याग करनेमें असमर्थ हैं शूट परदोषोंको कहना, दुमरोंके सदगुण देखकर मनमें द्वेष करना, असत्यभाषण करना यह दुर्जनोका आचार है, साधुओंको अयोग्य ऐसे निंदा भाषण और खोटे कामोंमें हम हमेशा प्रवृत्त हैं, इसलिये हममें सज्जनपना कैसा रहेगा? ऐसा पश्चात्ताप करना दुसरोका धन हरण करना यह शस्त्रप्रहार करनेसे भी अधिक दुःखदायक है, द्रव्यका विनाश होनेसे सर्व कुटुम्बका ही नाश होता है इसलिये मैने दूसरोका धन हरण किया यह अयोग्य कार्य किया है ऐसे परिणाम होना, हमने परस्त्री वगैरह का हरण किया यह बहुत अयोग्य कार्य हमसे हुआ, हमारी स्त्रीका किसीने हरण करने पर जैसा हमको अतिशय कष्ट होता है वैसा उनको भी होता है यह अनुभवसे प्रसिद्ध है, ऐसे परिणाम होना, गंगादि नदिया हमेशा अपना अनंत जल लेकर समुद्रमें प्रवेश करती हैं तथापि समुद्रकी तृप्ति होती ही नहीं, यह मनुष्यप्राणी भी धन मिलनेसे तृप्त नहीं होता है, इस तरहके परिणाम दुर्लभ है

सत्पुरुषके मुखमें कठोर वचन, स्वयंमंडलमें अंधकार, तीव्रक्रोधी मनुष्यमें दया, लोभी मनुष्यमें सत्यभाषण, अभिमानी मनुष्यमें परगुणोंका स्तवन, स्त्रीमें मायारहितपना, दुष्टोंमें कृतज्ञता, कपिल, चंद्र वगैरह आत्माभावोंके मतमें वस्तुके सत्यस्वरूपका ज्ञान ये जैसे दुर्लभ हैं, वैसा मनुष्यत्वकी प्राप्ति होना दुर्लभ है,

देश, कुल, रूप, आरोग्य, दीर्घायु, बुद्धि, शास्त्रश्रमण, ग्रहण, श्रद्धा, और संयम ये उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं

गाण आचार्य उत्तम देशमें जन्म होना दुर्लभ है इस विषयका वर्णन करते हैं—

भार्यभूगिज, भोगभूमिज, अन्तर्दोषज और संमूच्छिम ऐसे मनुष्योंके चार भेद हैं,

भार्य भूगिजोंमें पांचभरत क्षेत्र, पांच ऐरावत क्षेत्र और पांच विदेह क्षेत्र ऐसी पंधरा कर्मभूमियां हैं पांच भोगभूमिजोंमें पांच भरत क्षेत्र, पांच ऐरावत क्षेत्र और पांच विदेह क्षेत्र और पांच हरण्यवत क्षेत्र ऐसी तीस



उच्च कुलादिक जैसे दुर्लभ है वैसी निरोगता अर्थात् रोगरहितदेह प्राप्त होना भी दुर्लभ है।  
प्राणिओंकी शायना, ताडना, मारना, जलाना अन्न पानी न देना इत्यादि कार्यसे असतावेदनीय कर्मका तीव्र बंध होता है। इस विषयमें ग्रंथांतरमें ऐसा विवेचन आया है—

जो शूर्व मनुष्य दयाका त्यागकर तीव्र संक्लेश परिणामी होकर अन्य प्राणीको बांधना, तोडना, पीटना प्राण लेना, खानेके और पीनेके पदार्थोंसे वंचित रखना ऐसे ही कार्य हमेशा करता है, ऐसे कार्यमें ही अपनेको सुखी मानकर जो नीच पुरुष ऐसे ही कार्य हमेशा करता है, ऐसे कार्य करते समय जिसके मनमें पश्चात्ताप होता नहीं उसको निरंतर असतावेदनीय कर्मका बंध होता है जिससे उसका देह हमेशा रोगपीडित ही रहता है, तब उसकी बुद्धि व क्रियाए नष्ट होती है वह पुरुष अपने हितका उद्योग कुछ भी नहीं कर सकता है।

इस विषयमें ग्रंथांतरमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं—

वह प्राणी यद्यपि जीता है तो भी रोगरूपी महावज्रसे उसको सदा भयभीत प्राप्ति होती है, जैसे आस्मा-  
शसे अरुस्मात् वज्रपात होता है वैसे अरुस्मात् रोग आकर मनुष्यको पकड़ता है जिससे उसका देह नष्ट होजाता है।

जवतरु देह रोगसे पीडित हुआ नहीं तबतक ही देहमें सामर्थ्य, आयुष्य, सौंदर्य रहते हैं, जवतरु हवा-  
का धक्का फलकी नहीं लगता है तबतक वह डंटलसे संलग्न रहता है वैसेही देहमें रोगका अड्डा जम जानेपर  
उसके रूपादिक सम गुण वहासे प्रयाण करते हैं जैसा अग्नि जब घरको चारो ओरसे लगनेपर समर्थ पुरुष भी उस-  
मेंसे अपनी अमूल्य वस्तुओंका रक्षण नहीं कर सकता है वैसे रोगसे देह पीडित होनेपर अपना हित सुखमें करनेमें  
यह जीव असमर्थ होता है

जो प्राणी हमेशा परजीवोंका घात करके उनके प्रियजीवित का नाश करता है वह प्रायः अल्पायुषी ही  
होता है। आयुष्यका नाश होनेके बहुत निमित्त हैं—

पानी, अग्नि, वायु, सर्प, विच्छु, रोग, श्वासोच्छ्वास का रुक जाना, आहार न मिलना, और वेदना  
इत्यादिकोंसे आयुका क्षय होता है, इसवास्ते मनुष्यजन्म प्राप्त होनेपर भी दीर्घायुष्य की प्राप्ति होना सुलभ  
नहीं है,

यद्यपि आयु शुन्द सामान्यका वाचक है तथापि यहां दीर्घायुष्यका वाचक माना है अन्यथा आयुष्य मात्र तो संसारी जीवोंको सुलभ है ही.

देश, कुल, जाति, नीरोगता वगैरह की प्राप्ति होनेपर भी बुद्धिका लाम होना बड़ा कठिण है. बुद्धिका अर्थ यहांपर परलोक की प्राप्ति करा देनेवाली बुद्धि ऐसा है. अर्थात् परलोकमें इस आत्माकी हित करनेवाली बुद्धि दुर्लभ है. सामान्य ज्ञान प्राप्त होना कुछ कठिन नहीं है. जैसे मेघपटलसे आच्छादित होनेपर सूर्यका प्रकाश भूतलपर नहीं आता है. वैसे ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे आत्माकी ज्ञानशक्ति आच्छादित होती है. मिथ्यात्व कर्मका उदय होनेसे ज्ञानमें विपरीतपना होता है. अर्थात् पदार्थका सच्चा स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है. उसका विपरीत स्वरूप समझ लेता है.

आत्मा नामक कोई पदार्थ ही नहीं है. अतः वह शुभाशुभ कर्मका कर्ता है ऐसा मानना निर्मूल है शुभाशुभ कर्मसे सुख और दुःखरूपी फल उत्पन्न होता है. और यह आत्मा उसका अनुभव लेनेमें लीन होता है. यह कहना या मानना निःसार है. आत्मा पाप या पुण्य कर्मके वश होकर परलोककी प्राप्ति कर लेता है यह वचन भी मिथ्या है. इस विषयमें अन्यत्र ऐसा कहा है—परलोक नहीं है. आत्मा और पाप पुण्य नहीं है. धर्म और अधर्म नामकी चीज भी नहीं है. क्या किसीने स्वर्ग देखा है ? अथवा भयंकर दुःख देनेवाले नारकियोंके निवासस्थल भी देखे हैं ? कर्म बंध, और मोक्ष क्या चीज है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है. वध और मोक्ष न होने से तपश्चरणादिक करना व्यर्थ है. प्राप्त हुए सुंदर स्त्री वगैरह पुरुषोंका यथेच्छ सेवन करना चाहिए क्योंकि प्रत्यक्ष को छोड़कर अप्रत्यक्ष चीजोंकी अभिलाषा करना बुद्धिमानका कर्तव्य नहीं है.

इस विषयमें कोई विद्वान ऐसा कहते हैं—सोलह वर्ष की स्त्री और बीस वर्षका जवान पुरुष इनका हाव भावपूर्वक कटाक्षपात, हास्यमिश्रित भाषण और रतिक्रीडा यही स्वर्ग है इससे ओर स्वर्ग नामकी चीज ही नहीं है

यह स्त्री मकरध्वजकी जयपताका है, इससे संपूर्ण पदार्थोंकी संपत्ति प्राप्त होती है. स्वर्ग और मोक्षकी इच्छासे जो दुर्बुद्धि लोक इस स्त्रीका त्याग कर वनमें प्रयाण करते हैं वे स्त्रीका त्याग करनेके अपराधसे दंडित कर दिये जाते हैं कितनोंका मुडन किया जाता है कोइयोंको रक्तवस्त्र पहराया जाता है, कोइ जटायुक्त और कोइ

कापालिक किये जाते हैं. अर्थात् हाथ में कपालपात्र लेकर मिश्रार्थ भ्रमण करने लगते हैं. अर्थात् स्त्रीका त्याग कर जो वनमें जाते हैं उनकी ऐसी बुद्धि होती है. और जो उसकी आज्ञा शिरोधार्य समझकर प्रवृत्ति रखते हैं उनको यहां ही स्वर्ग और मोक्षका मुख मिलता है.

और भी इस विषयमें कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं—

पानीका बबूला जैसा धनके बाद पूर्ण नष्ट होता है. जीप भी देहका नाश होनेपर विनष्ट होते हैं. परलोकको प्रयाण करनेवाला आत्माही नहीं है तो परलोककी सिद्धि कैसी होगी ? अर्थात् जीवनात्मक पदार्थ नहीं है. इस लिये परलोकका भी अभाव है. ऐसे और इसके सदृश और भी विचार बुद्धीमें दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होजाते हैं. जीवोंमें बुद्धि तो होती है. परंतु उसने कुमार्गका आश्रय लिया है. जीवोंको यथार्थ रत्नत्रयमार्ग दिखलाने वाले सद्गुरुओंका संसर्ग मिलना बड़ा ही कठिण हो रहा है.

यतिजन अर्थात् सद्गुरु यथार्थ ज्ञानरूपी नेत्रके धारक हैं. संपूर्ण प्राणिओंमें वे दया करते हैं वे लाम की, सत्कारपुरस्कार की अपेक्षा नहीं करते हैं. चतुर्गतिओंमें संसारीजन हजारों यातनायें भोग रहे हैं यह देखकर उनके अंतःकरणसे दयाका प्रवाह बहता है. “अहो ये अज्ञजन मिथ्यादर्शनादि अशुभ परिणामोंसे अशुभ-गतिको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका बंध कर रहे हैं इन कर्मोंसे छूटनेका उपाय ये लोक जानते नहीं हैं. इससे ही ये दीन प्राणी अपार दुःखरूपी समुद्रमें प्रवेश कर दुःख भोग रहे हैं” ऐसा विचार सद्गुरु मनमें करते हैं. ऐसे सद्गुरुका संसर्ग होना दुर्लभ है.

दर्शनमोहनीय कर्म और ज्ञानावरणीय कर्मका उदय होनेसे लोक शक्तिके गुणोंको जानते नहीं और उनके ऊपर श्रद्धा न भी करते नहीं. इसी लिये उनके पास वे जाते नहीं जबतक सद्गुणोंका स्वरूप नहीं जाना जाता है तबतक उसका स्वीकार करनेकी प्रवृत्ति लोकोंमें नहीं दीखती है. चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे प्राणीकी हिंसा लोक स्वयं करते हैं. करवाते हैं और अनुमोदन देते हैं. हिंसादिक कार्योंको करनेवाले लोकोंमें प्रीति रखते हैं. जो हिंसादि अकार्योंको नहीं करने देते हैं उनमें लोक भ्रम करते नहीं. जब मनमें अहिंसादिक गुणयुक्तोंपर प्रेमही नहीं तो उनमें संसर्ग और उनकी सेवा कैसी होगी ?



यह साधुसेवा संसारका नाश करती है, क्रोधादि अशुभपरिणामोंका उपशम करके ज्ञानको बढ़ाती है साधुसेवासे पुण्य और यश बढ़ते हैं.

सत्पुरुषोंका एक बार दर्शन भी हुआ तो वह भी संसारका नाश करनेमें कारण होता है. तो उनकी सेवा करनेकी योग्यता मिलनेपर यदि हमने उनकी सेवा की तो उससे हमारे संसारका नाश होनेमें क्या देर लगेगी ?

यदि सज्जनोंकी सेवा हम नहीं करेंगे तो हमको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होगी. ज्ञानके बिना हमको हित करनेवाले देवपूजा, स्वाध्याय वगैरह कर्मोंका स्वरूप ज्ञात नहीं होता है. अतः मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं.

साधुओंकी उपासना करनेसे यदि परम्परासे भी मोक्षकी प्राप्ति होती है तो साधुओंकी सेवा करनेवाले मनुष्योंकी क्या हानि और श्रम होगा ? अर्थात् मोक्षप्राप्ति के समान जगतमें दूसरा अनुपम लाभ है ही नहीं अतः मनुष्यने साधुओंकी सेवा श्रमकी परवा न कर करनी चाहिए.

मोक्षप्राप्तिके इच्छुक विद्वान लोग अवश्य साधूका आश्रय करें क्योंकि साधु पुरुष आश्रितजनोको आनन्दसे अक्षय मोक्ष अर्पण करते हैं.

अभिमान और मोह दूरकर इह पर लोकमें हितको चाहनेवाले मनुष्य सतत सत्पुरुषकी विनयसे सेवा करें. क्योंकि, जगतमें सत्पुरुष तपरूपी वैभवसे युक्त होते हैं. अर्थात् महत्तपस्वी जनोकी सेवा अवश्य करनी चाहिए. दैवयोगसे मुनि सहवास प्राप्त भी हुआ परन्तु उनसे हमने हितका उपदेश नहीं सुना तो उनके सहवास का फायदा हमने नहीं लिया ऐसा ही समझना चाहिए. यदि हमने वेतमें बीज नहीं बोया और घृष्टि हुई तो उस घृष्टि से कुछ फायदा नहीं है वैसे सत्पुरुषका उपदेश हमने सुना नहीं तो उनका सहवास व्यर्थ ही हुआ ऐसा समझना चाहिए. यतीश्वरके समीप जाकर हम यदि उनका हितोपदेश सुनेंगे तो यतिसमागम सफल हुआ ऐसा समझना चाहिए. इसलिए हितोपदेश सुनना दुर्लभ है ऐसा आचार्य कहते हैं

सत्पुरुषोंका उपदेश सुननेके लिए जाकर भी कोई वहां सोते हैं. अथवा अपने पास बैठे हुए मनुष्यके साथ वार्तालाप करते हैं अथवा उनका वचन सुनते हैं सत्पुरुषके उपदेशके तरफ उनका लक्ष्य नहीं जाता. प्रगट किये धर्मके महात्म्यपर मोहनीय कर्मके उदयसे उनकी अरुचि हो जाती है.

अथवा मति मंद होनेसे उनके उपदेशका रहस्य नहीं जाननेसे उनमें उसका प्रेम उत्पन्न नहीं होता है प्रेमके बिना जनमें सुननेकी उत्कण्ठा नहीं होती है.

इस विषयमें आचार्य ऐसा कहते हैं—

मोक्षप्राप्तिके उपायका अर्थात् रत्नत्रयका उपदेश देनेवाले आचार्य के वसतिकामें जाकर भी जो प्रमादसे अन्य लोगोंकी बातें सुननेमें अपने चित्तको एकाग्र करता है वह मूल मनुष्य सरोवरके पास जाकर भी कीचड़में फंसे हुए मनुष्य के समान समझना चाहिये.

यद्यपि सत्पुरुषके वचन सुनने पर भी उमका अभिप्राय ध्यानमें रखना दुर्लभ है. क्योंकि जीवादि वस्तुओंका स्वरूप सूक्ष्म होनेसे और वह पूर्वकालमें कभी सुननेमें नहीं आनेसे उसका अभिप्राय मनमें समझना कठिन है यद्यपि ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम विशेष होनेसे बुद्धि जीवादिकोंका स्वरूप जानेंगी, धर्मका स्वरूप जानेंगी तथापि जाने हुए जीवादिके स्वरूपमें और धर्मस्वरूपमें श्रद्धा उत्पन्न होना दुर्लभ है

यह श्रीजिनेश्वरका धर्म आर्हसात्मक है यह सत्यके आधार पर है अर्थात् सत्यपना इसकी नींव है. परधन हरण न करना यह इसका स्वरूप है. नउ प्रकारसे ब्रह्मचर्य द्वारा इसका संरक्षण किया जाता है. संपूर्ण परिग्रहोंपरसे ममतव दूर करना यह इसका ध्येय है. विनय इसका मूल है. इस धर्मके आचरणसे मनुष्यको सम्पूज्यमानकी प्राप्ति होती है. क्षमा, मृदुपना अर्थात् अभिमानका त्याग, निष्कपटपना, संतोष इत्यादि गुण इस धर्मके अलंकार हैं. यह नरकका मार्ग बंद करनेके लिये वज्रागला के समान है. पशुगतिरूपीवेलीको काटनेके लिये यह जिनधर्म कुल्हाड़ीके समान है. दुःखरूपी पर्वतके शिखरोंको विध्वस्त करनेके लिये यह धर्म कठोर वज्रके समान है. मोहरूपी महाबुद्धको सशूल उपाड़नेके लिये यह धर्म जोरदार हवाके समान है. वृद्धावस्थारूप वनकी अग्नीकी ज्वालामें बुझानेके लिये यह वर्षाकालीन वृष्टि करनेवाला मेघ है. मरणरूप हरिणका घात करनेके लिये यह धर्म बाघके तुल्य है. भयंकर रोगसर्पोंको यह गरुडके समान है. संपत्तिरूपी गंगानदीकी उत्पत्तिके लिये यह धर्म हिमपर्वत है अगाध शोकरूपी कीचड़को यह सेतु है. यह जैनधर्म सादृश्यका पिता है. ऐश्वर्यरूप रत्नोंकी यह खान है कुयोनिवनमें भ्रमण करनेवाले प्राणिओंको यह धर्म भुक्तिनगरको लेजानेवाला है. ऐसे जिनधर्मके ऊपर श्रद्धा होना अतिशय दुर्लभ है

दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे लोक इससे ग्रंथ मोड़ते हैं, दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम जब होता है तब इस परमहितकारक धर्मपर प्राणी श्रद्धा करने लगते हैं, श्रद्धा न करनेपर भी संयम-चारित्र्यकी प्राप्ति होना अधिकही कठिन है क्योंकि प्रत्याख्यानवरणी कर्म जीवको चारित्र्यपालन करनेमें प्रतिबंध करता है, इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

मनुष्यको सत्यधर्मका स्वरूप बड़े कष्टसे मालुम होता है, ज्ञान होनेपर धर्ममें प्रवृत्ति करना उससे भी अधिक कठिन है जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप जिसने जाना है ऐसे मनुष्यको धर्मका स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना चाहिये और इस धर्मका आचरण करते समय प्रमादको छोड़ देना चाहिये एक क्षणपर्यंत भी उसका आश्रय नहीं करना चाहिये

पापकार्य करनेकी अपेक्षा धर्माचरण करना अधिक सुलभ है, परंतु एक क्षणपर्यंत भी धर्माचरण करना मनुष्यको कठिनसा दीखता है,

इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, पापकर्मके तीव्र उदयसे मनुष्य मूढ़ होते हैं, एक तुच्छ कवचीकी भी महत्त्वकी चीज समझकर यह मूढ़ मानव उसकी प्राप्तिके लिये महान्परिश्रम करता हुआ देखा जाता है,

परंतु तत्त्वज्ञ मनुष्य देव और मनुष्यका ऐश्वर्य देनेमें समर्थ मोक्षका मूल ऐसे सद्धर्म में अपना हृदय स्थिर करता है,

मूढ़ मनुष्य अहित कार्यमें ही प्रयत्न करता है, और परमहितकर धर्ममें हमेशा आलसी रहता है, यह योग्यही है, यदि मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति न करेगा तो उसका संसारमें अमण कैसा होगा?

संयमकी—सुनिधर्मकी भी जो कि परंपरा दुर्लभ है प्राप्ति हुई तो भी अल्पज्ञ गुरुके समीप सल्लेखना धारण करनेवाले सुनिको संसारसे भय उत्पन्न करनेवाला धर्मोपदेश मिलना कठिन है, इस लिये बहुश्रुतज्ञ आचार्यका आश्रय करना ही योग्य है, ऐसा इतना विवेचन करनेका अभिप्राय है,

अल्पज्ञ आचार्यसे क्षपकको उत्तम—भवोद्धारक धर्मोपदेश नहीं मिलनेसे मरणकालमें वह संयमसे अष्ट होता है—तान्पर्य यह है कि दीर्घ कालतक प्राणिसंयम और इंद्रियसंयमका पालन क्षपकने किया था परंतु मरण समयमें उससे वह अष्ट होनेसे वह चारित्र्यधानासे रहित हो जाता है, संयमसे अष्ट वह क्यों होता है इस प्रश्नका

मरनेकी अवस्थामें वह दीन पुरुष अपना मुख उधाड़कर, नेत्रोंकी टकटकी लगाता हुआ, रोनेसे जिसके नेत्रोंपर स्रजन और लालपना आगया है ऐसा होता हुआ अपनी प्राणप्यारीको छोड़कर चल बसता है।

स्फटिकमणिओंकी माला जैसा समीपके पदार्थका गुण ग्रहण करती है वैसे स्त्रियोंके शरीर समीपस्थ व्यक्तिके गुणोंका ग्रहण करता है। संव्याकालीन मेघोंकी पक्ति लालरंगमे मनोहर दीखती है परन्तु उनका यह रंग शीघ्र ही नष्ट होता है वैसे स्त्रियोंका प्रेम उत्पन्न होकर शीघ्रही विलयको प्राप्त होता है अर्थात् आज एक पुरुष पर उनका स्नेह जम जाता है तो कल वे दूसरोंपर प्रेम करोगी स्त्रीकी प्राप्ति होना भी दुर्लभ होता है। स्त्री, वस्त्र, गंध, माला वगैरह पदार्थ मिलनेपर समर्थ लोक जन-रदस्ती से हर लेते हैं इससे मन भय युक्त होता है, अर्थात् ये पदार्थ मेरे को प्राप्त हुए हैं परन्तु कोई इसको ले तो नहीं जायगा ऐसा भय मनमें उत्पन्न होता है। ऐसा भय होनेसे ये पदार्थ आत्माको सुखदायक होते नहीं इनकी प्राप्ति के लिए खेती वगैरह छह कर्म करने पड़ते हैं। इन परद्रुमोंसे संपत्तिरूपी फल प्राप्त होगा ही ऐसा नियम नहीं है और इनमें परिश्रम बहुत करना पड़ता है, इनमें हिंसादिक पापक्रिया करनी पड़ती है और ये कर्म अन्तमें दुर्गति की प्राप्ति में कारण होते हैं ऐसा उपदेश देकर बहुश्रुतज्ञ आचार्य क्षपकको भोगोंसे विरक्त करते हैं।

शरीरका भी वास्तविक स्वरूप दिखाकर आचार्य विरक्त करते हैं—

यह शरीर अपवित्रताका निधान है अर्थात् इसके संपूर्ण अवयव अपवित्र पदार्थ मे ही बने हैं, यह शरीर आत्माके ऊपर लदा हुआ मानो बोझाही है, इसमें एक भी पदार्थ सारयुक्त नहीं है यह अनेक संकटोंमे घिरा रहता है, रोगरूपी धान्यकी उत्पत्तिका यह स्थान है अर्थात् इसमें अनेक रोग उत्पन्न होते हैं वृद्धावस्थाक्षी पिशाचिनीका यह इमशानशुद्ध है, मान्यकुलमें पैदा हुआ, विशालकीर्तियुक्त, और गुणी ऐसा भी मनुष्य दखिदी होनेपर इस शरीरका पोषण करनेके लिये नीच कर्मक'ता है, श्रीमानोंके आगे दौडता है, उनके संदेश एक स्थानमे दूसरोंको पोहोचाता है, और उनका उच्छिष्ट भोजन खाता है, इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

इस शरीरके अंदर, बाहर और मध्यमें भी कुछ भी सारभूत वस्तु नहीं है, जिसको मन स्वीकार करेगा अर्थात् जब हम देहके स्वरूपका मनसे विचार करते हैं तो उसमें कोई सारभूत पदार्थ दीखता नहीं इसवास्ते सारज्ञ विद्वान् तुच्छजनोंने कामपूर्तिके लिये पसंद किये हुए इस देह की इच्छा नहीं करते हैं।

दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे लोक इससे मुंह मोड़ते हैं। दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम जब होता है तब इस परमहितकारक धर्मपर प्राणी श्रद्धा करने लगते हैं। श्रद्धा न करनेपर भी संयम-चारित्र्यकी प्राप्ति होना अधिकही कठिन है क्योंकि प्रत्याख्यानारणी कर्म जीवकी चारित्र्यपालन करनेमें प्रतिबन्ध करता है। इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

मनुष्यको सत्यधर्मका स्वरूप बड़े कष्टसे मालुम होता है। ज्ञान होनेपर धर्ममें प्रवृत्ति करना उससे भी अधिक कठिन है जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप जिसने जाना है ऐसे मनुष्यको धर्मका स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना चाहिये और इस धर्मका आचरण करते समय प्रमादको छोड़ देना चाहिये एक क्षणपर्यंत भी उसका आश्रय नहीं करना चाहिये

पापकार्य करनेकी अपेक्षा धर्माचरण करना अधिक सुलभ है, परंतु एक क्षणपर्यंत भी धर्माचरण करना मनुष्यको कठिनसा दीखता है।

इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पापकर्मके तीव्र उदयसे मनुष्य मूढ़ होते हैं, एक तुच्छ कचड़ीको भी महत्वकी चीज समझकर यह मूढ़ मानव उसकी प्राप्तिके लिये महान्परिश्रम करता हुआ देखा जाता है। परंतु तत्त्वज्ञ मनुष्य देव और मनुष्यका ऐश्वर्य देनेमें समर्थ मोक्षका मूल ऐसे सद्धर्म में अपना हृदय स्थिर करता है।

मूढ़ मनुष्य अहित कार्यमें ही प्रयत्न करता है। और परमहितकर धर्ममें हमेशा आलसी रहता है। यह योग्यही है। यदि मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति न करेगा तो उसका संसारमें भ्रमण कैसा होगा?

संयमकी—धृतिधर्मकी भी जो कि परंपरा दुर्लभ है प्राप्ति हुई तो भी अल्पज्ञ गुरुके समीप सहेखना धारण करनेवाले मुनिको संसारसे भय उत्पन्न करनेवाला धर्मोपदेश मिलना कठिन है, इस लिये बहुश्रुतज्ञ आचार्यका आश्रय करना ही योग्य है। ऐसा इतना विवचन करनेका अभिप्राय है।

अल्पज्ञ आचार्यसे श्रवणको उत्तम—भवोद्धारक धर्मोपदेश नहीं मिलनेसे भ्रमणकालमें वह संयमसे भ्रष्ट होता है। तात्पर्य यह है कि दीर्घ कालतक प्राणिसंयम और इंद्रियसंयमका पालन श्रवणके किया था परंतु भ्रमण समयमें उससे वह भ्रष्ट होनेसे वह चारित्र्याराधनासे रहित हो जाता है। संयमसे भ्रष्ट वह क्यों होता है इस प्रश्नका

उत्तर यह है—मनोज्ञ और अमनोज्ञ पदार्थ सर्वत्र और हमेशा रहते हैं और अन्तरंग कारण जो कर्म उसका उदय होनेसे दुर्निवार राग, द्वेष, और मोहकी उत्पत्ति होती है, जिससे वह चारित्र का त्याग कर बैठता है.

जैसे चांसके समुदायमेंसे छोटा चांस कुल्हाडीसे काट सकते हैं परन्तु वह उखाड़कर निकालना अति-शय कठिन है, वैसे संयमीका मन जब विषयोंमें आसक्त होता है तो उसमें उसको निकालना दुःसाध्य होता है अर्थात् मनमें उत्पन्न हुए राग द्वेष नष्ट करना कठिन कार्य है. इस विवेचनका यह अभिप्राय है—रागद्वयोंका पराजय करने की क्षपकने प्रतिज्ञा की थी तथापि शरीरसंछेदना करनेपर जब वह भूक व्यास चौरह परीपहसे पीडित होता है और उसको सहन करनेका सामर्थ्य कम होता है तब श्रुतज्ञानके प्रति मनकी एकाग्रता नष्ट होती है. श्रुतज्ञानमें एकाग्रता न होने से राग द्वेष उत्पन्न होते हैं और वह क्षपक चारित्राराधनासे न्युत होता है.

ऐसे समयमें यदि बहुश्रुत आचार्यका संगम प्राप्त होगा तो वे रागद्वयोंकी उत्पत्ति न होगी ऐसा उपदेश देते हैं. शरीर और भोगोंमें वैराग्य उत्पन्न होगा ऐसी कथायें उसको कहते हैं और चारित्राराधनामें उसको स्थिर करते हैं.

भोग और शरीर में वैराग्य उत्पन्न करनेवाली कथा अर्थात् उपदेश इस प्रकार है—

नरकमें नारकियोंको दुःखही दुःख है. सुखका लेश भी वहां नहीं है. तिर्यच प्राणी, देव और मनुष्य इनको किसी प्रदेशमें किसी कालमें और किसी प्रकारसे थोडासा सुख मिलता है

नाना कुयोनियों भ्रमण करनेवाले इस जीवने जो अपरिमित दुःख प्राप्त किया है वह इतना अधिक है कि आजतक अनेक शरीर धारण कर इसने जितना सुख प्राप्त किया है उससे वह अनंत गुणित है अर्थात् जितना सुख इस जीवने आजतक भोगा है वह भोगे हुए दुःखका अनंतवा भाग भी होना कठिन है,

इस जन्मसागरमें यह एक जीव सुखेक एक भागको कितने दिन भोगेगा. जैसे वनमें अतिशय भयाकुल हरिण दुःखोंसे व्याप्त होनेसे सुखका अति अल्पकाल में ही थोडासा अनुभव लेता है

जो सुख अन्तर्भवमें भ्रमण कर यह प्राणी प्राप्त करता है उसका एक भवमें यह प्राणी कितना हिस्सा प्राप्त कर लेगा यह विचारणीय है. जैसे मेघोंका पानी लवणसमुद्रके पानीसे मिलकर खारा बन जाता है वैसे इस जीवका अत्यल्प सुख दुःखराशीमें मिलकर दुःखरूप ही होजाता है.

इसी संसारमें जिसको लोक सुख यह नाम देते हैं, वास्तविक वह सुख है ही नहीं, वह केवल पूर्वकाल में उत्पन्न हुए दुःखोंको दूर करनेका इलाज मात्र है, प्रथमतः जो दुःख उत्पन्न होता है उसके इलाजको ही सुख कहते हैं, यदि प्रथम दुःख नहीं हुआ तो सुख की कल्पना भी उत्पन्न नहीं होगी, तृष्णाका शमन करनेकेलिये मनुष्य पानी पीता है, और भूख की वेदना नष्ट करनेकेलिये भोजन करता है,

जल, हवा और सूर्यसंतापका निवारण करनेके लिये लोक घरका, गुह्यका आच्छादन करनेके लिये चूल्हाका, और निद्राका श्रम दूर करनेकेलिये शय्याका आश्रय करते हुए देखे जाते हैं, और श्रमसे उत्पन्न हुए स्वेदको हटानेका

जलस्नान करना यह उपाय है, अथवा एकस्थान में स्वस्थ बैठना यह श्रम दूर करनेका उपाय है, दुर्गंधका नाश करनेके लिये सुगंधि पदार्थोंका सेवन करना यह उपाय माना जाता है शरीरकी कुरूपता दूर करने के लिये अलंकारोंको धारण करना यह उपाय है, अरतियोंको हटानेकेलिये कलाओंका अभ्यास करना यह सर्व प्रतिकाररूप होनेसे इसको ही लोक सुख समझते हैं, जैसे रोगसे पीडित मनुष्य रोगजन्य दुःखका प्रतिकार करनेकेलिये औषध ग्रहण करता है, देवोंके और मनुष्योंके भोग जिनको वे सुख रूप समझते हैं वे सब दुःखका प्रतिकार करनेमें केवल निमित्तमात्र ही हैं, पित्तप्रकोपसे जिसके सर्व अंगमें दाह हो रहा है वह मनुष्य शीतपदार्थोंका सेवन करता है, उनको यदि वह अज्ञानी भोग यह नाम देगा तो वह अनादिक पदार्थोंको भी भोग नाम देगा

इस जगत्में पानी वगैरह पदार्थ सर्वथा सुख ही देते हैं ऐसी कल्पना करना भी भूलसे खाली नहीं है, इसलिये वे पदार्थ दुःखका प्रतीकार करनेवाले हैं इतना ही समझना चाहिये, उसमें भोगसंज्ञा करना योग्य नहीं है, जो अब भूखसे पीडित मनुष्यको सुखका कारण होता है वहीं तृप्तमनुष्य को विषसमान हो जाता है, उष्णतासे पीडित हुआ मनुष्य जिन चीजोंको चाहता है वे चीजें शीतकालमें दुःखदायक होती हैं, इस जीवको चक्रवर्ती के सुखसे वृत्ति नहीं होती है चक्रवर्ती अपने चक्ररत्नके प्रभावसे देव मनुष्य और विद्याधरोंको जितते हैं, उनके पास क्षयरहित नष्ट निधि रहते हैं, वे चौदह रत्नोंके स्वामी होकर दस प्रकार के भोगोंका अनुभव लेते हैं तो भी उनसे उनका मन तृप्त होता नहीं,

देव भी देवांगनाओंसे प्राप्त होनेवाले विषयसुखसे तृप्त होते नहीं हैं देवोंका आशुष्य अनेक सागरोंका

रहता है, वे आमरण तरुण ही होते हैं, वे हमेशा देवांगनारूपी लतासमूहसे घिरे रहते हैं तो भी उनको इनसे उत्पन्न होनेवाले सुखसे तृप्त होती नहीं।

देवांगनारूपी लतावनकी आचार्य इस प्रकार निरूपणा करते हैं—

स्वाभाविक अर्थात् जन्मसे ही साथ उत्पन्न हुये ऐसे दिव्य अलंकार, पुष्पमाला, दिव्यवस्त्र, दिव्य ऐश्वर्य एतद्वय स्कंधसे यह देवीलतावन सुंदर दीखता है, मन और नेत्रोंसे आल्हाद देनेवाले सौंदर्यपुष्पोंसे यह देवी-लतावन पुष्पित है।

इन लताओंको विलास रूपी मनोहरता आती है, सुकुमारतारूपी नवीन कोमल अंकुर इनकी शोभा बढ़ाते हैं ये लतायें अपने शरीरके सुगंधसे दिगंगनाओंका मुख सुगंधित करती हैं, इनका अधरोष्ठपल्लव मुंगोंके समान मनको लुब्ध बनाता है, ये लतायें कठिन, उन्नत अर्थात् पुष्ट और गोल ऐसे स्तनरूपी फलोंसे कर्मापी दीखती हैं मदनरूप दक्षिण चायुके झकोरोंसे ये डुलती हैं, सुंदर बाहुरूपी सुंदर शाखाओंसे मनोहर दीखती हैं चमकीले सुवर्ण के कमरपट्टरूपी तटसे युक्त, कामजलसे भरा हुआ, ऐसे विशाल जघन रूपी सरोवरसे ये सोहती हैं, शब्द करनेवाले नूपुररूपी अमरोंसे कलकल शब्द करने वाली ऐसी देवांगनारूप लताओंसे घिरे होते हुए भी देव तृप्त नहीं होते हैं, और भी अनेक भोग्य पदार्थोंसे उनका मन तृप्त होता नहीं, यदि देवोंके मन इतनी सुखसामग्री मिलनेपर भी अतृप्त ही रहता है, तो मनुष्यका मन कैसा तृप्त होगा।

तीव्रतर पुरुषवेदका जब उदय होता है तब वह अग्नीके समान मनुष्यके मनको जलाता है ऐसे समय स्त्रीसंभोगरूपी औषधसे भी उस मनकी जलन शांत नहीं होती है, स्त्रीसंभोगसे कामाग्नि अधिक ही प्रदीप्त होती है, रूप, तारुण्य, विलास, चतुरता, सौभाग्यादिकसे एकसे दूसरी अधिक, दूसरीसे तीसरी अधिक ऐसी उत्तरोत्तर अधिक २ सुंदरी स्त्रियां नजरमें आ जानेसे उनके संगमकी मनमें अभिलाषा घटती है जिससे कामवेदना पुरुषको अधिक व्याकुल करती है।

कोई स्त्रिया अपने पतिका त्याग करती हैं, अथवा मर जाती हैं अथवा वलवान पुरुष उनको हर कर ले जाते हैं, अथवा स्वयं यमके पाससे जकड़ा हुआ इच्छा न होते हुए भी स्त्रीको छोड़कर यममंदिरको जाता हैं।



मरनेकी अवस्थामें वह दीन पुरुष अपना मुख उधाड़कर, नेत्रोंकी टकटकी लगाता हुआ, रोनेमें जिनके नेत्रोंपर खून और लालपना आगया है ऐसा होता हुआ अपनी प्राणधारीको ओढ़कर चले वमना है।

स्फटिकमणिओंकी माला जैसा समीपके पदार्थका गुण ग्रहण करती है ऐसे जिवोंके शरीर समीपस्थ व्यक्तिके गुणोंका ग्रहण करता है। मध्याकालीन सेजोंकी पक्ति लालरंगमें मनोहर दीखती है परन्तु उनका यह रंग शीघ्र ही नष्ट होता है। जैसे जिवोंका प्रेम उत्पन्न होकर शीघ्रही विलयको प्राप्त होता है अर्थात् आज एक पुरुष पर उनका स्नेह जम जाता है तो कल वे दूसरोंपर प्रेम करेगी स्त्रीकी प्राप्ति होना भी दुर्लभ होता है। स्त्री, बन्ध, गन्ध, माला वगैरह पदार्थ मिलनेपर समय लोकर जन्म-मरणसे हर लेते हैं इससे मन भय युक्त होता है, अर्थात् ये पदार्थ मेरे को प्राप्त हुए हैं परन्तु कोई इयको ले तो नहीं जायगा ऐसा भय मनमें उत्पन्न होता है। ऐसा भय होनेमें ये पदार्थ आत्माको मुखदायक होते नहीं इनकी प्राप्ति के लिए खेती वगैरह छह क्रम करने पड़ते हैं। इन परक्रमोंमें मपत्तिरूपी फल प्राप्त होगा ही ऐसा नियम नहीं है और इनमें परिश्रम बहुत करना पड़ता है, इनमें हिंसादिक पापकिया करनी पड़ती है और ये कर्म अन्तमें दुर्गति की प्राप्ति में कारण होते हैं ऐसा उपदेश देकर बहुश्रुतज आचार्य क्षपकको भोगोंमें विरक्त करते हैं। शरीरका भी वास्तविक स्वरूप दिखाकर आचार्य विरक्त करते हैं—

यह शरीर अभवित्रताका निधान है अर्थात् इसके मपूर्ण अययन अववित्र पदार्थ में ही चने हैं, यह शरीर आत्माके ऊपर लदा हुआ मानो मोझाही है, इसमें एक भी पदार्थ सारयुक्त नहीं है यह अनेक मंरुतोंमें विरा रहता है, रोगरूपी घान्यकी उत्पत्तिका यह स्थान है अर्थात् इसमें अनेक रोग उत्पन्न होते हैं बुद्धावरथारूपी पिशाचिनीका यह श्मशानगृह है, मान्यकुलमें पैदा हुआ, पिशालकीतिपुक्त, और गुणी ऐसा भी मनुष्य दरिद्री होनेपर इस शरीरका पोषण करनेके लिये नीच कर्म करता है, श्रीमानोंके आगे दौडता है, उनके मंदेय एक स्थानमें दुमरोंका पोहोचाता है, और उनका उच्छिष्ट भोजन खाता है, इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

इस शरीरके अंदर, बाहर और मध्यमें भी कुछ भी सारभूत वस्तु नहीं है, जिसको मत स्वीकार करेगा अर्थात् जब हम देहके स्वरूपका मनसे विचार करते हैं तो हममें कोई सारभूत पदार्थ दीखता नहीं इसवास्ते सारज विद्वान् तुच्छजनोंने कामपूतिके लिये पमंद किये हुए इस देह की इच्छा नहीं करते हैं।

इस देहमें वायुका प्रकोप होनेसे कोढ़ रोग उत्पन्न होते हैं कोढ़ पित्त और कफके प्रकोपसे उत्पन्न होते हैं. रोगोंके उत्पत्तिका अभ्यन्तर कारण पाप है और बहिरंग कारण वातादिकोंका प्रकोप होना यह है. इन रोगोंसे यह देह पीडित होता है. दुःखोंको कारणभूत यह देह नाशवंत है ऐसा समझकर हे आत्मन् अर्थात् हे क्षपक ! तू अनेक प्रकारसे धर्मसाधन कर यह देह रक्त और वीर्यके संयोगसे उत्पन्न होता है. शिथिल दृष्टिओंसे— दृष्टिरूप संबंधोंसे इस देहकी रचना हुई है स्नायुओंसे यह सर्व तरफसे जकड़ा हुआ है. शिराओंसे वेष्टित है. मांस, रक्तरूपी पानी और कीचड़से यह लिपा गया है इस देहमें रोगोंने निवास किया है, ऐसे शरीरको कोन स्पर्श करेगा. इस तरह शरीरनिर्बलनी कथा कह कर आचार्य क्षपकको चारित्रमें स्थिर करते हैं.

गीदत्थपादमूले ह्येति गुणा एवमादिया बहुगा ॥

ण य होइ सकिलेसो ण चावि उप्पज्जदि विवत्ती ॥ ४४७ ॥

विजयोदया—गीदत्थपादमूले गृहीतार्थस्य बहुश्रुतस्य पादमूले । ह्येति बहुगा गुणा गीदत्थो पुण खवगस्स इत्येवमादिस्त्रयचकनिर्दिष्टः । ण य होइ सकिलेसो नैव भवति संक्षेपः । ण वा पि उप्पज्जदि विवत्ती न बोत्तयते विपदत्तत्रयस्य । तस्मादाधारवानाचार्यः उपाश्रयणीयः इत्युपसंहारः । इति आधारवं ॥

मूलारा—विवत्ती रत्नत्रयविनाशः । आधारवान् ॥

अर्थ—जो आचार्य सुवार्थज्ञ है उसके चरणके समोप जो क्षपक समाध्यास रहेगा उसको उपर्युक्त गुणोंकी प्राप्ति होती है. उसको संक्षेप परिणाम नहीं होगा और रत्नत्रयमें कुछ बाधा भी उपस्थित नहीं होगी इस लिये आधारगुणयुक्त आचार्यका आश्रय लेनाही क्षपकके लिये योग्य है. इस प्रकार आधारवत्त्व गुणका वर्णन हुआ

व्यवहारवत्त्वनिरूपणयोत्तरगाथा—

पंचविहं ववहारं जो जाणइ तच्चदो सवित्थारं ॥

बहुसो य दिट्ठकयपट्टवणो ववहारवं होइ ॥ ४४८ ॥

जानाति व्यवहारं यः पंचभेदं सविस्तरम् ॥

दत्तालोकितशुद्धिश्च व्यवहारी स भणयते ॥ ४४९ ॥

चिजयोधया—पंचविद्धं व्यवहारं पंचप्रकारं प्रायश्चित्तं । जो जाणदि तच्चदो सवित्थारं यो जानाति तत्त्वत्तं स विस्तरं । चहुसो य विट्ठकदण्डवणो चहुशश्व दण्डकृतप्रस्थापन । आचार्याणां प्रायश्चित्तदानं दण्ड, स्वयं चान्येषां दत्त-प्रायश्चित्तं । व्यवहारव होवि व्यवहारवान् भवति । पूर्वाद्धेन प्रायश्चित्तज्ञातता दर्शिता, कर्मदर्शनं कर्माभ्यासश्च प्रख्यापितः । अशास्त्रज्ञो यत्किंचिद्वाद्यात्मनोऽभिलषित । न तेन, शुद्धयति, शास्त्रज्ञोऽप्यदृष्टकर्म, सुविभावमेति । ततो ज्ञान कर्मदर्शनं, कर्माभ्यास इति त्रयो गुणा. यस्य स व्यवहारवानित्युच्यते ॥

व्यवहारवत्त्वं गाथासप्तकेन वक्तुकाम प्रथमं प्रायश्चित्तज्ञानकर्मदर्शनकर्माभ्यासलक्षणगुणत्रयवन्तं व्यवहार-वन्तं निर्दिशति—

मूलारा—व्यवहारं प्रायश्चित्तं । दिट्ठकदण्डवणो दण्डमाचार्यैः क्रियमाणमवधारितं । कृतमात्मना, स्वस्य परस्य वा प्रयुक्तं प्रस्थापनं प्रायश्चित्तदानं येन स दण्डकृतप्रस्थापनः । अशास्त्रज्ञो हि यत्किंचन प्रायश्चित्तं ददाति न च तेन परः शुद्धयति । शास्त्रज्ञोऽप्यदृष्टकर्मो कर्मसु विषादमेति ॥

अर्थ—पांच प्रकारके प्रायश्चित्तोंको जो उनके स्वरूपसहित सविस्तर जानते हैं, जिन्होंने प्रायश्चित्त देते, हुए अन्य आचार्योंको देखा है और स्वयं भी जिन्होंने दिया है ऐसे आचार्योंको व्यवहारवान् आचार्य कहते हैं इस गाथाके पूर्वार्द्धमें आचार्यकी प्रायश्चित्तज्ञता कही है और उत्तरार्द्धमें प्रायश्चित्त देते हुए देवना, प्रायश्चित्त देनेका अभ्यास करना इन गुणोंका उल्लेख किया है प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञान यदि न हो तो जो मनमें आया सो प्रायश्चित्त देगा अतः आचार्य प्रायश्चित्तज्ञ ही होना चाहिए. चाहे जो प्रायश्चित्त देनेसे अपराधकी शुद्धि नहीं होती है प्रायश्चित्तशास्त्रका जानकार होते हुए भी यदि प्रायश्चित्त देते हुए किसीको नहीं देखनेसे प्रायश्चित्त देते समय धबडाहट पैदा होती है. इसलिए, प्रायश्चित्तका ज्ञान, प्रायश्चित्तदानदर्शन और प्रायश्चित्त देने का अभ्यास ये तीन गुण जिसमें है ऐसे आचार्य को व्यवहारवान् आचार्य कहते हैं

क. पंचविधो व्यवहारः, को वा विस्तर इत्याशंकाया तदुभयं निरूपयति—

आगमसुद आणाधारणा य जीदेहिं हुति व्यवहारा ॥

एदोसिं सवित्थारा परूवणा सुत्तणिदिट्ठा ॥ ४४९ ॥

व्यवहारो मतो जीदश्रुतज्ञागमधारणा ॥

एतेषां सूत्रनिर्दिष्टा ज्ञेया विस्तरवर्णना ॥ ४६१ ॥

विययोद्या—आगमसुद आणाधारणा य जीवेहिं हुंति व्यवहारा आगमः, श्रुतं, आज्ञा, धारणा जीद इति व्यवहाराः पच । एतेसि एतेषा आगमादीना । परूवणा कीदशी ? सवित्थारा विस्तरसहिता । सुत्तणिदिष्टा सूत्रेषु चिंतनेषु निर्दिष्टा । प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामप्रतोऽकथनीयत्वाच्छास्त्रातरे च निर्विघ्नत्वादिव नोच्यते । उक्तं च—

सन्वेण वि जिणवयणं सोदब्बं सद्धिवेण पुरिसेण ॥

छेदसुदत्तस दु अत्थो ण होवि सन्वेण णादब्बो ॥ इति ॥

पंचविधत्वं न्याचष्टे—

मूला—आगम एकादशागोक्तं प्रायश्चित्तं । सुद चतुर्दशपूर्वोक्तं । आणा स्थानांतरस्थितेन अन्याचार्येण स्थानांतरस्थितेन अन्याचार्येणा लोचितस्य स्वगुरुदोषस्य ज्येष्ठशिष्यस्य हस्ते प्रेषितं । धारणा एकाकी जंघावलपरिहीणाः संजातदोषस्तत्रैव स्थितः पूर्वविधारितं प्रायश्चित्तं यत्करोति । जीदः द्वाप्तमतिपुरुषजातस्वरूपमपेक्ष्य यदुक्तं साप्रतिकाचार्यं शास्त्रोक्तं जीद इत्यन्ये । वित्थारा विस्तारात् । विस्तरमाश्रित्य । परूवणा निर्णयः । सुत्तणिदिष्टा सूत्रेषु चिन्तनेषु निरूपिता बोद्धव्या ।

अत्र तु नोक्ता प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामप्रतोऽकथनीयत्वात् ॥ उक्तं च—

सन्वेण वि जिणवयणं सोदब्बं सद्धिदण पुरिसेण ॥

छेदसुदत्तस दु अत्थो ण होवि सन्वेण सोदब्बो ॥

पांच प्रकारके व्यवहार कोनसे और उनका विस्तार कोनसा है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य कहते हैं—  
अर्थ—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीद ऐसे प्रायश्चित्त के पांच भेद हैं इनका सविस्तर वर्णन प्राचीन आचार्यों ने सूत्रग्रंथों में सविस्तर किया है प्रायश्चित्तका वर्णन सर्व लोगोंके सामने करना योग्य नहीं है। अन्य शास्त्रांतरमें इसका खुलासा किया है अतः यहां हम उसका निरूपण नहीं करते हैं,

अन्यत्र प्रायश्चित्त के विषयमें ऐसा उल्लेख मिलता है—

श्रद्धावानं सर्वं पुरुषं लिनवचनं सुनं सक्ते हैं. परन्तु प्रायश्चित्तशास्त्रका अर्थ सर्व लोगोंको जानने का अधिकार नहीं है.

न्याहारवान्तौ  
गाथाद्वयम्—

परालोचितापराधस्य कथं प्रायश्चित्तं ददातीत्याशंकायां प्रायश्चित्तदानक्रमनिरूपणाय

द्रव्यं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं ॥

संघदणं परियायं आगमपुरिसं च विण्णाय ॥ ४५० ॥

द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय कालं भावकृतोद्यमम् ॥

सम्यक्संहननमुत्साहं पर्यायं पुरुषं श्रुतम् ॥ ४६२ ॥

विजयोदया—द्रव्यं खेत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं द्रव्यमित्यादीना विज्ञायेत्यनेन संवधः । तत्र द्रव्यं त्रिविधं सचित्तमाचित्तं मिश्रमिति । पृथिवी, आपस्तेजो वायुः, प्रत्येककायः, अनंतकाया, त्रसाद्वेति सचित्तद्रव्यमित्युच्यते ॥ वृणफलकादिकं जीवैरनुस्मिञ्च अचित्तं । ससक्त उपकरण मिश्र ॥ एव त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना । वर्षासु क्रोशाद्विगमनं अर्धयोजनं वा । ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना ॥ अथवा प्रतिपिद्धक्षेत्रगमनं, विरुद्धराज्यगमनं, छिन्नाध्वगमनं, ततो रक्षणीया-गमनं । तस्यार्धौ यदातिजातः । उन्मार्गेण वा गमनं । अतः पुरप्रवेशः । अननुज्ञातगृहभूमिगमनं । इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवा ॥ आवश्यककालादन्यस्मिन्काले आवश्यककरणं । वर्षावग्रहतत्तिक्रमः । इत्यादिका कालप्रतिसेवना ॥ दर्पः, प्रमादः, अनाभोग-भयः, प्रवोपः इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिर्भावसेवा ॥ एवमपराधनिदानं ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं प्रकृतेर्द्रव्यादिकं ज्ञात्वा रसवहुलं, धान्यवहुलं, शाकवहुलं यवागूशाकमात्रं वा पानकमेव वेत्याहारे द्रव्यपरिज्ञानं ॥ प्रायश्चित्तमाचरत अनूपजागलसाधार-णक्षेत्रपरिज्ञानं । धर्मशीतसाधारणकालज्ञानं । क्षमामार्दवाजवसतोपकादिकं भावः । क्रोधादिकं वा करणपरिणामं । प्रायश्चित्तक्रियायाः परिणामं । सहवासाय । किमयः प्रायश्चित्ते प्रवृत्तः उत यशोर्थः, लाभार्थमुत कर्मनिर्जारायः इति ॥ उच्छाहः उत्साहः । संघदणं शरीरबलः । परियायं प्रवज्यकालं । आगमः । अल्प श्रुतमस्य बहु वेति । पुरिसं जातादरो भयात-रा इत्येवमादिकं विकल्पं च ज्ञात्वा ॥

प्रायश्चित्तदानक्रमं गाथाद्वयेनाह—

मूलरा—द्रव्यं सचित्तं पृथिवीकायिकादिकं । अचित्तं वृणफलकादिकं । मिश्रं संसक्तमुपकरणं । त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना ॥ खेत्तं वर्षासु साधूना क्रोशं द्विक्रोशं वा गमनं इष्टं । ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना । अथवा निपि-दक्षेत्रं विरुद्धराज्यछिद्रानुगमनं पुराननुज्ञातगृहभूमिद्रोण्यादिगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना । कालं आवश्यककालवर्षावग्रहा-द्यतिक्रमः कालप्रतिसेवा । भावः दर्पप्रमादानाभोगमयाधिका भावप्रतिसेवा । एवं द्रव्यप्रतिसेवनादिद्वारेणपराधनिदानं विज्ञायेति संबन्धः । करणपरिणामः । प्रायश्चित्तानुष्ठानपरिणतिः । किमयं सहसवासायं प्रायश्चित्ते प्रवृत्तं उत यशोऽर्थं किंवा

लामार्थ उत कर्मनिर्ज्वरार्थमिति विज्ञाय । उच्छाहं प्रायश्चित्तं प्रत्युद्योगं । संघट्टणं, शरीरवृलं । परियाय प्रव्रज्याकाल परिमाणं । आगम अल्पं श्रुतमस्य बहु वेति । पुरिसं वैराग्यपरो न वेति च विज्ञाय ॥

दुसरोने आलोचना कर कहे हुए अपगर्थोंका प्रायश्चित्त देनेका व्यवहारवान् आचार्यका क्रम दो गाथाओंसे आचार्य कहते हैं,

अर्थ—द्रव्यके सचित्तद्रव्य, अचित्त द्रव्य, और मिश्र द्रव्य ऐसे तीन भेद हैं. पृथिवी, पानी, अग्नि, हवा, प्रत्येक काय वनस्पति, अनंत काय वनस्पति और व्रसजीव इन जीवोंको सचित्त द्रव्य कहते हैं. तृणका संस्तर, फलक वगैरे पदार्थ अचित्त द्रव्य हैं जिसमें जीव उत्पन्न हुए हैं ऐसे उपकरणोंको मिश्र द्रव्य कहते हैं. ऐसे तीन प्रकारके द्रव्योंका सेवन करनेसे दोष लगते हैं.

वर्षाकालमें आधा कोस, आधायोजन मार्ग सुनि जा सकते हैं परंतु उससे अधिक वे गमन करें तो वह प्रायश्चित्तार्ह होता है यह क्षेत्र प्रतिसेवा है. जहां जाना निषिद्ध माना है ऐसे स्थानमें जाना, विरूद्धराज्यमें जाना, जहां रस्ता टूट गया है ऐसे प्रदेशमें गमन करना, यह क्षेत्रप्रतिसेवना है. उन्मार्ग से जाना, अंतःपुरमें प्रवेश करना, जहां प्रवेश करनेकी परवानगी नहीं है ऐसे गृहके जमीनमें प्रवेश करना यह क्षेत्रप्रतिसेवना है. ( ततो रक्षणीयागमनं, तस्मादद्धों यदातिक्रान्तः ) इन पद्योंका अर्थ लगता नहीं

सामायिक प्रतिक्रमणादिक छह आवश्यकोंका जो काल नियत है उसको उल्लंघनकर अन्यकालमें सामायिक क्रादिक करना. वर्षाकालयोगका उल्लंघन करना यह कालप्रतिसेवना है, दर्प, उन्मत्तता, असावधानता, साहस, भय इत्यादिरूप परिणामोंमें प्रवृत्त होना भावप्रतिसेवना कहते हैं. इस प्रकार अपराधके कारण पदार्थोंका स्वरूप जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिये. प्रायश्चित्त देनेवालोंको आहारके पदार्थोंका भी ज्ञान होना आवश्यक है कोई आहार रसबहुल रहता है. अर्थात् उसमें रस का प्राधान्य रहता है. कोई आहार धान्यप्रचुर रहता है. किसी आहारमें शाककी मुख्यता होती है और किसीमें लापसी और शाककी मुख्यता होती है. कोई आहार पेयपदार्थरूप पतला रहता है, ऐसे आहारके पदार्थोंका भी प्रायश्चित्तदाताको ज्ञान होना चाहिये.

प्रायश्चित्त करनेवालोंको और देनेवालोंको अनूप, जांगल और साधारण इन प्रदेशोंको ज्ञान होना चाहिये. जिस देशमें पानीकी विपुलता है उसको अनूपदेश कहते हैं. वन पर्वतादिक जिसमें है और कम वृष्टि होती है उस

देशको जांगल देश कहते हैं दोनों देशोंके लक्षण जिसमें है उसको साधारण देश कहते हैं, उष्णकाल, शीतकाल और साधारणकाल इसका भी ज्ञान होना आवश्यक है।

क्षमा, मार्दव, आर्जव, संतोषादि परिमाणोंको भाव कहते हैं, क्रोधादिक विकारोंको भी परिणाम कहते हैं प्रायश्चित्त क्रियाओं परिणाम और सहवास इनका भी ज्ञान होना चाहिये। यह मुनि मेरा यश हो ऐसा अभिप्राय धारण कर प्रायश्चित्त लेनेमें प्रवृत्त हुआ है अथवा लाभके लिये किंवा कर्मनिर्जराके लिये प्रवृत्त हुआ है इत्यादि हेतु जानलेना भी आचार्य के लिये आवश्यक है प्रायश्चित्त लेनेवालेका उत्साह, शरीरसामर्थ्य, दीक्षाकाल, आगम-ज्ञान, अर्थात् यह आगमका अल्पज्ञाता है अथवा बहुज्ञाता है इत्यादिक बातोंका ज्ञान कर लेना भी आवश्यक है।

मोत्तूण रागदोसे ववहारं पठवेइ सो तस्स ॥

ववहारकरणकुसलो जिणवयणविसारदो धीरो ॥ ४५१ ॥

रागद्वेषावपाकुत्त्य न्यवहारविशारदः ॥

न्यवहारी ददात्यस्मै प्रायश्चित्तं विधानतः ॥ ४६३ ॥

विजयोदया—मोत्तूण त्यक्त्वा । रागदोसे रागं द्वेषं च मध्यस्थं सन्निति यावत् । ववहारं पठवेदि सो तस्स प्रायश्चित्तं ददाति स सूरिस्तस्मै । ववहारकरणकुसलो प्रायश्चित्तदानकुशलः । जिणवयणविसारदो जिनप्रणीति आगमे निपुणः । धीरो धृतिमान् ॥

मूलारा—पठवेदि ददाति ॥

अर्थ—जिनप्रणीत आगममें निपुण, धैर्यवान्, प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता ऐसे आचार्य राग और द्वेषभावना छोड़कर अर्थात् मध्यस्थ भाव धारण कर अपराधी मुनिको प्रायश्चित्त देते हैं

संज्ञात्वा प्रायश्चित्तग्रंथं यो ददाति तस्य दोषं संकीर्तयत्युत्तरगाथा—

ववहारमयाणंतो ववहरणिज्ज च ववहरंतो खु ॥

उस्सीयदि भवणंके अयसं कम्मं च आदियदि ॥ ४५२ ॥

व्यवहारपरिच्छेदी व्यवहारं ददाति यः ॥  
अवाप्यासौ यशो घोरं संसारमवगाहते ॥ ४६४ ॥

विजयोदया—यद्यद्वारं अयाणतो प्रायश्चित्तं ग्रंथतोऽर्थतश्च कर्मतश्चाविद्वान् । व्यवहरणिज्जं च व्यवन्द्ध्यते अतिचारविनाशार्थिनिति व्यवहरणीयमालोचनार्थकं प्रायश्चित्तं इति नवधा । व्यवहरतो प्रयच्छन् । उस्सीयदि अवसीदति । क भवपक्के । अजसं आदियदि अयश तुंडाचार्योऽयं यत्किंचन ददाति नाय परं शोधयति । संसारभीरुयतिजनं कृथेव क्लेश यति इति । कम्म च आदियदि वच्चाति कर्म दर्शनमोहनीयाख्यं उन्मार्गोपदेशात् सन्मार्गविनाशनाश । तस्मादक्षो न दद्यात्प्रायश्चित्तमिति सूत्रार्थः । आचार्यणात्मिय शिक्षा । वयमाचार्यो यदस्माभिर्दत्तं तदिदं कुर्विति यत्किंचन न वक्तव्यम् । श्रुतरहस्याः प्रायश्चित्तदाने यतश्चमिति ॥

शास्त्रमज्ञात्वा प्रायश्चित्तं ददतो दोषमाह —

मूलारा — अजाणतो ग्रंथतोऽर्थतः कर्मतश्चाविद्वान् । व्यवहरणिज्जं व्यवन्द्ध्यते अतिचारविनाशार्थिभिरनुष्ठीयते इति व्यवहरणीयमालोचनार्थिप्रायश्चित्तम् । व्यवहरतो प्रयच्छन् । उस्सीयदि अवसीदति सिधते । अजसं तुंडाचार्योऽयं यत्किंचन ददाति नायं परं शोधयति संसारभीरु यतिजनं दृष्ट्या क्लेशयतीत्यकीर्तिः । कम्मं दर्शनमोहनीयाख्यं कर्म वच्चाति उन्मार्गोपदेशनात्सन्मार्गविनाशनाश । आदियदि स्वीकरोति ॥

प्रायश्चित्तके ग्रंथको जानकर प्रायश्चित्त देना यह अयोग्य है ऐसा वर्णन—

अर्थ—ग्रंथसे, अर्थसे और कर्मसे प्रायश्चित्त का स्वरूप जिसको मालूम नहीं है वह मुनि यदि आलोचनादि कुछ प्रकारका प्रायश्चित्त देने लगेगा तो वह संसारके कीचड़में फसेगा अर्थात् संसारमें भ्रमण करेगा और जगतमें उसकी अकीर्ति फैलेगी. यह तुंडाचार्य है अर्थात् चाहे जो प्रायश्चित्त मुखसे देता है कोनसा प्रायश्चित्त किस अपराधके लिये देना चाहिये इसका तो इसको कुछ भी ज्ञान यदि नहीं है तो यह मुनिओंको कैसा अपराधसे मुक्त करेगा. संसारभीरु मुनिओंको यह व्यर्थ ही क्लेश देता है. ऐसी लोकमें उसकी अकीर्ति फैलेगी मनमें जो प्रायश्चित्त देनेका विचार आया सो दिया ऐसा करनेसे जिनज्ञाका उल्लंघन हो जाता है उन्मार्गका उपदेश करनेसे व सन्मार्गका नाश करनेसे उसको दर्शनमोहनीय कर्मका बंध होता है इसप्रकार अज्ञ मुनि प्रायश्चित्त देनेका प्रयत्न न करे ऐसा आचार्य के प्रति यह उपदेश है. अर्थात् हम आचार्य हैं हमने जो प्रायश्चित्त दिया है वह तुम करो ऐसा नहीं कहना चा-



हिए, जिन्होंने प्रायश्चित्तशास्त्रको जान लिया है ऐसे आचार्य प्रायश्चित्त देते समय सावधानी रखकर प्रायश्चित्त देवे जिससे अज्ञताका दोष नहीं लगेगा.

जह ण करोदि तिगिच्छं वाधिस्स तिगिच्छओ अणिम्मोदो ॥

ववहारमयाणतो ण सोधिकामो विसुज्झेइ ॥ ४५३ ॥

व्यवहारवुधः शक्तो न विशोधयितुं परम् ॥

किं चिकित्सामजानानो रोगग्रस्तं चिकित्सति ॥ ४६५ ॥

विजयोदया—यदि नाम मुखरा मुग्धनवशिष्यजनपरिवृतत्वमात्रेणोपजाताहंकारा मुखलोकैनादृता संति सूर्यस्ते भवद्भि शुद्धयर्थं न दौकनीया. इति शिक्षयति—जह ण करोदि तिगिच्छिओ वैद्यो । अणिम्मोदो अनिपुण. । तद्वा तथा । व्यवहारमजाणतो प्रायश्चित्तमजानन्सरि । सोधिकामो रत्नत्रयशुद्धयभिलाषः । ण सोधेदि खु न शोधयत्येव ॥

ये नाम मुखरा मूर्खा बहुशिष्यपरिवृतत्वमात्रेण प्ररूढाहंकारा मूर्खलोकैनादृता संति सूर्यस्ते भवद्भिः शुद्धयर्थं नोपाश्रयणीया इति शिक्षयति—

मूलारा - तिगिच्छं प्रतिकारं । तिगिच्छओ वैद्यः । अणिस्सदो अनिष्णातः । अनिपुणः । खु सोधेदि शोधयत्येव ।

अर्थ—जो आचार्य मुखर हैं अर्थात् वाचाल हैं मूर्ख व नवीन शिष्योंसे वेष्टित होनेसे जिनको अभिमान उत्पन्न हुआ है मूर्ख लोगोंसे जो पूजनीय हो रहे हैं ऐसे आचार्यका आश्रय हे क्षपक ! तुम अपराधशुद्धीके लिए कदाचित् भी न करो ऐसी शिक्षा इस गाथामें दृष्टान्तपूर्वक कही है वह इस प्रकार—जैसे अज्ञ वैद्य रोगका स्वरूप जानता नहीं है अतः वह अनिपुण होनेसे रोगकी चिकित्सा नहीं कर सकता है. वैसे जो जो आचार्य प्रायश्चित्त ग्रंथके जानकार नहीं है वे यद्यपि रत्नत्रयकी निर्मल करनेकी इच्छा रखते हुए भी उसको निर्मल नहीं कर सकते हैं.

तस्मा णिव्वासिद्वयं ववहारवदो हु पादमूलमि ॥

तत्थ हु विज्जा चरणं समाधिसोधी य गियमेण ॥ ४५४ ॥

ततः समीपे न्यवहारवेदिनः स्थितिविधेया श्रूपकेण धीमता ॥  
सिसिधुणा बोधेसमाधिपादपौ मनीषितानेकफलप्रदायिनौ ॥ ४६६ ॥

इति न्यवहारी ।

विजयोदया—तस्या पिण्डिसिद्धव्य तस्मात्स्यातव्य । व्यवहारवदो खुब्धवद्वारवत् । एव । पादमूलमि पादमूले ।  
तस्य खु तत्र न्यवहारवत्पादमूले । विज्जा विद्या ज्ञानं भवति । चरणं समाधि सोधी य चारित्र समाधिश्च शुद्धिश्च ।  
णियमेण निदचयेन भवति । व्यवहारव ॥

प्रकृतमुपसंहरति—

मूलारा—पिण्डिसिद्धवं अवश्यं स्यातव्यं । न्यवहारवान् ॥

अर्थ—इसलिए श्रूपकने प्रायश्चित्तज्ञ आचार्य के पासही निवास करना चाहिए, उनके पास रहनेसे ही ज्ञानप्राप्ति होती है, चारित्रप्राप्ति होती है और ध्यानसे एकाग्रता और आत्मशुद्धि निश्चयसे होती है इस प्रकार आचार्यके व्यवहारव गुणका वर्णन किया है.

पशुब्धी पतद्याचष्टे—

जो पितृस्ववणपवेसे सेज्जासंथारउवधिसंभोगे ॥

ठाणणिसेज्जागासे अगदूण धिक्किंचणाहारे ॥ ४५५ ॥

प्रवेशे निर्गमे स्थाने संस्तरोपधिशोधने ॥

उद्धर्त्तने परावर्त्ते शय्यायासुपवेशने ॥ ४६७ ॥

विजयोदया—जो पितृस्ववणपवेसे जो य सूरि क्षपकस्य वसतेति, क्रमेण प्रवेशे वा । सेज्जामथारउवधिसंभोगे वसते, संस्तरोपधे, उपकरणस्य शोधने । ठाणणिसेज्जागासे स्थाने, निपद्यावकाशे, अगदूणविकिंचणाहारे शय्याया, शरीरमलाहरणे, भक्त्यानदौकने च ॥

प्रकारकत्व गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा—संभोगे शोधने । निसेज्जोगासे उपवेशनावकाशे । अगदूणविकिंचणाहारे शय्याया शरीरमलापहरणे भक्त्यानदौकने च ॥

अब आचार्य के प्रकुर्वित्व नामक गुणका वर्णन करते हैं—

अर्थ—क्षपक जब वसतिकामें प्रवेश करता है अथवा बाहर जाता है उस समयमें, वसतिका, संस्तर, और उपकरण इनके शोधन करनेके समय में, खड़े रहना, बैठना, सोना, शरीरमल दूर करना, आहारपानी लाना इत्यादि कार्यमें जो आचार्य क्षपकके ऊपर अनुग्रह करता है उसको प्रकुर्वी कहते हैं. इत्यादिकार्यके करते समय आचार्य मनमें जुगुप्सा नहीं करते हैं.

अबभुज्जदचरियाए उवकारमणुत्तरं वि कुव्वंतो ॥

सब्बादरसत्तीए वट्ठइ परमाए भत्तीए ॥ ४५६ ॥

उत्थापने मलत्यागे सर्वत्र विधिकोविदः ॥

परिचर्याविधानाय शक्तितो भक्तितो रतः ॥ ४६८ ॥

विजयोदया—अबभुज्जदचरियाए क्षपकस्य अभ्युद्यतचर्याया उपकारं अनुग्रहं हस्तावलंबनादिक । अणुत्तरं पकुव्वंतो उत्कृष्टं प्रकुर्वन् । सब्बादरसत्तीए सर्वादरशक्त्या । भत्तीए भक्त्या । परमाए उत्कृष्टया । वट्ठइ वर्तते । स प्रकुर्वकः सुरिभवति इति संबधः ॥

मूलारा—अबभुज्जदचरियाए पंडितमरणोपक्रमे । सब्बादर सर्वप्रयत्नेन ॥

अर्थ—उपयुक्त कार्यमें प्रकुर्वी गुणके धारक आचार्य हाथसं अवलंब देना वगैरह द्वारा क्षपकके ऊपर अनुग्रह करने हैं यह अनुग्रह भक्तिपूर्वक और उत्कृष्टतासे करते हैं

इय अप्पपरिस्सममगणित्ता खवयस्स सब्बपडिचरणे ॥

वट्ठंतो आयरिओ पकुव्वओ णाम सो होइ ॥ ४५७ ॥

आत्मश्रममनालोच्य क्षपकस्योपकारकः ॥

प्रकारको मतः स्वरिः स सर्वादरसंयुतः ॥ ४६९ ॥

विजयोदया—इय पवं । अपपरिस्सम आत्मपरिश्रम । अगणित्ता अपरिगणय्य । खवयस्स आराधकस्य । सखवपडिचरणे सर्वशुश्रूषाया । वट्ठतो वर्तमान । आयरिओ आचार्य । पणुब्बो णाम प्रकुर्वको नाम । होदि स भवति । पकुन्वीगद ॥

मूलरा—सखवपडिचरणे सकलशुश्रूषाया । पकुन्वगो प्रकारकः ॥

अर्थ—इस प्रकार क्षपककी सर्व प्रकारकी शुश्रूषा आचार्य करते हैं, उसमें बहुत परिश्रम पढ़ने पर भी वे खिन्न नहीं होते हैं ऐसे आचार्य को प्रकुर्वी आचार्य कहते हैं, इस प्रकार प्रकुर्वी आचार्य का स्वरूप कहा है,

क्षपकशिक्षापरम गाथा—

खवओ किलामिदंगो पडिचरयगुणेण णिब्बुदिं लहइ ॥

तह्मा णिन्विसिदव्वं खवएण पकुन्वयसयासे ॥ ४५८ ॥

निपीड्यमानः क्षपकः परीपहैः सुखासिकां याति सहायकौशलैः ॥

यतस्ततस्तेन समाधिभिच्छता निषेवणीया गुरवः प्रकारकाः ॥ ४७० ॥

इति प्रकारकः ।

विजयोदया—खवगो क्षपक । किलामिदंगो ग्लानशरीर । पडिचरयगुणेण शुश्रूपागुणेन, णिब्बुदिं लहइ सुर लभते । खवणेण क्षपकेण । पकुन्वयसयासे विनयकारिण समीपे । पगुन्वीगद ॥

प्रकारकसमीपनिवासाय क्षपकं शिक्षयति—

मूलरा—गिलाभिदंगो ग्लानशरीरः । पडिचरियगुणेण प्रतिचारकोपचारेण । णिब्बुदिं सुखं ॥ प्रकारकः ॥

आगे क्षपकको उपदेश देते हैं—

अर्थ—रोगसे ग्रसित क्षपकयुनि आचार्यके द्वारा की गई शुश्रूषासे सुखी होता है, अतः क्षपकको शुश्रूषा करनेवाले आचार्यके पास ही रहना श्रेयस्कर है, प्रकुर्वी गुणका वर्णन समाप्त हुआ

आयोपायविदसीत्येतद्व्याख्यानायोत्तरप्रबंधः—

खवयस्स तीरपत्तस्स वि गुरुगा हौति रागदोसा हु ॥

तम्हा खुहादिण्हिं य खवयस्स विसोत्तिया होइ ॥ ४५९ ॥

अस्ति तीरं गतस्यापि रागद्वेषोदयः परः ॥

परिणामश्च संकिलष्टः क्षुत्तृष्णादिपरीषहैः ॥ ४७१ ॥

विजयोदया—खवगस्स क्षपकस्य । तीरपत्तस्स वि तीरं प्राप्तस्यापि । रागदोसा गुरुगा हौति रागद्वेषौ गुरु तीव्रौ भवत । तम्हा खुहादियहिं य क्षुत्तिपासादिभि परीषहैश्च कारणभूतै । खवगस्स क्षपकस्य विसोत्तिगा होइ अशुभपरिणामो जायते ॥

आयोपायविदशिंत्वं पंचदशभिर्गाथाभिः ऋथयितुकामः प्रथमं गाथाचतुष्टयेन तद्वक्ष्यमाणम्—

मूलारा—गुरुगा तीव्रा । विसोत्तिगा अशुभपरिणतिः ।

आचार्यं मे आयोपाय दर्शनं नाम का गुण होता है उसका निरूपण करनेके लिये आगेका प्रबंध—

अर्थ—क्षपकमुनि मोक्षप्राप्ति होनेके निकट समय को प्राप्त हुआ हो अथवा मनुष्यपर्यायका का नाश होने के समयको प्राप्त हुआ हो तो भी उसके अंतःकरणमें तीव्र रागद्वेष उत्पन्न होने की संभावना होती है, क्योंकि उस समयमें उसको क्षुदादि तीव्र परिपक्षोंसे अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं.

थोणाइदूण पूवं तप्पडिवक्खं पुणो वि आवण्णो ॥

खवओ तं तह आलोचेदुं लज्जेज्ज गारविदो ॥ ४६० ॥

आलोचनां प्रतिज्ञाय पुनर्विप्रतिपद्यते ॥

लज्जते गौरवाकांक्षी स तां कर्तुमपास्तधीः ॥ ४७२ ॥

विजयोदया—थोणाइदूण पुंत्वं प्रव्रज्यादिक्रमेण तद्दिनपर्यवसान रत्नत्रयातिचारं निवेदयामीति पूर्वं प्रतिज्ञाय । तप्पडिवक्ख तस्यापराधप्रत्याख्यापनस्य प्रतिपक्षेण निवेदन । आवण्णो आपन्न प्राप्तः । खवओ त तह आलोचेउ लज्जेज्ज गारविनो क्षपकस्तमपराधं तथा त्वाचरितक्रमेण गदितुं निन्देति संभावनागुरुः ॥

मूलारा — शोलाइद्रूप प्रब्रज्यादिवसादारभ्याथ यावत्कमेण रत्नत्रयातिचारं निवेदयामीति प्रतिज्ञाय । तदभिव्यक्तं तस्य अपराधनिवेदनस्य प्रतिपक्षमनिवेदयन् । तं आलोचयितुमुपक्रान्तं दोषम् । तथ तथा आत्माचरितक्रमेण । गारविदो आत्मसंभावनापरः ।

अर्थ—मुनिदीक्षाके कालसे आजतक जितने रत्नत्रयमें अतिचार लगे हैं वे सब गुरुके सन्निध में कहूंगा ऐसी क्षपकने प्रथम प्रतिज्ञा की थी परंतु लज्जा अथवा गर्व इत्यादि कारणोंसे अपने अतिचारोंको आलोचना करने में वह हिचकता है.

तो सो हीलणभीरू पूयाकामो ठवेणइत्तो य ॥  
णिज्जूहूणभीरू वि य खवओ विनदो वि णालोचे ॥४६१॥

ततः स्वस्थापनाकारी त्यागावज्ञानभीलुकः ॥  
क्षपको गुणदोषौ नो पूजाकामो विवक्षति ॥ ४७३ ॥

विजयोदया—तो पदचात् । सो क्षपकः । हीलणभीरू ज्ञातमदीयापराधा इमे मामवजानति इति अवज्ञाभीरुः । पूजाकामो य वदनाभ्युत्थान इत्यादिकाया पूजायामभिलाषवान् । सापराध न पूजयतीति । ठवेणइत्तो य आत्मानं सुचरितत्वे स्थापयितुकामश्च । णिज्जूहूणभीरू वि य मामिमे सापराधं त्यजतीति त्यागभीरुश्च । खवगो स्वापराध शरीरं च क्षपयामीति प्रवृत्तोऽपि णालोचेज्ज दोषं न कथयद्दुरोदोषमात्मन्यै ॥

मूलारा—तो पदचात् । हीलणभीरू ज्ञातमदपराधा इमे मामवज्ञास्यतीत्यवज्ञाभीरुः । पूयाकामो वंदनाभ्युत्थानादिसत्कारसाक्षः । सापराधं न पूजयतीति कृतनिर्दिधः । ठवेणइत्तो आत्मानं सुचरितत्वे स्थापयितुकामः । ठवेदुमिच्छंते इति पाठः आत्मानं माहृत्यै स्थापयितुमिच्छन्नित्यर्थः । णिज्जूहूणभीरू इमे सदोषं मा त्यस्यंतीति त्यागभीरुः । खवगो वि स्वापराधं शरीरं च क्षपयामीति प्रवृत्तोऽपि । ण आलोचे गुरोर्न कथयेत् ।

अर्थ—मेरे अपराध आचार्योंको ज्ञात होने पर वे मेरा तिरस्कार करेंगे ऐसी मनमें वह कल्पना कर बैठता है. अथवा मेरेको अन्य मुनि वंदन करे, आदर करे ऐसी उसको अभिलाषा रहती है. यदि मेरे दोष इनको अवगत होंगे तो ये मेरी वदना और आदर नहीं करेंगे ऐसे अभिप्रायसे भी क्षपक अपने दोषोंका निवेदन

नहीं करता है मेरा आचरण निर्दोष है यह सिद्ध करना चाहता है इस हेतुसे भी वह दोषोंकी आलोचना करनेको तैयार होता नहीं। यदि मैं अपने अपराध इनको कहूँगा तो ये मेरा त्याग करेंगे ऐसी भी भावना क्षपकके मनमें स्थान कर बैठती है, अतः वह यद्यपि अपने अपराध और शरीरका त्याग करनेके लिये उद्युक्त हुआ है तो भी गुरुको अपने दोष कहता नहीं।

तस्स अवायोपायविदंसी खवयस्स ओघपणवओ ॥

आलोचैतस्स अणुज्जगस्स दंसेइ गुणदोसे ॥ ४६२ ॥

आयापायविधिंयेन हेयोपादेयवेदिना

दिश्यते क्षपकस्यासावायापायपायदिगुच्यते ॥ ४७४ ॥

आयो रत्नत्रयस्य वृद्धिः । अपायो रत्नत्रयविनाशः ।

ततो वक्रमतेस्तस्य सामान्यालोचनाकृते ॥

आयापायदिशा वाच्यौ गुणदोषौ गणेशिना ॥ ४७५ ॥

विजयोदया—तस्स खवगस्स गुणदोसे दसेदिति पदसंबंध । तस्य अनालोचकस्य आलोचनाया गुणमितरत्र दोषं च दर्शयति । क. ? आयोपायविदंसी आयोपायचिदर्शी स्मरि । अपायो रत्नत्रयस्यविनाशः उपायो लाभः । उपायशब्दोऽनर्थकः इति कृत्वा रत्नत्रयस्य आउ शुद्धिलाभं तदुभयदर्शी ओघपणवगो सामान्यं प्ररूपयन् यो न कथयति स्वापराध तस्यायं दोष इति । आलोचैतस्स वि अपि शब्दोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो आलोचना कुर्वतेऽपि । अणुज्जगस्स मायावतः ॥

मूलारा—अपायो रत्नत्रयस्य विनाशः । अपायो लाभस्तौ विशेषण दर्शयति । ओघपणवगो सामान्यं प्ररूपयन् । यो न कथयति स्वापराधं तस्यायं दोषः इति प्रज्ञापक । आलोचैतस्स आलोचना कुर्वतेऽपि । अणुज्जगस्स मायावतः । गुणदोसे आलोचनाया गुणान् अनालोचनाया च दोषः ॥

अर्थ—जो क्षपक उपर्युक्त कारणोंसे दोषोंकी आलोचना करनेमें भययुक्त होता है, उसको आयोपाय दर्शन गुणके धारक आचार्य आलोचना करनेमें गुण और आलोचना न करनेसे हानि कैसी होती है इसका निरू-

पण करते हैं. अर्थात् यदि आप आलोचना न करोगे तो आपके रत्नत्रयका नाश होगा और दोषोंका निवेदन करनेसे आपको रत्नत्रयकी प्राप्ति होगी और उसमें निर्मलताभी प्राप्त होगी इस प्रकार दोष और गुण बतानेवाले आचार्योंको आयोपायविदर्शी आचार्य कहते हैं. जो क्षपक विशिष्ट अपराधोंको निवेदन न कर सामान्य अपराधोंका निवेदन करता है. और जो अपराध निवेदन करता हुआ भी मनमें मायाभाव रखता है उसके भी रत्नत्रयका नाश होता है और निष्कपटभावसे अपने सर्व दोषोंकी आलोचना करता है उसको रत्नत्रयप्राप्ति और विशुद्धि की प्राप्ति होती है.

माया अर्थात् कपट दोषोंकी उत्पत्ति करती है और यथार्थ कथन अर्थात् दीक्षाकालसे आजतक उत्पन्न हुए दोषोंका सत्यकथन गुणोंका जनक है इसलिये स्वदोषोंका आचार्यके समीप वर्णन करना चाहिये ऐसा आचार्य आगेकी गाथामें कहते हैं—

मायाया दोषयाथात्यकथन च गुण दर्शयति एव दोषप्रकटन कर्तव्यमित्याचष्टे—

दुर्वलेण लहइ जीवो संसारमहणवमि सामणं ॥

तं संजमं खु अबुहो णासेइ ससल्लमरणेण ॥ ४६३ ॥

दुःखतः संयमं लब्ध्वा शरीरी भवसागरे ॥

सशल्पमृत्युना सारं नाशयत्यपचेतनः ॥ ४७६ ॥

विजयोक्त्या—दुर्वलेण लहइ जीवो फलेशेन लभते जीवः । किं सामण्य श्रमण्य चारित्रं संयमं । क्व संसारमहणवमि चतुर्गतिपरिभ्रमणमहर्णवे दुष्पापपातया ससारो मद्धारणं इव । खु शब्द णासेइ इत्यत परतो द्रष्टव्यः । त संयमं नाशयत्येवावुधः ससल्लमरणेण । यद्यपि शल्यमेनेकप्रकारं मिथ्यामायानिदानशल्यभेदेन तथापीह प्रकरणवशान्मायाशल्यं गृह्यते, मायाशल्यसहितेन मरणेनेत्यर्थः । ननु समानताया प्रस्तुतत्वात् सामण्य इत्यनेन तत् परित्यज्य कथमन्यदुपन्यस्त 'त संजममिति' । अस्यायमभिप्रायः श्रमणशब्दस्य द्रव्येऽप्रवृत्तिनिमित्तं यच्छ्रमण्य किं च तत्संयमः । तथाहि सावधानाक्रियापरो नाय श्रमण इति लोको वदति । ततोऽनुक्रमेव भावशाल्यमात्मन्यवस्थितमिव दोषमावहतीति दृष्टान्तमुत्तेज्य कथयति—

न केवलं प्रकारकः सन्सूरिः क्षपकस्य वाह्यमुपचारं तथा करोत्यपि त्वायापायविदर्शी सन्नाध्यात्मिकमपीत्यर्थं दोषप्रकाशनयेति तामेव प्रबंधेनाह—



मूलारा --सामर्णं श्रामण्यं यतिधर्मं । तस्यैव मायाशाल्यसहितं प्रकरणवशात् ॥

अर्थ -- इस संसारका दुसरा किनारा प्राप्त होना कठिन है इस लिये आचार्य महाराज इसको समुद्रकी उपमा देते हैं. चतुर्गतिओमें श्रमण करना यही संसार है. इसमें श्रमण करनेवाले जीवोंको संयमकी प्राप्ति होना अतिशय कठिन है. परंतु दैवयोगसे ऐसे संयमकी प्राप्ति होनेपर भी मूल मनुष्य शल्यसहित मरण प्राप्त कर संय-मको नष्ट करता है. मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य और निदानशल्य ऐसे शल्यके तीन भेद हैं. तथापि यहां प्रकरणवश मायाशल्यका ग्रहण करना चाहिए. अर्थात् मूलजन मायाशल्यसे संयमका नाश कर मरण करते हैं. ऐसा यहां अभिप्राय समझना चाहिये. शंका-गाथाके द्वितीय चरणमें समानताका उल्लेख किया है परंतु तीसरे चरणमें उसका ग्रहण न कर 'संयम' शब्दका ग्रहण किया है अतः प्रस्तुत समानताका त्याग कर अन्यका ग्रहण करना योग्य नहीं है.

उत्तर -- इसका अभिप्राय यह है कि श्रमण शब्दका अर्थ मुनि है मुनि इस अर्थमें श्रमण शब्दकी प्रवृत्ति होनेमें श्रामण्य शब्द अर्थात् समानता शब्द कारण है समानता अर्थात् श्रामण्य और संयम दोनों शब्द वाचक हैं इसीवास्ते संयमशब्दकाभी प्रयोग करना अनुचित नहीं है. 'सावधक्रियापरो नायं श्रमणः' अर्थात् पापक्रिया करनेवाला मुनि नहीं कहा जाता है ऐसा लोक बोलते हैं इसलिये आत्सर्ग्य भावशल्य रहना कपटविचार रहना अयोग्य ही है.

जह णाम दब्बसल्ले अणुद्धुदे वेदणुद्धिदो होदि ॥  
तह भिक्खू वि ससल्लो तिब्बहुहट्ठो भयोव्विग्गो ॥ ४६४ ॥  
द्रव्यशाल्ये यथा दुःखं सर्वांगिणव्यथोदयः ॥  
भावशाल्ये तथा जन्तोर्विज्ञातव्यमनुदूते ॥ ४७७ ॥

विजयोदया -- जह णाम यथा नाम । दब्बसल्ले शरकंठकादौ अणुद्धुदे अनुदूते अनिराकृते । वेदणुद्धिदो होदि वेदनान्तो भवति । तह तथा भिक्खू वि भिक्षुरपि । ससल्लो भावशाल्यवान् । तिब्बहुहट्ठो तीव्रदुःखितो भवति । भयोव्विग्गो भयेन चलो भवति । एवमनुदूतशाल्यो गमिष्यामि का गतिमिति भयमस्योपजायते । एवमर्थं दृष्टान्तेनाविरोधयति ॥

मूलारा—णाम स्फुटम् । दन्वसह्ये शरीरकंटादौ । अणुछुदे अनुदृते । वेदणुछुदो दुःखार्त्त । ससह्यो माया-  
बाहुल्यवान् । भवविग्नो एवमनुदृशत्यो गमिष्यामि का गतिमिति भयाकुलितचित्तः ॥

यह भावशाल्य दोषोंको उत्पन्न करता है. इसको ही दृष्टान्तसे आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जैसे द्रव्यशाल्य-वाण, कांटा वगैरह शरीरमें घुसने पर मनुष्य दुःखी होता है वैसे भिक्षु भी यदि  
मनमें कपट मिथ्यात्व वगैरह भावशाल्य धारण करेगा तो वह तीव्र दुःखसे पीडित होगा, और भयसे चंचल होगा.  
यदि मैं शल्यका त्याग नहीं करूंगा तो कौनसी गति मेरेको प्राप्त होगी ऐसा विचार मनमें आकर इस भिक्षुको भय  
उत्पन्न होता है.

कंटकसह्येण जहा वेधाणी चम्मखीलणाली य ॥

रप्पइयजालगत्तागदो य पादो सडिदि पच्छा ॥ ४६५ ॥

कंटकेऽनुदृते प्राप्तो यथा त्वक्खीलणालिकां ॥

पूतिवल्मीकरन्ध्राणि प्राप्याग्निं सदति स्फुटम् ॥ ४७८ ॥

विजयोवया—कंटकसह्येण जहा कटकाख्येन शल्येन कारणभूतेन यथा । वेधाणी चम्मखीलणाली य व्यधन-  
चर्मकीलणालिकाश्च भवन्ति । रप्पइयजालगत्तागदो य कुपितवल्मीकच्छिद्राणि प्राप्त. स पाद पतति पदवाद्यथा ॥

एतदेव दृष्टान्तसुरेन समर्थयितुं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—वेधाणी व्यधापनी सुपिरमित्यर्थः । चम्मकील मांसाक्षुरः । णाली नाडी । एवास्तिन्नः प्रथम पादे  
भवन्ति । रप्पइयजालगत्तागदो कुपितवल्मीकच्छिद्राणि प्राप्तः ॥

दृष्टान्तसे उपर्युक्त अभिप्रायका स्पष्टीकरण करते हैं

अर्थ—जैसे कांटा पावमें घुसनेसे प्रथम छिद्र पड़ता है अनंतर उसमें अक्षुरके समान मांस चढ़ता है  
तदनंतर वह कांटा नाडीतक घुसनेसे पांवका मांस विघडने लगता है. जिससे उसमें बहुत छिद्र पड़ते हैं. इस प्रकार  
से वह पांव निरुपयोगी होता है.

एवं तु भावसहं लज्जागारवभण्णिं पडिबद्धं ॥

अप्यं पि अणुद्धरियं वदसीलगुणे वि णासेइ ॥ ४६६ ॥

विचिंधं दोपमापन्नः संयमोऽनुद्धते तथा ॥

भयगौरवलज्जाभिः भावशल्ये विनश्यति ॥ ४७९ ॥

विजयोदया — एवं तु एवमेव । भावसहं परिणामशल्यं । लज्जागारवभणेहिं पडियद्धं स्वापराधनिगूहनं लज्जातो भवति । भयेन अपराधेऽक्रियते कुप्यन्ति गुरवस्त्यजन्ति वा मा महद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति । सुतपा तपस्त्ययं सुसंयत इति महती प्रसिद्धि सा विनश्यतीति गौरवेण च प्रतिवदमायाशल्यं । अप्यं पि अल्पमपि शल्यं अणुद्धरियं अनुद्धतं । वदसीलगुणे व्रतानि शीलानि गुणांश्च विनाशयति ॥

मूलारा — पडिबद्धं अत्यंतगर्हितं तन्मयाकृतं कथं प्रकाशयते इति लज्जया प्रच्छादितं सत्, अयं तपस्वी सुसंयत इति वा, मा महद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति इति भयेन वा प्रच्छादितं । अप्यपि अल्पमपि ॥

अर्थ — इसी प्रकार भावशल्य भी जीवकी दुःखदायक है, भय, गर्व और लज्जासे जब अपराध छिपाते हैं तब भावशल्य उत्पन्न होता है, जैसे लज्जासे अपराध छिपाते हैं वैसे भयसे भी अपराध छिपाते हैं, अपराध कहेने पर गुरु मेरा त्याग करेगा अथवा बड़ा प्रायश्चित्त देगी ऐसे भयसे अपराधोका कथन करनेमें क्षपक अनाकानी करता है मैं बड़ा तपस्वी हूं ऐसी मेरी जगतमें कीर्ति है वह अपराध कथनसे नष्ट होगी ऐसे गर्वयुक्त विचारसे अपराध निवेदन नहीं करता है इस प्रकारसे मायाशल्य मनमें उत्पन्न होकर वह व्रत, शील, और गुणोंका नाश करता है,

तो भट्टबोधिलामो अर्णतकालं भवणए भमिं ॥

जम्मणमरणावत्ते जोणिसहस्साउलो भमदि ॥ ४६७ ॥

प्रअष्टवोधिलामो ज्जश्चिरकालं भवणवे ॥

जन्ममृत्युजरावर्ते जीवो भ्रमति भीषणे ॥ ४८० ॥

विजयोदया—तो पश्चात् । भट्टयोधिलाभो विनष्टदीक्षाभिमुखबुद्धिलाभः । अणंतकालं भग्न अणंतकालं भ्रमति । क भवणवे भवर्णवे । भीमे भयकरे । जन्मभरणवत्ते जन्मभरणवत्ते । जोणिसहस्राउले चतुरशीतियोनिसहस्राकुले ॥

ततः किं स्यादित्याह—

मूलारा—भट्टयोधिलाहो नष्टदीक्षाभिमुखबुद्धिलाभ । अणंतकालं अर्द्धपुद्गलपरिवर्तमात्रं ॥

अर्थ—इस भावशाल्यसे दीक्षाभिमुख बुद्धिका लाभ नहीं होता है अर्थात् मैंने सुनिदीक्षा व्यर्थ ली है ऐसा विचार क्षपकके मनमें आता है. भावशाल्यसे यह जीव अणंतकालतक अर्थात् अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन कालतक चौरासी लक्षयोनियुक्त, इस भयंकर भवसमुद्रमें भ्रमण करता है. जिसमें जन्म मरणरूपी भोवरे हैं.

तस्य य कालमणंतं घोरसहावेदणासु जोणीसु ॥

पञ्चतो पञ्चतो दुःखसहस्राद् पण्पेदि ॥४६८॥

तीव्रव्यथासु योनीषु पच्यमानः स संततं ॥

तत्र दुःखसहस्राणि दीनो वेदयते चिरम् ॥ ४८१ ॥

विजजोदया—तस्य य तत्र च भवर्णवे । अणंतकाल दुःखसहस्राद् पण्पेदि इति पदघटना । अणंतकालं दुःखसहस्राणि अनुभवति । घोरसहावेदणासु जोणीसु पचतो घोरसहावेदनासु योनिषु पच्यमानः ॥

भवे भ्रान्त्यन्तिक करोतीत्याह—

मूलारा—पञ्चतो पञ्चतो पुनः पुनरतिग्लव्यमानः ॥

अर्थ—इस घोर संसारसमुद्रमें अणंत कालतक जिनमें भयंकर वेदनायें हैं ऐसी कुयोनिओंमें पचते हुए इस क्षपकको सहस्रो दुःख भोगने पड़ते हैं

तं न खु खमं पमादा मुहुतमवि अत्थिदुं ससह्येण ॥  
आयरियपादमूले उद्धरिद्व्यं हवदि सल्लं ॥ ४६९ ॥

मुहूर्तमप्यतः स्थातुं सशल्येन न शक्यते ॥

आचार्यपादयोर्मूले तदुद्धर्तव्यमंजसा ॥ ४८२ ॥

विजयोदया—त तस्मात् । मुहुत्तमवि अर्थिदं ससेष्टण न खमो खु मुहूर्तमात्रमपि रत्नत्रयेण सह न शक्तं प्रमादवशाद्यति संसारभीरु । आचार्यपादयूले उक्तगुणस्याचार्यस्य पादमूले । उद्धरित्वं ह्वदि सहै शल्यमुद्धर्तव्यं भवति ।

प्रकृतमुपसंहारत्राह—

मूलारा — ण खमं न युक्तं । पमादा प्रमादवशात् ॥

अर्थ—इसलिये क्षपकको प्रमादसे एक मुहूर्त कालतक भी शल्यसहित रत्नत्रय धारण करना योग्य नहीं है, अतः संसारभयसे युक्त क्षपक आयोपायदर्शक आचार्यके पास भावशल्य का उद्धार करें.

तम्हा जिणवयणरुई जाइजामरणदुक्खवित्तत्था ॥

अज्जवमद्वणसंपण्णा भयलज्जाउ मोत्तूण ॥ ४७० ॥

जिनेन्द्रवचनश्रद्धा जरामरणभीरवः ॥

निराकृतभयव्रीडाः संपन्नार्जवमार्दवाः ॥ ४८३ ॥

विजयोदया—तस्मात् । जिणवयणरुई जिनागमे श्रद्धावंतः । जाइजामरणदुक्खवित्तत्था जतिजरामरणदुःखविकृताः । अज्जवमद्वसपण्णा आर्जवेन मार्दवेन युक्ताः । भयलज्जाओ भयं लज्जा वा । मोत्तूण मुक्त्वा ॥ रित्यतार्थमाह—

मूलारा—वित्तत्था विव्रताः । अज्जवमद्वसंपण्णा आर्जवेन मार्दवेन व युक्ता निर्जितमायामाना इत्यर्थः ॥

अर्थ—इसवास्ते जिनेश्वरके आगममें श्रद्धा रखनेवाले जन्म, बुढ़ापा, मरण के दुःखोंसे भययुक्त, निष्कप-टता, विनय इन गुणोंसे परिपूर्ण ऐसे क्षपकको भय और लज्जा छोड़कर अपराधकथन करना योग्य है.

उप्पाडित्ता धीरा मूलमसेसं पुणब्भवल्याए ॥

संवेगजणियकरणा तरंति भवसायरमणंतं ॥ ४७१ ॥



करना पड़ता है अर्थात् संसारभ्रमण नामका महादोष उत्पन्न होता है ऐसा यदि आचार्य न दिखावे तो क्षपक मायाशक्त्यका त्याग न करेगा और निःशुल्य होकर गुणोंमें तत्पर न होगा।

तद्वा खवण्णाओपायविदंसिस्स पायमूलस्मि ॥

अप्पा णिव्विसिदब्बो धुवा हु आराहणा तत्थ ॥ ४७३ ॥

आयापायदिशस्तु समीपे स्थेयं बुद्धिमता क्षपकेण ॥

तत्राराधयते चतुरंगं नूनं विद्यमशेषमपास्य ॥ ४८७ ॥

इति आयापायदिक् ॥

विजयोदया—तद्वा तस्मात् आयोपायदर्शिनः पादमूले यस्मादोपाश्रितेते क्षपको गुणे च परिणमते तदुभयार्थं च । तद्वा तस्मात् खवणेण आयोपायविदंसिस्स गुणदोषदर्शिनः । पादमूले । अण्णा णिव्विसिदब्बो आत्मा, स्थापयितव्यः । तत्र गुणमाचष्टे धुवा खु आराहणा तत्थ निश्चिता रत्नत्रयाराधना तत्र । आयोपायः—

आयापायविदर्शित्वैरत्नसमर्पणेऽवश्यंभावित्विनीमाराधनामभिधत्ते—

मूलारा—णिव्विसिदब्बो स्थापयितव्यः । धुवा निश्चिता ॥ आयोपायविदर्शी ।

अर्थ—इस लिये आयोपायदर्शक आचार्य के चरणोंके समीप क्षपकको रहना चाहिये वहां रहनेसे ही रत्नत्रयाराधना क्षपकको प्राप्त होती है, गुणोंकी प्राप्ति और दोषोंका नाश चाहनेवाले क्षपकको अवश्य आचार्य का आश्रय करना चाहिये.

अवपीडकत्वं व्याख्यातुकाम' संवदनाति पूर्वेण उपायदर्शित्वेन ।—

आलोचणगुणदोसे कोई सम्मं पि पर्णविज्जतो ॥

तिव्वेहिं गारवादिहिं सम्मं णालोचए खवाए ॥ ४७४ ॥

कश्चनाकथने दोषे दोषाणां कथने गुणे ॥

वक्रात्मा कथ्यमानेऽपि नालोचयति तत्त्ववित् ॥ ४८८ ॥

विजयोदया—आलोचणगुणदोसे आलोचनाया गुणदोयान् । कोई कश्चित् । सम्मपि पणविज्जतो सम्य गव-  
बोध्यमानोऽपि । खगो गालोचप सम्म क्षपक सम्यक् न कथेत् । केन हेतुना ? तिब्बेहि गारवादिहि तीवैर्गोत्वादिभिः ।  
आदिशब्देन लज्जाभयङ्कशासद्वत् च गृह्यते

द्वादशभिर्गार्वाभिरुत्पीडकत्वं प्रपंचयित्वायोपायवित्तेनास्य संबंधमाभिषेते—  
मूलारा— विपणविज्जतो प्रज्ञाप्यमानोऽपि बोध्यमानोऽपि इत्यर्थः । गारवादिहि गारलज्जाभयङ्कशासद्वत्तैः ॥

अवपीडकत्व यह भी आचार्य का गुण है. इस गुणका आयोपायदर्शित्व गुणके साथ संबंध दिखाते हैं—  
अर्थ—आलोचना करनेसे गुण और न करनेसे दोषोंकी प्राप्ति होती है यह बात अच्छी तरहसे समझाने  
पर भी कोई क्षपक तीव्र अभिमान, लज्जा, भय, क्लेश सहन करनेकी इच्छा न होना इत्यादि कारणोंसे अपने  
दोष कहनेमें उद्युक्त नहीं होता है. तब निर्यापक आचार्य मधुरभाषण करके उसके लज्जादि विकार नष्ट करते हैं.

एवमनालोचयतोऽपि भाव प्रशस्तिं नेतव्यो निर्यापकेत्येतद्व्याचष्टे—

गिद्धं मधुरं हृदयगमं च पट्हादणिज्जमेगंते ॥

तो पट्हावेदव्यो खवओ सो पणवतेण ॥ ४७५ ॥

एकान्ते मधुरं लिगधं गंभीरं हृदयंगमम् ॥

स वाच्य. स्वरिणा वाक्यं प्रांजलीकुर्वता मनः ॥ ४८९ ॥

विजयोदया—गिद्ध स्नेहवत् । मधुरं श्रुतिस्वप्न । हृदयगमं हृदयानुप्रवेशि । पट्हादणिज्ज सुखदं । एगंते एकाते ।  
पट्हावेदव्यो शिक्षयितव्य । खवगो क्षपक । सो स । आत्मापराधं यो न कथयति । पणवतेण प्रज्ञापयता स्वरिणा ।  
गुरज्जनी हि मात्रा गित्रा च सदश, तेषा कथने कालज्जेति । अतिचारं निवेदय लज्जा, भयं, गारवं च विद्वाय ॥  
चावं प्रयत्नेन विनाशयितुमुयता । किमयश प्रययन्ति समीचीनदर्शनस्थ । मुक्तिमार्गे प्रधानस्य मलं हि तद्यतिजने  
द्रुपण । अतिचारहिमान्या हतं च रत्नत्रय कमलवन न शोभते । परनिद्रा नीवैर्गोत्रस्यास्त्रव । स्वयं च निद्यते बहुषु जन्म-  
सु निदक । परस्य मनस्तपं दुस्सह सपादयतो असद्वैद्यकर्मवयः स्यात् । साधुजनेऽपि निंदति स्वधर्मतनय  
किमर्थमय एव अयशपकेन लिपतीति । एवमेनेकानर्थवद्दुपरदोषप्रकटनं क सचेतनं करोतीति ॥



एवमनालोचयतोव्यस्य भावः प्रशान्तिं नेतव्य इत्येतदाचेष्टे--

मूलारा--णिर्द्धं स्नेहयुक्तं ममत्वगर्भमित्यर्थः । मधुरं शुचिमुखं सम्मानपेशलमित्यर्थः । हिदयंगमं हृदयानुप्रेवेशि । पल्लवादिज्जं सुखदं । तो पश्चात् । पल्लवेदव्यो भावो से । संवोधनावष्टमेन तस्य भावो मनः प्रल्लादयितव्यः प्रसन्तिं नेतव्यो निर्यापकाचार्येण । क्षिप्रधादिगुणं वाक्यं पणवतेण प्रज्ञापयता प्रतिपादयतेति संबध । तथा हि--आयुष्मन् ! उपलब्धसन्मार्गं रत्नत्रयैर्मन्यकरौकाघातःकरणं । लज्जां भयं गौरवं च विहाय यथाजातमतिचारं निवेदय । मातापितृकल्पस्य हि गुरुजनस्याग्रे स्वापराधं कथयता का लज्जा ? न च लज्जाण्यैकात्मिकी श्लाघ्यते । तथा च लोकः--

धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च ॥

आहारं व्यवहारं च त्यक्तलज्जः सदा भवेत् ॥ इति ॥

न च मदालोचितं दोषमेते प्रकाशयिष्यतीति भवता अस्माज्जनात्र भेतव्यं । धर्माचार्यो हि धर्मधुराधौरेया यतीनां यतिधर्मस्य च वाच्यता निराकर्तुमुद्यताः कथमिव समाध्यर्थं उपाश्रितेन भवादृशा निवेदितं दोषं स्वस्वदोषमिव प्रकटयन्ति । सधर्मदोषप्रकटनं हि मोक्षमार्गप्रधानस्य सन्यग्दर्शनस्य दूषणं परनिन्दया च नौचैर्गोत्रं कर्म वध्यते । बहुषु जन्मसु निंदाश्च भवति, वध्नाति च निन्दकः परस्य दुःसहमन संतापसंपादने दुर्विपाकमसद्वचं । निबधे च साधुजनेन स्वधर्मभागिक्यं किमयमेवमयशःपुरीयेण लिपतीति । तदेवमेकान्त्यर्थमूलं परदोषोद्भावनं कः सुधीर्विदधीत । न च धर्माचार्यवर्यमन्यतया त्वया दैवात्प्रमादद्वा यः कश्चित्सम्यक्त्वादीनामन्यतमेतिवारः प्रादुर्भूतस्य प्रच्छादयितुं भुञ्जात्, रत्नत्रयं हि निर्मलीकृतमेव पर महिमानमावहति प्रापयति च तत्किमपि लोकोत्तरं सनातनं पदमिति ॥

यही अभिप्राय आगेकी गाथामें है,

अर्थ--यदि क्षपक अपने अपराध नहीं कहे तो निर्यापिकाचार्य क्षपकको स्नेहयुक्त, कर्णमधुर, हृदयमें प्रवेश करनेवाला, ऐसा भाषण एकांतमें कहते हैं उसकी पद्धति इस झुजत्र समझना--हे आयुष्मन् प्राप्त हुए रत्नत्रयमें दोष नहीं लगेंगे ऐसा तुम प्रयत्न करनेमें सदा एकाग्र चित रहते हो इसलिये भय, लज्जा, और गर्व छोड़कर अपने दोष कहे गुरुजन तो माता पिताके समान हैं उनके समक्ष अपने दोष कहनेमें लज्जा नहीं कानी चाहिये, वे गुरुजन तुम्हारे दोष स्वदोषके समान ही समझकर दूसरोंको नहीं कहते हैं, वे तो यतिधर्ममें कोह दोष लगावेगा तो दूर करनेके लिये हमेशा उद्युक्त रहते हैं, अतः वे तुम्हारी अकीर्ति होनेकी इच्छा क्या मनमें

धारण करेंगे ? यतिजनमें दोष लगानेसे सम्यग्दर्शन जो कि मोक्षमार्गमें प्रधान माना जाता है उसमें दोष उत्पन्न होता है अतिचाररूपी चर्फ के आघात से रत्नत्रय रूपी कमलवन सुझाने लगता है, परिनिदा करनेमें नीचगोत्र कर्मका आस्रव होता है तब निन्दक जन अनेक जन्ममें लोगोंमें निन्दित होते हैं, दुसरेके अंतःकरण को जो सत्ताप उत्पन्न करते हैं उनको असातावेदनीय कर्मका वंश होता है, तुम अपने धर्मको पुत्रके समान समझो और उसको अयशरूपी क्रीचड़से मलिन न करो, ऐसा करनेसे तुम्हारी निदा होगी अनेक अनर्थों को उत्पन्न करनेवाले परदोषोंको कोन विद्वान् प्रकट करेगा अर्थात् तुम अपने दोष हमारे सामने निःशक होकर बोलो, हम तुम्हारे दोष किसीके सामने प्रकट नहीं करेंगे.

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ॥

कोइ तु पणविज्जंतओ वि णालोचए सम्मं ॥ ४७६ ॥

कथायामकथायां च दोषाणां गुणदोषयोः ॥

कथायामपि नो कश्चिदालोचयति वक्रग्रीः ॥ ४९० ॥

विजयोदया — एव प्रज्ञापनाया सत्यामपि यो नालोचयति इत्युत्तरसूत्रार्थः ।

एवं च प्रज्ञाप्यमानोऽपि कश्चिदक्षपकः स्वदोषं सम्यगनालोचयति त्रिचित्रत्वात्पुरुषप्रभृतीनामित्युत्तरसूत्रावता-  
रार्थमिदमाह —

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ।

कोइ तु पणवेज्जतो वि य णालोचए सम्मं ॥

मूलारा — स्पष्टम् ।

अर्थ — श्लिग्ध, कर्णमधुर, हृदयमें प्रवेश करनेवाला ऐसा भाषण बोलनेपर भी कोई क्षपक अपने दोषोंकी आलोचना करता नहीं तब —

तो उप्पलिदब्बा खवयस्सोप्पीलएण दोसा से ॥

वामिइ मंसमुदरमवि गदं सीहो जह सियालं ॥ ४७७ ॥

दोषमुद्रालयेन तत्स्थमुत्पीड्योत्पीडनो यतिः ॥

मांसं फंटीरवेणेव शृगालः कुर्वता भयम् ॥ ४९१ ॥

विजयोदया—तो पश्चात् । उष्णीह्रिद्व्या अवपीडयितव्या । के ? दोसा दोषा । कस्य ? से तस्य । रावगस्य क्षपकस्य । केन उष्णीलपण अवपीडेकेन चूरिणा । अपसरसात्सकाशात् । किमसाभिर्भवत प्रयोजन ? । यो हि सशरीर-लभ्रमलप्रक्षालेनेच्छ' स ढौकते काचच्छायानुसारिसलिलं सर । यो वा महारोगोरग्रस्तस्तदपनयनाभिलाषवान् स वैद्य ढौकते । एव रत्नत्रयातिचारान्निराकर्तुमभिलषता समाश्रयणीयो गुरुजनः । भवतश्च रत्नत्रयशुद्धिकरणे नैवादर किमनया क्षपकत्वविडम्बनया । न चतुर्विधाहारपरित्यागमात्राव्यक्तसंश्लेषनेय । अपि तु कपायसंश्लेषनायत्ता सवरो निर्जरा च, कपाया ह्यभिनवकर्मदाने, वधे, स्थितिविधाने चोद्यताः परिहरणीयाः । तेषु कपायेषु मायातिनिकृष्टा तिर्य-ग्योनिनिर्वर्तनप्रवीणा । ता त्वन्मुमेसमर्थस्यापि प्रविष्टस्य भवतः ससारोदयेस्तिर्यग्भववर्ते । ततो निःसरणमतिदुष्कर । वल्लमात्रपरित्यागेनैव निर्ग्रन्थताभिमानोद्वह्नमप्यसत्य, सत्वेवं तिर्यचोऽपि निर्ग्रन्था स्युः । चतुर्दशप्रकारस्याभ्यन्तर-परिग्रहस्य त्यागाद्भवनैर्ग्रन्थं समवतिष्ठते । तदेवं हि मुक्तेरुपाय । भावनैर्ग्रन्थस्य उपाय इति दशविधवाह्यग्रन्थत्याग-उपयोगी मुमुक्षोः । न हि जीवपुद्गलद्रव्यसन्निधानमात्राधीन कर्मपञ्च । अपि तु तन्निमित्तजीवपरिणामालंबनः । अति-चारवति दर्शनादीनि न मुक्तेरुपाय । 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गाः' इति किन्न भवत श्रुतिगोचरमायात जेतवच्च ? समीचीनता हि दर्शनज्ञानचारित्राणा निरतिचारा । सा च गुरुपदिष्टप्रायश्चित्ताचरणे । गुरुवोऽपि कृतालोचनायैव प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति । ततो भवान्दूरभयः अभव्यो वा । आसन्नभयत्वे सति किमेवं महामायाशाल्यं भवति ? । नैव यतिजनवंदनाहोऽसि । 'समणं वदेज्ज मेधावी संजद सुसमाद्दिद' इति वचनात् । जीवितमरणयोर्लोभालभयोर्निंदा-प्रशस्योश्च समानचित्ततया समानो भवति । अतिचारनिवेदने मा निंदति न प्रशंसतीति भवता नालोच्यते । तत्कथ समानोऽसि ? कथं वा वंद्य ?

सीदो जहा सियालं उदरमवि गदं पि मंस वामेदि सिंदो यथा शृगालमुदरप्रविष्टमपि मांसमुद्रारयति तद्ध-नमायाशाल्यमन्तर्लीन निस्सारयत्यवपीडकः ॥

सामप्रयोगेण सम्यग्मालोचयति च क्षपके दंडभेदौ प्रयोक्तव्यावित्युपदेष्टुं सट्टयान्तमाचष्टे—

मूलारा—तो सामप्रयोगानंतरं । उष्णीलेद्वन्वा उत्पीडयितव्याः । उद्ग्राणीया अंतर्निगूढास्तान्मुलेन निःसार-णीया इत्यर्थः । तथा हि अहो स्वपराधास्फुटवादिन् अपसरारमत्सकाशात् । भिपग्भिभव निर्व्याधेः किमस्माभिर्भवतः प्रयोजनं । रत्नत्रयातिचारान्निराकर्तुमिच्छता हि गुरुवः समाश्रयणीयाः । भवतश्च रत्नत्रयशुद्धिकरणे नास्त्यादरः । तत्कि-मनया क्षपकत्वविडम्बनया ? न हि चतुर्विधाहारपरिहारमात्रायात्ता संश्लेषनेयमपि तु कपायसंश्लेषनायत्ता । तद्वत्संवरो

निर्जरा च । कपाया ह्यभिनवकर्मादाने तत्स्थितिविधाने च समुद्यता सुमुष्टुभिरपश्येत्पा । तेपु च माया विंशतमा तिर्य-  
ग्योनिपरिवर्तनप्रवचनत्वात् । माया च त्यक्तुमसमर्थोऽसि त्वं । प्रविष्टस्य च तिर्यग्भवावर्त संसारवारणारंभवतस्ते निःसरण  
मतिदुष्करं । वक्ष्यमात्रपरित्यागेनैव निरर्थताभिमानोद्भूतं च न न्याय्यं । एवं सति हि तिर्यचोऽपि निर्ग्रथाः स्युः । चतु-  
र्दशाभ्यान्तर्ग्रंथिनिर्मथन हि भावनैर्ग्रन्थमनुशासति धर्मतीर्थप्रणेतारस्तदेव च युक्ते सत्य उपायः । दशविधबाह्यग्रंथ-  
त्यागस्तु भावनैर्ग्रन्थसिद्ध्यांगत्वे नैवोपयोगी युग्मशोः । न खलु जीवपुद्गलद्रव्यमात्रत्यासत्तिमात्रः कर्मबंध । किं तर्हि  
तन्निमित्तजीवपरिणामकारणकः । न चातिचारवन्ति सम्यक्त्वादीनि मुक्तेरुपायः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग  
इति जैनं वचः किं न भवतः श्रुतिगोचरतामवातरत् । तत्र च समीचीनता दर्शनादीना निरतिचारा व्याचक्षते । सा च  
गुरुपदिष्टप्रायश्चित्ताचरणेनैव संपाद्या । गुरुश्च कृतलोचनार्यैव प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति । ततो भवान्दूरमन्योऽभव्य एव  
वा, कथमन्यथैवं महन्मायाशल्यं अन्तर्वहति । कथं चैवं यतिजनवन्दनामर्हसि । 'समणं वंदिज्ज मेधावी संजदं सुसमाहिदं'  
इति वचनात् । जीर्वितमरणयोर्लोभालामयोर्निदाशंसयोश्च समानचित्ततया समानोऽनुभव्यते । अतीचारालोचने मा  
निंदति न प्रशंसतीति भवता नालोच्यते तत्कथं समानोऽसि, कथं वा वंशः ? किं च महोपं न कश्चिच्छोके जानाति किं  
त्वहमेवैको जानामीति मा मंथाः । यतोऽत्र यदा यो दोषो मूलोत्तरगुणादिगोचरी भवता कृतस्तमहं जानाम्यन्येऽपि यत-  
यश्चेति । वामेदीत्यादि । सिद्धो यथा श्रृगालर्मदुरप्रविष्टमपि मांसमुद्रालयत्वेन मायाशल्यं क्षपकस्यान्तर्लानं नि सारयत्यु-  
त्पीडक इति तात्पर्यं ।

अर्थ—अवपीडगुणधारक आचार्य क्षपकके दोषोंको जवरी से बाहर निकालते हैं जैसे सिंह सिया  
लके पेटमें भी चला गया मांस वसन करवाता है तैसे तेजस्वी अवपीडक गुणके धारक आचार्य क्षपकके दोष सब  
बाहर निकालते हैं वे उसको इस तरह भापण करते हैं—हे सुने ! तुम हमारे पास मत रहो यहाँसे हट जाओ। हमसे  
क्या तुम्हारा प्रयोजन है ? जिसको अपने शरीरका मल घो डालनेकी इच्छा है वह पुरुष कान्वके समान सुंदर स्वच्छ  
पानी जिसमें है ऐसे सरोवरमें जाता है, जो पुरुष महारोग से पीडित है वह उसका नाश करनेकेलिय वैद्यको शरण  
जाता है, वैसे जिसको अपने रत्नत्रयमें लगे हुए दोष दूर करनेकी इच्छा है वह पुरुष गुरुओंका आश्रय करता है-  
परन्तु तुमको तो रत्नत्रयको निर्मल करनेकी इच्छा है ही नहीं अतः यह क्षपकका वप व्यर्थ क्यों धारण किया है,  
चार प्रकारके आहारका त्याग करने मात्रसे संछेखना नहीं होती है, परन्तु कपयोंका त्याग करनेसे संछेखना

होती है, इस सल्लेखनासे ही संवर निर्जरा होते हैं, कपायोंसे नवीन कर्मोंका ग्रहण होता है, बंध होता है, और स्थिति होती है, अतः इनकी आत्मासे हटाना चाहिये सब कपायोंमें माया बड़ी खराब है, यह प्राणिओंको तिर्यग्योनीकी प्राप्ति करा देती है 'माया तैर्यग्योनस्य' ऐसा तत्त्वार्थशास्त्र में उल्लेख है, यदि तुम इस मायाका त्याग न करेंगे तो इस भवसमुद्रमें तिर्यगगतिके भोवरमें पड़कर खूब भ्रमण करोगे, फिर वहाँसे छूटना बड़ा ही कठिन हो जायगा, केवल ब्रह्ममात्रका त्याग करनेसे तुम अपनेको निर्ग्रथ मुनि समझ रहे हो परंतु याद रखो कि केवल ब्रह्मके त्यागसे निर्ग्रथता की प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि पशु भी निर्वह्न अर्थात् नश रहते हैं, उनको भी निर्ग्रथ मानना पड़ेगा मिथ्यात्व, क्रोधादिक चार कपाय, और हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, ऐसे चौदा अभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग करनेसे भावनिर्ग्रथताकी प्राप्ति होती है, यही मोक्षलामके लिये उपाय है, अभ्यंतर परिग्रहका त्याग बाह्य परिग्रहत्यागके लिये उपयोगी है,

केवल जीव और पुद्गलोंका साविध्य होनेसे कर्मबंध नहीं होता है, परंतु कर्मबंधनके लिये योग्य जीवपरिणामही उसके आधार हैं अतिचारयुक्त सम्यग्दर्शनादिक जीवकी मोक्षकी प्राप्ति कर देनेमें समर्थ नहीं है, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' अर्थात् रत्नत्रयकी पूर्णता होना मुक्तिप्राप्तिका उपाय है क्या यह जिनेश्वरका वचन तुमने नहीं सुना है ? ज्ञान दर्शन और चारित्रका उत्तम पालन करनेसे ही निरतिचारपना प्राप्त होता है, गुरुओंने कहे हुए प्रायश्चित्तका पालन करनेसे वह निरतिचारपना प्राप्त होता है, गुरु भी जिन्होंने अपने दोषोंकी आलोचना की है उनकोही प्रायश्चित्त देते हैं, तुम तो दूर भव्य अथवा अभव्य हो ऐसा हम समझते हैं, यदि तुम आसन्नभव्य होते तो तुमारेमें यह बड़ा मायाशय्य क्यों रहता ? तुम मुनिजनकेलिये वंदनीय नहीं है, समण वेदज्ज मेधावी संजंद सुसमाहित, अर्थात् जीवित और मरण, लाम और अलाम निंदा और प्रशंसामें जिसका मन समान रहता है वही समान कहा जाता है, अतिचारका निरूपण करने पर मेरी निंदा करेंगे प्रशंसा न करेंगे ऐसा तुम मनमें विचार कर रहे हो इस लिये तुमको समान मानना व्यर्थ है, इस वास्ते तुम बंध नहीं है, ऐसा भाषण करके अवपीढ़क आचार्य क्षपकके सब व्रताद्यतिचार बाहर निकलवाते हैं, उसके हृदयमें जो मायाशय्य बैठा था उसको बाहर निकालवाते हैं,

ईदंगवपीडको भवतीत्याचष्टे—

उज्जस्सी तेजस्सी वच्चस्सी पहिदकिचियारिओ ॥

सीहाणुओ य भणिओ जिणेहिं उप्पीलगो णाम ॥ ४७८ ॥

कंठरिव इवौजस्वी तेजस्वी भानुमानिव ॥

चक्रवर्तीव वर्चस्वी सूरिस्तुपडिकोऽकथि ॥ ४७९ ॥

स तर्हि कीदृगुत्पीडको भवति इति प्रश्ने सत्याह—

मूलारा—ओजस्सी बलवान् । तेजस्सी प्रतापवान् यतः सर्वोऽपि त्रिभेति परैः स्वैदचाधृज्य इत्यर्थः ।

वच्चस्सी प्रश्नोत्तरदानकुशलः । सीहाणुगो सिंहसमानः अक्षोभ इत्यर्थः ॥

अवपीडक आचार्यका लक्षण आचार्य कहते हैं—

अर्थ—उत्पीलक गुणधारक आचार्य ओजस्वी, बलवान् और तेजस्वी प्रतापवान् होते हैं, अर्थात् उनसे स्वसंघके मुनि और परसंघके भी-भययुक्त होते हैं अर्थात् सर्व मुनिओपर वे अपना रोव जमानेवाले होते हैं, स्वसंघ और परसंघके मुनि उनकी आज्ञा नहीं उल्लंघते हैं वे वचस्वी अर्थात् प्रश्नका उत्तर देनेमें कुशल होते हैं, उनकी कीर्ति चारो दिशाओंमें रहती है वे सिंह समान अक्षोभ्य रहते हैं वे किसीको डरते नहीं हैं।

विजयोदया—यो यद्धितकामस्स त बलात्तत्र श्रवर्तयति । यथा हित्ता माता बाल घृतपाते ।  
इत्येतदुत्तरसूत्रेणाचष्टे—

पिछेदूण रडंत पि जहा बालस्स मुहं विदारित्ता ॥

पज्जेइ धदं माया तस्सेव हिंदं विचिंतंती ॥ ४७९ ॥

यथावष्टभ्य हस्ताभ्यां विदार्य वदनं घृतं ॥

बालं पाययते माता रडंतं हितकारिणी ॥ ४८३ ॥

विजयोदया—पिछेदूण मुह विदारित्ता घदं पज्जेदि यथा जननी बालहितचितोद्यता पूत्कुर्वन्तमपि चाल अवष्टभ्य मुखं विदार्य घृत पाययति । दाष्टान्तिकेन योजयति ॥

शो यद्वितमिच्छति स तं बलादपि तत्र प्रवर्तयति यथा माता बालं घृतपाने इति समर्थयितुं गाथाद्वयमाह—  
 मूलारा—पेछेदूण हस्ताभ्यामवष्टभ्य । रुढतं पि पूरुवन्तमपि । पायेदि पाययति ॥  
 जो जिसका हित करना चाहता है वह उसको हितके कार्यमें बलात्कारसे प्रवृत्त करता है, जैसे हित करनेवाली माता अपने बालकको घृत पिलानेमें प्रवृत्त होती है  
 यह अभिप्राय आगेके सूत्रमें आचार्य कहते हैं,  
 अर्थ—जैसे बालकको हित करनेवाली माता बालक रोता है तो भी उसको एकड़कर और उसका मुख बलात्कारसे उधाड़कर उसको घृत पिलाती है, उत्पीडक आचार्य भी वैसी ही प्रवृत्ति करते हैं, यह बात आगेकी गाथामें आचार्य प्रकट करते हैं—

तह आयरिओ वि अणुज्जयस्स खवयस्स दोसणीहरणं ॥  
 कुणदि हिदं से पच्छा होहिदि कडु ओसहं वत्ति ॥ ४८० ॥  
 अवपीड्य तथोत्पीडी हितारोपपरायणः ॥  
 अन्तजं क्षपकं सूरिदोषं त्याजयतेऽखिलम् ॥ ४८१ ॥

विजयोदया—तह तथा । आयरिओ आचार्योऽपि । अणुज्जयस्स खवगस्स अन्तजोऽक्षपकस्य । दोसणीहरणं कुणइ मायाशाल्यनिरासं करोति । कडुगोसहं वत्ति कडुकौपधमिवा । से तस्य । पच्छाहिदं होदि पच्छाद्वितं भवतीति ॥  
 दृष्टान्तं प्रदर्श्य दाष्टीतिकेन योजयन्नाह—

मूलारा—अणुज्जगस्स अन्तजोः । दोसणीहरण । मायाशाल्यनिरासं । कडुगोसहं वत्ति कडुकौपधमिविति ॥  
 अर्थ—आचार्य भी मायाचार धारण करनेवाले क्षपकको जवरदस्ती में दोषोंकी आलोचना करनेमें बाध्य करते हैं तब वह दोष कहता है कडु औपधि जैसे रोगीमनुष्य का सेवन करनेके नंतर कल्याण करती है वैसे दोषोंकी आलोचना करनेसे क्षपकका कल्याण होना है अर्थात् आलोचनासे भविष्यत्कालीन संसारपरिभ्रमणसे वह मुक्त होता है

यो न निर्भर्त्सयति दोषं दृष्ट्वापि प्रियमेव यत्किं स गुरुः शोभन इति न भवद्विर्मतव्यमित्युपदिशति—  
जिन्माए वि लिहंतो ण भइओ जत्थ सारणा णत्थि ॥

पाएण वि ताडितो स भइओ जत्थ सारणा अत्थि ॥ ४८१ ॥

भद्रः सारणया हिनो न लिहन्नपि जिहया ॥

ताडयन्नपि पादेन भद्रः सारणया युतः ॥ ४८२ ॥

विजयोदया—जिन्माए वि लिहंतो जिहया स्वादयन्नपि न भइओ नैव भद्रक । जत्थ सारणा णत्थि । यस्मिन्गुरौ दोषनिवारणा नास्ति । पाएण वि ताडितो पादेन ताडयन्नपि स भइओ स सूरिर्भद्रक । सारणा जत्थ अत्थि सारणा गुरौ यत्न विद्यते ॥

दोषं दृष्ट्वापि त्वा न निर्भर्त्सयति अपि तु प्रियमेव ब्रवीति स गुरुः शोभन इति त्वया न मंतव्य इत्युपदिशति—  
मूलारा—लिहन्तो स्वादयन् प्रियवचनादिभि सुखयन्नपीत्यर्थः । सारणा दोषनिवारणा गुणप्रवर्तने वा ।

जो शिष्योके दोष देखकर भी प्रिय ही बोलता है निर्भर्त्सना करता नहीं है वह गुरु उत्तम है ऐसा है मुने । तुम मनमें मत समझो ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं—

अर्थ—जो गुरु शिष्योंको दोषोंसे निवारण नहीं करते हैं वे जिन्हासे मधुर भाषण बोले तो भी वे शिष्योंका अकल्याणही करनेवाले मानना चाहिये जो गुरु लातोंसे शिष्योंका समाचार लेता है परंतु जो दोषोंसे शिष्योंको अलिप्त रखता है वही गुरु हित करनेवाला समझना चाहिये

सारणकस्य सूरिर्भद्रताप्रकटनाय गाथा—

सुलहा लोए आदट्ठचित्तगा परहिदम्मि मुक्कथुरा ॥

आदट्ठं व परट्ठं चितंता दुल्लहा लोए ॥ ४८२ ॥

परकार्यपराचीनाः सुलभाः स्वार्थकारिणः ॥

आत्मार्थमिव कुर्वाणाः परार्थमपि दुर्लभाः ॥ ४८३ ॥

विजयोदया—सुलभा लोए आदट्ठचित्तगा सुलभा प्रचुरा । लोए लोके । आदट्ठचित्तगा स्वार्थे तत्परा । परहिदम्मि मुक्कथुरा परहितकरणे अलसा । आदट्ठ व आत्मप्रयोजनमिव । परट्ठं चितता परप्रयोजनचिंतासमुत्पत्ता लोके दुर्लभाः ॥



सारकत्वसूरिदुर्लभत्वल्यापनार्थमाह—

मूलारा—दुर्लभाः प्रचुराः । आदृष्टवितया स्वकार्यचित्तनपराः । मुक्कधुरा अलसाः आदृष्टं स्वकार्यमिव ॥  
दोषांसे निवारण करनेवाले आचार्यकी भद्रता प्रकट करते हैं—  
अर्थ—इस जगतमें अपने कार्यमें ही तत्पर रहनेवाले और परहित करनेके कार्यमें अलसी ऐसे ही लोक बहुत हैं अपने हितके समान परहितकी चिन्ता करनेवाले लोक अतिशय विरल हैं.

आदृष्टमेव चित्तेदुमुष्टिदा जे परदृष्टमवि लगे ॥

कडुय फरुसेहिं साहेति ते हु अदिदुल्लहा लोए ॥ ४८३ ॥

ये स्वार्थ कर्तुमुद्युक्ताः परार्थमपि कुर्वन्ते ॥

कटुकैः परपैर्वाक्यैस्ते तरां सन्ति दुर्लभाः ॥ ४९७ ॥

विजयोदया—आदृष्टमेव चित्तेदुमुष्टिदा आत्मीयमेव प्रयोजन चित्तियनुत्थिता । जेये । परदृष्टमवि परप्रयोजनमपि कडुगफरुसेहिं कटुकैः परपैः प्रवचनैः । साधेति साधयन्ति लोकैः । अतिदुल्लहा अतीव दुर्लभा ॥  
अमार्गनिवारकाणामतिदुर्लभत्वमाह—

मूलारा—उष्टिदा उद्युक्ताः । कडुगपरुसेहिं कटुकपरुषैर्वचनैश्चेष्टितैश्च दोषान्निवर्तयितुं प्रयुक्तैः । साधेति ज्ञापयन्ति निष्पादयन्ति वा ।

अर्थ—जो पुरुष आत्महित करनेके लिये कटिवद्ध होकर आत्महितके साथ कटु और कठोर वचन बोलकर परहित भी साधते हैं वे जगतमें अतिशय दुर्लभ समझने चाहिये.

सूरियदि नावपीडयेत् नसौ क्षपको मायाशल्यान्निवर्तत । निर्मायत्वे निरतिचाररत्नवये च गुणे न प्रवर्तत इति आचार्यसपाद्यमुपकार प्रकटीकरोति—

खवयस्स जइ ण दोसे उग्गालेइ सुहेमेव इदरे वा ॥  
ण णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥ ४८४ ॥

एवं अवपीडकतां व्याख्यायामासामपरिस्त्रावितां व्याचष्टे—

लोहेण पीदमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा ॥

ण परिस्सवंति अण्णत्तो सो अप्परिस्सवो होदि ॥ ४८६ ॥

दोषो निवेशितो यत्र तत्र तोयमिवायसि ॥

न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्त्रवः ॥ ५०० ॥

विजयोदया—लोहेण पीदमुदयं य एवमयं पदसंबन्ध । जस्स आलोचिदा दोषा ण परिस्सवति अण्णत्तो यस्मै कश्चिदा दोषा न परिस्त्रवन्त्यन्त्यत् । किमिव लोहेण पीदमुदयं लोहेन सतप्तेन पीतमिवोदक । सो सः । एवभूतोऽपरिस्त्रवो होदि अपरिस्त्रावी भवति ॥

अपरिस्त्राविता दशभिर्गोधाभिर्व्याकुण्ठकामः पूर्वं तल्लक्षणार्थमिदमाह—

मूलारा—लोहेण अर्थात् संतप्तेन । पीदं पीतमन्तर्नति । ण परिस्सवंति । न प्रकटा भवन्ति । अण्णत्तो अन्यत

अन्यत्रेति यावत् । उक्तं च—

दोषो निवेशितो यत्र तत्र तोयमिवायसि ॥

न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्त्रवः ॥

इस प्रकार अवपीडक गुणका वर्णन हुआ. अब अपरिस्त्राविता गुणका वर्णन करते हैं—

अर्थ—जैसे तपा हुआ लोहका गोला चारों तरफसे पानीका शोषण कर लेता है और वह शोषण किया गया पानी उससे बाहर निकलता नहीं वैसे क्षपकके दोष जो आचार्य सुनकर अपने मनमें ही रखते हैं अन्य जनों को इस क्षपकने ऐसे ऐसे अपराध किये थे ऐसा नहीं कहते हैं वे आचार्य अपरिस्त्रावी गुणके धारक हैं ऐसा समझना चाहिये.

दंसणणाणदिचारे वदादिचारे तवादिचारे य ॥

देसच्चाए विविधे सब्वच्चाए य आवण्णो ॥ ४८७ ॥

अतिचारास्तपोबृच्चज्ञानसम्यक्त्वगोचराः ॥

मनोबाह्यायोगेन जायंते त्रिविधा यतः ॥ ५०१ ॥

सारकत्वसूरिदुर्लभत्वख्यापनार्थमाह—

मूलारा—सुलभा प्रचुराः । आदृष्टचित्तया स्वकार्यचित्तनपराः । मुक्कधुरा अलसाः आदृष्टं स्वकार्यमिव ॥  
दोषोंसे निवारण करनेवाले आचार्यकी भद्रता प्रकट करते हैं—  
अर्थ—इस जगतमें अपने कार्यमें ही उत्पर रहनेवाले और परहित करनेके कार्यमें अलसी ऐसे ही लोक बहुत हैं अपने हितके समान परहितकी चिन्ता करनेवाले लोक अतिशय विरल हैं.

आदृष्टमेव चित्तदुमुष्टिदा जे परदृष्टमवि लोगे ॥

कडुय फरसेहिं साहेति ते हु अदिदुल्लाहा लोए ॥ ४८३ ॥

ये स्वार्थ कर्तुमुद्युक्ता परार्थमपि कुर्वते ॥

कडुकैः परपैर्वाक्यैस्ते तरां सन्ति दुर्लभाः ॥ ४९७ ॥

विजयोदया—आदृष्टमेव चित्तदुमुष्टिदा आत्मीयमेव प्रयोजनं चित्तयिनुसृथिता । जेये । परदृष्टमपि परप्रयोजनमपि कडुगफरसेहिं कडुकैः परपैः प्रवचनैः । साधेति साधयन्ति लोके । अतिदुल्लाहा अतीव दुर्लभा ॥  
अमार्गनिवारकाणामतिदुर्लभत्वमाह—

मूलारा—उष्टिदा उद्युक्ताः । कडुगपरसेहिं कडुरुपरसेवचनैश्चेष्टितैश्च दोषान्निवर्तयितुं प्रयुक्तैः । साधेति स्थापयन्ति निष्पादयन्ति वा ।

अर्थ—जो पुरुष आत्महित करनेके लिये कटिबद्ध होकर आत्महितके साथ कडु और कठोर वचन बोलकर परहित भी साधते हैं वे जगतमें अतिशय दुर्लभ समझने चाहिये.

सूरियंदि नावपीडयेत् नासौ क्षणो मायाशयान्निवर्तत । निर्मायत्वे निरतिचारत्नत्रये च गुणे न प्रवर्तत इति आचार्यसपाद्यमुपकार प्रकटीकरोति—

खवयस्स जइ ण दोसे उगालेइ सुहमेव इदरे वा ॥

ण णियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥ ४८४ ॥

विजयोदया—दंडसण्णणादिचारे य ध्वावेचारे श्रद्धानस्यातिचारः शंकाकाक्षाविचित्रित्वासाध्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा ।  
ज्ञानस्य अतिचारः अकाले पठनं, श्रुतस्य श्रुतधरस्य वा विनयकारणं अनुयोगादीनां ग्रहणे तत्प्रायोग्यावग्रहणं, उपाध्याय  
निह्नुवा, व्यजनानां न्यूनताकरण, आधिक्यकरण । अर्थस्य अन्यथाकथनं वा । तपसोऽनशनान्देरतिचारः । स्वयं न  
भुक्ते । अन्यं भोजयति, परस्य भोजनमनुजानाति मनसा वचसा कायेन च । स्वयं भुधा पीडित आहारमभिलषति ।  
मनसा पारणा मम कः प्रयच्छति, क्व वा लप्स्यामीति चिन्ता अनशनातिचारः । रसवदाहारमतरेण परिश्रमो मम नापेति  
इति वा । पदजीवनिकायवाधाया अन्यतमेन योगेन ह्युत्तिः । प्रचुरनिद्रतया सकृशकमनर्थमिदमनुष्ठितं मया, संतापकारीदं  
ताचरिष्यामि इति सकल्प अवमोदयोतिचारः । मनसा यदुभोजनादरः । परं यदु भोजयामीति चिन्ता । भुक्ष्य यावद्भवत-  
स्तुतिरिति वचनं, भुक्तं मया यत्कृत्युक्ते सम्यक्कृतमिति वा ध्वनं, हस्तसङ्ख्या प्रदर्शनं कठेशमुपस्पृश्य घृत्तिपरिसख्या  
नस्यातिचारः । गृहसप्तकमेव प्रविशामि, एकमेव पाटकं वरिद्विगृहमेकं । एवभूतेन दायकेन दायिकया वा वत्तं ग्रीष्णामीति  
वा कृतसकल्पः । गृहसप्तकादिकादाधिकप्रवेशः । पाटातरप्रवेशश्च । परं भोजयामीत्यादिकः । कृतस्सपरित्यागस्य रसाति-  
सक्तिः । परस्य वा रसवदाहारभोजनं, रसवदाहारभोजनानुमननं, यातिचारः । कायक्लेशस्यातपनस्यातिचारः । उष्णद्वितस्य  
शीतलद्रव्यसमागमेच्छा, संतापापायो मम कथं स्यादिति चिन्ता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रदेशानां स्मरणं, कठोरातपस्य द्वेषः ।  
शरीतलोद्वाहच्छ्रवणमभ्रमार्जनस्य भ्रातृप्रवेशः । आत्मसंततशरीरस्य वा अग्रमृगगात्रस्य छायातुप्रवेश इत्यादिकः ।  
बुधस्य मूलमुपगतस्यापि इस्तेन, पाद्रेन, शरीरेण वाक्कायानां पीडा । कथं ? शरीरावलग्नजलक्षणप्रमार्जनं, हस्तेन पाद्रेन  
वा शिलाफलकादिगतोदकापनयनं । मृत्सिकाद्राया भूमौ शयनं । निमनेन जलप्रवाहगमनदेशो वा अवस्थानम् । अथग्राहो  
वर्योपातं कदा स्यादिति चिन्ता । बर्षेति देवे कदास्योपरमः स्यादिति वा । छत्रकटादिधारणं वर्षोनिवारणायैत्यादिकः ।  
तथा भ्रम्राकशास्यातिचारः । सन्धिनाया भूमौ ब्रह्मसहितविरतसमुत्थिताया विष्वक्त्या शयनं । अकृतभूमिशरीरप्रमा  
र्जनस्य हस्तपादसंकोचप्रसारणं, पाश्वर्त्यस्तरसंचरणं, कर्णनं वा । हिमसमीरणाभ्यां हृतस्य कवेतदुपशमो भवतीति चिन्ता;  
ब्रह्मादिविभिरुपरिनिपतितहिमपकर्षणं, अवदयायघटना या । प्रचुरघातापातदेशोऽयमिति संकलेशः । अग्निप्रावरणादीनां  
स्मरणमित्यादिकः । प्रायश्चित्तातिचारनिरूपणा—तत्रातिचारः । आकपिय अनुमणियमित्यादिकाश्च । भूतातिचारेऽ  
स्य मनसा अशुशुप्ता । अज्ञानतः, प्रमादात्कर्मगुरुत्वादास्याबोधं अशुभकर्मबंधननिमित्तं अनुष्ठितं, दुष्टं कृतमिति  
एवमादिकः प्रतिक्रमणातिचारः । उक्तोभ्रम्रातिचारसमवायस्तदुभयातिचारः । भायतोऽविद्येको विवेकातिचारः । व्यु-  
त्सर्गातिचारः । कुतो भवति शरीरममतायामनिवृत्तिः । अशुभमनपरिणतिः । कायोत्सर्गदोषाश्च तप अतिचार उक्ता ।  
एव छेदस्यातिचारः । न्यूनो जातोऽहमिति संकलेशः, भायतो रत्नत्रयानादानं मूलातिचारः सर्वो द्विप्रकार इत्याचो-  
देशाद्यपि विविधे देशातिचारं नानाप्रकारं मनोवाक्याभेदाकृतकारितानुमतविकल्पाश्च । सव्यञ्चानो य सर्वोतिचारो य  
आपन्नो आपन्नः ॥

सम्यक्स्वाक्षतचारान्विचित्रानस्याचार्याणां विश्वभो भिक्षुरालोचयति तत्र परित्सावी यदि सूरिः स्यात्तदा ब्रह्म  
दोषान्प्राप्नोति इति वक्तुं गायत्र्यमाह—

मूलरा— देसच्चाए दर्शनादीनामकदेशमंगे सति । विविहे मनोवाक्कायै प्रत्येकं कृतकारितानुमननैर्नानात्वं गतान् । सव्वच्चाए सर्वात्मना दर्शनादीना भंगे । आवण्णो दर्शनाद्यतिचारान्विविधान्नाप्तो भिक्षु कथयति स्व दोषानिति उत्तराद्भेन संबंध । अन्ये पुनरेवं संबन्धन्ति । दर्शनादीनामतिचारे विविधे आवण्णे प्राप्ते सति । भिक्षु स्वदोषान्कथयति । तत्र दर्शनातिचारा शंकादयः प्रागुक्ता । ज्ञानातिचारास्तु विनयविपर्ययरूपा अकालपठनादयः संशयविपर्ययो वा । आर्हसादिब्रताना वाड्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितापनभोजनानि पंचेत्योदि तत्त्वार्थोक्त भावनादानयः । तपस्यनशनादौ सापेक्षस्य तदंशभजनमतिचारः ॥ तत्रानशनस्य परं मनसा, वाचा, कायेन वा भोजयतो भुजानं वा अनुमन्यमानस्य स्वयं वा कुत्थामतयाहारमभिलषतोऽतिचारः स्यात् । मनसा को मे पारणा प्रदास्यति, क वा लस्ये इति चिन्ता वा मुरसाहारमंतरेण परिश्रमो मय नपैति इति वा । पड्जीवनिकायवाधाया अन्यतमेन योगेन वृत्तिर्वि प्रचुरनिद्रतया संक्लेशो वा । किमर्थमिदमनुष्ठितं मया संतापकारि पुनरिदं नाचरिष्यामि इति संक्लेशो वेति । २ अवमोदर्यस्यातिचारो मनसा बहुभोजनादरः । परं बहु भोजयामीति चिन्ता, भुंक्ष्व यावद्भवतस्तुमिरिति वचनं । भुक्तं मया वक्षिष्युके साधु कृतमिति वा वचनं । इत्तसंज्ञया वा प्रदर्शनं कठदेशमुपसृज्येति । ३ वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचारो गृहसप्तकमेव प्रविशामि इत्येवमादिसंकल्पं कृतवतः परं भोजयामीत्यभिप्रायेण तदधिकप्रवेशादिकः ॥

४ रसपरित्यागस्य रसातिसाक्तं परस्य वा संसेवदाहारभोजनाद्भोजनानुमननं चेति ।

५ विविक्कंशय्यासनस्य पूर्वोक्तलक्षणहीनवसतौ शयनासनं यथोक्तलक्षणवसतावरतिर्वेत्तादिकः ॥

६ कायक्लेशस्यातापनस्यातिचार उष्णादितस्य शीतलद्रव्यसमागमेच्छा, संतापापायो मम कथं स्यादिति चिन्ता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रदेशाना स्मरणं, कठोरातपद्वेषः, शीतलदेशादकृतगात्रप्रमार्जनस्यातपप्रवेशः । आतापसंतप्ताप्रमृष्टगात्रस्य छायापुत्रवेश इत्यादिकः । वृक्षमूलाधिवासस्य हस्तेन पादेन वा शरीरावलम्वलक्षणप्रमार्जनं । तद्वच्छिलाफलकादिगतोदकापनयनं, जलाद्राया भूमौ शयनं, निम्नजलप्रवाहगमनदेशे वा अवस्थानं, अथग्रे वृष्टिः कदा स्यादिति चिन्ता, वृष्टौ वा कदैतदुपरम स्यादिति वा, वृष्टिप्रतिबंधाय छात्रादिधारणं वेत्तादि । अभ्रावकाशस्य हिमवाताभ्यामुपहतस्य कदैतदुपशमः स्यादिति चिन्ता, वंशव्लादिभि रुपरिनिपतितहिमस्यापकर्षणमवश्यायघट्टना वा, प्रभूतवातातपदेशोऽयमिति संक्लेशोऽनित्यप्रवर्णना स्मरणमित्यादिकः ।

नियतनं न दोषेभ्यो न गुणेषु प्रवर्तनम् ॥

विषसे क्षपकः सर्वदोषमत्याजितो यतः ॥ ४९८ ॥

विजगदया — जगदया अत्र न सुखे वा दुःखे वा दोषे न उगालेद्व क्षपकस्य सूक्ष्मान् स्थूलान्वा दोषान्  
न्यति मोक्षयति । एते क्षपको यतो न नियन्तु स क्षपकस्तेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः स्थूलेभ्यो वा दोषेभ्यो न निवर्तेत । नैव गुणे  
परिभाषत । विषयद्वन्द्वोऽपि गुणे पाङ्गारणितो कथमाराधकः स्यादाराधनार्थमायातोऽप्यसत्यवपीडेक ॥ उन्पीलति नद ।  
यदेतन्पीडकस्याभागे क्षपकस्यापकारमाह —

भूगारा — यतो स्थूलरक्षणेभ्यः । निर्गयत्ये निरतिचारलत्रये च ॥

आचार्य यदि कठोर और कडु शब्द बोलकर क्षपकको व्याथित नहीं करेंगे तो वह मायाशल्यसे परावृत्त

नहीं होगा। निष्कपटपना और निरतिचाररत्नत्रय पालन करना इन गुणोंमें उसकी प्रवृत्ति न होगी, परंतु क्षपकको  
आचार्य दोषोंसे परावृत्त करते हैं; यह उनका महान् उपकार है यही विषय आगेकी गाथामें प्रगट करते हैं—

अर्थ—यदि आचार्य क्षपकके सूक्ष्म अथवा स्थूल दोष उसके हृदयसे बाहर निकालनेका प्रयत्न नहीं  
करते तो वह क्षपक गुणोंमें कभी प्रवृत्त नहीं होता दोषोंका नाशकर यदि वह गुणमें प्रवृत्त न होगा तो वह  
आराधक कैसा होगा ? इस वास्ते आचार्यमें अवपीटक गुण होना ही चाहिये, आचार्य इस गुणके धारक न हो तो  
आराधनार्थ आया हुआ क्षपक आराधक न होगा।

तक्षा गणिणा उन्पीलपुण खवयस्स सब्बदो साहु ॥

ते उग्गालेद्वन्वा तरसेव हिदं तथा चेव ॥ ४९९ ॥

नित्योत्पीडनी पीडयित्वा समस्तांस्तस्मादोषांस्त्याजयेत्तं हितार्थी ॥

उग्गालेद्वन्वा किं विधत्ते न वैद्यः तन्वन्याथां व्याधितस्येष्टकारी ॥ ४९९ ॥

इति उत्पीडनी ।

उपसंहारमाह—

भूगारा—क्षपक । उत्पीडकः ॥

अर्थ— इस लिये उत्पीडक आचार्यको क्षपकका हित करनेके लिये उसके सब दोष निकालना योग्य है

एवं अवपीडकतां व्याख्यायन्सरप्राप्तमपरिस्त्रावितां व्याचष्टे—

लोहेण पीदमुदयं व जस्स आलोचिदा अदीचारा ॥

ण परिस्सवंति अणत्तो सो अप्परिस्सवो होदि ॥ ४८६ ॥

दोषो निवेक्षितो यत्र तत्र तोयमिवायसि ॥

न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्त्रवः ॥ ५०० ॥

विजयोदयः—लोहेण पीदमुदयं व एवमत्र पदसंबन्ध । जस्स आलोचिदा दोषा ण परिस्सवति अणत्तो यस्मै कथिता दोषा न परिस्त्रवन्यन्यतः । किमिव लोहेण पीदमुदयं व लोहेन संतप्तेन पीतमिवोदक । सो सः । एवंमूलोऽपरिस्सवो होदि अपरिस्त्रावी भवति ॥

अपरिस्त्राविता दशभिर्गोथाभिर्व्याकुर्वुकामः पूर्वं तद्वृक्षणार्थमिदमाह—

मूलारा—लोहेण अर्थात् संतप्तेन । पीदं पीतमन्तर्नति । ण परिस्सवंति । न प्रकटा भवन्ति । अणत्तो अन्यतः अन्यत्रेति यावत् । उक्तं च—

दोषो निवेक्षितो यत्र तत्र तोयमिवायसि ॥

न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्त्रवः ॥

इस प्रकार अवपीडक गुणका वर्णन हुआ, अब अपरिस्त्राविता गुणका वर्णन करते हैं—

अर्थ—जैसे तपा हुआ लोहका गोला चारो तरफसे पानीका शोषण कर लेता है और वह शोषण किया गया पानी उससे बाहर निकलता नहीं वैसे क्षपकके दोष जो आचार्य सुनकर अपने मनमें ही रखते हैं अन्य जनों को इस क्षपकने ऐसे ऐसे अपराध किये थे ऐसा नहीं कहते हैं वे आचार्य अपरिस्त्रावी गुणके समझना चाहिये, समझना चाहिये,

दंसणणाणदिचारे वदादिचारे तवादिचारे य ॥

देसच्चाए विविधे सन्वच्चाए य आवण्णो ॥ ४८७ ॥

अतिचारास्तपोवृत्तज्ञानसम्यक्त्वगोचराः ॥

मनोवाक्काययोगेन जायन्ते त्रिविधा यतः ॥ ५०१ ॥

प्रायश्चित्ते आलोचनातिचाराः ' आर्कपियमित्यादिना ' वर्धयन्ते । प्रतिक्रमणतिचारः स्फुटतातिचारस्य मनसा अनुगुप्ता, अज्ञानतः प्रमादात्कर्मगुरुत्वादात्स्याद्वा इदमशुभकर्मवर्षनिमित्तमुष्ठितं दुष्ट कृतमित्येवमादि जुगुप्सा । अज्ञानतः करणामावः । उक्तोभयातिचारसमवाय उभयातिचारः । भवतोऽविवेको विवेकातिचारः । व्युत्सर्गातिचारः ऋतव-शरीरममताया अनिवृत्तिरशुभध्यानपरिणतिः कायोत्सर्गदोषाश्च । तपसः प्रागुक्ता एव । छेदस्यातिचारो न्यूनो जातोहमिति संकेलशः । मूलातिचारभावतो रत्नत्रयानादानं । एवं विनयादीना अपि सामान्यलक्षणानुसारेण यथाशास्त्रमति-चारास्त्वित्या ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन और ज्ञानमें अतिचार उत्पन्न हुए हों, तबमें अतिचार उत्पन्न हुए हो, देशरूप अति-चार उत्पन्न हुए हो अथवा सर्व प्रकारोंसे अतिचार उत्पन्न हुए हो ये सब अतिचार क्षणक आचार्य के पास विश्वास-युक्त होकर कहे।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ऐसे अतिचार हैं। इनका स्वरूप दर्शनविनयके प्रकरणमें लिखा है।

ज्ञानके अतिचार—अकालमें अध्ययन करना, श्रुत और श्रुतार्थ अर्थात् जैनसिद्धान्तज्ञाता उनका अवि-नय करना, अनुयोगादिशास्त्राका अध्ययन करते समय उस अध्ययन के योग्य नियम धारण करने चाहिये परंतु वे धारण न करना, जिस उपाध्यायसे शास्त्र पढ़ लिया हो उसका नाम छिपाना अर्थात् मैं किसीके पास नहीं पढ़ा हूं, स्वयं मेरेको शास्त्रज्ञान स्फुरित हो गया है ऐसा कहना पढ़ते समय शब्द कम करना और जादा बढ़ाना, अर्थका कथन शास्त्रसे विरुद्ध कहना, ये ज्ञानके अतिचार हैं।

तपके अतिचारोंका वर्णन—स्वयं भोजन नहीं करता है परंतु दूसरोंको भोजन कराता है, कोई भोजन कर रहा हो तो उसको अनुमति देता है, ये अतिचार मन से वचनसे और शरीरसे करना अर्थात् तुम भोजन करो ऐसा कहना, जो भोजन कर रहा है उसको तुम अच्छा करते हो ऐसा कहना ये वचनके द्वारा अतिचार हैं, इसी प्रकारसे शरीरसे और मन से भी अतिचार लगते हैं। भूख से पीडित होनेपर स्वयं मनमें आहारकी अभिलाषा करना, मेरेको पारणा कोन देगा, किसी घरमें मेरी पारणा होगी ऐसी चिंता करना यह अनशन तप में अतिचार है।



रसयुक्त आहारके बिना यह मेरा परिश्रम दूर न होगा ऐसी चिन्ता करना पदकाय जीवोंको मन वचन और शरीर इन तीन योगोंमें से किसी एक योगसे बाधा देने के लिये प्रवृत्त होना। मेरेको बहुत निद्रा आती है, और यह अवमोदर्य नामक तप मैंने व्यर्थ धारण किया है। यह संकेशदयक है, संताप उत्पन्न करनेवाला ऐसा यह तप फिर मैं कभी भी न करूँगा ऐसा संकल्प करना ये अवमोदर्य तपके अतिचार हैं।

बहुत भोजन करनेकी मनमें इच्छा रखना, दूसरोंको बहुत भोजन करनेमें प्रवृत्त करूँगा ऐसा विचार रखना, तुम वृत्ति होनेतक भोजन करो ऐसा कहना यदि वह मैंने बहुत भोजन किया है ऐसा कहे तो तुमने अच्छा किया ऐसा बोलना। अपने गले को हाथसे स्पर्शकर यहाँ तक तुमने भोजन किया है ना ? ऐसा हस्त चिह्न से अपना अभिप्राय प्रकट करना। ये सब अवमोदर्य तपके अतिचार हैं।

अब वृत्तिपरिसंख्यान तपके अतिचार—मैं सात घरोंमें ही प्रवेश करूँगा, अथवा एक पाटकमें प्रवेश करूँगा, किन्वा दरिद्री के गृहमें ही आज प्रवेश करूँगा। इस प्रकारके दातासे अथवा इस प्रकार के स्त्रीसे यदि दान मिलेगा तो लगे ऐसा संकल्प कर सात घरसे अधिक घर में प्रवेश करना, दूसरोंको मैं भोजन कराऊँगा इस हेतुसे भिन्न पाटकमें प्रवेश करना, ये वृत्तिपरिसंख्योके अतिचार हैं।

रसपरित्याग तपके अतिचार—रसका त्याग करके भी रसमें अत्यासक्ति उत्पन्न होना, दूसरोंको रसयुक्त आहारका भोजन कराना और रसयुक्त भोजन करनेकी सम्मति देना ये इस तप के अतिचार हैं।

कायक्लेशतपके आतापनयोगका अतिचार—उष्णसे पीडित होनेपर थंड पदार्थोंके संयोगकी इच्छा रखना, यह संताप मेरा कैसा नष्ट होगा ऐसी चिन्ता उत्पन्न होना, पूर्वमें अनुभवन किये गए शीतल पदार्थोंके स्थानका स्मरण होना, कठोर धूपका द्वेष करना, शरीरको पिच्छीसे स्पर्श न करके ही धूपसे शरीरसंताप होनेपर छायामें प्रवेश करना, इत्यादिक अतिचार आतापनयोगके हैं।

वृक्षमूल योगके अतिचार—इस योगको धारण करनेपर भी अपन हाथसे, पावसे और शरीरसे जलकायिक वृक्षमूल दुःख देना, अर्थात् शरीरपर लगे हुए जलकण हाथसे पीछना अथवा पावसे शिलापर अथवा फलकपर संचित हुआ जल अलग करना, गीली मट्टीकी जमीनपर सोना, जहाँ जलप्रवाह बहता है ऐसे स्थानमें अथवा खोल प्रदेशमें बैठना, वृष्टिप्रतिबंध होनेपर कब वृष्टि होगी ऐसी मनमें चिन्ता करना, वृष्टि होने

लगी तो कब इसका उपशम होगा ऐसा संकल्प करना, अथवा वृष्टिका निवारण करनेके लिये छत्र, चटाई वगैरह धारण करना।

अश्रावकाशके अतिचार-संचित जमीनपर, त्रससाहित हरितवनस्पति जहां उत्पन्न हुई है ऐसे जमीनपर, छिद्रसाहित जमीनपर शयन करना, जमीन और शरीरको पिच्छिकासे स्वच्छ किये विना हाथ और पाय संकुचित करके अथवा फैला करके सोना, एक बाजूसे दूसरी बाजूपर सोना अर्थात् करवट बदलना, अपना अंग खुजलाना, हवा और थंडीसे पीडित होनेपर इनका कब उपशम होगा ऐसा मनमें संकल्प करना, शरीरपर यदि बर्फ गिरा होगा तो बर्फसे ठुकराये उसको हटाना, अथवा जलके तुपारोंको मर्दन करना, इस प्रदेशमें धूप और हवा बहुत है ऐसा विचार कर संकलेश परिणामसे युक्त होना, अथि और आच्छादन चहोंका स्मरण करना ये सब अश्रावकाशके अतिचार हैं।

प्रायश्चित्त तपके अतिचार-आकांपित, अनुमानित वगैरे दोष इस तपके अतिचार हैं। ये अतिचार होनेपर इसके विषयमें मनमें ग्लानि न करना, अज्ञानसे, प्रमादसे, तीव्र कर्मके उदयसे और आलस्यसे मने यह अशुभकर्मका बंध करनेवाला कर्म किया है मने यह दुष्ट कर्म किया है ऐसा उच्चारण करना प्रतिक्रमणके अतिचार हैं आलोचना और प्रतिक्रमणके अतिचारोंको उभयतिचार कहते हैं। परिणामोंके द्वारा विवेक न होना यह विवेकका अतिचार है शरीरपरसे समता हटाना व्युत्सर्ग तप है परंतु समत्व दूर नहीं करना यह व्युत्सर्ग तपका अतिचार है।

अशुभध्यानमें परिणमन होना और कायोत्सर्गके दोष ये तपके अतिचारोंमें कहे गये हैं।

छेदके अतिचार-मैं न्यून हो गया हूँ ऐसा मनमें संकलेश करना। रत्नत्रयको भावपूर्वक ग्रहण न करना यह मूलका अतिचार है।

अतिचारके देशत्याग और सर्व त्याग ऐसे दो भेद हैं। मन, वचन, शरीर, कृत, कारित और अनुमोदन ऐसे नऊ भेदोंमें किसी एकके द्वारा सम्यग्दर्शनादिकोंमें दोष उत्पन्न होना ये देशत्यागातिचार है और सर्व प्रकार से अतिचार उत्पन्न होना यह सर्वत्यागातिचार है। क्षपकको इसमें अतिचार लग सकते हैं इसलिये वह गुरुके समक्ष इसमें आचोलनां करे।

आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खू कहेदि सगदोसे ॥

कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेमिं कहेदि ते दोसे ॥ ४८८ ॥

विश्वस्तो भापते सर्वानाचार्याणामसौ न स ॥ (?)

आचार्यो भापतेऽन्येभ्यस्तां स्तुवन् स्विदधार्मिकः ॥ ५०२ ॥ (?)

विजयोदया—आहरियाण आचार्याणा । भिक्षु । कहेदि कययति । वीसत्थदाए विश्वासन । किं ? सगदोसे स्वातिचारान् । कोई पुण कच्चियुनराचार्यपण । णिद्धम्मो निष्कान्तो बहिर्भूतो जिनप्रणीताद्धर्मात् । अण्णेमिं अन्येभ्यः । कहेदि ते दोसे कथयति आलोचितान्दोषान् । अनेन किलायमपराध कृत इति ।

मूलारा—वीसत्थदाए विश्वासेन । कहेदि अनेन किलायमपराधः कृत इति परेभ्यः प्रकाशयति ।

अर्थ—आचार्योंके आगे कोई क्षपक विश्वास रखकर ये आचार्य मेरे दोष अन्योको नहीं कहेंगे ऐसा विश्वास रखकर कहता है. परतु कोई आचार्य जिनप्रणीत धर्मसे बाहिर होकर इसने अमुक दोष किया है ऐसा अन्यजनोंको कहते हैं. अन्यजनोंको क्षपकके दोष कहनेवाले आचार्य जिनधर्मभ्रष्ट हो गये ऐमा समझना चाहिये क्षपक तो विश्वाससे कहता है और ये उसका भंडाफोड सर्व लोगोंके समक्ष करते हैं ऐसा करना जैनधर्ममें निषिद्ध माना है.

तेण रहस्सं भिदंतएण साधू तदो य परिचत्तो ॥

अप्पा गणो य संघो मिच्छत्ताराधणा चेव ॥ ४८९ ॥

रहस्यभेदिना तेन त्यक्ताः कल्मषकारिणा ॥

साधुरात्मा गणः संघो मिथ्यात्वापराधना कृता ॥ ५०३ ॥

विजयोदया—तेण तेन । रहस्सं भिदंतएण प्रच्छायालोचितदोषप्रकाशनकारिणा । साह साधु । तदो य परि चत्तो ततस्तु परित्यक्त । स्वदोषप्रकाशने कृते मया लज्जावानय दु खितो भवति । आत्मान वा घातेयत् । कुपितो वा रत्नत्रय त्यजेत् । इति सच्चित्तेऽकुर्यता परित्यक्तो भवति । अप्पा परिचत्तो, गणो परिचत्तो, संघो परिचत्तो, इति प्रत्येकभिसंबंध । मिच्छत्ताराधणा चेव मिथ्यात्वापराधना दोषो भवति ॥

मूलारा—रहरसं प्रच्छाद्यमालोचितदोषं । भिदतएण प्रकाशयता । सगो स आलोचितस्वदोषः । परिचतो स्वार्थप्रशक्त्येनापकृत । एतत्संघातैर्यव्यं । भिच्छचारधना भिव्यात्वमुत्पादितं स्यात्तत्तम इत्यर्थः । प्रकाशयति ॥

अर्थ—क्षपकके आलोचित दोष आचार्यको प्रकट करना योग्य नहीं हे परंतु यदि उसने प्रकट किये तो क्षपक साधुका उसने उसी समय त्याग किया ऐसा समझना चाहिये. मैं यदि इसके दोष प्रकट करूं तो यह लज्जावान् क्षपक अपने मनमें दुःखित होगा, यह अपना घात करेगा, क्रोधी बनकर रत्नत्रयधर्मका त्याग भी कर देगा. ऐसा विचार मनमें लाकर क्षपकके दोष कहना उनके लिये योग्य नहीं था. दोष कहनेमें आत्मत्याग, गणत्याग और संवत्याग आचार्यने किया और वे मिथ्याराधक बन गये ऐसा मानना चाहिये.

इत्थं साधु परित्यक्तो भवतीत्याद्ये—

लज्जाए गारवेण व कोई दोसे परस्स कहिदोवि ॥

विप्परिणामिज्ज उधावेज्ज व गच्छाहि वा णिज्जा ॥ ४९० ॥

रहस्यस्य कृते भेदे पृथग्भूयावतिष्ठते ॥

कोपतो मुंचते वृत्तं मिथ्यात्वं वा प्रपद्यते ॥ ५०४ ॥

विजयोदया—लज्जाए लज्जया । गारवेण व गुरुतया वा । कोई कश्चित् । दोसे दीवान् । परस्स परस्मे । कहिदो वि कथितोऽपि । विप्परिणामेज्ज पृथग्भवेत् । नाय मम गुरु. प्रियो यदि स्यात्किं मदीयान्दोषाविगडति । मदीया वहिद्वरा प्राणा गुरुत्यमिति या सभावना सात्र नष्टेति चिंता विपरिणाम । उधावेज्ज वा त्यजेद्वा रत्नत्रयं दोषप्रकटनेन कुपित. । गच्छेज्ज वा गणातर प्राविशेत् ॥

कथं साधुः परित्यक्त इत्याह—

मूलारा—गारवेण मानगुरुत्वेन । परस्स परस्य । विप्परिणामेज्ज विपरीतं परिणमेत । पृथग्भवेत् नायं मम गुरु. । प्रियो यदि स्यात्किं मदीयान्दोषाविगडतेत् । मदीया वहिद्वराः प्राणा गुरुत्यमिति संभावना साद्य नष्टेति चिंता हि विपरिणामः । अयमर्थः निर्यापकाचार्येण परस्मै गुह्ये कथिते सति कश्चित्क्षपको लज्जया गारवेण वा विपरिणमेत । उधावेज्ज व त्यजेद्वा रत्नत्रयमिति शेषः । गच्छाहि वा णिज्जा गच्छाद्वा निर्यायात् । गणाद्वा निर्गच्छेत् । गणातर प्राविशेदित्यर्थः । उधावेज्ज व गच्छेज्ज मिच्छत्तमिति पाठे त्यजेद्वा चारित्रं गच्छेद्वा भिव्यात्वमिति व्याख्येयम् । तथा चोक्तं—

रहस्यस्य कृते भेदे पृथग्भयावतिष्ठते ॥

कोपतो मुचते वृत्तं मिल्यात्वं वा प्रपद्यते ॥

उन्हींने साधुका त्याग किया ऐसा समझना चाहिये उसका स्पष्टीकरण—

अर्थ—आचार्य क्षपकके दोष अन्य मुनिओंको कहने पर क्षपक लज्जासे अथवा गर्वसे ये गुरु मेरेको हितकर नहीं जंचते हैं यदि ये हितकर होते तो मेरे दोष क्या अन्य जनोत्रे समक्ष थे प्रगट करते ? मैं आजतक ये गुरु मेरे बाह्य प्राण हैं ऐसा समझता था परंतु आज वह समझना निर्मूल है ऐसा अनुभव मेरेको आया है. दोषके कहनेसे गुरुके विषयमें क्षपकके उपर्युक्त परिणाम बन जाते हैं. इतना होकर ही रहता नहीं. परंतु वह क्षपक दोष प्रकट करनेसे कुपित होकर रत्नशयका त्याग करनेके लिये उद्युक्त होता है अथवा आचार्यका संघ छोड़कर अन्य संघ में प्रवेश करता है.

आत्मपरित्यागं व्याचष्टे—

कोई रहस्सभेद कदे पदोसं गदो तमायरियं ॥

उदावेज्ज व गच्छं भिंदेज्ज वहेज्ज पडिणीओ ॥ ४९१ ॥

मारयत्यथवा सूरिं साधुर्मानग्रहाकुलः ॥

संसारकाननम्रान्ति न मन्यंते हि मानिनः ॥ ५०५ ॥

विजयोदया—कोई काश्चित् । रहस्सभेद कदे रहस्यभेदे कृते । पदोसं गदो प्रद्वेष गतः । तमायरियं तमाचार्य । उदावेज्ज व मारयेत् । गच्छ भिंदेज्ज गणभेदं कुर्यात् । किमनेन सूरिणा स्नेहरहितेन, यथा ममापराध प्रकटितवान् एवं शुष्मानपि निरपराधान्दुयिष्यतीति ध्रुवन् । होज्ज पडिणीओ प्रत्यनीको भवेत् ॥

कथमात्मा परित्यक्त इत्यत्राह —

मूलारा—पदोसं प्रद्वेष । उद्धवेज्ज मारयेत् । गच्छं भिंदेज्ज गच्छ भिन्नादाचार्याङ्गणस्य भेदं कुर्यात् । यथायं विश्वस्तो ममालोचितदोषं प्रकटीकुर्यात्तथा शुष्माकमपि प्रकटयिष्यतीति ध्रुवनाचार्यद्वणस्य विवटन कुर्यादित्यर्थः । पडिणीओ प्रत्यनीकः प्रतिकूल इत्यर्थः ॥

आत्मपरित्याग दीपका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—आचार्य के द्वारा क्षपकके अपराध सर्वजन समक्ष प्रगट होजाने पर क्षपकके मनमें यदि द्वेष बढ गया तो वह आचार्यको मारेगा अथवा गच्छमें फूट उत्पन्न करेगा अर्थात् इस आचार्यने जैसे मेरे दीप प्रगट किये हैं वैसे वह तुम्हारे दीप भी प्रगट करेगा, निरपराधी ऐसे तुमको यह दूषण लगावेगा, यह आचार्य स्नेहरहित है इसको छोड दो ऐसा बोलकर वह सर्वसंघमें भेदभाव उत्पन्न करेगा तथा आचार्यका शत्रु बन जावेगा.

गणत्याग कथयति—

जह धरिसिदो इमो तह अमह पि करिज्ज धरिसणमिमोत्ति ॥

सब्वो वि गणो विप्परिणमेज्ज छंडेज्ज वायरियं ॥ ४९२ ॥

विश्वस्तो भाषते शिष्यः स्वरेणै स्वदूषणम् ॥

परस्याथ पुनरुते सदाचारवाहिर्भवः ॥ ५०६ ॥

यथायं दूषितोऽनेन दूषयिष्यति नस्तथा ॥

इति क्रुद्धो गणः सर्वः पृथक्त्वं प्रतिपद्यते ॥ ५०७ ॥

विजयोदया—जह धरिसिदो इमो बुधा दूषितोऽयं । तह तथा । अह पि कोज्ज धरिसणमिमोत्ति अस्मान्दूषितान्कुर्यात् अयमिति । विपरिणमेज्ज पृथग्भवेत् । छंडेज्ज वायरिय त्येजद्वाचार्यं त्यजतीति कथ्यते तेन गणस्यैव इति पूर्वसूचित । ततोऽनयोर्न संगतिरित्यत्रोच्यते । यत एव सूरिणा द्वेषप्रत्याख्यानपरेण त्यक्तोऽसौ तत एव गणस्त्यजति ॥

कथ गणः परित्यक्त इत्यत्राह—

मूळारा—धरिसिदो दूषितः गुह्यप्रकाशेनापकृतः । छंडेज्ज त्यजेत् ।

गणत्यागका वर्णन—

जैसा आचार्यने इस क्षपकको दीप कद करके दूषित किया है वैसा यह हमको भी दूषित करेगा ही ऐसा विचार कर गण भी आचार्यके प्रतिक्ल होकर उसका त्याग करेगा अथवा उससे स्वयं अलग होगा, दीपका कथन करनेवाले आचार्यने गणका त्याग किया ऐसा पूर्वमें कहा है और यहां गण आचार्य को छोड देता है ऐसा कहते

है अतः यह कथन असंगतसा दीखता है उत्तर—दोषोंका वर्णन करनेवाले आचार्यने यदि गणका त्याग किया तो वह भी आचार्यका त्याग करेगा ही. अतः इस कथनमें असंगतपना नहीं है.

संघस्त्यक्तो भवतीत्येतद्व्याचष्टे—

तह चेव पवयण सव्वमेव विप्परिणयं भवे तस्स ॥

तो से दिसावहारं करेज्ज गिज्जूहणं चावि ॥ ४९३ ॥

एतस्याचार्यकं संघो विच्छिनत्ति चतुर्विधः ॥

निर्धाटयति वा रुष्टो रोषतः क्रियते न किम् ॥ ५०८ ॥

विजयोदया—तह चेव पवयण सव्वमेव तथैव प्रवचन संघः सर्व एव प्रोच्यते रत्नत्रय यस्मिन्नि शब्दव्युत्पत्तौ संघवाची भवति प्रवचनशब्द. । विप्परिणदं विरुद्धतया परिणतं प्रवृत्तं । हवे तस्स भवेत्तस्य । तो ततः । से तस्य । दिसापहरणं करेज्ज कुर्यात् संघ । गिज्जूहणं वापि करेज्ज इति पदसंबंध । परित्यागं वा कुर्यात् ॥

कथं संघः परित्यक्त इत्यत्राह—

दूलारा—पवयणं प्रवचनशब्दोऽत्र संघवाची प्रोच्यतेऽस्मिन् रत्नत्रयमिति व्युत्पत्तेः । विप्परिणदं विरुद्धतया प्रवृत्तं । तो ततो विपरिणमनादेतोः । से तस्य रहस्यभेदकस्य । दिसापहरणं आचार्यपदभ्रंशनं । गिज्जूहणं निर्धाटनं । उक्तं च—

एतस्याचार्यकं संघो विच्छिनत्ति चतुर्विधः ॥

निर्धाटयति वा रुष्टो रोषतः क्रियते न किम् ॥

संघका त्याग भी होता है ऐसा वर्णन—

अर्थ—जिसमें रत्नत्रयका प्रवचन-उपदेश किया जाता है ऐसे जनसमुदायका नाम संघ है. अर्थात् मुनि, आर्थिका, थावक और श्राविका इनको संघ कहते हैं यह सब संघ दोष प्रगट करनेवाले आचार्य से विरुद्ध होकर उसका आचार्यपद हरण करेंगे. अथवा उसका त्याग करेंगे.

मिथ्यात्वापराधनाप्रतिपादनार्थं गाथा—

जदि धरिसणमेरिसयं करेदि सिस्सस्स चैव आयरिओ ॥

धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणेज्ज मिच्छजणो ॥ ४९४ ॥

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडंबनां ॥

धिक्त्तान्निर्धर्मकान्साधूनि विवक्ति जनोऽखिलः ॥ ५०९ ॥

विश्वासघातका एव दुष्टाः सन्ति दिगंबराः ॥

ईदृशीं कुर्वते निंदां मिथ्यात्वाकुलिता जनाः ॥ ५१० ॥

विजयोदया—जइ धरिसणमेरिसय यदि दूण पवभूत । करेदि करोति । सिस्सस्स चैव शिष्यस्यैव । क' आचार्य' । धिद्धि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति भणिज्ज धिग्धिग् अपुट्ठधर्मान् श्रमणान् । इति भणेज्ज मिच्छजणे वदेन्मिथ्यादृष्टिर्जन ॥

मिथ्यात्वापराधनाद्वारायातं जनापवादमाह—

मूलारा--धरिसण धर्पणं विडंबना । धिद्धी धिग् धिग् । अपुट्ठधम्मो अपुट्ठधर्मान् निर्धर्मिकान् श्रमणान् दिगंबरा । तथा चोक्तम्—

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडंबनाम् ॥

धिक्त्तान्निर्धर्मकान्साधूनि विवक्ति जनोऽखिलः ॥

दोष प्रगट करनेसे मिथ्यात्वकी आराधना होगी ऐसा वर्णन—

अर्थ--यदि आचार्य दोष प्रगट कर शिष्यको दूषित करेंगे तो मिथ्यात्वी लोक ये जैनमुनि अपने धर्मको पुट नहीं बना सकते हैं, अपने हाथसे ये अपने धर्मका नाश करते हैं ऐसे वचन बोलकर धिक्कार करेंगे, इस लिये दोष प्रगट करना यह कार्य धर्मविध्वंसक है ऐसा समझना चाहिये

प्रस्तुतापरिष्कारवितोपसद्धारगाथा प्रसिद्धार्थो—

इच्चैवमादिदोसा ण होति गुरुणो रहस्सधारिस्स ॥

पुढेव अपुढे वा अपरिस्साइस्स धीरस्स ॥ ४९५ ॥



पृष्ठोऽपि यो ब्रूते न रहस्यं कदाचन ॥  
 इत्यादयो न विद्यन्ते दोषास्तस्य गणेशिनः ॥ ५११ ॥  
 इति विमुच्य रहस्यविभेदकं भजत गुह्यानिगूहकमजसा ॥  
 न हि विशुद्धहितहितवस्तवो हितमपोह्य भजंत्यहितं जनाः ॥ ५१२ ॥

इति अपरिस्त्रवः ।

विजयोदया—इच्छेवमादि दोषा इति । अणरिस्सव तु गद ॥  
 मूलाग—पुष्टे व अपुष्टे वा अपरिस्साइस्स किमनेनालोचितमिति परेण पृष्टे मन्त्रे ऊरेऽपुष्टे वा अपरिस्त्राविणो  
 गुह्यमकथयतः । क्षीरस्म स्वरूपचेष्टादिना विकारमगच्छतः । अयमत्राभिप्रायो—य शिष्योक्तं दोषं पृष्ठोऽपुष्टो वा परस्मै न  
 वक्ति, नापीगतादिना प्रकाशयति स रहस्यधारी सूरिपरिस्त्रावीति विवृणोति विवृणोति विवृणोति विवृणोति विवृणोति इति ।  
 अपरिस्त्रावी ॥

अब यहां ग्रन्थुत अपरिस्त्राविता गुणका उपसंहार करते हैं—

अर्थ—जो आचार्य अपरिस्त्रावि गुणके धारक हैं वे शिष्यके—क्षपकके दोष सुनकर मनमें रख लेते हैं  
 और उनको कोई पूछे वा मत पूछे वे कभी उसके दोष अन्यको कहते ही नहीं दोष प्रगट करनेसे क्या हानि  
 होती है इसका अपरिस्त्रावी आचार्य को पूर्ण ज्ञान रहता है अतः वे कभी दोषप्रगटन नामका धर्मध्वंस करने-  
 वाला कार्य नहीं करते हैं,

णिन्ववगो इत्येतत्स्वपदव्याख्यानयोत्तरप्रबंध—  
 संथारभत्तपणे 'यस्य येनाभिसंबधो दूरस्थस्यापि तस्य स.' इति कृत्वा—  
 संथारभत्तपणे अमणुणे वा चिरं व कीरते ॥  
 पडिचरगपमादेण य सेहाणमसंबुडगिराहिं ॥ ४९६ ॥  
 शुश्रूषकप्रमादेन शय्यायामासनादिके ॥  
 सपन्ने दीनचाक्येन शिष्यक्राणामसंघृते ॥ ५१३ ॥

विजयोदया—इति क्रियाभि पदसंबन्धोऽत्र कार्यः । संस्तर भक्तगते वा । अमणुणे अमनोक्षे । कीर्तते क्रियमाणे । कुविदो कुपितो भवेत्क्षपक मिर वा मर्यादां वा । सथारभक्तपाणे अमणुणे वा कीर्तते कुविदो हवेज्ज खवगो मेर वा भेत्तुमिच्छेज्ज । भेत्तुमिच्छेत् । चिर व कीर्तते चिराद्वा सस्तरकरणे भक्तपानानयने वा । पडिचरगपमादेन वा निर्यापकाणां वैयवृत्त्यकरणे य प्रमादस्तेन वा कुपितो भवेत् । मर्यादा वा आत्मीया भेत्तु इच्छेत् । सेट्टाणमसबुडगिराहिं अगृही-  
तार्थाना असवृताभि परयाभिर्घो कुपितो भवेत् ॥

निर्यापकत्वमेकादशभिर्गाथाभिर्न्याविख्यासुरादौ तत्तन्निमित्तसंनिधानादुत्पन्ने क्षपकस्य चित्तासंतोषे निर्यापका-  
चार्येणैवंभूतेन सत्ता तच्चित्तं निर्यापणीयमिति गाथात्रयेणाभिधत्ते—

मूलारा — अमणुणे अमनोक्षे अनभिरुपिते । चिरं व चिरेण वा शीघ्रमक्रियमाण इत्यर्थः । कीर्तते क्रियमाणे । पडिचरयपमादेण वैयवृत्त्यकरणा तत्कारणानवधानेन । सेट्टाणं दैक्षणा । असंबुडगिराहिं परयाभिः प्रतिशृङ्खलाभिर्वीरिभिः ।

जिसका जिसके साथ संबंध है वह दूर भी होगा तो भी वह संबंधी पदार्थ उसका ही माना जायगा इस नीतिके अनुसार यहां क्षपकका वर्णन करते हैं—

अर्थ—क्षपककी श्रृंषा करनेवाले परिचारक संस्तरका रचना यदि अमनोज मनोहर-न करेंगे और खाने पीनेके पदार्थ भमनोहर होंगे तो वह क्रोधयुक्त होगा अथवा समाधिभरणके नियमोंका भग करेगा। किंवा संस्तर करनेमें शगवत्प्राप्तगंगी तो भी वह कुपित होगा, आहार और पेय पदार्थ लानेमें देरी लग जाय तो कुपित होगा परिचारककी श्रृंषा करनेमें अलसी बन जाने पर उसको क्रोध उत्पन्न होगा। अथवा अपनी मर्यादा वह छोड़ देगा, जिनको सहेखनानिधि साधुम नहीं है ऐसे असंयमी जनके परुष-कठोर भाषणसे वह क्रोधयुक्त होगा तो उमका क्षमाधारण कर प्रसन्न करना चाहिये

सीटुण्हलुहातण्हकिल्हामिदो तिब्बवेदणाए वा ॥

कुविदो हवेज्ज खवओ मेरं वा भेत्तुमिच्छेज्ज ॥ ४९७ ॥

वेदनायामसत्तायां क्षुत्तुण्होण्हिमहिमादिभिः ॥

क्षपकः कोपमासाद्य मर्यादां विविभित्सति ॥ ५१४ ॥

विजयोदया—सीदुण्डहृद्वातण्ढा किलमिदो शतितेनोणेन शुघा पीडित कुपितो भवेत् । तिर्व्वेयणाए वा तीव्वेदनया वा कुपितो मर्यादोल्लघनच्छुर्भवेत् ॥

मूलरा—किलामिदो पीडितः । मेर मर्यादां प्रतिपन्नानुष्ठानम् ।

अर्थ शीत, उष्ण, भूख और प्यास इनसे पीडित होनेसे क्षपकको क्रोध उत्पन्न होता है, अथवा रोग की तीव्रवेदनासे भी विह्वल होकर क्रुद्ध होता है और मर्यादा तोड़नेकी इच्छा करता है उस समय आचार्य उसको शांतचित्त होकर प्रसन्न करते हैं.

णिव्ववएण तदो से चित्त खवयस्स णिव्ववेदव्वं ॥

अक्खोभेण खमाए जुत्तेण पणहुमाणेण ॥ ४९८ ॥

निर्यापकेण शान्तिन शमनीयः स सूरिणा ॥

क्षमापरेण कीरेण कुर्वता चित्तनिर्वृतिं ॥ ५१५ ॥

विजयोदया—णिव्ववएण संतोषमुत्पादयता सूरिणा । तदो तत । से खवयस्स चित्त तस्य कुपितस्य मर्यादां भेत्तुमिच्छतो वा । चित्त णिव्वेदव्वं चित्त प्रशान्तिं नेय । अक्खोभेण चलनरहितेन व्यवस्थावता । खमाए जुत्तेण क्षमया युक्तेन । पणहुमाणेण प्रणमनेन । न हि रोषी मानी वा सूरि परचित्तकलक प्रशमयितु ईहेते ततो निरूपयणेन भाव्यमिति भावः ॥

मूलरा—णिव्ववगेण संतोषोत्पादकेन । तदो कोपपरितिमर्यादाभेदछानतरं । णिव्ववेदव्वं प्रशमनीयं । अक्खोभेण चलनरहितेन उद्वेगयुक्तेनत्यर्थः ॥

इसही विषयको आगेकी गाथामें आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—संतोष उत्पन्न करनेवाले आचार्य अपना चित्त क्षुब्ध नहीं होने देते हैं, वे स्वयं क्षमाधारण करते हैं अभिमानका त्याग करते हैं क्योंकि रोषवाले और अभिमानयुक्त आचार्य दुसरेका मन प्रसन्न करनेमें प्रयत्न नहीं करते हैं, इसलिए आचार्य में सहायका अभाव होना चाहिये, अर्थात् निष्क्रिय आचार्य ही क्षपकका क्रुद्ध मन शांत कर सकते हैं ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये

पवभूतो निर्वापयतीत्येतद्व्याचष्टे—

अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभक्ते ॥

रदणकरंडयभूदो खुण्णो अणिओगकरणम्मि ॥ ४९९ ॥

बहुप्रकारपूर्वांगश्रुतरत्नकरंडकं ॥

सर्वानुयोगनिष्णातो वक्ता कर्ता महामतिः ॥ ५१६ ॥

विजयोदया—अंगसुदे य श्रुत पुरुष मुखचरणगुणस्थानीयत्वादंगशब्देनोच्यते । आचारादिकं द्वादशविधं तस्मिन्मगश्रुते । बहुविधे नानाप्रकारे । आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय', व्याख्याप्रक्षान्त्यग इत्यादिभिर्देन । णो अंगसुदे य अगवाहो वा । बहुविधविभक्ते सामार्थिक, चतुर्विंशतिस्तवो, वदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिकं, उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहार, कल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक इत्यादिना विचित्रमेवेन विभक्तो । रयणकरंडयभूदो रत्नकरंडकभूत । खुण्णो अणियोगकरणम्मि यद्यत्प्रस्तुत वस्तु तत्र तत्र सदाविकाधुनियोगयोजनाया कुशल । अनेन शानमाह्वानस्य सूचित ॥

इत्थंभूतः सुरिरव निर्वापयतीत्युत्तरप्रबंधनाह—

मूलारा—अंगसुदे अंगप्रविष्टप्रवचने । बहुविधे आचारं सूत्रकृतमित्यादिद्वादशविधे । णो अंगसुदे अंगवाहश्रुते । बहुविधविभक्ते सामार्थिकं, चतुर्विंशतिस्तव इत्यादिना चतुर्विंशप्रकारविभक्ते । रयणकरंडयभूदो रत्नकरंडकसदृश । श्रुतरत्नाना रक्षणोपायत्वात् । खुण्णो कुशल । अणियोगकरणम्मि यद्यदुस्तु प्रस्तुतं तत्र तत्र सदाविकानुयोगयोजनाया । एतेन ज्ञानमाहात्म्यं सुरैःसूचितं ॥

आगेकी गाथमें कहे हुए गुणोंसे युक्त आचार्य क्षपकका मन प्रसन्न कर सकते हैं यह दिखते हैं—

अर्थ—श्रुतज्ञान पुरुषस्थानीय समझ करके आचारादिकों को मुख, पांव वगैरह अवयवोंके समान समझने से श्रुतज्ञान में अंगकी कल्पना घटित हो जाती है. श्रुतज्ञानके आचारादिक वारा भेद हैं जैसे आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृदश, अनुत्तरोपपादिक दश, प्रश्नव्याकरण, विपाक यत्र, दृष्टिवाद अंगवाह श्रुतज्ञानके भी बहुत भेद हैं. जैसे सामार्थिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक, इत्यादि अनेक भेद हैं. जैसे करदमें रत्नोंको रखते हैं वैसे ये आचार्य इन आगमरत्नोंको अपने हृदयमें धारण करते हैं इसलिय ये रत्नोंके

करंड के समान शोभते हैं, जो जो प्रस्तुत विषय है उसमें सत, संख्या, क्षेत्र, इत्यादि अनुयोगोंकी योजना कर उसका विवेचन करनेमें इनकी बुद्धि कुशल रहती है

वत्ता कत्ता च मुणी विचित्तसुदधारओ विचित्तकहो ॥

तह् य अपायविदण्हू मइमंपणो महाभागो ॥ ५०० ॥

विजयोदया—वत्ता वत्ता । कत्ता य कर्ता च विनयवैयाघृत्ययोः । विचित्तसुदधारओ विचित्रं श्रुतं प्रथमानुयोग, करणानुयोगश्चरणानुयोगो, द्रव्यानुयोग इत्यनेन विकल्पेन । विचित्तकहो विचित्राया कथया निरूपणा अस्य स विचित्रकथः । नञ् च 'अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभक्ते' इत्यनेनैव अवगतत्वात् किमेत 'विचित्तसुदधारणो' इत्यनेन ? नैप दोषः । पूर्वसूत्रे श्रुतकेवली निर्वापकत्वेनोक्तः । अतया तु असमस्तश्रुताचार्योऽपि एवंभूतो निर्वापको भवतीति व्याख्यायते तेन न पुनरुक्तता । तद् य तथा च । आपायविदण्हू रत्नत्रयातिचारज्ञः । मइसंपणो स्वाभाविक्या बुद्ध्या सम्पन्नित । महाभागो स्ववशो महात्मा ॥

मूलारा—वत्ता वत्ता प्रतिपादनकुशल । कत्ता कर्ता विनयवैयाघृत्ययोः । विचित्तसुदधारओ विशिष्टं प्रथमानुयोगादिभेदेन चित्रमाश्रयकारि श्रुतकेवलिनिर्यापकेरुक्तं अवधारयता । अथवा विचित्रं श्रुतं परसमयादिशालं । विचित्त कथो विचित्राया कथया निरूपकः । न क्षेत्रयो पौनरुक्त्यं शक्यं पूर्वसूत्रे हि श्रुतकेवली निर्यापक उक्तः, इह पुनर्युगानुरूपश्रुतधरोऽपि । आयापायविदण्हू रत्नत्रयातिचारज्ञः । मइसंपणो स्वाभाविकबुद्धिसंयुक्तः । महाभागो स्ववशो महापुण्यो वा ।

अर्थ—ये आचार्य वक्तृत्व गुणसे युक्त होते हैं विनय और वैयाघृत्य करते हैं प्रथमानुयोग, करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इस प्रकारके श्रुतज्ञानके धारक होते हैं, नाना प्रकारकी विचित्र कथायें कहने में प्रवीण रहते हैं शंका—'अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभक्ते' इस गाथामें ही वे महाज्ञानी होते हैं ऐसा सूचित होता है, तो पुनः 'विचित्तसुदधारणो' यह विशेषण क्यों ग्रथकारने गाथामें दिया है ? इसका उत्तर यह है—पूर्व गाथामें श्रुतकेवली निर्वापकाचार्य होते हैं ऐसा कहा है और इस सूत्रसे असमस्त श्रुतज्ञान जिनको है ऐसे आचार्य भी निर्वापक होते हैं ऐसा सूचित होता है, इसलिये यहां पुनरुक्त दोष नहीं है, यह निर्वापकाचार्य रत्नत्रयके अतिचारोंके ज्ञाना होते हैं, स्वाभाविक बुद्धिमान् होते हैं और जितेन्द्रिय महात्मा होते हैं.

पगदे णिस्सेसं गाहुगं च आहरणहेदुजुत्तं च ॥  
अणुसासेदि सुविहिदो कुविदं सण्णिव्वेमाणो ॥ ५०१ ॥

कथानां कथने दक्षो हेयादेयविशारदः ॥  
कुद्धं शास्ति यतिर्धीरः प्रकृतप्रतिपादकः ॥ ५१७ ॥

विनयोदया—अणुसासेदि अणुशास्ति । पगदे वक्कु प्रारब्धे वस्तुनि ॥ णिस्सेसगाहुगं ममस्तमववो धय सत्तवु शासनं करोति । आहरणहेदुजुत्तं च । दृष्टातेन हेतुना च । युक्त एतस्माद्धेतोरिदमेवैतदिति युक्त्याणुशास्ति सुविहितो यति । कुविदं कुपित । सण्णिव्वेमाणो सम्यक्प्रशमयन् सम्यक्प्रसादमुपनयन् ।

मूलारा—पगदे वक्कु प्रारब्धे वस्तुनि । णिस्सेसं समस्तं हेयमुपादेयं च । गाहुगं भाणं अथवा । णिस्सेसं गाहुगं समस्तावबोधकं । आहरणहेदुजुत्तं दृष्टान्तेन लिंगेन चोपपन्नं एतस्माद्धेतोरिदमेवैतदिति युक्त्याणुशास्ति इत्यर्थः । कुविदं कुद्धं क्षपकयाति । सण्णिव्वेमाणो सम्यक्प्रशमयन् ॥

अर्थ—जिस वस्तुका विवेचन करनेके लिये प्रारभ किया होगा उस वस्तुके समस्त अंगोपांगोंका स्वरूप दृष्टांत और शुक्ति देकर कहता है, इस हेतुसे इस वस्तुका ऐसा ही स्वरूप है इसके स्वरूपसिद्धिके लिये ऐसी शुक्ति है इत्यादि रूपसे जो कथन करता है वह यति कुपित क्षपकको अपनी मधुर वाणीसे प्रसन्न कर सकता है.

णिद्धं मधुरं गम्भीरं मणप्पसादणकरं सवणकतं ॥  
देइ कंहं णिव्ववग्गो सदीसमण्णाहरणहेउं ॥ ५०२ ॥  
गंभीरां मधुरां अब्बां शिष्यचित्तप्रसादिनीं ॥  
सुखकारी ददात्यस्मै स्मृत्यानयनकारिणिम् ॥ ५१८ ॥

विजयोदया—णिद्धं प्रियवचनबहुलतया स्निग्धं । मधुरं अनतिक्रोशरश्चरतया मधुर । गंभीर अर्थगद्गदतया । मणप्पसादकरणं मन प्रसन्नदिविधायिनी । सवण कत श्रुतिसुखं । देदि कथं कथा कथयति । णिव्ववग्गो निर्वापक । सदीसमण्णाहरणहेदु । स्मृतिसमानयनकारण । पूर्वोध्यस्तश्रुतार्थोच्चरस्मरण इह स्थितिरिति शृण्वते मतिवचनो वा । 'मति' स्मृति' संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यन्वर्थोत्तरम्' इति वचनात् । तेन बुद्धिसमात्तयनकारणमित्यर्थः इति केचित् ।

मूलारा—सवणकर्तं श्रुतिद्वयं । देदि कथयति । कथं कथा । सदीसमण्णाहरणहेटुं स्सुत्ते' पूर्वाभ्यस्तगीतार्थगोचरस्य स्मरणस्य मतेर्वा समानयनकारणम् ॥

अर्थ—आचार्य बहुत प्रिय वचन होनेसे स्निग्ध, कठोराक्षर न होनेसे मधुर, बहु अर्थयुक्त होनेसे गंभीर, मनको आनंदित करनेवाली, कर्णको सुख देनेवाली, ऐसी कथा कहते हैं, जिस कथाको सुनकर क्षपकको पूर्वकाल में अभ्यस्त श्रुतज्ञानके विषयका स्मरण होगा ऐसी कथा वे कहते हैं,

णिज्जवगो इत्येत्सुत्रपद व्याचष्टे—

जह पक्खुभिदुम्मीए पोदं रदणभरिदं समुद्वम्मि ॥

णिज्जवओ धारेदि हु जिदकरणो बुद्धिसंपण्णो ॥ ५०३ ॥

सुखकारी दधात्येनं मज्जंतं दुस्तरे भवे ॥

पूतरत्नभूतं पोतं कर्णधार इवार्णवे ॥ ५१९ ॥

विजयोदया—जह पक्खुभिदुम्मीए यथा प्रचलिततरंगे । समुद्वम्मि समुद्रे । पोद पोत नावं । रदणभरिदं रत्नै-  
भरितं णिज्जवगो निर्योपक । धारेदि खु धारयति । जिदकरणो परिचितक्रिय । बुद्धिसंपण्णो बुद्धिसपन्न बुद्धिमान् ॥

मूलारा—पक्खुद्धिदुम्मीगे प्रक्षुभितोर्भिके । पोद प्रवहणं । णिज्जवगो निर्योपकः कर्णधार इत्यर्थ । जिदकरणो परिचितक्रियः ॥

णिज्जवगो इस सूत्रपदका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—जिसमें तरंग उछल रहे हैं ऐसे समुद्रमें नौका चलानेका जिसने खूब अभ्यास किया है ऐसा बुद्धिमान नाविक रत्नों से भरी हुई नौकाको इवनेसे रक्षण करता है,

तह संजमगुणभरिदं परिस्सहुम्मीहिं खुभिदमाइच्चं ॥

णिज्जवओ धारेदि हु महुरेहिं हिदोवदेसेहिं ॥ ५०४ ॥

शीलसंयमरत्नाढ्यं यतिनावं भवार्णवे ॥

क्षिमज्जंतो महाप्राज्ञो विभर्ति स्वरिनाविकः ॥ ५२० ॥

विजयोदया—तह संजमगुणगरित्र तथा संयमेन गुणैश्च भरित संपूर्ण । संयमस्य सर्वेभ्यो गुणेभ्यः प्रधानत्वात् संयमशब्दस्य पूर्वनिपात । परिस्सहृम्मीहिं श्रुतिपासादु खानि परीपद्वास्ते । ऊर्मय इवानुक्रमेणोद्गच्छस्य ऊर्मियप-  
देवो लभन्ते । परीपद्वास्तेषु खुमिद चालन । आहद्व तिर्यग्भूत यतिपोत ॥ गिज्जगो धोदि खु निर्यापकसुरिवायति ।  
मधुरेहिं द्विदोवदेसहिं मधुरेहितोपदेशे ॥

मूलारा—परीसहृम्मीहिं परीपद्वा ऊर्मय इवानुक्रमेणोद्गच्छन्तीति कृत्वा । खुदिं चलित । आविद्वं तिर्यग्भूतं  
अस्मितं वा ।

अर्थ—वैसे संयमगुणोंसे भरी हुई यह क्षपकनौका क्षुधा, व्यास, वगेरह तरंगोंसे क्षुब्ध होकर, तिरछी हो-  
रही है, ऐसे समयमें निर्यापकाचार्य मधुर हितोपदेशके द्वारा उसको धारण करते हैं अर्थात् उसका संरक्षण करते हैं,

धिदिवलकरमादहिद महुरं कण्णाहुदिं जदि ण देइ ॥

सिद्धिसुहमावहंती चचा साराहणा होइ ॥ ५०५ ॥

कर्णाहुतिं न चेदत्ते धृतिस्थामकरीं गणी ॥

आराधनां सुवाहत्रौ जहाति क्षपकस्तदा ॥ ५२१ ॥

विजयोदया—धिदिवलकरं धृतिवल्कारिणीं स्पृते स्थैर्यं धृतिस्तस्या अवष्टम्भकारिणी । आदहिदं आत्म  
हिता । मधुरं मधुरा । कण्णाहुदिं कर्णाहुति । जदि ण देवि यदि न दद्यात् । सिद्धिसुखानयनकारिणी आराहणा चचा  
होदि त्यक्ता भवति ।

मूलारा—धिदिवलकरं स्पृतस्थैर्यावष्टम्भकारिणीं । कण्णाहुदिं कर्णयोराहुतिर्द्वौम इव संतर्पकत्वान् कर्णजप-  
मित्यर्थः । आवहन्ती कुर्वती ॥

अर्थ—निर्यापकाचार्य की वाणी धैर्य उत्पन्न करती है, आत्माके हितका वर्णन करती है मधुर और  
कर्णाल्हादक होती है, आचार्य यदि ऐसे वाणीका उपयोग न करेंगे तो मुक्तिसौख्यकी प्राप्ति करनेवाली आराधना-  
ओंका क्षपक त्याग करेगा,



प्रस्तुतोपसंहाराया—

इय णिव्ववओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदायरिओ ।

होइ य किन्ती पधिदा एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स ॥ ५०६ ॥

क्षपकस्य सुखं दत्ते कुर्वन्त्यो हितदेशनाम् ॥

निर्योपकं महाप्राज्ञं तमाहुः सुखकारणम् ॥ ५२२ ॥

ददाति शर्म क्षपकस्य सूरिर्निर्योपकः सर्वमपास्य दुःखम् ॥

यतस्ततोऽसौ क्षपकेण सेव्यः सर्वे भजन्ते सुखकारिणं हि ॥ ५२३ ॥

इति सुखकारी ।

विजयोदया—इय एव । णिव्ववओ निर्योपकः । खवगस्स क्षपकस्य । णिज्जावओ होदि निर्योपको भवति ।

सदायरिओ सदाचार्यो निर्योपकत्वगुणसमन्वित क्षपकस्योपकारी भवतीत्युक्त्वा स्वार्थमपि तस्य सूत्रदर्शयति । होदि य

किन्ती पधिदा भवति च कीर्तिः प्रथिता । एदेहिं गुणेहिं जुत्तस्स आचारवत्त्वादिभिर्गुणैर्युक्तस्य ॥

प्रकृतसुखसंहारार्थकरणद्वारेण निर्योपकस्य स्वार्थविद्धिं दर्शयति—

मूळारा—पहिदा ग्रथिता प्रख्याता । एदेहिं आचारवत्त्वादिभिरेष्टाभिः ॥ निर्योपकः ॥

प्रस्तुत प्रकरणक्री उपसंहार गाथा—

अर्थ—इस प्रकारसे क्षपकका मन आल्हादित करनेवाले आचार्य निर्योपक होसकते हैं अर्थात् निर्योपकत्व

गुणधारक, आचार्य क्षपकका समाधिभरण साध सकते हैं. आचारवत्त्वादि गुणोंका यहां तक वर्णन किया इन

गुणोंसे परिपूर्ण आचार्य की जगतमें कीर्ति फैल जाती है जैसे इन गुणोंसे आचार्य क्षपकके ऊपर उपकार करते

जैसे इन गुणोंसे उनका उज्ज्वल यश भी जगतमें वृद्धिगत होता है.

इय अट्टगुणोवेदो कसिणं आराधणं उवविधेदि ॥

खवगो वि तं भयवदी उवगूहदि जादसंवेगो ॥ ५०७ ॥

शिवसुखमनुपममपरुजममलं व्रतवति शमवति हितकृति सकलं ॥

वितरति यत्तिपतिरिति गुणकलितः शमयमदमयमुनिजनमहितः ५२४

गुणैरमीभिः कलितोष्टभिर्जनैः समेत्य (?) कीर्तिः शशिरश्मिनिर्मलाम् ॥  
आराधनासिद्धिरांगनासखीं ददाति सूरिः क्षपकाय निश्चितम् ॥ ५२५ ॥

इति सुस्थितः

विजयोदया—इय एव । अदृगुणोवेदो आचारवानित्याद्याद्युणोपेत सूरि । कसिण कृत्स्ना । आराधण आराधना । उचविधेदि दौक्यति । खगो वि क्षपकोऽपि । त ता भगवतीं सकलवाधापनयनमाहात्म्यवतीं । उचगृह्णदि आलिगति । जादसवेगो उत्पन्नससारभीरुत्व । सुष्टिद सम्मतम् ॥

यथोक्तगुणसूरः सकलाराधनासंपादकत्वं भवभीतस्य च क्षपकस्य तदालिगनमुपदिशन्नाह—

मूलरा—उचविधेदि उपढौक्यते । भयवर्दीं सकलवाधापनयनमाहात्म्यवतीम् । उचगृह्णदि आलिगति ॥  
सुस्थितः । सुव्रत ॥ १७ ॥ अंकत ॥

अर्थ—इस प्रकार आठ गुणोंसे पूर्ण आचार्यका आश्रय करनेसे क्षपकको चार प्रकारकी आराधना प्राप्त होती है, और जिसको ससारभय उत्पन्न हुआ है ऐसा वह क्षपक भी संपूर्ण वाधाओंका नाश करनेवाली, अपूर्व माहात्म्ययुक्त भगवती-बंध आराधनाको आलिगन देता है.

एव सुष्टिद इत्यतद्व्याख्येत, इत उत्तरं उवसंपा इत्येतद्व्याख्यायते—

एवं परिमगित्ता गिज्जवयगुणेहि जुत्तमायरियं ॥

उवसंपज्जइ विज्जाचरणसमगो तगो साहु ॥ ५०८ ॥

निर्यापकं गुणोपेतं मार्गयित्वातिरुत्तनत् ॥

उपसंपत्यसौ सूरिर्जानचारित्रमार्गकः ॥ ५२६ ॥

विजयोदया—एवं परिमगित्ता अन्विष्य । कं आयरिय आचार्य । कीदृग्भूत ? गिज्जवयगुणेहि निर्यापकगुणै-  
राचारवत्त्वादिभि समन्वित । उवसंपज्जइ द्वौक्यते । क ? तगो स । साहु साधु । कीदृग्भूत ? विज्जाचरणसमत्थो  
ज्ञानेन चारित्र्येण समग्र संपूर्ण ।

अथैवं निर्यापकाचार्यं सम्यक्परीक्ष्य तस्मै स्वं समर्पयतः क्षपकस्य गाथापट्केनेतिकर्तव्यताक्रममुपदिशति—  
मूलरा—परिमगित्ता अन्विष्य । उवसंपज्जइ उपतर्पति आश्रयतीत्यर्थः । तगो मः । उत्तमार्थोद्यतः ॥

अर्थ—इस प्रकार समग्र ज्ञान और चरित्रका धारक वह क्षपक आचारवत्वादि आठ गुणोंसे पूर्ण आचार्यका शोधकर उनका आश्रय करता है.

गुरुकुले आत्मनिसर्ग उवसपानाम समाचार । तत्कम निरूपयति—

तिर्यणसव्वावासयपडिपुणं तस्स किरिय किरियम्मं ॥

विणएणमजलिकदो वाइयवसमं इमं भणदि ॥ ५०९ ॥

कृतिकर्म विधायासौ एरिपूर्णं त्रिमुद्धितः ॥

आचार्यगृहभं वक्ति मस्तकारोपितांजलिः ५२७ ॥

विजयोदया—तिर्यणसव्वावासयपडिपुणं किरिय तस्स किरियम्मं । तस्य निर्यापकस्य सूरं कृतिर्म वदनां कृत्या । कीदृश तिरियणसव्वावासयपडिपुण मनोवाक्कायात्मसर्वविशयकप्रतिपूर्णं सामायिक, चतुर्विंशतिस्त्वो वदना, प्रतिक्रान्, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, इत्येते मनोवाक्कायविक्रमेण विविधा पडावश्यकसंज्ञिता । मनसा सर्वसावद्य योगनिवृत्ति, वचसा सर्वं सावज्जजोगं पक्कन्नामि इति वचनं । कायेन सावद्यक्रियाननुष्ठान, मनसा चतुर्विंशति तीर्थकृता गुणानुसरण 'लोगस्सुज्जोययेर' इत्येवमादीना गुणाना वचन । ललाटविन्यस्तकस्युकुलता विनेभ्य कायेन । वदनीयगुणानुसरणं मनोवदना । वाचा तद्गुणमाहात्म्यप्रकाशानपरवचनोच्चारण । कायेन वदना प्रदक्षिणीकरण कृतानतिश्च । मनसा कृतानतिचाराधिबृत्ति । हा दुष्कृतमिति वा मन प्रतिक्रमण । सूत्रोच्चारण वाक्यमतिक्रमण । कायेन तदनाचरण कायप्रतिक्रमण । मनसातिचारादीना ऋरिण्यामि इति मन प्रत्याख्यान । वचसा तन्नाचरिण्यामि इति उच्चारण । कायेन तन्नाचरिण्यामि इत्ययीकार । मनसा शरीरे ममेवभावनिवृत्ति मानस कायोत्सर्ग । प्रलम्भुजस्य, चतुरगुलमात्रपादातरस्य निरुचलावस्थान कायेन कायोत्सर्ग । कायापायनिरासमकृत्वा एकांते गुणवासीते प्रसन्नचेतसि शनैरगस्य शरीरं भूमिं च प्रतिलेख्य अदूरे असमीपे आसित्वा कृताजलि भगवन्कृतिकर्मवदनामिच्छामीति आलोच्य अनुज्ञात शनैरुत्थाय मूर्धन्यस्तकर अविलम्बितमनुदुत्तं सामायिक पठेत् । सूत्रानुगत, अविचल, अविहृत स्थित कृतकायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्त्ववममिधाय सूरिणानुरक्तमन्त गुरुस्तवन पठेत् इत्येया कृतिर्मवदना । वंदनोत्तरकाल विणपण विनयेन अजलि मन्त्रो मुकुलीकृताजलि । वाइयवसम आचार्यगृहभ । षण इद । भणदि ब्रवीति इति ॥

गुरुकुले आत्मनिसर्ग उपमपन्नाम समाचारस्तक्रमं निरूपयति—

मूलारा—तिर्यणसव्वावासयपडिपुणं मनोवाक्कायकृताचार्यक्रियापरिपूर्णं, आचार्यक्रिया चात्र सिद्धयोग्या-

चार्यशास्त्रिमहोदयः । इत्यमेव श्रीचन्द्रमुनिविरचितनिबन्धे व्याख्यानात् । किदिकम्मं वंदनां । अंजलिक्कदो मुकुलीकृतजलिः  
वायगवसदं वाचकवृषमं आचार्यप्रधानं । इण इदं वल्ल्यमाणं वेत्ति ब्रवीति ॥

गुरुकुलमें आपना आत्मसमर्पण करना यह उपसंपा शब्दका अभिप्राय है, अतः इस उपसंपा समाचारका क्रम आचार्य दिखते हैं—

अर्थ—मन, वचन और शरीरके द्वारा सर्व सामायिकदि छह आवश्यक कर्म जिसमें पूर्णताको प्राप्त हुए हैं ऐसा कृतिकर्म कर अर्थात् वंदना करके विनयसे हाथ जोड़कर श्रेष्ठ आचार्य को क्षपक आगे लिखे हुए सूत्रके अनुसार विज्ञप्ति करता है—

सामायिक, चतुर्विंशतिस्त्व, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक क्रियाएं मनोयोग, वचनयोग और काययोग को निर्मल करके करने चाहिये, अर्थात् प्रत्येक आवश्यकके योगके संबंधसे तीन तीन भेद होते हैं, मनके द्वारा सर्व पापयोगोंका त्याग करना, सर्व सावधयोगोंका मैं त्याग करता हूँ ऐसा वचनसे उच्चार करना, शरीरसे सर्व सावध क्रियाओंका त्याग करना ऐसे सामायिकके तीन भेद होते हैं, मनसे नोबीस तीर्थकरोंके गुणोंका स्मरण करना, वचनसे 'लोयस्सुज्जोयये' इत्यादि श्लोकोंमें कही हुई तीर्थकर स्तुति बोलना, ललाटपर हाथ जोड़कर जिनेंद्र भगवान को नमस्कार करना ऐसे चतुर्विंशति स्तुतीके तीन भेद होते हैं,

वंदना करने योग्य गुरुओंके गुणोंका स्मरण करना यह मनोवंदना है, वचनोंके द्वारा उनके गुणोंका सहस्र प्रगट करना यह वचनवंदना है, और प्रदक्षिणा, करना, नमस्कार करना यह कायवंदना है, किये हुए अति-पापोंका मनसे त्याग करना यह मन-प्रतिक्रमण है हाथ हाथ मैने पापकार्य किया है ऐसा मनसे विचार करना यह मनःप्रतिक्रमण है, प्रतिक्रमणके सूत्रोंका उच्चार करना यह वाक्य प्रतिक्रमण है, शरीरके द्वारा दुष्कृत्यों का आचरण न करना यह कायकृत प्रतिक्रमण है,

मनसे मैं अतिचारोंको भविष्यकालमें नहीं करूंगा ऐसा विचार करना यह मनःप्रत्याख्यान है वचनसे अतिचार मैं भविष्यमें नहीं करूंगा ऐसा बोलना अर्थात् भविष्यकालमें मैं अतिचार नहीं करूंगा ऐसा कहना यह वचनप्रत्याख्यान है, शरीरके द्वारा भविष्यकालमें अतिचार नहीं करना यह कायप्रत्याख्यान है यह शरीर मेरा नहीं है ऐसा मनमें विचार करना अर्थात् शरीरपर मनसे ग्रस दूर करना यह मनःकायोत्सर्ग है, मैं शरीरका त्याग

एवं कृते स्वनिक्षेपे ततो ब्रूते गणेश्वरः ॥

निर्विघ्नमुत्तमार्थं त्वं साधयस्व महामते ॥ ५३१ ॥

विजयोदया—एव कवे गिसने स्वभावत्यागे कृते । केण तेण सुविहिदेण तेन सुचारितेन क्षपकेण । वायओ मणइ सुरिदेति । अण्यार त्यक्तभावागारत्वादनगारः तस्य संवोधनं । उत्तमहुं उत्तमं प्रयोजनं रत्नत्रयं द्रव्यं । साधेहि साधय । तुमं त्वं । अविग्घेण अविघ्नेन ।

आचार्य आह—

मूलारा—गिसने आत्मभारत्यागे । उत्तमहुं उत्कृष्टप्रयोजनं रत्नत्रय । साधेहि साधय संपूर्णकुरु । तुमं त्वं ॥

अर्थः—इस प्रकार जब क्षपक अपना अभिप्राय आचार्यके पास जाकर व्यक्त करता है तब “हे मुने तुमने बाह्य और अर्न्ततर परिग्रहोका त्याग किया है, इसलिये अब तुम निर्विघ्नतासे उत्तम प्रयोजन जो रत्नत्रय उसको सिद्ध करो.

धण्णोसि तुमं सुविहिद एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ ॥

संसारदुक्खमहणीं धेत्तुं आराहणपडायं ॥ ५३३ ॥

धन्यं स त्वं वंदनीयो बुधानां । साधो ! बुद्धिनिदिचता चास्तमोहः ॥  
यस्यासन्नाराधनां सिद्धिदूती तीक्ष्णां जन्मरामशस्त्रीं ग्रहीतुम् ॥ ५३२ ॥

विजयोदया—धण्णोसि तुमं पुण्यवानसि भवान् । सुविहिद तेण परिसओ जस्स णिच्छओ जाओ । उपल-  
क्षणपरं मनोक्षाहारग्रहणे ईदृग्यस्य निश्चयो जात । संसारदुक्खमहणी संसारे चतुर्गतिपरिभ्रमणे यानि तु खानि तन्मर्दनो  
द्यता । धेत्तु ग्रहीतुं । आहारणापडागं आराधनापताकां । रत्नत्रयाराधनया कर्मोण्यपयान्ति । तदपगमात्तदुःखनिवृत्ति-  
प्रति भावः । उपसया ॥

सुरिराराधकं प्रोत्साहयति—

मूलारा—संसारदुक्खमधणीं चतुर्गतिभ्रमणक्लेशविनाशोद्यता । रत्नत्रयाराधनया हि कर्मोण्यपगच्छन्ति  
तदपगमाच्च तदुःखनिवृत्तिरिति भावः ।

अर्थ— हे क्षपक तुम बड़े पुण्यवान हो, क्योंकि, चतुर्गतिओमें घुमानेवाले इस संसारमें उत्पन्न होनेवाले

दुःखोंका नाश करनेवाली आराधनापताका हाथमें ग्रहण करनेका तुमने निश्चय किया है. इस रत्नत्रयरूप आराधनासे कर्मोंका नाश होता है. कर्मोंका नाश होनेपर दुःखका अभाव होता है.

अच्छाहि ताम सुविहिद वीसत्यो मा य होहि उव्वादो ॥  
पडिचरएहि समंता इणमठं संपहारेमो ॥ ५१४ ॥  
महामते ' तिष्ठ निराकुलः स्वं प्रयोजनं यावदिदं त्वदीयं ॥  
समं सहायैरवधारया मस्तत्त्वेन कृत्यं हि परीक्ष्य सद्भिः ॥ ५३३ ॥  
इति उपसर्पणसूत्रम् ।

विजयोदया—अच्छाहि ताव सुविहिद आस्त्व तावद्यते । वीसत्यं विश्वस्तं । मा य होहि उव्वादो व्याकुलितचित्तो मा च भू । पडिचरोगेहि समं प्रतिचारकैः सह । इणमठं इदं प्रयोजनं । संपहारेमो संप्रधारयामः । उवसंपा निरूपिता ।

सूरिः क्षपकमाश्रययन्नाह—

मूलारा—अच्छाहि आस्त्व तिष्ठ । वीसत्यो विश्वस्तः । उव्वादो व्याकुलितचित्तः । इणमठ इदं प्रयोजनं तव । संपहारेमो पर्यालोचयामः ॥ उवसंपत् ॥ सूत्रतः ॥ १८ ॥ अंकत ॥ ६ ॥

अर्थः—हे क्षपक ! अब तुम निःशंक होकर हमारे संघमें ठहरो. अपने मनमेंसे खिन्नताको दूर भगाओ. हम प्रतिचारकोंके साथ तुमारे विषयमें अवश्य विचार करेंगे. इस प्रकार उपसंपाधिकार समाप्त हुआ.

इत उत्तरं पडिच्छा इति सूत्रपदव्याख्या—

तो तस्स उत्तमे करणुच्छाहं पडिच्छदि विदण्हू ॥  
खीरोदणदवुगहदुण्डुण्णाए समाधीए ॥ ५१५ ॥  
आचार्यः करणोत्साहं विज्ञातुं तं परीक्षते ॥  
जिघृक्षाविचिकित्साभ्यामुत्तमार्थं समाधये ॥ ५३४ ॥  
इति परीक्षणम् ।

विजयोदया—तो पश्चात् । तस्स तस्य क्षपकस्य । उत्तमष्टे करणुच्छाहं रत्नत्रयाराधनाक्रियोत्साहं । पडिच्छदि परीक्षते । विदण्ह मार्गशः । खीरोदणद्वुगहदुगुलणए क्षीरौदनद्वयग्रहणं मनोबाहारयहणोपलक्षणं । जुगुप्सापरेण समाधीए समाधिनाहारागतं लौल्यमस्य किं विद्यते न वेति परीक्षते । इयमेका परीक्षा । समधिणिमित्तं पडिच्छा ।

अयं धूरिः किमाहारैऽयं लौल्यमस्ति न वेति समाध्यर्थं परीक्षते इत्येकया गायया सूत्रयति—

मूला—विदण्ह मार्गशः । खीरोदणद्वुगहदुगुलणए क्षीरौदनद्वयं मनोज्ञाहारोपलक्षणं तस्य अवग्रहो ग्रहणं तत्र विचिकित्सा निदा तथा । अथवा उत्तुष्टो ग्रह उद्ग्रह आसक्तिः मनोज्ञाहारासक्तिर्निदाभ्यामित्यर्थः । समाधीए समाधिनिमित्तं । उक्तं च—

तत्तोनन्तमार्ये परिणमवृद्धिपरीक्षणत्सूरिदारवोध ।

दृव्यादिसद्रव्यरमोपयोगे रत्या जुगुप्सा विधिना समार्थो ॥

परीक्षा । सूत्रतः ॥ १९ ॥ अंकतः ॥ १ ॥

इसके आगे पडिच्छा नामक सूत्रपदकी व्याख्या लिखते हैं—

अर्थ—मार्गज्ञ आचार्य यह क्षपक रत्नत्रयाराधनाकी क्रिया करने में उत्साही है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं, यह क्षपक समाधिभरणके लिये उद्युक्त हुआ है परतु दूधमात वगैरह मनोहर मिष्ट आहारोंमें यह अभिलाषवां है या उससे विरक्त है इसका भी आचार्य निर्णय करते हैं, यह समाधिके निमित्त परीक्षा है

खवयस्सुवर्सपणस्स तस्स आराधणा अविकखेवं ॥

दिव्वेण णिमित्तेण य पडिलेहदि अप्पमत्तो सो ॥ ५१६ ॥

आराधनागतं क्षेमं क्षपकस्य समीयुषः ॥

दिव्येन निःप्रमादोऽसौ निमित्तेन परीक्षते ॥ ५३५ ॥

निजयोदया—सवर्गसं क्षपकस्य उवसंपणस्स अत्मातिकमुपाश्रितस्य । तस्स तस्य । आराधणा अविक्रमेव आराधनाया अविशेषं । पडिलेहदि परीक्षते । क ? सो स सुनिर्निर्वाणः । अप्पमत्तो अप्रमत्त । केण दिव्वेण देवतोपदेशेन । णिमित्तेण निमित्तेन वा इयमेका परीक्षा ।

अथ स्वपादमूलमुपाश्रितस्य क्षपकस्याराधनानिर्विघ्नना राज्यादिकं च परीक्ष्य स्वीकारं करोतीति प्रतिलेसा गायह्वयेनोपदिशति—

मूलारः—आराधना अवच्छेदं आराधनाया अव्याक्षेपं निर्विघ्नतां । दिव्येण देवतोपदेशेन, निमित्तेण य 'अंगं सरं वंजणं लक्ष्मणं च छिण्णं च भोमं सिमिण्णतरिकरं' इत्यष्टांगनिमित्तेन वा पडिलेहदि परीक्षते निरूपयति वा ।  
अर्थ—हमारे संघका इस क्षपकने समाधिफलिये आश्रय लिया है इसकी समाधि निर्विघ्न समाप्त होगी या नहीं इस विषयका भी आचार्य देवताके उपदेशसे अथवा शुभाशुभ निमित्तोंसे निर्णय करलेते हैं. यह एक परीक्षा है

रज्जं खेचं अधिवदिगणमपपाणं च पडिलिहित्ताणं ॥

गुणसाधणो पडिच्छदि अप्पडिलेहाए बहुदोसा ॥ ५१७ ॥

तं गृह्णति मार्गवेदी गणं स्वं राज्यं क्षेत्रं भूमिपालं निरूप्य ॥

साधुं सुरेगृह्णतो निःपरीक्षं चित्रा दोषा दुर्निचारा भवन्ति ॥ ५१६ ॥

इति निरूपणम् ।

विजयोदया—रज्जं खेचं अधिवदिगणमपपाणं च राज्यं, क्षेत्र, देश ग्रामनगरादिकं अधिपतिं गणमात्मनं च । पडिलिहित्ताणं परीक्ष्य । गुणसाधणो गुणान्तरमपपाणं साधयति य स्मरि स पडिच्छदि प्रतिगृह्णाति । क ! क्षपकं । अन्यत्र गुणसाधणं इति पाठ गुणान्साधयितुं उद्यतं साधुं प्रतिगृह्णाति । अप्पडिलेहाए उक्ताया परीक्षाया अभवे । बहुदोसा वहवो दोषा भवन्ति के ते इति चेदुच्यते । निरस्ताद्वारगृह्णो न वेति यदि न परीक्षित, आहारे दुष्णावाञ्चकदिनं तेमेव चित्तयतीति कथमारोपकं स्यात् । क्षुत्पिपासापरीपहावप्यभासहानाव्युत्कर्षं धर्मद्रूपणं कुर्यात् । आराधनाया व्याखेपो भवति न देयपरीक्ष्य यदि त न त्याजयति तस्यापि न कार्यसिद्धिः स्वयं च निधत्ते जनेन । राज्यक्षेत्रादीनां शुभाशुभं परीक्षा येन कृता सोऽशुभं चेत्पश्यति तस्य राज्यक्षेत्रादिकं अप्यदुर्दिश्यं तं गृहीत्वा याति । तथा च तस्योपकारको भवति । अपरीक्षायां तु राज्यादिभ्यो स च क्षपक स्वयं च क्लिश्यति । गणस्य चोपद्रव यदि पश्यति, आत्मनो वा न प्रारभते कार्यं । अपरीक्षितकारी सूरिनं तस्योपकारको न चात्मन इति दोषा ॥

भाविसमाधिनिर्णयार्थं परीक्षान्तरमिदं—

मूलारः—येन देशग्रामनगरादिकं । अद्विदिं अधिपतिं राजानं । गण संघ । अपपाणं आत्मशरीरं । पडिलिह-  
रणं परीक्ष्य । गुणसाधणो सम्यक्त्वादिगुणसंपादक. स्मरि. गुणसाधणमिति पाठे गुणान्साधयितुमुद्यतं क्षपकं । पडि-



छदि प्रतिगृण्णाति । अप्पडिलेहाए उकायाः परीक्षाया अभवे बहुदोसा वहवोऽसमाधिकरा दोषाः स्यु । तथा हि—  
 निरस्ताहावृण्णो न वेति यदि न परीक्षित तदा आहारे तृणावात्रकदिवं तमेव चितयति इति कथमारोपक- स्यात् ।  
 क्षुत्पिपासापरीपद्वावष्टभासहनात्प्लुर्वन् धर्मदूषणं च कुर्यात् । आराधनाया ज्याक्षेपो भविष्यति न वेत्सरीस्य यदि ते  
 त्याजयति । तदपि न कार्यसिद्धिः । स्वयं च निचये जनेन । राज्यादीना शुभाशुभपरीक्षा येन कृता सोऽशुभं वेत्स्य  
 स्यति तदा शुभं राज्यादिकमुद्दिश्य तं गृहीत्वा गच्छति तथा च तस्योपकारक स्यात् । अपरीक्षाया तु राज्यादिश्रेयो च  
 क्षपकः स्वयं च मरिः क्लिश्यते गणस्य चोपद्रवं यदि पश्यति स्वयं वा तदा न प्रारभते कार्य । तदपरीक्षितकारी सूरिनं  
 तस्योपकारको नापि स्वस्येति ॥ प्रतिष्ठेरा ॥ सूत्रतः । २० । अंकतः २ ॥

अर्थ—राज्य, गाँव, गृह, वगैरह स्थान, राजा, गण और स्वयं इन सबकी परीक्षा कर समाधिके लिये  
 क्षपकका स्वीकार करते हैं यदि राज्यादिक क्षपककी समाधिमाघनेके लिये अनुकूल हो तो सम्यक्त्वादि गुणोंको  
 सिद्ध करनेवाले आचार्य सम्यक्त्वादि गुणोंको सिद्ध करनेके लिये उद्युक्त हुए क्षपकका स्वीकार करते हैं यदि इनकी  
 परीक्षा बिना करे ही क्षपकका स्वीकार करनेपर बहुदोष उत्पन्न होते हैं

आचार्य प्रथम क्षपककी वह आहारमें लपट है या नहीं इस का परीक्षण करते हैं

यदि वह आहारलपट होगा तो रातदिन आहारकाही चिंतन करेगा फिर वह आराधक कैसा होगा ?  
 क्षुधा परीपह, प्यासका दुःख सहन करनेमें असमर्थ होकर जोर जोरसे चिंछाएगा और धर्मको दूषण देगा।

क्षपकके आराधनामें विघ्न उत्पन्न हो गया न होगा इसका निर्णय यदि नहीं किया तो, क्षपकका विघ्न  
 उपस्थित होनेपर त्याग करेगा जिससे उसकी कार्य मिद्धि होगी नहीं और आचार्यकी भी निंदा होगी।

इस क्षपकके समाधिकार्यसे राज्यादिकका शुभ होगा या अशुभ होगा इसका भी परीक्षण आचार्य  
 करते हैं राज्यादिकका अशुभ होगा ऐसा दीखनेपर उस राज्यादिकका त्याग कर अन्य राज्यादिकका  
 आश्रय आचार्य लेते हैं, तब अन्य राज्यको भी वह समाधिकार्य हितकर होता है यदि शुभा  
 शुभकी परीक्षा नहीं की तो राज्यग्रंथ हो जानेपर क्षपकको संक्षेप होगा और आचार्यको भी संक्षेप होगा  
 यदि गण और स्वत को इससे उपद्रव होगा ऐसा मालुम हुआ तो इस कार्यका प्रारंभ नहीं करते हैं, परीक्षा  
 न कर प्रवृत्ति करनेसे क्षपकको च खुद आचार्यकी भी हानि होगी।

परीसान्तरे आपुच्छा इत्येतत्सूत्रपदं व्याख्ये—

पडिचए आपुच्छिय तेहिं णिसिद्धं पडिच्छेदे खवयं ॥

तेसिमाणापुच्छाए असमाधी होज्ज तिण्हं पि ॥ ५१८ ॥

आपुच्छय क्षपकं सूरिण्हं प्रतिचारकैः ।

अनुज्ञातमपुच्छायां त्रयाणां मनसः क्षतिः ॥ ५३७ ॥

इति पृच्छा ।

विजयोदया—आपुच्छा । पडिपरए प्रतिचारकान्यतीन । आपुच्छिय आपुच्छय रत्नत्रयाराधने अस्मानय सहायत्कामयन् प्राधूणको यति । साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणं च तीर्थकरनामकर्मणो मूलमिति भवद्भिरवगतमेव, ततो ब्रूत किमस्माभिरयमनुग्राहो न वेति, परार्थवन्तः परार्थबद्धपरिकरा हि प्रायेण लौकिका अपि किमुत यतयः । सकल-मासकमव्यलोकं संसारपंकानुत्तरादगाधादुच्चारयितुमुद्यतः । ‘अप्यहियं कायव्वं जइ सकइ परहिंयं च कायव्वमिति’ धवनां च । एतदनुग्राहोद्योगः किं कार्यं इति प्रष्टव्यं इति कथयति । तेहिं परिचारकैः । णिसिद्धं निष्ठुं अभ्युपगतं । पडि-च्छेदे इति पृष्ठमिति । खवयं क्षपकं । तेस्विमणापुच्छाए परिचारकाणामपरिभ्रमे तु । असमाधी होज्ज तिण्हं पि सूरैः क्षप-कस्य संशय एव असमाधि संक्षेपो भवेत् । अस्माभिरयमपरिगृहीत इति विनये वैयावृत्ये वा अनुद्योगादीना मम न भवति । एतस्मिन् इति क्षपकस्य संक्षेपो भवति । गुरोरपि संक्षेपो भवति, मयास्योपकारे प्रारब्धे सहायभावमिमे नोप-यसि पति । परिचारकाणां च संक्षेपो यदुज्जमसाध्यं कार्यमस्मान्गुरुर्ननुमोदयति । न बलायलमस्माकं परीक्षते इति ॥

अथ न सिद्धिरसहायस्येति सप्ताधिमारेणे गुणवत्तमं सहकरिणमपेक्ष्य क्षपकस्यात्मानं समर्पितवतः समाधिसिद्धिः, तत्रैतुष्ययुक्तेन दिव्यनिमित्तबलेन च सुनिमित्तबलेन च सुनिरूप्य स्वरहितकरणचणो निर्घोषकाचार्यस्तत्प्रतिप्रदणार्थं स्वराजमापृच्छयमेकया गाथया निरूपयितुमिष्टमाह—

मूलरा—आपुच्छिय आपुच्छय । तत्रभो यथा—अयं प्राधूणकः साधुः समाधिमारेणोऽस्मान्सहकारिणः कामयते । साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणं च तीर्थकरनामकर्मणः कारणमिदं भवद्भिः सुनिश्चितमेव । ततो ब्रूत किमस्माभि रयं अनुग्राहो न वेति । परार्थबद्धपरिकरा हि प्रायेण लौकिका अपि, किमु यतयः । सकलमासप्रमव्यलोकं दुःखान्धेरुत्तार-यितुमुद्यतः । ‘अप्यहियं कायव्वं जइ सकइ परहिंयं च कायव्वं’ इति वचनादेतदनुग्राहे उद्योगोऽवश्यकरणीय एवेति । णिसिद्धं निष्ठुमभ्युपगतं । असमाधी संक्षेपः ॥ तिण्हं पि सूरैः, क्षपकस्य, संघस्य च । तत्र मयास्योपकारे प्रारब्धे सहायभावमिमे नोपयान्तीति सूरैः संक्षेपः । अस्माभिरयमपरिगृहीत इति विनये वैयावृत्ये वा परिचारेकेष्वप्रवर्तमानेषु मम

न किं चिच्छुर्वन्ति किमिहाहमायात इति क्षपकस्य संकलेशः । बहुजनसाध्यमिदं कार्यं न चास्मान्गुरुनुमोवयति नापि वलावलमसाकं विचारयति इति परिचारकाणां संकलेशः ॥ आपृच्छा सूत्रतः २१ अंकतः १ ॥

परीक्षाके अनंतर आपृच्छा नामक छत्रपदका व्याख्यान करते हैं—

अर्थः—रत्नत्रयकी आराधना करनेके कार्यमें सहायक चाहता हुआ यह क्षपक अपने संघमें आया है—साधुके, तपश्चरणदिकोंमें आया हुआ विद्वद् दूर करना और उसकी शुश्रूषा करना तीर्थंकर नामकर्म बंध होनेमें कारण है यह बात आपकी धिदित ही है । इस लिये आये हुये इस अतिथिको हम अनुग्रह—साहाय्य कर वा न करे इस विषयमें अप्रवृत्ति जो सम्मति होगी सो कहो—जगतमें इतर लोक भी परोपकार करनेमें उद्यमी दीखते हैं, हम तो मुनि हैं, संपूर्ण अस्वभावियोंको संसाररूपी कीचड़से—जिससे निकसना बड़ी कठिन है और जो अगाध है—निकालनेमें हमको हमेशा उद्युक्त रहना चाहिये, 'आत्महित करना चाहिये और शक्य हो तो परहित भी करना चाहिये' इस वचनके अनुसार इस क्षपकके ऊपर अनुग्रह करना चाहिये क्या? ऐसा आचार्यिके पृष्ठने पर यदि परिचारकोंने अनुग्रह करनेमें सम्मति दी तो आचार्य क्षपकको अंगिकारते हैं यदि परिचारकोंको विनापृष्ठ ही क्षपकका आचार्यने स्वीकार किया तो आचार्य क्षपक और परिचारक दोनोंको भी असमाधि होगी अर्थात् संकेशपरिणाम होगा हमने तो इसका स्वीकार किया नहीं है ऐसा समझकर परिचारक क्षपकका विनय करना, शुश्रूषा करना वगैरे कार्यमें उद्यमी न होनेसे मेरी ये लोक भक्ति नहीं करते हैं ऐसा मनमें विचार कर क्षपक संश्लेष्युक्त होगा मैंने उपकार करनेकी इच्छासे इसको संघमें रख लिया है परंतु परिचारक इस कार्यमें सहायक नहीं होते हैं इस विचारसे गुरुके मनमें भी संकेश होगा, समाधिभरण सिद्धि करना यह कार्य बहुत जनकी सहायतासे होनेवाला है परंतु गुरुने हमको विनापृष्ठ ही इस क्षपकका स्वीकार किया है हमारे सामर्थ्य असामर्थ्यका उन्हेने विचारही नहीं किया है ऐसे विचारसे परिचारक संकिल्ट होते हैं—

पटिच्छणा इत्येतत्क्षपदं व्याचष्टे—

एगो संथारगंदो जजइ सरिरं जिणोवदोसेण ॥

एगो सखिहि मुणी उग्गेहि तवोविहाणेहि ॥ ५१९ ॥

एकः संस्तरकस्थोऽग्नौ यजतेऽगं जिनाज्ञया ॥

दुःकरैः संह्रित्वत्यन्यस्तपोभिर्विविधैर्यतिः ॥ ५३८ ॥

विजयोदया—एगो सथारगदो एकः सस्तरमाकृढ । जजइ सरीर यन्तरे शरीर । जिणोवदेसेण जिनानानुपदेशेन । एगो संह्रित्ववि मुणीएको मुनिस्तनूकरोति शरीर । उग्गेहि तवोविद्वाणेहि उग्रैस्तपोविधाने ।

अथ सत्यपि संघसाम्मत्ये सूरिणा अनुग्राह्यत्वेन एक एव समाधिमरणोद्यत प्रतिग्राह्योऽनेकप्रतिग्रहणे मन-समाधानानुसंधानानुपपत्तिरिति प्रतिग्राह्यानियमार्थं प्रतीच्छा गाथात्रयेण सूत्रयति—

मूलारा—जजदि यजते तपोऽग्नौ इति शेषः संन्यस्ततीत्यर्थः । एगो अन्यो द्वितीय इत्यर्थः । एतेनैतदुक्तं भवति । एकः संन्यामपर प्रतिग्राह्यो, द्वितीयश्च सहेत्यनोद्यतः ॥

पडिच्छणा इत्सूतका विवेचन करते हैं—

अर्थः—एक क्षपक जिनेश्वर के उपदेशानुसार संस्तरपर चढकर शरीरका त्याग करता है अर्थात् समाधि मरणका साधन करता है. और एक मुनि उग्र अनशनादि तपोंके द्वारा शरीरको शुष्क करता है.

तदिग्रे णाणुणादो जजमाणरस हु हवेस्ज वाघादो ॥

पडिदेसु दोसु तीसु य समाधिकरणाणि हायन्ति ॥ ५३० ॥

यजमानक्षतेजैस्तृतीयो नानुमन्यते ॥

द्वित्रेषु श्रितपात्रेषु समाधिहीयते त्रयम् ॥ ५३१ ॥

विजयोदया—तद्विक्रो णाणुणादो तृतीयो यतिर्नोनुजात तीर्थकृद्धि एकेन निर्योपकेनानुग्राह्यत्वेन । कुतो यस्मात् । जजमाणस्स खु हवेस्ज वाघादो यजमानस्य भवेदेव व्याघात इति । कुतो व्याघात इत्यत्राह । पडिदेसु दोसु तीसु य सस्तेरे पतितयोर्द्वयोस्त्रिषु च क्षपकेषु समाधिकरणाणि चित्तसमाधानक्रिया विनयवैयाद्युत्पादयो हीयंते यस्माद्यजमानस्य व्याघात । यस्मादेक एव यजमानो भवति ॥

तृतीयप्रतिग्रहणे दोषमाह—

मूलारा—णाणुणादो नानुभतस्तीर्थकृद्धिस्तृतीय एकेनाचार्येणानुग्राह्यत्वेन । कुत इत्याह—जजमाणस्य तपोऽग्नौ देहं जुह्वत । वापादो समाधिविघ्न । पडिदेसु दोसु तीसु य सस्तेरे पतितयोर्द्वयोस्त्रिषु वा सत्सु । समाधिकरणानि चित्त-समाधानक्रियाविनयवैयाद्युत्पादयः । हायन्ति हीयंते ॥

अर्थ—तृतीय यति आचार्यके द्वारा अनुग्राह्य होता है ऐसा तीर्थकारने आगममें नहीं कहा है. अर्थात् आचार्य ऊपरकी गाथाके अनुसार दो मुनिओंके ऊपर अनुग्रह करसकते हैं. दो या तीन मुनि यदि समाधिमरणके-लिये संस्तरका आश्रय करेंगे तो उनके अन्तःकरणको धर्ममें स्थिर रखनेका कार्य, विनय, वैयावृत्तादिक कार्य, यथायोग्य नहीं हो सकेंगे जिससे उनके मनको संक्लेश होगा. अतः एकही क्षपक संस्तरारूढ हो सकता है.

तम्हा पडिचरयाणं सम्मदमेयं पडिच्छदे खवयं ॥

भणदि य तं आयरिओ खवयं गच्छस्स मज्झस्मि ॥ ५२१ ॥

एकमेव विधिना यतिं ततः स्वीकरोति स्वसहायसम्मतम् ॥

गृह्यते हि कवलः स एव यः पंडितेन वदने प्रशस्यते ॥ ५४० ॥

इति एकसंग्रहः ।

मध्ये गणस्य सर्वस्य क्षपकं भाषते हितम् ॥

इत्थं कारयितुं शुद्धां विधिनलोचनां गणी ॥ ५४१ ॥

विजयोदया—तस्मात् तस्मात् । एवं एक । पडिच्छदे अनुजानाति । खवयं क्षपकं एकं । पडिचरयाणं सम्मदं प्रतिचारकाणां इष्टं । भणदि य भणति च । तं क्षपकं । क ? कायरिओ आचार्यः । क ? गच्छस्स मज्झस्मि गणस्य मध्ये । क्षपकस्य शिक्षां किमर्थं गणोऽपि मार्गक्षो यथा स्यात् । पडिच्छणेनस्स ॥

उपसंहारमाह—

मूलारा—भणदि शिक्षामितिक्षेप । मज्झस्मि गणोऽपि मार्गक्षो यथा स्वादित्येवमर्थं गणमध्ये शिक्षयति ॥ एकप्रतीच्छा ॥ सूत्रतः ॥ २२ ॥ अंकतः ॥ ३ ॥

अर्थ—इसलिये आचार्य परिचारक मुनिओंके संमत्यनुसार एक क्षपक मुनिका स्वीकार करते हैं. और गणके मध्यमें उसको आगे की गाथाओंमें कहे मुजव उपदेश करते हैं. गणके बीचमें आचार्य क्षपकको उपदेश देनेका कारण यह है कि, गणको भी समाधिका अर्थात् रत्नत्वका स्वरूप माळूम हो. अर्थात् समाधिमरणका अंगीकार करते समय कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिये इसका स्वरूप माळूम होनेके लिये गणके बीच क्षपकको उपदेश देते हैं.

एवमसौ क्षपक वदतीति कथयति—

फासेहि तं चरित्तं सव्वं सुहसीलयं पयहिदूण ॥  
सव्वं परीसहचमुं अधियासंतो धिदिबलेण ॥ ५२२ ॥  
समस्तं स्पृश चारित्रं निरस्य सुखशीलताम् ॥  
परीषहचमुं घोरां सहमानो निराकुलः ॥ ५४२ ॥

विजयोदया—फासेहि प्रतिपद्यस्व । तं भवान् । किं ? चरित्त चारित्र । सव्वं सुहसीलद् सर्वो सुखशीलता । पयहिदूण त्यक्त्वा । सुखशीलतया हि चारित्र मवं भवति । पिंडस्योपकरणस्य वसतेश्चाशोधनात् । मनोब्राह्मणलंपटो न भिक्षां शोधयति । नान्युपकरणं । सुखशील उद्गमादिदोषं न परिहरति मनोक्षोपकरणवद्धाभिलाषत्वात् । क्लेशासहो यस्य कस्यचिद्वसतावास्ते ॥

अथालोचनां गाथावत्त्वारिशल्या व्याचक्ष्णस्तत्रात्मपादमूलपुपाश्रितभाराघकं परिचारकसंमतिपत्त्या प्रतिगृह्य तदालोचनां श्रोतुकाम सूरिस्त्वमादावित्यमालोचयितुं प्रोत्साहयन्गाथात्रयमाभिव्यध्यादित्यनुशास्ति—

मूलरा—फासेहि प्रतिपद्यस्व । तं त्वं । सुहसीलद् सुखभावतया हि चारित्रं भंदायते । पिंडस्योपकरणस्य वसने-  
त्राशोधयन् । मनोब्राह्मणलंपटः खलु न भिक्षा शोधयति । मनोक्षोपकरणाभिलाषुक्स्तु नोद्गमादिदोषं परिहरति ।  
क्लेशासहो यस्य कस्यचित्सज्जितायां वसतावास्ते । अधियासंतो सहमानः ॥

क्षपकको आचार्यका उपदेश—

अर्थ—हे क्षपक तुम अपना सुखस्वभाव छोड़कर संपूर्ण चारित्तको धारण करो. इस सुखस्वभावसे चारित्त भंद होता है. सुखस्वभावी मुनि आहार, उपकरण और वसतिका इनकी शुद्धि नहीं करता है. मनोज्ञ आहारसे लंपटी बनकर उद्गमादिदोषोंका त्याग करता नहीं. अच्छे उपकरणोंमें प्रेमायुक्त होकर उसके दोषोंका परिहार नहीं करता है. क्लेश सहनेमें असमर्थ होकर जिस किसी वसतिकामें रहता है. इस लिये तुम सुखस्वभावका त्याग करो. अपने धैर्यके सामर्थ्यसे सर्व परीपहोंकी सेनाको जीतकर चारित्तका तुम रक्षण करो.

इन्द्रियजयं कपयजयं च कुर्वित्युपदिशति--

सदे रूवे गंधे रसे य फासे य णिजिज्जाहि तुमं ॥

सव्वेसु कसाणसु य णिगहपरमा सदा होह ॥ ५२३ ॥

रूपगंधरसस्पर्शशब्दानां मा स्म भूर्वशः ॥

कषायाणां विधेहि त्वं शत्रूणामिव निग्रहम् ॥ ५४३ ॥

विजयोक्त्वा--सदे रूवे गंधे इत्यनया । ननु शब्दादयो विषयास्तेषां जयो नाम क ? तद्विषयो हि रागो वंघ-  
हेतुत्वात् तत्प्रतिपक्षभावनया जेतव्यत्वेनोपदेष्टव्य । अत्रोच्यते--सोपस्कारत्वात्सूत्राणां सदे, रूवे, गंधे, रसे य फासे य  
राग तुमं जिजाहि इति पदसंवंधः । अथवा शब्दादीनां विषयाणां वशेन स्थित इति कृत्वा जेता भण्यते यथा पुरुषो जितो  
ऽनयेत्युच्यते या पुरुषवशालुवर्तिनी न भवति । सव्वेसु कसाणसु य सर्वेषु कषायेषु वा क्रोधादियु । णिगहपरमो निग्रह-  
प्रधान क्षमादिभावनया सदा भव ॥

इन्द्रियजयं कपयनिग्रहं च कुर्वित्युपदिशति--

मूलारा--णिजिज्जाहि निःशेषेण जय त्वं शब्दादिविषयं रागमिति शेषः । अथवा शब्दादीन्विषयान्निर्जय

तद्वशो मा भूतित्यर्थः । णिगहपरमो निग्रहप्रधानः ॥

इन्द्रियैको और कषायैको तुम जीतो ऐसा उपदेश--

अर्थ--शब्द, रस, गंध, और स्पर्श ये पांच इंद्रियोंके विषय हैं उनको कैसा जीत सकते हैं ? शब्दादिकोंमें  
उत्पन्न होनेवाले रागभावकी जीतना चाहिये क्योंकि वह कर्मबंधका कारण है रागभावको उसके विरुद्ध भावनासे  
जीतना चाहिये ऐसा यहां उपदेश करना योग्य था परंतु आचार्य शब्दादिकोंको जीतनेके लिये क्षपकको उपदेश  
दे रहे हैं यह योग्य जचना नहीं।

उत्तर--क्षत्त सोपस्कार रहते हैं अर्थात् उसमें प्रकरणचश और कुल शब्द जोडकर संवंध ठीक मिलाता  
पढता है 'सदे रूवे गंधे रसे य फासे य रागं तुमं जिजाहि, ऐसा पद संवंध करना चाहिये. अर्थात् यहां ऐसा अर्थ  
समझना चाहिये--हे क्षपक तुम शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श ऐसा पंचेंद्रियोंके विषयोंमें जो रागभाव उत्पन्न  
होता है उसको जीतकर संपूर्ण क्रोधादिक कषायोंका क्षमा, मार्दव, आर्जव, और शौचभावनासे निग्रह करो

शब्दादिक विषयोंके आधीन जो नहीं रहता है वह शब्दादिकोंका जेता कहा जाता है जैसे जो स्त्री पुरुषके वश नहीं रहती है उसको हमने पुरुषको जीता है ऐसा लोक कहते हैं अर्थात् शब्दादिक कषयोंके स्वाधीन हे क्षपक । तुम कदापि न रहोगे तो तुम इन्द्रियजयी कहलावोगे ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है

एव कृतैर्द्रियकषयजयेन मया पञ्चात्किंकर्तव्यमित्यत्रोत्तरमाचष्टे—

हंतूण कसाए इंदियाणि सव्वं च गारवं हंता ॥

तो मल्लिदरागदोसो करेहि आलोयणासुद्धि ॥ ५२४ ॥

रागद्वेषकषयाक्षसंज्ञाभिगौरवादिकम् ॥

विहायालोचनां शुद्धां त्वं विधेहि विशुद्धधीः ॥ ५४४ ॥

विजयोदया—हंतूण हत्वा । कसाए कषयान् । इंदियाणि इंद्रियाणि च हत्वा । सव्वं च गारवं हंता सर्वं च गारवं हत्वा ऋद्धिरससातमेवोत्तिविकल्पं । नो पञ्चात् । मल्लिदरागदोसो मुदितरागद्वेषः । करोद्धि कुरु । आलोयणासुद्धि आलोचनाख्या शुद्धि । रागद्वेषौ असत्यवचनस्य हेतू इति परित्याज्योविंति कथितौ ॥ रागान्न पश्यति नरो दोषान् । द्वेषाद्गुणान्न ग्रहीते ॥ तस्माद्गद्वेषौ व्युदस्य कार्योणि कार्योणि ॥

एवमिन्द्रियजयं कृत्वा पञ्चात्किंकुर्यामहित्यत्राह—

मूलरा—हंता हत्वा । मल्लिद मर्दितौ । आलोयणासुद्धि आलोचनाख्या शुद्धि । रागद्वेषावसत्यवचनस्य हेतू इति परित्याज्यौ । उक्तं च—रागान्न पश्यतीति किमिति परस्मै स्वच्यवनकल्प निवेदयति । निर्वधो भवता मुमुक्षुणा न कार्यो यतः ॥

इन्द्रियजय और कषयजय करनेके अनंतर मेरा क्या क्या कर्तव्य है इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—

अर्थ—क्रोधादिरूपाय और स्पर्शनादिक इन्द्रियोंको जीत कर ऋद्धिरागव, रसगाव और सातगाव ऐसे तीन गारवोंको हे क्षपक तुम जीतो, तदनंतर रागद्वेषोंका मर्दन कर आलोचनारूप शुद्धि करो, रागभाव और द्वेषभाव असत्य वचनके कारण हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिये रागभावसे मनुष्य दोषको देखता नहीं और द्वेषसे सद्गुणोंको ग्रहण नहीं करता है इसलिये रागद्वेषोंका त्याग कर कार्य करने चाहिये,



निरतिचारं मदीयं रत्नत्रयं ततः किं गुरोर्विदयाभीत्याचष्टे—

छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि अवस्समेव कायव्वा ॥

परसक्खिया विसोधी सुद्धवि ववहारकुसलेण ॥ ५२५ ॥

सपट्त्रिंशद्गुणेनापि व्यवहारपटीयसा ॥

कर्तव्येषा महाशुद्धिरवश्यं परसाशिका ॥ ५४५ ॥

विजयोदया—छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि पट्त्रिंशद्गुणसमन्वितेनापि । अवस्समेव होइ कायव्वा अवश्यमेव भवति कर्तव्या । का विसोही विशुद्धिः सुकृत्युपायतिचाराणामपाकृतिः ॥

आयारवमादीया अट्टगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो ॥

बारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुण्येव्वा ॥ ५२६ ॥

अष्टाचारादयो ज्ञेयाः स्थितिकल्पा गुणादश ॥

तपो द्वादशधा षोढावश्यं पट्षड्ढाहृतम् ॥ ५४६ ॥

सुद्धवि व्यवहारकुसलेण सुष्ठु अपि प्रायश्चित्तकुशलेनापि । अष्टौ ज्ञानाचाराः दर्शनाचाराश्चाष्टौ, तपो द्वादशविधं, पंच समितयः, तिस्रो गुप्तयश्च पट्त्रिंशद्गुणाः ॥

मूलारा—छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि पट्त्रिंशतागुणैः समन्वागतेन किं पुनरन्येनैत्यतिशयोक्त्यै अपिः । पट्-त्रिंशद्गुणा यथा—अष्टौ ज्ञानाचाराश्च, तपो द्वादशविधं, पंच समितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेति संस्कृतटीकाया । प्राकृतटीकायां तु अष्टाविंशतिमूलगुणा । आचारवत्त्वादयश्चाष्टौ इति पट्त्रिंशत् । यदि वा दश आलोचना गुणा, दश प्रायश्चित्तगुणा, दश स्थितिकल्पाः, षड्जीतगुणाश्चेति पट्त्रिंशत् । एवं सति सूत्रेऽनुश्रयमाणेयं गाथा प्रक्षिप्तैव लक्ष्यते ॥

परसक्खिया आचार्यादिसंमक्ष्या । विसोही सम्यक्त्वायतिचाराणामपाकृतिः । सुद्धवि व्यवहारकुसलेण अतीव प्रायश्चित्तनिगुणेनापि ॥

मेरे व्रत निरतिचार हैं इसलिये गुरुको मैं क्या निवेदन करूं? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—छत्तीस गुणोंके धारक व्यवहारकुशल, अर्थात् प्रायश्चित्त दानमें कुशल ऐसे आचार्योंकोभी अन्य आचार्योंके साक्षीसे आलोचना करनी चाहिये, अन्यथा उनके रत्नत्रयमें लगेहुये दोष नष्ट नहीं होते हैं.

आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, वारा तप, पांच समिति और तीन गुप्ति ऐसे आचार्यके छत्तीस गुण हैं. अथवा आचारवचादिक आठ गुण, आचेलक्यादिक स्थितिकल्पके दस गुण, वारा प्रकारके तप तथा छह आवश्यक ऐसे आचार्यके छत्तीस गुण हैं.

सव्वे वि तिणसंगा तित्थयरा केवली अणंतजिणा ॥

छदुमत्थस्स विसोधिं दिसति ते वि य सदा गुरुसयासे ॥ ५२७ ॥

सर्वे तीर्थश्रुतोऽनंतजिनाः केवलिनो यतः ॥

छद्मस्थस्य महाशुद्धिं वदन्ति गुरुसन्निधौ ॥ ५४७ ॥

विजयोदया - सर्वेपा तीर्थश्रुताभिमानी-गुरोर्निवेद्यान्मपराध तदुक्तं प्रायश्चित्त कृत्वा शुद्धिः कार्यति । सव्वेवि तित्थयरा सर्वेऽपि तीर्थकराः । तिणसंगा तीर्णसंगा उल्लिखितपरिश्रद्धाग्राधपका । सव्वे वि केवली सर्वेऽपि केवलिनः । परिप्राप्तस्वर्गवतरणाधिकल्याणत्रयाः । केवलज्ञानावरणक्षयद्विधगतविश्वज्ञाना. केवलिनः । अणतजिणा अनंतसंसार-कारकथाभारिजसर्वघातिमिथ्यात्वं द्वादशकपायाश्च अनंतं तज्जयादन्तजिना आचार्योपाध्यायसाधव । तेऽपि सर्वे सदा गुरुसकासे सोधिं दिसति सदा गुरुसमीपे रत्नत्रयशुद्धिं दर्शयन्ति । कस्य ? छदुमत्थस्स छद्मस्थस्य संवधिनीमिति केचिद्वदन्ति । रत्नत्रयपरिणामात्मको रत्नत्रयविशुद्धया भवतीति छद्मस्थस्य विशुद्धिरित्युक्तवानय ।

न चैतदप्रमाणकं सर्वतीर्थकुदाज्ञया छद्मस्थान्प्रति गुरुसाक्षिकायाः शुद्धेः प्रदर्शिकायाः सद्भावादिति दर्शयन्नाह-  
मूलारा - तिणसंगा तीर्णोऽतिक्रांतः सगो यैस्ते त्यक्तग्रंथा इत्यर्थः । अणंतजिणा अनंतसंसारकारणत्वादि कर्मजातं जितवंत एकदेशेनाचार्योपाध्यायसाधवश्च चोत्र विलुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्य । तीर्थकरणमेव वा विशेषणमिदं । तेहि संसारकारणत्वादि जितवंतस्तत्करणकर्मीनिर्मूलकत्वात् ।

अर्थ - सर्व तीर्थकरोकी ऐसी आज्ञा है कि, गुरुको अपने अपराध कहकर उन्होंने दिया हुआ प्रायश्चित्त लेकर आत्मशुद्धि करनी चाहिये सर्व तीर्थकर परिग्रहरूप अगाध कीचड़को उल्लिख कर मुक्त होगये हैं. सर्व केवल-ज्ञानी पुरुष स्वर्गसे इस भूतलपर जन्म लेकर तीन कल्याणोंके धारक हुए हैं. केवलज्ञानावरण कर्मके क्षयसे संपूर्ण विधवा ज्ञान उनको हुआ था. चारित्र्यमोहनीय कर्म, मिथ्यात्व और अप्रत्याख्यानदि वारा कपाय इनको अनंत संज्ञा है, इनके ऊपर जिन्होंने जय प्राप्त कर लिया ऐसे आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओंको यहां अनंतजिन

यह मंज्ञा दी है. ये सर्व महामुनिगण गुरुके समीपही छद्मस्थकी रत्नत्रयशुद्धि प्रायश्चित्तसे होती है ऐसा कहते हैं. रत्नत्रयमें निर्मलता उत्पन्न होनेसे यह आत्मा रत्नत्रयमय होता है. इस लिये छद्मस्थोने प्रायश्चित्त धारण कर विशुद्ध होना चाहिये.

यो न वेत्यतिचारजातमलनिराकरणकम सोऽन्यस्मे कथयेद्यस्तु स्वयं वेत्ति स क्रस्मादत्तो परस्मे कथयति-  
तदुक्तं वाचरतीत्याह—

जह सुकुसलो वि वेज्जो अण्णस्स कहेदि आदुरो रोगं ॥

वेज्जस्स तस्स सोच्चा सो वि य पडिकम्ममारभइ ॥ ५२८ ॥

कुशलोऽपि यथा वैद्यः स्वं निगद्यातुरो गदम् ॥

वैद्यस्य परतो ज्ञात्वा विदधाति परिक्रियाम् ॥ ५४८ ॥

विजयोदया—जह सुकुसलो वि वेज्जो यथा सुदुःकुशलोऽपि वैद्यः । व्याधिनिरासे आदुरो आहुरः । अण्णस्स कहेदि अन्यस्मे कथयति । रोगं व्याधि । एवंभूतो मम व्याधि, चिकित्सा कुर्वति । वेज्जस्स तस्स सोच्चा तस्य वैद्यस्य श्रुत्वा वचन । सो वि य सोऽपि च अनातुरो वैद्य । पडिकम्ममारभइ प्रतिक्रियामारभते ॥

उक्तमेवार्थं दृष्टतोपन्यासपुरस्सरं नृदयितुं गायत्र्यमाह—

मूलारा—सुकुसलो वि व्याधीना निदाने, लिंगे, चिकित्साया पुनर्भवनिरोधे च सुतरा प्रवीणोऽपि । तस्स तस्य रत्नव्याधि । कथं अविपर्यीकृतस्य । सोच्चा श्रुत्वा वाक्यमिति शेषः । सो रोगार्तो वैद्यः । नि य अपि च । आरभते चेत्यर्थः । पडिकम्मं प्रतीकारं ।

जो मुनि आतिचारसे उत्पन्न हुए मलका निवारण कारंनका क्रम जानता नहीं है उसने दूसरोंको अपने अपराध कहना योग्य है परंतु जो अपराधोंका प्रायश्चित्त स्वयं जानता है उसको अपने दोष दूसरेको कहनेकी जरूरत नहीं है. वह क्यों दूसरोंकी स्वापराध कहता है ? और क्यों उनका दिया हुआ प्रायश्चित्त आचरता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जैसा अच्छा विद्वान भी वैद्य स्वयं बीमार पड़नेपर अपने रोगका स्वरूप दूसरे वैद्यको कहता है. अर्थात् मेरे रोगका स्वरूप ऐसा है और इसके ऊपर आप औपध योजना करो. रोगीवैद्यका यह भाषण सुनकर नीरोग वैद्य उसकी चिकित्सा कर औपध योजना करता है

एवं जाणंतेण वि पायच्छित्तविधिमप्पणो सव्वं ॥  
 कादव्वादपरविसोघणाए परसक्खिग्गा सोधी ॥ ५२९ ॥  
 जानतापि तथा दोषं स्वमुक्त्वा परके शुरौ ॥  
 परिज्ञाय विघातव्या महाशुद्धिः पटीयसा ॥ ५४९ ॥

विजयोदया—एव जाणतेण वि विजानतापि । किं पायच्छित्तविधिं प्रायश्चित्तकर्म । अप्पणो आत्मनः । परो उत्कृष्टा विशेषा यथा स्यादित्येवमर्थं स्वसाधिका परसाधिका च विशुद्धिरुत्कृष्टेति मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकाश्चित्त तस्य मनो भवेत् ॥  
 चित्तशुद्धिकर कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृत ॥

इति वचनात् ! शुद्धिरतिचाराणा कृतेति परे मानयति । निरतिचारस्तत्रयोऽयमिति । परे भव्या एतदुपदेशो नास्माभिः प्रवर्तितव्यमिति ढांकते । अन्यथा तदशुणालिशानवगमनान्न तदनुयायिनो भवति । तत् कथमेनेन परानुग्रहः कृतः स्यात् । कर्तव्यं स्वपरानुग्रहः । तथा चोक्तं—अण्णद्धिं कादव्व जइ सक्खइ परहिंदं च कायव्व ॥ इति । तथापि—  
 'श्रेयोर्थिना हि जिनाशासनवत्सेलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः' इति वैद्य इव । अथवा आत्मनः परस्मै विशेषार्थं परसाधिका । मम शुद्धिं दृष्ट्वा परोऽप्ययमेव क्रम इति परसाधिकायां शुद्धौ प्रयतते । अन्यथा सर्वे स्वसाधिकामेव कुर्युः । तथा च न शुद्ध्यति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः ॥

मूलारा—आदपरविसोघणाए आत्मनः परा उत्कृष्टा विशेषता सम्यक्त्वाद्यतिचारमलक्षालना तदर्थं स्वसाधिका परसाधिका चोत्कृष्टा शुद्धिः स्यादिति हि मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ॥

तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥

इति वचनात् । अथवा आत्मानं परं च विशेषाद्यितुं परसाधिका विशुद्धिः कर्तव्येति व्याख्येयं । स्वसाधिकाः कामेव हि शुद्धिं कुर्वन्तमाचार्यं तत्कल्पं वा मुनिं दृष्ट्वा परोऽपि तथैव प्रवर्तते । गतानुगतिकत्वाप्रायेण लोकस्य । तथा च तेऽपि तथा शुद्ध्यति स्वसाधिकाभावात् ॥

अर्थः—इस प्रकार प्रायश्चित्त का ज्ञान जिनको है ऐसे मुनिराजने भी अपनी विशुद्धि होनेकेलिये आत्मसाक्षीमे और परसाक्षी से प्रायश्चित्त लेना चाहिये. प्राय शब्दका अर्थ लोक है और चित्तका अर्थ मन है. अर्थात् चित्तको निर्मल करनेका जो कार्य है उसको प्रायश्चित्त कहते हैं. प्रायश्चित्त लेनेपर इसने आत्मशुद्धि की है ऐसा लोक समझते हैं

गुरुके उपदेशके अनुसार हमको प्रवृत्ति करनी चाहिये ऐसा समझकर सुझलोक उसके पास जाते हैं. यदि गुरुके विशिष्ट गुणोंका परिज्ञान न हो तो उसके अनुयायी कैसे होंगे. और गुरुभी परानुग्रह कैसा कर सकेंगा. इसवास्ते गुरुको स्वपरानुग्रह करना चाहिये. क्यों कि 'आत्महित करना चाहिये और शक्य हो तो परहितभी करना चाहिये, इस उक्तिमें यद्यपि आत्महितकी मुख्यता दिखाई है तोभी 'श्रेयोर्थिना हि जिनशासनवत्सेलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः' अर्थात् जिसकी मोक्षकी इच्छा है, जो जिनधर्म पर प्रेम रखता है उसको हितोपदेश करना अवश्य कर्तव्य है जैसे वैद्य रोगीको औषध देकर उसको नीरोग करता है. उसका नीरोग करना जैसा कर्तव्य है वैसा गुरुओंका परहितके लिये उपदेश देना कर्तव्य है.

अथवा अपनी और दूसरोंकी आत्मशुद्धि करनेके लिये परसाक्षिक ही आत्मशुद्धि करनी योग्य है क्यों कि मेरी शुद्धि देखकर दूसरेभी आत्मशुद्धिका क्रम ऐसा ही है ऐसा समझकर परसाक्षिक शुद्धि करनेके लिये प्रयत्न करेंगे अन्यथा सर्व लोक त्वसाक्षिसेही शुद्धि करेंगे. ऐसे करनेसे वे शुद्ध नहीं होंगे, लोकप्रायः गतानुतिक होते हैं.

यस्मात्परसाक्षिका शुद्धि प्रधाना—

तम्हा पव्वज्जादी दंसणणचरणादिचारो जो ।।

तं सब्ब आलोचेहि निरवसेसं पणिहिदप्पा ॥ ५३० ॥

ततः सम्यक्त्वचारित्रज्ञानदूषणमामादितः ।

एकाग्रमानसः सर्वं त्वमालोचय यत्नतः ॥ ५५० ॥

विजयोक्त्या—तम्हा तस्मात्प्रत्यक्ष्यादिकं । दंसणणचरणादिचारो जो दर्शनद्वान्चरणातिचारो य । त सब्ब-सर्वं अतिचार । आलोचेहि कथय । पणिहिदप्पा पणिहितचित्तो भूत्वा । निरवसेसं सर्वमित्यनेनेवावगतत्वात् निरवशे पमित्येतत्किमर्थ इति चेत् । दानदर्शनचारित्रविषयाणामतिचाराणा कतिपयाना सामस्येऽपि सर्वशब्दस्य प्रवृत्तिर स्तीति निरवशेप्रग्रहणं प्रत्येक शानाग्रतिचारान् ग्रहीतुमुपन्यस्तमिति तन्न दोष ॥

मूलारा—पव्वज्जादी दीक्षाग्रहणदिनात्प्रमृति । निरवसेसं सूक्ष्मस्थूलभेदग्रभेदसहितम् ।

परसाक्षिक शुद्धि ही मुख्य है अतः तं आलोचना कर ऐसा अभिप्राय आगेकी गाथा कहती है—

अर्थ—इस लिये दीक्षाकालसे आजतक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनमें जो जो अतिचार

लगे होंगे उन सत्रका और दर्शनादिकके प्रत्यक्ष अतिचारोंका हे क्षपक 'तू एकाग्र चित्त कर कथन कर शका -- गाथामें 'सर्व, शब्द है उससेही सर्व अतिचारोंका कथन करनेका आशय स्पष्ट होजाता है. 'निरवशेष, यह गाथामें दुसरा शब्द है वह व्यर्थ दिखता है.

उत्तर--ज्ञानादिकोंमें किसी एकके सर्व अतिचार इस अर्थमेंभी सर्व शब्दकी प्रवृत्ति देखी जाती है. इस लिये 'निरवशेष' शब्द ज्ञानदर्शनादिकोंके प्रत्येक अतिचारोंका ग्रहण करनेके लिये गाथामें आचार्य महाराजने जोड़ दिया है ऐसा समझना.

कथं निरवशेषालोचना कृता भवतीत्यरेकायामाह--

काइयवाइयमाणसियसेवणा दुप्पओगसंभूया ॥

जइ अत्थि अदीचारं तं आलोचेहि गिरिसेसं ॥ ५३१ ॥

विद्यते यद्यतीचारो मनोवाक्कायसंभवः ॥

आलोचय तदा सर्वं निःशल्यभिभूतमानसः ॥ ५५१ ॥

विजयोदया--काइयवाइयमाणसियसेवणा कायेन, वाचा, मनसा च प्रवृत्तिं प्रतिसेवना । दुप्पओगसंभूया दुःप्रयोगसंभूता । तं ता । आलोचेहि कथय । गिरिसेस नि शेष । जइ अत्थि अदीचारो यद्यस्त्यतिचारः ।

मूलरा--काइय इत्यादि कायिक काये भवं । वाइय वाचि भवं । माणसिय मनसि भवं । यत्सेवनं पिडादेयरुप-योगस्तस्य दुष्प्रयोगो अशुभानुष्ठानमुत्सूत्राचरणं इत्यर्थस्तस्मात्संभूद संजातः । सेवणमित्यत्र पादपूर्णेऽनुस्वारः । संभूदमित्यत्रार्थत्वाह्निगव्यत्ययः तथा चोक्तं--

कायिकवाचिकमानससंसेवादुष्प्रयोगसंभूतो

यद्यस्ति तेऽतिचारो निरवयवं निगद तं गुरुवे ॥

भगवतो निकटे निःशेषमालोचय यद्यस्ति तेऽतिचारः । कायादिना पिडादीनुत्सृज्यमुंजानस्य योऽतिचारः संपन्नस्तं प्रकाशयेति तात्पर्यार्थः ॥

,निरवशेष आलोचना कैसी की जाती है ? इस शंकाका उत्तर --

अर्थ—अष्टभरिणाम उत्पन्न होनेसे शरीरसे, वचनसे और मनसे जो जो दोष तेरे द्वारा किये गये उनका गुरुके पास तू संपूर्ण कथन कर.

आश्वास

४

असुगंमि इदो काले देसे अमुगत्य असुगभावेण ॥  
ज जह गिसेविदं तं जेण य सह सव्वमालोचे ॥ ५३२ ॥  
कालेऽमुकत्र देशो वा जातो भावनयानया ॥  
दोषो ममेति विज्ञाय त्वमालोचय सर्वथा ॥ ५५२ ॥

विजयोदया—चरणं कमाचरण । इदो अस्मादिनादतिक्ताते । असुगमि काले अमुकस्मिन्काले । देशो अस्मिन्देशे । असुगभावेण अमुकभावेन अनेन भावेन । जं यत् । जघा गिसेविदं यथा निपेक्षित । जेण य सह येन च सह । तं सव्वमालोचे तत्सर्वं कथयेद्देशकालभेदात् । परिणामभेदात्, सहायभेदात् च दोषाणां गुरुलघुभावः । गुरुलघुभावावुसारण वा गुरुलघु वा प्रायश्चित्त दीयते । तत्सर्वं कथयति ॥

कालदेशपरिणामसहायभेदादौषाणा गुरुलघुभावः स्यात्तदनुसारि च प्रायश्चित्तमिति यो यदा यत्र येन यथा जातोऽतिचारस्तं तथैवाल्लोचयेदुत्कृष्टशुद्धिकाम इत्यालोचनाविध्यनुशासनार्थमाह—

मूलारा—असुगमि अमुकस्मिन् । विप्रकृष्टप्रत्यक्षे । इदो इतोऽस्मात्समीपप्रत्यक्षादिना प्राक् । काले शीतोष्णवर्षाच्छणे । पूर्वोन्मादिरूपे वा । देसे भूम्येकदेशे, जागलदौ पुरवनादौ वा । असुगभावेण अमुकेन क्रोधादीनामन्यतमेन परिणामेन । अमुकेन सहानेत्युपस्कारः गिसेविदं निषिद्धमनुष्ठित । ते त्वया । तं सम्यक्त्वाद्यतिचार । समालोचे संपूर्णमालोचय । उक्त—

कालेऽमुकत्र देशे वा जातो भावनयानया ॥  
दोषो ममेति विज्ञाय त्वमालोचय सर्वथा ॥

अर्थ—अष्टक कालमें, अष्टक देशमें, अष्टक परिणामसे जो दोष जैसा किया होगा और जिसके साथ किया होगा उसका संपूर्णतया कथन करना चाहिये देशकालभेदसे, परिणामभेदसे और साहायभेदसे दोषोंमें

७५०

बढ़ापन और छोटापन उत्पन्न होता है, और उसके अनुसार ही छोटा अथवा बड़ा प्रायश्चित्त दिया जाता है अथवा परिणामोंमें तीव्रता वा मंदता होगी तो उसके अनुसार छोटा या बड़ा प्रायश्चित्त आचार्य देते हैं,

शिक्षयत्यालोचनाक्रमं सूरि —

आलोचना हु दुविहा ओघेण य होदि पदविभागी य ॥

ओघेण मूलपत्तस्स पयविभागी य इदस्स ॥ ५३३ ॥

आलोचना द्विधा साधोरौघी पदविभागिका ॥

प्रथमा मूलयातस्य परस्य गदिता परा ॥ ५५३ ॥

विजयोदया—आलोचना खु दुविहा होदि द्विप्रकारैवालोचना भवति । ओघेण पदविभागी य सामान्येन विशेषेण च । वचो हि सामान्य विशेष चावलम्ब्य प्रवर्तते । कस्य सामान्येन आलोचना कस्य वा विशेषेणेत्यत आह— ओघेण मूलपत्तस्स सामान्यालोचना मूलाख्य प्रायश्चित्त प्राप्तस्य । पदविभागी विशेषालोचना । इदस्स मूलमप्राप्तस्य ॥

वचसा सामान्यविशेषालंबनत्वेन प्रवृत्तिदर्शनादौघी पादाविभागी चेति द्विविधवालोचनेति नियम्य तत्त्वामिनौ निर्दिशति ।

मूलारा—ओघेण सामान्येन एकवारेण वा सामान्य लोचनेत्यर्थः । पादाविभागी पादाना सम्यक्त्वाद्यपराधाना विभागे देशकालादिभेदे भवा पादाविभागी विशेषालोचनेत्यर्थः । मूलं मूलाख्यं प्रायश्चित्तं ॥

आचार्य आलोचनाका क्रम दिखाते हैं—

अर्थ —आलोचनाके दोही प्रकार हैं, एक ओघालोचना और दूसरी पदविभागी आलोचना, अर्थात् सामान्यालोचना और विशेषालोचना ऐसे इनके औरभी दो नाम हैं, वचन सामान्य और विशेष इन दो धर्मोंका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, अतः आलोचनाके उपर्युक्त दो भेद हैं,

सामान्यालोचना और विशेषालोचनाका स्वरूप इस प्रकार है—जो मूल नामक प्रायश्चित्तकेलिये योग्य है अर्थात् जिसकी पूर्व दीक्षा महापराधसे नष्ट हो गई है उसको पुनः दीक्षा देना यह मूल प्रायश्चित्तका अर्थ है, इस प्रायश्चित्तके लिये योग्य भुनि दापोंकी सामान्यालोचना करता है, और जो प्रायश्चित्तको छोड़ कर के बाकीके प्रायश्चित्तके योग्य है वह पदविभागी आलोचना करे



सामान्यालोचनास्वरूप कथयति—

ओघेणालोचेदि हु अपरिमिदवराधसन्वघादी वा ॥

अज्जोपाए इत्थं सामणमहं खु तुच्छोत्ति ॥ ५३४ ॥

ओघेन भाषतेऽनल्पदोषो वा सर्वघातकः ॥

इतः प्रभृति बांछामि त्वत्तोऽहं संयमं गुरो ! ॥ ५५४ ॥

विजयोदया—ओघेणालोचेदि हु सामान्येन कथयति । कोऽपरिमिदवराधो सन्वघादो वा यहवो अपराधा यस्य मिथ्यात्वं व्रतभगो वा । परसाक्षिकाया शुद्धौ मायाशाल्य निरस्तं भवति । मानकपायो निर्मूलितो भवति । गुरुजन पूजितो भवति । तत्परतंत्र्या वृत्तेर्मार्गप्रस्थापना च कृता भवति । अज्जोपाए अद्योपाये अद्यप्रभृति । इच्छं सामणं इच्छामि श्रामणं । अहं खु तुच्छोत्ति अहं स्वल्पको रत्नत्रयेणेति इयं सामान्यालोचना ।

सामान्यालोचनास्वरूपं च वक्तुमाह—

मूलारा—अपरिमिदवराध बहुदोष । सन्वघादी सर्वेषा सम्यक्त्वव्रतादीना घातो विनाशोऽस्यास्तीति । अज्जोपाये अद्यप्रभृति । इच्छा इच्छामि प्रतिपद्येहम् । खु यस्मात् । तुच्छो अहं स्वल्पको रत्नत्रयेण । त्ति इत्येवमालोचयतीति धोयम् ॥

सामान्य आलोचनाका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ— जिसने अपरिमित अपराध किये हैं अथवा जिसके रत्नत्रयका—सर्व व्रतोंका नाश हुआ है वह मुनि सामान्यरीतिसे अपराधका निवदन करता है, जो मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ अथवा जिसके व्रत नष्ट हुए हो वह सामान्यालोचना करता है, परसाक्षिसे शुद्धि कर लेनेसे मायाशाल्यका नाश होता है, मानकपायका निर्मूलन होता है, प्रायश्चित्त लेनेसे गुरुजनोंका आदर होता है अर्थात् उनकी आज्ञाका पालन होता है, उनके आधीन रहकर व्रताचरण करनेसे मार्गकी प्रसिद्धि होती है, आजसे मैं पुनः पुनि होनेकी इच्छा करता हूं, मैं तुच्छ हूं अर्थात् मैं रत्नत्रयसे आप लोगोंसे छोटा हूं ऐसा कहना सामान्यालोचना है,

विशेषालोचनामाचष्टे—

पञ्चज्जादी सन्वं कमेण जं जत्थ जेण भावेण ॥

पडिसेविदं तथा तं आलोचिंतो पदविभागी ॥ ५३५ ॥

अपराधोऽस्ति य कश्चिज्जातो यत्र यथा यदा ॥

भूते पदविभागौ तां सूरौ तत्र तथा तदा ॥ ५५५ ॥

निजयोदया—पवज्जादी सव्य प्रवत्यादिकु सर्व । क्रमेण जे जत्य जेण भवेण क्रमेण यत्र कालत्रये वा देशे येन भावेन प्रतिसेवित । नहा त तथा तत् । आलोचितो निरूपयन्निति । यदि पदविभागी विशेषालोचना भवति । शल्या- निराकरणे दोष शल्यापाये च गुण दृष्टतेन दर्शयति ।

पादविभागौ लक्षयति—

मूलारा—जत्य यस्मिन्देगे काले च । पडिसेविदं संव्यवहृतं । आलोचतो पदविभागीमालोचयन्साधु पादविभागी विशेषालोचना स्याद्वक्तृवचनयोर्हेतुहेतुमद्भावेनाभेदोपचारात् ॥

विशेष आलोचनाका वर्णन—

अर्थ—तीन कालमें, जिस देशमें, जिस परिणामसे जो दोष हो गया है उस दोषकी मैं आलोचना करता हूँ ऐसा कहकर जो दोष क्रमसे आचार्यके आगे क्षपक कहता है उसकी वह पदविभागी आलोचना है,

जह कंटएण विद्धो सव्वंगे वेदणुदो होदि ॥

तस्मिं दु समुट्ठिदे सो णिस्सल्लो णिवुदो होदि ॥ ५३६ ॥

कंटकेन यथा विद्धे सर्वांगव्यापिवदना ॥

जायते निर्वृतस्तस्मिन्नुद्धृते शल्यवर्जितः ॥ ५५६ ॥

विजयोदया—जह कटपण विद्धो यथा कटकेन विद्ध । सव्वंगे सर्वस्मिन् शरीरे । वेदणुदुदो होइ वेदनयोप- द्रुतो भवति । तस्मिं समुट्ठिदे तस्मिन्कंटके उद्धृते । सो दु खित । णिस्सल्लो नि शल्यो शल्येन रहितः । णिवुदो निर्वृतो । होदि भवतीति सूरौ भवतीति यावत् ॥

शल्यानुद्धरणोद्धरणयोर्दोषगुणौ दृष्टातमुत्पन्न स्पष्टयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—वेदणुदुदो पीडोपद्रुत । णिवुदो सुखी ।

शल्यका निराकरण न करनेमें दोष और शल्यके नष्ट होने से गुण प्राप्त होता है यह दृष्टांतसे स्पष्ट

करते हैं—

अर्थ— जैसे जिसको कांटा चुभ गया है वह दुःखसे विह्वल होता है, उसके सर्व शरीरमें वेदना होती है, परंतु जब कांटा शरीरसे निकाल<sup>१</sup> जाता है तब वह मनुष्य सुखी होता है।

दार्ष्टान्तिकयोजना—

एवमणुदुददोसो माइल्लो तेण दुक्खिदो होइ ॥

सो चैव वंददोसो सुविमुद्धो णिवुदो होइ ॥ ५३७ ॥

दुःखव्याकुलितस्वान्तस्तथा शल्येन शल्यितः ॥

निःशल्यो जायते यः स लभते निर्वृतिं पराम् ॥५५७॥

विजयोदया—एवं कटेन विद्ध इव अणुदुददोसो अनुद्धतदोषः । माइल्लो मायाधान् । स्वापराधाकथनानुद्ध-  
तदोषेण । दुक्खिदो होदि । दुःखितो भवति । सो चैव वंददोसो स एव वातदोष । सुविमुद्धो णिवुदो होदि । निर्वृति  
भवति ॥

मूलारा—मायिल्लो मायायुक्तः । तेण सम्यक्त्वादिदोषेण अनुद्धतेन । दुक्खिदो इहपरलोके च दुःखार्त्तः ।  
वंतदोसो परस्मै कथितापराधः । सुविमुद्धो कृतस्वपरसाक्षिरशुद्धिकृत्वात् ।

दार्ष्टान्तिकमें योजना—

अर्थ— जैसे जिसने दोषरूपी कटकको अपने मनसे निकाला नहीं है ऐसा मायावि मुनि अपने  
अपराधोंका कथन न करता एतत्स्वरूप दोषसे दुःखी होता है परंतु जब सर्व दोषोंका कथन करता है तब मायाशल्य  
नष्ट होनेसे कांटा निकल जानेके समान आत्मामें प्रसन्नता उत्पन्न होती है-

मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं णिदाणसल्लं च ॥

अहवा सल्लं दुविहं दव्वे भावे य बोधव्वं ॥ ५३८ ॥

मायानिदानमिच्छात्वभेदेन त्रिविधं मतम् ॥

अथवा द्विविधं शल्यं द्रव्यभावात्मकं मतम् ॥५५८॥

विजयोदया—मिच्छादंसणसहं मिथ्यादर्शनशाल्यं । भायासहं मायाशाल्यं । जिदाणसहं निदानशाल्यं च । अहवा सहं दुविह अथवा शल्य क्षिप्रकारं । द्रव्ये भावे य द्रव्यशाल्यं भावशाल्यमिति । योयन्न बोद्धव्यम् ॥ शल्यभेदनिर्णयार्थमाह—

मूलारा—मिच्छादंसणसहं मिथ्यादर्शनं शल्यमिव शरीरात्प्रविष्टकाळादिवत् बाधासुखंधनिबंधनत्वात् । एवमुत्तरयोरप्युपमार्थो वाच्यः । जिदाणसहं सम्यक्त्वव्रतादिमाहात्म्याद्राज्यादिकं मे भूयादिति संकल्पः । द्रव्ये द्रव्याश्रयं । अर्थ—मिथ्यादर्शनशाल्यं, मायाशाल्यं और निदानशाल्यं ऐसे शाल्यके तीन दोष हैं, अथवा द्रव्यशाल्य और भावशाल्य ऐसे शाल्यके दो भेद समझने चाहिये.

तिविहं तु भावसहं दंसणणे चरित्तजोगे य ॥  
सच्चित्ते य अचित्ते य मिस्सगे वा वि दव्वम्मि ॥ ५३९ ॥  
भावशाल्यं त्रिधा तत्र ज्ञानाद्विषयगोचरम् ॥  
द्रव्यशाल्यमपि त्रेधा सचित्ताचित्तमिश्रकम् ॥ ५५९ ॥

विजयोदया—तिविहं तु त्रिविधं एव । भावसहं परिणामशाल्यं । दंसणणे चरित्तजोगे य दर्शने, ज्ञाने-चारित्र्योगे वा । दर्शनस्य शाल्यं शंकादि । ज्ञानस्य शाल्यं अकाले पठनं अधिनयादिकं च । चारित्र्यस्य शाल्यं समिति, गुप्त्योरनादर । योगस्य तपस प्रागुक्तानशानाद्यतिचारजातं । असंयमपरिणामनं वा । तपसश्चारित्र्ये अन्तर्भावविवक्षया तिविहमित्युक्तम् । दव्वम्मि सह तिविह । द्रव्ये शाल्यं त्रिविधं । सचित्ते अचित्ते मिस्सगे य सचित्तद्रव्यशाल्यं दासादि । अचित्तद्रव्यशाल्यं सुवर्णादि । मिस्सगे वा विमिश्रद्रव्यशाल्यं ग्रामादि एतत्त्रिविधं द्रव्यशाल्यमित्युच्यते । चारित्र्याचारस्य शाल्यस्य कारणत्वात् ॥

उभयमपि शल्यं प्रविवक्षुराह—

मूलारा—भावसहं सम्यक्त्वाद्यतिचारलक्षणपरिणामशाल्यं दंसणे इत्यादि । दर्शनस्य शाल्यं शंकादिक । ज्ञानस्याकालपठनादिकं । चारित्र्यस्य समितिगुप्त्यनादरः । योगस्य तपसः प्रागुक्तानशानाद्यतिचारजातसंयमपरिणामनं वा । तपसश्चारित्र्ये अन्तर्भावविवक्षया तिविहमित्युक्तं । सचित्तद्रव्यशाल्यं दासादि । अचित्ते अचित्तद्रव्यशाल्यं सुवर्णादि । मिस्सगे मिश्रद्रव्यशाल्यं ग्रामादि ।

अर्थ—भावशक्त्यके तीन भेद हैं-दर्शन, ज्ञान, चारित्र और योग इनमें ये भावशक्त्य उत्पन्न होते हैं।

१ शक्ता, क्रांक्षादिक सम्पददर्शनके शक्त्य हैं।

२ अकालमें पढ़ना और अविनयादिक करना ज्ञानके शक्त्य हैं

३ समिति और गुप्तिओंमें अनादर रहना चारित्रशक्त्य हैं।

४ योग-तप-अनशनादि तपोंके अतिचारोंका पूर्वमें वर्णन आया है

असंयममें मवृत्ति होना योगशक्त्य है। तपश्चरणका चारित्रमें अन्तर्भाव करनेकी विवक्षासे भावशक्त्यके तीन भेद कहे हैं

द्रव्यशक्त्य भी तीन प्रकारका है। सचित्तशक्त्य, अचित्तशक्त्य और मिश्रशक्त्य। दासादिक मचित्त द्रव्य शक्त्य है। सुवर्ण वगैरह पदार्थ अचित्त शक्त्य है। और ग्रामादिक मिश्रशक्त्य हैं ये सब चारित्राचारके शक्त्यके कारण हैं।

भावशक्त्यानुद्धरणे दोषमाह—

एगमवि भावसल्लं अणुद्धरित्ताण जो कुणइ कालं ॥

लज्जाए गारवेण य ण सो हु आराधओ होदि ॥ ५४० ॥

अनुद्धते प्रमादेन भावशक्त्ये शरीरिण ॥ ५४१ ॥

लभंते दारुणं दुःखं द्रव्यशक्त्यमिवानिशम् ॥ ५४२ ॥

भावशक्त्यमनुद्धृत्य ये त्रियन्ते विमोहिनः ॥ ५४३ ॥

भयप्रमादलज्जाभिः कस्याप्याराधका न ते ॥ ५४४ ॥

दुःसहा वेदनैकत्र द्रव्यशक्त्येऽस्त्यनुद्धते ॥ ५४५ ॥

भावशक्त्ये पुनः सास्ति जन्तोर्जन्मनि जन्मनि ॥ ५४६ ॥

विजयोदया—एगमवि एकमपि भावाना स्तवयाणा शक्त्यं । अतिचारं । अणुद्धरित्ताण अनुद्धृत्य । जो कुणदि काल यः करोति मरणं । कस्मान्नोद्धरति । लज्जाण लज्जया । गारवेण य गारवेण वा । सो ण खु आराधओ होदि । स आराधको नैव भवति । निरतिचारात्ता हि तेया यतीना आराधना ॥

एकमपि भावशल्यमनुद्धृत्य त्रियमाणस्य दोषमाह—

मूलारा—भावसहं भावानां सम्यक्त्वादीनां शल्यमतिचारं । अणुद्वरिताणं अनुन्मूल्य गुरुक्तप्रायश्चित्तेनानिरा-  
कृत्येत्यर्थः । गार्वेण य च शब्दाद्भयेन च ।

भावशल्यका उद्धार न करनेमें दोष दिखाते हैं—

अर्थ—जो क्षपक लज्जासे गार्वसे रत्नत्वयमें लगे हुए अतिचारोंको दूर नहीं करता हुआ मरण करता है, वह आराधक नहीं होता है.

जाते अपराधे तदानीमेव कथितव्यं न कालक्षेपः कार्य इति शिक्षयति—

कछे परे व परदो काहं दंसणचरित्तसोधिन्ति ॥

इय संकप्पमदीया गयं पि कालं ण याणन्ति ॥ ५४१ ॥

चारित्रं शोधयिष्यामि काले श्वः . वहम् ॥

शेसुपीमिति कुर्वाणा गतं कालं न जानते ॥ ५४३ ॥

विजयोदया—कछे श्वःप्रभृतिके काले । अहं करिष्यामि दंसणचरित्तसोधिन्ति दर्शनक्षानचारित्रशुद्धिमिति । इय संकप्पमदीया एवं कृतसंकल्पमतय गदपि कालं ण जाणन्ति । गतमतिक्रान्तमपि आयु कालं नैव जानन्ति । ततः सशल्यं मरणं तेषां भवति । अत एवोक्तं उत्पण्णणुत्पण्णा माया अणुपुद्गलसौ निहंतव्या । इति व्याघय, कर्मणि, शत्रवश्चोक्षितानि बद्धमूलानि पुनर्न सुप्तेन विनाशयते । अथवा अतिचारकाल गत चिरातिक्रान्तं नैव जानति । ये हि अतिचारा प्रतिदिनं जातास्तेषां काल, संध्या, रात्रिदिनं इत्यादिकं पश्चादलोचनाकाले गुरुणा पृष्टास्तावन्न वस्तु जानन्ति विस्मृतत्वाच्चिरातीतस्य । अथागतं त्वतीचारकाल तस्यातिचारस्य अपिशब्देन क्षेत्रभावो वातिचारस्य हेतु न जानन्ति न स्मरन्ति । सामान्यवाच्यणि न जानन्ति । इह स्मृतिज्ञानागोचर इति केयचिद्व्याख्यानं ॥

सम्यक्त्वादेरुत्पन्नो दोषस्तत्क्षणोऽव संशोध्य इति शिक्षार्थमाह—

मूलारा—कछे श्वः । परे एकदिनातस्तिगाभि दिने । काहं करिष्याम्यहं । इय संकप्पमदीया एवं चितागतदु-  
द्ध्यः गयपीत्यादि अतिक्रान्तमप्यायु कालं न बुध्यते । ततः सशल्यास्ते म्रियन्ते । अत एवोक्तं उत्पण्णा उत्पन्नमाया अणु  
अपुव्व सो निहंतव्या । अथवा गतं चिरातिक्रान्तं कालं संध्यारात्रिदिनादिक अतिचारसमयं । अपि शब्दात्क्षेत्रभावो च

न जानंति न स्मरंत्यालोचनाकोले गुरुणा प्रुष्टाः संत इति व्याख्येयम् । अन्ये तु गतं प्राप्तमतीचारं न स्मरंति तत्काल-  
क्षेत्रभावाच्चेति व्याचक्षते ॥

आराधनार्थे—रत्नत्रयमें अपराध—अतिचार होनेपर उसी क्षणमें उनका गुरुके चरण समीप कथन करना चाहिये, कालक्षेप करना योग्य नहीं है, ऐसा उपदेश आचार्य कहते हैं—

अर्थ—कल परसों अथवा तरसों में दर्शन, ज्ञान और चारित्रिकी शुद्धि करूंगा ऐसा जिन्होंने अपने मनमें संकल्प किया है ऐसे मुनि अपना आयुष्य कितना नष्ट हुआ यह जानते नहीं हैं। अर्थात् उनका शल्यसहित मरण होता है। इसी वास्ते मायाशल्य मनमें जब उत्पन्न होता है उसी समय उसको हृदयसे निकालना चाहिये, ऐसा आचार्य कहते हैं। रोग, शत्रु और कर्म इनकी उपेक्षा करनेसे ये दृढमूल होते हैं पुनः उनका नाश सुखसे कर नहीं सकते। अथवा जो अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत होचुके हैं उनका स्मरण होता नहीं है जो अतिचार हुए हैं उनके संन्यास, दिन, रात्रि इत्यादिक रूप कालका स्मरण गुरुके पूजने पर शिष्योंको होता नहीं है, वे अशुभ कालमें भरे द्वारा यह अतिचार हुआ ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत हो गये हैं, जैसे कालका स्मरण होता नहीं है वैसे क्षेत्र, भाव और अतिचारके कारण इनका भी स्मरण होता नहीं है। वे अतिचार स्थितिज्ञानके अगोचर होते हैं। अर्थात् हमसे कोनसे अतिचार हुए यह भी उनके ध्यानमें नहीं रहता है, ऐसा कोई आचार्य इस गाथाका व्याख्यान करते हैं,

सशल्यमरणे को दोष इत्याशंकायामात्रे—

रागद्वोसाभिहृदा ससल्लमरणं मरंति जे मृढा ॥

ते दुःखसल्लबहुले भमंति संसारकांतारे ॥ ५४२ ॥

रागद्वेषादिभिर्भमा ये म्रियन्ते सशल्यकाः ॥

दुःखशल्याकुले भीमे भवारण्ये अमन्ति ते ॥ ५४४ ॥

विजयोदया—रागद्वोसाभिहृदा रागद्वेषाभ्यामभिहृता । ससल्लमरणं मरंति म्रियन्ते । जे मृढा ये मृढास्ते संसारकांतारे भमंति ते संसाराटव्यां अमति । कीदृशि ? दुःखसल्लबहुले दुःखानि शल्यवत् दुर्दरत्वाच्छल्य इत्युच्यते ।

सशल्यमरणे दोषमाह—

मूलारा—दुःखसह्यबहुले दुःखानि शल्यानीव दुरुद्धरत्वात्तानि प्रचुराणि यत्र कांतरे कंटकाटव्याम् ॥

अतिचारकी शुद्धि किये बिना मरण करनेमें क्या दोष है ? इस शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं—  
अर्थ—राग और द्वेषसे जो क्षपक पराजित होकर दोषोंकी आलोचना किये बिनाही मरण करते हैं, दुःख रूपी शल्योंसे भरे हुए इस संसारवनमें भ्रमण करते हैं, जैसे शरीरमें घुसा हुआ शल्य दुर्धर होता है वैसे रागद्वेष संयुक्त होकर जीव भी दुर्धर दुःखोंको इस भवमें भोगते हैं, अतिचार्योंकी आलोचना न करनेका यह फल है.

शल्योद्धरणे गुण व्याचष्टे—

तिविहं पि भावसल्लं समुद्धरित्ताण जो कुणदि कालं ॥

पव्वज्जादी सव्वं स होइ आराधओ मरणे ॥ ५४३ ॥

उद्धृत्य कुर्वते कालं भावशल्यं त्रिधापि ये ॥

आराधनां प्रपद्यंते ते कल्याणवित्तारिणीं ॥ ५४५ ॥

विजयोदया—तिविहपि त्रिविधमपि । भावसल्लं भावशल्यं । समुद्धरित्ताण समुद्धृत्य । जो कुणदि कालं य' कालं करोति । कीदृग्भूत ? पव्वजादी प्रवज्जादिक । सव्वं सर्वं । स होदि स भवति । आराधको आराधको दर्शनादीनां । मरणे भवप्रच्यवे ॥

उद्धृतशल्यस्य मरणे गुणं गुणाति—

मूलारा—समुद्धरित्ताण समुद्धृत्य ॥

जो शल्यका उद्धार करता है उसको आराधना सिद्ध होती है ऐसा कथन—

अर्थ—तीन प्रकारके भावशल्योंका स्वरूप ऊपर कहा है, इन शल्योंको हृदयसे निकालकर—अतिचार्योंकी आलोचना करके प्रायश्चित्त द्वारा जो अपने आत्माको निर्मल बनाकर मरण करते हैं उनकी आराधनाओंकी सिद्धि होती है। आमरण उन्होने दीक्षा लेकर व्रतादिकोंका पालन किया था वह सब आराधनाओंकी प्राप्तिसे सफल होता है



जे गारवेहिं रहिदा गिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य ॥  
विहरंति मुत्तसंगा खवंति ते सव्वदुक्खाणि ॥ ५४४ ॥

सम्यक्त्ववृत्तिःशुद्ध्या दूरोत्सारितगौरवाः ॥

विहरंति चिसंगा ये कर्म सर्वं धुनंति ते ॥ ५६६ ॥

विजयोदया—जे गारवेहि रहिदा ये गौरवैरिहिता । गिस्सल्ला दंसणे चरित्ते य निःशल्याः संतो दर्शने चरित्रे च । विहरन्ति प्रवर्तन्ते । मुत्तसंगा निरस्तमूच्छस्ति । सव्वदुक्खाणि खवंति ते सर्वोणि दुःखानि क्षपयन्ति ॥  
निःशल्यतया रत्नत्रय प्रवर्तमानानां गुणमाह —  
मूलारा—मुत्तसंगा निरस्तमूच्छाः ॥

अथ—ऋद्धिगारव, रसगारव और सातगारव ऐसे तीन गारवोंसे रहित होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यमें जो निरतिचार होकर प्रवृत्ति करते हैं, संपूर्ण परिश्रमके त्यागी होनेसे वे सर्व दुःखोंका नाश करते हैं.

तं एवं जाणंतो महंतयं लाभं सुविहिदाणं ।

दंसणचरित्तसुद्धो गिस्सल्लो विहर तो धीर ॥ ५४५ ॥

इति ज्ञात्वा महालाभं निःशल्यीभूतचेतसां ॥

शुद्धदर्शनचरित्रो विहरस्वापशल्यकः ॥ ५६७ ॥

विजयोदया—तं भवान् । पवमुक्कप्रकरणे जाणतो जानन् । महंतग महातं लाभं सुविहिदाणं सुसंयतानां दंसणचरित्तसुद्धो दर्शने चारित्रे च शुद्धिं तयो शुद्धिं ज्ञानदर्शनशुद्धिमंतरेण न भवतीति त्रयाणा शुद्धिरुक्ता । गिस्सल्लो-शल्यरहितः सन् । विहर चर । तो तस्माद्दीर धैर्यपेत ॥

रत्नत्रयनिर्भलीकरणे स्वार्थतिशयलाभप्रकाशनेन प्ररोचनामुत्पाद्य तत्र क्षपक प्रेरयन्नाह—

मूलारा—तं चिन्तवचनं प्रसिद्ध । एवं एतेनास्मदुक्तेन विधिना । सुविहिदाणं निरतिचाररत्नत्रयाणां । दंसण-चरित्तसुद्धिं एतद्दृश्यशुद्धिं विना न भवति रत्नत्रयशुद्धिः । गिस्सल्लो दीक्षाग्रहणात्प्रभृति कृतेभ्यो निष्क्रान्त । विहर आचर । तं त्वं । प्रागनुष्ठितं रत्नत्रयं शोधयित्वा इत् उत्तरं शुद्धं त्वमनुतिष्ठेत्यर्थः ॥

अर्थ—अतिचाररहित होकर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करनेसे उत्तम मुनिओंको महान् लाभ होता है अर्थात् उनके सर्व दुःखोंका क्षय होता है ऐसा ज्ञानकर ज्ञान, दर्शन और चारित्रिकी शुद्धि कर तथा निःशल्प होकर हे क्षपक ! तुम धीरतासे इनमें प्रवृत्ति करो

तस्मै सतूलमूलं अविच्छेदमविष्णुदं अणुविवर्गो ॥

णिम्मोहियमणिगूढं समं आलोचए सव्व ॥ ५४६ ॥

सम्यग्गालोचयेत्सर्वमनुद्विभ्रमविस्मृतम् ॥

आनिर्गूढमनिर्मोहं निर्मूलमपगौरवम् ॥ ५४८ ॥

विजयोदया—तस्मात् तस्मात् यस्मात्सशल्यमरणे दोष । नि शल्यमरणे च सकलनिवृत्ति दुःखकरणाना कर्मणामभावः । तस्मा तस्मात् । सम सव्वमालोचे सम्यक् सर्वमतिचारं कथयेत् । दुःखनिवृत्त्यर्थ इति । कथमालोचयेदित्याशकायामालोचनाविशेषणमाह—सतूलमूल तूलमूलाभ्या सहितं । सव्व निरवशेष । अविच्छेदं अविस्मृतं । अविष्णुदं अद्विष्टम् । अणुविवर्गो निर्भयः । णिम्मोहिव मोहरहित । अणिगूढ अनिगूढ ॥

कथं निःशल्यो भवेयमिति प्रश्ने सत्याह—

मलारा—तस्मा निःशल्येतरमरणगुणदोषदर्शनादेव । समूलतुलं दीक्षादिवसादारभ्याद्यथावत् प्रवृत्तमतिचारजातं । क्रमसूचनार्थमिदं । अन्ये सतूलमूलं इति पठित्वा समस्तावयवकुमित्यर्थमाहुः । अविच्छेदं अनधिकं । अविष्णुद अत्यरितं । अणुविवर्गो निर्भयः सन् । णिम्मोहिव अविस्मृतं । अणिगूढं अनपलपितं । आलोचए आलोचय, प्रकाशय त्वम् ॥

अर्थ—सशल्य मरणसे भववनमें दुःख सहन करना पड़ता है, और निःशल्यमरणसे सर्व कर्मोंका क्षय होता है, जिससे मुक्तिसुखकी प्राप्ति होती है, इसलिये दुःखकी निवृत्ति करनेके लिये सपूर्ण अतिचार कहने चाहिये स्मरण कर, शांतिरीतिसे, निर्भय और मोहरहित होकर दोषोंको न छिपाकर कहना चाहिये, दीक्षाग्रहण कालसे आज तक जितने दोष हुए होंगे उन सबको कहना चाहिये, उसमेंसे एकमी छिपाना नहीं चाहिये

जह् बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणइ ॥

तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तुणं ॥ ५४७ ॥

अभ्यमानसृपामायासुत्तेन प्रांजलात्मना ॥

वाल्लेनेवाभिधेयानि कृत्याकृत्यानि धीमता ॥ ५६९ ॥

विजयोदया—जह्वालो जंपतो यथा वालो जल्पन् । कज्जमकज्जं च कार्यमकार्यं वा । भणदि भणति । उज्जुगं कज्जुना क्रमेण । तद् तथा । आलोचैदब्ब वक्तव्योऽपराध- । मायामोसं च मोत्तुण मनोगता वक्ततां, वचनगतां, मृया च मुक्त्वा ॥

आलोचनोद्यतस्य तद्विधिमभिधत्ते—

मूलारा—उज्जुगं प्राजलं । आलोचैदब्ब प्रकाश्यं । माया मनोवक्तता । मोसं वाग्वक्तताम् ॥

अर्थ—वैसा वालक कार्य हो अथवा अकार्य हो सरल अंतःकरणसे अपने पिताको कहता है, इसीतरह क्षपकमोभी अपने अतिचार मनका कपट छोटकर और वचनकी असत्यता दूर कर कहने चाहिये।

उपसंहारि प्रस्तुतम्—

दंसणणाणचरित्ते काटूणालोचणं सुपरिसुद्धं ॥

णिरसल्लो कदसुद्धी कमेण सल्लेहणं कुणसु ॥ ५७८ ॥

सम्यक्स्वजानवृत्तेषु विधायालोचनं गते ॥

कुरु सल्लेखनां सम्यक्क्रमेणापास्तकल्मसः ॥ ५७९ ॥

विजयोदया—दंसणणाणचरित्ते दर्शनशानचरिविषया । आलोचणं नाट्टुण अपराधमभिधाय । सुपरिसुद्धं णिरसल्लो मायाशल्परहित । कयसुद्धी कृतगुणिरूपितप्रायश्चित्त । कमेण सल्लेहणं कुणसु क्रमेण सल्लेखनां कुरु ॥

आलोच्य मया किंकृत्यमित्याह—

मूलारा—सुपरिसुद्ध सर्वथा त्यक्तमायं । कदसुद्धी कृतगुरुदत्तप्रायश्चित्त । मल्लेहणं कुणसु सर्वोत्तमा शरीर-त्यागाय योग्यतामुत्पादयेत्यर्थ ।

प्रस्तुत विषयका उपसंहार करते हैं—

अर्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें हुए अपराधोंका निवेदन मायाशल्परहित पूर्ण त्याग करके करना चाहिये, गुरुओंने दिया हुआ प्रायश्चित्त धारण करके शुद्ध होना चाहिये तदनंतर क्रमसे सल्लेखना करनी चाहिये

तो सो एवं भणिओ अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीओ ॥

सवंगजादहासो पीदीए पुलइदसरीरो ॥ ५४९ ॥

इत्थुत्तं सूरिणोत्कृष्टां चिकीर्षुः क्षपको मृतिं ॥

जातसर्वांगरोमांचः प्रमोदभरविन्हलः ॥ ५७१ ॥

विजयोदया—एव शिक्षितोऽसौ क्षपक । तो तत् । सो आराधकः । एवं भणितो एवं शिक्षितः सूरिणा । अब्भुज्जदमरणणिच्छिदमदीगो अभ्युद्यते मरणे निश्चितबुद्धिः । सवंगजादहासो सर्वांगजातहर्षः । पीदीए पुलगिदसरीरो प्रीत्या पुलकितशरीरः ॥

एवं शिक्षितः क्षपकः किं करोतीत्यत्र गाथाद्वयमाह—

मूलारा—तो ततः शिक्षानंतरं कायोत्सर्गं करोतीति संवयः । अब्भुज्जद उत्साहवान् । हासो हर्षः ।

अर्थ—यहांतक गुरुने क्षपकको आलोचनाके विषयमें उपदेश किया, यह सब उपदेश सुनकर मरणकेलिये जिसने निश्चय किया है ऐसा क्षपक मुनि अत्यंत हर्षित होता है और उसके शरीरपर आनंदसे रोमांच आते हैं,

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते ॥

आलोयणपत्तीयं काउस्सगं अणाबाधे ॥ ५५० ॥

चैत्यस्य सम्मुखः प्राच्यामुदीच्यां वा दिशः स्थितः ॥

कायोत्सर्गस्थितो धीरो भूत्वा कायेऽपि निस्पृहः ॥ ५७२ ॥

विजयोदया—प्राहसुर उदहमुखः । चेदियहुत्तो व चैत्याभिमुखो वा भूत्वा । कुणदि । उत्सर्ग करोति कायोत्सर्गं । कीदृग्भूतः ? आलोयणपत्तीं आलोचनाप्रत्यय । आलोचनानिमित्तं । कायोत्सर्गं स्थित्वा । यथा यत् सूर्यन्ते कथयितुं तस्मात्कायोत्सर्गं आलोचनाहेतुः । क त करोति ? एगंते एकाते जनरहितदेशे । अणाबाधे । मार्गे बहुजनमध्ये एकमुख न भवति चिन्तं । मार्गे स्थितः परकार्यव्याघातरुद्धवति इति मत्वा । एकांते अमार्गे न कायोत्सर्गदेश आख्यातः ॥

मूलारा — पाचीणोदीचिमुहो पूर्वाभिमुख उत्तराभिमुखो वा । चेदियहुत्तो वा चैत्याभिमुखो वा । आलोयणपत्तीयं आलोचनाप्रत्ययं । कायोत्सर्गस्थो दोषान्मरतीति कायोत्सर्गं आलोचनहेतुरुक्तः । काउस्सगं सामायिकदंडकस्तवप्रयोगपूर्वकं बृहत्सिद्धिर्भक्तिं कृत्वोपविश्य दृष्टुमिच्छामि करोतीति प्राकृतटीकाम्नायः । अणाबाधे क्लेशसंक्लेशकारणरहिते ॥

अर्थ—पूर्वादिशा अथवा उत्तर दिशाके तरफ मुख करके किंवा जिनप्रतिमोंके सम्मुख उठना मुख करके आलोचनाके लिये प्रथम क्षपक कायोत्सर्ग करता है कायोत्सर्ग कर करनेके लिये दोषोंका स्मरण किया जाता है जहां जन नहीं है ऐसे स्थानमें और जो आने जानेका मार्ग नहीं है ऐसे स्थानमें क्षपक कायोत्सर्ग करता है अर्थात् बहुजनमें कायोत्सर्ग करनेसे मन एकाग्र होता नहीं और मार्गमें कायोत्सर्ग करनेसे दूसरोंके कार्यमें अडचन उपस्थित होती है, इसलिये एकान्तमें और अमार्गमें कायोत्सर्ग करना चाहिये ऐसा विधि कहा है.

कायोत्सर्ग किमर्थ करोति आलोचयितुकाम. इत्यादिशाया कायोत्सर्गस्य उपयोगमाचष्टे—  
एवं खु वोसरित्ता देहे वि उवेदि निम्ममत्तं सो ॥

निम्ममदा गिरस्तंगो गिस्सहो जाइ एयत्तं ॥ ५५१ ॥

मुक्तशाल्यममत्वोऽसावेकत्वं प्रतिपद्यते ॥  
शाल्यमुत्पादयिष्यामि पादशुले गणेक्षिनः ॥ ५७३ ॥

विजयोदया—एव तु इत्यादिना। एवमित्यन्तरस्वनिर्दिष्टकमेण। प्रादुमुख उदइमुखश्चैत्याभिमूलो वा। एकाते घटते निर्ममत्वैव ननु त्याग। भिन्नयो पूर्वापरकालविषययो क्रियोर्थत्र एव कर्तो तत्र पूर्वकालक्रियावचनात् क्त्वा विधीयते। अत्रोच्यते वचसा त्याग वोसरित्ता इत्यनेन उच्यते। मनसा ममायं न भवति देह इति त्याग पश्चात्तन्यते। तेन वाङ्मन करणभेदात्प्राप्तो भिद्यते। निम्ममदा गिस्सगो निर्ममतया निस्सगो निष्परियह। गिस्सहो नि परिग्रहत्वादेव निःशल्य। एकत्त जादि एकत्वभावना प्रतिपद्यते ॥

कायोत्सर्गस्यालोचनाप्रत्ययत्वसमर्थनाय गाथाद्वयमाह—

मूलार—एवं पाचीणो इत्याद्युक्तविधिना। खु यस्मात्। वोसरित्ता कार्यं व्युत्सजामीति तच्चेन त्यक्त्वा। निम्ममत्तं अयं देहो मम भवतीति मनसा त्यज तं। निम्ममदा गिस्सगो निर्ममतया निःसंगो बाह्य यत्तरपरिग्रहरहितो अत एव निःशल्य। आलोचनापरिणतोऽहमिदानीं संपन्न इति न मे सम्यक्त्वादपि दोषः कश्चिदप्यस्तीति दोषशंकादुरावे-

शनिर्मुक्तः । एतत् एकत्व अहमेकोऽसह्यो नित्यो वा । देहोऽयं मनोऽन्यो दुःखहेतुत्वाच्च ममानुपकारी निरतिचारत्वाच्च त्रय-  
मेवाहमतो देहनाशेन मे न किञ्चिन्नश्यति मम शुद्धचिद्रूपस्यैयमशुद्धिरिति माया च न स्पृशेयमिति एकत्वभावनामयो  
भवतीत्यर्थः ।

अर्थ—पूर्व गाथामें कहे हुए अभिप्रायके अनुसार पूर्व, उत्तर अथवा चैत्यके तरफ मुल करके मैं शरीरका  
त्याग करता हूं ऐसा प्रथम वचनोच्चार करके तदनंतर 'यह देह मेरा है, ऐसी भावनाका मनसे त्याग करना चाहिये,  
इस वास्ते शरीरत्यागके वचनकृत और मनःकृत ऐसे दो भेद होते हैं। देहके उपर ममत्वरहित होनेसे वह क्षपक  
निष्पग्रह है, और निष्पग्रह होनेमेही वह निःशून्य भी है। अतः कायोत्सर्गके समय मैं अकेलाही हूं यह  
शरीर मेरा नहीं ऐसी एकत्वभावना उसको उत्पन्न होती है,

तो एतच्चमुगदो सरेदि सब्बे कदे सगे दोसे ॥

आयरियपादमूले उप्पाडिस्सामि सल्लत्ति ॥ ५५२ ॥

इत्येकेत्वगतः कृत्स्नं दोषं स्मरति यत्नतः ॥

इत्थं स प्रांजलीभूय सर्वं संस्मृत्य दूपणं ॥ ५७४ ॥

निजयोद्या — एतच्चमुगदो एकत्वभावनामुपगत । निरतिचारत्वाच्च दर्शनचात्रिण्येवाह । शरीरमिदमन्यदनु  
पकारि मम दु खनिमित्तत्वात् । तद्विनाशे मम किं चिन्श्यति । क्रतयितव्योऽयमरातिरिति मन्यमानः प्रायश्चित्ताचरणे न  
प्रिद्यते । माया च कर्मादयनिमित्तां हातुं ईहतो मम शुद्धरूपस्यैयमशुद्धिरिति । तो तत् । सरेदि स्मरति ।  
सब्बे सर्वेषां । कदे कृतानां । सगे स्वकानां । दोसे दोषाणां । किमर्थं स्मरति । आयरियपादमूले आचार्यपादमूले । उप्पा-  
डिस्सामि उत्पाटयिष्यामि । सल्लत्ति दर्शनातिचारमिति ॥

मूलारा—तो तत् । कायोत्सर्गादिक्रमोपक्रमप्रवृत्तं । कदे कृतान् । किमर्थं तान्स्मरतीत्याह—आयरियपादमूले

त्यादि ॥

अर्थ—जब क्षपक एकत्वभावनामय होता है तब मैं अतिचाररहित ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय हूं, यह  
शरीर मेरेसे भिन्न है, यह उपकार न करने वाला और दुःखकेलिये कारण है, उसके नाशसे मेरा कुछ विगडना नहीं है,

यह शत्रु है इस लिये इसको क्रुश करना चाहिये ऐसे विचार उसके हृदयमें उत्पन्न होते हैं, ऐसे विचार उत्पन्न होनेसे वह क्षपक प्रायश्चित्तका आचरण करते समय विन्न होता नहीं कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मायाको वह त्याग देता है यह माया मेरे शुद्ध स्वरूपमें अशुद्धता उत्पन्न करनेवाली है ऐसा मनमें समझता है और आचार्यके चरणसन्निध दर्शनादिकके अतिचारोंका नाश करूँगा ऐसा विचार कर पूर्वमें किये हुए सर्व दोषोंको स्मरता है,

स्मृत्वा किं करोति पदचादित्याशंकाभित्याचष्टे—

इय उजुभावमुपगदो सञ्चे दोसे सरित्तु तिक्खुत्तो ॥

लेस्साहिं विसुञ्जतो उवेदि सञ्छे समुद्धरिडुं ॥ ५५३ ॥

एति शल्यं निराकर्तुं सर्वं संस्पृश दूषणम् ॥

आलोचनादिकं कर्तुं गुह्यते शुद्धचेतसः ॥ ५७५ ॥

विजयोदया—उजुभावं उवगदो इय एवं कज्जुभावं उपगतः । सञ्चे दोसे सर्वेषां दोषाणां । तिक्खुत्तो सरित्तु त्रिःस्मृत्वा । लेस्साहिं विसुञ्जतो लेख्याभिर्विशुद्धाभिविशुद्धयन् । उवेदि दौकते आचार्ये । सञ्छं शल्यं । समुद्धरिडुं सम्यगुद्धर्तुं ॥

स्मरणानंतर किं करोतीत्यत्राह—

मूलारा—सरित्तु स्मृत्वा । तिक्खुत्तो त्रीन्वारान् । आचार्यमुपसर्पति ॥

दोषोंका स्मरण कर अनंतर कोनसा कार्य क्षपक करता है? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—इस तरहसे सरलपना धारण कर तथा सब दोषोंका विचार स्मरण करके लेख्याओंसे विशुद्ध होता हुआ अतिचारोंका उद्धार करनेके लिये आचार्यके पास क्षपक जाता है,

आलोयणादिया पुण होइ पसत्थे य सुद्धभावस्स ॥

पुच्चणहे अवरणहे व सोमतिहिरक्खेवलाए ॥ ५५४ ॥

आलोचनादिकं तस्य संभवेच्छुद्धभावतः ॥

अपराणहेऽथ पूर्वाणहे शुभलयादिके विने ॥ ५७६ ॥

विजयोदया—आलोचनादिको आलोचनप्रतिक्रमणादिका क्रिया । अथवा आलोचन आलोचना । दिया दि-  
वसे । पुण पदचात् । होइ भवति । क पसत्त्रे प्रशस्त क्षेत्रे । अनेन क्षेत्रशुद्धिका । विमुद्धभावस्स विशुद्धिपरिणामस्य  
भावशुद्धिरनेन कथिता । पुन्यण्डे पूर्वण्डे । अवरण्डे व अपराण्डे वा सोमतिहिरण्यपवेलाप सौम्ये दिने, नक्षत्रे, वेलाया च ।

आलोचनादिक्रिया क्षेत्रादिशुद्धावेव कार्येत्यनुशासि—

मूलारा—आलोचणादिया आलोचनप्रतिक्रमणादिक्रियाः । अन्ये दिया दिवा न रात्रौ इति व्याख्याति । तच्च  
नियमार्थमेव । पुन्यण्डे इत्यनेनैव रात्रिनिषेधस्य सागर्यलञ्चत्वात् । पसत्ये शुभे देशे ।

अर्थ—विशुद्ध परिणामवाले इस क्षपक्री आलोचना, प्रतिक्रमणादिक्रियाएं दिनमें और प्रशस्त स्थानमें  
अर्थात् शुद्ध स्थानमें होती हैं दिवसके पूर्व भागमें अथवा उत्तर भागमें, मौम्यतिथि, शुभनक्षत्र, जिस दिनमें रहते  
हैं उस दिनमें होती हैं आलोचना करनेके लिये परिणामोन्नी विशुद्धताके साथ २ क्षेत्रशुद्धि, शुभदिन, शुभतिथि और  
शुभनक्षत्र इनकी भी आवश्यकता रहती है ऐसा इस गाथासे व्यक्त होता है,

एवमादिषु अग्रशस्तेषु देशेषु आलोचना न प्रतीच्छेत् इति आचार्यशिक्षापरस्वचन—

णिप्पत्तकंटइल्लं विज्जुहदं सुक्खरुक्खकडुदुल्लं ।

मुण्णधरुहदेलपत्थररासिद्वियापुंजं ॥ ५५५ ॥

नि.पत्रः कटुकः शुष्कपादपः कंटकाक्षितः ॥

विच्छाद्यः पतितः शीणो दवदग्धस्तडिद्धतः ॥ ५७७ ॥

विजयोदया—णिप्पत्तकटयिल्ल निष्पन्नं कंटकाकुल । विज्जुहद अशनिनाहत । सुक्खरुक्खकडुदुल्ल । शुष्कवृक्षं,  
कटुकरस्त, दृढं दग्धं । मुण्णधरुहदेल शून्यं गृह, रद्वेदेवकुल, पापानराक्षि, दृष्टकापुज ॥

आलोचनाद्योग्यं क्षेत्रं गाथात्रयणोपदिशति—

मूलारा—णिप्पत्ता निष्पन्नं उद्धृक्षयुक्तं स्थानं । एवं कंटइल्लं इत्याद्यपि व्याख्येयं । विज्जुहदं अशनिपातोपद्रुतं ।

कटु कटुकरसं । दुल्लं दवानलादिल्लुट्टं । इद्वियापुंजं इष्टकानिचयं ।

अग्रशस्त देशमें आलोचना करना योग्य नहीं है ऐसा आचार्यका शिक्षापर वचन दिखते हैं—

अर्थ— जो क्षेत्र पत्तोंसे रहित है, कंटोंसे भरा हुआ है, विजली गिरनेसे जहां जमीन फट गई है, जहां



शुष्क वृक्ष है, जिसमें कड़ुसके वृक्ष भरे हैं, जो जल गया है, ऐसे स्थानोंमें दोपोंकी आलोचना करना योग्य नहीं। शून्य घर, रुद्रका मंदिर, पत्थरोंका ढेर और ईंटोंका ढेर है ऐसा स्थानभी आलोचनाके लिये अयोग्य है।

तणपत्तकट्टछारिय असुइ सुसाणं च भग्गपडिदं वा ॥

रुद्धानं खुद्धान अधिउत्ताणं च ठाणाणि ॥ ५५६ ॥

शुद्धाणामल्पसत्त्वानां देवतानां निकेतनम् ॥

तृणपापणकाष्ठास्थिपत्रपांस्वादिसंचयाः ॥ ५७८ ॥

शून्यवेदमरजोभस्मवर्चःप्रभृतिदूषिता ॥

रुद्रदेवकुलं त्याज्यं निंद्यमन्यदपि हि शम् ॥ ५७९ ॥

विचयोदया—तणपत्तकट्टछारिय असुइ सुसाणं च तृणवत्पत्रवत्काष्ठवत् यत्स्थानं । अशुचिसुसाणं वा अशु-  
चिश्मशानं वा । भग्गानि पतितानि वा भाजनानि गृह्णाणि वा यस्मिन् स्थाने तद्भग्गपतितं । अधिउत्ताणं व ठाणाणि देव-  
ताना स्थानानि । कीटशीना ? रुद्धानं रौद्राणां । खुद्धानं क्षुद्राणां स्वल्पकानां । अल्पसत्त्वानामित्यर्थः । अधिउत्ताणं देव-  
ताना अन्ये अधिउत्ताणं इति लोकेन आत्मात्मैष्ठस्थाने स्थापितव्यतरदेवानामित्यर्थमाहुः ।

मूलारा—छारियं भस्मधूल्यादियुक्तं । असुचि अमेव्यादियुक्तं । सुसाणं श्मशानं । भग्गपडिदं भग्गपतित  
भाजनगृहादियुक्तं । रुद्धानं रौद्राणां चामुंडादीनां । खुद्धानं क्षुद्राणां स्वल्पकानां । अल्पसत्त्वानामित्यर्थः । अधिउत्ताणं देव-  
ताना अन्ये अधिउत्ताणं इति लोकेन आत्मात्मैष्ठस्थाने स्थापितव्यतरदेवानामित्यर्थमाहुः ।

अर्थ—जिसस्थानमें तृण, सूके पान, और काठके पुंज हैं जहां भस्म पड़ा है ऐसे स्थानभी आलोचनाके  
लिये वर्ज्य है अपवित्र श्मशान, तथा फुटे हुए पात्र, अथवा गिरा हुआ घर जहां है वह स्थान भी वर्ज्य है रुद्रदेवतायें  
और क्षुद्रदेवतायें इनकेभी स्थान वर्ज्य समझने चाहिये।

अणं व एवमादी य अप्पसत्थं हवेज्ज जे ठाणं ॥

आलोचनं पण्डिच्छदि तत्थं गणी से अविग्गत्थं ॥ ५५७ ॥

चिकारविषतां शुद्धां साधुमालोचनां स्फुटम् ॥  
सूरीणां सर्वथा स्थानमसमाधानकारणम् ॥ ५८० ॥

विजयोदया—अण्ण व अन्यद्वा स्थान एवमादिक । अप्पसत्थ अप्रदास्तं । हुवेज्ज भवेत् । ज ठाणं यत्स्थान । तत्थ तस्मिन्स्थाने । आलोचनं ण पडिच्छदि आलोचना न प्रतीच्छति । गणी गणधर । किमर्थं । से तस्य क्षपकस्य । अवि-  
ग्वर्यं अविचार्यं । एतच्वाल्लोचनाया कृताया प्रारब्धकार्यसिद्धिर्न भवतीति मत्वा ।

मूलाया—पडिच्छदि श्रूणोति । अविग्वर्यं आरब्धकार्यनिर्वृत्तिसिद्धयर्थं ॥

अर्थ—ऊपरके स्थान जैसे वर्ज्य हैं वैसे अन्यभी जो अयोग्य स्थान हैं उसमेंभी क्षपककी आलोचना आचार्य  
सुनते नहीं, ऐसे स्थानोंमें आलोचना करनेसे क्षपककी कार्यसिद्धि नहीं होगी ऐसा मानकर उसकी आलोचना आचार्य  
ग्रहण नहीं करते हैं.

क तर्हि आलोचना प्रतीच्छतीत्यत्राह—

अरहंतेसिद्धसागरपउमसरं खीरपुप्फफलभरियं ।

उज्जाणभवणतोरणपासादं णागजक्खधरं ॥ ५८१ ॥

जिनेन्द्रयक्षनागादिमंदिरं चारुतोरणम् ॥

सरः स्वच्छपयःपूर्णं पद्मिनीषंडमंडितम् ॥ ५८२ ॥

पादपैरुन्नतैः सेव्यं सर्वसत्त्वोपकारिभिः ॥

आरामे मंदिरे नग्नैः सज्जनैरिव भूपिते ॥ ५८३ ॥

समुद्रनिम्नगादीनां तीरमक्षमनोहरम् ॥

सच्छायं सरसं वृक्षं पवित्रफलपल्लवम् ॥ ५८४ ॥

विजयोदया—अरहत्सिद्धसागरपउमसर अर्हद्वि सिद्धैश्च साहचर्यास्थान अर्हत्सिद्धशब्दाभ्यामिह गृहीत ।  
अर्हत्सिद्धमतिमासाहचर्याढा । सागरादिसमीप स्थान समीपयात्सागरादिशब्देनोच्यते । खीरपुप्फफलमरिद क्षीरपुप्प  
फलभरितकरसामीप्यात् स्थानं क्षीरपुप्पफलभरितमित्युच्यते । उज्जाणभवणतोरणपासादं उद्यानभवन, तोरण, प्रासाद. ॥  
णागजक्खधरं । नागना यक्षाणा च गृह ॥

क 'तर्हि सूरिः क्षपकस्यालोचना प्रतीच्छति इति वृच्छायां गाथाद्वयमाह—

मूलारा — अरहंत अष्टप्रातिहार्यसाहितप्रतिमस्थानं । सिद्ध अष्टप्रातिहार्यरहितप्रतिमास्थान । सागर समुद्र समीपप्रदेशः । पञ्चमसर पद्माकरजलाशयसमीपं । खीरपुष्पफलभरिदं क्षीरघृक्षेवटभूताशोकादिभिः पुष्पितैः फलितैश्च वृक्षैराकीर्णो यो देशस्तस्यासन्नस्थानं । उज्जाणभवनं क्रीडावनमध्यगृहं । तोरणपासादं महागृहं सौवहाय्योदि ॥

किस प्रदेशमें क्षपककी आलोचनाका आचार्य स्वीकार करते हैं? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—अर्हन्तका मंदिर, सिद्धोंका मंदिर, अर्हत् और सिद्धोंकी जहां प्रतिमा है ऐसे पर्वतादिक. समुद्रके समीपका प्रदेश, जहां क्षीरघृक्ष हैं, जहां पुष्प और फलोंसे लदे हुए वृक्ष हैं ऐसे स्थान, उद्यान, तोरणद्वारमहित मकान, नागदेवताका मंदिर, यक्षमंदिर ये सब स्थान क्षपककी आलोचना सुननेके योग्य हैं

अर्णं च एवमादिय सुपसंत्यं हवइ जं ठाणं ॥

आलोयणं पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं ॥ ५५९ ॥

शस्तमैन्यदपि स्थानमुपेत्य गणनायकः ॥

आलोचनामसंक्लेशां क्षपकस्य प्रतीच्छति ॥ ५८४ ॥

मूलारा—स्पष्ट ।

अर्थ—और भी अन्य प्रशस्त स्थान आलोचनाके लिये योग्य हैं. ऐसे पशस्त स्थानोंमें क्षपकका कार्य निर्विघ्न सिद्ध हो इस हेतुसे आचार्य बैठ कर आलोचना सुनते हैं.

सूरित्व स्थित्वा आलोचनां प्रतिगृह्णातीति कथयति—

पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु ॥

आलोयणं पडिच्छदि एक्को एक्कस्स विरहम्मि ॥ ५६० ॥

जिनार्चाया दिश प्राच्या कौवेर्या वा स सन्मुखं ॥

शृणोत्यालोचनां सूरिरेकस्यैको निषण्णवान् ॥ ५८५ ॥

विजयोदया - पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व । प्राइमुख, उदइमुख । आयतनशब्द- स्थानसामान्यवचनोऽपि जिनप्रतिमास्थानवान्यत्र गृहीतस्तेन जिनायतनाभिमुखो वा । सुहणिसण्णो हु सुतेनासीन । आलोयण आलोचना । पडिच्छदि शृणोति । एक्को एक एव सूरिरकस्येवालोचना । विरहम्मि एकांते । तिभिरापसारणपरस्य ब्रह्मर्षेभ्यश्च विभक्ति उदयार्थी तद्वदस्मत्कार्याभ्युपयो यथा द्यादिनि लोक प्राइमुखो भवति । सूरस्तु कोऽभिप्रायो येन प्राइमुखो भवति । प्राग्वधपरदुग्रहणकार्यसिद्धिरग तद्विगमिसुखता तद्विगमिसुखता तु स्वयप्रमादित्थि-कृतो विदेहस्थान चेतसि कृत्वा तदभिमुखतया कार्यसिद्धिरिति । चेत्याभिसुखताऽपि शुभपरिणामतया कार्यसिद्धिरग । निर्व्याकुलमासीनस्य यत् श्रवण तदालोचयितु सम्मानन । यथा कथञ्चिच्छ्रवणे मयि अनादरो गुरोरेति नोत्साह परस्य स्यात् । एक एव शृणुयात्सूरिलज्जापरो वहूना मध्ये नात्मजोप प्रकटयितुमीहते । चित्तखेदश्चास्य भवति, तथा कथयत एकस्येवालोचना शृणुयात् । दुरवगारत्वाद्युपपदनेकवचनमदर्भस्या । तदोपनिग्रह नाय वराक प्रतीच्छति । इत्यनेनैव गतत्वाच्चिरहम्मि इति वचन निरर्थक । यद्यन्येऽपि तत्र स्युर्न एकैव श्रुत स्यात् । न लज्जत्ययमस्य अपराधश्चास्य अनेनावगत एवेति नान्यस्य नकाशे शृणुयात् इति । एतत्सूच्यते विरहम्मि एकांते आचार्यशिक्षेति ॥

सुप्रशस्तस्थाने कीदृग्भूत्वा सूरिरालोचना प्रतिगृह्णातीत्यत्राह--

मूलारा--आयदणमुहो आयतनशब्द स्थानसामान्यवचनोऽपि इह जिनप्रतिमास्थानार्थो गृहीत । तेन जिनायननाभिमुख इति व्याख्येयं । सुहणिसण्णो निर्व्याकुलमासीनेनालोचनायाः श्रवणमालोचयितु सम्माननमन्यथा मध्यनादरो गुरोरित्येव नोत्सहेत । एक्को वहूना हि मध्ये लज्जापरो न स्वदोषं वक्तुमीहते चित्तखेदश्चास्य स्यात् । एकस्स दुरवगारत्वाद्युपपदनेकालोचकवचनसदर्भस्य । तु शब्दोऽवधारणार्थोऽत्र योज्य । विरहम्मि एकांते । प्रच्छन्नोऽवमतो नाऽलोचितार्थ मा भैत्सीदित्येवमर्थमिदम् । उक्तं च--

पूर्वोदीच्योर्जिनाचार्यान्वा येनासीनो निराकुलः ॥

शृणोत्यालोचनार्थमेक एकस्यैव रहो गतः ॥

आचार्य इस प्रकार बैठकर आलोचना सुनते हैं इस बातको स्पष्ट करते हैं--

अर्थ-- पूर्वोद्दिष्टाभिमुख अथवा जिनमंदिराभिमुख होकर सुखसे बैठकर आचार्य आलोचना सुनते हैं एकान्तस्थानमें एकही आचार्य एकक्षपककीही आलोचना सुनता है अंधकारका नाश करनेवाले सूर्यका पूर्वदिशामें उदय होता है अतः पूर्व दिशा प्रशस्त है सूर्यके उदयके समान हमारे कार्यमेंभी दिन प्रतिदिन उन्नति होने ऐसी इच्छा करने वाले लोक पूर्वदिशाके तरफ अपना मुख करके अपना इष्ट कार्य करते हैं, क्षपकके ऊपर अनुग्रह

करनेका कार्य मैंने हाथमें लिया है, उसकी सिद्धिके लिये यह दिशा कारणभूत है ऐसा समझकर वे पूर्वाभिमुख बैठते हैं, विदेहक्षेत्रमें स्वयंभूमादि तीर्थकर होगये हैं विदेहक्षेत्र उत्तरदिशाके तरफ हैं अतः उन तीर्थकरोंको हृदयमें धारण कर उस दिशाके तरफ आचार्य अपना मुख कार्यसिद्धिके लिये करते हैं चैत्यके तरफ मुख करनेसे परिणाम शुभ होगा जो कि कार्यसिद्धिके निमित्त हैं इस विचार से वे चैत्याभिमुख बैठते हैं.

निर्व्याकुल बैठकर गुरु आलोचना सुनते हैं, इस प्रकारसे सुननेसे आलोचना करनेवालेका सम्मान होता है, इधर उधर लक्ष देकर सुननेसे गुरुका भेरे संबंधमें अनादरभाव है ऐसी आलोचककी समझ होगी जिससे दीप कहनेमें उसका उत्साह नष्ट होगा एक ही आचार्य एकके दीप सुने, यदि बहुत गुरु सुननेके लिये बैठेंगे तो आलोचना करनेवाला श्रपक लज्जित होकर अपने दीप कहनेके लिये तयार होने पर भी उसके मनमें खेद उत्पन्न होगा अतः एक ही आचार्य एककी ही आलोचना सुने, एक कालमें एक आचार्य अनेक क्षपको की आलोचना सुननेकी इच्छा न करें, क्यों कि अनेकोंका वचन ध्यानमें रखना बड़ा कठिन कार्य है, इसलिये उनके दीप सुनकर योग्य प्रार्थना नहीं दे सकेगा इतने विवेचन से हि एकान्तमें गुरुके विना अन्य कोई नहीं होगा ऐसे समयमें आलोचना सुननी चाहिये और करनी चाहिये ऐसा सिद्ध होता है, अतः 'विरहस्मि' यह पद व्यर्थ है, इसका उत्तर ऐसा है-यदि वहां अन्य भी होंगे तो आलोचकके दीप बाहर फूटनेका संभव है, एक गुरु यदि होंगे तो उस स्थानमें प्रच्छन्नरतीसे दुसरे का प्रवेश होना योग्य नहीं है, यह सूचित करनेके लिये आचार्यने 'विरहस्मि' ऐसा पद दिया है.

शिल्पस्य आलोचनाक्रममाचष्टे -

काऊण य किरियम्मं पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो ॥

आलोएदि सुविहिदो सव्वे दोसे पमोत्तूणं ॥ ५६१ ॥

कृत्वा त्रिशुद्धिं प्रतिलिख्य सूरिं प्रणम्य मूर्धस्थितपाणिपद्मः ॥

आलोचनामेव करोति सुक्त्वा दोषानशेषानपशल्यदोषः ॥ ५६२ ॥

इति आलोचना.

विजयोदया—काजण य किदिकम्मं कृतिकर्मे वंदनां पूर्वे कृत्वा । पडिलेहणमंजलीकरणसुद्धो प्रतिलेखनासहित-  
प्रांजलीकरणशुद्धः । आलोपदि कथयति । सुविदिदो सुचारिच' । सव्वदोसे पूर्वदोपान् । पमोत्तूण त्यक्त्वा । आलोचना ॥

एवमाचार्यस्यालोचनाग्रहणक्रमं शिक्षयित्वा शिष्यस्यालोचनाक्रममुपदिशति —

मूलारा—किरियम्मं वंदना । प्रकमात्सूरेव । सा चात्र सिद्धयोगभक्तिभ्या इति वृद्धा । श्रीचंद्राचार्यस्तु सिद्धचा-  
रित्रशास्त्राभिक्तिभिस्ता न्याचष्टे । पडिलेहणमंजली दक्षिणपार्श्वे पिछेन सह ललाटतटप्रयुक्तकरपुट । करणसुद्धो मनोवाक्काय-  
शुद्धियुक्त । आलोचना सूत्रतः २३ । अकत ४० ॥

शिष्यके आलोचनाका क्रम कहते हैं—

अर्थ—प्रथम वंदना करके हाथमें पिच्छिका लेकर अंजलि करना चाहिये, आलोचनाके जो दोष आगममें  
कहे हैं उनका त्याग कर सर्व दोषोंका आचार्य महाराजके पास कथन करना चाहिये सिद्धभक्ति व योगभक्ति  
पठकर वंदना करनी चाहिये ऐसे वृद्ध आचार्य कहते हैं परंतु श्रीचंद्राचार्य मिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति तथा शान्तिभक्ति  
पठकर वंदना करनी चाहिये ऐसा कहते हैं.

आलोचनाक्रमं निरूप्य गुणदोसा इत्येतद्व्याख्यानयोत्तरप्रबंधः—

आकंपिय अणुमाणिय जं दिठं वादरं च सुहुमं च ॥

छण्णं सदाउलयं बहुजण अब्वत्त तस्सेवी ॥ ५६२ ॥

अनुकंप्यानुमान्यं हि यददुष्टं स्थूलमन्यथा ॥

छन्नं शब्दाकुलं भूरि सूर्यव्यक्तं च तत्समं ॥ ५८७ ॥

विजयोदया—आकंपिय अनुकंप्यात्मनि संपाद्य आलोचना । अणुमाणिय गुरोरभिप्रायमुपायेन क्षात्वालो-  
चना । जं दिठं यद दृष्ट दोषजात परैत्तस्यालोचना । वादरं च यत्स्थूलमतिचारजात तस्यालोचना । सुहुमं च यत्सूक्ष्ममति-  
चारजात तस्यालोचना । छण्णं अट्टयालोचना । सदाउलयं शब्दा आकुला यस्या आलोचनाया सा शब्दाकुला । बहुजन-  
शब्द' सामान्यविषयोऽपीह गुरुजनवाहुत्ये वर्तते । गुरोरालोचनाया प्रस्तुतत्वाद्गहना गुरूणा आलोचना क्रियते सा  
बहुजनशब्देनोच्यते । अब्वत्ता अव्यक्तस्य क्रियमाणा आलोचना । तस्सेवी तानात्मचारितान्दोषान्यः सेवते स तस्सेवी  
तस्य आलोचना । इदं सूत्र । अस्य व्याख्यानयोत्तरप्रबंधः ॥

अथैवमालोचनाकर्म निरूप्यालोचनागुणदोषनिरूपणार्थं सप्तपष्टिं गाथाः कथयति - तत्रादौ तावदाकंपादि तद्दोषोपाद्देशादि दिशति तद्विपर्ययरूपत्वादुपानाम्--

मूलारा—आकंपिय अनुकंपामात्मनि संपाद्यालोचना । सुदुमं सूक्ष्मस्य दोषस्यालोचना । जं विटुं यद्वृष्टं दोषजातं परैस्तस्यालोचना । वादरं यत्स्थूलमतिचारजातं तस्यालोचना । छणं प्रच्छन्नं घृष्टं आलोचना ॥  
आलोचनाका क्रम यहां तक आचार्य महाराजने कहा है, आगे 'गुण दोसा', इस प्रकरणका सविस्तर वर्णन करते हैं—

अर्थ—अपने विषयमें गुरुके मनमें दिया उत्पन्न कर आलोचना करना यह आकंपित दोष है, अनुमानित-गुरुके अभिप्राय उपायसे जानकर आलोचना करना, यद्वृष्ट—जो अपराध दूसरोंने देखे हैं उनकी ही आलोचना करना, वादर—स्थूल अतिचारोंके समूहकाही कथन करना, छोटे अपराध छिपाना, सूक्ष्म-अतिचार कहकर बड़े दोष छिपाना, छन्न—न देखे हुए दोषोंकी आलोचना करना, सूक्ष्म—

शब्दाकुलित—जिस आलोचनमें शब्द आकुलित हैं ऐसी आलोचना करना, अर्थात् पाक्षिक, चातुर्भासिक, सांवत्सरिक आलोचनके समय बहुत यतिगण मिलकर आलोचना करते हैं, तब उनके ध्वनिओंमें अपना ध्वनि भी मिलाकर दोषोंकी आलोचना करना, बहुत-बहुत शब्द सामान्य जनका वाचक होने पर भी प्रस्तुत प्रकरणमें गुरुजनोंके समुदायमें रूढ हुआ है, बहुत गुरु मिलकर जो आलोचना करते हैं उसको बहुजनालोचना कहते हैं,

अव्यक्त दोष—जो अज्ञानी हैं ऐसे मुनिको अपने दोष कहना तत्सेवी—जो दोष स्वतः किये हैं ऐसे ही दोष जिसके द्वारा होचुके हैं अर्थात् जिसने अपने दोषोंके समान दोष किये हैं उसको अपने अपराध कहना, ऐसे आलोचनके दस दोष हैं, इन दोषोंका आचार्य विस्तारसे वर्णन करते हैं,

आकंपिय इत्येतत्सूत्रपद व्याचष्टे

भत्तेण व पाणेण व उवकरणेण किरियकम्मकरणेण ॥  
अणुकंपेऊण गणिं करेइ आलोयणं कोइ ॥ ५६३ ॥

सूरिं भक्तेन पानेन प्रदत्तेनोपकारिणा ॥

विनयेनानुकम्प्य स्वं दोषं वदति कश्चन ॥ ५८८ ॥

विजयोदया - भक्तेन व पाणेन व स्वयं भिक्षालब्धिसमन्वितत्वाश्रवर्तको भूत्वा आचार्यस्य प्रादुर्भूत उद्गमा-  
विदोपरहितेन भक्तेन वा पानेन वा वैयावृत्य कृत्वा, उपकरणेन कर्मबलुपिच्छादिना । किञ्चिदुपकरणेन कृतिकर्मवदनया  
वा । आकपेदूण अनुकपासुत्याद्य । गणि आचार्य । कोऽह आलोचयण करेऽह कश्चित्स्वापराध कथयति ॥

आकपिय इत्येतत्सूत्रपदं गाथापंचकेन व्याचक्षाणः पूर्वं तल्लक्षणं गाथाद्वयेनाह -

मूलारा - आकपेज्ज स्वयं भिक्षालब्धिसमन्वितत्वाश्रवर्तको भूत्वा निर्दोषभक्तादिभ्यः पात्रेन वंदनया वा गणि-  
मात्मनि संकरणं कृत्वा ।

प्रथमतः आकंपित दोषका स्वरूप कहते हैं -

अर्थ - स्वतः भिक्षालब्धिसंयुक्त दोषसे आचार्य की प्रासुक और उद्गमादिदोषोंसे रहित आहारपानी के  
द्वारा वैयावृत्य कान्ता, पिंछी कमबलु बगैरे उपकरण देना, कृतिकर्म चंदना करना इत्यादि प्रकारसे गुरूके मनमें  
दया उत्पन्न करके कोई अपने अपराध कहता है.

तस्यालोचयतो मनोव्यापारं दर्शयति -

आलोद्भूदं असेस होहिदि काहिदि अणुगहमिमोत्ति ॥

इय आलोचंतस्स हु प्रढमो आलोयणादोसो ॥ ५८९ ॥

आलोचितं मया सर्वं भविष्यत्पेष मे गुणं ॥

करिष्यतीति मन्तव्यं पूर्व आलोचनामलः ॥ ५८९ ॥

विजयोदया - आलोद्भूदं असेस होहिदि निरवशेष आलोचित भविष्यति । काहिदि करिष्यति । अणुगह इमो-  
त्ति । अनुग्रह अयमिति । भक्तादिदानेन कृतोपकारस्य मम दुष्टो गुरुर्न महत्प्रायश्चित्त प्रयच्छति । अपि तु स्वल्पमेव । ततो  
महाप्रायश्चित्तदानभयात्स्थूल सूक्ष्म वातिचार सर्वं कथयामीति । इय एव आलोचनस्य सु एवं मनसि कृत्वा आलोच-  
यतः । पढमो प्रथम । आलोयणा दोसो आलोचनादोषः । कोऽसौ अविनयो नाम यत्किञ्चिद्दुष्त्वा गुणवन्तुयन्ति लघुमा-  
यश्चिचदायिनो भविष्यतीति स्वबुद्ध्या असद्वोपाध्यारोपणान्मानसोऽविनयः । अन्ये तु वर्णयन्ति आलोचना च दोषश्च  
आलोचनादोषः । अशुभाभिसंधिपुर सरा आलोचना दुष्टतमालोचनादोष इति यावत् ॥



तस्यालोचयतो मनोव्यापारं दर्शयति—

मूलारा—होहिदि अशेषं अस्यावर्जितचित्तास्य गुरोऽग्रे भविष्यति स्थूलं सूक्ष्मं चातिचारजतं मया । न हंसौ बृहदायश्चित्तं मे दास्यति किं तर्हि ? काहिदि अणुगाहमिमोत्ति करिष्यत्ययमुपकारमिति । आलोचितस्स हु पढमो आकंपनामकः । दोषत्वं चास्य गुरोरेवैन्यप्रवर्तनात् । यत्किंचिद्वृद्ध्या गुरुरस्तुष्टा लुभयश्चित्तदायिनो भविष्यति इति स्वबुद्ध्या असद्वोषाध्यारोपणाद्धि न मानसो विनयः ।

आलोचना करते समय उसकी मनःप्रवृत्ति कैसी रहती है इसका वर्णन—

अर्थ—आहारादिकों के दानसे तुष्ट किये गुरु मेरेको महात् प्रायश्चित्त न दोगे छोटासा प्रायश्चित्त दोगे-अतः स्थूल सूक्ष्म सब दोष मैं गुरुको कहूंगा, इस विचारसे कोई यति अपने दोष कहते हैं, और इस प्रकार सर्व दोषोंकी आलोचना होगी ऐसा मनमें समझते हैं, यह आलोचनाका प्रथम दोष है, इस दोषमें अविनय घुसा हुआ है, उसका विवेचन इस प्रकार—

जो कुछभी मिलनेसे गुरु सतुष्ट होकर छोटासा प्रायश्चित्त दोगे ऐसा अपने मनमें विचार कर उनपर असद्वोषका आरोपण करना यह मानसिक अविनय है अर्थात् गुरु लोभी होनेसे उपकरणादि पदार्थ मिलनेसे खुप होजाते हैं ऐसे दोषका आरोपण करना अशुभपरिणामसहित यह आलोचना की जाती है इस वास्ते यह आलोचना सदाप है ऐसा कोई आचार्य इस आलोचनाके विषयमें कहते हैं—

केदूण विसं पुरिसो पिण्ण जह कोइ जीविदुच्छीओ ॥

मणंतो हिदमहिदं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६५ ॥

काश्चित् क्रीत्वा विपं भुंक्ते नरो मत्वाहितं हितं ॥

जीवितार्थी यथा मूर्खस्नयेयं खुद्धिरिण्यते ॥ ५७० ॥

विजयोदया—केदूण विसं पुरिसो इत्यादिना । जह कोइ पुरिसो जीविदुच्छी तिसं केदूण पिण्ण इति संवध । यथा काश्चित्पुरुषो जीवितार्थी विपं क्रीत्वा गिनति । अहिदं अहितं कृत्वा । विपपानं हिदं मणंतो हितमिति मन्यमान । तधिमा तथा इय सल्लुद्धरणसोधी मायाशब्दोद्धरणशुद्धि । सामान्यवचनोऽपि शब्दशब्दोऽपि मायाशब्दे वृत्तः ।

तस्य उद्धरणे नाम स्वकृतापराधकथन । आलोचनाशाल्योद्धरणमेव शुद्धिरुच्यते । ज्ञानदर्शनचारित्र्यपसा नैर्मल्यहेतुत्वात्, जीवितार्थिन हितवृद्धया गृहीता अहिता । क्रीतविपपान उपमानं तद्वर्तीयमालोचना, भक्तपानादिदोनेन वंनया वा साधारणो धर्मस्तथाप्युपमानमुपमेयं तयोश्च साधारण धर्ममाश्रित्य सर्वोपमानोपमेयता पान दुष्टता उपमानोपमेयता उपमानं, उपमेय मुख, वृत्तता सर्वजनमनोबलभृता च साधारणो धर्म, ॥

दृष्टातमुखेन गुर्वनुकंपनापूर्वकालोचनाया दुष्टतामाचष्टे —  
मूलरा — केदूण न्रीत्वा । जीविदत्थीजो जीवितार्थी । अहिद प्राणापहारित्वादपकारकं । तधिमा तथा इयं । भक्त्युपचारपूर्विका । सल्लुद्धरणसोधी शल्यस्य मायाख्यस्योद्धरणं स्वकृतापराधकथन आलोचना । तवेव सोधी शुद्धा रत्नत्रये नैर्मल्यहेतुत्वात् । घनेन क्रीत्वा पीतं किं जीवितमिव भक्तादिना गुरुमनुकंप्य कृतालोचना शुद्धि न करोतीति दृष्टान्तार्थः । इयमालोचना विपवदुष्टेति तात्पर्यम् ।

अर्थ — जीनेकी इच्छा करनेवाला कोई पुरुष अहितकर विपको खरीद कर हितकर समझकर पीता है, उसके समान ही यह मायाश्रयसे उद्धार करनेवाली शुद्धि समझनी चाहिये आलोचनाके दोष मनमेंसे नष्ट करना ही शुद्धि है अर्थात् अपने किये हुए अपराध निष्कण्ट भावसे गुरुके समीप कहना ही शल्योद्धरण शुद्धि है, इस शुद्धिसे ही ज्ञान, दर्शन और चात्रिज निर्मल होते हैं।

परंतु यह आलोचना जीवितार्थी मनुष्यने हितकर समझकर किये हुये विपपानके समान है, विपपान खरीद लिया है और यह आलोचना उपमेय है, आहारादि पदार्थ गुरुको देकर अथवा वंदना करके गुरुको मानो साधारणधर्म दुष्टता है, उपमान और उपमेय और साधारण धर्मका आश्रय लेकर उपमान उपमेयता दिखाई जाती है, जैसे चंद्रमुखी कन्या इस उदाहरणमें चंद्र उपमान, मुख उपमेय और गोलाई, सर्वजनचिताकर्षकता यह साधारणधर्म है, वैसे यहा भी विपपान उपमान, आलोचना उपमेय और दोनोंमें दुष्टता यह साधारणधर्म शल्यके अर्थ में वह रुढ हुआ है

उपमानातरेणापि उपमेयं आलोचनां ग्रथयति ॥

वणरसगंधजुप्तं किपाकफलं जहा दुहविवागं ॥

पच्छा णिच्छयकडुयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६६ ॥

मधुरालोचनैषादौ विपाकं सेविता सती ॥

तीव्रं करोति किंपाकफलमुक्तिरिवासुखम् ॥ ५६७ ॥

विजयोदया—चणरस इत्यादिना । किंपाकफल वणरसगंधजुप्त जहा दुहविवाग । किपाकाख्यस्य तरोः फलं । वणीदिशस्य तरोः फलस्याभाववचनसिद्धेर्वणीदिविशुक्कवचनमतिशयितवर्णोद्विपरिग्रह सूचयति । तेनायमर्थः—नयनप्रियरूप, मधुरसयुक्त, घ्राणसुखद सेवितमिति चाक्षयशेष । दुहविपाक दुःखविपाक । पच्छा अनुभवोत्तरकालं । णिच्छयकडुग निश्चयेन कटुक । तधिमा त यथा सल्लुद्धरणसोधी आलोचनाशुद्धि किंपाकफलोपमेव उपमानं, उपमेय आलोचना, दुःखविपाकता साधारणो धर्मः ।

तस्या एव दुर्विपाकतां दृष्टान्तमुखेनावष्टे—

मूलारा — वणेत्यादि नयनप्रियवर्ण मधुरसं घ्राणसुखदगंधं चेत्यर्थः । दुहविवागं दुःखविपाकं भरणं क्त्वात् । पच्छा अनुभवोत्तरकालं । णिच्छयकडुगं निश्चयेन परमार्थेन कटुकं दुर्विपाकत्वात् । तधिमा तथेयं दुःखविपाकादुर्गतिदुःखहेतुत्वात् ।

दुसरे उपमानके द्वारा भी उपमेयरूप आलोचनाका वर्णन करते हैं—

अर्थ—किपाकफलका रूप बड़ा सुंदर रहता है रस, मधुर होता है, गंध नाकको मोहित करता है, परंतु उसका सेवन करनेसे परिणाम कालमें दुःख उत्पन्न होता है अर्थात् उसके भक्षणसे जीवको प्राणत्याग करना पड़ता है- यह आलोचनाकी शुद्धि भी किपाकफलके समान है यहां किंपाकफल उपमान, आलोचना उपमेय और परिणाम में दुःख दायकयत्ना यह साधारण धर्म समझना चाहिये,

किमिरागकंबलस्स व सोधी जडुरागवत्थसोधीव ॥

अवि सा हवेज्ज किह इण तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६७ ॥

रक्तस्य कृमिरागेण शुद्धिलोक्षारसेन वा ॥  
 यक्षस्य जायते जातु नैवा शुद्धिः पुनर्भवम् ॥ ५९२ ॥  
 इति अनुकम्पादोषः ॥

विजयोदया—किमिरागकंवलस्य च कृमिशुक्ताहारवर्णतनुभिरुक्त कंवल कृमिरागकवलय । तस्स सोधी विशुद्धिरिव पीतनीलरक्तादीना अन्यतमवर्णस्य शुभ्रलेख । जडुरागवच्छसोधीव जतुवर्णवक्रशुद्धिरिव वा यथासौ क्लेशेन प्रवर्तमानापि न भवत्येवमियमपीति स्ववर्मता । अहवा अथ वा । अपि सा कृमिरागकवलयशुद्धिर्जन्तुरागकवलयशुद्धिर्वा द्वेलेज भवेत् । इण इय सल्लुद्धरणशुद्धिर्न भवत्येव ॥

गुरुपचारपूर्वकालोचनया रत्नवयशुद्धेरुत्तरता निदर्शनद्वयेन समर्थयते—

मूलारा — किमिरायकंवलस्य कृमिशुक्ताहारवर्णतनुभिरुक्तः कंवलः कृमिरागकंवलस्तस्येति संस्कृतटीकाया व्याख्यानं । टिप्पणके तु कृमिरात्यक्तरक्ताहाररंजिततनुनिष्पादितकवलस्येति ( १ ) प्राकृतटीकाया पुनरिदमुक्तं—उत्तरापदे चर्मरंगम्लेच्छविषये म्लेच्छा जलौकाभिर्भातुपरुधिरं गृहीत्वा भंडकेषु स्थापयन्ति । ततस्तेन रुधिराण कृतिपयदिवमोत्पन्न विषत्रकृमिकेणोणसूत्रं रंजयित्वा कंवलं वयंति । सोऽयं कृमिरागकंवल इत्युच्यते । स चातीव रुधिरवर्णो भवति, तस्य हि वान्निहना दग्धस्यापि स कृमिरागो नापगच्छतीति । सोधी शुद्धतापादनं । जडुरागवच्छसोधी सिंधुदेशलाक्षारकटसरिवच्छुद्धिः । अवि अपि. संभावने । किंइह कथंचित् । आयासेन । ण इमा मल्लुद्धरणसोधी इयं गुरुपचारपूर्वकालोचनया रत्नवयशुद्धिः ।

अर्थ—कृमिश्चैने भक्षण क्रिये आहारसे उत्पन्न हुए जो वर्णयुक्त तंतु उससे बना हुआ कंवल जैसे शुद्ध अर्थात् अपना नील पीतादिक रंग छोड़कर शुभ्र-सफेद होता नहीं वैसी यह आलोचना भी निर्मल नहीं मानी जाती है. अथवा लाखके रंगसे रंगा हुआ वस्त्र बहुत धोनेपर भी अपना लालरंग छोड़कर सफेद नहीं होता है वैसी यह आलोचना भी मायायुक्त होनेसे शुद्ध नहीं मानी जाती है. अथवा कृमिरागयुक्त कंवल धोनेपर कदाचित् निर्मल होगा लाखके रंगसे रंगा हुआ कवल धोनेपर निर्मल बनेगा परंतु यह आलोचना कभी भी शुद्ध न होगी इस प्रकार अनुकंपित दोषका वर्णन हुआ,

द्वितीयमालोचनादोषमाचष्टे—इति अणुकंपिय ।

धीरपुरिसचिण्णाद् पवददि अदिधम्मिओ व सव्वाहं ॥

धण्णा ते भगवता कुव्वंति तवं विकट्ठं जे ॥ ५६८ ॥

धीरैराधारितं धन्याः कुर्वन्ते दुश्चरं तपः ॥

दुःखारम्भसो भवान्भोधेदुस्तरात्तारकं परम् ॥ ५६९ ॥

विजयोदया—धीरपुरिसचिण्णाद् धीरैः पुरुषैराचरितानि । पवदति प्रवदति ॥ अदिधम्मिओ व अतीव धार्मिक इव । सव्वाहं सर्वानि । धण्णा धन्या पुण्यवत । ते भगवतः माहात्म्यवन्तः । जे ये । कुर्वन्ति कुर्वन्ति । तय तपः । विकट्ठं उत्कृष्ट इति वदति ॥

अणुमाणिय इति द्वितीयमालोचना दोष गाथापट्ठेन व्याचक्ष्णन् पूर्व तल्लक्षण गाथार्पचकेनाह—

मूलारा—चिण्णाहं आचरितानि । पवददि प्रकर्षेण कथयत्यालोचनाकारी । धण्णा इत्यादौति संबन्धः । अदिधम्मिओ व अतीव धार्मिक इव । भयवन्ता माहात्म्यवन्तः विकिट्ठं । उत्कृष्टं ।

अनुमानित दोषका वर्णन—

अर्थ—आलोचना करनेवाला मुनि मानो अपनी अतिशय धार्मिकता दिखाता हुआ इस प्रकारकी स्तुति करता है—हे भगवान् ! धीर पुरुषसे किया हुआ सर्व प्रकारका तप जो मुनि करते हैं वे अतिशय धन्य हैं, पुण्यवान हैं और महात्मा हैं.

यामापहारपासत्थदाए सुहसीलदाए देहेसु ॥

वददि णिहीणो हु अह ज ण समत्थो अणसणस्स ॥ ५६९ ॥

बलमापहारपार्श्वस्थसुखशीलतया तपः ॥

न प्रकृष्टमलं कर्तुं वदत्येवमधार्मिकः ॥ ५७० ॥

वित्तयोदया—यामापहारपासत्थदाए बलनिगूढनेन पार्श्वस्थतया च । सुहसीलदाए च सुखशीलतया च । तदो तत । सो सः । वददि कथयति । णिहीणो जघन्यः । अह अहम् । ज यस्मात् । ण समत्थो असमर्थोऽशक्त । अणसणस्स अनशनस्य ॥

मूला—आमापहार वलनिगूनेन । पासत्यदाण पार्श्वथतया । वददि गिहीणो इत्यादिक कथयति । गिहीणो अहं ज न समत्यो । गिहीणो जयन्य । अहं अहं । जं यस्मात् ।

अर्थ—अपना बल छिपाकर और स्वयं पार्श्वस्थानि होनेसे और सुखमें आसक्त होनेसे वह मुनि गुरुकी इस प्रकार प्रार्थना करता है 'मैं जयन्य हूं, असमर्थ हूं इसलिये मेरेको उपवास करनेका सामर्थ्य नहीं है।

जाणह य मज्झ थामं अंगणं दुब्बलदा अणारोगं ॥

णेव समत्योमि अहं तवं विकट्टं पि काटुंजे ॥ ५७० ॥

पार्श्वस्थत्वमनारोग्यं दौर्बल्यं वह्निमंदात् ॥

भगवंतव विज्ञाता मदीयाः सकलाः स्फुटम् ॥ ५९५ ॥

विजयोदया—जाणह य अस्महलं युष्माभितवसितमेव । अणणं दुब्बलदा उदराग्निदौर्बल्य । अणारोगं रोगपत्ता च । अहं तवं विकट्टं काटुं णेव समत्योमि अहं तप उत्कटं कटुं नैव समर्थोऽस्मि ॥

मूला—जाणघ जानीथ थूं । मज्झ थामं मम वलं । गहणीदोवह्णिय उदरामिदौर्बल्यमित्यर्थ । अणारोगं रोगवत्तां । काटुंजे कटुं । समत्यो मि समर्थोऽस्मि । उक्तं च—

अधिमार्द्यमनारोग्यं वलं मे ज्ञातमेव वं ॥

यथा च न समर्थोऽहमुत्कटं चरितुं तपः ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आप मेरा सामर्थ्य फितना है यह तो जानते ही हैं मेरा उदराग्नि अनिश्चय दुर्बल है मेरे अंगके अवयव कृश हैं इसलिये मैं उत्कट तप करनेमें असमर्थ हूं, मेरा शरीर हमेशा रोगी रहता है

आलोचेमि य सव्वं जइ मे पच्छा अणुग्गहं कुणह ॥

उज्झ सिरीए इच्छं सोधी जह निच्छरेज्जामि ॥ ५७१ ॥

आलोचयामि निःशेषं कुरुष्व यद्यनुग्रहम् ॥

त्वदीयेन प्रसादेन विशुद्धिर्मम जायताम् ॥ ५९६ ॥

विजयोदया—आलोचमि य सर्व्वं सर्व्वमतिचारजातं आलोचयामि । जदि पच्छा अणुगहं कुणह मम यदि पश्चादनुग्रहं कियते भवद्धि । तुज्ज सिरीण । भवता श्रिया । इच्छं इच्छामि । सोधी सुद्धि । निच्छरेज्जामि निस्तारयि-  
धाम्यत्तमान ॥

मूलारा—पच्छा आलोचनानंतरं । अणुगहं कृपा । तुम्हसिरीण भवता प्रसादेन । इच्छं इच्छामि । सोधीयं सुद्धि । निच्छरेज्जामि निस्तारयाम्यात्मानं । अन्यस्तु निच्छरेज्जामि निस्तारिषुमिच्छामीत्याह ॥

अर्थ—यदि मेरे ऊपर आप अनुग्रह करेंगे अर्थात् मेरेको आप यदि थोडासा प्रायश्चित्त देंगे तो मैं अपने संपूर्ण अतिचारोंका कथन करूंगा और अपनी कृपासे मैं शुद्धियुक्त होकर अपराधोंसे मुक्त होऊंगा.

अणुमाणेदूणं गुरुं एवं आलोचणं तदो पच्छा ॥

कुणइ ससंछो सो से विदिओ आलोयणा दोसो ॥ ५७२ ॥

कुर्वणस्यानुमान्येति सुरिमालोचनं यतेः ॥

भवत्यालोचनं दोषो द्वितीयः शल्यगोपकः ॥ ५९७ ॥

विजयोदया—एव अणुमाणेदूण एव अनुमानेन ज्ञात्वा । गुरुः प्रार्थितं करिष्यति स्वल्पप्रायश्चित्तदत्तेन ममा-  
नुग्रहं इति । पच्छा आलोयणं कुणइ पश्चादालोचना करोति । ससंछ शल्यसहित । सो सः । से तस्य । विदिओ द्वितीय  
आलोयणादोसो आलोचनादोषः ।

मूलारा—अणुमाणेदूण अनुमानेन ज्ञात्वा ।

अर्थ—गुरु मेरेको थोडासा प्रायश्चित्त देकर मेरे ऊपर अनुग्रह करेंगे ऐसा अनुमान करके मायाभावसे  
जो मुनि पश्चात् आलोचना करता है. यह अनुमानित नामक आलोचनाका दूसरा दोष है

गुणकारिओत्ति मुंजइ जहा सुहत्थी अपच्छमाहारं ॥

पच्छा विवायकडुगं तधिमा सल्लहरणं सोधी ॥ ५७३ ॥

सेव्यमानो यथाहारो विपाके दुःखदायकः ॥  
अपथ्यः पथ्यस्योमुष्या तथेयं शुद्धीरिता ॥ ५९८ ॥

इति अनुमान्यदोषः ॥

विजयोदया — गुणकारिओसि मुंजइ गुणमुपकारं करोति इति भुक्ते । जहा सुहृत्थी यथा सुवार्थो । अपत्यमा-  
हारं । कीदृग्भूत पच्छा विचारकइग भोजनोत्तरकाल विपाककटुकं । तथिमा तथा इमा । सल्लुङ्करणसोघी शल्योद्धरणशुद्धी  
अपथ्यमाहार स्वबुद्ध्या गुणकारीति संकल्प्य यदि नाम भुक्ते तथापि विपाके कटुक पवासो । एव गुर्वभिप्रायानुमानेन  
प्रवृत्तो हितबुद्ध्या शुद्धीताप्यालोचना अनर्थावदेति । न हि संकल्पवशाद्वस्तुनोऽन्यथाभाव । नापथ्यस्याहारस्य पथ्य-  
तास्ति संकल्पमात्रेण । अनुमानिय ॥

मूलारा — गुणकारगोत्ति गुणमुपकारं करोति इति । पच्छा भोजनोत्तरकाल । तथिमा अपथ्यं पथ्यमिति  
संकल्प्य भुक्तेष्विव । गुर्वभिप्रायानुमानेन प्रवृत्तहितबुद्ध्या शुद्धीताप्यालोचना परिणामेऽनर्थावहा । न हि संकल्पवशाद्-  
स्तुनोऽन्यथाभावः ।

अर्थ — जैसा सुखकी चाहना करनेवाला कोई पुरुष भोजन के अनंतर जिसका परिणाम दुःखदायक  
होगा ऐसा आहार खाता है, परंतु उससे सुख न होकर दुःख ही उत्पन्न होता है वैसी यह  
आलोचना शुद्धि है अपथ्य आहार मेरेको हितकर होगा ऐसी बुद्धिके द्वारा मनमें संकल्प कर यदि कोई पुरुष भक्षण  
करेगा तोभी वह परिणाममें कटुही फल देगा, वैसे गुरुके अभिप्रायका अनुमान करके अर्थात् गुरु मेरेको अल्प प्राय-  
श्चित्त दोगे इस बुद्धिसे की गई हितकर भी आलोचना अनर्थ करनेवाली होती है, संकल्पसे वस्तुका परिणामन भिन्न  
नहीं होगा, संकल्पमात्रसे अपथ्य आहार पथ्यकर नहीं होता है, इस प्रकार अनुमानित दोषका वर्णन होचुका,

ज होदि अण्णदिट्ठं तं आलोचेदि गुरुसयासमि ॥

अदिट्ठं गूहंतो मायिल्लो होदि णायव्वो ॥ ५७४ ॥

परैः सूचयते दृष्टमदृष्टं या निगूहति ॥

महादुःखफला तेन मायावल्ली प्ररोप्यते ॥ ५९९ ॥

विजयोदया — ज अण्णदिट्ठ होदि यदन्यदृष्टं भवति अपराधजातं । त आलोचेदि कथयति । गुरुसयासमि गुरु-



समीपे । अहिंष्टं परैरदृष्टं । गृह्णतो प्रच्छादयन् । मायिहो नादब्धो होदि । मायावानिति ज्ञातऽयो भवति ॥  
 जे दिष्टमिति तृतीयमालोचनादोषं गाथात्रयेण विवृण्वन् द्वाभ्या लक्षयित्वा एकमाक्षिपति —

मूढारा—अण्णदिहं परैरदृष्टं । गृह्णतो प्रच्छादयन् ।

अर्थ—जो अपराध अन्य जनोंन देखे हैं उननेही गुरुके पास जाकर कोई मुनि कहता है, और अन्यसे न देखे गये अपराधोंको छिपाता है वह मायाजी है ऐसा समझना चाहिए,

दिष्टं व अदिष्टं वा जदि ण कहेइ परमेण विणएण ॥

आयरियपायमूले तदिओ आलोयणादोसो ॥ ५७५ ॥

यदि दृष्टमदृष्टं च नालोचयति दूषणं ॥

तदास्त्यालोचनादोपस्तृतीयो दोषवर्चकः ॥ ६०० ॥

विजयोदया—दिष्टं व अदिष्टं वा परैरदृष्टमदृष्टं वापराधं । परमेण विणएण जदि ण कहेइ प्रच्छेन विनयेन यदि न कथयेत् । क आयरियपायमूले आचार्यपात्रमूले । तदिओ आलोयणादोसो तृतीय आलोचनादोष ॥

मूढारा—दिष्टं परैरिति शेषः ।

अर्थ—दूसरोंके द्वारा देखे गये हो अथवा न देखे गये हो संपूर्ण अपराधोंका कथन गुरुके पास जाकर अतिशय विनयसे कहना चाहिये परंतु जो मुनि ऐसा नहीं करता है वह मुनि आलोचनाके तीसरे दोष से लिप्त होता है ऐसा समझना चाहिये

जह वालुथाए अवडो पूरदि उक्करीरमाणओ चेव ॥

तह कम्मादाणकरी इमा हु सल्लुद्धरणसुद्धी ॥ ५७६ ॥

दोषशुद्धिरपचेतसा पुनः कल्मषैरिति कृता निर्धीयन्ते ॥

वालुकासु रथितोऽवटः पुनर्वालुकाभिरभितो हि पुर्यन्ते ॥ ६०१ ॥

इति दृष्टम् ।

विजयोदया—अहं बालुयाए यथा बालुकाभि पूरति पूर्यते । अवडो बालुकामध्यकृतो गर्ते । उक्कीरमाणगो चैवं उक्कीर्यमाणोऽपि सन् । तह कम्मादाणकरी तथा कर्मग्रहणकारिणी । इमा सल्लुद्धरणसोधी इयमालोचनास्या शुद्धिः । मायाशल्यनिराकरणार्थमालोचनाया प्रवृत्तोऽन्यथा 'माययात्मानं प्रच्छादयति । यथा बालुकाविश्लेषो गर्तसंस्काराण्यो बालुकाभिरापुरयति गर्तमिति । जं दिट्ठं ॥

यदृष्टालोचनाकारी मायाशल्यनिरासार्थमालोचनाया प्रवृत्तोऽन्यथा माययाऽत्मानं प्रच्छादयति बालुकाविश्लेषो गर्तसंस्काराय क्रियमाणो 'बालुक्या' गर्तं पूरयति इति दर्शयितुमिदमाह—

मूलारा—अवडो अवटो गर्तः । प्रक्रमाद्बालुकामध्य एव कृतः । पूरति पूर्यते । उक्कीरमाणगो चैव उक्कीर्यमाणोऽपि उर्द्धिच्यमानोऽपि । कम्मादाणकरी अपूर्वकर्मसाविणी ॥

अर्थ—जैसे बालुकाके मैदानमें कोई मनुष्य खाड़ा खोदने लग जाय तो वह खोदनेके समय ही बालुकाओंसे फिर भरजाता है वैसे यह आलोचना शुद्धि है अर्थात् मायाशल्य मनसे निकालनेके हेतुसे यह आलोचनामें प्रवृत्त हुआ है परंतु अन्यमायासे अपनको आच्छादित करनेका प्रयत्न कर रहा है ऐसा समझना जे दिट्ठ इत्येव नामक आलोचनादोषका वर्णन हुआ

बादरमालोचैतो जत्तो जत्तो वदाओ पडिभग्गो ॥

सुहुमं पच्छादैतो जिणवयणंपरमुहो होइ ॥ ५७७ ॥

स्थूलं व्रततिचारं यः सूक्ष्मं प्रच्छाद्य जल्पति ॥

पुरतो गणनाथस्य सोऽहंद्वाक्यवह्निर्भवः ॥ ६०२ ॥

विजयोदया—बादरमालोचैतो । अथैव पदसंबन्धः, जत्तो जत्तो वदाओ पडिभग्गो यस्माद्यस्माद्व्रतात्प्रतिभन्न । तत्र बादरमालोचैतो स्थूल कथयन् । सुहुमं पच्छादैतो सूक्ष्मदोषं प्रच्छादयन् । जिणवयणंपरमुहो होइ जिनवचनपरामुहो भवति ॥

बादरमिति चतुर्थमालोचनादोषं गाथात्रयेण न्याचक्ष्माणो द्वाभ्या लक्षयति—

मूलारा—वदाउ व्रतान् । पडिभग्गो भ्रष्टः ।

अर्थ—जिन जिन व्रतोंमें अतिचार लगे होंगे उन उन व्रतोंमें स्थूल स्थूल अतिचारोंकी तो आलोचना

करके स्रक्ष्म अतिचारोंको छिपानेवाला मुनि जिनेंद्रभगवानके वचनोंसे पराङ्मुख हुआ है ऐसा समझना चाहिये.

सुहुम व बादरं वा जड् ण कहेज्ज विणएण सुगुरुणं ॥

आलोचनाए दोसो एसो हु चउत्थओ होदि ॥ ५७८ ॥

नचदोपं गुरोरग्रे स्थूलं सूक्ष्मं च भाषते ॥

विनयेन तदा दोषश्चतुर्थः कथनाश्रयः ॥ ६०३ ॥

विजयोदया—स्थूलस्य स्रक्ष्मस्य वातिचारजातस्य नालोचना चतुर्थो दोष इति सुहुगं व इत्यस्यार्थः ॥

मूलारा—स्पष्ट ।

अर्थ—स्थूल और स्रक्ष्म अतिचार के समुदायका विनयसे गुरुके चरणमें वर्णन न करना यह चतुर्थ दोष है.

जह कंसियभिगारो अंतो णीलमइलो वहिं चोक्खो ॥

अंतो ससह्छदोसा तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५७९ ॥

वाह्याकारेणातिशुद्धोऽपि साधुर्नातःशुद्धिं याति मायाविशाल्यः ॥

भृंगारो वा कांसिकः शोधयमानो बालो शुद्धिं कश्मलांतः प्रयाति ॥ ६०४ ॥

विजयोदया—बादरं ॥ ४ ॥ जह कंसियभिगारो यथा कास्यरञ्जितो भृंगारः । अंतो अर्थात्तरं । णीलमइलो नीलः सम्मलिनः । वहिं चोक्खो वहि शुक् । अंतो ससह्छदोसा अतः सशाल्यदोषा इयमालोचना शुद्धि ।

बादरालोचनाया दुष्टत्वं सहजतमाचष्टे—

मूलारा—कंसियभिगारो कास्यमयभृंगारः । णीलमइलो कृष्णः सम्मलिनः । वहिं चोक्खो वहिः शुद्धः । सस-

ह्छदोसा मायाशाल्यदोषयुक्ता ॥

अर्थ—जैसा कांस्यधातुका वना हुआ कर्मण्डु अंदर तो नील और मलिन होता है. और बाहर स्वच्छ दीखता है. वैसे इस आलोचनार्थ अंतरंगमें माया बसी हुई है अतः यह आलोचना दोषयुक्त समझनी चाहिये. इस रीतीसे बादर दोषकी आलोचना का वर्णन है.

चंकमणे य द्वाणे गिसेज्जउवट्टणे य सयणे य ॥

उट्ठामाससरक्खे य गम्भिणी बालवत्थाए ॥ ५८० ॥

आसने शयने स्थाने संस्तरे गमने तथा ॥

आर्द्रगात्रपरामर्शे गर्भिण्या बालवत्सया ॥ ६०६ ॥

परिविष्टेऽभवदोपोऽयः सूक्ष्मः स निगद्यते ॥

स्थूलं प्रच्छाद्य येनासौ जिनवाक्यपराङ्मुखः ॥ ६०६ ॥

विजयोदया--चकमणे अवश्यायवहुलेन पथा व्याकुलितचित्तो मनागीर्यायामनुयुक्तो गतवान् । ठाणे गिसे ज्ज उवट्टणे य सयणे य प्रमाज्जनमकृत्वा स्थान, निपद्या, शय्या च कृता । उट्ठामाससरक्खे आर्द्राया गात्राधिक स्पृष्ट । सरक्खे य सचिच्चधूलिसहिते स्थित सुप्तमासित वा । गम्भिणी गर्भिण्या । बालवत्थाए बालवत्सया दीयमान गृहीतं इति ॥ सुदुममिति पंचम आलोचनोपमाचष्टे—

मूलारा--चंकमणे इत्यादि अत्र उपस्कारेण व्याख्येयं । तथाहि--चंकमणे अवश्यायादिवहुले मार्गे व्याकुलचित्तो गतोऽहमिति सूक्ष्मं दोषं वक्ति । ठाणे गिसेज्ज उट्टवणे प्रतिलिखनमकृत्वा स्थानमुपवेदन शयनं वा मया कृतमिति व्रते । करणे काले पडावदङ्कं मया न कृतमिति वदति । उट्ठामास आर्द्रस्पर्शे जलादि नागानादिकं मया स्पृष्टमिति कथयति । सरक्खे सांचचधूलिस्थाने मयास्थितं, धूलियुक्तयदेन मया जले प्रविष्टं, जलार्द्रपादाभ्या रजोऽवष्टब्धमित्यादिकमालोचयति । गर्भिणी अष्टमादिमासगर्भधारिण्या मम परिविष्टमिति व्रते । बालवच्छाए मासाभ्यन्तरप्रसूतया मम परिविष्टं ब्रूतं स्तनलग्नवाणं त्यक्त्वा क्रिया मेऽन्नं दत्तमिति निगदति ।

अर्थ--चक्रमण--जहां ओस बहुत गिरी थी 'ऐसे मार्ग' से इर्यासमितीमें चित्तकी एकाग्रता न कर मैंने गमन किया था. पिच्छकासे जमीन साफ न करके मैं जमीन पर बैठ था, सोया था. और खड़ा हुआ था. योग्य कालमें मैंने छहों आवश्यक क्रिये नहीं ये पानीसे मीले शरीर आदिक पदार्थोंको मैंने स्पर्श किया था सचित्त धूलिपर मैं बैठ था. खड़ा हुआ था और सोया था धूलिसे भरे हुए पावोंसे जलमें मैंने प्रवेश किया था. आठ महिने नउ महिने जिसको हुए है ऐसे गर्भवतीने मेरेको आहार दिया था. प्रसूत होकर जिसको एक महिना भी पूरा नहीं हुआ था ऐसे स्त्रीने मेरेको आहार दिया था. रोता हुआ अथवा स्तनपान करता हुआ बालक छोडकर स्त्रीने मेरे

को आहर दिया था इत्यादि सूक्ष्म दोषोंको जो कहता है उसकी आलोचना शुद्ध नहीं है।

इय जो दोसं लहुगं समालोचेदि गूहेदे थूलं ॥

भयर्मयमायाहिदओ जिणवयणपरंमुहो होदि ॥ ५८१ ॥

स्थूलं सूक्ष्मं च चेदेषं भाषते न गुरोः पुरः ॥

मायात्रीडामदंविष्टः सदा दोषोऽस्ति पंचमः ॥ ६०७ ॥

विजयोदया । इय एवं । जो यः । दोसं अतिचारं । कीदृग्भूतं ? लहुगं स्वल्पं । आलोचेदि कथयति । विणिगूहं । दि-  
विनिगूहयति । कि ? थूलं स्थूलं । भयर्मयमायाहिदओ । भयमदमायासहितचित्तं । महतो दोषान्यदि अवीमि महत्माय-  
श्चित्तं प्रयच्छतीति भयं । लज्जेति मामिति वा । वृथा निरतिचारचरित्रसर्वसमानंमगासह स्थूलाभ शक्नोति वक्तुं । कश्चि-  
त्प्रकृत्यैव मायावी सोऽपि न निगदति । जिणवयणपरंमुहो होदि । जिनवचनपरादसुखो भवति ।।

मुलारा-भयमदमायाहिदओ भय, भदो, माया वा हृदये चित्ते यस्यासौ बहुप्रायश्चित्त मयेन सधर्मत्यजनमयेन  
वा सूक्ष्ममेव दोषं वकिं, स्थूलं प्रच्छादयति । यूयाभिरतिचारचारित्रोऽस्मीति गर्वाभं स्थूलान्वकिं । मायावी तु प्रकृत्यै-  
व वचकत्वात् तान्वकिं । उक्तं च—

आसने शयेन स्थाने संस्तरे गमनेऽशने ॥

आर्द्रगात्रपरामर्शगभिण्या बालवत्सया ॥ ११

परिविष्टेऽवबदोयो यः सूक्ष्मः स निगद्यते ॥

स्थूलं प्रकाशं येनासौ जिनवाक्यपराहसुखः ॥

अर्थ—इस प्रकार जो छोटे छोटे दोष कहकर बड़े दोष छिपाता है वह मुनि भय, मद, और कपट इन दोषोंसे भरा हुआ जिनवचनसे परामुख्य होता है बड़े दोष यदि मैं कहूंगा तो आचार्य महाप्रायश्चित्त देंगे अथवा मेरा त्याग करेंगे ऐसे भयसे कोई बड़े दोष नहीं कहता है मैं निरतिचार चारित्र्य हूं ऐसा समझकर स्थूल दोषोंको गर्वयुक्त होकर कोई मुनि कहता नहीं कोइ मुनि स्वभावसे ही कपटी रहता है अतः वह भी बड़े दोष कहता नहीं इस वास्ते ये मुनि जिनवचनसे परामुख है ।

सुहुमं व बादरं वा जह्ण कहेज्ज विणएण स गुरुणं ॥

आलायणाए दोसो पंचमओ गुरुसयासे से ॥ ५८२ ॥

विजयोदया—मायाशाल्यत्यागस्य जिनवचनोपदेशितस्य अकरणत्वं प्रसिद्धार्थो ॥

मूलारा—गुरुसयासे गुरुसमीपे वर्तमानस्य ॥

अर्थ—सूक्ष्म अथवा स्पृष्ट दोष यदि गुरुको विनय से न कहेगा तो वह जिनोपदेशका उल्लंघन करनेसे आलोचनाके पांचवे दोषसे दूषित होता है.

उत्तर भाषा—

रसपीदयं व कडयं अहवा कवडुक्कडं जहा कडयं ॥

अहवां जडुपूरिदयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५८३ ॥

रसेन पीतं जतुना प्रपूर्णं कूटं विपाके कटकं गृहीतं ॥

यथा तथेत्थं विहितं विद्यसे विशोचनं तापमपारमुग्रम् ॥ ६०८ ॥

इति सूक्ष्मदोषः

विजयोदया—रसपीदयं व कडयं रसोपलेपान्मनाद् बहिः पीतवर्णकटकमिव । मथवा कवडुक्कडं तल्लुद्धरणप्रचछादितमिव वा । अन्तर्निस्सारं । अथवा अडुपूरिदयं अन्तर्दिच्छमं जतुपूर्णकटकमिव । पीतता रसोपलिप्तस्य तथा तथास्या शुद्धिरिति प्रथमो दृष्टान्तः ॥ गुरुतरपापप्रच्छादनमात्रताप्रकाशनाय द्वितीयो दृष्टान्तः । गुरुतरमयः प्रवृत्ति निस्सारं वस्तु बाह्ये तु सुवर्णशकलेन प्रच्छादितं यथा तथा स्वयानपराधान्कथयति । पापभीरुताप्रकर्षादयं सुनिरिख्यं संयतः कथं महत्यतिचारे प्रवर्तते इति प्रत्ययजननाय अंतःसाररहितता दृष्टोपेनोच्यते । सुहुमं ॥

दृष्टान्तत्रयेण सूक्ष्मदोषालोचना जुगुप्सते—

मूलारा—रसपीदयं सुवर्णरसरसितं । एतेन शुद्धेरत्यन्तं दर्शितं । कवडुक्कडं सुवर्णपत्रप्रच्छादितं । एतेन गुरुतर पापप्रच्छादनं दर्शितं । जडुपूरिदयं लाक्षाशुतमभ्यं एतेनार्तर्निःसारतोद्भूता साधोः ॥

अर्थ—सौनेका मुलामा दिया हुआ लोहेका कड़ा जैसा ऊपर से मनोहर दीखता है, अथवा ऊपरसे सोने के पतले पत्रसे मढ़ा हुआ लोहेका कड़ा जैसे ऊपरसे ही सुंदर दिखता है परंतु अंदर निःसारता ही रहती है, किंवा

को आहर दिया था इत्यादि सूक्ष्म दोषोंको जो कहता है उसकी आलोचना शुद्ध नहीं है.

इय जो दोसं लहुगं समालोचेदि गृहदे धूलं ॥

भयसंयमायाहिदओ जिणवयणपरमुहो होदि ॥ ५८१ ॥

स्थूलं सूक्ष्मं च चेदेषां भाषते न गुरोः पुरः ॥

मायाव्रीडामदविष्टः सदा दोषोऽस्ति पंचमः ॥ ६०७ ॥

विजयोदया — इय एवं जो यः दोसं अंतिकारं कीदृमृतं ? लहुगं स्वल्पं । आलोचेदि कथयति । विणिगृहाद-  
विनिगृहयति । किं ? धूलं स्थूलं । भयसंयमायाहिदओ भयसदमायासहितचित्तं । महतो दोषान्यदि ब्रवीमि महत्पाय-  
श्चित्तं प्रयच्छतीति भयः सज्जति मामिति वा । वृथा निरतिचारचरित्रसर्वसमानंमांसहः स्थूलान्न शक्नोति वक्तुं । कश्चि-  
त्यकृत्यैव मायावी सोऽपि न निगदति । जिणवयणपरमुहो होदि । जिनवचनपरामुसो भवति ।

मूलापा—भयमदमायाहिदओ भय, मदो, माया वा हृदये चित्ते यस्यासौ बहुप्रायश्चित्तं भयेन सधर्मत्यजनभयेन,  
वा सूक्ष्ममेव दोषं वक्ति, स्थूलं प्रच्छादयति । यूयांश्रितिचारचारित्रोऽस्मीति गर्वान्न स्थूलान्वक्ति । मायावी तु प्रकृत्यै-  
व वंचकत्वान्न तान्वक्ति । उक्तं च—

आसने शयेन स्थाने संस्तरे गमनेऽशने ॥

आर्द्रगात्रपरामर्शगर्भिण्या बालवत्सया ॥

परिविष्टेऽभवदोषो यः सूक्ष्मः स निगद्यते ॥

स्थूलं प्रच्छाद्य येनासौ जिनवचनपरामुसुखः ॥

अर्थ—इस प्रकार जो छोटे छोटे दोष कहकर बड़े दोष छिपाता है, वह मुनि भय, मद, और कपट इन  
दोषोंसे भरा हुआ जिनवचनसे परामुद्धत होता है, बड़े दोष यदि मैं कहूँगा तो आचार्य महाप्रायश्चित्त देंगे, अथवा  
मेरा त्याग करोगे ऐसे भयसे कोई बड़े दोष नहीं कहता है, मैं निरतिचार चारित्र हूँ ऐसा समझकर स्थूल दोषोंको  
गर्वयुक्त होकर कोई मुनि कहता नहीं, कोई मुनि स्वभावसे ही कपटी रहता है अतः वह भी बड़े दोष कहता  
नहीं इस चास्ते ये मुनि जिनवचनसे परामुसुख हैं ।

विजयोदया - को तस्स विज्जइ तवो किं तस्मै दीयते तप' ? । केण उवाणण होधि वा सुद्धो केनोपेयन वा शुद्धो भवतीति । पच्छणं प्रच्छन्न । पुच्छदि पृच्छति । आत्मानमुद्दिश्य मन्त्रायमपराध. कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्तं इति न पृच्छति । किमर्थमेव प्रच्छन्न पृच्छति । ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं करिष्यामि ॥

अर्थ--उसको कोनसा तप दिया जाता है, अथवा किस उपायसे उसकी शुद्धि होती है ऐसा प्रच्छन्न रूपसे पूछता है अर्थात् मैंने ऐसा २ अपराध किया है और उसका क्या प्रायश्चित्त है ? ऐसा न पूछकर प्रच्छन्न पूछता है. प्रच्छन्न पूछकर तदनंतर मैं उस प्रायश्चित्तका आवरण करूंगा ऐसा हेतु उसके मनमें रहता है.

इय पच्छणं पुच्छिय साधू जो कुणइ अप्पणो सुद्धिं ॥

तौ सो जिणेहिं बुत्तो छवो आलोयणा दोसो ॥ ५८६ ॥

इत्थन्यव्याजतद्वन्नं पृच्छयते चेत्स्वशुद्धये ॥

तदानीं जायते दोषः षष्ठः संसारवर्द्धकः ॥ ६१० ॥

विजयोदया - इय पवं । पच्छण पुच्छिय पृष्ट्या । जो साधू साधु । अप्पणो सोधि कुणदि आत्मन शुद्धिं करोति । सो छवो आलोयणा दोसो बुत्तो जिणेहिं । पप्पोऽसावालोचनो दोषस्तस्य भवतीति जिनैवक्तुः ॥

अर्थ--ऐसा गुप्त रीतीसे पूछकर जो साधु अपनी शुद्धि कर लेता है. वह आलोचनाका छद्म दोष है ऐसा जिनैवक्तेने कहा है.

धादो हवेज्ज अण्णो जदि अण्णम्मि जिमिदम्मि संतम्मि ॥

तो परववेदसकदा सोधी अण्णं विसोधिज्ज ॥ ५८७ ॥

भोजने च कुतेऽन्येन तृप्तिरन्यस्य जायते ॥

अपरस्य तदा शुद्धिर्विहिता परभर्मणा ॥ ६११ ॥

आत्मशुद्धिं विधत्ते यः प्रपृच्छय परभर्मणा ॥

अपरेणौषधे पीते स्वस्यारोग्यं करोति सः ॥ ६१२ ॥



विजयोदया - धादो हवेज्ज अण्णो एतो भवेदन्यः । जदि अण्णमि जिमिदम्मि संतम्मि । यद्यन्यस्मिन्मुक्तवति सति । तो ततः । परववदेसकदा सोधी परव्यपदेशकृता शुद्धि । अण्णं विसोधिज्ज अन्यं विशोधयेत् ॥

छात्रदोषदुष्टालोचनाया नैष्फल्यं दृष्टान्तं स्फुटयति-

मूलारा - धादो एतः । जिमिदम्मि मुक्तवति । संतम्मि सति । परववदेसकदा अन्यमुद्दिश्यकृता । अर्थ-उपर्युक्त दोषका दृष्टांत इस प्रकार है - यदि किसी अन्य मनुष्यके भोजन करनेपर उससे अन्य मनुष्यका पेट भरेगा तो दूसरेके नामसे किया हुआ प्रायश्चित्त दूसरेको विशुद्ध करेगा ऐसा मानना पड़गा।

स्पष्टोत्तरा गाथा -

तवसंजमम्मि अण्णेण कदे जदि सुग्गदिं लहदि अण्णो ॥  
तो परववदेसकदा सोधी सोधिज्ज अण्णपि ॥ ५८८ ॥  
संयमे चेत्कृतेऽन्येन विमुक्तिं लभते परः ॥  
परव्याजकृता शुद्धिस्तदा शोधयेते परम् ॥ ६१३ ॥

तदेव दृढयति -

मूलारा-सुग्गदिं सद्दत्तिम् ॥

अर्थ-तप और संयम भी अन्य व्यक्तीने किये जानेपर यदि अन्यही व्यक्तीको सुगतिकी प्राप्ति होगी तो दूसरेके नामसे किया हुआ प्रायश्चित्त भी दूसरेको दोषसे मुक्त करेगा ऐसा मानना पड़गा।

मयतण्हादो उदयं इच्छइ चंदपरिवेसणा कूरं ॥

जो सो इच्छइ सोधी अकहंतो अप्पणो दोसे ॥ ५८९ ॥

शुरोर्निजं दोषमभाषमाणो दोषस्य यः कांक्षति शुद्धिमज्ञः ॥

मन्ये स तोयं मृगतृष्णिक्तातो जिघृक्षतेऽन्नं शशिर्विद्यतो वा ॥ ६१४ ॥

इति छन्नं दूषणम् ॥

विजयोदया—मयतण्हादो इत्यत्र पदघटनेन । जो अपणो दोसे अकथेंतो सोधी इच्छइ सो मयतण्हादो उदयं इच्छइ, चंद्रपरिवेसणे कूर इच्छइ य । य आत्मनो दोपाननभिघाय गुरुणा शुद्धिमिच्छति स मृगतृणात उदक वाछति, चंद्रपरिवेपादशनमिच्छति । निष्फलतासाधर्म्यादय दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः । छत्र ॥

पुनस्तदेव समर्थयते—

मूळारा—मिगतिण्हादो मृगतृणात । उदगं उदकं । चंद्रपरिवेसणे चंद्रपरिवेपात् चंद्रार्थिवादित्यर्थः । कूर मक्तं श्रीचंद्रदिप्पनके त्वेवमुक्तं । अत्र कथयार्थप्रतिपत्तिर्यथा—चंद्रनामा सूपकारः परिवाराहितो राज्ञा निःसारितोऽन्यः कृतः । परिवारेण च राज्ञा सह भोजनं परिहृतं । एवमेकदा समायते तस्मिन् राजनि भोक्तुमुपविष्टे गगने चंद्रस्य परिवेपमा-लोकयोक्तं लोकैरेव चंद्रस्य परिवेपो जात इति । एतच्छ्रुत्वा परिवार सूपकारस्य राजकुले प्रवेशो जात इति मत्वा भोक्तुं गतवान् च कूरं प्राप्तवान् इति । गुरोरेऽप्रकाशयन् ॥

“ अर्थ—जो मुनि अपने दोपोंका विवेचन न करके उनसे मुक्त होना चाहेंगा वह मृगतृणासे पानी प्राप्त करने की कोशिश करता है अथवा चंद्रके परिवेशसे अन्न प्राप्त करने की इच्छा धरता है ऐसा समझना चाहिये, दूसरेके नामसे प्रच्छन्नरीत्या ग्रायश्चित्त करना व्यर्थ है ऐसा इन दो दृष्टान्तोंसे सिद्ध होता है

दृष्टांत और दार्ष्टान्तिक इन दोनोंमें निष्फलताक्षी समझना इस गाथामें दिखाई है, किसी राजाने चंद्रनामक रसोदया को अपने घरसे निकाल दिया, और उसके स्थानमें दूसरे रसोदयाको नियुक्त किया, तब राजाके साथ परिवारने जीमना छोड़ दिया, एक दिन राजा भोजनके लिए आया उस समय आकाशमें चंद्रको परिवेपयुक्त देखकर चंद्रका परिवेश-प्रवेश हुआ ऐसा लोगोंने कहा तब सुनकर परिवार भोजनके लिये आया परंतु उसको भोजन नहीं मिला ऐसी कथा यहां समझनी चाहिये यह कथा श्रीचंद्राचार्य के टिप्पनकमें कही है

पक्खियचाउम्मासियंसंवच्छरिएसु सोधिकालेसु ॥

बहुजणसदाउलए कहेदि दोसे जहिच्छाए ॥ ५९० ॥

शब्दाकुले चतुर्मासपक्षवर्षक्रियादिने ॥

यथेच्छं पुरतः सुरैरालोचयति योऽधमः ॥ ६१५ ॥

विजयोदया—पश्चिमयचाडम्मासिय पक्षाद्यतिचारशुद्धिकालेषु । बहुजनसद्वाउलए बहुजनशब्दसंज्ञेते । ज-  
धिच्छाए दोसे कथेदि येथच्छया दोयनात्मीयान्कथयति ॥

सद्गुणलगामिति सप्तमं आलोचनदोषं गायत्रयेणाह—

मूलारा—जहिच्छाए येथेच्छया ।

अर्थ— पाक्षिक दोषोंकी आलोचना, चार्मासिक दोषोंकी आलोचना और वार्षिक दोषोंकी आलोचना  
सब यतिसमुदाय मिलकर जब करते हैं तब अपने दोष स्वेच्छासे कहना यह बहुजननामका दोष है.

इय अब्वत्तं जइ सार्वतो दोसे कहेइ सगुरुणं ॥

आलोचनाए दोसो सत्तमओ सो गुरुसयासे ॥ ५९१ ॥

अव्यक्तं वदतः स्वस्य दोषान्संक्लिष्टैस्तत्स ॥

आलोचनागतो दोषः सप्तमः कथितो जिनः ॥ ६१६ ॥

विजयोदया—जदि इय अब्वत्तं सार्वतो दोसे कहेइ सगुरुणं यद्येवमव्यक्तं श्रावयन्दोषान्कथयति स्वगुरुभ्यः ।  
सत्तमगो आलोयणादोसो । सप्तम आलोचनादोषः गुरुसयासे गुरुसमीपे प्रवृत्तो भवति ॥

मूलारा—सार्वतो श्रावयन् ॥

अर्थ— यदि अस्पष्ट रीतीसे गुरुको सुनाता हुवा अपने दोष मुनि कहेगा तो गुरुके चरणसन्निध  
उसने सातवा शब्दकलित दोष किया है ऐसा समझना.

अरहट्टघडीसरिसी अहवा चुंदछुदोवमा होइ ॥

भिण्णघडसरिच्छा वा इमा हु सल्लहरणसोधी ॥ ५९२ ॥

अरगतघटयित्रसमां भिन्नघटोपमां ॥

चुंदरज्जुनिभामेनां शुद्धिं शुद्धिविदो विदुः ॥ ६१७ ॥

इति शब्दाकुलो दोषः ॥

विजयोद्या—अरहट्टघटीसरिंसी अरगतघटीसदशी पूर्णोप्यपूर्ण । एवमपराधकथनं स्वमुखेन प्रवृत्तमेव अप्रवृत्तमेव गुरुणा अश्रुतत्वात् । अहवा जुदच्छुदोवमा होइ अथवा मथनचर्मपालिका इव, सा यथा मुक्तापि यन्नाति एवमियं धाइमुखकुहरसुकापि मायाशल्यसहितेति वच्नाति । भिन्नघटसदशी वा यथा भिन्नो घटो घटकार्यं जलधारणं जलाद्यानयनं वा कर्तुमसमर्थ एवमियमालोचना न निर्जरा संपादयतीति साधर्म्यं ॥ सद्दाउलयं ॥

शब्दकुलदोषदुष्टालोचनावैयर्थ्यं दृष्टातेन समर्थयते—

मूलारा—अरहट्टघटीसरिंसी यथा अरगतघटिकाः पूर्णा अपूर्णा एवमपराधकथनं स्वमुखेन कृतमव्यक्तमेव गुरुणाऽश्रुतत्वात् । जुदच्छुदोवमा मंथनचर्मपालिकात्तुया । सा यथासुक्तापि वच्नाति । एवमियं दोषालोचना मुख कुहरसुकापि मायायुक्तेति वच्नाति । भिन्नघटसदशी वा स्फुटितघटसदशी । यथा भिन्नो घटो जलधारणादिकार्यं कर्तुं न शक्नोति वयेय निर्जरासिद्धि साधर्म्यम् ॥

अर्थ—जैसे अरगत घटीयंत्रमें लगे हुए चढ़े जलसे भरे हुए भी अपूर्ण हो जाते हैं अर्थात् वे हमेशा जलसे भरते हैं और पुनः रिक्त होते हैं वैसे अपराधोंका अपने-मुखसे कथन किया तो भी कथन नहीं किये सरिखा हो जाता है क्योंकि बहुतोंके शब्दोंमें उसके शब्द गुरु सुन नहीं सकते हैं अथवा काष्ठको छिद्र पा देनेवाला वर्मा नामक शस्त्र घुमाते समय दोरीसे मुक्त होकर भी बंधा रहता है एक पाथ्रसे उसकी दोरी हिली हो जाती है परंतु दूसरी बाजु उसकी उसी समय दोरीसे दृढ़ बंधी जाती है वैसे यह मुखसे अपराधोंका वर्णन बाहर पडता है तो भी अंतरंगमें माया शल्यसे सहित होनेसे कर्मवध का ही कारण होता है अथवा यह आलोचना फूटे घड़ेके समान है फूटा घडा जल लानेमें और जल धारण करनेमें असमर्थ है वैसे यह आलोचना कर्मनिर्जरा करनेमें असमर्थ होती है

आयरियपादमूले दु उवगदो वंदिऊण तिबिहेण ॥

कोई आलोवेज्ज दु सव्वे दोसे जहावत्ते ॥ ५९३ ॥

भूरिभक्तिभरानम्रः सूरिपादाम्बुजद्वयम् ॥

प्रणम्य भाषते कश्चिद्दोषं सर्वं विधानतः ॥ ६९८ ॥

विजयोदरा—पारमिपामुद्रे नमो भक्त्यारण्यमुदरा । विनिमयिनी लोनाभयम् न  
दत्ता दत्ता । सोऽहं विनिमय । ततोऽहं न विनिमय । नमो भक्त्यारण्यमुदरा । विनिमयिनी लोनाभयम् न  
वाज्यायिनीमरुता दत्ता विनिमयिनीमरुता । विनिमयिनीमरुता । विनिमयिनीमरुता । विनिमयिनीमरुता ।

बहुजनमित्रपद्ममात्रोन्नाशनं गायत्र्युदयं गायत्रे —

मृदारा—नययेते यथाशुभम् । येन मनोमरुता दत्ता विनिमयिनीमरुता । विनिमयिनीमरुता । विनिमयिनीमरुता ।

अर्थ—कोठ मुनि आचार्यके माधव चारु उनके नरणाको मन, मन और मरीग इनको मुररु  
नपस्तार मरुता है तदनंतर मन, मन, मरीगें कृत, कर्गित और अनुमोदनके माय मूल नयवा सुत्तम जो जो  
दोष हुये थे उनका संपूर्ण करन करता है.

तो दंसणचरणाधारणहिं सुत्तल्यमुल्यहतेहिं ॥

पवयणकुसलेहिं जहारिहं तत्रो तेहिं से दिण्णो ॥ ५९४ ॥

तस्य स्रग्धर्यदक्षेण रत्नचित्तयशालिना ॥

व्यवहारविवा दत्तं प्रायश्चित्तं यथोचितम् ॥ ६१९ ॥

विजयोदरा—तो मरुता आलोचनोत्तरकाळ । दंसणचरणाधारणहिं सगीनीनंदनचारित्र्यभक्त्योपरी ।  
सुत्तल्यमुल्यहतेहिं स्रग्धर्यमुदरि । पवयणकुसलेहिं स्रग्धर्यमुदरिनिगनेन गत्तातिक्रमेण 'प्रमन्नकुसले' इति ।  
अयमधिप्रायः—प्रायश्चित्तप्रयत्न प्रमन्नगत्तं तेन प्रायश्चित्तप्रयत्नस्य । अन्यमार्गमो न इति । न वेयमयदिन-  
त्तम् इति प्रायश्चित्तप्रयत्न पृथगुपादन । तेहिं ते । मे तस्मै । जहारिहं ततो किलो अपराभावरूपे तपोदत्त । तपोप्रदं  
प्रायश्चित्तोपलक्षणाये तेन प्रायश्चित्तं इत्यर्थः ॥

मूलारा—तो आलोचनोत्तरकाळ । पवयणकुसलेहिं प्रायश्चित्तप्रयत्न । अन्यमार्गमोऽपि प्रायश्चित्तनानलो न  
नोधयतीति प्राधान्यकथनार्थं अयं पृथगुपादानं । तयो प्रायश्चित्त । जहारिहं अपराभावरूपं । तेहिं ते । प्रमिद्वैर्मा तदर्थः ।  
से तस्मै ।

अर्थ—जब मुनि आलोचना समाप्त करता है तब मय्यदंशन और मय्यकारिणके धारक, स्रग्धरको  
अपने हृदयमें धारण करनेवाले, और प्रमन्नमें कुशल होने आचार्य आलोचना करनेवाले को यथायोग्य प्रायश्चित्त

देते हैं, शंका स्वार्थके धारक इस शब्दका अर्थ प्रवचनमें निपुण ऐसा होता है तो पवयणकुसलो यह शब्द गाथामें व्यर्थ है

उत्तर—यहां प्रवचन शब्दसे प्रायश्चित्त ग्रंथ यह अर्थ आचार्य को अभिमत है सूत्रशब्दसे प्रायश्चित्त शास्त्रके विना अन्य शास्त्र ऐसा समझ लेना चाहिये अन्य शास्त्रों का ज्ञाता होकर यदि प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता न हो तो वह प्रायश्चित्त नहीं दे सकता यह अभिप्राय यहां मुख्य है, उसकी सिद्धीके लिये यहां 'पवयणकुसलो' यह पद आचार्य महाराजने गाथामें जोड़ दिया है

णवमस्मि य जं पुंव्वे भणिदं कप्पे तहेव ववहारो ॥

अंगेसु सेसएसु य पइण्णए चावि तं दिण्णं ॥ ५९५ ॥

तेसिं असद्वहतो आइरियाणं पुणो वि अण्णणं ॥

जइ पुच्छइ सो आलोयणाए दोसो हु अट्ठमओ ॥ ५९६ ॥

यत्कल्पव्यवहारांगपूर्वाद्विश्रुतभाषितम् ॥

तदालोच्य विधानेन दत्तं सूत्रपटीयसा ॥ ६२० ॥

अश्रद्धाय वचस्तस्य स यथा पृच्छते परं

आचार्यैः कथितो दोषस्तदालोचनगोचरः ॥ ६२१ ॥

विजयोदया—तेसिं तेपा । आयरियाण आचार्याणा वचनं । असद्वहतो अश्रद्धान । पुणो वि जइ पुनरपि यदि पृच्छत्यन्यानसौ । अट्ठमगो आलोयणादोसो सोऽयम् आलोचनादोष ॥

अत्रेयं गाथा सूत्रेऽनुश्रूयते ।

मूलारा—एता श्रीविजयो नेच्छति ।

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—नीचा पूर्व प्रत्याख्यान नामका है उसमें प्रायश्चित्तका निरूपण है, अंगमाहश्रुतमें कल्पनामक प्रकरण में प्रायश्चित्तका विचार किया है, वाक्रीके अंगोंमें और प्रकीर्णकोंमें जो प्रायश्चित्त का निरूपण है उसके अनुसार आचार्य प्रायश्चित्त देते हैं

परंतु उनके दिये हुए प्रायश्चित्तमें अश्रदान करके यह आलोचनाक मृनि गति अन्योक्तो पूरेगा अर्थान् आचार्य महाराजने दिया हुआ प्रायश्चित्त योग्य है वा अयोग्य है ऐसा पूरेगा तो यह आलोचनाका बहुजन पूछा नामक आठना दोष होगा.

पगुणो वणो ससंछे जघ पच्छा आदुरं ण तावेदि ॥

बहुवेदणाहिं बहुसो तथिमा मन्तुद्धरणसोघी ॥ ५९७ ॥

दोषावतीर्णोंडपि इदति पीडां परमकारेण विशोध्यमानः ॥

वणो हि शुभकोडपि करोति चाग्रां प्रचान्यमानः किमुनाविपश्य ॥ ५९८ ॥

“इति भूरिश्रुतेशोप” ।

विजयोदया—पगुणो उणो प्रगुलं मण । उपजितं । समारं सत्त्वमिति । पच्छा पछार । तादुरं व्यतिथितं । किमु न तावेदि । किमु न तापयति तापयत्येव । बहुवेदणाहिं यदीदृशेदनाभि । यदुनो यदुत । तथिमा तथा इय मन्तुद्धरणसोघी आलोचनाशुद्धि । मायाश्रयापत्तिर्यागतं दुःखा अविशोभता मदुक्ता शुद्धतत्प्रायश्चित्तापि श्रदानतान्यसमष्टिगतं त्वादु यथाहा । बहुजन ॥

बहुजनदोषदुष्टालोचनाया दुःखावहत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलाप—पउणो इपरि रूड । ममदो अंत कंडूदियुष्कः । ण तावेदि न कर्मयपि ? । यदुनो यदुता सत्त्व । तथिमा तथेयं मायाश्रयापरित्यागेन क्वेति भंजतदोषापि शुद्धतत्प्रायश्चित्ताप्युपिबन्धेन दुःखावहत्वात् ॥

अर्थ—जिममें मांदा रहा है ऐसा ग्रण बढ जाता है वर यह अनेक प्रकारकी वेदनायें उत्पन्न कर जीवको जैसा बहुत दुःख देता है, वैसी यह आलोचना भी जीमको बहुत दुःखदायक है, यह आलोचना माया और अमत्य मापणसे रहित है, इसलिये यद्यपि अतिशय अच्छी मानी जाती है तथापि गुरुओंने दिये प्रायश्चित्त पर श्रदान न होनेसे दुःखदायक है, इस प्रकार बहुजन नामक दोषका वर्णन हुआ

आगमदो जो चालो परियाण व हवेज्ज जो चालो ॥

तस्स संगं दुच्चरियं आलोचिदूण चालमदी ॥ ५९८ ॥

आगमेन चरित्रेण बालो भवति यो यतिः ॥

तस्यालोचयतो दोषं स्वं दोषो नवमो मतः ॥ ६२३ ॥

विजयोदया — आगमदो बालो आगमेन ज्ञानेन वा बालः । परियाएण घ हवेज्ज बालो चारित्रबालो वा यो भवेत् । य. स तस्स तस्मै । सग उच्चरिदं आत्मीयमतिचारं । आलोचेदूण बालमदी उपत्त्वा बालबुद्धिः ॥

अथ नवममव्यक्त्यालोचनादोषं गाथात्रयेण व्याचष्टे तत्रैनं द्वाभ्या गाथाभ्या लक्ष्यत्येकयावक्षिपति —

मूलरा — आगमदो श्रुतज्ञानेन । बालो लघु । परियाएण चारित्रिण । जो गुरु । तस्स तस्मै । आलोचेदूण

निषेध । बालमदी स्तोक्बुद्धिः ।

अर्थ—जो मुनि आगमसे बाल है अर्थात् जिसको आगमका ज्ञान नहीं है तथा जो चारित्रबाल है अर्थात् चारित्र भी जिसका श्रेष्ठ नहीं है उसको बाल कहते हैं ऐसे मुनिके पास जाकर कोई अल्पज्ञानी मुनि अपने दोषों की आलोचना करता है.

आलोचिदं असेसं सत्त्वं एदं मणुत्ति जाणादि ॥

बालस्सालोचतो णवमो आलोचणां दोसो ॥ ५९९ ॥

निवेदितं मया सर्वं नासौ जानाति दूषणम् ॥

विश्राणयति मे शुद्धिं प्रणिघायेति मानसे ॥ ६२४ ॥

विजयोदया — आलोचिदं कथितं । असेसं सत्त्वं निरवशेषं सर्वं । मनोवाक्कायकृतोऽतिचार सर्वशब्देन उच्यते । कृतकारितानुमतविकल्पा अशेषा इत्याख्ययते । मणुत्ति जाणादि मेयेति जानाति । बालस्सालोचतो ज्ञानबाला-  
य चारित्रवालाय वा कथयति णवमो आलोचणादोसो नवम आलोचनादोष ॥

मूलरा — असेसं कृतकारितानुमतविकल्पं । सर्वं मनोवाक्कायकृतं दूषणं । बालस्स ज्ञानवालाय चारित्रवा-  
लाय वा गुरवे । णवमो बालो बालांयालोचयन्मया सर्वमालोचितमिति यज्जानीते सोऽज्यक्तो नामालोचना दोषो भवतीति सम्बन्धः ।

अर्थ—और मैंने इसके पास संपूर्ण अपराधों की आलोचना की है मन, वचन, कायसे और कृत, कारित



अनुमोदनसे किये हुए अपराधोंकी मैंने आलोचना की है ऐसे जो समझता है उसकी यह आलोचना करना नौवे दोपसे दुष्ट है. ज्ञानवाल्मीकी और चारित्रवाल्मीकी अपने अपराध कहना यह नौवा अव्यक्त नामक दोष है.

कूडहिरण्यं जह गिच्छण दुज्जणकदा जहा मेत्ती ॥

पच्छा होदि अपत्यं तधिसा सल्लद्धरणसोधी ॥ ६०० ॥

इदमालोचनं दत्ते पश्चात्तापं दुरूतरं ॥

दुष्टानामिव सांगत्यं कृतं स्वर्णमिवाथवा ॥ ६२५ ॥

इति अव्यक्तदोषः ।

विजयोदवा—अव्यक्तं । कूडहिरण्यं जह पच्छा अपत्या गिच्छण होदिच्छि पदयटना । यथा कूटहिरण्यं धनमिति गृहीतं पश्चादपत्यं निश्चयतो भवति अभिमतद्रव्यग्रहणे अनुपायत्वात् । एवमपि इयमपि वालस्य कियमाणालोचना अनुसूच्यप्रायश्चित्तप्राप्तौ अनुपायत्वात् सदृशी । ज्ञानमाल परार्थयोग्यप्रायश्चित्त दातु न क्षमः । दुज्जणकदा यमेत्ती जहा पच्छा होदि अपत्यं इति संवधः कार्यः । दुर्जने कृता मैत्री यथा न पथ्यं, दुःस प्रयच्छतीति एवं चारित्रवाल्मीकस्य संयमोभयविकल्पस्य कृतापि प्रायश्चित्तमालाभमूला अनेकानर्थोवहेति भावः ॥

मूलरा—कूडहिरण्यं कूटकं सुवर्णं । पच्छा पश्चात् । अपच्छं दुःखकारणं । यथा कूटहिरण्यं धनमिति गृहीतं पश्चादपत्यं निश्चयतो भवति । अभिमतद्रव्यग्रहणे अनुपायत्वात् । एवमपि वालगुरोरे क्रियमाणा लोचना अनुरूपप्रायश्चित्तप्राप्तावनुपायत्वादप्यथा । न हि ज्ञानमालः परस्मै योग्यं प्रायश्चित्त दातुं क्षमते । यथा कार्यदुर्जने कृता मैत्री पश्चाद्विचयतोऽप्यथ भवत्येवं चारित्रवाल्मीकस्य कृताऽलोचना प्रायश्चित्तमालाभमूलानेकानर्थोवहेति भावः ॥

अर्थ—जैसे कृत्रिम सुवर्ण धन समझकर ग्रहण किया परंतु कार्यकालमें उसका उपयोग नहीं होता है. अर्थात् बाजार में इच्छित वस्तु लेनेके लिये उसको बेचनेका विचार किया तो कोई भी उसको स्वीकारेगा नहीं जिससे इच्छित वस्तु मिलना अशक्य होता है. वैसे वालगुनिके पास जाकर आलोचना करने पर भी दोषानुरूप प्रायश्चित्त नहीं मिलेगा जिससे कर्मनिर्झरा होना असंभव है. जो ज्ञानमाल है वह योग्य प्रायश्चित्त नहीं दे सकता है दुर्जन के साथ यदि मैत्री की तो वह जैसी प्रसंग पहनेपर दुःखदायक ही होती है. प्राणिसंयम अथवा इंद्रिय

संयम जो पूर्णतया पालन नहीं करता है उसके पास दोषोक्ती आलोचना करनेसे उसके असुरूप प्रायश्चित्त नहीं मिलता है और वह आलोचना अनेक अनर्थ को उत्पन्न करनेवाली होती है.

मूलाराधना

८०१

पासत्यो पासत्यस्म अणुगदो दुक्कड परिकहेइ ॥

एसो वि मज्झसरिसो सव्वत्यवि दोससंचइओ ॥ ६०१ ॥

पार्थस्थानां निजं दोषं पार्थस्थो भापते कुधीः ॥

निचितो निचिनैदौपरैपोऽपि सदृशो मया ॥ ६२६ ॥

विजयोदया—पासत्यो पासत्यस्स पार्थस्थ पार्थस्थमनुगतं । दुक्कडं परिकहेइ दुक्कटं परिकथयति । एसो वि एपोऽपि । मज्झसरिसो मत्सदृश । सव्वत्य वि सर्वेष्वपि व्रतेषु दोससंचइओ दोषसंचयोद्यतः ।

तृसेवीति वंशमालोचनादोषं गाथापंचकेन व्याचष्टे । तत्र तिसृभित्तस्य लक्षणं द्वाभ्या च क्षेपमाह—  
मूलाराधना—पासत्यो उपलक्षणात्पार्थस्थव्रतसङ्कलीलसंसकम्पगचरितानामेकतमः । अणुगदो विनीतः सन् ।

दुक्कडं दुश्चरितं त्वं । सव्वत्य वि सर्वेष्वपि तेषु । दोससंचयिगो दोषसंचयनोद्यतः ।

अर्थ—पार्थस्थ मुनि पार्थस्थ मुनिके पास जाकर उसको अपने दोष कहता है, क्योंकि यह मुनि भी सर्व व्रतों मेरे समान दोषोंसे भरा हुआ है ऐसा वह समझता है.

जाणादि मज्झा एसो सुहसीलत्वं च सव्वदोस्मि य ॥

तो एस मे ण दाहिदि पायच्छित्तं महच्छिति ॥ ६०२ ॥

जम्भीने मे यत्तः सर्वं सुखशीलताम् ॥

प्रायश्चित्तं ततो नैप ग्रहदास्थति निश्चितम् ॥ ६२७ ॥

विजयोदया—एसो मज्झा सुहसीलत्त जाणादि एप मम तु खासद्वत्त वेत्ति । सव्वदोस्मे य जानाति सर्वदोषांश्च । तो तस्मात् । एस मे न दाहिदि एप मे न दास्यति । महलं पायच्छित्तं महत्प्रायश्चित्तमिति मत्वा कथयतीति संबधः ॥

मूलारा—सुहसीलत्त दुःखासहत्वं । महलति महदिति परिकथयतीति संबधः ।

अर्थ—यह मुनि मेरे सुखिया स्वभावको और व्रतोंके अतिचारोंको जानता है, इसका और मेरा आचरण समान है, इसलिये यह मेरेको बड़ा प्रायश्चित्त न देगा ऐसा विचार कर वह पार्श्वस्थ मुनि गुरूको अपने अतिचार कहता नहीं और समानशीलको अपने दोष बताता है.

आलोचिदं असेसं सत्त्वं एदं मयसि जाणावि ।।

सो पवयणपडिकुद्धो दसमो आलोचणा देसो ॥ ६०३ ॥

एतस्य कथने बुद्धिः सुखतो मे भविष्यति ॥ ६०४ ॥

अयमालोचनादोषो दशमो गदितो जिनैः ॥ ६२८ ॥

“विजयोदया”-स्पर्शार्थो ।।

मूला — मयसि अयमिति मित्रप्रक्रमः तेन जानावीति, च मत्वा परिक्रियतीति संबंधः । सो प्रागुक्तलक्षणः पवयणपडिकुद्धो आगमनिषिद्धः ॥

अर्थ—यह पार्श्वस्थ मुनि कहे हुए संपूर्ण अतिचारोंका स्वरूप जानता है ऐसा समझकर व्रतश्रद्धासे प्रायश्चित्त लेना यह आगमनिषिद्ध दशवा तत्सेवी नामका दोष है.

उत्तरा गथा—

जह कोइ लोहिदकयं वत्थं धोवेज्ज लोहिदेणेव ।।

ण य तं होदि विसुद्धं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ६०४ ॥

उत्तो दोषः सदोषस्य सदोषेण न नाशयते ॥

रक्तरक्तं कुतो वस्त्रं रक्तेनैव विशोध्यते ॥ ६२९ ॥

विजयोदया—जह कोइ लोहिदकय करोति क्रियासामान्यवाची इह लेपे वर्तते तेनायमर्थः—यथा कश्चिच्छो-  
दितेन लिप्त वस्त्र । धोवेज्ज प्रक्षालयेत् । लोहिदेणेव लोहितेनैव । ण य तं होदि विसुद्धं नैतद्वदति विसुद्ध । तधिमा  
सल्लुद्धरणसोधी आलोचनाशुद्धिः दोष न निरस्यति । तद्विलक्षण वस्तु यथा निर्मलजल पंक वस्त्रस्य न तु लोहितेन लिप्तं

वर्षं शोधयति तथाभूतमेव लोहितं । पृथ्वीमतीचाराशुद्धिं अशुद्धरत्नत्रयोदेशप्रवृत्तेः अशुद्धयालोचनया न निराक्रियते इति साधर्म्यनियोजना ॥

मूलारा—लोहितवर्णं रुधिरणालिप्तं । करोतेः क्रियासामान्यवाचित्वेन लेपनेऽपि दृश्यविरोधित्वात् । तद्विषया स्वयं दृष्टेनान्यस्य दृष्टेर्निराकर्तुमशक्यत्वादिति सामर्थ्यम् ।

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य रक्तसे भरा हुआ वृक्ष रक्तसे ही धीन लगाया तो वह कभी विशुद्ध नहीं होगा अशुद्धही रहेगा वैसा यह आलोचना दोष है, अर्थात् यह दोष अतिचारोंसे आत्माको विशुद्ध नहीं बना सकेगा रक्तसे उलटा पदार्थ पानी है, वह स्वयं स्वच्छ है अतः रक्तसे भरे वृक्षको वह स्वच्छ करता है, अथवा वृक्षको लगा हुआ कीचड़ धो डालता है परंतु रक्त रक्तसे लिप्त हुए वृक्षको कभी भी शुद्ध नहीं कर सकेगा, उसी तरह अशुद्ध रत्नत्रयवाला पार्श्वस्थ मुनि अशुद्ध रत्नत्रयवाले मुनिके अतिचारोंका निराकरण करनेमें समर्थ होता नहीं।

पवयणणिहवयाणं जह दुक्कडपावयं करेताणं ॥

सिद्धिगममइदूरं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ६०५ ॥

जिनेशवाक्यप्रतिकूलचिन्ता यथा विमुक्तिं दवयंति पूताम् ॥

तथा विशुद्धिं कुधियो वदंतो दोषाकुलानां निजदूषणानि ॥ ६३० ॥

इति तत्समः ॥

विजयोदया—पवयणणिहवयाणं जिनेप्रणीतवचननिहवकारिणां । दुक्कडपावयं करेताणं दुष्करपापकारिणां । जह सिद्धिगममइदूरं यथा सिद्धगमनमतिदुर्करं । तस्सेवी गदं ॥

मूलारा—पवयणणिहोदाणं आगमापन्द्हेतुणा । अदिदूरं अतिविग्रहं । अभव्यापेक्षया अनतकलेनाप्यसंभवि ।

अर्थ—जो मुनि जिनेश्वरके कहें हुए आगमके वचनोंका लोप करते हैं और दुष्कर पाप करते हैं उनको मोक्ष की प्राप्ति जैसी अनंतकाल व्यतीत होनेपर भी होती नहीं वैसे जो शल्यसहित आलोचना करते हैं उनको मोक्षप्राप्ति अत्यंत दूर है।

सो दस वि तदो दोसे भयमायामोसमाणलज्जाओ ॥

णिज्जूहिय संसुद्धो करेदि आलोयणं विधिणा ॥ ६०६ ॥

हिन्ना दोषान्दशापीति त्यक्तमायामदादिकः ॥

स विनीतमनाः सुखेरालोचयति यत्नतः ॥ ६३१ ॥

विजयोदया—सो क्षपक । तदो तत. आलोचनया दुष्टया शुद्धेरभावात् । दोसे णिज्जूहिय दोषास्त्यक्त्वा । दस वि दशापि । भयमायामोसमाणलज्जाओ भयमाया मनोगता मृगा वचनगता, मानं लज्जा च त्यक्त्वा सशुद्धो सम्प्रक्-  
शुद्ध । विधिना आलोयण करेदि । विधिना आलोचना करोति ॥

एवमालोचनाया दश दोषान्याख्याय तत्त्यागं प्रकृते योजयन्नाह—

मूलारा—सो निर्यापकाचार्यपदमूलोपाश्रितः क्षपक\* । तदो दुष्टालोचनाशुद्धयसामर्थ्यात् माया मनोवचना  
मोसं वाग्वचना, । णिज्जूहिय दोषान् भयादांश्च त्यक्त्वा ॥

अर्थ—इस लिये क्षपकमुनि आलोचनाके दस दोषोंका भी त्याग कर आलोचना करे. क्यों कि दूषित  
आलोचना आत्माको शुद्ध करनेमें असमर्थ है. भय, माया कण्ट, असत्य भाषण, गर्व, और लज्जा इत्यादि भी  
त्याग कर शास्त्रोक्त विधीसे आलोचना करना क्षपका कर्तव्य है.

कोऽसावालोचनाविधित्याशङ्क्याह—

णट्टचलवलयिगिहिभासमूगददुरसरं च मोत्तूण ॥

आलोचेदि विणीदो सम्मं गुरुणो अहिमुहत्थो ॥ ६०७ ॥

गृहस्थवचनं सुक्वामौनं च कारनर्तनम् ॥

सुम्यक्सुस्पष्टया वाचा वक्ति दोषान्गुरोःपुरः ॥ ६३२ ॥

विजयोदया—णट्टचलवलयिगिहिभासमूगददुरसरं च हस्तनर्तनं, मूकसेपं, चलनं गायत्र्य, चलितां, गृहस्थवचनं,  
सुक्वामौनं, प्रथरस्वरं च सुक्त्वा आलोचेदि कथयति । विणीदो कृताजलिपुटोऽघनतशिरस्कः । अद्वन्द्वं अनुते । अवि-  
लिङ्गितं । इति । गुरुणो अहिमुहत्थो गुरोर्गमिषुखः ॥

मूलारो—<sup>१</sup>पङ्क्तं हस्तनर्तनं । खल भूक्षेपं वेदकर्म च । बलिद गात्रमोदृतं । मृग मूकवल्गुशर्करणं । दधुर्दसरं धर्धरस्वरं । उभैःस्वरं धरा । विणीयो कृताञ्जलिपुटोऽनतशिरस्को हस्तमात्रत्यकगुरुभूमिविश्रम । अहिमुहयो गुरोर्वामपाश्र्वाश्रयेण अभिमुखं गवोर्सेनेनोपविष्टः । इत्थं च—

मूकसंभ्रागवलने भूक्षेपं हस्तनर्तनं । गुहिणां धवनं चैवं तथा शब्दं च धर्धरं ॥ १ ॥ विमुक्त्याभिमुखं शिल्पां गुरुणा गुणधारिणां ॥ स्वापराधं समाचष्टे विनयेन समन्वितः ॥ २ ॥

अर्थ—<sup>२</sup>हाथौका अभिनय करनी, भौहोको ऊपर उठाना, शरीर हिलाना, शरीरको मूडना, गृहस्थके समान उद्धत भार्पण करनी, गुंगेके समान संज्ञा करनी, घर्धर स्वरसे बोलनी, इत्यादि दोषोका त्याग कर आलोचना करनी चाहिये. अथोत् नम्रता पूर्वक हाथ जोडना, मस्तक नम्र करना, अति शीघ्र अथवा अतिविलम्बका त्याग कर गुरुके तरफ अपना मुह करके आलोचना करनी चाहिये. एक हाथके अंतर पर गवांसनसे बैठकर आलोचना करनी चाहिये.

पुढविदगागणपवणे य वीयपत्तेयणंतकाए य ॥

विगातिगचदुपंचिंदियसत्तारंभे अणेयविहे ॥ ६०८ ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचहृपीकांगिविराधने ॥

असूतुतवचस्तेयमैथुनग्रंथसेवने ॥ ६३३ ॥

विजयोदया—पुढविदगागणपवणे य वीयपत्तेयणंतकाए य वीजे प्रत्येककाये वनस्पतौ । विगातिगचदुपचिंदियसत्तारंभे द्वित्रिचतु पचैंदियसत्तविपये चारंभे अणेगविधे अनेकप्रकारे । पृथिव्या मृत्ति-कोपलशर्करासिक्तालवणाश्रकमित्यादिकाया यमन, विलेखनं, दहनं, कुट्टनं इत्यादिकयारम्भ । उदककरकायदयाय तुपारादीना अभ्येदना पान, स्नानप्रवगाहन, तरणं हस्तेन, पादेन, गात्रेण वा मर्दनं इत्यादिकं । अग्नेर्ज्वालं, प्रदीप, उष्मुकं इत्यादिकस्य तेजस उपर्युदकस्य, पापाणस्य, मृत्तिकाया सिकताया वा प्रक्षेपण, पापाणकाष्ठादिभिर्हननं इत्यादिकं । क्षुब्धागडलिकादो वायौ वाति व्यजनेन, तालवृत्तेन, शूर्पेण, चेलादना वा समीरणोत्थापनादिक चाते चाभिगमनं, वीजाना प्रत्येककायाना अनंतकायानां च वृक्षवल्लीगुल्मलतावृणुष्णफलदीना दहनं, छेदनं, मर्दनं, संजनं, मक्षणमित्यादिक । इतीन्द्रियादीना मारण, छेदनं, ताडनं, वधन, रोधनमित्यादिकं ॥

आलोच्य गाथाचतुष्टयेनालोचनाविधिविपर्ययक्रुमुमाह—

सो दस वि तदो दोसे भयमायामोसमाणलज्जाओ ॥

णिज्जूहिय संसुद्धो करेदि आलोयणं विधिणा ॥ ६०६ ॥

हित्वा दोषान्दशापीति त्यक्तमायामदादिकः ॥

स विनीतमनाः स्वैरालोचयति यत्नतः ॥ ६३१ ॥

विजयोदया—सो क्षपकः । तयो तत आलोचनया दुष्टया शुद्धेरभावात् । दोसे णिज्जूहिय दोषास्त्यक्त्वा । दस वि दशापि । भयमायामोसमाणलज्जाओ भयमाया मनोगता सुग वचनगतां, मानं लज्जा च त्यक्त्वा संशुद्धो सम्यक्-शुद्ध । विधिना आलोचण करेदि । विधिना आलोचनां करोति ॥

एवमालोचनया दश दोषान्त्याख्याय तत्प्राप्तं प्रकृते योजयन्नाह —

मूलादा—सो निर्योपकार्यपदमूलोपाश्रितः क्षपकः । तदो दृष्टालोचनाशुद्धयसामर्थ्यात् माया मनोर्वचना मोसं वाग्वचना, णिज्जूहिय दोषान् भयादर्थं त्यक्त्वा ॥

अर्थ—इस लिये क्षपकमुनि आलोचनाके दस दोषोंका भी त्याग कर आलोचना करे. क्यों कि दूषित आलोचना आत्माको शुद्ध करनेमें असमर्थ है. भय, माया कपट, असत्य भाषण, गर्व, और लज्जा इनका भी त्याग कर शान्तिविधीसे आलोचना करना क्षपका कर्तव्य है.

कोऽसावालोचनाविधित्याशक्याह —

णट्टचलवालियगिहिभासमूददुरसरं च मोत्तूण ॥

आलोचेदि विणीदो सम्मं गुरुणो अहिमुहत्थो ॥ ६०७ ॥

गृहस्थवचनं सुक्वामौनं च करनर्तनम् ॥

सम्यक्स्वस्फुष्टया वाचा वक्ति दोषान्गुरोःपुरः ॥ ६३२ ॥

विजयोदया—णट्टचलवालियगिहिभासमूददुरसरं च हस्तनर्तनं, भ्रूक्षेपं, चलनं गात्रस्थ, वलितं, गृहिवचनं, सुक्वत्संवाकरणं, घर्घरस्वरं च सुक्त्वा आलोचेदि कथयति । विणीदो कृताजलिपुटोऽचनतशिरस्कः । अदुबुदं अदुतं । अवि-  
विनिर्तं । स्पष्टं । गुरुणो अहिमुहत्थो गुरोरभिमुखः ॥

और ताड़न किया है इत्यादि रूप आरम्भ में लिखे ॥

तेणिवकराइभत्त महुणमां प्रतिकूलने ॥ २३५ ॥

[illegible]

लोभग्रंथादिना उद्धर्तनं च नाचरति । लिङ्गविक्रानक्रिया-मु-  
जावजीव वद प्रोक्तं अण्द्वयगममभिष्टिदं ॥  
सिण्द्वयति यतो भिक्खु विकट्टणापपायं वि ।  
सुदुमा सात पापानि भिक्खु विकट्टणापपायं वि । तेषांकारादिमत्ते



मूलारा—पुढवि पृथिवीकायिकाः । अगणि तेजःकायिकाः पवयणे वातकायिकाः । चीज वीजभूता वनस्पति-कायिकाः । एवं पतेयं प्रत्येकांगाः । गंतकाये अन्तकायिकाः साधारणगाः । विनेत्यादि द्वित्रिचतुःपंचद्वित्रियसत्वानामारम्भे विराधने । एतद्व्यव्यादिभिरपि योज्य । अणयविधे अनेकप्रकारे । तथा हि—पृथिव्या मृत्तिकोपलशर्करासिकतालवणव-आदिकायाः खननविलेखनदहनकुट्टनमंजनादिक आरंभः । उदककरकावश्यायतुपारादीनामम्भेदानां पानस्तनानावगाहन तरणहस्तादिमर्दनादिकः । अग्निज्वालाप्रदीपोत्सुकादिकस्य तेजसः उपर्युदकपापणमृत्तिकासिकतादिप्रक्षेपणपापण काष्ठादिहननादिकः । शंखामंडलिकादिवातस्य कपाटछन्नादिना प्रतिबंधः । व्यजनादिना वा तस्य करणं वातेवाभि-गमनभित्पादिको वायुभेदाना । दृक्खवल्लीलतागुल्मवृणपुष्पफलादीना दहनछेदनताडनबंधरोधनादिकः ।

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा, वीज, अन्तर्कायिक वनस्पति, प्रत्येककाय वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इन प्राणिओंका वध यदि मेरेसे हुआ होगा तो मैं उस की आलोचना करता हूँ।

पृथिवीके अनेक प्रकार हैं जैसे—मृत्तिका, पापण, शर्करा, वालुका, नमक, अन्नक वगैरह पृथ्वीके भेद हैं। इत्यादिरूप पृथ्वीको खोदना, हलसे विदारण करना, जलाना, फोडना, मोडना इत्यादिरूप से मैंने उनका नाश किया होगा।

पानीके भी बहुत भेद हैं जैसे—पानी, वर्षा, ओस, हिमविंदु वगैरह पानीके भेद हैं इनका पान करना, स्नान करना, उसमें कूदकर स्नान करना, तीरना, हाथ, पांव, और शरीरसे मर्दन करना इत्यादिरूपसे मैंने उनका नाश किया है।

अग्निके ज्वाला, दीपक, उल्युक इत्यादि भेद हैं। इनके ऊपर मैंने पापण, मृत्तिका अथवा वालुका फेंक कर इनका नाश किया होगा। पापण और लकड़ी से उसको पीटा होगा। इत्यादिरूप आरंभ मैंने किया होगा वायुके शंखावात, मंडलिक एसं भेद हैं। जलवृष्टि सहित जो वायु वहती है उसको शंखावात कहते हैं। जो वर्तुलाकार भ्रमण करती है उसको मंडलिक वायु कहते हैं इस प्रकार वहनेवाले वायु को मैंने पखसे, स्रपसे और वक्रसे रोका होगा, उसको उत्पन्न किया होगा, वातके सम्मुख गमन किया होगा

वनस्पती—वीज, अन्तर्कायिक, प्रत्येककायिक ब्रूक्ष, वल्ली, छोटे छोटे पेड़ोंका समूह, लता, वृण, पुष्प, फल

वगैरह वनस्पति के भेद हैं. इनको मैंने जलाया है, तोड़ा है, छेदन किया है, मर्दन मोडना खाना वगैरहसे इनका मैंने आरंभ किया है,

द्वौद्रिय, त्रौद्रिय, चतुर्द्रिय, पंचेद्रिय इन प्राणिओंका मैंने छेदन किया है. उनको बांधा है रोका है और ताडन किया है इत्यादि रूप आरम्भ मैंने किये हैं

पिंडोवाधिसेज्जाए गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगे ॥

तेणिवकराइभत्ते मेहूणपरिगहे मोसे ॥ ६०९ ॥

दर्शनज्ञानचारित्तपसां प्रतिकूलने ॥

उद्गमोत्पादनाहारदूणानां निषेवणे ॥ ६३४ ॥

विजयोदया - पिंडोवाधिसेज्जाए पिंडे, उपकरणे, वस्तुतः च उद्गमोत्पादनैपणादानातिचारः । गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगे । गृहस्थानां भाजनेषु कुम्भकरकशरावादिषु कस्यचिन्निषेपणं, तैर्वा कस्यचिदादान चारित्रातिचारः । दुःप्रतिलेख्यत्वाच्छोषयितुमशक्यत्वाच्च पीठिकायामासद्या, खदवायां, मंचे वा आसन निषद्योच्यते । पीठिकादिष्वनेकच्छिद्राकुलास्तु दुःप्रेक्ष्या प्राणिनो दृष्टाद्व नापकतुं शक्यते । ततोऽहिंसाव्रतातिचारः । तथा चोक्तं - पीठिकासदृशं संवयां सारथे तथा । अणाचरिदमज्जाण आसिदु सइदं पि वा । गमीत्वासिणो पाणा दुल्लेक्खा दुल्लिकिचणा ॥ तम्हा दुप्यडिं लेहं च वज्जप पढयव्याप ॥

उपवेशन अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु निपया कस्तत्र दोष इति चेत् ग्रहचर्यस्य विनाशः स्त्रीभिः सह संवासात् । असक्तचरीयकुचतटाविवाधरादिसमवलोकनः प्रोजनार्थिनां च विघ्नः । कथमिव यतिसमीपे भुञ्जिभिया संपादयाम् । अशुचि वेदं चेतकयमस्यामासद्या तु तावद्दमी इति क्रुध्यन्ति वा गृहस्था । किमर्थमयमत्र दाराणां मध्ये निपण्णो यति भुक्ते न यातीति । स्नानमुद्धर्तनं, गात्रप्रक्षालनं च वाकुसमित्युच्यते । स्नानेन उष्णोदकेन शीतजलेन सौवीरिकादिना वा विलेष्टा घात्रीभृद्विवरस्थाः इतरेऽपि स्वशकायाः कुशुपिपीलिकादयो वा नश्यति । तथा चोक्तं -

सुदुमा संति पाणा खु पासेसु अ विलेसु अ ।

सिण्हायति यतो भिक्खु विक्कुणोपपीडण ॥

ण-सिण्हायंतो तम्हा से सीसुसण्णोदगेण वि ।

जावजीव धंदं घोरं अण्हाणगमधिद्धिदं ॥

लोभग्रंथादिना उद्धर्तनं च नाचरति । लिंगविकाराशनक्रिया तु तात्स्थयाल्लिगशब्देनोच्यते । तेणिक्कारादिभत्ते

अदत्तादानं रात्रिभोजनं च । अदत्तादाने ह्येते तत्स्वामिनः प्राणपंहार एव कृतो भवति । बहिर्द्वाराः प्राणा धनानि प्राण-  
भृता राजानो दृढयन्तीह । रात्रौ च भोजनं अनेकासयममूलं । रात्रौ भ्रमणे पङ्जीवनिकायवाधा । अयोग्यस्य प्रत्या-  
ख्यातस्य च भोजनं । दातृपरीक्षासम्भवः । करस्य, भाजनोच्छिद्यनिपतनदेशस्य, दायिकागमनमार्गस्य तस्यात्मनश्चाव-  
स्थानदेशस्य अपरीक्षा । भेदणपरिग्रहे चैव मैथुनं परिग्रहश्चैव । मोसे मृग्य च ॥

मूलारा — पिबोवधिसञ्जाए आहारे उपकरणे वसंतौ वोद्वमादित्तिचारः । गिहिसन्ता गृहिणाममेवेषु भाज-  
नेषु कुम्भकरशरावादिषु कस्यचिज्जलभस्मादिद्रव्यस्य निक्षेपणं तैर्वा कस्यचिदादानं चारित्रातिचारः तेषां दुष्प्रतिले-  
खत्वात् शोधयितुमशक्यत्वाच्च । निसेज्ज निषया पीठिकार्या असंघा खट्टाया मंचके वा आसनमित्यर्थः । तेषु हि अनके-  
छिद्राकुलेषु प्राणिनो दुर्निरीक्ष्या दृष्टा वा नापनेतुं शक्येरन् । ततोऽहिंसाव्रतातिचाराः । अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु  
प्रवेशनं निषया । तत्र हि ब्रह्मचर्यस्य विनाशः, स्त्रीभिः सह संवासात् । भोजनार्थिना भुञ्जिक्रियात्तर्यिकरणादुद्वेगः क्रोधा-  
दिसंक्लेशः स्यात् । बाहुसे स्नानमुद्वर्त्तनं गात्रप्रक्षालनं च बाहुसमित्यभिधीयते तैर्हि भूमिर्भ्रादित्याः स्वदेहस्थारच  
प्राणिनो विनश्यति । छिन्ने लिंगविकासविक्रिया तात्पर्याह्निगशब्देनोच्यते । तेणिकक चौर्य । रादिभक्ते रात्रिभोजने तद्धेतो-  
कासंयममूलं पङ्जीवनिकायवधात् । तत्कारिणा चायोग्यस्य प्रत्याख्यातस्य च भोजनं दातुः पात्रादिस्थापनप्रदेशदायका  
गमनमार्गस्वावस्थानदेशानां वाऽपरीक्षा ।

अर्थ — पिंड-आहार, उपकरण और वसतििका इनका स्वीकार करते समय मेरेसे उद्गम, उत्पादन एषणां  
वगैरह दोष उत्पन्न हुए होंगे।

गृहस्थोंके भाजन अर्थात् कुम्भ, घडा, करक-कमंडलु, शराव वगैरे पात्रोंसे किसी पात्रमें कोई पदार्थ  
रक्खे होंगे अथवा किसीको दिये होंगे ये सब चारित्रातिचार है. क्यो कि ये पदार्थ अंदरसे स्वच्छ करना कठिन है,  
छोटी चौकी, चेत्रासन, खाट, पलंग इनके ऊपर बैठना इसको निषया करते हैं

चौकी वगैरह पदार्थोंमें अनेक छिद्र रहते हैं ओर उसमें जो प्राणी रहते हैं वे दीखते भी नहीं. यदि  
दीखे भी तो उनको निकाल नहीं सकते. इसलिए ऐसे चौकी वगैरह पदार्थोंपर बैठनेसे अहिंसाव्रतमें अतिचार उत्प-  
न्न होते हैं. यही अभिप्राय अन्य ग्रंथोंमें भी कहा है—

अथवा आहारके लिये श्रावकके घरमें जाकर वहां बैठना यह भी अयोग्य है. स्त्रियोंके साथ सहवास  
होनेसे ब्रह्मचर्यका नाश होता है. वारंवार स्त्रियोंके स्तन, अधरोष्ठ वगैरह अवयव देखनेसे कामज्वर उत्पन्न होता

विजयोदया—णणे ज्ञाने । दंशणतववीरिए अद्धाया तपसि वीर्यं च योऽतिचारः । मणवयणकायलोनेहि मनो-  
वाक्कायक्रियाभि । मनसा सम्पद्धानस्यावशा, किमनेन ज्ञानेन, तपश्चारित्र्येन फलदाय्यनुष्ठेयमिति । सम्पद्धानस्य वा ।  
संकाक्षादि दर्शनेऽतिचार । मनसा वाचा कायेन वा स्वाक्चिप्रकाशनं, सुखवैवर्ण्येन नैतदेवमिति शिर रूपेण वा । कद-  
विजयोदया—णणे ज्ञाने । दंशणतववीरिए अद्धाया तपसि वीर्यं च योऽतिचारः । मणवयणकायलोनेहि मनो-  
वाक्कायक्रियाभि । मनसा सम्पद्धानस्यावशा, किमनेन ज्ञानेन, तपश्चारित्र्येन फलदाय्यनुष्ठेयमिति । सम्पद्धानस्य वा ।  
संकाक्षादि दर्शनेऽतिचार । मनसा वाचा कायेन वा स्वाक्चिप्रकाशनं, सुखवैवर्ण्येन नैतदेवमिति शिर रूपेण वा । कद-

मूलारा—णणे इत्यादि । सम्पद्धानस्य किमनेन तपश्चारित्र्येनोभिमतफलदाय्यनुष्ठेयमिति मनसावशा, भिव्या-  
ज्ञानमिदमिति वाचा, कायेन च सुखवैवर्ण्येनानुष्ठेयप्रकाशनं । शिरःरूपेण नैतदेवमिति वातिचारः । दर्शनादीना च प्रागु-  
क्ता एव । आदपरपञ्चोक्तकरणे आत्मना परेण वा कृतः कारितोऽनुमतश्च ॥

अर्थ-ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य इनमें मन, वचन और शरीरसे और कृत, कारित, अनुमोदनसे अतिचार  
उत्पन्न हुए हों तो उनकी अलोचना करता हूँ । मनके द्वारा सम्पद्धानकी अवज्ञा करना, सम्पद्धानकी क्या जरू-  
रत है, तप और चारित्रही फलदायक है, उनका ही आश्रय करना चाहिये, अथवा सम्पद्धानको यह भिव्याज्ञान  
है ऐसा दूषण लगाना, मनसे, वचनसे और शरीरसे सम्पद्धानके विषयमें अशुचि प्रगट करना, मुंह मोडकर अथवा  
मस्तक हिलाकर यह सम्पद्धान नहीं है ऐसा प्रगट करना, तपका अतिचार है, अपनी शक्ति छिपाना और  
तपश्चरण करते समय असंयमरूप प्रवृत्ति करना, तपका अतिचार है, स्वयं करना, स्वयं कराना और  
अतिचार है ये अतिचार कृत, कारित और अनुमोदन देना ऐसे तीन प्रकार

अद्धाण रोहणे जणवए य रादो दिवा सिवे उमे ॥  
अनुमोदन देना अथवा परप्रयोग क्रियासे भी करना, कराना, और अनुमोदन देना ऐसे तीन प्रकार

अद्धाण रोहणे जणवए य रादो दिवा सिवे उमे ॥

अनुमोदन देना अथवा परप्रयोग क्रियासे भी करना, कराना, और अनुमोदन देना ऐसे तीन प्रकार

अनुमोदन देना अथवा परप्रयोग क्रियासे भी करना, कराना, और अनुमोदन देना ऐसे तीन प्रकार

अनुमोदन देना अथवा परप्रयोग क्रियासे भी करना, कराना, और अनुमोदन देना ऐसे तीन प्रकार

अनुमोदन देना अथवा परप्रयोग क्रियासे भी करना, कराना, और अनुमोदन देना ऐसे तीन प्रकार

अनुमोदन देना अथवा परप्रयोग क्रियासे भी करना, कराना, और अनुमोदन देना ऐसे तीन प्रकार

अदत्तादानं रात्रिभोजनं च । अक्षुत्तादाने कृते तत्स्वामिनः प्राणपहार एव कृतो भवति । वहिश्चराः प्राणा धनानि प्राण-  
भृता राजानो दृढयन्तीह । रात्रौ च भोजनं अनेकासयममूल । रात्रौ भ्रमेण पट्टजीवनिकायवाधा । अयोग्यस्य प्रत्या-  
ख्यातस्य च भोजनं । दातृपरीक्षासंभवः । कस्य, भाजनोच्छिष्टनिपतनदेशस्य, दधिक्रागमनमार्गस्य तस्यात्मनश्चाव-  
स्थानदेशस्य अपरीक्षा । भट्टणपरिग्रहे चैव मैथुनं परिग्रहश्चैव । मोसे सृष्टा च ॥

मूलाराधना — पिंडोवधिसंज्ञाए आहारे उपकरणे वसंतौ चोद्रमादिरतिचारः । गिहिसत्ता गृहिणाममत्रेषु भाज-  
नेषु कुंभककशरावादिषु कस्यचिज्जलभस्मादिद्रव्यस्य निक्षेपणं तैर्वा कस्यचिदादानं चारित्रातिचारः तेषां दुष्प्रविले-  
खत्वात् शोधयितुमशक्यत्वाच्च । णिसेज्ज निपद्या पीठिकायां अंसया खट्वाया मंचके वा आसनमित्यर्थः । तेषु हि अनेके-  
छिद्राकुलेषु प्राणिनो दुर्निरीक्ष्या दृष्टा वा नापनेतुं शक्येरन् । ततोऽहिंसाव्रतातिचाराः । अथवा गोचरप्रविष्टस्य गृहेषु  
प्रवेशनं निपद्या । तत्र हि ब्रह्मचर्यस्य विन्यासः, स्त्रीभिः सह संवासात् । भोजनार्थिना मुञ्जिक्रियात्तर्यकरणदुद्देशः । क्रोधा-  
दिसंक्लेशः स्यात् । वाकुसे स्नानमुद्रत्तनं गात्रप्रक्षालनं च वाकुसमित्यभिधीयते तैर्हि भूमिरध्रादिस्याः स्वदेहस्थाश्च  
प्राणिनो विनश्यन्ति । लिंगे लिंगविकासविक्रिया तात्पर्याल्लिङ्गशब्देनोच्यते । तेनिकरु चौर्य । राक्षिभेत्ते रात्रिभोजने तद्धयने-  
कांसयममूलं पट्टजीवनिकायवधात् । तत्कारिणा चायोग्यस्य प्रत्याख्यातस्य च भोजनं दातुः पात्रादित्यापनप्रदेशदायका  
गमनमार्गस्वावस्थानदेशानां वाऽपरीक्षा ।

अर्थ—पिंड-आहार, उपकरण और वसतििका इनका स्वीकार करते समय भेरेसे उद्रम, उत्पादन एण्या  
वगैरह दोष उत्पन्न हुए होंगे.

गृहस्थोंके भाजन अर्थात् कुम्भ, घडा, करक-कुम्भलु, शराव वगैरे पात्रोंसे किसी पात्रमें कोई पदार्थ  
रखे होंगे अथवा किसीको दिये होंगे ये सब चारित्रातिचार है. क्यों कि ये पदार्थ अंदरसे स्वच्छ करना कठिन है.  
छोटी चौकी, बेत्तासन, खाट, पलंग इनके ऊपर बैठना इसको निषद्या कहते हैं

चौकी वगैरह पदार्थोंमें अनेक छिद्र रहते हैं और उसमें जो प्राणी रहते हैं वे दीखते भी नहीं. यदि  
दीख भी तो उनको निकाल नहीं सकते. इसलिए ऐसे चौकी वगैरह पदार्थोंपर बैठनेसे अहिंसाव्रतमें अतिचार उत्प-  
न्न होते हैं. यही अभिप्राय अन्य ग्रंथोंमें भी कहा है—

अथवा आहारके लिये श्रावकके घरमें जाकर वहां बैठना यह भी अयोग्य है. स्त्रियोंके साथ सहवाम  
होनेसे त्रासचर्यमा नाश होता है. चारवार स्त्रियोंके स्तन, अधरोष्ठ वगैरह अवयव देखनेसे कामज्वर उत्पन्न होता

सर्वदोषक्षयाकांक्षी संसारश्रमभीलुकः ॥

आलोचयति तं सर्वं क्रमतः पुरतो गुरोः ॥ ६३६ ॥

विजयोद्या—अद्वान रोहणे जनपदे यस्यावस्थिते जनपदे यावन्तो मार्गोस्तेषा रोधके परचक्रे जाते यदि निस्सर्तुं न लभते संक्षिप्टा भिक्षा चर्या तत्र अयोग्यस्य सेवा कृता आत्मना तमपि कथयति । रादो दिवा रात्रौ अयमतिचारो जातो विवसे इति वा कथनं । मार्गो उपद्रुते सधे विधया भ्रमेण वा तन्निपेधनायमयमतिचारो जात इति वा । दुर्भिक्षे वा महति अवमोदर्यभ्रमेण यदात्मना सेवित, अन्ये धाऽयोग्यभिक्षाग्रहणे इत्थं प्रवर्तिता इति वा कथनं । दम्पादिसमावण्णे दर्पादिभिः समापन्नः ॥

मूलारा—अद्वान रोधणे जनपदे । जनपदे देशे । यावन्तोऽध्वानो मार्गोस्तेषा परचक्रे रोधके परचक्रे प्रवृत्ते नि सर्तुमलममानस्य साधोर्या पारवश्येन संक्षिप्टा भिक्षाचर्या संजाता अयोग्यसेवा वा आत्मना कृता तामप्युद्धरतीति संबंध । रादो दिवा रात्रौ दिवा वा योऽतिचारो जातः । आसिवे मार्यामुपदेवे संघस्य विद्यामंत्रादिना तत्प्रतिकारे योऽतिचारः । ऊमे दुर्भिक्षे अयोग्यसेवनादिना योऽतिचारोऽन्यो वा तादृक् । दम्पादिसमावण्णे दर्पादिभिः सामुख्येन आवण्णे प्राप्तस्तं सर्वं उद्धरति गुरोरेवे कथयति । किं कुर्वन् ? कम् अभिदंतो देशकम् कालकम् चानतिक्रामन् ॥

अर्थ—देशमें बाहर जानेके अथवा प्रवेश करनेके जितने मार्ग हैं वे शत्रुसैन्यके द्वारा रोकें जानेपर वहाँसे निकलना अशक्य हो जाता है, उस समय भिक्षा गिलना कठिन हो जानेसे परिणामोंमें संकेश पैदा होता है, कदाचित् ऐसे समयपर अयोग्य पदार्थका सेवन होता है, आलोचनाके समयमें इन सब बातोंका क्षपकको खुलासा करना योग्य है, अशुक्ल अतिचार रातमें हुआ था अशुक्ल अतिचार दिनमें हुआ था यह भी कथन करना चाहिये, मार्गी रोगसे संघ पीडित होने पर त्रिधा और मंत्रके द्वारा उसका निराकरण करते समय जो अतिचार हुआ होगा वह भी कहना चाहिये, यदि महादुष्कालके समयमें अवमोदर्य तपमें अतिचार लगा हो अथवा अयोग्य भक्षण किया हो वह भी निवेदन करना चाहिये इतर सुनिर्णय भी दुष्कालमें अयोग्य सेवन किया होगा तो वह कहना चाहिये दर्प, ग्रामाद वगैरहसे जो अतिचार होते हैं उनका भी कथन करना चाहिये,

दम्पपमादआणामोगआपगा आदुरे य तिचिणिदा ॥

सकिदसहसाकारे य भयपदोसे य मीमंसं ॥ ६३७ ॥

अंणणाणेहगरव अणप्पवसअलस उपधि सुमिणते ॥  
पल्लिकुंचणं ससोधी करोति वीसंतवे भेदे ॥ ६१३ ॥

विजयोदया — इति वर्षादि । अत्र वर्षोऽनेकप्रकारः । कीडासंघर्षः, व्यायामकुट्टकं, रसायनसेवा, हास्यं, गीतशृंगारवचन, प्लवनामित्यादिको वर्षः । प्रमादः पंचविधः । विक्रया, कपया, इद्रियाविपयासक्तता, निद्रा, प्रणयः अस्ति । अथवा प्रमादो नाम सखिलग्रहस्तकर्म, कुशीलानुवृत्तिः, बाह्यशास्त्रशिक्षणं, काव्यकरणं, समितिष्वनुपयुक्तता । छेदनं भेदनं, पेयणमभिघातो, व्यघर्षनं, खननं, वधनं, स्फाटनं, प्रक्षालनं, रंजनं, वेष्टनं, ग्रथनं, पूरणं, समुद्रायकरणं, लेपनं, क्षेपण आलेखनमित्यादिकं सखिलग्रहस्तकर्म, स्त्रीपुरुषलक्षण निमित्तं, ज्योतिर्ज्ञानं, छंदः, अर्थशास्त्रं, वैद्यं, लौकिकवैदिकसमयाश्च ग्राह्यशास्त्राणि । उपयुक्तोऽपि सत्यगतीचारः न वेत्ति सोऽनाभोगकृतः, व्याक्षिप्तचेतसा वा कृतः । नवीपूरः, अग्न्युत्थापनं, महावातापातः, वर्षाभिघातः, परचक्रोघ इत्यादिका आपाताः रोगांतः शोकांतो, वेदनांतं इत्यातता त्रिविधा । रसासक्तता मुहुरता चेति द्विप्रकारता तत्तिष्ठिदां शब्दाव्याख्या । सचित्तं किमचिच्चमिति शक्तिरे ब्रह्मं भंजनमेव न भक्षणदिभिराहारस्योपकरणस्य, वसतेर्वा उदमादिदोषोपहृतिरस्ति न चेति शंकायामप्युपादानं । अशुभस्य मनसो वाचो वा झटिति प्रवृत्तिः सहसेत्युच्यते ॥

एकाताया वसतौ व्यालमृगव्याघ्रादयस्तेना वा प्रविशन्ति इति भयेन द्वारस्थगने जातोऽतिचारस्तीव्रकपय परिणाम प्रदोष इत्युच्यते उदकराज्यादिसमानतया प्रत्येकं चतुर्विंशत्युपाध्वत्वार कपयाः । आत्मनः परस्य वा बललाघवादिपरीक्षा मीमास्ता तत्र जातोऽतिचारः । प्रसारितक्राकुचितम् । आकुचितकप्रसारण । धनुषाद्यारोपणं । उपलब्धु-रक्षेपणं, वाधानं, वृत्तिकटकायुहंघनं, पशुसर्पादीना मत्रपरीक्षणार्थं धारणं, औषधवीर्यपरीक्षणार्थमंजनस्य, चूर्णस्य वा प्रयोगः, द्रव्यसंयोजनया वसानामेकोन्धियाणा च संमूच्छता परीक्षा । आह्वानामाचरण दारुवा स्वयमपि तथा चरति तत्र दोषानिमिष्ठः । अथवाऽह्वा निनोपनीतमुद्रमादिदोषोपहृत उपकरणादिकं सेवते इति अज्ञानाप्रवृत्तोऽतीचारः । शरीरे, उपकरणे, वसतौ, कुले, ग्रामे, नगरे, देशे, वधुषु, पार्श्वस्थेषु वा मेढदंभाव स्नेहस्तेन प्रवर्तित आचारः । मम शरीरमिदं शीतो वातो वाघयति, कटादिभिरतर्धानं, अग्निसेवा, ग्रीष्मातपनोदनायै प्रावरणग्रहण वा, उद्वर्तनं, वा । उपकरणं विनश्यतीति तेन सकार्यकरण यथा पिच्छविनाशभयादग्रमार्जनं इत्यादिकं । प्रक्षुण्णं, तैलादिना कमडव्यादीना प्रक्षालनं वा, वसतिरुणादिभक्षणस्य मज्जनादेर्वा ममतया निवारणं, वह्नुना यतीना प्रवेशनं मदीयं कुल न सहते इति भाषणं, प्रवेशो कोपः, वह्नुना न दातव्यमिति निषेधनं, कुलस्थैव वैयावृत्त्यकरण । निमित्ताद्युपदेशश्च तत्र ममतया ग्रामे नगरे देशे वा अवस्थाना निषेधनं । यतीना सयाधिना सुखेन सुरमात्मनो दुष्टेन दुःखमित्यादिरतिचारः । पार्श्वस्थाना वंदना, उपकरणादिदान वा तदुल्लंघनासमर्थता गुरुता ऋद्धित्यागासहृता, ऋद्धिगौरव, परिचारे कृतादर । परकीयमात्मसात्करोति प्रियवचनेन उपकरणदानेन । अभिमतसरत्यागोऽनभिमतानादरश्च नितया नसगौरवं । निकामभोजने, निकामशयनादौ वा आसक्ति सातगौरवं ।

[illegible][illegible]

उष्ण पानीस, नवम अंश, जमीन के छोटे छोट छोट पालना चाहिये और रात्रि

उष्ण पानीस, नवम अंश न पालना चाहिये और रात्रि

बिलमें रहने वाले प्रजा, श्रमीरपर मुनि नहीं लगाते हैं, न दिया हुआ पदार्थ लगा ही लेना ओंको निषिद्ध माना है मुनियों पदार्थोंका उवटन शरीरपर मुनित्याग करते हैं, वस्तुके मालिकका प्राण भोजन करना लोभ वगैरह सुगंधी पदार्थोंका कहते हैं इसका मुनित्याग मानो उस वस्तुके दंडित करता है, राजा उसको पोद्दोचती है राजा लिंग विकासनक्रियाको लिंग कहते हैं न दी हुई वस्तु लेना राजा उसको नीयोंको बाधा पोद्दोचती नहीं

बिलमें रहने वाले प्रजा, श्रमीरपर मुनि नहीं लगाते हैं, न दिया हुआ पदार्थ लगा ही लेना ओंको निषिद्ध माना है मुनियों पदार्थोंका उवटन शरीरपर मुनित्याग करते हैं, वस्तुके मालिकका प्राण भोजन करना लोभ वगैरह सुगंधी पदार्थोंका कहते हैं इसका मुनित्याग मानो उस वस्तुके दंडित करता है, राजा उसको पोहोचती है राजा लिंग विकासनाक्रियाको लिंग कहते हैं न दी हुई वस्तु लेना राजा उसको नीयोंको बाधा पोहोचती है नीयोंको नहीं

[illegible]

पाणे दंसणतववीरिये य मणवयणकायजोगेहिं ॥  
कदकदिदेणुमोदे आद्रपरपओगकरेण य ॥ ६१० ॥



सर्वदोषक्षयाकांक्षी संसारश्रमभीलुकः ॥

आलोचयति तं सर्वं क्रमतः पुरतो गुरोः ॥ ६३६ ॥

विजयोदया—अद्वाण रोहणे जणवदे यस्यावस्थिते जनपदे यावन्तो मार्गस्तेषा रोधके परचके जाते यदि निस्सुं न लभते संक्लिष्टा भिक्षा चर्या तत्र अयोग्यस्य सेवा कृता आत्मना तमपि कथयति । रादो दिवा रात्रौ अयमतिचारो जातो दिवसे इति वा कथनं । मार्गो उपद्रुते संघे विद्यया मन्त्रेण वा तन्निषेधनायामयमतिचारो जात इति वा । दुर्भिक्षे वा महति अवमोदर्यभक्षेन यदात्मना सेवित, अन्ये वाऽप्योग्यभिक्षाग्रहणे इत्थं प्रवर्तिता इति वा कथनं । दप्पा-दिसमावण्णे दर्पादिभिः समापन्न ॥

मूलारा—अद्वाण रोधणे जणवदे । जनपदे देशे । यावन्तोऽध्वानो मार्गस्तेषा परचक्रे रोधके परचके प्रवृत्ते निःसुर्मलममानस्य साधोर्ग्या पारवश्येन संक्लिष्टा भिक्षाचर्या संजाता अयोग्यसेवा वा आत्मना कृता तामप्युद्धर्तीति संबंध । रादो दिवा रात्रौ दिवा वा योऽतिचारो जातः । आसिधे मार्यामुपद्रवे संघस्य विद्यामंत्रादिना तत्प्रतिकारे योऽतिचारः । ऊमे दुर्भिक्षे अयोग्यसेवनादिना योऽतिचारोऽन्यो वा तादृक् । दप्पादिसमावण्णे दर्पादिभिः सांमुख्येन आवण्णो प्राप्तस्तं सर्वं उद्धरति गुरोस्मै कथयति । किं कुर्वन् ? कर्म अभिर्देतो देशकर्म कालकर्म चानतिक्रामन् ॥

अर्थ—देशमें बाहर जानेके अथवा प्रवेश करनेके जितने मार्ग हैं वे शत्रुसैन्यके द्वारा रोके जानेपर वहांसे निकलना अशक्य हो जाता है. उस समय भिक्षा मिलना कठिन हो जानेसे परिणामोंमें संक्लेश पैदा होता है. कदाचित् ऐसे समयपर अयोग्य पदार्थका सेवन होता है. आलोचनार्थकें समयमें इन सब बातोंका क्षपकको खुलासा करना योग्य है. अमुक अतिचार रातमें हुआ था अमुक अतिचार दिनमें हुआ था यह भी कथन करना चाहिये.

मारी रोगसे संघ पीड़ित होने पर पिद्या और मंत्रके द्वारा उसका निराकरण करते समय जो अतिचार हुआ होगा वह भी कहना चाहिये. यदि महादुष्कालके समयमें अवमोदर्य तपमें अतिचार लगा हो अथवा अयोग्य भक्षण किया हो वह भी निवेदन करना चाहिये इतर स्तुतिओंमें भी दुष्कालमें अयोग्य सेवन किया होगा तो वह कहना चाहिये दर्प, प्रसाद वगैरहसे जो अतिचार होते हैं उनका भी कथन करना चाहिये.

दप्पमपादुआणाभोगआपगा आदुरे य तिच्चिणिदा ॥

सकिदसहसाकारे य भयपदोसे य मीमंसं ॥ ६३७ ॥

अनात्मवशतया प्रवर्तितचिचार । उन्मादेन, पित्तेन पिशाचदेशेन वा पत्वशता । अथवा शक्तिमि परिशुद्धिनस्य यलाकारेण गंधमाल्यादिसेवा प्रत्याख्यातभोजन, मुखवासतावूलादिप्रक्षेपण वा स्त्रीभिर्नपुंसकैर्वा वलादयमकरण । चतुर्षु स्वाध्यायेषु आवश्यकेषु वा आलस्य । उर्वविशब्देन मायौच्यते प्रच्छन्नमनाचारे वृत्तिः । क्षात्वा दातुकुल पूर्वमन्येभ्य प्रवेश । कार्यो पदेशेन यथा परे न जानति तथा वा । भद्रकं भुक्त्वा विरसमशनं मुक्तमिति कथनं । ग्लानस्याचार्यदेवो वैयावृत्यं करिष्यामि इति किञ्चिद्रूढीत्वा स्वयं तस्य सेवनम् । स्वप्ने वाऽप्यारभ्यसेवा सुमिणमित्युच्यते । द्रव्यक्षेत्रबालभावाश्रयेण प्रवृत्तस्य चित्तचिचारस्यान्यथा कथनं पल्लिकुचनशब्देनोच्यते । कथं ? सचित्तसेवां कृत्वा अधिचत्तं सेवितमिति । अधिचत्तं सेवित्वा सचित्तं सेवितमिति वदति । तथा स्वावस्थाने कृतमध्वनि कृतमिति, सुभिक्षे कृतं दुर्भिक्षे कृतमिति, दिवसे कृतं रात्रौ कृतमिति, अकपयतया सपादितं तीव्रक्रोधादिना सपादितमिति । यथावत्कृतलोचनो यतियौवत्सुरि प्रायश्चित्तं प्रयच्छति तावत्स्वयमेवेदं मम प्रायश्चित्तं इति स्वयं शृणुति स स्वयं शोधक । एवं मया स्वशुद्धिरुपैतिति निवेदनं । एवमेतैर्पादिभिः समापन्नोऽतिचार उद्धरति कथयति । कम स्वकृतातिचारकम । आर्भितो अनिराकुर्वन् ॥

दर्पादयो विंशतिरतिचारकारणविकल्पा यथागमं निर्दिश्यन्ते । तथाहि --

मूलारा -- १ तत्र दर्पोऽनेकप्रकारः । क्रीडासंघर्षो व्यायामः, ऊहकं, रसायनसेवा, हास्यं गीतश्रृंगारो, धावनं, प्लवनमित्यादिक । प्रसाद पंचधा विकथा कपायाः इन्द्रियविपयासक्ता, निद्रा, प्रणय इति । अथवा संकिलष्टदृष्टकर्म, कुशीलादु-  
वृत्तिः, सामुद्रिकनिमित्तज्योतिर्पैद्यकछंदोऽर्थशास्त्रवैदिकलौकिकसमयमंत्रवादादिवाङ्मशास्त्रशिक्षणं, काव्यकरणं, समितिष्व, रुपयुक्ता, छेदनं, भेदनं, पेणमभिधातो, व्यधनं, खननं, वधनं, सीवनं, प्रक्षालनं, रंजनं, वेष्टनं, ग्रथनं, पूर्णं, समुदा-  
ग्रकरणं, लेपनं, क्षणं, आलेखनं इत्यादिकोऽनेकप्रकारः प्रसादः । अनाभोग उपयुक्तस्यापि अतिचारणा सम्यगनवबोधः । आपगा आपगापूर्वमस्त्यानां महावातापातवर्षाभिधातपरचक्रकरोधाद्युपसर्गः । आतुरत्वं रोगशोकेनैवेति वात्सेया । तिसि-  
गिदा द्वेधा रसासक्त्वा सुखरता चेति । ७ पिच्छाद्युपयोगिद्रव्ये किमिदं सचित्तमुताचित्तमिति संदेहे सत्यपि तर्जनेभेदत-  
क्षणादिकरणं । पिंडादेर्वा किमत्रोद्गमादिदोषोपहृतिरस्ति न वेति शंकायाम्युपादानं । ८ सहमाक्रोऽशुभस्य मनसो वाचो  
वा क्षतिरिति प्रवृत्तिः ॥ ९ भयं एकताया वसतौ स्तेनव्यालादिरत्र प्रवेक्ष्यतीति द्वारस्थगनम् । १० प्रदोषस्तीव्रसंज्वलनकपा-  
यपरिणामः ॥ ११ मीमासा सस्य परस्य वा वललाघवादिपरीक्षा । अथवा प्रसारितस्य करस्याकुचनं, आकुचितस्य वा  
प्रसारणं, घट्टपाद्यादोषणं, उपलघुत्वेपणविशेषणधावनं, वृत्तिकटकलुषंघनं, पशुसर्पादीनां मत्रपरीक्षणवाधारणं,  
ओषधीर्वीर्यपरीक्षणार्थमंजनस्य वा प्रयोगः । द्रव्यसंयोजनया त्रसानामेकैर्द्रियाणां वा सम्मूर्च्छनपरीक्षा ।

१२ अज्ञाना आचरणदर्शनात्तथाचरणं, अज्ञानिना उपनीतस्य उद्गमविदोषदुष्टस्य उपकरणदेः सेवनं वा ॥ १३

स्नेहो देहोपधिवसतिकुलग्रामनगरदेशवंधुपार्थस्तेषु ममत्वपरिणाम । तेन समेतं शरीर शीतादिना वाध्यते इति कटाद्यंत-  
धानाभिसेवनप्रावरणग्रहणश्रद्धणोद्धततनुपचारोऽतिचार । तथा ममोपकरणं विनश्यति इति भिन्नविनाशभयादप्रमार्जनम् ।  
कमंडलवादीना प्रक्षालनं, तैलादिना वा ग्रहणं, वसतेस्तृणाद्यपसारणं भंजनादिनिवारणं वा । बहूना यतीनां प्रवेशनं म-  
दीयं कुलं न सद्दते इति भाषण वा । प्रवेशे पार्थस्थादीना वंदनोपकरणादिदानं वा । तदुल्लेघनासमर्थना वा ॥ १४ गारुवं  
ऋद्धिरससातासक्तिः । तेन परिवारे लोभात्परकीयस्य प्रियवचनादीना आत्मसात्करणं वा, गंधमात्यतायूलादिसेवनं, अनिष्ट-  
रसत्यागोष्टरसादरौ, यथेष्टभोजनशयनादितत्परत्वं च । १५ अनात्मवशत्वं—उन्मादपित्तप्रकोपपिशाचोवेशादिना पारतंत्र्यं,  
ज्ञातिबलात्कारेण वा गंधमात्यतायूलादिसेवनं, प्रत्याख्यातभोजनं, प्रत्याख्यातभोजनं, रात्रिभोजनं वा । स्त्रीभिर्नपुंसकैर्वा बलान्मैथुनप्रवर्तनं  
वा । १६ आलस्यं स्वाध्यायावश्यकेष्वनुसहः । १७ उपधर्मियाप्रयोग, प्रच्छन्नभोजनाचारे प्रयुक्तिः, प्रदातृद्वं ज्ञात्वा  
अन्येभ्यः पूर्वं तत्र प्रवेश कार्यापदेशेन यथा परे न जानन्ति तथा । भद्रकं भुक्त्वा विरसमशनं भुक्तं इति कथनं ।  
ग्लानस्याचार्यादेवैवावृत्तं करिष्यामीति किंचिद्गृहीत्वा स्वयं तस्य सेवा । १८ स्वप्नातः सुप्तस्यायोग्यसेवनं । १९ पलि-  
कुंचनं द्रव्यादिविपर्ययेणातिचारकयनम् । यथा सचिच्छं सेवित्वा अचिच्छं सेवितमिति वक्ति । स्वावस्थाने कृतं मार्गे  
कृतमिति । सुमिक्षे कृतं दुर्भिक्षे कृतमिति । दिवा कृतं रात्रौ कृतमिति वा । तीव्रक्रोधादिकृतं मंदक्रोधादिकृतमिति वा ।  
२० स्वयंशुद्धिः—अकृतालोचनेन यतिना यावत्सूरि प्रायश्चित्तं ददाति तावदिदं मे प्रायश्चित्तं इति स्वयमेव तद्गृहीत्वा  
एव मया स्वशुद्धिरनुष्ठितेति निवेदनम् । उक्तं च —

एकद्वित्रिचतुःपंचहृषीकामिषिराघेन ॥

असूनुतवचःस्तेयमैथुनमथसेवने ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपसां प्रतिकूलने ॥

उद्रभोत्पादनाहारदूयणाना निषेवणे ॥

दुर्भिक्षे मरके मार्गे नैरिचौरनिरोधने ॥

योऽपराधोऽभक्तश्चिन्मनोवाक्कायकर्मभिः ॥

सर्वदोषक्षयाकाक्षी संसारश्रममीलुक् ॥

आलोचयति तं सर्वं क्रमतः पुरतो गुरोः ॥

अर्थ—दर्पके अनेक प्रकार हैं। क्रीडामें स्पृद्धा, व्यायाम, कपट, रसायनसेवा, हास्य, गीत और शृंगार-वचन, दौडना और कूदना ये दर्पके प्रकार हैं। प्रमादके पांच प्रकार हैं—विकथा, कपाय, इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्ति, निद्रा और स्नेह। अथवा संकिल्ब हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, वाह्यशास्त्र, काव्यकरण, और समिति में उपयोग न देना ऐसे भी प्रमाद के पांच प्रकार हैं।

छेदन करना, भेदन करना, पीमना, आघात करना, चुभना, खोदना, बांधना, फाड़ना, घोना, रंगाना वेष्टन करना, गूंथना, पूर्ण करना, एकत्र करना, लेपन करना, फेरना, चित्र बनाना इत्यादि कार्यको संकिल्ब हस्त कर्म कहते हैं।

स्त्री पुरुषके लक्षणोंका वर्णन करने वाले शास्त्रको निमित्त शास्त्र कहते हैं ज्योतिर्विज्ञान, छंदःशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, वैद्यकशास्त्र, लौकिकशास्त्र, मंत्रवाद इत्यादि शास्त्रोंको वाह्यशास्त्र कहते हैं।

उपयोग देकर भी जिससे अतिचारोंका सम्यग्ज्ञान नहीं होता है उसको अनाभोगकृत अतिचार कहते हैं अथवा मन दूसरे तरफसे लगनेपर जो अतिचार होता है वह भी अनाभोग कृत है।

नदीपूर, अग्नि लगना, महाबायु बहना, वृष्टि होना, शत्रुके सैन्यसे पिरजाना, इत्यादिक कारणों से होनेवाले अतिचारोंको आपात अतिचार कहते हैं।

रोगसे पीडित होना, शोकसे दुःखित होना, वेदनासे व्यथित होना, ऐसे आर्तवाक्यों तीन प्रकार हैं इस से होनेवाले अतिचारोंको आर्तवातिचार कहते हैं।

रसमें आसक्त होना और बहुत बड़बड़ करना इस कार्यको तिचिणदा अतिचार कहते हैं।

शंकित — पिच्छिका वगैरे उपयोगी द्रव्योंमें ये सचित्त हैं या अचित्त हैं ऐसी शंका उत्पन्न होनेपर भी मोहना, फोड़ना, भक्षण करना, आहार और उपकरण और वसतिका ये पदार्थ उद्गमादिदोष रहित हैं अथवा नहीं है ऐसी शंका आनेपर भी उनको स्वीकारना यह शंकितवातिचार है।

सहसा—अशुभवचनमें और अशुभ विचारोंमें वचनकी और मनकी तत्काल अनिचारपूर्वक प्रवृत्ति होना इसको सहसातिचार कहना चाहिये।

भयातिचार—एकान्त स्थानमें वसतिका होनेसे सर्प, दुष्ट पशु, वाघ वगैरह प्राणी प्रवेश करेंगे इस भयसे वसतिकाके द्वार बंद करना

प्रदोष—संजलन कपायोंका तीव्र परिणमन होना अर्थात् उनका तीव्र उदय होना. पानीके ऊपरकी लकीर, थूलिके ऊपरकी लकीर, जमीनके ऊपरकी लकीर, और पत्थर पर उमरी हुई लकीर इन के समान कोधके चार प्रकार हैं. इस प्रकारसे मान, माया, लोभके भी दृष्टांत आन्तरसे समझ लेना चाहिये. इनसे होनेवाले अति-चारों को प्रदोषातिचार कहते हैं.

मीमांसा—अपना बल और दूसरेका बल इसमें कम और ज्यादा क्रिसका है इसकी परीक्षा करना इससे होनेवाले अतिचारको मीमांसातिचार कहते हैं

फैले हुए हाथको समेट लेना, संकुचित हाथको फैलाना धनुषको ढोरी लगाकर सज्ज करना, पत्थर फेंकना, माटीका डेला फेंकना, वाधा देना, मर्यादा-बाडको उल्लंघन, कंठकादिकोंको लांघकर गमन करना पशु, सर्प वगैरह प्राणिओंको मंत्र की परीक्षा करनेके लये पकड़ना, और सामर्थ्यकी परीक्षा करनेके लिये अंजन और चूर्णका प्रयोग करना. द्रव्योंको संयोग कर त्रस और एकैद्रियों की उत्पत्ति होती है या नहीं इसकी परीक्षा करना इन कृत्योंको परीक्षा कहते हैं. ऐसे कृत्य करनेसे त्रतोमें दोष उत्पन्न होते हैं.

अज्ञानातिचार—अज्ञ जीवोंका आचरण देखकर स्वयं भी वैसा आचरण करना, उसमें क्या दोष है इसका ज्ञान न होना, अथवा अज्ञानीके लये, उद्दमादि दोषोंसे सहित ऐसे उपकरणादिकों का सेवन करना ऐसे अज्ञानसे अतिचार उत्पन्न होते हैं.

शरीर, उपकरण, वसतिका, कुल, गांव, नगर देश, वंशु और पाशस्थयुनि इनमें ये मेरे हैं ऐसा भाव उत्पन्न होना इसको स्नेह कहते हैं इससे उत्पन्न हुए दोषोंको स्नेहातिचार कहते हैं यह ठंडी हवा मेरे शरीरको पीडा देती है ऐसा विचारकर चटाईसे उसको ढकना, अग्नीका सेवन करना, ग्रीष्म ऋतुका ताप मिटानेके लिये वस्त्रग्रहण करना, उबटन लगाना, साफ करना, तैलादिकोंसे कमंडलु वगैरह पदार्थ स्वच्छ करना, धोना. उपकरण नष्ट होगा इस भयसे उसको अपने उपयोगमें न लाना, जैसे पिच्छिका झड़ जायगी इस भयसे उससे जमीन, शरीर, पुस्तकादिक साफ न करना इत्यादिक अतिचारोंको उपचारातिचार यह संज्ञा है.

वसतिका का वृण कोई पशु खाता होगा तो उसका निवारण करना, वसतिका भग्न होती हो तो उसका निवारण करना, वहीतसे यति मेरी वसतिका में नहीं उहर सकते हैं ऐसा भाषण करना, बहुत मुनि ग्रवेश करने

लगे तो उनपर क्रुद्ध होना, बहुत यतियों को वसतिका मत दो ऐसा कहना, वसतिका की सेवा करना अथवा अपने कुलके मुनियों की सेवा करना, निमित्तादिकों का उपदेश देना, ममत्वसे ग्राममें, नगरमें अथवा देशमें रहनेका निषेध न करना, अपने संगंधि यतियों के सुखसे अपने को सुखी समझना और उनको दुःख होनेमें अपने को दुःखी समझना. पार्थस्थादि मुनियोंकी वंदना करना, उनको उपकरणादिक देना, उनका उल्लंघन करने में सामर्थ्य न रखना. इत्यादि कृत्योंसे जो दोष होते हैं उनकी आलोचना करनी चाहिये

ऋद्धिका त्याग करनेमें असमर्थ होना, ऋद्धि में गौरव समझना, परिवारमें आदर रखना, प्रियभाषण करके और उपकरण देकर परकीय वस्तु अपने वश करना इसको ऋद्धिगौरव कहते हैं इष्टरसका त्याग न करना, अनिष्ट रसमें अनादर रखना, इसको रसगौरव कहते हैं अतिशय भोजन करना, अतिशय सोना इसको सातगौरव कहते हैं. इन दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये

परके वश होनेसे जो अतिचार होते हैं उनका विवेचन इस प्रकार है—उन्माद, पिच्छ, पिशाच इत्यादि कारणोंसे परवश होनेसे अतिचार होते हैं अथवा ज्ञातिके लोकोंसे पकड़नेपर वलात्कारसे इत्र, पुष्प वगैरहका सेवन किया जाना, त्यागे हुए पदार्थोंका भक्षण करना, रात्रिभोजन करना, सुखको सुगंधित करनेवाला पदार्थ, तांबूल वगैरह भक्षण करना, स्त्री अथवा नपुंसकोंके द्वारा वलात्कारसे ब्रह्मचर्यका विनाश होना, ऐसे कार्य परवशतासे होनेसे अतिचार लगते हैं पृच्छना, अनुप्रेक्षा वगैरह चार प्रकारके स्वाध्याय और अवश्यक क्रियाओंमें अनादर आलस्य करना, इनकी आलोचना करना क्षपकका कर्तव्य है.

अवधि शब्दका अर्थ मागा होता है. गुप्त रीतिसे अनाचारमें प्रवृत्ति करना, दाताने घरका शोश करके अन्य मुनि जानके पूर्वमें वहां आहारार्थ प्रवेश करना, अथवा किसी कार्यके निमित्तसे दूसरे नहीं जानसके इस प्रकारसे प्रवेग करना, मिष्ट पदार्थ खानेको मिलने पर मेरेका विरस अब खानेको मिला ऐसा कहना रोगी मुनिका किंवा आचार्यका वैयावृत्य करनेके लिये श्रावकोंसे कुछ चीज मागकर उसका स्वयं उपयोग करना ऐसे दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये.

स्वप्नमें अयोग्य पदार्थका सेवन होना उसको 'सुमिण' कहते हैं. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे जो अतिचार हुए हो उनका अन्यथा कथन करना उसको 'पल्लुचन' कहते हैं. जैसे सचित्त पदा-

र्थका सेवन करके अचित्तका सवने किया ऐसा कहना. अचित्तका सेवन कर सचित्तका सेवन किया ऐसा कहना. वसतिकामें कोई कृत्य किया हो तो मैंने वह कार्य रास्तेमें किया ऐसा कहना सुभिक्षमें किया हुआ कृत्य दुर्भिक्षमें कियाथा ऐसा बोलना. दिनमें कोई कृत्य करनेपरभी मैंने रातमें अशुकर कार्य किया था ऐसा बोलना. अकपा-यभावसे किये हुए कृत्यको तीव्र परिणामसे किया था ऐसा बोलना इन दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये.

आचार्य के पास आलोचना करने पर आचार्य प्रायश्चित्त देने के पूर्व ही स्वयं यह प्रायश्चित्त मैंने लिया है ऐसा कहकर स्वयं प्रायश्चित्त लेता है उसको स्वयं शोधक कहते हैं. स्वयं मैंने ऐसी शुद्धि की है ऐसा कथन करना. इस रीतीसे दर्पादिके द्वारा अतिचार होते हैं वे सब कहने चाहिये. और अपने किये हुए अतिचारों के क्रमका उल्लंघन नहीं करना चाहिये.

इय पयविभागियाए व ओधियाए व सेछमुद्धरिय ॥

सव्वगुणसोधिकंखी गुरुवएसं समायरइ ॥ ६१४ ॥

स सामान्यविशेषाभ्यामभिधाय स्वदूषणम् ॥

विधत्ते गुरुणा दत्तां विशुद्धिं शुद्धमानसः ॥ ६३७ ॥

विजयोदया—इय एवं । पयविभागियाए व विशेषालोचनया वा । ओधियाए व सामान्यालोचनया वा । सेछ मायाशक्त्य । उद्धरिय उद्धृत्य । सव्वगुणसोधिकंखी सर्वेषां गुणानां दर्शनज्ञानचरित्रतपसा शुद्धिमिलयन् । गुरुवएसं गुरुणोपादिष्टं प्रायश्चित्तं । समादियदि सस्यगादत्ते । रोप दैन्यमश्रद्धानं च त्यज्वा ॥

एवमालोच्य प्रपञ्चनलोचनाविधिमभिधायोपसंहरति—

मूलारा —गुरुवदेसं गुरुपदिष्टं प्रायश्चित्तं । समादियदि सस्यकरोपदैर्न्याश्रद्धानां त्यागेनावृत्ते गुण्हाति । समा चरदीति वा पाठः । तत्र रोपादित्यागेनानुतिष्ठतीत्यर्थः ॥

अर्थ—विशेषालोचना करके अथवा सामान्यालोचना करके मायाशक्त्यको हृदयसे निकालकर दर्शन, ज्ञान-चरित्र और तपश्चरणोंमें शुद्धिकी अभिलाषा रखता हुआ गुरुके द्वारा कहा हुआ प्रायश्चित्त रोप, दीनता और अश्र-द्धानका त्यागकर क्षपक ग्रहण करता है.

आलोचनाके दोषोंका यहाँतक वर्णन किया अब गुरुके आगे आलोचना करते समय स्वतः की निंदा करनी चाहिये.

परिहार्यलोचनादोषानुक्त्वा गुरुसकाशे आलोचनानिन्दना गुणवतीति वदति—

कदपावो वि मणुस्सो आलोयणणिंदओ गुरुसयासे ॥

होदि अचिरेण लहुओ उरुहियमारोव्व भारवहो ॥ ६१५ ॥

मनुष्यः कृतपापोंपि कृतालोचननिन्दनः ॥

संपद्यते लघुः सद्यो विभारो भारवानिव ॥ ६३८ ॥

विजयोदया—कदपावो वि मणुस्सो कृतपापोंपि मनुष्यः समर्जिताश्रमकर्मसंचयोऽपि मनुष्यः । अथवा पापस्याश्रमकर्मणः कारणभूताऽसंयमादिरिद्ध पापशब्देनोच्यते, तेनायमर्थः—कदपावोऽपि कृतासंयमादिकोऽपि । आलोयणणिंदओ कृतालोचनः कृतनिन्दितश्च । कः गुरुसयासे गुरुसमीपे । होदि भवति । अचिरेण लहुओ उरुहियमारोव्व अंतर्गतरितभार इव । भारवहो भारस्य बोझा ॥

यवं दोषानुक्त्वा गुणान्वक्तुमालोचनानिन्दामाहात्म्यमाह—

मूलारा—आलोयणिंदओ कृतालोचनः कृतनिन्दनश्च । लहुगो दोपशुद्धः । एतेन गुणा निरूपिता दोषविपर्य-

यरूपत्वात्तेषां । उरुहिंदमारोव्व अवतारितभार इव ।

निंदाकां माहत्म्य आचार्य कहते हैं—

अर्थ—अश्रमकर्मका संचय जिसने किया है ऐसा भी मनुष्य यदि गुरु के समीप आलोचना और अपनी निंदा करेगा तो वहीत बोझा मस्तकपरसे उतर जानेपर भारवाही मनुष्य जैसा सुखी होता है वैसा शीघ्र सुखी होता है. अथवा पापके अश्रमकर्मके कारणभूत असंयमादिक को भी पाप कहते हैं इसलिये यहाँ दुसरा अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—जिसने असंयमाचरण किया है वह भी मनुष्य गुरुके समीप जाकर दोषोंकी आलोचना और निंदा करेगा तो भारवाही मनुष्य भार उतरनेसे जैसा सुखी होता है वैसा सुखी होता है.



भावशुद्ध्यर्थो आलोचना असत्यां भावशुद्धौ को वा दोष इत्याह—

सुबहुसुदा वि संता जे मूढा सीलसंजमगुणेषु ॥

ण उवेंति भावसुद्धिं ते दुक्खणिहेलणा होति ॥ ६१६ ॥

भावशुद्धिं न कुर्वन्ति भवन्तोऽपि बहुश्रुताः ॥

चतुरंगे विमूढा ये दुःखपीडया भवन्ति ते ॥ ६१९ ॥

विजयोदया—सुबहुसुदा वि संता सुखु बहुश्रुता अपि सन्त । जे मूढा ये मूढा । सीलसंजमगुणेषु शीले क्षमादिके धर्म, सयमे, व्रतेषु गुणेषु ज्ञानदर्शनतपःसु च । भावसुद्धिं परिणामेन शुद्धि । ण उवेंति नोपयाति ते दुक्खणिहेलणा-दुःखैर्निर्णीड्या । होति भवति ॥

भावशुद्ध्यभावे दोषमाह—

मूलारा—सता संतः । मूढा मुग्धाः । सीलं वचयस्समादि गुणाः ज्ञानदर्शनतपसि । ण उवेंति नोपयाति । भावसुद्धिं भावशुद्धिं । दुक्खनिमेलणा दुःखैर्निर्णीड्या । दुक्खणिहेलणा इति पाठे दुःखगुहाः इत्यर्थः ।

परिणामोऽपि निर्मलता करनेके लिये आलोचना की जाती है यदि भावशुद्धिकी प्राप्ति न हो तो उससे क्या सुकसान होता है यह दिखाते हैं—

अर्थ—जो मुनि महाविद्वान होकर भी क्षमादिकधर्म, संयम, व्रत, ज्ञान, दर्शन और तपमें यदि भावशुद्धियुक्त नहीं होते हैं वे इस संसारमें नाना दुःखोंसे पीडित होते हैं.

कृत्यामालोचनाया गुरुणा किं कर्तव्यमित्यत आह—

आलोयणं सुणित्ता तिवसुत्तो भिक्खुणो उवायेण ॥

जदि उज्जुगोत्ति णिज्जइ जहाकदं पठ्वेदव्वं ॥ ६१७ ॥

त्रिःकृत्वालोचनां शुद्धां भिक्षोर्विज्ञाय तत्त्वतः ॥

स मध्यस्थो रहस्यज्ञो दत्ते शुद्धिं यथोचिताम् ॥ ६१८ ॥

विजयोदया—आलोयण आलोचना । सुणित्ता श्रुत्वा । तिवसुत्ता त्रि. पृथक् । भिक्खुणो भिक्षोः । उवायेण

उपायेन । जदि उज्जुगोत्ति य यदि ऋजुरयमिति । गज्जइ वचनेन आचरणेन वा ज्ञायते प्रायेण ऋजुता । यथा अनुजोर्भाव-  
शुद्धयभावान्न व्यवहारिण प्रायश्चित्तं प्रयच्छति सुरय । भावशुद्धिमतेरेण पापानपायात् रत्नत्रयस्य निरतिचारत्वा  
भावात् ॥

कृताश्रमालोचनाया गुरुणा किं कर्तव्यमित्यत आह—

मूलरा—तिक्खुत्तं त्रीन्वारान् । उवाण्ण मन, प्रल्हाय । अथवा कीन्शोऽपरावस्ते विस्सतो न श्रुतं  
मयेति वा । उज्जुगोत्ति ऋजुरयमिति । गज्जइ ज्ञायते वचनेन आचरणेन वा । जघाकठ यथाकृतं । पापं शुद्धयती-  
त्यव्याहारः । पठुवेदव्वं तथा प्रायश्चित्तं वातव्यम् ॥

आलोचना करनेके अनंतर गुरुको क्या करना योग्य है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—संपूर्ण आलोचना सुनकर गुरु क्षपकको तीन बार उपायसे पूछते हैं अर्थात् तुमने कौनसे अपराध  
किये हैं ध्यानमें नहीं रहे हैं पुनः कहो ऐसा तीन बार पूछते हैं यदि यह क्षपक सरल परिणामका है ऐसा गुरुके  
अनुभवमें आज्ञाय अर्थात् क्षपकके आचरणसे और उसके वचनसे गुरु उसका निष्कपटपना अथवा कपटीपना जान  
लेते हैं, यदि यह क्षपक कपटी है ऐसा दीख पड़ेगा तो वे उसको प्रायश्चित्त नहीं देते हैं, परिणामकी निर्मलता न  
होनेसे पापका नाश होता नहीं, और रत्नत्रयमें निरतिचारपना आता नहीं.

ऋज्वी इतरा वा आलोचना कीदृशी यस्यां सत्या प्रायश्चित्तं दीयते न च दीयते इत्यत्र आह—

आदुरसल्ले मोसे मालागराय कज्ज तिक्खुत्तो ॥

आलोयणाए वकाए उज्जुगाए य आहरणे ॥ ६१८ ॥

राजकार्यतुरासत्यसशल्यानमिव त्रिधा ॥

दोषाणां पृच्छना कार्या सूरिणागमवेदिना ॥ ६१९ ॥

विजयोदया—आदुरसल्ले आतुरो व्याधितः स वैद्येन वारत्रयं पृच्छयते । किं मुक्त ? किमाचरति ? कीदृशी वा  
रोगस्य वृत्तिरिति । शल्यमपि शरीरलग्नं त्रि, परीक्ष्यते । शुद्धता व्रणस्य ज्ञाता न वेति । राजकज्जं तिक्खुत्तो राज्ञा-  
आक्षतं कार्यं किमेवं करिष्यामीति त्रि पृच्छयते । आलोय राजकज्जं तिक्खुत्तो राज्ञा आक्षतं कार्यं किमेवं करिष्यामीति त्रि,  
पृच्छयते । आलोयणाए वकाए य काया । उज्जुगाए ऋज्वयद्वच । आहरणे दृष्टान्तः । यदि वारत्रयमप्येकत्रयेण वक्ति ततो  
ऋज्वी अन्यथा अन्यदाद्ये वक्तेति ग्राह्यं ॥

व्याधितः शल्यं मोपो मालाकारो राजकार्यं चैतानि पंच यथा त्रिःपृच्छयन्ते तथा आलोचनापि ऋज्वी वक्रा चेति ज्ञातुं त्रिःप्रष्टव्या । यदि चारत्रयमप्येकरूपेण वक्ति तदा ऋज्वी प्रायश्चित्तदानार्हा अन्यथा वक्रा प्रायश्चित्त दानायोग्येत्युपदेष्टुमाह —

मूलारा—आदुरेत्यादि । त्रिक्लुप्तो ग्रीन्वारान् । प्रष्टव्याथमालोचनायामातुरादय पंच आहरणे दृष्टान्ता भवन्ति इति संबन्धः । तत्रातुरः त्रिः पृच्छयते वैद्येन किं मुक्तं कीदृशी च रोगप्रवृत्तिरिति । तथा शल्यं त्रिः पृच्छयते अत्र ते कंदकादिरिति । तथा मोपो द्रव्यापहारे किं ते चैरैर्नैतिमिति त्रिः प्रश्नः क्रियते । तथा मालाकारोऽपि त्रिः पृच्छयते । किन्मूल्येन तव पुष्पमालेति । तथा राज्ञा आज्ञापितं कार्यं त्रिः पृच्छयते, किमेवं करिष्यामीति । एवमालोचनापि त्रिः परीक्ष्यते कीदृशोऽपराधस्ते पुनः कथयेति ।

सरल आलोचना अथवा वक्र आलोचना कैसी समझना ? जिसके ऊपर प्रायश्चित्त देना न देना अवलंबित है ? इस प्रश्नपर आचार्य उत्तर देते हैं

अर्थ—रोगीको वैद्य तीन बार पूछते हैं—तुमने क्या खाया है ? तुम कैसी प्रवृत्ति करते थे ? और तुझारे रोगका क्या हाल है ? शरीरमें यदि शत्रु अथवा कांटिका अग्रभाग घुसनेपर यहां ही कांटा घुस गया है ना ? अब व्रण अच्छा हुआ है ना ? ऐसा तीन बार पूछते हैं, किसीके यहां चोरी होगई हो तो तुझारा चोर क्या क्या माल छुटकर ले गये हैं ऐसे तीन बार पूछते हैं, मालाकारको भी तुझारी इस पुष्पमालाकी क्या कीमत है ? इस प्रकार तीन बार पूछते हैं, राजकार्यके लिए भी ऐसा ही तीन बार पूछते हैं अर्थात् यह कार्य मैं कहां क्या ? उसी प्रकार आलोचना वक्रतासे या सरलपनासे की गई है इसको जाननेके लिये तुझारे अपराध कैसे है पुनः कहो ऐसा तीन बार भी उसने एकरूपसे ही अपराधोंका कथन किया तो समझना चाहिये कि इसकी आलोचना सरल है यदि वह भिन्न प्रकारसे कहेगा तो इसकी आलोचनामें मायाचार है ऐसा समझना चाहिये

पडिसेवणातिचारे जदि णो जंपदि जधाकमं सब्बे ॥

ण करेति तदो सुद्धिं आगमववहारिणो तरस ॥ ६१९ ॥

दोषाश्च प्राञ्जलीभूय भाषते ययशेषतः ॥

न कुर्वन्ति तदा शुद्धिं प्रायश्चित्तविचक्षणः ॥ ६४२ ॥

विजयोदया—पंडितसेवणातिचारे प्रतिसेवनानिमित्तानतीचारान् । तत्र सेवा चतुर्विधा द्रव्यक्षेत्रकालभावविकलेन । द्रव्यसेवा वि प्रकारा सचित्तमचित्त मिश्रमिति द्रव्यस्य त्रिविधत्वात् । चित्त ज्ञानं तथा च प्रयोग -चित्तमाश्रजगत्तत्त्व ज्ञानमात्रमिति यावत् । ध्यानस्यात्मनः कथंचिदव्यतिरेकात्तात्पर्याद्वा चित्तशब्देनाभिधानं, सह चित्तनात्मनावर्तते इति सचित्त जीवशरीरत्वेनावस्थित पुद्गलद्रव्य । न विद्यते चित्त आत्मा यस्मिन्पुद्गले तदचित्त मिश्र । नाम सचित्तचित्तपुद्गलसङ्घति । पृथिव्यसेजोवायुवनस्पतय जीवपरितृहीता सचित्तशब्देनोच्यते । अचित्त जीविन परित्यक्तं शरीरं तयोरुपादान क्षेत्रादिप्रतिसेवना योज्या । जदि गो जपदि न कथयेद्यदि । जह्वाक्रमं यथाक्रम । सब्दे सर्वान् स्थूलान्क्षुक्ष्माश्चैवातिचारान् । ण करति न कुर्वन्ति । तद्यो ततः । तस्म सोधि तस्य शुद्धिं । आगमववहारिणो आगमादुत्तारेण व्यवहरतः ॥

एतथ दु उज्जुगभावा ववहरिद्ववा भवंति ते पुरिसा ॥

संका परिहरिद्ववा सो से पढाहि जहि विसुद्धा ॥ ६२० ॥

इति वचनात् सर्वमतिचार निवेदयत एव कञ्चुता, तस्यैव प्रायश्चित्तदान । यथावद्दोषानालोचने प्रायश्चित्तप्रयोगाभावं भावयति —

मूलारा—पंडितसेवणादिचारे द्रव्यादिचतुष्टयविराधनानिमित्तानतिचारान् । ण उंते न कथयति ॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे उत्पन्न हुए दोषोंको प्रतिसंवना कहते हैं. इस सेवनाके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके विकल्पोंसे चार भेद हैं द्रव्यसेवाके तीन प्रकार हैं सचित्त द्रव्यसेवा, अचित्त द्रव्यसेवा, और मिश्रद्रव्यसेवा चित्त शब्दका अर्थ ज्ञान है. 'चित्तमात्रं जगत्तत्त्वं' अर्थात् ज्ञानमात्र जगत्का तत्त्व है यहां ज्ञान आत्मासे कथंचिद् अभिन्न है. अथवा आत्मामें रहनेसे आत्माको भी ज्ञान कहते हैं. इस आत्मामें साय जो पुद्गल पदार्थ रहता है उसको सचित्त कहते हैं. अर्थात् जीवका शरीर वनकर जो पुद्गल रहता है उसको सचित्त कहते हैं. जिस पुद्गलमें आत्मा रहता नहीं है उसको अचित्त कहते हैं सचित्त और अचित्त पुद्गलके एकरूप हुए समुदायको सचित्ताचित्त पुद्गल कहते हैं जबिके द्वारा स्वीकारे हुए पृथ्वी, हवा, पानी, अग्नि, वनस्पतिको सचित्त कहते हैं, जीवके छोड़े हुए शरीरको अचित्त कहते हैं. क्षेत्रादिनिमित्तसे जो जो अपराध होते

हैं वे यदि क्षयक क्रमसे न कहेगा तो अर्थात् सूक्ष्म और स्थूल अपराधोंका कथन नहीं करेगा तो प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता आचार्य उसको प्रायश्चित्त नहीं देते हैं. इस विषयमें आगममें ऐसा कहा है—

जो ऋजुभावसे आलोचना करते हैं ऐसे पुरुष प्रायश्चित्त देने योग्य है. और जिनके विषयमें शंका उत्पन्न हुई हो उनको प्रायश्चित्त आचार्य नहीं देते हैं. इसेसे यह सिद्ध हुआ कि सर्व अतिचार निवेदन करनेवाले में ही ऋजुता रहती है. उसको ही प्रायश्चित्त देना योग्य है.

पडिसेवणादिचारे यदि आजंपदि जहाकमं सबवे ॥

कुब्बंति तहो सोधिं आगमववहारिणो तस्स ॥ ६२१ ॥

निःशेषं भावते दोषं यदि प्रांजलमानसः ॥

तदानीं कुर्वते शुद्धिं व्यवहारविशारदाः ॥ ६२३ ॥

स्पष्टा गाय ।

यभावदोषलोचने प्रायश्चित्तप्रयोगमनजानाति —

मूलारा—स्पष्टम्

अर्थ—यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रयसे हुए संपूर्ण दोष क्षयक अनुक्रमसे कहना तो प्रायश्चित्तदानकुशल आचार्य उसको प्रायश्चित्त देते हैं.

यतिना निर्दोषायामालोनाया कृतया गणिना किं कर्तव्यमित्याशं किंनेतद्व्यापार कथयति—

समं खवणालोचिदंमि छेदसुदजाणग गणी से ॥

तो आगममीमसं करेदि सुते य अत्ये य ॥ ६२२ ॥

सम्यगालोचने तेन सूत्रं भीमांसते गजी ॥

अनालोचं न कुर्वन्ति महान्तः कांचन क्रियाम् ॥ ६४४ ॥

ज्ञात्वा वक्रामवक्रां वा सूरिरालोचनं यतः ॥

चिदधाति प्रतीकारं द्युद्धिरस्ति कुतोऽन्यथा ॥ ६४५ ॥

विजयोदया—एवमेण सम्म आलोचिदस्मि क्षणकेन मय्यगालोचिते । छेदसुदजाण गनणी मो छेदमूलन सूरि स । तो पश्चात् । आगमभीमस आगमविचारं । करेदि करोति । कथं ? सुते य अर्थे य सुते च अर्थे च । इदं सूत्र अस्य चायमर्थ इति अपराधस्येवभूतस्य इदं प्रायश्चित्तमेनेन सूत्रेण चेद निर्दिष्ट इति प्रतिक्रियति ॥

यतिना निर्दोषगालोचिते मूरिः किं करोतीत्यत्राह—

मूलरा—छेदसुदजाणगनणी प्रायश्चित्तसूत्रज्ञ आचार्यः । आगमभीमसं । प्रायश्चित्तशास्त्रविचारणा । सुते य

अर्थे य इदं सूत्रमस्य वायमर्थ इति विचारयतीत्यर्थः ।

यतिके द्वारा निर्दोष आलोचना क्रिये जानेपर आचार्य का क्या कर्तव्य है इस शंका का उत्तर कहते हैं—  
अर्थ—क्षपवमुनि जब निर्दोष आलोचना करते हैं प्रायश्चित्तसूत्रके ज्ञाता आचार्य तब आगम से अपराधोंकी परीक्षा करते हैं, अर्थात् यह प्रायश्चित्तको बतानेवाला सूत्र है, इसका यह अर्थ है, इस अपराधको यह प्रायश्चित्त देना योग्य है, इस सूत्र के द्वारा यह प्रायश्चित्त बतलाया है, इत्यादिरूपसे आचार्य प्रथम प्रायश्चित्त का विचार करते हैं

परिणामश्च निरूपयितव्यस्तदीयः किमर्थमित्यत आह—

पडिसेवादो हाणी वट्टी वा होइ पावकम्मस्स ॥

परिणामेण दु जीवस्स तत्थ तिब्बा व मंदा वा ॥ ६२३ ॥

जातस्य प्रतिसेवातो हानिर्बुद्धिश्च देहिनाम् ॥

पापस्य परिणामेन तत्रा मंदा च जायते ॥ ६४६ ॥

विजयोदया—पडिसेवादो जातस्स पावकम्मस परिणामेण हाणी वट्टी वा होदि । कीटशी ? तिब्बा व मंदा वा इति पदघटना । प्रतिसेवनातो जातस्य पापकर्मणः परिणामेन पाश्चात्येन कर्णेन हानिर्वा बुद्धिर्वा भवति । तीव्रा हानि-स्तीव्रा बुद्धि । मंदा वा हानिर्मंदा वा बुद्धि ॥

यथादोषं प्रायश्चित्तं निरूपयता सूरिणा अतिचारसम्भावी तदुत्तरकालभाव्यपि आपकस्य परिणामो निरूप-णीयो यतः—

मूलार—पडिसेवादो असंयमाद्विसेवनाज्जातस्यापि पापस्य पाश्चात्येन शुभाशुभपरिणामेन तीव्रा मंदा वा वृद्धिरित्वा हानिस्तत्रालोचनाकाले स्यादिति संबध । सामान्येनापि दुष्कृतद्वानिद्विद्वितीत्रमंदत्वस्यापनमेतेन प्रतिपत्तव्यम् । तथा चोक्तम्—

जातस्य प्रतिसेवातो हानिर्वृद्धिश्च देहिनाम् ।

पापस्य परिणामेन तीव्रा मंदा च जायते ॥

आचार्य क्षपकके परिणामका मी विचार करते हैं उसका विचार करने की क्या आवश्यकता है इसका उत्तर कहते हैं—

अर्थ—असंयमादिकसे जो पापकर्म हुआ था उसकी आलोचना करनेके अनंतर यदि शुभ परिणाम तीव्र हुए होंगे तो पापकी तीव्र हानि होगी, यदि शुभपरिणाम मंद हुए हो तो पापकी मंद हानि होगी जैसे तीव्र असंयमसे वा मंद असंयमसे पूर्वकालमें तीव्र पापवृद्धि अथवा मंद पापवृद्धि हुई थी वैसे आलोचनाके अनंतर शुभपरिणामकी तीव्रता या मंदतासे तीव्र या मंद पापकी हानि होती है.

तदुभयं व्याख्याय गाथाद्वयमुत्तरम्—

सावज्जसंकलिद्धो गालेइ गुणे गुणं च आदियदि ॥

पुव्वकंदं व दढं सो दुग्गदिमवबंधणं कुणदि ॥ ६२४ ॥

स्थिरत्वं नयते पूर्वं संसारासुखकारणम् ॥

एतेषां चिनुते पाप संक्किष्टः क्षिपेत्त गुणम् ॥ ६४७ ॥

विजयोदया—सावज्जसंकलिद्धो सावयसंक्षेपो द्विप्रकार । सह अवधेन पापेन वर्तत इति सावय एव । अन्यन्तु संक्षेपश्चित्तवाधा । ननु सावय । ज्ञान विमल किं मम न जायते, सपूर्ण चारित्र । शरीरं वा किमर्थमिदमतिदुर्बलं तपोयोगासद्धिमिति एवमादिकस्तन्निरासाय सावयविशेषण सावयसंकलिष्ट । गालेदि गुणे गालयति गुणान् दशन-ज्ञानचारित्राणि । नव च आदियदि आदत्ते च अभिनवं । पुव्वकम् च दढं कुणदि पूर्वोर्जितं च दढीकरोति । कपायपरिणामनिमित्तत्वात् स्थितिवधस्य । दुग्गदिभयकारण दुर्गतय, नारकत्वादय विचित्रवेदनासहसकुलास्तासु भय वर्धयति, यत्कर्मशुभं तदावचे स्थिरयति ॥

तदुभय व्याख्यातुं गाथाद्वयमाह—

मूढारा—सावज्जसंकलिद्धो सपापसंक्लेशाविष्ट । ज्ञानं मम विमलं किं नोत्पद्यते, चारित्रं वा संपूर्णं, शरीरं वा किमिदं ममातिदुर्बलं तपोयोगाक्षमभित्यादिचित्तवाधाभावात्मात्मकसंक्लेशव्यवच्छेदार्थं सावद्यविशेषणम् । गुणो स्वम्यक्त्वादीन् । दढं स्थिरं । दुर्गादिभयबंधनं दुर्गतिषु नारकत्वतिर्यक्कुमानुपत्यकुदेवत्वाभवभ्रमणेषु भयं दुःखान्ता सो । बध्यते जीवेन संबद्धं क्रियते येन तत्पापकर्म । टर्कं च —

स्थिरत्वं नयते पूर्वं संसारसुखकारणम् ।

नवं संचिनुते पापं संक्लिष्टः क्षिपते गुणम् ॥

परिणाम और पाप बंधका वर्णन—

अर्थ—सावद्य संक्लेश दो प्रकारका है पापसे युक्त संक्लेश, और केवल संक्लेश. मेरेको निर्मलज्ञानकी प्राप्ति क्यों नहीं होती है ? संपूर्ण चारित्र क्यों नहीं प्राप्त होता है ? मेरा यह शरीर क्यों इतना दुर्बल है, क्यों उससे तप और योगका कष्ट नहीं सहा जाता है ? इस प्रकारके विचार को संक्लेश नाम है इस संक्लेशको भिन्न दिखानेके लिये सावद्य यह विशेषण संक्लेशके पीछे दिया है. जिससे फक्त मनको पीडा होती है ऐसे पापयुक्त संक्लेश परिणामोंसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन गुणोंका नाश होता है, नवीन पापबंध होता है और पूर्व पापकर्मों में बृद्धि होती है. क्यों कि कपायपरिणामोंसे स्थितिबंध होता है हजारों विचित्र वेदनायें जिसमें होती हैं ऐसी नारकादिक अवस्थाओंका सावद्य संक्लिष्ट परिणाम कारण है जो नवीन अशुभकर्म आता है वह इस पापयुक्त परिणामोंसे आत्मामें स्थिर हो जाता है.

पडिसेवित्ता कोई पच्छत्तावेण उज्झमाणमणो ॥

संवेगजनिदकरणो देसं घाएज्ज सव्व वा ॥ ६२५ ॥

कुत्वापि कल्मषं कश्चित्पश्चात्तापकृशानुना ॥

दृष्टमानमना देशं सर्वं वा हन्ति निश्चितम् ॥ ६४८ ॥

विजयोदया—पडिसेवित्ता कोई कश्चित्कृतासयमादिसेवनोऽपि । पच्छत्तावेण उज्झमाणमणो पश्चत्तापेन दृष्ट-



मानचित्त' । सवेगजनिदकरणो संसारभीषताजनितसंयमनक्रिय' । देशं सत्त्वं वा घादेज्ज आत्माभिनवसंचितकर्मपुद्गलस्कंधैकदेशनिर्जरां वा स्वीकरोति, समस्त वा तद् घातयेत् । यदि मध्यमो मद्गो वा परिणामो देश घातयति । अथ तीव्र, समस्त इति भाव' ॥

मूलारा—करणं संयमक्रिया । देश आत्माभिनवं संचितकर्मपुद्गलस्कंधैकदेशं घादेज्ज घातयेत् । यदि मध्यमो वा परिणामस्तदा देशं हन्त्यथ तीव्रस्तदा समस्तमिति भाव । उक्ताथसंग्रहश्लोको ॥

जातस्य प्रतिसेवातस्तीव्रा मंदा च रेफसः ।

शनिःसता त्वभावेन स्याद्दुद्धिश्चासता तथा ॥

संक्लिष्टो दृढयन्पूर्वं वध्नात्यंहः कपन् गुणान् ।

हंत्यंशतोऽखिलं वा तत् संविभोऽनुशयात्तपन् ॥

अर्थ—पूर्वकालमें किसी क्षपकने असंयमका सेवन किया था परंतु पश्चात् उसका अन्तःकरण पश्चात्तापसे दग्ध हुआ तब वह संसारसे मयभीत होकर संयमाचरणमें तरपर हुआ. इस संयमाचरणके प्रभावसे नवीन संचित किये हुये पापकर्मके स्कंधमेंसे एकदेशकी निर्जरा होती है अथवा यदि तीव्र संयमाचरण हो तो उससे संपूर्णका भी घात होता है. अभिप्राय यह है कि संयमाचरणके परिणाम मंद अथवा मध्यम प्रकारके हो तो कर्मके एकदेशकी निर्जरा होती है और यदि तीव्र हो तो सम्पूर्ण कर्मका घात होता है.

तो णच्चा सुत्तविट्ठ णालियधमगो व तस्स परिणामं ॥  
जावदिण्ण विसुज्झदि तावदियं देदि जिदकरणो ॥ ६२६ ॥  
नालिकाधमवज्जात्वा प्रमाणं कुरुते सुधीः ॥

विजयोदया—तो तस्मात् । णच्चा जात्वा । सुत्तविट्ठ प्रायश्चित्तसूत्रा सूरि । किं ? तस्स परिणामं कृता-परिणाम । कथ परिणामो जायते इति चेत् सद्वर्त्तमान तीव्रकोधस्तीव्रमान इत्यादिक सुज्ञातेमेव । तत्कार्यो-पलभात्, तमेव वा परिपुच्छय, कीदृग्भवत परिणामोऽतिचारसमकाल वृत्त । इति । किमिव ? णालियधमगोच्च नालिकया यो धमेति सुवर्णकार. सोऽग्नेवलावल विदिवा धमन करोति, एव सूरिरपि अस्य कर्म तनुतर महदेति विदित्वा

जावदिगेण यावता प्रायश्चित्तं । विमुञ्चदि विमुद्धयति । तावदिग तावत्परिमाणं प्रायश्चित्तं अल्पं महद्वा । देवि ददति । जिदकरणो परिचितप्रायश्चित्तदानक्रियः ।

उक्तार्थं प्रकृते योजयन्नाह-

मूलारा-णच्चा ज्ञात्वा । सहवासेन तत्कार्योपलंभात्तद्वचनाद्वा निश्चित्य । मुत्तविदू छेदसूत्रज्ञः । णालिगधम्मगो व सुवर्णकार इव । जावदिगेण यावता । अल्पेन महता वा प्रायश्चित्तेन वद्विना च । विमुञ्चदि विमुद्धयति निर्मलीभवति मुनिः काचनं च । जिदकरणो परिचितप्रायश्चित्तदानक्रियः ।

अर्थ—प्रायश्चित्त शस्त्रज्ञ आचार्य जिसने अपराध किये थे ऐसे क्षपकके परिणाम जानकर जितने प्रायश्चित्त चसे वह शुद्ध होगा उतना प्रायश्चित्त उसको देते हैं जैसे सुवर्णकार अधिक सामर्थ्य असामर्थ्यको देखकर तदनु रूप कम या अधिक हवासे उसको प्रज्वलित करवा है वैसे प्रायश्चित्त देनेके कार्यका जिनको पूर्ण परिचय हुआ है ऐसे आचार्य इसका अपराध छोटा हैं या बड़ा है, इसके कोषादि परिणाम तीव्र थे या मंद थे इस विषयका विचार कर अनुरूप प्रायश्चित्त देते हैं दूसरेके परिणाम कैसे जाने जा सकते हैं इस प्रश्नका उत्तर—सहवामसे परिणाम जाने जा सकते हैं अथवा उसके कार्य देखनेपर उसके तीव्र या मंद क्रोधादिकका स्वरूप मालुम होता है, अथवा जब तुमने अतिचार किये थे तब तुम्हारे परिणाम कैसे थे ऐसा उसको पूछकर भी परिणामोंका निर्णय किया जा सकता है.

आउब्बेदसमत्ती तिग्गिच्छिदे मद्विसारदो वेज्जो ॥

रोगादंकाभिहदं जह णिरुजं आदुरं कुणइ ॥ ६२७ ॥

उल्लाधीकुरुते वैयो वैद्यशास्त्रविशारदः ॥

यथातुरं कृताभ्यासो रोगातंकादिपीडितम् ॥ ६५० ॥

विजयो—आउब्बेदसमत्ती निर्मातसमस्तार्थुर्बेद । तिग्गिच्छिदे चिकित्साया । मद्विसारदो बुद्ध्या निपुणः । वेज्जो वैद्य । रोगातंकाभिहदं महता अल्पेन वा न्यायित्वा पीडितं । आदुरं व्याधितं । जह यथा । णिरुजं कुणदि विशुद्ध करोति ।

तंत्रार्थकर्मोनिपुणो वैद्यो रोगिणमिवाचार्यः क्षपकं संसारव्याधेरुद्धरतीति गाथाद्वयेनाह—  
मूलारा—आउव्वेदसमत्ती निर्झातसमस्तवैद्यकशाख । तिगिछिदे चिकित्सिते । रोगांतकाभिहृदं अल्पेन  
महता वा व्याधिना पीडितं । गिरुजं नीरुजं निरामय ॥

अर्थ—जिसने समस्त आयुर्वेदशास्त्रका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो रोगपरीक्षण करनेमें निपुण है  
ऐसा वैद्य छोटे अथवा बड़े रोगोंसे पीडित मनुष्यको औपधि देकर जैसे नीरोग करता है उसी प्रकार—

एवं पवयणसारसुयपारगो सौ चरित्तसोधीए ।

पायच्छित्तविदण्हू कुणइ विसुद्धं तयं खवयं ॥ ६२८ ॥

गणाधिपः कृताभ्यासो व्यवहारविचक्षणः ॥

क्षपकं मलिनीभूतं निर्मलीकुरुते तथो ॥ ६५१ ॥

विजयोदया—एवं पवयणसारसुयपारगो प्रवचने यत्सारभूतं श्रुतं तस्य पारगतेः । पायच्छित्तविदण्हू प्राय-  
श्चित्तक्रमज्ञ । चरित्तसोधीए चारित्रशुद्धया । तयं खवयं तं क्षपकं । विसुद्धं कुणदि विशुद्धं करोति ।

मूलारा—पवर्णसारसुदपारगो प्रवचनस्य जिनागमस्य सारभूतं श्रुतं प्रायश्चित्तसूत्रं तत्समस्तं जानन् ॥  
अर्थ—आगममें जो सारभूत श्रुतज्ञान है उसमें प्रवीण, प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता आचार्य क्षपकको प्राय-  
श्चित्त देकर उसका चरित्र निर्मल बनाते हैं।

स्थविरं व्यावर्णितगुणे असत्यव्योऽपि भवति निर्योपक इति शंकायां कथयति—  
एदोरिसंमि थेरे असदि गणत्ये तहा उवज्झाए ॥

होदि पवत्ती थेरो गणधरवसहो य जेदुणाए ॥ ६२९ ॥

गणास्थिते ऽसतीदृक्षे स्थविरं ऽध्यापके तथा ॥

अस्ति प्रवर्तको वृद्धो बालाचार्योऽथ यत्नतः ॥ ६५२ ॥

विजयोदया—एदोरिसंमि व्यावर्णितगुणे । थेरे स्थविरं अधिधमाने । गणत्ये गणस्थे । तहा तथा । उवज्झाए

उपाध्ये याऽस्सति । होदि भवति । गिज्जबब्बो निर्यापकः । पवत्ती प्रवर्तकः । थेरो स्थविरस्त्रिप्रव्रजितो मार्गेजो । गणधरवसहो य वालाचार्यो वा । जदणाए यत्तेन प्रवर्तमानः । एवमालोचनाया गुणदोयनिरूपणा समाप्ता ॥

यथोक्तगुणे गणाधिपेऽध्यापके वा निर्यापकेऽपि निर्यापकः स्यादित्यनुशास्ति -

मूलारा -- थेरे वृद्धाचार्ये । पवत्ती अरुपश्रुतः सन्सर्वसंघमर्यादाचरितज्ञः प्रवर्तकः । थेरो चिरव्रजितो मार्गेजः साधु । गणहरवसहो एलाचार्यः निर्यापको भवतीति सर्वधः । जदणाए व्रतादिषु यत्नेन प्रवर्तमानः ॥

आचार्यके आधारवत्त्वादि गुणोंका पूर्वमें वर्णन कर चुके हैं इन गुणोंके धारक आचार्य यदि प्राप्त न हो तो अन्य मुनि भी क्षपकके समाधिमरण साधनेके लिये निर्यापकपदका धारक हो सकता है क्या इस शंकाका उत्तर -

अर्थ -- पूर्वोक्तगुणोंके धारक सधपति आचार्य न हो तथा इन गुणोंके धारक उपाध्याय भी यदि न हो तो प्रवर्तक मुनि अथवा अनुभवी वृद्ध मुनि वा वालाचार्य यत्नेसे व्रतोंमें प्रवृत्ति करते हुए क्षपकका समाधिमरण साधनेके लिये निर्यापकाचार्य हो सकते हैं जो ज्ञानसे अल्प है परंतु सर्व संघकी मर्यादा योग्य रहेगी ऐसे आच-  
चरणका ज्ञान जिसको है उसको प्रवर्तक कहते हैं और जिसको दीक्षा लेकर बहुत दिन हुए है ऐसे अनुभवी वृद्ध मुनिको साधु कहते हैं.

सो कदसामाचारी सोब्बं कट्ठं विधिणा गुरुसयासे ॥  
विहरदि सुविसुद्धप्पा अम्भुज्जदचरणगुणकली ॥ ६३० ॥

स चारित्रगुणाकांक्षी कृत्वा शुद्धिं विधानतः ॥  
गुरोरंते समाचारी विशुद्ध्यै चेष्टते तराम् ॥ ६२३ ॥

विजयोदया -- सो कदसामाचारी स क्षपकः कृतसमाचारः । सोब्बं शुद्धिं । कट्ठं कृत्वा । विधिणा विधिना । गुरुसयासे गुरुसमीपे । विहरदि प्रवर्तते । सुविशुद्धपा सुष्ठु विशुद्धात्मा । अम्भुज्जदचरणगुणकली अम्युद्यतचारित्र-  
गुणकांक्षासमन्वितः ॥

कृतगुरुदत्तप्रायश्चित्तस्य क्षपकस्य देहत्यागोचितकालाप्राप्तावतरारणं गाथात्रयेनोपदिशति --  
मूलारा -- कदसामाचारी कृतसमाचारः । सोब्बं कट्ठं शुद्धिं कृत्वा ।

अर्थ—जिसका आचार निर्दोष है ऐसा वह क्षपक प्रायश्चित्त लेकर शास्त्रकथित विधीके अनुसार गुरु-समीप रहकर आपनेको निर्मल चारित्र्ययुक्त बनाता हुआ रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करता है तथा समाधिभरणके लिए जिस विशिष्ट आचरणका स्वीकार किया है उसमें उन्नतिकी इच्छा करता है,

एवं वासारत्ते फासेदूण विविध तवोकम्मं ॥  
संथारं पडिवज्जदि हेमंते सुहविहारंस्मि ॥ ६३१ ॥  
वर्पासु विविधं स्पृष्ट्वा तपःकर्म विधानतः ॥  
सुखवृत्तौ स हेमन्ते संस्तरं प्रतिपद्यते ॥ ६५४ ॥

विजयोदया—एवं वासारत्ते वर्षाकाले । फासेदूण स्पृष्ट्वा । विविधं नानाप्रकारं । तवोकम्मं तप कर्म । संथारं संस्तरं । पडिवज्जदि प्रतिपद्यते । हेमन्ते शीतकाले सुहविहारंस्मि सुखविहारे अनशते समुद्यतस्य महान्परिश्रमे । न भवति तत्र काले इति सुखविहारमित्युच्यते ।

मूलारा—वासारत्ते वर्षाकाले । फासेदूण अनुष्ठाय । सुहविहारंस्मि सुखो महान्परिश्रमाद्भुर्भावादक्लिष्टो विहारोऽनशनानुष्ठानं यत्र ।

अर्थ—इस प्रकारसे वर्षाकालमें नाना प्रकारके तप कर कर वह क्षपक जिसमें अनशनदि करने पर भी म-हान् कष्टका अनुभव नहीं आता है ऐसे हेमतकालमें संस्तरका आश्रय करता है

सन्वपरियाइयस्सय पडिक्कमित्तु गुरुणो णिओणेण ॥  
सब्बं समासहिता गुणसंभार पविहरिज्जा ॥ ६३२ ॥  
निस्पर्शवत्तिथ्यतुरंगदोपं गुरुपदेशेन विशुद्धचेता ॥  
प्रवर्तते शुद्धगुणाधिरूढः संसारकांतारविलघनाय ॥ ६५५ ॥  
इति गुणदोषौ ।

विजयोदया—सन्वपरियाइयस्सय सर्वस्य ज्ञानदर्शनचरित्रपर्यायस्य अतिचारान् । पडिक्कमित्तु प्रतिनिवृत्तौ

भूत्वा । गुरुणिञ्चोगेण गुरुपदेशेन । गुणसंभार गुणानां समूह । सव्य कृत्स्न । समावृष्टिता सम्यगरुह्य । पविहरिज्ज प्रवर्तते । आलोचनागुणदोषाः ॥

मूलारा—सव्यपरियाङ्गस्स सर्जस्य ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायस्यातिचारान् । पङ्क्तिभिस्तु प्रतिनिवृत्तो भूत्वा । णिञ्चोगेण उपदेशेन ॥ आलोचनागुणदोषाः । सूत्रत २४ । अंकत' ॥ ६७ ॥

अत्रेदमुक्तार्थानुमोदनाय वृत्तमाध्वेयम् ।

सर्वावधानिनिवृत्तिरूपमुपगुर्वादाय सामायिकं ॥

यच्छेदैर्विधिवद्भूतादिभिरुपस्थाप्याप्यदत्वेत्यपि ॥

वृत्तां बाह्य उतातरे कथमपि च्छेदेऽप्युपस्थापय—

त्येवेति ह्यननुर्धुरीणमिह नौभ्यैर्दयुग्मीनेषु तम् ॥

इति गुरुहृतशल्याऽजस्रोर्विष्णुरत्नत्रयलसदनुभावव्यक्तसौभाग्यसप्तम् ॥

विवरयिषुशिवश्रीसंगमाशाघरांगव्रजमिममुपधत्ता प्रायपुण्याध्वराय ॥

इत्याशाघरादुत्सृज्यसदम्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयाथप्रकाशीकरणप्रवणे क्षपकरत्नत्रयाविक्षुद्धिविधानीयो नाम चतुर्थ आश्वलायनः ॥ ४ ॥

### पंचम आश्वलायनः ।

योग्याया वसतौ गणाधिपगिरा योग्यं श्रित संस्तरम् ॥

शुश्रूषाहृतसंयतैः परियुतो भोज्ये विचित्रेऽपि तैः ॥

संपाद्ये विगतस्पृहोऽल्पितपरित्यक्ताबुबुज्यांशनः ॥

क्षार्तिं संघमसौ विधाप्य यतते संहर्तुमंहोजनिशम् ॥

अर्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके संपूर्ण अतिचारोंसे निवृत्त होकर अर्थात् ज्ञानादिकोंका निर्दोष पालन कर गुरुके उपदेश से सर्व गुणोंके समुदायको हृदयमें धारण कर रत्नत्रयमें क्षपक प्रवृत्ति करता है.

कीदृशी वसतिगंगा का वा नेत्येद्वयाचष्टे उत्तरेण अथेन तथा योग्या निरूपयति—  
गंधव्वणट्टजट्टरसचकजंतगिकम्मफरुसे य ॥

णत्तिरजया पाडहिडौबणडरायमग्गे य ॥ ६३३ ॥

गाथका वादका नर्तकाश्चाक्रिकाः शालिका मालिकाः कोलिका वांशिकाः ॥

काष्ठिका लौहिका मात्सिकाः पात्रिकाः कांडिका दांडिकाश्चाभिकादिछपकाः ॥ ६५६  
विजयोदया—गंधव्वणट्टजट्टरसचकजंतगिकम्मफरुसे य गायकानां, नर्तकानां, गजानामश्वानां च शा-  
लया । तिलमई नकुंभकारशालाया च, रजकपाटदिन्डौवनट्टुहाणां समीपे । राजमार्गस्य वा समीपभूताया वसतौ ॥

अथैवं स्वभ्यस्तसमाधिसाधनस्याज्याराधकस्यायोग्यवसतौ निवसत समाधिव्याघातो भवतीति योग्यवसति  
तन्निवासाय निरूग्धिष्यन् गाथासप्तकेन द्वितयीभ्यं वसतिं सूत्रयति—तत्रादौ तावद्राधाद्वयमयोग्यशब्दया लक्षयितुमाह—

मूलारा—गंधव्व गंधर्व गीत । णट्ट नृत्यं । जट्ट हस्ती । असल अश्वः । चकं चक्रं कुंभकारोपकरणं । जंत  
यंत्रं तिलेष्णुपीलनोपायः । फरुसे शारिकमणिकारादिकः । णत्तिक । कोलिक । रंजय रजकः । पाडहिय पाटहिक-  
तौरिकः । डोमः श्वपचः । णट्ट नटः वंशाचारोहणनर्तकः । रायमग्गे महावर्त्म, राजमार्गो वा ॥

कोनसी वसतिका योग्य है और कोनसी नहीं है इसका विवेचन ग्रंथकार करते हैं ग्रथमतः अयोग्य  
वसतीका वर्णन करते हैं—

अर्थ—गंधर्वशाला—गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, तेलीका घर, कुन्दारका घर, घोड़ीका घर,  
बाजे वजानेवालेका घर, दोंवका घर, वांसके ऊपर चढकर नृत्य करनेवालेका घर इनके समीप जो वसतिका होगी वह  
मुनिके लिये योग्य नहीं है, जो वसतिका राजमार्गके समीप है वह भी मुनिवासके लिये योग्य नहीं है

चारणकोट्टुगकछालकरकचे पुण्फदयसमीपे य ॥

एवविधवसधीए होज्ज समाधीए वाघादो ॥ ६३४ ॥

चारणा चारणा वाजिनो मेवका, मध्यपा पंडका सार्यिकाः सेवकाः ॥  
आधिकाः कोट्टपाला कुलाला भटा पण्यनारिजना द्यूतकारा विटाः ॥ ६५७ ॥

सन्ति यस्याः समीपे निष्कृष्टक्रिया । सा न शक्या निषेव्या कदाचिद्बुधैः ॥

पालयद्भिःसमाधानरत्नं रावा रूढसंसारकांतारविच्छेदकम् ॥ ६५८ ॥

विजयोदया—चारणकोट्यकलालकण्ठे चारणकोट्टकशाखाया, रजकदालाया, रसवणिकदालाया । पुष्प-  
वाटम्य वा जलाशयस्य वा समीपभूताया । पञ्चविधवसवीए ईदृश्या वसतो नसत । होज्ज वायादो भवति व्याघात ।  
कस्य ? समाधिप समो वेष्टिचैः साऽन्यस्य । शक्तिप्रिययाणा मनोपाना शान्दानां रूपादीना च सन्निधानान्छन्दबहुलान्छ-  
व्यान्विष्यो भवतीति प्रतिपिच्यते व्यावर्णिता वसति ।

मूलारा—चारण मंडनमाचार्यगाथकादयः । कोट्ट्य कुट्टकाः । यद्भक्तिशिलाकुट्टौद्वयल्लिकदय । कलाल कल्प  
पालः । करकचे करकचं करपत्रं । पुष्प पुष्पवाटिका मालाकाश्च । दय उदकं वापीरूपाविजलाशयश्च । समाधिप वाया-  
दो चित्तैकाग्रताया विनाशो भवति मनोभेन्निद्रयार्थानां संनिधानान्छन्दबहुल्याच्च ॥ अत्र मंधवार्थिपदेः साहचर्यादिना  
गायकादयो गृह्यन्ते । तेन गायकादिमालासमीपवर्तिन्या वसती समाधिकामैर्न स्वातन्त्र्यमिति तात्पर्यार्थः ।

उक्तं च—गाथका वादका नर्तकाश्चाक्रिकाः शाळिका मलिकाः कोलिका वाशिकाः ॥ काष्ठिका लोहिका मांसिकाः  
पात्रिकाः । काडिका वाडिकाश्चार्मिकाश्चिच्छपकाः ॥ चारणा वारणा वाजिनो सेपका । मयपाः पंडकाः सार्थिकाः सेनकाः ॥  
प्राधिकाः कोट्टपाळाः कुलाला भटाः । पण्यनारीजना धृतकारा विटाः ॥ संति यस्याः समीपे निष्कृष्टक्रियाः सा न शक्या  
निषेव्या कदाचिद्बुधैः ॥ पालयद्भिः समाधानरत्नं सदा रूढसंसारकारावरधिच्छेदकं ॥

अर्थ—सांड, व स्तुतिपाठक, जहां रहते हैं ऐसे स्थानके समीप जो वसतिका होगी वह भी सुनिनिवासके  
लिये अयोग्य है, जहां शिलावट लोक रहते हैं, जहां वडई, पाथरवट लोक रहते हैं, और जहां मद्य बेचनेवाले  
लोक रहते हैं ऐसे स्थानके समीप वसतिका में सुनिना रहना योग्य नहीं है, जहां घोबी लोक कपड़े धोते हैं उस  
स्थानके समीप वसतिका करना योग्य नहीं है, जहां काठ करोतले विदारते हैं उस स्थानके समीप वसतिका होना  
योग्य नहीं है, वगीचा और जलाशयके समीप वसतिका रहना योग्य नहीं है, ऐसी वसतिकार्योंमें रहनेसे चित्तकी  
एकाग्रताका नाश होता है, इंद्रियों के मनोहर विषय, और शब्दादिक विषय, समीप होनेसे ध्यानमें विघ्न होता  
है इसलिये ऐसी वसतिकार्यें सुनिओं के लिये वर्ज्य मानी हैं।



क तर्हि कथं तिष्ठत्यस्योत्तरमाचष्टे—

पंचेदियप्पयारो मणसंखोभकरणो जहि णत्थि ॥

चिद्धदि तर्हि तिगुत्तो उच्चाणेण सुहप्पवत्तेण ॥ ६३५ ॥

पंचाक्षप्रसरो यस्यां विद्यते न कदाचन ॥

त्रिगुप्तो वसतौ तस्यां शुभध्यानोऽवतिष्ठते ॥ ६३६ ॥

विजयोदया— पंचेदियप्पयारो पचानार्भेदियाणा स्वविपयाभिमुख्येनादरात् प्रकृष्टं गमनं । जर्हि यस्यां वसतौ नादित । कीद्वार्भेदियप्रचारो मणसंखोभकरणो मनःसंक्षोभकारी । तर्हि तस्या वसतौ । चिद्धदि तिष्ठति । तिगुत्तो कृतमनोवाक्कायसरक्षकः । उच्चाणेण । ध्यानेन सुहप्पवत्तेण सुखप्रवृत्तेन ।

क तर्हि कथंभूतः सन् क्षपकस्तिष्ठतीत्यत्राह—

मूलारा—पयारो प्रचारः स्वस्वविपयाभिमुख्येनादरात्प्रकृष्टं गमनं ग्रहणाय प्रवृत्तिः । चिद्धदि तिष्ठति । सुहप्पवत्तेण सुखेनानायासेन प्रवर्तमानेन ॥

क्षपकं मुनि कहां और कसे रहते हैं इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

अर्थ—जहां रहनेसे मुनिओं की इन्द्रियां अपने अपने विषयों के तरफ न दौड़ेगी, जहां रहनेसे मनकी एकाग्रता नष्ट न होगी ऐसे स्थानमें अर्थात् ऐसी वसतिकामें त्रिगुप्तिधारक मुनि निवास करते हैं, जिसमें रहनेसे ध्यानमें निर्विघ्नता होगी वह वसतिका मुनिनिवासके लिये योग्य है।

मनः संक्षोभहेतु

पचानार्भेदियाणा प्रचारो यस्या वसतौ नास्ति तस्या सर्वस्या तिष्ठति न वेत्याचष्टे—

उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए हु ॥

वसइ असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥ ६३६ ॥

उद्गमादिमलापोढा सप्रकाशा गतक्रिया ॥

संस्कारकरणायोग्या संभ्रमूर्च्छनविवर्जिता ॥ ६३७ ॥

विजयोदया—उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए उद्गमोत्पादनैपणादोपरहिताया । अकिरियाए हु आत्मना उप-

लेपनमार्जनक्रियारहितताया । वसति वसति । असंसत्ताण तत्रस्थेगंगतुकेश्च सत्त्वेर्वर्जिताया । निष्पादुडिगाण सरक्राररहि-  
ताया । सलेजाण वसतौ ॥

न च यस्या मनःशोभकर पंचेन्द्रियप्रचारो नास्ति तस्या सर्वस्यामेव स्थेय किं तर्हि तयामृतायामयुद्धमादि-  
क्षेपरहितत्वविशिष्टायामेवेत्यनुशास्ति—

मूलारा — अकिरियाण आत्मानमुद्दिश्य सम्मार्जनलेपनादिक्रियारहिताया । असंसत्ताण तत्रस्थेरागतुकेश्च  
सत्त्वेर्वर्जिताया वा । निष्पादुडिगाण सर्पद्युषद्रवरहिताया । निःसंस्कारायामित्यन्ये ।

जिसमें मन क्षुब्ध होता नहीं है, जिसमें रहनेसे पंचेन्द्रिय अपने विषयके प्रति दौड़ लगाते नहीं हैं ऐसा  
सर्व ही स्थान मुनिओंके लिये योग्य है क्या ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ — जो वसतिका उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित है जो वसतिका मुनि के उद्गमसे  
लिपी पोती गई नहीं है ऐसी वसतिकामें क्षपक रहते हैं, जिसमें जंतुओंका वास नहीं है अथवा बाहरसे आकर  
जहां प्राणि वास नहीं करते हैं, जो संस्काररहित है ऐसी वसतिकामें मुनि रहते हैं.

निर्दोष का वसतीराधयितव्या इत्यत्र वसति व्यावर्णयति-

दो तिण्णि वि सालाओ धेत्तव्वावो विसालाओ ॥

सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ अवियडअणंघयाराओ ॥ ६३७ ॥

मिथ्याहृष्टिजनागम्या गृहिशय्याविवर्जिताः ॥

द्वित्रा वसतयो ग्राह्याः सेव्या विध्वस्ततामसाः ॥ ६६१ ॥

विजयोदया — सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ अकेशप्रवेशनिर्गमना अपि । अवियडअणंघयाराओ अविवृतद्वारा  
अनंघकाराश्च जघन्यतो द्वे शाले ग्राह्ये । एकत्र क्षपको वसति, अन्यस्या अन्ये यतयो ग्राह्यजनाश्च धर्मश्रवणार्थमा-  
याता । विवृतद्वारतया शीतवातादिप्रवेशात्त्वगस्थिमात्रतनोर्दुस्सहं दुःख स्यात् । शरीरमलङ्कारोऽपि कथमप्रच्छन्ने  
क्रियेत । अंघकारयहुले असयमः स्यात् । असुप्तान्कमणप्रवेशाया आत्मविराघना असंयमविराघता च ॥

पुनर्वसतिं वदियत्ता च व्यावर्णयति—

मूलारा — सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ सुप्तनिर्गमाः मुखप्रवेशा निविडाश्च । दुःखनिर्गमप्रवेशायामात्मनो बाल-

वृद्धजनानां च विराधना स्यात् । अनिविडायामक्षपकस्य त्वगस्थिमात्रततोः शीतातपादिदुःखं दुःसह स्यात् । अविष्यड् । अविकटा संवृतद्वारा विवृतद्वारायामन्तरोक्तश्च दोषो विष्णुभूतोत्सर्गदुष्करत्वं च । अणधयाराओ अंधकाररहिताः । अधकारवहुलायां असंयमः स्यात् । दो तिष्ठिनि वि द्वे तिस्रो वा । तत्र यदि द्वे संपद्येते तदैकस्या क्षपकस्तिष्ठेत् अन्यस्यामन्ये यतयो धर्मश्रवणार्थमागतौ मन्यलोकश्च । यदि तिस्रस्तदा क्षपकः, संघो धर्मदेशना च पृथक् पृथक् प्रवर्तते ॥ घेतव्याओ ग्राह्याः ॥

कोनसी निर्दोष वसतिकाओंका आश्रय लेना चाहिये इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—  
अर्थ—जिनमें सुखसे प्रवेश कर सकते हैं और बाहर आसकते हैं, जिनका द्वार ढका हुआ है, जिनमें विपुल प्रकाश है, ऐसी बड़ी दो वसतिकार्ये क्षपकके वास्ते जघन्यतया होनी चाहिये, एक वसतिकार्ये क्षपक रहता है और दूसरीमें अन्य सुनि और धर्मश्रवणार्थ आये हुये लोक रहते हैं, यदि तीन वसतिकार्ये होंगी तो एकमें क्षपक दुसरीमें संघके सुनि और तीसरीमें धर्मोपदेश ऐसी पृथक् पद्धति समझना चाहिये वसतिकाका द्वार ढका नहीं होगा तो शीत वातादिकोंका प्रवेश होनेसे केवल चर्म और अस्थि ही जिसके अवशेष रहे हैं ऐसे क्षपकको दुसह दुःख होगा, अतः वसतिकाका द्वार ढका हुआ ही होना योग्य है द्वार ढका नहीं होगा तो ऐसी वसतिकार्ये प्राप्ति होगी जिस वसतिकासे क्षपक कैसे कर सकेगा ? यदि वसतिकार्ये बहुत अंधार होगा तो वहां रहने से असंयम की संयमविराधना ये दोष उत्पन्न होंगे,

अन्यच्चाचष्टे—

घणकुड्डे सकवाडे गामवाहिं वालवुद्धगजोग्गे ॥

उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे ॥ ६३८ ॥

निविडा संवृतद्वारा सुप्रवेशविनिष्कमाः ॥

सकवाटा लसत्कुड्या वालवृद्धजनोचिताः ॥ ६३९ ॥

विजयोदया—घणकुड्डे दृढकुल्ले । सकवाडे कपाटसहिते । गामगर्हि ग्रामवास्त्रे देशे । वालवृद्धगजोग्गे बालानां सनध ॥  
विजयगणजोग्गे उद्यानगृहे । गुहाए गुहाया । वा सुण्णघरे शून्यगृहे वा । संथारे होदित्ति क्रियापदभि-

मूलारा—वर्णकुट्टे दृढनिविद्विभक्तिके । गामवाहिं ग्रामाद्वहिर्देशे । बालवृद्धगणजोगे बालाना वृद्धाना गणस्य चतुर्विधस्य च उच्यते । गिरिकंदरे पर्वतदर्या । गुहाय देवरातविले ॥

और भी योग्य वसतिकाका वर्णन—

अर्थ—जिसके किवाड और भित्ति मजबूत हैं ऐसी वसतिकार्यें गावके बाहर होनी चाहिये, जहां बाल, वृद्ध और चार प्रकारका गण आ जा सकते हैं ऐसे फासले पर वसतिकार्यें होनी चाहिये, उद्यानगृह, गुहा, और शून्य घर ये भी वसतिकाके योग्य माने गये हैं ऐसे स्थानमें क्षपका सस्तर करना योग्य है

आगतुघरादीसु वि कडणुहि य चिलिमिलीहिं कायव्यो ॥

खवयस्सोच्छागरो धम्मसवणमंडवादी य ॥ ६१९ ॥

उद्यानमंदिरे ह्वये गुहायां शून्यवेदमनि ॥

आगतुकनिवासे वा स्थितिः कृत्या समाधये ॥ ६२३ ॥

क्षपकाध्युषिते धिषण्ये धर्मश्रवणमंडपः ॥

जनानंदकर' श्रेयः कर्तव्य. कटकादिभिः ॥ ६६४ ॥

इति'श्रव्या'।

विजयोदया—आगतुघरादीसु वि आगतुकै स्कधावारांयतै. सार्यकै रुतेषु गृहादिषु संथारो ह्योदिति वक्ष्यमाणेन संबध । उक्ताना वसतीनामलाभे कडणहि कटे । खगस्य क्षमकस्य अगस्थितये प्रच्छादन कार्ये । धम्मसवणमंडवादी य धर्मश्रवणमंडपादिक च अनेन बहुतरासयमनिमित्तवसतित्याग, मयमसाधनवसतिविरूपदच कथित । सेज्जा ॥

मूलारा—आगतुघरादीसु आगंनुभि स्कंधावारायतै. सार्यकैः कृतेषु गृहेषु । आदिशब्देन अन्येष्वपि एवं विधेषु श्रमणयोग्येषु घनकुड्यादिगुणोपेतोद्यानगृहादिषु पंचसूक्तेषु क्षपकस्य संस्तर कर्तव्य इति संबध । उक्ताना वसतीना अलाभे यत्कर्तव्यं तदाह कडणहि इत्यादि कर्तव्यशब्दमयप्रच्छादनैः । चिलिमिलीहिं पटलिकाभिः । उच्छागरो अवस्थितये गृहं । अन्ये उच्छागरो इति पठित्वा प्रच्छन्नप्रवेशभित्त्याहुः । न केवलमेव एव कर्तव्यो, यावता धर्मश्रवणमंडपादि च कर्तव्यं कटादिभिरिति संबध । एतेन बहुतरासंयमनिमित्तवसतित्याग मयमसाधनवसतिविरूपश्च कथित. । वसति सूत्रत २५ ॥ अंकत ७ ॥

अर्थ—एक गांवसे दूसरे गांवको व्यापार करने के लिये जानेवाले व्यापारी लोगोंके लिये निर्माण किये गए वगैरे स्थानोंमें भी क्षपकके लिये संस्तर की योजना करते हैं और भी जो मुनि के लिये योग्य स्थान हैं उनमें संस्तरकी रचना कर सकते हैं उपर्युक्त वसतिकाओं की प्राप्ति नहीं होगी तो वांस्के दलसे तट्ट और आच्छादन बनवाकर वसतिका निर्माण करना चाहिये- वसतिकाके सिवाय धर्मोपदेशके लिये सभामंडपादिक भी बनवाने चाहिये इतने विवेचन का अभिप्राय यह है कि जिसमें असंभय अधिक उत्पन्न होगा ऐसी वसतिकाओंका त्याग करना चाहिये- संभयसाधक वसतिकाओंके विकल्पका वर्णन भी इससे सिद्ध होता है- इस प्रकार वसतिका का वर्णन हुआ-

पवंभूतायां वसतौ संस्तर इत्यभ्युत इत्याचष्टे-

पुढवीसिलामओ वा फलयमओ तणमओ य संथारो ॥

होदि समाधिणिमिचं उत्तरसिर अहव पुव्वसितो ॥ ६४० ॥

उत्तराशशिराः क्षोणीशिलाकाष्ठतृणात्मकः ॥

संस्तरो विधिना कार्यः पूर्वाशामस्तकोऽथवा ॥ ६४५ ॥

विजयोदया—पुढवीसथारो भवति । सिलामओ वा शिलामयो वा । फलकमओ फलकमयोवा वा । तणमओ वा तृणमयो वा । समाधिणिमित्तं समाध्यर्थं । उत्तरसिरस्य पुव्वसिरं पूर्वोत्तमांग उत्तरोत्तमगो वा संस्तर' कार्ये । प्राची दिग्भ्युदयिकेषु प्रशस्ता । अथोत्तरदिक् स्वयंप्राद्युत्तरदिग्गततीर्थेकरभक्त्युद्देशेन ।

अथ प्रागुक्तलक्षणाया योग्यवसतौ आराधकस्य समाध्यंगतया संस्तरं गाथासमेने निरूपयिष्यन्पूर्वं तद्भेदा-  
श्चतुरो वक्तुमिदमाह—

मूळारा—उत्तरसिरे इत्यादि उत्तरा हि दिक् स्वयंप्राद्युत्तरदिग्गततीर्थेकरभक्त्युद्देशेन शुभकार्ये चागमे प्रशस्ता । लोके पुनः आभ्युदयिकेषु कार्येषु पूर्वा दिक् प्रशस्यते सूर्याश्रयत्वात् । अत उत्तरशिराः पूर्वेशिरा वा क्षपकस्य समाध्यर्थं प्रथिव्यादिमयं संस्तरं कर्तव्यं इति तात्पर्यम् ॥

इस प्रकारकी वसतिकामें संस्तर फेसा होना चाहिये इसका वर्णन—

अर्थ—संस्तरके प्रथिवी संस्तर, शिलामयसंस्तर, फलकभयसंस्तर और तृणमय संस्तर ऐसे चार भेद

हैं समाधिके निमित्त इन संस्तरों की आवश्यकता रहती हैं, इन संस्तरोंके मत्त्वका भाग पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशाके तरफ होना चाहिये, पूर्व दिशा अम्युदयिक कागमें प्रशस्त मानी जाती है और उत्तर दिशा विदेह क्षेत्रमें स्वयंप्रभादितीर्थर उत्पन्न हुए हैं उनकी भक्तिके उद्देश्यसे प्रशस्त मानी गयी है

भूमिसंस्तरनिरूपणाय गथा -

अघसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य ॥

असिणिद्धे घणगुत्ते उज्जोवे भूमिसंथारो ॥ ६४१ ॥

निसिगधत्वसुखस्पर्शः प्रासुको निर्बिलो घनः ॥

संस्तरः क्रियते क्षोणीप्रमाणरचितः समः ॥ ६६६ ॥

विजयोदया - अघसे अमृद्धी । समे अनिम्नोन्नता । असुसिरे असुपिटा अधिला । अहिसुया उदेहिकारहिता अप्पपाणे निर्जेन्नुका । असिणिद्धे अनाद्धी । घणगुत्ते घना गुप्ता । उज्जोवे उद्योतवती भूमिः । भूमिसंथारो भूमिसंस्तरः । मृद्धी भूमिर्वाध्यते करचरणमर्धनेन । असमानेन तदात्मनो वाधा । सुपिरे विले वा प्रविष्टा निर्गतास्तवत्या पीड्यन्ते । आद्धो चेद्वक्त्रा-  
यिकाना पीडा । अनुद्योते अपश्यत कथमसयमपरिहार । अन्ये तु सप्तम्यतता व्याचक्षते । अमृद्धया अनिम्नोन्नतायामसु-  
पिराया इति तवयुक्त । आधेयस्य संस्तरस्य अन्यस्याभावात् । अपि च पुढवी सिलामधो वा इति वचनेन पृथिवीरूपतया  
संस्तरस्योक्तः ।

भूमि संस्तरिकर्तुं लक्षयति -

मूलारा --- अघसे अमृद्धी । समे अनिम्नोन्नता । असुसिरे अचिद्धा । अहिसुय उदेहिकारहिता । अप्पपाणे निर्जेन्नुका ॥ अप्पपाणे क्षपकरीरप्रमाणा ॥ असिणिद्धे । अनाद्धी । घणा घना दृढा ॥ गुते अप्रकटा । उज्जोवे उद्योतवती ॥ भूमि भूमिः । अदृश्यत्वादिदृशगुणोपेता इति संस्तरो भवेत् “ अत्रार्थत्वात्प्रथमार्थे सप्तमीलिंगप्रत्ययश्च । उक्तं च ॥

निर्जटुका घना गुप्ता समामृद्धी सुनिर्मला ॥

अनाद्धी स्वप्रमाणा च सोद्योता संस्तरौ धरा ॥

मृद्धी णि भूमिर्गर्गाप्रकरणमर्धनेन वाध्यते । असमायामात्मनो वाधा । सचिद्धाया छिद्रप्रविष्टास्तत्राया वा निर्गताः प्राणिनः पीड्यन्ते । नृदेहिकामंभवयोभ्याया संन्यासकालोद्भूतोदेहिकाभिः क्षपको दंदश्यते । समाणिकाया

प्राणिसंयमविराधना स्वप्रमाणाधिकाया व्यर्थः प्रतिलेखनाद्विधासंगः । प्रमाणहीनाया गात्रसफोचदु च । आर्द्रायां अष्कायिकंजुपीडा । अन्डवाया अगभारेण नमन्त्या तद्रतजतुवाधा, शयितुं कष्टं च । प्रकटाया भिष्यादृष्टिजनानुपंगः । अनुद्योताया दृष्टिप्रतिबंधादुःशकोऽसंयमपरिहारः ॥

भूमिसंस्तरका निरूपण करनेवाली गाथा—

अर्थ—जो जमीन मृदु नहीं है वह संस्तरके लिये योग्य है, जमीन मृदु होगी तो वह हाथ और पायोंके मर्दनसे घाधित होगी, वह जमीन असुपरि होनी चाहिये, सुपरि—छिद्र होंगे, विल, होंगे तो उसमेंसे निकले हुए और प्रविष्ट हुये त्रसजीवोंको बाधा होगी, वह समा होनी चाहिये, वह ऊंची नीची होनेसे क्षपकनो सोनेमें बाधा उत्पन्न होगी, यदि वह गीली होगी तो जलकायिक जीवोंको बाधा पहुंचेगी, इसलिये वह सूखीही होनी चाहिये, कृमिकीटादिकमें रहित, प्राणिरहित, प्रकाशयुक्त, क्षपकने देहप्रमाणके अनुसार और गुप्त, सुरक्षित होनी चाहिये, यदि प्रकाशरहित हो तो असंयमका परिहार हो नहीं सकेगा, प्राणिओंसे युक्त होगी तो प्राणिसंयमका रक्षण क्षपक नहीं कर सकेगा कृमिकीटक सहित होगी तो कीटादिक जंतु क्षपकने देहको फाट खायेंगे, वह शरीर-प्रमाणसे अधिक होनेपर प्रतिलेखनादिकका व्यासंग अधिक करना पड़ेगा, प्रमाणसे हीन होगी तो शरीरसंकोच करना पड़ेगा यदि दृढ न होगी तो क्षपकने अथवा शोधन करनेवाले के शरीर से दब जाने पर उममें रहनेवाले जंतुओंको बाधा पहुँचेगी, यदि गुप्त न हो तो भिष्यादृष्टि लोकोका संसर्ग होगा, अतः मृदुत्वादिदोषोंसे वर्जित शुशिवी-जमीन संस्तररूप होगी, अन्यथा नहीं.

विद्वत्थो य अफुडितो निक्कपो सव्वदो असंसत्तो ॥  
समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो ॥ ६४२ ॥  
विध्वस्तोऽस्फुटितोऽकंपः समपट्ठो विजंतुकः ॥  
उद्योते मसुणः कार्यः संस्तरोऽस्ति शिलामयः ॥ ६४३ ॥

विजायोदया—विद्वत्थो य विध्वस्त । दाहार्तुदुर्नादर्णदा । अफुडितो अस्फुटित । निक्कपो निक्कल । सव्वदो समतात् । असंसत्तो जीवर्हित । पापणमल्लुण्णदिरहित इति यावत् । समपट्ठो समपट्ठ । उज्जोण उद्योते । शिलामयो होदि सयारो शिलामयो भवति सस्तर ॥

शिलासंस्तरमाह-

मूलारा-विद्वत्सो विध्वंस्तो दाहकुट्टनर्घपणादिभिः प्रासुकीभूत । अण्डुडिदो अस्फुटितः । गिर्कनो निध्नलः । पापणमखुणादिरहितः । समपट्टो समतलः । उज्जोए सप्रकाशप्रदेशे वर्तमानः ।

शिलासंस्तरका विवेचन-

अर्थ - शिलामय संस्तर विध्वस्त अर्थात् अयिज्वालासे दग्ध, टाकीके द्वारा उकीरा गया अथवा धिसा हुआ होना चाहिये. क्योंकि अग्न्यादिके द्वारा वह प्रासुक हो जाता है यह शिलामय संस्तर टूटा फूटा न हो, निध्नल हो, सर्वतः जीवोंसे रहित, मत्सुणादि जीवोंसे रहित, समतल, और प्रकाशयुक्त होना चाहिये

भूमिसमरुंदलहुओ अकुडिल एगंगि अप्पणो य ॥

अच्छिहो य अफुडिदो लण्हो वि य फलयसंधारो ॥ ६४३ ॥

लघुभूमिसमो रूद्रो निःशब्दः स्वप्नमाणकः ॥

एकांगः संस्तरोऽछिद्रः श्लक्ष्णः काष्ठमयो मतः ॥ ६४८ ॥

नित्ययोगवगा-प्रतिगमंरुलद्रुणो भूययलक्ष, महान्, लघु, । अकुडिल एगंगि अप्पणो य अचलः, एक-  
तादीय, निर्जन्तुका । अच्छिहो य अच्छिद्र । अण्डुडिदो अस्फुटितः । लण्हो मसृणः । फलयसंधारो फलकसंस्तरः ॥

यूखारा-प्रतिगमंरुलद्रुणो भूमिप्रकाश । यद् वितीर्णः । लघुओ उच्छ्रुतुं नेतुमानेतुं वा सुशकः । अकुक्कुचोर्कंग

अकुक्कुचो निर्जन्तुका । अचलः एकैव पक्वप्रकाशः । अप्पणो पुरप्रमाणः । लण्हो मसृणः ॥  
फलकमय गैरतयका वर्णितः

अर्थ-चारों तरफों की भूमिमें गैरतय प्रकाश है, रूद्र, और ललका, उठानेमें रखनेमें अनायासकारक,

अच्छिद्र, निर्जन्तुक, विनाश, मृदु, अण्डुट्ट होना फलक गैरतय के नियमों के



गिस्संधी य अपोल्लो गिरुवहदो समधिवास्सणिज्जंतु ।

सुहपडिल्लहो मउओ तणसंथारो हवे चरिमो ॥ ६४४ ॥

कृत्यस्तृणमयोस्संधिः संस्तरो निरुपद्रवः ॥

निःसम्मूच्छैरपच्छिद्रो मृदुः सुप्रतिलेखनः ॥ ६४९ ॥

विजयोदया—गिस्संधी य अयिरहितः । अपोल्लो अच्छिद्रः । गिरुवहदो निरुपद्रव अचूर्णित । समाधिवास्स-  
णिज्जंतु । मृदुस्पर्शो निर्जेतुकश्च । सुहपडिल्लहो सुखेन प्रतिलेखनीयः सुपेन शोधय इति यावत् । मउओ मृदु । तणसं-  
थारो हवे चरिमो वृणसंस्तरो भवेदन्य ॥

वृणसंस्तरं न्याचेष्टे—

मूलारा — गिस्संधी निर्यन्थिवृणविरचितः । निरंतरसमायततृणो वा । अपोल्लो अंतश्छिद्ररहितवृण । गिरुव-  
हदो अचूर्णिततृण । समाधिवास्स समधिवास्य सम्यगधिवस्तुं शक्यः सर्वद्वनयोप्यत्वात् । मउओ मृदुः ॥

वृणसंस्तरका वर्णन—

अर्थ—वृणसंस्तर गांठ रहित तृणसे बना हुआ, छिद्ररहित, न तुटे हुए तृणसे रचा गया, जिसपर  
सोनेसे अथवा वैठनेसे अगमं खुजली उत्पन्न न होगी ऐसे तृणसे बना हुआ, मृदुस्पर्शवाला, जंतुरहित, जो सुखसे  
शोधा जाता है ऐसा होना चाहिये

जुत्तो पमाणरइओ उभयकालपडिल्लेहणासुद्धो ॥

विधिविहिदो संथारी आरोहव्वो तिगुत्तेण ॥ ६४५ ॥

प्रमाणराचितो योग्यः कालद्वितयशोधनः ॥

आरोढव्यस्त्रिगुत्तेन संस्तरोज्यं समाधये ॥ ६७० ॥

विजयोदया—जुत्तो युक्तो योग्य । पमाणरइओ प्रमाणसमन्वित । नात्यलो नातिमहान् । उभयकालपडिल्ले-  
हणासुद्धो स्पर्शोदयास्तमनकालद्वय प्रतिलेखनेन शुद्ध । विधिविहिदो संथारो शास्त्रनिर्दिष्टक्रमकृतसंस्तरः । आरोहव्वो  
आरोढव्य । केन तिगुत्तेन त्रिगुत्तेन कृताशुसमनोवाकायनिरोधेन ।

चतुर्विधस्यापि संस्तरस्य गुणव्यावर्णनमुत्पेन आरोह्यत्वमाह—

मूलारा—जुत्तो योग्य । पमाणरद्दो नात्यल्पविपुल । उवधोकाल सूर्योदयास्तमनकालद्वये विधि शास्त्रकम ॥  
अर्थ—चारों प्रकारके संस्तरोंमें ये गुण होने चाहिये योग्य, प्रमाणयुक्त, बहुत छोटा अथवा बहुत बड़ा जो नहीं है, सूर्योदयकाल में और सूर्यास्तकालमें शोधन करनेसे जो शुद्ध होता है शास्त्रीय जिसकी रचना हुई है, ऐम सस्तरपर मन, वचन और कायको शुद्धकर क्षपकको आरोहण करना चाहिये

णिसिदिच्चा अप्पाणं सव्वगुणसमण्णिदंमि णिज्जवए ॥

संथारम्मि णिसण्णो विहरदि सल्लेहणाविधिणा ॥ ६४६ ॥

निर्यापके समर्प्य स्वं समस्तगुणशालिनि ॥

प्रवर्तते विधानेन क्षपकः संस्तरं स्थितः ॥ ६७१ ॥

तृणक्षोणिपाषाणकाष्ठप्रशस्ते स्थितः संस्तरं धर्ममार्गप्रवीणः ॥

धुनीते समस्तानि कर्माणि योगी रणे योगवर्गो बलानीव धीरः ॥ ६७२ ॥

इति संस्तरः ॥

विजयोव्या—णिसिदिच्चा स्थापयित्वा । त्यक्त्वा अप्पाण आत्मानं । सव्वगुणसमण्णिदंमि सर्वगुणसमन्विते णिज्जवणे निर्यापके । संथारम्मि सस्तरं । णिसण्णो निपण्णो । विहरदि चेष्टेते । सल्लेहणा विधिणा सल्लेखना क्षिप्रकारा बाह्याभ्यन्तरा चेति । द्रव्यसल्लेखना भावसल्लेखना च । आहारं परिहृत्य शरीरसल्लेखना करोति । सम्यग्दर्शनादिभावनाया मिथ्यात्वादिपरिणामास्तनूकरोति । एवं वसतिसंस्तरौ निरूपितौ ॥

किं कृत्वा संस्तरमारूढः किं करोतीत्याह—

मूलारा—णिसिदिच्चा समर्प्य, सल्लेहणाविधिणा आहारपरिहारेण शरीर, सम्यक्त्वादिभावनाया मि ज्यात्वा दींश्च तनूकरोतीत्यर्थ । संस्तरः सूत्रन २६ अंकत ७ ॥

अर्थ—क्षपक संपूर्ण गुणों से पूर्ण ऐसे निर्यापकाचार्य पर अपना सर्व भार सोपकर अर्थात् उसको ही शरण मानकर संस्तरपर आरोहण करता है और सल्लेखनाका विधिपूर्वक आवरण करनेकी शुरुआत करता है सल्लेखनाके दो प्रकार हैं, बाह्य सल्लेखना और अभ्यन्तर सल्लेखना अथवा द्रव्यसल्लेखना और भावस-

छेखना आहारका त्याग करनेसे शरीर सहेखना होती है. सम्यग्दर्शनादिकी भावनासे मिथ्यात्वादिपरिणामों की क्षीण करना कपायसहेखना है इस प्रकार वसति और संस्तरका विवेचन समाप्त हुआ.

प्रियधम्मा दृढधम्मा संवेगावज्जभीरणो धीरा ॥

छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खणम्मि य विदण्हू ॥ ६४७ ॥

स्थेयांसः प्रियधर्माणः संविष्ठाः पापभीरवः ॥

ख्याताश्छंदानुगमनाः कल्पाकल्पविचक्षणाः ॥ ६४८ ॥

विजयोदया—प्रियधम्मा प्रियो धर्मों येषां ते भवति प्रियधर्माण । दृढधम्मा धर्म स्थिराः, संविष्ठा संविष्ठाः संसारभीरवः । वज्जभीरणो पापभीरवो धीरा द्युतिमंतः । छंदण्हू अभिप्रायवद्वा । पच्चइया प्रत्ययिताः । पच्चक्खणम्मि य विदण्हू । प्रत्याख्यानक्रमवद्वा । धर्मेइत्तारिअ तेन प्रियचारित्रा यत् । तत्तइत्तारिअे क्षपकमपि वर्तयितुमुत्सहन्ते तत्सा-  
मुपावत्ते दृढचारित्ता इति । अदृढचारित्रा हि न असंयमं परिहरेयुः । कस्मादसंयमं परिह्वरन्ति पापभीरवो यस्मात् । संवि-  
ष्ठा विचित्रव्यसननिधानभूतचतुर्गतिभ्रमणभयव्याकुलाः । धीरा इत्यनेन परीपदसहा इत्याख्ययते । परीपद्वै. पराजितो  
न संयमं पालयतीति मन्यते । क्षपकेन अनुक्तमपि तद्विगितेनावगततत्तद्योजना वैयावृत्ते वर्तन्ते । नानासिमायक्षा इति  
दर्शयितुं छंदण्हू इत्युक्त । प्रत्ययितव्या गुरुभिर्नार्मी असंयमं कुर्वेति क्षपके वैयावृत्त्योद्यता इति साकारनिराकारप्रत्या-  
ख्यानक्रमवद्वा ॥

अथ तथा कृतपरिकरस्यापराधकस्य यथोक्तलक्षणया वसतौ विधिविहितं संस्तरमारूढस्य अष्टाचत्वारिंशत्  
समाधिसहायान्नियोलु चत्वारिंशत् गाथा सूत्रयत्रादौ तल्लक्षणख्यापनार्थं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—धीरा परीपदसहाः । छंदण्हू अभिप्रायविव. । पच्चइया अनेकवारान्परितप्रत्ययाः । धर्मो हि चारित्रं  
ततः स्वयमभिपचारित्राः क्षपकमपि चारित्रे वर्तयितुं सहायता च कर्तुं नोत्सहन्ते इति प्रियधर्माण इत्युच्यते । सम्यग्दृष्टितया  
चारित्रानुरागिणोऽपि चारित्रमोहोदयादस्थिरचारित्राः संत कथं क्षपकस्य चारित्रसमाधानाय प्रयतंत इति दृढधर्माण  
इत्युच्यते । पापादविभ्यतो नासंयमं त्यजेयुरित्यवधभीरव इत्युच्यते । यथोक्ता अप्यनुयाह्याभिप्रायवर्गितादिभि-  
रिति छंदण्हू इत्युच्यते । तादृशोप्यदृष्टपूर्वक्षपकोपचारा. साकारनिराकारप्रत्याख्यानक-

मानभिज्ञाश्च न गुरुभिस्तत्परिकर्मण्यधिक्रियन्ते इति प्रत्ययिता प्रत्याख्यानक्रमज्ञाश्रय्युच्यते । एवमुत्तरसूत्रेऽपि पदसाफल्यं चित्यम् ।

परिचारकोंका लक्षण दो गाथाओंसे आचार्य कहते हैं—

अर्थ—जिनका धर्मपर गाढ प्रेम है और जो स्वयं धर्म में स्थिर हैं संसारसे और पापसे जो हमेशा भययुक्त हैं, धैर्यवान और शपकके अभिप्रायको जाननेवाले, प्रत्याख्यानके ज्ञाता ऐसे परिचारक शपककी श्रुत्वा करने योग्य माने गये हैं. धर्म अर्थात् चारित्र. जो यदि स्वयं चारित्रपर प्रेम करते हैं वे शपकको भी उसके पालनेमें उत्साहित करेंगे और उसको मदत करेंगे. सम्यग्दृष्टि होनेसे चारित्र में वे केवल प्रेम ही करते हैं और चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उनका चारित्र शिथिल होपा एसी शंकाका निरासन करनेके लिये 'दिग्धम्मा' यह विशेषण है. अर्थात् परिचारक जैसे चारित्रपर प्रेम करते हैं वैसे वे उसमें दृढ भी रहते हैं. जिनका चारित्र दृढ होता नहीं वे असयमका त्याग करनेमें असमर्थ होते हैं. परिचारक गण पापसे भययुक्त हैं अतः वे असंयमका त्याग करते हैं. नाना प्रकार के दुःखोंका निधानभूत ऐसे चतुर्गतिके भ्रमण से वे व्याकुल होगये हैं इसलिये वे संसारभीरु बने हैं परिपक्वोंको वे सहन करते हैं. जो परीपक्वोंसे पराजित होते हैं वे संयम पालनेमें असमर्थ देख जाते हैं. जो शपक के बिना कहे भी मनके अभिप्राय जानते हैं वे ही वैयावृत्य कर सकते हैं. परंतु जिनमें अभिप्राय जाननेका सामर्थ्य नहीं है वे वैयावृत्य नहीं कर सकेंगे ऐसा अभिप्राय 'छंदण्हु' इस पदसे आचार्य ने व्यक्त किया है. जिनको साकार और निराकार प्रत्याख्यान का क्रम ज्ञात नहीं है और जिन्होंने पूर्वमें कमा शपकका वैयावृत्य किया नहीं है ऐसे सुनि अभिप्राय जाननेवाले हो तो भी उनको आचार्य परिचारकके कार्यमें नियुक्त नहीं करते हैं. इसलिये परिचारक प्रत्ययित अर्थात् अनेकवार शपक की सेवा जिन्होंने की है अर्थात् जो अनुभवी हैं ऐसे होने चाहिये.

कप्पाकण्ये कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा ॥

गीदत्था भयवंता अडदालीस तु गिज्जवया ॥ ६४८ ॥

प्रत्याख्यानविदो धीराः समाधानाक्रियोद्यता ॥

षट्ताडिताष्टसंख्याना ग्राह्या निर्यापकाः पराः ॥ ६४९ ॥

विजयोदया—कृष्णारुणे कुसला योग्ययिदमथोपयमिति भक्तपानपरीक्षाया कुशला । समाधिकरणज्जरा क्षपकक्षितसमाधानकरणेद्यता । सुदृढस्सा श्रुतप्रावधिचतुर्ग्रथा । गीत्या गृहीतसूत्रार्था । भगवते भगवत स्वपरो-  
द्वारणमाहृत्यवन्त । अडवालीस तु अप्रचत्वारिंशत्सख्या । गिज्जवगा निर्योपका उतव ॥

मूलारा—कृष्णकणे ओग्यायोग्यभक्तगानाविपरीक्षाया । भयनता स्वपरोद्वारणमाहृत्यवन्त ।

अर्थ—ये आहारपानादिक पदार्थ योग्य हैं इनका ज्ञान परिचारकों को होना आवश्यक है यदि वे इस ज्ञानसे वंचित हो तो क्षपकको असंयमों भी प्रवृत्त करने लग जायेंगे, आयोग्य आहारमें भी प्रवृत्त करेंगे, क्षपकका चित्त समाधान करनेवाले, प्रायश्चित्त ग्रथको जाननेवाले आगमज्ञ, स्वयं ओर परका उद्धार करनेमें कुशल अर्थात् स्वपरोपकार करके उद्धार करते हैं ऐसी जिनकी जगमें कीर्ति फैली है, ऐसे परिचारक यति अडवालीस होते हैं

निर्योपका इममुपकारं कुर्वन्तीति कथनयोत्तरप्रबंध -

आमासणपरिमासणचंक्रमणासयण णिमीदणे ठाणे ॥

उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा उटणादीसु ॥ ६४९ ॥

आमर्शनपरामर्शगमस्थानशयादिषु ॥

उद्धर्तनपरार्तवर्तनप्रसाराकुंचनादिषु ॥ ६७५ ॥

विजयोदया—आमासणपरिमासणचक्रमणसयणणिमीदणे ठाणे क्षपकस्य शरीरकदेशस्य स्पर्शने आम-  
र्शन, समस्तशरीरस्य हस्तेन स्पर्शने परिमर्शन । चक्रमणमितस्ततो गमन । णिमीदणे ठाणे निपद्यास्थानमित्येतेषु ।  
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणाउटणादीसु । उद्धर्तने पार्थव्यात्पार्थ्वन्तरस्वरणे । हस्तपादादिप्रसारणे आकुंचनमित्यादिषु च ॥

निर्योपका क्षपकस्येवमिममुपकारं कुर्वन्तीत्युत्तरप्रबंधेन कथयित्वाद्यादौ तेपा तदेहपरिचर्यायां चतुरो नियोकुं  
गाथाद्वयमाह—

मूलारा—आमासण-शरीरकदेशस्पर्शन । परिमासण सर्वगात्रस्पर्शन । चंक्रमण इतस्ततो परिचरणं ॥

क्षपकके ऊपर उनके द्वारा किये जानेवाले उपकारका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—शरीरके एक देशका स्पर्शन करना उसको आमर्शन कहते हैं, अर्थात् हाथ या पांव वगैरे अव-  
यवोंकी वाधा दूर करनेके लिये हाथसे दावना, पगचपी करना, संपूर्ण अंगके स्पर्शनको परिमर्शन कहते हैं अर्थात्

संपूर्ण अंग अपने हाथसे खूब दाबना जिससे क्षपककी देहगाथा भिंटीपी. क्षपकको हाथका आश्रय देकर डयर उधर चलते समय मदत करना इसको चक्रमाण कहते हैं. उसको संस्तरपर सुलाना, हाथ देकर बैठाना, खड़ा करना, उसको एकत्रगलसे दूसरे वरगलपर सुलाना, हाथ पांव पसारना, संकुचित करना इत्यादिक उपकार परिचारक मुनि करते हैं

संजदकमेण खवयस्स देहकिरियासु णिच्चमाउत्ता ॥

चटुरो समाधिकामा ओलगंगता पडिचरंति ॥ ६५० ॥

देहकर्मसु चेष्टंते क्षपकस्य समाधिदाः ॥

सत्वारो यतयो भक्त्या परिचर्योपरायणाः ॥ ६५६ ॥

विजयोदयां - संजदकमेण प्रयत्नेनैव । सवयस्स क्षपकस्य । देहकिरियासु शरीरक्रियासु व्यावर्णितासु । णिच्चं प्रतिदिनं । आजुत्ता आयुक्ता । चटुरो चत्वारो यतयः । समाधिकामा. क्षपकस्य समाधिकरणमभिलषन्ते । ओलगंगता उपासनां कुर्वन्त । पडिचरंति प्रतिचारका भवन्ति । 'चत्तारि जणा घम्म कहति विक्रयाओ वडिजत्ता' इति पदसमूह चत्वारो धर्म कथयन्ति विक्रया' परित्यज्य ॥

मूलरा--संजदकमेण मुनिमार्गेण । आउत्ता मनोवाककार्यैः समाहिताः । समाधिकामा क्षपकस्य समाधिभि-  
च्छन्तः । ओलगंगता पशुष्टिं कुर्वन्ति । पडिचरंति प्रतिचारका भवन्ति ॥

अर्थ-यह सब उपकार करते समय परिचारक सावधानी रखते हैं. अर्थात् असंयमकी उत्पत्ति न होगी और क्षपकको समाधान होगा ऐसा श्रयत्न करते हैं. उपर्युक्त कार्य करनेकोलिये हमेशा चार परिचारक मुनिओंकी नियोज-  
पकाचार्य योजना करते हैं

कास्ता विकथा भवन्ति ।

भत्तिथिराजजणवदकंपत्थण्डणट्टियकहाओ ॥

वडिजत्ता विकहाओ अंडझप्पविराघणकरीओ ॥ ६५१ ॥

खोराजमन्मथाहारद्वयदेशादिगोचराः ॥

विसुब्ब विकथाः सर्वाः समाधाननिपूदनीः ॥ ६७७ ॥

विजयोदया—भक्तित्थिरायजणवदंष्ट्रतथण्डणट्टिराकहाओ । भक्तं भज्यते सेव्यते इति भक्तं चतुर्विधाहार । भक्तस्य, स्त्रीणां, राज्ञा, जनपदाना रागोदिकात्मह्राससम्मिश्रोऽक्षिप्रवाक्प्रयोग, कंदर्प, तस्य अर्थस्य, नटानां, नर्तिकानां च याः कथास्ताः । अज्झप्पविराधणकरीओ । अत्तमानमधिचरते इत्याध्यात्मिकं । आत्मानस्तत्त्वनिश्चयनिरूपणं ध्यानं तस्य विराधणकरीओ विराधनाकारिणी ॥

चत्वारो विक्रयास्त्यक्त्वा धर्मं कथयंतीत्येतद्वाथात्रयेणाह—

मूलारा—भक्तित्थि भक्तकथा स्त्रीकथा च । कंदर्पस्य कामकथा धनकथा च । णडणट्टिय नटनार्विकाकथा । विक्रयाओ मार्गविरुद्धकथा । अज्झप्प शुभध्यानं ॥

चार मुनि विक्रयाओका त्याग कर धर्मकथाका वर्णन करते हैं ऐसा आगे संबंध स्पष्ट करेंगे, प्रथम विक्रयाओका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—चार प्रकारके आहारका वर्णन करना भक्तकथा है, स्त्रियोंका वर्णन करना स्त्रीकथा है, राजा-ओंकी कथा कहना राजकथा है और अनेक देशोंका वर्णन करना देशकथा है, कामविकारसे उन्मत्त होकर हास्य-मिश्र असभ्य वचन बोलना उसको कंदर्प कहते हैं, बांसके ऊपर खेलनेवाले और नृत्य करनेवालोंका वर्णन करना ये सब कुकथायें हैं, ये आत्मके स्वस्वरूपके चिंतनमें बाधा उत्पन्न करती हैं, इस लिये इनका त्यागकर क्षपकको चार मुनि हमेशा धर्मका उपदेश देते हैं.

कथं तर्हि कथयंति—

अखलिदममिडिमव्वाइमणुच्चमविलंबिदममंदं ॥

कतममिच्छामेलिदमणत्थहीणं अपुणरुत्तं ॥ ६५२ ॥

अनाकुलमनुद्विग्रमन्याक्षेपमनुद्धतं ॥

अनर्थहीनमश्लिष्टमविचलितमद्रुतम् ॥ ६७८ ॥

विजयोदया—अखलिदं अस्खलितं अन्यथा शब्दोच्चारण शब्दस्खलना, विपरीतार्थनिरूपणा अर्थस्खलना । अमिडिदं अनाश्रितं । असमुग्य । अव्वाइदं अव्याहत अग्रतिहतं प्रत्यक्षादिना । अणुच्चं नातिमहदुच्चनिसमेत । अविलंबित नातिशयै । अमंद नात्यल्पघोषं । कन्तं ओद्यमनोहर । अमिच्छामेलिद मिथ्यात्वेनानुमिश्रं । अणत्थहीणं अभिधेय-शून्य यन्न भवति । अपुणरुत्त उक्तस्य अविशेषण भूयोऽभिधान पुनरुक्तं यथा तत्पौनरुक्तं न भवति ।

मूलारा—अखलिदं अस्खलितं । अन्यथा शब्दोच्चारणविपरीतार्थकथनरहितं । असिलिदं असंदिग्धं । अन्वा-  
इष्टं प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणाविरुद्धं । अनुप्य नाल्युच्चैर्ध्वनि । आविलबितं । अपुनरुत्तं उक्तस्यार्थस्य आविशेषेण भूयोऽभिधानर-  
हितम् ।

मुनि धर्मोपदेश किस प्रकार कहते हैं--

अर्थ—वे मुनि जब धर्मोपदेश देते हैं तब उनके मुखसे जिस अभिप्राय के शब्द निकलने चाहिये वे ही निकलते हैं विपरीत अर्थका कभी भी वे वर्णन नहीं करते हैं, एकही शब्द वे दो तीन दर्फे नहीं बोलते हैं, सशय उत्पन्न करने वाला भाषण वर्ज्य करके प्रत्यक्षपरोक्षादि प्रमाणसे आविरुद्ध वचन मुखसे निकालते हैं, उच्चस्वर और मंदस्वर का त्याग कर मध्यमस्वरसे वे भाषण करते हैं अतिशय सावकाश और अतिशीघ्रताको छोड़कर मध्यम पद्धतिका अवलंबकर बोलते हैं, उनका भाषण, कर्णमनोहर, मिथ्यात्वसे अमिश्रित, निरर्थकतागरहित रहता है, जो अर्थ पूरा दर्फे कहा है, उसको ही पुन कहा पुनरुक्तदोष कहा जाता है इस दोषसे रहित उन मुनिगणका भाषण रहता है.

णिद्धं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्ज पत्यं च ॥

चत्तारि जणा धम्मं कहंति णिच्चं विचित्तकहा ॥ ६५३ ॥

प्रल्हादजनकं पथ्यं मधुरं हृदयंगमं ॥

धर्मं वदन्ति चत्वारो हृद्यचित्रकथोद्यताः ॥ ६७९ ॥

विजयोद्यता—णिद्धं प्रिय । मधुरं ललितपदवर्णरचन । हिदयंगमं श्रोत्रहृदयानुभवेशि । पल्हादणिज्ज पत्यं च सुखदं पथ्यं च कहति कथयंति । णिद्धं अनुपूरतं । विचित्तकहा नानाकथाकुशला ॥

मूलारा—णिद्धं प्रियं । मधुरं ललितवर्णपदरचनं । विचित्तकथा नानाकथाकुशलः ॥

अर्थ—प्रिय, सुंदरशब्दरचनायुक्त, ज्ञान और हृदयमें प्रवेश करने वाला सुलकार, हितप्रद ऐसा धर्मोपदेश अनेक कथाओंके साथ वे चार परिचारक मुनि कहते हैं



कीदृशी क्षपकस्य कथा श्रणितव्याः श्रवणोद्ये—

खवयस्स कहेदव्वा तु सा कहा जं सुणित्तु सो खवओ ॥

जहिदविसोत्तिगभावं गच्छदि संवेगणिज्वेगं ॥ ६५४ ॥

क्षपकस्य कथा कथ्या सा यां श्रुत्वा विमुंचते ॥

सर्वथा विपरीणामं याति संवेगनिर्विदौ ॥ ६८० ॥

विजयोदया—खवगस्स क्षपकस्य । सा कहा सा कथा । कहेदव्वा कथयितव्या । सो खवओ असौ क्षपकः । जं या कथा । सुणित्तु श्रुत्वा । जहिदविसोत्तिगभावो त्यक्ताशुभपरिणाम । गच्छदि संवेगणिज्वेगं संसारभीरता शरीरभो-  
गनिर्वेदं च प्रतिपद्यत ।

एवं सभा प्रति धर्मोपदेशविधिमभिधाय क्षपकं प्रति कथाविक्षेपकथनं नियमयति—

मूलारा—सुणित्तु श्रुत्वा । जहिद त्यक्त्वा । विसोत्तिगभावं दुरध्यवसायं ॥

क्षपकको कोनसी कथा कहना योग्य है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—क्षपकको वह कथा सुनानी चाहिये कि जिसके सुननेसे उसके अन्तःकरणमें उत्पन्न हुए अशुभ परिणाम विनष्ट होकर वह संसारभीत और देहभोगसे विरक्त हो जावेगा।

आक्खेवणी य संवेगणी य णिज्वेयणी य खवयस्स ॥

पावोग्गा होति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥ ६५५ ॥

भवत्त्याक्षेपानिर्वेगनिर्वेदजनिकाः कथाः ॥

क्षपकस्योचितान्तिस्त्रो विक्षेपजनिका तु नो ॥ ६८१ ॥

विजयोदया—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी निर्वजनी चेति चतस्र कथाः । तासा मध्ये का योग्या ? का वायोग्येत्यत्रोत्तरं ब्रवीति । आक्खेवणी य इति आक्षेपणी, संवेजनी, निर्वजनी च कथा क्षपकस्य श्रोतुं, आख्यातुं च योग्या । विक्षेपणी तु कथा न योग्या इति सूत्रार्थः ।

मूलारा—विक्षेपणीवर्जनमाक्षेपण्यादिकथात्रयं क्षपकस्य श्राव्यतयोपदिशति ॥

अर्थ—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निवेजनी ऐसे कथा के चार भेद हैं. इन कथाओंमें आक्षेपणी, संवेजनी और निवेजनी क्रथायें क्षपकको सुनाना योग्य हैं. विक्षेपणी कथाका निरूपण करना हितकर न होगा।

तासा कथातां स्वरूपनिर्देशायोत्तरं गाथाद्वयं—

आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदस्सिदे जत्थ ॥

ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम ॥ ६५६ ॥

कथा साक्षेपणी ब्रूते या विद्याचरणादिकम् ॥

विक्षेपणी कथा वाक्ति परत्तमसमयौ पुन ॥ ६८२ ॥

विजयोदया—आक्खेवणी ऊहा सा सा आक्षेपणी कथा मण्यते । जत्थ यस्या कथाया । विज्जाचरणमुवदस्सिदे ज्ञानं चारित्र्यं चोपदिश्यते । एवंभूतानि मत्पादीनि ज्ञानानि सामायिकादीनि वा चारित्र्याण्येवस्वरूपाणि इति । ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम । भग कथा स्वसमयं परसमयं वाश्रित्य प्रवृत्ता सा विक्षेपणी मण्यते । सर्वथा नित्य, सर्वथा क्षणिक, एकमेवानेकमेव वा, सदैव, विद्यमानमात्र वा शून्यमेवेत्यादिक परसमयं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षानुमानेन आगमेन च विरोध प्रदर्श्य कथंचित्त्वित्य, कथंचिद्वेक, कथंचिद्वेकं, इत्यादिस्वसमयनिरूपणा च विक्षेपणी ॥

किलक्षणा ताः कथा इत्यत्र गाथाद्वयमाह—

मूलारा—विज्जामित्यादि ज्ञानं । चरणं सामायिकादिचारित्रं । ससमयपरसमयगदा सर्वथा नित्यमेव सर्वथा क्षणिकमेवेत्यादिपरमतं पूर्वपक्षीकृत्यं प्रत्यक्षादिना च प्रतिक्षित्य कथंचित्त्वित्यं कथंचित्त्वित्यं इत्यादि स्वमतं प्रतीत्यवष्टेभेन व्यवस्थापयतीत्यर्थः ।

इन कथाओंका स्वरूप आचार्य दो गाथाओंसे कहते हैं—

अर्थ—जिसमें सम्यग्ज्ञान और चारित्र्यका निरूपण किया जाता है उस कथाको आक्षेपणी कहते हैं. अर्थात् मति, श्रुत, अवाधि वगैरह पांच प्रकारके सम्यग्ज्ञानका स्वरूप, और सामायिक छेदोपस्थापना वगैरह पांच प्रकारके चारित्र्यका स्वरूप जिसमें कहा गया है उसको आक्षेपणी कथा कहते हैं. जिस कथामें जेतमतके सिद्धांतों का और परमतका निरूपण है उसको विक्षेपणी कथा कहते हैं इसका विशेष विशेष च—वस्तु सर्वथा-नित्य ही है,

सर्वथा अनित्य ही है, सर्वथा एक ही है, सर्वथा अनेकही है, सर्वथा सद्रूप ही है, सर्वथा विज्ञानरूप ही है, सर्वथा शून्य ही है, इत्यादि अन्यमतोंके सिद्धांतोंको पूर्वपक्षमें स्थापित कर उत्तरपक्षमें वे सिद्धांत ग्रन्थक्ष, अनुमान और आगमसे विरुद्ध हैं ऐसा सिद्ध करके वस्तुका स्वरूप कथंचित् अनित्य, कथंचित् एक, कथंचित् अनेक, इत्यादिरूपसे जैनमतके द्वारा सिद्ध करना यह विक्षेपणी कथाका वस्तुस्वरूप है

संवेयणी पुण कहा णाचरित्तं तववीरिय इड्डिगदा ॥

णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोवे य ॥ ६५७ ॥

संवेजनी कथा वृत्ते ज्ञानचारित्र्यैवभावा ॥

निर्वेदनी कथा वक्ति भोगांगदेरसारताम् ॥ ६८३ ॥

विजयोदया—संवेयणी पुण कहा संवेजनी पुन' कथा । णाणचरित्तववीरिय इड्डिगदा ज्ञानचारित्र्यतपोभावना जनितशक्तिसंपन्निरूपणपरा । णिव्वेयणी पुण कथा निर्वेजनी पुनः कथा सा । सरीरभोगे भवोवे य शरीरे, भोगे, भवसंततो च पराङ्मुखताकारिणी शरीराण्यशुचीभि, रसादिसंतथातुमयत्वात् । शुक्रशोणितवीजत्वात्, अशुच्यग्राह्यपरिवर्द्धितत्वात् अशुचित्थाननिर्गतत्वात् च न केवलमशुच्यसारमपि । अनित्यकायस्वभावा प्राणभृत' इति शरीरतत्त्वाध्यायणात् । तथा भोगा दुर्लभा. स्त्रीवल्लगधमाल्यभोजनादयो लब्ध्या अपि कथंचिन्न तृप्तिं जनयन्ति । अलाभे तेषां, लब्धानां वा चिन्ता शोको महाउदेति । देवमनुजमवापि दुर्लभो, दुःखबुलौ अल्पसुखो इति निरूपणात् । तथा ॥

मूलारा—णाणेत्यादि—ज्ञानचारित्र्यतपोभावनाजनितशक्तिसंपन्निरूपणपरा । भवोवे भवसंततो शरीरादिविषय अशुचित्वादितत्त्वनिरूपणेन पराङ्मुखताकारिणी निर्वेदनीति व्याख्येयम् ।

अर्थ—ज्ञान, चारित्र्य, तप इनका अभ्यास करनेसे आत्मामें कैसी २ अलौकिक शक्तियां प्रगट होती हैं इनका खुलासेवार वर्णन करनेवाली कथाको संवेजनी कथा कहते हैं. शरीर, भोग और जन्म परंपरामें विरक्ति उत्पन्न करनेवाली कथाका निर्वेजनी कथा ऐसा नाम है. इसका खुलासा—शरीर अपवित्र है क्योंकि यह रस, रक्त, मांस, शुक्र वर्गेरह सप्त धातुओंसे बना है रक्त और वीर्य इसके उपादान कारण हैं. अपवित्र आहारसे इसकी वृद्धि हुई है, अर्थात् माताने खाया हुआ और लालारससे अपवित्र—उच्छिष्ट बना आहार गर्भविस्थामें जीवके शरीरमें प्रविष्ट होता है तब यह शरीर बढ़ता है. अशुचिस्थानसे—योनीसे यह निकला है इस लिये भी अपवित्र है. न केवल यह

अपवित्र ही है पातु निःसार भी है, इस शरीरके आश्रयसे आत्माको भी अनित्यता प्राप्त हुई है, अर्थात् इस आत्माको चार चार जन्म मरण धारण करना पड़ा है वस्त्र, स्त्री, गंध, पुष्पमाला, भोजन वगैरह भोगपदार्थ दुर्लभ हैं इनकी प्राप्ति होनेपर आत्मा तृप्त होता नहीं इनका लाभ नहीं होनेसे अथवा लाभ होने पर भी यदि ये शीघ्र नष्ट हो गये तो महान् दुःख उत्पन्न होता है.

देवजन्मकी प्राप्ति होना व मनुष्यजन्म मिलना दोनों दुर्लभ हैं, ये बहुत दुःखोंसे भरे हैं, इनमें अल्प सुख की प्राप्ति होती है, इस प्रकारका वर्णन जिसमें किया जाता है वह कथा निर्वेजनी कथा कहाती है

विश्वेवणी अणुरदस्स आउगं जदि हवेज्ज पक्खीणं ॥

होज्ज असमाधिमरणे अप्पागमियस्स खवगस्स ॥ ६५८ ॥

विश्वेपणीरतस्यास्य जीवितं यदि गच्छति ॥

तदानीमसमाधानफला सा तस्य जायते ॥ ६८४ ॥

विजयोक्त्या — विश्वेपण्या परस्मयनिरूपणायां अनुरक्तस्योऽनु आउगं आयुष्कं । जदि हवेज्ज यदि भवेत् । पक्खीणं प्रक्षीण । होज्ज भवेत् असमाधिमरणं । अप्पागमियस्स स्वर्गस्स अल्पश्रुतस्य क्षपकस्य यदेव पूर्वपक्षीकृतं दूयणाभिधानाय तेव तत्त्वमित्ययवसायादसमीचीनज्ञानद्वन्द्वस्य रत्नत्रयैकान्य नास्तीति मन्यते ।

विश्वेपण्यामासक्त्यायुःप्रक्षयेऽल्पश्रुतस्यासमाधिमरणमाह —

मूलारा—अप्पागमियस्स अल्पश्रुतस्य ॥

अर्थ — विश्वेपणी कथामें जो की स्वमतका प्रतिपादन कर परमतका खंडन करती है यदि क्षपक अनु-रक्त हुआ है और ऐसी अवस्थामें यदि उसका आयुष्य विलीन होगा तो उसको असमाधिमरण होगा क्षपक अल्पश्रुत धारक हो तो पूर्वपक्षमें जो परमतका स्वरूप उत्तरपक्षमें दूषित करने के लिये कहा है वही वस्तुका सत्य-स्वरूप है ऐसी श्रद्धान करेगा जिससे उसको रत्नत्रयागधना न होगी.

बहुश्रुतस्य तर्ह्युपयोगिनी विक्षेपणीतीमा शंकां निरस्यति —

आगमसाहचर्यागो विकहा विवलेवणी अपाउग्गा ॥

अबुज्जदमि मरणे तस्स वि एदं अणायदणं ॥ ६५९ ॥

कथया बहुश्रुतस्यापि नासन्ने मरणे सन्ति ॥

अनाचारं न कुर्वन्ति महांतो हि कदाचन ॥ ६८५ ॥

विजयोदया — आगममहत्त्वपणदो वि बहुश्रुतस्यापि । विवलेवणी विक्षेपणी अपाउग्गा अप्रायोग्या । अबुज्जदमि मरणे रत्नत्रयाराधनपरे मरणे । तस्स वि बहुश्रुतस्यापि एदं एतत् । अणायदणं अनायतन अनाधार ॥

अनल्पश्रुतस्य विक्षेपणी कथोपयोगिनी भविष्यतीत्याशंका निरस्यति—

मूलारा — अबुज्जदमि रत्नत्रयाराधनपरे । तस्स वि अल्पश्रुतस्य पुनः सुतरामपकारिकैत्यमर्थः । अणायदणं असमाधिमरणप्रणयनात् ॥

जो बहुश्रुत है उसने लिये विक्षेपणी कथा उपयोगिनी होगी इस शंकाका निरसन करते हैं —

अर्थ — यदि क्षपक आगमज्ञानी होगा तो भी यह विक्षेपणी कथा रत्नत्रयाराधना जिसमें की जाती है ऐसे समाधिमरणके समयमें उसको अयोग्यही मानी है, क्यों कि यह विक्षेपणी कथा समाधिमरण के लिये सहायक नहीं है, आधारभूत नहीं है.

अबुज्जदमि मरणे संथारत्थस्स चरमवेलाए

तिविहं पि कहंति कंहं तिदंडपरिमोडया तम्हा ॥ ६६० ॥

विक्षेपिणीं विमुच्यतातः समाधानविधायिनः ॥

कथयन्ति कथास्तिस्रो निखिदंडन्निगौरवाः ॥ ६८६ ॥

विजयोदया — अबुज्जदमि मरणे । निखिदंडमि मरणे । कस्य संथारत्थस्स चरिमवेलाए । सस्तरत्थस्य अतकाले । तिविहं विकहति कथं सवेजनी, तिंविजनीं आक्षेपणीं च कथा कथयन्ति । तिदंडपरिमोडया अशुभमनोवाक्काया दंडशब्देनोच्यते । तद्वेदनकारिणं सूर्य । तम्हा तस्मात् । अनायतनत्वादिद्विषय्या ॥

मूलारा — चरिमवेलाए प्रत्यासन्नमरणभण्णे । तिउंडपरिमोडया । अशुभमनोवाक्कायनिर्मूलका साधवः ॥  
अर्थ — संस्तरमें पड़े हुए क्षपकना मरणकाल जब निकट आचुका है तो ऐसे समयमें अर्थात् अन्तसमय में अशुभ मनोविचार, अशुभ शरीर प्रवृत्ति और अशुभवचन इनका त्याग करनेवाले गणधरादि मुनि संवेजनी, निर्वेजनी और आक्षेपणी ऐसी तीन कथाओंकाही वर्णन करते हैं. विक्षेपणी कथा ममाधिमरणके लिये आधाररूप नहीं है. इसलिये उसका निरूपण करते नहीं.

जुत्तस्स तवधुराए अब्भुज्जदमरणेणुसीसंमि ॥

तह ते कहेंति धीरा जह सो आराहओ होदि ॥ ६६१ ॥

तपोभावनियुक्तस्य मृत्यासज्जतयेति तम् ॥

ते वदंति तथा तस्य भवत्याराधको यथा ॥ ६८७ ॥

विजयोदया—जुत्तस्स युक्तस्य । तवधुराए तपोभारेण । अब्भुज्जदमरणेणुसीसंमि समीपीभूतमरणवशास्य शिरसि स्थितस्य क्षपकस्य । ते धीरा । तह तथा । कहेंति कथयन्ति । जह सो आराधनो होदि यथासावाराधको भवति रत्नत्रयस्य ॥

ते चत्वारो धर्मकथानियुक्ता यतयस्वथा कथयन्ति यथा रत्नत्रयमाराधयत्येवेत्यवस्थापयन्नाह—

मूलारा — अब्भुज्जदेत्यादि । समीपीभूतमरणवंगस्य शिरसि क्षपकस्य ॥

अर्थ — तपका भार जिसने धारण किया है, निकट प्राप्त हुए समाधिमरणरूपी वासके अग्रभागपर जो ठहरा है ऐसे क्षपकको चार मुनि ऐसाही उपदेश देते हैं कि जिसको सुनकर वह रत्नत्रयका आराधक होगा.

चत्तारि जणा भत्तं उवकप्पेति अगिलाए पाओगं ॥

छंदियमवगदोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥ ६६२ ॥

तस्यानयंति चत्वारो योग्यमाहारमश्रमाः ॥

निर्माना लब्धिसंपन्नास्तदिष्टं गतदूषणं ॥ ६८८ ॥

विजयोदया—चत्वारि जणा चत्वारो यतयः । भस्त्र अशन । पाउणा प्रायोग्यं उद्दमाविदोषानुपहृतं । उवकप्पेति आनयति । अगिलाए ग्लानिमत्तेरेण । क्रियन्त कालमानयाम इति संकेश विना । छदिय क्षपकेण इष्ट अशन पान वा । क्षुत्पिपासापरोपद्रवशात्किरणक्षममित्येतावता तेनेष्ट न तु लौल्यात् । अद्रगददोसं वातपित्तश्लेष्मणामजनकं । क आनयति? अमाइणो मायारहिता अयोग्यमिति ये नानयन्ति । लड्डिसंपण्णा मोहान्तरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विता । अलब्धिमत्क्षपकं क्लेशयति । मायावी अयोग्य योग्यमिति कल्पयेत् ॥

चत्वारस्तदर्थं समुचितमशनं उपनयन्तीत्यनुशास्ति

मूलारा—उवकप्पेति आनयति । अगिलाए ग्लानिं विना क्रियन्तं कालं आनयाम इति संकेश विना । छदिय भक्षपानं क्षुत्पिपासादुःसमसमाधिकरं निराकरोतीत्येतावतैव क्षपकेणैष्ट । अवगददोसं वातपित्तश्लेष्मणामजनकं प्रशमकं च उद्दमादिरहितं वा । अमाइणो अयोग्यं योग्यमिति प्रतिपत्तरहिताः । लामांतरायक्षयोपशमाद्भिक्षालब्धिसमन्विताः । तथैव क्षपकस्यासंक्लेशनात् ॥

अर्थ — चार मुनि ग्लानिका त्यागकर उद्दमादिदोषरहित आहारके पदार्थ क्षपकके लिये लाते हैं, कितने दिनतक हमको लाना पड़ेगा ऐसा विचार वे मनमें नहीं करते हैं क्षपक जो पदार्थ चाहता है उनको वे लाते हैं, क्षपक भी जिनसे मूख और भ्यास ज्ञांत होगी ऐसे ही पदार्थ चाहता है लौल्यसे आहारकी इच्छा वह नहीं करता है क्षपकके वात, पित्त, और श्लेष्मको न बढ़ानेवाले पदार्थ ही परिचारक मुनि लाते हैं, परिचारक मुनिओंके हृदयमें मायाभाव नहीं रहता है अतः वे अयोग्य आहारको योग्य व्रतते नहीं, मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्मका क्षयोपशम जिनको प्राप्त हुआ है ऐसे ही परिचारक आहार लानेके कार्यमें आचार्यके द्वारा योजे जाते हैं, जिनको भिक्षालब्धि नहीं है ऐसे मुनि इस कार्यमें नियुक्त करनेसे क्षपकको क्लेश होगा.

चत्वारि जणा पाणयमुवकप्पन्ति अगिलाए पाओरंगं ॥

छदियमवगददोसं अमाइणो लड्डिसंपण्णा ॥ ६६३ ॥

विजयोदया—चत्वारि जणा इति स्पष्टार्थ गाथा—सूरिणा अनुज्ञातौ निवेदितत्मानौ द्वौ द्वौ पृथग्भक्त पृथ-  
क्पानं चानयतः ॥

चत्वारः क्षपकाय पानमानयन्तीत्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—चार मुनि आचार्यके द्वारा नियुक्त होकर क्षपकके लिये योग्य पीनेके पदार्थ लाते हैं, ( वाकी संपूर्ण अभिप्राय उपरकी गाथाके समान ही समझना चाहिये )

चत्वारि जणा रक्खवन्ति दवियमुवकप्पिय तय तेहिं ॥

अगिलाए अपमत्ता रववयस्स समाधिमिच्छंति ॥ ६६४ ॥

पान नयन्ति चत्वारो द्रव्यं तदुपकल्पितं ॥

अप्रमत्ता समाधानमिच्छन्तस्तस्य विश्रमा ॥ ६८९ ॥

विजयोदया—तेराभीत भक्त पान वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमादरहिता व्रता यथा न प्रविरान्ति, यथा चापरे न पातयन्ति ॥

चत्वारस्तद्वत्पानं तरा रक्षन्तीत्याह—

मूलारा—रक्षन्ति यथा व्रतादयो न पतंति परं वा न पातयति इत्यर्थः । दवियं द्रव्यं । उवकप्पिय आनीतं । तयं भक्तपान वा ।

अर्थ—उपयुक्त मुनिओंके द्वारा लाये हुए आहारके और पानके पदार्थोंका चार मुनि प्रमाद छोड़कर रक्षण करते हैं उन पदार्थोंमें व्रस जीवोंका प्रवेश न होगा और कोई गिरा न सर्वेभेग ऐसी संभाल वे करते हैं, क्योंकि क्षपकका जिस प्रकारसे चित्त रत्नत्रयमें एकाग्र रहेगा वैसे ही वे प्रयत्न करते हैं,

काइयमादी सव्वं चत्तारि पडिडुवन्ति रववयस्स ॥

पडिलेहंति य उवधोकोले सेज्जुवधिसंथारं ॥ ६६५ ॥

मलं क्षपन्ति चत्वारो वर्चप्रस्रवणादिकम् ॥

शय्यासंस्तरकौ कालद्वये प्रतिलिखन्ति च ॥ ६९० ॥

विजयोदया—काइयमादी सव्वं पुरीषप्रभृतिकं मलं सर्वं । क्षपकस्य चत्वारः । पडिडुवन्ति प्रतिष्ठापयति । पडिलेहति य प्रतिलिखति च । उवधो काले उदयास्तमनकालवेलयो । सेज्जुवधिसंथारं वसतिमुपकरणं, संस्तर च ॥



चत्वारस्तन्मलापनोदं तच्छ्रव्यादिप्रतिलेखनं च कुर्वन्तीत्याह -

मूलारा—काश्यमादि विभूत्रश्लेषमखेलानिमले । पडिदुर्वेति वहिः क्षिपन्ति । पडिडेहंति शोधयन्ति । उक्थो काले प्रातः सार्यं च ॥

अर्थ—चार मुनि क्षपकका मलमूत्र निकालनेका कार्य करते हैं तथा सूर्यके उदयकालमें और अस्त-कालके समयमें वे वसतिका, उपकरण और संस्तर इनको शुद्ध करते हैं, स्वच्छ करते हैं.

खवगस्स घरदुवारं सारक्खंति जणा चत्तारि ॥

चत्तारि समोसरणदुवारं रक्खन्ति जदणाए ॥ ६६६ ॥

क्षपकावतथद्वारं चत्वारः पान्ति यत्नतः ॥

धर्मश्रुतिगृहद्वारं चत्वारः पालयन्ति ते ॥ ६६७ ॥

विजयोदया—खवगस्स क्षपकस्य । घरदुवारं गृहद्वार । सारक्खति पालयन्ति । जदणाए यत्नेन । चत्तारि चत्वार । असंयतान् शिक्षकाश्च निषेधु द्वार पालयन्ति । चत्तारि चत्वार । समोसरणदुवारं समवसरणद्वारं । जदणाए यत्नेन आरक्षति पालयन्ति ॥

चत्वारस्तदुहद्वारं चत्वारश्च धर्मश्रवणमंडपद्वारं रक्षन्तीत्याह—

मूलारा—सारक्खंति पालयन्ति । अमंचतान् शिक्षकाञ्च निषेधु द्वारपालयन्ते । जदणाए यत्नेन । समोसरण-दुवारं धर्मश्रुतिगृहद्वारं ॥

अर्थ—चार परिचारक मुनि क्षपककी वसतिकाके दरवाजेका प्रयत्नसे रक्षण करते हैं, अर्थात् असंयत और शिक्षकोंको वे अंदर आनेको मना करते हैं, और चार मुनि समोसरण के द्वारका प्रयत्नसे रक्षण करते हैं धर्मोपदेश देनेके मंडपके द्वारपर चार मुनि रक्षणके लिये बैठते हैं.

जिदणिद्वा तल्लिच्छा रादौ जगंगति तह य चत्तारि ॥

चत्तारि गवेसति खु खेत्ते देसप्पवत्तीओ ॥ ६६७ ॥

निशि जाग्रति चत्वारो जितनिद्रा महोद्यमाः ॥

वार्तां मार्गन्ति चत्वारो यत्नादेशादिगोचराम् ॥ ६९२ ॥

विजयोदया—जितनिद्रा जितनिद्रा । तद्विच्छा निद्राजयलिसव । रावो राजौ । जगन्ति जागरं कुर्वन्ति । तद् य तत्र क्षपकसकाशे । चत्वारि चत्वार । गवेसति खु परिक्षा कुर्वन्ति । खेते क्षेत्रे स्थायुषिते । देशपवत्तीओ देशस्य क्षेमवार्ता ।

चत्वार क्षपकसमीपे रात्रौ जाग्रति चत्वारश्च स्वाध्युषितक्षेत्रे देशादिक्षेमाक्षेमवार्तां भ्रमयन्ते इत्याह—

मूलारा—तण्णिट्ठा क्षपकसत्तरा । देसपवत्तीओ देशराज्यादिगोचराः शुभाशुभवार्ता ।

अर्थ—निद्राको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले चार मुनि क्षपकके पास जागरण करते रहते हैं और जहाँ क्षपक और मंघ ठहरा है उस देशकी शुभाशुभ वार्ताका निरीक्षण करनेवाले चार मुनि आचार्योंके द्वारा नियुक्त किये जाते हैं,

वाहिं असह्वडियं कंहति चउरो चदुन्विधकहाओ ॥

ससमयपरसमयविट्ठू परिसाए सा समोसदाए खु ॥ ६९८ ॥

चहिर्वदन्ति चत्वारः स्वपरागामकोविदाः ॥

अनंतःशब्दपातं ते जनानां निखिलाः कथाः ॥ ६९९ ॥

विजयोदया—वाहिं वहिः क्षपकावासात् । असह्वडिग यावत् दूरे स्थितना शब्दो न श्रूयते । तत्र स्थित्वा । चउरो चत्वार पर्याधिण । कथाओ चतुर्विधा कथा पूर्वं व्यावर्णिता । कोहभूतत्सेने कथका अत आह—ससमयपरसमयविट्ठू स्वपरपक्षसिद्धातक्षा । परिसाए परिपेदे । समोसदाए डाक् समागतौये ॥

चत्वारश्च चतस्रोऽपि कथा कथयन्ति क्षपककर्णोपतितशब्दमिलाह—

मूलारा—वाहिं वहिः क्षपकावासाद्दूरे । असह्वडिय यथा क्षपको न शृणोति । चदुविध आशेषणीप्रमुखाः । परिसाए परिपदि । समोसदाए समुपविष्टाया । आगतायामित्यन्ये ॥

अर्थ—क्षपककी वसतिके बाहर क्षपक न सुन सके इतने अंतरपर स्वधर्म और अन्यधर्मोंके सिद्धांतोंका

रहस्य जाननेवाले चार मुनि सभामंडपमें आये हुए श्रीताओंको एकके अनंतर दूसरा इस पद्धतीसे आक्षेपण्यादि-  
कथाओंका वर्णन करते हैं.

वादी चचारि जणा सीहाणुग तह अणेयसत्थविट्ठु ॥

धम्मकहयाण रक्खाहेट्ठुं विहरंति परिसाए ॥ ६६९ ॥

चत्वारो वादिनोऽक्षोभ्याः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥

धर्मदेशनरक्षार्थं विचरन्ति समन्ततः ॥ ६९४ ॥

विजयोदया — वादी वादिन । चत्वारिजणा चत्वार । सीहाणुग सिंहसमान । अणेयसत्थविट्ठु अनेकशास्त्रज्ञ ।  
धम्मकहयाण धर्म कथयता । रक्खाहेट्ठु रक्षार्थ । विहरंति । इतस्ततो यान्ति । परिसाए परिपदि ।

चत्वारो वादिनो धर्मकथापराणा प्रवाद्याक्षेपनिरकरणाय सभायामितस्ततो विचरंतीत्याह --

मूलारा — महाणुभावा सिंहवत्परैरधृष्याः ।

अर्थ — अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, सिंहसमान ऐसे वाद करनेवाले चार मुनि धर्मकथा करनेवालोंका रक्षण करनेके लिये सभामें इधर उधर भ्रमण करते हैं.

एवं महाणुभावा पग्गहिदाए समाधिजदणाए ॥

त णिज्जवंति खवय अडयालीसं हि णिज्जवया ॥ ६७० ॥

एवमेकाग्रचेतस्काः कर्मनिर्जरणोद्यताः ॥

निर्यापका महाभागाः सर्वे निर्यापयन्ति तं ॥ ६९५ ॥

विजयोदया — एवं महाणुभावा, एवं माहात्म्यवंत । पग्गहिदाए प्रकृष्टया । समाधिजदणाए समाधौ श्रपकस्य  
प्रयत्नजुत्त्या । त णिज्जवंति खवय त निर्यापयन्ति क्षपकं । अडयालीस हि अप्रवत्तारिंशत्प्रमाणाः । णिज्जवगा निर्यापकाः ॥  
प्रस्तुतमुपसंहरति —

मूलारा — महाणुभावा माहात्म्याः । पग्गहिदाए प्रकृष्टया स्वीकृतया वा । समाधिजदणाए समाधौ यत्नजुत्त्या ।  
णिज्जवंति संसारार्णवाभिर्यातुं प्रयोजयंति ॥

अर्थ—इस प्रकार ये महात्म्यवान् अद्भुतलीस मुनि उत्कृष्ट प्रयत्नसे क्षपकको समाधि में एकाग्र करते हैं और संसारसमुद्रसे प्रयाण करनेवाले उस क्षपकको समाधिके कार्यमें अर्थात् रत्नत्रयमें मयुक्त करते हैं.

व्यावर्णितगुणा एव निर्यापका इति न ग्राह्य, किंतु भरतेरावतयोर्विचित्रकालस्य परावृत्ते कालानुसारेण प्राणिना गुणाः प्रवर्तन्ते तेन यदा यथाभूता शोभनगुणाः संभवति तदा तथाश्रुता यतयो निर्यापकत्वेन ग्राह्या इति दर्शयति -

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु ॥

ते तारिसया तदिया चोहालीसं पि णिज्जवया ॥ ६७१ ॥

कालानुसारतो ग्राह्याश्चत्वारिंशच्चतुर्थुताः ॥

भरतेरावतक्षेत्रभाविनो मुनिपुंगवाः ॥ ६७६ ॥

विजयोदया—जो जारिसओ कालो इत्यादिना यो यादृक्कालो । भरदेरवदेसु वासेसु भरतेरावतेषु जनपदेषु । पंचभरता पंचैरावतस्ते निर्यापकास्तारिसगा तादृग्भूता कालानुगुणा इति यावत् । तदिया तस्मिन्काले ग्राह्या इत्यर्थः । सर्वत्र सर्वदा यथोक्तगुणगणना एव निर्यापकाः स्युरिति न ग्राह्यं । कालानुसारेण प्राणिनां गुणप्रवृत्तेः भरतेरावतक्षेत्रेषु विचित्रकालपरावृत्तिरतस्तत्र यदा यथाभूता यावन्तश्च स्फुरद्गुणा यतय संभवन्ति तदा तथाभूतास्तावन्तश्चेति निर्यापकत्वेन व्यवस्थाप्या इति दर्शयितुमाह—

मूलारा—भरदेरवदेसु पंचसु भरतेषु पंचसु ऐरावतेषु । वासेसु क्षेत्रेषु । तदिया तदा तस्मिन्काले कालानुगुणा निर्यापका ग्राह्या इत्यर्थः ॥

जिनका गुणवर्णन ऊपर किया है ऐसे ही मुनि निर्यापक होते हैं ऐसा न समझना चाहिये. परंतु भारत और ऐरावत कालमें विचित्र कालका परावर्तन हुआ करता है इसलिये कालानुसार प्राणिओंके गुणोंमें भी जघन्य-मध्यमता और उत्कृष्टता आती है. जिससमय जैसे शोभन गुणोंका संभव रहता है उस समय जैसे गुणधारक मुनि निर्यापक परिचायक समझ कर ग्रहण करना चाहिये.

अर्थ - भरतक्षेत्रमें और ऐरावतक्षेत्रमें समस्तदेशोंमें जो जैमा काल प्रयंतता है उसके अनुसार निर्यापक समझना चाहिये अर्थात् मध्यमकालके प्रारंभमें चन्वेचालीत निर्यापक होते हैं.

एवं चदुरो चदुरो परिहोवेद्वगगा य जदणाए ॥  
कालमि संकलिट्टुमि जाव चत्तारि साधेति ॥ ६७२ ॥  
णिज्जावया य दोणिण वि होंति जहणेण कालसंसयणा ॥  
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥ ६७३ ॥  
हेयाः क्रमेण चत्वारश्चत्वारस्तावदंजसा ॥  
यावत्तिष्ठन्ति चत्वारः काले संक्खेयसंकुले ॥ ६९७ ॥  
कालानुसारिणौ ग्राह्यौ द्वौ जघन्येन योगिनौ ॥  
भरतैरावतक्षेत्रभवौ निर्यापकौ यती ॥ ६९८ ॥

विजयोदया — स्पष्टार्थोत्तरगाथाद्वयमिति न व्याख्यायेते ॥  
कालानुसारेणात्र निर्यापकाणां सख्याहासिक्रमं दर्शयति —

मूलारा — परिहोवेद्वगगा हानिं नेतव्या । जदणाए देशकालानुसारेण गुणेषु यत्नेन । संकलिट्टुन्मि संक्खे-  
शचहुले ॥

अर्थ — इस प्रकार देशकालानुसार गुणोंको यत्नसे देखकर इस संक्खेश परिणयुक्तकालमें चार चार निर्यापक क्रम क्रम करना चाहिये, वे तत्र तत्र क्रम करना जब वे चार रहेंगे अर्थात् क्षपकके समाधिभरण साधनेके लिये केवल देश, काल, गुणकी अपेक्षासे यदि चार ही निर्यापक हो तो भी समाधिभरणरूपकार्यकी समाप्ति होती है अतिशय संक्लिष्ट कालमें दो निर्यापक भी क्षपकके इस कार्यको साध सक्रते हैं, परंतु जिनागममें एक निर्यापकका किसी भी कालमें उल्लेख नहीं किया है.

जघन्यतो द्वौ निर्यापकौ इति किमर्थमुच्यते । एको जघन्यतो निर्यापक कसाज्जोपन्यस्त इत्याशकाया एकस्मिन्निर्यापके दोषमाचष्टे —

एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परोपवयणं च ॥  
वसणमसमाधिभरणं उडुहो दुग्गदी चवि ॥ ६७४ ॥

आत्मा त्यक्तः परं शास्त्रं एको निर्यापको यदि ॥  
असमाधेयमृतिव्यक्त्येयमसौ दुर्गतिः परा ॥ ६९९ ॥

विजयोदया—एको यदि निर्यापक । अप्या चत्तो आत्मा त्यक्तो भवति निर्यापकेण, परः क्षपकृत्यक्तो भवति ।  
पचयण च प्रवचन च त्यक्त भवति । वसण व्यसन दुःख भवति । अस्माधिमरणं समाधानमतरेण रतनत्रये सृति स्यात् ।  
उग्रहो धर्मदूषणा भवति । दुग्दी चावि दुर्गतिश्च भवति ॥

सर्वजवन्या निर्यापकसंख्या नियमयति

मूलारा—दुवे द्वौ ।

एकस्मिन्निर्यापके दोषानाह—

मूलारा—अप्या चत्तो निर्यापकेण आत्मा त्यक्तः । परो क्षपकः । वसणं दुःखं भवति । उग्रहो धर्मदूषण ।

जघन्यतासे एक निर्यापकका आगममें क्यों उल्लेख नहीं है. दो निर्यापकोंका क्यों उल्लेख किया है ऐसी शंका होनेपर आचार्य एक निर्यापक होनेमें उत्पन्न होनेवाले दोषोक्ता वर्णन करते हैं.

अर्थ—यदि एकही निर्यापक होय तो उसमें आत्मत्याग, क्षपकका त्याग और प्रवचनका भी त्याग होता है. एक निर्यापकमें दुःख उत्पन्न होता है और रतनत्रयमें एकाग्रतोके विना मरण हो जाता है. धर्मदूषण और दुर्गती भी होती है.

एव निर्यापकेणात्मा त्यक्तो भवति, एव क्षपक इत्येतत्कथ्यति —

खवगपडिजगणाए भिक्खुगहणादिमकुणमाणेण ॥

अप्या चत्तो तव्विवरीदो खवगो हवदि चत्तो ॥ ६७५ ॥

भिक्षाद्यविद्धानेन क्षपकप्रतिकर्मणा ॥

अनारतं प्रसक्तेन स्वस्त्यक्तोऽन्यो विपर्ययः ॥ ७०० ॥

विजयोदया—खवगपडिजगणाए क्षपकप्रतिजगरण्या क्षपकप्रतियत्तेन । खवगपडिजगणाए इत्यनया गा.प्या धनैव पदग्रहणा भिक्खुगहणादिमकुणमाणेण भिक्षाग्रहण, निद्रा, कायमलत्याग वा कुर्वता निर्यापकेण । अप्या चत्तो आत्मा त्यक्तो भवति । अशानाग्रहणादित्रया अभावाए । कायमलाना वाऽनिराकरणान्महती निर्यापकस्य पीडा ।

तद्विवरिदो यदि निर्याको भिक्षा भ्रमति निद्रातिशयशरीरमलनिरासार्थं याति, स्रवगो चत्तो भवति क्षपक-  
स्त्यक्तो भवति ॥

कथ आत्मा त्यक्तः कथं वा क्षपक इत्यत्राह—

मूलारा—पडिजगणाए कार्यकरणे । भिक्खमगहणादि भिक्षाग्रहणं कायमलत्यागं च । अकुणमणेण अकुर्वता  
निर्यापकेण । चत्तो अशनाग्रहणादिनिवारणाद्विष्णुवाद्यनुसुर्जनाच्च महत्तो पीडा प्रापितः । तद्विवरिदे भिक्षाभ्रमण-  
निद्राकरणकायशुद्धयर्थगमने । चत्तो त्यक्तः क्षपकस्तत्समाधानानुसंधानापलापात् ॥

एक निर्यापक से आत्माका और क्षपकका भी त्याग होता है इसका विवेचन—

अर्थ—क्षपकके कार्यमें हि यदि निर्यापक तत्पर रहेगा तो आहारग्रहण करना, शयन करना, और शरी-  
रमलका त्याग करना इन कार्योंका त्याग करनेमें निर्यापकको आत्मत्याग करना पड़ेगा। अर्थात् आहारका ग्रहण  
न करनेसे, निद्राका अभाव होनेसे, और शरीरमलका विसर्जन करनेसे निर्यापकको बड़ी वेदना होगी जिससे  
उसका देह पड़ेगा यदि निर्यापक भिक्षाग्रहणादि कार्यमें ही लग जावेगा अर्थात् वह भिक्षाके लिये यदि भ्रमण  
करेगा, खूब सोवेगा, और शौचके लिए जावेगा तो क्षपकका त्याग होगा।

खवयस्स अप्पणो वा चाए चत्तो हु होइ जइधम्मो ॥

णाणरस य बुच्छेदो पवयणचाओ कओ होदि ॥ ६७६ ॥

स्वस्यापरस्य वा त्यागे यातिधर्मो निराकृतः ॥

ततःप्रवचनत्यागो ज्ञानविच्छेदको मतः ॥ ७०१ ॥

विजयोदया—खवगरस अप्पणो वा चाए क्षपकस्यागमनो वा त्यागे । चत्तो खु होदि जइधम्मो त्यक्तो भवति  
यतिधर्मं । यतिधर्मो देवावुदयकरण स परित्तो भवति क्षपकमपहाय गमने । अगमने तु आवश्यकानि यतिधर्मेषु  
प्रधानानि रक्षकानि भवति कृत्विद्वत्यात् । णाणरस य बुच्छेदो ज्ञानस्यापि ध्युच्छेदो भवति, निर्पोपकेन सह मृति-  
मुपयाति । तदो तस्मात्पवयणचाओ होदि प्रवचनत्यागो भवति । प्रवचनशब्देनागम उच्यते । प्राप्ता हि केचिदेव भवती-  
ति चेदेकका निर्यापका अनशनादिनातिस्त्रिधा मृतिमुपेयु क शास्त्राण्युपदिशेत् कश्च धारयेद्देति प्रवचनत्यागः ॥

स्वपरत्यागे प्रवचनत्यागमाह—

मूलारा—जादिधम्मो यतेधम्मो वैद्यावृत्त्यकरणं पढावश्यक च त्यक्तं शक्तिवैकल्यात् । पाणस्स य वोच्छेदो ज्ञानस्यापि न्युच्छेद स्यान्निर्योपकमरणात् । पवयणचाओ तदो ततो ज्ञानव्युच्छेदात् प्रवचनस्यागमस्य त्यागो विसर्जनं भवति भोजनाद्यकरणेनातिक्लिष्टस्य निर्योपकस्य मरणात् । प्रज्ञा हि केचिदेव स्युः ॥

अर्थ—क्षपकका अथवा अपना त्याग होनेपर यतिधर्मका ही त्याग हुआ हुआ, वैद्यावृत्त्य करना यतिधर्म है आत्मत्याग अथवा क्षपकका त्याग होनेसे यतिधर्म भी नष्ट होता है, क्षपकको छोड़कर यदि निर्योपक जावेगा अथवा नहीं जावेगा तो यति धर्ममें जो सामाशिकादिक अवश्य कर्तव्य है उनका त्याग होगा, शक्ति कम होनेसे ज्ञानका भी नाश होगा निर्योपक और क्षपक दोनों भी मरेगे तो आगमका त्याग होगा, प्रायः विद्वान् एकाद ही होता है, इस वास्ते अहारादिकके कष्टसे खिन्न होकर निर्योपक मरणको प्राप्त होगा तो कोन शास्त्रोंका उपदेश करेगा और कोन शास्त्रको धारण करेगा ? इसलिये एकही निर्योपक होनेसे प्रवचनत्याग होता है यह सिद्ध हुआ.

व्यसनं व्याचष्टे—

चायमि कीरमाणे वसणं खवयरस क्षप्पणो चावि ॥

खवयरस अप्पणो वा चायमि हवेज्ज असमाधि ॥ ६७७ ॥

क्षपकस्यात्मनो वास्ति त्यागतो व्यसनं परम् ॥

भवेत्ततोऽसमाधानं क्षपकस्यात्मनोऽपि वा ॥ ७०२ ॥

विजयोदया—चायमि कीरमाणे त्यागे क्रियमाणे । वसणं खवयरस क्षपकस्य दुःखं भवति, प्रतिकासाभावात् । अप्पणो व वसण निर्योपकस्य वा व्यसनं भवति अशनादित्यागात् । असमाधिमरण व्याचष्टे—चायमि त्यागे सति । खवयरस असमाधि क्षपकस्य असमाधिमरण भवति । चित्तसमाधि कुर्वत, समीपे अभावात् । अप्पणो वा निर्योपकस्य वा । हवेज्ज भवेत् । असमाधि अशनावित्यागजनितदुःखव्याकुलस्य ॥

स्वरत्यगे दु समप्याह—

मूलारा—खवयरस क्षपकस्य दुःखं स्यात्प्रतीकाराभावात् । अप्पणो अशनादित्यागात् । असमाधी क्षपकस्य असमाधिः । समाधिकराचार्यसंनिधानाभावादाचार्यस्य वा अशनादित्यागजनितदुःखसंकलेशवेशात् ॥



व्यसन अर्थात् दुःखका वर्णन करते हैं—

अर्थ—निर्यापकने क्षपकको छोड़ देनेपर क्षपकको दुःख होता है, उस दुःखका क्षपक कुछ भी प्रतिकार नहीं कर सकता है और आहारादिका त्याग होनेसे निर्यापकको दुःख होता है, क्षपकका त्याग करनेपर उसके अंतःकरणको रत्नत्रयमें एकाग्र करनेवाला कोई न होनेसे उसका असमाधिमरण होता है, और यदि क्षपकके पास हमेशा निर्यापक रहनेसे उसको आहारादिकोंका त्याग करना पड़ेगा जिससे निर्यापककी भी रत्नत्रयमें एकाग्रता होना असंभव होगी

सेवेज्ज वा अकण्णं कुज्जा वा जायणाइ उड्डाहं ॥

तण्हाल्लुघादिभगो खवओ सुण्णस्मि णिज्जवए ॥ ६७८ ॥

शुधादिपीडितः शून्ये सेवते याचते यतः ॥

क्षपकः किंचनाकल्पं दुर्भोज्ययशस्तनः ॥ ७०३ ॥

विजयोदया—सेवेज्ज वा अकण्णं अयोग्यसेवां कुर्यात् । अस्थितभोजनादिकं पार्श्ववर्तिन्यसति । कुज्जा वा कुर्याद्वा । जायणाइ उड्डाह मिथ्यादृष्टीना गत्वा याचते शुधा वा तृणा वा अभिशृतोऽहं अशनं पानं वा देहीति । सुण्णस्मि णिज्जवगे अस्ति निर्यापके ॥

निर्यापकाभावेऽकीर्तिं वाक्ति-

मूलारा—अकण्णं अयोग्यमस्थितिभोजनादिकं । जायणादि याचनामन्त्रपानादिकप्रार्थनं मिथ्यादृष्टीन्प्रति । आदिशब्देन तत्त्ववैश्यादिकं । भग्नो पीडितः । सुण्णस्मि अविद्यमाने ।

अर्थ—यदि एक निर्यापक आहारादिके वास्ते बाहर गया तो इधर क्षपक अयोग्य सेवन करेगा अर्थात् बैठकर भोजन करना वगैरह कार्य करेगा, किंवा मिथ्यादृष्टिके पास जाकर याचना करेगा, मैं भुखसे पीडित हुआ हूँ अथवा प्यासेसे कष्टी हो रहा हूँ मेरे को खोनेके लिये या पीनेके लिये दो ऐसी याचना करेगा।

दुग्गादि एतद्व्याचष्टे—

असमाधिना व कालं करिज्ज सो सुण्णगस्मि णिज्जवगे ॥

गच्छेज्ज तवो खवओ दुग्गादिसमाधिकरणेण ॥ ६७९ ॥

यतोऽसमाधिना मृत्युं यांति निर्यापकं विना ॥

क्षपको दुर्गतिं भीमां दुःखदां लभते ततः ॥ ७०४ ॥

विजयोदया—असमाधिना व असति निर्यापके समीपस्थे समाधिप्रतरेण कालं कुर्यात् । त तस्तेन असमाधि-  
मरणेन । खवगो दुग्गादि गच्छेज्ज क्षपको दुर्गतिं यायात् अशुभध्यानात् ॥

असति निर्यापके दुर्गतिगमनामाह—

मूलारा—स्पष्टम्

दुर्गतिक्का वर्णन—

अर्थ—निर्यापक समीप न होनेपर क्षपकका असमाधिसं मरण होगा, और ऐसे मरणसे अर्थात् अशुभ-  
ध्यानपूर्वक मरनेसे क्षपकको दुर्गति होगी

सल्लेहणं सुणिच्चा जुचाचारेण णिज्जवेज्जंतं ॥

सर्वेर्हि वि गंतव्वं जदीहिं इदरत्थ भयणिज्जं ॥ ६८० ॥

चतुर्विधस्य संघस्य कश्चन प्रेषयेत्ततः ॥

संन्याससूत्रकाचार्यो निर्यापकगणेशिना ॥ ७०५ ॥

श्रुत्वा सल्लेखनां सर्वैरागतव्यं तपोधनैः ॥

कारितां शुद्धवृत्तेन भजनीयमतोऽन्यथा ॥ ७०६ ॥

विजयोदया—सल्लेहण सल्लेखना । सुणिच्चा श्रुत्वा । जुचाचारेण युक्ताचारेण सुखिणा णिज्जवेज्जंतं प्रवर्त्यमाना ।  
सर्वैरपि गंतव्यं यतिभिरितरत्र निर्यापके सुरो मंदचारित्रे भाज्यं । युक्तिः न वा यतयः ।

सम्यग्गाचार्येण प्रवर्त्यमाने क्षपकस्य समाधिमरणोपक्रमे श्रुते सति सर्वव्यतीनां तदुपसर्पणं अन्यथा विकल्पं

वाह—

मूलारा—जुत्ताचारेण सुविहिताचारेण सरिणा । गिब्जवेब्जंतं । प्रवर्त्यमानं । इदरत्थ मंडचारित्रे सूरौ निर्यापके सति । भयणिज्जं गंतव्यं न वेत्यर्थः—

अर्थ—निरतिचार रत्नत्रयका पालन करनेवाले निर्यापकाचार्य के द्वारा क्षपकका] सल्लेखनामरण होने वाला है यह सुनकर सर्व सुनिर्वाको क्षपकके पास जाना योग्य है, परंतु निर्यापकाचार्य मदचारित्रका धारक होगा तो यदि चाहे तो जा सकते हैं, अन्यथा नहीं.

सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिब्बभच्चिरायेण ॥

भोत्तूण य देवसुहं सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥ ६८१ ॥

एगम्मि भवगहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ॥

ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तहभवे पमोत्तूण ॥ ६८२ ॥

सोदूण उत्तमहस्स साधणं तिब्बभच्चिसंजुत्तो ॥

जदि णोवयादि का उत्तमहमरणम्मि से भती ॥ ६८३ ॥

एति सल्लेखनामूलं भक्तितो यो महामनाः ॥

स नित्यमश्नुते स्थानं भुक्त्वा भोगपरंपराः ॥ ७०७ ॥

एकत्र जन्मनि प्राणी त्रियते यः समाधिना ॥

अकल्मषः स निर्वाणं सप्ताष्टलभते भवैः ॥ ७०८ ॥

यो नैति परया भक्त्या श्रुत्वोत्तमार्थसाधनम् ॥

उत्तमार्थमृत्नौ तस्य जंतोर्भक्तिः कुतस्तनी ॥ ७०९ ॥

भक्तिः ॥

विजयोदया—सोदूण श्रुत्वा उत्तमार्थसाधन । तीमभक्तिसंयुक्तो यदि न गच्छेत् । नेव तस्य उत्तमार्थमरणे

अत्रेमे गाथे सदेऽनुश्रयेते—

मूलारा—एते श्री विजयाचार्यो नेच्छन्ति ।

समाधिमरणोपक्रमकर्णार्थानुपसर्पतो दोषमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जो यति तीव्र भक्तिरागमे सहस्रलक्षके स्थानकी वंदना करनेको जाते हैं उनको मरणोत्तर देवगति का सौख्य मिलता है अन्तर उनको मोक्षकी प्राप्ति होती है, जो यति एकरुभ्रम समाधिमरणसे मरण करता है वह अनेक भव धारण कर संसारमें भ्रमण नहीं करता। उसको सत आठ भव धारण करनेके अनंतर अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होगी।

अर्थ—समाधिमरणका साधन कोई मुनि कर रहा है ऐसा मालूम होनेपर अन्य अन्य संघके मुनि बड़े आदर भावसे उसके दर्शन के लिये जावे यदि कोई नहीं जायेगा तो उसी उत्तमार्थमरणमें भक्ति नहीं है ऐसा समझना चाहिये

उत्तमार्थमरणभक्त्यभावे दोषमाचष्ट—

जत्थ पुण उत्तममरणस्मि भत्ती ण विज्जेदे तस्स ॥

किह उत्तममरणं संपज्जदि मरणकालस्मि ॥ ६८४ ॥

उत्तमार्थमृतौ यस्य भक्तिर्नास्ति शरीरिणः ॥

उत्तमार्थमृतिस्तस्य मृतौ संपद्यते कुतः ॥ ७१० ॥

विजयोदया—जस्त पुण यस्य पुन उत्तमार्थमरणे भक्तिर्न विद्यते तस्य मरणकाले कथमुत्तमार्थमरणं संपद्यते इति दोषः सूचित ॥

उत्तमार्थमरणे भक्त्यभावे दोषमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

उत्तमार्थ मरणमें भक्ति न होनेसे क्या दोष होता है इनका वर्णन—

अर्थ—जिसकी उत्तमार्थमरणमें समाधिमरणमें भक्ति नहीं है उसको मरणकालमें उत्तमार्थमरणकी प्राप्ति कैसी होगी अर्थात् वह आर्तादिक अशुभध्यानसे मरणको प्राप्त होगा, ऐसा अभिप्राय इस गाथासे सूचित होता है,

सद्वद्वीणं पामं अल्लियदु असंवुडाण दादब्बं ॥  
तेसिं असंवुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी ॥ ६८५ ॥  
तस्यासंवृतवाक्यानां न पार्थ्वे देयमासितुं ॥

वचनैरसमाधानं तद्वैयर्थ्यायते यतः ॥ ७११ ॥

विजयोदया — असंवुडाण पास सद्वद्वीण अल्लियदु दादब्बं । असंवृताना अपक्कसमीपं ढोकन न दातव्य । यावद्देशस्थाना तेषा वचन न श्रूयते ।

कस्मादसंवृतजनलसीपागमन निषिध्यते इत्याचष्टे — तेसिं असंवुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी । तेषामसंवृताभिर्वाग्भिर्बन्धकस्य असमाधि । क्षीणो हि जनो यत्किञ्चिच्छ्रुवा कुप्यति स्नेहसमुपयति वा । उत्तमार्थसाधकस्य समीपे वाचलाना गमनं निषेद्धमाह —

मूलारा — सद्वद्वीणं शब्दः पतीना शब्दव्रतिना च कलकलकारिणाभिर्यथ । पामं समीपं अर्थात्क्षपकस्य । अल्लियदु आश्रयितुं । असंवुडाण वाग्गुप्तिमभितिविकलाना । अमंडुडगिराहिं उत्सूत्राभिर्वाग्भिः । असमाधी वित्तविक्षेपः । क्षीणो हि जनो यत्किञ्चिच्छ्रुत्वा कुप्यति संक्लियते वा ।

अर्थ — जो वाग्गुप्ति अथवा भाषासमिति के पालक नहीं है, जो आगमसे विरुद्ध भाषण बोलते हैं अथवा जो जादा कलकल करते हैं ऐसे लोगों को क्षपक के पास नहीं जाने देना चाहिये क्यों कि उनका निरर्गल आगम विरुद्ध भाषण सुनकर क्षपकका चित्त रत्नत्रयमें स्थिर न होगा और क्षीण हुआ वह क्षपक कोपयुक्त संक्लेश परिणामयुक्त हो जावेगा अतः आगमविरुद्ध जादा वाद करनेवाले को क्षपक के पास जादा निषिद्ध किया है, जहां तक शब्द सुननेमें आवेगा वह। तक उनका गमन निषिद्ध समझना चाहिये

भक्तादीणं भक्ती गीदत्येहिं वि ण तत्थ कादब्बवा ॥

आलोचना वि हु पसत्थमेव कादब्बिया तत्थ ॥ ६८६ ॥

गीतार्थैरपि नो कृत्या खसिस्तार्थादिका कथा ॥

आलोचनादिकं कार्यं तत्रातिमधुराक्षरम् ॥ ७१२ ॥

विजयोक्त्या—भक्तार्दीणं तस्मीं भक्त्यादिकथा । गृहीतार्थैरपि यत्तिभिस्त्रयक्षपकसकाशेन कर्तव्येति । आलोयणा चि नु आलोचनागोचराद्यतिचारविषया । तस्य क्षपकसमीपे । पसत्यमेव कारुण्या ययासौ न शृणोति तथा कार्यो । चहुषु युक्ताचारेषु सूरिषु सत्सु ॥

गीतार्यानां क्षपकमेव व्यवहार्यमाह—

मूलारा—तन्ती कथा । आलोयणा गोचराद्यतिचारगोचरा । पसत्यमेव यथामौ न शृणोति तथा कथा कार्येत्यर्थः ॥

अर्थ—आगमार्थको जाननेवाले मुनिओंको क्षपकके पास भोजनक्रथा, वर्गरे कथाओंका वर्णन करना योग्य नहीं है. योग्य आचारोंको जाननेवाले आचार्योंके पासही सूक्ष्म अतिचारविषयक आलोचना करना हो तो वह भी प्रशस्त ही करनी चाहिये. अर्थात् वह क्षपक सुन न सके ऐसी आलोचना करनी चाहिये.

पञ्चकखाणपडिक्कमणवदेसणिवोगतिविहवोसरणे ॥

पट्टवणापुच्छाए उवसंपण्णो पमाणं से ॥ ६८७ ॥

प्रत्याख्यानोपदेशादौ सर्वत्रापि प्रयोजने ॥

क्षपकेण विधातव्यः प्रमाणं सूरिराश्रितः ॥ ७१ ॥

विजयोक्त्या—प्रत्याख्यान प्रतिक्रमणादिक । से तस्य सकाशे कर्तव्यमिति यावत् । यदि शक्नोऽसौ, न चेत्तदनुज्ञातस्य समीपे ॥

चहुष्वपि युक्ताचारेषु सत्सु सूरिषु क्षपकेण प्रत्याख्यानानादिकं प्रथममुपाश्रितस्यैव सूरः समीपे कर्तव्यमित्यनु-

शास्ति—

मूलारा—णिओग आज्ञादान । तिविहवोसरणे त्रिविधाहारत्यागे । पट्टवणा प्रायश्चित्तं । आपुच्छा प्रशः । उवसंपण्णो निर्यापकत्वेनाश्रितः । पमाण प्रमाणमविसंधाद्यो भवति । यद्यसावशक्तस्तदा तदनुज्ञया तादृगन्योऽपि प्रमाणमिति निर्णयः ।

युक्ताचारके ज्ञाता अनेक आचार्य हो तो भी जिसके पास क्षपकने प्रथम आलोचना की है उसके ही सन्निध प्रत्याख्यानानादिक करने चाहिये ऐसा वर्णन—

अर्थ—क्षपकमुनि श्रत्याख्यान, शक्तिकमण वगैरह आबन्धक कर्तव्य ग्रथम आचार्यके पास ही करे, आज्ञा ग्रहण काना उपरज सुनना, तीन गङ्गाके आहाराका त्याग करना, (जल छोड़ना) प्रत्यागित ग्रहण करना, प्रजन करना, इत्यादिक धर्मोंसे ग्रथमाचार्य ही उनके लिये प्रमाण है यदि ग्रथमानाने उगेदण्ड डसे, नगरह नगरोंमें अगत हो तो उनके आज्ञानुसार दूसरे आचार्यके पास क्षपक शक्तिभणादिक कर्तव्य कर मकता है.

तेल्लकसायादीहि य बहुसो गड्डसया दु वेत्तव्वा ॥

जिब्भाकण्णाण वल होहिदि तुंडं च से विसदं ॥ ६८८ ॥

नेन तैलादिना कार्यो गड्डपा संत्यनेकज ॥

जिह्वावदनकर्णादेर्मैल्यं जायते तत ॥ ७१ ॥

भवन्ति येषां गुणिन सहाया विघ्न विना ते ददते समाधिं ॥

समाधिदानोद्यतमानसैस्ते ग्राह्याः प्रयत्नेन ततो गणेन्द्रा ॥ ७१६ ॥

इति निर्यापकाः ।

विजयोदया—तेल्लकसायादीहि य तैलेन कणायदिभिद्व । बहुसो बहुसो । गड्डसया दु गड्डया । घेत्तव्वा ग्राह्या । तत्र गुण वदति—जिब्भाकण्णाण वल जिह्वाया कर्णयोश्च शक्तिर्यल वच्चे श्रवणे च । होहिदि भविष्यति । तुंडं च से विसदं होद्विन्ति पदसवद्य । तुंडवैराद्य अपि क्षपकस्य भविष्यति । निर्यापकव्यावर्णना समाप्ता ॥

वाक्श्रवणपाटवमुखवैराचार्य यथादीपं तैलादिगड्डधारणं गुरुनियोगेन क्षपकस्य विधेयतयोपदिशति—

मूलारा—गड्डसया गड्डपा । घेत्तव्वा ग्राह्या । क्षपकेण । वलं । वचने श्रवणे च शक्तिः । तुंडं मुखं । निर्यापकः सूत्रत २७ अंकत ॥ ४० ॥

अर्थ—तेल और कणायले द्रव्योंके क्षपकको बहुतवार कुरले काने चाहिये. कुरले करनेसे जीभ और कानोंमें सामर्थ्य प्राप्त होता है अर्थात् कणायद्रव्यके कुरले करनेसे जीभके उपरका मल निकल जानेसे वह स्वच्छ होती है. बोलनेमें समर्थता प्राप्त होती है. कर्णमें तेल डालनेसे श्रवणशक्ति बढ़ती है निर्यापकवर्णन समाप्त हुआ.

णिज्जावयपगसणा इत्येतद्वदति—

द्ववपयासमकिञ्चा जइ कीरइ तस्स तिविहवोसरणं ॥

कहिंवि भत्तविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥ ६८९ ॥

अप्रकाइय त्रिधाहारं त्याज्यते क्षपको यदि ॥

तटोत्सुक स कुत्रापि विशिष्टे जायतेऽशने ॥ ७१७ ॥

विजयोदया — द्वापगान्तमकिञ्चा द्रव्यस्याहारस्य प्रकाशनं तं प्रति होकेन अकृत्वा । जइ कीरइ यदि क्रियते । तस्स तस्य क्षपकस्य । तिविहवोसरणे त्रिधाहाहृत्यत्वे । कहिंवि कस्मिंश्चिदपि । भत्तविसेसंमि भक्षणविशेषे । उस्सुगो होज्ज सो खवओ उस्सुको भवेत्स क्षपक । आहारोत्सुक्य चित्तं व्याकुलयति ॥

अथैव प्रियधर्मत्वादिगुणभ्रामसमप्रनिर्यापकयतिगणपरिचर्यमाणस्य क्षपकस्य त्रिविधाहारं परिजिहीर्षोराहारविशेषे-  
पौत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं विचित्राहारदर्शनलक्षणा चरमाहारप्रकाशना गाथासमेकं, व्यावर्णयिष्यन्पूर्वं सयुक्तिकं तत्प्रयोगवि-  
धिं गाथाद्वयेनाह—

मूलाया — द्ववपयात्तं द्रव्यस्य नानाविधाहारस्य प्रकाशं तं प्रति दौकतं । उस्सुगो उत्सुकः सोत्कंठमभिलाषुकोऽ-  
नादिसंतत्या प्रवर्तमानत्वादाहारसंज्ञायाः ॥

अब आहारप्रकाशनं प्रकरणका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—क्षपकको आहार न दिखाकर ही यदि उससे तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कराया जावेगा तो वह किसी आहारविशेषमें उत्सुक होगा, अर्थात् अमुक आहार मरेको चाहिये ऐसी इच्छा उसके मनमें प्रादुर्भूत होगी जिससे उसका मन दुःखित होगा, यह आहारसंज्ञा जीवमें अनादिकालसे संलग्न हुई है इसवास्ते उसको आहार दिखाकर उपदेश देकर उससे विरक्त करना चाहिये.

तस्मा तिविहं वोसरिहिदित्ति उक्कस्सयाणि दव्वाणि ॥

सोसित्ता संविरलियु चरिमाहारं पायासेज्ज ॥ ६९० ॥



पासितु कोई तादी तीरं पत्तस्सिमोहिं किं मेत्ति ॥

वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९१ ॥

तत् कृत्या मनोज्ञानामाहाराणां प्रकाशना ॥

सर्वथा कारयिष्यामि त्रिविधाहारमोचनम् ॥ ७१८ ॥

कश्चिद्दृष्ट्वा तदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥

इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७१९ ॥

विजयोदया—पासितु दृष्ट्वा आहारमुपदर्शितं । कोइ कश्चित् । तादी यति । तीर पत्तस्स तीर प्राप्तस्य । इमोहिं अभीभिर्मनोवैराहारैः । किं मेत्ति किं ममेति । वेरगमणुप्पत्तो भोगवेराग्यमनुप्राप्त उपगत । संवेगपरायणो होदि संसारभयात्पागो प्रथानो भवति ॥

मूलारा—वोसरिहिंति प्रत्याख्यास्यतीति । सोसित्ता सर्वतोपस्येष्टत्वात्तत्समीपमानीय । संविरलिय भाजनेषु विरलं विरलं वृत्ता । संविरइय इति पाठे सम्यग्विरचय्येत्यर्थः । पयासेज्ज दग्गयेस्सुरि । एता दीकाकारो नेच्छति ॥ कश्चित्तानि दृष्ट्वा परं वैराग्यं प्राप्तो भवभयप्रधानो भवतीत्यनुशास्ति—

मूलारा—पासितु उपदर्शितमाहारं दृष्ट्वा । तादी मुनिः । तीरं सरणात् । इमोहिं एतैरुच्छट्टभोज्यैः । किं मेत्ति किं प्रयोजनं ममेति । वेरगं भोगवैराग्यं । मनोज्ञविषयसेवा हि पौनःपुन्येन प्रवर्त्यमाना तत्राभिलाषमनुबध्नाति ततश्च कर्म-बंधस्ततो भूयोऽपि भीमभवप्रवेश इति ।

अर्थ—इसलिये अच्छे आहारके पदार्थ वर्तनोंमें पृथक् पृथक् परोसकर उस क्षपकके समीप लाने चाहिये और उसको दिखाना चाहिये, ऐसे उत्कृष्ट आहारको देवकर कोई क्षपक मुनि मैं तो अब इस भवके दूसरे किनारे को प्राप्त हुआ हूँ, इन मनोहर आहारोंकी मेरेको कुछ आवश्यकता नहीं है ऐसा मनमें समझकर भोगसे विरक्त होता है और संसारसे भययुक्त होकर आहारका त्याग करनेमें ही उद्युक्त होता है,

आसादिच्चा कोई तीरं पत्तस्सिमोहिं किं मेत्ति ॥

वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९२ ॥

देसं भोञ्चा हा हा तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ॥  
 वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९३ ॥  
 सत्वं भोञ्चा धिच्ची तीर पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ॥  
 वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होइ ॥ ६९४ ॥  
 आस्वाद्य काश्चिदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥  
 इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२० ॥  
 अशित्वा काश्चिदंशेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥  
 इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२१ ॥  
 वल्भित्वा सर्वमेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥  
 इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२२ ॥

विजयोदया - मनोज्ञविषयसेवा हि पौन पुन्येन प्रवर्तमाना अभिलाष जतयति जतो । स चातुराग कर्म-  
 पुद्गलादने हेतु , ततो भोग भवाभोधिमवेशन भवभृतामिति स्पष्टार्थं गायत्रयोत्तर । प्रकाशना समता पयासना ॥  
 कोपि स्तोकं मुले प्रक्षिप्य विरक्तः सन्संविग्नः स्यादित्याह—

मूलारा—स्पष्ट ।

कोऽपि आहारैकदेशं वल्भित्वा तथा स्यादित्याह—

मूलारा—हाहा । मुक्ताश्च विविधाद्वारा पीताश्च विविधास्तना ॥

मातरो विविधा दृष्टा- पितरश्च भवार्णवे ॥ इति शोकविषयाद्विष्टः ॥

कोऽपि सर्वमाहार भुक्त्वा धिग्धिग्माभित्यात्मानं निद्रित्य तथा स्यादित्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—कोई क्षपक मुनि नाना प्रकारके मनोज्ञ आहार की प्राप्ति होनेपर इनसे भेरा क्या प्रयोजन सिद्ध  
 होगा ऐसा विचार करके उनका सेवन नहीं करता है, मैं तो अब मरणके अन्तिम समयको प्राप्त हो चुका हूँ

अतः इससे मेरा कुछ प्रयोजन सिद्ध होगा नहीं इस विचारसे वैराग्यको प्राप्त होकर संवगतत्पर होता है.

कोई क्षपक उस आहारोंमें से थोड़ा आहार उठाकर अपने मुंहमें डाल कर तदनंतर हाय ! अब तो मैं अन्तिम समयको प्राप्त हुआ हूं इस आहारसे मेरा क्या मतलब है ऐसा विचार कर विरक्त और संसारभीत होता है. कोई क्षपक संपूर्ण आहारका भक्षण कर उसमें विरक्त होता है हाय मेरेको धिक्कार हो. मैं अन्तिम समयको प्राप्त हुआ हूं. ऐसे विचारसे विरक्त और भवभीत होता है. मनोज्ञ विपयोंका सेवन करते रहनेसे चांवार अभिलाषा बढ़ती ही जाती है यह अभिलाषा विपयोंपर अनुराग उत्पन्न करती है. अनुरागसे कर्मबंधन होता है और यह कर्मबंधन संसारसमुद्रमें प्राणीको पटक देता है. इस प्रकारके विचारसे क्षपक आहारका त्याग करता है. प्रकाशन प्रकरण समाप्त हुआ.

‘दाणी इति सूत्रपद व्याचष्टे -

कोई तमादयित्वा मणुणरसेवेदणाए संविद्धो ॥

ते चेषणुबंधेज्ज ह सव्वं देसं च गिद्धीए ॥ ६९५ ॥

बलिभत्त्वा सुंदराहारं रसास्वादनलालसं ॥

कच्चित्तमनुवन्नाति सर्वं देशं च गृह्णति ॥ ७२३ ॥

इति प्रकाशनम् ।

विजयोदया - कोटं कच्चियदि । त दग्धिनमाहार । अदयित्ता भुम्बवा । मणुणरसेवेदणाए मनोज्ञरसानुभव-  
नेन । संविद्धो मूर्च्छित । त चेषणु मनेज्ज ह तममास्वादित्त मनोज्ञाहारमनुमन्तीयात् । दग्धिनैयेक वा गिद्धीए गृह्णया ॥  
कच्चिद्धीनमत्तवन्नं दग्धिनमाहारं मयं भुम्बत्वा तद्रसानुभवाविष्टमेव सर्वं तदेकदेशं वा गृह्णया नित्यमभिलषेदि-  
त्याह--

मूलार्थ - आटडना - भुम्बत्वा । वेदणाण अनुभवेन संविद्धो सम्मूर्च्छितः ॥ एता श्री विजयाचार्य उत्तरसूत्रे व्याचष्ट ।  
प्रकाशना । सूत्रं २८ । अंकतः ७ ॥

हानि नामक प्रकरणका विवेचन -

अर्थ—सोई क्षपक दिखाया हुआ आहार भक्षण कर उसके स्वादिष्ट रसमें लुब्ध होकर उग मंयूण आहारको वारंवार भक्षण करने की इच्छा रखता है अथवा उसमें किसी एक पदार्थ की वारंवार खानेकी अभिलाषा करता है.

तत्थ अवाओवायं दसेदि विससदो उवदिसंतो ॥

उद्धरिटु मणोसल्ल सुहुमं सणिव्वेमाणो ॥ ६१६ ॥

कुरुते देशनां सुरिरायपायविशारदः ॥

निराकर्तुं मनःशल्यं सूक्ष्मं निर्यापयन्नसुम् ॥ ७२४ ॥

विजयोदया—तत्थ तत्राहारसक्तो जाताया । अवाओपाय इन्द्रियसमस्यापाय, अनयमस्य च ढेकनं । दसेदि दशयति । विससदो विशेषेण । उवदिसतो उपदिशन् । उद्धरिटु उद्धतु । मणोसल्ल मनःशल्यम् । सुहुम सूक्ष्मम् । सणिव्वेमाणो सम्यक् प्रशमयन् ॥

अर्थ—मनोज्ञाहारमगृह्यनुबंधात्मकल्योद्धरणपूर्विका क्षपकस्य हानिं गाथाचतुष्टयेन व्याचक्षेणः पूर्वं तादृक् शल्यात्तस्य तस्य निर्यापकाचार्येण प्रयोक्तव्यं प्रतिविधानमभिधत्ते—

गूलरा—तत्थ नया मनोज्ञाहाररसामक्तो क्षपकस्य जाताया । अवाओपाये अपायाभिद्रियमंयमविनाश, उपायं च तदसंयमडाकनं । विससने उवदिशन्तो ‘नाजितेन्द्रियस्य कापि कार्यमिद्विरस्तीति’ । ‘अंधात्पुं मद्दानं यो निपया मीकृतेन क्षण । चक्षुषा मे न जानाति विपद्या मे न केनचिन्’ ॥ इत्येवं प्रत्येक भिक्षेणोपदेशं कुर्यात् । उद्धरिटु उद्धतु उत्पद्यितु । मणोसल्लं चित्तगतं भोजनगृह्यलक्षणं घोरदुःखकारणं । सुहुमं सूक्ष्मं गुरुगति तदैवोत्पन्नगीयत्वात् । मणिद्वयेमाणो सम्यक् प्रीणयन्प्रशमोत्पानेन शीतलमन्त्रित्वर्थे ॥

अर्थ—अत्र आहार में क्षपककी आगति हो जाती है तत्र अभिलाषा रूपी सूक्ष्म मनःशल्यको निरालनेके लिये पाचार्थ ज्ञातताये उपदेशो निगम गीतमें उपदेश करते हैं, उपदेशमें व आहारकी वृद्धिसे इन्द्रियमंयमही ज्ञानि नेति ने चार अंगवर्ग की वृद्धि होती है जेना अर्थज्ञाने ताता न । रसना ह । तत्तु मी कार्य सिद्ध नहीं कर सकता है, प्रिययाव समुप्य अश्वमे भी अन्वा है, आसोने अथा पुनः काल पदार्थान्को

देख नहीं पाता परंतु विवेकसे वह रहित नहीं है परन्तु त्रिपांशु हेय, उपादेय, कुछ भी जानता नहीं इस प्रकार का उपदेश क्रमके उसकी आहारकी अभिलाषा हृदयसे निकालते हैं.

सोच्चा सल्लमणत्थं उद्धरदि असेसमप्पमाणेण ॥

वेरग्गमणुप्पत्तो संवेगपरायणो खवओ ॥ ६९७ ॥

कांश्चिदुद्धरते शल्य क्षिप्रमाकर्ण्य देशनाम् ॥

करोति संसृतित्रस्त. सूरिणां वचसा न क्रिम् ॥ ७२६ ॥

विजयोदया—सोचा श्रुत्वा वैराग्यकथा । स उ शल्य, उद्धरदि उद्गाटयति । अनेन अनेन । अग्गमोडेण प्रमाद धित्वा । वेरग्गमणुप्पत्तो वैराग्यमनुभास । संवेगपरायण संवेगपर । क्षपक शल्योद्धरणपणे भवति ॥ गुरुपदेशमाकर्ण्य झटिति प्रतिबुद्धः स क्षपको यद्विवृते नदभिधत्ते—  
मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—इस प्रकार वैराग्य बढ़ानेवाला उपदेश सुनकर क्षपक प्रमाद छोड़ देता है. और संपूर्ण अभिलाषा रूपी शल्यको हृदयसे निकालकर फेंक देता है. वैराग्य युक्त होकर सत्सारसे भययुक्त होता है.

अणुसज्जमाणए पुण समाधिकामस्स सव्वमुवहरसिय ॥

एक्केकं हावैतो ठवेदि पोराणमाहारे ॥ ६९८ ॥

समाधानीयतो गृह्णोः संत्याज्य सकलं गणी ॥

एकैकं हापयन्नेवं प्रकृते दधते ज्ञाने ॥ ७२६ ॥

विजयोदया—अणुसज्जमाणए पुण कृतेऽप्याहारमभिलाषस्य दोषोपदर्शने । अणुसज्जमाणो जाहारे अनुरागान्ति क्षपके । समाधिकामस्स समाधिमरणमिच्छत । सव्वमुवहरसिय सर्वमाहारमुपसृतस्य । ऊय एक्ककं हावतो एकेन आहारं हापयन् सरि । ठवेदि स्थापयति । क्षपक । पोराणमाहारे प्राक्तने आहारे ॥ तदनुवर्धनं समाधिमरणार्थिन एकैकहापनेन सर्वं गृह्णितामाहारं साजयित्वा सरि. क्षपकं प्रकृताहारे स्थापयतीति उपदिशति—

यतीति उपदिशति—

मूलारा—अणुसञ्जमाणगे दक्षितेऽप्याहारगुद्धिदोषे पुनराहारे रागवति क्षपके । समाधिकामस्स समाधिमार-  
णार्थिन क्षपकस्य संबन्धिनं । सर्वमाहारमेकैकं ह्यापयन्सूरिस्त्याजयित्वा । पोरणमाहारे प्राक्तने भोजने स्थापयति स्थितिं  
करोतीति संबन्धः ॥

अर्थ—निर्यापकाचार्यके द्वारा आहाराभिलाषा के दोष वतानेपर भी क्षपक उस आहारमें यदि  
प्रेमयुक्त ही रहा तो समाधिमरणकी इच्छा रखनेवाले उस क्षपके संपूर्ण आहारोंमेंसे एक एक आहारको घटाते हैं,  
अर्थात् क्षपकसे एकैक आहारका क्रमसे त्याग करते हैं.

अणुपुव्वेण य ठविदो संवट्टेदूण सव्वमाहारं ॥

पाणयपरिक्रमेण दु पच्छा भावेदि अप्पाणं ॥ ६९९ ॥

क्रमेण वैराग्यविधौ नियुक्तो निरस्य सर्वं क्षपकस्ततोऽन्नं ॥

आराधनाध्यानविधानदर्शः स पानैकैर्भावयते श्रुतौक्तौ ॥ ७१७ ॥

इति हानिः ।

विजयोदया—ठविदो स्थापित सूरिणा प्राक्तनाहारे क्षपक. पञ्चात्किं करोत्यत आह-सव्वमाहारं, अशनं स्वाद्यं,  
खाद्यं च । अणुक्रमेण क्रमेण । सवट्टेदूण उपसहृत्य । पाणमपरिक्रमेण दु पानकात्येन परिकरेण । अप्पाण आत्मानं पच्छा  
भावेदि पञ्चाद्भावयति । हानिर्व्याख्याता । ह्यणिन्ति ॥

तथा प्राक्तनाहारे स्थापितोऽसौ किं करोतीत्यत्राह—

मूलारा—अणुपुव्वेण अनुक्रमेण । सवट्टेदूण त्यक्त्वा । सर्वं पानकवर्जं त्रिविधमाहार । पाणयपरिक्रमेण दु  
पानकाल्येन परिकरेणैव । पच्छा पश्चिमकाले । भावेदि चतुर्विधाहारत्यागयोग्यं स्वं करोति क्षपकः ॥ हानिः सूत्रतः २९.  
अंकतः ४० ॥

अर्थ—आचार्य उपर्युक्त क्रमसे भिष्टाहारका त्याग कराकर क्षपकको साधे भोजनमें स्थिर करते हैं. तब वह  
क्षपक भात वगैरे अशन और अपूप वगैरे खाद्य पदार्थोंको क्रमसे क्रम करता हुआ पानकाहार करनेमें अपनेको  
उद्युक्त करता है. इस प्रकार हानिनामक अकरण समाप्त हुआ

कतिप्रकारं पानकमित्येकायामाचष्टे—

मर्त्यं बहलं लेवडमलेवडं च ससित्थयससित्थं ॥

छव्विहपाणयमेयं पाणयपरिकम्पमाओगं ॥ ७०० ॥

लेपालेपघनस्वच्छसिक्खथासिक्खयविकल्पतः ॥

पानकमोचितं पानं षोढेदं काथितं जिनैः ॥ ७२८ ॥

विजयोदया—सर्तयं स्वच्छ एकं पानक उष्णोदकं सौवीरक । तित्तिणीकाफलरसप्रशृतिकं च अन्यद्रवहलं । दध्यादिक लेवड लेपसहित । अलेवड अलेपसहित यन्न हस्ततल विलिपति । ससित्थग सिक्खसहित, असित्थगं सिक्खरहित । छद्दा बोढा । पाणगेमेव् एतत्पानकमेकं । परिकम्पमाओग पानकाख्यपरिकर्मप्रायोग्य ।

अर्थवन् कृताहारपरिहारोद्योगस्य क्षपकस्य तत्प्रत्याख्यानविधानं गाथादशकेनोपदेक्ष्यन्पूर्वं तद्योग्यानुपानविकरपात्रिर्दिशति—

मूलारा—सच्छं स्वच्छं उष्णोदकादिकं । बहलं काजिकद्राक्षापानकतित्तिडीकाफिलरसादिकं । लेवडं हस्ततललेपि दधिघोलादिकं । अलेवडं मंडमाथितादिकं । ससिच्छगं पेयादिकं । असिच्छं युद्रसूपदिकं । छद्दा बोढा ॥

पानकके कितने प्रकार हैं इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—स्वच्छ यह एक पानकका प्रकार है. गरम पानी, वगैरहको स्वच्छ कहते हैं. बहल—कांजी, द्राक्षास, इमलीका सार, वगैरह गाढ पानक. लेवड जो हाथको चिपकता है ऐसा पतला पदार्थ दही वगैरह. अलेवड—हाथको न चिपकनेवाला मांड ताक वगैरह. सिक्खसहित—जिसमें भातके सिक्ख रहते हैं ऐसा पानक अर्थात् मांड सिक्खग. भातके सिक्ख जिसमें नहीं है ऐसा माड असिक्खग ऐसा छद्द प्रकारका पानक आगममें कहा है

आयबिल्लण सिंभं खीयदि पित्त च उवसमं जादि ॥

वादस्त रक्खण्ठं एत्थ पयंचं खु कादव्वं ॥ ७०१ ॥

आचाम्लेन क्षयं याति श्लेष्मा पित्त प्रशास्यति ॥

परं समीररक्षार्थं प्रयत्नोऽस्य विधीयताम् ॥ ७२९ ॥

विजयोदया—आयनिलेण आचास्लेन । सिंभो रीयदि श्लेष्मा क्षयमुपयाति । पित्तं च पित्तं च । उवसमं जादि उपशममुपयाति । वादस्स वातस्स । रक्खणं रक्षणार्थं । एतत्तं खु मादव्व ग्रयत्तं कर्तव्वं ॥

कफपित्तवातप्रतिकारोपायमाह—

मूलारा—सिंभो रीयदि श्लेष्मा क्षयमुपयाति । रक्खणत्थं प्रकोपनिवारणार्थं । एतत्तं अत्यासन्नस्युक्के क्षपक्के । पयत्तं प्रकृष्टो यत्तं । येन वातं कुपितः प्रशम्यति येन वा न कुप्यति स आयुर्देनुमारोपक्रमः कर्तव्य एवान्नाधीन-  
त्वत्पित्तकफयादुमलादीनाम् ॥

अर्थ—आचाम्लसे कफ का क्षय होता है पित्तका उपशम होता है और वातका रक्षण होता है अर्थात् उसकाभी प्रकोप होता नहीं इसलिये आचाम्लमें ग्रयत्त करना चाहिये, अर्थात् इतर पानकोकी अपेक्षासे आचाम्ल पानक क्षपककी प्रकृति को अनुकूल होता है इसलिये क्षपक विशेषतासे इसको उपयोगमें लाये.

पानभावनोत्तरकालभाविन व्यापार दर्शयति—

तो पाणएण परिभाविदस्स उदरमलसोधणिच्छाए ॥  
मधुरं पज्जेदब्बो मंडं व विरेयणं खवओ ॥ ७०२ ॥  
ततोऽसौ भावितः पानैर्जाठरस्य विशुद्धये ॥  
मलस्य मधुरं मंदं पायनीयो विरेचनम् ॥ ७३० ॥

विजयोदया—तो पदत्तात् । पाणणेण पानेन । परिभाविदो भावित क्षपकः । मधुरं पज्जेदब्बो मधुरं पाययितव्यं । किमर्थं ? उदरमलसोधणिच्छाए उदरागतमलनिरासाय ॥

पानकसंस्कारोत्तरमुपक्रमं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—पज्जेदब्बो पाययितव्यः ॥

पानभावनोत्तर क्या क्रिया करनी चाहिये इसका वर्णन—

अर्थ—पानक पदार्थका सेवन करनेवाले क्षपकको पेटके मलकी शुद्धि करनेके लिये मांडके समान मधुर रेचक औषध देना चाहिये



आणाहवत्तियादीहिं वा वि कादव्वमुदरसोधणयं ॥

वेदणमुपादेज्ज हु करिसं अत्थंतयं उदरे ॥ ७०३ ॥

अनुवासादिभिस्तस्य शोधयो वा जाठरो मलः ॥

अनिरस्तो यतः पीडां महतीं विदधाति सः ॥ ७३१ ॥

विजयोदया - आणाहवत्तियादीहिं अनुवासनादिभिः कादव्व कर्तव्यम् । उदरसोधणय उदरस्थमलमुदरशब्दोच्यते तस्य निराक्रिया उदरमलशोधना । किमर्थमेव प्रयासेन महता मल निराक्रियते इत्यत्राचष्टे । वेदणमुपादेज्ज खु वेदनामुत्पादयेदेव । उदरे करिस्सग पुरीय अत्यतग स्थित ॥

मूलारा - आणाह अनुवासनं । काजिकस्विन्नवित्त्वपत्राद्युपनाहो वा । वत्ति वर्तिः । सैधवादिमयी गुदप्रणेया आदिशब्देन यापनवस्त्यादिग्रहणं । करिसं पुरीषं । अत्यंतयं विप्रुत् ॥

अर्थ - क्रांजीसे भिगे हुए विल्व पत्रादिकोसे उदरको सेकना चाहिये तथा सैधानमक वगैरह पदार्थोंकी वर्तिका बनाकर गुदद्वारमें उसका प्रवेश करना चाहिये ऐसा करनेसे सब उदरका मल निकलता है, ऐसा प्रयास क्यों करते हो इस मननका उच्चर ऐसा है कि, यदि उदरमें मल संचित होनेपर उसको न निकाला जाय तो वह वेदना उत्पन्न करता है.

एवं कृतोदरशोधनस्य क्षपकस्य योग्य व्यापारं निर्यापकसूरिसंज्ञाग्रमादर्शयति -

जावज्जीवं सन्वाहारं तिविहं च वोसरिहिदित्ति ॥

णिज्जवओ आयरिओ संघस्स णिवेदणं कुज्जा ॥ ७०४ ॥

आराधकस्त्रिधाहारं यावज्जीवं विमोक्षति ॥

निवेद्यमिति संघस्य निर्यापकणेशिना ॥ ७३२ ॥

विजयोदया - जावज्जीव जीवितावधिकं । सन्वाहारं सर्वोद्धारं । त्रिविधं अशनं, स्नाद्य, स्वाद्यं च । वोसरिहिदित्ति त्यजतीति । णिज्जवगो आयरिओ निर्यापक सूरि । संघस्स णिवेदणं कुज्जा सर्वं निवेदयेत् ॥

एवं विशोद्धितोदरस्य क्षपकस्य योग्यं सूरिप्रयोज्यक्रममुपदिशति -

मूलारा - तिविह अशनं, स्नाद्यं, स्वाद्यं च । वोसरिहिदित्ति त्यज्यति क्षपक इति ।

इस प्रकार क्षपकका उदर शोधनेपर क्षपकके द्वारा कोनसी क्रिया निर्यापक छरि करते हैं इसका विवेचन—  
अर्थ—यह क्षपक अब अशन, खाद्य और स्वाद्य, ऐसे तीन प्रकारके आहारोंका आमरण त्याग करता है ऐसा निर्यापक आचार्य संपूर्ण सधको विदित करते हैं.

खामेदि तुहा खवओत्ति कुंचओ तस्स चैव खवगस्स ॥

दावेदब्बो णेदूण सव्वसंधस्स वसधीसु ॥ ७०५ ॥

क्षपको वोऽखिलांस्त्रेया निःशल्धीभूतमानसः ॥

क्षान्तः क्षमयते भक्ताः ! क्षमागुणविचक्षणः ॥ ७३३ ॥

विजयोदया—खामेदि क्षमा ग्राह्यति । तुहा युष्मान् । खवगोत्ति क्षपक इति । तस्स चैव खवगस्स तस्यैव क्षपकस्य । कुचगो प्रतिलेखनं । दावेदब्बो दर्शयितव्यं । णेदूण नीत्वा । सव्वसंधस्स वसदीए सर्वसंधस्य वसतीषु ।

सूरिणा सधस्य निवेदनविधिमाह—

मूलारा—खामेदि क्षमा ग्राह्यति । तुन्ह युष्मान् । कुंचगो प्रतिलेखनं । दावेदब्बो क्षमयति शुग्मान्क्षपक इति भाषमाणेन ब्रह्मचार्यादिना सर्वसंधवसतिषु नीत्वा तत्र्यतिलेखनं सूरिणा दर्शयितव्यमित्यर्थः ॥

अर्थ—यह क्षपक आप सब लोगोंको क्षमा ग्रहण करनेकी प्रार्थना करता है इस अभिप्रायका भाषण सर्व संधमें जाकर आचार्य ब्रह्मचारिके हाथमें क्षपककी पिच्छी देकर कहते हैं और वह पिच्छिका सबको दिखाते हैं अर्थात् क्षपक सर्व मुनिओंक पास जा नहीं सकता है इसलिये उसकी पिच्छिका सबको दिखाकर क्षपक आप लोगोंसे क्षमा चाहता है ऐसा आचार्य कहते हैं.

तेन सत्रेन क्षातक्षपकाभिप्रायेण कर्तव्यमित्याचष्टे—

आराधणपत्तीयं खवयस्स व णिरुवसगपत्तीयं ॥

काओसग्गो संघेण होइ सव्वेण कादब्बो ॥ ७०६ ॥

आराधनास्य निर्विघ्ना सम्यक् संपद्यतामिति ॥

स याति सकल. संघस्तनूत्सर्गमसंभ्रमम् ॥ ७३४ ॥

मूलारा—तं पङ्क्तिमपि । यथास्व । से तस्य । ताहे तदा । प्रत्याख्यानं सूत्रतः । १० । अंकतः । १० ।

कोनसा पानक उसको योग्य है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पानक परिकर्म प्रकरणमें पानकके छह भेद बतलाये हैं। तीन प्रकारके आहारका त्याग करने पर वह पानक उसको उस समय देना योग्य है। पञ्चबखाण प्रकरण समाप्त हुआ।

तो आयरियउवज्जायसिस्साधम्मिगे कुलगणे य ॥

जो होज्जकसाओ से तमहं तिविहेण खामेदि ॥ ७१० ॥

आचार्येऽध्यापके शिष्ये संघे साधर्मिके कुले ॥

योऽपराधो भवेत्त्रेधा सर्व क्षमयते स तं ॥ ७३८ ॥

विजयोदया—तो प्रत्याख्यानोत्तरकाले । आयरियउवज्जायसिस्साधम्मिगे आचार्ये, उपाध्याये, शिष्ये, साध-  
र्मिणि, कुलगणे, य कुले गणे च । जो होज्ज कसाओ यो भवेत्कपाय, क्रोधो, मानो, लाभो वा । तं सब्ब गिरवसेसं तं  
सर्वं निरवशेण । तिविहेण त्रिविधेन । खामेदि क्षपयति निराकरोति ।

अर्थ—इतिपन्नमत्तप्रत्याख्यानसाराधकस्य समाधिमरणसिद्ध्यर्थं चतुर्विधसंघक्षमापणविधिं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा—कुलं दीक्षागुरुपूर्वत्रिपुरुषसंतानः । कसाओ क्रोधादीनामन्यतम । खामेदि क्षमयति ॥

अर्थ—प्रत्याख्यानके अनंतर आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक युनि, कुलमुनि, और गणमुनि इनके  
विषयमें जो हृदयमें कपाय होगा अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ होगा उस सर्व कपायको क्षपक मन,  
वचन, काया विशुद्ध कर हृदयसे निकाल देता है।

अब्भहियजादहासो मत्थम्मि कदंजली कदपणामो ॥

खामेइ सब्बसंघं संवेगं संजणेमाणो ॥ ७११ ॥

मूर्धन्यस्तकाराभोजो रोमांचांचितविग्रहः ॥

त्रिधा क्षमयते सर्वं संवेगं जनयन्नसौ ॥ ७३९ ॥

विजयोदया—अवमहिदजादद्वासो नितरामुपजातचित्तप्रसादः । कर्तव्यं मुमुक्षुणा यत्तत्सफलं मयानुष्ठितं इति । मत्थस्मि कदजली मस्तकन्यस्ताजलि । कदपणामो कृतप्रणाम । स्वामेदि क्षमा ग्रहयति । सन्वसंव सर्वं श्रमणनाण । सेवग सधर्मनुराग । संजणेमाणो सम्यगुत्पादयन् ॥

मूलारा—अभ्यधिक निरंतरं उपजातचित्तप्रसादो । यत्कर्तव्यं मुमुक्षुणा तत्सर्वं मयानुष्ठितमिति । संवेगं धर्मानुरागं । संजणेमाणो सम्यगुत्पादयन् सधस्य ॥

अर्थ—मुमुक्षुना सर्वं कर्तव्य मैंने किये हैं इस विचारसे जिसके हृदयमें मसन्नता उत्पन्न हुई है ऐसा वह क्षण अपने मस्तकपर दो हाथ जोड़ सर्व संघको नमस्कार करता है और सार्धर्मिकोंमें अनुराग उत्पन्न करता हुआ क्षमा ग्रहण कराता है अर्थात् हाथ जोड़नेसे उसने मेरे ऊपर आप सब लोग क्षमा करो ऐसा अभिप्राय सूचित किया,

मणवयणकायजोगेहिं पुरा कदकारिदे अणुमदे वा ॥

सव्वे अवराधपदे एस खमवेमि णिस्सहो ॥ ७१२ ॥

योऽपराधो मयाकारि मनसा वपुषा गिरा ॥

क्षमये तमहं सर्वं निःशल्यीभूतमानसः ॥ ७४० ॥

विजयोदया—मणवयणकायजोगेहिं मनोवाक्काययोगैः । पुरा पूर्वं । कदकारिदे अणुमदे वा कृतकारितानुम ताश्च । सव्वे अवराधपदे सर्वानपराधविशेषान् । एस एष । खमवेमि । क्षमा ग्राहयामि । णिस्सहो शल्यरहितोऽहमिति ॥

मूलारा—अवराधपदे अपराधविशेषान् ॥

अर्थ—मन, वचन और शरीरके द्वारा, तथा कृत, कारित और अनुमति के द्वारा जो जो अपराध मैंने किये हैं उनकी आप लोक मेरेको क्षमा करो मैं शल्य रहित हुआ हूं

अम्मापिदुस्सिसो मे खमहु खु जगसीयलो जगाधारो ॥

अहमवि खमामि सुद्धो गुणसंघायस्स संघस्स ॥ ७१३ ॥

मम पितृजननीसदृशः शश्वत्त्रिभवनमहितः सुयशः संघः ॥

प्रियुहितजनकः परमां क्षांतिं रचयत कृतवानहमक्षान्तिम् ॥ ७४१ ॥

इति क्षमणा ।

विजयोदया—अम्मापिदुसरिसो मात्ता पिता च सदृशो । मे मम खमदु क्षमा करोतु । जगसीदलो जगतः सर्व-  
प्राणिलोकस्य शीतलः । जगाधारो आसद्यभव्यलोकस्य आधारः । अहमवि खमामि परकृतमपराध मनसि न करोमि ।  
सुद्धो शुद्धः क्रोधादिकलंकधिरहात् । गुणसघादस्स गुणसमुदायस्य । सद्यस्स सद्यस्य । खामणा ॥

मूलारा—अम्मा माता । खमदु क्षमा करोतु संघः । जगसीदलो सर्वप्राणिसुखावहः । जगाधारो आसन्न-  
मव्यलोकाश्रयः । सुद्धो क्रोधादिकलंकनिर्मुक्तः । संघक्षमाकर्ण सूत्रत ॥ ३१ ॥ अकतः ॥ ४ ॥

अर्थ—यह संघ माता और पिताके समान हित करनेवाला है, जगतके संपूर्ण प्राणिजोंको सुरदायक  
है, आसन्न भव्य लोकोंको यह आश्रय स्थान है क्रोधादि कलंकोसे-दोषोंसे रहित है और गुणोंके समुदायसे  
परिपूर्ण है, इस सर्वसंघसे मैं क्षमाकी याचना करता हूं, यह संघ मेरेको क्षमा प्रदान करे, मैं भी दुसरेने किये हुए  
अपराध मनमें नहीं लाता हूं अर्थात् दूसरेके अपराधोंको भूल जाता हूं, खामणाद्वयका विवेचन समाप्त हुआ.

संघो गुणसंघओ संघो य विमोचओ य कम्ममाणं ॥

दंसणणाणचरित्ते संघायंतो हवे संघो ॥ ७१४ ॥

इय खामिय वेरग्ग अणुत्तरं तवसमाधिमारूढो ॥

पप्फोडित्तो विहरदि बहुभववाधाकरं कम्मं ॥ ७१५ ॥

वट्ठति अपरिदंता दिवा य रादो य सब्बपरियम्मे ॥

पडिचरया गणहरया कम्मरयं णिज्जेमाणा ॥ ७१६ ॥

क्षपयित्वेति वैराग्यमेव स्पृशन्ननुत्तमम् ॥

तपःसमाधिमारूढश्चेष्टते क्षपयन्नघं ॥ ७४२ ॥

अग्रमत्ता गुणाधाराः कुर्वन्तः कर्मनिर्जराम् ॥

अनारतं प्रवर्तते व्याघृत्तौ परिचारकाः ॥ ७४३ ॥

विजयोदया—घट्टति वर्तते । अपरिदता अपरिआन्ता । दिवा य रादो य दिने रात्रौ च । सव्यपरिक्रमो सर्व-परिचरणे । पडिचरगा निर्यापका । गणहरया गणान् घर्मेस्थान् धारयन्तीति गणधरा । कम्मरयं कर्मखण्डं रजः । पिण्डज-रेमाणा निर्जरयन्तः ॥ ।

अर्थेवं कृतक्षमणस्य क्षपकस्य सर्वत्र समाहितमनसो बहुभवकोटिसंविताशुभकर्मनिर्जरालक्षणं क्षमणं गाथा-पंचकेन व्याचक्षणाः पूर्वं तदर्थसंग्रहगाथासुपन्यस्यति—

मूलारा—स्वामिय क्षमयित्वा सर्वसचं । वेरगो निर्विण्णः । अणुतरं उत्कृष्टम् । पप्फोडितो निर्जरयन् । विह-रदि प्रवर्तते ॥

तथा प्रयतमानस्य संन्यासिनो निर्यापका वैयाघृत्स्ये सुतरा यतते इत्याह—

मूलारा—अपरिदंता अपरिआताः । गुणधरया गुणान्स्वपरस्थान्धारयन्तः । कम्मरयं कर्म दुष्कृतं रज इव शरी-रस्य सौरूप्यादिगुणानामिवात्मनः संज्ञानादीना प्रतिबंधकत्वात्कच्छूदुद्रुप्रभृतीनामिव दुर्गतिविपदा संपादकत्वाच्च । पिण्ड-रेमाणा क्षपकस्यात्मनश्चैकदेशेन क्षपणा प्रापयन्तः ।

अर्थ—यह संघ गुणोंका समूह है, यह कर्मोंका नाश करके प्राणिओंको मुक्तिसुख देनेवाला है, दर्शन, ज्ञान और चारित्रिकी इकठा करनेवाला है अतः इसको संघ यह अन्यर्थक नाम प्राप्त हुआ है,

अर्थ—इस प्रकारसे सर्व संघको क्षमा करनेवाला, उत्कृष्ट वैराग्यकी सीमाको प्राप्त हुआ, तपमें एका-प्रताको प्राप्त हुआ ऐसा यह क्षपक अनेक भवमें दुःख देनेवाले कर्मका नाश करता हुआ रत्नत्रयमें विहार करता है,

अर्थ—गणको धर्ममें स्थिर करनेवाले आचार्य और परिचारक मुनि दिवस और रातमें सर्व कार्योंमें तत्पर होकर क्षपककी शुश्रूषा करते हैं, जिससे उनकी कर्मनिर्जरा होती है, यह कर्म रजके समान है,

जं ब्रह्मसंखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं ॥

सम्मचुप्पत्तीए खवेइ तं एयसमयेण ॥ ७१७ ॥

यज्जन्मलक्ष्कोटीभिरसंख्याभी रजोऽजितम् ॥

तत्सम्यग्दर्शनेनात्पादे क्षणेनैकेन हन्यते ॥ ७४४ ॥

विजयोद्या—जं यत् । वद्ध रयं वद्धं रजः कर्म । यथा रजदच्छादयति परस्य गुणं शरीरादेः कच्छददुग्धभृतिकं दोषमावहति । तद्वद्वोधादिगुणमवच्छादयति । संपादयति च त्रिचिन्ना विपदं तेन रज इव रज इत्युच्यते । भवसदसहस्स कोडीर्हि भवशतसहस्रकोटिभिः । तद्वज्रं सर्वेति क्षपयति । केन ? सम्मत्तुपत्तौप श्रद्धानोतस्या । एगसमयेण एकेनैव सम- शोऽसंख्येयगुणनिर्जरा इति ॥

तत्कालोर्दर्णस्य संन्यासिनस्तदुपासिना च श्रद्धानस्य माहात्म्यमभिष्टौति—

मूलारा—रयं पापं । सर्वेति गालयति । क्षपकतत्परिचारका अविशेषेणैव वा भव्यजीवा सम्यक्त्वभूमिमानु प्राप्ताः । एयसमयेण अल्पकालेन ॥

अर्थ—रज-धूलि शरीरको आच्छादित कर विरूप बनाती है और खरूज, दद्रू वर्गेरह रोगको उत्पन्न करती हैं वैया यह कर्मरज आत्माके ज्ञानदर्शनादि गुणोंको आच्छादित कर उसको दुर्गतिमें लोटता है अतएव इस वद्ध हुए कर्मरजकी आचार्य और परिचारक मुनि क्षपकशुश्रूषा कर निर्जीर्ण करते हैं, जब सम्यग्दर्शन जीवको प्राप्त होता है तब कोट्यवधि भवमें संचित हुए कर्मको भी एक समयमें निर्जीर्ण करते हैं, क्षपककी शुश्रूषा करनेसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है जिससे एक समयमें असंख्येय गुणी निर्जरा होती है तथा जो भव्य क्षप- पके दर्शनार्थ आते हैं उनको भी सम्यग्दर्शनका लाभ होनेसे उनके कर्मकी निर्जरा होती है, तत्त्वार्थाधिगम महाशास्त्रमें 'सम्यग्दृष्टिश्रावक इत्यादि' सूत्रमें सम्यग्दृष्ट्यादि श्रावकोंको प्रतिसमय असंख्येय गुणित कर्म निर्जरा होती हैं ऐसा लिखा है,

एयसमएण विधुणादि उवउजुत्तो बहुभवज्जियं कम्मं ॥

अण्णयरम्मि य जोग्गे पक्कवाणे विसेसेण ॥ ७१८ ॥

धुनीते क्षणतः कर्म संचितं बहुभिर्भवे ॥

व्यावृत्तोऽन्यतमे योगे प्रत्याख्याने विशेषतः ॥ ७४५ ॥

विजयोदया—एरासमेयण विधुणावि अत्थेन कालेन निरुत्तनाति । उवउत्तो परिणतः । क अण्णयरम्मि य यस्सिन्कसिस्तपसि । किं ? बहुमवज्जिय कम्म अनेकभवसंचिते कम्म कर्मे । पक्कखणे उवजुत्तो विसेसेण विधुणादि यावज्जीवं चतुर्विधाहारत्यागे परिणत' विशेषेण कर्माणि निरस्यति ॥

तद्वत्तपोविधानदिपरिणामस्य महिमानं गाथाद्वयेन व्यावर्णयति—

मूलारा—उवजुत्तो परिणतः । अण्णदरम्मि य जोगे यत्र कविदपि तपसि । पक्कखणे यावज्जीवं चतुर्विधाहार-  
त्यागे । विसेसेण अतिशयेन ॥

अर्थ—जिस किसी तपमें जब यह आत्मा एकाग्रताको प्राप्त होता है तब वह अल्पकालमें ही अनेक भवमें संपादित कर्मका नाश करता है, और जो जीव यावज्जीव चार प्रकारके आहारोंका त्याग करता है वह विशेष रीतीसे कर्मोंका नाश करता है.

एवं पडिक्कंमणाए काउसग्गे यं विणयसज्जाए ॥

अणुपेहासु य जुत्तो संथारगओ धुणदि कम्मं ॥ ७१९ ॥

प्रतिक्रान्तौ तनूत्सर्गे स्वाध्याये विनये रतः ॥

अनुप्रेक्षासु कर्मेति धुनीते संस्तरास्थितः ॥ ७४६ ॥

विजयोदया—एवं उक्तेन क्रमेण । पडिक्कमणे प्रतिक्रमणे काउस्सगे य । कायोत्सर्गे च । विणयसज्जाए विनयस्वाध्याययो' । अणुपेहासु, य जुत्तो अनुप्रेक्षासु च युक्त । संथारगदो संस्तरारूढः । कम्मं धुणदि कर्म क्षपयति । खवण गदं ॥

मूलारा--जुत्तो समाहित. । धुणदि संस्तरारूढः सम्यक्त्वादियुक्तः पापं निरस्यति । विशेषेणेत्यनुवर्तनात्तत्प-  
रिचारकादयोऽपि इति व्याख्येयम् । क्षपणा सूत्रतः ३२ । अंकतः ५ ॥

ताट्ठक् संन्याससमाार्चिणि रुचिरवरे भावहैयंगवीन-

व्यालीढाः प्राच्यजन्मान्तितकलिसमिधो यायजूकः स जुव्हत् ॥

सान्द्रानंदासृताशायविबुधमहाभव्यसभोगिसेव्यः ।

स्फूर्जत्सर्वज्ञमूर्तिः पिवतु मुहुरिमा सूरिशिक्षा सुधावत् ॥



आश्वासः ॥

इत्याशाधरानुसृतग्रन्थसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे षट्प्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे उत्तमार्थसहयोगो नाम पंचम

अर्थ—उक्त क्रमसे संस्तरारूढ जो क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा, इनमें एकाग्र होकर कर्मका क्षय करता है. खवण सूत्रका विवेचन समाप्त हुआ

इत उत्तरं अनुशासनं प्रक्रम्यते इति निगदति -

णिज्जवया आयरिया संथारत्थस्स िदिति अणुसिंहि ॥

संवेगं णिव्वेगं जणंतयं कणजावं से ॥ ७२० ॥

अनशननिरते तनुभृति सकलं भवभयजनकं विगलति कलिलं ॥

अनुहिमकिरणे ह्युदयति तरणी कमलविकसने यनमिव तमः ॥ ७४७ ॥

क्षमणम् ।

निर्यापको गणी शिक्षां संस्तरस्थाय यच्छति ॥

कुर्वन्संवेगनिर्वेदौ कर्णे जपमथानिशम् ॥ ७४८ ॥

अनुशिष्टिं न चेद्वत्ते क्षपकाय गणाग्रणीः ॥

त्यजेदाराधनादेर्वी तदानीं सिद्धिसंफलीम् ॥ ७४९ ॥

विजयोदया - णिज्जवगा आहरिया निर्यापका सूर्यः । अणुसिंहि िदिति श्रुतज्ञानानुसारेण शिक्षां प्रयच्छति । संथारत्थस्स संस्तरस्थस्य । संवेग संसारभीष्टां । संवेगं वैराग्यं च । जणंतयं उत्पादयन्ते । कणजावं कर्णजाप । से तस्मै क्षपकाय ॥

श्रीमूलाराधनादर्पणे षष्ठोऽध्यायः ।

अथ वीरजिनं नत्वा श्रीनिर्यापकसूरिणा ।

संपाद्या क्षपकस्यानुशिष्टि. स्पष्टीकरिष्यते ॥ १ ॥

मिथ्यात्वं नितरां निरस्य सुभजनसम्यक्त्वमाराध्य सद् - भक्तिर्मानमच्छावभिरतो ज्ञानोपयोगं सदा ॥

कुर्वन्पंचमहाव्रतावनपरं खर्वन्कयायेन्द्रिय-  
ग्रामं संस्तरमावसत्युभयथा धन्यस्तपस्तुद्यतः ॥ २ ॥

अर्थैवं प्रतिपन्नसन्न्यासस्योत्तमार्थासाधनोद्यतस्य मुमुक्षोर्भिक्षोर्निर्यापकाचार्येण संपाद्या शिक्षा गाथानां सप्तसप्त-  
त्यधिकाष्टशत्या व्यावर्णयिष्यन्नुपक्षेपमाह —

मूढारा—गिन्वेदं संसारशरीरभोगवैराग्यं । कण्णजावं कर्णसमीपोद्धार्यमाणवचनमयीं क्षपकाय अनुशिष्टिं  
वक्ष्यमाणग्रंथप्रतिपाद्या ददाति । कर्णजापं च कर्णजाहोच्चचार्यमाणपंचनमस्कारादिपरमाक्षररूपं ददातीति । मत्त्यत्र शब्दस्य  
छुन्ननिर्विष्टसाश्रयणात् ॥ तदुक्तम्—

निर्यापको गणी शिक्षा संस्तरस्थाय यच्छति ॥

कुर्वन्संवेगनिर्वेदौ कर्णेजपपरोऽनिशम् ॥

अर्थ—निर्यापक आचार्य संस्तरस्थ-संस्तरारूढ क्षपकको श्रुतज्ञानके अनुसार उपदेश देते हैं और  
और निर्वेग उत्पन्न करने वाला कर्णजाप देते हैं

कोऽसौ कर्णजापो य ते प्रयच्छन्तीत्यत्राचष्टे—

गिस्सल्लो कदसुद्धी विज्जावच्चकरवसधिसंथारं ॥

उवाधिं च सोधइत्ता सल्लेहण भो कुण इदाणिं ॥ ७२१ ॥

शोधयित्वोपाधिं शय्यां वैयावृत्यकरानपि ॥

निःशल्यीभूय सर्वत्र साधो ! सल्लेखनां कुरु ॥ ७५० ॥

विजयोदया—गिस्सल्लो मिथ्यादर्शनं, माया, निदानं इति त्रीणि शल्यानि तेभ्यो नि क्रान्तः । तत्त्वश्रद्धात्तेन,  
क्रजुतया, भोगनिस्पृहताया वा कदसुद्धी कृता शुद्धिर्निर्मलता रत्नत्रये येन स कृतशुद्धिः । विज्जावच्चकरवसधिसंथारं  
विचिया आपत् विपत् इत्युच्यते । व्याचय, उपसर्गो, परीगह्वा, असंयमो, मिथ्याज्ञान इत्यादिभेदेन तस्यामापदि यत्प्रति  
विधानं तद्वैयावृत्यं तत्करोति य आत्मन स वैयावृत्यकरस्त । वसतिसंथारं वसतिसंस्तरं । उपधिं पिच्छादिकं च ।  
सोधयित्वा विशोध्य । सल्लेहणं सल्लेखना । कुण कुरु । इदाणिं इदानीं । किं ? संयमासंयमविवेकज्ञा-असंयम त्रिधा मनो-

वाकायैः परिहरन्ति न वेति परीक्ष्य अयोग्यवैयावृत्यकराणां त्यागः । योग्यानां चानुज्ञा । पूर्वोपपराहयोर्यस्तैः, संस्तरस्यो पकरणानां च शुद्धिं कुरुतेति आश्वासयता तच्छुद्धिः कृता भवति ॥

तात्कालिकीं गुरुरसंपाद्यामनुशिष्टिं प्रपंचयित्व्यन्सान्मान्यविशेषाभ्या गाथात्रयेण तासुद्विशति । तत्र सामान्यत-  
स्तावत्—

मूलारा—सौघइत्ता वैयावृत्यकरादिचतुष्टयं संशोध्य सुपरीक्ष्ययोग्यानां त्यागो, योग्यानां चानुज्ञा, वैय्या वृत्यकराणां शोधना । शय्यादित्रयस्य च विधिवत्प्रतिलेखनम् । सल्लेहण सल्लेहण मिथ्यात्वादिगणस्य सम्यक्स्वादिभाव-  
नया निराकरणं । भोः क्षपकरान् । इदंनिं संप्रति प्रत्यासन्ने मरणक्षणे । सुवरा प्रयत्नविधापनार्थमिदमुच्यते ।

अर्थ—मिथ्यादर्शन, माया, और निदान ऐसे तीन शल्य हैं, तत्त्वश्रद्धानमे मिथ्यादर्शनका, सरलपना-  
निष्कपटना, निष्कपटतासे मायाशल्यका और भोगनिःस्पृहतासे निदानशल्यका नाशकर जिसने रत्नत्रयमें निर्मे-  
लता प्राप्त कर ली है ऐसे हे क्षपक मुने ! तू जो वैयावृत्य करनेवाले, वसतिका, उपधि और संस्तरकी शुद्धि करके इस समय सल्लेखना करो. व्याधि-रोग, उपसर्ग, असंयम, मिथ्याज्ञान और परीपहोंको विपत्ति कहते हैं ऐसी विपत्ति आनेपर जो उसका प्रतिकार करना उसको वैयावृत्य कहते हैं. इस वैयावृत्य करनेवाले परिचारकोंको वैयावृत्यकर कहते हैं. वैयावृत्य करनेवाले मुनि संयम असंयमके ज्ञाता हैं या नहीं इसका विचार क्षपकको करना चाहिये. यदि वे अयोग्य हो तो उनका त्याग करना चाहिये. वे असंयम का मन, वचन और शरीरसे त्याग करते हैं वा नहीं इसकी परीक्षा करके अयोग्य हो तो त्याग करना चाहिये. और योग्य परिचारकोंको वैयावृत्य करनेके लिये आज्ञा देनी चाहिये दिनके पूर्वकालमें और अपराह्नकालमें वसति, संस्तर, और उपकरणोंकी तुम दररोज शुद्धि करो ऐसी परिचारकोंको आज्ञा देनी चाहिये. ऐसी आज्ञा देनेसे उसने उनकी शुद्धि की ऐसा सिद्ध होता है.

मिच्छत्तस्स य वमणं सम्मत्ते भावणा परा भत्ती ॥

भावणमोक्काररदिं णाणुवजुत्ता सदा कुणसु ॥ ७२२ ॥

मिथ्यात्ववमनं दृष्टिभावनां भक्तिमुत्तमाम् ॥

रतिं भावनमस्कारे ज्ञानाभ्यासे कुरुधमम् ॥ ७२१ ॥

विजयोदया—मिच्छतस्तस्य य वमण मिथ्यात्वस्य वमन । सम्मत्ते भावणा तत्त्वश्रद्धाते असकृद्वृत्ति । परा उत्कृष्टा भक्ति । भावणमोकाररदी नमस्कारो द्विविधः द्रव्यनमस्कारो भावनमस्कार । नमस्तस्मै इत्यादि शब्दोच्चारणं, उत्तमागवर्तनं, कृताजलिता च द्रव्यनमस्कार ॥ नमस्कृतव्याना गुणानुरागो भावनमस्कारस्तत्र रति ॥ णाणुवयोग श्रुतज्ञानोपयोग च । सदा कुणसु कुर्वति ॥ सूत्रमिदं ॥

तामेवानुशिष्टि विशेषेणोद्दिशति—

मूलारा—वमणं त्यागं । भावणा असकृद्वृत्ति । भक्ती भक्ति । प्रकमाद्वैदादिष्वेव । भावणमोकाररदी नमस्कार-णीयाहंदादिगुणानुरागलक्षणे भावप्रणामे आसक्ति । णाणुवयोगं श्रुतज्ञानपरिणति ॥

अर्थ—हे क्षपक ! तू सदा मिथ्यात्वका वसन कर, अर्थात् मिथ्यात्वका त्याग कर और सम्यग्दर्शनमें हमेशा प्रवृत्ति कर. अहंदादि परमेष्ठिओंमें उत्कृष्ट भक्ति कर भावनमस्कारमें आसक्त होकर हमेशा ज्ञानोपयोगमें तत्पर हो. यह गाथार्थ हुआ.

गाथामें भावनमस्कार शब्द है. नमस्कारके भावनमस्कार और द्रव्यनमस्कार ऐसे दो भेद हैं. 'नमस्तस्मै जिनाय' 'श्रीजिनेश्वरको नमस्कार हो' ऐसा मुखसे कहना, भक्तिक नम्र करना, हाथ जोड़ना यह द्रव्यनमस्कार है. जिनको नमस्कार करना योग्य है ऐसे व्यक्तियोंके गुणोंपर अनुराग करना यह भावनमस्कार है. इम भावनमस्कारमें उद्युक्त रहनेके लिये आचार्यने इस गाथामें क्षपकको प्रेरणा की है. तथा ज्ञानोपयोगमें अर्थात् श्रुतज्ञानमें परिणति कर ऐसा क्षपकको कहते हैं.

पंचमहव्वयरक्खा कोहचउक्कस्स णिग्गहं परमं ॥

दुद्धंतिदियविजयं दुविहतवे उज्जमं कुणह ॥ ७२३ ॥

मुने ! महाव्रतं रक्ष कुरु कोपाविनिग्रहम् ॥

हृषीकनिर्जयं द्वेधा तपोभागं कुरुव्यमम् ॥ ७२२ ॥

विजयोदया—पंचमहव्वयरक्खा पचाना महाव्रताना रक्षां । कोहचउक्कस्स रोषचतुक्कस्य । णिग्गह निग्रह । परमं प्रकृष्टं । दुद्धंतिदियविजय दुदंतिन्द्रियविजय । दुविहतवे द्वियकारे तपसि । उज्जमं उद्योग । कुणसु कुरु ॥

तथा—

मूलारा—कोधचउक ऋरम क्रोधमानमायालोभानां । दुदंतिदियविजयं । सम्यग्दमिताना चभुरादीना विगोणेण जयः स्ववर्णिकरणम् ॥

अर्थ—हे मुने ! तू पंच महाव्रतोंका रक्षण कर. क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंका नाश कर. दुःखसे जिनका दसन कर सकते हैं ऐसे आंख, कान वगैरह इंद्रियोंको विशेष प्रकारसे तू जीत ले. ब्राह्म और अम्यंतर तपोंमें तू तत्पर रह.

मिच्छत्तस्स य वमणं व्याचष्टे—

संसारमूलहेतुं मिच्छत्तं सन्वधा विवज्जेहि ॥

बुद्धिं गुणणिदं पि हु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि ॥ ७२४ ॥

भवद्भुममहामूलं मिथ्यात्वं मुंच सर्वथा ॥

मोहाने सगुणां बुद्धिं मयेनेव मुने ! लघु ॥ ७२३ ॥

विजयोदया—संसारमूलहेतु संसारस्य मूलकारण । मिच्छत्त अश्रद्धानं । सत्त्वधा मनोवाक्कायै । विवज्जेहि वर्जय । बुद्धिं गुणणिदं पि हु बुद्धि । गुणणिदं पि गुणान्वितामपि । मिच्छत्त मिथ्यात्वं मोहिदं मुग्धा । कुणदि करोति । अत्रेदं विचार्यते । कथं प्रथमता मिथ्यात्वस्य ? न हीदं सभाव्यते । अमयमादिभ्यो मिथ्यात्व प्रथममुपजातमिति कुत ? यथा मिथ्यात्व स्तनिमित्तसन्निधानाद्भवति, एवमसयमादयोऽपीति का तस्य प्रथमता ? अथ तद्धेतुत्वे दर्शनमोह प्रथम भवति । पञ्चाङ्गारित्रमोहादीनीत्येतदपि असत् । तदा कर्मण्यकसद्भावात् । एवं सामान्यत सूत्रकार 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाययोगा वधहेतव' इति वचने मिथ्यात्व वधहेतुषु पूर्वमुपन्यस्त वधपुरःसरश्च संसार, संसारमूलहेतुमिथ्यात्व बुद्धिं अर्थयायात्यपरिच्छेदगुणसमन्वितामपि मिथ्यात्व विपरीता करोति इत्याह । अन्ये तु वदति । बुद्धी गुणणिनया पि लु शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणादयो बुद्धेर्गुणास्तद्धेतुमपीति ॥

मिथ्यात्ववमनविधिसूत्रं व्याकुरु दश गाथाः सूत्रयन्सर्वात्मना तत्त्याग विधेयतयोपदिश्यापायभूयिष्ठतया समर्थयते ॥

मूलारा—संसारमूलहेतुं संसारकारणकर्मवधप्रधानकारणं । गुणणिदं पि गुणान्वितामपि । शुश्रूषाश्रवण-

ग्रहणधारणविज्ञानोद्घोषोद्गतत्वाभिनिवेशश्रवणपटुगुणयुक्तामपि । मोहिदं मुग्धा विपर्यासग्रहवेशेन यथाव द्रुस्तुपरिच्छेदप-  
रिश्रष्टाम् । अत्रेयं गाथासूत्रे न श्रूयते ।

मूलारा--एता विजयाचार्यो नेच्छति ।

‘मिथ्यात्वका वमन करो’ इस वाक्यका विशेष स्पष्टीकरण करते हैं--

अर्थ--संसार का मूलकारण मिथ्यात्व ही है, अर्थात् मिथ्याश्रद्धान ही संसारका मूल है इस मिथ्या-  
त्वका हे क्षपक । तू मन, वचन और कार्यसे सर्वथा त्याग कर, यह मिथ्यात्व गुणोंसे युक्त ऐसी बुद्धीको, भी मुग्ध  
करता है,

यद्वा शंका--मिथ्यात्वको सर्व कर्मों में प्रथम आप कहते हैं वह योग्य नहीं है जैसे मिथ्यात्व अपने  
कारणोंसे उत्पन्न होता है वैसी असंयमादि कां की भी उत्पत्ति अपने २ कारणोंसे होती है अतः मिथ्यात्वका कारण  
दर्शनमोहनीय कर्म प्रथम उत्पन्न होता है अनंतर चारित्रि मोहादिकोंकी उत्पत्ति होती है ऐसा भी कहना असत्  
है, क्योंकि हमेशा आत्मा में आठों कर्मों का सद्भाव है,

उत्तर--सामान्यतः सूत्रकारने ‘मिथ्यात्वाविरतिमसादकपाययोगा बंधहेतवः’ इस सूत्रमें मिथ्यात्व  
को प्रथम स्थान दिया है अर्थात् बंधके कारणोंमें मिथ्यात्वका प्रथम उल्लेख है, संसार बंधपूर्वक है और संसार  
का मूल कारण मिथ्यादर्शन है,

यह मिथ्यात्व बुद्धीको विपरीत करता है यहां कितनेक आचार्य ऐसा कहते हैं--शुश्रूषा-सुननेकी इच्छा  
शास्त्रश्रवण करना, श्रवणकर उसको हृदयमें धारण करना, कालांतरमें भी धारण किया हुआ नहीं भूलना इत्या-  
दिक बुद्धीके गुण हैं, मिथ्यात्व इनको भी विपरीत बनाता है, अर्थात् बुद्धि और उसके शुश्रूषादिकके कारण भी  
मिथ्यात्वके सहवाससे विपरीत होते हैं-

अतद्रूपवस्तुनि तद्रूपावभासिता कथं विज्ञानस्येत्याशङ्काया विपर्यस्तमपि ज्ञानमुदेति तन्निमित्तसद्भावादित्याचष्टे--  
परिहर तं मिच्छतं सम्मचाराणाए दृढचिचो ।

होदि णमोक्कारमि य णाणे वदभावणानु धिया ॥ ७२५ ॥

मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मणंति जह सतण्हयगा ॥

सब्भूदंति असब्भूदं तध मणंति मोहेण ॥ ७२६ ॥

पिब सम्यक्त्वपीयूषं मिथ्यात्वविपश्रुत्सृज ॥

निधेहि भक्तितथित्तो नमस्कारमनारतम् ॥ ७२४ ॥

मिथ्यात्वमोहिताः सत्यमसत्यं जानते जनाः ॥

कुरंगा इव तृष्णार्ताः सलिलं मृगतृष्णिकाम् ॥ ७२५ ॥

विजयोदया—मयतण्हिया मृगतृष्णिकाशब्देन आदित्यरश्मयो भौमनोष्मणा संपृका उच्यन्ते । ता अजल-  
भूता । मया मण्णति उदगति । मृगा मन्यते उदकमिति । यथा सतण्हगा तृष्णासंतसलोचना । तह य तथैव । मृगा इव  
नरा अपि । असब्भूद सत्त्वमिति मोहेण अतत्त्वमपि तत्वमिथ्यवगच्छन्ति दर्शनमोहेन हेतुना ॥

स्वानिमित्तसन्निधानाज्ज्ञानस्य विपर्यासः स्यादिति दृष्टान्तेन समर्थयते—

मूलारा—मयतण्हिया मृगतृष्णाशब्देन भौमनोष्मणा संपृकाः सूर्यरश्मय उच्यन्ते । उदयात्ति उदकमिति । सत्त्व-  
मिति सत्त्वभूतमिति । मोहेण दर्शनमोहेन ॥

अर्थ—हे क्षपक मुने ! तू ऐसे मिथ्यात्वका त्यागकर और सम्यक्त्वकी आराधनामें अपनेको स्थिर कर  
पंच परमेष्ठिओंके नमस्कारसे, ज्ञानाराधनामें और व्रताभ्यासमें तू दृढ़ हो

जो वस्तु जिस स्वरूपका धारक नहीं है ज्ञान उसको अन्यरूपसे कैसा जानेगा ? इस शंकापर आचार्य  
उत्तर देते हैं— ज्ञान विपरीतभी होता है क्योंकि उसको विपरीत करनेके कारण मिलते हैं, इसका स्पष्टीकरण—

अर्थ—सूर्यके प्रचंड किरणोंसे जब जमीन अत्यंत गरम हो जाती है, तब उसकी उष्णता सूर्यके किर-  
णोंसे मिश्र होकर पानीके समान दीखती है, प्याससे जिनकी आखें संतप्त हो रही हैं ऐसे हरिणोंको उस समय  
सूर्यके किरणोंमें जलका आभास होने लगता है, वैसा मिथ्यात्व कर्मके उदयसे इस जीवको असत्यपदार्थ मी सत्य  
मासने लगता है, अतत्त्वको मिथ्यात्वग्रस्त जीव तत्त्वरूप समझता है,

मिथ्यात्वजन्यमोहमाहात्म्यप्रख्यापनायाह—

मिच्छत्तमोहणादो धत्तूर्यमोहणं वरं होदि ॥

वद्वेदि जन्ममरणं दंसणमोहो दु ण दु इदरं ॥ ७२७ ॥

मिथ्यात्वमोहतो जंतोवरं कनकमोहनम ॥

दत्ते मृत्युसहस्राणि प्रथमं न परं पुनः ॥ ७२६ ॥

विजयोदया—मिच्छत्तमोहणादो मिथ्यात्वजन्यान्मोहात् । धत्तूर्यमोहण उन्मत्तस्वसेवाजनितमोहनं । वरं होदि शोभन भवति । कथं ? वद्वेदि वर्धयति । जन्ममरणं जन्ममरणं च विचित्रासु योनिषु । किं वंमणमोहो दर्शनमोहजन्य-कलंकः । ण दु इदरं जन्ममरणं वद्वेदि नैव धत्तूर्यमोहणं जन्ममरणपरंपरा धानयति कतिपयदिनमाविमोहसपादुनोद्यत अनंतकालवर्तिविपरीत्यजननक्षम मोहनं अतिशयेन निरुपमिति भावः । ततो जन्ममरणप्रवाहभीरुणा भवता त्याज्यं मिथ्यात्वं इति ।

मिथ्यात्वजन्यमोहमहिमानमादर्शयति—

मूलारा—वद्वेदि वर्धयति ॥

मिथ्यात्वसे उत्पन्न दुए मोहके माहात्म्यका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—मिथ्यादर्शनसे जो मोह परिणाम उत्पन्न होता है उसमें धत्तूरका सेम करनेसे उत्पन्न हुआ मोह अर्थात् उन्मत्तपना अच्छा है ऐसा हम समझते हैं, क्योंकि कि दर्शनमोहनीयसे उत्पन्न हुआ मोह अनेक कृत्योनीयोंमें जन्म मरणोंकी वृद्धि करता है, परन्तु धत्तूर खानेसे उत्पन्न हुआ पागलपना जन्ममरणको नहीं बढ़ाता है तथा वह थोड़े दिनपर्यंतही जीवमें रह सकता है इसलिये अनंतकालतक पदार्थोंका विपरीत स्वरूप दिखानेवाला दर्शन मोह-जन्य मोहपरिणाम अत्यंत निकृष्ट है ऐसा समझना चाहिये, जन्म मरणके प्रवाहसे डरनेवाले हे क्षपक ! वृ ऐसे दुष्ट मिथ्यात्वका त्याग कर

ननु प्रागेव परित्यक्तं मिथ्यात्व तत्कथं इदानीं तत्प्रयोगोपदेश इत्यत्राशङ्क्यामाह—

जीवो अणादिकालं पयत्तमिच्छत्तभाविदो संतो ॥

ण रमिज्ज हु सम्मचे एत्थ पयत्तं खु कादब्बं ॥ ७२८ ॥



अनादिकालमिथ्यात्वभावितो न प्रवर्तते ॥

सम्यक्त्वेऽयं यतस्तेन प्रयत्नोऽत्र विधीयते ॥ ७५७ ॥

विजयोदया—जीवो अणादिकालं पयत्तमिच्छत्तभाविवो संतो जीवो ऽनादिकालप्रवृत्तमिथ्यात्वभावितः सन् । न रमिज्ज खु नैव रमेत् । सम्मत्ते सम्यक्त्वे एत्थ अत्र सम्यक्त्वे । पयत्तं ग्रयत्त । कादब्बं खु कर्तव्य एव । अन्तकाले परिभावितं मिथ्यात्वं दुस्त्यजं तदेव दुःकत्याल्य । ययोरगश्चिरपरिचितं छिद्रं निवार्यमाणोऽपि बलात्प्रविशति इति कर्तव्यं सम्यक्त्वे दाढर्यं ॥

मूलारा—एत्थ अत्र सम्यक्त्वे । खु कादब्बं कर्तव्य एव ग्रयत्तः । निवार्यमाणोऽपि जीवश्चिरभावित मिथ्यात्वमनुयात्युरग इव छिद्रमिति ॥

अर्थ—अनादिकालसे जीवमें मिथ्यात्व चला आया है इससे यह जीव सम्यक्त्वमें रममाण होता नहीं, इस मिथ्यात्वकाही स्वाद इसको अनादिकालसे आजतक आ रहा था इस लिये यह जीव सम्यक्त्वमें नहीं रमेगा, इस वास्ते सम्यक्त्वमें ग्रयत्न करनेके लिये जीवको वारवार मिथ्यात्वका त्याग करनेका आचार्य उपदेश करते हैं अन्तकालसे मिथ्यात्वका अम्यात् होनेसे उसका त्याग करना बड़ाही कठिन है जैसे सर्प अपने चिरपरिचित विलमें निवारण करने परभी प्रवेश करता है वैसे इस जीवको भी वारवार मिथ्यात्व का त्याग करनेके लिये और सम्यक्त्वमें दृढता लानेके लिये वारंवार मिथ्यात्वत्यागका उपदेश करना असोध्य नहीं है

अग्निविसाकिण्हसप्पादियाणि दोसं ण तं करेज्जण्हू ॥

जं कुणदि महादोसं तिब्बं जीवस्स मिच्छत्तं ॥ ७२९ ॥

विजयोदया—अग्निविसाकिण्हसप्पादियाणि अग्निर्विषं कृष्णसर्प इत्यादीनि । दोसं ण तं करेज्जण्हू दोषं तं न कुण्ठु । ज कुणदि यं करोति । महादोसं महात दोषं । जीवस्स जीवस्य । तिब्ब तीव्र । किं ? मिच्छत्त मिथ्यात्वं अश्रद्धान ॥ अग्न्यादिभ्यो मिथ्यात्वस्य विशिष्टा दुष्टतामाचष्टे—

मूलारा—करेज्जण्हू कुण्ठुः । तदेव स्पष्टयति ॥

अर्थ—आग, विष और काला सर्प वगैरह पदार्थोंसे भी उत्तनी हानि होती नहीं, जितनी बड़ी हानि

तीव्र मिथ्यात्वसे जीवोंकी होती है अर्थात् तत्वमें अश्रद्धान करनेसे संसारमें भ्रमण करना पड़ता है

अग्निसकिण्डसप्पादियाणि दोसं करंति एयमवे ॥

मिच्छत्तं पुण दोसं करेदि भवकोडिकोडीसु ॥ ७३० ॥

विपात्रिकृष्णसर्पायाः कुर्वन्त्येकत्र जन्मनि ॥

मिथ्यात्वमावेद्दोषं भवानां कोटिकोटिपु ॥ ७५८ ॥

विजयोदया--अन्यादिभिः क्रियमाणस्य अल्पता मिथ्यात्वेन संगण्य च महत्ता दर्शयत्युत्तरगाथया । अन्यादीन्धेयकमवदु स्रवन्ति मिथ्यात्व पुनर्दोष करोति भवाना कोटिकोटिपु ॥

मूलारा--स्पष्टम् ॥

अर्थ--अग्नि, विप और काला सर्प वगैरह पदार्थोंसे जीवकी हानि एक ही भयमें हो सकती हैं परंतु मिथ्यात्वसे अनेक कोटिकोटिभयोंमें हानि होती है.

मिच्छत्तसल्लविद्धा तिव्वाओ वेदणाओ वेदति ॥

विसल्लित्तकंडविद्धा जह पुरिसा णिप्पडीयारा ॥ ७३१ ॥

चिद्धो मिथ्यात्वशक्त्येन तीव्रां प्राप्नोति वेदनाम् ॥

कांडेनेव विषाक्तेन कानेन नि-प्रतिक्रिय- ॥ ७५९ ॥

विजयोदया--मिच्छत्तसल्लविद्धा मिथ्यात्वात्वेन शक्त्येन विद्धा । तिव्वाओ वेदणाओ तीव्रा वेदना । वेदति अनुभवन्ति । विसल्लित्तकंडविद्धा विषालित्तेन शरेण विद्धा । जह यथा । पुरिसा पुद्गलाः । णिप्पडीयारा निष्पत्तीकारा ॥

मिथ्यात्वकृतमपकारं दर्शयति--

मूलारा--वेदन्ति अनुभवन्ति । णिप्पडीयारा प्रतीकारहिताः । अचिकित्वा- संत इत्यर्थः ॥

अर्थ--विषालित्वा वाण शरीरमें घुसनेपर उसका विष सर्व शरीरमें पमरकर मनुष्य प्राणरहित होता है. अर्थात् उस पुरुषपर कुछ इलाज हो नहीं सकता. वैसे मिथ्यात्वशक्त्येन विद्ध द्रुए मनुष्य तीव्र वेदनाओंका अनुभव लेते हैं

अच्छीणि संघसिरिणो मिच्छत्तणिकाचणेण पडिदाइं ॥

कालगदो वि य संतो जादो सो दीहसंसारे ॥ ७३२ ॥

मिथ्यात्वोत्कर्षतः संघश्रीसंज्ञस्य विलोचने ॥

गलिते प्राप्तकालोऽपि यातोऽसौ दीर्घसंसृतिम् ॥ ७३० ॥

विजयोदया -- अच्छीणि अक्षिणी । संघसिरिणो संघश्रीसंज्ञितस्यामात्यस्य । मिच्छत्तणिकाचणेण मिथ्यात्वप्रकर्षेण । पडिदाणि पतिते । इहैव जन्मनि । कालगदो वि य संतो मृत्यापि । जादो सो । जातोऽसौ । दीहसंसारे दीर्घसंसारे ॥ तदेवोपाख्यानं दृढयति-

मूलार--संघसिरिणो संघश्रीसंज्ञितस्यामात्यस्य । मिच्छत्तणिकाचणेण मिथ्यात्वप्रकर्षेण । कालगदो मृतः ॥ अर्थ--संघश्री नामक प्रधान की आखें तीव्र मिथ्यात्व से नष्ट हुई और मरणके अनंतर वह दीर्घ संसारी हुआ.

कडुगमि अणिव्वलिदम्मि दुद्धिण् कडुगमेव जह खीरं ॥  
होदि निहिदं तु णिव्वलियमि य मधुरं सुगंध च ॥ ७३३ ॥  
कडुकैलाबुनि क्षीरं यथा नश्यत्यशोधिते ॥  
शोधिते जायते हृद्यं मधुरं पुष्टिकारणम् ॥ ७३१ ॥

यदि नाम उपगतमिथ्यात्वोऽस्मि तथापि दुर्धर चारित्र्यमनुष्ठित मया तत्स्मान्निस्तरेण समर्थमित्याशा न कर्तव्येति ।

विजयोदया--कडुगमि दुद्धिण् कडुकालाव्या । अणिव्वलिदम्मि अशुद्धाया । निहिदं खीरं निक्षिप्तं क्षीरं । जह कडुगमेव होदि यथा कडुकरसमेव भवति । एवकारेण माधुर्यव्यावृत्तिं क्रियते । णिव्वलिदम्मि य शुद्धायामलाव्या । निहिदं निक्षिप्तं क्षीरं जह मधुरं होदि सुगंधं च । यथा मधुरं भवति सुरभिं च ॥ मिथ्यात्वाविष्टोऽपि दुश्चरतपश्चारित्र्याचारणदस्मान्निस्तरिष्यामीत्याशा निरसितुं नष्टातपुरःसरं गथा-

द्वयेनोत्तरमाह--

मूलार--अणिम्मलिदम्मि अशोधिते । दुद्धिणे दुग्धके ।

यद्यपि मैं मिथ्यात्वयुक्त हूं तो भी मैंने दुर्धर चारित्र का पालन किया है इसलिये यह दीर्घ संसारसे मेरा रक्षण करेगा ऐसी आशा नहीं करनी चाहिये ऐसा आशय दिखाते हैं—

अर्थ—गीरसहित कदुक तूँमें डाला हुआ दूध कड़ु होजाता है. अर्थात् उसका मधुरपना सब नष्ट होता है. परंतु शुद्ध अर्थात् गीररहित तूँमें रक्खा हुआ दूध कड़ु होता नहीं. वह मधुर और सुगंधित रहता है.

तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाचरणविरियाणि ॥

णासति वंतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति ॥ ७३४ ॥

तपोज्ञानचरित्राणि समिथ्यात्वे तथांगिनि ॥

नश्यंति वांतमिथ्यात्वे जायन्ते फलवन्ति च ॥ ७६२ ॥

विविधदूषणकारि कुदर्शनं लघु विमुच्य कुमित्रमिवोत्तमाः ॥

सकलधर्माविधायि सुदर्शनं सुविभजति सुमित्रमिवाशनम् ॥ ७६३ ॥

इति मिथ्यात्वापोहनम् ॥

विजयोदया—तह तथा । मिच्छत्तकडुगिदे मिथ्यात्वेन कदुरुते जीवे । तवणाचरणविरियाणि तपो, ज्ञान, चारित्र वीर्यमित्येतानि नासंति नश्यन्ति । सम्यक्स्वरूपविनाशात् । समीचीनं, तपो, ज्ञानं, चरणं, वीर्यंनिगूहं च मुच्युपायो न तप प्रभूतिमात्र । सा च सम्यक्पृथग्द्वालेनैव नान्यथा । वंतमिच्छत्तम्मि निरस्तमिथ्यात्वे जीवे सफलाणि फलसमन्वितानि तप.प्रभृतीनि । जायन्ति जायन्ते । किं तपस' फल ? अमुदयसुख, नि.श्रेयससुखं वा । मिच्छत्तस्स य वमंग इत्येतद्व्याख्यात । मिच्छत्त ॥

मूलारा—णासंति नश्यन्ति । सम्यक्स्वरूपविनाशात् ॥ वंतमिच्छत्तम्मि निरस्तमिथ्यात्वजीवे । सफलाणि अभ्युदयनि.श्रेयससुखकराणि । इति मिथ्यात्ववमनम् ॥

अर्थ—वैसे मिथ्यात्वसे विपरीत रुचि अर्थात् विपरीत श्रद्धानी बने हुये इस जीवमें तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य ये गुण नष्ट होते हैं अर्थात् मिथ्यात्वरहित तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य ये सुक्ती के उपाय हैं परंतु एकेक तपादिक सुक्तीके उपाय नहीं. जब सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है तब तपादिकमें सम्यक्पना आता है इसके अभावसे तपादिकोंमें सम्यक्पना आ नहीं सकता. मिथ्यात्वका त्याग जिसने किया है ऐसे जीवमें—सम्य-

गृष्टिमें तपादिक सद्गुण सफल होते हैं इस तपश्चरणसे इहलोकका सुख और इंद्रपदकी प्राप्ति होती है और मोक्ष-सुखका भी लाभ होता है, 'मिच्छतस्स य वमणं' इस गाथाश्रवका यहां तक्र विवेचन किया।

सम्मत्तं भावणा इत्येतद्व्याचष्टे—

'मा कासि तं पमादं सम्मत्ते मव्वदुक्खणासयरे ॥

सम्मत्त खु पदिष्ठा णाणचरणवीरियतवाणं ॥ ७३५ ॥

मा स्म कार्पीं प्रमादं त्वं सम्यक्त्वे भद्रवर्धके ॥

तपोज्ञानचरित्राणां सस्यानामिव पुष्करं ॥ ७३४ ॥

विजयोदया—मा कासि मा कार्पी । त भवान् । पमाद प्रमाद । सम्मत्त सम्यक्त्वे । मव्वदु यणासणे सर्व-दुःखनिर्मूलनोद्यते । कथं सम्यक्त्व सर्वदुःखनाशकारि ? ननु ज्ञानादीन्यपि सर्वदुःखनिवृत्तिनिमित्ताति इत्यत आह—

सम्मत्त खु श्रद्धानमेव तत्त्वस्य । पदिष्ठा आधार । णाणचरणवीरियतवाण ज्ञानस्य, चरणस्य, वीर्याचारस्य, तपसश्च । ननु सर्व एव परिणाम परिणामिद्रव्याधारो न परस्परमधिकरणता याति तत कथमुच्यते सम्यक्त्वमाधार इति । यथा परिणामिद्रव्यमंतरेण ज्ञानादीनामनवस्थितित्वेव समीचीनता तेषां न दर्शन विनैति दर्शनस्याधारता ॥

सम्यक्त्वभावना गाथाष्टकेन व्याचक्षाणः क्षपक तदवधानपरायणं कर्तुमाह—

मूलारा—मा कासि मा कार्पी । तं त्वं । पमादं अनवधानम् । पदिष्ठा प्रतिष्ठा आश्रय । ज्ञानादीना जीव-द्रव्य विनावस्थितिरिव सम्यक्त्वं विना समीचीनता न स्यादिति तस्य तदाधारतोच्यते ॥

'सम्मत्तभावणा' इस पदका स्पष्टीकरण करते हैं

अर्थ — यह सम्यग्दर्शन संपूर्ण दुःखों का नाश करता है इसलिये इसमें हे क्षपक तुम प्रमादी मत बनो। शंका—सम्यग्दर्शनसे सर्व दुःखोंका नाश कैसे होता है ? उत्तर — यह सम्यग्दर्शन अर्थात् जीवादितत्वोंका श्रद्धान ज्ञान, चारित्रि, वीर्य और तपका आधार है, इसलिये यह संपूर्ण दुःखों का नाश करता है ऐसा समझना चाहिये। शंका—परिणाम परिणामिद्रव्यके आधारसे रहते हैं इस वास्ते वे अन्योन्य आधार होते नहीं, अतः सम्यक्त्व परिणाम ज्ञानादि परिणामोंका आधार हैं ऐसा आप क्यों कहते हैं, उत्तर—जैसे परिणमनशील द्रव्यके विना—आत्मा

के बिना ज्ञानादिक रहते नहीं वैसे ज्ञान, चारित्र्य, वीर्य और तप को सम्यक् पना-सम्यग्दर्शनके बिना प्राप्त होता नहीं इस लिये सम्यग्दर्शनको आधार माना है

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं ॥

तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियतवाणं ॥ ७३६ ॥

सारं द्वारं पुरस्येव वक्रस्येव विलोचनम् ॥

मूलं महीरुहस्येव संज्ञानादेः सुदर्शनम् ॥ ७६५ ॥

थलानि नायकेनेव शरीराणीव जंतुना ॥

ज्ञानादीनि प्रवर्तते सम्यक्त्वेन विना कुतः ॥ ७६६ ॥

विजयोदया — णगरस्स जह दुवारं नगरस्य द्वारमिव नगरप्रवेशनोपायो यथा द्वारं । तद्वा तथा सम्मत्तं सम्यक्त्वं द्वार । णाणचरणवीरियतवाण ज्ञानादीना । एव हि ज्ञानादीन्यनुप्राविष्टो भवति जीवो यदि परिणतो भवेत्सम्यक्त्वे तदतरेण सम्यग्ज्ञानाद्यनुपवेशस्थानभवात् । न हि सातिशयमवध्यादि, यथाख्यात चारित्र्य, बहुतरनिर्गारानिमित्तं वा तपः प्रतिलभते जंतु सम्यक्त्वं विना । मुहस्स चक्खू जहा मुखस्य वस्तुयथा शोभाविधायि तथा ज्ञानादीना सम्यक्त्वं विधत्ते श्रद्धान । तरुस्स मूलं यथा तरोर्मूलं यथा स्थितिनिवर्धनं, तथा सम्यक्त्वं ज्ञानादिस्थितिनिमित्तं ॥

ज्ञानादीनि प्रति सम्यक्त्वस्य प्रवेशशोभावहत्वस्थितिनिमित्तत्वानि दर्शयति —

मूलारा — दुवारं द्वारेण पौरजनो नगरमिव सम्यक्त्वेन ज्ञानादिषु प्रविशति जीवः । न ह्यसौ सातिशयमवध्याविज्ञानं यथाख्यातचारित्र्यं बहुतरनिर्गारानिमित्तं वा प्रतिलभते जन्तुः सम्यक्त्वं विना ॥

अर्थ—जैसे द्वार नगरमें प्रवेश करनेका उपाय है, वैसे सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र्य, वीर्य और तपका आत्मामें प्रवेश होनेके लिये द्वारके समान है, अर्थात् जब आत्मामें सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है तब उसमें ज्ञानादिकोंका भी प्रवेश होता है, सम्यक्त्वके बिना सम्यग्ज्ञान, तप, चारित्र्यादिकोंकी प्राप्ति होती ही नहीं, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न होनेसे जीवको विशिष्ट अवध्यादिक ज्ञान, यथाख्यातचारित्र्य, कर्मकी अतिशय निर्जरा करनेवाला तप प्राप्त होते ही नहीं, सुखको आलसों जैसा सौंदर्य प्राप्त होता है तथा ज्ञानादिकोंमें सम्यग्दर्शनसे सम्यक्पना प्राप्त होता है, जैसे झाडको मूलसे दृढता आती है वैसे ज्ञानादिकोंमें स्थिरता और दृढता सम्यग्दर्शनसे प्राप्त होती है.

भावाणुरागप्रेमोणुरागमज्जाणुरागरत्तो वा ॥  
 धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं ॥ ७३७ ॥  
 दंसणभट्टो भट्टो दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ॥  
 सिञ्चन्ति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिञ्चन्ति ॥ ७३८ ॥  
 दंसणभट्टो भट्टो ण हु भट्टो होइ चरणभट्टो हु ॥  
 दंसणममुयत्तस्स हु परिवडणं णत्थि संसारे ॥ ७३९ ॥  
 अष्टोऽस्ति दर्शनभट्टो त्रतभट्टोऽपि नो पुनः ॥  
 पतनं ह्यस्ति संसारे न दर्शनमभ्युच्चतः ॥ ७४० ॥  
 ये धर्मभावमज्जादिप्रेमरागादुरंजिताः ॥  
 जैने संति मते तेषां न किंचिद्वस्तु दुर्लभम् ॥ ७४१ ॥

विजयोदया—दंसणभट्टो भट्टो दर्शनाङ्गणो भट्टतमः । चरणभट्टो वि चरित्रभट्टोऽपि दर्शनाङ्गणः । ण हु न च । भट्टो होदिति वाक्यशेषं कृत्वा संबन्ध । न तु तथा भट्टो भवति चरित्रभट्ट यथा दर्शनाङ्गणः । दंसणं श्रद्धानं । असु-यत्तस्स अत्यजत । चारित्राङ्गणस्यापि परिपतन ससारे णत्थि खु परिपतनं ससारे नास्त्येव । असयमनिमित्ताजितपाप-संहतरस्त्येव ससार । किमुच्यते परिपतन नास्तीति ? अयमभिप्राय — परि समतात्सर्वास्तु गतिषु चतसृषु संवरणं नास्ती-ति । स्वल्पत्वात्संसार सन्नपि नास्तीति व्यवहियते । तथा हि स्वल्पद्रव्येणोऽधन इत्युच्यते । दर्शनात्प्रभणस्य अर्धपुद्गल-परिवर्तन भवत्यतिमहत्संसारमिति निरुपगतमो दर्शनभट्ट ॥ \*

अर्थ—कितनेक लोक भावानुरागी रहते हैं जैसे जिनदत्त श्रेष्ठी. अर्थात् जो जिनेश्वरने वस्तुस्वरूप कहा है वह सत्य ही है ऐसा पक्का श्रद्धान करनेवाला मनुष्य तत्वका स्वरूप मात्रा नहीं भी हो तो भी जिनेश्वरका कहा हुआ तत्वस्वरूप कभी झूठा होता ही नहीं ऐसी श्रद्धा करता है इसको भावानुराग कहते हैं. प्रेमयुक्त अनुरागका दृष्टान्त

\* दंसणभट्टो भट्टो इस गाथासे लेकर अहिंसा, सत्य, अचौर्य महाव्रत इतने विषयोंका वर्णन करनेवाली गाथाओंकी मूलाराधना पंजिका कारंजाकी मूलप्रतीमें नहीं है बीचके पत्र ही नष्ट होगये हैं अतः यहासे हमने विजयोदया ही जोड़ दी है

मणिचूल है. इसने अपने भित्रको—सगरचक्रवर्तीको चार चार समझाकर भोगादिकोंसे विरक्त किया था. जिसके ऊपर प्रेम है उसको चारचार समझाकर सन्मार्गमें लगाना यह श्रेमाशुभाग कहता है मज्जानुराग यह पांडवोंमें था अर्थात् वे जन्मसे लेकर आपसमें अतिशय स्नेहयुक्त थे. वैसे हे क्षणक तूं धर्मानुरागसे जैनधर्ममें स्थिर रहकर उसको कदापि मत छोड़.

अर्थ—जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हुआ है वह भ्रष्टही समझना चाहिये दर्शनभ्रष्ट जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं. चारित्रभ्रष्ट जीव मुक्तिकी प्राप्ति कर सकते हैं परंतु दर्शनभ्रष्ट जीवको मुक्तिलाभ होता नहीं.

अर्थ—जो जीव दर्शनसे भ्रष्ट हुआ है उसको अष्टतम कहना चाहिये. चारित्रभ्रष्ट जीव दर्शनसे भ्रष्ट नहीं माना जाता है. अर्थात् चारित्रभ्रष्ट जीवसे दर्शनभ्रष्ट जीव अतिशय भ्रष्ट है जो चारित्रसे भ्रष्ट हुआ है. परंतु सम्यग्दर्शन से च्युत नहीं हुआ है उसको संसारपतनकी भीति नहीं है. शंका-असंयमसे उत्पन्न हुए पापोंके भारसे जीवको संसारमें अमरण करना पड़ता ही है अतः चारित्रभ्रष्ट जीवका संसारपतन नहीं है ऐसा आप क्यों कहते हो ? इस प्रश्नका उत्तर—चारित्रभ्रष्ट जीव चारों गतिओंमें अमरण करता नहीं. उसका संसार अत्यंत है अतः उसको संसार नहीं है ऐसा कहा जाता है जैसे किसीके पास थोड़ासा धन है तो भी वह धनी कहलाता नहीं. परंतु दर्शनभ्रष्ट मनुष्यको अर्घ्य पुद्गलपरिवर्तन कालतक संसारमें भ्रमण करना पड़ता है इसलिये वह अत्यन्त निकृष्ट है.

एककस्य सम्यग्दर्शनस्य माहात्म्यं कथयति -

सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं ॥

जादो दु सेणिगो आगमोसि अरुहो अविरदो वि ॥ ७४० ॥

श्रेणिको व्रतहीनोऽपि निर्मलीकृतदर्शनः ॥

आरूत्यपदमासाद्य सिद्धिसौधं गमिष्यति ॥ ७६९ ॥

विजयोदया—सुद्धे शुद्धे । सम्मत्ते सम्यक्त्वे । शंकाद्यतिचारभावात् । अविरदो वि अप्रत्याख्यानावरण-क्रोधमानमायालोभानामुदयात् हिंसादिनिवृत्तिपरिणामरहितोऽपि । तित्थयरणामकम्मं तीर्थकस्त्वस्य कारणं कर्म अज-यति । विनयसंपन्नतादिरपि तीर्थकरनामकमणो हेतुत्वे तत. कोऽतिशयो दर्शनस्य इति चेत् दर्शने सत्येव तेषां तीर्थ-



करनामकर्मणः कारणता । नान्यस्येति मन्यते । जादो छु जातः छल्लु । सेणिगो श्रेणिकः । आगमेसि भविष्यति काले । अह हो अहन् । अचिरदो वि असयतोऽपि सन् । ननु श्रेणिको भविष्यत्यहन् न त्वहत्त्वं तस्यातीतं तेन कथमुच्यते जात इति । भविष्यदहत्त्वं न निष्पन्नं इति युक्तमुच्यते जात इति ॥

अकेला भी सम्यग्दर्शन महास्थयुक्त होता है ऐसा विवेचन आचार्य करते हैं—

अर्थ—शंका, कांक्षा वगैरह अतिचारोंसे रहित अविरत सम्यग्दर्शको भी तीर्थकरनाम कर्मका बंध होता है. अग्रत्याख्यानावरणी कौध, मान, माया और लोभ इनका उदय होनेसे परिणाममें हिंसादिकोंसे विरक्तता उत्पन्न न होने पर भी केवल निरतिचार सम्यग्दर्शन धारण करनेवाले मनुष्यको तीर्थकर कर्मका बंध होता है. शंका—विनयसंपन्नता वगैरह अन्य कारणोंसे भी तीर्थकरत्वकी प्राप्ति होती है. सम्यग्दर्शनमें ही ऐसी क्या विधि-प्टता है ? उत्तर—सम्यग्दर्शन होनेपर ही विनयसंपन्नतादिक तीर्थकर कर्म बंधके कारण होते हैं अन्यथा उनमें कारण-णता नहीं हैं. केवल सम्यग्दर्शनके साहायतासे ही श्रेणिक राजा भविष्यत्कालमें अर्हत हुआ है.

शंका—श्रेणिक भूपाल भविष्यकालमें अर्हत होनेवाला है उसको अर्हदावस्था प्राप्त होचुकी है ऐसा नहीं है अतः वह अर्हत होगया ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर—भविष्य कालीन अर्हतपना अभी निष्पन्न नहीं हुआ है इसलिये वह होगया ऐसा कहना योग्य है

कल्लणपरंपरयं लहंति जीवा विमुद्धसम्मत्ता ॥

सम्महंसणरयणं णग्घदि ससुरासुरो लोओ ॥ ७४१ ॥

अच्छिन्ना लभ्यते येन कल्याणानां परंपरा

मूल्यं सम्यक्त्वरत्नस्य न लोके तस्य विद्यते ॥ ७५० ॥

विजयोदया—कल्लणपरंपरयं कल्याणपरंपरां । इदत्त्वं, सकलचक्रलोछतां, अहमिदत्त्वं, तीर्थकृत्यमित्यादिकं लभंते जीवाः । विमुद्धसम्मत्ता विमुद्धसम्यक्त्वाः । सम्महंसणरयणं सम्यग्दर्शनरत्नं । णग्घदि ससुरासुरो लोओ सकलो लोको मूल्यतया दीयमानोऽपि न लभते सम्यक्त्वरत्नमित्यर्थः ॥

अर्थ—इस निर्मल सम्यग्दर्शनसे इंद्रपदवी, चक्रवर्तीपना, अहमिद्रावस्था और तीर्थकरपद ऐसी कल्याण परंपरा उत्तरोत्तर जीवको मिलती है. यह सम्यक्त्व रत्न इतना मूल्यवान है कि देव और असुरोंसहित यह संपूर्ण

लोक भी प्रदान किया तो भी उसकी कीमतकी भरपायी होती नहीं है अर्थात् संपूर्ण त्रैलोक्य देनेपरभी सम्यक्त्वरत्न मिलता नहीं

सम्मत्तस्स य लंभे तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लंभो ॥

सम्महसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥ ७४२ ॥

लङ्घूण वि तेलोक्कं परिवडदि हु परिभिदेण कालेण ॥

लङ्घूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं हवदि मोक्खं ॥ ७४३ ॥

सम्यक्त्वस्य च यो लाभैल्लोकस्य च यस्तयो ॥

सम्यक्त्वस्य मतो लाभः प्रकृष्टः सार्वेर्दिभेः ॥ ७७१ ॥

त्रैलोक्यमुपलभ्यापि ततः पतति निश्चितम् ॥

अक्षयां लभते लक्ष्मीमुपलभ्य सुदर्शनम् ॥ ७७२ ॥

ददाति सौख्य विधुनोति दुःखं भवं लुनोति नयते विभुक्तिं ॥

निहन्ति निंदां कुरेन सपर्या सम्यक्त्वरत्नं विदधाति किं न ॥ ७७३ ॥

इति सम्यक्त्वं ।

विजयोदया — स्पष्टार्थतया न व्याख्यायते गाथाद्वयम् । अनन्तरसम्मत्ते भावणा इत्येतद्व्याख्यात ॥ सम्मत्तं ॥  
अर्थ — एक सम्यग्दर्शनका लाभ और दूसरा त्रैलोक्यका लाभ इन दो लाभोंमें सम्यग्दर्शनका लाभही श्रेष्ठ है त्रैलोक्यका लाभ होनेपर भी वह थोड़े कालके अनन्तर नष्ट होता है परंतु सम्यग्दर्शनका लाभ जबिको अविनाशी सुख देनेवाले मोक्षकी प्राप्ति करा देता है, अतः सम्यग्दर्शनका लाभ त्रैलोक्यलाभसे भी श्रेष्ठ है सम्यक्त्वका वर्णन समाप्त हुआ।

परा भत्ती एत्येतद्व्याख्यानाय प्रश्न उत्तर —

अरहंतसि हचेदियपवयणआयिरियसव्वसाहूसु ॥

तिव्वं करेहि भत्ती णिव्विदिग्गिञ्छेण भावेण ॥ ७४४ ॥

भक्तिमर्हत्सु सिद्धेषु चैत्येष्वर्चाचार्यसाधुषु ॥

विधेहि परमां साधो ! निश्चयसिन्धुमानसः ॥ ७७४ ॥

विजयोद्या - अरुहन्सिद्धेष्टियपवयणआयसिन्धुमानसहसु अहंसिद्धेषु तत्पतिभिषु, प्रपन्नै, आचार्येषु सर्वसाधुषु च । तिवं भक्तिं करोहि तीव्रा भक्तिं कुर्वति । निश्चिन्तित्वा विचिकित्सारहितेन । भवेन परिणामेन ॥

पराभक्ती इम पदका आचार्य स्पष्टीकरण करते हैं -

अर्थ -- अरुहन्त, सिद्ध, और उनकी प्रतिमायें, आगम, आचार्य, उपाध्याय और मर्मसाधु इनके ऊपर हे श्रवक ? तुम मलिनपरिणामोंका त्याग कर तीव्र भक्ति करो.

जिनभक्तिमाहात्म्य कथयति -

संवैगजनिदकरणा गिरसह्या मदरोव्व निक्कपा ॥

जस्स दढा जिणभत्ती तस्स भवं णत्थि संसारे ॥ ७४५ ॥

विजयोद्या - संवैगजनिदकरणा ससत्तमीकृतया उत्पादितामलाभा । गिरसह्या मिथ्यात्वेन, मायया, निदा-  
नेन, च रहिता । मदरोव्व निक्कपा मंदर इव निश्चला । जस्स दढा जिणभत्ती यस्य दढा जिनभक्ति । तस्स संसारे भय  
णत्थि तस्य संसारनिमित्तं भय नास्ति ॥

जिनभक्तिका माहात्म्य दिखाते हैं --

अर्थ - संसारभयसे उत्पन्न डुई, मिथ्यात्व, माया और निदानसे रहित, मेरु पर्वतके समान निश्चल  
ऐसी जिणभक्ति जिसके अंतःकरणमें हैं उस पुरुषको संसारमें किसी से भी भय उत्पन्न नहीं होगा. अर्थात् जिन-  
भक्ति के प्रभावसे उसका संसार नष्ट होकर उसको शीघ्र मुक्तिलाभ होता है.

एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं पिवारणे ॥

पुण्णाणि य पूरेंदुं आसिद्धिपरंपरसुहाणं ॥ ७४६ ॥

तह सिद्धचेदिए पवयणे य आइरियसव्वसाधूसु ॥

भत्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिब्बा ॥ ७४७ ॥

विज्जा वि भचित्तंस्स सिद्धिसुवयादि होदि सफला य ॥  
 किह पुण णिब्बुदिवीज सिद्धाहिदि अभत्तिमंतस्स ॥ ७४८ ॥  
 जिनेद्रभक्तिरेकापि निवेदुं दुर्गतं क्षमा ॥  
 आसिद्धिलब्धि नो दातुं सारां सौख्यपरंपराम् ॥ ७५५ ॥  
 सिद्धचैत्यश्रुताचार्यसर्वसाधुगता परा ॥  
 विच्छिन्नत्ति भवं भक्तिः कुठारीव महीरुहम् ॥ ७७६ ॥  
 नेह सिध्यति विद्यापि सफला न हि जायते ॥  
 किं पुनर्निवृत्तेर्वाजं भक्तिहीनस्य सिध्यति ॥ ७७७ ॥

विजयोदया - विज्जा विद्यापि । भक्तिवतस्स भक्तिमत । सिद्धिसुवयादि सिद्धिसुपयाति । होदि सफला य फलवती च भवति । किंच पुण कथं पुन । णिब्बुदिवीजं निर्धृतेर्वाजं रत्नत्रयं ॥ सिद्धाहिदि सेत्स्यति ॥ अभत्तिमंतस्स भक्तिरहितस्य ॥ क ? अर्हदादिषु ॥

अर्थ--अकेली जिनभक्ति ही दुर्गतिका नाश करने में समर्थ है, इससे विपुल पुण्यकी प्राप्ति होती है और मोक्षप्राप्ति होने तक इसमें इंद्रपद, चक्रवर्तीपद, अर्हमिद्रपद और तीर्थरूपदके सुवर्गोंकी प्राप्ति होती है, सिद्धपरमेष्ठि, और उनकी प्रतिमा, आगम, आचार्य, सर्वसाधु, इनमें की हुई तीव्र भक्ति संसार का नाश करनेमें समर्थ होती है, जो भक्तिमान् है उसको इष्ट पदार्थोंकी दावी विद्या सिद्ध होती है अर्थात् उससे इष्ट पदार्थ भक्तिमानको मिलते हैं, जो भक्तिहीन है अर्थात् जो अर्हदादिकोंमें भक्ति नहीं करेगा उसको मुक्तिका वीज जो रत्नत्रय वह कैसे प्राप्त हो सकेगा ?

तेसिं आराधणायमाण ण कल्लिज जो णरो भत्तिं ॥  
 धत्तिं पि संजमंतो सालिं सो उसरे ववदि ॥ ७४९ ॥  
 भक्तिमारामधनेशानां योऽकुर्वाणस्तपस्याति ॥  
 स वपन्त्यूपरे शालीनलोच्य समं ध्रुवम् ॥ ७७८ ॥

विजयोदया—तोसि आराधणायागण अर्हदादीना आराधनाया नायकानां । ण करिज्ज जो णरो भोसिं यो नरो भक्तिं न करोति । स धासिं पि सजमतो नितरा सयमे उद्यतोऽपि शालीनपूरे देशे वपति । ऊपरे शालियपने अफले यथा क्रुतेत्येवं दुश्चरं संयमं चरत्यय अर्हदादिषु भक्तिरहितो मिथ्यादृष्टिं लनिति भाव ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओंके नायक ऐसे अर्हदादिपरमेश्विओंमें जो पुरुष भक्ति नहीं करता है, वह चारित्रमें खूप तत्पर रहनेपर भी क्षार घृत्तिक्रामें शालिवीज बोनवाले मनुष्य के समान है.

जैसे शालिवीज क्षारजमीनमें बोनेसे कुछ फायदा नहीं है वैसे मिथ्यादर्शनसहित होकर खूब तपश्चरण करनेसे भी मुक्तिफल की प्राप्ति होती नहीं.

बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमव्वएण विणा ॥

आराधणमिच्छन्तो आराधणभत्तिमकरंतो ॥ ७५० ॥

ते वज्जेन विना सस्यं वारिदेन विना जलम् ॥

कांक्षन्ति ये विना भक्तिं कांक्षंत्याराधनां नराः ॥ ७७९ ॥

विजयोदया—बीजेण विणा सस्सं शस्यमिच्छति बीजेन विना । वासमव्वएण विणा वृष्टिं अक्षेण विना । कारणेन विना कार्यमिच्छतीति यावत् । आराधना रत्नत्रयसंसिद्धिं इच्छति । शकुर्वन्नाराधनाभक्तिं हेतुभूता ॥

अर्थ—आराधनारूप भक्ति न करके ही जो रत्नत्रयसिद्धिरूप फल चाहता है वह पुरुष बीजके विना धान्यप्राप्तिकी इच्छा रखता है अथवा मेघके विनाही जलवृष्टि की इच्छा करता है ऐसा समझना चाहिए.

विधिणा कदस्स सस्सस्स जहा निष्पादयं हवदि वासं ॥

तह अरहादिगभत्ती णाणचरणदंसणतवाणं ॥ ७५१ ॥

विधिनोप्तस्य सस्यस्य वृष्टिर्निष्पादिका यथा ॥

तथैवाराधनाभक्तिश्चतुरंगस्य जायते ॥ ७८० ॥

विजयोदया—विधिणा कदस्स विधीयते जन्यते कार्यमेनेनेति कारणसदेहो विधि । तेन कारणकलापेन कृत स्योप्तस्य । सस्सस्स शल्यस्य । वास जह निष्पादय हवदि धर्म यथा फलनिष्पात्तिं करोति । तह तथैव । आराहगभत्ती

आराध्यभक्ती आराधकेषु अर्हदादिषु भक्ती भक्तिः । गणचरणदसणतवाणं ज्ञानस्य, दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसश्च निष्पादिका भवति ॥

अर्च—धान्य उत्पन्न करनेके संपूर्ण कार्योंका आश्रय कर जमीनमें बीज बोनेके अनंतर जलवृष्टि होनेसे फल निष्पत्ति होती है वैसे अर्हदादि पूज्य पुरुषोंपर भक्ति करनेसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तपस्वी फल उत्पन्न होता है

भक्तिमाहात्म्य फलतिशयोपदर्शनेन कथयितुकामोऽथाख्यानमुपक्षिपति गाथायाम्—

वंदणभक्तीमित्तेण मिहिलाहिओ य पउमरहो ॥

देविदपाडिहरं पत्तो जादो गणधरो य ॥ ७५२ ॥

वंदनाभक्तिमात्रेण पद्मको मिथिलाधिपः ॥

देवेंद्रपूजितो भूत्वा वभूव गणनायकः ॥ ७८१ ॥

रोगमारिचौरवैरिभूषभूतपूर्वकाणि ॥

भक्तिराशु दुःखदा निहन्ति सेविताऽखिलानि ॥ ७८२ ॥

इति भक्तिः ।

विजयोदया—वदणभक्तीमित्तेण वंदनानुरागमात्रेण चैव । मिहिलाहिओ य पउमरहो मिथिलानगराधिपति पद्मरयो नाम । देविदपाडिहर पत्तो देवेंद्रकृता पूजा प्राप्तवान् । जादो गणधरो य गणधरश्च जात ॥ भक्ती ॥

विशिष्ट फलका प्रदर्शन करके भक्तिका माहात्म्य कहने की इच्छासे आचार्य उदाहरण देते हैं—

अर्थ—वंदना करनेकी तीव्र भक्तीसे मिथिला देशका राजा पद्मरथ देवेंद्रसे पूजातिथयको प्राप्त हुआ और वह वासुपूज्य तीर्थंकर का गणधर हुआ. भक्तीका वर्णन हुआ.

आराधणापुरस्सरमणणहिदओ विसुद्धलेस्साओ ॥

संसारस्स खयकरं मा मोचीओ णमोक्कारं ॥ ७५३ ॥



इस नमस्कार के नामनमस्कार, स्थापनानमस्कार, द्रव्यनमस्कार और भावनमस्कार ऐसे चार भेद हैं। नामनमस्कार—जिस किसीका 'नमस्कार' ऐसा नाम रखना यह इस पदार्थका नाम हो इस हेतुसे जो जो पद प्रयोग किया जाता है उसको नामनमस्कार कहते हैं।

स्थापनानमस्कार—नमस्कार करनेमें तत्पर होकर हाथ जोड़कर मस्तकपर जिसने स्थापन किये हैं ऐसे जीवकी जैसी आकृति होती है वैसी आकारयुक्त जो मूर्ति स्थापी जाती है उसको स्थापनानमस्कार कहते हैं।

द्रव्यनमस्कार—नमस्कारप्राप्त नामका ग्रंथ है जिसमें नय प्रमाण और निक्षेप वगैरहके द्वारा नमस्कारा निरूपण किया है इस ग्रंथका जिसको ज्ञान है परंतु इसमें निरूपण किये गये अर्थमें सांमतकालमें जिसका उपयोग नहीं है, अर्थात् सांप्रतकालमें जिसका अन्य पदार्थके तरफ चित्त गया है वह पुरुष 'द्रव्यनमस्कार' शब्दसे वाज्य है, वह पुरुष नमस्कारका यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले श्रुतज्ञानका कारण होनेसे उसको आगम द्रव्यनमस्कार कहते हैं।

नो आगम द्रव्यनमस्कारके ज्ञायक शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त, ऐसे भेद हैं, नमस्कार प्राप्तके ज्ञाताका जो त्रिकालगोचर शरीर उसमें भी नमस्कार शब्दका प्रयोग करते हैं क्योंकि शरीरके विना नमस्कार शब्दका ज्ञान जीवकी होता नहीं। इस लिये शरीर भी ज्ञानका कारण है, उसमें भी नमस्कार पदका प्रयोग करते हैं, त्रिकालगोचर शरीर में जो भूतशरीर नामक भेद है उसके व्युत्पन्न, व्यावृत्त और त्यक्त ऐसे तीन भेद हैं, आयुष्य पूर्ण चलने पर जो शरीर आत्मासे छूट जाता है उसको व्युत्पन्न शरीर कहते हैं, उपसर्ग होनेपर जो शरीर छूट जाता है वह व्यावृत्त कहा जाता है, आयुष्यका अभाव हुआ है ऐसा समझकर आत्माके द्वारा जो शरीर त्यागा जाता है उसको त्यक्त कहते हैं, इसका तीन भेद है, भक्तप्रत्याख्यान, प्रायोगमन और इगिनीमरण इन तीनों भेदोंमें से किसीका भी आश्रय कर योग्य विधीसे शरीरका त्याग होता है उसको त्यक्त कहते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान—शुनिदीक्षा लेनेके अनंतर दीक्षा कालसे कपाय मछेखना और शरीरसंछेखना करके नियर्णकाचार्यका आश्रय करनेके कालपर्यंत बीचके कालमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य जो जो अतिचार हुए हैं उनकी आलोचना करके गुरुके दिये हुये प्रायश्चित्त का स्वीकार करना चाहिये, तदनंतर द्रव्यसंछेखना और भाव-संछेखनाका आश्रय करके तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कर रत्नत्रयकी आराधना करना इसको भक्तप्रत्या-



ख्यान कहते हैं, इंगिनीमरण और ग्रायोपगमन मरण ऐसे दो भेदोंका लक्षण आचार्य आगे कहेंगे, इन मरणोंके द्वारा शरीरका त्याग करना उसको भी त्यक्त कहते हैं,

जीव जव था तव वह जैसा नमस्काररूप उपयोगको कारण था वैसा वह भी शरीर नमस्कारके प्रति उपयोग लगानेका कारण था अतः वही, यह शरीर है ऐसा ज्ञान शरीरको देखनेसे होता है इसलिये भूतशरीरमें भी नमस्कारका प्रयोग कर सकते हैं, जिसमें भविष्यकालमें नमस्कारके प्रति उपयोग होगा वह भावि कहता है

नमस्कार विषयक ज्ञानके तरफ जिसका उपयोग लगा है उसको आगम भावनमस्कार कहते हैं, जिनको नमस्कार करना योग्य है ऐसे अर्हदादिक परमेष्ठिओं के गुणोंमें अदुरक्त होकर अपने दो हाथ जिसने कमलकलिकाकार क्रिये हैं तथा जो नमस्कार कर रहा है उसको नो आगम भावनमस्कार कहते हैं,

इस नमस्कारका निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इसने अनुयोगों के द्वारा वर्णन करते हैं—

अर्हदादिकी गुणोंमें अनुरागी होकर जो आत्मा वचनेसे स्तुति करता है और मस्तक नम्र करता है उसकी इस अवस्थाको नमस्कार स्वामी—सम्यग्दृष्टि इस नो आगम भाव नमस्कारका स्वामी है, इस नमस्कारके ये साधन हैं,— मति श्रुतज्ञावरण कर्मका क्षयोपशम, दर्शन मोहका उपशम क्षय और क्षयोपशम ये बाह्य साधन हैं आत्मा अन्तरंग साधन है, अर्थात् प्रत्यासन्नभव्य अन्तरंग साधन है अधिकरण—आत्मामें यह नमस्कार रहता है अतः वह आधार है, इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है, अर्हदादि पंचपरमेष्ठिओंके अपेक्षासे इसके पांच प्रकार है, अथवा अर्हदादिकोंमें अनेक विकल्प हैं इस लिये भी नमस्कारके अनेक भेद होते हैं, अर्हन्तके सामान्य केवल अर्हत्, गणधर केवल अर्हत्, तीर्थंकर केवल अर्हत् ऐसे भेद हैं, सिद्धोंके भी गति सिद्ध, तीर्थसिद्ध, क्षेत्रसिद्ध, लिंग सिद्ध ऐसे अनेक भेद हैं इनकी अपेक्षासे नमस्कारके भी अनेक भेद होते हैं,

मणसा गुणपरिणामो वाचा गुणभासणं च पंचण्डं ॥

काएण संपणामो एस पयट्थो णमोक्कारो ॥ ७५३ ॥

विजयोद्या—अत्र नमस्कारस्मरण 'णमो लोए सच्चसाधुणं' इत्यत्र लोकग्रहणं सर्वग्रहणं प्रत्येकमाभिसंब-

धत्ते । णमो लोए सव्वेसि अरहताण, णमो लोए सव्वेसि सिद्धाण, णमो लोए सव्वेसि आहारियाण, णमो लोए सव्वेसि उवज्जायाण ” इति । अरहंताणमित्यादि बहुवचननिर्देशादेव सर्वेणामहंदादीना ग्रहण सिद्धमतो न कर्तव्य सर्वशब्दोपादान इति चेत् । अर्हत्तृतीयद्वीपगतभरतेषु, पेरवनेषु, विदेहेषु च ये अर्हते, सिद्धा, आचार्या, उपाध्याया, साधवश्चातीता, वर्तमाना, भविष्यतश्च तेषां ग्रहणार्थं सर्वशब्द उपात्त । सादराविशेषव्यापनार्थं प्रत्येकं नमः शब्दोपादान ।

अर्थ — नमस्कार इस पदका अर्थ इस प्रकार है. मनके द्वारा अर्हदादिकोंके गुणोंका स्मरण करना, वचनके द्वारा अर्हदादि पंच परमेश्वरोंके गुणोंका वर्णन करना, शरीरसे पंच परमेश्वरोंके चरणोंको नमस्कार करना यह नमस्कार शब्दका अर्थ है

णमो अरहंताणं इत्यादि नमस्कार द्वयमें ‘ णमो लोए सव्व साहूणं ’ ऐसा अन्तिम वाक्य है. इसमें लोक शब्द और सर्व शब्द इन दो शब्दोंका संबंध प्रत्येकके साथ करना चाहिये. अर्थात् णमो लोए सव्वेसि अरहंताणं, णमो लोए सव्वेसि सिद्धाणं, णमो लोए सव्वेसि आहारियाणं, णमो लोए सव्वेसि उवज्जायाणं ।

शका—अरहंताणं, सिद्धाणं वगैरहमें बहु वचनका प्रयोग होनेसे ही सर्व अर्हदादिकोंका ग्रहण होता है अतः सर्व शब्दकी जरूरत नहीं है.

उत्तर—दार्द द्वीपमें पांच भक्त, पांच ऐरावत और पांच विदेहों में जितने अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं, हो गये हैं. और होंगे उनका ग्रहण करनेके लिये यहा सर्व शब्दका प्रयोग किया है और आदर विशेषता दिखानेके लिये प्रत्येकके आगे नमः शब्दका प्रयोग किया है

अरहंताणमोक्कारो एक्को वि हविज्ज जो मरणकाले ॥

सो जिणवयणे दिट्ठो संसारच्छेदणसमत्थो ॥ ७५५ ॥

एकोप्यहंनमस्कारो मृत्युकाले निपेवितः ॥

विचंचसयति संसारं भास्वानिव तमश्चयम् ॥ ७८४ ॥

विजयोदया—अरहताणमोक्कारो अर्हता नमस्कार । जो मरणकाले भवेज्ज एक्को वि । जो मरणकाले भवेदेकोऽपि । सो स । जिणवयणे दिट्ठो जिनवचनं दृष्टं । संसारच्छेदणसमत्थो संसारोच्छेदनसमर्थः ॥

अर्थ—मरण समयमें अरहंतोंको एक भी यदि नमस्कार किया तो वह भी संसारका नाश करनेमें समर्थ है ऐसा जिनागममें कहा है

९२०

ननु सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्यतयासि संसारमुच्छिद्यति यद्यपि न स्यान्नमस्कार इत्याशयायामाह—

जो भावणमोक्षारेण विणा सम्पत्तणचरणतवा ॥

ण हु ते होति समत्था संसारुच्छेदणं कांडु ॥ ७५६

संसारं न विना शक्तं नमस्कारेण सूदितुं ॥

चतुरंगगुणोपेतं नायकेनेव विद्विपम् ॥ ७५७ ॥

विजयोदया—जो भावणमोक्षारेण विणा यो भावनमस्कारेण विना सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र्य, तपश्च । खु शब्द एवकारार्थ । ण हु ते समारुच्छेदणं कांडु समत्था होति । न हि ते संसारोच्छेदन कर्तुं समर्थो भवति ॥

सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र्य और तप संसारका नाश करते हैं इस लिये नमस्कार की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—भावनमस्कारके विना सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र्य और तप संसारका नाश करने में समर्थ नहीं होते हैं.

यदेव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्ग इति सूत्रेण विकस्यते । नमस्कारमात्रमेव कर्मणाविनाशने उपाय इत्येकमुक्तिमार्गकिथनादित्याशंकायामाह—

चतुरंगणु सेणणु णायगो जह पवत्तओ होदि ॥

तह भावणमोक्षारो मरणे तवणणचरणणं ॥ ७५७ ॥

विद्विषो नायकेनेव चतुरंगं वलीयसा ॥

संसारस्य विधाताय नमस्कारेण योज्यते ॥ ७८६ ॥

विजयोदया—चतुरंगणु सेणणु णायगो चतुरंगया सेनाया नायको । जह पवत्तओ होज्ज यथा प्रवर्तको भवति । तह भावणमोक्षारो तथा भावनमस्कारः । मरणे मरणगोचरः । तवणणचरणणं तपोज्ञानचरणानां क्षाधिक

सम्यक्प्रज्ञानदर्शनवीर्यगुणात्मका अर्हन्त इत्येवं श्रद्धानात्मको भावनमस्कार सम्यग्दर्शनात्मकत्वात् । समीचीनं तपो, ज्ञान, चारित्र्यं च प्रवर्तयति । न ह्याप्तगुणश्रद्धान विना शब्दश्रुतस्य प्रामाण्यमय व्यवस्थापयितुमीशः । चक्रतृप्रामाण्याद्विना न वचनप्रामाण्यसिद्धिः । न हीन्द्रियविषयज्ञानमयथार्थमिदमेतद्यथार्थमिति वा विवेकशक्त्यते अस्मदादिना । अर्थ-याथात्म्यबोधिर्नो वीतरागद्वेषस्य च यतो वचस्ततो यथार्थमेव विज्ञानं जनयति, नायथार्थमिति समीचीनज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानपुरस्सरतया चरणं तपश्च समीचीनं सत्कर्मोपनोदे निमित्तं नान्यथेति प्रवर्तकता भावनमस्कारस्य ततः प्रभावत्वाद्भावनमस्कारः संसारोच्छेदकारीति व्यपदिश्यते ॥

यदि आप भावनमस्कारसे ही संसारनाश होता है ऐसा कहते हो तो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गाः' इस सूत्रके साथ विरोध उत्पन्न होगा. क्यों कि नमस्कार ही केवल कर्मका नाश करनेमें उपाय है ऐसा आपका अभिप्राय है. सम्यग्दर्शनादिक तीनों मिलकर मोक्षका उपाय है और आपके मतसे केवल नमस्कार ही मोक्षोपाय है. इस शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—गज, रथ, अश्व और पायदल इस प्रकार चार सेनाओंका जैसे सेनापति प्रवर्तक माना जाता है. वैसे यह भावनमस्कार भी मरणसमय में तप, ज्ञान, चारित्र्यका प्रवर्तक है.

क्षायिक सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनंतवीर्य ये अर्हत्के गुण हैं ऐसी श्रद्धा करना यही भावनमस्कार है यह नमस्कार सम्यग्दर्शनात्मक ही है. इससे ही मुनिराजके ज्ञान, तप, और चारित्र्य, कर्मनिर्जरा करना, संवर करना इन कार्योंमें मवृत्त होते हैं आपसगुणोंपर यदि श्रद्धा न होगी तो यह भावनमस्कार शब्दश्रुतका प्रामाण्य सिद्ध करनेमें समर्थ न होगा. वक्तामें यदि प्रमाणता न होगी तो उसके वचन प्रमाणभूत कैसे माने जायेंगे इंद्रियज्ञान से यह यथार्थ है और यह अथार्थ है इसका निर्णय कर नहीं सकता. जिनके रागद्वेष नष्ट होगये हैं और जो पदार्थोंका सच्चा स्वरूप जानते हैं उनका वचन अर्थात् आगम प्रमाणभूत मानना चाहिये. उसको अप्रमाण समझना योग्य नहीं है सम्यग्दर्शनसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह सम्यग्ज्ञान है. उसी तरह चारित्र्य और तप भी जब उत्कृष्ट-निर्दोष होते हैं तब कर्मनाश करनेमें निमित्त हो जाते हैं अन्यथा नहीं. इसलिए भावनमस्कार इनका प्रवर्तक है ऐसा समझना चाहिए. यह भावनमस्कार ग्रामावसंपन्न होनेसे संसारका उच्छेद करता है ऐसा मानना अयोग्य नहीं है

आराधनापढायं गेण्हंतस्स हु करो णमोक्कारो ॥

महस्स जयपढायं जह हत्थो धेत्तुकामस्स ॥ ७५८ ॥

नमस्कारेण गृह्णाति देवीमारोधनां घातिः ॥

पताकाभिव हस्तेन मह्यो निश्चितमानसः ॥ ७८७ ॥

विजयोदया — आराधनापताकां ग्रहीतुकामस्य महस्य भावनमस्कार एव करो जयपताका ग्रहीतुकामस्य हस्त इवेत्युत्तराथार्थः ॥

अर्थ — जो क्षपक आराधनारूप पताका ग्रहण करता है उसका भावनमस्कार ही हाथ है जैसे जयप-  
ताकाको मह्य पुरुष अपने हाथसे ग्रहण करता है

अण्णाणी वि य गोवो आराधित्ता मदो णमोक्कारं ॥

चंपाए सेट्ठिकुले जादो पत्तो य सामणं ॥ ७५९ ॥

अजानोऽपि सृतो गोपो नमस्कारपरायणः ॥

चम्पाएसेट्ठिकुले भूत्वा प्रपदे संयमं परम् ॥ ७८८ ॥

समस्तानि दुग्धानि विच्छिद्य सयः॥ सुधानि प्रभूतानि साराणि दत्त्वा ॥  
मुदा सेव्यमानं विधानेन मोक्षे । विवाधानि दत्ते नमस्कारमित्रम् ॥ ७८९ ॥

इति नमस्कारः ।

विजयोदया — अर्हदयुग्मज्ञानरहितोऽपि गोपो द्रव्यनमस्कारमारुध्य सूनयंपपुरे श्रेष्ठिकुले जातः । श्रामण्यं च प्राप्तवान् इति च द्रव्यनमस्कारोऽव्येव विपुल फल प्रयच्छतीति भावः । नमस्कारो व्याख्यातः । णमोक्कारः ॥

अर्थ — सुभग नामक गालाको अर्हत्के ज्ञानादि गुणोंका स्वरूप मात्तम नहीं था, उसने मरण समयमें अर्हत्को द्रव्यनमस्कार किया था मरणके अनंतर वह चंपापुरनगरमें द्रुपदचत्थेरीका पुत्र हुआ, श्रमण अवस्थाको प्राप्त होकर मुक्त हुआ, द्रव्यनमस्कार भी ऐसा विपुल फल अर्पण करता है, नमस्कारका विवेचन हुआ,

पाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तिगग्हो काउं ॥  
 पाणं अंकुसभूदं मत्तरा हु चित्तहत्थिरस ॥ ७६० ॥  
 न शक्यते वशीकृतुं विना ज्ञानेन मानसं ॥  
 अंकुशेन विना कुत्र क्रियते कुंजरो वधो ॥ ७९० ॥

विजयोक्त्या—णाणुवओग इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरं प्रपद्यते—णाणोवओगग्घियेण ज्ञानपरिणाममग्घित्तेन पुनरा । सको चित्तनिग्रहो काळ चित्तनिग्रहः कर्तुमशक्यः । कस्मात् ज्ञानमनेणेन न शक्यमधिकचिन्तायाः कर्तुमशक्यत्वेऽपि नाना निग्रहकरणे सायकतमं ततस्तदन्तरेण न भवति चित्तनिग्रहः इत्याचष्टे । णाण अकुमपूव मत्तम्म तु अित्तच्छहियम्म ज्ञानमक्क शम्भुत्तमस्य चित्तद्वस्तिन । इदमत्र चोत्प्रेते-इह चित्तशब्देन किमुच्यते ? अन्यत्र सचित्तशीलसङ्गतइत्यारोच्यते अतः शम्भुत्तमस्य चित्तद्वस्तिन इति गृहीत इहोपि यदि तेदेव तस्य निग्रहो नाम कः ? अत्रोच्यते-विपर्ययज्ञानतया अशुभस्यानेकइत्यातया या परिणतिः मिति गृहीत इहोपि यदि तेदेव तस्य निग्रहो नाम कः ? अत्रोच्यते-विपर्ययज्ञानतया अशुभस्यानेकइत्यातया या परिणतिः प्राणभूतो यस्य तस्य निरोधो यथाश्रानपपरिणामेन क्रियते । परिणामो हि परिणामिन निरुणद्धि, परिणामोऽस्मिन्निगदस्सन् या नादात्तव्य' इति । यथा मत्तो दृस्ती न क्वचिद्व्यवतिष्ठते यधनमद्वनाद्यिक विना तद्वचित्तादस्यपि यत्र कुत्र चनाशुमप रिणामे प्रनर्तते इति ॥

अर्थ—ज्ञानपरिणामसे रहित पुरुष अपने चित्त का निग्रह करनेमें ममर्थ नहीं होता है अर्थात् ज्ञान मनको जीतनेमें साधकत्व है उसके विना मन अन्य उपायसे नहीं जीता जा सकता है जैसे मचहारीको अंकुश बंध करता है वैसे उन्मत्त हुए इस चित्तरूप हाथीको बंध करनेके लिये वह ज्ञान अंकुशके समान है.

मन्त्र—यहां चित्तशुद्धसे क्या अभिप्राय समझना चाहिये, 'मन्त्रैश्चतुर्ग्रीतमवृत्त' इत्यादि सूत्रमें चित्तशुद्धका अर्थ चैतन्य ऐसा माना है क्या यहां भी वही अर्थ मानते हो ? तो— 'चैतन्यनिग्रह करना' इसका क्या अभिप्राय समझना चाहिये ?

उत्तर--जो विपरीत ज्ञानरूप अथवा अशुभग्रन्थानुरूप वा अशुभलेश्यारूप परिणति जीवकी होती है उसका निरोधही आत्माके ग्यार्थ ज्ञानरूपपरिणतमें युक्त होता है. परिणाम परिणामीका विरोध करता है जैसे हमारे विरुद्ध तुम अपने परिणाम धारण करना योग्य नहीं है जैसे मत्तहत्ती बंधन मर्दानादिके बिना कहां परभी स्थिर रहता नहीं है वैसे यह मनरूप हाथी भी जिस किसी अशुभ परिणाममें ग्रस्त होता है.

विज्जा जहा पिसायं सुहु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥  
णाणं हिदयपिसायं सुहु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥ ७६१ ॥  
स्वभ्यस्तं कुरुते ज्ञानं नानानर्थपरं मनः ॥  
पुरुषस्य वशो विद्या पिशाचमिव दुर्यहम् ॥ ७९१ ॥

विजयोदया — विज्जा सुहु पउत्ता जहा पिसायं पुरिसवस करेदि । विद्या सुहु प्रयुक्ता सम्यगाराधिता यथा पिशाचं पुरुषस्य वश्यं करोति । तद्दणं सुहुवजुत्तं वसे करेदि हिदयपिसाय च । तथा ज्ञानं सुहु प्रयुक्त वशं करोति । किं ? हृदयपिशाच । चित्त पिशाचवद्योग्यकारितया ज्ञानं समीचीन असंरुतमवर्तमानं शुभे वा परिणामे प्रवर्तयति चेतनामिति यावत् ॥

अर्थ — पूर्ण विधीसे विद्याकर आराधना करतेपर पिशाच वश हो जाता है वैसे ज्ञानके तरफ पूर्ण उपयोग देनेसे यह हृदयरूपी पिशाच पुरुषके स्वार्थीन होता है यह हृदय पिशाचके तुल्य अयोग्य कार्य करता है परंतु ज्ञानोपयोगसे पुरुष इस हृदयको श्रुभ अथवा शुद्ध परिणामोंमें प्रवर्तौ सकते हैं, जैसे सम्यग्दृष्टि जीव विद्याराधन करके पिशाचको वश कर उससे धर्मप्रभावना के कार्य कराता है वैसे इस मनको भी है क्षपक ! तू ज्ञानाराधना कर शुद्ध परिणामोंमें तत्पर कर.

उवसमइ किण्हसण्णो जह मतेण विधिणा पउत्तेण ॥  
तह हिदयकिण्हसण्णो सुहुवजुत्तेण णाणेण ॥ ७६२ ॥  
ज्ञानेन शम्यते दुष्टं नित्याभ्यस्तेन मानसम् ॥  
मंत्रेण शम्यते किं न सुप्रयुक्तेन पन्नगः ॥ ७९२ ॥

विजयोदया — उवसपदि किण्हसण्णो उपशास्यति कृष्णसर्प । जह यथा । मतेण पजुत्तेण स्वाहाकारात्ता विद्या इति स्वाहाकारो मंत्रशब्देनोच्यते मंत्रेण सुहु प्रयुक्तेन । तह तथैव । हिदयकिण्हसण्णो उवसमदि हृदयकृष्णसर्प उपशाम्यति । सुहुवजुत्तेण णाणेण सुहु प्रवृत्तेन ज्ञानपरिणामेन । अशुभनिग्रहहेतुता ज्ञानस्य आद्यया नाथयोक्ता । द्वितीयया चित्तस्य स्ववशाकारित्वं ज्ञानभावनयोक्तं । अनया तु अशुभपरिणामप्रशांतिकारिता ज्ञानभावनया निरुच्यते ॥

अर्थ—योग्य विधीसे साध्य किया हुआ मंत्र प्रयोग करनेपर कृष्णसर्पको वश करता है, अर्थात् मंत्रके प्रभावसे क्रोधसे फूटकार करनेवाला सर्प शांत होकर मांत्रिकके वश होता है, वैसे यह हृदय रूपी कृष्ण सर्प भी उत्तम प्रकारसे प्रयुक्त किये ज्ञानपरिणामके द्वारा वश किया जाता है, पहिली गाथासे ज्ञान अशुभ परिणामोंको निग्रह करनेमें कारण है यह दिखाया है, दुसरी गाथाके द्वारा चित्त स्वश करनेका उपाय दिखाया है, अर्थात् ज्ञानभावसे चित्त वश होता है ऐसा कहा है, और प्रस्तुत गाथासे ज्ञानभावना-ज्ञानाम्यास अशुभ परिणामोंकी प्रशान्ति करता है यह बताया है

आरणवो वि मत्तो हत्थी णियमिज्जेदे वरत्ताए ॥

जह तह णियमिज्जदि सो णाणवरत्ताए मणहत्थी ॥ ७६३ ॥

नियम्यते मनोहस्ती मत्तो ज्ञानवरत्रया ॥

हस्ती वारण्यकः सर्वो भयदायी वरत्रया ॥ ७६३ ॥

विजयोदया—आरणवो वि मत्तो हत्थी अरण्यचारी मत्तो हस्ती। णियमिज्जेदे वरत्ताए नियम्यते निरुच्यते वरत्रेण यथा। तथा मणहत्थी मनोहस्ती नियम्यते। णाणवरत्ताए ज्ञानवरत्रेण। प्राणिनामहितकारितया, दुर्निवारतया च मनो हस्तीवेति मनोहस्तीति भण्यते। ज्ञानमशुभप्रवाहं निरुणद्धि। हृत्यनयोच्यते।

अर्थ—अरण्यमें खच्छंदपनासे विहार करनेवाला मत्त हाथी जैसे मजबूत श्रृंखलासे बांधा जाता है वैसे यह मन प्राणिओंका अहित करता है और दुर्निवार है अतः यह हाथीके समान होनेसे इसको हाथी कह सकते हैं, यह मनरूपी हाथी ज्ञानरूपी श्रृंखलासे बांधा जाता है, अर्थात् ज्ञान अशुभसंकल्पोंके समूहको रोकता है, मनमें ज्ञानके प्रभाव से अशुभ संकल्प उत्पन्न नहीं होते हैं,

ज्ञानवरत्रया नियमितस्य मनोव्यापारं निरूपयत्युत्तरगाथा-

जह मक्कडओ खणमवि मज्झत्थो अत्थिदु ण सक्केइ ॥

तह खणमवि मज्झत्थो विसएहिं विणा ण होइ मणो ॥ ७६४ ॥



मध्यस्थो न कपिः शक्यः क्षणमायासितुं यथा ॥  
मनस्तथा भवैवैव मध्यस्थं विषयैर्विना ॥ ७९४ ॥

विजयोदया — मर्कटको खणमवि मज्झत्यो अत्थिदुं ण जहा सक्केदि मर्कटकः क्षणमपि मध्यस्थो निर्विकारः सन् स्थातु न शक्नोति । तथा मणो विसर्पहिं विणा मज्झत्यो खणमवि ण होदि तथा मनो विषयैः शब्दाविनिमित्ता रागादय इह विषयशब्दाव्या विषयकार्यत्वात् । ततोऽयमर्थः, अत्र रागद्वयौ विना मध्यस्थं मनो न भवति । ज्ञानभावनायामसत्या रागद्वययोर्द्वैतित्वं मनसो व्यापार इत्यर्थः । एतया ज्ञान मनसो माध्यस्थं करोतीत्याख्यायते । यस्मान्मनसोऽमाध्यस्थमस्ति सनिहितमनोऽज्ञानोऽविषयरागद्वयपसहचरितया —

ज्ञानरूपी श्रृंगलासे न वंधे ह्रए मनकी चेष्टाओं का वर्णन —

अर्थ — वानर एकक्षण पर्यन्त भी स्थिर अर्थात् निर्विकार एकस्थानमें रहता नहीं, मन भी विषयों के विना स्थिर नहीं रहता है हमेशा विषयोंमें विचरता है अर्थात् हमेशा शब्द रस, स्पर्श वगैरे विषयोंका निमित्त पाकर यह रागद्वयोंसे युक्त हुआ ही करता है, विषयोंसे निवृत्त होकर माध्यस्थ भावमें यह रममाण होता नहीं, सतत ज्ञानका अभ्यास न होनेसे इसकी रागद्वयमें परिणति हो रही है, परंतु ज्ञानका अभ्यास करनेसे माध्यस्थ-भाव मनमें उत्पन्न होता है, मनोज्ञ-इष्ट विषय और अमनोज्ञ अनिष्ट विषयके सहवाससे मनमें क्रमसे रागद्वेप उत्पन्न होते हैं, तब माध्यस्थ भावका लोप होता है,

तथा सो उडुहणो मणमक्कडओ जिणोवएसेण ॥  
रामेदब्बो णियदं तो सो दोसं ण काहिदि से ॥ ७९५ ॥

सदा रमयितव्योऽसौ जिनवाक्यवने ततः ॥

रागद्वैषादिकं दोषं करिष्यति ततो न सः ॥ ७९५ ॥

विजयोदया — तथा तस्मात् । सो मणक्कडओ मनोमर्कटः । उडुहणो इतस्तत् उल्लंघनपर । रामेदब्बो णियदं सर्वकालं रमयितव्य । क जिणोवदेसमि जिनाने । तो ततो जिनागमरते । सो मनोमर्कट । दोसं रागद्वेपादिक । ण काहिदि न करिष्यति । से तस्य ज्ञानाभ्यासकारिण ॥

अर्थ — तब यह मनोमर्कट इतस्ततः कूदने लगता है इस मनोमर्कटको जिनागमके अभ्यासमें दिनरात तत्पर करना चाहिये, जिससे यह रागद्वेपादिक विकारको छोड़ देगा-

यस्माज्ज्ञानाभ्यासे सति मनोमर्कटको दोषं अशुभपरिणामं न करोति -

तस्मात्पाणुवओगो खवयस्स विसेसदो सदा भणिदो ॥

जह विधणोवओगो चंदयवेज्जं करतस्स ॥ ७६६ ॥

ज्ञानाभ्यासस्ततो युक्तः क्षपकस्य विशेषतः ॥

विचेद्यं कुर्वतस्तस्य चंद्रकव्यधनं यथा ॥ ७६६ ॥

विजयोदया - तस्मात्पाणुवओगो तस्माज्ज्ञानपरिणाम । खवयस्स विसेसदो सदा भणिदो क्षपकस्य विशेषतः सदा निरूपित । जह विधणोवओगो यथा व्यधनभ्यासो विशेषतो भणितः । कस्य ? चंदयवेज्जं कर्तस्स चंद्रकवेधं कुर्वतः ।

ज्ञानाभ्याससे यह मनोमर्कट अशुभ परिणाम नहीं करेगा ऐसा कथन -

अर्थ - चंद्रक यंत्रका वेध करने की ह्जा रखनेवाला वीर पुरुष जैसे हमेशा लक्ष्यवेध करनेका अभ्यास करता है, वैसा मनोमर्कट वश करनेके लिये हमेशा क्षपक को ज्ञानाभ्यासकी आवश्यकता है,

पाणपदीओ पज्जलह जस्स हियाए विसुद्धेस्सस्स ॥

जिणदिठ्ठमोखमग्गे पणासणभयं ण तस्सत्थि ॥ ७६७ ॥

शुद्धलेदयस्य यस्यान्ते दीप्यते ज्ञानदीपिका ॥

तस्य नाशभयं नास्ति मोक्षमार्गे जिनेदिने ॥ ७६७ ॥

विजयोदया - पाणपदीओ ध्यानप्रदीपः । पज्जलह प्रज्वलति । यस्य विशुद्धलेदयस्य हृदये । तस्य संसारवर्ते पतित्वा विनष्टोऽस्मीति विनाशभयं नास्ति । जिणदिठ्ठमोखमग्गे जिनहृदे श्रुते स्तत्रयद्वृत्तिरपि मोक्षमार्गेशब्द इह श्रुतद्वृत्तिर्ग्राह्यः ॥

अर्थ - विशुद्ध परिणामयुक्त ऐसे जिसे क्षपकते हृदयमें ज्ञानरूपी दीपक सतत प्रकाशमान रहता है उसको जिनेश्वरने कहे हुए आगम में नष्ट होनेका भय नहीं रहेगा, अर्थात् सतत ज्ञानाभ्यास करनेसे जीवादिक पदार्थोंका जैनशास्त्रमें जो नयोंके आधारसे अनेक अपेक्षाओं को लेकर स्वरूपवर्णन किया है उसका खूब खुलासा होगा परंतु जिसको ज्ञानाभ्यास नहीं है उसको जिनागमका रहस्य मालूम न होगा

ज्ञानप्रकाशमहात्म्य कथयति—

णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ॥

दीवेइ खेत्तमपं सूरुो णाण जगमसेसं ॥ ७६८ ॥

ज्ञानोद्योतो महेद्योतो व्याधातो नास्य विद्यते ॥

क्षत्रं द्योतयते सूर्यः स्वल्पं सर्वमसौ पुनः ॥ ७९८ ॥

विजयोदया—णाणुज्जोवो ज्ञानोद्योत एव द्योतोऽतिशयित । कस्तस्यातिशय इत्यत आह—णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो ज्ञानोद्यतस्य नास्ति प्रतिधात । दीवेदि प्रकाशयति । खेत्तमप स्वल्प देश्च । क ? सूरुो आदित्य । णाण जगमसेसं ज्ञानं जगदशेष । दीवेदि प्रकाशयति । समस्तव्यापिज्ञानवदन्य प्रकाशो नास्तीत्यर्थः ॥

ज्ञानप्रकाशका महत्त्व आचार्य कहते हैं—

अर्थ—ज्ञानरूपी जो प्रकाश है वही उत्कृष्ट प्रकाश है, इसमें यह विशेषता है कि यह किसीके द्वारा नष्ट कर नहीं सकते हैं, हवा वगैरह पदार्थ दीपकका नाश करते हैं परंतु ज्ञानदीपका नाश करनेवाला जगमें कोई भी पदार्थ नहीं है सूर्यका प्रकाश बहुत तीव्र है परंतु वह भी अल्पक्षेत्रको ही प्रकाशित करता है, परंतु यह ज्ञान-प्रदीप समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, समस्तको व्याप कर जानेवाले ज्ञानके समान दुसरा प्रकाश जगमें नहीं है,

णाणं पेयासओ सो वओ तवो संजमो य गुत्तियरो ॥

तिण्हपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ ७६९ ॥

ज्ञानं प्रकाशकं वृत्तं गोपकं साधकं तपः ॥

त्रयाणां कथिता योगे निर्वृत्तिर्जिनशासने ॥ ७९९ ॥

विजयोदया—णाण पेयासंगं ज्ञानं प्रकाशयति । ससारं संसारकारणं, मुक्तिं मुक्तिकारणं च ॥ सो वओ तवो निर्जराणिमित्तं तपः । संजमो य गुत्तियरो सयमश्च गुप्तिकरः । तिण्हपि त्रयाणामपि । समाओगे संयोगे मोक्खो मोक्षः । जिणसासणे दिट्ठो । जिनशासने दृष्टः ॥

अर्थ—ज्ञान संसार और मुक्तिके कारणोंको प्रकाशित करता है, व्रत, निर्जराके कारणरूप तप, गुप्तिको

उत्पन्न करनेवाला संयम और इन तीनोंका संयोगरूप मोक्ष जिनका स्वरूप जैनागममें कहा है ज्ञान उन सबको जानता है.

पाणं करणविहूणं लिंगग्राहणं च दंसणविहूणं ॥

संजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि ॥ ७७० ॥

पाणुज्जोण विणा जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं ॥

गंतुं कडिल्लमिच्छदि अंधलओ अंधारम्मि ॥ ७७१ ॥

करणेन विना ज्ञानं संयमेन विना तपः ॥

सम्यक्त्वेन विना लिंगं क्रियमाणमनर्थकम् ॥ ८०० ॥

ज्ञानोद्योतं विना योऽत्र मोक्षमार्गे प्रयास्यति ॥

प्रयास्यति वने दुर्गे सोऽन्धोऽन्धतमसे सति ॥ ८०१ ॥

विजयोदया — पाणुज्जोण विणा ज्ञानोद्योतेन विना । जो इच्छदि यो वाछति । मोक्खमग्गमुवगंतुं चारित्र तपश्च इद्व मोक्षमार्गे इत्युच्यते चारित्रं तपस्चोपगतु । गतु कडिल्लमिच्छदि गंतु दुर्गमिच्छति । क' ? अंधलओ अंध । अंधारम्मि अंधकारे तमसि । यया वृक्षटणगुल्मादिनिचिते प्रवेशे गमन अतिदुष्कर अप्रकाशे सति । तद्विद्विसादिपरिहारो जीविकायाकुले दुष्कर इति मन्यते ॥

अर्थ — चारित्रहीन ज्ञान, सम्यग्दर्शनरहित सुनिदीक्षा धारण करना, संयमरहित तप करना, ऐसे कार्य व्यर्थ हैं. अर्थात् इससे मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं अर्थात् चारित्रसहित ज्ञान और प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम सहित तप करना चाहिये. सम्यग्दर्शनसहित सुनिदीक्षा धारण करनी चाहिये तब मोक्षकी प्राप्ति होती है.

अर्थ — ज्ञानरूपी प्रकाश अर्थात् ज्ञानदीपकको त्याग कर मोक्षका ल्पयभूत ऐसा चारित्र और तपकी प्राप्ति करनेकी जो इच्छा करता है वह अंधकारमें वृक्ष तृणादिकोंसे व्याप्त ऐसे दुर्गमप्रदेशमें प्रवेश करने वाले अंधमनुष्यके समान समझना चाहिये. जैसे जीवोंसे भरे हुए प्रदेशोंमें हिंसादिकोंका परिहार करना कठिन है वैसे ज्ञानके विना मोक्षमार्गकी प्राप्ति कर लेना कठिन है.

जइदा खंडसिलोगेण जमो मरणा दु फेडिदो राया ॥

पत्तो य सुसामणं किं पुण जिणउत्तसुत्तेण ॥ ७७२ ॥

संयमं श्लोकखंडेन निवार्य मरणं यमः ॥

यदि नीतस्तदा किं न जिनसूत्रेण साध्यते ॥ ८०२ ॥

विजयोदया—जइदा खंडसिलोगेण यदि तावत्खंडेन श्लोकस्य । जमो राया मरणादो फेडिदो यमो राजा मरणा-  
दपसारित । पत्तो य सुसामण प्राप्तश्च शोभनं श्रामण्य । किं पुण जिणउत्तसुत्तेण । किं पुनर्जिनोक्तसूत्रेण प्राप्यफले  
आश्चर्यं । वाच्यमत्राख्यानक च । तदुक्त भवति—

अक्षेनाघेन जीवितार्थिना यात्किं चिदुक्त वचनं श्रुत्वा दास्यपरेण राज्ञा भाव्यमानं यद्यापत्सारणे निमित्तं वि-  
श्ववेदिना वचो भाव्यमानं किमभिलषितं न प्रापयति ।

अर्थ—यम नामक राजा श्लोकके खंडका स्वाध्याय करनेसे मरणकी आपत्तीसे मुक्त हुआ और उत्कृष्ट चारित्र-  
को भी प्राप्त हुआ स्वयं वनाये श्लोकखंडमे भी वह आपत्तीसे मुक्त होकर उज्ज्वल चारित्रको प्राप्त हुआ  
तो जिनसूत्रके अध्ययनसे उत्कृष्ट फल अर्थात् मोक्ष क्यों न मिलेगा, (इस यमराजाकी कथा आराधनाकथाकोषमें  
देखो)

जैसे एक राजाने भीख मांगनेवाले एक अज्ञ अंधका वचन सुनकर हसीसे कंठस्थ किया, उस वचन से  
उसके ऊपर आई हुई आपत्ति टली, एक अंधका वचन भी आपत्ती दूर होनेमें निमित्त होगया तो विश्वके समस्त  
पदार्थ जाननेवाले जिन भगवान के वचनोंका अभ्यास करनेसे क्या अभिलषित पूर्ण न होगा ? अवश्य पूर्ण होगा

सर्वस्यापि श्रुतस्य भावना मरणकाले महाफलं ददातीत्येवं तत्कथयति—

ददसुण्णो सुलदहो पंचणमोक्कारमेत्त सुदणायो ॥

उवजुत्तो कालगदो देवो जावो महद्दीओ ॥ ७७३ ॥

ददसुर्पोऽयं शूलस्थो जातो देवो महर्द्धिकः ॥

नमस्कारश्रुताभ्यासं कुर्वणो भक्तितो मृतः ॥ ८०३ ॥

विजयोदया—ददसुण्णो सुलदहो ददसुर्पो नाम चौत शूलमारुढ । पंचणमोक्कारमेत्त सुदणायो उवजुत्तो

कालगदो पंचनमस्कार एव श्रुतज्ञाने उपयुक्तः सन् कालगत । महद्भिर्गो देवो जादो महद्भिर्को देवो जात ॥

स्वल्पश्रुतका अभ्यास भी मरणकालमें महाफल देनेवाला होता है इस का विवेचन—

अर्थ—शूलपर चढ़ाया हुआ दृढशूर्प नामक चोर पंचनमस्कार मात्र श्रुतज्ञानमें चित्तकी एकाग्रता करके मरण को प्राप्त हुआ और स्वर्गमें महाऋद्धिशाली देव हुआ।

ण य तस्मि देसयाले सब्बो वारसविधो सुदक्खंधो ॥

सत्तो अणुचित्तंदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण ॥ ७७४ ॥

मृत्युकाले श्रुतस्कंधः समस्तो द्वादशांगकः ॥

बलिना शक्तिचित्तेन यतो ध्यातुं न शक्यते ॥ ८०४ ॥

विजयो—सब्सो गारसाविधो वि सुदक्खंधो तस्मि देसयाले ण य सब्बो अणुचित्तंदुं बलिणा वि समत्थचित्तेण सर्वा द्वादशविधोऽपि श्रुतस्कंधस्तस्मिन्मरणे देवो काले च नैव शक्योऽनुस्मर्तुं नितरामपि समर्थचित्तेन । बहुश्रुतस्यापि न ध्यानालगन समस्ते किं तु किंचिदेव सूत्र । तथा श्रुत 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमिति' ॥

अर्थ—मरणकालमें सर्व—वारा प्रकारका श्रुतस्कंधका चित्तन करना बलवान और समर्थ मनके पुरुष द्वारा भी शक्य नहीं है. बहुश्रुत विद्वान मुनि भी संपूर्ण श्रुतज्ञान को आपने ध्यानका विषय नहीं बना सकते हैं अर्थात् किसी भी कालमें और किसी भी क्षेत्रमें संपूर्ण श्रुतज्ञान ध्यानका विषय होता नहीं फिर मरण समयमें संपूर्ण श्रुतज्ञान ध्यानका कैसा विषय हो सकेगा ? श्रुतज्ञानका कोई एक ब्रह्म ध्यानमें विचारा जा सकता है. इसी वास्ते ध्यानका लक्षण 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानं' ऐसा कहा है.

एवकम्मि वि जम्मि पदे संवेगं वीदरायमग्गम्मि ॥

गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥ ७७५ ॥

एकत्रापि पदे यत्र संवेगं जिनभाषिते ॥

संयतो भजते तन्न त्यजनीयं ततस्तदा ॥ ८०५ ॥

जिनपतिवचनं भवभयमथनं शशिकरधवलं कृतबुधकमलं ॥  
धृतमिति हृदये हृतमलनिचये वितरति कुशलं विदलति कलिलम् ८०६  
इति ज्ञानम्.

विजयोदया—तेण एकस्मि चि जस्मि पदे यस्मिन्नेकस्मिन्नपि पदे युक्तः । संवेगं गच्छदि रत्नत्रये श्रद्धासुपैति । अभिज्ञस्वं पुनः पुनः । तं तत्पदं । मरणते शरीराद्वियोगकाले । ण मोत्तवं न मोक्खं । णाणुवओग इत्येतद्व्याख्यातं ।

अर्थ—जिस एक पदका चिंतन करनेसे आत्मासे रत्नत्रयपर श्रद्धा उत्पन्न होगी वह पद बार बार चिंता जाना चाहिये. शरीरका वियोग होने तक उसका त्याग हे क्षपक । तुम मत करो. 'णाणुवओगा इस' पद का विवेचन हुआ.

पचमहव्वदरक्खा इत्येतद्व्याचिख्यासुरहिंसाव्रतं पालयेति कथयति -

परिहर छज्जीवणिकायवधं मणवयणकायजोएहि ॥  
जावज्जीवं कदकारिदाणुमोदेहिं उवजुत्तो ॥ ७७६ ॥  
यावज्जीवं विमुंचस्व यत्ते ! षड्जीवहिंसनम् ॥  
शरीरवचनस्वांतैः कृतकारितमोदितैः ॥ ८०७ ॥

विजयोदया—परिहर छज्जीवणिकायवधं पण्णां जीवणिकायानां वधं । मा क्खया मनोवाक्काययोः प्रत्येकं कृतकारितानुमतविकल्पैः । कालप्रमाणमाह—जावज्जीवं यावज्जीव । सर्वजीवविषयसर्वप्रकारहिंसापरिहाररूपत्वात् । सर्वस्मिन्नेव भवपर्यायकाले प्रवृत्तत्वादहिंसा व्रतस्य महत्ता निवेदिता । छज्जीवणिकाय इत्यत्र श्यक्त्यो जीवणिकायानां परिगृहीता । मणवयणकायजोएहिं कदकारिदाणुमोदेहिं इत्यनेन हिंसाविकल्पा सगृहीता । जावज्जीवमित्यनेन निर-  
क्रियापरिहारे इति शेषः । उवजुत्तो समिदीसु इति शेष उपयुक्तः समितिपु समाहितचित्तः । इह वा सावज्ज

पांच महाव्रतोंका रक्षण करना चाहिये इस पदका आचार्य व्याख्यान करना चाहते हैं. प्रथम हे क्षपक तू अहिंसा महाव्रतका रक्षण कर ऐसा उसको कहते हैं—

अर्थ—हे क्षपक तू ईयादिसभित्तियों में एकाग्र चित होकर अर्थात् संपूर्ण पापक्रियाओंका त्याग करके आमरण मन, वचन, और काययोगसे तथा कृत, कारित और अनुमति ऐसे नष्ट प्रकारसे छह प्रकारके जीवसमुदायोंका वध करना छोड़ दे ऐसी प्रवृत्ति करनेसे तेरा अहिंसा महाव्रत पूर्ण निर्दोष पाला जायगा. सर्व जीवोंकी हिंसा प्राप्त हुए इस मनुष्यपर्यायमें सर्व प्रकारसे त्यागी जाती है इस लिये इसको अहिंसा महाव्रत कहते हैं. 'छज्जीव णिकाय' इस पदसे जगतमें जीवोंके समुदाय अर्थात् प्रकार कितने हैं यह दिखाया है, व "मणवयणकायजोगेहि, कदकरिदाणुमोदेहि" इन पदोंसे हिंसाके प्रकारोंका कथन किया है. अर्थात् हिंसा नष्ट प्रकारसे होती है 'जावज्जीव' इस पदसे संपूर्ण मनुष्यायुष्यका ग्रहण किया है.

जह ते ण पियं दुक्खं तेहव तेसिंमि जाण जीवाणं ॥

एवं णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा ॥ ७७७ ॥

यथा न ते प्रियं दुःखं सर्वेषां देहिनां तथा ॥

इति ज्ञात्वा सदा रक्ष तान्स्वस्वमिव यत्नतः ॥ ८०८ ॥

विजयोदया—जह ते ण पियं दुःखं यथा तव न प्रियं दुःखं । तथेव तेसिंमि पि जीवाणं दुःखं न पियत्ति तथैव तेयामपि जीवाना न दुःखं प्रियमिति । जाण जानीहि । एवं णच्चा एवं ज्ञात्वा । अप्पोवमिवो आत्मोपमानः । सदा होदि जीवेसु । परदु स्ताप्रियो भवेति यावत् ॥

अर्थ—हे क्षपक ! जैसे तुमको दुःख नहीं हैं वैसे अन्य जीवोंको भी दुःख प्रिय नहीं हैं ऐसा समझ कर सर्व जीवोंमें तू आत्मोपम हो अर्थात् परदुःख देनेसे निवृत्त हो.

तण्हाल्लुहादिपरिदाविदो वि जीवाण घादणं किच्चा ॥

पडियारं काटुंजे मा तं चित्तिसु लभसु सदिं ॥ ७७८ ॥

क्षुधा तृष्णाभिमृतोऽपि विधाय प्राणिपीडनम् ॥

मा कार्षीरपकारं त्वं वपुर्वचनमानसैः ॥ ८०९ ॥



नित्योदया — तण्हा दुहादिपरिविद्धो नि तृगा, ध्रुवा, रोगेण, शीतेन, आतपेन वाधितोऽपि सन् । जीवाणं वारणं क्रिया जीवनासुरघातने ढल्वा । गडिगारं काहुजे वुडादीनां प्रतिकार कर्तुं । तं मा चितेहि मा कार्पथितं । लभसु सुदिं लभन्त स्मृति । पिमामि हिमशीतल जलं कपूरक्षोदवासितं । अगाध वा सरः सुरभितरोत्पलजोवगुणितं प्रविश्य मसृपासिगुर र्प निमज्जतोमज्जने करोमि । ललाटे, शिरसि, पृथुले चोर स्थले करकप्रकरनिपातो यदि स्याद्भङ्गं भवेत् । कादागसिक्ताधिरागहृदयनादिलाभे वा जीमामि इति वा । आतपति वा दिवानिशं तपे । अपसारिततीक्ष्णकरकरनि-  
गुरगमिति व्यजनतालं तुन्तसमुपनीतशीतमाकृतपातेन श्रमनशेषमपाकुर्वन्तु भवन्त । हिमानी पततु । वातु मातरिद्वान इति वा । श्राव्यपूजानासुरासुरभिर्युताटानं प्रहस्यामीति । सम्यक् कथितं, क्षीरं शर्करामिश्रं सुयोषाणं पिबामीति च । घग्घ-  
गायमान पादिरमार्गं कुरुत । शीतनि स्फुटन्ति ममगाणि इत्येवमादिना प्रतिक्रिया मनसि न कार्येत्यर्थः । असद्वैद्योदय स गो मत्तानिति निपतति, को नु तस्य प्रतीकार ? तदुपशमनालभाविन एव गालड्यसंपाद्या, प्रतीकारा इति मनो निधेहि ॥

अर्थ—प्यास, भूख, रोग, शीत, उष्ण, इत्यादिकसे तुमको पीडा होने पर भी तुम जीवोंका घातकर प्याम नगरहको मिटानेका भयान करनेका विचार कभी मनमें मत लाओ ऐसे दुःखके समय आगमके वचनोंका स्मरण करो और आगे कहा हुआ विचार मनमें मत लाओ।

नापूरका चूर्ण डालकर सुगंधित किया हुआ, बर्फके समान शीतल जल में पीऊं, अथवा सुगंधित कमल-  
जोमे व्याप्त ऐसे अगाध मरोधरमें मत्त हाथी के समान प्रवेश कर निमज्जन करके स्नान करूं; ललाट, मस्तक,  
निहाल छाती इनके ऊपर ओलेका सपुदाय पड़ेगा तो बहुत ही आल्हाद होगा। कमल, शीत चालुका, कोमल  
कोपल, इनका किया हुआ मिठाना यदि मेरेको मोनेके लिये मिलेगा तो मैं जीऊंगा अन्यथा मेरे प्राण चले  
जायेंगे ऐसा विचार मनमें नहीं करना चाहिये रातमें और दिनमें प्यास मेरेको सताती है इसवास्ते स्वर्णके तीक्ष्ण  
किरणों को यहाँमें दूर करो। परवा नगरहके द्वारा ठंडी हवा करो और मेरा संपूर्ण श्रम आप दूर करो। बर्फ इष्टि  
होगी, नाथ बहने दो। ऐसा विचार नहीं करना चाहिये। क्वाडिमें तेल हुए, सुगंधित घृतसे मीले हुए अपूप में मक्षण  
करूंगा, अच्छी तरहसे पका हुआ, खांडमिश्रित सुखोष्ण दूध में पिऊंगा ऐसा विचार नहीं करे। घग्घग करता  
हुआ रोगका अग्नि जल्दी नवार करो। मेरे नर्न अंग थंडीसे फूट रहे हैं इस प्रकार के इलाजके विचार क्षपकको  
मनमें करना योग्य नहीं है मेरे ऊपर अमाना वेदनीय कर्मका बडा रोप हुआ है उसको क्या इलाज है, जन  
उनका उपशम होनेका समय आएगा तब बाल पदाथोंके द्वारा डलाज हो सकते हैं ऐसा मनमें विचार करना चाहिये।

रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तो वि ॥

भोगपरिभोगहेटुं मा हि विचिंतेहि जीववहं ॥ ७७९ ॥

हर्पोत्सुकत्वदीनत्वरत्यरत्यादिसंयुतः ॥

त्वं भोगपरिभोगार्थं मा कार्पणीववाधनम् ॥ ८१० ॥

विजयोदया—रदिअरदिहरिसभयउस्सुगत्तदीणत्तणादिजुत्तोऽवि । शब्दादिधिपया प्रीती रतिः । अमनो-  
क्षविषयसन्निधाने या विमुखता सा अरति । हास्यकर्मोदयनिमित्त परिणामो हर्ष । भयं, उत्सुकता, द्वीनतेत्येवमादिभि-  
र्युक्तोऽपि । भोगपरिभोगहेटु भोगोपभोगार्थं वा जीववधं मा कृथा मनसि ॥

अर्थ—स्पर्शादि विषयोपर प्रेम होना वह रति है. अनिष्ट पदार्थों से संयोग होनेपर जो विमुखता होती है  
उसको अरति कहते हैं. हास्य कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोंको हर्ष कहते हैं. भय, उत्सुकता, दीनपना इत्या  
दिक परिणाम आत्मामें उत्पन्न होने परभी भोगोपभोगके लिये हे क्षपक ! तू जीववध करनेका विचार मनमें मत कर.

महुकरिसमज्जियमहुं व संजमो थोवथोवसंगलियं ॥

तेलोककसव्वसारं णो वा पूरेहि मा जहसु ॥ ७८० ॥

माक्षिकं मक्षिकाभिर्वा स्तोकस्तोकेन संचितं ॥

मा नीनशो जगत्सारं संयमं चेत्त पूरये ॥ ८११ ॥

विजयोदया—महुकरिसमज्जियमहुं व मधुकरीभि समजित मयि व । सजमं चारित्र । थोवथोवसंगलिद्  
स्तोकस्तोकेनोपचित । तेलोकसव्वसार त्रैलोक्यस्य सर्वसार विष्णुत्रये यदतिशयम् स्थान, मान, ऐश्वर्यं सुखं वा तस्य  
कारणत्वात् त्रैलोक्यसर्वसार । मा जहसु मा त्याक्षी ॥

अर्थ—मधुमाक्षिकया जैसा थोडा मधु संचित करता है वैसा थोडा थोडा करके संचित किया हुआ  
यह संयम तू मत छोड़ क्योंकि त्रैलोक्यमें जो अतिशय उत्कृष्ट स्थान, मान, ऐश्वर्य और सुख है उसकी इससे प्राप्ति  
होती है. अतः ऐसे महान् संयम का हे क्षपक ! तू त्याग मत कर.

दुःखेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसणचरित्तं ॥  
दुःखलज्जियसामण्णं मा जहसु तणं व अगणंतो ॥ ७८१ ॥

नृत्वं जातिः कुलं रूपमिंद्रियं जीवितं बलम् ॥  
अवणं ग्रहणं वोधिः संसारे संति दुर्लभाः ॥ ८१२ ॥

विजयोदया—दुःखेण लभदि माणुस्सजादिमदिसवणदंसणचरित्तं दुःखेन लभते मनुष्यजन्म ॥ जंतु । सरे  
यद्यपि मणुस्सजादिशब्दः सामान्यवाच्युपात्तस्तथापि विशेषमवसाययति इति ग्राह्य । मनुजा हि चतुःप्रकाराः—  
कर्मभूमिसमुत्थाश्च भोगभूमिभवास्तथा ॥

अंतरद्वीपजाश्चैव तथा सम्मूच्छिमा इति ॥  
असिर्मपि क्वपि शितपं वाणिल्यं व्यवहरिता ॥  
इति यत्र प्रवर्तते नृणामाजीवयोनय ॥

प्रपत्यस्यमं यत्र तपःकमपरा नरा ॥  
सुरसगतिं वा सिद्धिं प्रयति हृतशत्रवः ॥  
पता कर्मभुवो ह्येयाः पूर्वोक्ता दश पंच च ॥  
यत्र संभूय पर्याप्तिं याति ते कर्मभूमिजाः ॥

मद्यत्यूयवराद्वारपात्राभरणमात्यैः ॥  
गृहदीपज्योतिपात्यैस्तगभिस्तत्र जीविकाः ॥  
पुरात्रामादयो यत्र न निवेशा न चाधिप ॥

न कुलं कर्म शिल्पानि न वर्णाश्रमसंस्थिति ॥  
यत्र नायौ नराश्चैव मैथुनीभूय नीरुजः ॥  
रमंते पूर्वपुण्याना प्राप्नुवन्ति परं फलं ॥

यत्र प्रकृतिभद्रत्वात् दिव याति मृता अपि ॥  
ता भोगभूमयश्चोक्तास्तत्र स्युर्भोगभूमिजाः ॥  
अभापका एकोरुका लागूलिकविपाणिनः ॥  
आदर्शमुखहस्त्यश्चविद्युदुल्कमुखा अपि ॥

हृयकर्णगजकर्णोः कर्णप्रावरणास्तथा ॥  
इत्येवमादयो ह्येया अंतरद्वीपजा नराः ॥

समुद्रद्वीपमध्यस्था. कंदमूलफलाशिनः ॥  
 देवयते मनुष्यायुस्ते मृगोपमचेष्टिताः ॥  
 कर्मभूमिषु चक्रालहलभृद्धरिसूनुजा  
 स्कंधावारसमूहेषु प्रस्रवोच्चारभूमिषु ॥  
 शुक्रासिंघाणकरेषु मर्कटमलेषु च  
 अत्यंताशुचिदेशेषु सद्य सममुच्छेतेन ये ॥  
 मृत्वागुलस्यासह्येयभागमात्रशरीरका. ॥  
 आशु नश्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्युः सममुच्छेता नरा ॥

पतेषु कर्मभूमिजमानवाना एव रत्नत्रयपरिणामयोग्यता नेतेरपा इति तदेव मनुजजन्म शुश्रूते । लब्धेऽपि तस्मिन् ज्ञानावरणोदयाद्विज्ञातपरिक्षायां समर्थो बुद्धिर्न सुलभा । तथा विना लब्धमपि मनुजजन्म विफलमेव । इष्टि-  
 रहितमिवायत् लोचनं, द्रविणसंपदं विना कुलीनत्वमिव, सुभगतामतेरेण रूपमिव, यथार्थतारहित वचनमिव, सत्या-  
 मपि मतौ यदि नास्ताना वच श्रुणुयात् सापि विफलैव सरोजरहिता सरसीव । इहापि श्रवणं आस्रवचनगोचरमेव शुद्ध्यते,  
 श्रवणमपि श्रद्धानरहितं सुलभमेव । इदं यथा येन प्रतिपादितं तथैवेति श्रद्धानं दुर्लभं दर्शनमोहोदयात् । सत्यपि  
 श्रद्धाने चारित्रमोहोदयात् ज्ञातेऽभिरुचिते मार्गे प्रवृत्तिर्दुर्लभा । एव दुस्वल्जिदसामण्यं दुःखार्जितश्रामण्यं । मा जहृष्टु  
 मा त्याक्षी । तण व अगणंतो वृणमिव अगणयन्

अर्थ—इस प्राणीको दुःखसे मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होती है. उत्तम जाति, बुद्धि, सुनिपता, सम्यग्दर्शन,  
 चारित्र्य ये अवस्थायें उत्तरोत्तर दुर्लभ होनेसे महाकष्टसे प्राप्त होती हैं. गाथामें यद्यपि मनुष्यत्व, जाति ये शब्द  
 सामान्यवाची हैं तो भी उनसे विशिष्ट मनुष्यत्व, उच्च जाति ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये.

मनुष्यके चार प्रकार हैं. उनका वर्णन—

कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्तर्द्विपज और समृद्धिम ऐसे मनुष्यके चार भेद हैं. जहां अंसि—शुख धारण  
 करना, मयि—चही खाता लिखना, कृषि—खेती करना, पशुपालन करना, शिल्पकाम करना अर्थात् हस्तकौशल्य  
 के काम करना, वाणिज्य—व्यापार करना और व्यवहारिता—न्यायदानका कार्य करना. ऐसे छह क्रायोंसे जहां उप-  
 जीविका करनी पडती है, जहां संयमका पालन कर मनुष्य तप करनेमें तत्पर होते हैं और जहां मनुष्योंको पुण्यसे  
 स्वर्ग प्राप्ति होती है और कर्मका नाश करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसे स्थानको कर्मभूमि कहते हैं. ये कर्मभूमि  
 अठाईद्वीपमें पंधरा हैं अर्थात् पांच भगत, पांच ऐरावत और पांच विदेह.

जहाँ मद्यांग, तूर्यांग, वस्त्रांग, भोजनांग, पात्रांग, आभरणांग, माल्यांग गृहांग, दीपांग, और ज्योतिरांग ऐसे दश प्रकारके कल्पवृक्ष रहते हैं और इससे मनुष्योंकी उपजीविका चलती है ऐसे स्थानको भोगभूमि कहते हैं. भोगभूमिमें नगर, कुल, अस्मिभ्यादि क्रिया, शिल्प, वर्णाश्रमकी पद्धति ये नहीं होती हैं. यहाँ मनुष्य और स्त्री पूर्वपुण्यसे पतिपत्नी होकर समान होते हैं. वे सदा नीरोगही रहते हैं और सुख भोगते हैं. यहाँ के लोक स्वभावसे ही मृदु परिणामी अर्थात् मंद कर्मायी होते हैं. इसलिये मरणोत्तर उनको स्वर्गकी प्राप्ति होती है. भोगभूमिमें रहनेवाले मनुष्योंको भोगभूमिज कहते हैं.

अन्तरद्वीपज मनुष्योंका वर्णन—ये मनुष्य, अमापक गुरो, एक टांगवाले, पूंछवाले, सींगको धारण करनेवाले, ऐसे अनेक प्रकारके रहते हैं. यहाँके कोई मनुष्य दर्पणके समान सुखवाले, हाथी, घोडा, इनके सुख समान सुखवाले, बिजली और उल्का समान सुखवाले रहते हैं किसी २ मनुष्योंके कान हाथी और घोडोंके कान सरीखे रहते हैं. कितने मनुष्योंके कान इतने बड़े होते हैं कि वे उसको ओढ सकते हैं. इन सब मनुष्योंको अन्तर्द्वीपज मनुष्य कहते हैं. ये मनुष्य लवणोद और कालोद समुद्रके बीचमें ९६ अन्तर्द्वीप हैं उनमें रहते हैं. उनका आचरण पशुके समान रहता है वे मनुष्यायुका अनुभव लेते हैं.

कर्मभूमिमें चक्रवर्ती, बलभद्र वगैरह बड़े राजाओंके सैन्योंमें, मलभूत्रोंका जहाँ क्षेपण करते हैं ऐसे स्थानोंपर, वीर्य, नाकका मल, कफ, कान और दांतोंका मल और अत्यंत अपवित्र प्रदेश इनमें जो तत्काल उत्पन्न होते हैं. जिनका शरीर अंगुलका असंख्यात भाग मात्र रहता है और जो जन्म लेनेके बाद शीघ्र नष्ट होते हैं और जो लब्धपथीपक्ष होते हैं उनको सम्मूर्च्छन मनुष्य कहते हैं

इन मनुष्योंमें जो कर्मभूमिज मनुष्य हैं उनका ही रत्नत्रयपरिणाम की योग्यता है. इतरोको नहीं है. इस वास्ते मनुज शब्दसे इनका ही ग्रहण समझना चाहिय.

रत्नत्रयकी योग्यताको धारण करनेवाला मनुष्यजन्म मिलने पर भी ज्ञानावरणकर्मके उदयसे हिताहित की परीक्षा करनेवाली बुद्धि प्राप्त होना सुलभ नहीं है. ऐसी बुद्धि यदि प्राप्त नहीं हुई तो यह मनुष्यजन्म प्राप्त होकर भी निष्फल ही हुआ समझना चाहिये. नेत्र बड़े होकर भी उनसे पदार्थ दीखत नहीं है, अच्छे कुलमें जन्म होनेपर भी यदि सौंदर्य प्राप्त नहीं हुआ, बोलनेकी शक्ति प्राप्त होकर भी यदि असत्य बोलनेके तरफ ही प्रवृत्ति होने

लगी, तो नेत्र, उच्छ्कल, सुमगता और वचनशक्ति सब प्राप्त होना विफल है, वैसे उत्तम बुद्धि प्राप्त होनेपर भी यदि मनुष्य आप्तका वचन नहीं सुनेगा तो वह बुद्धि भी कुछ कामकी नहीं है ऐसा समझना चाहिये जैसे कमलरहित सरोवर सुंदर नहीं दीखता है वैसे आप्तवचन न सुननेवाली बुद्धि भी शोभाहीन ही है ऐसा समझना चाहिये यहां श्रवण शब्द कुछ भी सुनना इस सामान्य अर्थ का वाचक नहीं है, परंतु आप्तके वचन सुनना यही श्रवण शब्दका अर्थ है, श्रवण भी श्रद्धान रहित सुलभ है, जैसे जिनेश्वरने कहा है वैसाही श्रद्धानगुणयुक्त श्रवण जगतमें दुर्लभ है, दर्शनमोहका उदय होनेसे यह श्रद्धान जीवको प्राप्त होना कठिन है, पदार्थ का स्वरूप जान लेनेपर भी और श्रद्धा करनेपर भी चारित्र्यमोहकर्मका उदय होनेपर रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करना बड़ा ही कठिन है इस-लिये हे क्षपक ! तुमको यह दुर्लभ आश्रय-मुनिपनाभी प्राप्त हुआ है अतः इसको तृणके समान जानकर मत त्यागो,

जीवघातदोषमाह्वय गाथाद्वयेन कथयति—

तैलोक्यजीविदादो वरेहि एकदरमसि देवेहि ॥

भाणिदो को तैलोक्यं वरिज्ज संजीविदं मुच्चा ॥७८२॥

देवैरेकं वृणीष्व त्वं त्रैलोक्यजीवितव्ययोः ॥

इत्युक्तौ जीवितं मुक्त्वा त्रैलोक्यं वृणुतेऽत्र कः ॥ ८१३ ॥

विजयोदया- त्रैलोक्यजीवितयोरैक गृह्णेति देवैश्चोचित कल्लैलोक्यं वृणीते । जीवस्य जीवितं त्यक्त्वा, वनमेव ग्रहीतुं वाछति । यस्मादेव त्रैलोक्यस्य मूल्यं जीवितं सर्वमागिनस्तस्माज्जीवितघातो जीवस्य जीवदन्त्यत्रावृत्ते जीवस्यैव वचनमनर्थकमिति चेन्न, उत्तरेण सबधातु । जीवस्य हेतुल्लैलोक्यघातसमो महान्दोषो भवतीति यावत् ॥

जीवघातसे उत्पन्न हुए दोष का महत्त्व आचार्य दो गाथाओंसे दिखाते हैं

अर्थ—त्रैलोक्य और जीवित इन दोनोंमेंसे तुम कोई एक ग्रहण कर सकते हो ऐसा देवोंके द्वारा कहा-जानेपर मनुष्य जीवन को ही लेगा क्योंकि यह जीवन त्रैलोक्यकी कीमतका है, अर्थात् संपूर्ण जीवोंका जीवन त्रैलोक्यके बराबरीका है, इस वास्ते जीवका घात करना त्रिलोकका घात करनेके समान है तात्पर्य—जीवघात करना यह महान् दोष है,

जं एवं तेलोक्कं णग्घदि सव्वस्स जीविदं तस्सा ॥  
जीविदघादो जीवस्स होदि तेलोक्कघादससो ॥ ७८३ ॥

त्रैलोक्येन यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते ॥

जीवजीवितघातोऽतत्रैलोक्यहननोपमः ॥ ८१४ ॥

प्राप्य दुर्लभसंतत्या आमण्यं सुखसाधकम् ॥

एकाग्रमानसो रक्ष निधानमिव सर्वदा ॥ ८१५ ॥

अर्थ—संपूर्ण जीवोंका जीवित क्योंकि त्रैलोक्यके कीमतकी बराबरीका है अतः जीवकं जीवितका घात करना त्रैलोक्यघातके समान है.

अहिंसाव्रतमद्वचा निवेदयति—

णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि ॥

जह तह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि ॥ ७८४ ॥

अल्पं यथाणुतो नास्ति महदाकाशतो यथा ॥

अहिंसाव्रततो नास्ति तथा परसुरूवत्तम् ॥ ८१६ ॥

विजयोदया—णत्थि अणूदो अप्पं नास्त्यणोरल्पं अन्यत्किंचिद्भूयं । आयासादो अणूणयं णत्थि । आकाशाद्वान्यन्महद्वास्ति यथा तथान्यद्भूतं अहिंसातो महद्वास्ति ॥

अर्थ—इस जगतमें अणु से छोटी दूसरी वस्तु नहीं है और आकाशसे भी बड़ी कोई चीज नहीं है इसी प्रकार अहिंसा व्रतसे दूसरा कोई बड़ा व्रत नहीं है.

जह पव्वदेसु मेरु उव्वाओ होइ सव्वलोयस्मि ॥

तह जाणसु उव्वायं सीलिसु वदेसु य अहिंसा ॥ ७८५ ॥

पर्वतेषु यथा मेरुश्चक्रवर्ती यथा नृषु ॥

जीवरक्षत्रतं सारं सर्वस्मिन्नपि व्रते तथा ॥ ८१७ ॥

विजयोदया—जह पर्वतसु सर्वस्मिच्छोके पर्वतेभ्यो मेरुयथोच्चैस्तथा अहिंसा शीलेषु व्रतेषु च उन्नततमेति जानीहि । व्रतानां, शीलानां, गुणानां च अधिष्ठानमहिंसेति वदति ॥

अर्थ—जैसे सर्व जगत्में समस्त पर्वतोंमें मेरुपर्वत बड़ा है वैसे यह अहिंसा व्रत संपूर्ण शील और समस्त व्रतोंमें बड़ा है

सर्वो वि जहायासे लोगो भूमीए सब्बदीउदधी ॥

तह जाण अहिंसाए वदगुणसीलाणि तिष्ठति ॥ ७८६ ॥

यथाऽकाशे स्थितो लोको घरण्यां द्वीपसागराः ॥

सर्वव्रतानि तिष्ठन्ति जीवन्नाणव्रते तथा ॥ ८१८ ॥

विजयोदया—यथा सर्वलोक ऊर्ध्वोच्चस्तिर्यग्विकल्प आकाशाधिकरण । भूमौ च स्थिताः सर्वे द्वीपा उदघयश्च । तथैव जाण जानीहि । व्रतगुणशीलान्यहिंसाया तिष्ठन्ति इति ॥

यह अहिंसा व्रत, गुण और शील सर्वोंको आधार है ऐसा कथन—

अर्थ—उर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्य लोक ऐसे लोकके तीन भेद हैं परंतु यह लोक भी आकाशमें है, अर्थात् त्रैलोक्यका आधार आकाश है इस भूतलमें सर्व द्वीप और समुद्र आशेष होकर रहे हैं, वैसे व्रत गुण, और शील ये सब अहिंसाके आश्रयसे रहते हैं

कुवंतस्स वि जत्तं तुंबेण विणा ण ठंति जह अस्या ॥

अरण्हिं विणा य जहा णट्ठं णेमी दु चक्कस्स ॥ ७८७ ॥

यथा तिष्ठन्ति चक्रस्य न तुंबेन विनारकाः ॥

एतैर्विना न तिष्ठन्ति यथा चक्रस्य नेमयः ॥ ८१९ ॥



विजयोदया—कुर्वन्तस्स वि जत्तं यत्तं कुर्वन्तोऽपि । पिंडीमंतरेण यथा न तिष्ठन्त्यराणि । अरेविना नेम्यव-  
स्थानं चक्रस्य यथा नास्ति ॥

तह जाण अहिंसाए विणा ण सीलाणि ठंति सब्वाणि ॥

तिस्सेव रक्खणहं सीलाणि वदीव सस्सस्स ॥ ७८८ ॥

तथा शीलानि तिष्ठन्ति न विना जीवरक्षया ॥

तस्याः शीलानि रक्षार्थं सस्यादीनां यथा वृत्तिः ॥ ८२० ॥

विजयोदया—तह जाण तथैव जानीहि । अहिंसा विना सर्वाणि शीलानि न तिष्ठन्ति । अहिंसाया एव रक्षार्थं  
शीलानि वृत्तिरिव सस्यास्य ॥

अर्थ—कितनाभी प्रयत्न करो तुंवीके विना चक्रके आरे नहीं रह सकते हैं, वैसे अहिंसाके विना सर्व  
शीलोंका पालन करनेका कितना भी प्रयत्न करो उनका पालन नहीं किया जायगा, अर्थात् अहिंसाके विना शी-  
लकी स्थिति नहीं है, जैसे घान्यके रक्षणार्थ बाह लगाते हैं तथा अहिंसाके रक्षार्थही शीलव्रत हैं, कितना भी प्रयत्न  
करो आरे न होंगे तो नेमीकी स्थिति नहीं होती है वैसे अहिंसाके विना शील नहीं टिक सकते हैं,

अहिंसाव्रतमंतरेणैषां नैफल्यमाचष्टे—

सीलं वदं गुणो वा पाणं णिस्संगदा सुहच्चाओ ॥

जीवे हिंसतरस हु सव्वे वि णिरत्थया होति ॥ ७८९ ॥

व्रतं शीलं तपो दानं नैर्ग्रन्थं नियमो गुणः ॥

सर्वे निरर्थकाः सन्ति कुर्वन्तो जीवहिंसनम् ॥ ८२१ ॥

विजयोदया—शीलादीनि हि संवरमिज्जं चोदिस्यनुपीयते । हिंसाया तु सत्या न स्तः फलभूते संवरमिज्जे  
मुक्त्युपायभूते इति निफलता मन्यते ॥

अहिंसाके विना इन व्रतोंको निष्फलता प्राप्त होती है ऐसा कथन—  
अर्थ—शील, व्रत, गुण, ज्ञान, निष्परिग्रहता, और विषयसुखका त्याग ये सर्व आचार जीवहिंसा

करनेवालेके विफल हो जाते हैं शीलादिक आचार कमकी निर्जरा, और संवरके उद्भयसे क्रिये जाते हैं परंतु हिंसा करनेसे युक्तके उपायभूत संवर और निर्जरा व्यर्थ होते हैं।

सर्वेसिमासमाणं हिदयं गबभौ व सर्वसत्थाणं ॥

सर्वेसिं वदगुणं पिंडो सारो अहिंसा हु ॥ ७९० ॥

आश्रमाणां मतो गर्भः शास्त्राणां हृदयं परम् ॥

पिंडं नियमशीलानां समतानामहिंसनम् ॥ ८२२ ॥

विजयोदया—सर्वेसिमासमाणं सर्वेपमाश्रमाणा हृदय । शास्त्राणां गर्भ । सर्वेषां व्रताना गुणाना च पिंड-भूत सारो भवत्यहिंसा ॥

अर्थ—यह अहिंसा सर्व आश्रमोंका हृदय है, सर्वशास्त्रोंका गर्भ है, और सर्व व्रतोंका निचोड़ा हुआ सार है-

जम्हा असच्चवयणादिण्हि दुक्खं परस्स होदिचि ॥

तप्परिहारो तस्मा सर्वे वि गुणा अहिंसाए ॥ ७९१ ॥

असूतृतादिभिर्दुःखं जीवानां जायते यतः ॥

परिहारस्ततस्तेषा अहिंसाया गुणोऽग्निलः ॥ ८२३ ॥

विजयोदया—जम्हा असच्चवयणादिण्हि यस्मादसत्यवचनेन, अदत्तादानेन, मेधुनेन, परिग्रहेण च परस्स दुःख भवति । तस्मात्तेषा असत्यवचनादीना परिहार इति सर्वेपि अहिंसाया गुणा ॥

अर्थ—असत्य बोलनेसे, न दी हुई वस्तु लेनेसे, मेधुनसे और परिग्रहसे परको दुःख उत्पन्न होता है। परंतु अहिंसाके पालनेसे इन सब दोषोंका त्याग होता है। अतः सत्यवचनादिक अहिंसाके ही गुण है ऐसा सम-

जाना जातिके

गोवंभणित्यिवधमेत्तिणियत्ति जडि हवे परमधम्मो ॥

परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सब्बभूदया ॥ ७९२ ॥

गोस्त्रीब्राह्मणबालानां धर्मो यद्यस्त्यहिंसनम् ॥

न तदा परमो धर्मः सर्वजीवदया कथम् ॥ ८२४ ॥

विजयोदया-- गोवंभणित्यिवधमेत्तिणियत्ति गवा, ब्राह्मणना, खोणा च वधमात्रनिवृत्तिर्थादि भवेदुत्कृष्टो धर्मः परमो धर्मः कथं न भवति या सर्वजीवदया ॥

अर्थ--गोहत्या, ब्राह्मणहत्या, स्त्रीवध इनसे निवृत्त होना यदि, उत्कृष्ट धर्म समझा जाता है तो सर्व जीवोंपर दया करना यह उत्कृष्ट धर्म क्यों नहीं माना जायगा,

हिंसानिवृत्तिं उपायेन कारयति कृतापकारानपि चाध्वान्स्नेहात् मारयितुमीहते जनः । तत्परेयामसकृज्ज-  
न्मान्तरे पितृपुत्रादिभावमुपगताना अंग ! मारणमयुक्तं इति वदति--

सर्वे वि य संबंधा पत्ता सर्वेण सब्बजीवेहिं ॥

तो मारंतो जीवो संबंधी चेव मारेइ ॥ ७९३ ॥

सर्वैः सर्वे समं प्राप्ता संबंधा जंतुभिर्यतः ॥

संबंधिनो निवृण्यंते ततस्तान्निघ्नता ध्रुवम् ॥ ८२५ ॥

विजयोदया-सर्वे वि य सर्वेऽपि च । संबंधा संवधा. प्राप्ता. । सर्वेण सर्वेण जीवेन । सब्बजीवेहिं सर्वजीवै. । तो तस्मात् । जीवो मारणोद्यत. संबंधिन एव घातयति ॥

उपायसे हिंसाका निषेध लोक करते हैं अपने बंधुओंने अपराध किये होंगे तो भी उनको मारते नहीं तो अनेक पूर्व जन्मोंमें जो पिता, पुत्र इत्यादिक संबंध को प्राप्त हुए होंगे ऐसे प्राणिओंको मारना क्या योग्य है ? नहीं इसका स्पष्टीकरण--

अर्थ--सर्व जीवोंका सर्व जीवोंके साथ पिता, पुत्र, माता इत्यादि रूप संबंध अनेक भवोंमें हुआ है. इसलिये मारनेके लिये उद्युक्त हुआ मनुष्य अपने संबंधीको ही मारता है ऐसा समझना चाहिये. जगतमें संबंधि-  
ओंका घात करना आदिशय निंद्य माना जाता है.

तच्च संवधिहृत्ननं लोके अतिनिवृत्त ।

जीववहो अप्पवहो जीवदया होइ अप्पणो हु दया ॥

विसकंटओव्व हिंसा परिहरियव्वा तदो होदि ॥ ७९४ ॥

आत्मघातोऽद्दिनां घातो दया तस्यात्मनो दया ॥

विपकांड इव त्याज्या हिंसातो दुःखभीरुणा ॥ ८२६ ॥

विजयोदया—जीववहो अप्पवहो जीवाना घात आत्मघात एव । जीवाना क्रियमाणा दया आत्मन एव कृता भवति । सकृदेकजीवघातनोयत स्वयमेकपु जन्मसु मार्यते । कृतैकजीवदयोऽपि स्वयमेकपु जन्मसु परै रक्ष्यते । इति विपलितकटकवत् परिहार्यो हिंसा दुःखभीरुणा ॥

अर्थ—प्राणिओंका नाश करना यह अपना ही नाश करना है और प्राणिओंपर दया करना ही अपने ऊपर दया करना है जो एकजन्ममें प्राणीका घात करता है वह अनेक जन्मोंमें मारा जाता है और जिसने एकवार भी प्राणीके ऊपर दया की है वह अनेक जन्मोंमें इतर प्राणिओंसे रक्षा जाता है ऐसा विचार कर विपसे लिप्त हुए कटकसे जैसे लोक दूर होते हैं वैसे दुःखभीरु मनुष्यको इस हिंसासे दूर रहना चाहिये

हिंसादोषमिदं च जगमनि दर्शयति—

मारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खसुव्व उव्वेगं ॥

संबंधिणो वि ण य विस्तोभं मारितए जति ॥ ७९५ ॥

उद्वेगं कुरुते हिंस्रो जीवानां राक्षसो यथा ॥

संबंधिनोऽपि नो तस्य विश्वासं जातु कुर्वते ॥ ८२७ ॥

विजयोदया—मारणसीलो हु मारणशीलः परहृत्नोद्यत । राक्षस इव जीवानामुद्वेगं करोति । संबन्धिनोऽपि न विक्रम उपयाति तस्मिन्वधके ॥

इसही जन्ममें हिंसासे हानि होती है इसका विवेचन करते हैं—

अर्थ—जो मनुष्य दूसरोंको मारनेमें उद्युक्त होता है वह राक्षमके समान प्राणिओंको भय उत्पन्न करता है उसके संबंधि मनुष्य भी उसके ऊपर विश्वास नहीं रखते हैं

वधबंधरोधधणहरणजादणाओ य वेरमिह चैव ॥  
णिव्विसयमभोजिचं जीवे मारंतगो लभदि ॥ ७९६ ॥

इह वंधं वधं रोधं यातनां देशधादनम् ॥

हिंसो वरैमभोगधत्वं लब्ध्वा गच्छति दुर्गतिम् ॥ ८२८ ॥

विजयोदया—वधं मारणं, वध बंधनं, रोध उत्क्रोशकादिकं रोधनं, धनहरण, स्विचोढालनं । यातनाश्च कद वेनास्ति । धैर्यं विपयाद्धादनं अभोज्यता च रोपाद्राक्षणादिहनात् । मारंतगो हुंता । लभदि लभते ॥

अर्थ—जो ब्राह्मणादिका वध करता है वह मारना, बांधना, रोकना, धन हरण करना, और अनेक प्रकारसे पीडा देना, वेर करना, देशसे निकालना, जातिसे च्युत करना, इत्यादिक दुःखाँको प्राप्त होता है।

कुद्धो परं वधिचा संयंपि कालेण मारदुज्जंते ॥  
हदधादयाण णत्थि विससो मुत्तूण तं कालं ॥ ७९७ ॥

यतो रुटः परं हत्वा कालेन त्रियते स्वयम् ॥  
हत्तहत्तोस्ततो नास्ति विशेषस्तं क्षणं विना ॥ ८२९ ॥

विजयोदया—कुद्धो परं वधिचा कुद्धः सन्परं अन्यं वधित्वा । स्वयमपि गच्छता कालेन त्रियते । हतधातक-  
योर्नोस्ति विशेषः । मुत्तूण तं काल मुक्त्वा त कालं । पूर्वमसौ मृतः पश्चात्स्वयमिति ॥

अर्थ—कुद्ध होकर जो मनुष्य दुसराँको मारता है वह भी कुछ काल जीतनेके अनंतर मरणको प्राप्त होता है, इस वास्ते हत और घातकमें कुछ फरक नहीं है, हाँ फक्त कालका ही अंतर रहता है,

अप्पाउगरोगिदयविरुवदाविगलदा अवलदा य ॥  
दुम्मेहवणरसगंधदाय से होइ परलोए ॥ ७९८ ॥  
अल्पायुर्दुर्वलो रोगी विरूपो विकलेन्द्रिय ॥  
दुष्टगंधरसस्पर्शो जायतेऽमुत्र हिंसकः ॥ ८३० ॥

विजयोदया—अप्यालगरोगिदयाविरूढाविगलदा अवलदा य अलपजीवितरोगिताविरूपता, विकलेंद्रियता दुर्बलता । दुस्मेधवण्णरसगयदा य दुर्मेधता, दुर्बलता, दूरसदुर्गंधता च । से तस्य । होदि भवति । परलोप जन्मान्तरे ।  
अर्थ—हिंसा करनेवाला मनुष्य परजन्ममें अल्पायुपी, रोगी, कुरूप, विकलेंद्रिय अर्थात् अंध, बहिरा, गूंगा, दुर्बल, मूर्ख, अशुभवर्ण, रस गंधवाला, होता है।

मारेदि एयमवि जो जीवं सो बहुसु जम्मकोडीसु ॥

अवसो मारिज्जंतो मरदि विधाणेहिं बहुएहिं ॥ ७९९ ॥

एकोऽपि हन्यते येन शरीरी भवकोटिषु ॥

अत्रियते मार्यमाणोऽङ्गी विधानैर्विविधैरसौ ॥ ८३१ ॥

विजयोदया—मारेदि हति । एयमवि एकमपि । जो जीवं यो जीव । सो स' । बहुसु जम्मकोडीसु बलीयु जन्मकोटिषु । अवसो मरदि मारिज्जंतो अवशो मार्यमाणो म्रियते । विधाणेहिं बहुगेहिं बहुभिः । प्रकारैर्मर्यमाणः ॥

अर्थ—जो मनुष्य एक प्राणीको भी मारता है वह अनेक कोट्यवधि जन्मोंमें अवश अर्थात् परतंत्र होकर नाना प्रकारसे मारा जाकर मरणको प्राप्त होता है।

जावइयाइं दुक्खाइं होति लोयम्मि चहुगदिगदाइं ॥

सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणाहि ॥ ८०० ॥

दुर्गतौ यानि दुःखानि दुःसहानि शरीरिणाम् ॥

हिंसाफलानि सर्वाणि कथ्यन्ते तानि सूरिभिः ॥ ८३२ ॥

विजयोदया—जावइयाइं यावन्ति । दुक्खाइं दुःखानि । इति भवन्ति । चहुगदिगदाइं गतिचतुष्टयगतानि । सव्वाणि ताणि हिंसाफलाणि सर्वाणि हिंसाफलानि । जीवस्स जाणाहि जीवस्येति जानीहि ॥

अर्थ—इस जगतमें चार गतिओंमें जो जो दुःख जीवको प्राप्त होते हैं वे सर्व हिंसाके ही फल हैं ऐसा समझना चाहिये।

का हिंसा नाम यस्या इमे दोषा निरूप्यन्ते इत्याच्छेदः—

हिंसादो अविरमणं वहपरिणामो य होइ हिंसा हु ॥

तस्मा पमत्तजोगे पाणव्वरोवओ णिच्चं ॥ ८०१ ॥

हिंसातोऽविरतिर्हिंसा यदि वा वयंचिन्तनम् ॥

यत्-प्रमत्ततायोगस्ततःप्राणवियोजकः ॥ ८३३ ॥

विजयोदया—हिंसादो अविरमण हिंसातोऽविरतिर्हिंसेति संबन्धनीयं । प्राणान् प्राणिनो व्यपरोपयामीति सकल्पकरण हिंसा इत्यर्थः । वधपरिणामो वा हन्मीति एवं परिणामो वा हिंसा । तस्मात् तस्मात् । पमत्तजोगो प्रमत्तता संबन्धः । पाणव्वरोवओ प्राणानपनयति । णिच्च नित्य । विक्रया, क्रयाय इत्येवमादय पंचदशपरिणामा आत्मनो भाव । प्राणाना परस्य च द्रव्यभाव प्राणाना वियोजका इति हिंसेत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

रत्तो वा दुडो वा मूढो वा जं पयुंजदि पओग ॥

हिंसा वि तत्थ जायदि तस्मा सो हिंसगो होइ ॥ ८०२ ॥

विजयोदया—रत्तो द्विशो मूढो वा सन्प्रयोग प्रारभते तस्मिन् हिंसा जायते । न प्राणिन प्राणाना वियोजन-मात्रेण आत्मनि रागादीनामनुत्पादकः सोऽपिधीयते अहिंसक इति । यस्माद्रागद्वेषादित्येव हिंसा । न हि जीवातरगत-देशतया अन्यतमप्राणवियोगोपेक्षा हिंसा, तदभावकृता वा अहिंसा, किंतु आत्मैव हिंसा आत्मा चैव अहिंसा । प्रमा-दपरिणत आत्मैव हिंसा अप्रमत्त एव च अहिंसा । उक्तं च—

अत्ता चैव अहिंसा अत्ता हिंसति णिच्छओ समये ॥

जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥ ८०३ ॥

जीवपरिणामायत्तो बंधो जीवो मृत्तिसुगैव नोपेयाद्वा । तथा चाप्राणि—

अङ्गवसिदो य बद्धो सत्तो दु मरेज्ज णो मरिज्जेत्थ ॥

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ ८०४ ॥

जीवास्तदीयानि शरीराणि शरीरग्रहणस्थानयोऽनिसंखित ( ? ) वरावगो वेत्ति तत्संभवकालं तत्पीडापरि-हारेच्छुरसकृत्तप क्रियाया लोभसत्कारान्नोपेक्ष्य प्रवृत्तो भवत्यहिंसक । उक्तं च—

गाणी कम्मरस खयत्थमुद्धिदो णोद्धिदो य हिंसाए ॥

अददि असदो हि यत्थं अप्पमत्तो अवधगो सो ॥ ८०५ ॥

शुभपरिणामसमन्वितस्याप्यात्मन स्वशरीरनिमित्तान्यप्राणिप्राणवियोगमात्रेण वध स्यान्न कस्यचिन्मुक्तिः स्यात् । योगिनामपि वायुकायिकवधनिमित्तवधसद्भावान् । अमाणि च —

जदि सुद्धस्स य वंधो होहिदि बाहिरगवत्थुजोगेण ॥

णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवधहेदु ॥ ८०६ ॥

तस्माच्चिश्चयनयथयेण प्राण्यंतरप्राणवियोगपेक्षा हिंसा ॥

जिसके दोष आप कहते हैं उस हिंसाका क्या स्वरूप है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—हिंसासे निरक्त न होना अथवा हिंसा करनेके परिणाम होना अर्थात् मैं प्राणिके प्राणोंका घात करूंगा ऐसा विचार रखना हिंसा है, प्रमत्तयोग प्राणों का नाश करता है विकथा, कषाय वगैरे पंधरा प्रकारके परिणामों को प्रमाद कहते हैं, इस प्रमादसे युक्त हुए प्राणीको प्रमत्त कहते हैं ऐसे प्रमत्तका जो योग अर्थात् मनवचन और शरीरका व्यापार उसको प्रमत्तयोग कहते हैं, इस प्रमत्तयोगसे अपने भावप्राणोंका और दुसरो के द्रव्य प्राण, और भाव प्राणोंका नाश होता है, इसलिये प्रमत्त योगको हिंसा कहते हैं,

अन्य आगमग्रंथमें हिंसाके विषयमें ऐसा लिखा है—

रागी, द्वेषी अथवा मूढ़ वनकर आत्मा जो कार्य करता है उससे हिंसा होती है प्राणिके प्राणोंका वियोग तो हुआ परंतु रागादिक विकारोंसे आत्मा यदि उस समय मलिन नहीं हुआ है तो उससे हिंसा नहीं हुई है ऐसा समझना चाहिये, वह अहिंसक ही रहा ऐसा समझना चाहिये, अन्य जीवके प्राणोंका वियोग होनेसेही हिंसा होती है ऐसा नहीं अथवा उनके प्राणोंका नाश न होनेसे अहिंसा होती है ऐसा भी नहीं समझना चाहिये, परंतु आत्माही हिंसा है और वही अहिंसा है ऐसा मानना चाहिये, अर्थात् प्रमाद परिणतआत्मा ही स्वयं हिंसा है और अग्रमत्त आत्माही अहिंसा है आगममें भी ऐसा कहा है—

आत्मा ही हिंसा है और आत्माही अहिंसा है ऐसा जिनागममें निश्चय किया है, अग्रमत्त अर्थात् प्रमाद रहित आत्मा को अहिंसक कहते हैं, और प्रमादसहित आत्माको हिंसक कहते हैं जीवके परिणामोंके अधीन बंध



होता है, जीव मरण करो अथवा न करे परिणामके वश हुआ आत्मा कर्मसे बद्ध होता है ऐसा निश्चय नयसे जीवके बंधका संक्षेप से स्वरूप कहा है।

जीव, उसके शरीर, शरीरकी उत्पत्ति जिसमें होती है ऐसी योनि इनके स्वरूप जान कर और उसके उत्पत्तिका काल जानकर पीडाका परिहार करनेवाला और लाम, सत्कारादिकी अपेक्षा न करके तप करनेवाला जीव अहिंसक माना जाता है, आगममें इस विषयमें ऐसा विवेचन है—

ज्ञानी पुरुष कर्मक्षय करनेके लिये उद्युक्त होते हैं वे हिंसाके लिये उद्युक्त नहीं होते हैं, उनके मनमें शठ भाव-माया नहीं रहती हैं और वे अप्रमत्त रहते हैं इसलिये वे अवयक-अहिंसक माने गये हैं,

जिसके शुभपरिणाम हैं ऐसे आत्माके शरीरसे यदि अन्य प्राणी के प्राणका वियोग हुआ और वियोग होने मात्रसे यदि बंध होगा तो किसी को भी मोक्षकी प्राप्ति न होगी, क्योंकि योगिओंको भी वायुकायिक जीवोंके वधके निमित्तसे कर्मबंध होता है ऐसा मानना पड़ेगा, इस विषयमें शास्त्रमें ऐसा लिखा है—

यदि रागद्वेषरहित आत्माको भी चाहवस्तुके संबंधसे बंध होगा तो जगतमें कोई भी अहिंसक नहीं है ऐसा मानना पड़ेगा अर्थात् शुद्ध मुनिको भी वायुकायिक जीवके वधके लिये हेतु समझना होगा, इसलिये निश्चय-नयके आश्रयसे दूसरे प्राणीके प्राणका वियोग होनेपर भी अहिंसामें बाधा आती नहीं है ऐसा समझना चाहिये,

गतिक्रियामेदान्तरूपयति -

पादोसिय अधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए ॥

एदे पंचपओगा किरियाओ होति हिंसाओ ॥ ८०७ ॥

द्वैषिकी कायिकी प्राणघातिकी पारितापिकी ॥

क्रियाधिकरणी चेति पंच हिंसाप्रसाधिकाः ॥ ८३४ ॥

विजयोदया - पादोसियाधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए पादोसिय शब्देनेष्टदारचित्तहरणादिनिमित्तः कोप' प्रद्वेष इत्युच्यते । प्रद्वेष एव प्रद्वेषिको यथा विनय एव चैनयिकमिति । हिंसाया उपकरणमधिकरणमित्युच्यते । हिंसापकरणदानक्रिया आधिकरणिकी क्रिया । दुष्टस्य सतः कायेन वा चलनक्रिया कायिकी । पारितापो दुःखं दुःखो-

तृप्तिनिमित्ता क्रिया पारित्यागिनी क्रिया । आयुर्दिन्द्रियकलप्रणाला विद्योगकारिणी प्राणतिपातिकी क्रिया । एते पञ्च प-  
शोणा वन्ते पञ्च प्रयोगाः । हिंसाकिञ्चाभो हिंसास्यधिन्य क्रिया ॥

हिंसासंबन्धि क्रियाओंका वर्णन—

अर्थ—द्वेषसे क्रिया करना, अर्थात् इष्ट स्त्री य धनादिक पदार्थका हितिके द्वारा हर्षण क्रिया जानेसे जो क्रोध उत्पन्न होता है उसको प्रव्रेष कहते हैं हिंसके उपकरणोंको ग्रहण करना, आघिरुण क्रिया कहते हैं, दुष्ट होकर शरीरके द्वारा चलन होना कारिणी क्रिया है, परिताप-दुःख-दुःखोत्पन्निके लिये जो क्रिया होती जाती है उसको पारित्यागिनी क्रिया कहते हैं, आयु, इन्द्रिय, रस और प्राण इनका घात करनावाली क्रियाको प्राणा तिपातिकी क्रिया कहते हैं, ऐसे पांच प्रकारके श्रयोगोंको हिंसा क्रिया कहते हैं.

तिहि चटुहि पंचहि वा कमेण हिंसा समप्यदि नु ताहि ॥  
वंधो वि सया सगिसो जइ सरिसो काइयपदोसो ॥ ७०८ ॥  
हिंसा त्रिभिश्चतुर्भिश्च पंचभिः साधयन्ति ताः ॥  
क्रिया वंशः समानेन द्वैपिकी कारिणी क्रिये ॥ ८३५ ॥

विजयोदया - तिहि चटुहि पंचहि वा त्रिभिर्मनोवाजाये, चतुर्भिः क्रोधमानमागालोभे, पंचभिः स्पर्शनादि-  
भिर्भिरिद्वयेवा । कमेण हिंसा समप्यदि नु कमेण हिंसा समसिमुपेति । तामिर्मनमा प्रव्रेषो वनसा त्रिष्टोडन्मीनि वचन  
वाग्वेयः, कायेन सुतयेनर्णयादिकरण कायेनः । मनसा हिंसेनकरुणापाप, घना शत्रु उपशुद्धमीति हन्तादिनाम्न इति.  
अधिकरणमपि विविध । मनसा उत्तिष्ठामीति शिवा, वचसा उत्तिष्ठामि इति, इतु नादश्रितमिति उक्ति । कायेन चलने  
कारिणी । मनसा नु गन्तुपादयामीति शिवा, वचसा कमेमि इति उक्तिगांवा गतिनापिकी क्रिया, हन्तादिनाम्नेन  
नु मोहादून कायेन पारित्यागिनी क्रिया । प्राणाग्निगोजयामीति शिवा मनसा प्राणतिपात, हन्मीति वच चामप्राणा-  
तिपात । कायव्यापार कायिकप्राणानिपात । क्रोधादिनिमित्ता कर्त्तव्यद्विगीति, माननिमित्ता, मायानिमित्ता,  
क्रोधादिना शत्रुग्रहण क्रोधादिनिमित्त. कायपरिग्रह । क्रोधादिनिमित्ता परपतिपरकरण, प्राणानिपातो वा कोराग्निना  
भजति । स्पर्शनादीन्दिन्द्रियनिमित्तो वा प्रवेय, शरीरयुगायै वा फलप्राप्त्यसूनादिद्वननिमित्तमाधनोपादान, तत्सु  
सार्थमेव विषयप्रत्यासत्तिमभिप्रेत्यायन कायपरिग्रह । परस्य वा गाढालिङ्गनगम्यतादिना मत्तापरकरण, मासाग्नि  
वा प्राणिप्राणविजोजनमिति । किमेताभिर्हिंसाभिः सपायः कर्मवचः समान उवा न्यूनाधिकभातो वधम्येत्याशङ्कायामाज्ये

बंधोऽपि कर्मबंधोऽपि स्त्रियों सरिसो स्वात्सदृशः। कथं ? यदि सारिसो यदि सदृश । कायिकपदोत्सो कायिकी क्रिया प्रद्वे पश्च यदि सम स्यात्करणसामान्यात्कार्यस्यापि वधस्य सादृश्य, अन्यथा न सदृशता । तीव्रमध्यमंदरूपा परिणामा तीव्र, मध्य मद् च वधमापादयन्ति । इति भावः ॥

अर्थ—मन, वचन और शरीर ऐसे तीन योग क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कृपाय और स्पशे-नादिक पांच इंद्रियां इनके द्वारा क्रमसे हिंसा समाप्त होती है। मनसे द्वेष करना, मैं द्वेषयुक्त हुआ हूं ऐसा वचनमे कहना यह नाद्वेष है शरीरके द्वारा द्वेष करना अर्थात् सुख लाल होना, मोहों वक्र होना वगैरह कायेद्वेष है, मनके द्वारा हिंसाके उपकरण लेना, मैं शस्त्रग्रहण करता हूं ऐसा बोलना, हाथ पांव इत्यादिक्रमे ठोकना ऐसे अधिकरणके तीन भेद हैं। मनसे ऊठने का विचार करना, वचनसे मैं ठोक्कूंगा, ताड़न करूंगा ऐसा बोलना, शरीरसे हिलना फिरना, यह सब कायिकी क्रिया है मैं दुःख उत्पन्न करूंगा ऐसा मनसे विचार करना, मैं तुमको दुःखित करूंगा ऐसे वचनसे बोलना, हस्तादिक्रमसे ताड़न करना यह कायिकी क्रिया है। प्राणोंमें मैं प्राणीको अलग करूंगा ऐसा विचार करना, मैं मारूंगा ऐसा सुखसे बोलना वाक्प्राणातिपात है। शरीरसे मारनेकी क्रिया करना कायिकप्राणातिपात है। ये पांच क्रियायें कोई पुरुष क्रोधसे, कोई मानसे, मायासे और लोभसे करते हैं,

क्रोधादिकसे शस्त्र ग्रहण करना क्रोधादि निमित्त कायपरिस्पंद कहा जाता है। क्रोधादिकसे दूसरों को मंताप उत्पन्न करना, क्रोधादिकसे प्राणवध करना, स्पर्शनादि इंद्रियोंके निमित्तसे भी द्वेष उत्पन्न होता है इंद्रियसुखके लिये फल, कोमल कोपल, पुष्प वगैरहका छेदन करनेका साधन ग्रहण करना, इंद्रियसुखके लिये ही विषयका सान्निध्य पाकर शरीरकी बहुत हालचाल करना, दूसरोंको गाढ आलिंगन देना, नखासे क्षत करना, मांसादिकोंके लिये प्राणिओंको प्राणसे वियुक्त करना ये सब हिंसा क्रियायें हैं,

इस हिंसाक्रियासे उत्पन्न होनेवाला कर्मबंध समान होता है अथवा कम जादा होता है। इस शंका का उत्तर आचार्य ऐसा देते हैं—

कर्म बंध कथंचित् समान होता है अर्थात् शरीरके द्वारा होनेवाली क्रिया और प्रद्वेष यदि समान होगा तो उससे कर्मबंध भी समान होगा अन्यथा नहीं कारणोंमें सामान्यता यदि होगी तो कार्यमें अर्थात् कर्मबंधमें

भी समानता होगी और यदि कारणोंमें विशेषता होगी तो कार्यमें—बंधमें विशेषता होगी ही। तीव्र, मंद, और मध्यम रूप परिणाम उत्पन्न होनेपर तीव्र, मंद मध्यम प्रकारका बंध होगा ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये

अधिकरणभेद निरूपयति—

वीस पल तिणिण मोदय पण्णरह पला तहेव चत्तारि ॥

बारह पलिया पंच दु तेसिं पि समो हवे बंधो ॥ ८०९ ॥

जीवगदमजीवगदं समासदो होदि दुविहमधिकरण ॥

अटुत्तरसयभेदं पढमं विदियं चदुब्भेदं ॥ ८१० ॥

जीवाजीवविकल्पेन तत्राधिकरणं द्विधा ॥

ज्ञातमष्टोत्तरं पूर्वं द्वितीयं च चतुर्विधम् ॥ ८१६ ॥

विजयोदया—जीवगदमजीवगद इति जीवगत इति जीवपर्याय उच्यते । न हि जीवद्रव्यत्वमात्रमेव हिंसाया उपकरण भवति । किंतु जीवस्य पर्याय, आत्मवस्य । हिंसादेर्जीवपरिणामो युक्तोऽन्यतरकरण । अजीवगत पर्याय-द्रव्याय हि अजीवद्रव्यत्वात् सदा सन्निहितकार्यं स्यात्कादाचित्कता कथमिव संपादयति । पर्यायस्तु स्वकारण साध्यात्कादाचिदेवेति । यदा स्वयं सन्निहितचकारिणकारणास्तेनैव स्वकार्यं कुर्वन्ति । नान्यदेति युक्ता कादाचित्कता कार्यस्येति भावः । समासदो दुविधमधिकरणं संक्षेपतो द्विविधमधिकरणं । अटुत्तरसयभेदं अष्टोत्तरशतभेदं । पढमं जीवगदमधिकरण । विदियं द्वितीयं अजीवगतमधिकरणं चदुब्भेदं चतुर्विकल्पं ॥

अधिकरणं भेदोंका निरूपण करते हैं—

अर्थ—प्रादोषिक वगैरह हिंसाके पांच भेद ऊपर कहे हैं प्रत्येकके क्रोध, मान, माया और लोभके आश्रयसे पांच पांच भेद होते हैं। अर्थात् क्रोधादिकके आश्रयसे प्राोपादिकके बीस भेद होते हैं। इन्द्रियोंकी अपेक्षामें इन प्रादोषिकादि पांच क्रियाओंके पंचवीस भेद होते हैं। और मन वचन, और शरीर की अपेक्षामें इन क्रियाओंके पधरा भेद होते हैं। इन सबोंका कर्मबंध समान होता है।

अर्थ—अधिकरणके जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण ऐसे संक्षेपसे दो भेद हैं जीवाधिकरण के एकसो

आठ भेद हैं और अजीवाधिकरणके चार भेद हैं. जीवाधिकरण अर्थात् केवल जीवद्रव्य आस्रवका आधार नहीं होता है किंतु पर्यायसहित जीवद्रव्य आस्रवका आधार होता है. जीवके परिणाम हिसादिके लिये कारण होते हैं और ये परिणाम अर्थात् पर्याय भी आस्रवका आधार हैं यदि द्रव्य ही आस्रवका आधार माना जावेगा तो द्रव्य तो हमेशा ही रहता है अतः उसका आस्रवरूप कार्य हमेशाही रहेगा, उसमें अनित्यता नहीं रहेगी. पर्याय अपने २ कारण मिलने पर उत्पन्न होते हैं. जब पर्यायों को सहकर कारणोंका साहाय्य मिलता है तब वे आस्रवात्मक कार्य करते हैं अन्यथा करते नहीं. इस लिये कार्यमें कादाचित्कता अर्थात् अनित्यता आती है.

प्रथमस्य भेदान्तरूपयति—

संरभसमारंभारंभं जोगेहिं तह कसाण्हिं ॥

कदकारिदाणुमोदेहिं तहा गुणिदे पढमभेदा ॥ ८११ ॥

विधिना योगकोपादिसंरंभदिकृतादयः ॥

भिदा भवंति पूर्वस्य गुण्यमानाः परस्परम् ॥ ८३७ ॥

विजयोदया—सरभसमारंभारंभयोगेहिं तह कसाण्हिं प्राणव्यपरोपणादो प्रमादवत. प्रयत्न. संरंभ । सा ध्याया हिंसादिक्रियाया साधनाना समाहार समारंभ । सचिताहिंसादुपकरणस्य आद्य प्रक्रम आरंभ । योगशब्देन मनोवाक्कायव्यापारा उच्यन्ते । एतै संरंभसमारंभारंभयोगैः । तथा कसाण्हिं कपायैः कदकारिदाणुमोदेहिं कृतकारितानुमोदितै । तहा गुणिदा तथा गुणिता । पढमभेदा जीवाधिकरणभेदा । प्रयत्नपूर्वकत्वाच्चेतनावतो व्यापारस्यादौ संरंभस्य वचने । अनुपायसाध्यसिद्धिर्न भवति प्रयत्नवतोऽपि तत् साधनसमाहरण । प्रयत्नादनंतरमिति समारंभो युक्त । साध्य पुन उपसाधनसद्वृत्तौ सत्या प्रक्रमते क्रियामिति आरंभ पश्चादुपन्यस्तः । स्वातन्त्र्यविशिष्टेन आत्मना यत् क्रियते प्रक्रियते तत् कृतं । परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमुपयति यत्तत्कारित । स्वयं न करोति न च कारयति, किं त्वभ्युपैति यत्तदनुमनन अभ्युपगमस्तत्र सरभस्तावदुच्यते क्रोधनिमित्तं स्वतन्त्रस्य हिंसाविषयं प्रयत्नावेश क्रोधकृतकायसंरंभ । मान कृतकायसंरंभ, मायाकृतकायसंरंभ, लोभकृतकायसंरंभ । क्रोधकारितकायसंरंभ, मानकृतकायसंरंभ, मानकारितकायसंरंभ । मायाकारितकायसंरंभ, लोभकारितकायसंरंभ । इति द्वादशधा संरंभ । क्रोधकृतकायसंरंभ, मानकृतकायसंरंभ, मानकारितकायसंरंभ, लोभकृतकायसंरंभ । क्रोधकारितकायसंरंभ, मानकारितकायसंरंभ, मानकारितकायसंरंभ, लोभकारितकायसंरंभ, लोभकारितकायसंरंभ ।

क्रोधानुमतकायसमारम्भ, मानानुमतकायसमारम्भ, मायानुमतकायसमारम्भ, लोभानुमतकायसमारम्भ' इति द्वादशशास्त्र-समारम्भः । क्रोधकृतकायारम्भ, मानकृतकायारम्भ, मायाकृतकायारम्भ, लोभकृतकायारम्भ । क्रोधकारितकायारम्भ, मानकारितकायारम्भ, मायाकारितकायारम्भ, लोभकारितकायारम्भ । क्रोधानुमतकायारम्भ, मानानुमतकायारम्भ, मायानुमतकायारम्भ, लोभानुमतकायारम्भ' इति द्वादशशास्त्र-आरम्भः । एव एते सचिदिता-कायारम्भाः पदत्रिंशत् । एते सर्पिडिताः जीवाधिकरणान्त्रवेधदा अष्टोत्तरशतसंख्या भवन्ति ॥

अब प्रथम जीवाधि करणके भेद कहते हैं.

अर्थ—हिंसा, चोरी वगैरह पापकार्योंमें प्रमादी होकर प्रयत्न करना संरंभ कहाता है. हिंसादिक कार्य कर-नेके लिये शस्त्रादिकोंका संग्रह करना समारम्भ कहाता है. और संचित क्रिये शस्त्रादिकोंसे हिंसादिकार्य करना, शुरु करना उसको आरंभ बोलते हैं. योग शब्दसे मनोयोग, वचन और काययोगका ग्रहण करना चाहिये. संरंभ, समारंभ आरंभ, मनोयोग, वचन योग, और काय योग, कृत, कारित और अनुमोदन और कपाय इनके द्वारा हिंसादिक पाप प्रवृत्तियोंको गुणित करनेपर प्रथम जीवाधिकरणके भेद होते हैं. चेतन्यवान् आत्मा प्रयत्नपूर्वक व्यापार करता है अतः प्रथम संरंभ कहा है उपायके विना साध्य सिद्धि नहीं होती है इस लिये प्रयत्नके अनंतर उपायोका-साध-नोंका संग्रह करना इसको समारम्भ कहते हैं. अतः संरंभके अनंतर समारम्भ कहा गया है. कार्यकी शुरुआत साध-नोंका संग्रह होनेके अनंतर होती है. इस लिये आरंभका उसके अनंतर उल्लेख किया है

स्वातन्त्र्य विशिष्ट आत्मा जो कार्य करता है वह कृत है. दूसरेके प्रयोगकी अपेक्षासे जो सिद्ध होता है उसको कारित कहते हैं. जो कार्य स्वयं करता ही नहीं और दूसरोंसे कराता नहीं परंतु स्वयं करने वालेको सम्मति देता है उसको अनुमोदन कहते हैं

क्रोधसे स्वयं हिंसाकार्यमें प्रयत्न करना उसको क्रोधकृतकाय संरंभ कहते हैं मान, माया और लोभसे स्वयं हिंसा कार्यमें शरीरके द्वारा जो प्रयत्न करना उसके मानकृत कायसरम्भ, मायाकृत काय सरम्भ, और लोभ-कृत काय संरंभ ऐसे चार भेद हुए.

क्रोध, मान, माया और लोभके वश होकर हिंसा कार्यमें दूसरोंको शरीरके द्वारा जो प्रवृत्त करना उसको क्रमसे क्रोधकारित कायसरम्भ, मानकारित कायसंरंभ, मायाकारित कायसरम्भ और लोभकारितकाय संरंभ ऐसे चार भेद होते हैं.

क्रोधादिक चारोंसे हिंसादि कार्योंमें स्वयं प्रवृत्त हुए मनुष्योंको शरीरके द्वारा जो अनुमति देना उसके भी चार भेद हैं। यथा क्रोधानुमतकायसरंभ, मानानुमतकायसरंभ, मायानुमतकायसरंभ और लोभानुमतकायसरंभ ऐसे चार भेद हैं सब मिलकर सरंभके चार भेद हुए

समारंभके भी चार भेद होते हैं, उनका क्रम—क्रोधकृत कायसरंभ, मानकृत काय सरंभ, मायाकृत काय-सरंभ और लोभ कृत काय सरंभ, क्रोध कारितकायसरंभ, मानकारितकाय सरंभ, मायाकारितकायसमा-रंभ, और लोभ कारित काय सरंभ, क्रोधानुमत काय सरंभ, मानानुमत काय सरंभ, मायानुमतकायसरंभ और लोभानुमत, कायसरंभ

आरंभ के भी संरंभ और समारंभ के समान चार भेद होते हैं—

यथा—क्रोधकृतकायारंभ, मानकृत कायारंभ, मायाकृत कायारंभ और लोभकृत कायारंभ, क्रोधकारित कायारंभ, मानकारितकायारंभ, मायाकारित कायारंभ, लोभाकारित कायारंभ मायानुमत कायारंभ और लोभानुमत कायारंभ मानानुमतकायारंभ, मायानुमत कायारंभ और लोभानुमत कायारंभ इस प्रकार आरंभके भी चार भेद होते हैं इस प्रकार कायके आरंभतक छत्तीस भेद होते हैं इसी प्रकार वचनके छत्तीस और मनके छत्तीस मिलकर एकसौ आठ भेद जीवाधिकरणके होते हैं,

अजीवाधिकरणस्य चतुरो भेदानाच्चेष्टे—

संरंभो संकण्णो परिदावकदो हवे समारंभो ॥

आरंभो उद्ववओ सव्ववयाणं विसुद्धाणं ॥ ८१२ ॥

णिक्खेवो णिव्वत्ति तहा य संजोयणा णिसग्गो य ॥

कम्मसो चट्ठु दुग्ग दुग्ग तिय भेदा होतिं हु विदीयस्स ॥ ८१३ ॥

संरंभोऽक्खि संकल्प-समारंभो वितापक् ॥

शुद्धबुद्धिभिरारंभः प्राणाना न्यपरोपकः ॥ ८१८

निर्वर्तना सनिक्षेपा संयोगः सनिसर्गकः ॥  
द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः स्युर्द्वितीयस्य यथाक्रमम् ॥ ८३९ ॥

विजयोदया—निष्स्वो णिब्रूति तथा य संजोयणा णिसगो य निक्षेपश्चतु प्रकारः । निर्वर्तना द्विप्रकारा । संयोजना द्विप्रकारा । निसर्गस्त्रिविध इति सवध्यते ॥

अर्थ—हिंसादिक कार्याका विचार करना सकल्प है. प्राणिओंको संताप उत्पन्न करना समारम्भ है और आरम्भ सर्व निर्मल व्रतोंका नाश करनेवाला है

अर्थ—निक्षेप, निर्वाचि, संयोजना और निसर्ग ऐसे अजीवाधिकरणके चार प्रकार हैं निक्षेपके चार भेद, निर्वर्तनाके चार भेद, संयोगके दो भेद और निसर्गके तीन भेद हैं

निक्षेपस्य चतुरो विकल्पानाचष्टे -

सहसाणामोगिय दुष्पमज्जिद अपच्चवेक्खणिक्खेवो ॥  
देहो व दुप्पउत्तो तहोवकरणं च णिब्रूति ॥ ८१४ ॥

निर्वर्तनोपधिदेहो दुःप्रयुक्तोऽभिधीयते  
निक्षेपः सहसाहृष्टदुर्दृष्टामत्यवेक्षणौ ॥ ८४० ॥

विजयोदया—सहसाणामोगियदुष्पमज्जिद अपच्चवेक्खणिक्खेवो सहसानिक्षेपाधिकरण, अनामोगानिक्षेपाधिकरण, दु प्रसृष्टनिक्षेपाधिकरण, अग्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण चेति । निक्षिप्यते इति निक्षेप । उपकरण पुस्तकादि, शरीर, शरीरमलानि वा सहसा शीघ्र निक्षिप्यमाणानि भयात् । कुतश्चित्कार्यांतरकरणप्रयुक्तेन वा त्वरितेन पद्मजीवनि कायवाधाधिकरणता प्रतिपद्यते । अस्तथापि त्वराया जीवाः सन्ति न सतीति निरूपणमंतरेण निक्षिप्यमाणं तेदेवोप-  
करणादिकं अनामोगनिक्षेपाधिकरणमुच्यते । दुष्पमज्जिदुष्पमज्जिद निक्षिप्यमाणं दुष्पमज्जिदनिक्षेपाधिकरणं स्थाप्यमानाधिकरण वा दुष्पमज्जिदनिक्षेपाधिकरण । प्रमाणेनोत्तरकाले जीवा सन्ति न सन्तीति अप्रत्यवेक्षितं यच्चिक्षिप्यते तदग्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण । निर्वर्तनाभेदमाचष्टे—देहो य दुष्पजुत्तो दुःप्रयुक्त शरीरं हिंसोपकरणतया निर्वर्त्यते इति निर्वर्तनाधिकरण भवति । उपकरणानि च सच्छिद्राणि यानि जीवाद्यानिभिन्नानि निर्वर्त्यन्ते तान्यपि निर्वर्तनाधिकरणं । यस्मिन्सौर्वीरादिभाजने प्रविष्टानि क्रियन्ते ।

निक्षेपके चार भेदोंका वर्णन--



अर्थ—सहसा निक्षेपाधिकरण, अनाभोग निक्षेपाधिकरण, दुःप्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण और अमृत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण ऐसे निक्षेपाधिकरणके चार भेद हैं

सहसानिक्षेपाधिकरण—पिंछी, कमठलु वगैरह उपकरण, पुस्तकादिक शरीर और शरीरका मल इनको भयसे सहसा जलदी फेक देना, रखना किसी कार्यमें तत्पर होनेसे अथवा त्वरासे पिंछी कमठलादिक पदार्थ जब जमीन पर रखे जाते हैं तब पदकाय जीवोंको बाधा देनेमें आधाररूप होते हैं अर्थात् इन पदार्थोंसे जीवको बाधा पहुंचती है, त्वरा नहीं होनेपर भी जीव हैं वा नहीं हैं इसका विचार न करके, देख भाल किये बिनाही उपकरणादिक जमीनपर रखना, फेकना उसको अनाभोग निक्षेपाधिकरण कहते हैं,

उपकरणादिक वस्तु बिना साफसुफ किये ही जमीनपर रख देना अथवा जिसपर उपकरणादिक रखे जाते हैं उसको अर्थात् चौकी जमीन वगैरहको अच्छी तरह से साफ सुफ न करना इनको दुष्प्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण कहते हैं

साफ सुफ करने पर जीव हैं अथवा नहीं हैं यह देखे बिना उपकरणादिक रखना अमृत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है

अथ निर्वर्तनाधिकरणके भेद कहते हैं—

शरीरकी असावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करना दुःप्रयुक्त कहा जाता है ऐसा दुःप्रयुक्त शरीर हिंसाका उपकरण बन जाता है इस वास्ते इसको देह निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं, जीव बाधाको कारण ऐसे छिद्रसहित उपकरण बनाना इसको भी निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं जैसे काजी वगैरह रखे हुए पात्रमें जन्तु प्रवेश कर मर जाते हैं,

संजोयणमुवकरणं च तद्वा पाणभोयणं च ॥

दुष्टणिमिद्धा मणवचिकाया भेदा णिसग्गस्स ॥ ८१५ ॥

आहारोपधिभेदेन द्विधा संयोजनं मतम् ॥

दु स्रुथाः स्वान्तवाक्काया निसर्गस्त्रिविधो मतः ॥ ८४१ ॥

विजयोक्त्वा—संजोयणमुवकरणण उपकरणाना पिच्छादीना अन्योन्येन संयोजना । शीतस्पर्शस्य पुस्तकस्य पृष्ठल्लादेर्वो आतपादितेन पिच्छेन प्रमाज्जन इत्यादिकं । तद्वा तथा । पाणभोयणं च पाणभोजनयोश्च पानेन पानं,

भोजनं भोजनेन, भोजनं पानेनैवमादिकं संयोजनं यस्य सम्मूर्च्छनं संभवति सा हिंसाधिकरणव्येनाभ्योपात्ता न सर्वा ।  
दुष्टनिवृत्तिश्च मणवचिकाया दुष्टयवृत्ता मनोवाक्कायप्रभेदा निलगेशब्देनोच्यते ॥

अर्थ—पिच्छी, कमंडलु वगैरह उपकरणोंका संयोग करना जैसे ठहरसर्शवाले पुस्तकका धूपसे संतप्त कमंडलु और पिच्छीके साथ संयोग करना अथवा धूपसे तपी हुई पिच्छीसे कमंडलु पुस्तकको स्वच्छ करना वगैरहको उपकरण संयोजन कहते हैं. जिनसे सम्मूर्च्छन जीवकी उत्पत्ति होगी ऐसे पेयपदार्थ दूसरे पेयपदार्थको साथ संयुक्त करना अथवा भोज्य पदार्थके साथ संयुक्त करना, भोज्य पदार्थके साथ अथवा पेयपदार्थको संयुक्त करना, जिनसे जीवोंकी हिंसा होती ऐसी ही पेय और भोज्य पदार्थोंका संयोग निषिद्ध है इससे अन्य संयोग निषिद्ध नहीं है

मन वचन और शरीरके द्वारा दुष्ट मृत्ति करना उमको निसर्ग कहते हैं

अहिंसारक्षणोपायमाचष्टे—

जं जीवणिकायवहेण विणा इंदियकयं सुहं णत्थि ॥

तग्गिहं सुहे णिस्संगो तग्गहा सो रक्खदि अहिंसा ॥ ८१६ ॥

नास्तीन्द्रियसुखं किंचिज्जीवहिंसां विना यतः ॥

निरपेक्षस्ततस्तस्मिन्नहिंसां पाति पावनीम् ॥ ८२५ ॥

विजयोदया—ज जीवणिकायवहेण यस्माज्जीवनिष्कायधातु विना । इंदियसुह इन्द्रियसुखं नास्ति । स्त्रीचल-  
गंधमाल्यादिसेवा विचित्रा जीवनिकायपीडाकारिणी आरमेण महतोपाजनीयस्वात् । तस्मिन्किन्द्रियसुखे । णिस्संगो यस्त  
पात्यहिंसा नैन्द्रियसुखार्थी । तस्मादिन्द्रियसुखादं मा कृथा इत्युपदिशति ब्रूि ।

अहिंसाके रक्षणका उपाय आचार्य बताते हैं—

अर्थ—जीवोंका वध किं विना इन्द्रियसुखकी प्राप्ति होती ही नहीं स्त्रीसंभोग करना, चस्त्रधारण करना, पुष्पमाला गलेमें धारण करना इनसे इन्द्रियसुख उत्पन्न होता है परंतु स्त्रीसंभोगादि कार्योंमें जीवहिंसा अवश्य होती है. स्त्री वगैरह पदार्थोंकी प्राप्ति करनेमें महान् आरम्भ काना पड़ता है. इसवास्ते इन्द्रिय सुखसे अहिंसाका रक्षण होता नहीं है क्षणक ! तू इस इन्द्रियसुखमें स्नेह मत कर जो इन्द्रिय सुखमें इच्छा नहीं करता है वही अहिंसा का रक्षण करता है.

जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण घायणं कुणइ ॥  
सो जीववहं, परिहरदु सया जो णिज्जियकसाओ ॥ ८१७ ॥  
कषायकलुषो यस्माज्जीवानां कुरुते वधम् ॥

नि-कषायो यत्तिस्तस्मादहिंसारक्षणक्षमः ॥ ८२६ ॥

विजयोदया—हिंसा कषयै, प्रवर्धते, ततोऽहिंसामिच्छता एते परिहर्तव्या इत्युत्तरसूचार्थम् ।  
हिंसा कषायसे उत्पन्न होती है अहिंसाको चाहने वालोंको अपायोंका त्याग करना चाहिये  
गाथामें लिखते हैं

अर्थ—जीव जब कषायके वश होता है तब वह जीवोंका मारता है, परंतु जिसने कषाय  
जीववधका परिहार करता है, अर्थात् अहिंसाका वही पालन करता है, प्रमाद अर्थात् कषाय हिंसामें जीवको प्रवृत्त  
करते हैं इसलिये आहिंसाव्रतको चाहनेवाले, उसको दूसरे ही त्यागे

आदाणे णिकखेवे वोसरणे ठाणगमणसयेणुसु ॥

सव्वत्थ अप्पमत्तो दयावरो होदु हु अहिसो ॥ ८१८ ॥

काणुसु णिरारभे फासुगभोजिस्मि णाणहिदयस्मि ॥

मणवयणकायगुत्तिस्मि होइ सयला अहिंसा हु ॥ ८१९ ॥

शयनासननिक्षेपग्रहचक्रमणादिषु ॥

सर्वत्राप्यप्रमत्तस्य जीवत्राणं व्रतं यत्तेः ॥ ८२७ ॥

विवेकनियताचारप्रासुकाहारसेविनि ॥

मनोवाक्कायगुणैऽस्ति दयाव्रतमग्वंडितम् ॥ ८२८ ॥

विजयोदया—प्रभावो हिंसाया प्रवर्तक स परित्यज्योऽहिंसाव्रतार्थिना इति गाथार्थ ॥  
विजयोदया—परित्यक्तारमस्य प्रासुकभोजिनो ज्ञानभावनावहिते मनसि गुप्तिवयोपेते संपूर्ण भवत्यहिंसा

इति सूत्रार्थ ॥

अर्थ—बस्तु उठा लेना, रखना, छोड़ना, खड़े होना, बैठना, शयन करना इत्यादि समस्त कार्य करते समय जिन्होंने प्रमादका त्याग किया है ऐसे श्रेष्ठ दयाके धारक साधुजनसे अहिंसा पूर्णतामें पाली जाती है अर्थ—जिसन आरभका त्याग किया है, जो प्रासुक आहार लेता है ज्ञानाभ्यास करनेमें जिनने अपने चित्तको स्थिर किया है, तीन गुप्तिश्रौंका धारक ऐसे मुनिराजमें यह अहिंसा पूर्णताको प्राप्त होती है

आरभे जीववहो अप्पासुगसेवणे य अणुमोदो ॥

आरभादीसु मणो गाणरदीए विणा चरइ ॥ ८२० ॥

आरंभेऽद्विवंधे जन्तुरप्रासुकनिपेवणे ॥

प्रचर्ततेऽनुमोदे च शश्वज्जान/तिं विना ॥ ८२१ ॥

विजयोदया—पृथिव्यादिविषयो व्यापार आरभ । तस्मिन्सति तदाश्रयप्राणुपद्म इति जीववयो भवति । उद्रमाविदोपद्वतस्य आहारस्य भोजने जीवनिकायवधानुमोदो भवति । शानरतिमतरेण आरभे कणये च मन प्रवर्तते ।

अर्थ—पृथिवी, जल, इत्यादिकके आश्रयसे आरभ होता है अर्थात् जमीन खोदना, पानी सीचना, वृक्ष तोड़ना इत्यादि क्रियाओंको आरभ कहते हैं ऐसा आरभ करनेसे उनके आश्रयसे रहनेवाले जीवोंका यात होता है, उद्रमादिदोपसहित आहार लेनेसे, जीवनिकायके वधके लिये सम्मति दी है ऐसा समझा जाता है, और ज्ञानाभ्यासमें यदि प्रेम न हो तो मन आरभ और कणयमें प्रवृत्त होता है

तमहा इहपरलोए दुक्खणि सदा अणिच्छमाणेण ॥

उवओगो कायव्वो जीवदयाए सदा मुणिणो ॥ ८२१ ॥

मुनिनानिच्छता लोके दुःखानि घृतये सदा ॥

उपयोगे विनातव्वो जीवनाणवते पर ॥ ८३० ॥

विजयोदया—नृणां तस्मान् । आरभो भवता त्याज्य, प्रासुकभोजन भोज्य, शाने अगतिश्च अपाकायो इति क्षपकशिक्षा । अहिंसा जीवदया तस्या फलमुपदर्शयति—तस्मा इत्यनया उभयलोकगतदुःखपरिहारमिच्छता दयाभावना कार्या इति कथयति ।

अर्थ—इस वास्ते हे क्षपक ! यदि तुम इहपर लोकमें दुःखको नहीं चाहते हो तो हमेशा जीवदया करनेमें अपने चित्तको स्थिर करो. मासुक भोजन ग्रहण करनेमें यदि अरति उत्पन्न हुई हो तो उसको दूर करो

क्षपकस्य स्वल्पकालवत्यपि अहिंसाव्रतं करोत्यात्मनो महान्तमुपकारमित्याख्यानं कथयति—

पाणो वि पाडिहं पत्तो छुढो वि सुसुमारहदे ॥

एगण एक्कदिवसक्कदेण हिंसावदगुणेण ॥ ८२२ ॥

अप्येकाहव्यापकेन प्रकृष्टः प्रासः पाणः प्रातिहार्यं सुरेभ्यः ॥

एकैनेव प्राणिरक्षाव्रतेन क्षिप्तः कुरोऽनेकनक्रौघमध्ये ॥ ८३१ ॥

परां सपर्यां ददंती निरत्यये निवेशयन्ती बुधयाचिते पदे ॥

करोत्यहिंसा जननीव पालिता सुखानि सर्वाणि रजांसि धुन्वती ॥ ८३२ ॥

इति अहिंसा

विजयोदया —पाणो वि चंडालोऽपि पाडिहं प्रातिहार्यं पत्तो प्राप्ता । सुसुमारहदे शिशुमारकुले न्हंटे निक्षिप्तोऽपि । एकेण हिंसावदगुणेण एकैनेव अहिंसाव्रताख्येन गुणेन । अप्यकालक्रेतेन स्वल्पकालकृतेन ॥ अहिंसा ॥

स्वल्पकालतक पाला जाने पर भी यह अहिंसाव्रत प्राणीपर महान् उपकार करता है—

अर्थ—शिशुमार ब्रह्ममें फेंके गये चांडालने अल्पकाल तकही अहिंसा व्रतका पालन किया था परंतु वह इस व्रतके महात्म्यसे देवोंके द्वारा पूजा गया. इस प्रकार अहिंसा व्रतका वर्णन पूर्ण हुआ

द्वितीयव्रतनिरूपणाय उत्तरप्रबन्ध—

परिहर असतवयणं सब्बं पि चटुब्बिधं पयत्तेण ॥

धत्तं पि संजमित्तो भामादोसेण लिप्पदि दु ॥ ८२३ ॥

सुंवासत्तं वचः साधो ! चतुर्भेदमपि त्रिधा ॥

संयमं विदधानोऽपि भापादोषेण बाध्यते ॥ ८३३ ॥

विजयोदया—परिहर परित्यज । अस्तवयणं असद् अशोभनं वचन । यत्कर्मनिबंधनं वचस्तदशोभनं । तथा चोक्तं—‘असदभिधानमनृतम्’ ननु वचनमात्मपरिणामो न भवति । द्रव्यातर हि तदुद्गलार्थं, आत्मपरिणामो हि त्याज्यो यो यद्यस्य बधस्थितेर्बो निमित्तभूतो मिथ्यात्वमसंयम क्रमयो योग इत्येवप्रकारः । तस्मादसद्वचनपरिहरोरप्यदेशोऽनुपयोगी कस्मादकृत इति अत्रोच्यते—असयमो हि त्रिप्रकारः कृतः कारितोऽनुमतश्च । इयमस्मिन्नसंयमे प्रवर्तयामि अनेन वचनेन प्रवृत्त वानुजानामि । इत्यभिसाधिमतेरण वास्य वचनस्याप्रवृत्तेस्तद्वचनकारणभूतोऽभिसाधिरात्मपरिणामो भवति कर्मनिमित्तमिति परिहार्यस्तस्य परिहारं तत्कार्यं वचनमपि परिहृतं भवति । न ह्यसति कारणे कार्यप्रतिपत्तिरित्यसद्वचनपरिहारोऽनेनन क्रमेणोपन्यस्त इति स्वयमसद्वचनैकदेशपरिहारेऽप्यपहृतमसद्वचनं भवति इत्याशका परिहरति सत्त्वमिति चतुर्विधमिति तदीयभेदोपन्यासः । ‘प्यत्तेणेति । तत्र अप्रमत्ततामुपदिशति । घृत्तं पि संज्ञमंतो नितरा-मपि संयममाचरन्नपि । भासादौसेण भाषावचन तद्विमित्त्वाद्वात्योगाख्य आत्मपरिणामो भाषाशब्देनोच्यते । भाषाबुधः भाषादोषः । वाग्योगेन बुधेन निमित्तेन जात यत्कर्म तेन । लिप्पदि लिप्यत एव सवध्यत एव आत्मा । एतेन कर्मबंधनिमित्ततादीयकथनेन असद्वचनपरिहारं दाढ्यं करोति क्षपकस्य ॥

दुसरे सत्यमहाव्रतका निरूपण करनेके लिये आचार्य प्रारंभ करते हैं.

अर्थ—असत्य भाषण का हे क्षपक ! तू त्याग कर क्यों कि वह वंधन का कारण है तत्त्वार्थाधिगममें ‘असदभिधानमनृतम्’ इस सूत्रमें यही अभिप्राय कहा है.

शुका—वचन अर्थात् बोलना यह आत्मपरिणाम नहीं है वह पुद्गल नामक द्रव्यका परिणमन है जो आत्मपरिणाम बध अथवा बधस्थितिका निमित्त है वही त्याज्य है. मिथ्यात्व, असयम, कृपाय, योग ये आत्मपरिणाम कर्मबंधके कारण होनेसे त्याज्य है इस लिये असत्य वचनका परिहार करना, त्याग करना कुछ उपयोगी नहीं है अतः उसका त्याग करनेका उपदेश क्यों किया ?

उत्तर—असयमके कृत कारित और अनुमत ऐसे तीन प्रकार हैं. इस मनुष्यको इस असयममें मैं प्रवृत्त करूंगा अथवा वचनके द्वारा स्वयं असंयममें प्रवृत्त हुए इस मनुष्यको मैं अनुमोदन देऊंगा. इस प्रकारके सकल्पके बिना वचनकी प्रवृत्ति होती नहीं. इसवास्ते ऐसे वचनका कारण आत्मपरिणाम है यह आत्मपरिणाम कर्मबंध होनेमें कारण है अतः त्याज्य है इसके त्यागसे इसका कार्यभूत वचन भी त्यागा जाता है यदि कारण न हो तो कार्यका ज्ञान कैसे हो सकेगा इस लिये असत्य वचनका त्याग इस क्रमसे आचार्यने दिखाया है.

असत्य वचनके—आचार्यने चार भेद किये हैं इन सब भेदोंका त्याग हे क्षपक ! तूं प्रयत्नसे कर क्योंकि संयमका आचरण करता हुआ भी मुनि भाषादोषसे उत्पन्न हुए कर्मसे लिप्त होता है. अर्थात् दृष्ट वचन योगसे जो

कर्मस्रव आता है उससे वह लिप्त होता है, दुष्ट वचन कर्मवधका निमित्त होता है इसलिये हे क्षपक तू उसका त्याग कर

प्रतिष्ठात चातुर्विध्यमात्रे—

पढम असंतवयणं समुदथस्स होदि पडिसेहो ॥

णत्थि णरस्म अकाले मच्चुत्ति जधेवमादीयं ॥ ८२४ ॥

प्रथमं तद्वचोऽसत्यं यत् सतः प्रतिषेधनम् ॥

अकाले मरणं नास्ति नराणामिति यद्वचः ॥ ८३४ ॥

विजयोव्या—पढम असतवयणं चातुर्धु आयमसद्वचनं समुदथस्स होदि पडिसेहो सतोऽर्थस्य प्रतिषेधः । सतां सतो न वचनं असद्वचनमित्येकोऽर्थः । तस्योवाहरणमाह—णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति एवमादिकं नास्त्यकाले मनुष्यस्य मृत्तिरिति एवमादिकं वचनं । आयुषं स्थितिकालं काल इत्युच्यते । तस्मात्कालादन्यः कालोऽकालः । तस्मिन्नकाले । ननु न भोगभूमिनराणामनपवर्त्यमायुरत अकाले मरणं नास्त्येव अतो युक्तमुच्यते णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति । नरराजस्य सामान्यवाचित्वात्नवन्तराविक्रय अकालमरणभावोऽयुक्तं केपुचित्कर्मभूमिजेतु सत्यं सतो निषेधादित्यभिप्रायः ।

अर्थ—चार असत्य वचनोंमें पहिला असत्य वचन इस प्रकार समझना चाहिये—अस्तित्वरूप पदार्थका निषेध करना यह प्रथम असत्य वचनका भेद है जैसे मनुष्यको अकालमें मृत्यु नहीं है, आयुष्यके स्थिति कालको यहाँ काल कहना चाहिये इस कालमें जो अन्य काल उसको अकाल कहते हैं, शका—मनुष्यको अकालमें मृत्यु नहीं है यह कहना सत्यही है क्योंकि भोगभूमिके मनुष्योंका आयुष्य विप शस्त्रादिके क्रम होता ही नहीं अतः उनको अकालमें मरण नहीं है यह कहना योग्यही है उत्तर—नर शब्द सामान्यवाची होनेसे संपूर्ण मनुष्योंका वाचक है इस लिये अकाल मरण नहीं है ऐसा कहना अयोग्य ही है कितने कर्मभूमीके मनुष्योंमें अकाल मृत्यु है उसका यहाँ निषेध किया है अतः अकालमें मनुष्योंको मरण नहीं है यह कहना सत्पदार्थका—विद्यमान पदार्थका निषेध करनेवाला होनेसे अवश्य असत्यही है

अहवा संयंबुद्धीए पडिसेधो खेत्तकालभावहि ॥

अविचारिय नलिय इह घडोत्ति जह एवमादीयं ॥ ८२५ ॥

कलशोऽस्तीति यदभूते द्रव्यादीनां चतुष्टयम् ॥

अपर्यालोच्य यत्प्रोक्तमभूतोद्भावंकं जिनैः ॥ ८३६ ॥

चिजयोदया —अथवा विवाद्बुद्धीए पडिसेध खेत्तकालभावहिं अविचारिय भावमिति शेष । म्वबुद्धया अत्र कालभावैरभावमविचार्यमाण अत्र नास्ति इदानीं न विद्यते । शुक्लरूपरूपो न वेत्यनिरूप्य घटस्य भाव इत्यनेन प्रकारेण नदिय घडो जह एवमादीण नास्ति घट इत्येवमादिक । सतो घटस्य अविशेषेण असत्तवचनं असद्वचनमित्युदाहरणान्तरमिदं ।

अर्थ—अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन अपेक्षाओंसे विचार न कर यहां घडा नहीं है इत्यादि रूप वचन अपनी बुद्धीसे कह देना अभिप्राय यह है कि किसी अपेक्षासे घटकी सत्ता होने पर भी घट मर्वथा नहीं है ऐसा कहना यह भी असत्य वचन ही है जैसे काला घट नहीं है परंतु घरमें यदि श्वेतघट है तो घट है ही नहीं ऐसा कहना कैसा योग्य होगा? क्षेत्रकी अपेक्षासे एक क्षेत्रमें घट न होगा तो दूसरे क्षेत्रमें उसका मझाव होगा, परंतु स्वक्षेत्र परक्षेत्रका विचार न करके एकदम घट है ही नहीं ऐसा कहना असत्य ही है वह अपने स्वरूपमें रहता है परंतु स्वस्वरूपकी अपेक्षासे भी नहीं है ऐसा कहना यह असत्य है भूतकालकी अपेक्षासे कोई घट न होनेपर वर्तमान कालकी अपेक्षासे भी उसकी सत्ता नहीं मानना यह कालकी अपेक्षासे निषेध करना है इत्यादिक पहिले असत्य के उदाहरण हैं

जं असभूदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु ॥

अलिय सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीयं ॥ ८२६ ॥

द्वितीयं तद्वचोऽसत्यमभूतोद्भावनं मतम् ॥

अस्त्यकाले सुराणां च मृत्युरित्येवमादि यत् ॥ ८३६ ॥



विजयोदया—जं असमूहुभाषणेमेदं विषयं असंतवयणं तु । यदसदुद्भावनं द्वितीयं असद्वचस्तस्योदाहरणमुत्तरं । अतिय सुराणमकाले मञ्चुत्ति जहेवमादीयं । सुराणमकाले मृत्युरस्तीत्येवमादिकं यथा असेदेव अकालमरणमनेनेच्यते इत्यसद्वचनम् ॥

अर्थ—जो नहीं है उसको है कहना यह असत्य वचनका दूसरा भेद है जैसे 'देवोंको अकाल मृत्यु नहीं है ऐसा आगम कहता है परंतु देवों को अकाल मृत्यु है ऐसा कहना इत्यादि रूप असत्यका दूसरा प्रकार है

अहवा जं उब्भावेदि असंतं खेत्तकालभावेहिं ॥

अविधारिय अतिय इह घडोत्ति जह एवमादीयं ॥ ८२७ ॥

विजयोदया—अथवा जं उब्भावेदि यद्वचनं उद्भावयति । असंतं घटं । कथमसंतं? खेत्तकालभावेहिं क्षेत्रांतर-संघधित्वेन सतं इहत्यं घटं कालांतरसंघधेन अतीते अनगते वा असंत भावान्तरसंघधित्वेन कृष्णत्वादिना संतं । अविधारिय अविचार्य इत्य सत् इत्यमसत् इति अस्ति घट इत्येवमदिकसर्वथास्तित्वमसद्भावयतीति असद्वचनं ।

अर्थ—अथवा द्रव्य क्षेत्रकालांतरसे घट न होने पर भी बिना विचारके सर्व द्रव्यक्षेत्रकालोपक्षया घट है ऐसा कहना यह दूसरा उदाहरण है जैसे एक कोठरीमें घट है परंतु दूसरे कोठरीमें न होनेपर भी दूसरे कोठरीमें है ऐसा कहना संफेत्त घट है परंतु कालाभी है ऐसा कहना पर रूपसे घट नहीं रहता है परंतु उसके स्वरूपसे भी वह है ऐसा कहना, वर्तमानकालमेंही घट की सत्ता होनेपरभी भूतकालमें भी था ऐसा कहना यह सब असत्यके दूसरे प्रकारके उदाहरण है ।

तदियं असंतवयणं संतं जं कुणदि अणजादीगं ॥

अविचारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीयं ॥ ८२८ ॥

तृतीयं तद्वचोऽसत्यं यदनालोच्य भाषते ॥

पदार्थमन्यजातीयं गौर्वाजीत्येवमादिकम् ॥ ८३७ ॥

विजयोदया—तदिय असंतवयणं तृतीयमसद्वचनं । संतं जं कुणदि अणजादीगं सद्यत्करोति अन्यजा-तीयं । अविचारित्ता गोणं अस्सोत्ति जहेवमादीगं । अथमित्येवमादिकं । सतो वलीवर्हेत्वात् अश्वत्वं असत्तस्य वचनं ।

अर्थ—एक जातीके सत्यदार्थ को अन्य जातीका सत्यदार्थ कहना यह असत्यका तीसरा भेद है जैसे बेल है इसका विचार न कर रहा घोडा है ऐसा कहना यह कहना विपरीत सत् पदार्थका प्रतिपादन करनेसे असत्य है

चतुर्थमसद्वचनमाचष्टे—

जं वा गरहिदवयणं जं वा सावज्जसंजुदं वयणं ॥

ज वा अपियवयण असत्तवयण चउत्थं च ॥ ८२९ ॥

सावद्यं गहितं वाक्यमप्रियं च मनीषिभिः ॥

त्रिमकारमिति प्रोक्त तुरीयकमसूनुतम् ॥ ८३८ ॥

विजयोदया—जं वा गरहिदवयण यद्वा गहितं वचन । ज वा सावज्जसंजुदं वयणं । यद्वा सावद्यस्युत वचनं । ज वा अपियवयण यद्वा अप्रियवचन । तत् चउत्थं चतुर्थं वयण असत्तवयण असद्वचन ॥

असत्यका चौथा प्रकार कहते हैं—

अर्थ—जो निंदवचन बोलना, जो पापयुक्त वचन बोलना और जो अप्रियवचन बोलना वह सब चौथे प्रकारका असत्य वचन है

तेषु वचनेषु गहितवचनमाचष्टे—

कक्कस्सवयण णिङ्खुवयण पेसुण्णहासवयणं च ॥

जं किंचि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण ॥ ८३० ॥

कर्कशं निष्ठुरं हास्यं परुषं पिशुनं वचः ॥

ईर्ष्यापरमसंबंधं गहितं सकलं मतम् ॥ ८३९ ॥

विजयोदया—कक्कस्सवयण कर्कशवचनं नाम सगर्ववचनमिति केचिद्वदन्त्ये असत्यमिति । णिङ्खुवयण निष्ठुरवचन । पेसुण्णहासवयणं च परदोषसूचनपर वचन । पैशुन्यवचनं हासवाहं वचनं । ज किंचि विप्पलावं यत्किंचिप्रलपनं च मुखरतया । गरहिदवयण गहितवचन । समासेण संक्षेपेण ॥

अर्थ—कर्मश्रवचन-गर्वयुक्त भाषण को कर्मश्रवचन कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य कहते हैं कोई श्रुत वचनको कर्मश्रवचन कहते हैं निष्ठुर भाषण दूसरोंके दोष दिखानेवाला वचन, उपहासका वचन जो कुछ भी बड-बड करना अर्थात् वाचाल होकर चाहे जेमा बोलना यह सब मंथपमे गार्हित वचन ही है.

भावद्यवचन निरूपयति—

जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति भावज्जवयणं च ॥

अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेवमादीय ॥ ८३१ ॥

प्राणिघातादयो दोषा प्रवर्तन्ते यतोऽबिबलाः ॥

सावद्यं तद्वचो ज्ञयं पड्विधारं भवणकम् ॥ ८४० ॥

विजयोदया—जत्तो पाणवधादी दोसा जायनीति यस्माद्वचनाद्धेतो प्राणवधादयो दोषा जायन्ते । सावज्जवयणं त सावद्यं वचनं तत् प्रथिवीं खन । महिरीं पीतोदकां पयसा प्रपूग्य प्रमूनानि उच्चित्तु । इत्येवमादिकृति अविचारित्ता अविचार्य क्रमेव वक्तुं युक्तं ममेति । अथवा दोषोऽनेन वचसा न वेति अपरीक्ष्य चौरं चौरोऽयमिति कथनं ।

अर्थ—जिस भाषणसे प्राणिहिंसा वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा भाषण बोलना उसको भावद्य वचन कहते हैं जैसे इस जमीनको खोदो, इस भेसने पानी पिया है अब इसको पानीसे धो डालो पुष्प तोड़ो इत्यादिक वचनोंको सावद्य भाषण कहते हैं भेग बोलना भोग्य है या नहीं इसका विचार न करके अथवा ऐसे भाषण सदोष हैं या निर्दोष हैं कुछ विचार न करके परीक्षाके बिनाही कह देना यह सब सावद्य वचन है जैसे चोरको यह चोर है ऐसा कहना

परस कडुय वयणं वेगं कलहं च ज भयं कुणइ ॥

उत्तासण च हीलणमप्यिवयणं समासेण ॥ ८३२ ॥

हासभयलोहकोहप्पदोसादीहिं तु मे पयत्तेण ॥

एवं असंतवयणं परिहरिद्व्वं विसेसेण ॥ ८३३ ॥

अवज्ञाकारणं वैरकलहभ्रासवर्द्धकम् ॥

अथर्व्यं कटुकं ज्ञेयमप्रियं वचनं बुधैः ॥ ८४१ ॥

रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादिसंभवं ॥

वितथं वचनं हेयं सयतेन विशेषतः ॥ ८४२ ॥

विजयोद्या—हासभय—हास्येन, मयेन, लोभेन, क्रोधेन, प्रदोषेणैवमादिना कारणेन । एव असतवयण एतद-  
सद्वचनं त्वया पत्तेण प्रयत्नेन । परिहरिद्वय परिहर्तव्य । विसेसण विशेषण ॥

अर्थ—मर्मच्छेद करनेवाले भाषणको परस्य कहते हैं जैसे तू अनेक दोषोंसे दुष्ट है मनको उद्धिन्न करने-  
वाली भाषाको कटु भाषा कहते हैं जैसे तू निंदा जातीमें पैदा हुआ है, तू धर्म रहित पापी है, इत्यादि वेर उत्पन्न  
करनेवाला भाषण जैसे तू गधा है, तेरेको कुछ भी ज्ञान नहीं है तेरे समान मूर्ख इस संसारमें दूसरा कोई नहीं है  
इत्यादि जिससे कलह हो जाता है वह कलहकारि वचन कहते हैं मनको त्रास पोहोचिगा क्लेश होगा वह वचन  
उन्नासनकर है दूसरीकी अवज्ञा करनेवाले शब्द बोलना वह हीलन वचन है जैसे तुमको धिक्कार हो। इस तरह  
अप्रिय वचनका संक्षेपसे वर्णन किया। हास्य, मीति, लोभ, क्रोध, द्वेष इत्यादि कारणोंसे जो असत्य भाषण किया  
जाता है हे क्षपक ! उसका तू प्रयत्नसे विशेष त्याग कर

एवमसद्विवाद् परिहार्यमुपविष्य सत्यवचनलक्षणमुक्तासद्वचनलक्षणतया दर्शयति—

तन्निवरीदं सव्यं कज्जे काले मिदं सविसए य ॥

भत्तादिकहारहियं भणाहि तं चेव सुयणाहि ॥ ८३४ ॥

विपरीतं तत सत्यं काले कार्ये मितं हितम् ॥

निर्भत्तादिकथं दृहि तदेव वचन शृणु ॥ ८३५ ॥

विजयोद्या—तन्निवरीद असद्वचन विपरीतं । सव्य सत्य भणाहि भण । कज्जे काय ज्ञानाचारवाद्  
शिश्नालक्षणे । असयमपरिहारे परस्य वा सम्मार्गस्थापनारूपे काले । आवश्यकादीना कालादन्य काल इत्यकालशब्दे-  
नोच्यते । अथवा कालशब्देन प्रस्ताव उच्यते । मिदं परिमित वचन । सविषण य भवतो ज्ञानस्य विषये प्रवृत्तं वचनं ।  
भणाहि भण । भत्तादिकथारहिदं भणाहि त चेव य सुणाहि भक्तुखीराजकथादिरहितं । त चेव य तथाभूतेमेव

वचनं सुणाहि शृणु । अयमयोऽयं न त्रयीति एतावता सत्यवतं पालितामिति आशा न कार्यी । परेणोच्यमानमसद्वचनं शृण्वतो मनोऽशुभतया च कर्मबंधो महानिति भावः ।

असत्य भाषणका त्याग करनेके लिये ऊपर आचार्योंने उपदेशकिया अब सत्यवचनका स्वरूप कहते हैं  
अर्थ—असत्य भाषणके जितने प्रकार ऊपर कहे हैं उनके विरुद्ध जो जो भाषण है वह २ हे क्षपक ! तुम बोलो ज्ञान, चारित्र्यादिकों का उपदेश देनेवाला, असंयमसे परावृत्त करनेवाला, अन्य साधुजनोंको सद्धर्ममें स्थिर करनेवाला ऐसा भाषण हे क्षपक ! तुम बोलो. सामागिक, प्रतिक्रमण, वंदना, स्तुति वगैरह आवश्यकों के कालके सिवाय अन्य समयको यहां काल समझना चाहिये अर्थात् योग्य काल प्रसंगको जानकर प्रगट होनेवाला ऐसे भाषणको यहां सत्यभाषण कहते हैं । ऐसा सत्य भाषण हे क्षपक ! तू मिलही बोल वह भाषण भक्तकथा, राजकथा चौर कथा वगैरह विकथाओंसे वजित होना चाहिये ऐसा भाषण तू बोल और अन्यका भी विकथावजित भाषण सुन यह वक्ता अयोग्य बोलता नहीं है एतावता इसने सत्यवत पाला है ऐसा तू मत समझ दूसरेका असद्भाषण सुननेपरभी मनमें अशुभ संकल्प उत्पन्न होकर महान्कर्मबंध होता है ऐसा जानकर दूसरोंका असत्य भाषण हे क्षपक ! तू मत सुन.

सत्यवचनमुण हृदयनिर्वाणं व्यापयति गायोत्तरा स्पष्टा—

जलचंदणससिमुत्ताचंदमणी तह णरस्स णिव्वाणं ॥

ण करंति कुणइ जह अत्यज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥ ८३५ ॥

नरस्य चदनं चद्रचद्रकातमणिर्जलम् ॥

न तथा कुरुते सौख्य वचनं मधुर यथा ॥ ८५५ ॥

सत्यवचनमें हृदयको सुख देनेका गुण है इसका विवेचन—

अर्थ—पानी, चंदन, चंद्र, मोती, और चंद्रकांतमणि ये पदार्थ लोगोंको उतना आनंद उत्पन्न करनेमें

असमर्थ हैं जितना आनंद अर्थात् सुख, हितकर और मधुर भाषण उत्पन्न करता है अर्थात् पानी, चंदन और चंद्रादिकोंमें भी सत्यवचन जीवोंको अधिक आनंद देता है

न सत्यमित्येतावतो वचन वक्तव्य, सत्यमेव सदेव वक्तव्यमेव नेति श्रवीति—

अणस्स अपणो वा विधम्मिए विद्वंतए कज्जे ॥

जं अ पुच्छिज्जंतो अणोहिं य पुच्छिओ जंप ॥ ८३६ ॥

स्वकीये परकीये वा धर्मकृत्ये विनश्यति ॥

त्वमपृष्टो वदान्यत्र पृष्ट एव सदा वद ॥ ८४५ ॥

विजयोदया—अणस्स अपणो वापि अन्यस्य आत्मनो वा धार्मिककार्यं विनश्यति सति अपृष्टोऽपि ब्रूहि । अनतिपातिनि कार्ये पृष्ट एव वद नापृष्ट ॥

जो सत्य है वह बोलना चाहिए ऐसा नहीं परंतु सत्य होकर जो प्राणिओंका कल्याण करता है वह मापण बोलना चाहिए यही अभिप्राय आगेकी गाथामें कहा है—

अर्थ—दूसरोंका अथवा अपना धार्मिक कार्य नष्ट होनेका प्रसंग आनेपर बिना पूछे हि बोलना चाहिये यदि कार्य विनाशका प्रसंग न हो तो जब कोई पूछेगा तब बोलो, नहीं पूछेगा तो बोलना नहीं

सच्चं वदंति रिसओ रिसीहिं विहिदाउ सब्व विज्जाओ ॥  
मिच्छस्स वि सिज्झंति य विज्जाओ सच्चवादिस्स ॥ ८३७ ॥

गदंति ऋषयः सत्यं यद्विद्या निखिलाः कृताः ॥

तन्म्लेच्छस्यापि सिध्यन्ति सर्वदा सत्यवादिनः ॥ ८४६ ॥

विजयोदया—सच्च वदंति रिसओ सत्यं वदंति यतय । रिसीहिं विहिदाओ यतिभिर्विहिता सर्वविद्या । मिच्छस्सचि म्लेच्छस्यपि सिज्झंति सिध्यन्ति । विज्जाओ विद्याः । सच्चवादिस्स सत्यवादिनः ॥

अर्थ—ऋषिगण सत्यभाषण करते हैं ऋषियोंने सर्व विद्याये उत्पन्न की हैं, जो सत्यवादी हैं ऐसे म्लेच्छ को भी विद्याये सिद्ध होती हैं,

ण उहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण चुइइ ॥  
सच्चवलियं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिणदी वि ॥ ८३८ ॥  
दद्यते न हुताशेन न निमज्जति वारिणि ॥  
धन्यं सत्यवलोपेतो नरो नद्यापि नोद्यते ॥ ८४७ ॥

विजयोद्या—ण उहदि अग्गी णरं न वहल्यणि सत्येन नरं । जलं च तं चुइइ जलं च तत्र निमज्जयति ।  
सच्चवलियं सत्यमेव बलं तद्यस्यास्ति तं न वहति नाकर्णयति । तिक्खा गिरिणदीवि तीव्रवगा गिरिनद्यापि ॥

अर्थ—सत्यवादी को अग्नि जलाता नहीं पानी उसको इवोन्मै असमर्थ होता है सत्यभाषण ही जि-  
सका सामर्थ्य है ऐसे मनुष्य को बड़े वेगसे पर्वतपरमे ऋदनेवाली नदी भी नहीं बहा सकती है।

सच्चेण देवदावो णवंति पुरिसस्स ठंति य वसस्मि ॥  
सच्चेण य गहगहिदं मोएइ करेति रक्खं च ॥ ८१९ ॥  
वदया भवंति सच्च्येन देवतां प्रणमन्ति च ॥  
विमोचयन्ति सत्येन ग्रहतं पांति च स्फुटम् ॥ ८४८ ॥

विजयोद्या—सच्चेण देवदावो णमति सत्येन देवता नमस्यति । पुरिसस्स ठंति य वसस्मि पुरणस्य च वदो  
तिष्ठति । गहगहिदं सच्चेण मोपइ पिशाचग्रहण मोचयति सत्येन । ऋति सच्चेण रक्खं च कुर्वन्ति सत्येन ग्रहादिरक्षारं ॥  
अर्थ—सत्यके प्रभावसे देवतायें सत्यवादी को वदन करती हैं और उसके चश होती होती है सत्यके  
प्रभावसे पिशाच भाग जाता है और सत्यके प्रभावसे देवतायें रक्षण करती हैं अर्थात् सत्यवादीपर आये हुये  
संकट दूर करती हैं।

माया व होइ विस्सस्सणिज्ज पुज्जो गुरुव्व लोगस्स ॥  
पुरिसो हु सच्चवादी होदि हु सणियह्णओव्व पिओ ॥ ८४० ॥

नरो मातेव विश्वास्यः पूज्यो गुरुरिवाश्विले ॥  
सत्यवादी प्रियो नित्यं स्वर्गधुरिव जायते ॥ ८४९ ॥

विजयोदया—मादा व होदि विस्सस्सणिज्ज मातेव भवति विव्वसनीय । पुज्जो गुरुव्व लोगस्स पूज्यो गुरु-  
वल्लोकस्य । क सम्भवादी पुरिसो सत्यवादी पुरुष । प्रियो होदि सणियल्लभोव्व प्रियो भवति वधुरिव ॥

अर्थ—सत्यवादी के ऊपर लोक माताके समान विश्वास रखते हैं सत्यवादी लोक गुरुके समान  
पूज्य समझे जाते हैं सत्यवादी मनुष्य स्वजनके समान लोकोको प्रिय होता है

सच्चं अवगाददोसं वुत्तूण जणरस मज्झयारम्मि ॥  
पीदि पावदि परमं जसं च जगविरसुदं लहइ ॥ ८४१ ॥  
भाषमाणो नरः सत्य लभते प्रीतिमुत्तमाम् ॥  
बुधानंदकरीं कीर्तिं शशंकंकरसुदराम् ॥ ८५० ॥

विजयोदया—सच्चं वुत्तूण सत्यवचनमुक्त्वा । कीदम्भतं? अवगाददोस दोषरहित । क? जणस्स मज्झयारम्मि  
जनमल्ये । पीदि पावदि परमा प्रीति प्राप्नोति परा । जसं लमदि यशश्च लभते । जणविरसुदं जगति विश्रुत ॥

अर्थ—दोषरहित सत्यभाषण लोक समुदायमें बोलनेसे मनुष्य उत्कृष्ट आदरको प्राप्त होता है और  
जगतमें उसका यश प्रसिद्ध होता है-

सच्चम्मि तवो सच्चम्मि संजमो तह वसे सया वि गुणा ॥  
सच्चं णिवंधणं हि य गुणाणमुदधीव मच्छाणं ॥ ८४२ ॥  
गुणानामालयं सत्य मत्स्यानामिव नीरधिः ॥  
प्रमाणमस्ति सत्येन वर्जितोऽपि गुणैः परैः ॥ ८५१ ॥

विजयोदया—सच्चम्मि तवो सच्चम्मि संजमो सत्याधारै तप, सयमौ, शेषाश्च गुणा । सच्चं णिवंधणं गुणाणं  
सत्य गुणाना निबंधनं । सच्चं मच्छाण उदधीव सत्यं मत्स्यानामुदधिरिव ॥



अर्थ—सत्यके आश्रयसे तप और संयमकी वृद्धि होती है। इस सत्यका आधार पाकर ही सर्वगुण अपनी वृद्धि कर सकते हैं। समुद्र जैसे मच्छोंका आश्रयस्थान है वैसे संपूर्ण गुणोंको सत्य आश्रय स्थान है।

सन्त्वेण जगे होदि पमाणं अण्णो गुणो जदि वि से णत्थि ॥

अदिसंजदो य मोसे ण होदि पुरिसेसु तणलहुओ ॥ ८४३ ॥

संपयंते गुणाः सत्ये संयमो नियमस्तपः ॥

संयतोऽपि सुपावादी जायते तृणतो लघुः ॥ ८५२ ॥

विलयोदया—सन्त्वेण जगे होदि सत्येन जगति भवति । पमाणं प्रमाण । यद्यप्यन्यो गुणो नास्ति । अतीव संयतोऽपि सता मध्ये तृणवद्भुजवति मृगवच्चनेनेति गाधार्ये ॥

अर्थ—पुरुषमें सत्यके सिवाय अन्य गुण न होनेपर भी सत्यगुणसे ही वह प्रमाण माना जाता है महान सयमी भूनि भी सत्यगुणोंके समुदायमें असत्य वचन बोलनेसे तृणके समान तुच्छ होजाता है।

होदु सिंहडी व जडी मुंडो वा णगओ व चीवरधरो ॥

जदि भणदि अलियवयणं विलंबणा तस्स सा सव्वा ॥ ८४४ ॥

मुंडो जटी शिखी नग्नश्रीवरी जायतां नरः ॥

विटंबवनाविला सास्य चित्थ यदि भायते ॥ ८५३ ॥

विजयोदया—होदु सिंहडी भवतु नाम शिखावान् । जडी मुंडो वा । नग्नश्रीवरधरो वा ययलीकं वदति तस्य सा सर्वो विलंबना ॥

अर्थ—मनुष्य शिखा रखनेवाला हो, जटा धारण करनेवाला हो, मुंहन करनेवाला नय अथवा चीवरधारी, हो, यदि वह असत्य बोलता है तो यह सर्व उसकी विटंबनाही समझनी चाहिये

जह परमणस्स विसं विणासयं जह व जोब्बणस्स जरा ॥

तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासयमसत्त्वं ॥ ८४५ ॥

कालकूटं यथाम्नस्य यौवनस्य यथा जरा ॥

गुणानां विद्धि सर्वेषां नाशकं वितथं तथा ॥ ८५४ ॥

विजयोदया—जह परमणस्स यथा परमाद्यस्य विनाशकं विप । यथा वा जरा यौवनस्य, तथा जानीहि अहिंसादिगुणानां विनाशक असत्य ॥

अर्थ—जैसे उत्कृष्ट अमृतोपम अन्नको विप नष्ट कर देता है वद्भावास्था तारुण्यको नष्ट करती है वैसे यह असत्य भाषण अहिंसादि गुणोंको नष्ट करती है

मादाए वि य वेसो पुरिसो अलिण्ण होइ इक्केण ॥

किं पुण अवसेसाणं ण होइ अलिण्ण सत्तुव्व ॥ ८५६ ॥

स्वमातुरग्यविशवास्यो मृषाभाषणलालसः ॥

शेषाणां किमु लोकानां न शत्रुरिव जायते ॥ ८५५ ॥

प्रियगोदया—मादाए वि य मातुरग्यविश्वास्यो भवत्यलीकन एकेन पुरुष । शेषाणा पुनर्न किं भवेदलीकेन भावुरिच ॥

अर्थ—भ्रष्ट बोलनेवाले मनुष्यपर माता भी विश्वास नहीं रखती है फिर इस एक असत्य भाषणरूपी शत्रुपरो अन्य लोक उगको शत्रुसमान क्यों नहीं गिनेंगे

अलियं स किं पि भणिदं धादं कुणदि बहुगण सव्वाणं ॥

अभिसंकिदो य सयमवि होदि अलियभासणो पुरिसो ॥ ८५७ ॥

एकेनासत्यवाक्येन सत्यं बहूपि हन्यते ॥

सर्वत्र जायते नित्य शक्तितोऽसत्यभाषकः ॥ ८५६ ॥

विजयोदया—अलिय स किं पि भणिग ससुव्वप्युह अलीकं सत्यानि वद्धनि नाशयति । अलीकवादी पुरुषः अन्यमपि शक्तितो भवति नितरा ॥

अर्थ—एकदफे ही बोला हुआ अमृत्य भाषण अनेक बार बोले हुए सत्यभाषणोंका संहार करता है असत्यवादी पुरुष स्वयं भी मनमें डरता है शंकायुक्त रहता है मेरा असत्यभाषण यदि प्रकट होगा तो मेरा नाश होगा ऐसी भीति उसके मनमें उत्पन्न होती है.

अपञ्चओ अकिञ्ची भंभारदिकलहवेरभयसोगा ॥

वधवंधमेदणाणा सव्वे मोसस्मि सण्णिहिदा ॥ ८४८ ॥

अप्रत्ययो भयं वैरमकीर्तिर्मरणं कलिः ॥

विषादो मत्सरः शोकः सर्वेऽसत्यस्य बांधवाः ॥ ८५७ ॥

आयासरसनाच्छेदसर्वस्वरहरणादयः ॥

इहासत्येन लभ्यते परत्र नरकावनिः ॥ ८५८ ॥

विजयोदया—अपञ्चओ अमृत्यय. । अकीर्तिः, संक्षेप, अरति कलहो, वैर, भय, शोक, वधो, वध, स्वजनभेदः, धननाशश्चेत्यमी दोषा सन्निहिता नृपावघने ॥

अर्थ—अविश्वास, अकीर्ति, संक्षेपशरणागम, तिरस्कार, कलह, वैर, भय, शोक, वध, वध, सज्जनमें झूट, और धनका नाश ऐसे पाप सत्यभाषणसे उत्पन्न होते हैं.

पापस्सागमदारं असच्चवयणं भणंति हु जिर्णिदा ॥

हिदण्ण अपावो वि हु मोसेण गदो वस्स णिरयं ॥ ८४९ ॥

कलिलस्यास्रवद्धारं वितथं कथितं जिनैः ॥

निष्पापो हि वसुस्तेन श्रितेन नरकगतः ॥ ८५९ ॥

विजयोदया—पापस्यागमद्वारमिति वदत्यसत्यं जिर्णद्वारं । हृदय अपापोऽपि मृगमात्रेण चसुगतो नरकं इत्याख्यानक वाच्य ।

अर्थ—जिर्णद्वार भगवान असत्य भाषण पाप कर्मके आस्रव दरवाजेके समान है ऐसा कहते हैं अर्थात्

असत्य भाषण पापास्रवका कारण है इदयमें पापराहित वसु राजा असत्यभाषणसे नरकमें चला गया

परलोगमि वि दोस्सा ते चेव हवंति अलियवादिस्स ॥

मोसादीए दोसे जत्तेण वि परिहरंतस्स ॥ ८५० ॥

असत्त्यवादिनो दोपा परआपि भवन्ति ते ॥

मुंचतोऽपि प्रयत्नेन मृषाभाषाविदूषणम् ॥ ८६० ॥

विजयोदया—परलोगमि वि दोसा परभवेऽपि दोषस्त एव अप्रत्ययादय एव भवत्यलीकचादिनः । यत्नेनापि परिहृत्तः । किं ? मोसादिगे दोसे मृषादिकान्दोषान् । मृषा आदियेया स्तेयाग्रहापरित्राणा ते मृषादयः । अतद्रूपस-  
विज्ञानवहुव्रीहिरत्र ग्राह्य । स्तेयादिदोषान्परिहृत्ततोऽपीत्यर्थः ॥

अर्थ—असत्य बोलनेवाले पुरुषको अविश्वास वगैरे दोष परलोकमें भी प्राप्त होते हैं असत्य भाषण चोरी मैथुन, परिग्रह वगैरह पापोंका त्याग करनेपर भी, परलोकमें इन दोषोंका यह पुरुष कर्ता है ऐसा माना जाता है परजन्ममें बड़े प्रयत्नसे इनका त्याग करने पर भी इन दोषोंका उसके ऊपर आरोप आता है

भवतु नाम अप्रत्ययत्वादिका मृषावादस्य दोषा कर्कशवचनादिना परभवे इह वाच के दोषा इत्यत्राचेष्ट—

इहलोइय परलोइय दोसा जे होंति अलियवयणस्स ॥

कक्कसवदणादीण वि दोसा ते चेव णादब्बा ॥ ८५१ ॥

ये सन्ति वचनेऽलीके दोषा दुःखविधायिनः ॥

त एव कथिता जैनैः सकलाः कर्कशादिकाः ॥ ८६१ ॥

विजयोदया—इहलोगिण दोसा अस्मिञ्जन्मि परत्र च ये दोषा भवति अलीकचादिनः । कर्कशवचनादीनामपि त एव दोषा इति शतव्या ॥

असत्यवचन बोलनेसे अविश्वास वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं परतु कर्कशवचनादिकसे परभवमें अथवा इस भवमें कोनसे दोष उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—असत्य बोलनेसे इहपर लोकमें जो दोष उत्पन्न होते हैं वे ही दोष कर्मशत्रुचनादिकसे भी उत्पन्न होते हैं ऐसा समझना चाहिये

उपसंहारगाथा—

एदोसिं दोसाणं मुक्को होदि अलिआदिविविदोसे ॥

परिहरमाणो साधू तव्विवरीदे य लभदि गुणे ॥ ८५२ ॥

असत्यमोचिनो दोषा मुंचंति सकला इमे ॥

तद्विपक्षा गुणाः सर्वे लभ्यन्ते बुधप्रजिताः ॥ ८६२ ॥

भवभयविचयनवितथविमोची निरूपमसुन्वरजिनमतरोची ॥

परमं दवयति कलिलमदोषं वञ्चयति मुनिव्रतवचनविशेषम् ॥ ८६३ ॥

इति सत्यम् ॥

विजयोदया—यतेभ्यो मुक्को भवति व्यलीकादिवचने दोषान्य परिहरति साधु । लभदि तच्चिन्न-रीदे तेनापि दोषप्रतिपक्षभूतान्यत्ययितवादिगुणान् । प्रत्यय , कीर्ति , असंक्लेश, रति , कलहाभाव , निर्भयतादिकथ्य । सच्च ॥

उपसंहार गाथा—

अर्थ—असत्य भाषण, कर्मशत्रुभाषणोके दोषोंका जो त्याग करता है वह पुरुष इन दोषोंके प्रतिपक्षरूपी गुणोंकी प्राप्ति कर लेता है. अर्थात् जगमें विश्वास, कीर्ति, असंक्लेश, कलहका अभाव, निर्भयता वगैरह गुणोंका उसको लाभ होता है. सत्यमहाव्रतका वर्णन हुआ

व्याख्याय सत्यव्रत व्रतीयव्रत निगवति—

मा कुणसु तुमं बुद्धिं बहुमपं वां परादियं घेत्तुं ॥  
दंतंतरसोघणयं कलिंदमेत्तं पि अविदिणं ॥ ८५३ ॥

बहुरूपं च परद्रव्यमदत्तं मा ग्रहीस्त्रिया ॥

व्रतस्य ध्वंसने शक्तं दंतानामपि शोधनम् ॥ ८६४ ॥

विजयोदया—मा कुणसु तुम बुद्धि मा रुथास्त्व बुद्धि । कीदृशी ? पराविय वेत्तु परकीय वस्तु ग्रहीतु । परकीयवस्तुविशेषणमाचष्टे—गुरुमण्य वा महदल्प वा । अल्पद्रव्यपरिमाणमभिधाति—दत्ततरसोधनग कालेदमेत्तपि दत्तान्तरशुद्धिकारि दृणशलाकामात्रमपि । अविधिष्ण अदत्त ॥

अचौर्यव्रतका वर्णन—

अर्थ—हे क्षपक ! तुम दुरसोंके द्वारा नहीं दी गई छोटी या मोटी वस्तु कदापि मत ग्रहण करो जिससे दांतोंमें मल निकाला जाता है ऐसी तृणशलाकाभी ग्रहण करना योग्य नहीं है

जह मक्कडओ धादो वि फलं दड्डूण लोहिदं तस्स ॥

दूरत्यस्स वि डेवदि धित्ठूण वि जइ वि छंडेदि ॥ ८५४ ॥

दूरस्थितं फलं रक्तं यथा तत्तोऽपि मर्कटः ॥

ग्रहीतुं धावते दृष्ट्वा भूयो यद्यपि मोक्षयति ॥ ८६५ ॥

विजयोदया—जह मक्कडगो यथा मर्कटो चानर । बावो वि तत्तोऽपि । दड्डूण फल दृष्ट्वापि फलं । लोहिदं रक्तं । तस्स दूरत्यस्स वि डेवदि दूरस्थिमपि फलमुद्दिश्योल्लंघन करोति । जदि वि धित्ठूण छंडेदि यद्यपि ग्रहीत्वा त्यजति ।

अर्थ—जैसे मर्कट—चानर तुम होकरभी लालरंगका फल देखकर दूरसे ग्रहण करनेके लिये दीडकर आता है यद्यपि वह ग्रहण कर उसको छोड़ देगा तोभी ग्रथम लोभयुक्त होकर उसे ग्रहण करता है

दाशान्तिके योजयति—

एवं जं जं पस्सदि दब्बं अहिलसदि पाविदुं तं तं ॥

सव्वजगेण वि जीवो लोभाइहो न तिप्पेदि ॥ ८५५ ॥

तथा निरीक्षते द्रव्यं यद्यत्तत्तज्जिघृक्षति ॥

जीवस्त्रिलोकलाभेऽपि लोभग्रस्तो न तृप्यति ॥ ८६६ ॥

विजयोदया—एवं ज ज पस्सदि एव यद्यत्पश्यति द्रव्यं । त तं पाविदुमहिलसदि । तत्तद्रव्यं प्राप्नुमभिल-  
पति । सव्वजनेण वि सर्वेणापि जगता । लोभाइहो जीवो ण तिप्पेदि जीवो लोभाविष्टो न वृप्यति ॥  
दार्ष्टान्तिकमे ऊपरका आशय सघटित करते हैं—

अर्थ—वैसे लोभी मनुष्य जो जो वस्तु देखता है वह वह प्राप्त कर लेने की इच्छा करता है लोभग्र-  
हृथा मनुष्य सर्व त्रैलोक्यकी प्राप्ति होनेपरभी तृप्त होता नहीं

जह मारुवो पवट्ठ खणेण वित्थरइ अब्भयं च जहा ॥

जीवस्स तहा लोभो मंदो वि खणेण वित्थरइ ॥ ८६६ ॥

यथा विवर्द्धते वातः क्षणेन प्रथते यथा ॥

प्रथते क्षणतो लोभस्तथा मंदोऽपि देहिनः ॥ ८६७ ॥

विजयोदया—जह मारुवो पवट्ठ यथा मारुत प्रवर्द्धते । खणेण क्षणेन । वित्थरदि विस्तीर्णो भवति । अब्भयं च  
जहा यथा चाग्रं । जीवस्स जीवस्य । तह तथा लोभो मंदोऽपि क्षणेनैव विस्तीर्णतामुपयाति ।

अर्थ—जैसे मंद वायु एक क्षणके अनंतर बढ़कर विस्तीर्ण होता है अथवा जैसे आकाशमें मेघ प्रथम  
थोड़े रहते हैं और अनंतर बढ़ते बढ़ते सर्व आकाश व्याप्त कर देते हैं एवं जीवका लोभ प्रथम मंद होता है नंतर  
क्षणसे विस्तीर्ण होता है.

याह्यद्रव्यसन्निधिमपेक्ष्य लोभकर्मण उदयो जायते तस्य लोभः संवर्द्धते त्वष्टृद्धौ चायं दोष इति व्याचष्टे—  
लोभे य वद्धिद्वे पुण कज्जाकज्जं णरो ण चित्तेदि ॥

तो अप्पणो वि मरणं अगणिंतो चोरियं कुणइ ॥ ८६७ ॥

प्रवृद्धे च ततो लोभे कृत्याकृत्यविचारकः ॥

स्वस्य मृत्युमजानानः साहसं कुरुते परं ॥ ८६८ ॥

विजयोदया—लोभे य वृद्धिं पुण लोभे च वृद्धिसुपणते पुन । कञ्जाकल्लं णरो ण षित्तिदि कार्यं अकार्यं च न मनसा निरूपयति । इदं कर्तुं युक्तं न वेति । तो ततः युक्तायुक्तविचारणाभावात् । अण्णो मरणमपि अगणिता आत्मनो मृत्युमप्यगण्य । चोरिय चौर्यं करोति । वीप्रहणं, तालोद्धाटनसंग्रवेशादिकं च । भय मृत्योः कष्टतरमवस्थितमपि न गणयति नरञ्चौर्यं प्रवृत्त इति भावः ॥

बाह्यपदार्थोंका सामिन्ध्य प्राप्त करके जब लोभ कर्मका उदय होता है तब लोभ वृद्धिगत होता है लोभ बढ़नेसे आगे लिखे हुए दोषकी वृद्धि होती है—

अर्थ—लोभ की वृद्धि होनेपर मनुष्य करने योग्य अथवा न करने योग्य कार्यका मनसे विचार ही नहीं करता है अथवा अकार्य भी उसको योग्य जचता है युक्तायुक्त विचार के न होनेसे जिससे मरण प्राप्त होगा ऐसा भी साहसकर्म करनेके लिये उद्युक्त होता है चोरी करता है चोरी करनेसे कारागृहमें दुःख भोगता है, श्रीमत्के घरका ताला खोलकर अंदर प्रवेश करता है, मृत्युका कष्टतर मय उपस्थित होनेपर भी लोभाविष्ट मनुष्य कुछ पूर्वा नहीं करता है

न केवलमात्मन एवोपद्रवकारि चौर्ये अपि तु परेषामपि महतीमानयति विषदमिति कथयति—

सन्वो उवहिद्वुद्धी पुरिसो अत्थे हिदे य सन्वो वि ॥

सत्तिप्पहारविद्धो व होदि हियमंसि अदिदुहिदो ॥ ८५८ ॥

सर्वोप्यथ हृते द्रव्ये पुरुषो गतचेतनः ॥

शक्तिविद्ध इव स्वान्ते सदा दुःखायते तराम् ॥ ८६१ ॥

विजयोदया—सन्वो उवहिद्वुद्धी सर्वो जन उपहितवुद्धिं स्थापितचित्त । क ? अत्थे वस्तुनि इदं भवत्विति । अत्थे हिदे य सन्वो वि सर्वोऽपि जनो अर्थ हृते । अतिदुहिदो अतीव दुःखितो भवति । किमिव ? सत्तिप्पहारविद्धो हिद्वे शक्त्याल्लेन शल्लेण हृदये विद्ध इव ।

चोरी करनेसे चोरकोही उपद्रव होता है ऐसा नहीं अन्य लोगोंके ऊपरभी उससे बड़ी विपत्ति आती है

अर्थ—सर्व लोकोंकी बुद्धि धनमें आसक्त रहती है, इसलिये ऐसे धनका चोरकेद्वारा हरण होनेपर उनको मरणतुल्य दुःख होता है हृदयपर शक्तिनामक शस्त्रकी चोट लगनेपर जैसा दुःख होता है वैसा धनहरण होनेसे दुःख होता है



अत्यस्मि हिदे पुरिसो उम्मत्तो विगयचेयणो होदि ॥  
मरदि व हक्कारकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स ॥ ८५९ ॥  
द्रविणे ग्रहिलीभूय झियतेऽथ हत्ते नरः ॥  
हाकारमुखरः क्षिप्रं नृणामर्थो हि जीवितम् ॥ ८७० ॥

विजयोदया—अत्यस्मि हिदे अर्थ हते परेणात्मिये । पुरिसो पुरुष । उम्मत्तो विगयचेयणो होदि उम्मत्तो विचेतनो भवति । चेतनाविशेषे ज्ञानपर्याये चेतनाशब्दो वर्तते नष्टज्ञानो भवतीति यावत् । अन्यथा चेतन्यस्य विनाशाभावात् ॥ मरदि व झियते वा ॥ अत्ये हक्कारकिदो अर्थे हारवं कुर्वन् ॥ अत्थो जीवं खु पुरिसस्स पुरुषस्य जीवितमर्थः ॥

अर्थ—दूसरेके द्वारा अपना धन लूटा जानेपर मनुष्य उन्मत्त अर्थात् पागल बनता है, ज्ञानरहित होता है, मेरा धन मेरा धन ऐसा बारबार कहता हुआ प्राणोंका भी त्याग करता है इसलिये 'धन मनुष्यका प्राण है' ऐसी जो लोकोक्ति जगमें प्रचलित हुई है उसमें सत्यता है।

अडईगिरिदरिसागरजुद्धाणि अडंति अत्थलोभादो ॥  
पियबंध चेवि जीवं पि णरा पयंहति धणहेटुं ॥ ८६० ॥  
विद्धांति पर्वतेऽम्भोधौ युद्धदुर्गवनादिषु ॥  
त्यजंति द्रव्यलोभेन जीवितं बांधवानपि ॥ ८७१ ॥

विजयोदया—अडईगिरिदरिसागर अट्ठर्यो, दर्यो, गिरि, सागरं, युद्ध प्रविशन्ति अर्थलोभात् । प्रियान्धून् जीवितं च नरा जहति धननिमित्तं । सर्वेभ्यो धनं प्रियतमं यतस्तदर्थिन सर्व त्यजन्ति इति भावात्थो माध्यायाः ॥

अर्थ—धनके लोभसे मनुष्य जंगल, पर्वत, समुद्र और युद्धमें प्रवेश करते हैं, धनके निमित्तसे अपने प्रियवंधुओंका और प्राणोंका भी त्याग करते हैं, प्रिय बांधव और प्राणोंसे भी धन मनुष्यको अत्यंत प्रिय है क्योंकि कि इसके लिये धनार्थी सर्वोका त्याग करते हैं

अत्ये संतम्मि सुहं जीविदि सकलत्तपुत्तसंबंधी ॥  
अत्थं हरमाणेण य हिदं हवदि जीविदं तेसिं ॥ ८६१ ॥

विद्यमाने धने लोका जीवन्ति सह्यधुभिः ॥

तस्मिन्नपहृते तेषां सर्वेषां जीवितं हृतम् ॥ ८७२ ॥

विजयोदया—अत्ये सतमि सुह अर्थे सति सुख । जीवदि सकलत्तपुत्ससंधी जीवति सह कलत्रेर्भार्योभिः, पुत्रैर्वधुभिश्च । अर्थे हस्ता तेषा कलत्रादीना जीवितमेव हृत भवति ॥

अर्थ—चोरके हृदयमें दया, लज्जा, दम, और विश्वास ये गुण निवास नहीं करते हैं, चोरको धनके लिये कुछ भी अकृतव्य नहीं है अर्थात् अत्यंत निध, और क्रूर कार्यभी वह धनके लिये करता है.

चोरस्स णत्थि हियए दया च लज्जा दमो व विस्सासो ॥

चोरस्स अत्थेहंदुं णत्थि य कादव्वय किं पि ८६२ ॥

न विश्वासो दया लज्जा सन्ति चौरस्य मानसे ॥

नाकृत्यं धनलुब्धस्य तस्य किंचन विद्यते ॥ ८७३ ॥

विजयोदया—चोरस्स णत्थि हियए चौरस्य नास्ति हृदये । दया, लज्जा, दमो, विश्वासो वा । चोरस्य नास्ति अकृतव्य किंचित् । अर्थार्थिन इति भावार्थः ।

अर्थ—धनसे इद्रियसुखकी प्राप्ति होती है, धनसे मनुष्य पत्नी, पुत्र और संबंधी जनोके साथ जी सकता है और यदि उसका धन चोरने हरण किया तो उसने उसका और उसके पत्नी पुत्रादिकोना जीवित हरण किया ऐसा समझना चाहिये

लोगस्मि अत्थि पक्खो अवरद्धंतस्स अण्णमवराधं ॥

णीयह्यया वि पक्खं ण होति चोरिक्खसीलस्स ॥ ८६१ ॥

अपराधे कृतेऽप्यत्र पक्षे लोकोऽपि जायते ॥

बंधवोऽपि न चौरस्य पक्षे सन्ति कदाचन ॥ ८७४ ॥

विजयोदया—लोगस्मि अत्थि पक्खो लोकोऽस्ति पक्षोऽन्यमपराध द्विसादिक कुर्वतो बंधवोऽपि न पक्षता प्रतिपद्यते ये चौर्यकारिणः ॥

अर्थ—हिंसादिक अन्य अपराध करने वालोंके पक्षमें लोक रहते हैं परन्तु वंशुभी चोरी करने वालोंके पक्षमें रहना नहीं चाहते हैं

अण्णं अवरज्झंतरस्स दित्ति णियये घरम्मि आवासं ॥

माया वि य ओगासं ण देइ चोरिक्खिसीलस्स ॥ ८६४ ॥

वित्तरंति जनाः स्थानं दोषेऽन्यत्र कृते सति ॥

स्तेये पुनर्न मातापि पुरुषातकदायिनि ॥ ८७५ ॥

विजयोदया—अण्णं अवरज्झतस्स अन्यं अपराधं कृत्वैत ददति स्वात्वासे अवकाशं । माताप्यवकाशं न ददाति बुराया प्रवृत्तस्य ॥

अर्थ—अन्य अपराध करने वालोंको लोक अपने घरमें आश्रय देते हैं परन्तु लोक तो क्या चोरी करनेवाले मनुष्यको उसकी माता भी आश्रय देती नहीं

परदत्त्वहरणमेदं आसवदारं खु वेत्ति पावस्स ॥

सोगरियवाहपरदारयेहिं चोरो हु पापदरो ॥ ७६५ ॥

द्रव्यापहरणं द्वारं पापस्य परमिष्यते ॥

सर्वेभ्यः पापकारिभ्यः पापीयांस्तस्करो मतः ॥ ८७६ ॥

विजयोदया—परदत्त्वहरणेभ्यः परद्रव्यापहरणमेतत् पापस्यान्तवद्धारं भुवंति । शौकरिकात्, व्याधात्, परदाररतिप्रियान्त्व चौरः पापीयान् ॥

अर्थ—परद्रव्य हरण करना यह पाप आनेका द्वार है सुअर का घात करनेवाला, मृगादिका को पकड़नेवाला और परस्त्री गमन करनेवाला इनसे भी चोर अधिक पापी गिना जाना जाता है

सयणं भित्तं आसयमल्लीणं पि य महल्लए दोसे ॥

पाडेदि चोरियाए अयसे दुक्खम्मि य महल्ले ॥ ८६६ ॥

आश्रयं स्वजनं मित्रं दुराचारो मलिम्लुचः ॥

सर्वं पातयते दोषे दुरुषमे दुर्यशास्यपि ॥ ८७७ ॥

विजयोदया—सयण मित्रं वधून्मित्राणि आश्रयभूतं समीपस्थं च महति दोषे बंधवधघनापहरणादिके पातयति चौर्यं । महलयशासि दुःखे च निपातयति ॥

अर्थ—चोरके जो स्वजन, मित्र, और आश्रयसे रहनेवाले अन्य लोगोंको भी यह चोरी बड़े संकटमें गिरा देती है, अर्थात् चोरके साथ उसके स्वजन मित्रादिकोंकोभी लोक बांधते हैं, उनके अवयव तोड़ते हैं, उनका धन छीन लेते हैं बही अपकीर्ति और दुःखमें गिराते हैं

बंधवधजादणाओ छायाघादपरिभवक्खयं सोयं ॥

पावदि चोरो सयमवि मरणं सब्बस्सहरणं वा ॥ ८६७ ॥

वधं बंधं भयं रोधं सर्वस्वहरणं, मृतिम् ॥

विषादं घातना लोके तस्सकरो लभते स्वयम् ॥ ८७८ ॥

विजयोदया—बंधवधजादणाओ वधं, वधं, यतनाञ्च, छायाघातं, परिभवं, भयं, शोकं प्राप्नोति । स्वयमपि चोरो मरणं सर्वस्वहरणं वा ॥

अर्थ—अवयव तोड़ना, बांधना, अनेक प्रकाशसे पीड़ा देना, पराभव करना इत्यादिक प्रकाशसे लोक चोरोंको तकलीफ देते हैं. शोक, सर्वस्वहरण और मरण इन दुःखोंको चोर प्राप्त होता है

णिच्च दिया य रत्तिं च संकमाणो ण णिद्धमुवलभदि ॥

तेणं तओ समंता उव्विग्गमओ य पिच्छंते ॥ ८६८ ॥

शंकमानमना निद्रां तस्सकरो जातु नाश्रुते ॥

ऊरंगं इव वित्रस्तो वीक्षते सकला दिशः ॥ ८७९ ॥

विजयोदया—णिच्च दिया य रत्तिं च संकमाणो नित्य दिवापात्रि शंकामान. न निद्रासुपलभते चौरः । समता-त्येक्षते उद्विग्नहरिण इव ॥

अर्थ—चोरके मनमें दिनरात भय रहता है उसको भयके मारे निद्रा भी आती नहीं वह हमेशा चारों तरफ भययुक्त हरिणके समान देखता रहता है

उंदरकंदपि सह सुच्चा परिवेवमाणसब्बंगो ॥

सहसा समुच्छिदभयो उव्विगो धावदि खलंतो ॥ ८६१ ॥

आकर्ण्य मृपिकस्यापि दाब्बं शंकितमानसः ॥

धावते सर्वतः सद्यः स्वलन्स्वमरणाकुलः ॥ ८८० ॥

विजयोदया—उंदरकंदपि सह मृपकचलनकृतमपि सद्यः श्रुत्वा प्रस्फुरत्सर्वगात्र । सहस्रोत्थमयोद्विभो धावति । स्वलन्पदे पद ॥

अर्थ—भागते हुए मृपकका अर्थात् चूहेका ध्वनि सुनकर चोर भीतीमें थरथर कांपने लगता है और डरकर दौड़ने लगता है, दौड़ते समय गड़गड़ीसे गिरजाता है

धासिं पि संजमंतो घेत्तूण किलिदमेत्तमविदिणं ॥

होदि हु तणं व लहुओ अप्पच्चइओ य चोरोब्ब ॥ ८७० ॥

अदत्ते तुणमात्रेऽपि गृहीते संयतोऽपि ना ॥

अप्रत्येयो यथा स्तेनस्तृणतो जायते लघुः ॥ ८८१ ॥

विजयोदया—धासिं पि संजमंतो तित्तमपि सयम कुर्वन् । अदत्तं तुणमात्रमपि गृहीत्वा तुणवल्लघुर्भवति, अप्रत्ययितश्चौर इव ॥

अर्थ—महान् समय धारण करके भी साधु न दिया हुआ तुणमात्र भी ग्रहण करके चोरके समान अवि-  
श्वासी बन जाता है और तिनके के समान हलका हो जाता है

परलोगस्मि य चोरो करेदि णिरयस्मि अप्पणो वसदि ॥

तिव्वाओ वेदणाओ अणुभवहिदि तत्थ सुचिरं पि ॥ ८७१ ॥

विधाय पुरुषः स्तेयं नारकीं वसतिं गतः ॥

सहते वेदनास्तत्र चिरकालं सुदुःसहाः ॥ ८८२ ॥

विजयोदया—परलोकमग्निं यः चोरो करोति परलोकं चौरः करोत्यात्मनो नरके वसति । कीदृग्भूतो यत्र नरकेषु सुचिरं दीर्घकालं पच्यमानः, तीव्रवेदना अनुभवति ॥

अर्थ—चोरीके पापसे मरकर चोर नरकमें जाता है, उत्पन्न होता है और दीर्घ कालतक पचता हुआ तीव्र वेदनाओंका अनुभव करता है

तिरियगदीए वि तहा चोरो पाउणदि तिब्बदुक्खाणि ॥

पाएण गीयजोणीसु चेव संसरइ सुचिरंपि ॥ ८७२ ॥

लभते दारुणं दुःखं स्तेनस्तिर्यग्गतावपि ॥

प्राप्नोति प्रायशः पापे योगे नीचामसौ चिरम् ॥ ८८३ ॥

विजयोदया—तिरियगदीए वि तहा तिर्थगतावपि चौरः प्राप्नोति तीव्राणि दुःखानि । प्रायेण नीचयोगिन्नेव संसरति सुचिरमपि ॥

अर्थ—चौर पापकर्मसे पशुगति में जन्म लेकर तीव्र दुःखोंका दीर्घ कालतक अनुभव लेता हुआ प्रमण करता है और प्रायः नीच पशुओंमें—अर्थात् कुत्ता, सुगर, गधा इत्यादिकोंमें तथा विकलव्रयादिक योगियोंमें प्रमण करता है.

माणुसभवे वि अत्था हिदा व अहिदा व तस्स णस्संति ॥

ण य से धणमुवचीयदि सयं च ओलट्टदि घणादो ॥ ८७३ ॥

नृत्वेऽहृता हुता चार्थः पलायंतेऽखिलाः स्वयम् ॥

न चीर्यन्ते प्रयत्नेऽपि स्वयं यास्यति वा ततः ॥ ८८४ ॥

विजयोदया—माणुसभवे वि मनुष्यभवेऽपि तस्य अर्थो नश्यन्ति हृता वा अहृता वा । न चोपयति संचयं धनं, तस्य उपचितेऽपि धने स्वयं तस्मादपयति घनात् ॥

अर्थ—मनुष्यभवंमें भी वह चोर जन्म लेनेपर उसका धन पूर्व पापकर्मके उदयसे हरा जाता है, अथवा वह दरिद्री हो जाता है- कितना भी प्रयत्न करनेसे उसके पास धनसंचित होताही नहीं। अथवा धन संचित होने-परभी वह स्वयं उससे दूर चला जाता है अर्थात् अन्तराय कर्मके उपार्जनसे वह धनका उपभोग ले नहीं सकता.

परदव्यहरणबुद्धी सिरिभूदी णयरमज्झयारम्मि ॥

होदूण हदो पहदो पत्तो सो दीहसंसारं ॥ ८७४ ॥

श्रीभूतिर्महती प्राप्य पुरमध्ये विडम्बनाम् ॥

परद्रव्यरतो दीनः प्रपेदे दीर्घसंसृतिम् ॥ ८८५ ॥

विजयोदया—परदव्यहरणबुद्धी परद्रव्यहरणबुद्धि, सिरिभूदी श्रीभूतिर्नगरमध्ये ताडितः प्रहतश्च भूत्वा दीर्घसंसारं प्राप् ॥

अर्थ—परद्रव्य हरणमें जिसकी बुद्धि प्रवीण थी ऐसा श्रीभूति नामका ब्राह्मण जो कि राजाका पुरोहित था वह नगरमें पीटा गया और मारा गया इस चोरीके दोषसे उसने दीर्घ कालतक संसारमें भ्रमण किया

अदत्तादानदोषानुपदस्य दत्त योग्यं गृह्णेति व्याचष्टे—

एदे सव्वे दोसा ण होति परदव्यहरणविरदस्स ॥

तत्त्विवरीदा य गुणा होति सदा दत्तभोइस्स ॥ ८७५ ॥

देविंदरायगहवइदेवदसाहम्मि उग्गहं तमहा ॥

उग्गहविहिणा दिण्णं गेण्हसु सामणसाहणयं ॥ ८७६ ॥

एते दोषा न जायंते परद्रव्यविवर्जने ॥

तद्विपक्षा गुणाः सन्ति सुंदरा दत्तभोजिनः ॥ ८८६ ॥

इंद्रराजगृहस्वामिदेवतासमधर्मिभिः ॥

वितीर्णं विधिना ग्राह्यं रत्नत्रितयवर्धकम् ॥ ८८७ ॥

विमुञ्चते यः परवित्तमंजसा निरीक्ष्यमाणं सदृशं मुदा सदा ॥

अनन्यसाधारणश्रुतिभूषितः स याति निर्वाणमपास्तकल्मषः ॥ ८८८ ॥

इति अस्तेयम् ॥

विजयोदया—देविवराजगृह्यद् देवेंद्राणां, राज्ञां, गृह्यपतीनां, राष्ट्रकूटानां, देवतानां, सधर्मणां च परिग्रहं । उग्राहविहिता अवग्रहविधिना । दिणं वृत्त । निणहसु गृहाण । सामण्यसाहण्य श्रामण्यसाधन ज्ञानसयमस्य वा साधनं । अदत्ते ॥

आचार्यने अदत्तादानके-चोरीके दोष दिखाये अब योग्य दी हुई वस्तुका तू ग्रहण कर ऐसा क्षपकको उपदेश करते हैं

अर्थ—उपर्युक्त दोष चोरीका जिसने त्याग किया है ऐसे महापुरुषमें नहीं रहते हैं परतु उस महापुरुषमें उपर्युक्त दोषोंके विरुद्ध गुण उत्पन्न होते हैं दिया हुआ पदार्थका उपभोग लेनेवाले उस महा पुरुषमें अच्छे अच्छे गुण प्रकट होते हैं.

देवेंद्र, राजा, गृहस्थ, राजाधिकारी, देवता और साधर्मिक साधु इन्होंने योग्य विधिसे दिया हुआ, मुनिपनाकी सिद्धि करनेवाला, जिससे ज्ञानकी सिद्धि होगी और संयमकी वृद्धि होगी ऐसा पदार्थ हे क्षपक तू ग्रहण कर आचार्य महाव्रतका वर्णन पूर्ण हुआ

चतुर्थं व्रत निरूपयति—

रमखाहि बंभचेरं अब्जंभे दसविधं तु वज्जित्ता ॥

णिच्चं पि अप्पमत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥ ८७७ ॥

अब्रह्म दशधा लयक्त्वा रामावैराग्यपंचके ॥

निवेदय मानसं पाहि ब्रह्मचर्यमनारतम् ॥ ८८९ ॥

विजयोदया—रमखाहि वंभचेरं पालय ब्रह्मचर्यं । अब्रह्म दशप्रकारमपि वर्जयित्वा नित्यमप्रमत्त पंचविध स्त्रीवैराग्ये ॥



अर्थ—हे क्षपक ! तू दूस प्रकारके अब्रह्मोंका त्याग कर, ब्रह्मचर्यका आचरण कर हमेशा ब्रह्मचर्यके पालन में सावधान रहना चाहिये और पाँच प्रकारके छविराग्यमें हे क्षपक ! तुम तत्पर रहो

आश्वासः

ब्रह्मचर्य पालयेत्युक्तं तदेव न क्षायते इत्यारेकायां तद्व्याचष्टे—

जीवो बंभा जीवस्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो ॥

तं जाण बंभचें विमुक्कपरदेहतिचिस्स ॥ ८७८ ॥

निरस्तांगांगरागस्य स्वदेहेऽपि विरागिणः ॥

जीवे ब्रह्मणि या चर्या ब्रह्मचर्यं तदीर्यते ॥ ८९० ॥

विजयोदया—जीवो वभा ब्रह्मशब्देन जीवो भण्यते । दानदर्शनादिरूपेण वर्धते इति वा । यावह्लोकाकाशं वर्धते लोकपूरणाख्यायां नितयां इति वा । जीवस्मि चेव ब्रह्मण्येव चर्या । जीवस्वरूपमनतपर्यायात्मकं एवं निरूपयतो वृत्तिर्या । तं जाण जानीहि । बभचरिय ब्रह्मचर्यं । विमुक्तपरदेहतिचिस्स विमुक्तपरदेहव्यापारस्य ॥

मूलारा—

या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धयुद्धेऽर्थ्या परद्रव्यमुचः प्रवृत्तिः ।

तद्ब्रह्मचर्यं ब्रतसर्वभौमं ये पाति ते याति पर प्रमोदम् ॥

ब्रह्मचर्यका रक्षण कर ऐसा आपने कहा परन्तु ब्रह्मचर्य का स्वरूप क्या है ? ऐसी ज्ञानका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—ब्रह्मचर्य इस सामासिक शब्दमें जो ब्रह्म शब्द है उसका अर्थ जीव ऐसा होता है, अथवा बृहद् धातूका अर्थ वृद्धिगत होना बढना ऐसा है इस बृहद् धातूसे ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है ज्ञान और दर्शन रूपसे जो वृद्धिगत होता है उसको ब्रह्म कहते हैं जीव इन गुणोंसे वृद्धिगत होता है इस वास्ते इसको ब्रह्म कहते हैं अथवा लोकपूरण समुद्रातमें यह आत्मा संपूर्ण लोकाकाशमें अपने प्रदेश पसार कर बढता है इस लिये जीवको ब्रह्म कह सकते हैं इस जीवका स्वरूप अनंत पर्यायात्मक है ऐसा समझकर उसके स्वरूपमें जो रमागण होने की क्रिया उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं इतरोके शरीरमें प्रवृत्ति करना अर्थात् उसके देहको आलिंगन करना वगैरे क्रियाओंसे जो विरक्त हुआ है वह मुनि अपने आत्माके स्वरूपका—उसके ज्ञान, दर्शन चारित्र वगैरे शुद्ध गुणोंका विचार कर उसमें ही तृप्त होता है इसलिये ऐसे मुनिका ब्रह्मचर्य विशुद्ध होता है

मनसा वचसा शरीरेण परशरीरगोचरव्यापारातिशयं त्यक्तवत् दशविधाब्रह्मत्यागात् दशविध ब्रह्मचर्यं भवतीति वक्तुं कामो ब्रह्मभेदमाचष्टे—

इच्छिविसयाभिलासो वच्छिविमोक्त्वो य पणिदरसरोवा ॥

संसत्तद्वत्सेवा तर्दिदियालोयणं चेव ॥ ८७९ ॥

विजयोदया—इत्थिविसयाभिलासो खोसंवधिनो ये इद्वियाणा विपयास्तासा रूप, तवीयोऽधररस, तासा वक्तृप्रभवो गद्य, तासा फल गीत, ह्रासो, मधुरं च च सुदुस्पर्शश्च तत्र अभिलाप । आत्म स्वरूपपरिज्ञानपरिणतिलक्षण ब्रह्मचर्यं वहतीति, आत्मा ब्रह्म ततोऽन्यो चामलोचनाशरीरगतो रूपादिपर्याय. सोऽत्र भण्यतेऽब्रह्मशब्देन तत्र चर्या नामाभिलापरिणति । चत्थिविमोक्त्वो मेहनविकारातिवर्णन । पणिदरससेवा वृण्या-ह्वाररससेवना । संसत्तद्वत्सेवा स्त्रीभिः संसक्ताना समद्वाना शय्यादीना सेना तद्वत्स्पर्शवदेव कामिना तनुभ्रातृद्वय-स्पर्शोऽपि प्रीति जनयति । तर्दिदियालोयणं चेव तासा वरागावलोकनं च ॥

किं तद्दशविध ब्रह्म यत्परित्यागात्तद्विलक्षणं दशप्रकारं ब्रह्मचर्यं भवतीति जिज्ञासायामब्रह्मभेदाद्वदश गाथाह-येन निर्दिशति—

मूला—इत्थिविसयाभिलासो लीणा सवंधिनो ये विपया इद्वियाणा गोचराः सुन्दर रूप, तदधररस स्तत्सुरभिसुगन्धभितादिगन्धस्तत्कलंगीतहसितमधुरसमन्मनवनतल्लुचावित्पशंश्चैषु अभिलापो ब्रहीतुमौत्सुक्य । चत्थिवि-मोक्त्यो लिंगविकारकरणं । पणिदरससेवा वृष्यव्यथरसोपयोगः । संसत्तद्वत्सेवा स्त्रीसेवितशय्याव्यापानुपभोगः कामिनी-तनुस्पर्शवत्कामिना तत्संपृक्तद्वयस्पर्शोऽपि हि प्रीतिमुत्पादयति । तर्दिदियालोयणं स्त्रीवरागनिरीक्षणं ॥

मनसे, वचनेसे और शरीरसे परशरीरके साथ जिसमें प्रवृत्ति करना छोड़ दिया है ऐसा मुनि दश प्रका-रके अब्रह्मका त्याग करता है तब वह दश प्रकारके ब्रह्मचर्योंका पालन कर सकता है. ग्रथकार अब्रह्मके दस प्रका-रोंका वर्णन करता है—

अर्थ—स्त्रीमन्वधी जो इद्रियोंका विषय है उनकी अभिलाषा करना अर्थात् उनका सौंदर्य, उनका अधर रस, उनके मुखका गद्य, उनका मनोहर गायन, हंसना और मधुर भाषण, तथा उनके शरीरका मृदुस्पर्श इनकी अभिलाषा करना यह अब्रह्म है आत्माके शुद्ध स्वरूपको जानकर उसमें परिणति करना अर्थात् प्रवृत्ति करना ब्रह्मचर्य है इस ब्रह्मचर्य को धारण करनेवाले आत्माको ब्रह्म कहते हैं इस ब्रह्मसे विरुद्ध जो स्त्रीके शरीरके रूपादि

पर्याय उनको अन्नह्न कहते हैं ऐसे अन्नह्नमें चर्या करना अर्थात् अभिलाषा करना यह अन्नह्नचर्य है

२ बाल्थिविमोक्त्वो—अपने इंद्रियमें विकार होना, अर्थात् अपने लिंगमें विकार होना वह स्थिर और दृढ होना.

३ वृध्यरससेवा—जिससे शरीरमें बल बढ़ेगा, वीर्यवृद्धि होगी, ऐसा आहार और ऐसे रसोंका सेवन करना.

४ संसक्तद्रव्यसेवा—स्त्रियोंके शय्या वगैरह पदार्थोंका सेवन करना—उपभोग लेना. स्त्रीके शरीरका स्पर्श

जैसे कामियोंको प्रीति उत्पन्न करता है वैसे उनके शय्यादिक पदार्थों का स्पर्श भी कामियोंको हर्ष उत्पन्न करता है.

५ तर्दिन्द्रियालोचन—स्त्रियोंके सुंदर अंगोंका अवलोकन करना

सत्कारो संकारो अदीदुसुमरणमणागदभिलासे ॥

इष्टविसयसेवा वि य अब्धं दसविहं एदं ॥ ८८० ॥

गद्य—स्त्रीरूपाद्यभिलाषवस्तिमोक्षणघृष्ट्याहारसेवनतत्संस्तुद्रव्याजुरागतद्वारांगनिरीक्षणसत्कारसंस्कारादरतातीतरतस्मरणानागताभिलषणष्टविषयनिषेचणस्वरूपं दशविधमन्नस्य मंतव्यम् ॥ ८९१ ॥

विजयोदया—सत्कारो सत्कार. सम्यातना । स व ततुरागप्रवर्तित' । संकारो संस्कारः तात्ता वज्रमाल्यादिभिः । अदीदुसुमरणं अतीतकालवृत्तिरतिक्रीडास्मरणं । आणगदभिलासा भविष्यति काले एवं ताभिः क्रीडां करिष्यामि इति रस्यभिलाषः । इष्टविसयसेवा वि य इष्टवियसेवापि च । अब्धं दसविधं एदं अन्नह्न दशप्रकारमन्नह्नैतत् । अधीणरागस्य परद्रव्योपयोगाद्रागोद्वेगौ भवतः । तेन सद्युत्स्योपयोग', परद्रव्यालंबन, ज्ञानश्रद्धानमिति चीतरागतादिषु चरणं ब्रह्मचर्यं ततोऽन्यदिदं दशविधमन्नमन्हेति निरूपितं ॥

मूलारा—सत्कारो पूजा । सम्माणो वरांगवराभरणलुपचारः । अदीदुसुमरणं अतीतकालवृत्तिसंभोगस्मरण । अणागदभिलासो भविष्यति काले ताभिः सहैव क्रीडिष्यामीत्येवमादिमनोरथः । इष्टविसयसेवा मनोवाञ्छितसौधोद्यानाद्युपयोगः ॥ तथा चाबोचाम्, धर्मोभूते—

मा रूपादिरसं पिपास सुदृशा मा वस्तिमोक्ष कृथाः ॥

वृष्यं श्रीशयनाविकं च भज मा मा दा वरागे दृशं ॥

मा कीं सत्कुरु मा च सत्कुरु रतं वृत्तं स्मर स्मार्ये मा ॥  
वर्त्यन्मेच्छ जुपस्व मेष्टविपयान् द्विःपंचधा ब्रह्मणे ॥

वशविधमयब्रह्म सुसुलुणान्यतापकारत्वात्त्याज्यमित्युपदेष्टुं तद्दोषानाह—

अर्थ—सत्कार-स्त्रियोंका सत्कार करना, सम्मानो—उनके देहपर प्रेम रखकर वस्त्र, माला वगैरह पदार्थों-से उनका सत्कार करना उनको अलकारादिक पदार्थ अर्पण करना

अतीतस्मरण—भूतकालमें किये हुए रतिक्रीडाओंका स्मरण करना अनागताभिलाष—भविष्यत्कालमें उनके साथ ऐसी २ रतिक्रीडा करूंगा ऐसी अभिलाषा मनमें करना,

इष्टविषयसेवा—मनोवांछित सौच, उद्यान वगैरहका उपयोग करना, जिसके रागभाव प्रबल है ऐसे पुरुष के परद्रव्यके सेवनसे रागद्वेष प्रबल होते हैं, ज्ञान, श्रद्धान, और वीतरागता इत्यादिकोंमें प्रवृत्ति करना ब्रह्मचर्य है इससे विरुद्ध अब्रह्मके दशप्रकार कहे हैं

एवं विसंगिमूदं अव्यंभं दसविहंपि जादब्बं ॥

आवादे मधुरम्मिव होदि विवागे य कडुयदरं ॥ ८८१ ॥

आपाते मधुरं रम्यमथह्य दशधाप्यदः ॥

विपाके कटुक श्रेयं किंपाकमिव सर्वदा ॥ ८९२ ॥

विजयोदया—एवं विसंगिमूदं विपात्रिना सदृशं एतदब्रह्म दशप्रकारं ज्ञातव्य । आपाते मधुरमिव भवति विपाके तु कटुकतमं ॥

मूलाराधना—विसंगिमूदं विपवदधिवच्च संतापमोहमूर्च्छामरणादिकरणात् । आवादे आपाते सेवोपक्रमे । विवागे विपाके विरमणक्षणे । कडुयदरं अत्यंतदुस्त्यजत्वादतिकष्टम् ॥

अर्थ—यह दश प्रकारका अब्रह्म विप और अधिके समान है ऐसा समझना चाहिए. यह अब्रह्म श्रारम्भ में बड़ा मिष्ट मालुम होता है परन्तु अन्तमें अत्यंत कष्टवा है.

स्त्रीविषयो रागोऽग्रह स च तद्यतिपक्षभूतवैराग्येन नाशयितुं शक्यते इति मत्वा वैराग्योपायकथनायाचष्टे—  
कामकदा इत्थिकदा दोसा असुचित्तबुद्धसेवा य ॥

संसर्गदीप्ता वि य करंति इत्थीसु वेरगं ॥ ८८२ ॥

दोषाः कामस्य नारीणामाशौचं बृद्धसगतिः ॥

संगदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीवैराग्यं तपस्विनः ॥ ८९३ ॥

विजयोद्देश—कामकदा इत्थिकदा कामकृता. स्त्रीकृताश्च दोषाः । अशुचित्य, बृद्धसेवा, संसर्गदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीषु वैराग्यं ॥

स्त्रीविषयरागलक्षणमत्रह्य स्त्रीवैराग्यात्मकतत्प्रतिपक्षभावनावष्टभान्निष्ठापयितुं शक्यते इति स्त्रीवैराग्योपायपंचक-  
मुत्तरत्र प्रबंधेन प्रपंचयितुमादौ तदुद्दिशति—

मूलार०—कामकदा कंदर्पेण निर्मिताः । दोसा अपराधाः । पुसोऽपकारा इत्यर्थः । असुचित्त अमेध्यत्व  
देहस्य । बुद्धसेवा शीलबृद्धानामुपासना । संसर्गदीप्ता स्त्रीसागत्यकृतापकाराः । एते पंचतये भाव्यमानाः स्त्रीषु वैराग्यं  
जनयन्ति । श्लोकः—

कामांगनागनासंगदोषाश्चानि भावयन् ॥

कृतायसंगतिः स्त्रीषु विरक्तो ब्रह्म बृंहय ॥

एवमुपक्षेपनाथाः पट् ॥

स्त्रीविषयके रागभावको अत्रह्य कहते हैं वह इसके प्रतिपक्षभूत वैराग्यसे नष्ट होता है ऐसा समझकर  
वैराग्यके उपायोंका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—कामदोष, स्त्रीकृत दोष, शरीरकी अपवित्रता, बुद्धोकी सेवा, और संसर्गदोष इन पांच कार-  
णोंसे स्त्रियोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है

कामकृतदोषनिरूपणा उत्तरेण प्रबंधेन क्रियते—

जावइया किर दोसा इहपरलोए दुहावहा होति ॥

सब्बे वि आवहदि ते मेहुणसण्णा मणुस्सस्स ॥ ८८३ ॥

हृश्यते भुवने दोषा यावन्तो दुःखदायिनः ॥

पुरुषस्य क्रियन्ते ते सर्वे मैथुनसजया ॥ ८९४ ॥

विजयोदया—जावदिया फिर दोसा इत्यादिना यावत. किल जन्मद्वये। दुहावद्धा दु सावद्धा भवति दोषा हिंसादयस्तान्सर्वानपि आवहति मैथुनसक्षा मनुष्यस्य ॥

कामदोषान्गार्थार्पचाक्षतोत्तग्रबंधेन व्याचिरव्यासुगदौ तत्सामान्यसंग्रहाथामाह—

मूलरा०—दोसा हिंसादयः। आवहति करोति। मेढुणसण्णा योन्यादौ रंमुमिच्छा काम इति यावत् ॥

कामकृत दोषाका वर्णन आचार्य विस्तारसे करते हैं—

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें जितने दुःख देनेवाले हिंसादिक दोष उत्पन्न होते हैं वे सब काम सज्ञासे अर्थात् मैथुन की इच्छासे उत्पन्न होते हैं,

सोयदि विलपदि परितप्पदी य कामादुरो विसीयदि य ॥

रत्तिदिया य णिहं ण लहदि पड्झादि विमणो य ॥ ८८४ ॥

ध्यायति शोचति सोदति रोदिति, चल्गति आम्यति नृत्यति गायति ॥  
ह्लाम्यति माद्यति रुष्यति तुष्यति, जल्पति कामवशो विमना बहु ॥ ९५ ॥  
स्विद्यते स्विद्यते तप्यते सुष्यते, याचते सेवते मोदते धावते ॥

मुंचते गौरवं गाहते लाघवं, किं न मत्तयो विधत्ते मनोजातुरः ॥ ८९६ ॥

विजयोदया—सोयदि विलपदि शोचते, विलपति। परितप्यते। कामादुरो विसीयदि य कामातुरो विपीवति च। नत्तं दिन निद्रा न लभते। पड्झादि विमनस्को भवति ॥

कामाते इदमिदं करोतीति श्रबंधेनाभिधत्ते—

मूलरा०—सोयदि शोकं याति। विलवदि विलापं करोति। विसीयदि विसूरयति। पड्झादि प्रबंधेन स्मर तीष्टस्त्रियं, विस्मरति वा धर्मादिकम् ॥

अर्थ—कामसे पीडित मनुष्य शोक करता है, रोता है, पश्चात्ताप करता है और स्विन्न होता है. उसको

दिनमें और रातमें भी निद्रा आती नहीं है और हमेशा खीका ही चिंतन करता है- और कल्याणकारक धर्मको भूल जाता है

सयणे जणे य सयणासणे य गामे घरे व रणणे वा ॥  
कामपिसायगहिदो ण रमदि य तह भोयणादीसु ॥ ८८५ ॥

आसने शयने स्थाने नगरे भवने वने ॥

स्वजनेऽन्यजने कामी रमते नास्तचेतनः ॥ ८९७ ॥

विजयोदया—सयणे जणे य स्वजने, परजने, शयने, आसने, ग्रामे, गृहे, अरण्ये, भोजनादिक्रियासु च न रमते कामपिशाचगृहीतः ॥

मूलारा०—सयणे स्वजने । जणे परजने ॥

अर्थ—कामादुर मनुष्य, अपने संबंधी जनोमें, अथवा पराधीन लोगोंमें, तिष्ठत हुआ हमेशा खिन्न ही रहता है गाममें, घरमें, अरण्यमें, और भोजनादि क्रियाओंमें भी उसका मन खुश नहीं रहता है उसको हमेशा कामरूपी पिशाच सताता रहता है

कामादुरस्स गच्छदि खणो वि संवच्छरो व पुरिस्सस्स ॥  
सीदंति य अंगाइ होदि अ उक्कंठिओ पुरिसो ॥ ८८६ ॥  
न रात्रौ न दिवा शेते न भुंक्ते न सुप्तायते ॥  
दष्टः कामसुजगेन न जानाति हिताहिते ॥ ८९८ ॥  
कामाकुलितचित्तस्य मुहूर्तो वत्सरायते ॥  
सर्वदोत्कठमानस्य भवनं काननायते ॥ ८९९ ॥

विजयोदया—कामादुरस्स गच्छदि खणो वि कामव्याधितस्य गच्छति क्षणोऽपि । सवरसर इव अंगानि च सीदति । भवत्युत्कंठितश्च पुरुषः ॥

मूलारा०—उत्कंठितो इष्टकामिनीं प्रत्युत्सुकः ।

अर्थ—जो मनुष्य कामपीडित हुआ है उसको एक क्षण भी वर्षके समान भासने लगता है उसके सपूर्ण अंग कुश होते हैं, और वह किसीकी मार्गप्रतीक्षा कर रहा है ऐसा दिखता है अर्थात् उत्कंठितसा दीवता है अर्थात् प्रियस्त्रीकी उत्कंठासे वह व्याकुल होता है

पाणिदलघरिदंगडो ब्रह्मसो चित्तेदि किं पि दीणमुहो ॥

सीदे वि गिवाइज्जइ वेवदि य अकारणे अंग ॥ ८८७ ॥

हस्तन्यस्तकपोलोऽसौ दीनो ध्यायति संततम् ॥

प्रस्विद्यति तुषारेऽपि कंपते कारणं विना ॥ ९०० ॥

विजयोदया—पाणिदलघरिदंगडो पाणितलघृतगंड', यहूसो चित्तेदि गडुशार्थिता करोति । किमपि दीनमुख. ॥ शीतेऽपि स्विद्यते । वेपते च अंग कारणमन्यदतरेण ।

मूलारा—पाणिदलघरिदंगडो हस्ततलन्यस्तकपोलः । गिवाइज्जदि प्रस्विद्यति ॥

अर्थ—कामरूपी रोगसे पीडित हुआ मनुष्य अपना गाल हाथके ऊपर रखकर दीनमुखसे अतिशय चिंतायुक्त होता है इस चिंतासे ठंडीके दिनमें भी उसके सर्व अवयव खेदसे गीले होते हैं और उसके अवयव विना कारणके थर थर कांपने लगते हैं भीति अथवा ठंडी यह अवयव रूपके लिए कारण है. परंतु इनके विना भी इसके अवयव कपने लगते हैं

कामुम्मत्तो संतो अंतो डज्झदि य कामचिंताए ॥

पीदो व कलकलो सो रदग्गिजाले जलंतम्मि ॥ ८८८ ॥

अरत्थग्गिशिखाजालैज्ज्वलद्गिरनिवारितैः ॥

सोन्तर्विदद्यते पीतैस्तस्माद्रद्रवैरिव ॥ ९०१ ॥

विजयोदया—कामुम्मत्तो कामोन्मत्त. । कामचिंतया चिरं दह्यते । पीतद्राद्रव इव । अरत्थग्गेश्चालासु ज्वलंतीषु ॥



मूलारा—सतो सन् । कललये अग्नितप्तताग्रादिद्रवे । अरत्यग्निजाले पीताग्नितप्तताम्रद्रव इवान्तर्ज्वलति सति कामर्चिताभिर्विशिष्टः सन् कामग्रहाविष्टः पुरुषः परितप्यते । इति पदघटना ॥ उक्तं च—

कामोन्मत्तो भवन्निर्घृते चिंताभिर्देह्यते नरः ॥

अरत्यग्नौ ज्वलयुच्चैस्तप्तताम्रद्रवो यथा ॥

मूलारा—वयणपट्टिवत्तिकुसलत्तणं वचनप्रतिपत्तिवाक्पाटव । कुशलत्वमर्थनैपुणं वचनप्रतिपत्तौ वागुपन्यासे प्रावीण्यं वा । सत्थप्पहदा शाक्कुण्णा । तिक्खा तीक्ष्णा ॥

अर्थ—कामवेदनासे मनुष्य उन्मत्त होकर चिंतासे दग्ध होता है जैसे अग्निसि तपाहुआ तांवेका गोला जलता है वैसा यह कामीपुरुष कामचिंतासे अतिरूप अग्नौ होमया जलता है

कामादुरो णरो पुण कामिज्जंते जणे हु अलहंतो ॥  
धत्तदि मरिंदु बहुधा मरुप्पवादादिकरणेहिं ॥ ८८९ ॥  
संदायते मतिर्याति सद्यो वचनकौशलं ॥  
मदनेन ज्वरेणैव बाधितस्य वितापिना ॥ ९०२ ॥  
काम्यमानं जनं कामी यदा न लभते कुधीः ॥  
मुसूर्वति तदोद्विग्नो नगप्रपतनादिभि ॥ ९०३ ॥

विजयोदया—कामादुरो कामादुरो नर । कामिलपिते जने अलभ्यमाने चेष्टते बहुधा मर्तु । पर्वतोद्विधिनिपातेन तदास्त्रावलंबनेन, अग्निप्रवेशादिना वा ॥

मल्ल ग—यत्तत्ति चेष्टते । गवेषयति वा । मरुप्पवादादिकरणेहिं गिरिप्रपातानुपत्ये । उक्तं च—

काम्यमान जन कामी यदा न लभते कुधीः ॥

मुसूर्पति तदोद्विग्नो नगप्रपतनादिभिः ॥

—कामादुर मनुष्यको अपना मिय मनुष्य न मिलनेसे अर्थात् उसको इष्ट स्त्री की प्राप्ति न होनेसे

वह पर्वतपरसे गिरकर मरनेकी इच्छा करता है समुद्रमें प्रवेश कर प्राण देना चाहता है झाडकी शाखामें फाँसी लगाकर मरना चाहता है और अग्निप्रवेशादिक से प्राणत्याग करनेकी इच्छा करता है

संकल्पं डयजादेण रागदोसचलजमलजीहेण ॥

विसयविलवासिणा रदिमुहेण चिंतादिरोसेण ॥ ८९० ॥

सकल्पांडकजातेन विषयच्छिद्रवासिना ॥

रागद्वेषद्विजिह्वेन दृढचिंतामहाकुथा ॥ ९०४ ॥

विजयोदया—सहृदयजादेण सकल्पांडमसूतेन । रागद्वेषचलजमलजिह्वेन । विषयविलवासिना रतिमुयेन चिंतातिरोपेण ॥

मूलारा—सकल्प इष्टागनादर्शनात्ता प्रत्युत्कंठागर्भाध्यवसायः । जमल द्वय । चिंतादिरोसेण इष्टागनागुणसमर्थन तदोपपरिहरणार्थविचारात्माचितनातिक्रोधेन ॥

अर्थ—यह कामरूपी सर्प सकल्प रूपी अंडसे उत्पन्न होता है १. राग और द्वेष ऐसी दो जिह्वा उसको है यह विषयरूपी विलमें रहता है विषयासक्ति ही इसका मुख है. और यह चिंतारूप रोपसे युक्त है.

कामसुजगेण दट्ठा लज्जाणिस्मोगदप्पदाहेण ॥

णासंति णरा अवसा अणयदुक्खावहविसेण ॥ ८९१ ॥

दट्टकामसुजगेण लज्जानिमोक्कमोचिना ॥

दर्पदंष्ट्राकरालेन रतिवक्त्रेण नश्यति ॥ ९०५ ॥

विजयोदया—कामसुजगेण कामसर्पेण । लज्जात्वक्निर्माणचनकारिणा, दर्पदंष्ट्रेण दट्ठा अनेकदुःखावह विषेण नरा नश्यन्ति ॥

मूलारा—लज्जाणिस्मोग लज्जिव निर्मोकः कंचुको यस्या मोच्यत्वात् । लज्जानिमोक्कमोचिनेत्यर्थः । अणेगदुक्ख-  
प्पाविसेण अनेकदुःसात्मकविषेण ॥

अर्थ—यह कामरूपी सर्प लज्जारूप कांचलीका त्याग करता है उन्मत्तत्वरूप दाढसे यह महामयंकर दीखता है ऐसा यह सर्प जब दंश करता है तब अनेक दुःखरूपी विष मनुष्य व्याप्त होकर नष्ट होते हैं.

आश्वासः

६

१०००

आसीविसेण अवरुद्धस्स वि वेगा हवंति सत्तेव ॥

दस होति पुणो वेगा काममुअंगावरुद्धस्स ॥ ८९२ ॥

आसीविषेण दष्टस्य सप्तवेगाः शरीरिणः ॥

दष्टस्य स्मरसर्पेण जायते दश दुःसहाः ॥ ९०६ ॥

विजयोदया—आसीविसेण आसीविषेण सर्पाग्रण्या दष्टागपि सप्तैव वेगा भवन्ति । काममुअंजेन दष्टस्य दशवेगा भवन्ति ।

मूलारा—आसीविसेण सर्पाग्रण्या । अवरुद्धस्स दष्टस्य । वेगा विप्रेकाः । सप्तैव ॥ तथा—

पूर्वे दर्वीकृता वेगे दुष्टं श्याबीभवत्यसृक् ॥

श्यावता नेत्रवक्त्रादौ सर्पन्तीव च कीटकाः ॥

द्वितीये ग्रन्थयो वेगे तृतीये मूर्द्धगौरवं ॥

दृग्गो दशविष्टेद्व्यतुर्ये घ्नीवनं वभिः ॥

संधिविदलेपणं तत्रा पचमे पर्वभेदनम् ॥

दाहो हिध्मा च पष्ठे तु हृत्पीडा गात्रगौरवम् ॥

मूर्च्छाज्विपाकोऽतीसारः प्राण्य शुक्र तु सप्तमे ॥

स्त्वयष्टकटीभंगः सर्वचेष्टानिवर्तनम् ॥

अर्थ—जिसको सर्प दंश करता है उस मनुष्यको सात विषवेग उत्पन्न होते हैं. अर्थात् सर्पके विषसे उस मनुष्यको सात अवस्थायें क्रमसे प्राप्त होती हैं परंतु कामरूपी सर्पके दंशसे मनुष्यको दस अवस्थाओंको भोगना पड़ता है.

पठमे सोयदि वेगे दहं तं इच्छदे विदियवेगे ॥

गिस्ससदि तदियवेगे आरोहदि जरो चउत्थम्मि ॥ ८९३ ॥

शोचति प्रथमे वेगे द्वितीये तां विद्वक्षते ॥

तृतीये निश्वासितुबैज्वरस्तुर्ये प्रवर्तते ॥ ९०७ ॥

विजयोदया—पठमे सोयदि वेगे प्रथमे वेगे शोचति । द्वितीये वेगे स तं द्रष्टुमिच्छति । निःश्वसिति च तृतीये वेगे । आरोहति त्वरन्तुर्ये वेगे ॥

के ते दशवेगा इत्यत्र गाथात्रयमाह—

मूलारः—स्पष्टम् ।

उन दश वेगोंका वर्णन क्रमसे आचार्य करते हैं—

अर्थ—कामवेगकी पहिली अवस्थामें वह कामी पुरुष शोकयुक्त होता है दूसरी अवस्थामें इष्ट स्त्रीको देखनेकी इच्छा करता है तीसरे वेगमें दीर्घ श्वासोच्छ्वास करता है, चौथे वेगमें उसको उबर चढ़ता है-

डुज्झदि पंचमवेगे अंगं छहे ण रोचदे भत्ते ॥

मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होइ अट्टमए ॥ ८९४ ॥

दह्यते पंचमे गात्रं भक्तं षडे न रोचते ॥

प्रयाति सप्तमे मूच्छीमुन्मत्तो जायतेऽष्टमे ॥ ९०८ ॥

विजयोदया—डुज्झदि पंचमवेगे वृक्षते । भक्तानिच पष्ठवेगे । सप्तमवेगे मूच्छति । उन्मत्तो भवत्यष्टमे ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—पांचवे वेगमें उसके अंगमें दाह उत्पन्न होता है छठे वेगमें उसको अनादिकोंमें अरुचि उत्पन्न होती है सातवे वेगमें वह मूर्च्छित होता है आठवे वेगमें उसको उन्मत्तावस्था प्राप्त होती है

णवमे ण किंचि जाणदि दसमे पाणेहिं मुच्चदि मदंधो ॥

संकप्पवसेण पुणो वेगा तिच्चा व मंदा वा ॥ ८९५ ॥

न वोत्ति नवमे किंचिद्वशमे मुच्चतेऽमुभिः ॥

संकल्पतस्ततो वेगास्तीच्चा मंदा भवंति वा ॥ ९०९ ॥

विजयोदया—नवमे नात्मानं वेत्ति । दशमे वेगे प्राणैर्विमुच्यते । मदान्धस्य संकल्पवशेन पुनस्तीच्चा मंदा वा भवन्ति वेगाः ।

मूलारा—मदंधो कामाधः ॥

अर्थ—नववे वेगमें वह अपने को भी जानता नहीं है और दशमें वेगमें वह प्राण छोड़ देता है ये दश-वेग सकल्पकी जैसी तीव्रता अथवा मदता होगी वैसे तीव्र या मंद होते हैं.

जेष्ठामूले जोण्हे सुरो विमले णहम्मि मज्झण्हे ॥

ण डहदि तह जह पुरिसं डहदि विवडुंतउ कामो ॥ ८९६ ॥

ज्येष्ठे सूरः सिते पक्षे मध्याह्ने विमलेऽम्बरे ॥

नरं दहति नो तद्द्वर्धमानो यथा स्मरः ॥ ९१० ॥

विजयोदया—जेष्ठामूले ज्येष्ठमासे शुक्रपक्षे विमले नभसि मध्याह्ने रवि. स न दहति तथा यथा पुरुष दहति प्रवर्द्धमानः कामः ॥

मूलारा—जेष्ठे ज्येष्ठमासे । मूले मूलनक्षत्रे । जोण्हे शुक्लपक्षे । णहम्मि आकाशे ॥

अर्थ—ज्येष्ठमासके शुक्र पक्षमें निरध्र आकाशमें मध्याह्नसमयमें सूर्य भी उतना पुरुषको सतप्त नहीं करता है जितना यह काम सतप्त करता है. अर्थात् ज्येष्ठमासके सूर्यतापसे भी इस कामका ताप प्रचंड और असह्य है

सूरगगी डहदि दिवा रत्तिं च दिया य डहइ कामगगी ॥

सूरस्स अत्थि उच्छागारो कामगिणो णत्थि ॥ ८९७ ॥

दिवसे प्लोषते सूर्यो मनोवासी दिवा निशाम् ॥

अस्ति प्रच्छादनं सूर्ये मनोवासिनि नो पुनः ॥ ९११ ॥

विजयोदया—सूरगी उद्वदि दिया सूर्योर्निवदति दिवा, नक्त दिया दहति कामाग्निः । सूर्यस्याच्छादनकारी छत्रादिकमस्ति न कामाग्ने ॥

मूलारा—उच्छाकारो आच्छादनकारि छत्रादिक ॥

अर्थ—सूर्यरूपी अग्नीका ताप लोकोको दिनमें ही संतप्त करता है. परतु यह कामाग्नि रातमें और दिनमेंभी चोवीस घंटे जीवकों सेवाता है सूर्यसताप छात्रादिकसे दूर कर सकते हैं परंतु इस कामाग्नीको लोक शान्त नहीं कर सकते हैं

विजज्ञायदि सूरगी जलादिगृहिं ण तथा हु कामग्नी ॥

सूरग्नी उहइ तयं अब्भंतरबाहिरं इदरो ॥ ८९८ ॥

वन्निहर्विध्याप्यते नीरैर्मन्मथो न कदाचन ॥

प्रप्लोषते वह्निर्वह्निर्वहिरन्तश्च मन्मथः ॥ ९१२ ॥

विजयोदया—विजज्ञायदि सूरगी विध्यति सूर्यजनितस्तापो जलादिभिर्न तथा जलादिभिः कामाग्निः प्रशाम्यति । सूर्यस्योष्णत्व त्वच दहति । कामाग्निरतर्वहिश्च दहति ।

मूलारा—सूरगी सूर्यजनितस्तापः । तयं त्वचम् ॥

अर्थ—सूर्यरूपी अग्नीका सताप जलादिक शीतोपचारसे दूर कर सकते हैं परंतु कामाग्निको बुझानेके लिये कोई उपाय नहीं है सूर्यकी उष्णता त्वचाको जलाती है परंतु कामाग्नि इस शरीरको और आत्माकोभी जलाती है

जादिकुलं संवासं धम्माणि य बंधवस्मि अगणिता ॥  
कुणदि अकज्जं पुरिसो मेहुणसण्णापसंमूढो ॥ ८९९ ॥

—बंशुं जातिं कुलं धर्मं संवासं मदनातुरः ॥

अवमन्य नरः सर्वं कुरुते कर्म निदितम् ॥ ११३ ॥

विजयोदया—जादिकुलं मादपितृवशं । संवासं सहवसनं । धर्मं नांधवानपि अवगणय्य पुरुषोऽकार्यं करोति मेथुनसंज्ञा मूढः ।

मूलारा—संवासं सहवसतो जनान् भित्तादीन् ॥

अर्थ—कामेच्छासे जब मनुष्य व्याकुल होता है तब आपकी जाति और कुलका विचार नहीं करता है अपने साथीदारोंका अपने धर्मबंधुओंको भी वचन मानता नहीं है अर्थात् वह निर्लज्ज होता है और अकार्य कर बैठता है

कामपिसायगगहिदो हिदमहिदं वा ण अप्पणो मुणदि ॥

होइ पिसायगगहिदो वसदा पुरिसो अणप्पवसो ॥ १०० ॥

पिशाचेनेव कामेन व्याकुलीकृतमानसः ॥

हिताहितं न जानाति निर्विवेकीकृतोऽधमः ॥ ११४ ॥

विजयोदया—कामपिसायगगहिदो कामपिशाचगृहीतः हितमहितं वा न वेत्ति, पिशाचेन गृहीत पुरुष इव सदा अनात्मवशो भवति ।

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—पिशाचग्रस्त मनुष्य जैसा आपमें नहीं रहता है वैसा कामपिशाचके वश हुआ मनुष्य हिताहित जानता नहीं- वह बुद्धिभ्रष्ट होता है

णीचो व णरो बहुगं पि कदं कुलपुत्तओ वि ण गणेदि ॥

कामुम्मत्तो लज्जालुओ वि तह होदि णिच्छुज्जो ॥ १०१ ॥

नोपकारं कुलीनोऽपि कृतघ्न इव मन्यते ॥

लज्जालुरपि निर्लज्जो जायते मदनातुरः ॥ ११५ ॥

विजयोदया—गीचो व गरो नीच इव नरः कृतमपि बहुमुपकारं न गणयति । कुलपुत्रोऽपि सन्कामोन्मत्तो, लज्जावानपि पूर्वं विगतलज्जो भवति ।

मूलारा—गीचो व अकुलीन इव । कुलपुत्रो कुलीनः ॥

अर्थ—नीच मनुष्य सज्जनोने किये हुए उपकारको भूल जाता है वैसे कामपीडित मनुष्य प्रथम लज्जा-वान होता है परन्तु अन्तमें वह लज्जाको तिलांजलि देता है.

कामी सुसंजदण वि रूसदि चोरो व जगगमाणं ॥

पिच्छदि कामगद्यथो हिदं भणते व सत्तु व ॥ ९०२ ॥

स्तेनो वा जागरूकेभ्यः संयतेभ्यः प्रकुप्यति ॥

हितोपवेशिनं कामी द्विषन्तमिव पश्यति ॥ ९१६ ॥

विजयोदया—कामी सुसंजदण वि कामी सुसंयतानामपि रुष्यति । जाग्रतां चोर इव कामग्रस्तः, प्रेक्षते हितं प्रतिपादयतः शत्रुत्वि ॥

मूलारा—कम्मगद्यथो कामग्रस्तः ॥

अर्थ—कामी मनुष्य सयमी मनुष्योपर रूढ़ होता है जैसा चोर जागरण करनेवाले पुरुष पर रूढ़ होता है जो मनुष्य उसको हितका उपदेश करते हैं उसको कामीपुरुष शत्रुके समान गिनता है.

आयरियउवज्झाए कुलंगणसंधस्स होदि पडिणीओ ॥

कामकलिणा हु घट्यो धम्मियभावं पयहिदूणं ॥ ९०३ ॥

सूर्योपाध्यायसंधानां जायते प्रतिकूलिकः ॥

धार्मिकत्वं परित्यज्य प्रेर्यमाणो मनोभुवा ॥ ९१७ ॥

विजयोदया—अयरियउवज्झायग आचार्याणां अध्यापकानां, कुलस्य गुरुशिष्यवर्गस्य, गुरुधर्मभ्रातृशिष्याणां वा । चातुर्वर्ण्यस्य वा सधस्य च भवति प्रतिकूलः कामकलिना ग्रस्तः धार्मिकत्वं विहाय ॥



मूलारा— उवज्जावग अभ्यापकाः । कुल स्वगुरुशिष्यवर्गो । गुरुधर्मप्रातृशिष्यो वा । गण स्वशिष्यवृन्द । संघ चातुर्वर्ण्यम् । पद्धिणीओ प्रतिकूलः । कलि दोषः ॥

अर्थ—कामदोषो व्याप्त हुआ पुरुष आचार्य, उपाध्याय, गुरु और शिष्यवर्ग और अपने सहाध्यायी, चातुर्वर्ण्य और सघके प्रतिकूल होता है.

कामघत्थो पुरिसो तिलोयसारं जहदि सुदलामं ॥

तेलोक्कपूइदं पि य माहपं जहदि विसयंधो ॥ ९०४ ॥

माहात्म्यं भुवनं खयतिं श्रुतलामं च मुंचति ॥

सतृणावज्जया सारं मोहाच्छादितचैतनः ॥ ९१८ ॥

विजयोदया—कामघत्थो कामग्रस्तः । त्रैलोक्यसर्वसारमपि श्रुतलामं जहति । त्रैलोक्येन पूजितमपि माहात्म्यं त्यजति विषयांघः ॥

मूलारा— स्पष्टम् ।

अर्थ—कामग्रस्त मनुष्य त्रैलोक्यमे सर्वोत्कृष्ट और साररूप ऐसे श्रुतज्ञानके लाभको छोड़ता है. त्रैलो-  
क्यसे पूजनीय ऐसा भी अपना माहात्म्य वह कामग्रस्त होकर खो बैठता है.

तह विसयामिसघत्थो तणं व तवचरणंदसणं जहइ ॥

विसयामिसगिद्धस्स हु णत्थि अकायव्वयं किंचि ॥ ९०५ ॥

जीर्णं तृणमिव मुख्यं चतुरग विमुंचतः ॥

नाकृत्यं विद्यते किंचिज्जिघृक्षोर्विषयामिषम् ॥ ९१९ ॥

विजयोदया—तह विसयामिसघत्थो विषयामिपलंपट' । तृणमिव तपश्चरणं दर्शनं च जहति । विषयामि-  
पलंपटस्य नास्त्यकार्यं किंचित् ॥

मूलारा— आमिस आहारः । घत्थो लंपटः ॥

अर्थ—विषयरूपी आहारमें लपट होकर कामी पुरुष रत्नत्रयको तिनकेके समान त्याग देता है तप छोड़ता है उसके लिए अकार्य कुछ भी नहीं है

अरहंतसिद्ध आयरिय उवड्डाय सच्चवग्गणं ॥

कुणदि अवणं णिच्चं कामुम्मत्तो विगयेवो ॥ ९०६ ॥

शुल्लत्तयवर्णवादं यं पूज्यानां परमेष्ठिनाम् ॥

अकूत्तयं कुर्वतस्तस्य मर्यादा कामिनः कुतः ॥ ९२० ॥

विजयोदया—अरहंतसिद्धआयरिय अर्हता, सिद्धाना, आचार्योणा, उपाध्यायाना, सर्वेषा यतीना चार्वर्णवादं करोति नित्य विवृत्तवेप ॥

मूलारा—अवणं अक्रीर्तिं । विगद्वेवो विवृत्तवेप । विनष्टयतिरूप इत्यर्थः ॥

अर्थ—कामी पुरुष अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और सर्व मुनिओंकी सदा निंदा करता है अर्थात् उनमें दोष न होनेपर भी दोषारोपण करता है और यदि स्वयं वह यति होना तो यतिपना छोड़कर अन्य वेप धारण कर यथेष्टाचरण करता है

अयसमणत्थं दुःखं इहलोए दुग्गदा य परलोए ॥

संसारं पि अणतं ण मुणदि विसयामिमे गिद्धो ॥ ९०७ ॥

स दुग्गमयशोऽनर्थं कलमपं द्रविणक्षयम् ॥

संसारसागरेऽनन्ते भ्रमणं च न मन्यते ॥ ९२१ ॥

विजयोदया—अयसमणत्थ अयश अनर्थ । दुःख चेहपरलोकै दुष्टा गतिं, संसारमप्यनन्तं भाविनं न वेत्ति विषयामिमे शुद्ध ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—विषयरूपी आहारमें आसक्त होकर वह कामी अयश, अनर्थ, दुःख, इह परलोकमें अशुभगति,

और अनंत संसारकी वृद्धि इन बातोंको वह जानताही नहीं अर्थात् मैं विषयलपटी वननेसे मेरी चुरी हालत बनेगी मेरेको ससारमें अनंतकालतक दुर्गति धारण कर अपकीर्ति के साथ भ्रमण करना पड़ेगा इन बातोंका वह विचार ही नहीं करता है

आश्वासः

६

णीचं पि विसयहेदुं सेवदि उच्चो वि विसयलुद्धमदी ॥

बहुगं पि य अवमाणं विसयंधो सहइ माणीवि ॥ १०८ ॥

उच्चोऽपि सेवते नीचं विषयासिपकाक्षया ॥

स्मरार्तः सहतेऽवज्ञां मानवानपि मानवः ॥ १२२ ॥

विजयोदया—णीच पि विसयहेदु ज्ञानकुलादिभिरतीव न्यूनमपि सेवते कुलीनो बुद्धिमानपि विषयलुब्धमतिः ।  
परिभवं महातमपि धनिभि क्रियमाण सहते विषयाध ॥

मूलारा—अवमाण धनिभिः क्रियमाणं पराभवं । माणी वि मानवानपि ।

अर्थ—विषयसेवनेक लिए वह उच्चकुलीन और बुद्धिमान होकर भी विषयमें लुब्ध होकर ज्ञान, जाति और कुलादिसे हीन ऐसे नीच पुरुषोंकी सेवा करता है तथा उसका माना स्वभाव होते हुएभी वह विषयांध नीचोंसे किये गये अनेक अपमानोंको, और धनियोंसे किये गये अपमानोंको सहता है

णीचं पि कुणदि कम्मं कुलपुचदुगुंछिय विगदमाणो ॥

वारत्तिओ वि कम्मं अकासि जह लांधियाहेदुं ॥ १०९ ॥

कुलानो निदितं कर्म कुरुते विषयाशया ॥

जिघृक्षुर्नर्तकीं वृत्तं चारित्रं त्यक्तवान् किं ॥ १२३ ॥

विजयोदया—णीच पि कुणदि नीचमपि करोति कर्म उच्छिष्टभोजनादिक कुलीननिदितं विनष्टाभिमानः ।  
वारत्तिनो नाम यत्तिरतिगदितं कर्म कृतवान् यथा कुलीन स्त्रीनिमित्तं ॥

मूलारा—णीचंपि उच्छिष्टभोजनादिक । वारत्तओ वारत्तको नाम यतिः । अकासि अकार्पीत् कृतवान् ।  
लांधियाहेदु नर्तकीनिमित्तम् ॥

अर्थ—कुलीन जिसकी निंदा करते हैं ऐसा कर्म—कृत्य वह विषयी पुरुष अभिमानको तिलांजली देकर करने लगता है उच्छिष्टभोजनादिक कार्य नीच कार्य है ऐसे कार्य वह करता है कुलीन ऐसा वारत्रिक नामक यतिने नाचनेवाली स्त्रीके निमित्त निंदकर्म किये थे यह उदाहरण है.

सूरो तिवखो मुखवो वि होइ वसिओ जणस्स सधणस्स ॥

विसयामिसस्मि गिद्धो माणं रोसं च मोत्तुण ॥ ९१० ॥

कामी शूरोऽपि तीक्ष्णोऽपि मुख्योऽपि भवति स्फुटम् ॥

विगर्व. श्रीमतो वदयो वैद्यस्य गदवानिव ॥ ९१४ ॥

विजयोदया—सूरो तिवखो मुखवो वि होइ सूरस्तीक्ष्णो मुख्योऽपि घनितो जनस्य वशवर्तो भवति । विषयामिलापे लुब्ध. गृह अभिमानं रोप मुक्त्वा ॥

मूलारा—तिवखो मुख्यः, प्रधानः, वसिगो वशवर्तो ॥

अर्थ—विषयामिलापी होकर शूर, निपुण और मुख्य ऐसा भी पुरुष विषयवश होकर मान और रोपको छोड़कर धनिक जैसे नचाते हैं वैसा नाचता है

माणी वि असरिसरसवि चडुयम्मं कुणदि णिच्चमविलज्जो ॥

मादापिदरे दासं वायाए परस कामेतो ॥ ९११ ॥

विघत्ते चाटु नीचस्य कुलीनो मानवानपि ॥

मातरं पितरं वाचा दासं कुर्वन्नपन्नपः ॥ ९२५ ॥

विजयोदया—माणी वि असरिसरस्स वि मानी असदृशस्यापि । चाटुं करोति । वाचा आत्मीया मातरं पितरं वा दास्यमापादयति । तवाह दासो गृहे भवामीति वदनपर कामयमान ॥

मूलारा—असरिसरस्स वि नीचस्यापि । चडुकम्मं चाटुकारपूर्वकं कर्म । पादमर्दनादिकं । अविलज्जो निर्लज्ज सन् । कामेतो कामयमानं कुर्वन् इत्यर्थः । मम माता तव दासी मम पिता तव दास इति कथयन् । उक्त च—

।मानी च कथेति सदा बहुकर्मा लज्जितोऽप्यसदृशस्य ॥

मातापितरौ दासस्य कथयन्ति लोकस्य कामांधः ॥

इमां गायत्रा टीकाकारो तेच्छति ॥

अर्थ—मानी मनुष्य भी हीन जातीय लोगोंकीभी विषयलपट होकर सुशामत करता है उनके पांव दाबना शरीर मर्दन करना वगैरह कार्य करता है और निर्लज्ज होकर मैं दास बनकर तेरी सेवा करूंगा ऐसा कहता है मेरी माता और पिताभी तुमारे दास बनेंगे ऐसा कहता है

ब्रह्मणपडिवचिकुसलत्तणे पि णामइ णररस क्कामिस्स ॥

सत्थप्पहन्व तिव्खा वि मदी मंदा तथा हवदि ॥ ९१२ ॥

विजयोदया—ब्रह्मणपडिवचिकुसलत्तण पि वच्चेने प्रतिपत्तौ च कुशलतापि विनश्यति कामिनो नरस्य । शास्त्रप्रवृत्ता ग्रास्त्रे घटिता अस्मितीक्ष्णपि मति कुविता भवति ॥

अर्थ—कामी मनुष्यका वचन-चातुर्य और उसकी बुद्धीकी चतुरता नष्ट होती है शास्त्रोंका निरूपण करने-वाली अतिशय चातुर्ययुक्त भी उसकी बुद्धि मंद हो जाती है

होदि सचक्खू वि अचक्खुव बधिरो वा वि होइ सुणमाणो ॥

डुडुकरेणुपसत्तो वणहत्थी चेव संमूढो ॥ ९१३ ॥

न पश्यति सनेत्रोपि सभ्रोत्रोऽपि शृणोति न ॥

कामार्त्तः प्रमदाकांक्षी दंतवि हतचेतनः ॥ ९२६ ॥

विजयोदया—होदि सचक्खू वि अचक्खुव चक्षुष्मानपि अचक्षुरिव भवति । पर समीपस्थमपि यतो न पश्यति । वहिरो वा वि होदि बधिरे इव भवति । सुणमाणो शृण्वन्नपि अव्यक्तश्रवणात् । डुडुकरेणुपसत्तो दुष्टकारिणीप्रसक्तः । वणहत्थी चेव वनहत्तीव । समूढ ॥

मूलारा—अचक्खुव अथ इव समीपस्थमपि यतो न पश्यति । सुणमाणो शृण्वन्नपि । बधिरे इव भवत्यव्यक्त श्रवणात् । वणहत्थी चेव वनगज इव ॥

अर्थ—वह कामी मनुष्य नेत्रयुक्त होकर भी अंधके समान होता है अपने पासकी भी वस्तुको वह देखता नहीं सुनकर भी बहिरेके समान अनसुनी कर देता है जैसे वनका उन्मत्त हाथी दुष्ट हाथिनीके वश होकर मूढ़ बन कर कुछ सुनता नहीं कुछ देखता नहीं वैसी ही कामी पुरुषकी स्थिति होती है, वे हितकी बातें सुनना नहीं चाहते हैं, और हितकर जिनमूर्ति, मुनि वगैरोंको दर्शन करना नहीं चाहते हैं

सलिलणिबुढोव्व णरो बुञ्जतो विगयचेयणो होदि ॥

दक्खो वि होइ मंदो विसयपिसाओवहदच्चित्तो ॥ ११४ ॥

सलिलेनेव कामेन सद्यो जाड्यविधायिना ॥

दक्षो पि जायते मंदो नीयमानः समंततः ॥ ११७ ॥

विजयोदया—सलिलणिबुढो बुञ्जतो णरोव्व सलिलनिमग्न प्रवाहेणोह्यमानो नरो यथा । विगयचेयणो विगत-चैतन्यो भवति । दक्खो वि होदि मंदो दक्षोऽपि सर्वकार्येषु प्रवीणोऽपि जडो भवति । विसयपिसाओव्वहदच्चित्तो विषयपिशाचोपहतचित्तः । विषया रूपादयश्चेत्तोविभ्रमहेतुत्वात्पिशाचा इवेति विषयाः । पिशाचा इत्युक्ताः ॥

मूलारा—बुञ्जंतो प्रवाहेणोह्यमानः । दक्खो सर्वकार्येषु प्रवीणः । विसयपिसावोवहदच्चित्तो विषया रूपादयः पिशाच इव चेतोविभ्रमहेतुत्वात् । तदुपद्रुतमनाः ॥

अर्थ—जैसे पानीके प्रवाहमें डूबा हुआ और बहता जा रहा है ऐसा मनुष्य चेतनारहित अर्थात् मूर्छित होता है, वैसे पांचों इन्द्रियोंके विषयरूपी पिशाचसे ग्रस्त हुआ मनुष्य यदि कार्य कुशल हो तो भी वह मद बुद्धि होता है, अर्थात् रूपादि पदार्थोंमें ही उसकी बुद्धि दौड़ती है अतः इतर कार्यों में वह मदसा होता है

बारसवासाणि वि संवसिच्च कामादुरो ण नासीय ॥

पादंगुट्टमसंतं गणियाए गोरसंदीवो ॥ ११५ ॥

वर्पद्वादशकं वेदयां निषेव्यापि सरातुरः ॥

नाज्ञासीद्गोरसंदीवः पदांगुष्ठमशो भनम् ॥ ११८ ॥

विजयोदया—चारस्वासाणि द्वादशवर्षमात्रं सहोपित्वापि । कामादुरोपि । कामादुरोपि । न ज्ञातवान्गोरसंदीपः । किं ? गणिकायाः पादंगुष्ठमसन्तं ॥

मूलारा—संबलितु सहवासं कृत्वा । गणारीय न ज्ञातवान् । असंतं अविद्यमानं अशोभनं वा शीर्णमित्यर्थः । गणियाए वेदयायाः कायसुंदरीनाम्याः । गोरसंदीपो मुनिनामेदं ॥

अर्थ—गोरसंदीव नामक मुनि द्वारा वर्पतक एक कायसुंदरी नामक गणिकाके सहवासमें रहा था पंतु उस गणिकाके पावको अगुठा नहीं था यह बात उसको मालूमही नहीं थी.

सीदं उण्हं तण्ह खुहं च दुस्सेज्ज भत्त पंथसमं ॥

सुकुमारो वि य कामी सहइ भारमवि गरुयं ॥ ९१६ ॥

शीतिसुखं क्षुधां तृष्णां दुराहारं पथि अमम् ॥

दुःशय्यां सहते कामी वहते भारमुत्थणम् ॥ ९२९ ॥

विजयोदया—सीद उण्हं तण्ह शीतं, उष्ण, क्षुधा, दुःशयन, दुराहारं कृतं, अध्वगमनश्रमं च सहते । कामी सुकुमारोऽपि गुरुमपि भार वहति ॥

मूलारा—दुस्सेज्ज भत्त दुःशयनं दुराहारं च । पथसमं मार्गगमनश्रमम् ॥

अर्थ—ठंडी, जल, प्यास, भूख, खराब शय्या, खराब आहार, और मार्गश्रम इन सबको कामी मनुष्य सहता है वह सुकुमार होनेपर भी बड़ा भार धारण करता है

गायदि णच्चदि धावदि कसइ ववदि लवदि तह मलेइ णरो ॥

तुणइ उण्णइ जाचइ कुलम्मि जादो वि विसयवसो ॥ ९१७ ॥

क्षुप्यते कृष्यते लूयते पूयते प्राप्यते पाचते सीव्यते चिच्यते ॥

छिच्यते भिद्यते क्रियते दीर्यते रव्यम्यते रज्यते सज्यते कामिना ॥ ९३० ॥  
विजयोदया—गायदि णच्चदि-गायति, नृत्यति, धावति, कृपति, वपति, लुनाति, मर्दयति, सीव्यति, पट्टवस्त्रा-  
दिवसनं करोति । याचते कुलप्रसूतोऽपि सन्विषयमुपगत आत्मानं भार्यां च गोपयितु ॥

मूलारा—किसदि कृपति क्षेत्र वाहयतीत्यर्थः । लवदि लुनाति, मलेदि मर्दयति । तुण्णेदि तुण्णयति । विणदि वयति ॥

अर्थ—विषयवशा उच्चकुलीन मनुष्य गाता है, नाचता है, दौड़ता है, वीज बोता है, जमीन नांगरता है मर्दन करता है, कपड़े सीता है, कपड़े बुनता है, अपना और पत्नीका पोषण करनेके लिये उपर्युक्त कार्य करता है-

सेवदि णिवादि रक्खदि गोमहिस्सिमजावियं हयं हत्थि ॥  
ववहरदि कुणदि सिपं सिणेहणसेण दढबद्धो ॥ ९१८ ॥  
गोमहिप्पीह्यरासभरक्षी काष्ठतृणोदकगोमयवाही ॥  
प्रेषणकंडणमार्जनकारी कामनरेन्द्रस्यास्ति मनुष्य. ॥ ९३१ ॥  
आयुधैर्विविधैः कीर्णा रणक्षोणीं विगाहते ॥  
लेखन कुरुते दीनः पुस्तकानामनारतम् ॥ ९३२ ॥  
सयुक्तां कर्षति क्षोणीं गर्भिणीमिव योषितम् ॥  
अधीत्य बहुशःशास्त्र कुरुते शिशुपाठनम् ॥ ९३३ ॥  
शिल्पानि बहुभेदानि तजुते परतुष्टये ॥  
विधत्ते वंचनां चित्रां वाणिज्यं करणोद्यतः ॥ ९३४ ॥  
अवमन्य भवाम्भोधौ पतनं बहुवीचिके ॥  
किं किं करोति नो कर्म मत्स्यो मदनलंघितः ॥ ९३५ ॥

विजयोदया—सेवदि णियादि—सेवति सस्यातर्गतं टण्णाधिकमेव । निजति, रक्षति गा, महिर्गो, अजाः, आविकं, हयं, इस्तिनो वा । वाणिज्यं करोति । समस्तनैपुण्यं अतीव तत्कर्मोदिक करोति कामिनीगतक्षेत्रभावेन दढबद्धः ॥

मूलारा—सेवदि णियादि सेवते नीचादिकं । अथवा सेवदि राजादिसेवा करोति । णियादि निंदयति सस्यात-  
र्गतं टण्णादिकमुत्पादयतीत्यर्थः । अजाविग छागमेपं । ववहरदि वाणिज्य करोति । सिपं शिल्पं करकौशल काष्ठचित्रादिकर्म ।



अर्थ—स्त्रीके स्नेहपाशसे जखड़ा हुआ वह कामों मनुष्य नीचे मनुष्यकी अर्थवा राजाकी सेवा करता है धान्यके बीचमें उत्पन्न हुआ तृण निकालता है गाय, भैंस, बकरा, हाथी, घोड़ा वगैरह प्राणिओंको रक्षण करता है व्यापार करता है, हस्तकौशल्यके कार्य करता है अर्थात् नानाप्रकारके काठके चित्रादिक बनाता है.

वेढेइ विसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुव्विमोएहिं ॥

कोसेण कोसियारुव्व दुम्मदी णिच्च अप्पाणं ॥ ९१९ ॥

दुमोच्चै कामिनीपादौः कामी वेष्टयते कुधीः ॥

लालापाशैरिवात्मानं कोशकारकुर्मिः स्वयम् ॥ ९३६ ॥

विजयोदया—वेढेइ विसयहेदु वेष्टयति विषयहेतुनिमित्त । आत्मान कलत्रपाशेर्मोचयितुमशक्यः कोशेन कोशकारकीट इव कुर्मति. ॥

मूलारा—वेढेइ वेष्टयति वध्नाति । दुव्विमोयेहिं मोचयितुमशक्यैः । कोसेण लालातंतुजालेन ।

अर्थ—विषयसुख भोगनेकी इच्छासे जिसका छुटना अशक्य है ऐसे स्त्रीके स्नेहपाशसे कामी मनुष्य अपनेको वेष्टित करता है जैसे रेशमको उत्पन्न करने माला कीडा अपने मुखमेंसे निकले हुए तंतुओंसे अपनेको वेष्टित करता है.

रागो दोसो मोहो कसायेपेसुण संकिलेसो य ॥

ईसा हिंसा मोसा मूया तेणिक कलहो य ॥ ९२० ॥

रागो द्वेषो मदोऽसूया पैशून्यं कलहो रतिः ॥

वचनेष्वर्था पराश्रुतिर्दोषाः सन्ति स्मरादुरे ॥ ९३७ ॥

विजयोदया—रागो दोसो रागो द्वेष, अज्ञानं, कपाया परदोषसंस्तवन, संक्षेपो, ईर्ष्या, हिंसा, मूया, परगुणासहनं, सैन्यं कलद्वय ॥

मूलारा—मोहो अज्ञानं । पेसुणं परदोषसूचन । मोसं असत्य । असूया परगुणासहनं । तेणिकं चौर्य ॥

जंपणपरिभवणियडिपरिवादरिपुरोगसोगघणणासो ॥

विसयाउलस्मि सुलहा संव्वे दुक्खावहा दोसा ॥ ९२१ ॥

विजयोदया—जपणपरिभव जल्पनं परिभव । वंचना परोक्षेऽपवाद । शत्रु, रोगशोकौ, धननाश इत्यादयः ।

विसयाउलस्मि सुलहा विषयाकुले सुलभा सर्वेऽपि दुःखावहा दोषा ॥

मूलारा—जपण दोषोद्धोषणं । णियडि निवृत्तिः वचना । परिवाद परोक्ष अपवादः । विसयाउलस्मि विषया-कुले सुभि ॥

अर्थ—जो विषयसे दुःखित है ऐसे मनुष्यमें रागद्वेष, मोह, अज्ञान, कपाय, परदोषोंका कथन भरना, संकेश परिणाम, ईर्ष्या, स्पृद्धा, हिंसा, असत्यभाषण, अन्योंके गुण सहन न करना, चोरी और कलह ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं वद्वहना, पराभन, फसना, परोक्षमें निंदाकरना, रोग, शोक, धननाश वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं प्रायः ये सब दोष कामी मनुष्यमें सुलभतया उत्पन्न होते हैं

न केवलमात्मन एव अपि तु परोपद्रवमपि करोति कामीति वदति—

अविं य व्हो जीवणं मेहुणंसिवाए होइ बहुगार्ण ॥

तिलणालीए तत्ता सलायवेसो य जोणीए ॥ ९२२ ॥

तिलनाल्यामिव क्षिप्रं तत्तलोहप्रवेशने ॥

तिलानां देहिनां पीडा योन्यां लिङ्गप्रवेशने ॥ ९२८ ॥

विजयोदया—अवि य व्हो जीवण । अपि च वहुना जीवना वधो भवति । मैथुनसेवया । जोणीए योन्या । तिलै पूर्णया नालिकार्या तस्मात् शलाकाप्रवेश इव ॥

मूलारा—अपि य अपि च । न केवलं मैथुनं भजनात्मानमेव तैस्त्रिद्वैतैः वदर्थयति किं तर्हि योनिजंतुनपि बहून् हिनस्ति इत्यधिकमुच्यते इत्यर्थः । तृत्तायसंपवेसे य तत्तलोहशलाकाया प्रवेश्यमानया तिलपूर्णनालिकाया निलाना वार्ध्या यर्थयति संकेतः ॥ उक्तं च—

तिलनाल्यामिव क्षिप्रं तत्तलोहप्रवेशने ॥

तिलानां देहिनां पीडा योन्यां लिङ्गप्रवेशनत् ॥

कामी पुरुष स्वयंही इतने दोषसे पीडित होता है ऐसा नहीं परंतु दुसराकोभी उपद्रव करता है—  
अर्थ—मैथुन सेवन करनेसे वह अनेकजीवोंका वध करता है जैसे तिलकी फल्लीमें अगिसे तपी हुई सलई  
प्रविष्ट होनेसे सब तिल जलकर खाक होते हैं वैसे मैथुन सेवन करते समय योनिमें उपन्न हुए जीवोंका नाश होता है

कामुम्मत्तो महिलं गम्मागम्मं पुणे अविण्णाय ॥—

सुलहं दुलहं इच्छियमणिच्छियं चावि पत्थेदि ॥ १२३ ॥

इच्छावतीमनिच्छां स्त्रीं दुर्बलां दुर्लभां कुधीः ॥

अज्ञात्वा याचते कामी सर्वाचारवहिर्यवः ॥ १२९ ॥

विजयोद्या—कामुम्मत्तो कामोन्मत्तो । स्त्रियाः शरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्यं उत्तस्विदगम्यमभोग्यमिति  
अविज्ञाय इदमित्यमशुचि इति ब्रवीति । सुलभां दुर्लभां आत्मन्यभिलाषवतीं निरभिलाषा च प्रार्थयते ॥

मूलारा—गम्मागम्मं स्त्रियाः शरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्यं उत्तस्विदगम्यं अभोग्यं इत्यविज्ञाय यथास्वमनिरूप्य,  
सुलभा दुर्लभामात्मनीच्छावतीमनिच्छावतीं वा कामोन्मत्तः कियं प्रार्थयते इति टीकाकारः । अन्ये तु गम्मागम्ममित्यपि  
महिलाविशेषणमाहुः । तथा च तदग्रन्थः—

कामोन्मत्तो गम्यागम्यरूपा च दुर्लभा सुलभा ॥

अज्ञात्वा प्रार्थयते भोक्तुं सेच्छामथानिच्छाम् ॥

अर्थ—कामविकारसे उन्मत्त हुआ मनुष्य स्त्रीका शरीर और अपना शरीर भोग्य है या अभोग्य है इसका  
कुछभी विचार नहीं करता है. यह शरीर पवित्र है या अपवित्र है इसका भी वह विचार नहीं करता है. यह स्त्री  
दुर्लभ है या सुलभ है, यह स्त्री मेरी अभिलाषा करती है या नहीं इसका विना विचार करके ही उसकी वह प्रार्थना  
करने लगता है

दृष्ट्वा परकलत्रं किहिदा पत्थेद्द णिग्घिणो जीवो ॥

ण य तत्थ किं पि सुक्खं पावदि पावं च अज्जेदि ॥ १२४ ॥

परकीयां स्त्रियं दृष्ट्वा किं कांक्षति विमृदयीः ॥

न हि तां लभते जातु पापमर्जयते परम ॥ १४० ॥

विजयोदया—दृष्ट्वा परकलत्रं परेण कलत्रं दृष्ट्वा । कथं वा तत्प्राप्यते जीवो निरस्तलज्जो ममेयं भवतीति ।  
एतस्या प्रार्थनामात्रादधिगतायां दुःखं प्राप्नोति । पापं नियोगेनार्जयति ॥

परदारान्प्रार्थयमानं जुगुप्सते—

मूलारा—किं दद्या कथं तावत् । निग्विणो निर्लज्जः । तस्य प्रार्थनामात्रप्राप्ते परकलत्रे । च अज्जदि उपर्जयत्येव ॥

अर्थ—परस्त्रीको देखकर यह मनुष्य निर्लज्ज होकर किसी प्रार्थना करता है यह स्त्री मेरी होगी ऐसा समझकर क्यों प्रार्थना करता है? प्रार्थना करनेसे तथा वह प्राप्त होने पर भी दुःखही प्राप्त होगा और नियमसे पापों-पार्जन होगा

आहृष्टिदूण चिरमपि परस्म महिलं लभित्तु दुक्खेण ॥

उप्पित्थमाविसत्थं अणिब्बुदं तारिसं चैव ॥ १२५ ॥

अभिलष्य चिरं लब्ध्वा परनारीं कथंचन ॥

अनिर्वृत्तमविश्वस्त सेवने तादृगेव सः ॥ १४१ ॥

विजयोदया—आहृष्टिदूण चिरमपि चिरकालमभिलष्यापि । परस्म महिलं परस्य महिला परस्य स्त्रियं ।  
दुक्खेण लभित्तु क्लेशेन लब्ध्वा । उप्पित्थं व्याकुलवदविश्वस्तमनिर्वृत्तं धरणं इति क्रियाविशेषेन नेय । तारिसो चैव यथा  
तदैवाभासे । पूर्वमनुसहृदय पश्चादपि तथैवानुसहृदयत्वात्तादृश इत्युच्यते ॥

परस्त्रीसेविनमनुशोचति—

मूलारा—आहृष्टिदूण अभिलष्य । उड्विग्ग सोत्तासं । उड्विच्छादिति पाठेऽपि स एवार्थः । अवीसत्थ अविश्व-  
समाकुलं वा । अणिब्बुदं असंलुप्तं । सेवमान इत्याद्याहारार्थक्रियायास्त्रीण्यपि विशेषणानि । तारिसो चैव पूर्ववदविद्वत्प्रचित्त  
एव भवति । उक्तं च—

अभिलष्य चिरं लब्ध्वा परनारीं कथं न च ॥

अनिर्वृत्तमविश्वस्त सेवने तादृगेव सः ॥

अर्थ—चिरकाल परस्त्रीकी मनमें अभिलाषा करने परभी कदाचित् उसकी प्राप्ति होतीभी नहीं. अथवा कष्टसे मिलभी गई तोभी उसका भोग लेते समय मनमें मय उत्पन्न होता है मनमें अविश्वास उत्पन्न होता है जिससे सुखकी प्राप्ति होती नहीं. अर्थात् मिलनेके पूर्व जैसा वह अवृत्त था वैसा मिलनेपर भी भयादि विकार उत्पन्न होनेसे अवृत्तही रहता है.

कहमवि तमंधयारे संपत्तो जत्य तत्य वा देसे ॥

किं पावदि रइसुक्खं भीदो तुरिदो वि उल्लावो ॥ १२६ ॥

यत्र तत्र प्रदेशे तमंधकारे कथंचन ॥

अवाप्य त्वरितो भीतो रतिसौख्यं किमश्नुते ॥ १२७ ॥

विजयोदया—कथमपि तमंधकारे केनचित्प्रकारेण परवचना झाल्ता । अंधकारं संप्राप्तः । तां यत्र तत्र वा देशे, शून्यगृहे शून्यायतने, अटव्या च किं प्राप्नोति ? रतिसौख्यं । प्रकाशे स्वामिलयितानवयवास्तस्या पश्यतो मृदुनि शयनतले विगतमनोव्याकुलस्य सुख भवति । नान्यथेति भावः । किं प्राप्नोति रतिसुखं भीतः सन् राजपुरुषेभ्यस्तस्य । वा संवाधेभ्यः । पश्यति मा, परे बध्नति मा, परपत्नीति वा संभाषणं अपि तथा त्वरितं किं पुना रतम् ॥

परस्त्रीसेवाया तमेव सुखाभावमुल्लिखति—

मूळारा—त परमहिंसा । जत्यतत्य शून्यगृहादौ । भीदो तत्पतिराजपुरुषादिभ्यस्तः । तुरिदो उत्तालकः ।

विउल्लावो विगतसंभाषणः । प्रकाशे तन्मनोभावयवान्ययतो मृदुशयनतले तदालिंगनादि कुर्वतो निर्भयनिराकुलतया वचनहसनादिकमनुभवतश्च सभोगसुखं भवतीति भावः ॥

अर्थ—दुसरको फसाकर किसी तरह अधकारमें उसकी प्राप्ति भी हो गई तो शून्य घरमें, शून्य देवाल-यमें अथवा जंगलमें उसके साथ रममाण होनेसे क्या रतिसौख्य मिलेगा अर्थात् उसके मनमें यदि इसका पति हम दोनोंको देखेगा, अथवा राजाधिकारियोंके नजरमें हम आजार्ने किंवा परस्त्रीके कोई संबंधी यदि हमको देखेंगे तो वे हमको बांधेंगे, मारेंगे ऐसे विचारसे उसके साथ उसको भाषण करनेके लिये भी निर्व्याकुलता नहीं रहती हैं तो उसके साथ रतिसुखकी प्राप्ति कैसी होगी? रतिसुखकी प्राप्ति होने पर भी वह सुखी नहीं होता है प्रकाशमें व्याकुलतारहित मृदुशय्यापर परस्त्रीके सर्व अवयव देखनेसे, उसके साथ क्रीडा करनेसे सुख होगा अन्यथा नहीं. अत

परस्त्रीके सेवनमें सुख नहीं, उसके विचारसे अशुभ कर्मके आलव आते हैं जिससे आत्माको कुगतिमें दारुण दुःख भोगने पड़ते हैं

परमहिलं सेवतो वेर वधबंधकलहधणनासं ॥

पावदि रायबलादो तिरसे णीयल्लयादो वा ॥ ९२७ ॥

सर्वस्वहरणं रोध वधं वधं भयं कलिम् ॥

तज्जातिपार्थिवादिभ्यो लभते पारदारिकं ॥ ९४३ ॥

विजयोदया—परमहिल सेवतो परस्त्रिय सेवमान, वैर, वध, वधे, कलह, घननाश च प्राप्नोति राजमूलात् तस्याः स्वनाम्ना ॥

परस्त्रीभोजोऽपायनाह—

मूलारा—तिस्से तस्याः ।

अर्थ—परस्त्रीका सेवन करने वालोंको राजासे अथवा परस्त्रीके संबंधिओंसे वैर, वध, वध, कलह, घननाश वगैरेह आपत्ति प्राप्त हो जाती है.

जदि दा जणेइ मेहुणमेवा पावं सगम्भि दारम्भि ॥

अदितिव्वं कह पावं ण हुज्ज परदारसेविस्स ॥ ९२८ ॥

अनर्थकारण पुसां कलत्रे स्वेपि मैथुने ॥

करोति कल्मष घोरं परकीये न किं पुनः ॥ ९४४ ॥

विजयोदया—जदि ता जणेइ यदि तावज्जनयति मैथुनकर्मसेवा किं पाप समार्याया । अतितीव्रं पाप कथं न भवेत् परदारसेविस्स परस्त्रीसेविन । अदत्तादानमुब्रूहति द्वौ यतो दोषौ ॥

परदारसेविनस्तीव्रतरपापबंधमाह—

मूलारः—अदितिव्व अदत्तादानाब्रह्मासेवनदोषद्वयावेशादत्र तीव्रतरत्वमिति भावः ॥

अर्थ—अपनी पत्नीमेंभी यदि मैथुनसेवन करनेसे पाप उत्पन्न होता है तो परस्त्रीके साथ मैथुन सेवन करनेसे परस्त्रीसेवी मनुष्यको तब पापकर्मका क्यों वंधा न होगा परस्त्रीसेवन करनेमें चोरी, ब्रह्मचर्यविनाश ऐसे दो दोष उत्पन्न होते हैं परस्त्री न दी हुई वस्तु है।

मादा धूदा भज्जा भगिणीसु परेण विप्पयम्मि कदे ॥

जह दुक्खमपणो होइ तहा अणरस्स वि णरस्स ॥ ९२९ ॥

यथाभिद्रूयमाणासु स्वसृमातृसुतादिषु ॥

दुःखं संपद्यते स्वस्य परस्यापि तथा न किम् ॥ ९४५ ॥

विजयोदया—मादा धूदा मातरि दुहितरि भगिन्या परेण चिप्रिये कृते कर्मणि यथा दुःखमात्मनो भवति । तथा तस्यापि नरस्य दुःखं भवति । तन्मात्रादिविषये असद्व्यवहारे सति ॥

स्वस्येव परस्यापि परेण मात्रादिषु दुराचारकरणे दुःख भवतीत्येवंविधविचाररहितः पारदारिकोऽसद्व्यवहार इति त्रिषाप संचिन्तनीत्येतद्वाक्येनाह—

मूलारा—धूदा पुत्री ।

अर्थ—माता, लडकी, अपनी पत्नी, और अपनी बहिन, इनके साथ किसीने कुछ दुराचार किया तो जैसे अपनेको दुःख होता है वैसे अन्य पुरुषकी माता, पत्नी, बहिन और लडकीयोंके साथ असद्व्यवहार करनेसे उसकोभी दुःख होता है ऐसा समझना चाहिये

एवं परजणदुक्खे णिरवेक्खो दुक्खवीयमज्जेदि ॥

णीयं गोदं इच्छीणउंसवेदं च अदितिव्वं ॥ ९३० ॥

इत्थमर्जयते पापं परपीडाकृतोद्यमः ॥

स्त्रीनपुंसकवेदं च नीचगोत्रं दुरुत्तरम् ९४६ ॥

विजयोदया—एवं परजणदुःखे निरपेक्ष परदाररतिप्रियो दुःखबीज सचिनोति । किं ? असद्व्यवहार कर्म, नीचगोत्र, स्त्रीत्व, नपुंसकत्वं च ॥

मूलारा—गिरिवेक्खो निर्विचारः परदाररतिशय इत्यर्थः ॥ दुक्खवीय असद्वेद्य । णीचागोदं नीवेगोत्रम् ॥  
अर्थ—जो दूसरोंके दुःखकी पूर्वा नहीं करता है उसको दुःखका बीज ऐसा असातोवेदनीय कर्मका बंध होता है और नीचगोत्र, स्त्रीपना, नपुंसकपना ऐसी अवस्थाओंकी प्राप्ति होती है

जमणिच्छंती महिलं अवसं परिमुज्जे जहिच्छाए ॥  
तह य कलिस्सइ जं सो तं से परदारगमणफलं ॥ ९३१ ॥

मुज्ज्यते यदनिच्छंती छिद्यमानांगनावशा ॥

तदेतस्याः पुरातन्याः परदाररतेः फलम् ॥ ९४७ ॥

विजयोदया—जमणिच्छंती महिलं यश्चेच्छन्ती पुमास स्त्रीत्वेन अवशा यश्चेच्छया परियुज्यमाना यच्छिद्यति तत्तस्या जन्मान्तराचरितपरदारगमनफलं ॥

प्राक्तनपरदाररत्युपार्जितस्त्रीत्वो जीवः स्त्रीपर्यायमात्रः परपुरुषेण बलादुपमुज्यमानः क्लेशमुपैतीत्याह—  
मूलारा—जं यत् । अणिच्छंती मोक्षारमकामयमाना । परियुज्जे परपुरुषेण बलात्परियुज्यमाना सा स्त्री छिद्यते । तं से तत्तस्य जन्मांतरपरदारमुक्तिफलमिति संबंधः ॥ उक्तं च—

मुज्ज्यते यदनिच्छंती छिद्यमानागनावशा ॥

तदेतस्याः पुरातन्याः परदाररतेः फलम् ॥

अन्ये—जमणिच्छंती महिला अवसं परि मुज्जे जहिच्छारा ॥

तह वि कलिस्सदि ज सो इति पठित्वा एव व्याचक्षते—यदनिच्छंतीभवशा महिला परिमुक्ते यश्चेच्छया यच्च तथा परियुजानोऽसौ निर्वृतिं न प्राप्नोति तत्तस्य क्लेशप्राप्तिरूपं परस्त्रीमुक्तिफलमिति । तथा चोक्तम्—

यद्यमकामयमाना कामयते योपितं बलादवशाम् ॥

क्लेशमुपैति वथासौ तदस्य परदारगमनफलम् ॥

अर्थ—पुरुषकी इच्छा न करनेवाली परंतु पुरुषके द्वारा जो बलात्कार किया गया उससे संक्लेशपरिणामोसे युक्त होती है वह उसका पूर्वजन्ममें परस्त्रीभोगका फल है ऐसा समझना चाहिये अर्थात् जिसने पूर्व जन्ममें जबरदस्तीसे



परस्त्रीका उपभोग लिया था वह पुरुष इस जन्ममें स्त्रीपर्यायोको प्राप्त होता है तब वह भी बलात्कारसे भोगा जाता है.

महिलावेसविलंबी जेणीचं कुणइ कम्मयं पुरिसो ॥

तह वि ण पूइ इच्छा तं से परदारगमणफलं ॥ ९३२ ॥

योषावेषधरः कर्म कुर्वाणो न यदश्नुते ॥

कांक्षितं शर्म तत्तस्य परदाररतेः फलम् ॥ ९४८ ॥

विजयोदया—महिलावेसविलंबी स्त्रीवेपविलंबनपर पुरुषो यन्नीचं कर्म करोति । तथापि न पूर्यते इच्छा तत्तस्य पंडत्वं परदारगमनफलम् ॥

जन्मातरपरस्त्रीसुक्त्युपार्जितनपुंसकवेदो जीवो नपुंसकपर्यायमापन्नः स्त्रीवेपं धारयन् यत्र तत्र कामक्रीडा कुर्वन्नपि न वृत्त्यतीत्युपदिशति—

मूलारा—महिलावेसविलंबी स्त्रीवेपधारी । कम्मय कामक्रीडा । त से तत्पंडत्वं तस्य स्त्रीवेपधारिणः ॥

अर्थ—स्त्रीवेप धारण करनेवाला पुरुष अर्थात् नपुंसक नीच कर्म करता रहता है तो भी उसकी इच्छा पूर्ण होती नहीं यह उसका नपुंसकपना पूर्व जन्ममें परस्त्रीसंभोग करनेका फल है अर्थात् परस्त्रीसंभोग करनेवाले पुरुष अन्य जन्ममें नपुंसक होते हैं

भज्जा भगिणी मादा सुदा य बहुएसु भवसयसहस्सेसु ॥

अयसायासकरीओ होंति विभीला य णिब्बं से ॥ ९३३ ॥

जननी भगिनी भार्या देहजा बहुजन्मसु ॥

आयासाकीर्तिकारिण्यस्तस्य संति विशालिकाः ॥ ९४९ ॥

विजयोदया—भज्जा भगिणी मादा भार्या भगिनी माता सुता च बहुषु भवसहस्रेषु अयशाः आयासं कुर्वन्तो भवन्ति नित्य विभीलास्तस्य ॥

पारदारिकस्य बहुषु भवेषु भार्यादयो विभीलाः सपद्यन्ते इत्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—परबी सेवन जिसने पूर्व जन्ममें किया था उसकी पत्नी, बहिन, माता और लड़की लक्षावधि जन्मोंमें अपकीर्ति करनेवाली, दुःख देनेवाली और हमेशा ब्यसिचारिणी हो जाती है

होइ सयं पि विसील्लो पुरिसो अदिदुब्भगो परमवेसु ॥

पावइ वधबंधादि कलहं णिच्चं अदोसो वि ॥ ९३६ ॥

विसील्लो दुर्भगोऽप्यत्र जायते पारदारिकः ॥

निर्दोषोऽप्यश्नुते बंधं संछेद्यं कलहं वधम् ॥ ९५० ॥

विजयोदया—होवि सयं पि भवति स्वयमपि विसील, पुरुषो दुर्भगश्च प्राप्नोति नित्यं च वधबंध आत्मा सकलहं च अदोषोऽपि ॥

परबीभाजो विसीलभावादिलाभमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—वह परदारसेवी पुरुष भी विसील-शीलव्रत रहित होता है और कुरूप होता है निर्दोष होनेपर भी वध, वध कलह इत्यादि दुःखोंको वह प्राप्त होता है

इहलोए वि महल्लं दोसं कामस्स वसगदो पत्तो ॥

कालगदो वि य पच्छा कडारपिगो गदो णिरयं ॥ ९३५ ॥

महान्तं दोषमासाद्य भवेऽत्र स्मरमोहितः ॥

मृत्वा कडारपिगोऽगच्छन्नं दुःसहवेदनम् ॥ ९५१ ॥

विजयोदया—इहलोए वि महल्ल कडारपिगो इहलोकेऽपि महान्तं दोषं प्राप्तः कामवशगतः । काल कृत्वा पञ्चान्नरकेषु प्रविष्टः । वाच्यमवाशयानकम् ॥

उक्तमेवार्थमाख्यानं ख्यापयन्नाह—

अर्थ—इस लोकमें भी कडारपिंग नामक राजपुत्र कामवश होकर महान् दोषसे दूषित हुआ और मर-  
णोत्तर नरकमें उत्पन्न हुआ (आराधना कथा कोषमें इसकी कथा प्रसिद्ध है.)

एदे सत्वे दोसा ण होति पुरिसस्स वंमचारिस्स ॥

तत्त्विवरीया य गुणा हवंति बहुगा विरागिस्स ॥ ९३६ ॥

भवन्ति सकला दोषा नैवामी ब्रह्मचारिणः ॥

संपद्यन्ते गुणाश्चित्रास्तद्विपक्षा विरागिणः ॥ ९५२ ॥

विजयोदया—पदे सत्वे एते सर्वे दोष न भवन्ति ब्रह्मचारिणः पुनः । तद्विपरीताश्च गुणा भवन्ति यद्वयो-  
विरागस्य ॥

एवं कामदोषान्यददयं तदभाव प्रकृते भावयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

उपर्युक्त सर्व दोष ब्रह्मचारी पुरुषको स्पष्ट नहीं करते हैं कामसेवनमें विरक्त ऐसे ब्रह्मचारीमें काम-  
दोषसे विरुद्ध बहुत गुण निवास करते हैं

अर्थ—जिसका रागभाव नष्ट हो चुका है ऐसा ब्रह्मचारी मुक्तजीव के समान प्रेक्षक होकर तीव्र कामा-  
ग्नीसे दग्ध होने वाले इस सर्व जगत्को देखता है कामाग्नीके कष्टसे ब्रह्मचारी मुक्त होता है और वीतराग होता  
है अर्थात् काम विकारसे दूर रहना यही सब सुख की प्राप्ति का उपाय है, कामकृत दोषोंका वर्णन समाप्त हुआ

कामगिणा धगधगतेण य डब्झंतयं जगं सत्त्वं ॥

पिच्छइ पिच्छयमूदो सीदीभूदो विगदरागो ॥ ९३७ ॥

कामाध्वना कुचफलानि निपेवमाणा रम्ये नितंबविपये ललनानदीनाम ॥

विश्रम्य चारुवदनाम्बु निपीयमानाः सौख्येन नारकपुरीं प्रविशन्ति नीचाः ॥ ९५३ ॥

नरो विरागो बुधवृद्धवदितो जिनेन्द्रध्वस्तसमस्तकल्मषः ॥  
विदह्यमान उवलता दिवानिशां स्मराग्निना लोकमवेक्षतेऽखिलम् ॥ ९५४ ॥

इति कामदोषाः ॥

विजयोदया—कामगिणा कामाग्निना । धगधगायमानेन दहमानेन । दहमानं जगत्सर्वं प्रेक्षते प्रेक्षकभूतः स्वयं धिरतीभूतः । क ? वीतराग ॥

ब्रह्मचारिणः सुखातिशयमाह—

मूलारा—पेच्छगमूदो प्रेक्षक इव । द्रष्टव्यं न तत्कष्टविष्ट इति भावः । सीरीभूदो निर्वृतो मुक्तात्मवत् ॥  
इति कामदोषाः ॥

इतिथक्था इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरं प्रवच ॥ कामकदा ॥

महिलाकुलसंवासं यदि सुदं मादरं च पिदरं च ॥

विसयंधा अगणंता दुक्खसमुद्दम्मि पाडेइ ॥ ९३८ ॥

जननीं जनकं कांतं तनयं सहवासिनं ॥

पातयंति नितंबिन्यः कामार्तो दुःखसागरे ॥ ९५५ ॥

विजयोदया—महिला दुःखसमुद्रे पातयति विषयाधा अगणयन्ती । किं ? कुलं सहवासिनः पति, सुत, मातर च ॥  
एवं कामदोषान्प्रबंधेन व्याख्यायैदानीं स्त्रीदोषान्वयाविख्यासुर्गोथा. पचपट्टिमाह—

मूलारा—संवास सहवासिन । विसयंधा कामार्तो । पाडेइ पत्यादीन् क्षिपति ॥

अर्थ—विषयांधं हुई स्त्री कुल, सहवासी, पति, पुत्र, माता और पिता इनका आदर नहीं करती है और सबको दुःखसमुद्रमें डुबा देती है

माणुण्यस्स पुरिसदुमस्स णीचो वि आरुहदि सीसं ॥

महिलाणिस्सेणीए णिस्सेणीए व्व दीहदुमं ॥ ९३९ ॥

स्त्रीनिःश्रेण्योन्नतस्यापि दुरारोहस्य लीलया ॥

मस्तकं नरवृक्षस्य नीचोऽप्यारोहति दुतम ॥ ९५६ ॥

विजयोदया—माणुण्यस्स मानोन्नतस्य पुरुषद्रुमस्य शिर आरोहति नीचपुरुषोऽपि महिलानिःश्रेण्या दीर्घमिव द्रुम ॥

मूलारा—दिग्बहुमं उच्चैर्वृक्षम् ॥

अर्थ—स्त्री रूपी नसेर्नीके आश्रयसे नीच पुरुष अभिमानसे उन्नत ऐसे पुरुषरूपी वृक्षके मस्तकपर चढ़ बैठता है जैसे नसेर्नीके द्वारा ऊँचे वृक्षपर लोक चढ़ते हैं अभिमाय यह है नीच पुरुषका आश्रय कर अपने पतिका अभिमान मझीमें मिला देती है, उसके कीर्तिका क्षय कर देती है-

पव्वदमिच्चा माणा पुंसाणं होति कुलवलघणेहिं ॥

बलिण्हि वि अक्खोहा गिरीव लोगप्पयासा य ॥ ९४० ॥

मान्या ये सति मर्त्यानामक्षोभ्या वलिनामपि ॥

सर्वत्र जगति ख्याता महंतो मंदरा इव ॥ ९५७ ॥

विजयोदया—पव्वदमिच्चा माणा भवन्ति मानानि पुरुषाणा कुलवलघने । वलिभिः अक्षोभ्याणि गिरिवल्लोके प्रकाशभूतानि च ॥

मूलारा—माणा अहकारः । वलिण्हि वि बलवद्विरपि । अक्खोहा चाल्घितुमशक्याः । गिरीव लोगप्पयासा जगति ख्याता मेरवो यथा । अत्र पर्यतसामान्यार्थोऽपि गिरिशब्दो गिरीद्ववृत्तिगृह्यते तादृग्विवशेषणयोगात् । उक्तं च—

पर्वतसदृशा माना कुलवलविभवेर्भवन्ति पुरुषाणाम् ॥

गिरिराजवत्यकागा ये चाक्षोभ्या महद्विरपि ॥

अर्थ—उच्च कुल, बल-सामर्थ्य, और धनसे पुरुषोंका मान पर्वत तुल्य बड़ा होता है, उनके मानका ध्वंस करनेके लिये बलिष्ठ पुरुषभी असमर्थ होते हैं और जगतमें उनका मान पर्वतके समान सर्वत्र प्रसिद्ध होता है ते तारिसया माणा ओमच्छिज्जति दुट्ठमहिलाहिं ॥

जह अंकुसेण णिस्साइज्जइ हत्थी अदिबलो वि ॥ ९४१ ॥

शठैस्ते स्त्रीजनैस्तीक्ष्णैर्नाभ्यन्ते क्षुणमाश्रितः ॥

नितांतकुटिलीभूतैरंकुरैरिव संतनः ॥ ९५८ ॥

विजयोदया—ते तारिसगा माणा तानि तथाभूतानि मानानि अवमथ्यन्ते दुष्टस्त्रीभिः । यथा अंकुरेण निपद्या कार्यते इत्सी अतिबलोऽपि ॥

मूलारा—ओमच्छिज्जति विनाश्यते । गिसियाविज्जति उपवेश्यते ।

अर्थ—ऐसे पुरुषोंकाभी महामान दुष्ट स्त्रियोंके द्वारा छ्वस्त नष्ट किया जाता है, अर्थात् अपने हीनाचार से वे अपने पत्नीका अभिमान धूलमें मिलाती हैं जैसे हाथी बड़ाभी हो तोभी छोटा अंकुर उसको बलात्कारसे जमीनपर बिठा सकता है

आसीय महाजुद्धाहं इत्थिहेतुं जणम्मि बहुगाणि ॥

भयजणानि जणण भारहरामायणादीणि ॥ ९४२ ॥

आसन्तामायणादीनि स्त्रीभ्यो युद्धान्यनेकशः ॥

मलिनाभ्योऽवदमालाभ्यः सलिलानीव चिष्टपे ॥ ९५९ ॥

विजयोदया—आसीय महाजुद्धाणि आसन्महायुद्धानि जगति स्त्रीनिमित्तानि बहूनि भयजनानि जनानां भारतरामायणादीनि ॥

मूलारा—आसन् वृत्तानि ।

अर्थ—इस जगत्में इस स्त्रीके लियेही भयानक रामायण, महाभारतके समान मनुष्योंका महा क्षय करने वाले अनेक बड़े युद्ध हुए हैं-

महिलासु णत्थि वीसंभणयपरिचयकदण्णदा णेहो ॥

लहुमेव परगयमणाओ ताओ सकुलंपि य जहंति ॥ ९४३ ॥

विश्रंभसंस्तवस्नेहा जातु संति न गोपितः ॥

त्यजन्ति वा परासक्ताः कुलं तृणमिव दुत्तम् ॥ ९६० ॥

विजयोदया—महिलासु स्त्रीषु न सति विसंभ्रमण्याः, परिचय कृतज्ञता, स्नेहश्च । सहसा परगतचित्तास्ताः स्वकुलं जहति ॥

मूलारा—पण्य प्रसादः । कदण्णदा कृतज्ञता । सकुलं स्वकुलं कुलीनं वा ।

अर्थ—स्त्रियोंमें विद्यास, प्रसाद, परिचय, कृतज्ञता अर्थात् क्रिये उपकारोंका स्मरण रखना—कृतज्ञ न बनना, और स्नेह ये गुण नहीं रहते हैं-वे जब परपुरुषासक्त हो जाती हैं तब अपने हित करनेवाले पतिकोभी छोड़ देती हैं, अपनी कुलीनताको छोड़ती हैं-नीचोंका हाथ पकड़ती हैं

पुरिसस्स दु वीसंभं करेदि महिला बहुण्यारेहिं ॥

महिला वीसंभेदु बहुण्यारेहिं वि ण सक्का ॥ १४४ ॥

विसंभयन्ति ता मर्त्यं प्रकारैर्विधैर्लघु ॥

विसंभः शक्यते कर्तुमेतासां न कथंचन ॥ १६१ ॥

विजयोदया—पुरिसस्स दु वीसंभं पुरुषस्य विसंभं जनयति स्त्रियो बहुभिः प्रकारैर्युवतीर्विसंभं नेतुं न शक्ताः पुमांसः ॥

मूलारा—वीसंभेदं विश्वासं नेतु ॥

अर्थ—अनेक कपट प्रयोगोंसे वे पुरुषके मनमें विश्वास उत्पन्न करती हैं अर्थात् अपने हावभाव, मधुर भाषण, वगैरहसे अपनेमें अनुरक्त करती हैं, परंतु पुरुष उसको अपनेमें अनुरक्त नहीं कर सकता है

अदिलहुयगे वि दोसे कदम्मि सुकदस्सहस्समगणंती ॥

पइ अप्पाणं च कुलं धणं च णासति महिलाओ ॥ १४५ ॥

स्वल्पेऽपि विहिते दोषे कृतदोषसहस्रशः ॥

उपकारमवज्ञाय स्व निघ्नन्ति पतिं कुलम् ॥ १६२ ॥

विजयोदया—अद्विष्टयुगे वि दोसे सत्येपि योगे कृते सुकृतशतमप्यगण्य पति, आत्मान, कुलं, धनं च नाशयति युगतय ॥

मूलारा—अदिव अतीव । सुगदसद उपकारशतं ।

अर्थ—पतिके द्वारा छोटासा भी अपराध हुआ तो उसके हजारो उपकारभी वह भूल जाती है और उसका, कुलका, और धनका और अपनाभी नाश कर डालती है

आसीविसो व्व कुविदा ताओ दूरेण णिहुदपावाओ ॥

रुद्धो चंडो रायाव ताओ कुव्वंति कुलघादं ॥ ९४६ ॥

आशीविषा इव त्याज्या दूरतो नीतिहेतवः ॥

दुष्टा नृपा इव क्रुद्धास्ताः कुर्वन्ति कुलक्षयम् ॥ ९४७ ॥

विजयोदया—आसीविसो व्व अशीविष इव कुपितस्ता दूरेण ढैकितु न शक्याः । रुष्टश्चंडो राजेव ता कुर्वन्ति कुलघात ॥

मूलारा—दूरेण त्याज्या इति शेषः णिहुदपावाओ प्रच्छन्नपातकाः । दूरेणढागिदुं सका दूरावपि नाश्रया इत्यर्थः ।

अर्थ—भयंकर सर्पका जैसे दूर से ही त्याग करना हितकर है वैसे दुष्ट स्त्रियोंका दूरसे ही त्याग करना कल्याण करक होता है जैसे क्रुद्ध राजा अपराधीके कुलका समूह नाश करता है वैसे दुष्ट स्त्रियां भी अपने पतिके कुलका पूर्ण नाश करती है.

अकदस्मि वि अवराधे ताओ वीसच्छमिच्छमाणीओ ॥

कुव्वंति वहं पदिणो सुदस्स ससुरस्स पिटुणो वा ॥ ९४७ ॥

अकृतेप्यपराधे ता नीचाः स्वच्छंदवृत्तयः ॥

निघ्नन्ति निर्घृणापुत्रं श्वशुरं पितरं पत्तिम् ॥ ९४८ ॥

विजयोदया—अकदस्मि वि अकृतेऽपि । अवराधे अपराधे । ताओ ता. । वीसच्छमिच्छमाणीओ स्नेच्छा



प्रवृत्तिमभिलपन्त्य । पदिणो वध कुर्वन्ति पत्युर्वधं कुर्वन्ति, सुदस्स श्रुतस्य, ससुरस्स श्वशुरस्यापि । पितुणो वा पितुर्वा वधं कुर्वन्ति ॥

मूलारा—वीसत्य स्वेच्छाप्रवृत्ति ॥

अर्थ—स्वच्छद प्रवृत्ति करनेवाली स्त्रिया निरपराधी पतिका, अच्छे ज्ञानका, अपने ससुरका और पिता-का भी घात करती हैं जो जो अपने स्वच्छद प्रवृत्तिमें बाधक होगा ऐसा समझती हैं उनका २ वे घात करती हैं ॥

सत्कारं उपकारं गुणं व सुहलालणं च गेहो वा ॥

मधुरवयणं च महिला परगदहिदया ण चित्तेइ ॥ १४८ ॥

उपकारं गुणं स्नेहं सत्कारं सुखलालनम् ॥

न मन्यन्ते परासत्ता मधुरं वचनं स्त्रियः ॥ १४९ ॥

विजयोदया—सत्कारं सत्कारं सम्मानं । उपकारं उपकारं, गुणं कूलरूपयौवनादिकं गुणं च पत्युः । सुहलालणं सुखेन पोषणं च । गेहो वा स्नेहं च । मधुरवयणं च मधुरवचनं च । महिला युवति । परगदहिदया परपुरुषपादु-रन्विता । ण चित्तेइ न चिंतयति ॥

मूलारा—गुणं कूलरूपयौवनादिक पत्युः । सुहलालणं सुखेन पोषणं ॥

अर्थ—आदरसत्कार, उपकार, गुण, कूल, तारुण्य और सौंदर्य इत्यादि गुणोंसे पतियुक्त होनेपर भी यदि स्त्री जब परपुरुषपर अनुरक्त होजाती है तब पतिके इतने गुणोंका कुछभी विचार नहीं करती है। पतिने बड़े प्यार से उसका पोषण किया, उसने स्नेह दिखलाया और मधुर वचन भी बोले तो भी इन बातोंका वह कुछभी विचारकर ती नहीं है।

साकेदपुराधिवदी देवरदी रज्जसुक्खपब्भट्ठो ॥  
पगुलहेदुं छडो णदीए रत्ताए देवीए ॥ १४९ ॥

साकेताधिपतिर्देवतिः प्रच्याव्य राज्यतः ॥

देव्या नदीन्हृदे क्षितौ रक्तया पंगुरक्तया ॥ ९६५ ॥

विजयोदया—साकेदपुराधिवदी साकेतपुरस्य साक्षी । देवरदी देवतिसक्षित । रज्जसोऽश्वपञ्चमदो राज्येन सोल्येन च तितरा भ्रष्ट । पंगुलहेतु पंगुलनिमित्त गर्वप्रधानेन पंगुना सह जीवितुमभिलपन्त्या । दूडो विक्षित । णदीण नद्या । रक्ताए देवीए रक्तानामधेयया देव्या ॥

मूलारः—साकेद अयोध्या । देवरदी देवरतिमद्गः । पंगुलहेतुं गार्धर्वप्रधानेन पंगुना सह जीवितुमिच्छन्त्या । बूढो प्रक्षिप्तः । रक्ताए रक्तसंज्ञया ॥

अर्थ—साकेत नगरका देवरती नामक राजा था उसको रक्ता नामकी अत्यंत प्रिय रानी थी। रानीके स्नेहसे उसने राज्यका और सुलकाभी त्याग कर दिया तथापि गानविद्यामें प्रतीण ऐसे एक पंगुके ऊपर वह प्रेम करने लगी उसके साथ रहनेकी इच्छासे उसने अपने पतिको नदीमें ढकेल दिया

ईसालुयाए गोववदीए गामकडधूदिया सीसं ॥

छिणं पहरो तथ भल्लएण पासम्मि सीहवलो ॥ ९५० ॥

गोपवत्या कुधा छित्वा ग्रामकूटसुताशिरः ॥

राजा सिंहवलः कुक्षौ शक्येऽर्थापरया हतः ॥ ९६७ ॥

विजयोदया—ईसालुयाए शूर्यवत्या । गोववदीए गोपवतीनामधेयया । गामकूटधूदिया ग्रामकूटस्य दुहितु । सीसं छिण शिरश्छिन्न । पहरो प्रहतस्तथा । भल्लएण शम्भ्या । पासम्मि पार्श्वदेशे सीहवलो सिंहवलसंज्ञित ॥

मूलारः—ईसालुगाण ईर्ष्यावत्या । गोपवदीए गोपवतिसक्षया । गामकूटधूदियासीसं ग्रामकूटदुहितुः शीर्ष । भल्लएण शक्या । कुतविशेषेणपरः । पासम्मि पार्श्वदेशे । सीहवलो सिंहवलो नाम ॥

अर्थ—सिंहवल नामक मनुष्य को गोपवती नामक दूष्ट इर्ष्यालु स्त्री थी, उसने अपने सौतका मस्तक तोड़कर अपने पतिकोभी भालेसे मार डाला।

वीरमदीए सूलगदचोरदडोडिगाए वाणियओ ॥  
पहदो दत्तो य तहा छिणो ओडोति आलविदो ॥ ९५१ ॥

वीरवत्यापि शूलस्थस्तेन छिन्नोष्ठया निजः ॥  
ओष्ठश्छिन्नो ममानेन पापयेत्युदितं मृषा ॥ ९५८ ॥

विजयोदया—वीरवदीए वीरवतीसंक्षिकया । सूलगदचोरदडोडिगाए शूलस्थचोरदयाघस्या । वाणियगो वणिक्सुत । पहदो प्रहत । दत्तो य दत्तश्च । तहा तथा । छिणो ओडोति ओष्ठच्छेदोऽनेन कृत इति च । आलविदो भणित ॥

मूलरा—पहदो प्रहर्तुमारब्धं । दत्तो दत्तनामा । छिणो उडोति अनेन छिन्नो ममौष्ठ इति आलविदो आल प्रापितः ॥

अर्थ—शूलपर चढाये हुए चोरके द्वारा जिसका ओष्ठ खंडित किया गया था ऐसी वीरमति नामकी स्त्रीने दत्तनामक मेरे पतीने मेरा ओष्ठ छिन्न किया है ऐसा राजासे जाकर कहा और उसके द्वारा अपने पतीका उस दुष्टने घात करवाया

वग्धविसचोरअग्गी जलमत्तगयकण्हसप्पसत्तू ॥  
सो वीसंभं गच्छदि । वीसंभदि जो महिलियासु ॥ ९५२ ॥

व्याघ्रे विपे जले सर्पे शत्रौ स्तेनजनले गजे ॥

स विश्वसिति नारीणां यो विश्वसिति दुर्मनाः ॥ ९६९ ॥

विजयोदया—वग्धविसचोरअग्गीजलमत्तगयकण्हसप्पसत्तू । व्याघ्रे, विपे, चोरे, शत्रौ, जेले, मत्तगजे, कृष्णसर्पे, शत्रौ च । सो विस्संभ गच्छदि स विश्वं गच्छदि । विस्संभदि जो महिलियासु विश्वं यः करोति वनितासु ॥

मूलरा—वीसंभदि विश्वसिति ।

अर्थ—जो पुरुष स्त्रियोंपर विश्वास करता है वह वाघ, विप, चोर, आग, जलप्रवाह, मदचाला हाथी, कृष्णसर्प और शत्रु इनके ऊपर विश्वास करता है ऐसा समझना चाहिये.

वग्धादीया एदे दोसा ण णरस्स तं करिज्जण्हू ।

जे कुणह् महादोसं दुट्ठा महिला मणुस्सस्स ॥ ९५३ ॥

व्याघ्रादयो महादोषं कदाचित्तं न कुर्वते ।

लोकद्वयविघातिन्यो यं स्त्रियो वक्रमानसाः ॥ ९७० ॥

विजयोदया—व्याघ्रादिषु विलग्नमनस्तापीयो विलग्नमन वनितास्ति कथयत्युत्तरगाथा । वग्धादीया व्याघ्रविपादयः पूर्वसूत्रनिर्दिष्टा । दोस दोष । नरस्स नरस्य । त ण करिज्जण्हू न कुंथु । ज कुणहि महादोस य करोति महातं दोष । दुट्ठा महिला दुष्टा वनिता । मणुस्सस्स मनुष्यस्य ॥

मूलारा—करिज्जण्हु कुंथु ।

अर्थ—व्याघ्रादिकों में विश्वास करन से जितना नुकसान मनुष्यका होता है उससे भी अन्यधिक नुकसान दुष्ट महिलाओंसे होता है अर्थात् व्याघ्रादिकोंमें विश्वास करना कथचित् अच्छा माना जायगा परंतु दुष्ट स्त्रीपर विश्वास करनेसे सर्वथैव अपना घात करलेना है ।

पाउसकालणदीवोव्व ताओ णिच्चं पि कलुसहिदयाओ ।

धणहरणकदमदीओ चोरोव्व सकज्जगुरुयाओ ॥ ९५४ ॥

सक्रद्मलाशया रामा प्रावृषेण्या इवापगा ॥

स्तेनवत्स्वार्थतन्निष्ठाः सर्वस्वहरणोद्यता ॥ ९७१ ॥

विजयोदया—पाउसकालणदीवोव्व प्रावृट्कालस्य नद्य इव । तामो ता । णिच्च पि नित्यमपि । कलुस-हिदयाओ कलुषद्वय । स्त्रीषु हृदयशब्देन चित्तमुच्यते । नदीष्वभ्यंतर । रागेण, द्वेषेण, मोहेन, ईर्ष्या, असूयया, मायया वा कलुषीकृतमेव चित्त तासा । चोरोव्व चोर इव । सकज्जगुरुयाओ स्वकार्यगुर्व्यः । धणहरणकदमदीओ धनपहारेण कृतबुद्धयः । चौरा अपि कथमस्माभिरिमेतदीयमात्मसात्कृत भवतीति कृतबुद्धय । ता अपि मधुरवचनेन रतिनीडालु-कूलतया वा पुरुषस्य द्रव्यमाहर्त्तुमुद्यता ॥

मूलारा—कलुसहिदयाओ रागेद्वेषमोहेष्व्यासूयायाविष्टचित्ता आविलम्बयाश्च । सकज्जगुरुयाओ स्वकार्यगुर्व्यः ।

अर्थ—वर्षाकालकी नदीका मध्यमदेश मलिन पानीसे भरा रहता है और स्त्रियोंका चित्तभी राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या, असूय, कपट इत्यादिक दुष्टभावोंसे मलिन होता है चोर जैसा मनमें इन लोगोंका धन किस उपायसे

ग्रहण किया जावेगा ऐसा विचार करता है वैसे स्त्रिया भी धन हरण करनेमें निपुण होती हैं अर्थात् वे मधुरवचन बोलकर, रतिक्रीडामें अनुकूलता दिखाकर पुरुषका द्रव्य हरण करनेमें उद्युक्त रहती हैं. अपने कार्यमें हमेशा तत्पर रहती हैं.

रोगो दारिद्रं वा जरा व ण उवेइ जाव पुरिसस्स ॥  
ताव पिओ होदि णरो कुलपुत्तीए वि महिलाए ॥ ९५५ ॥  
दारियं विस्ससां व्याधिं यावन्नाभोति मानवः ॥

जायते तावदेवास्या कुलपुत्र्या अपि प्रियः ॥ ९७२ ॥  
विजयोद्या—रोगो दारिद्रं वा व्याधिर्दारिद्र्यं वा जरा वा । ण उवेदि न ढैकेते यावत्पुरुषं । ताव पिओ होदि णरो तौत्तद्विप्रो भवति नरः । कुलपुत्तीए वि कुलपुत्र्या अपि । महिलाए काताया । कुलपुत्रीषु वाप्य किमस्ति साध्यो हि प्रायेण कुलपुत्र्य पतिमेव देवतेति मन्यमाना. प्रिय सजतीति ॥

मूलारा—ण उवेदि नायाति ।

अर्थ—रोग, दारिद्र्य, अथवा वृद्धावस्था जवनक पुरुषको प्राप्त होती नहीं तवतक स्त्रीको अपना पति प्रिय होता है जब उसका शरीर रोगसे पीडित होता है, वृद्धावस्था उसके शरीरको जर्जर करती है तब वह स्त्रीको अप्रिय होता है. साधारण स्त्रियोंको ही दारिद्र्यादि अवस्थामें वह अप्रिय मालूम होता है ऐसा नहीं किंतु जो पति को देवतुल्य समझती है ऐसी कुलीन स्त्रिया भी पतीको अप्रिय समझ कर त्याग करती हैं.

जुण्णो व दरिद्रो वा रोगी सो चेव होइ से वेसो ॥  
णिप्पीलिओव्व उच्छू मालाव मिलाय गदगंधा ॥ ९५६ ॥  
प्रसूनमिव निर्गंधं द्वेष्ट्यो भवति निर्धनः ॥  
म्लानमालेव वर्षिष्ठो रोगीक्षुरिव नीरसः ॥ ९७३ ॥

विजयोद्या—जुण्णो वृद्धो वा । दरिद्रो दरिद्र । रोगिद्रो व्याधित । सो चेव स एव युवत्ये घनित्वे नीरोगत्वे वा यः प्रिय. स एव होदि भवति । से तस्या. । वेसो द्वेष्यः । णिप्पीलिओव्व निष्पीडित इव उच्छू इक्षु ।

मालाव मिलाय गदगधा मालेव म्लाना नष्टगधा । अपहृतरस इक्षु शोभारहितनिर्गन्धमाला च यथाऽप्रिया । यौवनं, धनं, शक्तिश्च पुनोऽतिशयस्तदपये नैवासाविष्यते स्त्रीभिः ॥

मूलारा—सो चेव स एव । यो युवत्वे धनित्वे नीरोगत्वे च सति प्रियः । से तस्याः । वेस्तो द्वेष्यः । उच्छृङ्खल । मिलादगदगधा म्लाना नष्टगधा च ॥

अर्थ—पुरुष तरुण, श्रीमान और नीरोगी जवतक रहता है तबतक वह स्त्रीको प्रिय लगता है परंतु वही जब बुद्ध, दरिद्री और रोगी बनता है तब स्त्री उसका द्वेष करती है जैसे रसहीन ईव मनुष्य त्याग देते हैं अथवा शोभारहित निर्गन्धम्लानपुष्पोंकी माला जैसी लोक त्यागते हैं वैसे धनहीन, बुद्ध और रोगी पतिकी स्त्री इच्छा नहीं करती है तारुण्य, धन और सामर्थ्य ये बातें पुरुषमें विशेषता उत्पन्न करती हैं जिसमें ये बातें पायी जाती हैं वह स्त्रीको प्रिय होता है इनका नाश होनेसे वह उनको अप्रिय लगता है

महिला पुरिसमवण्णाए चेव वंचेइ गियडिकवडेहिं ॥

महिला पुण पुरिसकंदं जाणइ कवडं अवण्णाए ॥ ९५७ ॥

वंचयन्ति नरान्नार्यः समस्तानपि हेलया ॥

जानन्ति वचनं पौलं तदीयं न नराः पुनः ॥ ९७४ ॥

विजयोदया—महिला पुरिसमवण्णाए वनिता पुरुषमनादरेणैव वचयति । निरुत्सा कपटतया च स्त्रीभिः कृतां निरुक्ति वचना शठतां च न जानन्ति पुमांसः । महिला पुण वामलोचना पुनः जाणदि जानाति । किं कपटशत पुरिसकंदं पुरुषेण कृत । अवण्णाए अवश्यया औदासीन्येनैव अक्षेणेनैति यावत् ॥

मूलारा—अवण्णाए चेव अवश्यैव अक्षेणेनैवेत्यर्थः । गियडिकवडेहिं मृपास्मितजल्पितशपथकोपकथाभिः स्त्रीभिः कृता निरुक्ति वचना कपट च शठता नरा न जानन्ति इति भावः ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको आयास के बिना फसाती है अर्थात् झूठा दास्य, असत्य मापण, शपथ, असत्य कोप, और मधुर मापण इत्यादिकोंसे वे पुरुषको अनायाससे फसाती है. स्त्रीका किया हुआ कपटप्रयोग पुरुष नहीं जान सकते हैं. परंतु स्त्री पुरुषके कपट तत्काल जान लेती है.

नरो होवं मन्यते प्रियोऽहमेतस्या इति न चासौ प्रिय इत्याचष्टे—

जह जह मण्णेइ णरो तह तह परिभवइ तं णरं महिला ॥

जह जह कामेइ णरो तह तह पुरिसं विमाणेइ ॥ १५८ ॥

यथा यथा खी पुरुषेण मन्यते तथा तथा सा कुरुते पराभवं ॥

यथा यथा कामवशेन मन्यते तथा तथा सा कुरुते विट्ठनानाम् ॥ १७५ ॥

विजयोदयः—जह जह मण्णेइ णरो यथा यथा मानयति नर तथा तथा परिभवति तं नरं युवतिः । जह जह कामेदि णरो यथा यथा कामयते मनुष्यस्तथा तथा पुरिस विमाणेदि तथा तथा पुरुष विमानयति ॥

मूलारा—विमाणेदि अवज्ञाहृतं करोति ।

मै इस स्त्रीका प्रिय हूं ऐसा पुरुष समझता है परंतु वास्तविक वह उसका प्रिय नहीं है इस विषयका विवेचन—  
अर्थ—जैसे जैसे पुरुष स्त्रीका आदर करता है वैसे र वह उसका आनादर करती है, तथा जैसे र पुरुष उसकी इच्छा करता है वैसे र वह उसका तिरस्कार करने लगती है

मत्तो गउव्व णिच्चं पि ताउ मदविंभलाउ महिलाओ ॥

दासेव सगे पुरिसे किं पि य ण गणति महिलाओ ॥ १५९ ॥

भवन्ति सर्वदा योषा मत्तास्तंवेरमा इव ॥

स्यं दासमिव मन्यन्ते पुरुषं मूढमानसा ॥ १७६ ॥

शीलसंयमतपोबहिर्भवास्ता नरांतरनिविष्टमानसाः ॥

चिंतयन्ति पुरुषस्य सर्वदा दुःखमुग्रमपकारिणो यथा ॥ १७७ ॥

विजयोदया—मत्तो गओव्व मचगज इव । णिच्च नित्य । ताओ मदविंभलाओ मेदेन विह्वला युवतयः । दासे व सगे पुरिसे दासे वा स्वपुरुषे वा । किंचिपि किंचिदपि विशेषजातं । ण गणति नेव गणयति । कुलीनो ममान्यो भर्त्ता स्वामी दास्या पुत्रोऽयं जघन्य अहमस्य स्वामिनीति विवेक करोति ॥

मूलारा—किंचिदप्युत्तर । अय दासीपुत्रोऽयं च कुलीनो मान्यो मम स्वामीति न विवेचयति मदाधाः प्रमदाः किं तु मम दास्याः पुत्रोऽय निकटोऽहमस्य स्वामिनी महामान्येति दृष्यन्ति । उक्तं च—

मत्तो गजपुत्रिर्दृष्टा, नित्यमतिविह्वलाः ॥

दासे वा स्वपतौ चापि विवेकं नैव कुर्वते ॥

दासेव सगो पुरिसे इति पाठे अयं कुलीनः स्वामीत्यादि विशेषणं जातं । दास इव स्वपुरुषे न गणयति दास-  
वत्त मन्यते इत्यर्थः । उक्तं च—

भवंत्य, सर्वदा योपा मत्ताः स्तेवरमा इव ॥

स्वं दासनिव मन्यते पुरुषं मूढमानसाः ॥

अर्थ—जैसा मत्त हाथी मदसे विह्वल होता है वैसी गविष्ठस्त्रिया भी गर्वसे अपने पतिको और दासको नौकरको समानभावसे देखती है, अर्थात् नौकरके समान अपने पतिको वे मानती है पति में नौकरसे कुछ विशेष पता है ऐसा वे जानती नहीं, मेरा पति मेरा स्वामी है और कुलीन है और यह दास दासीका पुत्र है, यह हीन-  
जातिका है मैं उसकी स्वामिनी हूं ऐसा विवेक उनके अतः करणमें उत्पन्न होता नहीं

अणिहुदपरगदहिदया तावो वग्धीव दुडुहिदयाओ ॥

पुरिसस्स ताव सत्तूव सदा पावं विचिंतति ॥ ९६० ॥

कुर्वन्ति दारुणां पीडामामिषाशनलालसाः ॥

अपराधं विनाप्येताः पुंसां व्याघ्रा इवाधमाः ॥ ९७८ ॥

विजयोदया—अणिहुदपरगदहिदया ताओ अनिष्टतं परगतं हृदयमासामिति अनिष्टतपरगतहृदया भवन्ति ।  
अनिवारितपरासक्तचित्ततादोषाः । वग्धीव दुष्टहृदयमासा अकृतेऽप्यपकारे यथा व्याघ्री परं मारयितुमेव कृतचित्तेति  
दुष्टहृदया एवमिमा अपि । पुरिसस्स तावं पुरुषस्य तावत् । सत्तूव सदा पावं विचिंतति । शत्रुरिव सदा पापमेव अशुभमेव  
चेतसि कुर्वन्ति । यथा यो रिपु कश्चित्कस्यचित्सर्वदा धनमस्य विनश्यतु, विपदोऽस्य भवन्त्विति चिन्तं करोति तथैव ता  
अपि ॥

मूलारा—अणिहुदपरगदहिदयाओ अनिवारितपापासक्तचित्ता । अन्ये अनिष्टतमिति चचलमाहुरसधृतमित्यपरे ।  
दुष्टहृदयाओ अकृतेऽप्यपराधे मारणोद्यतचित्ताः । पावं अशुभं । धनमस्य विनश्यतु विपदोऽस्य भवन्त्वित्यादि ॥



अर्थ—स्त्रिया परपुरुषमें आसक्त हुए अपने हृदयको परावृत्त नहीं करती हैं, व्याघ्री जैसी अपकार न करने पर भी मनुष्यको मार डालती है वैसे दुष्ट क्रिया निरपराधी पतिको भी मारती है जैसे शत्रु अपने प्रति पक्षीका अशुभ होनेका ही चिंतन करता है, वैसे ये दुष्ट स्त्रिया भी अपने पतिका अशुभ कब होगा इसका ही विचार करती हैं शत्रु प्रतिपक्षका घन नष्ट होनेका चिंतन करता है विपत्तियोंका विचार करता है वैसे हि दुष्ट विचार ये दुष्ट स्त्रिया अपने मनमें करती हैं.

संज्ञाव णरेसु सदा ताओ हुंति खणमेत्तरागाओ ॥  
वादोव महिलियाणं ह्रियं अदिचंचलं णिच्चं ॥ ९६१ ॥  
शंपेव चंचला नारी संध्येव क्षणरागिणी ॥

विजयोदया—संज्ञाव णरेसु सदा ताओ हुंति खणमेत्तरागाओ ॥ ९७९ ॥  
कालरागाः । अस्थिररागता नाम दोष, प्रकटित । यथा संध्याया रक्ता विनाशिनी । महिलियाण ह्रियं अदिचंचलं णिच्च । स्त्रीणां ह्रियं अतिचंचलं नित्यं । किमिव वादो व वात इव ॥  
मूलारा—रागाओ रागः प्रीतिर्नानावर्णश्च ॥

अर्थ—संध्याकालका लालरंग क्षणमात्र टिकता है अनंतर वह जैसा नष्ट होता है वैसे स्त्रियोंकी प्रीति क्षणमात्र रहती है अर्थात् अल्पकाल प्रेम करना यह दोष स्त्रियोंमें रहता है स्त्रियोंका हृदय हमेशा वायुके समान अतिशय चंचल रहता है.

जावइयाई तणाइं वीचीओ वालिगाव रोमाइं ॥  
लोए हवेज्ज तत्तो महिलाचिंताइं बहुगाइं ॥ ९६२ ॥  
सिंक्तातृणकल्लोरोगाणि सुवनत्रये ॥  
यावन्ति सन्ति तावन्ति मानसानि सृगीदृशाम् ॥ ९८० ॥

विजयोदया—आवहयार्हं यावति दृणानि, वीर्ययः, बालुकाः, रोमाणि च जगति तन्नो युवतीनां विंता बल्य ॥  
मूलारा— तन्नो तेभ्योऽपि ।

अर्थ—जगतमें जितना दृण है, जितनी समुद्रकी और नदीकी लहरें हैं, जितना बालुकासमुदाय और प्राणिओंका केशसमूह है उनसे भी अधिक तरुण स्त्रियोंके मनमें विचारसमुदाय उत्पन्न होता है।

आगास भूमि उदधी जल मेरु वाउणो वि परिमाणं ॥

माहुं सका ण पुणो सका इत्थीण चित्ताइ ॥ ९६३ ॥

नगभूमिनभोऽम्मोधिसल्लिर्क्षेनभःस्वताम् ॥

शक्यते परिमा कर्तुं स्त्रीचित्तानां न सर्वथा ॥ ९८१ ॥

विजयोदया—आगासभूमि आकाशस्य भूमेरुधेर्जलस्य, मेरोर्वयोश्च परिमाणमस्ति । स्त्रीणां चित्त पुनर्मातुं न शक्यमस्ति ॥

मूलारा— आगासेत्यादि । आकाशादीना परिमाणमस्ति । अत एव ते मातुर्मित्तयावधारितुं शक्याः, न पुनः स्त्रीचित्तानि परिमाणभावात् । निरंतरं नानाप्रकारविकल्पजालकुलत्वात्तेषा ॥ उक्तं च—

नगभूमिनभोऽम्मोधिसल्लिर्क्षेनभरवताम् ॥

शक्यते परमा कर्तुं स्त्रीचित्ताना न सर्वथा ॥

अर्थ—आकाश, जमीन, समुद्र, पानी, मेरु और वायु इन पदार्थोंका कुछ परिमाण है परंतु स्त्रीके चित्तका अर्थात् उनके मनमें निरंतर उत्पन्न होनेवाले संकल्प विकल्पोंका परिमाण जानलेना अशक्य है।

चिद्धंति जहा ण चिरं विज्जुज्जलबुब्बुदो व उक्का वा ॥

तह ण चिरं महिलाए एक्के पुरिसे हवे पीदी ॥ ९६४ ॥

यथा समीरणोल्कांभोबुब्बुदाश्चिररोचिषः ॥

एकत्र नावतिष्ठते तथैताश्चलवृत्तयः ॥ ९८२ ॥

विजयोद्या—जब न चिरं चिह्निता यथा न चिरं तिष्ठति विद्युतः । जलबुद्बुदा उल्काश्च तथा वनितानां न कस्मिंश्चित्पुरुषे ग्रीतिश्चिरं तिष्ठति ॥

मूलारा—चिह्निता तिष्ठति, जलबुद्बुदो जलबुद्बुदः । उल्का उल्का । कस्मिंश्चित् कस्मिन्तपि ॥

अर्थ—जैसे विजली, पानीका बूबूला, और उल्कापात ये पदार्थ शीघ्र नष्ट होते हैं वैसे स्त्रियोंकी किसी पुरुषपर ग्रीति दीर्घ कालतक नहीं रहती है

परमाणू वि कंहंचि वि आगच्छेज्ज गहणं मणुरसस्स ॥

ण य सक्का घेतुं जे चित्त महिलाए अदिसण्हं ॥ १६५ ॥

ग्रहीतुं शक्यते जातु परमाणुरपि नुवम् ॥

न सूक्ष्मं योपितो स्वान्तं दुष्टानामिव चंचलम् ॥ १८३ ॥

विजयोद्या—परमाणुरपि कथंचिन्मनुष्यस्य ग्रहणमागच्छेत् । वनिताना चित्त पुनः ग्रहीतुं न शक्यमस्ति सूक्ष्मम् ॥

मूलारा—आगच्छेज्ज गहणं आगच्छेद्ग्रहणं । ग्रहो, भवेदित्यर्थः । ण य सक्का घेतुं जे ग्रहीतुं न शक्यम् ॥

अर्थ—परमाणु को भी मनुष्य किसी उपाय के द्वारा ग्रहण करेगा । परतु स्त्रियों का अत्यन्त सूक्ष्म चित्त उसके द्वारा ग्रहण किया नहीं जाता है

कुविदो व किण्हसप्पो दुट्ठो सीहो गओ मदगलो वा ॥

सक्का हवेज्ज घेतुं ण य चित्तं दुट्ठमहिलाए ॥ १६६ ॥

कुच्छं कंठीरवः सर्पः स्वोर्कलुं जातु शक्यते ॥

न चित्तं दुष्टवृत्तीनामेतासामतिभीषणम् ॥ १८४ ॥

विजयोद्या—कुविदो व कुपित । कृष्णसर्प । दुष्ट सिंहो, मदगजो वा ग्रहीतुं शक्यते । न तु ग्रहीतुं शक्यते दुष्टवनितचित्तम् ॥

मूलारा—मदगलो मत्तः ॥

अर्थ—अतिशय क्रुद्ध हुआ काला सर्प, दुष्ट सिंह, और उन्मत्त हाथी को भी मनुष्य पकड़नेमें समर्थ हैं। परंतु दुष्ट स्त्रीका मन पकड़नेमें वे समर्थ नहीं हैं।

सक्कं हविज्ज दड्ढुं विज्जुज्जोएण रूवमच्छिम्मि ॥

ण य महिलाए चित्तं सका अदिचंचलं णाढुं ॥ १६७ ॥

रूपं सतमसौ द्रष्टुं विद्युद्द्योतेन पार्यते ॥

चेतश्चलस्वभावानां योषाणां न कथचन ॥ १८५ ॥

विजयोदया—सका हवेज्ज विद्युद्द्योतेन अक्षिप्य रूपं द्रष्टुं शक्य न पुनर्युचतिचित्तमतिचपलं अवगतु शक्यम् ॥

मूलारा—अच्छिन्नि नेत्रे स्थित । नेत्ररूपमित्यर्थः । अच्छीहि इति पाठे अक्षिभिर्यस्य कस्यचिद्रूपं विद्युत्प्रकाशेन द्रष्टुं शक्यमिति न्यालयेयम् ॥

अर्थ—विजलीके अत्यल्प प्रकाशसे भी नेत्रका रूप देखना शक्य है परंतु अतिशय चंचल ऐसा तरुण स्त्रीका मन जान लेना अति कठिन है।

अणुवत्तणाए गुणवत्तणेहिं चित्तं हरंति पुरिसस्स ॥

मादा व जाव ताओ रत्तं पुरिसं ण याणंति ॥ १६८ ॥

अलिण्हिं हसियवयणेहिं अलियरुयणेहिं अलियसवहेहिं ॥

पुरिसस्स चलं चित्तं हरंति कवडाओ महिलाओ ॥ १६९ ॥

महिला पुरिसं वयणेहिं हरदि पहणदि य पावहिदण ॥

वयणे अमयं चिठ्ठदि हियए य विसं महिलियाए ॥ १७० ॥

हरंति मानसं रामा नराणामनुवर्तनैः ॥  
तावद्यावन्न जानति रक्तं कुटिलचेतसः ॥ ९८६ ॥  
हसितै रोदनैर्वाक्यैः शपथैर्विविधैः शठाः ॥  
अलीकैर्मानस पुसां गृह्णन्ति कुटिलाशयाः ॥ ९८७ ॥  
हरंति पुरुषं वाचा चेतसा प्रहरंति ताः ॥  
वाचि तिष्ठति पीयूषं विषं चेतसि योषिताम् ॥ ९८८ ॥

विजयोदया—महिला पुरिसं वयणेहिं वनिता पुरुषं वचनैर्हरति । इति च पापेन हृदयेन । वाक्ये मधु तिष्ठति ।  
हृदये विषं युवतीनाम् ॥

मूलारा—अणुवचणाण छेदावुत्थ्या । गुणवयणेहिं गुणकीर्तनैः । हरन्ति गृह्णन्ति । अनुवर्तयन्ति । मादा वा  
माता यथा बालस्य ॥

मूलारा—अलिपहिं असत्यैः । एते द्वे अपि गोथे टीकाकारो नेच्छति ॥  
मूलारा—वाचाए वचसि ॥  
अर्थ—पुरुषके छंदका अनुसरण करके, और उसके गुणोंका वर्णन करके वे पुरुषका मन हरण करती  
स्त्रिया मिथ्या हास्यवचन, मिथ्या रोना, मिथ्या सोगंद खाना इत्यादि कपटयुक्तियोंसे पुरुषका मन हरण करती  
रहती हैं और हृदयमें विष रहता है

जब तक पुरुष अपनेमें अनुरक्त हुआ नहीं तब तक वे उसकी गुणप्रशंसा, उसके छेदावुत्थल प्रवृत्ति करती  
हैं, स्त्री पुरुषका चित्त मधुर वचनसे चोरती है और पापयुक्त हृदयसे उसका घात करती है स्त्रियों के वचनोंमें मधु  
रहता है और हृदयमें विष रहता है

तो जाणिऊण रत्तं पुरिसं चम्मडिमंसपरिसेसं ॥  
उद्दाहंति वधंति य बडिसामिसलगमब्बं व ॥ ९७१ ॥  
उदए पवेज्जहि सिला अग्गी ण डहिज्ज सीयलो होज्ज ॥  
ण य महिलाण कदाई उज्जुयभावो णरेसु हवे ॥ ९७२ ॥

पाषाणोऽपि तरेत्तोये न दहेदपि पावकः ॥

न चित्तं पुरुषे स्त्रीणां प्रांजलं जातु जायते ॥ १८९ ॥

विजयोदया—उदय पवेज्ज खु उदके तरेदपि शिला, अग्निरपि न दहेत्, शीतलो वा भवेत् । नैव वनितानां कदाचिद्रेषु कञ्जु भवति मन ॥

मूलारा—उदोहंति निष्काशयंति । एता टीकाकारो नेच्छति ॥

मूलारा—उदये जले । पवेज्ज खु तरदपि । कदाइ कदाचित् । उज्जुगभावो प्राजलपरिणामः ॥

अर्थ—अपनेपर आसक्त हुआ पुरुष चर्म, हड्डी और मांस ही शेष जिसका बचा हुआ है ऐसा देखकर गलको लगे हुए मत्स्य के समान उसको मार देती है अथवा उसको अपने घरमेंसे निकाल देती है अर्थात् जब पुरुषके पास धन नहीं रहता है तब स्त्रिया उसको अपने घरसे निकाल देती हैं या उसको मार डालती हैं, कदाचित् पानीमें खिला तरने लगेगी, अग्नी अपना दाहक स्वभाव छोड़कर ठंडी होगी तोभी स्त्रियोंका मन कभीभी कपट छोड़कर सरलता नहीं धारण करेगा

उज्जुयभावमि असत्तयमि किध होदि तासु वीसंभो ॥

विस्संभमि असंते का होज्ज रदी महिलियासु ॥ १७३ ॥

प्राजलत्वं विना स्त्रीषु विस्संभो जायते कथम्

विस्संभेण विना तासु जायते कीदृशी रतिः ॥ १९० ॥

विजयोदया—उज्जुगभावमि कञ्जुभावे असति कथं भवति तासु विस्संभ । असति विस्संभे का वनितासु रतिः ॥ मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—स्त्रियोंमें सरलपना नहीं रहता है अतः वे पुरुषोंपर विश्वास रखती नहीं विश्वासके अभावमें उनका प्रेम भी स्थिर नहीं रहता-

गच्छिज्ज समुद्स्स वि पारं पुरेसो तरित्तु ओषवलो ॥

मायाजलमि महिलोदधिपारं ण य सक्कदे गंतुं ॥ १७४ ॥

बाहुभ्यां जलधेः पारं तीर्त्वा याति परं ध्रुवम् ॥

न मायाजलधेः स्त्रीणां बहुविधमधारिणः ॥ ९९१ ॥

विजयोदया—गच्छिज्ज गच्छेत् समुद्रस्य अपि परं पारं तीर्त्वा महाबलः । मायाजलवनितोदधिपारं नैव गंतुं शक्नोति ॥

मूलारा—तरितु तीर्त्वा । ओघबलो महाबलः । बाहुबल इत्यन्ये ॥

अर्थ—सामर्थ्यवान् मनुष्य समुद्रका दूसरा किनारा प्राप्त कर सकता है, परंतु कपटरूपी जल जिसमें है ऐसा स्त्रीरूपी समुद्रको तीरकर दूसरा किनारा पुरुषके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है

रदणाउला सवग्धाव गुहा गाहाउला च रम्मणदी ॥

मधुरा रमणिज्जावि य सदा य महिला सदीसा य ॥ ९७५ ॥

सव्याघ्रेव गुहा रत्नैर्बहुभेदैर्विराजते ॥

रमणीया सदोषा च जायते महिला सदा ॥ ९९२ ॥

विजयोदया—रदणाउला रत्नसंकीर्णा सव्याघ्रा गुहेव रम्या नदी आहाकुलेव मधुरा रम्या शठा सदोषा च वनिता ॥

मूलारा—रयणाउला रत्नाकीर्णा । वा यथा । गाहाउला मकरादिसंकुला रम्मणदी रमणीयापगा ॥

अर्थ—पर्वतकी रत्नपूर्ण गुहा सुंदर दीवती है परंतु उसके अंदर व्याघ्रका निवास होनेसे वह भयानक भी है नदीका स्वरूप ऊपरसे रमणीय दीखाता है, परंतु अंदर मकरादि क्रूर जंतुआंका निवास होनेसे वह भयावह है वैसे स्त्री भी मधुर और सुंदर होने पर भी कपटमय और दोषोंसे भरी हुई होनेसे अहित करने वाली ही है-

दिट्ठं पि ण सब्भावं पडिक्खज्जिदि णियडिमेव उहेदि ॥

गोघाणुलुक्कमिच्छी करेदि पुरिसस्स कुलजावि ॥ ९७६ ॥

न दृष्टमपि सद्भावं वक्कधीः प्रतिपद्यते ॥

गोघान्तादि विद्यते सा पुरेये कुलपुत्र्यपि ॥ ९९३ ॥

विजयोदया—विद्वंषि दृष्टमपि न प्रतिपद्यते सद्भावं निक्षिप्तबोधमस्यस्यति ॥

मूलारा—विद्वंषि परेणालोकितामपि । सव्यावं दोषरूप । उदेदि उपन्यस्यति । अयमर्थः परेण दृष्टमपि दोष सत्यं न प्रतिपद्यते स्त्री, अस्त्ययं दोष इति न मन्यते किंतु नास्त्ययं न कृतो मयेति वंचनामेवावष्टभ्नाति । अत्रैवार्थे दृष्टतमाह—गोधाणुलुक् गोधाया इव ग्राह पुरुषविषये कुलपुत्रिकापि करोति । यथा गोधा स्वावष्टब्धा भूमिं वलात्कारेणापि लाज्यमाना न त्यजति तथा योपिदपि स्वगृहीतं पदं न मुचति । यत्नशतेनापि लाज्यमाना । अन्ये तु गोधाणुलुक् गोधान्तर्धानमाहुः । यथा गोधा पुरुषं दृष्ट्वा तत आत्मानं गोपायति । तथा योपिदपि यथैव मा न पश्यति तथा करोमीति । अथवा गोधाया अन्तर्द्धि करोति ग्राहेण गोधामपि तिरस्करोतीत्यर्थः । तथा चोक्तम्—

न दृष्टमपि सद्भावं वक्रधीः प्रतिपद्यते ॥

गोधान्तर्द्धि विचत्ते सा पुरुषे कुलपुत्र्यपि ॥

अथर्वेव व्याख्येयं—परेण क्रियमाणं शोभनमपि अर्थमात्मना दृष्टमपि न प्रत्येति स्त्री, किं तर्हि तमशोभनं वक्र-  
तथा प्रत्येति । तथा पुरुषस्य सवधित्वेनात्मानं गोपायति । तथा चोक्तम्—

प्रत्येति न सद्भावं दृष्ट्वापि हि कपटनाटकं तनुते ॥

गोधागुप्तिं योपा विवधाति नस्त्य कुलजापि ॥

अर्थ—दूसरे मनुष्यने स्त्रीका कुछ दोष देखा हो तोभी वह मेरेमें यह दोष है अथवा मैंने यह दोष किया है ऐसा कभी नही कहेगी कपटसे उस दोषका आच्छादन ही करेगी, जैसा गोह नामक प्राणी किसी स्थानका आश्रय लेकर उसको इतना चिपक जाता है कि उससे कोईभी अलग नहीं करसकते हैं, वैसे उष्ट स्त्री अपराध करके भी मैंने यह अपराध किया है ऐसा कभीभी स्वीकार न करेगी

पुरिसं वधमुवणेदिचिं होदि बहुगा णिरुचिवाद्मि ॥

दोसे संघादिदि य होदि य इत्थी मणुस्सस्स ॥ ९७७ ॥

दोषाच्छादनतः सा स्त्री वधूर्वधविधानतः ॥

प्रमदा गदिता प्राज्ञैः प्रमादयद्बहुलत्वतः ॥ ९९४ ॥



विजयोदया—पुरिस वधमुवणेदित्ति पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति निरुच्यते । मनुष्यस्य दोषान्संहतान्करोतीति स्त्रीति निगद्यते ॥

स्त्रीवाचकशब्दनिरुक्तिद्वारेण तद्दोषानाह—

मूलारा—पुरिसमित्यादि । गिरुत्तिवादिस्मि व्याकरणे । दोसं संवाडेत्ति दोषान्संघातीकरोति । पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति व्यपदिश्यते योषित् । तथा मनुष्यस्य दोषान्संहतीकरोति इति स्त्रीति च ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको मारती है इस वास्ते उसको 'वधु' कहते हैं पुरुषमें यह दोषोंका समुदाय संचित करती है इस वास्ते इसको 'स्त्री' यह नाम है.

तारिसओ णत्थि अरी णरस्स अण्णेत्ति उच्चदे णारी ॥

पुरिसं सदा पमत्तं क्कुणदित्ति य उच्चदे पमदा ॥ ९७८ ॥

नारिर्यत्तः परोस्त्यस्यास्ततो नारी निगद्यते ॥

यतो विलीयते दृष्ट्वा पुरुषं विलया ततः ॥ ९९५ ॥

विजयोदया—तारिसओ तादृगन्यो नरस्य नारिरस्तीति नारीत्युच्यते । पुरुषं सदा प्रमत्तं करोतीति प्रमदेति निरुच्यते ॥

मूलारा—तादृगन्यो नरस्य नारिरस्तीति नारी । पमदा पुरुष प्रमत्तं करोतीति प्रमदा ॥

अर्थ—मनुष्यको इसके समान दूसरा शत्रु नहीं है अतः इसको 'नारी' कहते हैं, यह पुरुषको प्रमत्त अर्थात् उन्मत्त बनाती है इस लिये इसको 'प्रमदा' कहते हैं

गलए लायदि पुरिसरस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा ॥

जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा य ॥ ९७९ ॥

अबलत्ति होदि जं से ण वढं हिदयम्मि धिदिबलं अत्थि ॥

-कुम्भरणोपायं ज जणयदि तो उच्चदि हि कुमारी ॥ ९८० ॥

आलं जणेदि पुरिसस्स महल्लं जेण तेण महिला सा ॥  
 एवं महिलाणामाणि होति असुभाणि सव्वाणि ॥ ९८१ ॥  
 णिलओ कलीए अलियस्स आलओ अविणयस्स आवासो ॥  
 आयमस्सवासधो महिला मूलं च कलहस्स ॥ ९८२ ॥  
 कुत्तिसत्ता नुयंतो मारी कुमारी गदिता नत्तः ॥  
 विभेति धर्मकर्मभ्यो यतो भूरुस्ततो मत्ता ॥ ९९६ ॥  
 यतो लति महादोपं महिलाभिहिता नत्तः ॥  
 अबला भणयते तेन न येनास्ति बल ह्दि ॥ ९९७ ॥  
 जुपते प्रतित पापं यतो योषा ततो मत्ता ॥  
 यतो ललति दुवृत्ते ललना भणिता ततः ॥ ९९८ ॥  
 नामान्यपि दुरथानि जायते योयितामिति ॥  
 समस्तं जायते प्रायो निदितं पापचेतसाम् ॥ ९९९ ॥  
 मत्सरविनयायासक्रोधशोकायशोभियाम् ॥  
 सर्वासां कारणं रामा विषाणामिव सर्पिणी ॥ १००० ॥

विजयोदया—णिलओ कलीण कलेर्निलय । अलीकम्यालय । अविनयस्याकरः । आयासस्यावकाशः ।  
 कलहस्य मूलं युवतिः ।

मूलरा—पुरुषस्य गलेऽनर्थं लगायतीति, पुरुषं वा नृपं विलीने नि विलया कथ्यते । जोजदीत्यादि नरं  
 दुःखेन योजयतीति युवतिर्योषा च ॥

मूलरा—अवलन्ति नास्ति हृदये धृतिबलमस्या इति अत्रला । कुम्भे मरणोपाय जनयति इति कुमारी ॥

मूलरा—महिला पुरुषस्य महान्त आल जनयति इति महिला । मत्ता प्रायश्चर्ये श्रीविजयाचार्यो नेच्छति ॥

मूलरा—कलीए रागद्वेषयोः । आगरो धाकरः । आवमवो आयामः ॥

अर्थ—पुरुषके गलेमें यह अनशोंको बांधती है अथवा पुरुषको देखकर उसमें यह लीन होजाती है अतः इसको 'विलया' कहते हैं. यह स्त्री पुरुषको दुःखसे संयुक्त करती है अतः 'युवति' और 'योषा' ऐसे दो नाम इसके हैं.

इसके हृदयमें धैर्यरूपी बल दृढ रहता नहीं अतः इसको अबला कहते हैं. कृत्सित ऐसा मरण का उपाय उत्पन्न करती है इस लिये इसको कुमारी कहते हैं यह पुरुषके ऊपर दोषारोपण करती है उस लिये इस को महिला कहते हैं. ऐसे स्त्रियोंके जितने नाम हैं वे सर्व अशुभ ही हैं स्त्रिया रागद्वेषका निवासस्थान है असत्य भाषणका घर है, अविनयका स्थान है और दुःखोंका कारण हैं और कलहका मूल हैं.

सोगरस सरी वेरस्स खणी गिवहो वि होइ कोहरस ॥

णिचओ णियडीणं आसवो य महिला अकित्तीए ॥ ९८३ ॥

कुलजातियशोधर्मशरीरार्थशमादयः ॥

नाइयंते योषया सर्वे वात्यया तोयदा इव ॥ १००१ ॥

विजयोदया—सोगरस सरी शोकस्य नदी। वैरस्यवनि। निवह कोपस्य। निचयो निहृतीनां। अकीर्ते-राश्रयो युवति' ॥

मूलार—सरी नदी, खणी खानि', निवहो सघातः। गिवओ राक्षिः ॥

अर्थ—स्त्री शोककी नदी है. वैर की भूमि-अर्थात् उत्पत्ति स्थान है. स्त्री कोपका समुदाय रूप है कपटोंका समूह है और अकीर्तिका आधार है

णासो अत्यस्स खओ देहस्स य दुग्गदीपमग्गो य ॥

आवाहो य अणत्थस्स होइ पहवो य दोसाणं ॥ ९८४ ॥

पावकः सुखदारूणां आवासो दुःखपाथसाम् ॥

प्रव्ययो व्रतरत्नानामनर्थानां निकेतनम् ॥ १००२ ॥

विजयोदया—णासो अत्यस्स अर्थस्स नारा. । देहस्य क्षय. । दुर्गतिमार्ग. । अनर्थस्य कुल्या । दोषाणा प्रभवः॥  
मूलारा—आवाहो गवादीना जलगानस्थानं कुल्येतपर. । पवाहो प्रवेशः ॥  
अर्थ—स्त्री धननाशका कारण है देहमें क्षयरोग उत्पन्न करती है दुर्गतिका मार्ग है और अनर्थोंका निवास है और दोषोंकी उत्पत्तिस्थान है

महिला विधो धम्मस्स होदि परिहो य मोक्खमग्गस्स ॥  
दुक्खाण य उप्पत्ती महिला सुक्खाण य विवत्ती ॥ ९८५ ॥  
असल्यानां गृहं योषा वचनानां वसुंधरा ॥  
कुठारी धर्मवृक्षाणां सिद्धिसौधमहागला ॥ १००३ ॥  
दोषणामालयो रामा मीनानामिव वाहिनी ॥  
गुणानां नाशिका माया व्रतानामिव जायते ॥ १००४ ॥

विजयोदया—महिला विधो वनिता विधो भवति । धम्मस्स धर्मस्य । परिधो मोक्षमार्गस्य । दुःखाना चोत्पत्तिः । सौख्यानां च विपत्तिः ॥

मूलारा—परिहो परिच. । अर्गल्यर्थः । विवत्ती विनाशः ॥  
अर्थ—स्त्री धर्माचरणमें विघ्न समान है. मोक्षमार्गमें यह अर्गलाके समान प्रतिवधक है दुःखोंकी उत्पत्तिस्थान है और सुखोंका नाश करनेवाली है

पासो व बांधिदुं जे छेत्तुं महिला असीव पुरिसस्स ॥  
मिछुं व विधिदुं जे पंकोव निमज्जिदुं महिला ॥ ९८६ ॥  
बंधने महिला पाशः खड्गः पुंसां निकर्तने ॥  
छेदने निशितः कुंतः पंकोऽगाधो निमज्जने ॥ १००५ ॥

विजयोदया—पासोव बांधिदुं जे पाश इव बांधितुं । सुगमा गाथा अनादरो व्याख्याने ॥

मूलारा—बंधिदुं जे बंधु । विधिदुं जे छेनु । पको पणको नाम कर्दमेभेदः । निमब्बिदुं छुडिनुं ॥

अर्थ—बी पुरुषको बंधनकेलिये पाशके समान है पुरुषको तोडनेके लिये कुन्हाडकि समान है और विद्ध करने के लिये चाण के समान है और दुन्ननेके लिये क्रीचवके समान है.

सूलो इव भित्तु जे होइ पवोडुं तथा गिरिणी वा ॥

पुरिसस्स खुण्णं कहुमोव मच्चुं व मरिदुं जे ॥ ९८७ ॥

अमीवि य डहिदुं जे मदेव पुरिसस्स मुब्बिदुं महिला ॥

महिला णिकत्तिदुं करकचोव कंडूव पडलेदुं ॥ ९८८ ॥

पाडेदुं परसू वा होदि तथा मुगरो व तोडेदुं ॥

अवहणं पि य जुण्णेदुं जे महिला मणुस्सस्स ॥ ९८९ ॥

चंदो हविज्ज उण्हो सीदो सूरु वि थडुमागांस ॥

ण य होज्ज अदोसा भदिआ वि कुलवालिया महिला ॥ ९९० ॥

एए अण्णेय बहुदोसे महिलाकदे वि चितयदो ॥

महिलाहिं तो विचितं उब्बियदि विसग्गिसरसीहिं ॥ ९९१ ॥

वग्घदीणं दोसे णच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो ॥

तह महिलाणं दोसे दंहु महिलाओ परिहरइ ॥ ९९२ ॥

महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीचाणं ॥

तत्तो अहियदरा वा तेसिं बलसत्तिजुत्ताणं ॥ ९९३ ॥

जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिदिदाओ महिलाओ ॥  
 तह सीलरक्खयाणं महिलाणं णिदिदा पुरिसा ॥ ९९४ ॥  
 किं पुण गुणसाहिदाओ इच्छीओ अत्थि वित्थडजसाओ ॥  
 णरल्लोगदेवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥ ९९५ ॥  
 तित्थयरचक्कधरवासुदेवबलदेवगणधरवरणं ॥  
 जणणीओ महिलाओ सुरणरवरेहिं महियाओ ॥ ९९६ ॥  
 एगपदिव्वइक्कणावयाणि धारिंति किच्चिमाहिलाओ ॥  
 वेधव्यतिव्वदुक्खं आजीवं णिति काओ वि ॥ ९९७ ॥  
 सीलवदीवो सुच्चति महीयले पत्तपाडिहेराओ ॥  
 सावाणगुहसमत्थाओ वि य काओव महिलाओ ॥ ९९८ ॥  
 उग्घेण ण वूढाओ जलंतवोरगिणा ण दूढाओ ॥  
 सप्पेहिं सावज्जेहिं वि हरिदा खच्चा ण काओ वि ९९९ ॥  
 सव्वगुणसमग्गाणं साहूणं पुरिसपवरसीहाणं ॥  
 चरमाणं जणणित्तं पत्ताओ हवंति काओ वि ॥ १००० ॥  
 मोहोदयेण जीवो सब्बो दुस्सीलमइल्लिदो होदि ॥  
 सेो पुण सब्बो महिला पुरिसाणं होइ सामण्णा ॥ १००१ ॥  
 तस्सा सा पल्लवणा पउरा महिलाण होदि अधिकिच्चा ॥  
 सीलवदीओ भणिदे दोसे किह् णाम पावंति ॥ १००२ ॥  
 इत्थिगदा ॥

नराणां भेदने शूलं बहूने नगवाहिनी ॥  
 मारणे दारुणो मृत्युर्मलिनीकरणे मयी ॥ १००६ ॥  
 अनलो दहने पुसां मुदरश्चूर्णने परः ॥  
 ज्वलन्ती पवने कंदूः करपत्रं विपादने ॥ १००७ ॥  
 उष्णश्चंद्रो रविः क्षीतो जायते गगनं घनम् ॥  
 नादोपा प्रायशो रामा कुलपुत्र्यपि जातु चित् ॥ १००८ ॥  
 सर्पिणीव कुटिला विभीषणा वैरिणीव बहुदोषकारिणी ॥  
 मंडलीव मलिना नितंविनी चाटुर्न वितनोति यच्छतम् ॥ १००९ ॥  
 नारीभ्यः पश्यतो दोषानेतानन्यांश्च सर्वथा ॥  
 चित्तमुद्विजते पुंसो राक्षसीभ्य इव स्फुटम् ॥ १०१० ॥  
 योपस्त्यजंति विद्वांसो दोषान्जात्वेति दूरतः  
 व्याघ्रीरिव कृपाहीनाः परामिपपरायणाः ॥ १०११ ॥  
 दोषा ये संति नारीणां नराणां ते विशेषतः ॥  
 द्रष्टव्या दुष्टशीलानां प्रकृष्टयलेतेजसाम् ॥ १०१२ ॥  
 व्याघ्रा इव परित्याज्या नरा दूरं कुचेतसः ॥  
 रामाभिः शुद्धशीलाभी रक्षतीभिर्निजं व्रतम् ॥ १०१३ ॥  
 यथा नरा विमुच्यंते वनिता व्रत्तचारिणः ॥  
 त्याज्यास्ताभिर्नरा व्रत्तचारिणीभिस्तथा सदा ॥ १०१४ ॥  
 न रामा निखिलाः संति दोषवन्त्यः कदाचन ॥  
 वैवता इव दृश्यंते वंदिता बहवः स्त्रियः ॥ १०१५ ॥  
 मातरस्तीर्थकर्तृणां सुवनोद्योतकारिणां ॥  
 जायंते वनिता धन्याः शक्रवयस्कर्मभंगुजाः ॥ १०१६ ॥

धात्राभारव शुद्धाभिमणयः पुरुतेजसः ॥ १०१७ ॥  
 पुरन्तनि न जायते शुद्धशीलाः स्त्रियो विना ॥  
 विना नीरदमालाभिः पानीयानां क संभवः ॥ १०१८ ॥  
 आजन्म विधवाः काश्चिद्रक्षचर्यमखंडितम् ॥  
 धरति दुर्धरं धन्या ज्वलद्दीपमिवोज्ज्वलम् ॥ १०१९ ॥  
 कन्याभिरार्गिकाभिश्च चीयते दुश्चर तपः ॥  
 विच्छिद्य शमशस्त्रेण मन्मथप्रतियन्धकम् ॥ १०२० ॥  
 ध्रियते शुद्धशीलाभिर्यावज्जीवमदूयितम् ॥  
 पतिव्रत्नव्रत स्त्रीभिः पराभिः पूजितं सताम् ॥ १०२१ ॥  
 देवेभ्यः प्रातिहार्याणि प्राप्ता विख्यातकीर्तियः ॥  
 योषाः शीलप्रसादेन श्रूयते बहवो सुवि ॥ १०२२ ॥  
 शीलवंत्यो विलोक्यन्ते ता धन्या बुधवंदिताः ॥  
 समर्थाः क्षीतलीकर्तुं या ज्वलंतं हुताशनम् ॥ १०२३ ॥  
 सर्वशस्त्रसमुद्राणां वदितानां जगत्त्रये ॥  
 सवित्र्यः सन्ति शीलाढ्याः साधूनां चरमांगिनाम् ॥ १०२४ ॥  
 निमज्ज्यन्ते न पानीयैर्नीयन्ते न नदीजलैः ॥  
 सत्यो व्यालैर्न भक्ष्यन्ते न दह्यन्ते हुताशनैः ॥ १०२५ ॥  
 मोहोदयेन जायते स्त्रीपुंसामशुभाः शुभाः ॥  
 परिणामा इति ज्ञात्वा मोहो नियो न जन्तवः ॥ १०२६ ॥  
 साधारणेऽत्र सर्वेषां जीवानामनिवारिते ॥  
 दुष्टाः सन्ति परीणामास्ततः कार्योऽस्य निग्रहः ॥ १०२७ ॥



श्लाघ्या भवन्ति नार्योऽपि शुद्धशीला महीयसा ॥  
 स्त्री पुमानिति कुर्वन्ति क्षोभुर्वी मंदमेधसः ॥ १०२८ ॥  
 सामान्येन ततो नेह निविताः सन्ति योषितः ॥  
 शुद्धशीला न गच्छन्ति दूषण हि कदाचन ॥ १०२९ ॥  
 शुद्धशीलकलितासु जायते नांगनासु चरितं मलीमसं ॥  
 आस्पद हि विदधाति तामसं हंसरश्मिषु कदाचनापि किं ॥ १०३० ॥  
 इति स्त्री दोषाः ॥

इत्थि गदा ॥

मूलारा—सूखो वि य शूलमिव । पवोढुं प्रवाहयितुं संसारणवे पतयितुं । मच्चुञ्च मल्युखि ॥  
 मूलारा—अगणिवि य अग्निरिव । छर्दिं जे वग्धु । मदेव मगाविजनिताचित्तविकार इव । गज्जिहुं मूढीभ-  
 वितुं । निक्तिर्दु संढयितु । करकचोव करपत्रमिव । कंढ कंजु । स्वेदनिका । पडुलेहुं स्वेदयितुम् । पक्खुमिति यावत् ।  
 मूलारा—पावेहुं वारयितुं परस्स कुठारः । अवहण्णं लोहकारस्य घनः ॥  
 मूलारा—घट स्तब्धं, कठिनं, भदिया भद्रिका । अकरा ।  
 मूलारा—मलिलाद्धितो स्त्रीभ्यः । उन्विथयि उद्धिजते ॥  
 मूलारा—स्पष्टम् ।

एवं प्रवंचेन स्त्रीषु दोषान्यवद्वर्यं नीचपुरुषेणपि तेषां ताभ्योऽधिकतराणां वा सद्भावं भावयति ॥  
 मूलारा—वल अन्नाविजनितासामर्थं । सन्ति शक्तिः वीर्यगर्वित्यप्रभावगित्यर्थः । ताभ्यां सशितानां स्त्रीभ्योऽधिक-  
 तरमित्यत्रापि लिङ्गाविपरिणामेनानुवर्त्यम् ॥

शीलरिरक्षिपया पुमिर्दुष्टाः क्रिय इव स्त्रीभिरपि दुष्टपुमांसो जुगुप्स्या इति दर्शयति—  
 मूलारा—पिदिवा निशा लाज्या इत्यर्थः । शीलरभिक्षयाणं शुचिपरितं रक्षितुमुत्तमानां ॥  
 ननु च शीलरभिक्षयाणमित्येतदौपक्रमयत्प्रतिपादनपरेण पूर्वोक्तप्रवंचेन स्त्रीणां त्रिकुर्यते तत्किमिदानीं का-  
 त्रिच्छीलवत्योऽपि स्त्रियः संभयेयुरिति पर्यनुज्ञानं प्रति सविस्मयं स्त्रीमतदिकानां गुणप्रामसद्भावल्यापनार्थमाह—

मूलारा—किं पुण किं पुनर्वक्तव्यम् ॥ यद्यपि जातिभावेण संसारशरीरमोगनिर्विण्णैर्मोक्षसुखैकरसिकैः संयमि-  
मिस्तथापि काश्चिदुपातिशयशालिन्यस्तेषामपि सुतिपदं भवन्तीति विस्मयद्योतनार्थमेतत् । यतः गुणेत्यादि । वित्यज-  
साओ विस्तीर्णकीर्तयः ॥

विशेषेणाह—

मूलारा—गणधरवरणं तीर्थकराग्रशिष्याणां वृषभसेगुरस्सरेन्द्रभूतिपर्यंतगणधरप्रधानानां । सुरणरपरवरेहिं  
सौधर्मेन्द्रादिदेवेन्द्रभरतचक्रवर्त्यादिनेन्दैः ॥

स्त्रीविशेषाणां शीलपालनातिशयमुद्गृह्यति—

मूलारा—एगपदिव्वद एकपतिव्रतं देवभिगुरुसाक्षिकपाणिग्रहणप्रतिपन्ने भर्तरि प्रवृत्ति । कण्णावद कन्या-  
व्रतं कौमारव्रदचारित्र । किन्तिमालाओ यशोभूषणाः । किन्तिमहिलाओ इति पाठे कीर्तियुक्ताः स्त्रिय इत्यर्थः ॥

वेधन्वन्तिवदुक्त्वं रंढात्वदुःसहमहादुःख । जीवंतं जीवितपर्यन्तं णति नयन्ति प्रापयन्ति । कावो काश्चित् ॥

तथा काश्चिच्छीलवलादभिव्यक्तशापानुग्रहशक्तयोऽपि लोके श्रूयते इत्याह—

मूलारा—सुञ्चति श्रूयते । पत्तपाडिहेराओ देवतादिश्यः प्रतिलब्धव्यापत्त्यतिकारसत्काराः । सावाणुगइसस्म  
त्थाओ आकाशोपकारसमर्थः । कावो वि काश्चित्सीतादयः ॥

काश्चिच्च शीलव्रतप्रतिवद्धतत्त्वोर्व्यापत्तयोऽपि श्रूयते इत्याह—

मूलारा—ओघेण महानदी जलप्रवाहेण । ण वूढाओ न नीताः । कावो वि काश्चन शीलवत्त्यः सुलोचनादयः ।  
तद्व्रमोक्षगामिपुरंल्लप्रसूतेनं सत्यापितनिजसुचरितनिर्वाहाः काश्चिच्छ्रूयते इत्युपदिशति—

मूलारा—चरिमाणं चरमदेहानां । जणित्तं सवित्रीभावं । कावो वि सुनंदादयः ।

किंच सर्वेऽपि जीवाः प्रकृत्यैव शुद्धबुद्धस्वभावाः शीलमालिन्यं तु मोहोदयैकनिमित्तमेयां स च सर्वेषां संसा-  
रिणा प्रायेण साधारण इति मोह एव निदनीयो न जंतव इति शिक्षयनाथाद्वयेन प्रस्तुतमुपसंहरति—

मूलारा—स्पष्टम् ।

मूलारा—सा प्रागुक्ता । पणवणा दोषप्रख्यापना । पवरा महिला प्रवराः स्त्रियः अधिकृत्य न भवतीति संबंधः  
कुत इत्याह—भणिदा प्रतिपादितान् । किध णाम कथमहो न कथमित्यर्थः ॥ स्त्रीदोषः ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको शूलके समान भेद करती है जैसे पर्वत परसे नीचे गिरनेवाली नदी पदार्थको बड़े जोरसे अपने साथ बहाती हुई सद्युद्धमें ले जाती है वैसे स्त्री भी पुरुषको शयनगुहमें फेक देती है जैसे कीचड़ मनुष्यको खोल फमाता है वैसे स्त्री भी पुरुषको कीचड़के समान फमाती है जैसे मृत्यु मनुष्यको मारता है वैसे स्त्री भी पुरुषको मारती है, अग्नीके समान स्त्री पुरुषको जलती है, मद्य जैसे चिन्तमें विकार उत्पन्न करता है वैसे स्त्री भी पुरुषके चिन्तको विकृत करती है, करंत जैसा लकड़ीको फाड़ता है उसे स्त्री भी मनुष्यके हृदयको दुर्भाषण और अयोग्य व्यवहारसे चीरती है खुजलीसे जैसे मन अंगमें कंड खुजली उत्पन्न होती है वैसे इसके सहवाससे शांति नहीं मिलती है, यह परशुके समान फाड़ती है व शूद्रके समान दुराचरणसे पुरुषके हृदयपर आघात उत्पन्न करती है पुरुषके चूर्ण करनेके लिये स्त्री लोहके घन समान है।

चंद्र कदाचित् शीतलताको त्यागकर उष्ण चनेगा, सूर्य भी थड़ा होगा, आकाश भी लोहपिंडके समान घन होगा परंतु कुलीन वंशकी भी स्त्री कल्याणकारिणी और सरलस्वभावकी धारक नहीं होगी।

ऊपर कहे हुए दोषोंके साथ और भी अनेक दोष स्त्रियोंमें हैं, उनका यदि पुरुष विचार करेगा तो वे स्त्रिया उसको विष और अश्विके समान भयानक दीखेंगी और उनसे उनका चित्त लोटेगाही, व्याघ्र, सर्प वगैरे क्रूर प्राणीओंके दोष जानकर जैसे मनुष्य उनसे दूर रहता है वैसे स्त्रियोंमें दोष है ऐसा जानकर पुरुषको उनका त्याग करना उचित है।

स्त्रियों में जो दोष हैं वे ही दोष नीच पुरुषों में भी रहते हैं, इतनाही नहीं स्त्रियोंसे भी उनकी अन्नादिकों से उत्पन्न हुई शक्ति अधिक रहनेसे उनमें अधिक दोष रहते हैं।

शीलका रक्षण करनेवाले पुरुषको स्त्री जैसे निंदनीय अर्थात् त्याग करने योग्य है वैसे शीलका रक्षण करने वाली स्त्रियोंको भी पुरुष निंदनीय अर्थात् त्याज्य है ससार, शरीर और भोगमें पित्त मुनिओंके द्वारा स्त्रिया निंदनीय मानी गई है तथापि जगतमें कोई २ स्त्रिया गुणातिशयसे शोभायुक्त होनेसे मुनिओंके द्वारा भी स्तुति योग्य हुई हैं उनका यश जगतमें फैला है ऐसी स्त्रिया मनुष्यलोकेमें देवताके समान पूज्य हुई हैं देव उनको नमस्कार करते हैं तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र और गणधरादिकोंको प्रसवनेवाली स्त्रिया देव, और मनुष्योंमें जो प्रधान व्यक्ति हैं उनसे वंदनीय हो गई हैं, कितनेक स्त्रिया एक पतिव्रत धारण करती हैं, कितने

स्त्रिया आजन्म अविवाहित रहकर निर्मल ब्रह्मचर्यं व्रत धारण करती हैं कितनेक स्त्रिया वैधव्यका तीव्र दुःख आजन्म धारण करती हैं

शीलव्रत धारण करनेसे कितनेक स्त्रियोंमें शाप देना और अशुभ करनेकी भी शक्ति प्राप्त हुई थी ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन है देवताओंके द्वारा ऐसी स्त्रियोंका अनेक प्रकारसे माहात्म्य भी दिखाया गया है

ऐसी महाशीलवती स्त्रियोंको जलप्रवाह भी बहनेको असमर्थ है अग्नि भी इनको नहीं जला सकती है. वह शीतल होती है ऐसी स्त्रियोंको सर्प व्याघ्रादिक प्राणी खा नहीं सकते हैं अथवा मुहमें लेकर अन्यस्थानमें नहीं फेंक देते हैं

सर्पण गुणोंसे परिपूर्ण, श्रेष्ठ पुरुषोंमेंभी श्रेष्ठ, तद्भव मोक्षगामी ऐसे पुरुषोंको कितनेक शीलवती स्त्रियोंने जन्म दिया है

मोहोदयसे जीव कुशल बनते हैं मलिन स्वभावके धारक बनते हैं यह मोहोदय सर्व स्त्रियोंमें और पुरुषोंमें समान रीतसे है. जो पछि स्त्रियोंके दोषका विस्तारसे वर्णन किया है वह श्रेष्ठ शीलवती स्त्रियोंके साथ संबंध नहीं रखता है अर्थात् वह सब वर्णन कुशील स्त्रियोंके विषयमें समझना चाहिए क्योंकि शीलवती स्त्रिया गुणोंका पुंजस्वरूपही है. उनको दोष कैसे छू सकते हैं स्त्रीकृत दोषैक यहाँतक वर्णन किया ।

ऋगतान्दोपानमिषाद्य मशुचिन्निरूपणार्थं उत्तरप्रबंधः—

देहस्य बीयणिष्पत्तिरेत्तआहारजम्मबुद्धीओ ॥

अवयवणिग्गमअसुई पिच्छसु वाधी य अधुवत्तं ॥ १००३ ॥

देहस्य बीजनिष्पत्तिक्षेत्राधोजन्मबुद्धय' ॥

अंसाश्च निर्गमोऽशौचं ज्ञेयं व्याधिरनित्यता ॥ १०३१ ॥

विजयोदया—देहस्य बीज इत्यादिक । देहस्य बीज, निष्पत्ति, क्षेत्र, आहार, जन्म, वृद्धि, अवयवः, निर्गमः, अशुचि, व्याधिरधुवतेत्येतान्यस्येति सूरिविधीति श्रपक ॥

एवं बीजोपान्याख्यायेदानीं देहाशुचित्वं समपठया व्याचष्टे । तत्र शरीरस्य बीज, निष्पत्तिः, क्षेत्रमाहारो, जन्म, वृद्धिरवयवनिर्गमाशुचित्वमसारत्वश्रेक्षणं, व्याधयोऽधुबल चेति द्वादश प्रवचन व्याचर्चिर्पुः क्षपकं प्रत्युद्दिशति —

मूलारा - देहस्स प्रकरणन्मनुजानामिति द्रष्टव्यं । निष्पत्ति निष्पद्यमानता । जन्म प्रसवः । बुद्धी जन्मक्षणो-  
त्तरकालभाव्युपचयः । णिमस कर्णाद्यगोभ्यो निर्गच्छन्तीति निर्गमाः कर्णमलादयः । पेच्छसु अहो महासत्त्व, कर्मक्षपणो-  
द्यत, सुसुक्षो । ब्रह्मचर्यव्रतसिद्ध्यर्थं देहस्य बीजादीनि प्रेक्षस्व त्वं ।

अपवित्रताका वर्णन करनेके लिए अब उत्तर प्रबंध है—  
अर्थ—देहका बीज, उत्पत्ति, क्षेत्र, आहार, जन्म, वृद्धि, अवयव, निर्गम, अशुचि, व्याधि और नश्वरता

इतने प्रकारोंको हे क्षपक ! तुम देखो ऐसा आचार्य क्षपकको कहते हैं ? देहके बीज, उत्पत्ति वगैरह विषयोंका विवे-  
चन यहसि आचार्य करेंगे ।

देहस्य बीजमित्येतद्व्याख्यानायोत्तरगाथा—

देहस्स सुक्कसोणिय असुई परिणामिकारणं जह्मा ॥  
देहो वि होइ असुई अमेज्झघदपूरवो व तदो ॥ १००४ ॥

देहस्याशुचिनिर्बीजं यतो लोहितरेतसी ॥  
ततोऽसावशुचिर्ज्ञेयो यथा गूथाज्यपूरकः ॥ १०३२ ॥

विजयोद्या—देहस्य बीजं मनुजाना शुक्रशोणितं । अशुचि शुक्र पुंसः, शोणितं च वनिताया परिणामि  
कारण । जह्मा यस्मात् । परिणामिकारण शरीरत्वेन तदुभय परिणमति तस्मात्परिणामिकारणं । देहोवि असुइ शरीरमपि  
अशुचि तत् पव । अमेज्झघदपूरवो च अमेध्यघृतपूरक इव । यदशुचिपरिणामि कारण तदशुचि यथास्येध्यघृतपूरक  
देहबीजं गाथात्रयेण व्याचक्षाणः प्रथम मानुषवपुषो अशुच्युपादानकारणकत्वेन अशुचित्वमुपपादयति—

मूलारा—सुक्कसोणिदं शुक्रं गर्भयोग्य पुसो रेतः शोणिन च शुक्रशोणितं । समाहारद्वयस्य सहतिप्रधानत्वात्  
किंचिद्गर्भपरोहणयोग्य तार्थीयिकमवस्थातरमापन्नं शुक्रार्तवमित्यर्थः । तथा चोक्तं अष्टागह्नद्वये—  
शुद्धे शुक्रार्तवे सत्वः स्वकर्मक्षेत्रोद्भूतः ।  
गर्भः सपद्यते शुक्तिवशादग्निनिवारणौ ॥

परिणामिकारणं परिणमते विवर्तते इति परिणामि तच्च तत्कारणं च जनकं परिणामिकारणं उपादानकारणं । तल्लक्षणं यथा—

सत्कालात्कालरूप यत्पौर्वपर्येण वर्तते ॥

कालत्रयेऽपि तद्रूप्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥

अमेज्जघदपुण्णगोव अमेज्जघृतपूरक इव । तथा चोक्तम्—

शुक्रशोगितमगस्य यदुपादानकारणं ॥

अशुच्यंगं ततो यद्वदमेज्जघृतपूरकः ॥

प्रयोगः—यदशुचि परिणामिकारणं तदशुचि, यथाऽमेज्जघृतपूरकः । अशुचिपरिणामिकारणं च शरीरं तस्माद-  
शुचि ।

देहके बीजका दो गाथाओंसे वर्णन—

अर्थ—जिससे देहकी उत्पत्ति होती है ऐसा यह बीर्य और रक्त अपवित्र है. अतः इनसे उत्पन्न होनेवाला देह पवित्र कैसे हो सकता है ? रक्त और बीर्यसे ही शरीरका परिणमन होता है अतः शरीर अपवित्र है. विद्यासे बने हुए घृतपूरके समान शरीर अपवित्र है. अपवित्र पदार्थोंका परिणमन जिसके कारण है वह पदार्थ अपवित्र होता है जैसा अपवित्र विद्याका घृतपूरक अपवित्र होता है वैसा शरीर भी अपवित्र कारणोंका ही परिणमन होनेसे अपवित्र है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है—

दहं विहिंसणीयं अमेज्जमिव संकुदो पुणो होज्ज ॥

ओज्जिग्घिदुमालुहुं परिभोतुं चावि तं बीयं ॥ १००५ ॥

द्रष्टुं घृणायते देहो वचोराशिरिव स्फुटम् ॥

स्फुटुमालिगितुं भोक्तुं तद्दीजो सुज्यते कथम् ॥ १०३३ ॥

विजयोदया—वहं वि य द्रष्टुमपि । विहिंसणीयं खगुप्सनीयं । अमेज्जमिव अमेध्यमिव । संकुदो पुणो होज्ज भोज्जिग्घिदुं कुत पुनर्भवेदाम्नातुं । अलुहुं आलिगितुं । परिभोतुं चावि परिभोक्तुं चापि । तं बीजं तत् शुक्रशोगिताख्यं बीजं । तत्परिणामत्वाच्चररीरमपि तदेव बीजमिव शरीरमिति मत्वा बीजमिति उक्त ॥



मूलरा—सम्बिदकदो इत्यादि—समिधा कणिकाद्रव्येण कृतो निर्घृत्तः । बीए उत्पन्न इत्याख्याहारः ।  
 कार्यरूपसे परिणत होनेवाले कारणमें यदि शुद्धता हो तो उससे उत्पन्न होनेवाला कार्य भी शुद्धतायुक्त दीखता है शरीर शुद्ध नहीं है क्योंकि उसका कारण अशुद्ध है इस विषय का विवेचन—  
 अर्थ—गेहूँके आटेसे बनाया हुआ घृतपूरक पवित्र है क्योंकि, गेहूँका आटा पवित्र है, वैसे वीर्य और रक्त ये पदार्थ पवित्र नहीं है अतः इनसे उत्पन्न होनेवाला पदार्थ अर्थात् शरीर शुद्ध कैसा माना जायगा अर्थात् वह अशुद्ध ही है

शरीरनिष्पत्तिक्रमनिरूपणार्थं उत्तरप्रवच.—

कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं ॥

थिरभूदं दसरत्त अच्छवि गम्भस्मि तं वीर्यं ॥ १००७ ॥

दशाहं कलिलीभूतं दशाहं कलुवीकृतं ॥

दशाहं च स्थिरीभूत वीजं गर्भेऽवतिष्ठते ॥ १०३५ ॥

विजयोदया—कललगदं कललत्वं नाम पर्याय तं गतं प्राप्ते बीज दश दिनमात्रं । अच्छदि आत्से । कलुसीकदं च कलुपीकृतं च । दश रात्रिमात्रं अवतिष्ठते । थिरभूदं दसरत्तं स्थिरभूतं यावद्दशदिनमात्रं । अच्छदि आत्से । गम्भस्मि गर्भे तं वीजं तद्वीजं ॥

नुवेहनिष्पत्तिक्रम गाथापंचकेन व्याचष्टे—

मूलरा—कललगदेति । कललगदं विलीनताम्रजतद्रव्यकल्पकलत्वपर्यायं प्राप्तं । दसरत्त दशहोराव्रात् ।

कलुसीकदं मिश्रित । थिरभूदं दृढीभूत । गम्भस्मि गर्भाशये ।

अर्थ—माताके उदरमें वीर्यका प्रवेश होनेपर वहा दश दिनतक वीर्यकी कलल नामकी अवस्था होती है तदनंतर दस दिन पर्यन्त वह कलुप होता है इसके अनंतर वह दस दिनतक स्थिररूपको प्राप्त होता है अभिप्राय यह है कि, गले हुए ताम्र और चांदीका रस परस्पर मिलानेसे जो अवस्था उन दोनोंकी होती है वही अवस्था माताके रक्तसे संयोग होनेपर वीर्यकी होती है, उसको कललावस्था कहते हैं, तदनंतर वह काला होता है उसके इस



अवस्थाका नाम 'कलुष' है- इसके अनंतर वह स्थिर होता है ऐसी तीन अवस्थायें क्रमसे वीर्यको प्रथम मासमें प्राप्त होती हैं.

तत्तो मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं॥

जायदि मासेण तदो मंसप्पेसी य मासेण ॥ १००८ ॥

मासेन बुब्बुदीभूतं तन्मासेन घनीकृतम् ॥

मांसपेयी च मासेन जायते गर्भपंजरे ॥ १०३६ ॥

विजयोदया—तत्तो स्थिरभावोत्तरकाल । मासं बुब्बुदभूतं अच्छदि मासमात्रं बुब्बुद इव आस्ते । पुणो वि घणभूदं पुनरपि घनभूतं । जायदि मासेण जायते मासेन ततोऽपि घनमावावुत्तरकालं । मासेण मासेन । मंसप्पेसीय मासपेयी भवति ॥

मूलारा—तत्तो इति—स्थिरभावोत्तरकालं । बुब्बुदभूदं बुब्बुद इव । घणभूदं कठिणत्वं प्राप्तं । मंसपेसी हुड-संस्थानो मासपिंडः ॥

अर्थ—प्रथममासके अनंतर दूसरे मासमें वीर्यको बबुलेकी अवस्था—बुब्बुदावस्था प्राप्त हो जाती है. पुनः एक मासतक वह घट्ट बन जाता है. इसके अनंतर चतुर्थ मासमें उसको मांसपेयीकी आकृति प्राप्त होती है.

मासेण पंच पुलगा तच्चो हुंति हु पुणो वि मासेणं ॥

अंगाणि उवंगाणि य गरस्स जायंति गब्भस्मि ॥ १००९ ॥

मासेन पुलकाः पंच मासेनांगानि षष्ठके ।

उपांगानि च जायंते गर्भवासनिवासिनः ॥ १०३७ ॥

विजयोदया—मासेण पंच पुलगा मासेन पंच पुलका भवन्ति । पुणो वि मासेण पुनरुत्तरेण मासेन । अंगाणि उवंगाणि य अंगान्युपांगानि च । गरस्स जायति गब्भस्मि नरस्य जायन्ते गर्भे ॥

मासेण—पुलया पुलकाः । नलकधाहुविरोदेशेष्वाकुराः । अंगाणि द्वौ नलकौ, नितंबो, द्वौ बाहू, उरः पृष्ठं, शिरःश्लेष्मणौ । उवंगाणि उपांगानि अगान्युपगताः कर्णनासाग्राहोष्ठनेत्राण्डलिप्रभृत्यवयवाः । उक्तं च —

णलया बाहू य तद्वा णियव पुट्टी उरो य सीसो य ॥  
अट्टेव दु अगाइं देहे सेसा उवंगाइं ॥

अर्थ—पांचवे माससे उस मांसपेशीको पांच पुलक अर्थात् पांच अङ्गुर उत्पन्न होते हैं इनसे नीचके दो अङ्गुरोंसे दो पैर, उपरके तीन अङ्गुरोंसे बीचके अङ्गुरसे मस्तक और पार्श्वके दो अङ्गुरोंसे हाथोंकी उत्पत्ति होती है, इन अवयवोंकी यह अङ्कुरा पूर्वावस्था है तदनंतर छठे मासमें हाथ, पाय और मस्तककी रचना होती है और उपांग आँख, कान, नेत्र इत्यादिक अंगोंकी रचना होती है, इसप्रकार गर्भस्थ बालकके अवयवों की रचना है.

मासस्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती ॥

फंदणमट्टममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥ १०१० ॥

चर्मरोंमाणि जायंते मासे तस्यात्र सप्तमे ॥

स्पदोऽष्टमे विनिर्याणं नवमे दशमे ततः ॥ १०१८ ॥

विजयोद्या—मासस्मि सत्तमे मासे । तस्स तस्य गर्भस्थस्य । चम्मणहरोमणिप्पत्ती चर्मनखरोमनिष्पत्तिर्भवति । फंदणमट्टममासे स्पदनमपेक्ष्यलन अष्टमे मासे । णवमे दसमे य णिग्गमण नवमे दशमे चोदराद्विर्गमनं भवति ॥

मूलारा—मासस्मि इति—फंदणं संचलनं णिग्गमण मासु रुदराग्निः सरण प्रसूतिरित्यर्थः ।

इसके अनंतर—

अर्थ—सातवें महिनेमें उस गर्भके अवयवों पर चर्म और रोमकी उत्पत्ति होती है, और हाथ और पैर के नख उत्पन्न होते हैं आठवें मासमें उस गर्भ में चलन चलन होने लगता है नववा और दसवा इन दो महिनों में गर्भसे बालक बाहर आता है अर्थात् उसका जन्म होता है.

सब्बासु अवत्थासु वि कल्लादीयाणि ताणि सब्बाणि ॥

असुईणि अमिज्झाणि य विहिंसिणिज्जाणि णिच्चंपि ॥ १०११ ॥

यतोऽशुचीनि सर्वाणि कललादीनि कारणम् ॥  
वर्चोऽशिवत्ततो देहो जुगुप्स्यो महतां सदा ॥ १०३९ ॥

इति निष्पत्तिः ॥

विजयोदया—सन्वासु अवत्थासु वि सर्वास्वप्यवत्थासु शुक्रशोणितयोः । कललादियाणि कललमवुदमित्यादिकानि । सन्वाणि असुर्दृग्नि सर्वाणि अशुचीनि । अमेज्झाणिव अमेध्यमिव । विर्दिसण्जिज्जाणि जुगुप्सनीयानि । णिच्चं पि नित्यमपि ॥

सन्वासु इति—अवत्थासु प्रतिसमयभाविनीषु शुक्रार्तवविवर्तपरिणामिषु अमेज्झाणि व गूयानि यथा ॥ निष्पत्तिः ॥

अर्थ—रक्त और वीर्य की प्रथम माससे आरंभ कर दस मास तक जो जो अवस्थायें होती हैं वह सर्वही अपवित्र ही हैं जैसे विद्या नित्य जुगुप्सा करने लायक ही है. निष्पत्ति नामक प्रकार का वर्णन हुआ.

गर्भेऽवस्थानक्रम अशुभं कथयत्युत्तरगाथया । निष्पत्ति गदं—

आमासयम्मि पक्कासयस्स उवर्रे अमेज्झमज्झम्मि ॥  
वत्थिपडलपच्छणो अच्छइ गब्भे हु णवमासं ॥ १०१२ ॥  
तिष्ठत्यामाशयस्याध ऊर्ध्वं पक्काशयस्य सः ॥  
जरायुर्वेष्टितो मासान्नान्नामिध्यमध्यगः ॥ १०४० ॥

विजयोदया—आमासयम्मि आमाशये । आममुच्यते शुक्रमशनशुद्राग्निना अपकं तस्य आशयः स्थानं तस्मिन् । पक्कासयस्स उवर्रे जाठरेण अग्निना पक्क आहारः पक्कं तस्य आशयः स्थानं । तत उपरि । अमेज्झमज्झम्मि अमेध्यो पक्कापकयोर्मध्ये । गब्भो अत्यदि आस्ते गर्भे । कीदृक् वत्थिपडलपच्छणो वितत मासशोणित जालसस्थानीय वत्थिपडलशब्देनोच्यते तेन प्रतिच्छन्न । कियत कालमास्ते ? णवमास उपलक्षण नवमासग्रहण दशमासमात्रमप्यवस्थानात् । नुदेहनिष्पत्तिक्षेत्रं गाथात्रयेण निरूपयिष्यन्गर्भेवस्थानक्रममशोभन तस्याभिप्रेते—

मूलारा—आमासयम्मि—उदरान्तरपक्कमुक्तान्नस्थाने । पक्कासयस्स जाठराग्निपक्कमुक्ताहारस्थानस्य । अमेज्झमज्झम्मि अमेध्योः पक्कापकयोर्मध्ये । वत्थिपडलपच्छणो वास्तिपटलं जालस्थानीय विततमासशोणितं तेन प्रच्छादितः ।

गन्धो हु अत्र पाठे आभासशब्दः पक्काशयशब्दं नवदशमासान् जरायुप्रच्छादितो गर्भ आस्ते इति सूत्रार्थः ॥ गन्धमा-  
शयस्मि इति पाठे नग्रे नरवेहो वा गर्भे विप्रतीति व्याख्येयः । पञ्चमासे उपलक्षणादशापि ॥

गर्भ में बालक क्रिय स्थानमें रहता है इसका विवेचन—

अर्थ—आभाशय और पक्काशय इन दोनों के बीचमें जालेक समान मांस और रक्तसे लेपटा हुआ वह गर्भ  
नउ महिने तक रहता है और जिस स्थानमें पूर्ण पक्काया जाता है वह स्थान पक्काशय है । ये दोनों स्थान अपवित्र हे  
शय कहा जाता है और जिस स्थानमें पूर्ण पक्काया जाता है वह स्थान पक्काशय है । ये दोनों स्थान अपवित्र हे  
पक्काशयके ऊपर और अपक्काशयके नीचे अर्थात् दोनोंके बीचमें गर्भका स्थान रहता है गाथामें ‘गवमास’ यह  
शब्द उपलक्षणाच्ची है, इससे दस मासका भी ग्रहण होता है अर्थात् कोई गर्भ दसमासतक भी माताके उदरमें  
रहता है

अशुचिस्थाने अवस्थित स्वरूपकाल यदि जुगुप्स्यते चिरावस्थित कथमयं न जुगुप्सनीय इत्याक्षेपे—  
वमिदा अमेज्जमज्जे मांसपि समक्खमात्यदो पुरिसो ॥

होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि हु णीयल्लओ होज्ज ॥ १०१३ ॥

मासमेकं स्थितोऽध्यक्षं वर्षोमध्ये जुगुप्स्यते ॥  
निजोऽपि न कथं गेभं वातं नवदशं स्थितः ॥ १०१४ ॥  
इति क्षेत्र ॥

विजयोदया—वमिदर अमेज्जमज्जे शातस्य अमेध्यस्य च मध्ये । मांसपि मासमात्रपि समक्खमरियदो स्वप्न-  
त्यक्षतया स्थितः पुरुष । खु शब्द एवकारार्थः स च क्रियापदात्परो द्रष्टव्य । विहिंसणिज्जो इत्यतः परतः । विहिंस-  
णीओ होदि इति जुगुप्सनीय पव भवति नाजुगुप्स्य इति यावत् । जदि वि हु णीयल्लओ होज्ज यद्यपि बहुभवेत् ॥

स्वरूपकाल यद्यमेध्यमध्यमध्युपितो वधुरपि जुगुप्स्यते तत्कथमयं देहक्षिर तत्र स्थितो न जुगुप्स्य इति गाथा-  
द्वयेनाह—

मूलार—वमिया इति—वमिया अमेज्जमज्जाम्मि वातस्य अमेध्यस्य च मध्ये । ससमक्ख आत्मप्रत्यक्षः ।  
जदि वि यद्यपि । णीयल्लओ बंधुः ॥

अपवित्रस्थानमें स्वल्प कालतक रहा हुआ मनुष्य भी जुगुप्सा योग्य माना जाता है तो चिरकाल वहां रहा हुआ क्यों जुगुप्सा योग्य नहीं माना जायगा ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—चान्ति और विष्टाके बीचमें अपना कोई संबंधी मनुष्य एक मासतकभी रहा हुआ अपने मृत्युक्ष हुआ तो हम उसकी ग्लानि करते ही हैं यद्यपि वह हमारा स्वजन भी हो तो भी उसकी ग्लानि हमारे मनमें होगी ही

किह पुण णवदसमासे उसिदो वमिगा अमेज्जमज्झस्मि ॥

होज्जण विहिंसणिज्जो जदि वि हु णीयल्लओ होज्ज १०१४ ॥

विजयोदया—किह पुण कथं पुन । न होज्ज विहिंसणिज्जो न भवेज्जुणुस्सनीय । णवदसमासे उसिदो नवमासे वसमासे वाचस्यत । वमिगा अमेज्जमज्झस्मि मात्रा उपयुक्त आहारो वमिगाशब्देनोच्यते । शेषः सुगमः ॥ स्त्रिसं गदं ॥

मूलारा—किथ—उसिदो स्थितः । वमिगा जनन्योपयुक्त आहारः । क्षेत्रम् ॥

अर्थ—तो जिसने गर्भमें नव दस महिनतक निवास किया है और माताका भक्षण किया हुआ आहार खाकर जो बुद्धिको प्राप्त हुआ है वह क्यों न ग्लानिका पात्र बनेगा ? अर्थात् वह अवश्य घृणाका पात्र है.

येनाहारैणांसादुपचितशरीरो जातस्तमाचष्टे—

दतोहिं चव्विदं वीलणं च सिंभेण मेलिदं संतं ॥

मायाहारियमणं जुत्तं पित्तेण कडुएण ॥ १०१५ ॥

पिच्छिलं षंघितं दन्तैर्मिश्रितं श्लेष्मणा च यत् ॥

अन्नं मात्राशितं युत्तं पित्तेन कटुकात्मना ॥ १०१६ ॥

विजयोदया—दतोहिं चव्विदं दंतैश्चूर्णितं । वीलण पिच्छिल । कथ, सिंभेण मेलिदं श्लेष्मणा मिश्रितं सत् । मांदाहारिद्वमणं मात्रा मुक्तमन्नं । कडुएण पित्तेण जुत्त कटुकेन पित्तेन जुत्तं ॥ येनाहारैणोपचितशरीरो नरः संपन्नस्त गाथापंचकेन व्याचष्टे—

मूला—द्वेहिं इति—बीलणं पिच्छिलं । मिलिषु संतं मिश्रित सत् । मादाइरिदं मातृभुक्तम् ।

जिस आहारसे उसका शरीर पुष्ट होता है उसको वर्णीन आचार्य करते हैं —

अर्थ—दांतोंसे चबाया गया, कफसे गीला होकर मिश्रित हुआ ऐसा माताने खाया हुआ अब उदरमें पित्तके मिश्रणसे कड़ुवा होता है

वमिगं अमेज्जसरिसं वादविओजिदरसं खलं गब्भे ॥

आहारेदि समंता उवरिं थिप्पंतगं णिव्वं ॥ १०१६ ॥

अमेध्यसदृश चांत समीरेण पृथक्कृतम् ॥

ऊर्ध्वं कटुकमश्नाति विगलतमसौ रसम् ॥ १०४३ ॥

थिजयोदया—वमिग यात । अमिज्जसरिस अमेध्यन सदृश । वादविओजिदरसं खलं वातेन पृथक्कृतं रसं खलभागं । गब्भे आहारेदि णिथ नित्यं गर्भस्थो भुक्ते । समता समंतात् । उवरिं उपरि । थिप्पंतगं विगलद्धिदुकं एतेनान्नर समाहरतीति ज्ञायते ॥

मूला—वमिगं इति—वमिगं अन्तश्छादितं । वादविओजिदरसखल वायुपृथक्कृतसखलभागं । आहरदि भुक्ते गर्भस्थो गनुज्यः । समंतो समंततः । सर्वांगैरित्यर्थः ॥ थिप्पंतगं विगलद्धिदुकं । एतेनान्नरसमाहरतीति ज्ञायते । उक्तं च—

अधसो मातृभुक्तस्य श्लेष्ममिश्रस्य पिच्छिल ॥

चूर्णितस्य भृशं दतैः पित्तसंगसुषुप्पः ॥

अमेध्यसदृश चांत समीरेण पृथक्कृत ॥

ऊर्ध्वं कटुकमश्नाति विगलंतमसौ रसं ॥

अर्थ—वांति और विघाके समान, वातसे जिसका रसभाग और खलभाग अलग किया गया है ऐसे आहारका उपरसे और चारो तरफसे एक एक बिंदु जब गिरने लगता है तब वह गर्भस्थ जीव उसको नित्य ग्रहण करता है जबतक शरीरमें नाभि उत्पन्न नहीं होती है तब तक यह जीव चारों तरफसे मातृभुक्त आहार शरीरके द्वारा ग्रहण करता है

तो सत्तमस्मि मासे उप्पलणालससिरी हवइ णाही ॥

तत्तो पाए वमियं तं आहारेदि णाहीए ॥ १०१७ ॥

ततोऽस्ति ससमे मासे नाभी ह्युत्पलनालवत् ॥

ततो नाभ्या तथा चान्तं तदादत्ते स गर्भगः ॥ १०४४ ॥

विजयोदया—तेषा मासाना रत्त सत्तमस्मि मासे रत्तं, सत्तममासे । उपलणालससिरी नाही हवइ उत्पल-  
नालसदृशीनाभिर्भवेति ततो नाभिनिपत्युत्तरकाल । वमियं त आहारेदि णाभीए वातमाहास्यति नाभ्या ॥

मूलारा—तो सत्तम इति—तत्तो पाए तत् प्रभृतिः ॥

अर्थ—सातवें महिनेमें शरीरमें कमलके डंठलके समान दार्य नाल पैदा होता है, तबसे यह जीव माता-  
का खाया हुआ आहार दीर्घनालसे ग्रहण करने लगता है,

वमियं व अमेज्जं वा आहारिद्वं स किं पि ससमक्खं ॥

होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि य णीयल्लओ होज्ज ॥ १०१८ ॥

अमेध्य भक्षयन्त्रकं मासं दृष्टो जुगुप्स्यते ॥

निजोपि न कथं गर्भे मासान्नवदशानसौ ॥ १०४५ ॥

इत्यंघ्रः ॥

विजयोदया—वमियं व अमेज्जं वा वातमेधेयं वा । आहारिद्वं वा भुक्तवान् । स किं पि ससमक्खं एकवार ।  
ससमक्खं स्वप्रत्यक्षं । होदि तु विहिंसणिज्जं प्रथति जुगुप्सनीयो । यदि वि य णीयल्लओ होज्ज । यद्यपि वंचुर्भवेत् ॥

मूलारा—वमियति—आहारिद्वं भुक्तवान् । स किं पि एकवारमपि ।

अर्थ—कोई मनुष्य अपने सामने वांति और विष्टाको यदि खागया तो उसको देखकर मनमें ग्लानि  
पैदा होती है यदि वह मनुष्य अपना समीची भी हो तो भी ग्लानि उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी

किह पुण णवदसमासे आहारेदुण तं णरो वमियं ॥

होज्ज ण विहंसणिज्जो जदि वि य णीयल्लओ होज्ज ॥ १०१९ ॥

विजयोदया—स्पष्टोत्तरागथा । आहारगदं, सम्मत्तं ॥ आहारो निरूपितः ॥

मूलारा—किहेति—आहारद्वयं, मुक्त्वा ॥ आहारः ॥ १॥

अर्थ—पुनः जो नउ देस महिने तक वांति खाकर वृद्धिगत हुआ है वह अपना संवधी भी हो तो भी वह ग्लानिका पात्र क्यों न होगी? यह आहार का प्रकरण समाप्त हुआ

जन्मनिरूपणायोत्तरागथा—

असुचिं अपेच्छणिज्जं दुग्गंधं मुत्तसोणियदुवारं ॥

‘वोत्तुं पि लज्जणिज्जं पोट्टमुहं जन्मभूमी से ॥ १०२० ॥

शोणितप्रसवद्वारं दुग्गंधं जठराननं ॥

अवाच्यजन्मभूतस्य लज्जनीयमशौचकम् ॥ १०४६ ॥

विजयोदया—असुचिं, असुचि । अपेच्छणिज्ज अपेक्षणीय । दुग्गंध दुर्गंध । मुत्तसोणियदुवार मूत्रस्य शोणितस्य च द्वार । वोत्तुं पि लज्जणिज्ज वस्तुमपि सनात्ता, लज्जनीय । पोट्टमुह उदरमुख वरानं । जन्मभूमी से जन्मभूमिस्तस्य ॥

मूलारा—असुचिमिति—अपेक्षणीय अदृष्ट्यं । वोत्तु पि कथयितुमपि प्रसिद्धान्तः । पोट्टमुहं उदरमुखं योनिरित्यर्थः । से तस्य नरस्य नरदेहस्य वा ।

अर्थ—प्राणी की जन्मभूमि जिसको उदरका मुख कहते हैं वह अपवित्र है, देखने लायक नहीं है, वह दुर्गन्धयुक्त और मूत्र तथा रक्त वहनेका द्वार है उसका नाम लेकर वर्णन करनेसे लज्जा उत्पन्न होती है.

जदि दाव विहिंसिज्जइ वत्थीए मुहं परस्स आलहुं ॥

कह सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज सल्लीढपोट्टमुहो ॥ १०२१ ॥

परो वस्तिमुखस्पर्शी महाङ्गिनिद्यते यदि ॥

उदरद्वारसंस्पर्शी विनियो न तदा कथम् ॥ १०४७

इति जन्म ।



विजयोदया—जदि दाव विहिंसज्जदि यदि तावज्जुगुण्यते । वत्थीए मुहं वस्तिमुखं । परस्स आलहुं परस्स द्रण्ठुं । किध सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज कथमसौ न जुगुप्सनीयो भवेत् । सलीढपोट्टमुहो आस्वादितवराग ॥

मूलारा—जदिदा इति । वत्थीए मुह वस्तिमुख, अपान शोनि वा । आलट्टु स्रण्ठु प्रवृत्तः । सलीढ समास्वादितं ॥ जन्म ॥

अर्थ—ऐसे अपवित्र योनीको देखनेवाला मनुष्य ग्लानिका विषय होता है तो जो इस अवयवका आस्वाद लेता है वह क्यों न ग्लानिका विषय न होगा ?

जन्मदृष्टि निरूपयति—

बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि तह चैव लज्जणिज्जाणि ॥

मेज्झामेज्झं कज्जाकज्जं किंचिवि अयाणंतो ॥ १०२२ ॥

नियानि लज्जनीयानि कर्माणि कुरुते शिशुः ॥

कृत्याकृत्यमजानानो सेव्यासेव्यं च मूढधीः ॥ १०४८ ॥

विजयोदया—बालो विहिंसणिज्जाणि कुणदि बालो जुगुप्सनीयानि कर्माणि कुरुते । तथा चैव लज्जणिज्जाणि तथा चैव लज्जनीयानि । मेज्झामेज्झं शुच्यशुचि च । कज्जाकज्जं किंचि वि अयाणंतो कार्याकार्यं किंचिदप्यजानन् ॥

मूलारा—बालो इति—कुणदि कर्माणि इति शेषः । किंचिवि किंचिदपि ।

जन्म दृष्टिका विवेचन करते हैं—

अर्थ—यह बालक ग्लानि उत्पन्न करनेवाले कार्य करता है, तथा जिससे लज्जित होना पड़ेगा ऐसे भी कार्य करता है, यह कार्य उत्तम है अथवा यह कार्य अयोग्य है इसका वसको थोडासा भी ज्ञान नहीं रहता है,

अणस्स अप्पणो वा सिंहाणयवेल्मुत्तपुत्तिसाणि ॥

चस्मट्ठिवसापूयादीणि य तुंडे सगे छुमदि ॥ १०२३ ॥

स बर्लपूयमांसास्त्रिबर्लमूत्रकफादिक ॥

स्वस्यापरस्य वा वक्के क्षिपते विगतत्रपः ॥ १०४९ ॥

विजयोदया—अणस्स अण्णो वा अन्यस्यात्मनो वा । सिंघाणं स्लेष्माणं । मूत्रं, पुरीषं, चम्मद्विषापाणि-  
या चर्म अस्ति वसा पूयादिकं वा । संगे तुडे छुमदि आत्मीये मुखे क्षिपति ॥

मूलरा—अणस्स इति—सिंघाणय स्लेष्मा । खेल शुक्क । पुरिस पुरिष । तुडे मुखे ।

अर्थ—दूसरेका अथवा अपना स्लेष्मा—कफ, मूत, विष्टा, वसा, चर्म, दही, अर्पे अपने मुखमें डालता है इस कार्य को करते समय उसको ग्लानि नहीं आती है

जं किं चि खादि जं किं चि कुणदि जं किं चि जंपदि अलङ्गो ॥

जं किं चि जत्य तत्थ व वोसरदि अयाणगो बालो ॥ १०२४ ॥

वस्सिण्डुक्खुते मूत्रे दालः खादत्यलज्जितः ॥

पुरो पिणसज्ञानः प्रदेसो यत्र तत्र वा ॥ १०५० ॥

विजयोदया—जं किं चि खादि, यत्किंचिदस्ति, यत्किंचित्करोति । यत्किंचिज्जत्यलज्जः । जं किं चि जत्य तत्थ सि यत्किंचिद्यत्र तत्र वा शुभावशुचौ वा देसो । वोसरदि व्युत्सृजति । अजाणगो बालो अज्ञो बालः ॥

मूलरा—जं इति—जं किंचि यत्किंचिद्रूपमभक्ष्यं वा । जत्य तत्थ यत्र तत्र शुभावशुचौ वा प्रदेसे ।  
वोसरदि मुंचति मूत्रपुरीषादिक ।

अर्थ—जो कुछ भी पदार्थ बालक खाता है मनमें जो आया वह कार्य करता है, मुहमें जो आया वह नीलता है, जगह पवित्र हो अथवा अपवित्र हो वहां अज्ञ बालक मलमूत्रका विसर्जन करता है.

बालत्तणे कदं सव्वमेव जदि णाम संभरिज्ज तदो ॥

अप्पणम्मि वि गच्छे णिब्बेदं किं पुण परमि ॥ १०२५ ॥

चाले यदि कृतं कोऽपि कृत्यं संस्मरति स्वयम् ॥

तदात्मन्यपि निर्वेदं यात्यन्यत्र न किं पुनः ॥ १०५१ ॥

विजयोदया—बालत्तणे कदं बालत्वे कृत । सर्वमेव यदि स्मरेत्त आत्मन्यपि गच्छेत्तिर्वेदं किं पुनस्त्यस्मिन् ।

नुद्धि ॥

मूलार—बालत्तणे इति—संभरेज्ज सरेत् । अप्पाणम्मि वि आत्मन्यपि । गच्छे गच्छेत् । निवेदं वैराग्यं । परहि खीररीरादौ ॥ वृद्धिः ॥

अर्थ—मनुष्य बालपनमें जो जो कृत्य करता है उसकी यदि उस को स्मृति होगी तो वह अपनी भी ग्लानि करेगा फिर अन्य के विषयमें अर्थात् स्त्रीके शरीर वगैरह में उसको ग्लानि होगी इस विषयमें कहना ही क्या है ?

कुणिमकुडी कुणिमोहिं य भरिदा कुणिमं च सवदि सव्वचो ॥

ताणं व अमेज्जमयं अमेज्जभरिदं संरीरमिणं ॥ १०२६ ॥

अमेध्यस्य कुटी गात्रगमेधेनैव पूरिता ॥

अमेध्यं सर्वतं छिदं अमेध्यमिव भोजनम् ॥ १०५२ ॥

इति वृद्धिः ।

विजयाद्या—कुणिमकुडी कुथिता कुडी, कुणिमोहिं मोहिं कुथितेभरिता । कुणिमं चा सवदि सव्वचो कुथितं सर्वतं सवति समतात् । ताणं व अमेज्जमयं ताणमिव अमेज्जमयं अमेध्यमिव । अमेज्जभरिदं अमेध्यपूर्णं । संरीरमिणं शरीरमिदं ॥

अवयवानाथाभिस्त्वदुदशभिर्यत्तुष्माणः, धृतममवयुवविन, निर्दिशति ॥

मूलार—कुणिमेति कुणिमकुडी कुणिम कुथित दुर्गधं तेन्मयगुह । इम इव मानवीयं । एता, गाथां श्रीविजयाचार्यः पाश्चात्यसूत्रे पठति ॥

अर्थ—यह शरीर दुर्गध है, दुर्गध वस्तुओं से भरा है इससे दुर्गध स्वेद मूत्रादि पदार्थ निकलते रहते यह शरीर, विष्टासे मरी, दुर्ग, दूषणकी वृत्ति क्षोपहीके समान दुर्गध है ।

वृद्धिकम निरूप्य शरीरावयवानाचष्टे—

अहोणि हुति तिणिण हु संदाणि भरिदाणि कुणिममज्जाए ॥

सव्वम्मि चैव देहे संधीणि हवति तावदिया ॥ १०२७ ॥

शतानि त्रीणि संतयस्थानां मज्जापूर्णानि विभ्रहे ॥

संधीनामपि तावान्ति सन्ति सर्वत्र मानुषे ॥ १०५४ ॥

विजयोदया—अट्टीणि हुति तिणिण्डु सदाणि त्रिशतान्यस्तीनि । भरिदाणि कुणिमज्जाए पूर्णानि कुथितेन मज्जासन्निभेन । सव्वस्मि चेव देहस्मि सर्वस्मिन्नेव देहे शरीरे । संधीणि हवति तावदिगा । संधिप्रमाणमपि त्रिशतमेव ॥

नृदेहावयवयत्तावधारणार्थमुत्तरप्रबंधमाह—

मूलारा—अट्टीणि इति—तावदिगा त्रिशतप्रमाणाः ॥

शुद्धिके क्रमका निरूपण कर शरीरेके आवयवोंका विवेचन करते हैं—

अर्थ—इस मनुष्यके देहमें तीनसे अस्थि हैं, वे दुर्गंध मज्जा नामक घातुसे भरी हुई हैं और तीनसे ही संधि हैं

ण्हारूण णवसदाइं सिरासदाणि य हवंति सत्तेव ॥

देहस्मि मंसपेसीण हुंति पंचेव य सदाणि ॥ १०२८ ॥

मांसपेक्षीशिरास्नायुशतान्यंगे यथाक्रमम् ॥

पंच सप्त नव प्राज्ञाः सर्वेवापि प्रचक्षते ॥ १०५५ ॥

विजयोदया—ण्हारूण णवसदाइं जायूना नवशतानि । सिरासदाणि य भवंति सत्तेव सिराणां सप्तशतानि । देहस्मि मंसपेसीण हवति पंचेव ये सदाणि पंचशतानि शरीरे मांसपेक्ष्य ॥

मूलारा—ण्हारूण इति—ण्हारूण स्नायूना । छिरा शिराः ॥

अर्थ—देहमें नउसै स्नायु हैं, तथा सातसै सिरा हैं और इस शरीरमें णांचसै मांसकी पेक्षिया हैं

चत्तारि सिराजालाणि हुंति सोलस य कंडराणि तहा ॥

छचेव सिराकुच्चा देहे दो मंसरज्जू य ॥ १०२९ ॥

शिराजालानि चत्वारि कंडराणि च षोडश ॥

शिरामूलानि षट् चैव मांसरज्जुद्वयं तथा ॥ १०५६ ॥

विजयोदया—चत्तारि सिराजालाणि चत्तारि सिराजालानि शिरासघाताः । सोलस य कंडराणि तद्वा । पोडश कंडरसंस्थितानि । तथा छवेन सिराकुच्चा पडेव शिरामूलानि । देहे वो मसरज्जू य शरीरे मांसरज्जूद्वयं ॥

मूलारा--चत्तारि इति-सिराजालाणि शिरासघाताः । कंडराओ रक्तपूर्णमहाशिराः । कंडराणि तद्वा इत्यपि पठन्ति । शिराकुच्चा शिरामूलानि । मंसरज्जू पृष्ठोदराश्रिते ।

अर्थ—शिराओंके चार जाल हैं. सोलह कंडरा हैं छह सिराओंके मूल हैं और देहमें दो मांसरज्जु हैं

सत्त तयाओ कालेजयाणि सत्तेव ह्येति देहम्मि ॥

देहम्मि रोमकोडीण ह्येति सीदी सदसहस्सा ॥ १०३० ॥

कालेयकानि सप्तंगे त्वचः सप्त निवेदिताः ॥

सर्वत्र कोटिलक्षणाभ्यङ्गीती रोमगोचरा ॥ १०५७ ॥

विजयोदया—सत्त तयाओ सप्त त्वचः । कालेजयाणि सत्तेव ह्येति देहम्मि सत्तेव कालेयकानि देहे । देहम्मि रोमकोडीण ह्येति सीदीसदसहस्सा शरीरे रोमकोटीना अशीतिशतसदस्याणि ॥

मूलारा—सत्त तयाओ इति । तथा त्वचः । कालेजयाणि कालेयकानि मासखडानि । असीदि अशीति । सदसहस्सा लक्षणाणि ॥

अर्थ—इस शरीरमें सात त्वचा हैं. और मात कालेयक हैं और अस्सीलाख कोटि रोम हैं.

पक्कामयासयत्था य अंतगुंजाओ सोलस हवन्ति ॥

कुणिमस्स आसया सत्त हुंति देहे मणुस्सस्स ॥ १०३१ ॥

आमपक्काशयथान पोडशैवांत्रयष्टय ॥

कुथितस्याश्रयाः सप्त शरीरे सन्ति मानुषे ॥ १०५८ ॥

विजयोदया—पक्कामयासयत्था पक्काशये आमशये अवस्थिता । अंतगुंजाओ अंत्रयष्टय । सोलस हवन्ति पोडशैव भवन्ति । कुणिमस्स आसया कुथितस्य आश्रया सप्त भवन्ति देहे मनुजस्य ॥

मूलारा—पद्मासगासयत्या इति—पद्मासगासयत्या पद्माशये आमाशये च स्थिता । अतगुजाओ अत्रयष्टय ।  
कुणिमस्त कुथितस्य । आमया आश्रयाः ॥

अर्थ—पद्माशय ओर आमाशयमें सोलह आठें रहती हैं मनुष्यके देहमें दुर्गंध मलके सात आशय हैं,

शूणाओ तिणिण देहस्मि होति सत्तुत्तरं च मम्मसद ॥

णव होति वणमुहाइ गिच्चं कुणिम सवताइ ॥ १०३२ ॥

नव संति वणास्यानि सुच्चयमानानि कउमलम् ॥

तिस्स स्थूणाशत देहे मर्मणां सप्तसंयुतं ॥ १०५९ ॥

विजयोदया—धूणाओ तिणिण देहस्मि होति स्थूणास्त्रो भवन्ति । देहे सत्तुत्तरं च मम्मसद मर्मणा शत सत्ताधिक । णव होति वणमुहाइ वणमुनानि नव भवति । गिच्च कुणिम नित्य कुथित सवन्ति ॥

मूलारा—शूणाओ इति । शूणाओ यातपित्तकृष्णमाण । मम्मसदं मर्मशत । सप्तताई सवति स्रवति भति ।

अर्थ—इस देहमें तीन स्थूणा हैं ओर एकसौ सात मर्मस्थान हैं और नउ त्रणमुख हैं जिमसे नित्य दुर्गंध सवता है

देहस्मि मच्छुल्लिग अजलिमित्त सययमाणेण ॥

अंजलिमित्तो मेदो उज्जोवि य तत्तिओ चेव ॥ १०३३ ॥

शुक्कमसित्फक्कमेदांति प्रत्येकं सूरयो विदुः ॥

स्वकीयांजलिमानानि मनुष्याणां कलेवरे ॥ १०६० ॥

निजयोदया—देहस्मि शरीरे । मच्छुल्लिग मत्तिफक्क अजलिमित्तो सगयमाणेण स्वाजलिप्रमाण परिचिन्त ।  
मेदोऽप्यजलिप्रमाण । ओजोवि तत्तिओ चेव । शुक्कमपि तावन्मागमेव ॥

मूलारा—देहस्मि इति । गच्छुल्लिग मरिफक्क उद्विगलीत्यर्थ । सगा स्वकीयं । ओजो शुक्रं । तत्तिगोतावन्मात्र उक्तं च—शुक्कमत्तिफक्कमेदासि प्रत्येकं सूरयो विदुः ॥

स्वकीयाजलिमानानि मनुष्याणा कलेवरे ॥

अर्थ—इस देहमें मस्तिष्क एक अजलिप्रमाण है अर्थात् वह अपने अंजलिप्रमाण जानना मेद और ओज अर्थात् शुक्र ये दोनों भी स्वांजलि प्रमाण समझने चाहिये.

तिणि य वसंजलीओ छुच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स ॥

सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्धाढगं होदि ॥ १०३४ ॥

षडंजलिमितं पित्त वसांजलित्रयप्रमा ॥

श्लेष्मा पित्तसमो रक्तमद्धाढकमितं मतम् ॥ १०६१ ॥

विजयोदया—तिणि य वसजलीओ तिस्सो वसाजलय. । छुच्चेव य अजलीओ पित्तस्स षडंजलयः पित्तस्य । सिंभो पित्तसमाणो श्लेष्मा पित्तप्रमाण । लोहिदमद्धाढग होदि लोहितोऽप्यर्धाढकं भवति ॥

मूलार—तिणि इति-वसजलीओ वसाया अंजलयः । अद्धाढगं द्वात्रिंशत्पलमात्रं ।

अर्थ—वसा नामक धातु देहमें तीन अजलिप्रमाण रहती है, पित्तका प्रमाण छह अंजुलि हैं, श्लेष्म अर्थात् कफका भी इतना ही प्रमाण है, रुधिरका प्रमाण आधा आढक है

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा ॥

वीसं णहाणि दंता वचीसं हेंति पगदीए ॥ १०१५ ॥

षट्प्रस्थप्रमितं वर्चो मूत्रमद्धाढकप्रमम् ॥

नखानां विंशतिर्वन्ता द्वात्रिंशत्प्रकृता मत्ताः ॥ १०६२ ॥

विजयोदया—मुत्तं आढयमेत्त मूत्रं आढकमात्रं । उच्चारस्स य हवति छप्पच्छा षट्प्रस्थप्रमाण उच्चारः । वीसं णहाणि विंशतिसंख्या नखाना । दंता वचीस हेंति द्वात्रिंशद्भवन्ति दंता । पगदीए प्रकृत्या ॥

मूलार—मुत्तं इति । उच्चारस्स पुरीपस्य । छप्पच्छा षट्प्रस्थाः प्रस्थः षोडशपलानि । पगदीए प्रकृत्या अन्तर्दीपकमिदं ॥

अर्थ—मूत्र एक आदक प्रमाण है और उच्चार-विष्टा यह छह प्रस्थ प्रमाण है नख वीस रहते हैं और दात वत्तीस होते हैं स्वभावतः शरीरमें इन अवयवोंका प्रमाण कहा है

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिकुलेहिं बहुगोहं ॥

सत्त्वं देहं अप्सदिदूण वादा ठिदा पंच ॥ १०१६ ॥

कायः कृमिकुलाकीर्णं कृमिणो वा व्रणोऽलिलः ॥

तं सर्वं सर्वतो व्याप्य स्थिताः पंच चरणेवः ॥ १०१७ ॥

यिजयोदया—किमिणो व वणो संजातकिमियणवत् । बहुगोहिं किमिकुलेहिं भरिदं सरीरमिति संघ । चटुभिः किमीणा कुलैर्भरितं । सत्त्वं देहं अप्सदिदूण वाता ठिदा पंच समस्त शरीरं व्याप्य पंच वायवः स्थिताः ॥

मूलारा—किमिणो इति-किमिणो वणोन्व संजातकिमिर्घण इव । अप्सदिदूण व्याप्य । पंच प्राणोदानव्यानस-मानापानाः ॥

अर्थ—व्रण जैसा किमियोसे भरा रहता है वैसा यह देह भी सर्वत्र किमियोसे भरा है इस देहको व्यापक पाच वायु रहते हैं

एवं सत्त्वे देहमि अवयवा कुणिमपुगला चेव ॥

एकं पि णत्थि अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ॥ १०३७ ॥

इत्यगेऽवयवाः सन्ति सर्वे कुथितपुद्गलाः ॥

नैकोऽप्यवयवस्तत्र पवित्रो विद्यते शुचिः १०३४ ॥

विजयोदया—एवं उक्तेन प्रकारेण । देहमि सत्त्वे अवयवा शरीरगधाराः सर्वे अवयवा । कुणिमपुगला चेव अशुभपुद्गला एव । एकं पि णत्थि अंग एकोऽपि नास्त्यवयव । ज पूयं सुचियं च होज्ज । योऽवयव पूत शुचिर्वा भवेत् । मूलारा—एव इति-कुणिमपुगलाः कुथिताः पुद्गला येषां ते । पूद पवित्र । सुचियं शुद्धं मनोज्ञं वा ।

टीप—१ वायव ।



अर्थ- ऊपर कहे प्रकारसे हम देखेंगे मन् अवयव अशुभ पुद्गलमें घने हैं इमें एक ही ऐसा अवयव नहीं देखिगा जो अवयव पवित्र और शुचि हैं

परिदृष्टस्वयम् पदुरगतं मुयंतवणसिम् ॥

सुतु वि ददं महलं दं पि णगे ण द-छज ॥ १०३८ ॥

दग्धनिःशेषचर्मणं पादुरांगीं गच्छत्सं ॥

दिदृक्षतेऽपि नो क्रोऽपि बह्वभासपि बह्वभः ॥ १०३५ ॥

विजयोदया—परिदूषमन्वयम् परितो गमन्नेत्युपपत्तिः । पदुगात् पादुसाम् पादुगतं । सुदु वि ददं महिल प्रियनामसि निना । वदुपि परो न इच्छन् उपसमि नरो न गच्छति । मलयार—परितः स्मिन् ।

अर्थ—जिमको देहकी रचा अर्गोम जल जानेम यफेद दीर रही हे जिमंग रग सदा शगता हे. मेसी नी यहि पूर्वमें अविजय मिय थी तो भी उमकी ऊपर लिखे प्रकार ग्लानि उत्पन्न करने वाली अपस्था देवका मनुज उमको देखनेको भी चाहता नहीं ॥

जदि होल्ल मड्डियापत्तसरसियाए तयाए णो थगिदिं ॥

कोणाम कुणिमभरियं सरिरमालहुमिच्छेज्ज ॥ १०३९ ॥

अभविष्यन्न चेद्वात्र पिहित सूक्ष्मया तच्चा ॥

को नामेद तदास्पृश्यन्यसिक्तापत्रतुल्यया ॥ १०६३ ॥

## 11. Appendix

विजयोद्या—अदि होउज तयाए ण वणिइ यमि सथा न व्यगिरा मयत् । गीरुषया मन्छिमापलसत्तिसियाए  
मक्षिकापनवदित्ति । तदा को नाम इच्छेज्ज कुणिमभरिन् रागेर को नाम याछेम् ? किं कुथितपूर्णं नरीर । आउरुम् स्पष्टु ॥  
अपययाः ॥

मूलारा-जदि इति-गच्छियापत्तसरिसियाए मक्षिकापक्षमतुल्यया । आलट्टहु स्रष्टुं आलिंगितुं वा । अवयवा० ॥  
 अर्थ- मक्खीके पखके समान पतली त्वचासे यह शरीर यदि नहीं टका होता तो दुर्गंध से भरे हुए इस शरीरको स्पष्ट करनेकी किसको इच्छा होती ? अर्थात् कोई भी इसको छूना नहीं चाहता-

कण्णेषु कण्णगूधो जायदि अच्छीसु चिक्रणंसूणि ॥

णासागूधो सिंघाणय च णासापुडेसु तहा ॥ १०४० ॥

कर्णयोः कर्णगूधोऽस्ति तथाङ्गणोर्मलमश्रु च ॥

सिंघाणक्रादयो निंद्या नासिकापुटयोर्मलाः ॥ १०६७ ॥

विजयोदया-कण्णेषु कर्णयो । कण्णगूधो कर्णगूथ । जायदि जायते । अच्छीसु अक्षणो० । चिक्रणंसूणि मलमश्रुर्विदवच्च । णासागूधो नासिकामल सिंघाणय च सिंघाणक च णासापुडेसु नासापुटयो ।

मूलारा-कण्णेषु-इति-कण्णेषु कर्णविवरयोः । कण्णगूधो कर्णाद्वयो मलः । चिक्र दूषिका । णासागूधो नासिकोद्भवो मलः । सिंघाणयं नासास्त्रावी रूप्मा ॥

अर्थ- कानमें कर्णगूथ अर्थात् कर्णमल पैदा होता है आखोंमें नेत्रमल होता है और आंसु उत्पन्न होते हैं नाकमें घट्टमल और पतला मल उत्पन्न होता है

खेलो पित्तो सिंभो वमियां जिब्भामलो य दंतमलो ॥

लाला जायदि तुंडम्मि मुत्तपुरिसं च सुक्कामिदरस्ये ॥ १०४१ ॥

लालानिष्टीवनरुष्मपुरंगं विविधा मंलाः ॥

जायते सर्वदा वक्के दंतकीटाकुलवणे ॥ १०६८ ॥

ये मेहगुदयोः सन्ति वचोमूत्रादयो मलाः ॥

न वक्तुमपि शक्यंते वीक्षितुं ते कथं पुनः ॥ १०६९ ॥

सेदो जादि सिलेसो व चिक्कणो सव्वरोमकूवेसु ॥

जायति जुवल्लिक्खा छप्पादियाओ य सेदेण ॥ १०४२ ॥

चिक्कणो रोमकूपेषु स्वेदः सर्वेषु सर्वतः ॥

यूकाः षट्पदिका लिङ्गा जायंते सर्वदा ततः ॥ १०७० ॥

विजयोदया—सेदो जादि सेदो जायते । सिलेसो व चिक्कणो चर्मकारऋणमवचिक्कण । सव्वलोमकूवेसु सर्वलोमकूपेषु जायति जायते । जूका यूका । लिङ्गखा लिङ्गाश्च । छप्पादियाओ य चर्मयूकाश्च । सेदेण हेतुना सेदेन हेतुना । पतावता प्रवधेन शरीरावयवा व्याख्याताः ॥

एवं देहस्यावयवान्यवधेन व्याख्यायेदानीं तन्निर्गमव्याख्यानाय गाथाचतुष्टयमाह—

मूलरा—सेलो इति—इदस्तथे मेहनयोनिगुदयोः ।

मूलरा—सेदो इति । सेदो प्रस्वेदः । जादि प्रादुर्भवति । सिलेसो वा वज्रलेप इव । ऋणमेव वा । छप्पादियाओ षट्पदिकाश्चर्मयूकाः ॥

अर्थ—नाकका मल, यूक, पित्त, कफ, वमन, जिह्वाका मल, दन्तमल और लाला ये मल मुखमें उत्पन्न होते हैं, मूत्र, विष्टा और वीर्य ये उदर में होते हैं।

अर्थ—शरीरके संपूर्ण रोमत्रोसे चम्हारके गृहाके सचिक्कण पदार्थ के समान स्वेद निकलता है इस स्वेदसे यूका, लिङ्गा तथा चर्मयूका उत्पन्न होती हैं। यहांतक शरीरके अवयवोंका वर्णन किया है

णिगमणं । निर्गमनव्याख्यानायाचष्टे—

विष्टापुण्णो भिण्णो व घडो कुणिमं समंतदो गलइ ॥

पूदिगालो किमिणोव वणो पूदिं च वादि सदा ॥ १०४३ ॥

गात्रैसुचति वर्चासि विग्रहो निखिलैरपि ॥

ग्रथपूर्णो घटो गूथं छिद्रितो विवैरिव ॥ १०७१ ॥

शुद्धैरयवैः स्त्रीणां निश्चितैर्विवर्धैर्मलैः ॥  
 सारासारप्रदृष्टानां मानसं विहयते कथम् ॥ १०७२ ॥  
 लज्जनीयतिथीभत्से मूढधी रमते कथम् ॥  
 योनौ क्लिप्ते स्रवद्रक्ते निन्द्ये कृमिरिव व्रणे ॥ १०७३ ॥  
 अंगारस्येव कायस्य बहिरंतश्च हृदयेत ॥  
 नैकोप्यवयवः शुद्ध सर्वथा मलिनात्मनः ॥ १०७४ ॥  
 इति निर्गमः ।

विजयोदया—विष्ठापुष्णो विष्ठाभि पूर्णो । मिष्णो व घडो भिन्नघट इव । कुणिमं कुणितं । समंतदो समंतात् ।  
 गलदि क्षरति । इंगालोव्यणो गलत्पूति निश्चितकिमिव्रणवत् । पूदि च वादि सदा दुरभिवति सदा । निम्नमण सम्मत् ॥

एव प्रत्यंगमलत्वावित्त्वमाख्याय देहस्य सामत्त्येन दुर्गंधोद्भावित्वं चाह—

मूलारा—विष्ठापुष्णो इति-गलदि स्रवति देहः । पूदिगालो दुर्गंधोद्वारी । किमिणो किमिनिचितः । वादि सुचति  
 देहः । एता गाथा केचिदुत्तरत्र पठन्ति । निर्गमः ॥

अर्थ—विष्टासे पूर्ण घडा जैसा चारो तरफसे दुर्गंधको स्रवता है अथवा किमिआंसे भरा हुआ व्रण  
 सडकर जैसा गलने लगता है वैसा इस देहसे भी हमेशा दुर्गंध मलमूत्रादिक पदार्थोंका स्राव होता रहता है-

इंगालो धोवते ण सुञ्झदि जह महापयत्तेण ॥  
 सव्वेहिं समुदेहिमि सुञ्झदि देहो ण धुव्वंतो ॥ १०४४ ॥  
 सिण्हाणुब्भंगुव्वट्टणेहिं मुहदंतअच्छिधुव्वणेहिं ॥  
 णिच्चंपि धोवमाणो वादि सदा पूदिं देहो ॥ १०४५ ॥  
 कायो जलैः पयोधीनां धाव्यमानोऽविलैरपि ॥  
 स्वभावमलिनो जातु नांगार इव शुध्यति ॥ १०७५ ॥

अभ्यंगोद्वर्तनस्नानमुपवदताक्षिधावनैः ॥

शुश्रूक्षोऽध्यमानोऽपि दुर्गन्धं वाति विग्रहः ॥ १०७६ ॥

विजयोदया—सिण्हाणुभगुवृष्टेर्हि य स्नानेन, अभ्यंगेन, उवर्तनेन । मुहदतअच्छिधुवणेहिं मुरस्य दंता-  
नामक्ष्णोश्च प्रक्षालनेन । गिच्छपि धुव्यमाणो नित्यमपि क्रियामाणदौच । वाति सदा पृदिगं देहो । दुरभिगंधतां न  
त्यजति देह ॥

एवं निर्गम व्याख्याय देहस्याशुचित्वं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मलारा-इंगालो इति-इंगालो अंगारः । धोव्यतो धाव्यमानः, शोष्यमानः ॥

सिण्हाणेति—सिण्हाणवभगुवृष्टेर्हि स्नानाभ्यंगोद्वर्तनैः । धुवगेहिं प्रक्षालने । पृदिगं दुरभिगंध ॥

अर्थ—जेमे कोला प्रयत्नपूर्वक धोनेपर भी स्वच्छ अर्थात् मफेत रगका नहीं होता है वह काला ही  
रहता है. वैसे यह देह संपूर्ण समुद्रके पानीमे घो डालने पर भी स्वच्छ-पवित्र नहीं होता है. अपवित्र ही रहता है.  
इस शरीरको स्नान, अभ्यंग स्नान, उवर्तन भी स्वच्छ नहीं कर सकते हैं. मुंह, दांत और आँखें चार चार घोने पर  
भी अशुद्ध ही बने रहते हैं. यह देह हमेशा दुर्गंधताको बाहर छोड़ता ही रहता है

पाहाणधादुअंजणपुढवितयाछल्लिखिमूलैहिं ॥

मुहकेसवासंतोलगंधमल्लेहि धूवेहि ॥ १०८६ ॥

मृत्ति कांजनपापाणधातुत्वद्मलत्रल्लिभिः ॥

केशास्यवासतांगूलधूपपुण्डलादिभिः ॥ १०७७ ॥

विजयोदया—पाहाणधादुअंजणपुढवितयाछल्लिखिमूलैहिं । पापाणधाद्वेन रत्नान्युच्यते । धातुजेल । अंजण  
अंजनं सौवीर च । पुढवी मृत्तिका । तया त्वक् । मुतावान् । मुन वास्यते मुरग मवता नीयते येनासो मुरगवास । केशा  
सुरमिता नीयते येनासो केशवान्, एते पापाणादिभिः ॥

यथेव अत्यंताप्रतिनिधेयदौर्गन्धः कायस्तत्कृण लोके सेव्यते इत्यत्र गाथाद्वयमाह—

मलारा—पासाणे इति-पासाण रत्नानि । वादु हेमादिं जलं वा । अंजण मौवीरफज्जलादि । पुढवि सट्टि-  
कादि । तया मध्यत्वक् । छल्लि वाणनत्तल्ल । मुहकेसवामा वास्यते मुरभीक्रियते मुरं केशाश्च येनासो । गंध कस्तूरि-  
कादि । मल्ल पुष्पमाला ।

अर्थ—पापाण शब्दसे रत्न यह अर्थ लेना चाहिये, धातुका अर्थ जल ऐसा होता है, अथवा सुवर्णादिक-को धातु कहते हैं, अंजन, मृत्तिका त्वचा, मुख सुगन्धित करने वाले पदार्थ, केशको सुगन्धित करने वाले पदार्थ, अर्थात् रत्न, सुवर्णादि धातु, अंजन, मृत्तिका, वनस्पतिओंकी छाल, मुख और केशोंको सुगन्धित करनेवाले पदार्थ, तांबूल, पुष्पमाला, इत्र, इन पदार्थोंसे—

अभिभूददुल्विगंधं परिभुज्जदि मोहिणहिं परदेहं ॥

परिभुज्जदि पूइयमं संजुत्त जह कडुगभडेण ॥ १०४७ ॥

प्रच्छाद्य निंदितं गध भुज्जयेत्तन्यकलेवरम् ॥

हिंवादिभिरिव द्रव्यैः पिथितं विघृणात्मभिः ॥ १०४८ ॥

विजयोदया—अभिभूददुल्विगंधो निरस्ताशुभगंध । परदेह संजुत्त परस्य देह सयुक्तः । मोहिदेहिं मूढे । परिभुज्जयेत् । परिभुज्जदि पूइयग मांस यथा युक्त संस्कृत । कडुगभडेण मरिचेहिंवादिभिश्च ॥

मूढारा—अभिभूयेति—अभिभूय निरस्य । दुल्विगंधं दुस्सहविरुद्धगंध । उपलक्षणाद्रीभस्सभाव च । रमणीयतामापाद्येत्यर्थः । अभिभूददुल्विगंधो इति वा पाठः । कडुगभंगेहिं मरिचहिंवादिभिः । अशुचित्वं ॥

अर्थ—इन पदार्थोंसे जिमका दुर्गंध दूर किया है ऐसा परकीय देह मोहित लोगोंके द्वारा भोगा जाता है, जैसा अपवित्र, दुर्गंध मांसको हिंग, जीरा, मिर्च वगैरे पदार्थोंसे छोक देकर जैसे मांसलुब्ध लोक खाते हैं वैसे परकीय देहका कामी लोक उपभोग लेते हैं.

अब्भंगादीहिं विणा सभावदो चेव जदि सरिरमिमं ॥

सोभेज्ज मोरदेहुव्व होज्ज तो णाम से सोभा ॥ १०४८ ॥

मयूरदेहवदेहो यच्च भास्यन्निसर्गत्त ॥

अभविष्यत्तदा शोभा तस्मिन्नीक्षणेतेपिणी ॥ १०४९ ॥

विजयोदया—अब्भंगादीहिं विणा सुगन्धतैलेन प्रक्षर्णं, उद्धर्तनं, ज्ञानमालेपनमित्यादिभिर्विना । सभावदो चेव

यदि सोभेज्ज इमं शरीरं स्वभावत एव यदि शोभित इदं शरीरं । मोरदेहुव्व मयूरदेहवत् । होज्ज तो णाम से सोभा भवेत्तत् स्फुट देहस्य शोभा ॥

एवमशुचित्वं प्रपच्य देहस्यासारताप्रक्षणार्थं गाथाचतुष्टयमाचष्टे—

मलारा—अवमंगदीहिं इति—इमं मातुवं । णाम स्फुटं ॥

अर्थ—सुगंध तेल लगाकर स्नान करना, स्नान करना, लेप करना इत्यादिकाकी अपेक्षा के बिनाही मयूर देहके समान यह देह स्वभावतः सुंदर होता तो ही मनुष्यदेह सुंदर है ऐसा कह सकते. परंतु बाल्य पदार्थोंके बिना सुंदरता आती नहीं है.

जदि दा विहिंसदि णरो आलहुं पडिदमण्णो खेलं ॥

कथ दा णिपिवेज्ज बुधो महिलामुहजायकुणिमजलं ॥ १०४३ ॥

आत्मनः पतितो खेलो यदि स्पष्टं घृणायते ॥

तदा रामामुत्वांभो हि पीयते कुथितं कथम् ॥ १०८० ॥

विजयोदया—जदि दा विहिंसदि णरो आलहुं पडिदमण्णो खेलं यदि तावन्नरो लुगुत्सते स्पष्टुमात्मनोऽपि फासं । कथदा णिपिवेज्ज बुधो कथमिदानीं पिवेदुधु महिलामुहजणिवकुणिमजल युवतिसुखसमुद्रवमशुचिजलं ॥

मूलारा—जदि दा इति-दाणि इदानीं । पिवेज्ज पिवेत् । कुणिमजलं अशुच्यंभः । लालमित्यर्थः ॥

अर्थ—मनुष्य यदि अपने भी धूकको स्पर्श करनेमें ग्लानि उत्पन्न करता है अर्थात् अपना धूक, कफ वगैरह को वह हाथसे स्पर्श करना भी चाहता नहीं तो यह बुद्धिमान मनुष्य स्त्रीके मुहमें उत्पन्न हुआ अपवित्र जल कैसे पीता है कुल मालूम नहीं पड़ता ?

अंतो बहिं व मज्जे व कोइ सारो सरीरगो णत्थि ॥

एरुडगो व देहो णिरसारो-सव्वहिं चेव ॥ १०५० ॥

वीक्ष्यमाणे मनुष्याणां बहिरंतश्च वीक्ष्यते ॥

एरुदंदवदेहो न सारोऽत्र कदाचन ॥ १०८१ ॥

विजयोदया—अतो बहि व मज्जे अंतर्बहिर्मत्थे । को वि सारो सरीरगो णत्थि । शरीरेऽङ्गे सारभूतं न किञ्चिदस्ति । परंढको वा गिस्सारो सव्वहि चेव साररहितः सर्वत्र चेव ॥

मूलारा—अंतो बहि च इति—मज्जे अंतराले । सारो सेव्य रूप । सव्वहि सर्वत्र ।

अर्थ—अतर्मे, बाहर और मध्यमे भी इस देहमें कुछ भी सार वस्तु नहीं मिलेगी जैसे एरडकी लकड़ी सर्व तरहसे सारहीन होती है वैसे इस देहमें सारका नाम भी नहीं मिलेगा

चमरीबालं खरिगविसाणं गयदंतसप्पमणिपादी ॥

दिट्ठो सारो ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि ॥ १०५१ ॥

चमरीणां कचं क्षीर गवां शृङ्गाणि खड्गिनां ॥

भुजंगानां मणिः पिच्छ बर्हिणां करिणां रदः ॥ १०८२ ॥

विजयोदया—चमरीबाल चमरीरोमाणि । खरिगविसाण खड्गिनां खगणा विपाणं । गजानां दंता । सर्पणां रत्नाविकं च । इष्ट सारभूतं । ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि नास्ति किञ्चित्सारं मनुष्यदेहे ॥

छगलं मुत्तं दुद्धं गोणीए रोयणा य गोणस्स ॥

सुचिया दिट्ठा ण य अत्थि किञ्चि सुचि मणुयदेहस्स ॥ १०५२ ॥

कस्तूरिका कुरगणागमित्थं सारो विलोक्यते ॥

शरीरे न पुनर्नृणां कोऽपि कापि कदाचन ॥ १०८३ ॥

विजयोदया—असुह ॥

मूलारा—चमरी इति—चमरीबाला अरण्यगवीपुच्छकेयाः । खरिगविसाण गंडकुशं । मणिगादी आदिशब्देन मयूरवर्द्धमृगकस्तूरिकादिकं । यत्र संश्रुतटीकाकारः कण्ठेसु कण्ठगूधो इत्यादिगाथात्रय पूर्वसूत्रे पठित्वा ‘विट्ठापुण्णो इत्यादि गाथानवक निर्गमव्याख्यानमकार्षीत् । अशुचीति च वीजविभिरष्टभिरपि समवधानात् । एव च सति द्वादशसूत्री तेन नेष्टा ज्ञायते । अस्माभिस्तु प्राकृतटीकाकारादिमतेनैव व्याख्यायते । अन्ये त्वसारत्वप्रेक्षणमाशौचान्तर्गमयन्ति ॥

तथा च तत्पाठः—इयानि वीजनिष्पत्तिष्वेवाधोजन्मवृद्धिभिः ।



सहासनिर्गमाद्यौचव्याख्यात्रौव्याणि विग्रहे ॥ असारत्वप्रेक्षण ॥

अर्थ—चमरी नामक गौके केस, गंडेका सांग, हाथीके दांत, सर्पके मस्तकका माणि आदि शब्दसे मोरका पख, कस्तूरी वगैरह पदार्थोंमें सार अर्थात् उत्कृष्टता—पवित्रता देखी गई है परंतु इस मनुष्यदेहमें कुछ सार नहीं दीखता है

अर्थ—वकरोका मूत, गायका दूध और गाय और बेलकी गोरोंचना ये पदार्थ मवित्र है, परंतु मनुष्य देहमें कुछभी पवित्र चीज अवलोकनेमें नहीं आवेगी, अशुचि प्रकरण समाप्त हुआ.

व्याधि इत्येतद्वाचष्टे प्रयत्नोत्तरेण—

वाइयपित्तियसिंभियरोगा तण्हा लुहा समादी य ॥

णिच्चं तवंति देहं अद्दिदज्जल व जह अग्गी ॥ १०५३ ॥

कुथितसब्बनि वा कुयित्तैःकृते क्कमिक्कुल्लंविविधेरभित्तो भूते ॥

शुचि नृणां सकलाशुचिर्मंदिरे भवति किंचन नात्र कलेचरे ॥ १०८४ ॥  
इति अशौच ।

विजयोदया—वाइयपित्तियसिंभियरोगा दोषत्रयप्रभवा व्याधय । तृणाशुधाश्रम इत्यादयश्च । देहं नित्य तपति त्वलितोऽग्निर्जलमिव चुल्लुपपरिस्थितभाजनगत ॥  
देहव्याधिनिरूपणार्थं गाथात्रयमाह—

मूलारा—वाडिय इति—वाडिय पित्तिय संभिय वातादिभिः पृथग् मिश्रैः समस्तेश्च जनिता ज्वरादयो व्याधयः । समादीय श्रमादयश्च । तवंति तापयंति । अद्दिदज्जल चुल्लुपपरिस्थितभाजनगतं तोयं ॥

अर्थ—वातजन्य रोग, पित्तके रोग और कफसे होनेवाले रोग, प्यास भूक, और श्रम इत्यादिकोंसे अधिकके द्वारा जैसा जल तप जाता है वैसा यह देह संतप्त होता है

जदि रोगा एक्कम्मि चेव अन्धिम्मि हेति छण्णउदी ॥

सब्बम्मि दाइं वेहे होदव्वं कदिहिं रोगेहिं ॥ १०५४ ॥

यदि पणवति रोगाः सभवति विलोचने ॥

किञ्चनस्ते तदा नृणां सर्वत्रापि कलेवरैः ॥ १०८५ ॥

कोट्याः पञ्चाष्टपट्टीश्च लक्षाः सह सहस्रकैः ॥

नवभिर्नवतिः पचदशत्याक्षीतिश्चतुर्युता ॥ १०८६ ॥

विजयोदया—जदि रोगा एकस्मि चक्षु अन्विस्मि यदि तावद्रोगा एकस्मिन्नेव नेत्रे पणवतिसंख्या भवन्ति । सञ्चस्मि दाहं देहे समस्ते इदानीं शरीरे । होदच्व कदिहिं रोगेहिं । कतिभिर्व्याधिभिर्मवितव्यम् ॥ बाधिगद ॥

मूलारा—जदि दाह इति-छणउदी पणवतिः । दाहं इदानीं ।

पंचेव य कोडीओ भवति तह अटुसठ्ठिलम्साह ॥

णव णउदि च सहस्रमा पचसदा होति चुलसीदी ॥

अर्थ—यदि एक आंखमें रोग छानवे उत्पन्न होते हैं तो सम्पूर्ण देहमें कितने व्याधि होंगे. अर्थात् सम्पूर्ण देहमें असंख्यात होंगे व्याधिका प्रकरण समाप्त

अध्रुवतामुत्तरया गायया व्याचष्टे— ।

पीणत्यर्णिदुवदणा जा पुञ्चं णयणदइदिया आसे ॥

सा चेव होदि संकुडिदगी विरसा य परिजुणा ॥ १०५५ ॥

पीनस्तनीन्दुवणा या तारुण्ये हरते मनः ॥

अनिष्टा जायते जीर्णां संक्षुयष्टिरिवारसा ॥ १०८७ ॥

विजयोदया—पीणत्यर्णिदुवदणा पीनस्तनभागसपूर्णचन्द्रानना । जा पुञ्चं या पूर्व । णयणदइदिया नयन चक्षुमा जाता । सा चेव होदि संकुडिदगी सेव भवति संकुटिततनु । विरसा कामरसरहिता । परिजुणा परितो जीर्णां जरत्कुटीव ॥

अध्रुवत्वल्यापनार्थं गाथाः पचदश आह—

मूलारा—पीणत्ययेति-पीणत्वणचयणी पीनस्तनभागमपूर्णचन्द्रानना । णयणदइदिया नेत्रप्रिया । आसी जाता । विरसा कामरसरहिता ।

अर्थ—जिसके स्तन पृष्ठ थे और मुखचद्रके साथ स्पर्द्धा करता था, जो पूर्वमें नेत्राँको अतिशय आनन्द दायिनी थी, वही स्त्री सङ्कुचित शरीरवाली अर्थात् गम्भीर, और जीर्ण झोपड़ीके समान चारो तरफसे जीर्ण होती है

जा सन्वसुंदरगी सविलासा पढमजोव्वणे कंता ॥

सा चेव मदा संती होदि हु विरसा य बीभञ्छा ॥ १०५६ ॥

या यौवने प्रिया कांता सर्वोवयवसुंदरी ॥

दुर्गधा कुथिता सास्ति बीभत्सा विरसा मृता ॥ १०८८ ॥

विजयोदया—जा सन्वसुंदरगी यस्या सर्वोणि अंगानि सुंदराणि । सविलासा विलाससहिता । पढमजोव्वणा प्रथमयौवना । कता काता । सा चेव मदा संती सैव मृता संती । होदि हु विरसा भवति विरसा । बीभञ्छा जुगुप्सनीया ॥ मूलारा—जा सन्वेति—मदा संती मृता संती । बीभञ्छा जुगुप्सनीया ।

अर्थ—जिसके सर्व अवयव सुंदर, विलाससहित, और प्रथम तारुण्यसे युक्त थे वही स्त्री मरनेपर विरस और ग्लानि करने योग्य होती है. अर्थात् शरीरकी सुंदरता दृढता वगैरे गुण अस्थिर हैं ऐसा इन दो गाथाओंसे आचार्यने दिखाया है

शरीरसपदो ध्रुवता व्याख्याता गाथाद्वयेन । वंपत्यो सयोगस्याध्रुवतां व्याचष्टे—

मरदि सयं वा पुव्वं सा वा पुव्वं मदिज्ज से कंता ॥

जीवितस्स व सा जीवंती हरिज्ज बलिण्हि ॥ १०५७ ॥

अग्रिते वल्लभा पूर्वं स्वयं वा अग्रिते पुरा ॥

जीवंती जीवतो वान्यैरिह्यते बलिभिर्बलात् ॥ १०८९ ॥

विजयोदया—मरदि सयं वा पुव्वं अग्रिते सय वा पूर्वं पुमान् । सा वा पूर्वं अग्रिते । से तस्य पुन. कान्ता । जीवन्तस्स जीवतो वा सा जीवन्ती निह्यते बलिगेहि बलिभिरपरैः । इत्थं सयोगस्य बहुधाऽनित्यता ॥

एवं शरीरसंपदुधुत्व व्याख्याय दंपत्योः सयोगाधुवत्व व्याचष्टे—

मूलारा—मरदि इति-मरदि सय म्रियते स्वयं पुमान् ।

अर्थ—पति, पत्नीके प्रथम आयु नष्ट होनेसे मरता है अथवा उसकी स्त्री मर जाती है, अथवा पति जीता रहतेहि बलवान लोग स्त्रीको हरण कर ले जाते हैं

सा वा हवे विरत्ता महिला अण्णेण सह पलाएज्ज ॥

अपलायंती व तगी करिज्ज से वेमणस्साणि ॥ १०५८ ॥

विरज्यते स्वयं तस्याः सा वा तस्य विरज्यते ॥

परेण वा समायाति तिष्ठती वा विरुध्यते ॥ १०९० ॥

विजयोदया—सा वा होज्ज विरत्ता सा भवेद्विरक्ता पुण्ये तथापि तयो संगतिः । महिला अण्णेण वा सह पलाएज्ज सा विरक्ता युवतिरन्येन वा सह पलायनं कुर्यात् । अपलायन्ती अपलायमाना वा । तगी सा । करेज्ज से वेमणस्साणि कुर्यात्सच्चेतोडु यानि ॥

मूलारा—सा वा इति-पलाएज्ज गच्छेत् । तगी सा । वेमणस्साणि चित्तदुक्कयानि ॥

अर्थ—अथवा वह स्त्री अपने पतीसे असंतुष्ट होकर अन्य पुरुषके साथ भाग जायगी, अथवा विरक्त होकर वे दोनों एक साथ रहेंगे तथापि वह स्त्री पतिके मन को दुःख देती रहेगी अर्थात् प्रतिकूल विचार, आचार और भाषण से वह पतिको दुःख देनेवाली होगी

शरीरस्याधुवतामाचष्टे—

रूवाणि कंठुकममादियाणि चिद्वृत्ति सारवेतस्स ॥

धणिदं पि सारवेन्तस्स ठादि ण चिरं सरिरमिदं ॥ १०५९ ॥

चिरं तिष्ठति संस्कारे काष्ठशावादिरूपकम् ॥

कलेवरं मनुष्याणां न संस्कारे महत्त्यपि ॥ १०६१ ॥

विजयोदया—रूपाणि कट्टरुम्मादियाणि काष्ठे उत्कर्णन्ति रूपाणि स्त्रीणा पुसा अन्येया च आदिशयेन शिला-  
दंतादिपरियद्वाश्चिरं चिह्नन्ति सारवत्तस्स चिरं तिष्ठति संस्फुर्यत । धणिद्व पि सारवत्तस्स नितरामपि संस्फुर्यत । आदि ण  
चिरं शरीरमिमं न तिष्ठति चिर शरीरमिदं ॥

देहाद्रुचत्वमाह—

मूलारा—रूपाडं इति—सारवत्तस्स सङ्कुर्वतः ।

शरीरकी अनित्यताका विवेचन—

अर्थ—लकड़ी, पत्थर, हस्तिदंत इत्यादिकोमं बनाये हुए स्त्रीपुरुषोंके चित्र और अन्य प्राणिओंके  
चित्र संस्कार करनेसे बहुत काल तक रहते हैं परंतु इस देहपर व्यायाम, अन्नादिकोंके द्वारा कितना भी संस्कार  
करो चिरकालतक ठहरता नहीं

न केवल शरीरमेव अतित्यमपि त्वन्यदपि इति व्याचष्टे—

मेघहिमफेणउक्कासंझाजलुबुब्बुदो व मणुगाणं ॥

इंद्रियजोव्वणमदिरुवत्तेयवल्लवीरियमणिच्च ॥ १०६० ॥

यौवनेन्द्रियलावण्यतेजोरूपचलादयः ॥

गुणाः क्षणेन नश्यन्ति शारदा इव नीरदाः ॥ १०९२ ॥

विजयोदया—मेघहिमफेणउक्कासाजलबुब्बुदोव मेघवद्भिस्त्वत्तेनवउक्कावत्सत्थावजलमुद्बुदयच्च । मणुगाणं  
। श्रद्धियजोव्वणमदिरुवत्तेजवल्लवीरियमणिच्च । मण्डियाणि, यौवन, मति, रूप, तेजो, बल, वीर्य, चानित्यं ॥  
न परं शरीरमेवानित्य अपि तु अपरमपीत्याह—

मूलारा—मेघवद्धि—स्पष्टम् ।

अर्थ—मेघ, वर्षा, पानीका फेन, उल्का, सन्ध्याकाल और पानीका चबूला इन के समान मनुष्योंकी  
इंद्रिया, तारुण्य, बुद्धि, रूप, तेज, बल, वीर्य ये भी अनित्य हैं जब मनुष्ययौवाय ही अनित्य है तो उस पर्या-  
यमें प्राप्त होनेवाली उपयुक्त चीजें कैसे स्थिर हो सकती हैं

शठिति शरीरसंप्रदायवर्तते इत्याख्यानक दर्शयति—  
साधुं पडिलाहेतुं गदसस सुरयस्त अगमहिंसीए—  
णट्ट सदीए अंगं कोढेण जहा मुहुत्तेण ॥ १०६१ ॥  
गतस्याहारदानार्थं सुरतस्य तपस्विनः ॥

विजयोदया—साधु पडिलाहेतु गदसस सायोगद्वारा नष्टः कुटेन विग्रहः ॥ १०९३ ॥  
महिंसीए अग्रमहिंसीए सदीए सत्या शोभनाया । अग णट्ट शरीर नष्ट । कोढेण कुटेन । जहा मुहुत्तेण यथा मुहुत्तेन ॥  
शठिति शरीरसंप्रदायवर्तते इत्याख्यानकेन दर्शयति—  
मूलारा—साधुं इति—साधु पडिलाहेतुं संयमिनं भोजयितुं । सुरदस्त सुरतान्मो राक्षः । अगमहिंसीए पट्ट-  
अर्थ—सुरत राजाको पट्टरानी बहुत ही सुंदर थी एक समयमें राजा मुनीश्वरको आहार देनेके लिये  
गया था उस समय इधर रानीका शरीर अंतर्मुहूर्तमें कोढ रोगसे व्याप्त होगया अभिप्राय यह है कि, जो रानीका  
शरीर अंतर्मुहूर्तके पूर्वमें बड़ा ही सुंदर और राजाको अत्यंत प्रिय था वही अंतर्मुहूर्त के अनन्तर ही अत्यन्त  
विरूप हो गया अतः शरीर परिवर्तनशील है यह बात इस उदाहरणसे स्पष्ट होती है

वज्झो य णिज्जमाणो जह पियइ सुर च खादि तंवलं ॥  
कालेण य णिज्जता विसए सेवति तह मूढा ॥ १०६२ ॥  
हंतुमग्रे कृतो मूढो दुर्निवारेण मृत्युना ॥  
सेवते विपयं वध्यः पाणेनेव सुरादिकम् ॥ १००४ ॥

विजयोदया—वज्झो य णियमाणो हन्तु नीयमान । जह पियइ यथा सुरा पित्रि । सादि तंवल ताबूल  
भक्षयति । तथा कालेण य णिज्जता मृत्युना नीयमाना मूढा । विसए सेवति विषयाननुभवन्ति ॥  
मूलारा—वज्झो इति—चोर्यापराधेन वधार्हः पुमान् । णिज्जमाणो हंतु नीयमानः श्वपचेन । कालेण परिज्जतो

मृत्युना नीयमानः ।

उक्त च-हं तुमसे कृतो मूढो दुर्निवारेण मृत्युना ।

सेवते विषय वध्यः पाणेनेव सुरादिकं ॥

अर्थ—वध करनेके लिये जिसको ले जा रहे हैं ऐसा कोई मूढ मनुष्य जैसे मदिरा पीकर तांबूल भक्षण करता है वैसे कालके द्वारा मारने के लिये ले जानेवाले मनुष्य भी मूढ हो कर विषयोंका सेवन करते हैं

वधपरद्वो लग्नो मूले य जहा ससप्पविलपडिदो ॥

पडिदमधुविदुमक्खणरदिओ मूलम्मि छिज्जते ॥ १०६३ ॥

व्याघ्रेणाग्रे कृतो हंतुं विले साज्जगरे गतः ॥

छिद्यमाने इहं लग्नो मूले विविधमूपिकैः ॥ १०९५ ॥

अपश्यन्नग्रतो मृत्युं यथा कश्चन मूढधीः ॥

पतन्मधुकणास्वादो विधत्ते परमां रतिम् ॥ १०९६ ॥

विजयोदया—वधपरद्वो व्याघ्रेणाभिद्रुत । लग्नो लग्न । मूलम्मि लताया मूले ससर्पवति विले पतितः । पडिदमधुविदुमक्खणरदिओ स स्वचक्रस्थानपतितमधुविद्यास्वादनरतिक । मूलम्मि छिज्जते । मूले छिद्यमाने मूपिका-भिर्यथा ॥

दृष्टातोपन्यासपुरःसरं विषयविनश्वरत्वं गाथात्रयेण भावयति—

मूलारा—वधेति—वग्गपरद्वो व्याघ्रेण प्रारब्धोऽभिद्रुतो हं तुमसे कृत इति यावत् । मूलम्मि समर्पकपभित्तिटप्रल-ढवल्लीबुद्धे । पडिदमधुविदुचक्रणरदिओ कथमपि मुखपतिमाक्षिकलवासादनप्रीतिकः । छिज्जते छिद्यमाने मूपिकैः ।

अर्थ—मारनेके लिये जिसके पीछे व्याघ्र लगा है, ऐसा कोई पथिक, जिसमें सर्प हैं ऐसे क्रूयकी भीतके तटपर उगी हुई वेलीके बुधाको पकड़कर लटकने लगा. उस समय मधके छत्से मधुविंदु उसके ओष्ठके अग्रभागपर गिरने लगे तब वह व्याघ्र का डुःख भूल कर मधुविंदुसे उत्पन्न होनेवाले स्वादमैही आसक्त होगया परंतु वह इस वेलीका मूल चूहोंके द्वारा काटा जा रहा है और मैं उसके काटेनपर कुएँ पड़गा यह सब बातें वह पथिक जैसे भूल गया वसीही संसारी मनुष्य की हालत है

तह चेव मञ्चुवगधपरद्धो बहुदुक्खसप्पबहुलम्मि ॥  
 संसारविले पडिदो आसामूलम्मि संलग्गो ॥ १०६४ ॥  
 मृत्युव्याघ्रोक्षितो दुःखसर्पे जन्मविले गतः ॥  
 त्थ्यमानस्तथा मूढो बहुभिर्विघ्नमूपकैः ॥ १०९७ ॥

विजयोदया—तह चेव तथैव । मञ्चुवगधपरद्धो मृत्युव्याघ्रेणाभिद्रुत । संसारविले पडिदो संसार एव विलः  
 तस्मिन्पतितः । कीदृग्मूढे बहुदुःखसर्पाकुले आशामूले । संलग्गो सम्यगलग्नः ॥

मूलारा—तथेति—आसामूलम्मि आशा विषयाकाक्षा मूलमिवालंबनभूतत्वात् ।

इसीका आगेके दो गाथाओं से वर्णन करते हैं—

अर्थ—इस मनुष्यके पीछे मृत्युरूपी व्याघ्र लगा है, यह मनुष्य अनेक दुःख रूपी सर्प जिसमें निवास  
 करते हैं ऐसे संसाररूपी विलमें गिरा है, परंतु इसने आशारूपी वेली की जड़ हाथमें पकड़ रखली है,

बहुविघ्नमूसण्हिं आशामूलम्मि तम्मि छिज्जंते ॥  
 लेहदि विभयविलज्जो अप्पसुहं विसयमधुविंदुं ॥ १०६५ ॥  
 आशामूले हृदं लग्नो विषयासादने रत्तिम् ॥  
 महर्ती कुरुते नाशमपद्यन्नग्रतः स्थितः ॥ १०९८ ॥

इति अष्टौव्यम् ॥

विजयोदया—बहुविघ्नमूसर्गेहिं य बहुभिर्विघ्नमूपकैः । आशामूलम्मि तम्मि छिज्जंते । आशारूपे मूले  
 तस्मिन्निच्छद्यमाने । लेहदि खावति । विभयविलज्जो निर्भयो निर्लेज्जश्च । अप्पसुहं विसयमधुविंदुं । अल्पसुखं विषयमधु-  
 विंदुं अल्पसुखनिमित्तत्वादल्पसुखमित्युच्यते । विषयमधुविंदुं विषयशब्देन रूपादय इत्युच्यते । तेषु पुरो वर्तमानस्य  
 पुद्गलस्कंधस्य वर्तमाना, कतिपया, पर्याया अतिस्वल्पास्त एव मधुविंदवः ॥ अधुवत्तं ॥

मूलारा—बहुविघ्नेति—विसयमधुविंदुं विषयश्चक्षुरादिना गृहमाणो रूपाधार्यो भविव स्वल्पसुखनिमित्तत्वात् ।  
 तस्य विदुस्तत्क्षणभज्यमानपुण्ड्रस्थितपुद्गलविवर्तिपर्यायः । तथा चाबोचाम सिद्धयर्थकै-



सुधागर्वं सर्वन्त्यभिमुखग्रहणीकप्रणयिनः ॥

क्षणं ये तेऽप्यङ्गं विपमपवदंत्यंगविपयाः ॥

त एवाविर्भूय प्रतिचितयनायाः सखु तिरौ-

भवन्त्यधात्तेभ्योऽप्यहह किमु कर्पन्ति विपदः ॥

अर्थ—आशारूपी वेलीकी जड़ नाना विघ्नरूपी चूहोंके द्वारा काटी जा रही है इस बातको वह जानता ही नहीं। परंतु विषयसुखरूपी अल्प मधुके कणका आस्पादन करनेमें ही वह लवलीन हो रहा है, नेल वगैरह इंद्रियोंके द्वारा जिनका ग्रहण होता है ऐसे रूप, रस, गंध स्पर्शादिकोंको विषय कहते हैं ये विषय मधुके समान अल्प सुख उत्पन्न करनेमें निमित्त हैं अतः इनको मधु कहते हैं इनका विंदु अर्थात् इन रूपादि पदार्थोंके जो थोड़ेमे पुद्गलस्कन्ध भोगनेमें आते हैं उसको विंदु कहते हैं, इस प्रकार अनुवतत्वका वर्णन हुआ।

वालो अमेज्जलिच्छो अमेज्जमज्झमि चैव जह रमदि ॥

तह रमदि णरो मूढो महिलामज्जे सयममेज्जो ॥ १०६६ ॥

रामावर्चोमध्यवर्ती ननुण्यं कीडत्येपोऽमेध्यरूपः शिशुर्वी ॥

वर्चोल्लोऽमेध्यमध्यं प्रवृत्तो कीटवसरं निंदनीयस्व भावं ॥ १०९९ ॥

विजयोदया—वालो अमेज्जलिच्छो बालोऽअमेध्यमि चैव अमेध्यमध्ये एव । जह रमदि यथा रमते प्रीतिसुपैति । तथा रमदि णरो मूढो तथा रमते मूढ । महिलामेज्जे योपिदेव अनेकाशुचिपूर्णशरीरतया अमेध्यशब्देनोच्यते । सयममेज्जो स्वयममेध्यभूत ॥

सकलाभिमतैर्द्विार्थनायके स्त्रीनाम्नि विषये यथावत्स्वरूपानुवावपरत्वेन जुगुप्सासुहावयन्स्वावत्तदगान्मुमुक्षुमुपरमयितुं गायद्वयमाह—

मूलारा —वालो इति—रमदि प्रीतिसुपैति । महिलामेज्जे महिला अमेध्यमिव समस्ताशुचिप्रागभारशरीरत्वात् ॥

अर्थ—विष्टासे लिप्त हुआ बालक जैसे विष्टामें ही क्रीडा करता है उसमें सुख मानता है, वैसे अनेक अपवित्र पदार्थ जिसके शरीरमें भरे हुये हैं ऐसी स्त्रीरूपी विष्टामें यह कामी अपवित्र पुरुष क्रीडा करता है.

कुणिमरसकुणिमगंधं सेविता महिलियाए कुणिमकुडी ॥

जं होंति सोचइत्ता एवं हासावहा तेसिं ॥ १०६७ ॥

अमेध्यनिर्माणमेध्यपूर्णं निषेवमाणैर्वनिताशरीरम् ॥

धैर्मन्यते स्वं शुचिरस्तनोर्धेर्हास्यास्पदं कस्य न ते भवंति ॥ ११०० ॥

विजयोदया—कुणिमरसकुणिमगंध अशुचिरसमशुचिगंध । सेविता सेवमाना । महिलियाए महिलया युवत्या । कुणिमकुडि अशुचिशरीरकुडि । जं होदि सोयवता । एवं हासावह एतच्छौचत्व हास्यावह । तेसिं तेषां ॥

मूला—कुणिमेति—कुणिमकुडि अशुचिशरीरकुटी । सोचइत्ता शौचे चित्तं येषां ते शौचविन्ताः शुचित्वमनसः आत्मानं शुचिं मन्यमानाः । इत्यर्थः ।

अर्थ—जिससे अशुचि रस बहुता है, जिसका गंधभी अपवित्र है ऐसी स्त्रीरूपी शोषडीको सेवन करनेवाले काभी पुरुष अपनेको पवित्र मानते हैं यह उनका विचार हास्यास्पद है.

एवं एदे अच्छे देहे चित्तयस्स पुरिसस्स ॥

परदेहं परिभोत्तु इच्छा कह होज्ज सधिणस्स ॥ १०६८ ॥

बीजादयो येन शरीरधर्माश्चित्ते क्रियन्ते बुधनिंदनीयाः ॥

निषेव्यते मेध्यमयी न नारी कदाचनमेध्यकुटीव तेन ॥ ११०१ ॥

विजयोदया—एव एदे अच्छे एवमेतानर्थान् । देहे शरीरविग्रहान् । चित्तयस्स चित्तयत । पुरिसस्स पुरुषस्य । परदेहं परस्य शरीरं परिभोत्तु परिभोक्तु । इच्छा किह्व होज्ज इच्छा कथं भवेत् । सधिणस्स घृणावत् । लज्जावत् ॥ देहबीजादिभावनाभुभावविभानाय गाथाद्वयमाह—

मूला—एदे बीजादीन् । सधिणस्स लज्जावतः । उक्तं च—

बीजादयो येन शरीरधर्माश्चित्ते क्रियन्ते बुधनिंदनीयाः ॥

निषेव्यते मेध्यमयी न नारी कदाचनमेध्यकुटीव तेन ॥

अर्थ—इस प्रकार इस देहसे उत्पन्न होनेवाले अनेक विषयोंका जो पुरुष मनमें विचार करता है उसको

परदेहका उपभोग लेते समय क्यों न लज्जा उत्पन्न होगी? अर्थात् ऐसे अपवित्र देहका उपभोग लेनेसे वह विचारी मनुष्य परावृत्त होगाही

एदे अत्ये सम्मं दोसं पिच्छंतओ णरो सधिणो ॥

ससरीरे वि विरज्जइ किं पुण अण्णरस देहम्मि ॥ १०६९ ॥

निरीक्षते यो वपुषः स्वभावं वर्चोनिवासस्य विनश्वरस्य ॥

देहे स्वकीयेऽपि विरज्यतेऽसौ दोषास्पदायाः किञ्च नांगनायाः ॥११०२॥

इति अशौचम् ॥

यिज्योद्या—एदे अत्ये देहस्स बीजणिप्पसिखेत्त इत्येतत्सन्ननिर्दिशनेतानर्थान् । देहे शरीरे । पिच्छित्तगो सम्यङ् निरूपयन् । ससरीरे वि विरज्जइ आत्मनोऽपि शरीरे विरज्जति विरक्ततामुपैति । किं पुण अण्णस्स देहम्मि किं पुनरन्यशरीरे विरक्तता नोपेयात् ॥ अगुचि ॥ अशुचित्व व्याख्यात ॥

मूलारा—एदे अत्ये इति—पिच्छंतओ निरूपयन् । अधुवत्वं ॥ अशुचित्व ॥ ६७ ॥

अर्थ—देहका बीज, निष्पत्ति वगैरह प्रकरणोंका वर्णन किया गया है इनके स्वरूपका इस देहमें जिसने सम्यक्प्रकार से विचार किया है वह पुरुष अपने शरीरसे ही विरक्त होगा फिर अन्यके देहके विषयमें उसको क्यों न वैराग्य उत्पन्न होगा? अशुचित्वका वर्णन समाप्त

वृद्धसेवानिरूपणाय उत्तर-प्रयत्नस्तरुणा वा इत्यादिक । शीलवृद्धता भवति न केवलत वयसा इत्याचष्टे—

थेरा वा तरुणा वा बुद्धा सीलेहिं होति बुद्धीहिं ॥

थेरा वा तरुणा वा तरुणा सीलेहिं तरुणेहिं ॥ १०७० ॥

बुद्धैर्बुद्धा नरा-शीलैस्तरुणैस्तरुणा यतः ॥

जायंते तरुणा वृद्धास्तत-शीलं बुधैः स्तुतम् ॥ १०७३ ॥

यिज्योद्या—थेरा वा तरुणा वा स्थिरास्तरुणाश्च । बुद्धा होति वृद्धा भवति । सीलेहिं होति तरुणेहिं बुद्धेहिं शीलैः प्रबुद्धैः । क्षमा, मार्दव, क्रशुल्य, सतोप इत्यादिक शीलशब्देनोच्यते । थेरा वा तरुणा वा स्थविरास्तरुणाश्च । तरुणा

एव । सीलेहिं तरुणेहिं तरुणैः शीलैः । एतेन शीलवृद्धा इह वृद्धराद्वेन गृहीता । एतेषा सेवा वृद्धसेवेति कथितं भवति । वृद्धगुणानां सेवातः स्वयमपि गुणोत्कर्षमुपैति मन्यते ॥

एव कामदोषद्वीदोषाद्युचित्वानि त्रीणि स्त्रीवैराग्यनिमित्तानि व्याख्याय साग्रतं वृद्धसेवा पंचदशभिर्गोथाभिर्व्याचक्षणां वृद्धस्वरूपनिरूपणार्थं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—धेरा वेति—सीलेहिं क्षमादिभि । बुद्धेहिं बुद्धिं गतैः । न वयसा वृद्धेन । तरुणेहिं कामादिभिः प्रायेण तारुण्येन सह दृष्टित्वात्तेषा । यत्पठन्ति लोकाः—

अवश्यं यौवनस्थेन स्त्रीवेनापि हि जंतुना ।

विकारः खलु कर्तव्यो नाविकाराय यौवनम् ॥

सुप्रसिद्धौ च वृद्धगुणदोषपुरूपसेवानाहुणवोपोत्कर्षौ ।

अब वृद्धसेवाका वर्णन विस्तारसे करते हैं—केवल वय अधिक होनेसे मनुष्य शीलवृद्ध होता नहीं इसका वर्णन—

अर्थ—वृद्ध हो अथवा तरुण हो यदि उनका शील बढ गया हो अर्थात् क्षमा, मार्दन, आज्ञा, शौच बगैरह आत्मधर्म बढ गये तो उनको शीलवृद्ध कहना चाहिये और जिनके ये धर्म नहीं बढ पाये उनको चाहे वयसे वृद्ध भी हो तो भी तरुण ही कहना चाहिये अभिप्राय यह है कि शीलवृद्धोंको ही यहां वृद्ध कहना चाहिये और उनकी सेवाकाही नाम वृद्धसेवा है जिनके क्षमादिक गुण वृद्धिगत हुए हैं उनकी सेवा करनेसे अपने भी गुण बढते हैं.

अपि चेह यत्यादीनामपि ससगौ गुणवान्यतस्तेऽपि तपसैव मंदीभूतकामरतिवर्पक्रीडा इति वदति—

जह जह वयपरिणामो तह तह णस्सदि णरस्स बलरूवं ॥

मंदा य हवदि कामरदिदपक्रीडा य लोभो य ॥ १०७१ ॥

यथा यथा वयोहनिः पुरुषस्य तथा तथा ॥

मंदाः कामरतिक्रीडादर्पबलादयः ॥ ११०४ ॥

विजयोदया—जह जह वयपरिणामो अतिक्रामति यथा यथा वयःपरिणामो युवत्वमध्यमत्वसंज्ञित । णरस्स परिणामो प्राणिन परिणाम । तद्य तद्य से तथा तथा मदा हवन्ति मंदा भवति । कामरदिदृष्यकीडा काम्यन्त इति कामा विषयास्तत्र रतिर्द्विष, क्रीडा, लोभ लोभश्च मंदविषयस्त्याद्विपरिणामेन वृद्धेन सह संवासात् । स्वयमेवापि मंदकामाद्विपरिणामो भवतीति भावः ॥

यद्यपि तपसैव कामरतिद्विषकीडा लोभा न्यग्भावयितुं शक्यास्तथापि वयःपरिणतिरपि तदनुकूलकारणता प्रतिपद्यते इति वयोवृद्धससर्गस्य अपि गुणवत्त्वस्यापनार्थमाह—

मूलरा—जद्य जयेति—वयपरिणामो युवत्वमध्यमत्वसंज्ञित । मदा न्यग्भूता । कामरदो विषयप्रीतिः उक्त च—

यथा यथा वयोद्वानिः पुरुषस्य तथा तथा ॥

मंदाः कामरतिक्रीडादर्परूपवलादयः ॥

तथैव च लोकोऽप्यधीते—

प्रथमे वयसि यः शातः स शात इति मे मतिः ।

धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ॥

मंदकामरत्त्याद्विपरिणामेन वृद्धेन सह संवासात् स्वयमेव च तादृक्परिणामो भवतीति मन्यते । कुलीनान्ध्र-  
त्येतदुच्यते कुशीलानामन्यथापि भावात् । यत्संज्ञित—

वयसः परिणामेऽपि कुशीलस्य कुतः शमः ॥

सुषुप्तमपि माधुर्यं नोपयातीद्रवारुणं ॥

यति, त्यागीजन इनका भी समर्ग करना सद्गुणप्राप्तिका उपाय है क्योंकि यतिगणोंने तपके द्वारा त्रिषय-  
प्रीति कम की है इसी अभिप्रायको स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जैसी जैसी मनुष्यकी आयु अधिक होती जाती है वंसा २ उसका विषयोंमें प्रेम कम होता जाता है मंद, क्रीडा, और लोभ ये दुर्विकार रूप होते हैं, तरुणावस्थामें इन दुर्विकारोंका अदमनीय वेग रहता है, मध्यम-  
वय होनेपर इनके वेग में मंदता आती है जिनेके ये उपर्युक्त विकार मंद हुये हैं ऐसे वृद्धोंकी संगति करनेसे ये कामादिविकार मंद हो जाते हैं,

खोभेदि पत्थरो जह दहे पडंतो पसणमवि पंकं ॥  
खोभेइ तहा मोहं पसणमवि तरुणसंसर्गी ॥ १०७२ ॥  
शांतोऽपि क्षोभ्यते मोहो युवसंगेन देहिन' ॥  
कर्दम पतता क्षिप्रं प्रस्तेरेणव वारिणः ॥ ११०५ ॥

विजयोद्या—खोभेदि क्षोभयति । पत्थरो शिला महुती । जह यथा । दहे ज्हेदे पडंतो पतन् । पसणमवि पंकं प्रशातमपि पक । खोभेदि चालयति । तथा मोह । पसणमवि प्रशातमपि । तरुणसंसर्गी तरुणगोष्ठी ॥

तरुणगोक्षीमपवदति—

मूलारा—खोभेदि इति—खोभेदि उदीरयति । पतन्त प्रशान अनुदत्त । मोहं काम ॥

अर्थ—जैसा बड़ा पत्थर मरोवरमें पड़नेसे उसका निर्मल पानी उछलकर मलिन बनता है वैसे तरुण संसर्ग मनके अच्छे विचारोंमें मलिनता उत्पन्न करके उनको गंदे बनाता है यदि कोई मनुष्य शांतिपरिणामका धारक है तो भी उसको तरुणसंसर्ग त्यागना ही योग्य है अन्यथा उसके शांत विचारभी तरुण संसर्गसे विघटने

कलुसीकदंपि उदयं अचं जह होइ कदयजोएण ॥  
कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु बुहुसेवाए ॥ १०७३ ॥  
उदीणोऽप्यंगिनो मोहो वृद्धसंगेन निश्चितम् ॥  
पंक. कतकयोगेन सलिलस्येव शाम्यति ॥ ११०६ ॥

विजयोद्या—कलुसीकदंपि उदय कलुगीकृतमप्युदक । कदयजोएण कतकफलसंबंधेन । अचं स्वच्छं । जह होइ यथा भवति । कलुसोऽपि कलुषितोऽपि । मोहो मोहः । उवसमदि उपशाम्यति । बुहुसेवाए वृद्धसेवया ॥  
वृद्धसेवायाः कामौत्कष्यविलुप्तकत्वं वक्ति—

मूलारा—कलुसीकदंपि इति—कदकजोएण कतकफलसंबंधेन । कलुसो उत्कटः ॥

अर्थ—जैसा मलिन पानी भी कतकफलके सयोगमे स्वच्छ होता है वैसे कलुष मोह भी शीलवृद्धोंके संसर्गसे शांत होता है.

लीणो वि मट्टियाए उदीरदि जलासयेण जह गंधो ॥  
लीणो उदीरदि णरे मोहो तरुणासयेण तहा ॥ १०७४ ॥

शान्तिपुद्बुदीयते मोहः पुंसस्तरुणसंगतः ॥

लीनः किं मृत्तिकागंधो नोदेति जलयोगतः ॥ १०७५ ॥

विजयोदया—लीणो वि लीनोऽपि । मट्टियाए मृत्तिकाया । गंधो गंध । जहा जलासयेण जलाश्रयेण ।  
उदीरदि उदयमुपैति । लीणो वि मोहो णरे लीनोऽपि नरे मोहः । उदीरदि उदयमुपनीयते । तरुणासयेण तरुणा-  
श्रयेण तथा ॥

मोहोदयभावाभावोत्तरुणससर्गभावाभावानुविधायित्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—लीणो वि इति—लीणो अनुद्भूतः । जलासणेण नीरससर्गेण ॥

अर्थ—जैसा मट्टीमें गंध रहता है परंतु जलके आश्रयसे वह प्रगट होता है वैसा तरुण के आश्रयसे गुप्त  
भी मोह उमड पडता है.

संतो वि मट्टियाए गंधो लीणो हवदि जलेण विणा ॥  
जह तह गुट्टीए विणा णरस्स लीणो हवदि मोहो ॥ १०७५ ॥  
रहितो युवसंगत्या मोहः सन्नपि लीयते ॥  
जीवस्य जलसंगत्या पुष्पगंध इव स्फुटं ॥ ११०८ ॥

विजयोदया—सन्तो वि सन्नपि मृत्तिकाया गंध । जलेन विना लीनो भवति यथा तथा गोष्ठ्या विना  
मोहो नरस्य लीनो भवति ॥

मूलारा—सतो वि इति—लीणो हवइ नोदेतीत्यर्थः ॥

अर्थ—मट्टीका गंध मट्टीमें रहता हुआ भी जलके संसर्गके विना प्रगट होता नहीं है वैसा ससर्ग के  
विना मनुष्यका मोह प्रगट नहीं होता है.

तरुणो वि वृद्धसीलो होदि णरो वृद्धसंसिओ अचिरा ॥

लज्जासंक्रामणावमाणभयधम्मवुद्धिर्ही ॥ १०७६ ॥

युवापि वृद्धशीलोऽस्ति नरो हि वृद्धसंगतः ॥

'मानापमान'भीशंकाधर्मबुद्धित्रिपादिभिः ॥' ११०९ ॥

विजयोद्या—तरुणो वि तरुणोऽपि । वृद्धशीलो भवति । वृद्ध संश्रितोऽचिरात् । लज्जया, शंकया, मानेन, अपमानभयेन धर्मबुद्ध्या च ॥

वृद्धसेवामाहात्यमाह—

मूलरा—तरुणो वि इति—माण संयतोहमिति अभिमानः । अवमाणभयं महत्स्वलण्डनभीतिः ।

अर्थ—वृद्धोंके संसर्गसे तरुण मनुष्य भी शीघ्रही शीलगुणोंकी वृद्धि होनेसे शीलवृद्ध बनता है लज्जासे, भीतिसे, अभिमानसे, अपमानके डरसे और धर्मबुद्धिसे तरुण मनुष्य भी वृद्ध बनता है

वुद्धो वि तरुणसीलो होइ णरो तरुणसंसिओ अचिरा ॥

वीसंभणिव्विसंको समोहणिज्जो य पयडीए ॥ १०७७ ॥

वृद्धस्तरुणशीलोऽस्ति नरस्तरुणसंगतः ॥

विश्रंभनिर्विशंकत्वमोहप्रकृतियोगतः ॥ १११० ॥

विजयोद्या—बुद्धो वि वृद्धोऽपि तरुणशीलो भवति तरुणसंश्रित क्षिप्र । विस्संभणिव्विसंको विश्रमेन निर्विशंक समोहणिज्जो य सह मोहनीयेन वर्तमान । पयडीए प्रकृत्या ॥

तरुणाश्रयेण दोषमाह—

मूलरा—बुद्धो वि इति—वीसंभणिव्विसंको स्त्रिया विश्रमेन दुर्गतिदुःखादिभयरहितः । समोहणिज्जो सकामो यतः । पयडीए प्रकृत्या ॥

अर्थ—तरुणोंकी संगतिसे वृद्ध मनुष्य भी स्वभावतः कामविकारसे युक्त दोषर स्त्रियोंके ऊपर विश्वास करने लगता है और दुर्गतिके भयसे रहित होता है



सुंडयसंसर्गीए जह पाहुं सुंडओऽभिलसदि सुरं ॥

विसए तह पयडीए संमोहो तरुणगोष्ठीए ॥ १०७८ ॥

इंद्रियार्थरतिर्जीवो युवगोष्ठ्या विमूढधी ॥

शौण्डगोष्ठ्या यथा शौण्डं सुरां कांक्षति सर्वदा ॥ ११११ ॥

विजयोदया—सुंडयसंसर्गीए यथा शाडगोष्ठ्या । जह पाहुं सुरमभिलसदि यथा पातु सुरामभिलपति । तथा पयडीए संमोहो तथा प्रकृत्या समोह । तरुणगोष्ठीए विमण अभिलसदि तरुणगोष्ठ्या विषयानभिलपति ॥

मूलारा—सुंडय इति—सुंडयसंसर्गीए मणगोष्ठ्या । पाहुं पातुं ॥

अर्थ—जैसे मद्यपीके सहवासमे मद्यका प्राशन न करने वाले मनुज को भी उसके पानकी अभिलाषा उत्पन्न होती है वैसे तरुणोंके संगसे वृद्ध मनुष्य भी विषयोंकी अभिलाषा करता है

तरुणेहिं सह वसंतो चलिदिओ चलमणो य वीसत्थो ॥

अचिरेण सहरचारी पावदि महिलाकद दोमं ॥ १०७९ ॥

विश्रब्धश्चपलाक्षो यः स्वैरी तरुणसंगतः ॥

महिलाविषयं दोष स ग्रीष्मं लभते नरः ॥ १११२ ॥

विजयोदया—तरुणेहिं तरुणे सह वसन् चलेन्द्रियश्चलचित्त , मुकुट विश्रस्त अधिरेण स्वेरचारी । पावदि प्राप्नोति । महिलाकद दोस वनिताविषय दोष ॥

मूलारा—तरुणेहिं इति—सहरचारी स्वेरचारी । महिलागणं लीविषय ॥

अर्थ—तरुणोंके मसंगमे वृद्ध मनुष्यकी इन्द्रियां रूपादिविषयोंमें उत्सुक होती हैं मन चंचल बनता है और स्त्रियोंमें विश्वास रखकर वह स्वच्छंदी होता है स्त्रियोंके महावाममे वह दोषी बनता है-

पुरिसस्स अप्पसत्थो भावो तिहिं कारणेहि संभवइ ॥

वियरस्मि अंधयारे कुसीलसेवाए ससमक्खं ॥ १०८० ॥

ध्वतैकांतकुशीलेहृदशैने. करणैस्त्रिभिः ॥

कुत्सितो जायते भावः स्त्रीपुंसानामसशयम् ॥ १११३ ॥

विजयोदया—पुरिसस्स पुरुषस्य अग्रशस्तो भावस्त्रिभिः कारणैः संभवति । एकांतै, अघकारै, कुशीलसेवा दर्शनेन च प्रत्यक्षम् ॥

मूलारा—पुरिसस्स उपलक्षणात्त्रिधाश्च । अप्सत्थो कामाभिलाषयुक्तः । वियरम्मि क्रिया सहैकान्ते पुंसः, पुंसा च क्रियाः । कुशीलसेवाए ससमकलं आत्मप्रत्यक्ष स्त्रीपुंसयोः कामसेवाया सत्या तदवलोकने सति इत्यर्थः ।

उक्तं च— ध्वान्तैकान्तकुशीलेहृदशैनेः कारणैस्त्रिभिः ॥

कुत्सितो जायते भावः स्त्रीपुंसानामसशयम् ॥

अर्थ—पुरुषमें तीन कारणोंसे अग्रशस्त विचार उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एकांत स्थानमें, अघकारमें और अपने समक्ष कोई स्त्रीपुरुष काम सेवनमें, अघकारमें और अपने समक्ष कोई स्त्रीपुरुष काम सेवन करते हुए देखकर कामाभिलाषरूप अग्रशस्त विचार उत्पन्न होते हैं

पासिय सुच्चा व सुरं पिज्जंतं मुंडओ भिलसदि जहा ॥

विसए य तह समोहा पासिय सोच्चा व भिलसंति ॥ १०८१ ॥

निसर्गमोहितस्वान्तो दृष्ट्वा श्रुत्वाभिलष्यति ॥

विषयं सेवितुं जीवो मदिरामिव मद्यपः ॥ १११४ ॥

विजयोदया—पासिय सुच्चा व सुरं सुरा पीयमाना दृष्ट्वा वा श्रुत्वा वा शोडोऽभिलपति । यथा तथा समोहा विषयानभिलपति दृष्ट्वा श्रुत्वा वा ॥

मूलारा—पासिय दृष्ट्वा । सोच्चा श्रुत्वा । पिज्जंती पीयमाना ॥

अर्थ—मदिरापान करते हुए पुरुष को देखकर अथवा मदिराका वर्णन सुनकर जैसे मद्यपी मनुष्य मद्य पीनेकी इच्छा करता है तथा मोहयुक्त मनुष्य भी निषर्गोका सेवन करनेवालोंको देखकर या सुनकर विषयभोगनेकी इच्छा मनमें करता है.

जादो खु चारुदत्तो गोढीदोसेण तह विणीदो वि ॥

गणियासत्तो मज्जासत्तो कुलदूसओ य तहा ॥ १०८२ ॥

चारुदत्तो विनीतोऽपि जातः संसर्गदोषतः ॥

वेडयामांससुरासक्तः कुलदूषणकारकः ॥ १११५ ॥

विजयोदया—जादो खु चारुदत्तो विनीतोऽपि चारुदत्तो गोष्टीदोयेण गणिकासको जातः मद्यावसक्त कुलदूषकश्च ॥

मूलारा—विणीदो सुचरितः ।

अर्थ—ज्ञानी भी चारुदत्त कुसंस्पर्शे गणिकामें-वेश्यामें आसक्त हुआ तदनंतर उसने मद्यमें आसक्ति कर अपन कुलको दूषित किया।

तरुणस्स वि वेरग्गं पण्हविज्जदि णरस्स बुद्धेहिं ॥

पण्हविज्जइ पाडच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण ॥ १०८३ ॥

तरुणस्यापि वैराग्य शीलवृद्धेन जायते ॥

क्रियते प्रस्तुतक्षीरा वत्सस्पर्शेन गीर्न किम् ॥ १११६ ॥

विजयोदया—तरुणस्स वि तरुणस्यापि वैराग्य जयते ज्ञानवयत्तपोवृद्धे । वत्सस्य स्पर्शेन यथा गौः प्रस्तुत-क्षीरा क्रियते ॥

शीलवृद्धस्यो यूनोऽपि वैराग्योत्पत्तिमाह—

मूलारा—पण्हविज्जदि जन्यते । पण्हविज्जादि दुग्धक्षरणं कार्यते । पाडच्छीवि विशुष्कापि दुग्धरहितस्तनापि गौः । फरुसेण स्पर्शेन ॥

अर्थ—जैसे बलहेके स्पर्शसे गौके स्तनोंमें दुग्ध उत्पन्न होता है वैसे ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध और तपोवृद्धोंके सहवाससे तरुणके मनमें भी वैराग्य उत्पन्न होता है।

परिहरइ तरुणगोष्ठी विसं व बुद्धाउले य आयदणे ॥  
जो वसइ कुणइ गुरुणिदेसं सो णिच्छइ बंभं ॥ १०८४ ॥  
य. करोति गुरुभाषित सुवा संश्रये वसति वृद्धसंकुले ॥  
मुचते तरुणलोकसंगतिं ब्रह्मचर्यममलं स रक्षति ॥ १११७ ॥  
रजो धुनीते हृदय पुनीते तनोति सत्त्वं विधुनोति कोपम् ॥  
मानेन पूतं विनयं नयति किं वृद्धसेवा न करोत्यभीष्टम् ॥ १११८ ॥  
इति वृद्धसंगतिः ॥

विजयोदया—परिहरइ तरुणगोष्ठी परिहरति तरुणैः सह गोष्ठीं विपमिव य, वृद्धैराकीर्णं चायतने यो वसति । करोति च गुर्वीक्षा स निस्तरति ब्रह्मचर्यमिति संक्षेपोपदेशः ॥ वृद्धसेवा गता ॥

ब्रह्मचर्यनिर्वाहोपायमाह—

मूलारा—विस वा विपमिव । बुद्धाउले शीलवृद्धसंकुले । आयदणे स्थाने । गुरुणिदेस गुरोराज्ञा । णिच्छइ निर्वाहयति । बंभं ब्रह्मचर्यं । वृद्धसेवा ॥

अर्थ—जो मनुष्य तरुणोंका सग विपतुल्य समझकर छोड़ता है, वृद्ध जहां रहते हैं ऐसे स्थानों में रहता है, और जो गुरुओंकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करता है वही मनुष्य ब्रह्मचर्यका पालन कर सकता है।  
वृद्धसेवाका प्रकरण समाप्त हुआ

स्त्रीसंसर्गकृतदोषावेक्षणं समनसा ससम्पदस्यार्थं इत्यस्य सूत्रपदस्यार्थः साध्याहारतया सूत्राणामपि चिच्छज्जंता इति वाक्यशेषात् ।—

आलोचनेन हिदयं पचलदि पुरिमस्स अप्पसारस्स ॥  
पेच्छंतयस्स बहुसो इच्छीण थणजहणवदणाणि ॥ १०८५ ॥  
मानस स्वल्पसत्त्वस्य स्त्रीसंसर्गं विनश्यति ॥  
जघनस्तनवणाणि पश्यतो बहु चलयते ॥ १११९ ॥

विजयोदया—आलोगेण आलोकनेन । हृदय हृदयं प्रचलति । अल्पधृतिकस्य पुसः प्रेक्षमाणस्य बहुशो युवतीनां वदनपयोधरपृथुजघनानि ॥

स्त्रीसंसर्गकृतदोषावेक्षण नाम पचम स्त्रीवैराग्यकारण गाथाद्वाविंशत्या व्याचक्षाणः प्रथमं योपिदालोकनलक्षण-  
ससर्गस्य दुर्निवारत्वादोषपरंपरामुद्गावयति ।

मूलारा—आलोगेण निरीक्षणेन प्रकरणान्नारीणा । पचलदि प्रकर्षेण शुभ्यति । अपसारस्स अल्पधृतिकस्य ।  
पेच्छतागस्स चिंतयतः । उक्तं च—

दृष्टिपतो भवेत्पूर्वं व्यामुह्यति ततो मनः ॥

प्रणिधत्ते जन. पश्चात्तत्कथागुणकीर्तने ॥

बहुसो वारंवार ॥

स्त्रीसंसर्ग करनेसे कोनसे दोष उत्पन्न होते हैं इसका विवेचन—

अर्थ—जिसमें धैर्यगुण अल्प है ऐसे पुरुषका हृदय स्त्रीको देखकर चंचल होता है. अर्थात् उसका मुख,  
स्तन, बड़ा नितंबभाग ये अवयव देखनेसे अल्प धैर्यवाला पुरुष मोहित होता है

लज्जं तदो विहिंसं परिचयमथ णिव्विसंकिदं चेव ॥

लज्जालुओ कमेणारुहंतओ होदि वीसत्थो ॥ १०८६ ॥

निरस्यति ततो लज्जां संस्तव कुरुते तत ॥

ततो भवति निशंकस्ततो विश्वसिति ध्रुवम् ॥ ११२० ॥

विजयोदया—लज्जा तदो विहिंस ततो हृदयचलनोत्तरकाल लज्जां विनाशयति । विनलज्ज परिचयमुपेति ।  
ताभिर्दशनसमीपगमनहसनादिक करोतीति यावत् पश्चाद्विंशको भवतीति मामनया सह स्थित पश्यति इति या शका  
तामपाकरोति । लज्जावानपि नर क्रमेण अभिहित अवस्था उपरोद्धन, विश्वस्तो भवति ॥

मूलारा—तदो हृदयप्रचलनोत्तरकाल । विहिंसं ग्रिहिसन् विनाशयन् । परिचयं दर्शनसमीपगमनहसनादिक ।  
णिव्विसंकिदं मामनया सह स्थितं पश्यतीति शकाविगमं । परिचयं निर्विशकता च क्रमेणारोहन् विश्वस्तचित्तेन स्त्रीपु कृत-  
सुखसाधनत्वग्रत्ययः स्यात् ॥

अर्थ—मन चंचल होनेके अनंतर उसकी लज्जा नष्ट होती है लज्जा नष्ट होनेपर उनके साथ उसका परिचय होता है अर्थात् वह उनकी स्थिर नयनोंसे देखता है उनके पास जाता है, उनके साथ हसी मजाक करता है तदनंतर उसका भय भी नष्ट होता है मैं इस स्त्रीके साथ रहता हूँ मेरी लोक निंदा करेंगे यह भय उसके मनसे दूर चला जाता है तात्पर्य—लज्जावान् भी मनुष्य ऐसी अवस्था आँको प्राप्त होकर स्त्रियोंमें विश्वस्त होता है अर्थात् स्त्री यह सुख का साधन है ऐसा वह समझता है

वीसत्यदाए पुरिसो वीसभं महिलियासु उवयादि ॥

वीसंभादो पणयो पणयादो रदि हवदि पच्छा ॥ १०८७ ॥

विश्वासे सति विश्रंभो विश्रंभः प्रणये सति ॥

रामासु परमा पुसः प्रणये जायते रतिः ॥ ११२१ ॥

विजयोदया—वीसत्यदाए विश्वस्ततया मनस विश्रंभमुपयाति युवातिपु । विश्रंभात्प्रणय प्रणयाद्गतिर्भवति ॥  
मलार—वीसत्यदाए स्वमनसा विश्वासेन । वीसंभं आसत्वेन व्यवहार विश्वासेनात्र प्रवृत्तिनिवृत्ती विश्रंभ-  
शब्देनोच्यते । तथा चोक्तं—

विश्वस्तेन च चित्तस्य विश्रंभं स्त्रीषु गच्छति ॥

विश्रंभात्प्रणयोऽस्त्येव प्रणयान्च रतिस्ततः ॥

अर्थ—सुखसाधनकी कल्पनासे वह स्त्रियोंमें विश्वास करता है, इस विश्वाससे प्रेमकी उत्पत्ति होती है, अर्थात् यह स्त्री हमारी आप है ऐसा अभिप्राय उसमें उत्पन्न होता है, जिससे प्रेमका उदय होता है इसके अनंतर दोनोंमें आसक्ति पैदा होती है

उल्लावसमुल्लावहिं चा वि अल्लियणपेच्छणेहिं तहा ॥

महिलासु सइरचारिस मणो अचिरेण खुब्भदि हु ॥ १०८८ ॥

नारीणां दर्शनोद्देशाभाषणप्रतिभाषणैः ॥

आकृष्यते मनो नृणामयस्कांतैरिवायसम् ॥ ११२२ ॥

विजयोदया—उल्लावसमुल्लावोर्हि संभाषणप्रतिवचनैः, ढौकनेन, प्रेक्षणेन, तथा वनिताभिः स्वच्छाचारिणी तस्य शीघ्रं मनश्चलति ॥

मूलारा—उल्लावसमुल्लावोर्हि संभाषणप्रतिवचनैः । अस्त्रियपेच्छणेर्हि आश्रयणेन भणितकरणेन च सङ्गचारिस्त्वस्वेच्छाचारिणः ॥

अर्थ—स्त्रियोंके साथ संभाषण और प्रत्युत्तरसे, उनके पास आना जाना करनेसे, उनको देखनेसे, स्वेच्छाचारी बने हुए पुरुषका मन चंचल बनता है

ठिदिगदिविलासविबभमसहासचोद्विदकडक्खदिद्वीर्हि ॥

लीलाजुदिरादिसम्मेलणोवयोरर्हि इत्थीणं ॥ १०८९ ॥

हासोपहासलीलाभिर्गुप्तगात्रप्रकाशनैः ॥

विलासैर्विभ्रमैर्हवैर्भावैः सह गमागमैः ॥ ११२३ ॥

विजयोदया—ठिदिगदि-स्त्रीणां स्थित्या, गत्या विभ्रमेण, नर्तनाभिप्रायेण, निगूहनेन, कटाक्षावलोकनेन, शोभया, युत्सा, क्रीडया, सहगमननादिना उपचारेण च ॥

मूलारा—ठिदि स्थानकं । गदि चलन । विलास नयनविकारः । विबभम भ्रुकुंगांतविकारः । लासः मसृणनृत्यं चेद्विद अगप्रकटन । लीला शोभा मधुरागविचेष्टितैः प्रियायुकरण वा । द्युतिस्तेजः । सम्मेलण एकत्रावस्थानं । उवयोरर्हि सहगमनाशनाद्युपचारैः ॥

अर्थ—स्त्रियोंका खडा होना, उनका गमन करना, अवलोकन करना, मोहो वक्र करना, मधुर नृत्य, स्तनादिको दिखाना, अभिप्राय छिपाना, कटाक्ष फेकना, सुदर रीतीसे अंगोंको हिलाना, प्रिय करके छंदांनुसार प्रवृत्ति रखना, शोभा, कांति, क्रीडा, साथ गमन करना, साथ बैठना, इत्यादिक उपचारोंसे पुरुषका मन चंचल होता है.

हासोवहासक्रीडारहस्यसवीसत्यजं पिणं तहा ॥

लज्जामज्जादीणं मेरं पुरिसो अदिक्कमदि ॥ १०९० ॥

मानमनैः कोमलैर्वाक्यैर्हृद्यैर्विस्मयभाषणैः ॥

गतिस्थितियुतिश्रीदानमविन्वोकमोदनैः ॥ ११२४ ॥

विजयोदया—दासोपहासकीडा हासेन प्रतिहासेन च, क्रीडया, एकाते विध्वस्तजल्पितेन च लज्जामर्यादयो-  
सीमातिक्रमं करोति नर ॥

मूलारा—दासो वर्कर । उवहास प्रतिहास । रहस्यवीसंभजपिदेहिं एकातविधासेन संजल्पैः । लज्जामज्जा  
दाणं लज्जामर्यादयोः । मर्यादात्र स्थितिरित्यंभाननियम इति यावत् । मेरं सीमा ।

अर्थ—स्त्रीके हासपर खयं हसना उसके साथ खेलना, एकान्तमें विश्वासयुक्त होकर बोलना, लज्जाका  
त्याग करना और स्त्रियोंके साथ पुरुषोंका जो सम्य व्यवहार होता है जिसको मर्यादा कहते हैं उसको तोड़ना ऐसे  
कार्योंसे पुरुष सीमातिक्रम करते हैं.

ठाणगदिपोच्छिदुल्लावादी सव्वोसिमेव इच्छीणं ॥

सविलासा चेव सदा पुरिसस्स मणोहरा हुंति ॥ १०९१ ॥

बकावलोकनैः स्त्रीणां वैराग्यं न्हियते नृणाम् ॥

शरीरस्पर्शभिः क्लृदैः पन्नगैरिव जीवितम् ॥ ११२५ ॥

विजयोदया—ठाणगदि स्थानं, गति , प्रेक्षितमुल्लापमपीत्यादय सर्वासोमेव स्त्रीणा सविलासाः पुरुषस्य मनः  
सदापहरन्ति ॥

मूलारा—होति सर्वासां स्त्रीणा स्थानादयः सविलासा भवन्त्येव ॥

अर्थ—स्त्रियोंका खडा होना, सलील गमन, कटाक्ष फेककर देखना, मधुर भाषण करना इत्यादि सभी  
वातें विलासयुक्त—दावभावयुक्त होनेसे पुरुषोंका मन हरण करनेवाली होती हैं

संसंगीए पुरिसस्स अप्पसारस्स लद्धपसरस्स ॥

अगिसमीवे लक्खेव मणो लहुमेव वियलाइ ॥ १०९२ ॥



योषितां नर्तनं गानं विकारो विनयो नयः ॥

द्रावयन्ति मनो नृणां मदन पावका इव ॥ ११२६ ॥

विजयोद्या—संसर्गीण सहगमनेन, गमनेन, आसनेन च पुरुषस्य अल्पसारस्य लब्धप्रसरस्य मनो द्रवीभवति । अग्निकटस्थिता लाक्षेव ॥

मूलारा—समर्गीण स्त्रीसंगत्या सहवासदिकया । अपसारस हीनसत्वस्य । प्राप्नोत्येच्छाजल्पनादिप्रवृत्तेः । विलादि विलीयते । द्रवीभवति ॥

अर्थ—सहगमन करना, एकासनपर बैठना, इन कार्योंसे अल्पधैर्यवाले और स्वच्छदसे बोलना, हंसना, चौरह क्रिया करनेवाले पुरुषका मन अग्नीके समीप जैसी लाख पिघल जाती है वैसा पिघल जाता है.

संसर्गीसम्भूदो मेहुणसहिदो मणो हु दुम्मेरो ॥

पुवावरमगणतो लंघेज्ज सुसीलपायारं ॥ १०९३ ॥

माहिंला मन्मथावासविलासोल्लासितानना ॥

स्मृता पि हरते चित्त वीक्षिता कुरुते न किं ॥ ११२७ ॥

निर्मर्यादं मनः संगतसंभूदं सुरतोत्सुकम् ॥

पूर्वापरमनाहत्य शीलशालं विलघते ॥ ११२८ ॥

विजयोद्या—संसर्गीसम्भूदो स्त्रीसंसर्गसंभूद मनो मिथुनकर्मपरिणतं निर्मर्यादं पूर्वापरमगणयदुल्लंघयेच्छीलपाकारं ॥

मूलारा—मेहुणसहिदो सुरतोत्सुक । अत्र पूर्वोत्तरयोश्चार्पणत्वायुल्लिङ्गनिर्देशः । निम्मेरो निर्मर्याद । पुवावरं कारणकार्यभावः ॥ अगणेतो अपर्यालोचयन् । उद्वेदि उल्लंघयति । बालेज्ज सुसीलेति पाठेऽपि स एवार्थः ॥

अर्थ—स्त्रीसहवाससे मनुष्यका मन मोहित होता है तब उसमें मैथुनसज्ञा अर्थात् मैथुन करनेकी तीव्र इच्छा होती है. उस समय वह कार्यकारणका विचार करता नहीं वह शीलतटका उल्लंघन करनेके लिये उत्तार हो जाता है.

इंद्रियकसयसणगागरवगुरुया सभावदो सञ्चे ॥  
संसर्गिलद्धपत्तस्स ते उदीरंति अचिरेण ॥ १०९४ ॥

कपायेन्द्रियसजाभिर्गारवैगुरुकाःसदा ॥

सर्वे स्वभावतः संगदुद्भवन्त्याचिरेण ते ॥ ११०९ ॥

विजयोदया—इंद्रियकसयसणगागरवगुरुका इन्द्रियैः, कपायैः, सदाभिराह्वरभयमैथुनपरित्रहविषयाभिः ।  
क्रादिरससातगौरवैश्च गुरुका । स्वभावत एव सर्वे प्राणभृतः संसर्गलब्धप्रसस्स अतीव अशुभपरिणामा अचिरादेवो-  
त्पद्यन्ते ॥

मूलारा—सञ्चे सर्वे प्राणिनः । इंद्रियादिभिश्चतुर्भिः स्वभावतो गुरुका महातः संति । ते इंद्रियाद्योऽशुभ  
परिणामचतुष्टयं । उदीरंति उदीर्यन्ते स्त्रीसगतिलब्धप्रसस्स शीघ्रं समुद्भवतीत्यर्थः ॥

अर्थ—प्रायः प्राणिओंमें स्वभावसे ही इंद्रिया, कपाय, सजा और गारव उत्कट रहते हैं स्त्रियोंका संसर्ग  
होनेसे पुरुष सञ्छंदी बनता है तब इंद्रियादिक उच्छृखल हो जाते हैं जिससे शीघ्रही अत्यंत अशुभ परिणाम  
उत्पन्न होते हैं संज्ञाके आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, और परिग्रहसंज्ञा ऐसे चार भेद हैं आहारकी उत्कट  
अभिलाषा होना, भीति उत्पन्न होना, मैथुनकी तीव्र इच्छा रहना और परिग्रहोंमें अभिलाष उत्पन्न होना ऐसा चार  
संज्ञाओंका क्रमशः अर्थ है क्रादिरागरव, रसगारव और सातगारव ऐसे गारवके तीन भेद हैं इनका वर्णन पीछे  
गया है

मादं सुदं च भगिणीमेगते अछिंतयत्तगस्स मणो ॥

खुब्भइ णरस्स सहसा किं पुणं सेसासु महिलासु ॥ १०९५ ॥

मातृस्वसुताः पुस एकांते अयतो मनः ॥

शीघ्र क्षोभं व्रजत्येव किं पुनः शेषयोषितः ॥ ११३० ॥

या—स्पर्शार्थो ॥

मूलारा—अर्हियतागस्स आश्रयतः

अर्थ—माता, अपनी लडकी और बहिन इनकाभी एकान्तमें आश्रय पाकर मनुष्यका मन क्षुब्ध होता है फिर दुसरी महिलाओंके विषयमें कहना ही क्या ?

उत्तरा—

जुण्णं पोच्चलमइलं रोगिय वीभस्स दंसणविरूवं ।

मेहुणपडिगं पच्छेदि मणो तिरियं च खु णरस्स ॥ १०९६ ॥

निःसारां मलिनां जीर्णां विरूपां रोगिदुद्दशम् ॥

तिरश्चीं वा समीहेत नमनो मैथुनं प्रति ॥ ११३१ ॥

विजयोदया—जुण्णं जीर्णतरा । पोच्चलमइल नि सारमलिना । रोगिद्वीभस्सदंसणविरूवं व्याधिता वीभस्सलोचनां विरूपांमपि स्त्रिय । मेहुणपडिगं मैथुनकर्मनिमित्तं पच्छेदि प्राप्यते । मणो मनः । तिरिय खु तिरश्चीं वा दृष्ट्वा हि तीव्रकामावेशात् तिर्यक्ष्यपि तराणा प्रवृत्ति ॥

रहस्येप्याश्रीयमाणस्तारुण्यादिरमणीया एव रमण्यो मतःक्षोभाय पुंसः प्रमविर्यतीत्याशकायामाह—

मूलारा—जुण्णं अतिवृद्धा । पोच्चलमइलं निःसारा, मलिना च । रोगिद व्याधिता । वीभच्छदंसणा वीभस्सा

लोचनां । मेहुणपडियं मैथुनं प्रति सुरतार्थमित्यर्थः । तिरियं खु तिरश्चीं वा । तिरश्चीमपि वा । उक्तं च—

रोगवतीमतिजीर्णां वीभस्सा दुर्वला विरूपा च ॥

अपि च तिरश्चीमवलमिच्छति मदनज्वरी भोक्तुम् ॥

अर्थ—जो स्त्री वृद्ध है, निःसार है, मलिन है, रोगी है, जिसकी आँखें वीभस्स—भयानक हैं, जो कुरूप है ऐसी स्त्रीकीभी यह मन मैथुन करनेके लिये प्रार्थना करता है इतनाही नहीं तिर्यच स्त्रीकोभी चाहता है तीव्रकामके आवेशमें आकर मनुष्यकी पशुके साथभी मैथुन करनेकी प्रवृत्ति हो जाती है

प्रकारांतरेणापि स्त्रीससर्गमादर्शयति—

दिट्ठणुभूदुसुदविसयाणं अभिलासमुमरणं सव्वं ।

एसा वि होइ महिलासंसग्गी इत्थिविरहम्मि ॥ १०९७ ॥

दृष्टश्रुतानुभूतानां विपयाणां रुचिस्मृतिः ॥

नारीससर्गं ण्योऽपि विरहेऽप्यास्ति योपितः ॥ ११३२ ॥

विजयोदया—विष्णुभृशुद्विसयाण दृष्टाना, अनुभूताना, श्रुताना च विपयाणा अभिलाससुमरण अभिलाप-  
स्मरण । सद्य एसो वि होदि महिलाससगगी ण्योऽपि भवति युवतिससर्ग । इत्थीविरहे स्त्रीविरहे ॥

स्त्रिया सहवासादिना विनापि स्त्रीससर्गमादर्शयति—

मूलारा—एसा वि यदिदं दृष्टाना, अनुभूताना, वा विपयाणा अभिलपणं स्मरणं वा तत्सर्वमिय अपरा स्त्री  
ससर्गी भण्यते । इत्थिविरहे वि योपितो व्यवधानेऽपि मति ॥

उक्तं च—दृष्टश्रुतानुभूतान्विपयानभिलष्यतश्च संस्मरतः ॥

प्रमदाविरहेऽपि मुनेर्भवति प्रमदाश्रयो दोषः ॥

प्रकारांतरसेभी स्त्रीसंसर्गका निरूपण करते हैं—

अर्थ—स्त्रीके विरहमेंभी देखे हुए, मुने हुए, अनुभव जिनका लिया है ऐसे पदार्थकी अभिलाषा करना  
बारबार उनका स्मरण करना यह भी संसर्गका एक भिन्न प्रकार है.

थेरो बहुसुदो पच्चई पमाणं गणी तवस्सिस्ति ॥

अचिरेण लभदि दोसं महिलावगमि वीसत्थो ॥ १०९८ ॥

वृद्धो गणी तपस्वी च विश्वास्यो गुणवानपि ॥

अचिराल्लभते दोषं विश्वस्तः प्रमदाजने ॥ १११३ ॥

विजयोदया—थेरो स्थविर, बहुश्रुत, प्रत्ययित, प्रमाणभूत गणघर, तपस्वीत्वेवं प्रकार । अचिरेण विरका-  
लमंतरेण । लभदि दोस अयशो लभते । महिलावगमि युवतिवर्ग । वीसत्थो विषयस्तः ॥

वृद्धत्वाद्विधर्मणामपि स्त्रीविश्वामो दोषाय स्यादित्याह—

मूलारा—पच्चई प्रत्ययितो विश्वास्य इति यावत् । पमाणं प्रमाणभूतः । तवस्सिस्ति तपस्वीत्वेवंप्रकारोऽपि  
किं पुनस्तारण्यादिदुर्यशस्करधर्मभागितीति शब्देन प्रकाशयते ।

अर्थ—वृद्धमुनि, बहुश्रुतमुनि—अनेक मतोंको जाननेवाले मुनि, प्रमाणभूत मुनि आचार्यपदधारक मुनि बहुत

कालके दीक्षित मुनि ये भी महिलावर्गमें विश्वस्त होनेसे दीपयुक्त माने जाते हैं अपयशके पात्र होते हैं

किं पुण तरुणा अवदुस्सुदा य सइरा य विगदवेसा य ॥  
महिलासंसर्गीए णट्ठा अचिरेण होहंति ॥ १०९९ ॥

किं पुनर्विकृताकल्पाः स्वैरिणः शोपसाधवः ॥  
नारीसंसर्गतो नष्टा न संति स्वल्पकालतः ॥ ११३४ ॥

विजयोदया—किं पुण तरुणा सयोचना, अवदुष्टता, स्वरचारिण, विरुतवेयाश्च युवतिससर्गेण अट्टिति नष्टा न भवन्ति ? किं पुनर्मवन्त्येवेति यावत् ॥  
तदेव सविस्मययक्रमणित्या भणति—

मूलारा—मइरा स्वैरा स्वच्छदचारिणः ।

पठ्याः स्वातुरूपाचारन्युताः ॥

अर्थ—जो तरुण है, अल्पज्ञ है, स्वैराचारी है, जो देश, कुल, वय, वर्ण, विद्या, आचार इत्यादिकोंको प्रतिकूल ऐसा वेप धारण करते हैं, ऐसे मनुष्य स्त्रीसंसर्गसे क्यों न शीघ्र नष्ट होंगे अर्थात् हमें ही, अर्थात् वे लोक स्त्रीसमर्गसे अकीर्तिमान् होंगे इसमें क्या आश्चर्य है

सगडो हु जइणिगाए संसर्गीए दु चरणपब्बमट्ठो ।  
गणियांससर्गीए य कूववरो तथा णट्ठो ॥ ११०० ॥

जैनिकासंगतो नष्टश्चरणाच्छकटो यतिः ॥  
वेद्यायाः सह संसर्गान्नष्टः कूपवरस्तथा ॥ ११३५ ॥

विजयोदया—सगडो हु सगडानामधेय । जइणिगाए संसर्गीण जइणिगासद्याया संसर्गेण । चरणपब्बमट्ठो । गणिकाससर्गीए गणिकागोष्ठ्या कूवरो वि कूपारनामक । तथा णट्ठो तथा चारिवान्नष्टः ।  
स्त्रीसंसर्गेण पूर्वपामवि सयमश्रवां गाथाद्वयेन दर्शयति—

मूलारा—सगढो शकटो नाम मुनिः ॥ जङ्गणियाए जैनिकानान्या ब्राह्मण्याः ॥

अर्थ—शकट नामके मुनि जैनिका नामक वेश्याके संसर्गसे चारित्र्यसे व्युत्त होगये, तथा कूपार नामक मुनिभी वेश्याके सहवासमें चारित्र्यष्ट हो गये हैं।

रुद्रो परासरो सच्चईयरायरिसि देवपुत्तो य ॥

महिलारूवालोई ण्ढा संसत्तदिट्ठीए ॥ ११०१ ॥

रुद्रः पराशरो नष्टो महिलारक्त्या दशा ॥

देवर्षिः सात्यकिदेवपुत्रश्च क्षणमात्रत ॥ ११३६ ॥

विजयोदया—रुद्रो परासरो रुद्र, पराशर, सात्यकि, राजर्षिदेवपुत्रश्च युवतिरूपावलोकितसक्त्या दृष्ट्वा नष्टा ॥

मूलारा—सच्चई सात्यकिर्नाम । रायरिसी राजर्षिनामा, । महिलारूवालोई स्त्रीरूपावलोकितः । समत्तदिट्ठीण सम्मुत्तमासक्त्या दशा ।

अर्थ—रुद्रः पराशरमुनि, सात्यकीमुनि, राजर्षि नामक मुनि और देवपुत्र नामक मुनि स्त्रियोंका रूप देखनेमें आसक्त हुई दृष्टीसे नष्ट भ्रष्ट हो गये

जो महिलाससग्गी विसंव दृष्टूण परिहरइ णिच्चं ॥

णित्थरइ वमचेरं जावजीवं अकपो सो ॥ ११०२ ॥

सुजंगीनामिव स्त्रीणां सदा संगं जहाति यः ॥

तस्य ब्रह्मव्रतं पूतं स्थिरीभवति योगिनः ॥ ११३७ ॥

विजयोदया—जो महिलाया स्त्रीणा ससर्गं धियमिव दृष्ट्वा नित्य परिहरति । असौ ब्रह्मचर्यं उद्वहति यावज्जीव निश्चलः ॥

स्त्रीगोप्त्रीपरिहारुणमाह—

मूलारा—अकपो निश्चलः ।

अर्थ—जो पुरुष स्त्रीका ससर्ग विषके सभान समझकर उसका नित्य त्याग करता है वही महात्मा याव-ज्जीव ब्रह्मचर्यमें दृढ़ रह सकता है

सर्वमि इत्थिवरगमि अपमत्तो सदा अवीभत्यो ॥

बभ निच्छरद्दि वदं चरित्तमूल चरणमार ॥ ११०३ ॥

अविश्वस्तोऽग्रमत्तो यः स्त्रीवर्गे सकले सदा ॥

यावज्जीवमसौ पाति ब्रह्मचर्यमखंडितम् ॥ ११३८ ॥

विजयोदया—सर्वमि सर्गस्त्रीवर्गे । अग्रमत्तः सदा अविश्वस्त, ब्रह्मव्रतमुद्धति चारित्र्यस्य मूलं सार च ॥  
मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—संपूर्ण स्त्रीवर्गमें जो पुरुष-श्रुति सावध रहता है, अविश्वस्त रहता है वही ब्रह्मचर्य का पालन करता है यह ब्रह्मचर्य चारित्र्यका मूल और सार है,

कि मे जंपदि किं मे पस्सदि अण्णो कंहं च वट्ठामि ॥

इदि जो सदाणुपेक्खइ सो दढवंबव्वादी होदि ॥ ११०४ ॥

अह वत्ते कथं किं मे जन पइयति भापते ॥

चित्ता यस्येदशी नित्य दृढब्रह्मव्रतोऽस्ति स ॥ ११३९ ॥

विजयोदया—किं मे जण्पदि किं जल्पति मा जनोऽन्य । किं पइयति, कीदृशी वा मम वृत्तिरिति य सदाशुभेक्षते असौ दृढब्रह्मचर्यव्रतो भवति ॥

ब्रह्मव्रतदाढ्योपायमाह —

मूलारा—अणुपेक्खदि अनुचितयति ।

अर्थ—लोक मेरे विषयमें क्या सोलते हैं, लोक मेरे तरफ किस निगाहसे देखते हैं, और मेरी प्रवृत्ति कैसी है ऐसा जो प्रतिदिन वारंवार विचार करता है वही दृढ़ ब्रह्मचारी बन सकता है

मज्झण्हतिक्खसूरं व इच्छिरूव ण पासदि चिरं जो ॥

खिपं पडिंहरदि य मण खु सो णिच्छरदि बंभं ॥ ११०५ ॥

न पइयत्यंगनारूपं ग्रीष्मार्कमिव यच्चिरम् ॥

क्षिप्रं संहर्तते दृष्टिं तस्य ब्रह्मव्रतं स्थिरम् ॥ ११४० ॥

विजयोदया—मज्झण्हतिक्खसूरं च मध्यान्हे स्थित तीक्ष्णमादित्यमिव स्त्रीणां रूपं चिरं यो न पइयति ।  
क्षिप्रमुपसहरति दृष्टिं य स निस्तरति ब्रह्मचर्यं ॥

मूलारा—खिप्य ग्रीवं । पडिंहरदि निवर्तयति ॥

अर्थ—मध्यान्हको प्राप्त हुए तीक्ष्ण क्षयिके समान जो स्त्रीका रूप देरतक नहीं देखता है अर्थात् स्त्रीके रूपसे अपनी दृष्टि को जल्दी हटाता है वही ब्रह्मचर्यका रक्षण कर सकता है

एवं जो महिलाए सहे रूवे तेहव संफासे ॥

ण चिरं सज्जदि हु मणं णिच्छरदि स संततं बंभं ॥ ११०६ ॥

गंधे रूपे रसे स्पर्शे शब्दे स्त्रीणां न सज्जति ॥

जातु यस्य मनस्तस्य ब्रह्मचर्यमवहितम् ॥ ११४१ ॥

द्विपरिमव हरिकांता मंशु मीनं वकीव । भुजगमिव मयूरी सूषिकं वा विडाली ॥

गिलति निकटवृत्तिः संयतं निर्दया स्त्री । निकटमिति तदीयं सर्वदा वर्जनीयं ॥ ११४२ ॥

प्रथयति भवमार्गं श्रुतिमार्गं वृणक्ति । ददयति शुभचुद्धिं पापदुद्धिं विधत्ते ॥

जनयति जनजल्पं श्लोकवृक्षं लुनीते । वितरति किमु कष्ट संगतिर्नागनानाम् ॥ ११४३ ॥

इति स्त्रीसंसर्गदोषाः ॥

विजयोदया—एव जो महिलाए एव यो युगतिशब्दे, रूपे, सस्पर्शे च चिर मनो न सधत्तेऽसौ ब्रह्म निस्तरति ।

संसर्गगी ॥

मूलारा—सज्जदि सधत्ते । स्त्रीसंसर्गदोषाः ॥



अर्थ—इस प्रकार जो स्त्रीका गध, शब्द, रूप, रस, स्पर्श, इनमें अपने मनको लगाता नहीं वही ब्रह्मचर्य का पालन निरतिचार करता है

इहपरलोए यदि दे मेहुणविस्सुत्तिया हवे जणहु ॥

तो होहि तमुववुत्तो पचविधे इत्थिवेरगे ॥ ११०७ ॥

यदि ते जायते बुद्धिलोकद्वितयमैथुने ॥

उद्योगः पंचधा कार्यं स्त्रीवैराग्ये तदा त्वया ॥ ११४४ ॥

विजयोदया—इहपरलोए इहपरलोके च यदि मेथुनपरिणामो भवेत् । पंचविध स्त्रीवैराग्ये त्वमुपयुक्तो भव । तदुपयोगाद्विनश्यत्वावशुभपरिणाम इति सूचकपदेशः ॥

एवं वैराग्योपायपंचकं प्रपंच्य तदुपयोगविषयं निर्दिशन्क्षपकं तत्र प्रयुक्ते—

मूलारा—मेहुणविरसोत्तिया मैथुनाशुभतमपरिणामः । हवे जणहु भवेत् । इहलोकविषयपरलोकविषय वा मैथुन सेवितुमाकांक्षा यदि तव स्वादिति सवधः । तं त्वम् ॥

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें यदि मैथुन करनेका परिणाम हृदयमें उत्पन्न होगा तो पांच प्रकारके स्त्रीवैराग्यमें से क्षपक तू हमेशा उद्युक्त हो जिससे तेरा मैथुन परिणाम जो कि अशुभ है नष्ट होगा. ऐसा आचार्य का क्षपकको उपदेश है

उदयम्मि जायवट्ठिय उदएण ण लिप्पदे जहा पउम ॥

तह विसर्हिं ण लिप्पदि साहू विसएसु उसिओ वि ॥ ११०८ ॥

लिप्यते वर्तमानोऽपि विषयेषु न तैर्यतिः ॥

पद्मजातं जले वृद्धं जातुं किं लिप्यते जलैः ॥ ११४५ ॥

विजयोदया—उदयम्मि जायवट्ठिय उदके जात परिवृद्धं च यथा पद्मं उदकेन न लिप्यते । तथा न लिप्यते विषये साधुविषयेषु वर्तमानोऽपि ॥

स्त्रीवैराग्यभावनापरस्य माहात्म्यमाह—  
मूलारा—जसिदो धि वर्तमानोऽपि ।

अर्थ—जलमें उत्पन्न होकर वहा ही वृद्धिगत हुआ ऐसा कमल जैसे पानीसे अलिप्त ही रहता है, वैसे साधु विषयमें रहकर भी—उन विषयोंमें रहकर भी उन विषयोंसे अलिप्त रहते हैं तात्पर्य यह है कि, वे पच प्रकारके वैराग्य कारणोंका वारवार विचार करके अपने हृदयके सिंहासन पर वैराग्यको दृढ़ विठाते हैं जिससे वे विषयोंसे अलिप्त रह सकते हैं

उगगाहितस्युर्दधि अच्छरमणोल्लुणं जह जलेण ॥

तह विसयजलमणोल्लुणमच्छेर विसयजलहिम्मि ॥ ११०९ ॥

विषयैर्विष्टपस्यस्य चित्तमस्पर्शनं यत्ने ॥

सागरं गाहमानस्य सलिलैरिव जायते ॥ १११० ॥

विजयोदया—ओगाहृतस्युर्दधि अवगाहमानस्योर्दधि आश्चर्यं यथा जलेनास्पर्शने । तथा विषयजलेनार्द्र-  
चित्ता आश्चर्यं विषयजलधिमध्यमध्यासीनस्य ॥

विषयपरिकरितस्य विषयैरन्तर्निष्वंगे विस्मय भावयति—

मूलारा—उगगाहितस्य लवमानस्य । अच्छेरं आश्चर्यं अणोल्लुण अनादीकरण । अस्पर्शतम् । विषयजलधिमि  
विषयोर्दधिमध्यमध्यासीनस्य स्त्रीवैराग्यभावनापरस्य साधोर्गिष्यजलानार्द्रीकरणमाश्चर्यमित्यर्थः ।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष समुद्रमें अवगाहन करके भी यदि जलस्पर्शमें अलिप्त रहेगा तो वह आश्चर्यकारक बात समझनी चाहिये वैसे विषयसमुद्रके बीचमें अवगाहन करके भी विषयजलमें चित्त अलिप्त रहना आश्चर्यकारक है

मायागहणे बहुदोससावए अलियदुमगणे भीमे ॥

असुइतणिछे साहू ण विप्पणस्संति इत्थिवणे ॥ १११० ॥

न दोषश्चापदे भूमि वंचनागहने यति ।

नश्यति स्त्रीवनेऽलीकपापेऽशुचितानुणे ॥ ११७ ॥

विजयोदया—मायागहणे यथा गहन परेण दु प्रवेश एवं मायापि परैर्दुर्विगमेति मायापि गहनमित्युच्यते । मायागहनं यस्मिन्वेने तन्मायागहनं तस्मिन् । बहुदोषसावदे वहवो दोषा बहुदोषा असूया, पिशुनता, चपलता, भीरुता, नितरा प्रमत्तता चेत्येवमादयेस्त श्वापदा यस्मिन् । अलिगदुमगणे यथा दुमो महानेकशाखोपशाखाकुलश्च तद्वहलीकता दुमगणो यस्मिन् । भीमे भयंकरे । अशुचितनिष्ठे अशुचितणकुले । यतयो न विप्रणश्यन्ति स्त्रीवने ॥  
योपिददव्यामविभ्रान्यतः साधून्प्रकाशयति—

मूलारा—मायागहणे मायैव परमदुर्गमत्वाद्गहनं लतादिगुल्मजाल यत्र । बहुदोषसावदे वहवो दोषाश्चासूया-पैशून्यचापलभीरुत्वप्रमत्तत्वादयः । ते श्वापदा व्याघ्रादयो यत्रानिवारितप्रसरत्वात् । अलियदुमगणे अलीकमसत्यं वचस्तदेव दुमगणा यत्र अनेकशाखोपशाखाकुलत्वात् । अशुचितनिष्ठे अशुचीनि देहागोपागानि तान्येव वृणानि निरंतरप्रसृतत्वात् तैर्युक्ताः । न विपणानसंति न विभ्रान्यन्ति । दिङ्मूढा न भयन्तीत्यर्थः ।

अर्थ—यह स्त्रीवचन मायासे गहन हुआ है अर्थात् जैसे गहन वनमें प्रवेश करना कठिन है वैसा इस मायाका स्वरूप जाननाभी बड़ा कठिन है अतः माया भी गहन कहलाती है-इस स्त्रीवनमें यह माया गहन है-जैसे वन सिंहव्याघ्रादि क्रूर प्राणिओंसे व्याप्त रहता है वैसे स्त्रीवन भी अनेक दोषरूप श्वापदोंसे व्याप्त हुआ है-इस स्त्रीवनमें असूया-दूसरोंके गुण सहन न होना, चुगली करना, वंचलपना, डरपोकपना, और अत्यंत उन्मत्तता इत्यादि दोषरूप क्रूर प्राणी इस स्त्रीवनमें विचरते हैं-जैसे वृक्ष बड़ा होता है-उसको शाखा उप-शाखाएँ रहती हैं वैसे स्त्रीवनमें असत्य भाषणरूप वृक्ष अपनी अनेक शाखा उपशाखाओंसे बढ गये हैं-यह स्त्रीवन भयंकर है इसमें अपवित्रतारूपी वृण ऊगता है-परंतु ऐसे स्त्रीवनमें जितेन्द्रिय तपस्वीगण दिङ्मूढ नहीं बनते हैं ।

सिंगारतरंगाएँ विलासवेगाएँ जोव्वणजलाएँ ॥  
बिहसिथेफणाएँ मुणी पारिणईएँ न बुझंति ॥ ११११ ॥

श्रृंगारकछोला यौवनाम्बुवधूनदी ॥

न विलासास्पदा हासफेना वहति संयतम् ॥ ११४८ ॥

विजयोदया—सिंगारतरंगण श्रृंगारतरंगथा, विलासवेगया, यौवनजलया, विहसितफेनया, नारीनद्या मुनिनो-  
दयते ॥

मुनेः स्त्रीसरिद्रेयत्वमाह—

मूलारा—सिंगार सर्वांगसस्कारः । ण वुञ्छंति नोद्यन्ते ।

अर्थ—स्त्री नदीके तुल्य है. नदीमें तरंग, वेग, पानी, फेस, इतनी बातें रहती हैं. इस स्त्रीरूपी नदीमें श्रृंगाररूपी तरंग हमेशा उछलते रहते हैं. विलासरूपी वेगसे यह बहती है. तारुण्यरूपी जलसे भरी हुई है और मंदहासरूपी फेनसे यह व्याप्त हो रही है. ऐसी स्त्रीरूपी नदी जितेन्द्रिय मुनियोंको नहीं बहा सकती है.

ते अदिसूरा जे ते विलाससलिलमदिवलरदिवेगं ॥

जोव्वणणईसु तिण्णा ण य गहिया इच्छिगाहेहिं ॥ १११२ ॥

विलाससलिलोत्तीर्णा यैस्तीन्ना यौवनापगा ॥

अग्रस्ताः प्रमदाग्राहेस्ते घन्या मुनियुगावाः ॥ ११४९ ॥

विजयोदया—ते अदिसूरा ते अतिशूरः । ये विलाससलिला मतिचपलरतिवेगा, यौवननदीमुत्तीर्णा, न च गृहीता युवतिग्राहेः ॥

योपिदग्राहवाधविरहेण तारुण्यतरंगिणीमतिक्रान्तान्ग्रशंसति—

मूलारा—स्पष्टम्—

अर्थ—यह यौवनरूप नदी विलासरूपी पानीसे और अतिशय चंचल रतिरूपवेगसे युक्त है. इस नदीमें तरुण स्त्रीरूपी मगर रहते हैं. परंतु जिन मुनिराजोंको स्त्रीरूप मगरने नहीं पकड़ा है वे मुनिराज इस जगतमें घन्य हैं. ऐसे मुनिराज ही अतिशूर समझने चाहिए.

महिलावाहविमुक्ता विलासपुंवखा कडक्खदिद्विसरा ॥

जण विधंतीह सदा विसयवणे सो हवहु धण्णो ॥ १११३ ॥

धन्यं स्त्रीव्याघनिर्मुक्ताः कटाक्षेक्षणसायकाः ॥

विध्यति विषयारण्ये वर्तमान न योगिनम् ॥ ११५० ॥

विजयोदया—महिलावाहविमुक्ता युवतिव्याघविमुक्ता । विलासपुपत्का, कटाक्षद्विष्टारा । यं न प्रति सदा विषयवने चरंतं भवति स धन्य ॥

कामिनीकटाक्षनिरीक्षणाक्षोभ्यमाणमनस्कमभिष्टौति—

मूलारा—वाह व्याघः । ण विधंति न विध्यति ।

अर्थ—स्त्रीरूपी पारधीके द्वारा छोडे गए कटाक्षरूपी वाण विषयवनमें अमण करनेवाले जिस महात्माका ध्यात नहीं करते हैं वे इस जगत में धन्यताके पात्र हैं, ।

विब्वोगतिक्खदंतो विलासखंधो कडक्खदिद्विण्हो ॥

परिहरदि जोव्वणवणो जमित्थिवग्घो तगो धण्णो ॥ १११४ ॥

न विब्वोकरदोऽभ्येति विलासनखरो सुनिम् ॥

कटाक्षाक्षोऽगनाव्याघ्रस्तारुण्यारण्यवर्तिनम् ॥ ११५१ ॥

विजयोदया—विब्वोगतिक्खदंतो विलासखंधो विभ्रमतीक्ष्णदंतो विलासस्कंध कटाक्षद्विष्टिनख परिहरति यं युवतिव्याघ्र स धन्य ॥

घोषानभिराम्यमभिनंदति—

मूलारा—विब्वोग भ्रूयुगातविकारः । कडक्खदिद्वी अपागनिरीक्षणं । तगो सः ।

अर्थ—जो हावमारूपी तीक्ष्ण दाढाओंसे युक्त है विलासरूपी बाहु जिसके हैं, कटाक्षरूप नखों को धारण करनेवाला यह तरुणीरूपी व्याघ्र तारुण्यवनमें विचरनेवाले जिन माहात्माओंको पकड़ता नहीं वे महात्मा धन्य हैं, ।

तेह्लोक्काडविडहणो कामाग्नी विसयस्वखण्णल्लिओ ॥

जोव्वणतणिल्लचारी जं ण डहह सो हवह धण्णो ॥ १११५ ॥

त्रिलोकदाही विषयोद्धतेजः । तारुण्यतृणयज्वलितः स्मराग्निः ॥

न प्लोषते यं स्मृतिधूमजालः । स वंदनीयो विदुषा महात्मा ॥ ११५२ ॥

विजयोदया—तेह्लोक्काडविडहणो बंलोम्यादविद्वहन । कामाग्निर्विषयधुधे प्रज्वलिते यौवनतृणसंचरणचतुरं यत्न दहत्यसौ धन्य ॥

कामदहनदाह्य शंसति—

मूलरा—तणिल्ल तृणं । तृण्या वा तत्र चरत्यभीक्ष्णमिति । अन्ये यौवनतृण्याचारिणं यं न दहतीति प्रतिपन्नाः द्वितीयार्थे ग्रथमाभिधानात् । उक्तं च—

त्रैलोक्यकाननोदाही कामाग्निर्ज्वलितस्तराम् ॥

यौवनोदयतृण्यास्यं धन्यं दहति नो नरं ॥

अर्थ—यह कामाग्नि विषयरूपी वृक्षोका आश्रय लेकर प्रज्वलित हुआ है, त्रैलोक्यरूपी वनको यह कामाग्नि जलानेके लिये उद्युक्त हुआ है परंतु तारुण्यरूपी तृणपर संचार करनेवाले जिन महात्माओंको यह जलानेमें असमर्थ हैं वे माहत्मा धन्य हैं

विसयसमुहं जोन्वणसलिलं हसियगइपेविखदुम्मीयं ॥

धण्णा समुत्तरति हु महिलामयेरोहिं अच्छिक्का ॥ १११६ ॥

विपुलयौवननीरमनाकुलो विषयानीरनिधिं रतिवीचिकम् ॥

इह बधूम्करैरकदर्थितस्तरति धन्यतमं परदुस्तरम् ॥ ११५३ ॥

इति चतुर्थं व्रतम् ॥

विजयोदया—विसयसमुहं विषयसमुद्रं । यौवनसलिलं हसतंगमनमेक्षणतरंगनिचित । धन्याः सम्यगुत्तरति युवतिमकरैरस्पृष्टा ॥ चतुर्थं व्रतं व्याख्यात ॥ चतुर्थं ॥

इष्टेन्द्रियार्थानुवृत्तां श्रीभिरग्रतिविवं प्रतिवर्णयति—

मूलारा—हृदिद्वयान्विक्रममुष्मीयं हृमितामननैश्चणतरंगं । अन्डिका अमृष्ट्या । त्रत्तार्च्यव्रतम् ॥

अर्थ—यह विषयसमुद्र यांचनरूपी जलमे भरा हुआ है. सिंघोका मंदहास्य, गमन, कटाक्ष फेंक कर देखना येही इसमें तरंग हैं जो महात्मा स्वीकृपी मगरोंमे ग्रमित न होकर इस विषयसमुद्रको तीर कर जाते हैं। वे ही स्तुतीके पात्र अर्थात् धन्य हैं चतुर्थ ब्रह्मचर्यमहाव्रतका वर्णन पूर्ण हुआ

पंचममहाव्रतनिरूपणयोग्यप्रवच—

अवमंतरयाहिरणु सव्वे गंधे तुम विवज्जेहि ॥

कदकारिदाणुमोदेहिं कायमणवयणजोगेहिं ॥ १११७ ॥

चात्थमाभ्यतर सगं कृतकारितमोदनैः ॥

विमुचस्व सदा साधो ! मनोवाजायकर्मभिः ॥ १११८ ॥

विजयोदया—अभतरयाहिरं अम्यंतरान्वाहाश्च । सव्वे गये सर्वोन्मथान् । तुम विवज्जेहि वर्जय भवान् । कदकारिदाणुमोदेहिं कृतकारितानुमनने । कायमणवयणजोगेहिं कायेन मनसा वाचा वा ॥

एव ब्रह्मचर्यव्रतं व्यावर्ण्य साधतं अपरियहाह्वं पंचम महाव्रतं गाथापचपट्या प्रबंधेन व्यावर्ण्यश्रितुमां प्रथमं नैर्नित्यं प्रति श्रपकं प्रयोजयति—

मूलारा—अवमंतरयाहिरणु अम्यतरान्वाहाश्च । गये परिमहान् । तुम त्वं ॥

अत्र पांचवे परिग्रहपरित्याग महाव्रतका आचार्य विस्तारसे निरूपण करते हैं—

अर्थ—हे क्षपक ! तुम संपूर्ण अंतरंग और बहिर्गंग परिग्रहोंका मन, वचन, और शरीरसे तथा कृत, कारित और अनुमोदनसे अर्थात् नऊ प्रकारोंमें त्याग करो.

तत्राभ्यतरपरिग्रहभेदं निरूपयति गाथा—

मिच्छत्तेवेदरागा तहेव हासादिया य छुहोसा ॥

चत्तारि तह कसाया चउदस अवमतरा गंधा ॥ १११८ ॥

मिथ्वात्वेदहास्यादिक्रोधप्रभृतयोऽन्तराः ॥

एकात्रिषट्चतुःसंख्याः संगः सति चतुर्दश ॥ ११५५ ॥

विजयोदया—मिच्छत्त्वेदरागा वस्तुयाथात्म्याश्रद्धान मिथ्यात्व, चेदशब्देन स्त्रीपुत्रपुंसकवेदाख्याना कर्मणां ग्रहण । तज्ज्ञानिता स्यादीना अन्योन्यविपर्यया स्त्रिय पुंसु राग । पुंसो भुवतिपु, नपुसकस्योभयत्र । हस्सादिगा य छद्दीसा हास्य, रतिरति शोको, भय जुगुप्सेति । पते पद्दोपा । चचारि तद् कसाया चोदस अभतरा नया । चत्वारस्ताया कपायाश्चतुर्दशैते अश्वतरा. परिग्रहा. ॥

क्रियतोऽश्वतरग्रथा भवन्तीत्यत्राह—

मूलरा-दैः. स्त्रीपुनपुसकवेदाख्यैः कर्मभिर्जनिता रागाः । स्यादीनामन्योन्यविपर्ययाः प्रीतयः । प्रीतयः पुंसु रागो, मैशुतसंज्ञोदोः, पुस. स्त्रीपु । नपुसकस्योभयत्र च । हासादिगा हास्यादिकाः । हास्यं रतिरतिः, शोको, भयं, जुगुप्सेति पद । हासादिगा य छद्दोपा इति ग्राथिकः पाठ । चत्वारि क्रोधमानमायालोभाख्याः ।

अंतरंग परिग्रहोका वर्णन—

अर्थ—जीवादि पदार्थोके सत्य स्वरूपपर श्रद्धान न करना मिथ्यात्व है, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद ऐसे वेदकर्मके तीन भेद हैं. स्त्रीवेद कर्मका उदय होनेसे जीवकी पुरुषमें अभिलाषा होती है. पुरुषवेद का उदय होनेसे स्त्रीमें अभिलाषा होती है व नपुंसक वेदसे स्त्री और पुरुष दोनोंमें अभिलाषा होती है. हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, ऐसे छह दोष हैं. क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार कपाय हैं. सब मिलकर अतरंग परिग्रहके चौदह भेद होते हैं.

बाहिरसंगा खेत्तं वत्यं धणधणकुपपमंडाणि ॥

दुपयचउपपय जाणाणि चेव सयणासणे य तथा ॥ १११९ ॥

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् ॥

यान शय्यासनं कुप्यं भण्डं संगं वहिर्दश ॥ ११५६ ॥

विजयोदया—बाहिरसंगा वाद्यपरिग्रहा. । खेत्तं कर्षणाद्यधिकरण । वत्यं वास्तु शुद्ध । धण सुवर्णादि । धण वा अन्य व्रीक्षादि । कुप्य कुप्य वत् । भण्ड माडशब्देन हिंशुमरिचानि क्रमुच्यते । दुपदशब्देन दासदासीभृत्यवर्गादि । चउपपय गजतुरगादयश्चतुष्पदा । जाणाणि शिविकाविमानादिक यान । सयणासणे शयनानि आसनानि च ॥



वाणप्रंथाः कृति सन्तीत्याह—

मूलाग—हेतुं कृपणान्विकरण । यत्तु यास्तु ग्रहं । यण त्वं प्रागमुपगोति । धणं धान्य त्रीणादि । कुप्यं कुप्यं चक्रकंवलादिकं । भंड भांड हिंसुमरीचादिकं । दुषट द्विपदं दमीगमादिभृत्यसर्गादि । चउषट चतुषटं गजानुरगति । जाणाणि यान विप्रिकानरप्रिमानादि । मयणामणाणि शशापिष्टगदि । त्ते दश ॥

अर्थ—वाण परिग्रहके दम प्रकार हैं. उनका मूलागः—सेत-अर्थान् श्रेत्र जहां धान्य उत्पन्न होता है. वत्थ-वास्तु घर धण-सुवर्णादि धातु धान्य-चावल, गेहू, चना गंगरह कृष-यय. भोंड-हिंग. मीरत्त गंगरह. दुषट-दाम, दामी, नोकर गंगरह चउषय-हाथी, घोडा, बैल इत्यादि जाण-यान-पालखी, विमान इत्यादि. शयन-विछाना आमन-पलग गंगरह ये दम प्रकारके वाण परिग्रह हैं

वाणमलमनिराशुत्याभ्यनरकर्ममलं प्रातदशनमभ्यस्त्रचारिजरीयांलगायधयानामागमगुणाना छावने व्यापुने न निराकतुं शक्यते इत्येनद्रुथातमुनेनाचष्टे—

जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स ॥

तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ॥ ११२० ॥

नाभ्यंतरः ससगस्य साधो ओभयितुं मल ॥

शक्यते सतुपस्येव तंदुलस्य कदानन ॥ १११७ ॥

निजयोदया—जह कुंडओ ण मजा तुगमहितस्य तदुल्लभ्यान्तर्मल । गोणे तुयेजनपतीते यथा शोभयितुमशक्य । तथा वाहापरिग्रहमलमंनकस्याभ्यतरकर्ममल दयास्यं शोयितुमिति यायार्थ । मपरिग्रहस्य कस्मान् कर्मविमोक्षो जीवाजीमद्वये वाहापरिग्रहदोद्वेनोच्यते ॥ तौ च सर्वदा सर्वत्र स्वगित्तादिति ग्रंथक एतायमात्मा स्मरति एव च मुक्त्यभाव इति चोदिते, न तयो मयधोहेतुगणि तु लोभादय परिणामा । लोभादिपरिणामोहेतुक वाहाद्रव्यग्राण ॥

ननु च मिथ्यात्वादयोऽन्तरगसंगा ण्व जीवस्य कर्मबंधने हेतुस्तत्किमर्थे नदिरगसंगपरित्यागोऽयमुपरिद्वयत इति पर्यनुयुजानं प्रत्याह—

मूलरा—कोडओ अन्तर्मल । एउम उति यावन् । ण सक्को न शक्यते । मोयेदु निराहं । सगसत्तस्स वाणपरिग्राहमकस्य । वाहाद्रव्यग्राणस्य लोभादिपरिणामहेतुकत्वाद्भोभादिपरिणामस्य चापरापरकर्मबंधनिबंधनत्वात् केना-

व्युपगमेन समंस्थस्यात्मनः कर्मोच्छेदः कर्तुं शक्यते इति भावः ॥

बाह्य मल जबतक दूर न किया जावेगा तबतक ज्ञान, दर्शन, सम्पक्त्व, चारित्र्य, वीर्य और अव्यावायत्व वगैरे आत्मगुणोंको ढकनेवाला अंतरंगमल दूर करना अशक्य है इसका दृष्टांत द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—ऊपरका छिलका निकाले बिना चावलका अंतरंग मल नष्ट नहीं होता है, वैसे बाह्यपरिग्रह रूप मल जिसके आत्मामें उत्पन्न हुआ है ऐसे आत्माका कर्ममल नष्ट होना शक्य नहीं है, ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है,

ग्रन्थ—परिग्रहसहित जीवको मोक्षकी प्राप्ति क्यों होती नहीं ? जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य ये बाह्य परिग्रह हैं और ये दो द्रव्य हमेशा रहते ही हैं इसलिये यह आत्मा सर्वकाल कर्मवधसे बद्ध ही रहेगा और सर्वकाल बद्ध होनेसे उसको मुक्ति का अभाव ही होगा.

उत्तर—जीव और अजीवका संबंध रहना परिग्रह नहीं कहलाता है, परंतु लोभादिक परिणाम कर्मका संबंध होनेमें निमित्त होते हैं जम आत्मा लोभादिपरिणाममें युक्त होता है तब बाह्य परिग्रहका ग्रहण होता है इसलिये जो मनुष्य बाह्य परिग्रहको ग्रहण करता है वह मनमें लोभादिक परिणामोंके बिना ग्रहण नहीं करता है. अर्थात् लोभादिक विकार जब आत्मामें उत्पन्न होते हैं तब आत्मा बाह्य परिग्रहका स्वीकार करता है

अतो यो बाह्यमुपादत्तेऽभ्यतरपरिणाममंतरेण नैवादत्ते इति वदति—

रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा ॥

तो तइया घेत्तु जे गंधे बुद्धी णरो कुण्ह ॥ ११२१ ॥

उदीयते यदा लोभो रागः संज्ञा च गारव ॥

शरीरी कुरुते बुद्धिं तदादातुं परिग्रहम् ॥ ११५८ ॥

विजयोदया—रागो लोभो मोहो मोहो मोहो राग, द्रव्यगतगुणासक्तिलोभ, परिग्रहेच्छा मोहो । ममेदं भाव संज्ञा । किञ्चित् मम भवति शोभनमिति इच्छानुगत ज्ञान । तीव्रोऽभिलाषो य परिग्रहगतः स गारवशब्देनोच्यते । एते यदेदिता परिणामास्तदा ग्रंथान्वाहान् ग्रहीतु मनः करोति नान्यथा । तस्माद्यो बाह्य युद्धति परिग्रहं स नियोगतो लोभाद्यभ्यतरपरिणामयानेवेति कर्मणा वधको भवति । ततस्स्याज्याः परिग्रहा ॥

एतदेवाह—

मूलारा—लोभो ममेदं भावः । रागो ममकारकोटीक्रियमाणद्रव्यगतासक्तिः । सपणा सङ्गा उपकरणदर्श-  
नोपयोगाज्जायमाना परिग्रहेच्छा यदि किञ्चिन्मम भवति शोभन इति इच्छानुगत तथा ज्ञानमित्यर्थः । गारवाः परिग्रह-  
गतास्तीव्रामिलापा । उद्विग्णाणि उदितानि । ते तान् बाह्यानित्यर्थः । उक्तं च—

लोभरागौ तथा सङ्गागौरवे व्यक्तीता गते ॥

यदा तदा बाह्यैरन्यदीतुं कुर्वते मति ॥

तस्माद्यो बाह्यं गृह्णाति परिग्रहं स नियोगतो लोभाद्यशुभपरिणामवानेवेति कर्मणा बधको भवति । ततस्त्या-  
ज्या एव बाह्याः परिग्रहाः । कर्मवन्धनिबन्धनमूर्च्छानिमित्तत्वात् । तथा चोक्तम्—

मूर्च्छालक्षणकरणात्सुषटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ॥

समर्थो मूर्च्छोवाङ्मिनापि किल शेषसंगेभ्य ॥

यद्येव भवति तदा परिग्रहो न सल्लु कोऽपि बहिरंगः ॥

भवति नितरा यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्वैवैवम् ॥

यस्मादकपायाणा कर्मग्रहणे न मूर्च्छोस्ति ॥

इसी अभिप्रायका आगेकी गाथा खुलासा करती है—

अर्थ—रागभाव, लोभ, और मोह जब मनमें उत्पन्न होते हैं तब इस आत्मामें बाह्य परिग्रह ग्रहण कर-  
नेकी बुद्धि उत्पन्न होती है अन्यथा नहीं यह मेरा है ऐसा भाव मनमें उत्पन्न होना उसको राग कहते हैं।  
पदार्थोंके गुणोंमें असक्ति होना ही लोभ कहलाता है। परिग्रहमें इच्छा उत्पन्न होना मोह कहा जाता है। ये पदार्थ  
मेरे हैं और अच्छे हैं ऐसा अभिप्राय रहना संज्ञा है परिग्रहोंमें तीव्र अभिलाष उत्पन्न होना गौरव कहलाता है ये  
परिणाम जब आत्मामें उत्पन्न होते हैं तब यह आत्मा परिग्रहमें अपना मन लगाता है उपर्युक्त परिणाम जब  
आत्मामें उत्पन्न नहीं होते हैं तब परिग्रहका ग्रहण करनेमें वह उद्युक्त नहीं होता है। इसलिए जो बाह्य परिग्रह ग्रहण  
करता है वह नियमसे लोभादिक अशुभ परिणामोंसे घिरा हुआ है ऐसा समझना चाहिये अतः उसको कर्मवध





होता है जिसका मन कर्मबंधसे भयभीत है वह परिग्रहका त्याग करे ? यह परिग्रहका त्याग मनमें आया तब किया अन्यथा नहीं किया ऐसी स्पष्टाचारप्रवृत्ति योग्य नहीं है. निश्चयसे परिग्रहका त्याग करना चाहिये.

स च परिग्रहत्यागो न स्वमनीषिकाचर्चितोऽपि तु निश्चयेन कर्तव्यतयोपदिष्ट इत्याचष्टे—

चेलादिसत्त्वसंगच्चाओ पढमो हु होदि ठिदिकप्पो ॥

इहपरलोइयदोसे सव्वे आवहदि संगो हु ॥ ११२२ ॥

ग्रंयो लोक्कद्वे दोपं विदधाति यत्तेस्तनं ॥

स्थितिकल्पो मतं पूर्वं चेलादिग्रमोचनं ॥ ११५९ ॥

विजयोदया—चेलादिसत्त्वसंगचाओ इति दशविधा हि स्थितिरूपा निरूपिता अचेलतादय । तत्र अचेलक्य नाम चेलमात्रत्यागो न भवति । किंतु चेलादिसर्वसंगत्याग प्रथम स्थितिकल्पो दशानामाद्य । इहपरलोइयदोसे पेहिकासुप्पिकाश्च दोपानावहति परिग्रहो, यस्मात्तस्माज्जन्मद्वयगतदोषपरिहारेणादरवता सकल परिग्रहस्त्याज्य इति भाव ॥

स च बाह्यपरिग्रहत्यागो न स्वमनीषिकाचर्चितोऽपि तु निश्चयेन कर्तव्यतयोपदिष्ट इत्याचष्टे—

मूलारा — पढमो प्रायुक्तानामाचेलम्यादिस्थितिरूपाना दशानामाद्यः । हि नियमेन । इहपरलोइयदोसे पेहिका-नासुप्पिकाश्च दोपानपकारकधर्मान् । हु यस्मात् । तस्माज्जन्मद्वयगतदोषपरिहारे आदरवता सकलः परिग्रहस्त्याज्य इति भाव ॥

आगममें परिग्रहका त्याग करनेका उपदेश किया है वह इस प्रकार—

अर्थ—आचेलक्य, उद्देशिग वगैरह दश प्रकारका स्थितिकल्प पूर्वमें कहा है आचेलक्य नामक कल्पमें वस्त्रकाही त्याग करनेका उपदेश दिया है ऐसा नहीं किंतु वस्त्रादि सर्व परिग्रहका त्याग अचेलक्य शब्दका अर्थ है ‘आचेलक्य कल्प’ दस कल्पोंमें प्रथम गिना है परिग्रहसे इहलोकबंधी और परलोकसंबंधी दोष उत्पन्न होते हैं परिग्रहसे यह मेरा है, यह मेरा है ऐसा सकल्प जिम चीजमें होता है उसका संरक्षण करना, संस्कार करना इत्यादिक कार्य करने पडते हैं रक्षणादिक करते समय हिंसा होती है उसके लिये झूठ बोलता है चोरी भी करता है. मैथुनकार्यमें प्रवृत्ति करता है. इस परिग्रहसे अशुभ परिणाम होते हैं नरकादि दुर्गतिका बंध होता है और

उसका फल नरकादिगतिओंमें विविध दुःखरूप प्राप्त होता है, इश्लोक और परलोकके दोषोंका परिहार हो ऐसी अभिलाषा जिनके मनमें उत्पन्न हुई है वे मंपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करे ऐसा इस विवेचनका अभिप्राय है

श्रुतं चेलपरित्यागमेव सूचयति आचेलकमिति न इतरत्यागमित्याशकायामाचष्टे—

देसामासियसुत्तं आचेलकमिति तं खु ठिदिकप्पे ॥

लुत्तोत्य आदिसदो जह तालपलंबसुत्तमि ॥ ११२३ ॥

उद्देशामर्शकं सूत्रमाचेलक्यमिति स्थितम् ॥

लुत्तोऽथवादिशब्दोऽत्र तालप्रालम्ब्यसूत्रवत् ॥ ११६० ॥

विजयोक्त्या—देसामासियसुत्तं परिग्रहकदेशामर्शकारिसूत्रं आचेलकमिति आचेलक्यमिति । तं खु तत् । ठिदिकप्पे स्थितिकल्पे वाच्ये प्रवृत्त सूत्रं नियोगतो मुमुक्षुणा यत्कर्तव्यतया स्थितं तस्मिन्मुच्यते स्थितिकल्प । स्थितप्रकार । पतदुक्तं भवति—चेलग्रहण परिग्रहोपलक्षण, तेन सकलग्रंथत्याग आचेलक्यशब्दस्यार्थ इति । तालपलंबं ण कप्पदिति सूत्रे तालशब्दो न तत्राविशेषवचन किंतु वनस्पत्येकदेशस्तत्रविशेष उपलक्षणाय वनस्पतीना गृहीत । तथा चोक्तं कल्पे—

हरिततणोसद्विगुच्छा गुम्मा वल्लीलदा य रुक्खा य ॥

एव वणफदीयो तालोद्देशेण आदिश्या ॥

इति । तालेदि वेलोदित्तिव तलेव जादेत्ति उस्सिदो वत्ति ॥

तालादिणो तरुत्तियवणफदीण हवदि णाम ॥

प्रलंबं द्विविधं मूलप्रलय, अग्रप्रलय च । ऊदमूलफलालय, भूम्यनुप्रवेशि ऊदमूलप्रलय, अकुरप्रवालफलपत्राणि अग्रप्रलयाणि । तालस्य प्रलंबं तालप्रलय वनस्पतेरकुरादिकं च लभ्यते इति यथा सूत्रार्थस्तथापीति मन्यते । अथवा लुत्तोथ आदिशब्दो लुत्तोथ सूत्रे आदिशब्द । आचेलोदित्यमिति प्राप्ते । यथा तालप्रलयसुत्तमि यथा तालप्रलयसूत्रे । तालादीति शब्दप्रयोगमकृत्वा तालप्रलयमित्युक्त । तथाचाक सिद्धातादिति निश्चयेनैव सूत्रकारेण देशामर्शकसूत्रं ह्यतर्कत । आदिशब्दलोपोऽथ तालप्रलयसूत्रे न तु देशामर्शकं भवतीति ॥

ननु च आचेलककुद्धसिय इत्यादि सूत्रे वल्लमात्रत्याग एव ज्ञायते श्रुतत्वाच्च पुनरितरस्यागस्तत्कथमुच्यते “ चेलादि सव्वसंगक्काओ पढमो हु होन्नि ठिदिकप्पो ” इत्यादिह —

मूलारा—देसामासिय इत्यादिस्थितिकल्पे वाच्ये तत्प्रथमतयोपादिष्टमाचेलक्यमिति सूत्रं देशामर्शकं । बाह्या-

परिग्रहेकदेशस्य चेलस्य परामर्गकं बाह्यपरिग्रहाणामुपलक्षणाय उपपत्तं । यथा तालपल्वण रूपवृत्ति मूत्रे तालग्रन्थो वनस्पत्येकदेशस्य तरुविशेषस्य परामर्गको वनस्पतीना उपलक्षणाय गृहीतः । तथा चोक्तं कल्पे—हरितवणोसधिमुच्छाणुस्मा वही लया य रुक्म्या य ॥ एवं वणल्फदीओ तालादेशेण आदिश्रु ॥

तालेदि वलेवृत्तिय तलेव जादोति उत्सिदो वति ॥

तालादिणो नञ्चित्य वणल्फदीणं हवदि णामं ॥

तालस्य प्रलग्नं तालप्रलवं । प्रलवं च द्विविधं मूलप्रलवं, अग्रप्रलवं च । तत्र मूलप्रलवं मूत्र्यनुप्रवेशि कद मूलकुरादिकं । ततो अन्यदज्ञ प्रलव अकुरप्रवालपद्मपुष्पफलादिकं । वनस्पतिष्वङ्गि क्मनुमोक्तु निर्मयानामार्याणा च न युज्यते इति । यथा । तालप्रलवं ण रूपवृत्ति इत्यत्र सूत्रेऽर्थस्तथा मूलोऽपि बाह्यः परिग्रहो सुसूत्रणा ग्रहीतुं न युज्यते इत्याचेलकेति सूत्रेऽर्थ इति तात्पर्यं । अथवा लुत्तोत्य आदिमशो लुप्तेऽत्रादिश्रुः । अत्र आचेलकेति सूत्रे ताल प्रलवं सूत्रवद्वादिग्रन्थो लुप्तो बोद्धव्यः । यथा तालादीति शब्दप्रयोगमकृत्वा तालप्रलवमित्युक्तं । तथा आचेलविकृत्यमिति शब्दप्रयोगमकृत्वा आचेलक्यमित्युक्तं इत्याशयः । अन्ये त्वेव प्रतिपन्नाः देशो मूर्च्छालक्षणस्य अंतरगवहिरंगभेदभिन्नस्य परिग्रहस्यैकदेशो बाह्यः परिग्रहः तत्परमर्गक्रमोचेलक्यमिति सूत्रं कर्तव्यतयावधारितं । ज्ञेय ममान । तथा चोक्तं—

तदेदामर्गक मूत्रमोचेलक्यमिति स्थितम् ॥

लुप्तेऽथवादिग्रन्थोऽत्र तालप्रलवसूत्रवत् ॥

आचेलक्य शब्दका अर्थं नञ्निमात्रका त्याग ही हे ऐमा आगमका अभिप्राय हे इतर परिग्रहका त्याग करना चाहिए ऐमा आगम कहता नहीं है. इस शंकाका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—दस प्रकारके स्थिति कल्पोंमें से आचेलक्य नामक पहिला स्थितिकल्प है आचेलक्य शब्द परिग्रहके एक देशका विचार दिखानेवाला सूत्र है. मुनिओंके स्थिति का—कर्तव्य कर्मका प्रतिपादन करनेवाला यह सूत्र है. इसलिए इसको स्थितिकल्प कहते हैं. आचेलक्य अर्थात् नञ्निमात्रा धारण करना मुनिका कर्तव्य ही है इसलिए इसको स्थितिकल्प कहते हैं इसका अभिप्राय यह है— चेल शब्द परिग्रहका उपलक्षण है अतः चेल शब्दका अर्थ वस्त्र ही न समझकर उसके साथ अन्य परिग्रहोंका भी ग्रहण करना चाहिये अर्थात् आचेलक्य शब्दका अर्थ वस्त्रका त्याग इतनाही नहीं है किंतु वस्त्रत्यागके साथ अन्य संपूर्ण परिग्रहका त्याग माना जाता है. इसके लिये



आचार्यने तालप्रलंबका उदाहरण दिया है- तालप्रलंब इम सामासिक शब्दमें जो ताल शब्द है उसका अर्थ ताडका वृद्ध इतनाही लोक नहीं समझते हैं किंतु वनस्पतिका एकदेशरूप जो ताडका वृक्ष वह वनस्पतियोंका उपलक्षण रूप समझकर उनमें सम्पूर्ण वनस्पतियोंका ग्रहण करते हैं-

कल्पनामक ग्रंथमें इम विषयमें ऐसा कहा है—

‘हरिण तपोसाधि’ इति - हरित वृण, फलकी पकदशा होने तकहीं टिकनेवाली वनस्पतिको ओषधि कहते हैं- गुच्छ गुल्म-छोटें छोटें पोथे, बेली, कोमल वृक्ष, वगैरह वनस्पतियों का ताल शब्दसे संग्रह होता इस-लिये ताल शब्दसे सम्पूर्ण वनस्पतिका जैसा संग्रह माना जाता है वैसा ‘अचेलक्य’ शब्दसे सम्पूर्ण परियहोका त्याग यह अर्थ उपलक्षणमें ग्रहण किया जाता है

‘तालप्रलंब’ इम शब्दमें जो प्रलंब शब्द कहते हैं उसका स्पर्श करण ऐसा है— प्रलंबके मूलप्रलंब-अग्रप्रलंब ऐसे दो भेद हैं कंद मूल और अक्षुर जो भूमिमें प्रविष्ट हुये हैं उनको मूलप्रलंब कहते हैं- अक्षुर, कोमल पत्ते, फल, और कठोर पत्ते इनका अग्रप्रलंब कहते हैं- अर्थात् तालप्रलंब इस शब्द का अर्थ उपलक्षणसे वनस्पति ओके अक्षुरादिक ऐसा होता है- तालप्रलंब शब्दसे जैसे सम्पूर्ण वनस्पतियोंके अक्षुरादिकोंका ग्रहण हो जाता है वैसे प्रस्तुत विषयमें भी अचेलक्य शब्दका सम्पूर्ण परिग्रह-त्याग यह अर्थ अभीष्ट है-

अथवा यहा आदि शब्दका लोप हुआ है ऐसा समझना चाहिये- अर्थात् अचेल शब्दके आगेके आदि शब्दका लोप हुआ है- ‘अचेलदित्व’ के एवजमें अचेल शब्दका प्रयोग कर आदि शब्दका लोप किया गया है तालप्रलंब इम सूत्रमें ‘तालादि’ ऐसा शब्दप्रयोग न करके तालप्रलंब ऐसा कहा है- सिद्धांतके आधारसे अचेलक्य सूत्र को आचार्यने देशामर्शक सूत्र कहा है परंतु यहां आदि शब्द लुप्त हुआ है ऐसा जब मानते हैं- तब यह सूत्र देशामर्शक नहीं है ऐसा समझना चाहिये-

ण य होदि मज्जो वत्थमित्तचागेण भेससंगेहि ॥

तस्मा अचेलकं चाओ सव्वोस होइ संगणं ॥ ११२४ ॥

चेलमात्रपरित्यागी शेषसंगी न संयतः ॥

यतो मतमचेलत्वं सर्वं ग्रंथोज्जनं ततः ॥ ११६१ ॥

विजयोदया—ण य होवि सजबो नैव संयतो भवति इति । वल्लमात्रयत्नेन शेषपरिग्रहसमन्वितः । वल्लादयन्-  
द्रोप' इत्युच्यते । आचेलकमित्यत्र चेललागमात्रमेव यदि निर्दिष्टं स्याच्चेलदन्यपरिग्रहं गृह्णन् संयतः स न भवति  
यस्मात्तस्माच्चेलक्यं नाम सर्वसंगपरित्यागोऽत्र मतव्य इति युक्तिरुपन्यस्ता चेलशब्दस्य परिग्रहोपलक्षणताया ।  
किंच महाव्रतोपदेशप्रवृत्तानि च सूत्राणि क्षापकानि । सर्वसंगपरित्याग आचेलकमित्यत्र निर्दिष्ट इत्यस्य ॥

चेलशब्दस्य सकलवाक्यपरिग्रहोपलक्षणताया युक्तिमुपन्यस्यति—

मूलारा—सेससंगेहि वल्लवर्जपरिग्रहः समन्वितो मुमुक्षुर्वल्लमात्रयोगेन संयतो नैव भवति । समस्तद्रव्यो-  
परतो हि संयत इत्युच्यते स कथं वल्लमात्रं त्यजन् तत्त्वतो व्यपदिश्यते । तस्मान्नाचेलक्यं सर्वसंगपरित्यागः । आचेलक्ये-  
त्यत्र सूत्रे निर्दिष्ट इत्यस्यार्थस्य ॥

अर्थ—वल्लमात्रका त्याग करने पर भी यदि अन्य परिग्रहों से पुरुष युक्त है तो उसको संयत मुनि नहीं  
कहना चाहिये अर्थात् वल्लके साथ संपूर्ण परिग्रहत्याग जिसने किया वही मुनि माना जाता है इसलिये “आचे-  
लक्यका ” अर्थ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग ऐसा ही होता है, आचेलक्य शब्दका वल्लत्याग इतनाही अर्थ माना जाय  
तो वल्ल छोड़कर अन्य सब परिग्रहोंका स्वीकार करनेवाला व्यक्त मुनि माना जायगा—इसलिये संपूर्ण परिग्रहोंका  
त्याग ही आचेलक्य शब्दका अर्थ है ऐसा उपलक्षणे समझना चाहिये महाव्रतोंका उपदेश देनेवाले सूत्रोंसे भी  
'आचेलक्य' शब्दका अर्थ सर्वसंगत्याग है ऐसा सिद्ध होता है, यदि वल्लका ही त्याग किया और बाकी परि-  
ग्रहोंका त्याग नहीं किया तो अहिंसादि व्रतसमुदाय मुनिओंमें नहीं रह सकेगा

कथं यदि चेलमात्रमेव त्याज्य स्यादेतत् अहिंसादिव्रतानि न स्यु इत्येतद्व्याचष्टे उत्तरगाथाया—  
संगणिमितं मारेइ अलियवयणं च भणइ तेणिकं ॥

भजदि अपरिमिदमिच्छ सेवदि मेहुणमवि य जीवो ॥ ११२५ ॥

परिग्रहार्थं प्राणिहन्ति देहिनो वदन्त्यसन्त्यं विदधाति मोषणं ॥  
निषेवते स्त्रीं अयते परिग्रहं न लुब्धबुद्धिः पुरुषः करोति किम् ॥ ११६२ ॥

विजयोदया—सगणिमितं मारेदि परिग्रहनिमित्तं प्राणिनो हिनस्ति पट्कर्मप्रवृत्तेः । अथ द्रव्यं परकीयं ग्रहीतु कामस्ते हिनस्ति, भणस्यलीकं करोति स्तैन्यं, भजते अपरिमितामिच्छा, मैथुने च प्रवर्तते । सत्येवमहिंसाविवृतानि न स्युः । परिग्रहस्य च त्यागे तिष्ठति निश्चलान्यहिंसादीनि ॥

कथं यदि चेलमात्रमेव त्याज्यं स्यान्नान्यत्तदा अहिंसादिव्रतानि न स्युरिति ॥ एतद्व्याख्यातुमाह—

मूलारा—मारेदि हिनस्ति प्राणिनः पट्कर्मसु प्रवृत्तेः । परद्रव्य वा ग्रहीतुकामस्त हिनस्ति । अपरिमिच्छं अपरिमितामिच्छा । निरवधितृष्णामित्यर्थः । एवं च सति क्रथमहिंसादिव्रतानि स्युः । समग्रंथपरित्यागनुतानि निश्चलानि तिष्ठ-  
त्येव क्षोभनिमित्तभावात् ॥

यही अभिप्राय आगेकी गाथामें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—परिग्रहके निमित्तसे यह जीव आसे, मपि, कृषि आदि छह कर्म करता है जिससे जीवोंकी हिंसा होती है दूसरेका घन हरण करनेकी इच्छासे उसका घात करता है असत्य भाषण बोलता है चोरी करता है मनमें अमयाद् इच्छा धारण करता है तथा मैथुनमें प्रवृत्त होता है परिग्रहके वश होनेसे ऐसे पापोंको यह जीव करता है तब उसके अहिंसादिक व्रत कैसे हो सकते हैं जब परिग्रहोंका त्याग होता है तब ही अहिंसादिक व्रत निश्चल हो जाते हैं

अपि चाशुभपरिणामसंवरणमंतरेण प्रत्यग्रकर्मोपचय कथं निवार्यते । प्रत्यग्रकर्मोपचयेन कर्मणा सैवानंतकाला संसृतिरित्येतत्वेतस्मि कृत्वा परिग्रहग्रहणभाविनोऽशुभान्यपरिणामानाचष्टे—

सण्णागारवपेसुण्णकलहफुसणि णिहुरविवादा ॥

संगणिमित्तं ईसासूयासल्लानि जायंति ॥ ११२६ ॥

संज्ञागौरवपैशुन्यविवादकलहादयः ॥

दोषा ग्रंथेन जन्यन्ते दुर्नयेनेव सर्वदा ॥ ११२७ ॥

विजयोदया—सण्णागारवपेसुण्ण परिग्रहसंज्ञा तत्सन्निधौर्गत्वं च जायते सपरिग्रहस्य । पिशुनयति सत्ययति परदोषानिति पिशुनस्तस्य कर्म पैशुन्य । परिग्रहवानात्मनैव स्वधनपरिपालनेच्छुः परस्य दोषान्प्रकाश्य तदीयं धनं

हारयति, कलहं वा करोति । धनार्थं परुष वचो वदति विवादं वा कुर्यान्, ईष्यासूयाशब्दयानि च जायते । अयमेतस्मै प्रयच्छति न मत्वा इति संकल्प ईर्ष्या । परस्य धनवत्तासहनमसूया ॥

परिश्रद्धादिणोऽनन्तसंस्तुतिसवित्रीमशुभपरिणामप्रवृत्तिमनर्थपरंपरा च व्याकुलमुत्तरप्रबंधमाह—  
मूलारा—सण्णा परिश्रद्धसङ्गा । गारव ऋद्धिगौरवं । मपरिश्रद्दस्य च जायेते । पेसुण्ण परदोपसूचनं । ग्रथप्रहावि-  
टो हि स्वधनरक्षार्थं परस्य दोषान्प्रकाशय तद्धन नृपादिना हारयति । कलहं वा करोति धनार्थं । परुष वा वचो वक्ति, निष्ठुरं विवादं वा करोति । ईसा ईर्ष्या । अयमेतस्म प्रयच्छति न मत्वा इति संकल्प । असूया परसंपत्तासहनम् ।

यदि अशुभपरिणामोंका संवर न होगा अर्थात् अशुभपरिणाम यदी नहीं रहे जायेगे तो नवीन कर्मोंका आगमन नहीं रुक सकता है नवीन कर्मोंका आगमन होनेसे फिर संसार अनंतकालतक रहेगा ही परिश्रद्दके सङ्गा-  
वमें अशुभ परिणाम होते हैं और संसार दीर्घकालका होता है ऐसा निवेचन आगेके गाथामें आचार्य करते हैं—

अर्थ—परिश्रद्दसंज्ञाका उदय होनेसे आत्मामें परिश्रद्दके प्रति अभिलाषा उत्पन्न होती है, तदनंतर में बड़ा ऐश्वर्यशाली हू ऐसा अभिमान उत्पन्न होता है, परिश्रद्दसे मनमें दुष्टपणा उत्पन्न होता है अपने धनका संरक्षण करनेमें वह सावध रहता है और दूसरेके असावधनतादिक दोष देखकर उसका धन दूसरोंसे हरण कराता है, कलह करता है धनके लिये कठोर भाषण करता है, तथा विवाद करता है, इस परिश्रद्दसे ईर्ष्या, अहंशा और कपट ये दोष उत्पन्न होते हैं यह पुरुष इसको धन देता है मेरेको धन नहीं देता है ऐसा भाव उसके मनमें उत्पन्न होता है, यह ईर्ष्या दोष है दूसरोंका धनिकपना सहन न होना अहंशा दोष है परधन हरण करनेके लिये उसको ठगना मायाशल्प कहते हैं.

कोधो माणो माया लोभो हास रइ अरदि भयसोगा ॥

संगणिमित्तं जायइ दुगुंछ तह रादिभत्तं च ॥ ११२७ ॥

क्रोध लोभं भय मायां विद्वेषमरति रतिम् ॥

द्रविणार्थी निष्ठासुक्तिं विदधाति विचेतनः ॥ ११२४ ॥

विजयोदया—तहा कोधो माणो क्रोधः, परिश्रद्दस्तस्य परिणामोऽदने जायते । धन्योऽहमिति गर्वितो भवति ।

परो धन दृष्ट्वा गृह्णातीति तन्निगूहनकरणात्माया च भवति । काकणिलोभे कार्योपणं चांछति । तल्लब्ध्या कर्पापणसह-  
सादिकमिति लोभस्य हेतुर्द्रव्यलाभ । निर्द्विगुणं लोको हसतीति हासस्यापि कारण । द्रव्यमासीय पश्यत तत्रानुरागो  
रति । तद्विनाशो अरतिः । तदन्ये हरति इति भय । शोको वा । जुगुप्सते वा विरूप । परिग्रहपरिपालनार्थं रात्रावपि  
मुक्ते । मदीय भोजन परे दृष्ट्वार्थिनो भवति इति मन्यमानः ॥

मूलारा—क्रोधो ग्रंथे परेण गृह्यमाणे जायते । माणो घनाह्योऽहमिति गर्वः । माया परो धनं दृष्टं गृह्णाति  
इति तन्निगूहनकरणाद्वचना । लोभो काकण्यादिलोभे कर्पापणादिक काक्षतीति । द्रव्यलाभलोभः प्रवर्तते । हस्स हास्य  
धनिनो निर्धनं दृष्ट्वा हसतः स्यात् । रदि स्वधनं पश्यतस्तत्रानुरागः । अरदि धनविनाशो कचिदपि चित्तस्यानवस्थानं ।  
भय धनमन्ये हरन्तीति भीतिः । सोगा शोको घनविच्छेदे मनस्तापः । दुगुंछ विरूपके परिग्रहे जुगुप्सा । धनार्थत्वाद्  
गुणिनामपि राजादिद्वन्द्वानुवृत्त्या निन्दनं । रादिभक्तं मदीयं भोजनं दिवा परे हरतीति तद्विनाशं नक्तमुक्तिः । स्वान्यादिछदा  
नुवृत्त्या वा द्रव्यलाभाय रात्रौ मुक्तिः ।

अर्थ—परिग्रहवान् मनुष्यको धन देते समय क्रोध आता है. परिग्रह पास होनेसे मैं धन्य हूं ऐसा अभि-  
मान उत्पन्न होता है. मेरा धन देखकर अन्य पुरुष हरण करेगा इस विचारसे उसको छिपाता है. यह माया दोष  
है. काकणि का लाभ होनेपर कर्पापणका लाभ होनेको इच्छा करता है वह भी मिलनेपर हजारों कर्पापणकी  
माप्ति मेरे को कच होगी ऐसा विचार उसके मनमें उत्पन्न होता है अतः द्रव्यका लाभ होना लोभका हेतु है. जो  
दरिद्री है उसको देखकर लोक हसते हैं अतः यह धन हास्यका हेतु है अपने धनको वारंवार देखकर परिग्रहवान्  
उसमें रति-आसक्ति करता है उसका विनाश होनेपर वह दुःखी होता है. मेरा धन दूसरे हरण करेगी ऐसी  
भावना उत्पन्न होकर भय उत्पन्न होता है अथवा शोक भी उत्पन्न होता है परिग्रहका रक्षण करनेके लिए वह  
रातमें भी भोजन करता है. क्योंकि मैं यदि दिनमें भोजन करूंगा तो याचक लोग मांगेंगे ऐसी उसकी समझ  
रहती है.

गंधो भयं नराणां सहोदरा एयरत्थजा जं ते ॥  
अण्णोणं मारेदुं अत्थणिमित्तं मदिसकासी ॥ ११२८ ॥

ग्रंथो महाभयं नृणामेकरथ्ये सहोदरौ ॥

ग्रंथार्थं हिंसितुं बुद्धिं यतोऽकाष्टां परस्परम् ॥ ११६५ ॥

विजयोदया—ग्रंथो भय नराणा । ननु भयसंशयस्य कर्मण उदयादुपजात परिणाम आत्मनो भय न वास्तु-  
क्षेत्रादिको ग्रंथ तथार्थमूलतस्त किमुच्येत ग्रंथो भयमिति, भयहेतुताद्भयमिति न दोष । सहोदरा एकोदरे प्रसवा  
अपि संत एयरथजा एकरथ्यनगरे जाता । ज यस्मात् । ते अण्णोण मारेदु अन्योन्य इन्तु । अत्यणिमित्त वसुनिमित्तं  
मदिमकासी बुद्धिं कृतवत ॥

ग्रंथस्य भयहेतुत्वमर्थाख्यानेन ख्यापयति--

मूलारा—भयं भयहेतु । सहोदरा एकोदरप्रभवा अपि सन्तः । एयरथया एकरथ्ये नगरे जाताः । जं  
यस्मात् ते प्रसिद्धाः । मदिमकासी मतिमकार्णुः । चित्त कृतवन्त इत्यर्थः । अत्रान्ये द्वित्वमिच्छन्ति--

अर्थ—परिग्रहसे मनुष्यैष भय विकार उत्पन्न होता है, शंका—भयनामक कर्मके उदयसे जो परिणाम  
उत्पन्न होता है उसको भय कहते हैं वास्तु क्षेत्रादिक परिग्रह भयरूप नहीं हैं इस लिये परिग्रहको आप भय  
क्यों कहते हो ?

उत्तर—भयके लिये परिग्रह कारण है इस वास्ते उसको हम भय कहते हैं एक माताके उदरसे उत्पन्न  
हुए भाई भी एकरथया नामक ग्राममें अन्योन्यको मारनेके लिये उद्यत हुये थे यह विचार करके बुद्धिमान लोक  
परिग्रहमें अभिलाषा नहीं रखते हैं.

अत्यणिमित्तमदिभयं जादं चोराणमेकमेकमेकैर्हि ॥

मज्जे मंसे य विसं संजोइय मारिया जं ते ॥ ११२९ ॥

तस्कराणां भयं जातमन्योन्यद्रविणार्थिनाम् ॥

मये मांसे विबं घोरं यतः संयोज्य मारिता : ॥ ११६६ ॥

विजयोदया—अत्यणिमित्त अदिभयं जाद अतीव भयं जात । चोराण एक्कमेकैर्हि ॥ चोराणामन्योन्यैः सह ।  
मंसे मंसे य विसं संजोइय मये मांसे च विप संयोज्य । मारिता जं ते यसांसे मारिता. ॥  
आख्यानातरेण तदेवाह—

मूलारा—एकमेकोहि अन्योन्यै कर्तृभिर्मरिताः । अन्योन्यतोऽतिभयं जातमित्यन्ये । सजोइय संयोज्य ॥  
अर्थ— इस धनके निमित्तसे चार चोरोंको महामय उत्पन्न हुआ था अर्थात् इन्होंने मद्य मांसमें परस्पर-  
रोंको मालुम न पड़ेगा इस प्रकारसे विप मिलाया था जिससे मद्य मांसका भक्षण करके वे लोग मरणको प्राप्त हुए

संगो महाभयं जं विहेडिदो सावगेण संतेण ॥

पुत्तेण चैव अत्थे हिदस्मि निहिदिछए साहुं ॥ ११३० ॥

संगो महाभयं यस्माच्छ्रावकेण कदर्थितः ॥

निहितेऽपहृते द्रव्ये तनूजने तपोधनः ॥ ११६७ ॥

विजयोदया—संगो महाभयं परिग्रहो महद्भयं । जं यस्मात् । विहेडिदो याधित । सावगेण संतेण श्रावकेण  
सत्ता । पुत्तेण चैव पुत्रेणैव । निहिदिछगे अत्थे हिदं हि साहु निक्षिप्तऽर्थे हृते साधु ॥

पुनरप्याख्यानमाह—

मूलारा—विहेडिदो कदर्थितः । पुत्तेण श्रावकस्यैव । निहिदछगे गर्तानिक्षिप्ते ॥

अर्थ—एक श्रावकके पुत्रने अपने पिताका जमीन में गाड़ा हुआ धन हरण कर अन्य स्थानमें रखा था  
जब उसको अपना गाड़ा हुआ धन नहीं प्राप्त हुआ तब उसके मनमें मेरा धन मुनिने लिया होगा ऐसा संशय उत्पन्न  
हुआ क्योंकि मुनिको उसने चातुर्मासमें अपने घरमें ही रहनेके लिये आवास दियाथा जब मुनि चातुर्मास समाप्त  
होनेपर विहार करने लगे तब इस श्रावकने अनेक प्रकारकी कारणों कहकर वाधा दी हे ये कथाएँ श्रेणिक  
पुराणमें हैं,

दूओ बंमण विग्घो लोओ हत्थी य तह य रायसुयं ॥

पहियणरो वि य राया सुवण्णयारस अक्खाणं ॥ ११३१ ॥

वण्णरणउलो विज्जो वसहो तावस तेहव चूदवणं ॥

रक्खसिवण्णीडुडुहु मेदज्ज मुणिरस अक्खाणं ॥ ११३२ ॥

सीदुण्हादववादं वरिसं तण्हा छुहासमं पंथं ॥  
 दुस्सेज्जं दुज्झत्तं सहइ वहइ भारमवि गुरुयं ॥ ११३३ ॥  
 गावइ णच्चइ घावइ कसइ ववइ लवदि तह मलेइ णरो ॥  
 तुण्णदि विणादि जायदि कुलम्मि जादो वि गंथत्थी ॥ ११३४ ॥  
 चर्षं वातं क्षुधं तृष्णां तापं शीतं श्रमं क्लमं ॥  
 दुमुत्तं सहतेऽर्थार्थी भारं वहति पुष्कलं ॥ ११६८ ॥  
 कृपति दीव्यति सीव्यति खिद्यते वपति पश्यति त्रस्यति याचते ॥  
 घमति घावति बल्गति सेवते रुदति ताम्यति नृत्यति गायते ॥ ११६९ ॥  
 पठति जल्पति छुठति छुपते हरति रुष्यति नश्यति लिख्यति ॥  
 रजति कस्यति दहति सिंचति मुञ्चति वंदते ॥ ११७० ॥  
 श्वसिति रोदिति माद्यति लज्जते हसति तृष्यति नृत्यति ॥  
 तुदति गृध्यति रज्यति सज्जते द्रविणलुब्धमनाः कुरुते न किम् ॥ ११७१ ॥

विजयोदया—गायति गायति, नृत्यति, घावति, वपति, कणिशब्दं करोति, मर्दनं करोति, सीव्यति, चयति, याचते कुले जातोऽपि परिग्रहार्थं ॥

इतोऽर्थाय यद्दुष्करनिवृत्त्यदि कर्म करोति तदाह—

मूलारा—सीदुण्हादववादं शीतोष्णतपवात । ग्रंथार्थी सहते इति संबधः । एता सखुतदीकाकरो नेच्छति ।

मूलारा—कसदि कृपति । जायदि याचते ॥

अर्थ—दूत, ब्राह्मण, व्याघ्र, हाथी, राजपुत्र, पथिक, राजा, और सोनार इनकी कथायें तथावानर, नौला, वैद्य, बौल, तपस्वी, चूतवन, सर्प ऐसी सोला कथाओंका वर्णन श्रेणिक, पुराणमें आया है श्रावकने मुनि-राजको आठ कथा धन उन्हीनेही ग्रहण किया है ऐसे अभिप्रायसे कही थी अनंतर मुनिराजनेभी तेरा धन मैंने नहीं ग्रहण किया है इस अभिप्रायको पुष्ट करनेके लिये कही थी इसके अनंतर श्रावक पुत्रने पिताका धनकलश लाकर दिया तब उसका सदेह दूर हो गया यह मनुष्य परिग्रहार्थ गाता, है, नाचता है, झंघर उधर दौड़ता है, खेत हाल



से नांगरता है, उसमें बीज बोता है, धान्य पकनेपर, उसको काटता है, मलता है इतने कार्य परिग्रहका संग्रह करने के लिये करता है, इस परिग्रहके निमित्त ही मनुष्य कपड़े सीता है, बुनता है, और याचना करता है, कुलीन होकर भी ऐसे ऐसे कार्य करता है

मेवद् णियादि रक्खद् गोमहिसमजावियं हयं हत्थि ॥

ववहरदि कुणदि सिप्पं अहो य रत्ती य गयणिहो ॥ ११३५ ॥

आउधवासस्स उरं देइ रणमुहम्मि गंथलोभादो ॥

मगरादिभीससावदबहुलं अदिगच्छदि समुहं ॥ ११३६ ॥

क्रीणाति वयते वखं गोमहिष्यादि रक्षति ॥

अर्थार्थो लोहकाष्टास्थिस्वर्णकर्म करोति ना ॥ ११७२ ॥

रुधिरकर्मदुर्गममाहवं निशितशस्त्रविदारितकुंजर ॥

हरिपुरस्सरजतुविभीषणं भ्रमति वित्तमना गहन वनम् ॥ ११७३ ॥

वियुलवीचिविगाढनभस्तलं मकरपूर्वकवार्षरसंकुलम् ॥

जलनिधिं द्रविणार्जनलालसो विशति जीवितनिस्पृहमानसः ॥ ११७४ ॥

विजयोदया—आउधवासस्स उर देइ आयुधवर्षस्स उरो ददाति । रणमुहे रणमुक्खे । गंधलोहादो ग्रयलोभाव मकरादिभीमंश्चापद बहुल प्रविशति समुद्र ॥

मूलारा—णियादि निर्वति । निदिणइ इति लोके । ववहरदि अयविक्रयादिकं करोति । सिप्प लेपादिहस्तविज्ञान । एता श्रीविजयो नेच्छति ।

मूलारा—आउधवासस्स आयुधवर्षस्स । शस्त्रपातस्येत्यर्थः । मावद् श्चापटाः । अतिक्रूरत्वख्यापनार्थं मकरादयोऽप्येवमुक्ताः । अदिगच्छदि प्रविशति ।

अर्थ— यह मनुष्य प्राणी सेवा करता है, गौ, महिष, वकरी, भेड़े, हाथी, घोड़ा वगैरह प्राणिओंका रक्षण

करता है व्यापार करता है, शिल्पकार्य करता है. परिग्रहोंकी प्राप्ति हो इस लिये निद्राका भी त्याग कर इन कार्योंमें रात दिन तत्पर होता है. परिग्रहके लोभमें यह मनुष्य सत्राममें-युद्धमें शुद्धोकी वृष्टि अपने छातीपर होने देता है. अर्थात् युद्धमें हजारों वारणोंकी वर्षा होनेसे उत्पन्न हुये अधातोंको सह लेता है जिसमें मगर-कूर जलजंतु विचरते हैं ऐसे भयानक समुद्रमें भी यह प्रवेश करता है

जदि सो तत्थ मरिज्जो गंथो भोगा य कस्स ते होज्ज ॥

महिलाविहिंसणिज्जो लूसिददेहो व सो होज्ज ॥ ११३७ ॥

नियनमृच्छति तत्र यदेकको भवति कस्य तदा धनमर्जितम् ॥

विविधविघ्नविनाशितविग्रहो जनतयाखिलयापि जुगुप्सते ॥ ११७५ ॥

लुनीते धुनीते धुनीते कुणीते न दत्ते न सुंक्ते न शेते न विंत्ते ॥

सदाचारधृत्तेर्वहिर्भूतचित्तो धनार्थी विघ्नं विधत्ते निकृष्टम् ॥ ११७६ ॥

विजयोदया—जदि सो तत्थ मरिज्जो यद्यमो रणसुखे मृत्तिमियात् । ग्रथा भोगाश्च ते तावत्कस्य भवेयु. । वनिताभिनिंदः विनष्टकरणाद्ययवो भवेद्यद्यपि न मृत ॥

मूलारा—तत्थ रणसुखादौ । गथा अर्थाः । महिलाविहिंसणिज्जो स्त्रीणां निंद । लूसिददेहो सङ्खडीकृतशरीर. सत् । यद्यपि न मृतस्तथापि दुर्भंगो भवेदिति भावः ॥

अर्थ— यदि यह प्राणी रणमें कालके गालमें चला गया तो सब परिग्रह और भोग पदार्थ किसके होंगे ? यदि युद्धमें वह नहीं मरा और हाथ, पाय वगैरह अंग टूटनेपर ऐसे मनुष्य की उसकी स्त्रिया निंदा करती है

गंथणिमित्तमदीदिय गुहाओ भीमाओ तह य अडवीओ ॥

गंथणिमित्तं कम्मं कुणइ अकादव्वयंपि णरो ॥ ११३८ ॥

गिरिकदरदुर्गाणि भीषणानि विगाहते ॥

अकृत्यमपि वित्तार्थं कुरुते कर्म मूढधीः ॥ ११७७ ॥

विजयोदया—गथणिमित्तमदीक्षिय ग्रंथनिमित्त प्रविशति गुहां । तथा भीमाश्चाटवीः । ग्रंथनिमित्तं कर्म अकर्तव्यमपि करोति नरः ॥

मूलारा—अदीहि प्रविशति ।

अर्थ—इस परिग्रहमें लुब्ध होकर उसके लिये भयंकर गुहाओंमें प्रवेश करता है इस परिग्रहके लिये अकर्तव्य भी कर बैठता है,

सूरो तिक्खो मुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सधणस्स ॥

माणी वि सहइ गंथणिमित्तं बहुयं पि अवमाणं ॥ ११३९ ॥

जायते धनिनो वदयः कुलीनोऽपि सक्कानपि ॥

अपमान धनाकांक्षी सहते मानवानपि ॥ ११७८ ॥

विजयोदया—सूरो तिक्खो मुक्खो वि शूरस्तीक्ष्णो मूर्खश्च वशवर्ती भवति जनस्य सधनस्य । अभिमानवानपि सहते ग्रंथनिमित्तं अपि परिभवं ।

मूलारा—तिक्खो असहनः । मुक्खो मुल्यः । वसिओ वशवर्ती । अवमाणं परिभवं ॥

अर्थ—शूर, तीक्ष्ण, और मूर्ख सब गलुण्य धनवानके वश हो जाते हैं, अभिमानी मनुष्य भी इस धनके लिये घोर अपमान दुःख सहता है

गंथणिमित्तं घोरं परितावं पाविट्ठण कं पिच्छे ॥

लल्लुक्कं संपत्तो निरयं पिण्णागंगंधो खु ॥ ११४० ॥

कांपित्यनगरेऽर्थार्थं परितापं दुरुत्तरं ॥

प्राप्य पिण्याकंगंधो ज्गाल्लुक्कं नरकं कुधीः ॥ ११७९ ॥

विजयोदया—अर्थणिमित्तं वस्तुनिमित्तं महत् दुःखं प्राप्य । कांपित्ये कं पिच्छनगरे । लल्लुक्कं लल्लुकनामधेयं संप्राप्तो नरकं पिण्याकंगंधसंज्ञः ॥

पुनराख्यानमाह—

मूलारा—कंपिले कागित्यनगरे । लङ्कं लङ्कसङ्काक । तमभ्रमाख्याया पट्टनरकभूमौ तृतीयप्रस्तार । उक्तं च-  
हिमवदललङ्कास्त्रयःपट्टयामपीन्द्रकाः । पिण्णागंगधो पिण्याकाधसङ्गाः ।

अर्थ— इस धनके निमित्त पिण्याक्रपध नामक मनुष्य नरकमें—लङ्का नरक विलमें जन्म लेकर तीव्रतम  
दुःख भोगने लगा

एवं चेदुत्तरस वि संमद्दो चेव गथलाहो दु ॥

ण य संचीयदि गथो सुद्धरेणवि मंदभागस्स ॥ ११४१ ॥

कुर्वतोऽपि परं चेष्टामर्थलाभो न निश्चितं ॥

संचीयते विपुण्यस्य नार्थो लब्धोऽपि जातुचित् ॥ ११८० ॥

विजयोदया—एवं चेदुत्तरस वि एव चेष्टमानस्यापि सशयित एव अथलाभ । न च संचयमुपयाति अथ ।  
सुचिरेणापि मंदभाग्यस्य ॥

तत्तादृक्कर्मपरस्यापि पुण्यात्पत्त्ये धनालाभमाह—

मूलारा—संसद्दो अनिश्चित ॥

अर्थ— ऊपर कहा हुआ प्रयत्न करने पर भी परिग्रहलाभ अर्थात् धनप्राप्ति होगी ही ऐसा निश्चय नहीं  
है, जिसका भाग्य फूटा है उसको दीर्घ कालसे प्रयत्न करने पर भी धनप्राप्ति होती नहीं है,

जदि वि कंहचि वि गंधा संचीएजणह तह वि से णत्थि ॥

तिची गंधेहि सदा लोभो लाभेण वडुदि खु ॥ ११४२ ॥

नार्थे संचीयमानेऽपि पुरुषो जातु तृप्यति ॥

अपद्येन यथा व्याधिलोभो लाभेन वर्द्धते ॥ ११८१ ॥

विजयोदया—जदि वि यद्यपि कथंचित्केनचित् प्रकारेण ग्रंथा संचयमुपेयु । तथापि तस्य दृष्टिनोस्ति ग्रंथैः ।  
सदा लोभो लाभेन वर्द्धते ॥

अर्थोपचये तृप्यभावमाह—

मूळारा—कथंचि केनापि प्रकारेण । सचीएजण्ह संचयसुपेयुः । लाभादु वनंप्राप्तेः ॥

अर्थ—यद्यपि किसी प्रकारसे किसी उपायसे परिग्रहका संग्रह हुआ तथापि यह आत्मा उसके प्राप्तिये तृप्त होता नहीं, क्योंकि सदा लाभ होनेपर परिग्रहसे लाभ बढ़ताही रहता है

जघ इंधणेहिं अग्गी लवणसमुदो णदीसदस्सेहिं ॥

तह जीवस्स ण तिच्ची अत्थि तिलोगे वि लद्धम्मि ॥ ११४३ ॥

नदीजलैरिवाम्भोधिरिंधनैरिव पावकः ॥

लोकैस्त्रिभिरपि प्राप्तैर्न जीवो जातु तृप्यति ॥ ११४२ ॥

विजयोदया—जघ इंधणेहिं इधनैर्यथाग्नि, यथा वा समुद्रो नदीसदृशैः । तथा परिग्रहैर्न तृप्यति जीवस्त्रिलोक्ये लब्धेऽपि ॥

मूळारा—सष्टम् ।

अर्थ—जैसे लकड़ीओंसे अग्निकी तृप्ति होती नहीं, हजारो नदियोंके जल मिलनेपर भी लवणसमुद्रकी प्यास नहीं बुझती है वैसे त्रैलोक्य की प्राप्ति होनेपर भी इस परिग्रहोंके द्वारा जीव तृप्त होता नहीं है.

पडहत्थस्स ण तिच्ची आसी य महाघणस्स लुद्धस्स ॥

संगेसु मुच्छिदमदी जादो सो दीहसंसारी ॥ ११४४ ॥

महाघनसमुद्रोऽपि पटहस्ताभिधो वणिक् ॥

जातस्मृत्तिमनासाद्य लुब्धधीर्दीर्घसंयुतः ॥ ११४३ ॥

विजयोदया—पडहत्थस्स पटहस्तनामधेयस्य वणिज न वृत्तिगालीतया महाघन्यस्य लुब्धस्य । परिग्रह मुच्छिन्नमतिरसौ जातो दीर्घसंसार ॥

अथ लोभेनावृत्तौ सत्या दोषमाख्यातेन स्फुटयति—

मूलारा—फटहस्तस्य स्फटहस्तान्मो वणिजः । आसी जातः ॥

अर्थ—पटहस्त नामक वैश्य बड़ा धनिक और अतीव लोभी था इस परिग्रहसे उसकी तृप्ति हुई नहीं इन परिग्रहोंमें लुब्ध होकर ही उसने प्राण छोड़े और दीर्घ संसारी हुआ

तित्तीए असतीए हाहाभूदस्स घण्णचित्तरस ॥

किं तत्थ होज्ज सुक्खं सदा वि पंपाए गहिदस्स ॥ ११४५ ॥

हाहाभूतस्य जीवस्य किं सुखं तृप्तितो विना ॥

आशया ग्रस्यमानस्य पिशाक्येव निरतरम् ॥ ११८४ ॥

विजयोदया—तित्तीए असतीए हाहाभूदस्य लपटवित्तस्य किं तत्र सुख भवेत् । आशया गृहीतस्य ॥

तृप्तावसत्याभिदैव दुःखमाह—

मूलारा—हाहाभूदस्य संतोपरहितस्य लपटमनसः । तत्थ ग्रंथे लब्धेऽपि । पंपाए आशया ॥

अर्थ—यदि परिग्रहोंकी प्राप्ति होनेसे भी मनुष्य तृप्त नहीं हुआ और उसमें ही लुब्ध हुआ तो आशया दास बना हुआ वह मनुष्य क्या सुखी होगा ? नहीं कभी भी सुखी नहीं होगा.

हम्मदि मारिज्जदि वा वज्झदि रुमदि य अणवराधे वि ॥

आमिसहेदुं घण्णो खज्जदि पक्खीहिं जह पक्खी ॥ ११४६ ॥

हन्यते ताड्यते बध्यते रुध्यते मानवो चित्तयुक्तोऽपराध विना ॥

पाक्षिभिः किं न पक्षी गृहीतामिपः स्वाद्यते लुब्धते दोषहीनः परेः ११८५

विजयोदया—हम्मदि आहन्यते । मारिज्जदि मायते, बध्यते रुध्यते वानपराधोऽपि । आमिपनिमित्त लपट स्वाद्यते यथा पक्षिभिः पक्षी गृहीताहारः ॥

मूलारा—हम्मदि ताड्यते । घण्णो लुब्धः । पक्खी गृहीताहारः पक्षी । यथा मांसार्थं परेः पक्षिभिः स्वाद्यते तथा धनार्थं परैर्धनी ताडनादिक प्राप्यते इति संबन्धः ॥

अर्थ—जिसके गृहमें मांस है ऐसा पक्षी मांसाभिलाषी इतर पक्षियोंके द्वारा खाया जाता है, वैसे परिग्रहवान् धनाढ्य मनुष्य इतर परिग्रहको चाहनेवाले लोगोंके द्वारा पीटा जाता है मारा जाता है, उसको किसी कोठरीमें बंद कर देते हैं किसीका अपराध नहीं करनेपर भी उसको लोक परिग्रहाभिलाषी बनकर दुःख देते हैं

मादुपिदुपुत्तदारेसु वि पुरिसो ण उवयाइ वीसंभं ॥

गंथणिमित्तं जग्गइ कंकळंतो सत्वरत्तीए ॥ ११४७ ॥

प्रियासवित्रीपितृदेहजादौ सदापि विश्वासमनादधानः ॥

विजयोदया—मादुपिदुपुत्तदारेसु वि विश्वसनीयेष्वपि मात्रावित्तु विश्रम नोपयाति । जगति सर्वरात्री प्रलपन् ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—यह मनुष्य परिग्रहोंका अभिलाषी होकर सर्व रात्रिमें बड़बड़ता हुआ जागता है माता, पिता, लड़का, पत्नी इन विश्वसनीय लोगोंपर भी विश्वास नहीं रखता है।

सव्व पि संकमाणो गामे—णयरे घरे व रण्णे वा ॥

आधारमगणपरो अणप्पवसिओ सदा होइ ॥ ११४८ ॥

अरण्ये नगरे ग्रामे गृहे सर्वत्र शक्तिः ॥

आधारान्वेषणाकांक्षी स्ववशो जायते कदा ॥ ११४९ ॥

विजयोदया—सव्वं पि संकमाणो सर्वमपि शंक्ताग्रामे, नगरे, गृहे, अरण्ये वा, आधारान्वेषणपरोऽनात्मवशा सदा भवति ॥

मूलारा—सर्वपि साधुमसाधुम्बा । संकमाणो धनापहारवलेन कल्पयन् । आधाररक्षायुक्तस्थान । अणप्पवसिओ परवशः ॥

अर्थ—सर्व मनुष्योंपर उसका विश्वास नहीं रहता है, इसलिए वह परिग्रहवान् मनुष्य गांवमें, शहरमें, यममें, अरण्यमें, अपने परिग्रहका जहां रक्षण होगा ऐसा स्थान ढूँढनेकी फिक्रमें रहता है वह अपनी आत्माको वश करनेमें असमर्थ होता है-

गंथपडियाए लुब्धो वीराचरियं विचित्तमावसध ॥

णेच्छदि बहुजणमज्झे वसदि य सागारिगावसए ॥ ११४९ ॥

धीरराचरित स्थानं विचित्त धनलालस ॥

विहाय धूरिलोकानां मध्ये गेहीव तिष्ठति ॥ ११८८ ॥

विजयोदया—गथपाडिगाए लुब्धो ग्रथनिमित्त लुब्धोपि धौर्वाचरित विचित्तमावसय नेच्छति । बहुजनमध्ये वसति । शुद्धस्थाना वेदमनि ॥

मूलारा—गंथपडियाए ग्रंथनिमित्तं धनं रक्षितुमित्यर्थः । यदि वा गंथपडियायलुब्धो ग्रंथविशेषलुब्धः साधु । वीराचरिद् महासुनिवेक्षित । आवसध वसति । सागारिगावसण् गृहस्योपाश्रये ।

अर्थ—वह कृपण मनुष्य परिग्रहमें लुब्ध होकर धीर पुरुष जहापर रहते हैं ऐसे एकांत स्थानमें रहना पसंद नहीं करता है वह जहा बहुत लोक रहते हैं ऐसे गृहस्थोंके घरमें रहता है-

सोदूण किंचिसदं समगथो होइ उडिदो सहसा ॥

सवत्तो पिच्छत्तो परिससदि पलादि मुज्झदि य ॥ ११५० ॥

शब्दं कांचिदसौ श्रुत्वा सहस्रोत्थाय धावति ॥

सर्वतः प्रेक्षते द्रव्यं परामृशति मुञ्चति ॥ ११८९ ॥

विजयोदया—सोदूण किंचि सद् श्रुत्वा कचन शब्द परिग्रहवान्सहस्रोत्थितः सर्वा दिशः प्रेक्षमाण परामृशति स्व द्रव्य, पलायते, मुञ्चति वा ॥

मूलारा—सोदूण किंचि सद् श्रुत्वा कचन शब्द सवत्तो सर्वा दिशः । परिससदि परामृशति । स्व धनं ॥

अर्थ—परिग्रहवान् मनुष्यके कुछ शब्द सुन लेनेपर भयमें चकित होता है, उठकर खड़ा होता है, चारों



दिशाओंका अवलोकन करता है अपने द्रव्यको ढूँढता है भीतिसे माग जाता है अथवा मूर्छित होकर गिर पड़ता है-

तेणभणुणरोहइ तरं गिरिं उप्पहेण व पलादि ॥

पविसदि य हदं दुग्ग जीवाण वहं करेमाणो ॥ ११५१ ॥

आरोहति नगं वृक्षयुत्पथेन पलायते ॥

निघ्नस्तनुमतो भीतो हृदं विशति दुस्तरम् ॥ ११९० ॥

विजयोदया—तेणभण स्तेनभयेन आरोहति आरोहति तव गिरिं वा । व्यच्यो भवति । प्रविशति वा हृद । दुर्गे वा स्थान जीवाना घातनं कुर्वन् ॥

मूलारा—तेणभण चोरभीत्या । हृद च्छदं नदं । करमाणो कुर्वन् ॥

अर्थ—मेरा परिग्रह चोर लेगा इस हरके मारे वह झाड़पर अथवा पर्वतपर चढ़कर छिपकर बैठता है, अथवा मार्ग छोड़कर अमार्गसे दौढ़ने लगता है, सरोवरमें प्रवेश करता है, अथवा जर्बोंका घात करता हुआ दुर्गम स्थानमें प्रवेश करता है

तह वि य चोरा चारभडा वा गच्छं हरेज्ज अवसरस ॥

गेण्हिज्ज दाइया वा रायाणो वा विलुंप्पिज्ज ॥ ११५२ ॥

अवशस्य नरस्यार्थो हठतो बलिभिः परैः ॥

दायादैस्तस्करैर्भूषैस्त्रायमाणोऽपि लुट्यते ॥ ११९१ ॥

विजयोदया—तथापि पलायनधावनादिक कुर्वतो द्रव्य हरति चोरा वा चारभटा वा । परवशस्य दायादा वा गृह्णन्ति राजानो वा विलुपति ॥

मूलारा—तव वि पलायनं कुर्वतोऽपि । चारभडा सुभटपुरुषाः । दाइया दायादाः । विलुंप्पेज्ज उहल्लयेयुः ॥

अर्थ—मागनेवाला अथवा दौढ़नेवाला उस मनुष्यके पीछे चोर जाकर उसको पकड़ते हैं, उससे धन छीन

लेते हैं पराधीन होनेपर नातीदार लोक, उसका धन लेते हैं अथवा राजा उसका धन हर लेता है.

संगजिमिसिं कुद्धो कलहं रोलं करिज्ज वेरं वा ॥

पहणेज्ज व मारेज्ज व मारेजेज्ज व य हम्मेज्जा ॥ ११५३ ॥

कल्लिं कलकल वैरं कुरुते नाथते परं ॥

अग्रियते मार्यते लोकैरहस्यते चार्थलपट् ॥ ११५२ ॥

विजयोदया—सगणिमिस कुद्धो रष्ट परिग्रहनिमित्त कलह वैरं वा करोति हंति, ताडयति, । पर स्वयं प्राणान्वियोजयति वा । परेण वा ताडयते मार्यते परेण ॥

मूलारा—पहणेज्ज ताडयेत्परं । मारेज्जो मारयेत्परं । मारेजेज्ज मार्यते परैः । हम्मेज्ज ताडयते परैः ॥

अर्थ—परिग्रहके निमित्तसे क्रोधी हुआ यह मनुष्य दूसरोंके साथ तटा करता है वैर करता है दूसरोंको मारता है, पीटता है. दूसरोंके प्राण लेता है, अथवा दूसरोंके द्वारा यह मारा जाता है, पीटा जाता है

अहवा होइ विणासो गंथस्स जलगिगमूसायादीहिं ॥

णठ्ठे गंथे य पुणो तित्वं पुरिसो लहदि दुक्खं ॥ ११५४ ॥

कुरानुसूपिकांभोभिः संचितोऽर्थो विनाशयते ॥

तत्र नष्टे पुनर्यातं दह्यते शोकवह्निना ॥ ११५३ ॥

विजयोदया—अथवा होज्ज विणासो अथवा ग्रंथस्य विनाशो भवेत् । आग्निजलमूषकादिभिः नष्टे पुनर्गृहे तीव्र दुःखं लभते मनुष्यः ॥

मूलारा—स्पष्टम्—

अर्थ—अथवा उसके परिग्रहका नाश अग्नि, जल, चूहे वगैरहसे होता है. परिग्रह नष्ट होनेपर फिर वह पुरुष दुःखी होता है

सोयइ विस्ववड कंइ णट्टे गंथम्मि होए नीमण्णो ॥

पञ्चादि निपात नव नवदृष्टिः ॥ १२५५ ॥

असिनि रोदिति सीदति नयने गनयति इति ऋजिरोपम ॥

हृगनाभष्टरुगायनलाभार्थं मनसि गोचरि पञ्चगुरुरेवमस्ति ॥ १२० ॥

प्रायोगिक—शोधः विज्ञानि नोदति, सिद्धयति, तस्य च शक्तिरिति ज्ञातव्यम् ।  
विद्यन्तमंगलानामधिकं, येषां सुखेष्टयो भाषि ।

दृष्टा-सिद्धो सिद्धो भिन्नो यः पार्थिवः पितृणां भिन्नः पितृणां भिन्नः ॥  
नन्देयानां भिन्नः ॥

अर्थ—परिग्रहा नाश होनेपर गोक रुग्णा है, चौरंग होने लगता है, लोगारु रुग्णों से मृत जगज्जंगल होता है, मनमें चिन्ता होता है, चिन्ता करने लगता है, रुग्णों का जलन पैदा होनेनं पानी पिना है, उनमें है अजयम रूपनं लगनें है और यह उत्प्रेक्षित होता है

उद्भूतिं अतो पुष्पिं अल्पिणं नन्दमगमि गयमि ॥

वायायिग अग्निवण्ड बुद्धी विन होत ते मृदा ॥ ११५६ ॥

अनरे द्रव्यगोलेन पापिनेय नाप्यने ॥

मुनिर्महागते यादं मुष्णान्मुनस्तुनं नरांसु ॥ ३३०५ ॥

पित्रोपासना—अपदि रमो भवाः पूजा आपदिने नष्ट परिमद । आगति त्वां र मुक्तिरति नरा नराणि ॥  
 मुखा—असिगन्धि नन्दासि मन्दासि वा ॥

अर्थ—परिश्रुता नाग शैलें मनुष्य मनमें जला लाना है उसका रान भी नष्ट होना है, अर्थात् उसका चालना भी बंद पड़ना है उसकी बुद्धि भी बंद होनी है

उन्मत्तो होइ णरो णरे गंथे गहोवसिद्धो वा ॥

घट्टदि मरुणवादादिण्हि बहुधा णरो मरिंदुं ॥ ११५७ ॥

उन्मत्तो वधियो मूको द्रव्ये नष्टे प्रजायते ।

चेष्टते पुरुषो मर्तुं गिरिप्रपत्तनादिभिः ॥ ११५६ ॥

विजयोदया—उन्मत्तो होइ णरो उन्मत्तो भवति नर । नष्टे परिग्रहे ग्रहगृहीत इव चेष्टते मरुप्रतापादिभिर्मर्तुं ॥  
मूलारा—गहोवसिद्धो वा भूताविष्ट इव । घट्टदि चेष्टते । मरुणवादादिण्हि मृगुपातादिभिः ॥

अर्थ—परिग्रहका नाश होनेपर यह जीव उन्मत्त होता है, पिशाच प्रस्त मनुष्यके समान चेष्टा करता है, और पर्वत, अग्नि, पानी इत्यादिकसे मरनेकी इच्छा करता है

चेलादीया संग्गा संसज्जति विविहेहिं जंतूहिं ॥

आंगंतुगा वि जंतू हवंति गथेसु सण्णिहिदा ॥ ११५८ ॥

चेलादयोऽखिला ग्रंथाः संसजति संमततः ॥

सति सन्निहितश्चित्रास्तस्मिन्नांगंतुकास्तथा ॥ ११५७ ॥

विजयोदया—चेलादिगा चेलादिसगोखलप्रावरणादय परिग्रहा । संसज्जति सन्मूर्च्छनामुपयति । विविहेहिं जंतूहिं नानाप्रकारैर्जंतुभि । आंगंतुगा वि आगतुक्राश्च जतव । गथेसु सण्णिहिदा भवति ग्रथेषु सन्निहिता भवन्ति । यूकापिपीलिका मत्कुणादय । धान्येषु कीटकादय । गुडापूपादिषु रसजीवा । तेषामादौने ॥

मूलारा—संसिज्जति संमूर्च्छन्ति । वस्त्रशय्यादयो यूकामत्कुणादिभिः धान्यानि कीटकादिभिः । गुडापूपादीनि च रसजप्राणिभिः ॥

अर्थ—ओढनेके वस्त्र प्राक्णादिक परिग्रहोंमें नाना प्रकारके सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते हैं, जंतू, चिटी, मत्कुण वगैरह आगतुक प्राणी भी आकर परिग्रहोंमें उडरते हैं, धान्यमें कीड़े उत्पन्न होते हैं, गुडके वनाये अप्पादिक खाद्य पदार्थोंमें रससे सूक्ष्म जंतु उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार परिग्रह जंतुओंका उत्पत्ति स्थान होता है.

आदाणे गिक्खवे सरेमणे चावि तेसि गंथाणं ॥

उक्कस्सणे वेक्ककसणे फालणपफोडणे चेव ॥ ११५९ ॥

विजयोदया—आदाने, निक्षेपे, संस्करणे, वद्विर्नयेने, वधने, मोचने, तेषां ग्रंथाना पाटने विधूने च ॥

मूलारा—सरेमणे संस्करणे । उक्कस्सणे वद्विर्नयेने । वेक्कसणे वधमोचने । फालणे पाटने पफोडणेऽवधूने ॥

अर्थ—पदार्थ ग्रहण करना, जमीन पर रखना, उसको सोधना, बाहर लेजाना, बांधना, खोलना, फोड़ना, शटकना इत्यादि क्रिया करते समय प्राणिओंको बाधा पोहोचती है.

छेदणबंधणवेढणआदावणधोव्वणादिकिरियासु ॥

संघट्टणपरिदावणहणणादी होदि जीवाणं ॥ ११६० ॥

बंधने छोटने छेदने भेदने पाटने धूने चालने शोपणे ॥

वेष्टने क्षालने स्वीकृतौ क्षेपणेऽर्थस्य पीडा परा जायते देहिनाम् ॥ ११६१ ॥

विजयोदया—छेदने, बंधने, वेष्टने, शोपणे प्रक्षालने च । सम्मदंते परितापनहनानदिक भवति जीवानां ॥

मूलारा—आदावण शोपणे । धोव्वणादि प्रक्षालनकयविकयादिक । संघट्टण सम्महने । परिदावण पीडनं उदावण मारणं ॥

अर्थ—छेदन करना, बांधना, वेष्टन करना, सुखाना, धोना, इत्यादिक कार्य करते समय जविकोंको मर्दन संतापन और घात उत्पन्न होता है.

जदि वि विर्विचदि जंतू दोसा ते चेव हुंति से लग्गा ॥

होदि य विर्विचणे वि हु तज्जोणिविओजणा णियय ॥ ११६१ ॥

तेभ्यो निरसने तेषां ध्रुवा योनिवियोजना ॥

दोषा मर्दनसंघट्टवितापमरणादयः ॥ ११६२ ॥

विजयोदया—जदि वि विर्विचदि यद्यपि निराक्रियते जीवास्त एव संघट्टादयो दोषा भवति । भवति च पृथक्करणे तेषां तद्योनिवियोजना निश्चयेन ।

मूलारा—जदिवि यद्यपि । त्रिकिंचटि स्फोटयति । ते चेष सघटनादयः । से संप्रथस्य यतेः । लग्गा अनुपक्ताः । तज्जोणिबिजोयणा तेषा जन्तूनामुत्तिस्थानवियोगः ॥

अर्थ—यद्यपि जीवोको अलग करने पर भी संघर्षणादिक दोष परिग्रहवानके होत ही हैं जब जीवोको पृथक् किया जाता है तब उनको अपने उत्पत्तिस्थानका वियोग होता है

पथमचित्तपरिग्रहगतदोषमभिधाय सचित्तपरिग्रहदोषमाचष्टे—

सच्चित्ता पुण गंथा वर्धति जीवे सयं च दुक्खंति ॥

पाव च तण्णिमित्तं परिगिण्हंतस्स से होई ॥ ११६२ ॥

सचित्ता अंगिनो घ्नन्ति स्वयं संसक्तमानसाः ॥

अहीतुर्जायते पापं तान्निमित्तमसंशयम् ॥ १२०० ॥

विजयोपया—सचित्ता पुण गथा नयति जीवे परिग्रहा दासीदासगोमहिषादयो भवति । जीवात्मन्य च दु खिता भवति । कर्मणि नियुज्यमाना कृष्यादिके पाप च स्वपरिग्रहीनजीवकृतामथमनिमित्त तस्य भवति ॥

पथमचित्तप्रथगतान्दोषान्प्रकाश्य सचित्तप्रथगतान्दोषानाह—

मूलारा—दुक्खसति कुल्यादिकर्मणि नियुज्यमाना दु खिता भवन्ति । तण्णिमित्तं परिग्रहीतजीवकृतासंयमत-

दुःखोत्पादनहेतुक ।

अर्थ—जो सचित्त परिग्रह है अर्थात् दास दासी, गो गह्वि वगैर सजीव परिग्रह हैं वे जीवोका घात करते हैं और खेती वगैरह कर्मोंमें नियुक्त करनेपर दुःखी होते हैं जिनका परिग्रहवाने स्वीकार किया है ऐसे दास दा-  
स्यादिक अमंथमरूप प्रवृत्तिकर जो पाप उत्पन्न करते हैं उसका संघर्ष परिग्रहवानके साथ होता है, अर्थात् स्वामी की प्रेरणासे वे असयमरूप कार्य करनेमें खासी पापमें वद्ध होता है

इदियमय सरीर गंथं गेण्हटि य देहसुक्खत्थ ॥

इंदियसुहाभिलासो गंथगहणेण तो सिद्धो ॥ ११६३ ॥

देहस्याक्षमयत्वेन देहसौख्याय गृण्हतः ॥

अक्षसौख्याभिलाषोऽस्ति सकलस्य परिग्रहः ॥ १२०१ ॥

विजयोदया—इंद्रियसुखाभिलाष कर्मबंधनिमित्तो मुमुक्षुणा त्वात्य । स परिग्रहग्रहणे वलादापततीति व्याचष्टे—इंद्रियमयं शरीरं स्पर्शनादिपंचेन्द्रियाधारत्वात् । परिग्रहं च चेलप्रावरणादिकं इंद्रियसुखाश्रेयमेव गृण्हति । वातातपाद्य-नभिमतस्पर्शनिषेधाय आत्मशरीरे वलालाकारादिभिरलंकृते पराभिलाषमुत्पाद्य तदगासंगजनितप्रीत्यर्थितया अभिमत-मापादयति । सेवनाद्यर्थं च तत् इंद्रियसुखाभिलाषो ग्रथं गृह्यत सिध्यति । स्वाध्यायध्यानात्ययोस्तपसो विघ्नकारी परिग्रहस्तदुभय चातरेण न सवरनिर्जरे ॥

इंद्रियसुखाभिलाष कर्मबंधननिवधनत्वान्मुमुक्षुभिस्त्याज्य एव । स च परिग्रहग्रहणेन वलात्सिध्यति इति व्याचष्टे—

मूलारा—इंद्रियमयं स्पर्शनादीन्द्रियाधारत्वात् । गंथं चेलप्रावरणादिकान् । देहसौक्यत्वं वातातपाद्यनिषेधा-दिना शरीरस्य स्वास्थ्यमुत्पादायितुं सिद्धो निश्चितः ॥

अर्थ—इंद्रियसुखोंमें अभिलाषा करनेसे कर्मबंध होता है अतः मुमुक्षु इंद्रियसुखी अभिलाषा नहीं करते हैं, जिन्होंने परिग्रहोंका स्वीकार किया है उनको नियमसे कर्मबंध होता है, इस विषयका स्पष्टीकरण—शरीर पंचेन्द्रियोंका आधार है अतः उसको इंद्रियमय कहते हैं जीव स्पर्शनादि इंद्रियसुखके लिए वस्त्रादिपरिग्रहका स्वीकार करता है हवा, धूप वगैरहका अनिष्ट स्पर्श शरीरको न होवे इस हेतुसे वस्त्रादिकोंका जीव स्वीकार करता है, जब जीव अपना शरीर वस्त्रादिकोंमें अलंकृत करता है तब अपनेमें दूसरोंकी अभिलाषा उत्पन्न करके उसके शरीरके सहवासकी प्रीति उत्पन्न करके अपना इष्ट साध्य करता है दूसरेके शरीरसुखकी प्राप्ति करनेके लिए अपने शरीरको अलंकारादिमें सजाता है अतः ग्रंथ—पस्त्रिह धारण करनेका मूल कारण इंद्रियसुखकी अभिलाषा है यह सिद्ध होता है इस परिग्रहसे स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्धि होती नहीं स्वाध्याय और ध्यान के बिना कर्मके संवर और निर्जराके अभावमें संपूर्ण कर्मोंका नाश कैसा होगा ?

तयोऽस्मावे कुतो निरवशेषकर्मपायो भवतीति कथयति—

गंथस्स गहणरक्खणसारवणाणि णियदं करेमाणो ॥

विविक्खत्तमणो उज्झाणं उवेदि कह मुक्कसज्झाओ ॥ ११६४ ॥

रक्षणस्थापनादीनि कुर्याणोऽर्थस्य सर्वदा ॥

निरस्ताप्यनो ध्यानं न्याक्षितः कुरुते कथम् ॥ १२०२ ॥

विजयोदया—यथस्स गह्वरभ्रगण परिग्रहादान, तद्रक्षणं, तत्संस्कारं च नित्यं कुर्यात् । व्याक्षितचित्तं कथं शुभध्यानं कुर्यात् विमुक्तस्वाध्यायः । एतदुक्तं भवति—व्याक्षितचित्तस्य न स्वाध्याय असति तस्मिन्नुपाध्यायविदुषः ध्येयैरुनिष्ठ ध्यानं कथमिव वर्तते ॥

परिग्रहात्स्वाध्यायध्यानविनातस्ततश्च सवरनिर्जराविरहाल्लुको मोक्षो भवेदित्यनुज्ञास्ति—मूलारा—त्रिभिन्वत्तमणो व्याकुलचित्तं । मुक्तमज्ज्ञाओ लक्ष्युतभानाक । ग्रंथग्रहणादिना चित्तस्य विक्षेपे सति स्वाध्यायासम्भवात् । वस्तुयाथात्म्यमजानतः कथमिव ध्येयैकनिष्ठ ध्यानमुपतिष्ठत इति भावः ॥

यही अभिप्राय आगेकी गाथामें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—परिग्रहका स्वीकार करना, रक्षण करना, उनमें संस्कार करना इसी कार्यमें जिसका चित्त लगा है ऐसे मनुष्यकी धर्मध्यानमें प्रवृत्ति नहीं होती है । इस परिग्रहके जालमें पड़े हुए मनुष्य स्वाध्याय भी नहीं कर सकते हैं चित्तकी एकाग्रता होनेपर स्वाध्याय सिद्ध होता है. परन्तु चित्तका लय परिग्रह में ही होनेसे स्वाध्यायसे मनुष्य विमुक्त होता है स्वाध्यायमें वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप जब मालूम होता है तब चित्तकी एकाग्रतासे धर्म ध्यानकी सिद्धि होती है स्वाध्यायविमुख और परिग्रहासक्त लोगोंको यथार्थ वस्तुस्वरूप मालूम न पड़नेमें शुभ ध्यानकी सिद्धि होती नहीं है

परभवव्याप्य दोषं परिग्रहसुखायातमुपदर्शयति—

गंथेसु घडिदहिदओ होइ दरिहो भवेसु बहुगेसु ॥

होदि कुणतो गिच्चं कम्मं आहारहेदुम्मि ॥ ११६५ ॥

अर्थप्रसक्तचित्तोऽस्ति निःस्वो बहुषु जन्मसु ॥

ग्रासार्थमपि कर्माणि निन्दानि कुरुते सदा ॥ १२०३ ॥

विजयोदया—गंथेसु घडिदहिदओ ग्रथासक्तचित्तं बहुषु भवेसु दरिद्रो भवति । आहारमात्रमुद्दिश्य नीचकर्मकारी भविष्यति । शिविकोदहन, उपानेखेचन, पुरीषमूत्राद्यपनयन इत्यादिक नीचं कर्म ॥



संगव्यासंगमुखोपस्थितं भवान्तरप्राप्य दोषमाल्याति—

मूलारा—धडिदहिदयो आसक्तचित्तः । गीचं कम्म शिविकोद्वहनादिकं कुर्वन्वर्ततेऽपि । आहारहेतु आहारमात्र-  
मुद्दिश्य ॥

परिग्रहसे उत्पन्न हुआ दोष अनेक भवमें जीवके साथ रहकर दुःख उत्पन्न करता है इस अभिप्रायका  
वर्णन—

अर्थ—जिसका मन परिग्रहासक्त हुआ है ऐसा मनुष्य अनेक भवोंमें दरिद्री होता है. आहारकी अभिलाषा  
करके वह नीच कार्य करनेके लिए भी उतार होता है अर्थात् पालखी उठाकर अन्य स्थानमें ले जाना, श्रीमान  
पुरुषोंके जूते उठाना, विद्या, मृत वगैरह अपवित्र पदार्थ निकालना इत्यादिक नीच कार्य करता है

विविहाओ जायणाओ पावदि परभवगदो वि घणहेतुं ॥

लुद्धो पंपागहिदो हाहाभूदो किलिस्सदि य ॥ ११६६ ॥

लभते यातनाञ्चिन्ना ग्रंथहेतून्भवान्तरे ॥

संक्लिश्यत्याशया ग्रस्तो हाहाभूतोऽर्थलुब्धधीः ॥ १२०४ ॥

विजयोदया—विविहाओ जायणाओ पाउणदि विविधा यातना प्राप्स्यति । परभवगतोपि धननिमित्त लुब्ध-  
आशया प्रकृष्टया गृहीतो ह्य मम क्लेशशत कुर्वतोपि मम धन न भवति, जातं वा नयमिति कृतहाहाकार क्लिश्यति ।

मूलारा—हाहा—मम क्लेशशत कुर्वतोऽपि धनं न सप्यते । सपन्न वा विनश्यति इति कृतहाहाकार ॥

अर्थ—परिग्रहासक्त मनुष्य अन्य जन्ममें भी धनके लिए अनेक आपत्तियोंको प्राप्त होता है उसकी  
आशा अत्यंत बढ़ती ही जाती है. सेकड़ो प्रयत्न करने पर भी भरे धनकी वृद्धि होती नहीं अथवा धनकी वृद्धि  
होकर भी वह नष्ट होता है ऐसे विचार कर वह महान् दुःखी होता है.

एदेसिं दोसाणं मुंचइ गंथजहणेण सन्वेसिं ॥

तच्चिवरीया य गुणा लभदि य गंथस्स जहणेण ॥ ११६७ ॥

अमीभिरखिलैर्वैषैर्ग्रन्थत्यागी विमुच्यते ॥

भूरिभिस्तद्विपक्षैश्च निलयीक्रियते गुणैः ॥ १२०५ ॥

विजयोदया—येसि दोसाण मुंचर पूर्वोक्तान्प्रग्रहणगतान्दोषान्दोषास्यजेदिति दोषप्रतिपक्षभूतान्गु-  
णानपि लभते ॥

ग्रन्थत्यागिनो दोषविच्छेदं गुणप्रतिलभं चोपदिशति—

मूलार—मुंचरि पूर्वोक्तान्दोषास्यजति । द्वितीयार्थेऽत्र पद्यी ॥

अर्थ—परिग्रहका त्याग करनेसे पूर्वोक्त सर्व दोषोंका त्याग हो जाता है. और इन दोषोंके प्रतिपक्षी  
औदाय, निरुद्धता वगैरह गुणोंकी प्राप्ति होती है

गन्धन्वाओ इंदियणिवारणे अंकुसो व हत्थिरस्स ॥

णयरस्स खाइया वि य इंदियगुत्ती असंगत्तं ॥ ११६८ ॥

अंकुशो गतसंगत्त्वं विषयेभनिवारणम् ॥

इंद्रियाणां परा गुप्तिः पुरीणाभिच स्वातिका ॥ १२०६ ॥

विजयोदया—गयद्याओ ग्रन्थत्यागः इंदियनिवारणे इत्ययमिंद्रियशब्द उपगोर्गेन्द्रियविषय सप्तमी च निमि-  
त्तलक्षणा । तेनायमर्थ—इंद्रियज्ञानस्य रागद्वेषमूलस्य निवारणे निमित्तभूतोऽंकुश इय हस्तिनो निवारणे उत्पद्यमानात् ।  
नगरस्स खाविगा वि य नगरस्य स्वातिका इव । असंगत्त निष्परिग्रहता । इंदियगुत्ती इंदियगुप्तिर्इंद्रियरक्षा रागोत्पत्ति-  
निमित्तैर्इंद्रियज्ञानरक्षा ॥

नैर्ग्रन्थस्येन्द्रियजयोपायत्वमाह—

मूलार—इंदियणिवारणे इंदियज्ञानस्य रागद्वेषमूलस्य निरोधने निमित्तभूतः । मत्स्या निमित्तार्थे विधानात् ।

अंकुसो व उत्पन्नगमननिवारणे इति शेषः । खादिगा वि य स्वातिका यथा निवारणोपायः । इंदियगुप्ति रागद्वेषोत्पत्ति-  
निमित्तैर्इंद्रियज्ञाननिवारणोपायः ॥

अर्थ—जैसे कुमारीमें प्रवृत्त हुए हाथीको अंकुश निवारण कर योग्य मार्गपर लाता है. खंदक अर्थात्  
खाईसे जैसे नगरका रक्षण होता है वैसे परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष जिसके मूल कारण हैं ऐसे इंद्रिय ज्ञानकी

निवृत्ति होती है अर्थात् परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष नष्ट होते हैं; जिससे इन्द्रियां अयोग्य कार्यमें प्रवृत्त होती नहीं।

मूलाराधना

११५८

सम्पबहुलस्मि रण्णे अमंतविज्जोसहो जहा पुरिसो ॥

होइ दढमप्पमत्तो तह णिगंथो वि विसएस्सु ॥ ११६९ ॥

विषयेभ्यो दुरंतेभ्यस्त्रस्यति ग्रंथवर्जितः ॥

अल्पमंत्रौषधो मर्त्यः सर्पेभ्य इव सर्वदा ॥ १२०७ ॥

विजयोदया—सम्पबहुलस्मि सर्पबहुले रण्णे अरण्ये । अमतविज्जोसहो मंत्रेण, विद्याया औपधेन च रहित पुमान् । दढमप्पमत्तो होदि नितरां अप्रमत्तो भवति । तथा निर्ग्रन्थोऽपि क्षायिरुश्रद्धानेकवलज्ञानयथाख्यातचारित्रमंत्र-विद्यौषधिरहितो विषयारण्ये रागादिसर्पबहुले सावधानोऽपि भवेत् ॥

निःसगत्वस्याप्रमत्तताहेतुत्वमाह —

मूलारा—रण्णे अरण्ये । विसएस्सु इन्द्रियार्थेषु रागद्वेषलक्ष्णप्रमादरहितः । बाह्यद्रव्य हि मनसा स्वीकृतं राग-द्वेषप्रवृत्ति करिष्यतो मोहनीयकर्मणः सहकारिकारणमिति तत्त्यागे सा न स्यात् । तदभावे च नापूर्वकर्मबंध इति नैर्ग्रन्थ-मेव प्रथमो मोक्षोपाय इति भावः ॥

अर्थ—जिसको सर्पविष दूर करनेकी विद्या, मंत्र और औषधिका ज्ञान नहीं है ऐसा मनुष्य जिसमें सर्पों-का बहुत प्रचार है ऐसे अरण्यमें कारणवश प्राप्त होनेपर बहुत सावधान रहकर सर्पोंसे अपना बचाव करता है, वैसे क्षायिक सम्पग्दर्शन, केवलज्ञान, यथाख्यातचारित्र, एतत्स्वरूपी मंत्र, विद्या और औषधिरहित निग्रंथ मुनि रागद्वेषादि सर्पोंसे भरे हुए पंचेन्द्रिय विषयरूपी अरण्यमें सावधान रहते हैं अभिप्राय यह है कि, परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष नष्ट होते हैं और विषयाभिलाषाका अभाव होता है

रागो हवे मणुण्णे विसए दोसो य होइ अमणुण्णे ॥

गंथच्चाएण पुणो रागहोमा हवे चत्ता ॥ ११७० ॥

रागो मनोहरे ग्रंथे द्वेषश्चास्त्यमनोहरे ॥

रागद्वेषपरित्यागो ग्रन्थत्यागे प्रजायते ॥ १२०८ ॥

विजयोदया—रागद्वेषयो कर्मणा मूलयोर्निमित्त परिग्रह, परिग्रहस्याग्रे रागद्वेषौ एव त्यक्तौ भवतः । चाहाद्रव्यं मनसा स्वीकृत रागद्वेषयोर्विज, तस्मिन्नस्मिन् सहकारिकारणे न च कर्ममात्राद्रागद्वेषवृत्तिर्यथा सत्यपि मृत्पिण्डे वृद्धाद्यन्तरकारणवैकल्ये न घटोत्पत्तिर्येति मन्यते ॥

एतदेवाह—

मूलारा—मणुणे इष्टे मनसा स्वीकृते मनि ॥

अर्थ—इष्ट विषयोंमें रागभाव उत्पन्न होता है और अनिष्ट विषयोंमें द्वेष उत्पन्न होता है, परंतु परिग्रह का त्याग करनेसे राग और द्वेष दोनों भी नष्ट होते हैं रागद्वेष क्रमबंध होनेमें मूल कारण है रागद्वेषमें ही कर्मबंध होता है परंतु परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेषोंका त्याग होता है मनमें विचार कर जब जीव बाह्य द्रव्यका अर्थात् बाह्य परिग्रहका स्वीकार करता है तब रागद्वेष उत्पन्न होते हैं यदि सहकारिकारण न होगा तो केवल कर्ममात्र से रागद्वेष उत्पन्न होते नहीं बल्कि मृत्पिण्डमें घट उत्पन्न होता है तथापि दंडादिक कारण नहीं होगा तो घटही उत्पत्ति नहीं होती है.

कर्मणां निर्जरणोपाय परीपहसहन । तथा चोक्त पूर्वोपात्तकर्मनिजसार्थं परितोढव्या. परीपह्ना सोढा भवन्ति ग्रन्थचलमावरणादिक त्यजतेति व्याचष्टे—

सीदुण्हदंसमस्यादियाण दिण्णो परीसहाण उरो

सीदादिणिवारणए गंथे णिययं जहेतेण । ११७१ ॥

शीतादयोऽग्नित्वाः सम्यग्विषयंते परीषहाः ॥

शीतादिवारक संगं योगिना त्यजता सदा ॥ १२०९ ॥

विजयोदया—सीदुण्हदंसमस्यादियाण ननु च दुःखोपनिपाते संश्लेशरहितता परीपहजय । न तु शीतोष्णादयो नहि ते आत्मपरिणामाः अनात्मपरिणामाश्च चघसवरनिर्जरादीनामुपायो न भवन्ति । योऽनात्मपरिणामो नासौ निर्जराहेतु यथा पुद्गलगतरूपादय । अनात्मपरिणामाश्च शीतादयः क्षुत्पिपासादयो दुःखहेतव । ननु दुःखं तत्

किमुच्यते क्षुत्पिपासादयः परीपत्ता इति चेत् योगः । श्रुतद्विजन्त्यद्गमपिपत्त्यन्तु श्रुतद्विगतानां । तेन क्षुत्पिपासादीनीषा  
दशमशकनाभ्याधीता परीपहवाचो युक्तिर्न विरुध्यते । मीरुणदन्मन्त्रादिषाण शीतोष्णदन्मन्त्रादीनां । पविन्नकण्डा उभे  
दिषाणा परीपहणा उभे दत्तः । इत्थं कीदृशदिगिपारणं शीतोष्णानां निमित्तमन । न च पिपह्म जन्मेन प्रशस्तिपत त्यजता ॥  
चेलादिग्रन्थं त्यजता दृष्टान्तिचरणोपायः परीपहमन्त्रं कुर्यात् ।

मृत्पारा—परीसहाण शीताज्जिज्जन्तुनाता । उभे मन्त्र । शीताज्जिज्जन्तु मन्त्रे नि मन्त्रेण मनः एतन्निन्द्यः ।  
जिपारणं निवारकान् ॥

परिपह महन करनेमें कर्म की निर्जग होतो है । पूर्वप्रथमं जीमनें जो प्रमेनचर किया है उभको निर्जरा  
करनेकेलिए परिपह महन करना चाहिए । ऐसा आगममें कहा है गय रा अर्थान् मन्त्रप्राप्त्यादिकोंका त्याग करने  
वाले मुनि परिपह महन करते हैं इयका विमंचन—

अर्थ—दुःख आनेपर भी मंहेअ परिणाम न होना ही परिपह जय है, परंतु शीत, उष्ण, भूत्व, प्याम  
वंगरहको परीपह जय नहीं कहते हैं क्यों कि ये आत्मपरिणाम नहीं हैं, ये वय, मंत्र, निर्जरा और मोक्षके उपाय  
होते नहीं जो जो आत्मपरिणाम नहीं है न निर्जगके हेतु नहीं हैं जेते पुद्गलके रूपादिक गुण, नीत उष्णता वंगरह  
आत्मामें परिणाम नहीं, क्षुधा, प्याम वंगरहभी आत्मामें परिणाम नहीं हैं ये मन दुःखके कारण हैं वे स्वयं दुःख  
नहीं हैं इसवास्ते उनको परिपह कहना योग्य नहीं है

उत्तर—आपका कहना योग्य है क्षुदादिकोंमें उत्पन्न होनेवाला दुःख क्षुदादिशब्दोंका विषय है इस  
वास्ते क्षुधा, पिपासा शीत, उष्ण, दंशमशक, नागन्य इत्यादिकोंको परीपह कहना अनुचित नहीं है

इस गाथाका अभिप्राय यह है कि, शीत उष्ण इत्यादिकोंको भित्तिनं चाला वखादि परिग्रह जिसने नि-  
यममें छोड़ दिया है उसने शीत, उष्ण, दंशमशक वंगरह परीपहोंको छाती आगे करके शूर पुरुषके ममान जीत  
लिया है ऐसा समझना चाहिये

देहे आदरः सर्वस्य हिसादे संग्रमस्य मूलं पस्त्वित्तो भजति परिग्रहं त्यजेत्त्याचष्टे—

जम्हा णिमंगथो सो वाढादवसीदंसमसयाणं ॥

सहदि य विविधा वाधा तेण सदेहे अणादरदा ॥ ११७२ ॥

शीतवातातपादीनि कष्टानि सहते यत् ॥  
क्रियतेऽनादरी देहे निःसंगेन ततः परं ॥ १२१० ॥

विजयोदया—जम्हा यस्मात् । निगद्यो सो निष्प्रग्रहोऽसौ । वातादवशीतदशमशकानां विविध दुःख । सद्यदि विपद्यति सहते । तेन सहनेन । शरीरे अकृतादरश्च जहात्यशेषं हिंसादिकं, तपसि च स्वशक्त्यनिगृह्णेन प्रयतेते ॥

हिंसादिसकलासंयममूलं शरीरादरं संगं त्यजता त्यक्तं स्यादित्याह—

मूलारा—सष्टम् ॥

जिसने परिग्रहोंका त्याग किया है उसने देहका ममत्वही छोड़ दिया है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि देहममत्व ही सर्व हिंसादिक असंयमका मूल कारण है इस विषयका विवेचन—

अर्थ—यह परिग्रहत्यागी वात, धूप, शीत, दशमशक्रादिपरिपहोसे होनेवाले विविध दुःख सहता है इसलिये यह परिग्रहोंमें अनादरवान् है यह बात निर्णीत होती है. जब शरीरसे ममत्वभाव दूर होता है तब हिंसादिक सर्व पापोंका त्याग होता है और तपश्चरणमें अपनी शक्तिके अनुसार प्रवृत्ति होती है.

संगपरिमगणादी निस्संगे नित्यि सन्वविकलेवा ॥

उज्जाणज्ज्ञेणाणि तओ तस्स अविग्घेण वच्चंति ॥ ११७३ ॥

व्याक्षेपोऽस्ति यतस्तस्य न ग्रंथान्वेषणादिषु ॥

ध्यानाध्ययनयोर्विभो निःसगस्य ततोऽस्ति नो ॥ १२११ ॥

विजयोदया—संगपरिमगणादी परिग्रहान्वेषणादि परिग्रहस्य साभिलषितस्य अस्तित्वगवेयणे क्लेशनमस्तीति । तथा तत्त्वामिना कोऽस्य स्वामी ? त्वं च न कासौ अवतिष्ठते इति पुनर्योश्चा ? लाभे सतोपो, अलभे दीनमनस्कता, तदानयन तत्संस्करणं, तद्रक्षणं इत्यादिकं आदिशब्देन गृह्यते । नि सगे संगराहिते नित्यि सन्वविकलेवा । न सति सर्वे व्याक्षेपा । उज्जाणज्ज्ञेणाणि ध्यातं अध्ययनं च । तदो व्याक्षेपाभावात् चेतसि । तस्स अपरिग्रहस्य । अविग्घेण वच्चंति विम्रमंतेरेण वचंते । सर्वेषु तपस्सु प्रधानयोर्ध्यातव्याययोरुपायो अपरिग्रहता इत्याख्यातमनया गाथया ॥

सर्वतपसामुत्तमयोः स्वाध्यायध्यानयोर्निःसंग्यहेतुकत्वे युक्तिमाह—

मूलारा—सगपरिमगणादी परिग्रहान्वेषणमादिशब्देन च तत्स्वाभावोद्यतत्त्वानावस्थानगवेपणतत्त्वार्थनतल्लभपरितोपतद्वलाभैर्न्यतदानयनसस्करणरक्षणदीनि । विकलेवा व्याख्येपाश्चित्तव्यासगाः । अविवेकेण वञ्चति निरंतराय प्रवर्तते ॥

अर्थ—जो परिग्रहोंसे विरक्त हुआ है- उसको परिग्रहोंको ढूढनेकी चिन्ता नहीं रहती है जिस परिग्रहको लोक चाहते हैं उसको ढूढनेका प्रयत्न करते हैं किसके पास मेरी अभिलषित वस्तु मिलेगी ? क्या तेरे पास मेरी इष्ट वस्तु है ? ऐसा प्रश्न करते हैं- उम वस्तुका स्वामी कहां रहता है ? इसकी खोज वे करते हैं उसके पास जाकर याचना करते हैं इष्ट वस्तु मिलने पर मन आनंदित होता है परंतु नहीं मिलनेपर दीनता उत्पन्न होती है, अमीष्ट चीजको लाकर उसको सुंदर बनाकर रक्षण करते हैं- परंतु जो निष्परिग्रही हुए हैं ऐसे मनुष्य इन सर्व वस्तुओंसे दूर होकर सुखी होते हैं- निष्परिग्रही मनुष्यों का मन अव्याकुल रहता है जिससे उनके ध्यानाध्ययन कार्य निर्विघ्न सिद्ध होते हैं सर्व तपोंमें ध्यान स्वाध्याय ये प्रधान हैं- यह निष्परिग्रहता उनकी प्राप्ति का उपाय है ऐसा अभिप्राय इस गाथासे व्यक्त होता है

गन्धच्चाएण पुणो भावविसुद्धी वि दीविदा होइ ॥

ण हु संगघडिदबुद्धी संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी ॥ ११७४ ॥

दर्शितास्ति मनःशुद्धिः संगत्यागेन तात्त्विकी ॥

सगासक्तमना जातु सगत्यागं करोति किम् ॥ १११२ ॥

विजयोदया—संगच्चाएण पुणो सगत्यागेन पुन । भावविसुद्धी वि दीविदा होदि परिणामस्य विशुद्धिर्दीपिता दर्शिता भवति । ण हु संगघडिदबुद्धी नैव परिग्रहघटितबुद्धि । संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी परिग्रहांस्त्वमनुं करोति बुद्धि ॥ भावविसुद्धेरपि नैःसंग्यं लिङ्गमित्याह—

मूलारा—दीविदा दर्शिता ॥

अर्थ—परिग्रहोंका त्याग करनेसे परिणाम निर्मल होते हैं और प्रतिदिन परिणामोंकी निर्मलता बढ़ती ही रहती है परिग्रहोंमें जिसका मन लुब्ध हुआ है वह मनुष्य परिग्रहोंका त्याग करनेमें असमर्थ हो जाता है-

या च प्रकृता सहेखना कषायविषया सा च परिग्रहत्यागमूलेति कथयति—

निस्तसंगो चेव सदा कसायसहेहणं कुणदि भिक्खू ॥

संगा हु उदीरंति कसाए अग्गीव कठ्ठाणि ॥ ११७५ ॥

निःसंगे जायते व्यक्तं कषायाणां तनूकृतिः ॥

कषायो दीप्यते संगैरिंधनैरिव पावकः ॥ १२१३ ॥

विजयोदया—निस्तसंगो चेव निष्परिग्रहश्चैव सदा कषायपरिणामांस्तनुकरोति न सपरिग्रहः । कथं इति तदाचष्टे—संगा खु उदीरंति परिग्रहा उदीरयन्ति । कसाए कषायान् । अग्गीव अग्निरिव कठ्ठाणि काष्ठानि ॥

किं च प्रकृतकषायसहेखनापि सगत्यागमूला वेत्यनुशासि—

मूलारा—उदीरंति उद्धावयति । अग्गीव अग्निं यथा ॥

परिग्रहका त्याग करनेसे ही यदि कषायसहेखना कर सकते हैं

अर्थ—जो परिग्रहका त्यागी है वही अपने कषाय परिणाम क्षीण कर सकता है परिग्रहवान् के कषाय कभी क्षीण होते ही नहीं, जैसे इन्धनोंकी ग्राप्ति होनेसे अग्नि बढ़ेगी ही कभी वह उपशान्त न होगी वैसे परिग्रहोंसे कषाय उत्पन्न होते हैं नष्ट होते नहीं

सव्वत्थ होइ लहुगो रुवं विस्सासियं हवदि तस्स ॥

गुरुगो हि संगमत्तो संकिज्जइ चावि सव्वत्थ ॥ ११७६ ॥

लघुः सर्वत्र निःसंगो रूपं विश्वासकारणम् ॥

गुरुः सर्वत्र संग्रथः शंकनीयश्च जायते ॥ १२१४ ॥

विम्रगोपया—मध्यस्थ होए सर्वत्र भवति । गमने आगमने च लघुगो लघु । रुवं वेसासिग रूपं विश्वासकारि च भयति । तस्म निगंधय । यस्मप्राथरणाविक्रमच्छादितशब्दोऽस्माकमुपट्व करोति धनं वा सेन चीवरादिना प्रच्छाद्य नयतीति शंका कुर्यन्ति पणिमम् इत्ययम् ।

निःसंगस्य लघुत्वविश्रायत्ये वक्ति—

मूलारा—मध्यस्थ गमनागमनादौ । लघुगो अमारिको भवति निःसंगः । वेसासियं विश्वात्मकारि ॥



अर्थ—जिसने परिग्रहोंका त्याग किया है वह सर्वत्र लघु होता है अर्थात् वितरहित होता है उसके स्वरूपको देखकरही लोग उसके ऊपर विश्वास करते हैं, परंतु जिसके पास वस्त्र ग्रावणादिक हैं उसके ऊपर लोक विश्वास नहीं करते हैं इसने अपने पास शस्त्र छिपाकर रक्खा होगा ऐसा समझते हैं तथा यह हमारा धन वस्त्रों छिपाकर ले जायगा ऐसी शंका उनके मनमें उत्पन्न होती, अभिप्राय यह है कि परिग्रह अविश्वासका कारण है,

सन्वत्थ अप्पवसिओ णिस्संगो णिव्भओ य सन्वत्थ ॥  
होदि य णिप्परियम्मो णिप्पडिकम्मो य सन्वत्थ ॥ ११७७ ॥  
प्रतिबंधप्रतीकारप्रतिकर्मभयादयः ॥

निर्ग्रथस्य न जायते दोषाः संसारहेतवः ॥ १२१५ ॥

विजयो—सन्वत्थ अप्पवसिगो सर्वत्र ओम, नगरे, अरण्ये च आत्मवशः । णिस्संगो निप्परिग्रह । सन्वत्थ य णिव्भओ सर्वत्र निर्भयश्च । होदि य णिप्पडिकम्मो भवति च निर्व्यापारः कृपादिक्रियाप्राप्त्यभरहित । णिप्पडिकम्मो य इदं पूर्वकृत इदं परत्रावशिष्ट कार्यमित्येतच्चास्य न विद्यते ॥

निःसंगस्य स्वातंत्र्यनिर्भयत्वानारभत्वनिश्चितत्वेगुणसंपत्तिमाह—

मूलारा—णिप्परियम्मो परिकर्मभ्यः कृपादिव्यापारेभ्यो निष्कृतः । णिप्पडियम्मो इदं पूर्वं कृतं, इदं इदानीं करोमीदं च पुरस्तात्करिष्यामि इत्येवमादिक आत्मनि चिंतासंस्कारोऽत्र प्रतिकर्म तस्मात्त्रिज्ज्वालतो निष्प्रतिकर्म । अन्ये तु णिप्पडियम्मो यतिः । णिप्पडियम्मो निर्व्यापार इति व्याख्याति ॥

अर्थ—निप्परिग्रही मनुष्य गांवमें, नगरमें, अरण्यमें, सर्व स्थानोंमें अपने स्वाधीनही रहता है, उसको कहाँ भी भय नहीं है उसको खेती, उद्योग, धंदा करने की चिंता नहीं रहती है वह कार्य आज मैंने समाप्त किया है, अब यह अवशिष्ट कार्य कल या परसों करूंगा ऐसी चिंता उसको नहीं रहती है,

सुखार्थिनो महत्सुखं भवति सगपरित्यगेनेति चदति—  
भारकृतो पुरिसो भारं उरुहिय णिव्वुदो होइ ॥  
जह तह पयहिय गंथे णिस्संगो णिव्वुदो होइ ॥ ११७८ ॥

महाश्रमकरे भारे रभसाङ्गारवानिव ॥

निरस्ते सकले ग्रंथे निर्धृतो जायते यतिः ॥ १२१६ ॥

विजयोदया—भारकृतो पुरिसो भारकातः पुरुष । भारं ऊरुद्वय भारमवतार्य । गिबुदो होदि सुखी भवति । यथा तथा गिस्सगो गिबुदो होदि निष्परिग्रह सुखी भवति । गंय पयद्विग्रंथान्परित्यज्य । वाधाभावलक्षण हि सुखं सर्वमेव । तथाहि—अशनादिना भुधादावपगते जात स्वास्थ्यमेव सुखमिति लोको मन्यते ॥  
संगत्यागासुखित्वमाह—

मूलारा—ऊरुद्वय अवतार्य । गिबुदो सुखी । सर्वमपि हि सासारिकं सुख वाधाभावलक्षणमेव । भोजनादिना भुदावपनोवजाते स्वास्थ्ये लोकस्य सुखव्यवहारोपलभात् । पजद्विग्रंथान्परित्यज्य संग्रहिः सगः सन् ॥

जिसको सुखकी इच्छा है उसको परिग्रहका त्याग करनेसे महासुख प्राप्त होता है ऐसा आचार्य कहते हैं—  
अर्थ— जिसने अपने मस्तकपर बोझ धारण किया है उसको वह बोझा उतारनेपर सुख होता है वैसे ग्रंथका—परिग्रहका त्याग करनेसे मनुष्य सुखी होता है वाधाका अभाव होना ही सुख है जैसे अन्न खानेसे भूख मिटती है तब जो स्वास्थ्य प्राप्त होता है लोक उसकोही सुख कहते हैं.

यस्मादेवं परिग्रहग्रहेणऽतिग्रहो जन्मद्वयभाविनो वोपाश्रय—

तस्मा सव्वे संगे अणागए वहुमाणए तीदे ॥

तं सव्वत्थ णिवारहि करणकारावणुण्णाहिं ॥ १२७९ ॥

भवन्तो भाविनो भूता ये भवन्ति परिग्रहाः ॥

जहाहि सर्वथा तांस्त्वं कृतकारित्तमोदितैः ॥ १२१७ ॥

विजयोदया—तस्मा तस्मात् । सव्वे संगे सर्वान्परिग्रहान् । अणागदे अनागतान् । वट्टमाणे तीदे वर्तमानानतीताश्च भवान् । सव्वत्थ णिवारहि सर्वथा निवारय । करणकारावणुण्णाहिं कृतकारिताभ्यामनुगोदनेन । कथं अतीतो भावी वा परिग्रहो वधकारणं येन निवार्यते? अयमभिप्रायः अतीतस्वस्वामिसंबन्धऽपि वस्तुनि प्रमेदं वस्त्वासीदिति तदनुस्मरणानुरागादिना अशुभपरिणामेन बंधो भवतीति मा कथास्तदनुस्मरण अनुराग वा । एवं भविष्यति इत्येभूतं मम द्रव्णिणं इति ॥

यस्मादेवं परिग्रहग्रहेणऽतिग्रहो जन्मद्वयभाविनो दोषा भवेयुः—

मूलारः—अणागदे भविष्यतीत्यभूतं मम वाछितं वस्त्विति, भाविष्यति वस्तुनि स्वस्वामिसंवधानुरागेणाशु-  
भपरिणामेन पापबंधो भवतीति भाविनो ग्रंथान्निवारय त्वमिति क्षपकं नियुक्ते । दीदे अतीतान् तत्तादृग्वस्तु ममासीदि-  
त्यतीतवस्तुन्यपि स्वस्वामिसंवधानुस्मरणानुरागादिरज्यशुभपरिणामः पापवधाय प्रभवतीत्यतीतपरिग्रहनिवारणनियोगः ।  
कारावगुण्णादि काराव कारापः कारापणं, अपुण्णा अनुज्ञा, अनुमतिः ॥

परिग्रहत्याग करनेसे सुख मिलता है और परिग्रह ग्रहण करनेसे इस भवमें और परभवमें दोष उत्पन्न होते हैं—

अर्थ— इसलिये हे क्षपक भविष्यकालीन, वर्तमानकाल संबंधी और भूतकाल संबंधी संपूर्ण परिग्रहोंका तू त्याग कर. तथा कृत, कारित और अनुमोदनासे इनका तू त्याग कर.

शंका— जो परिग्रह वीत चुका और जो आगे प्राप्त होनेवाला है वह वधका कारण कैसे हो सकता है ? इस वास्ते उसका निरवाण करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर— जो परिग्रह नष्ट हो चुकनेसे उसमेंसे स्वस्वामिसंवंध नष्ट हुआ है तो भी यह परिग्रह वस्तु मेरी थी ऐसा स्मरण होकर उसमें समत्व होता है. जिससे अशुभ परिणाम उत्पन्न होकर वध होता है. इसी प्रकार भविष्य-  
त्कालीन परिग्रहमें भी समत्व होता है. भविष्यत्कालमें मेरेको अशुभ चीज मिलेगी ऐसे सकल्प मनमें उत्पन्न होकर शुभाशुभ परिणामोंसे कर्मवध होता है इसलिये त्रिकालसंबंधी संपूर्ण परिग्रहोंका तू त्याग कर ऐसा क्षपकको आ-  
चार्य उपदेश करते हैं.

जावन्ति केहू संगी विराधया तिविहकालसंभूदा ॥

तेहिं तिविहेण विरदो विमुत्तसंगो जह सरीरं ॥ ११८० ॥

यावन्तः केचन ग्रंथाः संभवन्ति विराधकाः ॥

निर्वृत्तः सर्वथा तेभ्यः शरीरं मुंच निःस्पृहः ॥ १२१८ ॥

विजयोदया—जावति केर संग यावन्तः केचन परिग्रहाः । विराधया विनाशकाः । कस्य ? रत्नत्रयस्य ।

तिविधकालसंभूता कालत्रयप्रवृत्ता । तेहिं तिविधेण विरयो विमुक्तसंगो तेभ्यो मनोवाङ्मायैर्विरत, सन् विमुक्तसंगः । जह सरीरं त्यज शरीर ।

अथ रत्नत्रयविनाशका इत्यशेषान्त्रयान्निरस्य निःसंगं सन्नगं त्यजेति श्रपक्रमदिशति—

मूलारा—विराघया रत्नत्रयविनाशकाः । जह त्यज त्व ॥

अर्थ—जो त्रिकालसंवन्धी परिग्रह रत्नत्रयके विनाशक हैं उनसे हे श्रपक तू मन, वचन और कायसे विरक्त होकर अर्थात् निष्परिग्रह होकर इस शरीरका त्याग कर.

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चैव सञ्चत्य ॥

आसं तण्हं संगं छिद ममत्तिं च मुच्छं च ॥ ११८१ ॥

इत्थं कृतक्रियो मुच विषयं सार्वकालिकम् ॥

तृष्णामाशां त्रिधा संगं ममत्वं त्यज सर्वदा ॥ १२१९

विजयोदया—एव कदकरणिज्जो एव कृतकरणीय । यत्कर्तव्यमाराधना चाछता आहारशरीरत्यागादिकं । स एवभूत । तिकाले वि कालत्रयेऽपि । तिविधेण त्रिविधेन । सञ्चत्य सर्वत्र सर्वविषया सुखसाधनगोचरा । आस आशा । तण्ह तृष्णा । संग परित्यज्यभूता । छिद ममत्तिं ममेदमिति सकल्प छिदि । मुच्छ मुच्छो मोहमिति यावत् ॥

इत्थं कृताराधनासिद्धधगभूतसंश्लेषनाहारशरीरत्यागादिकर्तव्यः सन्ननादिविभ्रमसंस्कारवशाद्विषयसुखेषु प्रादुर्भवदाशादिपचकं निर्मूलयेति शिक्षासर्वस्वमाह —

मूलारा—सञ्चत्य सर्वेषु मनोद्वेषार्शनादिविषयेषु । आस आशा । चिरमेते ईदृशा विषया ममोदितोदिता भूयासुरित्याशंसा । तण्हं तृष्णा । इमे मनागपि मत्तो मा विच्छिद्यंता इति तीव्र प्रवचप्रवृत्त्यभिलाष । संग तन्मयीभाव । छिद छिदि त्वं । ममत्तिं ममेमे भोग्या अहमेपा भोकेति संकल्पं । मुच्छ मुच्छो मूढता निश्चेतनतां । अन्ये पुनरित्थमत्यं कथयंति—सर्वत्र शरीरादावाशा । दृढतरं शरीरमद्यापि मे भविष्यतीत्यादिवुद्धि । तथा तृष्णा सर्वविषयेन रक्षणापेक्षा । तथा संगमासक्तिं । तथा ममता ममेदमिति प्रतिबंधं । तथा मुच्छोमत्रैव तिष्ठामीति आसक्तिवृद्धि । भोः क्षपकराज । निवारयेति ॥

अर्थ—आराधना की सिद्धिके अंगभूत कर्तव्य जिसने किये है अर्थात् शरीरसंश्लेषना जिसने की है ऐसे

हे क्षपक धुने' तू तीनों कालमें मनवचन कायेसे सर्व परिग्रहोंकी आशा और तृष्णाका त्याग कर, मंग, ममत्व और मूर्च्छाका त्याग कर, चिरकालतक मेरेको सुख देनेवाले विषय उत्तरेतर अधिक प्रमाणसे मिले ऐसी इच्छा रखना उसको आशा कहते हैं तृष्णा—ये सुखदायक पदार्थ कभी भी मेरेसे अलग न होने ऐसी तीव्र अभिलाषाको तृष्णा कहते हैं, संग—परिग्रहोंमें अतिशय तन्मय होना, ममत्व-ये पदार्थ मेरे भोग्य हैं मैं इन का भोक्ता हूं ऐसा मनमें संकल्प करना, और मूर्च्छा अर्थात् मोहयुक्त चेतना हे क्षपक तू आशा, तृष्णा, संग, मूर्च्छा चगेरह अशुभ भावोंको छोड़ दे

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखातिशयमिह जन्मनि प्राप्य निर्विशुत्तराया—

सव्वगंथविमुक्तो सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ॥

जं पावइ पीयिसुहं ण चक्कवही वि तं लहइ ॥ ११८२ ॥

समस्तग्रथनिर्मुक्तः प्रसन्नो निर्वृताशयः ॥

यत्प्रीतिसुखमगमोति तत्कुतश्चक्रवर्तिनः ॥ १२२० ॥

विजयोदया—सव्वगथविमुक्तो परित्यक्तदोषवाद्याभ्यन्तरग्रय । सीदीभूदो शीतीभूत । पसण्णचित्तो य प्रसन्नचित्त सन् । जं पावइ पीयिसुहं यत्प्रामोति प्रीत्यात्मक सुख । न चक्कवही वि त लमदि चक्रवर्त्यपि तत्र लभेत ॥ वाद्याभ्यन्तरपरिग्रहद्वारासमुद्भवं सुगतिशयमिह जन्मनि प्राप्यमुपदिशति—

मूलारा—सीदीभूदो ग्रथेष्वितिकर्तव्यताविताव्याकुलत्वात्प्रसन्नतापनिवर्तनाच्छैत्यं प्राप्तः । पीयिसुहं आनन्द-लोकं सौरभम् ॥

परिग्रहका त्याग करनेसे जो सुखातिशय इस जन्ममें प्राप्त होता है उसका आगेकी गाथामें उल्लेख करते हैं—अर्थ—जिसने वाद्याभ्यन्तर परिग्रहोंका त्याग किया है वह शीतीभूत होता है अर्थात् परिग्रह रहनेपर उसकी रक्षा करनेकी चिन्ता उत्पन्न होती, हे न्याकुलता बढ़नेपर मन सतप्त होता है परिग्रहका त्याग करनेसे संतापका नाश होता है, जिससे श्रुतिराज शीतावस्थाको प्राप्त होते हैं, उनका अन्तःकरण प्रसन्न होता है, अतः ऐसी अवस्थामें जो, सुख उनको प्राप्त होता है वैसा चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता है

चक्रवर्तिसुखस्य स्वरूपताया कारणमाचष्टे—

रागविवागसतण्णादिगिद्धिं अवतित्ति चक्कवट्टिसुहं ॥

णिस्संगणिव्वुइसुहस्स कंहं अगघट्ट अणंतभागं पि ॥ ११८३ ॥

गृह्याकांक्षाकारणं सेवते यच्चक्री सौख्यं रागपाक वितृप्ति ॥

सौख्यस्येद नास्तसंगस्य तुल्यं स्वस्थोऽस्वस्थैः सौख्यमाप्नोति कुत्रा ॥ १२२१

दुःखानि नश्यन्ति शर्माणि पुष्यन्ति कर्माणि दृढयन्ति चित्राणि संगे ॥

ऽगृहीतं यतः संयतस्यापि हेयस्ततः सर्वदासौ पटिष्ठेन पुंसा ॥ १२२२ ॥

इति पंचमं ब्रतम् ॥

विजयोद्यथा—रागविवागसतण्णादिगिद्धिं अवतित्ति चक्कवट्टिसुह । रागो विपाक फलमस्येति रागविपाकरूपं विषयसुखमासेव्यमानं रंजयति विषयेष्विति रागो विपाक फल सुखस्येत्युच्यते । सह तुणया वर्तते इति सतुणं, अनिशयेन गृह्णे काक्षा जनयति इति अतिगृद्धि । न विद्यते दृष्टिरस्मिन्नित्यविवृति यदेवभूतं चक्रवर्तिसुख । णिस्संगणि-व्वुदिसुखस्स नि.सगस्य यन्निवृत्तिसुख तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥

कुतश्चक्रिसुखं निःसगसुखादपकृष्यत इत्यारेका निराकरोति ॥

मूलारा—रागविवाग विषयसुरमासेव्यमान विषये पुरुषं रंजयतीति रागो विपाकः फलमस्येति रागविपाक चक्रिसुख । सतण्हा प्रागुक्तलक्षणतृणानुबधि । अदिगिद्धी अतिशयेन गृद्धिराकाक्षा लाञ्छ्यमस्मिन्निति अतिगृद्धि । अवि-त्ति निति विशेषेण पुनराकाक्षा निवृत्तिलक्षणेन दृष्टिः सौहृदय, पुनर्नानुबधि कदाचिदपीत्येवंविधपरिणतिरूपं यत्र तदविवृति । यत इत्यभूतं चक्रवर्तिसुखमत एतद्विलक्षणं निःसंगस्य यत्तेर्यन्निवृत्तौ सगत्यागे निर्द्वन्द्वताया सुखं मुक्तात्मनामे-व शर्म तस्य भागं निःसंगस्य अर्णवेत् प्राप्नुयात्तदिति संबंधः ॥ आर्किचन्यम् ॥

निष्पत्तिग्रहासे होनेवाले सुखसे चक्रवर्तीका सुख अल्प है यह बताते हैं—

अर्थ—विषयसुखका उपभोग लेने से वह इंदिय-विषयोंमें आसक्ति करता है. इस वास्ते चक्रवर्तीका सुख रागमाव को उत्पन्न करने वाला है यह तृणाको बढ़ाता है, इस सुखमें अतिशय लंपटताप्राप्ति होती है बार बार भोगनेपर भी दृष्टि उत्पन्न होती ही नहीं इसलिए परिग्रहका त्याग करनेपर रागद्वेषरहित यतीश्वरको जो सुख

प्राप्त होता है चक्रवर्तीका सुख उसके अनंत भागकी भी बरोबरी नहीं कर सकता है इस तरह पांचों महा व्रतोंका वर्णन हुआ

महाव्रतसंज्ञा अन्यर्था अहिंसादीनामिति दर्शयति—  
पंचमहव्ययं ॥

सार्धेति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ॥

जं च महल्लाइं संयं महव्वदाइ हवे ताइं ॥ ११८४ ॥

साययन्ति महार्थं यन्महद्भिः सेवितानि यत् ॥

महान्ति यत्स्वयं सन्तो महाव्रतान्यतो विदुः ॥ १२२३ ॥

विजयोदया—सार्धेति जं महत्थं साधयति यस्मान्महाप्रयोजन असंयमनिमित्तप्रत्यग्रकर्मकंडंयकनिवारण महत्प्रयोजनं संपादयतीति महाव्रतानि । आयरिदाइ च जं महल्लेहिं यसादावरितानि महद्भिः तस्मान्महाव्रतानि इति निवेक्ति । जं च यस्मान्महल्लाणि स्वयं महान्ति ततो महाव्रतानि स्थूलसूक्ष्मभेदसकलाहिंसादिरूपतया वा महान्ति ॥

एवमहिंसादीनि व्रतानि पंचाभि प्रपन्न्य साग्रत तद्भारात्रिभोजननिवृत्त्यादिलक्षणं गाथा पचोत्तरशतेन व्याचिख्यासुः प्रथमं तेषां महाव्रतसंज्ञायां अन्यर्थता समर्थयते—

मूलारा—माधेन्ति संपादयन्ति । महत्तयं असंयमनिमित्तप्रत्यग्रकर्मकंडंयकनिवारणलक्षणं महाप्रयोजनं । महल्लेहिं तीर्थंकरादिभिः । महल्लाणि स्थूलसूक्ष्मविकल्पसकलाहिंसादिविरतिरूपतया महानि विपुलानि । हवे भवंति । ताइं अहिंसादीनि हिंसादिविरतिरूपाणि शुद्धचिद्रूपाणि नो आप्तमभावव्रतापेक्षया चारित्रमोहस्य क्षयोपशमादुपमात्क्षयाद्वा प्रवृत्ता जीवस्य हिंसादिपरिणामव्यावृत्तयो यावज्जीवं न हिनस्मि, नावृतं वदामि, नादत्तमाददे, न भैशुन करोमि, न परिग्रहं शुद्धासीत्येवभूताः परिणतय इति यावत् ॥

अहिंसादिक व्रतों की महाव्रत संज्ञा अन्यर्थक है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ—अहिंसादिकों को महाव्रत संज्ञा अन्यर्थक है असंयममे उत्पन्न होनेवाले नवीन कर्मसमूह का निवारण करना यह महाकार्य इन अहिंसादिकों से होता है अतः इनको महाव्रत कहते हैं महापुरुषोंने इनका

आचरण किया था इस लिए भी इनको महाव्रत कहते हैं अथवा ये स्वयं महान् हैं अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके पंच पातकोंका त्याग ही इनका स्वरूप है इसलिये भी इनको महाव्रत कहते हैं

तेसिं चैव व्रदाण रक्खहं रादिभोयणियत्ती ।।

अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥ ११८५ ॥

रक्षणाय मता तेषां निवृत्ती रात्रिभुक्तिः ॥

राद्धान्तमातरश्चाष्टौ सर्वाश्चापि च भावनाः ॥ १२२४ ॥

विजयोदया—तेसिं चैव व्रदाण तेषामेवाहिंसाविव्रताना । रक्खरय रक्षणार्थं । रादिभोयणियत्ती रात्रि भोजनान्निवृत्ति । रात्रौ यदि भिक्षार्थं पर्यटति त्रसान्ध्यावरात्र्य इत्यादुदुरालोकत्वात् । न च दायकागमनमार्गं, तस्यान्ना- वस्थानवेशा, आत्मनो वा उच्छिष्टस्य वा निपातदेश, दीयमान वाहार योग्य न वेति निरूपयितुमय कथं समर्थं ? दिवापि दुःपरिहारात् जानाति स सूक्ष्मानय कथं परिहरेत् कङ्कलकादिकं दायिकाया भाजनं वा कथं शोधयति । पदविभागिका वा पपणासमित्यालोचना सम्यगपरीक्षितविषया कुर्वत कथं सत्यव्रतमवतिष्ठते ? सुप्तेन म्याभिभूतेनादत्तमव्याहारं शुद्धतोऽदत्तादानं स्यात् । क्वचिद्भाजने विधेयं स्थापित, आत्मवासे भुजानस्यापरिग्रहव्रतलोपं स्यात् रात्रिभोजनानु- व्यावृत्तेः सकलानि व्रतान्यवतिष्ठते संपूर्णानि । अट्ठप्पवयणमादाओ अष्टौ प्रवचनमातृकाश्च सङ्गतपरिपालनाया । एव पञ्च समितय तिस्रो गुप्तयश्च प्रवचनमातृका । रत्नत्रयं प्रवचनं तस्य मातर इवेमा । क उपमार्थं ? यथा माता पुत्राणां अपायपरिपालनोद्यता, एव गुप्तिसमितयोऽपि व्रतानि पालयन्ति । भावणाओ य सव्वाओ भावनाश्च सर्वा । वीर्यात- रायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमश्रयोपशमापेक्षेणात्मना भाव्येतोऽसङ्कल्पवत्येते इति भावना । अथ किमिदं व्रतं नाम ? यावज्जीव न हिंसासि, नानृत वदामि, नादत्तमाददे, न भिक्षुनर्म्म करोमि, न परिग्रहमाददे । इत्येवंभूत आत्मपरिणाम उत्पन्नं कथंचित्तयैव अवतिष्ठते उत विनश्यति वा ? । अवस्थानमनुभवविरुद्ध । जीवादिपरिग्रहे तस्य श्रद्धाने वा प्रवृत्तस्य इत्यमुपयोगमावात् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपयपरिहारो रक्षा तत किमुच्यते व्रतानां रक्षायै रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न हिंनसीत्युपयोगो न तदा नानृत वदामीत्येवमादय सति परिणामः । किं पुन परिणामातरे वाच्यम् । अत्रोच्यते—

नामात्रिविकल्पेन चतुर्विधानि व्रतानि । तत्र नामव्रतं कस्यचिद्व्रतमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्तिपरिणामव्रतं आत्मनः शरीरस्य चर्षं प्रत्येकत्वात् आकार सामर्थ्यिके परिणतस्य सद्भावस्थापनाद्व्रतं । भाविद्व्रतत्वग्राहिज्ञानपरिणति- रात्मा आगमद्रव्यव्रतं । व्रतक्षस्य शरीर त्रिकालगोचर, शयकशरीरव्रतं । चारित्रमोहस्य क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यसिद्वा- त्मनि भविष्यति विरतिपरिणामः स भाविद्व्रतं । उपशमे क्षयोपशमे वावस्थित चारित्रमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्त



कर्म व्रतं । न हिनस्सीत्यादिको ज्ञानोपयोगो भण्यते आगमभावव्रतमिति । नो आगमभावव्रतं नाम चारित्रमोहोपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाद्वा प्रवृत्तो हिंसादिपरिणामाभाव अहिंसादिव्रतं । प्राणिना विद्योजने प्राणानां, असदभिधाने, अदत्ता दाने, मिथुनकर्मविशेष, मूर्च्छया वाऽपरिणतिरिति यावत् । तथा चोक्त—‘हिंसावृत्तस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमिति’ हिंसादयः क्रियाविशेषा आत्मनः परिणामस्तेभ्यो आत्मनो व्यावृत्तिहिंसादिष्वपरिणतिर्व्रतमिति सूत्रार्थः । हिंसादिव्यावृत्तत्वं नाम यदूरूपं जीवस्य व्रतसंशितं तत्परिपाल्यते रात्रिभोजननिवृत्त्या प्रवचनमनृतकाभिश्च । यस्मिन्वाऽसति तद्धिनश्यति सति च न विनश्यति तत्तत्परिपालयति यथा दुर्गो राजान् । सत्या रात्रिभोजननिवृत्तौ प्रवचनमावृत्तास्तु भावनास्तु वा सतीषु हिंसादिव्यावृत्तत्वं भवति । न तावत्सतीषु इति शुक्रमुक्तं सूत्रकारेण ॥

कस्मत्तद्रक्षणार्थमुपाय इत्याह—

मूलारा—रक्षयष्टं अपायपरिहारादलक्षणं रक्षणनिमित्तं । पवयणमादाथो प्रवचनमातरं । प्रवचनस्य रत्नत्रयस्य मातर इव पुत्राणां मातर इव सम्यग्दर्शनादीना अपायनिवारणपरायणास्तिस्रो गुप्तयः, पंचसमितयश्च । अथवा प्रवचनस्य मुनेश्चारित्रमात्रस्योत्पादनरक्षणविशोधनविधानात्तास्तथा व्यपदिश्यते । तथा चावोचाम धर्मासूते-वृत्तं ॥

अहिंसा पंचात्मव्रतमथ यतागं जनयितुं ।

सुदुत्तं त्रातु ता विमलयितुमंवाः श्रुतविदः ।

विदुस्तिष्ठो गुप्तीरपि च समितीः पंच तदिमा ।

श्रयन्विष्टायाष्टौ प्रवचनसवित्रीव्रतपरः ॥ १ ॥

भावणजो वीर्यान्तरायचारित्रमोहक्षयोपशमाद्यपेक्षेणात्मना भाग्यतेऽसकृत्प्रवर्त्यन्ते इति भावना असकृत्प्रवृत्तयः । अभ्याससंस्कारा इति यावत् । सव्वाजो निःशल्याताभावनासंग्रहार्थमिदं । यस्मिन्नश्यति यद्विनश्यति सति च तिष्ठति तत्तत्परिपालयति । यथा दुर्गो राजानं । तिष्ठति च सति रात्रिभोजननिवृत्त्यादिपरिणामजाते जीवस्य हिंसादिव्यावृत्तं नाम नोआगमभावव्रतापरनामवेयं स्वरूपं न असतीति तत्परिपालयन्ति रात्रेभोजननिवृत्त्यादयः शुद्धचित्परिणतय इति निर्णयः । ननु च जीवान्न हिनस्मि, इत्यादि परिणामो व्रतमित्युच्यते । स किमुत्पन्नः सन्विनश्यत्युत तथैवावचितिष्ठते । न तावद्व्रततिष्ठते अनुभवविरोधाज्जीवादि तत्त्वज्ञाने तच्छूद्राने चाप्रवृत्तस्यात्मस्तथोपयोगप्रतीतेः । अथ विनश्यति परिणामान्तरोत्पत्तावसावितीष्यते तर्हि तस्यासतो मृतपुत्रवत्का रक्षा । सतो ह्यणयपरिहारो रक्षा । ततस्तेसि चेवेत्यादि सूत्रं युक्तिवियुक्तमिव पठ्यामः । अत्रोच्यते—यावज्जीविकहिंसादिव्यावृत्तिरूपपरिणतस्य अवस्थानुरात्मनः कथंचित्त्थैवावस्थानस्य विवक्षितत्वान्नोक्तोपोऽवकाश लभते इति ॥

अर्थ—इन अहिंसादि व्रतोंके रक्षणार्थ रात्रिभोजन त्यागका उपदेश आचार्योंने किया है यदि रात्रिमें भिक्षाके लिए मुनिपर्यटन करेंगे तो त्रस और स्थावर जीवोंका वध होगा क्योंकि वे रातमें नहीं दीखते हैं, आहार देने वालेका आपमन मार्ग, आहारके पदार्थ रखने का स्थान, स्वयं जहां आहारके लिए खेद हुए हैं वह प्रदेश, जहां उच्छिष्ट अन्न गिरता है वह स्थान, दिया जाने वाला आहार ये सब योग्य हैं अथवा अयोग्य हैं इन का निरीक्षण रातमें करना शक्य नहीं है, दिनमें भी जीवोंका परिहार करना अशक्य है, फिर रात्रिमें उनका कैसा परिहार हो सकेगा पत्नी वगैरह अन्न परोसनेके साधन और अन्न रखनेके पात्र रातमें सोधना अशक्य है

जिसके विषयोंका सम्यक् निरीक्षण हुआ ही नहीं ऐसी पदविभागिका आलोचना अथवा एषणा समिति आलोचना करनेवाले मुनीके सत्यव्रतका कैसे रक्षण होगा, दानका स्वाभी सोया होगा तो उसने नहीं दिया हुआ आहार ग्रहण करनेसे अचौर्य व्रत नहीं टिक सकता है किसी पात्रमें दिनमें स्थापन किया हुआ आहार वस-तिकामें ले जाकर भोजन करनेसे अपरिग्रहव्रतका रक्षण कैसे होगा रात्रिभोजनका त्याग करनेसे सर्व व्रत पूर्ण होते हैं इन व्रतोंके रक्षणार्थ ही आठ प्रवचन माताओंका और सर्व भावनाओंका रक्षण करना चाहिये तीन गुप्ति और पाच समितियोंको प्रवचनमाता कहते हैं रत्नत्रयको प्रवचन कहते हैं इस रत्नत्रयकी ये गुप्ति और समिति माता के समान हैं जैसी माता पुत्रका अपाय से रक्षण करती है वैसे गुप्ति और समिति व्रतोंका रक्षण करती हैं, सर्व भावना भी व्रतोंका रक्षण करती हैं

वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम, चारित्र्यमोहका उपशम अथवा क्षयोपशम इनसे युक्त ऐसे आत्माके द्वारा जो नारवार पाली जाती हैं उनको भावना कहते हैं

व्रत किसको कहते हैं ? उत्तर—आभरण में हिसा नहीं करूंगा, झूठ भाषण नहीं करूंगा, दूसरेने नहीं दी हुई वस्तु में ग्रहण नहीं करूंगा, मैथुन सेवन नहीं करूंगा और परिग्रहका स्वीकार नहीं करूंगा इस प्रकारका जो आत्मामें परिणाम उत्पन्न होता है उसको व्रत कहते हैं,

शंक्ता—यद्वा आत्माका परिणाम ऋथंचित् वेसा ही रहता है अथवा नष्ट होता है ? यदि यह परिणाम आत्मामें दिग्गम रहता है क्या कहेंगे तो यह कहना अनुभवविरुद्ध है क्यों कि जम आत्मा जीवादि पदार्थोंका समग्र चाननमें व्युत्पन्न होता है अथवा श्रद्धान करनेमें अपने चित्तको लगाता है तब उपर्युक्त परिणाम आत्मामें

नहीं रहता है यदि यह व्रतरूप परिणाम दूसरे परिणाम उत्पन्न होनेपर नष्ट होता है ऐसा कहोगे तो वह अमर्त्य ठहरा, अमर्त्यदार्थका रक्षण कैसा कर सकते हैं? कोई पदार्थ सद्रूप होनेपर ही उसमें अपाय आर परिहार हो सकते हैं अतः व्रतोंके रक्षणार्थ सन्निभोजन त्यागका वर्णन करना व्यर्थ है

जब मैं ग्राणीका घात नहीं करूंगा ऐसा परिणाम आत्मामें उत्पन्न होता है तब मैं अमर्त्य नहीं बोलूंगा वगैरह परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, तब अन्य परिणामोंके निषेधोंमें स्या कहना चाहिये,

उपर्युक्त शंकाका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं—

नामादिक विरूपोंमें व्रतके चार प्रकार होते हैं, किसीका व्रत ऐसा नाम रखना यह नामव्रत कहलाता है स्थापना व्रत—हिंसा, अमर्त्य, चोरी इत्यादि पापोंमें निवृत्तिरूप परिणाम जिसमें उत्पन्न हुए हैं ऐसा आत्मा और शरीर दोनों भी बंधकी अपेक्षामें एकरूप हुए हैं अतः नामाधिकमें पणित हुए जीवके आकारमें व्रतोंकी स्थापना करके उसको स्थापना व्रत कह सकते हैं

आगम द्रव्यव्रत—भविष्यकालमें आत्मामें व्रतके स्वरूपको ग्रहण करनेवाला अर्थात् जाननेवाला ज्ञान-परिणाम व्रतके स्वरूप जाननेमें अनुपयुक्त है ऐसे ज्ञानपणित आत्माको आगम द्रव्यव्रत कहते हैं,

जायकशरीरव्रत—व्रतज आत्माका त्रिकालगोचर जो शरीर उसको जायकशरीरव्रत कहते हैं,

चारित्र मोह कर्मके क्षयमें, अर्थात् क्षयपञ्चमसे जिस आत्मामें विरक्तिरूप परिणाम उत्पन्न होगा वह आत्मा भावव्रत कहलाता है,

उपशममें अथवा क्षयोपशममें जो चारित्र मोहकर्म रता है उसको नो आगम द्रव्य व्यतिरिक्तकर्म व्रत कहते हैं

मैं हिंसा नहीं करूंगा, श्रुत नहीं बोलूंगा इत्यादिरूप जो ज्ञानोपयोग उसको आगमभावव्रत कहते हैं चारित्र मोहनिय कर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम, होनेपर जो हिंसादि परिणामोंका अभाव होता है उसको अहिंसादि व्रत कहते हैं इसको नो आगमभावव्रत कहते हैं

प्राणिशोकके प्राणोंका वियोग करनेमें प्रयत्न नहीं करना यह अहिंसाव्रत है श्रुत बोलनेमें, नहीं दी हुई वस्तु ग्रहण करनेमें, मेथुनमें, और ममत्वमें आत्माकी परिणति नहीं होना इनको क्रमसे सत्यव्रत, अचौर्यव्रत,

ब्रह्मवृत्त और परिग्रहत्यागव्रत कहते हैं। श्री उमास्वामी आचार्य 'हिंसानूतस्तेषां ब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिव्रतं' ऐसा व्रतका कथन करनेवाला सूत्र कहते हैं ये हिंसादिक क्रियाविशेष आत्माके परिणाम है उनसे परावृत्त होना अर्थात् हिंसादिकोंमें परिणति न होना ही व्रत है ऐसा उपर्युक्त सूत्रका अभिप्राय है।

हिंसादिकोंसे परावृत्त होना इस प्रकारका जो आत्माका परिणाम है उसका रात्रिभोजन त्यागके द्वारा, प्रवचन माताके द्वारा रक्षण होता है अर्थात् रात्रिभोजन त्याग और समिति गुप्ति ये अहिंसादि व्रतोंका रक्षण करते हैं प्रवचन माता और रात्रिभोजन त्यागके अभावमें व्रत नष्ट होते हैं और इनके सद्भावमें व्रतोंका रक्षण होता है, जिसके अभावमें जिसका नाश होता है और जिसके सद्भावमें जो नष्ट नहीं होता है तो समझना चाहिए कि वह उसका रक्षण करता है, जैसे दुर्गके अभावमें राजाका नाश होता है और उसके सद्भावमें रक्षण होता है वैसे रात्रिभोजन त्याग, प्रवचनमाता व भावना इनके सद्भावमें हिंसादिकोंसे आत्मा परावृत्त होता है और इनके अभावमें परावृत्त नहीं होता है इसलिए इनको आचार्यने व्रतरक्षणार्थ माना है वह योग्य ही है,

तेषां पंचपुं पितृ य अहयाणमावज्जणं व संका वा ॥

आदिविवर्त्ती य हवे रादीभत्तप्पसंगमि ॥ ११८६ ॥

हिंसादीनां मुनेः प्राप्तिः पचानां सह शंकया ॥

विपत्तिर्जायते स्वस्य रात्रिमुक्तेस्तथा स्फुटम् ॥ ११२५ ॥

विजयोदया—तेषां पंचपुं पितृ य अहयाणमावज्जणं तेया पचाना हिंसादीना प्राप्ति । संका वा शंका वा मम हिंसादय संवृत्ता न वेति । हवे भवेत् । रादीभत्तप्पसंगमि रात्रावाहाराप्रसंगे मति न केवल हिंसादिषु परिणति । विवर्त्ती य हविष् आत्मनश्च यते स्वस्यापि विपद्भवेत् । स्थाणुसर्पकटकारिणि ॥

रात्रिभोजने मुनेर्दोषानाह—

मुलारा—अण्डहयाणं हिंसादीना । आवज्जणं प्राप्तिः । संका मम हिंसादयः किं संवृत्ता न वेति शंका । आग्नि-वर्त्ती आत्मविपत् । रात्रौ भिक्षार्थं पर्यटतो यतोः सर्पकटकादिभिरुपसर्गश्च भवेत् । पसंगमि प्रवृत्तौ सत्याम् । उक्त च—

प्राप्तिः शंका च पचाना हिंसादीना यतेर्भवेत् ॥

रात्रिभोजनसद्भावे स्वविपत्तिश्च जायते ॥

अन्ये तु अण्दयाण व्रतानां । आवर्जणं सर्वथाविनाश इति व्याख्याति । तथा चोक्तम्—

तेषा पचानामपि महाव्रतानां विनाशने शंका ॥

आत्मविपत्तिश्च भवेद्विभावीभक्तसंगेन ॥

रात्रिभोजनप्रवृत्तौ हिंसादय कथमिति चेदुच्यते । रात्रौ शिक्षार्थं पर्यटनग्राणिनस्त्रसांस्त्रावरांश्च हिनस्ति । तेषा तमस्यदृश्यत्वात् ॥ न च दायकागमनमार्गं, तस्य स्वस्य च अवस्थानदेशं, भोजनभाजनाविस्थापनस्थानं, उच्छिष्टस्य वा निपातदेशं, दीयमानं चाहारं, योग्ययोग्य वेति निरूपयितुं पारयति ध्वातप्रतिबद्धदृष्टित्वात् ॥ प्रदीयेदपि प्रबोधितेऽतिसूक्ष्मव्रसाना निरूपणा न स्यात् । पतंगदिघातप्रसगाश्च स्थादिति रात्रौ भुञ्जानः कथमहिंसव्रतमनुपालयेत् । तथा रात्रौ भुक्त्वा पदविभक्तिमेषणासमित्यालोचना सम्यगपरीक्षितविषयां कुर्वतः । कथमिव सत्यव्रतमवतिष्ठेत् । तथा सुप्तस्य स्वाभिभूतस्याहारमन्येन दत्तं रात्रौ तद्वदुद्धया गृह्णतोऽदत्तादानमपि कथं न स्यात् । तथा विद्विष्टगोत्रिणो वैरिणो वा निःशंकिता रात्रौ मार्गादौ ब्रह्मचर्यं नाशयन्ति । कामांधाः स्वैरिण्यो वा इठादभिसारयन्त्यः । तथा दिवानीत निजवसतौ, स्वपात्रे स्थापित आहार रात्रौ भुञ्जानः समर्थः किमिति न स्यात् । ततो महाव्रतसंपूर्णतामिच्छन्त्रात्रिभोजनविरमणं पट्टमणुव्रतमनुतिष्ठेदेव । अनुव्रतत्व चास्य दिवा भोजनस्यापि करणात् । यदाह—  
उष्ट्रे अणुवदे राइभोगणादो वैरमणमिति । तथा चाचोचाम वमोमृते ॥

पर्वतानि महाफलानि महता मान्यानि विष्वग्विरत्यात्मानीति महाति नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि ये ॥

प्राणित्राणमुत्तमवृत्त्युपरमानुक्रान्तिपूर्णीभवत्सन्ध्याः शुद्धदशो व्रतानि सकलीकुर्वन्ति निर्वन्ति ते ॥

स्वामिनिर्देशद्वारेण गुप्तीः समितीश्च लक्षयति—

अण्दयदारोपरमणदरस्म गुप्तीओ होन्ति तिण्णेव ॥

चेट्टिदुकामरस्स पुणो समिदीओ पंच दिट्ठाओ ॥ ११८६ ॥

मूलात्—अण्दयदारोपरमणदरस्स आस्रवद्वारनिरोधासक्तस्य । चेट्टिदुकामरस्स गमनवचनादिकं कर्तुं प्रवृत्तस्य ।

उक्तं च—

मवति गुप्तरिक्तो योगनिग्रहलक्षणाः ॥

सम्यक्प्रवृत्तयः पच सता समितयो मताः ।  
एता श्री विजयो नेच्छति ॥

अर्थ—रात्रिमें आहारप्रसंग होनेपर हिंसादिक पाप उत्पन्न होती है अथवा शंका उत्पन्न होती है अर्थात् रात्रिभोजन करनेसे हिंसादिक पाप उत्पन्न होते हैं या नहीं ऐसा संशय उत्पन्न होता है. रात्रिभोजन करनेसे हिंसादिक पाप ही उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं किंतु इससे यतीका नाश भी होता है. दूठ, सर्प, कंदक इत्यादिकसे यतीका घात भी होगा. यति यदि रात्रिमें आहार करनेके लिए श्रावकके घर जाये तो सर्पादिकोंसे उनके प्राण नष्ट होनेकी संभावना है.

प्रवचनमावृत्त्याख्यानायोत्तरप्रवचस्तत्र मनोगुप्ति वाग्गुप्ति व्याख्यातुमायातोत्तरगाथा—

जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुप्तिं ॥  
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती ॥ ११८७ ॥  
मनसो दोषविश्लेषो मनोगुप्तिरितिष्यते ॥  
वाग्गुप्तिश्चाप्यलीकादेर्निवृत्तिर्मौनमेव च ॥ १२२६ ॥

विजयोदया—जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुप्तिं । या रागादेषाम्भा निवृत्तिर्मनसस्तां जानी हि मनोगुप्तिं । अत्रेदं परीक्ष्यते । मनसो गुप्तिरिति यदुच्यते किं प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिरथाप्रवृत्तस्य ? प्रवृत्तं चेदं शुभं मन तस्य का रक्षा । अप्रवृत्तं तथापि असतः का रक्षा ? सतोऽप्यपायपरिहारेपशुक्तेत्युच्यते, किं च मनं शब्देन किमुच्यते द्रव्यमन उत भावमन ? द्रव्यवर्णणमनश्चेत् तस्य कोऽपायो नाम यस्य परिहारी रक्षा स्यात् ? किं च द्रव्यातरेण तेन रक्षितेनास्य जीवस्य फलं य आत्मनः परिणामोऽशुभमावहति । ततोऽयुक्ता रक्षात्मनः । अथ नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणक्ष- योपशमसजातं ज्ञानं मन इति गृह्यते तस्य अपायः कः ? यदि विनाशः स न परिहर्तुं शक्यते यतोऽनुभवसिद्धो विनाशः । अन्यथा एकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रवृत्तिरात्मनः स्यात् । ज्ञानानीह वीचय इवानास्तमुत्पद्यते न चास्ति तदविनाशोपायः । अपि च इन्द्रियमतिरपि रागादिव्यावृत्तिरिषेव किमुच्यते रागादिणियत्ती मणस्स इति ॥

अत्र प्रतिविधीयते—नो इन्द्रियमतिरिद्धं मनं शब्देनोच्यते । सा रागादिपरिणामैः सह एककालं आत्मनि प्रवर्तते । न हि विषयावग्रहादिज्ञानमंतरेणास्ति रागद्वेषयो प्रवृत्तिः, अनुभवसिद्धेवास्ति नापरा युक्तिः अनुगम्यते । वस्तुतत्वा- नुयायिना मानसेन ज्ञानेन समं रागद्वेषौ न वर्तते इत्येतदप्यत्मसाक्षिकमेव । तेन मनसस्तत्वावग्राहिणो रागादिभिरसह

चारिता या सा मनोगुप्तिः । मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणं तेन सर्वो बोधो निरस्तरागद्वेषकलको मनोगुप्तिरन्यथा इन्द्रियमते श्रुतेः, अवधौ, मन पर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात् । इत्यते च । अथवा मनःशब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्तिः रागद्वेषरूपेण या अपरिणतिः सा मनोगुप्तिरित्युच्यते । अथैवं बोधे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । दृष्टफलमनोपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्तिः । अलिगादिणियत्ती वा मोहो वा होह वच्चिगुप्ती विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पादित्वात् । अलिगादिणियत्ती वा मोहो वा होह वच्चिगुप्ती विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वादिभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वाच्चो धर्मो न चालो संवरणे हेतुरात्मपरिणामत्वात् । शब्दादिवत् । एवं तर्हि व्यलीकात्परकपादात्मप्रशसापरात् परनिदप्रवृत्तात्परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथाभूतस्य वचसोऽप्रवर्तिका वागुप्तिः । या वाचं प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणं वागुप्तिस्तेन वाविशेषस्यानुत्पादकता वाच परिहारो वागुप्तिः । मौनं वा सकलाया वाचो या परिहृतिः सा वागुप्तिः । अयोग्यवचनेऽप्रवृत्तिः प्रेक्षापूर्वकारितया योग्य तु चक्ति वा न वा ॥ भाषासमितिस्तु योग्यवचसः कर्तृता ततो महाभेदो गुप्तिसमित्यो । मौनं वागुप्तिरत्र स्फुटतरो वचोभेदः । योग्यस्य वचसः प्रवर्तकता । वाचः कस्याश्चित्तदनुत्पादकतेति ॥

मनोगुप्तिं वागुप्तिं च लक्षयति-

मूलारा—मणस्स नो इन्द्रियज्ञानलक्षणस्य मनसस्तत्त्वावगाहिणो । जा रागादिणियत्ती रागद्वेषादिभिरात्मपरिणामैरसहचरिता सा मनोगुप्तिः । मनसि हि चक्षुरादिकरणै रूपदिविषयान्भोग्याभोग्यरूपतया गुण्णति सत्यात्मनो रागद्वेषौ प्रवर्तते । उपेक्षणीयरूपतया तु तैस्तान्स्वीकुर्वोणे तदप्रवृत्तिरेव तथा प्रतीतेः ॥

तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्यन्मुह्यति द्वेष्टि रज्यते ॥

ततो दह्यते ध्रमत्येव मोहव्यूहगतः पुमान् ॥

अविद्याश्वाससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः ॥

तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥

इत्याद्यागमसद्भावाच्च । मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणं । तेन सर्वो बोधो । निरस्तरागादिकलको मनोगुप्तिः स्यादन्यथा इन्द्रियमतौ, श्रुतेऽवधौ मनः पर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात् । अथवा मनुते विचारयति हेयमुपादेयं च तत्त्व योऽमावात्मात्र मनः शब्देनोच्यते । तस्य रागादिरूपेण अपरिणतिर्मनोगुप्तिरिति ग्राह्यम् । एवं च सति सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिरित्यपि न विरुद्धेत । दृष्टफलमनपेक्ष्य हि योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो जीवस्य नार्थांतरं तदव्यतिरेकात् ।

पुगलविवाहद्वेदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ॥  
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं ओगो ॥

इति वचनाच्च योगशब्देनाव वीर्यमुच्यते ॥ अलियादिणियति विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्पटुः स्रोतपत्तिनिमित्त-  
त्वाच्चाधर्माद्या वाचो व्यावृत्ति सा वाग्गुप्तिः तथाविधवाक्प्रवृत्तिनिमित्तवीर्यरूपेणपरिणतिरात्मन इत्यर्थः । मोण  
सकलवाक्प्रवृत्तिनिमित्तवीर्यनिरोधो जीवस्य । अयोग्यवचो न वदत्येव, प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति न वेति प्रथमा  
वाग्गुप्तिर्भाषासमित्तिस्तु योग्यवचसः कर्तृतेत्यनयोर्नाविशेषः शङ्क्यः । मौनपक्षे तु शकानवकाश एव ॥

प्रवचनभाताओंका व्याख्यान आचार्य सविस्तर करते हैं प्रथमतः मनोगुप्ति और वाग्गुप्तिका लक्षण  
कहते हैं—

अर्थ—रागद्वेषसे मन परावृत्त होना यह मनोगुप्तिका लक्षण है. असत्य भाषणादिकसे निवृत्त होना अथवा  
मौन धारण करना यह वचनगुप्तिका लक्षण है

शङ्का—प्रवृत्त हुये मनकी गुप्ति होती है अथवा रागद्वेषमें अप्रवृत्त मनकी गुप्ति होती है ? यदि मन  
शुभ कार्यमें प्रवृत्त हुआ है तो उसका रक्षण करनेकी क्या आवश्यकता है. आर यदि किसी कार्यमें वह प्रवृत्त ही  
नहीं है और वह यदि असद्रूप है तो उसके रक्षणकी जरूरत ही क्या है ? जो चीज स्वयं मद्धूप होगी तो उसमें  
अपाय होनेकी संभावना रहती है अतः उसको अपायसे बचाना योग्य होगा. असत्का न नाश होता है और न  
रक्षण होता है.

और भी हय आपको पूछते हैं कि, मन शब्दका आप क्या अर्थ करते हैं. मन शब्दका द्रव्यमन ऐसा  
अर्थ होता है या भावमन ऐसा अर्थ आप मानते हैं ?

द्रव्य वर्णानसे बना हुआ जो उसको ही हम मन कहते हैं ऐसा यदि कहेंगे तो उसका अपाय क्या  
चीज है जिससे तुम उसको बचना चाहते हैं ? अथवा अन्य पदार्थ के द्वारा उसका रक्षण करनेसे भी कोनसी फल-  
निष्पत्ति होगी ? क्या आत्माके परिणाम अशुभ फल उत्पन्न करेंगे ? अर्थात् द्रव्यांतरके सहायसे आत्मामें अशुभ  
परिणाम उत्पन्न नहीं होते हैं इसवास्ते आत्माका अपायसे रक्षण करना व्यर्थ है

नो इन्द्रियमतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जो मतिज्ञान उत्पन्न होता है उसको मन कहते हैं ऐसा यदि



आप कहते हैं तो उस मनका अपाय क्या चीज है ? नाश होना ही अपाय है ऐसा कहोगे तो इस नाशका परिहार करना शक्य ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तुका नाशपर्याय होता ही है, यदि मनका नाश नहीं होता है ऐसा मानोगे तो आत्माकी एक ही ज्ञानमें हमेशा प्रवृत्ति रहेगी परंतु समुद्रमें जैसे हमेशा अनेक लहरे उत्पन्न होती हैं वैसे आत्मामें हमेशा अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हैं, उनका अविनाश होनेका अर्थात् वे स्थिर रहनेका जगतमें कोई उपाय नहीं है, इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान रागादिकोंसे युक्त ही रहता है अत एव रागादिकोंसे व्यावृत्त होना यह मनोगुप्तिका लक्षण है ऐसा समझना अयोग्य है

उपर्युक्त शकाका आचार्य उत्तर देते हैं:— नो इन्द्रियमतिको हम मन कहते हैं अर्थात् नो इन्द्रियावगण कर्मका क्षयोपशम होनेसे जो जो ज्ञान मनमें उत्पन्न होते हैं उसको हम मन कहते हैं, यह नो इन्द्रियमति रागादि परिणामोंके साथ एक कालमें आत्मामें रहती हैं विषयोंमें जब अवग्रह, ईहादिज्ञान होते हैं तब रागद्वेषकी भी साथ प्रवृत्ति होती है, यह सबको अनुभवमें आता है इसकी सिद्धि करनेके लिये अन्य युक्तिकी आवश्यकता नहीं है, परंतु जब वस्तुके यथार्थ स्वरूपका मन विचार करता है तब मानसिक ज्ञानके साथ रागद्वेष नहीं रहते हैं यह भी अनुभव सिद्ध है जब मन वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानते समय रागद्वेषसे रहित होता है तब मनोगुप्ति आत्मा में है ऐसा समझा जाता है, अर्थात् जो जो ज्ञान रागद्वेषसे रहित होगा वह वह मनोगुप्ति ही है, ऐसा समझना अयोग्य न होगा मनोगुप्ति इस शब्दमें मन शब्द उपलक्षणात्मक है, अर्थात् रागद्वेषरूपी कलंकसे रहित सर्व प्रकारके ज्ञानोंको मनोगुप्ति कह सकते हैं अन्यथा इन्द्रियज्ञान, उतज्ञान, अवधिज्ञान, और मनःपर्ययज्ञानमें परिणत और राग द्वेषरहित आत्मको मनोगुप्तिका अभाव है ऐसा मानना पड़ेगा परंतु उपर्युक्त रागद्वेषरहित ज्ञानपरिणत आत्मामें भी मनोगुप्ति है आगममें ऐसा माना है,

अथवा 'मनुते य आत्मा स एव मनो भण्यते' अर्थात् जो आत्मा विचार करता है उनको मन कहना चाहिये, ऐसा आत्मा जब रागद्वेष परिणामसे परिणत होता नहीं तब उसको मनोगुप्ति कहनेमें हर्ज नहीं है,

अथवा 'सम्पन्योगानिग्रहो गुप्ति' यह गुप्तिका लक्षण है दृष्ट फल-कीर्ति, आदर इत्यादिक दृष्टफलकी अपेक्षाके विना वीर्यपरिणामरूप जो योग उसका निरोध करना अर्थात् रागादि कार्योंको योग कारण है उसका निरोध करनेसे मनोगुप्ति होती है तात्पर्य यह है कि मनोयोगसे जीवमें रागद्वेषादिक परिणाम उत्पन्न होते हैं,

कीर्ति, लोकादर, स्वर्गादिमुख वगैरहकी इच्छा धारण न करते हुए मनोयोगको केवल आत्मकल्याणकी भावनासे रोकना अर्थात् रागद्वेषादि कार्योंकी मनोयोगसे उत्पत्ति न होने देना इसको भी मनोगुप्ति कहते हैं वाग्गुप्तीका स्वरूप—‘अलियादिवचोगुप्ती, मोर्ण वा होइ वचिगुप्ती’ जो विपरीत अर्थका ज्ञान करनेमें हेतु होगा, जो दूसरोंको दुःख उत्पन्न करनेमें निमित्त होगा जिससे अर्थमें धृद्धि होगी ऐसे भाषणसे परावृत्त होना यह वचनगुप्ति है

शंका—वचन पुद्गलमय हैं और वे विपरीतार्थका ज्ञान करनेमें हेतु हैं किसी पदार्थसे आत्माको हटा-नेमें वचन समर्थ है, परंतु कर्मका संवर करनेमें शब्द अर्थात् वचन समर्थ नहीं है, क्यों कि वे आत्माका परिणाम अर्थात् धर्म नहीं हैं, शब्दादिक आत्मधर्म नहीं है,

व्याकिक—असत्य, कठोर, आत्मप्रशंसायुक्त, पूर्निदा करनेवाला, जिससे परप्राणिओंको उपद्रव होत है ऐसे भाषणसे आत्मा परानृत्त होना यह वाग्गुप्ति है अर्थात् वाग्गुप्ति उपर्युक्त भाषणोंमें आत्माको प्रवृत्त नहीं करती है जिस भाषणमें प्रवृत्ति करनेवाला आत्मा अशुभ कर्मका स्वीकार करता है ऐसे भाषणसे परावृत्त होना वाग्गुप्ति है अर्थात् विशिष्ट वचनका आत्मा त्याग करता है उसीको वाग्गुप्ति कहना चाहिये, अथवा संपूर्ण प्रकारके वचनोंका त्याग करना अर्थात् मोन धारण करना इसको भी वाग्गुप्ति कहते हैं जो आत्मा अयोग्य वचनमें प्रवृत्ति नहीं करता है परंतु विचारपूर्वक योग्य भाषण बोलता है अथवा नहीं भी यह उसकी वाग्गुप्ति है परंतु योग्य भाषण बोलना यह भाषा समिति है इस प्रकार गुप्ति और समितिमें अंतर है मोन धारण करना यह वाग्गुप्ति है, योग्य भाषणमें प्रवृत्ति करना समिति है और गुप्तिमें किसी भाषाको अर्थात् वचनको उत्पन्न न करना यह गुप्ति है ऐसा इन दोनों में स्पष्ट भेद है

कायकिरियाणियत्ती काउससगो सरीरगे गुत्ती ॥

हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिष्टा ॥ ११८८ ॥

कायक्रियानिवृत्तिर्वा देहनिर्ममतापि वा ॥

हिंसादिभ्यो निवृत्तिर्वा वपुषो शुभिरिष्यते ॥ ११२८ ॥

निजयोदया—कायक्रियाणियत्ती कायस्योवाक्क्रिड शरीरस्य या क्रिया नम्या नियुति मरीनो गुत्ती शरीरविषयया गुति कायगुत्तिरिति यावत् । आमतत्त्वानुसारादना क्रियायाद् सा वागमनः प्रसक्तवात् कयमान्मना कार्यो क्रियास्यो व्यावृत्ति । अय मत्, कायस्य पर्याय क्रिया, कायाच्चायात्तरमात्रा नतो ऽऽगततरावागात् ऽन्यातरं तत्पणिगामशून्यं नयाऽपणिगतं व्यावृत्तं भवतीति कायक्रियानियुतिगतमनो भव्यते । संप्रामेयान्मनाभिन्ध कायगुत्ति स्यात् न चेयेति ।

अत्रोच्यते—कारस्य मंत्रविनी क्रिया कायस्योच्यते । तस्या कारणभूतामनः क्रिया कायप्रिया तस्या नियुति । फालस्मगो कायोत्सगो शरीरस्यागुचितामवाप्तमपामिचित्ता चाप्यत्य तद्वतमतापरिहृतं कायगुत्ति । अस्या शरीरमस्यु श्रुतलापयद् लयवतु न वाक्यते इत्यममय, कायोत्सगं । धातुनामतेकार्यवान गुत्तिनियुत्तिरयत् इहेति सूत्रकाराभिप्रायेऽन्यथा 'कायक्रियाणिपती मरीनो गुती' इति नं । इति नं । कायोत्सगं प्रणे निश्चलता भव्यते । यत्र कायक्रियाणिपती इति न उक्त्य, कायोत्सगं' चायगुत्तिरित्येतेषां यावत् इति चेत् न कायप्रिय ममेदमावगृह्णित्वमेव कायोत्सगं प्रवृत्ते । यावत्समलप्रतादित्त्यागु प्रवृत्त्यापि कायगुत्ति न्यास वेत्येते । अय कायक्रियानियुत्तिरित्येतावदुच्यते मूल्यगणितस्यपि अयस्त्वदता विद्यते इति कायगुत्ति स्यात् । तत् उभयोपादानं व्यभिचारनिवृत्तये । कर्मदाननिमित्तमकलतायक्रियानिवृत्ति कायगोचरमतायागपरा या कायगुत्तिरिति सूत्रार्थ । हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती इति विदुः हिंसादिनिवृत्तीयां सरीरगुत्तिरिति एषा त्रिगतमे, प्राणिप्रणयिचन, अदत्तादानं, मिथुनकर्म शरीरेण, परिग्रहादानमित्यादिका या निदिष्टा क्रिया भेद कायस्योच्यते । कायिकोपकृ तेगुत्तिव्यावृत्ति कायगुत्तिरिति व्याख्यात मरिणा ॥

कायगुप्ति द्विधा लभ्यति -

मुलारा—चायकिरियणियत्ती कायस्य औदिकदिशरीरस्य मंत्रविनी क्रिया परिणामः । उपहरणमणनिक्षेपण गमनादिकर्मलक्षणा कायक्रिया । अत्र पुन' तत्कारणभूता चीयस्य क्रिया तच्छब्देन गृह्यते काये कारणोपचारात् । तेन कायक्रियाया कारणभूताया' क्रियाया' सकामादात्मनो नियुतिर्यावृत्ति' कायक्रियानियुत्तिगतमनः कायपरिस्संदनि मत्तत्परिस्संप्रदाप्रवर्ततेत्यर्थः ॥

काउरसगो शरीरस्यागुचितामवाप्तमपामिचित्ता च भावयत्सद्वतमवत्वपरितार' । कर्मादानमिचित्तमकलता यक्रियानिवृत्ति' । कायगोचरमतायागपुरोगा कायगुत्तिरित्युभयं तद्व्यग्रं । यदि हि कायक्रियानियुत्तिरित्येवोच्यते तया मूल्यगणनस्यायां कायपरिस्सदाभावात्कायगुत्तिरिति श्रुत्युपपद्येत । अत्र कायोत्सगः कायगुत्तिरित्येवोच्येत तस्यापि कायविपगम- सेदमावरहितस्य गमनादिक्रियाप्रवृत्तस्यापि कायगुत्तिरिति प्रसज्येत इति व्याभिचारनियुत्त्युभययोपादानं ॥ मरीनो

शरीरविषया । हिंसादिगिन्यत्ती प्राणिप्राणव्यपरोपणादत्तग्रहणसिद्ध्यनुकर्मविशेषकरणोपकरणविपरिग्रहग्रहणादिकायक्रिया व्यावृत्तिः ॥ सरीरगुप्ति शरीरसत्र तक्रिया तेन शरीराच्छरीरक्रियायगुप्तिर्निवृत्तिः शरीरगुप्तिरिति स्थितम् ॥

अर्थ—औदारिकादि शरीर की जो क्रिया होती रहती है उसे निवृत्त होना यह कायगुप्तिका लक्षण है अथवा हिंसा, चोरी वगैरह पापक्रियासे परावृत्त होना इसको भी कायगुप्ति कहते हैं.

शुका—बैठना, खड़े रहना, शयन करना वगैरहको क्रिया कहते हैं ये क्रिया आत्माके द्वारा होती हैं अतः आत्मा इन क्रियाओंका प्रवर्तक होनेसे वह इन क्रियाओंसे कैसे परावृत्त हो सकता है ? अब इसके ऊपर यदि आप ऐसा कहोगे आत्मनादिक क्रिया शरीरकी पर्यायें हैं आत्मा तो शरीरसे अन्य भिन्न वस्तु है अर्थात् शरीरकी क्रियासे आत्मामें कुछ परिणति होती नहीं इसवास्ते शरीरकी क्रियाका आत्मामें त्याग होनेसे आत्मा शरीरक्रियासे परावृत्त है ही अतः कायक्रियासे आत्मा निवृत्त होनेमें आत्माकी कायगुप्ति है ऐसा कह सकते हैं परंतु यह आपका कहना अनुचित है. ऐसा कायगुप्तिका स्वरूप माननेसे संपूर्ण आत्माओंमें कायगुप्ति मानना पड़ेगी

उत्तर—शरीरसंबंधिनी जो क्रिया होती है उसको 'काय' कहना चाहिये इस क्रियाको कारणभूत जो आत्माकी क्रिया होती है उसका कायक्रिया कहना चाहिये ऐसी क्रियासे निवृत्ति होना यह कायगुप्ति है

कायोत्सर्गको भी कायगुप्ति कहते हैं शरीर अपवित्र है, असार है, आपत्तिका कारण है ऐसा विचार कर उस ममताका त्याग करना भी कायगुप्ति है अर्थात् शरीरपरसे ममत्वभावको हटाना भी कायगुप्ति है. शरीरका त्याग करना इसको कायगुप्ति नहीं कहना चाहिये क्यों कि शरीर आयुकी शृंखलासे जकड़ा है उसका त्याग करना शक्य नहीं है अतः इसकी अपेक्षामें कायगुप्ति मानने तो कायोत्सर्गका अभावही होगा.

धातूके अनेक अर्थ होते हैं इसलिये यहाँ गुप्ति शब्दका निवृत्ति ऐसा अर्थ लेना चाहिये ऐसा सूत्रकारका अभिप्राय है अन्यथा 'कायकिरियागिवची सरीरे गुप्ती' ऐसा वचन सूत्रकार कभी न कहते

कायोत्सर्ग ग्रहणमें जो शरीर की निश्चलता होती है उसको कायगुप्ति कहते हैं ऐसा यदि कहोगे तो 'कायकिरियागिवची शरीरे गुप्ती' ऐसा कहना व्यर्थ है 'कायोत्सर्गः कायगुप्तिः' इतनाही गुप्तीका लक्षण कहना योग्य था ऐसी शंका करना भी योग्य नहीं है. क्योंकि शरीर विषयक ममत्व रहितपनानी अपेक्षामें कायोत्सर्गकी प्रवृत्ति होती है यदि इतनाही अर्थ कायगुप्तिका माना जायगा तो भागना, एकस्थानसे अन्य स्थानके

प्रति जाना, कृदना वगैरह क्रियाओंमें प्रवृत्त हुए प्राणिको भी कायगुप्ति है ऐसा मानना पड़ेगा परन्तु ऐसा माना नहीं जाता है.

यदि 'कायक्रियानिवृत्तिः' अर्थात् शरीरकी क्रियाका त्याग करना कायगुप्ति है इतनाही लक्षण मानोगे तो मूर्च्छित होकर जो मनुष्य पड़ा है उसको भी कायगुप्ति है ऐसा मानना पड़ेगा इस वास्ते व्यभिचार निवृत्तिके लिए कायोत्सर्ग को कायगुप्ति मानना चाहिए और शरीर की क्रियानिवृत्ती को भी कायगुप्ति कहना चाहिए इस विवेचनका अभिप्राय इस प्रकार समझना चाहिए--कर्मग्रहण जिसे होता है ऐसी संपूर्ण शरीर क्रियाओंका त्याग करना इसको कायगुप्ति कहते हैं तथा शरीरविषयक ममताका त्याग करना इसको भी कायगुप्ति कहते हैं. ऐसा इस गाथासूत्रका अभिप्राय है

हिंसादिकोंका त्याग करना भी कायगुप्ति है ऐसा जिनागममें कहा है प्राणिओंके प्राणोंका वध करना, न दी हुई चीज लेना अर्थात् चोरी करना, मेथुन क्रिया करना, शरीरसे परिग्रहोंका ग्रहण करना, इत्यादिक जो विशिष्ट क्रियायें उनका यहा काय शब्दसे समग्र करना चाहिये. कायिक क्रियाओंसे आत्माका संरक्षण करना कायगुप्ति है ऐसा आचार्यमहाराजने व्याख्यान किया है.

छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो ॥

तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥ ११८९ ॥

पुरस्स खातिका यद्धत्तस्स च यथा वृत्तिः ॥

तथा पापस्स संरोधे साधूनां गुप्तयो मता ॥ १२२९ ॥

विजयोदया—छेत्तस्स वदी क्षेत्रस्स वृत्ति । नगरस्स खातिका अथवा प्राकारो भवति नगरस्स । तथा पावस्स णिरोधो पापस्य निरोधोऽप्यव । ताओ गुत्तीओ ता गुप्तय साधो ॥

गुप्तीना पापनिरोधोपायता द्रढयति—

मूलारा—पावस्स णिरोधो यथा क्षेत्रादेर्मृगचोरगणपायहेतुनिरोधे श्रुत्यादय उपायास्तथा पापनिवारणे मुने गुप्तय इत्यर्थः ।

अर्थ—खेतका संरक्षण उसके आममतात् जो बाढ लगाई जाती है वह करती है नगरका संरक्षण खाई व तट करते हैं तथा ये तीन गुणियां साधुका पापसे रक्षण करती है पापोंका निरोध करनेमें अर्थात् सवर करनेमें ये उपाय हैं.

तस्मात्तिविहेण तुमं मणवचिकायप्पओगजोगम्मि ॥

होहि सुसमाहिदमदी गिरंतरं ज्ञाणसज्झाए ॥ ११९० ॥

तस्मान्मनोवच-कायप्रयोगेषु समाहितः ॥

भव त्वं सर्वदा जातस्वाध्यायध्यानसंगतिः ॥ १२१० ॥

त्रिजयोद्रया—तस्मात्तिविधेण मणवचिकायप्पओगजोगम्मि मनोवाक्कायविषयप्रकृष्टे योगे । तुमं त्व । सुसमा-  
हिदमदी होहि सुष्ठु समाहितमतिर्भव । कथं ? गिरंतरं ज्ञाणसज्झाए निरंतरप्रवृत्तध्यानस्वाध्याय. ध्यानस्वाध्यायवितरेण  
गुणयों नावतिष्ठन्त इति भावः ॥

एव तिस्रोऽपि गुप्तीः प्ररूप्य तत्र क्षपकं सुसमाहितं कर्तुं क्षेमसुपायमाह—

मूलारा—तन्वा यस्माद्रुमयः पापनिरोधोपायास्तस्मान्निविधेऽपि मनोवाक्कायविषये प्रकृष्टे योगे व्यापारे सुस-  
माहितमतिर्भव त्वं । कथंभूतः सन् ? गिरंतरं ज्ञाणसज्झाए संतत ध्याने स्वाध्याये वा प्रवर्तमानः सन् । ध्यानस्वाध्या-  
याभ्या विना गुप्तयो नावतिष्ठन्ते इति भावः ॥ उक्तं च—

तस्मान्मनोवचःकायप्रयोगे सुसमाहितः ॥

भव त्वं सर्वदा जातस्वाध्यायध्यानसंगतिः ॥

अर्थ—ये तीनो गुणियां पापका संवर करनेमें कारण हैं इसलिये मन, वचन और शरीरकी प्रवृत्तिओंमें  
है क्षपक । तुमको हमेशा सावधान रहना चाहिये. और हमेशा ध्यान और स्वाध्यायमें तत्पर रहना चाहिये, ध्यान  
और स्वाध्यायमें तत्पर रहनेसे गुप्तिओंका संरक्षण होता है जो ध्यान और स्वाध्यायमें अपनेको तत्पर नहीं करता  
है उस क्षपककी गुणियां स्थिर नहीं रह सकती

समितिर्व्याख्यानायोत्तरप्रबंधस्तत्रैयसमितिनिरूपणयोत्तरा गथा—

ममगुज्जोदुपओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो ॥

सुत्ताणुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवयणस्मि ॥ ११९१ ॥

मार्गेद्योतोपयोगानामालंबस्य च शुद्धिभिः ॥

गच्छतः सूत्रमार्गेण मतेर्यासमितिर्येते ॥ ११९२ ॥

विजयोदया—ममगुज्जोदुपओगालंबणसुद्धीहिं मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धिरूपयोगशुद्धिश्चालंबनशुद्धिरिति चतस्र शुद्धयस्ताभि करणभूताभिः । इरियदो गच्छत । मुणिणो मुने । सुत्ताणुवीचि सूत्रानुसारेण । भणिदा कथिता । इरियासमिदी ईर्यासमिति । पवयणस्मि प्रवचने । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम अमचुरपिपीलिकादित्रयसता, वीजाकुरत्तणहरित-पलाशरुईमादिरहितता ॥ स्फुटतरता व्यापिता च उद्योतशुद्धि । निशाकरनक्षत्रादीनामस्फुट-प्रकाशः, अवश्यापी प्रदीपादिप्रकाशः । पादोद्धारनिक्षेपदेशजीवपरिद्वरणावहितचेतस्ता उपयोगशुद्धि । गुरुतीर्थयतिवदनादिकमपूर्वशास्त्रार्थ ग्रहण, सयत्प्रयोग्यक्षेत्रमार्गणं, वैयावृत्यकरणं, अनियतावाससास्थसंपादने श्रमपराजयं, नानादेशभाषाशिक्षण, वित्तयजनप्रतिबोधानं चेति प्रयोजनपेक्षया आलंबनशुद्धि । किं तत् सूत्रानुसारिगमन, अदूर्तं, नातिविलंबित, पुरो युगमात्र दक्षेणप्रवृत्ति, अविरुष्टचरणन्यास, भयाविसयावतरेण सलीलमनत्युत्क्षेप, परिद्वतलघनधावनप्रविलंबितभुज, निर्द्विकार, व्यवपलमसंश्रान्तमननूर्ध्ववृत्तिर्येकमेक्षण, हस्तमात्रपरिद्वततरुणतृणपल्लव, अरुतपशुपक्षियुगोद्वेजन, विरुद्धयोनिसमक्रमण-जातवाधाव्युदासाय कृतासरुत्पातिलेखन, अग्रतिसारितप्रतिमार्गयाधिसंबद्धनं । दुग्धेनुवलीवईसारमेयादिपरिद्वति चेतुरः, परिद्वतबुसतुमपीभस्माद्रौगोमयतृणनिचयजलोपलफलक, दूरीकृतचोरीकलहं, अनाकूढसत्तम निरूपयतो यतेर्यासमिति ॥

समितीर्व्याकारिव्यथादौ ईर्याममिति निर्दिशति—

मूलारा—ममगुज्जोदुपयोगालंबणसुद्धीहिं मार्गेद्योतोपयोगालंबनशुद्धिभिश्चतसृभिः करणभूताभिः । इरियदो गच्छत । सुत्ताणुवीचि सूत्रानुसारेण । तत्र मार्गस्य शुद्धिः पिपीलिकादित्रयात्पत्वं, वीजाकुरत्तणहरितपत्रजलकईमादिरहितत्व, स्फुटतर-त्वं, व्यापित्व च । उद्योतशुद्धिः स्पष्टप्रसूतत्वं, रविकरप्रकाशस्य ॥ उपयोगशुद्धिः—पादोद्धारनिक्षेपदेशवर्तिप्राणिपरिद्वरण ग्रन्थिधानपरायणत्वं । आलंबनशुद्धिर्गुरुतीर्थैत्ययतिवदनादिकमपूर्वशास्त्रार्थग्रहणं, संयमयोग्यक्षेत्रमार्गणा, वैयावृत्यकरणं, अनियतावाससास्थसंपादनं, श्रमजयो, नानादेशभाषाशिक्षणं, विनयेजनप्रतिबोधनेमवमादिसार्गाविरोधिप्रयोजनापेक्षा । सूत्रानुवीचिगमनं तु नातिदुतविलंबित, पुरो युगमात्रदर्शनप्रवृत्तिक, अदूरचरणन्यासं, निर्भयाविसयमसलीलमनत्युत्क्षेपं,

परिहृतलयनधावनादिक्रियं, प्रविलंबितयुज निर्बिकारमचपल, असंभ्रान्त, अनुद्ध्वितिर्यक्प्रक्षणं, हस्तमात्रपरिहृततरुणवृण-  
पल्लव, अकृतपशुपक्षिमृगोद्देजनं, विरुद्धयोनिसक्रममाविजीववाधापरिहारयासकृत्यतिलेखन, वर्जितसम्युदागच्छज्जनसव-  
ट्टनं, दुष्टधेनुष्टपभसारमेयाडिपरिहारचतुरं, परिहृतधुसयुपमसीभस्माद्गोमयवृणनिचयजलोपलफलकं, दूरीकृतचोरीकलह,  
अनारुढसंक्रमं चेति ॥

सामितिका व्याख्यान आचार्य करते हैं प्रथमतः ईर्यासमितीका निरूपण करते हैं—

अर्थ—मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि, और आलवनशुद्धि ऐसी चार शुद्धियोंका आश्रय करके  
गमन करनेवाले मृनिकी मूत्रानुसार ईर्यासमिति पाली जाती है ऐसा आगममें कहा है

मार्गकी शुद्धि—चौंटी वगैरे त्रसजीव, तथा बीज, अकुर, वृण, हरे हरे पत्र, और कीचड वगैरहसे रहित  
जो मार्ग है वह शुद्धमार्ग माना जाता है

उद्योतशुद्धि—प्रकाशमें अर्थात् सूर्य प्रकाशमें अधिक स्पष्टपना, और व्यापकता होना उद्योतशुद्धि है चंद्र और  
नक्षत्रोंका प्रकाश, अस्पष्ट रहता है. प्रदीपक वगरहका प्रकाश अव्यापक अर्थात् थोड़ीसी जगह घेरता है

उपयोगशुद्धि—पांव उठाकर जिस स्थानपर रखना हो उस स्थानपर जीव जंतु हैं या नहीं इसका विचार  
कर पाव रखना चाहिए यह उपयोग शुद्धि है

आलवनशुद्धि—शुरुवंदना, तीर्थवंदना, चैत्यवदना और यतिवंदनादिकोंका कारण, तथा अपूर्व शान्नायिका  
ग्रहण, समयके योग्य क्षेत्रको ढूंढना, वैयावृत्य करना, अनियत स्थानमें रहना, स्वास्थ्यका मपादन करना, श्रमको दूर  
करना, अनेक देशोंकी भाषाओंका अध्ययन करना, भव्योंको उपदेश देना इत्यादि कार्योंकी अपेक्षासे एक स्थानसे  
दूसरे स्थानपर जाना इसको आलवनशुद्धि कहते हैं

आचार-शान्नायक वर्णन किये प्रकारसे गमन करना चाहिये अर्थात् वेगसे गमन नहीं करना, अतिशय मंद  
भी गमन नहीं करना चाहिये, आगे चार हाथ जमीन देखकर गमन करना चाहिये दूर अंतर पर पांव नहीं रखने  
चाहिये भीति और विस्मय का त्यागकर चलना चाहिये इधर उधर न देखकर गमन करना चाहिये कूदना, भागना  
ये क्रिया छोडकर और बाहु नीचे छोडकर जाना चाहिये निर्बिकार, चपलता रहित, ऊपर तथा इधर उधर न  
देखकर, जाना चाहिये वृण, पल्लवादिकसे एक हाथ दूर रहकर गमन करना चाहिये पशु, पक्षी और मृगोंको



तकलीफ न होगी इस प्रकारसे गमन करना चाहिये. विरुद्ध उत्पत्ति स्थानोंमें प्रवेश करते समय वहाँके त्रसजीवों को अपने शरीरसे वाधा न हो इसलिये बार बार प्रतिलेखनसे अर्थात् पिछिकासे शरीर स्वच्छ करना चाहिये. मार्गमें चलते समय अपने शरीरको इतरोंका धक्का न लगे इस तरहसे चलना चाहिये. दुष्ट गौ, बैल, कुत्ता, इत्यादि प्राणिओंका परिहार करके गमन करना चाहिये धान्यका भूसा, शालीधान्यके छिलके, कज्जल, भस्म, गीला गोबर, तणका ढेर, पानी, पत्थर, फलक इनका परिहार करके गमन करना चाहिये. चोर, कलह इत्यादिकसे दूर रहकर गमन करना योग्य है. जाते समय अपने पावोंसे कोई चीजका अथवा प्राणीका आपसमें प्रवेश न हो इस प्रकारसे गमन करना यह मुनिकी इर्थासामिति है

भाषासमितिनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं ॥

वदुमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुद्धा ॥ ११९२ ॥

न्यालीकादिविनिर्मुक्तं सत्यासत्यमृषाद्वयम् ॥

वदतः सूत्रमार्गेण भाषासमितिरिच्यते ॥ १२३२ ॥

विजयोदया—चतुर्विधा वाक्—सत्या, मृषा, सत्यसहिता मृषा, असत्यमृषा चेति । सता हिता सत्या । न सत्या न च मृषा या सा असच्चमोसा । द्विप्रकारा वाचमित्यभूता । अलियादिदोसवज्जं व्यलीकता अर्थाभावः, पाखण्यं, पैशुन्यमित्यादिदोपरहितं । अणवज्जं पापास्त्रचो न भवति इत्यनवय । वदमाणस्स व्याहरतः । अणुवीची सूत्रानुसारेण भासासमिदी सुद्धा हवदि भाषासमिति शुद्धा भवति ॥

भाषासमिति न्याकरोति—

मूलारा—सच्चं सत्यं । जनपदादिभेदादशविधं । त्रतसत्याद्धर्मसत्याच्च कोऽस्य भेद इति चेत् ब्रूमः । श्लोकः—  
असत्यविरतौ सत्य सत्त्वसत्त्वपि यन्त्यतम् ॥

वाक्समित्या मितं तद्धि धर्मे सत्त्वेव बह्वपि ॥ १ ॥

असच्चमोस असत्यमृषा । न सत्यं नाप्यसमित्यर्थः । अलियादीदोसवज्जं । असत्यता, असत्यासत्यता, पाखण्यं, पैशुन्यमित्यादिदोपरहित । अणवज्जं हिंसादिपापास्त्रवरहित । अणुवीची सूत्रानुसारेण ॥

अर्थ—वचनके चार प्रकार हैं सत्यवचन, मृपावचन-असत्यवचन, सत्यासत्यवचन और असत्यासत्य वचन. सत्पुरुषोंका हित करनेवाला वचन सत्यवचन है जो सत्य ही नहीं और असत्य ही नहीं ऐसे वचनको असत्यमृपा अर्थात् असत्यासत्य वचन कहते हैं साधु अर्थात् यतिगण उपर्युक्त दो प्रकारके भाषण बोलते हैं. इन दो प्रकारोंके वचनोंमें असत्यपना, व्यर्थपना, कठोरता, निंदा वगैरे दोषोंका अभाव रहता है ऐसे वचनोंसे पाप कर्मका आगमन होता नहीं. मुनिगण सूत्रानुसार निदर्प भाषण करते हैं इसको भाषासमिति कहते हैं

सत्यवचनमेव निरूपयति—

जणवदसंसंदिठवणा णामे रूत्वे पडुच्चववहारे ॥

संभावणववहारे भावेणोपम्मसञ्चेण ॥ ११९३ ॥

देशसम्मतिनिक्षेपनामरूपप्रतीतिता ॥

संभावनोपमाने च व्यवहारे भाव इत्यपि ॥ १२३३ ॥

विजयोदया—जणवदसंसंदिठवणा सुसंकेतानुविधायिनी वाणी जनपदसत्यं । गच्छति इति गौ, गर्जेतीति गज इत्येवमादिका अवयवार्थानुगामाभावेऽपि विवक्षितार्थप्रवृत्तिनिमित्तभूता । सम्मदिशब्देन संस्थानाभ्युपगम उच्यते । गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिका शब्दाः शुभलक्षणयोगात् केपाचित स्वतो लक्षणत्वादीश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य कचिद्वले मानवे वा प्रयुज्यमाना सम्मत्तिसत्यशब्देनोच्यते । अर्हर्हिन्द्र स्कद इत्येवमादय सद्भावासद्भावस्थापनाविषया स्थापनासत्यं । अरिद्धन्न, रजोद्धनं, ईदवं इत्येवमादीना क्रियाणा तत्राभावाद्यलीकता नाशकनीया आकारमात्रे परमार्थत्वात्सर्वभावाना । तस्य च स्थापनाया वस्तुवास्तित्वादुद्धिपरिग्रहेण वा सद्भावात् । इन्द्रादि संज्ञा सम्प्रवृत्ति निमित्तजातिगुणक्रियाद्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दार्थमिधेयसंवधपरिणतिमात्रेण वस्तुना प्रवृत्ता नामसत्य । रूपग्रहणं उपलक्षणं प्रवृत्तिनिमित्ताना नीलमुत्पलं, धवलो हि मृगलाञ्छन इत्येवमादिकं रूपसत्यं । सेवच्यतरापेक्षाभिधानं च वस्तुस्वरूपालम्बन दीर्घो न्हस्व इत्येवमादिकं प्रतीत्यसत्य । वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात् सभावनाया दृष्ट संभावनासत्यं । अपि दोष्यां समुद्रं तरेत् । शिरसा पर्वत भिद्यात् इत्यादि ॥ वर्तमानकाले स परिणामो यद्यपि नास्ति तथाप्यतीतानागतपरिणामान्प्रति इदमेव द्रव्यमिति कृत्वा प्रवृत्तानि वचांसि ओदन पच, कटं कुर्मित्येवमादीनि व्यावाहरसत्यं । अहिंसालक्षणो भाव. पाल्यते येन वचसा तद्भावसत्यं निरीक्ष्य स्वप्रयत्नाचारो भवेत्येवमादिक । पत्योपमसागरोपमाविकमुपमा सत्यम् ॥

किं तज्जनपदादिभेदाशया सत्यमित्याह—

मूलारा—जणपदेत्यादि—जनपदसत्यं नानादेशप्रसिद्धवचनं । यथा कूरो, चारो, ओदनमिति । सम्मत्तिसत्यं यथा राजा नरोऽपि देवो भण्यते । तद्वार्था देवीति सर्वैस्तथाभ्युपगमात् । अथवा गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिकाः शब्दाः शुभलक्षणयोगात्केपांचित् स्वतो लक्षणानां ईश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य कचिद्वेदो मानवे वा प्रयुज्यमानाः सम्मतिसत्यशब्देनोच्यन्ते । स्थापनासत्यं यथा पापणप्रतिमादिष्विव चक्रेश्वरी, अयमर्हन् इति तदिदमिति बुद्धिपरिग्रहेण सद्भावात् । नामसत्यं इन्द्रादिमत्ता । रमप्रवृत्तिनिमित्तजातिगुणक्रियाव्यनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयत्वपरिणतिमात्रेण वस्तुतः प्रवृत्ता यथा मनुष्यमात्रेऽपि अयमिन्द्रोऽयमीश्वर इत्यादि ॥ रूसत्य नानारूपत्वेपि कस्याचिद्रूपस्य प्रकर्षमपेक्ष्य प्रयुज्यमानं वचनं यथा नीलमुत्पलं, श्वेता वलाकेति ॥ प्रतीत्यसत्यं सर्वभ्यतरापेक्षभिरभ्यवस्तुरूपालवनं दीर्घो च्हस्य इत्येवमादि । लघ्वंगुली, बृहदंगुली इत्यादि ॥ मभवनासत्यं यथा वस्तुनि तथा प्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनादप्रवृत्तं यथा—अपि दोभर्गो समुद्रं तरेदेवदत्तं । चारित्रसारं पुनरस्य स्थाने लंयोजनासत्यं दृश्यते यथा—वृषचूर्णवासनानुलेपनप्रकर्षादपि पद्मामरहससर्वतोभद्रजोचव्यूहादिषु वा चेतनेतरद्वयाणां यथाभागविधानसन्निवेशानिर्भावकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यम् । भाविभूतपरिणामापेक्षया प्रवृत्तं यथा मित्रेऽप्योदने लोकाव्यवहारानुसरणात्तुलान्पवेति वाच्ये ओदनं पचेत्यादिवचनं ॥ भावसत्यं च रत्नज्ञानस्य द्रव्ययात्रात्थादर्शनेऽपि सत्यस्य सयतामयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुक्रमिदमप्रासुक्रमिदमित्यादिवचनं । निरीश्वर, प्रयत्ताचारी भवेत्येवमादिकं वा । अहिमालक्षणाभावपालनागत्वात् । औपम्यसत्यं यथा चंद्रमुदी कन्या, समुद्रमत्तडानमित्यादि ॥

सत्यं नचनके भेदं कहते हैं—

अर्थ—जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीतिसत्य, संभावनासत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य और उपमासत्य ऐसे सत्यके दस भेद हैं. इनके विशेष स्वरूपका विवेचन—

१ जपनदसत्य—अनेक देशोंमें प्रसिद्ध संकेतका अनुकरण करनेवाला जो वचन उसको जनपदसत्य कहते हैं जैसे 'गच्छतीति गो' 'गर्जतीति गज' अर्थात् जो जाता है उसको गो कहते हैं अर्थात् बेलको गो कहना चाहिए भी शब्दका संकेत बेल नामक पदार्थमें है. जो गर्जना करता है उसको गज अर्थात् हाथी कहना चाहिए गजशब्दका संकेत हाथीमें प्रसिद्ध है यद्यपि यहां निरुक्तीमें प्रतिपादित अर्थका वस्तुमें अनुसरण नहीं दीखता है तथापि ये शब्द विवक्षित पदार्थोंमें प्रवृत्ति करानेमें निमित्त होते हैं

२ सम्मतिसत्य—सम्मति शब्दसे आकृतिका ग्रहण होता है, गजेंद्र, नरेंद्र इत्यादिक शब्द शुभ लक्षणके धोतक हैं, कोई पदार्थ स्वतः शुभ लक्षणसंपन्न दीखते हैं अतः उसमें स्वतः ईश्वरपना—संपन्नपना दृष्टिगोचर होता है उसके ईश्वरपनाका आधार लेकर अन्य गज—हाथी अथवा मनुष्यमें उसका प्रयोग करते हैं ऐसे शब्दको सम्मति सत्य कहते हैं, जैसे गजकी विशालता देखकर उसको गजेंद्र कहना किसी मनुष्यमें राजाके समान संपन्नता देखकर उसको सध लोक नरेंद्र कहते हैं, राजा, राव, राणा वगैरह शब्द सम्मतिसत्य हैं

स्थापना सत्य—अर्हन्, इंद्र और स्कंद वगैरह शब्द सद्भाव असद्भाव स्थापनाके विषय हैं, इनको स्थापना सत्य कहते हैं, अरिहन्न मोहनीयकर्मका नाश होना, रजोहन्न ज्ञानावरण और दर्शनावरणका नाश होना इत्यादिक क्रिया अर्हन्तमें रहती हैं अतः उसमें असत्यपनाका संशय लेना योग्य नहीं है, अर्हन्तके समान प्रतिमाका आकार रहता है अतः अर्हन्तकी उसमें स्थापना करते हैं ऐसा आकार रखकर मूल पदार्थोंकी उसमें स्थापना करते हैं तथा वैसे पदार्थ देखकर उसमें यह वह वस्तु है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती ही है यह स्थापना सत्य समझना चाहिए,

नाम सत्य—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया इनकी अपेक्षाके विना ही शब्दका पदार्थ के साथ संबंध कर देना वह नाम सत्य है, जैसे जीवनक्रिया अचेतन पदार्थ में न रहत हुए भी उसको जीव कहना किसी पदार्थका इंद्र वगैरह नाम रखते समय इंद्र की देवत्व जाति, परमेश्वर्य संपन्नता वगैरह गुणोंका विचार न करके व्यवहार के लिए इंद्र ऐसा नाम रखना,

रूपसत्य—रूपशब्द प्रवृत्ति निमित्तका उपलक्षण है जैसे कमलमें नीलगुणका प्रकर्ष देखकर उसको नीलकमल कहना चंद्रमें सफेदपनाकी अधिकता देखकर उसको धवल कहना इत्यादिक उदाहरण रूपसत्यके समझ लेने चाहिये,

प्रतीतिसत्य—किसी अन्य संबंधी पदार्थकी अपेक्षासे वस्तुस्वरूपका निर्णय करके वैया कहना जैसा दीर्घ वस्तुको देखकर दूसरी वस्तु न्हस्व कहना वगैरह,

संभावना सत्य—वस्तुका वैसी प्रवृत्ति नहीं होते हुये भी वैसी प्रवृत्ति करनेकी उस पदार्थमें योग्यता है यह जान कर वैसी कल्पना करना जैसे यह अदमी अपनी दो झुजाओंसे समुद्रको तीर सकेगा ऐसा कहना यह

यह संभावना सत्य है यह मनुष्य मस्तकसे पर्वतका भेद न करेगा वगैरह इस सत्यके उदाहरण हैं व्यवहारसत्य-वर्तमानकालमें पदार्थका वह परिणाम नहीं है तथापि भूतकालमें वह परिणामन था अथवा भविष्यत्कालमें वह उत्पन्न होगा तथापि वही यह पदार्थ है ऐसा समझकर जो वचनप्रवृत्त होते हैं उनको व्यवहार सत्य कहते हैं जैसे भात पकाओ, चटाई बनाओ इत्यादि।

भावसत्य-अहिंसालक्षणात्मक परिणामका जिस वचनसे रक्षण होता है उसको भावसत्य कहते हैं जैसे जीवोंको देखकर यत्नचारपूर्वक प्रवृत्ति करो ऐसा उपदेश देना उपमासत्य-जैसे पल्योपम है, सागरोपम है यह उपमा सत्य है।

सृपादिवचनत्रयलक्षण कथयन्ति—

तत्त्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्थ सञ्चमोसं तं ॥

तत्त्विवरीया भासा असञ्चमोसा हवे दिट्ठा ॥ ११९४ ॥

विजयोदया—तत्त्विवरीदं सत्यविपरीतं । मोसं सृपा 'असदभिधानमनृतं' इति वचनात् । मिथ्याज्ञानमिथ्यादर्शनयोरसयमस्य वा निमित्त वचनमसदभिधान अग्रशस्ते तत्सत्यविपरीतं । त उभयं तत्सत्यमनृतं च उभयं जत्थ यस्मिन् वान्मे । तं तद्वाक्यं । सञ्चमोस सत्यमृपेत्युच्यते । तत्त्विवरीदा भासा सत्यादनुतान्मिथा च पृथग्भूता भासा भाषा वचनं असञ्चमोसा असत्यमृपेति । हवे भवेत् । दिट्ठा दृष्टा पूर्वान्गमेपु । एकातेन न सत्या नापि सृपा नोभयमिथा किंतु जात्यंतरं यथा वस्तु नैकातेन नित्यं नापि अनित्य नापि सर्वथा एकातयो समुच्चय' किंतु कथचिद्वृत्तित्यानित्यात्मकं । एवमिय भारती ॥

असत्यादिवचनत्रयलक्षणाथमाह—

मूलरा—तत्त्विवरीदं मोसं मिथ्याज्ञानासंयमादिनिमित्तत्वात्सत्यविपरीतसृपा । तं उभयं सत्यसृपाद्वय । जत्थ यस्मिन्वचने । सञ्चमोस सत्यानृतं यथा सर्व दत्त, सर्व श्रुत, सर्व भुक्त । अथवा घृतशर्करामिश्र गोक्षीर शोभन स्यादिति ज्वरितेन पृष्टे सति शोभनमिति वचस्तस्य माधुर्यादिप्रशस्त्यगुणपेक्षया सत्यत्वाज्ज्वरयुद्धिनिमित्तत्वापेक्षया च सृपात्वात् । तत्त्विवरीदा सत्यादसत्यान्मिश्राच्च पृथग्भूता असञ्चमोसा एकान्तेन न सत्या, नापि सृपा, नोभयमिश्रिता किंतु जात्यंतरं । यथा वस्तु नैकातेन नित्यं, नाप्यनित्यं नापि सर्वथैकान्तयोः समुच्चयः किंतु कथचिद्वृत्तित्यानित्यात्मकमेव । नवधा वेपा ॥

असत्यादि तीन वचनोंका लक्षण कहते हैं—

अर्थ—उपर्युक्त सत्य भाषणके विरुद्ध जो भाषण उसको असत्य भाषण कहते हैं ‘असदभिधानमनृतं’ प्रमादसे प्राणिओंको पीडा होगी ऐसा भाषण गोलना वह असत्यभाषण है ऐसा सूत्रकार कहते हैं. अथवा जिम भाषणसे मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और असत्यमकी उत्पत्ति होगी वह भी असत्य भाषण है जो भाषण अप्रशस्त है अर्थात् सज्जनोंने जिमकी प्रशंसा की नहीं वह असत्य भाषण समझना चाहिये

जिस भाषणमें सत्यपना और असत्यपना दोनों हैं उसको सत्यमृषा भाषण कहते हैं सत्य, असत्य और मिश्र भाषणोंसे जो भिन्न है अर्थात् जिसमें सत्यताभी नहीं और असत्यताभी नहीं वह भाषण असत्यमृषा है. जिसको सत्यभी नहीं कह सकते जो असत्यभी नहीं मानी जाती है ऐसी और जिसको मिश्रभी नहीं कहा जाता है ऐसी भाषणको असत्यमृषा कहना चाहिये

जैसे वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है, सर्वथा अनित्य नहीं है व सर्वथा नित्यानित्यात्मकभी नहीं है. परंतु उस नित्यानित्यत्व धर्मोंका समुच्चय है अर्थात् कथंचिन्नित्यानित्यात्मक है. उसी तरह असत्यमृषा भाषण समझना चाहिये. सत्य और मृषा इन दोनोंका मिश्रणभूत जो भाषा उनको मत्यमृषा कहते हैं उसका उदाहरण ऐसा है—  
वी और खांडमे मिश्रित गायका दूध शोभन है क्या ? ऐसा पूछने पर वह शोभन है ऐसा कहना दूधको माधुर्यादि गुणोंकी अपेक्षांसे सत्य कह सकते हैं और जर वहांनेमें वह कारण होगा इसकी अपेक्षासे वह असत्य है.

सा नवप्रकारा तस्याश्च भेदा इयत् इति गायाद्वयेनाद्ये—

आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पणवणी॥

पच्चक्खणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥ ११९५ ॥

आज्ञापनी संबोधनी प्रच्छनी प्रत्याख्यानी याचनी प्रज्ञापनीच्छाणुलोमा सांशयिकी निगक्षरा चेति नवधा सत्यमृषाभाषा संतव्या ॥ १२३४ ॥

विजयोदया—आमंतणी यथा वाचा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमत्रणी । वे देवदत्त इत्यादि अगृहीतसंकेतान् अभिमुखी करोति तेन न मृषा गृहीतागृहीतसंकेतयो प्रतीतिनिमित्तमभिमतं चेति ज्ञातमकता । स्वाध्याय कृत, विरमतासयमात् इत्यादिका अनुशासनवानी माणवणी । चोदितया क्रियाया. करणमकरण वोपपद्य नैकान्तेन सत्या न

मृपैव वा । जायणी क्षानोपकरणं पिच्छादिकं वा भवद्भिर्दातव्यं इत्यादि का याचनी । दातुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा । निरोध वेदनास्ति भवतां न वेति प्रश्नवाक् संपुच्छणी यद्यस्ति सत्या न चेदितरा । वेदनाभावाभावमपेक्ष्य प्रवृत्तेरुभयरूपता । पणवणी नाम धर्मकथा । सा वह्निर्दिश्य प्रवृत्ता कैश्चिन्मनसि करणमितरैरकरण चापेक्ष्य करणत्वाद्विरूपा । पञ्चमखणी नाम केनचिद्गुरुमननुक्षाय इव क्षीरादिक इयंत कालं मया प्रत्याख्यातं इत्युक्तं कार्यांतरमुद्दिश्य तत्कुवित्युदितं गुरुणा प्रत्याख्यानवाधिकालो न पूर्ण इति नैकातत सत्यता गुरुवचनायवृत्तो न दोषयेति न मृपेकांत । इच्छानुलोमा य ज्वरितेन प्रष्टुं घृतशर्करामिश्र क्षीरं न शोभनमिति । यदि परो द्यूयात् शोभनमिति । माधुर्यादिप्रशस्य गुणसद्भावं ज्वरवृद्धिनिमित्तता चापेक्ष्य न शोभनमिति वचो न मृपेकाततो नापि सत्यमेवेति द्रयात्मकता ॥

के ते उभयभाषाभेदा नवेति पृष्टस्तान्नाथाद्वयेनाचष्टे—

मूलारा—आमतणि संवोधिनी हे देवदत्त इत्यादिका । आणवणी आज्ञापनी इदं कुर्वित्यादिका । जायणी याचणी यथा त्वा किंचिदहं याचिष्ये । संपुच्छणी मंत्रच्छनी यथा त्वा किंचित्पुच्छामि । पणवणी प्रज्ञापनी यथा तव किंचित्कथयिष्यामि । पञ्चकराणी प्रत्याख्यापनी यथा त्वा किंचित्स्याजयिष्यामि । इच्छानुलोमा छंदानुकूला वाक् यथा शालितालत्रीहयो भवन्तीति गुरुणोक्ते एवमेतदिति शिष्यवाक् ॥

असत्यमृषा भाषण के नऊ प्रकार हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

अर्थ—जिस भाषासे दूसरोंको अभिमुख किया जाता है उसको आमंत्रणी-संवोधिनी भाषा कहते हैं जैसे 'हे देवदत्त यहां आओ' देवदत्त शद्रका संकेत जिसने ग्रहण किया है उसकी अपेक्षासे यह वचन सत्य है जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसकी अपेक्षासे असत्य भी है.

आणवणी-आज्ञापनी भाषा जैसे स्वाध्याय करो, असंयमसे विरक्त हो जाओ ऐसी आज्ञा दी हुई किया करनेसे सत्यना और न करनेसे असत्यता इस भाषामें है. इस लिये इसको एकान्त रीतीसे सत्यभी नहीं कहते और असत्यभी नहीं कह सकते हैं

याचनी-ज्ञानके उपकरण शास्त्र और समयके उपकरण पिच्छादिक मेरेको दो ऐसा कहना यह याचनी भाषा है दाताने उपर्युक्त पदार्थ दिये तो यह भाषा सत्य है और न देनेकी अपेक्षासे असत्य है. अतः यह सर्वथा सत्यभी नहीं है और सर्वथा असत्यभी नहीं है

प्रश्न पृष्ठना उसको प्रश्नभाषा कहते हैं जैसे तुमको निरोधमें-काराग्रहमें वेदना-दुःख हैं या नहीं वगैरह.

यदि वेदना होती हो तो सत्य समझना न हो तो असत्य समझना वेदनाका सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा इसको सत्यासत्य कहते हैं.

पणवणी-धर्मोपदेश करना इसको मज्ञापनी भाषा कहते हैं यह भाषा अनेक लोगोंको उद्देश्य कर कही जाती है. कोई मनःपूर्वक सुनते हैं और कोई सुनते नहीं. इसकी अपेक्षा इसको असत्यपट्टा कहते हैं.

पच्चक्खणी-किसिनि गुरुका अपने तरफ लक्ष न स्वीचकरके कहा कि मैने इतने कालतक धीरादिक पदार्थोंका त्याग किया है ऐसा कहा. कार्यतरको उद्देश करके वह करो ऐसा गुरुने कहा प्रत्याख्यानकी मर्यादाका काल पूर्ण नहीं हुआ तब तक वह एकांतसत्य नहीं है. गुरुके वचनानुसार प्रवृत्त हुआ है इस वास्ते असत्य भी नहीं है.

इच्छानुलोभा-ज्वरितमनुष्यने पूछा घी और शक्कर मिला हुआ दूध अच्छा नहीं है ? यदि दूसरा कहेगा कि वह अच्छा है तो मधुरतादिक गुणोंका उसमें सद्भाव देखकर वह शोभन है ऐसा कहना योग्य है परन्तु ज्वर बुद्धिको वह निमित्त होता है इस अपेक्षासे वह शोभन नहीं है अतः सर्वथा असत्य और सत्य नहीं है इसलिए इस वचनमें उभयात्मकता है

संसयवयणी य तथा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा ॥

णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवदि णेया ॥ ११९६ ॥

चिज्योदया-संसयवयणी किमय स्थाणुरुत्त पुरुष इत्यादिका द्वयोस्कस्य सद्भावमितरस्याभाव चापेक्ष्य छिरूपता । अणक्खरगदा अगुल्लिस्फोटादिच्चनि कृताकृतसकतपुरुषापेक्षया प्रतीतिनिमित्ततानिमित्तता च प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा ॥

मूलाराधना-संसयवयणी किमयं स्थाणुरुत्त पुरुष इत्यादि सद्विधवाक् । अणक्खरगदा अक्षरहीना यथा अंगुलिस्फोटादिशब्दाः कृतसंकेतस्यैवाथप्रतिपत्तिनिमित्तत्वात् । सिद्धातरत्नमालया पुनरित्थमान्नातम्—

याचनी ज्ञापनी पृच्छानयनी संशयन्यपि ॥

आह्वानीच्छानुक्कुला वाक् प्रत्याख्यान्यव्यनक्षरा ॥

असत्यमोपभापेति नवधा बोधिता जिनैः ॥



व्यक्ताव्यक्तमतिज्ञानं वन्दुः श्रोतुश्च यद्भवेत् ॥  
 त्वामहं याचयिष्यामि नापयिष्यामि किञ्चन ॥  
 प्रष्टुमिच्छामि किञ्चित्त्वामानेन्यमि च किञ्चन ॥  
 बालः क्रमेण वृत्तीति व्रत मदेगिव मन्मनः ॥  
 आह्वयाम्येहि भो भिक्षो ! करोम्याद्या तव प्रभो ! ॥  
 किञ्चित्त्वा लजयिष्यामि हुं करोत्यत्र गोः कुतः ॥  
 याचन्यादिषु मृशता इत्यमेते प्रदर्शिताः ॥

अर्थ—संशय वचन यह अमर्यप्रपाका आठवा प्रकार है जेमे यह दृष्ट है अथवा मनुष्य है इत्यादि इसमें दोनोमेंसे एककी सत्यता है और इतरका अभ्रम है इस वास्ते उभयपना इसमें है।  
 अनक्षर वचन—चुटकी वजाना, अंगुली में डपारा करना जिसको चुटकी वजानेका संकेत मालूम है उस की अपेक्षा से उसको वह प्रतीति का निमित्त है और संकेत मालूम नहीं है उसको अग्रतीति का निमित्त होती है इस तरह उभयात्मकता इसमें है

उगमउपपायणएसणाहिं पिंडमुवाधि सेज्जं च ॥

सोधिंतरस य मुणिणो विसुज्झए एसणासमिदी ॥ ११९७ ॥

आहारमुपधिं शय्यामुद्रमोत्पादनादिभिः ॥

विमुत्तं शुल्लत साधोरेपणा समित्तिर्मता ॥ १२३५ ॥

विजयोदया—उगमउपपादणमणाहिं उद्रमोत्पादनपणादोपगन्ति भक्तमुपकरण वसतिं च शुल्लत एपणास-  
 भित्तिर्भवतीति सूत्रार्थः । शय्येकादिकट्टीकाया श्रीविजयोदयाया प्रपञ्चिता उद्रमादिदोषा इति नेह प्रतन्व्यन्ते ॥  
 उपपणाममिति निर्दिशति—

मृलाग—सोधंतस्स लाजयतः । उद्रमादिदोषत्यक्तं पिंडादिकं शुल्लत इत्यर्थः ॥ विसुज्झटे निमेषा भवति ।

अर्थ—उद्रमदोष, उत्पादनदोष और एपणादोष इन दोषोंसे रहित जो मुनि उपकरण, आहार और

वसतिका का स्वीकार करते हैं, वे मुनि एण्णासमीतीको निर्ताचार पालते हैं ऐसा समझना चाहिये श्रीविजयोदया नामकी दशवैकालिक टीकामें उद्गमादि दोषोंका सविस्तर विवेचन अपराजित सूरीने किया है अत एव यहाँ उसका निरूपण करना वे नहीं चाहते हैं

आदाननिक्षेपणनिरूपणार्थो गा-या—

सहसाणामोगिददुपपमज्जिय अपञ्चवेसणा दोसो ॥  
परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवो ॥ ११९८ ॥  
सहसाहट्ठुहट्टाप्रत्यवेक्षणमोचिनं ॥  
भवत्यादाननिक्षेपसमितिर्व्रतवर्तिनः ॥ ११९९ ॥

विजयोदया—सहस्रणामोगिद आलोकनप्रमार्जनमकृत्वा आदान निक्षेप इत्येको भगं । अनालोक्य प्रमार्जनं कृत्वा आदान निक्षेपो चेति द्वितीयो भगः । आलोक्य दु प्रमृष्ट इति तृतीयः । आलोकित प्रमृष्ट च न पुनरालोकित च शुद्ध चेति चतुर्थो भगः । एतद्वोपचतुष्टयं परिहरतो भवति आदाननिक्षेपसमितिः ।

आदाननिक्षेपसमितिं लक्षयति—

मूलारा—आलोकनप्रमार्जनेऽकृत्वा पुस्तकादेरादानं, निक्षेपं वा कुर्वत एकः सहस्राख्यो दोषः । अनालोक्य प्रमार्जनं कृत्वा पुस्तकादेरादान निक्षेप वा कुर्वतोऽनाभोगिताख्यो द्वितीयो दोषः । आलोस्यासम्यक्प्रतिलिख्य तद्गुह्यतो-  
निक्षिपतो वा तृतीयो दुष्प्रमृष्टसंज्ञो दोषः । आलोकितं प्रमृष्ट च न पुनः शुद्धमशुद्ध चेति निरूपितमित्यादाननिक्षेपकरणाच्च-  
तुर्थोऽप्रत्यवेक्षणाख्यो दोष एतास्त्यजत आदाननिक्षेपसमितिः स्यात् ॥

आदान निक्षेपका आचार्य निरूपण करते हैं—

अर्थ—विना देखे और विना भूमि स्वच्छ किये पदार्थ उठा लेना, यह पहिला भंग हुआ विना देखे भूमि स्वच्छ करके पदार्थ जमीनपर रखना अथवा उठा लेना यह द्वितीय भंग है, देखकरके भूमि स्वच्छ क्रिये विना पदार्थ उठा लेना अथवा रखना यह तीसरा भंग है, देखना और थोडासा झाड़ लेना यह चौथा भंग है इन चार दोषोंका त्याग कर पदार्थोंको उठा लेना और रखना आदाननिक्षेपण समिति है अर्थात् जमीनको अच्छी तरहसे

देखकर और स्वच्छ कर उसपरसे पदार्थ उठा लेना अथवा उसपर पदार्थ रखना यह आदान निक्षेपण समिति है.

एदेण चेव पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिया होदि ॥

वोसरणिज्जं दव्वं थंडिल्ले वोसरित्तस्स ॥ ११९९ ॥

अनेनैव प्रकारेण प्रतिष्ठापनका मता ॥

समितित्तयजतस्स्याज्यं प्रदेशे स्थंडिले यत्नेः ॥ १२३७ ॥

विजयोदया—एदेण चेव आदाननिक्षेपविषययत्नकथनेन । पदिट्ठावणसमिदीवि वण्णिदा होदि । प्रतिष्ठापनसमितिर्वर्णिता भवति । वोसरणिज्ज परित्यक्तव्यं मूत्रपुरीपादिकं मलं । थंडिल्ले वोसरित्तस्स स्थंडिले निर्जन्तुके, निश्चिच्छेद्रे, समे व्युत्सृजत ॥

प्रतिष्ठापनसमितिं व्याचष्टे—

मूलारा—एदेण आदाननिक्षेपविषययत्नकथनेन । वोसरणिज्ज अवश्योत्सृज्यं । दव्वं विष्णुमूत्रखेलसिंघाण-कण्ठदिंखुचितकेशादिक । थंडिले निर्जन्तुकनिश्चिच्छेद्रसमत्वादिविशिष्टे प्रदेशे । तथा चावोचाम वर्मामृते—

निर्जनौ कुशले विविक्तविपुले लोकोपरोधोच्चिते ॥

छुष्टे छुष्ट उतोपरक्षितितले विघ्नादिकावुत्सृजन् ॥

बुध्रश्चाश्रमणेन नक्तमभितो दृष्टे विभज्य त्रिधा ॥

सुसृष्टेऽप्यपहस्तकेन समितावुत्सर्गं उत्तिष्ठते ॥

अर्थ—आदाननिक्षेपण समितिका निर्दोष पालन करनेके कथनसेही प्रतिष्ठापन समितिकाभी वर्णन हुआ त्यागने योग्य मूत्र पुरीपादिक मलका त्याग निर्जन्तुक और निश्चिच्छेद्र जमीनमें करनेवाले छुनि प्रतिष्ठापन समिति का पालन करते हैं.

एदाहिं सदा जुत्तो समिदीहिं जगम्मि विहरमाणो हु ॥

हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकायाउले साहू ॥ १२०० ॥

आभिः समितिभिर्योगी लोके षड्जीवसंकुले ॥  
दोषैर्हिसादिभिर्नैव लिप्यते विहरन्मपि ॥ १२३८ ॥

विजयोदया—यदाहिं एताभि । सदा जुतो सदा युक्त । जगन्मि विहरमाणो दु जगति विचरन्मपि । कीदृशो? जीवणिकायाउले पञ्चजीवनिकायाकीर्णं । हिसादीहिं हिसादिभि । ण लिप्यदि न लिप्यते साधु । आदिग्रहणेन परितापनं, संघट्टन, अगन्यनताकरणदिपरिग्रह । समितिपु प्रवर्तमान प्रमादरहित प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसेत्युच्यते । हिसादिसहितानि कर्माणि हिसादिशब्देनोच्यते । कार्ये कारणशब्दप्रवृत्ति प्रतीततरत्यात् । यद्यपि विवर्जननिमित्तगुणा न्यते तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते यथा स्नेहगुणात्त्वित तामरसपत्र काचनीलीरवर्तमानमपि नाधुना लिप्यते । निरतरनिचितजीवनिकायाकुलेऽपि जगति सचरन्मपि मुनिर्न लिप्यते अप्रमत्तया प्रवृत्त पञ्चसु समितिष्विति ॥

समितिस्तत्समाहितस्य हिसादिद्वारायातपातकंयथाभावं भावयति—

मूलारा—हिसादीहिं प्राणतिपातपरितापनसंघट्टनागन्यनताकरणादिषुजीवोपघातावृतादिजनितपातकैः । ण लिप्यदि न वच्यते ॥

अर्थ—इन पांच समितिओंका पालन करनेवाला मुनि जीवसमुदायसे भरे हुए जगतमें हिसादिक पातकोंसे अलिप्त रहता है आदिशब्दसे परितापन, अर्थात् तकलीफ देना, संघट्टन जीवोंको परस्परमें मिलाना, उनके अंग कम करना, इत्यादि दोषोंसे समिति धारक यति लिप्त नहीं होता है, जो समितिओंको पालता है वह प्रमादरहित होता है प्रमादसे प्राणोंका घात करनाही हिंसा है हिसादि सहित कर्मोंको हिसादि कहते हैं अर्थात् हिसादिक कारण हैं और उससे होनेवाली क्रियायें कार्य हैं, यहां कार्यमें कारणका उपचार करके हिसादिकके कार्यकोभी हिंसा कह सकते हैं, त्याग-गुणयुक्त यति विषयोंसे भरे हुए इस जगतमें रहकरभी विषयोंमें आसक्त होते नहीं है अतः वे पापसे लिप्त नहीं होते हैं, जैसे स्नेहगुणसे युक्त कमलपत्र वेदूयंक समान नीलजलमें रहकर भी उससे लिप्त होता नहीं निरंतर प्राणिओंसे भरे हुए इस लोकमें मुनि विहार करते हैं तो भी वे प्रमादरहित होकर पांच समितिओंमें प्रवृत्त होते हैं अतः पापोंसे लिप्त होते ही नहीं

पउमणिपत्तं व जहा उदयेण ण लिप्यदि सिणेहगुणजुत्तं ॥

तह समिदीहिं ण लिप्यइ साधू काएसु इरियतो ॥ १२०१ ॥

समितो लिप्यते नाधैर्जीवमध्ये चरन्नपि ॥

स्निग्धं कमलिनीपत्रं सलिलैरिव वाःस्थिनम् ॥ १२३९ ॥

विजयोद्या—पञ्चमणिपत्र इत्यनया गायत्र्या-पञ्चपत्र यथा नोदकेन विलिप्यते स्नेहगुणसमन्वित । तथा कायेसु शरीरेषु प्राणश्रुता प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते साधुः समितिभिर्हेतुभूताभि उकार्थसमनार्थं युक्तिमुपन्यस्यति—

मूलारा—समिदीहिं समितिभिर्विधिष्टः । न लिपदि हिंसादिभिर्न वध्यते । काणसु पङ्जीवदेहेषु । इरियंतो प्रवर्तमानः । अत्र कायदाब्देन प्राणिशरीरपीडनापाद्यमानकर्मत्वपरिणतिक्रान्तगोच्यपुद्गलाः सकललोकव्यापिनो गृह्यन्ते । तथैव नष्टास्ते साध्यव्याप्तसाधनस्य दर्शयितुं शक्यत्वात् । तथा च प्रयोगः—यद्यदि वर्जनसमर्थगुणान्वितं तत्तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते । यथा जलविवर्जनश्रमस्नेहगुणान्वित पद्मिनीपत्रं जलान्तःप्रवर्त्यपि जलेन । प्राणिशरीरपीडनापाद्यमानकर्मत्वपरिणतिक्रान्तगोच्यपुद्गलविवर्जनसमर्थसमितिगुणान्वितश्च साधुस्त्रसादोक्तव्यापिषु तेषु अन्तः प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते ॥

अर्थ—स्नेहगुणसं युक्त कमलका पत्र जलमे लिप्त होता नहीं है तद्वत् प्राणिओंके शरीरोमें विहार कराने वाला यतिराज समितिओंसे युक्त होनेसे पापमे लिप्त होता नहीं

सरवासे वि पडंते जह दढकवचो ण विउझदि सरेहिं ॥

तह समिदीहि ण लिप्पइ साधू काणसु इरियंतो ॥ १२०२ ॥

वध्यते समितो नाधैः कायमध्ये अमन्नपि ॥

सन्नद्धो विध्यते कुत्र शरवर्षे रणांगणे ॥ १२४० ॥

विजयोद्या—सरवासे वि पडंते शरवर्षोऽपि पतति सति च रणांगणे यथा दढकवचो न शरेभिद्यते, तथा समितिभिर्हेतुभूताभिर्न लिप्यते हिंसादिना कायेसु वर्तमानो मुनि ॥

तमेवार्थमुदाहरणातरेण द्रढयति—

मूलारा—सरवासे वाणधृष्टौ वर्षमहणेन असकृत्प्रवृत्तिं लभयति ॥ दढकवचो अमेयसन्नाहः । अत्रापि प्रयोगः पूर्ववत्कल्पनीयः ॥

मम तीव्रा मंदा चेति सशरीरव्यवस्था च परीक्षणीया । अयमवयवद्वयं पूर्वं शृण्वीत । एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्य इति अद्यायमवयवद्वयो ममेति मीमांसा कार्या । तदनंतरं पुरतो युगांतरमात्रभूमागवलोक्तं नरत अद्रुत, अविलम्बितं, असञ्चलं ब्रजेत् । मलवबाहुर्विकृष्टचरणन्यासो निर्विकार ईषदवनतोत्तभाग । अर्कदेहेनानुदकेन अश्रुसहस्रितवहुलेन वर्धना दृष्ट्वा तु खरान्, करभान्, वलीवर्धान्, गजास्तुरगान्माहिषान्सारमेयान्कलहकारिणो वा मनुष्यान्दूरत परिहरेत् । पक्षिणो मृगाश्चाह्वारकालोद्यता वा यथा न विन्यस्यति यथा वा स्वमाहारं मुक्त्वा न व्रजन्ति तथा यायात् । मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रमार्ज्जो गच्छेद्यदि निरतरसुसमाहितफलार्थकं वाग्रतो भवेत् मार्गतरमस्ति । भिन्नवर्णो वा भूमिं प्रविशस्त-  
र्द्धणभूभाग एव आग्रप्रमार्जनं कुर्यात् । तुषणोभयभस्सुसुपलालनियय, वलोपलफलार्थकं च परिहरेत् । निधमनो न क्रुद्धे-  
त्, पूज्यमानोऽपि न तुष्येत् । न गीतनृत्यवहुलं, उद्धृतपताकं वा शृङ्गं प्रविशेत् । तथा मत्तानां शृङ्गं न प्रविशेत् । सुराण्यं-  
गनालोकगर्हितं कुलं वा, यक्षशालां, दानशालां, विवाहगृहं, चर्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि, अन्यमुक्तानि च गृहाणि  
परिहरेत् । दूरिद्रकुलानि उत्कमाव्यकुलानि न प्रविशेत् । ज्येष्ठाव्यमध्यानि समेवाटेत् । द्वारमर्गलं कवाटं वा नोद्घाटयेत् ।  
वालवत्सं, पलकं, शुनो वा नोल्लघयेत् । पुण्यैः फलैर्वीजैर्वोवकीर्णो भूमिं वर्जयेत् । तदानीमेव लिप्ता । भिक्षावत्सेषु परेषु  
लाभार्थेषु स्थितेषु तद्वहं न प्रविशेत् । तथा कुडुविषु व्यग्राधिषण्णदीनपुत्रेषु च सत्सु नो तिष्ठेत् । भिक्षामार्गेणभूमिमति-  
क्रम्य न गच्छेत् । याचामव्यक्तस्य वा स्वागमनिवेदनार्थं न कुर्यात् । विद्युदिव स्या तनु च दर्शयेत् कोऽमलभिक्षा दास्य-  
तीति अभिसार्धं न कुर्यात् । रहस्यगृहं, वनगृहं, कदलीलतागुल्मगृहं, नाट्यगार्धशालाश्च अभिनयमानोऽपि न प्रविशेत् ।  
बहुजनप्रवारे प्राणिरहिते अशुच्यपरोपरोधगर्जिते, अनिर्गमनभवेशमार्गे गृहभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिन्ने, भूभागे चतुरं-  
गुलपादान्तरो निश्चलः कुड्यस्तभ्रादिकमनवलभ्य तिष्ठेत् । छिद्रद्वारं कवाटं, प्राकारं वा न पश्येत् चोर इव । दातुरागमनमार्गे  
अवस्थानदेश, कवचच्छकभाजनादिकं च शोचयेत् । स्नानं प्रयच्छन्त्या, गार्भण्या वा दीयमानं न गृह्णीयात् । रोगिणा, अति-  
वृद्धेन, बालनोन्मत्तेन, पिशाचेन, मुग्धेनाधेन, मूढेन, दुर्बलेन, भूतेन शक्तेन, अत्यासन्नेन, अदूरेण, लजाव्यावृतमुखा,  
आवृतमुख्या, उपानदुपरिन्यस्तपादेन वा दीयमानं न गृह्णीयात् । छंदेन भिन्नेन वा कडुकच्युक्तेन दीयमानं वा । मांसं, मधु,  
नवनीतं, फलं अदरितं, मूलं, पत्रं, सांकुरं, कदं च वर्जयेत् । तत्स्पृश्यानि सिद्धान्यपि विषग्रपरसरसगंधानि, कुथितानि,  
पुष्पितानि, पुराणानि, जतुसस्पृश्यानि च न दद्यान् खानेत्, न स्पृशेच्च । उदरतोपादैनैपणादेषु दुष्टं नाभ्यवहरेत् । नवको-  
टिपरिशुद्धाहारग्रहणमेपणासमिति ॥

यन्निक्षिप्यते यत्र यदादीयते यतस्तदुभय प्रतिलेखनायोग्यं न वेति विलोक्य पश्चात्कृतमार्जनं पुनरवलोक्य  
निक्षिपेदुश्रीयाद्वा । एषा आदाननिक्षेपणसमिति । ईयांसमिति निर्लुपितैव तथा मनोगुप्तिश्च । स्फुटतरप्रकाशावलोकिकि-  
तस्य भोजनमित्याहिसावतभावना पच ॥

साप्रतं व्रतानां स्थैर्यार्थं भावना पंचशो व्याचक्षाणः पूर्वमहिंसाव्रतभावनाः पंच व्याचष्टे —

मूलारः—आलोगभोग्यण स्फुटतरप्रकाशेऽवलोकितस्य चतुर्विधस्याप्याहारस्य वल्मनं ।

समितो लिप्यते नाधैर्जीवमध्ये चरन्नपि ॥

स्निग्धं कमलिनीपत्रं सलिलैरिव वाःस्थितम् ॥ १२३९ ॥

विजयोदया—पउमणिपत्त इत्यनया गाथया-पञ्चपत्र यथा नोदकेन विलिप्यते स्नेहगुणसमन्वितं । तथा कायेषु शरीरेषु प्राणभृता प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते साधु समितिभिर्हेतुभूताभिः ॥

उक्तार्थसमनार्थं युक्तिमुपन्यस्यति—

मूलारा—समिदीहिं समितिभिर्विजिह्वितं । न लिप्यति हिंसादिभिर्न वध्यते । काण्डेषु पङ्कजीवदेहेषु । इरियंतो प्रवर्तमान । अत्र कायशब्देन प्राणिशरीरपीडनापाद्यमानकर्मत्वपरिणतिक्रान्तयोग्यपुद्गलाः सकललोकव्यापिनो गृह्यते । तथैव दृष्टते माध्यव्याप्तसाधनस्य दर्शयितुं शक्यत्वात् । तथा च प्रयोगः—यद्यद्वि वर्जनसमर्थगुणान्वितं तत्तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते । यथा जलविवर्जनक्षमस्नेहगुणान्वित पद्मिनीपत्रं जलान्तःप्रवर्त्यपि जलेन । प्राणिशरीरपीडनापाद्यमानकर्मवत्परिणतिक्रान्तयोग्यपुद्गलविवर्जनसमर्थसमितिगुणान्वितश्च साधुस्तस्माद्लोकव्यापिषु तेषु अन्तः प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते ॥

अर्थ—स्नेहगुणसे युक्त कमलका पत्र जलसे लिप्त होता नहीं है तद्वत् प्राणिओंके शरीरोंमें विहार कराने वाला यतिराज समितिओंसे युक्त होनेसे पापमें लिप्त होता नहीं

सरवासे वि पडंते जह दढकवचो ण विज्झदि सरंहे ॥

तह समिदीहि ण लिप्पइ साधू काण्डेषु इरियंतो ॥ १२०२ ॥

वध्यते समितो नाधैः कायमध्ये भ्रमन्नपि ॥

सन्नाद्धो विध्यते कुत्र शरवर्षे रणांगणे ॥ १२४० ॥

विजयोदया—सरवासे वि पडते शरवर्षेऽपि पतति सति च रणांगणे यथा दढकवचो न शरैर्भिद्यते, तथा समितिभिर्हेतुभूताभिर्न लिप्यते हिंसादिना कायेषु वर्तमानो मुनिः ॥

तमेवार्थमुदाहरणातरेण द्रढयति—

मूलारा—सरवासे चाणवृष्टौ वर्षाग्रहेण असकृत्पवृत्तिं लभ्यति ॥ दढकवचो अभेद्यसन्नाहः । अत्रापि प्रयोगः पूर्ववत्कल्पनीयः ॥

अर्थ—रणांगणमें चाणोंकी बृष्टि होनेपर भी जिसने बृह वकतर धारण किया है ऐसा शूरपुरुष भिन्न नहीं होता है अर्थात् वह शरवृष्टिमें सचार करता हुआ भी अक्षतही रहता है वैसे समितिरूपी कवच धारण करनेवाले मुनिरूपी योद्धा भी हिसादि चाणोंसे अक्षत ही रहते हैं. जीवनिकायमें विहार करते हुए भी वे पापोंसे अलिप्त ही रहते हैं

जत्येव चरइ बालो परिहारण्हू वि चरइ तत्येव ॥

वज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू वि मुच्चइ सो ॥ १२०३ ॥

बालश्चरति यत्रैव तत्रैव परिहारवित् ॥

वध्यते कल्मषैर्याल इतरो मुच्यते पुनः ॥ १२४२ ॥

विजयोदया—जत्येव चरइ बालो यत्रैव क्षेत्रे चरति जीवपरिहारकमानभिन्न । परिहारण्हू वि जीववाधा परिहारक्रमज्ञोऽपि तत्रैव चरति । तथापि वज्झदि सो पुण बालो वध्यते पुनरसौ शानयालश्चारिवालश्चासौ । परिहारण्हू परिहारक । मुच्चइ मुच्यते कर्मलेपात् ॥

समानदेशचारिणोरप्यज्ञविश्वयोः पापवधायधौ दर्शयति—

मूळारा—जत्येव यत्रैव क्षेत्रे । चरति गमनाविक्रियासु प्रवर्तते । बालो वधपरिहारकमानभिन्नः । वज्झदि पापैर्वध्यते । मुच्चदि पापलेपान्मुच्यते पापेनं ह्रियते वेत्यर्थः ॥

अर्थ—जीवोंकी बाधाका परिहार करनेका क्रम जिसको ज्ञात नहीं हुआ है ऐसा अज्ञ जीव जिस जगहमें रहता है उसी जगहमें जीवबाधाका परिहार करनेवाले मुनिभी रहते हैं. परंतु अज्ञ जीव कर्मसे बद्ध होता है अर्थात् ज्ञानसे बाल और चारित्रसे बाल ऐसा अज्ञ कर्मबद्ध होता है परंतु ज्ञानी और चारित्रवान् जीव कर्मबद्ध होता नहीं है.

उक्तमर्थमुपसहस्रत्युत्तरगाथया—

तस्मा चेष्टिदुकामो जइया तइया भवहिं तं समिदो ॥

समिदो हु अण्णमण्णं णादियदि खवेदि पोरणं ॥ १२०४ ॥



यदा तदा ततश्चेष्टां चिकीर्षुः समितो भव ॥

पुराणं श्रियते कर्म नाप्नोति समितो नवम् ॥ १२४३ ॥

विजयोदया—यस्मात्समितिषु प्रवर्तमानो न वध्यते, पापेन मुच्यते । असमितस्तु महता वध्यते कर्मसमूहेन तस्मात् । तम्हा चेष्टिदुकामो गमनभायणाद्याभिलाषी । जइया तइया यदा तदा । त भवान् । समितो भवाहि समितिपरो भवेति निर्यापकसुरिराह क्षपकं । समितो खु समित सम्यक्प्रवृत्त ईर्यादियु । अणमण्णं कर्म अन्यत् अन्यत् । प्रत्यग्रं । णादियदि नैवादत्ते । खवेदि पोरणं प्राक्तनं च कर्म क्षपयति निर्जरयति ॥

एवमीर्यादिसमितीव्यायोपसहरंस्तासु क्षपक नियोक्तुमुशस्ति—  
मूलारा—यस्मादसमितः पौर्वेव्यते समितस्तु पापैरपि मुच्यते तस्माद्धेतोः । चेष्टिदुकामो निरवद्यप्रयोजनार्थि-

तथा गमनादियु प्रवर्तितुमिच्छन् । जयिगा तइगा यदा तदा सर्वदेत्यर्थः । भवाहि तं भोः क्षपकराज ! भव त्वं । समितो ईर्यादियु श्रुतिनिरूपितक्रमेण प्रवृत्तः । अणमण्णं अपरस्पर पापं । कम्ममण्णमिति पाठे कर्मान्यदित्यर्थः । णादियदि नैवादत्ते । उक्तं च—

यदा तदा ततश्चेष्टा चिकीर्षुः समितो भवः ॥  
समितो न नवं कर्म लाति क्षपयतीतरत् ॥

इदमत्रोक्तार्थसंग्रहदृत्तमवग्राह्यम् ।

पापेनान्यवेष्टपि पद्ममण्डोऽप्युदेव नो लिप्यते ॥

यद्युक्तो यदनाहतः परवधाभावेऽप्यलं वध्यते ॥

यद्योगादधिराह संयमपदं भाति व्रतानि ह्या-

न्ययुक्ताति च गुप्तयः समितयस्ता नित्यमित्याः सताम् ॥

उपरके अर्थकाही आचार्य आगेकी गाथामें उपसहार करते हैं।  
अर्थ—समितिओंमें प्रवृत्ति करनेवाले मुनि पापसे बद्ध होते नहीं वे उमसे मुक्त होते हैं, जो समितिरहित

प्रवृत्ति करते हैं वे कर्मसमुदायसे बंध जाते हैं, इस लिये जाना, जाना, भाषण करना इत्यादि कार्य करनेके अभि-  
लाषीओंको चाहिये कि वे समितिओंमें तत्पर रहे इसलिये हे क्षपक ! तुम समितिमें तत्पर रहो, जो समितिओंमें  
तत्पर रहते हैं उन्हें नवीन २ कर्मका बंध नहीं होता है और उनका पूर्वबद्ध कर्म झड़ जाता है

प्रदाओ अष्टपवणमादाओ णाणदंसणचरि ॥ १२०५ ॥

पुद्गाः। मुनिणो मादा पुद्गा यतेः॥  
गन्धवति सदा मुनि गन्धत्रयं यतेः॥

एवर्वाति सदा, पुनः पांति रत्नत्रयं यतः ॥ १२४८ ॥

राद्धांतमातरोऽष्टौ ताः पातः ॥ १२४० ॥  
तनुजस्येव जीवितम् । तनुजस्यो प्रयत्ना ।  
पाणद्वंसचरित्त

ननन्यो यत्नतो नित्यं तनुजस्थेव प्रयता । प्रयता माता पुत्र  
राक्षतेनातु । पयवामो प्रयता । प्रयता माता पुत्र

जनन्यो यत्नताः पला अप्रवचनमाहका पुत्र जननी पुत्र यथा । प्रपुत्र

पाथो महृषयणमादासा । मावा पुत्रं न जया ।  
सि मात्रयन्ति सवा मुने ।

वारिष्माणि पालयन्ति सर्वा मुमु

न्यास्तेन स्पृष्टयति—  
 र्थः प्रयत्नपराश्र ।

[illegible]

पतिना प्रवचनमाधु-  
सि कपायमुत्तारयन्ति । पयदाजो सम्यक्प्रचारित्र  
सम्यग्ज्ञान- और सम्यक्चाारेत्र समितिषां रत्न

प्रत्यक्षपूर्वक' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सामातया

प्रवचनमाताय प्रयत्नपूर्वक सेना है उसको बचाती है वस य दुः।।

मन्त्रों में सावधान माता अपायों से जसे उसका प्रवचन प्राप्त

सर्वेभ्यः सावधानं भाष्यं देती ह । तत्र

उत्सर्गं दोष उत्पन्नं न हानं पणं ।  
अखंडमाराधयतश्चास्ति आराधना ॥

उसम पूः । त्रयोदशविं चारिं अखडमारोपयति ॥

रूपणयोत्तरप्रबंध । न्यायशास्त्रे भाष्ये अहिंसाव्रतभावनं इति पाठः ॥

मणेरुत्ता ॥  
रूपणाया सत्त्वमिद्विस्तवमे ॥  
एकैकस्य पच पंचामिद्विस्तवमे ॥  
मणेरुत्ता ॥

प्रमण्डलानि खेवादानि रियासामदा तदा ॥ १२०६ ॥

एसणाणवखवा३॥ य अहिंसाए भावणा हात ॥  
 येसेणां वि० य ॥

आलोच्यभूयणं वि० य आह ॥ १२५ ॥  
निष्प्रेयैक्षिताशिताः ॥ १२६ ॥

आलोचयन्त्याणां निक्षेपयक्षता। शतम् ॥ १२४५ ॥

[illegible]

महाव्रते मता जनेरादभा । एषणसमिदी एषणसाभातराक्षणा । द्योति-  
निकावतस्य । भावणा भावनाः । द्योति-

महोदधौ । एषेणलान् । अहिंसाव्रतस्य । भावणा ।  
पश्यन्निष्क्रेयावाणि रियासमित्री । अहिंसाप । अहिंसाव्रतस्य । भावणा ।

या—एसणापिक्खवाधोणा... आहिसास आहारा  
या—एसमोज्जण च आलोकोमोज्जन च । आहिसास आहारा  
या—एसमोज्जण च आलोकोमोज्जन च । आहिसास आहारा

॥ आलोच्यमोजन न आलोच्यमोजन ॥ ग्रामनगरादिषु इत्युक्ता कालोऽवगन्तव्यः ॥

समितिर्निरूप्यते । अलं ।  
 कालञ्चयं ज्ञातव्यं । प्रमाणविना  
 कालञ्चयं कालश्चेति । प्रमाणं कालञ्चयः ।

लः, दुमुक्षाकालोऽवग्रहकालश्चात कालः प्रमाणानु-

मय, अस्य वा कुलस्य वाटस्य वायु, मीजनाल  
ल, वृक्षपाल, वृक्षपाल, वृक्षपाल, वृक्षपाल

मनु, अस्य वाङ्मूलं

मम तीव्रा मदा वेति खशरीरव्यवस्थां च परीक्षणीया । अयमवग्रह पूर्व गृहीत । एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्य इति अद्यायमवग्रहो ममेति भीमासा कार्या । तदनतरं पुस्तो युगातरमाश्रमभूमागावलोकनरत अदुतं, अविलवित, असंश्रान्तं ब्रजेत् । प्रलववाहुरविकृष्टचरणन्यासो निर्विकार ईपदवनतोत्तभांग । अकर्द्वेनानुवकेन अत्रसहस्रितवहुलेन वर्धना दृष्ट्वा तु खरात्र, करभात्र, वलीवर्धनं, गजास्तुरगानमहियान्सारमेयान्कलहकारिणो वा मनुष्यान्दूरत परिहरेत् । पक्षिणो मृगाश्चाहारकालोद्यता वा यथा न विभ्यति यथा वा स्वमाहारमुक्त्वा न ब्रजन्ति तथा यायात् । मृदुना प्रतिलेखनेन कृतप्रमार्जनो गच्छेद्यदि निरतरसुसमाहितफलादिकं वाग्रतो भवेत् मार्गातरमस्ति । भिन्नवर्णा वा भूमिं प्रविशंस्त्-  
र्णभूभाग एव अगप्रमार्जनं कुर्यात् । तुपगोमयभस्मसुसपलालानिचय, दलोपलफलादिकं च परिहरेत् । निंद्यमानो न कुध्ये-  
त्, पूज्यमानोऽपि न तुष्येत् । न गीतनृत्यबहुल, उद्धितपताक वा गृहं प्रविशेत् । तथा मत्साना गृहं न प्रविशेत् । सुरापण्या-  
गनालोकगर्हितं कुल वा, यज्ञशाला, दानशाला, विवाहगृह, वार्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि, अन्यमुक्तानि च गृहाणि  
परिहरेत् । द्दिद्रकुलानि उक्तमाख्यकुलानि न प्रविशेत् । ज्येष्ठपक्षमध्यानि सममेवाटेत् । द्वारमगलं रुचाटं वा नोद्घाटेयत् ।  
वालवत्सं, पलकं, शुनो वा नोद्घयेत् । पुलैः फलैर्वीजैर्वावकीर्णो भूमिं वर्जयेत् । तदानीमेव लिप्ता । भिक्षाचरेषु परेषु  
लाभार्थिषु स्थितेषु तदेहं न प्रविशेत् । तथा कुटुंबेषु व्यग्राधिपपणदीनसेषु च सत्सु नो तिष्ठेत् । भिक्षामार्गणभूमिमति-  
क्रम्य न गच्छेत् । याचामव्यक्तस्वन वा स्वागमनिवेदनार्थं न कुर्यात् । विद्युदिव स्वा तनु च वर्शयेत् कोऽमलभिक्षा दास्य-  
तीति आभिसार्धं न कुर्यात् । रक्षस्यगृह, वनगृह, कदलीलतागुल्मगृहं, नाट्यगार्धशालाश्च अभिनेद्यमानोऽपि न प्रविशेत् ।  
बहुजनप्रचारे प्राणिराहिते अशुच्यपरोपरोधवाजिते, अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहेभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिद्रे, भूमौ चतुरं-  
गुलपादान्तरो निश्चलः कुड्यस्तंमादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत् । छिद्रद्वार कवाट, प्राकारं वा न पश्येत् चोर इव । दातुरागमनमार्गो  
अवस्थानदेश, कडुच्छकभाजनादिकं च शोधयेत् । स्तन प्रयच्छन्त्या, गर्भण्या वा दीयमानं न गृह्णीयात् । रोगिणा, अति-  
वृद्धेन, बालेनोमत्सेन, पिशाचेन, मुग्धेनाथेन, मूकेन, दुर्बलेन, भ्रूतेन शक्तितेन, अत्यासन्नेन, अदूरेण, लज्जाव्यावृतमुष्या,  
आवृतमुष्या, उपानदुपरित्यस्तपादेन वा दीयमानं न गृह्णीयात् । खंडेन भिन्नेन वा कडुकन्धुकेन दीयमानं वा । मांसं, मधु,  
नवनीतं, फल अदारित, मूल, पत्रं, साकुरं, कदं च वर्जयेत् । तत्स्पृष्टानि सिद्धान्त्यपि विषयस्वरूपसंग्रहानि, कुथितानि,  
पुष्पितानि, पुराणानि, जतुसस्पृष्टानि च न दद्यान् खार्जेत्, न स्पृशेच्च । उद्गमोत्पादवैपणदोषदुष्टं नाभ्यवहरेत् । नवको-  
टिपरिशुद्धाहारग्रहणमेवणासमिति ॥

यन्निक्षिप्यते यत्र यदादीयते यतस्तदुभयं प्रतिलेखनयोग्यं न वेति विलोप्य पश्चात्कृतमार्जनं पुनरवलोक्य  
निक्षिपेद्गृह्णीयाद्वा । एषा आदाननिक्षेपणासमिति । ईर्यासमिति निरूपितैव तथा मनोगुप्तिश्च । स्फुटरप्रकाशावलोकिकि-  
तस्य भोजनमित्यर्हिसाव्रतभावना. पञ्च ॥

साप्रत व्रताना स्वेर्यार्थं भावनाः पंचशो व्याचक्षणः पूर्वमर्हिसाव्रतभावनाः पंच व्याचष्टे —

मूलारा—आलोगभोग्येण स्फुटरप्रकाशेऽवलोकितस्य चतुर्विधस्याव्याहारास्य बलभर्त्तनं ।

अब व्रतोंकी भावनाओंका आचार्य वर्णन करते हैं. चारित्रिके गुप्ति, समिति और अहिंसादिक घत ऐसे तै. प्रकार हैं. भावनाओंसे व्रतोंमें स्थिरता उत्पन्न होती हैं. एकैक व्रतकी पांच २ भावनायें आचार्योंने कही हैं प्रथमतः अहिंसा व्रतकी भावनाओंका आचार्य वर्णन करते हैं—

एषणासमिति, आदाननिक्षेपासमिति, ईर्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोकित पानभोजन ऐसी पांच अहिंसाव्रतकी भावनाएँ हैं

अब एषणा समितीका वर्णन—भिक्षाकाल, बुधुशकाल और अवग्रहकाल ऐसे तीन काल हैं गांव, शहर वगैरह स्थानोंमें इतना काल व्यतीत होनेपर आहार तयार होता है, अमुक महिनेमें, अमुक कुलका, अमुक गल्लीका अमुक भोजन काल है यह भोजनकालका वर्णन है.

बुधुशकाल—आज मेरेको भूख तीव्र लगी है या मंद लगी है मेरे शरीरकी तबियत कैसी है इसका विचार करना यह बुधुशकालका स्वरूप है.

अमुक नियम मैंने कल ग्रहण किया था, इस तरहका आहार मैंने भक्षण न करनेका नियम लिया था, आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार करना इसको अवग्रहकाल कहते हैं.

इतना विचार होनेपर आहार के लिये जब मुनि निकलते हैं तब आगे चार हाथ प्रमाण जमीनका निरीक्षण कर जलदी, अति सावकाश और गडबडी ऐसे दोणोंका त्यागकर गमन करना चाहिये. जाते समय अपने हाथ नीचे छोड़कर चलना चाहिये दूर अन्तरपर पांव रखते हुए नहीं जाना चाहिये निर्विकार होकर और अपना मस्तक थोडासा नीचे करके जाना चाहिये जिसमें कीचड नहीं है, पानी फैला हुआ नहीं है जो त्रस और हरितकाय जतुओंसे रहित है ऐसे मार्गसे प्रयाण करना चाहिये मार्गमें गदहा, ऊट, बैल, हाथी, घोडा, भैंसा, कुत्ता और कलह करने वाले लोक इनका दूरेही त्याग करे अर्थात् इनके समीपसे गमन नहीं करना चाहिये आहार करनेवाले पशु पक्षी आँकी अपनेसे भीति उत्पन्न न हो और वे अपना खाना छोड़कर न भागे इस तरहसे मुनिको आहारार्थ जाना चाहिये

रास्तेमें जमीनसे समान्तर फलक पत्थर वगैरे चीज होगी, अथवा दूसरे मार्गमें प्रवेश करना पड़े, अथवा भिन्न वर्णकी जमीनपरसे चलना हो तो जहाँसे भिन्नवर्णका ग्राम हुआ है वहाँ खड़े होकर प्रथम अपने सर्व अंग परसे पिच्छिका फिरानी चाहिये. धानके छिलके, गोबर, मसमका ढेर, भूसा, वृक्षके पत्ते, पत्थर फलकादिकोंका पारिहार करके गमन करना चाहिये

किसीने निंदा की तो क्रोधित न होना चाहिये और किसीने आदर किया तो आनन्दित न होना चाहिये अर्थात् तोप और रोपका त्याग करके जाना चाहिये जहाँ गति नृत्य हो रहा है, जहाँ पताकाओंकी पंक्ति सजाई जा रही है, ऐसे घरमें प्रवेश न करे मत्त पुरुषोंके घरमें प्रवेश न करे, मदिरागृह अर्थात् मदिरा पीनेवालोंका स्थान, वेस्याका गृह, लौकनिधय कुलोंका त्याग करना चाहिये यज्ञशाला, दानशाला, विवाहगृह, जहाँ प्रवेश करनेकी मनाई है, जो पहरेदारोंसे युक्त है, जिसको अन्य भिक्षुओंसे छोड़ा है ऐसे श्रहोंका त्याग करना चाहिये।

अतिशय दरिद्री लोगोंके गृह, आचार विरुद्ध चलनेवाले, श्रीमत लोगोंके गृहका त्याग करे बड़े, छोटे, और मध्यम ऐसे घरोंमें प्रवेश करना चाहिए

यदि द्वार बंद होगा, अर्गलासे बंद होगा तो उसको उघाड़ना नहीं चाहिये छोटा बछड़ा, बकरा, और कुत्ता इनको लांघ कर नहीं जाना चाहिए, जो जमीन, पुष्प फल और बीजोंसे व्याप्त हुई है उसपरसे जाना निषिद्ध है, हाल ही जो लीपी गई है, जहाँ अन्य भिक्षुक आहार लाभके लिए खंडे हुए हैं ऐसे घरमें प्रवेश निषिद्ध है।

जहाँके मनुष्य, किसी कार्यमें तत्पर दीखते हो, खिन्न दीख रहे हो उनका मुख दीनतायुक्त दीख रहा हो तो वहाँ ठहरना निषिद्ध है

जहा अन्य भिक्षु ठहरते हैं तथा जहाँ भिक्षा ग्रहण करते हैं उस भूमीको उल्लंघन कर आगे गमन नहीं करना चाहिये याचना करना, अथवा अपना आगमन सूचित करनेके लिये अस्पष्ट शब्द बोलना निषिद्ध है, बिजलीके समान अपना शरीर दिखाना चाहिये मेरेको कोन श्रावक निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा संकल्प नहीं करे

एकान्तगृह, उद्यानगृह, कदलीओंसे बना हुआ गृह, लतागृह, छोटे २ वृक्षोंसे आच्छादित गृह, नाव्य, शाला, गंधर्वशाला, इन स्थानोंमें प्रातःग्रह करनेपर भी प्रवेश करना निषिद्ध है

जिसमें बहुत जनोका प्रचार नहीं है, जो प्राणिरहित है अपवित्रता और परोपरोधरहित-अर्थात् दूसरोंका जहाँ प्रतिबंध नहीं है ऐसे घरमें जाने आनेका मार्ग छोड़कर गृहस्थोंने प्रार्थना करनेपर खड़े होना चाहिये, समान, छिद्ररहित ऐसे जमीनपर अपने दोन पावोंमें चार अंगुल अंतर रहेगा इस तरह निश्चल खड़े रहना चाहिये, भीत, खान बगैरहका आश्रय न लेकर स्थिर खड़े रहना चाहिये

चोरके समान, छिद्र, दरवाजा, किवाड़, तट वगैरहका अवलोकन न करे, दाताका आनेका रस्ता उसका खड़े रहनेका स्थान, पत्नी और जिसमें अन्न रखा है ऐसे पात्र इनकी शुद्धताके तरफ विशेष लक्ष्य देना चाहिये।

जो अपने बालकको स्तनपान करा रही है और जो गर्भिणी है ऐसी स्त्रियोंका दिया हुआ आहार न लेना चाहिये। रोगी, अतिशयवृद्ध, बालक, उन्मत्त, अध, गूगा, अशक्त, भययुक्त, शंकायुक्त, अतिशय नजदीक जो खड़ा हुआ है, जो दूर खड़ा हुआ है, ऐसे पुरुषसे आहार नहीं लेना चाहिये। लज्जास जिसने अपना मुँह फेर लिया है, जिसने अपना मुँह ढक लिया है, जिसने जोड़ा अथवा चप्पलपर पांव रखा है, जो उंचे जगहपर खड़ा हुआ है, ऐसे मनुष्यका दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिये। टूटी हुई अथवा खंडयुक्त हुई ऐसे पत्नीके द्वारा दिया हुआ नहीं लेना चाहिये।

मांस, मद्य, मक्खन, नहीं विदारा हुआ फल, मूल, पत्र, अंकुर और कदका त्याग करना चाहिये। इन पदार्थोंका स्पर्श जिसको हुआ है वह अन्न भी त्यागना चाहिये, जिनका रूप, रस, गंध, स्पर्श, चलित हुआ है, जो कुथित हुआ है अर्थात् खराब हुआ है, जिसको जंतुओंने स्पर्श किया है ऐसा अन्न न देना चाहिये, न खाना चाहिये और उसको स्पर्श भी नहीं करना चाहिये। उद्गम, उत्पादन, एषणा दोषोंसे दूषित आहार नहीं खाना चाहिये। नऊ कोटीसे परिशुद्ध आहार ग्रहण करना एषणासमिति है।

जो चीज जहां रखना हो, और जो चीज जहांसे उठाना हो वे दोनों पिछीसे स्वच्छ करना योग्य है या नहीं है। इसका विचार कर नंतर उनको स्वच्छ करना चाहिये और वह चीज रखनी चाहिये या उठानी चाहिये इसको आदाननिक्षेपण समिति कहते हैं। ईयासमितिका और मनोगुप्तिका वर्णन पूर्वमें किया है अधिक स्पष्ट प्रकाशमें देखकर भोजन करना अर्थात् सूर्य प्रकाशमें भोजन करना ऐसी अहिंसाव्रतकी पांच भावनायें हैं।

द्वितीयव्रतभावना उच्यते—

कोधमयलोभहरसपदिष्णा अणुवीचिभासणं चेव ।

विदियरस भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥ १२०७ ॥

हास्यलोभभयक्रोधप्रत्याख्यानानि योगिताः ॥

सूत्रानुसारिवाक्यं च द्वितीये पंच भावनाः ॥ १२४६ ॥

विजयोद्धा—क्रोधभयलोभहास्याना प्रत्याख्यानानि चतस्रः । आणुवीचिभासणं चेव सूत्रानुसारेण च भाषणं । सत्या, मृणा, सत्यमृणा, असत्यमृणा चेति चतस्रो वाचः । तत्र सत्या असत्यमृणा वा व्यवहृणीया नेतरद्वयं । क्रोधादीनामसत्यवचनकारणाना प्रत्याख्याने असद्वाक्यपरिहृता भवति नान्यथा ॥

अनृतविरतिभावनाः पंच सूचयति—

मूलारा—पदिण्णा त्यागः । क्रोधादीना प्रत्याख्याने एवासत्यासत्यानृतवचसी त्यक्तु शक्येते तेपा तत्कारणत्वादिति तत्प्रतिज्ञाश्चतस्रो भावनाः भणिताः ।

दूसरे व्रतकी सत्यव्रतकी भावना कहते हैं—

अर्थ—क्रोध, भय, हास्य और लोभ का त्याग करना ये चार भावनाये और सूत्रानुसार भाषण करना ऐसी सत्यव्रतकी पांच भावनाये हैं सत्यवचन, असत्यवचन, सत्यमृणा और असत्यमृणा ऐसे वचनके चार प्रकार हैं उसमेंसे सत्यवचन और असत्यवचन ऐसे दो वचन व्यवहार योग्य माने हैं बाकीके दो व्यवहार योग्य नहीं हैं क्रोध, भय, लोभ और हास्य असत्यभाषणके कारण हैं उनका त्याग करनेसे असत्यवचनोंका परिहार होता है। अन्यथा नहीं।

द्वितीयव्रतभावना उच्यते—

अणुणुणादग्गहणं असंगबुद्धी अणुणुणवित्ता वि ॥

एदावंतियउग्गहजायणमघ उग्गहाणुस्स ॥ १२०८ ॥

असम्ममताग्रहः साधोः सम्मतासत्तबुद्धिता ॥

दीयमानस्य योग्यस्य गृहीतिरुपकारिणः ॥ १२४७ ॥

विजयोद्धा—अणुणुणादग्गहणं तस्य सामिभिरननुदातस्य अग्रहण । ज्ञानोपकरणोद् अणुणुण वित्ता वि पराजुक्षा संपाद्य गृहीतेऽपि असत्तबुद्धिता । पद्मावतिय उग्गहजायणं पतत्परिमाणमिदं भवता दातव्यमिति प्रयोजनमात्रपरिग्रह यावदाचितो यावद्वृद्धमि इति न बुद्धि कार्या । उग्गहणुस्स ग्राह्यवस्तुज्ञानस्य इद ज्ञानसयमयोः रस्यतरस्य साधनमतरेण ज्ञान चारित्रं चा मम न सिध्यतीति तस्य ग्रहणं नानुपयोगिनो याचतश्च ते ।

अस्तेयव्रतभावनाः पंच गाथाद्वयेन निगदति—

मूलारा—अणुणुणादागहणं अननुज्ञाताग्रहणं । वसतिशयनासनपुस्तकास्तत्त्वामिभिरननुज्ञाता । असगबुद्धी  
अणुणुणित्तावि असगबुद्धिरननुज्ञात्वापि तत्त्वामिं इच्छाकार कारयित्वा गृहीतेऽपि ज्ञानादिसाधनानेजनासक्तचित्ता ।  
पठनाद्यर्थं परेषा पुस्तकादिक याचित्वा यद्गृहीत तत्रालोभममनमित्यर्थः । सैषा द्वितीया । एतावन्तियुग्मगृहजायण  
एतावदिति वावग्रहयाचन । एतत्परिमाणमिदं मे भवद्भिर्दत्तव्यमिति स्वप्रयोजनसाधनमात्रस्य अवग्रहस्य परिग्रहस्य पुस्त-  
कादेर्याचनं । याचितो दाता यावद्दाति तावद्गृह्यामीति बुद्धेरकरणमिति भावः सैषा तृतीया । कस्यैता इत्याह—उग-  
हणस्स अवगृह्यते धर्मागतया परिगृह्यते इत्यवग्रहोऽवग्रहो ग्रहणयोग्यं वस्तु पुस्तकादिकं । अवग्रहं जानातीत्यवग्रहस्तस्या-  
वग्रहास्येत्यर्थः

तीसरे व्रतकी भावनाओंका वर्णन—

अर्थ—ज्ञानोपकरणादिक अर्थात् शास्त्र, पिछी, कमडल्वादिक पदार्थ जिसके हैं उसकी परवानगी यदि  
न होगी तो उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए. उनकी अनुज्ञासे शास्त्रादिकोंको ग्रहण करने पर भी उनमें आसक्ति न  
रखना, इतना आप मेरेको दीलिए क्योंकि मेरा इतनेसे ही प्रयोजन सिद्ध होगा ऐसा मनमें विचार कर उतनी ही  
वस्तु मांगना चाहिए. जितनी वस्तु दाता देगा उतनी सब मैं ग्रहण करूंगा ऐसी भावना अर्चोर्ध्वत धारक को  
करना योग्य नहीं है. जिस वस्तु से ज्ञान और चारित्र की सिद्धि होगी जिसके बिना ज्ञान और चारित्रकी प्राप्ति  
न होगी ऐसी वस्तु लेना यतिको योग्य है. अनुपयोगी वस्तुकी याचना करना योग्य नहीं है

वज्जमणणुणादिगिहप्पवेसस्स गोयरादीसु ॥

उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तहए ॥ १२०९ ॥

अग्रवेशोऽननुज्ञाने योग्ययांचाविधानतः ॥

तृतीये भावना पंच प्राज्ञैः प्रोक्ता महाव्रते ॥ १२१८ ॥

विजयोदया—वज्जमणणुणादिगिहप्पवेसस्स गृहस्वामिभिरननुज्ञातस्य गृहप्रवेशवर्जनं भावना । गोयरादीसु  
गोचरादिषु इदं धेयं प्रविश, अत्र वा तिष्ठेति योऽननुज्ञातो देशस्तस्य अग्रवेशन । उग्गहजायणमणुवीचिए अवग्रहयाचना  
सामानुसारेण तृतीये भावना ॥



मूलारा—वज्जणमणुण्णादग्निहोत्रपवेसस्स वर्जनमननुजातगृहप्रवेशस्य । गृहस्वामिभिरिदं गृहं प्रविशान् तिष्ठ इत्येवमनुजातगृहप्रवेशस्य गृहस्वामिभिरिदं गृहं प्रविशान् तिष्ठेत्येवमननुजाते प्रदेशे प्रवेशस्य वर्जनं । क तद्विद्याह गोयारा-दीसु गोचरे भ्रमेयं वमत्याद्यवस्थानश्रुतनादिकर्मणि च । सेवा चतुर्थी । उगगहजाग्रमणुवीचिए अवग्रहयाचनमनुवीच्या । समीपं गत्वैव भवद्भिर्मे दातव्यमिति सूत्रानुसारेण योग्यस्य परिग्रहस्य प्रार्थना । एतेनैतदपि संगृहीतं शून्यागारविमोचिता-वासपरोपरोधान्तरणमैश्वर्यशुद्धिसर्वमदिसवाढा पंचेति सेवा पचमी । तथा तथा पचेल्यर्थः ॥

अर्थ—गृहके स्वामीने यदि घरमें प्रवेश करनेकी मनाई की होगी तो उसके घरमें प्रवेश करना यतिकी निषिद्ध है अर्थात् इस घरके प्रदेशमें आप प्रवेश कर सकते हैं इस रीतीसे यदि परवानगी न हो तो वहां प्रवेश करना अनुचित होगा आगमसे अविरुद्ध ज्ञानसंयमोपकरणकी याचना करनी चाहिये इसप्रकार अर्चयैव्रतकी भावनायें हैं

महिलालोयणपुञ्जरदिमरणं संसत्त्वसहित्रिकहाहि ॥

पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पच वंभस्स ॥ १२१० ॥

महिलालोक्रनालापौ चिरंतनरतस्मृतिं ॥

वासं संसत्त्वस्तृनां बलिष्ठाहारसेवनम् ॥ १२४९ ॥

योगिनो मुच्यमानस्य विरागीभूतेतसः ॥

तुरीये भावना पंच संपद्यते महाव्रते ॥ १२१० ॥

विजयोद्या—महिलालोयणपुञ्जरदिसरणसत्त्वसविविक्काहिं । स्त्रीणामालोक्य, पूर्वानुस्मरण, स्त्रीभि-राकुला या वसति शृगारकथा इत्येतद्विरतय । पणिदरसेहिं य विरदी बलदर्पकरेभ्यो विरतिश्चेति पंच व्रतभावना ॥ त्रसार्चयभावना पंचाह—

मूलारा—पुञ्जरदिमरण प्राक्सेवितमैथुनस्मरणं । संसत्त्वसधि स्त्रीभिराकुला वसति । असयतजनयुक्तवमति-रित्यन्यः । विकथा शृगारकथा । पणिदरसेहिं बलदर्पकरेभ्यो रसेभ्यः ।

अर्थ—स्त्रीओंके अंग देखना, पूर्वानुभूत संभोगादिकका स्मरण करना, स्त्रियां जहाँ रहती हैं वहाँ रहना

शृंगारकथा करना इन चार चातोसे विरक्त रहना ये चार ब्रह्मव्रतकी भावनायें हैं जिमसे बल और उन्मत्तता अर्थात् कामविभ्रान्त होगा ऐसे पदार्थोंका त्याग करना चाहिये ये ब्रह्मचर्य की पांच भावनायें हैं.

अपङ्गिगहस सुणिणो सद्वक्त्रिसरसयरूवगधेषु ॥

रागद्वोसादीण परिहारी भावणा हुति ॥ १२११ ॥

यतः स्पर्शो रसे गधे वर्णे शब्दे शुभाशुभे ॥

रागद्वेषपरित्यागो भावनाः पंच पचमे ॥ १२५१ ॥

विजयोदया—अपरिगहस्स सुणिणो परिग्रहरहितस्य मुने । सहस्ररिसरसयरूवगधेषु शब्दस्पर्शरसरूपगधेषु मनोजेषु । रागद्वोसादीण रागद्वेषयो परिहारी विषयभेदात्पचप्रकारभावना पचमस्या ॥

ननोजेतत्परपञ्चद्विचार्यपरिहार्यभेदात्पंचपरिग्रहतभावना प्राह—

मुद्रारा—अपरिगहस्स नैत्रैन्त्यस्य । दोसादीण आदिशब्देन मोहस्यापि ग्रहणं ॥

अर्थ—परिग्रहरहित मुनि मनोज्ञ और अमनोज्ञ ऐसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द इनमें राग द्वेष करते हैं, अर्थात् स्पर्शादि पांच इष्टानिष्ट विषयोंमें रागद्वेष नहीं करना ये पांच परिग्रहत्यागव्रत की पांच भावनायें हैं.

भावनामाहात्म्य कथयति—

ण करेदि भावणाभाविदो खु पीडं वदाण सत्वेसिं ॥

साधू पासुत्तो समुहदो व किमिदाणि वेदतो ॥ १२१२ ॥

भावना भावयन्नेता संयतो व्रतपीडनम् ॥

विविधाति न सुप्पोऽपि जागरूक कथं पुनः ॥ १५५२ ॥

विजयोदया—ण करेदि खु न करोत्येव । क ? भावणाभाविदो भावनाभिर्भावित । पीड पीडा । वदाण व्रताना । सत्वेसिं सर्वेया । साधू साधु । पासुत्तो प्रकर्षणं निद्रामुपगत । समुहदो व समुदात गतो वा । किमिदाणि वेदतो । चेतयमान ॥

भावनामाशान्ययाह—

मूढाया-धीन् पीडा । विराता । ताम्रपो निर्वर्जिताहताः । मनुशो मूर्खिता । चेतो वीर्यवता ।

अर्थ—इन वनोंकी भावनार्थोक्ता अभ्यास करनेमें यदि इन भावनार्थोंमें मंजुल होना है, तब यह गाढ़ मोता हुआ भी अबसा मूर्च्छित हुआ भी अपने वनोंको अनिचार युक्त नहीं समझें हैं, तो ज्ञानार्थोक्त मान-धान रहनेवाला यह युक्ति अपने वनोंको कैसे दूषित होने देगा ? अर्थात् दिनगत वनोंकी भावनार्थोक्ता अभ्यास करनेमें उसमें तब हमेशा निर्गोचर रहकर उदगगत उल्लासव्या ही प्राप्त कर लेने हैं.

एवाहिं भावणाहिं ह तद्वा भावोहिं अप्यमनो तं ॥

अच्छिद्वाणि अलडाणि ते भविरसेति ह वडाणि ॥ १२१३ ॥

त्वमनः सपितो पंच भावयन्तेरुमानम ॥

महात्रनान्यमडाणि निटिउडाणि भवति ते ॥ १२१३ ॥

भावना. समिनिगुप्तयो गन्तर्वधयन्ति हलद मगप्रनम् ॥

अर्मकारि रजसां निरासकाश्रमस्समिव सान्द्रुष्टय ॥ १२१४ ॥

उनि मत्राप्रनगुष्टि ।

निजयोक्त्या—एवाहिं पनाभि । अलगाहिं भावणाहि । तद्वा तस्मात् । अपेति मग । अप्यमतो तं अपमनम्य । अच्छिद्वाणि अडिउडाणि । नैरयथ प्रवृत्तानि । भगवति सगुणानि तय भवित्यति ज्ञानानि ॥

एव प्रसिद्धितस्वरूपमाहस्मानु भाग्यासु मन्यामिति प्रयुक्ते—

मूलरा-भावोहिं मगुल न्यमाह्वान । अच्छिद्वाणि नैरयथ प्रवृत्तानि । निर्वर्णानि य । गगनाणि संभूतानि । ते तत्र । तत्तन्भावनानिप्रम्य ॥

अर्थ—इय वास्तो है क्षपक 'तुम अप्रमत्त अर्थात् निर्दोष आचरणयुक्त होकर इन भावनार्थोक्ता अभ्यास करो. तुम जब भावनार्थय होने तब तुममें मंजुली वन निरंतर टिक मंजुली और पूर्णपस्थाको प्राप्त कर लेगे अतः हे क्षपक ! तुम अपनेको भावनार्थोंमें सुगन्धित बनाओ

व्रतपरिणामोपघातानिश्चितानि शल्यानि ततस्तद्वर्जनं कार्यमित्याचष्टे—

गिरसस्रस्सेव पुणो महव्वदाइं हवंति सन्वाइं ।।

वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ।। १२१४ ।।

महाव्रतानि जायंते निःशल्यस्य तपस्विनः ।।

निदानवंचनामिध्यादशनैर्हन्यते व्रतम् ॥ १२५५ ॥

विजयोदया—गिरसस्रस्सेव शल्यरहितस्यैव शृणुति ह्रितस्तीति शल्य । शरकण्टकादि शरीरादिप्रवेशे तेन तुल्यं यत्प्राणिनो वाधानिमित्तं, अतर्निविष्ट परिणामजालं तच्छल्यमिह गृहीतं । महव्वदाइं महाव्रतानि भवति । शल्यं कस्यचिदेव व्रतस्योपघातकं, यथा एषणासमित्यभावो अहिंसाव्रतस्येत्याशङ्का निरस्यति सर्वशब्दो । ननु च महत्त्वेन व्रत-मवशेष्यं । मिथ्यात्वादिशल्य अणुव्रतान्यपि हन्यन्ते । सत्यं प्रस्तुतत्वान्महाव्रतानामित्यमुक्तं । अत्र चोद्य—हिंसादिभ्यो विरतिपरिणाममात्राणि व्रतानि । शल्ये मिथ्यात्वादिके सति किं न भवति ? येनैवमुच्यते निःशल्यस्यैव महाव्रतानि भवति ? एतत्प्रतिविधानायाह—वदमुवहम्मदि व्रतमुपहन्यते । तीहिं दु तिसृभिः । णिदाणमिच्छत्तमायाहिं निदानमिध्या-त्वमायाभिः । अल्पान्तरत्वान्मायाशब्दस्य पूर्वनिपात इति श्रेत्र-मिथ्यात्व व्रतविघात प्रकर्षेण करोतीति प्रधानं ततो मिथ्यात्व माया चेति छिपेदे द्रष्टे मिथ्यात्वशब्दस्य पूर्वनिपात पञ्चाधिदानशब्देन द्रष्टुं तस्याल्पांतरत्वात्पूर्वनिपात । सम्यक्पूर्वात्रिमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं, तच्च नासतोः सम्यग्दर्शनदानयोर्भवेति । सति मिथ्यात्वे विरोधनि न ते स्त । समीचीनज्ञानदर्शनयागिब्रतर्त्तनत्रयत्वान्मुक्ते । अनतदानादिकाद्यान्यत्र चित्तप्रणिधान इदमेतत्फलं स्यादिति निदानं । तच्च सम्यग्दर्शनादिपुण्यपरया व्रतोपघातकारि ॥ मनसा स्वातिचारिनिगूहनलक्षणा माया च व्रतमुपहन्यतीति मन्यते ॥

व्रतानि रिरक्षिपुणा सुसुखुणा व्रतोपघातनिमित्तातर्निविष्टपरिणामलक्षणानि त्रीण्यपि शल्यानि वज्यानीति शिक्षार्थमाह—

मूलारा—सन्वाइं यथा एषणासमित्यभावः अहिंसाव्रतस्यैव शल्य कस्यचिदेव व्रतस्योपहन्यन्तु भविष्यतीत्याशङ्का निरासार्थमिदं, अणुव्रतग्रहणार्थं वा । वद स्वनिमित्ताज्जातं महदणुव्रतं । तीहिं दु तिसृभिरपि । तथाहि—सम्यक्चारित्रिमिह-मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं तच्च सम्यग्दर्शनज्ञानयोः सतोरेव भावात् । तच्च स्वविरोधनि मिथ्यात्वे सति न स्यादिति मिथ्यात्वेन व्रतमुपहन्यते । तथा रत्नत्रयान्मुक्तेरनंतज्ञानादेर्वाऽन्यत्र इदमेतस्मान्मे भूयादिति चित्तप्राणिधान निदानमिच्छते । तच्च सम्यग्दर्शनमतिचरत्तन्मूलं व्रतमुपहन्यते । तथा मायात्र मनसा स्वातिचारिनिगूहनलक्षणा गृह्यतेऽतः सापि व्रतोपघाति-नीति मन्यते ॥

शल्य व्रतपरिणामोंको घातते हैं अतः उनका त्याग करना चाहिये ऐसा क्षपकको कहते हैं,—  
अर्थ—शल्यरहित यतीके मर्यादित महाव्रतोंका सरक्षण होता है परंतु जिन्होंने शल्योंको आश्रय दिया है उनके व्रत माया, मिथ्यात्व और निदान इनसे नष्ट होते हैं

विशेषार्थ—जो प्राणीके शरीरमें प्रवेश कर उसका घात करता है उसको शल्य कहते हैं अर्थात् घाण, कंदक वगैरह शरीरादिकसे प्रवेश कर उसको पीडित करते हैं इसलिये उनको शल्य कहते हैं वैसे प्राणिकों दुःख देनेमें कारणीभूत ऐसे अंतरंग परिणामोंको वे भी घाणदिकके समान दुःख देनेवाले होनेमें शल्य कहते हैं  
शका—एषणासामितीका अभाव होनेसे सपूर्ण व्रतोंका नाश नहीं होता है परंतु फल अहिंसाव्रत का ही घात होता है वैसे इन शल्योंसे सर्व व्रतोंका घात नहीं होता है

उत्तर—गाथामें 'सर्व' शब्द है इससे सर्व व्रतोंका नाश होता है ऐसा सूचित होता है  
शंका—शल्योंसे महाव्रतके समान अणुव्रतों का भी नाश होता है परंतु ग्रंथकारने महाव्रतोंका नाश होता है ऐसा क्यों कहा है

उत्तर—अणुव्रतोंका और महाव्रतोंकाभी शल्योंसे नाश होता है परंतु यहां महाव्रतोंका विवेचन करना ग्रंथकारको अभीष्ट है अतः 'महाव्रतोंका शल्य घात करते हैं ऐसा ग्रंथकारने कहा है

शंका—हिंसादिक पापोंसे विरक्त होना यह व्रतोंका लक्षण है तो मिथ्यात्वादिक शल्य जीवमें रहने पर भी व्रत अर्थात् निरक्तिपरिणाम रह सकते हैं अतः शल्यरहित पुरुषकेही महाव्रत होते हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है

उत्तर—व्रतोंका शल्यसे घात होता है वे शल्य तीन प्रकारके माया मिथ्यात्व और निदान ऐसे हैं यहां सम्यक्चारित्रिकों मोक्षमार्ग कहा है परंतु बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके चरित्रको मोक्षमार्गता आती नहीं है मिथ्यात्वपरिणाम आत्मामें रहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होते ही नहीं क्योंकि मिथ्यत्व इनका विरोधी है वह इनको उत्पन्न होने नहीं देता है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र इनको रत्नत्रय कहते हैं रत्नत्रयकी पूर्णताको मोक्ष कहते हैं अनतज्ञानादिक अनंतचतुष्टयकी प्राप्ति करनेमें विचित्रों न लगाकर अन्यवातोंमें अपने मनको एकाग्र करना जैसे इस तपसे मेरेको इंद्रादि पदवीकी प्राप्ति होनी चाहिये ऐसी अभिलाषा करना निदान शल्य है यह शल्य सम्यग्दर्शन का नाश करता है और परंपरया व्रतोंका भी घात करता है मनके द्वारा

अतिचार छिपानेका भाव रहना मायाशल्य है, अर्थात् ये तीन शल्य व्रतोंका—चारित्रपरिणामका घात करते हैं ऐसा सिद्ध हुआ.

मूलपावना

१२१५

तत्थं णिदाणं तिविहं होइ पसत्थापसत्थभोगकद ॥  
तिविधं पि तं णिदाणं परिपंथो सिद्धिमग्गस्स ॥ १२१५ ॥

निपेहु सिद्धिलाभस्य विभवस्येककल्मसपम् ॥  
निदानं त्रिविधं दास्तमशास्तं भोगकारणम् ॥ १२१६ ॥

चिजयोदया—तस्य तेषु शल्येषु णिदाण निदानाख्य शल्य । त्रिविधं त्रिविध । होदि भवति । पसत्थमप्यमत्थ-  
भोगकद प्रशस्तनिदानमप्रशस्तनिदान, भोगनिदान चेति । त्रिविधं पि तन्निदानं त्रिप्रकारमपि निदानं परिपथो विप्रः ।  
सिद्धिमग्गस्स रत्नत्रयस्य ।

निदानस्य त्रैविध्यं रत्नत्रयप्रतिबन्धकत्वं चाभिधत्ते—  
मूलरा—भोगकदं भोगा इष्टेन्द्रियार्थाः वृत्ता येन तद्भोगकृतं । भोगकारणमित्यर्थः । पडिपंथो विप्रः ॥  
अर्थ—तीनशल्योंमेंसे निदान नामक शल्यकं तीन भेद हैं, प्रशस्त निदान, अप्रशस्तनिदान और भोगकृत  
निदान ये तीनों भी निदान रत्नत्रयके विरोधी हैं

प्रशस्तनिदाननिरूपणार्थोत्तरगाथा—

संजमहेदुं पुरिसत्तमत्तत्रलविरियसंघदणवुच्ची ॥  
सावअंबंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थ ॥ १२१६ ॥  
नृत्वं सत्त्व बल वीर्यं संहतिं पावनं कुलं ॥  
वृत्ताय याचमानस्य निदानं शास्तमुच्यते ॥ १२१७ ॥

विजयोदया—संजमहेदुं सयमनिमित्तं पुरिसत्तमत्तत्रलविरियसंघदणवुच्ची पुरुषत्वमुत्साहः, बलं शरीरगत  
दाढ्यं, वीर्यं वीर्यांतरायक्षयोपशमनं परिणाम । अस्त्रिमधविषया वज्रक्रागभनाराचसहननादि । एतानि पुरुषत्वदीनि  
सयमसाधनानि मम स्युरिति चित्तप्रणिधानं प्रशस्तनिदानं साधयवंधुकुलादिनिदानं अदस्त्रिकुले, वंधुकुले वा उत्पत्ति  
प्रार्थना प्रशस्तनिदानं ॥

मूलारा—सत्त उत्साहः । बलं देहदाढर्यं । सावअवंशुकुलादि अदरिद्रकुलं, वंशुकुलं, मुजात्तादिक्कं च । पुंस्त्वादीनि संयसार्थमिच्छतः प्रशस्तनिदानं स्यादिति संबंधः ।

अर्थ—पुरुषत्व अर्थात् उत्साह, शरीरिकबल, वीर्यांतरायकर्मका क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होनेवाला दृढ परिणाम, अस्थिवंधन अर्थात् वज्रद्वयभनाराचादिकसंहनन, ये सब संयमसाधक सामग्री मेरेको प्राप्त हो ऐसी मनकी एकाग्रता होती है उसको प्रशस्तनिदान कहते हैं, धनिककुलमें, वधुओंके कुलमें उत्पन्न होनेका निदान करना प्रशस्त निदान है

अप्रशस्तनिदानमाचष्टे—

माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधराजिणत्तं ॥

सोभग्गणादेयं पत्थतो अप्पसत्थ तु ॥ १२१७ ॥

अहंद्गणधराचार्यसुभगोदेयतादिकं ॥

प्रोक्तं प्रार्थयते शस्तं मानेन भववर्धकम् ॥ १२५८ ॥

सुलभत्वाप्रशस्तजात्यादिपरिश्रद्ध । इह आइरियगणधराजिणत्त आचार्यत्वं, गणधरत्वं, जितत्वं, जातिकुलरूपमात्रस्य भाग्य, आज्ञा, ओदेयत्व च । पेच्छतो प्रार्थयत । अग्रशस्तेमेव निदानं मानकपायदुपित्वात् ॥

अप्रशस्तनिदानमाह—

मूलारा—माणेण अभिमानवशेन । जादिकुलरूवमाऊ प्रशस्त्यं मालापितृकुल । सौरूप्य दीर्घं वायुरिह प्रार्थ्यं । तन्मात्रस्य सुलभत्वात् । सोभग्गणादेज्ज सौभाग्यमाज्ञामादेयवाक्यता वा । पेच्छतो प्रार्थयत । अप्पसत्थं मानकपायदुपितत्वात् ॥

अर्थ—अभिमानके वश होकर उत्तम मातृवश, उत्तम पितृवंश, अर्थात् प्रशस्त जाति और प्रशस्त कुल, रूप इसकी अभिलाषा करना, आचार्य पदवी, गणधर पद, तीर्थकरपद, सौभाग्य, आज्ञा और सुदरपना इनकी प्रार्थना करना यह सब अप्रशस्त निदान है, क्यों कि मानकपायसे दूषित होकर उपर्युक्त अवस्थाकी अभिलाषा की जाती है

कुद्धो वि अप्सत्यं मरणे पच्छेद्द परवधादीयं ॥  
 जह उग्गसेणघादे कदं णिदाणं वसिष्ठेण ॥ १२१८ ॥  
 अशस्तं घाचते कुद्धो मरणोऽन्यवयं कुभीः ॥  
 अयाचतोऽग्रसेनस्य वसिष्ठो हननं यथा ॥ १२५९ ॥

विजयोदया—कुद्धो वि कृद्धोऽपि । अप्सत्यं परवधादिकं । मरणे मरणकाले । पच्छेदि प्रार्थयते । जघा यथ उग्गसेणघादे उग्रसेनमरणे । कदं णिदाण वसिष्ठेण वसिष्ठेन यतिना ॥

क्रोधादपि तदग्रशस्तं स्यादित्याह—

मूलारा—वसिष्ठेण वसिष्ठेन यतिना ॥

अर्थ—कुद्ध होकर मरणसमयमें शत्रुवधादिककी इच्छा करना यह भी अप्रशस्त निदान है वसिष्ठ नामक युनीने उग्रसेन राजाका वध करनेका निदान किया था जिससे वह मरकर उग्रसेन राजाका कस नामक पुत्र हुआ था अपने पिताको कारागारमें बंद कर यह राज्यपर आरुह हुआ. ( आराधना कथाकोपमें इसकी कथा है

भोगनिदाननिरूपणा—

देविगमाणुसभोगो णारिस्सरसिद्धिसत्थवाहचं ॥

केसवचक्कधरत्तं पच्छंतो होदि भोगकदं ॥ १२१९ ॥

स्वर्गभोगिनरनाथकामिनीः श्रेष्ठिचक्रियलसार्थवाहिनां ॥

भोगभूतिमधियो निदानक कांक्षतो भवति भोगकारणम् ॥ १२६० ॥

विजयोदया—देविगमाणुसभोगे देवेषु मनुजेषु च भवान्भोगान् । पच्छंतो अभिलषति भोगकदं भोगकृतं निदानं । णारिस्सरसिद्धिसत्थवाहत्त नारीत्व, ईश्वरत्व, श्रेष्ठित्व, सार्थवाहत्त्व च । केसवचक्कधरत्त वासुदेवत्वं सकलवच वर्तित्व च वाञ्छति भोगार्थं । भोगनिदानं च भवति ॥

भोगनिदानमाह—

मूलारा—नारीस्सर नारीत्वमीश्वरत्वं च । पच्छंतो वाञ्छति सति । देवमर्त्यभोगान्भोगार्थमेव च स्त्रीत्वादीनि ॥



अर्थ—देवोंमें और मनुष्योंमें प्राप्त होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना यह भोगकृत निदान है, स्त्रीपना, धनिकपना, श्रेष्ठपद, सार्थवाहपना अर्थात् सब व्यापारिओंका स्वामित्व, केशवपद—नारायणपदवी, सकलचक्र-वर्तीपना इनकी भोगोंके लिये अभिलाषा करना यह भोगनिदान है.

संजमसिद्धारूढो धोरतवपरक्कमो तिगुत्तो वि ॥

पगरिज्ज जइ णिदाण सोवि य वड्डइ दीहसंसारं ॥ १२२० ॥

वृद्धसंयमतपःपराक्रमः शुद्धशुक्तिकरणोऽपि ना ततः ॥

यानि जन्मजलधि सुदुस्तरं कापरस्य गणना कुचेतसः ॥ १२६१ ॥

विजयोदया—संजमसिद्धारूढो संयम शिखरमिव दुर्गरोहत्वादचलत्वाद्या । एतदुक्तं भवति । प्रकृतस-  
यमोऽपि । धोरतवपरक्कमो धोरे तपसि पराक्रम उत्साहो यस्य सोऽपि दुर्धरतपोऽनुष्ठाप्यपि । तिगुत्तो वि शुसित्रयसमन्वि-  
तोऽपि । पगरिज्ज जइ णिदाण यदि कुर्यात् । वड्डइ वर्धयति संसारमात्मन । किमपरस्मिन्निदानकारिणि वाच्यम् ॥

जिनेन्द्रप्रायस्यापि निदानकरणे संसारदीर्घकारणमाह—

मूलारा—संजमसिद्धारूढो संयमः शिखरमिव दुर्गरोहत्वादचलत्वाद्या । तदारूढः संयमकाष्ठानिष्ठ इत्यर्थः ।  
धोरतवपरक्कमो दुष्करे तपस्तुत्साहो यस्यासौ ॥

अर्थ—जैसे पर्वतका शिखर निश्चल और चढकर ऊपर जानेके लिये कठिन है वैसे उत्कृष्ट संयम भी धारण करना कठिन है ऐसा उत्कृष्ट संयम जिसने धारण किया है, धोर तपमें जो उत्साहयुक्त है अर्थात् जो दुर्धर तपधारण करनेमें तत्पर रहता है जो तीन गुणियोंका धारक है ऐसा भी भुनि निदान करेगा तो वह भी संसारको चढावेगा अर्थात् उसको भी संसारमें दीर्घकाल तक अमण करना पड़ेगा तो अन्य निदान करनेवाले क्षुद्र मनुष्यको संसार में धूमना पड़ेगाही.

जो अप्पसुक्खहेटु कुणइ णिदाणमविगणियपरमसुहं ॥

सो कागणीए विक्केइ मणिं बहुकोडिसयमोछं ॥ १२२१ ॥

निदानं योऽल्पसौख्याय विधत्ते सौख्यनिष्ठः ॥

काकिण्या स मणि दत्ते शंके कल्याणकारणम् ॥ १२६२ ॥

विजयोवधा—जो अप्यसुखगहेदु योऽल्पसुखनिमित्त निदान करोति परमे मुक्तिसुखे अनादर कृत्वा । स का-  
कण्या चिक्रीणीते मणि यदुकोटितशतमौल्यम् ॥

संसारसुखाय निदानयंत निंदति —

मूलारा—सष्टम् ॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्कृष्ट मोक्षके सुखमें अनादर करके अल्प सुखके लिए निदान करता है वह अनेक  
कोटि रूपयोंकी कीमतवाला मणि कौन्ही मिलने की इच्छासे वेचता है ऐसा समझ लेना चाहिए.

सो भिदइ लोहत्थं णावं भिदइ मणिं च सुत्तत्थं ॥

छारकंदे गोसीरं डहदि णिदाणं खु जो कुणदि ॥ १२२२ ॥

स सूत्राय मणिं भिन्ते नावं लोहाय भस्मने ॥

कुधीर्वहति गोत्रीपं निदानं विदधाति यः ॥ १२६३ ॥

विजयोवधा—सो भिदइ स भिनसि कीललोहार्यं नाव अनेकचम्पुभृता । भिनसि रत्न च सूत्राय । गोशीर्पं  
चदन दहति भसार्यं यो निदान करोति सत्पार्यं । सारविनाशमाधर्म्यादेवमात्रे—सूपकारोपदि कथा यो निदान-  
कारी, तेन नौप्रभृतिक विनाशित । अर्थालयानकानि वाञ्छयानि ॥

मूलारा—गोसीरं वरचवन । अत्र स्मरविनाशनसाधर्म्यादेवभेदो वेद्यः ।

अर्थ—जो मनुष्य निदान करता है वह मनुष्य लोहके कीलके लिए नौकाका भेदन करता है, दोरीके  
लिए रत्नहारको तोड़ता है, भस्मके लिए गोशीर्प चंदनको जलाता है ऐसा समझना चाहिए अर्थात् तुच्छ संसार  
सुखकी प्राप्तिके लिए निदान करना अयोग्य है उत्कृष्ट संयमका उससे नाश होता है रसोदयाकी कथामें उपर्युक्त  
बातोंका उल्लेख है

कोढी संतो लङ्घूण डहइ उच्छं रसायणं एसो ॥

सो सामणं णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण ॥ १२२३ ॥

तापार्थं ह्योपते कुष्टी स लब्ध्वेक्षुं रसायनम् ॥

आमण्यं नाश्यते तेन भोगार्थं सिद्धिसाधकम् ॥ १२६४ ॥

विजयोदया—कुष्टी सन् रसायनभूतमिष्टु लब्ध्वा वहति य समानता नाशयति सर्वदुःखान्याधिविनाशने-  
यता भोगार्थनिदानेन ॥

मूलारा—कोढी सती कुष्टी सन् । रसायण कुष्ठविनाशनरसायनभूतं ॥

अर्थ—जैसे कोढ़ कुष्ठरोगी मनुष्य कुष्ठरोगका नाशक रसायन तुल्य ईश्व को पाकर उसको जलाता है वैसे  
निदान करनेवाला मनुष्य सर्वदुःखरूपी रोगका नाश करनेवाले समयका भोगकृत निदानसे नाश करता है

पुरिसत्तादिणिदाणं पि मोक्खकामा सुणी ण इच्छंति ॥

जं पुरिसत्ताइमओ भावो भवमओ य संसारो ॥ १२६४ ॥

नरत्वादिनिदानं च न कांक्षंति सुसुक्ष्व ॥

नरत्वादिमयं तस्मात्संसारस्तन्मयो यतः ॥ १२६५ ॥

विजयोदया—पुरिसत्तादिणिदाणं पुरुषत्वादिनिदानमपि मोक्षामित्यणो मुनयो न वाञ्छंति । यस्मात्पुरुष-  
त्वादिरूपो भवपर्यायः । भवात्मकश्च संसार भवपर्यायपरिवर्तस्वरूपत्वात् ॥

प्रशस्तनिदानस्यापि सुसुक्ष्माणमकरणीयत्वमाह—

मूलारा—भावो देहग्रहणपर्यायः ।

अर्थ—पुरुषत्व, बल, वीर्यं वीरहका निदान भी सुसुक्ष्म मुनि करते नहीं क्योंकि पुरुषत्वादिपर्याय भी  
भव ही है और भव संसाररूप है

क्योंकि पुरुषत्वादिपर्याय भी

दुःखस्वययकम्मस्वययसमाधिमरणं च बोधिलाभो य ॥

एयं पत्येयव्वं ण पच्छणीय तओ अपणं ॥ १२६५ ॥

समाधिमरणं बोधिदुःखकर्मस्यस्तत् ॥

प्रार्थनीयो महाप्राज्ञैः परं नातः कदाचन ॥ १२६६ ॥

विजयोदया—दुःखसङ्कल्प दुःखाना शारीराणा, आंगुक्तानां स्वाभाविकाना च क्षयो भवतु । तथा कर्मणा तत्कारणभूताना रत्नत्रयसंपादनपुरःसर मरण, दीक्षाभिमुखो योधिलाभश्च एतद्व्यर्थनीय नान्यत् ॥

तर्हि व्रताद्यनुष्ठायिना किं प्राप्स्यन्मिताह—

मलारा—योधिलाभो रत्नत्रयप्राप्तिः । अत्र यथापूर्वं हेतुहेतुमद्भावो भाव्यः ॥

अर्थ—मेरे शारीरिक दुःखोंका, आंगुक्त-अकस्मात् उत्पन्न होनेवाले दुःखोंका, और स्वाभाविक दुःखोंका जन्मजरामरणादि दुःखोंका नाश हो तथा इन दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले असातोवेदनीयादि कर्मोंका भी नाश हो. मेरेको समाधिमरणकी अर्थात् रत्नत्रयप्राप्ति पूर्वक मरणकी प्राप्ति हो दीक्षाधारण करनेमें प्रवृत्त करने वाली रत्नत्रय प्राप्ति हो इन बातोंकी प्रार्थना करनी चाहिये अन्य वस्तुकी प्रार्थना करना योग्य नहीं है.

पुरिसत्तादीणि पुणो संजमलाभो य होइ परलोए ॥

आराधयस्स णियमा तदत्थमकदे णिदाणे वि ॥ १२२६ ॥

नरत्त्वसंयमप्राप्ती परत्र भवतः स्वयम् ॥

निदानमंतरेणापि हृगाद्याराधनांजनिः ॥ १२६७ ॥

विजयोदया—पुरिसत्तादीणि पुरुषत्वाविक, संयमलाभश्च भविष्यति परजन्मनि कस्य ? कृतत्लत्रयाराधनस्य निश्चयेन । तदर्थमकृतेऽपि निदाने ॥

आराधकस्य निदानं विनापि प्रेत्यपुरुषत्वादिभावमवश्यमावि संभावति—

मलारा—अकदे अकृतेऽपि ॥

अर्थ—जिम्ने रत्नत्रयकी आराधना की है उसको निदान न करनेपरभी अन्यजन्ममें अर्थात् आगेके जन्ममें निश्चयसे पुरुषत्वादिककी ओर सयमकी प्राप्ति होती है

माणस्स भंजणत्थं चित्तेद्व्वो सरिणिव्वेदो ॥

दोसा माणस्स तथा तहेव संसारणिव्वेदो ॥ १२२७ ॥

उषं भवे कुलं नीचो नीचमुषः प्रपद्यते ॥

कुलानि सति जीवानां पांथानामिव विश्रमाः ॥

कुलभिमानका नाश करनेका उपाय कहते हैं—

अर्थ—स्थान, मान, ऐश्वर्योदि न होनेसे मनुष्य नीच कहलाता है. ऐसा नीच मनुष्य इनकी प्राप्ति होने पर लोकोंके द्वारा उच्च माना जाता है जिसके स्थान, मान, ऐश्वर्योदिक वृद्ध गये हैं वह मानव कालान्तरसे इस मानके दोषसे हीनताको प्राप्त होता है. जैसे प्रवास करनेवाला मनुष्य एक जगहमें ही विश्रान्ति नहीं लेता है. भिन्नभिन्न स्थानोंका वह आश्रय लेता है वैसे यह जीव भी एक ही कुलमें नहीं रहता है. भिन्न भिन्न कुलोंमें उसको जन्म लेना पड़ता है. कभी उच्च कुलमें यह जन्म धारण करता है कभी नीचकुलमें उत्पन्न होता है अतः कुलका गर्व करना योग्य नहीं है.

कथयति—

किं च गर्वो ह्यात्मनो वृद्धिं परस्य वा हानिं बुद्ध्यो संश्लेषते तस्य युक्तोऽहंकारः न चास्य वृद्धिहाही स्त इति

उच्चासु व नीचासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ॥

वड्ढी वा हाणी वा सन्वत्थ वि तिचिओ चेव ॥ १२२९ ॥

हानिबुद्धी प्रजायेते नीचोच्चासु न योनिषु ॥

सर्वत्रोत्पद्यमानस्य जीवस्य सममानता ॥ १२७० ॥

विजयोदया— उच्चासु व नीचासु व यत्र स्थित आत्मा शरीरं निष्पद्यति तथोनिशेदोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा ततः किमुच्यते उच्चासु व नीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिशेदेन कुलमेवाचोच्यते । न तस्य मान्ये कुले गर्हिते वा उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य बुद्धिर्दोषनिर्वा सर्वत्र तत्प्रमाण एव ज्ञानादिगुणातिशयोदेव उक्तप्रता । निवृत्तिगुण कुलीनोपि न पूज्यते तरामन्ये । अमान्येपि कुले संभूतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

संसारवासे भ्रमतो हि जतोर्न चात्र किंचित्कुलमस्ति नित्यं ॥

स एव नीचोत्तममध्यजातः स्वकर्मवदय समुपैति तास्ताः ॥

शुषका दासः श्वपचश्च विमो दृष्टिचक्षाश्च समुद्भवशः ॥

चोराग्निदावाहितयाचिता च सजायते कर्मवशात्स एव ॥

को वाधिकात् सुकुलेषु नृणां का वा विहिंसान्यकुलप्रसूतौ ॥  
कार्योऽधिकारो ननु धर्म एव कार्यो विहिंसापि च दुष्कृतेषु ॥

किंच सर्वोऽपि पृथग्जनः स्वस्योत्कर्षं परस्य चापकर्षं मन्थमानो गर्वमुपैति । न चारयात्मन उच्चनीचकुलप्राप्तिनिमित्ते  
दृष्टिद्वान्नी स्तस्त्वोऽस्योष्णकुलत्वेऽहंकार इति शिक्षयति—

मूलारा—जोणीसु कुलेषु । शरीरनिष्पादनस्थानानामुच्चत्वं नीचत्वासंभवात् । अत्र योनिशब्देन कुलमेवोच्यते ।  
नत्तिवेषेव असल्यात्प्रदेशप्रचयात्मक एव । मान्यकुले प्रसूतो नैकनापि प्रदेशेन बद्धते, नापि निषे जातो हीयत इति  
भावः । ततो ज्ञानादिगुणातिशययोगादेव पूज्यते न कुलोच्चत्वयोगात्कः कुलीनत्वगर्व इति गर्वसर्वर्णोपायशिक्षणं ॥

गर्व करनेसे आत्मकी धृष्टि होती है और न करनेसे उसकी हानि होती हो तो गर्व करना योग्य होगा-  
परंतु आत्मा कम जादा होता हुआ नहीं दीखता है, इस विषयका विवेचन—

अर्थ—जहां आत्मा नहकर शरीर उत्पन्न करता है अर्थात् धारण करता है ऐसे आधारकी योनि कहते हैं  
आधाररूप योनि उच्चभी नहीं है और नीच भी नहीं है, इसलिये 'उच्च' वा 'णीचासु' वं ऐसा कहना अनुचित है  
उत्तर—योनिशब्दका अर्थ उत्पत्तिस्थान ऐसा नहीं है प्रस्तुत प्रकरणमें योनिशब्दका कुल ऐसा अर्थ  
लेना चाहिए इसलिये यहां ऐसा अर्थ समझना योग्य होगा—मान्यकुलमें अथवा निष कुलमें उत्पन्न होने पर भी  
जीवकी धृष्टि वा हानि नहीं होती है सर्वत्र वह असंख्यात प्रदेशात्मक ही रहता है, ज्ञानादिगुणोंके अतिशय से ही  
उत्कृष्टता प्राप्त होती है जिसके गुण निष है वह कुलीन होनेपरभी अन्य पुरुषोंके द्वारा नहीं पूजा जाता है हीन  
कुलमें उत्पन्न होने परभी यदि वह गुणी होगा तो पूजा जाता है,

अन्य प्रथमें इस विषयमें ऐसा कहा है—

“इस संसारमें भ्रमण करनेवाले प्राणीका कोईभी कुल नित्य नहीं है अपने किये हुए कर्मके वश होकर यह  
संसारी आत्मा नीच कुल, उच्च कुल और मध्य कुलमें जन्म लेता है और नीच, उच्च, मध्यम अवस्थाको प्राप्त होता है,  
इस संसारमें राजा भी दुर्द्वययोगसे दास होता है अथवा भी-मातंगभी अन्य जन्ममें ब्राह्मण बन जाता है दरिद्री  
वश भी धनसंपन्न होता है, कर्मके वश होकर इस जीवको चोर, अग्नि, सर्प इत्यादिकोंसे दुःख प्राप्त होता है,  
मनुष्यको उच्च कुलकी प्राप्ति होनेपर गर्व नहीं करना चाहिये और नीच कुलमें उत्पन्न हुए प्राणिओंकी जुगुप्सा

उच्च भवे कुलं नीचो नीचमुच्यः प्रपद्यते ॥

कुलानि सति जीयानां पाथानामिव विश्रमाः ॥

कुलाभिमानका नाश करनेका उपाय कहते हैं—

अर्थ—स्थान, मान, ऐश्वर्यादि न होनेसे मनुष्य नीच कहलाता है. ऐसा नीच मनुष्य इनकी प्राप्ति होने पर लोकोंके द्वारा उच्च माना जाता है जिसके स्थान, मान, ऐश्वर्यादिक बढ़ गये हैं वह मानव कालान्तरसे इस मानके दोपसे हीनताको प्राप्त होता है जैसे भ्रवास करनेवाला मनुष्य एक जगहमें ही विश्रान्ति नहीं लेता है. भिन्नभिन्न स्थानोंका वह आश्रय लेता है वैसे यह जीव भी एक ही कुलमें नहीं रहता है भिन्न भिन्न कुलोंमें उसको जन्म लेना पड़ता है कभी उच्च कुलमें यह जन्म धारण करता है कभी नीचकुलमें उत्पन्न होता है अतः कुलका गर्व करना योग्य नहीं है.

किं च गवौ ह्यात्मनो वृद्धिं परस्य वा हानौ बुद्धयो संक्षेपते तस्य युक्तोऽहंकारः न चास्य वृद्धिहानी स्त इति कथयति—

उच्चासु व नीचासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ॥

वड्ढी वा हाणी वा सव्वत्थ वि तित्तिओ चेव ॥ १२२९ ॥

हानिवृद्धी प्रजायेते नीचोच्चासु न योनिषु ॥

सर्वत्रोत्पद्यमानस्य जीवस्य सममानता ॥ १२७० ॥

विजयोदया— उच्चासु व नीचासु व यत्र स्थित आत्मा शरीरं निपादयति तद्योनिशब्देनोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा ततः किमुच्यते उच्चासु व नीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिशब्देन कुलेमेवात्रोच्यते । तेनायमर्थः । मान्ये कुले गर्हिते वा उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य वृद्धिर्होनिर्वा सार्थत्र तत्रमाण एव ज्ञानाद्विगुणातिशयोदेव उत्कृष्टता । निर्वित्तगुण कुलीनोपि न पूज्यते तस्मान्नै । अमान्येपि कुले संभूतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

संसारवासो भ्रमतो हि जतोर्न चात्र किंचित्कुलमस्ति नित्यं ॥

स एव नीचोत्तममध्यजात स्वकर्मवश्य समुपैति तास्ताः ॥

नृपश्च दास श्रपचश्च विप्रो दरिद्रवशाश्च समृद्धवशः ॥

चोराग्निदाहादितयाचिता च सजायते कर्मवशात्स एव ॥

को वाधकार सुकुलेषु नृणां का वा विहिंसान्यकुलप्रसूतो ॥  
कार्योऽधिकारो ननु धर्म एव कार्या विहिंसामि च दुष्कृतेषु ॥

किंच सर्वोऽपि पृथग्जन-स्वस्योत्कर्ष परस्य चापकर्षं मन्यमानो गर्वमुपैति । न चारथात्मन उच्चनीचकुलप्राप्तिमिति वृद्धिहानी स्तस्तत्कोऽस्योच्चकुलत्वेऽहंकार इति शिक्षयति—

मूलारा—जोणीसु कुलेषु । शरीरनिष्पादनस्थानानामुच्चनीचत्वासाभवात् । अत्र योनिशब्देन कुलमेवोच्यते । तत्त्वित्वेव असंख्यातप्रदेशप्रचयात्मक एव । मान्यकुले प्रसूतो नैकेनापि प्रदेशेन वर्द्धते, नापि निधे जातो हीयत इति भावः । ततो ज्ञानाविगुणातिशयोकादेव पूज्यते न कुलोच्चत्वयोगात्तत्त्व-कुलीनत्वगर्व इति गर्वसर्वणोपायशिक्षणं ॥

गर्व करनेसे आत्मकी वृद्धि होती है और न करनेसे उसकी हानि होती हो तो गर्व करना योग्य होगा परंतु आत्मा कम जादा होता हुआ नहीं दीखता है, इस विषयका विवेचन—

अर्थ—जहां आत्मा गृहकर शरीर उत्पन्न करता है अर्थात् धारण करता है ऐसे आधारको योनि कहते हैं-आधाररूप योनि उच्चभी नहीं है और नीच भी नहीं है, इसलिये 'उच्चासु व नीचासु च' ऐसा कहना अनुचित है

उत्तर—योनिशब्दका अर्थ उत्पत्तिस्थान ऐसा नहीं है प्रस्तुत प्रकरणमें योनिशब्दका कुल ऐसा अर्थ लेना चाहिए- इसलिये यहां ऐसा अर्थ समझना योग्य होगा—मान्यकुलमें अथवा निध कुलमें उत्पन्न होने पर भी जीवकी वृद्धि वा हानि नहीं होती है सर्वत्र वह असंख्यात प्रदेशात्मक ही रहता है, ज्ञानादिगुणोंके अतिशय से ही उत्कृष्टता प्राप्त होती है जिसके गुण निध है वह कुलीन होनेपर भी अन्य पुरुषोंके द्वारा नहीं पूजा जाता है हीन कुलमें उत्पन्न होने पर भी यदि वह गुणी होगा तो पूजा जाता है,

अन्य ग्रंथमें इस विषयमें ऐसा कहा है—

“इस संसारमें अमण करनेवाले प्राणीका कोईभी कुल नित्य नहीं है अपने किये हुए कर्मके वश होकर यह ससारी आत्मा नीच कुल, उच्च कुल और मध्य कुलमें जन्म लेता है और नीच, उच्च, मध्यम अवस्थाको प्राप्त होता है, इस संसारमें राजा भी दुर्देवयोगसे दास होता है श्वपच भी—मातंगभी अन्य जन्ममें ब्राह्मण बन जाता है- दरिद्री वश भी धनसंपन्न होता है- कर्मके वश होकर इस जीवको चोर, अग्नि, सर्प इत्यादिकोंसे दुःख प्राप्त होता है- मनुष्यको उच्च कुलकी प्राप्ति होनेपर गर्व नहीं करना चाहिये और नीच कुलमें उत्पन्न हुए प्राणिओंकी जुगुप्सा



नहीं करनी चाहिये अर्थात् उनका तिरस्कार करना योग्य नहीं है, मनुष्यको धर्ममें अधिकार करना योग्य है, अर्थात् धर्माचरण करना उसका कर्तव्य है और पापकार्यसे उसको पराङ्मुख होना योग्य है”

कालमणंत णीचागोदो होदूण लहइ सगिमुच्चं ॥

जोणीमिदससलागं ताओ वि गदा अतंगाओ ॥ १२३० ॥

लामं लाभमनताअ नीचामुच्चं प्रपद्यते ॥

तथाप्युच्चा अपि प्राप्ता अनंता योनयो भवे ॥ १२३१ ॥

त्रिजयोदया—कालमणंत णीचागोदो होदूण अनंतकाल नीचैर्गोत्रो भूत्वा । लभद्दि सगिमुच्चं जोणिं । लभते सशुद्धैर्गोत्रं । कीदृशी इदरसलागं इतरशलाका । इतरा नीचैर्योनयः । गदा अणताओ अनंता प्राप्ता एकेन जीवेन ॥

यद्यप्ययमात्मा ससारं पर्यटन्नंतगो नीचा योनीर्भूयो लब्ध्वा कथमप्यंतरातरोजा योनिर्भेककशो लभते तथाप्यनंतनीचयोनिलाभतरालवर्तिन्य उच्चा योनयोऽप्यनंतर एवानेनानादिकालेन लब्ध्वा इत्युपदिशति—

मूलारा—णीचागोदो नीचैर्गोत्रं । सगिं मकुत् । उच्च जोणिं उच्चैर्गोत्रं । इतरा नीचैर्योनयः । शलाका अंतरा न्तरवर्तिन्यो यस्या उच्चैर्योनिस्ता । ताओ वि ता अप्यन्तरगलेऽन्तरगले लब्ध्वा अप्युच्चैर्योनयो गदा प्राप्ताः । उक्तं च—

लामं लाभमनताअ नीचामुच्चा प्रपद्यते ॥

तथाप्युच्चा अपि प्राप्ता अनता योनयो भवेत् ॥

तत्कोऽस्य दैवायत्ते मान्यकुले प्रभूतस्य मद्रः । को वा निंदे कुले जातस्य विपादः । कर्तव्य इत्युपेक्षेव श्रेयसीति शिक्षासर्वस्व ॥

अर्थ—यह जीव अनतक्कालतक नीच गोत्रकर्मके उदयसे उच्च कुलमें जन्म लेता है इस जीवने अनंत-वार नीच कुलमें जन्म लिया है,

बहुसो वि लद्धविजडे को उच्चतम्मि विव्वओ णाम् ॥

बहुसो वि लद्धविजडे णीचत्ते चावि किं दुक्खं ॥ १२३२ ॥

उच्चत्वे बहुशः कोऽत्र लब्ध्वा त्यक्तेऽस्ति विस्मयः ॥

नीचत्वे वास्ति किं दुःखं लब्ध्वा त्यक्ते सहस्रशः ॥ १२७२ ॥

विजयोदया—एव बहुशो वि बहुशोऽपि लब्धविजडे लब्धपरित्यक्ते च । उच्चत्तमि मान्यकुलप्रसूतत्वे । को नाम विस्मय । कदाचिदलब्धपूर्वविधानीमेव लब्धमिति भवेद्गर्व । बहुशो वि बहुशोऽपि । लब्धविजडे लब्धपरित्यक्ते । नीचत्वे चावि नीचैर्गोत्रप्रसूतत्वे अपि । किं दुःखम् किमिदं दुःखम् ॥

एतदेवाह—

मूलारा—लब्धविजडे प्राप्ते परित्यक्ते च । विजयो कोदाचिदलब्धपूर्वमिदं इदानीमेव लब्धमिति गर्वः स्यात् ॥

अर्थ—इस जीवने बहुतवार उच्च कुलमें भी जन्म लेकर त्याग किया है उसमें दुःख मानना भी व्यर्थ है यदि उच्चकुलकी प्राप्ति पूर्व कालमें कभी भी नहीं हुई थी और अबही हुई हो तो गर्व करना योग्य था नीच गोत्र के उदयसे नीचकुलमें भी अनेक बार जन्म हुआ है उसका खेद माननेकी आवश्यकता नहीं है परंतु जिससे उच्च कुलमें जन्म प्राप्त होगा ऐसा धर्माचरण करना चाहिये

उच्चत्तणमि पीदी संकप्पवसेण होइ जीवस्स ॥

णीचत्तणे ण दुक्ख तह होइ कसायबहुलस्स ॥ १२३२ ॥

उच्चत्वे जायते प्रीतिः संकल्पवशतोऽग्निः ॥

नीचत्वेऽपि महादुःखं कपायवशवर्तिनः ॥ १२७३ ॥

विजयोदया—उच्चत्तणमि मान्यकुलत्वे । पीदी प्रीति । संकल्पवसेण संकल्पवशेन होदि जीवस्स भवति जीवस्य प्रशस्ते कुले जातोऽहमिति मनोनिधानात् । प्रीतो भवत्यर्थ जन । नेत्यभूतं संकल्पमतेरेण सामान्यकुलत्वे सत्यपि प्रीतिर्भवति । नीचकुलत्वमेव च न दुःखस्य निमित्तं अपि च नीचत्तणे य नीचैर्गोत्रत्वे च दुःखं तथा होदि तथा भवति । प्रीतिरिव परनिमित्तक भवति । कस्य ? कपायबहुलस्य कसायशद्व सामान्यवचनोऽपि मानकपाये वर्तते । तेनायमर्थ । प्रचुरमानकपायो जनयति दुःखमस्य न नीचैर्गोत्रत्वं ॥

नैवोच्चनीचकुलत्वे सुरदुःखे कुरुतः । किंतु मानाध्यातस्य तदालवनः संकल्प एवेत्यनुशास्ति—

मूलारा—संकल्पवसेण उत्तमं मे कुल इति मनःप्रणिधानसामर्थ्येन । तत्र प्रीतिरिव । संकल्पवशेनैव । कसायबहुलस्स मानोदकस्य प्रचुरो मानोऽस्य जनयति दुःखं न नीचैर्गोत्रत्वमेवेति भावः ॥

अर्थ—जीव उच्चकुलकी प्राप्ति होनेमें प्रीतियुक्त होता है उसका कारण उच्चकुल है ऐसा नहीं समझना चाहिये, मैं उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा विचार उसका होनेसे जीव अतिशय गुण होता है, यदि ऐसा मंरूप्य मनमें न होगा तो मान्य कुलकी प्राप्ति होनेपर भी वह प्रीतियुक्त नहीं होता है उसी तरह नीच कुल भी दुःखका कारण नहीं है, किंतु मकल्पही दुःखका कारण होता है, कृपाय जिसमें प्रचुर है उस जीवको उसमें दुःख होता है नीचगोत्र उसका कारण नहीं है गाथामें कृपाय शब्द सामान्यतया प्रयुक्त किया है परंतु यहाँ वह शब्द प्ररूपण वश मानकृपायका वाचक समझना चाहिये अर्थात् मानकृपायमें ही जीवको दुःख होता है नीचगोत्रत्व उसका कारण नहीं है

एव प्रीतिपरितापो संकल्पायत्तावित्येतत्सगृह्यत्युत्तरगाथया—

उच्छत्तणं व जो णीचत्तं पिच्छेज्ज भावदो तस्स ॥

उच्छत्तणे व णीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज ॥ १२३३ ॥

उच्छत्तवमिव नीचत्वं चेतसा यो निरीक्षते ॥

उच्छत्त्व इव नीचत्वे किमसौ न सुखायते ॥ १२७४ ॥

विजयोदया—उच्छत्तण व उच्छैर्गोत्रत्वमिव जो णीचत्तं पेच्छद्दि यो नीचैर्गोत्रं प्रेक्षते । इदं चंडालत्वं वरमिति भावदाहोऽनेकार्थं ग्राह्यमपि इह वित्तमाची । यत् येन लब्धं तत्तस्य शोभनं । अलभ्येन शोभनेनापि किं तेनेति मनसि कर्तेति यदा तदा तत्रैव प्रीतिरस्य जायते इति वदति—उच्छत्तणे वि मान्यकुलत्वं इव नीचत्तणेऽपि नीचैर्गोत्रत्वेऽपि । पीदी किं होज्ज । प्रीति किं न भवेत् । भवत्येवेति यावत् ॥

संकल्पायत्तौ प्रीतिपरितापो इति स्पष्टयितुं गाथाद्वयमाचष्टे—

मूलारा—भावदो चित्तेन । इह चाडालत्वं वरमित्यादिरूपेण भावयेदित्यर्थः । पीदी यथेन लब्धं तत्तस्य शोभनं अलभ्येन शोभनेनापि किं तेनेति यो यदा संकल्प करोति तस्य तदा तत्र प्रीतिर्भवत्येव तथा नुभवात् ॥

अर्थ—जो मनस्य उच्छगोत्रके समान नीच गोत्रको भी देखता है अर्थात् चांडालपनाभी अच्छा है ऐसा जो मानता है उसको उच्छत्वके समान नीचत्वमें भी प्रीति क्यों न होगी अर्थात् वह नीचत्वको भी अच्छा ही

समझेगा जियने जो प्राप्त किया है उसको वह अच्छा समझता है, जो चीज अलभ्य है वह अच्छी होनेपर भी मेरा उससे कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा समझकर प्राप्त चीजही अच्छी है ऐसा वह मनमें समझता है तात्पर्य यह है कि मोहके वश होकर जीव नीचपनाकोभी अच्छा समझते हैं.

णीचत्तणं व जो उच्चत्त पेच्छेज्ज भावदो तरस ॥

णीचत्तणेव उच्चत्तणे वि दुक्खं ण किं होज्ज ॥ १२१४ ॥

यो नीचत्वमिवोच्चत्वं विकल्पयति मानसे ॥

तस्योच्चत्वे न किं दुःखं नीचत्वमिव जायते ॥ १२७५ ॥

विजयोदया—एतद्विपरीतार्थोत्तरा गाथा । स्पष्टतया वस्तुस्थिति नापेक्षते । सकलमायत्ता प्रीतिर्वैयत्युभयवसिद्ध-  
भेददखिलस्य जगत इति वदति । यस्मादुच्चैर्गोष्ठत्वेऽपि न सुखदुःखयोर्भावाभावौ च भवत संकल्पात् ॥

मूलारा—स्पष्टम्

अर्थ—जो जीव नीचपनाके समान उच्चपनाको देखता है उसको उच्चतामें भी नीचत्वके समान दुःखही अनुभवमें आता है अभिप्राय यह है कि, संकल्पसे उत्पन्न हुई प्रीति अथवा दुःखसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता है यह अनुभवसिद्ध सत्य है संकल्पसे उच्च गोत्रमें भी प्रीति अप्रीति उत्पन्न होती है, संकल्पसे नीच-  
त्वमें भी प्रीति और अप्रीति उत्पन्न होती है

तस्मा ण उच्चणीचत्तणाहं पीदिं करँति दुःक्खं वा ॥

संकप्पो से पीदीं करेदि दुक्खं च जीवस्स ॥ १२३५ ॥

ततो नोच्चत्वनीचत्वे कारण प्रीतिदुःखयोः ॥

परमुच्चत्वनीचत्वसंकल्पः कारण तयोः ॥ १२७६ ॥

विजयोदया—तस्मा तस्मात् । उच्चणीचत्तणाणि मान्यामान्यकुलत्त्वानि । न करँति दुःख वा न कुरुत. प्रीति  
दुःख वा । सति संकल्पे भावादसति अभावाच्च ॥

उपसंहारमाह—

मूढारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इस लिये मान्यकुल और अमान्यकुल वास्तविक विचार करनेपर सुख और दुःखके विधाता नहीं हैं संकल्पही जीवको प्रीति और अप्रीति उत्पन्न करता है अर्थात् सकल्पके साथ प्रीति और अप्रीतिका अन्यत्र व्यतिरेक है जब संकल्प उत्पन्न होता है तब ही सुख दुःखोंकी उत्पत्ति होती है और जब संकल्प मनमें नहीं होता है तब सुख दुःखोंकी उत्पत्ति नहीं होती है इसलिये संकल्प ही सुख और दुःख उत्पन्न करता है ऐसा समझना चाहिये

मानकपायसाध्योऽय दोष इति कथयति स्वरि ।

कुणदि य माणो णीचागोडं पुरिसं भवेसु बहुएसु ॥

पत्ता हु णीचजोणी बहुसो माणेण लच्छिमदी ॥ १२३६ ॥

नीचगोत्र नर मानो विधत्ते बहुजन्मसु ॥

प्राप्ता लक्ष्मीमतिर्नैचा योनीमनेन भूरिश ॥ १२३७ ॥

त्रिजयोदया—कुणदि य करोति । माणो अहंकार । णीयागोडं पुरिस नीचगोत्रमस्येति नीचगोत्र पुरिसं आत्मान । भवेसु जन्मसु । बहुएषु बहुषु । पत्ता प्राप्ता । णीचजोणी गु नीचगोत्रमेव । का ? लच्छिमदी लक्ष्मीमती । केन निमित्तेन ? माणेण सुरूपा योवनाउकुला कुलीना चेति गर्वेण ॥

मानदोषमर्थव्यानेकेन स्थापयति—

मूढारा—माणेण सुरूपा, सुयौवना, कुलीना कन्याहमेवेत्यहंकारेण ॥

मानकपायमे जीवको नीचगोत्रकी प्राप्ति होती है ऐसा उदाहरण के द्वारा आचार्य कहते हैं-

अर्थ—मान कपायसे मनुष्य प्राणी अनेक जन्मोंमें नीच गोत्रयुक्त होता है अर्थात् नीचकुलमें जन्मता है ये रूपवती सुंदरी हैं, तरुणी हैं और कुलीन हैं ऐसा तीव्र मानकपाय लक्ष्मीमतीको हुआ था जिससे उसको अनेक जन्मोंमें नीचकुलमें उत्पन्न होना पडा था

पूयावमाणरूवविरूवं सुभगत्तदुम्भगतं च ॥  
आणाणां य तहा विधिणा तेणे व पडिसेज्ज ॥ १२३७ ॥

सुभगत्वमसौभाग्यं स्वरूपत्वं विरूपता ॥

आज्ञानाज्ञादरो निंदा चित्तं कृत्या न धीमता ॥ १२७ ॥

विजयोदया—पूयावमाणरूवविरूवं, पूजा, अवमान परिभव । रूपशब्द सामान्यवचनोऽपि शोभनरूपविषयतया इह विरूपशब्दसन्निधाने प्रयुज्यमानोऽतिशयिते रूपे प्रवर्तते । तेन सौरूप्यं वैरूप्यं चेत्यर्थः । सुभगत्तदुम्भगतं च सौभाग्यं दोषाग्यं च सर्वेषां मिथत्वं द्रष्टव्यं चेति यावत् । आणाणां य तद्वा आदेशाप्रतिपात अनक्षा च तथा विधिना माननिषेधप्रकारेणैव । पडिसेज्ज प्रतिषेध्या । अभिधेयवशाद्विगवचनप्रवृत्तिरिति लिख्यतेरेण पूजादिशब्दोपनीतेन प्रतिषेध्यशब्दस्यभिभवः । परिभव प्राप्तोऽपि कदाचित्पूज्यते । एव प्राप्ता ह्यन्तेषु पूजास्तत्र कोऽदुरोगो स्य । दुःखं वा परिभवप्राप्तौ । पूज्यमानोऽपि बहुषु पुन परिभवान्वाप्स्यति । न चात्मन पूजाया काचिद्वृद्धिः । परिभवे वा हानिं सकल्पयशोदेवात्मनो जायते प्रीतिपरितापौ न केवल पूजापरिभवाभ्यामेवेति ॥ उक्तं च—

य स्तूयते शुचियुगो मधुरैर्वचोभिः । सनिद्यते च परमं वचनो विचित्रैः ॥  
हा चित्रता कथमय भवसकटस्थ प्राप्नोत्यनेकविधिकर्मफलोपभोग ॥  
भूत्वा मनुष्यपतय पुनरेव दासा हीना भवति शुचयोऽशुचयश्च भूय ॥  
कात्या च ये युवतिभिर्विपमानुकरा द्वेष्या भवत्यसुभगत्वमुपदेश भूय ॥  
दृष्ट कवित्मवरत्नविभूषणो य सदृश्यते विरुलपुण्यतया दरिद्रः ॥  
भूयश्च मित्रमदुःखजुजोपगूढं सलक्ष्यते व्यसनभारभृदेक एव ॥

उच्चनीचकुलवत्पूज्यावमानादयोऽपि तत्त्वज्ञैः । प्रत्याख्यया इत्याख्याति—

मूलारा—अवमाण परिभवः । न्यायेन तेणेव । कालमणतमित्यादिप्रबंधोक्तेन । पडिसेज्जा प्रतिषेध्या । तथाहि प्राप्तपरिभवोऽपि कदाचिदपूज्यते पुनर्वदुःशः परिभवः । एव प्राप्ता ह्यन्तेषु पूजाः । न चैवमयुक्तीचकुलवज्जीवस्य वृद्धिं हानी स्यात्ता तत्कास्य पूजाया प्रीतिः । परिभवे चाप्रीतिः । सकल्पवशाच्चत्वाय प्रीतिपरितापौ स्यातां न केवलपूजावमानाभ्यां । एवमन्येष्वपि शुभाशुभधर्मेषु व्यतिर्गमनिषेधः कल्प्यः ॥

अर्थ—मानकपायका त्याग जैसे करना योग्य है वैसे उमके साथ पूजा-लोकोसे आदरसत्कार प्राप्त होना अवमान-पराभव अनादर प्राप्त होना; रूप-सौंदर्य, विरूप-कुरूपता, सुभगता-सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा सर्वत्र अखंडित रहना, और उसका लोकोसे पालन न होना. इत्यादिकोसे गर्व या दुःख होता है परंतु वहभी त्यागना योग्य है.

उनके विषयमें ऐसा विचार करना चाहिये—मैं कभी परमेश्वर-अनादर-अपमानभी हुआ है क्या कभी पूजाभी हुई है? इस प्रकार हम मंगलमें अनन्तवार मैं पूजाभी गया था, न पूजामें अनुराग करना चाहिये और न अनादर होनेके प्रसंगमें रोद रिग्न होना चाहिये। जैसा मेरी यादवार पूजा हुई थी ऐसा यादवार अनादर भी हुआ था पूजाके समय न मेरा आत्मा मुँठ रहा था और न अपमानके समय मुँठ पड़ा था, दोनों पर्यवर्गे यह भिन्न-विचार प्रदर्शनी हो रहा था अर्थात् पूजा और अपमानके समय तब आत्माही गूँट पर नहीं होती है जो जानेंद पर मानना अमानना का ही शौकत समझना चाहिये न कहना राज होकर आत्मा शक्तिपूक और यत्नापूक होता है, उनको पूजा और अपूजा रूपण नहीं है, अन्यत्र इन विषयमें ऐसा कहा है—जो पूरा निमित्त गुणोक्त चारक होनेमें नष्ट रचनेमें स्तुतिज्ञा पात्र चना था यही मनुष्य नानाप्रकारके स्तरों रचनेमें, निशोक रचनेमें अमानिन भी हुआ था, यह नडा आधारे है, मंगलके संकटोंमें यह चिन्ता हुआ यह पुण्य-यान्ना स्थिर हुए नाना रूपोंके दृष्टिकोण उपभोग देता हुआ मंगलमें प्रमत्ता रहता है, कभी चाँचोका नृपण प्राप्त होता है जो कभी ये शीत पनने है, कभी ये शीतलनी होने है कभी उच्च स्थली, पुनरपि शीतलनी होने है जो पुन्य शरीरही शीतलनी नदनलुन्य और शिथिली से अनिग्रय प्रिय ये ये ही नग असुभगना प्राप्त होनेपर उनके राज निरन्तरावय यान्नासे भी प्राप्त हुये थे, पुण्योदयमें जो पुन्य उच्छृण्व ग्नीमें अलकृत ये पापस्र उदय अनन्तर ये दग्ध हुए, ऐसा ही देवनेमें आता है जो पुन्य पनने मरुटोंमें चिन्ता हुआ देखा गया था यही कानान्तर्गम भित्त और यह प्रियजनोके द्वारा आश्रित हुना है ऐसा ही देवनेमें आता है अत उपपूक आदर अनादर और मानों जानेंद और गूँट मानना योग्य नहीं है ऐसा विचार कर अभिमानका त्याग करना चाहिये

इच्छेवमादि अत्रिचितयस्ये माणो लवेज्ज पुम्मिस्स ॥

पदे सम्मं अतये पमदो णो होह माणो हु ॥ १२३८ ॥

जइदा उच्चत्तादिणिदाणं मंगलवपुणं होदि ॥

कह बीह ण करिस्सदि मंगलं पग्गवणिदाणं ॥ १२३९ ॥

एतेषां चिंतनान्मानो वर्धते सर्वदाऽश्विवत् ॥

संसारवर्द्धकं सद्यो हीयते तत्त्वचिंतने ॥ १२७९ ॥

उच्चत्वादिनिदानेऽपि संसारं लभते यदि ॥

तदा वधनिदानेऽपि भवभागीति का कथा ॥ १२८० ॥

विजयोदया—जइदा यदि तावत् । उच्चत्वादिनिदान उच्चैर्गंधता, पुरुषत्व, स्थिरशरीरता, अदरिद्रकुलप्रसूति-  
र्बभूतेत्येवमादिकं मुक्ते परंपरया कारणमपि चित्ते क्रियमाणमपि । संसारवर्द्धनं ह्येवं हि संसारवृद्धिं करोति । किंच न  
करिस्सवि कथं न करिष्यति । दीहसंसार दीर्घसंसार । परवधनिदान परवधे चित्तप्रणिधान ॥

उच्चत्वनीचत्वादितथाविधचिंतनचित्तनभवौ मानसद्वावाभावौ इत्यनुशास्ति—

मूलारा—पस्सदो चिंतयतः । एता श्रीविजयो नेच्छति ॥

परवधनिदान सुतरा द्राघयति संसारमित्याचष्टे—

मूलारा—उच्चत्वपुरुषत्वादिकं मुक्तेः परंपरया कारणमपि तन्मे भूयादित्याशास्यमानं ॥

अर्थ—जो पुरुष उपर्युक्त वाताकों विचार नहीं करते हैं वे गर्वसे मानकयायमे युक्त होकर दुःख पाते हैं।  
परंतु जो इनका विचार करते हैं अर्थात् मानसे होनेवाली हाँ-औँका विचार करते हैं वे मानसे दूर रहकर सुखी  
होजाते हैं।

उच्चोन्नतमे जन्म होना, पुरुषत्व, दृढ शरीरपना, श्रीमत कुलमें जन्म होना इत्यादिक बातें यद्यपि मोक्ष  
प्राप्तिमें परंपरासे कारण हैं तो भी इनकी प्राप्ति भरे को हो ऐसी अभिलाषा करनेसे संसार वृद्धिके लिये कारण हो  
जाती हैं, तो दूसरे का वध करनेका निदान—अभिलाषा क्यों संसारवर्द्धक न होगा।

आचार्यगणधरत्वादिप्रार्थना कथमशोभना रत्नत्रयातिशयलभप्रार्थिता हि सेत्याशकायामुच्यते—

आयुरियत्तादिनिदाने वि कदे णत्थि तरस तम्मि भवे ॥

घणिदं पि संजमंतस्स सिञ्जणं माणदोसेण ॥ १२८० ॥

निदानेऽपि कुलादीनि जायंते नात्र जन्मनि ॥

संगमं विवधानस्य मानिनो यातना परा ॥ १२८१ ॥



विजयोदया—आधारियत्तादिनिदाणे वि कदे आचार्यत्वादिनिदानेऽपि कृते । णत्थि तस्स नास्ति तस्य । तस्मिं भवे तस्मिन्भवे निदानकरणभवे । घणिद पि सज्जमंतस्स नितरामपि समयं कुर्वत । किं नास्ति सिल्लण सेधनं मुक्तिः । केन ? माणदोसेण मानकषायदोषेण । स ह्याचार्यत्वादिप्रार्थना करोति । प्रष्टो भविष्यामीति संकल्पेन, ततोऽप्यहंयुता ॥

आचार्यत्वादिप्रार्थना कथं दूष्या रत्नत्रयातिशयलाभप्रार्थनापरत्वादिति शक्यमाह—

मूलारा—तंद्दि भवे निदानकरणजन्मनि । सिद्धेण सेधनं सिद्धिः । यद्यपि अस्ति तद्भवे आचार्यत्वादिकं तथापि नास्ति सुत्तिरिति भावः । माणदोसेण आचार्यादिर्भवन्पूज्यो भविष्यामि इति संकल्पापराधेन ॥

आचार्यपदवी, गणधरपदवी इत्यादिककी अभिलाषा करना अयोग्य नहीं है क्यों कि रत्नत्रयका माहात्म्य प्राप्त होनेके लिये उनकी अभिलाषा की जाति है इस शकाका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—आचार्यत्व, गणधरपदवी इत्यादिका निदान करने परभी इनपदोंकी प्राप्ति इसी जन्ममें होती भी नहीं बहुत उज्ज्वल समय होनेपर भी इन पदोंकी उसी जन्ममें प्राप्ति नहीं होती है कदाचित् आचार्यत्वादिककी उसी भवमें प्राप्ति भी हो गई तो भी उस समयी को मुक्तिपदकी प्राप्ति मानकषाय दोषसे नहीं होती है मैं आचार्य होकर पूज्य होऊँ इस अभिप्रायसे मवृत्ति होती है अतः उसमें अहंकार प्रकट दीखता है.

भोगदोषचिंताया सत्या निदान तथा न भवति इति कथयति—

भोगा चित्तेदव्वा किपाकफलोवमा कडुविवागा ॥

महुरा व भुजमाणा मन्झे बहुदुक्खमयपउरा ॥ १२४१ ॥

मधुराः सेवमाना हि विपाके दुग्गदायिनः ॥

चिन्तनीयाः सदा भोगा किपाकफलसंनिभाः ॥ १२४२ ॥

विजयोदया—भोगा चित्तेदव्वा भोगाञ्छिन्या । किपाकफलोवमा किपाकफलसदृशा । कडुविवागा कडु अनिष्ट विपाक फल पयमिति कडुविपाका । मधुराव मधुरा इव । भुजमाणा मुल्यमाना । मन्झे मन्जे । बहुदुक्खमयपउरा विचित्रदुःखमया ॥

भोगनिदानाभावाय भोगदोषभावनामाह—

मूलार!—मधुरा व मधुरा इव । मूलो मध्ये मुजिक्रियायाः । बहुदुःखमयपउरा भोगसेवया पापं वन्तत. कानि-  
कानि दुःखानि मे न भविष्यति इति विचित्रदुःखत्रासाकुला. ॥

भोगोंके दोषोंका विचार करनेसे भोगनिदान उत्पन्न नहीं होता है इस विषयका विवेचन—

अर्थ—भोग किंपाकफलके समान अवसानमें कदुविपाक है अर्थात् किंपाकफल खाते समय मधुर लगता है परतु उसका कदु परिणाम होता है अर्थात् अन्तमें उससे प्राणीको अत्यंत दुःख होकर मरणकी प्राप्ति होती है. भोग भी सेवन करते समय मधुर — आनन्ददायी मात्स्य होते हैं परतु अन्तमें तीव्र अशुभ कर्मवर्धके कारण वनकर चतुर्गतीमें अतिशय दुःखदायक होते हैं

भोगनिदानदोष कथयन्ति—

भोगणिदाणेण य सामण्य भोगत्यमेव होइ कदं ॥

साहोल्बो जह अत्थिदो वि णेको वि भोगत्थं ॥ १२४२ ॥

भोगार्थमेव चारित्रं निदाने सति जायते ॥

कर्म कर्मकरस्येव द्रविणार्थविचारणे ॥ १२८३ ॥

विजयोदया—भोगणिदाणेण य भोगनिदानेन वा । सामण्यं भ्रामण्य । भोगत्यमेव होइ कदं भोगार्थमेव कृतं न कर्मक्षयार्थं भवति । भोगनिदाने सति रागद्व्याकुलितचित्तस्य प्रत्यग्रकर्मप्रवाहस्वीकृतो उद्यतस्य का सयतता ॥

भोगनिदाने दोषं भाषते—

मूलार—भोगत्यमेव न कर्मक्षयार्थं । भोगरागाकुलचित्तत्त्वे प्रत्यग्रपापकर्मप्रवाहस्वीकरणभियोगात् । साहोल्बो जालायांमवलबो यस्यासौ फलव्युपयोगार्थी यथा वृक्षशालाप्रस्थितः कश्चित्स्वेष्टस्थानगमनं विनयति तथा श्रमणोऽपीति भावः । अन्यस्त्वाह—

भोगार्थमेव चारित्रं निदाने सति जायते ॥

कर्म कर्मकरस्येव द्रविणार्थं विचारणे ॥

भोगनिदानके दोष कहते हैं—

अर्थ—मुनिव्रत धारण कर जिसने भोग्याप्तिका निदान किया समझना चाहिये कि भोगके लिये ही उसने मुनिव्रत धारण किये हैं न कि कर्मक्षयके लिये भोगनिदान करनेसे भोगाभिलाषासे-भोगाकी उत्कंठासे चित्त व्याकुल होता है तब नवीन कर्मप्रवाहका स्वीकार करने के लिये वह उद्युक्त होता है, जिससे संयतपनेका अभाव होता है, जैसे कोई अपने इष्ट स्थानपर जा रहा था मार्गमें किसी वृक्षका फल खानेकी उसको इच्छा हुई तब वह वृक्षकी शाखाको फलके आशसे पकड़कर खड़ा हुआ, इस कार्यमें लगनेसे स्पष्ट स्थानको जानेमें उसने विघ्न ही पैदा किया ऐसा समझना चाहिये, इसी तरह यदि निदान करेगा तो उसने कर्मक्षयरूपकार्यमें स्वयं विघ्न उपस्थित किया है ऐसा समझना चाहिये, अथवा निदान करनेवाला मुनि भोगार्थ ही चारित्र धारण करता है जैसे नोरु केवल द्रव्यके लिये स्वामीकी सेवा करता है

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो ॥

सणिदाणवंभचेरं अव्वंभत्थं तथा होइ ॥ १२४३ ॥

भवत्यब्रह्मचर्यार्थं सनिदानं तपो यत् ॥

अपसारो विघातार्थं मेघस्येवास्ति मेघतः ॥ १२८४ ॥

विजयोदया—आवडणत्थं अभिघातार्थं । जह यथा । ओसरण अपगमः । मेसस्स होदि मेघस्य भवति । मेसादो मेघात् । सणिदाणवंभचेरं सनिदानस्य यतंब्रह्मचर्यं । अव्वंभत्थं मैथुनार्थं । तथा होदि तथा भवति ॥

भोगाकाक्षया ब्रह्मचर्यं पालयतो भूयो मैथुनार्थमेव तद्ववति न प्रदमसुरार्थं इति दृष्टान्तेन स्पष्टयति--  
मूलारा—आवडणत्थ अभिघातार्थं । ओसरणं अपसरण । सणिदाण भोगा मे भूयसुरिति निदानयतो यतेः ॥

अर्थ—एक बर्कोसे दूसरा चकरा चरे जैसे अघात करनेके लिये पीछे हटता है उसी तरह निदानयुक्त मुनिका ब्रह्मचर्यव्रत मैथुनके लिये है ऐसा समझना चाहिये अर्थात् भोगशान्ति की आशासे ही सनिदान मुनि व्रताचरण करता है कर्मक्षयके लिये वह व्रत पालन करता है ऐसा मानना अयोग्य होगा।

जह वाणिग्या य पणिधं लाभत्थं विक्खिणति लोभेण ॥

भोगाण पणिदभूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो ॥ १२४४ ॥

विश्रीणाति तपोनर्ध भोगेन सनिदानकः ॥

माणिक्यमिव काचेन सारासाराविचारकः ॥ १२८५ ॥

विजयोदया—जह्वाणिता यथा । वणिजः । पणिय पण्य । लामत्य लामार्थ । विक्रिणति विक्रीणति । लोभेन । भोगाण भोगाना । पणिदो पण्यभूत । सणिदाणो सनिदान । तद्वा धम्मो होदि तथा धर्मो भवति ॥  
भोगाकाश्या चारित्र भोगविक्रयं भवेदित्याह—

मूलारा—पणियं पण्यं विक्रेयद्रव्यं । भोगाण पणिदभूदो भोगैर्विक्रेयता प्राप्तः ॥

अर्थ—जैस व्यापारी लोभवश होकर लाभके लिये आपना माल बेच डालता है वैसे निदान करनेवाला मुनि भोगके लिये धर्मरूपी माल बेच डालता है, ऐसा समझ लेना चाहिये

भोगनिदानवत श्रामण्यं प्रणिदति—

सपरिग्गहस्स अब्वंभचारिणो अविरदस्स से मणसा ॥

काएण सीलवहणं होदि हु णडसमणरूवं व ॥ १२८५ ॥

ससंगस्यानिवृत्तस्य चित्तेनाब्रह्मचारिणः ॥

कायेन शीलवाहित्वं व्यर्थं नटयतेरिव ॥ १२८६ ॥

विजयोदया—सपरिग्गहस्स सपरिग्रहस्य भोगनिदानवतो वेदजनितो रागोऽभ्यंतर परिग्रह इति सप रिग्रह इति । तस्य अब्वंभचारिणो मनसा मैथुनकर्मणि प्रवृत्तस्य । अविरदस्स अव्यावृत्तस्य मैथुनात् । मनसा चित्तन । से तस्य श्रामण्यरहित यथा अफलमेवमिदमपि इति भावः ॥  
भोगनिदानवतः श्रामण्यं प्रणिदति—

मूलारा—सपरिग्गहस्स वेदजनितरागेण अभ्यंतरपरिग्रहयुक्तस्य । अव्वंभचारिणो भावमैथुनप्रवृत्तस्य । अवि-

रदस्स मनसा स्त्रीसेवनादनिवृत्तस्य । से भोगनिदानवतो मुनेः । सीलवहणं ब्रह्मव्रतधारणं । हु एवार्थको यो नैवेत्यर्थः । णडसवरूपं व नटाना यतिवैपधारणमिव । यथा कायेन नटैर्यतिरूप वार्थमाणं भावश्रामण्यरहितत्वात्निष्फलं तथेदमपीति भावः ॥

भोगका निदान करनेवाले मुनिका मुनिपना निदनेलायक है ऐसा आचार्य कहते हैं अर्थ—भोगका निदान जिसने किया है वह मुनि अंतरंगमें रागभावसे युक्त है अर्थात् उसके मनमें मैथुनकी अभिलाषा है इसलिये वह परिग्रह सहित ही है ऐसा समझना चाहिये। उसका मन मैथुन कर्ममें प्रवृत्त होनेसे वह मैथुन कर्मसे परावृत्त नहीं है ऐसा समझना चाहिये वह शरीरसे ही शीलव्रतको धारण करनेवाले नटके समान भावमें मुनिपनासे च्युत हुआ है, ऐसा मुनिपना व्यर्थ है ऐसा अभिप्राय समझना

रोगं कंखेज्ज जहा पडियारसुहरस्स कारणे कोई ॥

तह अण्णेसदि दुक्खं सणिदाणो भोगतण्हाए ॥ १२४६ ॥

आकांक्षति महादुःखं निदानी भोगतृष्ण्या ॥

रोगित्वं प्रतिकाराय कुबुद्धिरिव कञ्चन ॥ १२८७ ॥

विजयोदया—रोग कंखेज्ज व्याधिमाभिलषति । जहा कोइ यथा कञ्चित् । किमर्थ ? पडियारसुहरस्स कारणे औपधसेवासुखाधिगमनात् । तह तथा अविरटस्स अय्यावृत्तस्य । अण्णेसदि अन्वेषते । दुक्खं दुःखं । क सणिदाणो सनिदान । भोगतण्हाए भोगतृष्ण्या ॥

भोगनिदानविधायिनमुपहसति—

मूलारा—पडियारसुहरस्स कारणे, औपधसेवाजन्यसुखप्राप्त्यर्थं अण्णेसदि प्राप्यते ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य औपधसेवनका सुख प्राप्त करनेकी अभिलाषासे देहमें रोगोत्पत्तीकी इच्छा करता है वैसे निदान करनेवाला मुनि भोगकी लालसासे दुःखोंको चाहता है ऐसा समझना चाहिये

खंदेण आसणत्थं वहेज्ज गरुगं सिलं जहा कोइ ॥

तह भोगत्थं होदि हु संजमवहणं णिदाणेण ॥ १२४७ ॥

भोगार्थं वहते साधुर्निदानित्वेन संयमम् ॥

स्कंधेनैव कुधीर्गुर्वीमासनाय महाजित्ताम् ॥ १०८८ ॥

विजयोदया—येदेण स्केवेन । जत्ता कोइ यथा रुद्धित् । गल्ला सिल गुवाँ शिला । वेइज वहति । किमयँ ? आसणत्थ आसनार्थ । अस्या उपरि सुगेनासे इति मत्वा म यथा मुक्कशिलोद्धनवेद नापेक्षते, खल्प तस्या उपर्यासनसुरग-मयेक्षते स्वबुद्ध्या । तह भोगत्थं यत्तया भोगार्थमेव । होट्टि अवति । सजमवहण दुनं भयमवरण । गिदाणिण निदनेन सह ॥

मूलारा—आमणत्थ अस्या उपरि सुयेनोपेक्ष्यामीति मत्वा । हु भोगार्थमेव । गिदाणिण अनेन दुर्वरमयमेन भोगा भूयसुरिति शार्थनया सह । अत्र बहुदुःनेन स्वल्पसुगमाधानमित्युपहामः ॥

अर्थ—इम शिलापर में सुखमे बैठेगा इम अभिप्रायसे जेमे कोई मूलं मनुष्य अपने रुधेपर नडी शिला धारण करता है अर्थात् शिलाका भार अपने कंधेपर सदैव वहता है उसमे होनेगले कएकी वह परवाह नहीं करता है वैसे भोगका निदान करनेवाला मुनि जो महान् समय धारण करता है वह भोग के लिये ही समझना चाहिये, शिलापर बैठनेसे अल्पसुख होगा परंतु हमेशा शिलाको कंधे पर रखना कष्टदायक है वैसे अल्पसुखके लिये महान् समय धारण करना शिलाके समान दुःखदायक है

वाह्यवस्तुजनितार्द्रिद्यसुखात्तन्निमित्तवस्तुविनाशो यज्जायेते दुःख तदधिकृतम अतः स्वल्पसुखनिमित्त को नाम सचेतनो दुःखभीकर्तुं यावच्चै पतेदिति दर्शयति—

भोगोवभोगसोक्खं जं ज दुक्खं च भोगणासम्मि ॥

एदेसु भोगणासे जात दुक्ख पडिविमिट्ठं ॥ १२४८ ॥

यत्सुखं भोगजं जंतोर्यद्दुःखं भोगनाशजम् ॥

भोगनाशोत्थितं दुःखं सुखाधिकृतमं मतम् ॥ १२८९ ॥

विजयोदया—भोगोवभोगसोक्खं सृष्टाशनतावृत्तादिकं स्त्रीवस्त्रालकारादिभिश्च । जनितं यत्सुख । भोगणा सम्मि सुखमायनम्य वस्तुनो विनाशो च । ज ज दुक्खं च यच्च दुःख जायते । एदेसु पतयो सुखदुःखयोः भोगनाशो मुख्याभावनाना विनाशो च । दुक्खं पडिविसिट्ठं अधिकृतमिति यावत् ॥

सृष्टाशनररागनात्रिनिमित्तकसुखात्तन्निमित्तवस्तुविनाशन्यं दुःखमधिकतरमतः स्वल्पसुखार्थं कः सुधीः जा-  
दिय्यभट्टुः प्याब्धौ पतेदिति दर्शयति—

मूलारा—भोगणासस्मि भोगांगविनाशे । पडिविसिद्धं अधिकतरं ।

बाह्य वस्तुके संयोगसे जो सुख प्राप्त होता है उससे उस वस्तुका वियोग होनेसे प्राप्त होनेवाला दुःख अधिक है. इसलिये स्वल्पसुखके लिये कोन दुःखसे भयभीत सचेतन प्राणी-विद्वान् मनुष्य दुःखसमुद्रमें गिरना चाहेंगा.

इस अभिप्रायका आचार्य उल्लेख करते हैं—

अर्थ—मधुर अन्न, तांबूलादिक पदार्थोंको भोग कहते हैं. स्त्री, वस्त्र, अलंकारादिकोंको उपभोग कहते हैं. इन भोगोपभोगोंमें जो सुख आत्माको प्राप्त होता है. तथा भोगसाधनात्मक इन पदार्थोंका वियोग होनेसे जो दुःख उत्पन्न होता है इन दोनोंमेंसे दुःख ही अधिक समझना चाहिये अर्थात् सुख साधनोंका नाश होनेसे मनुष्य को अधिक दुःख होता है

देहे छुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्खं ॥

दुक्खस्स य पडियारो रहस्सणं चैव सोक्खं खु ॥ २२४९ ॥

छुदादिपीडिते देहे समासक्तं कथं सुखी ॥

दुःखस्यास्ति प्रतीकारो न्हस्वीकारोऽथवा सुखम् ॥ ११९० ॥

विजयोदया—देहे शरीरे मनुजाना । छुहादिमहिदे श्रुथा, पिपसया, शीतोष्णेन, ग्याधिभिश्च मथिते । चले अनित्ये च । सत्तस्स आसक्तस्य । किं सुख होज्ज किमत्र सुख भवेत् । दुक्खस्स य पडियारो दुःखस्य प्रतीकार रहस्सणं चैव न्हलकरणं एव सोक्खं सौख्यं । खु शब्द पादपूरण दुःखप्रतीकारोत्पत्तौ वा दुःखस्य सुखमित्येनेनाख्यातम् ॥

किंचित्कथंचिच्छब्देष्वपि इच्छानुरूपभोगेषु छुदादिवाचाकर्तित्येनानित्ये विनाशिते च मानुषदेहे जाग्रदादिरस्य कृत्यं सुखस्य गंधोऽपि सत्यं स्यादिति व्यवस्थापयति—

मूलारा—छुधादिमधिदे दुसुखादिकदर्थिते । चले अनित्ये । सत्तस्स आसक्तस्य मनुजस्य । पडियारो निराकरणं । रहस्सणं न्हासनं ॥

अर्थ—यह देह भूख, प्यास, शीत, उष्ण और रोगोंमें पीडित होता है तथा अनित्य भी है ऐसे देहमें

आसक्त होनेसे इस आत्माको कितना सुख प्राप्त होगा? अत्यल्प सुखकी प्राप्ति होगी, दुःख निवारण होना अथवा दुःख कमी होना ही सुख है ऐसा संसारमें माना जाता है दुःख के प्रतीकारको ही लोक सुख समझते हैं

सुखमन्तेरेणापि आस्ति दुःखं, सुखं पुनरैन्द्रियकं न जायते दुःखं विना ततः सुखार्थी दुःखमेव प्रागात्मनोऽभिलषति न च दुःखाभिलाषः प्राज्ञस्य युक्त इति कथयति—

सौमखं अणपेक्खिक्खत्ता वाघदि दुक्खमणुगं पि जह पुरिसं ॥

तह अणपेक्खिक्खय दुक्खं णत्थि सुहं णाम लोगम्मि ॥ १२५० ॥

अनपेक्ष्य यथा सौख्यं न दुःखं बाधते नरम् ॥

अनपेक्ष्य तथा दुःखं न सुखं विधत्ते जने ॥ १२९० ॥

विजयोदथा—सौमखं सौख्यं । अणपेक्खिक्खत्ता अनपेक्ष्य । वाघदि दुक्खमणुगं पि बाधते दुःखमण्वपि । जह पुरिसं यथा पुरुष । तह तथा अणपेक्खिक्खय अनपेक्ष्य दुक्खं दुःखं । लोगम्मि णत्थि सुहं लोके नास्ति सुखं नमैन्द्रियिकं । क्षुत्पिपासाभ्या पीडिता एवाशनं पानं वाञ्छेयते । कठोरातपतस एव शीत, शीतसंकुचिततनुरेव प्रायरणादिकं, वातातपाशु-भिरप्योपद्रुतो भवनमभिलषति । स्थानासनोपजातश्रम एव शय्या कामयेते । पादगमनजातखद्व्यपोहनयैव शिबिका-दिकं, वैरूप्यनिराकृतये एव वस्त्राणि भूषणानि च, दौर्घ्यनाशानयैव तुरुष्ककालागुर्वीदिक, खद्वगमनयैव रमण्य इति सर्वं दुःखप्रतीकारमेव ॥ त्रिविधवेदोवयजनित प्राणिना लिंगप्रयवर्तिना परस्परभिलाषः । स तेषां परस्परशरीरसंसर्गं सत्यपि न विनश्यति । अभिलाषनिमित्तानां कर्मणा सद्भावात् । न हि कार्यमविकलकारणसन्निधौ न भवति । कामो हि सेव्यमानो वेदत्रयं प्रत्यग्रमाकर्षति । सतोऽप्यनुभयमुपगृह्यते । कारणसंपर्ककार्यसंपातः । नित्यमपि निरंतराभिलाषदहनदहान-चेतसो न कदाचिन्निर्वृतिरस्ति । अपनीते तु वेदत्रये कारणाभावात् कार्योभाव इति ॥ निरवशोपवेदापगमे स्वास्थ्यं यदस्य तदेव सुखमिति मन्यमानो दृष्टत दर्शयति—

सुखं विनाप्यस्ति दुःखं सुखं पुनरैन्द्रियिकं दुःखं विना न भवति ततः सुखार्थी दुःखमेव प्रागात्मनोऽभिलषति न च दुःखाभिलाषः प्राज्ञयुक्त इति वक्ति—

मूलारा—अणुगं पि स्तोकमपि । अणपेक्खिक्खय अनपेक्ष्य । दुःखे सत्येव सुखं जायते । क्षुदादिपीडितस्यैव भोज-नाद्यन्वेषकत्वदर्शनादिति भावः । ऐन्द्रियिकसुखदुःखे स्वविपक्षापेक्षे इत्यन्ये । तथा चोक्तम्—

अनपेक्ष्य यथा सौख्यं न दुःखं बाधते नरम् ॥

अनपेक्ष्य तथा दुःखं न सुखं विधत्ते जने ॥



दुःख सुखके बिनाभी होता है परंतु ऐंद्रियिक सुख दुःखके विना उत्पन्न नहीं होता है इस लिये सुखकी अभिलाषा करनेवाला प्राणी प्रथम दुःखकी अभिलाषा करता है ऐसा सिद्ध हुआ. परंतु दुःख की इच्छा करना बुद्धिमानके लिये योग्य नहीं है ऐसा अभिप्राय आगेकी गाथामें दिखाते हैं—

अर्थ—सुखकी अपेक्षा न करता हुआ थोड़ासाभी दुःख मनुष्यको दुःखित बनाता है परंतु सुख दुःखके विना-उसकी अपेक्षा न करके मनुष्यको सुखी करनेमें असमर्थ होता है अर्थात् जितना ऐंद्रियिक सुख है वह सब दुःखसे भरा हुआ है. और दुःखका प्रतीकार मात्र है लोक प्रतिकारको ही सुख समझ रहे हैं जब भूख और प्यास मनुष्यको सताती है तब वह अन्न और पानीका अन्वेषण करता है अर्थात् अन्न पानी सेवन कर अपनेको सुखी समझता है. सूर्यके कठोर किरणोंसे दुःखी होता है तब शीत पदार्थको चाहता है जाड़ेसे जब शरीर सिंघुडने लगता है तब वस्त्रादिकको चाहता है हवा, आतप, और पानीसे जब पीडा होने लगती है तब उसको हटानेके लिए घरेमें प्रवेश कर सुखी होता है खंड होनेसे और बैठनेसे तकलीफ मालूम पड़नेपर शय्याको चाहता है पावोंको प्रवाससे थकावट उन्पन्न होनेपर पालकी वगैरह वाहनको चाहता है. कुरूपता दूर करनेके लिए वस्त्रालंकार, शरीरकी दुर्गंधता मिटानेके अर्थ कालागुरु आदिक सुगंध पदार्थकी स्पृहा उसको होती है खेद बुर करनेके लिए स्त्रीको चाहता है. ये सब दुःखके प्रतीकार ही हैं.

स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद इनके उदयेसे तीनों लिंगोंके प्राणिओंको परस्पराभिलाषा उत्पन्न होती है. परंतु वह अभिलाषा अन्योन्यके शरीरसंसर्ग होनेपर भी नहीं मिटती है. क्योंकि अभिलाषको उत्पन्न करनेवाले कर्म हमेशा आत्मामें मौजूद हैं वे बार बार अन्यान्याभिलाषा उत्पन्न करते रहते हैं जब तक अखंड कारण मिलते ही रहेंगे तबतक कार्यकी उत्पत्ति होगी. जब कामसेवन मनुष्य करता है तब नवीन २ तीन वेदोंकी उत्पत्ति होती जाती है पूर्वानुभवमें वृद्धिही होती है कारण के संपर्कसे कार्यमें नित्यता आती है मनुष्य निरंतर इच्छारूपी अग्निसे दग्ध होता है अतः उसको मंतोषकी प्राप्ति नहीं होती है. जब तीन वेद नष्ट होते हैं तब परस्पराभिलाषाका कारण ही नष्ट हुआ तब वह भी नष्ट होती है संपूर्ण वेद नष्ट होने पर जो स्वास्थ्यलाभ होता है उसको ही सुख समझना चाहिए.

जह कोडिल्लो अग्नि तपंतो णेव उवसमं लभदि ॥

तह भोगे भुंजंतो खण पि णो उवसम लभदि ॥ १२५१ ॥

सेवमानो यथा वहिं न कुष्ठी लभते शमम् ॥

भुंजानो न तथा भोगं सतोषं प्रतिपद्यते ॥ १२९१ ॥

विजयोदया—जह कोडिल्लो यथा कुष्ठेनोपद्रुत । अग्नि तपंतो अग्नि दह्यमानमूर्तिरपि । णेव उवसमं लभदि नैव व्याधेरुपशम लभते । न ह्यग्निरुपशमक कुष्ठस्यापि तु वर्द्धक । यद्यस्य बुद्धिमित्तं न तत्तदुपशमयति । यथा कुष्ठ नोपशमयति बन्धु । वर्धयति चाभिलाप अवलादिसंगमः । तह तथा । भोगे भुजंतो भोगानुभवनोद्यतः । खणपि णो उवसम लभदि । श्वणमात्रमपि नोपशमं लभते भोगाभिलापयोगस्य ॥

भोगैस्तृष्णाभिवर्धनेन परितापानुबध बोधयति—

मूलारा—अग्नि तपंतो अग्नि मेवमानः । उवसम शान्तिं कुपस्य । वन्निवापस्य तद्वर्धकत्वात् । उवसमं भोगाभिलापराशानि । तन्निमित्तवदाल्यकर्मणः प्रियागनाद्युपयोगेन प्रतिक्षणमाधीयमानोऽरीरणश्रवणत्वात् ॥

ऐसे सुखको ही सुख माननेवाले आचार्य दृष्टान्त प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—जैसे कुष्ठी मनुष्य अग्निसे शरीर तपनेपर भी उपशमको प्राप्त नहीं होता है अर्थात् अग्नि सेवन से कुष्ठ उपशांत नहीं होता है, उलटा बढ़ने लगता है, जो जिसके बढ़नेमें निमित्त होता है वह उसका उपशमन नहीं कर सकता है जैसे अग्नि कुष्ठको शांत नहीं कर सकता है वैसे स्त्री वगैरह पदार्थोंका सहवास भी अभिलापका उमशम नहीं करता है किंतु वह उसको बढ़ाता ही है भोगोंका उपभोग लेनेमें उद्युक्त हुआ पुरुषका अभिलापारूपी रोग क्षणपर्यंत भी शान्त नहीं होता है, प्रतिदिन वह बढ़ता ही है

कच्छु कंडुयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे ॥

दुक्खे सुहाभिमाणं मेहुण आदीहिं कुणदि तथा ॥ १२५२ ॥

मैथुनं सेवमानोऽङ्गी सौख्य दुःखेऽपि मन्यते ॥

चित्तैः कंडूयमानो वा कच्छु कररुहैः कुधीः ॥ १२९२ ॥

विजयोदया—कच्छुं कच्छुं । कंडुयमाणो नरैर्मर्दयन् । सुहाभिमाणं करेइ सुखाभिमानं करोति । जह दुक्खे यथा दु खे । तह मेहुण आदीहि तथा मैथुनादिदु खे रभसालिंगने, अधरदशने, उरस्ताडने नखैर्निशितैरंगच्छेदने कचा-  
कर्पणे ॥ उक्त च—

नश प्रेत इवाविष्ट स्वनन्निव शयान्निव ॥

श्वासायासपरिश्चात स कामी रमते किल ॥ १ ॥ इति ॥

अनुभवसिद्ध विषयसुर्यं कथं प्रतिपिथ्यते इत्याशका दृष्टातपचकावष्टभेन निराकर्तुं गाथाद्वयमाचष्टे—

मूलारा—कंडुयमाणो नरैरुहिरान् । मेहुण आदिम्मि रभसालिंगनाधरदशनोस्ताडनकाचार्क्यणीक्ष्णनख-  
च्छेदनादिजन्ये ॥

अर्थ—कच्छु रोगको नखोंसे खुजानेवाला मनुष्य खुजाते समय अपनेको सुखी समझता है जैसे यह जीवभी मैथुनादि दुःखोंसे भी अपनेको सुखी समझता है गाढ आलिंगन करनेमें, अधरचुवनमें, वक्षस्थल मर्दनमें, नखोंसे अंगमें ब्रण करनेमें और केशार्क्यणमें अपनेको सुखी समझता है इस विषयमें अन्यग्रंथमें ऐसा कहा है—वह कामी मनुष्य पिशाचके समान नग्न होकर, शब्द करनेवाला, और आयाससे थककर मैथुन सेवन करता है

घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरिचि मण्णदि वराओ ॥

तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्खं जणो कामी ॥ १२५३ ॥

सेवमानो नरो नारीं दुःखदां सुखदां कुधीः ॥

मन्यते मधुरां वहीं कृमिघोषातकीमिव ॥ १२९३ ॥

विजयोदया—घोसादकीं घोषातकीं । किमि कृमि । खतो भक्षयन् । जहा मधुरिचि यथा मधुरमिति मन्यते वराक । तह तथैव । दुक्ख वेदंतो दु खमनुभवन् । मण्णदि सोक्खं जणो कामी मन्यते कामिजन सुख ॥ ९

मूलारा—घोसातकीं घोषातकीं । खंतो भक्षयन् ॥

अर्थ—घोषातकी नामका कड़वा फल भक्षण करनेवाला कृमि उसको मीठा ही समझता है जैसे दुःखका अनुभव करनेवाला कामी पुरुष दुःखको ही सुख मानता है.

सुष्ठु वि मगिज्जंतो कथ्य वि कयलीए णत्थि जह सारो ॥

तह णत्थि सुहं मगिज्जंते भोगेसु अप्पं पि ॥ १२५४ ॥

सपद्यते सुखं भोगे सेव्यमाने न किंचन ॥

सारो नोऽन्विष्यमाणोऽपि रंभास्तेभ्यो विलोक्यते ॥ १२९४ ॥

विजयोदया—सुष्ठु वि सुष्ठु अपि मगिज्जंतो मृग्यमाणोऽपि सार. कदल्या कचिदपि मूले मध्येऽन्ते वा यथा नास्ति तथा भोगेऽन्विष्यमाणं सुखं न विद्यते ॥

इन्द्रियभोग्यतया मृग्यमाणेषु विषयेषु निःसुखत्वेकान्तमनुशास्ति—

मूलारा—कथयइ कचित् । मूले मध्येऽन्ते वा ।

अर्थ—सूक्ष्म विचार करने पर भी केलेके बृक्षमें प्रारंभ में, मध्यभागमें और अन्तमें भी कुछ भी सार दीखता नहीं है वैसे भोगोंमें विचार करनेपर भी कुछ सुख नहीं है.

ण लहदि जह लेहंतो सुक्खल्लयमट्ठियं रसं सुणहो ॥

से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुक्खं ॥ १२५५ ॥

विश्वस्ता चैः प्रतार्यन्ते विसुच्यते निषेवकाः ॥

प्रवर्द्धकाः प्रपीड्यन्ते कस्तैर्भागीः समो रिपुः ॥ १२९५ ॥

निषेव्यमाणो वनिताकलेवर स्वदेहखेदेन सुखायते जनः ॥

श्वा व्यश्रुवानो रसमस्थि नीरस स्वतालुरक्ते मज्जते सुखं यथा ॥ १२९६ ॥

विजयोदया—ण लहदि जघ सुणगो सुम्बल्लग अट्ठियं लेहंतो रसं । श्वा शुष्कमस्थि लिहन् सन् यथा रसं न लभते । सगतालुगरुहिरं लेहंतो सो सोफस्व मण्णए तीक्ष्णास्थिच्छिन्नस्वतालुगलितरुधिमाखादयन्सुखाभिमान करोति । जह तह यथा तथा । पुरिसो ण किंचि सुखं लभइ । पुरुषो न किंचित्सुखं लभते ॥

मूलारा—लेहंतो आस्वादयन् । सुक्खल्लग शुष्कं । अट्ठिगं अस्थि । सगतालुगरुहिरं । तीक्ष्णास्थिच्छिन्नस्वतालुगलितलोहितं ।

अर्थ—जैसे कुत्ता रक्तहीन सूखी हड्डी चाटने लगता है परंतु उसमें रस नहीं होता है हड्डीको चूसते समय उसीके तालुका रक्त निकलने पर वह उसमें सुख समझता है वैसे कामी पुरुष भी विषयोंमें सुख समझता है, अर्थात् स्त्रीसहवासमें उसका स्वयं वीर्यपतन होता है, और उसमेंही वह सुख समझता है

महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुहं तथा पुरिसो ॥

सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुखं ॥ १२५६ ॥

नग्नो बाल इवास्वस्थः स्वनद्यन्यक्तजल्पनः ॥

श्वासाकुलो जनो नार्या कीदृशी अयेते रत्तिम् ॥ १२९७ ॥

आरटंती भराकान्तां दीनामुष्दीमिवाकुलाम् ॥

किं सुख लभते मूढः सेवमानो जितंविनीम् ॥ १२९८ ॥

विभीमरूपाः कुटिलस्वभावा भोगा भुजंगा हव रंघ्रसंस्थाः ॥

ये स्मर्यमाणा जनयन्ति दुःखं ते सेविता कस्य भवन्ति शान्त्यै ॥ १२९९ ॥

प्रदश्यं सौख्यं वितरन्ति दुःखं विश्वासमुत्पाद्य च वंचयन्ति ॥

ये पीडयन्ते परिचर्यमाणास्ते सन्ति भोगाः परमा द्विपन्तः ॥ १३०० ॥

विजयोदया—महिलादिभोगसेवी स्थितिभोगसेवनोद्यत । तथा सो ण किंचि वि सुहं लहदि तथा पुरिसो न किंचिदपि सुख लभते एव । सो वरागो सगकायपरिस्सम सोमल मण्णदे स वगल स्वकायश्रमं सौख्यं मन्यते । अनुभवसिद्ध सुख कय नास्तीति शक्यते वस्तु इत्याशय्य असत्यपि सुखे सुखज्ञान जगतो भवति विपर्ययं सुखकारण-  
सेति वदति ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—स्त्री वगैरहको भोगनेवाला यह कामी पुरुष किंचित्भी सुख नहीं प्राप्त करता है यह दीन पुरुष अपने शरीरपरिश्रममें ही सुखकी कल्पना करता है स्त्रीमहवासमें सुखकी प्राप्ति होती है यह बात अनुभव सिद्ध है उसको आप सुखाभाव कैसे कहते हो ?

इस शकाका उत्तर ऐसा है—सुखके अभावमें भी जगत् को सुखकी अति होरही है यह उसका विपर्यस्त ज्ञान है

दीसइ जल व मयतण्हिया दु जह वणमयस्स तिसिदस्स ॥

भोगा सुहं व दीसति तह य रागेण तिसियस्स ॥ १२५७ ॥

कामिभिर्भोगसेवायामसत्यं दृश्यते सुखम् ॥

कुरंगैर्मृगतृष्णायां पानीयं तृपितैरिव ॥ ३०१ ॥

विजयोद्या—दीसइ वणमयस्स तिसिदस्स जहा जल भयतण्हिया वने मृगेण हरिणादिना तृपामि-  
भूते जलकाशावता जलमिव दृश्यते मृगतृष्णाका । न मा मृगेण जलतयोपलब्धेऽपि जल भवति । तथा रागेण तिसिदस्स  
भोगा सुहं व दीसति रागद्वारेण भोगा' सुखमिव दृश्यते ॥

मूलारा—वणमयस्स वनमृगेण हरिणादिना अत्र तृतीयायाः पृष्टीवद्भावः । भोगा कामिन्यादिनिर्भासा',  
इद्विप्रतीतय' ।

इसी विषयका स्पष्टीकरण—

अर्थ—जैसे जगलमें विचरनेवाले हरिणोंको तृपासे पीडित होनेपर मृगतृष्णाका जलके समान दीखती है परंतु वह वास्तविक जलरूप नहीं है वैसे रागभावमें व्याकुल हुए इस जीवको भोगपदार्थ सुखमय दीखते हैं परंतु वे वास्तविक सुखरूप नहीं हैं.

वरघो सुखेज्ज मदयं अवगासेऊण जह मसाणम्मि ॥

तह कुणिमदेहसंपसणेण अबुहा सुखायति ॥ १२५८ ॥

कृथितस्त्रीतनुस्पर्शे नष्टबुद्धिः सुखायते ॥

अबगुणाय नाब व्याघ्र दमशाने किं न तृप्यति ॥ १३०२ ॥

पञ्चा—वरघो सुखेज्ज मदयं अवगासेऊण जह मसाणम्मि ॥  
इतिरा मससि ॥

मूलारा—सुखेज्ज वृत्त्यति ग्रीणीतो भवति ॥ भवयं भृतकं । अवगासेदूण आलिग्य उपरि चटित्वा वा । सुसा-  
णस्मि इमशाने । कुणिमवेहंसफासणेण कुथितयुवतिकलेवरस्पर्शेन । सुवार्यति सुखाधिगमहर्यनिर्भरा भवंति ॥

अर्थ—इमशानमें व्याघ्र प्रेतका भक्षण कर वृत्त होता है वैसे मूर्ख लोक दुर्गंध शरीरके स्पर्शसे मेरेको सुख  
प्राप्त हो रहा है ऐसा समझकर अतिशय हर्षित होते हैं

भवतु नाम सुखं भोगस्तथापि तदल्पमिति निवेदयति—

तह अप्यं भोगसुहं जह धावंतस्स अठितवेगस्स ॥

गिम्हे उण्हतत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्यं ॥ १२५९ ॥

मध्यंदिनार्कतप्तस्य यावच्छायाव्यतिक्रमे

वेगतो धावतः सौख्यं तावद्भोगनिषेवणे ॥ १३०३ ॥

विजयोदया—तथा अप्यं भोगसुहं-धावंतस्स अठितवेगस्स गिम्हे उण्हतत्तस्स जह्वा छायासुहं अप्यं तह अप्यं  
भोगसुहं । धावंतोऽस्थितवेगस्य ग्रीष्मे उष्माभितप्तस्य यथा मार्गस्यैकतरुच्छायासुखमल्प भोगसुखं तथा ॥

एवं दुःखे मूढात्मना सुखाभिमान समर्थ्य साप्रतं परानुरोधेन भवतु नाम भोगसुख तथा तदल्पमित्यभ्युपगम  
सिद्धातेन वक्ष्यति—

मूलारा—अठितवेगस्स अविच्छिन्नजवस्य । वा अथवा उण्हतत्तत्तस्स मध्याह्नार्कतप्तस्य । छायासुह मार्ग-  
स्थैकतरुच्छायाप्राप्त्या शर्म ॥ उक्तं च—

मध्यदिनार्कतप्तस्य यावच्छायाव्यतिक्रमे ॥

वेगतो धावतः सौख्यं तावद्भोगनिषेवणे ॥

भोग पदार्थ सुख है ऐसा यद्यपि मान लिया तथापि यह सुख अत्यल्प है ऐसा दिखाते हैं—

अर्थ—ग्रीष्मकालमें सूर्यकी धूपसे जिसको कष्ट होरहा है और जो भागता जा रहा है ऐसे पथिकको रास्तेमें  
वृक्षकी छायासे अल्प सुख मिलता है वैसे इस जीवको प्राप्त हुए भोगपदार्थोंसे अल्पसा सुख मिलता है ।

अहवा अप्प आसाससुहं सरिदाए उप्पियंतस्स ॥  
 भूमिच्छिक्कंगुट्टस्स उब्भमाणस्स होदि सोत्तेण ॥ १२६० ॥  
 स्रोतसा नीयमानस्य यावदाशासुख भवेत् ॥  
 पावांगुष्ठे क्षितिस्पर्शो तावद्भोगसुख स्फुटम् ॥ १३०४ ॥

विजयोदया—अहवा अयथा । अप्प अल्प । आसाससुह आश्वास एव सुख । सरिदाए नद्या । उप्पियंतस्स निमज्जत । भूमिच्छिक्कंगुट्टस्स भूमिस्पृष्टगुणस्य । सोत्तेण उब्भमाणस्स स्रोतसा प्रवाहिनोद्भमानस्य । अल्प आश्वाससुखं तद्वदिन्द्रियसुखमल्पव्यमित्यतिकांतेन संवध ॥

मूलारा—यथा वा वक्ष्यमाणमत्यल्पं तथा भोगसुरमिति संवधः ॥ आसाससुह आश्वास एव सुखं । लब्धा मया-स्थाद्य तदं प्राप्त्यामि इत्याशया निर्द्वितिरित्यर्थः । सरिदाए नद्या । उप्पियंतस्स निमज्ज्यागच्छतः । भूमिच्छिक्कंगुट्टस्स भूमिः स्पृष्टगुणेन येन तस्य । वोक्षमाणस्स उद्भमानस्य । सोत्तेण प्रवाहेण ॥ उक्तं च—

स्रोतसा नीयमानस्य यावदाशासुख भवेत् ॥

पादगुष्ठक्षितिस्पर्शो तावद्भोगसुख स्फुटम् ॥

अर्थ—अथवा नदीमें जलके प्रवाहसे जो बहता जारहा है ऐसे मनुष्यके पांवके अंगुठका थोडासा स्पर्श जमीनपर होनेपर मैं अब डुबूंगा नहीं ऐसा भास होकर थोडासा उसको आश्वासनसुख प्राप्त होता है वैसे इस जविको ससारमें इंद्रियोंसे अल्पसुख प्राप्त होता है ऐसा पूर्व गाथाके साथ संवध समझना चाहिए

इन्द्रियसुखानि यद्यलब्धपूर्वाणि युक्तो विस्मयस्तत्र तानि सर्वोणि अनतवारपरिश्रुक्तानि, तेषु भुक्तेषु परित्यक्तेषु न युक्तो विस्मय इति अनादरं जनयति तेषु सूरि—

जावंति केह भोगा पत्ता सव्वे अणंतखुत्ता ते ॥

को णाम तत्थ भोगेसु विंभओ लद्धविजडेसु ॥ १२६१ ॥

येऽनंतशोऽक्षिना मुक्ता भोगाः सर्वे त्रिकालगाः ॥

को नाम तेषु भोगेषु मुक्त्यत्तेषु विस्मयः ॥ १३०५ ॥



विजयोदया—जावति केइ भोगा यावन्त केचन भोगा । सबे पत्ता अणतखुत्ता ते । सर्वे प्राप्ता अनंतवार तव । को नाम तत्थ भोगेसु को नाम तेपु भोगेषु विस्मयं लब्धेषुज्जितेषु ॥

इन्द्रियसुखेवनादरोत्यादनार्थमाह—

मलारा—अणतखुत्ता अनतवारान् । विट्भओ विस्मयं आश्चर्यं । लद्धविजडेसु प्राप्तलक्केपु ॥

इन्द्रियसुख यदि पूर्वकालमें कभी मिला ही नहीं और अब ही प्राप्त हुआ होगा तो विस्मय-हर्ष मानना योग्य है परतु सर्व इन्द्रियमुखोंका इस जीवने अनंत बार उपभोग लिया है और उनका त्याग किया है अतः उनमें आश्चर्यचकित होना योग्य नहीं है, इस प्रकार इन्द्रियमुखमें आचार्य अनादर उत्पन्न करते हैं—

अर्थ—जितने भोग हैं वे सर्व अनंतवार जीवको प्राप्त हुए हैं इस लिए प्राप्त करके त्याग किए गए इन भोगोंमें आश्चर्य ही क्या है ? भोग कुछ अलम्ब्यपूर्व नहीं हैं अतः इनके प्राप्तिसे आश्चर्ययुक्त होना योग्य नहीं है.

भोगवृत्त्या निरंतर दहति भवन्त, सेव्यमाना पुनर्भोगान्तामेव वृत्त्या वर्द्धयति ततो भोगेच्छा शिथिलना नयेति वदति—

जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेसु बहुदे तण्हा ॥

अग्गीव इंधणाइ तण्हं दीविति से भोगां ॥ १२६१ ॥

यथा यथा निपेच्यन्ते भोगास्तृत्तणा तथा तथा ॥

भोगा हि वर्धयन्ते तामिंधनानीव पावकम् ॥ १३-६ ॥

विजयोदया—जह जह भुजवि भोगे यथा यथा भोगान्भुक्ते । तह तह तथा तथा । भोगेसु बहु देतण्हा भोगेषु वर्धते वृत्त्या । अग्गि व अग्नि वा । यथा इंधणाइ इंधनानि । दीविति दीपयति । तद्वा तथा । तण्ह वृत्तणा दीपयन्ति । ते तस्य भोक्तुर्भोगा ॥ तथा चोक्त-वृत्त्याच्चिप परिदहति न शातिरासा ॥ इष्टेन्द्रियार्थविषमै परिवृद्धिरेव ॥

भोगवृत्त्याधिर्दहशातये सेव्यमाना भोगास्तत्र भिवृद्धयर्थ एव भवत्यतस्तच्छातये भोगेच्छामेव शिथिलयेति शिक्षार्थमाह ॥

मलारा—अग्गीव अग्निसिब ॥

यह भोगवृत्त्या है क्षपक 'तेरेको निरंतर जला रही है यदि भोगपदार्थोंका तू सेवन करेगा तो उसी

तृष्णाको ये बढायेंगे इसलिये तू इस भोगेच्छाको शिथिल कर ऐसा निर्यापकाचार्य क्षपकको उपदेश करते हैं—  
 अर्थ—जैसे मनुष्य भोगोंको भोगते हैं वैसे २ उनकी भोगेतृष्णा बढती है, जैसे लकड़ीऔंसे अग्नि बढता है वैसे भोगोंसे तृष्णा बढती है श्री समनभद्र आचार्य तृष्णा और भोगके विषयमें ऐसा कहते हैं ये तृष्णाग्नि की ज्वालायें प्राणिओंको जलाती हैं परतु उनकी इद्रियोंके इष्ट पदार्थोंसे शान्ति नहीं होती है उलटी तृष्णाज्वालाओंकी वृद्धि ही होती है

जीवस्स णत्थि तिच्ची चिरं पि भोएहिं भुंजमाणेहिं ॥

तिच्चीए विणा चित्तं उव्वूरं उव्वुदं होइ ॥ १२६३ ॥

भुज्यमानैश्चिरं भोगैस्तृप्तिर्नास्ति शरीरिणाम् ॥

उत्तपूरमुद्धतं चित्तं विना तृप्त्यात्र जायते ॥ १३०७ ॥

विजयोद्या—जीवस्स जीवस्य । नास्ति तृप्तिश्चिरकालमपि भोगाननुभवत । पल्योपमत्रय काल भोगभूमिषु । त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकाल अपरेषु तृप्त्या च विना चित्त । उव्वूर उव्वुव्व उत्तपूर उच्छृतं भवतीति सूत्रार्थः ॥

सुचिरमपि सेवितैर्मौर्गैस्तृप्तिर्न भवति तत्तद्विचरस्य सुतरामौसुक्य भवतीति भोगापराधमुपदिशति—

मलारा—उव्वूर उत्तूरं, अत्यर्थमित्यर्थः । उच्छुदं उच्छुन उत्कठितमित्यर्थः ॥

अर्थ—चिरकालपर्यन्त भोगोंका अनुभव लेनेपर भी जीवको तृप्ति होती ही नहीं. भोगभूमिमें इस जीवने तीन पल्योपमकालतक भोगोंका अनुभव किया है अमरलोकमें तेहतीस सागरोपम कालतक देवभोगोंका सुख भोगा है तो भी तृप्तीके विना इस जीवका चित्त हमेशा उत्कठित रहता है

जह इंधणेहि अग्गी जह व समुद्धो णदीसहस्सेहिं ॥

तह जीवा ण हु सक्का तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥ १२६४ ॥

नदीजलैरिवांभोधिविभावसुरिवेधनैः ॥

सेव्यमानैरयं भोगैर्न जीवो जातु तृप्यति ॥ १३०८ ॥

विजयोदया—जह्नु इंधणेहिं यथैधनैराग्निं तृप्यति । यथा वा समुद्रो नदीसदृशे । तथा जीवो न शक्यो भोगैस्त्वर्पयितु ॥

भोगानामतर्पकत्वं सदृष्टान्तमाचष्टे—

मूलारा—तित्वेदु तर्पयितुं ॥

अर्थ—जैसे इंधनोसे अग्नि तृप्त नहीं होता है, जैसे हजारो नदीओसे समुद्र तृप्त होता नहीं वैसे जीव भोगोसे समुद्र होता नहीं है.

देविदचक्षवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमीया ॥

भोगेहिं ण तिप्यंति हु तिप्पदि भोगेसु किह् अण्णो ॥ १२६५ ॥

भोगेषु भोगिणीर्वाणवलकेशवचक्रिणः ॥

न तृप्तिं ये तु गच्छन्ति तत्र तृप्यंति किं परे ॥ १३०९

विजयोदया—देविद देवानामधिपतय, चकलाछुना वासुदेवा अर्धचक्रवर्तिन । कथमन्यो जनस्तृप्तिमुपेयाद्भोगै । सुलभाभितभोगसाधनाश्चिरजीविन स्वतत्राश्चामी । अन्ये तु भवदशा जठरभरणमात्र-मपि कर्तुं अशक्ता स्वल्पायुष, पराधीनवृत्तयश्च तृप्यतीति का कथा ॥

सुलभाभितभोगसाधनाश्चिरजीविनः स्वतंत्राश्च देवेंद्रादयोऽपि इन्द्रियसुखेन तृप्यन्ति किं पुनरितर इति सकौ-तुकोत्प्राप्त शिक्षयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—देवेन्द्र, चक्रवर्ती, अर्द्ध चक्रवर्ती अर्थात् नारायण, प्रतिनारायण, और भोगभूमिज ये भोगोसे तृप्त होते नहीं है. तो अन्यपुरुष उनसे कैसे तृप्त होंगे ? देवेन्द्रादिकोंको भोगपदार्थ सुलभ हैं, वे दीर्घायुपी हैं, और स्वतंत्र हैं, इनसे भिन्न जीव—हम तुम पेट भरनेमें भी असमर्थ हैं स्वल्पायुपी हैं और पराधीन हैं इस लिये हम तुम कैसे तृप्त हो सकते हैं.

संपत्तिविविक्तीसु य अज्जणरक्खणपरिगहादीसु ॥  
 भोगत्थं होदि णरो उद्धुयचित्तो य घण्णो य ॥ १२६६ ॥  
 व्याकुलीभवति प्राणी ग्रहणे रक्षणेऽर्जने ॥  
 नाशे संपदि तत्तस्य भोगायोत्कंठितश्चलः ॥ १२१० ॥

विजयोदया—संपत्तिविविक्तीसु य संपत्सु विपत्सु च । अज्जणरक्खणपरिगहादीसु द्रव्यस्य लब्धस्यार्जने, पुंजीकरणे, राशीकृतस्य रक्षणेऽपि । हस्ते विप्रकीर्णस्य ग्रहणे । आदिशब्देन तद्व्यकरणे वा । भोगत्थं अनुभवार्थं । अर्जनादियु प्रवृत्त । उद्धुयचित्तो य घण्णो य णरो होदि चलचित्त उत्कंठाबाध भवति नर । द्रव्यसंपदि जाताया रागाच्चलचित्त भवति । द्रविणादिविनाशे कथं जीवामि । पुनर्द्रव्यार्जनं करोमीति ।

भोगसाधनस्य धनस्य संपत्तावुपार्जनानादियु चलचित्तता तद्विपत्तौ च पुनस्तस्याप्युत्कलिकाकुलता च स्यादिति भोगकृत द्रव्यदुःखावर्तं बोधयति—

मूलारा—परिगहादीसु परहस्ते विप्रकीर्णस्य द्रविणस्य स्वीकरणे स्वायत्तस्य व्ययकरणे च । उद्धुयचित्तो द्रव्य संपदि जाताया रागाच्चलचित्तः । घण्णो द्रव्यविनाशे द्रव्याभिकाक्षी कथं पुनर्धनं लप्स्ये इत्युत्कंठावान् ॥

अर्थ—संपत्तिकी प्राप्ति होनेपर उसका रक्षण करना, बढाना, दूसरोंको दी हुई संपत्तिको चापिस लेना, उसका व्यय करना, और भोगमें लाना इत्यादि कार्योंमें मनुष्यका मन चंचल और उत्कंठित होता है. द्रव्यसंपत्ति प्राप्त होनेपर मनुष्य का मन रागभावमें चंचल होता है. धनादिकोंका नाश होनेपर ‘अब मैं कैसा जीऊगा, अब पुनः द्रव्यार्जन करूंगा ऐसा विचार उत्पन्न होता है.

उद्धुयमणस्स ण सुहं सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी ॥

पीदीए विणा ण रदी उद्धुयचित्तस्स घण्णस्स ॥ १२६७ ॥

व्याकुलस्य सुखं नास्ति कुतः प्रीतिर्विना सुखम् ॥

कुतो रतिर्विना प्रीतिमुत्कंठां बहतः परम् ॥ १३११ ॥

विजयोदया—उद्धुयमणस्स व्याकुलचित्तस्य ण सुहं न सुखं भवति । सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी । सुखेन

विना कुतो भवति प्रीतिस्त्वृत्ति । पीदीए विणा प्रीत्या विना । ण रदी न रति । उल्लुदचित्तस्स व्याकुलचेतस' । घणस्स उत्कंठाडाकिन्या गृहीतस्य ॥

मूलारा—पीदी वृत्तिः ॥

अर्थ—जिसका मन व्याकुल हुआ है उसको सुख होती नहीं है सुखके विना प्रीति उत्पन्न नहीं होती है, और विना प्रीतिके रति उत्पन्न नहीं होती है जिसके मनमें उत्कंठा उत्पन्न हुई है उसको व्याकुलता सताती है.

जो पुण इच्छदि रमिदुं अज्झप्पसुहम्मि णिव्वुट्ठिकरम्मि ॥

कुणदि रदिं उवसंतो अज्झप्पसमा हु णत्थि रदी ॥ १२६८ ॥

निरस्तदारादिविपक्षसंगती रिरंसुरध्यात्मसुखे निरंतरम् ॥

रति विधत्तां शिवशर्मकारणे तथा समा नास्ति जगत्त्रये रतिः ॥ १२६९ ॥

विजयोदया—जो पुण इच्छदि रमिदुं य पुना रमितुं इच्छदि । सो कुणदि रदिं स करोतु रति । क ? अज्झप्प-सुयाम्मि अध्यात्मसुखे । णिव्वुट्ठिकरम्मि निव्वुट्ठिकरे । उवसंतो उपशातरागकोप । पतुडुक्त भवति । मनोशामनोदविषय-सन्निधाने संकल्पहेतुकौ यौ रागद्वेयौ तो पमित्तव्य निव्वुत्तिवृत्तिकरे अध्यात्मसुखे रतिं करोतु । अज्झप्पसमा अत्मस्वरूपविष-या रतिरध्यात्मशब्देनोच्यते । तथा सदृशी रति । णत्थि यु न विजंत पव । यस्मात् भोगरतिरध्यात्मनो रत्या न सदृशी ॥ भगवन्त्येव तर्हि निरंतरत्यर्थिना पुरुषेण किं विधीयतामिति प्रच्छतं परमार्थतथ्योपदेशसर्वस्वदानेनानुगृह्णति ॥

मूलारा—इच्छदि रमिदुं नित्यं रतिमभिलषति इत्यर्थः । अज्झप्पसुहम्मि शुद्धस्वात्मानुभूत्यानंदे । णिव्वुट्ठि-अरम्मि वृत्तिकरे । कुणदु रदिं आमर्त्तिक । उवसंतो मनोज्ञामनोज्ञविषयसंनिधावात्मसरूपहेतुकौ रागद्वेयौ निवर्त्य स्वात्मदर्शनोद्यतं सन् । अज्झप्पसमा आत्मस्वरूपविषयरतिसदृशी । रदी प्रीति' काचिदपि जगत्त्रयसारभोगानुभूतिरतिपु मध्ये ॥ उक्तं च—

अपि च ।

यदत्र चक्रिणा सौख्यं यच्च स्वर्गं द्विवौकसा ॥  
कलयापि न ततुल्यं सुखस्य परमात्मनाम् ॥

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारवह्निःस्थिते ॥  
जायते परमानन्दः कश्चिन्योगेन योगितः ॥

अर्थ—जो मनुष्य रममाण होनेकी इच्छा करता है, राग और क्रोध जिसके शांत हुए है वह पुरुष अध्यात्म सुखमें जो कि आनन्ददायक है उसमें रममाण होवे. अर्थात् अपनी आत्मानुभवं हमेशा तत्पर रहे इष्टानिष्ट विषयकी प्राप्ति होनेपर मनमें संकल्प होता है और इस सकल्पमें रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है रागद्वेषोंका त्याग कर तृप्ति उत्पन्न करनेवाले आत्मानुभवरूप सुखमें प्रीति करे क्योंकि अध्यात्मरतिके समान भोगरति है नहीं.

कथम् ?

अप्यायत्ता अञ्जपरदी भोगरमण परायत्त ॥

भोगरदीए चइदो होदि ण अञ्जपरमणेण ॥ १२६९ ॥

स्वस्थध्यात्मरतिजन्तोनेव भोगरतिः पुनः ॥

भोगरत्यास्ति निर्मुक्तो परया न कदाचन ॥ १३१३ ॥

निज्योदया—आपायत्ता स्नायत्ता । अञ्जपरदी आत्मस्वरूपविषया गति । परद्रव्यान्पेक्षणात् । भोगरमण भोगरति परायत्त परायत्ता परद्रव्यालम्बनत्वात् । नेया च कथंचिदेव सान्निध्य कथंचिदेव कस्यचिदेति । एतेन स्वायत्त-  
नया परायत्ततया चा साम्यमाख्यात । प्रकारांतरेणापि वयमय दर्शयति । भोगरदीए चइदो होदि भोगरत्या च्युतो भवति,  
न प्रच्युतो भवति । अञ्जपरमणेण अध्यात्मरत्या ॥

कथमध्यात्मरतिर्भोगरतिं तिरस्करोतीत्याह—

मूलारा—अप्यायत्ता परद्रव्यनिरपेक्षत्वात् । अञ्जपरदी आत्मस्वरूपविषया रतिः । परायत्तं चहिद्रव्यालम्ब-  
नत्वात् । चइदो लुप्तः । भोगरतिनिमित्तपरद्रव्याणां कचित्कदाचित्कथंचित्सान्निध्यात् । नेत्यादि । अध्यात्मरत्यालम्बनस्य  
स्वद्रव्यस्य सर्वं सर्वदा सर्वथा सन्नहितत्वात् ।

अध्यात्मरतिं क्यों श्रेष्ठ है इसका उत्तर—

अर्थ—स्वात्मानुभवमें रति करनेके लिए अन्य द्रव्यकी अपेक्षा नहीं रहती है, भोगरतिमें अन्य पदा-  
र्थोंका आश्रय लेना पड़ता है अन्य पदार्थोंकी किसीको प्राप्ति होती है और किसीको नहीं होती है अतः  
इन दो रतियोंमें साम्य नहीं है. भोगरतीमें आत्मा च्युत होनेपर भी अध्यात्मरतिसे वह श्रेष्ठ नहीं होता है. अतः  
इस हेतुसे भी अध्यात्मरति भोगरतिसे श्रेष्ठ है.

अनेकविघ्नसहिता विनाशिनी च भोगरति, अध्यात्मस्तेस्तु भाविताया न नाशो नापि विघ्न इति कथयत्युत्तर  
गाथा—

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिवहुगा ॥  
अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ॥ १२७० ॥

नाशो भोगरतेरस्ति प्रत्य्यूहाश्च सहस्रशः ॥

नाशोऽध्यात्मरतेर्नास्ति न प्रत्य्यूहाः कुतश्चन ॥ १२७१ ॥

विजयोदया—भोगरदीए भोगरत्या । णियदो णासो नियतो विनाश । विग्घा य द्रुति विघ्नाश्च भवन्ति ।  
अदिवहुगा अतीव बहव । अज्झप्परदीए अध्यात्मरते सुभाविदाए सुष्ठु भाविताया । णासो नाशो न विद्यते । विग्घा  
वा विघ्ना वा न संति । नियत नश्यतयाऽनश्न्यतया, बहुविघ्नतया, निर्विघ्नतया च तयोर्दोषम्यमिति भावः ॥  
प्रकारातरेणाऽपि तद्वैसादृश्यं दर्शयति—

मूलारा—णियदो अवश्यभावी । विघ्नो अंतरायः ॥ अंतरान्तरा तद्विघातनिमित्तानश्यकरणीयव्यासंगानुग्रवे-  
शात् ॥ सुभाविदाए स्वभ्यस्तायाः । विघ्नो एकोऽयंतरायः सुभाविताध्यात्मरतेः कृतकृत्यतया व्योश्रेपासभवात् ॥

भोगरति अनेक विघ्नोसे मरी हुई है परंतु अध्यात्मरतिका अभ्यास करनेसे उमका न नाश होता है न  
उसमें कोई विघ्न भी उपस्थित होता है इसका विवेचन—

अर्थ—भोगरतिका सेवन करनेसे नियमसे आत्माका नाश होता है तथा इस रतीमें अनेक विघ्न भी  
उपस्थित होते हैं. अध्यात्मरतीका उत्कृष्ट अभ्यास करनेपर आत्माका नाश भी नहीं होता है और विघ्न भी नहीं  
आते हैं अध्यात्मरति अनश्वर है अर्थात् नित्य है और भोगरति नश्वर अर्थात् अनित्य है भोगरति विघ्नोसे युक्त  
होती है परंतु अध्यात्मरति निर्विघ्न है ऐसी इन दोनोंमें महान् विपमता है.

श्रद्धियसुख शशुतया सकल्पनीय तथा च तच्चादरो जन्तोर्निवृत्ते. अतीन्द्रिय सुपत्यमेव चीतरागतवेदुके सबरे  
इति मत्वा सूरिचूलामणिगिराह—

दुक्खं उप्पादिता पुरिसा पुरिसस्स होदि जदि सच्च ॥  
अदिदुक्खं कदमाणा भोगा सच्च किद्व ण हुंती ॥ १२७१ ॥

कुर्वन्तो देहिनां दुःखं जायते यदि शत्रवः ॥

तदानीं न कथं भोगा लोकद्वितीयदुःखदाः ॥ १३१५ ॥

विजयोदया—दुःख उष्पादिता दुःखमुत्पाद्य । यदि सत्त्वं होति शत्रवो भवति । पुरिसा पुरिसस्स पुरुषाः । अविदुक्त्वा कुणमाणा भोगा अतीव दुःखं कुर्वन्तो भोगा इन्द्रियसुखानि । किञ्च सत्त्वं न हुति कथं शत्रवो न भवन्ति भवन्त्येवेति । कथं भोगानां दुःखहेतुता एव ग्रन्थते ? इन्द्रियसुखं नाम स्त्रीवस्त्रगवमालादिपदव्यसनिधानजन्यं । तच्च स्थायिकं दुर्लभतमं निर्द्वेषिणस्य, तेन तदर्थं कृष्यादिकर्मणि प्रयतितव्यं । ततो महानायासः । इहैव भवानुगमिषु खनिमिषु च कर्म हिंसादिषु प्रवर्तमानोऽर्जयति । तद्विदं दुरते ससारामोघो निमज्जयति । तत्र च निमग्नेन कर्तव्यं दुःखमनेन नावाप्यते ॥

इन्द्रियसुखानामतिदुःखकरत्वप्रदर्शनेन शत्रुत्वं व्यवस्थापयंस्तत्रानादरं कारयति—

मूलारा—अविदुक्त्वं इन्द्रियसुखार्थं कमनीयकामिन्यादिकं सन्निधापयति । तत्सन्निधापनं च धनसाध्यमेवेति धनार्थं कृष्यादिकं करोति । तच्च कुर्वन्निरतर आत्मानमायासयति, हिंसादिकं च प्रवर्तयति । तथा च महान्पापवधत्तेन च दुरंतदुःखविवर्तः संसारवर्त इति इन्द्रियसुखमेव दुर्निवारदारुणदुःखकारणतः शत्रुत्वेन समुत्पुणा तद्भावायितव्यमिति अपकस्य शिक्षासर्वस्वविधानार्थमेव यत्नं कृतं सूरिशिरोरत्नेन ॥

इन्द्रियसुखं शत्रुसमानं समझना चाहिये इन्द्रियसुखमें आदर करनेसे वृत्ति होती नहीं है अतीन्द्रिय सुख ही वीतरागपना और सवरका कारण है ऐसा आचार्य चूडामणि कहते हैं

अर्थ—दुःख उत्पन्न करनेसे यदि पुरुष पुरुषके शत्रु होते हैं तो अतिशय दुःख देनेवाले इन्द्रियसुख क्यों न शत्रु माने जायेंगे ? इन्द्रियसुख दुःखदायक कैसा इस प्रश्नका—

उत्तर—स्त्री, वस्त्र, गंध, पुष्पमाला वगैरह पदार्थोंके सानिध्यसे इन्द्रियसुख उत्पन्न होते हैं परंतु स्त्री वगैरह पदार्थोंकी प्राप्ति होना दरिद्री मनुष्यको अतिशय दुर्लभ है दरिद्री मनुष्यको उनकी प्राप्तीके लिये कृषि वगैरह कर्मोंमें मयत्न करना पड़ता है जिससे महान् परिश्रम होता है हिंसादिकार्योंमें वह दरिद्री मनुष्य स्त्री वगैरहके लिए प्रयत्न होता है जिससे संसार बढानेवाला और दुःखका कारण ऐसा कर्मबंध उसको होता है, यह कर्म दुःखदायक और जिसका अंत अतिकष्टसे प्राप्त होगा ऐसे संसारसमुद्रमें जीवको डुवाता है संसारमें निमग्न हुए इस जीवकी कौनसा दुःख प्राप्त नहीं होता ? अर्थात् सर्व प्रकारके दुःख इस जीवको भोगने पड़ते हैं



शत्रुतया भोगा इति कथयति—

इधद् परलोगे वा सच्चू भित्तत्तणं पुणमुवेति ॥

इधद् परलोगे वा सदाइ दुःखावहा भोगा ॥ १२७२ ॥

शत्रवो यान्ति भित्तत्त्वमिह वायुत्र वा भवे ॥

भित्तत्त्वं प्रतिपद्यन्ते भोगा लोकद्वयेऽपि नो ॥ १३१६ ॥

विजयोदया—इधद् अस्मिन्नेव जन्मनि । परलोगे वा परजन्मनि वा । सच्चू शत्रव । भित्तत्तणं भित्तता । पुण-  
मुवेति पुनर्दौकन्ते । शत्रव शत्रुतामपि जह्यु । कार्यवशात्, उपकारातिशयसंपादनान्निमित्रता वा यान्ति च । वाचा न  
स्फुटतरा । इहैव तथा परलोके वा सच्चूदा दुःखावहा भोगा सर्वदा दुःखावहा भोगा । ततः शत्रुतया इति भावनीयं ॥

भोगाना शत्रुतमत्वभावनार्थमाह—

मूलारा—इधद् अस्मिन्नेव जन्मनि । अन्यस्त्वेवं व्याख्यात् ॥ इय इहभवे । इं किं इह लोके परलोके इत्यर्थः ।

पुण ज्वेन्ति कार्यवशाच्छत्रवो भूत्वा पुनर्भित्तत्वं यान्ति ॥

अर्थ—इसी जन्ममें अथवा अन्य जन्ममें अपने शत्रु शत्रुत्व का त्याग कर भित्र हो सकते हैं कार्यके  
वश होकर शत्रु अपना वैर छोडकर मित्र होते हैं अथवा उनके ऊपर बहुत उपकार करनेसे भी वे अपना शत्रुत्व  
छोड देते हैं, परंतु इस जन्ममें अथवा जन्मांतरमें भी भोग हमेशा दुःखदायी ही हैं इसलिए उनसे जगतमें कोई  
भी महान् शत्रु नहीं है,

एगम्मि चेव देहे करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी ॥

भोगा से पुण दुक्खं करंति भवकोडिकोडीसु ॥ १२७३ ॥

वैरिणो देहिनां दुग्घं यच्छन्त्येकत्र जन्मनि ॥

संतनं दुस्सहं दुःख भोगा जन्मनि जन्मनि ॥ १३१७ ॥

विजयोदया—एगम्मि चेव देहे । करेज्ज दुक्ख ण वा करेज्ज अरी एकस्मिन्नेव देहे कुर्यादु खं न वा शत्रु ।  
भोगा पुण भोगा पुन । से तस्य । दुःख करति दुक्खं कुर्वति । भवकोडिकोडीसु सन्ततेषु भवेषु । एवं भोगदोषानवेत्यात्र  
निदानं त्वया न कार्य इत्युपदिष्ट सरिणा ॥

मूलाराधना—करेज्ज कुर्यात् । भवकोटिकोटीसु ॥ अनंतेषु भवेयु ॥

अर्थ—इस भवमें जो शरीर प्राप्त हुआ है उसको शत्रु दुःख देगा या नहीं भी क्यों कि हम भी उसके साथ लड़कर हमारे शरीरका रक्षण कर सकते हैं अतः वह नियमसे हमारे शरीरको पीडित नहीं कर सकेगा। परंतु भोग अनंतभवोंमें इस शरीरधारक आत्माको दुःख दे रहे हैं। भोगोंके ऐसे दोषोंका स्वरूप जानकर हे क्षपक ! तू भोगनिदान मत कर ऐसा आचार्यने उपदेश दिया है

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलवो ण पिच्छदि पपादं ॥

तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहसंसारं ॥ १२७४ ॥

निदानी प्रेक्षते भोगान्न संसारमनारतम् ॥

मध्वेव प्रेक्षते पातं तटस्थायी न दुस्सहम् ॥ १३१८ ॥

विजयोदया—मधुमेव पिच्छदि मध्वेव पश्यति तथा तटस्थाय्यमान । ण पिच्छदि न प्रेक्षते । पपाद प्रपातमात्मनः । तह तथा । सणिदाणो निदानसहित । भोगे पिच्छदि भोगान्प्रथते । ण हु पेच्छदि दीहसंसारं । नैव प्रेक्षते दीर्घसंसारः ।

भोगनिदानवतो भोगजन्यापायपररानेक्षित्वं नृष्टान्तेन भावयति—

मूलारा—मधुमेव मुरे पतन्तं क्षौत्रिन्दुमिव । तडिओलवो कूपमित्येकदेशेऽवलम्बमानः । पपादं प्रपातन ॥

अर्थ—कूपके भित्तिके एक भागपर खड़ा हुआ मनुष्य मधुके छत्तेसे गिरते हुए मधुविंदुओंका आस्वाद लेनेमें ही मस्त रहता है परंतु कूपमें गिरनेका भय मनमें नहीं लाता है वैसे निदान करनेवाला मनुष्य भोगोंके पदार्थका आस्वादन लेनेमें निमग्न रहता है परंतु इससे भोगोंको संसारमें दीर्घकालतक भ्रमण करना पड़ेगा ऐसा विचार मनमें लाता नहीं है

जालस्स जहा अंते रमंति मच्छा भयं अयाणंता ॥

तह संगदिसु जीवा रमंति संसारमगणंता ॥ १२७५ ॥

भोगमध्ये प्रदीव्यन्ति जन्मदुःखमनारतम् ॥

अपश्यन्तो मृत्तिवासं जालमध्ये झपा डव ॥ १२१९ ॥

विजयोदया—जालस्स जालस्य । अन्ते मध्ये । जहा मच्छा रमन्ति यया मत्स्या रमन्ते । भयमयणता भयमन वदुच्यमाना । तद्द सगादिषु तथा परिग्रहादिषु । जीवा रमन्ति जीवा रमते । संसारमगणता संसारमगणयन्तः ॥ कमिन्यादिभोगेषु निर्भयक्रीडा प्राणिना मृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलारा—अन्ते मध्ये । भयं मृत्युभीति । संसारमगणतो संसारादविभ्यत इत्यर्थः ॥

अर्थ—धीवरके जालमें मयका जिनकों परिज्ञान नहीं है ऐसी मछलियां जैसी खेलती कूदती हैं वैसे संसारी जीव संसारभयसे रहित होकर स्त्री वगैरह परिग्रहमें रममाण हो रहे हैं,

कुर्योनिपतनमूलान्निद्रियसुरानि नियोगत प्रकृष्टयोर्द्वैपरगयोर्निमित्तत्वात् । तासु कुरिस्तासु योनिषु उत्पद्य दुःखानि विचित्राणि अनुभवतः । देवादिभेषु वृत्ता भोगा वत्खालंकारभोजनादयो दुःख निराकर्तुं न क्षमा इति वदति गाथाद्वयेन—

दुक्खेण देवमाणुसभोगे लङ्घूण चावि परिवड्ढिदो ॥

णियदिमदीदि कुज्जोणं जीवो सधरं पडत्थो वा ॥ १२७६ ॥

प्राप्त्यापि क्कुच्छन्तो जीवो देवमानवसंपदम् ॥

प्रवासीव निजं स्थानं कुर्योनिं याति निश्चितं ॥ १२८० ॥

विजयोदया—दुक्खेण लङ्घूण वल्लेखेन । देवमाणुसभोगे दैव्यान्मानुषाश्च भोगात् । परिवड्ढिदो परिपतित प्रच्युतस्ततो भोगाज्जीव । कुज्जोणं णियद्वमदीदि कुरिस्ता योनिं नियतमुपैति । किमिव ? सधरं स्वग्रहं, पडत्थो वा प्रवासीव ॥

दुश्चरतपश्चरणपूर्वनिदानेन देवादिभोगान्याय भुजानस्य मोहद्रुढिमूलप्रकृष्टरागद्वेषपरिणामसंगृहीतदुष्कृत-चक्रस्य नियोगेन कुर्योनिपत्यप्तिर्भवति । तत्र च दुःखान्यनुभवतस्तत्तादृकामिन्यादिभोगा न मनागपि परित्रा कुर्वन्तीति गाथाद्वयेनोपदिशति—

मूलारा—दुक्खेण संयमक्लेशपूर्वकनिदानेन । परिवड्ढिदो परिच्युतः । अदीदि उपैति । पडच्छो वा प्रवासी यथा ॥

इन इन्द्रियसुखोंका उपभोग लेनेसे आत्मामें तीव्र रागद्वेष उत्पन्न होते हैं और इनसे आत्मा कुयोनिमें पड़कर नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव लेता है। यद्यपि देवादिगतिमें वस्त्र, अलंकार, भोजनादिक भोग मिलते हैं तथापि वे इस आत्माके दुःखोंका नाश नहीं कर सकते हैं इसी विषयका आचार्य दो गाथाओंमें वर्णन करते हैं—  
अर्थ—सयमके क्लेशसे निदान वश होकर देवोंके और मनुष्योंके भोगोंकी प्राप्ति कर लेनेपर यह आत्मा प्रवासी जैसा अपने घरके श्रुति गमन करता है वैसा कुत्सित योनिओंमें निश्चयसे उत्पन्न होता है

जीवस्स कुज्जोगिगदस्स तस्स दुक्खणि वेदयंतस्स ॥

किं ते करति भोगा मदोव वेज्जो मरंतस्स ॥ १२७७ ॥

किं करिष्यति ते भोगा योनिं यातस्य कुत्सितां ॥

किं कुर्वन्ति मृता वैद्या त्रियमाणस्य देहिनः ॥ १३२१ ॥

विजयोदया—जीवस्स कुज्जोगिगदस्स कुयोनिगतस्य जीवस्य । दुस्खाणि वेदयतस्स दुःखानि वेदयमानस्य । किं ते करंति भोगा किं ते कुर्वन्ति भोगा स्त्रीवस्त्रादयः । नैव किंचिदपि दुःखलवमपनेतु क्षमा । मदो व वेज्जो वैद्यो मृतो यथा । मरतस्स त्रियमाणस्य न किंचित्कुतुं क्षमः ॥

मूलारा—मदो मृतः । मरंतस्स त्रियमाणस्य रोगिणः ॥

अर्थ—कुयोनिओंमें जीव जब दुःखानुभव लेता है तब स्त्री वस्त्रादिक पदार्थ उसका थोडासा दुःख भी हरण करनेमें समर्थ नहीं है। क्या मरा हुआ वैद्य मरनेवालेका रोगदुःख मिटा सकता है ?

जह सुत्तवद्धसउणो दूरं पि गदो पुणो व एदि तहिं ॥

तह संसारमदीदि हु दूरं पि गदो णिदाणगदो ॥ १२७८ ॥

संसारं पुनरायान्ति निदानेन नियंत्रिताः ॥

दूर यातोऽपि पक्षी च रदिमना निजमास्पदम् ॥ १३२२ ॥

विजयोदया—जह सुत्तवद्धसउणो यथा सूत्रेण दीर्घेण वद्ध, पक्षी । दूरं पि गदो दूरमपि गतं । पुणो एदि तहिं

पुनरप्येति तमेव देशं । तद् संसारमदीवि खु संसारशब्दात्परः खु शब्दो द्रष्टव्यः, तेनायमर्थः—संसारमेवाधिगच्छतीति । दूरं पि गद्दो महर्द्धिक स्वर्गादिस्थानमुपगतः, गिदाणगदो निदानं परभवे सुखातिशये मनःप्रणिधानं गत ॥ निदानिनः संसारावर्तं समर्थयते ॥

मूलरा—सुत्तवद्धसडणो दोर्वसूत्रनियत्रितः पक्षी । तद्धि स्वस्थानमेव । हु संसारमेवाधिगच्छतीत्यर्थः । दूरं महर्द्धिकस्वर्गादिस्थानं । गिदाणगदो परभवसुखातिशायिमनःप्रणिधानं प्राप्तः ॥

अर्थ—दोरीसे बंधा हुआ पक्षी दूर जाकर भी पुनः अपने पूर्व स्थानपर आता है वैसा यह जीव भी निदानके प्रभावसे महाक्रद्धिसंपन्न स्वर्गादि स्थानमें जाकर पुनः संसारमें प्रमण करता है

कश्चिदुद्ध कारागृहे इयता कालेन तव द्रविण दास्यामि भवदीयेमेव तावत्प्रयच्छेति गृहीत्वा द्रव्य रोधकेभ्यः प्रदाय सगृहे सुखं वसन्नपि पुनर्यथा तैरुत्तमर्णैर्धायिते तथैव निदानकारी कृतेन पुण्येन परिभासस्वर्गोऽपि पुनरप्य पततीति निगदति—

दाऊण जहा अत्थं रोधणमुक्को सुहं धरे वसइ ॥

पत्ते समए य पुणो रुंभइ तह चेव धारणिओ ॥ १२७९ ॥

अधमर्णो निजे गेहे रोधमुक्तो सुखं वसेत् ॥

दत्तवार्यं समये प्राप्ते यथा भूयो निरुध्यते ॥ १२८३ ॥

विजयोदया—दाऊण दत्ता, अत्थ अर्थ, जह यथा, रोधणमुक्को रोधेन मुक्त, सुह धरे वसदि खु सुखेन गृहे वसति । पत्ते समये य प्राप्ते चावधिकाले, पुणो रुंभइ पञ्चान्व कंम्यते, तथा चेव पूर्ववदेव, धारणिओ अधमर्ण ॥ निदानेन दिवं प्राप्य पुनरधमयोनिषु पततीति निदर्शनपुरःसर गथाद्वयेनोपदिशति—

मूलरा—अत्थं कलातरस्कधकादिद्रव्य । रोधणमुक्को वरणकाद्रिच्युतः । समए इयता कालेन पुनर्दास्यामि इति प्रतिपन्नावधिकाले । रुंभदि धरणके व्रियते । तथा चेव पूर्ववदेव । धरणिगो अधमर्णः ॥

कारागृहमें कैद किया हुआ कोई मनुष्य इतने दिनों के अनंतर में तुझारा द्रव्य देऊंगा इस समय तुम अपना धन मेरेको दो ऐसा कहकर उनसे धन लेकर वह कैदमें रहनेवालोंको देकर उनसे अपनी मुक्तता कर लेता है, धरमें जाकर वह सुखसे रहता है परंतु पुनः वे कर्जा देनेवाले धनिक आकर उसको पकड़ते हैं वैसी

ही निदान कारनेवालेकी परिस्थिति होती है, अर्थात् निदानकारी मनुष्य किए हुए पुण्यसे स्वर्गप्राप्ति कर लेनेपर भी पुनः अधोगतिमें चला जाता है इसी अभिप्रायको स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—कर्ज लेनेवाला पुरुष धन देकर कैदमें मुक्त होता है और घरमें आकर सुखसे रहने लगता है, परंतु जब पुनः साहुकारको धन चुकानेका काल प्राप्त होता है तब पुनः वह कर्जा लेनेवाला पुरुष कैदमें डाल जाता है वैसे—

दार्ष्टान्तिके योजयति—

तह सामणं किच्चा किलेसमुक्कं सुहं वसइ संगे ॥  
संसारमेव गच्छइ तत्तो य चुदो निदाणकदो ॥ १२८० ॥  
संभूदो वि निदाणेण देवसुक्खं च चक्कहरसुक्ख ॥  
पत्तो तत्तो य चुदो उववणो निरयवासम्मि ॥ १२८१ ॥  
इदानीं चरणं कृत्वा सुखं मुक्त्वाऽवतिष्ठते ॥  
त्रिविधे समये प्राप्ते तथा याति पुनर्भवम् ॥ १२८२ ॥  
देवश्चक्री सुखं मुक्त्वा संभूतो हि निदानतः ॥  
निरंतर महादुःखं प्राप्य प्रतिवासितम् ॥ १२८५ ॥

विजयोदया—संभूदो वि निदाणेण निदानेन समूत काश्चित्, देवसुखं देवसुखं, चक्रधरसौख्यं चक्रधर-सौख्य, पत्तो प्राप्त । तत्तो य चुदो तस्मात्सुखाल्पच्युत, निरयवासम्मि निरयवासे ॥

मूलारा—निदाणकदो एतत्तपोनुभावेन देवलोको मे भूयादिति निदानं कृतं येनासौ ॥

भोगनिदानदोपमर्थोत्थानेनाख्याति—

मूलारा—संभूदो संभूतनामकः कुटुम्बिकपुत्रः । देवसौख्यं मौर्धर्मकल्पवासिसुख । चक्रधरसौख्यं ब्रह्मद-  
त्ताख्यद्वादश वक्रवर्तिशर्म ॥

अर्थ—निदानयुक्त तप करके कोई पुरुष स्वर्गमें सुख भोगता हुआ काल व्यतीत करता है परंतु वहांका आयुष्य समाप्त होनेके अनंतर वह पुरुष स्वर्गमें च्युत होकर संसारमें भ्रमण करता है

अर्थ—सभूत नामक कोई किसानका लडका निदान युक्त तप करके सौधर्म स्वर्गके सुखका उपभोग लेकर यहां भरत क्षेत्रमें ब्रह्मदत्त नामक अन्तिम वारहवां चक्रवर्ति हुआ. चक्रवर्तीके सौख्य भोगकर चक्रवर्ति पदसे अष्ट होकर नरक्रगतीमें सातवे नरकमें उत्पन्न हुआ.

णच्चा दुरंतमद्भुयमत्ताणमतिप्पयं अविस्सायं ॥

भोगसुहं तो तम्हा विरदो मोक्खे मदि कुज्जा ॥ १२८२ ॥

अतर्पकमविश्रामं भोगसौख्यं विनश्वरम् ॥

दुरंतं सर्वथा त्यक्त्वा श्रुक्तिसौख्ये मतिं कुरु ॥ १३२६ ॥

विजयोदया—णच्चा ज्ञात्वा, दुरस्वानदु खफलमिति यावत्, अदुवं अनित्यं, अत्ताणं अत्राण, अतिप्पण अतर्पकं, अविस्सायं असकृद्वृत्त, भोगसुख भोज्यते सेव्यते इति भोगा रुच्यादय, तैर्जनितं सुख, तो पश्चात्, तम्हा पश्चात् भोगसुखात्, दुरंतादिदृष्टदोषात्, विरदो व्यावृत्त, मोक्खे मोक्ष निरवशेषकर्मपाये । मदि कुज्जा मतिं कुर्यात्, अनुष्ठीयमानेन चारित्र्येण तपसा वा कर्मक्षयोऽस्तीति मतिं कुर्यात्, न निदानं कुर्यादित्यर्थ ॥

एवं भोगनिदाने दोषान्नर्पच्य भोगसुखदोषानुवादपुरःसरं तपसा कर्मक्षयोऽस्तीति भावनीयत्वेनोपदिशति—

मूलारा—णच्चा ज्ञात्वा । दुरंतं दुरवसानं । दुःखफलमिति यावत् । अत्ताण अरक्षक, रक्षितुमशक्यमिति वा । अतिप्पय अट्टमिकर । अविस्समं असकृद्धृतं । अनादिसंसारेऽनेकवारान्युक्त्वात् । तो पश्चात् । मदि अनुष्ठीयमानेन तपः संयमादिना कर्मक्षयोऽस्तीति बुद्धिं न निदानं ॥

अर्थ—यह भोगसुख अन्तरहित ऐसे दुःखरूप फलको देता है, अनित्य हैं, इससे जीवका संरक्षण नहीं होता है अर्थात् कुगतिमें जानेवाले जीवको यह भोगसुख उससे संरक्षण नहीं करता है इस भोगसुखसे जीव तप्त नहीं होता है यह सुख जीवको वार वार प्राप्त होता है एव दोषविशिष्ट इस भोगसुखका जब ज्ञान होता है तब यह आत्मा संपूर्ण कर्मका नाश करनेवाले मोक्षसुखमें अपनी बुद्धिको लगाता है अतः हे क्षपक ! आचरणमें लाये हुए रत्नत्रयसे और तपसे कर्मक्षय होता है ऐसा समझकर तूं निदानका त्याग कर.

निदानदोषं विस्तरत उपदर्श्य अनिदानत्वे गुण व्याचष्टे—

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाणचरणं विसोधेदि ॥

तो सुद्वणाणचरणो तवसा कम्मक्खय कुणइ ॥ १२८३ ॥

विशोध्य दर्शनज्ञानचारित्र्यतयं यतिः ॥

निर्निदानो विशुद्धात्मा कर्मणां कुरुते क्षयम् ॥ १२८६ ॥

विजयोद्या—अणिदाणो य मुणिवरो अनिदानो यतिवृषभ, दंसणणाणचरणं रत्नत्रयं विसोधेदि विशोधयति, निदानाभावादनतिचार सम्यग्दर्शन शुद्धं भवति, तस्मिन्निर्मलं ज्ञान, विशुद्धज्ञानपुरोगं चारित्र्यं विशुद्धं भवति, तवसा कम्मक्खय कुणइ तपसा कर्माणि निरवशेषाणि वियोजयत्यात्मन ॥

स्वं निदानदोषान्वित्तरेण व्याख्याय सप्रत्यनिदानत्वे गुण व्याचष्टे—

पूजारा—विसोधेदि निदानाभावाद्धि निरतिचारे मति सम्यक्त्वे, जाताया ज्ञानविशुद्धौ, चारित्र्य विशुद्ध सपणेता ॥

निदानके दोषोंका सविस्तर विवेचन हुआ. निदान नहीं करनेमें क्या गुण है इनका विवेचन—

अर्थ—जिन्होंने निदान नहीं किया है ऐसे मुनिराज अपना रत्नत्रय निरतिचार करते हैं निदानके अभाव से सम्यग्दर्शन निर्मल होता है निर्मल सम्यग्दर्शन ज्ञानको निर्मल बनाता है विशुद्ध ज्ञानके साथ पाला गया चारित्र्य भी निर्मल होजाता है. इस तरहसे निर्मल रत्नत्रयधारक माधु तपश्चरणके द्वारा सपूर्ण कर्मोंको अपने आत्मासे अलग करता है.

इच्चवेधमेदमविचिंतयदो होज्ज हु णिदाणकरणमदी ॥

इच्चवेध पससंतो ण हु होदि णिदाणकरणमदी ॥ १२८४ ॥

दोपानिति सुधीर्धुध्वा निदानं विदधाति नो

जानानो दारुण मृत्युं को हि भक्षयते विषम् ॥ १३२७ ॥

लुपति पातकलोपि चारित्र्य सिद्धिसुखं विधुनोति पवित्रम् ॥

देहवतामुरुदोषनिधानं किं कुशलो न श्रूणाति निदानम् ॥ १३२८ ॥



विजयोदया—इक्ष्वमेदमगिर्विजितयदो इत्येवमेतद्वस्तुजात आविर्चितयतः। ह्योल्लङ्घ भवेदेव, णिद्राणकरणमदी नि-  
दानकरणे मतिर्वृद्धिः, इक्ष्वे पम्संतो इत्येवमेतत्पद्यन्, न खु नैव, होदि भवति णिद्राणकरणमदी निदानकरणमति ॥  
णिद्राणं ॥

एवंविधभावनानुष्ठानानुष्ठानयोः फले त्रयीति—

मूलारा—इक्ष्वमेव इति प्राक्प्रवर्धनोक्त । वस्तु । एवमेव इत्यमिथं । अविचितयतो अध्ययतोऽध्ययित्वा ॥  
अर्थ-उपर्युक्त बातोंका जो पुरुष विचार नहीं करता है उसकी बुद्धि निदान करनेके तर्फ लगती है परंतु  
जो इन बातोंका विचार करता है वह निदान नहीं करता है निदान करनेसे रत्नत्रयमें निर्मलता आती है और तपके  
द्वारा कर्मका क्षय होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसा विचार करनेवाला मुनि निदानका त्याग करता है परंतु  
भोगोंमें जिसकी बुद्धि छुग्ध हो गई है वह मुनि रत्नत्रयकी निर्मलताके तर्फ ध्यान नहीं देता है अतः वह निःशल्य  
नहीं होनेसे संसारमें अमण करता है।

मायासहस्रसालोयणाधियारम्भि वणिद्रा दोसा ॥

मिच्छत्तसहस्रदोसा य पुन्वमुववणिण्या सव्वे ॥ १२८५ ॥

आलोचनाधिकारस्य मायाशल्यस्य दूषणं ॥

उक्तं मिथ्यात्वशल्यस्य मिथ्यात्ववमनस्त्वे ॥ १२९ ॥

विजयोदया—मायासहस्रस मायाशल्यस्य, आलोयणाधियारम्भि आलोचनाधिकारे वणिद्रा दोसा वर्णिता  
दोषा, मिच्छत्तसहस्रदोसा मिथ्यात्वशल्यदोषाश्च । सव्वे सर्वे, पुन्वमुववणिद्रा पूर्वमेव व्यावर्णिता, शल्यत्रयगतदोषा-  
भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन सूत्रिरेतत्कथयति आवुद्धदोषेण शल्यत्रय त्वया त्याज्यमिति ॥

मायामिथ्यात्वशल्यदोषान्प्रयुक्तान्क्षपकमनुसारयति—

मूलारा—पुन्वं मिथ्यात्ववमनवर्णनाधिकारे ॥

अर्थ—आलोचनाके अधिकारमें मायाशल्यके दोषोंका वर्णन प्रयकारने किया है- मिथ्यात्वशल्यके  
दोषोंका भी पूर्वमें वर्णन हो चुका है हे क्षपक' तुझको इन तीनों शल्योंके दोषोंका परिज्ञान हुआ है अतः तू इन  
तीनों शल्योंका त्याग कर.

मायाशाल्यपरित्यागात्प्राप्तदोषमर्थोल्यानेन दर्शयति—

पद्मद्वयोधिलाभा मायासङ्गेण आसि पूदिमुही ॥

दासी सागरदत्तस्स पुष्पदंता हु विरदा वि ॥ १२८६ ॥

मायाशाल्येन ही बोधेः ब्रह्मद्या कृथितानना ॥

दासी सागरदत्तस्य पुष्पदन्तार्जिकाभवे ॥ १३३० ॥

विजयोदया—पद्मद्वयोधिलाभा विनष्टो दीक्षाभिमुखबुद्धिलाभो यस्या सा प्रभ्रष्टवोधिलाभा । आसी आसीत् । का ? पूदिमुही पूतिमुखीसंशिता । सागरदत्तस्स दासी सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? मायासङ्गेण माया शाल्येन । पुष्पदंता हु विरदा वि मायासङ्गेण पद्मद्वयोधिलाभा आसी इति पदसंबन्ध पुष्पदन्तास्या संयता च मायया प्रभ्रष्टवोधिलाभा आसीत् । मायाशाल्यं ॥

मायाशाल्यफलमर्थोल्यानेन कथयति—

मूलारा—बोधि दीक्षाभिमुखबुद्धिः । आसि सजाता । पूदिमुही पूतिमुखीलान्वर्थनान्नी । विरदा वि आर्थिकापि सती ॥

मायाशाल्यका त्याग न करनेसे जिसका नुकसान हुआ था ऐसी व्यक्तिका दृष्टांत आचार्य कहते हैं—  
अर्थ—पुष्पदन्ता नामकी आर्थिका मायाशाल्यसे दीक्षाके विचारसे रहित हुई अर्थात् मैंने दीक्षा आत्म-  
कल्याणके लिये धारण की है ऐसी भावना मायाशाल्यसे उसकी नष्ट हुई और वह मरकर सागरदत्तके यहां पूति-  
मुखी नामकी दासी हुई इस तरह मायाशाल्यका वर्णन हुआ

मिच्छत्तसङ्खदोसा पियधम्मो साधुवच्छलो संतो ॥

बहुदुक्खे संसारे सुचिरं पडिहिडिओ मरिची ॥ १२८७ ॥

विद्धो मिथ्यात्वशाल्येन धार्मिको वत्सलाशयः ॥

मरीचिरब्रह्मज्ञीमे चिरं ससारकानने ॥ १३३१ ॥

निदानमायाविपरीतदर्शनेर्विद्वार्थतंजनी निशितैः शरैरिव ॥  
विबुध्य दोषानिति शुद्धबुद्धयस्त्रिधापि शल्यं दवयन्ति यत्नतः ॥ ३३२ ॥  
इति शल्यम् ॥

विजयोदया—मिच्छत्तसल्लोसा मिथ्यात्वशल्यदोषात् । पियधम्मो साधुवच्छलो सतो प्रियधर्मे साधूना वत्स-  
लोऽपि सन् मरीचिः । बहुदुःखे ससारे सुचिरं पडिद्धिडिओ ससारे सुचिरं भ्रात, कीदृशे ? बहुदुःखे ॥ मिथ्याशल्यं ॥  
मिथ्यात्वशल्यापकारमर्थाल्यानेन आह—

मूलारा—मरिची मरीचिकुमारः । पंचमहाव्रतारक्षा ॥

अर्थ—जिसका धर्मपर प्रेम था और जिसमें साधुओंके प्रतिवात्सल्य था ऐसे मरीचिनामक सुनिने मिथ्यात्व  
शल्य दोषसे विरकालतक अनेक दुःखोंसे व्याप्त संसारमें भ्रमण किया इस प्रकार मिथ्यात्वशल्यका वर्णन हुआ

एव निर्यापकेण सूरिणा सस्सूयमानं साधुवर्गो निर्वाणपुरं प्रविशतीति दर्शयति उत्तरप्रवचने—

इयं पव्वज्जाभंढिं समिदिबड्ढं तिगुत्तिदिदचकं ॥

रादियभोयणउद्धं सम्मत्तक्खं सणाणधुरं ॥ १२८८ ॥

प्रवज्यागंत्रिकां गुप्तिचकां ज्ञानमहाधुरं ॥

समित्युक्षाणमारुह्य क्षपको दर्शनादिकम् ॥ १३३३ ॥

विजयोदया—इयं सारविज्जतो साधुवर्गसत्थो साधुवर्णियगो ससारमहाडवि तरदिति पदघटना । व्यावर्णि-  
तक्रमेण संस्क्रियमाणः साधुवृद्धसार्थं संसारमहादृष्टौ तरति । पव्वज्जाभडिमाराहियं पच्छिओ प्रवज्याभडिमाराह्य प्र-  
स्थितः, समिदिवड्ढं समितिवलीवड्ढं, तिगुत्तिदिदचकां त्रिगुत्तिदिदचकां, सम्मत्तक्खं सम्मत्तक्का, सणाणधुरं सभी-  
चीनज्ञानधूर्वर्तौ ॥

साग्रत सामान्यविशेषाभ्यामिन्द्रियकपायनिर्जयं व्याचिरव्यासुः पूर्वं सामान्येन तद्दोषान्वक्तुं गाथात्रिपट्टया  
प्रक्रमते । तद्विषयविशेषसिद्ध्यर्थं च तावत्प्रवर्धनेन व्याख्यातमर्थं सुखस्मृत्यर्थमुपसंगृह्य गाथाद्वयेनोपमालंकारसुभगमभिधत्ते—  
मूलारा—पव्वजाभंढिं प्रवज्या दीक्षा सा भडिरिव गड्डिका यथेति यावत् । बहुवाक्यभारक्षमत्वात् । रादियभो-  
यणवड्ढिं राज्यभोजनं द्रव्यतो भावतश्च रात्रिभोजननिवृत्तिद्वयं दीर्घद्विकाद्वयं यस्याः सा राज्यभोजनाद्वि सातविधैर-  
नित्यत्वाच्चात्र कम् ॥

निर्यापक आचार्यके द्वारा स्तुति किए हुए साधु मोक्षनगरीमें प्रवेश करते हैं इस विषयका विवेचन आगे आचार्य करते हैं—

अर्थ—जो उपदेशका क्रम यहाँतक आचार्य महाराजने बताया है उससे जब साधुसमूहरूपी सार्य संस्कृत किया जाता है तब वह संसाररूपी महान् जंगलके दूसरे किनारेपर सुखसे जा सकता है अन्यथा नहीं, जिसको समितीरूपी बेल जोड़े हैं, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिरूपी पहिये जिसके हैं सम्यक्त्वरूपी आँख और सम्यग्ज्ञान जिसकी घुरा है, और द्रव्यरात्रिभोजन साक्षात् रातमें आहार लेना और भाररात्रिभोजन—रात्री भोजनकी मनमें अभिलाषा करना इन दोनोंका त्याग ही जिसके दीर्घ दृढ़ है ऐसी दीक्षारूपी गाड़ीपर सवार होकर साधुरूपी व्यापारिओंका समुदाय संसाररूपी महाजंगलके दूसरे किनारेको सुखसे जाता है.

वदभंडभरिदमारुहिदसाधुसत्येण पत्थिदो समयं ॥

णिब्वाणभंडहेदुं सिद्धपुरीं साधुवाणियओ ॥ १२८९ ॥

प्रस्थितः साधुसार्थेन व्रतभांडभृता सह ॥

सिद्धिसौख्यमहाभांडं ग्रहीतुं सिद्धिपत्तनम् ॥ १३३४ ॥

विजयोदया—वदभंडभरिद व्रतभांडपूर्ण । साधुसत्येण पत्थिदो साधुसार्थेन सह प्रस्थितः । किं प्रति ? सिद्धिपुरं । निब्वाणभंडहेदु निवर्णानद्रव्यनिमित्त साधुवाणियगो क्षपकसाधुवणिक् ॥

मूलारा—मह क्रयणकं । समय सह । णिब्वाण सिद्धिसुखं । साधुवाणियओ क्षपकयतिवणिक् ॥

अर्थ—साधुरूप व्यापारिओंके साथ इस क्षपकरूप व्यापारीने दीक्षारूपी—व्रतरूप माल भर दिया है और वह इसको वेचकर मोक्षरूपी मालकी खरीदी करनेके लिये सिद्धिपुरको खाना हो रहा है

आयरियमत्थवाहेण णिज्जउत्तेण सारविज्जंतो ॥

सो साहुवग्गसत्थो संसारमहाडविं तरइ ॥ १२९० ॥

सार्थः संस्क्रियमाणोऽसौ भीमां जन्ममहाटवीम् ॥

आचार्यसार्थवाहेन महोद्योगेन लंघते ॥ १३३५ ॥

विजयोदया—आयस्यसत्यवाहेन आचार्यसार्थवाहेन । पिच्छजुत्तेण सर्वदानपयिना सारविज्जंतो संस्क्रियमाणः ।

तथाभूतक्षपकस्य यतिविशिष्टस्य यतिवृद्धस्य संसारलघनोपायमाह —

मूलारा—पिच्छजुत्तेण मततसमाहितेन । सारविज्जंतो संस्क्रियमाणः । पुनः पुनरपायहेतुव्यावर्तनोपाये नियुज्यमान इत्यर्थः । सो तत्तादृगाराधकसाधुविशिष्टः । सत्यो वाणिज्योद्यतः । वणिक्संघातः तरदि अतिक्रामति ॥

अर्थ—आचार्यरूपी व्यापारिओंकै नायरुके द्वारा जो कि सर्वदा सावधान रहता है सत्कारयुक्त हुआ यह साधुरूप व्यापारिओंका समुदाय ससाररूपी जगलको तीरकर मोक्षपुरको मुखसे जाता है

तो भावणादियंतं रक्खदि तं साधुसत्यमाउचं ॥

इंदियचोरोहिंतो कसायबहुसावदेहिंतो ॥ १२९१ ॥

तं भावनामहाभांडं त्रायते भवकानने ॥

कपायव्यालतः सूरिरिंद्रियस्तेनतस्तथा ॥ १३३६ ॥

विजयोदया—तो ततः । भावणादियत रक्खदि भावनादिभि प्रयत्न रक्षति । साधुसत्य त साधुसार्थं तं । आउतं आयुक्तं आत्मना । कुतो रक्षति इत्याशंकाया उच्चरं—इंदियचोरोहिंतो इंदियचोरेभ्यः, कसायबहुसावदेहिंतो । कपाय बहुश्वापदेभ्यश्च ॥

मोक्षपथप्रस्थायितो यतिवृद्धस्याचार्यकार्यमिंद्रियकपायसंपाद्यापायपरित्राणमाह—

मूलारा—तो सः सार्थवाहायमानो वर्मार्थः । भावणादिजुत भावना रात्रिभोजननिवृत्त्यष्टप्रवचनमाह—  
क्राभिर्युक्तं महाव्रतेषु प्रयत्नपरं । जुत्तमिति कचित्पाठः । आउत्तो सर्वत्रोद्यतः । आउत्तमिति कचित्पाठः । चोरोहिंतो चोरेभ्यः । स्वाध्यायध्यानप्रवर्तनेन प्रमादद्वयावर्तयन्निंद्रियमत्यनुयाधिरागद्वेषक्रियमाणसंयमवाधारहित यतिवर्गं सूरिः करोतीति भावः ॥

अर्थ—रात्रिभोजनत्याग, पंच महाव्रत, युक्ति समिती इनमें प्रयत्न कराना एतत्स्वरूप भावनाओंसे आचार्य साधुरूप सार्थको इन्द्रियचारोंसे और कणायरूप हिंस्र प्राणिओंसे रक्षण करते हैं

विसयाडवीणु मञ्ज्रे ओहीणो जो पमाददोसेण ॥

इंद्रियचोरा तो से चरित्तभंडं विलुंपंति ॥ १२९२ ॥

प्रमादवशतो यातो ग्रष्टो विषयकानने ॥

तदीयं व्रतसर्वस्वं लुप्यतेऽक्षमलिम्लुचैः ॥ १३३७ ॥

वित्तयोदया—विसयाडवीणु मञ्ज्रे स्पर्शरसरूपगंधाद्विषया अटवीव ते दुरतिक्रामणीया' । तस्या विषयाद्व्या मध्ये जो ओहीणो य साधुरपस्तुत' । पमाददोसेण प्रमादस्थेन दोषेण । इन्द्रियचोरा इन्द्रियाख्याओरा । सेतस्य साधुवणिज । चरित्तभंडं चरित्रभांड । विलुंपंति अपहरति । सक्षिहितमनोक्षामनोविषयजा' इन्द्रियमत्यदुयायिनो रागद्वेषाश्चारित्र्य विनाशयति प्रमादिन । आचार्यस्तु ध्याते स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसारयतीति नैन्द्रियचौरैर्वध्यते इति भाव ॥

विकथाद्यन्यतमप्रमादेन यतिवर्गादपस्तुतस्य मुमुक्षोरिन्द्रियकणायसाध्यं मंथमघनस्य रत्नत्रयगात्रस्य वा क्षतिं गाथाद्वयेन लक्षयति—

मूलारा—जो साधुवणिक् । ओहीणो अपस्तुत । सार्थाद्विह्वलित इत्यर्थ । तो सार्थोपसरणादनन्तरमेव विलुंपंति रागद्वेषहस्तैः ॥

अर्थ—प्रमादके वश होकर जो साधु स्पर्श, रूप, गंध, रस और शब्द इत्यादि इंद्रियविषयरूपी अटवीमें प्रविष्ट हुआ है उसका चारित्ररूपी भांडवल इंद्रियरूपी चोर हर लेते हैं, जब साधु प्रमादी होते हैं तब समीपके इष्ट और अनिष्ट पदार्थ देखकर उनके मनमें रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, जिससे उनका चारित्र नष्ट होता है आचार्य प्रमादके वशीभूत मुनिओंको ध्यान और स्वाध्यायमें मग्न करके उनका प्रमाद दूर करते हैं तब वे इन्द्रियचोर उनको बाधा नहीं देते हैं ऐसा इस गाथाका भाव है.

अहवा तल्लिच्छाईं कूराईं कसायसावदाईं तं ॥

खज्जति असंजमदाडाईं किलेसादिदंसेहिं ॥ १२९३ ॥

तमसंयमदंष्ट्राभिः संक्लेशदशनैः शितैः ॥

कषायश्वापदाः क्षिप्र दूरशा भक्षयन्ति च ॥ १३३८ ॥

विजयोदया—अहवा अथवा । तल्लिच्छाई अपस्तजतल्लिप्सावत । कुराई कुरा । कसायसावदाई कषायज्याला मृगा । तं अपस्तं । खज्जंति भक्षयेयु । असंजमदाढाई असयमदंष्ट्राभि । किलसादिदंसेहि क्लेशादिदंशेच्च । इन्द्रियाणां कषायाणां वा वेश निपतत्यसति निर्यापके सूर्याविति भाव ।

मूलारा—तल्लिच्छाई अपस्तजतल्लिप्सावतः । सर्वे च्युतजनग्रसनपरा इत्यर्थः । कुराई निर्दया । कसायसाव-दाई क्रोधादिव्यालमृगाः । खज्ज भक्षयेयुः । संक्लेशादिदंसेहि संक्षया रागद्वेषमोहा । आविशब्देन परिग्रहादिक्षेपाः त एव दशा दशना दन्तास्तेष्व ।

अर्थ—अथवा विपयारण्यमें प्रवेश किये हुए अर्थात् मुनिसार्थसे अष्ट हुए मुनिको चाहनेवाले, पकड़नेकी इच्छा करनेवाले क्रूर कषायरूपी हिंस्र प्राणी असयमरूपी दाढाओंसे परीपह, रागद्वेष मोह वर्गैरेह दांतोंसे भक्षण करते हैं जब प्रमाद वश हुए मुनिओंको सुधारनेवाले आचार्यका अभाव रहता है तब मुनिओंकी क्या परिस्थिति होती है इसका इस गार्थोंमें उल्लेख किया है.

तयोरिन्द्रियकषाययोः प्रवृत्तिरनेकदोषमूलति कथयति—

ओसण्णसेवणाओ पडिसेवंतो असज्जदो होइ ॥

सिद्धिपट्ठपच्छिदाओ ओहीणो साधुसत्थादो ॥ १३९४ ॥

इंद्रियकषायगुरुगत्तणेण सुहसीलभाविदो समणो ॥

करणालसो भविता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥ १२९५ ॥

यः साधुः सार्थतो अष्टः सिद्धिमार्गानुयायिनः ॥

सोऽवसन्नक्रियाः साधुः सेवमानोऽत्यसंयतः ॥ १३३९ ॥

कषायाक्षगुरुत्वेन तपस्वी सुखभावनः ॥

अवसन्नक्रियो भूत्वा सेवते करणालसः ॥ १३४० ॥

[ इति अवसन्नः ]

विजयोदया—शुद्धिप्रसादगुरुगत्तेण तीर्थेन्द्रियकपायपरिणामतया । सुहृसीलभाविदो समणो सुसमाधिप्रपदितः धर्मण । करणालसो त्रयोदशविधासु क्रियासु अलसः । भविता भूत्वा । सेवयि सेवते । ओसणसेवाओ अवसन्नसेवा । अष्टचारित्राणा क्रियासु प्रवर्तते इति यावत् ॥ ओसणो ॥

इन्द्रियकपायपरतंत्रतया साधुसंघाटकवद्विग्रहमवसन्नादिरूपेण संयमभ्रंशं व्याचिख्यासुरादाववसन्नं गाथाद्वयेनाहमूलारा—ओसणसेवणाओ अष्टचारित्राणा क्रियाः । पडिसेवतो मार्गप्रतिलोभ्येन भजन् ॥

अष्टक्रियाचरणकारण भणति—

मूलारा—गरुगत्तेण तीव्रपरिणामेन । सुहृसीलभाविदो शर्मकामतावासितः । करणालसो आवश्यककाय-कुशस्तत्राध्याय्यानेषु, त्रयोदशसु क्रियासु वा स्थितः । अवसन्नः ॥

इन्द्रियकपायोंमें प्रवृत्ति करनेसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा कहते हैं।

अर्थ—अष्टचारित्र मुनिओंकी क्रिया रत्नत्रयमार्गके विरुद्ध होकर जब श्रुति करते हैं तब वे मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होते हैं । और साधुवर्गसे अलग रहते हैं, अर्थात् संयका त्यागकर स्वच्छंद होते हैं, तीव्र कपाययुक्त होकर मुनि इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होते हैं इस आसक्तिसे वे मुखशील होकर समिति, शुण्ठि और महाव्रत ऐसे तेरह प्रकारके चारित्रमें आलसी होजाते हैं, और अष्ट मुनिओंके आचरणमें प्रवृत्ति करते हैं।

केई गहिदा इंदियचोरोहिं कसायसावदेहिं वा ॥

पंथं छंडिय णिज्जंति साधुसत्थस्स पासम्मि ॥ १२९६ ॥

हृषीकतस्करैर्भीमैः कषायश्वापदैरपि ॥

विमोच्य नीयते मार्गे साधुः सार्थस्य पार्थनः ॥ १३४१ ॥

विजयोदया—केई गहिदा इंदियचोरोहिं केचिद्वृद्धीता इंदियचौरैः । कसायसावदेहिं तद्वा तथा कपाय-श्वापदैश्च युद्धीताः । साधुसत्थस्स पंथं छंडिय साधुसार्थस्य पथानं त्यक्त्वा । पासम्मि णिज्जंति पार्थं यांति ॥ पार्थस्य गाथापंचकेनाह—

मूलारा—छंडिय त्याजयित्वा । पासाओ पार्थं रत्नत्रयाभास इत्यर्थः ।



अर्थ—कितनेक मुनि इंद्रियरूपी चोर और कपायरूप हिस प्राणिओंसे जव पकड़े जाते हैं तब साधुरूप व्यापारिओंका त्याग कर पार्श्वस्थ मुनिके पास जाते हैं.

तो साधुसत्यपथं छंडिय त्रासम्भि णिज्जमाणा ते ॥

गारवगहणकुडिल्ले पडिदा पव्वेति दुक्खाणि ॥ १२९७ ॥

साधुः सार्धं परित्यज्य नीयमानो महाभयम् ॥

सहते दारुणं दुःखं प्राप्तो गौरवकाननम् ॥ १२९८ ॥

विजयोदया—तो साधुसत्यपथं साधुसार्थस्य पंथानं। छंडिय त्यक्त्वा। पासम्भि पाश्वे। णिज्जमाणाते नीय-  
मानास्ते। गारव चिरक्खिंदिरसासातगौरवसच्छेने गह्वरे। पडिदा पतिता। पव्वेति प्राप्नुवन्ति। दुक्खाणि दुःखानि ॥

मूलारा—गारवगहणकुडिल्ले रिद्धिरससातगौरवनिर्मुक्तकवान् ॥

अर्थ—वे मुनि साधुसार्थका मार्ग छोड़कर पार्श्वस्थ मुनिके पास जव जाते हैं तब क्रद्विगर्भ, रसगर्व और सातगर्व इनसे व्याप्त जंगलमें पढ़कर दुःख भोगते हैं.

सल्लविसकटण्हिं विद्धा पडिदा पडंति दुक्खेसु ॥

विसकंटयविद्धा वा पडिदा अडवीए एगागी ॥ १२९९ ॥

शाल्यदुःकंटकैर्विद्धा पतिता दुःखमासते ॥

एकाकिनोऽटवीं याता विद्धा वा विपकटके ॥ १३०० ॥

विजयोदया—सल्लविसकटण्हिं विद्धा मिथ्यात्वमायानिदानशल्यकंटकैर्वा विद्धा। पडिदा पतिता। दुक्खेसु पडति दुःखेषु पतति। विसकंटयविद्धा वा अडवीए एगागी पडिदा इव विपकटकेन विद्धा अटव्यमेकाकिन पतिता यथा दुःखेषु पतति तथैवेति दार्ष्टान्तिकयोजना ॥

मूलारा—विद्धा दूषिताः। पडिदा चारित्राद्धृष्टाः। एगागी असहाया. ॥

अर्थ—जैसे विपरूप कंटकसे विद्ध हुए पुरुष जंगलमें अकेलेहि पढ़कर दुःख भोगते हैं वैसे मिथ्यात्व,

माया और निदानरूप विषकंटकोसे विद्वद् होकर विषयरूप जंगलमें अकेले पडकर अतिशय दुःख भोगते हैं.

पंथं छंडिय सो जादि साधुसत्थरस चैव पासाओ ॥

जो पडिसेवदि पासत्यसेवणाओ हु णिद्धम्मो ॥ ११९९ ॥

साधुः सार्थपथं त्यक्त्वा स पार्श्वे याति संयतः ॥

पार्श्वस्थानां क्रियां याति यश्चारित्रविवर्जितः ॥ १३४४ ॥

विजयोदया—साधुसार्थस्य प्रधान त्यक्त्वा कस्य पार्श्वे याति यस्यामी दोषा व्यावर्णिता । गौरवगद्गेने पातः शब्दवियकटकवेधादयश्चेत्याशङ्कायाभाह—पथं छंडिय साधुसत्थस्स जादि परित्यज्य साधुसार्थस्य पंथानमसौ याति । पासम्मि पाद्वे । जो पडिसेवदि यः प्रतिसेवते, पासत्यसेवणाओ हु पार्श्वस्थसवनाः, णिद्धम्मो धर्मैचारित्रं तस्मादपगतः, धर्मोदपगतः. सन्पार्श्वस्थादिचरणीयासु क्रियासु प्रवर्तते ॥

मूलारा—छंडिय त्यक्त्वा । णिद्धम्मो चारिवाक्निर्गतः ॥

अर्थ—साधुसार्थका मार्ग छोडकर जिस मुनिका आश्रय लेते हैं वह मुनि चारित्रिका त्यागी होता है और पार्श्वस्थ मुनिओंकी क्रियाओंका आचरण करता है.

सैव कथं निर्धर्मता तस्येत्याशङ्क्य वदति—

इंदियकसायगुरुयत्तणेण चरणं तणं व पस्सतो ॥

णिद्धम्मो हु सविच्चा सेवदि पासत्यसेवाओ ॥ १३०० ॥

कषायाक्षगुरुत्वेन पइयन्वृत्तं तृणं यथा ॥

भूत्वा निर्द्धर्मको याति पार्श्वस्थानां सदा क्रियाः ॥ १३४५ ॥ (पार्श्वस्थः)

विजयोदया—इंदियकसायगुरुयत्तणेण इंदियकपायविषयैर्गन्वाञ्च्य रागद्वेषपरिणामयो क्रोधादिपरिणामानां च तीव्रत्वात् । चरणं चारित्र, तण व तृणमिव, पस्सतो पश्यन् रसादयोऽप्यशुभपरिणामात्तत्त्वज्ञानस्य प्रतियधकास्तेन सकलुपं ज्ञानचारित्र्य निस्सारमिव पश्यति, तत एव तत्राकृताद्वर चारित्रादपैतीति निर्द्धर्मतास्य । ततः पार्श्वस्थसेवासु प्रयतते । पासत्यो ॥

निर्धर्मताहेतुमाह—

मूलारा—परस्ततो रागद्वेषाद्यशुभपरिणामप्रतिबद्धतत्त्वज्ञानतया चारित्रानादरं कुर्वन्नित्यर्थः । पार्श्वस्थः ॥

पार्श्वस्थ मुनि धर्मरहित क्यों रहता है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पार्श्वस्थ मुनि इन्द्रिय, कषाय और पंचेंद्रियोंके विषयोंसे पराभूत होकर चारित्रको तृणके समान समझता है उसके रागद्वेष और क्रोधादि परिणाम तीव्र होजाते हैं रागद्वेषादिक अशुभ परिणाम पार्श्वस्थ मुनिके तत्त्वज्ञानका नाश कर डालते हैं, इसलिए यह मुनि अपने मलिन ज्ञानसे चारित्रको तुच्छ समझता है और ऐसी समझ होनेसे चारित्रसे भ्रष्ट होजाता है ऐसे चारित्रभ्रष्ट मुनिको पार्श्वस्थ कहते हैं जो मुनि सन्मार्गमें प्रवर्तनवाले मुनिओंका त्याग करते हैं वे पार्श्वस्थ मुनिका आश्रय लेकर वैसे वनते हैं

इन्द्रियचोरपरद्धा कसायसावदभाण वा केई ॥

उभमगेण पलायति साधुसत्थस्स दूरेण ॥ १३०१ ॥

अक्षचौरहताः केचित्कषायव्यालभीतितः ॥

उन्मार्गेण पलायन्ते साधुसार्थस्य दूरतः ॥ १३४६ ॥

विजयोदया—इन्द्रियचोरपरद्धा इन्द्रियचोरकृतोपद्रवा । कसायसावदभाण वा केई कषायव्यालमृग मयेन वा केचित् उभमगेण उन्मार्गेण पलायति पलायन कुर्वति । साधु सत्थस्स दूरेण साधुसार्थस्य दूरात् ॥

कुशील गाथासक्तकेन दर्शयति—

मूलारा—परद्धा कृतोपद्रवा । दूरेण दूरात् । निर्लज्जो दुराचारावष्टभात् ।

अर्थ—कितनेक मुनि इन्द्रियचोरोंसे पीडित होते हैं और कषायरूप आपदोंसे ग्रहण किए जाते हैं तब साधुसार्थका त्याग कर उन्मार्गसे पलायन करते हैं ।

तो ते कुशीलपडिसेवणावणे उप्पघेण धावन्ता ॥

सण्णाणदीसु पडिदा किलेसमुत्तेण वुड्ढंति ॥ १३०२ ॥

ततोऽप्यथेन धावन्तः कुशीलानां क्रियावने ॥

क्लेशस्रोतोभिरुत्थन्ते याताः संज्ञामहानदीः ॥ १३४७ ॥

विजयोदया—तो तत साधुसार्थोद्ग्राहपस्तता, कुशीलपडिसेवणाथणे कुशीलप्रतिसवनावने, उपपथेन धावन्ता उन्मार्गण पलायन्त । सण्णाणदीसु सञ्ज्ञानदीपु । पडिवा पतिता । किलेससोत्तेण क्लेशस्रोतसा । बुद्धन्ति ते बुडन्ति ॥

मूलारा—ते साधुसार्थोद्ग्राहपस्तताः ॥ सण्णा आहारभयमैथुनपरिग्रहवाटा । बुद्धन्ति उद्यन्ते ॥

अर्थ—साधुसार्थसे दूर पलायन जिन्होंने किया है ऐसे वे मुनि कुशील प्रतिसवना-कुशील नामक ग्रह मुनिके सद्दोष आचरणरूप वनमें उन्मार्गसे भागते हुए आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी बांछारूप नदीमें पडकर दुःस्वरूप प्रवाहमें डूबते हैं

सण्णाणदीसु उडा बुद्धा थाहं कहपि अलंहता ॥

तो ते संसारोदधिमदंति बहुदुक्खभीसम्मि ॥ १३०३ ॥

संज्ञानदीपु ते मग्ना कचिदप्यनवस्थिताः ॥

पञ्चाज्जन्मोदधिं यांति दुःखभीमद्वयाकुलम् ॥ १३४८ ॥

विजयोदया—सण्णाणदीसु उडा सञ्ज्ञानदीभिराकृष्टा सतो निर्मेता । तो पञ्चात् । संसारोदधिमदंति संसार सागरं प्रविशति । बहुदुक्खभीसम्मि बहुदुःखभीसम् । कहिं पि कचिदपि सम्बत्त्वादीनामन्यतमेऽपि । तो मूलारा—उडा आकृष्टा । बुद्धा मग्नाः । थाह अवस्थान । कहिं पि कचिदपि सम्बत्त्वादीनामन्यतमेऽपि । तो पञ्चात् । अदंति प्रविशन्ति । श्रम ज्ञपा मत्स्या ॥

अर्थ—चार संज्ञारूपी नदीमें जब मुनि दूबते हैं तब वे कहाँभी स्थिरताको प्राप्त होते नहीं अर्थात् सञ्ज्ञारूपी नदीमें चहते चहते वे मुनि अतिशय दुःखोंमें भयकर संसारमग्नद्वमें प्रवेश करते हैं.

आसागिरिदुग्गाणि य अदिग्गम तिट्ठकक्खडसिलासु ॥

उल्लोडिदपब्भट्टा खुप्पंति अणंतियं कालं ॥ १३०४ ॥

दुराशागिरिदुर्गाणि गत्वा दृढशिलोत्करे ॥

अष्टा सन्तश्चिरं कालं गमयन्ति महाव्यथाः ॥ १३४९ ॥

विजयोद्या—आसागिरिदुर्गाणि य आसागिरिदुर्गाश्च । अदिगम्म अतिक्रम्य । तिव्दडकडसिलासु त्रिदंडक-  
केशशिलासु । उलोटिय पम्भट्टा अवलुकिता संत प्रअण गुण्पति गमयन्ति । अणत्तियं कालं अनंतं कालं ॥

मूलारा—अदिगम्म अतिक्रम्य । प्रविशत्यन्यं । रुम्भड निटुरा । ऊलोडिडपम्भट्टा पूर्वमेव लुकिता परिघृता ।  
पम्भट्टा पतिताः । लुडित्वा पतिता इत्यन्ये । उत्तरगुणेभ्यः प्रच्युता मूलगुणेभ्यः सम्यक्त्वाच्च प्रच्युता इत्यर्थः ।  
सर्वेत्तिय गमयन्ति च अन्ये खुपन्ति इति पठित्वा गमयन्तीत्यर्थमाहुः । उक्तं च—

दुराशागिरिदुर्गाणि गत्वा दृढभीलोत्करे ॥

अष्टा सन्तश्चिरं कालं गमयन्ति महाव्यथाः ॥

अर्थ—आधारूपी पर्वतके दुर्गम स्थानको उल्लंघनकर तीन दृढरूप निटुर शिलापर गिरते हैं, अर्थात् मन  
वचन और शरीरकी असत्प्रवृत्तिमें तत्पर होते हैं इस प्रकार चारित्रसे अष्ट होकर अनंतकाल व्यतीत करते हैं

बहुपावकम्मकरणाडवीसु महदीसु विप्पणट्ठा वा ॥

अदिट्ठणिब्बुदिपधा भमन्ति सुचिरंपि तत्थेव ॥ १३०५ ॥

पापकर्ममहाटव्यां विप्रनष्टा कदाचन ॥

सुखमार्गमपश्यन्तस्तत्रैवायान्ति ते पुनः ॥ १३५० ॥

विजयोद्या—बहुपावकम्मकरणाडवीसु बहुविधान्यशुभकर्मोपेयाटव्य । तासु महदीसु दीर्घासु । विप्पणट्ठा  
विप्रनष्टा । अदिट्ठणिब्बुदिपधा अष्टादशनिर्घृतिमार्गाः । भमन्ति भ्रमन्ति । सुचिरंपि सुचिरमपि । तत्थेव तत्रैव ॥

मूलारा—करणं निर्वर्तनं । विप्पणट्ठा विभ्रान्ताः । भ्रमन्ति आवर्तन्ते ॥

अर्थ—नानप्रकारके पापरूप अरण्यमें जो दिग्भ्रम हुए हैं और जिनको मुक्तिमार्गका दर्शन नहीं हुआ  
हे ऐसे वे अष्ट मुनि उसी पापरूप अरण्यमें विरकाल भ्रमण करते हैं

दूरेण साधुमत्थं छंडिय सो उप्पघेण खु पलादि ॥  
सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ जो सुत्तदिट्ठाओ ॥ १३०६ ॥

साधुसार्थं स दूरेण त्यक्तोन्मार्गेण नश्यति ॥

क्रिया यांति कुशीलानां या सूत्रे प्रतिदर्शिताः ॥ १३५१ ॥

विजयोदया—दूरेण साधुमत्थं दूरात्साधुसार्थं । छंडिय त्यक्त्वा । सो स । उप्पघेण खु पलादि उन्मार्गेण पलायते । सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ सेवते कुशीलप्रतिसेवना । जो य । सुत्तणिदिट्ठाओ सूत्रनिर्दिष्टा ॥

कुशीलक्रियासेवनापकारमाह—

मलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—अष्ट मुनि दूरसे ही साधुसार्थका त्यागकर उन्मार्गसे पलायन करता है, तथा आश्रममें कहे हुए कुशीलनामक अष्ट मुनीके दीर्घोका आचरण करता है

इंदियकसायगुरुगत्तणे चरणं तणं व पस्संतो ॥

णिहंधसो भविच्चा सेवदि हु कुसीलसेवाओ ॥ १३०७ ॥

कषायाक्षगुरुत्वेन वृत्त पश्यंस्तुणं यथा ॥

सेवते न्हस्वको भूत्वा कुशीलविषयाः क्रिया ॥ १३५२ ॥

(इति कुशीलः)

विजयोदया—इंदियकसायगुरुगत्तणेण इंदियकपायपरिणामाना गुरुत्वेन । चरण तण व पस्संतो चरणं तणं त्रिव पश्यन् । णिहंधसो भविच्चा अन्धीको भूत्वा । सेवदि सेवते कुशीलसेवा ॥ कुसीला ॥

कुशीलक्रियासेवानिमित्तमाह—

मलारा—णिट्ठघसो निर्लज्जः निर्वर्म्मः इत्यन्ये ॥ कुशील ॥

अर्थ—इंद्रियके विषयोंमें और कषायके तीव्र परिणामोंमें तत्पर हुए ये अष्टमुनि चारित्रिको तृणसमान समझकर निर्लज्ज होकर कुशीलका सेवन करते हैं कुशीलमुनिवर्णन समाप्त

सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि केइ इंदियकसायचोरोहिं ॥

पविलुत्तचरणभंडा उवहदमाणा णिवट्ठंति ॥ १३०८ ॥

केचित्सिद्धिपुरासन्नाः कपायेन्द्रियतस्करैः ॥

मुक्तमाना निवर्तते लुप्तचारित्रसंपदः ॥ १३५३ ॥

विजयोदया—सिद्धिपुरमुवल्लीणा वि सिद्धिपुरमुपलीना अपि । केइ केचित् । शब्दियकसायचोरोहिं इन्द्रियक-  
पायचोरे । पविलुत्तचरणभंडा अपहृतचारित्रभाडा । उवहदमाणा उपहृताभिमाना । निवट्ठंति निवर्तन्ते ॥

यथाछंदं गाथापंचकेनाह—

मूलारा—उवल्लीणा निकटीकृतवतः । उवहदमाणा संडितसयमाभिमाना । णियत्तति मिथ्यात्वमापन्तीत्यर्थः ॥

अर्थ—मोक्षनगरके समीप जाकरभी कितनेक मुनि इन्द्रिय और कपायरूपी चोरोसे जिनका चारित्ररूपी  
मांडवल लूटा गया है और संयमका अभिमान जिनका नष्ट हुआ है ऐसे होकर मिथ्यात्वको प्राप्त होते हैं.

तो ते सीलदरिद्रा दुक्खमणंतं सदा वि पावति ॥

बहुपरियणो दरिद्रो पावदि तिव्वं जथा दुक्खं ॥ १३०९ ॥

ततः शीलदरिद्रास्ते लभंते दुःखमुत्पणम् ॥

बहुभेदपरीवारा निर्द्धना इव सर्वदा ॥ १३५४ ॥

विजयोदया—तो पदचात् । ते सीलदरिद्रा ते शीलदरिद्रा । दुक्खं दुःख । अणंत अतातीत । सदा वि पावति  
सदा प्राप्नुवन्ति । बहुपरियणो बहुपरिजनो । दरिद्रो दक्षि । पावदि दुक्खं तिव्व प्राप्नोति दुःख तीव्वं यथा ॥

मूलारा—बहुपरियणो प्रचुरपोष्यवर्गः ॥

अर्थ—जिसका परिवार बहुत है ऐसा दरिद्री मनुष्य जेमे अतिशय तीव्र दुःखको प्राप्त होता है वैसे वे  
शीलदरिद्री मुनि हमेशा तीव्र दुःखको प्राप्त होते हैं

सो होदि साधुसत्थाहु णिगदो जो भवे जथाछंदो ॥

उत्सुत्तमणुवदिट्ठ च जधिच्छाए विकपंतो ॥ १३१० ॥

स सिद्धियायिनः साधुनिर्गतः साधुमार्गतः ॥

स्वच्छंदस्वेच्छमुत्सूत्रं चरित्रं यः प्रकल्पते ॥ १३१५ ॥

विजयोदया—सो होदि स भवति । साधुसत्थाहु णिगदो साधुसार्थान्निवृत्त । जो हवे जथाछंदो यो भवति स्वेच्छावृत्ति । उत्सुत्तं उत्सूत्र । अणुवदिट्ठ अनुपदिष्ट च स्थविरैः । जधिच्छाण विकपंतो यथेच्छाया विकल्पयन् ॥

यथाछंदीभावे दोषानाह—

मूलारा—जथाछंदो स्वेच्छावृत्तिः ॥ उत्सुत्तं उल्लिखितप्रवचन । अणुवदिट्ठ अनान्नातं स्थविरैः । विकपंतो इदमि-  
त्थमेव घटते न तथेति विकल्पयन् ॥

अर्थ—जो मुनि साधुसार्थका त्यागकर स्वतंत्र हुआ है जो स्वेच्छाचारी बनकर आगमविरुद्ध और पूर्वार्थायों नहीं कहे हुए आचारोंकी कल्पना करता है, वह स्वच्छंद नामक भ्रष्टमुनि समझना चाहिये.

जो होदि जथाछंदो हु तस्स धणिदंपि संजमितस्स ॥  
णत्थि दु चरणं चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी ॥ १३११ ॥

यज्जायते यथाछंदो नितरामपि कुर्वतः ॥

वृत्त न विद्यते तस्य सम्यक्त्वसहचारितः ॥ १३१६ ॥

विजयोदया—जो होदि जथाछंदो यो भवति स्वेच्छावृत्ति । तस्म धणिदंपि संजमितस्स तस्य नितरामपि सयमे प्रवर्तमानस्य । णत्थि दु नास्त्येव । चरणं चारित्र । चरणं खु होदि सम्मतसहचारी सम्यक्त्वसहचार्येव यथेच्छाचरित्र । स्वच्छंदवृत्तेस्तु यत्किंचित्परिकल्पयतः सूत्रमनुसरत नैव सम्यग्दर्शनमस्ति । तद्वृत्तरेण सम्यक्चारित्रं नैव तत्र भवति ॥

मूलारा—सम्मतसहचारी सम्यक्त्वसहभाव्येव ॥ स्वेच्छावृत्तेः सूत्रमननुसरतः सम्यक्त्वाभावात् कुतस्त्यं सम्यक्चारित्रमिति भावः ॥



अर्थ—यथेच्छ प्रवृत्ति करनेवाले उस भ्रष्ट मुनिने यद्यपि घोर समय धारण किया होगा तथापि उसका मंथम चारित्र नहीं कहा जाता है क्योंकि उसको सम्प्रदर्शन नहीं है. सम्प्रदर्शनके साथ संयमको ही मम्यक्चारित्र कहते हैं. स्वच्छंदवृत्ति मुनि अपने मनोबुद्ध तत्त्वकल्पना करता है, आगमविरुद्ध कल्पना करनेसे वह सम्प्रदर्ष्टि नहीं है सम्प्रदर्शनके बिना उसको चारित्रकी प्राप्ति कैसे होगी ?

इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुत्तं पमाणमकरतो ॥

परिमाणेदि जिणुत्ते अत्थे सच्छंददो चेव ॥ १३१२ ॥

जिनेद्रभाषित तथ्य कषायाक्षगुरुकृत ॥

प्रमाणीकुरुते वाक्यं यथाच्छंदो न दुर्मनाः ॥ १३५७ ॥

( इति स्वच्छंदः )

विजयोदया—इंदियकसायगुरुगत्तणेण कषायाक्ष गुरुकृतत्वेन सूत्रप्रमाणयन्, परिमाणेदि अन्यथा युद्धाति, जिणुत्ते अत्थे भिनोक्तार्थान्, सच्छंददो चेव स्वेच्छाभिप्रायेणैव ॥ जघाच्छंद ॥

मूलारा—परिमाणेदि अन्यथा गृह्णाति विंशतीत्यन्यः । अत्थे जीवादिपदार्थान् । सच्छंददो चेव स्वाभिप्रायेणैव यथाच्छंद ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषायोंमें अत्यंत आधीन होनेसे यह भ्रष्ट मुनि जिनप्रणीत सिद्धांतको प्रमाण नहीं मानता है और स्वच्छंदचारी बनकर सिद्धांतका स्वरूप अन्यथा समझता है और अन्यथा विचारमें लाता है

इंदियकसायदोसेहिं अधवा सामणजोगपरित्तो ॥

जो उव्वायदि सो होदि गियत्तो साधुमत्थादो ॥ १३१३ ॥

कषायेन्द्रियदोषेण वृत्तात् सामान्ययोगतः ॥

य' प्रभ्रष्ट' परिश्रान्तः' स भ्रष्टः साधुसार्थतः ॥ १३५८ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायदोसेहि इन्द्रियकसायदोपे । अधवा सामणजोगणरितंतो अथवा सामान्ययोगेन वात । जो उब्बायदि यश्चात्रिचान्चयते । सो होदि स भवति । णियत्तो साधुसत्तादो निवृत्त साधुसार्थात् । संसक्तं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—परिदत्तो निर्विण्णः । श्रुतो वा । उब्बायदि चारित्राच्चयवते । विलंबते इत्यन्ये ॥

अर्थ—इन्द्रिय और कपायोंके दोषसे अथवा सामान्य ध्यानादिकसे विरक्त होकर जो साधु चारित्रसे भ्रष्ट होता है वह साधुसार्थसे अलग होता है

इन्द्रियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सत्त्वाणि ॥

पाविज्जंतं दोसेहिं तेहिं सत्त्वेहिं संसत्ता ॥ १३१४ ॥

स्थानानि तानि सर्वाणि कषायाक्षगुरुकृताः ॥

ससत्ता सक्कलैदोपैः केचिद्वच्छन्ति दुर्धियं ॥ १३१५ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायवसिया इन्द्रियकसायवशगा । केई केचित् । ठाणाणि ताणि सत्त्वाणि तान्यशुभस्थानपरिणामानि । पाविज्जति प्राप्यते । दोसेहिं तेहिं सत्त्वेहिं संसत्ता दोषेस्ते सर्वे संसत्ता ॥ संसत्ता ॥

मूलारा—ठाणाणि परिणामान् । तानि मिथ्यात्वासांयमादीनि ॥ पाविज्जते नीयते । तेहिं तैः प्रसिद्धै रणादिभिः ॥ संसत्तिः ॥

अर्थ—इन्द्रियविषय और कपायके वशीभूत कितनेक भ्रष्ट मृनि सर्व दोषोंसे युक्त होकर सर्व अशुभ स्थानकी प्राप्ति करानेवाले परिणामोंको—अशुभ परिणामोंको प्राप्त होते हैं

इय एदे पंचविधा जिणेहिं सवणा दुग्गुच्छिदा मुत्ते ॥

इंदियकसायगुरुरत्तणेण णिच्चंवि पडिक्कुरा ॥ १३१६ ॥

इत्येते साधवः पंच निदिता जिनशासने ॥

प्रत्यनीकक्रियारंभाः कषायाक्षगुरुकृताः ॥ १३१७ ॥

विजयोदया—पासत्थत्तिगवं ॥

अवसन्नादीनां सामान्यदोषमाह—

मूलारा—दुगुह्मिदा निदिता । पडिबुद्धा प्रतिपक्षभला मंडा वा ॥

अर्थ—ये पांच तरहके भ्रष्ट मुनियाँकी जिनेश्वरीने आगममें निंदा की है. ये पांच प्रकारके मुनि इंद्रिय और कपायके गुरुत्वसे जिनसिद्धांतानुसार आचरण करनेवाले मुनिआँके प्रतिपक्षी हैं.

दुड्डा चवला अदिदुज्जया य णित्त्वं पि समणुबद्धा य ॥

दुक्खावहा य भीमा जीवाणं इंदियकसाया ॥ १३१६ ॥

दुरताश्चंचला दुष्टा वृत्तसर्वस्वहारिणः ॥

दुर्जयाः सन्ति जीवानां कषायेन्द्रियतत्कराः ॥ १३१६ ॥

छिद्रापेक्षाः सेन्यमाना विभीमा नो पार्श्वस्थाः कस्य कुर्वन्ति दुःखम् ॥

क्रोधाविष्टाः पन्नगा वा द्विजिह्वाः विज्ञायेत्यं दूरतो वजनीयाः ॥ १३१७ ॥

तृणतुल्यमेवेत्य विशिष्टफलं परिसुच्य चरित्रमपास्तमलम् ॥

बहुदोषकषायहृषीकवशा निवसन्ति चिरं कुगताववशाः ॥ १३१८ ॥

[ इति संसक्तः ]

विजयोदया—दुड्डा दुष्टा आत्मोपद्रवकारित्वात् । चपला अनवस्थितत्वात् । अदिदुज्जया अतीव दुर्जयाः अनुपलब्धचारित्र्यमोहद्वयोपशमप्रकर्षेण जीवेन दु स्तेन अभिभूयते इति । णित्त्वं नित्यमपि । समणुबद्धा य सम्यगनुबद्धाश्चारित्र्यमोहोदयस्य स्मरणस्य सदा सद्भावात् । नित्याश्चेत्कथं चपला । नित्यशब्दो ध्रौव्ये न प्रयुक्तं किंत्वमीक्षणे सुसुहृदुर्मुवहार इत्यर्थः । चपलता तु परिणामाना अनवस्थितत्वं अतो न विरोधः । दु खावहा य दु खावहाश्च । जीवाणं जीवाना अभिमतभोगालम्भे प्राप्तस्य वाऽप्येव महत् दु रमित्यनुभवसिद्धमेव सर्वप्राणभृता । कपायास्तु क्रोधादय कपायति हृदयं । अथवा दु स्मकारणासद्देयाना निमित्तत्वात् दु खावहा । इन्द्रियकपायवशगो जीवान् हिनस्ति । दु स्मकरणेन वाचवत्ससद्देय इति । यत एव दु खावहा अत एव भीमा । इन्द्रियकसाया इन्द्रियकपायपरिणामाः । एवमवसन्नारिरूपाणा इन्द्रियकपायानामपायवायकद्वयकृतत्वमुपदर्श्य साग्रतं तदौरात्यमाह—

मूलारा—दुड्डा उपद्रवकारित्वात् । चवला अनवस्थितत्वात् । अदिदुज्जया चारित्र्यमोहद्वयोपशमप्रकर्षाप्रप्तौ

अभिभविषुमशक्यत्वात् । समणुपबद्धा सम्यगनुपक्ताः । चारित्रमोहोदयस्य स्वकारणस्य सुहृदुः प्रवर्तनात् । दुःखावहा य इष्टभोगस्याप्राप्तौ, प्राप्तस्य चापाये चक्षुराविसुखेन दुःखस्याभुवसिद्धत्वात् । क्रोधादिकृतहृदयतापकृत्वात् । दुःखकारणासन्नेद्यार्जननिमित्तत्वाद्वा द्वयेऽपि दुःखकराः । भीमा भयंकराः । दुःखावहत्वादेव वा ॥

अर्थ—ये इन्द्रिय और कर्माय जीवोंको अनिशय उपद्रव करते हैं और चंचल हैं, इनको जीतना अतिशय कठिन है जबतक चारित्र मोहनीय कर्मका क्षयोपशम नहीं बढ़ा हुआ है तबतक इनको जीतना अशक्य है जबतक चारित्रमोहरूप कारणका सन्दाव है तबतक इन कर्माय और इन्द्रियोंका संबंध रहता ही है इन्द्रिय और कर्माय नित्य हैं अर्थात् बारबार इनका आत्मासे संबंध होता है अतः इनको नित्य कहते हैं इन्द्रिय और कर्माय परिणामोंका एक स्वरूप नहीं रहता है, कभी क्रोध परिणाम, कभी मानपरिणाम, कभी लोभ परिणाम ऐसा परिवर्तन होता ही रहता है इसलिये इनको चंचल भी कहते हैं ये इन्द्रिय और कर्माय जीवोंको दुःख देते हैं, जीवोंको इष्ट भोगोंका अलाम होनेसे अथवा प्राप्ति होने पर भी उनका नाश होनेसे महान् दुःख उत्पन्न होता है यह बात अनुभव सिद्ध है, कर्माय—क्रोधादिक हृदयका घात करते हैं इन्द्रिय और कर्मायोंके आधीन होकर प्राणी जीवोंका घात करते हैं जीवोंको घातनेसे असातावेदनीय कर्मके आस्रव आते हैं ये इन्द्रिय और कर्माय दुःखदायक है इसलिये भयानक है,

तरुतेष्टं पियंतो वत्यो जह वादि पूदिय गंधं ॥

तघ दिक्खिदो वि इदियकसायगंधं वहदि कोई ॥ १३१७ ॥

काश्चिदीक्षामुपेतोऽपि कषायाक्षं निषेवते ॥

नैलमागुरवं वस्तं प्रतिवाति पियन्नपि ॥ १३१४ ॥

विजयोदया—तुरुष्कतैलमपि, पियंतो पिवन्, वत्यो वस्त अजपोत । जह वादि पूदिय गंध पूतिगंध यथा घाति । नाकृतगंध यथा न जहाति । सथियमाणोऽपि सुखमिणा द्रव्येण, तघ दिक्खिदो वि तथा दीक्षितोऽपि परित्यक्ताः संयमोऽपि । इदियकसायगंध वहदि । इदियकपायदुर्गंधमुद्रहति इति यावत् ॥

दीक्षया इन्द्रियविजयाक्षमत्वाद्—

मूलार—मरुतेष्टं तुरुष्कतैलं सेल्लारस सुगन्धितैलमित्यन्वे । यभओ छागः । पूदिय गंधं दुर्गंधं प्राक्तममेव । दिक्खिदो कृतव्रतस्वीकारसंस्कारः । इदियकसायगंधं चक्षुरादिक्रोधादिवासना ॥

अर्थ—चकरेको तुरुन्तैल पिलानेपर भी उसके शरीरमें दुर्गंध ही निकलता है अर्थात् वह अपने प्राकृतिक गंधका त्याग नहीं करता है तुरुन्तैल अतिशय सुगंध रहता है परंतु चकरेके प्राकृतिक गंधमें उससे कुछ भी फरक नहीं होता है वैसे भ्रष्ट माधु मंयम सहित होनेपर भी इंद्रिय कणायरूपी दुर्गंधका त्याग नहीं करता है

मुंजंतो वि सुभोयणमिच्छदि जघ सुयरो समलमेव ॥  
तथ दिक्खिदो वि इंद्रियकसायमलिणो हवदि कोइ ॥ १३१८ ॥

मुक्त्वापि कश्चन ग्रंथं कपायाक्षं न संचति ॥  
हित्वापि कंचुकं सपौं विजहति विपं नहि ॥ १३६५ ॥  
दीक्षितोप्यधमः कश्चित्कषायाक्षं चिकीर्षति ॥  
शूकरं शोभनै रत्नैर्नलं तुष्टोऽपि कांक्षति १३६६ ॥

विजयोदया—मुजनो वि सुभोयण भुजानोऽपि शोभनमाहारं । सुयरो जघ मलमेव इच्छदि सूकरो यथा समलमेवाभिलपति चिरंतनाभ्यासात् । तह तथा । दिक्खिदो वि दीक्षितोऽपि कृतघ्नतपस्विहसंस्कारोऽपि । कोइ कदिचित् । इंद्रियकसायमलिणो इच्छदि इन्द्रियकषायाख्याद्युभारिणामोपनतो भवति । मज्जोपि जन गुरुपदेशादधिगतदु खनिवृत्त्युपायतया परित्यक्तोऽपि गार्हस्थ्यपरित्यागकाले पुनरपि तत्रापततीति ॥

मूलरा—ममल पुरीष ॥

अर्थ—जैसे सूकर उत्तम आहारका भोजन करता हुआ भी विष्टाका ही अभिलाष मनमें धारण करता है क्योंकि उसको दीर्घकालमें विष्टाभक्षणका अभ्यास रहता है वैसे जिसने दीक्षा धारण की है अर्थात् व्रतका स्वीकार जिसने दीर्घ कालसे किया है ऐसा भी कोई मुनि इंद्रिय और कषाय रूप अशुभ परिणामोंसे परिणत होता है गुरुका उपदेश सुनकर दुःख नाश करनेके उपायका ज्ञान होनेपर इन्द्रिय और कषायोंका त्याग करता है गृहस्थावस्थाका त्याग करनेपर पुनः वह मुनि उसीमें पड़ता है ।

अनेकदृष्टान्तोपन्यासेन दर्शयति सूक्तस्तरप्रवर्धन—

वाहसएण पलादो जूहं दट्ठुण वागुरापडिदं ॥

सयमेव मओ वागुरमदीदि जह जूहतण्हाए ॥ १३१९ ॥

विहाय हरिणो यूथं व्याधभीतः पलायितः ॥

स्वय पुनर्यथा याति वागुरां यूथतृष्णया ॥ १३२० ॥

विजयोदया—वाहभएण व्याधमेयेन । पलादो मगो कृतपलायनो मृग । वागुरापडिदं जूह दट्ठुण वागुरापतित स्वयूथ दट्ठया । सयमेव वागुरमदीदि मगो स्वयमेव वागुरा प्राविशति मृग , जह यथा, कुत , जूहतण्हाए यूथतृष्णया, एव को वि गिहत्वात् मुञ्चा इत्यनया गाथया सयव कार्ये ॥

भव्योऽपि जतो गुरुपदेशाधिगतदुःखनिवृत्त्युपायतया परिलोकेन्द्रियकषण्यो जिनदीक्षा प्रतिपद्यापि चिराभ्यस्त- कषायेन्द्रियदेवावेशवशात्पुनरपि गृहवासदोगनेवापततीत्येतद् दृष्टातपदं कृपुणं गाथासप्तकेन स्फुटयति—

मूलारा—पलाओ कृतपलायनः । मओ मृगः । अदीदि प्रविशति ॥

अर्थ—पारधीके भयसे भागा हुआ हरिण जालमें अपना मृगसमूह पठा हुआ देवकर स्वय भी जालमें प्रवेश करता है. मृगसमूहमें उसका प्रेम रहता है प्रेमवश होकर वह स्वय बंधनमें पड़ता है. वैसे कोई गृहस्थावस्थाका त्याग कर पुनरपि उसका स्वीकार करता है

पजरमुक्को सउणो सुइरं आरामए सुविहरंतो ॥

सयमेव पुणो पंजरमदीदि जघ णीडतण्हाए ॥ १३२० ॥

आरामे विचरन्वेच्छ पतञ्जी पंजरच्युतः ॥

यथा याति पुनर्मूढः पंजर नीडतृष्णया ॥ १३२१ ॥

विजयोदया—पजरमुक्को सउणो पजरान्मुक्त पक्षी । सुइर आरामए सुविहरतो आरामेषु स्वेच्छया विहरन् । सयमेव स्वयमेव । पुणो पुन । पंजरमदीदि पंजरसुपैति, जह नीडतण्हाए यथा नीडतृष्णया ॥

मूलारा—सइरं स्वेच्छया । णीडतण्हाए स्वावासलाभेन ॥

अर्थ—पंजरसे मुक्त हुआ पक्षी उद्यानमें-बगीचेमें दीर्घ काल स्वेच्छासे घूम कर जैसे अपने घरकी अभि लापासे पुनरपि पंजरमें आता है. वैसे यह मुनि भी गृहस्थावस्थाका त्याग कर पुनः उसका स्वीकार करता है

कलभो गणु पंकादुद्धरिदो दुत्तरादु वलिण ॥  
सयमेव पुणो पंके जलतण्हाए जह अदीदि ॥ १३२१ ॥  
उत्तारितः करीद्रेण पंकतं कलभो यथा ॥  
स्वयमेव पुनं पंकं प्रयाति जलतृष्णया ॥ १३६० ॥

विजयोद्या—कलभो गजपोत महति कर्दमे पतित । गणु पंकादुद्धरिदो गजेन परेण पंकादुद्धतो । दुत्तरादु दुस्तरात् पंकात् । वलिणविशयवता गजेन, सयमेव पुणो पंक जह अदीदि, स्वयमेव कलभो यथा पंकमुपैति । जलतण्हाए जलतृष्णया ॥

मूलारा—कलभो बालगजः । उद्धरिदो उद्धृत । दुत्तरादु दुस्तरान् ॥

अर्थ—हाथीका बच्चा वहे कीचडमें फसा था उसको शक्तिवान् हाथीने बाहर निकाला परंतु पानीकी प्याससे वह फिरभी कीचडमें फसता है वैसे कोइ मुनि फिर गृहस्थ होते हैं

अगिगपरिक्खित्तादो सउणो रुक्खादु उप्पडित्ताणं ॥  
सयमेव तं दुमं सो णीडणिमित्तं जघ अदीदि ॥ १३२२ ॥  
उड्डीय शाग्गिनं पक्षो सर्वतो वन्निवेष्टितात् ॥  
तत्रैव नीडलोभेन यथा याति पुनं स्वयम् ॥ १३७० ॥

विजयोद्या—रुक्खादो सउणो उप्पडित्ताण रुक्खादुत्पत्य शकुनि । कोह्यभूतात् ? अगिगपरिक्खित्तादो अग्निना संमताद्धेष्टितात्, सयमेव तं दुमं जह अदीदि स्वयमेवातो पक्षी अग्निपरिक्षिप्तदुममधिगच्छति, णीडणिमित्तं स्वावास-निमित्तं ॥

मूलारा—अगिगपरिक्खित्तादो वह्निवल्लयितात् । उप्पडित्ताण उड्डीय ॥

अर्थ—अग्निसे घिरे हुए वृक्षका त्यागकर पुनरापि अपने घरकी अभिलाषामें जैसे पक्षी उसी वृक्षके तरफ जाता है वैसे कोइ मुनि फिर गृहस्थावस्था धारण करते हैं.

लंघिज्जंतो अहिणा पासुत्तो कोइ जगमाणेण ॥

उट्ठविदो ते घेतुं इच्छदि जघ कोटुगहलेण ॥ १३२३ ॥

लंघ्यमानोऽहिना सुप्तो जाग्रतोत्थापितो यथा ॥

कौतुकेन तमावातुं कश्चिदिच्छति मूढधीः ॥ १३७१ ॥

विजयोदया—लघिज्जतो अहिणा लघ्यमानोऽहिना, कोइ पासुत्तो कश्चित्पुष्टं, जगमाणेण उट्ठविदो जाग्रता उत्थापित । जह त घेतुमिच्छति यथा सर्पं ग्रहीतुमिच्छति, कोटुगहलेण कौतूहलेन ॥

मूलारा-पासुत्तो निर्भरनिद्राकान्तः ॥

अर्थ—जिसके ऊपरसे सर्पं जारहा है ऐसे सोये हुए किसी मनुष्यको किसीने जगाया पर जगकर उठे हुए उस मनुष्यने उसी सर्पको कौतुकेसे पकड़ना चाहा वैसे कोइ गृहस्थावस्था ससारका कारण है ऐसा समझकर उसको त्यागकर फिरभी उसीको स्वीकारता है.

सयमेव वंतमसणं णिल्लज्जो णिग्घिणो सयं चेव ।

लोलो किविणो मुंजदि सुहणो जघ असणतण्हाणु ॥ १३२४ ॥

स्वयमेवाशनं वांत निर्लज्जो निर्घुणाशयः ॥

सारमेयो यथाश्नाति कृपणोऽशनतृष्णया ॥ १३७२ ॥

विजयोदया—सयमेव वंतमसणं स्वयमेव वातमशनं सुण्हो णिल्लज्जो णिग्घिणो अवा निर्लज्ज निर्घुण । जहा यथा । सयमेव मुंजदि स्वयमेव भुंक्ते । लोलो अशक । किविणो कृपण अशनतण्हाणु अशनतृष्णया ॥

मूलारा—वंतं छर्दिम् । किविणो कृपणः ॥

अर्थ—जैसे निर्लज्ज और जुगुप्सारहित कुत्ता स्वयं किया हुआ वमन स्वयं ही अबकी इच्छासे भक्षण करता है. कृपण और अन्नमें आसक्त कुत्ता स्वयंका वमन किया हुआ अब स्वयं खाने लगता है

एवं केइं गिहवासदोसमुक्का वि दिक्खिवादा संता ॥

इदियक्कसायदोसे हि पुणो ते चेव गिण्हंति ॥ १३२५ ॥





श्रीविजयाचार्यस्तु—गृहवासवोपासकत्वा दीक्षिता अपि सतः । केचिद्विद्वियदोपान्यगृहवासगतनेव पुनरपि गृह-  
न्तीति व्याख्यात् । हि शब्दस्य समुच्चयार्थस्य भिन्नक्रमणस्य पुणो इत्यतोऽनंतरमभिसंबधात् । तथा चोक्त विदग्ध  
श्रीतिवर्धन्याम्—

एवं केचिद्गृहवासवोपमुक्ताश्च दीक्षिताः सतः ॥

इन्द्रियकपायदोपान्पुनरपि तानेव गृह्णन्ति ॥

गृहवासवोपास्तु ममेदंभावग्रहवैशो, दुराशापिशाचीपारवश्यं समस्तपापमूललोभमहोरागुरत्वं, जीवनोपाय-  
कृष्यादिकायैव नैरतयप्रवृत्तायाससंहससकुलकिल्बृष्टता, पटुजीवनिकायप्रणालिपातद्वारप्रविशदुर्निवारज्जहृत्स्याप्रबंधान्य-  
तगर्हकलंककर्मलत्वं, दुर्यशःपुरीपोपेलेपनिमित्तत्वं, विपदावतंसहस्रशंकातंकदौर्मनस्य, परपीडानुग्रहकरणपरिकर-  
बंधसमिद्धदुर्दकाराश्वसंस्थितचेतनत्वं, स्थूलतरसचित्ताचित्त्वच्योपार्जनग्रहणवर्धनव्यकरणान्यासगसहस्रजयमान-  
मनोवाक्कायदौवरष्यवसाराशुचिनश्वराशरणसश्रयणीयाहितदुःखानात्मसु सारादिबुद्धिनिर्वंधाः । कंठर्ष्यसर्पगरलघूणितत्वं,  
चित्ताशाकिनीविकारभूयिष्ठत्वं, परितापनिष्ठत्वं, प्रियविप्रयोगाशनिनिपातविशरास्ता, शोकानलवालाकरालता, अनिष्ट-  
संयोगदुस्तविपादास्पदत्वं, कोपपावकभस्मसारकरणत्वं, प्रार्थिताप्राप्तिहेतुशतजर्जरत्वं, मायास्थविरिकानिर्भरपरिभ्रंता, भया-  
यःशलाकाप्रतोदन, मात्सर्येय्यास्तेयैशुन्यदैन्यान्तततेयविषयलपट्यविषकीटकोपस्पृष्टता, कुयोतिसहसुखप्रवेशकर्मठपाप-  
बंधनिवधनत्वं इत्यादयः केवलिभिः श्रुतकेवलभिर्वा कथमपि कलयितुं शक्या नु शक्या वेति ॥

अर्थ—उपर्युक्त दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि कोई गृहस्थावस्थाके दोषोंसे मुक्त होकर और दीक्षा  
लेकर भी इन्द्रिय और कपायोंके दोषोंको पुनः ग्रहण करते हैं.

इस गृहस्थपनाको क्यों दुष्ट कहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

यह गृहवास ममत्वका अधिष्ठान अर्थात् मूल कारण है. हमेशा माया और लोभ को उत्पन्न करनेवाले  
ऐसे जीवनोपाय इसमें जीवको करने पड़ते हैं यह गृहवास कपायोंकी खान है. यह जीवोंपर पीडा और अनुग्रह  
भी करता है, अर्थात् गृहस्थावस्थामें रहने पर किसीकी पीडा करनेका और किसीपर अनुग्रह करनेका हमेशा प्रसंग  
आता है. पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा और वनस्पति इन स्थावरोंका हममें हमेशा घात करना पड़ता है. मन वचन  
और शरीरके द्वारा सचित्त अचित्त अनेक स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ तथा द्रव्य प्राप्त करनेके लिये इस गृहवासमें

महा आयास करने पड़ते हैं. इस गृहवासमें रहकर लोक असारको सार, अनित्यको नित्य, अशरणको शरण, अपवित्रको पवित्र, दुःखमें सुख, अहितमें हित, अनाधारमें आधार, शत्रुमें मित्रकी कल्पना करते हैं. और चारों तरफ भागते हैं मनमें भीति और शंका होनेपर भी अपायके स्थानकी ही उनको प्राप्ति होती है.

जिससे मुक्तता होना अतिशय कठिन है ऐसे लोहेके पिंजरेमें कैद किये हुए सिंहके समान, जालसे जकड़ कर बांधे हुए हरिणके समान, अतिशय दुस्तर कीचमें फसे हुए बड़े हाथीके समान ये सर्व गृहस्थ हताश होजाते हैं अर्थात् ऐसी पापमय, ससारमें घुमानेवाली गृहस्थावस्थासे निकलकर आत्मकल्याण करना अतिशय कठिन है पाशमें पकड़े गये पक्षिके समान, कैद खानेमें डाले हुए असमर्थ दीन हरिणके समान, इन गृहस्थोंको यमसे-मृत्युसे अत्यंत भय होता है कूट पाशमें पकड़े गये मत्स्यके समान इस गृहस्थावस्थामें रहनेवाले लोक कामवेदना रूप गाढ अधकारसे अर्थात् काममोहसे युक्त हो जाते हैं इन गृहस्थोंके पीछे पकड़नेके लिये रागरूपी हाथी दौड़ रहा है चिंता रूपी पिशाची से ये पीड़ित होते हैं. शोक रूपी अग्नि इनको जलाकर भस्म करती है. दुःखद आशासे बंधे हुए ये गृहस्थ अपने स्थानसे हिल भी नहीं सकते हैं प्रिय पुत्र, भार्या, इत्यादिकोंका वियोग रूपी वज्र इनके हमेशा तुकड़े २ कर ढालता है

इष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होना एतत्स्वरूप सैकड़ों पापके लिये ये भाते के समान हैं. जैसे चाण भातेमें रहते हैं वैसे इन गृहस्थोंमें हमेशा इष्ट विषयकी प्राप्ति न होना यह दुःख निवास करता है मायारूपी बूढ़ी इनको गाढा लिगान देती है अपमान रूपी कठिन कुल्हाडीसे इनका मन विदीर्ण होता रहता है.

अकीर्तिरूपी विद्यासे ये लीपे जाते हैं मोहरूपी बड़ा वनका हाथी इनको मार डालता है पापरूपी वधक लोक इनके ज्ञानका वध करते हैं. मयरूपी लोहेकी सुईयां इनका अंगको चुभती हैं. परिश्रमरूपी कौवे इनको प्रतिदिन मय दिखाते हैं ईर्ष्यारूपी कज्जलेसे ये लीपे जानेसे कुरूप होजाते हैं परिग्रहरूपी पिशाचोंसे ये पकड़े जाते हैं इस गृहस्थावस्थामें रहनेपर मनुष्य असयमके तरफ झुक जाता है. दुसरोके गुण सहन नहीं होना एतत्स्वरूपी पत्नी इनको बहुत प्रिय मालूम होती है अर्थात् इनका मन अन्यके गुणोंका द्वेष करता है. अभिमानरूपी वनाश्रीमें पड़कर ये महान् कष्टका अनुभव करते हैं महान् और निर्मल ऐसे चारित्ररूपी छत्रयका सुख इन गृहस्थोंको प्राप्त होता नहीं है. यह गृहस्थावस्था कर्मका नाश करनेमें असमर्थ है. इससे मरणरूपी विषवृक्ष दग्ध नहीं होता है.

यह गृहवास मोहरूपी मजबूत बंडीकी गृहस्थावस्था तोड़नेमें समर्थ नहीं है, अनेक योनिओंमें जीविका अमण करना इससे बंद नहीं हो पाता इस लिए ऐसे गृहवासके दोषोंका त्याग कर मुनिदीक्षा धारण करके भी कितनेक मुनि फिर भी उन्ही दोषोंका आश्रय करते हैं

बंधणमुक्को पुनरेव बंधणं सो अचेयणोदीदि ॥

इंदियकंसायबंधणमुवेदि जो दिक्खिदो संतो ॥ १३२६ ॥

बंधमुक्तः पुनर्यथं निश्चितं स यियासति ॥

यो दीक्षितः कपायाक्षान्सिबेवयिषेते कुधीः ॥ १३७४ ॥

विजयोदया—वधणमुक्को बंधनमुक्तः । पुनरेव बंधणं पुनर्यधन । अदीदि प्रतिपद्यते । सो अचेदणो सोऽब्र । क ? जो दिक्खिदो संतो इंदियकंसायबंधणमुवेदि यो दीक्षितः सान्निद्रियकपाययधमुपैति । इंदियकपायपरिणामाः कर्म वधनक्रियायां साधकतमतया इह वधनशब्देनोच्यते ॥

तत्तादृगदोपदुष्टगृहवाससेवनाभिमुखीकरणप्रवर्णकपायदोषगणमाश्रियमाणं प्रव्रजितं वक्रभणितप्रबवेन तिरस्करोति—  
मूलारा—अचेदणो अब्रः । अदीदि प्रतिपद्यते । इंदियकसायवधणं इंदियकपाया एव वधन कर्मबंधनक्रियायां साधकतमत्वात् ॥

अर्थ—जो दीक्षा लेकर इंद्रियां और कपायके बंधनको प्राप्त होता है वह जैसा कोई अब्रप्राणी बंधन मुक्त होकर भी पुनः वधनका स्वीकार करता है वैसा समझना चाहिए, इंद्रिय और कपाय ये कर्मबंधनक्रियामें साधकतम कारण होनेसे उनको भी बंधन कहना अयोग्य नहीं है

मुक्को वि णरो कलिणा पुणो वि तं चेव मग्गदि कल्लिं सो ॥

जो दिक्खिदो वि इंदिय कसायमइयं कलिमुवेदि ॥ १३२७ ॥

दीक्षित्वापि पुनः साधुः कषायाक्षकालिं यदि ॥

जियुक्षति कल्लिं भुक्त्वा पुनः स्वीकुरुते कलिम् ॥ १३७५ ॥

विजयोदया—प्रसिद्धार्थो ॥  
मूलारा—कलिणा कलेहेन ॥

अर्थ—जो साधु दीक्षित होकर भी पुनः इन्द्रिय और कर्पायरूप कलहका स्वीकार करता है वह कलह से रहित होकर भी फिर कलहका स्वीकार करता है ऐसा समझना चाहिए

उत्तराथा—

सो णिच्छदि मोत्तुं जे हत्थगयं उम्भुयं सपज्जलियं ॥  
सो अक्कमदि कण्हसप्यं छादं वग्घ च परिमसदि ॥ १३२८ ॥  
विधाय ज्वलितं हस्ते मुमुंरं स बुभुक्षते ॥  
आकामति स कृष्णाहिं व्याघ्रं स्पृशति सक्षुधं ॥ १३७६ ॥

विजयोदया—सो णिच्छदि स नेच्छति । मोत्तुं मोक्तुं । किं हत्थगयं हस्तस्थितं हस्तगतं वा । उम्भुयं संपज्जलियं उल्लुक्कं सुण्डुं प्रज्वलित । सो कण्हसप्यमक्कमदि स कृष्णसर्पमतिक्राम्यति । छादं वग्घं च परिमसदि क्षुधोपद्रुतं व्याघ्रं च स्पृशति ॥

मूलारा—मोत्तुं जे लक्कुं । उम्भुगं अर्थग्रन्थलितकाष्ठं । अक्कमदि लंघयति । छादं क्षुत्पीडित । परिमसदि स्पृशति ॥

अर्थ—जो साधु दीक्षित होकर पुनरपि इन्द्रिय और कर्पायरूप परिणामोंको स्वीकारता है वह हाथमें जलते हुए अग्निको नहीं त्यागना चाहता है अथवा काले सर्पको लांघकर जाना चाहता है किंवा भूखसे पीडित व्याघ्र को स्पर्श करना चाहता है ऐसा समझना चाहिये

सो कंठोल्लुगिदसिलो दहमत्थाहं अदीदि अपणाणी ॥  
जो दिक्खिदो वि इंदिय कसायवसिगो हवे साधू ॥ १३२९ ॥  
कंठालग्नशिलोऽगाध सोऽज्ञानो गाहेते ज्हदम् ॥  
अधलो वापि यो दीक्षां कपायाक्ष प्रपद्यते ॥ १३७७ ॥

विजयोदया—सो कंठोहगिदसिलो स कंठावलमिति शिलः । दृढमन्थाहं नृदमगाध । अशोधि प्रविशति । अण्णाणी अन्नः । जो दिक्खिवो वि य यो दोक्षितोपि इदियकसायवसिगो इदिकपायवशवती साहदयावेभेदव्यवहारः ॥

मूलारा—कंठोहगिदसिलो गलावलवितदृषद् ॥

अर्थ—जो अज्ञानी साधु दीक्षा लेकर इंद्रिय और कपायके वश होता है वह कंठमें शिला गंधवर अगाध सरोवरमें प्रवेश करना चाहता है. गाथामें इंद्रिय और कपायके वश हुआ साधु ओर गलेमें शिला जिमने बांधी है ऐसा पुरुष इनमें सादृश्य होनेसे आचार्यने अभेदका व्यवहार कर एक ही व्यक्तीको दो विशेषणोंसे युक्त किया है परंतु एक उद्घात और दूसरा दाण्यांत है.

इदियगहोवनिहो उवसिहो ण दु गहेण उवसिहो ॥

कुणदि गहो एयमेवे दोसं इदरो भवसेदसु ॥ १३३० ॥

गृहीतोऽक्षग्रहाघातो नापरो ग्रहपीडितः ॥

अक्षयः स सदा दोषं विदधाति रुदाग्रहः ॥ १३७८ ॥

विजयोदया—इदियगहोवनिहो इदियग्रहगृहीतः । उवसिहो गृहीत । ण दु गहेण उवसिहो नेव ग्रहेणोपखण्ड कुतः ? यस्मान् । कुणदि गहो एयमेवे दोस एक्खिमन्नेव भवे ग्रहो बुद्धियामोदलक्षण दोष करोति । इदरो भवसेदसु ग्रहियकपायग्रहो भवशतेषु दोष करोति ॥

मूलारा—उवसिहो ग्रहाविष्टः । दोसं बुद्धियामोह ॥

अर्थ—जो इंद्रियरूप ग्रहसे पीडित हुआ है उसको ही ग्रहपीडित कहना चाहिये जो ग्रहसे पीडित है वह वास्तविक पीडित नहीं है क्यों कि ग्रह तो एक भवमें ही पीडा देता है अर्थात् बुद्धिमें मोह उत्पन्न करता है परंतु इंद्रिय और कपाय रूपी ग्रह इस जीवको सैंकड़ों भवोंमें दुःख देता है अतः उसको ही ग्रह कहना चाहिये.

होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो ॥

ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पावं इदरो जधुम्मत्तो ॥ १३३१ ॥

कषायमत्त उन्मत्तः पित्तोन्मत्तोऽपि नो पुनः ॥

प्रमत्त कुरुते पापं द्वितीयो न तथा स्फुटम् ॥ १३७९ ॥

विजयोदया—होदि कसाउन्मत्तो अत्रैव पदघटना । उन्मत्तो होदि उन्मत्तो भवति यथा । क ? कसायउ-  
न्मत्तो कषायोन्मत्त । तथा उन्मत्तो न होदिति पदघटना तथा उन्मत्तो न भवति । क ? पित्तउन्मत्तो पित्तोन्मत्त ।  
एतेन पित्तकृताहुन्मादात् कषायकृतस्थोन्मादस्य जघन्यता ख्याता । कय ? न कुणदि पित्तुन्मत्तो पाप न करोति पित्तो-  
न्मत्त । पाप हवरो जधुन्मत्तो कषायोन्मत्तो यथा पापं करोति, तथाभूत न करोति । यत एकैकोपिऽपि क्रोधादि  
हिंसादिषु प्रवर्तयति । कर्मणा स्थितिघ्न दीर्घीकरोति । विवेकज्ञानमेव तिरस्करोति पित्तोन्माद ततोऽनयोर्महद्वतरं  
इति भाव ॥

मूलारा—उन्मत्तो उन्मदात्तः । तद्य न तथा न । पित्तोन्मत्तो भवत्युन्मत्तो यथा कषायोन्मत्त इति संचय ॥

अर्थ—जो कषायसे उन्मत्त हुआ है उसको ही वास्तविक उन्मत्त कहना चाहिये परंतु जो पित्तसे  
उन्मत्त हुआ है वह वास्तविक उन्मत्त नहीं है पित्तसे जो उन्माद उत्पन्न होता है उससे भी कषायोन्माद अतिशय  
तीव्र है और दुःखदायक है पित्तोन्मत्त मनुष्य पाप नहीं करता है परंतु कषायोन्मत्तमनुष्य पाप करता है अर्थात्  
पित्तोन्मत्त मनुष्यसे कषायोन्मत्त मनुष्य महान् अन्याय करता है, एकैकभी क्रोधादिक कषाय हिंसादिक पापोंमें  
जीवको प्रवृत्त करता है कर्मका स्थितिघ्न उत्तरोत्तर दीर्घ करता है परंतु पित्तोन्माद फल विवेक ज्ञानको ही  
नष्ट करता है उससे हिंसादिक पाप और कर्मकी दीर्घ स्थिति नहीं होती है अतः इन दोनोंमें महान् अंतर है

इदियकसायमइओ णरं पिसायं करंति हु पिसाया ॥

पावकरणवेलंयं पेच्छणयकरं सुयणमज्जे ॥ १३३२ ॥

कषायाक्षपिशाचन पिशाचीक्रियते जनं ॥

जनानां प्रेक्षणीभूतस्तीव्रपापप्रक्रियोद्यतः ॥ १३८० ॥

विजयोदया—इदियकसायमइओ इदियकषायमयः पिशाच । णरं पिसाय करेदि नरं पिशाच करोति ।  
कीदृग्भूत पिशाचं करोति ? सुजणमज्जे पेच्छणयकरं सुजनमध्ये प्रेक्षणिकारणं पावकरणवेलंयं हिंसादिपापक्रिया-  
विलंबना प्रेक्षणीयत्वेन संपादयन्त पिशाचं करोतीति यावत् ॥

मूलारा—पावकरणवेल्लें पापकरणमेव विडवना तस्य तं । पेच्छणयकरं प्रेक्षणकारिणं हिंसादिपापक्रियविडवना प्रेक्षणीयकत्वेन संपादयतं पिशाच करोतीत्यर्थः । उक्त च—

कपायाद्यापिशाचेन पिशाचीक्रियते नरः ॥

सन्मध्ये प्रेक्षणीभूतः कुर्वन्पापविडवनाम् ॥

अर्थ—इंद्रिय और कपाय रूपी पिशाच मनुष्यको सुजनोको देखनेलायक हिंसादि पापक्रिया करनेवाला पिशाच बनाता है

कुलजरस जस्समिच्छत्तगरस गिघणं वरं खु पुरिसस्स ॥

ण य दिक्खिस्वदेण इदियकसायवसिएण जेहुंजे ॥ १३३३ ॥

संयतस्य कुलीनस्य योगिनो मरण वरम् ॥

लोकद्वयमुखध्वंसि न कपायाक्षपोपणम् ॥ १३८१ ॥

विजयोदया—कुलजरस पुरिसस्स जस्समिच्छत्तगरस कुलप्रसूतस्य पुत्र यशोऽभिलाषिण । गिघण चर मृति शोभना । ण तु वरं जीविदुजे नैव चर जीवन । दिक्खिस्वदेण इदियकसायवसिएण दीक्षितस्येन्द्रियकपायवशवर्तिन । जीवन न शोभनमित्यर्थः ॥

मूलारा—गिघण मरणं । जीविदु जे जीवितुं ॥

अर्थ—उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ तथा यशकी अभिलाषा करनेवाला ऐसे पुरुष का मरना भी अच्छा ही मानना चाहिये परंतु दीक्षा लेकर पुनः इंद्रिय और कपाय के वश होकर जीना अच्छा नहीं है अभिप्राय यह है कि, इंद्रिय और कपाय के आधीन होकर जीना पापास्रवके लिये कारण है अतः ऐसा जीना खराब है

जघ सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो रधी पलायंतो ॥

णिंदिज्जदि तघ इंदियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥ १३३४ ॥

निंयते संयतः सर्वैः कपायाक्षवशगत ॥

सन्नद्धो धृतकोदंडो नदयन्निव रणांगणे ॥ १३८२ ॥



विजयोदया—यथा रथी पलायंतो णिदिज्जिदि यथा रथी पलायन्निद्यते । कीदृक् ? सण्णद्धो पग्गहिदचावकंडो सधच्च, प्रगृहीतचापकाण्डः । तथा इन्द्रियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो तथा इन्द्रियकपायवशवर्त्यपि प्रव्रजितो निद्यते ॥

मूलारा—रथी रथारोहः ॥

अर्थ—जैसे—युद्धके लिये तयारी जिसने की है अर्थात् कवच पहन कर और हाथमें धनुष्य और चाण लेकर लड़नेके लिये जो रथमें आरुढ़ हुआ है ऐसा रथी वीर रणको देखकर यदि डरके मारे युद्धसे भागने लगेगा तो जगतमें उसकी निंदा हुए बिना नहीं रहेगी. वैसे दीक्षित होनेपर इन्द्रियकपायवश हुआ पुरुष जगतमें निंदाका पात्र होता है.

जघ भिक्खं हिंडंतो मउडादि अलंकितो गहिदसत्थो ॥  
णिदिज्जइ तघ इन्द्रियकसायवसिगो वि पव्वज्जिदो ॥ १३३५ ॥

कपायाक्षवचास्थायी दूष्यते कैर्न संयतः ॥

याचमानो यथा भिक्षां भूयितो मुकुटादिभिः ॥ १३८३ ॥

विजयोदया—जघ भिक्ख हिंडंतो मुश्टादिभिरलंकृतो गृहीतशस्त्रो भिक्षा भ्रमन् निद्यते । निद्यते इन्द्रियक-पायवशवर्ती प्रव्रजित ॥

मूलारा—गहिदसत्थो धृताक्षः ।

अर्थ—जैसे मुकुट, अगद वर्णरह आभूषण पहना हुआ, हाथमें शस्त्र को धारण करनेवाला मनुष्य यदि भीख मांगता हुआ देखा गया तो उसकी लोक निंदा करते हैं वैसे दीक्षा लेकर इन्द्रियवश और कपायवश होना यह ऊपरके दृष्टांत के समान निंदनीय है.

इन्द्रियकसायवसिगो मुंडो णग्गो य जो मलिणगत्तो ॥  
सो चित्तकम्मसमणोच्च समणरूवो अममणो हु ॥ १३३६ ॥  
सर्वार्णमलालीढो नग्गो मुंडो महातपाः ॥  
जायते सकषायाक्षश्चित्रमणसन्निभः १३८४ ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायवस्तिगो इन्द्रियकपायवशीकृतः, मुंडो नम्रश्च यो मलिनगात्रः सन् । सो समणरूपो न समणो स श्रमणरूपो न श्रमणः । सो चित्तकम्मसवणो एव स चित्तकर्मश्रमण इव । परमाश्रमणसदृशरूपोऽपि यथा चित्रश्रमणो न श्रमणस्तद्वदश्रमपरिणामप्रवण ॥

मूलारा—चित्तकम्मसमणोऽव चित्रलिखितयतिरिव । समणरूपो परमार्थयत्सिदृशरूपोऽपि ।

अर्थ—जो इंद्रिय और कपायके वश हुआ है, मुडमस्तक, और मलिन शरीर है वह मुनि होनेपर भी मुनि नहीं माना जाता है, वह चित्रलिखित मुनिके समान है ऐसा मानना चाहिए, जैसे चित्र लिखित मुनि वास्तविक मुनि नहीं है वैसे इन्द्रियवश कपायवश मुनि पाप परिणामोंसे मलिन होनेसे अशुभ कर्मके बंधक माने गये हैं इसलिये उनको मुनि नहीं समझना चाहिए

ज्ञान नरस्य दोषानपहरति इन्द्रियकपायजयमुखेन यथा सत्वयत, प्रहरणमावरण च शत्रुं नाशयतीत्युत्तरगा-  
थार्थः, इंद्रियकपायाजये ज्ञान दोषापहारित्वाख्यं अतिशयं न लभते यथा सत्वहीनस्यावरणसन्नाहारव्य प्रहरणं च स्वर्गचक्रादिकं शत्रुजयत्वमतिशय नासादयति ॥

णाणं दोसे नासिदि णरस्स इंदियकसायविजयेण ॥

आउहरणं पहरणं जह णासेदि अरिं ससत्तस्स ॥ १३३७ ॥

ज्ञानदोषविनाशाय कपायेंद्रियनिर्जयः ॥

शस्त्रं शत्रुविघाताय जायते सत्वसंभवे ॥ १३८५ ॥

विजयोदया—णाण ज्ञान दोसे दोषान् । नासिदि नाशयति । णरस्स नरस्य इन्द्रियकसायविजयेन । जह यथा । आउहरण पहरण आयुषो हरण प्रहरणं शस्त्र । सत्वत्वेन वर्तते इति ससत्वस्तस्य । अरिं रिपुं । णासेदि नाशयति ॥

मूलारा—आवरण सन्नाहः । ससत्तस्स सत्वयुक्तस्य ।

इंद्रियां और कपायोंको जीतनेसे ज्ञान मनुष्यके दोषोंका नाश करता है, जैसे धैर्ययुक्त मनुष्यका शस्त्र और कवच शत्रुका नाश करता है ऐसा आगेकी भाषाका भाव है, इंद्रिय और कपायोंको यदि न जीता जायगा तो ज्ञान दोषोंका नाश नहीं कर सकगा जैसे धैर्यहीन मनुष्यके शस्त्र और कवच शत्रुको नहीं जीत सकते हैं

अर्थ—इंद्रिय और कपायोंपर विजय प्राप्त करके ज्ञान पुरुषके दोषोंका नाश करता है जैसे धैर्यवान् मनुष्यका आयुध शत्रुका आयुष्य नष्ट कर देता है

णाणं पि कुणदि दोमे णरस्स इंदियकसायदोसेण ॥  
आहारो वि हु पाणो णरस्स विससंजुदो हरदि ॥ १३३८ ॥

दोषाय जायते ज्ञान कषायेंद्रियदूषितम् ॥

आहारो हरते किं न जीवितं विषमिअितम् ॥ १३८६ ॥

विजयोदया—णाणं पि कुणदि दोसे णरस्स ज्ञान दोपानपि करोति नरस्य । इंदियकसायदोसेण इंदियकपाय-  
परिणामदोपेण । उपकार्यपि अउपकारितामुद्वहति परसंसर्गेण । यथा प्राणधारणानिमित्तोऽप्याहारो विपमिथ प्राण-  
निबनशयति ॥

मूलारा—दोमे अपकारात् ॥

अर्थ—इंद्रिय कणायरूपी परिणाम दोषेसे पुरुषका ज्ञान भी दोषोंको उत्पन्न करता है. यद्यपि ज्ञान  
उपकार करनेवाली चीज है परंतु दूसरेके अर्थात् सदोषके संसर्गसे दोष उत्पन्न करता है जैसे अन्नेसे प्राण धारण  
होता है परंतु वह विषसंयुक्त होकर प्राणोंका नाश कर देता है

णाणं करेदि पुरिसस्स गुणे इंदियकसायविजयेण ॥  
बलं वण्णमाज्ज करेहि जुत्तो जधाहारो ॥ १३३९ ॥

विदयानि गुणं ज्ञानं कषायेंद्रियवर्जितम् ॥

वपुर्योग्यं करोत्यन्नं बलवर्णादिस्सुंदरम् ॥ १३८७ ॥

विजयोदया—णाण करेदि ज्ञान करोति। पुरिसस्स गुणे पुरुषस्य गुणात् । कथं ? इंदियकसायविजयेण इंदिय-  
कपायविजयेन बलवर्णस्वरूमाज्ज करेदि बलं रूप, तेज, आयुश्च करोति । जुत्तो जधाहारो युक्तः शोभन्ते यथाहार ॥  
विषेणाभिधित ॥

मूलारा—वण्ण तेजः । जुत्तो विहितः ॥

अर्थ—इंद्रिया और कषायोंको जीतकर ज्ञान मनुष्यमें गुण पैदा करता है जिसमें विष मिश्रण नहीं हुआ  
है ऐसा उत्तम आहार बल, वीर्य, रूप, पराक्रम और आयुको बढ़ाता है

णानं पि गुणे णासेदि णरस्स इदियकसायदोसेण ॥

अप्यवधाए सत्थं होदि हु कापुस्सिहत्थगयं ॥ १३४० ॥

कपायेंद्रियदोषेण ज्ञान नाशयते गुणं ॥

शास्त्रमात्मविनाशाय किञ्च भीरुरास्थितम् ॥ १३८८ ॥

विजयोदया—ज्ञानमपि गुणाज्ञायति नरस्य इदियकपायपरिणामदोसेण । आत्मवधाय भवति शस्त्र  
कापुरुषद्वस्तगत इति ॥

मूलारा—अप्यवधाए स्वधातार्थ ॥

अर्थ—इंद्रिय और कर्णयोके दोषसे मनुष्यका ज्ञान गुणोंका खंस करता है धैर्यहीन पुरुषके साथमें  
रहनेवाली तरवार उसका ही नाश करती है,

उत्तर गार्थार्थ ॥

सबहुस्सुदो वि अवमाणिज्जदि इंदियकसायदोसेण ॥

णरमाउधहत्थपि हु मदयं गिद्धा परिभवति ॥ १३४१ ॥

कपायेंद्रियदोषार्तः शास्त्रज्ञोऽप्यवमन्यते ॥

किं प्रेतः शास्त्रहस्तोऽपि न स्वर्गैः परिभूयते ॥ १३८९ ॥

विजयोदया—सुबहुस्सुदोवि सुष्ठु बहुश्रुतोऽप्यवमन्यते इदियकपायदोषेण । गृहीतास्त्रमपि नर मृत गृद्धाः  
परिभवन्ति यथा ॥

मूलारा—अवमाणिज्जदि अवज्ञाहेतुःक्रियते ॥

अर्थ—इंद्रिय कर्णयोके दोषसे बहुश्रुत विद्वानका भी लोक अपमान करते हैं जिसके हाथमें शस्त्र  
ऐसे मरे हुए मनुष्यका गीध पराभव करते हैं

इंदियकसायवासिगो बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमादि ॥

पक्खीव छिण्णपक्खो ण उप्पडदि इच्छमाणो वि ॥ १३४२ ॥

घृते नाक्षकषायार्त्तः श्रुतज्ञोऽपि प्रवर्तते ॥

उद्धीयते कुतः पक्षी तूदनपक्षः कदाचन ॥ १३९० ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायवसिगो इन्द्रियकषायवशात्, बहुश्रुतोऽपि चारित्र्ये नोद्यम करोति । यथा छिन्नपक्षः पक्षी नोत्पतति इच्छन्नपि ॥

मूलारा— इच्छमाणो वि उत्पतितुमिच्छन्नपि ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषायोंके वश हुआ पुरुष विद्वान होकर भी चारित्र्यमें उद्यम नहीं कर सकता है जिसके पक्ष टूट गये हैं ऐसा पक्षी उड़नेकी इच्छा करता हुआ भी नहीं उड़ सकता है,

णस्सदि संगंपि बहुगं पि णाणमिंदियकसायसम्मिस्सं ॥

विससम्मिसिदुदुट्ठ णस्सदि जघ सक्कराकडिदं ॥ १३४३ ॥

संसते बहुपि ज्ञानं कषायेंद्रियदूषितम् ॥

सशर्करमपि क्षीरं सविषं मंक्षु नश्यति ॥ १३९१ ॥

विजयोदया—णस्सदि संगंपि बहुगंपि णाणं नश्यति स्वयं बहुपि ज्ञानं इन्द्रियकषायसन्निभं । शर्कराकथितं दुग्धं विषमिश्रमिव । माधुर्यात्सातिशयता दुग्धस्य शर्कराकथितशब्देन कथ्यते ॥

मूलारा— णासदि विनश्यति । सुदं श्रुताख्यं । सक्कराकडिदं अतिमधुरमित्यर्थः ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषाय विकारोंसे मिश्र हुआ बहुतसा भी ज्ञान नष्ट होता है विषमिश्रित भी मीठा कदाया हुआ दूध नष्ट होता है अर्थात् उसका स्वभाव नष्ट होता है,

इंद्रियकसायदोसमलिणं णाणं ण वट्टदि हिदे से ॥

वट्टदि अणस्स हिदे खरेण जह चंदणं ऊढं ॥ १३४४ ॥

ज्ञानं परोपकाराय कषायेंद्रियदूषितम् ॥

किमूढमुपकाराय रासभस्य हि चंदनम् ॥ १३९२ ॥

विजयोदया—ज्ञान यदीयं तस्मै उपकारितया प्रसिद्धमपि सन्नोपकारि भवति इन्द्रियकषायमलिनं परोपकारि तु भवति क्षणेणोद चन्दनादिकमिति सूत्रार्थः ॥

मूलारा— हिंदे उपकारे । से तस्य ज्ञानवतः ॥ उपकारितया प्रसिद्धमपि नोपकाराय भवतीत्यर्थः ।

अर्थ—इन्द्रिय और कषायोंसे ज्ञान मलिन होता है तब वह अपने स्वामीका हित करनेमें असमर्थ होता है परंतु उस ज्ञानसे दूसरों का हित होता है. गद्या चंदनका बोझा धारण करता है परंतु उससे उसका भी हित होता नहीं. जो उस चंदन का उपभोग लेते हैं उनकाही उससे हित होता है उसी तरह इन्द्रियकषायसे जिसका ज्ञान मलिन हुआ है ऐसा आत्मा गंधकेसमान स्वज्ञानमें अपना हित नहीं कर सकता है.

ज्ञानं प्रकाशकत्वमपि जहानि—

इन्द्रियकषायणिगह्णिमीलिदस्स हु पयासदि ण णाणं ।।

रत्तिं चक्खुणिमीलस्स जथा दीवो सुप्ज्जलिदो ॥ १३४५ ॥

कषायाक्षयुहोतस्य न विज्ञानं प्रकाशते ॥

निमीलितेक्षणस्येव दीपः प्रज्वलितो निशि ॥ १३९३ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकषायपरिणामवशादिति निगदति । इन्द्रियकषायणिगह्णिमीलिदस्स इन्द्रियकषायनि-  
श्रेहो निमीलितस्यात्मनो ज्ञान न प्रकाशक । रत्तिं च रात्राविव । चक्खुणिमिलिदस्स निमीलितचक्षुष पुस । जह दीवो  
सुप्ज्जलिदो यथा सुप्ज्जलित प्रदीप ॥

मूलारा— णिमीलिदस्स अनुपयुक्तस्य । इन्द्रियकषायाभिभूतस्येत्यर्थः । पयासदि ण वस्तुप्रकाशक न भवति ।  
रत्तिं रात्रौ । चक्खुणिमीलिदस्स विहितनेत्रस्य ।

ज्ञानका पदार्थको प्रकाशित करना अर्थात् जानना यह धर्म है परंतु वह भी कषायवश होनेपर नष्ट होता है ऐसा कहते हैं

अर्थ—इन्द्रिय और कषायवश होकर आत्मा हीनावस्थाको पोहोचता है तब उसका ज्ञान पदार्थ स्वरूपको प्रकाशित करनेमें असमर्थ होता है. जैसे रातमें कोई आदमी आगे मीचकर सोया हुआ है ऐसी परिस्थितिमें उसके

पास जलता हुआ भी दीपक क्या पदार्थोंको दिखानेमें उस पुरुषको सहायक होता है? इसी प्रकार कषायवश होने-पर आत्माको उसके ज्ञानसे पदार्थोंको जाननेमें सहायता नहीं मिलती है.

इन्द्रियकसायमइलो बाहिरकरणिहुदेण वेसेण ॥

आवहदि को वि विसए सउणो वीदंसगेणेव ॥ १३४६ ॥

बहिर्निश्चृतवेपेण गृह्णीति विषयान्सदा ॥

अंतरामलिनं कंको मीनानिव दुराशय ॥ १३९४ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायमइलो इन्द्रियकषायपरिणाममलिन बाहिरकरणिहुदेण वेसेण । बाह्याया गम-नादिकाया . क्रियाया निश्चुनेन वेपेण । कोई विसए आवहदि । कश्चिद्विषयानावहति आत्मनो भोगाय ॥

मूलारा— बाहिरकरणिहुदेण । गमनागमनादिक्रियासंयुतेन । वेसेण आकारेण । आवहदि सेवते । सउणो पक्षिणं । वीदंसगेणेव वीतशंकेनैव । गृह्णतुशिक्षितपक्षिणो यथा व्याध इति शेषः । अन्यस्तु सउणो वीदंसगेणेव इति पठित्वा पक्षी चंच्वा यथेति प्रतिपन्नः ॥ तथा च तन्मयः—

रुपायाक्षो कुटीरिच्छित्ते बहिर्निश्चृतवेपवान ॥

आदत्ते विषयाश्चंच्वा निष्ठृतं शकुनो यथा ॥

अर्थ—इन्द्रिय और कषायवश होकर जिसका आत्मा मलिन हुआ है ऐसा पुरुष बाह्य आना जाना बाहर है क्रियाओंसे अपना मूलस्वरूप—मलिनस्वरूप छिपाकर विषयोंका सेवन करता है परतु मनमें वह निश्चक नहीं रहता है अर्थात् मेरा मलिन स्वरूप कदाचित् लोक जानेंगे ऐसा भय हमेशा उसको व्यथित करता है. जैसे पारधी किसी पक्षीको पकड़कर उसको शिक्षण देकर उसका पूर्वस्वरूप छिपाता है वैसे कषायमलिन आत्मा अपना मलिन स्वरूप छिपाकर बाह्य क्रियाओंसे अपनी शुद्धता दिखानेका प्रयत्न करता है परतु वह मनमें हमेशा शंकित ही रहता है

बोडगल्लिडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ॥

बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स ॥ १३४७ ॥

घोटकोञ्चारतुल्यस्य किमन्तं कुथितात्मनः ॥

दुष्टस्य यकचेष्टस्य करिष्यति बहिः क्रिया ॥ १३९५ ॥

विजयोदया—घोडगालिंडसमाणस्स घोटकलिंडसमानस्य यथा बहिर्मसृणता न तद्वदन्तर्मसृणता । तद्वत्कस्य-  
चिद्वाहा चरण समीचीन नाभ्यतरा परिणामा शुद्धा । स एवमुच्यते । बाहिरकरणं किं काहिदि बाह्यक्रिया अनशना-  
दिका किं करिष्यति । अबन्तरम्मि कुथियस्स अतः कुथितस्स । इन्द्रियकपायसंज्ञाऽशुभपरिणामेन नष्टाभ्यतरतपोवृत्ते-  
रिति यावत् । वगणिद्वुक्करणस्स यकवन्निभृतक्रियस्य ॥

मूलारा—घोडयलिंडसमाणस्स यथा घोटकलिंडं बहिर्मसृण मध्ये परुषं तथा बहिः सुष्ठोऽन्तरशुद्धवृत्त इत्यर्थः ।  
कुथिदस्स इन्द्रियकपायसंज्ञादपितस्य । बाहिरकरण अनशनादितपश्चरणं । किं से काहिदि किं तस्य करिष्यति । वगणिद्वुद-  
करणस्स यकवन्निभृतचेष्टस्य ।

अर्थ—घोड़े की लीद अदर दुर्गधियुक्त रहती है परन्तु बाहसे वह स्निग्धकांतिसे युक्त होती है  
अंदरभी वह वैसी नहीं होती, उपर्युक्त दृष्टान्तके समान किसी पुरुषका—मुनिका आचरण ऊपरसे अच्छा—निर्दोष  
दीख पड़ता है, परन्तु उसके अदरके विचार कपायसे मलिन अर्थात् गंदे रहते हैं, यह बाह्याचरण उपवास, अवमो-  
दयादिक तप उसकी कुछ उन्नति नहीं करता है, क्योंकि इन्द्रियकपायरूप अतरंग मलिन परिणामोंसे उसका अम्यं-  
तर तप नष्ट हुआ है, जैसे चगुला ऊपरसे स्वच्छ और ध्यान धारण करता हुआ दीखता है परन्तु अंतरगमें मत्स्य  
मारनेके गोंद विचारोंसे युक्तही होता है

बाह्य तप. करणीयतयोपविष्ट तत्त्वफलं सपादयत्येव किमुच्यते बाह्यक्रिया किं करोतीत्याशकायां सूत्राचेष्ट—

बाहिरकरणविसुद्धी अबन्तरकरणसोध्यत्थाए ॥

ण हु कुंडयस्स सोधी सक्का सतुसरस्स कादुं जे ॥ १३४८ ॥

मता बहिः क्रियाशुद्धिरन्तर्भलविशुद्धये ॥

बहिर्मलक्ष्येनैव तंबुलोऽन्तर्विशोध्यते ॥ १३९६ ॥

विजयोदया—बाहिरकरणविसुद्धी बाह्यक्रियाविशुद्धि । अबन्तरकरणसोध्यत्थाए अभ्यंतरक्रियाणां विनया-  
दीनां शुद्धये, अभ्यतरतपसा लब्धेव बहुतरकर्मजैराक्षमाणा परिवुद्धये श्रूयते बाह्यान्वनशनादितपोसि । ततोऽन्वयतया  
१६४



वाह्यान्युपदिष्टानि । यद्धि यदर्थं तत्प्रधानं इति प्रधानताभ्यतरतपसः । तत्र शुभशुद्धपरिणामात्मकं । तेन विना न निर्जरायै वाह्यमल । उक्तं च-वाह्यं तप परगुह्यरमाचरस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपस परिबृहणार्थं ॥ इति ॥ न पु कुण्डयस्स सोऽग्री सका काहु जे नैवान्तर्मलस्य शुद्धि शक्या कर्तुं । कस्य ? सतुसस्स सतुपस्य धान्यस्य ॥

न चैव वाह्यं तपो नानुष्ठेयमित्यवसेयं यतः—

मूलारा— अवभंतेरेत्यादि अभ्यतरक्रियाणां विनयादीनां शुद्धयर्थं अभ्यतरतपसा लभेव बहुतरकर्मनिर्जरणक्ष-  
माणा परिवृद्धये वाह्यतपासि क्रियते । इति न व्यर्थतया तान्युपदिष्टानि । यद्धि यदर्थं तत्र तत्प्रधानमिति, तत्प्रधानताभ्य-  
तरतपस इति तात्पर्यं ॥ कौण्डयस्म अन्तर्मलस्य । सुद्धी स्फोटन सतुसस्स सतुपस्य धान्यस्य ।

वाह्य तप करना चाहिये ऐसा आगममें कहा है और वह अपना फल जीवको देता ही है परंतु आप तो उसको निष्फल बता रहे हैं अतः यह आपका कहना विरुद्धमा मालूम होता है ? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ— वाह्य क्रियाओंकी अनशनादि तपोंकी निर्मलता अंतरंग विनयादि तपोंको निर्मल करनेके लिये होती है अर्थात् अभ्यंतर तप थोड़े कालमें बहुत कर्मोंकी निर्जरा करनेका सामर्थ्य रखते हैं और वाह्य तप इन-  
तपोंका सामर्थ्य बढ़ाता है अतः वाह्य तपोंको 'वाह्य यह नाम सार्थक है अभ्यंतर तपके लिये वाह्य तप हैं अतः अभ्यंतर तप प्रधान है यह अभ्यंतर तप शुभ और शुद्ध परिणामोंमें युक्त रहता है इसमें विना वाह्यतप कर्म निर्जरा करनेमें असमर्थ है श्रीसमन्तभद्र आचार्य 'हे भगो आप अतिशय कठिन ऐसा वाह्य तप अन्तरंग तपकी इच्छाके लिये करते थे' ऐसी जिनेश्वर की स्तुति करते हैं इसमें अभ्यंतर तप प्रधान है और वाह्य तपसे अभ्यंतर तपमें विशुद्धता प्राप्त होती है यह सिद्ध होता है वाह्य तप निष्फल अर्थात् व्यर्थ है ऐसा समझना योग्य नहीं है जो धान्य सतुप है अर्थात् ऊपरके छिलकेमें युक्त है उसका अन्तर्मल नष्ट नहीं होता है जब छिलका नष्ट होता है तब धान्यका अन्तर्मलभी नष्ट होता है अतः अन्तरंग तपकी विशुद्धताके लिये वाह्य तप भी करना चाहिये ऐसा आचार्यका मत इस गाथामें स्पष्ट होता है,

अवभतरभोधीए सुद्ध गियमेण बाहिरं करणं ॥

अवभंतरदोसण हु कुणदि णरो बाहिरं दोसं ॥ १३४९ ॥

अन्तःशुद्धौ बहिःशुद्धिर्निश्चिता जायते यतः ॥

बाह्यं हि कुरुते दोषमन्तर्दोषं विना कुतः ॥ १३९७ ॥

विजयोदया—अभ्यन्तरसोधीए अभ्यन्तरशुद्धि। सुद्ध नियमेण गहिरं कर्मण शुद्ध निश्चयेन बाह्यं करण । अभ्यन्तरदोषेण तु अतः परिणामदोषेणैव बहिर्यकपायपरिणामादिना । कुणदि णसो गहिरं दोषं करोति नरो याह्यान्दो-पान्वाक्कायाथयान् ॥

मूलारा—सुद्धं निर्दोषं भवति । बाहिरकरणं वाक्कायक्रिया बाहिर वाक्कायाश्रयं ।

अर्थ—अभ्यन्तर शुद्धिपर नियममे बाह्य शुद्धि अवलम्बित है. अतएव यदि शुद्ध है तो मनुष्य वचन और शरीरके आश्रयसे दोष करता है इन्द्रिय और कपाय परिणाम ये अन्तरग दोष हैं इनसे आत्मा जब मलिन होता है तब वचन और शरीरसे भी दोष होता है और यदि अन्तरग परिणाम निर्मल हैं तो वचनवृत्ति और शरीर ग्रहृत्ति भी निश्चयेन शुद्ध होती है

लिंगं च होदि अभ्यन्तरसः सोधीए बाहिरा सोधी ॥

भिउडीकरणं लिंगं जह अतो जादकोधरस ॥ १३५० ॥

बहिः शुद्धिर्यतो लिंगमन्तःशुद्धेः प्रजायते ॥

नांतः कोपविमुक्तेन भ्रुकुटिः क्रियते बहिः ॥ १३९८

यत्र प्रयान्ति स्थितिजन्मवृद्धिस्तद्वदन्ते यैर्हृदयं कपायैः ॥

काष्ठं हुताग्नौ रिव तीव्रतापैस्ते कस्य कुर्वन्ति न दुःखमुग्रम् ॥ १३९९ ॥

यैः पोष्यन्ते दुःखदानश्रीणास्तेषां पीडां ये ददन्ते दुरन्ताम् ॥

भीमाकारा व्याधयो वा प्ररुद्धाः संत्यक्षार्थाः कस्य ते न क्षयाय ॥ १४०० ॥

इति सामान्याक्षकपायदोषाः ॥

विजयोदया—लिंगं च होदि चिह्नं च भवति । अभ्यन्तरस्स परिणामसोधीए अभ्यन्तरस्य परिणामस्य शुद्ध । बाहिरा सोधीबाह्या शुद्धिरनशनादितपोविषया । भिउडीकरणं लिंगं भ्रुकुटीकरणं लिंगं । जह यथा । अतो जादकोधस्स

अंतर्जातस्य कोपस्य लिंगं लिङ्गभावः । चात्तानामभ्यतराणां त्रैध भवति यदि परस्परविनाभावविता स्यादधिकृत्योरित्ये । प्रसिद्धश्च लिङ्गालिनिभावः कारणं ग्राह्येन मरणस्याभ्यतरस्येति भावार्थः ॥

मुलारा— लिंगं गमकं । धूम इव वन्दे कार्यालम् सायनमित्यर्थः । अन्वभतरस्म अन्तःपरिणामस्य । ग्राहिग अनयनादितपोविषया । सामान्येन्द्रियक्रययदोषा ॥

अर्थ—अभ्यन्तरं परिणामं शुद्धीका अनयनादि चाल्य तप लिंगं है, चिद्ध है जैसे किसी मनुष्यके मनमें क्रोध जन उत्पन्न होता है तब उसकी भीह ऊपर चढती है और ज्यादा कर होती है अर्थात् चढी हुई भीह देखकर लोक इस मनुष्यके मनमें क्रोधका विकार उत्पन्न हुआ है ऐसा अनुमान करते हैं. इस प्रकार चाल्य और अभ्यन्तर परिणामोंमें लिंगलिङ्गिभाव है अर्थात् चाल्य लिंग है जंतरंग लिंगी है अभ्यन्तर और गाल इनमें जन आपममें धूम और अधिके ममान अनिनाभाम रहता है तब लिंगलिङ्गिभाव माना जाता है अर्थात् चाल्य स्वरूप और अभ्यन्तर कारणरूप होनेमें अनिनाभाम इनमें होता है ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये

ते चेव इंदियाणं दोसा सत्वे हवन्ति णादुच्चा ॥  
कामस्त य भोगाण य जे दोसा पुव्वणिदिट्ठा ॥ १३५१ ॥

ये रामाकामभोगानां प्रपंचेन निरूपिताः ॥

अक्षणाणामपि ते दोषा द्रष्टव्याः सकला स्फुटम् ॥ १४०१ ॥

विजयोदया—ते चेव इंदियाणं दोसा त पव्वेडियाणा सवण दोषा भवन्ति इति ग्रातव्या । के ? ये दोसा पुव्व णिदिट्ठा ये दोषा पूर्वनिर्दिष्टा । कामस्म य भोगाण य कामस्य भोगाना च सगधितया निर्दिष्टा दोषा ॥

इदानीं विशेषेण इंद्रियवोपानाशानपेकेन व्याचिख्यासुः पूर्ण सामान्येन तदभिधानाय गाथाद्वयमाह—  
मुलारा— स्पष्टम् ॥

अर्थ—काम और भोगमंघी जो दोष पूर्व कहे हैं वे ही सर्व दोष इंद्रियोंके विषयमें भी समझने चाहिए, महुलित्त असिधार तिवखं लेहिज्ज जघ णरो कोई ॥  
तथ विसयसुहं सेवदि दुहावहं इहहि परलोगे ॥ १३५२ ॥

मधुलिप्तामसेधारां तीक्ष्णां लेहि स मूढधीः ॥

इन्द्रियार्थं सुख मुंक्ते यो लोकद्वयदुःखदं ॥ १४०२ ॥

विजयोदया—मधुलिप्त मधुना लिप्ता । असिधार असेधारा । तिम्बं तीक्ष्णा । जह णरो कोई लेहिज्ज यथा नर. कश्चिदास्वादयति जिह्वया । तद् विसयसुहृदं सेवति तथा विषयसुख सेवते । दुहावह इह य परलोप दुःखावहमत्र जन्मनि परत्र च, स्वल्पसुखतया बहुदुःखतया च साम्य दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोः ॥

विषयसेवाया लोकद्वयदुःखभूषिण्या स्वल्पसुखलापथस्य प्रयोजकत्वं दृष्टान्तेन समर्थयते ।

मूलारा—लेहेज जिह्वया स्वादयेत् ।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष मधसे लिप्त तरवारकी तीक्ष्ण धारा जिह्वासे चाटता है वैसे सर्व प्राणी इहलोकमें और परलोकमें दुःखदायक विषयोंका भोग करने हैं तरवारकी मधुलिप्त तीक्ष्ण धारा चाटनेसे थोडासा सुख मिलता है परत बहुत दुःख होता है. वैसे ये विषय भी इहपरलोकमें अल्पसुख और अधिक दुःख देते हैं अतः दृष्टान्त और दाष्टान्तिकका साम्य है

एकैकेन्द्रियविषयवशवर्तिभिर्मृगादीभिरुपद्रवो ह्यात, किं पुनरशेषेन्द्रियविषयलंपटैर्जनेः प्राप्येऽनर्थं वाच्यमिति मन्वाचष्टे—

सदेण मओ रूवेण पदंगो वणगओ वि फरिसेण ॥

मच्छो रसेण भमरो गंधेण य पाविदो दोसं ॥ १३५३ ॥

रूपशब्दरसस्पर्शगंधासत्ता यथाक्रमम् ॥

पतंगमृगमीनेभ्रमराः प्रलयं गताः ॥ १४०३ ॥

विजयोदया—सदेण मओ शब्देन मृग वाणच्छेद्यसरससुरभितृणाग्रसेन, मृदुपवनानीतशैत्यस्फटिक सक्ताशपानीयपानेन च पुष्टमूर्तिरंते करणमिव लघुतरययाणो हरिणो व्याधकलगीनश्वनेन सुखाकूपतिलोचन, दुष्टमदप्लासमाननिशितविशालविशिगवलीभिन्नतनुर्जहाति प्रियतमान्प्राणान् । वणगओ वि फरिसेण वनगजश्च विलासिनीहृदयमिव दुष्प्रवेशास्तु, सखतिरिव मद्धतीषु अरण्यानीषु, विपद इव दुरतिक्रमणीयासु सल्लभीतरुणतरु-शाखाहार, रम्यगिरिनीविपुलच्छदे, स्वेच्छापानतरुणनिमज्जनोन्मज्जनैरुपगतप्रीति, अनुकूलनैककरिणीकदयकेनानु-

गम्यमानो वासिताविशालजघनस्पर्शनोपनीतप्रीतिर्भेदकलो विचेतनो रागवहलविमिरपटलागुणितलोचनो महति गर्ते निपतित परं व्यसनमवगाहते । मच्छो मत्स्य युवजनमनःसरोनपायिविलासिनीविलोचनविभ्रमविलवनोद्यतः स्वल्पाहारसलोलुपो विपदमाववश प्रयाति । विचित्रसुरभिप्रसूतप्रकरजोऽङ्गरागो भ्रमरः । विपपावपकुसुमगन्धनापहतप्रियतमप्राणो भवति । एवमेते दोषान्प्रापिताः ॥

इन्द्रियविशेषदोषान्गाथासप्तकेन व्याचिख्यासुरैकैकस्यापीन्द्रियविषयस्य सेवाया मरणातविपदः संपद्यते किं पुनः पंचानामिति गाथाद्वयेन दृष्टातस्फुटमाचष्टे—

मूलारा—पाविदो प्रापितः । दोसे मरणावसानदुःखानि ॥

एकैक इन्द्रियोंके वश होकर भृगु वगैरे प्राणिओंको दुःख प्राप्त हुआ है परंतु मनुष्य प्राणीको पंचेंद्रिय विषयलंपटतासे क्यों न दुःख प्राप्त होगा ? अर्थात् इन पंचेंद्रिय विषयोंसे अवश्य अनेक अनर्थ प्राप्त होते हैं इसी विषयका विवेचन—

अर्थ—शब्द सुनकर हरिण मरण कष्टको प्राप्त होते हैं हरिण जंगलमें केवल मुखके वाष्पसे भी दूट सके ऐसा कोमल तृण खाकर और मृदु वायुके शैत्य स्पर्शसे ठंडे पानीका स्थान जानकर वहांका स्फटिक तुल्य निर्मल पानी पीकर पुष्ट होता है अंतःकरणके समान वेगसे दौड़नेवाला यह हरिण जब व्याधका गायन सुनता है तब मुखसे आखें मीचकर खड़ा हो जाता है दुष्ट यमके दाढके समान तीक्ष्ण और विशाल ज्ञापपत्ति से शरीर भिन्न होने पर वह अपने अत्यंत प्रिय प्राणोंको छोड़ देता है।

वनहस्ती स्पर्शनेन्द्रियके वश होकर अतिशय दुःखको प्राप्त होता है विलासिनी स्त्रीके हृदयके समान प्रवेश करनेमें अशक्य, संसारके समान विस्तृत, विपत्तिके समान दुर्लभ्य, ऐसे अरण्योंमें सल्लकीके वृक्षोंके कोमल पत्तोंका और शाखाओंका आहार वनहाथी करता है सुंदर पर्वतोंपरसे बहनेवाली नदियोंके अगाध जहदमें स्वच्छंदसे पानी पीना, स्वेच्छासे मज्जन करना इन बातों से वह प्रसन्न होता है अनुकूल अनेक हथिनीओंके साथ विहार करता है तरुण हथिनीके विशालजघनका स्पर्शन करनेसे वह उन्मत्त होकर अचेतनसा होता है रागरूप गाढा-धकारसे उसके नेत्र मुंद जाते हैं तब वह महान गड्डमें गिरकर अतिशय सकट को प्राप्त होता है

मत्स्य भी रसनेन्द्रिय वश होकर प्राणोंको छोड़ बैठता है सुंदर स्त्रियोंके विशाल लोचनके विभ्रमका

अनुकरण करनेवाला मत्स्य स्वल्प आहारके रसमें लोछुप होकर शीघ्र ही प्राणोंका नाश करनेवाली विषकीको प्राप्त होता है

नाना प्रकारके सुगन्धित पुष्प समुदायके परागसे व्याप्त हुआ अमर विषवृक्षके पुष्प का सुगंध सूँघकर अपने प्रिय प्राणोंको गमाता है

पतंग नामक पक्षी दीपकको सुवर्ण कलिका समझकर उसपर ग्रहण करनेके लिए झपटता है और अपने प्राण छोड़ देता है इस प्रकारसे ये तिर्यच प्राणी दुःखको प्राप्त होते हैं.

तिरश्चां दुःखं प्रतिपाद्य विषयरागजनित मनुजगतौ दर्शयति ॥

इदि पंचहि पच हृदा सदरसफरिसगधरूवेहि ॥

इक्को कहं ण हरमदि जो भेवदि पंच पचेहि ॥ १३५४ ॥

सरजूए गंधमित्तो घाणिदियवसगदो विणीदाए ॥

विसपुप्फगंधमग्घाय मदो णिरयं च संपत्तो ॥ १३५५ ॥

रूपशब्दरसस्पर्शगंधानां यदि हन्यन्ते ॥

एकैकेन तदा कस्य सौख्यं पंच निपेविणाम् ॥ १३५६ ॥

सरख्यां गंधमित्राख्यो घ्राणेद्वियवश गतः ॥

विषप्रसूनमाघ्राय विषय नरक गतः ॥ १३५७ ॥

विजयोदया—सरजूए सरख्या नद्यां । गधमित्तो गधमित्रो नाम भूपाल । मदो मृत । विणीदाए विनीतापुरी पति । घाणिदियवसगदो घ्राणैद्वियवशगत । विसगधपुप्फमग्घाय विषचूर्णवासितपुष्पमाघ्राय । मदो मृत । णिरय च सपत्तो नरक च सप्राप्त । तीव्रविषयरागाज्जोतेन कर्मभारेण ॥

मूलारा—पंच विषयान् । एता श्रीविजयो नेच्छति ॥

एवं तिरश्चा प्रत्येकं तीव्रविषयरागाहेतुकं दुःखं प्रदर्श्य मनुज्याणा प्रसिद्धार्थीख्यानैः पंचभिः प्रदर्शयिष्यन्नादौ गंधासक्तिव्रताहृतमनर्थजातं कथयति—

मूलारा—सरऊए सरयूसंक्षिताया नद्या । गंधमित्तो गंधमित्रो नाम राजा । विणीदाए अयोध्यायाः स्वामी ।  
विसयुष्मगंधं ज्येष्ठभ्रातृप्रयुक्तौरौद्रविपरजोवासितसुरभितमकुसुमगंधं । अग्धाय सिंधित्वा । संपत्तो गवस्तीव्रविपयरागा-  
जितदुष्कृतपाकोद्रेकेण ॥

तिर्यचोके दुःखका वर्णन कर अब मनुष्य गतिमें विपयरागसे उत्पन्न हुये दुःखका वर्णन करते हैं—

अर्थ—इस प्रकार शब्द, रस, स्पर्श, गंध और रूप ऐसे पांच विषयोंसे हरिण, मत्स्य, अमर, और  
पतंग ऐसे तिर्यच प्राणोंसे रहित होगये हैं परंतु जो पांचोहि विषयोंका सेवन करता है ऐसा मनुष्य क्यों न प्राण  
मुक्त हो जावेगा ?

अर्थ—विनीता नगरमें गंधमित्र नामक राजा घ्राणेंद्रियके वश होकर विषगंध पुष्प को खंघकर मर गया  
और नरकमें उत्पन्न हुआ तीव्र विषयरागसे कर्मबंध होकर यह राजा नरकमें उत्पन्न हुआ.

पाडलिपुत्ते पंचालगीदसेदेण मुच्छिदा संती ॥

पासादादो पडिदा ण्हा गंधव्वदत्ता वि ॥ १३५६ ॥

मूच्छिन्ता पाटलीपुत्ते अब्यपंचालगीत्तिः ॥

मृता गंधर्वदत्तापि प्रासादात्पतिता सती ॥ १४०६ ॥

विजयोदया—पाटलिपुत्ते पाचालस्य गीतशब्देन मूच्छिता सती प्रासादात्पतिता नष्टा गंधर्वदत्ता नामधेया  
गणिता ॥

मूलारा—पाचाल गायनोपाध्यायनामेदं । गंधर्वदत्ता गणिकानामेदम् ॥

अर्थ—पाटलिपुत्रनगरमें पंचालनामक गायनाचार्यका गाना सुनकर गंधर्व दत्ता नामक वेश्या मूच्छित  
होगई और प्रासादसे गिरकर मरगई.

माणुसमंसपसत्तो कंपिह्वदी तधेव भीमो वि ॥

रज्जव्वट्ठो ण्हो मदो य पच्छा गदो णिरयं ॥ १३५७ ॥

मर्त्यमांसरसासक्तः कांपिल्यनगराधिपः ॥

राज्यभ्रष्टो मृतः प्राप्तो भीमः श्वभ्रश्रुत्यथाम् ॥ १४०७ ॥

विजयोदया—मातृगमासप्रसक्तः कांपिल्यपुराधिपो भीमो राज्यभ्रष्टो नष्टो मृत पश्चाद्वरकमुपयातः ॥

मूलारा—कंपिष्ठवदी कांपिल्यपुराधिपतिः ॥

अर्थ—कांपिल्यनगरका राजा भीम मांसभक्षण करनेमें लुब्ध हुआ था इस मांससक्तिदोषसे राज्यभ्रष्ट होकर मृत्युको प्राप्त हुआ और नरकमें उत्पन्न हुआ

चोरो वि तह सुवेगो महिलारूवमि रत्तदिट्ठीओ ॥

विद्धो सरेण अच्छीसु मदो णिरयं च संपत्तो ॥ १३५८ ॥

सुवेगस्तस्करो दीनो रामारूपविषक्तधी ॥

बाणविद्धेक्षणे मृत्वा प्रपेदे नारकीं पुरीम् ॥ १४०८ ॥

विजयोदया—चोरो वि तह सुवेगो सुवेगनामधेयश्चोरोपि शुचतिरूपाकृष्टदृष्टि शरैर्विद्धः क्षणेन मृतो नरकमुपगतः ॥

मूलारा—सुवेगो सुवेगसंज्ञः । अच्छीसु नेत्रयोः ॥

अर्थ—सुवेग नामका चोर स्त्रियोंके रूपावलोकनमें मुग्ध होकर बाणोंसे विद्ध होकर तत्काल मरणको प्राप्त हुआ और नरकमें उत्पन्न हुआ

फासिंदिएण गोवे सत्ता गहवदिपिया वि णासक्के ॥

मारेट्ठण सपुत्तं धूयाए मारिदा पच्छा ॥ १३५९ ॥

गोपासत्ता सुत्तं हत्वा नासिक्यनगरे मृता ॥

पापा गृहपतेर्भार्या दुहित्रा मारिता सती ॥ १४०९ ॥

दुःखवाननिपुणा निषेविताः स्पर्शरूपरसगंधनिस्वनाः ॥

दुर्जना इव विमोह्य मानवं योजयन्ति कुपथे प्रथीयन्ति ॥ १४१० ॥



अग्निनेव हृदयं प्रदह्यते मुह्यते नु विपर्ययैर्विशक्तिः ॥

तत्कथं विपर्ययरिणो जनाः पोषयन्ति भुजगानिवाधमान् ॥ १४११ ॥

इति इंद्रियविशेषदोषाः ।

विजयोदया—फार्सिदिपण स्वर्शनेन्द्रियेण हेतुना । गोत्रे सत्ता आत्मीये गोपाले आसक्ता । गिहवदिपिया राष्ट्रकूटभार्या । णासके नासिक्ये नगरे । मारेदूण सपुत्रं स्वपुत्र हत्या । धृदाए दुहित्रा । पच्छा पद्व्यात् । मारिदा मूर्ति नीता ॥ इदिया ॥

मूलारा—गोत्रे गोपाले । गहवदिपिया राष्ट्रकूटभार्या । णासिके नासिक्यनगरे । मारेदूण हत्या तिष्ठन्ती ॥

सामान्यविशेषाभ्यामिन्द्रियदोषाः ॥

अर्थ—नासिक्य नगरमें अपने पाले हुये ग्वालेपर आसक्त हुई एक ग्रामकूटकी भार्याने अपने पुत्रका वध किया तदनंतर अपनी लहकीके द्वारा मारी जानेपर मरकर नरकमें उत्पन्न हुई. इंद्रियोंका वर्णन हुआ

एवमिन्द्रियदोषानुपपदयं कोपदोषप्रकटनार्थं प्रक्रमयते—

रोसाइहो गीलो हृदपभो अरदिअग्गिसंसत्तो ॥

सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिहो वा ॥ १३६० ॥

अरत्थच्चिकरालेन इयामलीकूतविग्रहं ॥

प्रस्विचति तुषारेऽपि तापितः कोपवह्निना ॥ १४१२ ॥

विजयोदया—रोसाइहो रोगविष्ट । नीलवर्णो भवति हृदपभो विनष्टदीप्ति । अरदिअग्गिसंसत्तो अरत्यग्नि-सतत । सीदे वि णिवाइज्जइ शीतेपि रुपितो भवति । वेवदि वेपते च । गहोवसिहोव ग्रहणोपसृष्ट इव ॥

इतः कपायविशेषदोषान्नाथाचलुक्खितोपदर्शयिष्यन्तूँ कोपदोषान्चदशगाथाभिः कथयति—

मूलारा—रोसाइहो कोपग्रस्तः । गीलो ध्यामलवर्णः । हृदपभो विनष्टदीप्तिः । णिवाइज्जदि रुपितो भवति । प्रस्विचतीत्यर्थः । वेवदि कंपते ॥

अत्र इंद्रियदोषोंका वर्णनकर अब कोपके दोषोंको प्रगट करनेके लिये शुरुआत करते हैं—

अर्थ—जब मनुष्य क्रोधसे संतप्त होता है तब नीलवर्ण बनता है. अर्थात् क्रोधोदय होनेके पूर्व मुखका जो

वर्ण दीखता था उससे भिन्न मलिन ऐसा वर्ण होता है उसकी कांति नष्ट होती है अरति-तिरस्काररूप अग्नीसे वह जलने लगता है, जाड़ेके समयमें भी उसको प्यास लगती है और पिशाचपीडित मनुष्यके समान वह कपता है.

भिडडीतिविलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो ॥

कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि ॥ १३६१ ॥

अभाय्यां भायेते भावामकृतां कुरुते क्रियाम् ॥

कोपव्याकुलितो जीवो ग्रहार्ते इव कम्पते ॥ १४१३ ॥

त्रिवलीकालितालीको रक्तस्तब्धीकृतेक्षणः ॥

वंतदष्टाधरो दुष्टो जायते राक्षसोपमः ॥ १४१४ ॥

विजयोदया—भिडडीतिविलियवयणो भृकुटीत्रिवलितवदनो । उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खरथो उद्धतनिश्चल-  
सुरक्खक्षेक्षण । रोसेण रोवेण हेतुना । रक्खसो राक्षस इव । णराण भीमो णरो होदि । नराणा भीमो भयावहो भवति नर ॥

मूलारा—तिवलिद् ललाटवलित्रययुक्त । उग्गद निर्गत । लुक्खक्खो रक्षचक्षुः । भीमो भयावहः ॥

अर्थ—क्रोधसे भोहें चढती हैं और ललाट तीन वलिओंसे युक्त होता है, क्रोधसे आँखें बड़ी बड़ी होती हैं, निश्चल होती हैं और लालमुख होती हैं तब मनुष्य मानो राक्षसके समान भयानक दीख पडता है.

जह कोइ तत्तलोहं गहाय रुद्धो पर हणाभिन्ति ॥

पुण्वदरं सो डउझदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो ॥ १३६२ ॥

आददानो यथा लोहं परदाहाय कोपतः ॥

स्वयं ग्रदद्यते पूर्वं परदाहे विकल्पनम् ॥ १४१५ ॥

विजयोदया—जह कोइ यथा कश्चित्तत्तलोह गहाय तत्तलोह गृहीत्वा । किमर्थं रुद्धो परं हणाभिन्ति रूप. परं  
हन्मीति । पुण्वदरं सो डउझदि पूर्वतर स एव दह्यते तेन तत्तेन लोहेन गृहीतेन । डउझद्व परो ण वा पुरिसो दह्यते पर.  
पुरुषो न वा दह्यते ॥

मूलारा—गहाय गृहीत्वा वर्तमानः ॥

अर्थ—जैसे कीड़ कुट्ट मनुष्य दूसरोंका घात करनेके हेतुसे अनिसे तापा हुआ लोहा हाथमें लेता है परंतु प्रथम ही वही दग्ध होता है दूसरा पुरुष अग्निगत लोह पिंडमें दग्ध होगा या नहीं भी.

तद्य रोसेण संयं पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव ॥

अण्णस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुड्ढो ण य करिज्जा ॥ १३६३ ॥

विदधानस्तथा कोपं परघाताय सूदधीः ॥

स्वयं निहन्यते पूर्वमन्यघातो विकल्प्यते ॥ १४१६ ॥

विजयोदया—तद्य रोसेण तथा रोयेण स्वय पूर्व दहते इवीकृतलोहस्थानीयेन । अन्यस्य पुनर्दु ख कुर्यान्न वा नष्ट ॥

मूलारा—कलकलेणेव ताम्रद्रवेण यथा ॥

अर्थ—तत्त लोहेके समान क्रोधी मनुष्य प्रथम स्वयं संतप्त होता है तदनंतर वह अन्य पुरुषको दुःखित कर सकेगा अथवा नहीं भी. नियमपूर्वक दुःखित करना इसके हाथमें नहीं है जिसके ऊपर हम रोष करते हैं उसके शुभ कर्मका उदय होगा तो हम उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकते हैं

णासेदूण कसाय अग्गी णासदि संयं जघा पच्छा ॥

णासेदूण तद्य णरं णिरासवो णस्सदे कोधो ॥ १३६४ ॥

कोधो सत्तुणकरो णीयाणं अप्पणो य मण्णुकरो ॥

परिभवकरो सवासे रोसे णासेदि णरमवसं ॥ १३६५ ॥

आधारं पुरुषं हत्वा पाप कोपः पलायते ॥

प्रदह्य जनकं काष्टं बन्धि. किं नोपशाम्यति ॥ १४१७ ॥

शत्रूपकाराद्रोषो घ्नं स्वबंधूनां च शोककृत् ॥

स्थानं कुल बलं क्रोधं हत्वा नाशयते नरम् ॥ १४१८ ॥

विजयोदया—रोसो सत्तुगुणकरो रोग शत्रोर्गो भूणो यमोऽपक्रास्त्व नाम त करोति । अथवा शत्रूणा गुणमुपकार करोति रोग । यतोऽस्य हि रोगवहेन दशमान तं दृष्ट्वा ते तुष्यन्ति । कथमस्य रोगमुत्पादयाम इत्येवमाह-  
तास्ते सदायीति । णीयाण अप्णो या निजानामात्मनश्च बाधवाना शोक करोति । परिभवकरो सवासो स्वनिवासस्थाने परिभवमानयति रोसो णासेदि णरमवस रोगो नरमवश नाशयति ॥

मूलाया — सगासयं आसाधार । एता श्रीविलज्यो नेच्छति ॥

मूलाया —सत्तुगुणकारो शत्रोर्गोऽपक्रास्त्व करोति ॥ अथवा शत्रूणा गुणमुपकार करोति । ते हि नर कोपाग्निना दह्यमान क्रोधमान मतिश्रं वा दृष्टा तुष्यन्ति ॥ णीयाणं बाधवाना । मण्णु करो शोकरजनकः । सवासो स्वनिवासस्थाने परिभवमानयतीत्यर्थः ॥

अर्थ —जैसे अग्नि अपनी आधारभूत लकड़ीको प्रथम जलाकर पश्चात् स्वयंभी नष्ट होती है वैसे क्रोधभी अपने आधारस्वंग पुरुष का प्रथम नाश करके अनंतर स्वयं शांत होती है.

अर्थ—शत्रुमें अपकार करना यह गुण है वही गुण क्रोधमें भी है अर्थात् क्रोध जीवपर अपकार ही करता है. अथवा क्रोध शत्रूपर उपकार करता है क्योंकि जब मनुष्य क्रुद्ध होता है तब उसके शत्रुओंको आनंद उत्पन्न होता है और इसको हमेशा क्रोध किस प्रकारसे उत्पन्न किया जा सकेगा उसका ही विचार कर वे अपने प्रतिपक्षको क्रोधयुक्त करते हैं क्रोधसे मनुष्य अपने बांधवोंको भी क्रुष्ट पोहोचाता है उनको शोकयुक्त करता है. क्रोध अपने घरमें अपमानको लाता है और अपने आश्रयस्थानका नाश करता है

ण गुणे पेच्छदि अववददि गुणे जंपदि अजंपिद्वं च ॥

रोसेण रुद्धिदओ णारगसीलो णरो होदि । १३६६ ॥

गुणागुणौ न जानाति वचो जल्पति निष्ठुरं ॥

नरो रौद्रमना रुष्टो जायते नारकोपम' ॥ १४१९ ॥

विजयोदया—ण गुणे पेच्छदि गुण न पश्यति यस्यै कुप्यति । अववदति निंदति । गुणे गुणानपि तदीयाच । जंपदि अजंपिद्वं च वदत्यवाच्यमपि । रोसेण रुद्धिदओ रोषेण रौद्रचित्तः । णारगसीलो णरो हवदि नारकसीलो भवति नर ॥

मूलारा—गुणो गुणान् । तस्मै कुप्यति । तदीयान् । अववददि निंदति । अजंपिद्वन् च अवाच्यमपि ।  
रुदहिद्वओ करचित्तः ॥

अर्थ—जब मनुष्य जिसके ऊपर क्रोध करता है तब उस व्यक्तीके गुणोंका महत्त्व वह भूल जाता है उसके गुणोंकी निंदा करता है जो शब्द मुहसे निकालना अयोग्य माना जाता है ऐसे शब्दोंका उच्चार वह वेशक करता है अर्थात् क्रोधके आवेशमें आकर मनुष्य गाली देता है असभ्य शब्द बोलता है क्रोधसे मन क्रूर बनता है अत एव क्रोधसे मनुष्योंका नारकियोंकासा स्वभाव बनता है

जघ करिसयस्स धण्णं वरिसेण समज्जिदं खलं पत्तं ॥

डहदि फुल्लिगो दित्तो तध कोहग्गी समणसारं ॥ १३६७ ॥

धान्यं कृषीवलस्येव पावकः क्लेशतोऽजितम् ॥

आमण्यं प्लोवते रोवः क्षणेन व्रतिनोऽखिलम् ॥ १४२० ॥

विजयोदया—जह करिसगस्स यथा कर्पकस्य धान्य वर्षेण समर्जित खलप्राप्त दहति विस्फुल्लिगो दीप्तस्तथा क्रोधाग्निर्दहति श्रमणस्य सार पुण्यपण्य ॥

मूलारा— करिसयस्स कर्पकस्य । खल खलजं । फुल्लिगो अग्निकणः । समणसारं यतिधनं । तपः पुण्यं वा ॥

अर्थ—एक वर्षतक परिश्रम कर उपजाया और खलमें संचित किया हुआ किसानका धान्य एक छोटेसे अग्निके स्फुल्लिगसे नष्ट होजाता है वैसे क्रोधरूपी अग्नि मुनिके अमूल्य पुण्य नामक वस्तुका नाश कर डालता है.

जघ उग्गविसो उरगो दब्भतणंकुरहदो पकुपंतो ॥

अचिरेण होदि अविंसो तघ होदि जदी वि णिस्सारो ॥ १३६८ ॥

यथैवोग्रविषः सर्पः क्रुद्धो दर्भतृणाहतः ॥

निर्विबो जायते शीघ्रं निःसारोऽस्ति तथा गतिः ॥ १४२१ ॥

विजयोदया—जह उग्गविसो उरगो यथोग्रविष उरगो दर्भतृणांकुरहत तत्क्रुद्धोरोपवशमुपनयन् स्पृष्ट टणादिकं भक्षयित्वा क्षितिं निर्विबो भवति । तथा यतिरपि निस्सारो भवत्यचिरेण रत्नत्रयविनाशात् ॥

मूलारा—उरगो सर्पः । दन्तमण्डलरहदो दर्भसूचीविद्धः । पशुपतौ प्रकर्षेण कुप्यन् । अविस्तो स्पृष्टं दम्भो-  
दिकं भक्षयित्वा क्षटियुद्धीर्णगलो भवति । निस्सारो क्रोधविषयमपकृत्य नष्टरत्नत्रयः स्यात् ॥ उक्तं च—

कुपितो गर्हमाणोऽन्यं निःसारो जायते यतिः ॥

दर्भान्कुरमिव स्तब्धं दुष्टबुद्धिर्मुञ्जगमः ॥

अर्थ—जैसे उग्रविषका धारक सर्प दर्भ तृणाङ्कुरसे व्यथित होकर अतिशय क्रुद्ध होता है और उस तृण को क्रोधसे खा डालता है तब निर्विष होता है वैसे यति भी क्रोधसे रत्नत्रयका नाश करता है जिससे वह निःसार होता है.

पुरिसो मक्काडसरिमो होदि सरूवो वि रोसहदरूवो ॥

होदि य रोसणिमित्तं जम्मसहसेसु य दुरूवो ॥ १३६९ ॥

सरूपोऽपि नरो रूष्टो जायते मर्कटोपमः ॥

कोपोपार्जितपापश्च विरूपो जन्मकोटिषु ॥ १४२२ ॥

विजयोदया—पुरितो मक्काडसरिसो पुरुषो मर्कटसदृशो भवति । सरूपोऽपि सरोपोऽप्यहतरूपः । इह जन्मनि  
वोपाशुपदस्य पारमविक्रमावष्टे—होदि भवति । जन्मसहस्रेषु दुरूप एतद्वक्तृतात्कोपात् ॥

मूलारा—रोसणिमित्त एकजन्मकृतेन रोपेण हेतुना ॥

अर्थ—पुरुष सुंदर होनपर भी जब वह क्रोधयुक्त होता है तब उसका रूप नष्ट होता है. वह मर्कट  
सरीखा दीखता है. इतनाही नहीं रोषसे वह अनेकजन्मोंमें अर्थात् हजारों जन्मोंमें कुरूपही होता है एक भवमें  
कोप करनेसे अनेक जन्मोंमें कुरूपता प्राप्त होती है

सुदु वि पिओ सुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण ॥

पाधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ॥ १३७० ॥

द्वेष्यो जनः प्रकोपेन जायते बहुभोऽपि सन् ॥

अकृत्यकारिणस्तस्य नश्यति प्रथितं यशः ॥ १४२३ ॥

विजयोदया—सुदृढवि नितरामपि । जनस्य प्रियो मुहूर्तमात्रेणैव द्वेष्यो भवति रोपेण प्रथितमपि यशो नश्यति । कस्य ? कुक्षस्य अकजकरणेन कुक्षस्य अकार्यकरणेन ॥

मूलारा—वेसो द्वेष्यः ॥ पृथिवीवि प्रख्यातमपि वा ।

अर्थ—क्रोध करनेसे अतिशयप्रिय मनुष्य भी अप्रिय बनता है अर्थात् क्रोध करनेसे क्रोधी मनुष्यका सब द्वेष करते हैं क्रुद्ध होकर मनुष्य अयोग्य कार्य करता है जिससे उसका प्रसिद्ध यशभी नष्ट होता है

णीयल्लभो वि कुद्धो कुणदि अणीयल्ल एव सत्तु वा ॥

मारेदि तेहिं मारिज्जदि वा मारेदि अप्पाणं ॥ १४२४ ॥

कुपितः कुरुते मूढो बांधवानपि विद्विषः ॥

पर मारयते तैर्वा मार्यते त्रियते स्वयम् ॥ १४२४ ॥

विजयोदया—णीयल्लभो वि रुद्धो वंधुरपि वंधून्करोति शत्रुवन् । हति बाधवान् । मार्यते वा स्वय तैरात्मानं वा हन्यात् ॥

मूलारा—णीयल्लभो वि वंधून्पि । अणिअल्लोवा अबंधून्पि । सत्तु शत्रून्पि । मारेदि हंति वंधून्पि । तेहिं वधुभि अप्पाण वा आत्मानं ॥

अर्थ—निकट सर्वधी मनुष्य भी क्रोधसे अपने वधुओंको शत्रुतुल्य समझता है, उनको मारता है अथवा उनसे स्वय मारा जाता है.

पुज्जो वि णरो अवमाणिज्जदि कोत्रेण तक्खणे चैव ।

जगविरसुदं वि णस्सदि माहणं कोहवसियस्स ॥ १४२५ ॥

रुपितः पूजनीयोऽपि मंडलो वापमन्यते ॥

समस्तं लोकविल्यातं माहात्म्यं च पलायते ॥ १४२५ ॥

रोपिण ॥

विजयोदया—पुल्लो वि पूज्योऽपि नरो अवमन्यते रोपेण । तत्क्षण एव जगति विथुतमपि माहात्म्यं नश्यति

मूलरा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—रोप करनेवाला मनुष्य पूजनीय होनेपर भी तत्काल अपमानित होता है, उसका प्रसिद्ध माहात्म्य भी रोपसे नष्ट होता है

हिंसं अलियं चोज्ज आचरदि जणस्स रोसदोसेण ॥

तो ते सब्बे हिंसालियचोज्जसमुब्भवा दोसा ॥ १३७३ ॥

कृत्वा हिंसानृतस्तेयकर्माणि कुपितो यथा ॥

सर्वं हिंसानृतस्तेयदोषमाप्नोति निश्चितम् ॥ १४२६ ॥

विजयोदया—हिंसं अलिय चोज्ज हिंसामसत्य चौर्य वाचरति जनस्य रोपदोषेण । तस्मात्तस्य हिंसाविप्रभवा दोषा भवे भविष्यन्ति ॥

मूलरा—चोज्जं चौर्यं । जणस्स लोकस्य सर्वधि । हिंसादिक करोतीति संबधः ॥

अर्थ—क्रोधयुक्त मनुष्य लोगोंकी हिंसा करता है असत्य बोलता है चोरी करता है अतएव अनेक जन्मोंमें उसकी भी हिंसा होती है, उसके विषयमें असत्य बोला जाता है, लोक उसका धन चुराकर ले जाते हैं, ऐसे अनेक भवमें क्रोधमें दुःख भोगने पड़ेगे

वारवदीय असेसा दट्ठा दीवायणेण रेसेण ॥

बद्धं च तेण पाव दुग्गदिभयबंधणं घोर ॥ १३७४ ॥

द्वीपायनेन निशेषा दग्घा द्वारावती रुषा ॥

पापं च दारुणं दग्घं तेन दुर्गतिभीतिदम् ॥ १४२७ ॥

इति कोपः ।

१३६



विजयोदया—धारवती द्वारवती निदेशाया दग्धा रूपेण च पापं यद्धं दुर्गतिभयप्रवृत्तिनिमित्तं ।  
क्रोधुचि गदं ॥

क्रोधदोषानर्थोल्यानेनाह—

मूलारा—वारवती द्वारावती । दुर्गादेभ्यप्रवण नरकादिभयवृद्धिकरं ॥ क्रोधदोषाः ॥

अर्थ—द्वीपायन मुनिनि क्रोधवशा होकर संपूर्ण द्वारका नगरी दग्ध की थी इससे उसको दुर्गति के भय उत्पन्न करनेवाला घोरपाप बंध हुआ. क्रोधका वर्णन समाप्त हुआ

मानदोषप्रकटनार्थं प्रत्य उत्तर—

कुलरूपाणावलमुदलाभिस्सरयत्यमदितवादीहिं ॥

अप्यणमुष्णमेतो नीचागोदं कुणदि कम्पं ॥ १३७५ ॥

जातिरूपकुलैश्वर्यविज्ञानज्ञानपोयलैः ॥

कुर्वाणोऽद्वैकृतिं नीचं गोत्रं वध्नाति मानवः ॥ १३७६ ॥

विजयोदया—कुलरूपाणा कुलेन रूपेण आग्राया, यलेन, धृतेन लोभेन, ऐश्वर्येण तपसाऽन्यैश्च आरमानमुत्कर्षयन्तीचैर्गोत्रं कर्म वध्नाति ॥

मानदोषान्नायासमेनाह—

मूलारा—रूपाणा रूपमाज्ञा च । लाभिस्सरयत्य लाभैश्वर्यमर्थश्च । उष्णमेतो उत्कर्षयन् । कुणदि वध्नाति ॥

मानदोषका वर्णन विस्तारसे आचार्य करते हैं—

अर्थ—कुल, रूप, आज्ञा, शरीरबल, शास्त्रज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य, तप और अन्यपदार्थोंसे अपनेको ऊंचा समझनेवाला मनुष्य नीचगोत्रका वध कर लेता है

ददूण अप्पणादो हीणे मुक्खाउ विंति माणकल्लिं ॥

दट्ठूण अप्पणादो अधिए माणं ण यंति बुधा ॥ १३७६ ॥

दृष्ट्वात्मनः परं हीनं मूर्खो मानं करोति न ॥

दृष्ट्वात्मनोऽधिकं प्राज्ञो मानं मुंचति सर्वथा ॥ १४२९ ॥

विजयोदया—दृष्टृण अप्पणादो आत्मनो हीनान् दृष्ट्वा मूर्खो मानकलिं उद्ब्रूयन्ति । बुधा. पुनरात्मनोऽधि-  
कान्विलोक्य मान निरस्यन्ति ।

मूलारा—अप्पणादो आत्मनः सकाशात् । हीणे कुलादिभिरप्रकृष्टान् । कलिं पाप । अधिए कुलादिभिरुल्ल-  
ष्टान् बुद्ध्यादलोक्य । न यति न याति त्यजतीत्यर्थः ॥

अर्थ—अपनेसे कुलादिकसे हीन लोकोंको देखकर कितनेक मूर्ख मनुष्य अभिमानयुक्त होकर पाप  
उपाजर्न करते हैं. तथा अपनेसे भी कुलादिकसे बड़े लोकोंको देखकर मानरहित होजाते हैं.

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि ॥

पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥ १३७७ ॥

द्वेषं कालिं भयं चैर युद्धं दुःखं यशःक्षतिम् ॥

पूजाभ्रंशं पराभूतिं मानी लोकद्वयेऽस्तुतः ॥ १४३० ॥

विजयोदया—माणी विस्सो सव्वस्स मानी सर्वस्य द्वेष्यो भवति । कलहं, भय, वैरं, जन्मांतराणुं दुःखं च  
प्राप्नोति । नियोगत इह परत्र चावमानं ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—मानी मनुष्यका सब लोक द्वेष करते हैं वह कलह, वैर, भय, और अनेक जन्मोंमें दुःखोंको प्राप्त  
होता है. नियमसे इहलोकमें और परलोकमें उसका अपमान भी होता है.

सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादब्बा ॥

माणेण चैव मेधुणहिंसालियचोब्जमाचरदि ॥ १३७८ ॥

सर्वेऽपि कोपिनो दोषा मानिनः सन्ति निश्चितम् ॥  
मानी हिंसादृतस्तेयमैश्वर्यानि निषेवते ॥ १४३१ ॥

विजयोदया—सत्वे वि क्रोधदोषा क्रोधस्य वर्णिता दोषा । न गुणे पिच्छदि इत्येवमादिसूत्रेण ते सर्वे मान  
रूपायस्यापि ज्ञातव्या । माने मैश्वरे चौर्ये हिंसायामसत्याभिधाने च प्रयतते ॥

मूलारा—क्रोधदोषा न गुणो पेच्छदि इत्येवमादिसूत्रोक्ताः ॥

अर्थ—क्रोध करनेसे जो दोष प्राप्त होते हैं वेही मानसे प्राप्त होते हैं मानवश होकर मनुष्य मैश्वर, चोरी  
असत्यभाषण और हिंसा वगैरह पाप करता है

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए ॥  
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च माहेदि ॥ १४७९ ॥  
निर्मानो लभते पूजां दुःखं गर्वमपास्यति ॥  
कीर्तिं साधयते शुद्धामासपदं भवति अयाम् ॥ १४३२ ॥

विजयोदया—सयणस्स मानरहित सज्जनस्य परजनस्य च सदा प्रियो जनो भवति । लोए लोके । णाणं ज्ञानं ।  
जसं यश , अत्थं इति लभते स्व कार्यमन्यदपि साधयति ॥

मनमर्षिगुणप्रकाशनमुखेन मानिनो दोषास्तद्वैपरीत्येन लक्षयितुं गाथाद्वयमाह—  
मूलारा—सज्जनस्स वंद्युलोकस्य । जणस्स सामान्यलोकस्य ॥

अर्थ—निरभिमानी मनुष्य स्वजन और परजनोको प्रिय होता है जगतमें सदा उसको ज्ञान, यश और  
धनकी प्राप्ति होती है. निरभिमानीतासे वह अपने इतर कार्य भी साधलेता है

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि ॥  
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकळ्ळणं ॥ १४८० ॥

मार्दवं कुर्वतो जन्तोः कश्चनार्थो न हीयते ॥

संपद्यते परं सद्यः कल्याणानां परंपरा ॥ १४३३ ॥

विजयोदया—ण य परिद्वयदि मार्दवे प्रयुक्ते नैव कश्चिदर्थो हीयते । येनायमर्थद्वानिमयात् मानं कुर्यात् । मार्दवे तु प्रयुक्ते इह जन्मातरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकारणं ॥

मूलारा—मउअत्तणे मार्दवे ॥

अर्थ—मार्दव भाव धारण करनेसे मनुष्यका कुछ नुकसान नहीं होता है, अतः अभिमान धारण करना व्यर्थ है इस जन्ममें और पर जन्ममें विनयधारण करनेसे मनुष्यका सर्वथा कल्याण होता है

साहसि साहस्सीओ पुत्ता सगरस्स रायसीहस्स ॥

अदिबलवेगा संता णट्ठा माणस्स दोसेण ॥ १४८१ ॥

मानेन सद्यः सगरस्य पुत्रा महाबलाः पष्ठिसहस्रसंख्याः ॥

वृढेन भिन्नाः कुलिशेन तुंगा धराधरेन्द्रा इव भूरिसत्त्वाः ॥ १४८१ ॥

इति मानः ॥

विजयोदया—महिं साहस्सीओ सगरस्य राजसिंहस्य चक्रिण पष्ठिसहस्रसंख्याः । पुत्रा महाबलाः चिनप्रा मानदोषेण ॥ माणस्सिगद ॥

अर्थ—लब्धनेन मानदोष द्रव्यति—

मूलारा—रायसीहस्स चक्रिणः । उक्त च—

मानेन सद्यः सगरस्य पुत्रा महाबलाः पष्ठिसहस्रसंख्याः ॥

वृढेन भिन्नाः कुलिशेन तुंगा धराधरेन्द्रा इव भूरिसत्त्वाः ॥

मानदोषाः ॥

अर्थ—राजसिंह सगर चक्रवर्ती को साठ हजार पुत्र थे वे महा बलवान् थे परंतु मानके वश होकर वे सब नष्ट होगये, (आराधना कथाकोपादिकोंमें इनकी कथा है

मायादोषनिरूपणयोत्तरगाथा—

जघ कोडिसमिद्धो वि ससङ्गो ण लभदि सरीरणिञ्चाणं ॥

मायासङ्गेण तद्वा ण णिव्वुदिं तव समिद्धो वि ॥ १३८२ ॥

विदधानोऽपि चारित्रं मायाशाल्येन शाल्यितः ॥

न धृतिं लभते कुत्र शाल्येनेव धनर्द्धिकः ॥ १४३५ ॥

विजयोदया—जघ कोडिसमिद्धो वि यथा कोटिसमृद्धोऽपि शरीरानुप्रविष्टशल्यो न शरीरसुख लभते । तथा मायाशाल्येन न निर्धृतिं लभते तप समृद्धोऽपि ॥

मायादोषान्नाथासक्तैर्नाह—

मूलरा—कोडिसमिद्धो कोटीश्वरः ॥

मायादोषका निरूपण करनेकी लिये उत्तर गाथा—

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य कोटिधनका स्वामी होनेपर भी उसके शरीरमें प्रविष्ट हुआ चाण उसको व्यथित करेगा ही, वैसे मुनिराज तप से समृद्ध होनेपर भी माया शल्यसे उनको सुखलाभ नहीं होगा,

होदि य वेस्सो अप्पञ्चइदो तथ अवमदो य सुजणस्स ॥

होदि अचिरंण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण ॥ १३८३ ॥

द्वेषमप्रत्ययं निर्दां पराभूतिमगौरवम् ॥

सर्वत्र लभते मायी लोकद्वयविरोधकः ॥ १४३६ ॥

विजयोदया—होदि य वेस्सो द्वेषो भवत्यप्रत्ययित तथा सुजनस्यावमत । वाधयोपि शत्रुश्चिरेण भवति मायादोषेण ॥

मूलरा—अप्पञ्चइदो अविश्वास्यः । णीयाणवि बंधूनामपि । णियडि माया ॥

अर्थ—मायावी मनुष्यका सब लोक द्वेष करते हैं उसके ऊपर कोई विश्वास रखता नहीं, उसको अपमानका दुःख सहना पड़ता है, सुजन उसको मान देते नहीं हैं मायावी मनुष्य अपने संबंधी जनोंका भी शत्रु बनता है

पावइ दोसं मायाए महल्ल लहु मगावराघेवि ॥  
सञ्चवाण महस्साण वि माया एक्का वि णासेदि ॥ १२८४ ॥

अरतिजायते मायी वधूनामपि वारुणः ॥  
महान्तमदनुते दोषमपराधनिराकृतः ॥ १४३७ ॥  
एका सत्यसहस्राणि माया नाशयते कृता ॥  
मुहुर्न तुपाणीव नित्योद्देगविधायिनी ॥ १४३८ ॥

विजयोदया—पावइ दोसं मायाए महल्ल लहु मगावराधोऽपि मायया । एकपि माया सत्यसहस्राणि नाशयति । महदोषप्रापण सत्यमन्त्रविनाशन च मायादोषो ॥

मूलारा—लहुसगावराघे वि । अल्पेऽव्यात्मना कृते दोषे सति ॥

अर्थ—मायावी मनुष्यने अल्पमा अपराध किंवा हो तो भी वह महान् दोषी माना जाता है, एक माया हजारो सत्य वचनोंका नाश करती है, अतः महादोषका आरोपण करना और हजारों सत्योंका कुचलना ऐसे दो वदे दोष मायामें रहते हैं.

मायाए मित्तभेदे कदम्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी ॥

णासदि मायादोसा विसजुदुद्धं व समणं ॥ १३८५ ॥

मित्तभेदे कृते सबः कार्यं नश्यति मायया ॥

विपमित्रमिव क्षीरं समायं नश्यति व्रतम् ॥ १४३९ ॥

विजजोदया—मायाए मायया । मित्तभेदे मेड्या विनाशो कृते । इह लोकिगच्छपरिहाणी येदल्लोकिकरार्य-विनाश । णासदि समणं नश्यति श्रामण्य ॥ मायादोसा माया दोषाद्धेतोः । विसजुदुद्धं व विपयुतदुग्धमिव । मित्र कार्यविनाशः श्रामण्यहानिश्च मायाजनितदोषो ॥

मूलारा—मित्तभेदे मित्रविनाशो । सुहृदि शत्रुबुदासीने वाकृते सतीत्यर्थः । इह लोकिगच्छपरिहाणी ऐहिकस्व-कार्यकृतिः ॥

अर्थ—इस कपटसे मैत्रीका नाश होता है. मैत्रीके नाशसे इहलौकिक धर्मार्थादि कार्योंका नाश होता है.

यह कपट मुनिपनाका नाश करता है जैसे विषमिश्रित दुग्ध भक्षण करनेमें मनुष्यका नाश होता है मायामें मित्र-कार्य विनाश और श्रामण्यहानि नामके दोष हैं

माया करोदि नीचागोदं इच्छी णवुंसयं तिरियं ॥

मायादोसेण य भवसएसु उंभिज्जेदे वहुसो ॥ १३८६ ॥

सैणपटवत्तैरश्चनीचगोत्रपराभवा ॥

मायादोषेण लभ्यंते पुंसा जन्मनि जन्मनि ॥ १४४० ॥

विजयोदया—माया क्रोटि नीचागोदं माया करोति नीचगोत्रं कर्म नीचगोत्रं गोत्रमप्य जन्मांतरे। इत्थी णवुंसयं तिरिय स्त्रीचंदं, नपुंसकचंद, तिर्यग्गतिं च नामकर्म करोति। अयमा स्त्रीत्य, नपुंसकत्वं, तिर्यक्त्वं वा। मायादोसेण। मायामंजनिनेन दोषेण। भवसंदेसु जन्मशतेषु। उंभिज्जेदि वंच्यते। यहुसो गहुरा ॥

मूलारा—उंभिज्जेदे वंच्यते। येन तेनापि इह लोके वंचितेन वा ॥ उक्तं च—

सैणपटवत्तैरश्चनीचगोत्रपराभवा ॥

मायादोषेण लभ्यंते पुंसा जन्मनि जन्मनि ॥

अर्थ—मायामें नीच गोत्रकी प्राप्ति होती है, अर्थात् परजन्ममें नीच कुलमें जन्म होता है उस मायामें स्त्रीपना, नपुंसकपना और तिर्यग्गतिकी प्राप्ति जीमको होती है जो जीय माया करता है वह सेकंडो मनमें अन्य लोगोंमें अनेक उपायों द्वारा वंचित होता है।

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्हिदा ॥

कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होति ॥ १३८७ ॥

य क्रोधमानलोभानामादिभावास्ति मायिन ॥

संपच्यन्तेऽन्विला दोषास्ततस्तेपासंयमम् ॥ १४४१ ॥

विजयोदया—कोयो माणो क्रोधमानलोभास्त जीधे संचिहिता यत्र स्थिता माया। क्रोधमानलोभजन्या दोषा सर्वदपि मायानतो भवन्ति ॥

मूलारा—सण्हिदिदा स्थिता। अत एव मायानिनः क्रोधादिदोषाः सर्वदपि स्युः। मायाए मायाविनि जीधे ॥

अर्थ—जहाँ माया रहती है वहाँ क्रोध, मान और लोभ भी साथ ही रहते हैं. अर्थात् क्रोध, मान और लोभसे जो दोष उत्पन्न होते हैं वे सब मायावानको भी होते हैं

सस्त्वो य भरधगामस्स सत्तसंवच्छराणि गिस्सेसो ॥

दद्धो ङभणदोसेण कुम्भकारेण रुहेण ॥ १३८८ ॥

सप्तवर्षाणि निःशेषं कुम्भकारेण कोपिना ॥

भस्मितं भरतत्रामशस्यं प्राप्तेन वंचनां ॥ १४४२ ॥

धर्मपादपनिर्कतनशुद्धी जन्मसागरनिपातनकर्त्री ॥

दुःखशोकभयवैरसहाया निंदित किमु करोति न माया ॥ १४४३ ॥

इति माया ॥

विजयोदया—सस्त्वो सस्य । भरधगामस्स भरतनामधेयत्रामस्य सत्तसंवच्छराणि वर्षसप्तकं । गिस्सेसो दद्धो निरवशेषं वृद्ध । ङभणदोसेण मायादोषेण हेतुना । रुहेण कुम्भकारेण रुहेन कुम्भकारेण ॥ मायासिगदा ॥

मायादोषमर्थाल्यानेन द्रव्यति—

मूलारा—सस्त्वो बलजापुंजीकृतं धान्यं । भरधगामस्स भरतनाम्नो त्रामस्य । मायादोषाः ॥

अर्थ—भरतनामक ग्राममें सात वर्षतकका समस्त धान्य कुंभकरने मायादोषसे रूष्ट होकर भस्म कर दिया. मायावर्षन समाप्त

लोभदोषानाचष्टे—

लोभेणासाधत्तो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं ॥

णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ॥ १३८९ ॥

लोभतो लभते दोषं पातकं कुरुते परम् ॥

जानीते परमात्मानं नीचमुच्चं न नष्टधीः ॥ १४४४ ॥



विजयोदया—लोभेण लोभेन हेतुना । असाधणो ममेदमविव्यतीत्याशया ग्रस्तः । पावदि दोसे प्राप्नोति दोषान् । बहुं कुणदि पाव पापं च बहु करोत्याशावान् । णीए वाधवान् । अप्पणं चा आत्मानं वा । लोभेण लोभेन । णरो ण विगणेदि न विगणयति मनुजः । वाधवानपि वाधते स्वशरीरश्रमं च नापेक्षते इति यावत् ॥

लोभदोषानाथापंचकेनाह—

मूलारा—आसाधणो इदमिदं भविव्यतीत्याशया ग्रस्तः । दोसा बहुपापकरणादीन् । णीए वाधवान् । ण विगणेदि वाधवानपि वाधते स्वशरीरस्य श्रमं च नापेक्षते इति भावः ॥

लोभके दोषोंका वर्णन—

अर्थ—लोभसे मनुष्य आशाग्रस्त होता है अर्थात् मेरेको यह मिलेगा वह मिलेगा ऐसा मनोरथ उत्पन्न करनेवाली आशा इन्द्रियत होती है यह लोभ दोषोंका सचय है लोभवश होकर पुरुष बहुत पाप करते हैं, लोभसे अपने वंशुओंको भी वह उपेक्षा करता है और लोभसे अपने शरीरको कष्ट पोहोचाता है.

वस्तुन' सारासारतया न कश्चित् कर्मबंधातिशय येन केनचिद्वद्वयेण जनिता मूर्च्छा कर्मबंधे निमिच्च आत्मा शुभपरिणामनिमित्तत्वादिति मत्वा सूरिराचष्टे—

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्चं ॥

लग्गिदमउडादिसंगस्स वि हु ण पावं अलोहस्स ॥ १३१० ॥

लोभस्तुणेऽपि पापार्थमितरत्र किमुच्यते ॥

मुकुटादिधरस्यापि निर्लोभस्य न पातकम् ॥ १३१५ ॥

विजयोदया—लोभो तणे वि जादो लोभस्तुणेऽपि जातो । जणेदि पाप जन्तयति पापं । इदरत्थ इतरत्र सारवति वस्तुनि । किं वच्चं किं वाच्यं ॥ लग्गिदमउडादिसंगस्स वि स्वशरीरविलग्नमुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पापं भवति । अलोहस्स लोभकपापवर्जितस्य मुकुटादे सारद्रव्यस्यापि प्रत्यासत्तिर्न वधायेति मन्यते ॥

यत्र कुत्रचित्प्रवृत्तो लोभ एव पापवधायालमित्युपदिशति—

मूलारा—इदरत्थ सारवस्तुनि । वच्चं वक्तव्यं । लग्गिदमउडादिसंगस्स वि स्वशरीरालग्नकिरीटादिपरिग्रहस्यापि । अलोहस्स तद्गतमूर्च्छारहितस्य ॥

वस्तु सार और असार दोनों तरहकी होती है, परंतु उससे कुछ कर्मबंधमें विशेषता उत्पन्न नहीं होती, किंतु उस वस्तुके संगसे उत्पन्न होनेवाली मूर्च्छा अर्थात् ममता कर्मबंधका निमित्त है और यही ममता आत्मामें शुभाशुभ परिणामोंको निमित्त होती है इसी अभिप्रायको आचार्य विशद करते हैं—

अर्थ—तुणमें भी लोभ उत्पन्न होनेसे वह पापबंध उत्पन्न करता है तब इतर सारयुक्त वस्तुओंमें उसकी उत्पत्ति होनेपर पापबंध अवश्य होगाही परंतु मन यदि निर्लोभी है तो शरीरपर मुकुटादि परिग्रह होने पर भी उसको पापबंध नहीं होता है लोभकषणका अभाव जब होता है तब किसीने जबरदस्तीसे मुकुटादि पहनाये तो भी वह परिग्रह उसको पापकर्मसे बद्ध नहीं कर सकता है, ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है

तल्लोक्केण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थस्स ॥

संतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिहो वि णिव्वाणं ॥ १३९१ ॥

सुखं त्रैलोक्यलभेऽपि नासतुष्टस्य जायते ॥

संतुष्टो लभते सौख्यं दरिद्रोऽपि निरंतरम् ॥ १३९६ ॥

विजयोदया—तेल्लोक्केण वि त्रैलोक्येनापि लब्धेन । चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि चित्तस्य निर्वृत्तिर्नास्ति । लोभघत्थस्स लोभग्रस्तस्य । संतुट्ठो सतुष्ट लब्धेन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिरित्युभूतेन । अलोभो द्रव्यगतमूर्छारहितः । लभदि लभते । दरिहो वि दरिद्रोऽपि । णिव्वाण निर्वाण । सतोपायतच्चित्ता निर्वृत्तिर्ने द्रव्यायत्ता, सत्यपि द्रव्ये महति असंतुष्टस्य हृदये महति दुःखासिका ॥

मूलारा—तेल्लोक्केण वि त्रैलोक्येनापि लब्धेन । णिव्वुदी वृत्तिः । संतुट्ठो येन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिरित्युभूतेन धृति प्राप्तः । अलोभो द्रव्यगतमूर्छारहितः । णिव्वाणं सुखं । संतोपायत्ता चित्तिनिर्वृत्तिर्ने द्रव्यायत्ता, द्रव्ये हि महत्यपि सत्यसंतुष्टस्य महादुःखासिका स्यात् ॥

अर्थ—लोभग्रस्त मनुष्यको त्रैलोक्यकी प्राप्ति होनेपर भी संतोष नहीं होता है, जो जो शरीरको सुख देनेवाली वस्तु प्राप्त होगी उससे उसका लोभ बढ़ताही जाता है, जिससे शरीर स्थिर रहेगा ऐसी किसी भी वस्तुसे जो मनुष्य सतुष्ट है ममता रहित है वह चाहे दरिद्री हो तो भी उसीको समाधानवृत्ति प्राप्त होती है, संतोषके स्वार्थान

ही समाधानवृत्ति रहती है द्रव्यके अधीन वह नहीं रहना चाहती। बहुत द्रव्य होनेपर भी असंतुष्ट व्यक्तिके हृदयमें बड़ा दुःख होता है।

सबवे वि गंधदोसा लोभकसायस्स हंति णादब्बा ।  
लोभेण चैव मेहुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥ १३९२ ॥

जायंतं सकला दोषा लोभिनो ग्रंथतापिनः ॥

लोभी हिंसादृतस्तेयमैथुनेषु प्रवर्तन्ते ॥ १४४७ ॥

विजयोदया—सबवे वि गंधदोसा सर्वेऽपि परिग्रहस्य ये दोषा, पूर्वमाख्यातास्ते सर्वेऽपि । लोभकसायस्स लोभकपायवत् लोभ कपायोऽस्यास्तीति लोभकपाय इति गृहीतत्वात् । अथवा लोभसंक्षितस्य कपायस्य दोषा इति सर्वधनीय । लोभेण चैव लोभेन चैव । मैथुन, हिंसा, अलीक, चौर्य वा चरति । तत् सावधानक्रियाया सर्वस्या आदिमान् लोभ ।

किं च—

मूलारा—गंधदोसा परिग्रहापराधाः प्रागुक्ताः ॥

अर्थ—परिग्रहके दोषोंका विस्तारसे पूर्व प्रकरणमें वर्णन हो चुका है, वे सर्व दोष लोभ कपाययुक्त मनुष्यके होते हैं, अथवा लोभसे उपयुक्त दोष उत्पन्न होते हैं, इस लोभसेही मैथुन, हिंसा, असत्यवचन, और चोरी इन पापोंको जीव करता है जितनी पापक्रियायें हैं उनको लोभ हेतु है, ।

रामस्स जामदगिस्स वजं धित्तूण कत्तविरिओ वि ॥

णिघणं पत्तो सकुलो ससाहणो लोभदोसेण ॥ १३९३ ॥

रामस्य जामदग्न्यस्य गृहीत्वा लुब्धमानसः ॥

कार्तवीर्यो नृपः प्राप्तः सकुलः सखलः क्षयम् ॥ १४४८ ॥

लोभेन लोभः परिवर्धमानो दिवानिशं वह्निरेविन्धनेन ॥

निषेव्यमाणो मलिनत्वकारी न कस्य तापं कुरुते महान्तं ॥ १४४९ ॥  
इति लोभः । इति कथायविशेषदोषाः ॥

विजयोदया—रामस्स रामस्स । जामदग्निस्स जामदग्न्यस्य । वजं व्रज । धिक्खणं गृहीत्वा । कत्तविरिद्धो वि  
कर्तव्यीर्योऽपि । निग्रहं पत्तो निग्रहं प्राप्तः । सकुलो सबधुवर्गः । ससाहणो सवलः । लोभदोसेण लोभदोसेण । लोभः ॥

लोभदोषमहत्त्वमर्थ्याख्यानेन व्यनक्ति—

मूलारा—जामदग्निस्स जमदग्निमूनोः । परशुरामस्येत्यर्थः । वजं व्रजं कामधेनुमित्यर्थः । ससाहणो चतुरंग-  
बलेन सह ॥ उक्तं च—

रामस्य जामदग्न्यस्य गा हत्वा लुब्धमानसः ॥  
कर्तव्यीर्यो नृपः प्राप्तः सकुलः सवलः क्षयम् ॥

लोभदोषः । कषायविशेषदोषाः ॥

अर्थ—जमदग्नि राम अर्थात् परशुरामका सर्वे गौका समूह कर्तव्यीर्यं राजाने लोभवश होकर ग्रहण किया  
था इस लोभदोषसे वह अपने बंधुवर्ग और सर्व सैन्यके साथ परशुरामके द्वारा मारा गया. लोभ वर्णन समाप्त

ण हि तं कुणिज्ज सत्तू अग्गी वग्घो व किण्हसप्पो वा ॥

जे कुणइ महादोसं णिवुदिविग्घं कसायारिवू ॥ १३१४ ॥

शत्रुसर्पानलव्याघ्राः कदाचित्तत्र कुर्वते ॥

यं करोति महादोषं कषायारिः शरीरिणाम् ॥ १४५० ॥

विजयोदया—स्पष्टा ॥

कषायसामान्यदोषसमूहगाथासाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—शत्रु, अग्नि, वाघ, और कृष्ण सर्प इनसे भी वह महादोष उत्पन्न नहीं होता है. जो कषायशत्रु  
उत्पन्न करता है लोभकषाय मोक्षप्राप्तिमें महाविघ्न उपस्थित करता है.

इंद्रियकसायदुहंतस्सा पाडेति दोसविसमेसु ।  
दुःखावहेसु पुरिसे पसटिलणिव्वेदखलिया दु ॥ १३९५ ॥  
कषायेन्द्रियदुष्टाहवैदोषदुग्गेषु पात्यते ॥  
त्यक्तनिर्वेदखलिनैः पुरुषो बलवानपि ॥ १४५१ ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायदुहंतस्सा इंद्रियकषायदुर्दोषाश्च । पाडेति पातयति । दोसविसमेसु पापविषम-  
स्थानेषु । दुःखावहेसु दुःखावहेषु । पुरिसे पुरयान् । पसटिलणिव्वेदखलिआओ मन्निथिलनिर्वेदखलिना ॥  
साप्रतमिन्द्रियकषायाणा जीवस्य परमार्थकाष्टाधिरूढमपकारकत्वं सन्त्यमानस्तदनुवर्तने बहून् दोषांस्तद्व्यावर्तने  
च प्रचुरगुणान्प्रदर्शयन्सामान्येन तन्निर्जयमष्टादशभिरनुवर्णयति—  
तत्र तावदुभयनिर्जयं गाथाचतुष्टयेनाचष्टे—

मूलारा—दुहंतस्स दुष्टघोटकाः । दोसविसमेसु पापविषमस्थानेषु । पुरिसे जीवान् । पसटिलणिव्वेदखलिणिदा  
ऋषयैराग्यकविकान् ॥

अर्थ—इंद्रिय और क्रोधादिक कषायरूपी दुर्दमनीय द्रोहे जत्र उनकी वैराग्यरूपी लगाय ढिली होजाती  
है तब मनुष्यको अथवा प्राणिओंको पापरूपी विषमस्थानोंमें अर्थात् पापरूपी दुःखदायक विषयों गिराये बिना  
रहते नहीं गिराते ही हैं

इंद्रियकसायदुहंतस्सा णिव्वेदखलिणिदा संता ॥  
ज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेति ॥ १३९६ ॥  
कषायेन्द्रियदुष्टाहवैदोषदुग्गेषु पात्यते ॥  
दोषदुग्गेषु पात्यते न सद्धयानकशावदोः ॥ १४५२ ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायदुहंतस्सा इंद्रियकषायदुर्दोषान्तुर्गताः वैराग्यसलीनचियमिताः संतः ध्यानकशासु-  
भीता न दोषविषमेषु पातयन्ति ॥

मूलारा—खलिणिदा नियत्रिताः । ज्ञाणकसाए सद्धयानचर्मण्टेः । भीदा त्रस्ताः ॥

अर्थ—परतु जब इंद्रियकषायरूपी दुष्ट घोडे वैराग्यरूपी लगामसे खींचे जाते हैं और ध्यानरूपी चाबुक से वे ताड़ित किये जाते हैं तब पापरूपी दुःखदायक गड़बड़ों में मनुष्यको वे नहीं पटकते हैं

इंद्रियकसायपण्णगदृष्टा बहुवेदणुदिदा पुरिसा ॥

पब्भट्टक्षाणसुक्खा संजमजीवं पविजहंति ॥ १३९७ ॥

विचित्रवेदनादष्टा कषायाक्षसुजंगमैः ॥

नष्टध्यानसुखाः मद्यो भुञ्जते वृत्तजीवितम् ॥ १४५३ ॥

विजयोदया—इंद्रियकषायपन्नगदृष्टा, बहुवेदनायष्टव्या पुमांसः प्रप्रष्टध्यानसुखाः समयमजीव परित्यजंति ॥

मूलारा—बहुवेदणुदिदा भूरिब्यथादिताः ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषायरूपी सपोंसे डसे गये पुरुष तीव्र विष वेदनासे पीड़ित होकर उच्चम ध्यानरूपी सुखसे च्युत होते हैं और संयमरूपी प्राणोंका त्याग करते हैं

ज्ञाणागदेहिं इद्रियकसायसुजगा विरागमतेहिं ॥

णियमिज्जंता संजमजीवं साहुस्स ण हरति ॥ १३९८ ॥

सद्धयानमंत्रवैराग्यभेषजैर्निर्विषिकृताः ॥

न साधोस्ते क्षमा हतुं दीर्घं संयमजीवितम् ॥ १४५४ ॥

विजयोदया—ध्यानगदैरिंद्रियकषायसुजगा वैराग्यमंत्रैर्नियम्यमाणाः साधोः संयमजीवित न हरन्ति ॥

मूलारा—ज्ञाणागदेहिं सद्धयानसिद्धौपधैः ॥

अर्थ—ध्यानरूपी औषध और वैराग्यरूपी मंत्र इनके द्वारा जब इंद्रियकषायरूपी विषयुक्त सर्प नियमित किये जाते हैं तब वे मुनिके संयमरूपी प्राणोंका नाश करनेमें समर्थ नहीं होते हैं

सुमरणपुंखा चिंतावेगा विसयविसालित्तरइधारा ॥

मणधणुमुक्का इंदियकंडा विंधंति पुरिसमयं ॥ १३९९ ॥

हृपीकमार्गणास्तीक्ष्णाश्चिंतापुरवाः स्मृतिस्वदाः ॥

नरं मनोधनुमुक्ता विध्यंति सुखहारिणः ॥ १४०५ ॥

विजयोदया—सुमरणपुंखा स्मरणपुंखा, चिंतावेगा विसयविषेण लिप्ता रतिधारा येया ते मनोधनुमुक्ता इन्द्रिय-  
याणां पुरुषसृग घातयन्ति ॥

इन्द्रियनिर्जय गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—विसयविसालित्तरदिधारा—विषयविषेण लिप्ता रतिधारा येया अत्र विषयशब्देन भोग्यबुद्ध्या गृह्य-  
माणानां रूपादीना निर्भासा विवक्षिताः । इन्द्रियशब्देन चक्षुराद्युपयोगाः । विंधंति विध्यन्ति । मए सृगान् ॥

अर्थ—स्मरण रूपी पुखं अर्थात् पंख जिनके लगे हैं, चिंता रूप वेगसे युक्त, विषयरूपी विषसे लिप्त हुए,  
रतिधारासे सयुक्त, ऐसे इन्द्रियरूप चाण मनरूप धनुष्यसे छूटकर मनुष्य मृगका घात करते हैं यहां नेत्रादिक-  
इन्द्रियोंका विषयोंके तरफ जो उपयोग लगना उसको ही इन्द्रिय कहना चाहिये भोग्यबुद्धीसे ग्रहण किये रूपरस-  
गंधादिकोंका जो ज्ञान होता है उसको विषय कहते हैं.

तान्याणान्पुरुषसृगहृदन्नोद्यतान्यतय एव वात्यन्तीति कथयति—

धिदिखेडण्हिं इंदियकंडे ज्ञाणवरसत्तिसंजुत्ता ॥

फेडंति समणजोहा सुणाणदिठ्ठीहिं दइण ॥ १४०० ॥

हृपीकमार्गणास्तीक्ष्णा साधुभिर्धृतिखेटकैः ॥

ध्यानसायकमादाय खण्डयन्ते ज्ञानदृष्टिभिः ॥ १४०६ ॥

विजयोदया—धिदिखेडण्हिं धृतिखेटे. इंदियशरान्वात्यन्ति ध्यानसत्त्वसमन्विताः । समणजोहा श्रमणयोधा-  
सम्यग्ज्ञानदृष्ट्या दृष्ट्वा ॥

मूलारा—धिदिखेडण्हिं संतोषफलकैः । फेडंति वारयंति ॥

इंद्रियवाण जब आत्माका घात करनेके लिये उद्युक्त होते हैं तब यदि उनका इस प्रकार निवारण करते हैं अर्थ—आध्यात्मरूपी बलसे युक्त होकर मुनिराज सम्यग्ज्ञानरूपी आखोंसे देख लेते हैं नंतर धैर्यरूपी ढाल हाथमें लेकर इंद्रियरूपी बाणोंका निवारण करते हैं

गंधाडवीचरंतं कसायविसकटया पमायमुहा ॥

विधति विसयतिक्खा अधिदिदोवाणहं पुरिसं ॥ १४०१ ॥

प्रमादवदना साधुं चरतं संगकानने ॥

धृत्युपानद्विनिर्मुक्तं विध्यन्तीन्द्रियकण्टकाः ॥ १४५७ ॥

विजयोदया—गंधाडवीचरतं परिग्रहवने चरन्त । कपायविपकटका प्रमादमुखा विध्यन्ति विजयैस्तीक्ष्णा धृतिदोषानद्रहित पुरुष ॥

कपायनिर्जयं गाथाचतुष्टयेनाह—

मूलारा—विसयतिकया विपयैः क्रोधाद्यालवनभूतैर्वस्तुभिस्तीक्ष्णाः । अधिदिदोवाणह धृतिदोषाणाद्विदारहित ॥

अर्थ—परिग्रहवनमें भ्रमण करनेवाला पुरुष यदि सतोषरूपी दृढ जूता नहीं पहनेगा तो कपायरूपी विषयुक्त कांटे विषयोंसे तीक्ष्ण होकर प्रमादरूपी मुहके द्वारा पुरुष को चुभेगी

सयतस्य पुनरेवपरिकस्य कपायविपकटका किंचिदपि न कुर्वन्ति इत्याचष्टे स्वरि—

आवद्धधिदिदोवाणहस्स उवओगदिष्ठिजुत्तस्स ॥

ण करिति किंचि दुक्खं कसायविसकंटया मुणिणो ॥ १४०२ ॥

आवद्धधृत्युपानत्कमुपयोगविलोचनम् ॥

कपायकण्टकाः साधुं न विध्यन्ति मनागपि ॥ १४५८ ॥

विजयोदया—आवद्धधिदिदोवाणहस्स आवद्धधृतिदोषानत्कस्य ज्ञानोपयोगसहितदृष्टेभ्यः सत्यमपि दुःखं न कुर्वन्ति कपायविपकटकाः ॥



मूलारा—आइड्डा परिहिता । उवयोगविद्धिसुत्तस्स भेदज्ञानोपयोगेन यतव्यापारसहितस्य ॥

परतु मुनिराज कषायकटकोसे दुःख न होगा ऐसी सामग्रासे युक्त होते हैं अतः उनको दुःख नहीं होता है, इसीके विवेचनार्थ गाथा—

अर्थ—जिसने सतोषरूपी मजबूत जूता पहना है, और भेदज्ञानोपयोग रूप आँखोंसे जो देखता है ऐसे मुनिराजको कषायविषयकटक विलमात्रभी दुःख देनेमें समर्थ नहीं होते हैं

उडुहणा अदिचवला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा ॥

गंथफललोलहिदया णासंति हु संजमारामं ॥ १४०३ ॥

कषायमर्कटा लोलाः परिग्रहफलैषिणः ॥

लुंपन्ति संयमारामं योगिनो निग्रहं विना ॥ १४०५ ॥

विजयोदया—उडुहणा असंयता अतिचपला अनिगृहीता, कषायमर्कटाः, परिग्रहफलासक्तद्वया नाशयन्ति संयमाराम ॥

मूलारा—उडुहणा उद्वृत्ताः । अणिग्गहिदा अकृतनिग्रहाः संतः ॥

अर्थ—जो असयमको उत्पन्न करते हैं, अतिशय चपल हैं, जिनका निग्रह नहीं किया है ऐसे कषायमर्कट परिग्रहरूप फलोंपर लुब्ध होकर सयमरूपी बगीचोंको उद्वृत्त करते हैं.

णिच्चं पि अमज्झत्ये तिकालविसयाणुसरणपरिहृत्ये ॥

संजमरज्जूहिं जदी बंधंति कसायमक्कडाए ॥ १४०४ ॥

त्रिकालदोषदा नित्यं चंचला मुनिपुगवैः ॥

कषायमर्कटा गाढं बध्यन्ते वृत्तरज्जुभिः ॥ १४०६ ॥

विजयोदया—णिच्च पि नित्यमपि अमाध्यस्थान्, त्रिकालविषयदोषावसुरणणद्वन्, कषायमर्कटाऽन्यतयः संयम-रज्जुभिर्विजन्ति ॥

मूलारा—अमज्जत्ये चंचलान् । परिहृत्ये पट्टन् ।

अर्थ—हमेशा चंचल, और तीनो कालोंमेंभी दोष उत्पन्न करनेमें निपुण ऐसे कणायरूपी मर्कटोंको यतिराज संयमरूप दोरीसे बांधते हैं जिससे वे कुछभी अपाय नहीं उत्पन्न करेंगे

धिदिविम्मिण्हिं उवसमसरोहिं साधूहिं णाणसत्येहिं ॥

इंदियकसायसत्तू सक्का जुत्तेहिं जेदुंजे ॥ १४०५ ॥

महोपशमसत्त्वाद्यैर्ज्ञानास्त्रैर्धृतिवर्भितैः ॥

साधुयोधैर्विजीयन्ते कपायोन्द्रियविद्विषः ॥ १४६१ ॥

विजयोदया—धिदिविम्मिण्हिं धृतिसम्रद्धेः, उपशमशरे. साधुभिर्ज्ञानास्त्रैरप्युक्तैरिन्द्रियकपायशत्रयो जेतु शक्याः ॥

पुनरुभयतिर्जयं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा—धिदिविम्मिदेहिं संतोषसन्नद्धैः । णाणसत्तेहिं ज्ञानसत्तैः । जुत्तेहिं उपयुक्तैः ॥

अर्थ—संतोषरूपी कवच पहनकर हाथमें जिन्होंने उपशमरूप बाण लिये हैं ऐसे साधु, भेदज्ञानरूपी शस्त्रोंसे इन्द्रियकणायरूपी शत्रूको जीत लेते हैं

इंदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहिं वज्झंति ॥

ता ते ण विकुब्बंति चोरा जह संकलाबद्धा ॥ १४०६ ॥

कषायाश्लद्विपो बद्धा भावनाभिस्तपस्विना ॥

शृंखलाभिरिव स्तेना न दोषं जातु कुर्वते ॥ १४६२ ॥

विजयोदया—इंदियकसायचोरा इंद्रियकणयचोरा शुभभयानमावशृंखलाभिर्वध्यन्ते । वधस्यास्ते न विकारं कुर्वन्ति शृंखलाबद्धचोरा इव ॥

मूलारा—ण विकुब्बंति विरूपक न कुर्वंति ॥

अर्थ—जैसे शूललासे जकड़े हुए चोर स्वस्थानमें स्थिर बैठते हैं उनसे कुछ उपद्रव नहीं होता है वैसे इन्द्रियकषायरूपी चोर शुभभावनारूपी शूललाओंसे जब जखड़कर बांधे जाते हैं तब वे रागादिक विकारको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं.

इन्द्रियकसायवग्धा संजमणरघादणे अदिपसत्ता ॥

वेरगलोहदढपंजरोहिं सक्का हु णियमेदुं ॥ १४०७ ॥

कषायाक्षमहाव्याघ्राः संयममाणभक्षिणः ॥

अधिरोप्य नियम्यन्ते वैराग्यदृढपञ्जरे ॥ १४६३ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायवग्धा इन्द्रियकषायव्याघ्रा संयमनरभक्षणे अत्यासक्ता वैराग्यलोहदृढपञ्जरे नियन्तुं शक्या, शक्या वशे नेतुं ॥

मूलारा—अदिपसत्ता अतीवासक्ताः ॥

अर्थ—इन्द्रियकषायरूपी व्याघ्र संयमरूप मनुष्यको मक्षण करनेमें अत्यासक्त होते हैं. इस लिये उनको वैराग्यरूप लोहके पिंजरेमें बांधकर वश किया जा सकता है.

इन्द्रियकसायहृत्थी वयवारिमदीणिदा उवायेण ॥

विणायवर्त्तावद्धा सक्का अवसा वसे काहुं ॥ १४०८ ॥

नीत्ता व्रतमहावारिं कषायाक्षमंतंगजा. ॥

वशा संत्यवशाः सन्तो यद्धा विनयरदिमभिः ॥ १४६४ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायहृत्थी इन्द्रियकषायहृत्तिनः व्रतवारीमुपनीता. विनयवर्त्तावद्धा अवशा अपि शक्या वशे नेतु ॥

मूलारा—वदवारि व्रतवधनगर्तम् । अदिणीदा प्रवेशिताः । उवायेण विशिष्टयतिहृत्तिनिदर्शनेन ॥

अर्थ—इन्द्रियकषायरूपी हाथीओंको व्रतरूप बंधनस्थानमें ले जाकर विनयरूपी रज्जुसे बांधना चाहिये जिससे वे अवश होनेपर भी वश हो जाते हैं.

इंद्रियकसायहृत्थी वोलेदुं सीलफलियमिच्छंता ॥

धीरेहिं रुंभिदन्वा धिदिजमलारुप्पहारेहिं ॥ १४०९ ॥

कषायाक्षगजाः शीलपरिखालंघनैयिणः ॥

धर्तव्याः सहसा वीरैर्धृतिकर्णप्रतोदनेः ॥ १४६५ ॥

विजयोदया—इंद्रियकपायहृस्तिनः शीलपरिखालंघनैयिणो रोद्धव्या धीरैर्धृतिकर्णतोदप्रहरे ॥

मूलारा—वोलेदु लंघयितुं । फलिह अर्गला । जमलार आरायुगल ॥

अर्थ—इंद्रिकपायरूपी हाथी जब शीलरूपी अर्गलाको उछंघनेकी अभिलाषा धारण करते हैं तब घीर पुरुष उनको संतोषरूपी कर्णप्रहारोंसे वश करते हैं

इंद्रियकसायहृत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज ॥

णाणकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं ॥ १४१० ॥

कषायाक्षद्विषा मत्ता दुःशीलवनकांक्षिणः ॥

ज्ञानांकुशैर्विधीयन्ते तरसा वशवर्तिनः ॥ १४६६ ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायहृत्थी इन्द्रियकपायहृस्तिनः दुःशीलवन प्रवेष्टुं यदाभिलषति तदा अवशा अपि वशो कर्तुं शक्यते ज्ञानांकुसेन ॥

मूलारा—अहिलसेज्ज प्रवेष्टुमिच्छेयुः ।

अर्थ—इंद्रियकपायरूपी हाथी जब दुःशीलरूप वनमें प्रवेश करने की इच्छा करता है तब भेदज्ञानरूप अकुशसे अवश होने पर भी वश हो जाता है

जदि विसयगंधहृत्थी अदिणिज्जदि रागदोसमयमत्ता ॥

विण्णाणज्झाणजोहस्स वसे णाणकुसेण विणा ॥ १४११ ॥

ध्यानयोधावशीभूता रागद्वेषमदाकुलाः ॥

ज्ञानांकुशं विना यांति तदा विषयकाननम् ॥ १४६७ ॥

विजयोदया—जदि विसयगंधहृत्थी यद्यपि विषयगंधहृत्तिन स्वय अंथाटवीं प्रविशंति रागद्वेषमत्ता न तिष्ठेयु-  
र्विद्वानध्यानयोधस्य वशे ज्ञानांकुशेन विना ॥

मूलारा—वि एव । सय स्वयं स्वयमेव । स्वाभिस्थानीयजीवप्रयोगं विनैव । गंधवण ग्रथः संगः स चात्र का-  
मिनीसौधायालंबनोदीपनकारणलक्षणो गृह्यते । ग्रन्थो वनमिव हृत्तिनामिर्बोद्धियकपायाणा प्रचारविषयत्वात् । अदिणि-  
ज्जदि प्रविशंति । इन्द्रियकपायहृत्तिन इति वक्ष्यमाणेन संबंधः । चेष्टुज्ज ज्ञानजोहृत्तस्सवास वास इत्यत्र अकारप्ररूपः,  
तेन ध्यानयोधस्यावशे तिष्ठेयुर्ध्यानयोधवशे न स्युरित्यर्थः । णाणकुसेण विणा रागद्वेषमदांधाः संतो ध्यानयोधयुक्तं ध्या-  
नाकुशमतिक्रम्य ग्रंथवने स्वाभिस्थानीयजीवप्रयोग विना पंचन्द्रियकपायहृत्तिनो यदि प्रविशतीति संबंधः ।

अर्थ—यद्यपि विषयरूपी मत्त हाथी स्वय प्रेरकके विना परिग्रहरूपी जगलमें प्रवेश करते हैं, और वे राग  
द्वेषसे मत्त हो गये हैं तो भी वे ज्ञानरूपी अंकुशके विना विद्वान और ध्यानरूप योधाके वश होते नहीं हैं.

विसयविरमणलोला बाला इन्द्रियकसायहृत्थी ते ॥

पसमे रामेदव्वा तो ते दोसं ण काहंति ॥ १४१२ ॥

तदा शमवने रम्ये कषायाक्षमहागजाः ॥

रम्यमाणा न कुर्वन्ति दोषं साधोर्मनागपि ॥ १४६८ ॥

इति सामान्यकपायनिर्जयः ।

विजयोदया—विसयवणरमणलोला विषयवनरमणलोला. बाला इन्द्रियकपायहृत्तिन' ते रतिमुपनेयाः प्रशमेन  
ततस्ते दोष न कुर्वन्ति ॥

कथंभूताः सत इत्यत्राह—

मूलारा—विसयवणरमणलोला विषया. कामिन्यादिगता. काम्यरूपादयः । वनानि शल्यक्यादिकाननानि विप-  
या वनानीव भोग्यत्वात् । पूर्वं वनशब्देन विंध्याटवी इह च तदन्तर्गन्तशल्यक्यादिवनं गृह्यते । पसमे आत्मदेहांतरज्ञाना-

विर्भूतस्वभावविकैराग्ये । अत्र पुरोधाने इत्युपमानस्याक्षेपः । काङ्क्षितं करिष्यति । एषा श्रीविजयाचार्यमतेन व्याख्या ।  
तथा चोक्तम्—

यदि सगाढवी याति रागद्वेषमदोद्धता ।  
ध्यानयोगधवशा नैव संति ज्ञानाङ्कुशं विना ॥  
विषयारण्यसाक्षास्ते कपायाश्च हस्तिनः ॥  
ततः शमरर्पि नेया येन दोषं न कुर्वते ॥

अन्यस्त्वेवमाह—

ध्यानयोगधवशीयूता रागद्वेषमदाकुलाः ॥  
ज्ञानाङ्कुशं विना याति यदा विषयकाननम् ॥  
तदा शमवने रस्ये कपायाक्षमहागजाः ॥  
रस्यमाणा न कुर्वति दोष साधोर्मनानपि ॥

अन्ये पुनरेतद्वाधादयं प्रयक्त्वा संन्यन्ति तत्पाठस्त्वयम्—अत्र विषयशब्देन तद्योगादिद्रियं व्याख्यानं । अदि-  
गिज्जदि इत्यस्यातिक्रम्य याति इत्यर्थमाहुः । अपि शब्दं च नियमार्थं । तथा च तदुपमयः—

रागद्वेषमदाधः करणकरीन्द्रो विशन्विषयविध्यम् ॥  
ध्यानसुभटस्य वदयो ज्ञानाङ्कुशितो भवेन्नियतम् ॥  
द्वितीयगाथाया तु चवला स्थाने चाला इति पठति । तत्रापि तैरुक्तम्—  
इन्द्रियकपायकलभा विषयवने क्रीडन्नेकरसरसिका ।  
उपशमवने प्रवेश्यास्ततो न दोषं करिष्यति ॥

इति सामान्याक्षकपायनिर्जयः ॥

अर्थ—विषय वनमें क्रीडा करनेमें आसक्त और अज्ञ ऐसे इन्द्रिय कपायरूप हाथीको वैराग्यमें तत्पर करना चाहिये ऐसा करनेसे वे दोष नहीं करेंगे।

सदे रूवे गंधे रसे य फासे सुभेय असुभे य ॥

तम्हा रागद्वोसं परिहर तं इदियजण ॥ १४१३ ॥

शब्दे वर्णे रसे गंधे स्पर्शे साधुः शुभाशुभे ॥

रागद्वेषपरित्यागी हर्षीकविजयी मतः ॥ १४६९ ॥

विजयोदया—सदे रूवे गंधे रसे य शुभाशुभेषु शब्दाविषु रागद्वेषं च निराकुरु त्व इद्रियजयेनेत्युत्तरसूत्रस्यार्थः ॥  
साग्रत सामान्येन इद्रियजयं गाथापंचकेन व्याचक्षणः प्रथमं तज्जयेन तद्ग्राह्यशब्दादिविषयरागद्वेषपरि-  
त्यागे क्षपकं निर्युक्ते—

मुलारा—तम्हा करणगृह्यमाणशब्दादिविषयाभिव्यज्यमानरागद्वेषवशोऽङ्घितज्ञाताकुशत्वेन सद्ग्रहणानुपवेगविना-  
शोद्वेतोः ॥

अर्थ—हे क्षपक ! तू शुभाशुभ शब्द, रस, गंध, और रूप इनमें राग द्वेष का निराकरण कर अर्थात् इंद्रियोंको  
जीत कर शुभाशुभ शब्दादिक विषयोंमें उत्पन्न होनेवाले राग द्वेष का तू नाश कर

जह णीरसं पि कडुयं ओसहं जीविदित्थिओ पिवदि ॥

कडुयं पि इंदियजयं णिवुइहेदुं तह भजेज्ज ॥ १४१४ ॥

हर्षीकविजयः सद्भिः कटुकोऽपि निषेव्यते ॥

भैषज्यमिव वांछद्भिर्नित्यसौख्यं यथांजसा ॥ १४७० ॥

विजयोदया—जह णीरस पि यथा स्वादुरहित कटुकमप्यौषधं जीवितार्थं पियति । तथा इद्रियजय भजते  
कटुकमपि निर्धृतिहेतुम् ॥

किमर्थमित्यर्थः—स्वादुरहत्त्वात्सर्वजनानामभिमतमिद्रियजयं शास्त्रे नियोगेनोपदिश्यते इत्यनाश्रयसंतं दृष्टान्तावष्टभेन  
प्रकृते व्यवस्थापयति—

मुलारा—णीरस स्वादुरहितं । कडुर्गपि पीडकमपि । भजेज्ज सेवेयास्त्वं ॥

अर्थ—जैसे रोगी पुरुष स्वादुरहित व कटु ऐसा भी औषध जीनेके लिये पीता है वैसे मोक्ष प्राप्तिके लिए  
कटुक भी इंद्रियजय करनेके लिये हे क्षपक ! तू हमेशा तत्पर रहना चाहिये

इन्द्रियज्ये क उपाय इत्याशङ्कया इन्द्रियकषायविषयणां शुभाशुभत्वे अनवस्थितिः । ये शुभास्त एवेदानीं अशुभाः । अशुभा ये ते एव शुभा । ये तु अशुभतया दोषा इदानीं हरिः से शुभा इति गृहीता न त्वशुभा जातास्त एवामी-  
इति कथं नानुरागस्तत्र ये वाऽशुभास्तेषु कथं द्वेषः शुभता प्रतिपत्त्यमानेषु इति निवेदयति—

जे आसि सुभा एण्हि असुभा ते चेव पुगला जादा ॥

जे आसि तदा असुभा ते चेव सुभा इमा इण्हिं ॥ १४१५ ॥

पुद्गला ये शुभाः पूर्वमशुभाः सन्ति तेऽधुना ॥

अशुभाः पूर्वमासन्ये सांप्रतं सन्ति ते शुभाः ॥ १४७१ ॥

विजयोदया—जे आसि शुभा एण्हिं ये पुद्गलाः शुभा आसन्नित्दानीं त एवाशुभा जाताः । ये चासस्तदा अशुभा ते चैव शुभा इदानीं इति न तौ रागद्वेषौ युक्तौ इति शिक्षयति ॥

मूलारा—आसि पूर्वकाले भूताः । सुभा इष्टकामिन्यादिरूपतामापद्य भोग्यबुद्धिमादधानाः शोभना इति गृहीताः । अशुभा शुभवैपरीत्येन गृहीताः । तदा प्राक्तनमुक्त्युपक्रमकाले अशुभा अनिष्टरूपादिरूपतामापद्याभोग्यमतिमातन्वन्तोऽशोभ-  
ना इति गृहीताः । अशुभा शुभव्यत्यासेन प्रतिपन्नाः । तदा तेष्वनवस्थितशुभाशुभरूपेषु कस्तत्त्वविदा रागद्वेषावतार-  
प्रचारं प्रति शिक्षारहस्यम् ॥

इन्द्रियैको जीवनेमं कोनसा उपाय हे ऐमी शका होनेपर उत्तर देते हैं इन्द्रिय और कषायोंके विषयमें नृपानृपपना निश्चितरूपसे नहीं कहा जाता है, जो विषय शुभ थे वे वर्तमान समयमें अशुभ बनते हैं और जो 'अशुभा' थे ये शुभ भी होते हैं अशुभ होनेसे जिनका यह जीव द्वेष करता था वे ही अब शुभ बननेपर उनमें यह भी 'अशुभ' होना है, और जो अब अशुभ हैं वे कालांतरमें शुभ होनेवाले हैं इसलिए उन से द्वेष करना भी योग्य नहीं, तान्त्रिक यह हैं कि, जो अशुभ हैं वे शुभ बनने तथा जो शुभ हैं वे अशुभ बनने अतः इस जीविका रागद्वेष युक्त होना योग्य नहीं है, यही अभिप्राय आगेकी गाथामें स्पष्ट करते हैं—

‘अर्थ—जो पुद्गल शुभ थे वे भी अब अशुभ हो गये हैं तथा जो पुद्गल अशुभ थे वे अब शुभ रूप हुए हैं

‘अतः इन भेदकार रागद्वेष करना योग्य नहीं है’



सन्वे वि य ते मुक्ता चत्ता वि य तह आणंतखुत्तो मे ॥  
सन्वेसु एत्थ को मज्झ विमोओ मुचविजडेसु ॥ १४१६ ॥  
मुक्कोच्छिताः कृताः सर्वे पूर्वं तेऽ नन्तशोऽङ्गिना ॥  
को मे हर्षो विषादो वा द्रव्ये प्राप्ते शुभाशुभे ॥ १४७२ ॥

विजजोदया—सन्वे वि य ते मुक्ता सर्वेऽपि च ते पुद्गल. शुभाशुभरूपा अनुभूतास्त्यका अनतदार मया  
द्रव्येषु मुक्तलक्ष्येषु को विस्मयो ममेति त्वया चिता कार्यी ॥

यदा च तथा भाव्यमानेष्वपि पुद्गलेष्व नाद्यविद्यावासना भवतमासजयति तदा भवतैवं भावनीयमिति सन्या-  
सिनमुद्बोधयति—

मूलारा—भोग्यबुद्धावभिनिविदय सानुरागं सेव्यमानः । मे मया । एत एतेषु भोगतया गृहीत्वा सेव्यमानेषु  
पुद्गलद्रव्येषु । विन्मओ अमुक्तपूर्वबुद्ध्या गृहीत्वाध्यावतारः ॥

अर्थ उपर्युक्त सर्व शुभाशुभ पुद्गल मैने अनंतवार भोगे हैं और अनंतवार उनका त्याग भी किया है.  
अतः भोगकर त्यागे गये इन पदार्थोंमें विस्मित होना मेरे लिए अयोग्य है. ऐसा विचार है क्षणिक ! तू हमेशा कर

यदि सुखसाधनतया तेज्वजुरागो, यदि दुःखसाधनतया रोप. सैव सुखदुःखसाधनता शुभाशुभादीना रूपाणां  
नैवास्ति संकल्पमतेरेणात्मन इति वदति—

रूपं सुभं च असुभं किंचि वि दुक्खं सुहं च ण य कुणदि ॥  
संकप्पविसेसेण हु सुहं च दुःखं च होइ जए ॥ १४१७ ॥  
रूपे शुभाशुभे न स्तः साधनं सुखदुःखयोः ॥  
सङ्कल्पवशतः सर्वं कारणं जायते तयोः ॥ १४७३ ॥

विजजोदया—रूपं सुभं च रूप शुभमशुभं वा किंचिदु खं सुखं च नैव करोति । संकल्पवशेनैव सुखं वा दुःख  
भवति जगति ॥

किं च कामिन्यादिनि इन्द्रियग्राहे द्रव्ये यदि सुखसाधनतया तवाजुरागो दुःखसाधनतया वा प्रद्वेय. संपदेत  
तर्हि तस्यैवा सुखदुःखसाधनता संकल्पपरतत्रैवात्मन इति चित्यमित्युपदिशति—

मूलारा—रूपं रूपं तद्योग्यादिद्रियग्राहं कामिन्यादिपुद्गलद्रव्यं । संकल्पविसेषेण ह्य शुभाशुभाकारोद्भेदि-  
मानसाध्यवसायपारवश्येनैव । जगो वहिरात्मप्राणिगणे ॥ सामान्येन्द्रियनिर्जयः ।

ये पुद्गल पदार्थ सुखके साधक हैं अतः इनमें मेरा अन्तराग है और अन्य पुद्गल दुःखके साधन होनेसे  
उन से मैं द्वेष करता हूँ ऐसा कहना भी योग्य नहीं है. शुभाशुभ रूप पुद्गल न दुःखके न सुखके साधन हैं परन्तु  
तेरा संकल्प ही सुख और दुःखका साधन है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ—शुभ रूप अथवा अशुभ रूप सुखका अथवा दुःखका उत्पादक नहीं है परन्तु हे आत्मन् ! संकल्प  
से ही सुख और दुःख होता है.

इह य परत्त य लोए दोसे बहुमे य आवहइ चक्खू ॥

इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेद्वव्यो हवदि चक्खू ॥ १४१८ ॥

विदधाति यतश्चक्षुर्महादोषमनिर्जितम् ॥

निर्जितव्यं ततः सङ्गिः सर्वथा तदतद्रितैः ॥ १४७४ ॥

त्रिजयोदया—इत य परत्त य जन्मद्वयेऽपि यदुन्वेषानावहति चक्षुरित्यादिनावगण्य निर्जितव्यं चक्षुः ॥  
अधुना लोकद्वयबहुदोषे बहुत्वभावनायेन्द्रियविशेषनिर्जय गाथाद्वयेन व्यावर्णयिष्यन्नादावतिदुर्जयतमत्वा-

गक्षुयो निर्जये नियुक्ते—

मूलारा—णिज्जेद्वव्यो श्रोत्रादिभ्योऽतिशयेन निग्राह्यम् ॥

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें चक्षुरिन्द्रिय अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा जानकर चक्षुरि-  
न्द्रिय पर विजय प्राप्त करलेना चाहिये

एवं सम्मं सद्वरसंगंधफासे विचारयित्ताणं ॥

सेसाणि इंद्रियाणि वि णिज्जेद्वव्याणि बुद्धिमदा ॥ १४१९ ॥

शब्दगंधरसस्पर्शगोचराण्यपि यत्नतः ॥

जेतव्यानि हृषीकाणि योगिना शमभगिना ॥ १४७५ ॥



दुर्जयान्नरानिलिपभर्तृभिः पंच यो विजयतेऽश्वद्विषः ॥

तस्य सन्ति सकलाः करस्थिताः संपदो भुवननाथपूजिताः ॥ १४७६ ॥

इति इंद्रियनिर्जयः ॥

विजयोदया—एव सम्म उभयजन्मगोचरानेकदोषावहृत्त्वं विचार्य स्वबुद्ध्या शेषाण्यर्षाद्रियाणि शब्दरसगंध-  
स्पर्शविषयाणि निर्जैतव्यानि बुद्धिमता । सहरसगंधफाले इति वैषयिकी सप्तमी ॥

मूलारा—एवं लोकद्वयगतानेकदोषावहृत्त्वेन । सहरसगंधफाले शब्दरसगंधस्पर्शविषयाणि ॥ इंद्रियविशेष  
निर्जयः ।

अर्थ— इसी प्रकार स्पर्शनेंद्रिय, रसनेंद्रिय, घ्राणेन्द्रिय चौरह इन्द्रियां भी इहपर लोकमें अनेक दोषोक्तो  
उत्पन्न करती हैं ऐसा विचार कर उनको भी बुद्धिमान पुरुष जीतनेका प्रयत्न करें अर्थात् इन इंद्रियाँके शब्द-  
रसादिक विषयोमें रागद्वेषका संकल्प करना छोड़कर समभावना रखनी चाहिये.

क्रोधजयोपायमाचष्टे—

जदिदा सवति असंतेण परो तं णत्थि मेत्ति खमिदब्बं ॥

अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पावं वरावोत्ति ॥ १४२० ॥

दत्ते शापं विना दोषं नायं मेऽस्तीति सख्यते ॥

कृपा कृत्येत्ययं पापं वराकः कथमर्जति ॥ १४७७ ॥

विजयोदया—जदिदा सवदि असंतेण यदि तावदसता दोषेण शपति पर स दोषो न ममास्तीति क्षमा कार्यो ।  
असदोपख्यापनेनास्य मम किं नष्ट इति । अथवाणुकंपा आक्रोशके कुर्याद्वराकोऽसवभियोनेन समर्जयति पापभारं अनेक  
तु खावह । मदीयैर्दोषैरेस्य किंचिद्यायति दोषजात । गुणैर्वो किमसौ किंचिद्रवति ? प्राणिना प्रतिययता गुणदोषास्तत्त-  
मेव प्रति सुखदुःखयोजनास्ततो मुद्यनेन कर्मवध संपाद्यते इति ॥

इदानीं कपायविशेषनिर्जयं गायानामेकान्नविशल्या व्याचक्ष्णः पूर्वं क्षमालक्षणं प्रतिपक्षादिभावनास्वभावं  
क्रोधनिर्जयोपाय गाथासप्तकेनाह—

मूलारा—सवदि आक्रोशति । असंतेण अविद्यमानदोषेण अहेतुना । तं णत्थि मेत्ति खमिदब्बं स शापनिमित्त

तथा 'परेणावधारितो' दोषो मम नास्तीति क्षमा कार्यो । असदोषख्यापनेनास्य मम किं नष्टमिति । अणुकंपं अनुकंपां । अयं वराकोऽसज्जल्यनेन मूर्खिः खावहं दुष्कृतभारं अर्जति, नहि मदीयैर्दोषैरस्य किंचिद्दोषज्ञातमायति गुणैर्वो गुणं जात । ततो मुद्योनेन पापं वध्यते इति क्षमामयीं चिन्तां आक्रोशके कुर्यात् । एवभूते हि क्षान्त्यनुकंपाभावेन सद्यः कोप-मपसारयतः ॥

अर्थ—मेने इसको अपराध किया नहीं तो भी यह पुरुष मेरेपर क्रोध कर रहा है गालि दे रहा है, मैं तो निरपराधी हूँ ऐसा विचार कर उसके ऊपर क्षमा करनी चाहिये इसने मेरे असदोषका कथन किया तो मेरी इसमें कुछ भी हानि नहीं है अथवा क्रोध करनेपर दया करनी चाहिये, क्योंकि यह दीन पुरुष असत्य दोषोंका कथन कर पायोपार्जन कर रहा है, यह पाप उसको अनेक दुःखोंको देनेवाला होगा मेरे दोषोंसे न इसमें दोष उत्पन्न होते हैं और न मेरे गुणोंसे इस में गुण पैदा हो जाते हैं, प्राणिओंके गुण दोष उनके साथ ही संबद्ध रहते हैं अतः सुख दुःखका सवध ही नियत प्राणिओंसे ही रहता है अतः दीन व्यर्थ ही कर्मवध कर रहा है ऐसा विचार कर असदोष कहने वालेपर दयाभाव रखना चाहिए

चिन्ता करुणाद्विषका रोप परुषमपसारयति—

जदि वा सवेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदब्बं ॥

सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीय तेण भणिदस्सि ॥ १४२१ ॥

सत्थेऽपि सर्वतो दोषे सहनीय मनीषिणा ॥

विष्यते मम दोषोऽयं न मिथ्यानेन जल्पितम् ॥ १४७८ ॥

विजयोक्त्या—जदि वा सवेज्ज यदि वा शोष्य सता दोषेण तथापि क्षमा कार्यो । सोऽनेन कथ्यमानो दोषो ममास्ति न व्यलीकं तेनोक्तमिति संकल्पयता । न हि सतो दोषा, परे चेष्टुवन्ति विनश्यति ॥

मूलारा—जदिवा सवेज्ज इत्यादि । लोको हि प्रायेणसतोऽपि दोषाख्यति । किं पुनः सतस्तत्कोऽस्य दोषो न कश्चिन्मपैवायं प्राक्तनदुर्देवानुभावो येनाहमेवविषं दोषं जानन्नपि न त्यक्तुं शक्नुयामिति तत्त्वज्ञानभावनामयीं क्षमां कुर्यादिति तात्पर्यं ॥

करुणात्मक विचार कठोर रोषको दूर करता है—

अर्थ—यदि मेरेमें दोष हैं और इसने मेरे सत्य दोषोंका कथन किया है तो भी इसके ऊपर क्षमा करना मेरा कर्तव्य है. इसने जो दोष कहा है वह मेरा है ही. इसने असत्य तो कहा ही नहीं ऐसा विचार कर क्षमा करनी चाहिए, विद्यमान दोषोंको कोई कहे तो क्या वे नष्ट होजाते हैं ?

यो यस्य समुपकारं महातं चेतसि करोति स तस्यापराधं अल्प सहते इति प्रसिद्धमेव लोके इति कथयति—

सत्तो वि ण चैव हदो हदो वि ण य मारिदो चि य खमेज्ज ॥

मारिज्जंतो विसहेज्ज चैव धम्मो ण णट्ठोत्ति ॥ १४२२ ॥

शसोऽस्मि न हतोऽनेन निहतोऽस्मि न मारितः ॥

मरणेऽपि न मे धर्मो नश्यतीति विषद्यते ॥ १४७९ ॥

विजयोदया—सत्तो चैव शस एवासि न हत. इत्यहन्न गुणं पृथुं चेतसि संस्थाप्य किमेनेन शपनेन मे नष्टमिति क्षन्तव्यं । एवमितरत्रापि योज्य । हत एव न वृत्त्यु प्रापित. । मार्यमाणोऽपि सहत विपन्नमूर्लनक्षमोऽभिलषितसुखस-पावनोद्यतो धर्मो न विनाशित इति ॥

यो यदीय महात उपकार चित्ते करोति स तदीयमल्पमपराधं सहते इति लोकप्रसिद्धेतैव मार्गेण क्रोधाद्व्या-तैयति—

मूलारा—सत्तोन्हि चैव शस एवासि । ण हदो न कशादिभिस्ताडितः । एवमहन्नं महातं गुणं चेतसि संस्थाप्य किमेनेनास्य शपनेन मम नष्टम् । यावन्न ताडयतीति वा आक्रोष्टरि क्षमा कुर्यात् । एवमितरत्रापि योज्यम् । धम्मो समस्तविपदपसारणप्रवणः सकलसुखसपादनोद्यतो वृषो ममानेन न नाशित इति ॥

जो जिसके ऊपर महान उपकार करता है वह उसका अल्प अपराध सहता है यह लोकोक्ति जगतमें प्रसिद्ध ही है. इसीका विवेचन—

अर्थ—इसने मेरे को गालीही दी है इसने मेरे को पीटा तो नहीं है. अर्थात् न मारना यह इसमें महान् गुण है इसने गालि दी है परन्तु गालि देने से मेरा तो कुछ भी नुकसान नहीं हुआ अतः इसके ऊपर क्षमा करना ही मेरे लिए उचित है. ऐसा विचार कर क्षमा करनी चाहिए इसने मेरे को फक्त ताड़न ही किया है. मेरा वध तो

नहीं किया है वध करने पर भी क्षमा करनी चाहिए मेरा धर्म संकटको दूर करनेवाला और इच्छित सुख देने वाला है वह धर्म इसने नष्ट नहीं किया है इसने यह महान् उपकार मेरे ऊपर किया है ऐसा मानकर क्षमा ही करना योग्य है.

उपायांतरमपि रोपविजये निरूपयति—

रोसेण महाधम्मो णातिज्ज तणं च अग्गिणा सब्बो ॥

पावं च करिज्ज माहं बहुगंपि णरेण खमिद्वं ॥ १४२३ ॥

क्रोधो नाशयते धर्मं विभावसुरिवेन्धनम् ॥

पापं च कुरुते घोरमिति मत्वा विपश्यते ॥ १४८० ॥

विजयोदया—रोसेण महाधम्मो दुरजंतो दुर्लभतरो धर्मोऽनुयायी रोसेण मदीयो नश्यति ॥ अग्निना दृणमिव ।  
तथा चाभ्यघायि—

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्ववमानवातैः ।

संघुक्षित परुषवागुरुविस्फुल्लिगः ।

हिंसाशिवोऽपि भृशसुत्थितवैरधूमः ॥

क्रोधाग्निरुद्दति धर्मवन नराणा ॥ इति ॥

पापं वा कुर्यान्ममाय कोपस्तद्वेकदुःखवीजमिति चित्ते वा क्षमा कार्या ॥

उपायांतरमपि रोपविजयेन्नवीति—

मूलरा—महं मम दुर्ज्ञातो दुर्लभो दुश्चरोऽनुगामी व मे धर्मो नितिशेषोऽपि रोसेण नश्यतीति भावयेत् ।

तथा चोक्तम्—

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्वपमानवातैः

संघुक्षितः परुषवागुरुविस्फुल्लिगः ॥

हिंसाशिलो भृशसुत्थितवैरधूमः ।

क्रोधोऽग्निरुद्दति धर्मवनं नराणाम् ॥

मोहं मम रोपो भूरिपापं कुर्यात् तन्नाशनकमवदुःखवीजं इति चिंतय्य क्षमा कार्या । अथवा पावं करेज माहं पापं मा कुर्यां महारोषेणेति नियोज्यम् ॥

और भी उपाय कहते हैं—

अर्थ—जैसे अभिसे सर्व गुण नष्ट होता है जलकर खाक होता है वैसे अतिशय दुर्लभ, परमवर्ग साय आनेवाला, बड़े कष्टसे प्राप्त किया गया सद्गर्म क्रोधसे नष्ट होता है

पूर्वाचार्य इस विषयमें ऐसा कहते हैं—

यह क्रोधरूप अग्नि अज्ञान रूपी इंधनसे उत्पन्न होता है, अपमानवायुमें भस्म ऊठता है, कठोर वचनरूपी स्फुल्लिंगसे युक्त है, हिंसा रूपी ज्वालासे युक्त है और अतिशय प्रगट ऐसा वैरही इसका धूम है ऐसा यह क्रोधाग्नि मनुष्यके धर्म रूपी वगीचिका क्षणात् नाश करता है । मे यदि क्रोध करूंगा तो मेरेमें पाप होगा. पाप अनेक दुःखोंका बीज है. इस प्रकारका विचार कर मनमें क्षमा करना चाहिये.

उपायातरमपि वदति—

पुण्वकदमज्झपावं पत्तं परदुःखकरणजादं मे ॥  
रिणमोक्खो मे जादो मे अज्जत्ति य होदि खमिदब्बं ॥ १४५४ ॥

परदुःखक्रियोत्पन्नमुदीर्णं कल्मषं मम ॥  
ऋणमोक्षोऽधुना प्राप्तो विज्ञायेति विपद्यते ॥ १४८१ ॥

विजयोदया—पुण्वकदमज्झपावं पापगमद्वारमजानता अनेनापि प्रमादिना पूर्वं कृत यत्कर्म पापं येरेया दुःखकारणं तदद्य निवर्तित । ऋणमोक्षोऽद्य मम जात इति चिंतयताऽपसारयितव्यो रोप ।

मूलारा—पुण्वकदं पापास्त्रकारण जानताऽजानतापि वा प्रमादवता सता यत्पुरोपाजितं तदिदं पापमयोदितममेति संबधः ॥ ऋणमोक्षो ऋणमोचन । अज्जत्ति अचेति । उक्तं च—

परदुःखक्रियोत्पन्नमुदीर्णं कल्मषं मम ॥

ऋणमोक्षोऽधुना प्राप्तो विज्ञायेति विपद्यते ॥

और श्री उपाय बतलाते हैं—

अर्थ—मैंने पूर्व जन्ममें दूसरोंको दुःख देकर पापबन्ध कर लिया था. पाप आनेका कारण नहीं जानते हुए इस प्रमादी मनुष्यने मेरा पाप अब उदयावस्थामें लाया है अतः मैं इस क्रणसे आज मुक्त हो रहा हूं ऐसा विचार कर दुःख देनेवालोंपर क्षमा धारण करनी चाहिये अर्थात् कोपको अपने मनसे हटाना चाहिये

पुनर्वं सयमुवमुत्तं काले णाएण तंत्तियं दब्बं ॥

को धारणीओ धणियस्स दित्तओ दुक्खिओ होज्ज ॥ १४२५ ॥

अनुमुत्तं स्वयं यावत्काले न्यायेन तत्समम् ॥

अधमर्णस्य किं दुःखमुत्तमर्णाय यच्छतः ॥ १४८२ ॥

विजयोदया—पुनर्वं सयमुवमुत्तं पूर्वं स्वयमेव मुक्त, अवधिकाले प्राप्ते । णायेण नीत्या । उच्च अधमर्ण उत्तमर्णाय प्रयच्छन् को दुःख करोति ॥

पूर्वजन्मविराद्वेन परेणोदीरितं तद्विराधनोपार्जितं पापमनुभवतो मे किं दुःख स्यादधमर्णाय पूर्वमुत्तमर्णाय स्वयं मुक्तं द्रव्यं तावन्मात्रमेव यथा व्यवहारमवधिकाले प्राप्ते दहत इत्येवापकर्तरी दीप्यमानस्य कोपस्य निमग्नार्थमुपायातर-मुपविशति—

मूलारा — णाएण धर्माचारेण । धारणिओ ऋणिकः ॥

अर्थ—जैसे साहुकारसे द्रव्य लाकर उसका उपभोग लिया परंतु उसका धन मर्यादा काल आनेपरभी लौटाया नहीं परंतु अब धन लौटानेका समय यदि प्राप्त हुआ है तो अवश्य साहुकारको उसका धन वापिस देना चाहिये उसका धन उसको देनेमें कोन दुःख करेगा वैसे इस मनुष्यको पूर्व जन्ममें दुःख देकर पापोपाज्जेन किया था अब यह मेरेको दुःख दे रहा है यह योग्य ही है इसने दिया हुआ दुःख मैं यदि शांत भावसे सहन करूंगा तो मेरा पापकर्म सब नष्ट हो जायगा मैं इस पाप क्रणसे रहित होकर सुखी होऊंगा ऐसा विचार कर रोप नहीं करना चाहिये.



इह य परत्त य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोधो ॥

इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिद्व्यो हवइ कोधो ॥ १४२६ ॥

निपेवितः कोपरिपुयतोऽङ्गिनां ददाति दुःखान्मुभयत्र जन्मनि ॥

निकर्तनीयः शमखड्गधारया तपोवियोधैः स ततोऽन्यदुर्जयः ॥ १४८३ ॥

विजयोदया—स्पष्टा ॥

मूलारा—स्पष्टम् । क्रोधनिर्जयः ॥

अर्थ—इस लोकमें और परलोकमें यह क्रोध अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा विचार कर क्रोधका परिहार—त्याग करना चाहिये.

उत्तरा गाथा-क्रोधजयोपायभूतान्परिणामानुपदश्यं मानप्रतिपक्षपरिणामं निरूपयति—

को एत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्स ॥

उच्चत्ते य अणिच्चत्ते उवाहिदे चावि णीचत्ते ॥ १४२७ ॥

नीचत्वे मम किं दुःखमुच्चत्वे को ऽत्र विस्मयः ॥

नीचत्वोच्चत्वयोर्नास्ति नित्यत्वं हि कदाचन ॥ १४८४ ॥

विजयोदया—को एत्थ मज्झ माणो कोऽत्रासकृतप्राप्तेऽज्ञानादेकतन्त्रयतत्वे गर्वो मम बहुशो शानकुलरूपतपो द्रविणप्रभुत्वैरुन्नततां प्राप्तस्य प्राप्तेऽप्युन्नतत्वे अनवस्थायिनि सति उपस्थिते चोत्तरकालनीचत्वे ॥

मानजयोपाय गाथाचतुष्केणोपदिशति—

मूलारा—एत्थ अत्र वर्तमाने ज्ञानादेरुन्नताय । अणिच्चत्वे उच्चत्वे च दैववशात्प्राप्तेऽनवस्थायिनि सति । किं मम बहुवाराभीचत्वमपि प्राप्तस्यापि प्राप्तस्य प्राप्ते गर्व इति मार्दव भावयेत् इति भावः ॥

उक्तं च—

नीचत्वे मम किं दुःखमुच्चत्वे कोऽत्र विस्मयः ।

नीचत्वोच्चत्वयोर्नास्ति नित्यत्वं हि कदाचन ॥

मानके प्रतिपक्ष भूत परिणामोंका वर्णन करते हैं—

अर्थ—मैं इस संसारमें अनतवार नीचावस्थामें उत्पन्न हुआ हूं. उच्चत्व और नीचत्व ये दो अवस्थायें नित्य नहीं हैं. कुछ काल रहकर नष्ट होती हैं ज्ञान, कुल, रूप, संपत्ति, प्रभुत्व ये अनेकवार इस जीवको प्राप्त हुए हैं ये प्राप्त होकर भी पुनरपि नष्ट हो चुके हैं और पुनः नीचत्व प्राप्त हुआ है अतः अभिमान करना फिजूल है

अधिगेसु बहुसु संतेसु ममादो एत्थ को महं माणो ॥

को विब्भओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते ॥ १४२८ ॥

परेषु विद्यमानेषु किं दुःखमधिकेषु मे ॥

योनिहीनेष्वहंकारः संसारे परिवर्तिनि ॥ १४८५ ॥

विजयोदया—स्पष्टा ॥

मूलारा—ममादो मत्सकाशात् । विब्भओ हर्षः ॥

अर्थ—कुल, रूप, संपत्ति इत्यादिक ज्ञातोंमें मेरेसेभी अधिक श्रेष्ठ लोक जगतमें हैं अतः इसमें मेरा अभिमान करना व्यर्थ है तथा ऐसा उच्चत्व मेरेको पूर्वकालमें अनेक बार प्राप्त हुआ था इसलिये इसमें आश्चर्य चकित होना भी मेरे लिए अयोग्य है

उत्तरगाथा—

जो अवमाणकरणं दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो ॥

सो णाम होदि माणी ण दु गुणचत्तेण माणेण ॥ १४२९ ॥

स मानी कुरुते दोषमपमानकर न यः ॥

न क्षुर्याणः पुनर्मानमपमानविवर्द्धकम् ॥ १४८६ ॥

विजयोदया—जो अयमाणकरणं योऽवमानकरणं दोषं परिहरति नित्यमुपयुक्तः स मानी भवति । न तु भवति मानी गुणविक्रान्तं मानेन ॥

अलौकिकमानित्वोपदर्शनद्वारेणाहंकारनिराकरण कारयितुमाह—

मूलरा—अवमाणणकरणं परिभवकरं स्वस्य परस्य वा । दोसं कुलतपोनिद्यादिभिरात्मोक्तपसंभावन परप्रध-  
र्पणं वा । आउत्तो सर्वत्र समाहितः । सो णाम स एव मानी भवति । तन्माहात्म्यस्य केनापि गंडयितुमशक्यत्वात् ।  
गुणरित्तेण स्वपरपराभवकरणमानाख्यदोषदोषनित्यपरिहरणलक्षणगुणपरिहीनेन । भाणेण सत्त्वत्वभात्रेण । तन्माहात्म्य-  
खंडनस्य येन केनापि कर्तुं शक्यत्वात् ॥ उक्तं च—

स मानी कुरुते दोषमपमानकर न यः ॥

न कुर्वाणः पुनर्मानमपमानविवर्धकम् ॥

अर्थ—जो पुरुष अपमानका कारण ऐसे दोषका त्याग करता है और हमेशा दोषरहित प्रवृत्ति रखता है उसको ही मानी समझना योग्य है. गुणरहित होनेपर भी मान करनेसे कोई मानी नहीं माना जासकता है

इह य परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो ॥

इदि अप्णो गणित्ता माणस्स विणिग्गहं कुज्जा ॥ १४३० ॥

द्वितयलोकभयंकरसुत्तमो विविधदुःखशिलाततदुर्गमम् ॥

प्रबलमार्दववज्राविघाततो नयति माननगं शतम्बडनम् ॥ १४८७ ॥

इति माननिर्जयः ॥

विजयोदया—इह य परत्तय जन्मद्वये दोषान्बहुनावहति मानमिति विगणय्य माननिग्रहं कुर्यात्साधुजन ॥  
मूलरा—स्पष्टम् । माननिर्जयः ॥

अर्थ—इस जन्ममें और परजन्ममें यह मानकपाय बहुत दोषोंको उत्पन्न करता है. ऐसा जानकर सत्पुरुष मानका निग्रह करते हैं अर्थात् मानका त्याग करते हैं.

मायाप्रतिपक्षपरिणामस्वरूपं निगदति—

अदिगृहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण णज्जंति ॥

मायाए पउत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो ॥ १४३१ ॥

दोषो निगुह्यमानोऽपि स्पष्टतां याति कालतः ॥

निक्षिप्तं हि जलेवर्चो न चिर व्यवतिष्ठते ॥ १४८८ ॥

विजयोदया—अदिगृहिदा वि दोसा अतीव सबूता अपि दोषा जनेन क्षायते कालातरे मायया प्रयुक्तया को गुणो लब्ध इति चित्तया निश्चिति ॥

मायाजयोपाय गाथापंचकेनाह—

मूलरा—अदिगृहिदा सुष्ठु गोपिताः । लब्धो येन वचना प्रयुज्यते इत्यार्जवभावनया माया निर्जयेदिति तात्पर्यम् ॥

मायाका प्रतिपक्षी परिणामका स्वरूप आचार्य कहते हैं—

अर्थ—दोषोंको अतिशय छिपाने पर भी कालांतरसे कुछ काल व्यतीत होनेके बाद वे दोष लोकोंको मालूम पड़ते ही हैं, इसलिये मायाका प्रयोग करने पर भी क्या फायदा होता है ? ध्यानमें नहीं आता

पडिभोगमि असंते गियडिसहस्सेहिं गूहमाणस्स ॥

चंदग्गहोव्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ॥ १४३१ ॥

जणपायडो वि दोसो दोसोत्ति ण वेप्पणु समागस्स ॥

जह समलत्ति ण विप्पदि समलं पि जए तलायजलं ॥ १४३३ ॥

प्रकटोऽपि जनैर्दोषः सभाग्यस्य न गृह्यते ॥

समलं मलिनं केन गृह्यते सारसं जलम् ॥ १४८९ ॥

नीचेन छायामानोऽपि स्पष्टतामेति निर्मलः ॥

राट्टणा पिहितंश्चंद्रो भूयः किं न प्रकाशते ॥ १४९० ॥

विजयोदया—जणपायडो वि दोसो लोकप्रकटोऽपि दोषो दोष इति न गृह्यते भाग्यवत् । यथा समलमिति सदृश । पतदुक्त भवति पुण्यवतोऽपि मायया न किंचित्साध्यं । प्रकटोऽपि दोषे यतोऽसौ जगति मान्यः । दोषविनिगूहं हि मान्यताविनाशमयति भावः ॥

किं च कृतदोषाविर्भावतिरोभावौ भाग्यानुदयोदयाधीनौ न पुरुषाकारायतौ तत्किमर्थं राक्षसीवापायप्राया माया प्रतायते इति शिक्षयति—

मूलारा--पडिभोगस्मि पुण्ये । चंदगहो सोमग्रहणं । एता श्रीविजयो नेच्छति ॥  
 भाग्यशालिनो दोषमपि दोष इत्यग्रीत्वा लोको मानना करोति इति पुण्यवतो मायया न किंचित्साध्यं तथा-  
 प्यसौ प्रयुज्यमाना मान्यवसेव विनाशयेत् इति शिक्षयति--

मूलारा--स्पष्टम् ॥

अर्थ--उत्कृष्ट भाग्य यदि न होगा तो हजारों कपट करके दोषोंको छिपाने पर भी वे प्रगट होते ही हैं।  
 जैसे चंद्रको राहू ग्रास लेता है यह बात छिपती नहीं सर्व जनप्रसिद्ध होती है, वैसे दोष छिपानेका कितना भी  
 प्रयत्न करो परंतु यदि तुम पुण्यवान न होंगे तो तुम्हारे दोष लोगोंको मात्स्र होंगे ही।

अर्थ--जो माग्यवान मनुष्य है उसका दोष सर्व जनोंको प्रत्यक्ष होनेपर भी लोक उसको दोष मानते  
 नहीं हैं जिस तालावका पानी मलिन होनेपर भी उसके मलिनपनके तर्फ जव लक्ष्य नहीं देते हैं, इससे यहां  
 यह अभिप्राय समझना चाहिए-- पुण्यवान् कपट करनेकी कुल भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दोष प्रगट  
 होनेपर भी श्रीमान मान्य होते ही हैं मान्यताका नाश होगा इस भयसे दोषोंको छिपाते हैं परंतु जब मान्यताका  
 नाश होनेका भय ही नहीं है तो कपट करनेकी क्या आवश्यकता है

अथ माया करोत्यर्थोयं तथापि सानर्थिकेति वदति--

डंभसएहि बहुगेहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स ॥

हत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो ॥ १४३४ ॥

दंभेऽर्थः क्रियमाणेऽपि विपुण्यस्य न जायते ॥

आयाति स्वयमेवासौ सुकृते विहिते सति ॥ १४३५ ॥

विजयोदया--डंभसदेहिं बहुगेहिं दंभशतैर्बहुमि सुप्रयुक्तैरपि अपुण्यस्य हस्तं नात्यर्थः । अन्यस्मात्पुण्यात् ॥  
 विपुण्यस्य मायाप्रयोगो धनसाधनायपि न स्यादिति बोधयति--

मूलारा--अपडिभोगस्स अपुण्यस्य । अण्णादो अन्यस्माद्वंचनाविपयीकृतात् । सपडिभोगादो सपुण्यात् ॥  
 धनके लिये माया करते हैं यह कहना भी व्यर्थ है ऐसा कहते हैं--

अर्थ—सैकड़ों कपट प्रयोग करने पर भी और बेमालूम कपट प्रयोग करने पर भी पुण्यवान मनुष्यसे भिन्न मनुष्यको अर्थात् पापी मनुष्यको धन प्राप्त नहीं होता है तात्पर्य—कपट करनेसे धन प्राप्ति होती नहीं वह पुण्यसे ही मिलता है.

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया ॥

इदि अप्पणो गणिता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥ १४३५ ॥

वितरति विपुला निष्कृतिधरित्री बहुविधमसुखं दुरितसवित्री ॥

इयमिति निहता विपुलमनस्कै ऋजुगुणपविना विमलयशस्कैः ॥ १४९२ ॥

इति मायानिर्जयः ॥

विजयोदया—इह य परत्त य इहपरलोकयोर्बहुन्योपानवदति माया । इति आत्मनि निरूप्य परिहृतं भवति माया ॥

मूलारा—सष्टम् । मायानिर्जयः ॥

अर्थ—इहपरमवर्मे मायासे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा जानकर मायाका त्याग करना चाहिये

लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्म अपडिभोगस्स ॥

अकएवि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवंत्तस्स ॥ १४३६ ॥

संपद्यते सपुण्यस्य स्वयमेत्यान्यतो धनम् ॥

हस्तप्राप्तमपि क्षिप्रं विपुण्यस्य पलायते ॥ १४९३ ॥

विजयोदया—लोभे कदे लोभे कृत्यर्थो न भवति पुण्यस्य अपुण्यस्य । अकृतेऽपि लोभे पुण्ययतः । ततः अर्थो-सत्किर्यलोभे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यनया चितया लोभो निराकार्यः ॥

लोभजयोपायं गायत्र्येणाह—

मूलारा—पडिभोगवत्तस्म पुण्यवतः । अर्थोसत्किर्यलोभमितिचित्तमपि तु पुराकृतं पुण्यमित्यनया चितया शौच-मनुष्यत्वं लोभं निराकुर्यादितिभावः ॥

अर्थ—लोभ करनेपरभी पुण्यरहित मनुष्यको द्रव्य मिलता नहीं है और लोभ न करनेपर भी पुण्यवान को धनकी प्राप्ती होती है इसलिये धनप्राप्ति होती है इसलिये धनप्राप्ति होनेमें धनामक्ति कारण नहीं है परन्तु पुण्य ही कारण है ऐसा विचार कर लोभ का त्याग करना चाहिये.

अपि च अर्थप्राप्तये जन प्रयतते नर्या पुनरसकृत्प्राप्तास्त्यक्ताश्च तेषु को विस्मय इति मनःप्रणिधानं कु-  
लोभविजयोत्येति वदति—

सव्ये वि जए अत्या परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे ॥  
अर्थेसु इत्थ को मज्झ विमओ गहिदविजडेसु ॥ १४३७ ॥

संसारेऽदाद्यमानेन प्राप्ता सवै सहस्रज्ञ ॥

विस्मयो लब्धसुक्तेषु कर्तेषु मम सांप्रतम् ॥ १४३४ ॥

विजयोदया—सव्ये वि जये अत्या सर्वेऽपि जगत्पार्था परिरुहीता मयान्तवार ममायैष्यमीषु को विस्मयो  
गृहीतसुक्तेषु ॥

उपायातरमाह—

मूलारा—स्पष्टम् । लोभनिर्जयः ॥

धन प्राप्त्यर्थं लोक यत्न करते हैं धन तो अनेक बार मिल गया था और नष्ट भी हुआ था इसलिये धनमें आश्चर्य करना फिजूल है लोभ विजयके लिये ही है क्षणिक मनको स्थिर कर ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं—  
अर्थ—इस वैलोक्यमें मैंने अनंतवार धन प्राप्त किया है अतः अनंतवार ग्रहण कर त्यागो हुए इस धनके विषयमें आश्चर्य चकित होना फिजूल है

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ॥

इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदब्बो हवदि लोभो ॥ १४३८ ॥

लोकद्वये दुःखफलानि दत्ते गार्धक्यतोयेन विवर्द्धितोऽयम् ॥

संतोषशस्त्रेण निकर्तनीयः स लोभवृक्षो बहुलः क्षणेन ॥ १४९५ ॥

कपायचौरानतिदुःखकारिणः पवित्रचारिधनापहारिणः ॥

श्रृणोति यश्चारिधमार्गैः करस्थितास्तस्य मनीषिताः श्रियः ॥ १४९६ ॥

इति लोभनिर्जयः ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायत्तिगद ।

मूलारा—सष्टम् ॥ लोभनिर्जयः ॥

अर्थ—इहपरलोकमें यह लोभ अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा समझकर लोभकपायपर विजय प्राप्त करना चाहिये, इन्द्रिय और कपायोंका वर्णन समाप्त हुआ

एवमिन्द्रियकपायपरिणामनिरोधोपायभूतान्परिणामानुपविश्य निद्राजयक्रम निरूपयति सूत्रि —

णिहं जिणाहि णिच्चं णिद्वा हु णरं अचेयणं कुणह् ॥

वट्टिज्ज हु पासुतो खवओ सव्वेसु दोसेसु ॥ १४३९ ॥

निद्रां जय नरं निद्रा विदधाति विचेतनम् ॥

सुप्तः प्रवर्तते योगी दोषेषु सकलेष्वपि ॥ १४९७ ॥

विजयोदया—णिहं जिणाहि निद्रा जय । अजिता सा किमपकारं करोति इत्याशंक्य आह—णिद्वा हु णर अचेयणं कुणह् निद्रा नर अचेतनं करोति । चैतन्यरहितावस्थाभावात्किमुच्यते अचेतनं करोतीति । अत्रोच्यते—विवेकज्ञानरहितत्वमेवात्राचेतनशब्देनोच्यते । यत एव योग्यायोग्यविवेकज्ञानरहित अत एव । वट्टिज्ज हु वर्तते एव । पासुतो प्रकर्षेण सुप्त । खवगो क्षपक । सव्वेसु दोसेसु हिंसामैथुनपरिग्रहादिकेषु ॥

एवमिन्द्रियकपायजन्यान्सर्वहेतुनुपविश्य तत्प्रकरणानुरोधतः सक्तं निद्राजयोपाय सोपायं गाथादशकेनोपदिशति मूलारा — जिणाहि जय त्वं । अचेयणं युक्तयुक्तविवेकविमुक्त । दोसेसु हिंसादिषु ॥

इन्द्रिय कपाय परिणामोंका निरोध करनेमें उपायभूत परिणामोंका यहाँतक आचार्यने विवेचन किया अब निद्राजयका क्रम कहते हैं —

अर्थ—हे क्षपक 'तू निद्राको जीत ले, निद्राको न जीतनेसे क्या हानि होती है इस शंकाका उत्तर ऐसा है—निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है आत्मामें चैतन्यरहित अवस्थाका अभाव ही है अतः निद्रा अचेतन करती है, ऐसा क्यों



कहा है ? उत्तर—विवेकज्ञानका अभाव निद्राके समय होता है अतः निद्रा मनुष्य को अचेतन करती है ऐसा कहा है योग्यार्थोपविवेकज्ञान न होनेसे आत्मा अचेतन होता है, ऐसा कह सकते हैं गाढ़ निद्रित हुआ मनुष्य हिंसा, मैथुन, परिग्रहादिक दोषोंमें प्रवृत्त होता है।

निद्रा कर्मोदयवशाद्भवति कथं मर्यापकतव्या इत्यत्राह—

जदि अधिवाधिज्ज तुमं णिदां तो तं करेहि सज्झायं ॥

सुहुमत्ये वा चित्तेहि सुणव संवेगणिब्बेगं ॥ १४४० ॥

यदा प्रयाधते निद्रा स्वाध्यायं त्व तदाश्रय ॥

अर्थानणीयसो ध्यायन्कुं संवेगनिर्विदौ ॥ ४९८ ॥

विजयोदया—जदि अधिवाधिज्ज तुम यद्यधिवोधेत भवत निद्रा । ततस्त्व कुरु स्वाध्याय । सुहुमत्ये वा चित्तेहि सुहृमानर्थान् चितय । सुणव संवेगणिब्बेगं शृणुष्व संवेजनीं निर्वेजनीं वा कथा ॥

दर्शनावरणोदयोद्रेकादाविशनी निद्रा कथं मया निरोद्धुं शक्येत्यत्राह—

मूलारा—तुमं त्वं । सुण व शृणु वा । संवेगणिब्बेव संवेजनीं निर्वेजनीं वा कथाम् ॥

निद्रा कर्मके उदय म आती है अतः वह भरेसे कर्मा दटाई जा सकेगी इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—  
अर्थ—यदि निद्रा तुझका सतावगी तो तू स्वाध्याय कर, सूक्ष्म पदार्थोंका विचार कर, संवेजनी और निर्वेजनी कथाओंका भी श्रवण कर ये निद्रा जीतनेके उपाय हैं

प्रकारातर निद्राविजयेहवु निगदति—

पीदी भए य सोगे य तथा णिदा ण होइ मणुयाणं ॥

एदाण तुम तिण्णिवि जागरणत्थ णिसेवेहिं ॥ १४४१ ॥

निद्रा प्रीती भये शोके यतः पुंसो न जायते ॥

निर्जयाय ततस्तस्यास्त्वमिदं चित्तयं भज ॥ १४४२ ॥

विजयोदया—पीदी अप य सोगे प्रीत्यां भये शोके च सति निद्रा मनुष्याणा न भवति । तेन प्रीत्यादिसंवां कुरु त्व निद्राविजितये ॥

मूलारा—प्रीत्यादित्रये सति नोदेति ॥

निद्राविजयके लिए दूसरा उपाय.

अर्थ—प्रीति, भय और शोक इनमेंसे कोई भी विकार होनेपर निद्रा नहीं आती है. इसलिए निद्रा विजयार्थ तं प्रीत्यादिकका सेवन कर.

प्रीतिभयशोकाना अशुभपरिणामत्वात्कामांस्त्रयानिमित्ता । निद्राया वा अवशिष्टत्वात् कथ वा सवराथिनो निरूप्यते प्रीत्यादिक इत्याशकाया सवरहेतुभूततया तद्वयपदेश प्रति नियनविषयमुपदर्शयति—

भयमागच्छसु संसारादो पीदिं च उत्तममृम्भि ॥

सोर्गं च पुरादुच्चरिदादो णिद्वाविजयहेतुं ॥ १४४१ ॥

ज्ञानाचारार्धने प्रीतिं भयं संसारदुःखतः ॥

पापे पूर्वजिते शोकं क्षिद्रां जेतु सदा कुरु ॥ १५०० ॥

नि...—भयमागच्छसु भयं प्रतिपद्यस्व । संसारादो संसारात् पञ्चविधपरिवर्तनरूपात् । प्रीतिं रत्नत्रयाराधनाया । शोक उपेक्षितं धृक्कृताद्विश्रितात् । निद्रा विजेतु नरकादिगतिष्वसकृत्परिवर्तमानेन शारीरमागतुकं, मानसिकं, स्वाभाविकं च दुःखं विचिन्तयितुं तत्पुनरुपायास्यति इति मनः प्राणिधेहि । सकलामापत्सहतिमुन्मूलयितुं, अभ्युदयनिश्चयसंख्यानं च प्रापयितुं, अस्सारशरीरभारमपनेतुं, अनतावबोधदर्शनसाम्राज्यश्रियमाकण्डुं, कर्मविपविटपासुत्पादयितुं क्षमामिमां, अनन्तेषु भवेषु अनवाप्तपूर्वा रत्नत्रयाराधनां कर्तुं उद्यतोऽस्मीति प्रीतिर्भावनीया । हिंसानुतस्तेयाग्रहपरित्रहेषु मिथ्यात्वकार्येणभूमनोवाकाङ्क्षयोगेषु च विचित्रकर्मार्जनमूलेषु चतुर्विधवधपर्यायनिमित्तेषु अनारत मदभाग्यप्रवृत्तौऽस्मि हिताद्विताविचारणाविमुग्धवुद्धितया सन्मार्गस्वपक्षेष्टृणामनुपलभ्यप्रवर्तमानवरोधोद्वेग्यास्तदुदीरितार्थानवबोधोधात् । अवगमे सत्यप्यश्रद्धाया, चारित्र्यमोहोदयात्सन्मार्गेऽप्रवृत्तेऽप्य दुःखामोघो निमग्नोऽस्मीत्युद्विग्नचित्ततया च निद्रा प्रयाति ॥

सवरार्थं निद्रा जिगीपता । किं विषयं प्रीत्यादित्रय विधेयमित्याह—

मूलारा—प्रतिपद्यस्व । नरकादिगतिषु असकृत्परिवर्तमानेन शारीरमागतुकं, मानसं, स्वाभाविकं च दुःखं मयासुभूतं तत्पुनरपीदमयातीति चेतः प्राणिधेहीत्यर्थः ॥

उत्तमश्रुस्मि रत्नत्रयाराधनाया सर्वा विपदो निराकर्तुमभ्युदयनिःश्रेयससंपदः सपादयितुं, कर्मविषवृक्षमुन्मूलयितुं, अनंतज्ञानादिचतुष्टयश्रियमाकण्डुं, असारशरीरभारम्पसारयितुं च समर्थतमामिमामासंसारप्राप्तचरिं रत्नत्रयाराधनां विधा-  
तुमुद्यतोऽस्मि, धन्योऽस्मि, कृतकृत्योऽस्मि, पुण्याहं ममेदमद्योति मीतिं भावयेदित्यर्थः। पुरा दुष्परिदादो पूर्वाचरिते दुराचारे।  
हा कष्टमनादिकालं मिथ्यात्वासायमकपायाऽभ्युपयोगपरावर्तेषु चतुर्विधवधनिबंधनतया विविधचतुर्गतिदुःखप्रवधवि-  
धावेषु मंदभाग्य. कथमहं प्रवृत्तः? हिताहितमीमांसामुद्धतया सन्मार्गोपदेशकं गुरुं लब्ध्वापि प्रवल्जानावरणोदयवशात्  
तदुपदिष्टार्थतत्त्वस्वयानवबोधेऽपि दुर्मथमिथ्यात्वविपाकेनाश्रद्धानेऽपि, दुर्वारचारित्रमोहोद्रेकेण श्रेयोभार्गाप्रवृत्तेऽथ कथमहं  
दुरंतसंसारपापावारदुःखावर्त्तसहस्रेषु सुहृदुर्विद्वत्तोऽस्मीत्युद्विग्नहृदयो भवेदित्यर्थः।

मीति, भय और शोक ये अशुभ परिणाम हैं अतः अशुभ कर्मका आगमन होनेमें ये हेतु हैं. निद्राके समान ये भी त्याज्य है तो मी संवरार्थके लिए इन भयादिकोंका निरूपण आचार्य क्यों करते हैं? इस शंकाका परिहार करनेके लिए प्रीत्यादिकके विषयोंका भी खुलासा करते हैं—

अर्थः—हे क्षपक! तू पंच प्रकारके परिवर्तन रूप संसारसे भययुक्त हो, रत्नत्रयकी आराधना करने में तू प्रेम युक्त हो और पूर्वकृतपापोंके विषयमें मनमें शोक कर. ऐसा करनेसे तू निद्रापर विजय पा सकेगा.

नरकादि गतिओंमें अनेक बार उत्पन्न होकर अनेक प्रकारके शारीरिक, आंगंतुक, मानसिक दुःखोंका तू अनुभव लिया है ये दुःख फिर भी मेरेको प्राप्त होंगे ऐसा विचार कर भययुक्त हो. और अपना मन ध्यानमें एकाग्र कर. यह रत्नत्रयाराधना सर्व संकटसमुदायका नाश करती है अभ्युदय और मोक्षमुख देती है. असार शरीरका भार इस रत्नत्रयाराधनासे दूर होता है इससे जीवको अनंत दर्शन और अनंतज्ञानकी प्राप्ति होती है यह कर्मरूप विषयवृक्षको उखाड़नेमें समर्थ है. इसकी अनंत भवोंमें कभी भी प्राप्ति नहीं हुई थी. मैं आज इसको प्राप्त करनेमें उद्युक्त हुआ हू. ऐसा विचार करके रत्नत्रयाराधनामें प्रीतिकी भावना भानी चाहिये.

हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, मैथुन सेवन और ब्रह्मचर्य ये पांच कुकार्य विचित्रकर्मकी उत्पत्ति करनेमें हेतु है मिथ्यात्व, कयाय, और अशुभ मनोवचन और काय इनसे नाना प्रकारके कर्मोंका जीवन आगमन होता है. उपर्युक्त कारणोंसे प्रकृति, स्थिति चंगरह चार प्रकारके कर्म वधकी उत्पत्ति होती है मंदभाग्यवान में ऐसे कार्योंमें हमेशा प्रवृत्त हुआ था हिताहितविचार करनेवाली बुद्धिकी मेरेमें कभी थी सन्मार्गका उपदेशक न मिलनेसे,

तथा ज्ञानावरण कर्मका उदय होनेमें मेरेको हितज्ञान आजतक नहीं हुआ था अथवा उपदेशक मिलनेपर भी उसके उपदेशका अभिप्रायही मैं नहीं जान सका. कभी ज्ञान होनेपर भी मैंने उस उपदेशपर विश्वास नहीं किया. विश्वास करनेपर भी चारित्र्योद्धारके वंश होकर चारित्र नहीं पाला इसी कारणसे मैं संसारसमुद्रमें डूबा हू इस प्रकारके शोकविचारसे निद्रा नष्ट होती है

जागरणत्वं इच्छेवमार्दिकं कुण कर्मं सदा उत्तो ॥

ज्ञाणेण विणा वञ्छो कालो हु तुमे ण कायव्वो ॥ १४४३ ॥

सदैवमुपयुक्तेन निद्रां निर्जयता त्वया ॥

न ध्यानेन विना स्थेयं पवित्रेण कदाचन ॥ १५०१ ॥

विजयोदया—जागरणार्थं निद्रानिरासार्थं एवमार्दिकं कुरु कर्म सदोपयुक्तं । ध्यानेन विना वंश्यः कालो न कर्तव्यस्त्वया ॥

मूलारा—जागरणत्वं निद्रानिरासार्थं । वञ्छो निष्फलः । तत्तदुपायसिद्धौ पथप्रयोगैर्निद्रामहाव्याधिं जितवन्तापि त्वया सद्व्यायनशून्येन क्षणमपि न स्यातव्यम् । तस्यैव कर्मसंवरणनिर्लेपणकर्मणि धुरीणत्वात् इति भावः ॥

अर्थ—निद्राका नाश करने के लिये इस प्रकारका उपयुक्त क्रम तू कर, और ध्यानके बिना एक कालकला भी तुझको नष्ट करना योग्य नहीं है।

संसाराडविणिच्छदो अणपणीय दोमाहि ॥

सोढुं ण खमो अहिमणपणीय सोढुं व सधरस्मि ॥ १४४४ ॥

न दोषाननपाकृत्य खप्पुं जन्मनि युज्यते ॥

अनर्थकारिणो रौद्रान्पक्षगानिव मंदिरं ॥ १५०२ ॥

विषयोदया—संसाराडविणिच्छरणं मिच्छदो संसाराटविनिस्तरणमिच्छन्ननपाकृत्य योग्यान् न हि स्यन्तु क्षमः ।  
१५०२ ॥ अनर्थकारिणो रौद्रान्पक्षगानिव मंदिरं ॥

यावदोषा न निराकृतास्तावतामिच्छन्मनि स्वापः कर्तुं न युज्यते इति वक्रमणिला निद्राविजयाय सज्जयति ॥  
मूलारा—इच्छादो इच्छन् । बाछतो वा । अन्ये णिच्छिदो इति पठित्वा निश्चययुक्तो मुनिस्त्विर्यमाहुः । अणवणी  
या स्वस्मावनिःसार्य । दोसाहिं रागादिसर्पं । सोढु स्वप्नुं । ण खमो न युक्तोऽसि त्वम् । ण नममिति पाठे न युक्त तवेति  
योज्यम् ॥ अहिं सर्पं ॥ उक्तं च ॥

न दोषाननपाकृत्य स्वप्नुं जन्मनि युज्यते ॥

अनर्थकारिणो रौद्रान्यक्रगानिव मंदिरे ॥

अर्थ—संसाररूप जंगलमेंसे निकलनेकी इच्छासे दोषोंको निना दूर किया ही मोना योग्य नहीं है, क्या  
सर्पको घरमेंसे बाहर निकाले बिनाही घरमें सोना योग्य है ?

को णाम णिरुवेगो लोगे मरणादिअग्निपञ्जलिदं ॥

पञ्जलिदस्मि व णाणी धरम्मि सोढुं अभिलसिज्ज ॥ १४६५ ॥

संसारं युज्यते स्वप्नुं कस्य दोषैः प्रदीपितं ॥

महातापकरैर्गते पावकैरिव भीषणे ॥ १५०३ ॥

विजयोदया—को णाम णिरुवेगो लोगे मरणादि अग्निपञ्जलिदं जातिजरामरणव्याधयः, शोकामयानि,  
प्रार्थनालाभो, अभिमतवियोग इत्यादिनाश्रिना प्रज्वलिते । णाणी सोढुमभिलसिज्ज यानो स्वप्नुमभिलयेत् । पञ्जलिदस्मि  
धरम्मि व प्रज्वलिते गृह इव ॥

भयतरेण निद्रा निराकारयति—

मूलारा—अणुविवगो उद्वेगरहितः ॥ मरणादि मृत्युव्याधिजराजन्ममयमानमंगजोकादि । णाणी सत्त्वजः ।

अर्थ—इस जगतमें कोन निरुद्वेग है अर्थात् किसको भय है नहीं ? सभी मनुष्योंको जन्म, वृद्धावस्था,  
मरण, रोग, शोक, इच्छित वस्तुओंकी प्राप्ति न होना, इष्ट वस्तुओंका वियोग होना एतत्स्वरूप अग्नीसे सब पीडित  
हो रहे हैं ऐसा विचार कर ज्ञानी सोनेकी इच्छा करेगा क्या ? कोनसा ज्ञानी मनुष्य अग्निसे घर प्रज्वलित होने  
पर सोनेकी इच्छा करेगा ?

को नाम गिरुब्बेगो सुविज्ज दोसेसु अणुवसंतेषु ॥

गहिदाउहाण बहुयाण मज्झयारेव सत्तूणं ॥ १४४६ ॥

को दोपेप्पवप्रक्रांतिसु निरुद्धेगोऽस्ति पंडितः ॥

द्विषत्स्विच्च समीपेषु विविधानर्थकारिषु ॥ १४४७ ॥

विजयोदया—को नाम गिरुब्बेगो को नाम निरुद्धेय स्वपेद्रुगविषु ससारप्रवर्द्धनेषु दोपेषु अनुपशान्तेषु  
गृहीतायुधाना शत्रूणां वहना मध्ये इव ॥

मूलारा—मज्झयारे मध्ये ॥

अर्थ—जैसे जिन्होंने हार्थोंम शास्त्रधारण किये हैं ऐसे शत्रुओंके बीचमें निर्भय होकर कौन स्थिर रह सकता है ? वैसे संसारको वधानेवाले रागादिक दोष शांत नहीं होनेपर कौन ज्ञानी पुरुष निर्भयतासे सोवेगा. अर्थात् रागादिक विकार शत्रुके समान इस जीवको कष्ट दे रहे हैं ऐसे प्रसंगमें निद्राधीन होना क्या योग्य माना जायगा ?

णिद्वा तमस्स सरिस्सी अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साणं ॥

इदि णच्चा जिणसु तुमं णिद्वा ज्ञाणस्स विग्घयरी ॥ १४४७ ॥

नास्ति निद्रातमस्तुल्यं पर लोके यतस्तमः ॥

सर्वव्यापारविध्वंसि जयेदं सर्वदा ततः ॥ १५०५ ॥

विजयोदया—णिद्वा निद्रा तमस्सदृशमन्यत्तमो नास्ति मनुजाना इति ज्ञात्वा निद्रा ध्यानस्य विघ्नकारिणी जयेति ॥

मूलारा—णत्थि तिमिरातरस्य सद्य यानप्रतिवधाक्षमत्वात् ॥ उक्तं च—

नास्ति निद्रातमस्तुल्यं पर लोके यतस्तमः ॥

सर्वव्यापारविध्वंसि जयेदं सर्वदा ततः ॥

अर्थ—निद्रारूप अधकारके समान जगतमें अन्य अधकार है ही नहीं ऐसा समझकर ध्यानमें विघ्न डालनेवाली इस निद्राको तुम जीतो

कुण वा णिद्वामोक्खं णिद्वामोक्खस्स भणिद्वेलाए ॥  
जह वा होइ समाही खवणकिळितस्स तह कुणह ॥ १४४८ ॥  
निद्राविमोक्षकाले त्व निद्रां मुंचायवा यते ॥  
यथा वा क्लान्तदेहस्य समाधानं तथा कुरु ॥ १५०६ ॥

विजयोदया—कुण वा णिद्वामोक्खं कुरु वा निद्रामोक्ष । निद्रामोक्षस्य कथिताया वेलयां रोवेस्वतीये यमे इति यावत् । यथा वा समाधिर्भवति भवत उपवासपरिश्रान्तस्य तथा वा निद्रामोक्ष कुरु ॥ णिद्वत्तिगदं ॥

एवं निद्रानिरासमुत्सर्गेणोपदिश्य तदपवादमाह—

मूलारा — भणिद्वेलाए रात्रिवितीयप्रहरे । स्वमणकिळितस्स उपवासस्वाध्यायादिना ग्लानिं गतस्य । उक्तं च—  
निद्राविमोक्षकाले त्वं निद्रां मुंचायवा यते ॥

यथा वा क्लान्तदेहस्य समाधानं तथा कुरु ॥

अर्थ—निद्राका त्याग करनेके समयमें अर्थात् रात्रीके तिमेरे प्रहरमें हे क्षपक ! तू निद्राका त्याग कर अथवा उपवाससे थके हुए तुझको जिस प्रकारमें ममाधान रहेगा वैसे निद्राका त्याग कर. निद्राका प्रकरण समाप्त.

उक्तो योपसंहारं वक्ष्यमाण वाचिकार दर्शयत्युत्तरमाथा—

एस उवावो कम्मासवद्वारणिरोहणो हवे सव्वो ॥  
पोराणयस्स कम्मस्स पुणो तवसा खओ होइ ॥ १४४९ ॥  
कर्मास्सवनिरोधेऽयमुपायं कथितस्तव ॥  
कल्मषस्य पुराणस्य तपसा निर्जरा पुनः ॥ १५०७ ॥  
उदीयमानेन महोद्यमेन क्षेत्रेण ? निद्रा तमसां सवित्री ॥  
प्रशस्तकर्मव्यवधानशक्ता विजीयते भानुमतेव रात्रिः ॥ १५०८ ॥  
इति निद्रानिर्जयः ।

विजयोद्या—एत उवाचो कर्मणामात्रवद्वारनिरोधे उवाचो उपायोऽयं सर्वोऽभिहितः । पौराणस्य कर्मणस्तपसा क्षयो भवति । सवरपूर्विका निर्जरा मुक्तये भवति न संवरहीनेति पूर्वं सवरूपन्यासः ॥

एवं संवरपूर्वैव निर्जरा निर्वाणाय प्रभवतीति सवरूपान्यान्यपञ्च सांप्रत निर्जरानिमित्ते तपसि गाथासमाधि-शतया अपक्वमुद्यमयनि—

मूलारा—एत मिच्छत्तस्स य वमणमित्यादि सूत्रसमुदायनिर्दिष्टः ॥

उपर्युक्त अर्थका उपसहार अथवा आगे कहा हुआ अधिकार उत्तर गाथासे कहते हैं—

अर्थ—जितना कर्तव्य पूर्वमें कहा है वह सर्व कर्मगमनका निरोध करनेका उपाय है तथा इस कर्तव्यका पालन करनेसे पूर्ववद्ध कर्मका क्षय भी होता है तपसे पूर्व कर्मका क्षय होता है, संवरसहित निर्जरा कर्मका नाश कर मोक्ष प्राप्ति का भी कारण होती है सवरहीन निर्जरा मोक्षका कारण नहीं है यह दिखानेके लिये आचार्यने प्रथम सवरका गाथामें उल्लेख किया है

अब्भंतरवाहिरगे तवस्मि सत्ति सग अगूहतो ॥

उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिवद्धो अणलभो तं ॥ १४५० ॥

यत्तस्वाभ्यन्तरे बाह्ये स्वां शक्तिमनिगूहयन् ॥

तपस्यनलसं स त्वं देहसौख्यपराङ्मुखः ॥ १५०९ ॥

विजयोद्या—अन्तरवाहिरगे अभ्यन्तरे बाह्ये च तपस्युद्योगं कुरु स्वा शक्तिं गूहमान । सुखे शरीरे चानासक्ति अनालस्य । न हि शरीरे सुखे वा आदरवास्तत्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयतते । न चालस प्रवर्तते तपसि । प्रत्यगूहभावेन स्थित सुखे शरीरे च प्रतिवद्धत्वमलसत्वमावेदितमेव ॥

द्विविधे तपसि तत्तत्पूहं परिहरन् स्वशक्त्या त्वमुद्यच्छेत्यनुशास्ति --

मूलारा—अप्पडिवद्धो सुखे देहे चानासक्तः । न हि शरीरे सुखे वा आदरवास्तत्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयतते न चालसः ।

अर्थ—हे क्षपक ! तू अम्यतर तप और बाह्य तपमें अपनी शक्ति न छिपाता हुआ उद्यम-प्रयत्न कर, सुखमें और शरीरमें तू आसक्ति मत कर, आलस्यको जिसने छोड़ा है वह शरीरमें और सुखमें आसक्त न होकर १७२



सुख और शरीरके प्रतिपक्षभूत तपमें सदा उद्योग करता है आलसी मनुष्य तपके विरुद्ध शरीर और सुखमें आसक्त होकर तपका त्याग करता है. अतः तू शरीर और सुखमें आसक्ति न करता हुआ तपमें उद्योग कर

सुहृत्सीलदाए अलसत्तणेण देहपडिबद्धदाए य ॥

जो सत्तीए संतीए ण करिज्ज तवं स सत्तिसमं ॥ १४५१ ॥

आलस्यसुखशीलत्वे शरीरप्रतिबंधने ॥

विदधति तपो भक्त्या स्वशक्तिसहशं न यः ॥ १५१० ॥

विजयोदया—सुहृत्सीलदाए सुखासक्ततया, अलसतया, देहप्रातवद्धतया वा य. शक्तौ सत्यामपि तपोऽन करोति शक्तिसमं ॥

यथोक्तमनाचरतो दोषानुत्तरप्रबंधेनाह—

मूलारा—सत्तिसम यावच्छक्ति. ॥

अर्थ—सुखस्वभावसे, आलस्यसे, और देहवी मीतीसे जो सामर्थ्य होनेपर भी शक्त्यनुसार तप नहीं करता है—

तरस ण भावो सुद्धो तेण पउत्ता तदो हवदि माया ॥

ण य होइ धम्मसद्धा तिच्चा सुहदेहपिक्खाए ॥ १४५२ ॥

तस्य शुद्धो न भावोऽस्ति माया तेन प्रकाशिता ॥

शरीरसौख्यसक्तस्य धर्मश्रद्धा न विद्यते ॥ १५११ ॥

विजयोदया—तस्स ण भावो तस्य परिणामो न शुद्धस्तस्मात्तेन शक्तिसमे तपस्यवर्तमानेन माया प्रयुक्ता भवति । यतस्ततो न भाव शुद्ध, धर्मे तीव्रा च श्रद्धा न भवति । केन ? सुहदेहपिक्खाए सुख देहे च प्रेक्षया तत्र आसक्त्या बुद्ध्या हेतुभूतया ॥

मूलारा—जदो यस्मात्तेन शक्तिसमे तपसि अप्रवर्तमानेन स्वशक्तिप्रच्छादिना माया प्रयुज्यते, यस्माच्च सुख-

देहयोरुपसक्त्या तस्य धर्मे श्रद्धा तीव्रा नास्ति, यस्मात्तस्य लाभस्तमोऽदुरागः श्रद्धा नास्तीति संबंधः ॥ तद्वो इति पाठे तपः कर्तुं शक्तिर्भक्त्या नास्तीति प्रकाशनया तपोऽकरणदित्यर्थः ॥

अर्थ—उसका परिणाम निर्मल नहीं है ऐसा समझना चाहिये शक्त्यनुसार तपमें प्रवृत्त न होनेसे वह मायावी है ऐसा सिद्ध होता है. मायासे भावमें-परिणाममें शुद्धता नहीं रहती है और धर्ममें तीव्र श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती है सुखमें और देहमें बुद्धि संलग्न होती है इससेभी परिणाममें निर्मलता नहीं रहती है और धर्ममें तीव्रश्रद्धा नहीं उत्पन्न होती है.

अप्या य वांचिओ तेण होइ विरिय च गूहियं भवदि ॥  
सुहसीलदाए जीवो बंधदि हु असादेवणियं ॥ १४५३ ॥

वीर्यं निगूह्यते येन तेनात्मा बंध्यते स्वयम् ॥

सुखशीलितया तेन कर्मासातं च बध्यते ॥ १५१२ ॥

विजयोरया—अप्या य वांचिओ आत्मा वचितस्तेन । शक्त्यनुरूपे तपस्यनभ्युद्येतेन शक्तिश्च प्रच्छादिता भवति सुखासक्ततया जीवो वध्नात्यसातवेदनीय चानेकभवेषु दुःखावह ॥

मूलारा — स्पष्टम् ॥

अर्थ—शक्त्यनुरूप तपमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है उसने अपने आत्माको फसाया है और अपनी शक्ति भी छिपा दी है ऐसा मानना चाहिये. सुखासक्त होनेसे जीवको असाता वेदनीयका अनेक भवमें तीव्र दुःख देनेवाला तीव्र बंध होता है

आलस्यदोषमाचष्टे—

विरियंतरायमलसत्तणेण बंधदि चरित्तमोहं च ॥

देहपडिबद्धदाए साधू सपरिगहो होइ ॥ १४५४ ॥

वीर्यान्तरायचारित्रमोहावर्जयतेऽलसः ॥

शरीरप्रतिबंधेन जायते सपरिग्रहः ॥ १५१३ ॥

विजयोदया—विरियंतराय धीर्यंतरायमलसतया वधाति चारित्रमोहनीयं च । शरीरासक्त्या साधु सप-  
रित्रहो भवति ॥

मूलारा—सपष्टम ॥

अर्थ—अलसी होनेसे धीर्यंतराय कर्मका वध होता है, और चारित्र मोहनीय कर्म का भी वध होता है  
शरीरमें आसक्ति होनेसे साधु परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता है, वह परिग्रह धारक होता है

मायादोसा मायाए हति सन्ने वि पुव्वणिदिट्ठा ॥

धम्मस्मि निप्पिवासस्स होइ सो दुल्लहो धम्मो ॥ १४५५ ॥

मायादोषाः पुरोदिष्टाः समस्ताः सन्ति मायया ॥

धर्मेऽपि निःप्रियादास्य धर्मोऽस्य सुलभः कथम् ॥ १५१४ ॥

विजयोदया—मायादोसा मायादोषा सर्वेऽपि पूर्वनिर्दिष्टा । मायाया तपसि स्वशक्तिनिगूहनलक्षणाया भवति  
किं च धम्मस्मि धर्मे तपोलक्षणे । निप्पिवासस्स अनादरस्य जन्मार्तरे दुर्लभो भवति धर्मे ॥

मूलारा—मायाए तपसि स्वशक्तिनिगूहनेन । निप्पिवासस्स निरादरस्य । दुल्लहो जन्मातरदुर्लभ तपः ॥

अर्थ—तपमें अपनी शक्ति छिपाना ही माया है, माया करने से होनेवाले दोषोंका पूर्वमें वर्णन कर चुके  
हैं जो तप धर्मेमें अनादर करता है उसको अन्य जन्ममें धर्म दुर्लभ होता है

दोषातरमपि निगदति—

पु-दुत्तवयुणाणं चुक्को जं तेण वंचिओ होइ ॥

विरियणिगूही बंधदि मायं विरियतरायं च ॥ १४५६ ॥

अकुर्वाणस्तपः सर्वैर्यंचितोऽस्ति तपोगुणैः ॥

मायावीर्यान्तरायौ च तीव्रौ बध्नाति कर्मणी ॥ १५१५ ॥

विजयोदया—पु-दुत्तवयुणाण पूर्वोक्तस्ववर्निजरा चेत्येवमादिभिस्तपःसाध्यैरुपकारै । चुक्को च्युत । ज  
यस्मान् । तेण तेन तप साध्योपकारप्रच्युतत्वेन । वंचिओ होदि वंचितो भवति । विरियणिगूही वधदि माय सवरणपतो  
मायाकर्म, धीर्यंतराय च वध्नाति ॥

मलारा—चुको न्युतः ॥ तेण तपसा साध्वसवरनिर्जरापुणकारच्युतत्वेन ॥

और भी दोषोंका वर्णन करते हैं—

अर्थ—पूर्वसे तपश्चरणके संवर और निर्जरा गुणोंका वर्णन किया है, जो तपश्चरण नहीं करता है उसके कर्म का सवर और निर्जरा नहीं होगी, अर्थात् सवर और निर्जरासे वह पुरुष हमेशा वंचित रहेगा जो अपनी शक्ति छिपाता है उसको सायाकिपायका और वीर्यातराय कर्मका बंध होता है

तवमकारितस्सेदे दोसा अण्णे य होति संतस्स ॥

होति य गुणा अणेया सत्तीए तव करेतस्स ॥ १४५७ ॥

अकुर्वतस्तपोऽन्येऽपि दोषाः सन्ति तपस्विनः ॥

कुर्वाणस्य पुनः शक्त्या जायन्ते विचित्रा गुणाः ॥ १५१६ ॥

विजयोदया—तवमकरितस्स तपस्यनुद्यतस्येमे दोषा अन्ये च भवतीति ज्ञातव्याः । भवति चानेकगुणा शक्त्या तपसि वतमानस्य ॥

मलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—तपश्चरणमें उद्युक्त न होनेवाले पुरुषको ये दोष तो होते ही हैं परंतु अन्य भी दोष उत्पन्न होते हैं जो व्यक्ति तपश्चरणमें शक्त्यनुसार प्रवृत्त होते हैं उन में अनेक गुणोंको उत्पत्ति होती है.

तयोगुणप्रख्यापनायोत्तरप्रबंध.—

इह य परत्त य लोए अदिसयपूयाओ लहइ सुतेवेण ॥

आवज्जिज्जंति तहा देवा वि संइदिया तवसा ॥ १४५८ ॥

लोकद्वये पराः पूजाः प्राप्यन्ते कुर्वता तपः ॥

आवर्ज्यन्तेऽस्त्रिला देवाः पुरंदरपुरःसरा ॥ १५१७ ॥

विजयोदया—इह जन्मनि परत्त च तपसा सम्यक् कृतेन अतिशयपूजा लभ्यते । आवर्ज्यते च तपसा देवाः

सेन्यकाः ॥

तपोमाहात्म्यमाह—

मूलारा—पूजादि आदिशब्देन बुद्ध्यतिशयस्त्रीतीत्यादि ॥ आवज्जिज्जिति प्रणामं कार्यते । अन्ये आकपि इति पठित्वा अक्षोभमुपयातीत्यर्थमाहुः । सद्दिया सेन्द्रा ॥

तपगुणका निरूपण करने के लिए उत्तर प्रबंध—

अर्थ—इह लोकमें और परलोकमें निरतिचार तप करने से आत्मामें अतिशय-ऋद्धि प्राप्त होती है और सर्वत्र महादर भी होता है तप के माहात्म्यसे इंद्रादिक देव भी नम्र होते हैं.

अप्पो वि तवो बहुगं कल्लणं फलइ सुप्पओगकदो ॥

जह अप्पं वडवीअं फलइ वडमणेयपरोहं ॥ १४५९ ॥

तपः फलति कल्याणं कुतमल्पदपि स्फुटम् ॥

बहुशाखोपशाखात्वं वटवीजं यथा वटम् ॥ १५१८ ॥

विजयोदया—अप्पोवि तओ अल्पमपि तप' महाकल्याणं फलति सुसयमनिपन्ने । सुटु प्रयुज्यते प्रवर्त्यतेऽने-  
नेति च विग्रहे संयम सुप्रयोगशब्देनोच्यते । यथा अल्पमपि वटवीजं फलति चटप्रनेरुप्ररोहं अल्पमपि पृथुलं फलदायि-  
तप' इत्येतदाख्यातमनया ॥

मूलारा—सुप्पओगकदो यथाशक्ति संयमेनावर्तितम् । निदानासयमरहितमिति वा । फलदि जनयति । अणय-  
पारोहं अनेकप्ररोहम् ॥

अर्थ—अल्प तपश्चरणसे भी महा कल्याण होता है संयम की भी उत्तम-निर्दोष सिद्धि होती है जैसे  
क्षुद्र वटवीज अनेक शाखाओंसे युक्त महान वटवृक्षको जन्म देता है वैसे अल्प तप भी विपुल फल-स्वर्गादिक  
सुखको उत्पन्न करता है

सुटु कदाण वि सरसादीणं विग्घा हवंति अदिवहुगा ॥

सुटु कदस्स तवस्स पुण णत्थि कोइ वि जए विग्घो ॥ १४६० ॥

विधिनोक्तस्य सस्यस्य विद्वाः सन्ति सहस्रशः ॥

तपसो विहितस्यास्ति प्रत्यूहो न मनागपि ॥ २५१९ ॥

विजयोदया—सुदु कदापि वि सस्यस्य कृतानामपि शस्यादीना अतीव विद्वा भवति। तपस पुनः सस्यस्य कृतस्य जगति न कश्चिद् विद्वा फलवान् । निर्विघ्नफलदायित्वं तपसो माहात्म्यं कथितं अनया ॥

मूलार्थ—सस्सादीर्घं धनधान्यादिनाम् ॥ स्वफल ददतो व्याघातः ॥

अर्थ—खेती बहुत परिश्रमसे करने पर भी उसका फल मिलने तक बहुत विघ्न उत्पन्न होते हैं परंतु निरतिचार तप पालनेपर कोई भी विघ्न उत्पन्न होता नहीं अर्थात् विघ्नके विना ही तपश्चरणसे स्पर्गादि फल मिलता है तप में निर्विघ्न फल देना गुण है ऐसा इस भाषासे सिद्ध होता है।

जणमरणादिरोगादुरस्स सुतवो वरोसधं हेदि ॥

रोगादुरस्स अदिविरियमोसध सुप्पउत्तं वा ॥ १४६१ ॥

मृत्युजन्मजरार्तस्य तपः सुखविधायकम् ॥

महारोगादुरस्येव भैषज्यं वीर्यसंयुतम् ॥ १५२० ॥

विजयोदया—जणमरणादिरोगादुरस्स जन्ममरणाद्यापीडितस्य सुतपो वरौपधं भवति । रोगपीडितस्य सुप्र-  
युक्तमतिवीर्यमौषधमिव । जन्ममरणादीना विनाशकत्वं तत्कारणकर्मविनाशदातेनाख्यायते ॥

मूलार्थ—वरोसध जननमरणादिरोगकारणकर्मोपहारकत्वात् ॥

अर्थ—जन्म, मरण वगैरह रोगोंसे पीडित इस प्राणीसे उत्तम तप उत्कृष्ट औषधके समान हितकर है जैसे रोगसे पीडित मनुष्यका रोग उत्तम औषधीके सेवनसे नष्ट होता है वैसे तपसे जन्ममरणादि रोगोंका नाश होता है, तपसे जन्ममरणके कारणभूत कर्मका नाश होता है अतः कारणका नाश होनेसे कार्यका भी नाश होगाही।

संसारमहाडाहेण उज्झमाणस्स होइ सीयधरं ॥

सुतवोदाहेण जहा सीयधरं उज्झमाणस्स ॥ १४६२ ॥

संसारस्याविषयेन ग्रीष्मकस्येव भास्वतः ॥

तापेन तप्यमानस्य तपो धारागृहायते ॥ १५२१ ॥

विजयोदया—संसारमहाहाहेण संसारमहादोधेन दृष्टमानस्य तपो भवति जलगृहं । यथा दृष्टमानस्य सर्गांशु-  
भिर्धारागृहं । संसारिकदुःखनिर्मूलनकारिता तपसोऽनेन सूच्यते ॥

मलारा—सीद्धधरं धारागृहम् । तीव्रग्रीष्मार्कैरिषमकृततापस्येव ससात्महादुःखस्य निर्मूलकत्वात् ॥

अर्थ—जैसे सूर्यके प्रचंड किरणोंसे संतप्त मनुष्य का शरीरिदाह धारागृहमें नष्ट होता है वैसे मसारके  
महादाहसे दग्ध होनेवाले भव्योंके लिये तप जलगृहके ममान शक्ति देनेवाला है तपमें सैमारिक दुःख निर्मूलन  
करना यह गुण है ऐसा यह गाथा कहती है.

णीयच्छुओ व सुतवेण होड लोगस्स सुप्पिओ पुरिसो ॥

मायाव होइ विस्सनणिज्जो सुतवेण लोगस्स ॥ १५६३ ॥

विदधानस्नपो भक्त्या निरालस्यो विधानतः ॥

देशान्तरमपि प्राप्त स बंधुरिव गृह्याने ॥ १५२२ ॥

विजयोदया—णीयच्छुओ व बंधुरिव लोकस्य नितरा प्रियो भवति पुरुष । शोभनेन तपसा सर्वजगत्प्रियता  
करोति तप इत्यनेन आश्वासनं भवति । मायाव होइ विस्सनणिज्जो मां उव विव्वत्सनीयो भवति लोकस्य । सर्वजगदिदं ज्ञा-  
त्यत्वं तप संपादयमेतेन कथ्यते ॥

मलारा—सष्टम् ॥

अर्थ—उत्तम तप करनेमें तपस्वी सुनि-पुरुष वयुके समान नर्व लोगोंको अतिप्रिय प्रिय होता है. उत्तम  
तपमें सर्व जगत्प्रियता प्राप्त होती है ऐसा इस गाथामें सिद्ध होता है. माताके ममान तप करनेवाला सर्व लोगोंको  
विश्वमनीय होता है. तपका सर्व जगद्विश्वमनीयता गुण इस गाथामें कहा गया है

कल्लणिड्डिसुहाइं जावदियाइं हवे सुरणराणं ॥

जं परमणिच्चुडिसुहं व ताणि सुतवेण लब्धमंति ॥ १५६४ ॥

मातेवास्ति सुविश्वास्यः पूज्यो गुरुरिवाखिलः ॥  
महानिधिरिव ग्राह्यः सर्वत्रैव तपोधनः ॥ १५२३ ॥  
लभ्यन्ते नरदेवानां सर्वाः कल्याणसंपदः ॥  
परमं सिद्धिसौख्यं च कुर्वता निर्मल तपः १५२४ ॥

विजयोदया—कल्याणितृसुहाद कल्याणानि स्वर्गावतरणादीनि । ऋद्धयो विभूतयश्चकलाखिलानां अर्द्धचक्रवर्तिना सुखानि च यानि देवाना मनुष्याणा च, यच्च परमनिर्घृतिखुब्धं तानि शोभनेन तपसा लभ्यन्ते ॥

मूलारा—कल्याण स्वर्गावतरणादीनि ॥ इदं चक्रवर्त्योदिविभूतयः ॥

अर्थ—स्वर्गसे चयकर माताके गर्भमें आना, मेरु पर्वतपर इद्रके द्वारा अभिषेक किया जाना इत्यादिक कल्याणिकोंकी प्राप्ति तपसे होती है, अनेक ऋद्धि संपत्ति, सकल चक्रवर्ति और अर्द्धचक्रवर्तिके सुख भी इससे जी-वको मिलते हैं, और मनुष्योंके जो सुख हैं वे मिलते हैं और मुक्तिसुख भी इससे मिलता है

कामदुहा वरधेणू णरस्स चिंतामणिव्व होइ तओ ॥  
तिलओव्व णरस्स तओ माणस्स-विहूसणं सुतओ ॥ १४६५ ॥

चिन्तामणिस्तप-पुसो धेनु-कामदुघा तपः ॥  
तिलकोऽस्ति तपो मन्थस्तपो मानविभूषणम् ॥ १५२५ ॥

विजयोदया—कामदुहा कामदुघा वरधेणुः, चिन्तामणिश्च तप यदभिलषितं तस्य दानात् । तिलकारव्यालंकारो नरस्य शोभन तप, मानस्य विभूषण च । तपसा हि सर्वेण जगता मान्यस्य मान शोभते इति ॥

मूलारा—माणस्स विभूषण । तपसा हि सर्वजगन्मान्येन मानः शोभते ॥  
अर्थ—तप इच्छित पदार्थ देता है अत वह कामधेनु और चिन्तामणि रत्नके समान माना गया है, तिलक नामक अलंकार से जैसे मनुष्य सुंदर दीखता है वैसे सुंदर तप मानका अलंकार है, तपसे मनुष्य जगन्मान्य होता है अतः उसका मान शोभने लगता है



होइ सुतयो य दीओ अण्णणतमंधयारचारिस्स ॥

सव्वावत्थासु तओ वड्ढदि य पिदा व पुरिस्सस्स ॥ १४६६ ॥

अज्ञानतिमिरोच्छेदि जायते दीपकस्तपः ॥

पितेव सर्वावस्थासु करोति नृहितं तपः ॥ १५२६ ॥

विजयोदया—होइ सुतयो य दीओ सम्यक्त्तप' प्रदीपो भवति अज्ञानतमसि महति संवर्ततः । एतेन जगतोऽज्ञानाख्यं तमो विनाशयति तप इति सूचित ॥ सर्वावस्थासु हिते तपो वर्तते पितेव पुंस ॥

मूलारा—अण्णणतमा प्रकटमज्ञानं । तद्धि तपसा विनाश्यते तत्कारणकर्मक्षपणात् ॥

अर्थ—अज्ञानरूप अंधकारमें संचार करनेवाले इस जगतको उत्तम तप दीपकके समान है, अर्थात् अज्ञान नामका अंधकार तपसे नष्ट होता है ऐसा सूचित हुआ संपूर्ण अवस्था में तप पिता के समान हितकर ही है.

विसयमहापंकाउलगड्ढाए संकमो तवो होइ ॥

होइ य णावा तरिदुं तवो कसायातिचवल्णदिं ॥ १४६७ ॥

विभीमविषयांभोधेस्तपो निस्तारेण प्लवः

तप उत्तारकं ज्ञेयं विभीमविषयावदात् ॥ १५२७ ॥

विजयोदया—विसयमहापंकाउलगड्ढाए विषयो महापंकाकुलगर्त इव दुस्तरत्वात् । तस्मिन् संकमो भवति । तदुत्तरेण हेतुर्भवति तप । तपो नौरुल्लघयितु कषायातिचपलनदीं ॥

मूलारा—गड्ढाए गर्ते अवटे । लघुनद्यामित्यन्वः । संकमो सेतुवधः । अदिचवल्णदिं महानदीं ।

अर्थ—ये पर्वेन्द्रियोंके विषय जिसमें अतिशय कीचड़ है ऐसे गड्ढोंके समान हैं, कीचड़ युक्त गड्ढोंमें फसा हुआ आदमी उसमें से निकलकर बाहर आना अतिशय कठिन कार्य है वैसे ही ये इंद्रियविषय भी हैं परंतु तपके सामर्थ्यसे इन विषयरूप गड्ढोंसे मनुष्य निकल सकता है कषायरूपी अतिचपल नदी को लुंघनमें तप नौकाके समान है

फलही व दुग्गदीणं अणेयदुक्खवाहाण होइ तवो ॥  
आमिसतण्हाछेदणसमत्थमुदकं व होइ तवो ॥ १४६८ ॥  
इंद्रियार्थमहातृष्णाच्छेदक सलिलं तपः ॥  
दुर्गतीनामग्ग्यानां निपेधे परिघस्तपः ॥ १५२८ ॥

विजयोदया—फलही व दुग्गदीण दुर्गतीना परिघ इव। कीटशा दुर्गतीना ? अनेकदुःखावहाना । किं च विषयतृष्णाच्छेदनसमर्थं च तपः उदकमिव तृष्णाच्छेदने ॥

मलारा—फलही अर्गला । आमिसतण्हा विषयगृद्धिः । आहारगृद्धिरित्यन्यपक्षे तण्हा विपासा ॥  
अर्थ—अनेक दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली दुर्गतिओंको तप अर्गलाके समान है अर्थात् तप करनेवाले मनुष्यको दुर्गतिका नष्ट होता नहीं है पानीसे जैसी प्यास उपशान्त होती है वैसी तपसे तृष्णा-लोभ नष्ट होती है।

मणदेहदुक्खवित्तासिदाण सरणं गदी य होइ तवो ॥  
होइ य तवो सुत्तिथं सव्वासुहोसमलहरणं ॥ १४६९ ॥

मनःकायासुखव्याघ्रस्तानां शरणं तपः ॥  
कल्मषाणामशेषाणां तीर्थं प्रक्षालने तपः ॥ १५२९ ॥

विजयोदया—मणदेहदुक्खवित्तासिदाण मानसाना शरीराणा दुःखाना ये चित्रस्तास्तेषां शरणं गतिश्च तपः । भवति च तपस्तीर्थं सर्वांशुमदोषमलनिरासकारि ॥

मलारा—वित्तासवाण चित्रस्तानाम् ॥ सरणं त्राण । गदी आश्रयणीयं । सुत्तिथं नद्यादिस्तानस्थानम् । असुहो दोस पापकर्मक्षवकारिणो रागादयः ॥

अर्थ—मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे जो बुद्धिमान हैं उनको तपही रक्षक है और उपाय है। यह तप सर्व अशुभ परिणामरूप मलको दूर करनेमें तीर्थके समान है।

संसारविसमदुगो तवो पणहुस्स देसओ होदि ॥  
होइ तवो पच्छयणं भवकंतारस्मि दिग्घस्मि ॥ १४७० ॥  
तपः संसारकांतारे नद्यानां देशकं यत् ॥

दीर्घे भवपथे जन्तोस्तपः संबलकायते ॥ १५३० ॥

विजयोदया—संसारविसमदुगो संसारो विपमदुर्गं इव दुरुत्तरणीयत्वात् । नस्मिन्पणएस्य दिङ्मुहस्य । तवो-  
वेसगो होदि तप उपदेष्टुं भवति । संसारविपमदुर्गमुत्तारयतीति । होदि तवो पच्छदणं भवति तप पथ्यदनं भवकातार-  
स्मि शवाटवः । दिग्घस्मि दीर्घे ॥

मूलारा—विसमदुगो दुरुत्तरारण्ये । पणहुस्स दिङ्मुहस्य । देसओ मार्गदेशकः । पच्छदणं पथ्यदनं शंबलं ।  
कतारे दुर्गममार्गे ॥

अर्थ—जैसे महारण्यमें प्रवेश किया हुआ मनुष्य दिङ्मुह होता है, उससे निकलना कठिन होता है, वैसे  
यह संसारभी महावन के समान दुरुत्तर है, यह तप उसको उपदेशक है अर्थात् संसारवनसे वह तप प्राणीको  
निकालता है यह तप इस दीर्घसंसारवनमें मार्गमें भक्षण करने योग्य कलेवाके समान है,

रक्खा भएसु सुतवो अब्बुदयाणं च आगरो सुतवो ॥  
णिस्सेणी होइ तवो अब्बयसोक्खस्स मोक्खस्स ॥ १४७१ ॥  
अयसामाकरो ज्ञेयं भयेभ्यो रक्षकं तपः ॥  
सोपानमारुरुक्षूणामवाद्य सिद्धिमंदिरम् ॥ १५३१ ॥

विजयोदया—रक्खा भएसु सुतवो भयेषु रक्षा सुतप । अब्बुदयाणा वाकरः सुतपः । मोक्षस्य अक्षयसुखस्य  
निश्चयणी भवति तप ॥  
मूलारा—सष्टम् ॥

अर्थ—यह तप भयमें जीवका रक्षण करता है यह सुतप अभ्युदय का आकर है अर्थात् स्वर्गादिसुखों-  
का उत्पत्तिस्थान है और अक्षय सुख जिसमें है ऐसे मोक्षके लिये यह तप नसेनीके समान है,

ते णत्थि जं ण लब्भइ तवसां सम्मं कएण पुरिसस्स ॥  
अग्गीव तणं जल्लिओ कम्मंतणं ड्हदि यं तवग्गी ॥ १४७२ ॥

तश्चास्ति भुवने वस्तु तपसा यन्न लभ्यते ॥

तपसा दह्यते कर्म वह्निनेव तृणोत्करः ॥ १५३२ ॥

विक्रयोदया—तृणद्वय तश्चास्ति यन्न लभ्यते तपसा सम्यक्कृतेन । तपोऽग्नि कर्मवृण दहति तृणमिवाग्निः प्रज्वलितः ॥

मूलारा—पुरिसस्स पुरुषेण । अथवा पुरुषस्य कर्मवृणमिति संबधः ॥

अर्थ—निर्दोष तपसे जो प्राप्त न होगा ऐसा पदार्थ जगतमें है नहीं अर्थात् तपसे पुरुषको सर्व उत्तम पदार्थोंकी प्राप्ति होती है जैसे प्रज्वलित अग्नि तृणको जलाती है वैसे तपस्वरूप अग्नि कर्मरूप तृणको जलाती है।

सम्मं कदस्स अपरिसवस्स ण फलं तवस्स वण्णंहुं ॥

कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्बामयसहस्सं ॥ १४७३ ॥

चित्तिनं यच्छतो वस्तु सर्वं चित्तामणेरिव ॥

तपसः शक्यते वक्तुं न माहात्म्यं कथंचन ॥ १५३३ ॥

विजयोदया—सम्मं कदस्स सम्यक् कृतस्य निराश्रयस्य तपस फल वर्णयितुं न कश्चित्समर्थोऽस्ति जिह्वा शतसहस्र यद्यप्यस्ति ॥

मूलारा—सम्मं कदस्स निराश्रयस्य । अपरिस्तवस्स अबाधितस्य ॥

अर्थ—उत्तम प्रकारसे किया गया और कर्माश्रय रहित तपका फल वर्णन करनेमें जिसको हजार जिह्वा है ऐसा भी कोई शेषादि देव समर्थ नहीं है।

एवं णादूण तवं महागुणं संजमम्मि ठिच्चाणं ॥

तवसा भवेदब्बा अप्पा णिच्चं पि जुत्तेण ॥ १४७४ ॥

इति विलोक्य तपःफलमुत्तमं विमलवृत्तिनिवेशितमानसः ॥  
तपसि प्रतमतिर्यतते यतिः कुतपसः स फले विगतादरः ॥ १५३४ ॥  
विजयोदया—एव गाढूण एवं धात्वा तपो महोपकारि सयमे स्थित्वा तपसा भावयितव्य आत्मा नित्यमपि  
उपयुक्तेन ॥

उपसहारमाह—

मूलारा—ठिष्ठाणं स्थित्वा । जुतेण उपयुक्तेन ॥

अर्थ—इस प्रकार तप महा उपकारक है ऐसा जानकर संयममें स्थिर होकर हमेशा उपयुक्त तपके द्वारा  
आत्माका अभ्यास करना चाहिए ।

जह गहिदेवयणो वि य अदयाकज्जे णिउज्जदे भिच्चो ॥  
तह चेव दमेयव्वो देहो मुणिणा तवगुणेषु ॥ १४७५ ॥  
तपःक्रियायामनिश स्वविग्रहो नियोजनीयो यतिना हितैषिणा ॥  
नियोज्यते किं न गृहीतवेतनो मनीषिते कर्मणि न स्वचेष्टकः ॥ १५३५ ॥

विजयोदया—जह गहिदेवयणो वि य यथा गृहीतवेतनोऽपि न दयाकार्यं नियुज्यते श्रुतकः । तथैव दमितव्यो  
वेहो मुनिना तपोगुणेषु । उत्तराङ्ग ॥

मूलारा—गहिदेवयणो गृहीत वेतनं कर्ममूल्यं येन । अदयाए निर्दयं । भदगो श्रुतकः कर्मकरः । दमेदव्वो  
छेदयः । तवगुणेषु तपोभेदेज्जनशनादिषु । तपस्थायमः ॥

अर्थ—जिसको वेतन दिया है ऐसे नोकरको हमेशा कार्यमें नियुक्त करना चाहिए उसके ऊपर दया नहीं  
करना चाहिए, वैसे यह देह मुनिके द्वारा तपोगुणमें हमेशा लगाना चाहिये

इच्चैव समणधम्मो कहिदो मे दसविहो सगुणदोसे ॥  
एत्थ तुममप्पमत्तो होहि समणगदसदीओ ॥ १४७६ ॥

गुणैरशेषैः कलिते मनोरमैर्भिरस्तदोषे कथिते तपोधनैः ॥

सदात्र धर्मे शिवसौख्यकारणे प्रमादमुक्तैः कियतां महादरः ॥ १५३६ ॥

इति तपस'क्रमः ।

विजयोद्या—इन्चेव समणधम्मो इत्येव श्रमणधर्मं दशविधः समुणदोष कथितो मया । एतय तुमम्पमत्तो होदि अत्र दशविधे धर्म त्वमप्रमत्तो भव । समागतस्मृतिक इति गणिना स्वशिक्षणरिसमाप्तिरादर्शिता ॥

अधुना सूरिः स्वशिक्षासमाप्तिमादर्शयन्पुनरिष्टार्थसारान्नष्टमिति सन्यासिनं प्रगुणयति—

मूलारा—इन्चेस इत्येवः । मे मया । न्सविधो उत्तमक्षमादीना । यथारयान पूर्वनिरूपणात् । तुमं त्व । समागतददुसदीओ समागतददुस्मृतिकः सम्मुपप्रवत्तलसमरणः । समण्णागादसदीओ इति पाठे समागतस्मृतिक इत्यर्थ-  
माहुः ॥

अर्थ—इस प्रकार मैंने इस प्रकारके धर्म का उपक्रम और दोषोंसहित वर्णन किया, इस दशविध धर्मोंमें हे क्षपक ! तू हमेशा प्रमादरहित प्रवृत्ति कर जिसको स्मृति है ऐसे क्षपकको इस प्रकार उपदेश देकर उपदेशकी आचार्यने समाप्ति की है,

तो खगवयणकमलं गणिरविणो तेहि वयणरस्सीहि ॥

चित्तपसायविमलं पफुल्लिदं पीदिमयरदं ॥ १४७७ ॥

क्षपकाननराजीवं तनो भानि विराशितम् ॥

हृतमोहतमस्कांडैः सूरिवाक्यमरीचिभिः ॥ १५३७ ॥

विजयोद्या—तो गगवदणकमल तन शिशलत' तस्य क्षपकस्य वदनकमल प्रफुल्लित सूरिधर्मरसमेस्तेव-  
चनरक्षिमभि चित्तप्रसादविमल प्रीतिमकरंद ॥

अथ द्वादशगाथाभिश्चूलि'कामाचष्टे तत्रादौ निर्योपकाचार्यसदुपदेशसपादितं क्षपकस्य सभायाश्च धर्मरसास्वा-  
दनातिशयं गाथाद्वयेन व्यक्तानुभावेन ग्रंथकृतकथयति—

मूलारा—तो शिक्षानंतर । तेहि श्रुतापधारितैः । रस्सीहि रक्षिमभिः । विमलं विवर्णरहितं । पफुल्लिदं विकसितं ॥

अर्थ—आचार्यरूप स्वयंके उपदेशरूप किरणोंसे क्षपकक्षा मुखरुमल प्रफुल्लित होता है. चित्त प्रसन्नतासे निर्मल होकर उसमेंसे श्रीतिरूपी मकरद बहने लगता है.

वयणकमलेहि गणिअभिमुहेहिं सावत्थिदत्थिपत्तेहिं ॥

सोभदि ससभा सूर्योदयम्मि फुल्लं व णल्लिणिवणं ॥ १४७८ ॥

सूरैर्भानि प्रभावेण तत्सदो मुग्धपंरुजैः ॥

सरोवराभिवाकीर्णं पद्मैर्विकसितै र्वेः ॥ १५३८ ॥

विजयोदया—वयणकमलेहिं वदनरुमले यतीना गणिनोऽभिमुखे विस्तृताश्रये सा सभा शोभां वहति स्म । सूर्योदये पुष्पितनलिनवनमिव ॥

मूलारा—सोभदि शोभते स्म । सोहदि य इति पाठे तत्कालोपेक्षया वर्तमानता । उक्तं च—

गुरु येन मुग्धाभोजैर्विस्तृताश्रितैः सता ॥

शोभन्ति स्मोदय भानोः फुल्ल पद्मवनं यथा ॥

अर्थ—आचार्यके समक्षमें जिनके नेत्रकी पापनी विस्मित हुई है ऐसे यतिओंके मुखकमलोंसे वह मुनि सभा स्वयंोदयमें प्रफुल्लित कमलवनके समान शोभा धारण करती है

गणिउवएसामयपाणएण पल्हादिदम्मि चित्तम्मि ॥

जाओ य णिन्दुदो सो पाटूणय पाणयं तिसिओ ॥ १४७९ ॥

प्राप्योपदेशपीयूषं क्षपकोऽजनि निर्वृतः ॥

समस्तअमविध्वसि तृपाते हव पानकम् ॥ १५३९ ॥

विजयोदया—गणिउवएसामयपाणएण गणिन उपदेशामृतपानकेन प्रल्हादिते चित्ते जातोसौ सुखं निर्वृतः वृणितः पानकं पीत्वेव ॥

गुरुपदेशकृता क्षपकस्य निर्वृतिं दृष्टातेन स्पष्टयति—

मूलारा—अमदपाणएण अमृतपानकेन ॥

अर्थ—जैसे पानकका प्राशन कर प्यासा हुआ मनुष्य आनंदित होता है वैसे निर्यापकाचर्यके उपदेशामृत पानकको पीकर अंतःकरण प्रसन्न होनेसे यह क्षपक खूब संतुष्ट होगया

तो सो खवओ तं अणुसार्द्धं सोऊण जादसंवेगो ॥

उट्ठिच्चा आयरियं वंदइ विणएण पणदंगो ॥ १४८० ॥

ततोऽयं शासनं श्रव्यं श्रुत्वा संविग्रमानसः ॥

उत्थाय वंदते सूरिं स नम्रीकृतविग्रहः ॥ १५४० ॥

विजयोदया—तो सो खवगो ततोऽसौ क्षपक तदनुशासनं श्रुत्वा जातसंवेग उत्थाय आचार्यं वंदते विनयेन प्रणताङ्ग ॥

तदनुशिक्षिश्चिद्विग्रहोऽपन्नधर्मतत्फलदर्शनानुरागेण क्षपकेण विधेया निर्यापकाचार्यसपर्याचर्या दर्शयति—

मूलारा—त ता

अर्थ—आचार्यका उपदेश सुनकर जिसको धर्ममें अतिशय श्रद्धा हुई है ऐसा वह क्षपक नम्र होकर ऊठकर आचार्यके चरणोंको विनयसे वंदन करता है

भंते सम्म पाणं सिरमा य पडिच्छिदं मए एदं ॥

जं अह उत्तं तं तह काहेति य सो तदो भणइ ॥ १४८१ ॥

तवेमां देशनां कृत्वा शेषामिव शिरस्पहम् ॥

यथोक्तमाचरिष्यामि पराजितपरीपहः ॥ १५४१ ॥

विययोदया—भते सम्म पाण भगवन् संमग्नान एतच्छिरसा मया परिगृहीत । यद्यथोक्तं भवद्विस्तया करिष्यामि इति वदति ॥

वंदनानंतररुग्णीयं क्षपकस्य गुरोरे शासनस्वीकारपुरःसरं तदर्थानुष्ठानप्रतिज्ञाक्रममाह—

मूलारा—भते भगवन् । अण आह्वा । एदं इयं । काहेति करिष्यामीति ॥



अर्थ—हे भगवन् ! आपने जो सम्यग्ज्ञानका उपदेश मेरेको दिया है, उसे मैं मस्तक नम्र कर ग्रहण करता हूँ, आपने जो जैसा कहा है वैसी ही मैं प्रवृत्ति करूंगा।

अप्या णिच्छरदि जहा परमा तुट्ठी य हवदि जह तुज्झ ॥

जह तुज्झ य संघस्स य सफलो हु परिससमो होइ ॥ १४८२ ॥

यथा मे निस्तरत्यात्मा तुष्टिरस्ति यथा तव ॥

संघस्य सर्वस्य यथा तवास्ति सफलः श्रमः ॥ १५४२ ॥

विजयोदया—अप्या णिच्छरदि जहा अहं यथा निस्तीर्णो भवामि संसारात् । यथा युष्माकं परमा तुष्टिर्भवति । भवता संघस्य चास्मदनुग्रहे प्रवृत्तानां श्रमस्य फल भवति ॥

मूलारा—अप्या णित्थरदि अयं संसारार्णवान्निस्तीर्णो भवामीत्यर्थः । तुज्झं युष्माकम् ॥

अर्थ—इस संसारसे मैं जिससे उत्तीर्ण होउगा, जिससे आपको सतोष उत्पन्न होगा, मेरे उपर अनुग्रह करने में उद्युक्त हुए आपका और संघका परिश्रम जिससे सफल होगा ऐसे उपायका मैं अवलम्ब करूंगा।

जह अप्पणो गणस्य य संघस्स य विस्सुदा हवदि किन्ती ॥

संघस्स पसायेण य तहहं आराहइस्सामि ॥ १४८३ ॥

यथात्मनो गणस्यापि कीर्तिरस्ति प्रथीयसी ॥

अहमाराधयिष्यामि तथा संघप्रसादतः ॥ १५४३ ॥

विजयोदया—जह अप्पणो गणस्स यथा मम गणस्य संघस्य च कीर्तिर्विद्युता भवति तथाहमाराधयिष्यामि संघस्य प्रसादेन ॥

मूलारा—अप्पणो ममेत्यर्थः ॥

अर्थ—मेरी गणकी, और संघकी जिस उपायसे कीर्ति प्रसिद्ध होगी, गणकी कृपासे मैं उस उपायका आश्रय कर रत्नव्याराधन करूंगा

धीरपुरिसेहिं जं आयरियं जं च ण तरंति कापुरिसा ॥

मणसा वि विंचितेहुं तमहं आराहणं काहं ॥ १४८४ ॥

याराधिता महाधीरैरधीरैर्मनसापि नो ॥

अस्ताघां साधयिष्यामि देवीमाराधनामहम् ॥ १५४४ ॥

विजयोदया—धीरपुरिसेहिं धीरै पुरुषैर्या आचरिता, या च शक्नुवन्ति कापुरुषा मनसापि न चिंतयितु ताह  
श्रीमाराधनामह करिष्यामि ॥

मूलारा—ण तरन्ति न शक्नुवन्ति । काहं करिष्यामि ॥

अर्थ—जिसका वीरपुरुषोंनेही आचरण किया है, धैर्यहीन पुरुष जिसको धारण करनेमें विलकुल अस-  
मर्थ हैं ऐसी आराधानाका हे प्रभो ! मैं पालन करूंगा

एवं तुज्झं उवएसामिदमासादइत्तु को णाम ॥

वीहेज्ज छुहादीणं मरणस्स वि कायरों वि णरो ॥ १४८५ ॥

तवोपदेशपयूयं पीत्वा को नाम पावनम् ॥

विभेत्तीह क्षुदादिभ्यः कातरोऽपि नरः प्रभो १५४५ ॥

विजयोदया—एव तुज्झ एव भवतामुपदेशामृतमास्वाद्य को नाम विभेति कातरोऽपि नरः क्षुधादीना मृत्योर्वा ॥

मूलारा—असादइत्तु आस्वाद्य । अत्र महाचोऽपरीपदेभ्यो मरणाद्वा न भीतिः करिष्यत इति प्रतिज्ञा गम्यते ॥

अर्थ—उपयुक्त आपके उपदेशामृतका आस्वाद लेकर कोनसा भययुक्त पुरुषभी क्षुधादिकसे और मरणसे

हरेगा ? अर्थात् भययुक्त पुरुष भी आपका उपदेश सुनकर निर्भय होता है और मृत्युसे भी निडर होकर आराध-

नाओंका आराधन करता है

किं जंपिण बहुणा देवा वि सइदिया मह विग्घं ॥

तुम्ह पादोवगहगुणेण काहुं ण तरिहंति ॥ १४८६ ॥

पलालैरिव निःसारैर्वहुभिर्भाषितैः किम् ॥

प्रत्यदृहकरणे शक्तो न मे द्योकोऽपि निश्चितम् ॥ १५४६ ॥

विजयोदया—किं जपिण वहुणा किं बहुना जल्पितेन देवा अपि शतमखप्रमुखा मम विघ्नं कर्तुं असमर्था भवत्पादोपग्रहणमुनेन ॥

आराधनानिर्वहणासौष्ठवकाष्ठामातिमुते—

मलारा—सईधिया जलमुलप्रमुखा । पादावगाहणेण पादप्रसादानुग्रहेण । ण तरिहति न समर्था भविष्यति ॥

अर्थ—अधिक गोलनेसे क्या मतलब है? इद्रसहित देवभी आपके चरणानुग्रह होनेपर विघ्न करनेमें असमर्थ होते हैं

किं पुन लुहा व तण्हा परिसमो वादियादि रोगो वा ॥

काहिति ज्ञाणविघं इंदियविसया कसाया वा ॥ १४८७ ॥

ध्यानविघ्न करिष्यति किं क्षुदादिपरीपहाः ॥

कषायाक्षद्विषो वा मे त्वत्प्रसादमुपेयुप ॥ १५४७ ॥

विजयोदया—किं पुन कुर्वन्ति ध्यानस्य विघ्नं क्षुधा वा, व्या वा, परिश्रमो वा, वातिकादिरोगो वा, इन्द्रियाणा विषया, कषाया वा ॥

मलारा—वादियादि वातिकपैत्तिककेष्मकादि । काहिति मनागपि न करिष्यति इत्यर्थः ॥

अर्थ—क्षुधा, प्यास, परिश्रम, वातादिकसे होनेवाले रोग, इन्द्रियोंके विषय और कषाय ये सब मेरे ध्यानमें विघ्न कैसे कर सकेंगे इद्रादिक देव भी मेरी आराधनामें त्राधा लानेमें असमर्थ हैं फिर ये क्षुद्र उपद्रव मेरा क्या नुकसान कर सकते हैं ?

ठाणा चलेज्ज मेरू भूमी ओमच्छिया भविस्सिहिदि ॥

ण य ह गच्छमि विगादि तुज्झ पायप्पसाएण ॥ १४८८ ॥

स्थानतश्चलति नाकपर्वतः पुष्करं वसुमतिं प्रपद्यते ॥

त्वत्प्रसादद्वयगम्य न प्रभो ! जातु याभि विभ्रुतिं मनागपि ॥ १५४८ ॥

मनसा वपुषा वचसा भगवन्ननुशासनमेतदनन्यमतिः ॥

तत्र यो विदधाति सदा विधिना शिवतातिमुपैति स मुक्तमलः ॥ १५४९ ॥

इति असुशिष्टिः ॥

विजयोदया—राणा चलज्ज सस्मात्स्थानाच्चलिष्यति मेरु । भूमिः परावृतमस्तिका भविष्यति । नाहं विभ्रुतिं गमिष्यामि भवता पादप्रसादेन ॥

मूलारा—चलेज्ज चलिष्यति । ओमच्छ्रिया अधोमस्तका । गच्छ गमिष्यामि । विगर्दि विभ्रुतिं विराधना-मिलयर्थः ॥ चूलिका १२ क्षपकानुशिष्टिः ॥ सूत्रतः ३३ ।

अर्थ—स्थानसे पर्वतभी हिल जावेगा, अथवा समस्त पृथ्वी भी ओझी हो जायेगी तो भी मैं आपके चरणानुग्रहसे विकारी नहीं होऊंगा

इत्थं गणैर्द्रमुत्तचंद्रभवं तमिच्छ-

दाशाधरेष्टमनुशिष्टश्चमृत प्रवर्ज्य ॥

श्रद्धाप्रियामनुसमत्ववने किलान्तो ॥

हृदयन्त्वलं क्षपकपुगवपुंश्चकोराः ॥

इत्याशाधरातुस्मृतमंथसदंभं मूलाराधनादर्पणे पदप्रसेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे पठ आश्वासः ॥

सप्तम आश्वासः ।

पंकोद्रेककृतेष्वधेषु गुरुणा नीत्वा स्मृतिं वर्मितः ।

सम्यक्साध्यमधिष्ठितः पुरु पिवन्सद्योयानशममृतम् ॥

लेदयानुद्धिमितश्चतुर्विधमहासांघाभिकांक्षं पदं ।

यः प्राप्नोति महान्तमर्हति मह देहोऽपि तस्याधहत् ॥ १ ॥

अथ यथोपदिष्ट स्वशक्त्यनिगूहनेन सस्तरस्थस्य साधोर्नुतिष्ठतः प्राक्तनदुर्विविपाकवशादुपस्थिते कचित्समाधि विघ्ननिबन्धने निर्योपकाचार्येणावश्यकणीय सारणाक्रम कथयितुं गाथाविश्लेषोपक्रमते तत्रादौ प्रागुक्तमेवार्थमनुस्मरयितुं उपन्यस्यति—

एवं खवओ संधारगओ खवइ विरियं अगूहंतो ॥  
देदि गणी वि सदा से तह अणुसद्धिं अपरिंदंतो ॥ १४८९ ॥  
निर्जरां कुरुते गुर्वी कुर्वाणः क्षपकस्तपः ॥  
दत्ते निर्योपकः शिक्षामनिर्विण्णं प्रियंवदः ॥ १५५० ॥

समाप्तमनुशासनम् ॥

मूला—एव यथोक्तदशक्षेत्रश्रमणधर्माचरणक्रमेण । खवदि क्षपयति च बहुतरमेकदेशेनाशुभं कर्मे प्राप्ता-  
पार्षितं अभिनवं निरंधानः । तथा पूर्वोक्तैर्नैव विधिना । अपरिंदंतो अनिर्विण्णः । उक्त च—

निर्जरा कुरुते गुर्वी कुर्वाणः क्षपकस्तपः ॥  
दत्ते निर्योपकः शिक्षामनिर्विण्णं प्रियंवदः ॥

एता श्रीविजयो नेच्छति—

अर्थ—इस प्रकार दश प्रकारके धर्मका आचरण करनेसे क्षपक पूर्ववद् कर्मका एक देश अथवा बहुभाग का क्षपण-क्षय करता है और निर्योपकाचार्यभी न थककर उसे सदा उपदेश देते रहते हैं।

सारणेत्येतत्सूत्रपदव्याख्यानमुत्तरम् ॥

अकडुगमतिचयमणं विलंब अकसायमलवणं मधुरं ॥  
अविरस मद्विगंधं अच्छमणुहं अणदिसीदं ॥ १४९० ॥

कटुतिक्तकषायाम्ललवणस्वादुमीरसैः ॥

पानकं मध्यमैर्युक्तं तस्मै क्षीणाय दीयते ॥ १५५१ ॥

विजयोदया—यकहुगं अकडुक, अतिक्त, अनामलं, अकपायं, अलवणं, अमधुर, अविरसं, अदुरभिगंधं, स्वच्छमनुष्णाशीत ॥

तत्कालप्रयोज्यं पानकं गाथाद्वयेनानुस्मारयति--

मूलारा—अकडुग अत्रेपदर्थं नञ् । तेन कटुतिक्ताम्लरूपायलवणमधुरोष्णगुणानामौत्कश्यमेव निषेधमनति शीतमिति निर्देशान् ज्ञापितत्वात् । अविरस अप्रिगतस । मध्यमकटुकारिरसयुक्तं द्रव्यार्थः । अदुग्निगंध सुगंधि । उक्तं च-

कटुतिक्तरूपायलवणस्वादुभी रसेः ॥

पानकं मध्यमैर्युक्तं तरेभे क्षीणाय दीयते ॥

अर्थ—जो आहार कटुक, तिक्त, आम्ल, कषायला नमकीन, मधुर, विरस, दुर्गंध, अस्वच्छ, उष्ण और शीत नहीं है ऐसा आहार क्षपकको देना चाहिये अर्थात् मध्यम रसोंका आहार देना चाहिये

पाणगमसिंभलं परिपूर्यं स्त्रीणस्स तस्स दादन्त्रं ॥

जह्वा पच्छं खवयस्स तस्स तह् होइ दायव्व ॥ १४९१ ॥

विजयोदया—पाणगमसिंभल पानकमश्लेषकारि परिपूर्यं क्षीणाय क्षपकाय दातव्यं । यथाभूतं वा तस्य पथ्य तथा भूतं दातव्यम् ॥

मूलारा—असिंभलं यत्कफं न करोति । परिपूर्यं गालितं । पच्छं समाध्यविरोधि ॥

अर्थ—जो पेय पदार्थ क्षीण क्षपकको दिया जाता है वह कफको उत्पन्न करनेवाला न होना चाहिये और वह स्वच्छ पवित्र होना चाहिये। क्षपकको जो देनेसे पथ्य-हितकर होगा ऐसा ही पानक देने योग्य है।

संथारत्थो खवओ जइया स्त्रीणो हवेज्ज तो तइया ॥

वोत्तरिदव्वो पुव्वविधिणेव सोपाणगाहारो ॥ १४९२ ॥

यदासौ नितरां क्षीणस्तदपि त्याज्यते तदा ॥

पटीयांसो न कुर्वन्ति निरर्थकं नियोजनम् ॥ १५५२ ॥

विजयोदया—सथारथो मस्तरस्य क्षणको यदा श्रीगो भवेत्तदा श्रुत्यष्टयोऽगानस्य विकल्प पूर्यविधिर्नय ॥

अतीक्ष्णस्य यथोक्तपानक्यजनविमिश्रितगन्धनि -

मूलारा—अतिक्षीण इत्यर्थः । तो तथाविम्पानक्यनान् । गोमण्डित्यो न्याचयितव्यः । पुञ्जविधिनेय हानिम्बू-  
त्रोक्तक्रमेण ॥

अर्थ—मस्तरपर सीया हुआ क्षणक जय श्रीण होगा तब पानकके विकल्पका भी हानि नामक द्रव्यके  
अनुसार त्याग करना चाहिये

एवं संधारगदस्म तस्म कर्मोदण खवयस ॥

अंगे कच्छद उट्टिञ्ज वैयाणा ज्ञाणविघयरी ॥ १४९३ ॥

इत्थं शुश्रूषमाणस्य संस्तरस्थस्य वेदना ॥

पूर्वकर्मोन्निभावेन काय काप्यस्य जायते ॥ १५५३ ॥

विजयोदया—एत मथारगदस्म एतं मस्तरगतम् । क्षणकस्य कर्मोदयन इति दुष्टेनोपजायते ध्यानविप्रसृतिरिति ।  
इत्थं शुश्रूषमाणस्यापि दुष्टोदयप्रसृतिरित्येवैवैतोत्पद्यते इत्याह—

मूलारा—कच्छद कचित्कुक्ष्यादौ । वेदना अलाविपीडा ॥

अर्थ—मस्तरपर आरुढ हुए क्षणकके शरीरमें क्रमेक उदयमें ध्यानमें विप्रन उत्पन्न करनेवाली वेदना  
उत्पन्न होती है अर्थात् पेट वगैरह शरीरके किसी अवयवमें अलाटि पीडा कर्मोदयमें उत्पन्न होती है

बहुगुणसहस्रभरिया जदि गावा जम्मसायरे भीमे ॥

भिज्जदि हु रयणभरिया गावा व समुद्धमज्झस्मि ॥ १४९४ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपोरत्न भूतस्ततः ॥

संसारसागरे चोरे यत्तिपोतो निमज्जति ॥ १५५४ ॥

विजयोदया—बहुगुणसहस्रसरिद्रा यद्बुभिर्गुणमहश्रेष्ठिरता संपूर्णा यतिनोर्जम्भसागरे भीमे यदि मेघसुपेयात्  
रत्नत्रयपूर्णो नौरिय समुद्रमथ्ये ॥

तदेतन्नोदयात्सद्धानविनाशेन दुष्यन्तानवेदात्सुधुर्विराण्य रत्नत्रय यृतो घोरे संसारसागरे निमज्जतीति  
दर्शयति—

मूलारा—जदिगावा यतिर्ना० । पोत इव यत्नतः प्रणेत्यत्वादाश्रिताना तारकत्वात् । भिज्जति देववशाद्विघटने ।  
यतिभावं नौभावं गुंचवीत्यर्थः ॥

अर्थ—यद्ययतिरूप नौका हजारो गुणोंसे भरी हुई है कदाचित् मयकर संसारसमुद्रमें डूब जायगी. तात्पर्यं  
ब्रह्म, शील, समिति गुप्ति. रत्नत्रय इत्यादि गुणोंसे भरी हुई क्षणिकरूपी नौका रोगवेदनासे इषनेका प्रसग आनेपर  
उसे बचाना चाहिये

गुणभरिदं जदि गावं ददूण भवोदधिम्मि भिज्जंतं ॥  
कुणमाणो हु उवेक्खं को अण्णो हुज्ज णिद्धस्सो० ॥ १४९५ ॥  
निमज्जंतं भवाम्भोधो यो हट्ठा तपुपेक्षते ॥

अधार्मिको निराचारो नापरो विद्यते ततः ॥ १५५५ ॥

विजयोदया—गुणभरिदं जदि गावं गुणै पूर्णो यतिना० भवसमुद्रमध्ये भिज्जमानां हट्ट्या य० करोत्युपेक्षां  
तस्मात्कोऽप्यो मयेद्धर्मनिष्कातः ॥

आराधकस्य समाधिविघ्नकारणमप्रतिकुर्वाणं प्रणिदति—

मूलारा—कुणमाणो कुर्वाणत । उवेक्खं हुदंवेदयज्यमानशूलाविपीडाप्रतीकाराभाव ॥

अर्थ—गुणोंसे परिपूर्ण यतिनांका यदि भवसमुद्रमें फूटती हुई देखकर जो उसकी उपेक्षा करता है  
उससे जगतमें अन्य अधार्मिक कोन होगा ?

वेज्जावच्चस्स गुणा जे पुव्वं विच्छेरेण अक्खादा ॥  
तेसिं फिडिओ सो होइ जो उवेक्खेज्ज तं खवयं ॥ १४९६ ॥



वैयावृत्यगुणाः पूर्वं कायिता ये प्रपचतः ॥

तैरूपेक्षापरो नीचस्त्यज्यते निखिलैरपि ॥ १५५३ ॥

विजयोदया—वेज्जावडस्स गुणा वैयावृत्यस्य गुणो ये पूर्वं विस्तरेण व्याख्यातास्तेभ्य प्रच्युतो भवति य उपेक्षते क्षपकं ॥

आराधकवाधामप्रतिकुर्वतः स्वार्थभ्रशोऽपि स्यादित्याह—

मलारा—पुन्र्वं गुणानुशिष्ये गुणपरिणामो इत्यादिना । तेसिं फिडिदो तेभ्यइच्युतः ॥

अर्थ—वैयावृत्यके गुणोंका विस्तारसे पूर्वमें वर्णन किया है, जो क्षपककी उपेक्षा करता है वह उन गुणोंसे भ्रष्ट होता है, अर्थात् क्षपककी उपेक्षा करनेसे क्षपक संसारसमुद्रमें डूबेगा और उपेक्षकके भी गुण नष्ट होंगे उसके वात्सल्यादि गुणोंका नाश होगा

तो तस्स तिग्गिच्छा जाणएण खवयस्स सन्वसत्तीए ॥

विज्जादेसेण वसे पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥ १४९७ ॥

वैयावृत्यं ततः कार्यं चिकित्सां जानता स्वयम् ॥

वैद्योपदेशतश्चास्य शक्तितो भक्तितः सदा ॥ १५५७ ॥

विजयोदया—तो तस्स ततस्सतस्य क्षपकस्य चिकित्सा जानता सर्वशक्त्या प्रतिफलं कर्तव्यं वैद्यस्य चोपदेशेन ॥ एवं क्षपकोपेक्षणे क्षतिप्रदर्शनाद्वैयावृत्ते निर्योपकाचार्यं निर्युक्ते—

मलारा—नो प्रणिधानस्वार्थभ्रशान्नोः । तस्स तिग्गिच्छाजाणएण तस्य संबंधिनीं चिकित्सा स्वयं वैद्योपदेशेन वा जानता निर्योपकाचार्येण सपडिकम्मं तस्य प्रतीकारं कार्यं इति संवधः ॥

अर्थ—क्षपकके रोगका निदान जाननेवाले यतीने वैद्यके उपदेशानुसार अपनी सर्व शक्तिसिं उसके रोगका परिहार, कर्तना, चाहिये.

णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियारं ॥

फासुगदब्बेहिं करेज्ज वायकफप्पित्तपडिघादं ॥ १४९८ ॥

विज्ञाय विकृतिं तस्य वेदनायाः प्रतिक्रिया ॥

औषधैः पानकैः कार्यो वातपित्तकफपदैः ॥ १५५८ ॥

विजयोद्या—णाद्रूण विकार ज्ञात्वा विकार तस्या वेदनाया तत प्रतिकार कुर्यात् । योग्यैर्द्रव्यैर्वार्तकफ पित्तप्रतिघातं ॥

मूळारा—वियार दोषवैषम्य । तिस्से तस्याः । पडिधावं शान्तिम् ॥

अर्थ—वातादिकसे उत्पन्न हुए विकार को जानकर योग्य पदार्थोंसे वेदनाका प्रतिकार करना चाहिये, जिससे वातादिक विकार नष्ट होंगे ।

बच्छीहिं अवहवणतावणेहिं आल्लेवसीदकिरियाहिं ॥

अब्भंगणपरिमहण आदीहिं तिगिंछदे खवयं ॥ १४९९ ॥

अभ्यंगस्वेदनालेपवस्तिकर्मगमर्दनैः ॥

परिचर्यापरेणापि कुल्यास्य परिकर्मणा ॥ १५५९ ॥

विजयोरया—बच्छीहिं वस्तिकर्मभिः, अवहवणतावणेहिं ऊष्मकरणात्पानैः, आलेपनेन, शीतक्रियया, अभ्यंग परिमर्दनादिभिश्च चिकित्सते क्षपक ॥

मूळारा—बच्छीहिं वस्तिकर्मभिः । बत्तीहिं इति पाठे वर्तिभित्तिर्यः । उवद्वण उपनाहैः । तावणेहिं स्वेदनैः सीदकिरियाहिं प्रासुकजलसेवनादिभिः । परिमहण अगमर्दनैः । तिगिंछदे अगतवेदनं करोति ॥

अर्थ—वस्तिकर्म ( इनिमा करना ) अग्निसे सेकना, शरीरमें उष्णता उत्पन्न करना, औषधीका लेप करना, शीतपना उत्पन्न करना, सर्व अगका मर्दन करना, इत्यादिके द्वारा क्षपककी वेदनाका उपशम करना चाहिये ।

एवं पि कीरमाणो परियम्मे वेदणा उवसमो सो ॥

खवयस्स पावकम्मोदण तिब्बो ण हु ण होज्ज ॥ १५०० ॥

कस्यचिक्खियमाणेऽपि बहुधा परिकर्मणि ॥

पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशाम्यति वेदना ॥ १५६० ॥

विजयोदया—एवं पि कीरमाणे प्रतीकारे क्षपकस्य वेदनोपशम तीव्रेण पापकर्मोदयेन नापि भवेदपि, नहि बहिर्द्रव्यमाहात्म्येनैव कर्मोणि स्वफलं न प्रयच्छन्ति । तदेव हि बहिर्द्रव्यं एकस्य वेदना प्रशमयति । नापरस्येति प्रतीतिमेतद् ॥

अभिमुखपापविपाके प्रतीकारवैयर्थ्यमाह—

मूलारा—तिव्वेण घोरेण । उक्त च—

कस्यचिक्खियमाणेऽपि बहुधा, परिकर्मेणि ॥

पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशाम्यति वेदना ॥

अन्ये पापकर्मोदयेण तिन्वा व सा होज्ज इति पठित्वा पापकर्मोदये सति वेदनोपशमो न भवेत्, तीव्रा वा वेदना भवेदिति प्रतिपन्नाः ॥

अर्थ—इस प्रकार इलाज करनेपर भी, तीव्र कर्मका उदय होनेसे बाह्य उपचारोंसे वेदनाका उपशम होता नहीं, बाह्य द्रव्योंसे किसी की वेदनाका उपशम होता है, और किसीकी नहीं भी अतः कर्मोदयकी विचित्रता सिद्ध होती है

अहवा तण्हादिपरीसहेहिं खवओ हविज्ज अभिभूदो ॥  
उवसग्गेहिं व खवओ अचेदणो होज्ज अभिभूदो ॥ १५०१ ॥  
क्षपको जायते तीव्ररूपसर्गपरीषहः ॥

अभिभूतः परायत्तो विह्वलीभूतचेतनः ॥ १५६१ ॥

विजयोदया—अहवा तण्हादिपरीसहेहिं अथवा वडादिभि परीषहेरभिभूतो भवेत्क्षपक, उपसर्गैर्वाभिभूतो निश्चेतनः स्यात् ॥

निमित्तान्तरमपि समाधिविघ्नस्याभिधत्ते—

मूलारा—अचेदणो विभ्रान्तो भूदो वा ॥

अर्थ—अथवा भूक, प्यास इत्यादि परिषहोंसे पीडित होकर क्षपक निश्चेतन होगा अर्थात् मूर्च्छित होगा अथवा भ्रान्त होगा तथा उपसर्गसे भी पीडित होनेपर, मूर्च्छित होता है.

तो वेदणावसटो वाडलिदो वा परीसहादीहिं ।  
खदओ अण्णवसिओ सो विण्णवेज्ज जं किं पि ॥ १५०२ ॥

व्याकुलो वेदनाग्रस्तः परीपहकरालितः ॥

प्रलपत्यग्निबद्धानि वाक्यानि स विचेतनः ॥ १५६२ ॥

विजयोद्या—ततो वेदनावशात् व्यकुलितः परीपहोपसर्गं क्षपकोऽसावनात्मयशो विप्रलपेद्यदि किंचिद् ॥

विभ्रान्तत्वे विकारानाह—

मूलारा—तो विभ्रान्ताचेतनत्वात्पश्चात् । वेदणावसटो वेदनावशेनातुरः सन् । वाडलिदो व्याकुलीकृतः ।

विण्णवेज्ज विविधं अनर्थकं जल्पेत् जं किंचि अनियद्धं ॥

अर्थ—वेदनाकी असह्यतासे दुःखी होकर, परीपह और उपसर्गसे व्याकुल होकर क्षपक आपसे नहीं रहेगा अर्थात् उसके चित्तकी एकाग्रता भंग होगी जिससे वह पूर्वापर संबंध विराहित बड़बड़ करेगा।

उब्भासेज्ज व गुणसेढीदो उदरणवुद्धिओ खवओ ॥

छट्ठं दोच्चं पढमं वसिया कुंटिलिदपदमिच्छंतो ॥ १५०३ ॥

अयोग्यमशनं पानं रात्रिसुक्तिं स कांक्षति ॥

चारित्र्यजनकांक्षी जायते वेदनाकुलः ॥ १५६३ ॥

विजयोद्या—उब्भासेज्ज वेदद्वयोर्य, समयगुणश्रेणित कृतावतरणवुद्धि, छट्ठं रात्रिभोजनं, दोच्चं पाणं, विवसे पढम व अशनं वा । सिया कदाचित् । कुंटिलिदपदमिच्छंतो स्खलनपदं इच्छन् ॥

मूलारा—उभासेज्ज अयोग्य वदेत् । गुणसेढीदो समयगुणारोहणात् । उदरणवुद्धीओ अवतरणे कृतमतिः । छट्ठं रात्रिभोजनं । दोच्चं पानं । पढम भोजनं । सिया कदाचित् । अकाले भोजनं पानं वेत्यर्थः । कुंटिलिदपद स्खलनपदं ।

हीनस्थानमित्यन्यः ॥ उक्तं च—

चवेद्वावुचितं साधुः समयत्यजनोन्मुखः ॥

अकाले भोजनं पानं वा बालन्स्खलितं पदम् ॥

अर्थ—अयोग्य भाषण बोलेगा, समयसमयसे उत्तरनेकी बुद्धि करेगा, अर्थात् संयम छोड़नेका विचार उसके मनमें उत्पन्न होगा रात्रिभोजन करना, अथवा रात्रौ पानी पीना, दिनमें प्रथम-भोजन करना, एतद्विषयक विचार उसके मनमें उत्पन्न होंगे इस प्रकारसे वह समयसे स्खलित होनेकी इच्छा करेगा।

तह मुञ्चंतो खवगो सारेदब्बो य सो तवो गणिणा ॥

जह सो विमुद्धलेस्सो पच्चागदेवदणो होज्ज ॥ १५०४ ॥

तथेति मोहमापन्नं सारणीयो गणेशिना ॥

यथास्ति मुद्धलेदयाकः स प्रत्यागतचेतनः ॥ १५०४ ॥

विजयोदया—तह मुञ्चंतो खवगो-मोहमुपगच्छन् क्षपकस्तथा सारयितव्योऽसौ गणिना कथं ? यथा विमुद्धलेदयो भवति प्रत्यागतचेतनश्च ॥

वेदनादिना विभ्रम्य विबुर्वाणे क्षपके किं कार्यमित्यत्राह—

मूलरा—तद्य मुञ्चंतो खवगो विप्रलपनादिप्रकारेण व्यक्तविभ्रमो भवन् । सारेदब्बो स्मरयितव्यः सर्वः । ततो

सः । आसन्नमृदुरित्यर्थः । पच्चागदेवदणो व्याघुटितयथार्थबुद्धिः सन् ॥

अर्थ—इस प्रकार मोहको प्राप्त हुए क्षपकको आचार्य पूर्वाचरणका स्मरण दिलाने हैं, जिससे उपायसे वह निर्मल लेस्याका धारक होगा और चैतन्यकी प्राप्ति करेगा ऐसा ही उपाय वे करते हैं

सारणोपाय कथयति—

कोसि तुमं किं णमो कथ्य वससि को व संपही कालो ॥

किं कुणसि तुमं कह वा अत्थसि किं णामगो वाहं ॥ १५०५ ॥

कस्त्वं किं नाम ते कालः सांप्रतं कः क वर्तसे ॥

कोऽहं किं मम नामेति तं पृच्छति गणी यत्तिम् ॥ १५०५ ॥

विजयोदया—कोऽसि तुमं कस्त्वं ? किं नामधेय ? कथ्य वससि क वससि ? को व संपहीकालो को वेदानी काल ? किमयं दिवा रात्रिर्वा ? किं कुणसि तुमं किं करोषि भवान् ? कथं वा अत्थसि कथं वा तिष्ठसि ? किं णामगो वाहं अहं वा किं नामधेय ?

कथमेव सारयितव्य इत्यत्राह—

मूलारा—सपदि काले । इदानीकालः किमय दिवा रात्रिर्वा ।।

सारणीपाय कहते हैं—

‘अर्थ—हे मुने ! तुम कोन हो ? तुम्हारा नाम क्या है ? तुम कहाँ रहते हो ? अत्र कोनसा काल है ? अर्थात् अब दिवस है या रात्री है ? तुम्हें क्या कार्य करते हो ? और कैसे रहते हो ? मेरा नाम क्या है ?

एवं आउच्छित्ता परिकल्हेदुं गणी तयं खवयं ॥

सारङ्ग वच्छलयाए तस्स य कवयं करिस्संति ॥ १५०६ ॥

इत्थं क्षपकमापृच्छय चित्तं जिज्ञासता सता ॥

वत्सलत्वेन कर्तव्या सारणा तस्य स्मरिणा ॥ १५०७ ॥

विजयोदया—एव आउच्छित्ता एवमनुपरत सारयति गणी त खपक । किं सचेतनो निश्चेतन इति परीक्षितु-  
कामः वत्सलतया यद्यस्ति चेतनो कवचं करिष्यामीति मत्वा ॥

किमर्थमेव सार्यते इत्यत्राह—

मूलारा—अव्वोच्छिणं अनुपरत । आपुच्छित्ता इति प्रायिकः पाठः । परिकल्हेदुं किमयं सचेतन उत नि-  
श्चेतन इति परीक्षणार्थं । सारेदि स्मृतिं प्रापयति । वच्छलयाए वात्सल्येन । कवचं करिस्संति यद्यस्ति चेतनास्य तदा कवच  
करिष्यामीति मत्वा ॥

अर्थ—यह क्षपक सचेतन है अथवा अचेतन है अर्थात् यह सावधान है किंवा असावधान है इसका परीक्षण  
करनेके लिये बड़े प्रेमसे उपयुक्त प्रश्न बारबार उसको पूछते हैं यदि हममें चेतना होगी अर्थात् यह सावध होगा  
तो मेरे पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर देगा और सावध है ऐसा सिद्ध होनेपर इसको हम कवच करेंगे ऐसा हेतु मनमें  
धारण कर आचार्य उपयुक्त प्रश्न क्षपकको करते हैं

जो पुण एवं ण करिज्ज सारण तस्स वियलचक्खुस्स ॥

सो तेण होइ णिद्धंघसेण खवओ परिचत्तो ॥ १५०७ ॥

सुखतः क्षपकस्येत्यं-यं करोति न सारणम् ॥

तेनासौ वर्जितो नूनं जिनधर्म इवोज्ज्वलः ॥ १५६७ ॥

विजयोदया—जो पुण एव ण करिख यः पुनरेवं न कुर्यात् सारणं। स्पलितचित्तवृत्ते स क्षपकस्तेन परित्यक्तो भवति सूरिणा ॥

तथा तदपसारणे दोषमाह—

मूलारा—विप्लवखलस स्पलितचित्तवृत्तेः। गिह्यसेण निर्दयेन ॥

अर्थ—जो निर्यापकाचार्य ऐसे ग्रन्थ नहीं पढ़ेगा और जिसकी चित्तवृत्ति भ्रष्ट हुई है ऐसे क्षपकको स्मरण दिलाकर रत्नत्रयमें स्थिर न करेगा तो उस निर्दय निर्यापकाचार्यने क्षपकका त्याग किया है ऐसा माना जावेगा।

एवं सारिज्जंतो कोई कम्मुवसमेण लभदि सदि ॥

तह य ण लब्धिज्ज सदि कोई कम्मे उदिण्णस्मि ॥ १५०८ ॥

तस्येति सार्यमाणस्य कस्यचिज्जायते स्मृतिः ॥

तीव्रकर्म्मोदये नान्यः स्मरणं प्रतिपद्यते ॥ १५६८ ॥

संततसारणवारणकारी कामकषायदृष्टीकनिवारी ॥

धर्मवतो विवर्धित समाधि सर्वमपास्य गणी तरसाधिम् ॥ १५६९ ॥

इति सारणं

विजयोदया—एवं सारिज्जंतो एव सार्यमाण कश्चित् चारित्र्यमोहोपशमेन वा स्मृतिं यो योग्यविषया लभते। अयुक्तेयं मम इच्छा अकाले भोक्तुं पातु वा प्रत्याख्यात कथं कालेऽपि प्रार्थयामीति न लभते स्मृतिं कश्चित्कर्मण्युदीर्णं नो प्रद्विगमतिज्ञानावरणे। सारणा ॥

तथा सारणायामपि लघुकर्मण एव स्मृतिः स्यान्नान्यस्येत्याह—

मूलारा—कोई कश्चित्त्रोषप्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषं प्राप्तः। कम्मुवसमेण चारित्र्यमोहोपशमेन। अस-  
द्वेद्योपशमेन वा। सदि अयुक्तेयमिच्छा मम काले भोक्तुं पातु। वा प्रत्याख्यातं वा कथं कालेऽपि प्रार्थयामीति योग्यायो-

ग्यविषयां बुद्धिं । तद्य वि सार्यमाणोऽपि । कम्ममे नोइन्द्रियमतिज्ञानावरणे । उदिण्णम्मि तीव्रवेदनादिवशादुर्निवारमुदेति ॥  
सारणा सूत्रतः ३४ अंकतः २०

अर्थ—इस प्रकार अयोग्य इच्छासे परावृत्त करनेपर भी कोई क्षपक पापकर्मके उपशमसे योग्य विषयके सारण को प्राप्त होता है अर्थात् मैं अकालमें भोजन करनेकी और पेय पदार्थ पीनेकी इच्छा की थी जिसका मैंने त्याग किया है उसका योग्य कालमें भी सेवन करना अनुचित है। ऐसा सारण उसको होकर वह अयोग्य आचरणसे परावृत्त होता है। परंतु जिसका पापकर्म उदयमें आता है और नो इन्द्रियमतिज्ञानावरण कर्म उदयमें आता है वह स्मरणशून्य होता है, यह सारणा नामक प्रकरण समाप्त हुआ

सदिमलभंतस्स वि काद्वयं पडिकम्ममट्टिय गणिणा ॥

उवदेसो वि सया से अणुलोमो होदि कायव्वो ॥ १५०९ ॥

प्रतिकर्म विघातव्यं तस्य स्मृतिमगच्छतः ॥

उपदेशोऽपि कर्तव्यः स्मरणारोपणक्षमः ॥ १५१० ॥

विजयोदया—सदिमलभंतस्स वि स्मृतिमलभमानस्यापि गणिनाऽस्थित कर्तव्य । प्रतिकार, उपदेशोऽपि अनुकूलः सदा तस्य कर्तव्यः ॥

अथ तथाकृतसारणस्याराधकस्य वचनं गाथाना चतुःसप्तत्यधिकेन शतेन व्याचिख्यासुस्तदुपक्रमाय प्रथम पङ्गाथाः कथयति—

मूलारा—अट्टिदं निरंतर । अणुलोमो स्मरणारोपणप्रवणः । दर्शनानुयायीत्यपरः ॥

अर्थ—जो स्मृतिको प्राप्त होता नहीं है उसको भी निरंतर उपाय करना चाहिये उसको सावध करनेके उपाय करने चाहिये, वैसे उसको अनुकूल उपदेश भी हमेशा करना चाहिये।

चयंतोऽपि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरच्छो ॥

उम्भासेज्ज वउक्कावेज्ज व भिंदेज्ज व पदिण्णं ॥ १५१० ॥



परीषदातुरः कश्चिज्जानानोऽपि न बुध्यते ॥  
आर्तः प्लुक्कुरुते दीनो मर्यादां च विभित्सति ॥ १५७१ ॥

विजयोदया—चेवतो पि चेतयमानोऽपि कर्मोदयेन कश्चित्परीषदपरजितो यत्किंचिद्वदेत् आरटेत्, भिद्याद्वा स्वो प्रत्याख्यातप्रतिष्ठा ॥

जानतोऽपि दुःखाकुलतयानुचितमाचरतः कटुकवचनादिकं न प्रयोज्यमित्युपदिशति—

मूलारा—परद्वो परजितः । उक्तावेज्ज आरटेत् । पदिण प्रत्याख्यानप्रतिष्ठा ॥

अर्थ—कोई क्षपक सावध होकर कर्मोदयसे परीषदासे व्याकुल होकर जो भी कुछ बोलेगा अनुचित मापण करेगा अथवा जो जो आहारके और पीनेके पदार्थ त्यागनेकी प्रतिष्ठा की थी वह उसका भंग भी करेगा

ण हु सो कडुव फरुमं व भाणिदव्वो ण खीसिदव्वो य ॥

ण य वित्तासेदव्वो ण य वट्टदि हीलणं काहुं ॥ १५११ ॥

न विभीष्यः स नो वाच्यो वचन कटुकादिकम् ॥

न त्याज्यः सूरिणा तस्य कर्तव्यासादना न च ॥ १५७२ ॥

विजयोदया—ण हु सो कडुग स एव कुर्वन्क्षपकः न कर्तव्यः कटुक परुष वा न भर्त्सनीयः, न च शासं नेतव्य, न च युक्त परिभव कर्तुं तस्य ॥

मूलारा—ण खीसिदव्वो न निर्भर्त्स्यः । नोपहसनीय इत्यन्यः । न रोषयितव्य इत्यपरः । ण य वट्टदि नापि युक्तं भवति । हीलण अनादरः ॥

अर्थ—प्रतिष्ठा भग कर्त्तव्यपरभी निर्यापकाचार्य उसे कडवे और कठोर शब्द न बोले उसकी भर्त्सना न

विराधितो भवन्मानो वचनैः कटुकादिभिः ॥  
जिघृक्ष्यत्यसमाधानं प्रत्याख्यानं जिहासति ॥ १५७३ ॥

विजयोदया—परुषवचनादिभोगे दोषानाह—  
वाक्पारुष्यादिप्रयोगे विराधितः । उद्वाण गुणश्रेणितः पतन । दुर्ध्यानं वा । अवक्कमणं सम्यक्त्वत्यागं ।  
मूलारा—विष्कुरिसिद्धो विराधितः । उद्वाण गुणश्रेणितः पतन । दुर्ध्यानं वा । अवक्कमणं सम्यक्त्वत्यागं ।  
कठोरादिक वचन बोलनेसे कोनसा दोष उत्पन्न होता है? इस प्रश्नका उत्तर—  
अर्थ—परुषवचनादिकोंसे यदि उसकी भत्सना की जावेगी तो वह संयममसे भ्रष्ट होगा, अथवा दुर्ध्यान  
को प्राप्त होगा, किंवा सम्यक्वका त्याग कर मिथ्यात्वी बनेगा.

तस्स पदिणामेर भित्तु इच्छतयस्स णिज्जवओ ॥  
सव्वादरेण कवय परीसहणिवारणं कुज्जा ॥ १५१३ ॥  
निर्यापकेन मर्यादां तस्य मंशु मुमुक्षतः ॥  
कर्तव्यं कवचो गाढं परीपहनिवारणः ॥ १५७४ ॥

विजयोदया—तस्स पदिणामेर तस्य स्वप्रतिप्राप्त्यर्थ्या भेत्तु बाह्यतो निर्यापकसूरि. कवच कुर्यान्निवारणक्षमं ॥  
तस्य प्रतिज्ञालंघनोन्मुलत्वे प्रतिविधानमनुशस्ति—

मूलारा—मेरं व्यवस्थाम् ॥  
अर्थ—जब क्षपक प्रतिज्ञाभंग करनेके लिये उद्युक्त होगा तब निर्यापकाचार्य क्षपकको प्रतिज्ञा भंगसे  
निवृत्त करनेकेलिये कवच करे.

णिद्ध मधुर पत्हादणिज्ज हिदयंगमं अतुरिद वा ॥  
तो सीहोवेद्वो सो खवओ पणवतेण ॥ १५१४ ॥

गंभीरं मधुरं स्निग्धमादेयं हृदयंगमम् ॥

सूरिणा शिक्षणीयोऽसौ प्रज्ञापनपटीयसा ॥ १५७५ ॥

विजयोदया—णिद्ध स्तद्वसहितं, मधुर श्रोत्रप्रिय, हृदयसुखविधायि, हृदयप्रवेशि, अत्वरितं असौ शिक्षयितव्यः श्रपक प्रज्ञापयता ॥

मूलारा—तो सीहावेदव्यो शिक्षयितव्यः । पणवतेण सिग्धादिगुणयुक्त वचनं वदता गणिता ॥

अर्थ—निर्यापकाचार्य क्षपकको प्रेमसाहित, कर्णप्रिय, हृदयको सुख देनेवाला, हृदयमें प्रवेश करनेवाला, ऐसा उपदेश करे।

रोगादंके सुविहिद विउलं वा वेदणं धिदिबलेण ॥

तमदीणमसंमूढो जिण पच्चूहे चरित्तस्स ॥ १५१५ ॥

संतोषवलतस्तीव्रास्ता रोगान्तकेवदनाः ॥

अकातरो जयामूढो वृत्तविघ्नं च सर्वथा ॥ १५७६ ॥

विजयोदया—रोगातंके महतोव्याश्च व्याधीन् । विपुला वा वेदना घृतिथिलन जय त्वमदीनोऽमूढद्वय प्रत्युद्धान् चारित्रस्य । वीतरागकोपता हि चारित्र । तद्व्याधिप्रतीकारार्थेषु आदस्वतो वेदनासु च द्वेषवतो नश्यति । ततश्चाचार्यविघ्नास्त्वया जेतव्या इति भावः ॥

दुःखनिवारणी शिक्षा कवचापरानामीमितः प्रवधेनाभिधत्ते—

मूलारा—रोगातंके अस्यान्महतश्च व्याधीन् । पच्चूहे विघ्नान् । वीतरागकोपता हि चारित्र तद्व्याध्यादिप्रतीकारार्थेषु वस्तुषु आदस्वतो व्याध्यादिषु द्वेषवत्तत्र नश्यति ॥

अर्थ—हे श्रपक ! तू दीनता का छोड़ कर मोहका त्याग कर अल्प और बड़े दोनो प्रकारके व्याधिओं को तथा वेदनाको धैर्यके बलसे जीतले। चारित्रिके जो शत्रु हैं उनको भी तू जीतले। राग और कोपसे अपने आत्माको अलग रखनाही चारित्र है। रोगका नाश करनेवाले पदार्थोंमें जो आदर करता है और वेदनाओंमें जो द्वेष रखता है उसका चारित्र नष्ट होता है। अतः चारित्रिके विधातक पदार्थोंको जीतना योग्य है

सन्धेः, उन्नसर्गोऽपरिस्ते, यः तिविहेण णिज्जिणहि तुमं ॥  
 णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिसु आराहओ मरणे ॥ १११६ ॥  
 त्वं पराजित्य निःशेषानुपसर्गपरीपहान् ॥  
 समाधानपरो भद्र ! मृत्यावाराधको भव ॥ १५७७ ॥

विजयोदया—सन्धे वि य उवसग्गे सर्वाधोपसर्गान् परीपह्वाश्च मनोवाक्कार्यैर्जय । उपसर्गपरीपहजयदु रा-  
 मीरुता मनसा जय । भीतोऽयमिति दयया न दु राणि द्ररति । सन्निहितद्रव्यादिसहकारिणमसद्वैद्यमुदयागतं अनि-  
 चार्यवीर्यं बल प्रयच्छत्येवेति धृतिवलेन भावना मनसा जयः । श्रान्तोस्मि वेदनादु सहात्मता पश्यत मदीयामिमा अतिक्रश-  
 मवस्था । दग्धोऽस्मि ताडितोऽस्मि इत्येवमादिदीनचचनानुचारणं । असकृदनुभूतार्थो परीपहा क्षुवादय, उपसर्गाश्च पूर्वं ।  
 पूतुर्वन्तमपि नामी मुचन्ति । केवल धृतिरहितोयं वराको रास्टीति निश्चते । न सन्मार्गाच्छयावयितु इमे क्षमा इति उदार  
 वचनता वचनेन जय । अवीनेक्षणमुपरागवत्ता अचलता च कायेन जय । णिज्जिणिय सम्ममेदे निजित्वेव सम्पन्ने-  
 तानुपसर्गपरीपह्वाभरणे मरणकाले । आराधओ होहिसि रत्नवयपरिणतो भाविव्यसि । उपसर्गपरीपह्वाकुलितचेतसो  
 नैवाराधकता ॥

मूलारा—तिविधेण द्रव्यादियोगवशादापन्नोदयमवायधीर्यमसद्वैद्यमिमानुपसर्गपरीपह्वाभ्यन्तत्वेन (१) निवार्येत ।  
 तदिदानीं दृश्यं दुःखमीरुता, न गलु भीतोऽयमिति कृपया दुःखानि त्यजतीतीक्ष्णी धृतिबलभावना मनसा तन्निर्जयः  
 श्रान्तोऽस्मि दुःसहा मे वेदना । पश्यत मदीयामिमामतिक्रामवस्था । हा वैव । दैवदग्धोऽस्मीत्यादि दीनवचनानुचारणं ।  
 परीपह्वाश्च सर्वेण शरीरिणा आसंसारमनुभूताः असकृदुपसर्गाश्च । न चामी पूतुर्वन्तमपि मुंचति केवलं निःसत्त्वोऽयं  
 कापुरुषो रास्टीति निश्चते न वैते सन्मार्गाच्छयावयितुं मा क्षमते इत्यादिधीरोदात्तवचनोच्चारणं च वाचा तत्पराजयः ॥

अवीनेक्षणत्वं ग्रहसितसुखत्वाद्यवस्थान कायेन तद्विजयः ॥ एदे एतान् ॥

अर्थ—हे क्षपक ! तू मन वचन और शरीरसे सर्व उपसर्ग और परीपहोंको जीतले जब इनको तू पूर्ण जी-  
 तनेमें समर्थ होगा तबही भरणसमयमें तू रत्नत्रयाराधक होगा अन्यथा नहीं।

विशेषार्थ—उपसर्ग और परीपहोंके दुःखोंसे भयभीत न होना गही मनसे उपसर्ग और परीपहोंको जीतना माना जाता  
 है यह पुरुष भयशुक्त है ऐसा समझकर उपसर्ग और परीपह तकलीफ उत्पन्न करनेका कार्य दयासे छोड़ते हैं, ऐसा  
 नहीं समझना चाहिये, समीपके द्रव्यादि पदार्थ ये असाता वेदनीय कर्मका उदय आनेमें सहकारि कारण है जब

वेदनीय कर्म उदयमें आता है और उसका अनिवार्य सामर्थ्य हे तब वह अपना फल देकर ही नष्ट होगा ऐसा धैर्य धारण कर विचार करना यह मनके द्वारा उपसर्ग परीपहों का जय समझना चाहिये.

मैं थक गया हूं, ये दुःख दुःसह हैं, मैं अतिशय कष्टतम अवस्था को प्राप्त हुआ हूं, मेरे शरीरमें आग लगी है, मैं पीटा जा रहा हूं इत्यादिक दीनता व्यक्त करनेवाले शब्द मुंहसे न निकालना यह वचनसे जय समझना चाहिये

क्षुधादिक परीपहोंका अनत चार अनुभव ले चुका हू अनेक बार घोर उपसर्ग भी मेरेको प्राप्त हुए थे जोरसे रोनेपरभी ये उपसर्गादिक दुःख मेरेको क्या छोड़ देंगे ? यह पुरुष धैर्यरहित है, यह दीन है, चारुवार रोता है, चिह्छता है ऐसी लोक मेरी निंदा करेंगे ये उपसर्गादिक दुःख मेरेको सन्मार्गसे भ्रष्ट करनेमें असमर्थ हैं ऐसे उदार वचन कहना यह भी वचनजय समझना चाहिये

परीपहादिकोंसे दुःख होने परभी मुखमें दीनता न दिखाना, आखोंमें दीनता न धारण करना, मुख न झुलना, शरीरमें निश्चलता रहना, यह शरीरसे जय समझना चाहिये.

इस प्रकार उपसर्ग और परीपहोंको दृढतासे जीत कर मरणसमयमें हे क्षपक ! तू रत्नत्रयाराधक हो

संभर सुविहित्य जं ते मज्झमि चदुव्विहस्स संघरस ॥

बूढा महापदिण्णा अहय आराहइस्सामि ॥ १५१७ ॥

अहमाराराधयिष्यामि प्रतिज्ञा या त्वया कृता ॥

मध्ये संघस्य सर्वस्य तां स्मरस्यधुना न किम् ॥ १५१८ ॥

विजयोदया—संभर स्मृति निवेदि । सुविहित्य चतुर्विधस्य संघस्य । किं स्यामि इति चेत् तं ता प्रतिज्ञा कृतवानसि । मज्झमि मध्ये । कस्य ? चदुव्विहस्स चतुर्विधस्य संघस्य । बूढा धृता । महापदिण्णा महती प्रतिज्ञा । अहयं अह आराधयिष्यामि आराधयिष्यामि इति ॥

मलारा—जं ते यत्त्वया । बूढा कृता ॥

अर्थ—हे निर्दोषचारित्र धारक क्षपक, तू चार प्रकारके संघमें अर्थात् उनके समक्ष बड़ी प्रतिज्ञा धारण की है अर्थात् मैं रत्नत्रयका आराधना करूंगा ऐसी महाप्रतिज्ञा धारण की है उसका स्मरण कर

को गाम भडो कुलजो माणी थोलाइदूण जणमज्झे ॥  
जुज्झे पलाइ आवडिदमेत्तओ चेव अरिभीदो ॥ १५१८ ॥

जनमध्ये मुजास्फालं विधाय वलगर्वितः ॥

क' कुलीनो रणे मानी शत्रुवस्त' पलायते ॥ १५७९ ॥

विजयोदया—को गाम भडो क पलायते युद्धे भट शूर । कुलजो मानी । थोलाइदूण मुजास्फालनं कृत्वा ।  
जनमध्ये । एव युद्धे शत्रुपराजय करिव्यामीति उद्गुण्य आवडिदमेत्तओ अभिमुखायातशत्रुएव अरिभीतः । क. पलायन  
करोति ॥

इत. क्षपक लोकप्रसिद्धदृष्टातसहत्या प्रववेन प्रोत्साहयति—

मूलारा—माणी यद्वाःसंपादनाहकारी । थोलाइदूण आत्मानं सुत्वा । मुजास्फालनं कृत्वा । एवं शत्रुपराजयं  
करिष्यामि इत्युद्गोच्येति यावत् । आवडिदमेत्तओ चेव मिलितमात्र एवारिणा सह अथवा अभिमुखायातमात्रादेवोरिति  
योज्यम् ॥

अर्थ—“ मैं शत्रुको अवश्य पराजित करूंगा ” ऐसी प्रतिज्ञा जिसने मुजास्फालन करके सर्व जनसमक्ष  
की है ऐसा कोन स्वामिमानी कुलीन शत्रु पुरुष शत्रु समीप आनेपर डरकर पलायन करेगा.

दार्ष्टान्तिके योजयति—

थोलाइदूण पुब्बं माणी संतो परिसहादीहिं ॥  
आवडिदमिच्चओ चेव को विसण्णो हवे साहू ॥ १५१९ ॥

कः कृत्वा स्वस्तवं मानी संघमध्ये तपोधनः ॥

परीपहरिपुत्रस्तः क्षिप्रयत्यापातमात्रत' ॥ १५८० ॥

विजयोदया—थोलाइदूण पुब्बं मुजास्फालनं कृत्वा पूर्वं । परिसहादीहिं आवडिदमेत्तनो चेव परीपहारा-  
तिभिराभिमुखायात एव । को विसण्णो हवे साहू माणी संतो को विपण्णो भवेत्साधुवर्गो मानी सन् ॥  
एव दृष्टते दर्शितमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—

मूलारा—आवडिदमेत्तओ परीपहारिभिर्मिलितमात्रकः । विसण्णो दुःखितः ।

अर्थ—सर्व सवके समक्ष परीपह और उपसर्ग आनेपर भी मैं प्रत्याख्यात आहारादिक पदार्थोंका स्वीकार न करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा लेकर परीपहादिक आतेही कोनसा साधु दुःखी होकर स्वप्रतिज्ञाका त्याग करेगा ? अर्थात् अपनी प्रतिज्ञामें परीपहादिक आनेपर भी दृढता धारण कर उसको नष्ट न करेगा.

आवडिया पडिकूला पुरओ चेव क्कमंति रणभूमिं ॥

अवि य मरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण वडुंति ॥ १५२० ॥

प्रविशंति रणं पूर्वं शत्रुमर्दनलालसाः ॥

यच्छन्ति नासुनाशेऽपि शत्रूणां प्रसरं पुनः ॥ १५८१ ॥

विजयोदया—आवडिया पडिकूला अभिसुयायाता-शत्रव-। पुरदो चेव क्कमति रणभूमिं पुरस्तादेवोपसर्पन्ति रणभूमिं । अवि य मरिज्ज रणे यद्यपि रणे त्रियन्ते । ण य पसरमरीण वडुन्ति नैव प्रसरमरीणां वर्धयन्ति ॥

मूलारा—आवडिदप्पडिकूला आपतिता अभिसुया जाताः प्रतिकूलाः शत्रवो येया सुभटाना ते । पुरदो चेव पूर्वमेव शत्रुभिरनाक्रातमेवेति भावः ॥ क्कमति आक्रामति । रणभूमिं युद्धाय कल्पिता भुव । मरेज्ज त्रियेरन् । पसर उत्साह । वडुति वर्धयति ।

अर्थ—दृष्ट्वा करनेवाले शत्रु युद्धभूमिमें आगे आगे ही पैर बढ़ाते हैं कदाचित् युद्धमें शत्रु प्रहारसे मरणका स्वीकार करेंगे परंतु अपने प्रतिपक्षीका उत्साह बढ़ेगा ऐसा कार्य वे कदापि नहीं करेंगे अर्थात् रणभूमिसे पलायन नहीं करेंगे.

तह आवडिदप्पडिकूलदाए साहू विमाणिणो सूर्रा ॥

अइतिच्चवेयणाओ संहति ण य विगडिमुवयांति ॥ १५२१ ॥

मानिनो योगिनो धीराः परीषहनिप्पुदिनं ॥

सहन्ते वेदना घोराः प्रपद्यन्ते न विक्किंयाम् ॥ १५८२ ॥

विजयोदया—तह आवह पडिकूलदाए तथा आपत्यतिकूलतया । साधवो मानिन. सूर्रा. । अद्वितिव्वेदणाओ अतीव तीव्रवेदना । सहति सहते । ण य विगडिमुवयाति नैव विरुतिमुपयाति ॥

मूलारा—आवडिदप्पडिकूलदाए आपतिता दुर्दैववशादुपस्थिताः प्रतिकूला उपसर्गपरीपहा येपां ते आपतितप्रति-  
कूलास्तेषा भाव आपतितप्रतिकूलता तस्या सत्या । उपसर्गपरीपहेषु उपस्थितेषु सत्त्विति यावत् । अन्ये तु आवड  
पडिकूलताए इति पठित्वा आपत्प्रतिकूलतयेत्यर्थमाहुः । विगादिं रत्नत्रयविराधनं ॥

अर्थ—जैसे पूर्वकृत अष्टम कर्मके उदयसे परीपहादिक अति तीव्र दुःख देनेपर भी अर्थात् उनसे अति-  
तीव्र वेदना होनेपर भी साभिमानि साधुगण सब सहलेते हैं परंतु वे विकार को प्राप्त होकर रत्नत्रयाराधनाका  
त्याग नहीं करते हैं

थोलाइयस्स कुलजस्स माणिणो रणमुहे वरं मरणं ॥

ण य लज्जणयं काउं जावज्जीव सुजणमज्जे ॥ १५२२ ॥

रणारंभे वरं मृत्युर्मुजास्फालनकारिणः ॥

यावज्जीव कुलीनस्य न पुनर्जनजल्पनम् ॥ १५८३ ॥

विजयोदया—थोलाइयस्स कृतमुजास्फालनस्य । माणिणो मानिन । रणमुहे वरं मरणं युद्धमुखे शोभन मरण ।  
ण य वरं नैव शोभन । लज्जणयं काहुं जावज्जीव च सुजणमज्जे सुजनमध्ये यावज्जीव निर्वाकरण ॥

मूलारा—थोलाइदस्स कृतमुजास्फालनस्य । वरं शोभन । लज्जणयं लज्जाकारकं । धर्मपलायनमित्यर्थः ॥  
अर्थ—जिसने मुजास्फोट कर शत्रुको जितनेकी प्रतिज्ञा की है ऐसे कुलीन स्वाभिमानि मनुष्यका रणमें  
मर जाना भी मला है, परंतु सज्जनोंमें जिससे निंदा होगी ऐसा कार्य अर्थात् रणसे भागना, शत्रुको पीठ दिलाना  
कभी भी मला नहीं है, क्यों कि ऐसे कार्यसे आजन्म निंदा होती है,

समणस्स माणिणो संजदस्स णिहणगमणं पि होइ वरं ॥

ण य लज्जणयं काहुं कायरदादीणकिविणत्तं ॥ १५२३ ॥

संयतस्य वर मृत्युमार्निनोऽसक्तताडिनः ॥

न दीनत्वधिषण्णत्वे परीषहरिपूदये ॥ १५८४ ॥



विजयोदया—समग्नस्स समानस्य श्रवणस्य वा । माणिणो मानिन', संजवस्स संयतस्स । निधणगमणं पि होदि वर निधनगमनमपि भवति वर । ण य लज्जणम काहु नैव लज्जनीयकरण शोभन । कातरता न वर । दीणकिविणत्तं दीनत्व कृपण त्व च न वर ॥

मूलारा—निधणगमण भरणापत्तिः । कादरदा चित्तभीरुता । दीणकिविणत्तं दीनत्वं, वैवर्ण्यं, कृपणीत्व किमपि कर्तुं न शक्नोमि इति वचन ॥

अर्थ—रागद्वेष रहित, अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहनेवाले ऐसे मुनिका भरण होना भी भला है जिससे लज्जित होना पड़ेगा ऐसा कार्य-रत्नत्रयाराधनासे च्युत होना-कभीभी योग्य नहीं है चित्तमें मय उत्पन्न होना, मुख भयसे झूलना, मैं असमर्थ हूँ प्रतिज्ञा धारण करनेमें समर्थ नहीं हूँ इत्यादिवचन बोलना निन्द्य है

एयस्स अप्पणो को जीविदहेदुं करिज्ज जंपणय ॥

पुत्तपउत्तादीणं रणे पलादो सज्जणलंछ ॥ १५२४ ॥

वर मृत्युः कुलीनस्य पुत्रपौत्रादिसंततः ॥

न युद्धे नश्यतोऽरिभ्यः कर्तुं स्वकुललाञ्छनम् ॥ १५८५ ॥

विजयोदया—एयस्स अप्पणो एकस्यात्मन । जीविदहेदु जीवितनिमित्त । को करिज्ज जंपणम क कुर्यादप-  
वाद । पुत्तपउत्तादीण पुत्रपौत्रादीनां । रणे पलादो रणात्पलायमान । सज्जणलंछ स्वजनलाञ्छन ॥

मूलारा—जंपणय अपवाद । पउत्तादीण पौत्रपौत्रादीना । पलंतो पलायमानः । अन्य पलादो इति पठित्वा पलाय्येत्यर्थमाह । सुणमलंछं ललाटे कुर्कुरदाहसमानं ॥

अर्थ—अकंले अपने जीवितके लिये कोन मानी पुरुष अपवादका-निंदाका कार्य करेगा, ऐसे अकार्य से अर्थात् रणसे भागने के कार्यसे पुत्र पौत्रादिक तक अकीर्ति रहा करती है अर्थात् पुत्र पौत्रादिक भी अपने पूर्वजोंकी अकीर्तिसे दुःखी होते हैं, उनको लज्जित होना पड़ता है

तह अप्पणो कुलस्स य संघस्स य मा हु जीवदत्थं तं ॥

कुणसु जणे जंपणयं किविणं कुब्ब सगणलंछ ॥ १५२५ ॥

मा कार्पोजीवितार्थं त्व दैन्यं स्वकुललांछनम् ॥

कुलस्य स्वस्य संघस्य मा गास्त्वं वेदनावशम् ॥ १५८६ ॥

विजयोदया—तद् तथा । अण्णो जीविद्वत् भवतो जीवितार्थं । कुलस्य संघस्य य मा कुणसु जणे दुसण्य कुलस्य संघस्य च दूयण जने मा कार्पो । किंविण कुञ्च कृणत्त्व कुवेन् । सगणलल स्वगणलांछन ॥

मूलारा—किंविण कुञ्च कृणत्त्वं कुवेन् । परिपहदिविनिपाते हीनसत्त्वता विदधत् ।

अर्थ—वैसे हे क्षपक । तुम अपने जीवितके लिये अपने कुल और संघको दूयण उत्पन्न होगा ऐसा कार्य मत करो अर्थात् तुम अपनी प्रतिज्ञामें दृढ़ रहो मरेसे प्रतिज्ञाका पालन नहीं होता है ऐसा दीनवचन कहोगे तो तुमारे संपूर्ण गणको लज्जित होना पड़ेगा ।

गाढप्यहारस्ताविदा वि सूरा रणे अरिसमकलं ॥

ण मुह भंजति संयं मरति भिउडीए सह चैव ॥ १५८६ ॥

त्रियते समरे वीरा प्रहाराकुलिता अपि ॥

कुर्वन्ति अकुटीभंग न पुनर्वीरिणां पुरः ॥ १५८७ ॥

विजयोदया—गाढप्यहारस्ताविदा वि गाढप्रहारस्तापिता अपि सूर रणे युद्धे । सग मुह अरिसमकलं ण भजति स्वमुखभग अरीणां पुरतो न कुर्वन्ति । मरति त्रियते । भिगुडीए सह चैव अकुट्या सह चैव ॥

मूलारा—भंजति वक्रयति । संयं स्व मुख । भिउडिसुहा अकुट्यो मुखेषु येपा ते अकुट्या सहैव त्रियते इत्यर्थः ॥

अर्थ—सूर पुरुष रणमें गाढ शस्त्रप्रहार होनेसे शत्रुके समक्ष मुख फिराकर भागते नहीं है, वे अपनी भो-हं टेढ़ी करके मरण का ही अंगीकार करते हैं ।

सुहु वि आवइपत्ता ण कायरत्तं करिति सण्णुरिसा ॥

कत्तो पुण दीणत्स किविणत्त वा वि काहिंति ॥ १५२७ ॥

कातरत्तं न कुर्वन्ति परीषहकरालिता ॥

कि पुनर्दीनतादीनि करिष्यन्ति महाधिय ॥ १५८८ ॥

विजयोदया—सुष्टु वि आवश्यत्ता नितरमापदं प्राप्ता अपि । सप्पुरिसा ण कायरत्तं करंति सत्पुरुषा न कातरता कुर्वन्ति । कत्तो पुण काहिंति कुत. पुन करिष्यन्ति । दीणत्त त्रिविणत्त चावि दीनता रुपणता च ॥

मूलारा—सुष्टुवि आवदि पत्ता नितरा आपद प्राप्ता अपि ॥

अर्थ—अतिशय विपत्ति प्राप्त होने पर भी सत्पुरुष डरते नहीं हैं तो वे असमर्थता और दीनता क्यों दिखायेंगे ?

कोई अगिमदिगदा समंतओ अगिणा वि डञ्झंता ॥  
जलमज्झगदा व णरा अत्थंति अचेदणा चेव ॥ १५२८ ॥  
अग्निमध्यगता. केचिद्दह्यमानाः समंततः ॥  
अवेदना वितिष्ठन्ते जलमध्ये गता इव ॥ १५८९ ॥

विजयोदया—कोई अत्थति अचेदणा चेव केचिदासते अचेतना इव । अगिमदिमदा अग्निं प्रविष्टा । समंतदो अगिणा वि डञ्झंता समंतात् अग्निना अपि ( जलमज्झगदा व णरा जलमध्यगता नरा इव । अचेतना इव ॥  
मूलारा—अगिमदिगदा अग्निं प्रविष्टाः ॥

अर्थ—कितनेक पुरुष अग्निके बीचमें पड़नेपर और चारों तरफसे अग्नि लगने पर भी अर्थात् उसके दाह-से दग्ध होनेपर भी मानो जलमें प्रवेश किये पुरुष के समान अथवा अचेतन पदार्थके समान स्थिर रहते हैं

तत्थ वि साहुक्कार सगअगुलिचालणेण कुब्बंति ॥  
केई करंति धीरा उक्किट्ठिं अगिमउज्झस्मि ॥ १५२९ ॥  
साधुकार परे तत्र कुर्वन्त्यगुलिनर्तनैः ॥  
आनंदितजनस्वान्ता उत्कृष्टिं कुर्वन्ते परे ॥ १५९० ॥

विजयोदया—तत्थ वि तत्राप्यग्निमध्ये । साधुक्कारं सगअगुलिचालणेण कुब्बन्ति साधुकारं सागुलिचालनया कुर्वन्ते । केई अगिमज्झगदा धीरा केचिदग्निमध्यगता धीराः । उक्किट्ठिं करन्ति उत्क्रोशनं कुर्वन्ति ॥

मूलारा—तद्य वि य यद्यपि अग्रिमध्ययतास्तथापि । साधुकारं भद्रकं भवतीद यदशुभं कर्म क्षयं यातीति प्रशंसा ।  
सार्गमुल्लिखालेण स्वाणुलिनर्तनेन । नखच्छोदिकयेत्यन्यः । केई एतदुभयत्र योज्यं । उक्कितं उक्कोशनं । विशिष्टशब्दकलकल-  
मित्यर्थः ।

अर्थ—उस अग्नीमें भी अपनी अंगुलियां हिलाकर कोई धीर पुरुष अच्छा ही हुआ ऐसा सूचित करते  
हैं इस उपसर्गसि भेरा कर्म क्षयको प्राप्त होगा. यह अग्नि भरे कर्मको नष्ट करता है इसका हमारे ऊपर बड़ा उपकार  
हो रहा है. ऐसा अंगुलियां हिलाकर सूचित करते हैं. कोई धीर पुरुष आनदसे विशिष्ट शब्द करते हैं.

जदिदा तह अण्णाणी संसारपवड्डणाए लेस्साए ॥

तिव्वाए वेदणाए सुहसाउलया करिंति धिदिं ॥ १५३० ॥

वेदनायामसत्तायां कुर्वन्त्यज्ञानिनो धृतिम् ॥

लेश्यया भववर्द्धिन्या सुखास्वादपरा यदि ॥ १५३१ ॥

विजयोक्त्या—जदिदा यदि तावत् । तद्य तथा अण्णाणीधिदिं करिंति तथा अज्ञानिनो धृतिं कुर्वन्ति । संसारपवड्ड-  
णाए लेस्साए संसारप्रवर्द्धनकारिण्या लेश्यया । तिव्वाए वेदणाए तीव्राया वेदनाया सत्ताया । सुहसाउलया सुखास्वादन  
लंपटा ॥

मूलारा—तद्य तेन साधुकारकरणादिप्रकारेण । संसारपवड्डणाए संसारप्रवर्द्धनकारिण्या । सुहसाउलया सुखा-  
स्वादनलंपटाः ।

अर्थ—संसारको बढ़ानेवाली लेश्ययासे युक्त होकर भी उपसर्गसे तीव्र वेदना होनेपर भी यदि सुखास्वाद  
कारनेमें लंपट अज्ञानी पुरुष धैर्य धारण कर दुःख सहन करते हैं तो—

किं पुण जदिणा संसारसव्वदुक्खवखयं करंतेण ॥

बहुतिव्वदुक्खवरसजाणएण ण धिदी हवदि कुज्जा ॥ १५३१ ॥

तदा धृतिं न कुर्वन्ति किं भवच्छेदनोच्यताः ॥

ज्ञातसंसारनैः सार्या वेदनायां तपोधनाः ॥ १५३२ ॥

विजयोदया—किं पुण जदिणा ण करिज्जा हवदि धिदि किं पुनर्नं कार्यो भवति धृति यतिना । कीदृशा ? ससारसव्वदुक्खमखयं करुतेण ससारसर्वदु सखयं कुर्वता । यहुतिव्वदुक्खरसजाणेण वह्नां चतुर्गतिगतानां दु.खानां रस जानता ॥

मूलारा—रसजाणएण स्वादेदिना । कुज्जा कर्तव्या ।

अर्थ—सपूर्ण दुःखोंका रस जाननेवाले यति क्यों न धैर्य धारण करे. अर्थात् जब कोई अज्ञानी भी जीव धैर्य धारण कर दुःख सहते हैं तो वैराग्यशील यतिओंका दुःख सहन करना कर्तव्य ही ठहरा दुःखसे भययुक्त होना उनके लिए निवृत्ता अयोग्य है.

असिवे दुब्बिमक्खे वा कंतारे वा भएव आगाढे ॥  
रोगोहिं व अभिभूदा कुलजा माणं ण विजहंति ॥ १५३२ ॥  
दुर्भिक्षे मरके कक्षभये रोगे दुरुत्तरे ॥  
मानं कापि विमुंचंति कुलीना जातु नापदि ॥ १५९३ ॥

विजयोदया—असिवे मार्यो । दुब्बिमक्खे वा दुर्भिक्षे वा । कंतारे अटव्या वा । गाढे भये च । उपर्युपरि निपतितभये वा । रोगोहिं व अभिभूदां व्याधिमिवा अभिभूताः । ण विजहंति कुलजा माणं न विजहंति कुलप्रसूता मानं ॥  
मूलारा—असिवे मार्यो । आगाढे उपर्युपरि निपतति सति । अनिवार्येण ।

अर्थ—मारी, दुर्भिक्ष, गहन अरण्य, पुनः पुनः मय प्राप्त होना, रोगोंसे पीडित होना इत्यादि प्रसंगपर कुलवान् मनुष्य अभिमान छोडते नहीं है

ण पियंति सुरं ण य खंति गोमयं ण य पलंडुमादीयं ॥  
ण य कुट्वंति विकम्पं तहेव अण्णंपि लज्जणयं ॥ १५३३ ॥  
सेवंते मद्यगोमांसपलांड्वादि न मानिनः ॥  
कर्मान्यदपि कुब्ब्रेणपि लज्जनीयं न कुर्वते ॥ १५९४ ॥

विजयोदया—ण पिवति सुर न पिवति सुरग । ण यति न च भक्षयति गोमास । ण य पल्लुमादीयं न पलांडु प्रभृतिकं भक्षयति । ण य कुब्बति विकम्म नैव कुर्वन्ति कुत्तिसत कर्म परोच्छिष्टभोजनादिक न कुर्वन्ति । तथेव अण्णंपि लज्जणय तथेव नान्यदपि लज्जणीय कुर्वन्ति ॥

मूलारा—ण य खंति नच भक्षयति मानिनः । गोमासमित्यर्थः । पलांडुमादीयं लघुनगृजन्प्रभृतिकं । विकम्मं कुत्तिसतं कर्म परोच्छिष्टभोजनादिकं ॥

अर्थ—कुलीन मनुष्य कभी मदिरापान नहीं करते हैं गोमास भक्षण नहीं करते हैं प्याज, लहसुन, वीरह कढ़ौंका भक्षण नहीं करते हैं तथा वे दूसरोंका उच्छिष्टान्न भक्षणादिक कर्म नहीं करते हैं, वेसा अन्य भी लज्जा उत्पन्न करनेवाले कर्म वे करते नहीं, तो—

किं पुण कुलगणसंघजसमाणिणो लोयपूजिदा साधू ॥

माणं पि जहिय काहंति विकम्म सुजणलज्जणय ॥ १५३४ ॥

कुलसंघयशस्क्रामा किं कर्म जगद्विचिताः ॥

मान विमुच्य कुर्वन्ति लज्जणीयं तपोधनाः ॥ १५३५ ॥

विजयोदया—किं पुण साहू वि कम्म काहंति कि पुन साधव कुत्तिसत कर्म करिष्यति । कुलगुणसयस्स जसमाणिणो कुलस्य सयस्य च यश संपादनाहंकारवत् । लोयपूजिदा साधू लोके कृत्तपूजा । माण विजहिय मानं त्यक्त्वा जणलज्जणय साधु जनेन विलज्जणीय कर्म ॥

मूलारा—जसमाणिणो यशःसंपादनाहंकारवत् ॥

अर्थ—कुल, गण, संघ इनकी यशोश्रद्धि चाहनेवाले साधुगण क्या कुत्तिसत कर्म कभी करेंगे ? कभी भी नहीं करेंगे सत्पुरुषोंके द्वारा निंद्य ऐसा कर्म लोकवध साधु मानका त्याग कर करेंगे क्या ? कभी भी नहीं करेंगे

जो गच्छिज्ज विसादं महल्लमप्य व आवदि पत्तो ॥

त पुरिसकादरं विंति धीरपुरिसा हु सडुत्ति ॥ १५३५ ॥

लघ्वीं विपत्तिमुर्वीं वा यः प्रयातो विधीदति ॥

नरा वदन्ति तं षंडं धीराः पुरुषकातरम् ॥ १५९६ ॥

विजयोदया—जो गच्छिज्ज विसादं यो गच्छेद्विपादं । महलं अप्य व आवइ पत्तो महतीं अल्पा वा आपदं प्राप्त ॥ तं पुरिसकातरं पुरुषेषु कातर । धीरपुरिसा संदुत्ति विंति धीरा सुपुरुषाः पढ इति द्रुवन्ति ॥ आपदि विधीदतोऽपवाद दर्शयति—

मूलारा—विसाद विपादं । आवदि आपद । पुरिसकादरं पुरुषेषु कातरं । सढोत्ति नपुंसकमिति द्रुवन्ति ॥

अर्थ—जो छोटी या बड़ी आपत्ति आनेपर खिन्न होता है धीर पुरुष उसको कातर-हरपोक मनुष्य ऐसा कहते हैं तथा उसको षंड कहते हैं.

मेरुव्व पिप्पकपा अक्खोभा सागरुव्व गंभीरा ॥

धिदिवंतो सप्पुरिसा हुंति महल्लावईए वि ॥ १५९७ ॥

समुद्रा इव गंभीरा निःकम्पाः पर्वता इव ॥

विपद्यापि महिष्ठायां न क्षुभ्यन्ति महाधियः ॥ १५९७ ॥

विजयोदया—मेरुव्व पिप्पकपा मेरुरिव निष्कला । अक्खोभा अकंपाः । सागरोव्व सागर इव धिदिवंतो सप्पुरिसा दृढितमत्तः संतोपवंतः सत्पुरुषाः । महल्लावईए वि महत्यामापदि अपि ॥ सत्पुरुषसदृष्टतल्यापनेन विपदि धैर्यमवलम्बयति—

मूलारा—महलावदीए वि महत्यामाप्यापदि । अक्खोभ्या क्षोभयितुमशक्याः । अचाल्यचित्ता भवंतीति संबन्धः । उक्तं च—

समुद्रा इव गंभीरा निष्कंपाः पर्वता इव ॥

विपद्यापि महिष्ठाया न क्षुभ्यन्ति महाधियः ॥

अर्थ—बड़ी आपत्ति आनेपर भी धैर्ययुक्त, संतुष्ट सत्पुरुष मेरुके समान निश्चल रहते हैं और समुद्रके समान क्षोभरहित होते हैं

केई विमुत्तसंगा आदरोविदभरा अपडिकम्मा ॥

गिरिपब्भारमभिगदा बहुसावदसंकडं भीमं ॥ १५३७ ॥

स्वारोपितभरा केचिन्निःसंगा निःप्रतिक्रियाः ॥

गिरिप्राग्भारमापद्वाश्चित्रश्वापदसंकटम् ॥ १५९८ ॥

विजयोदया—केई उत्तमठ्ठ साधेति इति वक्ष्यमाणेन सवध । केचिदुत्तम वस्तु रत्नत्रयं साधयन्ति । कीदृग्भूताः ? विमुत्तसंगा निष्परिग्रहा । आदरोविदभरा आत्मारोपितभरा । अपडिकम्मा निष्प्रतीकारा । गिरिपब्भारमभिगदा गिरिप्राग्भारमभिगता । कीदृश ? बहुसावदसंकड बहुव्यालमृगाकुल । भीम भयावह ।

महासत्त्वाना महोपसर्गेऽपि रत्नत्रयसाधननिर्वाहं गाथाद्वयेन प्रकाशयति—

मूलारा—आदरोविदभरा आत्मन्यारोपितकरणीयभारा । अपडिकम्मा अप्रतीकाराः । गिरिपब्भारं पर्वतगुहा । अदिगदा प्रविष्टाः

अर्थ—कितनेक सत्पुरुष संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग कर तथा संपूर्ण कार्य अपने ऊपर लेकर आपत्तिको दूर करनेके लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करते हैं और जहां बहुत हिंसजीव निवास करते हैं ऐसे पर्वतोंकी गुहामें जाकर उत्तम वस्तुकी प्राप्ति कर लेते हैं, अर्थात् रत्नत्रयको साध लेते हैं

धिदिधणियवद्धकच्छा अणुत्तरविहारिणो सुदसहाया ॥

साहेति उत्तमठ्ठ सावददाढंतरगदे वि ॥ १५३८ ॥

राद्धान्तसचिवा सन्तः सन्तुष्टा शुद्धवृत्तयः ॥

साधयन्ति स्थिताः सार्थं न्यालदन्तान्तरेवपि ॥ १५९९ ॥

विजयोदया—धिदिधणियवद्धकच्छा धृत्या नितरा वद्धकक्ष्या । अणुत्तरविहारिणो प्रकटचारिवा । सुदसहायाः श्रुतज्ञानसहाया । साधेति उत्तमठ्ठ साधयत्युत्तमार्थं रत्नत्रयं । सावददाढंतरगदा वि श्वापददंष्ट्रमध्यगता अपि ॥

मूलारा—वद्धकच्छा स्वीकृतवला कृतप्रतिज्ञा वा । अणुत्तरविहारिणो उत्कटचारिवाः ॥

अर्थ—जिन्होंने अलौकिक धैर्य धारण किया है, जिनका चारित्र उत्कट है, तिलमात्रभी जिसमें दोष नहीं



है ऐसे चारित्रिके धारक, श्रुतज्ञानकी मदद जिनकी मिली है ऐसे मुनिराज क्रूर प्राणिओंके दाहमें चले जाने पर भी रत्नत्रयकी सिद्धि कर ही लेते हैं

भल्लक्ष्मिण तिरत्तं खज्जंनो घोरवेदणट्ठोऽवि ॥

आराधणं पवणो ज्ञाणेणवंतिसुकुमालो ॥ १५३९ ॥

धीरोऽवन्तिसुकुमारोऽगात्रिचक्रं शुद्धमानसः ॥

शृगाल्या ग्वाचमानोऽपि देवीमाराधनां प्रति ॥ १६०० ॥

विजयोदया—भल्लक्ष्मिण तिरत्त खज्जतो शृगालेन तिष्ठतु रात्रिषु भक्ष्यमाणः । घोरवेदणट्ठो वि घोरवदना-  
वाधितोऽपि । आराधण पवणो ज्ञाणेण शुभमध्यमेनाराधना प्रपन्न । क ? अवतिसुकुमालो अवतिसुकुमारः ॥  
उपसर्गसहानामर्थाल्लयानान्युपन्यस्यति—

मूलारा—भल्लक्ष्मीण शृगाल्या । तिरत्त त्रिरात्रं । वेदणट्ठो वेदनातः । अवति उज्जयिन्यां । सुकुमालो सुकुमारस्वामी ।  
अर्थ—शृगालीके द्वारा तीन रात्रतक जो खोये गये, जिनके प्रत्यंगोंमें तीव्र वेदनायें हो रही थी, ऐसे

भी अवति सुकुमार मुनि शुभमध्यानस रत्नत्रयाराधनाको प्राप्त हो गये । ( इनकी कथा तथा आगेके उदाहरणोंकी कथायें आराधना कथाकोषमें हैं )

मोग्गलगिरिस्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्यदइय भयवंतो ॥

वग्धीण वि खज्जंतो पडिवणो उत्तमं अहं ॥ १५४० ॥

शिआयााराधनां देवीं मुहलाद्रौ सुकोशलः ॥

भक्ष्यमाणो मुनिर्दर्याह्न्या सिद्धार्थरविषणधीः ॥ १६०१ ॥

विजयोदया—मुहलगिरौ सुकोशलोऽपि सिद्धार्थस्य पुत्रो भगवान् व्याख्या जननीचर्यां भक्षित सन् प्रतिपन्नश्च  
उत्तमार्थ ॥

मूलारा—मोग्गलगिरिस्मि मुहलाख्यगिरौ । सिद्धत्यदइदगो सिद्धार्थस्य वर्षभ पुत्रत्वात् । वि खज्जंतो स्वाद्यमानोऽपि  
अर्थ—मुहल नामक पर्वत पर सिद्धार्थ राजाके पुत्र सुकोशल नामके मुनिराज को पूर्व जन्ममें माता

थी ऐसी व्याघ्रनि मक्षण किया. तो भी उन्होंने शुभध्यानसे रत्नत्रयकी प्राप्ति की अर्थात् इस त्रिपंच कृत उपसर्गसे वे रत्नत्रयसे भ्रष्ट नहीं हुए

भूमीए समं कीलाकोट्टिदेहे वि अल्लचम्मं व ॥

भयवं पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४१ ॥

घरणयामार्द्रचर्मव किल कीलितविग्रहः ॥

प्रापद्भजकुमारोऽपि स्वार्थं निर्मलमानसः ॥ १६०२ ॥

विजयोदया—भूमीए समं भूसौ समं । कीलाकोट्टिदेहे कीलोरुतवेह । अल्लचम्मं व आर्द्रचर्मवत् । भयवपि भगवान् गजकुमारोऽपि । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥

मूलारा—कीलाकोट्टिद कीलैः प्रसार्य कीलितः ॥

अर्थ—गीले चमड़ेके समान कीले ठोककर जिनको जमीनके साथ एक कर दिया है ऐसे भगवान् गज-कुमार भुनीने उत्तमार्थ को रत्नत्रयको साथ लिया अर्थात् रत्नत्रय प्राप्तिके द्वारा वे मुक्त होगये

कच्छुजरखाससोसो भत्तेच्छुदुच्छिकुच्छिदुक्खाणि ॥

अधियासयाणि सम्म सणक्कुमारेण वामसयं ॥ १५४२ ॥

कासशोपारुचिच्छर्दिक्छुप्रभृतिवेदनाः ॥

सोढा. सनत्कुमारेण यतिना शरदां शतम् ॥ १६०३ ॥

विजयोदया—कच्छजरखाससोसो कच्छज्वरकासशोय । भत्तेच्छुदुच्छिकुच्छिदुक्खाणि तीव्रो जठराग्नि अक्षि-कुक्षि दुःखं च । अधियासयाणि असंकेशेन धृतानि सणक्कुमारेण सनत्कुमारेण । वामसद वर्पशत ॥

मूलारा—कच्छू रुहू । जर ज्वर । भत्तेच्छुदुच्छिकुच्छिदुक्खाणि तीव्रजठराग्निनेत्रोदरवाधाः । अन्ये अभ-तच्छर्दि इति पठित्वा अभक्कमरुचिः । छर्दि छर्दिरित्यर्थमाहुः । अधियासिदा सोढानि । सम्म निःसंकलेश । वाम-सदं वर्षशतम् ॥

अर्थ—कच्छ, ज्वर, खासी, श्वास, भस्मक व्याधि, आंखके रोग, इत्यादिक रोगोंसे होनेवाली पीडा सनत्कुमार मुनीने जो कि गृहस्थावस्थामें चक्रवर्ती थे सो वर्ष तक संकेश परिणामके विना धारण की परंतु रत्नत्रयका त्याग नहीं किया।

णावाए णिवुडाए गंगामज्जे अमुद्धमाणमदी ॥

आराधणं पवणो कालगओ एणियापुत्तो ॥ १५४३ ॥

गंगायां नाचि मग्गायां एणिकातनयो यतिः ॥

अमूढमानसः स्वार्थं साधयामास शाश्वतम् ॥ १६०४ ॥

विजयोदया—णावाए णिवुडाए नाचि निमग्गायाच्च । गगामज्जे गंगाया मज्जे । अमुद्धमाणमदी असुद्धमानमतिः । आराधण पवणो आराधना प्रतिपन्नः । कालगओ सन् । काल गत । एणियापुत्तो एणिकपुत्रनामधेयो यति ॥

मूलारा—कालगदं मरण प्राप्तः । एणियापुत्तो एणिकपुत्राख्यो मुनिः ॥

अर्थ—एणिकापुत्र नामके यतिराज नावमें आरोहण कर गंगाके दूसरे किनारे पर जा रहे थे तब वह नाव गंगामें डूब गई परंतु मुनिराजकी बुद्धि में जरासाभी मोह उत्पन्न नहीं हुआ और वे आराधनाप्राप्ति कर मर गये

ओमोदरिए घोराए भद्दबाहु असंकिलिड्डमदी ॥

घोराए तिगिच्छाए पडिवणो उत्तमं ठाणं ॥ १५४४ ॥

अवमोदर्यमंत्रेण भद्दबाहुर्महामना ॥

दुसुक्षाराक्षसीं जित्वा स्वीचकारार्थमुत्तमम् ॥ १६०५ ॥

विजयोदया—ओमोदरिए घोराए घोरेणावमोदर्येण तपसा समन्वितः । भद्दबाहु असंकिलिड्डमदी भद्रबाहुरसंक्लिष्टचित्त । घोराए तिगिच्छाए घोस्या क्षुधा वाधितोऽपि । पडिवणो उत्तम ठाण प्रतिपन्न उत्तमार्थ ॥

मूलारा—ओमोदरिए अवमोदर्येण तपोविशेषेण विशिष्टः । तिगिच्छाए दुसुक्षया ॥

अर्थ—घोर अवमोदर्य तप करनेवाले भद्रबाहु मुनि तीव्र भूखसे पीडित होनेपर भी संकेश परिणाम के वश नहीं हुए और उन्होंने रत्नत्रय को प्राप्त कर लिया।

कोसंबीलिलियघडा वृढा णइपरएण जलमज्जे ॥

आराधणं पवणा पावोवगदा अमूढमदी ॥ १५४५ ॥

चंपाए मासखमणं करित्तु गंगातडम्मि तण्हाए ॥

धोराए धम्मघोसो पडिवणो उत्तमं ठाणं ॥ १५४६ ॥

मासोपवाससंपन्नश्चंपायां तृड्ज्वरादितः ॥

धर्मघोषो मुनिः प्राप्तः स्वार्थं गंगानदीतटे ॥ १६०६ ॥

विजयोदया—चंपाए चपानगर्यो । मासखवण करित्तु मासोपवासं कृत्वा । गंगातडम्मि गंगयास्तटे । तण्हाए धोराए तृणया तीव्रया वाधितोऽपि । धम्मघोसो धर्मघोष । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ।

मूलारा—कोसंबी कौशाख्यां नगर्यां । ललिदघडा ललिताः सुलवार्द्धिताः इंद्रद्रुत्तादयो द्वात्रिंशदिभ्याः श्रावकाः समुदायाः । णदिपूरणेण यमुनाप्रवाहेण । पाओवगदा प्रायोपगमनमरण प्राप्ताः । एता श्रीविजयो नेच्छति ॥

मूलारा—मासखमण मासोपवास । करित्तु कृत्वा ॥

अर्थ—कौशांबी नगरीमें ललित घट नामके मुनिओंका समुदाय नदीके प्रवाहसे बह गया तो भी संक्षेप परिणामके वश वह नहीं हुआ

तात्पर्य—सुखसे जिनके दिन व्यतीत होगये थे ऐसे इंद्रद्रुत्तादिक वृत्तीय श्रीमत वैश्यपुत्र थे, उन्होंने दीक्षा लेकर यमुना नदीके तटपर तप किया, एक दिन वे सब यमुनानदीके प्रवाहसे बह गये परंतु स्तनत्रयमें स्थिर रहकर उन्होंने प्रायोपगमन मरण प्राप्त कर लिया

चपानगरीमें एक महिनाके उपवास करके गंगानदीके किनारेपर तौत्र प्याससे पीडित होनेपर भी धर्म घोष मुनिराजने असंक्लिष्ट परिणामोंसे उत्तमार्थ प्राप्त कर लिया

सीदेण पुव्ववइरियदेवेण विकुन्विएण घोरेण ॥

संतचो सिरिदत्तो पडिवणो उत्तमं अट्ठ ॥ १५४७ ॥

पूर्वकारातिदेवेन कृतैः शीतोष्णभारुतैः ॥

श्रीदत्तः पीड्यमानोऽपि जग्राहाराधनां सुधीः ॥ १६०७ ॥

विजयोदया—सीधेण शीतेन । संतप्तो संतप्तः । पुण्यवद्विषयेण विकृतिविएण पूर्वजनमशत्रुणा देवेनोत्पादितेन स्त्रिदत्तः श्रीदत्तः । उत्तमार्थमुपगतः ॥

मलारा—विषविविदेण उत्पादितेन । सतप्तो पीडितः । सिरिदिणो श्रीदत्तः ॥

अर्थ—पूर्व जनमका वेरी किसी देवने शीतजल वृष्टि, व शीत हवा उत्पन्न कर श्रीदत्तनामक मुनीको घोर दुःख दिया था तो भी इस मुनीश्वरने उत्तमार्थ प्राप्त कर ही लिया.

उण्हं वादं उण्हं सिलादलं आदवं च अदिउण्हं ॥

सहिदूण उसहसेणो पडिवणो उत्तमं अण्हं ॥ १५४८ ॥

भारुतं त्रैष्मकं तापं वहितसं शिलातलम् ॥

सोड्डा वृषभसेनोऽपि स्वार्थं प्रापदनाकुलः ॥ १६०८ ॥

विजयोदया—उण्ह वादं उण्हं वात, उण्हं सिलादलं उण्हं शिलातल ॥ आदव च अदिउण्हं आतापं चात्युण्हं सहिदूण प्रसह्य वृषभसेन उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥

मूलारा—सिलादल शिलातलं । आदवं आतापं । वृषभसेनो वृषभसेनः ॥

अर्थ—अतिशय उष्ण वायु, अभीसे गरम किया हुआ पर्वतका शिलातल और खर्यसताप इन तापत्रयसे पीडित होनेपर भी वृषभदत्तने यह सब सह लिया तथा उत्तमार्थ को वश किया.

रोह्ण्डयम्मि सत्तीए हओ कोचेण अग्गिदइदो वि ॥

तं वेयणमधियासिय पडिवणो उत्तमं अण्हं ॥ १५४९ ॥

अग्निराजसुतः शकत्या विद्धः कौचेन संयतः ॥

रोह्ण्डकपुरे सोड्डा देवीमारधनां श्रितः ॥ १६०९ ॥

विजयोद्या—रोहेडयस्मि रोहेडगे नगरे । सत्तीए दूथो शक्या हत । कौचेण कौचनामधेयेन । अग्निदहदोवि  
अग्निराजसुतोऽपि । त वेदणमधियासिय ता वेदना प्रसह्य । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥

मूलारा—रोहेडयस्मि रोहेटकनाम्नि नगरे । मत्तीए शक्या शस्त्रविशेषेण । कौचेण कौचानाम्ना राक्ष्सा । अग्नि-  
दहदो अभिराजानाम्नो राक्षः पुत्रः कार्तिकेयसङ्गः । अधियातिय अध्यास्य प्रसहेत्यर्थः ।

अर्थ—रोहेड नगरमें कौच राजांने अग्निराजाका पुत्र कार्तिकेय मुनिको शक्ति नामक शस्त्रसे मारा था  
तब मुनिराजने उस दुःखको सह कर रत्नत्रयकी प्राप्ति की

काइदि अभयघोसो वि चडवेगेण छिणसव्वंगो ॥

त वेयणमधियामिय पडिवण्णो उत्तम अट्टु ॥ १५५० ॥

कांकयां चडवेगेन छिन्ननिःशेषविग्रहः ॥

विषह्याभयघोसोऽपि पीडामाराधनां गतः ॥ १६१० ॥

विजयोद्या—काइदि अभयघोसो वि कांकया नगरा अभयघोसोऽपि । चडवेगेण छिणसव्वंगो चडवेगेन  
छिन्नसर्वांगः ॥

मूलारा—कांकदि कांकया नगर्यां । अभयघोसो अभयगोप ॥ चडवेगेण चडवेगानाम्ना राजपुत्रेण ॥

अर्थ—कांकदी नामक नगरमें चडवेग नामक दृष्ट राजपुत्रने अभयघाप मुनि के सर्व अंगोंको छेद डाल  
था तो भी वह तीव्र वेदना उन्होंने सह कर उत्तमार्थकी प्राप्ति कर ली

दंसेहिं य मसण्हि य खज्जतो वेदणं परं घोरं ॥

विज्जुच्चरोऽधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्टु ॥ १५५१ ॥

प्रपदे मशकैदंशैः स्वाथमानो महाभनाः ॥

विद्युच्चोरमुनिः स्वार्थं सोढुःसहवेदनः ॥ १६११ ॥

विजयोद्या—दसेहिं य दशैर्मशकैश्च भक्ष्यमाण विद्युच्चोरस्ता वेदना अवगणय्य आराधना प्रपन्नः ॥  
मूलारा—विज्जुच्चरो विद्युच्चरः ॥

अर्थ—दंडा और मशकोंसे भक्षण किया गया विद्युच्चरनामक मुनि तीव्र वेदनाओंको सहकर रत्नत्रयाराधनाको प्राप्त हुआ

हृत्थिणपुरगुरुदत्तो सम्मलियाली व दोणिमंतम्मि ॥  
डङ्गंतो अधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५२ ॥

वास्तव्यो हास्तिने धीरो द्रोणीमतिमहीधरे ॥

गुरुदत्तो यतिः स्वार्थं जग्राहानलवेष्टितः ॥ १६१२ ॥

विजयोदया—हृत्थिणपुरगुरुदत्तो हास्तिनापुरवास्तव्यो गुरुदत्त । सवलियालीव हस्तिसंक्रोश निरामाच्च [?] पूर्णभाजन अर्कपत्रपिहितमिदं अवेमुव सत्याय उपरिभाजनस्य अग्निप्रक्षेप समलीयुच्यते ॥ तद्वच्छिरसि निक्षिप्तान्नि । दोणिमंतम्मि द्रोणीमत्पर्वते दह्यमान प्रपन्न उत्तमार्थ ॥

मूलारा—हृत्थिणपुरगुरुदत्तो हास्तिनं पुरं यस्यासौ हास्तिनपुरो हास्तिनागपुरस्वामी स चासौ गुरुदत्तश्च स मुनिः सन् । सवलियालीए वल्लशिशिपूरितमर्कपत्रप्रच्छादितमधोमुग्धभाजनं मर्वाभिमिसेष्टितं सवलिरहालीयुच्यते ॥ दोणिमंतम्मि द्रोणिमति पर्वते । अधियासिय तदाहवेदना सहित्वा ॥

अर्थ—हस्तिना नगरके गुरुदत्त नामक मुनि द्रोणिमति पर्वतपर तप करते थे कोई दुष्टने संभली थाली के समान उनके मस्तकपर अग्नि रखकर जलाया था उसकी घोर वेदना सहकर वे रत्नत्रयको प्राप्त होगये मईके भाजनमें बालकी फली भरकर चारों तरफ आकरके पत्ते भरना चाहिये अनंतर उस भाजनका मुंह नीचे करके उसके चारों तरफ अग्नि लगा देना चाहिये इसको ही सभलीथाली कहते हैं.

गाढप्पहारविद्धो पूहगलियाहिं चालणीव कदो ॥  
तथ वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५३ ॥

गाढप्रहारविद्धोऽपि कीटिकाभिरनाकुलः ॥

स्वार्थं चिलातपुत्रोऽग्राञ्चालनिकृतविग्रहः ॥ १६१३ ॥

विजयोदया—गाढप्पहारविद्धो नितरामयुधैर्विद्ध । पूहगलियाहिं कृष्णैः स्थूलोत्तमालोः पिपीलिकाभिः । चालणीव कदो चालनीव कृतश्चिलातपुत्रस्तथाप्युत्तमार्थमुपगतः ॥

मूलारा—गाढप्यहारविद्धो नितरामायुर्धैर्विद्धः । पृष्टगिलियादंहि स्थूलमस्तककृष्णकीटिकाभिः । चिलावपुतो चिला तपुतो मुनिः ॥

अर्थ—तीव्र शस्त्रमहार होनेसे जो जखमी हुये थे और जिनका मस्तक बड़ा है ऐसी काली काली चंटी-ओंने खाकर जिनका शरीर चालनीके समान छिद्रमय किया था एस चिलातपुत्रनामक मुनि उत्तमार्थ को प्राप्त हो गये

दंडो जउणावकेण तिवलकडेहिं पूरदंगो वि ॥

तं वेयणमधियासिय पंडवणो उत्तमं अटं ॥ १५५४ ॥

यमुनावकनिक्षिप्तः शरपूरितविग्रहः ॥

अध्यास्य वेदनां चडः स्वार्थं शिआय धीरधीः ॥ १६१४ ॥

विजयोदया—दंडो दंडनामको यति । जमुणावकेण यमुनावकसंश्रितेन । तिवलकडेहिं तीक्ष्णे शरे पूरिता-नोऽपि रत्नत्रय समाराधयति स्म ॥

मूलारा—घण्टो घण्टो नाम मुनिः । दंडो हृत्पत्रे । जमुणावकेण यमुनावकनाम्ना राज्ञा ॥

अर्थ—दंड नामक मुनिराजके ऊपर यमुनावक नामक दृढमुष्ट्यने बाणोंकी दृष्टि करके उनका सर्व शरीर त्रणयुक्त कर दिया तो भी उस मुनिराजने रत्नत्रयकी आराधना की ही.

अभिणंदणादिया पंचसया णयरमि-कुंभकारकडे ॥

आराधण पवणो पीलिज्जता वि यंतेण ॥ १५५५ ॥

यंत्रेण पीड्यमानांगाः प्राप्ताः पंचशतप्रमाः ॥

कुंभकारकटे स्वार्थमभिनंदनपूर्वगाः ॥ १६१५ ॥

विजयोदया—अभिणवणादिगा अभिनंदनप्रभृतयः पंचशतसंख्या, कुंभकारकटे नगरे यंत्रेण पीड्यमाना अप्याराधन प्राप्ताः ॥

मूलारा—कुंभकारकटे कुंभकारकटसंज्ञे ॥ १५५५ ॥



अर्थ—अभिनदनादिक पांचसौ मुनिओंको कुभकारकट नामक नगरमें थंत्रोंमें पेलकर मारा था तो भी उन्होंने आराधनाका त्याग किया ही नहीं.

गोठे पाओवगदो सुबधुणा गोन्चरे पलिवदम्मि ॥

डज्झंतो चाणक्को पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥ १५५६ ॥

वसदीए पलिविदाए रिट्ठामच्चेण उसहसेणो वि ॥

अराधण पवण्णो सह परिसाए कुणालम्मि ॥ १५५७ ॥

कुलालेरिष्टसंजेन दग्धायां वसतौ गणी ॥

सार्धं वृषभसेनोऽगादुत्तमार्थं तपोधनैः ॥ १६१६ ॥

विजयोदया—वसदीए पलिविदाए वसतौ दग्धायां। रिट्ठामत्सनामधेयेन वृषभसेन सह मुनिपरिपदा प्रतिपन्न आराधनाम् ॥

मूलारा—गोठे गोकुले। पाओवगदो प्रायोगमन श्रितः। सुबधुणा सुबधुनाम्ना मंत्रिणा। गोचरे करीये। पलिविदम्मि प्रदीपिते। एता श्री विजयो नेच्छति ॥

मूलारा—रिट्ठामच्चेण रिष्टनाम्ना मंत्रिणा। परिसाए परिपदा। स्वर्शिष्यसमाजेनेत्यर्थः। कुणालम्मि कुणालपुरे ॥

अर्थ—गोठेमें चाणक्य नामक मुनिने प्रायोपवेशन-धारण किया था. सुबधुनामक राजमंत्री उसका बैरी था उसने गोमय-कड़ोकी राशिमें चाणक्य मुनिको अग्नि लगाकर जलाया तो भी उन्होंने रत्नत्रयाराधनाका त्याग नहीं किया. और उत्तम अर्थ को वे प्राप्त हुए

अर्थ—कुणालनगरकी एक वसतिकामें आग लगाकर रिष्ट नामक राजमंत्रीने अनेक शिष्योंके साथ वृषभसेन नामक मुनिराजको जलाया तो भी सपूर्ण शिष्योंके साथ मुनिराजने आराधना को धारण किया

जदिदा एवं एदे अणगारा तिब्बवेदणट्ठा वि ॥

एयागी पडियम्मा पडिवण्णा उत्तमं अट्ठ ॥ १५५८ ॥

अभी तपोधनाः प्राप्ताः स्वार्थमेकाकिनो ययि ॥

अध्यास्य वेदनास्तत्राः निःप्रतीकारविग्रहाः ॥ १६१७ ॥

विजयोदया—जदिवा एव यदि तावेदेवमेते यतयस्तीग्रवेदनापीडिता अपि एकाकिनोऽप्रतीकारा उत्तमार्थं प्रतिपन्नाः ॥

शूलारा—एगानी एकाकिनोऽसहायाः ॥

अर्थ—यदि ये उपर्युक्त दृष्टान्तरूप मुनिओने तीव्र वेदनाओंसे पीडित होकर भी अकेल ही तीव्रवेदनाका कुछभी इलाज नहीं किया, और उत्तमार्थ की अर्थात् रत्नत्रयाराधना की प्राप्ति की।

किं पुन अणयारसहायगेण कीरतयस्मि पडिकम्मे ॥

संघे ओल्लगते आराधेदुं ण सकेज्ज ॥ १५५९ ॥

चतुर्विधेन संघेन विनितेन निषेवितं ॥

तदाराधयसे न त्वं देवीमाराधनां कथम् ॥ १६१८ ॥

विजयोदया—किं पुन अणगरसहायगेण किं पुनर्न शक्यते आराधयितु अनगरसहायेन भवता क्रियमाणे प्रति कारे संघे चोपसना कुर्वति सति ॥

शूलारा—ओल्लगतो उपासनां कुर्वति सति । ण सकेज्ज न शक्येत त्वया ॥

अर्थ—हे क्षपक' तुम तो अनक मुनिओंकी सहायतासे युक्त हो और तुम्हारी तीव्र वेदनाका इलाजभी हो रहा है संघमें अनेक मुनि भी तुम्हारी श्रुद्धाना करते हैं अतः तुम आराधना देवीकी भक्ति क्यों नहीं करते हो ?

जिणवयणममिदभूद महुर कण्णाहुदिं सुणतेण ॥

सक्का हु सधमज्जे साहेदुं उत्तम अट्ठं ॥ १५६० ॥

कर्णाजलिपुटं पीत्वा जिनेन्द्रवचनामृतम् ॥

संघमध्ये स्थितः शक्तः स्वार्थं साधयितुं सुखम् ॥ १६१९ ॥

यितु ॥

विजयोदया—जिणवयण जिनाना वचनं, । अमृतभूत. मधुरं कर्णादुतिं शृण्वता त्वया संवमच्चे शक्यमाराध-

मूलारा—कण्ठादुर्दि कर्णयोगहृत्तिरिव । तयोराभिरिव पाटवकारित्वात् । सप्ता शक्या त्वया ॥

अर्थ—जिनेश्वरका वचन अप्रुतके समान मीठा है, कर्णको प्रिय है इसका तुमको उपदेश प्रतिदिन मिलता है अतः इस मंत्रमें तुमको रत्नव्याराधना कराना अशक्य नहीं है.

गिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण ॥

जं पत्तं इह दुम्मलं तं अणुचित्तेहि तच्चित्तो ॥ १५६१ ॥

श्वअतिर्यग्रस्वर्गसुखदुग्धानि सर्वथा ॥

त्वं चिंतय महाबुद्धे भवलब्धान्यनेकशः ॥ १६२० ॥

विजयोदया—गिरयतिरिक्खगदीसु य नरकतिर्यगतिषु च । माणुसदेवत्तणे य संतेण मानुषत्वदेवत्वयोश्च सता यत्प्राप्त इह सुखानंतरं दुःखं तं अणुचित्तेहि तच्चित्तस्तदनुचितय ॥

एव प्राक्तनमहासत्त्वमुखुर्गदुःसहपरीपहोपमर्गसहसहनप्रदर्शनप्रबंधनाराधकस्य धृतिबलभावनामुद्बोध्य साम्र-  
तमनादिकालानुभूतचातुर्गतिकदुःखसुखानुचितनवलेन तत्सहन प्रबंधनोपदिशति—

मूलारा—मतेण सता भवता । तच्चित्तो तद्गतमनाः ॥

अर्थ— नरकगति. तिर्यचगति, मानुषगति और देवगतिओंमें हे क्षपक ! तुमने जो दुःख सहन किया है उमका भी तो तुम कुछ विचार करो

गिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादवहुलाओ ॥

कायणिमित्त पत्तो अणंतखुत्तो बहुविधावो ॥ १६२ ॥

नरके वेदनाश्चिन्ना दुःसहासातदायिनीः ॥

देहासक्तया प्राप्ताश्चिर यास्ता विचिंतय ॥ १६२१ ॥

विजयोद्या—गिररखु नरकेतु । वेदणाओ वेदनाः । अणोवमाओ अनुपमा । साइश्या वेदनाया जगल्यन्यस्या अमावात् । असादयहुलाओ असद्वेधकमवहुला । कारणवहुलत्वेन कार्योत्तरतिराख्याता । कायणिमिस पत्तो शरीर-निमित्तासंयमार्जितकर्मनिमित्तत्वा-मूलकारणं निर्दिष्ट कायनिमित्तमिति । अणतसो अणंतवारं । त भवान् बहुविधाओ बहुधा ॥

इतो नरकदुःखानुचितने गाथानामेकाश्रयित्वा क्षपकं न्यापारयति—

मूलारा—अणोवमाओ अनुपमास्ताइश्याः पीडायाखियु लोकेव्वपि अन्यस्या अमावात् । असादवहुलओ अस-द्वेधकमोवयप्रबंधेन निरतर प्रवर्तमाना इत्यर्थः । कायणिमित्त शरीरश्चानिमित्तासंयमार्जितकर्मनिमित्तत्वात्तासा मूलकारण-ज्ञापनार्थ इदं । पत्तो प्राप्तस्त्व जीव इति वा । बहुविधाओ उष्णशीतनरकादिकारणानात्वादेनेकप्रकाराः ॥

अर्थ—नरकमें तुमने ऐसी तीव्रवेदनाओंका अनुभव लिया है कि जगतमें अन्यत्र कहीं भी ऐसी वेदनायें नहीं हैं । असाता वेदनीय कर्मका बहुत काल तक तीव्र उदय होनेसे नरकमें सतत दुःख भोगना पड़ता है, हे क्षपक! शरीरके निमित्त अर्थात् शरीरके मोहमें पड़कर तू असयमी हुआ था, इससे तेरे को दीर्घकालीन असाताकर्मका बंध हुआ था, अनंत भवोंमें इस कर्मके उदयसे तूने दुःख भोगा है, ।

उष्णनरकेतु उष्णमहत्तास्वनार्योत्तरा गाथा—

जदि कोइ मेरुमचं लोहुण्डं पक्खविज्ज गिरयस्मि ॥

उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विजेज्ज सो तत्य ॥ १५६१ ॥

क्षिप्त्तं श्वभ्रावनौ क्षिपं मेरुमात्रोऽपि सर्वथा ॥

उष्णामुर्वीपनासाद्य लोहपिंडो विलीयते ॥ १५६२ ॥

विजयोद्या—गिरयस्मि उण्ह लोहुण्ड मेरुमत्त जदि कोइ पक्खवेज्ज उष्णनरके लोहपिंडं मेरुसमानं यदि काश्चिदेवो दानवो वा प्राक्षिपेत् । सो तत्य भूमिमपत्तो चैव विजेज्ज लोहपिंडो भूमिमप्राप्त एव द्रवतामुपयाति । उण्हेण उष्णेन नरकविलाना ॥

नारकाणामुगदुःखनिमित्तमुष्णत्वमहत्त्वमुपपत्तिकल्पनया ख्यापयति—

मूलारा—कोइ कश्चिदेवो दानवो वा । लोहुण्डं लोहपिंड । उण्हे उष्णे प्रकृत्या । अप्यत्वाहुणमिति वा । भूमि-

मपत्तो भूतलमप्राप्यैवेत्यर्थः । णिमिसेण निमेषमात्रकालेन । विजेज्ज द्रवीभवेत् ॥

अर्थ—उष्ण नरकमें यदि देव अथवा राक्षस मेरुप्रमाण लोहका गोला फेंक देगा तो वह विलकी तलभूमीको प्राप्त होनेके पूर्वमेंही विलकी उष्णतासे पिघलकर पानी होता है.

तह चेव य तदेहो पज्जलिदो सीयणिरयपविस्वत्तो ॥  
सीदे भूमिमपत्तो णिमिसेण सडिज्ज लोहुण्डं ॥ १५६४ ॥

क्षिप्तस्तत्राग्निना तप्तो मेरुमात्रः सहस्रधा ॥

शीतामवनिमप्राप्य लोहापिंडो विशीर्यते ॥ १५६३ ॥

विजयोदया—तद् चेव तथैव । तदेहो मेरुमानदेह लोहुंडो लोहापिंड । पज्जलिदो प्रज्वलितः । सीदणिरयन्मि शीतनरके । पविस्वत्तो पक्षिस्तो भूमिमप्राप्त एव । सीदेण सडिज्ज शीतेन विशीर्यते ॥ तद्वच्छीततीव्रतां ब्रवीति—

मूळारा—तदेहोच्चिचय मेरुमात्र एव । पज्जलिदो ज्वलनसंतप्तः । सीदो शीत । सडेज्ज संडखंडी भवेत् ॥

अर्थ—यदि वही लोहका गोला उष्णतासे पिघला हुआ शीत नरक विलमें फेंक दिया जायगा तो वहां की शीत भूमीका स्पर्श होनेके पूर्वमें ही थंहासे उसके टुकड़े टुकड़े हो जायेंगे

शीतोष्णजनितयेदनातिशयमुद्दिश्य शारीः वेदनामाचष्टे—

होदि य णरये तिन्वा सभावदो चेव वेदणा देहे ॥  
सुणीकदस्स वा मुच्छिदस्स खारेण सितस्स ॥ १५६५ ॥  
तादृशी वेदना श्वश्रे घोरदुःखे निसर्गजा ॥  
यादृशी चूर्णितस्यास्ति क्षिप्तक्षारस्य चेतनः ॥ १५६४ ॥

विजयोदया—होदि य णरये तिन्वा भवति च नरके तीव्रे वेदना । देहे शरीरे । सभावदो चेव सभावत एव । सुणीकदस्स चूर्णीकृतस्येव । खारेण सितस्स क्षारेण सिकत्य । अमुच्छिदस्स अमूर्छितस्य । यादृशी वेदना तादृस्येव शरीरे वेदनेति यावत् ॥

नरकेषु परयोष्णशीतप्रभवां तीष्ठां वेदना निवेद्य नैसर्गिकीं शरीरपीडापमानबलेन व्यनक्ति—  
मूलारा—चुण्णीकदस्स मुद्गराविना क्षुण्णस्य आनुपस्य यथा । अमुच्छिदस्स मूच्छीमप्राप्तस्य चेतयमानस्येत्यर्थः ।

उक्तं च—

तादृशी वेदना श्रेष्ठं चोरे दुःखे निसर्गजा ॥

यादृशी चूर्णितस्यास्ति क्षिप्तधारस्य चेतनः ॥

श्रीतोष्ण वेदनाका वर्णन हुआ-अब शारीरिक वेदनाका वर्णन करते हैं—

अर्थ—मुद्गरादिकोसे जिसको चूर्ण किया है, जिसके ऊपर क्षार जलका सिंचन किया है ऐसे अमूर्च्छित मनुष्यके शरीरमें जैसी वेदना होती है वैसी वेदना नरकमें जीवको स्वभावतः ही होती है

गिरयकडयमि पत्तो जं दुक्खं लोहकंटएहिं तुमं ॥

गेरइएहिं य तत्तो पडिओ जं पाविओ दुक्खं ॥ १५६६ ॥

यच्छेद्वप्रावसये भिमि ग्रासोदुःखमेनेकया ॥

निश्चितं कटकैलोहैस्तुयमानः समंततः ॥ १६२५ ॥

विजयोदया—गिरयकडयमि नरकविलसमूहे-नरकस्फधावारे इति केचिद्वदन्ति । अन्ये तु निरयगतं इति । पत्तो जं दुक्खं यदुदु ख प्राप्तः । लोहकंटएहिं निशिततरलोहकंटकं तुद्यमानस्त्वव । इतो नरकेषु विचित्राणि तीव्रदुःसातराणि बहुशः प्राप्तपूर्वाणि परीपदोपसर्गदुःखतीव्रतापविस्मरणाय संन्या-

सिनं बोधयति—

मूलारा—गिरयकडयमि रत्नप्रभादिभूमिविलसमूहं अन्ये कटकशब्देन स्फधावारमादुरपरे गतम् । जं दुक्खं तं अणुचितेहि गिस्सेसमिति गत्वा संबंधः कार्यः । लोहकंटयोहिं निशिततरलोहकंटकैस्तुद्यमानस्त्वं । तत्तो तस्माद्लोहकटकनिचितभूमिभागान्निष्क्रान्तः सन् । एषा केपादिचार्याणां मतेन व्याख्या ॥ उक्तं च—

नरककटे त्वं ग्रासो यदुदुखं लोहकटकैस्तीक्ष्णैः ॥

यन्नारकैस्ततोऽपि च निष्क्रान्तः प्रापितो घोरम् ॥

अन्येषां त्वयं पाठो मन्यते ॥ “गेरइएहिं य सतो पडिदो तिवखेहिं तुबलो” पूर्वाद्धं तु समानम् तदुक्तं—

आयसैःकंटकैः प्राप्नो यद्दुःखं नरकावनौ ॥

नारकैःसुघमानः सन्पतितो निशितैर्भवान् ॥

अर्थ—नरकके विलोम अतिशय तीक्ष्ण लेहके कंटकोसे जो दुःख तुमने प्राप्त किया है उसका इस समय तुम चिंतन करो अर्थात् वह युक्त दुःखसे अनंत गुण बढ़ा था ऐसा समझकर सांप्रतका दुःख तुम शान्त भावसे सहन करो.

जं कूटसामलीएं दुक्ख पत्तोसि जं च सुलम्मि ॥

असिपत्तवणम्मि य जं जं च कयं गिद्धकंकेहिं ॥ १५६७ ॥

यच्छले कूटशाल्मल्यामसिपत्रवने गतः ॥

सर्वतो भक्ष्यमाणोऽयं कंककाकादिपक्षिभिः ॥ १६२६ ॥

विजयोद्या—जं कूटसामलीहिं य यद्दुःखं प्राप्नोऽसि विक्रियाजनितनिशातशाल्मलीभिः । ऊर्ध्वमुखैरधोमुखैश्च तीक्ष्णकटकैराकीर्णकूटशाल्मलीरारोहन् नारकमयात् । जं च सुलम्मि यच्च दुःखमवाप्तोसि शूलायमोत । असिपत्तवणम्मि य जं असय एव पत्राणि यसिन्वा तदसिपत्रवन । उष्णार्दिताना पृक्कुर्वता नारकाणा असिपत्रवनेऽनेकासुरविक्रियाविनिर्भितविचित्रायुधपत्राणि वनानि । जं च कय यच्च कृत । गिद्धकंकेहिं गृधैः ककैश्च वज्रमयैस्तुडैः तरललोचनैस्तुदंति । तीक्ष्णीकृतकचसदृशैः पक्षैः प्रहरति नित्य । नखरपरपैश्चरणकुशैस्ताडयन्ति ॥

मूलारा—कूटसामलीए ऊर्ध्वाधोमुखकटकाकीर्णविक्रियाकृते शाल्मलीपृष्ठे नारकैर्धूल्यमाणः सन् । तद्गयाद्वा तमा-रोहन् । शूलम्मि शूलोपप्लवैतैः प्रोतः सन् ॥ असिपत्तवणाम्मि उष्णतांता पृक्कुर्वता नारकाणा कृते संछिद्यसुरैर्निर्भिते खड्ग-समानपत्रद्रुमसमूहे । च शब्दादित्रायुधपत्रवनेषु । गिद्धकंकेहिं गृधैः ककैश्च । तै हि वज्रमयस्तुडैर्नैत्राणि तुदति ॥ तीक्ष्णीकृतक-कचसपक्षैः प्रहरंति, नितातखरपरपैश्चरणकुशैश्च ताडयंति ॥

अर्थ—नरकमें विक्रियाके सामर्थ्यसे कूट शाल्मली नामक वृक्ष असुर देव बनाते हैं, इस वृक्षको नीचेसे लेकर चौटीतक काटे रहते हैं, कोई-कोई काटोंका सुह ऊपर रहता है और कितनोंका सुह नीचे होता है नारकके भयसे दीन नारकी उस वृक्षपर चढ़ते हैं तब कोई नारकी जीव उनको ऊपर खींचते हैं और कोई नीचे खींचते हैं, ऐसे

कायसे उन दीन नारकिओंका देह विदीर्ण होकर उनको घोर वेदना होती है शूलपर चढ़ानेसे जो दुःख होता है, उसका तू स्मरण कर नरकमें असुरदेव विक्रियासे नाना प्रकारके शस्त्रोंके समान जिनके पत्र हैं ऐसे वन उत्पन्न करते हैं, उष्णतासे पीड़ित होकर रोते हुए नारकी जीव उसमें विश्रामके लिये जाते हैं पंतु वे शस्त्रमय पत्र पड़कर उनके अवयव टूटते हैं जिससे उनको घोर वेदना होती है गीघपक्षी, और बक पक्षीभी अपने वज्रके समान मुंहसे और तीक्ष्ण चरण रूपी अंकुशोंसे नारकिओंको दुःख उत्पन्न करते हैं,

सामसवलेहिं दोसं वइतरणीए य पाविओ जं सि ॥

पत्तो कयंवालयुमइगम्ममसयमदितिव्वं ॥ १५६८ ॥

असुरवैतरण्यां च प्रापितो निर्घुणाशयैः ॥

कंदववालुकापुंजं गाढमाना यदा सूतः ( ? ) १६२७

विजयोदया—सामसवलेहिं श्यामशयलसन्नितरसुरैः । दोस दोष दंडना । वइतरणीए य पाविओ जं सि । वैतरण्या नया प्रापितो यदसि । वडमिभूताना जल मृगयता दिक्षु विन्यस्तदीनलोचनाना शुष्कतालुगलानां वैतरणी नवीशुपदर्शयति । रंगस्त रगाकुला, अगाघनीलनीरमरितच्छदा, धिययसेवेव दुरन्तदृणाजुयधनोयता, सस्यतिस्वि उरुत्तरा, आशेव विशाला, कर्मपुद्गलरुक्थसद्वतिस्वि धिचित्रविपक्षिधार्थिनी, तद्दर्शनाद्दूरादेवोपजातोऽंकडा लब्धजीविता स इति मन्यामाना द्रुततरगतयस्तामवगाहंते । तद्वगाह्नानंतरमेव कृताजलयः पिपति ताद्रूपयसन्निभं तवंस । परवचनमिध हृदयदाहविधायि, हा विप्रलब्धा सेति करुण रसता शिरासि परवचनसमीरणप्रेरणोत्थिततरंगसिधारा निरुन्तन्ति करचरणानि च । तेनोत्तिक्षारेणोणेन, कालकूटविपायमोनेन जलेन, व्रणातप्रवेदिना वद्यामाना झटिति घटितकरचरणास्तदमेव रटन्तः समारोहन्ति । तेपा च भीवासु श्यामशयला महती शीला वज्रशृंखलाप्रोता घघ्नंति दुर्वोभोवा । वज्रा च तस्यामेव पातयति । पातितास्तत्र कृतोन्मज्जननिमज्जानामुचभागानि असुरविक्रियानिर्मितमहामकरकरप्रहारेण जर्जरीभूय निपतति । पुनश्च तटमारुढान्गच्छतस्तात्तरूभूय मिश्रल यज्जति । तानपरिस्पदमवस्थितान्स्त्रीकृत्य विधयंतीति निशातशरशतसहस्रैः । पत्तो कलववालुगमदिगम्भ प्राप्य कंदवप्रसूनाकारा वालुकाचितदु प्रवेशा, वज्रदलालंरुतकादि-रांगारकणप्रकरोपमनाः परिप्राप्य तत्र यलास्तचार्थमाण यत्प्राप्तवानासि दु खं तच्चितय ॥

मूलारा—सामसवलेहिं श्यामशयलसंक्रासुरकुमारैः । दोस दंडनं वइतरणीए य वैतरण्या च । जं सि यहुःखम-  
'मि त्वं प्रापितः । ते हि नारकाणा वडमिभूताना जलमन्वेयमाणाना । दिक्षु निक्षिप्तदीनचक्षुषा । शुष्कतालुमूलाना । नरकनदी



रगन्तरंगमालाकुलंगंभीरनीलनीरपूरितन्हृदा । विषयसुयसेवामिव दुरंततृपानुबंधनोचतां । सस्तिमिव दुरुत्तरामाश्रामिवाति विशालां । कर्मपुद्गलसंहतिमिव विचित्रविपत्करीं दर्शयति । तद्दर्शनाच्च ते दूरोदेव समुद्रभूतोक्तं लब्धजीविताः संजाता स्म इति मन्यमानाः । द्रुततरगतयस्तामवगाहन्ते । तदनंतरमेव कृतांजलयः पयः पिवन्ति तप्तताम्रोद्भवमिवात्यंतमचांगीण-दाहविधायि । ततश्च तेपा हा विप्रलब्धाः स्म इति कर्णं रसता शिरामि करचरण च परुषतमसमीरणप्रेरणोन्मिद्रुततरगाति-निश्चितामिधारा निवृन्तन्ति ॥ तेन च शृणोणक्षारवारिणा कालकूटविषदर्पापहारिणा, व्रणतरप्रवेदिना, दंढहमना झटिति पुनर्वर्धितशिरः करचरणास्तटयवरंतस्ते चटति । ततश्च तेऽसुरकुमारस्तान्यशृंगपलावद्धदुर्विमोचमहाशिलाकूटकधरा-स्तस्यमेव पातयन्ति । तत्र च तेपा कृतनिमज्जनोन्मज्जाना शिरासि असुरनिर्मितमहामकरप्रहारेण जर्जरीभूय निपतन्ति । ततश्च ते तटमारुढाः पुनः संयोजितशिरसा तेपा तां शिलां पुनर्निश्चल व्रजन्ति । कदंबग्राह्य कदंबसुकुमारवालिका वज्रदालांछुता प्रदीप्तगन्धिरागारप्रकाशः । अदिगम्य ग्राह्य । तत्रागत्यासुरैः सचार्यमाणो यत्र दुःख प्राप्तस्तन्मामि (?) प्रति-मनस्यचधारयेति क्षपकशिखा संपादनं ॥

अर्थ—श्यामशुक्ल नामके असुर देवोंके द्वारा वतरणी नदीमें नारिकोंको जो दुःख दिया जाता है उसका हे क्षपक ! तू स्मरण कर जिनको तीव्र प्यास लगी है, जो पानीको ढूंढ रहे हैं, चारों दिशाओंमें दीन नेत्र लगाकर जो देख रहे हैं, जिनकी तालु प्याससे सुख गई है, ऐसे नारिकोंको वे असुरदेव वतरणी नदी दिसाते हैं

यह नदी अनेक तरंगोंसे उछलती है, इसमें अगाध पानीसे अनेकमरोवर भरे हुए रहते हैं विषयका सेनन जैसे तृष्णाको बढ़ाता है वंसी यह दुःखदायक नदी प्यास को बढ़ाती है, संसारमें निकलना जैसे कठिन है वैसे वतरणी नदीमें प्रवेश करनेसे उममेंसे बाहर निकलना नितात कठिन है यह नदी आशके समान विशाल है कर्म के पुद्गल जैसे अनेक तरहकी आपत्तियोंको उत्पन्न करते हैं वंसी यह नदी भी नारिकोंको अनेक प्रकारके दुःख देती है इस नदी का दर्शन होते ही नारिकोंको इसमें प्रवेश करनेकी उत्कठा उत्पन्न होती है, अब हमारे सम दुःख नष्ट होंगे और हम सुखमें जीयेंगे ऐसा समझकर वे उसमें जलदी प्रवेश करते हैं,

उसमें प्रवेश करते ही वे अपनी अजलिओंसे ताँबेके द्रवके समान लाल रंगका पानी पीना शुरू करते हैं, परंतु जैसे कठोर मापण हृदय को संतप्त करता है वैसे वह जल मनको अतिशय दुःख उत्पन्न करता है तब हाय! हाय! हम विलकुल फस गये हैं ऐसा करुण वचन बोलते हैं, अतिशय कठोर वायुसे उछले हुए जलतरंगरूप तरवारियोंसे

नारकियोंके मस्तक, हाथ, पाय दृष्ट जाते हैं, अतिशय क्षार और उष्ण जल कालकूट विषके समान जब ब्रणोंमें प्रवेश करता है तब उनकी अत्यंत दाहदुःख होने लगता है।

जब उनके हाथ और पैर जुड़ जाते हैं तब वे नदीके तटपर चढ़ते हैं उस समय श्यामशबल नामके असुर वज्रकी शृंखलासे बंधे हुए बड़े २ पत्थर उनके गलेमें बांधकर पुनः वैतरणीमें उनकी ठकेल देते हैं पड़ने पर वे उस नदीमें डूबकर पुनः उपर आते हैं और पुनः डूब जाते हैं असुरोंके द्वारा उत्पन्न क्रिये मगर नामक प्राणी-ओंके हाथका आघात होनेसे उनका मस्तक फूट जाता है और वे पुनः नदीमें डूब जाते हैं।

पुनः जब ये तटपर आते हैं तब उनकी असुरदेव झाड़की निश्चल बांधते हैं और तीक्ष्ण लक्षावधि बाणोंसे विद्ध करते हैं।

नदनंतर वे नारकी जिसमें वज्रके टुकड़े मिले हुये हैं, और जो खदिर की शनी के समान लालरंगकी है ऐसी अग्निवत्तम बाणोंमें उन नारकीओंको बलात्कारसे इधर उधर घुमाते हैं ऐसे समय जो दुःख उनकी होता है हे क्षपक! उसका तुम विचार करो

जं गीलमंडवे तत्तलोहपडिमाउले तुमे पत्तं ॥

जं पाइओसि खारं कडुयं तत्तं कलयलं च ॥ १५६९ ॥

तप्तायःप्रतिमाकर्णो यत्प्राप्तो लोहमंडपं ॥

आयसं पाय्यमानोऽपि प्रतप्तं कललं कडु ॥ १६२८ ॥

विजयोदया—ज पत्त तं चितेहि यत्प्राप्तं तु ख तश्चितय । गीलमंडेय काललोहघटिते मडपे । तत्तलोहपडिमाउले तत्तलोहप्रतिमाकुले । बलात्कारसंपाद्यमानस्तत्तलोहप्रतिमायुवत्यालिनितो यदु ख प्राप्तवानसि तन्मनसि निधेहि । ज पाइओसि खार यत्पायितोऽसि क्षार । कडुग कडुक । नत्त तप्त ॥

मूलारा—ज गीलमंडपे काललोहघटितमडपे । तत्तलोहपडिमाकुले अभिलोहवर्णतत्तलोहमययुवातिसंघाते । तुम त्वया । पत्त प्राप्तं । बलात्कारसंपाद्यमानतत्तलोहप्रतिमायुवत्यालिनादिदुःखं । पज्जिदो सि पायितोऽसि । कलयलं ताम्रशीशकतिलसर्जरसगुगुलसिक्थकलवणजतुवअलेपाः काययिवा मिलिताः कलकल इत्युच्यंते ॥

अर्थ—काले लोहेसे बनाये मंडपमें बहुतमी तपाये लोहकी प्रतिमायें रहती हैं तुमको उनसे बलात्कारसे आलिंगन करवाते हैं। तब जो दु ख तुमको उत्पन्न होता था उसको तुम ध्यानमें लाओ तथा क्षार, अग्नि तम और कड़वा रस तुमको पिलाते थे उसका भी तुम स्मरण करो।

जं खाविओसि अवसो लोहंगारे य पज्जलंते तं ॥  
कंडुसु जं सि रद्धो जं सि कवल्लीए तल्लिओ सि ॥ १५७० ॥  
दुःस्पर्श्यं खायमानो यल्लोहमंगारसंचयम् ॥  
पच्यमानः कंदकासु मंडका इव रधितः ॥ १६२९ ॥

विजयोदया—ज खाविओसि यत्खादितोऽसि अवशोऽवशः । बलायंत्रविदारितानतः । लोहंगारे य पज्जलंते तं लोहागारान्मज्जलत त्वं । कंडसु ज सि रद्धो कंदुकासु यन्मंडका इव पक् ।

मूलारा—खादिदो खादितः । अवसो बलायंत्रविदारितमुपतः । लोहंगारे लोहमयागारान् । त त्वं कंदसु मंडक पचनार्थासु स्वेदनिकासु । रद्धो मंडक इव पक् । कवल्लीए कवल्या कटाहिकायामित्यर्थः ॥

अर्थ—उस नरकमें हे क्षपक! तुमको बलात्कारसे यंत्रके द्वारा सुख फाडकर लोहेके जलते अंगार खिलाये थे और तुमको मंडिके समान कढाईमें तलाया था उसका तुम विचार करो

कुट्टाकुट्टिं चुण्णाचुण्णिं मुग्गरमुसुंढित्थेहिं ॥  
जं वि सखंडो खंडिं कओ तुमं जणसमूहेण ॥ १५७१ ॥  
चूर्णितः कुट्टितदिच्छन्नो यन्सुत्तरमुसुंढिभिः ॥  
बहुशः खंडितो लोकैर्यच्छुप्रस्यैरितस्ततः ॥ १६३० ॥

विजयोदया—कुट्टाकुट्टिं बहुशो यत्कुट्टितचूर्णितं मुग्गरमुसुंढित्थैः, यच्च जनसमूहेन भवान् असकृत्खंडित-  
स्तदंतं करणे कुब ॥

अनुवृत्तिक्रिया भाषा सन्नतिः सुखशीलता ॥

अया हया इमो वानं प्रसादो मार्दवं क्षमा ॥ १ ॥  
 इत्येवमायाः सुगुणाः प्रदास्ता ये शरीरिणां ॥  
 तेषु ते दुर्लभा नित्य कांतारेविव मानुषा ॥ २ ॥  
 शशुर्भिन्न उदासीन इत्यन्यत्र त्रिधा जनः ॥  
 शशुरेव हि सर्वोऽत्र जनः सर्वस्य नारकः ॥ ३ ॥  
 कपनीः कण्यैश्चक्रेनोराचैः क्रकचैर्नरैः ॥  
 गन्धर्मिर्गुणैः शूलैः प्राशैः पापणपट्टिः ॥ ४ ॥  
 मुष्टिमिर्यष्टिमिलोष्टैः शंकुभिः शक्तिभिः शरैः ॥  
 असिभिः क्षुरिकाभिश्च कुतैर्दंडैः सतोमरैः ॥ ५ ॥  
 तथा प्रकारैरन्यैश्च निशितैर्नैकसंस्थितैः ॥  
 भूस्वभावात्स्वयं जातैर्वैक्रियैरपि चायुधैः ॥ ६ ॥  
 नारकास्तत्र तैऽन्योन्य रोषयोगेन पूरिता ॥  
 पूर्वधैराण्यनुसृत्य वैमंगलानसंभवात् ॥ ७ ॥  
 प्रति छिदति भिदति खादति च तुदति च ॥  
 विष्यति चापैर्मथति प्रहरन्ति हरन्ति च ॥ ८ ॥  
 श्वश्रुगालवृकुल्यघ्नयुधरूपाणि चापरे ॥  
 विहृत्य विद्वयं पापा बाधेतेऽत्र परस्परं ॥ ९ ॥  
 काष्ठशैलशिलारूपैर्निपतंति च केषु चित् ॥  
 पततस्तान्मतीच्छति ते च शूलप्रसंस्थिताः ॥ १० ॥  
 मज्जयति जलीभूय वायुभूय नुदति च ॥  
 वहति दहनीभूय न दयति परस्परं ॥ ११ ॥  
 तिष्ठ दास्येय हन्ति त्वा त्व कुतस्त्यः पलायसे ॥  
 निगृहसे महामोहान्मृत्युस्त्वा समुपस्थितः ॥ १२ ॥  
 छिद्धि भिद्धि तयाकार्यं कंछि इंधि विघ्नानतः ॥  
 वधानेनं मृदानाशु बह लछादय मास्य ॥ १३ ॥  
 प्रयधे पातयाग्येव तुव पिंडीं प्रदीपय ॥

विशसेति च संरस्य तं मुचेति गिरोऽनुभाः ॥१४॥

मूला—कुट्टाकुट्टिः अतीव कुट्टः कृतः । चुण्णाचुणि अतीव चूर्णकृतः । मोगार लोहकटकितयट्टि । मुसुंढि वज्र

मुष्टि । सुदृढस्तैर्नारकैर्यदत्यंतं कुट्टितो, यच्च मुमुक्षुर्दिहस्तैः । मुतरा चूर्णितस्त्वं तार्क्ष्येति सर्वथः ॥ ज चापि यच्चासि ।  
खंडायां हि कथो खंडं खंड कृतः । जण नारकाः ॥

अर्थ—नरकमें सुदृढ, भूखंडी वगैरह आयुधोंद्वारा तुम अनेक नारकियों द्वारा चूर्ण किये गये थे । और अनेक नारकियोंने तेरे अनेक वाग दुकड़े भी किये थे । उन दुःखोंका तू स्मरण कर

१-२ अनुकूल क्रिया करना, और बोलना, नम्र स्वभाव, मुख स्वभाव, लज्जा, दया, प्रसन्नता, दान, देना, इंद्रिय दमन करना, विनय, क्षमा इत्यादिक जो उत्तम गुण मनुष्योंमें होते हैं वे जंगलमें जैसे मनुष्य दुर्लभ होते हैं वैसे नारकियोंमें दुर्लभ होते हैं ३-८ इस जगत्में शत्रु, मित्र और उदामीन ऐसे तीन भेद हैं परंतु नरकमें मित्र और उदामीन ये भेद हैं ही नहीं किंतु सबही नारकी जीव आपसमें शत्रुपना ही धारण करते हैं । बाण, चक्र, नाराच, कर्णत, नख, गदा मुशल, शूल, पाश, पाषाण, पट्टिश, मूठ, लाठी, मट्टीके डेले, कील, शंकुनामक आयुध, चाणविशेष, तरवार, छुरी भाला, दंड तोमर इत्यादि अनेक आयुधोंसे नारकी जीव क्रोधमे सतप्त होकर परस्परमें लड़ा करते हैं नरक भूमीका भी ऐसा स्वभाव है कि उपर्युक्त शस्त्र स्वयं उत्पन्न होते हैं नारकी भी अपनी विक्रियासे ऐसे शस्त्र उत्पन्न करते हैं । विभंगजानसे भी पूर्व वैरीका स्मरण कर वे नारकी अन्योन्य को मारते हैं, छेदते हैं भिन्न करते हैं संक्षण करते हैं दुःख देते हैं बाणोंमें जखमी करते हैं । ग्रहार करते हैं ९-१० कोई कोई दुष्ट पापी नारकी कुचा, सियाल, भेडिया, वाघ, गीध इत्यादि प्राणिओंका रूप धारण कर आपसमें लड़ते हैं । कोई २ नारकी लकड़ी, और पर्वत बनकर अन्य नारकियोंको ऊपर गिर पड़ते हैं । अथवा शूलके अग्रभागपर चढाये हुए नारकियोंके शरीरपर वे गिर पड़ते हैं । ११ कितनेक नारकी जीव पानी होकर डूबते हैं । वायु होकर उड़ते हैं अग्नि होकर जलते हैं परंतु परस्परपर वे दया नहीं करते हैं १२-१४ अरे दास तू यहां ठहर मैं तेरेको मारुंगा, तू कहां भाग जाता है, महामोहसे तू छिपना चाहता है परंतु मैं तेरे लिये मृत्यु होकर आया हूँ । वे नारकी छेदन कर, भेदन कर, पीड़ा कर, खिंचि, रोक, जलाव, बांध, चूर्णकर, ढकल, मार, घ्राणले इत्यादि अशुभ भाषण आपसमें बोलते हैं ।

जनेनेदृशा नारकेण मापितयेवता बुद्धिं निरूपयति—

जं आवट्टादो उप्पाडिदाणि अच्छीणि गिरयवासम्मि ॥

अवसस्स उक्खया जं सतुलमूलायते जिब्भा ॥ १५६४ ॥

उत्ताप्य चहुशो नेत्रे जिह्वा संछिद्य मूलतः ॥

यन्नीतो नारकैर्दुःखं दुःखदानविशारदैः ॥ १६३१ ॥

विजयोदया—जं आवट्टदो उप्पाडिदाणि विरः पृष्टदेशदुत्पाटिते । अच्छीणि लोचने । गिरयवासे य नारक-  
वासे च । अवसस्स अवशस्य । ज यत् । सतुलमूलायते जिब्भा निगशेषा ते जिह्वा ॥

मूलारा—अवट्टदो अवट्टुतः । कृत्रित्कालः । ग्रीवापश्चिमभागादिलयः । अन्यस्तु तसं तृतीयार्थं मन्यते । उक्खयावा  
जत्ताता । उत्पाटिता ॥

नारकी जीव और भी जो दुःख देते हैं आचार्य उनका वर्णन करते हैं—

अर्थ—हे क्षपक' नरकमें सस्तकके पाक्षिमभागमें तेरी ओख निहली गई थी और पराधीन हुए तेरी  
जिह्वा भी मूलभागसे नारकीओंने उखाड़ी थी इसका भी मनमें विचार कर.

कुंभीपाएसु तुम उक्कटिओ जं चिरं पि वं सोल्लं ॥

जं सुट्ठिउव्व गिरयम्मि पउल्लिदो पावकम्मोहिं ॥ १५७३ ॥

कुंभीपाके महातापे क्षथितो यत्समंततः ॥

अंगारप्रकरैः पक्तो यच्छूलप्रोतमांसवत् ॥ १६३२ ॥

विजयोदया—कुंभीपाएसु तुम कुंभीपाकेषु त्व । उक्कटिदो उत्कथित । जं सुट्ठिउव्व शूलप्रोतमांसवत् ।  
गिरयम्मि नरके । पोल्लिदो अंगारप्रकरे पक् । पावकम्मोहिं पापकर्मभिः ॥

मूलारा—कुंभीपागेषु कुम्भ्य उल्लिङ्गाः । पाकाः पचनाधिकरणानि । कुम्भ्यश्चताः पाकाश्चते कुंभीपाकास्तेषु ।  
सोऽथ श्रुतमिश्रिततैलं, वज्रलेप इत्यन्यः ॥ सुट्ठिउव्व शलाकाप्रोतमांसं । पउल्लिदो अंगारप्रकारपक्कः । पावकम्मोहिं नारकैः ।  
अर्थ—क्षपक' नरकमें अनेकवार तुम कुंभीपाकमें पकाये गये थे. तथा कुट्ट नारकीओंके द्वारा शूलभांसके

समान तीव्र अग्नीर्मे शुने भी गयेथे इन बातोंका भी स्मरण करो

जं भज्जिदोसि भज्जिदंगं पि व जं गालोओसि रसयं व ॥

जं कप्पिओमि वल्लूरयं व चुण्णं व चुण्णकदो ॥ १५७४ ॥

शाकवद्रुज्यमानो यत् गाल्यमानो रसेन्द्रवत् ॥

चूर्णवच्चूर्ण्यमानो यद्वल्लूरमिव कर्तितः ॥ १६३३ ॥

विजयोदया—ज भज्जिदोसि यद्दृष्टो भज्जिदपि भज्जिदगनामधेयशाकवत् । ज गालिओसि रसगोच्य यद्गालितोऽसि रसवत् । ज कप्पिदोसि यद्वर्तित । जं छिन्नो सि यत् छिन्न । वल्लूरयं पि व वल्लूरवत् । चुण्णवत् चुण्णकदो चूर्णीकृत ॥

मूलारा—भज्जिदो शृष्टः । भज्जिदंगं पि व भज्जिदगनामधेयगारुवत् ॥ पचनीयमिवित्यन्यः ॥ रसयं व गुह-  
रस इव । कप्पिदो अवयवेषु छिन्नः । वल्लूरियं व मासखण्डमिव । वल्लूरं पि घेति पाठे शुष्कमासमिवेत्यर्थः । चुण्णि-  
कदो चूर्णीकृतः ।

अर्थ—हे क्षपक! तुम नरकमें भज्जिद नामक माग के समान अग्नीपर पकाये गये थे तथा गुह के रस के समान तुम गाले गये थे. शुष्क मांसके समान तुम्हारे टुकड़े २ किये गये थे और चूर्णके समान चूर्ण किया गया था.

चक्केहिं करकचेहिं य जं सि णिकत्तो विकत्तिओ जं च ॥

परस्सहिं फाडिओ ताडिओ य जं तं मुसंडीहिं ॥ १५७५ ॥

दारित. क्रकचैदिछन्नः खड्गैर्विद्धः शराविभिः ॥

यत्पादितः परश्वाद्येस्ताडितो मुद्गरादिभिः ॥ १६३४ ॥

विजयोदया—चक्केहिं करकचेहिं चक्रे क्रकचैश्च । जं सि णिकत्तो यदसि निहृत । विकत्तिदो वित्तिधं कृत । परस्सहिं फालिदो परशुभिः पाटित । ताडिदो ताडित । ज यत् त्व मुसंडीहिं शुषुडीभिः ॥

मूलारा—णिकत्तो नियतं छिन्नश्चक्रे । विफ्रित्तिदो विविधं खंडितः क्रकचैः । परसुहिं परशुभिः । फालिदो फाटितः । व त्वम् ॥

अर्थ—चक्रसे हे क्षपक' तेरा छेदन किया गया था और करोतसे अनेक प्रकारसे तू चीरा गया था. कुन्दा-हीसे तू फाटा गया था. तथा भृशुही नामक शस्त्रके द्वारा अर्थात् युद्धरोंसे तू पीटा गया था.

पासेहिं जं च गाढं बद्धो भिण्णो य जं सि दुघणेहिं ॥

जं खारकहमे खुप्पिओ सि ओमच्छिओ अवसो ॥ १५७६ ॥

पाशैर्बद्धोऽभितो भिन्नो दुघणैरवशो घनैः ॥

दुर्गमेऽघोमुखीभूतो यत्क्षिप्तः क्षारकर्दमे ॥ १६३५ ॥

विजयोदया—पासेहिं पाशैः । ज यत् । गाढं बद्धो बद्ध वद्ध । भिण्णो य भिन्नश्च । ज सि यदसि । दुघणेहिं घनैः । जं यत् । खारकहमे क्षारकर्दमे । खुप्पिदोसि नियातोऽसि । ओमच्छिओसि अघोमस्तक । अवसो परवशः ॥

मूलारा—दुघणेहिं लोहकारघनैः । खारकहमे क्षारपके । खुप्पिदो निखातः । ओमच्छिओ अघोमस्तकः ॥

अर्थ—पाशसे नारकिओन तेरेको दृढ बांधा था और तेरे मस्तक पर घनके प्रहार किये थे. परवश होनेसे क्षारके कीचढमें नचि मस्तक और ऊपर पाय करके तुमको गाढ भी दिया था

जं छोडिओसि जं मोडिओसि जं फाडिओसि मलिदोसि ॥

जं लोडिदोसि सिंघाडएसु तिवखेसु वेणुण ॥ १५७७ ॥

यदापन्नः परायत्तो नारकैः कुरकर्मभिः ॥

लोहयुंगाटके तीक्ष्णे लोड्यमानोऽतिवेगतः ॥ १६३६ ॥

विजयोदया—यद्गम, पातितः, मर्दित, लोडितश्च तीक्ष्णेषु युगाटकेषु वेगेन ॥

मूलारा—छोडिदो निखलीकृतः । अकृष्ट इत्यन्य. । मोडिदो नमयित्वा भग्नः । फाडिदो पातितः । मलिदो मर्दित पात्रे । लोडिदो लोडितः । सिंघाडएहिं शृङ्गाटकेषु त्रिकोणकर्करेषु लोहमयत्रिकोणकंटकेष्वित्यन्यः ।



अर्थ—नारकिओने तेरा जमीनपर पटककर मर्दन किया था, तीन अग्र जिनके हैं ऐसे लोहेके कंटकोंपर तू बड़े वेगसे घसीटा गया था तथा नमाकर उन्होने तुझको मोढा था।

विच्छिन्नगोवंगो खारं सिच्चित्तु वीजिदो जं सि ॥

सत्तीहिं विमुक्कीहिं य अदयाए खुंचिओ जं सि ॥ १५७८ ॥

तण्डवा लोकेऽखिल गात्र क्षुरप्रैर्निशितैश्चिरम् ॥

वीजित. क्षारपानीयं. सिक्त्वा सिक्त्वा निरंतरम् ॥ १६३७ ॥

विजयोदया—विच्छिन्नगोवंगो विच्छिन्नगोपाग. । गारं सिच्चित्तु क्षार सिक्त्वा. वीजिदो जं सि यद्वीजित. । सत्तीहिं शक्तिभि । विमुक्कीहिं य अयोमयकंटकाग्रैर्दंडे । अदयाए दयामतेण । खुंचिओ परावर्तित. ॥

मूलारा—विच्छिन्नगोवंगो विविध संहितानि हस्तादीन्यंगुल्यादीनि च यस्य । सार क्षारेण । सिच्चित्तु सिक्त्वा । सुतिकरोहिं अतिनिशाताभि. । श्रीविजयाचार्यस्तु विमुक्कीहिं इति पठित्वा अयोमयकंटकाग्रैर्दंडैरित्यर्थमकथयत् । खुंचिओ भिण्णः । परावर्तित इत्यन्य. ॥

अर्थ—तुमारे भिन्न भिन्न अवयवोंपर क्षार चूर्ण का जल सींचकर नारकी उसके ऊपर हवा कर देते थे. तदनंतर शक्ति नामक शस्त्रसे और लोहेके कांटे जिनको लगे हैं ऐसी लाठियोंसे निर्दय होकर सींचकर लोटते थे.

पगलतरुधिरधारो पलंबचम्मो पभिन्नपोट्टसिरो ॥

पडलिदुद्धिदओ जं फुडिदथो पडिचूरियंगो य ॥ १५७९ ॥

शक्तिभिः सूचिभि नवदूर्गैर्गच्छिन्नाखिलविग्रहः ॥

विगलद्रुक्तधाराभि. कर्दमीकृतभूतलः ॥ १६३८ ॥

विजयोदया—पगलतरुधिरधारो प्रगलद्रुधिरधार । पलंबचम्मो प्रलंबत्वक् । पभिन्नपोट्टसिरो प्रभिन्नोदर शिराः । पडलिदुद्धिदओ प्रतप्तहृदय । जं यत् । फुडिदुद्धिदओ स्फुटितलोचन । पडिचूरिदगो य परिचूर्णितग ॥ मूलारा—पोट्ट उबर । पवलिदुद्धिदओ प्रतप्तचित्तः । फुडिदथो स्फोटितेनेत्र ॥

अर्थ—जिसके शरीरमेंसे रक्तकी धारा बह रही है, शरीरका चमड़ा नीचे लटक रहा है, जिसका पेट और मस्तक फूट गया है, जिसका हृदय तप्त हुआ है, आँखें फूट गई हैं, तथा सब शरीर चूर्ण हुआ है ऐसा तू नरकमें अनेक बार दुःख भोगता था उसका चिंतन कर

जें चडयंडतकरचरणगो पत्तो सि वेदणं तिब्ब ॥  
 गिरए अणंतखुत्तो ते अणुचित्तिहि गिस्सेसं ॥ १५८० ॥  
 यत्स्फुटहोचनो दग्धो ज्वलिते वज्रपावके ॥  
 यच्छिन्नहस्तपादादिछिद्यमानास्थिसंचयः ॥ १६३९ ॥  
 शोषणे पेपणे कर्षणे धर्षणे लोटने मोटने कुटने पाटने ॥  
 त्रासने ताडने मर्दने चूर्णने छेदने भेदने तोटने यच्छिन्नं ॥ १६४० ॥  
 दुःकृतकर्मविपाकवशोत्थं कालमपारमं नंतमसह्यम् ॥  
 सोढमिदं हृदये कुरु सर्वं कातरतां विजहीहि सुबुद्धे ! ॥ १६४१ ॥  
 इति श्वभ्रगतिः ॥

विजयोदया—ज यत् । चडवडतकरचरणगो वेपमानकरचरणम् । पत्तो सि वेदणं तिब्बं । प्राप्तोऽसि वेदना तीव्रा । गिरए नरके । अणंतवारं तत् अणुचित्तिहि अनुक्रमेण चित्तय । गिस्सेसं निरवशेष ॥ नरकातिदुःख वर्णितम् ॥

मूलरा—चडयंडतं प्रकंपमानं । अणुचित्तिहि अनुक्रमेण चित्तय त्व ॥ इति नरकातिदुःखानुचितनं ॥  
 अर्थ—हे क्षपक! नरकमें जिसके हाथ पाय वेदनासे कंप रहे हैं ऐसे तूने अनंत बार जो दुःख भोगा है उसका अनुक्रमसे पूर्वस्मरण कर नरक गतिके दुःखका वर्णन समाप्त हुआ

तिरियगदिं अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं ॥  
 जम्मणमरणरहं अणंतखुत्तो परिगदो जं ॥ १५८१ ॥

जन्ममृत्युजराकीर्णां घोरां तिर्यग्गतं गतः ॥

किं तीव्रां बहुशो लब्धां स्मरसि त्वं न वेदनाम् ॥ १६४२ ॥

पंचधा स्थावरा जीवा विमुह्यन्तचेतनाः ॥

लभन्ते यानि दुःखानि कः शक्तस्तानि भाषितुम् ॥ १६४३ ॥

विजयोदया—तिरियगर्दि अणुपत्तो तिर्यग्गतमनुयास । भीममहावेदनाउलमपारं । भीममहावेदनाकुलमपारं जन्ममरणरहद्द जन्ममरणघटीयत्रं । अणतद्युत्तो अनतवारं । परिगदो परिप्राप्तोऽसि । यत् क्षितेहि तं इति वक्ष्यमाणेन संबध् । निर्धेचो हि नानाविधा पृथिव्येजोवायुवनस्पतिवसभेदेन ॥

आत्मानुभूतान्यपि न स्मरन्ति दुःखानि केचिद्धि नरा प्रमत्ता ॥

दृष्टुतान्यसमुद्रवानि ते विस्मरन्तीति न विस्मयोऽत्र ॥ १ ॥

प्रमादलोपार्थमतो नरेभ्यो ज्ञातोऽपि सोऽर्थः परिकथ्य एव ॥

सस्मर्यमाणे प्रभवति यस्मिन्पुणा न दोषाश्च समुद्रवति ॥ २ ॥

शीते निवात सलिलादि चोष्णे क्षेम भवे संश्रयितु समर्थ ॥

ये जगमास्ते न तु सास्ति शक्तिरेकद्रियाणा वत जीवकानां ॥ ३ ॥

सर्वोपसर्गनिह मोक्षकामा यथा विरागा मुनयः संहते ॥

सर्वोपसर्गानवशा वराका एकैद्रिया ये च सदा संहते ॥ ४ ॥

जात्यधमूका वधिराश्च वाला रथ्यास्तु रक्षाशरणप्रहीणाः ॥

प्रमर्द्यमाना गजवाजियानैर्यथा त्रियते विवशा वराका ॥ ५ ॥

तथा प्रकारो विकलैर्द्रियाणा प्रवर्तते नारकदुःखतुल्य ॥

मृत्यु समंतात् सततं सुघोरो ग्रोमेष्वरण्येषु च नि शरण्याः ॥ ६ ॥

गोऽजाविकायै परिसर्द्यमाना यानादिक्रै परिपिष्यमाणाः ॥

अन्योन्यवक्रैः परिभ्रम्यमाणाः दुःखं च मृत्युं च हि ते लभते ॥ ७ ॥

छिन्नैः शिरोभिश्चरगैश्च भस्मै रुजाद्वैतश्चावयवैस्तनूना ॥

चिर स्फुरत प्रतिकारहीना कृच्छ्रेण केचिज्जहति स्वमायुः ॥ ८ ॥

निमज्ज्यमाना उदार्धिदुनापि निश्वासवातैरपि चोद्यमाना ॥

प्रचोद्यमाना लघुनोष्णपि नश्यति ये तेषु भवेत्कथा का ॥ ९ ॥

सर प्रविश्येह यथा नरः सन्नुन्मज्जनं चैव निमज्जनं च ॥

क्रीडाप्रसक्तो बहुशोऽपि कुर्यादनन्यकार्यं स्ववशो वयस्यः ॥ १० ॥

के वश हो जाते हैं जिनको पशुगतिके संबन्ध का ज्ञान हुआ है ऐसे मनुष्योंको छोड़कर अन्य कोई भी व्यक्ति उनका रक्षण करनेका प्रयत्न नहीं करती है।

१७ कोई पंचेंद्रिय पशु आपसमें लड़ भिड़कर दुःखी होते हैं कितनोंको तो मनुष्य दुःख देते हैं कितने पशु पापोदयसे और क्षुधा तृणादिकसे पीड़ित होकर दुःखी होते हैं नानाप्रकारके भय उनके उत्पन्न होते हैं उनके दुःखोंको उपमा ही नहीं है ?

१८ कोई तिर्यच प्राणी इतने निर्दय होते हैं कि वे अपने बच्चोंको भी खाते हैं। तो वे अन्य प्राणिओंको खाते होंगे इसमें आश्चर्यावह क्या है

१९ ये पशु आपसको मारनेके लिए टूट पड़ते हैं, कोई निर्दय प्राणी, उन दोनों को मारनेके लिए दौड़ता है, कोई अकस्मात् आकर उनको मार देता है

२० ये सब पशु अन्योन्यको मारनेका योग्य मोका देखते रहते हैं, और अन्योन्यको खाकर जीने की अभिलाषा करते हैं अन्य प्राणी मेरेको मारेंगे ऐसा भय सभीके मनमें होनेसे उनको निद्रा आती नहीं इस विवेचनसे आपको मालूम होगा कि क्या ये प्राणी सुखी हैं ?

२१ वनमें हरिण पानी पीकर और वृण भक्षणकर पुष्ट होते हैं और हरिणीओंके साथ रहकर सान्नादिन बिताते हैं ये किसीका कुछ डुकसान तो करते ही नहीं परंतु व्याघ्राधिक्रु दुष्ट मनुष्यसे इनको हमेशा भय उत्पन्न होता है इसमें पूर्वकृत पापकर्म ही कारण है।

२२ हरिण अपने बालक और हरिणीसे विमुक्त होते हैं, और हरिणी भी अपने बालक और अपने इष्ट हरिणोंसे विमुक्त होकर दीननेत्रोंसे चारों दिशाओंको देखती हैं, इस रीतीसे दुःखित होकर भयकर मृत्युके गालमें पोहोचते हैं।

२३ कितनेक मनुष्य स्वभावतः पापी होते हैं कुकुरी शिकार वगैरहका महत्त्व वताकर और दुष्ट शार्ङ्गोंका प्रमाण दिखाकर पशुओंको मारनेमें मद्यत्न करते हैं तब वे भी दुर्गतिसे भयरहित होकर प्राणिओंको यथेष्ट मारते हैं और उनको खाते हैं

२४ हरिणादिक पशुओंको वनमें हिंस्र पशुओंसे भय रहता है और ग्राममें भी वे आवे तो दुष्ट लोकोसे

जन्ममृत्युजराकीर्णां घोरां तिर्यग्गतिं गतः ॥  
किं तीर्त्वां बहुशो लब्धां सरसि त्वं न वेदनाम् ॥ १६४२ ॥  
पंचधा स्थावरा जीवा विमुढीभूतचेतनाः ॥

लभंते यानि दुःखानि कः शक्तस्तानि भाषितुम् ॥ १६४३ ॥

विजयोद्या—तिर्यग्गतिं अणुपत्तो तिर्यग्गतिमनुप्राप्त । भीममहावेदनाउलमपारं । भीममहावेदनाकुलमपारं जन्ममरणरहद्द जन्ममरणघटीयत्र । अणतरुत्तो अनतवार । परितोदो परिप्राप्तोऽसि । यत् चित्तेहि त इति वक्ष्यमाणेन सवद्य । तिर्य्योचो हि नानाविधा पृथिव्यसेजोवायुवनस्पतिव्रजमेदेन ॥

आत्मभुभूतान्यपि न स्मरति दुःखानि केचिद्धि नराः प्रमत्ताः ॥  
दृष्टश्रुतान्यसमुद्रवानि ते विस्मरंतीति न विस्मयोऽत्र ॥ १ ॥  
प्रमादलोपोथमतो नरेश्यो ज्ञातोऽपि सोऽर्थः परिकथ्य एव ॥  
सस्मर्यमाणे प्रभवति यस्मिन्पुणा न दोषाश्च समुद्रवति ॥ २ ॥  
शीते निवात सलिलावि चोष्णे क्षेम भवे सश्रयितु समर्थः ॥  
ये जंगमास्ते न तु सास्ति शक्तिरेकैद्वियाणां यत जीवकानां ॥ ३ ॥  
सर्वोपसर्गानिह मोक्षकामा यथा विरागा मुनय संहते ॥  
सर्वोपसर्गानवशा वराका एकैद्रिया ये च सदा संहते ॥ ४ ॥  
जात्यधमूका नचिराश्च वाला रथ्यास्तु रक्षाशरणप्रहीणाः ॥  
प्रमर्त्यमाना गजवाजियानैर्यथा स्त्रियते विवशा वराका ॥ ५ ॥  
तथा प्रकारो विकलैद्वियाणा प्रवर्तते नारकदुःपतुल्यः ॥  
मृत्युः समतात् सतत सुधोरो आभेष्वरण्येषु च नि शरण्याः ॥ ६ ॥  
गोऽजाविकायैः परिमर्द्यमाना यानादिचक्रेः परिपिप्ल्यमाणाः ॥  
अन्योन्यवर्षैः परिमृत्यमाणाः दुःग च मृत्युं च हि ते लभते ॥ ७ ॥  
छिन्ने शिरोभिश्चरणैश्च भग्ने रुजादितैश्चावयवैस्तनूना ॥  
चिर स्फुरतः प्रतिकारहीनाः कृच्छ्रेण केचिज्जहति स्वमायुः ॥ ८ ॥  
निमज्ज्यमाना उद्विगुनापि निश्वासावतैरपि चोद्यमानाः ॥  
प्रचोद्यमाना लघुनोष्मणापि नश्यति ये तेषु भवेत्कथा का ॥ ९ ॥  
सरः प्रविश्येह यथा नरः सन्नुन्मज्जनं चैव निमज्जन च ॥  
क्रीडाप्रसक्तो बहुशोऽपि कुयोदनन्यकार्यं स्ववशो वयस्यः ॥ १० ॥

प्रविश्य जन्मोदधिमाथ्यमेव शरीरिणस्ते बहु जन्ममृत्यून् ॥  
 अन्तर्मुहूर्तैऽपि समान्बुवन्ति पेयीयमाना कटुदुःखतोयम् ॥ ११ ॥  
 सुखं शरीरैरपि ते महाति दुःखानि नित्य सममान्बुवन्ति ॥  
 स्थूलेषु देहेषु समीहितेषु दुःखोदयो देहिगणैश्च दृष्ट ॥ १२ ॥  
 येषो न माता न पिता न यशुर्न चापि मित्र न गुरुर्न नाथः ॥  
 न भेषजं नाभिजनो न भक्ष्य न ज्ञानमस्त्येव कुत सुख स्यात् ॥ १३ ॥  
 मात्रा वियोगेऽपि सतीह तावत् दुःखान्यु तर्ह्यु न जनो लभेत ॥  
 मात्रा वियोगस्तु भवेन्न येया स्थान कथ ते न हि दुःखराशे ॥ १४ ॥  
 मात्रा वियोगस्तु भवेन्न येया स्थान कथ ते न हि दुःखराशे ॥ १५ ॥  
 मा भैष्ट मा भूचव दुःखजालं मा विष्ट मा वेति वराककाणां ॥  
 आश्वासको वाप्यनुकपिता वा तेषा जन कोऽस्ति यथा नराणां ॥  
 तैस्तैः प्रकटैः सततं समताच्छब्दधाना अपि मृत्युमुग्र ॥ १६ ॥  
 करोति वा को ग्रहण निरीक्ष्य विमुच्य सेवधविदो मनुष्यान् ॥ १७ ॥  
 अन्योन्यतो मर्त्यजनाश्च पापात् क्षुधादितश्चापि महाभयानि ॥  
 पंचेन्द्रिया यानि समान्बुवन्ति दुःखानि तेषामिह कोपमा स्यात् ॥ १८ ॥  
 स्तनंधयान्स्नानपि भक्षयति शितास्तिरस्त्वोऽपि न निष्कृपाकाः ॥  
 निहत्य खादत्सु परान्तरेषु तिर्यक्षु किं विस्मयनीयमस्ति ॥ १९ ॥  
 अन्योन्यघातायमनुप्रयाति हंतु तमन्य रूपणोऽनुयाति ॥  
 तं कश्चिदन्यः सहसा निहता ह्री धिक्कृतो भीमतरं किमन्यत् ॥  
 अन्योन्यरभ्रेक्षणनष्टनिद्रा अन्योन्यमाहृत्य जिजीविषन्तः ॥  
 स्वस्था न येऽन्योन्यभावात्सपति किं ते भवेयुः सुखिनः कदाचित् २० ॥  
 वने मृगास्तोयतणप्रफुट्टा मृगीसङ्घाया रतिमान्बुवन्ति ॥  
 व्याधाविभिर्भयद्रयमान्बुवन्ति निरतसः कारणमन्न कर्म ॥ २१ ॥  
 वियोजिता आत्मसुतैश्च बालैर्मृगयो मृगैश्चत्ममनोऽनुकूले ॥  
 विशास्तु दीनाक्षिभिरिष्यमाणाः सुदाहणं भारणमान्बुवन्ति ॥ २२ ॥  
 स्वभावपापा कुक्कवीरिताभि प्रोत्साहिता दुःश्रुतिभि पुनश्च ॥  
 आविश्यतो दुर्गतितो येषां प्रन्तोऽभ्यर्द्वत्तश्च हिताग्रमन्ते ॥ २३ ॥  
 वने मृगेभ्यः पिशिताशनेभ्यो ग्रामेषु नृस्यश्च तथाविधेभ्यः ॥  
 ते विभ्यते न क्वचिदाश्वंसतो यदृच्छया विश्रति जीवितानि २४ ॥

ययंकुशादिप्रद्वतैर्गजाश्च कशादिघातैश्च हया हताशाः  
गावश्च तोत्रादिघैः परेषां कुर्वन्ति कर्मभरणदकामा. २५  
मत्या युतानामलमेतदेव विरागभावप्रभवे निमित्तम्  
तादृग्विधानां बहवो हि क्रोध्य कथं प्रकुर्वन्त्यमितेतरस्य २६  
दंदह्यमानाश्च दवाग्निवेगैर्महाजलौघैश्च समूह्यमानाः  
मृगा खगाः सर्पसरीसृपाश्च सार्धं म्रियन्ते बहवो वतान्ये २७

इदानीं तिर्यग्गतिदुःखानुचितने गाथासप्तकेन क्षपकं व्यापारयति—

मूलारा—अणुपत्तो नरकगतः पश्चात्प्राप्तः । अपार अतीर चिरानुबधित्वात् । रहटं घटीयंत्रं । परिगदो ज ।  
प्राप्तो यद्दुःख । चितेहि तं सन्वमिति वक्ष्यमाणेन संबंधः ।

अर्थ—भयंकर वेदनाओंसे व्याकुल, पाररहित ऐसे तिर्यचगतीको प्राप्त हुआ तू अनंतवार जन्ममरणरूप घटीयंत्र को प्राप्त हुआ था. उसका भी तू विचार कर, स्मरण कर. तिर्यचोके घृथिवी, वायु, जल, अग्नि, वनस्पति और त्रस ऐसे अनेक भेद हैं

१-२ कितनेक उन्मत्त मनुष्य पूर्वानुभूत दुःख भी यदि भूल जाते हैं तो देखे हुए सुने हुए अन्य लोगोंके दुःख वे भूल जाते हैं इसमें क्या आश्चर्य है. अपना प्रमाद नष्ट होनेके लिये मनुष्योंको स्वयं के ज्ञात हुए भी अपराध कहनेही चाहिये. अपने दोषोंका स्मरण रखना और दूसरोंको कहना गुणोत्पत्तिके लिये कारण होता है दोषस्मरण करनेसे और कहनेसे गुणोंकी वृद्धि होती है.

३ मनुष्य ठंडीसे बाधा होनेपर निर्वातस्थलका आश्रय करते हैं. उष्णतासे पीडित होने पर ठंडा जल पीते हैं भय उत्पन्न होनेपर निर्भय स्थानका आश्रय लेते हैं क्षीन्द्रियादि जीव भी उपर्युक्त बाधाओंसे अपना रक्षण करनेमें समर्थ हैं. परंतु एकेन्द्रिय जीवोंमें वह सामर्थ्य नहीं है

४ जैसे वैराग्ययुक्त मोक्षच्छु मुनिगण सर्वप्रकारके उपसर्ग सहते हैं वैसे वृक्षादिक एकेन्द्रिय जीव पराधीन और दीन होनेसे हमेशा सर्व प्रकारके उपसर्ग सह लेते हैं.

५-९ जैसे जन्मांध, गूंगे, बहिरे लोक और बालक उनका कोई रक्षक न होनेसे दीन और परतत्र होकर हाथी घोड़े, यान वाहनादिकसे मर्दित होते हुए मरते हैं वैसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव भी उपर्युक्त प्रकारसे

मरते हैं उनको नारिकोंके तुल्य दुःख भोगना पड़ता है ये जीव गांवमें अथवा अरण्यमें भी रहे परतु सर्वत्र भयंकर मृत्यु हाथ धोकर उनके पीछे दौड़ता ही है गाय, बकरा, भेड़ा, वगैरे प्राणिओके हाथ पाओंसे वे छुचले जाते हैं रथादिकोंके पहियोंसे उनका नाश होता है वे स्वयंभी अपनेदेहसे अन्योन्यको पीड़ा देकर मरते हैं कितनेक जीवोंके मस्तक चूटते हैं, पाव टूट जाते हैं तथा शरीर के मव अवयव रोगसे पीडित हो जाते हैं तब अधिक दुःखी होकर महाकष्टसे प्राण त्याग करते हैं द्वीद्वियादिक कोई जंतु इतने छोटे होते हैं कि वे एक पानीके बुदमें भी डुब जाते हैं- निश्वासकी हवासे भी उड जाते हैं थोड़ीसी उष्णतासे भी उनको दुःख होता है ऐसे प्राणिओंको यदि उपर्युक्त दुःखोंकी प्राप्ति होगी तो कहना ही क्या ?

१०-११ क्रीडामें चतुर, तरुण, ऐसा कोई मनुष्य जैसे सरोवरमें प्रवेश करके वारंवार उन्मज्जन निमज्जन करता है अनेक प्रकारसे क्रीडा करता है. स्वाधीन होकर और अन्य कार्योंको छोड़कर जलक्रीडामें ही तत्पर होता है वैसे सर्व प्राणी भी जन्मसमुद्रके मध्यमें प्रवेश कर एक अन्तर्मुहूर्तमें भी अनेक जन्मसमुद्रके मध्यमें प्रवेशकर एक अन्तर्मुहूर्तमें भी अनेक जन्म मरणोंको प्राप्त करते हैं. इस संसारसमुद्रमें उनको दुःखरूपी कड़वा पानी वारंवार पीना पड़ता है.

१२ उनके सुक्ष्म शरीर होनेपर भी उनको हमेशा तीव्र दुःख भोगने पड़ते हैं. जब उनको स्थूल शरीर प्राप्त होता है तब उनके दुःखादिक इतर स्थूलव्रस प्राणिओंके समान ही देखे जाते हैं

१३ इन द्वीन्द्रियादिक प्राणिओंको माता, पिता, वधु, गुरु, स्वामी, मित्र, कोई भी हितकर्ता नहीं रहते हैं. बीमार होनेपर न इनके कोई संवधी भी है जो कि उनको अन्न खानेको देंगे इन जीवोंको ज्ञान भी नहीं रहता है तो सुखकी प्राप्ति इनको कैसी हो सकेगी

१४-१५ माता का वियोग होनेपर भी दुःखरूपी समुद्र मनुष्य तीर नहीं सकता तो जिनको माता ही नहीं है वे अत्यंत दुःखके स्थान क्यों नहीं वनेंगे. अरे तू भीति छोड़ दे, तेरेको कुछ दुःख नहीं होगा ऐसा आश्वासन मनुष्योंको मिलता है. इस प्रकार इन दीन प्राणिओंको कोई भी आश्वासन देनेवाला नजर नहीं आता है, और उनके उपर कोई दया भी करनेवाला दीखता नहीं

१६ उपर्युक्त प्रकारोंसे वे पशु चारों तरफमें उग्र मृत्युको धारण करते हैं. अर्थात् वे अनेक प्रकारसे मरण





उनको भय उत्पन्न होता है अतः उनको कहाँ भी निर्भयता का अनुभव आता ही नहीं, विचारे किसी प्रकारसे अपने दिन व्यतीत करते हैं.

२५ हाथी वगैरह प्राणिओंको अकुशादिकके आघातोंसे दुःख भोगना पड़ता है छड़ी वगैरहका आघात घोड़े सहन करते हैं बैल भैंस वगैरह पशु चाबुक वगैरहका प्रहार सहन करते हैं, और आमरण मनुष्योंके वश होकर उनको कार्य करने पड़ते हैं.

२६ जो मनुष्य बुद्धिमान है वे इन दुःखों का विचार कर विरक्त होते हैं ऐसे मनुष्य इतर प्राणिओंको दुःख देनेका कार्य नहीं कर सकते हैं

२७ बहुतेसे प्राणी द्वाभिके वश होकर मरते हैं, कोई जलप्रवाहमें बहते बहते इहलोककी यात्रा पूर्ण करते हैं, कोई हरिण, पक्षी, सर्प, और तज्जातीय बहुत प्राणी इसी प्रकार मृत्युवश होते हैं.

ताडणतामणवंधणवाहणलछणविहेडणं दमणं ॥

कणच्छेदणामासिवेहणणिछ्छणं चेव ॥ १५८२ ॥

सदा परवशीभूताश्चतुर्धा त्रसकायिकाः ॥

दुःखं बहुविधं दीना लभन्ते चिरमुत्थणम् ॥ १६४४ ॥

ताडने वाहने बंधने त्रासेने नासिकातोदने कर्णयोः कर्तने ॥

लांछने दाहने दोहने हंडने पीडने मर्दने हिंसने शतने ॥ १६४५ ॥

विजयोदया—ताडणतासण ताडनत्रासनवधनलालनवाहनविहेडनकणच्छेदनसिक्खेदनवीजविनाशनानि ॥

मूलारा—ताडण यष्ट्यादिभिराघातः । तासण त्रासन भयापादन । बंधण इष्टगाविनिरोधाय रज्ज्वादिभिर्यंत्रणं । वाहण भाराकृत्या देशांतरनयन । लंछण शंखपद्माद्याकारेण दाहं । विहेडण कदर्थन । दमणं कर्मप्रयोगाय हठाच्छिक्खामहणं । दडनं वा । णिछ्छणं वृषणतिष्करणम् ।

अर्थ—लाठी वगैरहसे पीटना, भय दिखाना, दोरी वगैरहसे बांधना, बोझा लादकर देशांतरमें ले जाना,

शखपद्मादिक आकारसे उनके अवयवपर दाह करना, तकलीफ देना, कान नाक छेदना, अंडका नाश करना इत्यादिक दुःख तिर्यगतिमें भोगने पड़ते हैं

छेदणभेदणडहण णिभीलणं गालणं छुहातण्हा ॥

भक्खणमद्वणमलणं विकत्तण सीदउण्ह च ॥ १५८३ ॥

सलिलमारुतशीतमहातपभ्रमणभक्षणपाननिरोधनै ॥

दमनतोदनगालनभंजनं जलवियोजनभोजनवर्जने ॥ १६४६ ॥

विजयोदया—छेदनभेदनदहननिपीडनगालनानि क्षुत्तृड्याधामक्षणमर्दनमलनक्रुत्तनानि । शीतमुष्णं च ॥

मूलारा—डहण अभिघातादिना झूताना दाहः । णिप्पीलण नाडीव्रणपीडनं । गालणं रोगादौ रक्तनिःसारण । मलणं कणिकावन्मलनं । विकत्तण कर्णादीना विविध कर्तने ।

अर्थ—अवयवोंका छेदन, भेदन करना, कुछ अवयवोंपर खून चढ़नेपर उसको जलाना, नाडीमें व्रण होनेपर उसका मर्दन करना, रक्त निकालना, कणिकाके समान मर्दन करना, भ्रूक और प्याससे दुःख होना, कान नाक वगैरह अवयवोंको अनेक प्रकारसे कतरना इत्यादि तिर्यच गतिमें दुःख हैं

जं अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणुहिओ पडिओ ॥

बहुएहिं मदो दिवसेहिं चडण्डंतो अणाहो तं ॥ १५८४ ॥

अत्राण-पतितः क्षोण्यां निःप्रतीकारविग्रहः ॥

दुःसहां वेदनां सोदया बहुभिर्वासरैर्मृत ॥ १६४७ ॥

विजयोदया—ज अत्ताणो यदत्राणो णिप्पडियम्मो निष्प्रतीकार । बहुवेदणुहिओ बहुवेदनावित । पडिओ पतित । बहुएहिं मदो दिवसेहिं बहुभिर्मृतो दिवसे । चडण्डंतो स्फुरदेह । अणाहो अनाथ । त त्व ॥

मूलारा—अत्ताणो कशरणः । णिप्पडियम्मो निष्प्रतीकारः । वेदणुहिओ वेदनावितः । चडयडंतो स्फुरदेहः । अणाहो अनाथः । त त्वम् ॥

अर्थ—इस पशुगतिमें, अरक्षित, उपायरहित, बहुतीव्र वेदनाओंसे दुखित, होकर हे क्षपक! तू जमीनपर अनेक बार पड़ा था तथा बहुत दिनतक अपने सर्व अवयव वेदनासे हिलाता हुआ अनाथ ऐसे तूने प्राण छोड़े थे उसका तू स्मरण कर.

रोगा विविहा बाधाओ तह य णिच्चं भयं च सच्चत्तो ॥

तिव्वाओ वेदणाओ धाडणपादाभिघादाओ ॥ १५८५ ॥

क्षुत्तृष्णाव्याधिसंहारविह्वलीभूतमानसः ॥

यद्दुःखं बहुशः प्राप्तस्तत्सर्वं हृदये कुरु ॥ १६४८ ॥

विजयोदया—रोगा विविहा व्याधयो नानाप्रकारा । बाधाओ बाधाश्च । तथा णिच्चं भयं च सच्चत्तो नित्यं भयं च सर्वत । तिव्वाओ वेदणाओ तीव्रा वेदना घाटनपादाभिघाताश्च ॥

मूलारा—सच्चत्तो सर्वतः । वेदणाओ विडिक्का श्लाघ्यः ॥ घाटणं घाटणं । पादाभिघादा चरणेत ताडनं । घादाभिघादा इति पाठे अभिघातः पीडामात्रं ।

अर्थ—इस पशुगतिमें नाना प्रकारके रोग, अनेक तरहकी वेदनाएँ, तथा नित्य चारो तरफसे भय भी प्राप्त होता है अनेक-प्रकारके पावसे रगड़ना, ठोकना इत्यादि दुःखों की प्राप्ति पशु गतिमें तुझको प्राप्त हुई थी.

सुविहिंय अदीदकाले अणंतकायं तुमे अदिगदेण ॥

जम्मणमरणमणंतं अणंतखुत्ता समणुभूदं ॥ १५८६ ॥

विजयोदया—सुविहिदं सुचारित्र । अदीदकाले अतीतकाले । अणतकायं तुमे अदिगदेण अनतकायं त्वया प्रविष्टेन । जम्मणमरणमणंतं जन्ममरण चानंत । अणतपुत्तो अनतवार क्षिप्त । सम्यगनुभूत ॥ मूलारा—अणतकायं साधारणशरीरं । तुमे त्वया । अदिगदेण प्रविष्टेन ।

अर्थ—हे उत्तम चारित्रिक धारक क्षपक ! अतीतकालमें अर्थात् बीते हुए कालमें अनंत शरीरोंको धारण करके अनंत जन्ममरणोंका अनंतवार अनुभव लिया है

इन्वेवमादिदुःखं अणंतखुत्तो तिरिक्खजोणीए ॥

जं पत्तोसि अदीदे काले चिंतेहि तं मब्बं ॥ १५८७ ॥

तिर्यग्गतिं तीव्रविचित्रवेदनां गतो जराजन्मविपर्ययाकुलम् ॥

दुःखासिकां यां गतवाननारत विंचितयेस्तामपहाय दीनताम् ॥ १६४९ ॥

इति तिर्यग्गतिः ।

विजयोदया—इवमादिदुःख इत्येवमादिदुःखं । अणंतखुत्तो अनंतवार । तिरिक्खजोणीए तिर्यग्योनौ । जं यत् । पत्तोऽसि प्राप्तोऽसि । अदीदकाले अतीतकाले । चिंतेहि त सव्व तत्सर्व चिंतय ॥ तिरियगदी ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥ तिर्यग्गतिदुःखानुचितनम् ॥

अर्थ—इस प्रकार तिर्यग्गतिमें अनंतवार जो दुःख तुझको भोगना पड़ा था उस सर्व दुःखका हे क्षपक' तू वारंवार मनमें विचार कर इस प्रकार तिर्यग्गतिका दुःखवर्णन पूर्ण हुआ

देवत्तमाणुसत्तो जं ते जाएण सकयकम्मवसा ॥

दुक्खाणि किलेसा वि य अणंतखुत्तो समणभृदं ॥ १५८८ ॥

मानुषीं गतिमापय यानि दुःखान्यनेकशः ॥

त्वमवाप्तश्चिरं कालं तानि स्मर महानते ! ॥ १६५० ॥

विजयोदया—देवत्तमाणुसत्ते देवत्वमाणुपत्वयो । जादेण जातेन । सकयकम्मवसा स्वकृतकर्मवशात् । दुक्खाणि किलेसा वि य दु यानि क्लेशाश्च । अणंतखुत्तो अनंतवारं समनुभूता ॥

देवत्वमनुष्यत्वयोश्चिरानुभूतानि दुःखान्यनुचितयितुमुपक्षिपति—

मूलारा—जादेण गतेन । सकद स्वकृतं । दुक्खाणि अंतःपीडाः । किलेसा शरीरकष्टानि ॥

अर्थ—हे क्षपक' तूने कुछ पुण्य कर्म का उदय होनेसे देव और मनुष्य गतिमें भी जन्म धारण किया था इन गतिओंमें भी तुम्हें अनंतवार दुःख और क्लेश सहन करने पड़े थे.

पियविष्णुओगदुक्खं अप्पियसंवासजाददुक्खं च ॥

जं वेमणस्सदुक्खं जं दुक्खं पच्छिदालोभे ॥ १५८९ ॥

प्रियस्य विगमे दुःखमप्रियस्य समागमे ॥

अलाभे याच्यमानस्य संपन्नं मानस स्मर ॥ १६५१ ॥

विजयोदया—पियविष्णुओगदुक्खं प्रियविप्रयोगजातं दुक्खं । अप्पियसंवासजाददुक्खं च अप्रियैः सहवासेन जातं च दुःखं । थेपा नामश्रवणेऽपि शिरःशूलो जायते, येपा दर्शनादर्शने धूमायेते । जं वेमणस्सदुक्खं यक्षेमनस्सदुःखं पच्छिदालोभे प्रार्थितालोभे यद्दुःखं ॥

मानुषगतिदुःखानुचितने क्षपक प्रयोक्तुं गाथा नव दिशन्नादौ दुःसहतरत्त्वान्मानसदुःखानि गाथान्नेणेणानुस्मरयति—  
मूलारा—पियविष्णुओगदुक्खं यन्नामश्रवणेऽपि सर्वांगीणरोमाचभिव्यज्यमानो मनस्याह्लादो जायते । यदर्शने च चक्षुषी पीयूषसिक्ते इव स चेतसे प्रिय इत्युच्यते । प्रियेण विप्रयोगाविघटनं । तस्माज्जातदुःखं सुखं वेद्योतस्तापः ॥ अप्पियसंवासो यन्नामश्रवणेऽपि शिरःशूलमूदेति यहिलोकेने च लोचने धूमायेते सोऽप्रिय इत्याख्यायते ॥ अप्रियेण संवासः सहावस्थान संयोग इति यावत् ॥ जं ते माणसदुक्खं यत्त्वया प्रियविप्रयोगदुःखादविकल्पं मानसं दुःखं मानुषं भावसंप्राप्तं तत्सर्वमेव चिंतयेति वक्ष्यमाणेन संबंधः । पच्छिदालोभो प्रार्थ्यमानस्य वस्तुनोऽप्राप्तौ जातः ॥ उक्तं च—

प्रियस्य विगमे दुःखमप्रियस्य समागमे ॥

अलाभे याच्यमानस्य संपन्नं मानसं स्मर ॥

अर्थ—प्रिय पुत्र, पत्नी वगैरहंका वियोग होनेसे तथा अप्रिय शत्रु, विप, कंटकादिकोंका संयोग होनेसे तुझको बहुत दुःख प्राप्त हुआ था. अप्रिय पदार्थोंका नाम सुनते ही तुझको मस्तकशूल उत्पन्न होता था और अप्रिय शत्रुओंका दर्शन होनेसे ही आखें लाल हो जाती थीं. तथा याचना करनेपर इच्छित वस्तुका जब लाभ न होता था तब तुझको मनमें बहुत कष्ट भोगना पड़ता था.

परमिच्चदाए जंते असम्भवयणेहिं कडुगफरुसेहिं ॥

णिब्भत्यणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं ॥ १५९० ॥

कर्कशो निष्ठुरे निःश्रवे भाषणे तर्जने भर्त्सने ताडणे पीडने ॥  
अंकने दंभने मुंडने सेवने वाधने वर्तने मर्दने छेदने ॥ १६५२ ॥  
दुःसहं किंकरीभूतः करणे निचकर्मणः ॥  
यदवापश्चिर दुःखं तन्निवेशय मानसे ॥ १६५३ ॥

विजयोदया—परमिच्छदाए परश्रुत्यतया । असम्भवयोरहिं अशिष्टवचनैः । कडुगफरसेहि कटुकै परुषैश्च ।  
गिच्छन्मथणावमाणतज्जणदुष्कृदाह पत्ताह निर्भर्त्सनावमाननर्तजनदु खानि प्राप्तानि ॥  
मूलारा—परेत्यादि परस्य राजादेभृत्यताया प्रेक्ष्यताया सत्या अशिष्टवचनादिजनितं मानसं दुःखं तत्त्वया  
समाप्त तर्क्षितय ॥ उक्तं च—

दुःसहं किंकरीभूत करणे निचकर्मणः ॥  
यदवापश्चिर दुःखं तन्निवेशय मानसे ॥

गिच्छन्मच्छणा विकारतिरस्कारौ । अवमाणणा वहूना मध्ये अवज्ञाकरणं । तज्जणा तर्जनीमुत्क्षिप्य ज्ञास्यते  
यत्ते करिष्यामीति क्रोधावेशान्निग्रहप्रदर्शनं ॥

अर्थ—श्रीमान लोक राजादिकोंकी सेवा करते समय उनके असम्य शब्द, कटु, और कठोर शब्द सुन-  
कर तेरेको वीत्र मनोदुःख प्राप्त होता था निर्भर्त्सना, अपमान, इत्यादिक का दुःख अनेकवार दुष्प्रको प्राप्त हुआ था

दीणत्तरोसचित्तोसोगामरिसिग्गिपउल्लिदमणो जं ॥  
पत्तो धोरं दुक्खं माणुसजोणीए संतेण ॥ १५९१ ॥

भीशोकमानमात्सर्यरागद्वेषमदादिभिः ॥

तप्यमानो गतो दुःखं पावकैरिव चिंतय ॥ १६५४ ॥

विजयोदया—दीणत्तरोस—चित्तादीनत्वरोपधितशोकात्मपर्यादिभिः संतप्तमना यत् । पत्तो धोरं दुक्खं प्राप्तं  
घोर दु ख । माणुसजोणीए संतेण मनुष्ययोनौ सत्या भवता ॥

मूलारा—पवल्लिदमणो दीनत्वादिभिरभिरिव संतप्तं मनो येन यत्र वा । तन्मानसं दुःखं यत्त्वया मानुषयोनौ  
भवता प्राप्त तर्क्षितय । उक्तं च—

भीशोकमानमात्सर्यरागद्वेषमदादिभिः ॥

तथ्यमानो गतो दुःखं पावकैरिव चित्तय ॥

अर्थ—दीनपना, क्रोध, चिंता, शोक, असहनशीलता, एतद्रूप अधिओंसे पीडित होकर हे क्षपक! तुझको घोर दुःखोंका अनुभव मिल चुका है.

दंडणमुंडणताडणधरिसणपरिमोसंमंकिलेसा य ॥

धणहरणदारधरिसणघरदाहजलादिघणनासं ॥ १५९२ ॥

स्तेनाग्निजलदायादपायैर्वैर्धनविभुवे ॥

कशादंडादिभिर्घाते हस्तपादादिमर्द्दने ॥ १६५५ ॥

विजयोदया—दंडण मुंडण—दंडनमुंडनताडणद्रूपणपरिमोणसम्लेशा. परधनापहरणदारद्रूपणानि गृहदारज-  
लादिभिर्घ्रविणनाशात् ॥

उभयदुःखानुस्मरणाय गाथापट्कमाह—

मूलरा—दंडण अपरावे सति राजादिभिर्घनापहरण । धरिसणा साक्षेपद्रूपणारोपणं । परिमोसे परद्रव्यहरण  
दारधरिसणं भार्याविधर्पणं जलादिघणनासो जलग्न्यादिभिर्घनविनाशः ॥

अर्थ—मनुष्य गतिमें अपराध होनेपर राजादिकेसे घनापहार होता है यह दंडनदुःख है कुछ अपराध होनेपर मस्तकके सव केश निकलवाना यह मुंडण दुःख है ताड़ण दुःख—अपराध होनेपर फटके लगाना धर्पण, दुःख आक्षेपसहित दोषारोपण करनेसे मनमें दुःख उत्पन्न होता है अपराध होनेसे राजा धन छुटवाता है तब रंते दुःख होता है उसको परिमोष दुःख कहते हैं चोर द्रव्य हरण करते हैं तब जो दुःख उत्पन्न होता है उसको धन हरण दुःख कहते हैं. भार्याको कोई दुष्ट जबरदस्तीसे हरण करनेपर उत्पन्न हुए दुःखको दारहरण दुःख कहते हैं घर जलनेसे, धन नष्ट होनेसे इत्यादिक कारणोंसे मानसिक दुःख उत्पन्न होते हैं

दंडकसाल्डिसदाणि डंगुराकटमहणं घोर ॥

कुंभीपाको मच्छयपलीवणं भत्तबुच्छेदो ॥ १५९३ ॥



सूर्ध्नि प्रज्वालने वह्नेर्भक्तपानादिरोधने ॥  
शृंखलै रज्जुभिः काष्ठैर्हस्तपादादिवंधने ॥ १६५६ ॥

विजयोदया—वृडकसालद्वित्वादिनि दंडकशायपिशातस्ताडनानि दंडादिकार्यत्वाहं डशब्देनोच्यते । डगुरा मुष्टिप्रहारः । कटमद्गण कटकानामुपरि प्रक्षिप्य मर्दनं योर । कुंभीपाक । मन्त्रगणलीवणं मस्तके अग्निप्रव्वलनं । भक्तबुद्धेदो आहारनिरोधः ॥

मूलारा—कसा चर्मयष्टिः । अत्र दंडादिशब्दैः दंडादिकार्यत्वात्ताडनान्युच्यते । डगुरा मुष्टिप्रहारः । दोपपटह वादमानि वा । कटयमद्गण कटकोपरि प्रक्षिप्य मर्दनं । कुंभीपागो लप्ष्टिकाया प्रक्षिप्य पचनं । पलेवलं अग्निप्रव्वलनम् । भक्तबुद्धेदो आहारनिरोधः ॥

अर्थ—लाठी, चाबुक और चेतने ठोकना, मुठिओंसे शरीरपर महार कराना, कांटोपर सुलाकर खूब मर्दन करना, कुंभीमें पकाना, मस्तकपर अग्नि जलाना, आहार पानी नहीं देना इत्यादिकोसे मनुष्य गतिमें दुःख होता था

दमणं च हृत्पिपादस गिगलअदूवरत्तरज्जूहिं ॥  
बंधणमाक्रोडणयं ओलंवणणिहणणं चेव ॥ १५९४ ॥  
पराभवे तिरस्कारं वृद्धशशाग्वावलंबने ॥  
व्याघ्रसर्पविपारानिरोगादिभ्यो विपर्यये ॥ १६५७ ॥

विजयोदया—दमण च हृत्पिपादस हृत्पिपादेनोन्मर्दनं । गिगलअदूवरत्तरज्जूहिं निगलेन, अंदुकाभिः, वरत्राभिः, रज्जुभिश्च बंधन । आक्रोडणय हस्तो घृष्टतो नीत्वा बंधन । ओलवण श्रीवावद्धपाशस्य तरुशाखासु लंबनं । गिहणण गते निक्षिप्य पूरण ॥

मूलाराधना—दणं च हृत्पिपादस गजचरणतलप्रक्षेपः । अथवा दानं खड्गं हृत्पिपादेनैव । अन्ये वमण इति पाठित्वोन्मर्दनमित्यर्थमाहुः । कंडु शृंगला हृदि इत्यन्यः । अन्ये अंडु इति पाठित्वा चर्मवधनमित्यर्थमाहुः ॥ आक्रोडणं हस्तो घृष्टतो नीत्वा बंधनं । उक्लम्वण श्रीवावद्धपाशस्य तरुशाखासु लंबनं ॥ गिहणणं गते निक्षिप्य पूरणं ॥

अर्थ—हाथके पावोंसे कुचलाना, बेड़ी, संखल, चर्मकी वादी और दोरी इनसे बांधना, हाथ पीठके तरफ बांधना, कंठको पाशबद्ध कर शाखापर लटकाना, गंधुमें फेककर ऊपर मट्टी डालकर बंद कर देना इत्यादि दुःख भोगे थे.

कण्णोट्टसीसणासाछेदणदंताण भंजणं चेव ॥

उप्पाडणं च अच्छीण तथा जिम्मायणीहरणं ॥ १५९५ ॥

जिह्वाकर्णोष्ठनासाक्षिपाणिपादादिकर्तने ॥

शीतवातातपोदन्याबुभुक्ष्वादिकर्तने ॥ १६५८ ॥

विजयोदया—कण्णोट्टसीसणासाछेदण कर्णयोरोष्ठयो, शिरसो, नासिकायाश्च छेद । दंताण भंजण चेव दंताण भजन । उप्पाडण च अच्छीण अक्षणोत्थाटन, तथा जिम्माए णीहरण जिह्वानिर्हरणं ॥  
मूलारा—हरणं निष्काशनं ।

अर्थ—कर्णच्छेद करना, होठोंको छेदना, नाकको काटना, मस्तक तोड़ना, दांत गिराना, आंखें निकालना, फोड़ना, जीभ निकालना अर्थात् मुहमेंसे जीभ बाहर खींचना इत्यादि दुःख प्राप्त हुए थे.

अग्निविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं ॥

सीदुण्हरोगदंसमसएहिं तण्णाछुहादीहिं ॥ १५९६ ॥

विजयोदया—अग्निविससत्तुसप्पादिवालसत्थाभिघादघादेहिं अशोर्विषस्य, शत्रुणा, सर्पादेर्व्यालमृगाणा, राक्ष प्रहारस्य च घाते । सीदुण्हरोगदंसमसएहिं शीतोष्णेन, दशमशकै, तण्णाछुहादीहिं वदस्त्रुधादिभिः ॥  
मूलारा—सप्पादि सर्पवृश्चिककुम्भकुरोगोमाहिपादयः । वाल व्याघ्रसिंहादयः ॥

अर्थ—अग्नि, विष, शत्रु, सर्प, कूर प्राणी, और राक्षप्रहार इनसे भी अनंत वार दुःख प्राप्त हुआ था शीतसे, उष्णसे, रोगोंसे, दशमशकोंसे अनंत वार दुःख प्राप्त हुए थे

जं दुःखं संपत्तो अणंतखुत्तो मणे सरीरे य ॥

माणुसभवे वि तं सब्वमेव चित्तिहि तं धीर ! ॥ १५९७ ॥

शरीरं मानसं दुःखं साधो ! प्राप्तमनेकशः ॥

यद्दुःखं त्वया मृत्वे तत्त्वं चित्तय यत्नतः ॥ १६५९ ॥

गहितं दुरितकर्म निर्मितं मानुषीं गतिमुपेयुपा त्वया ॥

दुःखं चिरमवाप्तमूर्जेतं किं न चित्तयसि तत्त्वतोऽमुखम् ॥ १६६० ॥

इति नृगतिः ।

विजयोदया—ज दुःखं संपत्तो यद्दुःखं प्राप्तः । अणंतखुत्तो अनन्तवारं । मणे सरीरे य मन्त्रसि शरीरे च । मानस शरीरं च दुःखं प्राप्त । माणुसभवे वि मनुष्यभवेऽपि । त सब्वमेव चित्तेहि तत्सर्वमेव चित्तय । तं धीर त्व धीरः ॥ मूलारा—स्पष्टम् । मनुष्यगतिदुःखानुचितनम् ।

अर्थ—हे क्षपक ! इस मनुष्यगतिमें भी अनन्तवार जो मानसिक और शारीरिक दुःख तेरेको प्राप्त हुआ था हे धीर ! तू उसका चार २ चितन कर.

सारीरादौ दुःखादु होइ देवेषु माणसं तिव्वं ॥

दुःखं दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥ १५९८ ॥

देवत्वे मानसं दुःखं घोरं कायिकतोऽग्निः ॥

पराधीनस्य वाह्यत्वं नीयमानस्य जायते ॥ १६६१ ॥

विजयोदया—सारीरादौ दुःखादु शारीराद्दु खोत् । होइ भवति । देवेषु माणुसं तिव्व देवेषु मानसं तीव्र । दुःखं सो दुःखमवसस्स । अवसस्स अवशस्य । परेण अभिजुज्जमाणस्स अन्येन अभियुज्जमानस्य वाहनता नीयमानस्य । देवगतिदुःखमारावकमनुसारीयितु गाथाचतुष्टयमाश्रयत्रादौ तद्दुःखतीव्रतरत्वं सहेतुकमुपदिशति—

मूलारा—परेण स्वस्वामिभूतेन देवेन । अभिजुज्जमाणस्स वाहनता नीयमानस्य । तत्त्वं वाह्यत्वापादनं द्वारावतारेण मानसं दुःखं त्वया बहुशः सुरगतौ संसरता प्राप्तमतस्ते देवदानीमानुचितेति विधिरत्र न्ययं ॥

अर्थ—देवगतिमें शारीरिक दुःखकी अपेक्षा मानसिक दुःख अतितीव्र है। जब अधिक पुण्यवाला अधिकारी देव-हीन पुण्यके धारक देवकी वाहनकर्म में नियुक्त करता है तब उसको महान् मानसिक कष्ट अनुभवमें आता है

देवो माणी सतो पासिय देवे महड्डिए अण्णे ।

ज दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥ १५९९ ॥

गुर्वी दुब्बवामरो मानी महद्धिकसुरश्रित्रत्त ॥

तदा स अयेते दुःखं मानभगेन मानसम् ॥ १६६२ ॥

विजयोदया—देवो माणी सतो देवो मानी सत् । पासिय देवे देवान् इन्द्रवा । महड्डिए महद्धिकान् । अण्णे अन्यान् । ज दुक्क्य संपत्तो यद्घोर दुःख प्राप्त । भग्गेण माणेण भग्गेन मानेन ॥

सुरगतावेव प्रकारतरावजाराणि मानसदुखान्यनुस्मारयितुं गाथात्रयमाह—

मूलारा—माणी श्लोत्कर्षभावनाभिनिवेशेन स्तम्भमान् । पासिय नृद्ववा । महड्डिए महती निजद्धेरधिका गुर्वी ऋद्धिरणिमादिगुणसपद् परिवारादिविभूतिश्च वेपा तान् । सपत्तो मानी देवः सन्सामुल्लेखेन प्राप्तत्वं यद्दुःखं तद्विचतयेति संबन्धः । त सव्वमेव चितोहि तं धीरेत्यनुवृत्तिकृतस्य समन्वयस्य विवक्षितत्वात् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥

अर्थ—मानी देव अन्य महाऋद्धिशाली देवोंको देखकर जिस घोर दुःख को प्राप्त होता है वह मनुष्य गतिके दुःखोंकी अपेक्षासे अनन्त गुणित है ऋद्धिशाली देवोंको देखकर उसका गर्व शतशः चूर्ण होनेसे वह महा कष्टी होता है

दिव्वे भोगे अच्छरसाओ अवसस्स सगवासं च ॥

पजहंतगस्स जं ते दुक्खं जादं चयणकाले ॥ १६०० ॥

सुंदरास्त्रिविवासिसुदरीसुचतो विबुधभोगसपदः ॥

ध्यायतो भवति दुग्गमल्लवणं गर्भवासवसतिं च निर्दितां ॥ १६६३ ॥

विजयोदया—दिव्वे भोगे दिव्यानभोगान् । अच्छरसाओ देवकन्यका । सगवास च स्वर्गवास च । पजहत गस्स परित्यजतः । अवसस्स परवशस्य । जं ते दुक्ख जादं यत्तव दुःख जातं । चयणकाले ज्यवनकाले ॥

च्यवनसमयसमुत्थं तु राममुत्सारायति-

शुलारा- --अवसस गत्यन्तरनिर्वर्तकर्मपत्तत्रयस्य ॥

अर्थ—जब मृत्युके पाश गलेमें आ पड़ते हैं तब दिव्य भोग, देवागना, और स्वर्गवाम का त्याग करते समय जो तुझको दुःख हुआ था, हे क्षणिक! तू उसे स्मरण कर.

जं गन्धवासकुणिमं कुणिमाहारं हृहादिदुक्खं च॥

चित्तगस्त यं सुचि सुहिदयस्त दुक्खं चयणकाले ॥ १६०१ ॥

पूर्वभवार्जितदुःकृतजात । उत्पन्न त्रिदशत्वमशस्तम् ॥

दुःखमसद्यमपारमवाप्तम् । चिंतय भद्र त्रिसुच्य विपादम् ॥ १६०४ ॥

इति देवगतिः ॥

विजयोदया—ज गन्धवासकुणिमं यद्गन्धवासकुणित । कुणिमाहारं कुणितारं । शुधादिदुःखं च । चित्तगस्त चिंतयत । सुचिसुहिदयस्मं शुचे सुचितस्य । जं दुःखं चयणकाले यद्दुःखं चयणकाले स्वर्गान्यवनकाले ॥

शुलारा—कुणिमं कुणित । अशुचिशुकातेवादि । सुचिसुहिदयस्त देवत्वे शुचे सुचितस्य सतः । द्युत्तम-

हृत्कल्पदुःखमपमृपणमणितिविष्णुभूषणमल-

समलान्यावरणपरागविभवच्छायाप्रभाजानतम् ।

रुद्रपौण्ड्रगर्जिपा दिग्निपदा पण्मासजेपायुपापम् ॥

तद्दुःखं प्रथते प्रमित्तिव सुयं श्रेष्ठेपि यत्रेग्यते ॥

देवगतिदुःखानुचितनम् ॥

अर्थ—आयुष्यमी ममास्ति समयमें अब यहासे चयकर मेरेको मातोक दुर्गंध गर्भमें रहना पड़ेगा, दुर्गंध पदार्थोंका गर्भावस्थामें आहार लेना पड़ेगा और शुधा, व्यास वगैरह दुःखोंमें मेरे को पीडा होगी, मैं इस देवपर्यायमें सुखी और पवित्र हूँ परंतु अब क्या करूं यह आगामी परिस्थिति कैसे टल सकती है ऐसा विचार आनेपर जो दुःख तुझको प्राप्त हुआ था उसका हे क्षणिक! तू मनमें विचार कर

एवं एदं सत्त्वं दुःखं चतुर्गदिगदं च जं पत्तो ॥

तत्तो अणंतभांगो होज्ज ण वा दुक्खमिमांसे ते ॥ १६०२ ॥

दुर्गतौ यत्तयां ग्रासमेवं दुःखमनेकशः ॥

नं तस्यानंतभावोऽपि भद्र ! दुःखमिदं स्फुटम् ॥ १६०५ ॥

विजयोदया—एवं एदं सत्त्वं एवमेतत्सर्वं । दुःखं चतुर्गदिगदं दुःखं चतुर्गतिगत । जं पत्तो यत्ताप्तवान् । तत्तो तत्त । अणतभांगो अतभांग । होज्ज ण वा भवेद्वा न वा । दुःखमिममगते दुःखमिदं भवे मनुजजन्मनि ॥

एवं चतुर्गतिदुःखानि स्मारयित्वा प्रकृते योजयति—

मूलारा—होज्ज व ण व भवेद्वा नवा । इमं इदानीतनं ॥

अर्थ—इस प्रकार इस चतुर्गतिमें जो जो दुःख प्राप्त हुआ था, उसका विचार करनेसे ऐसा मालूम होता है कि जो सांभतकालीन दुःख है वह पूर्व दुःखोंका अनंतश होगा या नहीं भी होगा अर्थात् यह दुःख अत्यंत अल्प है इससे घबरा कर तू अपने शुद्ध स्वरूपसे च्युत होना अयोग्य है.

संखेज्जमसंखेज्जं कालं तादं अविस्समतेण ॥

दुक्खं तादं सोढादं किं पुण अदिअप्पकालमिमं ॥ १६०३ ॥

संख्यातमप्यसंख्यातं कालमध्यास्य तादृशम् ॥

अल्पकालमिदं दुःखं सहमानस्य का व्यथा ॥ १६०६ ॥

विजयोदया—सखिज्जमसपिज्ज कालं संख्यातमसंख्यातं वा काल । तादृ दुक्खं तादं सोढादं तानि दुःखानि सोढानि । अविस्समतेण विधामरहितेन । किं पुण किं पुन सखेते । अदिअप्पकालमिमं अत्यल्पकालमिदं द सं ॥

एवं परिमाणतः पूर्वानुभूतदुःखात्तात्कालिकदुःखास्याल्पस्य समर्थं कालतोऽपि तत्तत्संख्यात्पत्वं ब्रवीति—

मूलारा—संखेज्जं संख्यातं दशवर्षसहस्रादिसर्ववर्षन्यस्थितेरेपेक्षया । असंखेज्जं एकमासरोपमानुल्लृष्टस्थित्यलपेक्षया । अविस्समतेण विधामरहितेन ॥

अर्थ—हे क्षपक ! नरकादिकुगतिओंमें तुझको संख्यात वा असंख्यात कालतक निरंतर दुःख भोगना पडा

था वह भी तुमने भोगा है, पंतु आजका दुःख अत्यंत अल्प है, और वह अतिशय अल्पकाल पर्यंत ही रहने वाला है

जदि तारिसाओ तुहो सोढाओ वेदणाओ अवसेण ॥

धम्मोत्ति इमा सवसेण कहं सोढुं ण तीरेज्ज ॥ १६०४ ॥

अवशेन त्वया सोढास्ताइउयो वेदना यदि ॥

किं तदा धर्मबुद्धयेयं स्ववशेन न सद्यते ॥ १६४७ ॥

विजयोदया—जदि तारिसाओ यदि ताहदय । तुले सोढाओ वेदणाओ त्वया सोढा वेदना । परवसेण परवशेन । धम्मोत्ति धर्म इति । इमा इयं वेदना । सवसेण स्ववशेन सता । सोढुं ण तीरेज्ज नोढुं न शक्यते ? । कयं वेदना धर्म ? उत्तमक्षमामाद्वैवाजिवादिभि दशमकारो धर्म उच्यते । वेदनासहन धर्म इति कृत्वा कथ न शक्यते सोढुं सवधोऽत्र ॥

धर्मानुसरणेन अनिवार्यदुःखमहनाय धैर्यमुदीरयति—

मूलारा—तुमे त्वया । धम्मोत्ति वेदनामहनसुत्तमक्षमाविलक्षणो धर्म इत्यनुध्यायता । ण तीरेज्ज न शक्यते ॥

अर्थ—ऐसी घोर वेदना भी तुमने सही है क्यों कि तुम नरकादि कुगतिओं में परतंत्र थे जब परतंत्र हो कर इतना मारी दुःख सह लिया तो अब तो तुम स्वाधीन हो. स्वाधीनतामें थोडासा दुःख सहनेका समय प्राप्त होनेपर कायर नहीं होना चाहिये ये वेदनायें धर्मरूप हैं ऐसा समझकर वेदना दुःख सहना चाहिये उत्तमक्षमादि भावोंको धर्म कहते हैं. वेदना धर्मरूप कैसी है. इसका उत्तर—वेदना का मनलव वेदना सहन करना ऐसा है अतः उसमें धर्म शब्दका प्रयोग करना अयोग्य नहीं है

तण्हा अणंत खुत्तो संसारो तारिसी तुमं आसी ॥

जं पसमेदुं सव्वोदधीणमुदगं ण तीरेज्ज ॥ १६०५ ॥

आसी, अणंतखुत्तो संसारो ते, बुधावि तारिसिया ॥

जं पसमेदुं सव्वो, पुग्गलकाओ ण तीरेज्ज ॥ १६०६ ॥

जदि तारिसया तण्हा लुधा य अवसेण ते तदा सोढा ॥  
धम्मोत्तिङ्गमा सवसेण ण-कधं सोढु ण तीरिज्ज ॥ १६०७ ॥

सुइपाणएण अणुसट्ठिभोयेणेण य सदोवगहिण ॥

अण्णोसहेण निब्बा वि वेदणा तीरदे सहिदुं ॥ १६०८ ॥

ससारे भ्रमतस्तुष्ण दुरंता या तवाभवत् ॥

न सा शमयितु शक्या सर्वाभोधिलेरपि ॥ १६१८ ॥

बुभुक्षा तादृशी जाता संसारे सरतस्तव ॥

न शक्या यादृशी हतु सर्वपुद्गलराशिना ॥ १६१९ ॥

सोढुवा तृष्णाबुभुक्षे ते त्व नेमे सहसे कथम् ॥

स्वयं धर्मवृद्धयर्मल्पकाले महामर्ते ॥ १६२० ॥

समुद्रो लघिनो येन मकरग्राहसंकुलः ॥

गोष्पदं लघनस्तस्य न खेदः कोऽपि विच्यते ॥ १६२१ ॥

श्रुतिपानकशिक्षाब्रश्रुतध्यानोपवेद्यते ॥

वेदनानुगृहीतेन सोढु तीव्रापि शक्यते ॥ १६२२ ॥

विजयोदया—सुरपाणएण विविधधर्मकथाश्रुतगतेन । अणुमहिभोयेणेण य अनुशासनमोज्जेत् । उवगा-  
हिदेण उपगृहीतेन । ज्माणोसहेण शुभध्यानोपवेद्ये च । तिन्वापि वेदणा । तीव्रापि वेदना । तीरदे सहिदुं शक्यते सोढुं ॥

दुःसहवृष्णाक्षुधानुसरण्या तत्क्षणेर्दीर्घवृष्णाक्षुधापरीपहौ तिरस्कार्यं धर्मावष्टेन सत्त्वमुनुद्रयितुं गाथात्रयमाह—  
मूलारा—तुमे तव । आसी भूता । सन्वोदधीणं सकलसमुद्राणा । उदय जलम् ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

मूलारा—इमा इयं लुधा वृष्णा च ॥ एतद्गाथात्रयं श्रीविजयो नेच्छति ॥

वेदनासहनार्थमुपायत्रयमाह—



मूलारा—सुटि आक्षेपणी, सवेजनी, निर्वेदनी चेति त्रिविधकर्मकथाश्रवणं । उवगहिदेण आहितवलेन त्वया । तत्रयं वेदनासहजाय सेवस्यति विधिरत्र पर्यवस्यति । उक्त च—

श्रुतिपानकशिक्षाजशुभध्यानौपधैर्यते ! ॥  
वेदनानुगृहीतेन सोढु तीव्रापि शक्यते ॥

अर्थ—हे क्षपक ! इस संसारमें अनंतवार तुमको इतनी तीव्र प्यास लगती थी की उसको ग्रथमन करनेके लिये सर्व समुद्रोंका जलभी असमर्थ था

अर्थ—हे क्षपक ! भूख भी अनतवार इतनी तीव्र लगीथी की उसको मिटानेके लिये सर्व जगत्के पुद्गल भी अक्षम रहे

अर्थ—ऐसी तीव्रभूख और प्यास यदि तुमने परतंत्र होकर सह ली थी तो अबकी वेदना धर्म समझकर तुम स्ववश होकर क्यों न सहन कर सकोगे अवश्य सहन कर सकोगे ही

अर्थ—सवेजनी, निर्वेदनी और आक्षेपणी इन तीन धर्म कथाओंका श्रवण करना ही मानो अमृत हैं. इस अमृतका प्राशन करके तथा निर्यापकाचार्यका उपदेश रूपी भोजन भक्षण कर तुम्हारा आत्मवल बढ़ेगा शुभध्या-  
नरूपी औषधीका भी सेवन कर तुम इस वेदनाका अन्त कर सकते हो

भीदो व अभीदो वा निष्पडियम्मो व सपडियम्मो वा ॥

मुच्चइ ण वेदणाए जीवो कम्मे उडिणस्मि ॥ १६०९ ॥

पीडानामुपकारस्य सोपकारस्य चोदिता

नाभीतस्य न भीतस्य जंतोर्नश्यति कर्मणि ॥ १६७३ ॥

विजयोदया—भीदो व अभीदो वा भीतोऽभीतो वा । निष्पडियम्मो सपडियम्मो वा निष्पतिकार सप्रतिकारो वा । मुच्चदि ण वेदणाए जीवो न मुच्यते वेदनाया जीव । उडिणस्मि कम्मे कर्मण्यसद्वेद्ये उदीर्णे । असद्वेद्योदयसामुल्ये वेदनाविमोक्षाभावमाह—

मूलारा—कम्मे असद्वेद्याल्ये ॥

अर्थ—मनुष्य ढगपोक हो अथवा धैर्यवान हो वह प्रतिकार करे अथवा न करे जब असातावेदनीय कर्मकी तीव्र उदीरणा होती है तब वेदना होगी ही. उसको दूर करनेका सामर्थ्य किसी भी उपायोंमें नहीं है.

१४६५

पुरिसस्स पावकम्मोदण्ण ण करंति वेदणोवसमं ॥

सुहु पउत्ताणि वि ओसधाणि अदिवीरियाणी वि ॥ १६१० ॥

औषधानि सबीर्याणि प्रयुक्तान्यपि यत्नतः ॥

पापकर्मोदये पुंसःशमयन्ति न वेदनाम् ॥ १६७४ ॥

विजयोदया—पुरिसस्स पावकम्मोदयस्मि पुरुषस्य पापकर्मोदये न करंति न कुर्वन्ति ॥ वेदणोवसमं वेदनापशमं । सुदृष्ट पउत्ताणि वि सुष्ठु प्रयुक्तान्यपि । ओसधाणि अदिवीरियाणि औषधानि अतिवीर्याण्यपि ॥

पापोद्रेके प्रवलानामपि प्रतीकाराणा अकिंचित्करत्वमाह—

मूलारा—आदिवीरियाणी वि वीर्यातिशययुक्तान्यपि ॥

अर्थ—पापकर्मके उदयेसे अतिशय सामर्थ्य युक्त उत्तम औषध भी वेदनाका उपशम करनेमें असमर्थ होते हैं. ये औषध निपुणतासे रोगीको देनेपर भी वे रोग दूर करनेमें असमर्थ होते हैं.

रायादिकुडुवीणं अदयाए असज्जं करंताण ॥

घण्णंतरी वि कादुं ण समत्थो वेदणोवसमं ॥ १६११ ॥

असंयमप्रवृत्तानां पार्थिवादिक्लृद्विनाम् ॥

पीडा धन्वन्तरिःशक्तो निराकर्तुं न कर्मजाम् ॥ १६७५ ॥

विजयोदया—रायादिकुडुवीण राजादीनां अनेक द्रव्यसंपत्परिचारकसत्प्रख्यातानां । अदयाए असंज्जं कर्त्तराण दयामंतरेणासयमं कुर्वता । घण्णंतरी वि घन्वन्तरिरपि कर्तुं अममर्थ । वेदणोवसमं वेदनाया उपशमं ॥ वैद्यसंपत्ता धन्वन्तरेऽश्वेन सृचिता ॥

पापपक्विवाधाया द्रव्यादिसंपदौफल्यमाह—

मूलारा—कुडुवीण एतेन द्रव्यसंपत्परिचारकसंपन्न सृचिता ॥ अदयाए निर्दयत्वेन । असंयमं पद्वीविनिकायवाधा । घण्णंतरी वि घन्वन्तरिरपि । वैद्यसंपत्सूचनार्थमिदम् ॥

वेदना उनको नहीं अनुसरती हैं प्रत्युत वह मंद होती हैं- क्योंकि यह भावना असातावेदनीय कर्म का रस मंद करती है. असंयमसे असातावेदनीय कर्मका अनुभूत तीव्र बनता है. आचार्य उभास्वामी महाराजने ' दुःस्वशो-  
कतापाकदनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ' इस सूत्रमें असाता वेदनीय कर्मके कारणोंका-दुःख शोक  
वगैरह कारणोंका उल्लेख किया है

ण करेति णिवुइं इच्छया वि देवा सइंदिया सन्वे ॥  
पुरिसस्स पावकमे अणवक्कमगे उदिणम्मि ॥ १६१५ ॥  
कांधित्तोऽपि न जीवस्य पापकर्मोदये क्षमा. ॥

विजयोदया—ण करेति णिवुइं न कुर्वन्ति निर्धृति । पुरिसस्स पुरुषस्य । सइंदिया देवा सन्वे इच्छया वि  
संद्रका. सर्वे देवा इच्छतोऽपि । पावकमे पापकर्मणि । अणुक्कमगे अनुक्रमके । उदिणम्मि उदयसुपगते ॥  
न च कालेन पच्यमाने दुर्निवारे असद्वेद्यकर्मणीद्राव्योऽपि पुरुषं सुखयितुं प्रभवतीत्युपदिशति—  
मूलारा—इच्छया वि वेदना निराकर्तुमिच्छतोऽपि । अणवक्कमगे निष्प्रतिकारे । उक्त च—

न कुर्वन्ति सुराः सर्वे प्रसन्ना अपि निर्वृतिम् ॥  
पापकर्मोदये पुस सत्येव निरुपक्रमं ॥  
अपि च ॥

काक्षितोऽपि न जीवस्य पापकर्मोदये क्षमा ॥  
वेदनोपशमं कर्तुं त्रिदशाः सपुरदरा ॥

अर्थ—जब पाप कर्मका उदय पुरुषको क्रमसे आता है तब सब देव मिलकर भी उस पुरुषको सुखी  
बना नहीं सकते हैं सुखी बनाने की तीव्र इच्छा होनेपरभी वे उसको सुख देनेमें असमर्थ होते हैं.

किह पुण अण्णो काहिदि उदिणकम्मस्स णिवुइं पुरिसो ॥  
हत्थीहिं अतीरं तं भंतुं भंजिहिदि किह ससओ ॥ १६१६

उदीर्णकर्मणः पीडां शमयिष्यति किं परः ॥

अभ्यो दंतिना वृक्षःशशकेन न भज्यते ॥ १६८० ॥

कर्माण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति ॥

प्रतिषेदु न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित् ॥ १६८१ ॥

विसयोदया—किं पुन कथ पुन । अण्णो काहिदि पुरिसो अन्य करिष्यति पुरुष । उदीर्णकर्मस्स उदयागतसासेदयकर्मण । णिवुदि निवृत्ति । हत्थीहि अनीरत हत्तिभिर्महावलै कर्तुमशक्यं यद्वंजनं । किंय ससगो मजीहि कथ स्वरूपप्राणो भक्ष्यति शशकः॥

दिव्यशक्तेर्वेदनाप्रतिचिकीर्षादितस्य निरुपक्रमपापकर्मेविपाकिमवेदनानिराकरणे सुतरा सामर्थ्याभावं दृष्टतेन त्रयति—

मूलारा—अण्णो दिव्यशक्त्या वेदनाप्रतीकारेच्छयावहितः । काहिदि करिष्यति । उदीर्णकर्मस्स उदयागत दुर्निवारसादेयकर्मकस्य जीवस्य । अनीरतं अशक्यं । मत्तुं भंक्तुं । भंजिहिदि भंद्यति । ससगो शशकः । अनुकंपायाम्लने वा क । महावलैर्बहुभिर्गजैर्यो भंत्तुं न शक्यते स कथं वराकेणाल्पवलेनैकेन शशेन भज्यते इत्यर्थः । उक्तं च—

कर्माण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति ॥

प्रतिषेदुं न शक्यते नक्षत्राणीव केनचित् ॥

अर्थ—जब देव भी इच्छा होनेपर भी पुरुषके दःखको नष्ट कर सुखी करनेमें असमर्थ हैं तो अन्य पुरुष कर्मकी उदीरणा होनेपर कैसा सुखी करने में समर्थ होंगे महासामर्थ्यसंपन्न हाथी भी जिस वृक्षको तोड़ने में असमर्थ है उसको अल्प शक्तीका धारक खरगोश कैसे तोड़ सकेगा.

ते अपण्णो वि देवा कम्मोदयपञ्चयं मरणदुक्खं ॥

वारेदुं ण समत्था घणिदं पि विकुब्बमाणा वि ॥ १६१७ ॥

ये शक्ताः पतनं शक्ता न धारयितुमात्मनः ॥

ते परित्रां करिष्यंति परस्य पततःकथम् ॥ १६८२ ॥

विजयोद्या—ते देवा अप्पणो वि कम्मोदयपडायं मरणदुःखं ते देवा' सेंदका' कर्मोदयप्रत्ययं विश्वासं । मरणदुःखं आत्मनोऽपि । वारेदु ण समत्था निवारयितु न समर्थः । वणिदवि विरुवमाणा नितरां विक्रियां कुर्वन्तोऽपि ॥

इंद्रादीना स्वपरमृत्युदुःखनिवारणशक्तिभेकातिकीमुपदिशति—

मूला—ते सेन्द्रा । कम्मोदयपडाय दुर्निवासद्वेयादिकर्मविपाकहेतुकं । मरणदुःखं मृत्युं परातिशयद्विदर्शनप्रेत्यकर्मद्वैतप्रयोगादिप्रभवमनस्ताप च । अथवा मरणसमानं दुःखं मरणदुःखं दुर्निवारविपद्दान्तर्भनस्तापमित्यर्थः । विरुवमाणा दिव्यशक्त्यनुभावाद्विविधा च क्रिया पलायनात्मगोपनादिना कुर्वतः । उक्तं च—

ये शक्ताः पतनं शक्ता न चारयितुमात्मनः ॥

ते परित्रा करिष्यन्ति परस्य पतत' कथं ॥

अर्थ—देवभी कर्मके उदयसे होनेवाले अपने मरणके दुःखोंको स्वयंभी दूर नहीं कर सकते हैं, प्रयत्न करके भी वे अपना मरण दुःख दूर नहीं कर सकते हैं.

उज्झंति जत्थ हत्थी महाबलपरक्कमा महाकाया ॥

सुत्ते तम्भि वहंते समया उडेछया चेव ॥ १६१८ ॥

तरसा येन नीयंते कुंजरा मदमंथराः ॥

शशकानामसाराणां तत्र स्रोतसि का स्थितिः ॥ १६८३ ॥

विजयोद्या—उज्झति यस्मिन् स्रोतसि दृस्तिन उद्यते महाबलपरक्कमा महाकाया । तस्मिन् स्रोतसि वहति शशका गता एव ॥

उक्तार्थसमर्थनार्थमाह—

मूला—उज्झंति उद्यन्ते । स्वयमेव वहन्तो यातीत्यर्थः । अथवा स्रोतसः स्वातंत्र्यविवक्षया जत्थेत्यत्र कर्तरि कृतीया उक्तं च—

तरसा येन नीयंते कुंजरा मदमंथराः ॥

शशकानामसाराणां तत्र स्रोतसि का स्थितिः ॥

बल आहारादिज सामर्थ्यं । परक्मो नैसर्गिकं वीर्यं । वृडेछया चेव वहतो गता एव । अनायासनयनमत्र व्यग्रा ॥

अर्थ—जिस नदीके प्रवाहमें महान् शरीरके धारक-जिनका शारीरिक बल और परक्रम महान् है ऐसे मत्त हाथी भी डूब जाते हैं तो उसमें खरगोश कैसे स्थिर रह सकेंगे अर्थात् वे तो अवश्य डूबेंगे ही।

किह पुण अण्णो मुच्चहिदि सगेण उदयागदेण कम्मेण ॥

तेल्लोक्केण वि कम्मं अवारणिज्जं खु समुवेदं ॥ १६१९ ॥

त्रिदशा येन पातयते विक्रियावलशालिनः ॥

नायासो विद्यते तस्य कर्मणोऽन्यनिपातने ॥ १६८४ ॥

विजयोदया—किह पुण अण्णो मुच्चहिदि कथं पुनरन्यो मोक्ष्यते, स्वेन कर्मणा उदयागतेन। वैलोक्येनापि कर्मो-  
निवार्यमेव समुपगत ॥

मूलारा—पुण वाक्यालंकारे। अण्णो त्रैलोक्यातरवर्ती कश्चिदेकः कर्मोदयप्रतिबंधव्यलीकाहकारविंडयितः।  
मुच्चहिदि मोक्ष्यते। स्वफल नानुभाविष्यत इत्यर्थः। समुवेदं सम्मुखमुदयमागतं।

अर्थ—देव भी कर्मके उदयवश होकर मरण दु खसे अलग नहीं रह सकते हैं तो अन्य प्राणी इस दु खसे कैसी अपती मुक्ता कर सकेंगे सर्व त्रैलोक्यने भी यदि उदयमें आये हुए कर्म को रोकनेका प्रयत्न किया तो भी वह उनसे नहीं रुका जायगा अर्थात् बलवान् कर्म अनिवार्य है

कह ठाड़ सुक्कपत्तं वाएण पंडंतयम्मि मेरुम्मि ॥

देवे वि य विहडयदो कम्मस्स तुम्मि का सण्णा ॥ १६२० ॥

कर्मणा पततीन्द्रे तु परस्य क न्यवस्थितिः ॥

मेरौ पतति वातेन शुष्कपत्रं न तिष्ठति ॥ १६८५ ॥

विजयोदया—कह ठाड़ सुक्कपत्त कथं तिष्ठेत् शुष्कपत्रं। वातेन पतति मेरौ। अणिमाद्यद्युणसपञ्चान्देवानपि  
कुरसीकुर्वत कर्मणो भवत्यल्पयत्ने का सणा ॥

दृष्टातमुपन्यस्य कर्मणोऽशक्यप्रतीकारता दर्शयन्क्षपकं तदुपेक्षाया सहटमवस्थापयति—

मूलारा—पंडितयस्मि पतति सति । देवे अणिमाद्यष्टगुणैर्धर्मसंपन्नान्पुराव । विहेड्यदो अभिभवतः । तुमस्मि त्वयि । आसन्नमृत्यौ मनुष्यमात्रे । का सण्णा को विचार । इच्छमानेनेदमसद्वैयमुपनीयमानं प्रतिबध्नु शक्यते नेत्यभिनि चर्चात्मिका युक्तिरिति यावत् । अथवा ॥

अर्थ—जिस वायुसे मेरु पर्वत भी स्थिर रह नहीं सकता है क्या उससे शुष्क पत्र स्थिर रहेगा? कर्मोदय अणिमादिक आठ गुणोंके धारक देवाँको दु खी बनाता है, इतर प्राणिवर्ग तो उनसे अत्यल्प शक्तिके धारक हैं क्या उनको यह कर्म दुःख कर्म दिये बिना रहेगा?

कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्माडु णत्थि कोइ जगे ॥

सव्वबलाइ कम्मं मलेदि हत्थीव णल्लिणिवणं ॥ १६२१ ॥

बलीयेभ्यः समस्तेभ्यो बलीयः कर्म निश्चितम् ॥

तद्बलीयांसि मृदाति कमलानीव कुजरः ॥ १६८६ ॥

विजयोदया—कम्माह कर्माणि बलवति, कर्मभ्यो बलवाद्यास्ति जगति । कल्पाद्यत्सात्सर्वाणि बहुविद्याद्रव्य-शरीरपरिचारबलानि मर्हयति हस्तीव नलिनवन ॥  
कर्मधलस्य सर्वबलोपमर्हकत्वमाह—

मूलारा—सव्वबलाइ बहुविद्याद्रव्यशरीरपरिचारादिवलानि । मलेदि मर्हयति ॥

अर्थ—जगतमें कर्म ही अतिशय बलवान् है, उसे दूसरा कोई भी बलवान् नहीं है, जैसे हाथी कमलवनका नाश करता है वैसे यह बलवान् कर्म भी सर्व बंधु, विद्या, द्रव्य, शरीर, परिवार, सामर्थ्य इत्यादिकोंका नाश करता है

इच्चेवं कम्ममुदओ अवारणिज्जोत्ति सुट्ठ णाऊण ॥

मा दुक्खायसु मणसा कम्मस्मि मगे उदिणस्मि ॥ १६२२ ॥

कर्मोदयमिति ज्ञात्वा दुर्निवारं सुरैरपि ॥

मा कार्षीर्मानसे दुःखमुदीर्णे सति कर्मणि ॥ १६८७ ॥

विजयोदया—इष्टेव कम्मुदयो इति शब्दः प्रकातपरिसमाप्तिं सूचयति । एवं इत्युक्तपरामर्शः । कम्मुदयो कर्मोदयः । अवारणिज्जोसि अनिवार्य इति । सुद्धु णाउण सप्पयग्गात्वा । मा दुक्खायसु मणसा मा कार्पण्डिं खं मनसा । कम्ममि सगे उविण्णमि कम्मणि उदीरणे ॥

प्रकृतं उपसंहृत्य क्षपकमनसि निवेशयति—

मूलारा—इष्टेव इतिः समाप्तौ । एवमुक्तपरामर्शः । उक्तप्रकारेण समाप्तं कर्मोदयसामर्थ्यवर्णनमित्यर्थः । मा दुक्खायसु मा दुःखायस्व मा दुःखं वेदयस्व दुःखितमात्मानं मा मंस्या इत्यर्थः । परमानन्दमयो ज्ञात्मेति भावः । मणसा । तद्दुःखमपि न दुःखं यत्र न संक्षिश्यते मनः । इति भावः ।

अर्थ—इस प्रकारसे कर्मका उदय दुर्निवार है ऐसा समझकर स्वकीय कर्मका उदय होनेपर हे क्षपक ॥ तू मनमें दुःखित मत हो

पडिक्खविदे वि सण्णे रडिदे दुक्खादिदे किलिठ्ठे वा ॥

ण य वेदणोवसामदि णेव विसेनो हवदि तिस्से ॥ १६२३ ॥

विषादे रोदने शोके संक्लेशे विहिते सति ॥

न पीडोपशमं याति न विशेषं प्रपद्यते ॥ १६८८ ॥

विजयोदया—पडिक्खविदे परिदेवते कृते शोके । विषादे रट्ठने, दुःखे, संक्लेशे वा न वेदनोपशाम्यति । नापि काश्चिदातिशयो भवति वेदनाया ॥

न च परिदेवनादिना दुःखस्योपशमोऽपकर्णो वा कश्चिद् भवति केवलमात्मनः क्लीबता प्रकाश्यते इति निश्चयति—

मूलारा—पडिक्खविदे आर्तविलपिनि पुरुषे आर्तविलपने वा कृते । एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयं । विसण्णे शोके कृते । रडिदे रोदने कृते । दुक्खाद्दे दुःखे कृते । किलिठ्ठे स्वस्य परस्य चोपतापे कृते । विसेसो अतिशयः स च प्रकार-णादियकर्म । उक्तं च—

विषादे रोदने शोके संक्लेशे विहिते सति ॥

न पीडोपशमं याति न विशेषं प्रपद्यते ॥



अर्थ—शोक, विषाद, दुःख, संकलेशपरिणाम करनेपर तथा रुदन करनेसे भी दुःखोंका शमन नहीं होता है. अथवा उसमें कुछ विशेषता भी नहीं होती है.

अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ संकिलेसेण होइ खवयस्स ॥

अट्ठं सुसंकिलेसो ज्झाणं तिरियाउगणिमिच्चं ॥ १६२४ ॥

नान्योऽपि लभ्यते कोऽपि संकलेशकरणे गुणः ॥

केवलं चध्यते कर्म तिर्यग्गतिनिबंधनम् ॥ १६८९ ॥

विजयोदया—अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ अन्योग्यत्र गुणो न कश्चिच्छोकादिना संकलेशेन । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि तत्कर्तुं प्रारभते यस्य साध्यं फल अस्ति । संकलेशेन न किञ्चित्फलं अपि मुमुक्षो, अपि तु संकलेशपरिणामो ह्यार्ते ध्यान ममनोक्षविप्रयोगाख्य तच्च तिर्यगायुषो निमित्तं । ततोऽल्पदुःखमीकं भवत त्वदीय संकलेशो दुरुत्तरे तिर्यगावर्ते निपातयतीति भयोपदर्शनं कृतं ॥

परिदेवनादिदुर्ध्यानादुपकारातरमपि मुमुक्षोर्न भवत्यपि महाननुपकारः स्यादित्यावेदयति—

मूलारा—अण्णो वि प्रवृत्तदुःखोपशमापकर्षविलक्षणतः पुण्यबंधसाधुकारादिकः । गुणो उपकारः । अथ अत्र असद्वेद्योदयादापतिते सति दुःखे । संकिलेसेण परिक्लृप्तादिना । खवयस्स अशुभकर्मक्षपणोद्यतस्य । अट्ठं वेदनास्मृतिसमन्वाहाराख्यमार्तध्यान । तिरिआउगणिमित्तं तिर्यगायुष्कर्मबंधनिवधन । ततोऽस्मादल्पदुःखादुद्विजमानं भवतं दुरुत्तरे तिर्यग्दुःखावर्ते संकलेशः पातयतीति भयोपदर्शनार्थमिदं ।

अर्थ—शोकादिक संकलेश परिणाम उत्पन्न करनेमें कुछ भी फायदा नहीं होता है. जिससे फायदा होता है दुद्विमान लोक वही कार्य करते हैं. संकलेश परिणामोंसे मुमुक्षुओंको कुछ भी फल प्राप्त होता नहीं उनसे तो उलटा अमनोज्ञ विप्रयोग नामक आर्तध्यान उत्पन्न होता है अर्थात् विष, कटक, शत्रु आदिक प्रतिकूल-अनिष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर वे पदार्थ मेरेसे कब अलग होंगे ऐसा बार बार चिंतन होना ही अमनोज्ञ विप्रयोग नामक आर्तध्यान है. इसकी उत्पत्ति संकलेश परिणामोंसे होती है. यह ध्यान तिर्यचायुका बंध होनेमें कारण है. अतः हे क्षपक! यदि तू इस अल्प दुःखसे मयथुक्त होगा तो उत्पन्न हुए संकलेश परिणाम तुझे उर्निवार तिर्यग्गतिमें गिरा देंगे. अतः तू संकलेशपरिणामोंको छोड़ दे

संक्राशस्य नैरर्थक्यप्रकटनार्थोत्तरा गाथा—

हृदमाकासं मुहूर्तिं होइ तह कंडिया तुसा होंति ॥

सिगदाओ पीलिदाओ घुसिलिदमुदयं च होइ जहा ॥ १६२५ ॥

हतं मुष्टिभिराकाशं विहितं तुषखंडनम् ॥

सलिल मथितं तेन सकलेशो येन सेवितः ॥ १६२६ ॥

विजयोदया—हृदमाकास हतं मुष्टिभिराकाश ताडित । तुषखंडन तंडुलार्थं । सिक्तापीडनं तिलयन्त्रे तैलार्थं । जलमथन च घृतार्थं यथापार्थकं तथानर्थकं संक्रेशो वेदनाकुलस्य । वेदनाया अनिराकरणत्वाद्नैरर्थक्यसाम्याद्भेदो-  
पन्यासो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो ॥

वेदनाकुलस्य सकलेशवैयर्थ्यसमर्थनार्थं चतुरो दृष्टानानाचष्टे—

मूळारा—हृद अणकारकाभिभवाय ताडित । कंडिया तंडुलार्थं कुट्टिता । पीलिदाओ तिलयन्त्रे निक्षिप्य तैलार्थं चूर्णिताः । घुसिलिदमुदय मथितमुदकं घृतार्थं । तेन येन वेदनाशाल्यर्थं संकलेशः कृत इति संबंधः । त तत् । यतः संकलेश-  
वेदनोपशमादि पुण्यवर्धादिर्वा प्रत्युत तिर्यगायुर्वधः स्यात् । उक्तं च—

हत मुष्टिभिराकाशं विहितं तुषखंडनं ॥

सलिलं मथितं तेन सकलेशो येन सेवितः ॥

अर्थ—जैसे आकाशको मुष्टिओसे मारना, तंडुलके लिये भूसा कूटना, तैलके लिये चालु को यंत्रसे पीसना और घीके लिये जलका मथन करना जैसा व्यर्थ है वैसा दुःखनिराकरणके लिये संक्रेशपरिणाम उत्पन्न करना व्यर्थ है, क्यों कि वेदनाकुल मनुष्योंके वेदनाओंका परिहार करनेमें संक्रेश परिणाम असमर्थ है यहां दृष्टांत आकाशादिकको कूटना और दार्ष्टान्त संक्रेशपरिणाम इन दोनोंमें साम्य दिखाया है, निरर्थक्यतरूप धर्म दोनों में होनेसे साम्य स्पष्ट है

पुष्पं समयमुवभुतं काले णाणुण तेत्तियं दन्व ॥

को धारणीओ धणिदरस देंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥ १६२६ ॥

पूर्वं भुक्तं स्वयं द्रव्य काले न्यायेन तत्स्वयं ॥

अधमर्णस्य किं दुःखमुत्तमर्णाय यच्छतः ॥ १६९१ ॥

विजयोदया—पुष्टं सयमुद्युक्तं पूर्वं स्वयमुपभुक्त । काले पात्रेण न्यायेन । तेत्तिगं द्रव्यं तावद्द्रव्य । को दुःखिओ होज धाराणिगो को दुःखितो भवेदधर्मण धणिदस्मि उत्तमर्णे । हरते स्वं द्रव्यं हरति ॥

स्वयमादाय भुक्तं यावद्द्रव्यं तावदेव काले धनिकाय प्रयच्छतो धारणिकस्येव स्वयमर्जितपूर्वस्य पापस्य फल-  
मनुभवतस्तत्स्वदस्य किं दुःखं स्यादिति ज्ञात्वा पूर्वकर्मोदयकृतैतद्दुःखसहनमृणमोक्षमिव पश्यन्मास्म दुःखवशो भूरिति  
स्मरयितुं प्रागुक्तमेव गाथात्रयमन्वाख्याति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष योग्य कालमें स्वयं धनिक से धन लेकर उसका उपभोग करता है परंतु जब वह धनिक उससे योग्यकाल व्यतीत होनेपर धन लेता है तब वह पुरुष क्या खिन्न होता है? क्योंकि वह जानता है कि मैंने कर्जरूपसे लिया हुआ धन धनिकको लौटा देना मेरा कर्तव्य है.

तह चेव सयं पुव्व कदस्स कम्मस्स पाककालम्मि ॥

पायागयम्मि को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणता ॥ १६२७ ॥

कृतस्य कर्मणः पूर्वं स्वयं पाकमुपेयुषः ॥

विकारं बुध्यमानस्य कस्य दुःखायते मनः ॥ १६९२ ॥

विजयोदया—तह चेव तथा चैव । सयं पुव्व कदस्स कम्मस्स आत्मना पूर्वं कृतस्य कर्मणः । पाककालम्मि फलदानकाले न्यायेनागते । को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणतो को नाम दुःखितो भवेज्जाता ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—उसी प्रकार जो जीवने पूर्वजन्ममें कर्म किये हैं उनका फलदानका काल आवश्य प्राप्त होता ही है, उसके प्राप्त होनेपर कोन ज्ञाता पुरुष दुःखी होगा ? अभिप्राय यह है कि, कर्म जब फल देने लगेगा उस समय उसका शान्त परिणामोंसे अनुभव करना चाहिये.

इय पुव्वकदं इण मज्ज महं कम्मणागुगत्ति णाऊण ॥

रिणमुक्खणं च दुक्खं पेच्छसु मा दुक्खिओ होज्ज ॥ १६२८ ॥

पूर्वकर्मागतासातं सहस्वं त्वं महामते ! ॥

ऋणमोक्षमिव ज्ञात्वा मा भूर्मनसि दुःखितः ॥ १६२९ ॥

विजयोदया—इय पुव्वकद इय पवभूत । दुक्खं पुव्वकद पूर्वकर्मणा कृतं । इण इद दुःखं । अज्ज अय । महं कम्मणागुगत्ति मम कर्मणागुगत्ति । णादूण ज्ञात्वा । रिणमुक्खण ऋणमोक्ष । दुक्ख पिच्छसु दुःख प्रेक्षस्व । मा दुक्खिदो होज्ज दुःखितो मा भू ॥

मूलारा—इणं अनुभूयमानदुःखमिव्यक्तपाकं । महं मम ॥ उक्तं च—

पूर्वकर्मागतासात सहस्वं त्वं महामते ! ॥

ऋणमोक्ष इति ज्ञात्वा मा भूर्मनसि दुःखितः ॥

अर्थ—जो दुःख मैं इस समय भोग रहा हू वह पूर्वकृत कर्म के अनुसार ही है मेने पूर्व जन्ममें कुकर्म नहीं किये होते तो इस जन्ममें उनका फलभोग मेरेको कैसे प्राप्त हो जाता ? यह तो मैं ऋणमोक्ष कर रहा हूं ऐसी चिंतन हे क्षपक ! तूं हृदयमें कर और दुःखी मत हो ।

पुव्वकदमज्झ कम्मं फलिदं दोसेण इत्थ अणणस्स ॥

इदि अप्पणो पओगं णच्चा मा दुक्खिदो होज्ज ॥ १६२९ ॥

स्वय पुराकृत कर्म ममाद्य फलितं स्फुटम् ॥

दोषो नैवात्र कस्यापि मत्वा दुःखासिकां त्यज ॥ १६३० ॥

विजयोदया—पुव्वकदमज्झ कम्म पूर्वकृतं मदीयं कर्म फलिद फलित । दोसो ण पत्थ अणणस्स दोषो नैवान्यस्य इति । अप्पणो पओग णच्चा ज्ञात्वा । मा दुक्खिदो होज्ज मा कथा दु ख ।

पुनस्तदेव भावयति—

मूलारा—अप्पणो पओगं स्वय भोक्तव्य स्वयं कृतत्वात् ॥

अर्थ—मैंने किया हुआ पूर्वकर्म अब मुझको दुःख दे रहा है इसमें अन्य किसीका भी कष्टर नहीं है जब मैंने स्वयं कर्म किया था तो अब उसका फल मेरेको ही भोगना पड़ेगा ऐसा विचार करके हे क्षपक' तू कष्टी मत हो

जदिदा अभूदपुव्व अण्णोसिं दुक्खमप्पणो चेव ॥

जादं हविज्ज तो णाम होज्ज दुक्खाइदुं जुत्तं ॥ १६३० ॥

अभूतपूर्वमन्येषामात्मनो यदि जायते ॥

तदा दुःखासिका कर्तुं मानसे युज्यते तव ॥ १६९५ ॥

विजयोदया—जदिदा यदि तावत् । दुःखमन्येगं अभूतपूर्व । अण्णो चेव जादं हविज्ज आत्मन एव जातं भवेत् । तो णाम होज्ज दुक्खाइदुं जुत्तं । ततो नाम दुःख कर्तुं युक्त ॥

किं च सर्वसंसारिसाधारणं पापविपक्तिम तव दुःखमनुभवतः का दुःखासिकेति शिक्षयति—  
मूलारा—अण्णो चेव तवैव । दुक्खाइदुं दुःखं कर्तुं । उक्तं च—

अनिष्टयोगप्रियविप्रयोगौ साधारणौ सर्वसरीरभाजा ॥

इत्यात्मबुद्ध्या विगण्य धीमान् खेदयत्यात्ममनो विपदैः ।

अर्थ—यदि हमने पूर्वजन्ममें तो दुःख देने वाला कार्य नहीं किया था और यदि इस समय हमको दुःख भोगना पड़ रहा है तो अवश्य दुःख करना अथवा संकलेशपरिणाम करना योग्य है.

सन्वोसिं सामण्ण अवस्सदाद्वव्यं करं काले ॥

णाएण य को दाऊण णरो दुक्खादि विलवदि वा ॥ १६३१ ॥

अवश्यमेव दातव्यं काले न्यायेन यच्छतः ॥

सर्वसाधारणं वंदं दुःखं कस्य मनीषिणः ॥ १६९६ ॥

विजयोदया—सन्वोसिं सामण्ण सर्वेषां भव्याना आमण्य । काले कर्मविनाशनकाले । अवस्स दायव्यं अवश्य दातव्यं । यसात्तस्मात् । करं करशब्दाच्च दाऊण वत्या । णाएण य न्यायेन च को णरो दुक्खदि विलवदि वा को नरो दुःखं करोति विलपति वा ॥

युत्तयन्तरेण गाथाद्वयमाह—

मूलारा—कर सिद्धायं । दुःखपादि दुःख करोति । विलवदि परिदेवनं करोति ॥

अर्थ—सर्व भव्योंको मुनिव्रत कर्मविनाश करनेके समयमें अवश्य देना योग्य है. क्यों कि राजाको कर देनेसे क्या कोई मनुष्य दुःख करेगा? विलाप-शोक करेगा? जैसा कर देना न्याय प्राप्त है वैसे मुनिव्रत धारण करना अथवा दूसरोंको देना अवश्य कार्य है.

सर्व्वेसि सामणं करभूदमवस्सभाविकम्मफलं ॥

इण मज्ज मेत्ति णच्चा लभसु सदिं तं धिदिं कुणसु ॥ १६३२ ॥

सर्वसाधारण दुःखं दुर्निवारमुपागतम् ॥

सहमानो मुने मार्युः खितस्त्वं भज स्मृतिम् ॥ १६१७ ॥

विजयोदया—सर्व्वेसि सर्व्वेया विनेयानां । सामण करभूदं अवस्स भाविकम्मफल अवश्यभाविकर्मफल । इणमज्जमेदि इदं श्रामण्य अद्य करभूत ममेति । णच्चा गत्वा । लभसु सदिं स्मृतिं प्रतिपद्यस्व ॥ त तत् धिदि कुणसु धृतिं कुरु ॥

मूलारा—सदिं स्मृति । प्रकमादाहास्यत्याख्यानविपया । धिदिं कुणसु

भुक्कोज्जिता सुदुर्मोहान्मया सर्व्वेऽपि पुद्गलाः ।

उच्छिष्टेणिव तेज्ज्व मम विज्ञस्य का स्मृता ॥

ममभवमहर्म्मिद्वोऽनंतशोऽनतवारान् ॥

पुनरपि च निगोवानतशोन्तर्विवृत्त. ॥

किमिह फलमभुक्तं तद्यद्यापि मोक्ष्ये ।

सकलफलधिपत्तेः कारण देव! देया. ॥

इत्येवमादिसंतोषभावनावष्टंभाद्वेदनाद्वेदनाप्रतिकारार्थितयाप्यौपधाशनाद्यभिलाषं मा कार्षीरित्यर्थः ॥

अर्थ—यह मुनिव्रत कर्म का फल है, यह करदानके समान है ऐसा समझ कर सर्व भव्योंको अवश्य

धारण करना चाहिये यह मेरा मुनिव्रत कर के समान है ऐसा ममद्वार पूर्वमें जो आहारका त्याग किया था उसका स्मरण करो और धैर्य धारण करो।

अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसंधसव्विस्स ॥

पच्चक्खणास्स कदस्स भंजणादो वरं मरणं ॥ १६३३ ॥

साक्षीकृत्य गृहीतस्य पंचापि परमेष्ठिनः

सयतस्य वर मृत्युः प्रत्याख्यानस्य भंगतः ॥ १६९८ ॥

विजयोदया—अरहंत सिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसंधसव्विस्स । अर्हंत, सिद्धात्, केवलिन, तत्रत्या देवता सर्वे च सध साक्षित्वेनोपादाय कृतस्य । पच्चक्खणास्स भजणादो प्रत्याख्यानस्य विनाशनात् । वरं शोभनं मरणं प्राणपरित्याग ॥

एवमपि बोध्यमानो दुर्वारमोहोदयात्प्रत्याख्यान यदावमुंश्रति तदा तद्भंगमहादोषप्रदर्शनेन प्रत्यवस्थाप्यो गुरुणे त्युपदेष्टुमाह—

मूलारा—अधिउत्ता तत्स्थानवासिदेवताः । अर्हदादयः साक्षिणो यत्र तत्तत्साक्षि तस्य । पच्चक्खणास्स कदस्स भंजणादो प्रत्याख्याताहारसेवनादित्यर्थः ।

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु. सामान्य केवली, दीक्षास्थानस्थित देवता और सर्व संघ इनके साक्षीसे जो आहार के त्यागका व्रत धारण किया था उसका त्याग करना योग्य नहीं है उससे तो मरनाही अच्छा है.

कथ मरणादशोभनता प्रत्यख्यानभंगस्येत्याशयायामाचष्टे प्रथममुत्तर प्रत्याख्यानभजने दुष्टता निवेदयितुम्—  
आसादिदा तओ होति तेण ते अप्पमाणकरणेण ॥

राया विव सव्विक्कदो विसंव संतेण कज्जम्मि ॥ १६३४ ॥

अप्रमाणयता तेन न्यक्कृताः परमेष्ठिनः ॥

कार्याभिवर्तमानेन साक्षीकृतनृपा इव ॥ १६९९ ॥

विजयोदया—आसादिदा परिभूता । तदो तत पञ्चात् । प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकाल । तेन प्रत्याख्यानभग कारिणा । ते अर्हदादयः । अग्रमाणकरणेन अग्रमाणकरणेन तत्साक्षिकं कर्म प्रतिज्ञात विनाशयता ते अप्रमाणीकृता भवन्ति । अप्रमाणकरणे च ते परिभूता भवन्ति । राजा विधु साक्षिकद्वयो रजिव साक्षीकृत । कञ्जस्मि विसवदतेण कार्ये विसवदता । एतदुक्त भवति राजसाक्षिक प्रतिज्ञात कर्म चान्यथा कुर्वता राजा यथा परिभूतो भवति एवमर्हदादय इति ।

इतः प्रत्याख्यानभगदुष्टता प्रवर्धनाचष्टे—

मूलारा—आसादिदा अवज्ञाहता. कृता. । तदो प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकालं । तेण प्रत्याख्यानभगकारिणा । अप्रमाणकरणेण तत्साक्षिकप्रतिज्ञातानुष्ठाननिष्ठापनाद्विसवदनेन । यच्च यं विप्रलभतै स त परिभवतीति प्रतीतमेव । राजा वि य नृप इव । विसवदतेण न्यभिचरता राजसाक्षिक प्रतिज्ञातकर्माकुर्वता राजा यथा परिभूतो भवत्येवमर्हदादयोऽपि इत्यर्थः॥

प्रत्याख्यानका भग करना मरणसं भी कैसा नुरा है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य सविस्तर देते हैं प्रथमतः प्रत्याख्यान का नाश करना क्यों दुःख है? इसका खुलासा करते हैं—

अर्थ—प्रत्याख्यान ग्रहण कर जिसने उसका त्याग किया है उसने तो अरहतादिकों को साक्षीभूत समझकर उसने प्रत्याख्यान लिया था यदि उसने प्रत्याख्यानको नष्ट किया तो अर्हतादिकों को उसने अप्रमाण माना था ऐसा समझना चाहिये उनको अप्रमाण माननेसे उसने उनका तिरस्कार—अनादर किया है ऐसा भाव सिद्ध होता है जैसे किसी मनुष्य ने किसी कार्यमें राजाको प्रमाणभूत मानकर प्रतिज्ञा की थी परंतु उसने उस कार्यकी प्रतिज्ञाका यदि भंग कर दिया तो उसने राजाको अप्रमाणभूत समझकर उसका अपमान किया ऐसा लोक समझते हैं, इसी प्रकार प्रत्याख्यान लेकर उसको तोड़नवाले पुरुषने अर्हदादिकों को अप्रमाणभूत माना है उसने उनका तिरस्कार किया है ऐसा समझना चाहिये.

जइ दे कदा पमाणं अरहंतादी हवेज्ज खवएण ॥

तत्समस्मिदं कयं सो पच्चक्खाणं ण भंजिज्ज ॥ १६३५ ॥

प्रमाणीकुरुते भत्तो यो योगी परमेष्ठिनः ॥

तत्साक्षिकमसौ जातु प्रत्याख्यानं न मुंचति ॥ १७०० ॥



भवोंमें दुःख भोगना पड़ता है. राजाकी आसादनकी अपेक्षा अर्हदादिकोंकी आसादना महान् दुःख देती है. ऐसा अभिप्राय ममज्ञाना चाहिए

मोक्षवाभिलाषिणो संजटस्स णिधणगमणं पि होइ वर ॥  
पच्चक्खाण भजंतस्स ण वरमरहदादिसिक्खिकदा ॥ १६३९ ॥  
णिधणगमणमेयमेवे णासो ण पुणो पुरिल्लजम्मेसु ॥  
णास वयभंगो पुण कुणइ भवसएसु वहुएसु ॥ १६४० ॥  
ण तथा दोसं पावइ पच्चक्खाणंमकरित्तु कालगदो ॥  
जह भंजणा हु पावदि पच्चक्खाण महादोमं ॥ १६४१ ॥  
मोक्षाभिलाषिणः साधोर्मरणं शरणं वरम् ॥  
प्रत्याख्यानस्य न त्यागो जिनसिद्धादिसाक्षिणः ॥ १७०४ ॥  
एकत्र कुरुते दोषं मरणं न भवान्तरे ॥  
व्रतभगः पुनर्जातो भवानां कीटिकोटिषु ॥ १७०५ ॥  
प्रत्याख्यानमनादाय त्रियमाणस्य देहिनः ॥  
न तथा जायते दोषः प्रत्याख्यात्यजने यथा ॥ १७०६ ॥

विजयोदया—ण तथा दोस पावदि न तथा दोष प्राप्नोति । पच्चक्खाणमकरित्तु प्रत्याख्यानमकृत्वा । काल-  
गदो मृतः । जह भजतो पावदि यथा प्रत्याख्यानमगममहादोष प्राप्नोति ॥

मुसुक्षुयते. सन्यासविनाश गाथायुग्मेन पुनर्जुगुप्सते—

मूलारा—मंतुं भवसुम् ।

मूलारा—स्पष्टम् ॥ एते द्वं श्रीविजयादयो नेच्छन्ति ॥

अकृतसन्यासाद्भक्तसन्यासस्य मरणे सुतरा दोषमाह—

मूलरा—अकरितु अकृत्वा । पञ्चक्याणं प्रत्यख्यानस्येति पष्ठमन्तं । जघ भञ्जतो पावदि इति पाठे द्वितीयात् प्राणम । अत्रोक्त च—

प्रत्याख्यानमकृत्वैव श्रुतस्तत्रैव दोषवान् ॥

प्रत्याख्यानं यथा भजन् महान्तं दोषमानुयात् ॥

अर्थ—मोक्षप्राप्तिकी अभिलाषा करनेवाले मुनिका मरण होना भी अच्छा ही है परन्तु अर्हददिकोंको साक्षी कर लिए हुए प्रत्याख्यानका भग करना कभी भी योग्य नहीं होगा मरण होनेसे एक भवका ही नाश होगा अर्थात् आगेके जन्ममें पुनः प्राणी अपनी उन्नति कर सकेगा परंतु व्रतभंग करनेसे, ऐसी प्राणीकी हानि होती है कि आगेके कौटवधि भवोंमें भी वह अपनी उन्नति करनेमें असमर्थ ही हो जाता है.

अर्थ—प्रत्याख्यान किए बिना ही जिसने प्राण छोड़े हैं वह उस दोषको प्राप्त नहीं होता है जिसको कि प्रत्याख्यान करके छोड़ने वाला प्राप्त होता है. अर्थात् आहारका त्याग करने की प्रतिज्ञा किए बिना ही जिसने मरण किया होगा उसके मनमें व्रतभंग करने लायक भाव नहीं रहते हैं इसलिए वह महान् दोषको प्राप्त होता नहीं परंतु आहारत्यागकी प्रतिज्ञा ले चुकने पर फिर जो अपनी प्रतिज्ञा तोड़ता है उसके हृदयमें सर्वलेशपरिणाम तीव्रतया उत्पन्न होते हैं अत एव वह महान् दोषी होता है

प्रत्याख्याताहारसेवा हि प्रत्याख्यानभग स चाहार प्रार्थमानो हिंसादिदोषानखिलानन्यतीति निगदति—

आहारार्थं हिंसइ भणइ असन्चं करेइ तेणकं ॥

रूसइ लुब्भइ मायां करेइ परिगिण्हदि य संगे ॥ १६४२ ॥

हिनस्ति देहिनोऽन्नार्थं भापते वित्तथ वचः ॥

परस्य हरते द्रव्यं स्वीकरोति परिग्रहम् ॥ १७०७ ॥

विजयोऽथा—आहारार्थं हिंसइ आहारार्थं पशुजीवनिकायान्दिहन्ति । असत्य भणति, स्तैन्य करोति । रुष्यत्य-  
लोभे, लुभ्यति लोभे, माया करोति, परिगृह्णाति सगन् ।

यश्चाहारोऽर्हददिसाक्षिक प्रत्याख्यातः स प्रार्थमानोऽर्हिसाक्षीनशेयान्दोषाननुपजयति इति वक्तुमुत्तरप्रबंधमाह

मूलारा—हिंसादि पङ्जीवनिकायान्दिनस्ति । रुस्सटि भोजनतदंगप्रतिवधकाय कुयति । लब्धमदि ग्रह विधत्ते धनाढवाहारासादने । संते गृहगृहिण्यादीन ।

छोड़ें हुए आहारका सेवन करनेसे प्रत्याख्यानभंग होता है प्रत्याख्यानछोड़कर जो आहारकी अभिलाषा करता है वह हिंसादि संपूर्ण दोषोंको उत्पन्न करता है इस अभिप्रायको प्रगट करते हैं—

अर्थ—यह जीव आहारके लिये छहकाय जीवोंको मारता है, असत्य वचन बोलता है चोरी करता है, आहारका लाम न होनेपर रुष्ट होता है, और होनेपर जादा लोभ बढ़ाता है, आहारके वास्ते मनुष्य कपट करता है, तथा परिग्रहोंको बढ़ाता है,

होइ णरो णिहज्जो पयहइ तवणणदंसणचरिन्त्तं ॥

आमिसकलिणा ठहओ छायां मइलेहू य कुलस्स ॥ १६४३ ॥

रत्नत्रयं जगत्सारमाहारार्थं विमुंचति ॥

निह्रपो भुवनख्यातं मलिनीकुरुते कुलम् ॥ १७०८ ॥

विजयोदया—होइ णरो णिहज्जो निर्लज्जो भवति नर । आहारार्थं परयाज्चारुणात् । प्रजहाति च तपो, ज्ञान, दर्शन चारित्रं च । अभिप्राख्येन कलिनावप्रवृद्ध छाया कुलस्य मलिनयति परोच्छिष्टभोजनाविना ॥

मूलारा — णिहज्जो आहारार्थं परयाचारिकरणात् । आमिसकलिदो आहारसंज्ञाख्येन कलिना पापकर्मणा । ठइजे व्याप्तं । अन्ये कलिदो आसक्तं । ठइदो वुमुक्षित इति व्याचक्षते । छायां शोभा माहात्म्य वा ॥

अर्थ—आहारके लिये मनुष्य याचना करता है, जिससे उसकी निर्लज्जता प्रकट होजाती है, आहारके लिये वह तप, ज्ञान, दर्शन और चारित्रको तिलांजलि देता है आहार संज्ञारूपी पापके वश होकर अपने कुलको मलिन करता है

णानदि बुद्धी जिम्भावसस्स मंदा वि होदि तिव्खा वि ॥

जोणिगसिलेसलगो व होइ पुरिसो अणप्यवसो ॥ १६४४ ॥

जिह्वेन्द्रियवशास्मात् बुद्धिस्तीक्ष्णापि नश्यति ॥  
संप्रपत्ते परायत्तो योनिगच्छेपलग्रवत् ॥ १७०९ ॥

विजयोदया—णासदि बुद्धी बुद्धिर्नश्यति । आहारलपटतया युक्तयुक्तविवेकारुणत्वात् । कस्य । जिह्वावशास्य तीक्ष्णा पि सती पूर्वं बुद्धिः कुटा भवति । रसरगागमलोपल्लुता अर्थयाथार्थ्यं न पश्यतीति पारमीककलेशालिंग इव भवति पुरुषोऽनात्मवशा ॥

मूलरा—णासदि आहारलपटतया युक्तयुक्तविवेकारुणत्वात् । मदा रसरगागमलोपल्लुता । अर्थयाथार्थ्यं न पश्यतीत्यर्थः । जोगिगसिलेसलमो वञ्चलेपाग्लम इव ।

अर्थ—जो मनुष्य जिह्वाके वश होता है उसकी बुद्धि नष्ट होती है, अर्थात् वह आहार लुब्ध होकर युक्तयुक्त का विचार मनमें से निकाल देता है जिह्वाके वशीभूत हुए मनुष्य की बुद्धि प्रथम यद्यपि तीक्ष्ण होगी तो आगे वह मलिन होती है रसोंमें लुब्ध होकर पदार्थोंका यथार्थ निश्चय करनेमें वह असमर्थ होती है, आहारलो-  
लुप मनुष्य वञ्चके वधनसे मानो बंधा हुआ विलकुल अस्वतंत्र होता है.

धीरत्तणमाहृपं कदण्णद विणयधम्मसम्भावो ॥

पयहइ कुणइ अणत्थं गल्लग्गो मच्छओ चेव ॥ १६४१ ॥

धम्मधैर्यकृतज्ञत्वमाहात्म्यानि निरस्यति ॥

महान्तं कुरुतेऽनर्थं गललग्नो यथा क्षपः ॥ १७१० ॥

विजयोदया—धीरत्त धीरत्त, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय, धर्मश्रद्धा च प्रजहति । करोत्यनर्थश्रद्धां च । प्रज-  
हति करोत्यनर्थमात्मन । गलावलग्रमत्स्य इव ॥

मूलरा—कदण्णदा कृतज्ञता । अणत्थं मरणात् दुःखमात्मनः । गललग्नो बडिशसक्तः । मच्छओ चेव  
मतस्य इव ॥

अर्थ—आहारके वश होकर मनुष्य धैर्य, महत्ता, कृतज्ञता, विनय, धर्मश्रद्धा, इन गुणोंको छोड़ देता है,  
गलमें लगी हुई मछली जैसे अपने प्राणोंको छोड़ देती है वैसे आहारलुब्ध पुरुष भी अपने प्राणोंको छोड़ देते हैं.

आहारत्थं पुरिसो माणी कुलजावि पहियकिक्की विं ॥

मुंजंति अभोज्जाए कुणइ कम्मं अकिच्चं खु ॥ १६४६ ॥

कुलीनो धार्मिको मानी ख्यातकीर्तिर्विचक्षणः ॥

अभक्ष्यं वत्तते वस्तु विरुद्धां कुरुते त्रियाम् ॥ १७११ ॥

विजयोद्या—आहारत्थं भुजते अभोज्यानि पुरुषो । मानी कुलीन, प्रथितकीर्तिरपि अकरणीयं करोति ॥

मूलरा—माणी मानिनोऽपि । अकिञ्चं च करणयोग्यमपि ॥

अर्थ—आहारके वश होकर पुरुष अभक्ष्यमक्षण भी करता है मानी, कुलीन, कीर्तिमान भी पुरुष आहार लुब्ध होकर अकार्य करते हैं

आहारत्थं मज्जारिसुसुमारी अही मणुस्सी वि ॥

दुब्बिमक्खादिसु खायंति पुत्तमंडाणि दइयाणि ॥ १६४७ ॥

इहपरलोइयदुक्खाणि आवहते णस्स जे दोसा ॥

ते दोसे कुणइ णरो सव्वे आहारगिद्धीए ॥ १६४८ ॥

दुर्भिक्षादिषु मार्जरीशिशुमाराहिमानवाः ॥

बह्वभान्यप्यपत्यानि भक्षयन्ति बुभुक्षिताः ॥ १७१२ ॥

ये जन्मद्वितये दोषा केचनानर्थकारिणः ॥

ते जायंतेऽखिला जन्तोराराहारासक्तचेतसः ॥ १७१३ ॥

विजयोद्या—स्पष्टम् ॥

अभक्ष्यतमभक्षणं क्षुधाचोना लक्षयति—

मूलरा—अही सर्पीः स्त्रीत्वादभक्ष्यतमा । मणुस्सा मानुषीः सजातीयत्वात्स्त्रीत्वाच्चाभक्ष्यतमा । दुर्भिक्षादिषु दुर्भिक्षदुर्गोपरोधादिषु । पुत्तमंडाणि सुपुत्रान् ॥

आहारगृहेः सर्वापराधकारणत्वं माह—

मूलारा—गरस्स आत्मनः ।

अर्थ—मार्जारी, शिशुमारी, सर्पिणी, और स्त्री भी बुक्कालादिक ग्रसंश्रमं अपने प्रिय बालकोंको भी खा जाते हैं. 'जिन दोषोंसे इहलोक और परलोकमें दुःखोंकी प्राप्ति होनी है मनुष्य आहार लुब्ध होकर उन सर्व दोषोंको कर डालता है

उत्तरमाथाद्वयम्—

आहारलोलुपतया स्वयभूरमणसमुद्रे तिमितिर्मिगिलादयो मत्स्या महाकाया योजनसहस्रायामा पण्मास विवृत्तवदना स्वपन्ति । निद्राविमोक्षानन्तर पिष्टितानना स्वजठरप्रपिष्टप्रस्त्यादीनाहारीकृत्य अवधिष्ठाननामधेय नरकं प्रविशति । तत्कर्णविलग्नमलाद्वारा शालिसिक्थमात्रतनुत्वाच्च शालिसिक्थसंज्ञकाः यदीदृशमस्माकं शरीर भवेत् । किं नि सन्तु एकोऽपि जन्तुर्भते ? सर्वान्मक्षयाभीति कृतमनःप्रणिधानास्ते तेम वावधिस्थानं प्रविशन्ति । इति कथयति माथया—

अवधिद्वानं गिरयं मच्छा आहारहेदु गच्छन्ति ॥

तथेवाहारभिलासेण गदो सालिसिच्छो वि ॥ १६४९ ॥

अहारसंज्ञया श्वन्न महान्त सप्तम परम् ॥

गच्छन्ति निमयो यातः शालिसिक्थोऽपि नष्टधीः ॥ १७१४ ॥

विजयोदया—अवधिद्वानमित्यादिका गाथा ॥

चक्रधरो वि सुभूमो फलरसगिद्धीए वंचिओ संतो ॥

णठो समुदमज्जो सपरिजणो तो गओ गिरयं ॥ १६५० ॥

चतुरंगयलोपेतः सुभूमः फललालसः ॥

नष्टोऽभोधौ निजैः सार्व ततोऽपि नरकं गतः ॥ १७१५ ॥

विजयोदया—चक्रधरो वि सुभूमो नाम चक्रलालन फलरसगृहया वंचित समुद्रमध्ये विनष्ट सपरिजन ।

पश्चाच्च नरक गतः ।

१८७

मत्स्यसुभौमदृष्टताभ्या आहारयुद्धिदोषान्निदर्शयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा—अवधिदृष्टाण सप्तमनरकभूमौ अवधिस्थानालयं प्रस्तारं । आहारयुद्धिजनितापतक हेतुनिमित्तं यत्र गमने ।  
सालिमिदो शालिसिक्थकृमात्रगात्रत्वाच्चालिसिन्धो नाम क्षुद्रमत्स्यः । तत्कथानकं यथा—स्वयंभूरमणसमुद्रमास्तव्या  
योजनसहस्रायामा योजनपचाशन्मात्रप्रष्टुविपङ्कभा, सार्द्धयोजनशतद्वयोच्चाया महामत्स्या आहारलोलुपत्वेन पण्मा-  
सान्मुलं प्रसारं तिष्ठति । ततो मुग पि गचात् प्रविष्टेनरमत्स्यादीन्मशयित्वा चक्षोभ्रपामानोऽपविश्यान्ं व्रजति । तत्कर्ण-  
वासिनस्तत्कर्णमलाहाराश्च तद्विष्टातरालैर्निर्गच्छन्तो मत्स्यादीन् अवलोचय इमे अवज्ञानिनो यन्मुग पिघातुं न जानन्ति यदी-  
दमस्माक शरीरं भवेन्निःसुप्तमेकोऽपि न लभेतेति कुतोत्कृष्टगैर्दृष्ट्याना शालिसिन्धका अपि तत्सहवासिनो भवंति ॥

मूलारा—चक्रवरो अष्टमः । वंचिने प्रतारितः । गिर्यं सप्तमं ॥

स्वयंभूरमण समुद्रमें तिमि तिमिगिलादिक महामत्स्य रहते हैं उनका शरीर बहुतही बड़ा रहता है, उनकी शरीरकी लंबाई हजार योजनकी कही है वे मत्स्य उह मामतक अपना मुह उचाडकर नींद लेते हैं, नींद सुलनेके बाद आहारमें लुब्ध होकर अपना मुंह बंद करते हैं तब उनके मुहमें जो मत्स्यादिक प्राणी आते हैं उनको वे निगल जाते हैं, वे मत्स्य आयुष्य ममाप्तिके अनंतर अवाधि स्थान नामक नरकमें प्रवेश करते हैं इन मत्स्योंके कानमें शालिसिक्थ नामक मत्स्य रहते हैं वे उनके कानका मल खा कर जीवन निर्वाह करते हैं, उनका शरीर तडुलके सीथके ग्रमाणका रहता है अतएव उनको शालिपिक्थक ऐसा अन्वर्थक नाम है वे अपने मनमें यदि हमारा शरीर इन महामत्स्योंके समान बड़ा होता तो हमारे मुहसे एक भी प्राणी निकल नहीं सकता हम संपूर्ण प्राणियोंको खा जाते ऐसा विचार सतत करते हैं, इस विचारसे उत्पन्न हुए पापोंसे वे भी उसी नरकमें प्रवेश करते हैं यही अभिप्राय आगेकी गाथासे आचार्य कहते हैं—

अर्थ—आहारकी अभिलाषासे मत्स्य अवाधि स्थान नामक सातवे नरकमें गमन करते हैं, इस आहारा-  
मिलापसे ही शालिसिक्थक मत्स्य भी उसी नरकमें उत्पन्न हुआ ( इसकी कथा आराधना कथाकोषमें देखो )

अर्थ—फलोंके रसका आस्वादन करनेमें आसक्त होकर सुभू चक्रवर्ती भी अपने परिवार सहित समु-  
द्रमें पडकर मर गया और नरकमें उत्पन्न हुआ

आहारत्यं काऊण पावकम्माणि तं परिगओ सि ॥

ससारमणादीय दुक्खसहरसाणि पावंतो ॥ १६५१ ॥

आहारसंज्ञया भद्र कृत्वा पापं दुरुत्तरम् ॥

चिरकालं भवाम्भोयौ प्राप्तो दुःखमनारतम् ॥ १७१६ ॥

विजयोदया—आहारार्थं पापानि कर्माणि कृत्वा ससारमनादिक प्रविष्टो भवान्दुःखसहस्राणि वेदयमान ॥

एवमाहारदोषान्प्रकाश्य क्षपके अवतारयति—

मूलारा—परिगदो भ्रान्तः ।

अर्थ—हे क्षपक ! इस आहारके वश होकर तूने अनेक पापकर्म कर अनादि संसारमें भ्रमण किया था, हे क्षपक ! अनादि कालपर्यंत तूने आहार वश होकरही हजारों दुःख सह लिये थे.

पुणरवि तेहव तं संसारं किं भमिदुमिच्छसि अणंतं ॥

ज णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारसण्णा ते ॥ १६५२ ॥

किं त्वमिच्छसि भूयोऽपि भ्रमितुं भवकानने ॥

दुःखदामशानाकांक्षां येनाद्यापि न मुंचसि ॥ १७१७ ॥

विजयोदया—पुनरवि पुनरपि । तथैव ससारमनतमटितु किमिच्छसि ? यस्मादद्याव्याहारे तृष्णा न नश्यति ॥

मूलारा—ण वोच्छिज्जदि न निराक्रियते । ते त्वया । उक्तं च—

किं त्वमिच्छसि भूयोऽपि भ्रमितुं भवकानने ॥

दुःखदामशानाकांक्षा येनाद्यापि न मुंचसे ॥

अर्थ—हे क्षपक तेरी आहारभिलाषा अद्यापि शांत नहीं हुई है अतः तू अभी भी पूर्ववत् अनंत संसारमें भ्रमण करना चाहता है क्या ?



जीवस्स गत्थि तिच्ची चिरंमि भुंजंतयस्स आहारं ॥

तिच्चीए विणा वित्तं उव्वरं उद्धुदं होइ ॥ १६५३ ॥

आहारं वत्तममनोऽपि चिरं जीवो न तृप्यति ॥

उद्धुत्तं सर्वदा वित्तं जायते तृप्तिं विना ॥ १७१८ ॥

विजयोदया—जीवस्स गत्थि तिच्ची जीवस्य नास्ति तृप्ति विरमप्याहारं भुंजानस्य । तृप्या च विना वित्तं नितरासुचल भवति ॥

किं च—

मूलारा—उव्वरं अत्यंत । उद्धुदं आकुल ॥

अर्थ—हे क्षपक ! चिरकालपर्यंत आहार ग्रहण करके भी यह जीव तृप्त नहीं हुआ है और तृप्तिके विना यह वित्त अत्यंत आकुल रहता है.

जह इधणेहिं अग्गी जह य समुदो णदीसहस्सेहिं ॥

आहारेण ण सक्को तह तिप्पेदुं इमो जीवो ॥ १६५४ ॥

इंधनेनेव सप्ताच्चिः सलिलेनेव वारिधिः ॥

अधसा गृहमाणेन जीवो जातु न तृप्यति ॥ १७१९ ॥

विजयोदया—जह इधणेहिं अग्गी यथेन्धनैराग्निर्नदीसहस्रैरुदधिस्तर्पयितुमशक्यस्तथाहारेण जीवः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जैसे इंधनसे अग्नि तृप्त नहीं होता, जैसे हजारों नदीओसे समुद्र तृप्त नहीं होता है तथा यह जीव भी आहारसे कभी भी तृप्त नहीं होता है.

देविदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमा य ॥

आहारेण ण तिच्चा तिप्पदि कह भोयणे अण्णो ॥ १६५५ ॥

भोगिनश्चक्रिणो रामा वासुदेवाः पुरंदराः ॥

नाहारैस्तृप्तिमायातास्तृप्यत्यत्र परे कथम् ॥ १७२० ॥

विजयोक्त्या—देविदचक्रवर्ती य देवेन्द्रा लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षात् आत्मीयतनुतेजोनिमित्तेन आहारेण, चक्रवर्तिनोऽपि पृथ्वधिकत्रिशतसूपकारैर्वर्षमात्रेणैकदिनाहारेण संस्करणोद्यतैः ढोकृतेन तथाद्ब्रह्मचरवर्तिनोऽपि । भोगभू-  
मिजा भोजनागकल्पतरुप्रभवेन न दृष्टा । कथमन्यो जनस्तृप्यति ॥

मूलारा—देविदेवत्यादि सुरेंद्रा लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षाद्वात्मीयतनुतेजोनिमित्तेनाहारेण न दृष्टा । नाप्यु-  
भयेऽपि चक्रिणः पृथ्व्यधिकत्रिशतसूपकारैः वर्षमात्रेणैकदिनमाहारसंस्करणोद्यतैर्ढोकृतेन, नापि भोगभूमिजातभोजनाग-  
कल्पतरुप्रभवेन ॥

अर्थ—देवेंद्रों को लाभान्तराय कर्मका तीव्र क्षयोपशम रहता है इस लिये उन शरीरमें कान्ति स्थिर करने वाला जो आहार उसकी मांसि होती है उससे वे तृप्त नहीं होते हैं मकल चक्रवर्ती और त्रिखट्ट चक्रवर्तिके घरमें तीनसो साठ रसोइया रहते हैं वे सब मिलकर दररोज एक दिनका आहार तयार करते हैं उसका भोग लेकर चक्रवर्तीओंकी भी वृत्ति नहीं होती है. भोगभूमि जीव भी भोजनांग नामक कल्पवृक्षसे दिव्य आहार की प्राप्ति करके संतुष्ट नहीं होते है उपर्युक्त देवेंद्र, चक्रवर्ति और भोगभूमिज जीव लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे युक्त होते हैं इनको स्वेच्छित आहारके पदार्थ मिलते हैं तो भी वे तृप्त नहीं होते हैं तो अन्य तुल्यसरीखे जन कैसे तृप्त होते हैं ?

उद्धुदमणस्स ण रदी विणा रदीए कुदो हवदि पीदी ॥

पीदीए विणा ण सुहं उद्धुदचित्तस्स घणणस्स ॥ १६५६ ॥

रत्थाकुलितचित्तस्य प्रीतिर्नास्ति रतिं विना ॥

प्रीतिं विना कुतः सौख्यं सर्वदा गृह्यचेतसः ॥ १७२१ ॥

विजयोक्त्या—उद्धुदमणस्स इतो भद्रमतो भद्रमस्माच्चेदमिति परिप्लवमानचेतसो न रतिः, क च तथा विना प्रीतिः । मीत्या च विना सुय चलचित्तस्य तत्तदाहारलपटस्य ॥

मूलारा—उद्धुदमणस्स इदमितो भद्रमस्माच्चेदमिति परिप्लवमानचेतसः । घणणस्स तत्तदाहारलपटस्य ॥

अर्थ—यह आहार स्वादु है यह आहार मीठा है इससे मैं सुखी होता हूं ऐसे विचारसे मनुष्यका मन

अमिलापासे आहार ग्रहण करनेमें सुखकी अपेक्षासे दुःखही जादा है अथवा आहारकी प्राप्ति करनेके लिये अधिक कष्ट करने पड़ते हैं अतएव आहारमें सुख कम है और दुःख अधिक है

सुखस्याल्पताया. कारणमाचष्टे—

जिबभामूलं बोलेइ वेगदो वरहओव्व आहारो ॥

तथैव रसं जाणइ ण य परदो ण त्रि य से परदो ॥ १६६१ ॥

अतिक्रामति वाजीव जिब्हामूलं स वेगत्तः ॥

तत्रैव बुध्यते स्वाद भुंजानो न पुन. परे ॥ १७२७ ॥

विजयोदया—जिह्वाया मूल वेगेनातिक्रामत्याहार जात्यश्च इव जिह्वामात्र एव रसं वेत्ति जीवो न आहारानुपति, न च पुरतोऽग्रत । अल्पा च जिह्वा ॥

कुतो भोक्षुराहारासुखमल्पमित्यत्राह—

मूळारा—बोलेदि वेगेन जिह्वा लंघयित्वा यातीत्यर्थः । तथैव जिह्वामात्र एव । अल्पैव जिह्वा । रसं स्वादं जाणदि वेत्ति । भोक्ता । पुरदो जिह्वायाः पूर्वस्मिन् मुखदेशे । से जिह्वायाः । परदो परस्मिन्भागे गलदेशदौ ॥ उक्तं च—

जात्यश्च इव बाह्यरो जिह्वोमेत्यानिवेगतः ॥

तत्रैव तद्वत् वेत्ति नैवावर्त्क्यरतोऽपि वा ॥

अर्थ—जैसे उत्तम घोड़ा बड़े वेगसे दौडता है वैसेही यह आहार भी जिह्वाके अग्र भागका उल्लंघन करके शीघ्र पेटमें प्रवेश करता है जिह्वाके अग्रभागमेंही आहारका रस जाननेका सामर्थ्य है अर्थात् संपूर्ण जिह्वा आहार का रस जाननेमें असमर्थ है ऐसा समझना चाहिये. आहार थालीमें परोसा है ऐसी अवस्थामें अथवा वह पेटमें लेजानेके अनंतर जीव उसका रसस्वाद लेनेमें असमर्थ है और जिह्वा अल्प भी है इस लिये आहार का सुखानुभव अत्यल्प है

अच्छिणिसिसेणमेत्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो ॥

गिच्छीए गिलइ वेगं गिच्छीए विणा ण होइ सुखं ॥ १६६२ ॥

एण्ह पि जदि ममत्ति कुणसि सरिरे तेहेव ताणि तुम ॥

दुक्खाणि संसरतो पाविहसि अणतयं कालं ॥ १६६८ ॥

यत्ते ! देवममत्वेन प्राप्तं दुःखमनारतम् ॥

इदानीं सर्वथा साधो ! तत्तत्स्वयं निराकुरु ॥ १७३४ ॥

विजयोदया—एण्ह पि इदानीमपि शरीरे कुरोयि ममता तथेव नाति दु यानि चतुर्गतिषु परावर्तमानोऽनन्तकाल प्राप्स्यसि ॥

मूलारा—संसरतो चतुर्गतिषु परिवर्तमानः ॥

अर्थ—पूर्ववत् इस समयमें भी यदि तू शरीरस्नेह को न छोड़ेगा तो चतुर्गतिओंमें अनन्तकाल भ्रमण करता हुआ तू पुनः उनही दुखोंका स्थान होगा अर्थात् अनन्तकालतक शरीरस्नेह दुःख देगा ही. शरीरस्नेह छोड़ना ही दुःखसे छूटनेका उपाय है.

णत्थि भयं मरणसम जम्मणसमय ण विज्जेदे दुःखं ॥

जम्मणमरणादकं छिण्ण ममत्तिं सरीरादो ॥ १६६९ ॥

दुःखं जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं भयम् ॥

जन्ममृत्युकरीं छिद्धिं शरीरमभतां ततः ॥ १७३५ ॥

विजयोदया—णत्थि भयं मरणसम मरणसदृश भय नास्ति । कुयोनिषु जन्मसमानं दुःखं न विद्यते । जन्ममरणात्कं छिद्धिं शरीरमभता ।

मूलारा—जम्मणमरणादकं जन्ममरणे आतको मारणात्कव्याधिरिव दुःखभयप्ररूपत्वात् । तद्वेतुत्वान्च देहममत्वं तथोक्तम् । उक्तं च—

दुःखं जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं भयं ॥

जन्ममृत्युकरीं छिद्धिं शरीरमभता ततः ॥

अर्थ—इस जगत्में मरणके समान अन्य भय नहीं है और कुयोनियोंमें जन्म लेना महान् दुःख दायक

अभिलाषासे आहार ग्रहण करनेमें सुखकी अपेक्षासे दुःखही जादा है अथवा आहारकी प्राप्ति करनेके लिये अधिक कष्ट करने पडते हैं अतएव आहारमें सुख कम है और दुःख अधिक है

सुखस्याल्पताया कारणमाचष्टे—

जिबभामूलं बोलैइ वेगदो वरहओव आहारो ॥

तत्येव रसं जाणइ ण य परदो ण वि य से परदो ॥ १६६१ ॥

अतिक्रामति वाजीव जिह्वामूलं स वेगतं ॥

तत्रैव बुध्यते स्वाद भुजानो न पुन. परे ॥ १७२७ ॥

विजयोदया—जिह्वाया मूल वेगेनातिक्रामत्याहार जात्यथ इव । जिह्वामात्र एव रसं वेत्ति जीवो न आहारानुपरित, न च पुरतोऽग्रत । अल्पा च जिह्वा ॥

कुतो भोक्तुराहारात्सुखमल्पमित्याह—

मूळारा—बोलैटि वेगेन जिह्वा लघयित्वा यातीत्यर्थः । तत्येव जिह्वामात्र एव । अल्पेव जिह्वा । रसे स्वादं जाणदि वेत्ति । भोक्ता । पुरदो जिह्वायाः पूर्वस्मिन मुखदेशे । से जिह्वायाः । परदो परस्मिन्भागे गलदेशादौ ॥ उक्तं च—

जात्यथ इव वाहारो जिह्वोत्पत्तानिवेगत ॥

तत्रैव तद्रसं वेत्ति नेवार्याक्पयस्तेऽपि वा ॥

अर्थ—जैसे उत्तम घोडा बड़े वेगसे दौडता है वैसेही यह आहार भी जिह्वाके अग्र भागका उल्लंघन करके शीघ्र पेटमें प्रवेश करता है जिह्वाके अग्रभागमेंही आहारका रस जाननेका सामर्थ्य है अर्थात् संपूर्ण जिह्वा आहार का रस जाननेमें असमर्थ है ऐसा समझना चाहिये. आहार थालीमें परोसा है ऐसी अवस्थामें अथवा वह पेटमें लेजानेके अनंतर जीव उसका रसस्वाद लेनेमें असमर्थ है. और जिह्वा अल्प भी है इस लिये आहार का सुखानुभव अत्यल्प है

अब्धिनिमिसेणमेत्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो ॥

गिन्धीए गिलइ वेगं गिन्धीए विणा ण होइ सुखं ॥ १६६२ ॥

एण्ह पि जदि ममर्चि कुणसि सरिरे तहेव ताणि तुम ॥  
दुस्खाणि ससरंतो पाविहसि अणंतयं कालं ॥ १६६८ ॥  
यते ! देहममत्वेन प्राप्तं दुःखमनारतम् ॥  
इदानीं सर्वथा साधो ! तत्तत्तत्त्वं निराकुरु ॥ १७३४ ॥

विजयोदया—एण्ह पि इदानीमपि शरीरे करोयि ममता तथैव तांवि दुःखाणि चतुर्गतिषु परावर्तमानोऽततकाल  
प्राप्स्यसि ॥

मूलारा—ससरंतो चतुर्गतिषु परिवर्तमान ॥

अर्थ—पूर्ववत् इत समयमें भी यदि तू शरीरस्नेह को न छोड़ेगा तो चतुर्गतिओंमें अनंतकाल भ्रमण  
करता हुआ तू पुनः उनही दुर्बोका स्थान होगा अर्थात् अनंतकालतक शरीरस्नेह दुःख देगा ही. शरीरस्नेह छोड-  
ना हो दुःखसे छुटनेका उपाय है.

परिधि भयं मरणसमं जन्मणसमय ण विज्जदे दुःखं ॥

जन्मणमरणादकं छिण्ण ममर्चिं सरिरादो ॥ १६६९ ॥

दुःख जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं भयम् ॥

जन्ममृत्युकरो छिद्धि शरीरममतां ततः ॥ १७३५ ॥

विजयोदया—णतिथ भय मरणसम मरणसदृश भय नास्ति । कुयोनिषु जन्मसमात दुःख न विद्यते । जन्ममर-  
णातकं छिद्धि शरीरममता ।

मूलारा—जन्मणमरणादकं जन्ममरणे आतको मारणात्मकव्याधिरिव दुःखमयप्रकर्षत्वात् । तदेतुत्वाच्च देहम-  
मत्वं तथोक्तम् । उक्त च—

दुःखं जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं भयं ॥

जन्ममृत्युकरी छिद्धि शरीरममता ततः ॥

अर्थ—इस जगतमें मरणके समात अन्य भय नहीं है और कुयोनिषोंमें जन्म लेना महान् दुःख दायक

असिधारं व विसं वा दोसं पुरिसस्त कुणइ पृथग्भवे ॥  
कुणइ तु मुणिणो दोसं अकप्पसेवा भवसपुसु ॥ १६६६ ॥

असिधारविषे दोषमेकञ्च कुरुतो भवे ॥

अशानाया.पुनर्जन्तोर्दुरितं भवकोटिषु ॥ १७३२ ॥

विजयोदया—असिधार व असिधारा वा विष वा पुरुषस्य दोषमेकस्मिन्नेव भवे करोति । अयोग्यपसंभन भव-  
शतेषु मुनेर्दोषं करोति ॥

मूलारा—अकरूपसेवा अयोग्योपयोग. ॥

अर्थ—तरवारकी धारा अथवा विष ये दोन चीजे एकप्रभमे ही पुरुषका नुकसान करती है परंतु मुनिओं के लिए आयोग्य आहारका सेवन सैकड़ों भवोंमें दानिकाशक होता है, अर्थात् कुगतिमें दुःख देनेवाला होता है.

जावति किंचि दुक्खं सारिरे माणसं च संसारे ॥

पत्तो अपांतखुत्त कायरस ममत्तिदोसेण ॥ १६६७ ॥

शारीर मानस दुःख दृश्यते यज्जगज्जये ॥

तद्ददाति यत्ते सर्व अशानाया विसंशयम् ॥ १७३३ ॥

विजयोदया—जावति किं चि दुक्ख यावर्त्किंचिद्दुःख शारीर मानस वा संसारे त्वमनतवार प्राप्तवाद् । तत्सर्वं शरीरममतादोषेणैव ॥

किं च कायममत्तादेव तवाशारे स्पृहा प्रादुर्भवति तच्छ्व ससारकारणकर्मबंधनिवधनत्वाद्दुःखावर्तनिमित्तमन-  
स्तत्परिहाराय सतत प्रयत्नस्वेति शिक्षयितु उत्तरप्रवधमाह—

मूलारा—ममत्तिदोसेण ममायमहमस्य स्वामी उपलक्षणदयमेवाहमहमेवायमिति च ममत्वं तदेव दोषो

वैकारिक रूपमात्मनः । तेन हेतुना ।

अर्थ—हे क्षपक ! इस अनादि ससारमें अनतवार जो शारीरिक अथवा मानसिक दुःख तुझको भोगने पड़े हैं उनका कारण एक शरीरिक ऊपर ममता करना यही है, अर्थात् शरीरसे प्रेम आजतक तेरा नहीं नष्ट हुआ इससे ही सर्व दुखोंका तू पात्र बन चुका है

को नामाल्पसुखस्यार्थं वच्यते सुखतो, यद्देहः ॥

संक्षेपशः क्रियते येन मृत्तिकालोऽपि दुर्धिया ॥ १७३० ॥

विजयोदया—ये नाम अप्यसुखस्य कारण को नामाल्पसुखनिमित्त महतोऽनिमित्तसुखात्प्रच्यवते च मुनिः संक्षेपेन स्वर्गोपवर्गसुखान्या ॥

मूलारा—बहुसुदृशं निर्वृत्तिमुदात्त । चुकेज्ज प्रच्यवते ॥

अर्थ—कोनसा प्राणी थोदोस सुखके लिये बहुत सुख जिससे मिलता है ऐसे निमित्तको छोड़ देगा अर्थात् हे क्षपक ! तू अन्न भक्षण करके थोडासा सुख अल्पकालतक टिकनेवाला प्राप्त कर लेगा परन्तु इससे तुझको स्वर्गसुख और मोक्षसुखसे वंचित रहना पड़ेगा. आहारामिलापासे संक्षेप परिणाम बुद्धिगत होते हैं और उनमें स्वर्गोपवर्ग सुखसे हाथ धोने पड़ते हैं.

महूलितं अतिधारं लेहइ भुंजइ य सो सविसमण ॥

जो मरणदेसयाले पच्छेज्ज अकप्पियाहार ॥ १६६५ ॥

मधुलिप्तामसेधारां निजातां स ललिक्षति ॥

चुसुक्षते विप घोरे संन्यस्तो योऽशनायति ॥ १७३१ ॥

विजयोदया—महूलितं मधुना लिप्तामसिधारा आस्वादयति । सविपमदन्न मुक्ते यो मरणदेशकाले अयोध्याहारप्रार्थना करोति ॥

प्रत्याख्यातभक्तस्यात्मनमृत्थोर्द्वारमोहोदयादाहारमिच्छतो दृष्टातद्वारेण महतं दोषमावेदयति—

मूलारा—मरणेसयाले मरण दिशति ददाति कथयति वा मरणदेशः स चार्त्तौ कालश्च तस्मिन्मृदुवेलायामित्यर्थः । पच्छेज्ज वाहेत् । अकप्पियाहार अर्हदादिसाधिकं प्रत्याख्यातत्वादयोध्यामाहारं ॥

अर्थ—जो क्षपक मरण समयमें अयोध्या आहारको अभिलाषा रखता है वह शहदसे लपेटा हुई तरवारकी धाराको जिह्वासे चाटता है ऐसा समझना चाहिये अथवा वह विपमिश्न हुआ अन्न खाता है ऐसा समझना चाहिये. तात्पर्य यह है कि आहार की अभिलाषासे संक्षेप परिणाम होते हैं जो कि दुर्गतीके कारण हैं.



निमेषमात्रके सौख्यमाहारग्रहणे परं ॥  
गृद्धितो गिलति क्षिप्रं तथा न हि विना सुखम् ॥ १७२८ ॥  
विजयोदया—अच्छिणिभेसणमिच्चो अक्षिनिमेपणमात्र काल । आहाररससेवाजनितसुखस्य गृद्धया वेगेन गिरति । यतो गृद्धया च विना नास्तिद्वियसुख ॥

मूलारा—आहारसुहस आहाररसजनितसुखस्य । वेगं शीघ्रम् ॥

अर्थ—आहारके रसानुभवसे जो सुख मिलता है उसका काल आंख मूढ़कर फिर उषडनेमें जितना काल लग सकता है, उतना है यह जीव अभिलाषासे आहारको शीघ्र निगल जाता है और अभिलाषाके विना इन्द्रिय सुखकी प्राप्ति होती नहीं

दुक्खं गिद्धीघत्थरसाहट्टतरस होइ बहुगं च ॥

चिरमाहट्टियदुग्गयचेडरस व अण्णगिद्धीए ॥ १६६३ ॥

अशानं कांक्षतो नित्यं व्याकुलीभूतचेतसः ॥

दरिद्रेचेदकस्येव गृद्धस्यास्ति कृतः सुखं ॥ १७२९ ॥

विजयोदया—दुक्ख गिद्धीघत्थरसस्य दुःखं महद्भवति लंपटतया प्रसक्तस्यभिलपत । चिरमाहट्टियदुग्गयचेडरस व अण्णगिद्धीए अन्नगृद्धया चिरं व्याकुलस्य दरिद्रस्यवधिनो दासेरस्येव ॥

मूलारा—गिद्धीघत्थरस लंपटताप्रतस्य । आहट्टतरस आहारमभिलपतः । आहट्टिद व्याकुलस्यान्नगृद्धया । दुग्गा-दचेडरस दरिद्रदासेरस्य ।

अर्थ—आहारमें लंपट होकर जो उसकी अभिलाषा करता है उसको बड़े बड़े दुःख भोगने पड़ते हैं जो चिरकालसे अन्नकी अभिलाषासे पीड़ित हुआ है ऐसा दरिद्री पुरुष जैसे दुःख पाता है वैसे दुःखानुभव आहार लंपटीको भी होता है

को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं बहुसुखस्स चुक्केज्ज ॥

चुक्कइ हु संकलित्सेण मुणी सग्गापवग्गाणं ॥ १६६४ ॥

है. इसके समान दूसरा दुःख है नहीं. इसलिये जन्ममरणरूपी व्याधीको उत्पन्न करनेवाली शरीरममता तू अपने हृदयसे दूर कर.

अणुं इमं सरिरं अणुो जीवोत्ति णिच्छिदमदीओ ॥

दुक्खमयकिलेसयरीं मा हु ममत्तिं कुण सरिरे ॥ १६७० ॥

परोज्यं विग्रहःसाधो ! चेतनोऽय यतःपरः ॥

ततस्त्वं विग्रहस्नेह महोच्छेदकरं त्यज ॥ १७३६ ॥

विजयोदया—अणु इस सरिरं अन्यदिव शरीर अन्यो जतुरिति निश्चितमतिदुर्गन्धसंक्लेशसंपादनोद्यतां मा कृथा शरीरे ममताम् ॥

महदुःखोपायकायममत्वत्याजनाय देहात्मभेदभावना भावयति—

मूला—दुक्खपरिकिलेसयरि चित्ताग्रसादलक्षणेन चित्तविभेपरूपेण वा दुःखेन क्रियमाणः परिक्लेशः शरीरो मानसश्च सत्तापः । उत्करणकारणं ।

अर्थ—हे क्षपक ! यह शरीर भिन्न है और जीव इससे भिन्न है ऐसा निश्चयसे समझकर दुःख और संक्लेश रहित परिणामोंकी जननी देहममता तू छोड़ दे

सर्वं अधियासंतो उवसग्गविधिं परीसहविधिं च ॥

णिस्संगदाए सद्धिह असंकिलेसेण तं मोहं ॥ १६७१ ॥

सहमानो मुने ! सम्यगुपसर्गपरीषहान् ॥

निःसंगस्त्वमसंक्लिष्टो देहमोहं तनूकुरु ॥ १७३७ ॥

विजयोदया—सर्व उवसग्गविधिं सर्व उपसर्गविकल्प परीषहविकल्प च सहमानो मोह भवास्तनूकुरु ॥ णिस्सगतया असंक्लेशेन च ॥

रामादिमंगल्यागभावनया अतैरौद्रपरित्यागभावनया चोपसर्गाद्यभिभव परिहरन् शरीरममत्वं त्रासयेति शिक्षार्थमाह—

मूलरा—विधि विकल्प । गिरिमंगदाए निःसंगत्वभावनया । सखिह कृशीकुरु । असंकिलेसेण आर्त्तौद्रभावना च सम्मोहं शरीर समत्व । उक्त च—

सहमानो युते ! सम्यगुपसर्गपरीपहान् ॥

निःसंगत्वमसंछिद्यो देहमोह तनु कुरु ॥

अर्थ—हे क्षपक सर्व प्रकारके उपसर्ग और सर्व प्रकारके परीपह सहकर निःसंगत्वकी भावनासे और संछेदशरीरहित परिणामोंसे तू मोह को क्षीण कर

ण वि कारणं तणादीसंथारो ण वि य संघसमवाओ ॥

साधुस्स संकिलेसो तस्स य मरणावसाणम्मि ॥ १६७२ ॥

तृणादिसंस्तरो योग्यश्चतुर्द्धी संघमीलनम् ॥

निःफलं जायते साधो ! मृत्यौ सच्छिद्यचेतसः ॥ १७३८ ॥

विजयोदया—ण वि कारण तणादी नैव कारण तृणादिसंस्तर सछेदनाया, नापि संघसमुदाय मरणावसाने अकिलङ्घ्यत साधो ॥

मरणाते संम्लेशमाविशतः संस्तरादिविविधवैयर्थ्यमाह—

मूलरा—कारणं समाधिनिसिन्त । मरणावसाणम्मि मृत्योर्निकटे सति ॥

अर्थ—यदि मरणके समयमें संम्लेश परिणाम उत्पन्न होंगे तो तृणादिकोंका संस्तर, और संघसमुदाय भी सछेदनाके प्रति कारण रूप नहीं होंगे, क्योंकि ये बाह्य कारण हैं, असंकलेश रूप परिणाम ही सछेदनाकेलिए उपादान कारण माने गये हैं इसलिए परिणामोंमें संम्लेश न उत्पन्न होगा ऐसा क्षपकने प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् शरीरसमताका त्याग करना चाहिए

जह वाणियगा सागरजलम्मि णावाहिं रयणपुण्णाहिं ॥

पत्तणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जंति ॥ १६७३ ॥

रत्नसंभृतपात्रस्था वाणिजःसागरे यथा ॥

पत्तनं निकषा साधो ? निमज्जंति प्रमादतः ॥ १७३९ ॥

विजयोदया—जह वाणियगा यथा वणिजो रत्नसंपूर्णभिर्नोभि सह चिनइयति । समुद्रजलमध्ये प्रमादेन मूढा पत्तनातिक्रमागता अपि ॥

सन्त्यक्कृतशरीरसंछेदनावता भंस्तरमघवतामपि राक्षेपादिभावपरिग्रहाप्रहिणामसमाधिकरणं स्यादिति नृप्रातपुरःसरं समाधिपरणाधितमनुस्मरति—

मूलारा—प्रमादमूढा निद्रादिना प्रमादेन दुर्वर्तमहामत्स्यचौराधिनिनिपातमानतेवयंतः (१) विवज्जंति मरणाता विपदमासादयंति । रत्नपूर्णमिनोभिः सह ॥

अर्थ—जैसे नौकासे देशातरमें जाकर व्यापार करनेवाले वैश्य रत्नोंसे भरी हुई नौकाके साथ शहरके समीप आकर भी प्रमादवश होनेसे समुद्रमें डूबकर मरते हैं वैसे—

संछेहणा विमुद्धा केई तह चैव विविहसंगेहि ॥

संथारे विहरंता वि संकलिह विवज्जति ॥ १७४० ॥

तथा सिद्धिसमीपस्था शुद्धसंस्तारयायिनः ॥

निपतंति भवावर्ते जीवाः संक्षेशयोगतः ॥ १७४० ॥

विजयोदया—संछेहणा विमुद्धा शरीरसंछेदनाभावात् । संछेदनाया विमुद्धा अपि सतः । पूर्वं केचित् विविधसंगेहि विचित्रै रागद्वेषादिभागपरिग्रहै सह । सयार विहरंता वि मस्तेरे प्रवर्तमाना अपि । संकलिह विवज्जति संकलिष्टपरिणता विनश्यन्ति ॥

मूलारा—संछेहणा विमुद्धा वि सन्त्यक्कशीकृतवपुषोऽपि । विविधसंगेहि । विचित्रै रागद्वेषादिभावपरिग्रहै सह । संकलिष्टा आतुरौद्वयानाभ्यामाविष्टाः ॥

अर्थ—शरीरसंछेदना तो जिनकी निरतिचार हो रही है परंतु मनमें विचित्र रागद्वेषादि रूप भावपरिग्रह निवास करते हैं ऐसे युनि कयापपछलना की शुद्धि नहीं होनेसे भंस्तरमें आरुह होनेपर भी संक्षेप परिणामोंमें क्लेशित होकर संसारसमुद्रमें डूबकर मरते हैं

सल्लेहणापरिसममिमं कयं दुक्करं च सामण्णं ॥

मा अप्पसोक्खहेउं तिलोगसारं वि णासेइ ॥ १६७५ ॥

सल्लेखनाश्रमं साधो ! चारित्रं च सुदुश्चरम् ॥

मा स्म त्याक्षीर्जगत्सारमल्पसौख्यजिघृक्षया ॥ १७४१ ॥

विजयोदया—सल्लेहणापरिस्सममिदं शरीरसल्लेखनाया क्रियमाणया अनशानादितपसा त्रिविधाहारत्यागेन, यावज्जीव वा पानपरिहारेण । जात परिश्रममिम । दुक्करं च सामण्णं दुष्करं कृतं च श्रमण्यं । चिरकालं त्रिलोकसारं अतिशयितस्वर्गपवर्गसुखदानात् । अण्णसुखखहेउं अल्पाद्वारसेवाजनितसुखनिमित्तं । मा विणासेहि नैव विनाशय ॥

एव रागाभावग्रथदौरात्त्यमवबुध्य खल्पहारसेवाजनितसुखामिलोपेणोत्कृष्टसुखसाधन विराम्यस्तदुत्करतपोरत्न मार्चूर्णयेति शिक्षयति—

मूलारा—सल्लेहणापरिस्समं शरीरसल्लेखनाया क्रियमाणया अनशानादिना तपसा त्रिविधाहारत्यागेन यावज्जीवं वा पानपरिहारेण जात देहेन्द्रियमनसा खेद । तिलोगमार सात्विश्याभ्युदयनिःश्रयसुखसपादनात् ॥

अर्थ—शरीरसल्लेखना करते समय अनशनादि तप करनेसे, जलके विना अन्य तीन प्रकारके आहारोंका त्याग करनेसे, तथा आभरण पानाहारका त्याग करनेसे जो श्रम है क्षपक ! तुझको हुआ है उससे तुझको यह मुनि ब्रत दुष्करसा दीखता है तो भी यह उत्कृष्ट स्वर्ग और मोक्षका सुख देनेवाला होनेसे त्रैलोक्यका अपूर्व सार है ऐसे लोकोत्तर मुनिव्रतको आहारजन्य अल्प सुखके लिये हे क्षपक ! तू मत छोड़दे

धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसणिसेवियं उवणमिच्चा ॥

धण्णा गिरावयक्खवा संथारगया णिसज्जंति ॥ १६७६ ॥

पुरुषैः कथितं धीरैर्मार्गं सद्भिर्निषेवितम् ॥

निरपेक्षाः श्रिता धन्याः संस्तरस्था निशेते ॥ १७४२ ॥

विजयोदया—धीरपुरिसपण्णत्त उपसर्गोणा परिपद्धाना चोपनिषत्तैः अविचलधृतयो ये धीरास्तैरुपदिष्टं तत्सर्वं । सप्पुरिसणिसेवियं सत्पुरुष्यनिषेवितं । मार्गं उवणमिच्चा आश्रित्य । धण्णा धन्याः पुण्यवन्तः । गिरावयक्खवा निरपेक्षा परित्यक्तादानाः । संथारगया सत्सारुढा । णिसज्जंति शेरते ॥

क्षपकप्रोत्साहनार्थमाह—

मूलारा—धीरा उपसर्गाद्युपनिगतेऽपि अविचल्यतय • । उवणमिता आश्रित्य मार्गं । गिरावयक्कला प्रत्याख्यात—  
ग्रहणनिरपेक्षाः संतः । गिसज्जंति निशेरते विद्युद्धयतीत्यर्थः । उक्तं च —

पुरुषैः कथितं धीरैर्मार्गं सद्भिर्नियेवित ॥  
निरपेक्षाः श्रिता धन्याः सस्तरस्था निशेरते ॥

अर्थ—ग्रहान् उपसर्गं और परिपहसे पीडित होनेपर भी जिनका धैर्य निश्चल रहता है ऐसे धीर पुरुषोंने इस मुनिव्रतका उपदेश दिया है यह मुनिव्रत सत्पुरुषोंके द्वारा सेवन किया गया है, पुण्यवान् मुनीश्वर जिन आहारोंका त्याग किया है उनका सेवन कभी भी नहीं करते हैं और सस्तरमें आरूढ होकर इस मुनिव्रतकी पूर्ण तथा सिद्धि कर लेते हैं.

तमहा कलेवरकुडी पव्वोढव्वत्ति गिम्ममो दुक्खं ॥  
कम्मफलमुवेक्खतो विसहसु गिन्वेदणो चेव ॥ १६७७ ॥  
कलेवरमिदं त्याज्यमिति विज्ञाय निःस्पृहः ॥  
सहस्व कर्मजं दुःखं निर्वेदन इवाखिलम् ॥ १७४३ ॥

विजयोदया—तमहा तस्मात् । कलेवरकुडी शरीरकुडी । पव्वोढव्वत्ति परित्याज्येति मत्वा । गिम्ममो शरीरे ममतारहितो । दुक्खं विसहसु दुःखं विसहस्व । कम्मफलमुवेक्खतो कर्मफलमुपेक्षमाणो । गिन्वेदणो चेव निर्वेदनमेव ॥  
उपसहारमाह—

मूलारा—पव्वोढव्वत्ति परित्याज्येति मत्वा । कम्मफलं निष्पत्तीकारमित्यर्थः । गिन्वेदणो चेव निर्वेदन इव ॥  
अर्थ— इसलिये यह शरीररूपी झोपड़ी त्यागने योग्य है ऐसा समझकर हे क्षपक ! शरीरमें तू ममता रहित होकर कर्मफलके विषयमें रागद्वेषरहित हो वैराग्यमें तत्पर होता हुआ परीपहादिकोंसे उत्पन्न हुए दुःखोंको वेद-  
नारहित समझकर सहन कर.

इय कृष्णविज्जमानो नो पुत्रं जायन्तिहेमाशे ॥

विजियचनो दुष्टं पम्पट तरेहदुष्टं वा ॥ १६७८ ॥

एवं प्रज्ञाप्यमानोऽसौ न्यक्तमंहेअवाभन ॥

अन्यदु गमियान्मीयं दु मं पटयति नरेण ॥ १६७९ ॥

विराजोक्त—एव एव । कृष्णविज्जमानो महाप्रमाद । नो पुत्रं जायन्तिहेमाशे पूर्व का इत्येवमाह । विजि-  
मननो विजियचन । दुष्टं पम्पटि दुष्टं पम्पटि । विजिय 'तरेहदुष्टं वा नरसोहमाशियं दुष्टं ।  
मन्तरेहिरमभिन 'तरेह' तरेहदुष्टं वा नरसोहमाशियं दुष्टं ।

नूना—सो न्यक्तमंहेअवाभन । दुष्टं वा नरेण । विजियो विजिय । विजियो विजिय ।

यय—अय दसले विमहो उपेत्य दित्तं वा नो हे एवा एव भरत उपम्य दुष्ट मंस्यं गतिमोहो  
अपने मनने दयाना हे । गौर परीपरादिहोमं उपम्य एव दुष्टमो हे । दुष्टमोहे परीपरा दुष्टमं मनने  
न्याना हे मानो ये रगने मुक्तो दुष्टं हे येना मानने न्याना हे ।

गयानिमदट्टियाममणरओमेण चा पि माणिसन ॥

माणजणगेण तस्य तावन् तावन् मत्तस्य ॥ १६७९ ॥

पम्पट्य पाधिपादीनामागमादिप्रयोगन ॥

अपहस्यापि दाननो माभिनः पल्लवो हट ॥ १६८० ॥

विजयोक्त्या—एवादिमदट्टियाममणरओमेण चा पि माणिसन । अपि पाणिसन मानियो हि ।  
माणजण मानियो । तस्य मत्तस्य । मत्तस्य मत्तस्य । मत्तस्य मत्तस्य । मत्तस्य मत्तस्य । मत्तस्य मत्तस्य ।  
महेश्वरः ममागता । अमीषा पुरमागतामि माना पाणि यत्तु म । पण्यमि एव अपि यत्तु । मत्तस्य मत्तस्य ।  
दुष्टं मत्तस्य । दुष्टं मत्तस्य ॥

मानभनम्य प्रकाशरेणापि कल्पवित्तिरंतामोपवित्तिरि—

मृगदा—मदट्टियाममण महेश्वरः । मत्तस्य मत्तस्य । मत्तस्य मत्तस्य । मत्तस्य मत्तस्य । मत्तस्य मत्तस्य ।

तैत्त्य। मानधना हि मम धीरता द्रष्टुं इमे महर्षिका समायता यद्यप्येता पुरो वेदनायाः प्राणा याति कामं यातु। तथाप्यहं मनस्विता न मुंचामीति स्तब्धमानो दुःखं सहते ॥

अर्थ—हे क्षपक! राजा वगैरह श्रीमान लोक तेरी सल्लखाना देखने के लिये आये हैं ऐसा कहकर अभिमानी क्षपकको मान उत्पन्न कर कवच करना चाहिये अर्थात् जब राजादिक श्रीमान् पुरुष क्षपकदर्शन करनेके लिये आते हैं तब उस क्षपककी अभिमानप्रशंसा करनी चाहिये मेरी दृढता तथा धैर्य देखनेके लिये ये राजादिक पुरुष आये हैं इनके आगे मेरे प्राण चले जावे तोभी कुछ परवाह नहीं है, मैं अपना मान नहीं छोड़ूंगा दुःख सहकर भी मैं अपने व्रतका नाश नहीं करूंगा ऐसे भाव क्षपकके मनमें राजादिकोंको लाकर उत्पन्न करने चाहिये

इच्चैवमाइकवचं भणिदं उस्सगियं जिणमदस्मि ॥

अववादियं च कवयं आगाढे होइ कादव्वं ॥ १६८० ॥

इत्येष कवचोऽवाचि संक्षेपेण श्रुतोदितः ॥

विशेषेणापि कर्तव्यो दुःखं सति दुरुत्तरे ॥ १७४६ ॥

विजयोदया—इच्चैवमादिकवच भणिदं इत्येवमादिकः कवच कथितो जिनमते । उस्सगिगो औत्सर्गिकः सामान्यभूतः । अववादिगं कवचं कादव्वं विशेषरूपोऽपि कवच कर्तव्यो भवत्यागाढे मरणे ॥

एव दूरमरणस्य सामान्यरूपतया प्रबंधेन कवचमभिधाय निकटमरणस्य तं विशेषरूपतया विधेयमनुशास्ति—मूलार—उस्सगिय सामान्यभूतः । अववादिग विशेषरूपः । तत्कालोत्पन्नध्यानतरायनिमित्तशुद्धादिदुःखनिराकरणोपायतया यथायथं प्रयोज्य इत्यर्थः । आगाढे आसन्नमरणे ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीजिनमतेमें कवचका औत्सर्गिक-सामान्यस्वरूप कहा है, तथा जब आगाढमरण प्राप्त होता है तब विशेषरूप कवचभी करना चाहिये,

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि सत्तणं ॥

जायइ अलंघणिज्जो कम्मसमत्थो य जिणदि य ते ॥ १६८१ ॥



स्तोष्यते क्षपकःसूरेर्वचनैर्हृदयंगमैः ॥

चंद्रस्येव करैः शुद्धैः शीतलैः कुमुदाकरः ॥ १७४७ ॥

क्षणेन दोषोपचयापसारिणः समेत्य वाक्यानि तमोऽपहारिणः ॥

जडोऽपि सूरे क्षपको विबुध्यते महसि भानोरिव नीरजाकरः ॥ १७४८ ॥

परीषहं प्रभवति संस्तरे स्थितो निकर्तितुं परमपराक्रमकमः ॥

निराकुलः कवचधरस्तपोधनो रणांगणे रिपुमिव कर्कशं भटः ॥ १७४९ ॥

इति कवचः ।

विजयोदया—जह कवचेण यया कवचेन । अभिज्ञेण अभेद्येन । कवचिदो सन्नद्धः । रणमुद्दे सच्चूणमलंघिज्जो द्वोवि रणमुद्दे शत्रूणामलघ्यो भवति । कम्मसमर्थो य प्रहरणादिक्रियासमर्थः । जिणदि य ते जयति च तानरीन् ॥

वाह्यकवचघटान्तेनाध्यात्मिककवचस्य फलं स्फुटयितुं गाथाद्वयमाह —

मूलारा— अभेज्ञेण भेत्तुमशक्येन । कवचिदो सन्नद्धः । अलघणिज्जो अनभिभाव्यः । कम्म प्रहरणक्रिया । ते

शत्रून् ॥

अर्थ—जैसे अभेद्य कवच पहना हुआ वीर पुरुष रणमें शत्रुके सम्मुख निःशंक होकर जाता है और वह शत्रुको अलवनीय होता है अर्थात् शत्रु उसको मारनेमें असमर्थ होता है। शस्त्रप्रहारमें समर्थ वह वीरपुरुष शत्रुओंको जीतता है, वैसे—

एवं खवओ कवचेण कवचिओ तह परीसहरिऊणं ॥

जायइ अलंघणिज्जो उज्झाणसमर्थो य जिणदि य ते ॥ १६८२ ॥

विजयोदया—एव खवगो एव क्षपकः कवचेनोपगृहीत परीपहारिभिर्न लुप्यते, ध्यानसमर्थो जयति च तान्परीपहारीन् ॥ कवचुत्ति ॥

मूलारा—उवगाहिदो आहितातिशयः । कवचः । सूत्रतः ३५ । अंकतः १७४ ॥

अर्थ—इस प्रकार क्षपक भी जब उपदेशरूपी कवचसे युक्त होता है तब परीपहरूपी शत्रु उसका पराजय

करनेमें असमर्थ होते हैं. इस कवचसे युक्त होकर क्षपक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में तत्पर होकर परीपहरूप शत्रुको जीतता है. कवचाधिकारका वर्णन पूर्ण हुआ.

एवं अधियासेतो सम्मं खवओ परीसेहे एदे ॥

सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥ १६८३ ॥

इत्थेव क्षपकः सर्वान्सहमानः परिपहान् ॥

सर्वत्र निःस्पृहीभूतः प्रयाति समचित्ताम् ॥ १७५० ॥

विजयोद्या—एवं अधियासेतो एवं सहमान सम्यक्परीपहानेताम् । सर्वत्राप्रतिबद्ध. शरीरे, वसंतौ गणै, परिचारकेषु च सर्वत्रोपैति समचित्तां ॥

अथ तथाविधकवचोपग्रहवलेन तादात्मिकपरीपहसहिष्णोः क्षपकस्य निर्वर्त्या सर्वाचरणशिरोमणिकल्पमभिलष्यमाणसमाधिसाधनधौरेयताबलिना समता गाथापोढशकेन व्याचष्टे--

मूला—एवं कवचोपग्रहविधिना । अधियासेतो सहमानः । एदे तत्कालोपस्थिताम् । सव्वत्थ शरीरवसतिगणपरिचारकादौ । अपडिबद्धो ममेदमहमस्येति सकल्परहितः । उवेदि प्रतिपण्यते । सव्वत्थ जीवितमरणादौ । समता वा रागद्वेषोपरमं । अपि च—

अर्थ—इस प्रकार समस्त परीपहोंको अव्याकुलतासे सहन करनेवाला यह क्षपक शरीर, वसतिका, गण और परिचारक मुनि इन सर्व वस्तुमें समत्वरहित होता है. रागद्वेषोंको छोडकर समताभावमें तत्पर होता है.

सव्वेसु दव्वपज्जयविधीसु णिव्वं ममत्तिदो विजडो ॥

णिप्पणयदोसमोहो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥ १६८४ ॥

समस्तद्रव्यपर्यायममत्वसंगवर्जितः ॥

निःप्रेमरागमोहोऽस्ति सर्वत्र समदर्शनः ॥ १७५१ ॥

विजयोद्या—सव्वेसु सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्यं परित्यक्तमतादोष ममेदं सुखसाधनं मदीयं इति वा । णिप्पणयदोसमोहो निस्नेहो, निर्वीरो, निर्माद. सर्वत्र समतामुपैति ॥

मूलारा—विधीसु विकल्पेषु । समत्तदो विजडो ममेदं सुखसाधन मदीयमिदमिति वा समत्वेन त्यक्तः । नि-  
पणयदोसमोहो निस्नेहो, निष्ठयो, ममेदमिष्टमिदं चानिष्टमित्यज्ञानरहितश्च । ज्वेदि तत्तादृक्कवचोपगृहीतः सन् ।  
क्षपक इति सर्वत्र शोध्यं ॥

अर्थ—सपूर्ण द्रव्य और उनके पर्यायभेदोंमें वह क्षपक समतारहित होता है अर्थात् ये द्रव्य और पर्याय  
भेदे सुखसाधन हैं ऐसा विकल्प उसके मनमें नहीं उत्पन्न होता है। वह स्नेह, मोह और द्वेषरहित होकर सर्वत्र  
समताभाव धारण करता है,

संजोगविष्यओगेसु जहदि इठेसु वा अणिठेसु ॥

रदि अरदि उस्सुगत्तं हरिसं दीणत्तणं च तथा ॥ १६८५ ॥

प्रियाप्रियपदार्थानां समागमवियोगयोः ॥

विजहीहि त्वमौत्सुक्यं दीनत्वमरतिं रतिं ॥ १७५२ ॥

विजयोदया—संयोगे रतिं, विप्रयोगे अरतिं, इष्टे वस्तुन्युत्कृष्टं, इष्टयोगे रतिं रतिं, हर्षं, इष्टविप्रयोगे अरतिं  
दीनतां । उस्सुगत्तं उत्सुकतां च तथा जहति क्षपकं कवचनोपगृहीतः ॥

मूलारा—रदि इष्टे वस्तुनि संयुज्यमाने, चित्तविश्रातिमनिष्ठं वा वियुज्यमाने । अरदि अनिष्ट संयुज्यमाने  
इष्टे वा वियुज्यमाने चिन्तानवस्थिति । वस्सुगत्तं इष्टे वस्तुनि उत्कृष्टं, यदि तन्मे मिलति, मद्रकं भवेदिति हृदयोत्कलिका ।  
हरिसं इष्टसंयोगे रोमांचवचनप्रसादादिताभिव्यज्यमानमानंदं ॥ दीणत्तणं इष्टविप्रयोगे वैवर्ण्यादिना व्यज्यमानं विपाद ।  
कवचोपगृहीतो जहातीति संबधः ।

अर्थ—इष्टवस्तुका संयोग होनेसे चित्तमें प्रेम उत्पन्न होता है अथवा अनिष्ट वस्तु अपनेसे हट जानेसे भी  
प्रेम उत्पन्न होता है। अनिष्ट वस्तुका संयोग होनेसे अथवा इष्टवस्तुका वियोग होनेसे चित्तमें अस्थिरता उत्पन्न  
होता है। इष्ट वस्तुमें उत्कृष्टा अर्थात् यदि इष्ट वस्तु मिलजाय तो बहुत ही अच्छा होगा ऐसा हृदयमें विचार उत्पन्न  
होना इसको उत्सुकता कहते हैं। इष्ट वस्तुका संयोग होनेसे रोमांच, वचनमें प्रसन्नता इत्यादिसे जो आनंद  
उत्पन्न होता है उसको हर्ष कहते हैं। इष्ट वस्तुका वियोग होनेपर मूलमें विवर्णता उत्पन्न होती है जिससे मनकी

खिन्नताका अनुमान होता है इस लिखाताको दीनता कहते हैं क्षपक मुनि कवचसे युक्त होकर रति अरति, उत्सुकत्व, हर्ष, दीनता इन मनोविकारोंका त्याग करता है

मित्तसुयणादीसु य सिरसे साधम्मिए कुले चावि ॥

रागं वा दोसं वा पुवं जायपि सो जहइ ॥ १६८६ ॥

भिन्ने शत्रौ कुले संघे शिष्ये साधर्मिके गुरौ ॥

रागद्वेषं पुरोत्पन्नं विमुंचस्व प्रधीर्यते ! ॥ १७५३ ॥

विजयोदया—मित्तसुयणादीसु य मित्रेऽप्यु वा । शिष्येषु च सधर्मणि कुले वा पूर्वं जात रागद्वेष वासो जहाति ॥

मूलारा—सुयणादीसु धधुमातापितृगुर्वीन्द्रिय । पुत्रं जादं च दीक्षाग्रहणाद्वा प्रागुत्पन्नं मंस्कारेणानुव्यव्यमान । च शब्दादुत्पद्यमान, उत्पत्त्यमानं च । सो कवचोपगृहीत ॥

अर्थ—मित्र, वंधु-माता, पिता, गुरु वंगरह, शिष्य, और साधर्मिक इनके ऊपर दीक्षा ग्रहणके पूर्वमें अथवा कवचसे अनुगृहीत होनेके पूर्व जो रागद्वेष उत्पन्न हुए थे क्षपक उनका त्याग करता है

भोगेसु देवमाणुस्सगेसु ण करेइ पच्छणं खवओ ॥

मग्गो विराधणाए भणिओ विसयाभिलासोत्ति ॥ १६८७ ॥

कुर्याद्विभ्यादिभोगानां क्षपक. प्रार्थनां न तु ॥

उक्ता विराधनामूल विषयेषु स्पृहा यत. ॥ १७५४ ॥

विजयोदया—भोगेसु देवमाणुस्सगेसु देवमानवगोचरभोगप्रार्थना न करोति क्षपको व्यावर्णितकवचोपगृहीत । विषयाभिलाषो मुक्तिमार्गविराधनाया मूलमिति ज्ञात्वा ॥

मूलारा—देवमाणुस्सगेसु सुतरगोचरेषु । मग्गो उपाय. । विराधणाए रत्तत्रयविलावन्त्योः ॥ भणिदा उक्त सूत्रे । विसयाभिलासोत्ति विषयाकाक्षेति मन्यमानः । हेत्वर्थे वा इति ॥

अर्थ—इस कवचसे युक्त होकर क्षपक देव और मनुष्यके भोगों की अभिलाषा नहीं करता है. यह विषयेच्छा मुक्तिमार्गके विरुद्ध है. ऐसा समझकर क्षपक उसका त्याग करता है.

इष्टेषु अणिष्ठेषु यः सहफरिसरसरूवगंधेषु ॥  
 इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे च ॥ १६८८ ॥  
 सव्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहिदप्पा ॥  
 खवयस्स रागदोसा हु उत्तमहं विराधेति ॥ १६८९ ॥  
 शब्दे रूपे रसे गंधे स्पर्शे साधो! शुभेऽशुभे ॥  
 सर्वत्र समतामेहि तथा मानापमानयोः ॥ १७५५ ॥  
 समानो भव सर्वत्र निर्विशेषो महामते! ॥  
 रागद्वेषोदये जंतोरुत्तमार्थो विनश्यति ॥ १७५६ ॥

विजयोदया—स्पर्शं ।

मूलारा—इधपरलोगे इहलोके इष्टे अनिष्टे वा तद्वत्परलोकेऽपि अथवा इहलोके परलोके च सम इति ब्राह्मम् ।

मूलारा—णिव्विसेसो इष्टानिष्टविरूपवियुक्तः । तदो निर्विशेषकात्कवचोपगृहीतत्वाद्वा । उत्तमहं रत्नत्रयं, सद्दयानं, समाधिमरण वा विराधेन्ति विनाशयत ॥

अर्थ—इष्ट और अनिष्ट ऐसे शब्द, रस, गंध, स्पर्श, रूप विषयोंमें, इहलोक और परलोकमें जीवित और मरणमें, मान और अपमानमें यह क्षपक समानभाव धारण करता है अर्थात् रागद्वेष रत्नत्रय, उत्तम ध्यान और समाधिमरणका नाश करते हैं. इसीलिये क्षपक अपने हृदयसे इनको दूर करता है.

उत्तरगाथाद्वयं—

जदि वि य से चरिमंते समुदीरदि मारणंतिथमसायं ॥  
 सो तह वि असंमूढो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥ १६९० ॥

गुर्वी यद्यपि पीडास्ति प्रकृष्टा मारणान्तिकी ॥

तथापि क्षपको याति सर्वत्र समचित्ताताम् ॥ १७५७ ॥

विजयोदया—जदि वि य से यद्यपि तस्य क्षपकस्य चरमकालाते मारणातिक दुःख भवेत् सो कवचेनोपगृहीत-  
क्षपकः तथापि असमूह समभावं सर्वत्रोपैति ॥

मारणातिकेऽपि दुःखे समुदीर्णं कवचोपगृहीतः साम्यान्न प्रच्यवते इति कवचानुभावं भावयति—  
मूलारा—से कवचोपगृहीतस्य क्षपकस्य । चरिमते चरमकालाते । मारणंतिंय मरण यावद्गोच्य तथाविधासद्वे-  
द्योदयसंपाद्यत्वात् । आसादं दुःखं । असमूहो शरीराव्यनुत्पन्नात्मव्यातिः ॥

अर्थ—यद्यपि उस क्षपको अंतसमयमें मरण प्राप्त होनेतक दु ख होगा तो भी कवचसे युक्त होनेपर  
वह मोहरहित होजाता है देह और आत्माकी भिन्नताका उसको सम्पज्ञान हुआ है अतः वह सर्व देहादिक, वस्तु-  
ओंमें समभाव धारण करता है

एवं सुभाविदप्पा विहरइ सो जाववीरिय काये ॥

उट्टाणे सयणे वा णिसीयणे वा अपरिदंतो ॥ १६९१ ॥

एवं भावितचारित्रो यावद्दीर्यं कलेवरे ॥

तावत्प्रवर्तते साधुस्तथाय शयनादिषु ॥ १७५८ ॥

विजयोदया—एव सुभाविदप्पा निर्यापकेन स्मरिणा गदितोर्थ एवमित्युच्यते । तेन सम्यग्भावितचित्त सन्धि-  
हरदि प्रवर्तते अपरिश्रात । जाववीरिय काये यावच्छरीरे बलमस्ति उत्थाने, शयने आसने वा ॥

निर्यापकसूरिनिरूपितार्थसम्यग्भावितचित्तस्य सर्वत्र खेदाभावं यावदेहबलमभिलषति—

मूलारा—एवं गुरुक्लेशेन । सुभाविदप्पा सम्यग्भावितः सन् विहरति । सयणे शयने । णिसीयणं उपवेशने ।  
अपरिदंतो अपरिश्रातः ॥

अर्थ—इस प्रकार निर्यापकाचार्यके कहे हुए उपदेशसे जिसने पदार्थोंका स्वरूप जानकर अपने आत्माको  
सुसंस्कृत बनाया है ऐसा वह क्षपक जब तक देहमें सामर्थ्य रहता है तबतक ऊठना, सोना, और बैठना इन  
क्रियाओंमें न थका हुआ प्रवृत्ति करता है.

जाहं सरीरचेडा विगदथामस्स से यदणुभूदा ॥

देहादि वि ओसगं सब्वत्तो कुणइ णिरवेक्खो ॥ १६१२ ॥

क्षीणशक्तेर्यदा चेष्टा स्वल्पा भवति सर्वथा ॥

तदा देहप्रहाणाय यतते नि.स्पृहाशयः ॥ १७५९ ॥

विजयोदया—जाहं सरीरचेडा यदा शरीरचेष्टा विगतवलस्य तस्य स्वल्पा जाता, तदा शरीरादुत्सर्ग करोति सर्वतो मनोवाक्कायैर्निरपेक्ष ॥

गृहीतकवचस्य मरणवेलाया करणीयमाह—

मूलारा—जाधे यदा । तथाम बलं । यदणुभूदा स्वल्पा जाता । विउसगं परित्यागं । सब्वत्तो मनोवाक्कायै ।

कुणदि तदितिशेषः ॥

अर्थ—जब उसका देहसामर्थ्य नष्ट होता है तब उसकी स्वय ऊठना, बैठना, सोना वगैरह क्रियायें बंद होती हैं तब मनवचन और शरीर से निरपेक्ष होकर वह शरीर का त्याग करता है, उसके ऊपरका मोह पूर्ण तथा छोड़ देता है

तदेव शरीरादिक साज्यमुत्तरगाथया दर्शयति—

सेड्जा संधारं पाणयं च उवधिं तथा सरीरं च ॥

विज्जावच्चकरा वि य वोसरइ समत्तमारूढो ॥ १६१३ ॥

उपधिं संस्तरं शय्यां पानं व्यावृत्तिकारिणः ॥

शरीरं मुंचेत योगी सम्यक्त्वारूढमानस ॥ १७६० ॥

विजयोदया—सेड्जा वसति । संस्तर घृणादिक, पान पिच्छ, शरीरं च वैयावृत्यकरांश्च व्युत्सृजति । समत्त-मारूढो समाप्तं संपूर्णं रत्नत्रयमारूढ ॥

उक्तार्थव्यवहरणार्थमाह—

मूलारा—सम्मतं संपूर्णं रत्नत्रयं, साम्यं वा ॥

क्षपक शरीरादिकां त्याग करता है इस विषयका विवेचन—

अर्थ—सपूर्ण रत्नत्रयपर आरूढ होकर यह क्षपक वसतिका, तृणादिका संस्तर, पानाहार, अर्थात् जल पान, पिच्छ, शरीर और वैयाघ्रस्य करनेवाले परिचारक भुनि इनका निर्माह होकर त्याग करता है.

अवहट्ट कायजोगे व विष्यओगे य तत्थ सो सव्वे ॥

सुद्धे मणप्पओगे होइ गिरुद्धज्झवसियप्पा ॥ १६९४ ॥

निराकृत्य वचोयोगं काययोगं च सर्वथा ॥

स विशुद्धे मनोयोगे स्थिरात्मा न्यवतिष्ठते ॥ १७६१ ॥

विजयोदया—अवहट्टकायजोगे वाग्योगान्काययोगाश्च सर्वाङ्गिराकृत्य असावन्न मनोयोगे शुद्धे स्थितो भवति । विषयान्तरसंचारादिरुद्धं अध्यवसितं च आत्मरूपं ज्ञानाख्यं यस्य स ॥

मूलारा—अवहट्ट निराकृत्य । वविष्यओगे वाग्योपायान् । तत्थ तस्मिन्मरणक्षणे । सो समत्वमारूढः । सुद्धे रागद्वेषमोहरहिते मनोयोगे स्थितो भवति ॥ गिरुद्धज्झवसिदप्पा निरुद्धो विषयान्तरसंचाराद्व्यवर्तितोऽध्यवसितश्च शुक्त्युदकवितर्केण निश्चित आत्मा स्वरूपं ज्ञानाख्यं येन स तथाभूतः सन् । उक्तं च—

समस्तान्कायवाग्योगाङ्गिरस्यैकत्र संस्थितः ॥

मनोयोगेऽस्ति संरुद्धनिश्चितात्मस्वरूपकः ॥

अर्थ—वाग्योग और काययोग का पूर्ण त्याग कर अर्थात् शरीरकी प्रवृत्ति और बोलना बंदकर शुद्ध मनोयोगमें निश्चल होता है. उसके मनसे इतर विषयोंका विचार हट जाता है और आत्मस्वरूप का विचार ही स्थान पाता है.

एव सव्वत्थेसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्पा ॥

मिच्छी करुणं मुद्दिदमुवेक्खं खवओ पुण उवेदि ॥ १६९५ ॥

समत्वमिति सर्वत्र प्रपद्यामलमानसः ॥

स मैत्रीकरुणोपेक्षामुदिताः प्रतिपद्यते ॥ १७६२ ॥



विजयोदया—एवं सब्बथेसु वि एव सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विशुद्धचित्तः, मैत्री, करुणा, मुदितानुपेक्षा च पञ्चादुपैति क्षपक ॥

समत्वपरिणत्यंतरकरणीया मैत्र्यादिभावना प्रतिनिर्दिशति—

मूलारा—उवेज्ज उपेक्षा । तदो पञ्चात् । एतेनाध्यत्मैकनिष्ठ उत्साहोऽस्य विधेयतयोपदिश्यते ॥

अर्थ—इस प्रकार सपूर्ण वस्तुओंमें समताभाव धारण कर यह क्षपक अन्तःकरणको निर्मल बनाता तथा उसमें मैत्री, प्रमोद, कारण्य और माध्यस्थ्य भावनाओंको स्थान देता है.

मैत्रीप्रभृतीना चिंताना विषयमुपदर्शयति—

जीवेसु भित्तचित्ता मेत्ती करुणा य होइ अणुकंपा ॥

मुदिदा जदिगुणचित्ता सुहदुक्खधियासणमुवेक्खा ॥ १६१६ ॥

जीवेसु सेज्या सकलेशु मैत्री परानुकंपा करुणा पवित्रा ॥

बुद्धेरुपेक्षा सुखदुःखसाम्यं गुणानुरागो मुदितावगम्या ॥ १७६३ ॥

विजयोदया—जीवेसु भित्तचित्ता अगतकालं चतच्छु गतिषु परिभ्रमतो घटीयवत्सर्वे प्राणभृतोऽपि बहुशः कृतमहोपकारा इति तेषु मित्रताचित्ता मैत्री । करुणा य होइ अणुकंपा शारीरं, मानस, स्वामाविकं च दुःखमसह्यमानुवतो हृद्वा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कपायेणाक्षमेन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्मपर्यायपुद्गलस्कथतदुदयोद्भवा विषयो विवशा प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुकंपा । मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता यतयो हि विनीता, विरागा, विमया, विमाना, विरोपा, विलोभा इत्यादिकाः सुखे शरागा दुःखे वा अद्वेया उपेक्ष्युच्यन्ते । समता गता ॥

मैत्र्यादीना लक्षणाव्याह—

मूलारा—भित्तचित्ता उपकारकाध्यवसितिः । आभंसार नरकादिगतिषु घटीयंत्रवत्परिभ्रमतो ममामी सर्वेऽपि प्राणिनो बहुशः कृतमहोपकारा इत्यंतविमर्श इत्यर्थः । अथवा सर्वसत्त्वेषु दुःखानुत्पत्त्यभिलाषः । परमार्थसुखप्राप्त्याशंसन च । मित्रवर्धितन मित्रचित्ता मैत्रीत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

मा कार्पीत्कोऽपि पापानि मा च मूत्कोऽपि दुःखितः ॥

मुच्यता जगदप्येण मतिमैत्री निगद्यते ॥

अणुकंपा—छिश्यमानजनदूहरणबुद्धिः । हा वराका इमे मिथ्यात्वाद्युपार्जितदुष्कृतविपाकसंपादा विपदः

पारतन्त्र्येण प्राप्नुवन्तः कथं तद्विमोक्षं लभेरन्वित्याद्रेचेतःश्रोतःप्रवृत्तिरित्यर्थः । जदिगुणचिन्ता यतीना गुणा विनीतत्वविराग-  
त्वस्वरपरहितैकरसिकत्वाद्यः । तेषां चिन्ता प्रमोदनिर्भरेण मनसानुसंधानं । सुहृदुस्वाधियासणा सुखदुःखयोः साम्येन  
भावनं उक्तं च—

मित्रचिन्तागिना मैत्री करुणाप्यनुकंपनं ॥

मुदिता सद्गुणैस्तोष उपेक्षा समचित्तता ॥

यथा वा तत्त्वार्थमतेनावोचाम धर्मासृते तथा मैत्र्याद्यो भाव्याः ॥ इत्तं ।

मा भूत्कोपीह दुःखी भजतु जगदसद्गर्मशर्मैति मैत्री ॥

ज्यायो ह्येतेषु रज्यन्नयनमधिगुणेष्वेज्जिवेति प्रमोदम् ॥

दुःखाद्रक्षेयमार्तान्कथमिति करुणा ब्राह्मि मामेहि शिक्षा ।

का द्रव्येष्वित्युपेक्षामपि परमपदाभ्युद्यता भावयन्तु ॥

मैत्री वगैरह भावनाओंके विषयोंका वर्णन—

अर्थ—अनतकालसे मेरा आत्मा घटीयंत्रके समान इस चतुर्गतिमय संसारमें भ्रमण कर रहा है. इस संसारमें संपूर्ण प्राणिओंने मेरे ऊपर अनेकवार महान् उपकार किये हैं ऐसा मनमें जो विचार करना वह मैत्री भावना है. अथवा संपूर्ण प्राणिओंमें किसीको भी दुःख न उत्पन्न हो ऐसी मनमें इच्छा रखना इसको भी मैत्री भावना कहते हैं.

शारीरिक, मानसिक, और स्वाभाविक ऐसी असह्य दुःखराशी प्राणीओंको सता रही है यह देखकर अहह इन दीनप्राणिओंने मिथ्यादर्शन, अविरति, कपाय और अशुभयोगसे अशुभकर्म उत्पन्न किया था वह कर्म उदयमें आकर इन जीवोंको दुःख दे रहा है. ये कर्मवश होकर दुःख भोग रहे हैं इनके दुःखसे दुःखित होना करुणा है. ये इस दुःखसे कैसे मुक्त होंगे ऐसी मनमें आर्द्रता उत्पन्न होना करुणा है. यतिओंके गुणोंका विचार करके उनके गुणोंमें हर्ष मानना यह प्रमोद भावना का लक्षण है यतिओंमें नम्रता, वैराग्य, निर्भयता, अभिमानर-  
हितपना, निदोषता और निर्लोभपना ये गुण रहते हैं. सुख प्राप्त होने पर रागरहित रहना और दुःख प्राप्त होनेपर वैराग्य न होना यह उपेक्षा भावना है. ऐसी भावना क्षपक अपने मनमें भाता है. समताका वर्णन समाप्त.

दंसणणाचरित्तं तवं च विरियं समाधिजोगं च ॥  
तिविहेणुवसंपज्जिय सवुवरिहं कम्मं कुणइ ॥ १६९७ ॥  
दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्यनिविष्टधीः॥  
प्रकृष्टां कुरुते चेष्टां मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ १७६४ ॥

विजयोदया—दंसणणाचरित्तं तवं विरियं समाधिजोगं च तत्त्वश्रद्धानं तत्त्वावगमं, चीतरागता, अशनत्याग-  
क्रियां, स्वशक्त्या निगूहन् चित्तैकाग्रयोगं । तिविहेणुवसंपज्जिय मनोवाक्कायै प्रतिपद्य । सवुवरिहं सर्वेभ्यः पूर्वप्रवृत्त-  
दर्शनादिपरिणामेभ्योऽतिशयितकर्म । कुणइ दर्शनादिपदन्यासं करोति ।  
मैत्र्यादिभावनावलाढ्यवहारमोक्षमार्गं प्रतिपद्य परमार्थसुक्तिप्रस्थानाय क्षपको यत इत्युपदिशति—

मूलरा—तवं अशनत्यागक्रिया । विरिय स्वशक्त्यनिगूहन् । समाधिजोगं रत्नत्रयैकाग्रतया संवंधं शुद्धोपयोग-  
वा । अथवा समाध्याख्यो योगो यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणव्यानसमाधिलक्षणानामष्टाना योगागाना मध्ये  
अष्टममंगं समाधियोगोत्र । तिविहेण मनोवाक्कायै, उवसंपज्जिय प्रतिपद्य । सवुवरिहं सर्वेभ्यः पूर्वप्रवृत्तदर्शनादिपरिणामे-  
भ्योऽतिशयितं । कम्मं दर्शनादिपरिणामपदन्यास शुभतमध्यानप्रक्रमोद्यममिति यावत् ।

अर्थ—जीवादितत्त्वोपर श्रद्धा रखना, तत्त्वोंका स्वरूप जान लेना, रागद्वेषरहित होना, अपनी शक्तिके  
अनुसार आहारका त्याग करना, चित्तको एकाग्र करना, इत्यादि क्रियाओंका स्वीकार करके मनवचन काय  
योगोंसे पूर्वके दर्शन ज्ञान चरित्र इत्यादिक गुणोंमें अधिकतासे उज्ज्वल परिणाम उत्पन्न कर प्रवेश करता है.

शुभध्यानमारुक्षत परिकरमाचष्टे—

जिदरागो जिददोसो जिदिदिओ जिदभओ जिदकसाओ ॥  
अरदिरिमोहमहणो ज्ञाणोवगाओ मदा होहि ॥ १६९८ ॥  
रागद्वेषक्रोधमात्सर्यमोदा येन लक्ता निर्जिताक्षेण सर्वे ॥  
ध्यानं ध्यातुं योग्यता तस्य साधोः सामग्रीतो याति कार्यं प्रसिद्धिं ॥ १७६५ ॥  
इति समता ॥

विजयोदया—जिदरागो स्वतो ध्यतिरिक्तेषु जीवाजीवद्रव्येषु तेषां पर्यायेषु रूपरसगंधस्पर्शशब्दाख्येषु विचित्रभेदेषु तत्संस्थानादिषु च यो रागः स जितो येन सोऽभिधीयते । तथा मनोऽपि यथा प्रीतिः स दोष उच्यते स च जितो येन स जितदोषः । “नेष्टुसुषिद्विगतस्स रेणुणो लगदे जहा अगे तह रागदोसणेहोहिदस्स कम्मासवो होदि” इति जिनवचना-धिगमादु खमीरुयति सर्वेषु खाना मूलकारणभूतौ रागद्वेषाविति मनसा विनिश्चित्य यस्तयोर्न विपरिणमते सोऽभिधीयते जितरागद्वेषः । तस्योपायो जितेन्द्रियतेत्याचष्टे—जह जिदिदिओ इति वाग्यशेष कृत्वा सबध । जिदिदिओ इन्द्रियशब्देन रूपाद्यालवनोपयोगे परिगृह्यते स जितो येन स उच्यते जितेन्द्रिय इति । कथमसौ मतिज्ञानोपयोगो जेतुं शक्यते इति चेत् श्रुतज्ञानोपयोगे आत्मन प्रवृत्तौ सत्या, युगपदुपयोगद्रव्यस्यात्मन्येकदा विरोधादप्रवृत्ते न च बाह्यद्रव्यालवनमुपयोगम-तरेणास्ति समवो रागद्वेषयो । सकल्पपुरोगौ हि ताजिति । जिदकसायो क्षमामार्दवाज्वसतोपरिणामनिरस्तकपाय-रिणामप्रसरो जितकपाय इत्युच्यते । अस्ते रतेश्च कर्मण उदये उपजातौ रत्यरतिपरिणामौ, मोहो, भित्त्याज्ञान च सम्प्रसा-नभावना मथ्याति यः स मण्यते अरदिरविमोहमधनो एवं निरस्तध्यानप्रतिपक्षपरिणामौ, मोहो, भित्त्याज्ञान च सम्प्रसा-नपरिणाममश्रितो भवति । न हि रागादिभिरव्याकुलीकृतस्य अर्थयाथावत्प्रज्ञा हि भवति विज्ञान अविचलं च नावतिष्ठते । अविचलमेव वस्तुनिष्ठ ज्ञान ध्यानमिष्यते ।

मूलरा—जिदरागो स्वतो व्यक्तिरिक्तेषु जीवाजीवद्रव्येषु तत्पर्यायेषु च रूपरसगंधस्पर्शशब्दाख्येषु विचित्रभेदेषु तत्संस्थानादिषु च यो रागः प्रीतिः स जितो येन । नेष्टुसुषिद्विगतस्स रेणुणा लगदे जहा अगे ॥ तथ रागदोसणेहोहिद-स्स कम्मासवो होदि ॥ इति जिनवचनाधिगमादुःखमीरोर्यतेः सर्वदुःखानां मूलकारणभूतौ रागद्वेषौ इति मनसा निश्चित्य यस्तयोर्न परिणमते स जितरागद्वेष उच्यते । जिदिदिओ श्रुतज्ञानोपयोगैकवृत्तिवलेन जितोऽभिभूतो रूपाद्यालवनश्चक्षुराद्युप-योगो येनासौ जितेन्द्रियः । अत एव जितरागद्वेषो बाह्यद्रव्यालवनोपयोगप्रवृत्तसंकल्पपुरःसरत्वेन तयोः स भवात् ॥ जिदम-ओ’ न मे मृत्युः कुतो भीति रित्यादि भावनया तिरस्कृतभीतिः जिदकसाओ क्षमादिभावनाप्रतिबद्धकोधादिपारतन्त्र्यः । मो-हो भित्त्याज्ञान तन्मथनं सम्प्रज्ञानसंस्कारेण साम्यभावनया रत्यरतिमथनवत् । सदा तथा निरस्तध्यानप्रतिप्रतिपक्षपरि-णामत्वात् । एतद्वाथाद्वयमन्ये पुरस्तात्पठन्ति । समता सूत्रतः ३६ ॥ अकतः १६ ॥

शुभध्यानपर आरूढ होनेवालेकी सामग्रीका वर्णन—

अर्थ—जिदरागो जीवाजीव द्रव्य आत्मासे अर्थात् स्वस्वरूपसे भिन्न है रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये इन द्रव्योंके पर्याय हैं इनके भी अनेक उत्तरभेद हैं, तथा इन द्रव्योंकी अनेक प्रकारकी आकृतिया दृष्टिगोचर होती हैं, इन परसे जिसने अपनी प्रीति अलग की है अर्थात् जो इनसे मोहरहित हुआ है उसको ‘जितराग’ कहते हैं जीवादि द्रव्योंके अनिष्ट पर्यायोंको देखकर द्वेष करना जिसने छोड़ दिया है उसको ‘जितद्वेष’ कहते हैं,

अपने अंगको तेल लगाकर बैठे हुए मनुष्यके सर्वांगपर वायुसे आये हुए घूलि रेणु चिपक जाते हैं वैसे राग, द्वेष और मोहसे लिप्त हुए जीवके संपूर्ण प्रदेशोंमें कर्मका आगमन होता है। जिनेश्वरके उपदेशका स्वरूप जानकर कुगतिके दुःखोंसे भययुक्त हुआ भव्य पुरुष रागद्वेष ही सर्व दुःखोंके मूल कारण हैं ऐसा मनमें निश्चयकर रागद्वेषोंमें परिणत नहीं होता है, ऐसे पुरुषको 'जित रागद्वेष' कहते हैं इन रागद्वेषोंको जीतनेका उपाय जितेन्द्रियता है।

रूपरस वर्णरह विषयोंके तरफ आत्माका उपयोग लगना यह इन्द्रिय शब्दका अर्थ यहाँ समझना चाहिए अर्थात् मतिज्ञानके उपयोग का नाम इन्द्रिय है, यह मतिज्ञान उपयोग कैसा जीता जासकता है इस प्रश्नका उत्तर—श्रुतज्ञानके उपयोगमें आत्माकी प्रवृत्ति होनेसे मतिज्ञानोपयोग जीता जासकता है, एक समयमें आत्मामें दोन उपयोगोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि इन प्रवृत्तिओंमें विरोध पाया जाता है, बाह्य द्रव्यका आश्रय जिनको है ऐसे उपयोगोंके बिना रागद्वेषकी उत्पत्ति नहीं होती है रागद्वेष संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए मतिज्ञानका उपयोग श्रुतज्ञानोपयोगमें आत्माको प्रवृत्त करनेसे जीता जाता है जिससे रागद्वेष का भी पराजय होता है

जिदकसायः — क्षमा, मार्दव, आर्जव और संतोषरूप परिणामोंसे क्रोधादिक चारों कपाय भी जीते हैं अरति और रति कर्मका उपय होनेसे रति और अरति परिणाम उत्पन्न होते हैं मोह और मिथ्याज्ञानका सम्प- ग्ज्ञानकी भागनासे नाश होता है जब आत्मा जितेन्द्रिय होता है तब क्रोधादिक कपाय, रति, अरति मोह और मिथ्याज्ञान इनका नाश होता है और आत्मामें सम्पद्गज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उपर्युक्त सब परिणाम ध्यानके शत्रु हैं उनका नाश करनेपर आत्मा ध्यान नामक परिणामका आश्रय करता है, जब आत्मा रागादि कपायोंसे व्याकुल होता है तब उसका ज्ञान पदार्थोंका यथार्थ ग्रहण नहीं करता है और निश्चलभी नहीं रहता है, जब ज्ञान निश्चल होकर वस्तुमें स्थिर होता है तब उसकोही ध्यान कहते हैं।

धम्मं चटुप्पयारं सुक्कं च चटुव्विधं किल्लेसहरं ।।  
संसारदुक्खभीरो दुण्णि वि ज्झाणाणि सो ज्झादि ॥ १६९९ ॥

धर्म्यं चतुर्विधं ध्यात्वा संसारासुखभीरुकः ॥

शुक्लं चतुर्विधं ध्यानं ध्यातु प्रक्रमते धृतिः ॥ १७६६ ॥

विजयोदया—धम्म चटुप्पयार धर्मध्यानं चतु प्रकारं । धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मं स्वभावाति-  
शयादेव चैतन्यादिकाज्जीवादिक् वस्तु भवति । अतिशयभावोदेव वस्तु भण्यते न परविभाषादि, तेन धर्मशब्दो वस्तु-  
स्वभाववाची । धर्मोद्वस्तुस्वभावोदनेपेतमिति धर्म्यमित्युच्यते । यथेवमातोद्रेपि धर्मोदनेपेतत्वमस्ति । सप्रयुक्तोभनोश्च  
वस्तुवियोग, विमुक्तमनोश्चवस्तुयोग, रोगातकादिप्रशमन, अभितप्रार्ति च धर्ममाश्रित्य प्रवर्तमानत्वाद्वर्मोदनेपेततेति  
नेप दोष विवक्षितधर्मविशेषवृत्तिवर्मशब्द अत एव आक्षेपायविपाकससथानमित्यादिकैर्धर्मैर्धर्मोदनेपेतत्वाद्य-  
क्षयानमाक्षयविचयादिसक्षाभिरुच्यते । ध्येय श्रेयवस्तुस्वरूपं तदविनाभाव न ज्ञान ध्यानमिति संगतार्थं व्याख्येय ।  
अन्ते तु व्याचक्षते—क्षमामार्दवाज्जादिकामोदनेपेतत्वाद्वर्म्य इति । ननु च ध्यान ध्येयाधिनाभाव न च क्षमादयो  
धर्मो ध्येया येन तदनेपेतत्वमुच्यते । अथ क्षमादिको दशविधो धर्मो ध्येयस्तस्मादनेपेतस्तस्यान्वयप्रवृत्ते 'आक्षेपाय-  
विपाकससथानविचयाय धर्म्यमिति सूत्रं न युज्यते' उत्तमक्षमादिधर्मपरिणतादात्मनोऽनेपेतत्वात् । धर्मोदनेपेततेति  
धर्म्यमित्युच्यत इति चेत् शुक्लस्यापि धर्मोदनेपेतत्वाद्वर्म्यध्यानता स्यादत्रोच्यते ॥ रुद्विशब्देषु क्वचित्समाविर्नो क्रियामाश्रित्य  
शब्दव्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । न सा क्रियातत्र आशुगमनादव्व इति व्युत्पाद्यमान स्थिते शयिते च प्रवर्तते न चाशुयायिन्यपि  
धैर्यतेयादौ प्रवर्तते । तद्वदिद्वापि शुक्ले न धर्मोदो वर्तते । धर्मोद्व्यत्रायाक्षादौ वर्तते । अथ किं ध्यान, उत्तमसहजनस्यै-  
काग्रचित्तानिरोधो ध्यानमिति चेत् पदसु सहजनेष्वाद्यसहजनं च वज्रपरिभनारात्रसहजनं, वज्रनारासहजनं,  
नाराचसहजनमिति । तेषु त्रिषु एक सहजन यस्य स उत्तमसहजनस्तस्य एकमग्रं मुखमस्येकाग्रं यश्चित्तानिरोधः स ध्यान-  
मित्युच्यते । ननु चित्तानिरोधः चित्ताया अभावस्तस्य का एकमुखता कथं वा कर्मणा भावे अभावे च निमित्तता आर्त्तौद-  
योःशुभकर्मनिमित्ततेष्यते । इतरयोस्तु शुभकर्मणा निमित्तता निर्जरायाश्च हेतुतेषां अत्रोच्यते । न निरोधशब्दोऽत्र  
भाववाची किंतु रोधवचनो यथा मूढानिरोध इति । ननु च परिस्रवदतो निरोधो भवति । चित्तायास्तु को निरोध इत्यत्रो-  
च्यते । केचित्तवदति नानार्थावलयेन चित्ता परिस्रववती तस्या एकसिद्धेः नियमाश्रितानिरोध इति त इदं प्रष्टव्या ।  
नानार्थाश्रया चित्ता सा कथमेकैव प्रवर्तते? एकैव चेत् प्रवृत्ता नानार्थावलयेन परिस्रवं नासादयतीति निरोधवाचो युक्ति-  
रसंगता, तस्मादेवमत्र व्याख्यानं चित्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते तच्च चैतन्यमन्यमन्य वार्यमवगच्छता ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तत  
इति परिस्रववत्तस्य निरोधो नाम एकत्रैव विषये प्रवृत्तिस्तथा हि य एकैव वर्तते स तत्र निरुद्ध इति भण्यते । उत्तमसहजन  
प्रयोगवेयात्तौद्रयोरुत्तमसहजनेषु प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्वयानावलयेन गतिविभागो न स्यात्तेषामनुभवविरोधश्चेदानीं-  
तमानामपि तयोर्द्वैतैः स्वस्वतरेविरोधश्च "तद्विरतवेशधिरतप्रमत्तयतना" "हिंसानूतस्त्येसरक्षेणभ्यो रौद्रमविरतदेश-  
विरक्तयो" इति गुणस्थानमात्राश्रयेनैव स्वाभिनिवेशकृतत्वात् । अत्र प्रतिविधीयते—निर्जराहेतुतया विकल्पे ध्यानेषु तत्प्र-  
स्तुते शुक्ल साक्षात् सुकृत्यं ध्यान निर्वन्दुमिति मन्यमानेन उत्तमसहजनग्रहणं कृतं सूत्रकारेण । यद्येव आर्त्तौद्रयस्यशुद्धा-



चतुर्विधं पृथक्त्ववितर्कबीचारमेकत्ववितर्कबीचारं, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातियुपतक्रियानिवर्तिं चेति चतुर्भिर्मोर्धेर्धिकल्पनात् ॥ किलेसहरं सहजशरीरमानसांगुदुःसचक्रचेतनान्वयावर्तकत्वात्, तन्निमित्तकदुष्कृतकर्मविपाकानुवृत्तिनिरोधकत्वात्तथाविधदुःसनिमित्तकर्मशक्तिसातनपरत्वाच्च, क्लेशोच्छेदकर धर्म्यशुक्लं च द्वितयं अपि । अत एव संसारदुःखभीत कृतपरिकरः साधुस्तद्व्यायति । अनयोश्च शुक्लस्य क्लेशहरतरत्वेऽपि पश्चादुपादान धर्म्यपूर्वकत्वेऽदुगीन सुशुल्लजनासाध्यत्वज्ञापनार्थं स्मरिरकार्पात् । तथा च भगवद्रामसेनपाठाः काश्चनानेत्रेदानीं ध्याननिषेधैकातपरानुपालेभिरे ।

तद्यथा—

येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति ॥  
तेऽहंन्मतानभिज्ञत्वं ल्यापयन्त्यात्मनः स्वयम् ॥  
अत्रेदानीं निषधन्ति शुक्लध्यानं जिनेत्तमा ॥  
धर्म्यध्यान पुनः प्राहुः श्रेणीभ्या प्राग्विवर्तिनाम् ॥

ज्ज्ञाणाणि ध्यातिर्ध्यानमेकप्राग्विचिन्तानिरोधः । एकवरस्तुनिष्ठमात्मनो ज्ञानमित्यर्थः । अत्र चिन्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते तच्चैतन्यमन्यमन्यं चार्थमवगच्छता ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तते इति परिरंभववद्भवति । एकस्मिन्विषयविक्षितेऽग्रे सुरे व्यालंत्रेने चिन्ताया ययोक्तपरिस्पंदवचैतन्याश्रिताया अतःकरणप्रवृत्तेर्निरोधोऽवरोधो नानार्थव्यावर्तनेन तत्रैवावस्थापनमेकप्राग्विचिन्ता-निरोधो ध्यानस्याक्षूणं लक्षणमुपलक्षणीयम् ।

तदुक्तम्—

द्वेष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्मात्सतानवर्तिनी ॥  
ज्ञानातरापरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥  
छद्मस्थेषु भवेदेतल्लक्षण विश्वदृशनाम् ॥  
योगासन्नवस्य संरोधे ध्यानत्वमुपचर्यते ॥  
ज्ज्ञादि ध्यायति प्रणिघत्ते । धर्म्यं शुक्ले वा ध्याने परिणतो भवतीत्यर्थः । उक्तं च—  
प्रत्याहृत्य यथा चिन्ता नानालयनवर्तिनी ॥  
एकालंबन एवैना निरुणद्धि विशुद्धधीः ॥



तदास्य योगिनो योगश्चित्तैकाग्रनिरोधन ॥

प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्टफलप्रदम् ॥

अर्थ—धर्मध्यानके चारभेद हैं और शुक्लाध्यानके भी चार भेद हैं। इन दो ध्यानोसे संसारके वलेश दूर होते हैं अतः संसार से भययुक्त क्षपक इन दोनों ध्यानोका हृदयमें चितन करते हैं

जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उसको धर्म कहते हैं अर्थात् वस्तुका जो विशिष्ट स्वभाव उसको धर्म कहते हैं चैतन्यादिक विशिष्ट स्वभाव होनेसेही जीवादिक पदार्थों को वस्तु कहते हैं। विशिष्ट स्वभावसे पदार्थको 'वस्तु' यह नाम प्राप्त हुआ है। खरविषाणादिको कोई भी विद्वान् वस्तु नहीं कहते हैं क्योंकि उसमें कोई भी धर्म नहीं है। अर्थात् खरविषाण चीज ही नहीं है अतः यहां धर्म यह शब्द वस्तुके स्वभावका वाचक है। इस धर्मसे अर्थात् वस्तुस्वभावसे ध्यानयुक्त रहता है उसको धर्मध्यान कहते हैं

शंका—यदि आप वस्तुस्वभावसे युक्त ध्यानको धर्मध्यान कहते हो तो आर्त्तध्यान भी वस्तुस्वभावसे युक्त होनेसे उसको भी धर्मध्यान कहो, क्यों कि इनमें सयुक्त हुए अनिष्ट वस्तुका वियोग, संयुक्त इष्टवस्तुका अवि योग, रोगपीडा वगैरहका शमन, भाविकालमें इष्ट वस्तुकी प्राप्ति इत्यादि वस्तु धर्मोका आश्रय लेकर ये ध्यान प्रवृत्त होते हैं अतः इनमें धर्मसे अनपेक्षितत्व—सहितपना है। अतः इनको भी धर्मध्यान कहना चाहिये ?

उत्तर—यहां धर्म शब्द विशिष्ट अर्थात् विवक्षितधर्मका वाचक है इसलिये आज्ञा, अपाय, विपाक, सस्थान इत्यादि विशिष्ट धर्मोसे जो युक्त है ऐसे आज्ञाविषय, अपायविषय वगैरह ध्यानोको धर्मध्यान कहना चाहिये। आज्ञा, अपाय, विपाक वगैरह धर्म धर्मध्यानके ध्येय हैं अर्थात् ज्ञेय ध्येय हैं इन हेतुको धर्मध्यान विषय करता है। वस्तुस्वरूपही ध्येय और ज्ञेय वन सकता है। इन वस्तुस्वरूपके साथ अविनाभावी एकारूप जो ज्ञान उसको धर्मध्यान कहते हैं इस प्रकार धर्मध्यान शब्दका अर्थ स्पष्ट करना चाहिये।

उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव इत्यादिको धर्म कहते हैं इन धर्मोसे जो ध्यान युक्त है उसको धर्मध्यान कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य कहते हैं

शंका—ध्यान तो ध्येयके साथ अविनाभावी है अर्थात् वह ध्येयके विना रहताही नहीं क्षमादिक धर्म ध्येय नहीं है अतः ध्यान इनसे युक्त रहता है ऐसा कहना योग्य नहीं है। यदि क्षमादिक दश धर्म ध्यानके विषय हैं ऐसा कहोगे तो

धर्मध्यानके ये क्षमादिक धर्म ही विषय-ध्येय ठहरेंगे ऐसा होनेपर ' आज्ञापात्रविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ' यह सूत्र विरुद्ध है ऐसा मानना पड़ेगा क्योंकि इस सूत्रमें आज्ञा, अपात्र, विपाक और संस्थान ये धर्मध्यानके ध्येय विषय हैं ऐसा कहा है यदि उत्तम क्षमादि दश धर्मोंसे आत्मा युक्त है और उस आत्मामें यह ध्यान भी अभिन्न है अतः यह ध्यान क्षमादि धर्मोंसे युक्त है ऐसा कह सकते हैं यह आपका भी कहना अनुचित है क्योंकि शुक्ल ध्यान भी इन धर्मों से क्या अभिन्न नहीं है ? अर्थात् शुक्ल ध्यानको भी धर्मध्यान कहना चाहिये, इस प्रकार शंकाकारका कथन है, अब आचार्य इसका उत्तर देते हैं—

रूढि शब्दोंमें जो क्रिया दिखाकर शब्दार्थ कहते हैं वह केवल शब्दव्युत्पत्तिके लिये ही समझना चाहिये, उस रूढिशब्दोंमें वह क्रिया होती ही है ऐसा नियम नहीं है ' आशु गमनादश्च ' अर्थात् जो शीघ्र गमन करता है—जाता है उसको अश्व कहते हैं यह अश्व शब्दकी व्युत्पत्ति दिखानेके लिये उसकी निरुक्ति दिखाई है, परंतु यह अश्व शब्द सोये हुए अथवा खड़े हुए घोडों में व्यवहृत होता है वहे वेगमें दौड़नेवाले गरुड वगैरे प्राणिओंमें इस अश्व शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती है, वैसे इस शुकुध्यानमें धर्म शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती हैं धर्मध्यानसे भिन्न आर्त रोद्रध्यानमें भी इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है.

प्रश्न—ध्यान किसको कहते हैं ? उत्तर—' उत्तमसहनस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानम् ' अर्थात् उत्तमसहननवालेके एकाग्रचित्तानिरोधको ध्यान कहते हैं छह सहननोंमें वज्रवृषभनाराचसहनन, वज्रनाराचसहनन, और नाराच सहनन इन तीन सहननोंको उत्तम सहनन कहते हैं, इन तीनोंमें से एक सहनन जिसको है ऐसा पुरुष उत्तम सहनन धारक है वह पुरुष एकाग्रमें चित्ताका निरोध करता है इस चित्तके निरोधको ध्यान कहना चाहिये.

शंका—चित्तके अभावको चित्तानिरोध कहते हैं वह एकशुद्ध कैसा होता है ? तथा वह कर्मके भाव अथवा अभावमें कैसा कारण होता है ? आर्तध्यान और रोद्रध्यान अशुभकर्मका निमित्त है धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान शुभ कर्मका तथा निर्जराका निमित्त है.

उत्तर—यहां निरोध शब्द अभावका वाचक नहीं है किंतु रोधका वाचक है जैसे मूत्रविरोध शंका—जो पदार्थ चंचल है उसका निरोध होता है परंतु चित्तका निरोध कैसे हो सकता है ? उत्तर—कितनेक विद्वान अनेक पदार्थोंका आश्रय लेकर चित्ता चंचल होती है उसको एक विषयमें स्थिर करनाही चित्तानिरोध है ऐसा कहते हैं उनको ऐसा

पूछना चाहिये—यदि चिंता अनेक अर्थोंका—पदार्थोंका आश्रय लेती है तो वह एक वस्तुमें ही कैसी स्थिर होगी और यदि एकही पदार्थमें स्थिर होगी तो अनेक पदार्थोंका वह अवलंबन क्यों लेगी. इस वास्ते उसके निरोध का वर्णन करना असंगतसा दीखता है चिंतानिरोधका यहां ऐसा विवेचन करना चाहिये—

चिंता शब्दसे चैतन्य अर्थ समझ लेना यह चैतन्य अन्य पदार्थोंको जानता हुआ ज्ञानपर्यायसे परिणत होता है ऐसे परिस्पंदयुक्त चिंताका निरोध करना अर्थात् एकही विषयमें उसकी प्रवृत्ति होनाही चिंता निरोध समझना चाहिये, जो एक पदार्थमेंही निरुद्ध हुआ है वह वही प्रवृत्त हुआ है ऐसा कहा जाता है. उत्तम सहननवालोंको ध्यान होता है ऐसा सूत्रप्रयोग है इससे उत्तमसहननरहित जीवोंमें आर्त रौद्रध्यानकी प्रवृत्ति नहीं होगी. इससे इन ध्यान के आश्रयों जो नरकादि गतिओंकी प्राप्ति का वर्णन आचार्योंने किया है वह अनुभवसे विरुद्ध होता है इस कालमें भी इन ध्यानोंका सद्भाव है अतः अन्यशास्त्रोंसे भी उपर्युक्त कथन विरुद्ध पड़ता है. यह कथन अन्यसूत्रोंसेभी विरुद्ध होता है. 'तदवितरतदेशविरतमत्तसंयतानाम्' 'हिसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम-विरतदेशविरतयोः' इन सूत्रोंमें केवल गुणस्थानोंका आश्रय लेकर ही आर्तरौद्रध्यानके स्वाभीओंका वर्णन किया है इससे भी ध्यान अनुत्तमसहननवालोंको भी होता है यह सिद्ध होता है

उपर्युक्त आक्षेपका निराकरण—

निर्जराके कारण जो ध्यान है उनका यहां वर्णन है. इसवास्ते मुक्तीके लिये साक्षात्कारणभूत ध्यानका वर्णन करनेके लिये आचार्योंने 'सूत्रमें उत्तमसहननस्य' ऐसा शब्द ग्रहण किया है.

शंका—यदि ऐसा है तो 'आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि' ऐसा आगेका सूत्र है वह असंगत है क्योंकि आर्त-ध्यान और रौद्रध्यान निर्जराके कारण नहीं हैं.

उत्तर—'उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं' यह सूत्र मुख्य ध्यान जो कि मुक्तिका अंग है उसको उद्देश करके प्रवृत्त हुआ है. और उस के आगेका 'आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि' यह सूत्र एकाग्रचित्तको सामान्यसे उद्देशकरके लिखा है. यह सूत्र अनभिमत अनिष्टध्यानका वर्णन करता है प्रस्तुत ध्यान अनभिमत ध्यानसे-आर्त और रौद्रध्यानसे अलग है और इसका स्वरूप विलकुल आर्तरौद्र ध्यानसे उलटा है यह दिखानेके लिये यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है. इसलिये प्रासंगिक आर्त रौद्रध्यानका मुख्यध्यानके आगे उल्लेख किया है

अथवा 'उत्तमसंहननस्य' यह शब्द विशिष्ट वीर्यवान् आत्माके लिए उपलक्षण है, अर्थात् उत्तमसंहनन वीर्यतिशयवान् आत्माका एकवस्तु में स्थिर ऐसा जो ध्यान उसकी ध्यान कहना चाहिये ऐसा सूत्रार्थ है, शुक्ल ध्यान चार प्रकारका है (इसका ग्रथकार आगे वर्णन करेंगे) यह ध्यान चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करता है चतुर्गति भ्रमण करनेसे जिसका मय उत्पन्न हुआ है अर्थात् चतुर्गतिके दुःखोंसे जो भयमुक्त है, ऐसा क्षपक धर्मब्यान और शुक्लध्यान ऐसे दो ध्यानोंका चिंतन करता है,

ण परीस्नेहि संताविउं वि सो झाइ अट्ठरुद्दणि ॥

सुट्ठवहाणे सुट्ठं पि अट्ठरुद्द वि णासंति॥ १७०० ॥

आर्तारौद्रद्वयं त्याज्यं सर्वदा दुःखदायकम् ॥

तेन विध्वस्यते ध्यान दुर्नयेनेव सन्नयः ॥ १७६७ ॥

विजयोदया—ण परस्नेहिं स क्षपक परस्नेहिं परीपहे । संताविदो वि वाधितोऽपि अट्ठरुद्दणि आत्तं रौट्रं च न झाइ नाध्याति । सुट्ठवहाणे सुट्ठ उपधाते । शुद्धमपि अट्ठरुद्दणि णासति आर्तरोद्रध्याने नाशयत' ॥

सीत्रदुःखार्तोऽप्यसौ सद्ध्यानं प्रतिपद्यते इति स्वरूपानुवादाभिव्यक्तं दुर्नयप्रतिषेधमनुशास्ति—

मूलारा—सो सद्धयानोद्धत, साधुः । सुट्ठविधाणं विसुद्धपि सुट्ठवधानैरसंक्लेशपरिणामैर्विशुद्ध विशिष्टा शुद्धि कर्मनिर्जरणात्किंसंज्ञिं प्रापितमपि सद्धयानमार्तारौट्रे नाशयत । किं पुनरितरदिति त्वया ससारभीरुणा घोरपरीपहोपहृते-नापि ते दुध्यनि मनागपि नालंबनीये इति प्रतिषेधपरोक्तिः ॥

अर्थ—यह क्षपक परीपहोके द्वारा पीडित होनेपर भी आर्त ध्यान और रोद्रध्यानका चिंतन नहीं करता है, शुद्ध परिणामोंके द्वारा उस क्षपकका ध्यान कर्मनिर्जरा करनेमें समर्थ है तो भी ये आर्तरोद्रध्यान उस उत्तम ध्यानका नाश करते हैं, इसलिये हे क्षपक ! संसारदुःख में भयमुक्त होकर परीपहोसे पीडित होनेपर भी इन अशुभ ध्यानोंका स्वीकार करना तेरे लिये बिल्कुल अयोग्य है,

अट्टे चउण्यारे रुहे य चउव्विधे य जे भेदा ॥

ते सव्वे परिजाणदि संथारगओ तओ खवओ ॥ १७०१ ॥

रौद्र चतुर्विधं ध्यानं ये चाते सन्ति केचन ॥

ते भेदा दूरतस्याज्या विज्ञाय विधिवेदिना ॥ १७६८ ॥

विजयोदया—अट्टे चउण्यारे आत्ते चतु प्रकरो, जे भेदा रुहे य चउव्विधे ये भेदा । ते सव्वे परिजाणदि तान् सर्वान् विजानाति । सथारगदो संस्तरगतः । तथो खवगो असौ क्षपकः । जो यत् परिहरे घुस्स कथ तत्त्वतोऽनवबुध्यमानो नियोगतः परिहरेदि छवि? । वार्य आतेरौद्रं परिहरन् तस्मात् ज्ञातव्येति इति दर्शयति ॥

यो यन्त्रियोगतः परिजिहीर्षति स नित्यं तत्स्वरूपपरिज्ञानपरो भवतीति सविकल्पमपि दुर्ध्यानद्वय क्षपकेण विमर्शनीयमित्युपदेष्टुमिदमाह—

मूलारा—परिजाणदि

रौद्रं च अवबुध्यते इत्यर्थः ।

अर्थ—आर्तध्यानके चार प्रकार है तथा रौद्रध्यानके चार भेद हैं. सस्तरपर पडा हुआ क्षपक इनके सर्व भेदोंका स्वरूप जानता है यदि इनके भेदोंका परिज्ञान उसको न होगा तो वह उसका त्याग नहीं कर सकेगा. आर्तरौद्रध्यानका त्याग करनेके लिये उसके स्वरूपका ज्ञान होना अवश्यभावी है.

अमणुणसंपओगे इट्ठविओए परिस्सहणिदाणे ॥

अट्ट कसायसहिंयं ज्ञाणं भणियं समासेण ॥ १७०२ ॥

तेणिक्कमोससारक्खणेसु तह चेत्त छव्विहारभे ॥

रुदं कसायसहिंयं ज्ञाणं भणियं समासेण ॥ १७०३ ॥

अवहट्ठ अट्ठरुहे महाभये सुग्गदीए पच्चूसे ॥

धम्मे सुक्के य सदा होदि समण्णागदमदीओ ॥ १७०४ ॥

स्तेयासत्यवचोश्चाषड्विधारभेदतः ॥

कषायसहितं रौद्रं ध्यानं त्र्यं समासतः ॥ १७६९ ॥

प्रियायोगाप्रियप्रसिपरीषहनिदानतः ॥

कषायकालितं ध्यानमार्तं प्रोक्तं चतुर्विधम् ॥ १७७० ॥

रौद्रमार्तं त्रिधा त्यक्त्वा सुगतिप्रतिषेधकम् ॥

धर्म्यशुक्लद्वये योगी साम्यं कर्तुं प्रवर्तते ॥ १७७१ ॥

विजयोदया-भवदृष्टं अपहृत्य । अट्टरुद्धे आर्त्तरौद्रे । मरुतो भयस्य हेतुत्वान्महाभये । सुगदीपं पञ्चसे सुगते-  
विंशमूत्रे । धम्मे सुक्ते वा धर्म्ये शुक्ले वा ध्यानेऽसौ क्षपकः । समण्णागदमदी सो होदि सम्यगनुपरतमतिर्भवति ॥

संक्षेपेणार्तध्यानविकल्पान्याचष्टे—

मूलारा-अट्टं ऋते अभिनोद्वासयोगादिना पीडिते पुंसि भवमार्तं । उक्तं चार्पे-

ऋते भवमयार्तं स्याद्ध्यानमाद्यं चतुर्विधं ॥

शृष्टानवाप्त्यनिष्टानिनिदानासातर्हेतुकम् ॥

कषायसहिदं प्रमादाधिष्ठितत्वात् ॥ समासेण संक्षेपेण । विस्तरस्त्वार्पेक्तो यथा-

ऋते विना मनोद्धार्याङ्कवसिष्टवियोगजम् ॥

निदानप्रत्ययं चैवमप्राप्तेष्टार्थचिन्तनात् ॥

ऋते ह्युपगतेऽनिष्टे भवमार्तं तृतीयकम् ॥

भवेन्नतुर्थमप्येकं वेदनोपगमोद्भवम् ॥

प्राप्त्यप्राप्त्योर्मनोज्ञेतरार्थयोः स्मृतियोजने ॥

निदानवेदनापायविषये चानुचितने ॥

इत्युक्तमार्तमार्तात्माचित्यं ध्यानं चतुर्विधम् ॥

प्रमादाधिष्ठितं तत्तु पदगुणरथानसंश्रितम् ॥

अप्रशस्ततमं लेख्यात्रयमाश्रित्य जृम्भितम् ॥

अंतर्मुहूर्तकालं तदप्रशस्तावलंबनम् ॥  
 आयोपगमिकोऽस्य स्याद्भावस्तिर्यग्गतिः फलम् ॥  
 तस्मादध्युनमानमात्तोल्यं हेय श्रेयोर्विनामिदम् ॥  
 मूर्च्छाकौशील्यकैनादयकौसीद्यान्यतिगुन्नुता ॥  
 भयोद्वेगादुशोकाश्च लिगान्योर्ते स्मृतानि वै ॥  
 बाला च लिगमार्तस्य गात्रग्लानिर्विवर्णता ॥  
 हस्तन्यस्तकपोलत्व साश्रुतान्यञ्च तादृशम् ॥

रौद्रभेदानाह—

मूलारा—सारस्वलेषु शब्दादि गृहीत्वा स्वद्रव्यादिरक्षणे । छविधारभे पटुजीवनिकायहिसने । रुदं रोदयते प्राणिन इति रुद्रो हिंस्रो रुद्रे भवं रौद्र ॥ समासेण संक्षेपेण, विस्तरस्त्वापेक्षो । यथा—

प्राणिना रोदनादुद्रः क्रूरः सत्त्वेषु निर्घृण ॥  
 पुमांस्तत्र भव रौद्र विद्वि ध्यान चतुर्विधम् ॥  
 हिंसानंदमृपानदस्तेयसंरक्षणत्मकम् ॥  
 पृष्ठानु तदुणस्थानात्प्राक् पंचगुणभूमिकम् ॥  
 प्रकृष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपोद्बलवृद्धितम् ॥  
 अतर्मुहूर्तकालोत्थं पूर्ववद्भावमिष्यते ॥  
 वधवधाभिसंधानमंगच्छेदोपतापने ॥  
 वृद्धपारुष्यमित्यादि हिंसानंद सृष्टो बुधेः ॥  
 हिंसानंद समाधाय हिंस्रः प्राणिषु निर्घृणः ॥  
 हिंस्रस्यात्मानमेव प्राक् पञ्चाद्वन्यात्र वा परान् ॥  
 पुरा किलारविदात्यः प्रख्यातः खचराधिपः ॥  
 रुधिरस्तानरौद्राभिसंधिः आश्रयी विवेश सः ॥

अनानुश्रुत्याहिसोपकरणादानतत्कथा ॥  
 निसर्गाहिंसा चेति लिगान्यस्य स्मृतानि वै ॥  
 मृगानदो मृषावाक्यैरतिसधानार्धतनम् ॥  
 वाक्पाशुव्यादिलिग तद्धिनीयं रौद्रभिष्यते ॥  
 स्तेयानंद परद्रव्यहरणे स्मृतियोजनम् ॥  
 भवेत्स्तरक्षणानंद. स्मृतिरर्थजिनादिषु ॥  
 प्रतीतलिगमेवैतद्रौद्रध्यानद्वयं भुवि ॥  
 नारकं दुःखमस्याहुः फल रौद्रस्य दुस्तरं ॥  
 बाह्यं तु लिगमस्यादुरभंगं सुखाविक्रियाम् ॥  
 ग्रस्वेदमंगकप च नैत्रयौश्चेति ताम्रताम् ॥  
 प्रयत्नेन विनैवैतद्रौद्रध्यानद्वयं भवेत् ॥  
 अनादिचासनोद्भूतमतस्तद्विस्मृजेन्मुनिः ॥

अपि च—अतत्त्वमित्यतन्वाज्ञावैपरीत्येन भावयन् ॥  
 प्रीत्यप्रीती समाधाय संछिष्ट ध्यानमच्छति ॥  
 मंकत्तो मानसी दृत्तिर्विषयेष्वनुतीर्यणी ॥  
 सैव दुष्प्रणिधानं स्यादपध्यानमतो विदुः ॥

स्वार्थधातकत्वाद्बुध्यां त्यक्त्वा नित्यं सद्धयानैकतानो भवेत्सुपदेशार्थमाह—

मूलारा—अवहट्ट अपहृत्य । महाभये दुर्गतिदुःखहेतुदुस्तिवंधनिदानत्वात् । समणगादमदीओ सम्यगनुगतबुद्धिः ।  
 मागतिरूपायाः सुगतेः । पञ्चबू विप्रभूते तत्कारणपुण्यबंधप्रक्षयप्रतिबंधित्वात् ।

अर्थ—अमनोज्ञसंप्रयोग-अनिष्टपदार्थोका संयोग होनेपर उसका वियोग किस उपायसे होगा ऐसा चार  
 २ विचार करना अमनोज्ञ संप्रयोग नामक आर्तध्यान है. इष्टवियोगज—स्त्रीपुत्रादिक पदार्थोका वियोग होनेपर  
 उनकी प्राप्ति की चार बार चिंता करना, परीषह प्राप्त होनेपर ये कैसे दूर होंगे ऐसा मनमें बार २ विचार करना.



आगेके भवमें मेरेको अच्छे २ पदार्थ प्राप्त होने चाहिये ऐसा विचार करना यह निदान नामक आर्तध्यान है चोरी करनेका वार २ विचार करना, चारसे धन न लूटा जावे इस लिये उसका संरक्षण करनेके लिये शस्त्रादिक ग्रहणकर उनका रक्षण करनेके रुद्रपरिणाम वारंवार होना, छह प्रकारके आरंभ करना अर्थात् पदकायजीवोंकी जिसमें हिंसा होती है ऐसा आरंभ करनेमें तल्लीन होना इसको रौद्रध्यान कहते हैं। हिंसा करनेवाले मनुष्यको रुद्र कहते हैं ऐसे मनुष्यमें उत्पन्न हुआ जो ध्यान उसको रौद्रध्यान कहते हैं। ऐसा रौद्र ध्यानका लक्षण संक्षेपसे कहा है, ये आर्त और रौद्रध्यान दोनों भी त्यागने चाहिये क्योंकि ये महाभयके कारण हैं और सुगतिके प्रतिबंधक हैं अर्थात् दुर्गतिके कारण हैं ये धर्मध्यान और शुक्लध्यानके वाधक हैं ऐसा समझकर धर्म और शुक्ल ध्यानमें क्षणक सदा स्थिर रहता है

किमर्थमसौ ध्यानयो शुभयोर्वर्तत इत्याशंकाया ध्यानप्रवृत्तौ कारणमाचष्टे—

इंदियकसायजोगणिरोधं इच्छं च णिज्जरं विउलं ॥

चित्तरस य वसियत्तं मग्गटु अविप्पणासं च ॥ १७०५ ॥

ध्याने प्रवर्तते कांक्षन्कषायाक्षनिरोधनम् ॥

वदयत्वं मनसो मार्गोदभ्रंशं निर्जरां पराम् ॥ १७०६ ॥

विजयोदया—इंदियकसायजोगणिरोधं स्पशोद्विपूजात उपयोग इंद्रियशेव्दनोच्यते । कषाया क्रोधादयस्तै र्योग संवंधस्तस्य निरोधं निवारणमिच्छन्निर्जरां च विपुलाभिच्छन्, वस्तुयाथात्म्यसमादितचित्तस्य नैन्द्रियविषय जन्मोपयोगसंभव, कषायाणा चोत्पत्ति, चित्तस्स य वसियत्त चित्तस्य स्ववशत्वं इच्छन् स्वैष्टविषये चित्तमसंकुत्स्थापयतोऽनिष्टाच्च व्यावर्तयत स्ववंशं भवति ॥ चित्तस्य मग्गटो अविप्पणासं च मार्गोदित्तवयादविप्पणांशं च वाछन्, अशुभध्यानप्रवृत्तौ रत्नत्रयात्प्रच्युतो भवामीति ध्याने प्रयत्नते ॥

धर्मध्यानस्य प्रयोजनमातर परिकरं च निर्देष्टुं गाथाचतुष्टयमाचष्टे—

मूलारा—जोग संवधः । इच्छं वाछन् । णिज्जरं शुभकर्मेकदेशसंक्षयं । विउलं बाह्याभ्यतरतपोविकल्पातरसाध्य

निर्जरातोऽतिशायिनी । वसियत्त स्ववशता । स्वैष्ट्ये चित्तं स्थापयितु अनिष्टाच्च व्यावर्तयितुमित्यर्थः । मग्गटु अविप्पणास रत्नत्रयादप्रच्यवनम् ।

यह क्षपक शुभध्यानमें क्यों मग्न होता है इस शंकाके उत्तरमें कारणका निवेदन करते हैं—  
 अर्थ—स्पर्शादिक विषयोंमें उत्पन्न हुआ जो उपयोग उसको यहां इंद्रिय कहते हैं इंद्रिय और कर्मायोंका संबंध नष्ट करनेकी यदि इच्छा हो, कर्मोंकी विपुल निर्जरा करनेकी यदि इच्छा हो, तो तब अपना चित्त स्वाधीन रखने का प्रयत्न कर. वस्तुके यथार्थ स्वरूप को जाननेमें अपने मनको एकाग्र कर. जब मन स्वाधीन होता है तब इंद्रियोंके विषयके प्रति उपयोग नहीं लगता है और कर्मायों की भी उत्पत्ति नहीं होती है. चित्तको अपने इस विषयमें अर्थात् उत्तम क्षमादिक धर्मोंमें स्थिर करना चाहिये. और अनिष्टविषयोंसे परावृत्त करना चाहिये. रत्नत्रयमार्गसे अपनी च्युति न हो ऐसी इच्छा करनेवाले क्षपक को श्रुभ ध्यानका त्याग करना चाहिये. और शुभ ध्यानमें स्थिर रहना चाहिये

ध्यानपरिकरप्रतिपादनायोत्तरगाथा—

किंचिवि दिट्टिमुपावत्तइत्तु झाणे गिरुद्धदिट्ठीओ ।

अप्पणंहि सदिं संधित्ता संसारसोक्खट्ठम् ॥ १७०६ ॥

एकाग्रमानसश्चक्षुर्व्यावृत्य परवस्तुतः ॥

आत्मनि स्मृतिमाधाय ध्यानं श्रयति मुक्तये ॥ १७०३ ॥

विजयोदया—किंचिवि दिट्टिमुपावत्तइत्तु बाह्यद्रव्यालोकात् किंचित्त्वक्षुर्व्यावृत्तयित्वा । झाणे गिरुद्धदिट्ठीओ एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्य. । दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिराद्योऽत्र युक्त । अप्पणहि आत्मनि । सदिं स्मृतिं । संधित्ता संघाय । स्मृतिशब्देनात्र श्रुतब्रानेनावगतस्यार्थस्य सरणमुच्यते, संसारसोक्खट्ठं संसारविमुक्तये ॥

प्रयोजनमुक्त्वा परिकर्मोह—

मूलारा—किंचिवि किंचित्त्व । दिट्ठिं चक्षुः । उच्येतचित्तु उपावृत्य । बाह्यद्रव्यालोकनाद्यावर्त्य नासाग्रे दृष्टिं कृत्वेत्यर्थः । गिरुद्धदिट्ठीओ एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्य. दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये नदृष्टिशब्देन प्रयुक्तः । अप्पणम्मि स्वसंवेदनमुच्यते शुद्धिचिद्रूपे स्वात्मनि । सदिं श्रुतज्ञानाधिगतार्थस्मरणं । उक्तं च—

पूर्वश्रुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः ।

तत्रैकान्यं समासाद्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥

अपि च—

गहिय तं सुयणाणा पच्छा सवेयणेण भावेज्ज ॥

जाणहु सुअमवलवदि मोमज्झदि अप्पसब्भवे ॥

ध्यानका परिकर कहनेके लिये गाथा—

अर्थ—नेत्रोंको बाह्य पदार्थोंके अवलोकनसे हटाना चाहिये अर्थात् नाकके अग्रभागपर नेत्रोंको निश्चल करना चाहिये तदनंतर एक विषयको धारण करनेवाले परोक्षज्ञानमें अपना ज्ञानोपयोग स्थिर करना चाहिये. स्वसंवेदनज्ञानसे जिसका अनुभव आता है ऐसे अपने शुद्ध चैतन्यरूप आत्मामें श्रुतज्ञानके साहाय्यसे आगमसे जाने हुए पदार्थोंका स्मरण करना चाहिये. यह ध्यान मुनिगण संसारसे मुक्त होनेके लिये करते हैं.

पञ्चाहरितु विसयेहिं इंदियेहिं मणं च तेहिंतो ॥

अप्पणम्मि मणं त जोगं पणिधाय धारेदि ॥ १७०७ ॥

प्रत्याहृत्य मनोऽक्षणि विचयेभ्यो महाचलः ॥

प्रणिधानं विधत्तेसावत्तमनि ध्यानलालसः ॥ १७७४ ॥

विजयोदया—पञ्चाहरितु प्रत्याहृत्य । विसयेहिं विपयेभ्यः। इंदियाहं इंदियाणि मणं च मनश्च व्यावर्त्य । तेहिंतो विपयेभ्यः । मण त धारेदि तन्मनो धारयति । क अप्पणहि आत्मनि । जोग योगं वीर्यतरायक्षयोपशमजवीर्यपरिणामं । पणिधाय प्रणिधायस्थाप्य, एतदुक्तं भवति वीर्यपरिणामेन नोइंद्रियमति धारयतीति ॥

पुनरातरयेव परिक्रमाह—

मूलारा—पञ्चाहरितु व्यावर्त्य । इंदियाह चक्षुराद्युपयोगान् । मण नो इंद्रियमति । तेहिंतो तेभ्यः । च विपयीकृत । जोगं पणिधाय वीर्यतरायक्षयोपशमजं वीर्यपरीणाममवष्टभ्य वीर्यपरिणामविशेषेण शुद्धस्वात्मनि निर्विषया नोइंद्रियमति धारयतीत्यर्थः । स एवोऽन्तः परिकरः सूत्रकृतोक्तः । बाह्यस्त्वय—

पर्वतगुहायां, गिरिकंदरे, दर्या, तरुकोटरे, नदीपुलिने, पितृवने, जीर्णोद्याने, शून्यागारे, वा व्यालमृगाणा पशूना पक्षिणा, मनुष्याणा वा ध्यानविघ्नकारिणा सान्निध्यशून्ये, तत्रस्थैरागुप्तभित्तं क्षुद्रजीवैर्वर्जिते उष्णशीतोने प्रवातादिविहिते निरस्तेन्द्रियमनोविक्षेपहेतौ, शुचावनुकूलस्पर्शभूभागे मंदमंदप्राणपानप्रचारो नाभेरुर्ध्वं, हृदि ललाटे वा यत्र वा मनोवृत्ति यथापरिचयं प्रणिधाय ध्यायतीति तथैव चाज्ञाचक्षुस्तत्र भवतो भगवद्रामसेनपादाः—

ययोक्लक्षणो ध्याता ध्यातुमुत्सहते यदा ॥  
 तवेदं परिकर्मादौ कृत्वा ध्यायतु धीरधीः ॥  
 शून्यागारे गुहाया च दिवा वा यदि वा निशि ॥  
 श्रीपशुक्लीवजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे ॥  
 अन्यत्र वा कचिद्देशे प्रशस्ते प्रामुके समे ॥  
 चेतनावेतनोपध्यानविघ्नविवर्जिते ॥  
 भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा ॥  
 सममृज्वायतं गात्रं निर्गन्धपावयव दधत् ॥  
 नावाग्रन्यस्तनिःस्पन्दलोचनो मन्दमुच्छसन् ॥  
 द्वाविंशद्वेपयनिमुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः ॥  
 प्रत्याहृताक्षलुंटाकास्तर्द्धेभ्यः प्रयत्नतः ॥  
 र्विता चाकृण्व सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ॥  
 निरस्तानिद्रो निर्भित्तिर्निगलस्यो निरन्तर ॥  
 स्वरूप पररूप वा ध्यायेदन्तर्विशुद्धये ॥  
 किञ्च—दंदावस्था पुनयेन न स्याद्व्यानोपरोधिनी ॥  
 तदवस्थो मुनिर्वाग्वैरिथत्वासित्वाधिशय्य वा ॥  
 देशादनियमोऽत्रैवं प्रावो वृत्तिव्युपाश्रयः ॥  
 कृतात्मना तु सर्वोपि देवादिर्ध्यानसिद्धये ॥

अर्थ—विषयोस इन्द्रियां और मनको हटाना चाहिये अर्थात् इन्द्रियांका उपयोग और मनका उपयोग बाल पदार्थमें रागद्वेषमें प्रवृत्त होता है उनको रागद्वेषरहित होकर वहाँसे हटाना चाहिये और वीर्यतरायकर्मके क्षयोपशयसामर्थ्यसे मनोयोगको अपने आत्मामें स्थिर करना चाहिये.

कृतमनोनिरोध किं करोतीत्याशङ्क्याह—

एयगेण मणं रुभिऊण धम्मं चउव्विहं झादि ॥

आणापायविवागं विचयं संठाणविचयं च ॥ १७०८ ॥

ध्यायत्येकाग्रचेतस्को धर्म्यध्यानं चतुर्विधम् ॥

आज्ञापायविपाकानां संस्थाया विचयं सुधीः ॥ १७०५ ॥

विजयोदया—एयगेण एकध्येयमुखतया । मण रुभिदूण मनो निरुध्य । धम्मं धर्म्यवस्तुस्वभाव । चउव्विहं चतुर्विकल्पं । झादि ध्यायति । अभ्यंतरपरिकरयमुक्त सूत्रकारेण । ब्राह्म परिकर उच्यते । पर्वतयुहाया, निरिर्कंदरे, दर्या, तरु कोटेरे, नदीपुल्लिने, पिठवने, जीर्णोद्याने, शून्यागारे वा व्यालमुषाणा पशूना, पक्षिणा, मनुष्याणा वा ध्यानविघ्नकारिणा सन्निधानशून्ये, तत्रस्थैरागतुमिच्छ जीवैर्वर्जिते, उष्णशीततापवातादिविरहिते, निरस्तेन्द्रियमनोविक्षेपहेतौ, शुचावतुकूल स्पशे भूभागे मद् मद् प्राणापानविचारान्मेरुर्द्ध्वं हृदि ललाटेन्यत्र वा मनोवृत्तिं यथापरिचयं प्रणिद्धातीति ब्राह्मपरिकर । आणापायविपाकविचये आह्वाविचयमपायविचयं, विपाकविचय, संठाणविचय च संस्थानविचयं च । तत्राह्वाविचयो निरूप्यते—कर्मणि मूलोत्तरप्रकृतीनि तेषा चतुर्विधो पंधपर्याय उदयफलविकल्प जीवद्रव्यं मुख्यवस्थेत्येवमादीना निरूप्यते—मर्तीन्द्रियत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षभावात् दुःखयतिशये असति दुरवबोधं यदि नाम वस्तुतत्त्व तथापि सर्वज्ञज्ञानप्राप्त्यान् आगमविषयतत्त्वं तथैव नान्यथेति निश्चय सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्मोक्षहेतुरित्याह्वाविचारनिश्चयज्ञानं आह्वाविचयाख्यं धर्मध्यानं । अन्ये तु वदन्ति स्वयमधिगतपदार्थतत्त्वस्य परं प्रतिपादयितुं सिद्धान्तनिरूपितार्थप्रतिपत्तिहेतुभूतयुक्तिगवेषणावहितचित्रा सर्वज्ञज्ञानप्रकाशनपरा अनया युक्त्या इयं सर्वविदा-माह्वावबोधयितुं शक्येति प्रवर्तमानत्वादाह्वाविचय इत्युच्यत इति ॥ अनादौ संसारे क्षेत्रं मनोवाक्कायचूत्सेभ्यः अशुभमनो वाक्कायस्याऽपायः कथं स्यादिति अपाये विचयो मीमांसासिन्नस्तीत्यपायविचयं द्वितीयं धर्मध्यानं । जाल्यधसंस्थानीया मिथ्यादृष्टय समीचीनमुक्तिमार्गपरिद्वानात् दूरमेवापयति मार्गोद्दिष्टि सन्मार्गोपाये प्राणिनां विचयो विचारो यस्मिस्तद-पायविचयं इत्युच्यत इति मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथमिमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः ॥ विपाकविचय उच्यते—समूलोत्तरप्रकृतीना कर्मणामष्टप्रकाराणा चतुर्विधवधपर्यायाणां मधुरकटुकविपाकानां तीव्र-मध्यमदपरिणामप्रपञ्चकृतानुभावविशेषाणा द्रव्यक्षेत्रकालभावोपेक्षाणा एतासु गतिषु योनिसु वा इत्थंभूतं फलमिति विपाके कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचयः ॥ वेत्तासनक्षररीदृग्दंगसंस्थानो लोक इति लोकत्रयसंस्थाने विचयोऽस्मिन्निति संस्थानविचयता ॥

एवं कृतपरिकर्मो मुमुक्षुः किं करोतीत्यात्राह—

मूलारा—एयगेण एकध्येयमुखतया । रुंभिऊण निरुध्य । आणेत्वादि आह्वादिषु किंचयः सम्यग्विवचारणानिष्ट

ज्ञानं यस्मिन्नस्ति तदाक्षाविचयमपायविचय, विपाकविचय, सरयानविचयं चेति चतुर्विधं धर्मध्यान मुमुक्षुः प्रणिधत्ते । तद्वथा—

उपदेष्टुर्भावान्मद्वुद्धित्वात्कर्मादियात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टातोपरमे सर्वज्ञप्रणीतभागम प्रमाणीकृत्य इत्थमेवेदं नान्यथा वादिनो जिना इति गहनपदार्थश्रद्धानादर्थवधारणमाज्ञाविचयः । अथवा स्वय विदितपदार्थतत्त्वस्य सत् पर प्रतिपिपादयिषोः स्वसिद्धाताविरोधेन तत्त्वसमर्थनस्तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्फुटिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रदर्शनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते ॥ जात्यंधवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गद्विमुखा मोक्षार्थिनः सन्मार्गपरिज्ञानात्सुदूरमेवापयातीति सन्मार्गपायचित्तनमपायविचयः । अथवा मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्यं कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः ॥ कर्मणा ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावगत्यं फलानुभव प्रति चिंतप्रबंधो विपाकविचयः ॥ त्रिलोकसरयानस्वभावविचारणप्रणिधान संस्थानविचयः ॥ स एव संक्षेपेण धर्मध्यानभेदनिर्णयो विस्तरतत्त्वापेक्षं धर्म्यं यथा—

तदाक्षापायसरयानविपाकविचयात्मकं ॥  
चतुर्विकल्पमान्नातं ध्यानमान्नायवेदिभिः ॥  
तत्राज्ञेत्यागमः सूक्ष्मविषयः प्रणिगम्यते ॥  
दृश्यानुमेयवर्ज्ये हि श्रद्धेयाग्रे गतिः श्रुतेः ॥  
जैर्नो प्रमाणयन्नाज्ञा योगी योगविदांवर ॥  
ध्यायेद्वर्मास्तिकायादीन्भावान्सूक्ष्मान्यथागमम् ॥  
आज्ञाविचय एव स्यादपायविचयः पुनः ॥  
तापत्रयादिजन्माधिगतापायविचितनम् ॥  
तदपायप्रतीकारचित्रोपायानुचितनम् ॥  
अत्रैवान्तर्गतं ध्येयमनुप्रेक्षादिलक्षणम् ॥  
शुभाशुभविभक्तानां कर्मणा परियाकतः  
भववर्तस्य वैचित्र्यमभिसंघतो मुनेः ।  
विपाकविचयं धर्म्यमामनति कृतागमाः ॥

विपाकश्च द्विधानातः कर्मणामाप्तसूक्तियु ॥  
 यथाकालमुपायाञ्च फलपक्विर्नस्पतेः ॥  
 यथा तथैव कर्मोपि फल दत्ते शुभाशुभं ॥  
 मूलोत्तरप्रकृत्यादिवंधसत्त्वाद्युपाश्रयः ॥  
 कर्मणामुदयस्त्रिन्नः प्राप्य द्रव्यादिमन्त्रिधि ॥  
 यतश्च तद्विपाकश्चस्तदपायाय चेष्टते ॥  
 ततो ध्येयमिदं ध्यानं मुक्त्युपायो सुसुशुभिः ॥  
 संस्थानविचयं प्राहुर्लोककारानुचिततम् ॥  
 तदन्तर्भूतजीवादितत्त्वान्वीक्षणलक्षणम् ॥  
 द्वीपादिधवलयागदीप्तस्फितश्च सराणि च ॥  
 विमानभवनव्यतरावामनरकक्षिती ॥  
 त्रिजगत्सन्निवेशेन सममेतान्यथागमम् ॥  
 भावान्मुनिरनुध्यायेत्संस्थानविचयोपगः ॥  
 जीवभेदाश्च तत्रत्याज्यायेन्मुक्तेतरात्मकान् ॥  
 ज्ञातुं तत्त्वभोक्तृत्वद्रुद्रादींश्च तद्गुणान् ॥  
 तेषां स्वकृतकर्मोन्मादोत्थमनिदुस्तरं ॥  
 भवादिधव्यव्यवसायतं दोषयादःकुलकुलं ॥  
 मज्ञाननावा मत्तार्थमतार्थं ग्रथितात्मभिः ॥  
 अपारमतिगभीरं ध्यायेत्तत्त्वसन्निपति ॥  
 किमत्र गद्गुनोक्तेन सर्वान्यागनरिम्नर ॥  
 नयमंगलनाक्षीणो ध्येयोऽन्यान्मविशुद्धये ॥  
 तदप्रमत्तनाड्यं स्थितिगतं मुहूर्तकीम् ॥

दधानमप्रमत्तेषु परां क्रोटिमधिष्ठितम् ॥  
 सद्दृष्टिषु यथान्नायं शेषेऽपि कृतस्थितिः ॥  
 प्रकृष्टिशुद्धिमलेश्वरात्रयोपोद्बलवृद्धितम् ॥  
 श्रायोपशमिकं भाष स्मत्कृत्य त्रिजृग्मिन ॥  
 मोहोदकं महाप्राज्ञैर्गर्हपिभिरुपासितं ॥  
 वस्तुधर्मोऽनुयायित्वात्प्राप्तान्वयैर्निनक्तिरुम् ॥  
 धर्म्यं ध्यातमनुष्येय यथोक्तधेयविस्तारं ॥  
 प्रसिद्धचित्ता धर्मसंवेगं शुभयोगता ॥  
 मुञ्चतय ममाधानमाज्ञाधिगमजा रुन्नि ॥  
 भवन्त्येतानि लिङ्गानि धर्म्यस्यातर्गतानि वै ॥  
 अनुप्रेक्षाश्च पूनोक्ता विविगा शुभभावनाः ॥  
 बाह्य हि लिङ्गमगता सन्निवेशं पुरोदितं ॥  
 प्रसन्नवक्त्रता मौन्या दृष्टिश्चेत्सादिलभणं ॥  
 फल ध्यानव्रत्यास्य त्रिपुला निर्जेरनमा ॥  
 शुभकर्मादयोद्भूत सुखं च विबुधेशिना ॥  
 रसगोपवर्गसंप्राप्तिं फलमस्य प्रचक्षते ॥  
 साक्षात्सर्वपरिप्राप्तिं पारंपर्यात्पर पदं ॥  
 ध्यानेऽव्युपरते धीमानभीष्टं भावयेन्मुनिः ॥  
 शानुप्रेक्षाः शुभोदकां भवाभावाय भावनाः ॥ इति ॥  
 व्याख्यातार्थसुस्पष्ट्यर्थं चैव गीतिरन्तश्चिन्त्या--  
 ध्यानस्य लक्ष्मभिर्निर्वचोधिपतिदेशफलभावाः ॥  
 स्थान प्रभेदेनामार्थनिर्णयो गोचरो बलाधानम् ॥



मनना निरोध करनेके अनंतर ध्याताका करनेका मत है।

अर्थ—एक विषयके तरफ मनको निश्चल कर चार प्रकारके वस्तु स्वभासोंका तब ध्यान करना है। यहातर ध्यानका अन्वयपर परिकर कहा है। अथ आप परिकरका वर्णन आचार्य करते हैं परमेश्वरी गुहा प्रदग्ग, दरी, वृक्षका शेटपर, नदीका स्तैला किनारा, अमशान, जीर्ण वर्गिया, अन्य मरान ऐसे स्थानोंमें गया हुए पशु गाय, बैल, हरिण वगैरे भद्र प्राणी, पक्षी और मनुष्य जिनमें मानमें पित्त आमरुता ई ऐसे प्राणिजोंमें वज्रित स्थानमें ध्यान करना चाहिये जहां ध्यान करना हो तब स्थान आंगुल कृमिकीटादिजोंमें रहित रोना चाहिये, उष्ण, शीत, जोरदार वायु और रूप इत्यादि ध्यानमें विघ्न उत्पन्न करनेवाली वस्तुओंमें रहित ऐसे स्थानमें ध्यान करना चाहिये। जो स्थान इन्द्रिय और मनमें विकार उत्पन्न करेगा उनका त्याग करना चाहिये पवित्र, अनुकूल, स्पर्शयुक्त ऐसा भूप्रदेश ध्यानयोग्य है। ऐसे प्रदेशमें जाकर परमानन्द वैटकर ध्यानोन्मुक्त धीरेरे करना चाहिये। नामाँके ऊपर, हृदयमें, ललाटपट्टमें अथवा अन्य स्थानमें अपनी मनोवृत्तियों यथास्थान प्रकार करना चाहिये। यह मन ध्यानकी चार सामग्री है

धर्मध्यानके आज्ञाविचय, अणविचय, विषय विचय और मस्थानविचय ऐसे चार भेद हैं। प्रथम आज्ञाविचयका वर्णन करते हैं—कर्मके मूल कर्म और उत्तर कर्म ऐसे बहुत भेद हैं उन कर्मोंके प्रकृतिविषय, स्थितिविषय, अनुभाग वष और प्रदेशवष ऐसे पर्याय हैं। इन कर्मोंका उदय होना, फल मिलना ऐसे जनक प्रकार हैं जीवद्रव्यके मुख्यतस्था वगैरह पर्याय होते हैं ये मन अतीन्द्रिय हैं। ज्ञानावस्था कर्मका विशिष्ट अयोपशम नहीं होनेमें मद वृद्धिके द्वारा इन पदार्थोंका निश्चय नहीं होता है यद्यपि उपर्युक्त पदार्थोंका स्वरूप हममें नहीं जाना जाता है मन्त्रका ज्ञान प्रमाण है और उपर्युक्त पदार्थ उमने रहे हुए आगमके विषय हैं, जैसा जिनेश्वरने उन वस्तुओंका स्वरूप कहा है वह मन्त्र ही है अतएव नहीं है ऐसा निश्चय करना यह निश्चय मन्त्रदर्शनका सम्भाव होनेसे युक्तिका कारण है। इस प्रकार प्रभूके आज्ञाका विचार करना, निश्चय करना उमको आज्ञा विचय कहते हैं। यह आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है

अन्य आचार्य इसी आज्ञाविचय धर्मध्यानका स्वरूप इसप्रकार में भी कहते हैं—  
स्वयं तो पदार्थोंका स्वरूप जानता है, मिथ्यान्तमें कहे हुए जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान करा देने वाली मन्ययुक्तीका

अन्वेषण करने वाली, सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रगट करनेवाली ऐसी तर्कशक्तिके द्वारा मैं भव्यजीवोंको जिनप्रतिपादित तत्वोंका स्वरूप कह सकूंगा ऐसा तत्त्वस्वरूप जाननेवालेके मनमें जो बार बार विचार उत्पन्न होना यह भी आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है।

मैं अनादिकालसे इस घोर ससारमें भ्रमण कर रहा हूँ, भरे मनवचन और कायकी प्रवृत्ति स्वच्छदसे होती है। इस अशुभ मन वचन काय योगसे मैं किस उपायसे अलग हो सकूंगा ऐसी अपायमें बार बार स्मृति होना यह अपायविचय नामक धर्मध्यान है

मिथ्यादृष्टि लोक जन्मांश मनुष्यके समान हैं। उनको सत्य मोक्षमार्गका भान नहीं है इसलिए सन्मार्गसे वे बहुत दूर जा रहे हैं। ऐसा उनके विषयमें बार बार विचार उत्पन्न होना इसको भी अपायविचय कहते हैं ये मिथ्या दृष्टि लोक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से कैसे अलग होंगे ऐसा बार बार मनमें विंता होना यह भी अपायविचय ध्यान है

कर्मके मूल भेद आठ हैं। उत्तरभेद एक सौ अष्टचालिसि हैं इन कर्मोंके प्रकृति वधादिक चार भेद होते हैं। इनका मधुर और कटुक ऐसा फल मिलता है। आत्मामें तीव्र, मद, मन्थ्यम रूप अनुभवबंध उत्पन्न होता है द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे इन कर्मोंमें विशेषता उत्पन्न होती है विशिष्ट गतिमें और विशिष्ट योनिओंमें विशिष्ट कर्मका फलानुभव जीवको प्राप्त होता है। इस प्रकार विपाकका अर्थात् कर्मफलका बार बार विचार जिससे उत्पन्न होता है उस ध्यानको विपाकविचय ध्यान कहते हैं

चेतका आसन, झल्लरी और मृदगके समान तीन लोकका आकार है ऐसा विचार करना संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है ।

धर्मध्यानस्य लक्षण निदिशति—

धम्मस्स लक्खण से अज्जवलहुगत्तमद्दवोवसमा ॥

उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥ १७०९ ॥

माद्दवार्जवने-संग्गहेयोपादेयपाटवं ॥

जेयं प्रवर्तमानस्य धम्म्यध्यानस्य लक्षणं ॥ १७१६ ॥

विजयोदया—धम्मस्स लक्खणं से, से तस्य । धम्मस्स धर्मस्य ध्यानस्य । लक्खणं लक्षणं । लक्ष्यते धर्म्यं ध्यानं येन तल्लक्षणं । अज्जवल्लुगत्तमहवुवदसा आकृष्टातद्धयणज्जुवत्तुवक्कुटिलताविरह आर्जवं । लघुगत्त लघुता निस्संगता जात्पाद्यप्रविधाभिमानाभावो मार्दवं । उपेत्य जिनमतं देशान् कथनमुपदेशं । हितोपदेश इति यावत् ॥ आर्जवादिभिः कार्यै-  
लक्ष्यते धर्मध्यानमिति आर्जवादिभ्यः लक्षणं । न ह्यार्तरीद्रे आर्जवादिभ्यः सपादयत' यवार्जवादिभ्यः परिणाममात्मन करोति तद्धर्मध्यानमिति लक्षणमात्रं गयवा आर्जवादिपरिणामसद्भाव एव धर्मध्यानं प्रवर्तते नासत्यार्जवादे । नहि मान-  
मायालोभकपयाविष्टो धर्मं प्रवर्तते, तेनार्जवादिभ्यः कारणं तेन लक्ष्यते धर्म्यमिति लक्षणतार्जवादीनाम् ॥

धर्मध्यानलिंगमवगमयति—

मूलारा—लक्षणं लक्ष्यते धर्मध्यानं येन कार्यभूतेन कारणभूतेन वा आर्जवादिना तत्तस्य चिन्हं । दे ते । प्रसिद्धाः । लघुगत्त निःसंगत्वं । उपदेशणा य सुते जिनमतोपदेशं । च निस्सगजा स्वभावोत्था । अन्ये तु उपदेशेणो सुते इति पठित्वा उपदेशे आज्ञायां तत्रैव रुचय इत्यर्थमाहुः ॥

धर्मध्यानका लक्षण—

अर्थ—जिससे धर्मध्यानका परिज्ञान होता है वह धर्मध्यानका लक्षण समझना चाहिए आर्जवं, लघुत्व, मार्दवं, और उपदेश ये इसके लक्षण हैं। डोरीके दोनों छोर एकद्वारा खींचनेसे वह सीधी होती है, उसमें वक्रता नहीं रहती है वैसे कुटिलता अर्थात् कपटका अभाव होना यह आर्जवं नामक स्वभाव है, निःसंगता अर्थात् निर्लोभी स्वभावको लघुत्व कहते हैं, जातिका गर्व, कुलगर्व इत्यादि आठ प्रकारके गर्वोंका अभाव होना इसको मार्दवं कहते हैं। इन गुणोंसे युक्त होकर उपदेश करना यह उपदेश नामक गुण है इसको हितोपदेश भी कहते हैं आर्जवादिक कार्योंको देखकर धर्मध्यानको जान सकते हैं अतः आर्जवादिक धर्मध्यानका लक्षण माने गए हैं। आर्तध्यान और रीद्र ध्यानसे आर्जवादिक गुणोंकी प्राप्ति नहीं होती है, जो आर्जवादिकपरिणाम आत्मा में उत्पन्न करता है उसको धर्मध्यान कहते हैं, अथवा आर्जवादिक परिणाम होने परही धर्मध्यान उत्पन्न होता है उनके अभावमें नहीं उत्पन्न होता है, मान, माया, लोभा-  
दिकप्राथपरिणत मनुष्य धर्ममें प्रवृत्त नहीं होता है इसलिये आर्जवादिक धर्मध्यानके कारण हैं अतः धर्मध्यान और आर्जवादिक इनमें लक्ष्यलक्षणभाव सिद्ध होता है

आलंबणं च वायण पुच्छण परिवट्ठणणुपेहाओ ॥  
धम्मस्स तेण अविसुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥ १७१० ॥

वाचनामच्छनाम्नानयानुप्रेक्षाधर्मदेशना ॥

भवत्थालंबनं साधोर्धर्म्यध्यानं चिकीर्षत ॥ १७११ ॥

विजयोदया—आलवनप्रतिपादनायोगोत्तरगाथा । आलवणं च आश्रयश्च कस्स धम्मस्स धर्मध्यानस्य, वायण पुच्छण परिवट्ठणणुपेहाउ, वाचना प्रश्न परिवर्तनमनुप्रेक्षेति स्वाध्यायविकल्पा । वाचनविस्वाध्यायाभावे वस्तुयाथा तस्यज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभाव । सति स्वाध्याये भवति ज्ञान विचल ध्यानसंज्ञितमित्यालवनता स्वाध्यायस्य । तेन तेन धर्मेण ध्यानेनाविरुद्धासव्वाणुपेहाउ, सर्वानुप्रेक्षा एकदैकवाक्ये वृत्तेरविरोध । अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षण मनुप्रेक्षासावालंबनं ध्यानमिति । एतेनानुप्रेक्षाया ध्यानेऽन्त पातित्वमाचक्षणानुप्रेक्षोपन्यासे वीजाधान कृतम् ॥

धर्मस्याश्रयमाह—

मूलरा—आलवण वाचनादिरवाध्यायाभावे वस्तुयाथात्म्यज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभावः । सति स्वाध्याये भवति ज्ञानमविवचलं ध्यानसंज्ञितमित्यालम्बनता वाचनादर्धर्मं प्रति । परियट्ठण पाठगुणनं । अनुपेहा अर्थचिंतन । तेन धर्मेण । अविरुद्धाओ अनित्यत्वादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षणमाश्रित्य तत्प्रवृत्तेस्तालंबनमनिलयाधनुप्रेक्षाः संप्रेक्ष्याः ॥

धर्मध्यानके आधारभूत कारण—

अर्थ—वाचना, मच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय ओर परिवर्तन ये स्वाध्यायके भेद हैं ये भेद धर्मध्यानके आधार भी हैं वाचनादिक स्वाध्यायके अभावमें वस्तुका यथार्थ ज्ञान ही नहीं होता है. ज्ञानके अभावमें धर्मध्यान नहीं होता है अतः स्वाध्याय धर्मका अवलंबन है. स्वाध्यायसे जो निश्चलज्ञान प्राप्त होता है उसको ध्यान कहते हैं. इस धर्मध्यानके साथ अनुप्रेक्षाओंका अविरोध है. वस्तुके अनित्यादिधर्मोंका बार २ विचार करना यह अनुप्रेक्षाका लक्षण है ये अनुप्रेक्षाए ध्यानके लिये आधार हैं इसलिये ध्यानमें इनका अन्तर्भाव होता है. इसीलिये ग्रंथकार आगे अनुप्रेक्षाओंका सविस्तर वर्णन करेंगे.

पूर्वोक्तान् धर्मस्य चतुरो भेदान् व्याचष्टे चतसृभिर्गाथाभि । तत्रास्माद्विचयं निरूपयति—

पंचेव अत्यिकाया लज्जीवणिकाए दन्वमण्णे य ॥

आणागममे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥ १७११ ॥

पंचास्तिकायषट्कालद्रव्याणि यत्नतः ॥

आज्ञाग्राह्याणि दक्षेण विचार्याणि जिनाज्ञया ॥ १७७८ ॥

विजयोद्या-पंचेव अस्थिकाया पंचास्तिकाया जीवा पुद्गलधर्मोस्तिकाया अधर्मोस्तिकाया आकाशमिति तान् छज्जीवणिकायो षड्जीवणिकायान् कालद्वयं कालाख्यं । अणो य अन्याश्च कर्मवधमोक्षादीन् । अणोलेखे भवे सर्वज्ञाज्ञयागम्यान्भावान् । आणाविचयेण आज्ञाविचयाख्येन धर्मव्यनेन विचिणादि विचारयति । सर्वविद्विरपास्तरागद्वयैः परमकारणिकैः यथामीति निरूपितास्ते तथैवेति चिंताप्रबंध आज्ञाविचय यावत् । आणपायविवागविचये इत्यासिन्पाठे अपायविचयो नाम धर्मध्यानमिति गाथापूर्वोधेन व्याचष्टे ।

आज्ञाविचयादीन्क्रमेण व्याचष्टे--

मूलारा-पंचस्थिकाय जीवपुद्गलधर्मोयमोक्षाज्ञान् ॥ जीवणिकाये पृथिव्यमेजोवायुवनस्पतिवसान् अणो बंध मोक्षादीन् । आणगन्धे सर्वज्ञाज्ञागम्यान् । विचिणादि विचारयति । सर्वविद्विरपास्तरागद्वयैः परमकारणिकैर्यथामी निरूपितास्तथैवेति प्रबधेन चित्तयतीत्यर्थः ॥

आज्ञाविचय धर्मध्यानकां वर्णन--

अर्थ-जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य इनको पंचास्तिकाय कहते हैं- पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति ये पांच स्थावर जीव हैं तथा द्वंद्वियसे लेकर पंचेन्द्रिय तक जीवोंको त्रस कहते हैं इनको आगममें षट्काय सज्ञा है कालद्रव्य, कर्मबंध, मोक्ष वगैरह अनेक पदार्थोंका स्वरूप सर्वज्ञ जिनश्चर प्रणीत आगमसे जाना जाता है- इन तत्त्वोंका स्वरूप आज्ञाविचय नामक ध्यानसे ध्याता वार २ स्मृतिमें लाता है जिनके रागद्वेष नष्ट हुए हैं, ऐसे परमदयालु श्री जिनश्चरनें जैसे इन तत्त्वोंका स्वरूप कहा है वैसेही उनका स्वरूप है ऐसा वार २ स्मरण करना इसको आज्ञाविचयनामक धर्मध्यान कहते हैं

कक्षाणपावगाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च ॥

विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभे य असुभे य ॥ १७१२ ॥

कल्याणप्रापकोपायश्चिंतनीयो जिनागमे ॥

शुभाशुभविकल्पानामपायः कर्मणां परम् ॥ १७७९ ॥

विजयोदया—फलदायकता उपार्ये तीर्थकरपददायकता दर्शनविशुद्ध्यादीनामुपायान् नि शफादीन् विचि-  
नोति जिनमतं जिनकथित उपदेश । विचिणादि वा अपार्ये जीवाण सुखे य असुखे य जीवाना शुभाशुभकर्मविषयानपायान्  
तान्विचारयति एतदुक्तं भवति । शुभाशुभकर्मण कथमपायो भवति जीवस्य इति जिताप्रवाहोऽपायविचयो नाम स्पष्टा-  
नोति जिनमतं जिनकथित उपदेश । विचिणादि वा अपार्ये जीवाण सुखे य असुखे य जीवाना शुभाशुभकर्मविषयानपायान्  
तान्विचारयति एतदुक्तं भवति । शुभाशुभकर्मण कथमपायो भवति जीवस्य इति जिताप्रवाहोऽपायविचयो नाम स्पष्टा-

मूलासाधना

१५४५

अपायविचयं तदन्तर्गतोपायविचयपुरःसरं व्याचष्टे—  
अपायविचयं तदन्तर्गतोपायविचयपुरःसरं व्याचष्टे—  
मूलारा—फलदायकता उपार्ये तीर्थकरपददायकता दर्शनविशुद्ध्यादीनामुपायान् नि शफादीन् विचि-  
नोति जिनमतं जिनकथित उपदेश । विचिणादि वा अपार्ये जीवाण सुखे य असुखे य जीवाना शुभाशुभकर्मविषयानपायान्  
तान्विचारयति एतदुक्तं भवति । शुभाशुभकर्मण कथमपायो भवति जीवस्य इति जिताप्रवाहोऽपायविचयो नाम स्पष्टा-

अर्थ—अभ्युदय अर्थात् सोलह भावना तीर्थकर पदकी प्राप्ति कर देते हैं ऐसे जिनगमका उपदेश है इस उप-  
देशका वारंवार स्मरण करना इसको उपाय विचय धर्मध्यान कहते हैं द्रव्य, क्षेत्रादिकोंका आश्रय लेकर शुभ कर्म  
विषयक और अशुभकर्मविषयक अपायोंको जीव प्राप्त होता है ऐसा वारंवार विचार करना इसको अपायविचय  
नामक धर्मध्यान भी कहते हैं

एयाणेयमवगदं जीवाणं पुण्णपावकम्मफलं ॥  
उदओदीरणसंकमबंधे मोक्खं च विचिणादि ॥ १७१३ ॥  
अहत्तिरियउट्ठलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे ॥ १७१४ ॥  
एत्थे व अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि ॥ १७१५ ॥  
एकानेकमवोपात्तपुण्यपापात्मकर्मणाम् ॥ १७१६ ॥  
उदयोदीरणादीनि चिंतनयानि धीमताम् ॥ १७१७ ॥  
उज्ज्वीघः सत्रिलोकस्था द्रव्यपर्यायसंस्थिताः ॥ १७१८ ॥  
विचिंतयन्त्यनुप्रेक्षास्तत्रैवानुगतो यतिः ॥ १७१९ ॥

विजयोदया—अहतिरियउडुलोए ऊर्द्धाधस्तिर्यंग्लोकान् । विचिणादि विचारयति । कीदृग्भूतान् । सपञ्जए सपर्येयान् संस्थानसद्वितान् सपर्यायं सविभुवन सस्थानविचारविचयाख्यं धर्मध्यानं । एत्थेव अत्रैव । अणुगदाओ अनुगताः। अणुपेक्खाओ वि अनुप्रेक्षा अपि । विचिणादि विचारयति । अनित्यत्वादिसमाविचारं करोति धर्मध्याने इति कथितं भवति ॥

विपाकविचयं व्याचष्टे—

मूलारा—उदयक्रमेण कर्मणोऽनुभवन । उदीरण अक्रमेण कर्मणा भुक्तिः । उक्तं च—

कर्मणा फलदातृत्वं द्रव्यक्षेत्राणि योगतः ॥

उदयं पाकजं ज्ञेयमुदीरणमपाकजम् ॥

समुदीर्यानुदीर्णानां स्वरूपीकृत्य स्थितिं वलात् ॥

कर्मणामुदयावल्यां प्रक्षेपणमुदीरण ॥

सक्रमः प्रकृते सजातीयप्रकृतितत्त्वरूपेण परिणमनम् ॥

संस्थानविचयं निर्दिशति —

मूलारा—सपञ्जए सभेदान् । संसंठाण वेत्तासनसल्लरीमुदंगसमानाकारसद्वितान् । एत्थेव अत्रैव धर्म्यध्याने । अणुगदाओ तत्साधकतममनोनिर्जयागत्वेन संबद्धाः । तदुक्तम्—

सचित्तयन्ननुपेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः ॥

जयत्येव मनःसाधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः ॥

अर्थ—जीवोंको पुण्य और पाप कर्मका फलानुभवन संसारमें करना पड़ता है इन कर्मका उदय, उदीरणा संक्रम, बंध और मोक्षका वारवार विचार करना उसको विपाकविचय कहते हैं। द्रव्यक्षेत्रादिके आश्रयसे कर्मका योग्य कालमें आत्माको फल मिल जाना उदय कहा जाता है। और उदयमें आनेका जो निश्चित काल था उसके पूर्व ही कर्म अपना फल जीवको देता है उसको उदीरणा कहते हैं। एक कर्मप्रकृति सजातीय कर्म के स्वरूपसे परिणत होना सक्रमण कहते हैं। आत्माके प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानंत कर्म आकर दूध और पानीके समान आत्म प्रदेशसे मिल जाना बंध है और संपूर्ण कर्म आत्मासे अलग होकर आत्मा पूर्ण शुद्ध स्वरूपधारक होता है वह मोक्ष है इस प्रकार वार २ विचार करना विपाकविचय है।

अर्थ—यह जगत् अघोलोक, मध्य लोक व ऊर्ध्वलोक ऐसा तीन प्रकारका है. वेत्रासन, झल्लरी और मुदंगके समान क्रमसे तीन लोकोंका आकार है इनका वार वार विचार करना संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है इन ही धर्मध्यानमें अनुप्रेक्षाओंका भी अन्तर्भाव है.

कास्ता अनुप्रेक्षा इत्याशक्त्यामधुवादीऽनुप्रेक्षा निरूपयत्युत्तरप्रयत्नेन—

अद्भुतमसरणेमेगत्तमणसंसारलोयमसुद्धत्ते ॥

आसवसंवरणेज्जर धम्म बोधि च चित्तिज्ज ॥ १७१५ ॥

लोगो विलीयदि इमो केणोव्व सदेवमाणुसत्तिरिक्खो ॥

रिद्धीओ सव्वाओ सिविणयसदंसणसमाओ ॥ १७१६ ॥

अधुवाशरणेकान्यजन्मलोकविसूचिका ॥

आसव. संवरञ्चिन्त्यो निर्जराधर्मवोधयः ॥ १७१७ ॥

डिंडीरपिंडवल्लोक. सकलोऽपि विलीयते ॥

समस्ता संपदश्चात्र स्वप्नभूतिसमागमाः ॥ १७१८ ॥

विजयोदया—लोगो विलीयदि इमो लोको विलयमुपपत्ति । किमिव केणोव्व केनवत् । सदेव माणुसत्तिरिक्खो देवेमोऽनुप्रेक्षिर्गमश्च समन्वित इत्यनेन लोकत्रयस्यापि निनाशितामिहिता । रिद्धीओ सव्वाओ ऋद्धय सर्वा । सुविणगदंसणसमाओ स्वप्नप्रज्ञानसमा । ननु लोगो विलीयदि इत्यनेन सर्वस्यानित्यता व्याख्याता, ऋद्ध्यादयोऽपि लोकातर्भूता इति किमर्थं भेदोपन्यास ? । अत्रोच्यते । समुदायस्यावयवात्मकस्यावयवानित्यतामन्तरेण तदनित्यता न सुखेनावगम्यत इति भिदोपन्यस्यते ॥

अनुप्रेक्षा अधुवादिविषयत्वेन द्वादश चित्तयेदित्याह—

मूलारा—अण्ण देहादमनांभंद । असुइत्त अशुचित्त्व । एता विजयो नेच्छति । अधुनानुप्रेक्षा त्रयोदशगाथाभिरनुप्रेक्षते तत्र गार्थाद्धेन—

समुदायस्यानित्यता निरूप्योत्तरप्रवचनेन तदन्तर्गतावयवानित्यता भावयति—

मूलारा—सिविणयसदंसणसमाओ स्वप्नज्ञानसमाना ॥



अब अधुवादि अनुप्रेक्षाओंका सविस्तर वर्णन करते हैं—

अर्थ—अधुव, अशरण एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आसव, सवर, निर्जरा, धर्म और बोधि ऐसे चार अनुप्रेक्षाओंका भी चिंतन करना चाहिए

अर्थ—देव, मनुष्य और तिर्यच सहित यह जगत् फेनके समान नष्ट होता है मव ऋद्धिया भी स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके समान नष्ट होती है शंका—सर्व लोकका नाश होता है इस कथनसे ही सर्व पदार्थोंकी अनित्यता सिद्ध हो गई अतः ऋद्धि भी लोकान्तर्भूतही हैं उनके नाशका वर्णन करनेकी क्या आवश्यकता थी? क्यों भेदरूपसे उनका वर्णन किया गया है? उत्तर—समुदाय जो कि अवयवी हैं उसकी अनित्यता अवयवकी अनित्यता दिखावे बिना अवयवी भूत पदार्थोंकी अनित्यता सुखसे ध्यानमें नहीं आसकती हैं इस लिये भेदोपन्यास किया है

द्रव्यगतो लोभो महान् प्राणभृता तन्मूलत्वाद्द्वियसुखस्याप्राणानप्यय त्यजति द्रव्यनिमित्तमतस्तदनित्यतामेव प्रागुपदर्शयति । निस्सगतामात्मन सपानयितु ॥

विज्जूव चंचलाहं दिट्ठपण्डाहं सव्वसोकस्वाह ॥

जलबुबुदोव्व अधुवाणि हुंति सव्वाणि ठाणाणि ॥ १७१७ ॥

दृष्टनष्टानि सौख्यानि स्फुरितानीव विद्युताम् ॥

बुद्बुदा इव निःशेषा नश्वराः सन्ति गोचराः ॥ १७८४ ॥

विजयोदया—विज्जूव चंचलाहं विद्युदिव चंचलानि, दिट्ठपण्डाहं दृष्टपण्डानि, सव्वसोकस्वाह सर्वोणि सुखानि अभिमतरूपादिविषयपंचकस्य प्रपचस्य सन्निधानादुपजातानि यानि मन समुत्थानि सर्वेणा वा मानवाना तिरश्चा दिवि जाना वा सुखानि सुखलपटतया जन क्लेशानिशतनिपातमपि सहते, तानि च नीरभरि, नतसभासगीरधीरापाव-नीलनीरदोदरपरिस्फुरच्छिह्नेव, पतेनानित्यतादोषोत्पकटेन सासारिकसुखपराडुसुखतोपायो निगदित । जलबुबुदोव्व जलबुबुदुदवत् । अधुवाणि अधुवाणि । हुंति भवति । ठाणाणि सव्वाणि सर्वोणि स्थानानि । तिष्ठत्येतेषु जीवा इति स्थानानि । ग्रामनगरपत्तनादीनि ॥ इव नदीय स्थान अत्राह वसामीति माहृथा सकल्पं । तानि अनित्यानि नित्यबुद्ध्या परिगृहीतानि विनाशे संक्लेशशतान्यानयतीति कथित ॥ अथवा तिष्ठत्यासिन्सकृतविचित्रक्रमोदयात्माणिन इतींद्रत्व, चकलंडनत्व, गणा-धिपतित्व वा एतानि स्थानान्यनित्यानि ॥

मूलारा—सन्वसोक्त्वाह मन पष्ठचक्षुरादिविषयानुभवप्रभवानि देवमानुषतिर्यक्स्वबंधीनि वा सुखानि । ठाणाणि इंद्रत्वादपदानि ग्रामपुरपत्तनादीनि वा ।

प्राणिओंको सबसे बड़ा द्रव्यहीका लोभ है द्रव्य लोभसे इंद्रिय सुख की प्राप्ति होती है द्रव्यके निमित्त प्राणोंको भी त्यागते हैं इस लिए द्रव्यकी अनित्यताका आचार्य प्रथमतः दिग्दर्शन करते हैं इस दिग्दर्शनसे द्रव्यमें आत्मा निःसंग होता है—

अर्थ—सब प्रकारके सुख विजलीके समान दौलकर नष्ट हो जाते हैं इष्ट रूपादिक पांच प्रकारके विषयोंके सानिध्यसे मनसे मनुष्य तिर्यच और देवोंके सुखमें पाणी सुखलपट होकर लुब्ध होता है इस सुखके लिये हजारों क्लेश देववाली आपत्ति भी भोगनेके लिये जीव तयार होते हैं परंतु ये सुख जलसे नम्र और गंभीर गर्जना करनेवाले निल मेंधोंमें चमकनेवाली विजलीके समान चंचल हैं, जहां जीव निवास करता है ऐसे ग्राम, नगर, पत्तन वगैरह स्थान अक्षुब्ध अर्थात् नाशवंत हैं यह मेरा स्थान है, मैं यहां रहता हूं ऐसा मनमें तू संकल्प करना छोड़ दे क्यों कि ये स्थान उत्पन्न होते हैं अथवा इस जगत्में अपने किये हुए विचित्र कर्मके उदयसे सैकड़ों संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं परंतु इनमें नित्यपनका संकल्प करके स्वीकार करनेपर उनका नाश होनेसे

ना, चक्रवर्तिपना, गणधरत्व ऐसे स्थानोंकी प्राप्ति होती है परंतु इन स्थानोंकी अनित्यता ही है।

णावागदाव बहुगइपधाविदा हुंति सन्वसंबंधी ॥ १७१८ ॥

णावागदाव बहुगइपधाविदा हुंति सन्वसंबंधी ॥

सन्वेसिमासया वि अणिच्चा जह अब्मसंघाया ॥ १७८५ ॥

नानादेशागताः पांथा नौगता इव बांधवाः ॥ १७८५ ॥  
गत्वरा आश्रयाः सर्वे शारदा इव नीरदाः ॥ १७८५ ॥  
विजयोदया—णावागदाव जलयानपानारूढा इव बहुगदिपधाविदा हुंति सन्वसंबंधी, विचित्रशुभाशुमपति-  
गामोपात्तगति कर्मवशात्तदुपनोयमानदेवमानवनारूढा इव बहुगदिपधाविदा हुंति सन्वसंबंधी, सर्वेऽपि । एतेन  
देयुताया अनित्यतोक्ता । उपात्तगत्यपरित्यागे बहुता स्थिरा भवति, उपात्ता चेत् त्यक्तान्या च गर्हता पितृपुत्रादीना गत्य-  
तरमुपगतानामपि बंधुत्वे खजनपरजनविवेक एव न स्यादिति मन्यते । सन्वेसिमासया वि सर्वपामाश्रया अपि  
यानाश्रित्य प्राणिनो जीविदुसुत्सहते तेव्याश्रयाः स्वामी भृत्य पुत्रो भ्रातेत्येवमादयोऽनित्या यथा अब्मसंघादा अत्रसंघा इव ॥

मूलारा—णावागदाव यानपानारूढा इव । बहुगदिपधाविदा विचित्रशुभाशुमपतिगामोपात्तगति कर्मवशात्तदुपनोयमानदेवमानवनारूढा इव बहुगदिपधाविदा हुंति सन्वसंबंधी, विचित्रशुभाशुमपति-  
गामोपात्तगति कर्मवशात्तदुपनोयमानदेवमानवनारूढा इव बहुगदिपधाविदा हुंति सन्वसंबंधी, सर्वेऽपि । एतेन  
देयुताया अनित्यतोक्ता । उपात्तगत्यपरित्यागे बहुता स्थिरा भवति, उपात्ता चेत् त्यक्तान्या च गर्हता पितृपुत्रादीना गत्य-  
तरमुपगतानामपि बंधुत्वे खजनपरजनविवेक एव न स्यादिति मन्यते । सन्वेसिमासया वि सर्वपामाश्रया अपि  
यानाश्रित्य प्राणिनो जीविदुसुत्सहते तेव्याश्रयाः स्वामी भृत्य पुत्रो भ्रातेत्येवमादयोऽनित्या यथा अब्मसंघादा अत्रसंघा इव ॥

यमानेवनारुमानवर्तियकुत्तारव्यगतिपरिणामग्रहणाय प्रभूतमार्गगमनाय च कृतप्रयाणाः । मन्वधी वांचना । आम्भया या-  
नाश्रित्य प्राणितो जीवितुमुत्सहंते ते आश्रयाः । आमी, श्रुत्य पुत्रो भ्रातेत्येवमादयः ।

अर्थ—नानाप्रकारके शुभाशुभपरिणामोंमें जिनको भिन्न २ गतिबंध हुआ है, ऐसे अपने वंशुगण कर्मके  
वश होकर देवगति, मनुष्यगति, तिर्यचगति और नरकगति एतत्स्वरूप पर्याय ग्रहण करने के लिये प्रयाण करने हैं  
इसलिये वंशुगण भी अनित्यही हैं, उनमें ऊपर मोहयुक्त होना अयोग्य ही है, जिस गतिका यद्य हुआ है उसको  
त्यागेनका सामर्थ्य इनमें यदि होता तो ये स्थिर माने जाते थे परंतु जो गति ग्रहण की थी उसको छोड़कर जीव  
अन्य अन्य गति ग्रहण करते जाते हैं, पिता पुत्रादिक पूर्व पर्याय छोड़कर अन्यगतिको प्राप्त करते हैं तो भी  
उनको वंशु ही माना जायगा तो ये भरे स्वजन हैं ये परजन हैं इनका विवेक ही नहीं रहेगा

संवासो वि अणिच्चो पहियाणं पिण्डुणं व छाहीणु ॥  
पीदी वि अन्धिरागोव्व अणिच्चासव्वजीवाणं ॥ १७१९ ॥

छायानामिव पांथानां संवासो नश्वरोंगिनाम् ॥

चक्षुषामिव रागोऽत्र न स्नेहो जायते स्थिर ॥ १७८६ ॥

विजयोदया—सवासो वि सत्तावस्थानमपि यधुभिर्भेदी पजिज्जेय, चणिच्चो अनित्य । पहियाण पिण्डु इ-  
च्छाहीण नानादिदेशागताना पयिकाना भिन्नस्थानयोगिता मार्गापकटस्थितनिश्चितरगदिपलाशालकारयिनतशा-  
खाकरशतनिवारितश्रमरदिमप्रसरनश्वरीतलाविरत्यिपुलछायाया पाथाना ममाल इय । पीदीवि प्रीतिरपि । अन्धि-  
रागोव्व प्रणयकलहपासुपातदृष्टितप्रियतमालुडन्पाटीनोदग्धचललोचनगतग इय अनित्या सर्वजीवाना । तथासुप्रि-  
यानरणविपक्किक्काप्रणयलोचनप्रलय मंविदघातीति प्राणभ्रतामनुभवसिद्धमेव ॥

मूलारा—संवासो वंशुभिन्नपरिजनादिभिः सत्तावस्थानं । पहियाणं नानादिदेशागताना भिन्नस्थानयागिता  
पाथाना । पिण्डण मीलणं । छाहीण मार्गापकटस्थयुक्तावितानछायाया । अन्धिरागोव्व प्रणयकलहपासुपातदृष्टितप्रियतमा-  
लुडन्पाटीनोदग्धचललोचनगतो रागो लौहित्यं यथा ।

जिनके आश्रयमें प्राणी अपना जीवित धारण करनेमें समर्थ होते हैं वे मालिक, नोकर, पुत्र भाई वगैरह  
आश्रयस्थान भी वादलोंके समुदायके समान चचल है अतः मवसे मोह त्याग करके निःसंग होना चाहिये.

अर्थ—वंधु, मित्र और परिजनों के साथ अपना रहना भी नित्य नहीं है जैसे रास्तेमें अनेक दिशा और देशसे आये हुए पथिक भिन्न भिन्न स्थानके प्रति जानेवाले होते हैं परंतु मार्गके समीपके स्थान जो पलाश, खदिर वृक्षोंकी सूर्यकिरणों को निवारण करनेवाली विस्तृत, शीतल, विपुल छायामें क्षणपर्यंत बैठकर विश्रान्ति लेते हैं अनंतर वे भिन्न भिन्न स्थानको प्रयाण करते हैं तद्वत् मित्रादिक वंधुओंका सहवासभी अनित्य है। वाधवांकी प्रीति भी अनित्य है। प्रणयकलहरूपी धूल पड़नेसे क्षुण्ण प्राणाग्रिय स्त्रीके झुदनेवाली मछलीके समान संफेत्त आखोंमें जैसा लालपना थोड़ी देरतक रहता है वैसा मित्रादिक वंधुओंका सहवास भी थोड़ी देरके लिये है, अग्रिय आचरण रूपी विपकणसे प्रेमरूपी नेत्रका नाश होता है यह सपूर्ण प्राणिजोंके अनुभवमें आई हुई बात है।

रत्ति एगस्मि दुमे सउणाणं पिण्डणं व संजोगो ।

रत्ति एगस्मि दुमे सउणाणं पिण्डणं ॥ १७२० ॥

परिवेसोव अणिच्चो इस्सरियाणाघणारोगं ॥

संयोगो देहिनां वृक्षे शर्वर्यामिव पक्षिणाम् ॥ १७८७ ॥

अश्वश्वर्यादयो भावाः परिवेषा इव स्थिराः । पिण्डण व पिण्डितमिव सजोनो स-  
आश्वश्वर्यादयो भावाः परिवेषा इव । सगुणाण पक्षिणा । पिण्डण व पिण्डितमिव सजोनो स-  
विजयोदया—रत्ति रात्रौ । एगस्मि दुमे एकस्मिन् दुमे । सगुणाण पक्षिणा । पिण्डण व पिण्डितमिव सजोनो स-  
योनो यस्यामस्तद्रुमामिमुख तत्र वयं प्राप्स्यामोन्योन्यमित्यरुतसंकल्पाना यथाकथंचिदन्योन्यप्राप्तिरसकाला तथा प्राणभृ-  
तामपि समानकालमास्तत्रेति तानमेकस्मिन् कुलविटपेति कतिपयदिनमावीसप्रयोग । परिवेसो व परिवेष इव ।  
अणिच्च अनित्य । किं ? इस्सरियाणाघणारोग । ऐश्वर्यं प्रभुता आश्रया घन आरोग्य च ॥

मूलारा—दुमे वृक्षे । संजोगो अकृतसंकल्पाना प्राणिना एकस्मिन्कुले अन्योन्यप्राप्तिः । परिवेसो सूर्यपरिधिः ।

इस्सरियाण प्रभुत्वमाहा वा ॥  
अर्थ—जैसे रातमें एक वृक्षपर पक्षियोंका समुदाय आकर बैठता है हम सब मिलकर एक वृक्षपर निवास करोंगे ऐसा गनमें संकल्प कर वे वृक्षपर आकर नहीं बैठते हैं। रातमें निवासकर प्रातःकालमें वे वहांसे स्वेच्छासे गमन करते हैं वैसे प्राणीभी समान कालरूप वायुसे प्रेरित होकर एक कुलरूप वृक्षपर कुछदिनकालपर्यंत आकर उत्पन्न होते हैं, जैसे सूर्यके चारों तरफ परिवेश उत्पन्न होता है परंतु वह थोड़े कालतक ही टिकता है वैसे जीवोंमें आरोग्य मामथर्क, ऐश्वर्य थोड़े दिनका है।

इन्द्रियसामग्री वि अणिच्चा संझाव होइ जीवाणं ॥  
मञ्जणहं व णराणं जोव्वणमणवाड्ढिदं लोए ॥ १७२१ ॥  
जीवानामथसामग्री शंपेवास्ति चला चलम् ॥  
चिनन्धरमशोपाणां मध्याह्णं इव यौवनम् ॥ १७८८ ॥

विजयोदया—इन्द्रियसामग्रीवि इन्द्रियाणा सामान्यपि । अणिच्चा अनित्या । अधता च विरता च दृश्यत इव । मञ्जणहं व मध्याह्नवत्, णराणं जोव्वणमणवाड्ढिदं लोके नराणा यौवनमनवस्थित लोके यौवनोऽवस्थिति जन. स्लादयते, यौवनदर्प-  
निकारादेव बुध्यमानोऽपि धर्मे न प्रयतते तदनित्य मध्याह्नवत् ॥ क्षिप्रतरं व्यतिवर्तिनि यौवने को यौवनकृतोत्पीर्णमद्  
स्याच्च मनस्विनाम् ॥

मूलारा—अणवड्ढिदं क्षिप्रतरगत्यर ॥

अर्थ—इन्द्रियोंकी सामग्री भी इस जीवको अपूर्ण रहती है. कोई जीव अथा रहता है तो कोई जीव बहारा  
होता है अर्थात् संध्याकालके समान यह सामग्री अनित्य है मनुष्योंका तारुण्य अस्थिर है परंतु मनुष्य में तरुण  
हं ऐसी रस्य प्रशंसा करता है तारुण्यके अभिमानमें आकर धर्ममें तत्पर नहीं होता है परंतु तारुण्य चिरकालतक  
नहीं रहता है वह भी मध्याह्न कालके समान जल्दी नष्ट होता है ऐसे जल्दी नष्ट होनेवाले तारुण्यके विषयमें  
गर्व करना क्या बुद्धिमानोंको योग्य है? कभी भी नहीं

चदो हीणो व पुणो विट्ठदि एदि य उट्टु अदीदो वि ॥  
णटु जोव्वण णियत्तइ णदीजलमदछिदं चेव ॥ १७२२ ॥  
चंद्रमा वर्द्धते क्षीण ऋतुरेति पुनर्गतः ॥  
नदीजलमिवातीतं भूयो नायाति यौवनम् ॥ १७८९ ॥

विजयोदया—चदो हीणो व पुणो विट्ठदि नित्यराहुमुखकुहरपेशाद्वानियुपगतोऽपि निशानाथ कृष्णपक्षे  
हीयते ॥ हीनो भवति । पुणो विट्ठदि पुन शुक्लपक्षे वर्द्धते ॥ प्रतिदिनोऽपनीयमानकाल । एदि य उट्टु अदीदो वि हिमशिखिर  
वसतादयोऽतीता अपि ऋतव पुनरायाति न तु जोव्वण णियत्तेदि नेव यौवन निवर्ततेनिकातम् । तस्मिन्नेव भवे नदीजल  
मदछिदं चेव नदीजलमतिक्वातमिव न पुनरेति ॥ तद्वदि यौवनमित्येनानित्यतातिशयो यौवनस्य दर्शित ॥

मूलारा—हीणो नितराहुमुलकुहरप्रवेशाद्धानि गतः । एदि य पुनरायाति च । उडु हेमतावि ऋतुर्नश्वत्र वा ।  
णियद्वदि पुनरायाति । अदिच्छिदं अतिक्रातं । चेव यथा ।

अर्थ—हमेशा नित्य राहु के मुखमें प्रवेश करनेसे हानिको प्राप्त होता हुआ भी अर्थात् ऋणपक्षमें प्रति-  
दिन कम कम होता हुआ भी चद्र शुक्ल पक्षमें बढ़ने लगता है अर्थात् चंद्रकी एकात रूपसे हानि ही नहीं है-  
उसकी वृद्धि भी है हिम, शिशिर वसतादिक ऋतु व्यतीत होनेपर भी पुनः उनका आगम होता है परंतु तारुण्य  
वृत्तिनेपर पुनः लौटता नहीं है उसभ्रममें तारुण्यकी पुनरावृत्ति होती नहीं है जैसे नदीका गया हुआ पानी फिर  
वही नहीं आता है वैसे यह तारुण्य पुनः आता नहीं है इससे तारुण्यमें अनित्यताका अतिशय है यह सिद्ध  
होता है.

धावदि गिरिणदिसोदव आउगं सब्वजीवलोगम्मि ॥

सुकुमालदा वि हीयदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥ १७२३ ॥

धावते देहिनामायुरापगानामिवोदकम् ॥

क्षिप्रं पलायते रूपं जलरूपमिवांगिनाम् ॥ १७२० ॥

विजयोदया—धावति गिरिणदिसोदव धावति गिरिनीदीप्रवाह इव । किं ? आउग आयु । सब्वजीवलोगहि  
सर्वस्मिन् जीवलोके । सुकुमालदा वि हीयदि सुकुमारतापि हीयते । पुव्वण्ह छाही व पूर्वोदछाया इव । यथा यथोदच्छति  
तामरसवधुस्तथा तथोपसहरति छाया शरीरादीना ॥

मूलारा—पुव्वण्हछाहीव पूर्वोदछाया यथा । मूर्ध्नो हि यथा यथोदेति तथा तथोपसहरति शरीरादीना छाया ॥

अर्थ—पर्वतपरसे वटवगसे बहने वाली नदीके प्रवाहके समान प्राणियोंका आयुष्यप्रवाह शीघ्र बहकर  
समाप्त होता है. जैसे जैसे कमलबंधु सूर्य ऊपर आता है वैसे २ शरीरादिकोंकी छाया कम होती है इस सर्व जी-  
वोंके जगतमें प्राणिओंकी कोमलता भी पूर्वाह्निकी छायाके समान कम कम होती जाती है अर्थात् प्राणिओंका सौ-  
ंदर्य वृद्धावस्था आनेपर नष्ट होता है.

अवरणह्रस्वच्छाही व अट्टिदं वहुदे जरा लोणे ॥

रूवं पि णासइ लहुं जलेव लिहिदेछयं रूवं ॥ १७२४ ॥

पौर्वाहिकी यथा छाया हीयते सुकुमारता ॥

पराहिकी यथा छाया सर्वदा वर्धते जरा ॥ १७२५ ॥

विजयोदया—अवरणह्रस्वच्छाहीव अपराणह्रवृक्षच्छायेव । अट्टिदं वहुदे अस्तित्वं वर्धते ॥ क्रियाविशेषणत्वा-  
द्यपुंसकता । जरा लोणे लोके । सौरूप्यपल्लवदधानलशिखा, सौभाग्यप्रसन्नकरकावृष्टि, युवतिहरिणालीव्याघ्री, शानलोच-  
रूवंपि णासइ लहुं रूपमपि विलासिनीकटाक्षशशाशततूर्णारायमाणं, चेतोवलक्षसुस्मवसनंजने कौसुमरसाय-  
मानं, प्रीतिलतिकाया मूलं, सौभाग्यतरुफलं, कूल पूज्यताया यद्वपुं तल्लघु विनश्यति ॥ किमिव जलेव लिहिदेछयं रूवं  
जले लिखितरूपमिव ॥

मलारा—अट्टिदं वहुदे अश्रात वर्धते । लिहिदेछयं लिपितं ॥

अर्थ—दिवसके उत्तरार्धमें वृक्षकी छाया जैसी बढ़ने लगती है जरा वृद्धावस्था भी प्राप्त होनेपर प्रति दिन  
बढ़ने लगती है यह वृद्धावस्था सौंदर्य रूप कोमल कोपलपर अघीकी ज्वालाके समान आक्रमण कर उसको जलाती  
है. सौभाग्यरूपी पुष्पपर ओले की वृष्टिके समान है तारुण्यरूपी हरिणपर यह व्याघ्री के समान दूट पडती है  
ज्ञानरूपी नेत्रपर यह धूलीवृष्टिके समान है. तपरूपी कमलवनके लिये यह वृद्धावस्था वर्फके समान है, अर्थात् वृद्धपना  
तपको नष्ट करता है. यह वृद्धावस्था दीनताकी माता है. अपमानकी धाय है. मृत्युकी दूती है. भय की प्रिय सहेली  
है. इस वृद्धावस्थाकी प्राप्ति होनेपर रूपका नाश होता है यह रूप गुणसुंदर स्त्रियोंके कटाक्ष वाणोंका आश्रयस्थान  
है. मनरूपी स्पच्छ वस्त्र को रगानेके लिये कुसुमी रगके समान है. प्रीतिलताका यह मूल है सौभाग्य वृक्षका यह  
फल है, पूज्यताका यह किनारा है. ऐसा भी उत्तम रूप पानीमें लिखे हुए चित्रके समान शीघ्र नष्ट होता है.

तेओ वि इंदधणुतेजसणिहो होइ सब्वजीवाणं ॥

दिट्ठपण्ठा बुद्धी वि होइ मुक्काव जीवाणं ॥ १७२५ ॥

तजो नश्यति जीवानां निलिपधनुषामिव ॥

उत्केशानश्वरी बुद्धिर्दृष्टनष्टा प्रजायते ॥ १७९२ ॥

विजयोदया—तेजोवि इदं यणेतेजसणिहो शरीरस्य तेजोपि गैलोमीप्रियतमचापस्य तेज इव गज्जल्लज्जन नयनचेतःप्रमोदादायि क्षणेन क्षयमुपग्रजति ॥ दिष्टपण्डा दृष्टपण्डा बुद्धि सकलधनुषायात्प्रयावकुट्टप्रानतमःपटल पाटनपटीयसी, विचित्रदु सग्राहकद्वकाकीर्णकुगातिविशालनिगमाप्रवेशनिवारणोद्यता, चारित्रनिधिप्रकटनक्षमा-दीपवर्ति, सकलसपदाकर्षणविद्या शिवगतिनायिकासफली पवभूता बुद्धिरप्युक्तेवाशु नाशमुपयाति ॥

मूलारा—तेजो देहप्रभा । बुद्धि यथार्थप्रतिपत्तिः ।

अर्थ—मनुष्यके शरीरकी कांति उद्ग्रधनुष्यके समान क्षणपर्यंत नेत्रोंको लुभाती है परंतु क्षणके अनंतर नष्ट होती है. संपूर्ण पदार्थ का यथार्थ स्वरूप दिखानेवाली, अज्ञानांधकारके समूहको नष्ट करनेवाली, अनेकदुःखरूपी मगरोंसे भरी हुई कुगातिरूप विशाल नदीमें जीवके प्रवेशको रोकनेवाली, चारित्ररूपी निधिको प्रकट करने को दीप के समान संपूर्ण सपत्तिको उत्पन्न करनेवाली, मंत्रविद्याके समान, मुक्ति लक्ष्मी के द्रुतिके समान ऐसी बुद्धि भी व्यभिचारिणी स्त्रीके समान मनुष्यसे निदा लेती है

अदिवडइ बलं खिपं रूवं धूलीकदंबरं छाए ॥

वीचीव अद्दुवं वीगियपि लोगम्मि जीवाणं ॥ १७९६ ॥

बलं पलायते रूपमिव रथ्यागतं रजः ॥

जलानामिव कल्लोलो वीर्यं नश्वरमग्निनाम् ॥ १७९३ ॥

विजयोदया—अतिवडइ बल खिप क्षिप्रमतिपतति बल, रूवं धूलीकदंबरं छाए रथ्याया पासुरचितरूपमिव ॥ वीचीव चण्डप्रभजनाभिघातोत्पापिततरलतरगमलिव, अद्दुवं अशुभं । वीरिय वीर्यमपि । जीवानां शरीरस्य दृढता बलं-वीर्यमात्मपरिणाम ॥

मूलारा—अदिवडइ नश्यति । धूलीकदं रथ्याया पासुरचित रूपमिव । वीची लहरी । अद्दुवं अशुभं । लोगम्मि लोक प्रसिद्ध ।

अर्थ—रास्तेमें वायुमें धूली ऊठकर उसकी बलुलाकृति उत्पन्न होती है. परंतु वह शीघ्र ही नष्ट होती है वैसे मनुष्यका बलभी जल्दी नष्ट होता है बड़े मछली क्षयरोगसे ग्रस्त होते हैं. मनुष्योंका पराक्रम भी प्रचंड हवाके



आधातोंसे उठी हुई लहरियोंकी पंक्तिके समान नष्ट हो जाता है. शरीरकी दृढ़ता को बल कहते हैं, आत्माके अदम्य उत्साह को-धैर्य को वीर्य-पराक्रम कहते हैं

हिमणिचओ वि व गिहसयणासणभंडाणि होंति अधुवाणि ॥

जसकिन्ती वि अणिच्चा लोए संझब्भरागोत्व ॥ १७२७ ॥

हिमणुजा इवानित्या भवन्ति स्वजनादयः ॥

जंतुनां गत्वरी कीर्तिः संध्याश्रीरिव सर्वथा ॥ १७२४ ॥

मूलारा—वेव इव । जसकिन्ती यशःकीर्तिः । संझब्भ दिनतमेवः ।

अर्थ—वर्ष के संसुदायके समान घर, शय्या, आसन, पात्र वगैरह पदार्थ नश्वर हैं और यशकी प्रसिद्धि

भी संध्याकालीन मेघके समान नश्वर है.

स्मरणोत्तरगाथा—

किह दा सत्ता कम्मवसत्ता सारदियमेहसरिसमिणं ॥

ण मुणंति जगमणिञ्चं मरणभयसमुत्थिया संता ॥ १७२८ ॥

इदं जगच्छारदवारिदोपमं न जानते नश्वरमंगिनः कथम् ॥

यमेन हंतुं सकला पुरस्कृता मृगाधिपेनेव मृगा बलीयसा ॥ १७२५ ॥

इति अधुवम् ॥

विजयोदया—किह कथं तावत् । अणिच्च जग ण मुणत्ति जगद्वित्यं न जानति । के सत्तादीं सोदति स्वरुतपापव-  
शात्तासु तासु गोलिब्विति सत्या. । सारदिगमेघसरिसमिणं शरदृतुसमुत्पन्न नैकवर्णविचित्रसंस्थानजीमूतमालासहस्रं ।  
मरणभयसमुच्छिदा संता मरणं विप वृपतमजीवितस्य सरित्कृत प्रियवियोगादारकस्य, शोकाशेनेजलदपटल,  
अयस्कातोपल उ छलोहाकर्षणे, वधुहृदयोपलाना प्रावकमौपयमायतापदामायतनं एवभूतमरणभयसमुत्थिता सत ॥  
एवमन्ति-तामशेषवस्तुविषया ध्येयीकृत्य प्रवर्तते धर्म्यं ध्यान ॥ अष्टद्व ॥

भोगार्थकर्मव्यग्राणा प्राणिना जगदनित्यत्वाद्भान साश्चर्यमनुशोचति—

मूलारा—दा तानत् । वाक्यालंकारे । सत्ता प्राणिनः । कर्मपसत्ता कृप्यादिष्वासत्ता । सारदा शरत्प्रभवः ।

समीछिदा आच्छादिता अपि । उक्त च —

कर्मसत्ताः कथं सत्ताः शरन्मेघसमं जगत् ॥

सर्वमेतन्न जानन्ति मृत्युभीतिर्युता अपि ॥

अपिच— कथमिव दुरितज्वरणो भोगामत्ताः शरदृघनप्रतिम ॥

जानन्ति जगदनित्यं न जन्मिनो मरणभीतिमृत् ।

अनित्यताश्लेष्का ॥  
अर्थ—ये सर्व प्राणी मृत्युमयसे युक्त होकर भी शरत्कालके मेघके समान इस विनश्वर जगत् को क्यों पाते नहीं जानते हैं यह बड़ा आश्चर्य है ये सर्व प्राणी अपने किये पापों के आधीन होकर अनेक योनियोंमें दुःख पाते रहते हैं इसलिये 'सीदंतीति सत्ताः' अर्थात् सत्व ऐसे अन्वर्थक नामको धारण करते हैं शरदृत्तमें उत्पन्न हुए अनेक रंगोंको धारण करनेवाले, अनेक आकृति युक्त परतु नश्वर ऐसे मेघसमूहके समान यह जगत् नश्वर हैं, प्राणियों को मरण विषके समान अग्निय है शोकरूपी वज्रपातको उत्पन्न करनेवाला मानो मेघ पटल ही है, दुःखरूप लोहको लीचने के लिये मरण लोहचुम्बके समान है, वधुओके हृदयरूपी पत्थरको द्रवयुक्त करनेमें औषधीके समान है, यह मरण दीर्घआपत्तियों का घर है, इस प्रकार मरणमयसे युक्त सत्पुरुष संपूर्ण विषय अनित्य धर्मसे युक्त है ऐसा समझकर उन वस्तुओंको धर्मव्यानका विषय करते हैं।

अशरणताकथनायोत्तरप्रबंध । कर्मण्यतामपरिणामोपनीतचिरकालस्थितीनि सच्चिद्वित्येवकालमावाख्य सहाकारिकारणानि यदा फलमशुभं प्रयच्छति तदा तानि न निवारयितुं कश्चित्त्वमर्थोऽस्ति तेनाशरणोऽस्म्यहमिति चिंता प्रयत्नं कार्य इत्याचष्टे—

णासदि मदी उदिण्णे कम्मणे य तस्स दीसदि उवाओ ॥

अमदंपि विसं सच्छं तणं पि णीयं वि हुंति अरी ॥ १७२१ ॥

कर्मोदये मतियीति नोपायो विद्यतेऽङ्गनाम् ॥

सुधा विपं तृणं अखं बंधुः शत्रुश्च जायते ॥ १७९६ ॥

विजयोदया—णासदि मदी नश्यति मति । उद्विण्णे कस्मे उदीर्णे कर्मणि । बुद्धिद्विधा स्वाभाविकी आगमभया च सा द्वयी यस्यासौ हितमवैति नेतरः ॥ उक्तं च—द्विधेह बुद्धिं प्रवदति संत स्वाभाविकीमागमसंभवा च । बुद्धिद्वयी यस्य शरीरिण स्यात् द्रष्टुं हितं सोलमल न चान्य ॥१॥ स्वाभाविकी यस्य मतिर्विशुद्धा, तीर्थादवासं न तु शास्त्रमस्ति द्रष्टुं हितं धर्ममसौ न शक्नो भ्राया विना रूपमिवायनघ ॥२॥ तीर्थादवासं श्रुतमस्ति यस्य स्वाभाविकी नास्ति मतिर्विगु-द्धा, श्रुतस्य नाप्नोति फलं स तस्य दीपस्य हस्तेऽपि सतो यथाय ॥ ३ ॥ किं दर्पणेनावृतलोचनस्य विद्वानभोगस्य धर्मेण वा किं । शस्त्रेण किं वा युधि भीरुकस्य तथैव किं मंदमेतं श्रुतेन ॥ ४ ॥ ईदृशी बुद्धिर्नश्यति ज्ञानावरणाख्ये कर्मण्युद्यमुपागते । तच्च ज्ञानावरणं यस्माति जतुर्ज्ञानिना ज्ञानस्य ज्ञानोपरकरणानां च द्वेपाद्विहवाहु-पथात् मात्सर्याद्विघ्नकरणादासादनादुपणात् ज्ञानोदीर्निग्रहकरणदकाले पठनात् पेरिद्रियोपयातकरणादजित, अवग्रहेहृत्वायधारणाविकल्प मतिज्ञानं श्रुतादिकं वा नाशयति ॥ उक्तं च ॥ अवग्रहीतुं च तथेहिनुं च सविहितुं धारयितुं च सम्यग् । नाल भवत्यर्जितवानपुण्य कर्मोदयं ज्ञानवृत्तेर्निमित्तं ॥ १ ॥ अंधश्च पश्यन् वधिरश्च शृण्वन् जिह्वा विना सौरसतास्तथासन् । त्वगीतेय सत्यपि विष्वगेव न योविशेषान्विषयेषु वेत्ति ॥ २ ॥ एकोद्विय-र्द्दीद्रियता भवेषु स त्रीद्रियत्वं चतुरिद्रियत्वं । तेनावृत कर्ममहाबुदेन प्राप्नोति जीवो विमनस्कता च ॥ ३ ॥ द्रष्टुं हितं श्रोतुमयेहितुं च कर्तुं च दातुं विधिना च भोक्तुं ॥ स्वकर्मणा तेन नरो वृत्तस्सन् न बुध्यमान पशुनैति साम्यं । ४ ॥ स्वबुद्धिमात्रमपि शक्यमाणु श्रेय समीपस्थमिह्यायविज्ञानं । सुदूरसंस्थं च श्रुताभिगम्य स केन विद्यात्परलोकपथ्यं ॥५॥ महागुह्यभीमतं प्रवेशात् सदाख्यगाथाभसि मज्जनाच्च । वनाखिर चारकरो वनाच्च स्यादेहित कष्टरोऽज्ञभाव ॥ ६ ॥ तम'प्रवेशोभसि मज्जनं च स्याद्दुःखच्छ्वारकरोयनं च ॥ जाताविहृत्तत्र भवात्स्वनतानज्ञानजं दुःखमनुप्रयाति ॥ ७ ॥ नालं विशालं नयनं तृतीयं श्रुतं च मत्पारहितो ग्रहीतुम् ॥ अंधोपि यस्मिन् सति याति मार्गे क्षेमं शिवे मोक्षमहापुरस्य ॥८॥ एवं भूतामश्रतामापादयति ज्ञानावरणं न किंचित्तन्निवारणक्षमं शरणमस्ति ॥ न य तस्स दिस्सदि उवाड, नैव तस्य कर्मणो निवारणे उपायो दृश्यते । असंखेयस्य कर्मण उदयात् अमदंदि विस् होदि अमृतमपि विष भवति । तणमपि सच्छ दणमपि शस्त्रं भवति । णीया वि य होति अरी बंधवोपि शत्रवो भवति ॥

एवमशेषवस्तुविषयामनित्यता ध्येयीकृत्य प्रवर्त्यमानं निर्वर्ण्य साप्रतमशरणता तद्व्येयमाषाधामानामष्टादशगाथा-भिर्भाविधितुमुपदिशति । तत्र कपाथावेशवशाज्जीवेन तद्व्यातिकर्मणि द्रव्यक्षेत्रादिसहकारिणसन्निधानादुद्भूयोद्भूय कटु-तरमात्मफलं प्रयच्छंति न कश्चिन्निवारयितुं शक्नोति इत्यहमस्मिन्नशरणोऽस्मीति चिन्ताप्रबंधो विधेय इति समग्रः—

मूलारा—मदी अवग्रहादिमतिज्ञानामाप्तोपदेशप्रभवं श्रुतं च । तद्व्येयोभागेव हि हितमहितं वा जानाति नान्य-था । उक्तं च—

द्विधेह बुद्धि श्रवदन्ति संतःस्वाभाविकीभागमसम्भवां च ॥

बुद्धिद्वयी यस्य शरीरिणःस्यात् द्रष्टुं हितं सालमल च नान्यः ॥

ईदृश्यपि द्वितयी बुद्धिर्ज्ञानावरणविशेषे कर्मण्युदिते सति नश्यति । तस्य तत्तादृग्वुद्धिविध्वंसनोद्यतस्य कर्मणो निवारणे । उवाचो प्रतीकारो । लोके च न नश्यते इत्यशरणं बुद्धिविध्वंसि कर्मोद्यत्वं भावयेत् । सर्वं पुरुषार्थसिद्धिनिवध-  
नत्वादबुद्धेः प्रधानतमत्वात्तद्विधातिकर्मातिवार्यताभावना प्रमुपदिष्टा । अमदपीत्यादि सद्देयात्यकर्मण्युदीर्णे सति इति  
सबधः ।

अशरणता भावनाका मविस्तर वर्णन आचार्य करते हैं ज्ञानावरणादिकर्म आत्मपरिणामोंसे उत्पन्न होते हैं कपायसे इन कर्मोंमें अधिक स्थिति पड़ती है, जग क्षेत्र, काल भाव वगैरह कारण आकर मिलते हैं तब अशुभ फल आत्माको इनसे मिलता है, तब इन कर्मोंका निवारण करनेमें कोई भी समर्थ नहीं होता है, इस वास्ते में अशरण हूँ ऐसा बार बार विचार करना योग्य है ऐसा आचार्य कहते हैं —

अर्थ—कर्मका उदय आनेपर विचार युक्त बुद्धि नष्ट होती है, अन्नग्रह ईहा इत्यादिरूप मति ज्ञान और और आपसे उपदेशमे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञान इन दोनों से मनुष्य प्राणी हित और अहितका स्वरूप जान लेता है अन्य उपायसे हिताहित नहीं जाना जाता है, शास्त्रों में इनका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

१ सत्पुरुष स्वाभाविक बुद्धि और आगमजन्य बुद्धि ऐसे बुद्धिके दो भेद मानते हैं, जो मनुष्य इन दो बुद्धिओंको धारण करता है वही अपना हित जाननेमें समर्थ होता है अन्य समर्थ नहीं होता है,

२ जिसकी स्वाभाविक बुद्धि तो निर्मल है परतु गुरुके मुखमे जिसने शास्त्राध्ययन नहीं किया है वह पुरुष जैसे नेत्रयुक्त मनुष्य रूपको देखकर भी भापके विना उसका वर्णन नहीं कर सकता है वैसे हितकर धर्मका स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है,

३ जिसको शास्त्रज्ञान तो है परतु स्वाभाविक निर्मल बुद्धि नहीं है वह श्रुतज्ञानका फल जो हित उसको नहीं प्राप्त कर सकता जैसे दीप हाथमें लेकर भी अथा पुरुष अपनी इच्छित वस्तु नहीं प्राप्त कर सकता है,

४ जिसने अपना मुह वस्त्रसे ढक लिया है उसको दर्पणकी क्या जरूरत है, जो दान देता नहीं और भोगता भी नहीं उसको धनकी क्या अम्शकता है ! जो डरपोक है युद्धमें वह पुरुष शस्त्र लेकर करेगा ही क्या ? वैसे जिसकी स्वाभाविक बुद्धि नहीं है वह शास्त्रसे अपना हित साध्य नहीं कर सकेगा

५ ज्ञानावरण कर्मका उदय आनेमें उपयुक्त शुद्धि नष्ट हो जाती है ज्ञानी पुरुष, ज्ञान और उपकरण इनका द्वेष करना, इनको छिपाना इनका नाश करना. इनके साथ मत्सरभाव रखना, इनमें निज उत्पन्न करना इनको अयोग्य वतलाना, इनमें दोष लगाना, इनको पीडा देना, अज्ञानमें अध्ययन काना दुमरो की इंद्रिया विद्या-इना इत्यादि कारणोंमें ज्ञानावरणीय कर्मका बंध होता है यह बंध अवग्रह ईहा, अवाय आर धारणा रूप मतिज्ञान अथवा श्रुत ज्ञानादिकका नाश करता है.

१ ज्ञानको आच्छादन करनेवाला क्रम जग यह अणुगण जीव बंध लेता है तम अवग्रह ईहा, अवाय और धारण ऐसे चारों ज्ञानोंमें भी पदार्थोंका मच्चा स्वरूप जानने में असमर्थ होता है

२ जो मनुष्य पदार्थोंके विशेषधर्मोंको नहीं जानता है वह नेत्रवान होकर भी अंधा है, सुनता हुआ भी बहिरा है, और जिन्हा युक्त होनेपर भी रसोंको नहीं जानता है ऐसा समझना चाहिये

३ कर्ममें ढका हुआ यह कभी ऐकेंद्रिय, कभी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कभी असंजी पंचन्द्रिय बनता है

४ कर्मोच्छादित यह जीव हितकर वस्तु को न देख सकता है न सुन सकता है और न उसका विचार करनेमें समर्थ होता है कर्मके बंध होकर भी न दान देता है और न धनका स्वयं उपयोग ले सकता है इसलिये ऐसा कर्मोच्छादित जीव पशुके बराबरीका समझना चाहिये

५ अल्प बुद्धि होनेसे मनुष्य अपने समीपका भी हितकर पदार्थका स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है. फिर जो श्रुतज्ञानसे ही जाना जाता है, जो परलोकमें हित करनेवाला है ऐसे पदार्थका स्वरूप वह अज्ञ कैसे जानेगा?

६ महाभयानक गुहाके मघन अथकारमें प्रवेश करनेसे, आगाध पानीमें प्रवेग करनेसे, दृढ़ ऐसे कैदखानोंमें डाला जानेमें प्राणीको क्रुष्ट दायक अज्ञानका अनुभव आता है

७ अंधकारमें श्रवण, पानीमें दृवना, कैदखानोंमें डाला जाना इन बातोंसे प्राणिओंको एक जन्ममें-ही कष्ट होगा परंतु अज्ञानजन्य दुःख अनंत भवतक प्राणिओंका साथ नहीं छोड़ता है

८ जो पुरुष स्वाभाविक बुद्धिसे रहित है वह विशाल श्रुतज्ञान जो कि मनुष्यकी तीसरी आंख है धारण करनेमें असमर्थ होता है.

जिसको यह श्रुतज्ञान है वह नेत्रोंसे अंध होनेपर भी मोक्ष नगरीके कल्याणकारक मार्गमें सुखसे जा सकता है.

यह ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारका अज्ञान उत्पन्न कर देता है कि उसको इटानेमें कोई समय नहीं है. इसका निवारण करनेमें कोई उपाय है नहीं असातावेदनीय कर्मके उदयसे अमृत भी विष होता है और तृण भी छुरीका काम देता है बंधु भी शत्रु बन जाते हैं

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे किं स्यादित्याह—

मुक्त्वस्स वि होदि मदी कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ ॥

णीया अरी वि सच्छं वि तणं अमयं च होदि विसं ॥ १७३० ॥

अस्ति कर्मोदये बुद्धिरुपायमवलोकते ॥

विपक्षो जायते बंधुः शत्रुं पुष्पं विषं सुघा ॥ १७१७ ॥

विजयोदया—मुक्त्वस्स वि होदि मदी मूलस्यापि भवति मति । कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ कर्मोपशमे ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे सति उपायो दृश्यते । क्षमत्वपुण्यकर्मोदयात् । णीया अरी वि शत्रवोऽपि वंघको भवति मच्छति तणं शस्त्रमपि तृणं भवति, अमद होदि विसं विषमप्यमृतं भवति सद्दयोदये ॥

तद्विपर्ययदर्शनात्तत्कर्मोनिवार्यता दृढयति—

मूलात्—मुक्त्वस्स वि यथाजातस्य । कम्मोवसमे तथाविधमतिज्ञानावरणक्षयोपशमे सति । उवाओ कर्मोपशमस्य साधन । च विसं विषमपीत्यर्थः ॥ असद्दयोदयामात्रे सद्दयोदये वा सति द्विपदादयोऽपि यावदादिमत्वं भजति । तदावकरणक्षपणप्रणुणकर्मण उपशमे उदये वा उपायो लोके शस्त्रे च प्रतीयते इति समन्वयः ॥

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमसे क्या होता है इसका विवेचन—

अर्थ—ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होनेपर मूल भी विद्वान् होनेमें देर नहीं लगती है. ज्ञानावरण क्षयोपशमसे संकटसं पार पढ़नेका उपाय ध्यानमें आ सकता है क्योंकि उस समय पुण्यकर्मका उदय होजाता है. शत्रु भी मित्र होते हैं. शस्त्र भी तृणतुल्य निःसार होता है अर्थात् शस्त्रप्रहार भी पुण्यमालाके समान अनुभवमें आ जाता है. निष भी अमृत होता है.

पाओदण्ण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स ॥

दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण ॥ १७११ ॥

अर्थ पापोदये पुसो हस्तमातोऽपि नउयति ॥

दूरतो हस्तमायाति पुण्यकर्मोदये सति ॥ १७१८ ॥

विजयोदया—पाओदयेण लाभानरायस्य रूपेण उदयेन, अत्र गो ह्यय पत्तो वि णस्सदि णरस्स हस्तमातोऽपि व्यथो नउयति पुस । दूरादो वि दूरतोऽपि । सपुण्णस्स पुण्यपत्त । एदि अत्थो आयात्यर्थो । अयत्तेण अयत्नेन ॥

नद्वर्द्धविज्ज्वमपुत्रापि तत्कारणकर्मोत्तामिति न्येयतेनोपदिशति—

मूलरा—पाओदयेण लाभानरायमिपांन । सपुण्णरम सदेशोदयवत् । अयत्तेण यत्न विनापि ।

अर्थ—लाभानराय कर्मका उदय आनपर द्रव्य हस्तगत होकर भी नष्ट होजाता है और पुण्यपानको प्रयत्न के बिना ही दूर देशमें भी धन प्राप्ति होती है

पाओदण्ण सुट्ठु वि चेट्ठतो को वि पाउणदि दोसं ॥

पुण्णोदण्ण दुट्ठु वि चेट्ठतो को वि लहदि गुण ॥ १७३२ ॥

नर पापोदये दोषं यत्तमानोऽपि गच्छति ॥

गुण पुण्योदये श्रेष्ठ यत्तनहीनो पि नत्वन ॥ १७२० ॥

विजयोदया—पाओदण्ण अयजस्तोर्नगदयन । सुट्ठु वि चेट्ठतो मम्यक चेष्टमान । कोवि पाउणदि दोसं कश्चिद्व्याप्नोति दोष । पुण्णोदयेण पुण्यरूपेण उदयेन । दुट्ठु वि चेट्ठतो यत्किञ्चिदकार्यं कुर्वन्पि । कोवि लभदि गुण कश्चिद्व्यभते गुणम् ॥

मूलारा—पाओदण्ण अयजःकीर्तिकर्मोपादेन । सुट्ठुवि सम्मगपि । दोस उपलंभं । सुट्ठु वि चेट्ठतो अत्यर्थं विरुद्ध चेष्टमानो यत्किञ्चित्कार्यं कुर्वन्पि हलन् । गुण श्लाभा ।

अर्थ—पापका उदय आनपर अथात् अयजस्तोर्नगि कर्मका उदय होनेपर सदाचारी मनुष्य भी दोषी माना जाता है. पुण्यके उदयस अकार्य करनेवाला भी कोई मनुष्य भ्रममा का पात्र बनता है.

पुण्णोदण्ण कस्सइ गुणे असेते वि होइ जसकिची ॥  
पाओदण्ण कस्सइ सुगुणस्स वि होइ जसघाओ ॥ १७३३ ॥

पुण्योदये परां कीर्तिं लभते गुणवर्जित ॥

पापोदयेऽनुते गुर्वीरकीर्तिं गुणवानपि ॥ १८०० ॥

पापस्योदयेन । कस्सइ दोह जसकिन्ती कस्यचिद्वति यशस्कीर्तिश्च । पावोदण्ण

विजयोदया—पुण्णोदण्ण पुण्यस्योदयेन । कस्सइ दोह जसकिन्ती कस्यचिद्वति यशस्कीर्तिश्च । पावोदण्ण

पापस्योदयेन । कस्सइ सुगुणस्स वि कस्यचित् सुगुणवतोपि । जसघाओ होदि यशोघातो भवति ॥

मूलारा—जसकिन्ती यश कीर्तिश्च । छात्रादौ छायायात् यशोविनाश इत्यर्थः ।

अर्थ—पुण्योदयसे किसी मनुष्य का यश सर्वत्र फैल जाता है पापके उदयसे गुणी सदाचारी मनुष्यका

भी यश नष्ट होता है

गिरुवक्कमस्स कम्मस्स फले समुवट्ठिंमि दुक्खंमि ॥

जिदजरामरणरुज्जावितामयवेदणादीणु ॥ १७३४ ॥

जन्ममृत्युजरांते दुःखस्रोक्तभयादिके ॥

दीयमाने विपक्षेण निरुपक्रमकर्मणा ॥ १८०१ ॥

विजयोदया—गिरुवक्कमस्स नि प्रतीकारस्य कर्मण । फले समुवट्ठिंमि दुक्खंमि समुपस्थिते दुःखे, जादि-

जिदजरामरणरुज्जावितामयवेदणादीणु जातिजरा मरण, व्याधौ, चिंताया, भये, वेदनादौ च समुपस्थिते ॥

दुर्वारकर्मोदयहेतुके जात्यादौ दुःखे संप्राप्ते कश्चित्कवचिन्नाता आश्रयो वा नास्तीति भावना गायद्दयेनाह—

मूलारा—गिरुवक्कमस्स निज्जतीकारस्य । समुवट्ठिंमि संप्राप्ते ।

अर्थ—उपायराहित कर्मका जन्म उदय आता है तब उसका फल जो दुःख वह भोगना पडता ही है.

अर्थ—जन्म, जरा-वृद्धावस्था, मरण, चिंता, भय, वेदना वगैरह दुःख भोगने पडते ही हैं.

अर्थात् जन्म, जरा-वृद्धावस्था, मरण, चिंता, भय, वेदना वगैरह दुःख भोगने पडते ही हैं.

अर्थात् जन्म, जरा-वृद्धावस्था, मरण, चिंता, भय, वेदना वगैरह दुःख भोगने पडते ही हैं.



जीवाण णत्थि कोई ताणं तण्णं च जो हवेज्ज इधं ॥  
पातालमदिगो वि य ण मुच्चटि सकम्मउदयस्मि ॥ १७१५ ॥  
न तोऽपि विधाने चाण धेत्तिनो भुवनत्रये ॥  
न प्रविष्टोऽपि पातालं मुच्यते कर्मणा जनः ॥ १८०२ ॥

त्रिजयोद्या—जीवाण जीवस्य । नानि कश्चिद्वशा शरणं ग । जो हवेज्ज यो भवेत् । पातालमदिगो वि पाताल प्रविष्टोऽपि । ण मुच्चटि । न मुच्यते दृ पात । न कम्मउदयस्मि सकर्माभ्यं नति ॥

मूलाग—तण्णं रथा । मरण आस्य । रथं अस्मिन् । मुच्यते । जीवे । अत्रि य नवि च । ज्जेन दुग्गेम-  
क्षेत्रलब्धेयंयत्वं समर्थयते । ण मुच्यति न विप्रियते चालादिफलदृ रथा ॥

अर्थ—प्राणिजोंको जगतमें कोई भी शरण नहीं है, यह जीव कर्मसे पिंड लुप्तकरे लिये पातालमें चला जाय तो वहाँ भी वह कर्म उसका ओड़ता नहीं, जगतक यह जीव स्वकर्मोदयेसे अलग नहीं होगा तब तक इसका दुःख में छुटकारा नहीं होगा.

गिरिकंदर च अडधि सेलं भूमिं च उदधि लोगतं ॥  
अरिगंतूण वि जीवो ण मुच्चटि उदिण्णकमेण ॥ १७३६ ॥  
नगदुग्गे धित्तां ओले लोकाने काननेऽभ्युधं ॥

गनोऽपि कर्मेणा जीवो नोदीर्णेन विमुच्यते ॥ १८०३ ॥

त्रिजयोद्या—गिरिकंदर अडधिं लोकं भूमिं च उदधिं लोकां प्रविश्यापि जीवो न मुच्यते । उद-  
यामतेन कर्मणा ॥

भूयोऽपि भेदलब्धिं प्रपन्नं तिरस्सरोति —

मूलाग—गिरिकंदर पर्वतपानीयविदारितस्थान । अदिगणू वि गत्ता वि तिष्ठत् ।

अर्थ—पर्वतकी दरीमें, जगलमें, पर्वतमें, जमीनमें, मधुद्रुमें इतना ही नहीं लोकके अंतमें भी जीव यदि जाकर वसेगा तो भी उदयमें आये हुए कर्मसे वह छुटकारा नहीं पाता है

दुग्धचदुग्धोपमाया परितस्प्यादी य जंति भूमीओ ॥

मच्छा जलमि पक्खी णभमि कम्मं तु सव्वत्थ ॥ १७३७ ॥

द्विचतुर्थदुग्धादा ये ते गच्छन्ति महीनले ॥

जले मीनाः खगा व्योम्नि कर्म सर्वत्र सर्वदा ॥ १८०४ ॥

विजयोदया—दुग्धचदुग्धोपमाया द्विचतुश्चरणादिका । परितस्प्यादी य जंति भूमीओ परित्स्पर्पादयश्च याति भूमौवेव । मत्स्या जले पक्षिणो नभसि याति ॥ कर्म सर्वत्रग ॥

मूलारा—परिसप्पता अयादा उरगादयः । कम्म तु सव्वत्थ स्वकृतकर्मविपाकेन जीवाः कचिदपि न मुच्यते इत्यर्थः ।

अर्थ—दो पाँवके जीव, चार पाँवके जीव, अनेक पाँवके जीव और सर्पादिक जीव जमीन पर निवास करते हैं मत्स्य पानीमें रहते हैं पक्षी आकाशमें रहते हैं परतु कर्म सर्वत्र रहता है

रविचंद्रादवेउव्वियाणममा वि अत्थि हु पदेसा ॥

ण पुणो अत्थि पएसो अगमो कम्मस्स होइ इधं ॥ १७३८ ॥

अगम्या विषयाः संति रविचंद्रानिलामरं ॥

प्रदेशो विच्यते कोपि नागम्यः कर्मणा पुन ॥ १८०४ ॥

विजयोदया—रविचंद्रादवेउव्वियाण सूर्येण, चन्द्रेण, वातेन, देवैश्चागम्यास्सन्ति प्रदेशा । न कर्मणामगम्योऽत्र प्रदेशोऽस्ति लोके ॥

कृत इत्याह—

मूलारा—वेउव्वियाण वैक्रियिकाणा । देवविद्याधरादीना । अगमा अगम्याः ।

अर्थ—सूर्य, चंद्र, वायु और देव भी जहाँ प्रवेश नहीं कर सकेंगे ऐसे भी बहुतसे प्रदेश हैं परंतु कर्मके लिए अगम्य प्रदेश कोई भी नहीं है

विज्जोसहमंतबलं बलवीरिय अस्सहत्थिरहजोहा ॥

सामादिउवाया वा ण होंति कम्मोदए सरणं ॥ १७३९ ॥

न योधा रथहस्ताश्वा विद्यामंत्रौपधादयः ॥

सामादयोऽपि चोपायाः पान्ति कर्मोदयेऽह्निनाम् ॥ १८०५ ॥

विजयोदया—विज्ञामतोसधिवलवीरियं विद्या स्वाहाकारांता तद्वद्वितता मन्त्रस्य । धीर्यमात्मन शक्त्यतिशयः ।

बलमाहारव्यायामर्जं शरीरस्य दार्ढ्यं, अनीकवच । सामभेददण्डोपप्रदानाख्याद्य हैतव्यो न शरण ॥

दुष्कृतपाकद्रौकनिराकरणविद्यामन्त्रादीनामपि माहात्म्यप्रतिपातमनुसधत्ते—

मूलारा—बल आहारव्यायामादिज देहदाढ्यं । णीया चाधवाः ।

अर्थ—जिसके अंतमें स्वाहाकार है वह विद्या है मंत्र स्वाहाकारसे रहित होता है मंत्रकी शक्तिको वीर्य कहते हैं शरीरमें आहार और व्यायाम करनेसे जो दृढता उत्पन्न होती है उसको बल कहते हैं। ये पदार्थ कर्मके उदयसे आत्माका रक्षण करनेमें असमर्थ हैं। घोड़े, हाथी, रथ, योद्धागण, माम दंडादिक उपाय, इनका भी सामर्थ्य कर्मोदय आनेपर नष्ट होता है कर्म सत्रमे बलवान है।

जह आइच्चमुदंत कोई वारतउ जगे णत्थि ॥

तह कम्ममुदीरतं कोई वारतउ जगे णत्थि ॥ १७४० ॥

केनेहोदीयमानानां ऋषणां ज्योतिषामिव ॥

निषेधः शक्यते कर्तुं स्वकीये समये सति ॥ १८०६ ॥

विजयोदया—जह आइच्चमुदंत यथा दिनमणिमुदयाचलचूडामणितामुपयात न निवारयति कश्चित्तथा समधिगतसहकारिकारणे कर्म न निषेद्धमस्ति समर्थ ॥

फिचहुना—

मूलारा—आइच्च आदित्यं । उदीरंत उदयावलिक्काप्रवेशोद्यंतं ।

अर्थ—जैसे उदयाचल पर आनेवाले सूर्यको कोई रोक नहीं सकता वैसे सहकारी कारण मिलनेपर उदयमें आये हुए कर्मको कोई भी जीव रोक नहीं सकता।

रोगाणं पडिगारा दिट्ठा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ॥  
 कम्मं मलेदि हु जगं हत्थीव गिरकुत्तो मत्तो ॥ १७४१ ॥  
 प्रतीकारोऽस्ति रोगाणां कर्मणां न पुनर्जने ॥  
 कर्मं मुद्दाति हस्तीव लोकं मत्तो निरंकुशः ॥ १८०७ ॥

विजयोदया—रोगाण पडिगारा दिट्ठा व्याधीना प्रतीकारा दृष्ट औपधादय. कर्मणा नास्ति प्रतीकार' जगदशेषं  
 मर्दयति कर्म मदगज इव निरंकुशो नालिनीवन ॥

समूहोक्तमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण विवृण्वन्नाह—

मलारा—रोगाण व्याधीना अथादृष्टापचारजाना । कर्मजाना तु तच्छानामेव प्रतीकार ।

अर्थ—रोगोंका प्रतिकार औपधादिक इलाज तो देखे गये हैं. कर्मका इलाज किसीने भी नहीं देखा है  
 उन्मत्त हाथी अकुशकी भी पर्वह नहीं रखता हुआ कमलवनका मर्दन करता है वैसे ये कर्म भी सपूर्ण जगका  
 मर्दन करते हैं

रोगाणं पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे ॥

रोगाणं पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमंते ॥ १७४२ ॥

प्रतीकारो न रोगाणां कर्मणामुदये सति ॥

उपचारो ध्रुवं तेपामस्ति कर्मशमे सति ॥ १८०८ ॥

विजयोदया—रोगाण पडिगारो व्याधीना प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसद्वये प्रासोदये सति, पथ्यौपधादिविभिरूप-  
 शमो रोगादीना सो पि कर्मण्युपशम गत एव नालुपशान्तेऽत्र ॥

मलारा—समुदिण्णे समुबोदये । उवसमंते उपशम याति मर्दये भवतीत्यर्थः ।

अर्थ—जब असाता वेदनीय कर्मका उदय आता है तब रोगोंका नाश करनेमें औपधियाँ असमर्थ हो जाती  
 हैं. यद्यपि पथ्य और औपधियोंका संवन करनेसे रोगोंका शमन होना अनुभवमें आता है तो भी वहाँ कर्मका

उपशमन होना ही मूल कारण है. अंतरंग कारण कर्म जब उपशान्त होता है तब औषधि और पथ्य सेवन रोगनाश करनेमें समर्थ होते हैं अन्यथा वे निष्फल हो जाते हैं.

विज्जाहरा य बलदेववासुदेवा य चक्रकवट्टी वा ॥

देविदा व ण सरणं कस्सइ कम्मोदए होति ॥ १७४३ ॥

बलकेशवचक्रेशदेवविद्याधरादयः ॥

सन्ति कर्मोदये न्यक्तं शरणं न शरीरिणाम् ॥ १८०९ ॥

विजयोदया—विज्जाहरा य विद्याधरादयो महाबलपराक्रममापि न शरणं भवति कर्मोदय इति गाथायर्थं ॥  
मूलारा—सष्टम् ।

अर्थ—जब कर्मोदय तीन होता है तब महापराक्रमी विद्याधर, बलदेव, वासुदेव और चक्रवर्ति भी प्राणीका रक्षण करने में समर्थ नहीं होते हैं. इतनाही नहीं. देवद्रुमी उस प्राणीका रक्षण करने में असमर्थ है.

बोछेज्ज च कम्मंतो भूमिं उदधिं तरिज्ज पवमाणो ॥

ण पुणो तीरदि कम्मरत फलमुदिणस्स वोलेदुं ॥ १७४४ ॥

गच्छन्नुलंघ्यते क्षोणीं नरस्तरति नीरधिम् ॥

नातिक्कांतुं पुनः कोऽपि कर्मणासुदयं क्षमः ॥ १८१० ॥

विजयोदया—बोछेज्ज उलंघयेत् गच्छन् भूमिं, समुद्रांतकत्त्वमानः। उदीर्णस्य कर्मणः फलमुलंघयितुं न चेत्ति कोऽन्यो वा महाबलोपि ॥

मूलारा—बोलेज्ज उलंघयन् । चंक्रमंतो पदभ्या गच्छन् । पवमाणो प्लवमानः । तीरदि शक्नोति ।

अर्थ—भूमिपर चलता हुआ प्राणी भूमीके अंततक जा सकेगा. समुद्रको भी उलंघकर जा सकेगा. परन्तु कर्मका उदय आनेपर उसको उलंघनेकी ताकद महाबलवान पुरुषोंमें भी नहीं है. अल्पशक्तियोंकी तो क्या क्या ?

सीहितिमिगिलगहिदस्म णत्थि मच्छो मगो व जघ सरणं ॥  
कम्मोदयम्मि जीवस्स णत्थि सरणं तहा कोई ॥ १७४५ ॥

मृगमीनौ परौ जन्त्वोः सिंहमीनगृहीतयोः ॥

जायते रक्षकः कोऽपि कर्मग्रस्तस्य नो पुनः ॥ १८११

विजयोदया—सीहतिमिगिलगहिदस्स सिहेन तिमिगिलाब्धेन महामत्स्येन च गृहीतस्य नैव शरण भवति अन्यो मृगो मत्स्यो वा । तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति कश्चिन्छरणम् ॥

मूलारा—तिमिगिलो महामत्स्यः । मच्छो तिमिगिलादन्यः ॥

अर्थ—सिंह किंवा तिमिगल (महामत्स्य ने) पकड़े हुए प्राणीको कोई पशु अथवा मत्स्य उससे नहीं छुड़ा सकता है वैसे तीव्र कर्म के उदयसमयमें इस प्राणी को कोई भी व्यक्ति नहीं छुड़ा सकती है उसे उस कर्मका फल भोगना ही पड़ता है

व्यावर्णितानामशङ्कत्वं मनसावधार्य इदं शरणमिति चिन्तनीयमिति कथयति—

दसणणाणचरित्त तवो य ताणं च होइ सरणं च ॥

जीवस्स कम्मणासणहेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ॥ १७४६ ॥

कर्मनाशनस्सहानि ज्ञानानां ज्ञानदर्शनचरित्रतपांसि ॥

नापहाय सति कर्मणि पक्के रक्षकानि खलु संति पराणि ॥ १८१२ ॥

इति अशरणम्

विजयोदया—दरणणाणचरित्त तवो य ज्ञान दर्शन चातित्र तपश्च रक्षा शरण च भवति । जीवस्य कर्मणा कर्मण्युदीर्णेष्वस्त्रेयादौ । एवमशरणानुप्रेक्षा गता ॥ असरणम् ॥

असत्कर्मोदये प्रागुक्तानामशरण्यता प्रणिधाय दर्शनादिक शरण्यतया प्रणिधेयमित्यनुशस्ति—

मूलारा—कम्मणासणहेदुं अशुभकर्मक्षपणकारणत्वात् । अशरणानुप्रेक्षा ॥

उपर जिनका वर्णन किया गया है वे अशरणरूप हैं परंतु आगेकी गाथामें प्रतिपादित पदार्थ शरण समझकर उनका चिंतन करना चाहिये ऐसा आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—सम्पददर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ये चार आत्मगुण ही आत्मार्थे शरण-रक्षक हैं जबकि कर्मों-का ये ही नाश करते हैं अमतावेदनीयादि कर्मके उदय होनेपर भी उपर्युक्त चार पदार्थ ही आत्मार्था रक्षण करते हैं। अशरणानुप्रेक्षा समाप्त

एकत्वानुप्रेक्षा उत्तरेण प्रवर्धनोच्यते—

पावं करोदि जीवो बंधवहेतुं सरीरहेतुं च ॥

गिरयादिसु तरस फलं एको सो चैव वेदेदि ॥ १७४७ ॥

करोति पातकं जन्तुर्देहबंधवहेतवे ॥

अश्रादियु पुनर्दुःखमेकाकी सहते चिरम् ॥ १८१३ ।

विजयोदया—पाप करोति जीवो बाधनिमित्त शरीरनिमित्तं च । बाधवशरीरोपणार्थं कृतस्य कर्मण फलं नरकादिवेक एवानुभवति । नरकादिगतिषु प्राप्तं दुःखमपश्यतस्तत्रासतो बाधना किं कुर्वतीति आशंकां निरस्यति-सन्निहिता. पश्यतोऽप्यकिंचित्करा इति कथनेन ॥

वर्त्यध्यानध्येयतया भावयितुमेकत्वं गाथासमकेन वर्णयति—

मूलारा—बंधवैत्यादि बंधूना स्वदेहस्य च पोषणार्थं । एकको चैव एकक एव । असहाय एवेत्यर्थः ।

एकत्वानुप्रेक्षाका सविस्तर वर्णन.

अर्थ—अपने शरीरका पोषण करनेके लिये तथा बांधवों के पोषणार्थ यह जीव पाप करता है, किये हुए कर्मका फलभी इस अकेले जीवको ही भोगना पड़ता है. नरकादिगतिके जो दुःख इस जीवको भोगने पड़ते हैं वंधुओं को उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता है अतएव वे उसका दुःख बुर करनेमें असमर्थ होते हैं ऐसा कहना भी योग्य नहीं है. क्यों कि जब इस प्राणी को इस लोकमें रोगादिसे दुःख होता था तब भी वे केवल देखकर भी दूर करने में असमर्थ थे तो परलोकका दुःख उनसे दूर होगा ऐसी आशा करना कैसा योग्य होगा?

रोगादिवेदनाओ वेदयमाणस गिययकम्मफलं ॥

पेच्छंता वि समक्खं किंचिवि ण करंति से गियया ॥ १७४८ ॥

वेदनां कर्माणा दत्तां रोगशोकभयादिकाम् ॥

किं भुञ्जानस्य कुर्वन्तु पश्यन्त्यो ज्ञातयो ऽद्विनः ॥ १८१४ ॥

विजयोदया—रोगादिवेदनाड रोगादिदुःखानि । गिययक्रमफलं निजकर्मफलं स्वयोगत्रयोपचितकर्मण' फलं । वेदयमाणस्स वेदयमानस्य । समकख पेच्छतावि प्रत्यक्षं पश्यंतोपि । गियया निजका वाधवा, से तस्स किंचिपि ण करति किंचिदपि प्रतीकारजातं न कुर्वति । परत्रेह वा जन्मन्येक एवानुभवति जंतुनं तदीयकर्मफलसंविभाकरणे समयोः कश्चिदिति भवति ॥

नरकादिदुर्गतिगतस्य दुःखमपश्यतो वाधवाः कथं प्रतिविदध्युरित्यभिप्रांतिं प्रत्याचष्टे—

मूला—किंचिपि प्रतीकारजात । परत्रेह वा जन्मनि स्वकर्मफलमनुभवतो जीवस्य न कश्चित्संविभागी भवतीति भावः ॥

अर्थ—इस जीवको रोगादिकसे जो वेदना होती है वह मन वचन और काययोगसे उपार्जन किये पापकर्मका फल है इस फलका अनुभव जब यह जीव लेता है तब उसका बंधुगण प्रत्यक्ष देखकर भी उस दुःखका प्रतीकार नहीं कर सकता है, इह लोक हो चाहे परलोक हो अकेले प्राणीको ही दुःख भोगना पडता है, उसके किये हुए कर्म का भागीदार कोई नहीं हो सकता है.

तह तथा यथा दु ख स्वकर्मफलमेक एवानुभवति ॥—

तह मरइ एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोई ॥

भोगे भोक्तुं गियया विदिज्जया ण पुण कम्मफलं ॥ १७४९ ॥

एकाकी त्रियते जीवो न द्वितीयो ऽस्य कश्चन ॥

सहाया भोगसेवायां न कर्मफलसेवने ॥ १८१५ ॥

विजयोदया—तथा स्वानुर्गलने । एक्कगो चेव मरवि एक एव प्राणास्त्यजति ॥ विदिज्जगो ण कोई न सहायो भवति कश्चित् । तदीय मरणं सविभज्य गृहीत्वा सहायता न कश्चित्करोतीत्यर्थ ॥ अन्यथा एक एव त्रियते इत्यघटमाने चङ्कनामप्येकदा मरणात् । भोगे भुज्यतेऽनुभूयत इति भोगा' द्रव्याणि अशनवसनमुखवासादीनि । भोक्तुमनुमचितुं निजका वाधवा । विदिज्जगा सहायाः । ण पुण न पुन । कम्मफल भोक्तुं गीयगा विदिज्जया, तदीयकर्मफलं भोक्तुं न बंधवस्सहायाः ॥



दुःखानुभूतिनिदर्शनेन मरणे सहायभावं भावयति—

मूलारा—तव दुःखानुभवन्वत् । ण विट्तिज्जगो न द्वितीयं । दुःखवन्मरणं विभज्य गृहीत्वा सहायो न कश्चि-  
द्व्यतीत्यर्थः । भोगे अशनवसनादीन् ॥

जैसे अपने किये हुए कर्मका दुःखरूपी फल यह जीव स्वयं ही भोगता है वैसे—

अर्थ—इस प्राणीका आयुष्य पूर्ण होनेपर उसको अकेलेकी ही मरण का स्वीकार करना पड़ता है।  
अर्थात् मरणदुःखका विभाग लेकर उसको कोई सहायक नहीं होता है अन्यथा एकही मरता है इस वचनकी  
घटना ही अयुक्त दीर्घगी क्योंकि बहुत जन एक समयमें भोगे परन्तु ऐसा नहीं होता है अतः 'तह मरइ एकओ  
चेव' यह वचन युक्तियुक्त है अब, वत्त, तांवूल, धन इनका उपभोग लेनेके लिए बांधव सहाय्य करते हैं परन्तु  
कर्मफल का अनुभन अकेले को ही लेना पड़ता है अन्य बांधव उनको सहायक नहीं होते हैं

प्रकारान्तरैकत्वभावनाभाष्ये—

णीया अत्था देहादिया य संगं ण कस्स इह होति ॥  
परलोकं अणेत्ता जदि वि दइज्जंति ते सुहु ॥ १७५० ॥  
देहार्थबांधवाः सार्धं न केनापि भवान्तरम् ॥  
वल्लभा अपि गच्छन्ति कुर्वन्तोऽपि महादरम् ॥ १८१६ ॥  
स्वकीया देहिनी ज्ञैव देहार्थस्वजनादयः ॥  
स्वीकृता संभ्रमेणापि न कदाचिद्भवान्तरे ॥ १८१७ ॥

विजयोदया—णीया अत्था वधवो धनं शरीरादिकाश्च परिग्रहा कस्मच्चिदपि संवधिनो न याति परलोकं प्रति  
प्रस्थितं । यद्यपि सुष्ठु काम्यते परिग्रहा । गृहीत्वा तावदि नामास्य गंतुमुत्तमा तथापि ते नागुगच्छत्येक एव यातीत्ये-  
कत्वभावना ॥

मा भूवन्नुपरिग्रहा परलोकं सहगंतारः पृष्ठगंतारस्तु भविष्यन्ति इति न्यामोद्वययोद्दार्थसाह—

मूलारा—अणेतता अन्वेतारः । परलोकं गच्छत कश्चित्पश्चाद्गमिनो न भवतीत्यर्थः । दधिजंति दधिति क्रियते काम्यते इत्यर्थः ।

अर्थ—बांधव, धन, शरीर, पुत्र, स्त्री, वगैरह सम्बन्धीजन परलोक यात्रा करनेवाले प्राणीके साथ आते नहीं हैं सुन्दर परिग्रहों पर इस जीवका ममत्व रहता है और परलोकमें भी इनको ले जानेकी उत्कण्ठा उसके मनमें उत्पन्न होती है परन्तु वे उसके साथ नहीं जाते हैं अर्थात् यह मोही जीव भी उनको ले जानेका सामर्थ्य अपनेमें नहीं रख सकता है ऐसी एकत्वभावना भानी चाहिए

इहलोगबंधवा ते णियया ण परस्स होति लोगस्स ।  
तह चेव घणं देहो संगं सयणासणादीयं ॥ १७५१ ॥  
स्वकीयं परकीयं न विद्यते भुवनत्रये ॥  
नेकस्याटाट्यमानस्य परमाणोरिवांशिनः ॥ १८१८ ॥

विजयोदया—इहलोगबंधवा अस्मिन्नेव जन्मनि बाधवा । परस्स लोगस्स ण णियया होति अन्यस्य जन्मनो न बंधवो भवति । तह चेव बाधवा इव घणं देहो संगं सयणासणादी य धन शरीर शयनासनादयश्च परिग्रहा इह लोकं एव न परजन्मनि उपकारका भवति ॥ एव हि ते बाधवा परिग्रहाश्च सहाया इति ग्रहीतु शक्यते यद्यनपयितया उपकारिण स्युः । इह जन्मन्येव ये प्रयाति ते परलोकं गच्छतमनुसरतीति का प्रत्याशा ॥

मूलारा—तथ चेव बाधवा इवेद्विकथनादयोऽपि नासुत्रोपकारकाः स्युरित्यर्थः ॥

अर्थ—जो इह लोकमें अपने बांधव हैं वे इहलोकसम्बन्धी ही हैं, परलोकमें अर्थात् अन्यजन्म में वे अपने बांधव नहीं माने जाते हैं इन बांधवोंके समान धन, शरीर, परिग्रह,—शयनासनादिक परिग्रह भी इह लोकमें ही समझने चाहिए परलोकमें इनसे सहाय होगा ऐसा सकल्प मनसे हटाना चाहिए इसलिये बांधव और परिग्रह सहायक नहीं हैं ऐसा समझना चाहिए इस जन्ममें भी इस प्राणीका सम्बन्ध ये बांधवादिक छोड़ देते हैं ऐसा अनुभवमें आता है तो परलोकमें जीव के साथ ये आवेंगे ऐसी आशा रखना क्या अज्ञानताका खेल नहीं है

यद्येते वाधवाद्यो न सहायाः कस्तर्हि सहाय इत्याशंकायामाचष्टे—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ॥

सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥ १७५१ ॥

भवांतरं समं गत्वा धर्मो रत्नत्रयात्मकः ॥

उपकार पर नित्यं पितेव कुरुते ऽङ्गिनः ॥ १८१९ ॥

विजयोदया—जो पुण य पुन । जीवेण कदो धम्मो जीवेन कृतो धर्मः, सम्मत्तचरणसुदमइगो रत्नत्रयरूपो दुर्गोतिं प्रस्थित जीवं धारयति यत्ते वा शुभे स्थाने इति रत्नत्रय धर्म इत्युच्यते । सो स' व्यावर्णितो धर्मः जीवस्स जीवस्य । परलोने परजन्मनि । गुणकारकः सहायो भवति ॥ अभ्युदयनिश्चयससुखप्रदानात् ॥ तथा चोक्तं—

दत्त्वा धावाण् धिव्योर्वरविपर्यतिं वीतभीशुग्निपादा, कृत्वा लोकत्रयैक्ष्यं सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टां ॥ ननु असहायत्वभावनाधिकारे सहायनिरूपणा कथमुपयुज्यते ॥ नैप दोष' यो येन जंतुना सहायत्वेनाध्यवसितो बांधवा-दिरसौ सहायो न भवतीति न तत्रादर कार्य । सम्यक्त्वज्ञानचारित्रात्मकस्तु धर्मः । धर्मोपि जीवपरिणाम उपकारि सहाय इति । तत्रादरो जन्यते सूरिणा । अतिशयितधर्मस्य सहायनिरूपणेन ज्ञातिधनादीनां तथाभूतसहायता समर्थता भविष्यति । अत्रोच्यते । सम्यक्त्वादयः शुभपरिणामा' प्रशस्तगतिजातिगोत्रसधातंसहजनाद्युःसद्वैद्यादिक-मात्मनि निधाय नश्यति तेन देवो वा नरः पचेंद्रियः पर्याप्तक कुलीनः शुभनीरोगशरीरश्चरजीवी सुखी भविष्यति ॥ धर्मोनुबंधिनः पुण्यस्योदयात् ॥ दीक्षाभिमुया बुद्धिर्निरतिचाररत्नत्रयसपत्तिश्च भविष्यतीति सेमवत्युपकारसहायता धर्मस्य ॥ ननु च ज्ञानपूर्वकत्वान्चरणस्य सम्मत्तचरणसुदमइगो इति कथमुपन्यस्तं ? अयमभिप्रायः सत्यपि श्रुतज्ञाने असंयतसम्यग्दृष्ट्यश्चारित्राभावात् महत्तौ संवरनिर्जरे मुख्यगुणे भवत ॥ तस्मान्मुख्यार्थिनश्चारित्रं प्रधानं, किंच तज्ज्ञा-नमुपायश्चारित्रमुपेय अतः परार्थत्वाज्ज्ञानं प्रधानं उपेतत्वाच्चरणं प्रधानमिति ॥ जो पुण धम्मो जीवेण कदो इत्यनेन धर्मस्य सर्वथा नित्यत्वं प्रतिविद्धं फलवैचित्र्यमनुभवसिद्धं, सर्वदैकरूपत्वं धर्मस्य विरुच्यते । सुखसाधनाना स्त्रीवल्लगंध माल्यादीना वैचित्र्यात् । तत्कार्यसुखस्यापि वैश्वरूप्यं नित्यत्वेपि धर्मस्य घटयेद्विति चेत् अत्रोच्यते ॥ अतिशयितान-तिशयितसुखसाधनता तस्य धर्महेतुना न वेत्यत्र विकल्पद्वये धर्महेतुत्वाभ्युपगमे कथं न वैचित्र्यं धर्मस्य । अथ न धर्मो हेतुः सहेतुसामान्यायत्तसुखसाधनाना सातिशयनिरतिशयतवायत्त फलविभाग इति । धर्मस्यानर्थक्यमापद्यते ॥ ततो न धर्मस्य सर्वथा नित्यता ॥

कस्तर्हि भ्रेत्योपकारीत्यत्राह—

मूलारा—गुणकारयसहाओ अभ्युदयनि'श्रेयसप्रदानदुपकार सहगामी । उक्तं च—

दत्त्वा धावाधृव्योर्वरविपरति वीतभीशुग्विपादा ॥  
 कृत्वा लोकत्रयीशं सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजा विशिष्टाम् ॥  
 मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे ॥  
 मोक्षे नित्योरुसौख्ये क्षिपति निरुपमे यः सो नोऽव्यावसुधर्मः ॥

वाधवाद्योत्रासुत्र परमार्थेनोपकारकसहाया न स्युरिति तेषु न मनागत्यादरः कार्यः । धर्मे तु तद्विलक्षणत्वादभी-  
 द्यामादरवता ' भवितव्यमित्युपदेशेनासहायवत्त्वप्रकरणेऽपि धर्मस्योपकारकसहायतोक्तिरुपयोगिनी । ननु चारित्रप्रधानस्य  
 धर्मस्य प्रेक्ष्यसहायत्वाभावात्सहायतालुपयन्नेति न शङ्क्यं । धर्मानुबन्धितदुरागजन्यसुकृतसम्भारस्य निःश्रेयसावसाना-  
 न्युदयसाधकतमस्योपकारकसहायभावसम्भवाविरोधात् ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यग्ज्ञान रूप अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म जो इस जीवने धारण  
 किया था वही पर लोकमें इसका कल्याण करनेवाला सहायक होता है यह रत्नत्रयात्मक धर्म दुर्गतिके तरफ जानेवा-  
 ले जीवको धारण करता है अर्थात् शुभ इंद्रादिपदोंमें स्थापन करता है इसलिये इस रत्नत्रयको धर्म यह अन्यर्थ  
 नाम प्राप्त हुआ है यह जीव इस जीवको परलोकमें कल्याण करनेवाला मित्र है क्योंकि यह अस्युदयमुख और  
 मोक्षमुखको देनेवाला है.

आगममें इस धर्म के विषयमें ऐसा कहा है --

भय, शोक और खिन्नताको दूर कर यह धर्म जीवको इस भूतलके और स्वर्गके सौख्योंको अर्पण करता है.  
 लोफययं गैरभयं देकर यह धर्म देवद्वार और राजद्वारों के द्वारा जीवको पूजित करता है यह जीव धर्म के प्रसादसे  
 गुत्थ, रोग, इष्ट पदार्थोंका वियोग, वृद्धावस्था, शोक इत्यादिक आपत्तियोंसे रहित होता है और नित्य, उपमा-  
 रहित और महान् सौख्य जिसमें है ऐसे मोक्षकी भी प्राप्ति कर लेता है ऐसा अपूर्व हितकारक धर्म अर्थात् रत्नत्र-  
 यात्मक धर्म हमारा नित्य रक्षण करे

शुद्धा—असहायत्व भावनाके प्रकरणमें सहायका निरूपण करना कैसा योग्य दीखता है ?

उत्तर - इस जतुने जिन बांधवोंको सहायक समझकर रक्खा है वे वास्तवतया सहायक नहीं हैं इसलिये  
 उनमें आदर नहीं करना चाहिये और सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्रात्मक धर्म में आदर करना चाहिये क्योंकि यह

जीवपरिणाम हैं और उपकारक अर्थात् सहायक हैं इस धर्ममें आचार्य आदर उत्पन्न करते हैं धर्म ही सबसे उत्कृष्ट सहायक है जाति, धन वगैरह पदार्थोंसे ऐसी उत्कृष्ट सहायता कभीभी नहीं मिलती है और न मिलेगी इसलिये प्रकृत असहायताकाही यह वर्णन हुआ।

सम्यक्त्वादिक शुभपरिणाम उत्तमगति, जाति, गोत्र, संघात, सहनन, आयुष्य, सातवेदनीयादि शुभरुर्म इत्यादिक उत्तम सामग्र्यको देकर नष्ट हो जाते हैं इन परिणामोंमें देवपना, मनुष्यपना, पंचेंद्रियपूर्णता पर्याप्तक, अवस्था, कुलीनपणा, शुभ और नीरोगशरीर, दण्डिजीवित्व और सुखावस्था प्राप्त होती हैं क्योंकि इन परिणामोंमें पुण्यका उदय होता है इन परिणामोंसे दीक्षा लेनेके लिये आत्मा तयार होता है, और निरतिचार रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है, इसलिये धर्ममें उपकाररूप सहायता प्राप्त होती है।

शेका—चरित्र ज्ञानपूर्वक होता है परंतु माथ्यों 'सम्मत्तचरणसुदमङ्गो' ऐसा उलटा क्यों कहा है अर्थात् चारित्रपूर्वक ज्ञान होना है ऐसा क्यों उल्लेख किया है ?

उत्तर इस उल्लेख का अभिप्राय ऐसा है—सम्यग्ज्ञान होनेपर भी असत्य सम्यग्दृष्टिको चारित्रका अभाव रहता है इसलिये चारित्रके बिना महान संवर और निर्जराभी मुख्यगुण नहीं माने जाते हैं इस लिये मुख्यताका अभिप्राय लेकर चारित्रको प्रधानता दी गई है और इस विषयमें ऐसी शुक्ति है—सम्यग्ज्ञान उपाय है और चारित्र उपेय है परार्थ की दृष्टिसे सम्यग्ज्ञान प्रधान है अर्थात् कारण की दृष्टिमें ज्ञान प्रधान है परंतु चारित्र प्राप्य है इस दृष्टिसे मुख्य है

'जो पुण धम्मो जिविण कट्ठो' इस वाक्यसे धर्म सर्वथा नित्य है इम कल्पना का परिहार हुआ क्योंकि धर्माचरणसे प्राणिओंको जो विविध सुखादि फलों का अनुभव आजाता है इसलिए धर्मका मर्मदा एक स्वरूप नहीं है अर्थात् रत्नत्रय रूप परिणाम जिनको धर्म संज्ञा आचार्योंने दी है उनमें तरतमता होनेसे उनसे प्राप्त हुए सुखादि फलोंमें भी तरतमता अग्रस्थ अनुभवमें आती है सुखके साधक स्त्री, वस्त्र, गन्ध, पुष्पमालादिक पदार्थोंमें विविधता देखी जाती है इससे उसका कार्य जो सुख वह भी अनेक रूपका अनुभवमें आता है

धर्म नित्य मानने पर भी ऐसी विचित्रता हो सकेगी ऐसा कहना योग्य नहीं है अतिशय सुखके साधक अथवा असाधन ये स्त्री गंधादिक पदार्थ होते हैं उसके लिए धर्म कारण हैं या नहीं ऐसे दो विकल्प यहां होते हैं।

यदि धर्म कारण है ऐसा मानते हो तो धर्म की विविधता अर्थात् नानाविधता है ऐसा मानना होगा. यदि धर्म उसका हेतु नहीं है तो सामान्यकारणोंके आधीनता से सुलभके साधनोमें निरतिशय और सातिशय ऐसा फल विभाग नहीं हो सकता है. अत एव धर्म ही कारण मानना चाहिये. नहीं तो धर्म की व्यर्थता होती है. इस वास्ते धर्म को सर्वथा नित्य मानना योग्य नहीं है.

शरीरद्रविणादीना असहायताभावनां तद्गोचरागुणनिवर्तनमुखेन स्थिरयत्युत्तरगाथा—

बद्धस्स बंधणे व ण रागो देहमि होइ पाणिस्स ॥  
 विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥ १७५३ ॥  
 भोगं रोगं धनं शल्यं गेहं गुप्तिः स्त्रियो यथा ॥  
 बंधुं च मन्यते बंधं साधुरेकत्ववासितः ॥ १८२० ॥  
 बद्धस्य बंधनेनेव रागो यस्य न विग्रहे ॥  
 स करोत्यादरं साधुः किमर्थेऽनर्थकारिणि ॥ १८२१ ॥  
 बंधनतुल्यं चरणसहायं पश्यति गात्र मथितकषायः ॥  
 यो सुनिवर्गो जनधनसंगे तस्य न रागः कृतहितभंगे ॥ १८२२ ॥

इति एकत्वम् ।

विजयोदया—बद्धस्स वधणेव ण रागो रज्जुशृखलाभिर्बद्धस्य बंधनीक्रियासाधकत्वे रज्ज्वादौ दु खहेतौ यथा न राग । तथा देहमि होइ पाणिस्स सुखदु खसाधनविवेकद्वय दु खहेतावसोऽस्थिरैऽप्युचिनि क्राये न रागो भवति ॥ गुणपक्षपातितो हि प्राज्ञाः । विससरिसेसु विपसदशोचपि ण रागो पाणिस्स ज्ञानिनो नैव राग । केपु ? अत्थेसु सज्जेसु ॥ कथमर्थाना विपसदशतेति चेत् । यथा विपं दु खदायि प्राणान्वियोजयति तथार्थोऽनर्थजनरक्षणादिषु व्यापृते दु खेन योजयति, प्राणाना च विनाशो निमित्त भवति ॥ तथाहि ॥ प्राणिनोऽर्थार्थ एव परस्परं प्रयाते प्रयतेते अतएव महाभयेहेतुत्वान्महाभयतार्थाना सूत्रकारेणोक्ता । अत्थेसु महाभयेसु इति यदि यस्यानुपकारि तस्य तस्मिन् विवेकिनः सदायबुद्धिर्यथा विपकटकदादौ, अपकारि शरीरद्रविणादिकमिति पुन पुनरभ्यस्यतो नेतरः सदायोऽयमिति धिताप्रवधः प्रवर्तते ॥

तनुधान्यनुरागनिवारणद्वारेण तव सहायवान्भावयितुमाह—

मूलारा—वन्धने रज्जुशृंगलद्वौ । ण रागो न प्रीतिः दुःगहेतुत्वात् । णाणिस्म सुखदुःखसाधनविवेकज्ञस्य । विस्मरसिसेसु दुःखदत्तात्याणप्रणशित्वाञ्च द्वेऽङ्गलेषु । महत्प्रभणसु विषवदपकारकतमत्वादतिभयंकरेषु । यदि यन्त्यानु-  
पकारि तत्र तस्य न विवेकिनः सहायबुद्धिर्यया विषमन्दकाटि । अपकारि च शरीरद्रिणादिकमिति पुनः पुनरस्य पश्यतो  
यत्तरसहायोहमिति चिन्ताप्रबन्धः प्रवर्तते इति तात्पर्यम् “ इत्येकत्वानुपेक्षा”

अर्थ—रज्जु अथवा शृंगलसे चढ़ हुआ पुरुष बंधनक्रिया करने में साधकतम ऐसी रज्जु दोरी और लोह की सांखल में घेस नहीं करता है वैसे सुखदुःख के साधनोंका विवेकज्ञान जिनको हैं ऐसे पुरुष शरीर में स्नेह नहीं रखते हैं यह शरीर, निःसार, अस्थिर, अपवित्र है ऐसा समझकर वे इससे विरक्त होते हैं। क्योंकि वे गुणोंके पक्षपाती हैं। ज्ञानी पुरुष विषके ममान दुःखद ऐसे धनोंमें राग भाव नहीं रखते हैं। विषके सदृश धन दुःख दायक क्यों हैं इसका उत्तर ऐसा है—विष दुःख देता है और प्राणोंका नाश करता है वैसे धन भी कमना, रक्षण करना इत्यादि कार्योंमें तत्पर पुरुष को दुःख उत्पन्न करता है—यह धन प्राणों का भी नाश करनेमें निमित्त है। इस धनके लिये प्राणी परस्पर घातपात करनेमें प्रवृत्त होते हैं। इस लिये यह महाभयका कारण है

जो जिसका नाश-अपाय करता है उसमें उसकी-अर्थोत्त विवेकी सहायता बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है विषकंदकादिकोंमें जैसे लोक ये भरे उपकारक है ऐसा नहीं समझते हैं वैसे शरीर, धनादिक पदार्थ भी अपकारी हैं ऐसे विवेकी जन समझते हैं और बारवार इसी विषयका आभ्यास कर यति में असहाय हूँ ऐसी चिन्ता करते हैं एकत्वानुपेक्षाका वर्णन समाप्त

अन्यत्वभावनीतिरूपणाश्रमुत्तर प्रबंध ॥ एकत्त—

किहदा जीवो अण्णो अण्णं सोयदि हु दुक्खिखं णीयं ॥

ण य बहुदुक्खपुरक्कडमप्पाणं सोयदि अनुद्धी ॥ १७१४ ॥

दुःखव्याकुलितं दृष्ट्वा किमन्योऽन्येन शोच्यते ॥

किं नात्मा शोच्यते जन्ममृत्युदुःखपुरस्कृतः ॥ १८२३ ॥

विजयोदया—किहदा अण्णो जीवो अण्णं णीयं किहदात्तोयविति पदघटना । अन्यो जीवो नीग स्वस्मादन्य-

ज्ञातिवर्गं । दुष्स्वदं दुःखेनाभिभूतं, कथं तावच्छोचति । न य सोचद्दि नैष शोचते ॥ कं अस्मां आत्मानं कीदृग्भूतं यद्दुःखं पुरस्कृतं शारीरैरागतैकं, मानसं, स्वाभाविकैश्च यद्दुःखं । पुरस्कृतं अबुद्धिमापतिते काले चतसृषु गतिषु विचित्रासद्वेद्योदयात् । द्रव्यक्षेत्रकालभावसहकारिकाणामाश्रित्योपेक्षयापुनरुत्पत्तिमापदः प्राप्ता पुनरप्यगमिष्यति मा खलीकुरु । न हि कारणाभ्यासस्थितसहकारिप्रत्यये सति कार्यस्यानुद्भवो नामास्ति, यो यद्भावोपि नासादेयदुर्वयं स कथमिव तदेतदुक्तं, यथा सत्यपि यवबीजेऽनुपजायमानद्वृत्ताङ्कुरस्तथा सत्यसद्वेद्योदेयं यदि न स्युर्दुःखादीन्यसेधेयकारणानि न स्युर्न भवति च तस्मादात्मप्रवेशावस्थितस्य दुःखबीजस्य केनोपायेनाप्यो भविष्यतीत्यरुतबुद्धिः । तथा अबुद्धिः । परतदुक्तं भवति परस्य दुःख आत्मन एव दुःखमिति मत्वा शोकमयमुपैति तद्विनाशो च सततं प्रयत्नं च करोति तथा च प्रवर्तमानस्य स्वदुःखस्य निवृत्तये न प्रारम्भोऽस्ति ततोयं दुःखं भोजं भोजं पर्यटति न च परो दुःखात्प्राप्तुं शक्यते तेन हि सचिवानि कर्माणि कथं फलं न प्रयच्छति ॥ न हि परस्य शोकः फलदायिना कर्मणा प्रतिबंधकः, तथा चाभ्यधापि ॥ प्रीतिपूर्वं कृतं कर्म मनोवाक्यकर्मभिः । न निधारयितुं शक्यं संवदन्निवशैरपि । इति तेनान्यदुःखापेक्षः शोकोऽस्य व्यर्थः ॥ अन्यथाप्येन च स्वदुःखावृत्त्यै परदुःखस्योच्यते । अन्यत्र परदुःखागतस्यानुपेक्षणमन्यत्वाजुपेक्षा एव परदुःखस्यान्यतामर प्रेक्षमाणः परदुःखस्योपहतन कर्तुं न शक्यत इति न शोचति, स्वदुःखोन्मलेन प्रयतत इति भावोऽस्य सरेः ॥ धर्म्यं धेयता प्रापयितुं अन्यत्वं त्रयोदशगयाभिर्गोचक्षणः स्वदुःखात्परदुःखमन्यदित्यबुद्धिः कथमन्यं दुःखांतं शोचतीति संसेवाद्भूतमिदमाह—

मूलारा—गीय निजं ज्ञातिवर्गं । पुरस्कृतं पुरस्कृतं । भावविचित्रदुर्गतिदुःखबीजस्यासेधेयादेवात्मनि अवस्थितत्वात् । अबुद्धी आत्मस्थदुःखबीजापायोपायचित्ताशून्यत्वादनित्यपरदुःखशोचनानुचरणाच्चाबुद्धिः । एतदुक्तं भवति—परस्य दुःखमात्मन एव मन्यमानः शोकमयमज्ञो जनो याति । तदुच्छेदे च नित्यं प्रयतते । तथा चास्य न स्वदुःखोच्छेदाय प्रयत्नः स्यात् । ततोऽयं दुःखं भोजं भोजं संसरति । न च परो दुःखात्प्राप्तुं शक्यते । न हि परस्य शोचनं तद्दुःखफलं तत्कर्मणा प्रतिबंधकं । तथा चाभ्यधापि—

प्रीतिपूर्वं कृतं कर्म मनोवाक्यकर्मभिः ॥

न निवारयितुं शक्यं सहतत्रिदशैरपि ॥

एवं परदुःखस्य स्वदुःखादन्यतामनुपेक्षमाणः परदुःखं निराकर्तुं न शक्यते । इति न शोचति परदुःखः । दुःखं वा छेतुं यत इत्यभिप्रायः ॥

अर्थ—अपने संबंधी जनोको दुःखसे पीडित देखकर यह अबुद्धि मनुष्य दुःख करता है शोक करने लगता है शोक करना उसके लिये अयोग्य है क्योंकि वह स्वयं अनेक दुःखोंसे पीडित हुआ है । अर्थात् अपना



दुःख दूर करनेमें असमर्थ जन दूसरों का दुःख दूर करने में कैसा ममर्थ होगा? शारीरिक, मानसिक और म्माभिविक दुःखों से पीडित होकर वह अपने को सुखी समझ रहा है अत एव स्वयं अज्ञानी है चारों गतिओं में नाना प्रकारके असाता वेदनीय कर्म के उदयसे और दुःख, क्षेय, काल, भाव रूप सहकारी कारणों की सहाय्यतासे अनेक आपत्तियाँ मेरे उपर आई हुई थी और भविष्यकालमें आवेंगी, मेरे को दुःखित करेगी इसको वह स्वयं नहीं जानता है. उपादान कारणों को सहकारी कारणोंकी मदद होनेपर प्रत्यक्ष कार्य होता है. जो जिसके होनेपरभी उत्पन्न नहीं होता है वह उसका कैसा कार्य माना जायगा? जैसे सातूरा बीज होने पर भी आश्रयका अकुर उत्पन्न नहीं होता है क्यों कि वह यवबीजका कार्य नहीं है वैसे यदि अमता वेदनीय कर्म का उदय होनेपर भी दुःख, शोक, तापादिक कार्य नहीं होंगे तो असाता वेदनीय कर्म उदयका कारण नहीं है ऐसा मानना पड़ेगा. परंतु दुःखादिक उत्पन्न होते है. इससे असाता वेदनीय कर्म उनका उपादान कारण है ऐसा सिद्ध होता है.

इसलिए आत्मप्रदेशोंमें ठहरा हुआ, दुःखका कारणभूत असातावेदनीय कर्म किस उपायसे नष्ट होगा इसका ज्ञान इस जीवको नहीं है इसलिए इसको अज्ञानी कहा है यह जीव अन्यके दुःखोंको अपने ही समझकर शोकको प्राप्त होता है और उसका नाश करनेका प्रयत्न सतत करता है ऐसी प्रवृत्ति करनेवाला यह अज्ञानी पर दुःख दूर करने के लिए प्रयत्न होता है. परंतु सद्दुःख दूर करनेका प्रयत्न नहीं करता है जिससे समारमें बार बार दुःख भोगता हुआ भ्रमण करता है परंतु उससे दूसरा पुरुष दुःखोंसे रहित नहीं किया जा सकता है जिसने जो कर्म उपार्जित किए हैं वे उसको फल देते ही हैं शोक करनेपर क्या फल देने वाले कर्म रुक सकते हैं? अर्थात् शोक करने से स्वजनको दुःख देनेवाला कर्म कोई दूर नहीं कर सकते हैं. आगममें इस विषय में ऐसा कहा है

प्रतिपूर्वक मन वचन और कायके द्वारा जो प्राणिओंने कर्मोपार्जन किया है उसके फलको सर्व देव झूठे होकर भी दूर नहीं कर सकते हैं इसलिये दूसरोंका दुःख देखकर शोक करना व्यर्थ है. अपने दुःखमें परकीय दुःख भिन्न है ऐसा विचार करनेवाला जीव दूसरोंका दुःख दूर करना अशक्य है ऐसा समझकर शोक नहीं करता है और अपने दुःखोंको दूर करनेका प्रयत्न करता है ऐसा अभिप्राय आचार्यने व्यक्त किया है

सर्वस्य जीवराशेरालम्बोऽन्यत्सर्वेष्वनुपेक्षेति कथयत्युक्तत्वाया—  
संसारमि अणंते संगेण कम्मणे हीरमाणां ॥

को कस्स होइ सयणो सज्जइ सोहा जणस्मि जणो ॥ १७५५ ॥

ससारे अरममाणानामनंते कर्मणाद्रिनः ॥

कः कस्यास्ति निजो मूढः सज्जतेऽत्र जने जने ॥ १८१४ ॥

विजयोद्या—ससारमि अणते अंतातीते पचविधे ससारे परिवर्तने । संगेण कम्मणे आत्मीयमित्यदर्शनादि परिणामोत्पादितकर्मपर्यायेण पुद्गलरूपेण हीरमाणं आरुह्यमाणाना वदुयिवा गतिं प्रति । को कस्स होइ सयणो नैव कश्चित् कस्यचित्सज्जनो नाम प्रतिनियतोऽस्ति । युज्यतेयं विवेक सज्जनोऽय परजनोऽयमिति । यदि यो यस्य स्वजन-नत्वेनाभिमतस्स तस्यैव स्वजनः सर्वदा भवेत् । परजनो वा स्वजनता नोपेयात् ॥ न चायमस्ति प्रतिनियमः स्वकर्म परतन्त्राणामतो न कश्चित् स्वी जनः परो वा मयास्ति । सर्वो जीवराशिर्मित्यात्वादियुगविकल्पोपनीतनानात्तोऽन्य पचेति कृतव्यवसायस्य कश्चिदेव दया प्रीतिर्वा कश्चिद्विद्यता द्वेयोऽसमानतारूपो न प्रादुर्भूयति ॥ ततो विरागद्वेषस्य चारित्र्यम-विकल्पं भवति । सज्जदि जणमि जणो आसक्तिं करोति जने जनोमयाय भ्राता पिता पुत्रो भागिन्यो दासः स्वामीति वा मोहाद्वस्तुतत्त्वस्य अन्यतामात्ररूपस्य निरस्तस्वजनत्वस्य परिज्ञानान् ॥

न कश्चित्कस्यापि स्वी जनः परो वास्तीति सर्वेभ्यःपृथक्त्वं भावयितुमाह—

मूढारा—हीरमाणं तां ता गतिं नीयमानता । को इत्यदि । यदि हि यो यस्य स्वजनत्वेनाभिमतः । स तस्य स्वजन एव स्यात्सदा । परत्वेनाभिमतो वा कदाचिदपि स्वाजन्य गच्छेत् तदा स्वजनोऽय परजनोऽयं इति नियमो यु-ज्येत । नैच्योऽस्ति, स्वस्वकर्मपरतंत्रत्वात्सर्वेणा तर्हि कुतस्त्योऽय स्वपरविभाव इत्यत्राह—सज्जदि मयाय पुत्रो भ्रातेत्यादि तया प्रीतिविषयतया शत्रुवर्णवादीत्यादिनिर्दयत्वद्वेषविषयतया वा आसक्तिं यन्नाति । मोहो मत्तः । सर्वेऽन्यन्ये, सर्वेभ्यो पि वाहमन्य इति भेदज्ञानाभावात् । एव च भावयतो यतेः स्वपरविभागबुद्धिपगमादप्रादुर्भवद्रागद्वेषपरिणतेः सर्वत्र समताचरणचूडामणिः परिणमते ।

संपूर्ण जीवराशि अपनेसे भिन्न है ऐसा विचार करना ही अन्यत्वानुपेक्षा है ऐसा आगेकी गाथामें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—प्रांच प्रकार के परिवर्तनसे युक्त इस अनंत ससार में मिथ्यादर्शन, अविश्रुति, वगैरह परिणामसे

उत्पन्न हुए कर्मरूपी पुद्गल स्कंधोंसे बद्ध होकर यह जीव अनेक गतिओंमें प्रमण करता है इस लिये इस संसारमें कोई भी जीव किसी का नियमसे स्वजन है नहीं यदि स्वजनसंबंध होता तो यह स्वजन है और यह परजन है ऐसा मानना योग्य होता. यदि जो जिसका स्वजन है वह उसका हमेशा ही स्वजन मानना पड़ेगा, जो परजन है वह कभी भी स्वजन नहीं होगा अतः यह नियमन नहीं है सब जीव कर्मसे परतत्र हो रहे हैं. अतः मेरा कोई स्वजन और परजन नहीं है सर्व जीवसमुदाय मिथ्यात्वादि भिन्नभिन्न परिणामोंसे एक दूसरेसे भिन्न ही है ऐसा विचार कर हे क्षपक तू किसीमें प्रेम किसीमें निर्दयता, द्वेष ऐसी असमानता नहीं धारण करनी चाहिये जब रागद्वेषरहित तू हो जावेगा तब निर्विकल्प चारित्रका धारक बनेगा. मोहसे यह मेरा भाई है, यह मेरा पिता है, पुत्र है मानजा है ऐसी कल्पना करके अन्यजनोपर आसक्ति करता है मैं इनसे भिन्न हूं और ये मेरेसे भिन्न हैं. ऐसा भेदज्ञान नहीं होनेसे अन्य जनोमें आसक्ति उत्पन्न होती है,

प्रकारांतरेण स्वजनपरजनविवेकाभाव दर्शयत्युत्तरगाथा ॥

सब्वो वि जणो सयणो सब्वस्स वि आसि तीदकालमि ।

पंते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥ १७४६ ॥

काले ऽतीते ऽ भवत्सर्वः सर्वस्यापि निजो जनः ॥

तथा कर्मानुभावेन भविष्यति भविष्यति ॥ १८२५ ॥

विजयोव्या—सब्वो वि जणो निरवशयो जंतुरनंत. स्वजनः । सब्वस्स वि सर्वस्यापि प्राणभृतः । तीदकालमि अतीते काले आसि आसीत् । पंते य तथा काले भविष्यति तथा काले. होहिदि भविष्यति । सजणो जणस्स जणो स्वजनो जनस्य जन । पतवनेनाव्यायते ॥ अतीति भविष्यति च काले सर्वस्य सर्वं स्वजन असीद्धविष्यति च ॥ ततस्सर्वसाधारणत्वे स्वजनत्वस्य सति ममायं स्वजन इति मिथ्यासंकल्पः । तेऽप्यन्ये ममाप्यन्यस्तस्य इत्येतदेव तत्त्वमित्यन्यत्वस्य स्वपरविषयस्यानुपेक्षणमन्यत्वानुपेक्षा ॥

सर्वः सर्वस्य स्वजन आसीत्कर्मवशाद्भविष्यति भवति चेति सर्वसाधारणे स्वजनत्वे सति ममैवायं स्वजन इत्येव सकल्पो मम स्यात्, ते मदन्ये तेभ्यश्चाहमन्य इति स्वपरविषयान्यत्वभावनार्थमाह—

मूलारा—जणो जन्तुः । सब्वस्स प्राणिनः ' तीद अतीताः ' पंते भविष्यंति ।

स्वजन और परजन इस विवेकका अभाव प्रकारांतरसे दिखते हैं.

अर्थ—इस जगतमें जितने प्राणी हैं उनसे भूतकालमें मेरा बहुत्वका संवध था भविष्यकालमें भी इनसे स्वजन संवध रहेगा अर्थात् सर्वजन सर्वजनके बहुधेय और आगेभी अर्थात् भविष्य कालमें भी रहेंग अर्थात् स्वजनत्व संवध सर्व जीवोंके साथ सर्वजीवोंका सामान्य रूपसे होनेपरभी यही मेरा स्वजन है और ये मेरेसे भिन्न है ऐसा समझना भूलसे खाली नहीं है इसलिये ये प्राणी मेरेसे भिन्न हैं और मैं इनसे भिन्न हूँ ऐसा विचार करना अन्य-त्वानुमेक्षा है

रतिं रतिं रुक्ले रुक्ले जह सउणयाण संगमणं ॥

जादीए जादीए जणस्स तह संगमो होई ॥ १७५७ ॥

सगमोऽस्ति शकुतानां रात्रौ रात्रौ तरो तरो ॥

तथा तथा तनूभाजां जातौ जातौ भवे भवे ॥ १८२६ ॥

विजयोदया—रतिं रतिं रात्रौ । रुक्ले रुक्ले वृक्षे । जह सउणयाण संगमणं यथा पक्षिणा संगमनं । जादीए जादीए जन्मनि । जणस्स जनस्य । तहा तथा सगमो ह्येदि संगमो भवति । यथा रात्रावाश्रयमन्तरेण स्थानुमसमर्थो पक्षिणो योग्य वृक्षमन्विष्य ढोकेते ॥ तद्वत्प्राणिनोपि निरवशेषगलितान्यु पुद्गलस्कन्धा. परित्यक्तप्राकनशा-रीरा शरीरातरग्रहणार्थिन शरीरग्रहणयोग्यदेश योनिसंश्लिष्टमास्कवति ॥ तत्र ययो. शुक्रशोणितमयमाश्रितोऽशुचि तमे तौ पितराविति सकल्पयति । तथाभूतयोरेव शुक्रशोणितयोरुपात्तदेहा आतर इति ॥ अन्ये न एवंभूताश्च स्वजनि-नोतिखुलमा ॥ कातारे पक्षिणा निवासवृक्षा इवेति भावः ॥

तदेव स्वजनाप्रतिनियतत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति ॥

मूला—जादीए जन्मनि ॥

अर्थ—प्रत्येक रात्रीमें प्रत्येक वृक्षपर जैसे पक्षी आकर बैठते हैं वैसे प्रत्येक जन्ममें प्राणिओंका संगम होता है. जैसे रात्रीमें आश्रयके बिना पक्षी ठहर नहीं सकते हैं इस लिये योग्य वृक्षको शोधकर उसका आश्रय लेते हैं. वैसे प्राणी भी संपूर्ण आयुष्य रूपी पुद्गलरूप घट होने पर पूर्व शरीरका त्याग करते हैं अन्य शरीरको धारण करने की इच्छा करते हुए शरीरग्रहणके योग्य प्रदेशकी जिसको योनि ऐसा नामान्तर है प्राप्त कर लेते हैं. वहां

जिनके रक्त और वीर्यका आश्रय हम को मिला है उनको यह जीन मातापिता ममझने लगता है तथा जिन्होंने उसके समान जिनके रक्तवीर्य का आश्रय लेकर जन्म धारण किया है वे उसके भाई हैं हम प्रभारमें मञ्जनना सुलभ हैं, जैसे जगलमें पक्षियोंको रहने के लिये गृध सुलभ हैं

पहिया उवासये जह तंहि तंहि अछियंति ते य पुणो ॥

छंडित्ता जति णग तह णीयसमागमा सव्वे ॥ १७५८ ॥

अच्चनीना इयंकव प्राण्य संगं तनांगिनः ॥

म्यानं निज निज यान्ति हित्वा कर्मवशीकृताः ॥ १८ ७ ॥

निजयोदया—पहिया पथिका । उवासये उपाश्रये कर्मस्थितम् । जह यथा । तंहि तंहि तस्मिन्स्मिन् प्राप्ततनगदो । अछियंति अन्योन्य द्रोक्ते । ते य तेन सगता पथिका । पुणो पश्चात् । छंडित्ता त्यस्याः । जति यति स्यामिदमे देशे । तथा । णीयसमागमा सव्वे तथा गंधुसमागमा सर्वेपि च ॥ एतेन गंधुसमागमस्यानित्यता व्याख्याता ॥

बंधूना भिवटनद्वारेणान्यत्त्वं भानयितुमाह—

मूलारा—उवासण वमेरुस्थाने । तंहि प्राप्तनगरानुपातवर्तिनि । अद्वियति अन्योन्यं द्रोक्ते । तथ पथिक-नरसमागममा गंधुसमागमा यगमी म्यत् । प्रथक् न म्यः कथं विपटते इत्यनित्यत्वाद्यनुपेक्षणम् ॥

अर्थ—जैसे किसी एक धर्मशालामें पथिक लोक आकर ठहरे हैं, तथा किसी ग्राम और नगरमें मिल-कर भी जाते हैं पुनः वे पथिक विमुक्त होकर भी इधर उधर अपने इष्ट स्थान को जाते हैं वैसे ही मर्न गंधुस-मागम हैं, इस गाथामें गंधुसमागमकी अनित्यता स्पष्ट की गई है

भिण्णपयडिम्मि लोए को करस सभावदो पिओ होज्ज ॥

कज्जं पडि संवंधं वालुयमुटीव जगमिणमो ॥ १७५९ ॥

नानाप्रकृतिके लोके कस्य कस्तत्त्वतः प्रियः ॥

कार्यमुद्दिश्य सचयो वालुकासुष्टिवज्जन ॥ १८२८ ॥

विजयोदया—भिण्णपयडिस्मि लोणे नानास्वभावे लोके । कस्स सभावदो पिओ होल्ल कः कस्य स्वभावेन प्रियो भवेत् । समानशीलताया हि सख्यं भवति । न च सर्ववधव समानशीला' कथं तर्हि तेषां वा स 'वाधव' । कल्लं पडि संवंधो कार्यमेवोद्दिश्य संवंध. नासति कार्येऽस्ति सवंध' । वालुगमुट्ठीव वालुकासुष्टिरिव । जगमिणमो लोकोय । यथा वालुकाणां भिन्नप्रकृतीनां द्रवद्रव्यमंतरेण न स्वाभाविक संवंधो येन संगता मुष्टिमुपेयु । उदकादिद्रव्योपनीतैव संगति-स्तासां, एव कार्योपनीतैव संगतिः स्वजनानां ॥

मा भूदनुभवविरोधिना तदात्मनो वधुभिः मबन्धः । स्वाभाविकप्रेमादिभावेन भविष्यति इति मोहादभि-

निविशमानमुद्रोपयति—

मूलारा—भिण्णपयडिस्मि नानास्वभावे । को इत्यादि समानशीलताया हि सख्यं । न च सर्वे वधवः समान-शीलाः । कथं तर्हि तेषां संवंध इत्याह—कल्लं पडि कार्यमुद्दिश्य, स्वाभिमतसाध्यमपेक्ष्य । संवंधः प्रियत्वेन श्रुतिः । न चायं रथेयान् । यल्लोकाः—

गते ते लोचने तात ये लभे त्रिफलारसे ॥

कार्यानुबंधे यत्प्रेम तद्विद्धि गतमेव हि ॥

ततः किं स्थितमित्याह—जगमिणमो लोकोयं । वालुकासुष्टिरिव । यथा वालुका द्रवद्रव्येणैव न स्वाभाविक संवंधेन संगताः सत्यो मुष्टिमुपेयुस्तथा ज्ञातयः कार्यपेक्षयैव संवद्धा एकत्व गच्छेयुरिति भावः । एवं च भावयतः कार्योपनीतसंगतिवत्प्रवृत्ततादाल्पविभ्रमविश्रान्दन्यत्वेकावतिर्वर्धेन धर्मध्यानाय योग्यता समुन्मीलति ॥

अर्थ—यह जग नाना स्वभावात्मक है इसलिये कोन प्राणी स्वभावतः प्रिय है? समानशील प्राणीमेंही सख्य रहता है परंतु सर्व वधु समानशील—समान स्वभाववाले नहीं होते हैं किस कार्यके वश होकर ही संबंध होता है, कार्य ही जानेपर संवंध नष्ट होता है, जैसे वालुके कण भिन्नभिन्न रहते हैं परंतु उनमें जलादि द्रवपदार्थ का प्रवेश होनेपर वे कण अन्योन्य मिल जाते हैं अर्थात् स्वाभाविक संवंध उनमें नहीं है, उदकादि द्रव्यसे ही उनका परस्पर संवंध होता है उसी प्रकार कार्यसही स्वजनोके साथ संवंध है.

त च कार्यकृतं सवंधं स्पष्टयत्युत्तरगाथा—

माया पोसेइ सुयं आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति ।

पोसेदि सुदो मादं गब्बे धरिओ इमाएत्ति ॥ १७६० ॥

माता पोषयते पुत्रमाधारोऽयं भविष्यति ॥

मातरं पोषयत्येव गर्भेऽहं विधृतोऽनया ॥ १८२९ ॥

विजयोदया—माया पोसेदि सुदं माता पोषयति सुतो। आधारो मे भविस्सदि इमोत्ति अयं ममाधारो भविष्य-  
तीति । पोसेदि सुदो मादं पोषयति सुतो मातरं । गर्भे घरिदो इमाएत्ति गर्भे धारितोऽनयेति ॥  
कार्यपिक्षमेव सम्बन्धं निर्दिशति—

मूलारा—इमाए त्ति अनया । मातरं पोषयतो मे कृतज्ञताविशयादनुरक्तोऽन्योऽन्युपकाराय प्रवर्तिष्यत इति  
तदाऽपोषणे च यो मातुरपि न प्रत्युपकरोति स कथमन्यस्य कृतज्ञः प्रत्युपकरिष्यतीत्यपरब्रतु (१) सर्वोऽपि जनो मम  
विश्वसन्स्वार्थेन प्रवर्तिष्यते कार्यपिक्षयैव पुत्रो मातरं पुष्णतीति मन्यते ।

इस संबंध को उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—माता यह मेरा लडका मेरा आधार होगा इस हेतुसे पुत्र का पोषण करती है. तथा इसने मेरेको  
गर्भ में नउ महिने तक धारण किया था ऐमा समझकर पुत्रभी माताका रक्षण करता है अर्थात् कार्योदेशसे स्वजन  
परजन यह विभाग होता है उपकारसे मित्रता और अपकारसे शत्रुता होती है.

उपकारापकारयो प्रतिबंधात् शत्रुता मित्रता वेति कथयति—

होऊण अरी वि पुणो मित्तं उवकारकरणा होइ ॥

पुत्तो वि खणेण अरी जायदि अवयारकरेण ॥ १७६१ ॥

अमित्रं जायते मित्रमुपकारविधानतः ॥

तनूजो जायते शत्रुरपकारविधानतः ॥ १८३० ॥

विजयोदया—होऊण अरी वि शत्रुरपि भूत्वा । पुणो पुन' मित्तो होदि सुद्वद्वयति सएवारि' । कुतः? उपकारकरणा  
नुपकारकरणेन । पुत्तोवि खणेण अरी जायदि पुत्रोपि क्षणेन शत्रुर्भवति, केन ? अपकारकरणेन, निर्भत्सेनताडनाद्यपकरण  
क्रियायाः ॥ यस्मादेव ॥

मित्रत्ववच्छत्रुत्वस्याप्यौपाधिकत्वमेव बोधयति—

मूलारा—अरी अपमानाद्यपकारकरणदपकारकत्वेन शत्रुरपि भूत्वा । अत्र ममार्यं शत्रुरित्यपकार्योपकारकभावे-

नेव ममाय पुत्र इत्युपकार्योपकारकभावेनापि संवंधस्यानवस्थितत्वात् शत्रुणव पुत्रेणापि न स्वाभाविकः संवंधोऽस्तीति भावनान्द्वारेण अन्यत्वनिष्ठतावसीयते ।

इसका विवेचन—

अर्थ—जो शत्रु है वही उपकार करनेसे मित्र बनता है, पुत्र भी एकक्षण में अपकार करनेसे शत्रु बनता है अर्थात् निर्भर्त्सना करना, ठोकना इत्यादि अपकारोंसे पुत्र पिता का शत्रु बन जाता है-

तस्मा न कोऽहं कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे ॥  
कज्जे पडि हुंति जगे णीयाव अरी व जीवाणं ॥ १७६२ ॥

न कोपि देहिनः शत्रुर्न मित्रं विद्यते ततः ॥

जायते कार्यमाश्रित्य शत्रुर्मित्रं विनिश्चितम् ॥ १८३१ ॥

विजयोदया—तस्मा तस्मात् । णकोऽहं कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे नैव कश्चित्कस्यचित्स्यजनः परजनी विद्यते । कज्जे पडि होदि णीया व अरी व जन कार्यमेवोपकारापकारलक्षणं प्रति वधव' शत्रुवश्च भवति । न स्वभाविकी वंधुता शत्रुता वा जीवानामस्ति उपकारापकारात्स्थितत्वात्तन्मूलोऽस्ति मित्रभावोऽन्यथावस्थित इति न रागोद्वेगौ कच्चिदपि कार्यौ । मत्तोऽन्ये सर्व एव प्राणभृत इति कार्यान्यत्वानुपेक्षेति प्रस्तुताधिकारोणाभिसंवंधः ॥

यत एवम्—

मूलारा—सयणो व जणो व रयजनी वा वंधु । जनो वा सामर्थ्यपरजनः । अथवा अवजणो अपकर्ता जन इति ग्राह्यम् । कज्जं उपकारापकारलक्षणं कार्यं । एवं च वंधुत्वशत्रुत्वयोः अन्वस्थितत्वाध्यवसायाद्वेगोपरमान्मत्तोऽन्ये सर्वेऽपि जन्मिन इत्यन्यत्वानुपेक्षयैवाभिसंवंधः ॥

अर्थ—इसलिये इस संसारमें कोई किसीका स्वजन और परजन नहीं है कार्य के वश होकर स्वजन परजन व्यवहार दुनियामें चलता है, जिसके ऊपर हम उपकार करते हैं वह हमारा मित्र बनता है, और जिसके ऊपर हम अपकार करेंगे वही हमारा शत्रु होगा स्वाभाविक वंधुता किसीमें नहीं है शत्रुता भी किसी के साथ स्वाभाविक नहीं रहती है उपकार और अपकार पर शत्रुत्व और मित्रत्वका व्यवहार निर्भर है ऐसा समझकर किसीमें भी रागद्वेष नहीं करना चाहिये सभी प्राणी मेरेसे भिन्न हैं यह भावना हृदयमें सदैव धारण करनी चाहिये



शत्रुमित्रयोर्लक्षणमाचष्टे—

जो जस्स वट्टदि हिदे पुरिसो सो तस्स बंधवो होदि ॥  
जो जस्स कुणदि अहिदं सो तस्स रिउत्ति णायव्वो ॥ १७६३ ॥  
हित करोति यो यस्य स मतस्तस्य बांधवः ॥

विजयोदया—जो जस्स वट्टदि हिदे यो यस्य उपकारे वर्तते । पुरिसो पुरुष । सो तस्स बंधवो होदि स तस्य बंधुर्भवति । जो जस्स कुणदि अहिदं यो यस्य करोत्यहित । सो तस्स रिउत्ति णायव्वो स तस्य रिपुरिति ज्ञातव्यः ॥  
मित्रशत्रुत्व लक्षणाविपकरणेन समर्थयते—  
मूलारा—हिदे उपकारे ॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते हैं—

अर्थ—जो मनुष्य जिसका हितकार्य करता है वह मनुष्य उसको अपना बंधु समझता है जो जिसका अहित करता है उसका वह अपना शत्रु समझता है. अभिप्राय यह है कि, उपकार और अपकार पर क्रमसे मित्रत्व और शत्रुत्व अवलंबित है.

शत्रुलक्षणं बहुषु दर्शयति—

णीया करति विग्घं मोक्खदुमुदयावहस्स धम्मस्स ॥  
कारिति य अइवहुंगं असंजमं तिब्बदुम्बकरं ॥ १७६४ ॥  
कुर्वन्ति बांधवा विघ्न धर्मस्य शिवदायिनः ।  
तीव्रदुःखकार घोर कारयन्त्यप्यसंयमम् ॥ १८३३ ॥

विजयोदया—णीया करंति विग्घ वंधव कुर्वन्ति विघ्नं । कस्य ? धम्मस्स धर्मस्य, कीदृशः ? मोक्खदुमुद-  
यावहस्स निरवशेषदुःखकारिकर्माणाय सासारिकमतिशयवत् सुख च संपादयतो रत्नत्रयस्य । कारंति य कारयंति च ।  
किं ? असंयमं । हिंसानुत्तरेयादिक, अद्विगुह्य अतीव मद्दत । तिब्बदुम्बकरं द्रु सहनरकादिदुःखोत्थापनोद्यतं । हितस्य  
विघ्नकरणादहिते च प्रवर्तनात् दर्शिता शत्रुता बंधूनामेतेन । अन्येषा बांधवाद्यभिमताना शत्रुत्वेनानुपेक्षणं अन्यत्वानु-  
पेक्षेति कथितं भवति ॥

बंधूना हितविधाताहितप्रवर्तनपरत्वेन शत्रुत्वावस्थपनादन्यत्त्वं भावयन्नाह—

मृलारा—असंजमं हिंसानृतस्तेयादिकं ॥

बधुमी वास्तविक शत्रु है ऐसा अभिप्राय—

अर्थ—जिसका आचरण करने से संपूर्ण कर्मोंका नाश होकर आत्मा को मोक्षप्राप्ति होती है और ससारिक उत्कृष्ट सुख की—अर्थात् अहामिन्द्र सुखकी जिससे प्राप्ति होती है ऐसा रत्नत्रय धारण करने में बधुगण विघ्न उपस्थित करते हैं इतनाही नहीं पंतु हिंसा, असत्य, चोरी वगैरेह असंयमभी इस जीवसे वे कराते हैं अति शय घोरा, दुःस्सह नरकादि दुःखोंसे प्राणीका उद्धार करनेवाले धर्ममें ये बधु विघ्न करते हैं और अहितमें प्रवृत्त करते हैं इस लिये इन बधुओंमें शत्रुता दीख पड़ती है. इस प्रकार बंधुओंके विषयमें विचार करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है

इदानीमन्यशब्देन साधवो ग्रण्यन्ते तेयमुपकारकत्वरूपेणानुप्रेक्षति चेत्तसि कृत्वा व्याचष्टे—

णीया सत्तू पुरिसस्स दुति जदिधम्मविग्गवकरणेण ॥

कारेति य अतिबहुगं असंजमं तिब्बदुःखयरं ॥ १७६५ ॥

विजयोदया—अन्येषां यतीना बधुत्वं कथमप्रस्तुताया अन्यत्वानुप्रेक्षायासुपयुज्यतेऽस्य ॥

अन्य शब्दसे सत्पुरुषोंका ग्रहण होता है उनको उपकारक समझकर चिंतन करना यह भी अन्यत्वानुप्रेक्षा शब्दका अभिप्राय है इसका खुलासा—

अर्थ—बधुगण यतिधर्ममें विघ्न करनेमें प्रवृत्त होता है और नरकादि गतिओंमें तीव्र दुःख देनेवाला असंयम कराता है इस लिये वह ही शत्रु है और सत्पुरुष—

पुरिसरस पुणो साधू उज्जोव सजणंति जदिधम्मो ॥

तथ तिब्बदुक्खकरणं असंजमं परिहरावेति ॥ १७६६ ॥

बंधुरं साधवो धर्मं वर्धयन्ति शरीरिणः ।

संसारकारणं निंद्यं त्याज्यन्यप्यसंयमम् ॥ १८३४ ॥

विजयोदया— पुरिसिस्स पुरुषस्य । पुणो साधू पुन साधव । पुन उज्जोवं संजणंति उद्योगं सम्यग्जनयंति ॥ जदिधम्मं सर्वारंभपरिग्रहत्यागलक्षणे यतिधर्मे, तव असज्जं परिहरवेंति तथा असंयमं परिहारयंति । कीटग्मूत ? तिब्बदुष्प्रयारं तीव्रणां दु खानामुत्पादकं ॥

एव बंधूनामपकाररूपेणान्यत्त्वमुत्प्रेक्ष्य साधूनामुपकाररूपेणान्यत्त्वमनुचितयति—

मूलारा—उज्जम उद्यम । जदिधम्मं सर्वारंभपरिग्रहत्यागलक्षणे मुनिधर्मे । परिहरवेंति त्याजयंति । अप्रोपकार्योपकारकभावदर्शनेनान्यत्त्व वेद्यते

अर्थ—यति धर्ममें पुरुषको अतिशय दृढचित्तवाला करते हैं तथा असंयमसे प्रयत्न पूर्वक हटाते हैं सर्व आरंभ और परिग्रहोंका जिसमें पूर्ण त्याग हो जाता है ऐसे मुनिधर्ममें तीव्र दुःख देनेवाले असंयमोंके त्यागमें जीवको मुनिगण प्रवृत्त करते हैं अतः वे ही परमार्थसे हित करनेवाले बांधव हैं

उपसंहरति प्रस्तुतमर्थं तथा हिते प्रवृत्ताद्विताद्विवर्तनात् ॥

तस्मा जीया पुरिसिस्स हेंति साह् अणेयसुहेदु ॥

संसारमदीणता जीया य णरस्स हेंति अरी ॥ १७६७ ॥

साधवो बांधवास्तस्मादेहिनः परमार्थतः ।

ज्ञातयः शत्रवो रौद्रभवाभोधिनिपाततः ॥ १८३५ ॥

शरीरादात्मनोऽन्यत्त्वं निस्त्रिशस्येव कोशतः ।

परवत्तं न जानन्ति मोहान्धतमसावृताः ॥ १८३६ ॥

अनाविनिधनो ज्ञानी कर्ता भोक्ता च कर्मणाम् ॥

सर्वेषां देहिनां ज्ञेयो मतो देहस्तनोऽन्यथा ॥ १८३७ ॥

पूर्वजन्मकृतकर्मनिर्मात पुत्रभिन्नधनयांधवादिकम् ॥

न स्वकीयमखिलं शरीरिणो ज्ञानदर्शनमपास्य विद्यते ॥ १८१८ ॥

इति अन्यत्वं ।

विजययोदया—तस्या तस्मात् । हिते प्रवर्तनात् । णीणा पुरिसस्स वंधव पुरुषस्य । के ? साधू साधव । अपेगसुख हेतु इन्द्रियनिन्द्रियसकलसुखहेतव । ससारमदीणता ससारमपारनेक्रदु खसंकुलमवतारयत् । णीया य णस्स हति अरी शत्रवो भवति मनुष्यस्य वंधव । एतेन सूत्रेण अन्येणा यतीना बंधूना भिन्नत्वशुल्बानुप्रेक्षणं अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथ्यते । एवमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मे तदुपदेशकारिणि च यतिजने महानादरो भवति । अभिमतं सकलसुखमुपस्थापयतो धर्मस्य विघ्नं भवति संपादयन्तु चतुर्गतिघटीयत्रे दु खभारे आरोहन्तु नितरामनादरो भवति ॥ अण्णत्तं ॥

वस्तुतुल्या यतीना च यधुत्वेनापि वधूना च शत्रुतयापि स्वस्मादन्यत्त्वं भावयितव्यमन्यथा विभ्रमावेशादिष्टसिद्धि व्याघातो भवेदित्यन्यत्वानुप्रेक्षासर्वस्वमुपदेष्टुमाह—

मूलारा—अणेग ऐन्द्रियिकमर्तीन्द्रिय च । अदीर्णता प्रवेशयंतः  
अन्यत्वानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—सत्पुरुष प्राणिओंको हितमार्ग में लगाते हैं इसलिए वे ही सच्चे बांधव हैं ये सत्पुरुष ही जीवों को इन्द्रिय सुख और अर्ताद्रिय सुखकी प्राप्ति होनेमें हेतु होते हैं, परन्तु अपने जो बंधु हैं वे अनेक दुःखोंसे व्याप्त अपार संसार में डूबते हैं इसलिए वे मनुष्यके शत्रु हैं इस भाषासे अपनेसे भिन्न जो सत्पुरुष हैं वे बंधु हैं और अपनेसे भिन्न बांधवगण वास्तविक शत्रु हैं ऐसा विचार करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है ऐसा कहा गया है इस प्रकार जो पुरुष विचार करता है उसके मनमें धर्मके विषयमें और उसका उपदेश करनेवाले सत्पुरुषोंमें महान् आदरभाव उत्पन्न होता है और बंधुओंमें अनादर होता है, क्योंकि वे इष्ट सुख देनेवाले धर्माचरण में बाधा लाते हैं, संसार वर्धक क्रियाओंमें जीवोंको लगाते हैं, चतुर्गतिरूप घटी यंत्र जो कि दुःखका भार है उसपर स्वयं उन्होंने आरोहण किया है इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षाका वर्णन समाप्त हुआ ।

ससारानुप्रेक्षा कथ्यते प्रवधेनोत्तरेण—

मिच्छत्तमोहिदमदी संसारमहाडवी तदोदीदि ॥

जिणवयणविप्पण्हो महाडवीविप्पण्हो वा ॥ १७६८ ॥

मिथ्यात्वमोहितस्त्वान्तो भवे प्रमति दुर्गमे ॥  
मार्गश्रष्ट इवारण्ये भवेभारिभयंकरे ॥ १८३९ ॥

विजयोदया—मिच्छत्तमोहिदमदी वस्तुयाथात्म्याश्रद्धानं दर्शनमोहोदयजं मिथ्यात्व तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोहमुपगता मतिर्यस्यासौ संसारमहाडर्वो संसारो महाटवी दुस्तरत्वाद्नेकदुःखत्वाद्विनाशयितुमुद्यतत्वाच्च ता संसारमहाटर्वो । तदो तस्मात् मिथ्यात्वमूढमतिवदतीति प्रविशति ॥ ननु मिथ्यात्वासमकर्मयोगाश्चत्वारोऽपि संसारस्य निमित्तभूता सूत्र क्रियुच्यते मिथ्यात्वमूढमति संसारमहाटर्वो प्रविशतीति ॥ अत्रोच्यते—उपलक्षण मिथ्यात्व ग्रहण असंयमादीना । जिणव्ययणविष्णुण्डो द्रव्यभावकर्मरारितजयात् जिनास्तेषा वचन जीवाद्यर्थायात्म्यप्रकाशन पटु प्रत्यक्षादिप्रमाणातराधिरोधिततो विग्रनष्टतदर्थपरिखानान् यत्तत्वाश्रद्धान तन्निरूपितेन मार्गेणानाचरणाच्च महाटर्वो प्रविशति । विष्णुण्डो वा मार्गोऽग्रिग्रनष्ट इव । संसारमविग्रम जीवपोतो भमदि संसारमहासमुद्रं प्रविश्य जीवयानपात्रं भ्रमति ॥ कीदृश्रुतं संसारमहोदधि ॥

धर्म्यध्यानालवनत्वेन समारकारस्वरूपप्रकारादिपरिकरं गाथासमविशतयानुभूक्षयिष्यन्नादौ संसारप्रवेशपर्यटने गाथाचतुष्टयेनानु चितयति—

मूलारा—मिच्छत्त उपलक्षणादसंयमादिश्च । तदो मिथ्यात्वमोहितमतिवत्वात् । अदीदि प्रविशति । विष्णुण्डो तदर्थाननयवोधाश्रद्धानाननुष्ठानाब्जिनवचनादपटुतः ॥ विष्णुण्डो व मार्गमूढ इव ॥

संसारानुप्रेक्षाका वर्णन विस्तारसे करते हैं—

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदय से जीवादि पदार्थोंपर यथास्वरूप श्रद्धा जीव नहीं करता है जीवके इस अश्रद्धारूप परिणामको मिथ्यात्व कहते हैं । इस मिथ्यात्व परिणामसे जिसकी बुद्धि मोहित हुई है ऐसा प्राणी दुस्तर, नाश करनेवाला अनेक दुःखोंसे परिपूर्ण और अपार ऐसे संसाररूपी जगलमें भ्रमण करता है । अर्थात् जैसे सच्चे मार्गसे भ्रष्ट हुआ पथिक धूल कर महावनमें प्रवेश करता है और दिहमूढ होकर उसमें ही इतस्ततः भ्रमण करता है वैसे जिनेश्वरके वचनोंका अभिप्राय न जाननेसे जीवादिक पदार्थोंके सत्य स्वरूप पर श्रद्धा न रखनेवाला और जिनेश्वरके दिखाए हुए मार्गसे जानेवाला ऐसा प्राणी संसारवनमें भ्रमण करता है ।

ज्ञानावरणादि कर्मोंको द्रव्यकर्म कहते हैं और राग, द्वेष मोह, क्रोधादिक मनोविकारको भावकर्म कहते हैं । जिसने इन दोनों वर्गोंका अत्यंत नाश किया है ऐसे अर्हत्परमात्माको जिन कहते हैं, उनके मुखसे जो

सचिच्चशीतसघृता सेतरा मिश्रायैकशस्तघोनय इति सूत्रे ये निर्दिष्टाश्चतुर्शीतशतसहस्रविकल्पास्त इह न गृह्यते । यतः सूत्रातरे देवत्वनारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वाख्या भवपर्यायपरपृच्छिर्भवससार इत्युक्तः ॥ गिरयादिजहण्णादिसु जाव दु उवरिहियादु गेवज्जा । मिच्छत्तसंसिदेण दु भवङ्गिरी भज्जिदा बहुसो इति वचनात् । योनयो न भवराध्यवाच्या । जीवपर्यायो हि भवस्तत्र भवससारिखिदिग्—पृथिव्यसेजोवायुचनस्पतिफाया प्रत्येक वादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्त विकल्पादिशतिविधा । द्विविचतुर्दिश्यासंश्लासखिविकल्पा पचेद्वियाश्च पर्याप्तापर्याप्तकाविकल्पा दशविधा । अन्ये तु भवपरिवर्तनेमेव वदति । नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुगा तत्रोत्पन्न पुनः परिध्यास्य तेनैवायुगा तत्र जायते । एव दशवर्षसहस्राणां यावत् समयास्तावत्कृत्वा तत्रैव जातो मृत पुनरेकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सारागरोपमाणाः परिसमापितानि ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ अंतर्मुहूर्तयु समुत्पन्न पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि परिसमापितानि ततः प्रच्युत्य एव मनुष्यगतौ । देवगतौ नारकवत् । अयं तु विशेषः, एकत्रिंशत्सारागरोपमाणि परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्तना सर्वोक्ता भवन्ति । अनन्तवारमय प्राप्तो जीवः ॥

मूलारा—भवसंसारमाह—जोणीओ आश्रयाः । ते चेह जीवद्रव्याणां वादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तकाख्याः स्थावराणां विशतिः त्रसाना च वादरत्वनियमाद्देशेति त्रिशत्यर्याया विवक्षिताः । चतुर्शीतिलक्षसंख्याः सचिच्चतुर्दियोनयः । देवत्वनारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वाख्यपर्यायपरपृच्छेर्भवसंसारत्वेन ग्रथान्तरे उभियानात् । तथा चोक्तं—

गिरयादिजहण्णादिसु जाव दु उवरिहियादु गेवज्जा ॥

मिच्छत्तसंसिदेण दु भवङ्गिरी भज्जिदा बहुसो ॥

अन्ये तु भवपरिवर्तनेमेवमाहुः ॥ नरकगतौ सर्वजघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुगा तत्रोत्पन्नः पुनः परिध्यास्य तेनैवायुगा तत्रैव जातो मृतः । पुनरेकसमयाधिकभावेन तत्रैव जातोः यावत् त्रयस्त्रिंशत्सारागरोपमाणि परिसमापितानि । ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ सर्वजघन्यातमुहूर्तयुतोत्पन्नः । पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि तेन परिसमापितानि, एवं मनुष्यगतौ च । देवगतौ नारकगतिवत् । अयं तु विशेषः । एकत्रिंशत्सारागरोपमाणि परिसमापितानि । एव समुद्धित यावत्तावद्भवपरिवर्तन ॥

अर्थ—नामकर्मके गति जाति वर्गरे अनेक भेद हैं उसमें जातिकर्मके पांच भेद हैं इतु जातिकर्मके उदयसे एकेद्वियादि जिवोंके जो आश्रय है उनकी योनि कहते हैं वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे इन योनिओंके भेद हैं येही जीवद्रव्योंको यहां आश्रयभूत समझने चाहिये. सचित्तयोनि, शीतयोनि वगैरह चौरासी-लक्ष योनिभेद जो सूत्रमें कहे हैं उनका यहां संवध नहीं है. क्योंकि सूत्रांतरमें देवत्व, नारकत्व, मनुष्यत्व और

विज्ञेयोदया—मिच्छन्मोक्षिदमपी यन्मुखाभ्याश्चक्षाल दशनमोक्षोदयञ्च मिथ्यात्वेन निरुपेतं हेतुना मोक्षमुपगता मन्थिभ्यासौ मन्मथमहापुत्रौ यस्मात् महापुत्री दुस्तरादनेकदुःखान्मुखाभ्यामप्युपगता तौ यस्मात्समहापुत्री । ततो तस्मान् मिथ्यागममुत्पिपासयौ प्रविशति ॥ तन्मिथ्यागमसमूहस्य गोपात्रपारोक्षि मन्मथस्य निमित्तभूता मूत्र क्षिप्तुं गे मिथ्यागममुत्पिपासयौ प्रविशति ॥ योऽनेन—अपश्यन् मिथ्यागमप्राप्त्यसमादीनां । चित्तव्यापिण्यजोऽप्युपायसंगमोन्नियतम् । चित्तसंयोग एव मिथ्यागमसमूहस्य पदं प्रत्यक्षादिप्रमाणानामभिगोचरतो विप्रवृत्त्या गंगेति तावत् ज्ञानाश्रयं परिस्फुरितं मन्मथानन्त्यात् महापुत्री प्रविशति । शिरगटो वा नागद्विपन्न इव । यस्मात्परिगम्य पीपीतो ममिदं मन्मथमहापुत्रं प्रविश्य तीक्ष्णयागमं भ्रमति ॥ कीदृशो मन्मथमहोपायः ॥

धन्वंतरीनाम्नत्वेन गन्धर्वाणां स्वर्गपरिवर्तिनं गोपानमस्मिन्नामुद्विगतासीतिनाशशेषमन्त्रेन  
साध्यावष्टयेनानु विप्रानि—

मूत्रारा—मिच्छा उपर अणुअवभाजित । ततो मित्रारामोद्भवागतिरा । रमीनि प्रसिद्धि । निरागदो ।  
तदर्थनयमोधाथद्विजानतुश्रानिपामरमापमूल । निरागदो य गागमृदु दय ॥

समाराज्ये यद्वा यानि विभाग्ये हतं ह—

अर्थ—दशमनोहनीय रूपके उद्गम मे जीवाद पदार्थोंपर व्याप्यरूप श्रदा जीव नहीं बनाता है नीचेके इस अश्वत्थारूप परिणामको मिथ्यात्व कहते हैं. इस मिथ्यात्व परिणाममे जिंगही यदि मोहित हुए है ऐसा प्राणी दुस्तर, नाश करनेवाला अनेक दृष्टियोंमें परिपूर्ण श्रेष्ठ अथवा ऐसे ममागच्छी जगत्तम भ्रमण करता है अर्थात् नेमे सत्ये मागिमे श्रष्ट दृष्टा पथिक धूल तर मदानमे प्रवेश करना है और दिग्भ्रष्ट होकर उनमें ही श्रमन्त. भ्रमण करता है वेमे जिनेश्वरके रचनोका अभिप्राय न जाननेमे जीवादिक पदार्थोंके मय्य स्वरूप पर श्रदा न रखनेवाला और जिनेश्वरके दिव्याण द्रष्टा मागिमे जानेवाला ऐसा प्राणी भ्रमात्मके भ्रमण करता है ।

ज्ञानावगादि स्मृति की द्रव्यरूप कहते हैं और गग, द्रव्य मोक्ष, क्रोधादिरु मनोवित्तारकी भावतमें कहते हैं। जियने इन दोनों समोंका अत्यत नाश किया है ऐसे अर्धरसमात्माकी जित कहते हैं उनके पुण्यसे जो

उपदेश निकलता है वह सत्य और हितकारक ही होता है। वह जीवादि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप दिखाता है और प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अनाधित है। परंतु ऐसे उपदेशका अनादर करनेवालों जीव मिथ्यात्वी होकर अवश्य संसार भ्रमण करेगा ही। मिथ्याज्ञानी हिंदमदी, ऐसा गाथामें पद है यहा मिथ्यात्व शब्द उपलक्षणात्मक है। इस शब्दसे असयम, कयाय और योगोंका भी ग्रहण करना चाहिये।

बहुतिव्वदुक्खसलिलं अणतकायप्पवेसपादालं ॥

चटुपरिवट्टावचं चटुगदिवहुपट्टणमणंतं ॥ १७६९ ॥

अनेकदुःखपानीये नानायोनिभ्रमाकुले ॥

अनंतकायपाताले विचित्रगतिपत्तने ॥ १८४० ॥

विजयोदया—चटुतिव्वदुक्खसलिलं वह्नि तीव्राणि दुःखानि सलिलानि यस्मिन्संसारमहोदधौ तं । अणंत-कायप्पवेसपादालं अनंताना जीवाना काय, शरीरमनकायस्तत्र प्रवेशास्ते पातालसंस्थानीया यस्य त । अथवा न विद्यते अंतो निश्चयोऽस्यैव जीवस्येवं शरीरमिति यद्वनां साधारणत्वात् यस्मिन् काये सोऽनंत कायोऽस्य जीवस्येत्यनंतकाय । अन्तरेणापि भावप्रत्यय भावप्रधानो निर्देश । तेनायमर्थः अनंतकायत्वस्य प्रवेशः अनंतकाय-प्रवेश स पातालं यस्य त । चटुपरिवट्टावचं चत्वार द्रव्यक्षेत्रकालभावार्थाः परिवर्तो यस्मिन् । चटुगदिवट्ट पट्टणं चतस्रो गतयो वह्नि महति पत्तनानि यस्मिन् । अणंत अनंत ॥

मूलारा—अणंत्यादि अनंताना जीवाना कायस्तत्र प्रवेशः पातालानि यस्य । चटुपरिवट्टावचं द्रव्यक्षेत्रकाल-भावपरिवर्तनजलभ्रमं ॥

यह जीवरूपी नौका संसारसमुद्रमें प्रवेश कर उसमें भ्रमण करती है आचार्य संसारसमुद्रका विस्तारसे वर्णन करते हैं—

अर्थ—संसारसमुद्र नानाविध दुःखरूपी पानीसे भरा हुआ है अनंतजीवोंके जो शरीर उनमें प्रवेश करना ये ही यहाँ पाताल हैं साधारण जीव अर्थात् निर्गोदी जीवोंका जो निवासस्थान है वह ही इसमें पातालप्रदेश समझना चाहिये साधारण जीवोंके शरीरोंको अनंतकाय कहते हैं यह नाम अन्वर्थक है इसही जीवका यह शरीर है ऐसा निश्चय नहीं कर सकते हैं क्योंकि वह साधारण होनेसे अनंत जीवोंका आश्रयस्थान बना है अर्थात् एकही जीवका अथवा अमुक



जीवका यह शरीर है ऐसा निश्चय नहीं होता है, द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परि परिवर्तन, काल परिवर्तन और भावपरिवर्तनरूपी भोवरे इस संसारसमुद्रमें हमेशा भ्रमण करते हैं- इस संसारसमुद्रमें चार गतिरूपी बड़े बड़े द्वीप हैं और यह समुद्र अनंत है

हिंसादिदोसमगरादिसावदं दुविहजीवबहुमच्छं ॥  
जाइजरामरणोदयमणयजादीसुदुस्मीयं ॥ १७७० ॥

रागद्वेषमदकोधलोभमोहादियादसि ॥

अनेकजातिकल्लोले त्रसस्थावरबुहुदे ॥ १८४१ ॥

विजयोदया— हिंसादिदोसमगरादिसावदं हिंसातृप्तस्थावत्क्षपरिश्रद्धा हिंसाविदोयस्ते मरुदायः भ्रपदा यस्मिन् । दुविहजीवबहुमत्त्य द्विविधा स्थावरजगमविकल्पा जीवा इति द्विविधा जीवास्ते बहुवो मत्स्या यस्मिन् । जाद्विजरामरणोदयं जातिरभिनवशरीरग्रहण, जरा नाम गृहीतस्य शरीरस्य तेजोबलादिभिरुन्मत्ता, मरणं शरीरादपगम एतानि जातिजरामरणानि उदय उन्नतिर्यस्मिन् । अण्यजादीसुदुस्मीयं अनेकानि जातिशतानि ऊर्मयो यस्मिन् । एक-द्वित्रिचतुष्पञ्चद्वियजातय प्रत्येकमवातरभेदापेक्षया पृथिवीकायिका, अपूर्वायिकास्तेजस्कायिकवनस्पतिकायिका इति ॥ एकैन्द्रियजातिरनेका पाँचैश्वर्यकल्पा पृथिवी । आपोऽपि वर्षहिमहिमानीकरूपादिभेदभिन्ना । अक्षरपि प्रदीपोत्सुकुमात्रि-त्यनेकभेदः ॥ वायुरपि गुजामण्डलिकादिविकरूप ॥ वनस्पतयोपि तरुगुल्मवल्लीलतावृक्षादिभेदास्ततो जातिशतानीत्युक्त ॥

मूलारा—दुविधा जीवा स्थावराखसाश्च । जादि अभिनवशरीरग्रहणं । उदय जलं । जादीसद्व जालीनामेकेन्द्रिया-दिजातिभेदाना पृथिवीकायिकाकायिकावावातरजातिभेदयुक्ताना शतानि ।

अर्थ—हिंसा असन्ध, चोरी, कुशीलेसन और परिग्रहाभिलाषा इत्यादि पातक्यूप मगर वगैरह क्रूर हिंस्र प्राणी जिसमें हैं, त्रसस्थावर जीव रूपी मत्स्य जिसमें हैं जन्म—नवीन शरीर ग्रहण करना, जरा—ग्रहण किये हुए शरीरमेंसे तेज, बल वगैरह शक्तिया कम होते जाना, मरण—शरीरसे आत्माका गमन होना इत्यादि अवस्थाओंसे यह संसार समुद्र उन्नत हुआ है अनेक एकैन्द्रियादि सैकड़ों जातिरूपी तरंग जिसमें है ऐसा यह संसारसमुद्र महाभयानक है, जातिकर्मके एकैन्द्रिय, द्वौन्द्रिय, त्रौन्द्रिय, चतुर्न्द्रिय, पंचेन्द्रिय जाति ऐसे पाँच भेद हैं- इन प्रत्येक जातिओंके अवांतर भेद बहुत हैं पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक

ऐसे एकेंद्रिय जातिके भेद हैं उनमें भी अर्वांतर भेद इस प्रकार है अर्थात् शुश्र्वाधिकके छव्वीस भेद हैं, जलके भी श्रुष्टि, हिम, बर्फ, ओले इत्यादि भेद हैं अग्निके भी प्रदीप, उल्मुक, ज्वाला इत्यादि अनेक भेद हैं, वायुके भी गुजा, वायु, मंडलिक वायु वगैरह भेद हैं, इस तरह जाति कर्मके अनेक भेद होने से जातिरूपी तरंगों से यह संसारसमुद्र युक्त है ऐसा समझना चाहिये

दुबिहपरिणामवादं संसारमहोदधिं परमभीमं ॥  
अदिगम्भ जीवपोदो भमइ चिरं कम्मभण्डभरो ॥ १७७१ ॥  
जीवपोतो भवांभोघौ कर्मनाविकचोदितः ॥

जन्ममृत्युजरावर्ते चिरं भ्राम्यति संततम् ॥ १८४२ ॥  
विजयोदया—दुविधपरिणामवाद द्विविधा शुभाशुभपरिणामा वाता यस्मिन्तं । परमभीमं अतिभयकरं । अदिगम्भ प्रविश्य । जीवपोदो जीवपोत । भमइ चिरं चिरकाल भ्रमति । कम्मभण्डभरो कर्मद्रविणभारः । त्रिभिः सवय ॥ भवसंसारं निरूपयति ॥

मूलारा—दुविधा शुभाशुभाः । अदिगम्भ प्रविश्य । पोदं यानपोतं ।

अर्थ—यह संसारसमुद्र शुभ और अशुभपरिणामरूप हवासे युक्त है और अतिशय भयानक है, इसमें जीवरूपी नौका कर्मरूपी द्रव्यसे युक्त होकर जब श्रवेष करती है तब चिरकालतक भ्रमण करती है

एगविगतिगचउपंचिदियाण जाओ हवंति जोणीओ ॥  
सव्वाउ ताउ पत्तो अणंतखुत्तो इमो जीवो ॥ १७७२ ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचहृषीकाणामनंतशः ॥

जातयः सकला भ्रान्ता देहिना भ्रमता भवे ॥ १८४३ ॥

विजयोदया—एगविगतिगचउपंचिदियाण नामकर्मगतियाद्यादिविचित्रभेदं तत्र जातिकर्म पंचविकल्प एकद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियजातिविकल्पेन तासा जातीनामुदयात् ॥ एकेंद्रियताक्षिप्यभाजो जीवाः एकेंद्रियादिशब्दे-  
नोच्यते । तेषामेकेंद्रियादीनां योनय आश्रया वादरसूक्ष्मपर्याप्तकाह्या जीवद्रव्याणामिहाश्रयत्वेन विवक्षिताः ।

सच्चित्तदीप्तमंगुला मेतदा मिश्राद्वैकशम्भोत्तय इति सूत्रे यं निदिश्यात्तुशीनिजतसदस्यविकल्पास्त इदं न गृह्यते । यतः सद्भावे देवत्वनाटकमनुष्यत्वमित्येकस्यान्या मयपयोपरात्तिभयंमार इत्युक्तं ॥ निर्यादिजलणादिषु जायतु उचिह्यमाणु वेगज्जा । मिन्तत्तममिमेण तु भवद्विदी भजिजरा यन्मो इति यचनात् । योनयो न मरदाद्वान्या । जीवपदयो हि भयस्मय भयमंमारमिदद्विधि — दृष्टियन्तजोचयुनस्पतिपरा प्रत्येक पारम्पर्यतत्तकापयान विरुद्धादिशक्तिविशेषा । मिमिचतुर्गिरियावन्मामिधिकाया पचद्वियाअ पयानापोमकयिकत्वा दशोपिया । चन्पे तु मगरित्तनेमेमं यद्वति । नरकगतौ सर्वज्ञान्यमायुर्दशपमहत्त्राणि । नेतायुम तयोपन पुनः परिभाष्य तेनेवायुया तय जायते । एवं दशवर्गमहत्त्राणा यावत् समयात्तायकृता तंय जातो मृत पुनरुक्तमयापरिकतोचन ययिदशस्मन् नरोपमाणा परित्यमापितानि तत् प्रच्युत्य नियन्तौ अनेमृतेषु समुद्यन्त पूजानेन त्रामेन श्रीणि पन्थोपमानि परि समापितानि तत् प्रच्युत्य एव मनुष्यगती । देवगती नारकगती । यय तु विधेय, एकविंशतमागरोपमानि परित्यमापितानि यामत्तामृद्वपरिचर्यना सद्योत्ता भवन्ति । अनन्यारमय प्राप्तो जीव ॥

मूलार्थः—भयमंमारमाह—जोणीओ आध्याः । ते चेह जीवज्याणा पारम्पर्यपयान्तरकापयान्तराख्या भ्यावरणा विगतः त्रमाणा च पारस्पर्यनियमादशेषि विश्रवणीया धियन्तिताः । चतुर्दशीतिष्ठभयंयाःमविचादियोगः । देवत्वनाटकमनुष्यत्वविशेषनापपयोगपरमृतेभयमंमारत्वेन प्रधानेरे उभिधाता । तथा चोक्तं—

निरयादिजलणारिमु जायतु उचिह्यमाणु गेज्जा ॥

मिच्छतममिमेण तु भयद्विरी भजिजरा यद्वयो ॥

अन्ये तु भयपरितर्जनमेयमाह ॥ नरकगतौ सर्वपन्थमायुर्दशपमहत्त्राणि । तेनायुगा ततोऽपन्नःपुनः परित्यज्यतेनैययुगा तत्रैव गतो मृतः । पुनरेकममयाभिकभावेन तथैव गतो । याप प्रवक्षिस्तमागरोपमानि परित्यमापितानि । तत् प्रच्युत्य तिर्यगतौ सर्वपन्थान्मृद्वार्गुपोलन्नः । पूर्वेनिल त्रामेण श्रीणि पन्थोपमानि तेन परित्यमापितानि, एवं मनुष्यगतौ च । देवगतौ नारकगतिरय । अयं तु विधेयः । एकविंशतमागरोपमानि परित्यमापितानि । एव मसुदित यामत्तामृद्व-परित्यजन् ॥

अर्थ—नामरूपमैके गति जाति वगैरे अनेक भेद हैं । उसमें जातिकर्मके पांच भेद हैं इन जातिकर्मके उदयमे एकद्विगादि जीवोंके जो आश्रय है उनकी गति कहते हैं । चादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे इन गतिओंके भेद हैं येही जीवद्वयोंको यहाँ आनयभूत समझने चाहिये सचिचयोगिनि, ज्ञातियोगिनि जेगल चौरासी-लक्ष योनिभेद जो सूत्रमें कहे हैं उनका यहाँ संग्रह नहीं है । क्योंकि सूत्रांतरम देवता, नारकत्व, मनुष्यत्व और

पशुत्वरूपसे जो संसारमें पर्याय धारण करने पड़ते हैं उसको भवसंसार कहते हैं नरकगति, मनुष्यगति, पशुगति इन गतिओंमें जघन्य आयुष्यसे उत्कृष्ट आयुष्यतक मिथ्यत्वका आश्रय करनेसे इस जीवने भ्रमण किया है देव-गतिमें भी मिथ्यात्वयुक्त बनकर जघन्य आयुष्यसे नौवे श्रैवेयकतक उत्कृष्ट आयुष्य धारण कर इस जीवने भ्रमण किया है, ऐसा भवसंसारका वर्णन किया है इससे योनिओंका यहाँ भव शब्दसे संग्रह नहीं होता है किंतु वादर सूक्ष्मादि अवस्थाकोही भवसंसार कहना चाहिये जीवकी अवस्थाको भव कहते हैं इस भवमें उत्पन्न हुए ससारीके ३० भेद हैं

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति इनके प्रत्येकके वादर, सूक्ष्म, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ऐसे भेद होनेसे मिलकर बीस भेद होते हैं द्वांद्रिय, त्रींद्रिय, चतुर्इन्द्रिय, सत्रिपंचेन्द्रिय, अर्सद्भी पंचेन्द्रिय इनके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेदसे दस भेद होते हैं दूसरे आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—नरकगतिमें सर्वसे जघन्य आयुष्य दस हजार वर्षका है उस आयुष्यसे कोई जीव पहिले नरकमें उत्पन्न हुआ आयुसमाप्तिके अनंतर र संसारमें भ्रमण कर पुनः पूर्वोक्त आयुसेही वह जीव उसी नरकमें उत्पन्न होता है इस प्रकार दस हजार वर्षके जितने समय होते हैं उतनी बार पहले नरकमें पूर्वोक्त आयुका धारक होता है आयुसमाप्तिके अनंतर ससारमें भ्रमण कर उसी नरकमें फिर उत्पन्न होता है परंतु अबकी बार एक समयाधिक दस हजार वर्षका आयुष्य उत्पन्न प्राप्त होता है इस प्रकार एक एक समय वृद्धिगत होते २ इस जीवने तेहतीस सागरोपम आयुष्यतक असंख्यत बार जन्ममरण किया है।

तदनंतर सप्तमनरकसे निकल कर यह जीव तिर्यचगतिमें उत्पन्न होता है, वहा उसका जघन्य आयुष्य अन्तर्मुहूर्त भ्रमण का होता है, पूर्वक्रम के अनुसार तीन पल्योपम आयुष्य समाप्त किया तदनंतर मनुष्यगतिमें भी उत्कृष्ट तीन पल्योपम आयुष्यतक तिर्यगगतिके समानही क्रम जानना चाहिए, देवगतिमें नरक-गतिके समानही क्रम जानना चाहिये परंतु इतनी विशपता है—देवगतिमें एकतीस सागरोपम आयुष्य की समाप्ति होनेतकही भवपरिवर्तन है ये सर्व परिवर्तन इस जीवके अनंतवार हो चुके हैं।

द्रव्यपरिवर्तनमुच्यते ॥

अणं गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अणं ॥

घडिजंतं व य जीवो भमदि इमो दव्वंससारे ॥ १७७३ ॥

गृहीते मुंचमानोऽङ्गी शरीराणि सहस्रशः ॥

अमति द्रव्यसंसारे घटीयंत्रमिवानिशम् ॥ १८४४ ॥

विजयोदया—अण गेण्हदि देह अन्यच्छरीरं गृह्णाति । तं पुण तच्छरीरं सुक्त्वा पुनः पुनः गृह्णाति । घटीयंत्र-मुंचश्च भ्रमति । शरीराणि विचित्राणि द्रव्यशब्देनोच्यते तत्स्वात्मनः परिवर्तनं द्रव्यसंसार इति सूत्रकारस्यास्य व्याख्या नोक्तमपरिवर्तनं नाम त्रयाणा शरीराणा घणा पर्याप्तीना योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीता त्रिगुणरूपक्षवर्णगंधादिभिस्तीव्रमदमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीणा अगृहीतानंतवारानतीत्य, मिश्रकाश्च अनंतवारानतीत्य मध्ये तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोक्तमभावमापद्यते यावत्तावत्समुदितं नोक्तमद्रव्य परिवर्तनं । कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेन अष्टविधकर्मभावेन ये च गृहीताः समयाधिकावलि कामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीणा पूर्वोक्तैरेव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥

द्रव्यसंसारमाह—

मूलारा—घडिजंतं घटीयत्रमिव जलं गृहीतं गृहीतं सुक्त्वा अन्यदन्यच्छरीरं गृह्णन्जीवो भ्रमति इति स्थूल-सुदीप्तुद्विदय द्रव्यसंसारः सूत्रकारेणोक्तः ॥ एवं तु द्रव्यपरिवर्तनं ग्राह्यम् । द्रव्यपरिवर्तनं द्विविध-नोक्तमद्रव्यपरिवर्तनं कर्मद्रव्यपरिवर्तनं चेति । तत्र नोक्तमद्रव्यपरिवर्तनं उच्यते—त्रयाणा शरीराणा, घणा पर्याप्तीना योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेनैकस्मिन्समये गृहीताः रिसगुरुक्षवर्णगंधादिभिस्तीव्रमदमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीणाः । अगृहीताननवारानतीत्य मिश्रकाश्च अनंतवारानतीत्य, मध्ये गृहीताश्चानंतवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोक्तमभावमापद्यते यावत्तावत्समुदितं नोक्तमद्रव्यपरिवर्तनं । कर्मद्रव्यपरिवर्तनं उच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेनाष्टविध-कर्मभावेन गृहीताः समयाधिकावलि कामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीणा पूर्वोक्तैरेव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभा-वमापद्यते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥ उक्तं च—

सर्वे वि पुगला खलु कमसो मुत्तुज्झया य जीवेण ॥  
असदं अणंतलुत्तो पुगलपरियट्टससारे ॥

अर्थ—जैसे घटार्थित्र पूर्व जलका त्याग करके दूसरा दूसरा जल ग्रहण करता है वैसे यह आत्मा भी पूर्व शरीरका त्याग कर उत्तरोत्तर भिन्न भिन्न शरीर धारण करता है. इस प्रकार यह जीव पूर्व शरीरका त्याग कर और उत्तर शरीर को ग्रहण कर ससारमें अनादि कालसे भ्रमण कर रहा है. नाना प्रकारके शरीर को द्रव्य कहते हैं इनको धारण कर जीवका जो ससारमें भ्रमण करना है उसी को द्रव्यमसार कहते हैं इस प्रकार स्थूल बुद्धिरे लोगों को समझानेके लिए आचार्यने द्रव्यसंगारका वर्णन किया है द्रव्यपरिवर्तनका इस प्रकारसे भी स्वरूप कहा है—

द्रव्यपरिवर्तनके नो कर्म परिवर्तन और कर्मपरिवर्तन ऐसे दो भेद हैं—

नो कर्म परिवर्तन—तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियिक और आहारक) और छह पर्याप्ति (आहार, शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रियोच्छ्वास, प्राण और मन इनके योग्य पुद्गल एक जीवने एक समयमें ग्रहण क्रिये उनमें स्निग्ध रूक्ष, स्पर्श, वर्ण, गन्ध जैसा तीव्र, मंद, मध्यम मात्रसे या द्वितीयादि समयमें वे पुद्गल निर्जीर्ण हुए. तदनंतर अगृहीत पुद्गलको अनतवार उलघकर, मिश्रवर्णका भी अनतवार ग्रहण कर मध्ये गृहीत नामक वर्णका भी अनतवार ग्रहण कर पुनः वे ही वर्णका उसी जीवको मध्यम समयमें जैसे ग्रहण की गई थी वैसी जब ग्रहण की जाती है तब नो कर्मपरिवर्तन होता है

कर्मद्रव्य परिवर्तनका स्वरूप कहते हैं—

एक समयमें एक जीवने आठ प्रकारके कर्म रूप से जो पुद्गल ग्रहण किए थे वे समयाधिक अवलि भ्रमण काल व्यतीत होनेपर द्वितीयादिक समयमें निर्जीर्ण हो गये. तदनन्तर पूर्वोक्त क्रमानुसारही वे ही पुद्गल उसी जीवको जब कर्मरूप बन जाते हैं तब कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है.

रंगगदण्डो व इसो बहुविहसंठाणवण्णरूपाणि ॥

गिण्हदि मुच्चदि अठिदं जीवो संसारमावणो ॥ १७७४ ॥

बहुसंस्थानरूपाणि चित्रचेष्टाविधायकः ॥

रंगस्थनटवज्जीवो गृह्णीते मुंचते भवे ॥ १८४५ ॥

विजयोदया—रंगगद्गदोव रंगप्रविष्टनट इव । इमो अयं बहुविहसंठणवणरूपाणि बहुविधसंस्थानवर्ण स्वभावात् । निष्पद्दि य मुच्चदि अचिद्वं गृह्णाति मुंचति अवस्थितं । कियाधिशेयणमेतत् । जीवो संसारभावणो जीवो द्रव्यसंसारमापन्न ॥

विचित्रशरीरद्रव्यपरिवर्तनमेव निदर्शनातरेण प्रणयति—

मूलारा—अठिद अनारतम् ॥

अर्थ—रगभूमिपर आया हुआ नट नाना प्रकारकी आकृति, वर्ण, और स्वभाव को ग्रहण करता है और छोड देता है वैसे द्रव्यसंसारमें भ्रमण करनेवाला यह जीव नानाप्रकारके आकार, वर्ण और स्वभाव को धारण करके बार बार छोड देता है  
क्षेत्रसंसार निरूपयति—

जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चेव ॥

काले तीदमि इमो ण सो पदेसो जाए अत्थि ॥ १७७५ ॥

भूत्वा भूत्वा मृतो यत्र जीवो मेध्यमनंतशः ॥

अणुमात्रोऽपि नो देशो विद्यते स जगत्त्रये ॥ १८४६ ॥

विजयोदया—जत्थ न जादो ण मदो हवेज्ज यत्र क्षेत्र जातो मृतो वा न भवेज्जीव । अणतसो चेव अनंत चारान् । काले तीदमि इमो अतीते कालेऽयं । न सो पदेसो जगे अत्थि नासौ प्रदेशो जगति विद्यते । अन्त्ये तु क्षेत्रपरिवर्तनमेव वदन्ति—जगति जघन्यप्रेदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रेदेशान् सशरीरमध्यप्रेदेशान् कृत्वोत्पन्नः शुद्धभवग्रहणं जीवित्वा मृतं स एव पुनस्तेनैवावगाहेन हिरण्यमस्तथा त्रिवलुरिति एवं यावतोऽगुलस्यासत्येयभागप्रमितकाशप्रेदेशास्तत्कृत्वा तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रेशाधिकमात्रेण सर्वलोकं आत्मनो जन्मैश्चैवामुपपद्य जीवो भवति यावत्सावत् क्षेत्रपरिवर्तनं ॥ १८४५ उक्तं च—

सव्वमि लोगखिते कमसो तं णत्थि जम्म उत्पण्णं ॥

ओगाहणा य बहुसो परिमिदो खित्तंसंसारे ॥ १७७६ ॥

क्षेत्रसंसारमाह—

मूलाया—जए लोकाकाशे । प्राग्वत्सक्षेपेनेदमुक्तम् । विस्तरतस्त्वेव क्षेत्रपरिवर्तनमाहुः—

सूक्ष्मनिगोतजीवोऽपयोपकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याध्यमध्यप्रदेशान्त्वशरीरमध्यप्रदेशान्कृत्वोत्पन्नः क्षुद्रभव-  
ग्रहण जीविवा मृतः । स एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुपग्रस्तथा विस्तथा चतुरिति । एव यावत्तौगुलस्यासंख्येयभागप्रमिता-  
नाशप्रदेशास्तावच्छ्वस्तत्रैव जनिता मृतः । पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति  
यावत्तावत्क्षेत्रपरिवर्तनम् ॥ उक्तं च—

सन्वन्मि लोगसेत्ते कमसो तं णयि जत्य ण उत्पण्णो ॥

ओगाहणेण बहुसो परिममिदो खेत्तमंसारे ॥

क्षेत्रसंसारका निरूपण करते हैं—

अर्थ—यह जीव अतीतकालमें लोकके जिस प्रदेशमें अनंतवार जन्म लेकर मृत्युवश नहीं हुआ है ऐसा प्रदेशही न मिलेगा, अर्थात् लोकाकाशमें—त्रैलोक्यमें सर्वत्र सर्व जीव अनंतवार जन्ममरण कर चुके हैं, यह क्षेत्र-  
परिवर्तनका स्वरूप है, अन्य आचार्य इस परिवर्तनका स्वरूप ऐसा भी कहते हैं—

सबसे जघन्य प्रदेशयुक्त शरीरका धारक, अपर्याप्तक सूक्ष्मनिगोदी जीव, जगतके आठ मध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यमें करके उत्पन्न हुआ क्षुद्रभव ग्रहणसे जीकर मरणवश हुआ अर्थात् श्वासके अठरावा हिस्सा प्र-  
माण आयु समाप्त होनेके अनंतर मर गया पुनः उसी अवगाहनसे दुसरीवार तिसरीवार, चौथीवार उत्पन्न हुआ  
इस प्रकार अंगुलासख्यात भागसे नापे गये लोकके असंख्यात भागमें जितनी प्रदेशसख्या है उतनीवार उस  
जीवन वही जन्ममरण किया तदनंतर एक एक प्रदेश अधिक आगे बढ़कर उमने सर्व लोक अपना जन्मक्षेत्र बना  
लिया इसको एकक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं ऐसे क्षेत्र परिवर्तन इस जीवके अनंतो होगये हैं आगममें इस विषयमें ऐ-  
सा कहा गया है—इस समस्त लोकक्षेत्रमें क्रमसे यह जीव जहां जहां उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसा क्षेत्रही नहीं है यह जी-  
व इस जगतमें इम अवगाहनसे बहुतवार परिभ्रमण कर चुका है

कालपरिवर्तनमुच्यते—

तत्कालतदाकालसमएसु जीवो अणंतसो चैव ॥

जादो मदो य सन्वेसु इमो तीदंमि कालमि ॥ १७७७ ॥



यं कल्पानामनन्तानां समयाः सन्ति भो यन्ते ! ॥

जातो मृतः समस्तं तु शरीरं तेष्वनेकम् ॥ १८१५ ॥

त्रितीयोक्त्या—तत्कालतदाकालसमयेषु उत्सर्पिण्यवर्षाणिमनितया कालयोर्ध्वं समयात्म्येषु । जीवो म्रणं मो चैव जीवोऽश्नन्तयासन्नः । जादो मर्दो य सन्त्यु चलो मृतश्च मर्त्येषु समयेषु । इमो तीर्थस्मि कालस्मि अणमर्तं काले । इयमस्या गाथायाः प्रयत्नव्याख्या-उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये ज्ञानं कश्चित्तीर्थं व्यासुः । तस्मिन्मर्दो मृतः स न्न पुनर्जिनीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये ज्ञानं स्वायुषः अणमृत् । स न्न पुनश्चूर्तयिता उत्सर्पिण्यामृतीयसमये जातः । एवमेतन्क्रमेण उत्सर्पिणी परिममात्ता तृतीयसर्पिणी । न्न तन्मर्दं यमृत् । मरणस्यापि कैर्त्यै तरेव प्राप्तमेव तावत्कालपरिवर्तनं ।

उक्तं च—

उत्सर्पिणिअवसर्पिणिसमयावल्लिगासु निरवमेसासु ॥

जादो मर्दो य बहुसो भमेणेण दु कालसमोरे ॥ १७७८ ॥

कालमममारमाह—

मूलारा—तत्कालतदाकालसमयेषु उत्सर्पिण्यवर्षाण्या मनयेषु । अत्रापि प्रकृतेन व्याख्या—

उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चित्तीर्थं स्वायुषः । परिममात्तो मृतः । स न्न पुनर्जिनीयाया मृत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः अयान्मृतः । स न्न पुनश्चूर्तयिता उत्सर्पिण्यामृतीयसमये जातो मृतश्च स्वायुषः । एवमेतन्क्रमेण उत्सर्पिणी परिममात्ता । तथा अवसर्पिणी च । न्न तन्मर्दं रन्त्यमृत्कम् । तर्त्यै मरणमपि प्राप्तम् । एवमवकाशपरिवर्तनम् । उक्तं च—

उत्सर्पिणिअवसर्पिणिसमयावल्लिगासु निरवमेसासु ॥

जादो मर्दो य बहुसो भमेणेण दु कालसमोरे ॥

कालपरिवर्तनमा स्वरूपं कुरुते हे—

अर्थ—यह जीव अतीत उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालक्रमेण मर्त्योर्ध्वं अनन्तवार उत्पन्न हुआ है और मृत्युवश हुआ है, ऐसा कालपरिवर्तनका मध्यम है, इसका विस्तार इस प्रकार है—  
पहिले उत्सर्पिणी के समयमें कोई जीव उत्पन्न हुआ, आयुष्यवश दोनोपर उसने मरण किया, उही जीव दूसरी उत्सर्पिणी

के दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ आयुष्य समाप्त होनेपर फिर मरा. वही जीव उत्सर्पिणी के तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ इस प्रकार इस जीवनें क्रमसे उत्सर्पिणी काल समाप्त किया इसी प्रकार जन्मसे उसने अवसर्पिणी कालभी पूरा किया. मरणकी निरंतरता जन्मकी निरंतरताके समान समझनी चाहिये इतना यह स्वरूप कालपरिवर्तनका है ऐसा समझना चाहिये आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—

यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालकी संपूर्ण समय पंक्तिओंमें कालसंसारमें भ्रमण करता हुआ अनंतवार भ्रमण कर चुका है

स्पष्टं न संसार निरूपयत्युत्तरगाथा—

अष्टपदसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु ॥

तत्तंपि व अद्धरणं उव्वत्तपरत्तणं कुणदि ॥ १७७९ ॥

प्रदेगाष्टकमत्यस्य शेषेषु कुरुते भवी ॥

उद्धर्त्तनपरावर्त संतसाप्स्विव तंदलाः ॥ १८४८

विजयोदया—अष्टपदसे मुचूण अष्टौ प्रदेशान्कच काकारान् मुक्त्वा । इमो अयं जीव । सेसस्तु सगपदेसेस्तु शेयस्तु स्वप्रदेशेषु क्षेत्रेषु । संसारनामात्मनः क्षेत्रससारत्वोन्वयते ॥

स्वप्नदेशलक्षणक्षेत्रसंसाररूप क्षेत्रसंसाराल्मकस्पंदनससारमाह—

मूलारा—अट्टपदेसे अष्टौ प्रदेशान्त्तकाकारान् । तत्तंपिअसद्दहणं तत्तमिवाधिश्रयणम् । तत्तज्जलमध्यस्थिततंतुल  
वदित्यर्थः । उवत्तणपरत्तणं उद्धर्तनपरावर्तनं । उत्तं ष—

प्रदेशाष्टकमत्यस्य शेषेष कुरुते भवी ॥

उद्धर्तनपरायतं तत्ताम्रस्मिन् तंडुला ॥

स्पंदन संसारका वर्णन-

अर्थ—रुनकाकार आठ प्रदेश छोडकर बाकी के सर्व आत्म प्रदेश हमेशा चंचल रहते हैं और जैसे अग्नी-से गरम जलमें डाले हुए चावल हमेशा उपर नीचे होते हैं वैसे इस सप्तायी जीवके आठ मध्यप्रदेश छोडकर बाकी-के प्रदेश हमेशा उपर नीचे हमेशा घूमते हैं

लोगागासपएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया ॥

तावदियाणि हु अज्जवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥ १७८० ॥

असंखलोकमानेषु परिणामेषु वर्तते ॥

शरीरी भवसंसारे कर्मभूषणकृतः ॥ १८४९ ॥

जघन्या मध्यमा वर्या निविष्टाः स्थितयोऽखिलाः ॥

अतीतानंतश काले भवभ्रमणकारिणा ॥ १८५० ॥

विजयोदया—लोगागासपदेसा लोकाकाशस्य प्रदेशा । असखगुणिदा असख्यगुणिता । हवन्ति जावदिया यावन्तो भवन्ति । तान्दियाणि हु अज्जवसाणाणि तावदध्यवसायस्थानानि भवन्ति । इमस्स जीवस्स अस्म जीवस्य जीवस्य असख्यातलोकप्रमाणेष्वध्यवसायसज्जितेषु भवेषु परावृत्तिर्भावसमृद्धिः ॥

असंख्यातलोकप्रमाणेष्वध्यवसायस्थानाभिधानभावपरिवर्त्तनलक्षणं भावसंसारमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—लोकाकाशके प्रदेशाको असख्यातसे गुणित करने पर जो संख्या उत्पन्न होगी जीवके उत्पत्ते अध्यवसायस्थान होते हैं अर्थात् असंख्यात लोकपरिमाण जाधिके कयाथाध्यवसायस्थान, स्थिति वंधाध्यवसायस्थान, योग और अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं.

अज्जवसाणठाणंतराणि जीवो विकुब्बइ इमो हु ॥

णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥ १७८१ ॥

परिणामांतरेष्वंगी सर्वदा परिवर्तते ॥

चरणेषु चित्ररूपेषु कुक्कलास इव स्फुटम् ॥ १८५१ ॥

विजयोदया—अज्जवसाणठाणंतराणि जीवो विकुब्बइ इमो हु अध्यवसायस्थानांतराणि जीव परिणमत्यंगे । नित्यमपि नित्यमपि, यथा सरडो णाणाविहे वण्णे यथा गोधा नानाविधान्चर्णानुपवर्त्ते । एव ससार ॥

अपरापरपरिणामपरिणमनसातत्यमात्मनो नष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलारा—विकुब्बदि विकरोति परिणमतीत्यर्थः । पयलासरडो कुक्कलासः ॥ उक्तं च—

भावस्थानान्तराण्येवं देहवान्स प्रपद्यते ॥  
कर्कटुको यथा नित्यं वर्णान्वीकुरुते वहून् ॥

भावपरिवर्तनप्रपञ्चस्त्वयम्—

पद्मेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तको मिथ्यादृष्टिः कश्चिज्जीवः सर्वजघन्या स्वयोरया ज्ञानावरणप्रकृते स्थितिमन्तःकोटीकोटि-  
संज्ञिकामापद्यते । तस्य कृपायाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रभितानि पटस्थानप्रभितानि भवन्ति । तत्र  
सर्वजघन्यकृपायाध्यवसायस्थाननिमित्तान्यनुभागाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रभितानि भवन्ति । एवं सर्वजघन्या स्थितिः,  
सर्वजघन्यं च कृपायाध्यवसायस्थानं, सर्वजघन्यमेवानुभागवंधस्थानं आरुह्यस्तद्योग्यं सर्वजघन्यमेकं योगस्थानं भवति ।  
तेषामेव स्थितिकृपायानुभागास्थानानां द्वितीयभसंख्येयभागद्विषुक्त योगस्थानं भवति । एवं तृतीयादिषु चतुःस्थानपति-  
तानि तानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रभितानि भवन्ति । तथा तामेव स्थितिं, तदेव कृपायाध्यवसायस्थानं च प्रतिपद्यमानस्य द्वितीय-  
मनुभागाध्यवसायस्थानं भवति । तस्य च योगस्थानानि पूर्ववद्देदितव्यानि । एवं तृतीयादिषु अनुभागाध्यवसायस्थानेषु आ-  
संख्येयलोकपरिसमाप्तेः । एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीय कृपायाध्यवसायस्थानं भवति । तस्याप्यनुभागाध्यवसा-  
यस्थानानि पूर्ववद्देदितव्यानि । एवं तृतीयादिष्वपि कृपायाध्यवसायस्थानेषु श्रेण्यसंख्येयलोकपरिसमाप्तेर्वृद्धिक्रमो वेदितव्यः ।  
उक्तया जघन्यायाः स्थितेः समयाधिकायाः कृपायादिरथानानि पूर्णदेव । एवं समयाधिकक्रमेण आ उत्कृष्टस्थितौर्ब्रह्मसा-  
गरोपसकौटीकोटीपरिमितायाः कृपायादिरथानानि पूर्णवदेव वेदितव्यानि ॥ एवं सर्वेषां कर्मणा मूढप्रकृतीनामुत्तरप्रकृती-  
नां च परिवर्तनक्रमो वेदितव्यः । तदेतत्सर्वं समुचितं भावपरिवर्तनं । उक्तं च—

सञ्वा पयविठिदीओ अणुभागपदेसंधंघठाणाणि ॥

मिच्छन्तससिद्धेण य भमिदा पुण भावसंमारे ॥

इस प्रकार इस जीवका भावपरिवर्तनरूप ससारका स्वरूप है.

अर्थ—जैसे सरह नामका प्राणी हमेशा अपने रंग बदलता है वैसे इस ससारी जीवके उपयुक्त परिणामों में हमेशा तरतम भाव होता ही रहता है. इस प्रकार पांच प्रकारके ससारोंका स्वरूप आचार्यने दिखाया है.

तस्य भयमुपदर्शयति ॥

आगासमि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ॥

हिंसंति एकमेकं सव्वत्थ मयं खु संसारे ॥ १७८२ ॥

आकाशो पक्षिणोऽन्योन्य स्थले स्थलविहारिणः ॥

जले मीनाश्च हिंसन्ति सर्वत्रापि भयं भवे ॥ १८५२ ॥

विजयोदया—आयासमि वि पक्खी आकाशे संचरंत परकीयपक्षिणो विवाधंते । जलेवि मच्छा जलेपि मत्स्याः । थलेवि थलचारी भूमावपि भूमिचारिण । हिंसंति वाधंते । एकमेकं अन्योन्यं । सव्वत्थ मयं खु संसारे सर्वत्र भयं संसारे ॥ एवं पचप्रकारं संसारं निरूप्य तद्गुणपादादीन्पंचदशगाथाभिश्चितयति—

मूलारा—एकमेकं अन्योन्यम् ॥

अत्र संसारसे भय दिखाते हैं—

अर्थ—आकाशमें विहार करनेवाले छोटे २ पक्षियोंको दूसरे क्रूर पक्षी पीड़ा देते हैं. अर्थात् उनको मारते हैं—खा जाते हैं पानीमें बड़े मत्स्य छोटे मत्स्यको निगल जाते हैं. और भूतलपरमी हिंस्रप्राणी परस्परको मारते हैं अतः इस जगत्में सर्वत्र भयही भय है.

ससउ वाहपरद्धो विलिचि णाऊण अजगरस्स मुहं ॥

सरणत्ति मणमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥ १७८३ ॥

शायालोर्मुखमभ्येत्य व्याधारब्धो यथा शशः ॥

मन्वानो विवरं दीनः प्रयाति यममंदिरम् ॥ १८५३ ॥

विजयोदया—ससगो वाहपरद्धो शशो व्याधेनोपद्रुतः, विलिचिणऊण अजगरस्स मुहं त्रिलमिति ज्ञात्वा अजगरस्स मुखे । सरणत्ति मणमाणो शरणमिति मन्यमान । मच्चुस्स मुहं जह अदीदि मृत्योर्मुखं यथा प्रविशति ॥

मूलारा—वाहपरद्धो व्याधेनोपद्रुतः । विलिचि विलमिति । सरणंति ज्ञाणमिति ।

अर्थ—पारधीसे पीडित हुआ खरगोश अजगरके मुखको बिल समझकर उसमें प्रवेश करता है. इस विलमें मैं रह सकूंगा इस अभिप्रायमें उसमें घुसता है परंतु वहां वह मृत्युके वश होता है वैसे—

तद्व अण्णाणी जीवा परिद्धमाणच्छुद्वादिबाहेहि ॥  
अदिगच्छति महादुहहेदुं संसारसप्पमुहं ॥ १७८४ ॥

क्षुत्तृष्णादिमहान्याधप्रारब्धश्चेतनस्तथा ॥

अज्ञो दुःखकरं याति संसारसुजगन्नमम् ॥ १८५४ ॥

विजयोदया—तद्व अण्णाणी जीवा तथा अज्ञानिनो जीवा । परिद्धमाणच्छुद्वादिबाहेहि अनुभाव्यमाना' शुद्धादिभिव्यधै. व्याधैश्च । अदिगच्छति प्रविशति । महादुहहेदुं महतो दुःखस्य निमित्त । संसारसप्पमुहं संसारसर्पमुखं ॥

मूलारा—अदिगच्छति प्रविशति ॥

अर्थ—ये अज्ञ संसारी जीव क्षुधा, तृषा रूप व्याधौसे और व्याधौसे पीडित होकर महादुःखदायक संसाररूपी सर्पके मुहमें प्रवेश करते हैं

जावदियाइं सुहाइ हवति लोगम्मि सब्वजोणीसु ॥

ताहंपि बहुविधाइ अणंतखुत्तो इमो पत्तो ॥ १७८५ ॥

यावन्ति सन्ति सौख्यानि लोके सर्वासु योनिषु ॥

प्राप्तानि तानि सर्वाणि बहुवारं शरीरिणा ॥ १८५५ ॥

विजयोदया—जावदियाइ यावति । सुहाणि हति लोगम्मि सुखानि भवति लोके । सब्वजोणीसु सर्वासु योनिषु । ताहंपि बहुविधाइ तान्यपि बहुविधानि । अणत्तपुत्तो इमो पत्तो अन्तवारमयं जीव. प्राप्त. ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—सर्व योनिओंमें जितने नानाप्रकारके सुख हैं वे भी इस जीवको अन्तवार प्राप्त हो गये हैं

दुक्ख अणत्तखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिं वि ॥

तद्व वि य अणंत खुत्तो सब्वाणि सुहाणि पच्चाणि ॥ १७८६ ॥

अवाप्प्यानत्तशो दुःखमेकशो लभते यदि ॥

सुखं तथापि सर्वाणि तानि लब्धान्यनेकशः ॥ १८५६ ॥

विजयोदया—दुक्खं अणतखुत्तो पावेत्तु सुहंमि पावदि कहिंवि दुक्खमपि अन्तवारं प्राण्यः सुखमपि प्राप्नोति कथंवित् । तद्यवि य अणंतखुत्तो तथाप्यन्तवारं सब्वाणि सुखाणि पचाणि सर्वाणि सुखानि प्राप्नोति ॥ गणभुतां चक्रवर्तिना पंचानुत्तरविमानवासिना लोकातिकानामहामैद्राणा च सुखानि मुक्त्वा ॥

मूलारा—सब्वानि गणधृता, चक्रवर्तिनां, अनुदिशानुत्तरविमानवासिना, लौकांतिकादीना च सुखानि मुक्त्वा ॥

अर्थ—इस ससारमें गणधर, नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती, पचानुत्तर निमानवासि देव, और लोकान्तिक देव इनके सुखोंकी इन जीवोंको प्राप्ति नहीं हुई है बाकीके सपूर्ण सुखोंके प्रकार इन जीवोंको अनंतवार प्राप्त हुये हैं

- करणेहिं होदि विगलो बहुसो वचिचित्तसोदणिचेहिं ॥  
घाणेण य जिब्भाए चिट्ठाबलविरियजोगेहिं ॥ १७८७ ॥  
स चतुर्भिन्निभिर्द्वाभ्यामेकेनाक्षेण वर्जितः ॥  
संसारसागरेऽनंते जायते ऽनन्तशोऽमुमान् ॥ १८५७ ॥

विजयोदया—करणेहिं होदि विगलो विकलेंद्रिय कचिक्कवत्ति । बहुसो बहुश । चत्तिचित्तसोदणिचेहिं मनसा वचसा श्रोत्रेण नेत्रेण करेण हीन । स्पर्शनेन्द्रियैरुत्थस्यालंभवात् तदनुगन्धात् ॥ घाणेण य घ्राणेन च । जिब्भाए । जिब्बया चेट्ठाबलविरियजोगेहिं चेष्टया बलेन वीर्येण च ॥

मूलारा—करणेहिं चित्तादिभिः कचिद्विकलः स्यात् । स्पर्शनेन्द्रियस्य वैकल्यासंभवादनुपन्यासः ॥

अर्थ—यह जीव अनेकवार विकलेंद्रिय हुआ है । कमी नेत्र रहित, कमी कान रहित हुआ था कमी असजी मन रहित और वचन रहित हुआ था कमी इसको नाकभी प्राप्ति नहीं हुई और कमी इसको शक्ति, बलः पराक्रम इससे रहित होना पडा था । ऐसी अनेक दुरवस्थायें इस जीवकी अनंत बार हुई हैं

जब्बंधवहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाइ ॥  
भमइ सुचिरपि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहो ॥ १७८८ ॥

इन्द्रियार्थाभिलाषार चंचलं योनिनेमिकं

मिथ्याज्ञानमहातुवं दुःखकीलकयंत्रितम् ॥ १८६३ ॥

विजयोदया—विसर्गभिसारगाढ विषयाभिलाषारैर्गोहं स्तब्ध । कुजोणिनेमि सुहृदुःखददलील कुत्सित योनिनेमिकं । सुखदुःखददलील । अण्णतुवधरिदं अज्ञानतुवधारित । कसायददपट्टिगावद्ध कयायदद पट्टिकावध ॥

मूलारा—विसर्गभिसारगाढ विषयाभिलाषारैरेव स्तब्ध निविहं वा ।

अर्थ—यह संसारचक्र विषयाभिलाषारूपी आरोंसे गाढ अर्थात् मजबुत है कुयोनिरूपी नेमिसे युक्त है अर्थात् नरकादि दुर्गतिरूप नेमिसे—पूठीसे यह संसारचक्र युक्त है. सुखदुःखरूपी कीलसे यह युक्त है तथा इसमें अज्ञानभावरूपी तुंवा है कयायही इस संसारचक्रपर लोहकी पट्टी है

बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणिं मोहवेगमहिचवलं ॥

संसारचक्रमारुहिय भमदि जीवो अपण्वसो ॥ १७९२ ॥

कषायपट्टिकावद्धं जराभरणवर्तनम् ॥

संसारचक्रमारुह चिरं श्राम्यति चेतनं ॥ १८६४ ॥

विजयोदया—बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणिं अनेकजम्मसहस्सविसालमार्गं । मोहवेग मोहवेगं । संसारचक्रमारुहिय पवभूत संसारचक्रमारुह । अपण्वसो जीवो भमदि अनात्मवशो जीवो भ्रमति ॥

मूलारा—विसालवत्तणिं विपुलमार्गं ॥

अर्थ—अनेक जन्मरूपी विशाल मार्गपर यह संसारचक्र भ्रमण करता है मोहरूपी वेगसे यह चक्र अतिशय चंचल दीखता है ऐसे संसाररूपी चक्रपर आरोहण कर यह जीव परवश होकर भ्रमण करता है.

भार णरो वहंतो कंहंचि विस्समदि ओरुहिय भारं ॥

देहभरवाहिणो पुण ण लहंति खणं पि विस्समिंदुं ॥ १७९३ ॥

वहमानो नरो भारं कापि विश्राम्यति ध्रुवम् ॥

न देहभारमादाय विश्राम्यति कदाचन ॥ १८६५ ॥



विजयोदया—भारं णरो वहतो भार वहन्नरः। कर्हचि भारमोरोहिय कस्मिश्चिद्देशे काले च भारमवतार्य । विस्स मदि विश्राम्यति । देहभरत्वाहिणो पुण देहभारोद्वाहितो जीवा, पुन. । न लभति स्वणं पि विस्समिदुं न लभते क्षणमपि विश्रामं कर्तुं । औदारिकवैक्रियिकयोर्विनष्टयोरपि कार्माणतैजसयोरवस्थानात् ॥

मूलाना- कर्हि पि देशे काले च । ओरोहिय अवतार्य । णोइत्यादि औदारिकवैक्रियिकयोर्विनष्टयोरपि कार्मण तैजसयोरवस्थानात् ॥

अर्थ—बोझा उठानेवाला मनुष्य किसी स्थानमें कुछ कालतक बोझा अपने मस्तकपरसे उतार कर विश्रांति लेता है परंतु देहका भार वहनेवाला यह ससारी जीव एक क्षणमात्रभी देहभारको उतार कर विश्रांति नहीं ले सकता है यद्यपि औदारिक और वैक्रियिक शरीर इस जीवके कुछ कालतक अर्थात् एकसे तीन समयतक नहीं रहते हैं तोभी कार्मण और तैजस शरीर इस जीवके साथ सतत रहते हैं इसलिये इसको सदाही विश्रान्तिका अभाव है.

कम्माणुभावदुहिदो एव मोहंधयारगहणम्मि ॥

अंधोव दुग्गमग्गे भमदि हु संसारकंतारे ॥ १७९४ ॥

बंभ्रमीति चिरं जीवो मोहांघतमसावृतः ॥

संसारं दुःखितस्वान्तो विचक्षुरिव कानने ॥ १८६६ ॥

विजयोदया—कम्माणुभावदुहिदो असंखेद्यादिपापकर्ममाहात्म्यजनितदुःख. । एवमुक्तेन क्रमेण । संसार कंतारे भमदि संसारकंतारे भ्रमति । कीदृशो मोहंधयारगहणे मोहोदधकारगहने । अंधो व दुग्गमग्गे अथ इव दुर्गमार्गे ॥

मूलाना-कम्माणुभाव असंखेद्यादि पापकर्ममाहात्म्यम् ॥

अर्थ—असातावेदनीयादि पापकर्मके ग्रभावसे दुःखित होकर यह जीव पूर्वोक्त क्रमसे संसारवनमें भ्रमण करता है. यह संसारवन मोहरूपी अधकारसे व्याप्त होनेसे अधा मनुष्य जैसे खराब रास्तेमें जाता हुआ दुःख पाता है संसारी मनुष्यभी इसमें दुःखी होता है.

दुक्खस्स पडिगंते सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो ॥

पाणवधादीदोसे करेइ मोहेण संछण्णे ॥ १७९५ ॥



एकेंद्रियेष्वयं जीवः पंचस्वपि निरंतरम् ॥

उत्थानवीर्यरहितो दीनो वंश्रमते चिरम् ॥ १८६१ ॥

विजयोदया—परिगदियेसु पंचविधेषु वि एकेंद्रियेषु पंच प्रकारेषुपि । पृथ्व्यपूतोजोवायुवनस्पतिशरीरघा-  
रिषु । उत्थाणवीर्यविहीणो पृथिव्यादिक्रयान् परित्यज्य त्रसकायप्राप्तिनिमित्तोत्थानवीर्यरहित । भ्रमदि अणंत  
काल भ्रमति अंतकाले । दुष्खसदृस्साणि पार्वतो दुःखसदृस्साणि प्राप्नुवन् ॥

मूलारा—उत्थाणवीर्यविहीणो पृथिव्यादिकायत्यागेन त्रसकायप्राप्तये श्रुत्थानवीर्यमुद्भवशक्तिस्तद्रहितः ॥  
अर्थ—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति ये पांच स्थावरकायिक जीव हैं इनमें अपना पर्याय  
त्याग कर त्रसत्त्व प्राप्त करनेकी शक्ति नहीं रहती है. इसलिये अनतकालतक हजारों दुःख सहन करते हुये ये जीव  
इसही पर्यायमें भ्रमण करते हैं.

बहुदुःखावत्ताए संसारणदीए पावकलुसाए ॥

भमइ वरागो जीवो अण्णानिमीलितो सुचिरं ॥ १७९० ॥

चित्रदुःखमहावर्तामिमां संसृतिवाहिनीम् ॥

अज्ञानमिलितो जीवो गाहते पापपाथसम् ॥ १८६२ ॥

विजयोदया—बहुदुःखावत्ताए बहुदुःखावर्ताया । संसारणदीए संसृतिनद्या । पावकलुसाए पापकलंकसंहि-  
ताया । वरागो जीवो भ्रमदि दीनो जीवो भ्रमति । सुचिर अण्णानिमीलितो अज्ञानेन निमीलित ॥  
मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—अनेक दुःखरूपी भोकरे जिसमें हैं, पापरूपी मलिन पानसि जो युक्त है ऐसी इस संसारनदीमें यह  
दीन जीव अज्ञानसे वसुंध होकर भ्रमण करता है

विसयामिसारागाढं कुजोणिणेमि सुहदुःखदढखीलं ॥

अण्णानंतुंबघदि कसायदढपट्ट्याबंधं ॥ १७९१ ॥

भीतः करोति दुःखेभ्यः सुखसंगमलालसः ॥

अज्ञानतमसा छन्नो हिंसारंभादिपातकम् ॥ १८६७ ॥

विजयोदया—दुष्कृतस्स पडिगैतो दुःसस्य प्रतीकारं कुर्वन् । सुहृच्छित्तो य इन्द्रियसुखमभिलषन् । इमो जीवो अयं जीवः । पाणवधादीन्नेसे हिंसादिदोषान् । करेदि मोहेन सन्नणो करोति मोहेन सन्न । एतदुक्तं भवति—दुःखं भीरुर्नरो विदेशेन दुःखात्पापस्यापायं न वेत्ति ॥ दुःखनिराकरणार्थं हि दुःखहेतुं न च हिंसादीन् प्रवर्तयति । इन्द्रियसुखं लपटोऽपि तेनैव हिंसादिषु दुःखहेतुषु प्रवर्तते । ततोऽस्य सकलो व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति ॥

मूलारा—दुष्कृतस्येत्यादि दुःखभीरुरपि नैप निःशेषदुःखापायोपायं वेत्ति । दुःखनिराकरणार्थं हि दुःखहेतुं न च हिंसादीन् प्रवर्तयति । इन्द्रियसुखलपटोऽपि तेनैव हिंसादिषु दुःखहेतुषु वर्तते । ततोऽस्य सकलोपि व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति भावः ॥

अर्थ—यह जीव दुःखका नाश करनेकी इच्छा रखता है और सुखको चाहता है परन्तु मोहवश होकर हिंसादिक दोषोंको करता है तात्पर्य यह है कि संसारी जीव दुःखसे डरता है परन्तु दुःखके नाशका उपाय वह नहीं जानता है, दुःखका निराकरण करनेकी इच्छा है परन्तु दुःखोंके कारणोंकाही आश्रय करता है इन्द्रियसुखमें लपट होकर हिंसादि दुःखोंके कारणमें प्रवृत्त होता है इस वास्ते इसकी सब प्रवृत्ति दुःखकाही मूल है

दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं बंधदि तदो णं व जीवो ॥

अथ तेण पच्चइ पुणो पविसित्तु व अग्गिमग्गीदो ॥ १७९६ ॥

हिंसारंभादिदोषेण गृहीतनवकल्मसः ॥

प्रदह्यते प्रविष्टोऽङ्गो पावकादिव पावकम् ॥ १८६८ ॥

विजयोदया—दोसेहिं तेहिं प्राणिवधादिकैर्दोषैः । बहुगं कम्मं बंधदि महकर्मं वध्नाति । तदो पञ्चात् । अथ कर्मयधानंतर । तेण पच्चदि तेन बधनेन कर्मणा पच्यते । पविसित्तुव प्रविश्येव । किं अग्निं वध्नि । अग्नीदो वधे । अग्निं प्रविश्य यथा वाध्यते । एव पूर्वैः कर्मभिर्वाधितं पुनः प्रत्यग्रकर्मानलेन ( निवधेन ) वध्यते इति ॥

मूलारा—पविसित्तुव प्रविश्य यथा ॥

अर्थ—यह जीव प्राणिवधादिक अनेक दोषोंमें महातीव्र कर्मका नवीन बंध करता है जब उस कर्मका

उदय आता है तब एक अर्गसि निकल कर दूसरे अर्गमें पड़नेवाला जीव जैसे घोर दुःखका अनुभव करता है वैसा इस जीवको कर्मोदयसे दुःख होता है अर्थात् पूर्वकर्म उदयमें आकर वह स्थिर हो जाता है और उसीसमय नवीन कर्म भी बंध जाता है अतएव दुःखका कारण जो पूर्व कर्म उसका नाश होते समय ही नवीन कर्म बंध जाता है इसलिये वह भी कर्म उसके अनंतर उदयमें आता है इसलिये इस जीवको सतत दुःखही दुःख भोगना पड़ता है

बंधतो मुरुचंतो एवं कस्मं पुणो पुणो जीवो ॥

सुहकामो बहुदुक्खं संसारमणादियं भमइ ॥ १७९७ ॥

गृह्णता मुचता वारुणं कल्मष सौख्यकाक्षिण जीवेन मूढात्मना ॥

भ्रम्यते संसृतौ सर्वदा दुःखिना पावनं मुक्तिमार्गं ततोऽपश्यता ॥ १८६९ ॥

इति जन्मानुप्रेक्षा ॥

विजयोदया—बंधतो मुरुचंतो वचन् मुंचन् । एव कस्मं पुणो पुणो जीवो कंम पुन पुन जीवः दत्तफलानि मुचति, कर्मफलानुभवकालोपजातरागद्वेषपरिणामैरभिनवानि कर्मणि वधाति । सुहकामो सुखामिलापवान् । बहुदुक्ख विचित्र दुःख । संसारमणादिगं भमदि अनादिसंसार भ्रमति । संसारचिन्ता ॥

मूलारा—बंधतो पूर्वकर्मफलानुभवकाले जाताभ्या रागद्वेषाभ्या अभिनवं वधन् । मुचतो उपयुक्तफल प्राक्तन मुंचन् ॥ संसारानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—जिन कर्मोंसे आत्माको फल मिल चुका है वे कर्म गल जाते हैं, परंतु पूर्व कर्मोंके फलोंका अनुभव लेते समय यह जीव रागद्वेषयुक्त होता है अतः उसको नवीन कर्म बंध जाता है, इस जीवके मनमें सुखकी तीव्र अभिलाषा है परंतु वह सुख उसके उपायोंका ज्ञान न होनेसे प्राप्त नहीं होता है उलटे उपायोंमें प्रवृत्त होनेसे इसको नानादुःखोंसे परिपूर्ण ऐसे अनादि घोर संसारमें भ्रमण करना पड़ता है,

लोकाणुप्रेक्षा निरुच्यते नामस्थापनाद्रज्याधिविकटपेन । यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्वय लोक पश्योच्यते । कथं ? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिकमनिरूपणात् ॥

आहिङ्यपुरिसस्स व इमस्सणीया तहिं तहिं होति ॥

सव्वे वि इमो पत्तो संबधे सव्वजीवेहिं ॥ १७९८ ॥

सर्वे सर्वेः समं प्राप्ताः संवधा जंतुनांगिभिः ॥

भवति अमतः कस्य तत्र तत्रास्य बांधवाः ॥ १८०० ॥

विजयोदया—आहिङ्यपुरिसस्स व देशात्तर अमत' पुस इव । इमस्स णीगा तहिं तहिं होति अस्य बांधवस्तत्र तत्र भवति । सव्वेवि इमो पत्तो सर्वानयं प्राप्त । सबधे सवधान् । सव्वजीवेहिं सर्वजीवे सह ॥

धर्म्यध्येयतया लोकं पंचदशगाथाभिरनुप्रेक्षते । नामस्थापनाद्रव्यादिविकल्पेन यद्यपि चानेकप्रकारो लोकस्तथापि इह लोकशब्देन जीवद्रव्यलोक एवोच्यते । सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात् ।

मूलारा—आहिङ्य देशात्तरअमणपर ।

लोकादनुप्रेक्षाका वर्णन आचार्य करते हैं. नाम, स्थापना, द्रव्य वर्गों विकल्पोंसे लोकके अनेक भेद हैं तथापि यह लोग शब्दसे द्रव्यलोक ही ग्राह्य है. क्योंकि जीवक धर्म प्रवृत्तिका क्रम यहां कहा गया है

अर्थ—एकदेशसे दूसरे देशको जानेवाले पुरुषके समान इस जीवको सर्व जगमें वंधुलाभ होता है अर्थात् सर्व जीवोंसे अनादिकालसे इसका संबंध होता चला आया है अमुक जीवके साथ इसका पिता पुत्र वगैरह रूपसे संबध नहीं हुआ था ऐसा कालही नहीं था अतः सर्व जीव इसके सबधी है

माया वि होइ भज्जा भज्जा मायत्तण पुणमुवेदि ॥

इय संसारे सव्वे परियट्ठंते हु संबंधी ॥ १७९९ ॥

माता सुता स्तुपा भार्या सुता कांता स्वसा स्तुपा ॥

पिता पुत्रो नृपो दासो जायतेऽनतशो भवे ॥ १८०१ ॥

विजयोदया—मादा य होदि भज्जा माता भार्या भवति । भार्या माहता पुनरुपेति । एव ससारे सर्वे सप्रधा. परिवर्तते इति गाथार्थः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इस लोकमें माताभी पत्नी होती है और पत्नी भी माता होती है अर्थात् स्वीयसे खुद उसमें उत्पन्न होकर गृह पतिरूपर्जाव उसका पुत्र बनता है इस प्रकार इस संसारमें सर्व संबंधोंका परिवर्तन होता रहता है.

जणणी वसंततिलया भगिणी कमला य आसि मज्जाउ ॥

धणदेवरम य एकस्मि भवे संसारवासस्मि ॥ १८०० ॥

वसंततिलका माना भगिनी कमला च ते ॥

एकत्र धनदेवस्य भार्या जाता भवे ततः ॥ १८०१

विजयोद्या—जणणी वसंततिलया धनदेवस्य जननी वसंततिलका । कमला भगिनी । ते उभे भार्ये जाते धनदेवस्य । तस्मिन्नेव भवे भावातरेषु मयन्धान्ययामात्रे किमस्ति चाल्य ? यद्यरुदेहवहने लभतेऽपवाद् । तु तं ततो व्यथनमुग्रवल च पापं । नानागरीस्वहेतेषु कथं न दुःख । प्राप्नोति केन विषयार्जितपापकर्म ॥

उक्त च-कुर्यान्न तन्मदगजोद्धतदत्तेवग । खड्गे विरुष्टवलपाणिविस्फुधार । कुर्वन्ति दुःखमधिक विषया नराणा तस्मान्न्यजति विषयान् परिहृष्टत्वा । एवमय कृष्टो लोकधर्म ॥

मूलारा—आसि भज्जाओ जाते हे अपि मातृस्वसारौ भार्ये । तस्मिन्नेव भवे, किं भवातरेषु संबंधान्यत्वे कथ्यमित्यर्थः । अर्थ—एकही भवमें धनदेव नामक मनुष्यके वसंततिलका माता और कमला नामक भगिनी दोनो पत्नी हुई थी जन्म एकही भवमें ऐसे विचित्र संबंध होते हैं तो भवांतर के संबंधोंमें कहनाही क्या? आगममें इसविषयमें ऐसा कहा है—एकही भवमें एक शरीर धारण करनेमें भी इस जीवको नाना प्रकारके अपवाद सहन करने पड़ते हैं उससे उसको दुःख क्यों न होगा अर्थात् अपवादसे इस जीवको तीव्रदुःखानुभव होता है विषयोपभोग करनेसे पापकर्मका वध होता है एक शरीरके साथ जीविकासंबंध होनेसे इसको इतना कष्ट होता है तो अनेक जन्मोंमें इसने आज तक अनंत शरीर धारण कर छोड़ दिये हैं तो इन देहोंके आश्रयसे अपवादजनित दुःख और अनंत दुःखदायक कर्मोंका संबंध होनेसे कितना कष्ट हुआ होगा इसका विचार विचारी पुरुष मनमें कर सकते हैं

अर्थ—बड़े वेगसे दौड़नेवाला उन्मत्त हाथी, मनुष्यकी उतनी हानि नहीं करता है बलवान् पुरुषके हाथमें रहनेवाला तीव्र धारका खट्वा भी लोगोंकी उतनी हानि नहीं करेगा. परतु विषयसुख मनुष्योंकी उनसे भी अत्यन्त अधिक हानि करता है अतिशय दुःख देता है. इसलिये तत्त्वदर्शी लोग ऐसे विषयोंका त्यागकर सुखी होते हैं. इसप्रकार ये लोकधर्म कष्टदायक हैं.

राया त्रि होद् दासो दासो रायत्तणं पुणमुवेदि ॥

इय संसारे परिवट्ठते ठाणाणि सव्वाणि ॥ १८०१ ॥

संसारे जायते यस्मि न्द्रपोऽपि खलु किंकरः ॥

कीदृशी क्रियते तत्र रतिर्निदानिधानके ॥ १८७३ ॥

विजयोदया—राया त्रि होद् दासो राजा दासो भवति, नीचैर्गोत्रजैर्नात्, दासो राजता पुनरुपैति उच्चैर्गोत्र कर्मण उदयात् । एव संसारे परिवर्तते सर्वाणि स्थानानि ॥

मूलरा—दासो नीचैर्गोत्रोदयात् ।

अर्थ—राजा भी जब उसको नीच गोत्रका उदय होता है तब भवार्तरमें दास होता है और दासभी उच्च-गोत्र कर्मका उदय होनेसे भवार्तरमें राजा होता है. इस प्रकार इस संग्राममें सर्व स्थानोंमें परिवर्तन होता है

कुलरूढतेयभोगाधिगो वि राया विदेहदेसवदी  
वच्चघरम्मि सुभोगो जाओ कीडो सकम्मोहिं ॥ १८०२ ॥

विदेहाधिपती राजा तेजोरूपकुलाधिकः ॥

जातो वच्चोपगृहे कीटः सुभोगः पूर्वकर्मभिः ॥ १८७३ ॥

विजयोदया—कुलरूढतेयभोगाधिगो वि कुलेन रूपेण तेजसा भोगेनाधिकोपि । विदेहजनपदाधिपती राजा सुभोगस्य वच्चोपगृहे कीटो जात स्यै कर्मभिः प्रेरित । उक्त च—दृष्टा कचिरसुरममुष्यगणप्रधाना, सर्वद्विदीप्त वपुषु शशिकातरूपा ॥ अष्टास्त एव पुनरन्यगतिं प्रपन्ना भूता भवति कुलरूपधनप्रतापैः” ॥

मूलरा—वचकुटिम्मि विष्टागृहे । सुभोगो सुभोगास्त्यो राजा सन् ॥



अर्थ—कुल, रूप, तेज, और भोगोंसे इतर जनोंमें श्रेष्ठ ऐसा विदेह देशका अधिपति सुभोग नामका राजाभी सरकार पैदातेमें गूथमें कीटक हुआ. अपने किये हुए कर्मके वश होकर सुभोग राजाकी ऐसी दुर्दशा होगयी इसलिये कहा भी है कि,—देव और मनुष्योंमें प्रधान, मर्वे कदिकी प्राप्ति होनेसे जिनका शरीर तेजस्वी और सुंदर दीखता था, जिनका रूपगुण चंद्रके समान आल्हादकारक था, वे भी मनुष्य श्रेष्ठ होकर अन्यगतिको प्राप्त होकर कुल रूप, प्रताप इत्यादिकोंसे हीन होगये हैं

होऊण महद्दीउ देवो सुभवणगंधरुवधरो ॥

कुणिमस्मि वसदि गम्भे धिगत्यु संसारवासरस ॥ १८०३ ॥

देवो महर्द्धिको भूत्वा पवित्रगुणविग्रह ॥

गम्भे वसति वीभत्से धिक्संसारमसारकम् ॥ १८०३ ॥

विजयोद्या—होऊण महद्दीउ देवो महर्द्धिको देवो भूत्वा । सुभवणगंधरुवधरो प्रशस्तेजोगंधरुराश्रित ॥ वातपित्तकर्तृ परिसुक्त व्याधिभिर्विगतनेवमतीक्ष्ण, अभ्युत परमयौवनयुक्तं सर्वतोऽविकलमुत्तमकालि ॥ १ ॥ सर्वतश्च विमलाश्रवणस्पर्शगंधरवाञ्छितहास । सखिलासगतचेष्टिन्लील ते शरीरमस्मन्न लभते ॥ २ ॥ गीतवाद्यतत्त्वैर्निनादेस्नास्तदाश्रय समुपेत्य सहर्षा । देवदेवयनिता प्रणिपत्य कुर्वतेऽत्र समुपासनमेया ॥ ३ ॥ फुल्लपंकजसमरय हस्तैर्दक्षिणैः प्रवरलक्षणकीर्णैः । चारुचद्रवद्वाना नस्त्रिमेग स्निग्धदृष्टिहसिता प्रतिशुण ॥ ४ ॥ मृगपासनमस्तकोपविप्रान् मृगपातप्रगतानिवाचलाना । अथ तानभिर्भिरुमापयति मुद्रितास्तत्र सुरा सुवर्णकुम्भे ॥ ५ ॥ प्रविक्रमाय वक्त्रपंकजानि सुरनाथार्कगुणाशुभि सुराणा । कुरु न सुचिर त्वमायिष्यमिति तान्याभिभरभिन्दुवति चेव ७ आदाय नैदाघरावै दिग सु न्यस्तैर्वितैर्म्भुकुटानि भूत्वा । विष्प्रिताश्चाभरणैरन्ध्रैरेवद्वारागदकुण्डलात्रै ॥ ८ ॥ ल्योतिर्विभूयान् गगनप्रदेशान्, विदुश्चिन्दाश्च रुचिरादुदाश्रय, रत्नार्चिताश्च हेममहागिरिश्च विशेषयतोऽभ्यधिक विभाति ९ दिव्यवीर्यपलविक्रमायुगो दिव्यदीप्तवपुगो विशो दश । भागयति विमलावरार्कवद्विष्यसोम्यपुणः शशाकत्रत् ॥ १० ॥ दूरप्यतिपतति लाघवात् मौत्वाद्विरसमा भवति च ॥ अर्णवावतिविशंति मेविर्नीर्णोवाञ्च महतोऽपि रुंधते ॥ ११ ॥ काष्ठमग्निमनिल जल मर्द्दा सप्रविष्य च तन् शरीरिणा । निर्विशेषगुणका सहस्रसितु ते भवति सुचिरं सुशक्तय ॥ १२ ॥ पावकाचलसुरन् वनावनीनागराश्च सहस्रा निपत्य ते ॥ स्थानमीप्सिततमं श्रमाद्विना यति चाप्रतिहताशरीरवत् ॥ १३ ॥ उद्विशेषयुरवन्ना महाचलात् पातयेथुरपि मद्वरान्करैः । मद्वराद्विशिगरं धरास्थितास्ते स्पृशेथुरपि यद्यमीप्सित ॥ १४ ॥

ईशितुं सुरनृणामयन्तः कर्तुंमात्मवशगान्मृगानपि । रूपमात्मनसा समीरितं स्पर्शमुपलभमसं सप्तद्वयश्या ॥ १५ ॥  
 संपूर्यशां । स्वसुरभिगधैर्वा मृष्टै शुभकुसुमैश्च ॥ सतानाद्यैर्विरचितमाला नित्याम्लाना । परिवर्द्धमानाः ॥ १६ ॥  
 मात्स्यैर्नैधैः सुसमजुलिता वस्त्राण्यतिविंजालसि वसाना । ररम्यंते रतिनिपुणाभिस्स्वाभिः सार्द्धं धरयतिताभि ॥ १७ ॥  
 सुखेनैव जीव याति वियोगकृत परिताप, तत्र महाद्विद्युता अपि देवाः स्त्रीपुरुषा वियमायुष एव ॥ १८ ॥  
 प्राणभृतामिह मध्यमलोके तीव्रतरादिकपायचतुष्कं । स्यात्सुरसततय समकाल, तत्र भवंति हि कर्मवशेन ॥ १९ ॥  
 अच्युतमानितजीवितदेव, स्त्री चिरजीवितवत्यति तस्याः । पत्यमितं यत जीवितकालं तेन वियोगमिति सुरलोक ॥ २० ॥  
 मृत्युकृत च विचित्य सुदु खं भ्रात्रि सुरा परिभ्रीतमनस्काः । तत्र भजति मृगा इव यद्धा व्याघ्रसमीपमुपेत्य समीका ॥ २१ ॥  
 गर्भकृतामपि ते तुरवस्था सपरिचित्य पुन समवाप्य । शोकमेवे धिपुले परियाति चारकरोध इवाभ्युपयाते ॥ २२ ॥  
 मूत्रपथावशुचेरतिदुःखं निर्गमन स्मरतामञ्जीना । जन्मतेयेति मय दिविजाना, स्यादधिक तदवाप्य सुखं तत् ॥ २३ ॥  
 तानपि चास्यतेव क्षुद्रनिष्ठा पश्यत सर्वधूरिव कृष्ण, वर्षसहस्रमितीह गतेपि कालदरो न जहात्यहमिदं ॥ २४ ॥  
 उच्छ्वसन श्रमज उपेतेरपि पक्षमितैर्दिवसैश्चैदि याति । कान्यसुरेषु कथा वत लोके हा समयो जननार्णववासः ॥ २५ ॥  
 रोगजराविकलत्वहिनीनास्तत्र पुनश्च भवमनुजाना तत्सहित प्रसमीक्ष्य पुरस्तात् प्राप्यमवश्यमतस्तच्युतमात्रे ॥ २६ ॥  
 अन्यवशादवशा विलपतो वेशमिवान्यमुपद्रवयुक्तं । सम्रतिपत्सव उग्रमयं ते शोकवशा बहुशोऽपि भवंति ॥ २७ ॥  
 यत्सुरसौख्यमवाप्य विमाने भूतकजो जगतीरपि याति । तत्परिचितयता कुशलता केन सुरेषु भवेद्बहुमानं ॥ २८ ॥  
 तेऽवधिना विधिना बहुतत्त्वं दूरगतान्यपि जानत एव । तेन भयान्यनुभूय पुरस्तादश्रुवेत भयकृच्छ्रदपश्चात् ॥ २९ ॥  
 यः सहसा भयमभ्युपयाति पूर्वतर न मयं स उपेति प्राग्विदितामवध सुनर प्राक् प्राप्य मय वधेमेति हि पदचात् ॥ ३० ॥  
 अतो न सौख्य तद्विहास्ति किंचन विमुक्षयमात मनसा भवार्णवे । सुखे प्रसक्तो विपुले पुमानयं भजेत दुःखेन विनाशुनापि यत् ॥  
 यथापुणेशोपहृतेऽपि भोजने न तनरो रोचयते कुलोदितः । तथात्वदोषोऽप्यसुखे सुखे सति न तद्वुद्यो रोचयते कदाचन ३२  
 प्रपीयमानं बुनि पातितो यथा लवोपि मूत्रस्य तदंशु दूयेत् । तथा लवाशोऽप्यसुखस्य सत्सुखे करोति सधस्य सुखस्य दूयणा ॥  
 गुणैरनैरपिसंयुता स्त्रियं कृतापचारा सकृदप्यनिर्धुण । नरो जहात्येव यथा तथा बुधो न इष्टिदोषादिव सोऽनुभिच्छति(?)  
 कुणिममि वसदि गम्भे कुथितगम्भे वसति ॥ धिगत्यु संसारवासस धिगस्तु संसार वासस्य ॥ उक्त च—स्योगाद्रोगादिव  
 समुत्थ मनुजेषु गर्भेऽस्तृत्या गर्भनिपात च समीक्ष्य । वस्तादेव देहाशुचीनपि निरीक्ष्य गर्भविश्रा दुःखमिवातेनुभवति ॥

मूलारा-स्पष्टम् ॥

अर्थ—देवगति नामक कर्मके उदयसे यह जीव महान काद्धि धारक, शुभ वर्ण, गंध, रूप इत्यादि उत्कृष्ट गुणोंका स्थान बनता है अर्थात् स्वर्गीय देव बनता है परंतु आयुष्य समाप्त होनेपर दुर्गंध युक्त गर्भवासमें उसको रहना पडता है इसलिये ऐसे विचित्र संसारको धिक्कार हो

१ जैसे आकाशमें हृद्रघनुष्य, विजली, और मेघ अकस्मात् उत्पन्न होते हैं वैसे देवोंका अकस्मात् जन्म होता है. इन देवोंका जन्म अशुचित्तासे-अपवित्रतासे रहित होता है ऐसा समझना चाहिये.

२ वात, पित्त और कफ इन तीन दोषोंसे जो व्याधिया मनुष्य देहमें उत्पन्न होती हैं उनसे देवोंका शरीर रहित होता है खेद उनमें नाममात्र भी नहीं रहता है. मदा तरुणताही रहती है. सर्वावयवपरिपूर्णता और उत्तम कांतीसे वह सदाही युक्त होता है

३ उत्तम विलास, गति, चंचल और लीलासे वह मन हरण करता है निर्मल वस्त्र, वर्ण, स्पर्श, सुगंध, मिष्ट भाषण और हास्यसे उसकी जोभा चित्तको अपने तरफ आकर्षित करती है. ऐसा शरीर शुभ कर्मके उदयसे देवोंको प्राप्त होता है.

४ जब उपपाद शय्यापर देवका जन्म होता है तब देव देवागना हर्षमें उसके सामने आकर नमस्कार करते हैं और गीत वाद्यादिक ज्वनिओंसे उसका अभिनदन कर अपना हर्ष भाव प्रकट करते हैं उसकी उपासना करते हैं.

५ उत्तम लक्षणोंसे युक्त, प्रफुल्ल कमल समान सुंदर ऐसे हाथोंमें किया हुआ नमस्कार ये उत्पन्न हुए देव ग्रहण करते हैं. चंद्रके समान सुंदर मुखवाले ये देव स्निग्ध दृष्टिसे हमकर देवोंके नमस्कारका स्वीकार करते हैं. ६ पर्वतके शिखरपर बैठे सिंहके समान सिंहासनपर बैठे हुए उन उत्पन्न हुए देवोंका आनंदित हुए देव सुवर्ण कलशसे अभिषेक करते हैं.

७ हे देवेंद्र ! सूर्यके समान गुणोंमें हमारे मुखमालोंको आप प्रफुल्लित करो और हमारे ऊपर आपका दीर्घकाल तक आधिपत्य रहे ऐसी देव उनकी वचनोंके द्वारा स्तुति करते हैं

८ वे देवेंद्र मानो ग्रीष्मकालके सूर्य ही हैं ऐसे रत्नोज्ज्वल मुकुट मस्तकपर धारण करते हैं हार, अगद, कुंडल वगैरह अमूल्य रत्नाभरणोंसे वे अलंकृत रहते हैं

९ विजलीसे व्याप्त हुए सुंदर भयोंको, रत्नोंसे जडित सुवर्ण पर्वतोंको अलंकृत करते हुए वे देव अति-शय शोभाको धारण करते हैं

१० जो दिव्य बल, वीर्य और पराक्रमोंसे युक्त हैं जिनका शरीर दिव्य और दीप्तियुक्त है ऐसे देव

विमल आकाशस्थित सूर्यके समान दश दिशाओंको प्रकाशित करते हैं तथा चंद्रके समान अपनी सौम्य कान्तीसे दश दिशाओंको सौम्ययुक्त बनाते हैं ।

११ अतिशय लघु होकर वे अतिशय दूर जाते हैं और गुरु होकर वे पर्वतके समान विशाल बनते हैं। जलके समान होकर पृथ्वीमें प्रवेश करते हैं और पृथ्वीके समान अन्य पदार्थोंका रोष करते हैं ।

१२ लकड़ी, अग्नि, हवा, पानी, पृथ्वी इनमें और प्राणिओंके शरीरमें वे प्रवेश करनेमें समर्थ होते हैं उनके गुणके समान गुण और प्राणिओंके नहीं होते हैं और वे समर्थ होते हैं ।

१३ वे देव अग्नि, पर्वत, जंगल, समुद्र वगैरहको एकदम उलंघन कर विना परिश्रमके इच्छित स्थानपर पोहोच जाते हैं सिद्धके समान उनको किसी पदार्थसे बाधा नहीं पोहोचती है।

१४ उनमें पर्वतोंको जमीनपर गिरा देनेका सामर्थ्य होता है वे मंदर पर्वतोंको भी गिरा सकते हैं जमीनपर ठहर कर भी मंदर पर्वतके शिखरको स्पर्श कर सकते हैं

१५ देव और मनुष्योंपर विना ग्रयत्नमे वे ईशत्व रख सकते हैं और सर्व पशुओंको वश करते हैं मनमें वे जित रूपको चाहते हैं तत्काल उसको धारण कर सकते हैं वे जिस पदार्थको चाहते हैं तत्काल उसको प्राप्त कर सकते हैं ।

१६ अपने शरीरकी सुगंधसे संपूर्ण दिशाओंको भर देते हैं उनके गलेमें सतानकादि कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी आम्लान माला रहती है ।

१७ पुष्प, गंधांसे सुगंधित वस्त्र वे धारण करते हैं और समोगमें प्रवीण देवांगनाओंके साथ वे हमेशा रतिक्रीड़ा करते हैं ।

१८ वे महान ऋद्धिधारक देव और देवांगना निपमायुष्य होनेसे वियोग दुःखको प्राप्त होते हैं अर्थात् देवको देवीका और देवीको देवका वियोग होता है ।

१९ इस मध्यमलोकमें प्राणिओंको तीव्रतर तीव्रतम वगैरह विकल्पोंके क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं परंतु देवलोकमें कषायोंका तीव्रभाव नहीं रहता है

२० अच्युत स्वर्गतक देवांगनाका दीर्घकाल आयुष्य यद्यपि है तो भी वह पल्पप्रमाण ही है अर्थात्

सागरोंसे उनका आयुष्य नहीं नापा जाता है और देवोंका आयुष्य सागराको होता है इस लिये देवोंको बारवार अनेक देवांगनाओंका वियोग होता है

२१ मृत्युके समयमें होनेवाले दुःखोंका विचार कर उनके मनमें दुःख उत्पन्न होता है जैसे व्याघ्रके समीप बाधे हुए हरिणको दुःख होता है वैसे इन देवोंको मृत्यु समय दुःख होता है

२२ कैदी होनेका प्रसंग आनेपर जैसा मनुष्यको बहुत शोक और मय उत्पन्न होता है वैसे देवभी यहांका आयुष्य समाप्त होनेपर हमको मनुष्यस्वीक्रे गर्भमें जो कि कैदखानेके समान है रहना पड़ेगा ऐसा विचार कर बहुत शोकयुक्त और भयवान् होते हैं

२३ गर्भके अनंतर अपवित्र ऐसे मृत्रमार्गसे हमको बाहर निकलना पड़ेगा, यह तो बहुत कष्टकी बात है, यह मनुष्य जन्म महान् अपवित्र है ऐसा विचार करनेसे उन देवोंको महान् भय होने लगता है

२४ इस स्वर्गमें हजारों वर्ष नीतेनेपर भी हमको क्षुधा वाघा न होती थी परंतु मनुष्यत्व प्राप्त होनेपर सर्पिणीके समान यह क्षुधावाधा हमको तफलीफ देगी हा यह बड़ा कष्ट है २५ देव गतीमें एकपक्ष नीतेनेपर उच्छ्वास लेते थे परंतु यहां मनुष्यगतीमें उच्छ्वासका भी परिश्रम होगा हाय हाय इससारसमुद्रमें रहना बड़ा कठिन है

२६ इस देववस्थामें रोग, जरा-वृद्धावस्था, इंद्रियविकलता, इत्यादि दोष नहीं रहते हैं, परंतु मनुष्य-भवमें ये बाधाएँ अवश्य भोगनी पड़ेंगी ऐसा मनमें देव विचार करते हैं, यहांसे हम च्युत होनेके अनंतर दुःखद परिस्थिति प्राप्ति होगी ऐसा वे विचार करते हैं

१६ यद्यपि देव परतंत्र नहीं होते हैं, तथापि उपद्रवयुक्त देशको मानो हम प्राप्त हुए हैं ऐसा समझकर मनमें शोक उक्त होकर अतिशय तीव्र भीतिको प्राप्त होते हैं

२७ जिनको कभी भी रोग पीडा नहीं हुई थी ऐसे भी देव आयुष्य समाप्तिके अनंतर इस मनुष्य लोकमें उत्पन्न होते हैं ऐसा समझकर कोन विद्वान् देवावस्थाको अच्छी समझेगा ? अर्थात् वह भी कष्टयुक्त है ऐसा समझकर विद्वान् लोक उसमें अनादर करते हैं

२८ ये देव अपने अधिज्ञानसे बहुत दूर की बात भी जानलेते हैं अतः आगे आनेवाली विपत्तिको जानकर वे प्रथम ही भययुक्त होते हैं और तदनंतर वास्तविक भयका अनुभव करते हैं,

२९ जिसको अकस्मात् भय उत्पन्न होता है वह प्रथम ही अर्थात् भय प्राप्त होनेके पूर्वमें भय युक्त नहीं होता है परंतु देव भयकी वार्ता प्रथमही जान लेते हैं अतः वे प्रथमही दुःखी होते हैं जैसे अपने वध होनेकी बात जिसको प्रथमही मालूम पड़ी है वह मनुष्य प्रथम ही भयको प्राप्त होकर अन्तर वधयुक्त हो जाता है

३० इसलिए हम संसारभारमें विचार करनेवाले पुरुषको कहाँ भी सौख्य नहीं है ऐसा शत्रुमुख आवेगा अतिशय सुखमें आसक्त ऐसे भी प्राणीको यदि अणुमात्र भी दुःख हो जावेगा तो भी सुखमें न्यूनता है ऐसा मानना पड़ेगा तात्पर्य यह है कि, जिसमें अणुमात्र भी दुःख हो वह सुख है नहीं

जैसे भोजन करते समय अन्नमें छोटामा भी केश निकला तो वह अन्न कुलीन मनुष्यको अप्रिय होता है, वैसा सुखमें यदि अल्प भी दोष होगा तो वह सुख बुद्धिमानोंको अप्रिय लगता है ।

३१ पीनेके लिए जो पानी दिया गया है उसमें यदि सूत्रता एक भी पिंडु पड़ेगा तो वह पानी दूषित होता है वैसे उत्तम सुखमें यदि थोड़ासा भी दुःख उत्पन्न होगा तो वह सुख दोषयुक्त ही मानना चाहिए.

३२ यदि अनेक गुणोंसे स्त्री संपन्न है तो भी एक दफे भी जिसने व्यभिचार किया है उसको दयाद्र मनुष्य भी छोड़ ही देगा वैसे बुद्धिमान् लोग जिसमें दोष दीखता है ऐसे सुखकी इच्छा नहीं करते हैं

अभिप्राय यह निकला कि यह समार दुःखमय है हम संसारमें कुथित मांस रक्तादि से भरे हुए गर्भमें निवास करना पड़ता है इसलिए हम संसारवासको धिक्कार दो. शास्त्रमें इस विषयमें ऐसा कहा है—इस मनुष्य जन्ममें आनेकेलिए गर्भमें रहना पड़ता है इसका स्मरण होने से दुःख होता है. गर्भ में आकर भी कोई जीविका पतन भी हो जाता है यह शरीर भी अपवित्र है. और यहांके भोग भी रोग के समान है. इत्यादि विचार से देवोंको गर्भ में प्रवेश करने के ममान दुःख होता है.

इध किं परलोगे वा सत्तू पुरिसस्स हुंति णीया वि ॥

इहइं परत्त वा खाइ पुत्तमंसाणि सयमादा ॥ १८०४ ॥

यत्र वादाति पुत्रस्य जनन्यपि कलेवरम् ॥

तत्तत्रामुत्र वा यंधौ शत्रुत्वे कोऽस्ति विस्मयः ॥ १८७५ ॥

विजयोदया—इहं परलोगेवा इहलोके परलोके वा, पुरिस्स गीया वि सत्तू होति वंधवोपि शत्रवो भवति पुरयस्य । इहं परत्त वा साह इह वा परत्त वा अत्ति, पुत्तमंसाणि सयमादा पुत्रस्य मांसं आत्मीयजननी अत्ति किमतं पर कण्ठे ॥

मूलारा—इधइ इहलोके । परं कष्टमिति भावः ॥

अर्थ—इह लोकमें अथवा परलोक में यधु भी पुरुषका मनुष्यका शत्रु होता है इस लोकमें जननी भी माता भी अपने पुत्रका मास खाती है, अहह—इस से अधिक कष्टकारक क्या होगा ?

होजुण रिज बहुदुक्खकारओ वंधवो पुणो होदि ॥

इय परिवट्ठइ णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च जये ॥ १८०५ ॥

बंधू रिपू रिपुवधुर्जायते कार्यतस्ततः ॥

यतो रिपुत्ववधुत्वं संसारे न निसर्गतः ॥ १८०६ ॥

विजयोदया—होजुण रिज रिपुत्वेत्वा पूर्वं । यधुदुक्खकरो विचित्रदु खकारी । स एव पुणो पञ्चादपि । यधवो होदि प्रियवांधवो भवति । इय परिवट्ठदि एव परिवर्तते । णीयत्तण च सत्तुत्तण च शत्रुत्वं च । जगे जीवलोके ॥

मूलारा—णीयत्तणं वधुन्वयम् ॥

अर्थ—जो अपना कट्टर शत्रु है जिसने नाना प्रकारके दुःख दिये थे वह भी यधु-प्रिय बांधव होता है, इस प्रकार शत्रुत्व और वन्धुत्वका जगतमें परिवर्तन होता रहता है.

विमलाहेदु वंकेण मारिओ णिययमारियागब्भे ॥

जाओ जाओ जादिमरो सुदिही सकम्मेहिं ॥ १८०६ ॥

वंकेण विमलाहेतोः सुहृष्टिर्विनिपातितः ॥

निजांगनांगजो भूत्वा जातो जातिस्मरो बत ॥ १८०७ ॥

विजयोदया—विमलाहेदु विमलनिमित्तं । वंकेण मारिदो वक्राब्धेन भ्रुतकेन मारित । क सुदिही सुहृष्टिनामयेयः । सकम्मेहि आत्मीये कर्मभिः । जादो उत्पन्न । क निययमारियागब्भे निजभार्यागर्भे जादिमरो जादो जातिस्मरश्च जातः ॥

मूलारा—वंकेण वक्राख्येन स्वशिव्येण । मारिदो विमलानाम्भ्या स्वभार्यया सह मैथुन कुर्वाणो हतः । मारिया भार्या । जादिभरो जातिस्मरत्र जातः । सुदिह्दी सुदृष्टिर्नामनगरवैज्ञानिकः ।

अर्थ—विमला नामक स्त्रीके वश होकर वक्र नामक पुरुषने अपने स्वामीका वध किया वह स्वामी उसही स्त्रीके उदरमें कर्मोदयेसे गर्भ रूप होकर उसका पुत्र होकर उत्पन्न हुआ उसका सुदृष्टि नाम रक्खा गया उसको कालातरसे जातिस्मरण हो गया तब मैं अपनी स्त्रीमें ही पुत्र उत्पन्न हुआ हूँ ऐसा उसको ज्ञान होगया

होऊण वंभणो सोत्तिओ खु पाव करित्तु माणेण ॥

सुणगो व सुगरो वा पाणो वा होइ परलोए ॥ १८०७ ॥

ओत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा कृत्वा मानेन पातकम् ॥

सूकरो मंडलः पाणो झगालो जायते वक्रः ॥ १८०८ ॥

विजयोदया—होऊण वंभणो सोत्तिओ ओत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा । माणेण जातिमेदेन । गुणिजननिदवमानाश्च पाप करित्तु पाप कृत्वा नीचैर्गोत्रमुपचित्य । सुणगो व सुगरो वा पाणो वा होइ परलोए इवा शूकरश्चाण्डालो वा भवति परजन्मनि ॥

मूलारा—माणेण जातिमेदेन । गुणिजननिदावमानाऽऽया नीचैर्गोत्रमुपाज्यं शुनकादिर्भवतीति संबन्धः ॥

अर्थ—यह जीव ओत्रिय ब्राह्मण होकर जातिमदसे गुणिजनोका अपमान करता है, निंदाकरता है इस कार्यसे पापसंचय करके अर्थात् नीच गोत्र कर्मका वध करके परमवर्मे कुत्ता, अथवा सुवर किंवा चांडाल होता है.

दारिदं अड्ढितं णिदं च शुदि च वसणमब्बुदयं ॥

पावदि बहुसो जीवो पुरिसिस्थिणुंसयत्तं च ॥ १८०८ ॥

निंदां दारिद्र्यमैश्वर्यं पूजामभ्युदयं स्तुतिम् ॥

स्त्रैणं पौत्तं चिरं जीवः षण्ढत्वं प्रतिपद्यते ॥ १८०९ ॥

विजोदया—दारिदं दारिद्र्य । बहुसो जीवो पावदि बहुश जीव प्राप्नोति लाभातरयोदयात् । अड्ढितं आढ्यतां पूर्ववदेव संबन्धः । पावदि बहुसो इमो इत्यनेन । लाभातरायक्षयोपशमादीप्सितानि द्रव्याणि लभते, लब्धानि च नश्यति ॥



तत आढ्यतां । निंदा श्रवणकञ्चालः कुणः काणो दुर्भगो मूर्खः कृपण इत्यादिकां ॥ धुर्वि च स्तुतिं च कुलीनो रूपवान् चाग्मी आढ्य प्राज्ञ इत्यादिका यशस्कीर्तयद्यात् । पत्र वसण तु स असेद्योदयात् । अभ्युदय देवमनुजभवज सुखं सेद्योदयात् । पुरिसिन्धुपुत्र्यच च पुरुषत्व च स्त्रीत्व च नपुंसकत्व च बहुश प्राप्नोति ॥

मूलारा—अद्विक्त आढ्यत्वं कामान्तरायक्षयोपशमाद्धनेष्टत्वं प्राप्नोति । निंदं श्रवणः, पाणो, मूर्खः, कृपण इत्यादिक निंदा प्राप्नोति अयशः कीर्त्युदयात् ॥ वसण दुःखं । अभ्युदय उत्तमदेवत्वमानवत्वभवप्रभवं सुखं सेद्योदयात् ॥

अर्थ—इस जीवको अनेकवार लाभान्तराय कर्मका उदय होनेपर दारिद्र्य प्राप्त होता है वैसे इसको अनेकवार धनप्राप्ति होनेसे धनाढ्यपनाभी हुआ था । लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे यह जीव धनाढ्यभी हुआ था । बहुतवार मिला हुआ धनभी नष्ट हुआ है इसकी बहुतवार तू चाडाल है, लगडा है, अथा, कृपण, मूर्ख है, ऐसी निंदा भी हुई है अयशस्कीर्ति कर्मके उदयसे जगतमें जीवकी निंदा होती है इसी प्रकार असातवेदनीय कर्मके उदयसे अनेकप्रकारके सकटासे यह जीव ग्रस्त होता है । देवगतिके और मनुष्यके सुखोंको अभ्युदय कहते हैं । यह अभ्युदय सातवेदनीय कर्मके उदयसे प्राप्त होता है यह जीव पुरुष, स्त्री और नपुंसक इन पर्यायोंकोभी अनेकवार प्राप्त हुआ है

कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगस्मि ॥

कारी वि जणसमक्खं होइ अकारी सपडिभोगो ॥ १८०९ ॥

निर्दोषमपि निःपुण्य सदोषं मन्यते जनः ॥

सदोषमपि पुण्याढ्यं निर्दोषं पुरुषः पुनः ॥ १८१० ॥

विजयोक्त्या—अकारी अपि दोषमकुर्वन्नपि कारी भवति, अप्पडिभोगो जनो पुण्यरहितो जन । कारीवि कुर्वन्नप्यनाचार, जणसमक्ख जनाना प्रत्यक्ष अकारी होइ दुराचारी न भवति । सपडिभोगो पुण्यवान् ॥

मूलारा—कारी दोषकर्ता । अकारी दोषमकुर्वन्नपि । अप्पडिभोगो अपुण्यः । कारी वि दोष कुर्वन्नपि । सपडिभोगो सपुण्यः ॥

अर्थ—जो मनुष्य पुण्यरहित होता है तब उसने दोष नहीं भी किये हो तो भी वह दोषी माना जाता है तथा जब पुण्योदय होता है तब अनाचारी होकरभी निर्दोषी माना जाता है लोक उसको निर्दोष समझते हैं

सरिंसीए चंदिगाये कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो ॥

सरिंसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥ १८१० ॥

निसर्गतः कोपि समेऽपि बल्लभो विचेष्टतेऽन्योऽसुमतामवल्लभः ॥

समानरूपे सति चंद्रिकोदये प्रियो हि पक्षो भवलः प्रियोऽपरः ॥ १८८१ ॥

विजयोदया—सरिंसीए चदिगाए चट्टिकाया समानायामपि । कालो वेस्सो कालपक्षो द्वेष्ट्य । पिओ जहा जोण्हो शुक्लपक्षो यथा प्रिय । सरिंसे वि तहाचारे सदशव्याचारे द्वयो पुसो ॥ कोई वेस्सो पिओ कोई कश्चिद् द्वेष्ट्यः प्रिय ॥

मूलारा—चदिगाए ज्योत्स्नाया समानाया सलामपि । कालो कृष्णपक्ष । जोण्हो सितपक्ष । कोई दुर्भगनाम-कर्मोदयं प्रातः ॥

अर्थ—चद्रका प्रकाश दोन पक्षमें समानही रहता है तोभी कृष्णपक्ष लोकोको अप्रिय लगता है और शुक्लपक्ष प्रियसा मात्तम पढता है । वैसे आचार समान होने परभी किसीको लोक अप्रिय समझते हैं और किसीको प्रिय समझते हैं

इय एस लोगधम्मो चित्तिज्जंतो करेइ णिव्वेद ॥

धण्णा ते भयवंता जे मुक्का लोगधम्मादो ॥ १८११ ॥

चिचिंत्तय मांनं जगतो विचेष्टितं विचित्ररूपं भयदायि दुर्गमम् ॥

करोति वैराग्यमनन्यगोचरं दुरीहित पूर्वमिवोदयं गतम् ॥ १८८२ ॥

विजयोदया—इय एस लोगधम्मो अयमेव प्राणिधर्म । चित्तिज्जंतो चित्तमानो । करेइ णिव्वेद निर्वेद करोति । धण्णा ते भयवता पुण्यवतस्ते यतय । जे मुक्का लोगधम्मादो ते मुक्का । प्राणिधर्मोद्भाचणितान् ॥

प्राणिस्वरूपचित्तामुपसंहरस्तत्फलमाह—

मूलारा—लोगधम्मादो प्राग्वर्णितप्राणिस्वरूपे अनासक्तचित्ता इत्यर्थः ॥

अर्थ—इस प्रकार यह लोकोका धर्म है इसका विचार कर कोई महात्मा विरक्त होता है वे पूज्य ऋषि धन्य हैं जिन्होंने लोकधर्मका त्याग किया है ।

विज्जू व चंचलं फेणदुब्बलं वाधिमहियमच्चुहदं ॥  
 पाणी किह पेच्छंतो रमेज्ज दुक्खुद्धुदं लोगं ॥ १८१२ ॥  
 लोकस्वभावं चपलं दुरंतं दुःखानि दातुं सकलानि शक्तम् ॥  
 निरीक्षमाणा न बुधा रमते भयकरं व्याघ्रमिवानिवार्यम् ॥ १८८३ ॥

इति लोकानुपेक्षा ॥

विजयोदया—विज्जू व चंचल विद्युदिव चंचल, फेणदुब्बल फेनमिव दुर्बल । वाधिमहियमच्चुहद व्याधि-  
 भिर्मथितं मृत्युना इतं । लोग पेच्छंतो लोक पश्यन् । पाणी किध रमेज्ज ज्ञानी कथं तत्र रतिं कुर्यात् ॥  
 तदनासक्तिसरण व्यनक्ति—

मूलारा—फेणदुब्बल नीरडिंडीरवन्निःसारम् । पाणी रत्यरतिकारणञ्च । दुक्खुद्धुद दुःखेन कपित । उक्त च—  
 तद्विद्वच्चपलं फेनदुर्बलं व्याधिपीडितम् ॥

ज्ञानी पश्यन्नरतिं कुर्यात्कथं दुःखादित जगत् ॥

लोकानुपेक्षा ॥—

अर्थ—यह जगत् विजलीके समान चंचल है, समुद्रके फेसके समान बलहीन है, व्याधि और मृत्युसे  
 पीडित हुआ है ज्ञानी पुरुष दुःखोंसे भरा हुआ यह लोक देखकर उसमें किसी प्रीति करते हैं, अर्थात् ज्ञानी इस लो-  
 कसे प्रेम नहीं करते हैं इसके ऊपर वे माध्यस्थ भाव धारण करते हैं.

॥ लोगधम्मचिन्ता ॥ अशुभत्वानुपेक्षा प्रक्रम्यते ॥

असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं ॥  
 एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खवारो धम्मो ॥ १८१३ ॥

अशुभा सन्ति निःशेषाः पुसां कामार्थविग्रहाः ॥

शुभोऽत्र केवलं धर्मो लोकद्वयसुखप्रदः ॥ १८८४ ॥

विजयोदया—असुहा अत्था कामा य हुति अशुभा अर्था. कामाश्च भवति । देहो य सव्वमणुयाण देहश्च सर्व

मनुजानाम् ॥ एकको चेव सुभो एक एव शुभः पुन । सत्त्वसुखायरो धम्मो सर्वणा सौख्यानामाकरो धर्म ॥

धर्म्यध्यानशुद्धयर्थं अशुचित्वं गाथाप्रकेनावुचितयति—

अशुचिश्चाशुभो ऽमेध्यश्च भावो भण्यते । तत्रादौ दुःखैकमूलत्वेन अर्थकामकथानामशुभत्वं व्यवस्थाप्य लोकद्व-  
यसुखप्रदत्वेन धर्मस्य शुभत्वं भावयति—

मूलारा —सष्टम् ॥

अशुचित्वानुपेक्षाका वर्णन—

अर्थ—अर्थं पुरुषार्थं और कामपुरुषार्थं अशुभ है सर्व मनुष्योंका देह अपवित्र है एक धर्मही पवित्र है  
और वही सर्व सौख्योका दाता है

अर्थस्याशुभता व्याचष्टे—

इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्चं ॥

अत्यो अणत्थमूलं महाभयं सुत्तिपडिपथो ॥ १८१४ ॥

अर्थो मूलमनर्थानां निर्वाणप्रतिबंधकः ॥

लोकद्वये महादोषं दत्ते पुंसां दुरुत्तरम् ॥ १८८५ ॥

विजयोदया—इहलोगियपरलोगियदोसे येहिकान् पारलौकिकाश्च दोषान् । पुरिसस्स आवहइ णिच्च पुरुषस्य  
आवहति नित्यं । अत्यो अणत्थमूलं त्रयोऽनर्थानां मूलं, महाभयस्य मूलत्वान्महाभयं । सुत्तिपडिपथो सुक्तेरंगलीभूतः ॥

अर्थस्याशुभत्व समर्थयते—

मूलारा—दोसे दुःखानि । अणत्थमूलं अधर्मविषदादिनिदानं । महाभयं विपुलभीतिनिमित्तत्वात् । सुत्तिप-  
डिपथो सुक्तेरंगलीभूतः ॥

अर्थकी अशुभताका वर्णन—

अर्थ—इह लोकके दोष और परलोकके दोष अर्थं पुरुषार्थसे मनुष्यको भोगने पड़ते हैं. अर्थं पुरुषार्थके  
वश होकर पुरुष अन्याय करता है. चोरी करता है और राजासे दंडित होता है और परलोकमें नरकमें नाना

दुःखोंका अनुभव लेता है इसलिए यह अर्थ अर्थात् धन अनर्थका कारण है, महाभयका कारण है मोक्ष प्राप्तिके लिए यह अर्गलके समान प्रतिबंध करता है.

कामस्याशुभतमतामाचष्टे—

कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा ॥

उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा ॥ १८१५ ॥

निंयस्थानभवाः कामा भीमा लाघवहेतवः ॥

दुःखप्रदा द्वये लोके स्वल्पकालाः सुदुर्लभाः ॥ १८८६ ॥

विजयोदया—कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अशुचिकुटिभवा, अलघुत्वकारिणः । अप्पकालिया कामा अल्प कालेषु भवा । कामकाले उवधो लोए लोकद्वये । दुःखावहाश्च । ण य हुंति ते सुलभा नैव ते सुलभा भवति ॥

कामाशुभत्वमाख्याति—

मूलारा—कुणिमकुडिभवा अशुचित्वपरशरीरप्रभवाः । अप्पकालिया स्तोक्कालभवाः । कामा काम्यमानाः । इन्द्रियार्थाः तत्प्रभवव्रीतयो ना । उवधो लोए लोकद्वये ॥

काम पुरुषार्थ अत्यन्त अशुभ है—

अर्थ—यह काम पुरुषार्थ अपवित्र शरीरसे उत्पन्न होता है इससे आत्मा हलकी होता है. इसकी सेवासे आत्मा दुर्गतिमें दुःख पाती है यह पुरुषार्थ अल्पकालमें ही उत्पन्न होकर नष्ट होता है और प्राप्त होनेमें कठिन है.

अट्टिदलिया छिरावक्कवद्धिया मंसमट्टियालिच्चा ॥

बहुकुणिममण्डभरिदा विहिंसणिज्जा खु कुणिमकुडी ॥ १८१६ ॥

मांसलिप्ता सिरावद्धा कुथितास्थिदलाचिता ॥

सतां कायकुटी कुत्स्या कुयितैर्विविधैर्भृता ॥ १८८७ ॥

विजयोदया—अट्टिदलिया अस्थिदलनिष्पन्ना छिरावक्कवद्धिया सिरावत्कलवद्धा । मंसमट्टियालिच्चा मांस सृत्तिकालिप्ता । बहुकुणिममण्डभरिदा अनेकाशुचिद्रव्यपूर्ण विहिंसणिज्जा खु कुणिमकुडी जुगुप्सनीया अशुचिकुटी ॥

देहाशुचित्व भीमासते—

मूलारा—अट्टिदलिया अस्थीनि दलानि पत्राणि यस्यां सा अस्थिदलिका सिरात्वगवद्वा । कुणिमकुडो कुटीवा जगज्जव्दस्य गतार्थत्वाल्लोपः ॥ उक्तं च—

अस्थिजालदला स्नायुवल्ग्वद्धातिनिदिता ॥

अशुन्यगकुटी मासमृत्तिकाकृतलेपना ॥

अर्थ—इस माथामें शरीररूपी झोपड़ीका वर्णन करते हैं

यह शरीररूपी झोपड़ी हाडोंमें बनी है. अस्थिरूपी पत्तोंसँ यह झोपड़ी रची गई है. नसा जालरूप वकलसे बाँधी गई है. मांसरूपी मट्टीमें ये लीपी गई है अपवित्र रक्तादि पदार्थोंसे भरी हुई है और जुगुप्सा उत्पन्न करनेवाली है.

इगालो धोववतो ण सुद्धिसुवयादि जह जलादीहिं ॥

तह देहो धोववतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं ॥ १८१७ ॥

निसर्गमलिनं कायो धान्यमानो जलादिभिः ॥

अंगार इव नायाति स्फुट शुद्धिं कदाचन ॥ १८८८ ॥

विजयोदया—इगालो धोववतो प्रक्षाल्यमाना मयी न शुद्धिसुपयाति, न शुक्रतासुपयाति । जह यथा । जलादी हिं जलादिभिः, तह देहो धोववतो तथा शरीरं प्रक्षाल्यमान । ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं न याति शुद्धिं जलादिभिः ॥

देहस्यानाक्यशोधनत्वमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—अंगारको पानी वगैरहके द्वारा धोनेपर भी वह अपना कालावर्ण छोड़कर सफेद नहीं बनता है । वैसे शरीरको धोनेसे शुद्ध नहीं होता है.

सलिलादीणि अमेद्भं कुणइ अमेज्झाणि ण दु जलादीणि ॥  
मेज्झममेज्झं कुण्वंति सयमवि मेज्झाणि संताणि ॥ १८१८ ॥

मेध्यान्यमेध्यानि करोत्यमेध्य सद्यः शरीरं सलिलानि नूनम् ॥

अमेध्यमिश्राणि पुनः शरीरं न तानि मेध्य विदधात्यमेध्यम् ॥ १८८९ ॥  
विजयोदया—सलिलादीनि द्रव्याणि शुचीनि । अमेज्ज कुणदि अमेध्य करोति । अमेज्जाणि अशुचीनि । न तु जलादीनि मेज्जं कुणदि नैव जलादीनि शुचितामापादयन्तीति । अमेज्जाणि अशुचीनि सयममेज्जाणि संताणि अमेध्ययोगात् स्वयमशुचीनि सति ॥

जलादिशुचित्वादौऋज्य कायाशुचित्वस्याचष्टे—

मूलारा—अमेज्जं स्वभावेनाशुचिभूतं शरीरं कर्तुं । उक्तं च—

अशुचि शरीर तोयादिकानि विदधाल्यमेध्यरूपाणि ॥

सलिलादीनि न मेध्यं विदधति देहं ह्यमेध्यमयम् ॥

एषा प्राकृतटीकाकारमतेन व्याख्या—अन्ये सयममेज्जाणीति पठित्वा अमेध्ययोग्यास्वयमशुचीनि सतीत्यर्थमाहुः ॥

तदुक्तम्—

मेध्यान्यमेध्यानि करोत्यमेध्यं सद्यः शरीरं सलिलानि नूनम् ॥

अमेध्यमिश्राणि पुनः शरीरं न तानि मेध्य विदधत्यमेध्यम् ॥

अपरे पुनः सलिलादीनित्यादि सूत्रं सामान्येन व्याख्यायोत्तरसूत्रेण प्रकृतं देहाशुचित्व अनुसंदधते ।

अर्थ—पानी वगैरह पवित्र पदार्थोंको देह अपने संसर्गसे अपवित्र बना देता है. पानी स्वय अपवित्र नहीं है देहके संसर्गसे उसको अपवित्रता आती है

तारिसयममेज्जमयं सरीरयं किह जलादिजोगेण ॥

मेज्जं हवेज्ज मेज्ज ण तु होदि अमेज्जमयघडओ ॥ १८९१ ॥

अमेध्यनिर्मितो देहः औध्यमानो जलादिभिः ॥

अमेध्यैर्विविधैः पूर्णो न कुःम इव शुद्धयति ॥ १८९० ॥

विजयोदया—तारिसयममेज्जमय शुचीनामशुचित्वाकरणसमर्थाशुचिमयशरीरक । किह कथं । जलादिजोगेण जलादिसंघेन । मेज्ज हवेज्ज शुचिर्भवेत् ॥ अमेज्जमय घडओ अमेत्यमयो घट । न खु मेज्जो होदि नैव शुचिर्भवेति ॥

... मूलरा-तारिसगामेज्जमय शुचिद्रव्याणामशुचित्वापादनसमर्थेनामेव्येन पुद्गलप्रचयेन निर्वृत्त सत् । अन्ये तारि-  
सयममेज्जमय इति मत्वानुतत्रमाहु । तत्रयथा—

तान्धममेधमयं शरीरक किं जलादियोगेन ॥

मेधं भग्द्विमेधेनामेधमयो घटो भवति ॥

अर्थ—पवित्र पदार्थोको अपवित्र वनानवाला यह शरीर जलादिकोंके द्वारा शुद्ध कैसा हो सकता है ?  
विश्रुत भरा हुआ घट क्या पवित्र हो सकता है ? नहीं कभी नहीं

यदि शरीरमशुचि किं तर्हि शुचीत्यत्राह—

णवरि हु धम्मो मंज्झो धम्मथस्स वि णमंति देवा वि ॥

धर्मेण चैव जादि खु साहू जल्लोसधादीया ॥ १८२० ॥

भवन्ति जल्लोपघयो सुमीन्डा धर्मेण देवाः प्रणमन्ति सेन्द्राः ॥

यत्तस्ततो नास्ति तत् प्रशस्तः कल्याणविआणनकल्पवृक्षः ॥ १८११ ॥

इति अशुच्यनुमेक्षा ।

विजयोदया—णवरि हु धम्मो मंज्झो धम्मथस्स वि णमंति देवा वि । कस्मात् खुशन्दो यस्मादित्यर्थे वर्तते । धम्मथस्स  
चि णमंति देवा वि यस्माद्धर्मं गन्तव्ययात्मके स्थितस्य देवा अपि नमस्कार कुर्वन्ति । धर्मेण शुचिना योगादात्मपि शुचिरिति,  
धर्मेण चैव जादि खु साहू धर्मेण प्राप्तुवन्ति साधव । किं जल्लोसधादीया जल्लोपघ्यादिकमुद्धयतिशय ॥ अशुभत्त ॥  
यदेवमशुचिः काय किं तर्हि परं शुचि इत्यत्राह—

मूलरा— णवरि कैवल । णवरि हु इति पाठे धर्मं एव केवलं मेध्य इत्यर्थः । धम्मथस्स रत्नत्रये तिष्ठतः  
साधो । जल्लोसधादीया सर्वगीणमलौपघविषौपधप्रभृतिनाः ॥ अशुचित्वानुमेक्षा ॥

अर्थ—हम जगतमें धर्म ही पवित्रतम वस्तु है, जो रत्नत्रयात्मक धर्ममें स्थिर है, उसको देव भी बंदन  
करते हैं इसके सयोगसे आत्माभी पवित्र हुआ है साधु धर्मके प्रसादसेही जल्लोपधादि ऋद्धीको प्राप्त कर सकते  
हैं अशुचित्वानुमेक्षा समाप्त.



आस्रवातुमेक्षा निरूप्यते—

जन्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुक्खजलयराइण्णे ॥  
जीवस्स परिव्रमणम्मि कारणं आसवो होदि ॥ १८२१ ॥  
दुःखोदके भवाम्भोघौ कषायैद्वियवाचरैः ॥  
आस्रवः कारण ज्ञेयं भ्रमतो भव भागिनः ॥ १८२२ ॥

विजयोदया—जन्मसमुद्दे जन्मसमुद्दे । बहुदोसवीचिए विचित्रदोषतरंगे । दुक्खजलयराइण्णे दुःखजलचरैरा-  
कीर्णे । जीवस्स परिव्रमणम्मि जीवस्य परिव्रमणे यत् कारण तत् आसवो आस्रवो भवति । ननु च कर्मणि कारणानि  
नरास्रवः ॥ अत्रोच्यते ॥ कर्मणा परिव्रमणकारणाना कारणत्वादास्रव कारणमित्युक्तं ॥  
धर्म्यध्याने आस्रव चतुर्दशगाथाभिरनुचितयति—

मूलारा—संसारपरिव्रमणकारणकर्मणा कारणत्वात् ॥ आसवो मिय्यात्वादिः ॥

आस्रवातुमेक्षा का वर्णन—

अर्थ—यह जन्मसागर विचित्र दोषरूपी तरंगोंसे व्याप्त हुआ है, दुःखरूपी नक्रमकरादि जलचर प्राणि-  
ओंसे यह भरा हुआ है जीवके परिव्रमणमें जो कारण है उसको आस्रव कहते हैं कर्म जीवको संसारमें घुमाता  
है परन्तु यह आस्रव उनका भी कारण है अतः यही संसारमें घुमाता है ऐसा आचार्यने कहा है

संसारसागरे से कम्मजलमसंडुस्स आसवदि ॥  
आस्रवणीणावाए जह सलिलं उदधिमज्झम्मि ॥ १८२२ ॥  
कर्मास्रवति जीवस्य संसारे विपयादिभिः ॥  
सलिल विविधै रन्ध्रेः पोतस्येव पयोनिधौ ॥ १८२३ ॥

विजयोदया—संसारसागरे संसारसमुद्रे । से तस्य । असंडुस्स सवरहितस्य सम्यक्त्वसयमक्षमामार्दवाजं व-  
सतोपपरिणामरहितस्य । कम्मजलमासवदि ज्ञानावरणादिकर्मजलमास्त्वत्यागच्छति । आस्रवणीणावाए आस्रवणशीलायां  
नाधि यथा सलिल प्रविशति । उदधिमज्झे समुद्रमध्ये ॥

मूलारा—कम्मजलं कर्मशब्देनात्र कर्मपरिणामोन्मुलः पुद्गलरूपो गृह्यते । कर्म जलमित्युपमासमासः । असं-

बुद्धस्य सम्यक्त्वायात्मकसंस्वररहितस्य । आसवदि कर्मत्वपरिणतियोग्यतामागच्छति प्रविशति च । आसवणीणावाए आस्रवणशीलाया नावि ॥

अर्थ—जो जीव इस ससारसमुद्रमें संस्वरहित प्रवृत्ति करता है अर्थात् जो जीव सम्यक्त्व, संयम, उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सतोप इन परिणामोंसे रहित है उसमें कर्मरूपी जल प्रवेश करता है जैसे छिद्रसहित नौकामें पानीका प्रवेश होनेसे वह समुद्रमें डुबती है वैसे यह आत्माभी ससाररूपी समुद्रमें कर्मरूपी जल प्रवेश करनेसे डूबता है

धूली गेहुत्तुप्पिदगत्ते लग्गा मलो जघा होदि ॥

मिच्छत्तादिसिणेहोछिद्रस्स कम्मं तथा होदि ॥ १८२३ ॥

कर्मसंयधत्ता जाता रागद्वेषाक्तचेतसः ॥

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रजोराशिरिवानिशम् ॥ १८२४ ॥

विजयोदया—धूली गेहुत्तुप्पिदगत्ते लग्गा धूली स्नेहाभ्यक्तशरीरलगा । जहा मलो होदि यथा मल भवति ॥ मिच्छत्तादिसिणेहोछिद्रस्स मिथ्यात्वासयमकपायपरिणामस्नेहाभ्यक्तस्यात्मन प्रवेशेष्ववस्थित कर्मप्रायोग्यं द्रव्यं । तथा कम्म होदि तथा कर्म भवति । एतदुक्त भवति—आत्मपरिणामान्मिथ्यात्वादिकात् विक्षिप्तं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमतीति कर्मत्वपर्यायेहेतुरात्मनः परिणाम आस्रव इत्यर्थः ॥

मूलारा—गेहुत्तुप्पिदगत्ते तैलाद्यभ्यक्तशरीरे । मिच्छत्तादिसिणेहोछिद्रस्स मिथ्यात्वासंयमकपायस्नेहाभ्यक्तस्य जीवस्य । कम्मं प्रवेशेष्ववस्थितं कर्मप्रायोग्यं द्रव्यं मलो इत्यनुष्ठेर्मलो भवतीति सन्त्यधः । एतदुक्तं भवति—आत्मपरिणामान्मिथ्यात्वादिकाद्विक्षिप्तं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमते तेन विक्षिप्तस्य पुद्गलद्रव्यस्य कर्मत्वपर्यायेहेतुर्भिद्यत्वादिजीवपरिणाम आस्रव इत्यर्थः ।

अर्थ—जैसे जिसने अपने सर्वांगमें तेल लगाया है ऐसे मनुष्यके शरीरपर धूली आकर चिपक जाती है और वह मल बनती है वैसे मिथ्यात्व, असंयम, कपायात्मक परिणामरूपी तैलसे लिप्त हुए आत्मप्रदेशोंमें बँटा हुआ कर्मरूप परिणतिको प्राप्त होनेवाला पुद्गल द्रव्य कर्म बन जाता है. इस विवेचनका यह अभिप्राय है—मिथ्यात्वादि-

रूप आत्मपरिणामों का निमित्त पाकर विशिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मपर्यायको धारण करता है. इस लिये कर्मात्मकपर्यायको आत्मका मिथ्यात्वादिरूप परिणाम कारण है उसीको आत्मव भावासव कहते हैं.

ओगाढगाढनिचिदो पुगलदव्वेहि सव्वदो लोगो ॥

सुहमेहि वादरेहिं य दिसादिस्सेहिं य तहेव ॥ १८२४ ॥

अद्वयैश्चक्षुषा दृश्यैः स्थूलैः सूक्ष्मैश्च पुद्गलैः ॥

विचित्रैर्निचितो लोकः कुंभो घूमैरियाभितः ॥ १८९५ ॥

॥ विजयोदया—ओगाढगाढनिचिदो अनुपेयगाढ निचित । पुगलद्वेहि पुद्गलद्रव्ये, सव्वदो लोगो कात्स्न्येन लोकः । सुहमेहि वादरेहिं य सूक्ष्मे स्थूलेष्व । दिसादिस्सेहिं चक्षुषा दृश्यैरद्वयैश्च । तहेव तथैव । एतया गायया कर्मत्वपर्याययोग्याना पुद्गलद्रव्याणा सर्वलोकाकारो यद्गुणामस्तित्वमाप्न्यात ॥

कथं जीवप्रदेशेऽवस्थितत्वं कर्मयोग्यपुद्गलाना मभवतीत्याशंकायामाह—

मूलारा—ओगाढगाढनिचिदो अवगाहन्मवगाढ परस्परानुपेयः तेनागाढ निर्भरं निचिदो व्याप्तः । दिसा-दिस्सेहिं चक्षुषा दृश्यैरद्वयैश्च ।

अर्थ—इस जगत्के प्रदेशोंमें, पुद्गलद्रव्य अतिशय निविडरूपसे भरा हुआ है. अर्थात् लोकाकाशका एक भी प्रदेश इस पुद्गलद्रव्यसे रिक्त नहीं है इस लोकाकाशमें सूक्ष्म, स्थूल, नेत्रसे देखने योग्य व नहीं देखे जानेवाले ऐसे पुद्गल भरे हैं इस गायामे कर्मत्वपर्यायको प्राप्त होनेकी योग्यता रखनेवाले बहुतेरे पुद्गलद्रव्योंका आकाशमें अस्तित्व है ऐसा सूचित होता है

के ते आत्मवा इत्यत्राह—

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होति ॥

अरहंतवुत्तअत्येषु विमोहो होइ मिच्छत्तं ॥ १८२५ ॥

मिथ्यात्वाव्रतकोपादियोगानत्रासवान्विदुः ॥

मिथ्यात्वमर्हदुक्तानां पदार्थानामरोचनम् ॥ १८९६ ॥

विजयोदया—मिच्छत अविरमण कसायाजोगा य आसवा ह्येति मिथ्यातामसयम. कयाययोगाश्च आसया भवति । आसवदयागच्छति । कर्मत्वपर्याय पुद्गला पृथि कारणभूतैरिति मिथ्यात्वाद्य आसवशब्दवाच्या. ॥तेष्वामि स्रवेणु मिथ्यात्वस्वरूप कथयति । अर्हत्तुल्यतथ्येषु अर्हदुक्तेषु अनतद्रव्यपर्यायत्वमेकेषु विमोहो मिच्छतं होदि अश्रद्धान मिथ्यात्व भवति । असयममात्रेण ॥ के ते आसवा इत्यत्राह—

मूलारा—आसवा आसवत्यागच्छति कर्मत्वपर्यायं पुद्गला यैरित्यासवा मिथ्यात्वाद्यश्रद्धारः प्रमादानां कयाया- न्तर्भावात्पृथगनुपादानं । अतरेषु अनतद्रव्यपर्यायत्वमेकेषु भावेषु । विमोहो विपरीताभिनिवेशलक्षणमश्रद्धानम् ।

वे आसव कोनेसे हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कयाय और योग ये आसवके प्रकार हैं. जिनका निमित्त पाकर पुद्गलाको कर्मत्वपर्याय प्राप्त होता है ऐसे जो कारण उनको आसव कहते हैं. अर्थात् मिथ्यात्वादिकको आसव कहना यह अन्वर्थक है इन आसवोंमेंसे मिथ्यात्वनामक आसवका स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये—अर्हद्भगवानने अनत द्रव्यपर्यायात्मक जीवादिक पदार्थोंका जो स्वरूप कहा है उसमें विमोह अर्थात् अश्रद्धान करना वही मिथ्यात्व है.

अविरमणं हिंसादी पंच वि दोसा हवंति णायव्वा ॥

कोधादीया चत्तारि कसाया रागदोसमया ॥ १८२६ ॥

हिंसादयो मता दोषाः पंचाप्येवमत्रसंज्ञकाः ॥

कोपादयः कयायाः स्युः संगद्वेषद्वयात्मकाः ॥ १८९७ ॥

विजयोदया—अविरमण अविरमणं नाम । हिंसादि पंच वि दोसा हिंसानुत्तेयाव्रक्षपरिग्रहाख्या पञ्चापि दोषा । हवति णादव्वा अविरमण भवतीति ज्ञातव्या । प्रमत्तयोगात्म्याणव्यपरोपण, अमदमिधानं, अवज्ञादान, मैथुनकर्म विशेष, मूर्खो चेति पते परित्तामा अविरमणशब्देनोच्यते । अविरमण हि निवृत्तिस्ततोऽन्यत्वात् । प्रवृत्तिरूप हिंसाद्वयः अविरमण इत्युच्यते । कोधादीया क्रोधाभातमायालीया । चत्तारि चत्वार । कसाया कयाया इत्युच्यते । रागदोसमया दुःख प्रमात्मकाः ॥

मूलारा—रागदोसमया रागद्वेषात्मकाः ।

अर्थ—हिंसा, असत्य भाषण, चोरी करना, मैथुन सेवन, परिग्रह ऐसे पांच दोषोंको अविरति कहना

विषयाभिन्यासस्य रूपेण प्रकाशनेपात्रम्—

कौण्डे उहिल्ल जह चंद्रण णरो शरुगं च बहुमोद्ध ॥

णान्दि मणुस्मभवं पुरिमो तह विमयलोद्रेण ॥ १८३० ॥

उत्थित्यथानुगतं नूनं मानुष्यं प्राप्य योजयन्ते ।

भन्नाथे प्लोपने राठे बजमान्नामलो रुकुम् ॥ १०० ॥

[illegible]

अथ नरेण विद्यया पद्मस्य प्रियमादि—

मूलाग—द्वेष्टन भवमारुहं दहेत् । यत्तु तस्य दुःखमिति निवेष्टाणुमंदिनम् । पृथुसभने प्रहृतम् ।  
मिलनुष्टुप्तेन्तीन्द्रियतनुमुत्कारणमध्यमाचरणम् । सासुर दत्त ॥

अर्थ—कोई मनुष्य ग भादिकरुं लिये अतिशय प्रत्ययान् श्रुतुंवनको लक्ष्मी जला देता है. मैं यह मनुष्य भी अतिशय तुन्ड विषयोंमें लपट होकर अतीन्द्रिय अनत सुखको देनेवाले इस मनुष्य जन्मको नष्ट कर देता है. आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—ये विषय इन्द्रियाको आल्लाह उन्पन्न करे हैं और जनेरु रगोंमें युक्त है परन्तु जैसे विषयमिश्रित अन्न बहुत रगोंमें युक्त होन पर भी भक्षण करनेमें प्राण लेता है. मैं ये विषय आत्माका नाश करत हैं अर्थात् दुर्गतिमें घुमाते हैं जो मनुष्य विषयसुखमें आपक्त होता है वह उग विषयके लिये अनिष्ट कार्य करता है. जिसमें विषयसुखरहित लोगोंमें जन्म लेता है. उचित ही है कि पुण्यरहित मनुष्यको विषय सुखकी प्राप्ति होती नहीं

धुट्टिय रयणाणि जहा रयणद्दीवा हरेज्ज कट्ठाणि ॥  
माणुसभवे वि धुट्टिय धम्मं भोगे भिलसदि तथा ॥ १८११ ॥

नृत्वे योऽश्मसुखं मूढो धर्मं सुक्त्वा निपेवेते ॥

लोष्ठं गृह्णात्यसौ सुक्त्वा रत्नद्वीपेऽनघं मणिम् ॥ १९०२ ॥

विजयोदया—धुट्टिय रयणाणि जहा रत्नानि त्यक्त्वा यथा, रयणद्दीवा हरेज्ज मट्ठाणि रत्नद्वीपात्काष्ठान्याहरति । तद्वा माणुसभवे वि मनुष्यभेदिपि, धुट्टिय धम्म धर्मं विहाय । भोगे भिलसदि भोगान्नाछति । एतदुक्तं भवति—अनेकसार रत्नास्पद रत्नद्वीप सुदुर्लभं प्राप्य मुधा लब्धान्यपि रत्नान्यनुपादाय असारभिघनं सुखं सारबुद्ध्या यथा कश्चिदाहरति जड । तथानेकगुणरत्नाकरं मनुष्यभवं दुरच्चापमवाप्य अतर्पकं पराधीनं अल्पसुखमभिलपति ॥

अनेकगुणरत्नाकरं सुदुर्लभं मनुष्यभवंमासाद्य परायत्तमतर्पकं स्वल्पकालं विषयसुखमभिलपतं अनुशोचति—

मूलरा—रयणाणि मुधा लब्धान्यपि हीरकादीनि । रयणद्दीवा रत्नद्वीपात् । हरेज्ज सारदुर्लभबुद्ध्याऽनयेत् ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमें जाकर भी रत्नोंका त्याग कर काष्ठ लाता है वैसे मनुष्यमवमें भी कोई धर्मको छोड़कर भोगोंकी अभिलाषा करता है । अभिप्राय यह है कि, अनेक उत्कृष्ट रत्नोंका स्थान जो रत्नद्वीप जो कि बहुत दुर्लभ है वहां जाकर सहज प्राप्त हुए रत्नोंको ग्रहण न कर जो तुच्छ निःसार और अयत्नप्राप्य इंधनों को सारयुक्त समझकर उनका संग्रह करता है वह जैसा मूर्खशिरोमणि समझा जाता है वैसा अनेकगुणरत्नांकी मनुष्यभवं खान है ऐसा अलभ्य मनुष्यजन्म पाकर यदि वृत्ति उत्पन्न नहीं करनेवाला, पराधीन अल्पकाल तक टिकनेवाला ऐसा विषयसुख मनुष्य चाहता है तो यह चाहना रत्नद्वीप में जाकर लकड़ियोंका संग्रह करनेके समान है ।

गंतूण णंदणवणं अमयं छंडिय विस जहा पियइ ॥

माणुसभवे वि छड्डिय धम्मं भोगे भिलसदि तथा ॥ १८३२ ॥

यो नृत्वे सेवते भोगं हित्वा धर्ममकल्मषम् ॥

असौ विमुच्य पीयूषं विष गृह्णाति नंदने ॥ १९०३ ॥

विजयोदया—गंतूण णंदणवण गत्वा नंदनवन । अमयं छड्डिय अमृत त्यक्त्वा । विसं जहा पियइ विष यथा पिवति कश्चित् । माणुसभवे वि छड्डिय मनुष्यभवेपि त्यक्त्वा । धम्म धर्म । भोगेभिलसदि तद्वा भोगानभिलाषयति तथा ॥

मूलारा—अमयं देवाहारम् ॥

अर्थ—जैसे कोई मूल मनुष्य नन्दन वनमें जाकरभी वहां अमृतका त्याग कर विपणन करता है, वैसे कोई मनुष्य मनुष्यभवंमें भी धर्मको छोड़कर भोगोंकी अभिलाषा करता है.

योगशब्दार्थमाचष्टे—

पावपओगा मणवचिकाया कम्मासवं पकुव्वंति ॥

सुज्जंतो दुब्भत्ते वणम्मि जह आसवं कुणइ ॥ १८३३ ॥

योगः कर्मासवं दुष्टो मनोवाक्कायलक्षणः ॥

यथा भुक्तो दुराहारो विदधाति व्रणास्रवम् ॥ १९०४ ॥

चित्रयोदया—पावपओगा पापे प्रयुज्यते प्रवर्त्यते एमिरिति पापप्रयोगः । मणवचिकाया मनोवाक्काया कम्मासवं पकुव्वति कर्मत्वपर्यायागम पुद्गलानां भवेति । भुजंतो दुब्भत्त भुजमानो दुराहारं । वणम्मि जह आसव कुणदि, व्रणे यथा आस्रव क्षतिं पूनीना करोति ॥

योगान्वयाचष्टे—

मूलारा—पावपओगा पापं दुक्कत, कर्ममात्रं चा प्रयुज्यते प्रवर्त्यते चैरिति पापप्रयोगः । कर्मत्वपरिणमनशक्ति-युक्ता इत्यर्थः । कम्मासवं पुद्गलानां कर्मत्वपर्यायोपगमनं । भुजंतं भुजमान । दुब्भत्तं अपश्यान्नपानं । वणम्मि व्रणे । आसवं आक्षतिं पूयादीना ॥

योगशब्दका स्पष्टीकरण—

अर्थ—जिनसे पापोंकी प्रवृत्ति की जाती है ऐसे मनोयोग, वचनयोग और काययोग पुद्गलोंमें कर्मत्व पर्याय उत्पन्न करते हैं जैसे अपश्याहारका भक्षण करनेसे व्रणमेंसे दुग्ध रक्त, पीन उत्पन्न होता है वैसे इन पाप-योगोंसे कर्म उत्पन्न होता है

कर्माणि शुभाशुभरूपाणि द्विविधानि, तत्र कस्य कर्मण क आसव इत्यत्राह—  
अणुकंपासुद्धवओगो वि य पुणस्स आसवदुवारं ॥

त विवरीद आसवदारं पावस्स कम्मस्स ॥ १८३४ ॥

आप्तव्यं कुरुते योगो विशुद्धः पुण्यकर्मणाम् ॥

चिपरीतः परं सद्यः संवितः पापकर्मणाम् ॥ १९०५ ॥

विजयोदया—अनुकंपा अनुकंपा । सुखुवधो नो शुद्धय प्रयोग परिणाम , पुण्यस्स आसन्नदुवारं पुद्गलानां पुण्यत्वपर्यायामनसुख सदेव सम्यक्त्व रतिहास्यपुवेदा शुभे नामगोत्रे शुभ चायु पुण्य पतेभ्योऽन्यति पापानि । अनुकंपा विप्रकारा ॥ धर्मायुक्ता मिश्रायुक्ता सर्वायुक्ता चेति ॥ तत्र धर्मायुक्ता नाम परित्यक्तास्यभेषु मानावमान सुखदुःखलामालाभतुल्यसुखवर्णादिषु समानचित्तेषु दातृद्विधात करणेषु मातरमिव मुक्तिमाश्रितेषु परिहृतोत्तमकपाय विषयेषु द्विषेषु भोगेषु दोषान्वित्य विगतामुपगतेषु, ससारमहासमुद्राद्वयेन निशास्त्रपर्यनिर्देशु, अगीकृतनिसस-मत्तेषु, क्षमादिदशविधधर्मपरिणतेषु यानुकंपा सा धर्मायुक्ता, यथा प्रयुक्तो जनो विवेकी तत्रोग्रयानपानात्रसंयपणा-दिकं सयमसाधनं यतिभ्यः प्रयच्छति । स्वामिचिन्तितुल्य शक्ति उपसर्गदोषानपसारयति आज्ञायतामिति सेवां करोति अप्रमार्गणा पथानमुपदर्शयति । ते प्रसयोगमवाप्य अतो सपुण्या वयमिति हृष्यति, सभातु तेषां गुणान्कौतयेति स्मृते गुरुमिव पश्यति तेषां गुणानामभीक्ष्ण स्मरति, महात्मभिः, कदा नु मम समागम इति ॥ ते सयोग समीपवति, तदीयान् गुणान् परैरभिचर्यमानानि शस्यं वुच्यति । इत्यनुकंपायां सतोपयोग्यपरमनिरता' दिग्निरति, देशनिरति, अनर्थदण्ड विरति चोपगतास्तीव्रदोगाद् भोगोपभोगाद्विपृत्य शेषं च भोगे कृतप्रमाणा पापत्परिभीतिश्चिन्ता, विदिष्टदेशे काले च विवर्तितसर्गसाधन्या पर्यस्वारभयोगं सकल विस्तृत्य उपवास ये कुर्वन्ति तेषु संयतासयेनेषु क्रियमा णानुकंपा मिश्रायुक्तोच्यते ॥ जीवेषु दया च कृत्वा कृत्स्नामनुयमाना जिगसून्नाद्याया येऽन्य परा-डरतावनीता कष्टानि तपांसि कुर्वन्ति, तेषु क्रियमाणानुकंपा तया सर्वोप कर्मपुण्यं प्रचिनोति देश प्रवृत्तिर्दृष्टिगणकस्सन्त्वात् । मिथ्यावदोषोपहृतोन्यधर्म इत्येषु मिश्रो भवति धर्मो मिश्रायुक्तपामवगच्छेत्तु ॥ सदृष्टयो वापि कुदृष्टयो वा सभाभवतो मादृषसंप्रयुक्ता ॥ या कुर्वते सर्वशरीरवर्गं सर्वानुकेत्यभिधीयते सा ॥ द्विजान् विद्वान् वद्वान् प्रकृतविलुप्यमानाश्च मर्त्यान्, सद्देवसो निर्देवसो वा परिदृश्य मृगान्विहगान् सरीसृपान् पशून् च मासादिनिमित्तं प्रहृत्यमानान् परलोके परस्परं वा तान् हिंसतो भक्षयतश्च दृष्ट्वा सूक्ष्माकां कुंभुपिपीलिकां प्रभृति प्राणभूतो मनुजकरभरशरभकरितुरगाविभि समृद्यमानानाभीवीक्ष्य असाध्यरोगरदृशनात् परित्यजमानान् नृतोस्मि नष्टोस्म्यभिधावतेति रोगानुभूयमानान्, स्वपुत्रकलजादिभिरप्राप्तकालि (?) सहसा विन्युज्य कुर्वतो रजा विक्रोशत , स्वागानि छनतश्च, शोकेन उपाजितद्विषेविन्युज्यमानान् प्रनष्टवधून् धैर्यशिलाविद्याव्यवसायहीनान् यान् प्रदाप्रशक्त्या वराफान् निरीक्ष्य तु समात्मस्थमिव विचिंत्य स्वास्थ्यमुपशमनमनुकंपा ॥ सुदुर्लभं भातुपजनं लब्ध्वा मा क्लेशपात्राणिनु-थैव भूत ॥ धर्मं शुभे भूतादिते यतश्चमित्येवमाद्यैरपि चोपदेश । कृतकरिष्यमाणोपकारानपेक्षैरनुकंपा कृता भवति । पुण्याश्रवं सा त्रिविधायुक्ता भूतेषु पुत्रं जननी शुभेव, तेनानुकंपा प्रभवति द्विपुण्याद्योके मृता अम्युपपत्तिर्भूय १ शुद्धप्रयोगो निरूप्यते



स च द्विप्रकारः । यत्तिगुह्यिगोचरभेदेन यते' शुद्धोपयोग इत्यभ्युक्तः । जीवाश्च हन्यां न सुपा वदेयं । चौर्यं न कुर्यान्न भजेय-  
भोगान् ॥ धनं न सेवेयं न च क्षपासु सुजीय कृच्छ्रेऽपि शरीरत्वाये ॥१॥ रोपेण मानेन च मायया च ॥ लोभेन चाहं बहुदुःखकेन  
युजेय नारमपरिग्रहेऽथ, दीक्षां शुभामभ्युपगम्य भूय ॥२॥ यथा न भयाच्चलमौलिमालो ॥ भिक्षा चरन्कासुकवाणपाणि ,  
तथा न भाया यदि दीक्षित सन् । वहेय दोगानवहाय लज्जा ॥३॥ लिंगं गृहीत्वा मद्धताम्बीणा, अग च विश्वत्यस्किर्महीनं ।  
भंगं व्रतानामविधिव्य कण्ठे । सग कथ कामगुणेषु कुर्याम् ॥४॥ चर्यामनार्यचरितामधुर्यां धैर्येण हीनाः कृपणत्वमेव, कथं  
ब्रूयामुण्डशिरश्चिरेण लिंगीभवन्नगविकारयुक्तः ॥५॥ इत्येवमादि- शुभकर्मविता सिद्धार्हदाचार्यवहुश्रुतेषु, । चैत्येषुसंघे  
जिनशासने च भक्तिर्विरक्तिर्युगारागिता च ॥ विनीतता संयमो अप्रमत्तता, मुहुता, क्षमा, आर्जवं,  
संतोषः, संज्ञाशल्यैगारचविजय, उपसर्गपरीपहृजय', सम्यग्दर्शनं, तद्विज्ञानं, सरागसंयमं, दशविधं धर्मध्यानं  
जिनेन्द्रपूजा, पूजोपदेश, नि शक्तिवादिगुणाष्टक, प्रशस्तपरागसेमता तपोभावना, पंचसमितयः, तिस्रो गुप्तय  
इत्येवमाद्या' शुद्धप्रयोगा । गृहिणा शुद्धोपयोग उच्यते गृहीतव्रताना धारणपालनयोरिच्छा क्षणमपि व्रत  
भगोऽनिष्टः अभीष्टं यतिसंप्रयोग, अज्ञादिदानं श्रद्धादिविधिपुरस्सरं श्रमनोदनाय भोगान् मुक्त्वापि स्थगित  
शक्तिविगर्हण, सदा गृहप्रमोक्षप्रार्थना, धर्मश्रवणोपलभामनसोतिवृत्तिः । भक्त्या पंचगुस्तवनप्रणामेन तत्पू-  
जा, परेया च स्थिरीकरणमुपबृहणं, वात्सल्यं, जिनेन्द्रमकानामुपकारकरणं, जिनेन्द्रश्लाभिगमाः, जिनशासनप्रभावना  
इत्यादिक' । तद्विवरीदं अनुकपाशुद्धप्रयोगाभ्या विपरीतः परिणाम । आसवदारं आस्रवद्वारं, पापस्स कम्मस्स  
अशुभस्य कर्मण आस्रव । संवराशुभेक्षा कथ्यते । सवियते निरुध्यतेऽधिनवाः कर्मपर्याया' पुद्गलानां येन जीवपरिणमेन  
मिथ्यात्वादिपरिणामो वा निरुध्यते स संवरः । तत्रायं सूरिमिथ्यात्वादिपरिणामसंवरात् सम्यक्त्वादीनां संवरतामाचष्टे ॥

कः पुण्यस्यास्रवः कश्च पापस्यास्रव इत्यत्राह —

मूलारा — अनुकंपा कृपा । सा च त्रिधा । धर्मेभिश्चसर्वानुकंपाभेदात् । तत्र धर्मानुकंपा नाम यथा प्रयुक्तो विवेकि  
लोकः स्वशक्त्यनिगूढनेन सयमनिष्ठभ्यस्तद्योग्यान्नपानवसत्युपकरणौषादिकं संयमसावन प्रयच्छति । तेषामुपसर्गानपमा-  
रयति । आद्याप्यतामिति सेवा करोति । पथि विभ्रान्ताना पंथानमुपदिशति । तत्सम्प्रयोगमवाप्य सुपुण्योऽहमिति हृष्यति ।  
समासु तदुगान्कीर्तयति । कीर्त्यमानाननुमोदते, स्मरति चाभीक्ष्णं । तैर्महात्मभिः कदा नु मे समागमो भविष्यतीति तत्सम्प्र-  
योगाय सोत्कण्ठः स्पृहयति । एवमादिमहागुणराशिगतहर्षश्रुतार्हान्महापुण्यास्रवो भवति । यद्वत्सयतासंयतेषु जिनसूत्र-  
वाह्यकष्टतपश्चारिषु च यथायोग्यं क्रियमाणानुकंपा मिश्रानुकंपोच्यते । सा च मिश्रपुण्यास्रवः स्यात् । सद्दृष्टिभिः कुण्डलिभि-  
र्वा क्रियमाणा क्लिश्यमानसर्वप्राणिषु अनुकंपा सर्वानुकंपेत्युच्यते । यथा प्रयुक्तोऽप्यदुःख स्वात्मस्थमिव मन्यमानस्तत्त्वा-  
ख्याय प्रत्युपकारनिरपेक्षं प्रयतते । सद्दुपदेशं च ददाति । सापि पुण्यास्रवायैव स्यात् । सुद्धोपयोगो शुद्धश्च परिणामः ।

स च द्वेधा यतिगृहिगोचरभेदात् । तत्र यतिशुद्धप्रयोगो निर्मलव्रतशीलस्वाध्यायध्यानादिलक्षणः । गृहिशुद्धप्रयोगस्तु हिंसा-  
दिविरतिरूपाणुव्रतशीलदिलक्षण । पुण्यस्य सद्देशसम्यक्त्वरविहास्यपुंवेदशुभायुर्नामगोत्ररूपस्य कर्मणः । आसवदुर्वा-  
पुद्गलानां पुण्यत्वपर्यायागमनम् ॥ आसवानुप्रेक्षा ॥

कर्मके शुभकर्म और अशुभ कर्म ऐसे दो भेद हैं उनमें किस कर्मका कोनसा आसव है इसका विवेचन  
आचार्य करते हैं—

अर्थ—अनुकम्पा-दया, शुद्धोपयोग—आत्माके निर्मलपरिणाम ये पुण्यकर्मके आगमनद्वार हैं इन परिणा-  
मोंसे पुण्यकर्मका पर्याय पुद्गलमें उत्पन्न होता है सातायेदनीय, सम्यक्त्वप्रकृति, रति, हास्य, पुंवेद, शुभनाम-कर्म  
और उच्च गोत्र, शुभआयु इनको पुण्य कहते हैं इनसे जो भिक्ष कर्म है उसको वाप कहते हैं

अनुकम्पा-दया—इसके तीन भेद हैं धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा और सर्वानुकम्पा, धर्मानुकम्पाका स्वरूप  
इस प्रकार है—

जिन्होंने असंयमका त्याग किया है मान, अपमान, सुख दुःख, लाभालाभ, तृण सुवर्ण इत्यादिकोंमें  
जिनकी बुद्धि रागद्वेषरहित हो गयी है, इन्द्रिय और मन जिन्होंने अपने वश किये हैं, उग्रकषाय और विषयोंको  
जिन्होंने छोड़ दिया है, दिव्यभोगोंके दोष देखकर जो वैराग्ययुक्त हो गये हैं, संसारसमुद्रकी भीतिसे रातमें 'भी  
अल्पनिद्रा लेनेवाले, जिन्होंने संपूर्ण परिग्रहों को छोड़कर, निःसंगता धारण की है, जो क्षमादि दश प्रकारके  
धर्मोंमें इतने तत्पर रहते हैं कि मानो स्वयं क्षमादि दशधर्म स्वरूपही बनेहों ऐसे सयमी मुनिओंके ऊपर जो दया  
करना उसको धर्मानुकम्पा कहते हैं।

यह धर्मानुकम्पा अंतःकरणमें लज उत्पन्न होती है तब विवेकी गृहस्थ यतिओंको योग्य अवधानी,  
वसतिका, औपचादिक पदार्थ देता है. अपनी शक्तिको न छिपाकर वह मुनि के उपसर्गको दूर करता है. हे प्रभो'  
आप आज्ञा दीजिये ऐसी प्रार्थनाकर सेवा करता है यदि कोई मुनि मार्गभ्रष्ट होकर दिङ्मूढ हो गये हो तो  
उनकी मार्ग दिवाता है मुनिओंका संयोग प्राप्त होनेसे हम धन्य है ऐसा मनमें समझ कर आनंदित होता है  
समामें उनके गुणोंका कीर्तन करता है. मनमें मुनिओंको धर्मपिता, गुरु, समझता है उनके गुणोंका चिंतन मनमें  
हमेशा करता है. ऐसे महात्माओंका फिर कब संयोग होगा? ऐसा विचार करता है उनका सहवास हमेशाही

होनेकी इच्छा करता है उसरों के द्वारा उनके गुणोंका वर्णन सुनकर सतुष्ट होता है इस प्रकार धर्मानुकंपा करनेवाला जीव साधुके गुणोंको अनुमोदन देनेवाला और उनके गुणोंका अनुकरण करनेवाला होता है. आचार्य वधके तीन प्रकार कहते हैं. अच्छे कार्य स्वयं करना, कराना, और करनेवालों को अनुमति देना इससे महान् पुण्यास्त्व होता है क्योंकि महापुण्योंमें प्रेम धारण कर जो कृत कारित और अनुमोदन प्रवृत्ति होती है वह महापुण्यको उत्पन्न करती है

मिश्रानुकंपाका वर्णन—महान् पातकोंके मूलकारणरूप हिंसादिकोंसे विरक्त होकर अर्थात् अणुव्रती बनकर संतोष और वैराग्यमें तत्पर रहकर जो दिग्विरति, देशविरति, और अनर्थ दहत्याग इन गुणव्रतोंको धारण करते हैं, जिनके सेवनसे महादोष उत्पन्न होते हैं ऐसे भोगोपभोगोंका त्याग कर वाक्रीके भोगोपभोग के वस्तुओंका जिन्होंने ग्रमाण किया है, जिनका मन पापसे भययुक्त हुआ है अर्थात् पापसे डरकर त्रिशिष्ट देश और कालकी मर्यादा कर जिन्होंने सर्व पापोंका त्याग किया है अर्थात् जो सामायिक करते हैं, पर्वोंके दिनमें संपूर्ण आरंभका त्याग कर जो उपवास करते हैं ऐसे संयतासंयत अर्थात् गृहस्थोंपर जो दया की जाती है उसको मिश्रा-नुकंपा कहते हैं जो जीवोंपर दया करते हैं. परंतु दया का पूर्ण स्वरूप जो नहीं जानते हैं जो जिनध्वसे बाह्य है, जो अन्य पाखंड गुरूकी उपासना करते हैं, नम्र और कष्टदायक कायक्लेश करते हैं इनके ऊपर छुपा करना यह भी मिश्रानुकंपा है. क्योंकि गृहस्थोंकी एकदेशरूपतासे धर्मसे प्रवृत्ति है वे संपूर्ण चारित्ररूप धर्मका पालन नहीं कर सकते हैं. अन्य जनका धर्म मिथ्यात्वसे युक्त है. इसास्ते गृहस्थधर्म और अन्यधर्म दोनोंके ऊपर दया करनेसे मिश्रानुकंपा कहते हैं

सुदृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टिजन, कुट्टि मिथ्यादृष्टि जन ये दोनों भी स्वभावतः मार्दवसे युक्त होकर संपूर्ण प्राणियोंके ऊपर दया करते हैं इस दयाका नाम सर्वानुकंपा है.

जिनके अवयव दृढ़ गये हैं, जिनको जखम हुई है, जो बांधे गये हैं, जो स्पष्ट रूपसे छेद जा रहे हैं ऐसे मनुष्योंको देखकर, अपराधी अथवा निरपराधी मनुष्योंको देखकर मानो अपनेको ही दुःख हो रहा है ऐसा मानकर उनके ऊपर दया करना यह सर्वानुकंपा है.

हरिण, पक्षी, पेटसे दौड़नेवाले प्राणी, पशु इनको मांसादिकके लिये लोक मारते हैं ऐसा देखकर अथवा

आपसमें उपर्युक्त प्राणी लडते हैं और भक्षण करते हैं ऐसा देखकर जो दया उत्पन्न होती है उसको सर्वानुरूपा कहते हैं सक्ष्म कुंथु, चींटी, कौगरह प्राणी, मनुष्य, ऊट, गधा, शरभ, हाथी घोड़ा इत्यादिकोंके द्वारा मर्दित किये जा रहे हैं ऐसा देखकर दया करना चाहिये असाध्य रोगरूपा सर्पमें फाटे जानेमें जो दुःखी हुए हैं, में मर रहा हूं मेरा नाश हुआ, हे जनहो दोड़ो ऐसा जो दुःखम शब्द करते हैं उनके ऊपर दया करनी चाहिये पुत्र कलत्र—पत्नी वगैरहसे जिनका वियोग हुआ है जो रोग पीडासे शोक कर रहे हैं अपना मस्तक वगैरह अवयव जो वेदनासे पीटते हैं कसाया हुआ धन नष्ट होनेसे जिनको शोक हुआ है जिनके बांधव छोड़कर चले गये हैं, जो धैर्य, शिल्प, विद्या, व्यवसाय इत्यादिकोंसे रहित हैं उनको देखकर अपनेको इनका दुःख हो रहा है ऐसा मानकर उन प्राणिओंको स्वस्थ करना उनकी पीडाका उपशम करना यह सर्वानुरूपा है

यह मनुज जन्म अतिशय दुर्लभ है, सज्जनों ! इसकी प्राप्ति आपको हुई है इस वास्ते अकृत्य करके आप दुःखके पात्र मत बनो कल्याण कारक शुभ ऐसे मत्स्य धर्ममें दृढ़ रहनेका आप प्रयत्न करो इस प्रकारका उपदेश देना चाहिये, जो प्राणिओंपर दया करते हैं उनको इसने मेरे ऊपर उपकार किया है यह मेरे ऊपर उपकार करेगा ऐसी आशा करना योग्य नहीं है इस प्रकार प्राणिओंपर तीन प्रकारकी दया की जाती है इस दयामें जो पुण्य संचित होता है उससे स्वर्गमें जन्म होता है अथ शुद्ध प्रयोगका निरूपण करते हैं—यत्किा शुद्धप्रयोग और गृहस्थोंका शुद्ध प्रयोग ऐसे इसके दोन भेद है

यत्किा शुद्धप्रयोगका वर्णन इस प्रकार है—

‘ मैं जीवोंको नहीं मारूंगा, असत्य भाषण नहीं बोळूंगा, और चाये नहीं करूंगा, भोगोंका उपभोग मैं नहीं करूंगा, धनका सेवन नहीं करूंगा और शरीरको अतिशय कष्ट होनेपर भी रातमें भोजन नहीं करूंगा, क्रोध, मान, माया और लोभसे बहु दुःख देनेवाले आरभ परिश्रमोंका सेवन नहीं करूंगा, मुनिदीक्षा धारण कर ऐसा कर्म करना मेरे लिये अत्यंत अयोग्य है।

जैसे जिसने अपने किराटपर माला धारण की है, हाथमें धनुष्य और बाण धारण किये हैं ऐसा राजाके मन्त्र मनुष्य यदि भीख मांगेगा तो उसके लिये यह भीख मांगना विलकुल योग्य नहीं है, वैसे मैं भी दीक्षा लज्जाको छोड़कर आरभ परिश्रमादिक कार्य करूंगा तो क्या वह मेरेलिए योग्य होगा ? कदापि नहीं मैंने पूज्य

महर्षियोंका लिंग धारण किया है, भेने यदि व्रतोंके नाशकी पूर्वा नहीं की तो यह योग्य नहीं होगा यदि मेने आवश्यकतादि पद कर्म भी नहीं किये तो यह मेरे लिए योग्य नहीं होगा। दीक्षा धारण कर काम विहार में मैं अपनी आसक्ति कैसे करूँ ? धर्म छोड़कर चाहे जैसी प्रवृत्ति करना यह अनार्यपना का सूचक है धर्म छोड़कर हीन होकर प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है, यदि मेरे देहमें विकार रहेगा ही तो व्यर्थ मस्तक मूँडकर यति का आचरण करना व्यर्थ है इस प्रकार विचार कर आरंभ परिग्रहादिकोंमें वैराग्य बढ़ाना चाहिए

सिद्ध, अर्हत्, आचार्य, उपाध्याय, जिनप्रतिमा, संघ, जिनधर्म इनके ऊपर भक्ति करना, विषयेम विरक्त होना, इनके गुणोंपर प्रेम रखना, नम्रता, सयम, अप्रमाद स्वकृत्योंमें सावधान रहना, मोदित, क्षमा, आर्जव, सत्तो प ये गुण धारण करने चाहिये। आहारादिक चार सज्ञाओंको जीतना चाहिये, शूल्य और गारवोंका त्याग करना उपसर्ग और परीषहोंको जीतना, सम्पददर्शन, सम्यग्ज्ञान, सारागसयम, दस प्रकारका धर्मध्यान ये गुण धारण कर जिनन्द्रकी पूजाका उपदेश करना, निःशक्तिवादिक आठगुण, प्रशस्तरागसे तयोभावना अर्थात् मैं तपद्वारा कर्मोंका क्षय करूँगा ऐसी उत्कृष्ट अभिलाषा, पांच समिति, तीन गुप्ति इत्यादिक मुनिवर्गोंका शुद्ध प्रयोगका वर्णन है

गृहस्थोंके शुद्ध प्रयोगका वर्णन—

जो व्रत धारण किया है उसको धारण करना और पालन करनेकी इच्छा रहना, एक क्षणतक भी व्रतका नाश होना अनिष्ट है, अकल्याण कारक है ऐसा समझना, हमेशा यतिगोंके महवास को इच्छा रखना, श्रद्धादि-विधियों अनुसार आहारादिकदान देना, श्रमपरिहार करनेकी इच्छासे भोगोंको भोगकरभी इनका मैं त्याग करनेमें असमर्थ हूँ ऐसी अपनी निंदा करना, सदा घरका त्याग करनेकी इच्छा रखना, धर्मश्रवण करने पर मनमें अत्यानांदित होना, भक्तीसे पंच गुरुओंकी स्तुति करना. प्रणाम करना, पूजा करना, अन्य लोगों को भी जैनधर्म में स्थिर करना, उपगृहण करना, साधर्मिकोंपर प्रेम रखना, जिनद्रके भक्तोंपर उपकार करना जिनशास्त्रका सत्कार पूजा करना, जिनधर्म की प्रभावना करना इत्यादिक गृहस्थोंके शुद्ध प्रयोग है।

अनुकंपा और शुद्ध प्रयोगके विपरीत परिणाम होने में अशुभ कर्मके आश्रय आते हैं,

अब संवराजुप्रोक्षाका आचार्य वर्णन करते हैं—

पुद्गलों में होनेवाले कर्मपर्याय जिस जीवपरिणामसे रुक जाते हैं उस परिणामको संवर कहते हैं,

अथवा जिस जीवके परिणामसे मिथ्यात्वादिपरिणाम रुकजाते हैं उस सम्यक्त्वादि परिणामको आचार्य सवर कहते हैं मिथ्यात्वादि परिणामको रोकनेसे सम्यक्त्वादि परिणामको सवर कहते हैं

मिच्छत्तासवदारं संभृद्द समत्तदिदकवाडेण ॥

हिंसादिदुवाराणि वि दृढवदफलेहेहिं संभंति ॥ १८३५

कुदर्शनावृत्तकषाययोगैर्जीवो भवे मज्जति कर्मपूर्णः ॥

दुरापपारे विवरैरेनैकैः पोटः पयोधाविव वारिपूर्णः ॥ १९०६ ॥

इत्यासवानुपेक्षा ।

मिथ्यात्वमासवद्वार पिधत्ते तत्त्वरोचनम् ॥

संयमांसंयमं सवो गृहीत्वारमिवारे ॥ १९०७ ॥

विजयोदया—मिच्छत्तासवदार तत्त्वाध्वानमासवदार । संभति कथते, सम्मत्तदिदकवाडेण तत्त्वध्वान कवाटेन । हिंसादिदुवाराणि वि हिंसादिद्वाराण्यपि, दृढवदफलेहेहिं संभति दृढवतपरिधे, स्थगयति ॥

धर्म व्यापयितुं गाथादशकेन संवरमनुपेक्षते—तत्र संव्रियन्ते निरुध्यन्ते प्रत्यभाः कर्मपर्यायाः पुद्गलाना येन जीवपरिणामेन मिथ्यात्वादिर्वा येन निरुध्यते सं संवर इति मिथ्यात्वादिपरिणामसंचरणत्वाधान्येन सम्यक्त्वादीनां संव-

रवा निरूपयन्निधेयता भावयति—

मूलार—संभंति रुन्धन्वि के मुमुक्षवः । फलिहेहि अर्गलाभिः ॥

इसका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं. सम्यग्दर्शनरूप मज्जतु किवाडकेद्वारा पुरुष मिथ्यात्वरूपी दसराजा जोकि पापकर्म आनेका कारण है बंदकर देते हैं. दृढ अहिंसादि व्रतरूपी अर्गलाओसे पुरुष हिंसादि दसराजों को बंद कर देते हैं.

उवसमदयादमाउहकरेण रक्खा कसायचोरोहिं ॥

सक्का काउं आउहकरेण रक्खाव चोरणं ॥ १८३६ ॥

कपायतस्करा रौद्रा दयादमशमायुधैः ॥

शक्यंते रक्षितुं दिव्यैरायुधैरिव तस्कराः ॥ १९०८ ॥

विजयोदया—उवसमदयादमाउहकरेण उपशम. कपायवेदनीयस्य कर्मणस्तिरोभवनं, दया सर्वप्राणिविषया, दमं कपायदोषभावनया चित्तनिग्रहं । एते त्रय आयुधा' करे यस्य तेन । कसायचोरेहिं कपायचोरेभ्यः । रक्त्वा सका कातुं रक्षा शक्या कर्तुं, आयुधकरेण रक्त्वाव चोरेहिं आयुधहस्तेन चोरेभ्यो रक्षेव, कपायदोषपरिक्षाणेनासकृत् प्रवृत्तेन क्रोधादिनिमित्तवस्तुपरिहारेण तत्प्रतिपक्षक्षमादिवरिणामेन च कपायनिवारणं ॥ उक्तं च ॥ जेत्येवा क्रोधमुपाश्रित. क्षमा, जेत्येव मानं समुपेत्य मार्देव । तथैव मायामपि चार्जवाज्जयेत्, जेत्येव संतोषवशेन लुब्धता । जिता' कपाया यदि किञ्च तैर्जित कपायमूल सकलं हि चघनमिति ॥

मूलारा—उवसम-कपायवेदनीयकर्मण उदयनिमित्तवर्जनेन क्षमादिभावनया वा तिरोभावादात्मनः प्रसत्तिः ॥ दमकपायदोषभावनया चित्तनिग्रहः ॥

अर्थ—कपाय वेदनीय कर्मका उदय न होना उसको उपशम कहते हैं सर्व प्राणिओंके ऊपर उनका दुःख देखकर अपना अंतःकरण आर्द्र होना दयाका लक्षण है कपायोंके दोषोंका विचारकर चित्तको स्वाधीन रखना निग्रह कहते हैं उपशम, दया और निग्रह ये तीनशस्त्र जिसने अपने हाथमें लिये हैं वह पुरुष कपायरूपी चोरोसे सशस्त्र मनुष्य जैसा चोरोसे अपना रक्षण करता है रक्षण करता है-सबकी इच्छा रखनेवालोंने बारंवार कपायोंके दोषोंका परिज्ञान कर लेना चाहिये जिन वस्तुओंका आश्रय करनेसे क्रोधादि कपाय उत्पन्न होंगे उनका त्याग करना चाहिये और क्रोधादिकोंके प्रतिपक्षीरूप क्षमा, विनय, सरलपना, निर्लोभता वगैरह परिणाम आत्मामें उत्पन्न करने चाहिये इससे कपायोंका अवश्य निवारण होगा. इस विषयमें ऐसा कहा है—क्षमाका आश्रय लेकर क्रोधको जीतना चाहिये. मार्देवके आश्रयसे मानकपायका परामव करना चाहिये. आर्जव गुणसे मायाको और संतोष धारण कर लुब्धताका परिहार करना चाहिये. यदि जिसने कपाय जति हैं उसने सर्व जीत लिया ऐसा समझना चाहिये. क्योंकि संपूर्ण कर्मबंधनकेलिये कपायही कारण हैं.

मिथ्यात्वसंवरं कपायत्सवरं निरूप्य शब्द्वियसवरं व्याचष्टे—

इदियदुदंतस्मा निग्धिपंपति दमणाखलिणेहिं ॥

उपहगामी निग्धिपंपति हु खलिणेहिं जह तुरया ॥ १८३७ ॥

इन्द्रियाश्वा नियम्यते वैराग्यखलिनैर्हैः ॥

उत्पथप्रस्थिता दुष्टास्तुरगाः खलिनैरिव ॥ १९०९ ॥

विजयोदया—इन्द्रियदुःखतस्सा इन्द्रियदुर्द्वैताश्वा निगिघर्षन्ति निगृह्यते, केन दमणणखलिणोहिं दमप्रधानानि दमनानि, तान्येव खलिनानि है । शब्दादिषु वर्तमानानि इन्द्रियज्ञानानि रागद्वेषमूलानि तानीहैन्द्रियशब्दे-  
नोच्यते तेषा चासवाना निरोधस्तत्त्वज्ञानभावना भवति । द्वयो रूपयोर्धुगपदेकस्मिन्नात्मन्यप्रवृत्तेः । उत्पथगामी  
उन्मार्गयाथिन । जह तुरगा निगिघर्षन्ति यथाश्वा निगृह्यते । खलिणोहिं खरैः खलिनैः ॥

एवं मिथ्यात्वासंयमकपायसंवरान्तिरूप्य करणसंवरं व्याकरोति—

मूलारा—इंद्रिय इष्टानिष्टरूपादिषु प्रवर्तमानानि चक्षुरादिज्ञानानि । निगिघर्षन्ति निगृह्यते । दमणणखलिणोहिं दम  
प्रधानानि ज्ञानानि तत्त्वाव रोधाः तानि खलीनानि इव दुष्टवाजिनानि रागद्वेषेन्द्रियज्ञानाना निरोधन्तिमित्यात् । इन्द्रि-  
यज्ञानं हि इष्टानिष्टे वा स्वविषये रागं द्वेषं वा जनयत्तदुपेक्षावता ज्ञानेन प्रतिवच्यते । द्वयोरुपयोगयोर्युगपदेकस्मिन्नात्मन्य-  
प्रवृत्तेः ॥

मिथ्यात्वसंवर और कपाय संवरका निरूपण किया अथ इन्द्रिय संवरका वर्णन करते हैं—

अर्थ—इंद्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंको दमणणकी मुख्यतासे युक्त ऐसे ज्ञानरूपी लगामोंसे जो पुरुष वश करते हैं  
शब्द, स्पर्श, रस वगैरह विषयोंमें प्रवृत्ति करनेवाले इंद्रियज्ञानोंको रागद्वेषही कारण हैं, अर्थात् रागद्वेषसे इन्द्रियज्ञानकी  
प्रवृत्ति स्पर्शादि विषयोंमें होती है इस गाथामें इंद्रियज्ञानको ही 'इंद्रिय' कहा है, इंद्रियज्ञानसे उत्पन्न हुए आसवोंका  
प्रिरोध तत्त्वज्ञानकी भावनासे होता है, स्पर्शादिविषयोंमें प्रवृत्ति और तत्त्वज्ञान ये दोन उपयोग एकसमय आत्मासे  
नहीं होते हैं एक समयमें दोन उपयोग उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसा आगममें कहा है उन्मार्गपर जानेवाले दुष्ट घोड़ों  
का जैसे लगाम के द्वारा निग्रह करते हैं वैसे तत्त्वज्ञानकी भावनासे इंद्रियरूपी अश्वोंका निग्रह हो सकता है

अणिदुद्धमणसां इंदियसप्पाणि णिगेणिहुंदु ण तीरंति ॥

विज्जामंतोसधहीणेणव आसीविसा सप्पा ॥ १८३८ ॥

नाक्षसर्पा निगृह्यन्ते भीषणाश्चलमानसैः ॥

दंशका इव ग्राह्या विद्यासंवादवर्जितैः ॥ १९१० ॥



विजयोदया—अणिहुदमणसा शानेन अनिभृतचेतसा । इदियसप्पाइ इंद्रियसर्पा । णिमिण्हेदु निग्रहीतुं । ण तीरंति न शक्यंते । विज्जामंतोसघद्दीहीणेणव विद्यया मग्गेण औपघेन वा हीनेन आसीविसा सप्पा आशीविपा. सर्पा यथा न गृह्यते ॥

इंद्रियसंवरस्य मनःसंवरसाध्यता दर्शयति—

मूलारा—अणिहुदमणसा अणिहुद असंवृत ॥

अर्थ—एकाग्रमनके अभावमें ज्ञानके द्वारा इंद्रियसर्पको वश करना अशक्य कार्य है विद्या, औपघि और मंत्रसे रहित मनुष्य जैसे 'आशीविषोको' अर्थात् सर्पको वश करनेमें असमर्थ होते हैं वैसे इन्द्रियसर्प भी मनकी एकाग्रता नष्ट होनेसे ज्ञानके द्वारा वश नहीं किया जासकते हैं

प्रमादसंवरं कथयत्युत्तरगाथा—

पावपयोगासवद्वारणिरोघो अपममादफल्लिगे ॥

कीरंइ फल्लिगेण जहा णावाए जलासवणिरोघो ॥ १८३९ ॥

अप्रमादकपाटेन जीवे योगनिरोधनम् ॥

क्रियते फलकेनेव पोते जलनिरोधनम् ॥ १९११ ॥

विजयोदया—पावपयोगासवणिरोघो अशुभपरिणामासवद्वारनिरोधः विकथादयः पंचदशप्रमादपरिणामा । पावपयोगा इत्युच्यते । तेषा निरोध. अपममादफल्लेगेण अप्रमादफल्लेगेन । केत फल्लेगेन क. प्रमादो रुध्यत इत्याह । सत्यासत्यमुपाभापा विकथा निरुणद्धि, स्वाध्यायो ध्यानं एकाग्रतेति चेति एते प्रमादविकथाप्रतिपक्षभूता । क्षमामादे-वार्जवसंतोवा, कथायप्रमादस्य प्रत्यनीका । ज्ञानमावना, रोगद्वेषेन्द्रियविषयाविक्रवेशावस्थानं ज्ञानेन मन.प्रणिधानं, इंद्रियविषयरगद्वेषदोषाणामनुस्मरणं, विषयोपलब्धधावनादरस्वैति एते इंद्रियप्रमादप्रतिपक्षा । तथा चोक्तं । वरागनांगानि च रोगचोदितौ यदृच्छया वा न निरीक्ष्य रज्यति । तथैव रूपाण्यशुभानि वीक्षितुं, न नेच्छति द्वेषवशप्रचोदितं ॥ १ ॥ 'निरीक्ष्य न' द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता पुरुष. स्वचक्षुष । सुगीतवादिबभवाग्नमनोहरान् स्वराग्नमनो-ज्ञान्यवतीरितानपि ॥ २ ॥ न शाळति श्रोतुमिहावरेण यो यदृच्छया वा न निशम्य रज्यति । स्वरगतैकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥ ३ ॥ निशम्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स जेता श्रवणैन्द्रियस्य च । तुरुष्कालागुरुकुष्ठ-कुष्ठमान् तमालपत्रोत्पलचंपकादिकान् ॥४॥ शुभं न जिघासति गधमादरात् यदृच्छयाघ्राय न चापि रज्यति, तथैव गंधान-शुभानपीह यो न नेच्छति घ्रातुमसूततद्विपात् ॥ ५ ॥ निषेध्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि च भवेत्स नासेन्द्रियजिघासेत्तम', न यो

महामुष्टिशिष्टभोजनप्रियापलेहपि मनोहरान् रसान् ॥ ६ ॥ निवेदितुं रागवशेन कांक्षति यहच्छया वा न निवेद्य  
रस्यति रसान्तेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥ ७ ॥ निवेद्य न द्वेष्टि यहच्छयपि च भवेत्स जेता रसनेन्द्रि-  
यस्य च । मनोव्रथाभ्यासनकातयोपिता, शुभाश्रयः स्पर्शविधीन मनोहरान् ॥ ८ ॥ न सेवितुं रागवशेन वाञ्छति  
यहच्छया वा न निवेद्य रस्यति । प्रमदनाच्छादनमार्जनानि वा विलेपनाभ्यञ्जनमार्जनानि च ॥ ९ ॥ शरीरसौख्याय न यद्वच  
सेवते विबुधैरौग्ययुतो - महायतिः । हिमोष्णभूतैर्लेशिलार्तुणाविजानशौभनान् स्पर्शविधीन् सर्वदा ॥ १० ॥  
न नेच्छति द्वेष्टि न चोत्थुपागतान् त्वैर्गिद्विष्येत्प भजेद्विजिण्णुतां, रणे रिपूणांमिह निर्भयो जयेत् यथेन्द्रियाणां जयमाश्नुतो  
यतिरिति ॥ ११ ॥ निद्रायाः प्रतिपक्षभूतोऽप्रमादः, अनशनमवमोदयं, रसपरित्याग, संसारद्वेष्टेति निर्द्रादोषविता रत्न-  
त्रयेऽनुराग स्वदुश्चरिताना स्मरणेन शोक इत्येवमादिकः । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षभावोच्यते, ध्रुवताया अनवस्थितत्व-  
भावना, तदयनिकारभरप्रियद्वप्रवृत्तिचिन्ता, धर्मविमृता, दोषानुपेक्षणमित्यादिकं । पूर्वभूतेनाप्रमोदफलकैर्न प्रवर्तता  
निरुच्यते । कीरवि फलेगेण जहा क्रियते फलकेन यथा । गणाय जलासवर्णिरोधो नावः जलासवनिरोधः ॥

प्रमादादस्रव सविस्तरं ब्रवीति—

मूलारः—पावपयोगा विक्थादयः पंचदशप्रमादपरिणामाः । अप्रमोदफलेगेण अंशमोदो विकथाधिप्रभादप्रतिपक्ष-  
भावना । 'सफलकर्मिणं प्रमादसंपाद्यकर्मणां प्रतिभर्तृप्रहरणोमिदं प्रतिबंधकत्वात्' । तत्र विकथाप्रतिपक्षाः सत्यासत्यद्वयाभा-  
वात्स्वाध्यायो ध्यानं च । कषायप्रत्येकीकाः क्षमादयस्तदुद्वेगकारणविमुक्तिदेशावस्थानं । तदोपापेयावद्यभावना च । इन्द्रियप्र-  
तिबंधिनस्तत्त्वज्ञानभावना रागेष्टेयनिमित्तेन्द्रियविषयविविक्तवैशावरधान्तैर्द्विपेयप्रसवरागेष्टेयस्मरणं विषयोपलब्धौ तेष्वाभा-  
दरक्षा । निर्द्राविरोधिनीऽनशनमवमोदयं रसपरित्यागः । संसारदुःखीति, सम्यक्स्वाध्यायाद्यने प्रीतिः । स्वदुष्टस्मरणस्मरणा-  
नुशोचनं, निर्द्रादोषानुचितनं च । स्नेहविपक्षा ध्रुत्वस्थानवस्थितत्वभावनां तदर्थनिकारपरिग्रहप्रवृत्तिदोषचिन्ता धर्मेप्रति-  
बंधकत्वदोषानुपेक्षणं च ॥

प्रमादका संवर किस प्रकारसे होता है इसका वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—विकथादिक पंधरा प्रमाद हैं इनके द्वारा जो आत्मामें अनुभ परिणाम होते हैं उनको पापप्रयोग  
कहते हैं । जैसे शत्रुके शस्त्रप्रहारको फलकेंस [ ढालसे ] वीर पुरुष रोकते हैं वैसे कर्मोंका संवर चाहनेवाले पुरुष  
स्वाध्याय, ध्यान इत्यादिकें ढालें हाथमें लेकर विकथादि प्रतिपक्षिओंके आघातका निवारण करते हैं । स्वाध्याय  
और ध्यानमें एकाग्रतारूपी अप्रमादसे स्वाध्यानीसे विकथादि प्रमादका निरोध होनेसे प्रमादजनित कर्मोंका आलव  
आत्मामें आता नहीं । सन्यभाषा, असत्यमया भाषा, स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकथा प्रमादके प्रतिपक्षी हैं

क्षमा, मार्दन, आर्जव, और संतोष ये कषाय नामक प्रमाद के शत्रु हैं ज्ञानका हमेशा अभ्यास करना, रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले इंद्रियोंके विषयोंसे अलग होकर एकान्त प्रदेशमें रहना, ज्ञानसे मनकी स्वस्वरूपमें एकाग्र करना, इन्द्रिय विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषोंका स्मरण न करना, विषयप्राप्ति होनेपर उनमें आदर न करना, ये सब कारण इन्द्रियप्रमादके शत्रु हैं इन विषयोंका वर्णन इस प्रकार हैं- १ रागभावसे युक्त होकर प्रमादरहितमुनि सुंदर स्त्रीके अंग नहीं देखते हैं। अथवा यदृच्छासे देखकर उनपर अनुरक्त नहीं होते हैं द्वेषके वश होकर वे अशुभरूप देखना चाहते नहीं है ऐसा नहीं। अर्थात् अशुभरूप देखनेपर उनके मनमें द्वेषभावना और सुंदररूप देखनेपर राग भावना उत्पन्न नहीं होती है यदृच्छासे अशुभरूप देखकर भी वे द्वेष नहीं करते हैं ऐसे मुनिओंने नेत्रेन्द्रियोंको जीत लिया है ऐसा समझना। उत्तम गायन और वाद्यके मनोहर स्वर और उत्तम सुवर्तिओंके-स्त्रियोंके कंठसे निकले हुये मधुर भाषण जो आदरसे सुननेकी इच्छा नहीं रखते हैं और यदृच्छासे सुन पढ़नेपर उनमें आसक्त नहीं होते हैं तथा अनेक अमनोहर-कंकश शब्द सुननेपरभी जिनकी क्रोध आता नहीं है वे मुनि कणोंको जीतेनवाले समझने चाहिये। ३ कालागुरु, कुष्ठ; केशर, तमालपत्र, कमल, चंपक वगैरहके मनोहर सुवासकी जो आदरसे चाहते नहीं हैं यदृच्छासे ऐसे पदार्थोंका सुवास प्राप्त होनेपर जो उसमें आसक्त होते नहीं

तथा अशुभ गंधका मंत्रवन्ध होनेपर जो उससे द्वेष नहीं रखते हैं अथवा शुभगंधका सेवन करनेपर भी जो उसमें आसक्त नहीं होते हैं, वे मुनिराज धारणेंद्रियोंको जीतेनवाले समझने चाहिये जो अतिशय सुंदर और विशिष्ट मधुर मोजनोंके रसमें लोलुप नहीं होते हैं अथवा यदृच्छासे सेवन करके उसमें आसक्त नहीं होते हैं। अमनोहर रसोंकी सेवा करनेसे मनमें द्वेष भी उनको नहीं उत्पन्न होता है यदृच्छासे अमनोहर रस सेवन करनेका प्रसंग आपइनेपर जिनको द्वेष उत्पन्न नहीं होता है वे रसेनेन्द्रियजता माने जाते हैं।

सुन्दर शय्या, सुंदर स्त्रिया, और शुभ स्पर्श ये मन हरण करते हैं। परंतु मुनि रागवश होकर उनका सेवन करनेकी इच्छा नहीं रखते हैं यदृच्छासे सुन्दरस्पर्शोंका सेवन करनेसे अनुरक्त नहीं होते हैं मुनि मर्दन करना, वस्त्रोंसे अंगको ढकना, अंगकी स्पर्श करना, विलेपन लगाना, आंखोंमें अंजन लगाना, ये कार्य नहीं करते हैं इन कृत्योंसे शरीरको सुख होता है परंतु वैराग्य युक्त मुनीश्वर इनसे विरक्त रहते हैं। शीतस्पर्श, उष्णस्पर्शसे युक्त ऐसी भूमि, पर्वत, शीला और तृण इत्यादिकोंके अमनोहर स्पर्शोंके विषयमें वे द्वेष नहीं करते हैं, जो, मुनि अच्छे

स्पर्शयुक्त पदार्थ की इच्छा नहीं करते हैं और अशुभ स्पर्शके पदार्थ प्राप्त होनेपर द्वेष भी नहीं करते हैं वे स्पर्शने-द्रियजयी माने जाते हैं जैसे निर्भय वीर पुरुष युद्धमें शत्रुको जीतता है वैसे महापुनि निर्भय और वैराग्ययुक्त इंद्रियों को जीतते हैं

निद्राके प्रतिपक्षभूत अप्रमाद ये हैं—अनशन, अवमोदय, सोंका त्याग करना, ससारसे मयथुक्त रहना

निद्राके दोषोंका विचार करना, रत्नत्रयमें ग्रीति रखना, अपने दुष्कृत्योंका स्मरण कर शोक करना

स्नेह के प्रतिपक्षी—बंधुगण अस्थिर हैं, उनके लिये अनेक आरंभ परिग्रह करनेकी चिंता होती है जिससे नरकादि कुगतिकी प्राप्ति होती है धर्ममें बंधुगण विघ्न उपस्थित करते हैं इत्यादिक दोगोंका विचार करनेसे स्नेह प्रमादका नाश होता है

इस प्रकार अप्रमादरूपी बाल हाथों लेकर यदि प्रमादरूपी शत्रुसे लड़ते हैं, जैसे नाँकाका छिद्र पंढ करनेसे जल नहीं आता है वैसे अप्रमाद प्रवृत्तिसे प्रमाद जनित आगमन बंद होता है।

गुत्तिपरिखाडग्रत्तं संजमणयरं ण कम्मरिउहेणा ॥

बंधेइ सत्तसेणा पुरं व परिखादिहिं मृगुचं ॥ १८४० ॥

कर्मभिः शक्यते भूतं न चारिन्नं कदाचन ॥

सम्यग्गुप्तिपरिक्षिप्तं विपक्षरिव पत्तनम् ॥ १९१२

प्रियजयोदया—गुत्तिपरिखाद्युत्तं गुत्तिपरिखाभिर्गुप्तं, संगमनगर कर्मरिपुसेना न मंश्चुं शक्नोति । परिखादि-  
(भर्ग्यं) वात्रनेनेयेति । गुप्ते संघरताख्याता ॥

**शुद्धिः न गंयत्तामाख्याति—**

१/२५/११ २००१११ २००१११ २००१११

गणेशाय नमः ।

लवने सति । सवरा ।  
 गङ्गा, यमुना, गोमती, सरयू, तट्टा, योराहोमे रक्षित नगरका अशुमेना नाश नहीं कर सकती वैसे गुरुरूपी

लवने सति । सवराः ।

समिद्धिद्विहणावमारुहिय अप्रमत्तो भवोदधिं तरदि ॥  
छज्जीवणिकायवधादिप्रावमगरेहिं अञ्छितो ॥ १८४१ ॥

गुणबंधनमारुह्य संयतः समितिप्लवं ॥

हिंसादिमकराग्रस्तो जन्मांभोधिं विलंघयेत् ॥ १९१३ ॥

चिजयोदया—समिद्धिद्विहणावमारुहिय समितिलंघिता दृढनावमारुह्य । अग्रमत्तो अप्रमत्तो भवोदधिं तरति ।  
पद्मजीवनिकायवधादिप्रावमगरेरस्पृष्टः ॥ पतेन समिते संवरताप्याता ॥

समितीना संवरत्वंमाह—

मूलारा—अञ्छिक्को अस्पृष्टः ॥

अर्थ—जो समितिरूपी दृढ नावमें आरोहण करता है वह अप्रमत्तमुनि पद्मस्यार्जविका वध, असत्य भाषण इत्यादि पापरूप मगरोसे पीडित नहीं होता है. और वह सुरसे संसारसमुद्रसे उच्चीर्ण होता है. समितोति संवर होता है यह इस सूत्रसे सिद्ध हुआ

दारेव दारवालो हिदये सुषणिहिदा सदी जरस ॥

दोसा धंसंति ण तं पुरं सुगुत्तं जहा सत्तु ॥ १८४२ ॥

द्वारपाल इव द्वारे यस्यास्ति हृदये स्मृतिः ॥

दूषयंति न तं दोषा गुप्तं पुरमिवारयः ॥ १९१४ ॥

चिजयोदया—दारेव दारवालो द्वारे द्वारपाल इव । हृदये सत्यप्रणिहिता वस्तुतत्वात्ता स्मृतिर्यस्य त दोषा ना भिभवंति पुरं सुगुप्तं शत्रव इव ॥

वस्तुतत्त्वस्मृते. संवरता वक्ति—

मूलारा—सदी वस्तुतत्त्वचितनम् ॥ धंसंति ण नातिभवन्ति ।

अर्थ—जैसे सुरक्षित नगरका शत्रु विनाश नहीं कर सकते हैं वैसे जिसके हृदयमें दस्यजोपर द्वारपालके समान वस्तुतत्त्वोंकी एकाग्रस्मृति स्थिर रहती है दोष उसका पराभव नहीं करसकते हैं.

जो खु सविविपहूणो सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ ॥  
 अंधलगोव चरंतो अरीणमविदिज्जओ चेव ॥ १८४३ ॥  
 न यस्यास्ति स्मृतिश्चित्ते स दोषैर्यस्यते स्फुटम् ॥  
 असहायोऽखिले क्षिप्रं विचक्षुरिव वैरिभिः ॥ १९१५ ॥

विजयोदया—जो खु सविविपहूणो य स्मृतिहीन । सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ असो दोषरिपुभिर्गोहो भवति । अरीणा मध्ये असहायोऽन्ध शत्रुग्राहो यथा ॥  
 स्मृतिहीनस्यापयमाह—

मूलारा—गेज्झओ ग्राहो । अविदिज्जओ असहायः ।

अर्थ—जिसकी स्मृति वस्तुतत्त्वोंमें एकाग्र स्थिर नहीं है ऐसा यदि दोषोंके आधीन होता है अंध मनुष्य जैसे शत्रुग्राह होता है वैसे तत्त्वज्ञानकी स्मृति जिसको नहीं है वह यदि दोषोंसे पराभूत होता है.

अमुयंतो सम्मत्तं परीसहसमोगरे उदीरंतो ॥

णेव सदी मोत्तव्वा एत्थं दु अराधणा भणिया ॥ १८४४ ॥

ज्ञानदर्शनचरित्रसंपदं पूर्णतां नयति स त्रती स्फुटम् ॥

यो विमुचति परीपहारिभिर्वाधितोऽपि न कदाचन स्मृतिम् ॥ १९१६ ॥

इति संवरानुप्रेक्षा.

विजयोदया—अमुयतो अमुचता । सम्मत्त रत्नत्रय परीसहसमोगरे, परीपहप्रकरे अभिव्यत्यपि नैव स्मृतिमो-  
 क्तव्या अत्राराधना कथिता ॥ स्मरः ॥

तीप्रदुःखकारणपरीपहव्यूहाभिभवेऽपि रत्नत्रयमत्यजता तत्त्वस्मृतिरनुसर्तव्येत्यनुशास्ति—  
 मूलारा—समत्त समस्त रत्नत्रयं समत्वं वा साम्यं ॥ एतय विनिगतोपनिपातेऽपि रत्नत्रये चेष्टते तेन स्मृत्यव-

लवते सति । संवरानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—परीषद्देके समूहके द्वारा पीडा होनेपर भी रत्नत्रयको धारण करनेवाले यतिओंने स्मृतिका त्याग नहीं करना चाहिए अर्थात् तपके साथ रत्नत्रयकी आराधना करनी चाहिये संवरानुप्रेक्षा समाप्त

निर्जरा अनुप्रेक्षोच्यते—

इय सव्वासवसंवरसंबुडकम्मासवो भवित्तु मुणी ॥

कुर्वन्ति तवं विविहं सुत्तुत्तं णिज्जराहेदुं ॥ १८४५ ॥

यो मुनिर्यदि शुद्धात्मा सर्वथा कर्मसंवरम् ॥

करोति निर्जराकांक्षी सिद्धये विविधं तपः ॥ १९१७ ॥

विजयोदया—इय एव । सव्वासवसवर उक्तैः सवरप्रकारैः । संबुडकम्मासवो भवित्तु मुणी संबृतकर्माक्षवो भूत्वा मुनि करोति विविध तप सूत्रोक्त निर्जराहेतु ॥

धर्म्यं ध्यापयितु द्वादशगाथाभिर्निर्जरामनुचितदिव्यज्ञादौ संबुडाना सूत्रोक्तविचित्रतपसा निर्जरा भावयति—

मूलारा—संबुड निरुद्धः । भवित्तु भूत्वा ॥

निर्जरानुप्रेक्षा का वर्णन—

अर्थ—इस प्रकारसे संवरके प्रकारोंसे जिसने कर्मोंके आसव का निरोध किया है ऐसा मुनि निर्जराका कारण ऐसा सूत्रोक्त तप करता है

तवसा विणा ण मोक्खो संवरमिच्छिण होइ कम्मस्स ॥

उवमोगादीहिं विणा धण ण हु खीयदि सुगुत्तं ॥ १८४६ ॥

न कर्मनिर्जरा जन्तोर्जायते तपसा विना ।

साचित क्षीयते धान्यमुपयोग विना कुतः ॥ १९१८ ॥

विजयोदया—तवसा विणा तपसोत्तेज न कर्ममोक्षो भवति संवरमोक्षेण । सुरक्षितमपि धनं नैव क्षीयते । उपमोगमंतेरेण । तथा तस्मात् तपोनुप्रातव्यं निर्जरायं । का सा निर्जरा नाम पूर्वकृतकर्मशातनं तु निर्जरा ॥

संवरणैव कर्मक्षय इति मत्वा तपस्यनुत्सहमानमुत्साहयति—  
मूला—उवभोगादीर्हि स्वयमुपभोगपात्रविनियोगादिभिः ॥

अर्थ—तप से ही केवल कर्मके संवरसे मोक्ष नहीं होता है, जिस धनका संरक्षण किया है वह धन उपभोग नहीं लिया तो समाप्त नहीं होगा इसलिए कर्मकी निर्जरा होनेके लिए तपश्चरण करना चाहिये।

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा ॥

पटमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ॥ १८४७ ॥

पूर्वस्य कर्मणः पुंसो निर्जरा द्विविधा मता ॥

आद्या विपाकजातात्र द्वितीया त्वविपाकजा ॥ १८१९ ॥

विजयोद्या—पुव्वकदकम्मसडण पूर्वगतकर्मपुद्गलस्कंधाययाना जीवभेदोभ्योऽपगमनं निर्जरा । तथा चोक्तं । एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरेति । निर्जरा द्विविधा द्रव्यनिर्जरा भावनिर्जरा चेति । द्रव्यनिर्जरा नाम गृहीतानामशनपानादिद्रव्याणा पकदेशापगमन वमनादि । भावनिर्जरा नाम कर्मत्वपर्याधीवगम पुद्गलाना । सा पुनर्द्विविधा, आद्या विपाकजाता द्वितीयाऽविपाकजाता ॥

निर्जरा द्विविकल्प निर्दिशति—

मूला—पुव्वकयकम्मसडणं प्राक्सचितकर्मपुद्गलस्कंधाययाना जीवप्रदेशेभ्योऽपगमनम् । विवागजादा रयका-  
लेन दत्तफलाना कर्मणां गलन विपाकजा निर्जरा । अविवागजादा उपक्रमेण दत्तफलाना कर्मणा गलनमविपाकजा । उक्तं च

जह कालेण तवेण य भुत्तरस कम्मपुगलं जेण ॥

भावेण सडदि नेया तस्सडणं पेदि णिज्जरा दुविहा ॥

अर्थ—पूर्व कर्मके संक्रयोंमेंस थोडा थोडा कर्मका हिस्सा जीवके प्रदेशोंसे निकल जाना यह निर्जराका स्वरूप है आगममें इस निर्जराका लक्षण ऐसा किया है— ‘एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा’ अर्थात् कर्मके एक देशका क्षय होना यह निर्जराका लक्षण है, निर्जराके द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा ऐसे दो भेद हैं, मक्षण किए हुए अन्नपानादि पदार्थोंका एक देशका क्षय होना यह द्रव्यनिर्जरा है और वमन होना अथवा पूर्ण पचन होना यह



भावनिर्जरा है. पुद्गलका कर्मपर्याय नष्ट होना निर्जराका लक्षण है. इसके भी दो भेद हैं. विपाकजाता निर्जरा और अविपाकजाता निर्जरा.

अत्र दृष्टतमाचष्टे द्विविधा निर्जराभवमयितुं—

कालेण उवायेण य पचति जहा वणफदिफलाइं ॥

तह कालेण तवेण य पचति कदाणि कम्माणि ॥ १८४८ ॥

नानाविधानि कर्माणि गृहीतानि पुरा भवे ॥

फलानीव विपच्यते कालेनोपक्रमेण च ॥ १९२० ॥

विजयोदया—कालेण उवायेण य यथा कालेनोपायेन च वनस्पतीनां फलानि पच्यते तथा कालेन तपसा पच्यते कृतानि कर्माणि ॥

कर्मणा कालोपायानां पाक्वत्वं दृष्टान्तेन स्फुटयति—

मूलारा—उवायेण ऊष्मधूमादिप्रयोगेण ।

दृष्टान्तके द्वारा इनका स्पष्टीकरण—

अर्थ—जैसे दूधके फल योग्य कालकी अपेक्षाकर अर्थात् योग्य काल प्राप्त होनेपर पक्क होते हैं अथवा उपायसे पक्कावस्था की प्राप्त होते हैं वैसे पूर्व कर्मभी योग्यकाल प्राप्त होनेसे तथा तपसे पक्क होते हैं.

तयोर्निर्जरयो का कस्य भवतीत्याद्यंकायामाचष्टे—

सन्वोसिं उदयसमागदस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ ॥

कम्मस्स तवेण पुणो सन्वस्स वि णिज्जरा होइ ॥ १८४९ ॥

कालेन निर्जरा नूनमुदीर्णस्यैव कर्मणः ॥

तपसा क्रियमाणेन कर्म निर्जयितेऽखिलम् ॥ १९२१ ॥

विजयोदया—सन्वोसिमुदयसमागदस्स सर्वेण समयपूर्वके तपसि वृत्तानां अद्युत्ताना अथवा मिथ्यादृष्ट्यादीनां सस्यदृष्ट्यादीनां वा उदयावलिक्ताप्रविष्टस्य वृत्तस्य फलस्य कर्मणो निर्जरा भवति । एतेन विपाकनिर्जर

स्वव्योत्याख्यातं भवति । कथं न सर्वाणि कर्माणि भिन्नास्थितिकानि सहकारिकाणानां द्रव्यक्षेत्रादीनां युगपदसान्निध्या-  
दुदय सर्वस्य नोपवर्जति, ततो यदुदयप्राप्त तदेवागच्छति नेतरदिति । तवेण पुनो तपसा पुनः । कम्मस्स सन्वस्स वि  
कर्म्मण सर्वस्यापि निर्जरा भवति ॥

सर्वसाधारण्या विपाकजनिर्जराया इतरानिर्जरायाः सुतरा विधेयता दर्शयितुं विशिष्टता भावयति—  
मूलरा— उदयसमयागदस्स अनुभवसमयावलिक्ताप्रविष्टस्य दत्तस्वफलस्येत्यर्थः । णिज्जरा अपगमः । एतेन  
विपाकनिर्जरा स्वल्पेत्युक्तं भवति । सन्वस्स उदितस्यानुदितस्य ॥ उक्त च—

कालेन निर्जरा नूनमुदीर्णस्यैव कर्मणः ॥

तपसा क्रियमाणेन कर्म निर्जायितेऽखिलं ॥

एतेन—नामुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥

अवश्यमेव मोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

इत्येकातः शैवसिद्धान्तोक्तः प्रत्युक्तः ॥

इन दो निर्जराओंमें कोन किसकी होती है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जो तपश्चरणमें प्रवृत्त हैं अथवा नहीं हैं ऐसे लोकोको अर्थात् मिथ्यादृष्टि वगैरह किंवा सम्यग्दृष्टी  
वगैरहको कर्म उदयपंक्तिमें प्रवेशकर अपना फल देकर नष्ट होता है यह विपाकनिर्जराका स्वरूप है यह विपाक  
निर्जरा अल्प होती है- क्योंकि सर्व कर्मोंकी भिन्न भिन्न स्थिति रहती है द्रव्य क्षेत्रादिक सहकारी कारण सबके  
एकदम नहीं मिलते हैं इसलिये कर्म एकसाथ उदयमें आकर फल देकर नष्ट नहीं होता है- जो उदयमें आता है  
वही फल देकर नष्ट होता है अन्य नहीं और तपश्चरणके द्वारा सर्व कर्मोंकी निर्जरा होती है

ण हु कम्मस्स अवेदिदफलस्स कस्सइ हवेज्ज परिमोक्खो ॥

होज्ज व तस्स विणासो तवग्गिणा उज्झमाणस्स ॥ १८५० ॥

अनिर्दष्टफलं कर्म तपसा दह्यते परम् ॥

सस्यं हुताशनेनेव बहुभेदमुपार्जितम् ॥ १९२२ ॥

विजयोदया—कम्मस्स ण हु इवेज्ज परिमोक्खो अनभुतफलस्य कर्मणो नैव कस्य चित् मोक्षो भवति इति तत' फलं प्रदायापयाति । एतेन विपाकनिर्जोक्ता, होज्जव तस्स कम्मस्स विणासो भवेद्वा तस्य कर्मणो विनाशः तवग्गिणा डज्जमाणस्स तपोऽग्निना दद्यामानस्य एतेन कृतं कर्म तत्फलमदत्त्वा न निवर्तत इत्येतच्चिरस्ते ।

उक्तेमेवार्थे उत्सर्गपवादाभ्या दृढयति—

मूलारा—अवेदिदफलस्स अमुकफलस्य । एतेन स्वफल प्रदायापयाति कर्मेति विपाकनिर्जरा सामान्येनोक्ता । डज्जमाणस्स निर्वीजीक्रियमाणस्य । एतेन कृत कर्म यत्तत्फलमदत्त्वा न निवर्तते इत्येकान्तो निरस्तः ॥ उक्तं च—

अनिदिष्टफलं कर्म तपसा दद्याते परं ॥

सस्यं हुताशनेनेव बहुभेदमुपाजितम् ॥

अर्थे—जिस कर्मका फल जीवकेद्वारा नहीं भोगा गया है ऐसा कर्म नष्ट नहीं होता है अर्थात् कर्म अपना फल जीवको देकर ही चला जाता है इस विवेचनसे विपाक निर्जरा कही गयी परंतु तपोय्यीसे जो कर्म दग्ध होता है वह कर्म आत्माको फल न देकर ही नष्ट होता है इससे ' जो कर्म इस जीवने किया है वह फल जवतक नहीं देता है, तवतक नष्ट नहीं होता है, ऐसा एकान्त मत खडित होता है तात्पर्य यह है कि, विपाक-निर्जरा जिस कर्मकी होती है वह कर्म आत्माको फल देता है. अविपाक निर्जराका कर्म फल नहीं देता है

डहिज्जण जहा अग्गी विद्धंसेदि सुबहुगंपि तणरासी ॥

विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतणं सुबहुगंपि ॥ १८५१ ॥

तपसादीयमानेन नादधते कर्मसंचयः ॥

आशुशुक्षणिना क्षिप्र दीप्तेनेव तृणोत्तकरः ॥ १९२३ ॥

विजयोदया—डहिज्जण जहा अग्गी यथाशिर्गध्वा नाशयति महांतमपि तृणराक्षी तथा तपोग्निः सुमहदपि कर्मदृणं विनाशयति ॥

तपसः कर्मशतनसामर्थ्यं समर्थयते—

मूलारा—स्पष्टम् । उक्तं च—

तत्कालमपि तद्वयानं ज्वलयेत्काप्रमात्मनि ॥

उच्चैः कर्मोच्चयं भियाद्वर्जं शैलमिव क्षणात् ॥

अर्थ—जैसे प्रज्वलित आग्नि बड़ी भारी तृण राशिको भी जलाकर भस्म कर डालती है वैसे तपस्वरूपी अग्नि बड़त मोटाभी कर्मसमूह तृण के समान नष्ट कर देती है।

तपस कर्मविनाशनकमसुपदेशयत्युत्तरगाथा—

कर्मं विपरिमिज्जइ सिणेहपरिसोसएण सुतवेण ॥  
तो तं सिणेहमुक्कं कम्मं परिसडदि धूलिव्व ॥ १८५२ ॥  
स्वयं पलायते कर्म तपसा विरसीकृतम् ॥  
रजोऽवतिष्ठते कुत्र नीरसे स्फटिकेऽश्मनि ॥ १९२४ ॥

विजयोदया—कर्मं वि परिणमिज्जदि कर्माण्यपि अन्यथा भावं नीयते, केण सुतवेण ज्ञानदर्शनचरणसहभाविना तपसा । सिणेहपरिसोसणेण कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशेषणकारिणा । तो पञ्चात् । स्नेहपरिणामविनाशोत्तरकाल । कम्म परिसडदि कर्म परितोऽपयाति, सिणेहमुक्क स्वहमुक्क धूलीव । इदयते हि स्नेहाद्रधमुपगताना तदक्षते । परस्परतो वियोग यथा जलेनैव पिण्डतागताना सिक्ताना शुष्के जले वियोगमापद्यमानता ॥

तपसः कर्मविनाशनकम कथयति—

मूलारा—विपरिमिज्जदि अन्यथाभावं नीयते जीवपरतन्त्रीकरणशक्ति त्याज्यते इत्यर्थः । अन्ये परिसोसिज्जदि इति पठति । सिणेहपरिसोसणेण कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशेषणकारिणा । सुतवेण रत्नत्रयसहभाविना तपसा । धूलीव यथा जलाद्रध गताना सिक्ताना जले शुष्के परस्परतोऽपगमनं । एवं कपायदिकृतस्नेहाज्जीवेन सहैकलोलीभावं गताना कर्मपुद्गलाना तपसा रुक्षत्व गमिताना ततोऽपगम इत्यर्थः ॥ उक्तं च—

स्वय पलायते कर्म तपसा विरसीकृतं ॥  
रजोऽवतिष्ठते कुत्र नीरस्फटिकेऽश्मनि ॥

तपश्चरण के कर्म विनाशक्रमका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—तपश्चरणसे अर्थात् ज्ञान, दर्शन चारित्रिके साथ रहनेवाले तपसे कर्ममें फरक किया जाता है. अर्थात् जीवको परतत्र करनेका स्वभाव कर्ममें रहता है तपके द्वारा उस स्वभावका नाश होता है. यह तपश्चरण कर्ममें जो स्नेहशक्ति थी उसको नष्ट करता है. जिससे कर्म आत्मासे संबंध छोड़कर चला जाता है. जैसे स्नेहसे धूलि

एकत्र होती है परंतु स्नेहके हरनेसे धूली के कण बिखर जाते हैं उनका बंधन नहीं रहता है पानीसे बालुका पिंड बनता है परंतु पानी सूख जानेपर बालुके कण अलग होते हैं- वैसी स्नेहशक्ति तपसे नष्ट होनेपर कर्म आत्मामें अलग होता है- अर्थात् पुद्गलका कर्मत्वपर्याय नष्ट होता है ।

धादुगदं जह कणयं सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा ॥  
सुज्झइ तवग्गिधंतो तह जीवो कम्मधादुगदो ॥ १८५३ ॥

तपसा ध्मायमानोऽङ्गी क्षिप्रं शुद्धयति कर्मभिः ॥

पाषाणः पावकेनेव कानकः सकलैर्मलैः ॥ १९२५ ॥

चिजयोदया—धादुगदं यथा सुवर्णपाषाणगत कनकं महताग्निना दह्यमानं शुध्यति, मलात् पृथग्भवति तथा जीव कर्मधादुगगतस्तपोऽग्निना दह्यमानः शुध्यति ॥

तपसा शुद्धस्वात्मानि दीप्यमानस्यात्मनः कर्मभ्यः पृथग्भावं भावयति—

मूलारा—धादुगदं सुवर्णपाषाणस्य । सुज्झइ पृथग्भवति । धम्मंतं ताप्यमान । तवग्गिधंतो तपोऽग्निनाध्मातः शद्धस्वचिद्रूपं देदीप्यमानः कृतः ।

तपसा ध्मायमानोऽङ्गी क्षिप्रं शुध्यति कर्मभिः ॥

पाषाणः पावकेनेव कानकः सकलैर्मलैः ॥

अर्थ—महान् अग्निसे दग्ध होनेपर जैसे सुवर्णपाषाणमेंसे सुवर्ण शुद्ध होता है अर्थात् मलसे अलग होता है वैसे कर्मरूपी धातुओंमें मिश्र हुआ यह जीवरूपी सुवर्ण तपरूपी अग्निसे जल दग्ध होता है तब वह निर्मल होता है

यद्येव तप एवाद्युष्टातव्यं किं संवरेणेति शंका निराकरोति—

तवसा चैव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयेणे ॥  
ण हु सोत्ते पविसंते किसिणं परिसुस्सदि तलायं ॥ १८५४ ॥  
मोक्षःसंवरहनेन तपसा न जिनागेम ॥  
रविणा शोष्येत नीरं प्रवेशे सति किं सरः ॥ १९२६ ॥

विजयोद्या—तवमा चेव ण मोम्भो तपसैव न सर्वकर्मपायो भवति, सवरहीनस्य जिनवचने । स्रोतसि प्रविशति न जलादिकं कृत्स्नं परिगृह्यति ॥

यद्येवं तर्हि तेदेवानुष्ठेयं न संवर इत्यत्राह—

मूलारा—मोक्खो सर्वकर्मपायसं ॥ उक्तं च—

मोक्षं संवरहीनेन तपसा न जिनागमे ॥

रविणा शोष्यते नीरप्रवेशे सति किं सरः ॥

यदि तप से आत्मा शुद्ध होता है तो तप ही करना चाहिए संवरको क्यों आवश्यकता है ? आचार्य इस शंका का उत्तर देते हैं—

अर्थ—जो मुनि संवररहित है केवल तपश्चरणसे ही उसके कर्मका नाश नहीं हो सकता है ऐसा जिन-वचनमें कहा है यदि जलप्रवाह आता ही रहेगा तो तालाव कब सूखेगा ? अर्थात् नहीं सूखता है.

एवं विणद्धसंवरवम्भो सम्मत्तवाहणारूढो ॥

सुदणाममन्नाघणुगो ज्ञाणादितवोमयसरोहिं ॥ १८५५ ॥

विजयोद्या—एवं विणद्धसंवरवम्भो एव विणद्धसंवररूचच, सम्यक्त्ववाहनरूढ, श्रुतज्ञानचापधर, ध्याना-दितवोमयशरै ॥

चतुर्विधाराधनानिष्ठं संवरसहितया निर्जरया कर्मारिचमूं निःशेष्याक्षयामन्तज्ञानादिराज्यश्रियं प्राप्नोति इति गाथाद्वयेनोपसंहरति—

मूलारा—विणद्धसंवरवम्भो बद्धालयनिरोधसन्नाहं ।

अर्थ—जिमेने संवररूपी बरुतर पहना है, जो सम्यग्दर्शनरूपी वाहनपर चढ़ा है. जिसेने सम्यग्ज्ञानरूपी धनुष्य हाथ में लेकर ध्यान और तपरूपी शर-बाण सम्यग्ज्ञानरूप धनुष्य के ऊपर जोड़ दिये हैं.

संजमरणभूमीए कम्मारिचमू पराजिणिय सव्वं ॥

पावदि संजमजोहो अणोवमं मोक्खरज्जसिंरिं ॥ १८५६ ॥

दर्शनद्विपमधिष्ठितो बुधो लब्धबोधसचिवस्तपःशरैः ॥  
कर्मशत्रुमपहत्य संवृतः सिद्धिसंपदमुपैति शान्धर्तीम् ॥ १९२७ ॥

इति निर्जरा ।

विजयोदया—संजमरणभूमीए संयमयुद्धागणे कर्मोरिचमू सर्वाभिभूय प्राप्नोति संयतयोध. अनुपमा-  
मोक्षराल्यश्रियं ॥ निर्जरा ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥ निर्जरातुमेक्षा ।

अर्थ—ऐसा मुनिरूपी वीर पुरुष संयमरणमें सपूर्ण कर्मसेनाका पराजय कर मुक्तिरूप राज्यलक्ष्मीकी प्राप्ति  
कर लेता है ।

धर्मगुणानुपेक्षणयोज्यते—

जीवो मोक्षपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी ।

भावेणुववज्जदि सो धम्मं त तारिसमुदारं ॥ १८५७ ॥

मोक्षावसानकल्याणभाजनेन शरीरिणा ॥

आर्हंतो भावनाधर्मो भावतः प्रतिपद्यते ॥ १९२८ ॥

विजयोदया—जीवो मोक्षपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स जो भागी, यो जीवमोक्षावसानकल्याणपरंपराया  
भाजनभूतः । स धर्मं भावेन प्रतिपद्यते, त तादृशमुदारं सकलसुखसंपादनक्षमं महान्तं धर्मं ॥

धर्म्यध्यानसिद्धये गायानवर्केन धर्ममहिमानमनुचितयति—

मूलारा—मोक्षपुरक्कडकल्लाणपरंपरस्स मोक्षेण पुरःसरता नीतानि यानि कल्याणानि सुदेवत्वसुमातुत्व  
पदाभ्युदयसुरानि मोक्षसुखावसानसासारिकसुखानीत्यर्थः ॥ तत्प्रबंधाय भागी भजनयोग्यः । भावेणुववज्जदि परमार्थेन  
प्रतिपद्यते । उदारं सकलसुखसंपादनसमर्थत्वान्महान्तः ।

उक्तं च—मोक्षावसानकल्याणभाजनेन शरीरिणा ॥

आर्हंतः पावनो धर्मो भावतः प्रतिपद्यते ॥

अर्थ—मोक्षप्राप्ति तक जो जो कल्याणपरंपरा प्राप्त होती है वह सब धर्मकी सहायतासे ही होती है

अर्थात् धर्मसे अभ्युदय और मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है इस उदाहरण, सर्व सुखोंकी प्राप्ति करा देनेमें समर्थ धर्म को मनुष्यजीव हृदयसे धारण करता है

धर्मेण होदि पुज्जो विस्ससणिज्जो पिओ जसंसी य ॥

सुहसज्जो य णराणं धम्मो मणणिब्बुदिकरो य ॥ १८५८ ॥

यशस्वी सुभगः पूज्यो विश्वास्यो धर्मतःप्रियः ॥

सुसाध्यः सोऽन्यकार्येभ्यो मनोनिवृत्तिकारकः ॥ १९२९ ॥

विजयोदया—धर्मेण होदि पुज्जो धर्मेण पूज्यो भवति । विश्वसनीय प्रियो यशस्वी च भवति, सुखेनैव साध्यो-  
नरणा धर्मः ॥ उक्तं च ॥ दृष्टे श्रुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलगमो भवतीति मनसो निवृत्तिं च करोति ॥

मूळारा—जसंसी कीर्तिमान् । सुभसज्जो शुभपरिणामात्रसाध्यः अथवा सुखेन साधयितुं शक्यः । ' दृष्टे  
श्रुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलगमो भवति इति वचनात् ॥

अर्थ—इस धर्मके आचरणसे मनुष्य पूज्य, विश्वसनीय, प्रिय और यशस्वी होता है यह धर्म सुखसे मनुष्य  
जीव धारण कर सकते हैं. धर्म धारण करनेसे मनुष्योंका मन सतृप्त होता है धर्मका फल देखनेसे, सुननेसे, जान  
लेनेसे और स्मरण करनेसे मन प्रसन्न होता है ऐसा शास्त्रोंमें कहा है

जावदियाइं कल्लाणाइं संगे य मणुअलोगे य ॥

आवहदि ताण सव्वाणि मोक्खं सोक्खं च वरधम्मो ॥ १८५९ ॥

धर्मः सर्वाणि सौख्यानि प्रदाय सुवनेऽङ्गिनम् ॥

निघत्ते शाश्वते स्थाने निर्बाधसुखसंकुले ॥ १९३० ॥

विजयोदया—जावदिगाइं कल्लाणाइं यावन्ति कल्याणानि स्वर्गे मनुष्यलोके च तानि सर्वाण्याकर्षति  
धर्मो मोक्षं सुखं च ॥

मूळारा—स्पष्टम् ॥



अर्थ—स्वर्गलोकमें और मनुष्यलोकमें जितने सुख प्राप्त होते हैं वे सब धर्मसे ही प्राप्त होते हैं मोक्ष सुखकी प्राप्ति भी धर्मसे ही होती है।

ते धण्णा जिणधम्मं जिणदिट्ठं सन्वदुक्खणासयरं ॥

पडिवण्णा दिट्ठधिदिया विसुद्धमणसा गिरावेक्खा ॥ १८६० ॥

ते धन्या ये नरा धर्मं जैनं सर्वसुखाकरम् ॥

निरस्तनिखिलग्रथा. प्रपन्नाः शुद्धमानसाः ॥ १९३१ ॥

विजयोदया—ते धण्णा पुण्यवत । जिनदृष्ट धर्म सर्वदुःखनाशकरं प्रतिपन्ना शुद्धेन मनसा दृढधृतिका, निर्व्याकुला ॥

मूलारा—दृढधिदिया अविचलधृतयः ।

अर्थ—जिन्होंने निर्मल मनसे निःस्पृह होकर धर्म धारण कर सर्व दुःखोंका अन्त करनेवाला जिनेश्वर प्रतिपादित जिनधर्म धारण किया है वे पुरुष धन्य हैं।

विसयाडवीए उम्मगगविहरिदा सुचिरमिदियस्सेहिं ॥

जिणदिट्ठिण्वुदिपहं धण्णा ओदरिय गच्छंति ॥ १८६१ ॥

ये च वीर्यैन्द्रियाभ्यो नीता विषयकानने ॥

धर्ममार्गं प्रपद्यन्ते ते धन्या नरपुंगवाः ॥ १९३२ ॥

विजयोदया—विसयाडवीए विषयादया उन्मार्गविहारिण सुचिरमिदियाभ्यैर्बलानीता संत ते जिनदृष्ट निर्वृतिमार्गं गच्छन्ति धन्या इन्द्रियाभ्योऽचरुहा ॥

मूलारा—उम्मगगविहरिदा इन्द्रियाभ्यैर्व्यात्वादित्रय विशेषेण नीताः । ओदरिय इन्द्रियाभ्योऽचरुहा ॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी घोड़े इस जीवको उन्मार्ग में दौड़कर विषय रूपी जगलमें ले जाते हैं. ऐसी परिस्थितियों में जो इन्द्रियरूपी अश्वोंसे नीचे उतरकर जिनेश्वरने देखे हुए मोक्षमार्गपर जाते हैं वे पुरुष जगमें धन्य समझने चाहिये।

रागेण य दोसेण य जगे रमंतस्मि वीदरागस्मि ॥

धम्मस्मि णिरासादस्मि रदी अदिदुल्लहा होइ ॥ १८६२ ॥

अहो द्वेषेण रागेण लोके क्रीडति सर्वदा ॥

वीतरागे निरास्वादे बोधिधर्मेऽतिदुर्लभा ॥ १९३३ ॥

विजयोदया—रागेण य दोसेण य जगे रमंतस्मि रागद्वेषाभ्यां सद् जगति क्रीडति । वीतरागे धर्मे निरास्वादे रति-  
रन्तीव दुर्लभा भवति ॥ उक्तं च ॥ कुलं च रूपं च यशश्च कीर्तिर्धनं च विद्या च सुखं च लक्ष्मीः । आरोग्यमप्येव  
संप्रयोगो द्वेषैर्वियोगोऽपि च दीर्घमायुः ॥ १ ॥ स्वर्गश्च मोक्षश्च मयोपदिश भावा इमेऽन्ये च जगत्प्रशस्ताः । धर्मेण  
शक्त्या जगतीह लब्धुः, हिताय तं कर्तुमतोर्हसि त्व ॥

जिनधर्मरत्नेरतिदुर्लभता भावयति—

मूलारा—रागेणेत्यादि वहिरात्मप्राणिगणो रागद्वेषाभ्यां सह क्रीडति ॥ एतेन संसर्गाज्जोपगुणा भवंति इत्या-  
श्रित्य कथमीदृशि लोके प्रवर्तमानानां रागाद्यप्रादुर्भावलक्षणार्हिंसात्मनि निरास्वादे वा भावितवृत्तादरूपे धर्मे रतिं कर्तुं  
शक्यते इति मन्यते ॥

अर्थ—राग और द्वेषके साथ यह जगत् रममाण हो रहा है इस लिये निरास्वाद वीतराग धर्मे प्रेम  
होना अतीव कठिन है शास्त्रमें इस विषयमें ऐसा कहा है—कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन विद्या, सुख, और संपत्ति,  
आरोग्य, आज्ञा, इच्छित पदार्थों की प्राप्ति, अनिष्ट पदार्थोंसे वियोग, दीर्घ आयुष्य, स्वर्ग मोक्ष इनका मैंने वर्णन  
किया है अतः हे भव्य जीव ! तू स्वहित के लिये धर्माचरण कर

सहलं माणुसजम्मं तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ॥

संसारदुःखकारणकम्मागमदारसंरोधं ॥ १८६३ ॥

तदीयं सफल जन्म तदीयं दुःसमुज्ज्वलम् ॥

जन्ममृत्युजराकारिकर्मसंनिरोधकम् ॥ १९३४ ॥

विजयोदया—सहल माणुसजम्मं तस्य मनुष्यस्य जन्म सफल भवति यस्य चरणमनवयाः क्रीदशः संसारदुःख-  
संपादनोद्यतकर्मोपकारनिरोधकारी । अनेन चारित्र्यमिह शब्दो धर्मत्वेनोच्यत इत्याख्यातं भवति ॥

इह धर्मश्चारित्रभिलाख्यतुमाह—

मूलारा—अणवब्जे निरतिचारम् ।

अर्थ—जिसका चारित्र निर्दोष है, संसारदुःखोंको करनेवाले कर्मका आनेका द्वाररूप जो अविरत्यादि परिणाम जिससे बंद पड़ता है, ऐसा निर्दोष चारित्र जिसने धारण किया है उसी मनुष्यका जन्म सफल माना जाता है. उपर्युक्त चारित्रिकोही यहां धर्म समझना चाहिये

जह जह णिव्वेदसमं वेरगदयादमा पवद्धुति ॥

तह तह अब्भासयरं णिव्वाणं होइ पुस्सिस्स ॥ १८६४ ॥

यथा यथा विवद्धंते निर्वेदप्रशमादयः ॥

प्रयात्यासन्नतां पुंसः सिद्धिलक्ष्मीस्तथा तथा ॥ १९३५ ॥

विजयोदया—यथा यथा निर्वेद उपशमो दया चिन्ताविग्रहश्च प्रवर्तते तथा तथा समीपतरं भवति निर्वाण पुरुषस्य ॥

सद्धर्मैकसाध्यनिर्वाणाभ्यर्णतरत्त्वलिगमाह—

मूलारा—अब्भासदरं समीपतरम् ॥

अर्थ— जैसे २ वैराग्य, रागद्वेषोंका प्रशम, दया, जितेंद्रियता ये गुण बढ़ेंगे तैसे २ पुरुषके पास मोक्ष आता है

धर्म स्तौति—

सम्मदंसणतुवं दुवालसंगारय जिणिंदाणं ॥

वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्कं तवोधारं ॥ १८६५ ॥

द्वादशात्मकतपोरयंत्रितं तत्त्वबोधरुचिच्युत्तनेमिकम् ॥

धर्मचक्रमनवधमार्हतं विष्टपे विजयतामनश्वरम् ॥ १९३६ ॥

॥ इति धर्मानुपेक्षा ॥

विजयोदया—सम्पदसङ्गतुवं द्वादशागारक व्रतनेमिकं तपोधारं जितेन्द्राणां धर्मचक्र जगति जयति ॥ धम्मं । धर्मं स्तोत्रमाह—

मूलारा—बुधं नाभिः । दुबालसगारयं मुन्याचारादीन्याचाराणि यस्य । वदनेमिय व्रतमेव नेमिर्धारा यस्य । तयोधारं तप एव धारा द्वितीया नेमिर्यस्य । धर्मानुप्रेक्षा ॥

धर्मकी स्तुति करते हैं.

अर्थ—धर्मरूप चक्रमें सम्पददर्शन रूप तुगा है, इस धर्मचक्रको द्वादशांगज्ञान रूप ओर हैं, पांच महाव्रत नेमिके स्थानमें हैं, और तप धारा है ऐसा जितेन्द्रोका यह धर्मचक्र जगतमें जयवान रहे.

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कथ्यते—

दंसणमुदतवचरणमइयमि धम्ममि दुल्लहा बोही ॥

जीवस्स कम्मसत्तस्स संसरंतस्स संसारे ॥१८६६॥

धम्मं भवति सम्पक्वज्ज्ञानवृत्ततपोमये ॥

दुर्लभा व्रमतो बोधिः संसारे कर्मतोऽङ्घिनः ॥ १९३७ ॥

विजयोदया—दंसणमुदतवचरणमइयमि दर्शनश्रुततपश्चरणमये धम्मं दुर्लभा बोधिर्जीवस्य कर्मसत्तस्य संसारे संसरत ॥

धर्माँलंबनत्वेन बोधिं गाथाएकेन भावयति—

मूलारा—बोधी दीक्षाभिमुखा बुद्धिः प्राप्तिर्वा बोधिशब्देनैहोच्यते । रत्नत्रयप्राप्तिः सखु बोधिः प्रसिद्धा ।

कम्मसत्तस्स कर्मप्रस्तस्य कर्मणि वा कायादिव्यापारे सत्तस्य प्रयत्तस्य ॥

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षाका वर्णन—

अर्थ—सम्पददर्शन, सम्पदज्ञान, तप और चारित्र एतत्तत्त्वरूप धर्ममें बोधिकी प्राप्ति होना दुर्लभ है, यह कर्मसे लित है और संसारमें अमण कर रहा है इसको बोधिप्राप्त होना कठिन है.

तस्या दुर्लभता प्रकटयत्युत्तरप्रवचने—

संसारमि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं ॥

जुगसमिलासं जोगो जह लवणजलं समुदम्मि ॥ १८६७ ॥

संसारे देहिनेऽनंते मानुष्यमतिदुर्लभं ॥

समिलायुगसांगल्य पयोधाविव दुर्गमे ॥ १९३८ ॥

विजयोदया—संसारमि अणंते अनंतसारे । जीवाना मनुष्यत्वं दुर्लभं, पूर्वपरसमुद्रनिक्षिप्तयुगतत्संबंधि-  
काष्ठसयोग इव ॥

कथं दुर्लभता बोधेरित्त्राह—

मूलारा—लवणजले एतेन समुद्रातरेभ्यः प्रस्तारसलिलेभ्यः सकाशाद्वणोदसमुद्रस्य वेलाकुलेन वैशिष्ट्य लक्ष-  
यति । अत एव पूर्वादिद्विग्विभागप्रक्षिप्तपूषमिलयोरतिदुर्लभः मयोगः स्नातु ॥

नोधिक्की दुर्लभताका आचार्यं सविस्तर वर्णन करते हैं—

अर्थ—इस अनंत संसारमें जीवको मनुष्यपनाका लाभ होना कठिन है जैसे पूर्वसमुद्र और अपरसमुद्रमें क्रमशः  
जुवा और उनकी लकड़िया फेक देनेपर उनका पुनरपि सयोग होना अत्यंत कठिन है वैसे नष्ट हुआ मनुष्य जन्म  
पुनःप्राप्त होना अतिशय कठिन है.

मनुजताया दुर्लभत्वे कारणमाह—

असुहपरिणामवहुलत्तण च लोगस्स अदिमहल्लत्तं ॥

जोणिवहुत्तं च कुणदि सुदुल्लहं माणुसं जोणी ॥ १८६८ ॥

प्राचुर्यं गर्ह्यभावानां महत्त्वं जगतोऽङ्गिनाम् ॥

विद्यते योनिबाहुल्यं मानुष्य जन्मदुर्लभं ॥ १९३९ ॥

विजयोदया—असुहपरिणामवहुलत्तण च अशुभपरिणामाना मिथ्यात्वात्तयमरुगायप्रमादना परिणामाना  
वहुत्वं मनुजयोनिदुर्लभता करोति । मनुजरहितलोकस्यातिमहत्त्वं च तत् दुर्लभता करोति । असंख्येया हि द्वीपसमुद्र  
नारकावासा, स्वर्गपटलानि, इतरथ लोकाकाशमतिमहत् । योनीनां बहुत्व चेत्तपसा निवधन तद्दुर्लभतायाः ॥

माणुपत्वमुदुर्लभत्वयोः कारणत्रयमाह—

मूलांशः—असुखपरिणामबहुलत्तनं प्रचुरा मिथ्यात्वादय कुयोनिजन्मानिमित्तकर्महेतवः परिणामा इत्यर्थः ॥  
लोगस्स अदिमहल्लत्त । मनुजरहितस्य लोकाकाशस्य विपुलत्व । जंबूद्वीपार्धचतुर्थीयद्वीपेऽप्येव हि मनुजाः संभवन्ति ।  
जोणिवहुत्तं मनुज्ययोनिभ्यश्चतुर्दशलक्षसंख्याभ्योऽन्या योनयो बह्व्यः सप्तलिलक्षसंख्यान्वात् ॥

मनुष्यपना दुर्लभ क्यों है इसका उत्तर—

अर्थ—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, प्रमाद इनसे युक्त परिणाम—अशुभ परिणामोंसे ही यह जगत् भरा हुआ है इसमें मनुष्यजन्म प्राप्त होना कठिन है. मनुष्योंसे रहित लोकक्षेत्र बहुत ही विस्तीर्ण है और मनुष्य युक्त लोकक्षेत्र अत्यल्प है इससे हि मनुष्यपना दुर्लभ है यह बात सिद्ध होती है. असंख्यात द्वीपसमुद्र मनुष्यविरहित ही है. नरकधूमि, स्वर्गधूमि और इतर लोकाकाश ये सब मनुष्यविरहित हैं इतर योनियोंकी बहुलता होनेसे मनुष्ययोनीकी दुर्लभता सिद्ध होती है

अपरापि दुर्लभतापरंपरा दर्शयत्युत्तरगाथा—

देसकुलरुवमारोगमाउगं बुद्धिसवणगहणाणि ॥  
लद्धे वि माणुसत्ते ण हुंति सुलभाणि जीवस्स ॥ १८६९ ॥  
देशो जातिः कुल रूपमायुर्नरीरोगता मतिः ॥  
अवर्णं ग्रहणं श्रद्धा नृत्वे सत्यपि दुर्लभम् ॥ १९४० ॥

विजयोदया—देसकुलरुवमारोगं देशकुलरूपमारोग्यं । आयुगमायुष्कं । बुद्धिसवणगहणाणि बुद्धिश्रवणग्रहणाति । लद्धेपि मनुष्यत्वे मनुष्यगतिनामकर्मोदयात्, जिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबहुलो देशो दुर्लभः । अंतर्द्वीपानां शक्यवन किरातवर्षरपारसीकासिंहलादिवेदाना धर्मज्ञमानवरहितानामतिबहुलत्वात् ॥ लद्धेपि देशे सुजनावासे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यादिकं कुल दुरधिगमनीय सन्कुलानामल्पत्वात् । असहृद्वीचैर्गोत्रबंधनात् । मिथ्यात्वोदयात् प्रायेण प्राणिनो गुणान् गुणिजनं च निवृत्याक्रोशति, निर्गुणोऽपि कुलाभिमानमतिमहात्ममुद्धति, तेन नीचैर्गोत्रमुपचिनोति, गुणे गुणिजने चानुरागः कुलाभिमानतिरस्करणं वा कदाचिदेव भवति इति शोभन कुल कदाचिदेव लभ्यते, चारिधर्मोद्दयात् पञ्जीव-निकायवाधाकरणे सततमुद्यतः तदीयरूपशोभोन्मूलनसपादनोपाजितेनाशुभरूपनामकर्मणा विरूपो बहुशो भवति । जीव-

दया कदाचिदेव करोति । प्रशस्तरूपनामकर्मलभ्यसौख्यमपि क्लेशेन लभ्यते । परजीवसंतापकरणे कृतोत्साहः सर्व-  
देवेति रोगी भवति बहुशः, परसंतापपरिहारं वैयावृत्यं च कदाचिदेव करोति इति नीरोगतापि कादाचित्का दुर्लभा । परेषां  
प्रायेणानुनिर्हतीति स्वल्पायुरेवायं जनो जायते । कदाचिदेवाहिंसाव्रतपरिपालनाच्चिरंजीविता सदा न लभ्यते । समीचीन  
ज्ञानिजनद्रव्यणात्तन्मात्सर्यात् तद्विघ्नकरणात्तदासादनाच्चक्षुरादीन्द्रियोपघातकरणाच्च मतिश्रुतज्ञानावरणे वराको वध्ना  
तीति दुर्मेधा भवति । बहुषु जन्मशतसहस्रेषु मतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् शुभपरिणामोपनीतात् कदाचिदेव विवेक  
कारिणी बुद्धिर्भवति, सत्यामपि बुद्धौ हितहितविचारणक्षमं धर्मश्रवणमतिदुर्लभं, यतीनां विरागद्वेषाणां, समीचीनज्ञान-  
प्रकाशानोन्मूलितबुद्धिमोहाधतानां, अशेषजीविनिकायदयाक्रियोद्यतानां असौलभ्यात्, तीव्रमिथ्यादर्शनेपनीतगुणिजनद्वे-  
षेण मिथ्याज्ञानभवलाभदुर्विदग्धतया स्वगृहीततत्त्वपरवशतया आलस्येन वा यतीनां स्वपरोक्षरणप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न  
दौकते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभता । कदाचिदेव पापोपशमाद्यतिजनानुदौकतेऽपि नयपुरस्सरे संप्रज्ञेन प्रशस्तवाग-  
न्यायिनि गुरुजने चाभिमुखे सति श्रवण भवतीति दुर्लभता श्रवणस्य, किंच यतिजननिकेतनमुपगतोपि यहच्छया निद्रा-  
ति, स्वयं परेषां यत्किंचिदसारं वदति, सुगंधानां वा वचनं श्रुणोति न विनयेन दौकत इति वा दुर्लभं श्रवण । श्रवणं श्रुतेपि  
धर्मे तत्परिज्ञानमतिदुर्लभं श्रुतज्ञानावरणोदयात् । दुःकरत्वं मनःप्रणिधानस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्, सूक्ष्मत्वाच्च जीवा-  
दितत्वस्य श्रुतज्ञानाधिकरणे क्षयोपशमे मनःप्रणिधानं वक्तुर्वचनसौष्ठवं चेति । सकलमिदमसुलभमिति धर्मज्ञान दुर्लभं ।  
ज्ञातेपि धर्मे अस्ति धर्मो जीवपरिणामसम्यक्त्वज्ञानवरणतपोदानपूजात्मकोऽभ्युदयनिश्चयसफलदायी जिनैव्याविर्णितरूप-  
इति श्रद्धानं न सुखेन लभ्यते, दर्शनमोहोदयात् । उपदेशकालकरणलब्धयश्च कदाचित्का इति ॥

मनुष्यत्वलाभेऽपि देशादीना यथोत्तर दुर्लभत्वमाह--

मूलारा--देसो जिनधर्मप्रगल्भमानवबहुलो विपयो दुर्लभः । शक्यवनादिवेशाना धर्मज्ञरहितानामतिबहुल-  
त्वात् । कुल ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवंशः । सुकुलानामल्पत्वादसकृन्नीचैर्गोत्रबंधनाच्च । मिथ्यात्वोदयाद्धि प्रायेण निर्गुणोऽपि  
कुलाभिमानमतिमहान्तं बहद्गुणिनश्च निंदति । तेन नीचैर्गोत्रं वध्नाति गुणे गुणिनि चानुरागः कुलाभिमानतिरस्करणं  
वा । कदाचिदेव भवतीति शोभनं कुलं कदाचिदेव लभ्यते । रूप सौख्यं जीवो हि चारित्रमोहोदयात्पड्जीववाधाकर-  
णनिलोयोगात्तदूषोभानिमीलनसपादितशुभरूपनामकर्मविपाकेन बहुशो विरूपः स्यात् जीवदयां कदाचित्कचित्करोतीति  
शुभरूपनामकर्मनिर्मेयसौख्यमपि क्लेशेन लभते । आरोग्यं परजीवसतापनसततोत्साहवदसद्वेद्योदयाद्धि जीवो  
बहुशो रोगी भवति । परसंतापत्यागं गुणवद्वैयावृत्यं च कदाचिदेव करोतीत्यरोगतापि कादाचित्की । आयुगं विरजीवितु  
जनो हि परेषां प्रायेणानु-सहरति इति बहुशः स्वल्पायुरेव जायते । कदाचित्कचिदेवाहिंसाव्रतं धरति इति दीर्घायुःकृतापि न  
सदातनी । बुद्धि अयं सत्त्वात्मा समीचीनज्ञानज्ञानिद्रूपणनिन्द्ववादिकरणाच्चक्षुरादीन्द्रियोपघातसपादनाच्च वद्वयोर्मतिश्रुत

ज्ञानावरणयोः कदयद्गुहो मतिश्रुतज्ञानहीनो भवति । शुभपरिणामसंपाद्यं तदावरणक्षयोपशमविशेषं कदाचित्कचिदेव प्राप्नोतीति तत्त्वविवेकशुद्धिरित्यनेन वराकेण दुरवापा । सवण यतीना श्रुतज्ञानप्रदीपनिरस्तातस्तमसां विरागद्वेषाणां, करुणापर-तंत्राणां, परहितप्रतिपादनैककार्याणां अतिदुर्लभत्वात्तीव्रमिव्यात्वकृतगुणजनद्वेषेण, मिथ्याज्ञानलवलाभदुर्विपथतया, स्वगृहीततत्त्वपरवशतया, अलसतया, यतीना स्वपरोद्धरणप्रावीण्यापरिज्ञानाद्वा, प्रश्रयेण तदुपसर्पणाभावात्, कथंचित्पापोपशमा-त्तदुपसर्पणेऽपि विनयपुरःसरं संप्रशस्य कदाचिदेव संभवाच्च । मनुष्यत्वाविसप्तकप्राप्तावपि जीवस्य मद्धर्मश्रवण दुःश्राप ॥ यत्तिज्जननिकेतने गतोऽपि यदृच्छया निद्रायति, स्वयं वा परेषां यत्किंचिदसारं वदति, सुगाना वा वचन शृणोति, विनयेन वा ढौकते । इति दुर्लभा धर्मश्रुतेः । गह्वणाणि श्रुतेऽपि धर्मे तत्परिज्ञान अतिदुर्लभं । श्रुतज्ञानावरणोदयादात्मनः प्रणिधानस्य दुष्करत्वाज्जीवादितत्त्वस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्सुस्त्वाञ्च । ज्ञातेऽपि धर्मेऽस्ति धर्मः सम्यक्त्वाद्यात्मकोऽन्यदु-यनिःश्रेयसफलप्रदो जिनोक्त इति श्रद्धानमतिदुर्लभतमं कालादिलब्धीना सुदुर्घटत्वात् ॥

और भी यातोंकी दुर्लभता आगेकी गाथासे दिखाते हैं—

अर्थ—देश, कुल, रूप आरोग्य, आयुष्य, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण, ये बातें मनुष्य जन्म मिलनेपर भी दुर्लभ हैं मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे मनुष्यपना प्राप्त होता है तो भी जिनमर्णाति धर्मसे प्रगल्भ मानव जिनमें रहते हैं ऐसे देशमें जन्म होना बहुत दुर्लभ है अंतर्द्वीपमें जन्म होकर भी मनुष्यता मिलती है. शक, यवन, किरात, बर्बर, पारसीक, सिंहादिक देश धर्मज्ञ मनुष्योंसे रहित है ऐसे ही देश बहुत हैं. जहाँ सज्जन रहते हैं ऐसा देश प्राप्त होनेपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादिक कुलोंकी प्राप्ति होना दुर्लभ है. क्योंकि उत्तम कुल दुनियांमें अल्प है चारचार नीचगोत्रका वंश होता है प्रायः मिथ्यात्वका उदय होनेसे मनुष्य गुणोंकी और गुणिजनोंकी निंदा करने लगता है निर्गुण होनेपर भी अपने कुलका अतिशय अभिमान धारण करता है. ऐसे अभिमानसे यह जीव नीच गोत्रका सचय करता है. गुणमें और गुणिजनमें प्रेम होना, अपने कुलाभिमानका तिरस्कार होना यह बातें अत्यल्प पायी जाती हैं इसलिए उत्तम कुलकी प्राप्ति क्वचित् होती है

चारित्रमोहनीयके उदयसे यह आत्मा हमेशा पट्काय जीवोंका नाश करनेमें हमेशा उद्युक्त होता है. उन जीवोंकी रूपशोभाको बिगाडता है इससे अशुभ नाम कर्मका वंश होता है इस कर्मका उदय होनेपर यह जीव अनेक बार विरूप होता है.



जीवदया कभी कभी करता है। प्रशस्त रूप नाम कर्मके उदयसे सुंदर रूपकी प्राप्ति बहुत क्लेशसे प्राप्त होती है। परजीवोंको हमेशा सताप देनेमें ही तत्पर रहनेसे सर्वदा देहमें रोग उत्पन्न होता है। परसंतापको बुर करना, वैयावृत्य करना ये बातें कभी कभी करनेसे नीरोगताकी प्राप्ति होना दुर्लभ होगया है। प्रायः यह आत्मा दुसरोंकी आयुको नष्ट करता है इस लिये यह स्वल्पायु हो जाता है। कदाचित् अहिंसा व्रतका पालन करनेसे यह पुरुष कभी २ चिरजीवी होता है। इस लिये चिरजीविताभी दुर्लभ है।

समीचीन ज्ञानको दूषण देना, उससे भ्रष्टर करना, ज्ञानमें विघ्न करना, उसका नाश करना, चक्षुरादिक इंद्रियोंका नाश करना, इन कार्योंसे इसको मतिज्ञानावरणका और श्रुतज्ञानावरण कर्मका ग्रंथ होता है। जिसका उदय होनेसे यह जीव अतिमंदबुद्धि हो जाता है लक्षवधि जन्मोंकी प्राप्ति होनेपर मति श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेके योग्य शुभपरिणाम जब होते हैं तब कदाचित् विवकको उत्पन्न करनेवाली बुद्धि उत्पन्न होती है।

बुद्धि उत्पन्न होने परभी हिताहितका विचार सुझानेवाला धर्मश्रवण प्राप्त होना अतिशय कठिन है राग-द्वेषरहित, समीचीन ज्ञान प्रकाशके द्वारा दुर्भेद्य मोहांधकारको हटानेवाले, संपूर्ण प्राणिमात्रोंपर दया करनेमें उद्युक्त रहनेवाले मुनिराज दुर्लभ हैं इस लिये धर्मश्रवणका पाना दुर्लभ हो रहा है।

तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे गुणिजनोंमें द्वेषभाव उत्पन्न होता है। मिथ्याज्ञानकी प्राप्ति होनेसे दुराग्रह बढ़ता है, मैने जो पदार्थ स्वरूप जान लिया है वहीं सच्चा है ऐसी धारणा होनेसे, आलस्यसे यतिजन स्वपरोद्धारमें प्रवीण रहते हैं इसका परिज्ञान न होनेसे यह जीव यतिराजोंके पास जाता नहीं है। इससे धर्मश्रवणसे इसको वंचित रहना पड़ता है।

कदाचित् पापका उपशम होनेपर यतिजनके पास यह पुरुष जाता भी है वहां नयोंके अनुसार प्रश होता है, प्रशस्त भाषण बोलने वाले गुरुजन धर्मोपदेश देनेपर इसको धर्मश्रवणका लाभ होता है इससे धर्मश्रवण दुर्लभ है यह सिद्ध हुआ। यह जीव यतिके स्थानपर जाकर भी यथेच्छ सो जाता है। अथवा स्वतः दुसरोंके साथ निःसार भाषण करने लगता है मुखोंके भाषण सुनता है विनयका आश्रय नहीं करता है। इस लिये भी आचार्यजीने धर्मश्रवणकी दुर्लभता दिखाई है।

धर्म सुनेपर भी उसका ज्ञान होना दुर्लभ है. क्योंकि श्रुतज्ञानावरण कर्मके उदयसे उपदेशका अभि-  
प्राय जाननेकी यात्रता नहीं रहती है. कभी गुरुका उपदेश पूर्वमे नहीं सुना था, इसलिये मन  
एकाग्र नहीं होता है. जीवादिक तत्त्व दृश्य हैं इसलिये भी मन एकाग्र नहीं होता है श्रुतज्ञानका आधारभूत  
क्षयोपशम प्राप्त होनेपर मन एकाग्र हो सकता है. वक्तोके वचनोंमें सुंदरता होनेसे भी मनमें एकाग्रता उत्पन्न  
होती है. संपूर्ण देश, कुल, आरोग्य दीर्घायु इत्यादिक उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं ऐसा ज्ञान होना कठिन है.

धर्मका स्वरूप जानने पर भी सम्पददर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, दान, पूजा एतत्स्वरूपी  
आत्मपरिणाम ही धर्म हैं यही धर्म अभ्युदय व मोक्षसुखको देता है ऐसी श्रद्धा होना कठिन है दर्शनमोहनीय  
का उदय होनेसे श्रद्धान नहीं होता है. उपदेश, काल, करणलब्धि ये बातें कभी कभी जीवोंको प्राप्त होती हैं  
सर्वदा नहीं हैं.

लब्धेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणत्तासणम्मि ण हु सुलहा ॥

कुपथाकुलो य लोगो जं वलिया रागदोसा य ॥ १८७० ॥

देशादिष्वपि लब्धेषु दुर्लभा बोधिरंजसा ॥

कुपथाकुलिते लोके रागद्वेषचशीकृते ॥ १९४१ ॥

विजयोदया—लब्धेसु वि तेसु पुणो लब्धेऽपि तेसु मनुजभवादिषु बोधिरंजसाभिमुका बुद्धिर्न सुलभा प्रबलत्वात्सं-  
यमधातिकर्मणः । कुमार्गाकुलत्वात् लोकस्य द्यूनामाचरणमेव प्रमाणयन् यत्किंचनाचरति, बलवतश्च रागद्वेषा ज्ञानश्रद्धा-  
नोपेतमपि न सन्मार्गे ढीकितुं वदति ॥

मूलार्थ—कुपथाकुलो लोको हि बहूनामेवाचरणं प्रमाणयन् यत्किंचनाचरति । दृष्टानुसारी च प्रायेण जनः  
स्वकार्ये युष्मति । वलिया तत्त्वज्ञानश्रद्धान्तोति सदाचरणानुचरणप्रतिबंधकत्वात् ॥

अर्थ—मनुजभव वगैरहकी प्रार्ति होनेपर भी जिनधर्ममें दीक्षा धारण करनेकी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती  
है. संयम धारण करनेकी बुद्धि प्राप्त होना बहुत कठिन है क्योंकि संयमधात करनेवाला कर्म प्रबल रहता है.  
लोक प्रायः बहुत लोगोंका आचरण देखकर वैसा स्वयं भी आचरण करते हैं अन्य जनोंका आचरण योग्य है

या नहीं इसका विचार ही नहीं करते हैं, लोग कुमार्गपर चलते हैं उस कुमार्गसे वे आकुल हो रहे हैं, उनको देखकर यह अज्ञ भी वैसा ही कुछ भी आचरण करता है, जीवमें रागद्वेष प्रबल हैं वे सन्मार्ग पर इसको चलने नहीं देते हैं, ज्ञान और श्रद्धानसे युक्त होनेपर भी यह जीव सन्मार्ग से पराङ्मुख होता है-

इय दुल्लहा पवोहीए जो पमाइज्ज कह वि लद्धाए ॥  
सो उल्लट्टइ दुक्खेण रदणगिरि सिहरमारुहिय ॥ १८७१ ॥  
इत्थ यो दुर्लभां बोधिं लब्ध्वा तत्र प्रमाद्यति ॥  
रत्नपर्वतमारुह्य ततः पतति नपुंथीः ॥ १९४२ ॥

विजयोदया—इय दुल्लहा पवोहीए उक्तेन क्रमेण दुर्लभायां दीक्षाभिमुख्यायां बुद्धौ लब्धायामपि यः प्रमाद्यत्य-  
सौ रत्नगिरिशिखरमारुह्य ततः पतति प्रमादी ॥

एवं दुर्लभां बोधिं लब्ध्वापि प्रमाद्यंतमनुशोचति—  
मञ्जारा—वल्लट्ठदि पतति । रयणगिरिसिंहरं मेरुद्वीपम् ॥

अर्थ—ऊपर कहे गुजम दीक्षाभिमुख बुद्धि दुर्लभ है, उसकी प्राप्ति होनेपर भी यदि कोई जीव प्रमादी  
बनेगा तो रत्नपर्वतके शिखरपर चढ़कर फिर उससे वह गिरता है ऐसा समझना चाहिये-

फिडिदा संती बोधी ण य सुलहा होइ संसरंतस्स ॥  
पडिद समुद्दमब्बे रदणं व तमंघयारम्मि ॥ १८७२ ॥  
नष्टा प्रमादतो बोधिः संसारे दुर्लभा भवेत् ॥  
नष्टं तमसि सद्रत्नं पयोधौ लभ्यते कथम् ॥ १९४३ ॥

विजयोदया—फिडिदा संती बोधिर्विनष्टा सती दीक्षाभिमुखा बुद्धिः पुनर्न सुलभा भवति संसरतः । अंधकारे  
समुद्रमध्ये पतितं रत्नमिव ।

उक्तार्थसमर्थनार्थमाह—

मूलारा—किंविदा विनष्टा ॥

अर्थ—यह दीक्षाकी बुद्धि नष्ट होनेपर फिर मिलती नहीं है अंधकारमें समुद्रमें रत्न फेक देनेपर जैसे पुनः रत्न नहीं मिलता है, वैसे दीक्षासे बुद्धि हट जानेपर पुनः दीक्षा धारण करना बुरा है

ते घण्णा जे जिणवर दिट्ठे धम्मस्मि होंति संबुद्धा ॥

जे य पवण्णा धम्म भावेण उवट्ठिदमदीया ॥ १८७३ ॥

विपुलसुफलानां कल्पने कल्पवल्ली भवसरणतरूणां कल्पने या कुठारी ॥

भवति मनसि शुद्धा सा स्थिरा शुद्धबोधिः फलममलमलभि प्राणितव्यस्य तेन ॥ १९४४ ॥

इति बोधिः ।

विजयोदया—स्पष्टोत्तरा गाथा ॥ बोधित्ति ॥

जिनोकधर्मे संबुद्धान्भावैन परिणताश्च परिणौति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥ बोध्यनुपेक्षा ॥

अर्थ—जो पुरुष जिनेश्वरने कहे हुए धर्ममें प्रबुद्ध होते हैं वे धन्य हैं, तथा जिन्होंने प्रबुद्ध होकर जैन धर्मका आचरण किया है—करते हैं अर्थात् हृदयसे जिन्होंने जैन धर्मको अपनाया है ऐसे महात्मा इस ससारमें धन्यताके पात्र हैं, अनुपेक्षाओंका वर्णन समाप्त हुआ

प्रस्तुतमर्थमुपसहरति—

इय आलंबणमणुपेहाओ धम्मरस होंति ज्ञाणरस ॥

ज्ञायंतो ण वि णस्सदि ज्ञाणे आलंबणेहिं मणी ॥ १८७४ ॥

द्वादशापीत्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानानवलम्बनम् ॥

नालम्बनं विना चित्तं स्थिरतां प्रतिपद्यते ॥ १९४५ ॥

विजयोदया—इयं आलम्बनं एवमालम्बनं भवत्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य ध्याने प्रवृत्तौ न विप्रणश्यति ध्याननिमित्तालम्बनेभ्यो यति । यो हि यद्वस्तुस्वरूपे प्रणिहितचित्तं सततं वस्तुयायात्स्यात्यव्यवृते तस्य विस्मरणात् ॥

एवं द्वादशाध्यनुप्रेक्षा निरूप्य प्रस्तुतेन योजयति ।

मूलारा—ज्ज्ञाने आलम्बनेहि ध्याननिमित्तालम्बनान्याश्रित्य ध्यायन्न विनश्यति । ध्यानान्न प्रच्यवते इत्यर्थः ।

इसी विषयका उपसंहार—

अर्थ . धर्मध्यानमें जो प्रवृत्ति करता है उसको ये द्वादशानुप्रेक्षा आधाररूप है. अनुप्रेक्षाके बलपर ध्याता धर्मध्यानमें स्थिर रहता है. जो जिस वस्तुस्वरूपमें एकाग्रचित्त होता है वह विस्मरण होनेपर उससे विगता है परतु बार बार उसको एकाग्रताके लिए आलम्बन मिल जावेगा तो वह नहीं बिगेगा

ध्यातुरालम्बनवाहुन्य दर्शयत्युत्तरागाथा—

आलम्बणं च वायणं पुच्छणपरिवट्टणाणुपेहाओ ॥

धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सत्त्वाणुपेहाओ ॥ १८७३ ॥

आलम्बणेहिं भरिदो लोगो झाइदुमणस्स खयरस ॥

जं जं मणसा पेच्छदि तं तं आलम्बणं हवइ ॥ १८७६ ॥

आलम्बनैर्भृतो लोको ध्यातुकामस्य योगिनः ॥

यदेवालोकते सम्यक् तदेवालम्बनं मतम् ॥ १९४६ ॥

विजयोदया—धम्मस्स आलम्बणेहिं भरिदो ध्यानस्थालवने पूर्णो लोको ध्यातुकामस्य क्षपकस्य यद्यनमनसा पश्यति तत्तदालम्बनं भवति ॥

विध्यासोरालम्बनवाहुल्यमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

ध्याताको ध्यानके लिए अनेक आलंबनोंकी आवश्यकता है इस विषयका विवेचन—  
अर्थ—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा ये सब धर्मध्यानके आलंबन हैं. इनके आश्रयसे धर्मध्यान उन्नत दशाकी प्राप्ति कर लेता है. इस लिए पूर्वोक्त द्वादशानुप्रेक्षाएँ भी धर्मध्यानके अनुकूल ही हैं धर्मध्यान करनेकी इच्छा करनेवाले यतिराजको यह संपूर्ण लोक भी आलंबन है क्षपक जो जो चीज देखेगा वह २ ध्यानकी आलंबनभूत होगी.

धर्मध्यान व्याख्याय ध्यानांतर व्याख्यातुमुत्तरप्रवचः—

इच्चेवमदिक्रतो धामज्झाणं जदा हवइ खवओ ॥

सुक्कज्झाणं ज्ञायदि तत्तो सुविसुद्धलेस्साओ ॥ १८७७ ॥

धर्मध्यानमतिक्रान्तो यदा भवति शुद्धधीः ॥

शुद्धलेइयस्तदा ध्यानं शुक्लं ध्यायति सिद्धये ॥ १९४७ ॥

विजयोदया—इच्चेवमदिक्रतो धर्मध्यानमेव व्यावर्णितरूपमतिक्रान्तो यदा भवेत् क्षपक' शुक्लध्यानमसौ-  
ध्यायति सुविशुद्धलेइयासमन्वितः ॥ परिणामश्रेण्या हि उत्तरोत्तरानुगुणतया स्थित । क्रमेणैव प्रवर्तते न हि प्रथमे सोपाने  
स्थापितचरणः, द्वितीयादिक सोपानमारोहं प्रभवति ॥ एवमप्रमत्तो धर्मध्याने प्रवृत्त एव शुक्लध्यानमद्वतीति सुवेणा-  
नेन ज्ञापितं ॥

एवं धर्मध्यानं व्याख्याय शुक्लं प्रवर्धेन व्याविख्यासुरप्रमत्तो धर्म्यं शुक्लमद्वतीति ज्ञापयति —

मूलारा—सुविसुद्धलेस्साओ परिणामश्रेण्या ह्युत्तरोऽनुगुणतया स्थितोपक्रमेणैव प्रवर्तमानो न हि प्रथमे सोपाने  
स्थापितपादो द्वितीयादिकं सोपानमारोहं क्षमते—

धर्मध्यानके अनंतर शुक्ल ध्यानका सविस्तर आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिसका स्वरूप पूर्वमें वर्णित हुआ है ऐसे धर्मध्यान के अनंतर क्षपक शुक्लध्यानका चिंतन करता है तब विशुद्ध लेख्यायुक्त होता है अर्थात् उस ध्याताके परिणामोंमें क्रमसे अधिकाधिक निर्मलता आती है, जैसे जिसने प्रथम सोपान पर पैर रखा है वह दूसरे सोपानपर आरुढ़ नहीं हो सकता है अर्थात् प्रथम सोपानपर आरुढ़ होकर ही द्वितीय सोपानपर-सिंहीपर अनंतर पैर रख सकता है वैसे यहाँ भी धर्मध्यान के

अनन्तर अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती क्षणिक शुक्लध्यानमे प्रवेश कारता हे विना धर्मध्यानके शुक्लध्यानका चिन्तन ध्याता नहीं कर सकता है.

चतुर्विधशुक्लध्यानं नामतो दर्शयति गायद्द्वयम् ॥

ज्ज्ञाणं पुधत्तसवितक्कसवीचारं हवे पढमसुक्कं ॥

सवितक्केक्कत्तावीचारं ज्ज्ञाणं विदियसुक्कं ॥ १८७८ ॥

विजयोदया—ज्ज्ञाण पुधत्तसवितक्कसवीचार ध्यानं पृथक्त्वसवितर्कसवीचारं प्रथमशुक्लं भवति । सवितक्केक्कत्तावीचारं सवितर्कसवीचार द्वितीय शुक्लध्यानं ॥

शुक्लध्यानस्य चतुरो भेदानामतो दर्शयितुं गायद्द्वयमाह—

मूलारा—पुधत्तसवितक्कसविचार पृथक्त्वस्य वितर्कं सविचार यत्र तत्पृथक्त्वसवितर्कसविचार । पृथक्त्व-वितर्कवीचारमिति प्रथमशुक्लस्यान्वयं नामेत्यर्थः । उक्तं चार्पे—

पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र तद्विदुः ॥ सवितर्कसवीचारं पृथक्त्वादिपदाह्वय ॥

सवितर्कसवीचार सवितर्कमेकत्वमवीचारं यत्र तत्सवितर्कसवीचारं एकत्ववितर्कवीचारमिति द्वितीयशुक्ल-स्यान्वयं नामेत्यर्थः ।

उक्तं चार्पे—एकत्वेन वितर्कस्य स्यान्न च विचरिण्युता ॥ सवितर्कमवीचारमेकत्वादिपदाभिधम् ॥

सुहुमकिरियं खु तदियं सुक्कज्ज्ञाणं जिणेहिं पणत्तं ॥

वेति चउत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥ १८७९ ॥

गद्य-पृथक्त्ववितर्कवीचारैकत्ववितर्कवीचारसूक्ष्मक्रियासमुच्छिन्नक्रिया-णि त्र्येकयोगकाययोगायोगाध्ययानि चत्वारि शुक्लानि यथार्थानि ॥ १९४ ॥

विजयोदया—सुहुमकिरियं तु तदियं तृतीय शुक्लध्यानं जिने प्रज्ञप्त सूक्ष्मक्रियमिति, वेति चउत्थ सुक्कं शुक्लं चतुर्थं शुक्लं जिना समुच्छिन्नक्रिया ॥

एव द्विभेदं शुक्लं निरूपय द्विविधं परमशुक्लं निरूपयति—

मूलारा—सुदुर्माकरियं सूक्ष्मा क्रिया कायव्यापारो यत्र तत्सूक्ष्मक्रियमन्वर्थानाम्ना तृतीयशुक्लं श्रुते प्रसिद्ध ।  
समुच्छिन्नक्रियनित्यन्वयं चतुर्थं शुक्लमाख्यायते ॥

चार शुक्लध्यानार्थके नाम दो गाथाओंसे कहते हैं—

अर्थ—पृथग् सवितर्क सर्वचार नामक प्रथम शुक्लध्यान, सवितर्कैकत्ववीचार नामक दूसरा शुक्ल-  
ध्यान, सूक्ष्मक्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यान, समुच्छिन्न क्रिया नामक चौथा शुक्लध्यान ऐसे जिनेश्वरने शुक्ल-  
ध्यानके चार भेद कहे हैं।

पृथग्त्वसवितर्कसर्वीचार व्याचष्टे गाथात्रयेण—

दब्बाइं अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्ञायंति ॥  
उवमंतमोहणिज्जा तंण पुधचंत्ति त भणिया ॥ १८८० ॥  
वितर्को भण्यते तत्र श्रुतध्यानविचक्षणैः ॥  
अर्थव्यजनयोगानां वीचार संकमो बुधैः ॥ १९४९ ॥  
तत्र द्रव्याणि सर्वाणि ध्यायता पूर्ववेदिना ॥  
भेदेन प्रथमं शुक्ल शान्तमोहेन लभ्यते ॥ १९५० ॥

विजयोदया—दब्बाइ अणेयाइ तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्ञायति द्रव्यान्येकानि त्रिभिर्योगै परावर्तमाना येन  
चित्तयत्युपशान्तमोहनीयास्तेन पृथक्त्वमिति प्रथमध्यानसुक्त, एतदर्थं कथयति—अन्यदन्यद्रव्यमवलम्ब्य प्रवृत्तेनान्येनान्येन  
योगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवतीति पृथक्त्वव्यपदेशो ध्यानस्येति ॥

प्रथमशुक्लनाम गाथात्रयेण निर्विषणुः प्रथम तत्पृथक्त्वं व्यवस्थापयति—

मूलारा—अणेगाइ द्विद्र्यादीनि । तीहिं वि जोगेहिं त्रिभिरपि योगैर्मनोवाक्यव्यापारैः परावर्तमानाः । उवसत्त  
मोहणिज्जा उपशान्तमोहनीयकर्मणः । त्रियोगैरुपशान्तमोहैः प्रथमं शुक्लं साध्यते इत्यर्थः । पुधचंत्ति अन्यदन्यद्रव्यम-  
वलम्ब्य प्रवृत्तेनान्येनान्येनयोगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवति इति पृथक्त्वमित्युक्तमित्यर्थः ॥

पहिले शुक्लध्यानका तीन गाथाओंसे आचार्य निरूपण करते हैं—

अर्थ—इस पृथक्त्व सवितर्क सविचारध्यानमें अनेक द्रव्य विषय होते हैं और इन विषयोका विचार



चित्तन करते समय मनोयोग वचन योग और काययोग इन योगोंका परिवर्तन होता है अर्थात् उपशांत मोहनीय मुनि कभी मनोयोगके आश्रयसे, कभी वचनयोगसे और कभी काययोगसे भिन्न भिन्न द्रव्योंका विचार करता है ध्यानमें विषयभिन्नता, योगभिन्नता और वचनभिन्नता रहती है, इस वास्ते इस ध्यानका पृथक्त्व सवितर्क सविचार ऐसा आचार्य कहते हैं-

जम्हा सुदं वितर्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ॥

ज्जायदि ज्जाणं एदं सवितर्कं तेण तं ज्ञाणं ॥ १८८१ ॥

विज्ञयोक्त्वा—जम्हा सुदं वितर्क यस्मात् श्रुतं वितर्कं यस्मात् पूर्वगतार्थकुसलो ध्यानमेतत्प्रवर्तयति । तेन तत् ध्यानं सवितर्कं । चतुर्दशपूर्वाणां श्रुतत्वात्तदुपदिष्टार्थ ॥ साहचर्यात् वितर्कशब्देनोच्यते । तेन वितर्कणार्थश्रुतेन ध्येयेन सह वर्तत इति श्रुतज्ञानमवावलय्य सवितर्कमित्युच्यते अथवा वितर्कशब्द श्रुत तद्वत्तुत्वात् । श्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं सह कारणेन श्रुतेन वर्तत इति सवितर्कं ॥

सवितर्कमिति समर्थयते—

मूलारा—पुव्वगदअत्थकुसलो सकलसन्नार्थे पटुः । सवितर्कं वितर्कोऽत्र श्रुतत्वाच्चतुर्दशपूर्वाणि तत्साहचर्याच्च तदुपदिष्टोऽर्थो वितर्कशब्देनेष्टः । सह वितर्केण चतुर्दशपूर्वोपविष्टार्थश्रुतेन ध्येय वर्तते इति सवितर्कम् ॥ अथवा वितर्कः । शब्दश्रुतं तद्वत् । प्राक्श्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं । सह वितर्केण कारणेन श्रुतेन वर्तते इति सवितर्कं ॥

अर्थ—इस ध्यानका स्वामी १४ पूर्वोक्त ज्ञाता मुनि होते हैं श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं, अर्थात् चौदा पूर्वोक्ता जो ज्ञान उसको श्रुतज्ञान कहना चाहिये, पूर्वोक्त जो विषय कहा गया है उसकोभी ज्ञान के साहचर्यसे श्रुत कहते हैं जैसे यष्टिके साहचर्यसे पुरुषकोभी यष्टि कहते हैं, इस श्रुतविषयकोभी वितर्क कह सकते हैं, यह विषय ध्येय है, तात्पर्य—यह है कि श्रुतशब्द पूर्वज्ञानका व तद्वत् विषयकाभी वाचक है ऐसा समझना चाहिये यह श्रुत ज्ञान इस ध्यानका कारण है इसलिये इसकोभी ध्यान कह सकते हैं

अत्थाण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो ॥

तस्स य भावेण तयं सुत्ते उत्तं सवीचारं ॥ १८८२ ॥-



फलं स्यान्मोहनीयस्य प्रक्षयः प्रशमोऽपि वा ॥  
प्रशान्तक्षीणमोहेषु श्रेण्योः शेषगुणेषु च ॥  
यथाम्नायमिदं ध्यानमामनंति मनीषिणः ॥

भवति चात्र वृत्तम्—

द्रव्य भावमथातिसूक्ष्ममधियन्युक्त्या वितर्कं स्फुरन् ॥  
अर्थव्यजनमंगरीरपि पृथक्त्वेनापि संक्रामता ॥  
कर्मज्ञाननवस्थितेन मनसापूर्णभिर्कोत्साहवत् ।  
कुठेन दुर्भिषाणुगः परशुता छिदन्यतिर्मे गतिः ॥

विचार शब्दका स्पष्टीकरण—

अर्थ—इस ध्यानमें अर्थ के वाचक जो शब्द उनका विचार होता है अर्थात् सक्रमण होता है, वैसे योगोंके सक्रमणको योगसंक्रमण योगवीचार कहते हैं ऐसे विचारोंका सद्भाव होनेसे इस ध्यान को सभीचार कहते हैं जीव, धर्म, अधर्म आकाश, पुद्गल इत्यादि परिमित अनेक द्रव्योंका ज्ञान करानेवाला जो शब्दश्रुत वाक्य उस से यह ध्यान उत्पन्न होता है यह ध्यान एकत्व वितर्क ध्यानेसे भिन्न है क्योंकि एकत्ववितर्क ध्यान एक द्रव्यका ही आलवन लेकर उत्पन्न होता है, यह ग्रथम ध्यान तीन योगोंके सहायसे उत्पन्न होता है और दूसरा शुक्लध्यान फक्त एक योगसे ही उत्पन्न होता है उपशान्त मोहनीय मुनि इस ध्यानका स्वामी है और इतर ध्यानोंके स्वामी क्षीणकपाय मुनि हैं यह ध्यान सवितर्क है इसलिये अवितर्क युक्त जो तीसरा और चौथा ध्यान वह इस ध्यानेसे भिन्न माना जाता है इस ध्यानका पृथक्त्व सवितर्क सभीचार ऐसा नाम है नामसे ही अन्य ध्यानों से यह विलक्षण है ऐसा मालुम पड़ता है

जेणेगमेव दृवं जेणेगेगेण अण्णदरेगेण ॥

स्वीणकसाओ ज्झायदि तेणेगत्तं तयं भणियं ॥ १८८३ ॥

ध्यायता पूर्वदेक्षण क्षीणमोहेन साधुना ॥

एकं द्रव्यमभेदेन द्वितीयं ध्यानमाप्यते ॥ १९५१ ॥

विजयोदया— ज्ञेयमेव दत्तं ज्ञेयगोणेन अण्णदरेण यनेकमेव द्रव्यं अन्यतरेणेकं सदृष्टं, क्षीण कपायो ध्याति तेनैकत्वं तद्वृत्तिरूपं एकद्रव्यालवनत्वात् । अन्यतरेणोपगुप्तेरेवात्मन उत्पत्तेरेकत्वं ध्यान क्षीणकपाय स्वात्मिक भवेत् ॥

द्वितीयशुभलनाम व्युत्पादधिप्यंस्तथैकत्वं समर्थयते—

मूलारा—एगमेव पण्णां मध्ये यत्किंचिद्विष्ट अथवा एकशब्देन प्रधानार्थत्वेन सर्वसद्वृत्त्येवैकं प्रधानमात्मान मेवेत्यर्थः

उक्तं च—

निर्विचारावतारासु चेतःश्रोतःप्रवृत्तिषु ॥

आत्मन्येव स्फुरन्नत्मा तत्सद्व्यानमधीजकम् ॥

एणेन प्रधानतयोपत्तेन । अण्णदरेण त्रयाणां मध्ये येन तेनापि महं वृत्तः । तेन एकद्रव्यालवनत्वेनैकयोगवृत्तिक्षीणकपायस्वामिकत्वेन च । तयं तद्वितीयं शुक्लं एतेन परिमितानेकासर्पपर्यायद्रव्यालवनान्वियोगोपशातमोहप्रथमशुक्लासमस्तवस्तुविषयाभ्यां सयोगयोगकेवलस्थामिकाभ्यां तृतीयचतुर्थशुक्लाभ्यां चास्य भेदः ।

अर्थ—एकत्वं विवर्तमानं विचारा नामक दूसरे ध्यानका स्वरूप इस प्रकार है—इस ध्यानके द्वारा एकही योगका आश्रय लेकर एकही द्रव्यका ध्याता चिंतन करता है इसलिये यहां अर्थमंक्रमण, योगसंक्रमण और शब्दसंक्रमण नहीं हैं इस ध्यानका स्वामी क्षीण कपायी मुनि है तीनयोगोंमें एक ही योग यहां है इससे ही यह ध्यान उत्पन्न होता है एक ही द्रव्य इस ध्यानका आलवन है—

जम्हा सुदं वित्तकं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ॥

ज्झायदि ज्झाणं एवं सवित्तकं तेण तं ज्झाणं ॥ १८८४ ॥

अत्थाण वंजणाण य जोगाणं संकमो हु वीचरो ॥

तस्स अभावेण तयं ज्झाणं अविचारमिति वुत्त ॥ १८८५ ॥

विजयोदया—एकद्रव्यालवनत्वेन परिमितानेकसर्पपर्यायद्रव्यालवनात् प्रथमध्यानासमस्तवस्तुविषयाभ्यां तृतीयचतुर्थोभ्यां च विलक्षणता द्वितीयस्यानया गायया निवेदिता । क्षीणकपायग्रहणेन उपशातमोहस्याभिमूलात् । सयोगयोगकेवलस्थामिकाभ्यां च भेदं सवित्तकता पूर्ववेव । पूर्वव्यावर्णितवीचाराभावादवीचारात्त्व ॥

द्वितीयस्य सवितर्कत्वमाह—

मलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—यह ध्यान एक द्रव्य का ही आश्रय करता है इसलिये परिमित अनेक पर्यायों सहित अनेक द्रव्यों का आश्रय लेनेवाले प्रथम शुक्लध्यानसे भिन्न है, तिसरा और चौथा ध्यान सर्व वस्तुओंको विषय करते हैं अतः इनसे भी यह दूसरा शुक्ल ध्यान भिन्न है ऐसा इस गाथासे सिद्ध होता है. इस ध्यानका स्वामी क्षीण कपायवाला मुनि है पहिले ध्यानका स्वामी उपशांत कपायवाला मुनि है, और तीसरे तथा चौथे शुक्ल ध्यानका स्वामी स्यांग केवली और अयोग केवली मुनि है अतः स्वामित्वकी अपेक्षासे दूसरा शुक्ल ध्यान इन ध्यानोंसे भिन्न है.

तृतीयध्यानमाचष्टे ॥

अवितककमवीचारं सुहुमकिरियबंधनं तदियंसुक्कं ॥

सुहुमस्मि कायजोगे भणिदं तं सज्जभावगदं ॥ १८८६ ॥

विजयोदया—अवितककमवीचारं श्रुतानालयनत्वाद्वितर्कं स्वयं श्रुतज्ञानं भवतीति वा अवितर्कं पूर्वमालयी-कृतादर्थार्थगतौ तालं वनत्वं नाम वीचारो नास्तीति वीचारं, सुहुमकिरियबंधनं सूक्ष्मक्रियास्येति सूक्ष्मक्रिय आत्मसंबंधनमाश्रयोऽप्येति सूक्ष्मक्रियाबंधनं, तृतीयशुक्लं, सुहुमस्मि काययोगे सूक्ष्मकाययोगे सति प्रवृत्तेः, भणितं सूक्ष्मक्रियमिति तं सज्जभावगदं तृतीय शुक्लध्यानं त्रिकालगोचरानंतसामान्यविशेषात्मकद्रव्यपदकयुगपत्प्रकाशानस्वरूपं, युगपत्प्रकाशानमेकमग्नं सुक्ष्मस्येति ॥ एतमुक्ततापि विद्यत इति ध्यानशब्दस्यार्थोऽभिमुखे विद्यते ॥ एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमित्यत्र सूत्रे चिंताशब्दो ध्यानसामान्यवचनः । तेन श्रुतज्ञानं क्वचिद्धानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञानं क्वचिच्छ्रुतज्ञानं क्वचिन्मतिज्ञानं मत्प्रज्ञानं वा, यतोऽविचलत्वमेव ध्यानं, ज्ञानस्य तस्याविचलत्व साधारण सर्वज्ञानोपयोगानां ॥

तस्यैवावीचारत्वं वृत्ते—

मलारा—स्पष्टम् ॥

तीसरे ध्यानका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—तीसरा सूक्ष्मक्रिया नामक शुक्ल ध्यान वितर्करहित अर्थात् श्रुतज्ञान रहित होता है श्रुतज्ञान

का आलवन इस ध्यान में नहीं रहता है। सयोग केवली मुनि का यह ध्यान अवीचार है अर्थात् इस ध्यान में एक पदार्थ का आश्रय लेकर उसको छोड़कर दूसरे पदार्थका आश्रय लेना यह क्रिया नहीं होती है अर्थात् संपूर्ण पदार्थ उनके केवल ज्ञानमें प्रतिक्षण युगपत् जाने जाते हैं अतः यह ध्यान 'अवीचार' है सूक्ष्म क्रिया करने वाला आत्मा इस ध्यान का स्वामी है अर्थात् इस ध्यानमें आत्मा मनोयोग, वचनयोगको सूक्ष्म करता है, यह ध्यान सूक्ष्म काययोग से प्रवृत्त होता है, त्रिकालको विषय होनेवाले जीवादि छह पदार्थोंको युगपत्प्रगट करनेका इस ध्यानका स्वभाव है, युगपत् सर्व पदार्थोंको प्रगट करना यही एकाग्रता इस ध्यान में है, पदार्थ के अभिमुख होना यह ध्यान शब्दका अर्थ है, 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानम्' इस सूत्रमें चित्ता शब्द ज्ञानसामान्यका वाचक है, इसलिये क्वचित् श्रुतज्ञानको ध्यान कहते हैं, क्वचित् केवल ज्ञानको और क्वचित् मतिज्ञानको तथा मत्यज्ञानको और श्रुताज्ञानको भी ध्यान कहते हैं एक पदार्थ पर स्थिर होना यह ध्यान का लक्षण है, यह स्थिरत्व सर्व ज्ञानोपयोगमें है

सुहुमस्मि कायजोगे वटंतो केवली तदियमुक्कम् ॥

झायदि णिहंभिदुजे सुहुमत्तणकायजोगंपि ॥ १८८७ ॥

सर्वभावगतं शुक्लं विलोकितजगत्त्रय ॥

सर्वसूक्ष्मक्रियो योगी तृतीयं ध्यायति प्रभुः ॥ १९५२ ॥

विजयोदया—सुहुमस्मि कायजोगे सूक्ष्मे काययोगे प्रवर्तमान केवली तृतीयं शुक्ल ध्याति निरोधतमपि सूक्ष्मकाययोग ॥

प्रथमं परमशुक्लं अन्वर्थसङ्ख्या लभयति—

मूला—सुहुमकिरियबंधणं सूक्ष्मा क्रिया आत्मा स बंधनमाश्रयो यस्येति सूक्ष्मक्रियबंधनं । भणिदं सूक्ष्मे काययोगे सति प्रवृत्तेस्तत्सूक्ष्मक्रियमिति भणितमिति संबंधः । सव्वभावगदं त्रिकालगोचरतानंतसामान्यविशेषात्मक द्रव्यपट्कयुगपदप्रकाशनस्वरूपं एकमप्र मुंचं यस्येलेकाग्रतायस्य विद्यते इति ध्यानशब्दोऽपि मुख्यो घटते ॥ एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमित्यत्र च सूत्रे चित्ताशब्दो ज्ञानसामान्यवचनः । तेन श्रुतिज्ञानं क्वचिदध्यानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञानं, क्वचिन्मतिज्ञानं, मतिज्ञानं वा यतोऽविचलमेव ज्ञान ध्यानम् । तदुक्तम्—



अयोगकेवली शुक्लं सिद्धिसौधमियासाया ॥  
चतुर्थं ध्यायति ध्यानं समुच्छिन्नक्रियो जिनः ॥ १९५३ ॥

विजयोदया—अविवकमवीचार पूर्वोक्तवितर्कवीचारद्वितत्वात् अविचर्कमवीचारं, अणियट्टि सकलकर्म-  
सातनमकृत्वा न विवर्तते इत्यनिवर्ती । अकरिय समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगपरिस्पन्दनक्रियाध्यापा-  
रत्वात् अक्रियं । सीलेसि शीलानामीश शीलेश यथाख्यातचारित्र शीलेशस्य भावः शैलेइय, तत्सहचारि ध्यानमपि  
शैलेइय । निरुद्धयोग अपश्चिम न विद्यते पश्चाद्भावविध्यानमस्मादित्यपश्चिम । उत्तम सुक परम शुक्ल ॥

द्वितीय परमशुक्ल लक्षयति—

मूलारा —सकलकर्मशतनमकृत्वा न निवर्तते इत्यनिवर्ती । अकरिय अक्रिय समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारं सर्वका-  
यवाङ्मनोयोगसर्वदेशपरिस्पन्दनक्रियाध्यापारत्वात् । सेलेसि शीलानामीशः शीलेशस्तस्य भावः शैलेइय यथाख्यातचारित्रं ।  
तत्सहचार्याङ्गध्यानमपि तद्योक्तम् । निरुद्धजोगं निषिद्धानिःशेःकर्मसिखम् । अपच्छिन्नं न विन्यते पश्चाद्भावविध्यानमस्मादिति  
अपश्चिमम् । उत्तम उत्कृष्टं ससारकारणकर्मनिर्मूलनात् ॥

अर्थ—यह ध्यान वितर्क और विचाररहित है ऐसा पूर्वमें कह चुके हैं जबतक संपूर्ण कर्मका नाश यह  
नहीं करता है तबतक यह निवृत्त नहीं होता है इस ध्यानमें सर्व आसोचल्लासका प्रचार बंद होता है. सर्व काय-  
योग, वचनयोग और मनोयोग यहां नष्ट होते हैं. इस लिये यह ध्यान निष्क्रिय माना गया है यहां अठारह हजार  
शीलके भेद प्रकट होते हैं इस लिये इस ध्यानके ध्याता शीलेश बनते हैं अर्थात् यथाख्यात चारित्रके धारक होते  
हैं यह ध्यान संपूर्ण योगोंका निरोध करनेवाला है इससे संपूर्ण कर्मोंके आस्रव यहां बंद होते हैं इसको सबसे  
उत्तम शुक्ल ध्यान कहते हैं. यह अन्तिम ध्यान कहते हैं. यह अन्तिम ध्यान है

त पुण निरुद्धजोगो सररीतियणासणं करेमाणो ॥

सवणहु अपडिवादी ज्झायदि ज्झाणं चरिमसुक्कं ॥ १८८९ ॥

विजयोदया—तं पुण तच्चतुर्थं शुक्लध्यान । निरुद्धयोग सर्वज्ञ अत्रतिपातिध्यानं ध्याति शरीरत्रिकनाशं कुर्वन्,  
अयोगात्मपरिणाम केवलज्ञानं चतुर्थशुक्लं, तृतीयं तु सूक्ष्मकाययोगपरिणाम. केवलमिति भेदस्तृतीयचतुर्थयो ।



तत्त्वामिफले निर्दिशति—

मूलारा—सरीरतिय औदारिकतैजसकार्मणानि शरीराणि तन्नाशनमेव हि तत्फलं । अप्पडिवादी अप्रतिपत्ति । अयोगात्मपरिणामः । केवलज्ञानं चतुर्थं शुक्लं, तृतीयं तु सूक्ष्मकाययोगात्मपरिणामस्तदिनि तयोर्भेदः । उक्तं चोर्वे—

ततो निरुद्धयोगः सन्योगी स विगताश्रयः ॥

समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमनिवर्ति तदा भजेत् ॥

अन्तर्मुहूर्तमातन्वस्तद्ध्यानमतिनिर्मलम् ॥

वियुताशेषकर्मांशो जिनो निर्बल्यन्तरम् ॥

त्रयोदशस्य कर्मांशः प्रक्षीणाश्रमक्षणे ॥

द्वासप्ततिरुपाले स्थुरयोगपरमेष्ठिन ॥

उर्ध्वं वज्यास्वभावत्वात्समयेनैव नीरजा ॥

लोकान्तं प्राप्य शुद्धात्मा सिद्धचूडामणीयते ॥

अर्थ—यहां संपूर्ण योगोंका निरोध होनेसे औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरोंका नाश होता है. ये सर्व जिनेश्वर अयोगपरिणामात्मक बनते हैं यहां केवलज्ञान योगरहित होता है. तिसरे शुक्लध्यानमें केवलज्ञान योगसहित होता है. ऐसा इन दो ध्यानोंमें अंतर है यह चतुर्थध्यान अप्रतिपत्ति है अर्थात् हमेशा अयोग स्वरूपमेंही रहता है

इय सो खवओ उक्षाणं एयगमणो समस्सिदो सम्मं ॥  
विबुलाए गिज्जराए वट्टदि गुणसेट्ठिमारूढो ॥ १८९० ॥

इत्थं यो ध्यायति ध्यानं गुणश्रेणिगतः शुभम् ॥

निर्जरां कर्मणामेष क्षपकः कुरुते पराम् ॥ १९५४ ॥

विजयोदया—इय सो खवगो एवमसौ क्षपक, एकाग्रचित्त. सम्यग्ध्यानं समाधित्य विबुलाया कर्मनिर्जरायां वर्तते गुणसेट्ठिमारूढो गुणश्रेणीमारूढ. उपशातकपायादिका ॥

प्रकृते योजयन्नुपसंहरति—

मूलारा—समरिसदो समाश्रितः । गुणसेष्टिं सपशक्तकपायादिका ॥

अर्थ—इस प्रकार यह यह क्षपक एकाग्रचित्त होकर उपशांति कपायादि गुणस्थानोपर क्रमसे आरोहण करता हुआ सम्यग्ज्ञानके आश्रयसे बहुत कर्मोंकी निर्जरा करता है

ध्यानमहात्म्यस्तवमार्थ उत्तरप्रबंध ॥

सुचिस वि संकिलिष्टं विहरंतं ज्ञाणसंवरविहूणं ॥

ज्ज्ञाणेण संवुडप्पा जिणदि अहोरत्तमेत्तेण ॥ १८९१ ॥

तपस्यवस्थितं चित्रं चिरं निधर्यानसंवरम् ॥

ध्यानेन संवृतः क्षिप्रं जयति क्षपकः स्फुटम् ॥ १९५५ ॥

विजयोदया—सुचिरमवि संकिलिष्टं विहरंतं पूर्वकोटिकाल देशोऽनं क्लेशसहितचारित्र्योद्यतं ज्ञाणसंवरविहूणं ध्यानाख्येन संवरेण विधीन । जिणदि जयति । अ आहोरत्तमेत्तेण ज्ञाणेण संवुडप्पा अहोरात्रमोक्षेण ध्यानेन संवृतात्मा ॥ ध्यानमहात्म्यं प्रबंधेन स्तोत्रमाह—

मूलारा—सुचिरमवि देशोऽनपूर्वकोटिकालमपि । संकिलिष्टं विहरंतं । क्लेशसहितचारित्र्योद्यतं । सुसुष्ठु संवुडप्पा सवृत्तचित्तो सुसुष्ठुः । जिणदि न्यकरोति ।

ध्यानमहात्म्यकी स्तुति करनेके लिये उत्तर प्रबंध—

अर्थ—कुछ कम कोटि पूर्व वर्षत्क क्लेशसहित चारित्र्य धारण करनेवाला सुसुष्ठु मुनि ध्यानरूपसंवरसे रहित है इस लिये रातदिन ध्यानमे जिनका आत्मा एकाग्र हुआ है उनको नवीन कर्मका संवर होता है. ऐसे मुनि संवररहित मुनिकी अपेक्षासे श्रेष्ठ हैं

एवं कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आउधं ज्ञाणं ॥

ज्ज्ञाणविहूणो खवओ जुद्धेव गिरावुधो होदि ॥ १८९२ ॥

आयुध योगिनो ध्यानं कपायसमरे परम् ॥

निर्ध्यानः संस्तरे युद्धे निरखभटसन्निभः ॥ १९५६ ॥

विजयोदया—एवं कसायजुद्ध हि कपायसंप्रहारं ध्यानमायुधं क्षपकस्य भवति । ध्यानहीन क्षपक युद्धे निरायुध इव न प्रतिपक्ष ग्रहंतुमलं कपायविनाशकारित्वं ध्यानस्यानया कथितं ॥

ध्यानस्य कपायविनाशकत्वमाह—

मूलारा—आवय प्रहरणम् ॥

अर्थ—कपायोंके साथ युद्ध करते समय ध्यान मुनिकों शस्त्रों के समान उपयोगी होता है अर्थात् ध्यान-रूप खड्गसे संयमी मुनि कर्मोंका सवर और निर्जरा करते हैं शस्त्ररहित वीर पुरुष युद्धमें शत्रुका नाश नहीं कर सकता है, वैसे ध्यानके विना कर्गशत्रुको मुनि नहीं जीत सकते हैं कपायोंको नष्ट करनेका सामर्थ्य ध्यानमेंही है ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है

रणभूमीए कवचं होदि ज्ञाण कसायजुद्धमि ॥

जुद्धे व निरावरणो ज्ञाणेण विणा हवे खवओ ॥ १८९३ ॥

कपायसयुगे ध्यानं सुसुक्षो. कवचो दृढः ॥

ध्यानहीनस्तदा युद्धे नि.ककटभटोपमः ॥ १०५७ ॥

विजयोदया—रणभूमीण युद्धभूमौ कवचवत्कपाययुद्धे ध्यानं कवचो भवति तन्तेन कपायपीडास्तदा करोति ध्यानमित्याख्यात । ध्यानाभावो दापमाचष्टे । जुद्धे व निरावरणो युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना क्षपकः ॥

ध्यानस्य कपायपीडारक्षकत्वमाह—

मूलारा—निरावरणे सत्राहरहितः ।

अर्थ—रणभूमीमें कवच जैसा रक्षण करता है वैसे कपायके साथ युद्ध करते समय कवचके समान ध्यान मुनिका रक्षण करता है.

कपायसे होने वाली पीडाका नाश ध्यान करता है इसलिये ध्यानमें रक्षकत्व गुण है ऐसा इस गाथासे सिद्ध

होता है. युद्धमें कवचरहित पुरुषका चाणादिकोंके महारसे रक्षण नहीं हो सकता है वैसे ध्यानसहित मुनि कपायशत्रुसे अपना रक्षण नहीं कर सकते हैं.

ज्ज्ञाणं करेइ खवयस्सोवट्ठं विहीणचेट्ठस्स ॥

धेरस्स जहा जंतस्स कुणदि जट्ठी उवट्ठं ॥ १८९४ ॥

ध्यान करोत्यवष्टम्भ क्षीणचेष्टस्य योगिनः ॥

दंडः प्रवर्तमानस्य स्थविरस्येव पावनः ॥ १९५८ ॥

विजयोदया—ज्ञाण करोदि ध्यानं करोति क्षयकस्योपष्टम्भ हीनचेष्टस्य स्थविरस्य गच्छतो यथा करोति यष्टिरुपष्टम्भं ॥

ध्यानस्य बलदायित्वं गाथाद्वयेन सदृशान्तं स्फुटयति—

मूलारा—उवट्ठं कपायनिर्जये बलाधानं । विहीणचेष्टस्स मनोवाक्कायैश्चारित्रं साधयितुमशक्तस्य ।

अर्थ—जैसे निर्बल बूढ़को गमन करते समय लाठी मदत करती है वैसे मन वचन और शरीरसे चारित्र साधनेमें असमर्थ मुनिको ध्यान मदत करता है

मल्लस्स णेहपाणं व कुणइं खवयस्स दढवलं ज्ञाणं ॥

ज्ञाणविहीणो खवओ रंगे व अपोसिवो मल्लो ॥ १८९५ ॥

चलं ध्यान यनेधत्ते मल्लस्येव घृतादिकम् ॥

समोऽपुष्टेन मल्लेन ध्यानहीनो यतिर्मतः ॥ १९५९ ॥

विजयोदया—मल्लस्स णेहपाणं घ मल्लस्य स्नेहपात्रमिव क्षयकस्य ध्यान करोति, ध्यानहीन अपोसिवो मल्ल इव न प्रतिपश्य जयति ॥

मूलारा—रंगे बाहुयुद्धोपक्रमे ॥

अर्थ—दूध, घी वर्गरह स्नेहयुक्त पदार्थ खानेसे मल्ल जैसे पुट होता है और बाहुयुद्धमें अपने प्रति-

पक्षीको धराशायी करता है. वैसे ध्यानभी योगी मुनिओंमें बल उत्पन्न करता है जिसमें वे कर्मशत्रुका नाश करनेमें समर्थ होते हैं स्नेह पदार्थके अभावसे क्रोध हुआ मल्ल शत्रुको नहीं जीत सकता है वैसे ध्यानहीन क्षणक कषाय शत्रुको -कर्म शत्रुको नहीं जीत सकते हैं.

वइरं रदणेसु जहा गोसीसं चंदणं व गन्धेसु ।  
वेरुलियं व मणीणं तह उद्धानं होइ खवयरस ॥ १८९६ ॥

वज्रं रत्नेषु गोशीर्षं चंदने च यथा मतम् ॥  
ज्ञेयं मणिषु वैडूर्यं यथा ध्यानं व्रतादिषु ॥ १९६० ॥  
विजयोदया—चेर रदणेषु जहा रत्नेषु वज्र गधद्रव्येषु गोशीर्षं चंदने । मणिवैडूर्यमिव क्षणकस्य ध्यानं । सर्वेषु-

दर्शनचरित्रतपस्सु सारभूत ॥

ध्यानस्य दर्शनचारित्रतपस्सु सारभूतत्वं दृष्टातत्रयेण द्योतयति—  
मूलारा—वइरं हीरक । रयणं पद्मारागादिषु । गोसीस गोशीर्षाख्य गंधेषु गधद्रव्येषु । सारभूते । वेरुलियं वैडूर्य । मणीण मोलिकादीना । ज्झाणं सम्यक्त्वादिषु सुक्त्यंगेषु मध्ये प्रधानम् ॥

अर्थ—जैसे रत्नोंमें वज्ररत्न श्रेष्ठ है, सुगंधि पदार्थोंमें गोशीर्ष चंदन उत्कृष्ट है, मणिओंमें वैडूर्य रत्न उत्तम है वैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपोंमें ध्यानही सारभूत-सर्वोत्कृष्ट है

ज्ञाणं किलेससावदरक्खा रत्नत्वाच्च सावदभयम्मि ॥  
ज्ञाणं किलेसवसणे भित्तं भित्तव वसणम्मि ॥ १८९७ ॥  
कषायव्यसने भिन्न कषायव्यसालरक्षणम् ॥  
कषायमारुते गंहं कषायज्वलने हुदं ॥ १९६१ ॥

विजयोदया—ज्ञाणं किलेससावदरक्खा रत्नत्वाच्च सावदभयम् रक्षा श्वापदाना रक्षेव ध्यानं किलेशव्यसने भिन्न व्यसने भिन्नमिव ॥

मूलारा—वसणम्मि आपदावर्ते ॥

अर्थ—यह ध्यान संकेशपरिणामरूप श्वापदोंसे मुनिओंकी रक्षा करता है. जैसे श्वापदों के भयसे हम अपनी रक्षा कर लेते हैं जैसे संकटों में मित्र सहायक होकर संकटों से बचाता है वैसे संकलेश परिणामरूप संकटोंसे ध्यान आत्माका रक्षण करता है.

ज्झाणं कसायवादे गम्भघरं मारुदेव गम्भघरं ॥

झाणं कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥ १८९८ ॥

झाणं कसायडाहे होदि वरदहो दहोव डाहम्मि ॥

झाणं कसायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥ १८९९ ॥

झाणं कसायपरचक्कभाए बलवाहणद्धुओ राया ॥

परचक्कभाए बलवाहणद्धुओ होइ जह राया ॥ १९०० ॥

झाणं कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिगिछिंदे कुसलो ॥

रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्स तिगिछिंदे कुसलो ॥ १९०१ ॥

झाणं विसयलुहाए य होइ अण्णं जहा लुहाए वा ॥

झाणं विसयतिमाए उदयं उदयं व तण्हाए ॥ १९०२ ॥

कषायार्कातपे छाया कषायशिशिरेज्जलः ॥

कषायारिमये आणं कषायव्याधिभेषजम् ॥ १९६१ ॥

तोय विषयतृष्णायामाहारो विषयक्षुदि ॥

जायते योगिनो ग्यानं सर्वोपद्रवसूदनम् ॥ १९६२ ॥

स्पृष्टार्थोत्तराया ॥

मूलारा—गन्धमघरं गृहंतवर्त्यपवरकः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

मूलारा—बलवाहणदुओ राओ सैन्येन हस्त्यादिवाहनेन च समृद्धो नृपः ॥

मूलारा—तिग्निच्छिन्दे चिकित्सायां ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जैसे हवासे गर्भगृह बचाता है वैसे कषायरूपी हवासे ध्यान मुनिको गर्भगृहके समान बचाता है।  
सूर्यके संतापसे पानीका द्रव पुरुषोंका बचाता है वैसे ध्यान कषायरूपी संतापसे आत्मको बचाता है। जैसे  
अग्निसंतापसे पानीका द्रव पुरुषोंका बचाता है वैसे कषायरूपी संतापसे ध्यानरूपी द्रव मुनिको बचाता है। जैसे  
हैं। जैसे जाड़ेसे होनेवाली पीड़ा अग्नि दूर करता है वैसे कषायरूपी जाड़ेसे होनेवाली संक्षेपपीड़ा ध्यानानि क्षण  
भरमें नष्ट कर देता है। जैसे सैन्यसे अर्थात् हाथी, रथ, घोड़े वगैरह सेनासे परिपूर्ण राजा परचक्रके भयसे प्रजाकी  
रक्षा करता है वैसे कषायरूपपरचक्रसे होनेवाली पीड़ा ध्यानरूपी राजा क्षणमें दूर करता है

अर्थ—जैसे रोगकी परीक्षा करनेमें कुशल वैद्य रोग दूर कर मनुष्यको सुखी करता है। वैसे ध्यानभी  
वैद्यके समान कषायरूपरोगकी परीक्षाकर उसको नष्ट करता है। जैसे अन्नसे भूक नष्ट होती है वैसे विषयछुधामी  
ध्यानरूपी अन्नसे दूर होती है। जैसे पानीसे प्यास बुझती है वैसे ध्यानरूपी पानीसे विषयरूपी प्यास शांत होती है।

इय झायंतो खवओ जइया परिहीणवायिओ होइ ॥

आराधणाए तइया इमाणि लिंगाणि दंसेई ॥ १९०३ ॥

आराधनाचबोधार्थ योगी व्यावृत्तिकारणम् ॥

तदा करोति चिन्हानि निश्चेष्टो जायते यदा ॥ १९६४ ॥

विजयोदया—इय झायंतो खवओ एव ध्यानेन प्रवर्तमानः क्षपकः । यदा वस्तुमसमर्थो भवति तदा आराधणाए  
रत्नत्रयपरिणतेरात्मनो लिंगानीमानि दर्शयति ॥

ध्यानपरिणतस्य आसनमरणस्य वाग्रासे प्रकाशयान्याराधनाचिह्नान्याह—  
मूलारा—परिहीणवाचिओ वस्तुमशक्तः ।

अर्थ—इस प्रकार ध्यानसे प्रवृत्ति करनेवाला क्षपक जब बोलनेमें असमर्थ होता है तब रत्नत्रयमें मेरी परिणति होरही है ऐसा अपना अभिप्राय वह हुकारादिकिचिद्धसे निर्यापकाचार्य को बतलाता है

हुंकारंजलिमहुंगुलीहं अच्छीहं वीरमुट्टीहं ॥

सिरचालणेण य तथा सण्णं दावेदि सो खवओ ॥ १९०४ ॥

हुकारांगुलिनेत्रमूढकपांजलिक्रियाः ॥

यथासंकेतमन्यग्रः क्षपकः कुरुते सुधीः ॥ १९०५ ॥

विजयोदया—हुकारंजलिमहुंगुलीहं अच्छीहं हुंकारेण वा अजलिचनया, भ्रक्षेणेण, अंगुलिपचकदर्शनेन उपदेशार्थं प्रति प्रसन्नतया दृष्ट्या किं समाहितचित्तोऽसीत्युक्ते विर कंतेन संज्ञा दर्शयति क्षपकः ॥

मूलरा—अंजलि हस्तद्वयमुकुलीकरण । भ्रशूह भ्रक्षेपः । अंगुलीहं अंगुलिपचकेन । सण्ण प्रसन्नतया दृष्टया । किं समाहितचित्तोऽसीति निर्यापकेण पृष्टे सति स्वचेतनाम् ॥

अर्थ—हुंकारसे, हाथ जोड़नेसे, मोँहें उठाकर, हाथके पाँचों अंगुलिया दिखाकर उपदेशकको अपनी प्रसन्नता दिखाता हूँ तथा अपना मन्तक हिलाकर, व दृष्टिके द्वारा 'क्या तुम्हारा मन प्रसन्न है न इस प्रश्नका उत्तर देता है.

तो पडिचरया खवयस्स दिति आराधणाए उवओगं ॥

जाणंति सुदरहरसा कदमण्णा कायखवएण ॥ १९०५ ॥

संकेतवन्तः परिचारकास्ते चेऽविशेषेण विदन्ति साधोः ॥

आराधनोद्योगमेवेतशास्त्रा धूमेन चित्रांशुमिव ज्वलन्तम् ॥ १९०६ ॥

इति ध्यानम्

विजयोदया—तो पडिचरया ततः प्रतिचारकास्तस्य क्षपकस्याराधनायामुपयोगं जानन्ति श्रुतरहस्याः क्षपकेण कृतसंकेता ॥ श्रानत्ति



मूलारा—तो हुंकारादिकरणात् । सुदरहरसा ज्ञातशास्त्रान्तस्तत्त्वाः । कदसंकेदा वक्तुमशक्तोऽहं निजरत्नत्रयपरि  
णतिं शुष्मान्हुंकाराद्यन्यतमेन ज्ञापयिष्यामीति कृतः प्रागेव विहितः संकेतः समयः येषां ते कृतसंकेताः । उक्तं च—

सकेतवतः परिचारकास्ते चेष्टाविशेषेण विदंति साधोः ॥

आराधनोद्योगमवेतशास्त्रा धूमेन चित्राशुमिव ज्वलंतम् ॥

ध्यान । सूत्रतः ३७ । अंकतः २०२ ॥

अर्थ—जिनको शास्त्रका अंतस्तत्त्व मालुम हुआ है ऐसे परिचारक मुनि क्षपकके संकेतोंसे चारो आराधना-  
ओंमें क्षपकका उपयोग है ऐसा जानते हैं, ध्यानका वर्णन समाप्त हुआ.

लेख्याया संबंध करोति—

इय समभावमुवगदो तह ज्ञायतो पसत्तज्ञाणं च ॥

लेखसाहिं विसुज्झतो गुणसेहिं सो समासहदि ॥ १९०६ ॥

इत्थ समत्वमापन्नः शुभध्यानपरायणः ॥

आरोहति गुणश्रेणीं शुद्धलेख्यो महामनाः ॥ १९६७ ॥

विजयोदया—इय समभावमुवगदो एवं समचित्तता गत प्रशस्तध्यानं प्रवर्तयेत्, लेख्याभिर्विशुद्धगुणश्रेणी-  
मारोहति ॥

अय यथोक्तविधिना साम्यमधिष्ठाय तथा प्रशस्तध्यानैकतानमानसीभवता क्षपकेण समधिगम्या लेख्याविशुद्धिं  
गाथानां सप्तदशकेन व्याचिख्यासुरादौ तत्फलसंबंधमभिधत्ते—

मूलारा—तु प्रशस्तध्यानमेव ध्येयं न मनागप्यात्तरीद्रे इत्यर्थः । लेखाहिं विसुज्झतो तेजःपद्मशुक्ललेख्यासु  
क्रमेण परिणममाणः कषायभाभैर्विशुद्धपरिणामो भवन्नित्यर्थः ॥

अर्थ—इस प्रकार समताभावको धारण करनेवाला वह क्षपक प्रशस्त ध्यानमें प्रवृत्त होता है. लेख्या  
ओंमें तेज, पद्म और शुक्ललेख्याओंमें परिणत होकर गुणश्रेणीपर आरोहण करता है अर्थात् उत्तरोत्तर अधिक  
निर्मल परिणामोंका धारक होता जाता है.

जह बाहिरलेस्साओ किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स ॥  
 अब्भंतरेस्साओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥ १९०७ ॥  
 किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिणिण अप्पसत्थाओ ॥  
 पइसइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥ १९०८ ॥  
 बाखाभ्यंतरं भेदेन द्वेधा लेइया निवेदिता ।  
 शुभाशुभविभेदेन पुनर्द्वेधा जिनेश्वरैः ॥ १९०८ ॥  
 कृष्णा नीला च कापोती तिस्रो लेइया विगर्हिताः ॥  
 घीरो वैराग्यमापन्नः स्वरिणीरिव मुंचते ॥ १९०९ ॥

विजयोदया—जह बाहिरलेस्साओ कृष्णनीलकापोताश्चेति तिस्र अप्रशस्ताः प्रजहाति वैराग्यमाधनवान्  
 संसारस्मीरुतां परामुपागतः ॥

प्रसिद्धबाह्यकृष्णादिलेश्याप्रदर्शनेन तदितरास्ताः साधयति—

मूलारा— किण्हादी मिथ्यत्वादिकृतास्तीव्रतमादिसंस्कारा जीवस्य कृष्णादयः पटुभावलेइया भवन्ति ॥  
 योगाविरतिमिथ्यात्वकृपायजनितास्तु यः ॥ संस्कार, प्राणिना भावलेइयासौ कथितागमे ॥  
 तीव्रो लेइया स कापोता नीला तीव्रतरश्च सः ॥ कृष्णा तीव्रतमः पीता संस्कारो मंद इत्युच्यते ॥  
 पद्मा मंदतरः शुक्ला स स्यान्मंदतमस्तिमाः ॥ पटुस्यानगतयो वृद्धया प्रत्येक पटुपीरिताः ॥  
 फलार्थिना वृक्षनिर्मूलोच्छेदादिषु तीव्रतमादिकृपायानुरंजिता वाक्कायमनःप्रवृत्तयो भावलेइया व्यववन्ध्यन्ते  
 तत्र वाचि यथा—

निर्मूलस्कंधशाखोपशाखोच्छेदे तरोर्वचः ॥ उच्छ्वये पतितादाने भावलेइया फलार्थिनाम् ॥

एव कायेन मनसि वाऽभ्युद्यम् । तत्कर्मणि यथा —

दुर्महो दुष्टचित्तश्च रागद्वेषादिभिर्युत ॥ कुन्मानवंचनालोभैस्तथानंतानुब्रंभिभिः ॥

चंडः सततवैरश्च निर्दयः कलहप्रियः । मधुमाससुरासक्तः कृष्णलेइयो मतोऽसुमान् ॥

निर्वृद्धिमानवान्मायी मंदो विषयलपटः ॥ निर्विज्ञानोऽलसो भीरुर्निद्रालु परवंचकः ॥  
नानाविधे धने धान्ये सर्ववैवातिमूर्च्छितः । सारंभो नीलया प्राणी लेश्यया संयुतो भवेत् ॥  
बहुशः शोकभीमस्तो रुंयत्यपि च निंदति । असूयन्दूषयन्नित्यं परं परिभवत्यपि ॥  
आत्मानं बहुशः स्तौति स्तूयमानश्च तुष्यति । मन्यमानः परं स्वम्वा न प्रत्येति कुतश्चित् ॥  
हानिं नावैति वृद्धिम्वा वष्टि मृत्यु रणांगणे । श्लाघ्यमानस्तरां दत्ते जीवः कापोतलेश्यया ॥  
सर्वत्र समद्वेवेति कृत्याकृत्यं दिवाहितम् । दयादानरतो विद्वांस्तेजोलेश्यावशोऽसुमान् ॥  
त्यागी क्षातिपरश्चोक्तो मद्रात्मा सरलक्रियः । साधुपूजोद्यतो जीवोऽधिष्ठितः पद्मलेश्यया ॥  
सर्वत्रापि शमोपेतस्त्यक्तमायानिदानकः । रागद्वेषन्यपेतत्मा स्यात्प्राणी शुक्ललेश्यया ॥  
त्यक्तकृष्णादिलेश्याकाः सिद्धिं याता निरापदाः । अतातीतसुखा जीवा निर्लेश्याः परिकीर्तिताः ॥  
कृष्णाद्यशुभभावलेश्योत्रयत्यागयोग्यता दर्शयति—  
मूलारः--कावो कापोती विरागंकरणो वैराग्यभावनावान् । जितेंद्रियो वा ।

नैलादिक लेश्यायै रहती हैं  
अर्थ--जैसे पुरुषके वाह्यमें अर्थात् शरीरमें कृष्ण, नीलादिक रंग दीखते हैं वैसे पुरुषके अर्भ्यतरमें कृष्ण

कर वैराग्यवान् होकर ससारसे अत्यंत भय युक्त होता है।  
अर्थ--कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या ये तीन लेश्यायें अशुभ हैं क्षपक इनका त्याग

तेजो पम्मा सुक्का लेस्साओ तिण्णि विदुपसत्याओ ॥

पडिवज्जेइय कमसो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥ १९०९ ॥

तेजः पद्मा तथा शुक्ला तिस्रो लेश्याः प्रियंकराः ॥

निर्वृत्तिमिव गृह्णाति निर्वाधसुखदायिनीं ॥ १९७० ॥

विजयोदया--तेजो पम्मा सुक्का तेजःपद्मशुक्ललेश्या. प्रतिपद्यते परिपाट्या ॥

तेजोलेख्यादित्रयपरिणतियोग्यतामाह—

मूलारा—तेज तेजोलेख्या । पद्मा पद्मलेख्या ॥

अर्थ—तेजो लेख्या, पद्मलेख्या और शुक्ल लेख्या ये तीन लेख्या प्रशस्त लेख्या है. उत्कृष्ट वैराग्यसे संसारमयको धारण कर यह क्षपक इन तीन लेख्याओंको क्रमसे धारण करता है.

एदेसिं लेस्साणं विसोघणं पडि उवक्कमो इणमो ॥

सवेसिं संगणं विवज्जण सव्वहा होई ॥ १९१० ॥

कुरुव्व सुखहेतुनां सल्लेख्यानां विशोधनम् ॥

यत्संगानामशेषाणां सर्वथापि विवर्जनम् ॥ १९११ ॥

विजयोद्या—पदेसिं लेस्साण पतासा शुभलेख्याना शुद्धिं प्रत्ययमुपक्रमः बाह्याभ्यन्तरसर्वपरित्रहत्याम् ।

शुभलेख्याविशुद्धयुपायमाह—

मूलारा—उवक्कमो उपायः ॥

अर्थ—संपूर्ण परित्रहोका अर्थात् बाह्य और अभ्यन्तर परित्रहोका सर्वथा त्याग करनेसे इन लेख्याओंसे विशुद्धि होती है अर्थात् परित्रहत्यागही लेख्या विशुद्धिका उपाय है.

लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ॥

अज्झवसाणविसोधी मंदकसायस्स णादव्वा ॥ १९११ ॥

लेख्यानां जायते शुद्धिः परिणामविशुद्धितः ॥

विशुद्धिः परिणामानां काषायोपशमे सति ॥ १९१२ ॥

विजयोद्या—लेस्सासोधी लेख्याना शुद्धिः । अज्झवसाणविसोधीए होइ परिणामविशुद्धया भवति । अज्झवसाणविशुद्धी परिणामविशुद्धिश्च । मंदकसायस्स मंदकयास्य भवतीति ज्ञातव्या ॥

उक्तार्थसमर्थनार्थमाह—

मूलारा—अज्झवसाण परिणामः ॥

परिणाम अर्थ—परिणाम निर्मल होनेसे लेश्याओंमें उत्तरोत्तर निर्मलता होती जाती है, तथा मंदकपायी पुरुषके निर्मल रहते हैं.

कपायाणां मंदता कथमित्यत्राह—

मंदा हुंति कसाया बाहिरसंगविजडस्स सव्वस्स ॥

गिण्हइ कसायबहुलो चेव हु सव्वंपि गंथकलिं ॥ १९१२ ॥

मंदीभवन्ति जीवस्य कपायाः संगवर्जने ॥

कपायबहुलः सर्वं गृह्णीते हि परिग्रहम् ॥ १९१३ ॥

विजयोदया—मंदा हुंति कसाया कपाया मंदा भवति, कृतवाहसंगपरित्यागस्य । कपायबहुल एवायं सर्वो जीवः सर्वं ग्रंथकलिं गृह्णाति ॥

कपायमाद्यौपायमाह—

मूलारा—सव्वत्थ मनोवाक्कन्यैः । गंथकलिं ग्रंथ एवासौ कलिञ्च पापवंधनिवधनत्वात् ॥

कपायोंकी मंदता कैसी होती है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जिसेने बाह्यपरिग्रहोंका त्याग किया है उसके कपाय मंद होते हैं, कपायोंसे भरा हुआ जीव ही सम्पूर्ण परिग्रहरूप पातकका स्वीकार करता है

जह इंधणेहि अग्गी वडुइ विज्झाइ इंधणेहि विणा ॥

गंधेहि तह कसाओ वडुइ विज्झाइ तेहि विणा ॥ १९१३ ॥

वृद्धिहानी कपायाणां संगग्रहणमोक्षयोः ॥

अग्नीनामिव काष्ठादिप्रक्षेपणनिरासयोः ॥ १९१४ ॥

विजयोदया—जह इधणेहि अग्गी इधनैर्यथाशिवर्द्धते तैर्विना प्रशाम्यति ग्रंथस्तथा कपायो वर्द्धते, तैर्विना मंदो भवति ॥

ग्रंथाना भावाभावयोः कपायवृद्ध्युपशमनिमित्तत्वं समर्थयते—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—लकड़ीओंसे अग्नि वृद्धिगत होता है परतु उनके अभावमें वह शांत होता है- तथा परिग्रहोंसे कपाय पड़ते हैं और उनके अभावमें वे नष्ट होते हैं

जह पत्थरो पड़ंतो खोभेइ दहे पसणसवि पंकं ॥

खोभेइ पसंतं पि कसायं जीवरस तह गंथो ॥ १९१४ ॥

कपायो ग्रंथसंगेन क्षोभ्यते तनुधारिणाम् ॥

प्रशांतोऽपि नृवादीनां पाषाणेनैव कर्दमः ॥ १९१५ ॥

विजयोदया—जह पत्थरो पड़ंतो यथा पाषाण. पतन् दहे प्रशान्तमपि पंकं क्षोभयति, तथा जीवस्य कपायं ग्रंथाः क्षोभयति ॥

प्रयानां कपायक्षोभणसामर्थ्यं दृढयति—

मूलरा—खोभेदि वदीरयति ॥

अर्थ—जैसे नृदमें पाषाण पड़नेसे तलमागमें दबा हुआ भी कीचड़ क्षुब्ध होकर ऊपर आता है वैसे परिग्रह जीवके प्रशांत कपायोंको भी प्रगट करते हैं.

अव्भंतरसोधीए गंथे नियमेण बाहिरे चयदि ॥

अव्भंतरसद्वलो चैव बाहिरे गेण्हदि दुगंथे ॥ १९१५ ॥

अव्भंतर सोधीए बाहिरसोधी त्रि होदि नियमेण ॥

अव्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥ १९१६ ॥

अतर्विशुद्धितो जीवो बहिर्यथ विमुंचति ॥

अंतरामालिनो बाह्यं शुद्धीते हि परिग्रहम् ॥ १९१६ ॥

अंतर्विशुद्धितो जन्तोः शुद्धिः संपद्यते बहिः ॥

बाह्यं हि कुरुते दोषं सर्वमांतरदोषतः ॥ १९१७ ॥

विजयोदया—अर्धमत्तरसोघीए अभ्यंतरशुद्धया नियमेन बाह्यान्परिग्रहांस्यजति, अभ्यंतरदोषेणैव बाह्यान् कायगतान् दोषान् करोति ।

बाह्यग्रंथानादानयोर्तःशुद्धयशुध्यधीनत्वं आह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

मनःशुद्धयधीनता वाक्कायशुद्धयोरभिषत्ते—

मूलारा—बाहिरे वाक्कायगताम् ॥

अर्थ—अंतरंग शुद्धीसे अर्थात् परिणामोंकी निर्मलतासे बाह्य परिग्रहोंका नियमसे त्याग होता है. अभ्यंतर अशुद्ध परिणामोंसे ही वचन और शरीरसे दोषोंकी उत्पत्ति होती है अंतरंग शुद्धि होनेसे बाहिर्गंग शुद्धि भी नियम पूर्वक होती है यदि अंतरंग परिणाम मलिन होंगे तो मनुष्य शरीरसे और वचनोंसे अवश्य दोष उत्पन्न करेंगे।

जय तंडुलस्स कोण्डयसोधी सतुसस्स तीरदि ण काटुं ॥

तह जीवस्स ण सक्का लिस्सासोधी ससंगस्स ॥ १९१७ ॥

ससंगस्याद्भिः कर्तुं लेश्याशुद्धिर्न शक्यते ॥

अंतराशोधयते केन तुषयुक्तोऽपि तटुलः ॥ १९१८ ॥

विजयोदया—जह तंडुलस्स यथा तटुलस्य अभ्यतरमलशुद्धि. कर्तुं न शक्यते बाह्यतुपसहितस्य । तथा जीवस्य न शक्या लेश्याशुद्धिः कर्तुं सपरिग्रहस्य ॥

समर्थस्य लेश्यानामशक्यशोधनत्वमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जैसे बाह्य तुपसहित तटुलकी अभ्यंतर शुद्धि नहीं होती है. अर्थात् तुप दृष्टनेपर ही तंडुल स्पष्ट होता है वैसे परिग्रहसहित जीवके परिणामोंकी अर्थात् लेश्याओंकी विशुद्धि नहीं होती है

इत उत्तरं लेश्याश्रयेणाराधनाविकल्पो निरूप्यते—

सुक्काए लेस्साए उक्कस्सं अंसयं परिणमिन्ता ॥

जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्साराधओ होई ॥ १९१८ ॥

शुक्लेश्योत्तमांशं यः प्रतिपद्य विपद्यते ॥

उत्कृष्टाराधना तस्य जायते पुण्यकर्मणः ॥ १९१९ ॥

विजयोदया—सुक्काए लेस्साए शुक्लेश्याया उत्कृष्टांशं परिणतो यो यतिमुयेति स नियमात्कृष्टाराधको भवति ।  
लेस्याविशेषवेशनाराधनाविकल्प प्रबंधन ब्रवीति—

मूलारा—वक्रस्सं अंसयं उत्तमभागं । वक्रस्साराधजो । तस्योत्कृष्टाराधनेत्यर्थः । उक्तं च—

शुक्लेश्योत्तमांशं यः प्रतिपद्य विपद्यते ॥

उत्कृष्टाराधना तस्य जायते पुण्यकर्मणः ॥

लेस्याके आश्रयसे आराधनाके विकल्प कहते हैं—

अर्थ—शुक्लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे परिणत होकर जो क्षपक मरणको प्राप्त होता है उस महात्मको नियमसे उत्कृष्ट आराधक समझना चाहिये ।

खाइयदंसणचरणं खओवसमियं च णाणमिदि मग्गो ॥

तं होइ खीणमोहो आराहिचा य जो हु अरहंतो ॥ १९१९ ॥

जे सेसा सुक्काए दु अंसयां जे य पम्मलेस्साए ॥

तेल्लेस्सापरिणामो दु मज्झिमाराधणा मरणे ॥ १९२० ॥

शेषांशान् शुक्लेश्यायाः पद्मायाश्च तथा श्रितः ॥

म्रियते मध्यमा तस्य साधोराराधना मता ॥ २००० ॥

वित्तयोदया—जे सेसा सुक्काए दु असया उत्कृष्टांशादन्ये ये शुक्लेश्याया अंशा ये चापि पब्लेश्याया अंशाः तत्र परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥

मूलारा—सेसा मध्यमाधमौ । जे य ये च त्रयोव्यशकाः ॥

अर्थ—क्षायिक सम्यक्त्व, और चास्त्रि और क्षायोपशमिक सम्पन्नान इन की आराधना करके आत्मा खीणमोही बनता है और तदनंतर अरहंत होता है । ( क्षपक )



अर्थ—शुद्ध लेख्याके मध्यम और जघन्य अंशसे तथा पद्मलेख्याके अंशसे जो आराधक मरणको प्राप्त करते हैं वे वे मध्यम आराधक माने जाते हैं

तेजाए लेस्साए ये अंसा तेसु जो परिणमिता ॥

कालं करेइ तस्स हु जहणियाराधणा भणदि ॥ १९२१ ॥

तेजोलेक्ष्यामधिष्ठाय क्षपको यो विपद्यते ॥

जघन्याराधना तस्य वर्णिता पूर्वसूरिभिः ॥ २००१ ॥

विजयोदया-तेजाए लेस्साए तेजोलेक्ष्याया ये अंशास्तेषु परिणतो यदि कालं कुर्यात् तस्य जघन्याराधना भवति ॥  
मूलारा- स्पष्टम् ॥

अर्थ—पीत लेख्याके जो अंश हैं उनसे परिणत होकर जो मरणवश होते हैं वे जघन्याराधक माने जाते हैं

जो जाए परिणमिता लेस्साए संजुदो कुणइ कालं ॥

तछेसो उववज्जइ तछेस्से चेव सो संगे ॥ १९२२ ॥

प्रतिपद्य तपोवाही यो यां लेक्ष्यां विपद्यते ॥

तछेक्ष्ये जायते स्वर्गे तछेक्ष्यः स सुरोत्तमः ॥ २००२ ॥

विजयोदया—जो जाए यो यया लेक्ष्यया परिणत कालं करोति, स तछेक्ष्य एवोपजायते, तछेक्ष्यासमन्विते स्वर्गे ॥

लेक्ष्याविशेषवशेन स्वर्गविशेषोपपादमाह—

मूलारा- तछेस्सा इत्यादि । यत्र यत्र देवलोके सा सा लेक्ष्या तत्र तत्रोत्पद्यते इत्यर्थः ॥

अर्थ—जो जीव जिस लेक्ष्यासे परिणत होकर मरणको प्राप्त होता है वह उत्तर भवमें उसही लेक्ष्याका धारक होकर स्वर्गमें उत्पन्न होता है

अथ तेउपउमसुक्कं अदिच्छिदो णाणदंसणसमग्गो ॥

आउक्खया दु सुद्धो गच्छदि सुद्धिं चुयकिलेसो ॥ १९२३ ॥

सर्वलेख्याविनिमुक्तः प्राणांस्त्यजति यो यतिः ॥

आयुषो बधनेनेव मुक्तो याति स निर्धृतिम् ॥ २००३ ॥

शुद्धतमा गुणवृद्धिगारिष्ठा भव्यशरीरिनिवेशितचेष्टाः ॥

दूरनिवारितसंस्मृतिवेश्याः कस्य सुखं जनयन्ति न लेख्याः ॥ २००४ ॥

इति लेख्याः ।

विजयोदया—अथ तेजपदमसुषुप्तं अथ तेज पञ्चशुक्लेख्या अतिक्रान्तः अलेख्यतामुपगतः ज्ञानदर्शनसमग्र आयुषः क्षयात् सिद्धिं गच्छति कर्मलेपापगामिद्विशुद्धो निरस्ताशेषकलेशः ॥ लेख्येति ॥

निलेख्यस्य सिद्धिप्राप्तिमाह—

मूलारा—अदिच्छिद्या अतिक्रान्तः । अलेख्यता गत इत्यर्थः ॥

लेख्या सूत्रतः ३८ - अंकतः १७ ॥

अर्थ—तेजो लेख्या, पञ्चलेख्या और शुक्ल लेख्यासि अतिक्रान्त हुआ अर्थात् जो लेख्यारहित अयोगावस्थाको प्राप्त हुआ है जिसके ज्ञान और दर्शन परिपूर्ण होगये हैं ऐसी जीव सर्वकर्मका विनाश होनेसे सपूर्ण संसारकलेश रहित होकर आयुष्यके क्षयसे सिद्धावस्थाको प्राप्त होता है.

एवं सुभाविदप्या ज्ञाणोवगओ पसत्यलेस्साओ ॥

आराधणापडायं हंरइ अविगेणे सो खवओ ॥ १९२४ ॥

अविधेन विशुद्धात्मा लेख्याशुद्धिमधिष्ठितः ॥

प्रवर्तितशुभंध्यानो गृह्णात्याराधनाध्वजाम् ॥ २००५ ॥

विजयोदया—एव सुभाविदप्या एवं सुष्ठु भावितात्मा ध्यानमुपगत प्रशस्तलेख्यापरिणत आराधनापताकां धरत्यविघ्नेन ॥

आराधनाविराधनयोः फलं गाथाभिरकचत्वारिंशता व्याचिख्यासुरादावाराधनाफलं गाथाचतुर्विंशत्या निरूपयन्तुं कार्योपसंहारपुरःसरं सामान्येन तत्फल निर्दिशति—

मूलारा—एवं अर्हलिंगादिपटुत्रिंशक्रियाविशेषविधिना ॥ यतः ॥

अर्थ—इस प्रकारसे जिसने अपने आत्माको सुसंस्कृत किया है शुक्ल ध्यानको प्राप्त हुआ, शुभलेख्यसे परिणत हुआ ऐसा वह क्षपक निर्विघ्नतासे आराधना पताकाको हस्तमें ग्रहण करता है.

तेलोकसव्वसारं चउगइंससारदुक्खणासयरं ॥

आराहणं पवणो सो भयवं मुक्खपडिमुल्लं ॥ १९२५ ॥

ददाति चित्तितं सौख्यं छिनत्ति भवपादपम् ॥

इत्थमाराधना देवी भव्येनाराध्यते सदा ॥ २००६ ॥

चैरेपाराधना देवी सिद्धिसौधप्रवेशिनी ॥

आराधिता न तैर्लोभः को लब्धो भुवनत्रये ॥ २००७ ॥

विजयोदया—तेलोकसव्वसारं वैलोक्ये सर्वस्मिन्सारभूतां चतुर्गतिसंसारदुःखानां शरणीमाराधना प्रपन्नोऽसौ भगवान् मोक्षमप्रतिमोल्य ॥

मूलारा—सो अर्हादिकियाकृतपरिकर्मा, शुभध्यानं कृतानगानसो विशुद्धलेख्यध्वाराधना प्रयतो यवस्ततस्तत्पताकां निर्विघ्नेन हरतीति पञ्चाक्षेन संबंधः—भोक्तृपडिमोहं मोक्षस्य क्रेतव्यस्य परिपूर्णार्थिभूता ॥

अर्थ—इस त्रैलोक्यमें सारभूत, चतुर्गतिरूप संसारदुःखोंका नाश करनेवाली आराधनाको जिसने प्राप्त किया है उस भगवाने जिसका मूल्य नहीं है ऐसा मोक्ष प्राप्त किया है

एवमध्वक्खादविधिं संपत्ता सुद्धदंमणचरित्ता ॥

केई खवंति खवया मोहावरणंतरायाणि ॥ १९२६ ॥

यथाख्यातविधिं प्राप्ता विशुद्धज्ञानदर्शनाः ॥

दहन्ति घातिदारूणि केचिद्व्यानकृशानुना ॥ २००८ ॥

विजयोदया—एवमध्वक्खादविधिं एवं यथाख्यातविधिं संपाता शुद्धदर्शनचारिणाः केचित्क्षपका घाति-कर्माणि क्षपयन्ति ॥

उक्तपाराधनाफलं गायामृतपुष्टयेन व्याचष्टे—

मूलारा—अधकलादविधिं यथाख्यातचरित्रम् । केई चरमवेष्टाः ॥ आवरण ज्ञानदर्शनावरणे द्वे ॥

अर्थ—जिन्होंने यथाख्यात चरित्रको प्राप्त किया है, निर्मल सम्यग्दर्शन चरित्रको जो प्राप्त हुए हैं वे क्षपक धातिकर्मोका नाश करते हैं.

केवलकपं लोगं संपुणं द्रव्यपञ्जयविधीहिं ॥

इज्ञायंता एयमणा जंहति आराहया देहं ॥ १९२७ ॥

त्यजंत्याराधका देहं ध्यायन्तो भुवनत्रयम् ॥

द्रव्यपर्यायसंपूर्णं केवलालोकलोकितम् ॥ २००९ ॥

विजयोदया—केवलकप्य केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्यं लोकं संपूर्णं द्रव्यपर्यायविकल्पैः परिच्छिदंत जहति ते स्वदेहं ॥

एवं जीवन्मुक्तिमनंतचतुष्टयादिमकामुक्तपाराधनाफलमुक्त्वा परममुक्तिमपि तत्फलत्वेनाह—

मूलारा—केवलकपं केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्यं । विधीहिं भेदैः । ज्ञायता जानतः । एयमणा विद्युद्-  
स्थिरज्ञानाः । तो पश्चात् स्वायुःक्षयानंतरमित्यर्थः । सयं निजं ॥

अर्थ—केवलज्ञानके द्वारा जानने योग्य जगतको संपूर्ण द्रव्यपर्यायों के विकल्पोंके साथ जानते हुए वे क्षपक आराधक अपना देह छोड देते हैं

सवुक्कस्सं जोगं जुंजंता दंसणे चरित्ते य ॥

कम्मरयविण्णमुक्का हवति आराधया सिद्धा ॥ १९२८ ॥

रत्नत्रयकुठारेण छिन्वा संसारकानन ॥

भवंति सहसा सिद्धा नुसुरासुरवंदिताः ॥ २०१० ॥

विजयोद्या—सर्वोत्कृष्टं दर्शनचार्त्विजयोद्योगं प्रतिपद्यमानाः कर्मरजोभ्यो निम्नमुक्ता आराधका सिद्धा भवन्ति ॥

मूलारा—सर्वोत्कृष्टम् । परमैः कर्म्यपरिणामान् । जोगं संयवं । जुंवा प्रतिपद्यमानाः । त्वमरयविष्णुमुक्ता अघातिकर्मचतुष्कात्प्रच्युताः ॥

अर्थ—सर्वोत्कृष्ट सम्पददर्शन और चारित्रिको प्राप्त कर कर्मरूप रजसे रहित होकर ने क्षपक आराधक मुक्तावस्थाको प्राप्त होते हैं.

इयमुक्कस्सियमाराधणमणुगलेत्तु केवली भविथा ॥  
लोगगसिहरवासी हवंति सिद्धा धुयकिलेसा ॥ १३२९ ॥  
आराध्याराधनामेवमुत्कृष्टां धूतकल्मषा ॥  
भूत्वा केवलिनः सिद्धाः सन्ति लोकाग्रयासिनः ॥ २०११ ॥

विजयोद्या—इय उक्कस्सिय एवमुत्कृष्टमाराधनामनुगाल्य केवलिनो भूत्वा निरस्तक्लेशाः लोकाग्रयासि  
यासिनः सिद्धा भवन्ति ॥

उक्तार्थोपसंग्रहमाह—

मूलारा—उक्कस्सियं उत्कृष्ट । अणुगलेत्तु आराध्य । भविष्य भूत्वा ॥

अर्थ—इम प्रकार उत्कृष्ट आराधनाका पालन कर केवलज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं. संपूर्ण कर्म क्लेशसे मुक्त होकर लोकाग्रशिखरवासी सिद्ध परमंष्ठि होते हैं.

अह सावेसेसकम्मा मल्लियकसाया पणट्टमिच्छत्ता ॥  
हासरइअरइभयसोगुंछावेयणिम्महणा ॥ १९३० ॥  
अवशोपितकर्मणः पवित्रागममातृका ॥  
कामकोपादिहास्यादिमिथ्यादर्शनमोचिन ॥ २०१२ ॥

कण्णोवगा सुराजं अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ॥  
तत्तो अणंतगुणिदं सुहं दु लवसत्तमसुराणं ॥ १९३५ ॥  
सुख साप्सरसो देवाः कल्पगा निर्विशति यत् ॥  
ततोऽनत गुणं स्वस्थं लभंते लवसत्तमाः ॥ २०१५ ॥

विजयोदया—कण्णोवगा सुरा ज कल्पोपन्ना सुरा. अप्सरोभिस्सहिता यत्सुखमनुभवति ततोऽप्यनंतगुणितं लवसत्तमदेवानां ॥

तत्सुखपरिमाणमाह—

मूलारा—कण्णोवगा कल्पोपपन्नाः ।

अर्थ—अप्सरार्योंके साथ सौधर्मोदिक कल्पवाणी देव जिस सुखमा अनुभव लेते हैं उससे भी अनंत गुणित सुख अहर्निद्र देवोंको मिलता है.

णाणम्मि दसणम्मि य आउत्ता संजमे जहक्खादि ॥

वट्ठिदत्तवोवधाणा अवहियेलेस्सा सददमेव ॥ १९३६ ॥

विशुद्धदर्शनज्ञानाः सयथाख्यातसयमाः ॥

शब्दादिर्मलेद्वयाका वर्द्धमानतपोगुणाः ॥ २०१६ ॥

विजयोदया—णाणम्मि य दानवर्द्धनयोर्यथाख्याते च सयमे आयुक्ता वट्ठितपोऽभिग्रहा सततं विशुद्धेद्वयाः क्षयन्ता ॥

गुणाग—आगतो भासताः । अवहियेलेस्सा संशुद्धेद्वयाः ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और यथाख्यात चारित्र इनमें हमेशा तत्पर रहनेवाले तथा तपोंके नियम जिन्होंने बढ़ाये हैं, जिनकी गुणलेख्यायें उत्तरोत्तर विशुद्ध होती है ऐसे क्षपक—

पजहिय सम्मं देहं सददं सव्वगुणावट्ठिदगुणट्ठा ॥

दोर्विचरमटाणं लहंति आराधया खवया ॥ १९३७ ॥

अदीनमनसो मुक्त्वा कचारामेव विग्रहम् ॥

देवेंद्रचरमस्थानं प्रपद्यन्ते बुधार्चिताः ॥ २०१७ ॥

विजयोदया—पञ्चदश देहं विहाय देहं सम्यक्सदा सर्वगुणवर्धितगुणाढ्या देवेंद्रचरमस्थानं लभन्ते ॥

मूलारा—सर्वगुणवर्धितगुणद्वा सर्वगुणन सर्वलक्ष्यगुणकारेण चर्द्धितगुणैरणिमादिभिः समृद्धाः । चरिमठाण उपरिमस्वर्गस्थानम् ॥

अर्थ—औदारिक शरीरका त्याग कर संपूर्ण गुणोंके कारणोंसे अणिमादिक गुणोंकी उनकी प्राप्ति होती है तथा देवेंद्रका अन्तिम पद उनकी प्राप्त होता है.

सुयभक्तीए विमुद्धा उगगतवोणियमजोगसंसुद्धा ॥

लोगंतिया सुवरा हवंति आराधया धीरा ॥ १९३८ ॥

जावदिया रिद्धीओ हवंति इंदियगदाणि य सुहाणि ॥

ताइं लहंति ते आगमेसि भद्वा सया खवया ॥ १९३९ ॥

वर्यरत्नचयोद्योगाः कषायारातिमर्द्दिनः ॥

संति लौकांतिका देवा देहोद्योतितपुष्कराः ॥ २०१८ ॥

ऋद्वयः संति या लोके यानींद्रियसुखानि च ॥

क्षपकास्तानि लप्स्यन्ते सर्वाण्येभ्यत्यनेहसि ॥ २०१९ ॥

विजयोदया—जावदिया रिद्धीओ भवति यावर्तींद्रियसुखानि च भवंति तानि सर्वाणि लप्स्यन्ते भद्राशयाः क्षपकाः ॥

मूलारा—णियम अवग्रहविशेषः । जोग ध्यानमातापनादिर्वा ।

मूलारा—लहंति लप्स्यते । ते मध्यमाराधनाराधकाः ॥ आगमोर्से आगमिनि काले । भद्राशया प्रशस्तचिन्ताः ।

अर्थ—श्रुतभक्ति—सम्यग्ज्ञानाराधनासे जिनका मन निर्मल बना है; उग्रतप, विशुष्ट नियम, आतापनादिक योग और ध्यानसे जिनका आत्मा निर्मल बना है ऐसे धीर आराधक लौकांतिक नामक उत्कृष्ट देव होते हैं. इस जगतम जितनी ऋद्धिया और इंद्रियसुख हैं वे सब निर्मल परिणामके क्षपकोंको अवश्य प्राप्त होते हैं.

विजयोदया—अहं साधसेसकम्मा अथ सावशेषकर्माणो मथितकयायाः प्रणष्टमिथ्यात्वद्वास्यस्वरतिभय-  
शोकजुगुप्सोवद्विक्रमयनाः ॥

मध्यमाराधनाफलं गथादशकेनादिशति—

मूलारा—अथ । मध्यमाराधनाफलमधिक्रियते इत्यर्थः । मल्लि अमिभूताः ॥

अर्थ—जिनके कर्म बचे हैं, जिन्होंने अनंतावध्यादि कृपायोंका मथन किया है, जिनका मिथ्यात्वकर्म  
नष्ट हुआ है. हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुण्यवेद और स्त्रीवेद, नृपसुकवेदोंका जिन्होंने मथन किया है—

पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंबुडा सव्वसंगउम्भुक्का ॥

धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असंमूढा ॥ १९३१ ॥

विजयोदया—पंचसमिदा समितिपंचकोपेता गुप्तित्रयोपेता. सुसंबुता अपाकृतसर्वसंगा धीरा अदीनमनस-  
समसुखदुःखा असंमूढाः ॥

मूलारा—सुसंबुडा ध्यानाख्यप्रधानसंबरोपेताः ॥

अर्थ—जिन्होंने पांच सभितिया पाली हैं, जो तीन गुप्तिओं में तत्पर हैं. जिन्होंने कर्मोंका संवर किया है,  
अर्थात् सवरका प्रधान कारण जो ध्यान उससे जो युक्त हैं, जो परिग्रहोसे दूर हैं, धीर हैं, जिनके मनमें दीनता नाम-  
मात्र भी नहीं रही है जो दुःख सुखमें समान बुद्धि रखते हैं, तथा जो मोहरहित हुए हैं

सव्वसमाधाणेण य चरित्तजोगे अधिष्टिदा सम्मं ॥

धम्मे वा उवजुत्ता ज्ञाणे तह पढमसुक्के वा ॥ १९३२ ॥

सुखदुःखसहा वृत्तज्ञानदर्शनसास्थिताः ॥

संबृत्ताः ससमाधाना शुभध्यानपरायणाः ॥ २०१३

विजयोदया—सव्वसमाधाणेण सर्वेण समाधानेन चारित्तै सभ्यगवस्थिता धर्मेष्वाग्ने प्रथमशुक्ले वा उपयुक्ताः ॥  
मूलारा—सव्वसमाधाणेण मनोवाक्कायप्रणिधानेन ।



अर्थ—मन, वचन, और शरीर इन तीन योगोंसे जो आत्मस्वरूपमें स्थिर हुए हैं अर्थात् चारित्रमें जो तत्पर रहते हैं- जो धर्मध्यान तथा , प्रथम अथवा दूसरे शुक्लध्वनमें तत्पर होगये हैं

इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरयं हिच्चा ॥

हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्मा य ॥ १९३३ ॥

विधायाराधनां देवीं मध्यमां मुक्तविग्रहाः ॥

शुद्धलेश्यान्विता देवाः सन्त्यनुत्तरवासिनः । २०१४ ॥

विजयोदया—इय मज्झिम एव मध्यमाराधनामनुपाल्य शरीर त्यक्त्वा विशुद्धलेश्याधरा अनुत्तरवासिनो देवा भवन्ति ॥

मूलारा—हिच्चा लक्त्वा । अणुत्तरवासी पंचानुत्तरवासिनः ॥

अर्थ—इस प्रकार मध्यमाराधनाका पालनकर शरीरका त्याग करनेवाले मुनिराज विशुद्धलेश्याको धारण कर अर्थात् उत्कृष्ट शुक्ललेश्याके स्वामी बनकर अनुत्तरवासी देवों में उत्पन्न होते हैं

दंसणणाणचरित्ते उक्किट्ठा उत्तमोपघाणा य ॥

इरियावहपडिवण्णा हवंति लवसत्तमा देवा ॥ १९३४ ॥

विजयोदया—दंसणणाणचरित्ते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्ये प्रकृष्टा उत्तमभिग्रहा ईर्यापथ प्रपन्ना लवसत्तमा देवा भवन्ति ॥

मूलारा—उक्किट्ठा कल्पोपपादिरत्नत्रयाराधकेभ्य उत्कृष्टा । उत्तमोपघाणा प्रधानाभिग्रहाः । इरियावहपडिवण्णा तद्योग्य सुकृतकारणशुभासवाश्रिता । लवसत्तमा अहमिद्रा । ईर्येयकानुद्दिशविमानवासिन इत्यर्थः ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य पालनेमें पूर्ण दक्ष अर्थात् कल्पोपपन्न देवोंमें जिस रत्नत्रय से जन्म होता है उससे भी उत्कृष्ट रत्नत्रयको धारण करनेवाले, उत्कृष्ट तप, ध्यान वगैरह नियमोंके धारक ईर्यापथको जिनहोंने प्राप्त किया है अर्थात् कल्पातीत देवत्व प्राप्त होनेके लिये योग्य ऐसे शुभासवको जो प्राप्त हो गये हैं ऐसे मुनिराज लवसत्तम देव होते हैं अर्थात् मरकर गवैयक, अनुद्दिशविमानमें रहनेवाले देव हो जाते हैं ।

जे वि हु जहणियं तेउलेस्समाराहणं उवणमंति ।

ते वि हु सोधम्माइसु हवंति देवा ण हेडिल्ला ॥ १९४० ॥

जघन्याराधनां देवीं तेजोलेख्यापरायणाः ॥

आराध्य क्षपका संति सौधर्मादिषु नाकिनः ॥ २०२० ॥

विजयोदया—जे वि हु जहणिय येऽपि जघन्यामाराधनां तेजोलेख्याप्रवृत्तामुपनमति तेऽपि सौधर्मादिषु देवा भवंति ॥ नाधोभाविनो देवाः ॥

जघन्याराधनाफलमाह—

मूलारा—तेउलेस्सं तेजोलेख्याप्रवृत्तां । ण हेडिल्ले नाधोभाविनः ।

अर्थ— तेजोलेख्याके धारक ऐसे क्षपकी आराधनाको जघन्याराधना कहते हैं इस आराधनाके आराधक क्षपक सौधर्मादिस्वर्गों में देव होते हैं, इन देवोंसे हीन देवोंमें इनका जन्म नहीं होता है।

किं जंपिणु बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स ॥

तं अचिरेण लहंते फासिचाराहणं णिखिलं ॥ १९४१ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन यत्सारं सुवनत्रये ॥

आराध्याराधनां देवीं लभंते तन्मनीषिणः ॥ २०२१ ॥

विजयोदया—किं जंपिणु बहुणा किंवहुनोक्तेन यत्सर्वस्यास्य लोकस्य सारभूतं तदचिरेण लभंते आराधनां प्रपन्नाः ॥

त्रिविधाया अप्याराधनाया माहात्म्यमसिष्टौति—

मूलारा— केवलस्स सर्वस्य । फासित्ता आराध्य । उक्तं च—

बहुनोक्तेन किं सारो लोकस्य सकलस्य यः ॥ तं लभंते चिरात्स्पृष्टा सम्यगाराधनाविधिम् ॥

अर्थ—अब हम और जादा नहीं कहते हैं जो सपूर्ण लोकका सारभूत पदार्थ है वह आराधनाविधि को मात्र हुए जीवोंकी शीघ्र ही प्राप्त होता है इसमें संदेह नहीं है

भोगे अणुत्तरे मुंजिऊण तत्तो जुदा सुमाणुस्से ॥

इड्ढिमलुलं चइच्चा चरंति जिणदेसियं धम्मं ॥ १९४२ ॥

भुक्त्वा भोगं च्युताः सन्तो भूत्वा भुवि नरोत्तमाः ॥

विहाय महतीं भूतिं भूत्वा सिध्यन्ति साधवः । २०२२ ॥

विजयोदया-भोगे अणुत्तरे भोगानुकुष्टान् भुक्त्वा स्वर्गव्युता मनुष्यभवेऽपि प्राप्य सकलामृद्धिं तां च त्यक्त्वा जिनाभिहितं धर्मं चरंति ॥

मध्यमाराधनाजयन्याराधकानां स्वर्गसुखमुक्त्युत्तरकालभोग्यसुखं कृत्यं चोपदिशति-

मूलारा-अणुत्तरे वल्लुष्टान् । ततो जुदा स्वर्गादवलीर्णाः । चइत्ता त्यक्त्वा । धम्मं चारित्रम् ॥

अर्थ-आराधकजीवोंको स्वर्गमें भोगोंकी प्राप्ति होती है उनका भोग लेकर आयुष्य समाप्त होनेपर वे स्वर्गमें व्युत्त होकर इस मनुष्यभवमें जन्म धारण करते हैं, इस मनुष्यभवमें भी संपूर्ण ऋद्धिकी उनको प्राप्ति होती है उसको छोड़कर वे जिनधर्मका पालन करते हैं अर्थात् मुनि होकर तप, स्वाध्याय और ध्यान करते हैं,

सदिमंतो धिदिमंतो सद्धासंवेगवीरियोवगयां ॥

जेदा परीसहाण ऊवसग्गाण च अभिभविय ॥ १९४३ ॥

धृतिस्मृतिमतिश्रद्धावीर्यसंवेगभागीनः ॥

परीषहोपसर्गाणां जेतारो विजितेन्द्रिया ॥ २०२३ ॥

विजयोदया-सदिमतो स्मृतिमत् धृतिस्मयवित्तं श्रद्धासंवेगवीर्यसंहिता परीषहाणां विजेतार उपसर्गो-  
णामभिभवितारः ॥

धर्मं चरंतस्तत्कीदृशाः स्युर्त्तिहा-

मूलारा-सदिमंता स्मृतियुक्ता । जेदा जेतारः । अभिभविदा अभिभवकर्तार ।

अर्थ-वे शास्त्रका अध्ययन करके उसके तत्वोंको खूब ध्यानमें रखते हैं परीषह और उपसर्ग प्राप्त होने-

पर भी धैर्यसे ढिगते नहीं श्रद्धा, संवेग-संसारभय, और वीर्य आत्मसामर्थ्यसे वे च्युत नहीं होते हैं, वे उपसर्ग और परिपहों को सह लेते हैं.

इय चरणमधक्खादं पडिवण्णा सुद्धदंसणमुवेदा ॥

सोधिंति ज्झाणजुत्ता लेस्साओ संकिलिद्धाओ ॥ १९४४ ॥

सयथाख्यातचारित्रा पवित्रज्ञानदर्शनाः ॥

विशेष्य मलिनां लेख्यां शुद्धध्यानविर्वाद्दिनः ॥ २०२४ ॥

विजयोदया—इय चरणमधक्खाद एव यथाख्यातचारित्र प्रतिपन्ना शुद्धदर्शनमुपगता ध्यानयुक्ता. संकिलट लेख्या विनाशयन्ति ॥

मूलारा—इय एव चरतः । सोधिंति नाशयन्ति ।

अर्थ—इस प्रकारसे यथाख्यात चारित्रिका लाभ कर के शुद्ध दर्शनको प्राप्त होकर ध्यानमें तत्पर होते हैं और अपने सङ्कलित लेख्याओंका-मलिन परिणामोंका क्षय करते हैं

सुकक लेस्समुवगदा सुक्कज्झाणेण खविदसंसारा ॥

सम्मक्ककम्मकवया सविंति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥ १९४५ ॥

शुद्धलेख्यांगनाश्लिष्टा ध्वस्तनिशेषकल्मषा ॥

भवन्ति सहसा सिद्धा भुवनोत्तमवन्दिताः ॥ २०२५ ॥

विजयोदया—सुकक लेस्समुवगदा शुक्लेश्वरमुपगता शुक्लध्यानेन क्षणितसंसारा उन्मुक्तकर्मकवचा दूरीकृत क्लेशा. सिद्धिसुपयाति ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—शुद्ध लेख्याकी प्राप्ति कर के आराधक शुक्लध्यानेसे समारका नाश करते हैं. कर्मरूप कवचको फोड़कर सपूर्ण क्लेशोंका अर्थात् चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करके मुक्त होते हैं

एवं संथारगदो विसोघइत्ता वि दसणचरितं ॥

परिवडदि पुणो कोई झायंतो अट्टरुद्धानि ॥ १९४६ ॥

इत्थं संस्तरमापन्ना रौद्रार्त्तवशवर्तिनः ॥

रत्नत्रयं विशोभ्यापि भूयो अरुयन्ति केचन ॥ २०२६ ॥

विजयोदया—एवं संथारगदो उक्तेन प्रकारेण संस्तरपुण्यतोऽपि कृतदर्शनचारित्र्यशुद्धिरपि कश्चित्कर्मगौरवार्त्तरौद्रपरिणतः पतति ॥ तत्र दोषमाचष्टे ॥

एवं साक्षात्पारपण्येण च ग्राह्यमाराधनाफलं व्यावर्ण्य दुर्दैववशेन दुर्ध्यानाद्विराधना प्राप्तस्य फलं प्रबंधेनाह—

मूलारा — परिवडदि रत्नत्रयात्प्रच्यवते ।

अर्थ—कोई मुनि संसारका आश्रय करने पर भी सम्यग्दर्शन और चात्रिकी शुद्धि करने पर भी पूर्वकर्म के भारसे आर्त्त ध्यान, रौद्रध्यानमें परिणत होकर अपने शुद्धस्वरूप से भ्रष्ट होते हैं,

ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुहं च चरिमकालम्मि ॥

जो जहइ संयं देहं सो ण लहइ सुग्गहिं खवओ ॥ १९४७ ॥

आर्त्तरौद्रपरः साधुर्यो मुंचति कलेवरम् ॥

एतां दुःखप्रदामेप देवदुर्गतिमृच्छति ॥ २०२७ ॥

विजयोदया—ज्झायंतो अणगारो मरणकाले आर्त्तरौद्रयोः परिणतो भूत्वा यः स्वदेहं जहाति नासो क्षपकः सुगतिं लभते ॥

विराध्य क्रियमाणस्य दोषमाह—

मूलारा — स्पष्टम् ॥

आर्त्त रौद्रमें परिणति होनेसे क्या हानि होती है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—मरणके कालमें आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानका आश्रय करने से वह क्षपक आयुष्यकी समाप्ति होनेपर सुगति को प्राप्त नहीं कर सकता है.

जदि दा सुभाविदप्पा वि चरिमकालम्मि संकिलेसेण ॥

परिवडदि वेदणट्ठो खवओ सथारमारूढो ॥ ११४८ ॥

चिराभ्यस्तचरित्रोऽपि कपायाक्षवशीकृतः ॥

मृत्युकाले ततःसद्यो यदि भ्रश्यति संयतः ॥ २०२८ ॥

विजयोदया—जदि दा सुभाविदप्पा वि यदि तावत्सुभावितात्मापि संस्तरमारूढ वेदनात् क्षपक सक्केलो न हेतुना सन्मार्गात्परिपतति ॥

चिराभ्यस्तचरित्रोऽपि क्षपको यदि मरणक्षणे वेदनावशात्प्राप्तसक्केशः सन्मार्गात्सञ्चयवते तदा नित्यावसन्ना दीना तत्प्रचयवने किमाश्चर्यं वाच्यमित्यभिधातु प्रव्रधमभिधत्ते--

मूलारा-- स्पष्टम् ॥

अर्थ-जिसने आत्माको आराधनाओंसे सुसंस्कृत किया था तो भी मरणसमयमें सक्केशपरिणामोंकी उत्पत्ति होने से वह सस्तरपर आरूढ हुआ श्रमण सन्मार्गसे भ्रष्ट होता है

किं पुण जे ओसण्णा णिच्च जे वा वि णिच्चपासत्था ॥

जे वा सदा कुसीला संसत्ता वा जहांछंदा ॥ ११४९ ॥

अवसन्नो यथाछंदो यः पार्श्वस्थः कुशोलकः ॥

ससक्तश्च तदा किं न स भ्रश्यति कुमानसः ॥ २०२९ ॥

विजयोदया—किं पुण किं पुनर्नं परिपतंति ये नित्यमवसन्ना ये च नित्यं पार्श्वस्था ये वा सदा कुशीलाः संसक्ता वा स्वच्छंदा ॥

तत्र अवसन्ना. निरूप्यते--

गच्छंदि केइ पुरिसा पक्खी इव पंजरंतरणिरुद्धा ॥

मारणपंजरचकिदा ओसण्णागा पविहरंति ॥ ११५० ॥

विजयोदया—यथा कर्दमे क्षुण्ण मार्गदीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्नः । भावावसन्नः अशुद्धचरित्रः । 'सीदति उपकरणे, वसतिसंस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विद्वारभूमिदोधने, गोचारशुद्धौ, र्थ्यांसमित्यादिषु, स्वाध्यायका-

लावलोक्ते, स्वाध्यायविसर्गो, गोचरे, च अनुद्यतः, आवश्यकोऽखलस, जनातिरिक्तो वा जनाधिकं करोति कुर्वश्च यथोक्त-  
मावश्यकं वाक्कायाभ्यां करोति न भावत एवंभूतश्चारित्र्येऽवसीदीत्यवसन्न । पंथानं पश्यन्पि तत्समीपेऽन्येन कश्चिद्वृच्छति,  
यथासौ मार्गपार्थस्य, एवं निरतिचारसंयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किंतु संयममार्गपार्थं तिष्ठति नैकतिनासंयतं,  
न च निरतिचारसंयमं सोऽभिधीयते पार्थस्य इति । शय्याघरपिण्डमभिहितं नित्यं च पिंडं भुंक्ते, पूर्वापरकालयोर्दातृसुस्तवं  
करोति, उत्पादनैयणादोपपुष्टं वा भुंक्ते, नित्यमेकस्या वसतो वसति, परस्मिन्नेव संस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति ।  
शृङ्गिणां गृहाभ्यंतरे नियद्या करोति, गृहस्थोपकरणैर्व्यवहरति, दुःप्रतिलेखमप्रतिलेखं वा शुद्धानि, सूचीकर्तारिनखच्छे-  
दसदशनपट्टिकाशुक्रकर्णशोधनाजिनग्राही, सीवनप्रक्षालनावधूतनरंजनादिवहुपरिकर्मव्यापृतश्च वा पार्थस्य । क्षार-  
चूर्णं सौवीरलवणसर्पिरित्यादिकं अनागाढकरणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन् पार्थस्य । रात्रौ यथेष्टं शेते, संस्तरं च यथाकामं  
बहुतरं करोति, उपकरणवकुशो । देहवकुश — दिवसे वा शेते च यः पार्थस्य । पदप्रक्षालनं त्रक्षण वा यत्कारणमंतरेण  
करोति, यश्च गणोपजीवी त्रिपंचकसेवापरश्च पार्थस्य । अयमत्र संक्षेप — अयोग्यं सुखशीलतया यो नियेयते कारणमत-  
रेण स सर्वथा पार्थस्य । कुत्सितशील कुशीलः, यद्येवं अवसन्नादीनां कुशीलत्वं प्राप्नोति, नैवं लोकप्रकटकुत्सितशील-  
कुशील इति विवेकोऽत्र ग्राह्य । स च कुशीलोऽनेकप्रकारः, कश्चित्कौतुकशील औपघविलेपनविद्याप्रयोगैर्वा, सौभा-  
ग्यकरण राजद्वारि कौतुकमादर्शयति यः कौतुककुशीलः । कश्चित् भूतिकर्मकुशील भूतिग्रहणमुपलक्षणं भूत्या, धूल्या,  
सिद्धार्थकैः, पुण्यैः, फलैर्वदकादिभिर्वा मन्त्रितै रक्षा वशीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशीलः ॥ उक्तं च—

भूदीव धूलीय वा सिद्धयग पुण्यफलदकादीर्हि । रम्पं वसिगरणं वा करेदि जो मूदिगकुसीलो कश्चित्प-  
सेनिकाकुशील, अंगुष्ठममेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, आशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी स्वप्नप्रसेनीत्येवमादिभिर्जन-  
रंजयति यः सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुशील इति । कश्चिदप्रसेनिकाकुशीलः विद्याभिर्मन्त्रौपघप्रयोगैर्वा असंयत  
चिन्तित्सा करोति सोऽप्रसेनिकाकुशील ॥ कश्चिन्निमित्तकुशील अप्रागनिमित्तं ज्ञात्वा यो लोकस्यादेशं करोति  
स निमित्तकुशीलः । आत्मनो जातिं कुलं वा प्रकाश्य यो भिक्षादिमुत्पादयति स आजीवकुशील । केनचिदुपद्रुत  
पर शरणं प्रविशति, अनायाशाला वा प्रविश्य आत्मनश्चिन्तित्सा करोति स वा आजीवकुशल । केनचिदुपद्रुत  
पदव्यापहरणदभमदर्शनपर फलकुशील, इन्द्रजालादिभिर्यो जनं विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशील इति ।  
वृक्षगुल्मादीनां पुष्पाणां, फलानां च समवमुपदर्शयति, गर्भस्यापनादिकं च करोति यः स संमूर्छनाकुशील । ब्रसाना,  
कीटादीनां, वृक्षादीनां, पुष्पफलादीनां, गर्भस्य परिशातन अभिसारिकं च यः करोति शार्पं च प्रयच्छति स प्रपातनकुशील  
उक्तं च । नाओतिरुभूदिकम्मे पसिणा पसिणे णिमित्तमाजीव, कककुहनं समुच्छणं पपादणादीकुशीलो दुः ॥ इति ॥  
आदिशब्दपरिगृहीता कुशीलां उच्यते—क्षेत्रं हिरण्यं चतुष्पदं च परिग्रहं ये गृह्णन्ति हारितकदफलभोजनं कृतकारि-  
तानुमतपिण्डोपाविशसातिसेवापराः, स्त्रीकारतय, मैथुनसेवापरायणा, विवेकास्त्रवादि अधिकरणोद्यताश्च कुशीलाः ।  
गृष्टं प्रमत्तविरुद्धवेपथ्य कुशीलः । सप्तको निरूपयते—प्रियचारित्र्ये प्रियचारित्र्ये इष्टे अप्रियचारित्र्ये,  
नटवदनेकरूपग्राही सप्तकः, पर्वद्विरेषु प्रसक्तः त्रिविधगौरवप्रतिवद्धः, स्त्रीविषये सफलेशसहितः, गृहस्थजनप्रियश्च

संसक्तः अवसणो अवसन्न, पार्श्वस्थसंसर्गात्स्वयमपि पार्श्वस्थः, कुशीलसंसर्गात्स्वयमपि कुशील, य स्वच्छंदसंपर्को-  
त्स्वयमपि स्वच्छंदवृत्ति । यथाछदो निरूप्यते—उत्सन्नमनुपदिष्ट स्वेच्छाविकल्पितं यो निरूपयति सोऽभिधीयते  
यथाछंद इति । तद्यथा यं पतति जलधारणमसयम् । क्षुरकर्तारिकादिभिः केशापनयनप्रशसन आत्मविषाधनान्यथा  
भवतीति । भूमिशिष्या तृणपुजे वसत अवस्थितानामावाधेति, उद्देशिकादिके भोजनेऽदोष ग्राम सकल पर्यटतो महती जीव-  
निकायविराधनेति, गृहामत्रेभ्योभोजनमदोष इति कथन, पाणिपात्रविकस्य परिशातनदोषो भवतीति निरूपणा, सप्रति  
यथोक्तकारी न विद्यत इति च भाषण एवमादिनिरूपणापरा स्वच्छन्दा इत्युच्यते ॥

मूलारः— किं पुन किं पुनर्न परिपतति । सर्वदा येऽवसन्नादिरूपता धृत्वा पश्चिमकोले एव सन्मार्गमनुवृत्ता-  
स्ते सस्तरारूढाः संतो वेदनावशाल्प्राप्तसंक्लेशास्ततः प्रच्यवंत एवेत्यर्थः । ओसण्णा चारित्रेऽवसीदन्तः पथिका इव  
पके । यथोक्तमुनिकर्मदशालस्यादिना पदे पदे स्तलन्त इत्यर्थः । निच्यं दीक्षाग्रहणात्प्रमृतिचरमकाल यावत् । निच्यपामत्या  
निरतिचारसंयममार्गं जानतो पि ये सदा तदवृत्तयो नैकातेन संगता न च निरतिचारसंयमाः किंतु संयममार्गपार्श्वे  
तिष्ठन्ति । यथा केचित् पाथा मार्गं पश्यतोऽपि तत्पार्श्वे अयोग्यं सुखशीलतया कारणं विना ये निपेवंते ते पार्श्वस्था इति  
तात्पर्यं । कुशीला लोकप्रकटकुत्सितशीलाः । संसत्ता ये त्रियचारित्रे दृष्टे त्रियचारित्राः, अत्रियचारित्रे च अत्रियचारित्राः ।  
नटवदनेकरूपप्राहिणोऽवसन्नप्रादिसंसर्गात्स्वयमपि तद्भावभाज इति भावः ॥ जथाछदा उत्सन्नानुपदिष्टस्वेच्छाविकल्पित  
निरूपणापराः ॥

अर्थ—क्या जो अवसन्न, पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त और यथा छंद मुनि हैं वे अवश्य सन्मार्ग से अष्ट नहीं  
होते हैं ? अवश्य ही अष्ट होंगे

अर्थ—जैसे कीचड़में फसेहुए और मार्गअष्ट पथिकको अवसन्न कहते हैं उस को द्रव्यावसन्नभी  
कहते हैं, वैसे जिसका चारित्र अछुद्व वन गया है ऐसे मुनिको भावासन्न कहते हैं यह मुनि पिछी कर्मदल्लादिक  
उपकरणोंमें, आसक्त होता है वसति और संस्तरकी शोधना करनेमें प्रमादी बनता है, स्वाध्यायमें, विहारभूमि-  
शोधनमें, आहारकी शुद्धिमें, ईयासमित्यादिक समितिओं में, स्वाध्यायकालके अवलोकनमें स्वाध्यायकी समाप्ति  
करने में तत्पर नहीं होता है अर्थात् उपर्युक्त कार्योंमें वह प्रमादी बनता है, आवश्यकतादि कार्यों में आलस्य  
करता है, इतर मुनिओंकी अपेक्षा से यह अवसन्नमुनि आवश्यकता अधिक भी पालन करता है परंतु वचन और  
काय-शरीरसेही करता है, मनसे उनका पालन नहीं करता है, इस प्रकार वह चारित्रसे अष्ट होता है इसलिय ऐसे  
मुनिको अवसन्न कहते हैं,



मार्गको जानता हुआ भी कोई अन्य पुरुषके साथ उस मार्गके समीप जाता है उसको जैसे मार्गपार्श्वस्थ कहते हैं वैसे अतिचाररहित समयमार्गका स्वरूप जानकर भी उसमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है परंतु समयमार्गके पास ही वह रहता है यद्यपि वह एकांतरूपसे असंयमी नहीं है परंतु निरतिचार समयका पालन नहीं करता है इसलिये उसको पार्श्वस्थ कहना चाहिये। वसंतिका को वनवानेवाला, उसकी भरमत्त कानेवाला, और यहां आप ठहरो ऐसा कहकर मुनिओंको वसंतिका देनेवाला इन तीनों को शय्याधर कहते हैं। इनके यहां आहार ग्रहण करना मुनिओंकालिये निषिद्ध है परंतु इनके यहां जो हमेशा आहार ग्रहण करते हैं दाताकी आहार लेने के पूर्व और आहार लेनेके अनंतर प्रशसा करते हैं। उत्पादन दोष, एषणा दोष सहित आहारको ग्रहण करते हैं, हमेशा एकही वसंतिकामें रहते हैं एकही संस्तरमें हमेशा सोते हैं, एकही क्षेत्रमें रहते हैं। गृहस्थोंके घरमें अपनी बैठक लगाते हैं गृहस्थोपकरणोंसे अपनी शौचादि किया करते हैं जिसकी शोधना अशक्य है अथवा जो सोधा नहीं गया है उसको ग्रहण करते हैं खर्ह, कैची, नख छेदनका शस्त्र, सांडस ( जिसको चिमटा कहते हैं ) वस्तरा तीक्ष्ण बनानेका पत्थर, वस्त्ररा, कर्णमल निकालनेका साधन. इन वस्तुओंको ग्रहण करते हैं सीना, धोना, उसको झटकना, रंगाना इत्यादि कार्योंमें जो तत्पर रहते हैं ऐसे मुनिओंको पार्श्वस्थमुनि कहते हैं जो अपने पास धारचूर्ण सोहाग चूर्ण, नमक, घी वगैरह पदार्थ कारण न होने परभी रखते हैं उनको भी पार्श्वस्थ कहना चाहिये। जो रातमें यथेष्ट सोते हैं, अपनी इच्छाके अनुसार विछानाभी वडावनते हैं, उपकरणोंका संग्रह करते हैं, उनको उपकरण वकुश कहते हैं।

जो दिनमें सोता है उसको देहवकुश कहते हैं ऐसे पार्श्वस्थके भेद हैं कारणके विना पाव धोना अथवा तेल लगाना, गणके उपर उपजीविका करना, तीन अथवा पांच मुनिओंकी सेवा करना ? ऐसे जो कार्य करता है वह भी पार्श्वस्थ है।

जिसका आचरण कुत्सित है दोष युक्त है उस मुनिको कुत्सित कहते हैं यदि ऐसा कुशील मुनिका लक्षण किया जावेगा तो अवसन्नादिक मुनिओंको भी कुशील ही कहना होगा ? उत्तर— जिसका बुरा आचरण लोकमें प्रगट हुआ है उसको कुशील कहते हैं ऐसा अभिप्राय यहां समझना चाहिये

इस कुशील मुनिके अनेक प्रकार हैं कोई कौतुककुशील है - औपध, विलेपन और विद्याके प्रयोगसेही राजद्वारमें कौतुक दिखाना, लोकमें भियता संपादन करना,

भूतिकुशील—भूति शब्द यहां उपलक्षण है इसलिये भूतिका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—अभिमत्रित किये गये धूल, सफ़ेत सरसों, पुष्प, फल, पानी इत्यादिकोंके द्वारा किसीका रक्षण करना, किसीको वश करना, ऐसे कार्य करने वालेको भूतिकुशील कहते हैं उपर्युक्त अभिप्राय 'भूदीय धूलियं वा' इस गायामें भी व्यक्त किया है। प्रसेनिका कुशीलका लक्षण इसप्रकार है अगुष्ट प्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, और स्वप्नप्रसेनी इत्यादि विद्याओंसे जो लोकों का मन अनुरजित करता है उसको प्रसेनिकाकुशील कहते हैं अग्रसेनिका कुशील—विद्याओंसे और औपधासे असयतोंकी जो चिकित्सा करता है वह अग्रसेनिका कुशील है

अष्टांगनिमित्तको जानकर जो लोकोंको उनका उपदेश करता है वह निमित्त कुशील है  
अपजी, जाति व कुल प्रकाशित करके जो शिक्षादिककी उत्पत्ति करता है उसको आजीवकुशील कहते हैं

किसीके द्वारा उपद्रव होनेपर दूसरोंको जो शरण जाता है अथवा अनाथशालामें प्रवेश कर अपनी चिकित्साको करवाता है उसको आजीवकुशील कहते हैं

विद्या मंत्रादिकोंके द्वारा परद्रव्यापहरण करके दंभ प्रदर्शन करनेवाला उसको कक्ककुशील कहते हैं  
इंद्रजालादिकोंके द्वारा जो जनोंको आश्चर्यचकित करता है वह कुहनाकुशील है  
वृक्ष, छोटे छोटे पेड़ वगैरहोंको पुष्प और फलोंकी उत्पत्ति का उपाय बतलाता है गर्भस्थापनादिक कार्य जो करते हैं उसको सम्मूर्धनकुशील कहते हैं

त्रस जातिके कीटादिक, वृक्ष, छोटे पेड़ इनके पुष्प फलादिकोंका जो नाश करते हैं, गर्भका जो नाश करते हैं जो शाप देते हैं उनको प्रपातनकुशील कहते हैं

इन सब कुशीलोंका आचार्यन 'काओतिक भूति कर्म्म' इस गायामें नाम निर्देश किया है गायामें आदि शब्द आया है इससे और भी कुशीलोंके भेद होते हैं उनका स्वरूप इम प्रकार—जो क्षेत्र—जमीन, सुवर्ण, चतुष्पदप्राणी इन परिग्रहोंका स्वीकार करते हैं, हरित, कद, और कच्चे फल भक्षण करते हैं, कृत, कारित, और अनुमत ऐसी वसति, आहार उपाधि—इनका सेवन करते हैं, स्त्रियोंकी कथाओंमें प्रेम रखते हैं मैथुन सेवामें तत्पर होते हैं,

अविचकी होते हैं, आसवके अधिकरणों में हमेशा उद्युक्त रहते हैं इनको भी कुशील कहते हैं जो धृष्ट, निर्लज्ज, प्रमत्त, और विकारयुक्त वेप धारण करते हैं. उनको भी कुशील कहते हैं

ससक्त मुनिका वर्णन—

ऐसे मुनि चारित्रप्रिय मुनिके सहवासमें जत्र रहते हैं तत्र चारित्रप्रिय ये भी वन जाते हैं जिनको चारित्रप्रिय नहीं है ऐसे मुनिके सहवासमें रहनेपर जो चरित्रको अप्रिय मानने लगते हैं नटके समान इनका आचरण रहता है ये संसक्त मुनि पंचद्रियों के विषयों में आसक्त होते हैं तीन प्रकारके रसगौरव और सातगौरव इनमें आसक्त होते हैं. स्त्री के विषयमें इनके परिणाम सकलेश युक्त होते हैं गृहस्थोपर इनका अतिशय प्रेम रहता है अवसन्य मुनिसंसर्गसे ये अमसन्य वनते हैं पार्श्वस्थके ससर्गसे पार्श्वस्थ हो जाते हैं. कुशीलके संसर्ग से कुशील और स्वच्छदके संयोग होनेपर वैसे वनते हैं. अर्थात् नटवत् इनका आचरण है

यथाछंद मुनिका वर्णन— जो मुनि आगमके विरुद्ध आगमन न कहा हुआ और स्वच्छकल्पित पदार्थोंका स्वरूप कहते हैं उनको यथाछंद मुनि कहते हैं.

वर्षाकालमें जो पानी गिरता है उसको धारण करना यह असंयम है. वस्तरा और कैंचीसे केश निकालना ही योग्य है. केशलोच करनेसे आत्मविराधना होती है. सचित्ततृणपुजपर बैठनेसे भी भूमिशय्या मूलगुण पाला जाता है. तृणपर बैठनेसे भी जीवोंको बाधा नहीं होती है. उद्देशादिक दीपसाहित भोजन करना दीपास्पद नहीं है. आहारके लिये सब ग्राममें घूमनेमें अनेक जीवोंका घात होता है. घरमें हि भोजन करना आच्छा है अर्थात् वसतिकामें ही भोजन करना अच्छा है हाथमें आहार लेकर भोजन करनेसे जीवोंको बाधा पोहोचती है ऐसा वे उत्सृज्य कहते हैं इस कालमें यथोक्त आचरण करनेवाले मुनि कोई नहीं हैं ऐसा कथन करना इत्यादि प्रकारसे विरुद्ध भाषण करनेवाले मुनियोंके यथाछंद अर्थात् स्वच्छंदी मुनि कहते हैं

अविसुद्धभावदोसा कसायवसगा य मंदसंवेगा ॥  
अच्चासादणसीला मायाबहुला पिदाणकदा ॥ १९५१ ॥

अशुद्धमनसो वक्ष्याः कषायैन्द्रियविद्विषाम् ॥

पूज्यात्पासादनशीला नीचा मायानिदानिनः ॥ २०३० ॥

विजयोदया—अविशुद्धभावदोषा भवाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामाः, तेषां दोषा शंकादयः ते अविशुद्धा अनिराकृता येस्ते अविशुद्धभावदोषाः । कृसायवसिगा कृपायवशवर्तिन । मदसेवगा । अच्चासादणसीला गुणानां गुणिना चापमानकारिण । प्रचुरभायानिदानं गता ॥

कुतस्ते मृत्युकाले सन्मार्गोपच्यवन्ते इत्यत्र गात्रापट्टकमाह—

मूलारा—अविशुद्धभावादोषा अनिराकृतरत्नत्रयातिचाराः । अज्ञासादणसीला गुणानां गुणिना चापमानकारिणः ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रिको आचार्य माव कहते हैं. इनके शंकादिक दोष हैं. इन दोषोंको न हटानेसे सम्यग्दर्शनादिक निर्मल नहीं होते हैं अर्थात् अवसन्नादिक मुनिओंका रत्नत्रय निर्दोष नहीं रहता है वे कृपायके वश हो जाते हैं उनमें धर्मभ्रम मद पाया जाता है वे गुणोंका और गुणिजनों—का अपमान करते हैं उनमें माया और निदान ये दो शल्य प्रचुर पाये जाते हैं

सुहृसादा किमज्ज्ञा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी ॥

विसयासापडिवद्धा गारवगरुत्या पमाइल्ला ॥ १९५२ ॥

धर्मकार्यपराधीना पापसूत्रपरायणाः ॥

संघकृत्ये ममानेन किं कृत्यमिति वादिनः ॥ २०३१ ॥

सर्वत्रतातिचारस्थाः सुखास्वादनलालसाः ॥

अनाराधितचारित्र्याः परचिंताकृतोद्यमाः ॥ २०३२ ॥

विजयोदया—सुखसादा सुखास्वादनपरा । किमज्ज्ञा किं मध्ये केनचिदिति सर्वेषु संघकार्येष्वनाहता । गुण सायी गुणेषु सम्यग्दर्शनादिषु शेरत इव निकत्सादा । पावसुत्तपडिसेवी आत्मन परेषां वा अशुभपरिणामस्य मिथ्यात्वा-सयमकपायाणां प्रवर्तकं शालं पापसूत्रं निमित्त, वैद्यक, क्रोटिल्य, स्त्रीपुरुषलक्षण, धातुवाद, काव्यन्तारकान्ति, चौरशालं शस्त्रलक्षणं प्रहरणविद्याचित्रकलागार्धवर्धयुक्त्यादिक पतस्मिन् पापसूत्रे कृतोदराभ्यासा, विसयासापडिवद्धा अभिमतविषयपरिप्राप्त्यर्थो या आशा तस्या प्रतिवद्धा, तिगारवगरुका गारवक्यैर्गुत्तव । पमाइल्ला विकृत्यादिपवदश प्रमादसहिता ॥

मूलारा—सुहसादा सुखास्वादनपराः । किमब्ध्या किं मम केनचिदिति सर्वेषु संघकार्येष्वनादृताः । गुणसायी गुणेषु सम्यग्दर्शनादिषु शेरत इव । सम्यक्त्वाद्विनिर्मुक्ताहा इत्यर्थः । पावसुत्तपडिसेवी स्वपरयोर्मि व्यात्वादिनिवेदकनिमित्त कौटिल्यक्षीपुरुपलक्षणं, धातुवादकाव्यनाटकचौयशस्त्रचित्रगीतनृत्यवाद्यंगयुक्त्यादिशक्तेषु कृतादराभ्यासाः । पमादित्वा विकथादिप्रमादवतः ॥

अर्थ—इन गुनिओंका स्वभाव सुखिया बनता है इसलिये मेरा किसीसे कुछ भी संबंध नहीं है ऐसी कल्पना करके सघके कार्योंसे वे उदासीन रहते हैं सम्यग्दर्शनादि गुणोंमें वे निरुत्साह रहते हैं अर्थात् इनकी वृद्धि करनेकी उनको इच्छा नहीं होती। अपने अथवा अन्यजनोंके अशुभ परिणाम बनानेवाले अर्थात् जो मिथ्यात्व, असयम, कर्पायरूप परिणामोंकी उत्पत्ति करते हैं ऐसे शास्त्रोंका पाप कहते हैं। जैसे निमित्त, वैधक, कौटिल्य ( चाणक्यका अर्थशास्त्र ) स्त्रीपुरुषलक्षण, अर्थात् सायुद्रिक, धातुवाद, काव्य, नाटक चौरशास्त्र, शस्त्रलक्षण, शास्त्रविद्या, चित्रकला, गान्धर्व, गद्ययुक्त्यादिक इन शास्त्रों को पापमूत्र कहते हैं ये पार्श्वस्थादि मुनि इन शास्त्रोंका आदरसे अभ्यास करते हैं इष्ट विषयकी प्राप्ति करानेवाली जो आशा है उससे ये इध गये हैं तीन भास्वसे ये सदा युक्त रहते हैं। विकथादिक पंदरह प्रमादोंसे ये पूर्ण रहते हैं।

समिदीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुनेसु ॥

परतत्तीसु पसत्ता अणाहिदा भावसुद्धीए ॥ १९५३ ॥

विजयोदया—समिदीसु य समितिषु गुप्तिषु च संयमगुणेषु भावनारहिता परव्यापारेषु प्रवृत्ता भावशुद्धा-  
वनादृता ॥

मूलारा—परतत्तीसु परव्यापारचिंतासु अणाहिदा अनान्ता अस्थिरा वा ।

अर्थ—समिति, गुप्ति, इनकी भावनार्थोंमें-अभ्याससे ये दूर रहते हैं। संयमके भेद जो उत्तरगुण शील वगैरह इनसे ये दूर रहते हैं दूसरोंके कार्योंकी चिंतामें लगे रहते हैं और आत्मकल्याणके कार्योंसे कौनों दूर रहते हैं इसलिये इनके रत्नत्रयमें निर्मलता नहीं रहती है

गंथाणियत्तण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ।

सदरसरुवगंधे फासेसु य मुच्छिदा घडिदा ॥ १९५४ ॥

इहलोकक्रियोद्युक्ताः परलोकक्रियालसाः ॥

मोहिनः शवलाः क्षुद्राः संक्लिष्टा दीनवृत्तयः ॥ २०३३ ॥

विजयोदया—गंथाणियत्तण्हा अहमपरिग्रहवृणा, बहुमोहा, अज्ञानबहुला, शबलसेवनापरा, शब्दादिषु विषयेषु मूर्छिता, आस्रवघटिता ॥

मूलारा—गंथाणियत्तण्हा अनिवृत्तपरिमहस्पृहा । बहुमोहा अज्ञानबहुला । सबलसेवणासेवी गृहस्थारंभसेवित ।

मुच्छिदा गृद्धि गताः । घडिदा सबद्धाः ॥

अर्थ—परिग्रहमें इनकी अभिलाषा तृप्त होती नहीं बढ़ती ही रहती है ये अज्ञानसे धिरे रहते हैं अर्थात् आत्मस्वरूप का ज्ञान इन को नहीं होता है गृहस्थोंके आरमादि कार्य ये करते रहते हैं. शब्द, रस, गंध, रूप, स्पर्श इन विषयोंमें वे अत्यासक्त होते हैं

परलोगनिप्पिवासा इहलोगे चैव जे सुपडिवद्धा ॥

सज्झायादीसु य जे अणुट्ठिदा संक्लिट्टमदी ॥ १९५५ ॥

विजयोदया—परलोयनिप्पिवासा परलोकनिस्पृहा, येदिकेकेव का भेषु प्रतिबद्धा, स्वाध्यायादिष्वनुद्यता, संक्रियमतय. ॥

मूलारा—निप्पिवासा निस्पृहाः । अणुट्ठिदा अनुद्यता ॥

अर्थ—ये परलोकके विषयमें निस्पृह होते हैं, परंतु ऐहिक कार्यों में ही इनका मन तत्पर रहता है स्वाध्याय, आलोचनादिक कार्योंमें इनका मन लगता नहीं है, इनके बुद्धिमें संक्षेप परिणाम रहते हैं

सत्त्वेसु य मूलुत्तरगुणेषु तह ते सदा अइचरंता ॥

ण लहंति खवोवसमं चरित्तमोहरस कम्मस्स ॥ १९५६ ॥

विजयोदया—मूलोत्तरगुणेषु सदा सातिचारा न लगते चारित्रमोहस्य क्षयोपशमं ॥  
मूलारा—ते नित्यावसन्नादयः समाधिमरणोद्यताः । अदिचरता अन्तर्वृत्या व दिर्वृत्या वा भंजतः । अन्ये विचरंता इति पठित्वा सर्वस्मिन्मूलोत्तरगुणेषु प्रवर्तमाना इत्यर्थमाहुः ॥ गेल्यादि असयता एव ते भवन्तीत्यर्थः ॥

अर्थ—मूलगुण और उत्तरगुणोंमें हमेशा अतिचार शुक्त ही रहते हैं अर्थात् इन गुणोंमें इनकी हमेशा अतिचार लगते हैं. उनको चारित्र मोहनीय कर्मका क्षयोपशम नहीं रहता है अर्थात् वे असंयत ही होते हैं.

एवं मूढमदीया अवंतदोसा करेति जे कालं ॥

ते देवदुब्भगच्च मायामोसेण पावन्ति ॥ १९५७ ॥

आलोचनामनाधाय ये त्रियन्ते कुबुद्धयः ॥

त्रिविधे निदिताचारा दुर्भगाः संति ते सुराः ॥ २०३४ ॥

विजयोदया—एवं मूढमदीया एवं मूढबुद्धयो अनपास्तदोषा ये कालं कुर्वन्ति ते देवदुर्भगतां प्राप्नुवन्ति मायया ॥

तद्गत्यन्तरं प्राप्यं दर्शयन्ति—

मूलारा—अवंतदोसा अनिराकृतातिचाराः । देवाश्च ते दुर्भगाश्च देवदुर्भगास्तद्भावं । उक्तं च—

आलोचनामनाधाय ये त्रियन्ते कुबुद्धयः ॥ त्रिविधे निदिताचारा दुर्भगाः सन्ति ते सुराः ॥

अर्थ—इस प्रकार मूढमति ये अवसन्नादिक मुनि अपने दोषों को नहीं हटाते हुए अपना सर्व आयुष्य योही व्यतीत करते हैं, जिससे मायाचारी इन मुनियोंको देव दुर्गतिकी प्राप्ति होती है.

किमञ्च गिरुच्छाहा हवन्ति जे सव्वसंधकज्जसु ॥

ते देवसमिदिबज्जा कण्ठंते हुंति सुरमेच्छा ॥ १९५८ ॥

संघकृत्ये निरुत्साहाः किमेनन ममेति ये ॥

ते भवन्ति सुरा म्लेच्छा वाद्यवादिदिवौकसां ॥ २०३५ ॥

विजयोदया—किं मञ्जुगिरिच्छादा किं मल्लमिति ये सर्वसंघकार्येष्वनादृतास्ते देवसमितियाह्या' कल्पानामते सुरम्लेच्छा भवति ॥

सघकार्यानादृताना देवदुर्गतिमाह—

मूलारा—किं मञ्जु गिरिच्छादा किं ममेत्यनादृताः ॥ समिष्टि सभायां । कप्पते सौर्धर्मादिकल्पाना प्रत्यते ।

सुरमेच्छा देवम्लेच्छाः कर्मचाढाला इत्यर्थः ॥

अर्थ—जो सघके कार्योका अनादर करते हैं ऐसे मुनि सौधर्मादिक स्वर्गके अतमें सुरम्लेच्छ अर्थात् चांडालके समान देव होते हैं

कंदप्पभावणाए देवा कंदप्पिया मदा होंति ॥

खिन्विमसयभावणाए कालगदा होंति खिन्विमसया ॥ १९५९ ॥

अभिजोगभावणाए कालगदा आभिजोगिया हंति ॥

तह आसुरीए जुत्ता हवंति देवा असुरकाया ॥ १९६० ॥

सम्मोहणाए कालं करित्तु दो दुंदुगा सुरा हंति ॥

अण्णंवि देवदुग्गाइ उवयंति विराघया मरणे ॥ १९६१ ॥

कंदप्पभावनाशीलाः कंदर्याः संति नाकिनः ॥

निथाः किलियपिकाः संति मृताः किलियभावनाः ॥ २०३६ ॥

अभियोग्यक्रियासक्ता अभियोग्याः सुरा मृताः ॥

आसुरीभावना कृत्वा मृत्वा सन्त्यसुराः पुनः ॥ २०३७ ॥

सम्मोहभावनेषुक्ताः सम्मोहास्त्रिदशा मृताः ॥

विराघकै पराप्येवं प्राप्यते देवदुर्गतिः ॥ २०३८ ॥

विजयोदया—स्पष्टार्थसुतरगाथात्रयं ॥



कन्वर्पादिभावनामृताता तथाविधेदेवभूयमभिघत्ते—

मूलारा—मदा मृताः ॥

मूलारा—असुरकाया असुराः ॥

मूलारा—करितु कृत्वा । भाद्रपदमासकुङ्कुणामनुहरमाणाः । कामातुरतया शुतीनामिव देवीना अतिनिघ

पुरोलुठन्नादिचिष्टाकारिण इत्यर्थः ॥ अण्णं च अपरमपि । उच्यन्ति प्राप्नुवन्ति ॥

अर्थ—कंदर्प भावनाके वश होकर ये मुनि कंदर्प जाति के देव होते हैं किल्बिषभावनाके वश होनेसे माणोत्तर किल्बिष देवपर्यायकी प्राप्ति इनको होती है आभियोग्य भावनासे जो मुनि मरण करते हैं वे स्वर्गमें आभियोग्य देव अर्थात् वाहनदेव होते हैं आसुरीभावनासे प्राणत्याग करनेवाले मुनि असुर देव होते हैं सम्मोह भावनाके वश होकर मरण करनेवाले मुनि स्वर्गमें सम्मोह नामक देव होते हैं कामविकारके बाहुल्यसे ये देव देवीके साथ हमेशा क्रासेसेवन करते हैं मरणकालमें जो आराधानाकी विराधना करते हैं ऐसे मुनि अन्यमी देवदुर्गती में जन्ममें लेते हैं

इय जे विराधयिच्चा मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह ॥

तं तेभि बालमरणं होइ फलं तस्स पुब्बुत्तं ॥ १९६२ ॥

इत्थं विराध्य ये जीवा त्रियन्ते-सयमादिकम् ॥

तेषां बालमृत्तिस्तस्याःफलं पूर्वत्र वर्णितम् ॥ २०३९ ॥

विजयोदया—इय जे विराधयिच्चा एवं ये रत्नत्रय विनाश्य मरणकाले असमाधिना मृत्तिमुपयांति तेत्तेषा बालमरण भवति । तस्य बालमरणस्य फलं पूर्वमुक्तमेव ॥

रत्नत्रय विराध्य मृतानां क्तमन्मरणं स्यादित्यत्राह—

मूलारा—मरेजण्ह त्रियेरन् ॥ तं असमाधिमरणं ॥

अर्थ—जो इस प्रकार रत्नत्रयका नाश कर मरणको प्राप्त होते हैं अर्थात् असमाधिसे मरण करते हैं उनका यह मरण बालमरण है ऐसा आचार्य कहते हैं बालमरणके फलका वर्णन पूर्वमें आ चुका है

जे सम्मत्तं खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जण्ह ॥

ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होंति ॥ १९६३ ॥

विराध्य ये विपयंते सम्यक्त्व नष्टबुद्धयः ।

ज्योतिर्भावनाभूमिषु ते जायन्ते वितेजसः ॥ २०२० ॥

विजयोदया—जे सम्मत्त खवया ये क्षपका. सम्यक्त्व विनाश्य ध्रियते भवनवासिनो ज्योतिष्का व्यंतरं वा भवति ॥

सम्यक्त्वविराधनामरणफलमाह—

मूलारा—भोमेज्जा व्यंतराः ॥

अर्थ—जो क्षपक सम्यक्त्वका नाश कर कर मरण को प्राप्त होते हैं उनकी भवनवासि, व्यंतर अथवा ज्योतिष्क देवों में उत्पत्ति होती है.

दंसणणाणविहूणा तदो चुदा दुक्खवेदणुम्मीए ॥

संसारमण्डलगदा भमंति भवसागरे मूढा ॥ १९६४ ॥

दर्शनज्ञानहीनास्ते प्रच्युता देवलोक्तः ॥

संसारसागरे घोरं चंक्रमन्ति निरन्तरम् । २०४१ ॥

विजयोदया—दंसणणाणविहूणा सम्यग्दर्शनज्ञानहीनास्तत स्वर्गाच्युता दुःखेदेवोर्मीके भवसागरे मूढा भ्रमन्ति, मंडल गता ॥

विराधनाधिगतदेवभावश्लोदुर्जन्मपरंपरा त्रयीति—

मूलारा—तदो चुदा तत्तेदेवभावश्लोदुःखवेदणुम्मीए क्लेशानुभूतिवीचिके । मंडल आवर्त. ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान इन गुणों से रहित देव आयुष्य समाप्त होने पर स्वर्गसे अष्ट होकर दुःखानुभवरूप तरंगों से भरे हुए संसारसमुद्र में अज्ञानसे अचेत होकर भ्रमण करते हैं

जो मिच्छतं गंतूण किण्हल्लेस्सादिपरिणदो मरदि ॥  
तल्लेस्सो सो जायइ जल्लेस्सो कुणदि सो कालं ॥ १९६५ ॥

ये मृता मुक्तसम्यक्त्वाः कृष्णलेश्यादिभाविताः ॥  
तथालेश्या भवाम्भोघौ ते भ्रमन्ति दुरुत्तरे ॥ २०४२ ॥  
निवेशयंती भुवनाधिपत्ये मनीषितं कामदुघेव धेनुः ॥  
आराधिता किं न ददाति पुंसामाराधना सिद्धिवधूयस्या ॥ २०४३ ॥  
इति फलम् ॥

विजयोदया—जो मिच्छतं गंतूण य कृष्णलेश्यादिपरिणतो मिथ्यात्वं गत्वा त्रियते तल्लेश्यो जायते, पर-  
त्र च यल्लेश्य. कालं कृतवान् । फलन्ति ॥

मिथ्यात्वपरिणतस्य मरणप्राप्यदुल्लेश्यापरिणामाना ससरणानुपधमभिधत्ते—

मूलारा—जायदि परत्र उत्पद्यते । उक्तं च—

ये मृता मुक्तसम्यक्त्वाः कृष्णलेश्यादिभाविताः ।

तथालेश्या भवाम्भोघौ ते भ्रमन्ति दुरुत्तरे ॥

फल । सूत्रतः ३९ अंकतः ४१ ॥

अर्थ—जो मुनि कृष्ण लेश्या वगैरह लेश्याओंके वश होकर मिथ्यात्वी बन कर मरण करते हैं वे पर-  
लोकमें भी उसी लेश्या के धारक होते हैं. तात्पर्य जिस लेश्या से मरण होता है परलोकमें भी वही लेश्या उस-  
जीवकी रहती है इस प्रकार फल का वर्णन हुआ.

विजहणा निरूप्यते—

एवं कालगदस्स दु सरीरमंतोबहिज्ज वाहिं वा ॥

विज्जावच्चकरा तं संयं विक्किंचति जदणाए ॥ १९६६ ॥

एव कालगतस्यास्य बहिरंतनिवासिनः ।

त्यजंति यत्नतो गात्रं वैयावृत्त्यकराः स्वयम् ॥ २०४४ ॥

विजयोद्या-एव कालगतस्य एव कालगतस्य शरीरमतर्धद्विचरिस्थित वैयावृत्त्यकराः स्वयमेवापनयंति यत्नेन ॥

अथ लोकांतरप्राप्तक्षपकशरीरस्य त्यजनविधिं गाथाचतुस्त्रिंशता व्याचष्टे—

मूलारा—एवं यथोक्तसंन्यासविधिना । कालगतस्स मृतस्य क्षपकस्य । अंतो मध्ये नगरादेः स्थितस्य । बहिर् बहिः । तं निस्तरणात्सम्यक्त्वाद्याराधानाधिगतपरमपवित्रभावं । विकिंचति अपनयंति । जदणाए यत्नेन बह्यमाणेन ॥

अर्थ—जो क्षपक लोकांतर को प्राप्त हुआ है अर्थात् मर गया है तब वैयावृत्त्य करने वाले मुनि उसका शरीर जो कि नगरदिमें अथवा बाहर वसतिकोमें पड़ा रहता है उसे आगे कहे हुए प्रयत्नसे ले जाते हैं अभिप्राय यह है कि-पूर्वोक्त संन्यास विधीसे जो क्षपक सम्यक्त्वादिक चार आराधनाओंकी निस्तरण पर्यंत प्राप्तिकर पवित्र हुआ है वह नगरादिके बीचमें अथवा बाहर जग मरण करता है तब वैयावृत्त्य करने वाले मुनिगण उसके शवको बड़े प्रयत्नसे स्वयमेव ले जाते हैं.

समणां ठिदिकप्पो वासावासे तहेव उडुबंधे ॥

पडिलिहिदन्वा गियमा गिमीहिया सव्वसाधूहिं ॥ १९६७ ॥

साधूनां स्थितिकल्पोऽयं वर्षासु ऋतुबंधयोः ॥

समस्तैः साधुभिर्न्यायान्निरूप्या निषद्यका ॥ २१४५ ॥

विजयोद्या-समणां ठिदिकप्पो श्रमणाना स्थितिकल्पो वर्षावासे ऋतुग्रामे च नियमेन सर्वैः साधुभिर्निषीधिका नियमेन प्रतिलेखनीया ॥

स्वदेहेऽपि निरीहाः मुमुक्षवः कुतस्तच्छरीरत्यगाथ स्वय यतंते इत्यारेकायामुत्तरयति—

मूलारा—ठिदिकप्पो एष स्थितिकल्पोऽस्त एव वचनान्मासपञ्जाल्यस्थितिकल्पद्वयान्तर्गतत्वेन भवति । वासावासे वर्षासु चतुर्मास्यामेकत्र वासे प्रतिपद्यमाने चातुर्मासिकयोगप्रारंभ इत्यर्थः । उडुबंधे ऋतुग्रामे । पडिलिहिदन्वा यदि विशेषः गिमीहिया आराधकशरीरस्थापनस्थानम् ॥ उक्तं च —

साधुना स्थितिकल्पोऽयं वर्षावासानुबंधयोः ॥ समस्तैः साधुभिर्यत्नाद्यज्जिह्वया निषद्यकाः ॥  
अन्ये तु वासे वासे इति पाठित्वा वर्षे वर्षे इत्यर्थं व्याचक्रुः । अपरे मासे मासे इति पाठं मत्वा एवशब्दं  
विकल्पार्थमीषु । तथा चोक्तम्—

अवणानां स्थितिकल्पो मासे मासे तथर्तुबंधे वा ॥

प्रतिलेख्येपा नियतं निषद्यका सर्वसंयमिभिः ॥

यस्मान्निषद्यादर्शनं काळनैयत्येन सूत्रे साधूनामवश्यकर्तव्यतयोपदिष्टं तस्मान्निषद्याविधानाय सुसुक्ष्मभिः स्वयं प्रय-  
तितव्यमिति भावः ॥

अर्थ—चातुर्मासिक योगको प्रारम्भकालमें तथा ऋतुप्रारम्भमें जहां आराधकके शरीर का स्थापन किया है  
उस स्थानकी प्रति लेखना सर्व साधुओं को नियमसे करनी चाहिये अर्थात् उस स्थानका दर्शन करना चाहिये,  
पीछीसे उसको स्वच्छ करना चाहिये ऐसा यह सुनिश्चोका स्थित कल्प है

तस्या लक्षणमाचष्टे—

एवंता सालोगा नादिविक्रिष्ठा न चावि आसण्णा ॥

विस्थिणा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥ १९६८ ॥

निषद्या नानिदूरस्था विविक्ता प्रासुका घना ॥

कर्तव्योऽस्ति परागम्या बालवृद्धगणोचिता ॥ २०४६ ॥

विजयोदया—एवंता सालोगा एकाता परे प्रायेणादद्या नातिदूरा नात्यासन्ना विस्तीर्णा अविध्वस्ता दूरमव-  
गाढा ॥

किं लक्षणैषा निषद्या स्यादित्यत्राह—

मूलरा—एवंता एकातग्रदेशस्था । सालोगा सप्रकाशा । नादिविग्रहा नातिदूरा नगराद्यपेक्षया । न वादिया-  
सण्णा नाप्यत्यासन्ना विस्थिणा विपुला । विद्धत्ता प्रासुका । दूरमोगाढा अतिदृढा । उक्तं च—

निषद्या नातिदूरस्था विविक्ता प्रासुका घना ।

कर्तव्योऽस्ति परागम्या बालवृद्धगणोचिता ॥

अन्ये एगंता सालोगा इति पठित्वा एकातपरै प्रायेणात्रस्या इत्यर्थं प्रतिपन्नाः । एकतैरेकातवादिभिः न सम्यक् सुखेनालोक्यते दृश्यते इति व्युत्पत्तेः ॥ तदुक्तम्—

नातिदूरा न चासन्ना विद्वन्ना प्रायशः परैः ॥ अत्रस्या तु तथा दूरगवगाढा निपद्यका ॥

अपरे तु दूरमोगाढा इत्यस्य निपद्यास्थानस्तंभापेक्षया बह्वधःप्रवेशेत्यर्थमाहुः । टिप्पनके तु दूरे दूरे प्रच्छेदेत्यर्थो व्याख्यायि ।

निपीधिकाका लक्षण कहते हैं—

अर्थ—निपीधिका एकान्तप्रदेशमें अन्यजनो को दीख न पड़ेगी' ऐसे प्रदेश में हो प्रकाशसहित होनी चाहिये वह नगरादिकों से अतिदूर न हो न अति समीप भी हो वह दूरी हुई, विध्वस्त की गई ऐसी न हो, वह विस्तीर्ण प्रासुक और दृढ होनी चाहिये

अभिसुआ अघसा उज्जोवा बहुसमा य असिणिद्धा ॥

णिज्जतुगा अहरिदा अविला य तहा अणावाधा ॥ १९६९ ॥

जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अधव अवराए ॥

वसधीदो वणिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति ॥ १९७० ॥

वसतेनैकते भागे दक्षिणे पश्चिमेऽपि वा ॥

निपद्यका स्थिता या सा प्रशस्ता परिकीर्तिता ॥ २०४७ ॥

विजयोदया—जा अवरदक्खिणाए अपरदक्षिणाशाया, दक्षिणस्या, अपरस्यां वा दिशि वसति । निपीधिका प्रशस्ता ॥

तल्लक्षणशेषमाह—

मूलारा—अभिसुआ उद्देकारहिता । असुभिरा अधःप्रवेशिन्निष्ठरहिता । अघसा पुष्पटिकारहिता । उज्जोआ सोद्योता । बहुसमा बहुसमाभूमिका । असिणिद्धा अनार्द्रा । अविला तिर्यग्विचररहिता । अणावाधा वाधारहिता एता श्रीविजयो नेच्छति ॥

मूलारा—अवरदक्षिणाए नैऋत्यदिशि । अवरण पश्चिमदिशि । वसधीदो अपकवसतेः सकाशात् ।

वणिज्जदि प्रतिपाद्यते पूर्वाचार्यैः ॥

अर्थ—बहु निषिधिका चीटिओंमें रहित, छिद्रोंसे रहित होनी चाहिये धिसी हुई न होना चाहिये-प्रकाशसहित होवे समान भूमिके स्थानपर होवे. निर्जनतुक्त वाधारहित होवे वह गली तथा इधर उधर हिलने वाली नहीं होवे. वह निषिधिका क्षपकरी वसतिकासे नैऋत्य दिशामें, दक्षिण दिशामें अथवा पश्चिम दिशामें होनी चाहिये. ऐसी इन दिशाओंमें निषिधिका की रचना करना पूर्वं आचार्यों ने प्रशस्त माना है

सव्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तगं सुलभं ॥

अवराए सुहविहारो होदि य उवधिस्स लाभो य ॥ ११७१ ॥

सर्वस्यापि समाधानं प्रथमायां तथान्यत ॥

आहारः सुलभोऽन्यस्यां भवेत्सुखविहारिता ॥ २०४८ ॥

विजयोदया—सव्वसमाधी पढमाए सर्वेया समाधिर्भवति पढमाए अपरदक्षिणदिगवस्थितायां निगीधि काया, दक्षिणदिगवस्थितायामाहार सुलभ पश्चिमाया सुखविहार. उपकरणलाभश्च ॥

पूर्वोक्तदिक्त्रयनिपद्याकरणे शुभफलविशेषान्प्रकाशयति—

मूलारा—सव्वसमाधी सर्वेया संघातवर्त्तिश्रमणादीना समाधानं । भत्तग अन्नपान । सुहविहारो सुलप्रवर्तना ।

उवधिरस पुत्तकाद्युपकरणस्य ॥

अर्थ—नैऋत्यदिशाकी निषिधिका सर्व संघके समाधिके लिये कारण हो जाती है अर्थात् इस दिशाकी निषिधिका संघका हित करनेवाली होती है दक्षिण दिशाकी निषिधिकासे आहार सुलभतासे संघको मिलता है. पश्चिमदिशामें निषिधिका होनेसे संघका सुखसे विहार होता रहेगा और उनको पुस्तकादिक उपकरणोंका लाभ होता रहेगा

जदि तेसिं वाघादो दट्ठव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ॥

अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कमसो ॥ ११७२ ॥

तदभावेऽनलाशायां वायव्यायां हरोदिशि ॥

निषद्यकोत्तरस्यां वा मतेशानस्य वा दिशि ॥ २०४९ ॥

विजयोद्या—जवि तासि चाघादो यदि ता निग्रीधिका न लभ्यते, पूर्वदक्षिणनिग्रीधिका द्रष्टव्या, अपरोत्तरा या पूर्वा वा उदीची वा पूर्वोत्तरा वा क्रमेण ॥

आग्नेयादिदिक्षु निषद्याविधाने ययोत्तरोत्कृष्टफलानि दर्शयन् गाथाद्वयेन निषेधं व्यनक्ति—  
मूढारा—तासि चाघादो प्रागुक्तनिषद्याना प्रतिबध् । अपरदक्षिणादिदिक्षु निग्रीधिकाः कर्तुं न लभ्यन्ते इत्यर्थः ॥ दृष्टव्या निषद्याविधाने वक्ष्यमाणयथोत्तरोत्कृष्टशुभफलप्रदतया निरूप्या भवन्ति । पुनर्वदक्षिणा आग्नेयी दिक् । अवरुत्तरा वायवी दिक् । उदीचि उत्तरा । पुनरुत्तरा ऐशानी दिक् ॥

अर्थ—यदि नैऋत्य, दक्षिण और पश्चिम दिशामें निषिधिका बनवाने में कुछ बाधा उपस्थित होगी तो आग्नेय दिशामें, वायव्य दिशामें, ऐशान्य दिशामें व उत्तर दिशामें इन दिशाओमें से जिस दिशामें सुभीता हो वहां बनवानी चाहिये

एदासु फलं कमतो जाणेज्ज तुमंतुमा य कलहो य ॥

भेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कट्ठेदे अपणं ॥ १९७३ ॥

क्रमेण फलमेतासु स्पद्धां राट्ठिञ्च जायते ॥

भेदश्चापि तथा व्याधिरन्यस्याप्यपकर्षणम् ॥ २०५० ॥

विजयोद्या—एदासु एतासु निग्रीधिकासु । फलं कमतो विजानीयात् तुमंतुमा य पूर्वदक्षिणस्या स्पद्धां, अपरोत्तरस्या कलहं पूर्वस्या भेद उदीच्या व्याधि, पूर्वोत्तरस्या अन्योन्येनापकर्षयते ॥

मूलारा—तुमंतुमा स्पद्धां अहमेवंभूतस्त्वमेवभूतोऽन्ये वा ईदृग्भूता इत्यादिसंघर्षः । कलहो राटिः । भेदो संघस्य परस्पर द्विधाभावः । गिलाण व्याधिः । चरिमा ईशानदिक् । कट्ठेदे आकर्षयति । पूर्वोत्तरदिग्निपद्याकरणेः परो सुनिश्चित इत्यर्थः । एतेनैवमुपविष्ट भवति । प्रागेव तथा क्षपकाय वसतिः कल्या याथा तन्निपद्या नैऋत्यादिदिक्ष्वन्यतमस्या कर्तुं शक्यते इति ॥



अर्थ—परतु इन दिशाओंकी निधीधिकाओंका फल इस प्रकार क्रमसे समझ लेना चाहिये पूर्व दक्षिण दिशामें स्पर्द्धा, अर्थात् मैं ऐसाहूँ ऐसा तूहै, दूसरे इस प्रकारहैं ऐसी स्पर्द्धा, उत्पन्न होगी पार्श्वोत्तरदिशामें कलह होगा, पूर्व दिशामें सघमें फूट पड़ेगी, उत्तर दिशामें व्याधि उत्पन्न होगी, ईशान्य दिशामें सघमें परस्पर खींचतानी होगी पूर्वोत्तर दिशामें निधीधिका करनेसे प्रथमतः मुनिमरण होगा ऐसा इन दिशाओंका फल है

जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलेमेव णीहरणं ॥

जगणबंधणछेदणविधी अवेलाए कादव्वा ॥ १९७४ ॥

यदैव म्रियते काले त्यजनीयस्तदैव सः ॥

अवेलायां विधातव्या छेदबंधनजागराः ॥ २०५१ ॥

विजयोदया—जं वेलं कालगदो भिक्खू तं वेलेमेव णीहरणं यस्या वेलाया मृतो भिक्षु तस्यां वेलायामेवापनयनं कर्तव्यं, अवेलायां मृतश्चेत् जागरणं बंधन छेदन वा कर्तव्यं ॥

निष्कासनं तनोग्यवेलाया मृतस्य कार्यमन्यदा जागरणादिकमित्युपदिशति—

मूलारा—जं वेलं यस्या वेलाया । तं वेलेमेव तस्या वेलायामेव । णीहरणं यथाकथंचित्तेद्वापनयनं यतिभिः कर्तव्यम् । अवेलाए अवेलाया मृतस्य ॥

अर्थ—जिस समय भिक्षुका मरण हुआ होगा उसी वेलामें उसका प्रेत ले जाना चाहिये यदि अवेलामें मर जानेपर जागरण, बंधन, अथवा छेदन करना चाहिये।

के जागरणं कुर्वतीत्याचष्टे—

बाले बुद्धे सीसे तवस्सिभीरूगिलाणए दुहिदे ॥

आयरिए य विक्किचिय धीरा जग्गति जिदणिहा ॥ १९७५ ॥

भीरुशैक्षगणिगलानवालवुद्धतपस्विनः ॥

अपाकृत्यापारधीरा जितनिद्रा प्रजाग्रति ॥ २०५२ ॥

विजयोदया—बाले बुद्ध बालबुद्धान्, शिक्षकान्, तपस्विन, भीरून्, व्याधितान्, दुःखितानाचार्योश्च अपाकृत्य धीरा जितनिद्रा जागरण कुर्वति ॥

मृतभिक्षुसमीपे जागरणाधिकारणानि निर्दिशति—

मूलारा—गिलणपं व्याधितान् । विक्किचिय मुक्त्वा—

अर्थ—बालमुनि, वृद्धमुनि, शिक्षकमुनि, तपस्वी मुनि, भययुक्त मुनि, रोगीमुनि, दुःखपीडित मुनि और आचार्य इनको वर्ज्यकर धीर, निद्राको जिन्होंने जीता है ऐसे मुनियोंको जागरण करना चाहिये

के वधन्तीत्याचरे—

गीदत्था कदकज्जा महावलपरक्कमा महासत्ता ॥

बंधति य छिंदति य करचरणंगुह्यपदेसे ॥ १९७६ ॥

कृतकृत्या गृहीतार्थो महावलपराक्रमाः ॥

हस्तांगुष्ठादिदेशेषु बंध छेवं च कुर्वते ॥ २०५३ ॥

विजयोदया—गीदत्था गृहीतार्थो कृतकरणा महावलपराक्रमा महासत्त्वा वधन्ति छिंदति च करचरणं अंगुष्ठप्रदेशं वा ॥

के कुत्र बंधच्छेदौ कुर्वन्तीत्यत्राह—

मूलारा—कदकरणा असकल्लतक्षपककल्लाः । करेत्थादि हस्तं, पादमंगुष्ठप्रदेशं वा ॥

अर्थ—जिन्होंने पदार्थका सत्य स्वरूप जाना है और क्षपकके कृत्य जिन्होंने अनेक बार किये हैं, जिनमें महावल, पराक्रम और धैर्य हैं ऐसे मुनि क्षपकके हाथ और पाय तथा अंगुठा इनका कुछ भाग बांधते हैं अथवा छेदते हैं

एवमकरणे को दोष इत्याशंकायां दोषमाचरे—

जदि वा एस ण कीरिज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई ॥

आदाय तं कलेवरमुट्टिज्ज रमिज्ज बोधेज्ज ॥ १९७७ ॥

विधीयते न यद्येवं तदा काचन देवता ॥

कलेवर तदादाय विधत्ते भीषणक्रियां ॥ २०५४ ॥

विजयोदया—जदि वा एस यद्येप विधिर्न क्रियते कदाचिद्देवता क्रीडनशीला मृतकमादाय उत्तिष्ठत् प्रघावे-  
द्रेमत वा बाधयेद्वा तदर्शनात् बालादीना चित्तसंक्षोभः पलायनं मरणं वा भवेत् ॥  
उक्तविध्यविधाने दोषमाह—

मूलारा—वा अहो । ण कीरेज्ज न क्रियेत । तत्थ तस्मिन् स्थाने । देवदा कोई क्रीडनशीलो भूतः पिशाचो  
वा । तदुत्थानादिदर्शनाच्च बालादीना चित्तसंक्षोभः, पलायनं मरणं वा भवेत् ।

अर्थ—यदि यह विधि न की जावेगी तो उस मृतकशरीरमें क्रीडा करनेका स्वभाववाला कोई भूत अथवा  
पिशाच प्रवेश करेगा उस मृतको लेकर वह ऊठेगा, भागेगा क्रीडा करेगा इस कार्यको देखकर बालमुनि, मीरु-  
मुनि इनके मनमें क्षोभ उत्पन्न होकर ये भागेंगे अथवा मरण होगा इस लिये हाथपाय व अंगुठा बांधना चाहिये  
अथवा उनके कुछ प्रदेशोंका छेदन करना चाहिये

उयसयपडिदावणं उवसंगहिंदं तु तत्थ उवकरणं ॥  
सागारियं च दुव्हिहं पडिहारियमपडिहारिं वा ॥ १९७८ ॥  
जदि विक्खादा भत्तपइणा अज्जाव होज्ज कालगदो ॥  
देउलसागारिन्ति व सिवियाकरणं पि तो होज्ज ॥ १९७९ ॥

यस्योपकरणं किंचित्कृत्वा यांचां यदाहृतम् ॥  
कृत्वा संबोधनं सर्वं तत्तस्यार्ण्यं विधानतः ॥ २०५५ ॥  
प्रसिद्धो यदि संन्यासे स्थानरक्षार्थिका यदि ॥  
विपन्ना विधिना कार्या तदानीं शिविकोत्तमा ॥ २०५६ ॥

विजयोदया—जह विक्खादा भत्तपइणा यदि सर्वजनप्रकटा सेल्लवना आर्थिका वा भवेत् कालगतास्थानर-  
क्षका गृहस्था वा तत्र शिविका कर्तव्या ॥

क्षपकोपचारार्थं उपकरणप्रकारान्प्रतिनिर्दिशति—

मूलारा—उयसयपडियावण वसतिकाप्रतिवद्ध । तत्थ क्षपकनिमित्तं । सागारिय गृहस्थसंबंधि । पडिहारियं अत्यजनीयं । अप्पडिहारिं त्यजनीय एता श्रीविजयो नेच्छति ।

एव यथोक्तसन्ध्यासविधिमृतस्य संयतजनविधेय यथाकथंचिद्दहापनयनं विधाय साप्रतं प्रसिद्धसन्ध्यासविधिना आर्थिकादीना तद्विधिमभिधत्ते—

मूलारा—अज्जा अविशेषोक्तावपि स्थानरक्षार्थिका ग्राह्या । साहचर्यात् ॥ तथा चोक्तम्—  
प्रसिद्धा यदि संन्यासे स्थानरक्षार्थिका यदि ॥ विपन्ना विधिना कार्या तदानीं शिविकोत्तमा ॥  
देउल मठपतिः । सागारिन्ति । सागार इति । एव प्रकारो गृहस्थः झुलको वा । तदुक्तम्—

भक्त्यागाः ख्यातो यद्यर्थो झुलकोऽथ सागारः ॥ कालगतो देवकुली शिविकाकरणं ततोयुक्तम् ॥  
सर्वजनप्रकटभक्तप्रत्याख्यानेन मृजाना आर्थिकादीना निष्काशनार्थं शिविकायाः कुटीविशेषस्य निर्माणं अपि शब्दद्विमानमपीति केचित् ॥

अर्थ—क्षपक की श्रृणा करने के लिये जिन उपकरणोंका संग्रह किया जाता था उनका वर्णन—  
वसतिका सम्बन्धी उपकरण, कुठ उपकरण गृहस्थोंसे लाये जाते थे जैसे ओपध, जलपात्र, थाली वगैरह कुछ उपकरण त्यागने योग्य रहते हैं और कुछ उपकरण त्यागने योग्य नहीं होते हैं जो त्याज्य नहीं है वे गृहस्थोंको वापिस दिये जाते हैं कुछ कपडा वगैरह उपकरण त्याज्य रहता है यदि सर्वजनोंको विदित ऐसी किसी आर्थिकोने अथवा झुलकने सखेलना धारण कर मरण किया होगा तो उत्तम पालखी अथवा विमानमें उसके शवको स्थापन कर ले जाना चाहिये संन्यास स्थानका रक्षण करनेवाली आर्थिका, गृहस्थ, मठपति, झुलक इनका मरण होनेपर शिविका अथवा विमानमें इनका शव आरोहण कर गृहस्थ ग्रामके बाहर ले जाते हैं.

तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थ वंधित्ता ॥

उद्धेतरक्खणं गामं तत्तो सिरं किच्चा ॥ १९८० ॥

संस्तरेण समं बद्ध्वा सुतकं विधिना दृढम् ॥

विधायोत्थानरक्षार्थं ग्रामस्य विमुखं शिरः ॥ २०५७ ॥

विजयोदया—तेन परं संस्थाप्य तेन मृतकेन संस्तरयधात्ततो मृतकबंधनं कृत्वा ग्रामाभिमुखं शिरः कृत्वा उत्थानरक्षणार्थं ॥

मृतकनिष्कासनविधानं गाथात्रयेणाह—

मूलारा—तेण परं शिविकानिष्पादनानंतरं । संठाविय शिविकाया प्रवेश्य । वधित्ता सस्तरेण समं वद्ध्वेत्यर्थः । उद्धेतरक्खण्डं वत्तिष्ठतो मृतकस्य निवारणार्थं अन्यथा शिरसि कृते कडाचित्ठुत्तिष्ठेदिति भावः । गामं तत्तो ग्रामाभिमुखं ॥

अर्थ—शिविकाकी रचना करनेके अनंतर विछानेके साथ उस शवको बांधकर, शिविकामें उसको सुलाना चाहिये ग्रामके सन्मुख उसका मस्तक करना चाहिये. ग्रामके मन्मुख ही मस्तक करनेका कारण यह है कि कदाचित् वह उठेगा तो उसका मुख ग्रामके तरफ नहीं होगा और ग्रामके तरफ पर करके शिविकामें स्थापन करनेसे वह उठनेपर ग्राममें प्रवेश करेगा इसलिये ग्रामके तरफ सिर करनेका विधान लिखा है-

पुव्वाभोगिय मग्गेण आसु गच्छंति तं समादाय ॥

अट्ठिदमणियत्तंता य विट्ठो ते अणिब्भंता ॥ १९८१ ॥

क्षिप्रमादाय गच्छंति वीक्षितेनाध्वना पुरा ॥

निवर्तनमवस्थानं त्यक्त्वा पूर्वार्वलोकनम् ॥ २०५८ ॥

विजयोदया—पुव्वाभोगियमग्गेण पूर्वालोकिनेन मार्गेण आसु गच्छति तत्समादाय अस्थितं अनिवर्तमानाः पृष्ठत आलोकनं मुक्त्वा ॥

मूलारा—पूव्वाभोगिय प्राग्दृष्टः । अट्ठिद अविश्रान्त । अणियत्ततो अव्यायुदंत पट्ठितो पृष्ठतः । अणिब्भतो अनालोकमानाः ।

उक्तं च—

ससारेण समं वद्ध्वा मृतकं विधिना न्ढ ॥

विधायोत्थानरक्षणार्थं ग्रामस्याभिमुखं शिरः ॥

क्षिप्रमादाय गच्छंति वीक्षितेनाध्वना पुरा ॥

निवर्तनमवस्थानं त्यक्त्वा पूर्वार्वलोकनम् ॥

अर्थ—पूर्वसे देखे हुए मार्गसे वह शव शीघ्र लेकर जाना चाहिये, रास्तेमें न खहे होना चाहिये न पीछे लोटकर देखना भी चाहिये

कुसमुहिं धेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गंतव्वं ॥

अट्टिअणियत्तेणे पिट्ठो लोयणं मुच्चा ॥ १९८२ ॥

पुरो गन्तव्यमेकेन गृहीतकुशमुष्टिना ॥

पूर्वावलोकनस्थाननिवर्तनविवर्जिना ॥ २०५९ ॥

विजयोदया—कुसमुहिं धेत्तूण कुशमुष्टिं गृहीत्वा पुरस्तादेकेन गतव्यं, अस्थित अनिवर्तमानेन अपृष्टावलोकना ।

मूलारा—कुसमुष्टिं मुष्टिधृतदर्मान् । पुरदो अग्रे । मुच्चा त्यक्त्वा ॥

अर्थ— उस शवके आगे एक मनुष्य मुष्टिमें कुशदर्म लेकर जावे, वह पीछे न देखे न मार्गमें ठहरे,

तेण कुसमुट्ठिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए ॥

संथारो कादब्बो सव्वत्थ समो सार्गि तत्थ ॥ १९८३ ॥

कृत्यस्तत्र समस्तेन संस्तरः कुशधारया ॥

अच्छिन्नया संकृद्देशे वीक्षिते समपातया ॥ २०६० ॥

विजयोदया—तेण कुसमुट्ठिधाराए तेन पुरस्ताद्गतेन पूर्वनिरूपितनिषीधिकास्थोन च्छिन्नया समनिपातया सर्वत्र समा संस्तरः कार्यं ॥  
कुशमुष्टिकृत्यमाह—

मूलारा—तेण पुरोगतेन । धाराए धारया निक्षेपेण । अव्वोच्छिण्णाए नितरस्या । समणिपादाए सदृशं

पतंत्वा । कादब्बो प्रस्तरितव्यः । सार्गि एकवारेण । तत्थ पूर्वनिरूपितनिषीधिकास्थाने ॥

अर्थ—जिसने निषीधिका स्थान पूर्वमें देखा है वह मनुष्य वहां जाकर दर्भमुष्टिकी समान धारासे सर्वत्र सम ऐसा सस्तर करना चाहिये ।

जत्थ ण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वि तत्थ केसरेहिं वा ॥

संधरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अव्वोच्छिण्णा ॥ १९८४ ॥

स चूर्णैः केशरैर्वापि कुशाभावे विधीयते ॥

समानः सर्वतोऽच्छिन्नो धीमता विधिना सकृत् ॥ २०६१ ॥

विजयोदया—जत्थ ण होज्ज तणाहं यत्र न लभ्यंते कुशवणानि तत्र चूर्णैर्वा केशरैर्वा संस्तरं कार्यं सर्वं समोऽव्युच्छिन्न ॥

कुशालाभे संस्तरितमाह—

मलारा—तणाहं कुशाः । चुण्णेहि प्रासुककंदुलमसूरादिषिष्टैः । केशरेहि प्रासुकपद्मादिकिजत्कैः । लेहा रेसा । सवत्थ मस्तकातात्प्रभृति पादात् यावत् । समा हान्युत्कर्षरहिता ॥

अर्थ—यदि दर्भं तृण नहीं मिला तो प्रासुक तंडुल, मखरकी दाल इत्यादिकोंके चूर्णसे, कमलकेशर वगैरहसे सस्तकसे लेकर पांचवतक समान, नहीं तुटी हुई रेसाए लिखनी चाहिये.

असमत्वे दोषमाचष्टे—

जदि विसमो संथारो उवरिं मज्जे व होज्ज हेट्ठा वा ॥

मरणं व गिलाणं वा गणिवसभजदीण णायव्वं ॥ १९८५ ॥

आदौ मध्येचसाने च विपमो यदि जायते ॥

आचार्यो वृषभः साधुर्मृत्युं रोगमथाश्नुते ॥ २०६२ ॥

विजयोदया—जदि विसमो संथारो यदि विपमः संस्तर उपरिप्रात् मध्ये अधस्ताद्वा । उपरिवैपम्ये गणितो मरणं व्याधिर्वा, मध्ये विपमश्चेत् वृषभस्य मरण व्याधिर्वा, अधस्ताद्विपमत्वे यतीना मरणं व्याधिर्वा । संस्तररेपावेपम्ये दोषमाख्याति—

मलारा—गिलाण व्याधिः । गणिवसभजदीण आचार्येणार्च्यसामान्यमुनीना । तत्र शिरोदेशे संस्तरवैपम्ये गणिना मरणं व्याधिर्वा स्यात् । उदरदेशे तद्वैपम्ये एलाचार्यस्य मरण व्याधिर्वा स्यात् । पादात् तद्वैपम्ये तदितरसाधूना मरण व्याधिर्वा स्यात् इति टीकाकारो व्याचक्रतुः । उक्तं च—

आदौ मध्येऽवसाने च विपमो यदि जायते ॥

आचार्यो वृषभः साधुर्मृत्युं रोगमथाश्नुते ॥

टिप्पणके चैवमभिप्रेतम् । उपरि वैपम्ये गणितो मरण । मध्यवैपम्ये एलाचार्यस्य व्याधिः । अघो वैपम्ये यती-  
ना व्याधिः स्यात् ॥

यदि असम रेखाए लिखी जाय तो दोप है इसका विवेचन--

अर्थ--ऊपर, मध्यमें अथवा नीचे रेखाओंमें यदि विपमता होगी तो वह अनिष्टशुचक है ऊपरकी रेखायें विपम होंगी तो गणीका-आचार्यका मरण अथवा व्याधि सूचित होता है मध्यकी रेखा विपम होनेपर एलाचार्यमरण अथवा व्याधि सूचित होता है और नीचेकी रेखा विपम होनेपर सामान्य यतीका मरण अथवा व्याधिकी सूचना मिलती है

जत्तो दिसाए गामो तत्तो सीसं करित्तु सोवधिंयं ॥

उद्धेतरखलणहुं वोसरिद्वंयं सरिं तं ॥ १९८६ ॥

ग्रामस्याभिमुखं कृत्वा शिरस्त्याज्य कलेवरम् ॥

उत्थानरक्षणं कर्तुं मस्तकं क्रियते तथा ॥ २०६३ ॥

विजयोदया--जत्तो दिसाए गामो यस्यां दिशि ग्राम तत शिर कृत्वा सर्पिष्ठक शरीरं व्युत्सष्टव्यं, उत्था-  
नरक्षणार्थं ग्रामादिभूमिमुखतया शिरोरचना ॥

तच्छरीरशिरःस्थापनदिश नियमयति-

मूलारा--जत्तो दिसाए यस्या दिशि । सोवधिंयं सर्पिष्ठकं शिरःस्थापयित्वा । ग्रामवैमुख्येन शिरसि स्थापिते  
कदाचिन्मृतकमुत्तिष्ठेदपीत्यभिप्राय शिरः क्रियते । उक्तं च--

तद्ग्रामस्य दिश केन कृत्वा मोपधिकं शिरः ॥ तदुत्थाननिषेधाय व्युत्सष्टव्यं कलेवरम् ॥

अन्ये तु दक्षिणहस्ते पिच्छं स्थाप्यते इत्याह । तथा चोक्तम्--

ग्रामपराङ्मुखवदनं संयमसाधनसमन्वितं कृत्वा ॥ उत्तिष्ठेदक्षार्थं विसर्जनीयं वपुस्तस्य ॥

अर्थ--जिस दिशमें ग्राम होगा उस दिशमें मस्तक कर पिछीके साथ उस शवको उस स्थान पर रखना चाहिये ग्रामके सम्मुख मस्तक करेतेका अभिप्राय पूर्वमें लिख चुके हैं.



उपकरणस्थापनाया तत्र गुणमाचष्टे—

जो वि विराधिय दंसणमंते कालं करितु होज्ज सुरो ॥

सो वि विबुज्झदि दठठूण सदेहं सोबाधिं सज्जो ॥ १९८७ ॥

विजयोदया—जो वि विराधिय योऽपि दर्शनं विनाश्याते कालगतस्सुरो भवेत् सोपि जानाति सोपकरणं स्वदेहं दृष्ट्वा प्रागहं संयत इति ॥

तत्र किमर्थं पिंलं स्थाप्यते इत्याह—

मूलारा—विबुज्झदि प्रागहं संयतोऽभूत् सम्यक्त्वविराधनानुगतमरणादीदृशीं गतिं प्राप्त इति बोधिं लभते । सज्जो सपिंलप्राकनस्वदेहदर्शनान्तरमेव ॥

‘पिंलीकी स्थापना करनेका उद्देश वताते हैं—

अर्थ—जिसने सम्यग्दर्शनकी विराधनासे मरण कर देवपर्याय पाया है वह भी पिंलीके साथ अपना देह देखकर मैं पूर्वमवसें मुनि था ऐसा जान सकेगा।

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु सत्वेसिं ॥

एको दु ससे खेत्ते दिवहुखेत्ते मरंति दुवे ॥ १९८८ ॥

सदभिसभरणा अहा सादा असलेस्स जिट्टु अवरवरा ॥

रोहिणिविसाहपुणत्त्वसु चित्तचरा मज्झिमा सेसा ॥ १९८९ ॥

शांतिर्भवति सर्वेषामुक्षेत्पे क्षपके मृते ॥

मध्येमे मृत्युरेकस्य जायते महति द्वयोः ॥ २०६४ ॥

मृत. अन्येष्वेको मृतिमुपैति, मद्भानक्षेत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरणं ॥ जघन्यमध्यमोत्कृष्टनक्षत्रेषु क्षपकमरणे फलानि कथयति—

मूलारा—णत्ताभागे रिक्खे जघन्ये पंचदशमुहूर्तिके शतभिषगभरणयाद्रास्त्रालाश्लेषाज्येष्ठानां पण्णा मध्ये एक-

स्मिन्नक्षत्रे तदशे वा क्षपके मृते सर्वेषां क्षेम स्यात् ॥ समे खेत्ते मध्यमे त्रिंशन्मुहूर्तिके अधिनीकृतिकामृगशिरःपुष्यमघा-

पूर्वाफाल्गुनीहस्तचित्रातुराधामूलपूर्वाषाढाश्रवणघनिष्ठापूर्वभाद्रपदारेवतीना मध्ये एकस्मिन्नक्षत्रे तदंशे वा मृते एकोऽन्योऽपि मुनिश्चियते । दिवदुखेत्ते उत्कृष्टे पञ्चत्वारिंशमुहूर्तिके उत्तरफल्गुन्युत्तराषाढोत्तरभाद्रापूर्वसुरोहिणीविशाखाना मध्ये एकस्मिन्नक्षत्रे तदंशे वा क्षपके मृते द्वावन्यावपि मुनी भ्रियेते ॥ उक्त च—

शातिर्भवति सर्वपापक्षेऽल्पे क्षपके मृते ॥ मध्यमे मृत्युरेकस्य जायते महति द्वयोः ॥

अर्थ—अल्प नक्षत्रमें यदि क्षपका मरण होगा तो वह सबको सुखदायक होगा मध्यनक्षत्रमें मरण होनेसे और एक मुनिका मरण होता है महानक्षत्रपर मरण होनेसे दो मुनियोंका मरण होता है

जो नक्षत्र पंधरा मुहूर्तके रहते हैं उनको जघन्यमुहूर्त कहते हैं शतभिषक, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आरेषा, इन छह नक्षत्रोंमेंसे किसी एक नक्षत्रपर अथवा उसके अंशपर यदि क्षपका मरण होगा तो सर्व संयका क्षेम होता है तीस मुहूर्तके नक्षत्रोंको मध्यम नक्षत्र कहते हैं अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिर, पुष्य, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, पूर्वा, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपदा, और रेवती इन पंधरा नक्षत्रोंपर अथवा उसके अंशपर क्षपका मरण होनेसे और एक मुनिका मरण होता है. उत्कृष्ट पंचचालीस मुहूर्तके नक्षत्रोंको उत्कृष्ट नक्षत्र कहते हैं उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरभाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी इन छह मुहूर्तमेंसे किसी मुहूर्तपर अथवा उसके अंशपर क्षपका मरण होनेसे और दो मुनियोंका मरण होता है

गणरक्त्वत्य तस्मा तणमयपडिर्विबयं खु काटूण ॥

एकं तु ममे खेत्ते दिवदुखेत्ते दुवे देज्ज ॥ १९९० ॥

महन्मध्यमनक्षत्रे मृते शांतिर्वधीयते ॥

यत्नतो गणरक्षार्थं जिनाचार्यकरणादिभिः ॥ २०६५ ॥

विजयोदया—गणरक्त्वत्य गणरक्षणार्थं तस्मात्तृणमय प्रतिविबक कृत्वा मध्यमनक्षत्रे एकं दद्यात् । उत्तम-नक्षत्रे प्रतिविबद्वयं ॥

मध्यमोत्कृष्टनक्षत्रक्षपकरणात्पाते संघगातिविधानाभिधानार्थं गाथात्रयमाह—

मूळारा—तस्मा एकद्विमरणाद्वेतोः । दुवे द्वे तृणमयप्रतिविबके । देज्ज दद्यात्संघशालार्थी ।

अर्थ—गणके रक्षण हेतुमे मध्यमनक्षत्रमें तृणका एक प्रतिविंब कर रखना चाहिये तथा उत्तम नक्षत्रपर दोन तृणके प्रतिविंब करके अर्पण करना चाहिये

प्रतिविंबदानमाचष्टे—

तट्टाणसावणं चिय तिव्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि ॥

विदियवियपिय भिक्खू कुञ्जा तह विदियतदियाणं ॥ १९९१ ॥

चिजयोदया—तट्टाणसावणं मृणपाश्चै तत्प्रतिविंबं स्थाप्य विक्रमुचोर्षयेत्, तस्मिन्स्थाने द्वितीयोर्षित इति पराकर्षणेऽयं क्रमः । द्वयो प्रतिविम्बोर्षणे द्वितीयवृत्तीयौ दत्ताविति चि श्रावयेत् ॥

प्रतिविंबदानविधानमाह—तट्टाणसावय तत्स्थानश्रावकं कुर्यात् । मृत्कपाश्चै तत्प्रतिविंबं संस्थाप्य तस्य स्थानेऽयं द्वितीयो मर्यापितः । न चिरं तिष्ठतु तपो वा करोत्विति विक्रमोर्षयेदित्यर्थः । मृत्कपाश्चै ण्ण पराकर्षणे क्रमः । उच्यते नमः । रातुदीर्घेदित्यर्थः । विदियतदियाणं द्वितीयवृत्तीययोस्तत्स्थानश्रावणं तथा कुर्यात् ॥ मृत्कपाश्चै द्वे तत्प्रतिविंबे स्थापयित्वा तयोर्द्वयोःस्थाने द्वाविमौ मर्यापितौ तौ चिरं तिष्ठता तपो या कुरुता इति त्रिर्येकचारेयत् इत्यर्थः । उक्तं च—  
संस्थाप्य मृत्कपाश्चै त्रितत्स्थाने नमायमामुक्तः ॥ इत्यर्प्यते द्वितीयो त्रिधिरयमन्यत्र च देयः ॥  
प्रतिविंबानां वृणालाभे प्रकारांतरेण शातिकर्मोपदिशति—

उक्तं च—

संस्थाप्य मृत्कपाश्चै त्रिस्तत्स्थाने गयायमामुक्तः ॥  
इत्यर्प्यते द्वितीयो त्रिधिरयमन्यत्र च देयः ॥

अर्थ—मृत्कके पास प्रतिविंब स्थापन कर उसे मुनीके स्थानमें मैने यह यह दूसरा अर्पण किया है यह चिरकाल यहां रहे अथवा तप करे ऐसा जोसे तीन बार उच्चारण करना चाहिये एका अर्पण करनेमें यह क्रम कहा है मृत्कके पास दोन तृणप्रतिविंब स्थापन करके दोनोंके स्थानमें भैं ये दो अर्पण किये हैं ये यहां चिरकाल रहे अथवा तप करे ऐसा जोसे तीनबार बोलना चाहिये

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिट्टियादिचुण्णेहिं ॥  
कादन्वोथ ककारो उवरिं हिंहा यकारो से ॥ १९९२ ॥

विजयोदया—असदि तणे प्रतिविचरणार्थमसति तणे चूर्णे पुष्पकेसरेवो भस्मना इष्टकाचूर्णवो उपरि ककारं लिखित्वा तस्याधस्थात् यकारं कुर्यात् काय इति लिखेदित्यर्थः ॥  
प्रतिविधार्थं तृणालाभे प्रकारतरेण शक्तिकर्मोपदिशति —

मूलारा—केसर पुष्पकेसरे; । छार भस्मना । इट्टियादिचुण्णेहिं इष्टकापाषाणादिचूर्णः । संघशान्त्यर्थिना । अत्र क्षपके स्थापयित्वाणे पूर्ववत्प्रामुख्यान्यचूर्णादिना के लिखित्वा तदुपरि क्षपक स्थापयेत् इत्यर्थः । से तस्योपरि लिखितस्य ककारस्याधस्तकारो लिखितव्य इत्यर्थः । एतेन केति व्यंजनद्वय लेख्यमानगतम् । अर्हत्पूजादिना चात्र शान्तिरिच्यते । तदुक्तम्—

महन्मध्यमनक्षत्रमृते शान्तिर्विधीयते । यत्ततो गणरक्षार्थं जिनार्चाकरणादिभिः ॥  
अर्थ—प्रतिविच करनेके लिए यदि तृण नहीं होगा तो तड़ुलचूर्ण, पुष्पके केसर, भस्म, अथवा इट्टिका चूर्ण इसमेंसे जो कुछ प्राप्त होगा उससे ऊपर ककार और उसके नीचे यकार लिखना चाहिये. अर्थात् 'काय' ऐसा शब्द लिखना चाहिये सघ शान्तिके लिये ऐसा कार्य करना चाहिये (क्षपकको स्थापन करनेके पूर्वमें प्रामुख्यान्य चूर्णादिकसे क लिखकर उसके ऊपर क्षपकको स्थापन करना चाहिये क ककार के नीचे यकार भी लिखना चाहिये. अर्हन्तकी पूजा वगैरहसे भी शान्ति करते हैं ऐसा मूलाराधनामें उल्लेख है )

उवगाहिदं उवकरणं हवेज्ज जं तत्थ पाडिहरियं तु ॥  
पडिवोधिच्चा समं अप्पेदन्व तयं तेसिं ॥ १९९३ ॥

विजयोदया—उवगहिद उवकरणं मृतकशयने यद्गृहीतमुपकरणं वस्त्रकाष्ठादिकं गृहस्थयात्रां कृत्वा तत्रोपकरणे यत्प्रतिनिवर्तनीयं वस्त्रादिकं तत्पाडिहारिकमित्युच्यते । तदप्येतद्व्य तेषां गृहस्थानां सम्यक्प्रतिबोधयम् ॥  
मृतकनयने यद्गृहस्थेभ्यो याचित्वानीतमुपकरणं तत्प्रत्यर्पणविधिमाह—

मूलारा—तत्थ तस्मिन् वस्त्रकाष्ठादौ पाडिहरियं प्रातिहारिक व्याघोष्य समर्पणायोग्यं इत्यर्थः । सम यथा विचिकित्सा तत्स्वामिना न भवति तथा तान्प्रतिबोध्य । तेसिं येथ्य प्रार्थयानीष तेषां । उक्तं च—

शुद्धपात्तं तु वस्त्रादि नयनावसरे न्यसोः ॥ तत्त्वामिभ्यस्तद्वर्त्य स्यात् कृत्वा सम्यक्प्रबोधनम् ॥  
अर्थ—मृतकको निपीधिकाके पास ले जानेके समय जो कुछ वस्त्रकाष्ठादिक उपकरण गृहस्थोंसे याचना करके लाया गया था उसमें जो कुछ लौटकर देने योग्य होगा वह गृहस्थोंको समझाकर देना चाहिये

आराधणपत्तीयं काउसगं करोदि तो संघो ॥

अधिउत्ताए इच्छागारं खवयस्स वसधीए ॥ १९१४ ॥

संपचयतां नोऽपि विनांतरायमाराधनैषेति गणेन कार्यः ॥

चतुर्विंसर्गः क्षपकाधिवासो घृच्छ च तस्मिन्नधिदेवतानाम् ॥ २०६६ ॥

विजयोदया—आराधणपत्तीय आराधनास्माकमित्येव यथा स्यादिति सद्य कायोत्सर्गं करोति, क्षपकस्य वसतौ अविद्युक्तेदेवता प्रति इच्छाकार कार्यं युष्माकमिच्छया सघोऽत्रासितुमिच्छतीति ॥  
आराधकवसत्या संघस्य तदनंतरकृत्यमनुशारित—

मूलरा—आराधणपत्तीयं आराधनार्थं । अस्माकमप्येवमाराधना भवत्विति । अधिउत्ताए तदधिष्ठितदेवताना । इच्छाकारं युष्माकमिच्छया संघोऽत्रासितुमिच्छतीत्यधिकृतदेवता अनुमतिं कारयितुं उपरोधं च संघः करोतीति सम्बन्धः ।

अर्थ—चार आराधनाओंकी प्राप्ति हमको होवे ऐसी इच्छासे संघको एक कायोत्सर्ग करना चाहिये। क्षपकके वसतिकाली जो अधिष्ठानदेवता होगी उसके प्रति यहां सघ बैठना चाहते हैं ऐसा इच्छाकार करना चाहिये

सगणत्थे कालगदे खमणमसज्झाइयं च तद्विंसं ॥

सज्झाइ परगणत्थे भयणिज्जं खमणकरणपि ॥ १९१५ ॥

उपवासमनध्यायं कुर्वन्तु स्वगणस्थिताः ॥

अनध्याय मृतेऽन्यस्मिन्नुपवासो विकल्प्यते ॥ २०६७ ॥

विजयोदया—सगणत्थे कालगदे आत्मीयगणस्थे यतौ काल गते उपवासः कार्यं स्वाध्यायश्च न कर्तव्यस्तस्मिन् दिने । परगणस्थे काल गते पठति उपवासकरणमपि भाज्य । अन्ये तु पठति, ण उस्साइ परगणत्थे न स्वाध्याय कर्तव्य परगणस्थे मृते उपवासकर्णीयं भाज्यमिति तेया व्याख्या ।

आत्मीयसमुदायरथयतौ मते तस्मिन्दिने संघेनोपवासोऽनव्ययनं च कार्यमन्यगणरथे तु मतेऽनव्ययनमवश्यं कार्यमुपवासस्तु विकल्प इत्युपदेष्टुमाह—

मूलारा—असंज्ञादय अनव्ययनं संघेन कार्यं । गच्छादि न पठति सध ।

अर्थ—अपने गणका मुनि मरण को प्राप्त होनेपर उपवास करना चाहिये और उसदिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिये परमणके मुनिका मृत्यु होनेपर स्वाध्याय नहीं करना चाहिये. उपवास कला विकल्प है अर्थात् उपवास करे अथवा न करे.

एवं पडिठविज्ञा पुणो वि तदियदिवसे उवेक्खंति ॥

संघस्स सुहविहारं तस्स गद्दी चेव णाहुंजे ॥ १९९६ ॥

गत्त्वा सुखविहाराय संघस्य विधिकोविदैः ॥

द्वितीयेऽहि तृतीये वा द्रष्टव्यं तत्कलेवरम् ॥ २०६८ ॥

विजयोदया—एव णडिठविज्ञा उक्तेन क्रमेण क्षपकशरीरं प्रतिष्ठाप्य पुनस्तृतीये दिवसे गत्वा पश्यंति, संघस्य सुखविहारं तस्य च गतिं ज्ञातु ॥

तृतीयदिनकृत्यमाह—

मूलारा—पडिठविज्ञा क्षपकशरीर प्रमुच्य । उवेक्खंति तत्र गत्वा पश्यति विधिना । सुहविहारं सुखाय देशांतरे गमन । चेव तद्राज्यसुभिक्षादिक चेत्येवमर्थोऽत्र च । णाहुंजे ज्ञातु । केचित्पुणोवीत्यत्र अपिशब्दमनुक्तसमुच्चयार्थमभिमेल्य द्वितीयदिनेऽपीति प्रतिपन्नाः ॥ तदुक्तम्—

मत्वा सुखविहाराय संघस्य विधिकोविदैः । द्वितीयेऽहि तृतीये वा तद्रष्टव्यं कलेवरम् ॥

अर्थ—उपर्युक्त क्रमसे क्षपकके शरीरकी स्थापना कर पुनः तीसरे दिन वहां जाकर देखते हैं अर्थात् संघका सुखसे विहार होगा या नहीं और उसको कौनसी गति हुई है इसका परिज्ञान करनेकेलिये तिसरे दिन फिर वहां मुनि जाते हैं

जादिदिवसे संचिद्वदि तमणालद्धं च अक्खदं मडयं ॥  
तदिवरिसाणि सुभिक्खं खेमसिवं तम्हि रज्जम्मि ॥ १९९७ ॥

यावन्तो वासरा गात्रमिदं तिष्ठत्यविक्षतम् ॥

शिवं तावन्ति वर्षाणि तत्र राज्ये विनिश्चितम् ॥ २०६९ ॥

विजयोदया—जदि दिवसे यावतो दिवसा. शृगालवृकादिभिरस्पृष्टमक्षतं च तन्मृतकं तदिवरिसाणि तावन्ति वर्षाणि सुभिक्ष क्षेम शिव च तस्मिन्नराज्ये ॥

तद्राज्यसुभिक्षादिकालेयत्तानिर्णयार्थं तावदाह—

मूलारा—जदि दिवसे यावन्ति दिनानि । अणालद्ध असृष्टम् । शृगालादिभिरत्रोटितमित्यन्ये । अक्खदं क्षतवर्जितम् । अशतितमित्यन्ये । तदि तावन्ति । खेम क्षेत्रं लब्धपरिरक्षणं । सिवं सुखं । तम्मि क्षपकमरणविषयभूते ।

अर्थ—जितने दिनतक वृक्षादिक पशु पक्षियोंके द्वारा वह क्षपक्यारीर स्पर्शित नहीं होगा और अक्षत रहेगा उतने वर्षतक उस राज्यमें क्षेम रहेगा ऐसा समझना चाहिये.

जं वा दिसमुवणीदं सरिरय खगचदुप्पदगणेहिं ॥

खेम सिवं सुभिक्खं विहरिज्जो ते दिसं संघो ॥ १९९८ ॥

आकृज्य नीयते यस्यां तदंगं श्वापदादिभिः ॥

विहर्तुं युज्यते तस्यां संघस्य कङ्कुभि स्फुटम् ॥ २०७० ॥

विजयोदया—जं वा दिसमुवणीदं या वा दिशमुपनीत शरीर पक्षिभिश्चतुष्पदैर्वा ता दिश संघो विहरेत् क्षेमादिक तत्र क्षान्त्वा ॥

संघविहरणोचितदिग्गिण्यार्थं तावदाह—

मूलारा—जं वा या च । खेममित्यादि क्षेत्रमादिकं ज्ञात्वेत्यर्थः । उक्तं च—

उपनीत दिशं या वा मृतकं शकुनादिभिः ।

ता दिशं विहरेत्संघो विज्ञाय कुशलदिकम् ॥

अर्थ—पक्षी अथवा चतुष्पद प्राणी जिस दिशामें उस क्षपकका शरीर ले गये होंगे उस दिशामें संघ विहार करे उस दिशेके तरफ क्षमादिक समझना चाहिये

जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उव्वरिगिरिसिहरे ॥

कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णादब्बो ॥ १९९९ ॥

यदि तस्य शिरो दन्ता दृश्येरन्नगमूर्धनि ॥

तदा कर्ममलान्मुक्तो ज्ञेयः सिद्धिमसौगतः ॥ २०७१ ॥

विजयोदया—जदि तस्स उत्तमंग यदि तस्य शिरो दृश्यते दन्ता या गिरिसिखरस्योपरि कर्ममलविप्रमुक्त सिद्धिमसौ प्राप्त इति ज्ञातव्यः ॥

क्षपकगतिनिर्णयाय गाथाद्वयमाह—

मूळारा—उत्तमंग शिर । सगतालुंगेण स्वतालुना सह । श्रीविजयस्तु दिस्सदि दंता व उव्वरीति पाठं मन्यमानो

ज्ञायते तथा चोक्तम्—

यदि तस्य शिरो दंता दृश्येरन्नगमूर्धनि ॥ तदा कर्ममलान्मुक्तो ज्ञेयः सिद्धिमसौ गतः ॥

कस्मेत्यादि अत्र कर्ममल मिथ्यात्वादित्योक्तकर्माणि । सिद्धिं चर्त्तार्थसिद्धिमिति जयनदिदिप्पेण व्याख्या । प्राकृत टीकाया तु कर्ममलविप्पमुक्को कम्ममलेण मेद्धिदो । सिद्धिं गिब्बाणं । पत्तोत्ति प्राप्त इति ।

अर्थ—क्षपकका मस्तक अथवा दंतपंक्ति पर्वतके शिखरपर दीख पड़ेगी तो यह क्षपक कर्ममलसे अलग होकर मुक्त होगया है ऐसा समझना चाहिये

वेमाणिओ थलगदो समम्मि जो दिसि य वाणवित्तओ ॥

गड्डाए भवणवासी एस गदी से समासणे ॥ २००० ॥

वैमानिकःस्थलं यातो ज्योतिष्को ज्यंतरःसमम् ॥

गतां च भावनस्तस्य गतिरेषा समासतः ॥ २०७२ ॥



इदं विधानं जिननाथदेशितं ये कुर्वन्ते अद्वयते च भक्तितः ॥  
आदाय कल्याणपरंपराभिमे प्रयाति निष्ठामपनीतकल्मषाम् ॥ २०७३ ॥

इति आराधकांगत्यागः ॥

विजयोद्या—चेमाणिओ थलगदो वैमानिको देवो जात उत्तमभूमिस्थे उत्तमागे, समभूमिदेशे यदि दृश्यते ल्योतिष्को व्यंतरो जात, गर्ते यदि दृश्यते भवनवासी देवो जात, एषा गतिस्तस्य संक्षेपेण निरूपिता । विजहणात्ति सूत्र-पदं गत । विजहणा ॥

मूलारा—थलगदे उच्चप्रदेशस्थमस्तके दृश्यमाने विमानवासी देवो जात इति ज्ञातव्यम् । समन्मि समभूमि-देशस्थिते वाण वानोद्भव इति जयनदी । अन्ये तु वाणवितरओ इत्यनेन व्यंतरमात्रमाहुः । तदुक्तम्—

वैमानिक स्थलगते ज्योतिष्को व्यंतरश्च समभागे ॥

गर्ते भवनदेवो गतिरेषा तस्य संक्षेपात् ॥

आराधकांगत्यागः । सूत्रतः ४७ अंकतः ३५ ॥

अर्थ—क्षपकका मस्तक उच्च स्थलमें दीखेगा तो वह वैमानिक हुआ है ऐसा समझना चाहिये समभूमि-में यदि दीखेगा तो ज्योतिष्क अथवा व्यंतर हुआ है ऐसा समझना चाहिये गर्तमें यदि दीखेगा तो भवनवासी हुआ है ऐसा मानना चाहिये, इस प्रकार क्षपकके गतिका संक्षेपसे वर्णन किया है, विजहणा सूत्रपदका निरूपण समाप्त हुआ

आराधकस्तवनमुत्तर ते सूर भगवंता—

ते सूर भगवंता आहचइदूण संघमज्झमि ॥

आराधणापडायं चउप्पयारा हिदा जेहिं ॥ २००१ ॥

भगवंतोऽत्र ते सूरश्चतुर्द्वाराधानां मुदा ॥

संघमध्ये प्रतिजाय निर्विघ्नां साधयन्ति ये ॥ २०७४ ॥

विजयोद्या—ते सूर भगवतः आहचइदूण प्रतिज्ञा कृत्वा संघमध्ये चतुष्पकाराधना पताका येराशुद्धीता ॥  
एव सवीचारभक्तप्रत्याख्यान प्रबंधेन व्याख्याय साप्रतमाराधकदीनप्रबंधेन तुष्टपुराराधकस्तवन गाथात्रयेण विधत्ते—

मूलारा—आहन्वद्दण प्रतिष्ठा कृत्वा । हिदा गृहीता ॥

अर्थ—वे क्षपक शूर और भगवान् अर्थात् पूज्य हे जिन्होंने सधमें प्रतिष्ठा कर आराधना पताका ग्रहण की थी

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लामो य तेहिं सव्वेहिं ॥

आराधणा भगवदी पडिवण्णा जेहिं संपुण्णा ॥ २००२ ॥

ते धन्या ज्ञानिनो धीरा लब्धनिःशेषचिन्तिताः ॥

धैर्यपाराधना देवी संपूर्णा स्ववशीकुता ॥ २०७५ ॥

चिजयोदया—ते धण्णा पुण्यवत् ते ज्ञानिन ते लब्धलाभा सर्वभोगो धैर्यपाराधना भगवती संपूर्णा प्रतिपन्ना ॥  
मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—वे आराधक पुण्यवत् और ज्ञानी समझने चाहिये जिन्होंने उत्तम पुण्य देनेवाली भगवती आराधनाका स्वीकार किया था इन आराधकोंनेही वास्तविक जो प्राप्त करने योग्य था वह प्राप्त किया है.

किं णाम तेहिं लोणे महाणुभावोहिं हुज्ज ण य पत्तं ।

आराधणा भगवदी सयला आराधिदा जेहिं ॥ २००३ ॥

किं न तैर्भुवने प्राप्तं वंदनीयं महोदयैः ॥

लील्याराधना प्राप्ता धैर्येया सिद्धिसंफली ॥ २०७६ ॥

चिजयोदया—किं णाम तेहिं लोणं किं नाम तेलकं महानुभावैस्पात धैर्यपाराधिता सरूला आराधना भगवती ॥  
मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इन महाभागोंने संपूर्ण भगवता आराधना की है अतः इन्होंने कोनसा अप्राप्त पदार्थ नहीं प्राप्त किया है ? अर्थात् सर्व लोकोत्तर पदार्थ उनको प्राप्त हुए हैं ऐसा समझना चाहिये

निर्यापकस्तवनमुत्तरं—

ते वि य महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ॥

सन्वादरसत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ॥ २००४ ॥

धन्या महाणुभावास्ते भक्तिः क्षपकस्य धैः ॥

हौकिताराधना पूर्ण कुर्वद्भिः परमादरम् ॥ २००७ ॥

विजयोदया—ते वि य महाणुभावा तेपि च महाभागा धन्या यैस्तथा तस्य क्षपकस्य सर्वोदरेण शक्त्या च सकलाराधना उपविहिता ॥

आराधकसहायानभिष्टौति—

मूलारा—ते वि य क्षपकस्य महाणुभावत्वधन्यत्वयोः कृतमो विरमयः कर्तव्य इत्यपि चेत्यनेन निरूप्यते । उवविहिदा सपादिता ॥

अर्थ—वे निर्यापक भी धन्य है महापुण्यवान हैं जिन्होंने बड़े आदरसे और पूर्ण प्रयत्नसे क्षापकको सर्व आराधनाकी पूर्ण प्राप्ति होनेमें अच्छी सहायता दी है.

निर्यापकाना फलमाचष्टे—

जो उवविधेदि सन्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स ।

संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ॥ २००५ ॥

परस्य हौकिता येन धन्यस्याराधनाङ्गिनः ॥

निर्विघ्ना तस्य सा पूर्णा सुख सपद्यते मृतौ ॥ २००८ ॥

विजयोदया—उवविधेदि यो हौकयति सर्वोदरेण धन्यस्याराधनां तस्य आराधना सकला निर्विघ्ना संपद्यते ॥ आराधकशुश्रूषाफलमादर्शयन्नुक्तमर्थं समर्थयते—

मूलारा—उवविधेदि हौकयति ॥

निर्यापकोंकी क्या फल मिलता है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जो पूर्ण आदरभावसे अन्यों को संपूर्ण आराधनाओंकी प्राप्ति कर देते हैं उनको सर्व आराधनाओंकी निर्विघ्न प्राप्ति होती है

ये क्षपकप्रेक्षणाय याति तानपि स्तौति --

ते त्रि कदत्था घण्णा य हुंति जे पावकम्ममलहरणे ।

ण्हयंति खवयतिथे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥ २००६ ॥

स्नांति क्षपकतीर्थे ये कर्मकर्दमसूदने ॥

पापपंकेन मुच्यन्ते धन्यास्तेऽपि शरीरिणः ॥ २००७ ॥

विजयोदया—ते पि कदत्था तेपि कृतार्थो धन्याश्च भवन्ति ये क्षपकतीर्थं पापकर्ममलापहरणे सर्वोदराभियुक्ताः स्नाति ॥

क्षपकप्रेक्षणयात्रिकान्विकरथते --

मलारा--ते वि किं पुनर्निर्योपका इत्यपिशब्देनोच्यते । ण्हयन्ति स्नान्ति । क्षपकप्रेक्षणप्रार्थनादितां स्वात्मानं शोधयन्तीत्यर्थः । खवयतिथ्य क्षपकतीर्थं संसारसरिदुस्सारणनिमित्तत्वात् ॥

जो क्षपकने दर्शन करनेके लिये जाते हैं उनकी स्तुति—

अर्थ—जो पुरुष संपूर्ण पापरूपी मलहरण करनेमें समर्थ ऐसे क्षपकरूपी तीर्थ में अतिशय भक्तीसे स्नान करते हैं वे क्षपक वदना करनेवाले भव्यजीव कृतार्थ और धन्य हैं

क्षपकस्य तीर्थतां व्याचष्टे --

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवोघणेहिं जदि उसिदा ।

तित्थं कंधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवउ ॥ २००७ ॥

पर्वतादीनि तीर्थाणि सेवितानि तपोधनेः ॥

जायन्ते यदि सत्तीर्थं कथं न क्षपकस्तदा ॥ २००८ ॥

विजयोदया—गिरिणदियाद्विपदेसा गिरिन्धादिप्रदेसा यदि तपोधनैरुपितानि तीर्थानि तीर्थं स्वयं कथं न भवेत् क्षपकस्तपोगुणराशिः ॥

क्षपकस्य तीर्थेता मुख्यतयोपपादयति—

मूलारा—उसिदा आश्रिताः । ण होजो न भवेत् । सयं परनिरपेक्षतया ॥

क्षपक कयों तीर्थं माना जाता है, इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पर्वत, नदी वगैरह प्रदेश जहां तपोधन मुनिओने निवास किया था वे भी यदि तीर्थ हैं. तो तपस्वी और गुणोंका राशि स्वरूप क्षपक कयों न तीर्थ माना जायगा. अर्थात् क्षपकको तो अवश्य तीर्थ समझना चाहिये

पुव्वरिस्सीणं पडिमाओ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ॥

खवयस्स वंदओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ॥ २००८ ॥

वंदमानोऽश्रुते पुण्यं योगिनां प्रतिमा यदि ॥

भक्तितो न तपोराशिस्तदानीं क्षपकः कथम् ॥ २०८१ ॥

विजयोदया—पुव्वरिस्सीण पडिमाउ पूर्वपा ऋणीणां प्रतिमा वदमानस्य यदि पुण्य भवति क्षपके वंदनोद्यतः कथं विपुल पुण्य न प्राप्नुयात् ॥

क्षपकवंदरोविपुलपुण्यलाभमुपपादयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—प्राचीनमुनिओं के प्रतिमाओंको वंदना करने वालोंको यदि पुण्य प्राप्त होता है तो क्षपककी वंदना करने वाले भव्यों को कयों न पुण्यलभ होगा? अर्थात् क्षपकवंदनमे अप्रत्यक्ष पुण्यप्राप्ति होती है

जो ओल्लगदि आराधयं सदा तिव्वभत्तिंसजुत्तो ॥

संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराहणा सयला ॥२००९॥

सेव्यते क्षपको येन शक्तितो भक्तिः सदा ॥

तस्याप्याराधना देवी प्रत्यक्षा जायते मृतौ ॥ २०८२ ॥

विजयोद्या—जो ओलगादि आराध्य' यस्सेवते आराधकं सदा तीव्रभक्तिसंयुक्त, संपद्यते निर्विघ्ना तस्याप्याराधना सकला ॥

क्षपकोपास्तिफलमनुशस्ति -

भूलारा—ओलगाइ सेवते ॥

अर्थ—जो भव्य जीव क्षपक की उपासना करता है अतःकरण में तीव्रभक्ति धारण करता है उसको भी संपूर्ण आराधनाए प्राप्त होती हैं.

सविचारभक्तवोसरणमेवमुववणिदं सवित्थारं ॥

अविचारभक्तपच्चक्खाणं एत्तो परं बुच्छं ॥ २०१० ॥

भक्त्यागः सवाचीरो विस्तरेणेति वर्णितः ॥

अधुना तमवीचारं वर्णयामि समासत' ॥ २०८३ ॥

भक्त्यागः ।

विजयोद्या—सविचारभक्तवोसरणं सविचारभक्तप्रत्याख्यानेवमुपवर्णितं सविस्तरं अविचारभक्तप्रत्याख्याने अत. पर प्रवक्ष्यामि ॥

प्रकृतोपसंहारपुरःसर अवीचारभक्तप्रत्याख्यानं व्याख्यातुमुपक्षिपति—

भूलारा—एत्तो इतः । इति सविचारभक्तप्रत्याख्यानव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार सविचार भक्तप्रत्याख्यान का द्दमेने सविस्तर वर्णन किया है अब यहांसे अवीचार भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन करते हैं

तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो ॥

अपरक्कम्मस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥ २०११ ॥

भक्त्यागोस्त्यवचारो निश्चेष्टस्य दुरुत्तरे ॥

सहसोपस्थिते मृत्यौ योगिनो वर्यव्यारिणः ॥ २०८४ ॥

विजयोदया—अविचारभक्तपदिष्णा अविचारभक्तप्रत्याख्यानं सहसोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्रमस्य वते, सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य काले असति ॥

अथ अविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य स्वामिसमयनिर्णयार्थमाह—

मूलारा—तस्य तद्वचने प्रकृतो । आगाढे सहसोपस्थिते । अपरक्कमस्त निश्चेष्टस्य । कालमिह असपुहुत्तमिह ।

सविचारभक्त्यागस्य कालेऽसति । स्तोत्रजीवितकाले सतीत्यर्थः । उक्तं च—

भक्त्यागो ह्यवीचारो मरणे सहसागते ॥ भवत्युत्साहहीनस्य यतः काले ऽदृशीयसि ॥

अर्थ—सविचारभक्त प्रत्याख्यानकाल नही होने पर अर्थात् अकस्मात् मरण उपस्थित होनेपर असमर्थ मुनि को अविचारभक्तप्रत्याख्यान करना योग्य है

तस्य पदमं गिरुद्धं गिरुद्धतरयं तहा हवे त्रिदियं ।

तदियं परमगिरुद्धं एवं त्रिविधं अवीचारं ॥ २०१२ ॥

गिरुद्धं प्रथमं तत्र गिरुद्धतरमूचिरे ॥

द्वितीयं तु तृतीयं च गिरुद्धतममुत्तमा ॥ २०८५ ॥

विजयोदया—तस्य पदमं गिरुद्धं तत्र अवीचारभक्तप्रत्याख्याने प्रथमं गिरुद्धं, द्वितीयं गिरुद्धतरकं, तृतीयं परम-गिरुद्धं एव त्रिविधमवीचारभक्तप्रत्याख्यानं ॥

अविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य गिरुद्धगिरुद्धतरपरमगिरुद्धभेदोत्रे विष्यमुक्षिति—

मूलारा—तस्य अविचारभक्त्यागे ॥

अर्थ—अविचार भक्त प्रत्याख्यानके गिरुद्ध, गिरुद्धतर और परमगिरुद्ध ऐसे तीन भेद हैं

गिरुद्धमवभूतस्य भवतीत्याद्ये—

तस्मा गिरुद्धं भणिदं रोगादकंहि जो समभिभूतो ॥

जंघाबलपरीहीणो परगणगमणमिह न समत्यो ॥ २०१३ ॥

निरुद्धं कथितं तस्य रोगातंकादिपीडितं ॥

जंघाबलविहीनो यः परसघमाश्रमः ॥ २०८६ ॥

विजयोदया—तस्स निरुद्ध भणिद् तस्य निरुद्धसुकं रोगेण आतेकेन वा यस्समभिभूत. जंघाबलपरिहीनो वा पररागशमनसमर्थो य ॥

निरुद्धं गाथापचकेन व्याचष्टे—

मूलारा—ण समर्थो रोगेणातकेन वा सतताभिमागज्जघाबलपरिहीनतया वा परराणं गतुमशक्त इत्यर्थः ॥

निरुद्धभक्त प्रत्याख्यान किसको होता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ - छोटे रोग अथवा बड़े रोगसे पीडित होनेपर तथा पैरोंमें चलने का सामर्थ्य जिसको नहीं है, जो परराणमें जाने में असमर्थ है वह मुनि निरुद्धअविचारभक्तप्रत्याख्यान करते हैं

जावय बलविरियं सं सो बिहरदि ताव णिप्पडीयारो ॥

पच्छा बिहरदि पडिजगिज्जंतो तेण सगणेण ॥ २०१४ ॥

यावदस्ति बलं वीर्यं स्वयं तावत्प्रवर्तते ॥

क्रियमाणोपकारस्तु तदभावे गणेन सः ॥ २०८७ ॥

विजयोदया—जावय बलविरियं यावद्वलीर्यं चास्ति । से तस्य । सो बिहरति स तावद्गुणे प्रवर्तते निष्पत्तीकार. यदा शक्तिस्तीव्रन्यूना तदा पच्छाबिहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकार ॥

निरुद्धस्वाभिनः प्रवृत्तौ परानपेक्षाव्यपेक्षावसरो निर्दिशति—

मूलारा—पच्छा अतीव शक्तिन्यूनताया । पडिजगिज्जंतो उपक्रियमाणः ।

अर्थ—जबतक देहमें बल, वीर्य था तबतक वह गुणोंमें प्रवृत्ति करता है जब शक्ति तीव्रतासे कम होती जाती है तब स्वगणसे उपकृत होता हुआ अपने रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करता है अर्थात् अत्यंत अशक्त होनेपर गणस्थ मुनि उनकी सेवा करते हैं



इय सणिरुद्धमरणं भणियं अणिहारिमं अवीचारं ॥  
सो चेव जघाजोगं पुनुच्चविधी हवदि तस्स ॥ २०१५ ॥  
सन्निरुद्धमवीचारं स्वगणस्थमित्तिपरितम् ॥

अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥ २०८८ ॥

विजयोदया—इय सणिरुद्धमरण भणिद एव सन्निरुद्धमरणं भणितं, जंघावलपरिहीनतया व्याख्यभिभवेन वा स्वस्मिन्गणे निरुद्धो यस्तस्य मरणं निरुद्धमरणं अणिहारिम सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तपरित्यागाभावात्, परित्यागादीनं अनियतविद्वारादिविधिविचारणाभावादवीचारं । आत्मीय एव गणे आचार्यस्य समीपे प्रब्रज्यातीचारं उक्त्या निर्दागहर्पर कृतप्रतिक्रम कृतप्रायाश्चित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्निष्पीकारो विहरति, यदा हीनसर्वचेष्टस्तदा परैरनुगृह्यमाणो विहरति ॥

मूलारा—सणिरुद्धमरण जघावलं परिहीनतया । रोगातं कभिभवेन वा स्वगणे सन्निरुद्धस्य प्रतिबद्धपरगणगमनासमर्थस्य मरण । अणिहारिम सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तस्वगणपरित्यागाभावात् । अवीचारं अनियतविद्वारादिविचारणाविरहात् । सो इत्यादि । स्वगण एव गणितश्चरणमूले प्रब्रज्याद्यतिचारमालोक्य निर्दागहर्परः कृतप्रतिक्रमप्रायश्चित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्निष्पीकारो विहरति । सर्वचेष्टापरिक्षये पुनः परैरनुगृह्यमाण इत्यतोऽन्यो यथोचितो विधिः पूर्वोक्तपवेत्यर्थः ।

अर्थ—इस प्रकार सन्निरुद्ध मरण का स्वरूप कहा है. पैरोंका सामर्थ्य कम होनेसे अथवा रोगपीडित होनेसे अपने गणमें ही जिसको रहना पड़ता है अन्य गणमें जो नहीं जा सकता है ऐसे मुनिको सन्निरुद्ध मुनि कहते हैं ऐसे मुनिके मरणको सन्निरुद्ध मरण कहते हैं सविचारभक्तके प्रत्याख्यानमें स्वगणका परित्याग कर परगणमें जानेका विधि बतलाया है. वह इसमें नहीं है इसलिये इसको 'अणिहारिम' कहते हैं अनियत विद्वारादि विधि इसमें नहीं है इस लिये इसको अवीचार कहते हैं यह मुनि स्वगणमें ही रहकर आचार्यके चरणमूलमें दीक्षासे आजतक हुए अपराधों की आलोचना करना है. निर्दा और गहाँ करता है. प्रतिक्रमण करके प्रायश्चित्त लेकर जबतक सामर्थ्य है तबतक दुसरोंके सहायके बिना रत्नत्रयाचरणमें तत्पर रहता है-जब प्रवृत्ति करने में बिलकुल असमर्थ होता है तब अन्यमुनिओंसे शुश्रूषा साहाय्य लेकर रत्नत्रयमें तत्पर होता है

दुविधं तं पि अणीहारिमं पगासं च अप्पगासं च ॥

जणणादं च पगासं इदं च जणेण अणणादं ॥ २०१६ ॥

प्रकाशमप्रकाशं च स्वगणस्थमिति द्विधा ॥

जनज्ञात मत पूर्वं जनाज्ञात परं पुनः ॥ २०८९ ॥

विजयोदया—दुविधं तं पि अणीहारिमं द्विविधं तदपि अणीहारसंक्षितं भक्तप्रत्याख्यान प्रकाशरूपमप्रकाश-  
रूपमिति जनेन ज्ञाते प्रकाशरूपमितरदप्रकाशात्मक ॥

निरुद्धावीचारभक्तप्रत्याख्यानस्य प्रकाशप्रकाशभेदाद्वैदिव्यमभिधत्ते—

मूलारा—अणीहारिमं अनिहारसंज्ञं । स्वगणनिर्गमरद्वित्वात् । अत एवान्ये स्वगणस्थमितिदमभ्यधुः । तदुक्तम्—

सन्निरुद्धमवीचारं स्वगणस्थमिति रितम् ॥

अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥

निरुद्धावीचारभक्तप्रत्याख्यानके प्रकाश और अप्रकाश ऐसे दो भेद हैं इनका आचार्य स्वरूप कहते हैं  
अर्थ—अनिहार नामक इस भक्त प्रत्याख्यानके प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप ऐसे दो भेद हैं जो जनोके  
द्वारा जाना गया है उसको प्रकाशरूप कहते हैं और जो नहीं जाना गया है उसको अप्रकाशरूप कहते हैं.

खवयस्स चित्तसारं खित्तं कालं पडुच्च सज्जनं वा ॥

अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगासं तु ॥ २०१७ ॥

द्रव्य क्षेत्र बलं काल ज्ञात्वा क्षपकमानस ॥

अप्रकाश मतं हेतावन्यत्रापि सतीदृशे ॥ २०९० ॥

इति निरुद्धं

विजयोदया—एवमस्स चित्तसार क्षपकस्य वृद्धि, बल, क्षेत्र, काल, स्वजनं वा प्रतिपद्य अन्यस्मिन्वा तादृशे  
कारणे जाते अप्रकाशभक्तप्रत्याख्यानं, यदि क्षपक क्षुद्रादिपरीपहासह, वसतिर्वा अविधिका, कालो वा अतिरुक्षो, यद्यवो  
वा यदि परित्यागविघ्नं कुर्वति न प्रकाश कार्यः । गिरुद्ध गदं ॥

अप्रकाशस्य कारणान्याह—

मूलारा—चित्तसार मनोबलं । पदुच्च प्रतीत्य । सयणं बंधुलोक । अपयामं यदि क्षपकः क्षुदादिपरीगहासहो, वसतिर्वा अविविक्ता, कालो वातिरुक्षः, बाधवा वा सन्यामं विव्रयति तदा न प्रकाशः कार्योऽस्मिन्नित्यप्रकाशकं । निरुद्धम् । अर्थ—क्षपकका मनोबल, अर्थात् धैर्य, श्रेय, काल, उसके बांधव अथवा अन्य भी कारण का विचार पीडित होगा, अथवा चमत्किा एकान्त स्थानमें न होगी, यदि काल समय अति रूय होगा, यदि बंधुगण इस परित्याग विधिमें बाधा करनेवाले होंगे तो यह प्रत्याख्यान-मरण प्रकाशित नहीं करना चाहिये।

निरुद्धतरंगं व्याचष्टे—

चालगिगवग्रमहिसगरिंछ पडिणीय तेण मेच्छेहिं ॥  
मुच्छाविसूचियादीहिं होञ्ज सञ्जो हु वावत्ती ॥ २०१८ ॥

जलानलविपन्यालसन्निपातविसूचिकाः ॥

हरति जीवितं साधोर्भानून्ना इव तामसम् ॥ २०१९ ॥

विजयोदया—गालगिगवग्रमहिस व्यलिनाश्रिना, व्याघ्रेण, मक्षिण, गजेन, मक्ष्रेण, ताम्रुणा, म्नेनेन, म्लेच्छेन, मूच्छया, विसूचिकादिभिर्वा सयो व्यापत्तिर्भवत् ।

अथ निरुद्धतरा वीचारभक्तप्रत्याख्यान गाथाचतुष्टयेन व्याख्यामुगदागयुरपप्रतिन्याः सयो व्यापत्ते-  
समवसमिधत्ते—

मूलारा—चाल सर्पां । पडिणीय शत्रुः । विसूचियादीहिं विसूचिकया दंडकालशकृतीममूलादिभिश्च । वावत्ती सयो मरणकारणवेदना, मरणं वा ।

निरुद्धतर विधीका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, भेसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूच्छा, तीव्र शूलरोग इत्यादिसे तत्काल मरण का प्रसंग प्राप्त होता है

जाव ण वाया खिप्पदि बलं च विरिय च जाव कायम्मि ॥

तिन्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खत्तं ॥ २०१९ ॥

यावन्न क्षीयते बाणी यावदिन्द्रियपाटवम् ॥

यावदैर्यं बलं चेष्टा हेयादेयविवेचनम् ॥ २०१२ ॥

विजयोदया—जाव ण वाया खिप्पदि यदि यावद्वाग्न विनश्यति बलं वीर्यं च यावदस्ति काये तीयया वेदन-  
या यावच्चित्तं न व्याक्षिप्त भवति तावत् ॥

तत्क्षणे मुमुक्षुणा यत्करणीय तदुपदिशति—

मलारा—खिप्पदि विनश्यति । विक्खित्तं व्याक्षिप्तम् ।

अर्थ—जबतक वचन मुहसे निकलता है जबतक शरीरमें बल और वीर्य है और जबतक शरीरमें होनेवाली तीव्र वेदनासे चित्त आकुलित नहीं हुआ है तबतक—

णच्चा संवट्ठिज्जं तमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ॥

गणियादीणं सणिहिदाणं आलोचए सम्मं ॥ २०२० ॥

तावद्धेदनया ज्ञात्वा न्हियमाणं स्वजीवितम् ॥

आलोचनां गुरोः कृत्वा धीरा मुचन्ति विग्रहम् ॥ २०१३ ॥

विजयोदया—णच्चा संवट्ठिज्जं ज्ञात्वोपसन्दिह्यमाणमायु शीघ्रमेव ततो भिक्षुराचार्यादीना सन्निहितानामा-  
लोचना सम्यक् कुर्यात् रत्नत्रयाराधनाया परिणत व्युत्पत्तेत् वसति, संस्तरमाहारमुपार्धि शरीरं परिचारकान्, बलवीर्यं  
हाने परगणनासमर्थ । निरुद्ध प्रवेश प्रक्रमेण निरुद्ध इति निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥

मलारा—संवट्ठिज्जंत उपसन्दिह्यमाणं । तीव्रवेदनाया अन्तर्मुहूर्त्तमात्रभोग्यदशाया प्रवेशमान ॥ तो ततः ।  
आयुरप्रवर्तनाद्धतोः आचार्यादीनामग्रे ॥

अर्थ—तबतक अपना आयुष्य प्रतिसमयमें क्षीण हो रहा है ऐसा जानकर आचार्यादिकोंके पास शीघ्र  
अपने संपूर्ण पूर्व दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये रत्नत्रयाराधनामें तत्पर होकर वसति, संस्तर आहार, उपधि,

शरीर, परिचारक इन सर्वोंका त्याग करना चाहिये. अर्थात् इनके ऊपरसे समत्व हटाना चाहिये. तात्पर्य—जब बल और वीर्यकी हानि होती है तब परगणमें गमन करनेमें असमर्थ मुनिको निरुद्ध कहते हैं इससे भी जो अधिक असमर्थ होता है उसको निरुद्धतर कहते हैं

एव निरुद्धतरं विदियं अणिहारिमिं अवीचारं ॥

सो चेव जघजोगो पुव्वुत्तविधी हवदि तरस ॥ २०२१ ॥

स्वगणस्यमिति प्राज्ञनिरुद्धतरमीरितम् ॥

अवशेषो विधिस्तस्य ज्ञेयः पूर्वत्र दर्शितः ॥ २०१४ ॥

इति निरुद्धतरम् ।

विजयोदया—स्पष्टार्थेणाथा ॥ निरुद्धतरं ॥

मूला—निरुद्धतरं सद्यो मरणकारणोपनिपातेन सुतरा बलवीर्यहानेः परगणगमनेऽसमर्थान्निरुद्धतरकथेणासमर्थो निरुद्धतरस्तद्योगान्मरणमपि निरुद्धतरं ततः मंजया क ॥ निरुद्धतरम् ॥

अर्थ—तत्काल आधुका नाश करनेके कारण प्राप्त होनेपर बल और वीर्यकी अतिशय हानि जब होती है तब परगणमें जानेके लिये जो मुनि अत्यंत असमर्थ होता है अतः ऐसे साधुके मरणकोभी आचार्य निरुद्धतरक मरण कहते हैं निरुद्धतर मरणका वर्णन हुआ

वालादिर्गृहि जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ॥

तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अवीचारं ॥ २०२२ ॥

यदा संक्षिप्यते वाणो व्याधिव्यालविपादिभिः ॥

तदा शुद्धधियः साधोर्निरुद्धतममिष्यते ॥ २०१५ ॥

विजयोदया—वालादिर्गृहि व्यालानिभिः पूर्वोक्ते यदोपहतस्य वाग्बिण्ण तदा परमनिरुद्धमरणं वाञ्छितो-  
घोऽत्र परमशब्देनोच्यते ॥

अथ परमनिरुद्धबीचारभक्तप्रत्याख्यानं गायामसप्तकेन व्याख्यास्यन् पूर्वं गाथात्रयेण तल्लक्षयति—  
मूलारा—वालादिपृष्टिं व्यालादिभिः । पूर्वोक्तेरुपद्रुतस्य अक्सित्ता विनष्टा । परमणिरुद्ध परमेण वाग्निरोधेन  
निरुध्यस्य साध्यत्वात्परमनिरुद्धमित्याख्यायते । उक्तं च—

यदा संक्षिप्यते वाणी व्याधिव्यालेविषादिभिः ॥ तदा शुद्धधिग्र-साधोर्निरुद्धतरमिष्यते ॥

अर्थ—सर्वं व्याघ्रादिसे पीडितं हुए साधुके अंगमें विषका सचार होकर उसका भाषण भी जत्र वद होता  
है तत्र परमनिरुद्ध नामका मरण प्राप्त होता है वचननिरोध होनेपर परमनिरोध माना जाता है

णञ्चा संवट्टिज्जं तमाउगं सिग्घमेव तो भिक्खू ॥

अरंहंतासिद्धसाहूण अंतिगे सिग्घमालोचे ॥ २०२३ ॥

हरंती जीवितं दृष्ट्वा चेदनामनिवारणाम् ॥

जिनादीनां पुरो धीरः करोत्यालोचनां लघु ॥ २०२६ ॥

विजयोदया—णञ्चा सविट्टिज्ज त आउगं मात्वोपसन्निध्यमाणमायु अर्हता सिद्धाना साधूनां चातिके शीघ्र  
मालोचना कुर्यात् ॥

मूलारा—अंतिगे सन्निधाने । मनस्यर्हदादीन्सन्निहितान्कृत्वैत्यर्थः । आलोचे आलोचना कुर्यात् ।

अर्थ—उस समय वह मुनि अपना आयुष्य शीघ्र ही समाप्त होनेवाला है ऐसा जानकर मनमें अर्हत् और  
सिद्धादि परमैष्टिओंको धारण कर शीघ्र आलोचना करता है

आराधणाविधी जो पुब्बं उववणिदो सवित्थारो ॥

सो चेवं जुज्जमाणो एत्थ विही होदि णादब्बो ॥ २०२४ ॥

आराधनाविधि पूर्व कथितो विस्तरेण यः ॥

अत्रापि युज्यमानोऽसौ द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः ॥ २०२७ ॥

विजयोदया—आराधणाविधी आराधनाविधेर्यः पूर्वं विस्तरो व्यावर्णित स एवात्रापि युज्यमानो ज्ञातव्यः ॥

मूलारा—जुजमानो प्रयुज्यमानः । सहसा मरणाराधनाया वैफल्यशंकाभयाकरोति—

अर्थ—आराधना विधीका जो पूर्वमें सविस्तर वर्णन किया है उसीकीही इस मरणमें योजना करनी चाहिये

एवं आसुक्कारमरणे वि सिज्झंति केइ धुदकम्मा ॥

आराधयितु केइ देवा वेमाणिया होति ॥ २०२५ ॥

आराधयाराधनोदवीं आशुकारं मृतावपि ॥

केचित्सिध्यन्ति जायन्ते केचिद्वैमानिकाः सुराः ॥ २०९८ ॥

विजयोदया—एवं आसुक्कारमरणे वि एवं सहसा मरणेऽपि सिध्यति विधुतकर्मसंहृतयः केचिदाराध्य वैमानिका देवा भवेति ॥

मूलारा—एवं अनेन विधिना । चतुर्विधाराधनामुपक्रम्य । आसुकारे मरणे झटिति प्राणत्यागे । धुदकम्मे परी-  
तसंसारतया निरस्तकर्मसंहृतयः संतः पंडितपंडितमरणेन सिद्धिं गच्छन्तीत्यर्थः । आराधयित्वा मरुप्रत्याख्यानं मरणेनैव  
चतुर्विधाराधनामाराध्य मृताः संतः ॥

अर्थ—इस प्रकार चार प्रकारकी आराधनाका ग्रारभ करनेपर उपर्युक्त कारणोंसे यदि शीघ्र प्राणत्यागका  
समय प्राप्त हुआ तो कोई साधु संपूर्ण कर्मोंका नाश करके पंडितमरणसे मोक्षकी प्राप्ति कर लेते हैं और कोई  
मुनि इन आराधनाओंकी आराधना कर वैमानिक देव होते हैं.

आराधणाए तत्थ दु-कालस्स बहुत्तणं ण हु पमाणं ॥

बहवो मुहुत्तमत्ता संसारमहणवं तिण्णा ॥ २०२६ ॥

प्रमाणं कालबाहुल्यमस्य नाराधनाविधेः ॥

तीर्णा मुहुत्तमात्रेण बहवो भवनीरधिम् ॥ २०९९ ॥

विजयोदया—कथमनेन कालेन निर्वृतिर्मायेत्याशंका न कार्येति वदति । आराधयोपि तत्थ तु तस्यामो-  
राधनाया कालस्य बहुत्वं न प्रमाणं । बहवो मुहुत्तमात्रेणाराध्य संसारमहणवं तीर्णा ॥

कथमल्पेन कालेन निर्वृतिः साध्येत्यत्राह—

मूलारा—तस्य तस्यां । परमाणं साधकतमं । मुहुचबुच्छा मुहूर्तमाराधनार्था स्थिताः ।

अर्थ—इतने अल्पकालमें कैसा मोक्ष प्राप्त होता है ऐसी शंका नहीं करना चाहिये-अर्थात् आराधनाका काल बढ़ाही होना चाहिये ऐसा कुछ नियम नहीं है मुहूर्तमात्रमही कोई रत्नत्रय की आराधना करके संसार स-मुद्रको लांघ गये हैं.

खणमेत्तेण अणादियमिच्छादिद्वी वि वद्धणो राया ॥

उसहस्स पादमूले संबुद्धिच्चा गंदो सिद्धि ॥ २०२७ ॥

सिद्धो विवद्धनो राजा चिरं मिथ्यात्वभावितः ॥

वृषभस्वामिनो मूले क्षणेन धुतकल्मषः ॥ २१०० ॥

इति निरुद्धतमम् ।

विजयोदया—खणमेत्तेण क्षणमात्रेणानादिमिथ्यादृष्टिपरि वद्धन्तनामधेयो राजा क्रयभस्य पादमूले संबुद्धो गत सिद्धि ॥

क्षणमात्राराधनायाः सिद्धिसाधनत्वमर्थव्यानेन समर्थयते—

मूलारा—विवद्धणो विवर्धनो नामो । संबुद्धिच्चा संन्यागात्मानं आत्मनात्मनि संवेद्य ॥

अर्थ—अनादि मिथ्यादृष्टि ऐसी वर्धन नार्पका राजा क्रयभ भगवानके चरणमूलमें आत्मस्वरूपका ज्ञाता होकर क्षणमात्रमें निर्वाण को प्राप्त हुआ.

सोलसतिस्थराणं तिथ्युपणणस्स पढमदिवसम्मि ॥

सोमण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥ २०२८ ॥

विजयोदया—परमणिस्सुद्धं ॥

मूलारा—सोलसतिस्थराणं ऋषभादिशतिपर्यन्तानाम् । तिथ्युपण्णस्स वचनोत्पत्तेः । सोमण्णणाणसिद्धि



केवलज्ञानं निर्वाणमर्गं च । भिण्णमुहुत्तेण स्तोककालेन संपत्ता संप्राप्ता बहवः । अन्यस्तु सामण्येति चारित्रममस्त । उक्तं च—  
पोदशतीर्थं करारणां तोयौत्पन्नस्य वासरे प्रथमे ॥ श्रामण्यबोधिसिद्धिभिन्नमुहुत्तेन संबुत्ता ॥  
एतां श्रीविजयो नेच्छति ॥

अर्थ—ऋषभनाथसे लेकर शान्तितीर्थकरपर्यंत सोलह तीर्थकरोंको जिस दिन दिव्य ध्वनिकी प्राप्ति हो गयी थी उस दिन बहुत सुविधाओंके केवलज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति भिन्नमुहुत्तैम हुई थी इस प्रकार परमनिरुद्ध क मरणका वर्णन समाप्त हुआ।

एसा भत्तपइण्णा वाससमासेण वण्णिदा विधिणा ॥

इत्तो इंगिणमरणं वाससमासेण वण्णोसिं ॥ २०२९ ॥

प्रोक्ता भक्तप्रतिज्ञेति समासव्यासयोगतः ॥

इदानीमिंगिनीं वक्ष्ये जन्मकक्षकुठारिकाम् ॥ २१०१ ॥

विजयोदया—यसा भत्तपइण्णा एतद्रक्तप्रत्याख्यान व्यासेन संक्षेपेण च वर्णितं अत ऊर्ध्वं सांन्यासि  
कर्मिणिणीमरणं व्याससमासाभ्या वर्णयिष्यामि ॥

प्रस्तुतोपसंहारपुरःसरं व्याख्येयातरसुपक्षिपति—

मूलारा—विधिणा पूर्वसूक्तमेण । वण्णोसिं व्याख्यारथमहम् ॥ वृत्तम्—

एवं दीक्षादिकोत्तमार्थं करतलफलिताराधनाकेतनश्रीः—

प्रौढिव्यूहोत्तमार्थं करतलफलिताराधनाकेतनश्रीः ॥

कोऽप्यत्राशाधरातश्चरविशदशो गानरज्यन्यसुखुः

सद्भिः स्वर्गलक्ष्मीप्रणयहृतशिवश्रीकटाक्षोत्सवः स्यात् ॥

इत्याशाधरानुस्मृतप्रथमसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयार्थप्रकाशकीकरणप्रवणे सप्तम आश्वासः ॥ ७ ॥ इति  
भक्तप्रत्याख्यानमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ—इस भक्तप्रत्याख्यान मरणका विस्तारसे और संक्षेपसे वर्णन किया है अब सन्यास मरणरूप  
इंगिणी मरणका विस्तार और संक्षेपसे वर्णन करता हूँ

जो भक्तपदिणाए उवक्कमो वणिदो सवित्तारो ॥

सो चैव जघाजोगो उवक्कमो इंगिणीए वि ॥ २०३० ॥

उत्तो भक्तप्रतिज्ञाया विस्तारो यत्र कक्षन ॥

इंगिनीमरणेऽप्येव यथायोगं विबुध्यताम् ॥ २१०२ ॥

विजयोदया—जो भक्तपदिणाए यो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्रमो व्यावर्णितः स एव यथासम्भव सुपक्रमो इंगिणीमरणेऽपि ॥

अष्टम आश्वासः ॥

अत्रत्यैरधुनातनैरपि यतैः साध्याविलेत्यादितो । भक्त्यागमृतस्तथा निगदितो न्यासात्समासादपि ॥

तत्त्वज्ञानमशेषमप्यनुगुणं सुकस्यार्थिनामिष्यथ । न्यासादसंतं इतः सुमुद्युविधयस्तेऽपींगिणीपूर्वकाः ॥

अथातः स्वकृतवैयाहृत्यमात्रापेक्षालक्षणं पठितमरणस्य द्वितीयकल्पमिंगिणीमरण गार्थात्रयविक्षता प्रबंधेन न्याच-  
क्षाणः प्रथम तदुपक्रमातिदेशार्थं इदमाह—

मूलारा—उवक्कमो प्रयोगविधिः ॥

अर्थ—भक्तप्रतिज्ञा मरणमें जो प्रयोगविधि कहा है वही यथासम्भव इस इंगिणीमरणमें भी समझना

चाहिये

पवज्जाए सुद्धो उवसंपज्जितु लिंगकप्पं च ॥

पवयणमोगादित्ता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥ २०३१ ॥

प्रवज्ज्याग्रहणे योग्यो योग्यं लिंगमधिष्ठितः ॥

कृतप्रवचनाभ्यासो विनयस्थः समाहितः ॥ २१०३ ॥

विजयोदया—पवज्जाए सुद्धो प्रवज्ज्याया शुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्य इत्यर्थः । एतेन अर्हत्ता निरूपिता । उव-  
संपज्जितु प्रतिपद्य । लिंगकप्पं च योग्यं लिंगं लिंगं इत्यनेन सूचितम् । पवयणमोगादित्ता श्रुतमवगाह्य एतेन शिक्षा  
उपन्यस्ता, विणयसमाधीए विहरित्ता विनयसमाधौ विहृत्य ॥

वदुपक्रमययौचित्यविवेचनार्थमाह—

मूलारा—पञ्चवज्राण सुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्यः । अर्हत्त्वख्यापनार्थसिद्धिं ॥ एवमुत्तरपदानामपि लिङ्गादिविकल्पा-  
विधिल्यापनेन साफल्यभवकल्यम् । उक्तस्य विजन्तु प्रतिपद्य । लिङ्गरूप निर्मेयानुष्ठानम् । विणयसमाधीन विनये समाप्तौ  
च । विहरित्ता परिणतो भूत्वा । अत्रार्हदाविपंचत्यो विधिरुक्तः ।

अर्थ—जो दीक्षाग्रहण करने योग्य है. ऐसा मुनि योग्य लिङ्ग धारण कर श्रुत-आगममें अवगाहन  
करता है. तथा विनयमें और समाधिमें विहार करता है. तात्पर्य यह है कि, सन्निचारमक्तप्रत्याख्यान मरणमें  
जैसा प्रयोग विधि वतानेके लिये अर्ह, लिङ्ग, शिक्षा वगैरह चालिस सूत्रोंका पूर्वमें वर्णन किया है वैसा यहां भी  
वही वर्णन समझना चाहिये.

णिष्पादिच्चा सगणं इंगिणीविधिसाधणाए परिणमिया ॥

सिद्धिमाकहितु भाविय अप्पाणं सद्धिहिच्चाणं ॥ २०३२ ॥

निरुपाय सकलं संघं इगिनीगतमानसः ॥

अत्रितस्थो भारितस्वान्तः कृतसहेखनाविधिः ॥ २१०४ ॥

विजयोदया,—णिष्पादिच्चा सगण योग्य कृत्वा स्वगण । इगिणीविधिनाधनाय परिणतो भूत्वा, सिद्धिमाकहितु  
परिणमश्रेणिमाकख । भाविय भावना प्रतिपद्य । अप्पाण सद्धिहिच्चाण आत्मान सहेख्य ॥

मूलारा—णिष्पादिच्चा योग्यं कृत्वा । इंगिणीविधिसाधनायामित्यत्रापि योग्यं । परिणमिय परिणम्य । साधयि-  
प्यासद्धमिगिणीविधिसिद्धि निश्चलं चेतसि निवेश्येत्यर्थः । सिद्धि शुभपरिणामश्रेणी । भाविय कंदर्पोद्विदुर्भवनात्यागेन  
तपःश्रुतादिभावनाभिः संस्कृत्य । सद्धिहिच्चाणं कायकपायौ कृशीकृत्य ।

अर्थ—अपने गणको मुनेओंके आचरणमें योग्य बनाकर तदनंतर इंगिणी मरण साधनेके लिये वह मुनि  
परिणति करता है. तदनंतर परिणामके श्रेणीपर आरोहण कर कंदर्पादि भावनाओंका त्याग कर तपोभावन, श्रुत  
भावना, इत्यादि भावनाओंका अभ्यास करता है और शरीरके साथ कपाय कुछ करता है

परियाद्गमालोचय अणुजाणिता विसं महजणस्स ॥  
तिविधेण खमाविता सवालवुद्धाउलं गच्छं ॥ २०२३ ॥

सस्थाप्य गणनं संघे क्षमयित्वा त्रिधाखिलं ॥

यावज्जीव वियोगार्थी दत्त्वा शिक्षां प्रियंकराम् ॥ २१०५ ॥

विजयोदया—परियाद्गमालोचय क्रमेण रत्नत्रयाचारमालोच्य । अणुजाणिता अनुज्ञाय । विसं गणधरं । महजणस्स महाजनस्य चतुर्विधसंघस्येत्यर्थः । तिविधेण खमापित्वा त्रिविधेन क्षमा ग्राहयित्वा । सवालवुद्धाकुलं गच्छं ॥  
मूलारा—परियाद्गमालोचय रत्नत्रयाविचारपरिपाटी । विसं आचार्यं परिस्थाप्य । महजणस्स महाजनस्य चतुर्विध संघस्येत्यर्थः । खमापित्वा क्षमा ग्राहयित्वा ।

अर्थ—रत्नत्रयके पालन करते समय जो अतिचार लगे थे उनकी आलोचना कर संघका त्याग करनेके पूर्वमें अपने स्थानमें दूसरे आचार्य की स्थापना करनी चाहिये अर्थात् चतुर्विध संघको नवीन आचार्यके स्वाधीन कर देना चाहिये उस समय बालमुनि, वृद्धमुनि वगैरह संपूर्ण गणको क्षमाके लिये प्रार्थना करनी चाहिये.

अणुसट्ठं दादूण य जावज्जीवाय विप्पओगच्छी ॥

अम्मदिग्गजादहासो णीदि गणादो गुणसमग्गो ॥ २०३४ ॥

कृतार्थतां समापन्नो हर्षाकूलितमानसः ॥

निर्यातो गणतः सूरिगुणशलिविस्मृषितः ॥ २१०६ ॥

विजयोदया—अणुसट्ठं दादूण य दत्त्वा गणपतेर्गणस्य च । जावज्जीवाय विप्पओगच्छी यावज्जीवं विप्र-  
योगार्थी । अम्मदिग्गजादहासो कृतार्थोऽस्मीति जातहर्ष । णीदि गणादो निर्याति यत्तिगणात् । गुणसमग्गो संपूर्णगुणः ॥  
मूलारा—दादूण गणपतये गणाय च दत्त्वा । जावज्जीवाय यावज्जीवं । विप्पओगच्छी गणेन वियोगमिच्छन् ।  
अम्मधिग्गजादहासो कृतार्थोऽस्मीति निर्भरोत्पन्नप्रीतिः । णीदि निगच्छति ।

अर्थ—आचार्य स्थापनाके अनंतर आचार्य और गणको भी उपदेश देना चाहिये और तदनंतर अब यावज्जीव मैं आपसे अलग होना चाहता हूं ऐसा कहकर, गणसे मयाण करना चाहिये आज मैं कृतार्थ हुआ ऐसा मानकर संपूर्ण गणयुक्त एलाचार्यका वह आचार्य त्याग करे

एवं च गिक्कमिच्चा अंतो वाहिं च थंडिले जोगे ॥

पुढवीसिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥ २०३५ ॥

निःक्रमय स्थंडिलादौ स विविक्ते वहिरंतरे ॥

भूथिलासंस्तरस्थायी स्व निर्यापयति स्वयम् ॥ २१०७ ॥

विजयोदया—एव च गिक्कमिच्चा एव विविक्कय । थंडिले जोगे समे समुक्ते कठिने जीवरहिततया योग्ये । अंतो वाहिं च अंतर्वाहिनी । पुढवीसिलामए वा पृथ्वीसस्तरं शिलामये वा । अप्पाण णिज्जवे एक्को आत्मानं निर्जयेदसहाय ।

तस्य संस्तरारोहणविधिं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—अंतो वाहिं च गुंदादेरभ्यंतरे चाहिरेवा । थंडिले समसमुन्नत कठिनभूमिदेशे । जोगे जीवरहितत्वेन योग्ये । पुढवीसिलामए पृथिवीसंस्तरं शिलामस्तरे वा । णिज्जवे संसर्पणान्निर्धमयति । एक्को देहमात्रसहायः ॥

अर्थ—स्वगणसे निकलकर अंदर और बाहर जो समान ऊंचा और कठिन है ऐसे भूमिप्रदेशमें अर्थात् स्थंडिलमें जो कि जीवरहित होना चाहिये उसका आश्रय करो, तथा निर्जन्युक्त जमीन अथवा शिलाका भी संस्तर के लिये आश्रय करो उस समय वह शरीरमात्र जिसका सहायक है ऐसा होता है.

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाविच्चा थंडिलस्मि पुव्वुत्ते ॥

जट्टणाए संथरित्ता उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं ॥ २०३६ ॥

योग्य पूर्वोदितं कृत्वा संस्तरं स्थंडिले तृणैः ॥

पूर्वस्यासुत्तरस्यां वा शिरो दिशि करोति सः ॥ २१०८ ॥

विजयोदया—पुव्वुत्ताणि तणाणि य पूर्वोत्तानि तृणानि निस्संधिजट्टजंतुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमा-  
आणि मृदूनि मतिलवनायोग्यानि ग्रामं नगरं वा प्राविश्य यांचया गृहोत्तानि पूर्वोक्ते स्थण्डिले कोऽसौ सालोक्यं चिस्तीर्णो  
विध्वस्तः असुसिरोऽविलं निर्जंतुंस्त्वस्मिंस्थंडिले जट्टणाए संथरित्ता यत्नेन संस्तरं कृत्वा, को यत्नं तृणानां पुण्यकरणं  
संस्तरभूमिप्रतिलेखनं, उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं संथारं संथरित्ता य पूर्वोत्तमागमुत्तरोत्तमं वा संस्तीर्थं शिरः प्रभृति  
कार्यं पादौ च यत्नेन प्रमाल्य ॥

प्रथिवीशिखासंस्तरासप्तौ तृणसंस्तरविधानमुपदिशति—

मूलारा—पुष्पुत्ताणि संस्तरसूत्रोक्तानि । निःसंधिनिश्चिच्छदनिर्जन्तूनि, शृदूनि, प्रतिलेखनयोग्यानि । शरीरस्थिति साधनमात्राणि च । जाचित्ता ग्राम नगर वा प्रविश्य प्रार्थ्य गृहीतानि । पुष्पुत्ते सालोकविस्तीर्णविध्वस्तासुपिनिर्बिलनिर्जंतुके । जदणाए तृणपृथक्करणसंस्तरभूमिप्रतिलेखनलक्षणेन यत्नेन । संघरित्ता यथाविधि तृणसंस्तरं उत्तराशिरस्कं पूर्वशिरस्कं वा कृत्वा तत्रात्मानं निर्यापयतीति पूर्वोक्त संघंधः ।

अर्थ—पूर्वोक्त स्थडिलपर तृणको पसारना चाहिये वह तृण ग्राममें अथवा नगरमें जाकर याचना करके लाना चाहिये. छिद्ररहित, जंतुरहित, मृदु, शरीरस्थिरताके लिये कारण, प्रतिलेखनाके योग्य ऐसा वह तृण उस स्थडिलपर प्रयत्नसे पसारना चाहिये. वह स्थडिल भी प्रकाशयुक्त, विस्तीर्ण, छिद्ररहित, विलरहित, निर्जंतुक होना चाहिये. उस स्थडिलपर यत्नसे तृण बिछाना चाहिये. अर्थात् तृणको पृथक्करण करना, संस्तरकी भूमिका प्रतिलेखन करना, झाडकर स्वच्छ करना यहां इन कृत्योंको यत्न कहते हैं पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशाको मस्तक करने योग्य तृणकी रचना करनी चाहिये तदनंतर मस्तक वगैरे शरीरके अवयव और पांव पिच्छसे प्रमार्जित करने चाहिये.

पाचीणाभिमुहो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा ॥

सीसे कदजलिपुडो भावेण विसुद्धलेस्सेण ॥ २०३७ ॥

भावशुद्धिमधिष्ठाय लेख्याशुद्धिविबद्धितः ॥

कर्माविध्वसनाकांक्षी मूर्धन्यस्तकरद्वयः ॥ २१०९ ॥

विजयोदया—पाचीणाभिमुखो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा प्राक्मुखो उत्तराभिमुखो वा भूत्वा तत्र सस्तरे सस्थित्वा । सीसे कदजलिपुडो मस्तके कृताजलि । भावेण विसुद्धलेस्सेण विसुद्धलेक्ष्यासमन्वितेन भवेन ॥

स्वय रत्रनिर्यापणविधि गाथापचकोनोपदिशति—

मूलारा—पाचीणाभिमुहो पूर्वाभिमुखः । उदीचिहुत्तो उत्तराभिमुखः । तत्थ पृथिव्याद्यन्यतमसस्तरे । सो इंगिनीमरणोद्यतः साधुः । ठिच्चा उद्धस्थित्वा, पर्यंकादासतेनेनपरार्थशयनेन वा यथाशक्त्यवस्थाय । विसुद्धलेस्सेण पीतादिलेक्ष्यासमन्वितेन ।

अर्थ—उस संस्तरपर वह इंगिणीभरणकी प्रतिज्ञा कानेवाला मुनि पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशाके तरफ मुख करके खड़ा हो जाता है. अपने मस्तकपर हाथ जोड़कर रखता है अतः रुग्णमें परिणामोंकी निर्मलता उत्पन्न करता है

अरहादिअंतिगं तो किञ्चा आलोचणं सुपरिसुद्धं ॥

दंसणणाचरित्तं परिसारेदूण णिस्सेसं ॥ २०३८ ॥

विद्यायालोचनामग्रे जिनादीनामदूषणाम् ॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपसां कृतशोधनः ॥ २११० ॥

विजयोदया—अरहादिअंतिगं अर्हदाद्यतिक्रम । तो पश्चात् आलोचना कृत्वा सुपरिशुद्ध, दंसणणाचरित्तं पडि-सारेदूण दर्शनज्ञानचारित्राणि संस्कृत्य निरवशेष ॥

मूलारा—अरहादिअंतिग अर्हदादिपाश्वे । पडिसारेदूण निर्मलीकृत्य ॥

अर्थ—तदनन्तर अर्हदादिकों के समीप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यमें लगे हुए दोषोंकी वे मुनि आलोचना करते हैं. और संपूर्णतासे रत्नत्रयको संस्कृत करते हैं अर्थात् निर्मल करते हैं .

सब्बं आहारविधिं जावज्जीवाय वोसरित्ताणं ॥

वोसरिदूण असेसं अभंतरवाहिरे गंधे ॥ २०३९ ॥

यावज्जीवं त्रिधाहारं प्रत्याख्याय चतुर्विधं ॥

बाह्यमाभ्यन्तरं ग्रंथमपाकृत्य विशेषतः ॥ २१११ ॥

विजयोदया—सर्वे आहारविधिं सर्वे आहारविरूपे । यावज्जीव परित्यज्य बाह्याभ्यन्तरानशेषान् परित्यज्य लक्ष्यत्वा ॥

मूलारा—विधि अशनाविभेदं ।

अर्थ—संपूर्ण आहारोंके विकल्पोंका वे यावज्जीव त्याग करते हैं. तथा संपूर्ण बाह्य व अभ्यन्तर परित्यज्योंका त्याग करते हैं.

सन्वे विणिज्जिणंतो परीवहे धिदिबलेण संजुत्तो ॥

लेस्साए विसुज्झंतो धम्मं ज्ञाणं उवणमिच्चा ॥ २०४० ॥

परीषहोपसर्गणां कुर्वणो निर्जयं परम् ॥

गाहमानः परां शुद्धिं धर्मध्यानपरायणः ॥ २११२ ॥

विजयोदया—सन्वे विणिज्जिणतो सर्वाश्च जयन् परियद्धान् धृतिबलसमन्वितः लेक्ष्याभिर्विशुद्धः सन् धर्मध्यानं प्रतिपद्य ॥

मूलारा—उवणमिच्चा प्रतिपद्य ॥

अर्थ—वे सुनि सर्व परिपहोको अपने धैर्य बलसे सहन करते हैं विशुद्ध लेक्ष्यायुक्त परिणामांसे धर्म-ध्यानकं आश्रय करते हैं.

ठिच्चा णिसिदिच्चा वा तुवट्टिट्ठणव सकायपडिचरणं ॥

सयमेव णिरुवसगो कुणदि विहारस्मि सो भयवं ॥ २०४१ ॥

निषद्योत्थाय निःशेषामात्मनः कुरुते क्रियाम् ॥

विहरन्नुपसर्गेऽसौ प्रसाराकुंचनाविकम् ॥ २११३ ॥

विजयोदया—ठिच्चा स्थित्वा आसित्वा शयनं वा कृत्वा स्वकायपरिकरं स्वयमेव निरुपसर्गे विहारे करोति । स्वयमेवात्मन करोत्याकुंचनाविका क्रिया, उच्चारकादिकं च निराकरोति प्रतिष्ठापनासमिति समन्वितः । यदि पुन उवस-गा यदा पुनरुपसर्गो देवमनुष्यतिर्यक्कृता भवति तदा निष्पत्तीकारस्तात् संहते विगतभयः । आश्रितिगसुसंघडणो आद्येषु त्रिषु संहनेषु अन्यतमसहननं शुभसंस्थानोऽभेद्यधृतिकवचो जितकरणो जितामित्रो महाबलो नितरा शूरः ॥

मूलारा—ठिच्चा उद्भवायोत्सर्गेण स्थित्वा । पर्यकादिता आसित्वा । तुवट्टिट्ठण एकपार्श्वोदिता पतित्वा । सकाय-पडिचरणं स्वशरीरप्रतिकर्म शौचप्रतिलेखनादिकं । विहारस्मि निरुपसर्गे संन्यासे सति । सो ठिच्चा इत्यत्र निर्दिष्टं स इत्येत-त्पदं करोतीत्यनेन सम्बध्य वाक्यसमाप्तिः कार्यः ॥ कुत एव करोतीत्याह सो भयव स तथा कुते गणी परिकरो भगवा न्माहात्म्याविशयोपेतो यत इति वाक्यभेदेन सम्बन्धोऽत्र विधेयः ।



अर्थ— खड़े कायोत्सर्गसे खड़े होकर, अथवा पर्यकादि कायोत्सर्गसे बैठकर, किंवा शयन कर एक वाज्र पर पड़े हुए वह मुनिराज स्वयं ही अपनी शरीर क्रिया करते हैं अर्थात् उपसर्ग रहित अवस्थामें वे शीघ्र, प्रति-लेखनादि क्रिया स्वयं ही करते हैं ये क्रिया करते समय प्रतिष्ठापनासमितिमें तत्पर रहते हैं यदि देव मनुष्य और तिर्यचोके क्रिया स्वयं होने लगा तो वे उसका प्रतिकार नहीं करते हैं. उनका धैर्यरूपी कवच अमेघ रहता है. अंतःकरणमें जरासा भी भय नहीं रहता है. दंगिनीभरणके धारक मुनि पहिले तीन संहननमेंसे कोई एक संहननके धारक रहते हैं उनका शुभ सस्थान रहता है. वे निद्राको जीतते हैं. महावली व शूर रहते हैं.

सयमेव अप्पणो सो करेदि आउटणादि किरियाओ ॥  
 उच्चारादीणि तथा सयमेव विक्किच्चिदे विधिणा ॥ २०४२ ॥  
 जाधे पुण उवसग्गे देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा ॥  
 ताधे णिप्पडियम्मो ते अधियासेदि विगदम्भओ ॥ २०४३ ॥  
 आदितियसुसंघडणो सुभसंठाणो अभिज्जधिदिकवचो ॥  
 जिदकरणो जिदणिद्वो ओघवलो ओघसूरो य ॥ २०४४ ॥  
 बीमत्थभीमदरित्तणविगुब्बिदा भूदरक्खसप्पिसाया ॥  
 खोभिज्जो जदि वि तयं तधवि ण सो संभसं कुणइ ॥ २०४५ ॥  
 स्वयमेवात्मनः सर्वं प्रतिकर्म करोति सः ॥  
 आकांक्षति महासत्त्वः परतोऽनुग्रहं न हि ॥ २१२४ ॥  
 देवमानवतिर्यग्भ्यः संपन्नमत्तिदारुणम् ॥  
 उपसर्गं महासत्त्वः सहतेऽसौ निराकुलः ॥ २११५ ॥  
 दुःशीलभूतवेतालशाकिनीग्रहराक्षसैः ॥  
 न संभीषयितुं शक्यो भीमैरपि कथंचन ॥ २११६ ॥

विजयोदया—वीसत्यमीमदसणविगुण्विदा वीभत्सभीमदर्शनविक्रिया भूतराक्षचीपशाचा यद्यपि क्षोभं कुर्वति तथा व्यसौ न संभ्रमं करोति ॥

अन्यश्चादुपसर्गस्य तत्कृत्यमाह—

मूलारा—आवटणादि आकुंचनप्रसारणादि । विक्रिचदे स्फोटयति । विधिणा प्रतिष्ठापनिकाससितिविधानेन ।

उपसर्गसंभवे स किं करोतीत्याह—

मूलारा—जाधे यदा । य अचेतनकृताश्चेति समुच्चिनोत्ययं च । तावे तदा । निष्पडियम्भो प्रतिकाररहितः । अधियासेदि सहते ।

तदुपसर्गसहनसामर्थ्यसमर्थनार्थमाह—

मूलारा—आदितियसुसचडणो वज्रदृपमनाराचं, वजनाराच नाराच चेत्याद्येषु त्रिषु शोभनसंहतनेषु मध्येऽन्यतम संहनन इत्यर्थः । सुभसंठाणो समचतुरस्रसस्थान । अमेघं अमेघं । ओधवलो महाबलः । ओधसूरो नितरा शूरः अत एव देवादिकृतादुपसर्गाभिर्भयः सन्सहते इति पूर्वेण सम्बन्धः ।

पुनस्तस्य महासात्विकत्व प्रतिकूलोपसर्गसक्षोभादुद्भवमुलेन व्यनक्ति—

मूलारा—बीभच्छभीमदंसणविचित्रविदा विकृतभयंकरदर्शनविविधक्रियाः । खोभिज्जो क्षोभियेयु । संभम संक्षोभं ॥ अर्थ—बीभत्स और भय दिखानेवाला जिनका दर्शन और विक्रिया है ऐसे भूत, राक्षस और पिशाचोंके द्वारा यदि क्षोभ उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जानेपर भी उनके मनमें भय उत्पन्न नहीं होता है

इष्टिमदुलं वि उव्विय किण्णरकिंपुरिसिदेवकणाओ ॥

लोलंति जदिवियतगं तधवि ण सो विभयं जाई ॥ २०४६ ॥

त्रिदशैर्विक्रियावद्भिश्चेतश्चोरणकारिणीं ॥

प्रददर्यं महतीमृद्धिं लोभ्यमानो न लुभ्यति ॥ २११७ ॥

विजयोदया—इष्टिमदुल विगुण्विय ऋद्धिमदुला विहृत्य किन्नरकिंपुरपाविदेवकन्या यद्यन्युपलालन कुर्वति तदाप्यसौ न विस्मयं याति ॥

किंनरादिकन्याप्रलोभनं लक्षणानुकूलोपसर्गोऽपि तस्य विस्मयाभावं ब्रूते ॥

मूलारा—इष्टिं ऋद्धिं । लोलंति लोभयंति । विह्वय विस्मयं ॥ किंघटुना ॥

अर्थ—अनुपम ऋद्धि प्रपट करके किन्नर किंपुरुषादिककी देवकन्याएँ उनको लुब्ध करनेका प्रयत्न भी करेंगी तो भी उनका मन आश्चर्यचकित नहीं होता है.

सर्वो पोगलकाओ दुक्खचाए जदि तमुवणमेज्ज ॥

तधवि य तस्स ण जायदि ज्ञाणस्स विमोत्तिया को वि ॥ २०४७ ॥

सपयतेऽखिलास्तस्य दुःखाय यदि पुद्गलाः ॥

तथापि जायते जातु ध्यानविभो न धीमतः ॥ २११८ ॥

विजयोदया—सर्वो पोगलकाओ सर्वे पुद्गलद्रव्यं दुःखतया यदि तमभिहति तथापि तस्य न जायते ध्यानस्यान्यथावृत्तिः ॥

मूलारा—सर्वो त्रैलोक्योदरवर्ती । पोगलकाओ पुद्गलद्रव्यं । दुक्खचाए दुःखतया । दुःखोत्पादरूपतयेत्यर्थः । उवणमेज्ज उपढौकेत । विमोत्तिया अन्यथाभावः । आर्तरौद्रपरिणतिरित्यर्थः ।

अर्थ—जगतके संपूर्ण पुद्गल दुःखरूप परिणतिको प्राप्त होकर उनको पीडा करनेके लिए उद्यत होनेपर भी उनका मन ध्यानसे च्युत नहीं होता है

सर्वो पोगलकाओ सोक्खचाए जदि वि तमुवणमेज्ज ॥

तध वि हु तस्स ण जायदि ज्ञाणस्स विमोत्तिया को वि ॥ २०४८ ॥

सुखाय यदि लभ्यते सर्वे पुद्गलसचयाः ॥

तथापि धीरधीर्नासौ ध्याननश्नलति स्फुटम् ॥ २११९ ॥

विजयोदया—स्फोटोत्तरगाथा ॥

मूलारा—सोक्खचाए सुखावहतया ।

अर्थ—सर्व जगत्के शुद्धल यदि सुखरूप बनकर उनको सुखी करनेके लिए उद्यमी होनेपर भी इन मुरिनाजका मन उनमें लुब्ध होता नहीं अर्थात् अपने आत्मध्यानमें ही स्थिर रहता है

सन्निवृत्ते साहरिदो तत्थोवेक्खदि वियत्तसव्वंगो॥

उवसग्गो य पसंते जदणाए थण्डिलमुवेदि ॥ २०४९ ॥

उपेक्षते विनिक्षिप्तः सचित्तहरिनादिषु ॥

उपसर्गशुभे भूयो योग्यं स्थानमियर्त्ति सः ॥ २१२० ॥

विजयोदया—सन्निवृत्ते साहरिदो व्याघ्रादिभिः सचित्ते निक्षिप्तः स तत्रोपेक्षते त्यक्तसर्गः । उपसर्गं प्रज्ञाते यत्नेन स्थण्डिलमुपैति ॥

व्याघ्रादिभिः प्राणिसंकुलमूलले प्रक्षिप्तोऽसौ किं करोतीत्याह—

मूलारा—सन्निवृत्ते हरितट्टणादिप्राणियद्गुलो देशे सा हरिदो व्याघ्रादिभिर्निर्वा प्रक्षिप्तः । तत्थ तत्रैव उवेक्खदि तिष्ठत्युपसर्गात् यावत् । वियत्तसव्वंगो त्यक्तसर्वकायः । पसंते स्वयमेव प्रशमं गते ॥

अर्थ—हरा टुण वगेरह प्राणिओंसे व्याप्त ऐसे भूप्रदेशमें यदि व्याघ्रादिकोंने लेजाकर फेंक दिया तो भी उपसर्ग दूर होने तक वे मुनि शमभाव धारण कर शरीरमोहसे रहित होकर वहाँ ही रहते हैं. उपसर्ग दूर होनेपर यत्नेसे स्थण्डिलके तरफ आते हैं

एवं उव सग्गविधिं परिसहविधिं च सोधिया संतो ॥  
मणवयणकायगुत्तो सुणिच्छिदो णिज्जिदकसाओ ॥ २०५० ॥

परीपहोपसर्गणामेव विषह्मोद्यतः ॥

मनोवाक्कायगुप्तोऽसौ निःक्रपायो जितेंद्रियः ॥ २१२१ ॥

विजयोदया—एव उवसग्गविधिं एवमुपसर्गान् परिगृह्याश्च सद्विमानस्त्रिगुप्तः सुनिश्चितो निश्चितकपायः ॥  
मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इस प्रकार वे मुनिराज उपसर्ग और परीपहों को जीवते हैं. मन वचन और शरीरकी क्रियायें बंद करते हैं अर्थात् तीन गुणोंको पालनकर कोषादिक कर्मागोत्रो जीवते हैं आत्मस्वरूपमें स्थिर रहते हैं

इहलोए परलोए जीविदमरणे सुहे य दुक्खे य ॥

णिप्पडिबद्धो विहरदि जिददुक्खपरिस्सिमो धिदिमं ॥ २०५१ ॥

इहामुत्तं सुखे दु.खे जीविते मरणे सुधीः ॥

सर्वथा निःप्रतीकारश्चतुरंगे प्रवर्तते ॥ २१२२ ॥

विजयोदया—इहलोगे परलोगे इह परव च जीविते मरणे सुखे दु.खे च अग्रतिवधो विहरति जितदुःख परिश्रमः धृतिमान् ॥

मूलारा—णिप्पडिबद्धो इच्छाद्वेषरहितः । विदिम धृतिमान् ।

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें, जीवित और मरणमें, सुख और दुःखमें वे इच्छा और द्वेष नहीं रखते हैं. धैर्य धारण करते हैं और दुःखोंके परिश्रमसे वे पीडित नहीं होते हैं

वायणपरियट्ठणपुच्छणाओ सोत्तुण तथय धम्मथुदिं ॥

सुत्तच्छपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तथमेयमणो ॥ २०५२ ॥

वाचनापुच्छनाम्नायधर्मदेशनवर्जिताः ॥

धीरः सूत्रार्थयोः सम्यग्ध्यायत्येकाग्रमानसः ॥ २१२३ ॥

विजयोदया—वायणपरियट्ठणपुच्छणाओ वाचना, परिवर्तन, प्रश्न च सुक्त्वा च तथा धर्मोपदेशं सूत्रस्यार्थं स्मरत्येकचित्तं ॥

वाचनादिस्वाध्यायभेदेषु मध्ये सूत्रार्थानुग्राहमेवासौ करोतीत्यनुशास्ति—

मूलारा—परियट्ठण आम्नाय. । धम्मथुदी धर्मोपदेश देववर्दना च । सुत्तथपोरिसीसु पंचसु स्वाध्यायभेदेषु मध्ये अथवा पूर्वोक्तमध्याह्नार्द्धरात्रसमयेषु चतुर्षु पट्पट्पटिकस्तीर्थकरध्वनिर्निर्गच्छति चेज्वपि अस्वाध्यायकालेष्वपि इत्यर्थः । सरेदि चित्तयति । उक्तं च—

वाचनापुच्छनाम्नायधर्मदेशनवर्जितः ॥

धीरः सूत्रार्थोः सम्यक्ध्यायत्येकाग्रमानसः ॥

अर्थ—वे मुनि वाचना, प्रच्छना, परिवर्तन और धर्मोपदेश इस रूपसे चार प्रकारके स्वाध्यायक-  
त्याग कर सूत्र और अर्थका एकाग्रतासे स्मरण करते हैं अथवा दिनका पूर्वभाग, मध्यभाग, अन्तर्भाग तथा अर्ध-  
रात्र ऐसे चार समयोंमें तीर्थङ्गरोकी दिव्यध्यानि निकलती है ये काल स्वाध्यायके नहीं हैं ऐसे कालमें भी वे अनु-  
प्रेक्षात्मक स्वाध्याय करते हैं

एवं अट्टवि जामे अनुवट्टो तच्च ज्ञादि एयमणो ।

जदि आधच्चा णिद्दा हविज्ज सो तत्थ अपदिण्णो ॥ २०५३ ॥

एवमष्टसु यामेषु निनिद्रो ध्यानलालसः ॥

भवन्तीं हठतो निद्रां न निपेवत्यसौ पराम् ॥ २१२४ ॥

विजयोदया—एवं अट्टवि जामे एवमेवाष्टसु यामेषु निरस्तशयनक्रियो ध्यात्येकचित्त, यथाहृत्य निद्रा भवेत्  
तत्र अग्रतिष्ठोऽसौ ॥

तस्य स्वापक्रिया निषिध्य शृक्कावनुजानाति—

मूलारा—अनुवट्टो अनिद्रः सन् । तच्च तस्य । आधच्चा आहृत्य हठात् । अपदिणो प्रतिज्ञारहितः । हठाद्भवन्तीं  
मज्जनीत्यर्थः ॥

अर्थ—इस प्रकार आठों प्रहरोंमें निद्राका परित्याग करके एकाग्रचित्त होकर वे मुनि तत्त्वोंका विचार  
करते हैं. यदि बलात् निद्रा आगई तो निद्रा लेते हैं.

सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ ण संति किरियाओ ॥

जम्हा सुसाणमज्जे तस्स य ज्ञाणं अपडिसिद्धं ॥ २०५४ ॥

स्वाध्यायकाले विक्षेपाद्यंतास्तस्य न च क्रियाः ॥

ध्यानं शमशानमर्घ्येऽपि कुर्वाणस्य निरतरम् ॥ २१२५ ॥

विजयोदया—सञ्ज्ञायकालपडिलेहणाविकाओ स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिका क्रिया न सति यस्मात् इमशा नमस्येपि तस्य ध्यानं न प्रतिपिद्धं ॥

स्वाध्यायकालगवेषणादिना चित्तविक्षेपमभवे क्षेत्राशुद्धौ वा ध्यानाप्रवृत्तेः कथं तस्याहोरात्रिकमात्मध्यानं स्यादित्यत्राह—

मूलारा—पडिलेहणा गवेषणा शुद्धिर्वा । सुसाण इमशानं । अपडिसिध्वं न प्रतिपिद्धं ॥

अर्थ—स्वाध्याय काल और शुद्धि वगैरह क्रियायें उनको नहीं हैं इमशानमें भी उनको ध्यानके लिये नियम नहीं है

आत्रासगं च कुणदे उवधोकालमि जं जहिं कमदि ॥

उवकरणंपि पडिलिहइ उवधोकालमि जदणाए ॥ २०५५ ॥

यथोक्तं कुरुते सर्वमावश्यकमताद्रितः ।

विधत्ते स ह्य कालं उपधिप्रतिलेखनम् ॥ २१२६ ॥

त्रिजयोदया—आवाखगं च कुणदे आवश्यक च करोति कालद्वयेऽपि यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखनं मपि यत्नेन कालद्वये करोति ॥

एव तर्हि नावश्यकदिकमप्यसौ विधास्यतीत्यागक्रामपाकरोति—

मूलारा—च पुनः । उवधोकालमि रात्रिदिनयोः । कमदि प्रवर्तते ॥

अर्थ—जो आवश्यककर्म जिस कालमें करनेका विधान कहा गया है उस कालमें ये मुनि वह कर्म करते हैं, उपकरणोंका प्रतिलेखन—शुद्धि भी प्रयत्नसे स्रयोदय और सूर्यास्त समयमें अवश्य करते हैं.

सहसा चुक्करकलिदे गिसीधियादीसु मिच्छकारे सो ॥

आसिअणिसीधियाओ गिगमणपवेसणं कुणइ ॥ २०५६ ॥

सहसा स्खलने जाते मिथ्याकारं करोति सः ॥

आसीनिषयकाशद्वौ विनिःक्रांतिप्रवेशयोः ॥ २१२७ ॥

विजयोदया—सहसा चुकरकलिदे सहसा स्खलने जाते मिथ्या मया कृतमिति प्रकीर्ति, निष्क्रमणप्रवेशयोः आसि-  
कान्तिर्यदिधाशब्दप्रयोगं करोति ॥

मूळारा—चुकरकलिदे अक्रमणे किंचित्करणे वा संग्रहे सति । मिच्छाकारो मिथ्या मया कृतमिति भाषणं । आसि-  
य निर्गमने 'आसिका' शब्दोच्चारणं निस्सिधियाओ । प्रवेशे 'निपीधिका' शब्दोच्चारणं ॥

अर्थ—कुल स्खलन होनेपर अर्थात् आवश्यककर्म शोढासा किया गया किंवा नहीं किया गया तो मैंने  
मिथ्या किया 'मिथ्या मया कृतं' ऐसा बोलते हैं वंदनादि कार्यके लिये जाते समय और प्रवेश करते समय  
असहि और निसही ऐसा शब्दोच्चार क्रमसे करते हैं

पादे कंटयमार्दि अच्छिम्नि रजादियं जदवेज्ज ॥

गच्छदि अधाविधिं सो परणीहरणे य तुसिणीओ ॥ २०५७ ॥

पादयोः कंटके भग्ने रजसीक्षणयोगेने ॥

तूष्णीमास्ते स्वयं धीरो परेणोद्धरणेऽपि सः ॥ २१२८ ॥

विजयोदया—पादे कंटयमार्दि पादयोः कंटकप्रवेशे नेत्रयो रज.प्रभृतिप्रवेशेपि तूष्णीमास्ते, परनिराकरणेपि  
स तूष्णीमास्ते ॥

पादादौ कंटकादिप्रवेशनस्योपेक्षासुपदिशति--

मूळारा—कंटयमादी कंटककीलकादिकं । आवेज्ज प्रविशेत् । अधाविधि यथाविधि । प्रोक्तविधिना याति  
निराकर्तुं न प्रवर्तते इत्यर्थः । परणीहरणे परेण निष्कास्यमाने पादभग्नकंटके इत्यर्थः । तुष्णीय मौनेन तिष्ठति । तुसिणीओ  
इति पाठे तूष्णीको मौनशीलो भवतीत्यर्थः ॥

अर्थ—पैरोमें कांटा चुभ गया और नेत्रमें रज-धूलीका कण चला गया तो भी वे अपने हाथसे नहीं नि-  
कालते हैं, दूसरोंके द्वारा निकाला जानेपर मौन धारण करते हैं.

वेउव्वणमाहारयचारणखीरासवादिलच्छीसु ॥

तवसा उप्पण्णासु वि विरागभावेण सेवदि सो ॥ २०५८ ॥



‘नानविधासु जातासु लब्धिष्वेव महामनाः ॥

न किञ्चित्सेवते जातु विरागीभूतमानसः ॥ २१२९ ॥

विजयोदया—वे उज्ज्वलमाहार्य विक्रियाकद्धौ आहारकद्धौ चारणकद्धौ क्षीरास्रावादिलब्धिषु वा तपसोत्पन्नास्थ-  
पि विरागतया न किञ्चित्सेवते स ॥

विक्रियादिलब्ध्युपयोगमावमपि तस्याह—

मूलारा—वे उज्ज्वल विक्रियालब्धिः आहार्य आहारकलब्धिः । चारण आकाशगमनलब्धिः । क्षीरास्रावादि क्षीर-  
स्रावित्वमधुस्रावित्वादिलब्धयः ॥

अर्थ—तपके द्वारा वैक्रियिक कद्धि, आहारक कद्धि, चारण कद्धि, क्षीरास्रावित्वादि लब्धि प्राप्त होनेपर  
भी विरक्तता युक्त परिणाम होनेसे वे उनका सेवन नहीं करते हैं. अर्थात् उसका उपयोग नहीं करते हैं.

मोणाभिगहणिरदो रोगादंकादिवेदणाहेतुः ।

ण कुणदि पडिकारं सो तेहेव तण्हाछुहादीणं ॥ २०५९ ॥

वेदनानां प्रतीकारं क्षुदादीनां च धीरधीः ॥

न जातु कुरुते किञ्चिन्मौनव्रतमवस्थितः ॥ २१३० ॥

विजयोदया—मोणाभिगहणिरदो मौनव्रतोपपन्नः रोगात्कादिवेदनानिमित्त प्रतीकारं न करोतितथैव तुडा-  
दीनामपि ॥

रागद्यप्रतीकारमपि तस्याह—

मूलारा—मोणाभिगह मौनस्वीकारः ॥

अर्थ—मौन व्रतको धारण करते हैं रोगादिकोंसे पीडा होने पर उनका प्रतीकार इलाज नहीं करते हैं.  
भूख, प्यास, शीत, उष्ण, इत्यादिकोंका भी वे प्रतीकार नहीं करते हैं.

उत्तणुसो पुण आहरियाणं इंगिणिगदो त्रि छिण्णकधो ॥

देवेहिं मणुसेहिं व पुट्ठो धम्मं कधेदित्ति ॥ २०६० ॥

उपदेशोऽन्यसूरीणामिगिनीमरणेऽपि सः ॥

त्रिदशैर्मानुषैः पृष्टो विधत्ते धर्मदेशनाम् ॥ २१३१ ॥

विजयोदया—उवणसो पुण आहरियाणं उपदेशः पुनः आचार्याणा इंगिणीगतोपि धर्मं कथयति देवैर्मनुष्यै-  
र्वा पृष्टः । कथं कथयति, छिन्नकथं प्रवर्तते न महता ॥

केचिद्धर्मदेशनमिगिण्यामप्युपदिशतीति दर्शयन्ति—

मूलारा—आयरियाण आचार्यातराणाम् । विच्छिन्नकथो विच्छिन्ना स्तोका कथा यस्यासौ विच्छिन्नकथः स्यात् ।  
छिन्नकथो इति वा योज्यं । देवैर्मानवैर्वा धर्मं कथयेति पृष्टः सत्रिगिणीगतोऽपि स्तोका धर्मकथा करोति । इत्यन्येषा  
मन्वित्यर्थः ॥

अर्थ—इगिनीमरणमे तत्पर रहकर भी वे मुनि देव अथवा मनुष्यके द्वारा पूछे जानेपर थोडासा धर्मो-  
पदेश भी करते हैं ऐसा अन्य आचार्यों का मत है,

एवमथक्त्वादविधिं साधिच्चा इंगिणीं धुदकिलेसा ॥

सिज्झंति केइ केई हवंति देवा धिमाणेसु ॥ २०६१ ॥

इंगिनीमरणेऽप्येवमाराध्याराधनां द्रुधाः ॥

केचित्सिध्यन्ति केचिच्च सन्ति वैमानिकाः सुराः ॥ २१३२ ॥

इंगिनीमृतिं सुखानुपंगिणीं निर्मलां कषायनाशकौशलाम् ॥

पूजिता भजति विघ्नवर्जितां ये नरा भवंति तेऽजरामराः ॥ २१३३ ॥

इति इंगिणीमरणम् ॥

विजयोदया—एवमथक्त्वादविधिं एवं यथाख्यातक्रमेण इंगिणीं प्रसाध्य निरस्तश्लेशाः केचित्सिध्यन्ति,  
केचिद्धैमानिकदेवा भवंति ॥

इंगिणीमाहात्म्यमभिधौति—

मूलारा—अथक्त्वादविधिं यथोक्तम् । धुदकिलेसा यथोक्तक्रमेणगिणीं प्रसाध्य जीवन्मुक्ताः संत इत्यर्थः ।

सिज्झन्ति प्रश्रीणकृत्स्नकर्माणः पडितपडितमरणेन निर्वान्तीत्यर्थः ।

अर्थ—यहाँ तक जो इंगिनीमरणका विधि कहा है उसको सिद्ध करके कोई मुनि संपूर्ण कर्मक्लेशोंको दूर करके मुक्त होते हैं और कोई वैमानिक देव होते हैं।

एवं इंगिनिमरणं वाससमासेण वणिणंदं विधिणा ॥

पाओगमणणिमित्तो समासदो चेव वण्णसिं ॥ २०६२ ॥

इंगिनीमरण प्रोक्तं समासव्यासयोगतः ॥

प्रायोपगमनं वक्ष्ये व्यासेन विधिनाधुना ॥ २१३४ ॥

विजयोदया—स्पष्टार्थो गायथा ॥ इंगिणी ॥

प्रकृतमुपसर्हरन्तुपदेयान्तरमुपक्षिपति—

मूलारा—वाससमासेण समासवर्णनात् 'जो भक्तपट्टिण्णाए' इत्यादिसूत्रातिदेशसामर्थ्याद्भक्तप्रतिज्ञावद्वर्गव्या ॥ एवमिगिणीमरणव्याख्यान समाप्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार इंगिणी मरणका विधि विस्तारसे और समासमे-संक्षेपसे हमने वर्णन किया है अब आगे प्रायोपगमन मरणका संक्षेप से वर्णन करते हैं इंगिणी मरणका वर्णन समाप्त हुआ।

पाओवगमणमरणस्स होदि सो चेव बुवक्कमो सब्बो ॥

बुत्तो इंगिनिमरणस्सुक्कमो जो सवित्थारो ॥ २०६३ ॥

इगिनीमरणेऽवाचि प्रक्रमो यो विशेषतः ॥

प्रायोपगमनेऽप्येष द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः ॥ २१३५ ॥

विजयोदया—स्पष्टार्थः ॥

अथातःस्वपरवैयावृत्यानेपेक्षालक्षणं पंडितमरणं स्वहृतीयविकल्पं प्रायोपगमनमरणं गायानवेकेन व्याचि-  
ख्यासुरादौ तदुपक्रममतिविशति—  
मूलारा—स्पष्टम् ॥

प्रायोपगमन मरणका वर्णन—

अर्थ—इगिणीमरणका जो सविस्तर विधि कहा है वही प्रायोपगमन मरणका भी विधि समझना चाहिए

णवरिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिद्धो ॥

आदपरपओणेण य पडिसिद्धं सव्वपरियम्मं ॥ २०६४ ॥

संस्तरं क्रियते नात्र तृणकाष्ठादिनिर्मितः ॥

स्वकीयमन्यदर्पय च वैयावृत्त्यं न विद्यते ॥ २१३६ ॥

विजयोदया—णवरिं तणसंथारो णवर तृणसंस्तर प्रायोपगमनगतस्य प्रतिपिद्धः, आत्मपरप्रयोगेण यस्मात्प्रतिपिद्धः सर्वः प्रतीकार । स्वपरसपाद्यप्रतीकारोपेक्ष भक्तप्रत्याख्यानविधि, परनिरपेक्षमात्मसपाद्यप्रतीकारमिगिणीमरणं, सर्वप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनमित्यमीषा भेदः ॥

उत्सर्गेणोपदिश्यापवादमाह—

मूलारा—णवरिं किंतु । पाओवगदस्स संघात्पादाभ्या योग्यदेशमुपगम्य गृहीतसन्न्योसे सतीत्यर्थः । पडिसिद्धो निपिद्धः । आदेत्यादि सर्वप्रतीकाररहितमिदमित्यर्थः । एतेन भक्तप्रतिज्ञेगिणीभ्यामस्य भेदो दृश्यते ॥

अर्थ—इस प्रायोपगमनमरणमें तृणके संस्तरका निषेध है क्योंकि यह प्रायोपगमन करनेवाले मुनि स्वतः और परतः शुश्रूषा नहीं करते हैं स्वयं भी अपनी शुश्रूषा नहीं करते हैं और दूसरोंको भी शुश्रूषा नहीं करने देते हैं भक्तप्रत्याख्यानविधिमें स्वपरशुश्रूषा विधिकी अपेक्षा है इगिनी मरणमें परशुश्रूषाका निषेध है, परंतु स्वयं अपनी शुश्रूषा करते हैं ऐसा इन तीन मरणोंमें आपसमें भेद है

सो सल्लेहिददेहो जम्हा पाओवगमणमुवजादि ॥

उच्चारार्थादिविकिंचणमवि णत्थि पवोगदो तम्हा ॥ २०६५ ॥

करोत्येन ततो योगी कृतसल्लेखनाविधिः ॥

उच्चारप्रसवादीनां ततो नास्ति निराक्रिया ॥ २१३७ ॥

विजयोदया—सो सल्लेखिदेहो स समयफतनूकृतशरीरो यस्मात्प्रायोपगमनमुपयाति तस्मादुच्चारयित्वा करणमपि नास्ति प्रयोगतः ॥

अस्थिचर्मोवशेषितशरीरत्वाद्धिण्मूत्राद्यपनयनमध्यस्य स्वयं परेण वा न स्यादित्याह—  
मूलारा—ययोगदेहो स्वपरव्यापारणया ॥

अर्थ— उत्तम प्रकारसे जिसने अपना देह कृश किया है ऐसे ये मुनि प्रायोपगमन मरण विधीको करते समय विद्या मूत्र वगैरहका निराकरण स्वयं नहीं करते हैं और अन्यके द्वारा भी कराते नहीं हैं.

पुढवी आऊतेऊवणफदितसेसु जदि वि साहरिदो ॥

वोमट्टचत्तेहो अघाउगं पालए तथ ॥ २०६६ ॥

पृथ्वीवाग्वग्निकायादौ निश्चितस्त्यक्तग्रहः ॥

आयुः पालयमानोऽसाधुदासीनोऽवतिष्ठते ॥ २१३८ ॥

विजयोदया—पुढवी आऊतेऊवणफदितसेसु जदि वि साहरिदो पृथिव्यादिषु जीवनिकायेषु यद्यपि केनचित् वाक्कायस्तथापि व्युत्पुष्टशरीरसंस्कारस्त्यक्तदेहः स्वमायुः पालयेत् ॥

पृथिव्यादिष्वपि जीवनिकायेषु केनचित्प्रतिकूलोपसर्गं विकीर्णया प्रतिक्षितोऽप्यसौ तत्रैव क्षियते इत्युपदिशति—  
मूलारा—वोसट्टचत्तेहो संस्कारममकाराविपयीकृतशरीरः । अघाउगं पालए यथायुः प्रवीक्षते । स्वायुःक्षयं यावदवतिष्ठते इत्यर्थः ॥

अर्थ— सचित्त पृथ्वी, अग्नि, जल, वनस्पति इत्यादि जीवनिकायें यदि किसीने उनको फेंक दिया तो वे शरीरसे ममत्व छोडकर अपनी आयुसमाप्ति होनेतक वहांही निश्चल रहते हैं

मउजणयंगंधपुण्फोवयारपडिचारणे वि कीरंते ॥

वोसट्टचत्तेहो अघाउगं पालए तधवि ॥ २०६७ ॥

गंधमसूनधूपाद्यैः क्रियमाणेऽप्युपग्रहे ॥

त्यक्तदेहतयोदास्ते स स्वजीवितपालकः ॥ २१३९ ॥

विजयोदया—मज्जनयगंधपुष्पोदयारपडिचारणे वि कीरतो यद्यपि कश्चिदभिपेक्षयेत् गंधपुष्पादिभिर्वा संस्तुतस्तथापि व्युत्पद्यत्यक्षरीरो न कथ्यति न तुष्यति न निवारयति ॥  
केनचिदभिपेक्षादिनोपचर्यमाणोयसौ न तुष्यति न रुष्यति नापि निवारयतीत्यस्तुक्कुलोपसर्गोपेक्षासुपदेष्टुमाह—  
मूलारा—तद्यवि तथैव प्रतिशूलोपसर्गदेवैत्यर्थः ।

अर्थ—यदि कोह उनका अभिपेक्ष करेगा अथवा उनकी गंध पुष्पादिकोसे पूजा करेगा तो वे उनके ऊपर न क्रोध करते हैं न प्रसन्न होते हैं तथा उनका निवारण भी नहीं करते हैं

वोसट्टचत्तवेहो दु णिक्खिवेज्जो जहिं जधा अंगं ॥

जावज्जीवं तु सयं तहिं तमंगं ण चालेज्ज ॥ २०६८ ॥

यत्र निक्षिपते देहं निःस्पृहः शान्तमानसः ॥

ततश्चल्यते नासौ यावज्जीवि मनागपि ॥ २१४० ॥

विजयोदया—वोसट्टचत्तवेहो व्युत्पद्यत्यक्षरीरो निक्षिपेत् कश्चिद्यास्मिन्मथ्याग यावज्जीवं स्वयं तस्मिं स्तदंगं न चालयति ॥

यत्र यथा यत्स्वांगं प्राप्तिक्षिप्तं तत्स्वयथाभावाच्च तत्स्वय यावज्जीवं न चालयतीत्यावष्टे—

मूलारा—णिक्खिवेज्जो निक्षिपेत् । जहिं यत्र स्थाने । तहिं तस्मात् । स्थानादवस्थानाच्च ।

अर्थ—जिस के ऊपर इन मुनिने अपना अंग रख दिया है उसपरसे वे मुनि स्वयं यावज्जीव अपना अंग त्रिलकुल हिलाते नहीं हैं

एवं णिप्पडियम्मं भणंति पाओवगमणमरहंता ॥

णियमा अणिहार तं सिया य णीहारमुवसग्गे ॥ २०६९ ॥

इत्युक्तं निःप्रतीकारं प्रायोपगमन जिनैः ॥

नियमेनाचलं श्रेयमुपसर्गे पुनश्चलम् ॥ २१४१ ॥

विजयोदया—एव णिप्पडियारं एवं स्वपरकृतप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनं जिना वदति, निश्चयेन तत्प्रायोपगमन-  
मनीद्वारमवल स्याच्चलमपि उपसर्गे परकृतचलनमपेक्ष्य ॥

उक्तार्थोपसंग्रहमाह—

मूलारा—णियमा अणीहार निश्चयेनाचल स्वकृतशरीरचलनाभावात् । सियाय स्यादपि । णीहारमुवसग्गे  
उपसर्गे परकृतचलनमपेक्ष्य चलमपि भवेदित्यर्थः ।

अर्थ—इस प्रकार स्वयं प्रतिकार किया जाना और अन्यके द्वारा प्रतिकार किया जाना इन दोनों प्रतीका-  
रोंसे रहित इस मरणको प्रायोपगमन नामक मरण कहते हैं निश्चयसे यह मरण अनीहार अवल है, परन्तु उपसर्ग  
अपेक्षसे इसको चल भी माना जाता है,

उवसग्गेण य साहरिदो सो अणत्थ कुणदि जं कालं ॥  
तम्हा वुत्तं णीहारमदो अण्णं अणीहारं ॥ २०७० ॥

उपसर्गहृतः कालमन्यत्र कुरुते यतः ॥

ततो मतं चलं प्राज्ञैरुपसर्गमृते स्थिरम् ॥ २१४२ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

मूलारा—अणत्थ स्वापात्रस्थानादपरत्र । अदो अतः ॥

अर्थ—उपसर्ग के वश होने पर स्वस्थानको छोड़कर यदि अन्यस्थानमें मरण हो जाता है तो उसको नीहार  
प्रायोपगमनमरण कहते हैं और जो उपसर्ग के अभाव में स्वस्थान में ही हो जाता है उसको अनीहार कहते हैं,

एतदेवोत्तरगाथया स्पष्टयति—

पडिमापाडिवण्णा वि हु करति पाओवगमणमप्येगे ॥

दीहद्धं विहरंता इंगिणिमरणं च अप्पेगे ॥ २०७१ ॥

प्रायोपगमन केचित्कुर्वते प्रतिमास्थिताः ॥

अपधाराधनां देवीभिर्गिनीमरणं परे ॥ २१४३ ॥

इति प्रायोपगमनम् ॥

विजयोदया—पडिमापीडवण्णा वि दु प्रतिमाप्रतिपन्ना अपि एके प्रायोपगमनं कुर्वति, एके इगिणिमरणं ॥ पाउगं ॥

प्रायोपगमनं केचित्सहेखनामकुत्तैव कायोत्सर्गं प्रतिपन्ना अपि कुर्वन्त्यन्ये पुनश्चिरमुपवासं कृत्वाप्येवमिगिणी मपीति विभार्कं दर्शयति—

मूलारा—पडिमा कायोत्सर्गः । दीदद्धं चिरकालं । विहरिता उपवास कृत्वा । उक्तं च—

प्रायोपगमनं केचिदाश्रितप्रतिमा अपि ।

कुर्वन्त्यन्ये विहृत्योर्बैरिगिणीमरण तथा ॥

इति प्रायोपगमनमरणन्याख्यानं समाप्तम् ॥

इसी प्रायोपगमनमरणका स्पष्टकिरण करते हैं—

अर्थ— कायोत्सर्ग को धारण कर कोई मुनि प्रायोपगमन मरण करते हैं, और कोई दीर्घकालतक उपवास कर इस मरणसे शरीरका त्याग करते हैं इसी प्रकार इगिणीमरणके भी भेद समझने चाहिये

आगाढे उपसर्गे दुब्बिक्खे सव्वदो विदुत्तारे ॥

कदजोगिसमधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति ॥ २०७२ ॥

उपसर्गे सति प्राप्ते दुर्भिक्षे च दुरुत्तरे ॥

कुर्वन्ति मरणे बुद्धिं परीपहसहिष्णवः ॥ २१४४ ॥

विजयोदया—आगाढे उपसर्गे दुब्बिक्खे सव्वदो विदुत्तारे ॥ २१४४ ॥  
कुर्वन्ति मरणे बुद्धिं परीपहसहिष्णवः ॥ २१४४ ॥  
अत्रिय मरणे कृतोत्साहा भवति । तस्यैव वस्तुन उदाहरणानि उत्तरगाथाभिस्सूच्यते ॥

एव पंडितमरणविकल्पान्मक्तप्रत्याख्यानादींस्त्रीनपि निरूप्य महोपसर्गदौ सति कारणजातमप्याश्रित्य सुभा-  
वितात्मानः कृतपंडितमरणोत्साहा भवन्ति इत्युपदेशार्थं चूलिकागाथापट्कमाह—

मूलारा—दुत्तारे दुरुत्तरे । कदजोगी रत्नत्रययुक्ताः । समाधियासिय उपसर्गोदिसहनसमर्थो । कारणजादेहिंवि अपराण्यपि मरणकारणानि वत्पन्नान्याश्रित्य । अन्यस्तु कारणे जाते इति मन्यते । तदुक्तं—

महोपसर्गे दुर्भिक्षे सर्वतोऽपि दुरुत्तरे । म्रियते कारणे जाते कृतयोग्यधिवसिनः ।



प्रायोगमन मरण वर्णन समाप्त हुआ.

अर्थ—महान् उपसर्ग प्राप्त होनेपर तथा जिसकी नष्ट होनेकी आशा नहीं है ऐसा भयंकर पडेनपर रत्नत्रययुक्त, उपसर्ग सहन करनेमें समर्थ—ऐसे मुनिराज मरणमें उत्साहयुक्त हो जाते हैं.

आश्वासः

८

कोसल्य धम्मसीहो अहं साधेदि गिरुपुट्टेण ॥  
 गयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरे विप्पजहिदूण ॥ २०७३ ॥  
 पाडल्लिपुत्ते ध्वादेहुं मामयकदम्मि उवसग्गे ॥  
 साधेदि उसभसेणो अहं विक्खवाणसं किच्चा ॥ २०७४ ॥  
 अहिमारएण गिवदिम्मि मारिदे गहिदसमणल्लिगेण ॥  
 उवाइपसमणत्थं सत्थग्गाहूणं अक्कासि गणी २०७५ ॥  
 सगडाल्लएण वि तथा सत्तग्गाहूणेण साधिवो अत्थो ॥  
 वररुद्धपओगाहेहुं खड्दे गां दे महापडमे ॥ २०७६ ॥  
 एवं पण्डियमरणं सवियम्पं वणिणंदं सवित्थारं ॥  
 वुच्छामि बालपण्डियमरणं एत्थो समासेण ॥ २०७७ ॥  
 कोशलो धम्मसिहोऽर्थं ससाध भ्वासरोधतः ॥  
 कोष्णतीरे पुरे धीरो हित्वा पंद्रथिय नृपः ॥ २१४५ ॥  
 सुतार्थं पाटलीपुत्रे मातुलेन कदर्थितः ॥  
 जग्राह्वर्षभसेनोऽर्थं वैलानसमृत्तिं अितः ॥ २१४६ ॥  
 नृपे हते हि चोरेण यतिल्लिगमुपेयुषा ॥  
 आचार्यः संघशान्त्यर्थं शक्रग्रहणतो मृतः ॥ २१४७ ॥



किया जानेपर वृषभसेन नामक पुरुषने आसरोघ करके आराधना की सिद्धि की है अहिमाकनामक बुद्धधर्मका उपासक पुरुष था उसने मुनिका वेप धारण किया था, उसने स्रावस्ती नगरीके जयसेन राजा को मार दिया. उस समय अपने ऊपर राजाको मारनेका अपवाद आयेगा इस हेतुसे वृषभसेन नामक आचार्यने शस्त्रके द्वारा अपना घातकर आराधनाकी सिद्धि की है शकटाल नामक मुनिने महापद्म नामक धर्माचार्यके समीप दीक्षा धारण की थी इस शकटाल मुनिने वररुचिके कारण शस्त्रसे अपना घात कर आराधनाओंकी सिद्धि की है

इस प्रकार पंडित मरणका विकल्पोके साथ आचार्यने सविस्तर वर्णन किया है. अब यहांसे बालपंडित मरणका संक्षेपमें वर्णन करते हैं

देसेकदेसविरदो सम्मादिट्ठी मरिज्ज जो जीवो ॥  
ते होदि बालपण्डिदमरणं जिणसासणे दिहं ॥ २०७८ ॥  
संयतासयतो जीवः सम्यग्दर्शनभूषितः ॥  
यत्तस्य मरण प्रोक्तं श्रुतज्ञैर्बालपंडितम् ॥ २१५० ॥

विजयोव्या—देसिस्सकदेसविरदो सर्वासंयमप्रत्याख्यानस्यासमर्थं हिंसाद्येकेदेशाद्विरतः स्थूलभूत प्राणातिपातादिपंचकाहेशविरत इत्युच्यते । एकेदेशविरतो नाम देशविरमणेपि एकदेशाद्वावृत्त सम्यग्दृष्टिर्गोत्रियते तस्य तद्बालपण्डितमरण ॥

अथातो बालपंडितमरणं गाथादशकेन व्याचिख्यासुरादौ स्वाभिनिवेशमुखेन तल्लभयति—  
मूलारा—देसेकदेसविरदो स्थूलहिंसादिपचकान्मनोवाक्कायकृतादिना व्यावृत्तो देशविरत इत्युच्यते । एकदेशविरतस्तु देशविरमणेऽपि एकदेशाद्वावृत्तः । स्वशक्यलनुसारेण कृतहिंसादिनिवृत्तिरित्यर्थः । एतेन सकलेन विकलेन च सागारधर्मेण युक्तः श्रावको निर्दिष्टः । तं तस्य ॥

अर्थ—स्थूलहिंसादि पापोंसे मन, वचन, शरीर, कृत, कारित और अनुमोदन इनके द्वारा जो विरक्त हुआ है उसको देशविरत कहते हैं. और एक देशविरत उसको कहते हैं कि जो एक देशविरतिके भी एक देशसे विरक्त

है अर्थात् अपनी शक्तोंके अनुसार जिसने हिंसादिकसे निवृत्ति धारण की है, संपूर्ण गृहस्थके व्रत पालनेवाला अथवा कुछ व्रत पालनेवाला ऐसा जो सम्यग्दृष्टि उसके मरणको जिनगर्भमें बालपंडित मरण कहते हैं.

एतदेव स्पष्टयति ॥

पंच य अणुव्वाह सत्तयासिक्खाउ देसजदिधम्मो ॥

सव्वेण य देसेण य तेण जुदे होदि देसजदी ॥ २०७९ ॥

पंचघाणुव्रतं प्रोक्तं त्रिधा प्रोक्तं गुणव्रतम् ॥

शिक्षाव्रतं चतुर्धा च धर्मो देशयनेरयम् ॥ २१५१ ॥

विजयोदया—पंच य अणुव्वाह पचाणुव्रतानि शिक्षाव्रतानि वा सप्त प्रकाराणि देशयनेर्धम्म तेन समस्तेन धर्मेण युत स्वशक्त्या वा तदेकदेशेन युतोऽपि देशयतिरेव द्वादशविधगृहिवर्मप्रत्ययानपरानि सूत्राण्युत्तराणि प्रसिद्धार्थानि ॥

देशैर्ऋदेशविरतपदार्थविवरणार्थमाह—

मूलारा — भिक्षुत्वाञ्चो गुणव्रतत्रय, चत्वारि, शिक्षाव्रतानीत्यर्थः । सव्वेण सम्यक्त्वपूर्वकद्वादशव्रतात्मकेन । देसेण सदृशेन सनाथस्वशक्त्युपकल्पितव्रतरूपेण ॥

अर्थ—सम्यक्त्वके साथ पाच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत ये गृहस्थके धर्म हैं इसलिये इन चारा व्रतोंसे जो युक्त है उसको—उस गृहस्थको देशयति कहते हैं इस मंपूर्णे धर्मोंसे अथवा स्वशक्तिसे उस धर्मके एक देशसे जो युक्त है वे भी गृहस्थ देशयति कहे जाते हैं

पाणवधमुसात्रादात्तादाणपरदारगमणेहिं

अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विस्मणाइं ॥ २०८० ॥

जं च दिसावेरमणं अणत्थदडोहिं जं च वेरमणं ॥

देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइ ॥ २०८१ ॥

भोगाणं परिसंखा सामाद्वयमतिहिंसंविभागो य ॥  
 पोसहविधी य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ ॥ २०८२ ॥  
 आसुक्कारे मरणे अन्वोच्छिण्णाए जीविदासाए ॥  
 णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसहेहणमकासी ॥ २०८३ ॥  
 हिंसामसुनृतं स्तेयं परनारीनिषेवणम् ॥  
 विमुचतो महालोभं पंचधाणुव्रतं मतम् ॥ २१५२ ॥  
 दिग्देशानर्थदडानां त्यागस्त्रेधा गुणव्रतम् ॥  
 शिक्षाव्रतमिति ग्राह्यश्चतुर्भेदमुदाहृतम् ॥ २१५३ ॥  
 भोगोपभोगसख्यानं सामायिकमखंडितम् ॥  
 संविभगोऽतिथीनां च प्रोषधोपोषितव्रतम् ॥ २१५४ ॥  
 सहसोपस्थिते मृत्यौ महारणे दुरुत्तरे ॥  
 स्ववांधवैरनुज्ञातौ याति सहेखनामसौ ॥ २१५५ ॥

विजयोदया—आसुक्कारे मरणे सहसा मरणे अच्छिन्नायां जीवितांशयां यंभुविर्वा न मुक्त पश्चिमसहेख-  
 नामकृत्वा कृतालोचनो निश्वास्यं. स्वयुद्धं पत्र संस्तरमाकृष्टं देशवैरतस्यं मृतिर्वालपणिङ्गतमित्युच्यते ॥

पंचाणुव्रतनिर्देशार्थमाह—

मूलारा—दिसाविरमणं सर्वहिंसादिनिवृत्यर्थं द्विविद्विगमनं परिभाषावधारणं । अणत्थंदेहि पापोपदेशहिंसो  
 पकरणदानापव्यानकुशास्त्रश्रवणप्रभादाचरणेभ्यः पंचभ्यः । देसावगासिंयं गृहभ्रत्रादिषु हिंसादिनिवत्यर्थं स्थितिगमनादि  
 परिमाणकारणम् ॥

शिक्षाव्रतचतुष्टयं दर्शयति—

मूलारा—भोगाणं पडिसंखा भोगोपभोगपरिमाणं । सामायिंयं । त्रिकलदेववंदनादिकं । अदिधि पात्रं । पोस-  
 धविधी पर्वचतुष्टये उपवासैकभक्तौदितपञ्चरणं । सिक्खावो शिक्षाव्रतानि ।

यथोक्तश्रावकस्याकृतसंख्येनस्य मरणं बालपंडिनमरणसंज्ञया व्यपदेष्टुं गाथाद्वयमाह—  
मूलारा—आसुकारे सहसोपस्थिते । शब्बोच्छिन्नाए अच्छिन्नाया ॥

गृहस्थके वारा व्रतोंका वर्णन.

अर्थ—ग्राणोंका घात करना, असत्य बोलना, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना, परिग्रहमें अमर्याद इच्छा रखना, इन पापोंसे विरक्त होना अणुव्रत है सर्व हिंसादि पातकोंका त्याग करनेके लिये दिशा तथा विदिशोंमें गमन का परिमाण करना दिग्व्रत है. पापेक्ष, हिंसादान, अपघ्यान, कुशास्त्रश्रवण और प्रमादयुक्त आचरण इन पांच अकार्योंसे विरक्त होना अनर्थदंडव्रत कहा जाता है घर, खेत वगैरह की मर्यादा कर हिंसादिनिवृत्ति करना अर्थात् क्षेत्रादि मर्यादाके बाहर जानेका त्याग करना, मर्यादामें ही रहना दशावकाशित व्रत है भोग और उपभोगोंका परिमाण करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है. त्रिकालमें देववंदनादि करना सामायिक है. चारों पर्वतिथियोंमें उपवास करना, एकदफे भोजन करना इत्यादि तप करना ग्रांथोपवास व्रत है पात्रको दान देना आतीथसंविभागव्रत है, ये चार शिक्षाव्रत हैं इन व्रतोंको पालनेवाले गृहस्थ सहसा मरण आनेपर, जीवितकी आशा रहनेपर, अथवा बंधुओंने जिसको दीक्षा लेनेकी सम्मति नहीं दी है ऐसे प्रसंगमें शरीरसंख्येखना और कपायसंख्येखना न करके भी आलोचना कर, निःशुल्य होकर घरमें ही सस्तरपर आरोहण करता है ऐसे गृहस्थकी मृत्युको बालपंडित मरण कहते हैं

आलोचिदग्निस्संख्यो सधरे चेवाश्रहितु संथारं ॥

जदि मरदि देसविरदो तं बुचं बालपण्डिदयं ॥ २०८४ ॥

जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वित्थरेण णिहिट्ठो ॥

सो चेव बालपण्डिदमरणे णेओ जहाजोग्गो ॥ २०८५ ॥

वेमाणिएसु कप्पोवगेसु णियमेण तस्स उववादो ॥

णियमा सिज्झदि उवकस्सएण वा सत्तमम्मि भवे ॥ २०८६ ॥

इय बालपंडियं होदि मरणमरंहतसासणो दिट्ठं ॥  
 एत्तो पण्डिदपण्डिदमरणं वोच्छं समासेण ॥ २०८७ ॥  
 विधायालोचनां सम्यक् प्रतिपद्य च संस्तरम् ॥  
 अयिते यो गृहस्थोऽपि तस्योत्तं बालपण्डितं ॥ २१५६ ॥  
 प्रोक्तो भक्तप्रतिज्ञायाः प्रक्रमो यः सविस्तरम् ॥  
 अत्रापि स यथायोग्यं द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः ॥ २१५७ ॥  
 येन देशयति ना निषेव्यते बालपंडितमृत्तिर्निराकुला ॥  
 भोगसौख्यकमनीयतावधिः कल्पवासिविबुधः स जायते ॥ २१५८ ॥  
 एकदा शुभमना विपद्यते बालपंडितमृत्तिं समेत्य यः ॥  
 स प्रपद्य नरदेवसंपद सप्तमे भवति निर्वृतो भवे ॥ २१५९ ॥  
 इति बालपंडितम् ॥

एवं समासतोऽवाचि मरणं बालपंडितम् ॥  
 अधुना कथयिष्यामि मृत्यु पंडितपंडितम् ॥ २१६० ॥  
 विजयोदया—स्पष्टार्थवया गाथा ॥ बालपण्डिद ॥

मूलारा—आलोचिद विधिवल्लुतालोचनः । निःसल्लो मायानिदानमिव्यात्वमुक्तः । सघरे केव स्वगृहे एव,  
 न चैत्यालयादौ ।

तत्प्रयोगविधिमतिदिशति—

मूलारा—जघाजोगो यो यो योग्यः श्रावकर्त्तव्योचितः । शीलविनयसमाध्यादिः स स इत्यर्थः ।  
 तरफलमभ्युदयपुरःसरं निःश्रेयसमवश्यतया निरूपयति—

मूलारा—कप्पोवगेषु सौघमोदिकल्पोपपन्नेषु देवेषु मध्ये । तस्स बालपंडितमृतस्य ।

प्रस्तुतोपसंहारपुरस्सरं व्याख्येयान्तरमुपश्लिषति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥ इति बालपंडितमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ-भक्तप्रत्याख्यान मरणमें जो प्रयोगविधि विस्तारसे हमने कहा है. वही इस बालपंडितमरणमें गृहस्थ के योग्य समझना चाहिये श्रावकके रत्नत्रय को योग्य ऐसा जो जो विनय, समाधि वगैरह विधि है वह यहां भी समझना चाहिये बालपंडित मरणसे मरण करनेवाला श्रावक नियमसे सौधमादिकल्पोंमें उत्पन्न होता है. तदनंतर उल्लुब्धतासे सात भवोंमें वह नियमसे सिद्ध होता है इस प्रकार अरहंतके आगममें बालपंडित मरणका स्वरूप कहा है. अब यहांसे आगे पंडितपंडितमरणका स्वरूप हम (आचार्य) कहते हैं.

साहू जधुत्तचारी वट्टतो अप्पमत्तकालम्मि ॥

ज्झाणं उवेदि धम्मं पविट्ठकामो खवगासेट्ठिं ॥ २०८८ ॥

अप्रमत्तगुणस्थाने वर्तमानस्तपोधनः ॥

आरोढु क्षपकश्रेणीं धर्मध्यानं प्रपद्यते ॥ २१६१ ॥

विजयोदया--साहू जधुत्तचारी शास्त्रोक्तेन मार्गेण प्रवर्तमानस्साधुरप्रमत्तगुणस्थानकाले धर्म्यं ध्यानं मुपैति क्षपकश्रेणीं प्रवेष्टुकामः ॥

अर्थ-बालवालमरणादिचतुष्टयं प्रणिगम्य पंडितपंडितमरणं गाथाद्वारासमया निरूपयञ्जीविन्मुक्तिप्राप्तुर्भविप्रक्रमोपक्रमं पंचदशगाथाभिरभिधत्ते--

मूलारा--पविसिद्धकामो प्रवेष्टुमिच्छन् ।

अर्थ-शास्त्रोक्त मार्गका अनुसरण करनेवाले शुनिराज अप्रमत्तगुण स्थानमें क्षपकश्रेणीकी प्राप्ति कर लेनेके लिये धर्मध्यानको धारण करते हैं

ध्यानपरिकरं वाह्यं प्रतिपादयति--

सुचिए समे विचित्ते देसे णिज्जंतुए अणुणाए ॥

उज्जुअआयदेहो अचलं वंधेतु पल्लिकं ॥ २०८९ ॥

अनुज्ञाते समे वेशे विविक्ते जंतुवज्जिते ॥

ऋज्वायतवपुर्पट्टिः कृत्वा पर्यकमधनम् ॥ २१६२ ॥



विजयोदया—सुचिप समे शुबौ समे एकाते देशे निज्जंतुके अनुह्राते तत्स्वामिभिः क्रज्जायतदेह. पल्यंकमचलं वद्ध्वा ॥

धर्म्यध्यानस्य बाह्यपरिकर्मानुसरयितुं गाथात्रयमाह—

मूलारा—विविक्ते एकान्ते । अणुणादे तदधिष्ठादेवताभिरनुमते ।

धर्म्यध्यानके बाह्यपरिकरका वर्णन—

अर्थ—पवित्र, सम, निर्जन्तुक, देवतादिकांसे अनुमति जहां ली गई है ऐसे स्थानपर मुनि निश्चल खड़े होकर अथवा पल्यंकासनसे ध्यान करते हैं

वीरासणमादीयं आसणसमपादमादियं ठाणं ॥

सम्मं अधिट्ठिदो अघ वसेज्जमुत्ताणसयणादि ॥ २०९० ॥

वीरासननादिकं बद्ध्वा समपादादिकां स्थितिम् ॥

आश्रित्य वा सुधीः शय्यामुत्तानशयनादिकम् ॥ २१६३ ॥

विजयोदया—वीरासणादियं वीरासननादिकमासन वद्ध्वा समपादादिना स्थितौ वा अथवा उत्तानशयनादिना वा वृत्तः ॥

मूलारा—सयणादी आदिशब्देनैकपाश्चादिशयन ।

अर्थ—वीरासननादिक आसनसे बैठकर अथवा समपादादिकसे खड़े होकर किंवा उत्तान शयनादिकसे सोते हुए धर्मध्यान करते हैं

पुव्वभणिदेण विधिणा ज्ञायदि ज्ञाणं विसुद्धलेस्साओ ॥

पवयणसंभिण्णमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥ २०९१ ॥

पूर्वोक्तविधिना ध्याने शुद्धलेश्यः प्रवर्तते ॥

योगी प्रवचनाभिज्ञो मोहनयशस्योद्यतः ॥ २१६४ ॥

विजयोदया—पुव्वभणिदेण विधिणा पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याने प्रवर्तते विशुद्धलेश्य । प्रवचनार्थमनुमविष्टमिति. मोहनीयं शयं नेतुमुद्यत ॥

मूलारा—पवयणसंभिणमदी चतुर्दशपूर्वोर्ध्वतुलुप्रविष्टद्विः ॥

अर्थ—मोहनयिकर्मका क्षय करनेमें उद्युक्त होकर चौदहपूर्वमिं कहे गये जीवादिक पदार्थोंके तरफ अपनी बुद्धिका उपयोग लगाते हैं और परिणामोंको निर्मलकर पूर्वोक्त विधिसे धर्मध्यान करते हैं

संजोयणाकसाए खवेदि झाणेण तेण सो पढमं ॥

मिच्छत्तं सम्मिस्सं कमेण सम्मत्तमवि य तदो ॥ २०१२ ॥

पूर्वं संजोजनान्हन्ति तेन ध्यानेन शुद्धधीः ॥

मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वश्चितयं क्रमतस्ततः ॥ २१६५ ॥

चिजयोदया—संजोयणाकसाए अनंततुलुघिनः क्रोधमानमागोलोभान् क्षययति ध्यानेन, तेनासो प्रथमं मिथ्यात्व, सम्यग्ब्रिथ्यात्व, सम्यक्त्वं च क्रमेण एवं प्रकृतिसप्तक विनाश्य क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकश्रेण्यधिरोहो-भिमुखोऽस्य प्रवृत्तकरणं अग्रमत्तरयाने प्रतिपद्य ॥

धर्मध्यानक्षपणीयसम्यक्त्वघातिमोहप्रकृतिसप्तकक्षपणमुपदिशति—

मूलारा—संजोयण अनन्तससारकारणत्वादनर्तं मिथ्यात्वं अनुबन्तीत्यनंततुलुघिनः । क्रोधादीनामवस्थाविशेषा-श्चत्वारः संजोजनान्हनोच्यते । तेण धर्मेण । मिच्छत्तं मिथ्याद्यौभिनिवेशनिमित्तं दृग्मोहनीयं । सम्मिस्स सम्यग्-मिव्यात्वं सामिदुद्धस्वरसं मिथ्यात्वमित्यर्थः सम्मत्तं सम्यक्त्व शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं मिथ्यात्वमित्यर्थः । तदु-दयेपि तत्त्वार्थश्रद्धान स्यात् ॥

अर्थ—मिथ्यात्वको ससारका कारण होनेसे अनंत कहते हैं. इस अनंतका अर्थात् मिथ्यात्वका संबन्ध करा देने वाले कपार्योंको-क्रोध, मान, माया और लोभको अनंततुलुघी कणाय कहते हैं धर्मध्यानसे इन कपार्योंका मुनिराज नाश करते हैं तत्त्वोंपर मिथ्याश्रद्धान कराने वाली कर्म प्रकृतिको मिथ्यात्व कहते हैं. जिसमें आधी शुद्धता उत्पन्न हुई है ऐसे कर्मको सम्मिश्र अर्थात् सम्यग् मिथ्यात्व कहते हैं इस कर्मके उदयेसे एक समयमें मिथ्यात्व और सम्यक्त्व परिणाम युगपत् उत्पन्न होते हैं. शुभपरिणामसे अतत्त्वश्रद्धान परिणाम उत्पन्न करानेवाली शक्ति जिसकी नष्ट होगई है ऐसे मिथ्यात्व प्रकृतिको सम्यक्त्व कहते हैं इन सार्योंका क्षय करके अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती शुनि क्षायिक सम्यक्त्वी होते हैं तदनंतर धर्मध्यानसे क्षपकश्रेणीपर आरोहण करनेकेलिये उन्मुख होते हैं

क्षायिक समयदृष्टि होकर क्षपक श्रेणिपर चढनेके लिए उद्युक्त होते हैं तब प्रथमतः अप्रमत्त गुणस्थानमें अधः करणको प्राप्त होते हैं.

अथ खवयसेढिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरणं सो ॥  
होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वंति ॥ २०९३ ॥  
आरुह्य क्षपकश्रेणीमपूर्वकरणो यतिः ॥  
भूत्वा प्रपद्यते स्थानमनिवृत्तिगुणाभिधम् ॥ २१६६ ॥

विजयोद्या—अथ खवगसेढिमधिगम्म अथ क्षपकश्रेणीमधिगम्य करोति साधुरपूर्वकरणमसौ । किं तदपूर्व करणमित्याशंकायामुच्यते । होदि तमपुव्वकरणं भवति तदपूर्वकरणं, कदाइ अप्पत्तपुव्वंति कदाचिदप्राप्तपूर्वमिति ॥

धर्मध्यानेनासयतसम्यग्दृष्ट्यादिपु चतुर्वन्यतमस्थितः सम्यक्त्वघातिप्रकृतिसप्तक निशाल्य क्षायिकसम्यक्स्वमध्यास्य क्षपकश्रेणारोहणाभिमुखः सन्नप्रमत्तस्थाने तथा प्रयुत्तकरणमधिगम्य साधुरपूर्वगुणं क्षपकश्रेणिप्रथमसोपानमारोहतीत्युपवेण्डुमाह—

मूलारा—अथ क्षपकश्रेणारोहणमधिक्रियते इत्यर्थः । सो धर्मध्यानसाधितप्रथमशुद्धध्यानोपक्रमः । कयाइ कदाचित् । अनादिकालं । अपत्तपुव्वंति पूर्वं अप्राप्ता परिणामा यस्मिंस्तरिदं अप्राप्तपूर्वं यतः ।

अर्थ—क्षपक श्रेणिकी प्राप्ति होनेके अनंतर ये मुनिराज अपूर्व करणको करते हैं यह अपूर्वकरण पूर्वमें कभी प्राप्त नहीं हुआ था अतः इसको अपूर्वकरण यह अन्यर्थक नाम है अनादिकालमें ये परिणाम इस जीवको प्राप्त नहीं हुए थे क्योंकि धर्मध्यानके अनंतर प्रथम शुक्लध्यानकी प्राप्ति पूर्वकालमें कभी नहीं हुई थी

\* अणिवित्तिकरणणमं णवमं गुणठाणयं च अधिगम्म ॥  
णिद्धानिद्वा पयलापयला तव धीणिगिद्धं च ॥ २०९४ ॥

‡ टिप्पणी—अथ सो खवेदि भिक्खू अणियट्ठिगुणमुषगमित्ताणं ॥ इति मूलाराधनायां पाठः ॥

सूक्ष्मसाधारणोद्योतस्थानगृद्धिभ्रयातपान् ॥

एकाक्षविकलाख्यानां जातिं तिर्यग्द्वय मुनिः ॥ २१६७ ॥

विलयोदया—अग्नियष्टिकरणणाम णवम गुणगणमधिगम्य अनिवृत्तिगुणस्थानमुपगम्य जिह्वाग्निदा वयलाप-  
यला निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलां स्थानगृद्धिं च ।

अतिवृत्तिबादरसापरायक्षपकस्थानं प्राप्य क्रमेण क्षपणीयानि कर्माणि गाथाचतुष्टयेन न्याचष्टे—

मूलारा—अथ अपूर्वकरणान्तरं । सो पृथक्स्ववितर्कधीचाराख्यशुक्लध्यानप्रविष्टः । रववैदि वक्ष्यमाणान्निद्रा  
निद्रादीन्सप्तत्रिंशत्कर्मविशेषान् । गोदशाष्टैकैरुत्तमक्रमेण विरूपयतीति समुदायार्थः । अग्नियष्टिगुणसुवगवित्ताण अनि-  
वृत्तिकरणप्राप्त्या अनिवृत्तिबादरसापरायक्षपकगुणस्थानमुपगम्य । जिह्वाग्निदा भुक्तान्नपरिणाममदसैदक्कलमादेर्विनोदार्थो  
निद्राख्यदर्शनावरणकर्मविशेषविपाकनिमित्तो जीवस्थद्वियात्ममनो—गरुत्सूमावस्थालक्षणः स्वापो निद्रा । निद्राया उपरि  
उपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा । निद्रानिद्रादर्शनावरणकर्मविशेषोद्यज्यञ्चतनस्य दुःसप्रयोधस्वापपरिणाम इति यावत् ॥ उक्तं च—

जिह्वा सुहृपडिवोद्वा जिह्वाग्निदा य दुक्कलपाडिवोद्वा ॥

पयला होइ ठियस्स वि पयलापयला य चंक्रमंतस्स ॥

पयलापयला या क्रियात्मानं प्रचलयति घूर्णयति सा प्रचला प्रचलाख्यदर्शनावरणकर्मविशेषविपाकवशस्य  
जीवस्यासीनस्यापि शोकश्रममदादिप्रभवो नेत्रगात्रविक्रियासूचितः रसापपरिणाम इत्यर्थः । प्रचलेव पुनःपुनरावर्तमाना  
प्रचलाप्रचला । चक्रममाणस्यापि आत्मनः प्रचलाप्रचलादर्शनावरणकर्मविकल्पविपाकवशाज्जायते । धीणगद्धि स्वप्ने  
यया वीर्यविशेषाग्निर्भावः सा स्थानगृद्धिदर्शनावरणकर्मविशेषः । स्थाने स्वप्ने गृह्ययति यदुदयात्समा रौद्रं बहु कर्म करोति ।  
अत्र निद्रादिशब्दैर्हेतुकलभावापन्नभावस्वभावदर्शनावरणकर्मविकल्पाः पुद्गलजीवविवर्त्ता गृह्यन्ते ॥

अर्थ—अनिवृत्तिकरण नामक नवमं गुणस्थानको प्राप्त होनेपर मुनिराज निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला,  
स्थानगृद्धि इनका नाश करते हैं

विशेषार्थ—पृथक्त्वं वितर्क विचार नामक ध्यानमें प्रवेश करनेपर निद्रा निद्रादिक सदतीस कर्म प्रकृ-  
तिओंका क्षय करते हैं, उस समय वे अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें रहते हैं।

निद्रा—भोजन किए हुए अवका मद् उत्पन्न होनेसे, तथा खेद, क्रम इनको नष्ट करनेके लिए सो  
जाना उसको निद्रा कहते हैं जब निद्रा नामक दर्शनावरण कर्मविशेषका उदय होता है तब जीविके इन्द्रिय

और मन तथा आसोच्छ्वासकी सूक्ष्म प्रवृत्ति होती है. पुनः पुनः निद्रा जन आती है तब उसको निद्रा निद्रा कहते हैं अर्थात् निद्रा निद्रा नामक दर्शनावरण कर्मके उदय से बड़े कष्टमें जागृतावस्था उत्पन्न होती है परन्तु निद्रा जल्दी खुलती है बँटो हुए मनुष्य के अगमों, नेत्रोंमें जो विक्रिया उत्पन्न होती है उसको प्रचला कहते हैं. यह अवस्था प्रचला दर्शनावरण कर्मके उदयसे होती है ऐसी अवस्था पुनः पुनः उत्पन्न होना उसको प्रचला प्रचला कहते हैं. यह अवस्था प्रचला प्रचला दर्शनावरण कर्मोदयसे होती है

निद्रामें जिसके उदयसे चीयविशेष प्रगट होता है उस कर्मको स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म कहते हैं. इसके उदयसे रौद्रकर्म आत्मा करता है निद्रादिरूप परिणति जो होती है. उसको भाव निद्रा, भाव प्रचला वगैरे कहते हैं. और निद्रादि कर्मोंको जो उदय है वह पुद्गल द्रव्यकी विशेष अवस्था है.

गिरयगदियाणुपुर्वि गिरयगदिं थावरं च सुहुमं च ॥  
साधारणादुज्जोवितिरयगदिं आणुपुर्वीए ॥ २०९५ ॥  
स्थावर नारकद्वंद्व पोडश प्रकृतीरिमा ॥  
प्लोपते प्रथमं तत्र शुक्लध्यानकृशानुना ॥ २१०८ ॥

विजयोदया—गिरयगदियाणुपुर्वि नरकगत्यानुपूर्वि, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, उद्यो न तिर्यगगत्यानुपूर्वि ॥

मूला—गिरयगदिं आणुपुर्वि यदुदयादात्मा भवातर गच्छति सा गतिः । नरकस्य गतिर्वरकगतिरात्मनो नार-  
कभावनिमित्त नामकर्मविशेषः । पूर्वेशरीराकारविनाशो यस्योदयाद्वति तदानुपूर्व्यालं नाम । यस्यपूर्वेशरीराकारं  
अविनाशय जीवेन सह नरकादियावदेव श्रोलापकवद्वच्छति तन्नरकादिगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यादिभेदाच्चतुर्विधं, तन्मध्यावन्न  
नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं क्षपयतीति सवधः । थावरं स्थावराख्य जीवस्यैकद्विपेण प्रादुर्भावकारणं नामकर्म । सुहुम सूक्ष्म-  
संज्ञं परानुपवातकसूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकं नामकर्म । साधारण बहुनामात्मना उपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति  
तत्साधारणशरीरनाम । आदव यदुदयादातपन निष्पद्यते तदातप नाम तच्च प्राप्तोदयमादित्ये वर्तते ॥

उज्जोवो—उद्योतननिमित्तमुद्योतनाम तच्चद्रवयोतादिषु स्वफलाभिव्यक्तं वर्तते ॥ तिरियगदिं आणुपुर्वीओ  
तिर्यगगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं ॥

अर्थ—इस अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें जैसे निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, और स्थानगृद्धि इनका नाश होता है वैसे नरकगत्यानुपूर्वी, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वों इन कर्मोंका भी नाश होता है

जिसके उदयसे आत्मा भगंतरको प्राप्त होता है उस कर्म को गतिकर्म कहते हैं आत्माको नरकावस्थाकी प्राप्ति जिम कर्म के उदयसे होती है उस कर्म को नरकगति नामकर्म कहते हैं पूर्ण शरीराकार का नाश जिस कर्म के उदय से नहीं होता है उस कर्म को आनुपूर्वी कर्म कहते हैं पूर्वशरीरका नाश न कर जो कर्म जीवके साथ नरक तक जाता है उसको नरकगत्यानुपूर्वी कर्म कहते हैं जो जीवको ऐकेंद्रिय प्राणिसं उत्पन्न करता है ऐसे कर्म को ऐकेंद्रिय कहते हैं, दूसरों को जिससे बाधा नहीं होती है ऐसे सूक्ष्म शरीरको निर्माण करनेवाले कर्म को सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं जो शरीर बहु आत्माओं को उपभोग्य बनता है अर्थात् जिसमें, अनन्त जीव रहते हैं ऐसा जो निगोदशरीर उसको साधारण शरीर कहते हैं एसा शरीर जिससे बनता है उस को साधारण नाम कर्म कहते हैं जिमके उदय से संताप उत्पन्न होता है ऐसे कर्म का आतपनाम कर्म कहते हैं, इस कर्मका उदय सूर्य के निर्वास रहता है उद्योत को निमित्त जो कर्म है उसको उद्योतनाम कर्म कहते हैं इस कर्मका उदय चंद्र ग्रिह, खद्योत-जुगनु इत्यादिकों में पाया जाता है तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्व्य-जिमके उदयसे जीव के पूर्व शरीराकारका नाश नहीं होता है तथा जो जीवको तिर्यक् गतिकर ले जाता है उसको तिर्यग्गति आनुपूर्वी कहते हैं

इगविगतिगचतुरिदियणामाई तथ तिरिक्खगदिणाम ॥

खवयित्ता मज्झिहे खवेदि सो अट्टवि कसाए ॥ २०१६ ॥

कपायान्मध्यमानष्टौ पंदबेदं निकुन्तति ॥

स्त्रावेद क्रमतः षट् हास्यादीनां ततः परम् ॥ २१६० ॥

विजयोदया—एगविण एकद्वित्रिचतुरिदियजाती, तिर्यग्गति, अप्रत्याख्यानचतुष्क, प्रत्याख्यानचतुष्कं च भणयति ॥

गूळारा—एगवित्तिचवटिदियणामओ एकेन्द्रियादिजातीअतत्त इत्यर्थः । नरकादिगतिष्वव्यभिचारिणा साह-

श्यनैकीकृतोऽथ, त्या जातिः । तत्कारणं जातिनामकर्म तथैकैन्द्रियादिजातिविकल्पात्पचथा । यदुदयादात्मा एकैन्द्रिय इति शब्दते तदेकैन्द्रियजातिनाम । एवं जेपेनपि योब्यम् । पचयित्ता निद्रानिद्रादिका यथोक्ता कर्मप्रकृतीयुग-पद्विरूपेण । अठुवि ईपत्प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यान देशसंयममावृण्वन्ति नितुन्धन्तीत्यप्रत्याख्यानानवरणा क्रोधमानमाया लोभाः । अल्पस्यापि देशसंयमस्य शक्ति र्वोदयेन हंताः । प्रत्याख्यान सकलसंयम आवृण्वन्तीति प्रत्याख्यानानवरणा क्रो-वाद्यः कृस्तनसयमशक्तिविधातिविपाकाः । तानग्रापि मध्यमकपायान्श्रपयतीति भंनय ।

अर्थ—इस ही गुणस्थानों में एकैन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय जाति, तिर्यग्गति नाम कर्म, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ इतने कर्मोंका क्षय होता है एकैन्द्रियादि चार जातिकर्मोंका इस गुणस्थानमें क्षय होता है नरकादि गतिओंमें अविरुद्ध ऐसे सादृश्यसे एक रूप दिखानेवाला जो पदार्थका धर्म उसको जाति कहते हैं इसीको सामान्य भी कहते हैं यह सामान्यावस्था जिसमें उत्पन्न होती है ऐसे कर्मको जाति नामकर्म कहते हैं उसके एकैन्द्रिय जाति चारोंपंच भेद हैं जिसके उदयसे आत्मा एकैन्द्रिय माना जाता है ऐसे कर्मको एकैन्द्रिय जातिकर्म कहते हैं इसी प्रकार द्वीन्द्रियादि जातिनामकर्मका स्वरूप जानना चाहिए

निद्रा निद्रादिक सोलहप्रकृतिओंका इस गुणस्थानमें युगपत् नाश होता है जो देशसंयमको होने नहीं देते हैं ऐसे कपायोंको अप्रत्याख्यानानवरण कहते हैं इसके प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार भेद हैं इनका जव उदय होता है तब जीवकी देशमयम धारण करनेकी शक्ति नष्ट होती है जो प्रत्याख्यानको अर्थात् सकल सयमका नष्ट करते हैं उनके प्रत्याख्यान क्रोध, मान माया लोभ ऐसे नाम हैं इनमें मकल सयमका महाव्रतका घात करनेका सामर्थ्य है इन आठ मध्यम कपायोंका इस गुण स्थानमें नाश होता है

ततो णपुंसगित्थिवेदं हासादिछक्कपुवेदं ॥

कोधं माणं माय लोभं च खवेदि सो कमसो ॥ २०९७ ॥

पुवेदं कमतश्छित्त्वा शुक्लध्यानमहासिना ।

क्रोध संज्वलनं मान मायां संज्वलनाभिधाम् ॥ २१७० ॥

विजयोदया—तत्तो णपुस ततो नपुसक वेदं, स्त्रीवेदं, हास्याविपद्क, पुंवेदं, संज्वलनक्रोधमानमाया-क्षपयति ।  
पञ्चाहोभसज्वलनं ॥

तदनंतरक्षपणीयान्क्रमणाह—

मूलारा—णवुसगिस्थिवेद नपुसकवेदं नपुसकभावप्राप्तिमिच्छोदयकपायवेदनीयविशेषम् । एवं स्त्रीवेद स्त्रीभा-  
वपरिणितिकारणविपाकम् । हासादिष्टक हास्याविर्भावफलं हास्यं । वेशन्तरोयानौत्सुक्यनिमित्तोदया रतिः । तद्विलक्षणाऽ  
रतिः । अनुप्राहकसंबंधिचिच्छेदे वैकल्यविशेषः शोकः यद्विपाकाज्जायते स शोकः । उद्वेगहेतुदयं भयं । यदुदयादात्सदोप  
संवरण अन्यदोषसाधारण सा जुगुप्सा चिल्लिसाहेतुः ॥ तत्तो कपायवेदनीयपदं पुंवेदे प्राक्षिप्य क्षपयति, पुंवेदं पुंभावा-  
पत्तिमित्तं पुंवेदाख्यं नोकपायवेदनीय । क्रोधभज्जलने प्रक्षिप्य क्षपयति । क्रोधभिर्यादि । संयमेन सहावस्थानादेकीभूता  
ज्वलन्ति, सयमो वा ज्वलत्येव सत्त्वपीति सज्वलनाः क्रोधादयोऽत्र पारिश्रज्यादृहीता तत्र क्रोधसंज्वलनं, मानसंज्वलने ।  
त मानसज्वलने त च लोभसज्वलने प्रक्षिप्य क्षपयति । ततो वादरकुष्ठिभागो न तं लोभसज्वलनं च क्षपयति ।

इनके अनंतर नाश होनेवाली प्रकृतिओंका उल्लेख—

अर्थ—वदनतर नपुसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, मज्जलन क्रोध,  
मान, माया और लोभ इन ग्यारह कर्मोंका नाश करता है

जिसके उदयसे नपुसक भावकी प्राप्ति होती है ऐसा अकपाय वेदनीयका एक विशेष भेद है उसको नपुसक वेद  
कहते हैं स्त्रीके समान परिणाम उत्पन्न करना यह जिसका फल है उस कर्मको स्त्रीवेदनीय कहते हैं जिससे हास्य उत्पन्न  
होता है वह हास्यवेदनीय है देशांतर, उद्यान वगैरह पदार्थोंके तरफ जानेके लिये जो मनमें उत्कटा जिम कर्मके  
उदयसे उत्पन्न होती है उसको रति कहते हैं, अरतिका स्वरूप इससे विलक्षण है अनुग्रह करनेवाले पदार्थोंका संबंध  
विच्छेद होनेपर मनमें जो खेद उत्पन्न होता है उसको शोक कहते हैं जिससे मनमें उद्वेग-दर उत्पन्न होती है  
उसको भय कहते हैं जिसके उदयसे अपने दोष छिपाकर दूसरोंके दोष प्रगट करना वह जुगुप्सा कर्म है इन  
अकपाय वेदनीय की छहों प्रकृतिओंका पुंवेदमें प्रक्षेपण करते हैं पुरुषके परिणामोंकी उत्पत्ति जिसके उदयसे  
होती है ऐसे कर्मको-पुंवेदको भी क्रोधसज्वलनमें क्षेपण करते हैं ये सज्वलनक्रोधादिक कपाय संयमके साथ रह-  
कर ज्वलित होते हैं अथवा सयम इनके रहनेपर भी प्रज्वलित होता है क्रोधसंज्वलनको मान सज्वलनमें, मानको



माया संज्वलनमें और मायाको लोभ संज्वलनमें क्षेपण करके नष्ट करते हैं। इसके अनंतर वादरकृष्टि विभागसे लोभको भी कृश करते हैं।

अथ लोभसुहुमकिट्टि वेदंतो सुहुमसंपरायत्तं ॥

पावदि पावदि य तथा तण्णामं संजमं सुद्धं ॥ २०९८ ॥

सूक्ष्मलोभगुणस्थाने सूक्ष्मलोभ निशुंभति ॥

प्राप्नोति सयमं शुद्धं तदा तदभिधानकम् ॥ २१७१ ॥

विजयोदया—अथ लोभसुहुमकिट्टि अथ पञ्चाद्वादरकृष्टेरुत्तरकालं लोभसूक्ष्मकृष्टिं वेदयमान सुहुमसंपरायत्तं पावदि सूक्ष्मसांपरायता प्राप्नोति ॥ पावदि य तथा प्राप्नोति च तथा तन्नामक संयमं शुद्ध सूक्ष्मसांपरायतां अधिगच्छति ॥

तदनन्तरप्राप्यसूक्ष्मसांपरायसंयमप्राप्त्युपपत्तिं कथयति—

मूलाराधना । अथ संज्वलनलोभवादरकृष्टिपरेणोत्तरकालं । किट्टि कृष्टि । तैलावधस्थितकिट्टिकाकल्प । सुहुमसंपरायत्तं सूक्ष्मसांपरायक्षपकभावं । दशमगुणस्थानम् । तण्णाम । सूक्ष्मसांपरायसंज्ञं । सुद्ध प्रथमशुक्लध्यानप्रकर्षप्रतिवद्ध सूक्ष्मलोभकृष्टिशक्तिरुत्पाद्यताव्याताल्यशुद्धसंयमोत्तमनिमित्तत्वाद्वा निष्कलंकम् ॥

अर्थ—तदनंतर अर्थात् लोभकी वादरकृष्टि के अनंतर लोभकी सूक्ष्म कृष्टिका अनुभव करनेवाले भुनि-राज सूक्ष्म सांपराय नामक दसवें गुणस्थानका आश्रय करते हैं तब उनको सूक्ष्म सांपराय नामक चारित्रिकी प्राप्ति होती है- प्रथमशुक्लध्यानके साभर्ध्यसे वादर सज्जलन लोभ कपाय सूक्ष्म होता है इससे उनको सूक्ष्मसांपराय चारित्रि प्राप्त होता है

तो सो खीणकसाओ जायदि खीणासु लोभकिट्टीसु ॥

एयत्त वितक्कावीचारं तो ज्झादि सो ज्झाणं ॥ २०९९ ॥

क्षीणासु लोभकृष्टिषु नष्टकपायो यदा यतिर्भवति ॥

एकत्वमवीचारं सवितर्कं ध्यानमश्नुते स तदा ॥ २१७२ ॥

कर्मोने विपरित कर दिया था. क्षीणकषाय गुणस्थानमें सोलह प्रकृतिओंका अर्थात् ज्ञानावरणकी पांच मति ज्ञानावरणादि प्रकृतियां, अंतराय कर्म की दानांतराय, लाभान्तराय, पांच प्रकृतिया, निद्रा, प्रचला, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवल दर्शनावरण ऐसी छह दर्शनावरणकी प्रकृतियां इन सोलह प्रकृतिओंका नाश संपूर्ण मोहनीय कर्मका नाश होने के बाद होता है.

मत्थयसूचीए जघा हृदाए कसिणो हृदो भवदि तालो ॥

कम्माणि तथा गच्छंति खयं मोहे हृदे कसिणे ॥ २१०१ ॥

मोहनीये हते शेषघतिकर्मकदयकम् ॥

तुणराज इवाशेषसूचीबधे प्रणदयति ॥ २१०४ ॥

विजयोदया—मत्थयसूचीए जघा हृदाए मस्तकसूच्या यथा हताया कसिणो तालो हृदो भवति छत्तस्तालद्रुमो हृतो भवति । कम्माणि तथा कर्मोण्यपि तथैव खयं गच्छंति क्षयमुपयाति । मोहे हृदे कसिणे मोहे हृदे छत्ते ।

ननु च वास्तवात्मस्वभावोपलंभे सत्येव तत्प्रतिबंधकप्रक्षयस्तत्प्रक्षये च तदुपलंभ इत्यन्योन्याश्रयावतारादनाशोपक्षमिदमाभासते इत्याशंकायामिदमाह—

मूलारा—तालो तालवृक्षः । खय जीवस्वभावघातकत्वशक्तिविनाश । मोहनीयसहायान्येव हि ज्ञानावरणादीनि जीवस्वभावपघाताय प्रभवन्ति । प्रक्षीणे च तत्सहकारिणि मोहकर्मणि तानि प्रक्षीणकल्पान्येव स्वकार्यसिपादकत्वात् । मस्तकसूचीविनाशे प्रत्यप्रपन्नपुष्पफलादित्वकार्यासमर्थतालवत् । ततः सत्त्वपि तेषु वास्तवादसस्वरूपोपलंभो निर्भयराजस्यास्य न विरुध्यते इत्याशोपक्षमेवेदमिति स्थितम् । तर्क च—

तालसूच्या विनष्टाया यथा तालो विनश्यति ॥ तथा कर्म क्षयं याति मोहनीये क्षयं गते ॥

अर्थ—मस्तक सूचीका नाश होनेसे संपूर्ण तालवृक्षका नाश होता वैसे मोहनीय कर्मका नाश होने पर कर्मों का भी नाश होता है

णिदापचलाग दुवे दुचरिमसमयम्मि तस्स खीयति ॥

सेसाणि घादिकम्माणि चरिमसमयम्मि खीयंति ॥ २१०२ ॥

सूक्ष्मलोभगुणस्थाने सूक्ष्मलोभं निशुंभति ॥

स निद्राप्रचले क्षीणमोहस्योपान्तिमे ततः ॥ २१७५ ॥

पचज्ञानावृत्तिस्तत्र चतस्रो दर्शनावृत्तीः ॥

पंच विघ्नानसौ हन्ति चरमांशे चतुर्दश ॥ २१७६ ॥

विजयोदया—णिद्वा पचला य दुवे निद्राप्रचला च द्वे तस्य क्षीणकपायस्य उपांत्ससमये नश्यतः । सेसाणि घादिकम्माणि अवशिष्टाणि घातिकर्माणि त्रीणि तस्य चरमसमये नश्यति, पच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, पंचांतरायाश्च ॥

शेषघातिकर्मानिर्मूलोच्छेदकमं कथयति—

मूलारा-दुवे द्वे अपि । दुचरिसमयस्मि चरमसमयात्पञ्चिमे समये । स्त्रीयंति निर्मूलं नश्यतः सर्वास्सना जीवाद्विस्लिष्यत इत्यर्थः ॥ सेसाणि मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलज्ञानावरणविकल्पात्पचविधं ज्ञानावरणं । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणभेदावृत्तिविधं दर्शनावरण । दानलाभभोगोपभोगवीर्यांतरायभेदात्पंचविधञ्चान्तराय इति त्रीणि घातिकर्माणि । इत्थं धर्म्यध्यानेन नामकर्मप्रकृतीः त्रयोदशावरणप्रकृतीस्तिस्रश्चारित्रमोहस्य च प्रकृतीरेकविंशतिमेकत्ववितर्के वीचाराख्यद्वितीयशुद्धध्यानेन च पट् दर्शनावरणप्रकृतीः पंच, ज्ञानावरणप्रकृतीः पच, पंचान्तरायप्रकृतीः क्षपयतीत्युक्तार्थसंग्रहः । नारकतिर्यग्देवायुषा च वंधाकारणमेव क्षपणं, ततस्त्रिपण्डितैः कर्मप्रकृतीः क्षपयित्वा पण्डितपण्डितमरणोद्यतो मुमुक्षुरनंतदर्शनज्ञानवीर्यसुखस्वभावं जीवन्मुक्तिं चिरमपि अनुभवतीति प्रतिपत्तव्यम् ॥ भवतश्चात्र वृत्ते-

सम्यग्दृष्टिकृशाकृशाव्रतशोत्समाहंपु तिष्ठन्कचित् । धर्म्यध्यानवलादयत्नगलितायासु लब्धः सप्त य ॥

दृष्टिःप्रकृतीः समातपचतुर्जातित्रिनिद्राद्विधा । आत्र स्थावरसूक्ष्मतिथिगुभयोद्योता । कपायाष्टकम् ॥

क्लैव्यं स्त्रेणमथादिभेन नवमे हास्यादिपट्टकं नृता । क्षिप्त्वेदीवि पृथक्कुदादिदशमो लोभं कपायान्तकः ॥

निद्रा सप्रचलासुषान्त्यममये दविघ्नविघ्नश्चतु । द्विःपचाक्षपयत्यरेण चरमे शुक्लेन सोर्हद्वयः ॥

अर्थ—क्षीणकपाय गुणस्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियोंका नाश होता है और अन्तिम समयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों कर्मोंका नाश होता है.

विजयोदया—अव्याघादं न विद्यते प्रत्ययतरेण व्याघातो याधास्येत्यव्याघातं । निश्चयात्मकत्वादसद्विगंधं । सर्वेभ्यो ज्ञानेभ्य उत्तमं प्रधानं श्रुताविमिरिदं केवल साध्यत इति ।

असंकुडिदं न मत्यादिवदल्पविषयमिति । एकं एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव प्रवर्तत इति । सकलं संपूर्णमात्मन स्वरूपमिति । मत्यादीनि यथाऽसंपूर्णानि न तथेदं । अणत अनंतप्रमाणावच्छेद्य । अणियत्त न विद्यते निवृत्तिर्विनाशोऽस्येत्यनिवृत्त केवलज्ञानं ॥

केवलज्ञानातिशयगुणग्राममभिष्टौति—

मूलारा—अव्याघाद नान्ति व्याघातो निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारप्रतिबध प्रत्ययांतरेण यस्य । असद्विगंधं निश्चयात्मकत्वादसंशयितं । उत्तमं सर्वज्ञानप्रधानं । सवदो असंकुडिदं सर्वेषु द्रव्यपर्यायेषु प्रवर्तमानत्वात् । एग एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव वर्तते इत्येकं भेदहीन वा । सयलं संपूर्ण । अणतं अनंतप्रमाणावच्छेद्यं । निरवधीत्यर्थः । अणियत्तं अविनाहमान लक्ष्मीर्तयति ( ? ) ॥

अर्थ—यह केवलज्ञान किसी कारणोंसे रुकता नहीं है अव्याघाती है निश्चयात्मक होनेसे संशयरहित है, सर्व ज्ञानोंमें श्रेष्ठ है श्रुतादिक ज्ञानोंसे यह केवल ज्ञान प्राप्त होता है, मत्यादिज्ञानों के समान इसका विषय अल्प नहीं है अतः इसको असंकुटित कहते हैं यह एक है अर्थात् यह आत्मामें स्वयं प्रवृत्त होता है मत्यादिक ज्ञान संपूर्ण नहीं है परंतु यह वैसा नहीं है यह आत्माका संपूर्ण स्वरूप है इसलिये इसको संपूर्ण कहते हैं यह अनिवर्ति है अविनाशी है ।

चित्तपड व विचित्तं तिकालसहिदं तदो जगमिणं सो ॥

सव्वं जुगवं पस्सदि सव्वमलोगं च सव्वत्तो ॥ २१०५ ॥

करस्थितमिवाशेषं लोकालोकं विलोक्ते ॥

युगपत्तेन बोधेन योगी विश्वप्रकाशिना ॥ २१७९ ॥

विजयोदया—चित्तपड च विचित्तं चित्रपटवद्विचित्रं विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण प्रत्यवभासनात् । तिकाल सदिदं कालत्रयसहितं जगदिदं, तत तेन केवलज्ञानेन सर्वं युगपत्पश्यत्यलोकं कुरुस्म सर्वत समतात् ॥

मूलारा—विचित्तं नानाप्रकाराकारं विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण प्रत्यवभासनात् । तदो तेन केवलज्ञानेन । पस्सदि साक्षात्करोति । सव्वत्तो सर्वतः समतात् । सव्वण्हू इत्यन्ये पठन्ति ॥

अर्थ—इस केवलज्ञानमें विचित्र द्रव्य और पर्याय प्रतिभासित होते हैं इस लिये अनेक रंगोंमें रंगे हुए चक्षुके समान यह केवलज्ञान है, तीन कालके साथ इस त्रैलोक्यको और अलोकको केवलज्ञान गुणगत् देखता है.

वीरिभ्रमणंतरायं होह अणतं तथेव तस्स तदा ॥

कप्पातीदस्स महामुणस्स विग्घस्मि खीणस्मि ॥ २१०६ ॥

विजयोक्त्या—वीरियमणतरायं होहि निर्धियं चोर्गं भनति । क्षायोपसाधिकस्स हि धीर्धस्स पुणं पीयोत्तमो-  
दये सति विह्वो भवति, न तथा तस्य निरवशेषक्षये । अणन । कप्पातीदस्स छग्रस्थकल्पानां अतीतराय महागुणेर्निधे निभंति ॥  
तदनंतरवीर्याविभ्रमभिधत्ते—

मूलारा—अणतरायं निर्विह्वं । कप्पातीदस्स कुग्रस्थकल्पानादितस्य । विगस्मि अतस्सयकर्मणि । पणंतिपज्ञाना-  
वित्रयसाहचर्यान्तत्रानंतरसुखाधिगमो भनति । इति त्वनिर्देशः ।

अर्थ—केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे आत्मामें जो सामर्थ्य उत्पन्न होता है वह अंतराय-निभ-रक्षित होता है. क्षायोपशमिक शक्ति वीर्यतराय कर्म के उदय से विह्वयुक्त होती है. सम्पूर्ण वीर्यतरायकर्मकाही तेजल ज्ञानके समय नाश होनेसे प्राप्त हुए अनन्त शक्तिकों चाभित करनेवाला पदार्थ ही नहीं रहा है. अतः वह शक्ति-  
गुण अनन्त हुआ है

तो सो वेदयमाणो विहरद् सेसाणि ताव कम्माणि ॥

जावसमन्ती वेदिज्जमाणयस्साउगरम भवे ॥ २१०७ ॥

ततो वेदयमानोऽसौ शेषाचातिवत्तुत्तपप्प ॥

कुर्याणो जनतानंदं भ्रमत्तेयप सुरार्चितः ॥ २१८० ॥

विजयोक्त्या—तो सो वेदयमाणो केवलज्ञानादित्तिप्रान्त्यनारकालं चैरयमाणो गितस्सति, तेष्वपि ताव कम्माणि  
अवशिष्टाणि तावत्कर्मणि । जावसमन्ती यावत्समन्तिव्यतिः । वेदिज्जमाणयस्स आउगस्स भवे अउग्रगगानय  
मनुष्यायुसे धरेत् ॥

सर्वज्ञविहारसीमानमाह—

मूलारा—तो केवलज्ञानाविपरिप्राप्त्यन्तरम् । विहरदि यथाख्यातचारित्रमभिवर्धयति । सेसाणि अयातीनि ।

वेदनीयानामगोत्रायुंगि । आत्मरस मनुष्यायुष्मरणः ।

अर्थ—जन्मतक भुज्यमान आयुर्कर्मकी समाप्ति नहीं होती है तबतक बाकीके अधाति कर्माकों भोगते हुए केवली भगवान् यथाख्यात चारित्रको वृद्धिगत करते हैं

दंसंणणसमग्गो विहरदि उच्चावयं तु परिजायं ॥

जोगणिरोधं पारमदि कम्मणिह्वेवणट्ठाए ॥ २१०८ ॥

विचद्धमानचारित्रो ज्ञानदर्शनभूषितः ॥

शेषकर्मविधाताय योगरोधं करोति सः ॥ २१८१ ॥

विजयोदया—दंसंणणसमग्गो क्षायिकेन ज्ञानेन दर्शनेन च समग्रो, विहत्य उच्चावचं पर्यायं, चारित्रमभिवर्धयन् योगनिरोधं प्राप्त्यते, कर्मणमधातिनामपहरणार्थं ॥

सयोगकैवल्यनिश्चाराभिबर्धनकाळस्योत्कर्षार्पणविधातोपायोपक्रमं च निर्दण्डमाह—

मूलारा—उच्चावयं उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिमात्र । जयन्तेन च अन्तर्दुर्लभित्यर्थः । परियायं केवलिसंयमकालं ।

जोगणिरोधं सत्त्वानुभयवाङ्मनसचतुष्टयपरसौदारिकतन्मिश्रकर्मणक्षयव्यपारलक्षणा सत्त्वाना योगाना निग्रहं । कम्मणिह्वेवणट्ठाए अधातिकर्मनिर्भूलोच्छेदनार्थं ।

अर्थ—क्षायिक दर्शन और क्षायिक ज्ञानसे पूर्ण वह केवली भगवान् उत्कर्षसे कुछ कम पूर्वकोटिकाल तक और जघन्यसे अन्तर्दुर्लभतक यथाख्यात संयमावस्थाको धारण कर विहार करते हैं, तदनन्तर अधातिकर्मका नाश करनेके लिये योगनिरोध करते हैं, अर्थात् सत्यवचन योग, अनुभय वचनयोग, सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र और कर्मणयोग ऐसे सात योगोंके व्यापारको वे रोकते हैं

उक्कसएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा ॥

वच्चंति समुग्घादं सेसा भज्जा समुग्घादे ॥ २१०९

यः पणमासावशेषायुः केवलज्ञानमश्नुते ॥

अवश्य स समुद्धातं याति शेषो विकल्प्यते ॥ २१८२ ॥

विजयोदया—उक्तरूपेण उत्कर्षेण पणमासावशेषे आयुषि जाते केवलिनो जातास्ते समुद्धातमुपयाति । शेषा-  
समुद्धाते भाष्या ।

योगनिरोधोन्मुक्तानां केवलानां समुद्धातविधेर्नियमविकल्पौ निर्दिशति—

मूलारा—चर्चन्ति गच्छन्ति । समुद्धाद जीवप्रदेशानां शरीराद्विद्विण्ढाद्याकारेण निःसरणं । भज्जा विकल्प्याः ।  
दण्डादिसमुद्धातं व्रजन्ति न वेत्यर्थः ॥ उक्तं च—

वदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः । समुद्धातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा ॥  
पणमासायुषि शेषे स्यादुत्पन्न यस्य केवलम् । समुद्धातमसौ याति केवली वा परः पुनः ॥

अर्थ—उत्कर्षसे जिनका आयु छह महिनेका अवशिष्ट रहा है ऐसे समयमें जिनको केवलज्ञान हुआ है वे  
केवली नियमसे समुद्धातको प्राप्त होते हैं आत्माके प्रदश शरीरके बाहर दण्डादिके आकारसे निकलते हैं ऐसी अव  
स्थाका नाम समुद्धात है वार्त्ताके केवलीओंको आयुष्य अधिक होनेपर समुद्धात होगा अथवा नहीं भी होगा  
नियम नहीं है

जेसिं अउसमाइं णामगोदाइं वेदणीयं च ॥

ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमति सेलेसिं ॥ २११० ॥

आयुषा सहस्रं यस्य जायते कर्मणां त्रयम् ॥

स निरस्तासमुद्धातः शैलेदयं प्रतिपद्यते ॥ २१८३ ॥

अनन्तं दर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यमनन्धरम् ॥

जायते तरसा तस्य चतुष्टयमखण्डितम् ॥ २१८४ ॥

विजयोदया—जेसिं आउसमाइ येणमपि आयुसमानि शेषाण्यघातिकर्माणि तेऽकृतसमुद्धाता एव शैलदयं  
प्रतिपद्यते ॥

समुद्घातमंतरेण शैलेन्द्रोपगमे कारणमघातिचतुष्टयसमस्थितित्वमाचष्टे—

मूलारा—स्वणमंति—आश्रयन्ति । सेलेसिं शीलगुणसंपूर्णता ॥

अर्थ—अयुके समानही अन्य कर्मकी स्थिति धारण करनेवाले केवली समुद्रात किये बिना संपूर्ण शीलौके धारक बनते हैं।

जेसिं हवंति विसमाणि णामगोदाउवेदणीयाणि ॥

ते दु कदसमुग्धादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥ २१११ ॥

ठिदिसंतकम्मसमकरणत्थं सव्वेसि तेसि कम्माणं ॥

अंतोमुहुच सेसे जंति समुग्धादमाउम्मि ॥ २११२ ॥

यदायुपोऽधिकं कर्म जायते त्रितय परम् ॥

समुद्धात तदारभ्येति तत्समीकरणाय सः ॥ २१८५ ॥

अंतर्मुहूर्तेशेषायुर्गदा भवति संयमी ॥

समुद्धातं तदा धीरो विधत्ते कर्मघूतये ॥ २१८६ ॥

विजयोदया—ठिदिसत्तकम्म सत्कर्मणां स्थितिं समीकर्तुं चतुर्णां अतर्मुहूर्तवशेषे आयुषि समुद्धातं यांति ॥  
न्यतिरेकेणाह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥ एता श्रीविजयो नेच्छति ॥

दृढादिसमुद्घातविधानप्रयोजनमादिशति—

मूलारा—ठिदिसत्तकम्मसमकरणदृढ । स्थित्या कृत्वा सता विद्यमानाना चतुर्णा कर्मणा समपरिणामता कर्तुं ॥

अर्थ—जिनके वेदनीय नाम, और गोत्रकर्मकी स्थिति अधिक रहती हैं वे केवली भगवान समुद्घातके द्वारा उनकी आयुर्कर्मके बराबरीकी स्थिति करते हैं इस प्रकार वे संपूर्ण शीलके धारक बनते हैं

अर्थ—आयुर्कर्म अतर्मुहूर्तमात्र जब रहता है तब नाम गोत्र नाम और वेदनीय कर्मकी स्थिति आयुके समान करने के लिए समुद्रात करते हैं



ओल्लं संतं वरुथं विरल्लिदं जघ लहु विणिन्वादि ॥  
संवेडियं तु ण तथा तथेव कम्मं पि णादब्बं ॥ २११३ ॥  
प्रविकीर्णं यथा वल्लं विशुष्यति न संबुत्तम् ॥

विजयोदया—ओल्लं संत आर्द्रं सद्यथा वल्लं विप्रकीर्णं लघु शुष्यति न तथा संवेष्टितं एवमेव कर्माणि क्षतव्यम् ॥  
आत्मप्रदेशानां देहाद्दहिर्दंडाद्याकारेण प्रसारणाय कर्मस्थित्यपकरणदृष्टान्तेनोपादयति—  
मूलारा—ओल्लं आर्द्रं । विरल्लिदं प्रसारितं । विणिन्वादि विशेषेण शुष्यति । संवेडिदं संबुत्तं ॥

अर्थ—गीला वस्त्र पसारनेसे जल्दी शुष्क होता है. परंतु वेष्टित वस्त्र जल्दी सूखता नहीं उसी प्रकार समुद्धातसे कर्म विरल होकर उनकी स्थिति कम होती है.

ठिदिबंधस्स सिणेहो हेदू खीयदि य सो समुहदस्स ॥  
सडदि य खीणसिणेहं सेसं अप्पट्ठिदी होदि ॥ २११४ ॥  
समुद्धाते कृते स्नेहस्यति हेतुर्विनश्यति ॥  
क्षीणस्नेहं ततः शेषमल्पीयः स्थिति जायते ॥ २१८८ ॥

विजयोदया—ठिदिबंधस्स स्थितिबंधस्य स्नेहो हेतुर्विनश्यति । समुद्धातं गते सति च क्षीणस्नेहं शेषं कर्माल्पस्थितिकं भवति ॥  
एतदेव स्पष्टयति—

मूलारा—सिणेहो स्नेहः । हेदू जीवेन सह कर्मण. कालान्धारणमंश्लेपणे निमित्तं भवति । समुहदस्स दंडा-  
द्याकारेण शरीराद्दहिर्निस्त्वप्रदेशस्य पुंसः । सडदि शटति, प्रच्यवते । सेसं अक्षीणस्नेहं कर्म ।  
अर्थ—स्थिति बंधका कारण जो स्नेहगुण वह इस समुद्धातसे नष्ट होता है इस समुद्धातसे कर्मका स्नेहगुण कम होनेसे उसकी अल्प स्थिति होती है.

चटुहिं समएहिं दंडं कवाड पदरजगपूरणाणि तदा ॥  
कमसो करोदि तह चेव णियत्ती चटुहिं समएहिं ॥ २११५ ॥

दंडं कपाटकं कृत्वा शतरं लोकपूरणं ॥

चतुर्भिः समयैर्योगी तावाङ्मिथ निवर्तने ॥ २१८९ ॥

विजयोद्या—चटुहिं चतुर्भिस्समयैर्दण्डादिकं कृत्वा क्रमशो निवर्तते चतुर्भिरेव समये ॥

दंडादिप्रवर्तननिवर्तनकालपरिमाणवधारणार्थमाह—

मूलारा—चटुहिं इत्यादि एकैकेन समयेन दंडादीन् कृत्वा, क्रमैर्नैकेनैव लोकपूरणतो निवर्तयतीत्यर्थः ।

अर्थ—चार समयोंमें क्रमशः दंडादिक समुद्धात केवली करते हैं अर्थात् प्रथम समयमें दंड समुद्धात, दूसरे समयमें कवाड, तीसरे में शतर और चौथेमें लोकपूरण समुद्धात करते हैं, तदनंतर उतरते वखत अर्थात् पांचवे समयमें शतराकार, छठे समयमें कपाटाकार, सातवें समयमें दंडाकार और आठवें समयमें मूलदेह प्रमाण आत्माके प्रदेश होते हैं

काऊणाउसमाहं णामागोदाणि वेदणीयं च ॥

सेलेसिमब्बुवतो जोगिरोधं तदो कुणदि ॥ २११६ ॥

वेद्यायुर्नामगोत्राणि समानानि विधाय सः ॥

प्राप्तुं सिद्धिवधूं धीरो विधत्ते योगरोधनम् ॥ २१९० ॥

विजयोद्या—काऊण नामगोत्रवेदनीयाना आयुषा साम्यं कृत्वा मुक्तिमश्रुपनयन् योगनिरोध करोति ॥

समुद्धातायुःसमीकृतकर्मत्वानंतरकरणीयमाह—

मूलारा—अब्बुवतो आश्रयन् ॥

अर्थ—नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मांकी स्थिति आयुके समान कर योगनिरोधसे मुक्तिमो प्राप्त

करते हैं,

योगनिरोधक्रममाचष्टे—

बादरवचिजोगं बादरेण कायेण बादरमणं च ॥

बादरकायंपि तद्या रंभदि सुहुमेण काएण ॥ २११७ ॥

स्थूलौ मनोवचोयोगौ रुणद्धि स्थूलकायतः ॥

सूक्ष्मेण काययोगेन स्थूलयोगं च कायिकम् ॥ २११९ ॥

विजयोदया—बादरौ वाङ्मनोयोगौ बादरकायेन रुणद्धि । बादरकाययोगं सूक्ष्मेण काययोगेन ॥  
योगनिरोधक्रमं अभिघत्ते—

मूलारा—बादरेण कायेण स्थूलकाययोगे स्थित्वेत्यर्थः । रंभदि निगृह्णाति ॥

अर्थ—बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको बादरकाययोगमें स्थिर होकर निरोध करते हैं तथा बादरकाय योगको सूक्ष्म काययोगसे रोकते हैं ।

तद्य चेव सुहुममणवर्चिजोगं सुहुमेण कायजोगेण ॥

रंभितु जिणो चिट्ठदि सो सुहेम काइए जोगे ॥ २११८ ॥

सूक्ष्मौ मनोवचोयोगौ रुद्धे कर्मस्रवैजिनः ॥

सूक्ष्मेण काययोगेन सेतुनेव जलास्रवम् ॥ २११९ ॥

विजयोदया—तद्य चैव तथैव सूक्ष्मवाङ्मनोयोगौ सूक्ष्मकाययोगेन रुणद्धि ।  
मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—उसही प्रकारसे सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्म मनोयोगको सूक्ष्म काययोगमें स्थिर होकर निरोध करते हैं और उसी काययोगसे वे जिनभगवान् स्थिर रहते हैं—

सुहमाए लेस्साए सुहमकरियबंधगो तगो तावे ॥

काइयजोगे सुहुमम्मि सुहमकरियं जिणो झादि ॥ २११९ ॥

लेश्याशरीरयोगाभ्यां सूक्ष्माभ्यां कर्मबंधकः ॥

शुक्लं सूक्ष्मक्रियं ध्यानं कर्तुमारभते जिनः ॥ २१९३ ॥

विजयोदया—सूक्ष्मलेश्या सूक्ष्मक्रियाया बंधकस्तदासौ सूक्ष्मक्रिय ध्यान ध्याति ॥

सूक्ष्मकाययोगस्य करणीयद्वयमवधारयति—

मूलारा—लेस्साए उत्कृष्टशुक्ललेश्या । सुदुमकिरियबंधगे सूक्ष्मकाययोगेन सातवेदनीयस्य बंधकः ॥ ताहे तदा ।

सुदुमकिरिय सूक्ष्मक्रियं नाम परमशुक्लं ॥

अर्थ—उत्कृष्ट शुक्ललेश्याके द्वारा सूक्ष्मकाययोगेन सातवेदनीयकर्मका बंध करनेवाले वे जिनमगवान् 'सूक्ष्मक्रिय' नामक तीसरे शुक्लध्यानका आश्रय करते हैं सूक्ष्मकाययोग होनेसे उनको सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है

सुदुमकिरिणु ज्ञाणेण णिरुद्धे सुदुमकाययोगे वि ॥

सेलेसी होदि तदो अयधगो णिरुच्चलपदेसो ॥ २१२० ॥

सूक्ष्मक्रियेण रुद्धोऽसौ ध्यानेन सूक्ष्मविग्रहः ॥

स्थिरीभूतप्रदेशोऽस्ति कर्मबंधविवर्जितः ॥ २१९४ ॥

विजयोदया—सुदुमकिरियेण तेन ध्यानेन निरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे निश्चलप्रदेशोऽयधको भवति । बंधनिमित्तानामभावात् ॥

तद्व्यानफलप्राप्त्यनंतरभाविनीं सासिद्धिक्रीमवस्था पुरुषस्योपदिशति—

मूलारा—तदो अलेश्यात् । अबंधओ समस्तबंधनिमित्तानामभावात् ॥

अर्थ—सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यानके द्वारा वे सूक्ष्मकाय योगज्ञा निरोध करते हैं तब आत्माके प्रदेश निश्चल होते हैं और उनको अब साता वेदनीय कर्मका भी बंध होता नहीं है क्योंकि बंधके कारणही उस समय नष्ट हो गये हैं अर्थात् बंधका कारण योग भी उस समय नष्ट होता है

माणुसगदितज्जादिं पज्जत्तादिज्जसुभगजसकिंतिं ॥

अण्णदरवेदणीयं तसबादरमुच्चगोदं च ॥ २१२१ ॥

अयोगोऽन्यतरद्वेद्यं नरायुर्द्वय त्रसम् ॥

सुभगादेयपर्याप्तं पचाक्षोच्चयशांसि सः ॥ २१२५ ॥

विजयोदया—माणुसगदि मनुष्यगतिं, पंचेन्द्रियजातिं, पर्याप्तिमादेयसुभगं, यशस्कीर्तिमन्यतरवेदनीय, त्रसवादर, उच्चैर्गोत्रं वेदयते ॥

तत्कालभोग्या मुहुरेकचलिनः एकादशकर्मप्रकृतीस्तीर्थकरस्य द्वादश दिशति—

मूलारा—तज्जादिं पंचेन्द्रियजातिं । पज्जत्त आहारादिपर्याप्तिनिर्वर्तकं पर्याप्ताख्यं नामकर्म । आदेज्ज आदेय प्रभो-  
पेतशरीरताकारणं नामकर्म । सुभग परभ्रीतिप्रभवफलं सुभगाख्य नाम । जसकिंती पुण्यगुणख्यापनकारणं यशःकीर्तिनाम ।  
अण्णदरवेदणीय यदुदयादेवादिगतिषु शारीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यं । यत्फल दुःखमलैकविधं तदसद्वेद्यं । तयोर्मध्ये एक-  
तर । तस द्वीन्द्रियादिषु जन्मनिमित्त त्रसाख्यं नाम । बादरं अन्यबाधाकरशरीरकारणं नाम । उच्चगोदं लोकपूजितेषु कुलेषु  
जन्मकारणमुच्चैर्गोत्रम् ॥

अर्थ—मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, पर्याप्ति, आदेय, सुभग, यशःकीर्ति, साता वेदनीय और असाता वेदनीय इन दोनोमेंसे कोई एक, त्रस, बादर और उच्च गोत्र इन कर्मोंका अनुभव करते हैं

-मणुसाजगं च वेदेदि अजोगी होहिदूण तं कालं ॥

तित्थयरणामसहिदाओ ताओ वेदेदि तित्थयो ॥ २१२२ ॥

बादर तीर्थकृत्वैतास्तीर्थकारी त्रयोदश ॥

न परो बंधयते साधुस्तदानीं द्वादश स्फुटम् ॥ २१२६ ॥

विजयोदया—मनुष्यायुष्य वेदयते अयोगी भूत्वा तीर्थकरनामसहितास्तीर्थकर्ते वेदयते ॥

मूलारा—मणुसाजगं, मनुष्येषु भवधारणकारणं कर्म । होहिदूण भूत्वा । तित्थयरणाम सहित्यकरणं तीर्थकरत्व नाम । ताओ मनुष्यगत्यादिका एकादश ॥

अर्थ—सन्तुष्यायुके साथ ऊपरके दस प्रकारके कर्मोंका अयोगि मुनि अनुभवन करते हैं. जो तीर्थकर है उनको तीर्थकरकर्मके साथ ऊपरके ग्यारह प्रकृतिओंका उदय होता है और मुँहकेवलीको ग्यारह प्रकृतिओंका उदय होता है

देहतियबन्धपरिमोक्खत्थं केवली अजोगी सो ॥

उवयादि समुच्छिन्नकिरियं तु ज्ञाणं अपड्डिवादी ॥ २१२३ ॥

दहेत्त्रितयबन्धस्य ध्वंसायायोगकेवली ॥

समुच्छिन्नक्रियं ध्यान निश्चल प्रतिपद्यते । २१२७ ॥

विजयोदया—देहतिय देहत्रिकयघपरिमोक्षार्थं समुच्छिन्नक्रियानिष्ठुत्तिध्यानं ध्याति ॥

तत्कालकरणीयमशरीरत्वकारणं परमतरशुक्लध्यानमभिधत्ते —

मूलारा—देहतिय परमौदारिकं, तैजस, कर्मण चेति त्रीणि शरीराणि । अपड्डिवादी य समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति न्युपरत्तिक्रियानिवर्तित्तिपराल्प्यम् ॥

अर्थ—औदारिकशरीर, तैजस व कर्मणशरीर इन तीन शरीरोंका बन्धनाश करनेके लिये वे अयोगीकेवली भगवान् समुच्छिन्नक्रिया निवृत्त नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं

सो तेण पंचमत्ताकालेण खवेदि चरिमज्झाणेण ॥

अणुदिणाओ दुचरिमसमये सच्चाओ पयडीओ ॥ २१२४ ॥

मात्रापंचककालेन तेन ध्यानेन वर्तते ॥

प्रकृतीनामपकानां द्वासप्ततिमसौ समम् ॥ २१२८ ॥

विजयोदया—सो तेण स तेन पचमात्राकालेनानेन ध्यानेन क्षपयति द्विचरमसमये अनुदीर्णाः सद्यो. प्रकृती. पचलवक्षुरोच्चारणकालभाविना तद्वयानेन करणीयामनुदीर्णत्रिसप्ततिकर्मप्रकृतिक्षपणामालक्षयति—मूलारा—पचमत्ताकालेण अ इ उ ऋ लृ इति पंचमात्रोच्चारणकालप्रमाणेन । अणुदिणाओ अनुदयं प्राप्ताः ।

सञ्चालो त्रिसप्ततिसंख्याः । ताश्चेमाः—देवगतिः, देवगतिप्रायोगयापुर्वी, मनुष्यगतिप्रायोगयापुर्वी, यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम पंचधा । औदारिकशरीरं, वैक्रियिकशरीरं, आहारकशरीरं, कर्मणशरीरं चेति ॥ यदुदयादंगोपांगविवेकस्तद्गोपांगनाम त्रिविधं औदारिकशरीरांगोपांगं, वैक्रियिकशरीरांगोपांगं, आहारकशरीरांगोपांगं चेति । यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिस्तिर्निर्माणं द्वेधा । स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति । तज्जातिनामोदयापेक्षं चक्षुरादीना स्थानं प्रमाणं च निर्वर्तयदेकमेव परिगण्यते । औदारिकादिशरीरनामकर्मोदयवशादुपात्ताना पुद्गलाना अन्योन्यप्रदेशसंश्लेषण यतो भवति तद्वचनं नाम पंचविधमौदारिकबंधनं, वैक्रियिकबंधनं, आहारकबंधनं, तैजसबंधनं, कर्मणबंधनं चेति । यदुदयादौदारिकादिशरीराणा धिवरविरहितान्योन्यप्रदेशानुप्रवेशेनैकत्वापादनं भवति तत्तंघातनाम पंचप्रकारमौदारिकसंचातनामिदमेवात् ॥ यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतितिनिर्वृत्तिस्तत्संस्थाननाम पञ्चविधं । समचतुरस्रसंस्थानं, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थानं, स्वतिसंस्थानं, कुञ्जसंस्थानं, वामनसंस्थानं, हुंडसंस्थानं चेति ॥ यदुदयादस्थिवंधनबंधनविशेषस्तत्संहनननाम षोढा । वज्रपमनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं, नाराचसंहननं, अर्धनाराचसंहननं, कीलिकासंहननं, असंप्राप्तासृपाटिकासंहननं चेति ॥ यदुदयात्पशोत्पत्तिस्तत्संशर्शनामाष्टविधं । कर्कश, मूढ, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीतसुणं चेति ॥ यन्निमित्तो रसविकल्पस्तद्रसनाम । प्रशस्ताप्रशस्ततिककदुकपायान्दमधुरभेदादशधापि तिक्तादिसामान्यापेक्षयेह पंचधा परिगण्यते । यदुदयाद्वृंघनाम द्वेधा सुरभिगधमसुरभिगंधं चेति । यद्वेत्तो वर्णविभागस्तद्वर्णनाम । प्रशस्ताप्रशस्तशुक्लकृष्णनीलरक्तद्वारिद्रभेदादशधापि शुक्लादिसामान्यापेक्षया द्वाद्व पंचवैव संख्यायते । यत्स्योदयादयः पिंडवदुत्पात्राधः पतति न चार्कतूलवल्लुत्वादूर्ध्वं गच्छति तदगुरुलघुनाम । यत्स्योदयात्तत्रयं कृतोद्भवप्राणपाननिरोधादिनिमित्त उपधातो भवति तदुपधातो नाम । यत्कारणकः सरशभाधाघातस्तत्परधातनाम । यद्वेत्तुच्छ्वासेस्तदुच्छ्वासेनाम । आकाशे गतिनिर्वर्तकं विहायोगतिनाम द्वेधा प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् । शरीरनामकर्मोदयाभिष्ययमान शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम । यदुदयाद्रूपादिगुणोपेतोऽपि अप्रीतिकरस्तद्दुर्भगनाम । मनोज्ञानमनोज्ञस्वरनिर्वर्तके सुस्वरदुःस्वरनाम्नी । रमणीयत्वारमणीयत्वकारणे शुभाशुभनाम्नी । पञ्चविधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तनाम । चलाचलभावनिर्वर्तके अस्थिरस्थिरनाम्नी । निष्प्रमशरीरता कारणमनादेयनाम । अपुण्यगुणख्यापनकारणमयशःकीर्तिनाम । एवमेकसप्ततिनामकर्मोपन्यतरवेदनीयं नीचैर्गोत्रं चेति त्रिसप्ततिः । अन्ये मनुष्यगतिप्रायोगयापुर्वीक्षपणं चरमसमये वाञ्छंतीति तन्मतेन द्वाप्तमतिरुपान्यसमये तु तीर्थं करैस्त्रयोदशान्यैश्च द्वादश क्षियन्ते । तथा चोक्तं पंचसमूहे—

देवदुय पण सरीरं पंच सरीरस्स बंधणं चेव ॥  
 पचेव य संघायं सठाणं तह य छकं ष ॥  
 तिणिण य अंगोवगं संघयणं तह य होइ छकं च ॥  
 पंचेव य वण्णरसं दो गंधं अटुफास च ॥  
 अणुल्लुधुयचल्लकं विहायगदिदुग थिराथिरं चेव ॥  
 सुहसुस्सरजुयला वि य पत्तेयं दुब्भगं अजसं ॥  
 अणदेज्जं णिमिणं च अपल्लत्तं तह य णीचगोयं च ॥  
 अण्णदरेवेयणीयं अजोगदुचरिमस्मि वोच्छिण्णा ॥  
 अण्णयरवेयणीयं मणुयाड मणुयदुग च बोहव्वा ॥  
 पवेदिजजाई वि य तससुभगादेज्ज पज्जत्त ॥  
 वादरजसकित्तीवि य तित्थयरं उब्बगोययं चेव ॥  
 एए तेरसपयडी अजोइहिय समवोच्छिण्णा ॥

अर्थ—वे अयोगि जिन पंचद्वस्वर उच्चारण मात्र कालमें उदयमें नहीं आई हुई सब प्रकृतिओंका इस गुणस्थानके उपान्त्यसमयमें क्षय करते हैं. अर्थात् तिहत्तर प्रकृतिओंका क्षय करते हैं.

चरिमसमयस्मि तो सो खवेदि वेदिजमाणपयडीओ ॥  
 बारस तित्थयरजिणो एक्कारस सेससच्चण्डू ॥ २१२५ ॥  
 शरीरं पचधा तत्र पञ्चधा देहवन्धनम् ॥  
 संघातः पञ्चधा षोढा संस्थानममरद्वयम् ॥ २१९९ ॥  
 अंगोपांग त्रिसंख्यानं षोढा संहननक्षणे ॥  
 पंच वर्णा रसाः पच गंधस्पर्शा द्विधाष्टधा ॥ २२०० ॥  
 क्षीयते गुरुलब्धादिचतुष्कं द्वे नभोगती ॥  
 शुभद्वय स्थिरद्वन्द्वं प्रत्येक सुस्वरक्षयम् ॥ २२०१ ॥



अनादेयायशो निर्माणे चापूर्णाणि दुर्भगम् ॥

वेद्यमन्यतरत्तस्य द्वासासत्तिरुपान्तिमे ॥ २२०२ ॥

अंतिमे समये इत्वा प्रकृतीः स त्रयोदश ॥

बन्धमानः सदाऽयोगः प्रयाति पदमन्ययम् ॥ २२०३ ॥

विजयोक्त्या—चरिमसमयमि अंत्ये समये क्षपयति वेमयानाः प्रकृतीर्द्वादश तीर्थकरजिनः । त्रयोसर्वशः एकादश । नामक्वण नाग्नो विनाशेन तैजसशरीरबंधो नश्यति । आशुपक्षेण औदारिकबंधनाशः ॥

तीर्थकरेतरचरमक्षणक्षणीयाः प्रकृतीः संख्याविशेषणाधारयति—

मूलारा—बारसमणुस्सगदिमिलादिना प्रागुक्ताः ॥

अर्थ — अन्त्यसमयमें तीर्थकरेक्वली अनुभवमें आनेवाली वारा प्रकृतिओंका क्षय करते हैं और सामान्य केवली ग्यारह प्रकृतिओंका क्षय करते हैं.

णामक्वण तेजोसरीरबंधो वि खीयेदे तस्स ॥

आउक्वण ओरालियस्स बंधो वि खीयदि से ॥ २१२६ ॥

तं सो बंधणमुक्को उहुं जीवो पओगदो जादि ॥

जह एण्डयवीयं बंधणमुक्कं समुण्णदि ॥ २१२७ ॥

नामकर्मक्षयात्तस्य तेजोबन्धः प्रलीयते ॥

औदारिकवपुर्वंधो न सत्याशुःक्षये सति ॥ २२०४ ॥

एरंडवीजवल्लीवो बन्धव्यपगमे सति ॥

उद्ध्वं याति निसर्गेण शिखेव विषमार्बिषः ॥ १२०५ ॥

विजयोक्त्या—स्पष्टोत्तरगाथाश्रय ॥

तैजसौदारिकशरीरबंधविच्छेदनिबन्धनविशेषनिर्देशार्थमाह—

मूलारा—तेया तैजस । ओरालिदस्स औदारिकशरीरस्य । वधो अन्योन्यप्रदेशानुप्रदेशेन कत्वापत्त्यावस्थानम् ।

इति जीबन्मुक्तिवर्णनम् ॥

इतः प्रबंधेन गार्थैकत्रिशता परमसुक्तिं वर्णयिष्यन्नादौ बंधच्छेदानंतरं भाविनीं लोकान्तप्रापणीमेकसमयिकीं नैसर्गिकीं जीवस्योद्भूतिं दृष्टान्तेन समर्थयते—

मूलारा—पवोगदो प्रकृष्टवेगेन । समुत्पपदि यथा बीजकोशवधादेरंडबीजमाश्रववोद्धू गच्छति तथा मनुष्यादि-  
भवप्रापकगत्यादिकृत्स्नबंधच्छेदादात्मापीत्यर्थः ॥

अर्थ—नाम कर्मके क्षयसे तैजस बन्धका नाश होता है और आयुर्कर्मके क्षयसे औदारिकबन्धका भी नाश होता है, इस प्रकार बंधमुक्त हुआ यह जीव एरंडका बीज जैसे बंधनमुक्त होकर ऊपर जाता है वैसे उत्कृष्ट वेगसे जाकर मुक्तिस्थानमें स्थिर होता है

अबोगिकेवली उपान्त्य समयमें तेहत्तर प्रकृतिओंका क्षय करते हैं उन प्रकृतिओंके नाम इस प्रकार हैं—  
१ देवगति २ देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी ३ मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी ५ औदारिकादिक पांचशरीर, औदारिकादि तीन अगोपांग, निर्माण नामकर्म, बंधननामकर्मके पांचप्रकार, सधातके पांचभेद, छह सस्थान, छह सहनन, स्पर्श नामकर्मके आठभेद, रसनामके ५ भेद, गंधनामकर्मके दो भेद, वर्णके पांचभेद, अगुरुलघु, उपधात, परधात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, प्रत्येकशरीर, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, शुभ, अशुभ, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, अनोदय, अयशःकीर्ति, अन्यतरवेदनीय और नीचगोत्र ऐसी विहचार प्रकृति है उनमें मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी कर्मका नाश अन्य समयमें होता है ऐसा कोई आचार्य कहते हैं उनके मतसे उपान्त्य समयमें ७२ बृहत्तर प्रकृतियोंका क्षय होता है तीर्थकरके तेरा प्रकृतिओंका अन्त्य समयमें क्षय होता है और अन्य मुनिओंके द्वारा प्रकृतिओंका क्षय होता है

संगजहणेण वलहुदयाए उद्धं पयादि सो जीवो ॥  
जघ लाज्जो अलेओ उप्पददि जले णिबुद्धो वि ॥ २१२८ ॥  
आवेशेनांशुगमिच सपूणेन नियोजितः ॥  
अलाबुखिं निर्लेपो गत्वा मोक्षेज्वतिष्ठते ॥ २२०६ ॥

त्रिजयोदया—संगजहणेन संगन्यागाह्युतरोद्धं प्रयाति जलनिमग्ननिर्लालाबुवत् ॥

मुखात्मा संगलागाह्युतरोद्धं गच्छतीत्येवदृष्टान्तेन दृढयति—

मूढारा—संगजहणेन शरीरत्रयसंमर्गज्ञानेन । छाजो तुंबकं । जलेओ मुदादिप्रमुक्तं । त्रिबुद्धो निमग्नं । यथा मूढाद्विषेपजनितगौरवमलाबुद्धयं जलेऽवः पतितं जलच्छेदविच्छिद्यमुदादिंयत्नं लघुतद्वृद्धेनैव गच्छति । तथा

कर्मभराकांतिवशीकृत आत्मा तदावेदावगालंजरेऽनियमेन गच्छति । तस्मिन्सतिविप्रमुक्त उपैव यामीत्यर्थः ।

अर्थ—कीचडका लेप हटने पर वैसा तुंबीका फल जलमें ऊपर कुदकर जाता है वैसे औदारिक, तैजस और कर्मण इन तीन शरीरोंका मंग हटनेपर यह आत्मा हलका होकर मुक्तिस्थानपर चला जाता है-

ज्ञानेन य तह अण्णा पडइदो जेण जादि सो उहुं ॥

वेणेण पूरिदो जह ठाइदुकामो वि य ण ठादि ॥ २१२९ ॥

ध्यानप्रयुक्तो यात्यूर्ध्वमात्मावेगेन पुरितः ॥

तथा प्रयत्नमुक्तोऽपि स्यात्तुक्कामो न तिष्ठति ॥ २१३० ॥

विजयोदया—ज्ञानेन य ध्यानेनात्मा प्रयुक्तो यान्त्वैवेगेन पुरितो यथा न तिष्ठति स्यात्तुक्कामोऽपि ।

पुनरुग्रहरणवरेण मुक्तात्मनोऽस्त्वादिमोर्द्धगविसुषपाश्चरि—

मूढारा—पडइदो प्रेरितः । तेण अपवर्गप्राप्ते बहुशः पूर्वं केवल प्रागियानेन पूरिदो निर्मराविष्टः । ठाइदु

कामो वि स्यात्तुमिच्छन्नपि । उक्तं च—

ध्यानप्रयुक्तो यात्यूर्ध्वमात्मा वेगेन पुरितः ॥

तथा प्रयत्नमुक्तोऽपि स्यात्तुक्कामो न तिष्ठति ॥

अत्रेवं तत्पार्थोक्तं दृष्टव्यमुक्तिर्विस्तारः । यथा कुलालप्रयोगापादिवृत्तदंडचक्रसंयोगपूर्वकं चक्रभ्रमणमुप-  
तेऽपि तस्मिन्पूर्वप्रयोगादांसंस्कारश्रयाद्भवत्येवं मनस्सेनात्मनासर्वप्राप्ते बहुशो यत्प्रगिधानं कृतं तदभावेऽपि तदभावे  
पूर्वकं मुक्तस्योर्द्धगमनं अवसीयते इति ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष बड़े वेगसे दौड़ रहा है वह ठहरना चाहता है तथापि ठहर नहीं सकता है क्योंकि वह वेगके आधीन हो चुका है वैसे यह आत्मा शुक्लध्यानसे ऊर्ध्वगमन करता है. लोकके अंततक उसकी गति होकर सिद्धशिलाके उपर वह ठहरता है.

जह वा अग्निस्म सिहा सद्वावदो चैव होहि उडुगदी ॥  
जीवस्स तह सभावो उडुगमणमप्पवसियस्स ॥ २१३० ॥  
यथानलशिखा नित्यमूर्ध्वं याति स्वभावतः ॥  
तथोर्ध्वं याति जीवोऽपि कर्ममुक्तो निसर्गतः ॥ २२०८ ॥

विजयोदया—स्फोटोत्तरगाथा ॥  
पुनर्मुक्तात्मनः. स्वाभाविकोर्ध्वगमननियमं निदर्शनेन व्यक्तरथापयति—  
मूलारा—जवेत्यादि तथागतपिरिणामाद् यथा तिर्यक्फलवनस्वभावसमीरणसंबन्धनिरुत्सुका प्रदीपशिला स्वभावादुत्पतति तथा मुक्तात्मापि नानागतिविकारकारणकर्मनिवारणे मत्पूज्यगतिस्वभावत्वादूर्ध्वमेवरोहणीत्यर्थः ।

अर्थ—जैसी अग्नि की ज्वाला स्वभावसे ऊर्ध्व गमन करती है वैसे यह आत्मा स्वभावतः उर्ध्वगमन करता है

तो सो अविगगहाए गदीए समए अणंतरे चैव ॥  
पावदि जयस्स सिंहं खित्तं कालेण य फुसंतो ॥ २१३१ ॥  
यात्यविग्रहया गत्या निर्व्याधातः शिवास्पदम् ॥  
एकेन समयेनासौ न मुक्तोऽन्यत्र तिष्ठति ॥ २२०९ ॥

विजयोदया—तो सो अविगगहाए ततोऽसावविग्रहया गत्या अनंतरसमय एव जगतदिशस्वरं प्राप्नोति ॥  
तदेकसमयिकाविग्रहगतिप्राप्य स्थानमाह—  
मूलारा—अविगगहाए अवकया । पाणिमुक्तालागलीगोमुत्रिकाभ्यो गतिभ्योऽन्यथा । अणंठरे कर्मक्षयानंतर

भाविनि समये । जयस्म सिहरं लोकान्तं । तथा च सूत्रं—‘तदुन्तरमुद्धं गच्छत्यालोक्रांतादिति’ स्वेत्तमित्यादि कालकल-  
याप्यंतराले सत्तरज्जुप्रमाणमाकाशप्रदेशमस्पृशन् । उक्तं च—

सोऽविग्रहा गत्या समयैर्नैकेन याति लोकाग्रं ॥ कालफलयापि लोकं न मीलयन्वगयोगेन ॥

श्रीचंद्रस्तु समयेणंतरेणेवेति पाठं मत्वा कालेणेत्यन्येन संबधमदर्शयत् । अनंतरसमयमात्रेण कालेन लोकांतं  
प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

अर्थ—यह कर्मरहित आत्मा अविग्रह गतिके द्वारा अनंतर समयमें सत्तरज्जु प्रमाण आकाशको स्पर्श  
करता हुआ लोक शिखरको प्राप्त होता है

एवं इहदं पयहिय देहतिगं सिद्धखेत्तमुगमम् ॥

सव्वपरियायमुक्को सिज्झदि जीवो सभावत्यो ॥ २१३२ ॥

विच्छिद्य ध्यानशस्त्रेण देहान्निवर्तयंधनम् ॥

सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्तो लोकाग्रमधिरोहति ॥ २११० ॥

विजयोद्या—एवं इहं एवमिह देहविकं विहाय सिद्धक्षेत्रमुपगम्य सर्वप्रचारविमुक्तं सिध्यति जीवः  
स्वभावस्थः ॥

प्रस्तुतोपसंहारमाह—

मूलारा—इहदं इह अस्मिन्पंचत्वारिंशत्क्षयोजनप्रमितमानुषोत्तरैल्लोके मनुष्यक्षेत्रे । सिद्धिखेत्तं तनुवातव-  
लयपर्यन्तावयवावकाशदेशं । उवगमम् प्राप्य । सव्वपरियायमुक्को सकलवैभाविकभावपरित्यक्तः ॥ अन्ये परियायशब्देन  
प्रचारमाहुः । सिज्झदि दंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावं स्वात्मानमुपलभमानः, कृतार्थतया निर्द्वंद्वमाप्ते । सभावत्यो अनंत-  
ज्ञानादिचतुष्टयात्मकादात्मस्वरूपादनपगच्छन् ॥

अर्थ—इस प्रकार इस पैतालिस लक्ष प्रमित मानुषोत्तरपर्वतपर्यंतके क्षेत्रमें औदारिक, तेजस और कामांश  
ऐसे तीन देहोंका त्याग करके तनुवातवलयपर्यन्तके आकाश देशमें प्राप्त होकर सर्व वैभाविक अवस्थाओंका त्याग  
कर स्वभावतः जीव सिद्ध होता है.

ईसिप्पन्भाराए उवारेँ अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए ॥  
 धुवमचलमजरटाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥ २१३३ ॥  
 ईषत्प्राग्भारसंज्ञायां धरित्र्यामुपरि स्थिताः ॥

अलोकयाग्रेऽवतिष्ठन्ति ते किञ्चिन्न्यूनयोजने ॥ २२११ ॥

विजयोदया—ईसिप्पन्भाराए ईपत्यागभाराया उपरि न्यूनयोजने ऋवमचलं स्थानं लोकास्त्रिहरमास्थितः सिद्धः ॥  
 सिद्धिश्चेन्नाथोवस्थितामष्टमीं पृथिवीं निर्दिश्य तत्क्षेत्रस्योत्तम्यमाचष्टे—

मूलारा—ईसिप्पन्भाराए ईपत्यागभाराभिधायाः सिद्धिशिलायाः । जोयणम्मि किञ्चिदुनैकयोजने । सीदाए पृथि-  
 व्याः ३ तत्स्वरूपरूपक आगमो यथा—

ईपत्यागभारसंज्ञा सावष्टमी पृथिवी सुता । अष्टयोजनबाहल्या मण्ये हीनक्रमात्ततः ।

पर्यन्तेऽनुलसंख्येयभागमात्रतनुस्थितिः । सोत्तानितमहाधृता श्वेतच्छत्रोपमाकृतिः ॥

चत्वारिंशतु विस्तारो लक्षाः पचभिरन्विताः । योजनानि क्षितेस्तस्या विद्वद्भिराभिधीयते ॥ ४५००००० ॥

कोटी तु परिधिर्लक्षा द्वाचत्वारिंशद्विष्यते । द्विशत्येकाप्रपंचाशात्रिसहस्री दशाहता ॥ १४२३०२४९ ॥  
 अचलं निष्कंपं । अजरं जरारहितं शरीरसंबन्धभावात् ॥

उक्तं च—ईपत्यागभारसंज्ञाया उपरि न्यूनयोजने । लोकाग्रमचलं स्थानं सिद्धस्तदधि तिष्ठति ॥

अर्थ—सिद्धभूमीका ईपत्यागभारा पृथ्वी ऐसा नाम है, एक योजनमें वह कुछ कम है, ऐसे निष्कंप, स्थिर स्थानमें, सिद्ध प्राप्त होकर तिष्ठते हैं

धम्माभावेण तु लोगगे पडिहम्मेदे अलोगेण ॥

गदिमुवकुणदि हु धम्मो जीवाणं पोमगलाणं च ॥ २१३४ ॥

न धर्माभावतः सिद्धा गच्छन्ति परतस्ततः ॥

धर्मो हि सर्वदा कर्ता जीवपुद्गलयो-र्गतेः २२१२ ॥

विजयोदया—धम्माभावेण तु धर्मास्तिकायस्याभावे लोकाग्रे प्रतिहन्यते अलोकेन, यतो जीवपुद्गलानां गते-  
 यकारको धर्मः स चोपरि नास्ति ॥

मुक्तात्मा यद्युर्ध्वगतिस्वभावनिधतो निश्चितस्तीर्हि लोकान्तादूर्ध्वमपि कस्माज्जोत्पतति इत्यारेकां निराकरोति—  
 मूलारा—धर्मभावावेण गत्युपयाहकधर्मद्रव्यशून्यतया । पडिहम्मदे लोकं अतिकम्य गच्छन्मुक्तात्मा प्रतिवध्यते ।  
 अल्लोणेण धर्मद्रव्यरहितत्वात्केवलेनाकाशेन । तवकुणदि उपकरोति । युगपद्भावगतिपरिणामोन्मुखानां जीवपुद्गलानां गतये  
 वलाघानं करोतीत्यर्थः ॥

गङ्गपरिणयण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ॥

तोय जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥

स चोपरि नास्ति इति साधारणबहिरगमनकारणाभावाद्दोलोकाकषो मुक्तात्मनो गमनाभावः सिद्धः ॥

अर्थ—त्रैलोक्यके अन्ततक धर्मास्तिकाय है इसलिए सिद्ध जीवों की गति लोकान्त तक ही होती है.  
 अलोक में जीव और पुद्गलकी गतिको उपकारक धर्म द्रव्य नहीं है इसलिए सिद्ध जीवोंकी ऊपर गति नहीं होती है.

जं जस्स दु संठाणं चरिमसरीरस्स जोगजहणम्मि ॥

तं संठाणं तस्स दु जीवधणं होइ सिद्धस्स ॥ २१३५ ॥

दसविधपाणाभावो कस्माभावेण होइ अच्छंतं ॥

अच्चंतिगो य सुहुदुक्खाभावो विगददेहस्स ॥ २१३६ ॥

निष्ठिताशेषकृत्यानां गमनागमनादयः ॥

व्यापारा जातु जायंते सिद्धानां न सुखात्मनाम् ॥ २१३७ ॥

कर्मभिः क्रियते पातो जीवानां भवसागरे ॥

तेषामभावतस्तेषां पातो जातु न विद्यते ॥ २१३८ ॥

क्षुधातृष्णादयस्तेषां न कर्माभावतो घतः ॥

आहाराद्यैस्ततो नार्थस्तत्प्रीतिकारकारिभिः ॥ २१३९ ॥

यत्सर्वेषां ससौख्यानां सुवनन्नयवर्तिनाम् ॥

ततोऽनंतगुणं तेषां सुखमस्त्यविनश्वरम् ॥ २१४० ॥

अंत्यविग्रहसंस्थानसदृशाकृतयः स्थिराः ॥  
 सुखदुःखविनिर्मुक्ता भाविनं कालमासेते ॥ २२१७ ॥  
 तेषां कर्मव्यपयेन प्राणाः संति दशापि नो ॥  
 न योगाभावतो जातु विद्यते स्पंदनादिकम् ॥ २२१८ ॥  
 विजयोदया—दशविधाना प्राणानामत्यताभोवन भवति आत्यतिक्रम सुखदुःखाभाव ॥  
 मुक्तात्ससंस्थाननिर्णयार्थमाह—

मूलारा—जोगजह्णमि मनोवाकायव्यापारपरिहारसमये । जीवघणं जीवस्वरूपनिर्भरशुतं । एता श्रीविजयो  
 नेच्छति ॥

मुक्तस्य निमित्ताभावादात्यंतिकं प्राणाना सुखदुःखयोश्चाभावं भावयति—  
 मूलारा—इसविधप्राणाभावो पंचद्रियाणि मनोवाकायधलानि आयुरुच्छ्वासश्च । अद्यंतं सर्वथा । विगददेहस्स  
 इन्द्रियाधिष्ठानदेहाभावान्निद्रियिके सुखदुःखे च मुक्तस्य न स्त इत्यर्थः ॥

अर्थ—मन वचन और शरीर इनके योगोंका त्याग करते समय चरमशरीर धारकोंके शरीरका जो  
 आकार रहता है वही आकार पूर्ण स्वस्वरूप को प्राप्त हुए सिद्धों का रहता है इस प्रकारके प्राण सिद्धों को नहीं  
 रहते हैं अर्थात् पांच इन्द्रिय प्राण, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयुष्य, उच्छ्वास इन दस प्राणोंका सिद्धपरमेष्ठी  
 में अत्यन्त अभाव रहता है इन्द्रियोंको आश्रय देने वाला देह नहीं होनेसे इन्द्रिय जनित सुख दुःखोंका भी अभाव  
 रहता है इन्द्रियोंके अभाव में भी उनकी अर्तोन्द्रिय अनन्त सुख प्रगट हुआ है।

जं गत्यि बंधहेतुं देहगहणं न तस्स तेण पुणो ॥  
 कम्मकलुसो हु जीवो कम्मकदं देहमादियदि ॥ २२१७ ॥

न कर्माभावतो भूयो विद्यते विग्रहग्रहः ॥  
 शरीरं अयते जीवः कर्मणा कलुषीकृतः ॥ २२१९ ॥

विजयोदया—जं गत्यि बंधहेतुं यथास्ति बंधकारण तेन न मुक्तस्य देहग्रहणं, कर्मकलुषीकृतो हि जीवः कर्म-  
 कृतदेहमादत्ते ॥



मुक्तस्य पुनः शरीरग्रहणाभावे युक्तिमाह—

मूलारा—बंधदेहू वंधस्य हेतुर्मिथ्यात्वादिः । स च मुक्तस्य नास्तीति पुनः कर्मबंधाभावात् । तद्धेतुकदेहग्रहणाभावः । अथवा वधआसौ हेतुश्च पुनः शरीरग्रहणे निमित्तमिति ग्राह्यम् ॥

अर्थ—उन सिद्ध परमैष्टिक कर्मबधनेके कारण रूप मिथ्यात्वादिकोंका अभाव हो चुका है इस लिए पुनः उनको नवीन कर्मबन्ध नहीं होता है. कर्म के बन्धनेसे देहका ग्रहण होता था अब कर्मबन्ध ही नहीं तो नवीन देहकी प्राप्ति कहाँसे हो सकेगी. जो जीव कर्मसे मलिन हुआ है, उसके ही नवीन देहकी उत्पत्ति होती है. अन्य को नहीं होती है

कञ्जाभावेण पुणो अञ्चंचं णत्थि फंदणं तस्स ॥

ण पओगदो वि फंदणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥ २१३८ ॥

विजयोदया—कञ्जाभावेण पुणो कार्याभावेन तत्स्पंदनं नास्ति तस्य परप्रयोगगतमपि स्पंदनमस्योदेहस्य सिद्धस्य ॥

सिद्धस्य कृतकृत्यतया प्रयोजनाभावाददेहतया च वातादिप्रयोगान्यत्वात्कच्चिदपि ततश्चलनं नास्तीत्यवगमयति—

मूलारा—कञ्जाभावेण प्रयोजनाभावेन । अञ्चंत सर्वकालं । फंदणं चलनं । पओगदो वि वातादेरपि । अदेहिणो देहसंयोगमुक्तस्य अमूर्तस्येत्यर्थः ।

अर्थ—कुछ भी प्रयोजन नहीं होनेसे सिद्ध परमैष्टिके प्रदेशोंमें परस्पंदन-चंचलपना नहीं होता है तथा वातादिकके संयोग से भी उन में चंचलपना नहीं है, क्योंकि उन के देहका ही अभाव हुआ है.

कालमणंतमधम्मोपगग्घिदो ठादि गयणमोगाढो ॥

सो उवकारो इहो अठिदि सभावेण जीवाणं ॥ २१३९ ॥

अधर्मवशतः सिद्धास्तत्र तिष्ठन्ति निश्चलाः ॥

सर्वदाप्युपकर्तासौ जीवपुद्गलयोः स्थितेः ॥ २२२० ॥

विजयोदया—कालमणतं अनंतकालं अधर्मास्तिकायोपगृहीतः गगनमनुप्रविष्टः तिष्ठति । उवकारोऽद्वो अधर्मो-  
स्तिकायेन संपाद्यमानोपकारः अवस्थानलक्षण इदो यस्मान्न जीवस्य स्थितिस्वभावश्चेतन्यादिवद् ॥

सिद्धस्य लोकाभ्राकाशदेशवस्थाननित्यतायामुपपत्तिमाह—

मूलारा—अधर्मोपगृहिदो अधर्मास्तिकायेन स्थितो चाहितब्रह्म! आगाढो अनुप्रविष्टः । सो अधर्मसंपाद्यावस्थान-  
लक्षणः । अठिदिसभावेण स्थितिस्वभावाभावेन । न हि जीवस्य स्थितिः स्वभावेत्येतत्त्वादिवत् । ततः स्थितिः सिद्धस्याधर्म-  
कृतैव । कचिचु ठिदिस्तदावेण जीवस्सेति पाठः ॥

अर्थ—सिद्धजीव अनंतकाल तक अधर्म द्रव्यके अनुग्रहसे आकाशमें रहते हैं अचेतनके समान जीवका  
स्थितिस्वभाव नहीं है अर्थात् जीवमें चैतन्य जैसा स्वभाव है वैसा स्थितिस्वभाव नहीं है, अतः अधर्म द्रव्यके  
अनुग्रहसे ही सिद्धजीव स्थिर रहते हैं

तेलोककमत्यथो तो सो सिद्धो जगं गिरवसेसं ॥

सन्वेहिं पञ्जण्हिं य संपुणं सव्वदब्बेहिं ॥ २१४० ॥

लोकसूर्ध्वं नि तिष्ठन्ति कालत्रितयवर्तिनं ॥

जानाना वीक्षमाणस्ते द्रव्यपर्यायविस्तरम् ॥ २१४१ ॥

विजयोदया—तेलोककमत्यथो त्रैलोक्यमस्तकस्थ ततोऽतो जगन्निखेषेण सर्वैः पर्यायैस्सर्वद्रव्यैस्संपूर्ण ॥

पस्सदि जाणदि य तथा तिणिण वि काले सपज्जए सन्वे ॥

तह वा लोगमसेंस पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥ २१४२ ॥

विजयोदया—पस्सदि जाणदि पश्यति जानाति च कालत्रये पर्यायसहितानेषोपास्तथा चालोकमशेषं पश्यति  
भगवान् विगतमोहः ॥

सिद्धस्य दर्शनज्ञानमहिमानमभिष्टौति—

मूलारा—जगं लोकं ॥

मूलारा—जिणो जीवन्मुक्तवत् । सपज्जए पर्यायसहिताक्षीनपि कालान् । एतेन वैशेषिकादिकल्पिता ज्ञानादिगुणा-  
व्यन्तोच्छित्तिलक्षणा परममुक्तिः प्रत्युक्ता ॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठी त्रैलोक्यके मस्तकपर आरुढ हुए हैं वे वहांसेही संपूर्ण द्रव्य और उनके पर्यायोंसे भरे हुए सम्पूर्ण जगत् को तीनों कालोंमें जानते हैं और देखते हैं तो भी वे मोहरहित ही रहते हैं.

भावे सगविसयत्ये सुरो जुगवं जहा पयासेह ॥

सन्व वि तथा जुगवं कंवलणणं पयासेदि ॥ २१४२ ॥

युगपत्केवलालोको लोकं भासयतेऽखिलम् ॥

घनाचरणनिर्मुक्तः स्वगोचरमिवांशुमान् ॥ २१४३ ॥

विजयोदया—भावे सगविसयत्ये आत्मगोचरस्थान् भावान् सूर्यो युगपद्यथा प्रकाशयति तथा सर्वमपि क्षेत्रं युगपत्केवलज्ञान प्रकाशयति ॥

केवलज्ञानस्य युगपदेशेपार्थप्रकाशत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलारा—भावे पदार्थान् । सगविसयत्ये आत्मगोचरस्थान् ॥

अर्थ—जैसे सूर्य अपने प्रकाशमें जितने पदार्थ समाविष्ट होते हैं उन सबको युगपत्प्रकाशित करता है वैसे सिद्ध परमेष्ठीका केवलज्ञान संपूर्ण ज्ञेयोंको—पदार्थोंको युगपत् जानता है.

गदरागदोसमोहो विभवो विमओ गिरुस्सओ विरओ ॥

बुधजणपरिगीदगुणो णमंसणिज्जो तिलोगस्स ॥ २१४३ ॥

रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहविवर्जिताः ॥

ते नमस्याखिलोकस्य धुन्वते कल्मषं स्मृताः ॥ २२२३ ॥

विजयोदया—गदरागदोसमोहो दूरीकृत रागद्वेषमोह, विभवो विगतभय विमओ विगतमदः, क्वचिदप्यनुसुको, निरस्तकर्मपज पटल, बुधजनपरिगीतगुण विष्टपत्रयेण नमस्करणीय ॥

सुक्तात्मनः सकलविकारनिराकाराधिगम्यमात्यतिक्रमनन्यलभ्य परमस्वास्थ्यमावेदयति—

मूलारा—गिरुस्सगो क्वचिदप्यनुसुकः ।

अर्थ—जिन्होंने रागद्वेष और मोह आत्मासे दूर किये हैं जो निर्भय, मदरहित और उत्कंठारहित हैं

जिन्होंने अपनी आत्मासे कर्मरूपी शूल अलग करी है, जिनके गुणोंका वर्णन गणधरादिक विद्वन्मंडली करती है  
ऐसे सिद्ध परमेशी त्रैलोक्य के द्वारा बंदनीय है

मूलाराधना

१८४१

णिष्वावइत्तु संसारमहिंगि परमणिन्वुदिजलेण ॥

णिष्वादि सभावत्थो गदजाइजराभरणरोगो ॥ २१४४ ॥

जन्ममृत्युजरारोगशोकातंकादिब्याधय्य ॥

विध्याता. सकलास्तेषां निर्वाणशरवारिभिः ॥ २२२४ ॥

विजयोदया—णिष्वावइत्तु क्षयसुपनीय ससारमहाग्नि परमनिवृत्तिजलेन तृप्यति स्वरूपस्थो विनष्टजाति-  
त्रारामरणरोग ॥

मूलारा—णिष्वावइत्तु विषयाय । परमणिन्वुदि परमानन्दमयी मुक्तिः । णिन्वादि उदितोदितसुखो भवति ॥

अर्थ— इन सिद्ध परमेशीओने संसाररूपी महाशिको अनंतसुखरूप जलसे बुझाया है और वे अपने स्वरूपमें ही हमेशा तृप्त रहते हैं जन्म, जरा, मरणरूपी रोगोंका उन्होंने नाश कर दिया है

जाव तु किंचि लोए सारीर माणसं च सुहदुक्खं ॥

तं सब्ब णिज्जिण्णं अमेसदो तस्स सिद्धरस ॥ २१४५ ॥

शारीरं मानसं सौख्यं विद्यते यज्जगत्त्रये ॥

तथोंगाभावतस्तेषां न मनागपि जायते ॥ २२२५ ॥

विजयोदया—जाव तु किंचि लोए यावत् किंचिल्लोके शारीर मानसं वा यत्सुख दुःखं च तत्सर्वं निर्जालं निरव-  
शेष प्रकारकात्स्न्यनिरासार्थमशेषग्रहण ॥

तत्सौपाधिकसुगदुःखप्रश्रयमालम्बयति—

मूलारा—सुहदुग्गम स्थितमिति शेष । णिज्जिण्णं नष्टम् । असेमरो सर्वप्रकारतः । प्रकारकात्स्न्यनिरासार्थ-  
मशेषग्रहणम् ॥

अर्थ—इस जगतमें जो कुछ शारीरिक और मानसिक सुख अथवा दुःख होता है वह अपने सम्पूर्ण प्रका-  
रोंके साथ नष्ट हुआ है. अर्थात् सिद्धोंको शारीरिक और मानसिक दुःखोंका सर्वथा अभाव है. क्योंकि उनको  
देह और मन नहीं है. वे अशरीर और अमनस्क हैं

जं णत्थि सत्त्ववाधाउ तस्स सत्त्वं च जाणइ जदो से ॥

जं च गदञ्जवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥ २१४६ ॥

जानतां पश्यतां तेषां विवाधारहितात्मनाम् ॥

सुखं वर्णयितु केन शक्यते हतकर्मणाम् ॥ २२२६ ॥

विजयोदया—जं णत्थि सत्त्ववाधाओ यन्न सन्ति सर्ववाधा, सर्वं च यतो जानाति, यच्चापगताध्यवसानं,  
तेनासौ सिद्ध परमसुखी भवति ॥

तत्परमसुखित्वं समर्थयते—

मूलारा—वाधाओ शरीरादिदुःसानि स्वलनानि वा । गदञ्जवसाणो निर्द्धितः ॥

अर्थ—इन सिद्धोंको सम्पूर्ण वाधा नहीं रहती हैं जाननेकी इच्छाके बिना ही सर्व जगत् जानते हैं  
इसलिये वे सिद्धजीव परमसुखी हैं

परमिद्धिं पत्ताणं मणुसाणं णत्थि तं सुहं लोए ॥

अब्बावाधमणोवमपरमसुहं तस्स सिद्धस्स ॥ २१४७ ॥

भोगिनो मानवा देवा यत्सुखं भुजतेऽन्विलम् ॥

तन्नेषामात्मनीनस्य सुखस्यांशोऽपि विद्यते ॥ २२२७ ॥

विजयोदया—परमिद्धिं पत्ताणं परमासुद्धं चक्रलछनतादिकां प्राप्तानामपि मणुजानां नास्ति तत्सुखं लोके यदनु-  
पमं तस्य सिद्धस्य सुखमव्यायाघ ॥

तत्सुखवस्थानुपमत्वमाह—

मूलारा—परमिद्धिं चक्रवर्तिविभूतिं ॥

अर्थ—इस जगतमें उत्कृष्ट क्रादिको अर्थात् चक्रवर्तिपद वगैरहकी सम्पत्ति प्राप्त होने पर भी मनुष्यों को वह सिद्धोंका अनुपम सुख प्राप्त नहीं होता है अतःइन सिद्धोंका सुख अव्यावाध है

देविदचक्रवट्टी इंदियसोक्खं च जं अणुहवंति ॥

सहरसरूवगंधंफरिसप्पयमुत्तमं लोए ॥ २१४८ ॥

रूपगंधरसरूपशोशब्दैर्यत्सोवितैः सुखम् ॥

तदेतदीयसौख्यस्य नानतांशोऽपि जायते ॥ २१४८ ॥

विजयोदया—देविदचक्रवट्टी देवेंद्राक्षकवर्तिनश्च यदिन्द्रियसुखमनुभवति शत्रुरसरूपगंधस्पर्शोत्तमकं लोकं प्रधान ॥

अव्वावाधं च सुहं सिद्धा जं अणुहवंति लोगगे ॥

तरस हु अणंतभागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥ २१४९ ॥

विजयोदया—अव्वावाध सुह अव्यावाधात्मक सुख यत्सिद्धा लोकाग्रेऽनुभवति तस्यानंतभागो भवति यदिन्द्रिय सुख पूर्वव्यावर्णितं ॥

मूलारा—फरिसप्पयं स्पर्शात्मक शब्दाद्युपभोगप्रभवत्वात् ।

इंद्रादिसुखस्य सिद्धसुखानतभागत्वमाह—

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द इत्यादिकों से जो सुख देवेंद्र चक्रवर्ति वगैरहों का प्राप्त होता है जो कि इस लोकमें श्रेष्ठ माना जाता है वह सुख सिद्धोंके सुखका अनन्तवा हिस्सा है सिद्धोंका सुख बाधारहित वह उनको लोकाग्रमें प्राप्त होता है,

जं सव्वे देवगणा अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ॥

तत्तो वि अणंतगुणं अव्वावाह सुहं तस्स ॥ २१५० ॥

विजयोदया—जं सन्वे देवगणा यः सुखमनुभवति साप्सरोगणः सर्वे देवास्ततोऽप्यनंतगुणं तस्य सिद्धस्या-  
व्यावाधसुखं ॥

सर्वदेवसुखस्यापि तदनंतभागत्वमाह—

मूलारा—सअच्छरगणा अप्सरसा गणैः सहिताः ॥

अर्थ—अप्सराओंके साथ देव जिस सुखका अनुभव लेते हैं सिद्धोंका सुख उससे भी अनंत गुणित है  
और बाधरहित है

तीसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुसतिरिखदेव्राणं ॥

सव्वाणि ताणि ण समाणि तस्स खणमिच्चसोक्खेण ॥ २१५१ ॥

कालत्रितयभावीनि यानि सौख्यानि विष्टये ॥

सिद्धैकक्षणेसौख्यस्य तानि यांति न तुल्यताम् ॥ २१२९ ॥

विजयोदया—तीसु वि कालेसु त्रिष्वपि कालेषु यानि गानवाना, तिरश्चा, देवाना च सुखानि सर्वाणि तानि न  
समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुखेन ॥

त्रैकालिकसासारिकसुखाना क्षणमात्रभावितानि सिद्धसुखेनावुलनामाह—

मूलारा—ण समाणि । उक्तं च—

यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसा ॥ कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनाम् ॥

अर्थ—तीन कालमें मनुष्य, तिर्यच और देवाँको जो सुख मिलते हैं वे सब मिलकर भी सिद्धके एक  
क्षणके सुखकी भी बराबरी नहीं करते हैं

ताणि हु रागविवागाणि दुक्खपुव्वाणि चेव सोक्खाणि ॥

ण हु अत्थि रागमवहत्थिदूणं किं चि वि सुहं णाम ॥ २१५२ ॥

रागहेतु परार्थीनं सर्वं वैषयिकं सुखम् ॥

स्वार्थीनेन विरागेण सिद्धसौख्येन नो समम् ॥ २१३० ॥

विजयोदया—ताणि रागविपाकानि तानि रागविपाकानि रागस्य दुःखहेतोर्जनकानि, एतेन दुःखानुबधित्वं नामैन्द्रियसुखाना दोषोऽभिहितः । दुःखपूर्वाणि न हि क्षुधादिदुःखमतरेण अशनादिक प्रीतिं जनयति ॥ न चास्ति रागमनपा कृत्य सुखं नाम किञ्चित् ॥

मूलारा—रागविवागाणि रागस्य सुखहेतोर्जनकानि । एतेन दुःखानुबधित्वमिन्द्रियाण दोषोऽभिहितः । दुःखकारण दुःखतन्त्रधनिर्बन्धनरागकारणत्वत्तेषा । दुःखलुब्धाणि न हि क्षुधादिदुःखमतरेण भोजनादिक प्रीतिं जनयति । अवहृत्पिदूणं लयत्वा । अक्षयसुखस्य खत्वाह्लादनाकारताविवक्षायां रुपादिविषयगतप्रीतिरूपरागात्मकमिन्द्रियमनःप्रसादात्मकत्वविवक्षया तु तथाविधरागपूर्वकत्वं प्रतीयते ॥

अर्थ—उपर्युक्तं सर्वं सुख रागविपाकज है, यह रागभाव दुःखको उत्पन्न करता है अर्थात् इन्द्रियसुख दुःखानुबन्धि है ऐसा सिद्ध होता है, भूल, त्याग, थंडी, उष्णताके बिना अन्नादिक पदार्थं प्रीति उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं । इन पदार्थोंमें जो रागभाव उत्पन्न होता है उसको ही इन्द्रियसुख कहते हैं

इन्द्रियसुखस्वरूपमभिधाय अर्निन्द्रियसुख व्यावर्णयति—

अणुव्रममेयमकलयममलमजरमरुजमभयमभवं च ॥

एयंतियमचंचंतियमव्यावाधं सुहमेज्यं ॥ २१५३ ॥

अक्षयं निर्मलं स्वस्थं जन्ममृत्युजररातिगं ॥

सिद्धानां स्थावरं सौख्यमात्मनीनं जनार्चितम् ॥ २२३१ ॥

विजयोदया—अणुव्रममेयं तत्समानस्य तदधिकस्याभावात् सुखस्य तदनुपमं, छद्मस्थानैर्मातुमशक्यत्वाद्भयं, प्रतिपक्षभूतस्य दुःखस्याभावाद्दक्षयं, रागादिमलाभावादमलं, जरारहितत्वाद्जर, रोगाभावाद्रुज, भयाभावादभय, भवाभावादभव, ऐकांतिक दुःखस्य सहायस्याभावादैकांतिकमसहायं अद्यावाधरूपं तत्सुखं ॥

इन्द्रियसुखं स्वरूपतो व्यावर्ण्यतीन्द्रियसुखस्वरूप व्यावर्णयति—

मूलारा—अणुव्रमं तत्समानस्य तदधिकस्य कस्यापि सुखस्याभावात् । अमेयं छद्मस्थज्ञैर्न ज्ञातुं परिमातुं चाशक्यत्वात् । अकलयं प्रतिपक्षभूतस्य दुःखस्याभावात् । अमलं रागादिमलानुपप्लवत्वात् । सिवं विपदाभगम्यत्वात् । अजरमित्यादि जरारोगभयभवाभावाद्जररादिविशेषणं । एयंतियं असहायं । आत्मसमुत्पत्वात् । अचंचंतियं अनंतकालभावि । पद सिद्धं ।



अर्थ—सिद्धसुखके समान अथवा इससे अधिक सुख जगतमें दुसरा नहीं है. अतः सिद्धोंका सुख अनुपम है. छद्मस्थ जीव अपने ज्ञानसे जाननेमें अथवा उसका परिमाण कहनेमें असमर्थ है. अतः वह सिद्धसुख अमेय है. प्रतिपक्षरूप दुःखका इसमें अभाव है अतः वह अक्षय्य है. रागादिदोषोंसे रहित है अतः यह अमल है. जरावस्थासे रहित होनेसे इसको अजर कहते हैं. रोगरहित होनेसे यह अरुज है. भय रहित होनेसे अभय है. संसारभ्रमणसे युक्त होनेसे इसको अभय कहते हैं. यह सिद्धसुख फक्त आत्मासेही उत्पन्न होता है इस लिये यह ऐकान्तिक असहाय है इस प्रकार यह सिद्ध सुख अव्याबाध कहा जाता है

विसृष्टिं से ण कज्जं जं णत्थि छुदादियाउ बाधाओ ॥

रागादिया य उवभोगहेदुगा णत्थि जं तस्स ॥ २१५४ ॥

चिजभोगदया-विसृष्टिं से ण कज्ज शब्दादिभिर्विषये. न कार्यं यत् सिद्धस्य न संति क्षुधादिका बाधा, रागादयश्च विषयोपभोगहेतवो न सन्ति यस्मात्तस्य ॥

प्रतिकार्योपभोगहेत्वभावात्सिद्धात्मनो विषयानर्थित्वमाह—

मूलारा—विमण्हि अन्नपानादिभिः । उवभोगहेदुगा अनुभवकारणानि । रागादियद्वाविष्टो हि विषयाननुमुक्ते । वेदनाप्रतीकारार्थी वा न च सिद्धस्य तद्वयमप्यस्ति ॥

अर्थ—शब्द, अन्नपानादिक विषयोंसे सिद्धसुख नहीं उत्पन्न होता है क्यों कि, भूख, प्यास, रागादिक विकार जो कि विषयोपभोगके हेतु हैं वे सिद्धोंके नहीं हैं.

एदेण चेव भणिदो भासणवंकमणचित्तादीणं ॥

चेट्ठाणं सिद्धम्मि अभावो हदसव्वकरणम्मि ॥ २१५५ ॥

विजयोदया—एदेण चेव भणिदो एतेन चोक्त भाग्य चक्रमणं चित्तनादीनामभावः सिद्धे हतसर्वक्रिये—

मूलारा—हृदमव्वकरणम्मि निष्ठितमर्वक्रिये । सर्वक्रियासाधनतीते वा ॥

अर्थ—भाषण, गमन, चिंतन वगैरह क्रियायें सिद्धमें नहीं हैं क्योंकि उन्होंने सर्व इंद्रियोंके व्यापारोंका नाश किया है. यह सम उपर्युक्त अभिप्रायसे सिद्ध होता है.

इय सो खाइयसम्मत्तसिद्धदविरियदिट्ठिणणेहं ॥

अच्चंतिगेहिं जुत्तो अब्बावोहेण य सुहेण ॥ २१५६ ॥

कर्माष्टकाविनाशेन ते गुणाष्टकवोष्टिताः ॥

संतिष्ठन्ते स्थिरीभूताः सुवनग्रयवदिताः ॥ २२३२ ॥

विजयोदया—इय सो खाइय एवमसौ क्षायिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया वीर्येण अनंतज्ञानार्जनतदर्शनेन चालं-  
तिकेन युक्तोऽव्यावाधेन सुखेन ॥

तदात्यविकालौकिकधर्मफलपं समुल्लपति—

मूलारा—सिद्धदा सिद्धत्वं । स्वात्मलाभभाक्त्वम् ।

अर्थ—इस प्रकार क्षायिक सम्यक्त्व, स्वस्वरूपकी प्राप्ति, अनंतवीर्य, अनंतज्ञान, अनंत दर्शन और  
अव्यावाध सुख इन गुणोंसे मिद्ध विराजमान हुए हैं

अकसायत्तमेवदत्तमकारकदाविदेहदाचेव ॥

अचलत्तमलेवत्तं च ह्रुति अच्चतियाइ से ॥ २१५७ ॥

विजयोदया—अकसायत्त्व अकषायत्त्व, अवेदत्वमकारकदा विदेहता अचलत्वमलेपत्व च आत्यंतिक च तस्य  
भवति । क्रोधादिनिमित्तानां कर्मणा प्राक्तनानां विनाशादभिनवानां वाऽभावादकषायत्वमात्यंतिक एवमेवोदत्तत्वं । साध्य-  
स्यापरस्याभावादकारकत्व । प्राक्तनस्य शरीरस्य विलीनत्वादिद्वान्तरकारिण कर्मणोऽभावाद्धिदेहतया अवस्थान्तरमाप्तिनिमि-  
त्तात्तरभावादचलत्व । कर्मनिमित्तपरिणामाभावात् । प्राक्तनानां च कर्मणा विनाशादलेपत्वमप्यात्यंतिक ॥

मूलारा—अकसायत्तमेवदत्तं क्रूरत्वादिहेतूनां प्राक्तनानां विनाशादभिनवानां चानुपादात् अकषायत्ववेदत्वे  
शाश्वतिके । अकारणदा साध्यस्यापरस्याभावाच्चित्यमकारकत्वं । विदेहदा प्राक्तनस्य देहस्य विलीनत्वादिद्वान्तरहेतोश्चाभावा-  
दनारत्तमशरीरत्वम् । अचलत्वं अवस्थांतरप्राप्तिनिमित्ताभावात् अजस्रमचलत्वं । अलेवत्त कर्मनिमित्तपरिणामाभावात्पूर्व  
विनाशाच्च शाश्वतमलेपत्वम् ॥

अर्थ—कपायोसे रहित, स्त्री, पुरुष, और नपुंसक इन तीन वेदोंमें रहित, ऐसी सिद्धांकी अमस्था है. सिद्ध कारकत्वरहित, अचल और अलेप है. इनकी ये अवस्थायें अविनाशी हैं. कोषादिक कपाय तो नष्ट होनेमें और नवीन कपाय उत्पन्न नहीं होनेसे वे अकपाय और अवेद हैं. अमकुक्ष साध्य करना नहीं रहा है इस लिये वे अकारक हैं. मोक्षरूप साध्यही अन्तिम साध्य था वह उन्होंने प्राप्त कर लिया इस लिये वे अकारक हैं. पूर्ण शरीर नष्ट होगया है और नवीन देह उत्पन्न करनेवाले नाम कर्मका नाश हुआ है अतः वे अवेद ही हैं जो उनका स्वस्वरूप है उसमें कभीभी अवस्थांतर नहीं होगा क्योंकि, स्वरूपान्तर उत्पन्न करनेवाले कर्मका अत्यंत अभाव होगया है अब सिद्धमें नवीन कर्मका अभाव है और पूर्वकर्म नष्ट हुआ है इसलिये वे भगवता अलेप हैं

जन्ममरणजलोघ दुःखलपगकिलेससोगवीचीय ॥

इय संसारसमुदं तरंति चतुरंगणात्राए ॥ २१५८ ॥

ससारार्णवमुत्तीर्णा दुःखनककुलाकुलं ॥

ये सिद्धिसौधमापन्नास्ते सन्तु मन सिद्धये ॥ २१३३ ॥

विजयोद्या—जन्ममरणजलोघ जन्ममरणजलोघ दुःखलपगकिलेसससारसमुद्र । सम्यग्दर्शन ज्ञानचरित्रतपस्संश्रितचतुरंगनावा तरन्ति ॥

परयामुक्तिवर्णनम्—संसारोच्छेदपूर्वकत्वात्परममुक्तेस्तदुच्छेदोपायमनुशास्ति—

मूलारा—परिकिलेस परितप्तिः । चतुरंग सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रतपसि व्यवहारेण ससारलघ्नोपायः परमार्थेन तु तन्मय आत्मैव ॥

अर्थ—यह संसारसमुद्र जन्म और मरण रूपी पानीसे भरा हुआ है, दुःख, संकष्टशपरिणाम और शोक रूपी लहरें इसमें नित्यही उछलती हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इत चार अवयवोंसे बनी हुई आराधना रूप नीकासे मत्पुरुष इस संसारसमुद्रसे उत्तीर्ण होते हैं

एवं पण्डितपण्डितमरणेण करंति सव्वदुक्खवाणं ॥

अतं निरंतराया णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥ २१५९ ॥

भवति पण्डितपण्डितमृत्युना सपदि सिद्धिवर्धवशवर्तिनी ॥

विमलसौख्यविधानपटीयसी सुभगतेव गुणेन निरेनसा ॥ २१६४ ॥

इति पण्डितपण्डितम् ॥

विजयोदया—एव पण्डितपण्डितमरणेण एवमुक्तेन क्रमेण पण्डितपण्डितमरणेण सर्वदुःखानामंतं कुर्वति । निरंतराया निर्विघ्ना निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताश्च । एतेन पण्डितपण्डित मरणव्याख्यात ॥ पण्डितपण्डितमरण गद ॥  
प्रकृतमुपसंहरति—

मूलारा—अंतं विनाश । निरंतराया निर्विघ्नाः । संतो भव्याः । पत्ता प्राप्नुमादधाः । जीवनमुक्ता इत्यर्थः । इति पण्डितपण्डितमरणव्याख्यान समाप्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार इस पण्डितपण्डित मरणके द्वारा महापुरुष केवल ज्ञानी अपने सर्व दुःखोंका अन्त करते हैं जिससे उनको निर्विघ्न और सबसे उत्कृष्ट ऐसा मोक्ष प्राप्त होता है, इस प्रकार पण्डितपण्डितमरण का वर्णन समाप्त हुआ।

एवं आराधिप्ता उक्कस्साराहणं चटुक्खबंधं ॥

कम्मरयविप्पमुक्का तेणेव भवेण सिज्झंति ॥ २१६० ॥

विजयोदया—एव आराधिप्ता एवमाराध्य । उक्कस्साराधण उत्कृष्टाराधना । चटुक्खबंध समीचीनदर्शनज्ञान चरध, तपोभिधानचतुक्त्वं । कम्मरज्जविण्णमुक्का कर्मरजोविष्णुमुक्तास्तेनैव भवेन सिद्धंति ॥

अथ चतुर्विधाराधनाया उत्कृष्टमध्यमजघन्यभावनाप्राप्त्यायाः सिद्धैर्मवावधारणाय गाथात्रयेण चूलिकामाह—

मूलारा—चटुक्खबंध चतुर्विधायाम् ॥

अर्थ— जिसके चार भेद हैं ऐसी उत्कृष्टाराधनाकी अर्थात् सम्पददर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनकी आराधना करके जो महापुरुष कर्मरजसे मुक्त हुये हैं अर्थात् जिन्होंने घातिकर्मोंका नाश किया है वे उसी भवमें मुक्त होते हैं।

आराधयितुं धीरा मज्झिममाराहणं चतुक्खंधं ॥

कम्मरयविप्पमुक्का तन्वेण भवेण सिञ्चति ॥ २१६१ ॥

आराधयितुं धीरा जहणमाराहणं चतुक्खंधं ॥

कम्मरयविप्पमुक्का सत्तमजम्मेण सिञ्चति ॥ २१६२ ॥

आराधना जन्मवतश्चतुर्था निवेद्यमाणा प्रथमे प्रकृष्टा ॥

भवे तृतीये विदधानि मध्या सिद्धिं जघन्या खलु सप्तमे सा ॥ २२३५ ॥

विजयोद्या—आराधयितुं धीरा आराध्य धीरा जघन्यामाराधना चतुष्पथा कर्मरजोविप्रमुक्ता सप्तमेन जन्मना सिध्यति ॥

मूलारा—तत्रेण तृतीयेन ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥ चूलिका ॥

अर्थ—धीर पुरुष इस चार भेदवाली मध्यम आराधनाका आराधन कर कर्मरजसे रहित होकर तृतीय भवसे मुक्त होते हैं, तथा कोई धीर पुरुष चार भेदवाली जघन्य आराधनाका आराधन कर कर्मरजसे मुक्त होकर सातवें भवमें सिद्ध होते हैं

एवं एसा आराधणा समेदा समासदो वुत्ता ॥

आराधणाणिवद्ध सव्वंपि हु होदि सुदणाणं ॥ २१६३ ॥

विजयोद्या—एवं एसा एवमेया आराधना सममेदा समासतो निरूपिता आराधनायामस्या निजदं सर्वमपि श्रुतज्ञानं भवति ॥

प्रकृतोपसंहारपुरःसरमाराधनाविस्तरानभिधाने निबधनमात्मनः समर्थयते—

मूलारा—आराधणाणिवद्धं आराधनाया प्रतिपाद्यमानाया प्रतिपादकरत्वेन सवद्धं यतो द्वादशंगमपि श्रुतं ॥

ततः को माट्ठशस्ता न्यासेन न्यावर्णयितुं प्रभवतीत्युत्तरागार्थाद्धेन संबधः ॥

अर्थ—इस प्रकार इस आराधनाके भेद संक्षेपसे मैने कहे हैं क्योंकि इसमें आराधना प्रतिपाद्य विषय है और प्रतिपादक श्रुतज्ञान है यह श्रुतज्ञान भरे में अल्प है अतः मैने आराधनाका संक्षेपसे वर्णन किया है

आराधणं असेसं वर्णेदुं होज्ज को पुण समत्थो ॥

सुदेकेवली वि आराधणं असेसं ण वर्णेज्ज ॥ २१६४ ॥

आराधनैषा कथिता समासतो ददातु सिद्धिं मम मदमेधसः ॥

अवुच्चयमानैरखिल जिनागम न शक्यते विस्तरतो हि मायितुं ॥ २१३६ ॥

विजयोद्या—आराधण असेस निरवशेषमापराधना वर्णयितुं कससमर्थो भवेत्, श्रुतकेवल्यपि निरवशेष न वर्णयेत् मलारा—को न कश्चिदल्पश्रुतो निःशेषमापराधना वर्णयितुं क्षमते इत्यर्थः ॥ तर्हि श्रुतकेवली ता समास्ता वर्णयितु प्रमविष्यतीत्यत्राह—सुदेत्यादि एतेन भगवान्सर्वश एवाराधनासर्वस्वव्यावर्णने समर्थ इति गमयति—

अर्थ—इस आराधनाका सार्वस्तर वर्णन करनेमें कोन समर्थ है ? क्योंकि श्रुतकेवलिमी संपूर्ण आराधनाका वर्णन नहीं कर सकेंगे, अर्थात् केवलज्ञानी अर्हद्भगवान् ही इसका वर्णन करनेमें समर्थ है अन्य नहीं है

अज्जजिणणंदिगणि, सव्वगुत्तगणि, अज्जमित्तणंदीणं ॥

अवगमिय पादमूले समं सुत्तं च अत्यं च ॥ ११६५ ॥

विजयोद्या—अज्जजिणणदि आचार्यजितनदिगणितं, सर्वगुत्तगणित, आचार्यमित्रनंदिनश्च पादमूले सम्यगर्थं श्रुतं वावगम्य ॥

इदानीमात्मनः सांप्रदायिकत्वमवधानपरत्वं च प्रकाशयन्नात्मकर्तृकत्वेनास्य शास्त्रस्य विनेजयनविश्वासनाय प्रमाणता व्यवस्थापयितुं गार्थाद्वयमाह—

मलारा—अज्जजिणणंदिगणि सुसुशुज्जाभिगम्य आर्यजितनंथाचार्यः । सव्वगुत्तगणि सर्वगुप्ताचार्यः । अज्जमित्तणं आचार्यमित्रनंदी । आगमिय पठित्वा एतेनात्मनः सूत्रार्थाविसंबादकत्वमुक्तम् ॥

अर्थ—आर्य जितनंदिगणि, आर्य सर्व गुप्तगणी, तथा आर्य मित्रनदि गणी इनके चरणमूलमें मैने उत्तम रीतीसे श्रुत और उसके अर्थका अध्ययन किया है तदनंतर—

पुत्वाययिरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ॥

आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥ २१६६ ॥

विजयोदया—पुत्वाययिरिय पूर्वाचार्यकृतमिव उपजीव्य इयं आराधना स्वशक्त्या शिवाचार्येण रचिता पाणि-  
तलभोजिना ॥

मूलारा—कयाणि आराधनाशास्त्राणीति शेषः ॥ उवजीवित्ता स्तोके स्तोके तदर्थमुपसंगृह्य । ससत्तीए  
एतेनात्मनोऽवधानपरताप्रतिपादनद्वारेणौद्धत्याभावाभिधेयस्य च परमगांभीर्यं दर्शितम् ॥ सिवज्जेण शिव-  
कोट्याचार्येण मतेति लक्षयति । पाणिदलभोइणा हस्ततलभोजनव्रतेन यतिनेत्यर्थः । एतेन प्रतारकत्वाशंका-  
निरासः ॥

अर्थ—पूर्वाचार्यैके वनागे-दुए शास्त्रासं शोडा अर्थे संगृहीत करके हस्तरूपी पात्रमें भोजनकरनेवाले  
अर्थात् मुनि ऐसे शिवार्य-शिवकोटी आचार्यने यह आराधना नामक महाशास्त्र रचा है-

छदुमत्थदाए एत्थ दु जं बद्धं होज्ज पवयणविरुद्धं ॥

सोधेंतु सुगीदत्था तं पवयणवच्छलत्ताए ॥ २१६७ ॥

विशेष्य सिद्धांतविरोधिवद्धं ग्राह्या श्रुतज्ञैः शिवकारिणीयम् ॥

पलालमद्यस्य न किं पवित्रं गृह्णाति सस्य जनतोपकारि ॥ २२३७ ॥

विजयोदया—छदुमत्थदाए छद्मस्थतया यदत्र प्रवचननिर्दर्शनबद्ध भवेत् तत्सुगृहीतार्थो. शोधयंतु प्रवचन-  
वत्सलतया ॥

अधुना स्वस्य बालभावप्रकाशनेनैवंयुगीनश्रुतधरधुरीणानामनुग्रहेण स्वशास्त्रग्रामाण्यप्रतिष्ठार्थं सधर्मवत्सलता-  
मुल्लासयति—

मूलारा—छदुमत्थदाए सावरणज्ञानतया । एत्थ एतास्मिन् आराधनाशास्त्रे । पवयणवच्छलत्ताए मयि सधर्मणि  
जिनमुने वा नैसर्गिकानुरागपरवत्तया ॥

अर्थ—मैं ( शिवकोटि आचार्य ) छत्रस्थ होनेसे मेरे द्वारा जो प्रवचनका वर्णन किया गया है वह यदि विरुद्ध होगा तो जिन्होंने आगमके अर्थका सम्यक् निर्णय किया है वे साधर्मिक प्रेमसे उस अर्थका संशोधन करें.

आराधणा भगवदी एवं भृत्पीणु वणिगदा संती ॥

संघसस सिवज्जसस य समाधिवरमुत्तमं देउ ॥ २१६८ ॥

आराधना भगवती कथिता स्वशक्त्या चित्तमणिर्वितरितु बुधर्चिन्तितानि ॥

अहाय जन्मजलधिं तरितु तरण्ड भव्यात्मनां गुणवती ददतां समाधि ॥ २२३८ ॥

करोति वशवर्तिनीस्त्रिवशपूजिताः संपदो ॥

निवेशयति शाश्वते यतिमते पदे पावने ॥

अनेकभवसंचितं हरति कल्मषं जन्मनाम् ॥

विदग्धमुखमंडनी सपदि सेविताराधना ॥ २२३९ ॥

विजयोदया—आराधणा भगवदी आराधना भगवती एव भक्त्या कीर्लिता सर्व्वयुगगणिन. संघस्य शिवाचार्यस्य च विपुला सकलजनप्रार्थनीया अव्ययाघसुखा सिद्धिं प्रयच्छतु ॥

शास्त्रकृदेवं भक्त्या परमाराधना व्यावर्ण्य स्वव्यावर्णनफलं प्रार्थयते—

मूलारा—समाहिवर शुक्लध्यानं । उत्तमं व्युपतरक्रियानिवर्तिनामधेयमिति भद्रम् ॥

अर्थ—इस प्रकारसे भक्तिब्रश होकर वर्णन की गई यह भगवती पूज्य आराधना सर्व सघको और शिवकोटि आचार्यको सर्व जीव जिसकी अभिलाषा करते हैं, जो अव्यानाघ सुख देती है ऐसी अनन्त मुक्तिको प्रदान करे

असुरसुरमण्युयकिणररत्रिसिर्किंपुरिसमहियवरचरणो ॥

दिसउ मम बोहिलाहं जिणवरवीरो तिहुवणिंदो ॥ २१६९ ॥



स्वमदमणियमघराणं धुदरयसुहदुक्खविप्यजुत्ताणं ॥

णाणुज्जोदियसल्लेहणम्मि सुणमो जिणवराणं ॥ २१७० ॥

अर्थ—असुर, सुर स्वर्गवासी देव, मनुष्य, किन्नर, सुर्य, चंद्र किंपुरुष इनके द्वारा जिनके चरण पूजे गये हैं, जो त्रैलोक्यके नाथ हैं ऐसे श्रीवीर जिनेश्वर भरेको रत्नत्रयका लाभ करदे.

अर्थ—क्षमा, जितेन्द्रियता, और नियमोंको धारण करनेवाले, कर्ममलको नष्ट करनेवाले, शारीरिक और मानसिक सुखदुःखसे रहित, केवल ज्ञानसे जिन्होंने सल्लेखनाको प्रगट किया है ऐसे सपूर्ण जिनेश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूं.

श्रीमदपराजितसूरीकाकृतः प्रशस्तिः

नमः सकलतत्त्वार्थप्रकाशानमहौजसे ॥

भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥ १ ॥

श्रुतायाज्ञानतमसः प्रोद्यद्दर्माशिवे तथा ॥

केवलज्ञानसाम्राज्यभोजे भव्यैकबंधवे ॥ २ ॥

चंद्रानंदिमहाकर्मप्रकृत्यार्थप्रशिक्षेण कारतीयस्वरिचूलामणिना नागनदिगणिपादपद्मोपसेवाजातमतिलेयन यलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशःप्रसरेण अपराजितसूरिणा श्रीनागनदिगणिनायवोदितेन रचिता काराधनाटीका श्रीविजयोदयानाम्ना समाप्ता ॥

॥ एवं भगवती आराधना समाप्ता ॥

टीकाकार श्रीअपराजितसूरीकी प्रशस्ति.

अर्थ—संपूर्ण जीवादि तत्त्वार्थोंको प्रगट करनेमें जो अतिशय समर्थ है जो भव्यसमुदायको महाचूडामणिके तुल्य है और जो सुखदायक है ऐसे श्रुतज्ञानको मैं नमस्कार करता हूं अर्थात् श्रुतकेवलीको मैं वंदन करता हूं

अज्ञान रूपी अंधकार का नाश करनेमें जो उगे हुए सूर्यके समान हैं- जिन्होंने केवलज्ञानरूपी साम्राज्यपद धारण किया है जो भव्योंके अद्वितीय मित्र हैं ऐसे जिन भगवानको मैं नमस्कार करता हूँ.

श्री अपराजित सूरि, चंद्रनंदि और महाप्रकृत्यार्य नामक मुनिराजोंके प्रशिष्य थे, आरातीय विद्वानोंमें चूहामणिके समान श्रेष्ठ थे इन्होंने नागनंदि आचार्यके चरणकमलोंकी सेवा करके ज्ञान प्राप्त किया था ये बलदेव स्वामीके शिष्य थे, जिनशासनका उद्धार करनेमें ये धीरे सपर्यं थे. इनको खूब यश प्राप्त हुआ था इन्होंने नागनंदि आचार्यकी प्रेरणासे विजयोदया नामकी यह आराधना टीका स्वकर समाप्त की है

ये चिंतयंति तद्वत्कवसिद्धिद्वयदाराधनानुगतमृत्युविकल्पकल्पं ॥

पेदयुगीनानुनयोऽहं दुपक्षमेन संत्यदभुताभ्युदयमुक्तिमुदीशिनस्ते ॥ १ ॥

इमामग्रास्थासीमसकृदनुतं त्रिबिचतुरै । निन्नैधैष्टीकाद्यै. स्थविरवचनैरप्यवितथैः ॥

कृता संवचर्योच्चै, शिववचनभीक्षंत इह ये । ब्रजंत्यक्षार्थाशाधरपुरुषदूरं पदमिमे ॥

इत्याशाधरातुस्युतग्रथसदंभे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेयार्थप्रकाशीकरणप्रणयेऽष्टम आशवासः ॥१॥

स्वस्तिन स्यात्कारकेतनाय श्रीमदनेकान्तशासनाय ॥

अथ प्रारब्धनिर्विघ्नपरिसमाप्तिश्रुतब्रह्मविभक्तिप्रवशमानसो ग्रथकृत्परमाराध्या भगवतीमाराराधनास-  
भिप्रोतुमिदं श्रुतदशकमपाठीत् ॥

लब्ध्वा लब्धचरीश्वरेण रुचिता कालादिलब्धीः सता । श्रित्वागधरुता विभुद्धिमहती भव्या भवाद्विभूतः ॥  
यासाराध्य शिवाववृत्तिमसिधत्सिधयति सेत्स्यति वा । ता वंदे व्यवहारनिश्चयमयीमाराराधनादेवताम् ॥ १ ॥

सर्वज्ञाभिधद्विम्यभूधरहृदोद्भूतेन वाक्स्नोतसा । तत्त्वज्ञप्तिखभित्तिसंगुभोगेनासंगुञ्जिता ॥  
भवयान्वः पुनतात्रिमागैविलसद्वेदाख्यरुदौजसा ॥ चित्सिधुं प्रणती धुनेतु मदधान्यारापनास्वर्धुनी ॥ २ ॥

या सम्यक्त्वमुलेन बोधवपुणोद्योतादिदोर्विशति-ग्रीसारेण तपश्चरित्रचरणेनोत्सिक्तचिच्छकिना ॥  
रूपेणाधिगतानि भाक्तिकवने संयोजयंत्यंजसा ॥ तामानंदशुभाधिदैवतमुपैम्याराधना प्रश्रयात् ॥ ३ ॥  
दीप्रास्तिक्यकिरीटिकासुपशमस्फारोश्वारां स्फुरन्निर्विस्समृतिभीतिकुंडलरुचि स्फूर्जच्छुषामुद्रिकाम् ॥

सच्चरितशानामुरदारयतना संतोषपादागदाम् ॥ दोर्मयीकृतभावना प्रणिपताम्यारारानामभ्यङ्गाम् ॥ ४ ॥  
 न्दीसाढी विनयोत्तरीयकचिरा वीर्योहसत्कचुक्राम् ॥ श्रेयःपत्रलतोन्नला सुविमलश्याम्यलीलान्मुजाम् ॥  
 सल्लेदश्याहुरिचन्दनद्रवरुचं साम्यावतसोतसवाम् ॥ वर्पन्ती हृदि मे सुग्रा भगवतीमाराधना धारये ॥ ५ ॥  
 चेतःपंचनमरिकया श्रुतिमुलेनाविश्य यज्जुंभसे भव्याना मरणभ्रणे त्रिमुमनश्रीणा तदाप्युल्लङ्घनम् ॥  
 किंचित्कार्मणमन्वयपुनरवागम्येन चाम्ना तदा । तात्कालयचलं चिनोपि परदे सा तात्त्विकी पुरिश्चति ॥ ६ ॥  
 श्रद्धतश्चेममसीमसमदमपोह्याश्वाभानात्मनः ॥ एवं म्येन मस्त्येन सप्तगात्मना विगदचिन्मात्रात्मकायात्मने ॥  
 पश्यन्नात्मनि निस्तरंगमहमि त्वा निश्चयाराधने ! । मातश्चेन्द्रमुदिकराम्यपुनरावृत्त्या कृनार्योऽरिम तत् ॥ ७ ॥  
 किं चित्रं जिनसूरिसाधुवपुणा द्युन्नद्धक्षेवाणुगम् ॥ सरकरेण पत्रिजिताः सुरपरैर्दिव्यान्त्रयो वदयः ॥  
 पूज्यते द्विजसत्तमैर्विधिवशायानादिकृत्येषु यत् । तच्चित्रं त्वति यत्पुनलपि गिरि शायो जगत्तद्युतः ॥ ८ ॥  
 एकानेकभवेद्यमात्परमनैः कन्यान्निमध्यामिति । प्राप्या पङ्क्तिपङ्क्तिः सकलचिन्तुक्तेर्भवेन्तेन्द्रिनी  
 एवं विदन्भवती यथात्र भवतीमाजन्मयी जाकुरन्यायेनानुपजङ्गिरेभिरसुभिर्मुन्येऽनुचर्या चया ॥ ९ ॥  
 इत्युद्दामलसत्परापरकालीलाविलासाविलम्बेन । तत्पदसपदार्पणपरामाराधना संस्तौति यः ॥  
 स प्राणोपरमोपजातदुष्टकारः शिवाशार्धैरागध्यक्रमपञ्जोऽचलचिदानन्दे सदास्ते पदे ॥ १० ॥

### इत्याराधनास्तव ॥

५ आश्वाधरजीने मूलाराधना नामकी टीका भगवती आराधनाके उपर लिखी है, उस की निर्विघ्न समाप्ति होनेसे उनको बड़ा आनन्द हुआ तब भक्तिवश होकर उन्होंने परम आराधनीय ऐसे भगवती आराधनाकी स्तुति करनेके दश श्लोक रचे हैं उसका अनुवाद हम यहां पाठकोंके लिये देते हैं—

१ सत्पुरुषोंको मान्य ऐसी कालादि लब्धि पाकर भव्य जन ससारसे भययुक्त होते हैं और सम्यग्-शानाराधनादिचार प्रकारकी आराधनाओंका आराधन करके आपने परिणाम आतिशय निर्मल बनाते हैं ये आराधनायें मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होने वाले भव्य लोगोंको कलेवाके समान हैं इनकी आराधनासे ही पूर्व कालमें बहुत भव्य लोकोंने मुक्तिकी प्राप्ति करली है, मुक्तिकी प्राप्ति करते हैं व करेंगे अतः व्यवहाराराधनदेवता-भेद रत्नत्रयरूपी आराधना और अमेद रत्नत्रयरूपी निश्चयाराधना मानो देवता ही है, इस देवताको मैं गस्तक नमाकर नमस्कार करता हूँ

२ यह आराधनारूपी महागंगा नदी सर्वज्ञ जिनेश्वररूपी पद्म सरोवरसे उत्पन्न हुई है दिव्यध्वनिरूपी जल प्रवाहसे सुंदर दीखती है इसका यह दिव्यध्वनिरूपी जलप्रवाह तत्त्वज्ञानि अर्थात् तत्त्वज्ञानस्वरूपी आकाशसे उतरकर निर्ग्रन्थरूपी कुंडमें पड़ता है रत्नत्रयरूपी वेदाढ्य पर्वतके पास आये हुए इसकी तेजस्विता बहुत बढ़ गई है, यह गगानदी ज्ञानसमुद्रको पूर्ण भरती है भव्योंको पवित्र करनेवाली यह आराधनारूप गंगा मेरे पापोंका नाश करे

३ इस आराधना देवीका सम्यक्त्वही मुख है सम्यक्ज्ञान ही शरीर है उद्योत, उद्यवन, निर्वाह, सिद्धि और निस्तरणरूपी वीस बाहुओंकी शोभासे यह आराधना देवता बड़ी सुंदर दीखती है मत्स्यक आराधनामें ये उद्योतादिक पांच स्वभाव हैं चार आराधनाके मिलकर उद्योतादिक वीस भेद होते हैं तप और चारित्ररूपी सुंदर चरणोंसे बड़ी सुहावनी दीखती है बड़ी हुई चैतन्य शक्तिरूपी सौंदर्यसे यह युक्त है, ऐसी यह आराधना आनंद सुधाकी मुख्य देवता है, मैं इस देवताको विनयसे शरण जाता हूँ

४ इस आराधनारूपी अम्बिकाको मैं वंदन करता हूँ इसने उज्ज्वल आस्तिक्यरूपी किरिट अपने मस्तक पर धारण किया है, कपायोपशमरूपी कांतिसपन्न बड़ा हार गलेमें धारण किया है, वैराग्य और संसारभय रूपी कुडल इसने अपने दोनो कानोंमें धारण किये हैं, कृपारूपी अगुठी अपने करांयुलीमें धारण की है, तत्त्व-चर्चारूपी रशना-करधनी इसने धारण की है संतोषरूपी नूपुर अपने पांवोंमें धारण किये हैं अहिंसादिक व्रतोंकी भावनारूप भुजालंकार इसने धारण किये हैं ऐसी इस आराधनारूप अम्बिकाको मैं नमस्कार करता हूँ

५ मैं इस भगवती आराधनाको अपने हृदयमें धारण करता हूँ इसने लज्जारूपी साड़ी पहनेी है, तथा विनयरूपी ऊपरका वस्त्र धारण किया है शक्तिरूपी कंबुलीसे यह सुंदर दीखती है गुणरूपी पत्रलतासे यह उज्ज्वल दीखती है निर्मल स्वाध्यायरूपी क्रीडाकमल इसने अपने कर्मेमें धारण किया है पति पद्मादि शुभ लेख्यारूपी चंदनचर्चासे इसका शरीर सुंदर दीखता है, साम्यरूपी कर्णभूषणोंसे इसका मुख उज्ज्वल है ऐसी यह आराधना देवता मेरे हृदयपर ज्ञानामृतकी वर्षा करे

६ हे जननी, तू पचनस्कारके मीप से मरणके समय भव्योंके अन्तःकरण में कर्णद्वारा प्रवेश करती है, जब तू उनके अन्तःकरणमें प्रवेश करती है तब वे मरणोत्तर त्रैलोक्यलक्ष्मीके उत्कृष्ट पात्र बन जाते हैं, हे भगवति ।

तेरा ऐसा प्रभाव है कि उसका मैं वचनों के द्वारा वर्णन करनेमें अमर्थ हूं हे जननि ! जो तेरा आराधन करते हैं उनको अचल अनन्त—विनाशग्रहित ऐसा पुरुषार्थ प्राप्त होता है अर्थात् उनको मोक्ष मिलता है

७ हे आत्मन् ! तूं इन्द्रियोंमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानोंको छोड़कर निर्मल चेतन्यरूप शरीर धारण करने-वाला आत्माकी प्राप्ति होने के लिये उसको स्वातुभय के द्वारा देख ले जिसमें तुझको अमीम-अमार्थाद आनन्द प्राप्त होगा यह आत्मा आनन्दरूप है ऐसी तू श्रद्धा कर, हे जननी आराधने 'तुझको निश्चल तेजस्वरूप अपनी आत्मामें देख लेता हूँ मैं तेरको स्वस्वरूपमें मर्म तरफ फैलाता हूँ जिसमें मेरा मयायं पुनरागमन न होगा और मैं कृतार्थ होऊंगा

८ हे मातः ! तेरी भक्ति करनेमें माधुगण का चेतन्य स्वरूप पृष्ठ हो जाता है, इन्द्रादिक श्रेष्ठ देवोंने दक्षिणीय, आचरहीन्य व गार्हपत्य ऐसे तीन अग्नि माधुओंके शरीरस्पर्शमें पवित्र क्रिये हैं, गर्भायानादिक कार्यके समय ये तीनों अग्नि गृहस्थाचार्योंके द्वारा पूजे जाते हैं, इसमें आश्रय क्या है ?

९ हे आराधना माता, पंडितपंडित अर्थात् केवल ज्ञानी मुनि तेरी प्राप्ति कर लेते हैं, तूं भक्त-ममारात्मा नाश करने वाली है जो तेरी भक्ति करता है उसको निजस्वरूपकी प्राप्ति होती है, हे मातः ! मैं भी तेरी सेवा करूंगा जिससे सेमारमें जब तक मैं रहूंगा तबतक वीजांकुरन्यायमें मेरे माथमें रहनेवाले इन प्राणोंमें मैं स्वस्वरूपकी प्राप्ति होने के अनन्तर रहित होऊंगा।

१० जिसमें सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त हुआ है ऐसा मुक्तिपद अर्पण करने वाली इस आराधना जननीकी जो स्तुति करता है उसके प्राणोंका त्याग होने में वह मुक्त हो जाता है उसमें चरण कमलोंको मोक्षच्छु भव्य पूजते हैं और वे भी अचल ज्ञानरूपी आनन्द जिसमें भरा हुआ है ऐसे मोक्षपदमें सदा ही निवास करते हैं, इस प्रकार आराधनाकी स्तुति समाप्त हुई, (इस स्तुतीके श्लोकोंका अर्थ ठीक हम नहीं लगा सके जैसा हमको जचा जैसा लिखा है)

### अथ परममुख्यावसानमंगलं सिद्धस्तवः ॥

यस्यानुग्रहतो दुराग्रहपरित्यक्तात्मरूपात्मनः । मद्वद्व्यं चिद्वचिप्रकालविषयं स्वैःस्वैस्तीक्ष्णं गुणैः ॥  
सार्थव्यंजनपर्यये मन्त्रियैर्जानाति बोधः समं । ततमम्यक्त्यमशेषकर्मभिदुर सिद्धा परं नौमि च ॥ १ ॥

यत्सामान्यविशेषयोः सहसृयकस्थान्यथयोर्विषयत् । चित्त शोतकमुद्रिरन्युदयर नो रज्यति द्वेष्टि न ॥  
धाराबाह्वि तत्प्रतिक्षणनवीभावोदुरार्यापित-प्रामाण्यं प्रणमाभि वःफलितदृक्त्वान्युक्तिमुक्तिश्रिये ॥ २ ॥  
सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकार मतं दर्शनम् । साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीकृत्या ॥  
ते नेत्रे क्रमवर्तिनी सरजसा प्रादेशिके सर्वतः । स्फूर्जन्ती युगपपुनर्विरजसा युष्माकमगातिगाः ॥ ३ ॥  
सक्तिव्यक्तविभक्तविश्वविधाकारौषकिर्मिरितानंतानंतभरथमुक्तपुण्योत्पादव्ययधौव्यवत् ॥  
स्व स्वं तत्त्वमसंकरव्यतिकर कर्तृनक्ष्णं प्रलयो भोक्तृनव्यतः स्मराभि परमाश्चर्यस्य कीर्यस्य वः ॥ ४ ॥  
यद्ययहन्ति न जातु किंचिदपि न व्याहन्यते केनचित् । यन्निपीतसमस्तवस्त्वपि सदा केनापि न स्पृश्यते ॥  
यत्सर्वज्ञसमक्षमप्यविषयस्तस्यापि चार्थाद्विर । तद्वः सूक्ष्मतमं स्वतत्त्वमभि वा भावा भवोच्छित्तये ॥ ५ ॥  
गत्वा लोकशिरस्यधर्मवशतश्चद्रोपमे सन्मुखप्रागरालयशिलातलोपरि मनगनैकगव्यूतिके ॥  
योगोज्झागदरोनमित्यपि मिथो संघाधमेकत्र यल्लघ्वानंतमितोऽपि तिष्ठति स वः सुत्योऽवगाहो गुणः ॥ ६ ॥  
सिद्धाश्चैदुरवो निराश्रयतया अश्रयस्यः पिडवत् । तेऽयश्चैल्लघवोऽर्कतूलवदितश्चेतश्च घडेन तत् ॥  
क्षिप्यन्ते तनुवातवातचलयेनेत्युक्तियुक्तयुद्धतैनाप्तिपक्षमपीष्यतेऽगुरुषुः क्षुद्रैः कथं वो गुणः ॥ ७ ॥  
यत्तापत्रयमेति भैरवभवोदर्शिः शमाय शमो । युष्माभिर्विदेव व्यपच्यत तदव्यावाधाभेतद्धुवम् ॥  
येनोद्वेलसुखामृताणवनिरातकामिपेकोल्लस- चित्कायात्कलयापि वः ऋचयितुं श्राम्यन्ति योगीश्वराः ॥ ८ ॥  
एतेऽनंतगुणोद्गुणाः स्फुटमपोद्धृत्याष्ट दिष्टा भवत् । तत्त्वाद्भावयितुं सता व्यवहृक्प्राधान्यतस्तात्त्विकैः ॥  
एतद्भावनया निरतरगलद्वीकृत्पजालस्य मे । स्तादत्यंतलयः सनातनचिदानंदात्मनि स्वात्मनि ॥ ९ ॥  
तत्कीर्णमिव वर्तितामिव हृदि न्यस्तामिवालोकायन् । एता चिद्गुणसंस्तुति पठति यः शश्वच्छिडयाशावरः ॥  
रूपातीतसमाधिसाधितवपुःपातः पतदुल्लत-त्रातः सोऽभ्युदयोपमुक्तसुकुतोद्रेकैर्न किं सिध्यति ॥ १० ॥

इति सिद्धस्तवः ॥

१ अत्र प आशाधर जी परममुख्य और अन्तिम मंगल ऐसे सिद्धपरमेश्वीको स्तुति करते हैं—सम्यग्दर्शन संपूर्ण कर्मसमुदायका नाश करनेवाला है यह दुराग्रहरहित आत्माका स्वरूप दर्शनिवाला है, इसका अनुग्रह जब आत्मापर हो जाता है अर्थात् यह सम्यक्त्व जब आत्मामें प्रगट होता है तब ज्ञानगुणका पूर्ण विकास

होता है वह केवलज्ञानकी अवस्थाको धारण करता है तब इस आत्मामें संपूर्ण गुणोंसे हमेशा परिपूर्ण, और सूक्ष्म व्यञ्जन पर्याय और स्थूल नर नारकादि पर्याय त्रिपदमें उत्पन्न होते हैं ऐसी जीवपुद्गलादि पदार्थोंको जाननेका सामर्थ्य उत्पन्न होता है संपूर्ण भूत भविष्यद्वर्तमानकाल संबंधी पर्यायों सहित जाननेका सामर्थ्य प्राप्त होता है सिद्धोंमें ऐसा सामर्थ्य प्राप्त हुआ है अतः मैं उनको नमस्कार करता हूँ ।

२ दीपक जैसा सामान्य और विशेष पदार्थोंको एकदम और अलगभी प्रगट करता है वैसा केवलज्ञान भी वस्तुके सामान्य और विशेष पर्याय युगपत् और कथंचिद् भिन्नरूप अपने और तमाम पदार्थोंको प्रगट करता है यह केवलज्ञान अनंत सुख देनेवाला है, इसकी प्राप्ति होनेपर संपूर्ण पदार्थ आत्मा जान लेती है तो भी वह उन पदार्थोंमें आसक्त नहीं होती है और द्वेषी भी नहीं होती है,

यह केवलज्ञान धारणाही ज्ञानके समान होकर भी प्रत्येक क्षणमें नवीन पर्यायोंको धारण करने वाले पदार्थ इसका निपय चनेते हैं अतः इसमें ग्रामाण्य प्राप्त होता है अनंत दर्शनके साथ यह केवलज्ञान मुक्तिलक्ष्मी की प्राप्ति कर देता है, हे मिद्ध परमेश्वर ! ये दो गुण आपमें मढाके रहते हैं अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ

३ दर्शन सत्ताको विषय करता है और ज्ञान पदार्थ की विशेषताको दिखाता है, वे दर्शन और ज्ञान संपूर्ण जीवोंको नेत्रसमान समझने चाहिये परंतु दोनोंमें इस प्रकार अंतर है—जो जीव कर्मसहित हैं अर्थात् जो ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मसे सहित हैं उनको ये नेत्र दर्शन पूर्वक स्वरूप दिखाते हैं अर्थात् छत्रमय जीवोंको प्रथम दर्शनोपयोग होता है अनंतर ज्ञानोपयोग होता है वह भी संपूर्ण पदार्थोंमें नहीं होता है, परंतु जिनका ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म नष्ट होगया है उनके ज्ञान दर्शनमें ऐसा सामर्थ्य प्रगट हुआ है कि जिसके सामर्थ्य से वे युगपत्संपूर्ण पदार्थोंको देखते हैं और जानते हैं हे मिद्ध भगवन् ! आप शरीररहित हुए हैं और आपको ऐसे अद्वितीय नेत्र प्राप्त हुए हैं इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ

४ सिद्धपरमेश्वरोंको अनंत शक्ति नामक आत्मगुण प्रकट होता है इसके सामर्थ्यसे उनका ज्ञान आत्मतत्त्व को जानता है सिद्ध पुरुषोंमें आत्माकी नानाप्रकारकी शक्ति अर्थात् गुण प्रगट हुए हैं ये सर्व गुण आपसमें मिले रहनेपर भी सिद्धों को इनके स्वरूपका स्पष्ट अनुभव आता है अपने उत्पाद, व्यय, और श्रौण्यके साथ ससारी जीवोंके समस्त शक्तिरूपमें रहनेवाले गुणोंको भी सिद्धपरमात्मा जानते हैं, उनके जाननेमें सकल व्यतिकार दोष उत्पन्न नहीं होता है, वे इन गुणोंके कर्ता और मोक्ता है अतः ऐसे सिद्ध परमात्माओंका मैं मनमें स्मरण करता हूँ,

५ सिद्धोंमें स्रक्ष्मता नामक गुण है उस गुणसे इतर जीवोंको प्रतिबंध नहीं होता है और न वे इसको प्र-  
तिबंध कर सकते हैं. समस्त वस्तुओंको वह स्पर्श करती है परंतु कोई भी उसको स्पर्श करनेमें असमर्थ है. भगवान्  
इस गुणको जान तो लेते हैं परंतु उनके भी वचन संपूर्णतया इसके वर्णनमें असमर्थ हैं. अर्थात् यह स्रक्ष्मतागुण  
इतना स्रक्ष्म है कि स्रक्ष्मा जिनमाणी भी इसको ग्रहण नहीं करती है. हे सिद्धपरमात्मन् मैं संसारनाशके लिए उस  
तुझारे स्रक्ष्म गुणका चिंतन करता हूँ

६ सिद्ध परमेष्ठि लोकके अग्रभागमें ऊर्ध्व गति स्वभावसे जाकर वहां चन्द्रसमान शुभ्र ऐसी मोक्ष शिला  
पर तिष्ठते हैं उस शिलाको श्रगभारा ऐसा नाम है वह एक योजनमें कुछ कम ऐसे लोकग्रामें हैं और वातवलयमें  
विराजमान है जय सिद्ध परमेष्ठि सर्व योगोंसे रहित हो जाते हैं तब उनका आकार अन्तिमशरीरसे कुछ कम ऐसा  
होता है उस समय उनमें पवित्र अवगाह नामक गुण उत्पन्न होता है इस गुणके बलसे एक स्थानमें भी बाधरहित  
अनंतसिद्धोंके साथ वे रहते हैं यद्यपि अनन्त गुणोंका आश्रय स्थान हैं तो भी वे निराकुल अनन्त सिद्धोंके  
साथ रहते हैं यह सब हे सिद्धात्मन् ! आपके अवगाहगुणका ही प्रभाव है.

७ कोई क्षुद्र चादी लोक ऐसा कहते हैं—यदि सिद्धात्मयें भारी वजनदार हैं तो निराधार लोहके पिंड  
समान नीचे गिरने चाहिए और यदि वे हलकी हैं तो आँकके कार्यास समान प्रचण्ड तनुवातवलयके द्वारा इधर  
उधर फेंकें जाने चाहिए, परंतु जिनेंद्र भगवान् सिद्धोंको लघु अथवा गुरुभी नहीं मानते हैं. वे अगुरुलघु  
नामक गुणके धारक हैं ऐसा कहते हैं. इस गुणका स्वरूप वे क्षुद्रलोक क्या जान सकते हैं ?

८ शारीरिक, मानसिक तथा वाचनिक दुःखरूपी शस्त्रोंका आघात होनेसे जो भयंकर मंसाररूपी अग्नि  
प्रकट हुआ था उसके नाशके लिये हे सिद्धपरमात्मन् ! आपने जो तपरूपी परिश्रम किया था उससे आपको अव्या-  
बाध नामक गुण प्राप्त हुआ है तटको उल्लंघनकर बहनेवाले सुरवसमुद्रके द्वारा आपका चैतन्यमय शरीर अभिपिक्त  
हो रहा है आपके उस अव्याबाध गुणकी अंशमात्रभी प्राप्ति हमको होवे इस हेतुसे योगीश्वर श्रम करते हैं अर्थात्  
तप करते हैं.

९ सिद्धपरमेष्ठीओंमें यद्यपि अनंत गुण हैं तोभी उनमेंसे ये आठगुण अलग आचार्यने वर्णन किये हैं.  
अर्थात् व्यवहारको प्रधानता देनेवाले विद्वानोंने सिद्धोंका स्वरूप सत्पुरुषोंके द्वारा माया जावे इस हेतुसे इन गुणों.



का अलग स्वरूप कहा है. इन गुणोंकी भावना में करता हू जिससे मेरे सर्व विकल्पोंका नाश होकर चित्स्वरूपी अनाद्यनन्त ऐसे आत्मामें मेरा अत्यन्त लय होवे.

१० चैतन्यानुभवसमय ऐसे सिद्धों के गुणोंकी स्तुति जो महात्मा अपने हृदयमें मानो उकीरी गई, अथवा लिखी गई, हृदयमें मानो स्थापित की गई है इस प्रकार हमेशा मोक्षकी इच्छाकरके करता है वह निर्विकल्प शुक्लध्यानसे शरीरके त्यागके साथ संपूर्ण पापराशिका नाश करता है जबतक ऐसा महात्मा संसारमें रहता है तबतक पुण्योदयसे संसारके वैभवोंको भोगता है. योग्य ही हैं कि पुण्योदयसे क्या हस्तगत नहीं होता है ?

इस प्रकार सिद्धत्त्व समाप्त हुआ.

### अथ प्रशस्तिः ।

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शकंबरीभूषणः । तत्र श्रीरतिधाममंडलकर नामास्ति दुर्गं महत् ॥  
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्योघोरवालान्वया । च्छीसलक्षणतो जिनेद्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥ १ ॥  
सरस्वत्यामिवात्मान सरस्वत्यामजीजन्त । यःपुत्र छाहद गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम् ॥ २ ॥

व्याघ्रवालवरवंशसरोजहसःकान्यामृतौघरसपानसुदृग्रात्रः ॥

सलक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयता कालकालिदासः ॥ ३ ॥

इत्युदयकीर्तिमुनिना कविसुहृदा योऽभिनंदितःप्रीत्या । मन्नापुजोऽवीति च योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना ॥  
म्लच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति- ॥ त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जन्निवगौजसि ॥

प्राप्तो मालवमंडले बहुपरीवारः पुरीभावसन् ॥ यो धारामपठजिनप्रभितिवाक्शब्दे महावीरतः ॥

प्रशस्ति अपूर्ण है

पं. आशाधरजीने अपनी प्रशस्तीका जो परिचय दिया है उसका वर्णन इसप्रकार—

१ सांबर सरोवर जिसका भूषण स्वरूप है ऐसा सपादलक्ष नामका देश है वह त्रिवर्ग सपत्तिसे युक्त है. मंडलकर नामका लक्ष्मीका क्रीडागृहके समान एक बड़ा कीला है इस कालि में बंधरवाल नामक वंशमें जिनेंद्रमतमें श्रद्धालु ऐसे पं आशाधरजी उत्पन्न हुए, इनके पिताका नाम सलक्षण था और माताका नाम श्रीरत्नी था.

२ पं० आशाधरजीके पत्नीका नाम सरस्वती था वाग्देवतामें अर्थात् सरस्वती में जैसा पंडितजीने अपने को उत्पन्न किया था वैसे सरस्वती नामक अपने पत्नी में उन्होंने छाहड़ नामका पुत्र उत्पन्न किया. यह पुत्र गुणवान था और इसने अर्जुन नामक मालवदेशके राजाको संतुष्ट किया था

३-४ वधेरवाल वंश रूपी कमलमें जो हंसके समान है, काव्यामृत रसका पान करने से जिसका शरीर पुष्ट हुआ है, जो नयरूपी आर्खांस युक्त है, सच्छक्षणेक सत्पुत्र ऐसे इस आशाधर कविको हम 'कलिकालिदास' इस उपाधिसे भूषित करते हैं. ऐसा कहकर कविके मित्र उदयकीर्ति मुनीने वधे प्रेमसे जिसका आदर किया है ऐसे आशाधर कवि जगतमें हमेशा विजयी होवे इसी तरह मदनकीर्ति यतीश्वरने मञ्जापुंज ऐसा विरुद्ध देकर इनको भूषित किया था

५ साहिबुद्दीन नामक श्वनराजाने सपादलक्ष नामक देश जब अपने कब्जे में कर लिया तब अपने सदा चारका विनाश होगा इस दस्ते विंध्यराजाके बाहुप्रताप से जिसका रक्षण हो रहा था ऐसे मालव देशमें अपने बड़े परिवारके साथ प्रवेश करके धारा नगरी में उन्होंने निवास किया यहां वादिराज पंडितके शिष्य श्रीधरसेन थे और उनके शिष्य महावीर थे उनसे इन्होंने जैनद्व व्याकरण व जैनन्यायका अध्ययन किया (यहां तक यह प्रशस्ति है अत एव अपूर्ण है विशेष जिज्ञासुओंको सागार धर्मांमृत अनगार धर्मांमृत की प्रशस्ति देखलेना चाहिए.

### श्रीमदमितगतियतिपतिप्रशस्तिः ।

श्रीदेवसेनोऽज्जनि माधुराणां गणी यतीनां विहितप्रमोदः ॥  
तत्त्वावभासी निहत्तप्रदोषः सरोरूहणासिव तिग्मराश्मि ॥ २२४० ॥  
धृतजिनसमयोऽज्जनि महनीयो गुणमणिजलधेस्तद्भु यतिर्यः ॥  
शमयमनिलयोऽभितगतिसूरिः प्रदलितमदनः पदन्तसूरिः ॥ २२४१ ॥  
सर्वशास्त्रजलराशिपारगो नेषिषेणसुनिनायकस्ततः ॥  
सोऽज्जनिष्ठ सुवने तमोपह शतिरादिमरिच यो जगप्रियः ॥ २२४२ ॥  
माधवसेनोऽज्जनि सुनिनायो ध्वसितमायामदनकदर्थः ॥  
तस्य गरिष्ठो गुरुचि शिष्यस्तत्त्वविचारप्रवणमनीषः ॥ २२४३ ॥

शिष्यस्तस्य मनीषिणोऽमितगतिमार्गत्रयालंविनीम् ॥  
 एनां कल्मषमोषिणीं भगवतीमारार्थनां स्थेयसीम् ॥  
 लोकानामुपकारकोऽकृत सतीं विध्वस्ततापां हृदः ॥  
 पद्मः सत्त्वनिषेवितस्य विमलां गगां हिमाद्रेरिव ॥ २२४४ ॥  
 आराधनैषा यदकारि पूर्णां मासैश्चतुर्भिर्न तदस्ति चित्रम् ॥  
 महोद्यमानां जिनभाक्तानां सिध्यन्ति कृत्यानि न कानि सद्यः ॥ २२४५ ॥  
 स्फुटीकृता पूर्वजिनागमादियं मया जने यास्यति गौरवं परम् ॥  
 प्रकाशितं किं न विशुद्धबुद्धिना महार्घतां गच्छति दुग्धतो घृतम् ॥ २२४६ ॥  
 याचत्तिष्ठति पाण्डुकवलशिला देवादिसमृद्धिं स्थिरा ॥  
 यावत्सिद्धिधरा त्रिलोकशिवरे सिद्धैः समाध्यासिता ॥  
 तावत्तिष्ठतु भूतले भगवती विध्वंसयंती तमः ॥  
 सा चैषा श्रमतुल्लनोदनपरा चंद्रप्रभेवोज्ज्वला ॥ २२४७ ॥

### श्रीमदमितगतिस्त्रिप्रशस्तिः ॥

१ माथुरसङ्घके यतिओंके आचार्य, सब सुनिओं को आनन्द प्रद ऐं देवसेन आचार्य होगये, जैसे सूर्य कमलोंको विकसित करता है, रात्रीका नाश करता है और पदार्थोंको दिखाता है वैसे ये देवसेन आचार्य निहत प्रदोष थे अर्थात् दोषरहित थे और अन्यसुनिओंको दोषोंसे रहित करते थे जीवादि तत्त्वोंका स्वरूप इन्होंने भव्य लोगोंको दिखाया था

२ देवसेनाचार्य के शिष्य अभितगति नामक सुनि थे वे गुणसमुद्र, शम और व्रतोंका आधारभूत थे, मदनका नाशकरनेवाले थे उनको वडे विद्वानभी वदन करते थे आचार्य जैनमतकी प्रभावना करनेवाले हुये हैं-

३ इनके अनन्तर इस माथुर संघमें नेथियेण नामक आचार्य हुए हैं सर्व शास्त्रसमुद्रके दूसरे किनारेके ये प्राप्त हुए थे चंद्र जैसा लोकप्रिय रहता है वैसे ये आचार्य लोकप्रिय व अज्ञानांधकारका नाश करनेवाले थे

४ नेमिषेण आचार्यके शिष्य माधवसेन नामक आचार्य ये इन्होंने माया और भदनका नाश किया था ये बृहस्पतिके समान चतुर थे और इनकी बुद्धि तत्त्वविचारमें प्रवीण थी।

५ माधवसेन आचार्यके शिष्य अमितगति हुए हैं उन्होंने यह भगवती आराधना बनायी है. यह पाप नाशिनी, संसारताप हरण करनेवाली गंगानदीके समान है. गंगानदी हिमाद्रीसे उत्पन्न हुई है. यह भगवती आराधना अमितगत्याचार्यरूपी हिमाचलसे उत्पन्न हो गई है.

६ आचार्यभूतिने यह ग्रंथ केवल चार महिनेमें बनाया है. इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है. क्यों कि महाप्रयत्नशाली जिनमक्त कोनसे कार्य सिद्ध नहीं कर सकते हैं ?

७ पूर्व जिनगमका [ शिवकोट्याचार्य का भगवती आराधना ग्रंथ ] आधार लेकर मैंने यह ग्रंथ रचा है. मेरा यह ग्रंथ विद्वज्जनोंमें आदरणीय होगा जैसे दूधसे निकाला हुआ घृत मूल्यवान् और आदरणीय होता है

८ जब तक मेरु पर्वतके शिखरपर पांडुशिला रहेगी, जब तक सिद्धों से अधिष्ठित सिद्धशिला त्रैलोक्य के शिखरपर विराजमान रहेगी, तब तक चन्द्रकोतिके समान उज्ज्वल, श्रमदुःख का परिहार करने वाली, अज्ञानाधिकार का नाश करने वाली यह भगवती आराधना इस संसार में स्थिर रहे.

### आराधनास्तवनम् ।

बधुःस्वर्गापवर्गप्रभवसुखफलप्रापणे कर्मबद्धी ।

नानाबाधाविधायिप्रवितकालिमलक्षालने जहनुकन्या

रागद्वेषादिभाविन्ध्यसनघनबन्धेष्टने छेदनी या ॥

सारामाराधनासौ वितरतु तरसा शाश्वतीं को विभूतिम् ॥ २२४८ ॥

१. यह आराधना स्वर्ग और मोक्ष का सुखफल देने में बधुके समान है. नाना प्रकारकी बाधाओं को उत्पन्न करने वाले पापरूपी कीचड़को घोलनेके लिए यह आराधना गंगानदी के समान है. रागद्वेषादि विकारों से उत्पन्न होनेवाले संकटरूपी वनको तोड़ने वाली कुल्हाड़ी के समान यह आराधना ग्रंथ है. ऐसी यह आराधना तुम लोगों को इच्छित फल देनेमें समर्थ हो

यामासाद्यावनम्रत्रिदशपतिशिरोघृट्टपादाराविन्दाः ॥

संघः कुंदावदातास्थिरपरमयशःशोधिताशेषदिक्काः ॥

जायते जनवोऽमी जनजनितमुदः केवलज्ञानभाजो ॥

भूयादाराधना सा भवभयमथनी भूयसे श्रेयसे वः ॥ २२४९ ॥

१० इस की आराधना से भव्यजन इंद्रों के द्वारा पूजे जाते हैं इस आराधनाके माहात्म्य से तत्काल भव्यजन कुदपुष्प के समान अपने यशके द्वारा त्रैलोक्य भर देते हैं इस आराधनाका साहाय्य मिलनेसे भव्योंको आनंदित करनेवाले केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है, ऐसी यह आराधना तुम लोगों को विपुल श्रेयः संपत्ति प्रदान करे

यामाराध्याशु गंता शकलितविषदः पंचकल्याणलक्ष्मीम् ॥

प्राप्यां पुण्यैरपापां त्रिधुवनपतिभिर्निर्मितां भक्तिमद्भिः ॥

सम्यक्त्वज्ञानदृष्टिप्रसुम्बगुणमणिआजितां यान्ति मुक्तिं ॥

सा वंद्या हृद्यविद्यैर्विलसतु हृदये सर्वदाराधना वः ॥ २२५० ॥

११ इस आराधनाकी आराधना से विपत्तियोंका नाश होता है और देवेंद्र, धर्मेन्द्र और चक्रवर्तिद्वारा भव्य जीवोंको पंचकल्याणकी विभूति प्राप्त होती है, सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य इत्यादि सद्गुणमणिओंसे अलंकृत होकर वे मुक्तिके नाथ बन जाते हैं हम अज्ञानी हैं हम इस आराधनादेवीको वंदन करते हैं यह हमारे हृदय में सर्वदा निवास करे

आ सौभाग्य विधत्ते भवति भवभिदे भक्तिः सेव्यमाना ॥

या छिन्ते मोहद्वयं भुवनभवभृतां साध्वसं ध्वंसयन्ती ॥

या चानासाद्य देही भ्रमति भववने भुरिभावाद्भिरौद्रे ॥

सा भद्राराधना वो भवतु भगवती वैभवोद्भावनाय ॥ २२५१ ॥

१२ जो आराधना सौभाग्यको उत्पन्न करती है, भक्तीसे इसकी सेवा करनेसे यह संसारका नाश करती है मोहरूपी द्वैत्यका विध्वंस करके संसारमें प्राणिओंके भयको दूर भगाती है इसकी प्राप्ति नहीं होनेपर प्राणी-ओंकी नाना प्रकारके कुभावस्वरूप पर्वतोंसे घिरे हुए संसारजंगलमें भ्रमण करना पड़ता है, अतः यह कल्याण करनेवाली आराधना हमको ऐश्वर्य प्राप्तिमें सहायक बने

या कामक्रोधलोभप्रभृतिबहुविधग्राहनक्रावकीर्णां ।  
संसारपापार्सर्गोर्ध्वमरणजरारवर्तगतादुपेत्य ॥

गच्छत्युत्तीर्य सिद्धिं सपदि यवभृतः शाश्वतानंतसौख्यम् ॥

भयैराराधनानौर्गुणगणकलिता नित्यमारुहतां सा ॥ २२५२ ॥

१३ यह संसारसमुद्र काम, क्रोध, लोभ, वगैरह नाना प्रकारके ग्राह और नक्रोंसे भरा हुआ है. इसमें जन्म, मरण और जरारूपी भोवरे हैं ऐसे संसार समुद्रमें पड़ा हुआ प्राणी सहुणोंसे बनी हुई आराधनाका आश्रय लेकर उससे उच्चीर्ण होता है तथा नित्य अनंत सुख देनेवाले मोक्षको प्राप्त कर लेता है

या मैत्रीख्यातिकांतिद्युतिमतिसुगतिश्रीविनीत्यादिकांताम् ॥

सयोज्योपाजनीयामवहितमतिभिर्मुक्तिकांतां युनक्ति ॥

मुक्ताहाराभिरामा मम मदशमनी सम्यगाराधनाली ॥

भूयान्नेदीयसी सा विमलितमनसां साधयन्तीप्सितानि ॥ २२५३ ॥

नम्रता इत्यादि स्त्रियोंके साथ संयुक्त करती है. और अन्तमें अवश्य प्राप्ति करनेके योग्य ऐसी श्रुति भी देती है यह आराधना मोतिओंकी मालाके समान सुंदर है. मेरे मदको नष्ट करके निर्मल चित्तवाले पुरुषोंको इष्ट पदार्थ समर्पण करती हुई मेरे सबिध हमेशा रहनेकी कृपा करें

स्वांतस्था या दुरापा नियमितकरणा सृष्टसर्वोपकारा ॥

माता सर्वाश्रमाणां भवमधनपराऽनंगसंगापहारा ॥

सत्या चित्तापहारी बुधहितजननी ध्वस्तदोषाकरश्रीः ॥

दद्यादाराधना सा सकलगुणवती नीरजा वः सुखानि ॥ २२५४ ॥

१५ यह आराधना दुर्लभ है जब प्राणिओंके मनमें यह मुकाम करती है तब उसको जितेन्द्रिय बनाती है सर्व प्रकारके उपकार करती है ब्रह्मचर्यादि चारो आश्रमोंकी यह माता है. संसारका नाश करके, काम-विकारको दूर भगाती है. सत्यही इसका स्वरूप होनेसे चिन्मय आत्माके संसारतापको दूर करती है विद्वानोंका

हित करती है संपूर्ण दोषोंको हटाती है और चद्रकी शोभाको नष्ट करती है अर्थात् चद्रकी शोभा भी इसके सामने फीकी मालूम पड़ती है सकलगुणसंपन्ना पापरहित यह आराधना हम लोगोंको सदा सुखी करे

उद्यद्गुःस्वागदुर्गं गुरुदुरितद्वंदं दग्धुमग्नीयमाना ॥

हर्तुं मोहान्धकार कवलितनिखिला तिग्मरश्मीयमाना ॥

निःशेषं वस्तु दातुं भवभृदभिमतं कामधेनूयमाना ॥

निर्वाधा या विधत्ताममितगतिसुखं शीघ्रमाराधना वः ॥ २२५५ ॥

१६ जो अत्युच्च दुःखरूपी पर्वतोंसे घिरा हुआ है ऐसे पापरूपी बड़े वनको भस्म करनेमें यह आराधना अग्निके समान है. मोहरूपी अंधकारको नष्ट करनेके लिये यह सूर्य के तुल्य है संपूर्ण इच्छित वस्तु देनेमें यह काम धेनूकी बराबरी करती है ऐसी यह आराधना निर्वाध अनंत ज्ञान जिसमें भरा हुआ है ऐसा सुख तुम लोगोंको प्रदान करे.

श्वभ्रभूमिज्वलद्बहेर्याऽविच्छिन्नजलोद्गतिः ॥

अद्य न शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५६ ॥

१७ नरकशूभिमें प्रज्वलित अग्निको शान्त करनेके लिये यह आराधना अविच्छिन्न मेघाक समान है ऐसी रत्नत्रयसे निर्मलरूप आराधना हमको प्राप्त हो

यैषा कुक्षालिका शाता तिर्यग्दुःखाङ्कुरोद्धृता ॥

अद्य न शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५७ ॥

१८ तिर्यगातिके दुःखरूपी वृणाङ्कुरको उखाड़नेके लिये जो ऊहालकतुल्य है. ऐसी यह आराधना हमारा रक्षण करे

मर्त्यचिन्तितलाभाय यैषा कल्पद्रुमायते ॥

अद्य न शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५८ ॥

१९ मनुष्योंको चिन्तित पदार्थ देनेके लिये जो कल्पवृक्षके तुल्य मानी गई है ऐसी रत्नत्रयसे विशुद्ध हुई यह आराधना हमारा रक्षण करे

दृष्टिका हृतये येयं महाद्विकसुरश्रियः ॥

अद्य नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५९ ॥

२० महाकद्विद्याली देवीकी लक्ष्मीको तुलानेके लिये जो दृष्टीके समान है ऐसी यह रत्नत्रयसे निर्मल बनी हुई आराधना हमारा रक्षण करे

शुक्तिदाने क्षमा यास्ति विरतिर्भवसंतते ॥

अद्य नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२६० ॥

२१ जो मुक्तिप्रदान करनेमें समर्थ है, जो भवपरंपराका नाश करती है ऐसी यह रत्नत्रयनिर्मल आराधना हमारा संरक्षण करे

एषैव परमो धर्म एषैव परम तपः ॥

एषैवार्हद्वचो वाच्यमेषैव ध्यानसंगतिः ॥ २२६१ ॥

एषैव परमो लाभ एषैव परमं मतम् ॥

एषैव परम तत्त्वमेषैव परमा गतिः ॥ २२६२ ॥

एतस्या दुर्लभं ब्रूहि त्रिलोके कतमतसुखम् ॥

अतः शरणमेषैका भवतान्मे भवे भवे ॥ २२६३ ॥

२२-२३ यह आराधनाही उत्कृष्ट धर्म है, उत्कृष्ट तप है, जिनेश्वरने अपनी दिव्यध्वनीसे इसकाही वर्णन किया है. इसकोही ध्यान की प्राप्ति होनेमें कारण मानना चाहिये जगतमें आराधनाकी प्राप्ति होना ही परम लाभ है यही उत्तम मत है. यही उत्तम तत्व है और यही हमारी परम संरक्षिका है. इसकी जिसको प्राप्ति हुई है उसको जगत्में कौनसा सुख परम दुर्लभ है ? इसलिये प्रत्येक भवमें मैं इसका ही आश्रय ग्रहण-करूंगा.

या सर्वजगदिमाषलादपसृता शीलप्रवाहात्मिका ॥

या सर्वत्रिसप्तधितैर्गणधैरैराधिता निर्मला ॥

या मुष्णरप्रवासुष्माकृतकृपां निर्वापणी स्वर्धुनी ॥

या वागविशोभनाय शुभया भूयात्सदाराधना ॥ २२६४ ॥



२४ सर्वज्ञ जिनेश्वर रूपी हिमाचलसे इस आराधनारूपी गंगा नदीकी उत्पत्ति हुई है यह शीलरूपी प्रवाहसे युक्त है, सर्व ऋद्धि के धारक गणधरों से यह मानी गई है यह निर्मल है दुर्वार संसार के असुख से पीडित पुरुषोंको आनंदित करनेवाली, ऐसी यह आराधना गंगा पापनाश करनेके लिए कारण होवे और हमारा हमेशा कल्याण करे

या सज्ज्ञानसमृद्धिनालकलिता सम्यक्त्वसंत्कर्णिका ॥

या चारित्र्यपलाशसंचयचिता द्वेधा तपोभासुरा ॥

या भव्योत्तमषट्पदैः पार्थिता नैःसर्ग्यपद्माकुंला ॥

सा वोऽय्याद्भवंतापमुज्ज्वलगुणैराधना पद्मिनी ॥ २२६५ ॥

२५ सम्पज्ञानकी उन्नति होना ही जिसका नालदह है सम्यक्त्वरूपी कर्णिका से जो युक्त है, तेरह प्रकारका चारित्र्य ही जिसके पत्र हैं दो प्रकार के तप से जो प्रफुल्लित है, जो भव्य पुरुषरूपी उत्तम भ्रमरोंसे वेष्टित हुई है, और निष्पत्तिहता रूप कमलसे जो सुन्दर दीखती है ऐसी यह आराधनारूप पद्मिनी-कमलिनी अपने उज्ज्वल गुणों से आराधक ऐसे तुम लोगों का भवसंताप दूर करे।

या सर्वास्त्रवरोधिनी कलिमलं दूर निरस्यगंजम् ॥

सैद्ध चारुपद नयेद्गुणवतो भव्यात्मनो वाञ्छितम् ॥

चक्रेशादिमुखं सुरभिनुतं संयोज्य संन्यस्यतां ॥

सा वः स्यान्मुनिहंससेवितरसा देवापगाराधना ॥ २२६६ ॥

२६ यह आराधनारूप गंगा नदी संपूर्ण आस्त्रवोंको रोकती हैं, शरीर में उत्पन्न हुए रागद्वेषादिक मल नष्ट कर गुणवान् भव्य जीवको इष्ट सुन्दर ऐसा सिद्धपद अर्पण करती है सल्लेखना मरणका जिन्होंने आश्रय लिया है ऐसे सत्पुरुषोंको देवोंके द्वारा वन्दनीय ऐसा चक्रवर्त्यादिकोंका मुख देती है, मुनिहंस जिसके रसका पान करते हैं ऐसी आराधना रूप गंगा आपको प्राप्त होवे

या शीलोज्ज्वलपुरुषगंधसुभगा सद्दधानसत्पल्लवा ॥

भास्वदर्शनसंभवा वरतपःपद्मोच्चयेनाचिता ॥

सम्यग्धृतलसन्महाफलवती मन्थालिङ्गकारिता ॥

सा वो मानसभूतले प्रसरतादाराधनावह्वरी ॥ २२६७ ॥

रूपी पल्लवोंसे युक्त हैं, निर्मल सम्यग्दर्शनरूपी बीजोंसे इसकी उत्पत्ति हुई है, उत्कृष्ट तपस्वी पत्नी से भर गयी है; मन्थक्चरित्र रूपी महाफल इसको उत्पन्न हुए हैं मन्थ पुल्लरूपी अमर इस के ऊपर गुंजारव कर रहे हैं, ऐसी यह आराधनारूप वल्ली तुझारे मनोभूमी में खूब प्रसारकों प्राप्त होंगे

या श्रीमच्छ्रुतशीलनीरकलिता निर्वाणदानक्षमा ॥

या ऽपुण्याबुधितारिणी शुचितया रंगत्तरंगाकुला ॥

या निर्धूय कलेवराणि महतः सस्थापयेत्सत्सुखे ॥

सा वो मंगलभातनोतु नितरामाराधनास्वर्धुनी ॥ २२६८ ॥

२८ यह आराधना रूप गंगा नदी श्रुतज्ञान और शीलरूप पानी से भरी रहती है निर्वाणमोक्ष देनेमें समर्थ है पुण्यमयुद्धकों प्राप्त होती है, दोषरहित है शुक्ल ध्यानरूपी तरंगोंसे युक्त है सत्पुरुषोंके शरीरका नाश करके जो उनको उत्कृष्ट मोक्ष सुख देती है ऐसी यह आराधनागंगा तुम लोकोंका पूर्ण कल्याण करें।

या मोहासुरसंगलब्धविजया सर्वार्थसंपादनी ॥

शूराणामसमाधिनाशनाधिया कार्तित्रयाणां सताम् ॥ (?)

या दुर्वारमहोपसर्गमथनी सिद्धिप्रियाणां सती ॥

सा व पातु भवाटवीं प्रतिगतानाराधनाञ्जयिका ॥ २२६९ ॥

२९ यह आराधनारूप अंगिका देवी मोहासुरका पराजय करके विजयी हुई है, इसकी भक्ति करनेवाले पुरुषोंको सर्व इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है यह देवी परीपहसहिष्णु शूर मुनिओंका दुःख नष्ट कर समाधिकी प्राप्ति कर देती है मुनिओंके उपसर्ग कष्ट नष्ट करके सिद्धिकी प्राप्ति कर देती है, ऐसी यह आराधना देवता समार वनमें भटकनेवाले हम लोगोंका रक्षण करें।

या शुद्धयष्टकंचारुमौक्तिकफलैर्मध्यस्यदिङ्नायकैः ॥

भास्वद्वीधविचित्रसूत्रचिन्तैश्चारिवैसंलक्षणैः ॥

श्रीमदुत्तिसुज्ज्वलैर्विरचिता दोषोऽग्रोरागपट्टा ॥

सा वास्तिष्ठतु वक्षसीह सुतरामाराधनाकण्डिका ॥ २२७० ॥

३० यह आराधना रूप नायकरत्नोंकी रचना की गयी है उज्ज्वल सम्यग्ज्ञानरूपी सूतके द्वारा यह आराधनारूप नीचमें दशलक्षण रूप नायकरत्नोंकी रचना की गयी है. चारित्र और गुणित एतत्स्वरूपी मौक्तिक भी इसमें हैं. ऐसी यह आराधना कंठी आप लोगोंके मुक्ताहार रचा गया है. वक्षस्थलपर हमेशा रहे.

या निःशेषपरित्रयहेमदलेन दुर्वारसिंहायते ॥

या कुशानतमोघटाविघटने चङ्गाशुरोचीयते ॥

या चिंतामणिरेव चिंतितफलैः संयोजयन्ती जनान् ॥

सा व. श्रीवसुनदियोगिमहिता पायात्सवाराधना ॥ २२७१ ॥

३१ यह आराधना सर्व परिग्रहरूपी हाथिओंका घात करनेके कार्य में सिंह समान है अङ्गानां धकारका सप्तहृ नष्ट करनेके लिये मूर्यकांतिके समान है. चिन्तितफलोंके देनेके लिये वह सब जनोंको चिन्तामणि रत्नतुल्य है श्रीवसुनदि आचार्यसे पूजित ऐसी यह आराधना आप लोगोंका नित्य रक्षण करे.

या ससारमहोदधेः प्रतरणी नोरेव मज्ज्यात्मनाम् ॥

या दुःखज्वलनावलीढवपुषां निर्वापणी स्वधुनी ॥

या चिंतामणिरेव चिंतितफलैः संयोजयन्ती जनान् ॥

सा निःश्रेयसहेतुरस्तु भवतामाराधना देवता ॥ २२७२ ॥

३२ मन्व्य जीवोंको संसारसमुद्र तरनेके लिये यह आराधना नौकाके समान है. दुःखरूपी अग्नीसे जलनेवाले लोगोंको शान्तिसुख देनेवाली स्वर्गगाके समान है. जो चिंतित इष्टफलोंसे लोकोंको संयुक्त कर देती है वह आराधना तुम लोगोंको मोक्ष देनेमें हेतु बने.

या पुण्यशालवभूर्तिरेकपद्मी स्वर्गालयारोहिणाम् ॥

या मार्गत्रयवर्तिनीति बिबिता निर्धूतनानारजाः ॥

यस्याः सद्गुरुपर्वतः प्रभव इत्याहुः पुरावेदिनः ॥

सा व. पापमलानि गालयतु खल्वाराधनास्वर्धुनी ॥ २२७३ ॥

३३ पुण्यासवकी मानो मूर्ति ऐसी यह आराधना गंगा स्वर्गरोहण करनेवालोंको मार्गस्वरूप होवे रत्न-त्रयरूप होनेसे लोग इसको त्रिपरांगना कहते हैं इसकी सेवासे नानाप्रकारके पातक नष्ट होते हैं सद्गुरुस्त्री पर्वतसे इस आराधनागंगाका जन्म हुआ है ऐसे प्राचीन आचार्य कहते हैं अतः पापमलसे रहित यह गंगानदी तुझारे अन्तःकरणमें वास करे

या सर्वज्ञहिमाचलात्प्रगलिता पुण्यांबुपूर्णा शुचिः ॥

या सज्ज्ञानचरित्रलोचनधरैर्मूर्ध्ना गणीन्द्रैर्धृता ॥

या कर्मानलघर्मपाडितमुनीन्द्रिभावगाहक्षमा ॥

सा वो मंगलमातनोतु भगवत्पाराधनास्वर्धुनी ॥ २२७४ ॥

३४ यह आराधनागंगा सर्वज्ञ जिनेश्वरस्त्री हिमालयसे उत्पन्न हुई है, पुण्यस्त्री जलसे भरी है और पवित्र है सम्यग्ज्ञान और चारित्ररूप लोचन-आँख धारण करनेवाले गणधरोने जिसको अपने मस्तकपर धारण किया है कर्मस्त्री अग्निसिं पीडित मुनीश्वरस्त्री हाथी जिसमें अवगाहन करते हैं ऐसी यह आराधना स्वर्गनदी तुझारा मंगल करे, या पुण्यांबुधिपूर्णी कलिमलप्रक्षालनैकोद्यमा ॥

या निर्धूय कलेवराणि विमलीकर्तु क्षमाराधकान् ॥

यामासाद्य मुनीभयूथपतयो निर्वाण्यपंकात्मिकाम् ॥

सा वोऽन्तर्भलदाहमाशु निहतादाराधनास्वर्धुनी ॥ २२७५ ॥

३५ यह नदी पुण्यसमुद्रको पूर्ण करती है पापमल धोनेके कार्यमें यही समर्थ है यही मुनिओंके शरीरका नाश करके उनको निर्मल बनाती है, पापस्त्री कविहसे रहित ऐसी इस नदीको प्राप्त करके मुनिस्त्री हाथीके नाथक प्रमोदयुक्त होते हैं ऐसी यह आराधनानदी हमारी आत्माके अन्तर्स्थित कर्ममलके दाहका नाश करे

या संसारमहाविषापहरणे सन्मंत्रविद्यायते ॥

या कर्माधृतताडवीप्रदहने दावानलोर्वीयते ॥

या दुर्मोहतमोघटाविघटने चंडाशुरोचीयते ॥

सा वः पापमलानि हंतुं रुचिरा रत्नत्रयाराधना ॥ २२७६ ॥

३६ जो ससाररूपी तीव्र विषका हरण करनेमें उत्तम विद्याके समान हैं, जो कर्मरूपी वल्लीका वन जलानेमें दावान्नीके समान हैं, जो मिथ्यामोहांधकार को नष्ट करनेमें सूर्यकान्तीके समान आचरण करती है ऐसी यह मनो-हर रत्नत्रयाराधना हमारे पापमलोंका नाश करे

धर्माराममहातयोः फलवती या पुण्यसन्मंजरी ॥

श्रुत्तिश्रीललनाभिसारणपटुर्दृष्टाक्षरा शंफली ॥

स्वर्गाग्रप्रविभासिसौधजिखरारोहैकनिःश्रेणिका ॥

सा वः पातु पवित्रमूर्तिरमला रत्नत्रयाराधना ॥ २२७७ ॥

३७ यह आराधना धर्मरूपी वगीचे के बड़े वृक्षको फलयुक्त उत्तम मजरी है यह आराधना श्रुतिरूपी सुदरी को अभिसरण करने लिये प्रवृत्त करनेवाली स्पष्ट और मधुर बोलनेवाली दासी है स्वर्गके अग्रभागपर शोभनेवाले मोक्षरूप प्रासादके उपरके भागपर आरोहण करनेके लिये यह आराधना नसैनीके समान है ऐसी यह पवित्र और निर्दोष आराधना तुम्हारा संरक्षण करे

या सदृष्टिरुचिप्रभास्वरतनुः संज्ञानेनेत्रोज्ज्वला ॥

सञ्चारित्रविभूषणा शुचितपःशीलौघमाल्यांवरा ॥

श्रुत्तिश्रीवरकामिनीप्रियसखी पुष्पेषुविद्वेधिणी ॥

सा धीरैरभिवंदिता मम हृदि स्तान्त्रित्यमाराधना ॥ २२७८ ॥

३८ यह आराधना सम्यग्दर्शनरूपी कांतिसे सुंदर दीवती है पवित्र तप और शीलसमुदायरूपी पुष्पमाला और वस्त्र धारण करनेवाली है. श्रुत्तिलक्ष्मीरूपी सुंदर स्त्रीकी यह प्रियसखी है यह मदनका द्वेष करती है. विद्वान् पुरुषोंने जिसको बंदन किया है ऐसी यह आराधना मेरे हृदयमें नित्य वसती करे  
या शुद्धपटकयुक्तदर्शनदलं ज्ञानोल्लसत्कर्णिकम् ॥  
चारित्र्योज्ज्वलदीर्घनालममलं शीलोल्लसत्केसरम् ॥

शुक्तिश्रीललनानिवासकमलं घत्ते गुणैर्निर्मितम् ॥

सा मे हत्सरसि स्फुट विसस्तावाराधनापद्मिनी ॥ २२७९ ॥

३९ शुद्धयष्टकोंके साथ रहनेवाला सम्यग्दर्शन ही जिसके दल हैं, अर्थात् निःशंकितादिक आठ अंग ही इस कमलके दल हैं ज्ञानही जिसकी उज्ज्वल कर्णिका है, चारित्र्यही जिसका उज्ज्वल और दीर्घनाल-दंड है, निर्मल शील समुदायही जिसका केसर है, जो शुक्तिरूपी लक्ष्मीका निवास स्थान है ऐसे कमलको धारण करने वाली, गुणोंसे उत्पन्न हुई ऐसी यहा आराधनारूप कमलिनी भरे हृदयरूप सरोवरमें हमेशा विकास युक्त रहे

इसप्रकार श्री अमितगत्याचार्यविरचित आराधनास्तव समाप्त हुआ

### नक्षत्रगुणान्वर्णयिष्यामि ।

- १ तं जघा । असिसणीणकखत्ते जइ संधार गणहदि तो सादिणकखत्ते रस्ते कालं करेदि ॥
- २ भरणिणकखत्ते जदि संधारं गेणहदि तो रेवदिणकखत्ते पञ्चसे मरदि ॥
- ३ किंतिगणकखत्ते जदि संधारं गेणहदि उत्तरफागुणिणकखत्ते मज्झणहे मरइ ॥
- ४ रोहिणीणकखत्ते जदि संधारं गेणहदि तो सवणणकखत्ते अद्धरत्ते मरदि ॥
- ५ मिथसिरणकखत्ते जदि संधारं गेणहदि तो पुज्वफगुणणकखत्ते मरदि ॥
- ६ अद्दाणकखत्ते जदि संधार गेणहदि तो उत्तरदिवसे मरदि । जदि ण मरेदि तदा तस्मि पुरोगदे णकखत्ते मरिस्सदि ॥

७ पुनर्वसुणकखत्ते जदि संधारं गेणहदि तवा अस्सणिणकखत्ते अवरणहे मरदि ॥

८ पुस्सणकखत्ते जदि संधार गेणहदि तो मिथसिरणकखत्ते मरदि ॥

९ असलिसणकखत्ते जदि संधारं गेणहदि तो चित्तणकखत्ते मरदि ॥

१० मघणकखत्ते जदि संधारं गेणहदि तो तद्विवसे मरदि यदि ण मरदि तदा तस्मि पुरोगदे णकखत्ते मरदि ॥

११ पुज्वफगुणिणकखत्ते यदि तो घणिद्दाणकखत्ते दिवसे मरदि ॥

- १२ उत्तरफल्गुणिक्रवत्ते यदि तो मूलणक्रवत्ते पदोसे मरदि ॥  
 १३ हृत्थणक्रवत्ते यदि तो भरणिणक्रवत्ते दिवसे मरदि ॥  
 १४ चित्ताणक्रवत्ते यदि तो मिथसिरणक्रवत्ते अद्वरेत्ते मरदि ॥  
 १५ सादिणक्रवत्ते यदि तो रेवदिणक्रवत्ते पभादे मरदि ॥  
 १६ विसाहणक्रवत्ते जदि तो असिलेसाणक्रवत्ते मरदि ॥  
 १७ असिलेसाणक्रवत्ते जदि तो पुब्बभद्दणक्रवत्ते दिवसे मरदि ॥  
 १८ मूलणक्रवत्ते जदि तो जेठुणक्रवत्ते पभादेवेलाए मरदि ॥  
 १९ पुब्बासाढणक्रवत्ते जदि तो मिथसिरणक्रवत्ते पदोसेवेलाए मरदि ॥  
 २० उत्तरासाढणक्रवत्ते जदि तो तद्विवसे चैव अहवा भद्दपदणक्रवत्ते अवरणहे मरदि ॥  
 २१ सबणणक्रवत्ते जदि तो उत्तरभद्दणक्रवत्ते तद्विवसे कालं करेदि ॥  
 २२ धणिह्वाणक्रवत्ते यदि तो तद्विवसे कालं करेदि, यदि तद्विवसे कालं ण करेदि तो पुण तद्विवसे चैव आगेदे मरदि ॥

२३ सदभिसणक्रवत्ते यदि गिणहदि जेठ्ठाणक्रवत्तेण अत्थवणवेलाए मरदि ॥

२४ पुब्बभद्दपदणक्रवत्तेण जदि तो पुणवसुणक्रवत्ते रतिं मरदि ॥

२५ उत्तरभद्दपदे जदि तो दिवसे वहमाणे वा पुण रादो वा मरदि ॥

२६ रेवतिणक्रवत्ते जदि तो मघणक्रवत्ते मरदि ॥

इति मरणकंडिका णक्खत्तागणनया सम्मत्ता ॥

नक्षत्रगुणोंका वर्णन—

१ यदि अश्विनी नक्षत्रके समय क्षपकने संस्तर ग्रहण किया होगा तो स्वाति नक्षत्रके समय रातमें उसको समाधिभरण प्राप्त होता है

२ यदि भरणि नक्षत्रके समय क्षपकने समाधि मरणके लिये संस्तरका-बिछानेका आश्रय किया होगा तो रेवती नक्षत्रके समय दिनके शारभ समयमें उसको समाधिभरण प्राप्त होगा.

३ कृत्तिका नक्षत्रके समयपर यदि शुनि बिछानेपर शयन करेंगे तो उत्तर फाल्गुनी नक्षत्रपर मध्यान्ह कालमें उनका मरण होगा।

४ रोहिणी नक्षत्रपर संस्तर ग्रहण करनेवाले मुनिओंको श्रवण नक्षत्रमें आधी रातके समय मरण प्राप्त होगा।

५ मृगशिर नक्षत्रपर सङ्खेखनाका आश्रय करनेसे पूर्व फाल्गुनि नक्षत्रपर मुनिका देहान्त होगा

६ आर्द्रा नक्षत्रमें यदि संस्तर ग्रहण किया जायगा तो उत्तरा नक्षत्रके दिन मरण होगा यदि न होगा तो आगेके नक्षत्रमें उसकी मृत्यु होगी

७ पुनर्वसुनक्षत्र पर बिछाना ग्रहण करने से अश्विनी नक्षत्रपर अपराह्नकालमें मरण होगा

८ पुष्यनक्षत्रपर शय्या ग्रहण करनेसे मृगशिर नक्षत्रपर मरण होता है

९ आश्लेषानक्षत्रके समय शय्याका स्वीकार करनेसे चित्रानक्षत्रपर मरण होता है।

१० मघानक्षत्रके समय शय्याका स्वीकार करनेसे उसी नक्षत्रके दिनमें मरण होता है यदि न होगा तो आगेके नक्षत्रमें होता है।

११ पूर्वफाल्गुनिनक्षत्रमें यदि संन्यास ग्रहण करनेके लिये शय्याका स्वीकार किया होगा तो घनिष्ठानक्षत्रके समय दिनमें मरण होगा

१२ उत्तर फाल्गुन नक्षत्रमें यदि शय्या ग्रहण की होगी तो मूलनक्षत्रपर सायंकाल में मरण होगा

१३ हस्तनक्षत्रपर यदि संन्यास ग्रहण किया जायगा तो मरणी नक्षत्रपर दिनमें मरण होगा।

१४ चित्रानक्षत्रमें यदि संन्यास ग्रहण किया हो तो मृगशिर नक्षत्रपर आधीरातमें मरण होगा

१५ स्वातीनक्षत्र पर शय्याग्रहण करनेसे रेवतिनक्षत्रके समय प्रभात कालमें मरण होगा।

१६ विशाखा नक्षत्रपर शय्या धारण करनेसे आश्लेषा नक्षत्रपर मरण होता है

१७ आश्लेषा नक्षत्रपर शय्या ग्रहण करनेसे पूर्वभाद्रनक्षत्रमें दिनमें मरण होगा

१८ मूलनक्षत्रपर शय्या ग्रहण करनेसे ज्येष्ठानक्षत्रपर प्रभात कालमें मरण होता है।

१९ पूर्वाषाढानक्षत्रमें शय्या ग्रहण करनेसे मृगशिर नक्षत्रपर रातके प्रारंभके समय मरण होता है



२० उत्तराषाढा नक्षत्रपर संन्यास ग्रहण करनेसे उसी दिनमें अथवा भाद्रपदा नक्षत्रमें अपराण्ह कालमें मरण होता है

२१ श्रवणनक्षत्रमें यदि शय्या ग्रहण की जाय तो उत्तरभाद्रपदनक्षत्रमें दिनमें काल होगा  
२२ धनिष्ठा नक्षत्रपर शय्याग्रहण करनेसे उसी नक्षत्रके दिनमें मरण होगा यदि न होगा तो आगेके उसी नक्षत्रके दिनमें मरण होगा

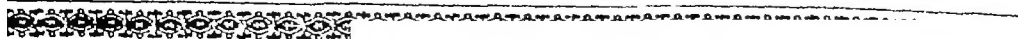
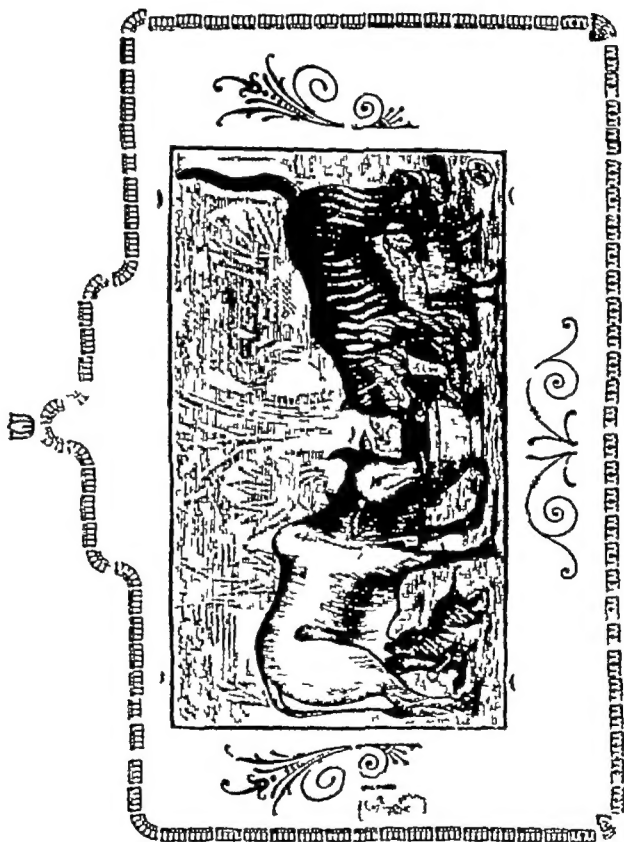
२३ शताभिषेज्जनक्षत्रपर संन्यास ग्रहण करनेवाले मुनीका ज्येष्ठानक्षत्रपर सूर्यास्त समयमें मरण होता है।  
२४ पूर्वभाद्रपदनक्षत्रमें यदि शय्या ग्रहण की जाय तो पुनर्वसुनक्षत्रपर रातमें मरणकाल होगा।

२५ उत्तर भाद्रपदनक्षत्रमें संस्तर ग्रहण करनेपर उस दिनमें अथवा रातमें मरण होगा  
२६ रेवती नक्षत्रपर संस्तरग्रहण करनेवाले क्षपकका मृगनक्षत्रपर मरण होता है

नक्षत्रगणनाके अनुसार यह मरणकंडिका समाप्त हुई है

शुभं भवतु पाठकानुवादकप्रकाशकमुद्रकाणामित्याशासे ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रंथः ॥



श्रीविजयोदयामूलाराधनासहिता हिंदीभाष्येपेता  
भगवती आराधना समाप्ता ।

